प्राप्तिस्थान

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था
C/o. श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदाबाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन प्रि. प्रेस, का. २–६१
गांधीरोड, ढींकवावाडी, अहमदाबाद–१

अभिधान राजेन्द्रकोषस्य रचना तु सर्वथा अपूर्वेवाऽस्ति
पण्डित शितिकण्ठशास्त्री

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष!

शब्दकोशोंकी परंपरा में 'अभिधानराजेन्द्र' यथार्थमें एक विशिष्ट उपलब्धि है ।

श्रीमद् की जीवनसाधनाका यह अत्यंत उदाहरण है। जब इस कोषका पहिला अक्षर लिखा गया तब वे तिरसठ वर्ष के थे ।

सात भागों में तथा दस हजार पाचसो छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोष के समान है । जिसमें जिनागमों तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया हैं

— वसंतीलाल जैन

अभिधानराजेन्द्र कोष जैसे अतिविशाल ग्रन्थरत्नकी रचना उनके सम्यग् ज्ञानके सर्वांगी समर्पणकी साहजिक निष्पत्ति हैं । अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं । अभिधानराजेन्द्र कोष सामान्य शब्दकोष नहीं हैं । किन्तु शास्त्रवचनोंकी समीचीन अभिव्यक्ति और अर्थघटनका सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है ।

— रमेश आर. जवेरी

प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने तप, जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन मे निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया। साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया-ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया। एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना हैं श्री अभिधान राजेन्द्र कोश ! इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनो को युगों युगों के लिये अद्भुत प्रेरणा प्रदान की है।

बीसवीं शताब्दी के संध्याकाल में इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म प्र) से प्रकाशित की गई थी। प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था। विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी उस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे। अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीभांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस मे इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ।

इस महान कार्य मे परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय विद्याचंद्रसूरीश्वरजी महाराज के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का श्रम साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ है।

वर्षों के बाद पुनः एक बार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। इस के पुनः प्रकाशन मे परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानन्द विजयजी, मुनिश्री जयन्तविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी-मण्डल को ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-अहमदाबाद के ट्रस्टी मंडल का भी इस कार्य मे पूर्ण सहयोग मिला हैं।

इस प्रकाशन में हमे जिन जिन ग्राम नगरो के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उन का नाम निर्देश करते हुए हमे अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है।

उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार।

१ साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ।

२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज.)

३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढ़ी, श्रीभाण्डवपुर तीर्थ (राज)

४ श्री भेंसवाड़ा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)

५ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जीवाणा (राज)

६ शाह नेमिचन्द देवीचन्द फूलचन्द, शुकनराज, कान्तिलाल, राजु बेटापोता श्री लखमाजी वलदरिया, कोशेलाव (राज.)

७ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ. गुजरात),
८ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद
९ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ दाधाल
० श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ–सुराणा
१ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ–धानेरा
२ श्री जैनश्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ थराद जैन मित्रमण्डल, बम्बई ।
३ श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ, नेनावा (गुजरात)
४ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मेगलवा (राज)
५ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, सियाणा (राज)
६ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, आकोली (,,)
७ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, राणीस्टेशन (,,)
८ श्री मांगीलाल, फूटरमल, शान्तिलाल, किशोरचन्द्र बेटा पोता शेषमलजी खसाजी रामाणी, गुड़ाबालोतान् (राज)
९ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज)
० श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म प्र)
१ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणी वासणवाला, धानेरा (गुजरात)
२ शा. जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, वीरचन्द, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, बेटापोता केनाजी मेगलवा, (राजस्थान)
३ श्री अमरचन्द देशमल तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात (धाणसा)
४ शाह मगराज सुखराज एन्ड कं मद्रास
५ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी बेटा पोता हांसाजी रतनपुराबोरा, मोदरा (राज)

इन के अतिरिक्त गाॅव नगरो के महानुभावोने लाभ लिया है उन के नाम हैं.

भीनमाल, जोधपुर, मेगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, मांडवला, धाणसा, आहोर, सवाडा, सुरा, सियाणा, कोमता, सुराणा, दाधाल, रेवतडा, उनडी, पांथेडी, बम्बई, सुमेरपुर, सांचोर, खतगढ, कोशेलाव, थराद, अहमदाबाद, लोवाणा, दूधवा, आणंद, वासणा, डीसा, लाखणी, वामी, नेरा, कलोल, झाबुआ, टांडा, पारा, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह न्नता का विषय है, शुभम् ।

निवेदक

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था
अहमदाबाद

राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
नपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चौक
. अहमदाबाद
०४२ पोष सुद ७ (गुरुसप्तमी)

द्वितीयावृत्ति

प्रस्तावना

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन। अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा मे परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अत इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है; परन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य है; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अन्धेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा मे स्वय को डुबो दे। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पठा।'

ससार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही सवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनागम मे अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान मे रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनो अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप मे और सुवर्ण सुवर्ण के रूप मे प्रकट होता है। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती है। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति मे हैं; ऐसे संसारी जीवों का ये कर्म प्रकृतियां विभाव परिणमन करा लेती हैं

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आंखों पर कपडे की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव मे आकण्ठ डुबो देता है; अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है; पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पडता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है; इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरुप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरुप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत बादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग में रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन मे आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममे विद्यमान हैं; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकडे हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन मे ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में अटकाये रखा है।

और बेडी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेडी लगा दी है; जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेडी टूटती है, तो दूसरी पुनः तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती, तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति में भ्रमण करने विविध जीवों को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक गति में भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बडे बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पडता हैं।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है-राजा के खजाँची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजाँची के हाथ में होती है; अतः खजाने मे से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता हैं। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्मशक्ति) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप मे यह है जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमो मे आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है, जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करनेवालो के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है ।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि......धम्मं सरणं गच्छामि।' और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षो के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म में प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों मे जीव को परमात्मप्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है, जब कि जैनधर्मदर्शन में परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरुप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव मे जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे, जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे-उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया मे अपने हाथ में लिया। कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत में कुञ्जी बन कर तैयार हो गयी। वह कुञ्जी है-'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास में हो तो और कोई ग्रन्थ पास मे रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' में है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नहीं हैं; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' में और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' मे भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धन्वन्तरी का निघण्टु; इनमे से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक हैं और एकार्थक शब्दों का बोध कराता हैं। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' मे शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते है—जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारदीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी–नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्वयक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।

इनमे से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताए प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमागधी प्राकृत मे की गई है। इस महाकोश में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म 'अ' कारादि क्रम से समझाया है; यह इस महाग्रन्थ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रुप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है, इसके अलावा उस शब्द के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमे व्यापकता भी है जैनधर्म-दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्याद्वाद, ईश्वरवाद सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानवे सन्दर्भ ग्रन्थ इसमे समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ साथ यह सुविशाल भी है। सात भागो में विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजी पृष्ठों मे विस्तारित है। इसमे धर्म-संस्कृति से संबंधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्याख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्ट-सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमे चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सातों भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे; तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पडेगा।

इस महाग्रन्थ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने मे यह महा ग्रन्थ लिखा गया; उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी नहीं किया। कहते हैं, वे कपड़े का एक छोटा सा टुकडा स्याही से तर कर देते थे और उसमे कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होने कभी नहीं लिखा। चातुर्मास काल के अलावा वे सदैव विहार-रत रहे। मालवा, मारवाड, गुजरात के प्रदेशों मे उन्होने दीर्घ विहार किये; प्रतिष्ठा-अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य संपन्न किये; जिज्ञासुओं की शकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक सन्ताप भी सहन किये। साथ साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति मे केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस 'जैन विश्वकोश' का निर्माण हुआ; यह एक महान आश्चर्य है। इस महाग्रन्थ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेवसूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं—आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमाने मे यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है; इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन मे उनके प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न होता है, क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और उस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने अमल भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र मे बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौनसी है; तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा; जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने को हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चातुर्मास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमे यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो; तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले में सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण मे बसे हुए दूर दूर के हजारों श्रद्धालुओं ने इस चातुर्मास में मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति मे 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्याङ्कन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमे यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थगिति सबके लिए दुःखद थी, पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया-दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओंने ....। उन्होने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा; व्यवसायियों के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। संयमयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा। श्री संघने हार्दिक प्रसन्नता व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी। परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित हो कर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है; यह हम सब के लिए परम आनन्द का विषय है।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है; फिर भी इस प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देनेवाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ. भा. सौ. बृ. त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकर्ताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। इनकी सेवाए सदा स्मरणीय हैं।

इस कार्य में हमे पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है। प्रेसकार्य, प्रूफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमें उनसे अनमोल सहायता मिली है। हम उन्हें नहीं भूल सकते।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गयी हैं। वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है। शुभम्।

नेनावा (बनासकांठा)
दिनांक २-१२-८५

आचार्य जयन्तसेनसूरि

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक
१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ { श्रीसंभूतविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामी }
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ { श्रीआर्यसुहस्तीसूरि / श्रीआर्यमहागिरि }
९ { श्रीसुस्थितसूरि / श्रीसुप्रतिबद्धसूरि }
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ { श्रीयशोभद्रसूरि / श्रीनेमिचन्द्रसूरि }
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ { श्रीसोमप्रभसूरि / श्रीमणिरत्नसूरि }
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि / श्रीविद्यानन्दसूरि }
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० { श्रीविजयदेवसूरि / श्रीविजयसिंहसूरि }
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसू
७२ वर्तमानाचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि

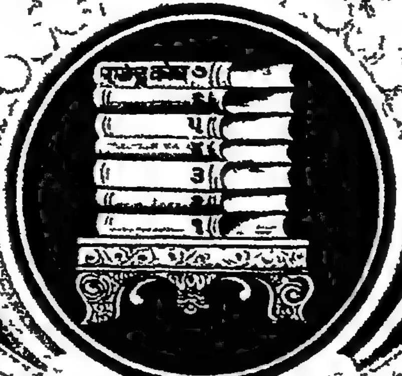

प्रस्तावना

इह हि खलु भारतवर्षे संस्कृतभाषायामनेकशोऽकारादिवर्णानुक्रमेण सङ्कलिताः कोशाः समुपलभ्यन्ते देशान्तरेषु च तत्तद्देशभाषया, परन्त्वद्यापि प्राचीनसमये मातृभाषात्वेन राष्ट्रभाषात्वेन च सकलभारतभूमिलब्धास्पदायां मागधिकभाषायां कोऽपि कोषः सङ्कलितोऽस्ति । किमन्यास्तु सत्या प्राकृतभाषामर्शनया स्वरूपमेवात्मस्तुति विधास्यन्ति । इत्येव उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकाले समजनि, समारचना च सर्वैर्गणधरैर्भवमेव । कतिचिद्वर्षेषु सुसिद्धकृत्सु च भेदमापन्नेषमेव संस्कृतभाषात्वेन परिणता । किं बहुना सर्वप्रकाशिका सर्वप्राणिनः पदार्थाः जैनदर्शनमूलसूत्राणि तस्यामेव भाषायामिति लक्ष्या संज्ञानुसन्धित्सया सङ्कलनमत्यावश्यकमिति वादं सानुनयं सफलसंयेन संप्रार्थितः परमतार्किकः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः श्रीमद्गुरुवर्यश्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरिरभिधानेषु श्रेष्ठतममिममभिधानराजेन्द्रनामकं कोषं निरमासीत् । येषुतपन्नमस्यावर्णोत्तरता एवंविधनमत्र प्रादर्शयत्परंपरा ।

किञ्च-अस्यां भारतभूमौ पञ्चमारके मनुष्येषु मनःपर्यायकेवलयोः परिपूर्णश्रुतावधिज्ञानयोश्च विच्छेदेन अपूर्णज्ञानयुक्तं सकलसद्भूतवस्तुतत्त्वं बोद्धुं संप्रदत्ता परिभाषया यथा-सूर्यादिप्रभृत्यादीनां वर्णनम् ' आउट्टि ' शब्दे श्रोत्रादीन्द्रियविषयकं रूपम् ' इंदिय ' शब्दे आनुविषयकम् ' उउ ' शब्दे एवं यथास्थानं वर्णितमनुपदमेव स्पष्टतया दर्शयिष्यामः । अयं कोशः संस्कृतभाषासु पाश्चात्यानां इत्याधुनिकानामध्येतॄणामन्यकोशानां सामर्थ्येनोपकारं करोतीति नात्रार्थवादः । तत्त्वदर्शिजिज्ञासूनां कृते स्थूलसूक्ष्मपदार्थानां वस्तुनि विस्तृतपदार्थविचारेण साक्षात्पदार्थज्ञापकमिदं तन्त्रं विज्ञेयपदार्थानामधिकारोपलम्भसाधनमिदं सम्पूर्णतयाऽवलोक्य सर्वेऽपि सन्तः सन्तोषमेष्यन्तीति वादं निश्चिनुमः ।

ये ये विदेशीया जैनदर्शनाभिज्ञाः बौद्धेभ्यो भेदमनन्यमाना विलोकयन्तु जैनदर्शनरहस्यम्, अवगच्छन्तु बौद्धदर्शनतत्त्वान्तरम्, सर्वदर्शनसमुदायमानापि जैनदर्शनमवलोक्य सूक्ष्मेक्षिकया निर्धारयन्तु जीवाजीवादितत्त्वम्, । प्राप्नुवन्तु परमानन्दम् सर्वविषयकसमुदायसमन्वयः एवोपलभ्यते इति नात्र जनतां भ्रमलेशसंभवः ।

अपि च मत्कलितायमीदृशभाषा (हिन्दी) शब्दपरिचितजिज्ञासवोऽपि सर्वमाभ्यासात्परिपाट्य संस्कृते शब्दाः सङ्कलिताः आधुनिककालापेक्षया संस्कृता (हिन्दी) इव या इत्येतदप्येतदन्यानुभवेन सुखेनैव बोधिष्यन्तीति निर्विवादम् । अत एव अभिधानराजेन्द्र इति यौगिकं नाम यथाहि राजा निष्पक्षपातं शत्रुमित्रोदासीनेषु नियमान्नियुङ्क्ते तथायमपि पदार्थविज्ञानरूपनियमं जैन-बौद्ध-सांख्य-योगादिदर्शनशास्त्रेषु पदार्थसंशोधकेषु संस्कृतप्राकृतभाषाभिज्ञेषु च समस्मैव प्रवर्तयतीति ।

विषयसूचना-

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥

इत्यनुसन्धानेन विशेषतो दर्शनीया शब्दास्तत्रस्था विषयाश्च लेशमात्रतो विज्ञप्यन्ते, यथा-'आउ' शब्दे आयुषो भेदान्निरूप्य तस्यानित्यत्वं प्रतिपादितमत एव तत्पुष्टिकारणानि प्रतिपादितानि, न खलु गतमायुः पुनरावर्तत इति च स्वल्पतः सूचितम् । आयुषोऽनित्यत्वं निरूप्य वर्षशतस्याप्यल्पत्वमेवेति वादं विभावितम् । निरूपितानि च तत्रैव सोदाहरणानि सर्वसिद्धान्ताविरुद्धानि समायुःक्षयकारणानि अपि च सोपक्रमनिरुपक्रमादिना भेदं निरूप्य आयुषोऽल्पत्वकारणं दीर्घायुष्कारणं शुभदीर्घायुरशुभदीर्घायुष्कादिना भेदास्तेषां कारणानि च दर्शितानि । आयुष्कर्मणो जीवितहेतुत्वं जीवानामिहभवपरभविकायुस्तत्र नैरयिकादीनां परभविकायुर्बन्धश्च प्रतिपादितः । प्रत्याख्यानादिना निर्वर्तितायुष्कत्वं सप्रमाणं निरूप्य अनन्तरोपपन्नकनैरयिकादीनामायुर्बन्धश्चेति निपुणं विभावितम् । अथ-क्रियावादिनामेकान्तवादिनामेकान्तपण्डितबालपण्डितानां क्रियावाद्यादीनामायुर्बन्धं दर्शयित्वा नैरयिकादिष्वापद्यमानानां भविकजीवानां सायुष्कतयाऽऽयुष्कतयोत्पत्तिरिति दर्शितम् ।

एवमाउक्काय शब्दे–अप्कायिकानां भेदं निरूपयन् तेषां शरीरादि न्यरूपयत्। भवति चाप्कायिकस्य जीवितमिति सयुक्तिकं निरूपितमत एव सचित्ताचित्तमिश्रविवेकश्च कृतः। तीव्रोदकस्याचित्तत्वमप्कायशस्त्राणि प्रतिपाद्य सचित्ताप्कायपरिभोगविचारः प्रायुङ्क्त। तत्राप्कायपरिभोगकारणानि अप्कायसमारम्भव्यावृत्तस्यैव मुनित्वं शाक्यादिमुनयो नियमतोऽप्कायिकांस्तदाश्रितजीवांश्च विहिंसन्तीति युक्त्या प्रतिपाद्य अप्कायस्पर्शनिषेधं शीतोदकस्पर्शनिषेधं च कृतवान्।

एवमाउट्टिशब्दे सूर्यस्य कति कस्यामृतावावृत्तयो केन च नक्षत्रेण युक्ताः प्रथमादयो भवन्तीति पुनः पुनर्भावयन् सुबोधमेव निरूपितम्। अथ कस्मात्स्थानादेकेन्द्रिया अएकजाश्च जीवाः समागच्छन्तीति पृथ्वीकायिकानां पुनरपि गत्यागती भवतो जीवानां गत्यागतिपरिज्ञानेऽनेकशो मिथ्यादृष्टीनां सिद्धान्ता निपुणं निरूपिताः ।

अथ आगमशब्दे स्वशैल्या भेदप्रतिपादनपूर्वकमागमस्य परतः प्रामाण्यं तत्र च प्रामाणिकपुरुषप्रणीतत्वेन प्रामाण्यं प्रतिपाद्य दृढतरयुक्तिभिरपौरुषेयत्वं निराकृतम्। स्वीकृतं च संभवद्रूपस्यैवागमस्य मूलागमैकदेशभूतस्य आगमान्तरस्य च प्रामाण्यं न तु वेदस्यैव। प्रमाणान्तराविषय एव पदार्थो नागमेन बोध्यते किं तु प्रमाणान्तरविषयेऽपि इति निरूप्य कणादमते शब्दप्रामाण्यस्यानुमानान्तर्भावमभिधाय सर्वमतसंवादिशब्दप्रामाण्यं प्रत्यपादि । शब्दस्य बाह्यार्थे प्रामाण्यम् अपोहः शब्दार्थ इति बौद्धमतं च निरूप्य अर्थस्वरूपं वाच्यवाचकभावं शब्दस्य वाचकताविचारं चाकार्षीत्। स्फोटः शब्दः इति वैयाकरणमतं स्फोटयित्वा स्वमते शब्दस्य वाचकत्वं शब्दस्य नित्यत्वविचारः शब्दार्थयोः संबन्धश्च हेतुवादाहेतुवादभेदादागमस्य द्वैविध्यमागमस्य च सर्वव्यवहारनियामकत्वं च प्रतिपादितम्। धर्ममार्गे मोक्षमार्गे चागमस्यैव प्रामाण्यम् जिनागमस्यैव सत्यत्वम्, इत्यादयो मर्मग्राहिण आगमविषयिणो बहवो विषयाः समुपलभ्यन्ते। एवम् " आणा " शब्दे परलोके आज्ञाया एव प्रामाण्यम् आज्ञाप्रवर्तमानोऽप्यप्रवर्तमान एव तीर्थकराज्ञाऽन्यथाकरणे दोषाः प्रायश्चित्तं चेत्यादिकानपरांश्च तद्विषयकान् विषयान् वर्णयित्वा आज्ञाव्यवहारो निरूपितः। एवं आयरियशब्दे व्युत्पत्त्यादिप्रदर्शनपुरस्सरमाचार्यपदभेदमभिधाय कलाचार्यादिनाऽऽचार्यस्य त्रैविध्यं तेषां विनयकरणं च प्रदर्शितम्। निरूपितं चेहलोकोपकारिपरलोकोपकारिणोराचार्ययोः स्वरूपं तद्धेयोपादेयत्वं च। प्रव्राजनाचार्योपस्थापनाचार्याभ्यां द्वैविध्यं, लक्षणं चाचार्यस्य, आचार्यस्य गुणाः यद्विरहितो गुरुर्न भवतीति भ्रष्टाचारत्वं पराहितकारित्वं दुर्गुणमाचार्यस्य निरूप्य प्रमादिनमाचार्यं शिष्यो बोधयेत्। आचार्यस्य विनयः गुरुविनये वैद्यदृष्टान्तं च प्रदर्श्य केन कर्मविपाकेन गच्छाधिपतिर्भवतीति वर्णितम्। आचार्यस्यातिशया निर्ग्रन्थिनामप्याचार्य इति यथायथं निरूपितम्। आचार्ये कालगते अवधाविते वा आचार्यान्तरस्थापनं तत्र " सुत्तत्थे णिम्माओ " इत्यादिना लक्षणं च प्रतिपादितम्। आचार्यस्य परीक्षां गुरोराचार्यपदे स्थापनाविधिं च तत्र स्थविराः प्रष्टव्याः इति प्रतिपाद्य सपरिच्छदस्यैवाचार्यत्वमिति निरूपितम्। एवम् आणुपुव्वीशब्दे आनुपूर्वीविषयकनिरूपणम् । एवं स्वस्वविषयकसकलविषयपूर्णाः चतुरस्रतो रमणीयाः विपक्षपक्षनिरूपणपूर्वकं युक्तियुतस्वपक्षस्थापननिरूपणगर्भाः पूर्वोक्ता अपरे चेमे शब्दास्तेऽवश्यं विलोकनीयास्तानेवाह। " आता, आधाकम्म, आभिणिबोहिय, आरम्भ, आराधक, आलोयणा, आसातना, आहार, इंद, इंदभूई, इंदिय, इत्थिलिंगसिद्ध, इरया, ईसर, उउ, उग्गम , उग्गह, उदय, उद्देस, उद्देसिय, उप्पत्तिया, उप्पाय, उरब्भ, उवओग, उवट्ठवणा, उववाय, उवसंपया, उवसग्ग, उवहाण, उवहि, उवासगपडिमा, उसभ, उसुयार" एते शब्दा अस्मिन् ग्रन्थे विशेषतो दर्शनीयाः रमणीयविषयपरिपूर्णाश्चेति सूचानिकया निरूपिताः॥

(ग्रन्थनिर्दिष्टप्रकरणानां सङ्केतः)

१	अङ्ग०	अङ्गचूलिका–
२	अनु०	अनुयोगद्वार–
३	अने०	अनेकान्तजयपताका–
४	अन्त०	अन्तगडदशा–
५	अष्ट०	अष्टकयशोविजयकृत–
६	आचा०	आचाराङ्गसूत्र–
७	आ० चू०	आवश्यकचूर्णी–
८	आ० म० प्र०	आवश्यकमलयगिरिप्रथमखण्ड–
९	आ० म० द्वि०	आवश्यकमलयद्वितीयखण्ड–
१०	आतु०	आतुरप्रत्याख्यान–
११	आ० क०	आवश्यककथा–
१२	आव०	आवश्यकवृहद्वृत्ति–
१३	उवा०	औपपातिकसूत्रवृत्ति–
१४	उत्त०	उत्तराध्ययनसूत्र–
१५	उपा०	उपासकदशाङ्ग–
१६	उत्त० नि०	उत्तराध्ययननिर्युक्ति–
१७	एका०	एकाक्षरीकोश–
१८	ओघ०	ओघनिर्युक्ति–
१९	कर्म०	कर्मग्रन्थ–
२०	क० प्र०	कर्मप्रकृत–

२१ कल्प० कल्पसुबोधिका—
२२ ग० गच्छाचारपयन्ना—
२३ गा० गायत्रीव्याख्या—
२४ चं०प्र० चन्द्रप्रज्ञप्ति—
२५ जं० जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—
२६ ज्ञा० ज्ञाताधर्मकथा—
२७ जीत० जीतकल्प—
२८ जी० जीवाभिगम—
२९ जीवा० जीवानुशासन—
३० जैन० जैन इतिहास—
३१ ज्यो० ज्योतिष्करण्ड—
३२ ढुं० प्राकृत (ढुण्ढी) टीका—
३३ तं० तन्दुलवयाली—
३४ तित्थु० तित्थुगाली—
३५ दशा० दशाश्रुतस्कन्ध—
३६ दर्श० दर्शनशुद्धि—
३७ दश० दशवैकालिकाध्ययन—
३८ द०प० दशपयन्ना—
३९ द्रव्या० द्रव्यानुयोगतर्कणा—
४० द्वा० द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (बत्तीसबत्तीसी)—
४१ द्वी० द्वीपसागरप्रज्ञप्ति—
४२ दे०ना० देशीनाममाला—
४३ धर्म० धर्मसंग्रह—
४४ ध० र० धर्मरत्नप्रकरण—
४५ नयो० नयोपदेश—
४६ नं० नन्दीसूत्रवृत्ति—
४७ नि० निरयावलि—
४८ नि० चू० निशीथचूर्णि—
४९ पं० चू० पञ्चकल्पचूर्णि—
५० पं० भा० पञ्चकल्पभाष्य—
५१ पञ्चा० पञ्चाशकसटीक—
५२ पं० व० पञ्चवस्तुकटीका—
५३ पं० सं० पञ्चसंग्रह—
५४ पं० सू० पञ्चसूत्रमूल—
५५ प्रव० प्रवचनसारोद्धार—
५६ प्रति० प्रतिमाशतक—
५७ प्रश्न० प्रश्नव्याकरण—
५८ प्रज्ञा० प्रज्ञापनासूत्र—
५९ पिं० पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति—
६० पिं०मू० पिण्डनिर्युक्तिमूल—
६१ पा० पाक्षिकसूत्रसटीक—
६२ प्रा० प्राकृतव्याकरण—
६३ प्रा० ना० प्राकृतनाममाला—
६४ भ० भगवतीसूत्र—
६५ महा० महानिशीथसूत्र—
६६ मण्ड० मण्डलप्रकरण—
६७ यो० बि० योगबिन्दु—
६८ रत्ना० रत्नावतारिकावृत्ति—
६९ ल० ललितविस्तरावृत्ति—
७० लघु० लघुप्रवचनसार—
७१ व्य० अ० व्यवहारअक्षरार्थ—
७२ वाच० वाचस्पतिकोश—
७३ व्य० प्र० व्यवहारसूत्रवृत्तिप्रथमखण्ड—
७४ व्य० द्वि० व्यवहारसूत्रवृत्तिद्वितीयखण्ड—
७५ ती० विविधतीर्थकल्प—
७६ बृ० बृहत्कल्पवृत्ति—
७७ विशे० विशेषावश्यकवृत्ति—
७८ विपा० विपाकसूत्र—
७९ श्रा० श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति—
८० षो० षोडशप्रकरणसटीक—
८१ स० समवायाङ्गसूत्र—
८२ संथा० संस्तारकपयन्ना—
८३ संस० नि० संसक्तनिर्युक्तिमूल—
८४ संघा० सङ्घाचारभाष्य—
८५ सत्त० सत्तरिसयठाणावृत्ति—
८६ सम्म० सम्मतितर्क—
८७ स्था० स्थानाङ्गसूत्र—
८८ स्या० स्याद्वादमञ्जरी—
८९ सू० प्र० सूर्यप्रज्ञप्तिः सटीक—
९० सूत्र० सूत्रकृताङ्गसूत्र—
९१ सेन० सेनप्रश्नसंस्कृत—
९२ हा० हारिभद्राष्टक—
९३ ही० हीरप्रश्नसंस्कृत—

अ० अध्ययन—
अधि० अधिकार—
अध्या० अध्याय—
अष्ट० अष्टक०—
द्वा० द्वार०—
पाहु० पाहुड़ा—
श्रु० श्रुतस्कन्ध—
वक्ष० वक्षस्कार—

गा०	गाणा—	उल्ला०	उल्लास—
उ०	उद्देश—	प्र०	प्रश्न—
प्रति०	प्रतिपत्ति—	सं०	संवरद्वार—
विव०	विवरण—	अध०	अधर्मद्वार—
पद—	पद—	पुं०	पुंल्लिङ्ग—
परि०	परिच्छेद—	स्त्री०	स्त्रीलिङ्ग—
सम०	समवाय—	न०	नपुंसकलिङ्ग—
		त्रि०	त्रिलिङ्ग—

संकेतसूचना—

सर्वत्र हि सङ्केतज्ञानमन्तरेण न कश्चिदपि सङ्केतितपरिज्ञाने प्रभवतीति सङ्केतसूचनं क्रियते यत्रास्मिन् ग्रन्थे टीकारहिता गाथा उदाहरणपतितानि प्राकृतवाक्यानि संस्कृतश्लोका वा तत्राद्यान्तयोरेन " " चिह्नम्। मूलटीकयोः स्थूलसूक्ष्माक्षरैरेव भेदः प्रदर्शितः क्वचिदनुपयुक्ता टीका न संगृहीता किं तु मूलमात्रमेव स्थूलाक्षरैः प्रकाशितम्। सप्तम्यन्तत्वेन प्रदर्शितस्यार्थस्याधोभागे एत, चिह्नं दत्तम्, यत्रैकस्यानूद्यस्य प्राकृतशब्दस्य द्वित्राः संस्कृतेऽनुवादकशब्दास्तत्र द्वितीयोऽनुवादष्टीकासमपङ्क्तिष्वेव निहितः। अनूद्याः प्राकृतशब्दा अनुवादकाश्च संस्कृतशब्दाः इति गौणमुख्यभावोऽपि प्रदर्शित एव। अनूद्यानुवादकयोर्मध्ये एत—चिह्नमस्ति। येभ्यो ग्रन्थेभ्यः पाठः संगृहीतस्तत्र नामैकदेशे नामग्रहणमिति न्यायमनुश्रित्य ग्रन्थस्य पुंल्लिङ्गादीनां च पूर्ण नामधेयमनुक्त्वा एकं द्वे वा अक्षराणि प्रदर्शितानि एवमध्ययनशतकोद्देशादिखण्डेषु च एक एव वर्णः प्रदर्शितस्तत्र च शून्याकाररूपमेत० चिह्नमपि निहितमस्ति।

विशेषसूचना—

एतत्पुस्तकसंशोधनेऽस्मत्सतीर्थ्ययोर्मुनिश्रीदीपविजय—यतीन्द्रविजययोर्महान् श्रम इति नात्र दूये किन्त्वमुद्रितपुस्तकानामतिजीर्णत्वेन प्रतिपुस्तकमेकैकप्रत्युपलब्ध्या च क्वचिद्गाथादौ टीकावलम्बनैकशरणेन प्रकरणाविपर्याविरोधेन च बहुतरं पर्यालोच्य निहितपदैः पूरितगाथासु कदाचिदेव क्वचिदेव पाठभेदः स्यात्स स्वयमेव सद्भिः संस्करणीयः। किञ्च यदि क्वचिद्यन्त्रदोषेण वर्णानां घर्षणेन च अनुत्थितेषु षकारादिषु दृष्टिदोषादिना वा अशुद्धिः स्यात्सा विद्वद्वरैः शोधनीया इत्यादि सर्वं विज्ञपयन्ति।

श्री श्री १०८ श्री उपाध्याय—मुनिप्रवर मोहनविजयाः।

वृन्दारककल्पवादिवृन्दवन्दितचरणकमल–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–कलिकाल–
सर्वज्ञकल्प–जङ्गमयुगप्रधान–श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय–जैन-
श्वेताम्बराचार्य–श्रीमद्भट्टारक–श्री श्री १००८ श्री
श्री–विजयराजेन्द्रसूरिविरचितः

अभिधानराजेन्द्रः ।

तस्याऽऽकारादिशब्दसङ्कलने द्वितीयो भागः ।

स च

श्रीसर्वज्ञप्ररूपितगणधरनिर्वर्तिताद्यश्रीनोपलभ्यमानाशेष–सूत्र–
तद्वृत्ति–भाष्य–निर्युक्ति–चूर्ण्यादिनिहितसकलदार्शनिक–
सिद्धान्तेतिहास–शिल्प–वेदान्त–न्याय–वैशेषिक–
मीमांसादिप्रदर्शितपदार्थयुक्तायुक्तत्वनिर्णायकः ।

श्रीमुनिदीपविजय––श्रीयतीन्द्रविजयाभ्यां संशोधितः

समस्तजैनश्वेताम्बरसङ्घेन महता परिश्रमेण प्राकाश्यं नीतः ।

*** श्री जैनप्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस रतलाम. ***

श्रीवीर संवत् २४३६
श्रीराजेन्द्रसूरि संवत् ४

श्रीविक्रमाब्दः १९६७
खिस्ताब्द १९१०

श्रीवर्द्धमानो जयति ।

अभिधानराजेन्द्रः ।

सिरिवद्धमाणवाणिं, पणमिअ वत्तीइ अक्खरक्कमसो ।
सद्दे तेसु य सव्वं, पवयणवत्तव्वयं वोच्छं ॥ १ ॥

आ-आ-अव्य० । आप्-क्विप्-पृषो० पलोप । वाक्ये, (पूर्वमित्थं नो अमंस्था , इदानीं त्वेवं मन्यसे इत्येवं वाक्यस्यान्यथात्वद्योतने,) स्मृतौ, (आ एवं मन्यसे इत्येवं विस्मृतस्य स्मृतौ.) अङितो निपातत्वात् प्रगृह्यसंज्ञा । ङितस्तु न । " निपात एकाजनाङ् " ॥ १ । १ । १४ ॥ इति सूत्रात् । अत एवोक्तम्-" मर्यादायामभिविधौ, क्रियायोगेषदर्थयो । य आकारः स ङित् प्रोक्तो, वाक्यस्मरणयोरङित् ॥ १ ॥ " वाच० । अभिविधौ (व्याप्तौ,) " आगमसत्थग्गहणं " ॥ २१ + ॥ आ-अभिविधिना—सकलश्रुतव्याप्तिरूपेण मर्यादया वा । आ० म० १ अ० । " आङोऽभिविहीए० ' (१२७६४) अभिविधौ, । विशे० । ' आगग० ॥ ८+ ॥ " मर्यादया अभिविधिना वा । ओघ० । मर्यादायाम् (सीमनि,) प्रज्ञा० ३६ पद ४६ सूत्र । आ० म० । प्रव० । विशे० । भ० । आघ० । सत्र० । समन्तादित्यर्थे, उत्त० १ अ० १३ गाथा । स० । रा० । सूत्र० । अवागर्थे, (अधोऽर्थे,) प्रज्ञा० २ पद ४६ सूत्र । ईषदर्थे, " आङ मर्यादेषदर्थत्वात् । विशे० १२३४ गाथा । आचा० । एका० । सूत्र० । (अत्राऽङित्त्वलक्षण एव तात्पर्यम् , ङिदश मर्यादायामित्यादयस्तूदाहरणमात्रमत एव अन्यत्रापि ङित्प्रयुज्यते) अमर्षे, आभिमुख्ये, रा० । अनुकम्पायाम , समुच्चये, अङ्गीकारे, कोपे, पिडायाम् , एका० । आ. किमेतदित्येवम विस्मये, स्था० ४ ठा० ३ उ० ३६४ सूत्र० । एका० । सन्तोषे, सुखतनौ, चिरे, लघुवस्तुनि, परितापे, विधौ, सलिले, क्षये, एका० । स्वयम्भुवि, पु० । एका । आचार्य्ये च । स च नाभेकदेश नाममात्रग्रहणात्-ओमितिपदे आशब्द आचार्य्यं वाचयतीति । गा० ।

आअ-(आगअ)-आगत-त्रि० । आयाते, उपस्थिते, प्राप्ते च । आगमने, न० । वाच० । "व्याकरणप्राकारागते क-गोः ॥ ८ । १ । २६८ ॥ इति हैमप्राकृतव्याकरणसूत्रेण वैकल्पिको गकारस्य सस्वरस्य लुक् । प्रा० ।

आ(अं-)अरिस-आदर्श-पु० । दर्पणे, वाच० । "र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा " ॥ ८ । २ । १०४ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारो वैकल्पिकः । प्रा० ।

आअड्ड-व्यापृ-धा० । वि-आ-पृ । व्यापारे, तुदा० आत्म० अनिट् । " व्यापृगेराअड्ड " ॥ ८ । ४ । ८१ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण वैकल्पिक आअड्ड इत्यादेशः । आअड्डइ । वावारेइ । व्याप्रियत इत्यर्थः । प्रा० ।

आअरिअ-आचार्य्य-पुं० । गुरौ, वाच० । "स्याद्भव्य-चैत्य-चौर्य्य-समेषु यात् " ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण यकारात्पूर्व इकारः । प्रा० । " आचार्ये चोऽच्च " ॥८।१।७३॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण अत् । प्रा० ।

आइ-आदि-पु० । आदीयते-(गृह्यते) इति आदि -प्रथम । प्रव० ७१ द्वार १ गाथा । आ-दा-कि आदि । "क ग च ज त-द-प य वा-प्रायो लुक्" ॥८।१।१७७॥ इति दलुक् । प्रथमे, प्रा० । यस्मात्परमस्ति,न पूर्वं स आदि । अनु० ७४ सूत्र । मूलकारणे, प्रज्ञा० ११ पद १६५ सूत्र । मूलमादिरित्यनर्थान्तरमिति । आ० चू० १ अ० । प्रथमोत्पत्तौ , सूत्र० २ श्रु० ५ अ० २ गाथा । प्राथम्ये , उत्त० १ अ० ३३ गाथा । प्रधाने , आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ४ उ० २२ सूत्र । उत्सेधाख्ये नाभेरधस्तने देहभागे, स्था० ६ ठा० ३ उ० ४६५ सूत्र । भेदे, (प्रकारे,) नि० चू० १ उ० । सामीप्ये, व्यवस्थायाम् , अवयवे च । आह च-" सामीप्ये च, व्यवस्थायां, प्रकारेऽवयवे तथा । चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी, आदिशब्दं तु लक्षयेत् ॥ १ ॥ ' प्रश्न० १ आश्र० द्वार ३ सूत्र ।

अस्य चतुर्विधो निक्षेपः नामस्थापना द्रव्यभावभेदात्,नत्रथा-

णामादी ठवणादी , दव्वादी चेव होति भावादी ।
दव्वादी पुण दव्व-स्स, जो सभावो सए ठाणे ॥१२४॥

' णामादी ' त्यादि, आदेर्निक्षेप कर्तुकाम आह-आदेर्नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः । नाम-स्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादि दर्शयति-द्रव्यादिः पुनर्द्रव्यस्य परमाण्वादेर्यः स्वभाव -परि-

णतिविशेषः स्वके स्थाने-स्वकीये पर्याये प्रथमम्-आदौ भवति स द्रव्यादिः द्रव्यस्य-दध्यादेर्य आद्यः परिणतिविशेषः क्षीरस्य विनाशकालसमकालीन एवमन्यस्यापि-परमाण्वादेर्द्रव्यस्य 'जो' यः परिणतिविशेष. प्रथममुत्पद्यते स सर्वोऽपि द्रव्यादिरेवमेव भवति । ननु च कथं क्षीरविनाशसमये एव दध्युत्पाद. । तथाहि-उत्पादविनाशौ भावाभावरूपौ वस्तुधर्मौ वर्तेते न च धर्मो धर्मिणमन्तरेण भवितुमर्हति, अत एकस्मिन्नेव क्षणे तद्धर्मिणोर्दधिक्षीरयोः सत्तामाप्नोत्येतच्च दृष्टेष्टव्याघितमिति, नैष दोषः । यस्य हि वादिनः क्षणमात्रं वस्तु तस्याय दोषो, यस्य तु पूर्वोत्तरक्षणानुगतमन्वयि द्रव्यमस्ति तस्याय दोष एव न भवति । तथाहि-तत्परिणामि द्रव्यमेकस्मिन्नेव क्षणे एकेन स्वभावेनोत्पद्यते परेण विनश्यत्यनन्तधर्मात्मकत्वाद्वस्तुन इति । यत्किंचिदेतत् । तदेव द्रव्यस्य विवक्षितपरिणामेनापरिणमनो य आद्य समय. स द्रव्यादिरिति स्थितं . द्रव्यस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति ।

सांप्रत भावादिमधि कृत्याह—

आगम णोआगमओ, भावादी तं दुहा उवदिसंति ।
णोआगमओ भावो, पंचविहो होइ णायव्वो ॥ १३५ ॥
आगमओ पुण आदी, गणिपिडगं होइ वारसंगं तु ।
गंथसिलोगो पदपा-दअक्खराइं च तत्थादी ॥ १३६ ॥

'आगम' इत्यादि, भाव.-अन्त.करणस्य परिणतिविशेषस्त बुद्धा.-तीर्थकर-गणधरादयो व्यपदिशन्ति-प्रतिपादयन्ति । तद्यथा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र नोआगमत. प्रधानपुरुषार्थतयाचिन्त्यमानत्वात्पञ्चविध -पञ्चप्रकारो भवति । तद्यथा-प्राणानिपातविरमणादीनां पञ्चानामपि महाव्रतानामाद्य प्रतिपत्तिसमय इति । तथा-' आगमओ ' इत्यादि, आगममाश्रित्य पुनरादिरेव द्रष्टव्य । तद्यथा-यदेतद्गणिन-आचार्यस्य पिटक-सर्वस्वमाधारो वा तद् द्वादशाङ्गं भवति । तुशब्दात्-अन्यदप्युपाङ्गादिक द्रष्टव्यम् । तस्य प्रवचनस्यादिभूतो यो ग्रन्थस्तस्याप्याद्य श्लोकस्तस्याप्याद्य पदं तस्यापि प्रथममक्षरम् एवंविधो बहुप्रकारो भावादिर्द्रष्टव्य इति । तत्र सर्वस्यापि प्रवचनस्य सामायिकमादिस्तस्यापि करोमीति पदं तस्याऽपि ककार । द्वादशाना त्वङ्गानामाचाराङ्गम् आदिस्तस्यापि शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमस्यापि च जीवोद्देशकस्तस्यापि ' सुयं ' ति पद तस्यापि सुकार इति पदमादिरिति । अस्य च प्रकृताङ्गस्य समयाध्ययनमस्यापि आद्युद्देशक-लोक-पाद-पद-वर्णादिर्द्रष्टव्य इति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । " ओयम्मि उ गुणकारे, अब्भिंतर मंडले हवइ आई । जुम्मम्मि य गुणकारे, बाहिरगे मण्डले आई " ॥ ४ ॥ अस्यार्थ -ओजोरूपेण-विषमलक्षणेन गुणकारो भवति तत आदि अभ्यन्तरे मण्डल द्रष्टव्य. । युग्मे तु-समे तु गुणकारे आदि बाह्ये मण्डले अवसेय । सू० प्र० १० पाहु० २० पाहु०पाहु० ५६ सूत्र ।

आजि-स्त्री० । अजन्त्यस्यामिति, अज् इण् । संग्रामे, संथा० ८७ गाथा । समरभूमौ. मर्य्यादायाम् वा ङीप् । क्षणे, मार्गे, पुं० । भावे इण् । आक्षेपे च । वाच० ।

आति-पुं० । अत् इण् । शरारिपक्षिणि, सततगन्तरि, त्रि० । वाच० ।

आइ (दिं) अंतियमरण-आत्यन्तिकमरण-न० । अत्यन्तं भवमात्यन्तिक तच्च तन्मरण चेति कर्मधारयः । भ० १३ श० ६ उ० ४१ सूत्र । तृतीये मरणविशेषे, प्रव० ।

आत्यन्तिकमरणमाह—

एमेव आइअंतिय-मरणं न वि मरइ ताणि पुणो ॥२३॥

आर्षत्वादित्ययं निर्देश. । एवमेव-अवधिमरणवदात्यन्तिकमरणमपि द्रव्याविभेदत. पञ्चविधं, विशेष. पुनरयम्-'न वि मरइ ताणि पुणो' त्ति-अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव तानिद्रव्यादीनि पुनर्म्रियन्ते । अयमर्थः-यानि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियन्ते मृताश्च न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यन्तीत्येवं यन्मरणं तद् द्रव्यापेक्षया अत्यन्तभावित्वादात्यन्तिकमिति । एवं क्षेत्रादिष्वपि वाच्यम् । प्रव० १५७ द्वार । उत्त० । स० ।

तद्भेदा यथा—

आदितियमरणे णं, पुच्छा, गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-दव्वादितियमरणे,खेत्तादितियमरणे० जाव भावादितियमरणे । (सूत्र ४९५×) भ० १३ श० ७उ० ।
(एपा भेदा. ' मरण ' शब्दे षष्ठ भागे वक्ष्यन्ते)

आइल्ल-आदिम-त्रि० । आद्य, अनु० । " डिल्ल-डल्लौ भवे ॥ ८ । २ । १६३ ॥ इति इल्ल । प्रा० ।

आइं-आइं-अव्य० । वाक्यालङ्कारे, प्रश्न० ३ संव० द्वार २६ सूत्र । 'आइं' ति निपात. । भ० १४ श० १ उ० ५५० सूत्र । "तक्कर एवं वयासी-अवि-आइं अहं विजया !" (सूत्र ४०×) 'अपि ' संभावने 'आइं' ति भाषायाम् । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

आइकडिल्ल-आदिकडिल्ल-न० । आद्यगहने, तच्चादिकडिल्लमुद्गमोत्पादनैषणारूप ज्ञानादिरूपम् । बृ०१ उ०। "कट्टगमादीसु जधा, आदिकडिल्ले तधा जयतस्स '॥ ३१३ ×॥ नि० चू० ४ उ० ।

आइक्ख-आङ् ख्या-धा० । अदा० पर० सेट् । सामान्येन, कथने,"आइक्खइ ।" समान्येन भाषते इत्यर्थ । औ०२७ सूत्र । सामान्येनाचष्टे । विपा० २ श्रु० १ अ० ३३ सूत्र ।

आख्येय-त्रि० । कथनीये, स्था० ४ ठा० २ उ० ३६७ सूत्र ।

आइक्खग(य)-आख्यायक-पुं० । शुभाशुभमाख्याय जीविकां कुर्वत्या जीविकाविशेष, जं० २ वक्ष० ३० सूत्र ।

आइक्खण-आख्यान-न० । सामन्यत. कथने, सहिताकर्षणपूर्वककथने च । औ०२७ सूत्र । ' संहियकट्टणमादिक्खणं तु" ॥ ८७ ×॥ इह संहितायाः अस्खलितपदोच्चारणरूपाया यदाकर्षणं तत् आख्यानमुच्यते , तच्चेदम्-व्रतसमितिकषायाणां धारणरक्षणविनिग्रहा सम्यक् दण्डभयश्चोपरमो धर्म पञ्चेन्द्रियदमश्चैव भिक्षा गते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं संहिताकर्षणं करोति । बृ० ३ उ० ।

आइक्खमाण-आचक्षाण-त्रि० । कथयति , " आइक्खमाणो " ॥ १५ +॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आइक्खिय-आख्यायिक-न० । पापश्रुतविशेष , सा च मानङ्गविद्या यदुपदेशादनीताभिः कथयन्ति । स्था ६ ठा० ३ उ० ६७८ सूत्र ।

आइक्खित्तए-आख्यातुम्-अव्य०। कथयितुमित्यर्थे, सू० २ उ० २२ सूत्र।

आइगर-आदिकर-त्रि०। आदिं करोति अर्हत्वादावपि टः। स्त्रियां ङीप्,। प्रथमकारके, प्राकृसत्ताकर्त्तरि, वाच०। "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे" (सूत्र-१०४) औ०। "ते सव्वे पावाउया आदिगरा धम्माणं" (सूत्र-४१४)। सूत्र०२ श्रु०२ अ०। आदौ-प्रथमतः श्रुतधर्म्माचारादिग्रन्थात्मकं कर्म करोति तदर्थप्रणायकत्वेन प्रणयतीत्येवं शील.। भ० १ श० १ उ० ५ सूत्र। आदिः-श्रुतधर्मस्य प्रथमा प्रवृत्तिस्तत्करणशीलः। रा०। स्वस्वतीर्थापेक्षया धर्मस्येति। कल्प०१ अधि०२ क्षण १५ सूत्र। जी०। तत्करणहेतुर्वा। ध० २ अधि० ६१ श्लोक। श्रुतधर्मस्य प्रथमप्रवृत्तिकारके तीर्थंकरे च। आव० ५ अ० १ गाथा। स०। "नमोत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं"। रा०। इहाऽऽदौ करणशीला आदिकरा अनाद्यावपि भवे तदा तदा तत्तत्कर्माण्वादिसम्बन्धयोग्यतया विश्वस्यात्मादिगामिनो जन्मादिप्रपञ्चस्येति हृदयम्, अन्यथा-अधिकृतप्रपञ्चाऽसंभवः, प्रस्तुतयोग्यता वैकल्ये प्रक्रान्तसंबन्धाऽसिद्धेः अतिप्रसङ्गदोषव्याघातात्, मुक्तानामपि जन्मादि प्रपञ्चस्याऽऽपत्तेः। प्रस्तुतयोग्यताऽभावेऽपि प्रक्रान्तसम्बन्धाऽविरोधादिति परिभावनीयमेतत्। न च तत्तत्कर्माण्वादेरेव तत्स्वभावतयाऽऽत्मनस्तथा सम्बन्धसिद्धिः, द्विष्ठत्वेन अस्योभयोस्तथास्वभावापेक्षितत्वात्, अन्यथा कल्पनाविरोधात्, न्यायानुपपत्ते, न हि कर्माण्वादेस्तथाकल्पनायामप्यलोकाकाशेन, सम्बन्ध, तस्य तत्संबन्धस्वभावत्वायोगात्, अतत्स्वभावे चाऽऽलोकाकाशे विरुध्यते कर्माण्वादेस्तत्स्वभावताकल्पनेति न्यायानुपपत्तिः, तत्स्वभावताङ्गीकरणे चास्यास्मदभ्युपगतापत्तिः, न चैवं स्वभावमात्रवादसिद्धिः, तदन्यापेक्षित्वेन सामग्र्याः फलहेतुत्वात्, स्वभावस्य चतदन्तर्गतत्वेनेष्टत्वात्। निर्लोठितमेतदन्यत्र इति आदिकरत्वसिद्धिः ॥३॥ ल०। "यद्यप्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीन्न कदाचिन्न भवति, न कदाचिन्न भविष्यति। अभूच्च, भवति च, भविष्यति च" इति वचनात् नित्या द्वादशाङ्गी, तथाऽप्यर्थापेक्षया नित्यत्वं, शब्दापेक्षया तु स्वस्वतीर्थे श्रुतधर्मादिकरत्वमविरुद्धम्। ध० २ अधि० ६० श्लोक।

आइगुण-आदिगुण-पुं०। आदौ गुणः सप्तमीतत्पुरुषः। सहभाविनि गुणे, आव० ४ अ० १२७२ गाथा। (सिद्धानामादिगुणा एकत्रिंशत्, ते च 'सिद्धाइगुण' शब्दे सप्तमभागे द्रष्टव्या.)

आइग्घ-आ घ्रा-धा०। आङ्, घ्रा-भ्वा० पर० अनिट्। गन्धोपादाने, तृप्तौ च। वाच०। 'आघ्रेराइग्घ"॥८।४।१३॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणाऽऽजिघ्रतेर्वैकल्पिक आइग्घाऽऽदेशः। आइग्घइ। आग्घाअइ। जिघ्रनीत्यर्थः। प्रा०।

आइच्च-आदित्य-पुं०। कृष्णराज्यवकाशान्तरस्थलोकान्तिकसप्तकार्चिर्मालिविमानस्थे लोकान्तिकदेवविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ७७ सूत्र। स्था०। भ०। ग्रैवेयकविमानविशेषे, तन्निवासिनि वैमानिकदेवविशेषे च। प्रव० २६७ द्वार। समयावलिकादीनामादौ भवे, बहुलवचनात् त्यप्रत्ययः। सू० प्र० २० पाहु० १०५ सूत्र। भ०। सूर्ये, आव० ४ अ०।

सूर्यस्यादित्यसंज्ञा यथा—

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-सूरे आइच्चे?, सूरे आइच्चे गोयमा! सूरादिया णं समयाइ वा आवलियाइ वा ०जाव उस्सप्पिणीइ वा अवसप्पिणीइ वा से तेणट्ठेणं गोयमा! ०जाव आइच्चे सूरे आइच्चे सूरे। (सूत्र०४५५)

अथादित्यशब्दस्यान्वर्थाभिधानायाह—'सेकेणमित्यादि' 'सूराइय' त्ति—सूरः—आदिः—प्रथमो येषां ते सूरादिकाः के,? इत्याह-'समयाइ व' त्ति-समयाः-अहोरात्रादिकालभेदानां निर्विभागा- अंशाः, तथाहि—सूर्योदयमवधिं कृत्वा अहोरात्रारम्भकः समयो गण्यते आवलिकामुहूर्त्तादयश्च 'से तेणमि' त्यादि, अथ तेनार्थेन सूरः-आदित्य इत्युच्यते इति आदौ अहोरात्रसमयादीनां भव आदित्यः इति व्युत्पत्तेः। त्यप्रत्ययश्चेहाऽऽर्षत्वादिति। भ० १२ श० ६ उ०। सू० प्र०। चं० प्र०।

आदित्यस्यास्तित्वम्—

णाऽऽइच्चो उएइ, ण अत्थमेइ ॥ ७ × ॥

सर्वशून्यवादिनो-ह्यक्रियावादिन सर्वाध्यक्षामादित्योद्गमनादिकामेव क्रियां तावन्निरुधन्तीति दर्शयति-आदित्यो हि सर्वजनप्रतीतो जगत्प्रदीपकल्पो दिवसादिकालविभागकारी स एव तावन्न विद्यते, कुतस्तस्योद्गमनमस्तमयनं वा? यच्च जाज्वल्यमानं तेजोमण्डलं दृश्यते तद् भ्रान्तमतीनां द्विचन्द्रादिप्रतिभासमृगतृष्णिकाकल्प वर्त्तते। (सूत्र०।) अथैतन्मतस्य निराकरणम्-तथाहि-आगोपालाङ्गनादिप्रतीतः समस्तान्धकारक्षयकारी कमलाकरोद्घाटनपटीयानादित्योद्गमः प्रत्यहं भवन्नुपलक्ष्यते। तत्क्रिया च देशाद्देशान्तरावाप्त्याऽन्यत्र देवदत्तादौ प्रतीताऽनुमीयत इति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। सूर्याधिष्ठिते गगने दिवानिशं वम्भ्रम्यमाणे लोकप्रकाशकरे तेजोमण्डले, "अग्नौ प्रस्ताऽऽहुतिः सम्य-गादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टि-र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा." ॥ १ ॥ इति। मनुना अग्निहुतद्रव्याणां हविराज्यादीनां परमाणुमात्रतयाऽवस्थितानां दग्धशेषाणां सूर्यरश्मिकर्षणेन सूर्यलोकप्राप्त्या वृष्टिहेतुत्वमुक्तम्, तच्च मण्डलार्थपरत्व एव सम्भवति। वाच०। अर्कवृक्षे, पुं। आदित्यस्यापत्यम् ण्यः यलोपः आदित्यापत्ये, पुं० स्त्री०। वाच०। "आइच्चो य होई बोधव्वो" ॥ १५ ॥ (भाष्यगा०)। आदित्यास्यायमादित्यः पत्युत्तरपदयमादित्यादितेरिति ञ्याऽपवादस्त्यक्। आदित्यस्याऽयम्। आदित्यः। ("अनिदमि अणपवादे च दित्यदित्यादित्ययमपत्युत्तरपदात् ञ्य." ॥६।१।१५॥ एभ्य प्राग्जितीयेऽर्थे इदं वर्जे अपत्याद्यर्थे यः अणोऽपवादः तद्विषये च ञ्य स्यात्। इति ञ्य *) "व्यञ्जनात्पञ्चमान्तस्थाथा सरूपे वा" ॥१।३।४७॥ इति पाक्षिक एकस्य यकारस्य लोप। आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽप्याऽऽदित्यः (व्य०)। आदित्यसम्बन्धिनि तच्चारनिष्पन्ने मासादौ, स चैकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिकदिनशतप्रमाणस्य षष्ठभागमानः। यदि वा-आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽप्यादित्य। व्य०१ उ०। "जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा भवइ तस्स पुव्वदिसा" ॥ (४७४)। आचा०१ श्रु०१

अ० १ उ०। ('दिसा' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्या द्रष्टव्या)

आइच्चगय-आदित्यगत-त्रि०। सूर्याऽऽक्रान्ते नक्षत्रादौ, "आइच्चगए अनिव्वाणी" ॥ रविगते नक्षत्रे शुभप्रयोजने प्रारभ्यमाणेऽसुखम्। चू० १ उ० *।

आइच्चजस-आदित्ययशस्-पुं०। ऋषभदेववंशजे भरतात्मजे नृपभेदे, आ० चू० १ अ०। "राया आइच्चजसे०" ॥३६३॥ आ० म० १ अ०। स्था०। स च पुण्डरीकशिखरे सिद्ध। ती० १ कल्प। आदित्ययशःप्रभृतयो भगवन्नाभेयवंशजाः त्रिखण्डभरतार्द्धमनुपाल्य पर्यन्ते पारमेश्वरीं दीक्षामतिगृह्य तत्प्रभावतः सकलकर्मक्षयं कृत्वा सिद्धिमगमन्निति। न० ५६ सूत्र।

आइच्चपीढ-आदित्यपीठ-न०। गजपुरस्थे श्रेयांसेन कारिते आदितीर्थकरस्य रत्नमये पादपीठे, आ० म०।

तद्वक्तव्यता यथा-

"सेज्जंसो वि तत्थ ठिनो भयवं पडिलाभिनो ताणि पयाणि पाएहिं मा अक्कमिस्सामि त्ति भत्तीए तत्थ रयणमयं पीढं करेइ तिसञ्झं च पूएइ। पव्वदिवसे विसेसेण पूइऊण भुञ्जइ। लोगो पुच्छइ। किमेयं-सेज्जंसो भणइ-"आइनित्थयरमण्डल' ततो लोगेण वि जत्थ जत्थ भयवं ठिनो तत्थ तत्थ पीढं कयं। कालेण य "आइच्चपीढ" जाय ॥ (३४५ गाथाटी०) अक्षरगमनिका क्रियाध्याहारतः कार्या। यथा गजपुर नगरमासीत् तत्र श्रेयांसः सोमयशसो राज्ञः पुत्रः, तेन-क्षुरसदानं भगवने कृतम्। तत्रार्द्धत्रयोदशहिरण्यकोटी वसुधारा निपतिता। पीठमिति यत्र भगवता पारितं तत्र तत्पादयोर्मा कश्चिदाक्रमणं कार्षीदिति श्रेयांसेन भक्त्या रत्नमयं पीठं कारितं गुरुपूजेति तदर्चनं कृतवान्। आ० म० १ अ०।

आइच्चमास-आदित्यमास-पुं०। आदित्यस्यायमादित्य। आदित्यचारनिष्पन्नत्वादुपचारतो वाऽऽदित्यः स चासौ मासश्च कर्मधारयसमास। आदित्यचारनिष्पन्ने मासभेदे, स चैकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिकशत-दिनप्रमाणस्य षष्ठभागप्रमाणः। व्य० १ उ० ४५ गाथा।

आइच्चे णं मासे एक्कतीसं राइंदियाणं किंचि विसेसूणाई राइंदिग्गेणं पन्नत्ते। (सूत्र ३१×)।

आदित्यमासो-येन कालेनादित्यो राशिं भुङ्क्ते 'किंचि वि-सेसूणाइं' ति-अहोरात्रार्द्धेन न्यूनानीति। स० ३१ स०।

आइच्चो खलु मासो, तीसं अद्धं च ॥३७×॥

आदित्यसंवत्सरसम्बन्धी खलु मासो भवति त्रिंशद्रात्रिन्दिवानि एकस्य च रात्रिदिवसस्यार्धम्। तथाहि-सूर्यसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीणि शतानि षट्षष्ठ्यधिकानि रात्रिदिवानि द्वादशभिश्च मासैः संवत्सरस्ततस्त्रयाणां शतानां षट्षष्ठ्यधिकानां द्वादशभिर्भागे हृते यथोक्तं मासपरिमाणं भवति। ज्यो० २ पाहु०।

आइच्चवण्ण-आदित्यवर्ण-त्रि०। भास्वरे, षो० १५ विव० १४ श्लोक।

आइच्चसंवच्छर-आदित्यसंवत्सर-पुं०। प्रमाणसंवत्सराणां मध्ये चतुर्थे संवत्सरविशेषे, यावता कालेन षडपि प्रावृडादय ऋतवः परिपूर्णा आवृत्ता भवन्ति तावान् कालविशेष आदित्यसंवत्सरः। उक्तं च-"छप्पि उऊ परियट्टा, एसो संवच्छरो उ आइच्चो" तत्र यद्यपि लोके षष्ट्यहोरात्रप्रमाणः प्रावृडादिक ऋतुः प्रसिद्धः, तथापि परमार्थेन स एकषष्ट्य-होरात्रप्रमाणो वेदितव्यः तथैवान्तरकालमव्यभिचारदर्शनात् अत एवास्मिन् संवत्सरे त्रीणि शतानि षट्षष्ट्यधिकानि रात्रिंदिवानां भवन्ति। चं० प्र० १० पाहु० २० पाहु० पाहु०। तत्र त्र्यशीत्यधिकशततमोऽहोरात्रः प्रथमस्य षण्मासस्य पर्यवसानम्। षट्षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽहोरात्रो द्वितीयस्य षण्मासस्य पर्यवसानम्। एष एवंप्रमाण आदित्यसंवत्सरः। चं० प्र० १ पाहु०। (एतस्य वक्तव्यता 'अहोरत्त' शब्दे प्रथमभागे गता।) ('संवच्छर' शब्दे सप्तमभागे च वक्ष्यते।) (अयमेव लक्षणप्रधानतया लक्षणसंवत्सरान्तर्गतोऽपि।)

तल्लक्षणं यथा—

पुढविदगाणं च रसं, पुप्फफलाणं च देइ आइच्चो।
अप्पेण वि वासेण वि, सम्मं निप्पज्जए सस्सं ॥ ४ ॥

पृथिव्या उदकस्य तथा पुष्पाणां फलानां च रसमादित्यसंवत्सरो ददाति, तथा अल्पेनापि-स्तोकेनापि वर्षेण वृष्ट्या सस्यं निष्पद्यते, अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् सस्यं निष्पादयति। किमुक्तं भवति-यस्मिन् संवत्सरे पृथिवी तथाविधोदकसंपर्कादतीव सरसा भवति। उदकमपि परिणामसुन्दररसोपेतं परिणमते। पुष्पाणां च मधूकादिसंबन्धिनां फलानां च चूतफलादीनां रसः प्रचुरः संभवति। स्तोकेनापि वर्षेण धान्यं सर्वत्र सम्यक् निष्पद्यते तम्-आदित्यसंवत्सरं पूर्वर्षयः उपदिशन्ति। सू० प्र० १० पाहु० २० पाहु० पाहु०। स्था०।

आइजिण-आदिजिन-पुं०। ऋषभदेवे, हेम०। वाच०।

"नामऊण तमाइजिणं, जस्सीसे सोहए जडामउडो।
कप्पाकप्पवियारं, पच्चक्खाणे भणिस्सामि ॥ १ ॥"

ल० प्र०॥

आइ(दे)ज्ज-आदेय-त्रि०। आ-दा-यत्। ग्राह्ये, जं० २ वक्ष०। उपादेये, उत्त० १ अ०।

आइ(दे)ज्जमाण-आद्रियमाण-त्रि०। आद्रीक्रियमाणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

आइ(दे)ज्जवक्क-आदेयवाक्य-त्रि०। ग्राह्यवाक्ये, "स सुद्धसुत्ते उवहाणवक्के, धम्मं च जे विन्दति तत्थ तत्थ ॥ आदेज्जवक्के०" ॥२७×॥ एतद्गुणसम्पन्नश्चादेयवाक्यो भवति। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

आइ(दे)ज्जवयण-आदेयवचन-त्रि०। सकलजनग्राह्य-वाक्ये, दशा० १ अ०। उत्त०। स्था०।

आइ(दे)ज्जवयणया-आदेयवचनता-स्त्री०। सकलजन-ग्राह्यवाक्यताया ग्राह्यवचनतारूपे वचनसम्पद्भेदे, उत्त० १ अ०। स्था०।

आइञ्छ-कृष-धा०। तुदा० आ० प०। स्वा० पर० अनिट् च। आकर्षणे, विलेखने च। वाच०। "कृषः कड्ढ-साअड्ढाञ्छाणच्छायञ्छाइञ्छाः" ॥ ८। ४। १८७॥ इति वा कृषेराइञ्छा-देशः। आइञ्छइ। पक्षे-करिसइ। कृषते कर्षति वा। प्रा०।

कर्ष–पुं०। भावे घञ्। आकर्षणे, विलेखने च। वाच०।

आइट्ठ–आतिष्ठ–न०। अति-स्था-क-षत्वम्। अतिष्ठस्तस्य भाव. अण्। अतिक्रम्य स्थितौ, उत्कर्षे, वाच०।

आदिष्ट–न०। आ-दिश्। भावे, आज्ञायाम्, उपदेशे च। कर्मणि क्त.। उपदिष्टे, व्याकरणप्रसिद्धे स्थानिजाते वर्णे च। त्रि०। यथा इक स्थाने यण् आदिश्यते इति इको यणादिष्ट इत्युच्यते। आज्ञप्ते, उच्छिष्टे, अनुशिष्टे, त्रि०। वाच०। चोदिते, त्रि०। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। आदेशे, भ० १२ श० १० उ०। विशेषरूपेण निर्दिष्टे, त्रि०। यथाऽयं देवदत्तोऽयं यज्ञदत्त इति। वृ० ४ उ०। आविष्टे, अधिष्ठिते, त्रि०। स्था० ५ ठा० २ उ०।

आइट्ठि–आदिष्टि–स्त्री०। धारणायाम्, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आइड्ढि–आत्मर्द्धि–स्त्री०। आत्मन ऋद्धिः षष्ठीतत्पुरुषः। स्वकीयशक्तौ, आत्मलब्धौ च। भ० १० श० ३ उ०।

आइड्ढिय–आत्मर्द्धिक–पुं०। आत्मान एव ऋद्धिर्यस्य ६ बहु०। स्वकीयशक्तिसम्पन्न, स्वकीयलब्धिसम्पन्ने च। भ०।

आइड्ढीए णं भंते! देवे ०जाव चत्तारि पंच देवावासंतराइं वीइक्कंते, तेण परं परिड्ढीए?, हंता गोयमा! आइड्ढीए णं तं चेव०, (जाव) एवं असुरकुमारे वि, णवरं असुरकुमारावासंतराइं मेसं तं चेव, एवं एएणं कमेणं०जाव थणियकुमारेऽवि, एवं वाणमंतरजोइसिए वेमाणिए०जाव तेण परं परिड्ढिए। (सूत्र ४४१+)

'आइड्ढीए णं' ति-आत्मर्द्ध्या—स्वकीयशक्त्या। अथवा-आत्मन. एव ऋद्धि यस्याऽसौ आत्मर्द्धिक। 'देवे' त्ति-सामान्य, 'देवावासंतराइं' ति-देवाऽऽवासविशेषान्। 'वीइक्कते' त्ति-व्यतिक्रान्त. लङ्घितवान्। क्वचिद्-व्यतिव्रजतीति पाठ। भ० १ श०३ उ०। (अधिकम् 'इड्ढि' शब्दे) ऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते।

आइणाह–आदिनाथ–पु०। ऋषभदेवे, आ० म० १ अ०। (वृत्तम्-'उसह' शब्देऽ-स्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आइणियंठ–आदिनिर्ग्रन्थ–पु०। प्रथमनिर्ग्रन्थ पुलाके, प्रति०।

"हिट्ठट्ठाणट्ठिओ वि, पावयणिगणिट्ठयाइ अधरे उ।
कडजोगि जं णिसेवइ, आइणियट्ठु व्व सो पुज्जो ॥१॥"

अस्यार्थ—अधरे-आत्यन्तिके कार्ये समुत्पन्ने कृतयोगी-कृताभ्यासः आदिनिर्ग्रन्थ.-पुलाक. अधस्तनस्थानस्थितस्यैव पुष्टालम्बनेऽपि वैक्रियाद्यधिकारित्वं न तु तत्करणप्रयोज्याधस्तनस्थानस्थितिरिति परमार्थ। प्रति० ८ श्लोक।

आइण्ण–आकीर्ण–त्रि०। व्याप्ते (युक्ते) रा०। आकीर्णे, समाकुले, वृ० १ उ०। संकीर्णे, औ०। संकुले, आचा० २ श्रु ०१ चू० १ अ० ३ उ० १७ सूत्र। "आइण्णओमाणविवज्जणा य"। आकीर्णावमानवर्जना च विहारचर्या प्रशस्ता। दश० २ चू०। आकीर्यते-व्याप्यते विनयादिगुणैरिति। जात्ये अश्वविशेषे च। स च जवविनयादिगुणैर्युक्त.। स्था० ४ ठा० ३ उ०। "आइण्णवरतुरयसुसंपउत्ते" भ०७श०८उ०। जात्यवरतुरंग, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "कसं व दट्ठुमाइन्ने पावगं परिवज्जए" उत्त० १ अ०। पुरुषविशेषे च। स च विनयादिगुणोपेतः। स्था० ४ ठा० ३ उ०। जवादिगुणयुक्ते अश्वे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०। स्था०। विक्षिप्ते च। वाच०।

आचीर्ण–त्रि०। आचर्यते इति। कल्पनीये, नि० चू०१ उ०। आसेविते, दर्श० १ तत्त्व। आइण्ण णाम ज साहूहिं आयरियं विणा वि ओमादिकारणेहिं गेण्हइ। नि० चू० १५ उ०। आचीर्णम्-आसेवितं. तच्च नामादि षोढा, तद् व्यतिरिक्तं द्रव्याऽऽचीर्णं सिंहादेस्तृणादिपरिहारेण पिशितभक्षणम्. क्षेत्राऽऽचीर्णं वाल्हीकेषु सक्तव। कोङ्कणेषु पेया। कालाचीर्णं त्विदम्-"सरसीचंदणपङ्को, अग्घइ सरसा य गंधकासाई। पाडलिसिरीसमल्लिय, पेयाइ काले निदाहम्मि ॥१॥" भावाचीर्णं तु ज्ञानादिपञ्चक, तत्प्रतिपादकश्चाचारग्रन्थ.। "आइण्णं जं पुण अणुण्णायं।" आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। अनुज्ञात, नि० चू० १५ उ०। (आचीर्णलक्षणादि 'जीयव्ववहार' शब्दे। चतुर्थभागे वक्ष्यंत)

आइण्णजणमणुस्स–आकीर्णजनमनुष्य–त्रि०। मनुष्यजनेनाकीर्णः-सकीर्ण इति मनुष्यजनाकीर्णेति वाच्ये राजदन्तादि (३। १। १४६। हैम०) दर्शनात्परनिपात.। मनुष्यजनसंकुल, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०।

आइण्णट्ठाण–आकीर्णस्थान–न०। हिरण्यादिवस्तुव्याप्त स्थान, "आइण्णाईणि वज्जए ठाणे।" (+ ४२४ गाथा) भिक्षार्थं प्रविष्ट साधु आकीर्णादिस्थान परिवर्जयेत्। यत्र हिरण्यादिविक्षिप्तमास्ते तदाकीर्णस्थान तच्च साधुना वर्जनीयम्। ओघ०।

आइण्णणायज्झयण–आकीर्णज्ञाताध्ययन–न०। ज्ञाताङ्गस्य सप्तदशऽध्ययनं. आ० चू० ४ अ०। आव०। स०।

आइण्णमणाइण्णकप्प–आचीर्णाऽनाचीर्णकल्प–पुं०। आसेविताऽनासेवित आचारे, पं० भा०।

तद्वर्णनं यथा—

आइण्णमणाइण्णे, कप्पं तु गुरूवदेसेणं ॥
आहारचउके करण, फासणे खेत्तकालउवगरणे।
आइण्णे आइण्णं, तव्विवरीए अणाइण्णं ॥
आहारचउक्कं खलु, असणादीयं तु होति णायव्वं।
करणं आयरणं तु, तस्स तु जं जत्थ आइण्णं ॥
पिसितं सिंधूविसए, वातिं पुण उत्तरावहाऽऽइण्णं।
तंबोलं दमि(वि)ले(डे)सुं, एमादी खेत्तमाइण्णं ॥
काले दुब्भिक्खादिसु, व (प) लंवमादी तु सव्वमाइण्णं।
उवगरणे आइण्णं, वोच्छामि अतो समासेणं ॥
सिंधू आयलियाइं, काला कप्पा सुरट्ठविसयम्मि।
दुग्गुल्लादिपुंडवद्धण, महरट्ठेसुं च जलपूरा ॥
एवं जत्थाऽऽइण्णं, तहियं तु कप्पतीति आयरिउं।
इतरत्थ कारणम्मि, फासणगहणं च परिभोगो ॥
आइण्णे चउवग्गो, ण य पीलाकारओ पवयणस्स।
ण य मइलणा पवयणे, आइण्णं आयरे कप्पं ॥
आहारउवहिसेज्जा, सेहा चउवग्गो होति णायव्वो।

पवयणपीलुवघातो, पिमिया ताइ मजया इत्ति ॥
चोदेइ का मइलणा, भएणति परिसहियाणं जे सेवे ।
सा हाति मइलणा तु, जो पुण सुपरिट्ठिओ चरणे ॥
तणहो तु सलाहती, भणति गुणेहि य एसु जुत्तो त्ति ।
सुट्ठुकरे तप्पहितं, जो पुण करणे मजुतो उ ॥
तं दट्ठु संदेहो, उप्पज्जति किएणु एस सच्छंदो ।
आऊणं उवएसा, एरिसओ देमिओ समए ॥
अह जिणकप्पियाण वि,आइसं किंचि अत्थि अह णत्थि
भएणति णत्थि किं पुण, आयरियजिणकप्पिताऽऽइसं॥
आहारउवहिदेहे, णिरविक्खो णवरि णिज्जरापेही ।
सघयणविरियजुत्तो, आइसं आयरति कप्पं । पं० भा० ५ कल्प ।

इयाणिं आइएण-मणाइएणकप्पा समं चय जंति । गाहा-आहार चउक्के—आहारो चउव्विहो जत्थाऽऽइएणो तत्थ नऽत्थि दोसो । जहा-सिंधूए-पोग्गल । उत्तरावहे-विथड । तबोल-दमिलेसु (द्रविडेषु) । फासुओ घत्थादि । आइएण-मणाइएणे । एव खत्ते, काल वि । ओमायरियाए सव्वाइं आइएणाइं । उवगरणे जहा-सिंधूए-अलाउ । पोंडवद्धणे दुकूला । सुरट्ठाए-कालकवलीओ । महारट्ठाए-जलपूरगा । एवमाइ जत्थाऽऽइएणाणि तत्थ कप्पो । इयरथा कारणेण कप्पन्ति । गाहा—' आइएणं चउ ' आइएणं पुण 'चउवग्गा ' त्ति-अमणाइएणा य पवयणपीला भवइ । विपरिणामेण-अणाइएहं पुण वियडाइ अणुयाइसु मइलणा । एए वि-यडमक्खा गिहत्था वियरंति अप्पणा अणिविता । तहा पोग्गले जत्थ ण विचत्त तत्थ भणइ लोगो-एएसिं नइएवियमिहत्थं वारेति मा पोग्गल खाइ । अहिंसगा य होइ । सव्वमेएसिं कैयवं । असउव्भावादियाए एसा पीला । गाहा-का ? मइलणा प्रवचने उच्यते सूत्रार्थ'-प्रतिषेधमाचरिंत सा मइलणा । करणजुत्तेसु पुण एव नो भवइ । अहो सुदट्ठु ण्यं । न्माइ अकरणजुत्तो पुण संसओ भवइ । किमेस अप्पच्छन्दए करेइ ?, उवएसा एरिसा । एवं ससओ भवइ । आहजिणकप्पे किंचि आइएहमत्थि । गाहा—' आहारोवहि । ' उच्यते-आहारोवहिदेहेसु सो भयव निरवेक्खा, न केवलं निज्जरा, मोक्खो वलविरियसघयणजुत्तो आइएह कप्पमेव आयरइ । सइ वि आइएहे जिणकप्पियपाउग्ग त आयरइ । एस आइएहकप्पो । पं० चू० ५ कल्प ।

आइसहय-अ.कीर्णहय-पु० । आकीर्णो-गुणैर्व्याप्त स चासौ हयश्च आकीर्णहय । क० स० । जात्येऽश्वविशेषे, स च जर्वाचनयादिगुणोपेन ।" आइएणहए व्व निरुवलेवे " यथा जात्योऽश्वो मूत्रपुरीषाद्यनुपलिप्तगात्र. । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आइतित्थयर-आदितीर्थकर-पु० । ऋषभदेवस्वामिनि, "भगवओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स " । न० ८३ सूत्र ।

आइतित्थयरमडल-आदितीर्थकरमण्डल-न० । श्रेयांसेन कारिते आदितीर्थकरस्य पीठ, आ० म० १ अ० ३४५ गाथा-टी० । ('आइच्चपीढ' शब्देऽस्मिन्नेव भाग विशेषो गतः)

आइत्त-आदीप्त-त्रि० । ईषद्दीप्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

आइत्ता-आदाता-त्रि० । गृहीतरि, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

आइत्तु-आदाय-अव्य० । गृहीत्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० १२७ सूत्र ।

आइद्ध-आविद्ध-त्रि० । आ-व्यध-क्त । प्रेरित, दर्श० ४ तत्त्व । ताडिते, विद्ध, छिद्रिते, क्षिप्त च । वाच० ।

आदिग्ध-त्रि० । व्याप्त, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

आइदाण-आदान-न० । ग्रहणे, प्रश्न० * ।

आइधम्मिय-आदिध (धा) र्मिक-पुं० । एतत्संज्ञया प्रसिद्धे अपुनर्बन्धकापरपर्याये प्रथमारब्धस्थूलधर्माचारे, ध० । (धर्मसंग्रहे गृहस्थधर्मानुकत्वेतल्लक्षणादि प्रतिपादितम् ।)

अथ पूर्वोक्तगुणयत एव संज्ञाविशेषविधि, तदवस्थाविशेषविधिं चाऽऽह—

स आदिधार्मिकश्चित्र-स्तत्तत्तन्त्रानुसारतः ।
इह तु स्वागमापेक्षं, लक्षणं परिगृह्यते ॥ १७ ॥

स -पूर्वोक्तगुणस्तरोत्तरगुणवृद्धियोग्यतावान् आदिधार्मिक -प्रथममेवारब्धस्थूलधर्माचारत्वेनादिधार्मिकसंज्ञया प्रसिद्ध , स च तानि तानि तन्त्राणि-शास्त्राणि तदनुसारतश्चित्रो-विचित्राचारो भवति । भिक्षाचारस्थितानामप्यन्त -शुद्धिमतामपुनर्बन्धकत्वाऽविरोधात्, अपुनर्बन्धकस्य हि नानास्वरूपत्वात् तत्तत्तन्त्रोक्ताऽपि मोक्षार्थी क्रिया घटते । तदुक्तं योगबिन्दौ-"अपुनर्बन्धकस्यैव, सम्यग्नीत्योपपद्यते । तत्तत्तन्त्रोक्तमखिल-मवस्थाभेदसंश्रयात् ॥२५१॥" इति (अस्य व्याख्या ' अणुट्ठाण ' शब्दे प्रथमभागे ३७७ पृष्ठे गता) । इह तु प्रक्रमे स्वागमापेक्षं-स्वागमानुसारि 'लक्षण'-व्यञ्जकं प्रक्रमादादिधार्मिकस्य ' परिगृह्यते '-आश्रीयते । यो ह्यन्ये. शिष्टबोधिसत्त्वनिवृत्तप्रकृत्यधिकारादिशब्दैरभिधीयते स एवास्माभिरादिधार्मिकापुनर्बन्धकादिशब्दैरिति भाव' । लक्षणमित्यत्रैकवचन जात्यपेक्षं , तल्लक्षणसंपादनविधिश्चायमुक्तो ललितविस्तरायाम्-" परिहर्त्तव्योऽकल्याणमित्रयोग. । सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि । न लङ्घनीयोचितस्थिति-, । अपेक्षितव्यो लोकमार्ग , । माननीया गुरुसंहतिः भवितव्यमतत्तन्त्रेण , प्रवर्तितव्य दानादौ, । कर्त्तव्योदारपूजा भगवताम् । निरूपणीय. साधुविशेष । श्रोतव्य विधिना धर्मशास्त्रम् । भावनीय महायत्नेन । प्रवर्तितव्यम्-विधानत. । अवलम्बनीय धैर्यम् । पर्यालोचनीया आयति' । अवलोकनीयो मृत्यु । भवितव्य परलोकप्रधानेन । सेवितव्यो गुरुजन. । कर्त्तव्यं योगपटदर्शनम् । स्थापनीयं तद्रूपादि चेतसि । निरूपयितव्या धारणा । परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः । यतितव्य योगसिद्धौ । कारयितव्या भगवत्प्रतिमा' । लेखनीय भुवनेश्वरवचनम् । कर्तव्यो मङ्गलजाप.। प्रतिपत्तव्यं चतु शरणम् । गर्हितव्यानि दुष्कृतानि । अनुमोदनीय कुशलम् । पूजनीया मन्त्रदेवता । श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि । भावनीयमौदार्यम् । वर्त्तितव्यमुत्तमज्ञाने(त)न । एवंभूतस्य येह प्रवृत्ति सा सर्वैव साध्वी । मार्गानुसारी ह्यय नियमादपुनर्बन्धकादि. । तद-

स्यैवंभूतगुणसम्पदोऽ (दोऽ) भावात्, अत आदित आरभ्यास्य प्रवृत्तिः सत्प्रवृत्तिरेव नैगमानुसारेण चित्रापि प्रस्थकप्रवृत्तिकल्पा । तदेतदधिकृत्याहु:—"कु" ठारादिप्रवृत्तिरपि रूपनिर्माणप्रवृत्तिरेव" तद्वदादिधार्मिकस्य धर्मे कार्त्स्न्येन तद्गामिनी न तद्बाधिनीति हार्दम् । तत्त्वाविरोधकं हृदयमस्य, तत. समन्तभद्रता, तन्मूलत्वात्सकलचेष्टितस्य, एवमतोऽपि विनिर्गतं तत्तद्दर्शनानुसारत सर्वमिह योज्यं सुसमरिडतप्रबोधदर्शनाद्रि । न ह्येव प्रवर्त्तमानो नेष्टसाधक इति । भवनोऽप्येतद्यल्लालिङ्गोऽपुनर्बन्धक इति तं प्रत्युपदेशसाफल्यम् । " नानिवृत्ताधिकारायां प्रकृतावेवंभूत " इति कापिलाः । 'नाऽनवाप्तभवविपाक' इति च सौगता. । 'अपुनर्बन्धकास्त्वेवंभूता' इति जैना. इति । ध० १ अधि० । ल० ।

अथोक्तस्वरूपस्यादिधार्मिकस्य सद्धर्मदेशनायोग्यत्वं दर्शयति—

स धर्मदेशनायोग्यो, मध्यस्थत्वाज्जिनैर्मतः ।
योगदृष्ट्युदयात्सार्थं, यद्गुणस्थानमादिमम् ॥ १८ ॥

स -पूर्वोक्तगुणसम्पत्त्या प्रसिद्ध आदिधार्मिक' धर्मदेशनायोग्य.—लोकोत्तरधर्मप्रज्ञापनार्हः जिनै —अर्हद्भिर्मत -उपदिष्ट । कालतश्चाय चरमावर्त्तवर्त्त्येवत्यनुक्तमपि ज्ञेयम् । यत उक्तम् (हरिभद्रसूरिरचिते) उपदेशपदे-

घणमिच्छत्तो कालो, एत्थ अकालो उ होइ णायव्वो ।
कालो उ अपुणबंधग,-पभिई धीरेहिं णिद्दिट्ठो ॥ १ ॥
णिच्छयओ पुण एसो, विन्नेओ गंठिभेअकालम्मि ।
एयम्मि विहिसयपा-लणाउ आरोग्गमेयाओ ॥ २ ॥"

एतद्वृत्तिर्यथा-घन-मिथ्यात्व यत्र स तथा कालोऽचरमावर्त्तलक्षण 'अत्र' वचनौषधप्रयोगे ' अकालस्तु ' अनवसर एव भवति—विज्ञेयश्चरमावर्त्तलक्षणस्तु तथाभव्यत्वपरिपाकतो बीजाधानबीजोद्भेदबीजपोषणादिषु स्यादपि काल इति । अत एवाह—'कालस्तु' अवसर. पुनरपुनर्बन्धकप्रभृतिस्तत्रादिशब्दान्मार्गाभिमुखमार्गपतितौ गृह्यते । तत्र मार्गः—चेतसोऽवक्रगमनं भुजङ्गनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रवण स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषो हेतुस्वरूपफलशुद्धयभिमुख इत्यर्थ', तत्र पतितो भव्यविशेषो मार्गपतित इत्युच्यते । तदादिभावापन्नश्च मार्गाभिमुख इति । एतौ चरमयथाप्रवृत्तकरणभागभाजावेव ज्ञेयौ । अपुनर्बन्धकोऽपुनर्बन्धककाल. प्रभृतिर्यस्य स तथा, धीरैर्निर्दिष्टो व्यवहारत इति ॥ १ ॥ निश्चयतस्तु कालो ग्रन्थिभेदकाल एव, यस्मिन् कालेऽपूर्वकरणानिवृत्तिकरणाभ्यां ग्रन्थिर्भिन्नो भवति तस्मिन्नेवेत्यर्थ. । यतोऽस्मिन् विधिनाऽवस्थोचितकृत्यकरणलक्षणेन सदा-सर्वकालं या पालना-वचनौषधस्य तया कृत्वाऽऽरोग्यं संसारव्याधिरोधलक्षणम्, एतस्माद्-वचनौषधप्रयोगाद्भवति । अपुनर्बन्धकप्रभृतिषु वचनप्रयोग. क्रियमाणोऽपि न तथा सूक्ष्मबोधविधायकोऽनाभोगबहुलत्वात्तत्कालस्य । भिन्नग्रन्थ्यादयस्तु व्यावृत्तमोहत्वेनातिनिपुणबुद्धितया तेषु तेषु कृत्येषु वर्त्तमानास्तत्कर्मव्याधिसमुच्छेदका जायन्त इति । ध० १ अधि० । ननु "गलमच्छभवविमोअग-विसन्नभोईण जारिसो एसो । मोहासुहो वि असुहो, तप्फलओ एवमेसो त्ति ॥१॥" श्रीहरिभद्रवचनानुसारेण विपर्यासयुक्तत्वान्मिथ्यादृशां शुभपरिणामोऽपि फलतोऽशुभ एवेति कथमादिधार्मिकस्य देशनायोग्यत्वमित्याशङ्कायामाह—'मध्यस्थत्वात्' इति-रागद्वेषरहितत्वात् पूर्वोक्तगुणयोगादेव माध्यस्थ्योपपत्तेरित्यर्थ. । मध्यस्थस्यैव ह्यागमेषु धर्मार्हत्वप्रतिपादनात्, यतः-" रत्तो १ दुट्ठो २ मूढो ३, पुव्विं वुग्गाहिओ ४ अ चत्तारि । एए धम्माऽणरिहा, धम्मे अरिहो उ मज्झत्थो, " ॥ १ ॥ त्ति श्रीहरिभद्रवचन तु कदाग्रहग्रस्ताभिग्रहिकमाश्रित्येति न विरोधः । इदमत्र हृदयम्-यः खलु मिथ्यादृशामपि केषांचित्स्वपक्षनिबद्धो दूरानुबन्धानामपि प्रबलमोहत्वे सत्यपि कारणान्तरादुपजायमानो रागद्वेषमन्दतालक्षण उपशमो भूयानपि दृश्यते स पापानुबन्धिपुण्यहेतुत्वात्पर्यन्तदारुण एवं, तत्फलसुखव्यामूढानां तेषां पुण्याभासकर्मोपरमे नरकादिपातावश्यभावादित्यसत्प्रवृत्तिरेवायम् । यश्च गुणवत्पुरुषप्रज्ञापनार्हत्वेन जिज्ञासादिगुणयोगान्मोहापकर्षप्रयुक्तरागद्वेषशक्तिप्रतिघातलक्षण उपशम, स तु सत्प्रवृत्तिहेतुरवाग्रहनिवृत्तेः सदर्थपक्षपातसारत्वादिति । नन्वेवमपि स्वागमानुसारिण आदिधार्मिकस्योपपन्नं माध्यस्थ्यं परं तस्य विचित्राचारत्वेन भिन्नाचारस्थितानां तेषां स्वस्वमतनिष्ठानां कथं तदुपपद्यते ? तदभावे च कथं देशनायोग्यत्वमित्यत्राह-' योगे ' त्यादि-यद्यस्माद्धेतोः, तस्येति शेषः, ' योगदृष्ट्युदयात् '-योगदृष्टिप्रादुर्भावात् । ' आदिमं ' 'गुणस्थानं ' ' सार्थम् '-अन्वर्थं भवति । अय भावः-मिथ्यादृष्टयोऽपि परमार्थगवेषणपरा. सन्त पक्षपातं परित्यज्याद्वेषादिगुणस्था खेदादिदोषपरिहाराद्यदा संवेगतारतम्यमाप्नुवन्ति । तदा मार्गाभिमुख्यात्तेषामिक्षुरसकक्क(क्व)गुडकल्पा मित्रा तारा बला दीप्रा चेति चतस्रो योगदृष्टय उल्लसन्ति, भगवत्पतञ्जलिभदन्तभास्करादीनां तदभ्युपगमात् । (ध०) मिथ्यादृष्टीनामपि माध्यस्थ्यादिगुणमूलकमित्रादिदृष्टियोगेन तस्य गुणस्थानकत्वसिद्धेस्तथा प्रवृत्तेरनाभिग्रहिकस्य संभवादनाभिग्रहिकत्वमेव तस्य देशनायोग्यत्वे शोभननिबन्धनमित्यापन्नम् । ' इत्थ चानाभोगतोऽपि मार्गगमनमेव-पङ्ग्वन्धन्यायेनेत्यध्यात्मचिन्तका ' इति ललितविस्तरावचनानुसारेण यद्यनाभोगवान् मिथ्यादृष्टिरपि मिथ्यात्वमन्दतोद्भूतमाध्यस्थ्यतत्त्वजिज्ञासादिगुणयोगान्मार्गमेवानुसरति तर्हि तद्विशेषगुणयोगादनाभिग्राहिके तु सुतरां धर्मदेशनायोग्यत्वमिति भाव. । ध० १ अधि० १८ श्लोक ।

आइबंभ-आदिब्रह्मन्-न० । सफलजगदुत्पत्तिकारणे ब्रह्मणि, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आइबंभझुणि-आदिब्रह्मध्वनि-स्त्री० । आदिब्रह्मणः शब्दे, " आदिब्रह्मध्वनि. किं वा, वीरवेदध्वनिर्बभौ " कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आइम-आदिम-त्रि० । आदौ भवः । आदि-डिमच् । आदिभवे, वाच० । "पश्चादाद्यन्ताग्रादिमः" ॥ ६ । ३ । ७५ ॥ इति सूत्रेण इमप्रत्यये टिलोप । प्रथमे, आव० ४ अ० । प्रव० । कर्म० ।

आइमगणहर-आदिमगणधर-पुं० । प्रथमगणधरे, प्रव० १ द्वार ।

आइमज्झंतकल्लाण-आदिमध्यान्तकल्याण-त्रि० । आदिमध्यावसानेषु सुन्दरे, धर्म्मप्रशंसामुपक्रम्योक्तम्-" सर्वागमपरिशुद्धं , यदादिमध्यान्तकल्याणम् " । षो० ३ विव० ।

आइमुहुत्त-आदिमुहूर्त-न० । प्रथमे मुहूर्त्ते, स० ।

तत्प्रमाणं यथा—

अब्भितरओ आइमुहुत्ते छण्णउइअंगुलच्छाए पण्णत्ते । (सूत्र-९६+)

अभ्यन्तराद्-अभ्यन्तरमण्डलमाश्रित्येत्यर्थः , आदिमुहूर्त्तः षण्णवत्यङ्गुलच्छाय: प्रज्ञप्त । अयमत्र भावार्थः-सर्वाभ्यन्तरमण्डले यत्र दिने सूर्यश्चरति तस्य दिनस्य प्रथमो मुहूर्त्तो द्वादशाङ्गुलमानं शङ्कुमाश्रित्य षण्णवत्यङ्गुलच्छायो भवति । तथा हि-तद्दिनमष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणं भवतीति मुहूर्त्तोऽष्टादशभागो दिनस्य भवति , ततश्च छायागणितप्रक्रियया छेदेनाष्टादशलक्षणेन द्वादशाङ्गुल शङ्कुर्गुण्यत इति ततो द्वे शते षोडशोत्तरे भवत - २१६, तयोरर्द्धी-कृतयोरष्टोत्तरं शतं भवति-१०८, ततश्च शङ्कुप्रमाणे द्वादशापनीते षण्णवति.-९६ अङ्गुलानि लभ्यन्ते इति । स०९६ सम० ।

आइमूल-आदिमूल-न० । प्रधानकारणे भावमूलभेदे , आचा० ।

यथा मोक्षस्याऽऽदिमूलं विनय', संसारस्य विषय इति । तत्र मोक्षस्यादिमूलं ज्ञानदर्शनचारित्रतप. औपचारिकरूप. पञ्चधा विनयस्तन्मूलत्वान्मोक्षावाप्तेस्तथाचाह-

" विणया णाणं णाणाउ, दंसणं दंसणाहि चरणं तु ।
चरणाहिंतो मोक्खो , मोक्खे सुक्खं अणावाहं ॥ १ ॥ "
"विनयफलं शुश्रूषा, शुश्रूषाया फलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फल विरति., विरते फलं चाश्रवनिरोध. ॥ २ ॥
संवरफलं तपोबल-मथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्ति. , क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ ३ ॥
योगनिरोधाद् भवस-न्ततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात्कल्याणाना, सर्वेषां भाजनं विनय ॥ ४ ॥"

इत्यादि । संसारस्य त्वादिमूलं विषयकषाया. । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

आइमोक्ख-आदिमोक्ष-पुं० । आदि.—संसारस्तस्मान्मोक्षः आदिमोक्ष. । संसारविमुक्तौ, सूत्र० । धर्मकारणानां शरीरं तावदादिभूतं तस्य मोक्ष -तद्विमुक्तिर्यावज्जीवमित्यर्थः.। शरीरपरित्यागे च । 'वियंड णं जीविज्ज य आदिमोक्खं (२२+)" यावज्जीवम् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । आदौ-प्रथमं मोक्षोऽस्येति । मोक्षोद्यते साधौ, आदि-प्रधानं मोक्षास्येति । मोक्षैकताने साधौ च । सूत्र० ।

इत्थीओ जे ण सेवंति, आइमोक्खा हि ते जणा ॥९+॥

ये महासत्त्वा कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारणतया स्त्रिय. सुगतिमार्गार्गला.-संसारवीथीभूता. सर्वाविनयराजधान्य. कपटजालशताकुला-महामोहनशक्तयो 'न सेवन्ते'-न तत्प्रसङ्गमभिलषन्ति त एवभूता जना -इतरजनातीता साधव आदौ-प्रथमं मोक्षोऽशेषद्वन्द्वोपरमरूपो येषा ते आदिमोक्षा । हुरवधारणे आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्या । इद मुक्तं भवति-सर्वाविनयास्पदभूत. स्त्रीप्रसङ्गो यै. परित्यक्तस्त एवादिमोक्षाः प्रधानभूतमोक्षस्य पुरुषार्थोद्यता आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वात् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

आइय-आचित-त्रि० । आ-चि-क्त-आप्नोते, (व्याप्ते,) ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । गुम्फिते, ग्रथिते , "तुलापलशतं तासां , विंशत्याभार आचित" इत्युक्तेर्भारात्मके द्विसहस्रपलमाने, "आचित दश भाराः स्यात् , शाकटो भार आचितः" इत्युक्ते दशभारमाने , न० । शाकटभारे , । पुं० । परिमाणवाचकत्वात्तन्मितेऽपि । संगृहीते, छन्ने च । वाच० ।

आइयण-आदान-न० । ग्रहणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । वाच० ।

आइयत्तिय-आदियात्रिक-पुं० । आदौ यात्राऽस्येति सार्थवाहादीनामारक्षके, बृ० ।

तस्याष्टौ भेदा यथा—

पुराणसावगसम्म-द्दिट्ठि, अहाभद्द दाणसड्ढे य ।
अणभिग्गहिए मिच्छे,अभिग्गहे अन्नतित्थी य ॥६२३॥

बृ० १ उ० । (अस्या व्याख्या ' सत्थवाह ' शब्दे सप्तमभाग वक्ष्यन) (एतस्याशीतिभङ्गका. सार्थवाहवत् ते च ' विहार ' शब्दे षष्ठे भागे ३२ अधिकाराङ्के द्रष्टव्याः)

आइ (दि) यावण-आदापन-न० । ग्राहणे, " आदियावेंति" आदापयन्ति-ग्राहयन्ति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आइराय-आदिराज-पुं० । ऋषभदेवे, स्था० ६ ठा० ३ उ० । (अस्य वृत्तम् ' उसह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।)

आइल-आविल-त्रि० । आ-विल् । भेदने, क० । अस्वच्छे, कालुष्ययुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अस्वच्छस्य हि जलादेः सम्यग्दृष्टिप्रसारभेदनात्तथात्वम् । भेदके, त्रि० । वाच० ।

आइल्ल-आदिम-त्रि० । आद्ये, आ० २८ गाथा । स० । सू० प्र० ।

आइल्लचन्द-आदिमचन्द्र-पुं० । उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रचन्द्रापेक्षया पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्रचन्द्रे, सू० प्र० ।

तस्य तथात्वम्—

धातइसंडपभितिसु, उद्दिट्ठा तिगुणेत्ता भवे चंदा ।
आदिल्लचंदसहिता, अणंतराणंतरे खेत्ते ॥ ३३ ॥

सू०प्र० १६ पाहु० १०० सूत्र ।

(अस्या व्याख्या ' जोइसिय ' शब्दे ४ भागे वक्ष्यते)

आइल्लसूर-आदिमसूर्य-पुं० । उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रसूर्यापेक्षया पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्रसूर्ये सू० प्र० १८ पाहु० । (अस्य तथात्वमत्रैव ' आइल्लचंद ' शब्दे गतम् ।)

आई (त्ती) (दी) ण-आजिन-न० । मूषकादिचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा० २ श्रु० २ अ० ६ उ० । द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च । पुं० । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आदीन-न० । आ-समन्ताद्दीनम् । अत्यन्तदीनतायाम् , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

आईणग-आजिनक-न० । चर्म्ममये वस्त्रविशेषे, रा० । तच्च स्वभावादतिकोमलं भवति । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । परिकर्मितकर्मणि, कर्म० २ कर्म० । ज्ञा० । आ० म० । नि० ।

जी०। " आईणगरूयबूरणवणीयतूलफासे " भ० ११ श० ११ उ०। " आईणाणि वा आईणपवराणि वा० " (सूत्र-१०-११-१२ +) " अजिणं चम्मं तम्मि जे कीरंति ते ' आईणाणि ' त्ति। नि० चू० ७ उ०।

आईणभद्द-आजिनभद्र-पुं०। आजिने द्वीपे, आजिनभद्राजिनमहाभद्रौ। आजिनद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आई (दी) णभोइ (न्)-आदीनभोजिन्-पुं०। पतितपिण्डोपजीविनि, सूत्र०।

आदीणभोई वि करेति पावं,
मंता उ एगंतसमाहिमाहु ॥ ६ ॥

आदीनभोज्यपि पापं करोतीति। उक्तं च-" पिंडोलगेव दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चई " स कदाचित् शोभनमाहारमलभमानोऽसन्त्वादार्तरौद्रध्यानोपगतोऽधः-सप्तम्यामप्युत्पद्यते, तद्यथा-असावेव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूहवैभारगिरिशिलापातनोद्यतः स दैवात्स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति, तदेवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोतीत्येवं मत्वा-अवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आईणमहाभद्द-आजिनमहाभद्र-पुं०। आजिनद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणमहावर-आजिनमहावर-पुं०। आजिनसमुद्रस्थे देवे, आजिनवरसमुद्रस्थे देवे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवर-आजिनवर-पुं०। द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च। आजिनसमुद्रस्थे देवे, आजिनवरसमुद्रस्थे देवे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरभद्द-आजिनवरभद्र-पुं०। आजिनवरद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरमहाभद्द-आजिनवरमहाभद्र-पुं०। आजिनवरद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभास-आजिनवरावभास-पुं०। द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभासभद्द-आजिनवरावभासभद्र-पुं०। आजिनवरावभासद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभासमहाभद्द-आजिनवरावभासमहाभद्र-पुं० आजिनवरावभासद्वीपस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभासमहावर-आजिनवरावभासमहावर-पुं०। आजिनवरावभाससमुद्रस्थे देवे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आईणवरोभासवर-आजिनवरावभासवर-पुं०। आजिनवरावभाससमुद्रस्थे देवे जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

आई (दी) णवित्ति-आदीनवृत्ति-पुं०। आ-समन्तादीना-करुणास्पदा वृत्तिः-अनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादेरित्यर्थः। अत्यन्तदीनवृत्तिके कृपणवनीपकादौ, सूत्र०।

आदीणवित्तीव करेति पावं,
मंता उ एगंतसमाहिमाहु ॥६॥

' आदीणवित्ती ' त्यादि. आदीनवृत्तिरपि पापं कर्म करोतीत्येवं मत्वा एकान्तेन भावसमाधिमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आई (दी) णिय-आदीनिक-पुं०। आ-समन्तादीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन्न। अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रये, सूत्र०।

आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥६×॥

आदीनिकं दुष्कृतिकं पुरस्तात्-पूर्वजन्मनि यन्नरकगमनयोग्यं चरितं कृतं तत्प्रतिपादयिष्ये। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

आईरण- आजीरण-त्रि०। आजि:-संग्रामस्तमीरयति-प्रेरयति क्षिपति जयतीति यावत्। राज्यावस्थायां संग्रामजेतरि, संथा० ६६ गाथा।

आईल-आचील-पुं०। उद्गाले, ताम्बूलसंबन्धिनमुद्गालम्-आचीलं तत्र मुञ्चति। चीलस्य जिनमन्दिरे परित्यागे तीर्थकृदाशातना भवति। प्रव० ३८ द्वार।

आईवमाण-आदीप्यत्-त्रि०। प्रकाशमाने, महा० २ अ०।

आउ-अप्-स्त्री०। बहुव० आप्-क्विप्-ह्रस्व.। वाच०। "गोणादय." ॥८।२।१७४॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण निपातनम्। प्रा०। द्रवलक्षणे महाभूतविशेषे, " आप्त्वयोगादापस्ताश्च रूपरसस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वस्वाभाविकद्रवत्वस्नेहवगवत्यस्तासु च रूपं शुक्लमेव, रसो मधुर एव, स्पर्शः शीत एव " इति वैशेषिका. सूत्र०)। "रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्य ' इति श्लक्ष्णासृग्द्रवलक्षणा आपः " इति च सांख्या.। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। 'एतन्निराकरणं 'महाभूय-' शब्दे षष्ठ भागे करिष्यते) "अपां स्थानं रसनं " रसनेन्द्रियमिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। तासां जीवत्वम्-' सात्मकमम्भो भौमं, भूमिखनने स्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवत् "। अथवा-"सात्मकमन्तरिक्षादकं स्वभावतो व्योमसंभूतस्य पातात्, मत्स्यवत् "। आह च-" भूमिक्खय साभाविय-संभवओ दद्दुरा व्व जलमुत्तं। (सात्मकत्वेनेति) अहवा-मच्छो व्व सहा-ववोमसंभूय-पायाओ " ॥ १ ॥ इति। स्था० १ ठा०। " आऊ वि जीवा " ॥ ७× ॥ आपश्च-द्रवलक्षणा जीवाः। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। (७ गाथाया व्याख्या ' कुसील ' शब्दे ३ भागे ६०१ पृष्ठे करिष्यते) (अत्र यद्वक्तव्यं तत् ' आउकाइय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यम्) जलनामके देवविशेषे, तदधिष्ठातृके पूर्वाषाढानक्षत्रे च। आपो जलनामा देवस्तेन पूर्वाषाढानामयमिति प्रसिद्धम्। जं० ७ वक्ष०। स्था०। " पुव्वासाढा आउदेवताए " (सूत्र-४६ ×)। सू० प्र० १० पाहु० १२ पाहु० पाहु०। ननु स्वस्वामिभावसम्बन्धप्रतिपादकभावमन्तरेण कथं देवतानाम्ना नक्षत्रनाम सम्पद्यते ?, उच्यते-अधिष्ठातरि अधिष्ठेयस्योपचाराद् भवतीति। जं० ७ वक्ष०। " दो आऊ ' (सूत्र-६०×) स्था० २ ठा० ३ उ०।

आतु-पुं०। अत् उण्। मेलके, उडुपे, वाच०।

आक्कु (गु)-पुं०। अभिलापायाम्, आ०क० १ अ०। (इक्खाग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽस्य व्युत्पत्तिः)

आयुम्-न०। प्रतिसमय भोग्यत्वेनायातीत्यायु। नि० चू० ११

उ० । स्वकीयावसरे एति च, आयाति चेत्यायुः । स्था० ४ ठा० २ उ० । उत्त० । एति-गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा-एति-आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिदुर्गतेर्निष्क्रमितुमनसोऽपि जन्तोरित्यायुः । उभयत्राप्यौणादिकोऽ(उस्) प्रत्ययः । यद्वा-आयाति भवाद्भवान्तरं संक्रमतां जन्तूनां निश्चयेनोदयमागच्छतीति पृषोदरादित्वादायुःशब्दसिद्धिः । यद्यपि च सर्वं कर्मोदयमायाति तथाऽप्यस्यायुषो विशेषो, यतः शेषं कर्मबद्धं सत् किञ्चित्तस्मिन्नेव भवे उदयमायाति, किञ्चित्तु-प्रदेशोदयभुक्तं जन्मान्तरेऽपि स्वविपाकत उ[illegible] इत्युभयथाऽपि व्यभिचारः आयुषि त्वय नास्ति बद्धस्य तस्मिन्नेव भवे वेदनात् जन्मान्तरसङ्क्रान्तौ तु स्वविपाकतोऽवश्यं वेदनादिति विशिष्टस्यैवोदयागमनस्य विवक्षितत्वात्तस्य चायुष्येव सद्भावात्तस्यैवेतन्नाम । अथवा आयान्त्युपभोगाय तस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोग्याणि सर्वाण्यपि शेषकर्माणीत्यायुः । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । अथवा-आ-समन्तादेति-गच्छति भवाद्भवान्तरसंक्रान्तौ जन्तुना विपाकोदयमित्यायुः । पं०सं० २ द्वार । दशा० । जीवितविपाकवेद्ये भवोपग्राहिणि कर्मविशेषे, जं० ४ वक्ष० । उत्त० । विशे० । एतद्रूप च-" दुक्खं न देइ आऊ न वि य सुहं देइ चउसु वि गईसु । दुक्खसुहाणाऽऽधारं, धरेइ देहट्ठियं जीवं ॥ १ ॥ " इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । आयुर्भवस्थितिहेतवः कर्मपुद्गलाः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । जीविते, स्था० ८ ठा० ३ उ० । तच्च चिरकालं शरीरसंबन्धः । तं० । स्था० ।

विषयसूचनार्थमधिकाराङ्का —

(१) आयुषो नामादिभेदतो दशविधत्वम् ।
(२) आयुषोऽतिप्रियत्वम् ।
(३) आयुषः त्रुटितेनायुषः पुनरनागमनं च ।
(४) सर्वेषामायुषः अहरह्यमनित्यत्वं च ।
(५) आयुषः सप्तधा भेदनं तदुदाहरणानि च ।
(६) आयुषः सोपक्रमनिरुपक्रमभेदाद् द्वैविध्यम् ।
(७) आयुषोऽल्पदीर्घशुभादिभेदाद्बहुविधत्वं, तत्कारणानि च ।
(८) आयुष्कर्मणो जीवितहेतुत्वम् ।
(९) आयुषो द्विविधत्वं प्रकारान्तरेण ।
(१०) प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यानतदुभयनिर्वर्तितायुष्कत्वं जीवानाम् ।
(११) जीवानामाभोगाऽनाभोगनिर्वर्तितायुष्कत्वमायुषश्चातुर्विध्यं च ।
(१२) अनन्तरोपपन्नकादीनां नैरयिकादीनामायुः ।
(१३) असंज्ञिजीवानामायुः ।
(१४) एकान्तबालैकान्तपण्डितबालपण्डितानामायुः ।
(१५) क्रियावाद्यादिजीवानां सलेश्यादिजीवानां चायुः ।
(१६) कृष्णपाक्षिकादिसम्यग्दृष्ट्यादिक्रियावाद्यादिजीवानामायुः ।
(१७) ज्ञानिनामज्ञानिनां विभङ्गज्ञानिनां सवेदकावेदकक्रियावाद्यादिजीवानां, क्रियावाद्यादिनैरयिकादीनां चाऽऽयुः ।
(१८) अनन्तरोपपन्नकाऽऽदिक्रियावाद्यादीनामायुः ।
(१९) भविकजीवानां नैरयिकादिषूत्पद्यमानानां सायुष्कत्वम् ।
(२०) भविकजीवानां नैरयिकादिषूत्पद्यमानानामायुष्कारणप्रतिसंवेदनादि ।
(२१) अनन्तरमुद्वर्त्योत्पद्यमाननैरयिकादीनामायुःप्रतिसंवेदनादि ।

(१) तत्रायुर्नामादिभेदतो दशधा । तद्यथा—

"नामं ठवणा दविए,
ओहे भव तब्भवे य भोगे य ।
संजमे जस कित्ती,
जीवियं च तं भणइ दसहा ॥ १ ॥"

तत्र नामस्थापने सुगमे । 'दविए' त्ति-द्रव्यमेव सचेतनादिभेदं जीवितव्यहेतुत्वाज्जीवितं द्रव्यजीवितम् । ओघजीवितम् नारकादीनामविशेषेणायुर्द्रव्यमात्रं सामान्यजीवितं भवति, नारकादिभवविशिष्टं जीवितं भवजीवितं नारकजीवितमित्यादि, 'तब्भवेय' त्ति-तस्यैव पूर्वभवस्य समानजातीयतया सम्बन्धिजीवितं तद्भवजीवितम्, यथा मनुष्यस्य सतो मानुषत्वेनोत्पन्नस्येति, भोगजीवितं चक्रवर्त्यादीनाम्, संयमजीवितं साधूनां, यशोजीवितं-कीर्तिजीवितं च यथा महावीरस्येति, जीवितञ्चायुरेवेति । स्था० १ ठा० १ सूत्र टी० ।

(२) आयुश्च सर्वेषामतिप्रियं तदेवोक्तम्—

" तृणायापि न मन्यन्ते, पुत्रदारार्थसम्पदः ।
जीवितार्थे नरास्तेन, तेषामायुरतिप्रियम् ॥१॥" इति । स्था० १ ठा० १ सूत्र टी० । संथा० ।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं । (सूत्र-८०+)

प्राणशब्देनात्राभेदोपचारात्तद्वन्त एव गृह्यन्ते सर्वे प्राणिनो जन्तवः प्रियायुषः प्रियमायुर्येषां ते प्रियायुषः । ननु च सिद्धैर्व्यभिचारः, न हि ते प्रियायुषस्तदभावात्; नैष दोषः यतो मुख्यजीवादिशब्दव्युदासेन प्राणशब्दस्योपचरितस्य ग्रहणं ससारिप्राण्युपलक्षणार्थमिति । यत्किञ्चनैतत् । (आचा०) 'जीविउकामा' यत एव प्रियजीवितोऽत एव दीर्घकालं जीवितुकामा दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणो दु[illegible]भूता अप्यन्त्यां दशामापन्ना जीवितमेवाभिलषन्ति, उक्तञ्च-"[illegible] विहवी विसेसे [illegible] थेव चिन्थरो महइ । मग्गइ सरीरसहणो रोगी जीए [illegible] कयत्थो ॥१॥ " तदेवं सर्वोऽपि प्राणी सुखजीविताभिलाषी । (आचा०) कस्य कियदायुरिति जिज्ञासाया च-तुर्थभागस्थ 'ठिइ' शब्दो वीक्षणीयः) प्राणिनां जीवितमत्यर्थं दयितमित्येतो भूयो भूयस्तदेवोपदिश्यत इत्यत आह- सव्वेसिं' त्यादि-सर्वेषामविगानेन 'जीवितम्' असंयमजीवितं प्रिय दयितम । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खेत्तवत्थुममायमाणाणं आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण इत्थियाउ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता ण एत्थ तवो वा दमो वा णियमो वा दिस्सइ संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेति (सूत्र-७९+)

'जीवितम्'-आयुष्कानुपरमलक्षणमसंयमजीवितं वा पृथगिति प्रत्येक प्रतिप्राणि प्रिय-दयितं वल्लभम् इह' त्ति-अस्मिन् संसारे एकेषाम्-अविद्योपहतचेतसां मानवानामिति उपलक्ष-

णार्थत्वात् प्राणिनां । तथाहि-दीर्घजीवनार्थं नास्ता रसायनादिका रुस्वापघातकारिणी क्रिया कुर्वते । आचा० १श्रु० २ अ० ३ उ० ।

(३) आयु पुष्टिश्च यथा भवति तथा—

णिद्धमधुरेहि आओ, च्छ राति देहिंदिया मेहा ।
भत्थाति जत्थ णत्थति, सड्डातिसु दीहगादीया ॥२५८॥

चोदक आह-कथमायुष पुष्टि ?, आचार्य आह । यथा देवकुरूत्तरासु क्षेत्रस्य स्निग्धगुणत्वादायुषो दीर्घत्वं सुषमसुषमाया च कालस्य स्निग्धत्वाद् दीर्घत्वमायुषस्तथाऽहारोपि स्निग्धमधुराहारत्वात् पुष्टिरायुषो भवति । सा च न पुद्गलवृद्धे, किंतु-युद्गलग्रहणात्, क्रमेण भोगेनेत्यर्थः । नि० चू० ११ उ० ।

गत चायुर्न पुनरावर्त्तते । उक्तं च-
" भवकोटीभिरसुलभं, मानुष्यं प्राप्य क प्रमादो मे ।
न च गतमायुर्भूय, प्रत्येत्यपि देवराजस्य " ॥ १ ॥
' नो ' नैव ससारे सुलभ-सुप्रापं संयमप्रधान जीवितं, यदि वा-जीवितम्-आयुस्त्रुटितं सत् तदेव संधातु न शक्यते, इति वृत्तार्थः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(४) अल्पमनित्य चायुः सर्वेषाम् । तत्रानित्यत्वं यथा-

दुमपत्तए पंडुरए, जह निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुआण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

(अस्या गाथाया व्याख्या ' जीविय ' शब्दे चतुर्थभागे १५६ पृष्ठे वक्ष्यते) उत्त० १० अ० ।

जीवशतब्देन शरीरमुच्यते । यदाह निर्युक्तिकारः—

परियट्टिय लावन्नं, चलंतसंधिं मुअंतविंटग्गं ।
पत्तं च वसणपत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं ॥ ३०७ ॥
जह तुज्झे तह अम्हे, तुज्झे वि अ होहिहा जहा अम्हे ।
अप्पाहेइ पडंतं, पंडुअपत्तं किसलयाणं ॥ ३०८ ॥
न वि अत्थि न वि अ होही, उल्लावो किसलपण्डुपत्ताणं ।
उवमा खलु एस कया, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥३०९॥

उत्त० पाई० १० अ० ।

(आसां गाथानां व्याख्या 'दुमपत्त' शब्दे चतुर्थभागे द्रष्टव्या ।) यथा हि किशलयानि पाण्डुपत्रेण अनुशिष्यन्ते तथा अन्योऽपि यौवनगर्वितोऽनुशासनीय ।

अथाऽऽयुषोऽनित्यत्वमाह—

कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

हे गौतम ! समयमात्रमपि मा प्रमादीः । तत्र हेतुमाह । यथा-कुशस्याग्रे अवश्यायबिन्दुर्लम्बमान सन् स्तोक-स्तोक काल तिष्ठति वातादिना प्रेर्यमाण सन् पतति तथा मनुष्याणा जीवितम्-आयुरस्थिरं क्षयम् । एवं आयुषोऽनित्यत्वं ज्ञात्वा धर्मे प्रमादो न विधेय इत्यर्थः । उत्त० १ अ० ।
" आयुषि बहूपसर्गे, वाताहतसलिलबुद्बुदानितरे । उच्छ्वस्य निश्वसित य, सुप्तो वा विबुध्यत तच्चित्रम् " ॥१॥ प० सू० ३ सूत्र टी० ।

आयुषः अल्पत्वं यथा—

अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं । (सूत्र ६२+)

अल्पं-स्तोक चशब्दोऽधिकवचनः, खलुरवधारणे, आयुरिति—भवस्थितिहेतवः कर्मपुद्गलाः । ' इह ' ति-संसारे मनुष्यभवे एकेषां-केषाचिदेव मानवानां-मनुजानामिति पदार्थो, वाक्यार्थः—' इह ' अस्मिन् संसारे केषांचिन्मनुजानां क्षुल्लकभवोपलक्षितान्तर्मुहूर्तमात्रमल्प स्तोकमायुर्भवति । चशब्दादुत्तरोत्तरसमयादिवृद्ध्या पल्योपमत्रयावसानेऽप्यायुषि तत्र खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्संयमजीवितमल्पमेवेति । तथा हि-अन्तर्मुहूर्तादारभ्य देशोनपूर्वकोटि यावत्संयमायुष्कं तच्चाल्पमेवेति । अथवा-त्रिपल्योपमस्थितिकमप्यायुरल्पमेव, यतस्तदप्यन्तर्मुहूर्तमपहाय सर्वमपवर्त्तते । उक्तञ्च—

" अद्धा जोगुक्कोसे, बंधित्ता भोगभूमिए सुलहुं ।
सव्वप्पजीवियं व-ज्जइ तु उव्वट्टिया दोण्ह ॥ १ ॥ "

अस्यायमर्थः -उत्कृष्टे योगे-बन्धाध्यवसायस्थाने आयुषो यो बन्धकालोऽद्धा समयः उत्कृष्ट एव त बध्वा च भोगभूमिकेषु देवकुर्वादिषु, तस्य क्षिप्रमेव सर्वाल्पमायुर्वर्जयित्वा द्वयो -तिर्यग्मनुष्ययोरपवृत्तिका अपवर्त्तनं भवति, एतच्चापर्याप्तकान्तर्मुहूर्तान्निर्दिष्टं, तत ऊर्ध्वमनपवर्त्तनमेवेति । (आचा०) उक्तञ्च—

"स्वतोऽन्यत इतस्ततोऽभिमुखधावमानापदामहो निपुणता नृणां क्षणमपीह यज्जीवितम् ।
सुखं फलमतिक्षुधा सरसमस्मायोजितं,
कियच्चिरमचर्वितं दशनयन्त्रकोटौ स्थितम् ? ॥ १ ॥
उच्छ्वासावधय प्राणाः, स चोच्छ्वासः समीरणात् ।
समीरणं च चलनात्, तत्राप्यायुरद्भुतम् ॥ २ ॥ "

इत्यादि । येऽपि दीर्घायुष्कास्थितिका उपक्रमणकारणाभावे आयुःस्थितिमनुभवन्ति तेऽपि मरणादप्यधिकां जराभिभूतविग्रहा जघन्यतरामवस्थामनुभवन्ति । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

वर्षशतायुष्कस्यायुषोऽल्पत्वमेव । तद्यथा—

आउसो से जहानामए केइ पुरिसे ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसि ण्हाए कंठे मालाकडे आविद्धमणिसुवन्ने अहयसुमहग्घवत्थपरिहिए चंदणोकिन्नगायसरीरे सरससुरहिगंधगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते सुइमालावन्नगविलेवणे कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणे कडिसुत्तयसुकयसोहे पिणद्धगेविज्जअंगुलिज्जगललियंगयललियकयाभरणे नाणामणिकणगरयणकडगतुडियथंभियभुए अहियरूवसस्सिरीए कुंडलुज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए हारुत्थयसुकयरइयवत्थे पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जे मुद्दियापिंगलंगुलिए नाणामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणोवियमिसमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए । किं बहुणा कप्परुक्खो विव अलंकियविभूसिए सुइपयए भवित्ता अम्मापियरो

अभिवादइज्जा। तए णं तं पुरिसं अम्मापियरो एवं वइज्जा-जीव पुत्ता! वाससयंति तं पियाइं तस्स नो बहुयं भवइ कम्हा वाससयं जीवंतो वीसं जुगाइं जीवइ १, वीसं जुगाइं जीवंतो दो अयणसयाइं जीवइ २, दो अयणसयाइं जीवंतो छ उऊसयाइं जीवइ ३, छ उऊसयाइं जीवंतो वारसमाससयाइं जीवइ ४, वारसमाससयाइं जीवंतो चउवीसं पक्खसयाइं जीवइ ५, चउवीसं पक्खसयाइं जीवंतो छत्तीसं राइंदिअसहस्साइं जीवति छत्तीसं राइंदियसहस्साइं जीवंतो दसअसीयाइं मुहुत्तसयसहस्साइं जीवइ ६, दस असीयाइं मुहुत्तसयसहस्साइं जीवंतो चत्तारि ऊसासकोडिसए सत्त य कोडिओ अडयालीसं च सयसहस्साइं चत्तालीसं च सहस्साइं जीवइ ७। (सूत्र-१६+)

अथ यदि तस्य पुत्रस्य वर्षशतप्रमाणमायुः स्यात्तदा सजीवति; नाऽन्यथेति. तदापि च आयुः 'आइ' ति-अलंकारे तस्य वर्षशतायुः पुरुषस्य न बहुकं-वर्षशताधिकं भवति. कस्मात्? यस्माद्वर्षशतं जीवन् विंशतियुगानि एव जीवति, निरुपक्रमायुष्कत्वात् १. विंशतियुगानि जीवन् पुरुषो द्वे अयनशते जीवति २. द्वे अयनशते जीवन् जीवः षड्ऋतुशतानि जीवति ३, षड्ऋतुशतानि जीवन् जन्तुः द्वादश मासशतानि जीवति ४ द्वादश मासशतानि जीवन् प्राणी चतुर्विंशतिपक्षशतानि २४०० जीवति ५, चतुर्विंशतिपक्षशतानि जीवन् षट्त्रिंशदहोरात्रसहस्राणि ३६००० जीवति सत्त्वः ६. षट्त्रिंशदहोरात्रसहस्राणि जीवन् असुमान् दश मुहूर्तलक्षाणि अशीतिमुहूर्तसहस्राणि १०८०००० जीवति ७ दशलक्षमुहूर्तानि अशीतिमुहूर्तसहस्राणि जीवन् देहधारी चत्वारि उच्छ्वासकोटिशतानि सप्तकोटिः अष्टचत्वारिंशच्छतसहस्राणि चत्वारिंशत्सहस्राणि च ४०७४८४०००० जीवति देहभृत् ८। तं०।

(५) आयुश्च सप्तधा भिद्यते। तद्यथा—

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाए।

फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं ॥ २०४१ ॥

अतिहर्षविषादाभ्यामधिकमवसानं चिन्तनमध्यवसानं तस्माद्भिद्यते-खण्ड्यते-उपक्रम्यते आयुः-अतिशयेन हृदयसंरोधात्। अथवा-रागस्नेहभयभेदादध्यवसानं त्रिधा, तस्माद्धायुर्भिद्यते (विशे०) निमित्तं दण्डकशादिकं वक्ष्यति, तस्य सत्यायुर्भिद्यते। तथा-आहारे समधिके अभ्यवहृते, वेदनायां, चातिशयवत्यां, शिरोऽक्षिकुक्ष्यादिप्रभवायां, पराघाते च गर्त्तपातादिसमुत्थे, तथा-स्पर्शे भुजङ्गादिसम्बन्धिनि, तथा-प्राणापानयोश्च निरोधे सत्यायुर्भिद्यते। इति एवं सप्तविधं-सप्तभिः प्रकारैः प्राणिनामायुर्भिद्यते-उपक्रम्यते इति। विशे०।

एतेषां क्रमेणोदाहरणानि। तत्र रागाद्यध्यवसानेन क्षीयते आयुः —

" एकस्य कस्यचिद् गावो, ह्रियन्ते स्म मलिम्लुचैः।

वालनाय गवां जग्मुः, पत्तयस्तस्करानतु ॥ १ ॥

वालता वालयित्वा गा-स्तत्रैकस्तरुणः पुमान्।

गृहीताङ्गः इवानङ्ग-स्तृषितो ग्राममभ्यगात् ॥ २ ॥

तत्रैका ग्रामतरुणी, तमपीप्यत्पयः परम्।

शिरः धूनयतोऽप्यस्य, निवृत्त्यै न न्यवर्त्तत ॥ ३ ॥

स उत्थाय युवा यासी-त्सा तु तद्रूपमोहिता।

अनुरागमहाधूर्त्तैः क्षिप्तचूर्णेव तद्वशा ॥ ४ ॥

निध्यायन्ती तमवास्थात्, तन्मयत्वमिवयुषी।

अदृश्यत्वं गते तस्मि-स्तस्याः प्राणास्तमन्वगुः ॥ ५ ॥"

स्नेहाध्यवसानेनाप्यायुः क्षीयते—

"एकस्य वणिजो यूनः, प्रेयसी प्रौढयौवना।

द्वयोरपि तयोः स्नेहः, कोऽपि वाचामगोचरः ॥ १ ॥

स वाणिज्याय गत्वाऽथ, प्रत्यावृत्तः समेष्यति।

एकाहेन निजावासं, यावत्तावत्परस्परम् ॥ २ ॥

वयस्याश्चिन्तयामासुः, स्नेहः सत्योऽनयोर्न वा।

पूर्वमेकस्ततो गत्वा, तस्य कान्तामवोचत ॥ ३ ॥

मृतस्तव पतिर्भद्रे!, श्रुत्वा वज्राहतेव सा।

सत्यं सत्यमिदमिति पृष्ट्वा वारत्रयं मृता ॥ ४ ॥

तत्स्वरूपं च वणिजे, कथितं सोऽपि तत्क्षणात्।

एकोऽपि प्राप पञ्चत्व-मेवं प्रेम्णाऽऽयुषः क्षयः ॥ ५ ॥"

भयाध्यवसानेनाप्यायुः क्षीयते, यथा—

"नगरी द्वारवत्यासी-त्सर्वा स्वर्णमयालया।

अन्तः समुद्रमौर्वाग्नि-र्भेजे यत्प्रतिबिम्बताम् ॥ १ ॥

जनुः पौराङ्गनास्यन्दून्, यत्र स्वप्रतिपन्थिनः।

स चन्द्रमेनश्चन्द्राऽस्थात्, शालशीर्षावलीमिषात् ॥ २ ॥

वासुदेवोऽभवत्तत्र, वसुदेवनृपाङ्गजः

देवकीकुक्षिकासार-कलहंसः क्षितीश्वरः ॥ ३ ॥

द्विषः पौरुषवन्तोऽपि, यद्बलैरबला कृता।

सापत्न्यत्वात्करणा-ज्जिजह्ने द्विषदापि तैः स्फुटम् ॥ ४ ॥

सूनुं स्तनंधयं धाप-यन्तीं स्त्रीं वीक्ष्य काञ्चन।

अधृतिं देवकी चक्रे पृष्टा विष्णुना क्षणात् ॥ ५ ॥

अधृतिं किं विधत्सेऽम्ब!, तयाऽऽह जातु मे।

तनूजेन न वक्षोज—पयः केनाप्यपीयत ॥ ६ ॥

वासुदेवोऽवदन्मातः!, मा कार्षीस्त्वमिहाधृतिम्।

कारयिष्यामि ते पुत्र-प्राप्तिमाराध्य देवताम् ॥ ७ ॥

देवताऽऽराधिताऽवादी-द्दिव्यः सूनुर्भविष्यति।

अभूच्च तनुभूस्तस्याः, नान्यथा देवतावचः ॥ ८ ॥

गजसुकुमाल इति, नाम चक्रे कृतोत्सवम्।

सुतां सोमिलविप्रस्य, स युवा पर्यणाय्यत ॥ ९ ॥

सोऽन्येद्युः स्वामिनो नेमेः, श्रुत्वा धर्ममभूद् यती।

विजह्रे स्वामिना सार्द्धं, मेघस्तस्मिन्नभूद् द्विजः ॥ १० ॥

क्रमेण प्रभुभिः साकं, द्वारिकां पुनरागमत्।

प्रभुं पृष्ट्वा पितृवने, कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥ ११ ॥

तथास्थं तत्र दृष्ट्वा तं, रुष्टो दुष्टो द्विजस्ततः।

निवेश्य कण्टकं मूर्ध्नि, चिताङ्गारैरपूरयत् ॥ १२ ॥

तत्कष्टं सहमानस्यो-त्पन्नं केवलमुज्ज्वलम्।

अन्तकृत्केवलित्वेन, तदैव प्राप निर्वृतिम् ॥ १३ ॥

विष्णुः प्रातः प्रभुं नत्वा, साधूनापृच्छदुच्छधीः।

क मे बन्धुः प्रभुः स्माह, निरवद्यः प्रतिमां बहिः ॥ १४ ॥

वासुदेवो गतस्तत्र, पराङ्मुखमवलोक्य तम्।

पिन प्रभुमगाद्दी-त्केनामारि प्रभुर्जगौ ॥ १५ ॥
शन्तं स्वा पुरीं दृष्ट्वा , यस्य शीर्षं स्फुटिष्यति ।
दुर्म्वं प्रेष्य चिप्रोऽपि , स्वय यावन्निरेति स ॥ १६ ॥
ावद् दृष्टो विशन् विष्णु-स्ततोऽतिभयसम्भ्रमात् ।
यौं पतितवत्कुम्भ-स्तन्मुण्ड शतखण्डताम् ॥ १७ ॥
ा० क० १ अ० । आ० म० । (विस्तरतो गजसुकुमारक-
-' गजसुकुमाल ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

निमित्ताद्प्यायु र्क्षीयते, तद्यानेकधा—

दंड-कस-सत्थ-रज्जू , अग्गी-उदगपडणं विसं वाला ।
सीउण्हं अरइ भयं, खुहा पिवासा य वाही अ ॥७२५॥
मुत्तपुरीसनिरोहे , जिन्नाजिन्ने अ भोअणे बहुसो ।
घसण घोलण पीलण , आउस्स उवक्कमा एए ॥७२६॥

ण्ड कप शस्त्र रज्जव अग्न्युदकयो पतन विष व्याला -स-
: शीतोष्णम् अरतिर्भयं क्षुत्पिपासा च व्याधिश्च मूत्रपुरीष-
ाध जीर्णाजीर्णे च भोजनं बहुश घर्षणं चन्दनस्येव घोलन
ुष्ठाङ्गुलिभ्या यूकाया इव पीडनमित्यादिरिव आयुष उ-
ेतुत्वादुपक्रमा एते । कारणे कार्योपचारात् यथा तण्डु-
न्वपति पर्जन्य , यथा च-आयुर्घृतम् । (आ०क० १ अ०)
ं दण्डादय उपक्रमहेतव इति चेत् , उच्यते-दण्डेन गाढ-
भिघाते , कशया-शस्त्रखड्गादिना , रज्ज्वा गलादौ बन्धे ,
िनना परिदाहे , उदके सर्वस्रोतसामन्त पूरणे , विषे भ-
ने , व्याला -सर्पास्तैर्दशने , शीतोष्णेन च संस्पर्शेन . अ-
ा भयेन चान्तर्मनसि पीडासमुत्पत्तौ . क्षुधया अभक्षणे
ासया हृदयगलतालुशोषणे , मूत्रपुरीषनिरोधे शरीरस्तो
. , जीर्णाजीर्णे नाम अर्द्धजीर्णे तस्मिन् सति अनेकशो भो
रसोपचयात् , घर्षण-चन्दनस्येव घोलनम्-अङ्गुष्ठाङ्गु-
गृहीतचाल्यमानयूकाया इव तस्मिन् ,पीडनमित्यादस्तस्मि
ेि सति, भिद्यते आयुरित्येते सर्वेऽप्युपक्रमहेतव. । (आ०
१ अ० ॥७२५॥७२६॥ गाथाटी०) नन्वध्यवसानादीन्यपि नि
त्तान्येवायुषोऽपक्रमस्य तत्कोऽत्र भेद ? सत्य, किं (त्वत्र)
तनेरविचित्रोपाधिभेदेन भेदाद्विस्तरप्रियविनेयानुग्रहा-
चाद्वा न दोष । विशे० २०४३ गाथाटी० ।

आहारादिभिरप्यायुर्भिद्यते—

' बहुरेको दिने कृत्वा, वारानष्टादशाशनम् ।
ूलेन म्रियते स्माशु, मृतश्चान्य क्षुधा पुन. ॥ १ ॥
स्पन्दनादिभिर्जाना, भूयांसोऽपि गतायुष ।
विद्युदाद्युपघाताच्च, श्रूयन्ते बहवो मृता ॥ २ ॥
स्पर्शोऽप्यायु क्षयाय स्या-द्यथा त्वग्विषभोगिन ।
स्त्रीरत्नस्यच संस्पर्शो, यदि वा चक्रवर्त्तिन ॥ ३ ॥
ब्रह्मदत्ते मृतिं प्राप्ते, द्वादश चक्रवर्तिनि ।
स्त्रीरत्नं तत्सुतोऽवादी-द्भोगान् भुङ्क्ष्व मया सह ॥ ४ ॥
ायोक्त न मम स्पर्श , सहास्ते चक्रिण विना ।
ं प्रत्याययितु वाजी मुखाद्यावत् कटिं तया ॥ ५ ॥
स्पृष्ट करेण तत्काले, गलद्रेत क्षयामृत ।
थाऽप्यप्रत्ययं तस्य, कृत्वा लोहमय नरम् ॥ ६ ॥
ागिन्भे तस्तन च, दैवाद्वाशु व्यलीयत ।
तोऽभूत्प्रत्ययस्तस्य, दृष्ट का वा न मन्यते ॥ ७ ॥
ाणापानानुरोधेऽपि मृत्युर्भवति देहिनाम् ।
यथाऽऽदौ मार्यमाणानां, छागानामिव याज्ञिकैः ॥ ८ ॥"
आ० क० १ अ० ।

आह—जति आउयवधो उवक्कमिज्जति । तेण कयविप्प-
णासो, अकयब्भागमो य होइ । कह जेण वासमय आउय
बद्ध सो त सव्वं आउवंघ न भुजति, जहा तेण कयविप्प-
णासो तस्स य तत्थ मारिवण उ उरमउगति तेण अकय-
ब्भागमो भवति । एस यदि दोसो भवति तो णत्थि मोक्खो
मोक्खगया वि पडंतु । उच्यते नागस्स कथमुपालभ एक्को
चि दोसो न भवति । कह जण त सव्व वेदेति । कह पलाल-
वट्टिदिट्ठतसाहणा, जहा-पलालवट्टी हत्थसयदीहा अते
पदीविया चिरेण डज्झति । पुञ्जिया तक्खणा चेव डज्झति ।
एसो स उवणओ । अहवा-अग्निकव्याधिनिदर्शनात् फल-
पाचननिदर्शनाच्चेति । आ० चू० १ अ० । यथा वर्षशतोप-
भोगाय कल्पितं धान्य भस्मकव्याधिपीडितस्याल्पेनापि
कालेनापि भुञ्जानस्य न कृतनाशो, नाप्यकृताभ्यागमस्तद्वद-
त्रापीति । तथा चाह भाष्यकार.—

"कम्मोवक्कामिज्जइ, अपत्तकालम्मि जइ ततो पत्ता ।
अकयागमकयनासा, मोक्खाणासासया दोसा ॥ २०४७ ॥
न य दीहकालियस्स वि, नासो तस्साणुभूइतो खिप्पं ।
बहुकालाहारस्स व, दुयमग्गियरोगिणो भोगो ॥ २०४८ ॥
सव्व य पदेसतया, भुज्जइ कम्ममणुभावतो भइय ।
तेणावस्साणुभव, के कयनासादयो तस्स ॥ २०४९ ॥
किंचिदकाले वि फलं, पाविज्जइ पच्चए य कालेण ।
तह कम्म पाइज्जइ, कालेण य पच्चए अन्न ॥ २०५० ॥
जह वा दीहा रज्जू , डज्झइ कालेण पुंजिया खिप्प ।
वितता पडओ सुस्सइ, पिंडीभूता उ कालेण ॥ २०५१ ॥"

(विशे०) (आसां गाथाना व्याख्या 'उवक्कमकाल' शब्देऽ-
स्मिन्नेव भागे करिष्यते) इत्यादि, ततो यथोक्तदोषानुप-
पत्तिरिति । आ० म० १ अ० । आयुश्च सोपक्रमायुषामेव
भिद्यते, न निरुपक्रमायुषाम् । आ० चू० १ अ० । आचा० ।
(आयुर्हि द्विविधम्)-सोपक्रमायुषा सोपक्रमम् , निरुप-
क्रमायुषा निरुपक्रमम् । यदा ह्यसुमान् स्वायुषस्त्रिभागे त्रि-
भागत्रिभागे वा जघन्यत एकेन द्वाभ्या चोत्कृष्टत. सप्तभि-
रष्टभिर्वा घर्षैरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेन कालेनात्मप्रदेशरचनाविद्वि-
कान्तवर्त्तिन आयुष्ककर्मवर्गणापुद्गलान् प्रयत्नविशेषेण वि-
धत्ते तदा निरुपक्रमायुर्भवतीति, अन्यदा तु-सोपक्रमायुरक
इति । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ६३ सूत्र । (आयु-
ष्कोपक्रमस्याऽपि यथायुष्कोपक्रमकालताम् ' उवक्कमकाल '
शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

(सोपक्रमायुषो निरुपक्रमायुषश्च यथा)—

जीवा णं भंते ! किं सोवक्कमाउया,णिरुवक्कमाउया? गोय-
मा ! जीवा सोवक्कमाउया वि , णिरुवक्कमाउया वि । णेर-
इया णं पुच्छा, गोयमा ! णेरइया णो सोवक्कमाउया, णि-
रुवक्कमाउया वि । एवं०जाव थणियकुमारा पुढवीए इया ज-
हा जीवा । एवं ०जाव मणुस्सा वाणमंतरजोइसियवेमाणि-
या; जहा णेरइया । (सूत्र ६८५)

'जीवाणमि' त्यादि-'सोवक्कमाउय' त्ति-उपक्रमणमुपक्रमः-अप्राप्तकालस्यायुषो निर्जरणं तेन सह यत्तत्सोपक्रमं तदेवंविधमायुर्येषां ते तथा। तद्विपरीतास्तु निरुपक्रमायुषः। इह गाथे-" देवा नेरइया वि य, असंखवासाउया य तिरिमणुया। उत्तमपुरिसा य तहा, चरिमसरीरा य निरुवक्कमा ॥ १ ॥
सेसा संसारत्था, हवेज्ज सोवक्कमा य इयरे य।
सोवक्कमनिरुवक्कम-भेओ भणिओ समासेणं ॥ २ ॥"
भ० २० श० १० उ०।

नेरइया देवा असंखेज्जवासाउगा तिरिया मणुया य उत्तमपुरिसा 'चरिमसरीर' त्ति-सेसा भविया देवा णारया। 'असंखेज्जवासाउया य' छम्मासंससाउग्रा आउगाणि बंधंति। परभविआयुआणि सेसतिभागे सेसाउया जे निरुवक्कमा जे ते सोवक्कमा सत्ते सिय तिभागसेसाउया परभविआयुय पकरेंति। सिय तिभागतिभागावसेसाउया सिय तिभागसेससाउया पकरेंति। कोऽनयोः प्रतिविशेषः। इमाणं संनिवायो तिव्वो इमाण सो सिढिलो सोवक्कमस्स उववक्कमेत्तस्स आरद्ध जत्थ रुब्भति तत्थ उयट्टिज्जति। निरुवक्कमेण अवस्सं त ठाण पावियव्वं तिभागा वीप्सार्थं अंणेगे तिभागा होंति, याव तिएहिं आयुयं भागं देति जो एगम्मि भाए वट्टति तत्थ अभावतो उ जीवित्रसंखेज्जपविट्ठ सव्वनिरुद्धो स आउतो स सव्वमहतीए आउयबंधगद्धाए तीसे णं आउयबंधगद्धाए चरिमकालसमयम्मि वट्टमाण जहट्ठिय सो अपज्जत्तगनिव्वत्ति निव्वत्तति। एयस्स भागस्स हट्ठा ण तरति आउय। बंधिउ तेण य सव्वजीवाण आउबंधा। अणाभोगाभिनिव्वत्तिउं तेण सो अंतोमुहुत्तिओ आवलियाए वि। आ० चू० १ अ०।

(७) आयुषोऽल्पायुर्दीर्घायुरशुभदीर्घायुः शुभदीर्घायुरित्यादिका बहवो भेदास्तेषां कारणानि च। तत्राल्पायुष्कारणानि यथा—

कह णं भंते ! जीवाः अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति गोयमा !। (सूत्र २०४+) (भ० ५ श० ६ उ०) तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसंवइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउअत्ताए कम्मं पगरेंति। (सूत्र-१२५ ×) स्था० ३ ठा० १ उ०।

अप्पाउयत्ताए ' त्ति-अल्पायुष्कतायै अल्पजीवितव्यनिबन्धनमित्यर्थः। (भ०) अथवा-अल्पमायुः-जीवितं यस्यासावल्पायुष्कस्तद्भावस्तत्ता तया कर्मायुर्लक्षणं प्रकुर्वन्ति बध्नन्तीत्यर्थः। तद्यथा-प्राणान्-प्राणिनोऽतिपातयिता शीलार्थतृजन्तमिति कर्मणि द्वितीयेति प्राणिनां विनाशनशील इत्यर्थः। एवम्भूतो यो भवति, एवं मृषावादवक्ता यश्च भवति, तथा-तत्प्रकारं रूप-स्वभावो नेपथ्यादि वा यस्य स तथारूपो दानोचित इत्यर्थः। (स्था०) (' समण ' इति पदानां व्याख्या स्वस्व शब्दे) प्रतिलम्भयिता लाभवन्तं करोतीत्येवं शीलो यश्च भवति। (स्था०) ' पडिलाभित्त ' त्ति-प्रतिलभ्य लाभवन्तं कृत्वा (भ०) तेऽल्पायुष्कतया कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रमः इच्चेएहिं ' ति-इत्येतैः प्राणातिपातादिभिरुक्तप्रकारैस्त्रिभिः स्थानैर्जीवा अल्पायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्तीति निगमनमिति। इह च प्राणातिपातयित्रादिपुरुषनिर्देशेऽपि प्राणातिपातादीनामेवाल्पायुर्बन्धनिबन्धनत्वेन तत्कारणत्वमुक्तं द्रष्टव्यमिति। इयं चास्य सूत्रस्य भावना-अध्यवसायविशेषेण एतत्त्रयं यथोक्तफलं भवतीति (स्था०) अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या, यतः किल जिनागमाभिसंस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कञ्चन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति। नूनमनेन भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिघातादि चासेवितमकल्प्यं वा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यप्यल्पायुः संवृत्त इति। (भ०) अथ वा-यो हि जीवो जिनादिगुणपक्षपातितया तत्पूजाद्यर्थं पृथिव्याद्यारम्भेण न्यासापहारादिना च प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य सरागसंयमनिरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षयेयमल्पायुष्टा समवसेयेति। अथ-नैतदेवं निर्विशेषणत्वात् सूत्रस्य अल्पायुष्कस्य क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादिहेतुना युज्यमानत्वाद्, अतः कथमभिधीयते सविशेषणप्राणातिपातादिवर्त्ती जीव आपेक्षिकी चाल्पायुष्कतेति ?, उच्यते-अविशेषणत्वेऽपि सूत्रस्य प्राणातिपातादेर्विशेषणमवश्यं वाच्यं यतः इतस्तृतीयसूत्रे प्राणातिपातादित एवाशुभदीर्घायुष्टां वक्ष्यति। न हि समानहेतोः कार्यवैषम्यं युज्यते, सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। तथा-"समणोवासयस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ" इति भगवतीवचनश्रवणादवसीयते। नैवेयं क्षुल्लकभवग्रहणरूपाऽल्पायुष्टा, न हि स्वल्पपापबहुनिर्जरानिबन्धनस्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहणनिमित्तता सम्भाव्यते जिनपूजाद्यनुष्ठानस्यापि तथा प्रसङ्गात्। अथाऽप्रासुकदानस्य भवतु क्षाल्पायुष्टा, प्राणातिपातमृषावादयोस्तु क्षुल्लकभवग्रहणमेव फलमिति, नैतदेवम्-एकयोगप्रवृत्तत्वाद् अविरुद्धत्वाच्चेति। अथ मिथ्यादृष्टिश्रमणब्राह्मणानां यदप्रासुकदानं ततो निरुपचरितैवाल्पायुष्टा युज्यते, इतराभ्यां तु को विचार इति ?, नैवम्, अप्रासुकेनेति तत्र विशेषणस्यानर्थकत्वात्। प्रासुकदानस्याप्यल्पायुष्कफलत्वाविरोधात्, उक्तञ्च-भगवत्याम्-"समणोवासयस्स णं भंते ! तहारूवं असंजय अविरय अप्पडिहय अप्पच्चक्खाय पावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाणं खाइम साइमं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! एगंतसो पावे कम्मे कज्जइ नो से काइ निज्जरा कज्जइ" त्ति। यच्च पापकर्मण एव कारणं तदल्पायुष्टाया अपि कारणमिति, नन्वेवं-प्राणातिपातमृषावादावप्रासुकदानं च कर्त्तव्यमापन्नमिति ?, उच्यते-आपद्यतां नाम भूमिकापेक्षया को दोषः। (स्था०) यतो यतिधर्माशक्तस्य गृहस्थस्य द्रव्यस्तवद्वारेण प्राणा-

नोट—१-(देवा नैरयिका अपि, चासंख्यवर्षायुषश्च तिर्यग्मनुजा उत्तमपुरुषाश्च तथा चरमशरीरश्च निरुपक्रमाः ॥ १ ॥ शेषाः संसारस्था भवेयुः सोपक्रमायुष इतरे च सोपक्रमनिरुपक्रमभेदो भणितः समासेन ॥ २ ॥)

१-भ० ५ श० ६ उ० २०३ सूत्रटी०।

निपातादिकमुक्तमेव प्रवचने (भ०) "अधिका-ग्विशाच्छास्त्रं, धर्मसाधनमस्थिति। स्याधिप्रनि-क्रिया तुल्या, विशेया गुणदोषयो.॥१॥"। तथा च गृ-हिण प्रति जिनभवनकारणफलमुक्तम्। "एतद्विह भाष-यत्र, सद्गृहिणो जन्मफलमिद परमम्। अभ्युदयावियच्छि-त्या, नियमादपवर्गबीजमिति"॥१॥ तथा-" भवइ जि-णपूयाए, कायवहो जइ वि होइ उ कहिं वि। तह वि तहिं परिसुद्धा, गिहीण कूवाऽऽहरणजोगा ॥१॥ असदारं-भपवत्ता, ज च गिही तेण तेसि विसेया। तम्मिव्वत्ति फल चिय, एसा परिभावणीयमिदं"॥२॥ इति। दानाधि कार तु श्रूयते हि द्विविधा श्रमणोपासका-संविग्नभावि-ता, लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्चेति। यथोक्तम्- "संविग्गभा-वियाणं, लोद्धयदिठंतभावियाणं च। मुत्तूण खेत्तकाले, भावं च कहिंति सुद्धत्थं"॥१॥ इति। तत्र लुब्धकदृष्टा-न्तभाविता यथा कथञ्चिद्ददति संविग्नभावितास्त्वौचि-त्येनेति। तच्चेदम्-' संथरणम्मि असुद्धं, दोएह वि गिएहंत-याण हियं। आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हिय असंथरणे" ॥१॥ इति। तथा-"नायगयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईण दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारजमसुद्ध' इत्यादि.क्वचित् 'पाणे अइवाइत्ता मुसं वइत्ता" इत्येव भवति शब्दचर्चा भावना, तत्रापि स एवार्थ, फत्याप्रत्ययान्तता व्याख्येया, प्राणान-तिपात्य मृषोक्त्वा श्रमण प्रतिलम्भ्य अल्पायुष्टया कर्म बध्न-न्तीति प्रक्रम। शेष तथैव। (स्था०) अथ वहाप्रासुकदान-मल्पायुष्कताया मुख्यं कारणम्, इतरे तु सहकारिकारण इति व्याख्येय प्राणातिपातमृषावादनयोर्दानविशेषण-त्वात्, तथाहि-(भ०) प्राणानतिपात्याधाकर्मादिकरणतो मृषोक्त्वा भो साधो! स्वार्थमिद्धमिदमक्तादि कल्पनीय-मकल्पनीयं वा न शङ्का कार्येत्यादि, तत प्रतिलम्भ्य तथा कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रम। इह च द्वयस्य विशेषणत्वेनैकस्य विशेष्यत्वेन त्रिस्थानकत्वमवगन्तव्यम्। गम्भीरार्थंचेद सूत्र-मतोऽन्यथाऽपि भावनीयमिति। स्था० ३ ठा० १ उ०। भ० ५ श० ६ उ०।

दीर्घायुष्कारणानि यथा—

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं ज, हा-णो पाणे अइवाइत्ता भवइ, णो मुसंवइत्ता भवइ, तहा रूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखा-इमसाइमेणं पमिलाभेत्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति।(सूत्र-१२५×)।(स्था० ३ ठा० १ उ०)

अल्पायुष्कताकारणान्युक्तानि अधुनैतद्विपर्ययस्यैतान्येव वि पर्यस्ततया कारणान्याह- तिहिं' इत्यादि प्राग्वदवमेय नवरं 'दीहाउअत्ताए' त्ति-शुभदीर्घायुष्टाये शुभदीर्घायुष्टया वेति प्रतिपत्तव्यम्। (स्था०) कहन्नमि' त्यादि, भवति हि जी-वदयादिमतो दीर्घमायुयतोऽत्रापि तथैव भवन्ति दीर्घायुष दृष्टा वक्तारो जीवदयादि पूर्वं कृतमनेन तेनाय दीर्घायु सवृत्त-स्तथा सिद्धमेव वधादिविरतेर्दीर्घमायु (भ०) प्राणातिपा-तविरत्यादीनां दीर्घायुष. शुभस्यैव निमित्तत्वात्। उक्तञ्च-

"सद्दहय अणुव्वएहिं. बालतवा कामनिज्जराए य। देवा-उयं निबंधइ. सम्मदिट्ठी य जो जीवो"॥१॥ तथा"प-यईए तणुकसाओ. दाणरओ सीलसंयमविहूणो। मज्झिम-गुणेहिं जुत्तो. मणुयाउयं बंधए जीवो"॥२॥ देवमनुष्या-युषी च शुभे इति। तथा भगवत्यां दानमुद्दिश्योक्तम्- 'समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं समण वा माहण वा फासु-एसणिज्जेण असणं पाणं खाइमं साइमं पमिलाभेमाण-स्स किं कज्जइ, गोयमा! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, णो से केइ पाव कम्मे कज्जइ" त्ति। यन्निर्जराकारणं तन्न शुभदी-र्घायुष्कारणतया न विरुद्धं महाप्रसवदिति। स्था० ३ ठा० १उ०।

अशुभदीर्घायुष्कारणानि यथा—

तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसंवइत्ता भवइ, तहा-रूवं समणं वा माहणं वा हीलेत्ता निंदेत्ता खिंसेत्ता ग-रिहित्ता अवमाणित्ता अन्नयरेणं अमणुन्नेणं अपीइकार-एणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिला-भेत्ता भवइ। इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदी-हाउअत्ताए कम्मं पगरेंति। (सूत्र-१२५ +)

अन्तरमायुषो दीर्घताकारणान्युक्तानि, तच्च शुभाशुभमिति तत्रादौ तावदशुभायुर्दीर्घताकारणान्याह-' तिहिं' इत्यादि-प्राग्वद्, नवरम्। अशुभदीर्घायुष्टायै इति-नारकायुष्कायेति भाव.। तथाहि-अशुभं च तत् पापप्रकृतिरूपत्वात् दीर्घं च तस्य जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्रस्थितिकत्वादुत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूपत्वात् अशुभदीर्घं तदेवभूतमायु-र्जीवितं यस्मात्कर्मणस्तदशुभदीर्घायुस्तद्भावस्तत्ता तस्यै तया वेति प्राण न् प्राणिन इत्यर्थोऽतिपातयिता भवति मृषावादी च वक्ता भवति, तथा श्रमणब्राह्मणादीनां हीलनादि कृत्वा प्रतिलम्भयिता भवतीत्यक्षरघटना। हीलना तु जात्याद्युद्-घट्टनतो निन्दनं मनसा खिसनं जनसमक्षं गर्हणं तत्समक्षम् अपमाननमनभ्युत्थानादिभि. अन्यतरेण-बहूना मध्ये एक-तरेण कचिदन्यतरेणेति न दृश्यते, अमनोज्ञ-स्वरूपतोऽ-शोभनेन कदन्नादिना अत एवाप्रीतिकारकेण भक्तिमतस्त्व-मनोज्ञमपि मनोज्ञमेव तत्फलत्वादार्यचन्दनाया इव। आर्य-चन्दनया हि कुल्माषाः सूर्पकोणकृता भगवते महावीराय पञ्चदिनन्यूनषाण्मासिकक्षपणपारणके दत्तास्तदैव च तस्या लोहनिगडानि हेममयनूपुरौ सम्पन्नौ केशा. पूर्ववदेव जाताः पञ्चवर्णविविधरत्नराशिश्च गृहे भूत संक्रदेवदानवनरनाय-कैरभिनन्दिता कालेनावाप्तचारित्रा च सिद्धिसौधशिखर-मुपगतेति। इह च सूत्रे अशनादिप्रासुकाऽप्रासुकत्वादिना न विशेषितं हीलनादिकर्तुं प्रासुकादिविशेषणस्य फलविशेषं प्रत्यकारणत्वान्मत्सरजनितहीलनादिविशेषणानामेक प्रधान-तया तत्कारणत्वादिति। स्था०३ ठा०१ उ०। वीरस्य भगवनः पारणाकारणात् आर्यचन्दनया कृतपुण्याहमित्यादि आर्य-चन्दनायाः वृत्तम् ' अज्जचंदणा ' शब्दे प्रथमभागे गतम्) वाचनान्तरे तु-' अफासुएण अणेसणिज्जेणं " ति-दृश्यते तत्र च प्रासुकदानमपि हीलनादिविशेषितमशुभदीर्घायु-ष्कारणम्, अप्रासुकदानं तु विशेषित इत्युपदर्शयता "अ-

फासुएणे" त्याद्युक्तमिति प्राणातिपातमृषावादनयोर्दानविशेषणपक्षव्याख्यानमपि घटत एव अवज्ञादानेऽपि प्राणातिपानादेर्दृश्यमानत्वादिति । भवति च प्राणातिपातादेरशुभदीर्घायुस्तेषां नरकगतिहेतुत्वाद्, यदाह-" मिच्छद्दिट्ठिमहारंभ-परिग्गहो तिव्वलोभनिस्सीलो । नरयाऽऽउय निबंधइ, पावमई रोद्दपरिणामो " ॥ १ ॥ नरकगतौ च विवक्षया दीर्घमेवायु । भ० ५ श० ६ उ० २०४ सूत्रटी० ।

शुभदीर्घायुष्कारणानि यथा—

तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-णो पाणे अइवाइत्ता भवइ, णो मुसंवइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता मणुन्नेणं पीइकारएणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ, इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुहदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति । (सूत्र-१२५ +)

उक्तविपर्ययेणाधुनेतरदाह । 'तिहिं ठाणेहिं' इत्यादि पूर्ववत् इहापि प्रासुकाऽप्रासुकनया दानं न विशेषितं पूर्वसूत्रविपर्ययत्वादस्य पूर्वसूत्रस्य वा विशेषणनया प्रवृत्तत्वादिति । न च प्रासुकाऽप्रासुकदानयोः फलं प्रति न विशेषोऽस्ति पूर्वसूत्रयोस्तस्य प्रतिपादितत्वात्तस्मादिह प्रासुकैषणीयस्य कल्पप्राप्ताविनरस्य चेदं फलमवसेयम् । (स्था० ३ ठा० १ उ० ।) वाचनान्तरे-तु 'फासुएणमि' त्यादि दृश्यत एवति (भ० ५ श० ६ उ० सूत्र-२०४) अथवा—भावप्रकर्षविशेषादनेषणीयस्यापीदं फलं न विरुध्यते, अचिन्त्यत्वाच्चित्तपरिणतेः सा हि बाह्यस्यानुगुणनयैव न फलानि साधयति भरतादीनामिवेति । इह च प्रथममल्पायुः सूत्रं, द्वितीयं तद्विपक्षः, तृतीयमशुभदीर्घायुः सूत्रं, चतुर्थं तद्विपक्ष इति, न पुनरुक्तेति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अत्राऽपरं सूत्रम्—

समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे किं लब्भइ ?, गोयमा ! समणोवासएणं तहारूवं समणं वा ०जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएइ, समाहिकारएणं तमेव समाहिं पडिलभइ । समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा०जाव पडिलाभेमाणे किं चयइ !, गोयमा ! जीवियं चयइ, दुच्चयं चयइ, दुक्करं करेइ, दुल्लहं, लहइ बोहिं बुज्झइ, तओ पच्छा सिज्झइ, ०जाव अंतं करेइ । (सूत्र-२६४)

'किंचयइ' त्ति-किं ददातीत्यर्थः 'जीवियं चयइ' त्ति-जीवितमिव ददात्यन्नादि द्रव्यं यच्छन् जीवितस्यैव त्यागं करोतीत्यर्थः । जीवितस्येवान्नादिद्रव्यस्य दुस्त्यजत्वादेतदेवाह-' दुच्चयं चयइ ' त्ति-दुस्त्यजमेतत्त्यागस्य दुष्करत्वादेवाह-दुक्करं करोतीति । अथवा-किं त्यजति-किं विरहयति । उच्यते-जीवितमिव जीवितं कर्मणो दीर्घा स्थितिं 'दुच्चयं' ति-दुष्टं कर्मं द्रव्यतश्चयम् 'दुक्करं' ति-दुष्करमपूर्वकरणतो ग्रन्थिभेदं, ततश्च-'दुल्लभं लभइ' ति-अनिवृत्तिकरणं लभते । ततश्च-' बोहिं बुज्झइ ' त्ति-बोधि-सम्यग्दर्शनं बुध्यते-अनुभवति । इह च श्रमणोपासकः साधूपासनामात्रकारी ग्राह्यस्तदपेक्षयैवास्य सूत्रार्थस्य घटमानत्वात् ' तओ पच्छा ' त्ति-तदनन्तरं सिध्यतीति प्राग्वत्, अन्यत्राप्युक्तं दानविशेषस्य बोधिगुणत्वं, यदाह-" अणुकंपकामणिज्जरबालतवेदाणविणए " त्यादि । तद्यथा-" केई तेणेव भवेण णिव्वुया, सव्वकम्मओ मुक्का । केई तइयभवेणं, सिज्झिस्संति जिणसगासे ॥ १ ॥" इति । भ० ७ श० १ उ० ।

मध्यमायुर्बलदेवादीनां यथा—

तओ मज्झिममाउयं पालयंति, तं जहा-अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेववासुदेवा । (सूत्र-१४३×)

'मज्झिमं' त्ति-मध्यमायुः पालयन्ति वृद्धत्वाभात् । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

(८) आयुष्कर्मणो जीवितहेतुत्वं यथा ।

यावदायुष्कर्म विजृम्भते तावद्वैरेनिपीडितोऽपि जीवत्यायुष्कर्मक्षये च दापाणामविकृतनापि म्रियते । न० १ गाथा टी० " सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं " (२३ गाथा +) एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति । तत्र हडि-खोडकस्तेन सदृशं तत्तुल्यं, यथा हि राजाज्ञिना हडौ क्षिप्तः कश्चिच्चौरादिस्ततो निर्गमनमनारथं कुर्वाणोऽपि विवक्षितं कालं यावत्तया म्रियते तथा नारकादिस्ततो निष्क्रमितुमना अपि तदायुषा म्रियते इति हडिसदृशमायुः । कर्म० १ कर्म० । (अत्र विशेषतो व्याख्यास्यामः 'आउकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे करिष्यते) आयाति स्वकीयावसरे इत्यायुः गतेर्निस्सरितुमिच्छन्नपि जीवो निर्गन्तुं न शक्नोति यस्मिन्सति निगडबद्ध इव तिष्ठतीत्यायुः स्वभावः । उत्त० ३३ अ० २ गाथा ।

(९) द्विविधमायुर्यथा—

दुविहे आउए पण्णत्ते, तं जहा-अद्धाउए चेव, भावाउए चेव१६ । (सूत्र-८५×)

'दुविहे' त्यादि, अद्धा-कालः तत्प्रधानमायुः-कर्मविशेषोऽद्धायुः, भवात्ययेऽपि कालान्तरानुगामीत्यर्थः, यथा-मनुष्यायुः, कस्यापि भवात्यय एव नापगच्छन्त्यपि तु सप्ताष्टभवमात्रं कालमुत्कर्षतोऽनुवर्तते इति, तथा-भवप्रधानमायुर्भवायुः, यद्भवात्यये अपगच्छत्येव न कालान्तरमनुयाति, यथा-देवायुरिति, १६ । स्था० २ ठा० ३ उ० । (यथायुष्कं पालयन्ति इति 'आउय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) यथायुष्कवक्तव्यता 'अहाउय' शब्दे प्रथमभागे द्रष्टव्या) (द्वयो अद्धायुष्कमिति 'अद्धाउय' शब्दे प्रथमभागे गतम्) (द्वयो भवायुष्कमिति 'भवाउय' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (द्वौ यथायुष्कं पालयन्ति इति' 'अहाउय' शब्दे प्रथमभागे दर्शितम्) (द्वयो आयुष्कसर्वतः इति 'आउयसवट्टय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यम्)

जीवानामिह भविकायुः परभविकायुर्यथा । तत्र कियति पूर्वभवायुषि शेषे पारभविकमायुर्बध्नन्ति सशयानः पृच्छति—

नेरइया णं भंते ! कइभागावसेसाऽऽउया परभवियाऽऽउयं पकरेंति ?, गोयमा ! नियमा छम्मासाऽवसेसाउया परभ-

विआउयं, पकरेंति। एवं असुरकुमाराऽवि ०जाव थणियकुमारा वि। पुढवीकाइया णं भंते! कइभागावसेसाऽऽउया परभवियाउयं पकरेंति?, गोयमा! पुढवीकाइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सोवक्कमाउया य, निरुवक्कमाउया य। तत्थ णं जे ते निरुवक्कमाउया ते नियमा तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति। तत्थ णं जे ते सोवक्कमाउया ते सिय तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति; सिय तिभागतिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति; सिय तिभागतिभागतिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति। आउ-तेउ-वाउ-वणस्सइकाइयाणं, बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाण वि एवं चेव॥ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते! कइभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति?, गोयमा! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-संखेज्जवासाउया य, असंखेज्जवासाउया य। तत्थ णं जे ते असंखेज्जवासाउया ते नियमा छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति। तत्थ णं जे ते संखिज्जवासाउया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सोवक्कमाउया य, निरुवक्कमाउया य। तत्थ णं जे ते निरुवक्कमाउया ते नियमा तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति। तत्थ णं जे ते सोवक्कमाउया ते णं सिय तिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति; सिय तिभागतिभागे परभवियाउयं पकरेंति; सिय तिभागतिभागतिभागावसेसाउया परभवियाउयं पकरेंति। एवं मणुस्सा वि, वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा नेरइया। दारं। (सूत्र-१४४)

नेरइया णं भंते! कइभागावसेसाउया परभवियाउयं बंध (पकरें) ति' इत्यादि। पाठसिद्धं, तदेवं यद्भागावशेषेऽनुभूयमानभवायुषि पारभविकमायुर्बध्नन्ति तत्प्रतिपादितम्। प्रज्ञा० ६ पद। भ०।

नैरयिकादीनां परभविकायुर्बन्धो यथा—

णेरइया णियमा छम्मासावसेसाऽऽउया परभवियाऽऽउयं पगरेंति। एवमसुरकुमाराऽवि ०जाव थणियकुमारा। असंखेज्जवासाउया सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिया णियमं छम्मासावसेसाउया परभवियाउयं पगरेंति। असंखेज्जवासाउया सन्निमणुस्सा णियमं ०जाव पगरेंति। वाणमंतरजोइसिया वेमाणिया जहा णेरइया। (सूत्र-५३६)

'नियम' त्ति अवश्यंभावादित्यर्थः। 'छम्मासावसेसाउय' त्ति-षण्मासा अवशेषा-अवशिष्टा यस्य तत्तथा तदायुर्येषां ते षण्मासावशेषायुष्काः। परभवो प्रयोजनं यस्मिन्नन्नत्र भविके तच्च तदायुश्चेति परभविकायुः प्रकुर्वन्ति—बध्नन्ति। असंख्येयानि वर्षाण्यायुर्येषां ते तथा ते च ते संज्ञिनश्च समनस्काः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चेत्यसंख्येयवर्षायुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः। इह च संज्ञिग्रहणमसंख्येयवर्षायुष्काः संज्ञिन एव भवन्तीति नियमदर्शनार्थं न त्वसंख्येयवर्षायुषामसंज्ञिनां व्यवच्छेदार्थं, तेषामसंभवादिति। इह च गाथे—

"निरइसुरअसंखाऊ, तिरिमणुया सेसए उ छम्मासे।
इगविगला निरुवक्कम-तिरिमणुया आउयतिभागे॥१॥
अवसेसा सोवक्कम-तिभागनवभागसत्तवीसइमे।
बंधति परभवाऊ, नियभवे सव्वजीवा उ"॥२॥ इति।

इदमेवान्यैरित्थमुक्तम्-इह निर्यग्मनुष्या आत्मीयायुषस्तृतीयत्रिभागे परभवायुषो बन्धयोग्या भवन्ति, देवनारका पुनः षण्मासे शेषे। तत्र तिर्यग्मनुष्यैर्यदि तृतीयत्रिभागे आयुर्न बद्धं ततः पुनस्तृतीयत्रिभागस्य तृतीयत्रिभागे शेषे बध्नन्ति एव तावत् संक्षिपन्त्यायुर्यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्धकाल उत्तरकालश्च शेषस्तिष्ठति। इह तिर्यग्मनुष्या आयुर्बध्नन्त्यय वा संक्षेपकाल उच्यते। तथा देवनैरयिकैरपि यदि षण्मासे शेषे आयुर्न बद्धं तत आत्मीयमप्यायुषः षण्मासशेषं तावत्संक्षिपन्ति यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्धकाल उत्तरकालश्चावशेषोऽवतिष्ठते इह परभवायुर्देवनैरयिका बध्नन्तीत्ययमसंक्षेपकाल। स्था० ६ ठा० ३ उ०। (परभविकायुष्प्रकार: 'उववाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे निरूपयिष्यते)

(१०) प्रत्याख्यानाऽप्रत्याख्यानतदुभयनिर्वर्त्तिताऽऽयुष्कत्वं जीवानाम्—

जीवा णं भंते! किं पच्चक्खाणनिव्वत्तियाऽऽउया, अपच्चक्खाणणिव्वत्तियाऽऽउया पच्चक्खाणाऽपच्चक्खाणणिव्वत्तियाउया?। गोयमा! जीवा य, वेमाणिया य, पच्चक्खाणणिव्वत्तियाउया। तिन्नि वि अवसेसा अपच्चक्खाणनिव्वत्तियाउया। गाहा-

"पच्चक्खाणं जाणइ, कुव्वंति तेणेव आउनिव्वत्ती।
सपदेसुद्देसम्मि य, एमेए दंडगा चउरो॥१॥"(सूत्र-२४०)

जीवपदे जीवा प्रत्याख्यानादित्रयनिबद्धायुष्का वाच्या, वैमानिकपदे च वैमानिका अप्येवं प्रत्याख्यानादित्रयवता तेषूत्पादात् 'अवसेस' त्ति-नारकादयोऽप्रत्याख्याननिर्वृत्तायुषो, यतस्तेषु तत्त्वेनाविरत एवोत्पद्यन्त इति। उक्तार्थसंग्रहगाथा-'पच्चक्खाण' मित्यादि, प्रत्याख्यानमिति एतदर्थ एको दण्डक, एवम्-अन्ये त्रय। भ० ६ श० ४ उ०।

(११) जीवानामाभोगानाभोगनिर्वर्त्तितायुष्कत्वं यथा—

जीवा णं भंते! किं आभोगनिव्वत्तियाउया, अणाभोगनिव्वत्तियाउया?। गोयमा! नो आभोगनिव्वत्तियाउया; अणाभोगनिव्वत्तियाउया। एवं नेरइया वि, एवं०जाव वेमाणिया। (सूत्र-२८४)। भ० ७ श० ६ उ०।

तच्चतुर्विधम्—

चउव्विहे आउए पण्णत्ते, तं जहा-णेरइयाऽऽउए, ०जाव देवाऽऽउए॥ (सूत्र-२९४×)

एति च, याति चेति आयु -कर्मविशेष इति,तत्र येन निरयभवे प्राणी ध्रियते तन्निरयायुरेवमन्यान्यपि। स्था० ४ ठा०२उ०।

अस्यैता एवाल्पप्रकृतय —

नेरइय तिरिक्खाओ, मणुस्साओ तहेव य।

णं मणुस्से आउयं सिय पकरेइ सिय नो पकरेइ' त्ति—सम्यक्त्वसप्तके क्षपिते न बध्नात्यायुः साधुः, अर्वाक् पुनर्बध्नातीत्यत उच्यते, स्यात्प्रकरोतीत्यादि केवलमेव 'दो गईओ पन्नायंति' त्ति-केवलशब्दः सकलार्थस्तेन साकल्येनैव द्वे गती प्रज्ञायेते-अवबुध्येते केवलिना तयोरेव सत्त्वादिति 'अंतकिरियं' त्ति-निर्वाणम् 'कप्पोववत्तियं' त्ति-कल्पेषु-अनुत्तरविमानान्तदेवलोकेषूपपत्तिः-उत्पत्तिर्या सैव कल्पोपपत्तिका इह च कल्पशब्दः सामान्येनैव वैमानिकदेवाऽऽवासाभिधायक इति। एकान्तपण्डितो द्वितीयस्थानवर्त्तित्वाद् बालपण्डितस्य बालपण्डितसूत्रम्। तत्र च-'बालपंडिए णं' ति-श्रावकः 'दस उवरमइ' त्ति—विभक्तिविपरिणामात् देशादुपरमते-विरतो भवति, ततो देशं स्थूलप्राणातिपातादिकं प्रत्याख्याति, वर्जनीयतया प्रतिजानीते। भ० १ श० ८ उ०।

(१५) क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा—

किरियावादी णं भंते! जीवा किं णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं, मणुस्साउयं पकरेंति?। गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति। मणुस्साऽऽउयं पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति। जइ देवाउयं पकरेंति। किं भवणवासिदेवाउयं ०जाव वेमाणियदेवाउयं पकरेंति?, गोयमा! णो भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, णो वाणमंतरदेवाउयं पकरेंति, णो जोइसियदेवाउयं, पकरेंति वेमाणियदेवाउयं पकरेंति॥ अकिरियावादी णं भंते! जीवा किं णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्ख पुच्छा, गोयमा! णेरइयाउयं पि पकरेंति, ०जाव देवाउयं पि पकरेंति। एवं अण्णाणियवादी वि, वेणइयवादी वि।

'किरिये' त्यादि, 'मणुस्साउयं पि पकरेंति देवाउयं पि पकरेंति' त्ति-तत्र ये देवा नारका वा क्रियावादिनस्ते मनुष्यायुः प्रकुर्वन्ति, ये तु मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो वा ते देवायुरिति।

सलेश्यादीनां जीवानां क्रियावादीनामायुर्यथा—

सलेस्सा णं भंते! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं एवं जहेव जीवा तहेव सलेस्सा वि चउहिं वि समोसरणेहिं भाणियव्वा। कण्हलेस्सा णं भंते! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति॥ अकिरिया-अण्णाणिय-वेणइयवादी य चत्तारि वि आउयं पकरेंति। एवं णीललेस्सा वि। काउलेस्सा वि॥ तेउलेस्सा णं भंते! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति? पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति, जइ देवाउयं पकरेंति तहेव, तेउलेस्सा णं भंते! जीवा अकिरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति। एवं अण्णाणियवादी वि वेणइयवादी वि जहा तेउलेस्सा। एवं पम्हलेस्सा वि। सुक्कलेस्सा वि णेयव्वा॥ अलेस्सा णं भंते! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा?, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति णो मणुस्साउयं पकरेंति णो देवाउयं पकरेंति।

'कण्हलेस्सा णं भंते! जीवा' इत्यादौ 'मणुस्साउयं पकरेंति' त्ति-यदुक्तं तन्नारकासुरकुमारादीनाश्रित्यावसेयम्। यतो ये सम्यग्दृष्टयो मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च ते मनुष्यायुर्न बध्नन्तीत्येव वैमानिकायुर्बन्धकत्वात्तेषामिति। 'अलेस्सा णं भंते! जीवा किरियावाई' इत्यादि, अलेश्याः-सिद्धा अयोगिनश्च ते चतुर्विधमप्यायुर्न बध्नन्तीति। भ० ३० श० १ उ०।

(१६) कृष्णपाक्षिकादीनां क्रियावाद्यादीनां जीवानामायुर्यथा—

कण्हपक्खिया णं भंते! जीवा अकिरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा! णेरइयाउयं पि पकरेंति। एवं चउव्विहं पि। एवं अण्णाणियवादी वि, वेणइयवादी वि॥ सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा॥

सम्यग्दृष्ट्यादिक्रियावाद्यादीनां जीवानामायुर्यथा—

सम्मद्दिट्ठी णं भंते! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति। मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति। मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया॥ सम्मामिच्छादिट्ठी णं भंते! अण्णाणियवादी किं णेरइयाउयं पकरेंति जहा अलेस्सा। एवं वेणइयवादी वि॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टिपदे-'जहा अलेस्स' त्ति—समस्तायूंषि न बध्नन्तीत्यर्थः। नारकदण्डके-'किरियावाईणमि' त्यादौ यन्नैरयिकायुर्देवायुश्च न प्रकुर्वन्ति क्रियावादिनारकास्तन्नारकभवानुभावादेव। यच्च तिर्यगायुर्न प्रकुर्वन्ति तत्क्रियावादानुभावादित्यवसेयम्। अक्रियावादादिसमवसरणत्रये तु नारकाणां सर्वपदेषु तिर्यग्मनुष्यायुषी एव भवतः। सम्यग्मिथ्यात्वे पुनर्विशेषोऽस्तीति तद्दर्शनायाह-नवरं 'सम्मे' त्यादि, सम्यग्मिथ्यादृष्टिनारकाणां द्वे एवाद्यन्तिमे समवसरणे स्तः तेषां चायुर्बन्धो नास्त्येव गुणस्थानकस्वभावात्तस्ते तयोर्न किञ्चिदपि आयुः प्रकुर्वन्तीति।

(१७) ज्ञानिनाम्; अज्ञानिनां, विभङ्गज्ञानिनाञ्च क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा—

णाणी आभिणिबोहियणाणी य, सुयणाणी य, ओहिणाणी य जहा सम्मद्दिट्ठी॥ मणपज्जवणाणी णं भंते! पुच्छा, गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाऽऽउयं पकरेंति, णो मणुस्साउयं पकरेंति। देवाउयं पकरेंति। जइ देवाउयं पकरेइ किं भवणवासी पुच्छा,

गोयमा ! णो भवणवासी देवाउयं पकरेंति, णो वाणमंतर-देवाऽऽउयं पकरेंति, णो जोइसियवेमाणियदेवाउयं पकरेंति । केवलणाणी जहा अलेस्सा । अण्णाणी ०जाव विभंगणाणी जहा कण्हपक्खिया ॥

सञ्ज्ञिकादीनां क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा—

सण्णासु चउसु वि ०जाव सलेस्सा णो सण्णोवउत्ता जहा मणपज्जवणाणी ॥

सवेदकावेदकसकषाय्यकषायिसयोग्ययोगिसाकारोपयुक्तानाकारोपयुक्तानां क्रियावाद्यादिजीवानामायुर्यथा—

सवेदगा ०जाव णपुंसगवेदगा जहा सलेस्सा ॥ अवेदगा जहा अलेस्सा ॥ सकसाई ०जाव लोभकसाई जहा सलेस्सा ॥ अकसाई जहा अलेस्सा ॥ सजोगी ०जाव कायजोगी जहा सलेस्सा ॥ अजोगी जहा अलेस्सा ॥ सागारोवउत्ता य, अणागारोवउत्ता य जहा सलेस्सा ॥ (सूत्र-८२४)

क्रियावाद्यादिनैरयिकादीनामायुर्यथा—

किरियावादी णं भंते ! णेरइया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, णो देवाउयं पकरेइ ॥ अकिरियावादी णं भंते ! णेरइया पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउय पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, णो देवाउयं पि पकरेइ ॥ एवं अण्णाणियवादी वि ॥ वेणइयवादी वि ॥ सलेस्सा णं भंते ! णेरइया किरियावादी किं णेरइयाउयं, एवं सव्वेऽवि णेरइया, जे किरियावादी ते मणुस्साउयं एगं पकरेंति । जे अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयवादी वि ते सव्वट्ठाणेसु वि णो णेरइयाउयं पकरेंति । तिरिक्खजोणियाउय पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, णो देवाउयं पि पकरेंति, णवरं सम्मामिच्छत्ते उवरिल्लेहिं दोहिं समोसरणेहिं न किंचि वि पकरेंति, जहेव जीवपदे । एवं ०जाव थणियकुमारा जहेव णेरइया ॥ अकिरियावादी णं भंते ! पुढवीकाइया पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, णो देवाउयं पकरेइ ॥ एवं अण्णाणियवादी वि ॥ सलेस्सा णं भंते ! एवं जं जं पदं अत्थि पुढवीकाइयाणं तहिं तहिं मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु एवं चेव दुविहं आउयं पकरेंति, णवरं तेउलेस्साए किं पि पकरेंति ॥ एवं आउकाइयाण वि, एवं वणस्सइकाइयाण वि, तेउकाइया, वाउकाइया सव्वट्ठाणेसु मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु णो णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेइ , णो मणुस्साउयं पकरेइ , णो देवाउयं पकरेइ-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिया णं जहा पुढवीकाइया णं णवर सम्मत्ते णाणेसु ण एक्कं पि आउयं पकरेंति ॥ किरियावादी णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पकरेंति , पुच्छा, गोयमा ! जहा मणपज्जवणाणी अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयवादी चउव्विहं पि पकरेंति । जहा ओहिया तहा सलेस्सा वि ॥ कण्हलेस्सा णं भंते ! किरियावादी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरयाउय पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, णो मणुस्साउय पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति ॥ अकिरियावादी, अण्णाणियवादी, वेणइयावादी चउव्विहं पि पकरेंति । जहा कण्हलेस्सा । एवं णीललेस्सा वि । काउलेस्सा वि । तेउलेस्सा जहा सलेस्सा । णवरं अकिरियावादी; अण्णाणियवादी; वेणइयवादी; णो णेरयाउयं पकरेंति , तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति , मणुस्साउयं पि पकरेंति , देवाउयं पि पकरेंति । एवं पम्हलेलेस्सा वि । एवं सुक्कलेस्सा वि भाणियव्वा । कण्हपक्खिया तिहिं समोसरणेहिं चउव्विहं पि आउयं पकरेंति । सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा । सम्मद्दिट्ठी जहा मणमज्जवणाणी तहेव वेमाणियाउयं पकरेंति ॥ मिच्छद्दिट्ठी जहा कण्हपक्खिया ॥ सम्मामिच्छादिट्ठी णं एक्कं पि आउयं पकरेंति जहेव, णेरइया णाणी ०जाव ओहिणाणी जहा सम्मद्दिट्ठी अण्णाणी ०जाव विभंगणाणी जहा कण्हपक्खिया । सेसा ०जाव अणागारोवउत्ता, सव्वे जहा सलेस्सा तहा चेव भाणियव्वा । जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया भणिया एवं मणुस्साण वि भाणियव्वा , णवरं मणपज्जवणाणी णो सण्णोवउत्ता य जहा सम्मद्दिट्ठी तिरिक्खजोणिया तहेव भाणियव्वा । अलेस्से केवलणाणी अवेदक-अकसाई अजोगी य एए एक्कं पि आउयं ण पकरेंति, जहा ओहिया जीवा । सेसं तं चेव । वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा । (सूत्र-८२५+)

'पुढविकाइये' त्यादौ 'दुविहं आउय' त्ति-मनुष्यायुस्तिर्यगायुश्चेति 'तेओलेस्साए न किं पि पकरेंति' त्ति-अपर्याप्तकावस्थायामेव , पृथिवीकायकानां तद्भावात्तद्विगम एव चायुषो बन्धादिति 'सम्मत्तनाणेसु न एक्क पि आउय पकरेंति' त्ति-द्वीन्द्रियादीनां सम्यक्त्वज्ञानकालात्यय एवायुर्बन्धो भवन्त्यल्पत्वात्तत्कालस्येति नैकमप्यायुर्बध्नन्ति तयोस्ते इति । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकदण्डके। 'कण्हलेस्साणमि' त्यादि, यदा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च सम्यग्दृष्टय कृष्णलेश्यात्रयपरिणता भवन्ति तदायुरेकमपि न बध्नन्ति सम्यग्दृशां वैमानिकायुर्बन्धकत्वेन तेजोलेश्यादित्रय एव बन्धनादिति, 'तओलेस्सा जहा सलेस्स' त्ति-अनेन च क्रियावादिनो वैमानिकायुरेव इतरे तु त्रयश्चतुर्विधमप्यायु प्रकुर्वन्तीति प्राप्तं

सलेश्यानामेवंविधस्वरूपतयोक्तत्वादिह तु यदनभिमतं तन्निषेधनायाऽऽह-'नवरं अकिरियावाई' त्यादि, शेषं तु प्रतीतार्थत्वान्न व्याख्यातमिति। भ० ३० श० १ उ०।

(१८) अनन्तरोपपन्नकादिक्रियावाद्यादीनामायुर्यथा—

किरियावादी णं भंते ! अणंतरोववण्णगा णेरइया किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं णो तिरिक्खजोणियाऽऽउयं पकरेंति। मणुयाऽउयं पकरेंति। णो देवाउयं पकरेंति। एवं अकिरियावादी वि। अण्णाणियवादी वि। वेणइयवादी वि। सलेस्सा णं भंते ! किरियावादी अणंतरोववण्णगा णेरइया किं णेरइयाउयं पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइयाउयं ०जाव णो देवाउयं पकरेंति। एवं ०जाव वेमाणिया। एवं सव्वट्ठाणेसु अणंतरोववण्णगा णेरइया ण किंचि वि आउयं पकरेंति, ०जाव अणागारोवउत्ते त्ति। एवं ०जाव वेमाणिया। णवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं। (सूत्र-८२६+)। भ० ३० श० १ उ०।

(१९) भविकजीवानां नैरयिकादिषूपपद्यमानानां सायुष्कत्वं यथा-

जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं साऽऽउए संकमइ; निराउए संकमइ ?, गोयमा ! साउए संकमइ, नो नेराउए संकमइ। से णं भंते ! आउए कहिं कडे, कहिं समाइण्णे ?। गोयमा ! पुरिमे भवे कडे, पुरिमे भवे समाइण्णे, एवं ०जाव वेमाणियाणं दंडओ। से णूणं भंते ! जे जं भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ, तं जहा-नेरइयाउयं वा ०जाव देवाउयं वा ? हंता गोयमा ! जे जं भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ। तं जहा-नेरइयाउयं वा; तिरियमणुयदेवाउयं वा। नेरइयाउयं पकरेमाणे सत्तविहं पकरेइ, तं जहा-रयणप्पभापुढवीनेरइयाउयं वा ०जाव अहे सत्तमापुढवीनेरइयाउयं वा तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे पंचविहं पकरेइ, तं जहा-एगिंदियतिरिक्खजोणियाउयं वा भेदो सव्वो भाणियव्वो मणुस्साउयं दुविहं पकरेइ, देवाउयं चउव्विहं पकरेइ। (सूत्र-१८४ +)

'जीवे णमि' त्यादि, 'से ण भंते' त्ति-अथ तद्भदन्त ! 'कहिं कडे' त्ति-क भवे बद्धम्। 'समाइण्णे' त्ति-समाचरितं तद्धेतुसमाचरणात्' ज जं भविए जोणिं उववज्जित्तए' त्ति-विभक्तिविपरिणामाद्यो यस्यां योनावुत्पत्तुं योग्य इत्यर्थः, 'मणुस्साउय दुविहं' ति-संमूर्च्छिम-गर्भव्युत्क्रान्तिकभेदाद् द्विधा 'देवाउयं चउव्विहं' ति—भवनपत्यादिभेदात्। भ० ५ श० ३ उ०।

(२०) भविकजीवाना नैरयिकादिषूपपद्यमानानामायुष्करणप्रतिसंवेदनादि यथा—

रायगिहे ०जाव एवं वयासी-जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इह गए नेरइयाउयं पकरेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पकरेइ, उववण्णे नेरइयाउयं पकरेइ ?, गोयमा ! इह गए नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववज्जमाणे नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववन्ने नेरइयाउयं पकरेइ। एव असुरकुमारेसु वि। एवं ०जाव वेमाणिएसु। जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से भंते ! किं इह गए नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववन्ने नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ ?, गोयमा ! नो इह गए नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववन्ने वि नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, एवं ०जाव वेमाणिएसु। (सूत्र-२८३+)। भ० ७ श० ६ उ०।

(२१) अनन्तरमुद्वृत्त्योपपद्यमानाना नैरयिकादीनामायुष्प्रतिसंवेदनादि यथा—

णेरइया णं ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कयरं आउयं पडिसंवेदेइ ?, गोयमा ! णेरइयाउयं पडिसंवेदेइ। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ। एवं मणुस्से वि। णवरं मणुस्साउए से पुरओ कडे चिट्ठइ। असुरकुमारा णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए पुच्छा, गोयमा ! असुरकुमाराउयं पडिसंवेदेइ, पुढवीकाइयाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ। एवं जो जहिं भविओ उववज्जित्तए तस्स तं पुरओ कडे चिट्ठति, तत्थ ठिओ तं पडिसंवेदेइ ०जाव वेमाणिया, णवरं पुढवीकाइओ पुढवीकाइएसु उववज्जति, पुढवीकाइयाउयं पडिसंवेदेइ अण्णे य से पुढवीकाइयाउए पुरओ कडे चिट्ठइ, एवं ०जाव मणुस्सो सट्ठाणे उववातेयव्वो परट्ठाणे तहेव। (सूत्र-६२८) भ० १८ श० ५ उ०।

(चतुर्गत्यायुःस्थिति 'कम्म' तृतीयभागे (२६) अधिकाराङ्के दर्शयिष्यते) (आयुषो गुणस्थानेषु बन्धोदयसत्तास्थानाना परस्परसंबन्धेन भङ्गा "अट्ठछला०" ४७ गाथया 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते)

आहोस्वित्—अव्य०। आहो च स्विच्च द्वं०। विकल्पे, प्रश्ने च। "आहोस्वित् शाश्वतं स्थानं, तेषां तत्र द्विजोत्तम।।" द्विपदमित्येके। 'किं देवाणं वयणं, गेज्झ आउ जिणवराणं" ॥३०५॥ 'आउ' त्ति-आर्षत्वात्-आहोस्विदिति। उत्त० १ अ०।

आउंचण-आकुञ्चन-न०। संकोचात्मके क्रियाभेदे, जङ्घादेः सङ्कोचने, ध० २ अधि०। गात्रसंकोचने, आव० ४ अ०। पञ्चा०। ऋजुद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं च कर्म आकुञ्चनं यथा ऋजुनोऽङ्गुल्यादिद्रव्यस्य येऽग्रावयवास्तेषामाकाशादिभिः

स्वसंयोगिभिर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च संयोगे सति येन कर्मणाङ्गुल्यादिरवयवी कुटिलः संपद्यते तदाकुञ्चनम् । सम्म० ३ काण्ड ४६ गाथाटी० ।

आउंचणपट्टग-आकुञ्चनपट्टक-न० । पर्यस्तिकापट्टे, वृ० ।

तच्च निर्ग्रन्थीनां धारयितुं कल्पते (सूत्रम्)—

नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३६ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥३७॥

एव यावद्दारुदण्डकसूत्रम् ।

अथामीषां सूत्राणां सम्बन्धमाह—

बंभवयपालणऽट्ठा, तहेव पट्टाियियाउ समणीणं ।
विइयपएण जईणं, पीढगफलए विवज्जित्ता ॥ २८५ ॥

यथा ब्रह्मव्रतपालनार्थमवलम्बनकादीनि न कल्पन्ते । तथा ब्रह्मचर्यरक्षणार्थमेव श्रमणीनां पट्टादयोऽपि या संदण्डकान्ता न कल्पन्ते । द्वितीयपदे तु यतीनां कल्पन्ते, पर पीठफलकानि वर्जयित्वा तानि साधूनामपवादमन्तरेणापि कल्पन्त इत्यर्थः । अत एतेषां सूत्राणामारम्भः । अनेन संबन्धेनायातानाममीषां (३६) प्रथमसूत्रस्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थीनामाकुञ्चनपट्टं-पर्यस्तिकापट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥ ३६ ॥ कल्पते निर्ग्रन्थानामाकुञ्चनपट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं चेति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥

अथ भाष्यम्-

गव्वो अवाउडत्तं, अणुवधिपलिमन्थुपरिवाओ ।
पट्टमतोलियदोसा, गिलाणियाए उ जयणाए ॥ २८६ ॥

पर्यस्तिकापट्टं परिदधानामार्यिकां दृष्ट्वा लोको ब्रूयात्-अहो अस्या कियान् गर्वो यदेवं महिलाभवन्ती पर्यस्तिकां करोति अपावृता वा पर्यस्तिका वा कुर्वाणा भवेत् । ' अणुवहि-त्ति ' य उपकारं वर्तते स उपधिरुच्यते । स च तासामुपकारं नायातीति कृत्वा अनुपधिरुभयकाल प्रत्युपेक्षमाणे च तस्मिन् सूत्रार्थपरिमन्थ । शास्तुश्च-तीर्थकृत परिवादो यथा नूनमसर्वज्ञोऽसौ येनेत स पर्यस्तिकापट्टो न प्रतिषिद्धः । द्वितीयपदं य संयती स्थविरो ग्लाननया यतनया अल्पसागारिकपर्यस्तिकापट्टः परिधातव्य उपरि चान्यत्प्रावरणीयं कारणे च गृह्यमाणे योऽजालिको-जालरहित स गृहीतव्यो जालसदृशेषु चिरदोष एवं निर्ग्रन्थानामप्यकारणे पर्यस्तिका कुर्वाणाना चतुर्लघु गुर्वादयश्च त एव दोषाः ।

कारणे पुनरयं विधि —

थेरे व गिलाणे वा, सुत्तकाउमुवरिं तु पाउरणं ।
वसमए व चेट्ठो पुव्व-कतममारिए वाए ॥ २८७ ॥

सूत्रपौरुषीम्, उपलक्षणत्वादर्थपौरुषीं च कर्तुं; शिष्याणां दातुमित्यर्थः । स्थविरो ग्लानो वाचनाचार्य पर्यस्तिकां कृत्वा परिप्रावृणुयात् । उत्तरार्द्धं पश्चाद् व्याख्यास्यते ।

स च पर्यस्तिकापट्टः कीदृश इत्याह-

फल्लो अचित्तो अह आविओ वा,
चउरंगुलो वित्थडओ असंधिमो ।
विस्सामहेउं तु सरीरगस्स,
दोसा अवट्टंभगया य एवं ॥ २८८ ॥

फलाज्जातः फाल,सौत्रिक इत्यर्थः । अचित्र-अकुर्बर । अथ सौत्रिको न प्राप्यते तत आविको वा स च चतुरङ्गुलविस्तृतः । स्थूलोऽसंधिमश्चापान्तराले संधिरहितः एवंविधः पर्यस्तिकापट्टः शरीरस्य विश्रामहेतोर्गृह्यते ये चाऽवष्टम्भगता "अवरकुथुद्देहिय" इत्यादिका दोषाः तथैवमाकुञ्चनपट्टे परिधीयमाने न भवन्ति । वृ० ५ उ० ।

आउंच-(ट) णा-आकुञ्चना-स्त्री० । आकुञ्चनं-गात्रसंकोचन तदेवाकुञ्चना । सङ्कोचे, ध० ३ अधि० ।

आउंटण-आकुंचन-न० । ' आर्षेऽन्यदपि दृश्यते ' इति प्राकृतव्याकरणाच्चस्य ट' । संकोचने, आचा० ४ अ० । आउंटण गात्रसंसेवो । आ० चू० ४ अ० । आवर्जने च । पञ्चा० ७ विव० ।

आउंटणपसारण-आकुञ्चनप्रसारण-न० । आकुञ्चनं जङ्घादेः संकोचनं, प्रसारणं च तस्यैव जङ्घादेः सङ्कुचितस्य ऋजुकरणं आकुञ्चन-प्रसारणे च । जङ्घादिसङ्कोचनाकुञ्चितजङ्घाऋजुकरणयोस्तदात्मके, एकासनप्रत्याख्यानस्याकारविशेषे च । प्रव० । " अण्णत्थ आउंटणपसारणेणं " आकुञ्चनं प्रसारणे चाऽसहिष्णुतया क्रियमाणे यत्किञ्चिदासनं चलति ततोऽन्यत्र प्रत्याख्यान तस्मिन् हि क्रियमाणे न प्रत्याख्यानभङ्ग । प्रव० ४ द्वार । ध० । हत्थं वा पायं वा सीसं वा पसारे आउटेज्ज वा पसारेज्ज वा ण भज्जेति । आ० चू० ६ अ० ।

आकुण्टनादिप्रस्तावादिदमाह—

देवे णं भंते ! महिड्डिए०जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा पभू अलोगंसि हत्थं वा०जाव ऊरूं वा आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा ?,णो इणट्ठे समट्ठे, से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ देवे णं महिड्डिए०जाव महेसक्खे लोगंते ठिच्चा णो पभू अलोगंसि हत्थं वा ०जाव पसारेत्तए वा ?, गोयमा ! जीवा णं आहारोवचिया पोग्गला बोंदिचिया पोग्गला कडेवरचिया पोग्गला पोग्गला चेव पप्प जीवाण य अजीवाण य गइपरियाये आहिज्जइ, अलोए णं णेवऽत्थि जीवा णेवऽत्थि पोग्गला से तेणऽट्ठेणं ०जाव पसारेत्तए वा सेवं भंते ! भंते त्ति । (सूत्र-५८६)

'देवे णमि' त्यादि,'जीवा ण आहारोवचिया पोग्गल'त्ति-जीवानां; जीवानुगता इत्यर्थः । आहारोपचिता-आहाररूपतयोपचिता । ' बोंदिचिया पोग्गल ' त्ति-अव्यक्तावयवशरीररूपचिता 'बोंदिचिया पोग्गल' त्ति-अव्यक्तावयवशरीररूपत या चिता । ' कडेवरचिया पोग्गल ' त्ति-शरीररूपतया चिता उपलक्षणत्वाच्चास्योच्छ्वासचिताः पुद्गला इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् अनेन चेदमुक्तं-जीवानुगामिस्वभावा. पुद्गला भवन्ति ततश्च यत्रैव क्षेत्रे जीवास्तत्रैव पुद्गलाना गति स्यात्तथा 'पोग्गला चेव पप्प'त्ति-पुद्गलानेव प्राप्य-आश्रित्य जीवानां च 'अजीवाण य'त्ति-पुद्गलानां च गतिपर्यायो-गतिधर्म्म 'आहिज्जइ'त्ति आख्यायते । इदमुक्तं भवति-यत्र क्षेत्रे पुद्गलास्तत्रैव जीवानां पुद्गलानां च गतिर्भवति,एव चालोके नैव सन्ति जी-

वा नैव च सन्ति पुद्गला इति तत्र जीवपुद्गलानां गतिर्नास्ति तदभावाच्चालोके देवो हस्ताद्याकुण्टयितु प्रसारयितुं वा न प्रभुः । भ० १६ श० ८ उ० ।

आउअकरण-आयुष्करण-न० । आयुषः करणमिति । जीवितविपाकवेद्यस्यायुष्कर्मविशेषस्य निर्वर्तने, "आउअकरणं०" (२०५४ गा०) ' आयु करणम् ' इति-आयुष-पञ्चमकर्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं-निर्वर्तनम्-आयु करणम् । उत्त०पाई० ४ अ० । (अत्र विस्तर ' असंखय ' शब्दे प्रथमभागे गत ।)

आउकम्म-आयुष्कर्मन्-न० । एति-याति चेत्यायुस्तन्निबन्धन कर्मायुष्कर्म । कर्मविशेषे, उत्त० १ अ० (तद्वक्तव्यता ' आउ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आउकम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-अद्धाउए चेव, भवाउए चेव । (सूत्र-१०५+) स्था० २ ठा० ४ उ० । (व्याख्या स्वस्वस्थाने)

इदानीं पञ्चविधमायुष्कर्म व्याचिख्यासुराह—

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं ॥२३×॥

आयु शब्द प्रत्येकं योज्यते, ततश्च सुष्ठु राजन्ते इति सुराः। यद्वा-'सुरत्'ऐश्वर्यदीप्त्यो ,सुरन्ति-विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणकान्त्या सहजशरीरकान्त्या च दीप्यन्त इति सुरा'। यदिवा-सुष्ठु रान्ति-ददति प्रणतानामीप्सितमर्थं लवणाधिप-सुस्थित इव लवणजलधौ मार्ग जनार्दनस्येति सुरा देवास्तेषामायु सुरायुर्येन तद्भवस्थितिर्भवति १ । नृणन्ति-निश्चिन्वन्ति वस्तुतत्त्वमिति नरा -मनुष्यास्तेषामायुर्नरायुस्तद्भवावस्थितिहेतु २ । ' तिरि ' त्ति—प्राकृतत्वात्तिरोऽञ्चन्ति-गच्छन्तीति तिर्यञ्च व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादय , ततस्तिरश्चामायुस्तिर्यगायुर्येनैतेषु स्थीयते । नरान् उपलक्षणत्वात् तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिण कायन्तीवाऽऽह्वयन्तीवेति नरका -नरकावासाः तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषा ते "अभ्रादिभ्य ।" ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इत्यप्रत्यये नरकास्तेषामायुर्नरकायुर्येन ते तेषु ध्रियन्ते । " एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति । कर्म० १ कर्म० (हडिदृष्टान्तः ' आउ ' शब्देऽस्मिन्नेवभागे (८) अधिकाराङ्के गत)

आउकाइय-अप्कायिक-पुं० । आपो—द्रवास्ता एव काय शरीर यस्येति अप्काय एवाप्कायिक स्वार्थे इकप्रत्ययः । एकेन्द्रियससारसमापन्नजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । (अत्रस्था सर्वा वक्तव्यता ' आउक्काय ' शब्दादवगन्तव्या)

आउक्काय-अप्काय-पुं० । आप कायो यस्येति । एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवभेदे, षट्कायभेदे च जीविनि, प्रज्ञा० १ पद । स० ।

विषय-सूची—

(१) संप्रत्यप्कायिकप्रतिपादनार्थमाह-ते च द्विविधाः-

से किं तं आउक्का (का) इया ?, आउकाइया दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-सुहुमआउकाइया य, बादर आउकाइया य । से किं तं सुहुमआउकाइया ?, सुहुमआउकाइया दुविहा, पन्नत्ता, तं जहा-पज्जत्तसुहुमआउकाइया य, अपज्जत्तसुहुमआउकाइया य । सेत्तं सुहुमआउकाइया ॥ से किं तं बादरआउकाइया ?, बादरआउकाइया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-ओसा, हिमए, महिया, करए, हरतणुए, सुद्धोदए, सीतोदए, उसिणोदए, खारोदये, खट्टोदए, अंबिलोदए, लवणोदए, वारुणोदए, खीरोदए, घओदए, खोदोदए, रसोदए, जेयावण्णे, तहप्प॥रा । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य, अपज्जत्तगा य । तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते णं अ पत्ता । तत्थ णं जे ते पज्जत्ता एतेसि णं वण्णाऽऽदेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्सग्गसो विहाणाइं संखेज्जाइं जोणिप्पमुहसयसहस्साइं, पज्जत्तगणिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति । जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा । सेत्तं बादरआउकाइया । सेत्तं आउकाइया । (सूत्र-१६)

' उस्सा ' इत्यवश्याय स्नेह', 'हिम' स्त्यानोदकं, 'महिका' गर्भमासेषु सूक्ष्मवर्षं , करको-घनोपल , हरतनुर्यो भुवमुद्भिद्य गोधूमाङ्कुरतृणाग्रादिषु बद्धो बिन्दुरुपजायते, 'शुद्धोदकम् ' अन्तरिक्षसमुद्भवं नद्यादिगतं च, तच्च स्पर्शरसादिभेदादनेकभेदं, तदेवानेकभेदत्व दर्शयति-शीतोदकं-नदीतडागाऽवटवापीपुष्करिण्यादिषु शीतपरिणामम् , उष्णोदकं-स्वभावत एव क्वचिन्निर्झरादावुष्णपरिणामं क्षारोदकम्-ईषल्लवणस्वभाव यथा लाटदेशादौ केषुचिदवटेषु, खट्टोदकम्-ईषदम्लपरिणामम् , अम्लोदकं-स्वभावत एवाम्लपरिणामं काञ्जिकवत् , लवणोदक लवणसमुद्रे, वारुणं वारुणसमुद्रे, क्षीरोदकं क्षीरसमुद्रे, क्षोदोदक इक्षुसमुद्रे, रसोदकं पुष्करवरसमुद्रादिषु, येऽपि चान्ये तथाप्रकारा -रसस्पर्शादिभेदभिन्ना घृतोदकादयो बादरा अप्कायिका ते सर्वे बादराप्कायिकतया प्रतिपत्तव्या , ' ते समासओ ' इत्यादि प्राग्वत् , नवर सङ्ख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि इत्यत्रापि सप्त वेदितव्यानि । उक्ता अप्कायिका । प्रज्ञा० १ पद ।

आउस्स वि दाराइं , ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्तीउ विहाणे , परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ १०६ ॥

अप्कायस्यापि तान्येव द्वाराणि भवन्ति; यानि पृथिव्याः प्रतिपादितानीति, नानात्वं भेदरूपं विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रविषयं द्रष्टव्यं, चशब्दाल्लक्षणविषयं च, तुशब्दोऽवधारणार्थः, एतद्गतमेव नानात्वं; नाऽन्यगतमिति।

तत्र विधानं-प्ररूपणा, तद्गत नानात्वं प्रदर्शयितुमाह—

दुविहा य आउजीवा, सुहुमा तह बायरा य लोयम्मि।
सुहुमा य सव्वलोए, पंचेव य बायरविहाणा ॥१०७॥

स्पष्टा।

तत्र पञ्च बादरविधानानि दर्शयितुमाह—

सुद्धोदए य ओसा-हिमे य महिया तरतणू चेव।
बायरआउविहाणा, पंचविहा वण्णिया एए ॥ १०८ ॥

शुद्धोदकं तडागसमुद्रनदीह्रदावटादिगतमवश्यायादिरहितमिति, अवश्यायो-रजन्या यत्स्नेह पतति, हिमं तु-शिशिरसमये शीतपुद्गलसम्पर्काज्जलमेव कठिनीभूतमिति, गर्भमासादिषु सायं प्रातर्वा धूमिकापातो महिकेत्युच्यते, वर्षाशरत्कालयोर्हरितांकुरमस्तकस्थितो जलबिन्दुर्भूमिस्नेहसम्पर्कोद्भूतो हरतनुशब्देनाभिधीयते, एवमेते पञ्च बादराप्कायविधयो व्यावर्णिताः। एते बादराप्काया समासतो द्वेधा पर्याप्तका, अपर्याप्तकाश्च। तत्रापर्याप्तका-वर्णादीनाम्, संप्राप्तपर्याप्तकास्तु-वर्णगन्धरसस्पर्शादेशैः सहस्राग्रशो भिद्यन्ते ततश्च संख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणि भवन्ति भेदानामित्यवगन्तव्यम्। संवृतयोनयश्चैते सा च योनिः सचित्ताऽचित्त-मिश्रभेदात् त्रिधा। पुनश्च शीतोष्णोभयभेदात् त्रिधैव। एवं गण्यमाना योनीनां सप्त लक्षा भवन्ति इति प्ररूपणानन्तरं परिमाणद्वारमाह—

जे बायरपज्जत्ता, पयरस्स असंखभागमेत्ता ते।
सेसा तिन्नि वि रासी, वीसुं लोगा असंखेज्जा ॥ १०९ ॥

'जे बायर' त्यादि, ये बादराप्कायपर्याप्तकास्ते संवर्तितलोकप्रतरासंख्येयभागप्रदेशराशिपरिमाणाः। शेषास्तु त्रयोऽपि विष्वक्-पृथगसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा इति। विशेषश्चायम्-बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यो बादराप्कायपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, बादरपृथिवीकायाऽपर्याप्तकेभ्यो बादराप्कायिकाऽपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, सूक्ष्मपृथिवीकायाऽपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माप्कायाऽपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माप्कायपर्याप्तका विशेषाधिकाः। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

भौमान्तरिक्षभेदाद् द्विविधत्वम्। अप्कायद्वारमाह—

आउक्काओ दुविहो, भोमो तह अन्तलिक्खो य ॥२८॥

अप्कायो द्विविधः-भौम, आन्तरिक्ष्य।

इदानीं प्रत्यासत्तिन्यायादान्तरिक्षस्तावदुच्यते, तत्रान्तरिक्षमपि द्विविधम्—

मिहिया वासं पुण अं-तलिक्खिअं० ॥ २९+ ॥

सोऽन्तरिक्षजो द्विविधः-महिका-धूमिकारूपोऽप्कायः 'वास' ति-वर्षारूपश्चाप्काय। ओघ०। (भौमाप्कायिकव्याख्यानमग्रे १७५७ गाथया करिष्यते)

(२) अप्कायिकस्य शरीरादि यथा—

तेसि णं भंते! जीवाणं कति सरीया पण्णत्ता?, गोयमा! तओ सरीरया पण्णत्ता, तं जहा-ओरालिते, तेयत्ते, कम्मत्ते, जहेव सुहुमपुढविकाइयाणं। नवरं थिबुगसंठिया पण्णत्ता, सेसं तं चेव ०जाव दुगतिया दुआगतिया परित्ता असंखेज्जा पण्णत्ता। सेत्तं सुहुमआउकाइया। (सूत्र-१६×)। से किं तं बायरआउक्काइया?, बायरआउक्काइया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा-उसा हिमे ०जाव जे यावन्ने तहप्पगारा। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-पज्जत्ता य, अपज्जत्ता य। तं चेव सव्वं। नवरं थिबुगसंठिया, चत्तारि लेसातो, आहारो नियमा छद्दिसिं, उववाओ तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवेहिं, ठिती-जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तवाससहस्साइं। सेसं तं चेवं। जहा-बायरपुढविकाइया णं ०जाव दुगतिया तिआगतिया परित्ता असंखेज्जा पन्नत्ता समणाउमो!। सेत्तं बायरआउक्काइया। सेत्तं आउकाइया। (सूत्र-१७)

'ते समासतो' इत्यादि, प्राग्वद्, नवर संख्येयानि योनिप्रमुखाणि शतसहस्राणीत्यत्रापि सप्त वेदितव्यानि "तेसि णं भंते! जीवाणं कइ सरीरगा" इत्यादि, द्वारकलापचिन्तायामपि बादरपृथिवीकायिकगमोऽनुगन्तव्यो, नवरं संस्थानद्वारे-शरीरकाणि स्तिवुकसंस्थानसंस्थितानि वक्तव्यानि। स्थितिद्वारे-जघन्यतः स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतः सप्तवर्षसहस्राणि। शेषं तथैव। जी० १ प्रति०।

अप्कायिकस्य जीवत्व यथा-सांप्रतं परिमाणद्वारानन्तरं चशब्दसूचितलक्षणद्वारमाह—

जह हत्थिस्स सरीरं, कललाऽवत्थस्स अहुणोववन्नस्स।
होइ उदगंडगस्स य, एसुवमा आउजीवाणं ॥११०॥

अथवा-पर आक्षिपति-नाप्कायो जीवः, तल्लक्षणायोगात्, प्रश्रवणादिवदित्यस्य हेतोरसिद्धतोद्भावनार्थं दृष्टान्तद्वारेण लक्षणमाह-'जहे' त्यादि, यथा हस्तिन शरीरं कललाऽवस्थायामधुनोत्पन्नस्य द्रवं, चेतनञ्च दृष्टमेवमप्कायोऽपीति। यथा वा-उदकप्रधानमण्डकमुदकाण्डकम्; अधुनोत्पन्नमित्यर्थः, तन्मध्यव्यवस्थितं रसमात्रमसजातावयवमनभिव्यक्तचञ्च्वादिप्रविभागञ्चेतनावद् दृष्टम्। एषा एवोपमाऽप्कायजीवानामपीति। हस्तिशरीरकललग्रहणञ्च महाकायत्वात्तद्बहु भवतीत्यत सुखेन प्रतिपाद्यते। अधुनोपपन्नग्रहणं सप्ताहपरिग्रहार्थं, यत सप्ताहमेव कललं भवति, परतस्त्वर्बुदादि। अण्डकेऽप्युदकग्रहणमेवमेव, प्रयोगश्चायम्-सचेतना आपः शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्, हस्तिशरीरोपादानभूतकललवत्, विशेषणोपादानात्प्रश्रवणादिव्युदास। तथा सात्मकं तोयम्, अनुपहतत्वादण्डकमध्यस्थितकललवदिति। तथा आपो जीवशरीराणि छेद्यत्वाद् भेद्यत्वादुत्क्षेप्यत्वाद्भोज्यत्वाद्भोग्यत्वाद् घ्रेयत्वाद्रसनीयत्वात् स्पर्शनीयत्वात् दृश्यत्वात् द्रव्यत्वादेवं सर्वेऽपि शरीरधर्माः हेतुत्वेनाभ्यसनीयाः गगनवर्जभूतधर्मा स्वरूपवत्त्वाकारवत्त्वादय। सर्वत्रायं दृष्टान्तः-सास्नाविषाणादिसंघातवदिति। ननु च रूपवत्त्वाऽऽकारवत्त्वादयो भूतधर्माः परमाणु-

ष्वपि दृष्टा इत्यनेकान्तिकता, नैतदेव यदत्र छेद्यत्वादिहेतुत्वेनोपन्यस्तं तत्सर्वमिन्द्रियव्यवहारानुपाति, न तथा परमाणवोऽत· प्रकरणादनीन्द्रियपरमाणुव्यवच्छेद । यदि वा-नैवासौ विपक्ष सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यशरीराभ्युपगमात्, जीवसहितासहितत्वं तु विशेष·, उक्तञ्च-" तणचाणभातिविगार-मुत्तजाइत्तउ.णिल ता उ । सत्थासत्थहयाओ, निर्जीवसजीवरूवाओ ॥ १ ॥ " एवं शरीरत्वे सिद्धे सति प्रमाणम् । सचेतना हिमादयः, क्वचित् अप्कायत्वादितरोदकवत् इति । तथा सचेतना आप·, क्वचित् खातभूमिस्वभाविकसम्भवत्वाद्दर्दुरवत् । अथवा-सचेतना अन्तरिक्षाद्भवा आप, स्वाभाविकव्योमसंभूतसंपातित्वात्मत्स्यवत्, अत एते एवंविधलक्षणभाक्त्वाज्जीवा भवन्त्यप्काया· । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

भौमाऽप्कायः—

भूमिक्खयसाभाविय--संभवओ ददुरो व्व जलमुत्तं ।
अहवा मच्छो व्व सभा--ववोमसंभूयपायाओ ॥१७५७॥

विशे० । (अस्या गाथाया· व्याख्यानं ' सच्चेयण ' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते) भौम जलं सचित्तं, भूमिखाते स्वाभाविकसंभवात्, दर्दुरवदिति प्रयोग· । यथा-दर्दुरस्य भूमिखनने स्वाभाविक· संभवो जायते, तथा जलस्यापि भूमिखाते स्वाभाविकसंभव इति । अथवा-सात्मकमन्तरिक्षोदक, स्वभावतो व्योमसंभूतस्य पातान्मत्स्यवत्, यथा मत्स्यस्य स्वभावेन व्योम्नि संभूतस्य पातो दृश्यते तथाऽन्तरिक्षजलस्यापि, इति सिद्धं जीवत्वं जलस्य । ध० ३ अधि० ३८ श्लोक । सूत्र० ।

आउक्काइया, (दश०) आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं । (सूत्र-१+) दश० ४ अ० ।

कललंऽडरसादीया, जह जीवा तहेव आउ जीवाऽवि ॥ ७५+ ॥

यथा कलल गर्भप्रथमाऽवस्थारूपम् अण्डरसः इत्येवमादयो जीवा अपि प्रतिपत्तव्या·, प्रयोगः अप्कायिका जीवा अनुपहतत्वे सति द्रवत्वात् कललाण्डरसादिवद् । व्य० १० उ० ।

इहं च खलु भो अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया (सूत्र-२४) ।

उदकरूपा जीवा । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

उदकाश्रिताश्च जीवा सन्ति । तथा चाह—

संति पाणा उदगणिस्सिया जीवा अणेगे ।(सूत्र-२३+)

' संति पाणा ' इत्यादि, पूर्ववत्, कियन्त पुनस्त इति दर्शयति-' जीवा अणेगे ' पुनर्जीवोपादानमुदकाश्रितप्रभूतजीवभेदज्ञापनार्थं, ततश्चेदमुक्तं भवति-एकैकस्मिन् जीवभेद उदकाश्रिता अनेके-असंख्येया प्राणिनो भवन्ति । आचा० १ श्रु०१ अ०३ उ० । यद्येवम्-उदकमेव जीवास्ततोऽवश्यं तत्परिभोगे सति प्राणातिपातभाज साधव इति, अत्रोच्यते-नैव तदेवं यतो वय त्रिविधमप्कायमाचक्ष्महे-सचित्तं, मिश्रम्, अचित्त च । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(३) सचित्ताऽचित्तमिश्रविवेक —

आउक्काओ तिविहो, सचित्तो मीसओ य अचित्तो ।
सच्चित्तो पुण दुविहो, निच्छय ववहारओ चेव ॥१६॥

अप्कायस्त्रिविध·, तद्यथा-सचित्तो, मिश्र, अचित्तश्च । तत्र सचित्तो द्विधा-निश्चयतो, व्यवहारतश्च ।

एतदेव सचित्तस्य निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वैविध्यमुपदर्शयति-

घणउदही घणवलया, करगसमुद्दद्दहाण बहुमज्झे ।
अह निच्छयसचित्तो, ववहारनयस्स अवडाई ॥१७॥

घनोदधयो-नरकपृथ्वीनामाधारभूता· कठिनतोया· समुद्रा·, घनवलयास्तासामेव नरकपृथिवीनां पार्श्ववर्तिवृत्ताकारतोया· ये च ' करका ' घनोपलास्तथा समुद्रह्रदानां-लवणादिसमुद्रपद्माद्रिह्रदानां बहुमध्यभागेऽप्काया· 'अह' त्ति-एष सर्वोऽपि अप्कायो निश्चयसचित्त -एकान्तसचित्त·, शेषस्तु अवटाऽऽदि -अवटवापीतडागादिस्थ । इह अवटादिस्थोऽवटादिशब्देन उक्तस्तात्स्थ्येन तद्व्यपदेशप्रवृत्ते· यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ, ततोऽवट·-कूपस्तदादिगतोऽप्कायो व्यवहारनयस्य व्यवहारनयमतेन सचित्त । उक्तः सचित्तोऽप्काय ।

सम्प्रति मिश्रमाह—

उसिणोदगमणुवत्ते, दंडे वासे य पडियमत्तम्मि ।
मोत्तूणाऽऽदेसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥ १८ ॥

अनुद्वृत्ते दण्डे, अत्र च जातावेकवचन, ततोऽयमर्थ -अनुद्वृत्तेषु त्रिषु दण्डेषु उत्कालेषु यदुष्णोदकं तन्मिश्रमिति प्रस्तावादवगम्यते, तथा हि-प्रथमे दण्डे जायमाने कश्चित्परिणमति कश्चिन्नेति मिश्र, द्वितीये प्रभूत परिणमति स्तोकोऽवतिष्ठते, तृतीये तु सर्वोऽप्यचित्तो भवति। ततोऽनुद्वृत्तेषु त्रिषु दण्डेषु उष्णोदकं मिश्रमेव सम्भवति । तथा वर्षे-वृष्टौ पतितमात्रं यज्जलं ग्रामनगरादिषु प्रभूततिर्यग्मनुष्यप्रचारसंभविषु भूमौ वर्तते तद्यावन्नाद्याप्यचित्तीभवति तावन्मिश्रमवगन्तव्यम् । ग्रामनगरादिभ्योऽपि बहिस्ताद्यदि स्तोकं मेघजलं निपतति तदानीं तदपि पतितमात्र मिश्रमवसेयम् । पृथिवीकायसम्पर्कतस्तस्य परिणममानत्वात् यदाप्यतिप्रभूतं जलं मेघो वर्षति तदाऽपि प्रथमतो निपतत् पृथिवीकायसंपर्कत· परिणममान मिश्र, शेषं तु पश्चान्निपतत्सचित्तमिति, तथा-मुक्त्वा-परिहृत्य आदेशत्रिकं-मतत्रिकं तदुक्ता मिश्रता न ग्राह्येति भावार्थ । चाउलोदकम्-तण्डुलोदकम् अबहुप्रसन्नं नातिस्वच्छीभूतं मिश्रमिति गाथार्थ । अबहुप्रसन्नमित्यत्रादावकारलोप आर्षत्वात् । (आदेशत्रिकम् ' चाउलोदग ' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते ।)

अचित्तमिश्राऽप्कायमाह—

सीउण्हखारखत्ते, अग्गीलोणूसअंबिले नेहे ।
वुक्कंतजोणिएणं, पओयणं तेणिम होइ ॥ २२ ॥

इय गाथा प्रागिव व्याख्येया । नवरं पृथिवीकायस्थाने अप्कायाभिलाप कर्तव्य । इह या स्वकायपरकायशस्त्रयोजना द्रव्यक्षेत्रकालभावापत्तया वा अचित्तत्वभावना साऽपि प्रागिव यथा योगमप्कायेऽपि भावनीया । तथा-यदा दधितैलादिसत्केषु घटेषु क्षिप्तस्य शुद्धजलादेरुपरि दध्याद्यवयवसत्का तरी जायते तदा सा यदि परिस्थूरा तर्हि एकया

पौरुष्या तत्परिणमति। मध्यमभावा चेत्तर्हि द्वाभ्यां पौरुषीभ्यां, स्तोका चेत्तर्हि तिसृभिः पौरुषीभिरिति।
इह तावद् व्युत्क्रान्तयोनिकेनाप्कायेनैव प्रयोजनमित्युक्तम्, अनन्तरदेव दर्शयति-

परिसेयपियणहत्था-इधोवणं चीरधोवणं चेव।
आयमणभाणधुवणं, एमाइपओयणं बहुहा ॥ २३ ॥

परिषेको-दुग्धवर्णादेर्दग्धस्योपरि पानीयेन सेचनम्। पानम्-तृडपनोदाय जलस्याभ्यवहरणम्। हस्तादिधावन-कच्चरलग्नभूमिशरीरावयवानां कारणमुद्दिश्य प्रक्षालनम्, चीवरधावनं-वस्त्रप्रक्षालनम्। अस्य भिन्नविभक्तिनिर्देशो न सदैव साधुनोपधिप्रक्षालनं कर्तव्यमिति प्रदर्शनार्थः। आचमनम्-पुरीषोत्सर्गानन्तरं शौचकरणम्, 'भाणधुवण' ति-पात्रकादिभाजनप्रक्षालनम्। एवमादिकमादिशब्दात्-ग्लानकार्यादिपरिग्रह। अचित्तेनाप्कायेन प्रयोजनं बहुधा-बहुप्रकारं द्रष्टव्यम्। पिं०। ओघ०। ध०।

(४) तीर्थोदकस्याचित्तत्वम्—

" निच्चोदगस्स गहणं, केइ भायणेसु असुइपडिसेहो।
गिहिभायणेसु गहणं, ठियवासे मीसगं छारो ॥ १ ॥"

(अस्या गाथाया व्याख्या ' अचित्त ' शब्दे प्रथमभागे गता) ध० २ अ०। तत्र योऽचित्तोऽप्कायस्तेनोपयोगविधि साधूनां, नेतराभ्यां, कथं पुनरसौ भवत्यचित्त', किं स्वभावाद्, आहोस्विच्छस्त्रसम्बन्धात्, उभयथापीति। तत्र य स्वभावादेवाचित्तीभवति न चासावछद्मस्थस्य सम्बन्धात्तमचित्तं जानाना अपि केवलमन पर्यायावधिश्रुतज्ञानिनो न परिभुञ्जते अनवस्थाप्रसङ्गभीरुतया। यतोऽश्रूयत भगवता किल श्रीवर्द्धमानस्वामिना विगततललसमुच्छलत्तरङ्ग शैवलपटलपमादिरहितो महाह्रदो व्यपगताशेषजलजन्तुकोऽचित्तवारिपूर्णः स्वशिष्याणां तृड्बाधितानामपि पानाय नानुज्ञात। तथा अचित्ततिलशकटस्थण्डिलपरिभोगानुज्ञा चाऽनवस्थादोषसंरक्षणाय भगवता न कृतेति श्रुतज्ञानप्रामाण्यख्यापनार्थञ्च। तथाहि-सामान्यश्रुतज्ञानी बाह्येन्धनसम्पर्कादुष्णीकृतस्वरूपमयाचित्तमिति व्यवहरति, जलं, न पुनर्निरिन्धनमेवेति। अतो यद्-बाह्यशस्त्रसम्पर्कात्परिणामान्तरापन्न वर्णादिभिस्तदचित्त साधुपरिभोगाय कल्पते। आचा०१ श्रु० १ अ० ३ उ० २४ सूत्रटी०।

(५) किम्पुनस्तच्छस्त्रमित्यत आह—

उस्सिंचणगालणधोवणे य उवकरणकोमभंडे य।
बायर आउक्काए, एवं तु समासओ सत्थं ॥ ११३ ॥
किंची सकायसत्थं, किंची परकायतदुभयं किंची।
एयं तु दव्वसत्थं, भावे य असंजमो सत्थं ॥ ११४ ॥

'उस्सिंचण' त्यादि, शस्त्रं द्रव्यभावभेदात् द्विधा। द्रव्यशस्त्रमपि समास-विभागभेदात् द्विधैव। तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रमिदमूर्ध्वसेचनम् उत्सेचन-कूपाद् कोशादिनोत्क्षेपणमित्यर्थ। गालन-घनमसृणवस्त्रार्द्धान्तेन। धावन-वस्त्रोपकरणचर्मकोशघटादिभाण्डकाविषयम्, एवमादिक बादराप्काय। एतत्पूर्वोक्तं समासत-सामान्येन शस्त्रम्, तुशब्दो विभागापेक्षया विशेषणार्थः ॥११३॥ विभागतस्त्विदम्-' किंची' त्यादि, किञ्चित् स्वकायशस्त्रं नादेयं तडागस्य। किञ्चित्परकायशस्त्रं मृत्तिकास्नेहक्षारादि। किंचिदुभयम्-उदकमिश्रा मृत्तिकोदकस्य। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

सत्थं चेत्थं अणुवीइपासा पुढो सत्थं पवेइयं।(सूत्र-२५)

शस्यन्ते-हिंस्यन्त अनेन प्राणिन इति शस्त्रं तद्धोत्सेचनगालनोपकरणधावनादि स्वकायादि च वर्णाद्यापत्तयो वा पूर्वावस्थाविलक्षणा. शस्त्रम्। तथा हि-अग्निपुद्गलानुगतत्वादीषत्पिङ्गल जलं भवत्युष्ण गन्धतोऽपि धूमगन्धि रसतो विरसं, स्पर्शत उष्णम्। तच्चोद्धृतत्रिदण्डमेवविधावस्थ यदि-तत कल्पते, नान्यथा। तथा कचवरकरीषगोमूत्रादीन्धनसम्बन्धात् स्तोक स्तोकमध्यबहुभेदात्, स्तोक स्तोक प्रक्षिपतीत्यादिचतुर्भङ्गिकाभावना कार्या। एवमेतत्त्रिविध शस्त्रं चशब्दोऽवधारणार्थः। अन्यतमशस्त्रसम्पर्कविध्वस्तमेव ग्राह्यं नान्यथेति। 'एत्थं' ति-एतस्मिन्नप्काये प्रस्तुते अनुविचिन्त्य-विचार्य-इदमस्य शस्त्रमित्येवं आह्यम्। पश्येत्यनेन शिष्यस्य चोदनेति। तदेव नानाविधं शस्त्रमप्कायस्यास्तीति प्रतिपादितम्, एतदेव दर्शयति—'पुढो सत्थ पवेदितं' पृथग्विभिन्नमुत्सेचनादिक शस्त्रं प्रवेदितम्-आख्यात भगवता, पाठान्तर वा-'पुढोऽपासं पवेदित' एव पृथग्विभिन्नं लक्षणेन शस्त्रेण परिणामितमुदकग्रहणमपाशं समवेदितम्—आख्यात भगवता, अपाश -अबन्धनं शस्त्रपरिणामितोदकग्रहणमबन्धनमाख्यातमिति यावदेव नास्त्याधूना सचित्तमिश्राप्कायपरित्यागेनाचित्तपयसा परिभोग प्रतिपादित। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

(६) सचित्ताप्कायपरिभोगविचार।

इच्छिज्जइ जत्थ सया, बीयपएणाऽवि फासुयं उदयं।
आगमविहिणा निउणं, गोयमा! गच्छं तयं भणियं ॥७८॥

इष्यते-श्लाध्यते यत्र गणे सदा-नित्यम् उत्सर्गपदापेक्षया द्वितीयपदम्-अपवादपदं तेनापि किं पुनरुत्सर्गपदेनेत्यपि शब्दार्थ। प्रगता असवः-प्राणा यस्मात्तत्प्रासुकं, किम्? उदक-जलं तच्च उत्कालत्रयोत्कलनादिप्रकारेण प्रासुकीस्यात्; न तु तप्तमात्रम्। यत उक्तं दशवैकालिके—

" गिहिणो वेयावडियं, जायआजीववत्तिया!
तत्तानिव्वुडभोइत्त, आउरस्सरणाणि य ॥ १ ॥"

तप्तानिर्वृत्तभोजित्व-तप्त च तदनिर्वृतं चात्रिदण्डोद्वृतं च। 'उदकमि' ति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्व; मिश्रसचित्तोदकभोजित्वमित्यर्थः। आगमविधिना-सिद्धान्तोक्तप्रकारेण निपुण यथा स्यात्तथा हे गौतम! स गच्छो भणित'। ग० २ अधि०।

सचित्तस्य तु विन्दुमात्रस्यापि परिभोगो न कल्पते—

जत्थ य बाहिरपाणिअ, विंदूमित्तं पि गिम्हमाईसु।
तिण्हासोसियपाणा, मरणे वि मुनी न गिण्हंति ॥७७॥

हे गौतम! यत्र—गच्छे बाह्यपानीयबिन्दुमात्रमपि-सचित्तजललेशमात्रमपि ग्रीष्मादिषु कालेषु तृष्णया—द्वितीयपरीषहेण शोषिता-ग्लानिं प्रापिताः प्राणा-इन्द्रियादयो-येषां ते तृष्णाशोषितप्राणा. मरणान्तेऽपि मुनय.-साधवो न गृह्णन्ति क्षुल्लकवत्। तथाहि—"उज्जेणी नयरी। तत्थ

धणमित्तो नाम वाणियओ। तस्स पुत्तो धणसम्मा नाम। सो धणमित्तो पुत्तेण सह पव्वइओ। अण्णया य ते साहू विहरंता मज्झण्हसमये एलगच्छ (त्थ) पुरपहे पडिया। सो वि खुड्डओ तिसाए अभिभूओ सणिअं सणिअं एइ, सोऽवि से खंतओ सिणेहाणुरागेण पच्छा उ एइ। साहुणो वि पुरओ वच्चंति। अंतरा य नई समावडिया खंतएण भणिय—एहि पुत्ता! पियसु पाणियं नित्थरसु आवइ, पच्छा आलोइज्जासि, सो न इच्छति। खंतो नई उत्तिन्नो, चिंतइ-अओ सरामि मणाग जावेस खुड्डगो पाणियं पियइ। मा ममासंकाए न पाही। एगते पडिच्छइ ०जाव खुड्डो पत्तो नई दढव्वयाए सत्तसारयाए ण पीयं। अन्ने भणंति-अइवाहिओ इंत पिबामि पाणियं पच्छा गुरुमूले पायच्छित्तं पडिवज्जिस्सामि त्ति उक्खिसो जलंजली। अह से चिंता जाया। कहमेए हलहलएजीवे पियामि, उक्तो-

"एक्कम्मि उदगबिंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिँ पण्णत्ता।
ते पारेवयमित्ता, जंबुद्दीवे न माएज्जा ॥ १ ॥
जत्थ जलं तत्थ वणं, जत्थ वणं तत्थ निच्छओ तेऊ।
तेऊवाउसहगओ, तसा य पच्चक्खया चेव ॥ २ ॥
ता हंतूण परपा-णे य अप्पाणं जो करेइ सप्पाणं।
अप्पाणं दिवसाण, कएण नासेइ अप्पाणं" ॥ ३ ॥

(ग०) एव भावंतेण अइसंविग्गेण न पीयं उत्तिन्नो नई आमाए छिन्नाए नमोक्कारं झायंतो सुहपरिणामो कालगओ देवेसु उववण्णो। ओहिपउत्तो ०जाव खुड्डगसरीरं पासइ ताहेमणुपविट्ठो खंतमणुगच्छइ खंतो वि एइ त्ति पत्थिओ। पच्छा देवेण अणुकंपाए साहूण गोकुलाणि विउव्वियाणि। साहू वि तासु वइगासु तक्काईणि गिण्हंति वइया परंपरएण जणवयं पत्ता। पच्छिमाए वइयाए देवेण विंटिया पम्हुत्ताविया जाणावणनिमित्तं, एगो य साहू नियत्तो तयवत्थं पेच्छइ विंटियं नऽत्थि वइया, आगंतुण समाहियं तेण, पच्छा नाय तेहिं सा दिव्वं ति। इत्थंतरे देवेण साहू वंदिया, खंतो न वंदिओ। तेहिं पुच्छिओ किमेय न वंदसि। तओ सव्वं परिकहेइ नियवइअरं, भणइ य-अहं एएण परिचत्तो वयलोवेण दोग्गइभायण कओ आसि तुममेयं पियाहि जंपतेण जइ तं पाणियं पियंतो तो संसार भमंतो, देवो पडिगउ" त्ति। हे गौतम! स गच्छो श्रेय इति शेषः। गाथाछन्दः। ग० २ अधि०।

(७) अप्कायपरिभोगकारणानि यथा—

ण्हाणे पियणे तह धो-यणे य भत्तकरणे य सेए य।
आउस्स उ परिभोगा, गमणागमणे य जीवाणं ॥१११॥

स्नान-पान-धावन-भक्त-करणसेकयानपात्रोडुपगमनाऽगमनादिरुपभोग। एतत्परिभोगाभिलाषिणो जीवा एतानि कारणान्युद्दिश्याऽप्कायवधे प्रवर्त्तन्त इति दर्शयति-

एएहिँ कारणेहिं, हिंसंति आउकाइए जीवे।
साय गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरेंति ॥ ११२ ॥

एभि-स्नानावगाहनादिकैः कारणैरुपस्थितैर्विषयविषमोहितात्मानो निरनुकम्पा अप्कायिकान् जीवान् हिंसन्ति-व्यापादयन्ति, किमर्थमित्याह-सातं-सुखं तदात्मनोऽन्वेषयन्तः-प्रार्थयन्त' हिताहितविचारशून्यमनसः कतिपयदिवसस्थायिरम्ययौवनदर्पाध्मातचेतसः सन्तः सद्विवेकरहितास्तथा विवेकिजनसंसर्गविकलाः परस्य- अप्कायजन्तुगणस्य दु खम्-असातलक्षण तत् उदीरयन्ति; सातवेदनीयमुत्पादयन्तीत्यर्थः। आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

(८) अप्कायसमारम्भव्यावृत्तस्यैव मुनित्वम्—

से वेमि जहा अणगारे उज्जुकडे नियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए। (सूत्र-१८)

स यथा पृथिवीकायसमारम्भव्यावृत्त्युत्तरकालं सम्पूर्णोऽनगारव्यपदेशभाग् भवति तदहं ब्रवीमि। अपिः समुच्चये, स यथा चानगारो न भवति तथा च ब्रवीमि 'अणगारामो त्ति एगे पवयमाणे' त्यादि, नेति, न विद्यते अगारंगृहमेषामित्यनगाराः इह च यत्यादिशब्दव्युदासेनानगारशब्दोपादानेनैतदाचष्टे-गृहपरित्यागः प्रधानं मुनित्वकारणं, तदाश्रयत्वात्सावद्यानुष्ठानस्य, निरवद्यानुष्ठायी च मुनिरिति दर्शयति-'उज्जुकडे' त्ति-ऋजु-अकुटिलः संयमो-दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायनिरोधः सर्वसत्त्वसंरक्षणप्रवृत्तत्वाद् ऐकरूप-सर्वत्राकुटिलगतिरिति यावत्। यदि वा-मोक्षस्थानगमनर्जुश्रेणिप्रतिपत्ति सर्वसंचारसंयमात्। कारणे कार्योपचारं कृत्वा संयम एव सप्तदशप्रकार ऋजुस्त करोतीति ऋजुकृत्, ऋजुकारीत्यर्थः। अनेन चेदमुक्तं भवति-अशेषसंयमानुष्ठायी सम्पूर्णानगार एवंविधश्चेदृग्भवतीति दर्शयति-'नियागपडिवन्ने' त्ति—यजन यागः नियतो निश्चितो वा यागो नियागो मोक्षमार्गः, सङ्गताऽर्थत्वाद्धातो सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गतं सङ्गतमिति। तं नियागं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मोक्षमार्गप्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः। पाठान्तरं वा-"निकायप्रतिपन्नो" निर्गत. काय औदारिकादिर्यस्माद्यस्मिन्वा सति स निकायो मोक्ष तं प्रतिपन्नो निकायप्रतिपन्नस्तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनादेः स्वशक्त्यानुष्ठानात् स्वशक्त्यानुष्ठानं वा मायाविनो भवतीति दर्शयति-'अमायं कुव्वमाणे' त्ति—माया-सर्वत्र स्ववीर्यनिगूहनम्, न माया अमाया ता कुर्वाणोऽनिगूहितबलवीर्यः संयमानुष्ठानं पराक्रममाणोऽनगारो व्याख्यात इति, अनेन तज्जातीयोपादानादशेषकषायापगमोऽपि द्रष्टव्य इति। उक्तञ्च-'सोही य उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ" त्ति।

तदेवमसावुद्धृतसकलमायावल्ली-
वितानः किं कुर्यादित्याह-

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा विजहित्तु विसोत्तियं (पाठान्तरे)-पुव्वसंजोयं। (सूत्र-१९)

'जाए सद्धाए' इत्यादि, यया श्रद्धया प्रवर्द्धमानानुष्ठानकरणरूपया निष्क्रान्तः प्रव्रज्यां गृहीतवांस्तामेव श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवमनुपालयेद्, रक्षेदित्यर्थः। प्रव्रज्याकाले च प्रायशः प्रवृद्धपरिणाम एव प्रव्रजति, पश्चात्तु संयमश्रेणीं प्रपन्नो वर्द्धमानपरिणामो वा हीयमानपरिणामो वा अवस्थितपरिणामो वेति, तत्र वृद्धिकालो हानिकालो वा समयाद्युत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तिकः, नाऽतः परं संक्लेशविशुद्धयद्धे भवत। उक्तं च-"नान्तर्मुहूर्तकाल-मतिवृत्य शक्य हि जग-

ति संक्रमुम् । नापि विशेष्टुं शक्यं, प्रत्यक्षो ह्यात्मन सोऽर्थः ॥ १ ॥ उपयोगद्वयपरिवृत्तिः, सा निर्हेतुकस्वभावत्वात् । आत्मप्रत्यक्षो हि स्व-भावो ह्यर्थात्र हेतूक्तिः ॥ २ ॥ " अवस्थितिकालश्च द्वयोर्वृद्धिहानिलक्षणयोर्यवमध्यवज्रमध्ययोरष्टौ समया ; तत ऊर्ध्वमवश्यं पातात् । अयं च वृद्धिहान्यवस्थितरूपपरिणामः केवलिना निश्चयेन गम्यो, न छद्मस्थानामिति । यद्यपि च-प्रव्रज्याभिगमोत्तरकाल श्रुतसागरमवगाहमान संवेगवैराग्यभावनाभावितान्तरात्मा कश्चित् प्रवर्द्धमानमेव परिणामं भजते । तथा चोक्तम्-" जह जह सुयमवगाहइ, अइ सयरसपसरसंजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाए ॥ १ ॥ " तथापि स्तोक एव तादृक् यदतश्च परिपतन्त्यतोऽभिधीयते-' तामेवानुपालयेदिति ' । कथं पुनः कृत्वा श्रद्धामनुपालयेदित्यत आह-' विजहित्ता ' इत्यादि, विहाय परित्यज्य विस्रोतसिका-शङ्काम् । सा च द्विधा-सर्वशङ्का, देशशङ्का च । तत्र सर्वशङ्का-किमस्त्यार्हतो मार्गो न वेति, देशशङ्का तु-किं विद्यन्तेऽप्कायादयो जीवा विशिष्टप्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनतात्मलिङ्गाभावाच्च विद्यन्ते इति वा, इत्येवमादिकामारेकां विहाय संपूर्णाननगारगुणान पालयेत् । यदि वा-विस्रोतांसि द्रव्यभावभेदाद् द्विधा-तत्र द्रव्यविस्रोतांसि नद्यादिस्रोतसां प्रतीतापगमनानि भावविस्रोतांसि तु मोक्षं प्रति सम्यग्दर्शनादिस्रोतस्तत्र प्रस्थितानां विरूपाणि प्रतिकूलानि गमनानि भावविस्रोतांसि तानि विहाय संपूर्णानगारगुणभाग्भवति श्रद्धां वा अनुपालयेदिति । पाठान्तरं वा—" विजहित्ता पुव्वसंयोग " पूर्वसंयोग -मातापित्रादिरूपं चोपलक्षणार्थत्वात्पश्चात्संयोगोऽपि श्वशुरादिकृतो ग्राह्यस्त विहाय त्यक्त्वा श्रद्धामनुपालयेदिति मीलनीयम् । न च यस्यायमुपदेशो दीयते यथा ' विहाय विस्रोतांसि तदनु श्रद्धानुपालन कार्यं ' स एवाभिधीयते-न केवल भवतेवापूर्वमिदमनुष्ठानमध्यवसीयं परिणमति, किं त्वन्यैरपि महासत्त्वैः कृतपूर्वमिति दर्शयितुमाह—

पणया वीरा महावीहिं । (सूत्र–२०)

प्रणता-—प्रह्वा- वीरा-—परिषहोपसर्गकषायसेनाविजयात् वीराः -पन्था महाश्चासौ वीथिश्च-महावीथि -सम्यग्दर्शनादिरूपो मोक्षमार्गो जिनेन्द्रचन्द्रादिभिः सत्पुरुषैः प्रहतस्तं प्रति प्रह्वा-वीर्यवन्त- संयमानुष्ठानं कुर्वन्ति, ततश्चोत्तमपुरुषप्रहतोऽयं मार्ग इति प्रदर्श्य तज्जनितमार्गविश्रम्भो विनेय संयमानुष्ठाने सुखेनैव प्रवर्तयिष्यन्ते ।

उपदेशान्तरमाह-'लोगं च' इत्यादि, अथ वा-यद्यपि भवतो मतिर्न क्रमतेऽप्कायजीवविषयेऽसंस्कृतत्वात् , तथापि भगवदाज्ञयमिति श्रद्धातव्यमित्याह—

लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुत्रोभयं । (सूत्र--२१)

अत्राधिकृतत्वादप्कायलोको लोकशब्देनाभिधीयते, तमप्कायलोक चशब्दादन्यांश्च पदार्थान् आज्ञया-मौनीन्द्रवचनेनाभिमुख्येन सम्यग् ज्ञात्वा, यथा-अप्कायादयो जीवा, इत्येवमवगम्य न विद्यते कुतश्चिद्धेतो-केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात्सोऽयमकुतोभय-संयमस्तमनुपालयेदिति सम्बन्ध । यद्वा-अकुतोभयोऽप्कायलोको, यतोऽसौ न कुतश्चिद् भयमिच्छति, मरणभीरुत्वात् , तमाज्ञयाऽभिसमेत्यानुपालयेत् ; रक्षेदित्यर्थः ।

अप्कायलोकमाज्ञयाऽभिसमेत्य यत्कर्तव्यं तदाह—

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भइक्खिज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ । (सूत्र--२२)

' से बेमी ' इत्यादि, सोऽहं ब्रवीमि 'से'शब्दस्य युष्मदर्थत्वाद् त्वां वा ब्रवीमि, न स्वयम्-आत्मना लोकोऽप्कायलोकोऽभ्याख्यातव्य । अभ्याख्यान नामासदभियोग' , यथा-अचौरं चौरमित्याह । इह तु जीवा न भवन्त्यप- केवलमुपकरणमात्रं घृततैलादिवत् । परोऽसदभियोग हस्त्यादीनामपि जीवानामुपकरणत्वात् स्यादाशङ्का, नन्वेतदेवाभ्याख्यानं यदजीवाना जीवत्वापादनं नेतदस्ति, प्रसाधितमपां प्राक् सचेतनत्वम् । यथा ह्यस्य शरीरस्याहप्रत्ययादिभिर्हेतुभिरधिष्ठातात्मा व्यतिरिक्त प्राक् प्रसाधित एवमप्कायोऽप्यव्यक्तचेतनतया सचेतन इति प्राक् प्रसाधित- । न च प्रसाधितस्याभ्याख्यान न्याय्यम् , अथापि स्यादात्मनोऽपि शरीराधिष्ठातुरभ्याख्यान कर्तव्यम् , न च तत्क्रियमाणं घटामियर्तीति दर्शयति-' नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा ' नैवाऽऽत्मानं-शरीराधिष्ठातारमहंप्रत्ययसिद्धं ज्ञानादिगुणं प्रत्यक्षं प्रत्याचक्षीत-अपह्नुवीत, ननु चैतदेव कथमवसीयते शरीराधिष्ठातात्मास्तीति , उच्यतेविस्मरणशीलो देवानांप्रिय उक्तमपि भणयति । तथा ह्याहतमिदं शरीर केनचिदभिसन्धिमता, करचरणाङ्गोपाङ्गादिपरिणतत्वादिवस्त्रयोत्सृष्टमपि केनचिदभिसन्धिमतैव, आहतत्वाद् , अन्नमलवदिति । तथा न ज्ञानोपलब्धिपूर्वक परिस्पन्दो भ्रान्तिरूप परिस्पन्दत्वात्त्वदीयवचनपरिस्पन्दवत् । तथा विद्यमानाधिष्ठातृव्यापारभाञ्जीन्द्रियाणि , करणत्वाद्दात्रादिवत् । एव कुतर्कमार्गानुसारिहेतुमालोच्छेदः स्याद्वादपरशुना कार्यः अत एवंविधोपपत्तिसमधिगतमात्मानं शुभाशुभफलभाजं न प्रत्याचक्षीत । एवं च सति यो ह्यज्ञः कुतर्कातिमिरापहतज्ञानचक्षुरप्कायलोकमभ्याख्याति-प्रत्याचष्टे स सर्वप्रमाणसिद्धमात्मानमभ्याख्याति, यश्चात्मानमभ्याख्याति-नास्म्यहं स सामर्थ्यादप्कायलोकमभ्याख्याति । यतो ह्यात्मनि पाण्याद्यवयवोपेतशरीराधिष्ठायिनि प्रस्पष्टलिङ्गेऽभ्याख्याते सत्यव्यक्तचेतनालिङ्गोऽप्कायलोकस्तेन सुतरामभ्याख्यात- । एवमनेकदोषोपपत्तिं विदित्वा नायमप्कायलोकोऽभ्याख्यातव्य- इत्यालोच्य साधवो नाप्कायविषयमारम्भं कुर्वन्तीति ।

(६) शाक्यादयस्त्वन्यथोपस्थिता इति दर्शयितुमाह—

लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एके पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव उदयसत्थं समारंभति अण्णेहिं वा उदयसत्थं समा-

रंभावेति अणे उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणाति तं से अहियाए तं से अबोहीए । से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ।

'लज्जमाणे' त्यादि, लज्जमाना:-स्वकीयं प्रव्रज्याभासं कुर्वाणा', यदि वा-सावद्यानुष्ठानेन लज्जमाना:-लज्जां कुर्वाणा: पृथग्विभक्ताः शाक्योलूककणभुक्कपिलादिशिष्या' । पश्येति शिष्यचोदना, अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्ति, यथा-'पश्य मृगो धावति' द्वितीयार्थे वा प्रथमा, सुप् व्यत्ययेन द्रष्टव्या । ततश्चायमर्थः-शाक्यादीन् गृहीतप्रव्रज्यानपि सावद्यानुष्ठानरतान् पृथग्विभिन्नान् पश्य, किंतैरसदाचरितं येनैव प्रदर्श्यन्त इति दर्शयति-" अनगारा वयम्" इत्येके शाक्यादयः प्रवदन्तो यदिदं तत्तत्काका दर्शयन्ति-विरूपरूपैरुत्सेचनाग्निविध्यापनादिशस्त्रैः स्वकायपरकायभेदभिन्नैरुदककर्म समारभन्ते । उदककर्म्मसमारम्भेण च उदके शस्त्रम् उदकमेव वा शस्त्रं समारभन्ते । तच्च समारभमाणोऽनेकरूपान्वनस्पतिद्वीन्द्रियादीन्विविध हिनस्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथाऽस्यैव जीवितव्यस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं यत् करोति-तद्दर्शयति-स स्वयमेवोदकशस्त्रं समारभते, अन्यैश्चोदकशस्त्रं समारम्भयति, अन्यांश्चोदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते । तच्चोदकसमारम्भणं तस्याऽहिताय भवति । तथा तदेवाबोधिलाभाय भवति । स एतत्सम्बुध्यमान आदानीयं सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्थाय-अभ्युपगम्य-श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वान्तिके इहैकेषां साधूनां ज्ञातं भवति तद्दर्शयति-एषोऽप्कायसमारम्भो ग्रन्थ-एष खलु मोह, एष खलु मार., एष खलु नरक इत्येवमर्थं गृद्धो लोको यदिदं विरूपरूपै. शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेणोदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विविधं हिनस्तीत्येतत्प्राग्वद् व्याख्येयम् ।

पुनरप्याह—

से बेमि संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगा।(सूत्र-२३)

इहं च खलु भो ! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया । (सूत्र-२४)

'स शब्द आत्मनिर्देशे, सोऽहमेवमुपलब्धानेकाऽप्कायतत्त्ववृत्तान्तो ब्रवीमि, सन्ति-विद्यन्ते प्राणिन उदकनिश्रिता-पूतरकमत्स्यादयो यानुदकारम्भप्रवृत्तो हन्यादिति । अथवा-अपर सम्बन्ध प्रागुक्तमुदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानप्यनेकरूपान् जन्तून् विविधं हिनस्तीति, तत्कथमेतच्छ्रद्धेयमभ्युपगन्तुमित्यत आह-' संति पाणा ' इत्यादिपूर्ववत्, कियन्त पुनस्त इति दर्शयति-' जीवा अणेगा ' इति-पुनर्जीवोपादानमुदकाश्रितप्रभूतजीवभेदज्ञापनार्थम् । ततश्चेदमुक्तं भवति-एकैकस्मिन् जीवभेदे उदकाश्रिता अनेके-असंख्येया. प्राणिनो भवन्ति. एवम्-अप्कायविषयारम्भभाज.

पुरुषास्ते तन्निश्रितप्रभूतसत्त्वव्यापत्तिकारिणो द्रष्टव्या । शाक्यादयस्तूदकाश्रितानेव द्वीन्द्रियादीन् जीवानिच्छन्ति नादकम् * इत्येतदेव दर्शयति-खलु शब्दो:ऽवधारणे, इहैव ज्ञातपुत्रीयप्रवचने द्वादशाङ्गे गणिपिटके अनगाराणां साधूनामुदकरूपा जीवाश्चशब्दात्तदाश्रिताश्च पूतरकच्छेदनकलोद्दणकभ्रमरकमत्स्यादयो जीवा व्याख्याता, अवधारणफलं च नान्येषामुदकरूपा जीवाः प्रति पादिता. । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । * जीवाः इति ।

ये पुन. शाक्यादयोऽप्कायोपभोगप्रवृत्तास्ते नियमत एवाऽप्कायं विहिंसन्ति तदाश्रितांश्चान्यानिति । तत्र न केवलं प्राणातिपातापत्तिरेव तेषां किमन्यदित्यत आह—

अदुवा अदिन्नादाणं । (सूत्र-२६)

अथवति-पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाभ्युच्चयोपदर्शनार्थः, अशस्त्रोपहताप्कायोपभोगकारिणां न केवलं प्राणातिपातोऽपि किंतु-अदत्तादानमपि तत्तेषाम् । यतो यैरप्कायजन्तुभिर्यानि शरीराणि निर्वर्त्तितानि तैरदत्तानि, ते तान्युपभुञ्जन्ते, यथा कश्चित् पुमान् सचित्तशाक्यभिक्षुकशरीरकात् खण्डमुत्कृत्य गृह्णीयाददत्त हि तस्य तत्परपरिगृहीतत्वात् । परकीयगवाद्यादानवत् । एव तानि शरीराण्यप्जीवपरिगृहीतानि गृह्णतोऽदत्तादानमवश्यम्भावि । स्वाम्यनुस्वाम्यनुज्ञानाभावादिति ननु यस्य तत्तडागकूपादि तेनानुज्ञात स्वकृतत्वय इात । ततश्च नाऽदत्तादान, स्वामिनाऽनुज्ञातत्वात् परानुज्ञानपश्वादिघातवत् । नन्वेतदपि साध्यावस्थामेवोपन्यस्त, यतः पशुरपि शरीरप्रदानविमुख एव भिन्नार्यमर्यादैर्बलादारटन् व्यशस्यते,ततश्च कथमिव नाऽदत्तादानं स्यात् । न चान्यदीयस्यान्य. स्वामी दृष्ट परमार्थचिन्तायाम् । नन्वेवमशेषलोकप्रसिद्धगोदानादिव्यवहारस्त्रुट्यति, त्रुट्यतु नामैवंविधः पापसम्बन्ध. तद्धि देयम् यद्धि दु खितं स्वयं न भवति । दासीबलीवर्दादिवत् । न चान्येषा दु खोत्पत्तेः कारणं हलखड्गादिवत् । एतद्व्यतिरिक्तं दातृपरिगृहीतेरेकान्तत एवोपकारक देयं प्रतिजानन्त जिनेन्द्रमतावलम्बिन । उक्तञ्च-" यत् स्वयमदु खितं स्या-च्च च परदु खे निमित्तमपि । केवलमुपग्रहकरं, धर्मकृते तद्भवेद्देयम् " ॥१॥ इति । तस्मादवस्थितमेतत्तेषा तददत्तादानमपीति ।

साम्प्रतमेतद्दोषद्वयं स्वसिद्धान्ताभ्युपगमद्वारेण पर. परिजिहीर्षुराह—

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं अदुवा विभूसाए । (सूत्र-२७)

अशस्त्रोपहतोदकारम्भिणो हि चोदिता. सन्त एवमाहु.-यथा नैतत्स्वमनीषिकान. समारम्भयामो वयं; किंत्वागमे निर्जीवत्वेनानिषिद्धत्वात् कल्पते-युज्यते न -अस्माकं पातुम्-अभ्यवहर्तुमिति वीप्सया च नानाविधप्रयोजनविषयः उपभोगोऽभ्यनुज्ञातो भवति । तथाहि-"आजीविकभस्मस्नाय्यादयो वदन्ति पातुमस्माकं कल्पते, न स्नातुं वारिणा" शाक्यपरिव्राजकादयस्तु-स्नानपानावगाहनादि सर्व कल्पते इति प्रभाषन्ते, एतदेव स्वनामग्राहं दर्शयति-अथवोदकं विभूषार्थमनुज्ञातं न समये, विभूषा—करचरणपायूपस्थमुखप्रक्षालनादिका वस्त्रभण्डकादिप्रक्षालनात्मिका वा, एवं स्नानादिशौचानुष्ठायिना नास्ति कश्चिद्दोष इति ।

एवं ते परिफल्गुवचस परिव्राजकादयो निजराद्धान्तोपन्यासेन मुग्धमतीन्विमोह्य किं कुर्वन्तीत्याह—

पुढो सत्थेहिं विउट्टंति । (सूत्र–२८)

पृथग्–विभिन्नलक्षणैर्नानारूपैरुत्सेचनादिशस्त्रैस्तेऽनगारायमाणाः 'विउट्टंति' त्ति–अप्कायजीवान् जीवनाद् व्यावर्त्तयन्ति ; व्यपरोपयन्तीत्यर्थः । यदि वा—पृथग् विभिन्नैः शस्त्रैरप्कायिकान् विविधं कुट्टन्ति ; छिन्दन्तीत्यर्थः, कुट्टधातोः छेदनार्थत्वात् ।

अधुनैषामागमानुसारिणामागमाऽसारत्वमविर्भावयन्नाह—

एत्थ वि तेसिं नो निकरणाए । (सूत्र–२६)

एतस्मिन्नपि–प्रस्तुते स्वागमानुसारेणाऽभ्युपगमे सति " कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए (२६) " त्ति–एवं रूपस्तेषामयमागमो यद्वलादप्कायपरिभोगे ते प्रवृत्ताः स स्याद्वादयुक्तिभिरभ्याहतः सन् 'नो निकरणाए' त्ति–नो निश्चयं कर्तुं समर्थो भवति, न केवलं तेषां युक्तयो न निश्चयायाऽलम्, अपि स्वागमोऽपीत्यपिशब्दः । कथं पुनस्तेषामागमो निश्चयाय नालमिति, अत्रोच्यते–त एव प्रष्टव्याः –कोऽयमागमो नाम ? यदादेशः फलवान् भवतामप्कायारम्भः, त आहुः –प्रतिविशिष्टानुपूर्वीविन्यस्तवर्णपदवाक्यसंघात आप्तप्रणीत आगमः नित्योऽकर्तृको वा ?, ततश्चैवमभ्युपगते यो येन प्रतिपन्न आप्तः स निराकर्त्तव्यः । अनाप्तोऽसावप्कायजीवाऽपरिज्ञानात्तद्वधानुज्ञानाद्वा भवानिव । जीवत्वं चापां प्राक् प्रसाधितमेव । ततस्तत्प्रणीतागमोऽपि सद्धर्मचोदनायामप्रमाणम्, अनाप्तप्रणीतत्वत्, रथ्यापुरुषवाक्यवत् । अथ नित्योऽकर्तृकः समयोऽभ्युपगम्यते ततो नित्यत्वं दुष्प्रतिपादम् । यतः शक्यते वक्तुं–भवदभ्युपगतः समयः, सकर्तृको वर्णपदवाक्यात्मकत्वात्, विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, उभयसम्मतसकर्तृकग्रन्थसन्दर्भवदिति । अभ्युपगम्य वा ब्रूमः –आगमाप्रमाणमसौ, नित्यत्वादाकाशवत्, यत् प्रमाणं तदनित्यं दृष्टं प्रत्यक्षादिवदिति । तथा विभूषास्त्राववयवेऽपि पृष्टा न प्रत्युत्तरदाने क्षमा, यतियोग्यं स्नानं न भवति, कामाङ्गत्वात्, मण्डनवत् । कामाङ्गता च सर्वजनप्रसिद्धा । तथाचोक्तम्–

" स्नानं मदर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः " ॥ १ ॥ शौचार्थोऽपि न पुष्कलो वारिणा बाह्यमलापनयनमात्रत्वात्, अन्तर्व्यवस्थितकर्ममलक्षालनसमर्थं वारि न दृष्टं, तस्माच्छरीरवाङ्मनसामकुशलप्रवृत्तिनिरोधो भावशौचमेव कर्मक्षयायाऽलम् । तथा वारिसाध्यं न भवति, कुतः ?, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्सर्वभावानाम् । न हि मत्स्यादयः तत्र स्थिता मत्स्यत्वादि कर्मक्षयभाक्त्वं नाप्यभ्युपगम्यन्ते, विना च वारिणा महर्षयो विचित्रतपोभिः कर्म क्षपयन्तीति अतः स्थितमेतत्तत्समयो न निश्चयाय प्रभवतीति ।

तदेवं निःसपत्नमपां जीवत्वं प्रतिपाद्य तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिविकल्पफलप्रदर्शनद्वारेणोपसंजिहीर्षुः सकलमुद्देशार्थमाह–

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति । एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति । तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा, उदयसत्थं समारंभंतेऽवि अण्णे ण समणुजाणेज्जा जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मेत्ति बेमि । (सूत्र–३०)

एतस्मिन्नप्काये शस्त्रं द्रव्यभावरूपं समारभमाणस्यैते समारम्भा बन्धकारणत्वेनाऽपरिज्ञाता भवन्ति । अत्रैवाऽप्काये शस्त्रमसमारभमाणस्येत्येते आरम्भा ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाता भवन्ति । प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, तामेव प्रत्याख्यानपरिज्ञां विशेषतो ज्ञपरिज्ञापूर्विकां दर्शयति–तदुदकारम्भणं बन्धायेत्येवं परिज्ञाय मेधावी–मर्यादाव्यवस्थितो नैव स्वयमुदकशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैरुदकशस्त्रं समारम्भयेत् । नैवाऽन्यानुदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्, यस्यैते उदकशस्त्रसमारम्भा द्विधा परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा भवति । ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(१०) अप्कायविहिंसननिषेधः—

आउक्कायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिया ॥ २६ ॥
आउकायं विहिंसंतो, हिंसई ओ तयस्सिए ।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥ ३० ॥
तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
आउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।३१। दश०६अ०।

(११) अप्कायस्पर्शादिनिषेध —

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरितणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससणिद्धं वा कायं ससणिद्धं वा वत्थं न आमुसेज्जा न संफुसेज्जा न विलेज्जा न पविलेज्जा न अक्खोडेज्जा न पक्खोडेज्जा न आयाविज्जा न पयाविज्जा, अन्नं न आमुसावेज्जा न संफुसावेज्जा न विलावेज्जा न पविलाविज्जा न अक्खोडावेज्जा न पक्खोडावेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा, अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आविलंतं वा पविलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । (सूत्र–११)

'से भिक्खू वा' इत्यादि, 'जावजागरमाणेव' त्ति–पूर्ववदेव 'से उदगं वे'त्यादि, तद्यथा–उदकं वा अवश्यायं वा हिमं वा महिकां वा करकं वा हरतनुं शुद्धोदकं वा । (दश०)
(उदकादिपदानां व्याख्या अस्मिन्नेव शब्द आदौ उक्ता)

तथा उदकार्द्रं वा कायं उदकार्द्रं वा वस्त्रम् उदकार्द्रता चेह गलद्विन्दुतुषारानन्तरोदितोदकभेदसम्मिश्रिता । तथा-स-स्निग्धं वा कायं सस्निग्धं वस्त्रम् अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति भावे निष्ठाप्रत्ययः स्निग्धेन सह वर्त्तते इति सस्निग्धं सस्नि-ग्धता चेह विन्दुरहितानन्तरोदितोदकभेदसम्मिश्रिता (अ-स्य सूत्रस्य सपूर्णा टीका ' महव्वय ' शब्दे षष्ठ भागे दर्श-यिष्यते) दश० ४ अ० ।

(१२) शीतोदकादिपरिभोगनिषेधः—

सीओदकं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य ।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए ॥ ६ ॥

शीतोदकं-पृथिव्युद्भवसचित्तोदकं न सेवेत। तथा शिलावृष्टं हिमानि च न सेवेत । तत्र शिलाग्रहणेन करका परिगृह्यन्ते। वृष्टं-वर्षणं,हिमं प्रतीतं, प्राय उत्तरापथे भवति। यद्येवं कथमय वर्तेतेत्याह-उष्णोदकं-क्वथितोदकं तप्तप्राशुकं तप्त सत्प्राशु-कं त्रिदण्डोद्वृत्तं नोष्णोदकमात्रं प्रतिगृह्णीयाद्वृत्त्यर्थं संयत - साधुः । एतच्च सौवीराऽऽद्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः।

तथा—

उदउल्लं अप्पणो कायं , नेव पुंछे न संलिहे ।
समुप्पेह तहाभूयं , नो णं संघट्टए मुणी ॥ ७ ॥

नदीमुत्तीर्णो भिक्षां प्रविष्टो वा वृष्टिहतः उदकार्द्रम्-उदक-विन्दुचितमात्मनः काय-शरीरं स्निग्धं वा नैव पुञ्छयेत्-वस्त्र-तृणादिभिर्न संलिखेत् पाणिना, अपि तु-संप्रेक्ष्य-निरीक्ष्य तथाभूतमुदकार्द्रादिरूपं नैव कायं संघट्टयेत् मुनिर्मनागपि न स्पृशेदिति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० (उदकतीरे निवासाऽऽदि-निषेधः ' दगतीर ' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (अप्कायस्य-बहुवक्तव्यता 'पाणग' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (अप्कायस्य दर्पिका कल्पिका च ' मूलगुणपडिसेवणा ' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते) (वस्त्रधावनेऽप्कायप्रतिसेवनाया वक्तव्यता 'धावण' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (उदकसन्तरणेऽप्कायप्रतिसेव-नाया वक्तव्यता 'मूलगुणपडिसेवणा' शब्दे षष्ठ भागे वक्ष्यते)

आउकायविहिंसग-अप्कायविहिंसक-त्रि० । सचित्तजलवि-नाशके, । ग० १ अधि० ।

आउकाल-आयुष्काल-पुं० । मृत्युकाले , आचा० १ श्रु०८ अ० ८ उ० ।

आउक्खय-आयुःक्षय-पुं०। आयुष्कर्मपुद्गलनिर्जरणे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । आयुर्दलिकनिर्जरणे, नि० १ श्रु० ५ वर्ग १ अ०। कर्मद्रव्यनिर्जरणे, विपा० २ श्रु० १ अ० । कर्मणो दलिक-निर्जरणे, औ० । भ० (आयु क्षयनिमित्तान्यध्यवसायादीनि ' आउ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतानि)

क्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि न वर्द्धयितु शक्यम् , तथा चाह—

शक्रेण स्वामी विज्ञप्तो , यत् क्षणमायुर्वर्द्धयत येन भवत्सु जीवत्सु भवज्जन्मनक्षत्रं सक्रान्तो भस्मराशिग्रहो भवच्छा-सन पीडयितु न शक्नोति, ततोऽवश्यं प्रभुणोक्तम्-न खलु शक्र ! कदाचिदपीद भूतपूर्वं यत् क्षीणमायुर्जिनेन्द्रैरपि व-र्द्धयितु शक्यते । कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

आयुषः क्षये चावश्यं जीवितनाशः—

("नालं जइ" (६ गा०) इत्यादिकस्यार्थ 'अणिच्चया' शब्दे प्रथमभागे विशदतो दर्शित. । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

डहरा वुड्ढा य पासह , गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे , एवमाउक्खयम्मि तुट्टती ॥ २ ॥

डहरा-बाला एव केचन जीवित त्यजन्ति । तथा-वृद्धाश्च गर्भस्था अप्येतत्पश्यत यूय , के ते ? मानवा-मनुष्याः-इति-पाठेनोपदेशदानार्हत्वात् मानवग्रहणम् सर्वापायत्वादायुषः सर्वास्वप्यवस्थासु प्राणी प्राणांस्त्यजतीत्युक्तं भवति । त-थाहि-त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि पर्याप्त्यन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव क-स्यचिन्मृत्युरुपतिष्ठतीति । अपि च-गर्भस्थम्-जायमानम-त्यादि, अत्रैव दृष्टान्तमाह-यथा श्येन -पक्षिविशेषो वर्त्तक-तित्तिरजातीय हरेत्-व्यापादयेदेवं प्राणिन प्राणान् मृत्युरप-हरेत् , उपक्रमकारणमायुष्कमुपक्रामेत् । तदभावे वा आयु-ष्यक्षये त्रुट्यति-व्यवच्छिद्यते; जीवाना जीवितमिति शेषः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

आयुषः क्षयमजानन्त आरम्भे प्रवर्त्तन्ते—

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे ,
ममेति से साहसकारि मंदे ।
अहो य राओ परितप्पमाणे ,
अट्टेसु मूढे अजरामर व्व ॥ १८ ॥

आयुषो-जीवितलक्षणस्य क्षयं आयुष्कक्षयस्तम्-आरम्भप्र-वृत्त छिन्नहृदमत्स्यवदुदकक्षये सत्यवबुध्यमानोऽतीव ' मम ' इति ममत्वयानिदं मे अहमस्य स्वामीत्येव स मन्दः-अज्ञः साहस कर्तु शीलमस्येति साहसकारीति । तद्यथा-कश्चिद्व-णिङ्ग् महाक्लेशेन महार्घाणि रत्नानि समासाद्योज्जयिन्या ब-हिरावासित । स च राजचौरदायादभयाद्रात्रौ रत्नान्येवमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्यालोचनाऽऽकुलो रजनीक्षय न ज्ञात-वान् अहन्यपि रत्नानि प्रवेशयन् राजपुरुषै रत्नेभ्यश्च्यावित इति। एवमन्योऽपि किंकर्तव्यताकुल स्वायुषः क्षयमबुध्य-मान परिग्रहेष्वारम्भेषु च प्रवर्तमानः साहसकारी स्यादि-ति । तथा कामभोगतृषितोऽह्नि रात्रौ च परि-समन्तात् द्र-व्यार्थी परितप्यमानो मम्मणवणिग्वदार्तध्यायी कायेनापि क्लि-श्यते । तथा चोक्तम्-"अजरामरवद्बाल , क्लिश्यते धनकाम्य-या। शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानो धनानि च"॥१॥ तदेव-मार्तध्यानोपहत " कइया वच्चइ सत्थो, किं भंडं कत्थ कि-त्तिया भूमी " त्यादि । तथा-" उक्खणइ खणइ णिहणइ, रत्तिं न सुयइ दिया वि य ससंको " इत्यादि । चित्तसङ्क्ले-शात्सुष्ठु मूढो वणिग्वदजरामरवदात्मानं मन्यमानोऽपगतशु-भाध्यवसायोऽहर्निशमारम्भे प्रवर्तते । सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

अहर्निशमायुष क्षयमवबुध्य धर्मे यतितव्यम्—

पिच्छह आउस्स खयं,
अहोनिसं झिज्जमाणस्स ॥ १८ ॥ (७३)
राइदिएण तीसं तु,
मुहुत्ता नवसयाइँ मासेणं ।

१-मम्मणवणिग्वृत्तं ' मम्मण ' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते।

हायंति पमत्ताणं,
न य णं अबुहा वियाणंति ॥ १९ ॥ (७४)
तिन्नि सहस्से सगले,
छच्च सए उडुवरो हरइ आउं ।
हेमंते गिम्हासु य,
वासासु य होइ नायव्वं ॥ २० ॥ (७५)
वाससयं परमाउं,
इत्तो पन्नास हरइ निद्दाए ।
इत्तो विसए हायइ,
बालत्ते वुड्ढभावे य ॥ २१ ॥ (७६)
सीउण्हपंथगमणे,
खुहा पिवासा भयं च सोगे य ।
नाणाविहा य रोगा,
हवंति तीसाइ पच्छद्धे ॥ २२ ॥ (७७)
एवं पंचासीई,
नट्ठा पएगरससेव जीवंति ।
जे हुंति वाससइया,
न य सुलहा वाससयजीवा ॥ २३ ॥ (७८)
एव निस्सारे मा-
णुसत्तणे जीविए अहिवडंते ।
न करेह चरणधम्मं,
पच्छा पच्छाऽणुतप्पिह हा ॥ २४ ॥ (७९)

'पिच्छह' त्ति-भो भव्या ! यूयं पश्यत-ज्ञानचक्षुषा विलोकयत आयुष क्षयमहोरात्रं क्षीयमाणस्य समयं समयं आवीचीमरणेन ग्रस्यमानस्येति ॥१८॥ 'राइ' ति-अहोरात्रेण त्रिंशन्मुहूर्त्ता भवन्ति, मासेन नवशतानि ९०० मुहूर्त्तानि, तानि प्रमत्ताना—मद्यादिप्रमादयुक्तानां सुभूम—ब्रह्मदत्तादीनामिव हीयन्ते न चाऽबुधा-मूर्खा विजानन्तीति ॥१९॥ 'तिन्नि' त्ति-त्रीणि सहस्राणि षट्शताधिकानि[2] सकलानि-संपूर्णानि मुहूर्त्तानि हेमन्त-शीतकाले भवन्ति । एतत्प्रमाणमायुर्जीवाना हेमन्ते उडुवर-सूर्यो हरति, एवं ग्रीष्मे वर्षासु च ज्ञातव्य भवति ॥ २० ॥ (तं०) 'वास' त्ति—साम्प्रतं जीवाना परमायु -उत्कृष्टजीवित वर्षशतं प्रवाहेण ज्ञातव्यम् । इतो वर्षशतात् निद्रया पञ्चाशद्वर्षाणि ५० हरति-गमयति, जीव. इत.-शेषपञ्चाशद्वर्षेत विंशतिवर्षाणि २० हीयन्ते यान्ति-प्रमादिनाम् कथम् ?-बालत्वे दशक १०, वृद्धत्वे दशकं १० चेति ॥२१॥ 'सीउ' त्ति-शीतोष्णपथगमनानि, तथा क्षुधा पिपासा भयं च शोकश्च नानाविधा रोगाश्च भवन्ति, त्रिंशत. पश्चार्द्धे त्रिंशत्पश्चार्द्धे-पञ्चदशवर्षरूप तस्मिन् को भाव ?-शेषत्रिंशत: पञ्चदश १५ वर्षाणि जीवाना शीतोष्णपथगमनादिभिर्मुधा यान्तीति ॥ २२ ॥ एवं पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चाशीतिवर्षाणि नष्टानि ८५, धर्मं विना विकथानिद्रालस्यवतां मुधा गतानि, कथम् ?-निद्रया पञ्चाशद्वर्षाणि (५०), बालत्वे दश (१०), वृद्धभावे दश (१०), शीतादिभि. पञ्चदश (१५), एव सर्वाणि पञ्चाशीतिवर्षाणि (८५), इति ये जीवा वर्षशतिका —वर्षशतप्रमाणा भवन्ति ते जीवा पञ्चदश १५ वर्षाणि जीवन्ति, अन्यानि मृतप्रायत्वात् । न च वर्षशतजीविनो जीवा. प्राप्यन्ते । किंभूताः सुखेन-अनायासेन लभ्यन्त इति सुलभा; सर्वथा सुखिन इत्यर्थ. । उक्तं च-" आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्द्धं गत, तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयो । शेष व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते, जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुत प्राणिनाम् " ॥ १ ॥ २३ ॥ एवम्-उक्तप्रकारेण निस्सारे असारे मानुषत्वे-मनुजत्वे तथा जीविते आयुषि रत्नकोटिकोटिभिरपि अप्राप्ये अधिपतति, समयं समय क्षय गच्छति सतीत्यर्थ न कुरुत यूय चरणधर्मं-ज्ञानदर्शनपूर्वक देशसर्वचारित्रं 'हा' इति—महाखेदे, पश्चाद्-आयु.क्षयानन्तरम्-आयु क्षयचरमक्षणे वा पश्चात्ताप कायवाङ्मनोभिर्महाखेद करिष्यथ नरकस्थशशिराजवदिति ॥ २४ ॥ तं० ॥ " समस्तसत्त्वसंघानां क्षयत्यायुरनुक्षणम् । आममल्लकवारीव, किं तथापि प्रमाद्यसि " ॥ १ ॥ पञ्चा० १ विव० । मरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० ।

आउक्खेम-आयु:क्षेम-न० । आयुष क्षेममिति । आयुष सम्यक्पालने, जीविते च । आचा० ।

जं किंचि वुक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स मप्पणो ।
तस्सेव अंतरऽद्धाए, खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए ॥ ६ ॥

एतदुक्तं भवति-आत्मायुषो यत्क्षेम-प्रतिपालनोपाय जानीत तं क्षिप्रमेव शिक्षेत् । (आचा०) यदिवा-आत्मन आयु क्षेमस्य-जीवितस्य । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

आउजीव-अप्जीव-पु० । आप एव जीवः । स्थावरजीवविशेष, अवाथिनो वा जीव. । उदकाथिते जीवे च । सूत्र० १ श्रु० ११अ० ।

तद्भेदा यथा—

दुविहा आउजीवाओ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥ ८४ ॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया ।
सुद्धोदये य उस्से य, हरितणु महिया हिमे ॥ ८५ ॥
एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोयम्मि, लोगदेसे य बायरा ॥ ८६ ॥

तिसृणां गाथानामर्थ -अप्जीवास्तु द्विविधा -सूक्ष्माः, तथा बादरा अपि । पर्याप्ता, अपर्याप्ताश्च । एवमेते द्विविधा. पुनर्वर्त्तन्ते इति शेष ॥ ८४ ॥ अथ पुनर्बादरा ये पर्याप्ता अप्जीवास्ते पञ्चधा प्रकीर्त्तिता । (उत्त०) तत्र सूक्ष्मा अप्कायजीवा एकविधा अनानात्वात्तीर्थकरैर्व्याख्याता. । तत्र सूक्ष्मा अप्कायजीवा सर्वस्मिन्—चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके वर्त्तन्ते, बादरा अप्कायजीवा लोकस्यैकदेश वर्त्तन्ते ॥ ८६ ॥

१—'सुभूम' वृत्तान्त 'माय' शब्दे षष्ठ भागे विस्तरतो करिष्यते ।
२—ब्रह्मदत्तवृत्त 'बंभदत्त' शब्दे पञ्चमभागे करिष्यते । ३—३६०० ।

मंतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साऽऽईया, सपज्जवसिया वि य ॥ ८७॥

सन्तति-प्रवाहमार्गमाश्रित्य अप्कायजीवा अनादिका पुनरपर्यवसिता अपि स्थितिं-भवस्थितिं, कायस्थितिं चाऽऽश्रित्य सादिकास्तथा सपर्यवसिता अवसानसहिता अपि वर्त्तन्ते ॥ ८७॥

सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे।
आउठिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नियं ॥ ८८॥

अपाम्-अप्कायजीवानां सप्तैव सहस्राणि वर्षाण्युत्कृष्टा आयुषः स्थितिर्भवेत्, जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं भवेत् ॥ ८८॥

असंखकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया।
कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ८९॥

अपाम्-अप्कायजीवानां तं स्वकायमर्थात्-अप्कायममुञ्चतामुत्कृष्टा कायस्थितिः असंख्यकालं भवति जघन्या कायस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तं भवति।

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढम्मि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥ ९०॥

अव्जीवानां स्वकीये काये त्यक्ते सति अपरस्मिन् काये उत्पद्य पुनः स्वकीये काये उत्पत्तिः स्यात्तदा उत्कृष्टमन्तरमनन्तकालं भवति। जघन्यकमन्तरम्-अन्तर्मुहूर्त्तं भवति। वनस्पतिकाये जीवोऽनन्तकालं तिष्ठति तदा अनन्तकालमन्तरं भवति, इति भावः।

एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ।
संठाणाऽऽदेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ ९१॥

एतेषाम्-अप्कायजीवानां वर्णतो गन्धतः रसतः स्पर्शतः संस्थानाऽऽदेशतश्चापि-संस्थाननामतश्चापि सहस्रशो-बहवो भेदा भवन्ति ॥ ९१॥ उत्त० ३६ अ०। अव्जीवानां च प्रत्येकशरीरिता। "पुढोसत्ता आउजीवा" प्रत्येकशरीरत्वात्पृथक्-प्रत्येकं सत्त्वाः-प्रत्येकशरीरिणोऽवगन्तव्याः। सूत्र०। १ श्रु० ११ अ०।

आउज्ज-आतोद्य-न०। आ-समन्तात् तुद्यते। आ-तुद-ण्यत्। वीणादौ वाद्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। स्था०। अनु०। आव०। जी०। तच्च द्विविधम्-ततवितत-भेदात्। तत-वितते अपि द्विविधे-घन-शुषिरभेदात्। स्था० २ ठा० ३ उ०। चतुर्विधम्-ततविततघनशुषिरभेदात्। वृ० १ उ०। 'ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम्। घनं तु कांस्यतालादि वंशादि शुषिरं मतम्" ॥ १॥ इति विवक्षाप्राधान्याच्च न विरोधो मन्तव्यः। स्था० २ ठा० ३ उ०। आचा०।

आतोद्यस्य ४९ भेदाः—

तते णं से सूरियाभे देवे अट्ठसयं संखाणं विउव्वति। अट्ठसयं संगाणं विउव्वइ। अट्ठसयं सखियाणं विउव्वइ। अट्ठसयं खरमुहीणं विउव्वइ। अट्ठसयं पेयाणं विउव्वइ। अट्ठसयं पिरिपिरियाणं विउव्वति। एवमाइयाणं एगोणवण्णं आउज्जविहाणाइं विउव्वति।

'एवमाइयाणं' ति-आदिशब्देन- ५ पणव ६ पटह ७ भम्भा ८ होरम्भा ९ भेरी १० झल्लरी ११ दुन्दुभी १२ मुरुज १३ मृदङ्ग १४ नन्दीमृदङ्ग १५ आलिङ्ग १६ कुस्तुम्ब १७ गोमुखी १८ मर्दल १९ विपञ्ची २० वल्लकी २१ भ्रमरी २२ भ्रामरी २३ परिवादिनी २४ बब्बीसा २५ सुघोषा २६ नन्दीघोषा २७ महती २८ कच्छपी २९ चित्रवीणा ३० आमोद ३१ झञ्झा ३२ नकुल ३३ तूणा ३४ तुम्बवीणा ३५ मुकुन्द ३६ हुडुक्क ३७ विचिक्की ३८ करटी ३९ डिण्डिम ४० किणित ४१ कडम्बा ४२ दर्दरक ४३ दर्दरिका ४४ कुसुम्बर ४५ कलशिका ४६ तल ४७ ताल ४८ कांस्यताल ४९ रिंगिसिका ५० मङ्गरिका ५१ शुशुमारिका ५२ वंश ५३ वाली ५४ वेणु ५५ पिरिली ५६ बद्धका ५७ प्रदर्शिता। *) अव्याख्यातास्तु भेदा लोकतः प्रत्येतव्याः एवमादीनि बहून्यातोद्यानि विकुर्वन्ति सर्वसंख्यया तु मूलभेदापेक्षया अतोद्यभेदा एकोनपञ्चाशत्। शेषास्तु भेदास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति यथा वंशातोद्यविधाने वालीवेणुपिरिलीबद्धकाः। रा०। * 'णट्ट' शब्दे ४ भागे विशेषः।

आवज्जे-पु०। आवर्जनमावर्जः। अभिमुखीकरणे, आवर्ज्यतेऽभिमुखीक्रियते मोक्षोऽनेनेति—शुभमनोवाक्कायव्यापारविशेषे च। उक्तञ्च-" आवज्जणमुवओगो वावारो वा " (३०५१ + विशे०) इति. आवर्ज्यते-अभिमुखीक्रियते, इति घञ्। अभिमुखीकर्त्तव्ये, त्रि०। प्रज्ञा० ३६ पद।

आवर्ज्य-त्रि०। आवर्ज्यते इति ण्यत्। अभिमुखीकर्त्तव्ये, आ० म० १ अ०।

आउज्जण-आवर्जन-न०। अभिमुखीकरणे, शुभमनोवाक्कायव्यापारे च। प्रज्ञा० ३६ पद। विशे०।

आउज्जसद्द-आतोद्यशब्द-पुं०। नोभाषाशब्दविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ०। स च वेणुवीणामृदङ्गादीनां यो शब्दः। जी० ३ प्रति० ४ अधि०।

तद्भेदादि—

आउज्जसद्दे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-तते चेव, वितते चेव। तते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-घणे चेव, सुसिरे चेव। एवं वितते वि। (सूत्र-८१ +)

(ततविततादिकमातोद्यभेदः 'आउज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे प्रदर्शितः) तज्जनितः शब्दस्ततो घन शुषिरश्चेति व्यपदिश्यते। स्था० २ ठा० ३ उ०। (अस्य चतुर्विधत्वम् चतुर्विधानोद्यजनितत्वात्। आतोद्यस्य बहवो भेदाः 'आउज्ज' शब्देऽस्मिन्नेव भागे अनुपदमेव दर्शिताः)।

आउजिय-आयोगिक-पुं०। उपयोगवति ज्ञानिनि, । भ०। २ श० ५ उ०।

आवर्जित-त्रि०। आ-वृज णिच् क्त। अभिमुखीकृते. तथा च लोके वक्तारः-आवर्जितोऽयं मया, सम्मुखीकृत इत्यर्थः। प्रज्ञा० ३६ पद। पं० सं०। दत्ते, त्यक्ते, निम्नीकृते च। वाच०।

आउज्जियकरण-आवर्जितकरण-न०। आवर्जितस्य करणमिति केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभयोगव्यापारणे, तच्च भव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य शुभयोगव्यापारणम्। प्रज्ञा० ३६ पद। पं० सं०। (अत्र-त्या वक्तव्यता 'आउज्जीकरण' शब्देऽग्रे वक्ष्यते)

आउज्झिया-आयोजिका-स्त्री० । भावे बुञ् । व्यापारेण, आ० म० १ अ० ।

आउज्झियाकरण-आयोजिकाकरण-न० । आङ्-मर्यादया केवलिदृष्टया योजनं-शुभानां योगानां-व्यापारणम् । भावे वुञ् । तस्य करणमिति । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभव्यापारात्मके क्रियाविशेषे, प्रज्ञा० ३६ पद । आ० म० । पं० स० ।

आउज्जीकरण-आवर्जीकरण-न० । आवर्जनमावर्जः तस्य करणमिति विवक्षायां च्विप्रत्ययः । केवलिसमुद्घातात् पूर्वं क्रियमाणे आत्मानं प्रति मोक्षस्याभिमुखीकरणेना मनो योगप्रत्युपयोजनकरणे, आवर्ज्यतेऽभिमुखीक्रियते आत्माऽनेनेति आवर्जस्तस्य करणमिति विवक्षायां च्विप्रत्ययः । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे शुभमनोवाक्कायव्यापारविशेषकरणे, प्रज्ञा० ३६ पद । आवर्ज्यते इत्यावर्जः भुवः, तस्य करणमिति च्वि । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं क्रियमाणे मोक्षं प्रत्यभिमुखीकर्त्तव्यस्य करणे, तथान्तर्मौहूर्त्तिके उदयावलिकायां कर्मपुद्गलप्रक्षेपव्यापाररूपे उदीरणाविशेषे । आ० म० १ अ० । औ० । स्था० । कर्म० । पं० सं० ।

आवर्जीकरणञ्च—

कइसमइए णं भंते ! आउज्जीकरणे पएणत्ते, गोयमा ! असंखिज्जसमइए, अंतोमुहुत्तिए आउज्जीकरणे पएणत्ते । (सूत्र-३४६)

सर्वोऽपि केवली केवलिसमुद्घातं गच्छन् प्रथमत आवर्जीकरणम् उपगच्छति । तथा च—केवलिसमुद्घातप्रक्रियाविभणिषु समुद्घातशब्दव्याख्यानपुरस्सरमाह भाष्यकार (प्रज्ञा० ३६ पद ।)—

तत्थाउयसेसा हिय-कम्मसमुग्घायणं समुग्घाओ ।
तं गंतुमणा पुव्वं, आउज्जीकरणमब्भेइ ॥ ३०५० ॥
आवज्जणमुवओगो, वावारो वा तदत्थमाईए ।
अंतोमुहुत्तमत्तं, काउं कुरुए समुग्घायं ॥ ३०५१ ॥

तत्रायुःशेषाणाम्-अधिकस्थितिकानां वेदनीयादिकर्मणां समुद्घातनं समुद्घातः, तं च गन्तुमनाः-प्राप्तुमिच्छुः पूर्वमावर्जीकरणमभ्येति-विदधाति । कथंभूतं तदिति ?, उच्यते-तदर्थम्-समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो मया अधुनेदं कर्त्तव्यमित्येवंरूप उदयावलिकायां कर्मप्रक्षेपरूपो व्यापारो वा आवर्जनमुच्यते । तस्यैवंभूतस्य करणमावर्जीकरणं तदन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालं कृत्वा ततः समुद्घातं कुरुते । विशे० ।

आउज्जोवण-अब्योजन-न० । अप्कायमन्त्रयोजने, ओघ० ।

तेषां हि सशब्दं व्रजतामेते दोषाः —

आउज्जोवणवणिए, अगणि कुडुंबीकुकम्मकुमरीए ।
तेणे मालागारे, उब्भामगपंथि एजंते ॥ ६० ॥

ते हि यदि सशब्दं व्रजन्ति ततश्च लोको विबुध्यते, विबुद्धश्च सन् 'आउज्जोवण' त्ति—अप्कायमन्त्राणि योज्यन्ते वहनाय सज्जीक्रियन्ते । ओघ० । असंजपहिं सद्धं वसंताण आउज्जोवणवणियादिदोसा भवति । वि० चू० २ उ० ।

आउट्ट-आउट्ट-पु० । करणे, अयमेतादृश एव सैद्धान्तिको धातुः । कल्प० ३ अधि० १ क्षण । आउट्टन्ति णाम करेंति । नि० चू० २ उ० ।

आकुट्ट-पु० । आकुट्टनमाकुट्टः । आ-कुट्ट-घञ् । छेदने, हिंसायां च । स चात्र प्राणावयवानां छेदनभेदनादिरूपो व्यापारः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

आतुष्ट-त्रि० । सन्तुष्टे, नि० चू० १ उ० ।

आवृत्त-त्रि० । आ-समन्ताद् वृत्त इति । समन्ताद् व्यवस्थिते आचा० १ श्रु० ७ अ० ४ उ० । परावृत्ते, प्रतिनिवृत्ते च । वाच० । "आउट्टे" ०(२१ गाथा) आवृत्ते-आवृत्तपरिणामे साधाविति । पञ्चा० १६ विव० ॥ समन्तात् हिंसायां प्रवृत्ते, 'आउट्टामो' प्रवर्त्तामहे । हिंसायाम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । पुनः पुनरभ्यासे, आवर्त्यमाने च । वाच० ।

आउट्टंत-आउट्टत्-त्रि० । कुर्वति, कल्प० ३ अधि० १ क्षण । नि० चू० ।

आउट्टण-आउट्टन-न० । करणे, कल्प० ३ अधि० १ क्षण । नि० चू० ।

आकुट्टन-न० । हिंसायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । आ० म० ।

आवर्तन-न० । अभिलापायाम्, आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० । आराधनायाम्, व्य० "कहणाऽऽउट्टण आगमण-पुच्छणं दीवणा य कज्जस्स" (४१×गाथा) । आवर्तनम्-आकम्पन राज्ञो भक्तीभवनम् । व्य० २ उ० । नि० चू० । आवर्जने, व्य० १० उ० । अभिमुखीभूय वर्त्तने, न० ३२ सूत्र । निवर्तने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आवर्तते पूर्वभावतो निवृत्त्यान्यभावप्रतिपत्त्यभिमुखो वर्तते येन बोधपरिणामेन स आवर्त्त । पु । तथावर्तने, ईहानो निवृत्त्यापायभावप्रतिपत्त्यभिमुखीभूय वर्तनस्य हेतौ, बोधपरिणाम च । न० ३२ सूत्र ।

आउट्टणया-आवर्तनता-स्त्री० । आवर्त्ततेऽभिमुखीभूय वर्त्तते येन स तथा तद्भावस्तत्ता । आभिनिबोधिकज्ञानावशेषस्यापायस्य नामधेयविशेषे, सा चेहानो निवृत्त्यापायभावप्रतिपत्त्यभिमुखीभूय वर्त्तते, हेतुभूता बोधपरिणामता । न० ३२ सूत्र ।

आउट्टणा-आवर्त्तना-स्त्री० । आराधनायाम्, नि० चू० २ उ० । आकम्पने, व्य० २ उ० । आवर्जने, "आउट्टऊण अत्तीकरेइ" आवर्त्य-आवर्ज्यात्मीकरोति । व्य० १० उ० ।

आउट्टावण-आवर्त्तन-न० । अभिमुखीकरणे, आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ० ।

आउट्टि-आउट्टि-स्त्री० । करणे, "आउट्ट त्ति णाम करेंति" 'आउट्टि' धातुः करणार्थे सैद्धान्तिकः । कल्प० ३ अधि० १ क्षण । नि० चू० ।

आकुट्टि-स्त्री० । हिंसायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । इद करोमीत्येवं बुद्ध्वोपेत्य करणे, जीत० । स० । ध० । प्रव० । पं० व० । आव० । 'आउट्टिया' नाम आभोगे जानान इत्यर्थः । बृ० ३ उ० । (आकुट्या धर्मरुचेरुदाहरणम्-'आता' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आवृत्ति-स्त्री० । आ-वृत्-क्तिन् । समन्तात्प्रवर्त्तने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । अभिलाषायाम् , आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ० । आराधनायाम् , राज्ञो भक्तीभवनम् । व्य० २ उ० । नि० चू० । आवर्जने, । व्य० १० उ० । अभिमुखीभूय वर्तते, नं० । निवर्त्तने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । पुनः पुनरभ्यासे, भूय एकजातीयक्रियाकरणे, "आवृत्तिः सर्वशास्त्राणां, बोधादपि गरीयसी" । प्रत्यावृत्तौ, पुनरागतौ, वाच० । सूर्यस्य चन्द्रस्य च भूयो भूयो दक्षिणोत्तरगमने, सू० प्र० १२ पाहु० । चं० प्र० । ज्यो० । आवृत्तयो द्विधा । तद्यथा-एका. सूर्यस्यावृत्तयः, अपराश्चन्द्रमसः । तत्र युगे सूर्यस्यावृत्तयो दश भवन्ति, चतुर्स्त्रिंशच्छतमावृत्तीनां चन्द्रमसः । सू० प्र० १२ पाहु० । चं०प्र० ।

तत्र (५ वर्षात्मके युगे) सूर्यस्य दशाऽऽवृत्तयः—

तत्थ खलु इमातो पंच वासिक्कीओ, पंच हेमन्तीओ आउट्टीओ पण्णत्ताओ । (सूत्र-७६ +)

'तत्थ खलु' इत्यादि-तत्र युगे खलु इमा-वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्च वार्षिक्यः , पञ्च हैमन्त्यः-शीतकालभाविन्यः सर्वसंख्यया दश आवृत्तयः सूर्यस्य प्रज्ञप्ता । सू०प्र० १२ पाहु० । चं० प्र० ।

एतस्योपपत्ति वक्तुकाम आह—

एत्तो आउट्टीओ, वोच्छं जह य कमेण सूरस्स ।
चंदस्स य लहुकरणं, जह दिट्ठं सव्वदंसीहिं ॥ २३१ ॥

इत -अयनविभागप्रतिपादनानन्तरं सूर्यस्य चन्द्रस्य च आवृत्तीर्भूयो भूयो दक्षिणोत्तरगमनरूपा यथाक्रमेण-परिपाट्या वक्ष्यामि, तासां चाऽऽवृत्तीनां प्रतिनियतप्रथमदिवसपरिज्ञानाय यथा दृष्टं सर्वदर्शिभिः-सर्वज्ञैस्तथा करणम्-लघूपायं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमर्थं निर्वाहयितुकाम. प्रथमत आवृत्ती. प्रतिपादयति—

सूरस्स य अयणसमा, आउट्टीओ जुगम्मि दस होंति ।
चंदस्स य आउट्टी, सयं च चोत्तीसयं चेव ॥ २३२ ॥

सूर्यस्य—आदित्यस्य युगे च चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धित—चन्द्राभिवर्द्धितसंवत्सरपञ्चकपरिमाणे आवृत्तय यथोदितस्वरूपा अयनसमा भवन्ति । अयनप्रथमप्रवृत्तेरावृत्तिशब्दवाच्यत्वात् , ताश्च कति संख्या ? इत्याह-दश ।

तथा चन्द्रस्यावृत्तीनां शतं चतुर्स्त्रिंशदधिकम् ,१३४ अयनानां हि प्रथमा. प्रवृत्तय आवृत्तिशब्दवाच्याश्चन्द्रस्य वा अयनान्येतावन्तो भवन्ति, तदावृत्तयोऽप्येतावत्य एव । अथैकस्मिन् युगे सूर्यस्य दशायनानि भवन्तीति, कथमवसीयते सूर्यस्याऽऽवृत्तयो युगे दश भवन्ति, चन्द्रमसश्चाऽऽवृत्तीनां चतुस्त्रिंशच्छतमिति १३४, उच्यते-उक्तं नाम आवृत्तयस्त्वयोर्दक्षिणोत्तरगमरूपा तत सूर्यस्य चन्द्रमसो वा यावन्त्ययनानि तावन्त्य आवृत्तय , सूर्यस्य चायनानि दश, एतच्चावसीयते त्रैराशिकबलात् , तथाहि-यदि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन एकमयनं भवति ततोऽष्टादशभिः शतैः त्रिंशदधिकैः कति अयनानि लभ्यन्ते, राशित्रयस्थापना-(१८३)(१)(१८३०) अत्रान्त्येन राशिना मध्यमस्य राशेर्गुणनम् , एकस्य च गुणने तदेव भवतीति जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि-(१८३०)तेषामाद्येन राशिना त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भागहरणं, लब्धा दश १० । आगतं युगमध्ये सूर्यस्य दश १० अयनानि भवन्तीति आवृत्तयोऽपि दश १० । तथा यदि त्रयोदशभिर्दिवसैश्चतुश्चत्वारिंशता च सप्तषष्टिभागैरेकं चन्द्रस्यायनं भवति ततोऽष्टादशभिर्दिवसशतैस्त्रिंशदधिकैः कति चन्द्रायनानि भवन्ति ?, राशित्रयस्थापना-१३, ४४ । ६७ (१)।(१८३०)। तत्राद्य राशौ सवर्णनाकरणार्थं त्रयोदशाऽपि दिनानि सप्तषष्ट्या गुणयित्वा चोपरितनाः चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) यानि चाष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि-(१८३०) तान्यपि सवर्णनाकरणार्थं सप्तषष्ट्या ६७ गुण्यन्ते, जातानि द्वादश लक्षाणि द्वे सहस्रे षट् शतानि दशोत्तराणि (१२०२६१०) तत्रैकरूपेणानेन राशिना मध्यमस्य राशेरेककरूपस्य गुणनम् , एकस्य च गुणनं तदेव भवतीत्येतावानेव राशिर्जात., तस्य नवभि शतै पञ्चदशोत्तरैः-९१५ भागो ह्रियते लब्ध चतुस्त्रिंशं शतम् १३४ एतावन्ति चन्द्रायनानि युगमध्ये भवति, एतेतावत्य १३४ चन्द्रमस आवृत्तय । ज्यो०१२पाहु०।चं०प्र०।सू०प्र०।

संप्रति का सूर्यस्यावृत्ति कस्यां तिथौ भवतीति चिन्तायां यत्पूर्वाचार्यैरुपदर्शितं करणं तदुपदर्श्यते (सू० प्र० १२ पाहु०)—

आउट्टीहिं एगुणियाहिं , गुणियं सयं तु तेसीयं ।
जेण गुणियं तं तिगुणं , रूवहियं पक्खिवे तत्थ ॥२३६॥
पन्नरसलाइयम्मि उ, जं लद्धं तं तेसु होइ पव्वेसु ।
जे अंसा ते दिवसा , आउट्टी एत्थ बोधव्वा ॥ २४० ॥

अनयोर्व्याख्या- आवृत्तिभिरेकोनिकाभिर्गुणितं शतं त्र्यशीत्यधिकम् , । किमुक्तं भवति-या आवृत्तिर्विशिष्टतिथियुक्ता ज्ञातुमिष्टा तत्संख्या एकोनिका क्रियते । ततस्तयाऽत्र्यशीत्यधिकं शतं गुण्यते , गुणयित्वा च येनाऽङ्केन गुणितं त्र्यशीत्यधिकं शत तदङ्कस्थानं त्रिगुणं कृत्वा रूपाधिकं सत्तत्र-पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते , तत पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते , हृते च भागे यल्लब्धं तत्तेषु तावत्संख्याकेषु पर्वसु निक्रान्तेषु सा विवक्षिता आवृत्तिर्भवति, ये त्वंशा पश्चाद्दुद्ध(द्ध)रितास्ते दिवसा ज्ञातव्या । तत्र तेषु दिवसेषु मध्ये चरमदिवसे आवृत्तिर्भवतीति भाव , इहावृत्तीनामेवं क्रमो-युगे-प्रथमा आवृत्ति. श्रावणे मासे, द्वितीया माघे मासे, तृतीया भूय श्रावणे मासे, चतुर्थी माघमासे , पुनरपि पञ्चमी श्रावणे, षष्ठी माघमासे, भूय सप्तमी श्रावणे, अष्टमी माघमासे, नवमी श्रावणमासे, दशमी माघमासे इति । तत्र प्रथमा किल आवृत्ति. कस्यां तिथौ भवतीति यदि जिज्ञासा तदा प्रथमावृत्तिस्थाने एककोंऽध्रियते स रूपोना क्रियते इति न किमपि पश्चादवाप्यते, तत पाश्चात्ययुगभाविनी या दशमी आवृत्तिस्तत्संख्या दशकरूपा ध्रियते, तया त्र्यशीत्यधिकं शतं गुण्यते, जातान्यष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि-१८३०, दशकेन किल गुणितं त्र्यशीत्यधिकं शतमिति । तत ते दशकास्त्रिगुणीक्रियन्ते, जाता त्रिंशत् ३० सा रूपाधिका

विधेया, जाता एकत्रिंशत्, सा पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते जातान्यष्टादशशतान्येकषष्ट्यधिकानि-१८६१, तेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धं चतुर्विंशतिशतं शेषं तिष्ठति एकं रूपम् आगतम् चतुर्विंशत्यधिकपर्वशतात्मके पाश्चात्ये युगे अतिक्रान्ते, अभिनवे युगे प्रवर्त्तमाने प्रथमावृत्तिः प्रथमा या तिथौ प्रतिपदि भवतीति । तथा कस्यां तिथौ द्वितीया माघमासभाविनी आवृत्तिर्भवतीति यदि जिज्ञासा ततो द्विको ध्रियते स रूपोन इति जात एककस्तेन त्र्यशीत्यधिकं शतं गुण्यते, 'एकेन च गुणितं तदेव भवति' इति जातं त्र्यशीत्यधिकमेव शतम् १८३, एकेन गुणितं किल त्र्यशीत्यधिकं शतमिति । एकस्त्रिगुणीक्रियते, जातास्त्रिकः स रूपाधिकः क्रियते जाताश्चत्वारः ४, ते ४ पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातं सप्ताशीत्यधिकं शतम् १८७, तस्य पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धा द्वादश, शेषास्तिष्ठन्ति सप्त, आगतं युगे द्वादशपर्वस्वतिक्रान्तेषु माघमासे बहुलपक्षे सप्तम्यां तिथौ द्वितीया माघमासे-माघमासभाविनीनां तु मध्ये प्रथमा आवृत्तिरिति । तथा तृतीया आवृत्तिः कस्यां तिथौ भवतीति जिज्ञासायां त्रिको ध्रियते, स रूपोनः क्रियते इति जातो द्विकस्तेन त्र्यशीत्यधिकं शतं १८३ गुण्यते जातानि षट्षष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि (३६६) द्विकेन किल गुणितं त्र्यशीत्यधिकशतमिति । द्विकस्त्रिगुणीक्रियते जाताः षट्, ते रूपाधिकाः क्रियन्ते, जाताः सप्त, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि-३७३ तेषां पञ्चदशभिर्भागो ह्रियते लब्धाश्चतुर्विंशतिः २४, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोदश-१३अंशाः, आगतं युगे तृतीयावृत्तिः श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये द्वितीया चतुर्विंशतिपर्वात्मके प्रथमे संवत्सरेऽतिक्रान्ते श्रावणमासे बहुलपक्षे (ज्यो० १२ पाहु०) त्रयोदश्यां तिथौ भवतीति, एवमन्यास्वप्यावृत्तिषु करणवशात्प्रतिविवक्षितास्तिथय आनेतव्याः, ताश्चमाः युगे चतुर्थी माघमासभाविनीनां तु मध्ये द्वितीया शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां पञ्चमी । श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये तृतीया, श्रावणमासे शुक्लपक्षे दशम्यां षष्ठी, माघमासभाविनीनां तु मध्ये तृतीया माघमासे बहुलपक्षे प्रतिपदि सप्तमी । श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये चतुर्थी श्रावणमासे बहुलपक्षे सप्तम्यामष्टमी । माघमासभाविनीनां तु मध्ये चतुर्थी माघमासे बहुलपक्षे त्रयोदश्यां नवमी । श्रावणमासभाविनीनां तु मध्ये पञ्चमी, श्रावणमासे शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां दशमी । माघमासभाविनीनां तु मध्ये पञ्चमी माघमासे शुक्लपक्षे दशम्याम् तथा चैता एव पञ्चानां श्रावणमासभाविनीनां पञ्चमीनां तु माघमासभाविनीनां तु तिथयोऽन्यत्राप्युक्ताः । चं० प्र० १२ पाहु० ७६ सूत्रटी० ।

सम्प्रति या सूर्यस्यावृत्तिर्यस्मिन् दिने भवति तां तथा प्रतिपादयति—

पढमा बहुलपडिवए, बिइया बहुलस्स तेरसीदिवसे ।
सुद्धस्स य दसमीए, बहुलस्स य सत्तमीए उ ॥ २३३ ॥
सुद्धस्स चउत्थीए, पवत्तए पंचमी उ आउट्टी ।
एया आउट्टीओ, सव्वाओ सावणे मासे ॥ २३४ ॥

इह सूर्यस्य दशावृत्तयो भवन्ति, एतच्चानन्तरमेव भावितं, तत्र पञ्च आवृत्तयः श्रावणे मासे भवन्ति, तासां मध्ये प्रथमा बहुलपक्षे प्रतिपदि १, द्वितीया-बहुलस्य बहुलपक्षस्य सम्बन्धिनि त्रयोदशीरूपे दिवसे२, तृतीया-शुद्धस्य शुक्लपक्षस्य दशम्याम्३,चतुर्थी-बहुलपक्षस्य सप्तम्याम्४,शुद्धस्य-शुक्लपक्षस्य चतुर्थ्यां प्रवर्त्तते पञ्चमी-आवृत्तिः ५, एताः सर्वा अप्यावृत्तयः श्रावणे मासे वेदितव्याः । ज्यो० १२ पाहु० ।

अधुना माघमासे भाविन्य आवृत्तयो यासु तिथिषु भवन्ति ता अभिधत्ते—

बहुलस्स सत्तमीए, पढमा सुद्धस्स तो चउत्थीए ।
बहुलस्स य पाडिवए, बहुलस्स य तेरसी दिवसे ॥२३६॥
सुद्धस्स य दसमीए पवत्तए पंचमी उ आउट्टी ।
एया आउट्टीओ, सव्वाओ माघमासम्मि ॥ २३७ ॥

माघमासे प्रथमा आवृत्तिः-बहुलस्य-कृष्णपक्षस्य सप्तम्यां भवति १, द्वितीया-शुद्धस्य-शुक्लपक्षस्य चतुर्थ्याम् २, तृतीया-बहुलपक्षस्य प्रतिपदि ३, चतुर्थी-बहुलपक्षस्य त्रयोदशीदिवसे भवति ४, पञ्चमी शुक्लपक्षस्य दशम्यां प्रवर्त्तते ५, एताः सर्वा अप्यावृत्तयो माघमासे भवन्ति । ज्यो० १२ पाहु० ।

एतासु सूर्यावृत्तिषु चन्द्रनक्षत्रयोगपरिज्ञानार्थं करणमभिधित्सुस्तद्विषयं ध्रुवराशिमाह—

पंचसया पडिपुण्णा, तिसुत्तरा नियमसो मुहुत्ताणं ।
छत्तीस विसट्ठिभागा, छच्चेव य चुण्णिया भागा ॥२४१॥

ज्यो० १२ पाहु० ।

पञ्चशतानि त्रिसप्ततानि-त्रिसप्तत्यधिकानि परिपूर्णानि मुहूर्त्तानां भवन्ति षट्त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागाः । षट् चैव चूर्णिका भागा एकस्य द्वाषष्टिभागस्य सत्काः षट्सप्तषष्टिभागाः इत्यर्थः एतावान् विवक्षितकरणे ध्रुवराशिः । कथमस्योत्पत्तिरिति चेत् ?, उच्यते-इह यदि दशभिः सूर्यायनैः सप्तषष्टिश्चन्द्रनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते तत एकेन सूर्यायनेन किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-(१०) (६७) (१) अत्रान्त्येन राशिना एककेन मध्यस्य राशेः सप्तषष्टिलक्षणस्य गुणनं 'एकेन च गुणितं तदेव लब्धं भवतीति' जाता सप्तषष्टिः (६७) तस्य दशभिर्भागहारे लब्धाः षट् ६ पर्यायाः, एकस्य च पर्यायस्य सप्तदश १७ भागा ये च सप्तमस्य पर्यायस्य सप्तदशभागाः १७ तद्गतमुहूर्तप्रमाणमधिकृतगाथायामुपन्यस्तम् । अथ कथमेतदवसीयते एतावन्तस्तत्र मुहूर्त्ता भवन्ति ? इति चेदुच्यते-त्रैराशिककर्मचिन्तावलात्तथा हि-यदि दशभिर्भागैः सप्तविंशतिर्दिनानि एकस्य च दिनस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा लभ्यन्ते ततः सप्तभिर्भागैः किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-(१०-२७, २१/६७ । ७) अत्रान्त्येन राशिना सप्तक ७ लक्षणेन मध्यस्य राशेः सप्तविंशतिः २७ दिनानि गुण्यन्ते जातं नवाशीत्यधिकं शतं (१८९) तस्याद्येन राशिना दशक १० लक्षणेन भागे हृते लब्धा अष्टादश (१८) दिवसास्ते च मुहूर्त्तानयनाय त्रिंशता ३० गुण्यन्ते जातानि पञ्चशतानि चत्वारिंशदधिकानि-५४०, मुहूर्त्तानां, शेषा उपरि तिष्ठन्ति नव ९, ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जाते द्विशते सप्तत्यधिके-२७०, त्रयोदशभिः १३ भागे हृते लब्धाः सप्तविंशतिर्मुहूर्त्ताः २७, ते पूर्वस्मिन् मुहूर्त्तराशौ

१०

प्रक्षिप्यन्ते, जातानि पञ्चशतानि सप्तषष्ट्यधिकानि-५६७, येऽपि च एकत्रिंशतिः सप्तषष्टिभागा दिनस्य तेऽपि मुहूर्त्तभागकरणार्थं त्रिंशता ३० गुण्यन्ते, जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि-६३०, तानि सप्तभि ७ र्गुण्यन्ते जातानि दशोत्तराणि चतुश्चत्वारिंशच्छतानि-४४१०, तेषां दशभि १० र्भागे हृते लब्धानि चत्वारि शतानि एकचत्वारिंशदधिकानि-४४१, तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धा षट् ६ मुहूर्त्ताः, ते पूर्वमुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्त्तानां पञ्च शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि-५७३, शेषाश्चोद्धरिता एकोनचत्वारिंशत् ३९, सा द्वाषष्ट्या ६२ गुण्यते, जातानि चतुर्विंशतिशतानि अष्टादशाधिकानि-२४१८, तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धाः षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः, शेषास्तिष्ठन्ति षट् ६। ते एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः सप्तषष्टिभागाः, एते चातिश्लक्ष्णरूपा भागा इति चूर्णिका भागा इति व्यपदिश्यन्ते तदेवमुक्तो ध्रुवराशिः। सू० प्र० १२ पाहु० ७६ सूत्रटी० । च० प्र० १२ पाहु० । ज्यो०।

सम्प्रति करणमाह—

आउट्टीहि एगुणियाहिं, गुणिओ हविज्ज धुवरासी ।
एयं मुहुत्तगणियं, एत्तो वोच्छामि सोहणगं ॥ २४२ ॥

ज्यो० १२ पाहु० ।

'आउट्टीहि' इत्यादि, यस्यां यस्यामावृत्तौ नक्षत्रयोगो ज्ञातुमिष्यते तया तया आवृत्त्या एकोनिकया-एकरूपहीनया गुणितोऽनन्तरोक्तस्वरूपो ध्रुवराशिर्भवेत् यावान् एतन्मुहूर्त्तगुणितं मुहूर्त्तपरिमाणम्, अत ऊर्ध्वं वक्ष्यामि शोधनकम् ॥ २४२ ॥

तत्र प्रथमतोऽभिजितो नक्षत्रस्य शोधनकमाह (सू०प्र०)—

अभिइस्स नव मुहुत्ता, बिसट्ठिभागा उ होंति चउवीसं ।
छावट्ठी य समग्गा, भागा सत्तट्ठिछेयकया ॥ २४३ ॥
उगुणट्ठं पोट्ठवया, तिसु चेव नवोत्तरेसु रोहिणिया ।
तिसु नवनउएसु भवे, पुणव्वसू उत्तराफग्गू ॥ २४४ ॥
पंचेव अउणपन्ना, सयाइँ एगुणत्तराइँ छच्चेव ।
सोज्झाइँ विसाहाणं, मूले सत्तेव चोयाला ॥ २४५ ॥
अट्ठसयमुगुणवीसा, सोहणगं उत्तराअसाढाणं ।
चउवीसं खलु भागा, छावट्ठी चुण्णिया भागा ॥ २४६ ॥

ज्यो० १२ पाहु० ।

'अभिइस्से' त्यादि, अभिजितः-अभिजिन्नक्षत्रस्य शोधनकं नव ९ मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्का सप्तषष्टिच्छेदकृता समग्राः-परिपूर्णाः षट्षष्टिभागाः ६६। कथमेतस्योत्पत्तिरिति चेदुच्यते-इहाभिजितोऽहोरात्रसत्काः एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाश्चन्द्रेण योगः। ततोऽहोरात्रे त्रिंशन्मुहूर्त्ता ३० इति मुहूर्त्तभागकरणार्थमेकविंशतिः २१, त्रिंशता ३० गुण्यते जातानि षट्शतानि त्रिंशदधिकानि (६३०) तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धा नव ९ मुहूर्त्ताः शेषास्तिष्ठन्ति सप्तविंशतिः। ते द्वाषष्टि ६२ भागकरणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्यन्ते, जातानि षोडशशतानि चतुःसप्तत्यधिकानि (१६७४) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते लब्धाश्चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, शेषास्तिष्ठन्ति षट्षष्टि (६६)। ते च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः सप्तषष्टिभागाः ॥२४३॥ सम्प्रति शेषनक्षत्राणां शोधनकानि उच्यन्ते-'उगुणट्ठमि' त्यादिगाथात्रयम्। एकोनषष्टिमेकोनषष्ट्यधिकं शतं प्रोष्ठपदा-उत्तरभाद्रपदा किमुक्तं भवति-एकोनषष्ट्यधिकेन शतेनाभिजिदादीन्युत्तरभाद्रपदान्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति। तथाहि-नव ९ मुहूर्त्ता अभिजितः, त्रिंशच्छ्रवणस्य, त्रिंशद्धनिष्ठायाः, पञ्चदश शतभिषजः, त्रिंशत्पूर्वभाद्रपदायाः, पञ्चचत्वारिंशदुत्तरभाद्रपदाया इति शुद्ध्यन्ति। एकोनषष्ट्यधिकेन शतेनोत्तरभाद्रपदान्तानि नक्षत्राणि तथा त्रिषु नवोत्तरेषु शतेषु रोहिणिकान्तानि शुद्ध्यन्ति। तथाह्येकोनषष्ट्यधिकेन शतेनोत्तरभाद्रपदान्तानि शुद्ध्यन्ति। ततस्त्रिंशन्मुहूर्त्तैः ३० रेवती, त्रिंशता ३० अश्विनी, पञ्चदशभिर्भरणी त्रिंशता कृत्तिका, पञ्चचत्वारिंशता ४५ रोहिणिकेति, तथा त्रिषु नवनवत्यधिकेषु शतेषु पुनर्वस्वन्तानि शुद्ध्यन्ति। तत्र त्रिभिः शतैर्नवोत्तरै रोहिणिकान्तानि शुद्ध्यन्ति, ततस्त्रिंशता ३० मुहूर्त्तैर्मृगशिरः, पञ्चदशभिरार्द्रा, पञ्चचत्वारिंशता ४५ पुनर्वसू इति। तथा पञ्चशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि उत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि। किमुक्तं भवति—पञ्चभिः शतैरेकोनपञ्चाशदधिकैरुत्तरफाल्गुन्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्ध्यन्ति। तथाहि-त्रिभिः शतैर्नवनवत्यधिकैः पुनर्वस्वन्तानि शुद्ध्यन्ति। ततस्त्रिंशता ३० मुहूर्त्तैः पुष्यः, पञ्चदशभिरश्लेषा त्रिंशता ३० मघा, त्रिंशता ३० पूर्वफाल्गुनी, पञ्चचत्वारिंशता उत्तरफाल्गुनीति, तथा-षट्शतानि एकोनसप्ततानि-एकोनसप्तत्यधिकानि विशाखानां-विशाखान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि, तथाहि-उत्तरफाल्गुन्यन्तानां पञ्चशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि शोध्यानि। ततस्त्रिंशन्मुहूर्त्ता ३० हस्तस्य, त्रिंशत् ३० चित्रायाः, पञ्चदश १५ स्वातेः, पञ्चचत्वारिंशद्विशाखाया, इति। तथा मूले-मूलनक्षत्रे शोध्यानि सप्तशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि (७४४) तत्र षट् शतानि एकोनसप्तत्यधिकानि (७६९) विशाखान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि, ततः त्रिंशन्मुहूर्त्ता अनुराधायाः, पञ्चदश ज्येष्ठायाः, त्रिंशत् मूलस्येति, तथा अष्टौ शतानि समाहृतानि अष्टशतमेकोनविंशत्यधिकम्। किमुक्तं भवति-अष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि उत्तराषाढानाम्-उत्तराषाढान्तानां नक्षत्राणां शोधनकम्। तथाहि-मूलान्तानां नक्षत्राणां शोध्यानि सप्तशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि (७४४) ततः त्रिंशन्मुहूर्त्ता ३० पूर्वाषाढानक्षत्रस्य पञ्चचत्वारिंशदुत्तराषाढानामिति। तथा यथासंभवं सर्वेषामपि चामीषां शोधनकानामुपरि अभिजितः संबन्धिनः चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः शोध्याः एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्काः षट्षष्टिश्चूर्णिका भागाः ॥ २४४ ॥ २४५ ॥ २४६ ॥

एयाइँ सोहइत्ता, जं सेसं तं हवेज्ज नक्खत्तं ।
चंदेण समाउत्तं, आउट्टीए उ बोधव्वं ॥ २४७ ॥

'एयाइं' इत्यादि. एतानि-अनन्तरोदितानि शोधनकानि यथासंभवं शोधयित्वा यत् शेषमुद्धरति तत्र यथायोगमपान्तरालवर्तिषु नक्षत्रेषु शोधितेषु यन्नक्षत्रं न शुद्ध्यति तन्नक्षत्रं चन्द्रेण समायुक्तं विवक्षितायामावृत्तौ वेदितव्यम्। तत्र प्रथमायामावृत्तौ प्रथमतः प्रवर्त्तमानायां केन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्र इति यदि जिज्ञासा तत्प्रथमावृत्तिस्थाने एकको १ ध्रियते स रूपोनः क्रियत इति न किमपि पश्चात् रूपमवतिष्ठते। ततः पाश्चात्ययुगभाविनीनामावृत्तीनां मध्ये या दशमी आवृत्तिस्तत्संख्या दशक १० रूपा ध्रियते तया प्राचीनः सम-

स्तोऽपि ध्रुवराशिः पञ्चशतानि त्रिसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट् सप्तषष्टिभागाः (५७३) (३६।६२ ६।६७) इत्येव प्रमाणो गुण्यते । तत्र मुहूर्त्तराशौ दशभिर्गुणिते जातानि सप्तपञ्चाशत् शतानि त्रिंशदधिकानि (५७३०) येऽपि च षट्त्रिंशद्-द्वाषष्टिभागास्तेऽपि दशभिर्गुणिते जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि (३६०) तेषां द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धा पञ्च ५ मुहूर्त्तास्ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातः पूर्वराशि-सप्तपञ्चाशच्छतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि (५७३५) शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागाः पञ्चाशत् (५०) येऽपि च षट् चूर्णिकाभागास्तेऽपि दशभि १०र्गुणिता जाता षष्टि ६०, तत एतस्मात् शोधनकानि शोध्यन्ते । तत्रोत्तराषाढान्तानां नक्षत्राणां शोधनकमष्टौ शतान्येकोनविंशत्यधिकानि (८१६) एतानि किल यथोदितराशेः सप्तकृत्वः शुद्धिमाप्नुवन्तीति सप्तभिर्गुण्यन्ते जातानि सप्तपञ्चाशच्छतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि (५७३३) तानि पञ्चाशच्छतेभ्यः पञ्चत्रिंशदधिकेभ्यः पात्यन्ते स्थितौ पश्चात् द्वौ २ मुहूर्त्तौ द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्येते जातं चतुर्विंशत्यधिकं शतं (१२४) द्वाषष्टिभागानाम् ततः प्राक्तने पञ्चाशल्लक्षण द्वाषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यते जातं चतुःसप्तत्यधिकं शतम् (१७४) द्वाषष्टिभागानां, तथापि ये अभिजितः सवन्धिनश्चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागा शोध्यास्ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमष्टषष्ट्यधिकं शतम् (१६८) तत् चतुःसप्तत्यधिकात् शतात् शोध्यते स्थिताः शेषाः षट् द्वाषष्टिभागाः । ते च चूर्णिकाभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते गुणयित्वा च ये प्राक्तना षष्टि सप्तषष्टिभागाः ते तत्र प्रक्षिप्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि (४६२) ततो ये अभिजितः सवन्धिनः षट् षष्टिश्चूर्णिकाभागा शोध्या ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्वाषष्ट्यधिकानि (४६२) तान्यनन्तरोदितराशेः शोध्यन्ते, स्थितं पश्चात् शून्यम्०। तत आगत-साकल्येनोत्तराषाढानक्षत्रं चन्द्रेण भुक्ते सति तदनन्तरस्याभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये युगे प्रथमा आवृत्तिः प्रवर्त्तते । ज्यो० १२ पाहु० । चन्द्र० १२ पाहु० । सू० प्र० ।

अथ श्रावणमासभाविनीनामावृत्तीनां चन्द्रनक्षत्रस्य संग्रहणीं गाथामाह—

पढमा होइ अभिइणा, संठाणाहि य तहा विसाहाहिं ।
रेवतीए उ चउत्थी, पुव्वहि फग्गुणीहि तहा ॥ २३५ ॥

श्रावणमासभाविनीनामनन्तरोदितस्वरूपाणां पञ्चानामावृत्तीनां मध्ये प्रथमा आवृत्तिरभिजिता नक्षत्रेण युता भवति, द्वितीया ' सठाणाहिं ' ति-मृगसिरसा, तृतीया विशाखाभिः, चतुर्थी रेवत्या, पञ्चमी पूर्वफाल्गुनीभिः । ज्यो० १२ पाहु० ।

सम्प्रति वार्षिकीणामेवाऽऽवृत्तीनां नक्षत्रयोगं प्रश्नरीत्या प्रतिपादयति—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं वासिकिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति?, ता अभिइणा, अभिजिस्स पढमसमएणं, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता पूसेणं, पुस्सस्स एगूणवीसं मुहुत्ता तेतालीसं च वावट्ठिभागा मुहुत्तस्स वावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता तेतालीसं चुण्णिया भागा सेसा, (सूत्र ७६+)

'ता एएसि णमि' त्यादि, एतेषाम्-अनन्तरोदितानां पञ्चानां चन्द्रादीनां संवत्सराणां, मध्ये प्रथमां वार्षिकीं-वर्षाकालसवन्धिनीं, श्रावणमासभाविनीमित्यर्थः । आवृत्तिं चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति ?-केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् प्रवर्त्तयति ?, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह-' ता अभिजिणा ' इत्यादि, अभिजिता नक्षत्रेण युनक्ति, एतदेव विशेषत आचष्टे-अभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये युनक्ति, तदेव चन्द्रनक्षत्रमवबुध्य, सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नमाह-' तं समयं च णमि ' त्यादि, तस्मिंश्च समये णमिति वाक्यालङ्कारे, सूर्यः केन नक्षत्रेण युनक्ति-केन नक्षत्रेण सह सूर्यो योगमुपागतः सन् तां प्रथमामावृत्तिं-प्रवर्त्तयतीति ? । भगवानाह-' ता पूसेणमि ' त्यादि, ता इति पूर्ववत्, पुष्येण युक्तस्तां प्रथमामावृत्तिं युनक्ति, एतदेव सविशेषमाचष्टेदानीं पुष्यस्य एकोनविंशति १६ मुहूर्त्तास्त्रिचत्वारिंशत् ४३ च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्वा तस्य सत्कास्त्रयस्त्रिंशत्३३ चूर्णिकाभागाः शेषाः । कथमेतदवसीयत इति चेत्, उच्यते-त्रैराशिकवलात्, तथाहि-यदि दशभिरयनैः पञ्च सूर्यकृतान्नक्षत्रपर्यायान् लभामहे तत एकेनायनेन किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-१०।५।१। अत्रान्त्येन राशिना एकक १ लक्षणेन मध्यमस्य राशेः पञ्चक ५ रूपस्य गुणने जाताः पञ्चैव ५, तेषां दशभि १० र्भागो ह्रियते लब्धमर्धं पर्यायस्य तत्र नक्षत्रपर्यायः सप्तषष्टिभागरूपोऽष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि (१८३०) तथाहि-षट् नक्षत्राणि शतभिषक्प्रभृतीनि अर्द्धक्षेत्राणि ततस्तेषां प्रत्येकं सार्द्धत्रयस्त्रिंशत् सप्तषष्टिभागास्ते सार्द्धास्त्रयस्त्रिंशत् षड्भिर्गुण्यन्ते जाते द्वे शते एकोत्तरे (२०१) षट् नक्षत्राण्युत्तरभाद्रपदादीनि द्व्यर्द्धक्षेत्राणि, ततस्तेषां प्रत्येकमेकं शतं सप्तषष्टिभागानामेकस्य च सप्तषष्टिभागस्यार्द्धम् एतत् षड्भिर्गुण्यते जातानि षट्शतानि त्र्युत्तराणि-(६०३)शेषाणि पञ्चदश १५ नक्षत्राणि समक्षेत्राणि तेषां प्रत्येकं सप्तषष्टिभागा ततः सप्तषष्टिः पञ्चदशभिर्गुण्यते जातं पञ्चोत्तरं सहस्रम् (१००५) एकविंशतिश्चाभिजितः सप्तषष्टिभागाः सर्वसख्यया सप्तषष्टिभागानामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि (१८३०) एष परिपूर्णः सप्तषष्टिभागात्मको नक्षत्रपर्याय एतस्यार्द्धे नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (६१५) तेभ्य एकविंशतिरभिजितः संवन्धिनी शुद्धा, शेषाणि तिष्ठन्त्यष्टौ शतानि चतुर्नवत्यधिकानि (८६४) तेषां सप्तषष्ट्या६७भागो ह्रियते लब्धास्त्रयोदश (१३) शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशति २३, त्रयोदशभिश्च पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, ये च शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशति २३ भागाः ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता ३० गुण्यन्ते, जातानि षट् शतानि नवत्यधिकानि(६६०)तेषां सप्तषष्ट्या६७भागो ह्रियते लब्धा दश(१०)मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति विंशतिः २०, सा २० द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या ६२ गुण्यते जातानि द्वादशशतानि चत्वारिंशदधिकानि (१२४०) तेषां सप्तषष्ट्या६७भागो ह्रियते,लब्धा अष्टादश द्वाषष्टिभागाः

शेषास्तिष्ठन्ति चतुस्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागास्तत आगत पुष्यस्य दशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टादशसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत्सु सप्तषष्टिभागेषु गतेषु एकोनविंशतौ च मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमा १ श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः प्रवर्त्तते इति।

अथ श्रावणमासभाविद्वितीयाऽऽवृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं वासिकिं आउट्टिं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोगं जोएति। पुच्छा, ता संठाणाहिं संठाणाणं सो चेव अभिलावो-एक्कारस मुहुत्ते ऊतालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेपण्णं चेव चुण्णिता भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति पुच्छा, ता पूसेणं, पूसस्स णं तं चेव जं पढमाए, (सूत्र-७६×)

'ता एएसि णमि' त्यादि, ता इति पूर्ववत्, एषाम्-अनन्तरोदितानां चन्द्रादीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये द्वितीयां वार्षिकीं श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति-केन नक्षत्रेण युक्तः सन् चन्द्रो द्वितीयामावृत्तिं प्रारम्भयति?, एवं प्रश्ने कृते सति भगवानाह-'ता संठाणाहिं' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, संस्थानाभि-संस्थानाशब्देन मृगशिरोनक्षत्रमभिधीयते । तथा प्रवचने प्रसिद्धे, ततो मृगशिरोनक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रमा द्वितीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति तदानीं च मृगशिरोनक्षत्रस्य एकादश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागा शेषाः। तथा हि-इह या द्वितीया श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः सा प्राक्प्रदर्शितक्रमापेक्षया तृतीया ततस्तत्स्थाने त्रिको ध्रियते स रूपोनः क्रियते इति जातो द्विक २, तेनऽप्राक्तनो ध्रुवराशि पञ्च शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम् एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सप्तषष्टि ५७३।३६/६२।६६/६७ भागाः इत्येवप्रमाणो गुण्यते जातानि एकादश शतानि षट्चत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तानां [११४६] द्वासप्तति ७२ एकस्य मुहूर्त्तस्य सत्का द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागा १२/६७ तत एतेभ्यो मुहूर्त्तानामष्टभिः शतैरेकोनविंशत्यधिकैरेकस्य मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेकः परिपूर्णो नक्षत्रपर्यायः शुद्धः।-स्थितानि पश्चात् मुहूर्त्तानां त्रीणि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा, एकस्य द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागा ३२७।४७/६२।१३/६७। तत एतेभ्यस्त्रिभिर्मुहूर्त्तशतैर्नवोत्तरैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागै ६२ एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागै ६७ अभिजिदादीनि रोहिणिकापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि,तेषु चैव नवोत्तरेषु "रोहिणिया इत्यादि प्रागुक्तवचनात्, ततः स्थिताः पश्चाद्-अष्टादश मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाविंशतिद्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दश सप्तषष्टिभागा १८।२२/६२।१४/६७ एतावता च मृगशिरो न शुद्ध्यति, तत आगतं मृगशिरोनक्षत्रमेकादशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति। संप्रति सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं चाह-'तं समयं च णमि' त्यादि, तस्मिंश्च समये सूर्यः केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतस्तां द्वितीयां वार्षिकीमावृत्तिं युनक्ति ? भगवानाह-'ता पूसेणमि'त्यादि, ता इति पूर्ववत्, पुष्येण युक्तः "त चेव" इति-वचनसामर्थ्यादिदं द्रष्टव्यम्-"पुस्सस्स एगुणवीसं मुहुत्ता तेयालीसं च बावट्ठीभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा" इति इह सूर्यस्य दशभिरयनैः पञ्च सूर्यनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते द्वाभ्यामयनाभ्यामेकः, तत्रोत्तरायणं कुर्वन् सर्वदैवाभिजिता नक्षत्रेण सह योगमुपागच्छति, दक्षिणायनं कुर्वन् पुष्येण,तस्य च पुष्यस्य एकोनविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु, तथा चोक्तम्। (चं० प्र० १२ पाहु०)-

अब्भिंतराहि निंतो, आइच्चो पुस्सजोगमुवगयस्स ।
सव्वा आउट्टीओ, करेइ सो सावणे मासे ॥ २४८ ॥

श्रावणे मासे सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् निष्क्रामन् सूर्यः सर्वा अप्यावृत्तीः करोति पुष्येण सह योगमुपागम्य, नान्यथा, तत्रापि पुष्यस्य त्रयोविंशतिं सप्त षष्टिभागान् भुक्त्वा, (ज्यो०) ते किल—"जं रिक्खं जावइयं, वच्चइ चंदेण भागसत्तट्ठी। तं पण भागे राइं-दियस्स सूरेण तावइए" ॥ १ ॥ इति वचनप्रामाण्यात् सूर्यमधिकृत्य रात्रिंदिवस्य पञ्च ५ भागा द्रष्टव्या, ततस्त्रयोविंशतेः २३ पञ्चभि ५ र्भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारो दिवसास्त्रयश्च पञ्च भागा रात्रिंदिवस्य, तत्रैकैकस्मिन् पञ्चभागे षट्मुहूर्त्ता लभ्यन्ते, अहोरात्रो हि त्रिंशन्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततस्तस्य पञ्चमो भागः षण्मुहूर्त्तप्रमाणो भवतीति,त्रिभिश्च पञ्चभागैरष्टादश १८ मुहूर्त्ताः, त्रयाणां षण्णामष्टादशप्रमाणत्वात् तत आगतं चतुर्षु दिवसेषु अष्टादशमुहूर्त्तेषु पुष्यनक्षत्रस्य भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरात् मण्डलाद्बहिः सूर्यो निष्क्रामति। ज्यो० १२पाहु० ।

तदेवाह—

अठारस य मुहुत्ते, चत्तारि य केवले अहोरत्ते ।
पुस्ससस्स विसयमइगतो,बहिया अभिनिक्खमइ सूरो ।२५०।

अष्टादश१८ मुहूर्त्तान् चतुरश्च४ केवलान् परिपूर्णान् अहोरात्रान् पुष्यनक्षत्रस्य विषयमतिगत —प्राप्तः सन् 'बहिया अभिनिक्खमइ' सूर्यः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति। ज्यो० १२ पाहु० ।

सम्प्रति श्रावणमासभाविततीयावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं वासिकिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति?, ता विसाहाहिं विसाहाणं तेणं चेव अभिलावेणं तेरस १३ मुहुत्ता चउप्पण्णं च

बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता । चत्तालीसं ४४ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ? ता पूसेणं, पूसस्स णं तं चेव,

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह-'ता विसाहाहिं' इत्यादि 'ता' इति पूर्ववत्, विशाखाभिः-विशाखानक्षत्रेण युक्तः सन् चन्द्रमास्तृतीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च तृतीयाऽऽवृत्तिप्रवर्त्तनसमये विशाखानां-विशाखानक्षत्रस्य त्रयोदश १३ मुहूर्त्ता एकस्य १ च मुहूर्त्तस्य चतुःपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काश्चत्वारिंशच्चूर्णिकाभागा शेषाः, तथा हि-तृतीया श्रावणमासभाविन्यावृत्तिः पूर्वप्रदर्शितक्रमापेक्षया पञ्चमी ५, ततस्तस्थाने पञ्चको ५ ध्रियते स रूपोनः कार्यः इति जातश्चतुष्कः ४ तेन ४ प्राक्तनो ध्रुवराशि-५७३।१६।१६ गुण्यते जातानि द्वाविंशतिः शतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानां चतुश्चत्वारिंशं शतं मुहूर्त्तगतानां द्वाषष्टिभागानामेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्विंशतिः सप्तषष्टिभागा -२२९२।१४४।६४। तत एतस्मात् षोडशभिर्मुहूर्त्तशतैरष्टात्रिंशदधिकैरष्टाचत्वारिंशता च द्वाषष्टिभागैर्मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागगतानां च सप्तषष्टिभागानां द्वात्रिंशेन शतेन द्वौ परिपूर्णौ नक्षत्रपर्यायौ शुद्धौ, स्थितानि पश्चात् षट् शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुर्नवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः -६५४।९४।२६। तत एतस्य पञ्चभिः शतैरेकोनपञ्चाशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि । स्थितम् पश्चात् पञ्चोत्तरं मुहूर्त्तशतं मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामेकोनसप्ततिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः, तत्र द्वाषष्ट्या द्वाषष्टिभागैरेको १ मुहूर्त्तो लब्धः, स्थिताः पश्चात् सप्त द्वाषष्टिभागाः, लब्धश्च मुहूर्त्तो मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते, जातं षडुत्तरं मुहूर्त्तशतं १०६ ।७। २७ ततः पञ्चसप्तत्या मुहूर्त्तैर्हस्तादीनि स्वातिपर्यन्तानि त्रीणि नक्षत्राणि शुद्धानि स्थिताः शेषा एकत्रिंशन्मुहूर्त्ताः ३१, आगतं विशाखानक्षत्रस्य त्रयोदशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुःपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चन्द्रस्तृतीयां श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति ।

सम्प्रति सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं चाह-'तं समयं च णमि' त्यादि सुगमम् । चं० प्र० १२ पाहु० ।

सम्प्रति श्रावणमासभावि (ज्यो०) चतुर्थावृत्तिविषय प्रश्नसूत्रमाह—

ता एएसिणं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थि ४ वासिक्किं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ता, रेवतीहिं रेवतीणं पणवीसं मुहुत्ता बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता बत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?, ता पूसेणं पूसस्स णं तं चेव । (सूत्र-७६ +) ॥

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह-'ता रेवईहिं' इत्यादि, रेवत्या युक्तश्चन्द्रः चतुर्थीं श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्तयति, तदानीं च रेवतीनक्षत्रस्य पञ्चविंशतिर्मुहूर्त्ता द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षड्विंशतिश्चूर्णिकाभागा शेषाः, तथाहि-प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया श्रावणमासभाविनी चतुर्थ्यावृत्तिः, सप्तमी तत सप्तको ७ ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जातः षट्कः ६, तेन ६ प्राक्तनो ध्रुवराशिः ५७३ । ३६ । ६ । गुण्यते, जातानि चतुस्त्रिंशच्छतानि अष्टात्रिंशदधिकानि (३४३८) मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्वे शते षोडशोत्तरे (२१६) एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंश (३६) त्सप्तषष्टिभागाः ततः एतस्मात् द्वात्रिंशता शतैः षट्सप्तत्यधिकैर्मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षण्णवत्या द्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वाभ्यां शताभ्यां चतुःषष्टिसहिताभ्यां चत्वारो नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितं पश्चादेकं द्वाषष्ट्यधिकं मुहूर्त्तशतं मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षोडशोत्तरं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः (१६२) (११६) ४० । तत्र एकोनषष्ट्यधिकेन मुहूर्त्तशतेन एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैः १५९ । २४ । ६६ । अभिजिदादीन्युत्तरभद्रपदापर्यन्तानि नक्षत्राणि भूयः शुद्धानि स्थिताः पश्चात् त्रयो मुहूर्त्ता मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामेकनवतिरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः द्वाषष्ट्या च द्वाषष्टिभागैरेको मुहूर्त्तो लब्धः, स मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते, जाताश्चत्वारो ४ मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः (एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः) ४ । २९ । ४१ । तत आगतं-रेवतीनक्षत्रे पञ्चविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वात्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षड्विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चतुर्थी श्रावणभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, 'तं समयं च णमि' त्यादि, सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च प्राग्वद्भावनीयम् ।

साम्प्रतं पञ्चमं श्रावणमासभाविपञ्चमावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पंचमीं वासिक्किं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएत्ति ?, ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं पुव्वाणं फग्गुणीणं बारस १२ मुहुत्ता सत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता तेरस १३ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता पूसेणं पूसस्स णं तं चेव । (सूत्र-७६+) ॥

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं भगवानाह-'ता पुव्वाहिं फग्गुणीहिं' इत्यादि, 'ता' इति पूर्ववत् पूर्वाभ्यां फाल्गुनीभ्यां युक्तश्चन्द्रः पञ्चमीं ५ श्रावणमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति तदानीं च तस्य पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वादश १२ मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् ४७ द्वाषष्टिभागा -

६२ एकं च द्वाषष्टि ६२ भाग सप्तषष्टिधा ६७ छित्त्वा तस्य सत्कास्त्रयोदश १३ चूर्णिकाभागा शेषाः । तथा हि-पञ्चमी श्रावणमासभाविन्यावृत्ति प्राक्प्रदर्शितक्रमापेक्षया नवमी ६ ततः तत्स्थाने नवकः ६ ध्रियते । स रूपोनः कार्य इति, जाता अष्टौ ८, तैः प्रागुक्तो ध्रुवराशि ५७३ । ६२/६२ ६७/६७ गुणयते जातानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि चतुरशीत्यधिकानि मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टि ६२ भागानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः ४५८४।२८८।४८। तत एतेभ्यश्चत्वारिंशता मुहूर्त्तशतैः पञ्चनवत्यधिकैर्मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां त्रिंशत्यधिकेन शतेन एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कानां सप्तषष्टिभागानां त्रिंशदधिकैस्त्रिभिः शतैः पञ्च ५ नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां चत्वारि शतानि एकोननवत्यधिकानि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां शतं त्रिषष्ट्यधिकम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः—४८६ । १६३ । ५३ । तत एतेभ्यो भूयः त्रिभिः शतैर्नवत्याधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि पुनर्वसुपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि स्थिताः पश्चान्मुहूर्त्तानां नवति मुहूर्त्तगतानां द्वाषष्टिभागानामष्टात्रिंशदधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः ६०।१३८।५४। तत्र चतुर्विंशत्यधिकेन द्वाषष्टिभागशतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ पश्चात् स्थिता द्वाषष्टिभागाश्चतुर्दश, लब्धौ च मुहूर्त्तौ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते जाता मुहूर्त्तानां द्विनवतिः-६२।१४।५४। तत्र पञ्चसप्तत्या ७५ मुहूर्त्तैः पुष्यादीनि मघापर्यन्तानि त्रीणि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्त्ताः—१७।१४।५४। न चैतावता पूर्वफाल्गुनी शुध्यति तत आगतं पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य द्वादशसु १२ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टि ६२ भागस्य त्रयोदशसु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु पञ्चमी ५ श्रावणमासभाविनी आवृत्तिः प्रवर्त्तते । सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च प्राग्वद्भावनीयम् । चन्द्र० १२ पाहु० । सू० प्र० । ज्यो० ।

तदेवं चन्द्रनक्षत्रयोगविषये, सूर्यनक्षत्रयोगविषये च पञ्चापि वार्षिकीरावृत्तीः प्रतिपाद्य, संप्रति हैमन्तीः प्रतिपिपादयिषु (चं० प्र० १२ पाहु०) आदौ चन्द्रनक्षत्रविषयकसंग्रहणीगाथामाह—

हत्थेण होइ पढमा, सयभिसयाहि य ततो य पुस्सेणं ।
मूलेण कत्तियाहि य, आउट्टीओ य हेमंत ॥ २३८ ॥

हेमन्ते-माघमासे प्रथमा १ आवृत्तिर्भवति हस्तेन-हस्तनक्षत्रेण युता, द्वितीया २ शतभिषजा, तृतीया ३ पुष्येण, चतुर्थी ४ मूलेन, पञ्चमी ५ कृत्तिकाभिः । ज्यो० १२ पाहु० ।

प्रथमावृत्तिः—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता हत्थेणं, हत्थस्स णं पंच मुहुत्ता पण्णासं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता सट्ठि चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ॥ १ ॥

'ता एएसि ण' मित्यादि, ता इति पूर्ववत्, एतेषाम्-अनन्तरोदितानां चन्द्रादीनां पञ्चानां संवत्सराणां मध्ये प्रथमां हैमन्तीमावृत्तिं चन्द्रः केन नक्षत्रेण युनक्ति ?, केन नक्षत्रेण सह योगमुपागतः सन् प्रवर्त्तयतीति भावः, भगवानाह— 'ता हत्थेण' इत्यादि, ता इति पूर्ववत्, हस्तेन—हस्तनक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रः प्रवर्त्तयति, तदानीं च हस्तनक्षत्रस्य पञ्च ५ मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षष्टिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-हैमन्ती प्रथमा आवृत्तिः प्रागुक्तक्रमापेक्षया द्वितीया ततस्तत्स्थाने द्विको ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जात एकक १ नेन १ प्रागुक्तो ध्रुवराशिः-५७३। ६२/६२ । ६७/६७ । गुणयते, 'एकेन च गुणितं तदेव भवती' ति जातस्तावानेव ध्रुवराशिः, तत एतस्मात् पञ्चभिः शतैरेकोनपञ्चाशदधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि स्थिताः पश्चाच्चतुर्विंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकादश द्वाषष्टिभागा एकस्य च ६२ भागस्य सप्त सप्तषष्टिभागाः २४ । ११ । ७ । तत आगतं हस्तनक्षत्रस्य पञ्चसु मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमा हैमन्तीमावृत्तिं चन्द्रः प्रवर्त्तयतीति । सूर्यनक्षत्रविषयं प्रश्नसूत्रमाह—'तं समयं च ण' मित्यादि, तस्मिंश्च समये सूर्यः केन नक्षत्रेण युक्तः प्रथमां हैमन्तीमावृत्तिं युनक्ति—प्रवर्त्तयति ?, भगवानाह—'ता उत्तराहिं' इत्यादि, उत्तराभ्यामाषाढाभ्यां तदानीं चोत्तराषाढायाश्चरमसमयः, समकालमुत्तराषाढानक्षत्रमुपभुज्याभिजिन्नक्षत्रस्य प्रथमसमये प्रथमां हैमन्तीमावृत्तिं सूर्यः प्रवर्त्तयतीति भावः, तथाहि—यदि दशभिरयनैः पञ्च सूर्यकृतान्नक्षत्रपर्यायान् लभामहे तत एकेनायनेन किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-१० । ५ । १ । अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यमस्य पञ्च ५ करूपस्य राशेर्गुणनं जाता पञ्चैव तेषां दशभिर्भागे हृते लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य, अर्द्धे च पर्यायस्य सप्तषष्टिभागरूपं नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि ६१५, तत्र ये विंशतिः, सप्त०६७ भागाः पाश्चात्ये अयने पुष्यस्य गताः शेषाश्चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः स्थिताः ते साम्प्रतमितो राशेः शोध्यन्ते स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतान्येकसप्तत्यधिकानि ८७१, तेषां सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धास्त्रयोदश पश्चान्न किमपि तिष्ठति, त्रयोदशभिश्चाश्लेषादीन्युत्तराषाढापर्यन्तानि शुद्धानि, तत आगतम्-अभिजितः प्रथमसमये माघमासभाविनी १ आवृत्तिः प्रवर्त्तते, एवं सर्वा अपि माघमासभाविन्य आवृत्तयः सूर्यनक्षत्रयोगमधिकृत्य वेदितव्या, उक्तं च—"बाहिरओ पविसंतो आइच्चो अभिइजोगमुवयम्मि । सव्वा आउट्टीओ करेइ सो माघमासंमि ॥ १ ॥"

द्वितीयहेमन्ताऽऽवृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं हेमंतिं आउट्टिं

चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता सतभिसयाहिं, सतभिसयाणं दुन्नि मुहुत्ता अट्ठावीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता छत्तालीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए २॥

'ता एएसि णं' मित्यादि सुगमं भगवानाह 'ता सतभिसयाहिं' इत्यादि. ता इति पूर्ववत्, शतभिषजा युक्तश्चन्द्रो द्वितीयां हैमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च शतभिषजो नक्षत्रस्य द्वौ मुहूर्त्तावेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशतिर्द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काः षट्चत्वारिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया द्वितीया माघमासभाविन्यावृत्तिश्चतुर्थी ततस्तस्याः स्थाने चतुष्कोऽध्रियते स एकरूपोनः कार्य इति जातस्त्रिकः ३ तेन ३ गुणितो ध्रुवराशिः ५७३।३६।६। गुण्यते जातानि सप्तदश शतान्येकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामष्टोत्तरं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टादश सप्तषष्टिभागा १७१९। १०८। १८। तत एतेभ्यः षोडशभिः शतैरष्टाविंशत्यधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाचत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरेकद्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वात्रिंशदधिकेन शतेन द्वौ नक्षत्रपर्यायौ शुद्धौ, स्थिताः पश्चादेकाशीतिर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टपञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतिः सप्तषष्टिभागा. ८१। ५८। २०। ततो भूयो नवभिर्मुहूर्त्तैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिन्नक्षत्रं शुद्धं, स्थिताः पश्चाद् द्वासप्ततिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रयस्त्रिंशत् द्वाषष्टिभागा एकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः ७२। ३३। २१। ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैः श्रवणः शुद्धस्त्रिंशता धनिष्ठा पश्चादवतिष्ठन्ते द्वादश १२ मुहूर्त्ताः, शतभिषक्नक्षत्रं चार्द्धक्षेत्रं, तत आगतं शतभिषजो नक्षत्रस्य द्वयोर्मुहूर्त्तयोरेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु द्वितीया २ हैमन्ती आवृत्तिः प्रवर्त्तते। सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमं, प्रागेव भावितत्वात्।

अधुना तृतीयमाघमासभाव्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

तेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता पूसेणं, पूसस्स एकूणवीसं मुहुत्ता तेतालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता तेत्तीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ३॥

'ता एएसि णं' मित्यादि, सुगमं, भगवानाह-'ता पूसेणं' मित्यादि, ता इति प्राग्वत् पुष्येण युक्तश्चन्द्रस्तृतीयां माघमासभाविनीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च पुष्यस्य एकोनविंशतिर्मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्काखयस्त्रिंशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया तृतीया माघमासभाविन्यावृत्तिः षष्ठी ततस्तस्याः स्थाने षट्को ध्रियते स रूपोनः कार्य इति जातः पञ्चकस्तेन स गुणितो ध्रुवराशिः ५७३। ३६। ६। गुण्यते जातान्यष्टाविंशतिः शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामशीत्यधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः २८६५। १८०। ३०। तत एतेभ्यः सप्तपञ्चाशदधिकैः चतुर्विंशतिशतैर्मुहूर्त्तानामेकमुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्विसप्तत्या एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कानां सप्तषष्टिभागानामष्टानवत्यधिकेन शतेन २४५७। ७२। १९८। त्रयो नक्षत्रपर्यायाः शुद्धाः, स्थितानि पश्चात् चत्वारि मुहूर्त्तशतान्यष्टोत्तराणि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां पञ्चोत्तरं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः ४०८। १०५। ३४। तत एतेभ्यस्त्रिभिः शतैर्नवनवत्यधिकैर्मुहूर्त्तानामेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि पुनर्वसुपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चान्नव ९ मुहूर्त्ता मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानामशीतिः एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः द्वाषष्ट्या च द्वाषष्टिभागैरेको मुहूर्त्तो लब्धः स मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यते जाता दश मुहूर्त्ताः शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागा अष्टादश-१०। १८। ३४। तत आगतं—पुष्यस्य एकोनविंशतौ मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य त्रिचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीया माघमासभाविन्यावृत्तिः प्रवर्त्तते। सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमम्।

चतुर्थमाघमासभाव्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चउत्थिं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता मूलेणं, मूलस्स छ मुहुत्ता अट्ठावन्नं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिधा छेत्ता वीसं चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति ?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं, उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ४॥

'ता एएसि णं' मित्यादि सुगमं भगवानाह 'ता मूलेणं' मित्यादि, ता इति प्राग्वत्, मूलेन युक्तश्चन्द्रः चतुर्थी४ हैमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च मूलस्य-मूलनक्षत्रस्य षट् मुहूर्त्ता एकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टापञ्चाशत् द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का विंशतिश्चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-चतुर्थी माघमासभाविन्यावृत्तिः पूर्वप्रदर्शितक्रमापेक्षया अष्टमी तस्याः स्थाने अष्टकोऽध्रियते स एकरूपोनः कार्य इति जातः सप्तकः ७ तेन ७ स गुणितो ध्रुवराशिः ५७३। ३६। ६। गुण्यते जातान्येकादशोत्तराणि चत्वारिंशन्मुहूर्त्तशतानि मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्वे शते द्विपञ्चाशदधिके एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः -४०११। २५२। ४२। तत एतेभ्यः षट्सप्तत्यधिकैर्द्वात्रिंशच्छतैर्मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां षण्ण-

वत्या द्वाषष्टिभागसत्कानां च सप्तषष्टिभागानां द्वाभ्यां शताभ्यामष्टषष्ट्यधिकाभ्यां चत्वारो ४ नक्षत्रपर्याया शुद्धा, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां सप्तशतानि पञ्चत्रिंशदधिकानि मुहूर्त्तानां, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां द्विपञ्चाशदधिक शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः-७३५। १५२। ४६। तत एतेभ्यो भूयः षड्भिः शतैः मुहूर्त्तानामेकोनसप्तत्यधिकैरेकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि विशाखापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् षट्षष्टिर्मुहूर्त्ता मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां सप्तविंशत्यधिकं शतम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः, चतुर्विंशत्यधिकेन च द्वाषष्टिभागशतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ, तौ २ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्येते जाताः अष्टषष्टिर्मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति द्वाषष्टिभागास्त्रयः ६८। ३। ४७। ततः पञ्चचत्वारिंशता मुहूर्त्तैरनुराधाज्येष्ठे शुद्धे, शेषाः स्थितास्त्रयोविंशतिर्मुहूर्त्ताः २३। ३। ४७। तत आगतं मूलस्य षट्सु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्याष्टापञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु चतुर्थी ४ माघमासभाविन्यावृत्तिः प्रवर्त्तते। सूर्यनक्षत्रयोगविषयं प्रश्नसूत्रं निर्वचनसूत्रं च सुगमम्।

इह तावद् माघमासभाविपञ्चम्यावृत्तिविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पंचमं हेमंतिं आउट्टिं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति?, ता कत्तियाहिं कत्तियाणं अट्ठारस मुहुत्ता, छत्तीसं च बावट्ठिभागा, मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छ चुण्णिया भागा सेसा, तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोगं जोएति?, ता उत्तराहिं आसाढाहिं उत्तराणं आसाढाणं चरिमसमए ५ ॥ (सूत्र-७७+)

'ता एएसि णमि' त्यादि, सुगमं, भगवानाह-'ता कत्तियाहिं' इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत्, कृत्तिकाभिर्युक्तश्चन्द्रः पञ्चमीं५ हैमन्तीमावृत्तिं प्रवर्त्तयति, तदानीं च कृत्तिकानक्षत्रस्याष्टादश १८ मुहूर्त्ता एकस्य १ च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशद्द्वाषष्टिभागा एकं च द्वाषष्टिभागं सप्तषष्टिधा छित्त्वा तस्य सत्का षट् ६ चूर्णिकाभागाः शेषाः, तथाहि-पञ्चमी ५ माघमासभाविन्यावृत्तिः—प्रागुपदर्शितक्रमापेक्षया-दशमी १०, ततस्तस्याः स्थाने दशको १० ध्रियते, स रूपोनः कार्य इति जातो नवकः ९, तेन ९ प्राक्तनो ध्रुवराशिः -५७३। ३६। ६। गुण्यते जातान्येकपञ्चाशच्छतानि सप्तपञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानां; मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुःपञ्चाशत् सप्तषष्टिभागाः-५१५७। ३२४। ५४। तत एतेभ्यः एकोनपञ्चाशच्छतैर्मुहूर्त्तैः चतुर्दशाधिकैः मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुश्चत्वारिंशदधिकेन शतेन द्वाषष्टिभागगतानां च सप्तषष्टिभागानां त्रिभिः शतैः पञ्चसप्तत्यधिकैः षट्६ नक्षत्रपर्याया शुद्धा, स्थिते पश्चान्मुहूर्त्तानां द्वे शते त्रिचत्वारिंशदधिके मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां चतुःसप्तत्यधिकं शतमेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टिः सप्तषष्टिभागाः-२४३।१७४।६०। तत एकोनषष्ट्यधिकेन मुहूर्त्तशतेन एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीन्युत्तरभद्रपदापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चान्मुहूर्त्तानां चतुरशीतिः, मुहूर्त्तगतानां च द्वाषष्टिभागानां शतमेकोनपञ्चाशदधिकम् एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकषष्टिः सप्तषष्टिभागाः-८४। १४९। ६१। ततो द्वाषष्टिभागानां चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन द्वौ मुहूर्त्तौ लब्धौ पश्चात् स्थिताः पञ्चविंशतिः २५ द्वाषष्टिभागाः, लब्धौ च मुहूर्त्तौ मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्येते जाता षडशीतिर्मुहूर्त्तानां ततः पञ्चसप्तत्या मुहूर्त्तानां रेवत्यश्विनीभरण्यः शुद्धाः, स्थिता पश्चादेकादश मुहूर्त्ताः, शेषं तथैव ११। २५। ६१। तत आगतम्-कृत्तिकानक्षत्रस्याष्टादशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु पञ्चमी ५ हैमन्ती आवृत्तिः प्रवर्त्तते, सूर्यनक्षत्रयोगविषये च प्रश्ननिर्वचनसूत्रे सुगमे, तदेवमुक्ताः १०दशापि नक्षत्रयोगमधिकृत्य सूर्यस्याऽऽवृत्तयः॥ सम्प्रति चन्द्रस्य वक्तव्याः। तत्र यस्मिन्नेव नक्षत्रे प्रवर्त्तमानः सूर्यो दक्षिणा, उत्तरा वा आवृत्तीः करोति तस्मिन्नेव नक्षत्रे प्रवर्त्तमानश्चन्द्रोऽपि दक्षिणाः उत्तरा वा आवृत्तीः कुरुते, ततो या उत्तराभिमुखा आवृत्तयो युगे चन्द्रस्य दृष्टास्ताः सर्वा अपि नियतमभिजिना नक्षत्रेण सह योगे द्रष्टव्या, यास्तु दक्षिणाभिमुखाः ताः पुष्येण चन्द्रयोगे, उक्तं च (ज्योतिष्करण्डके द्वादशे १२ प्राभृते)-"चंदस्स वि नायव्वा, आउट्टीओ जुगम्मि जा दिट्ठा। अभिईए पुस्सेण य, नियय नक्खत्तसेसेण"॥२५२॥ अत्र-"नक्खत्तसेसेण' नि-नक्षत्रार्द्धमासेन शेषं सुगमम्। तत्राभिजिन्युत्तराभिमुखा आवृत्तयो भाव्यन्ते, यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन चन्द्रस्य सप्तषष्टिनक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ततः प्रथमे अयने किं लभ्यते?, राशित्रयस्थापना-। १३४। ६७। १। अत्रान्त्येन राशिना—एककलक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि६७रूपस्य गुणने जाता सप्तषष्टिरेव ६७, "एकेन गुणितं तदेव भवती" ति वचनात्, तस्याश्च सप्तषष्टे ६७ चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन १३४ भागे हृते लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य; तस्मिंश्चार्द्धे नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि सप्तषष्टिभागानां भवन्ति, तत्र त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु पुष्यनक्षत्रस्य भुक्तेषु क्षिप्ताऽऽयनं चन्द्रः कृतवान्, ततः शेषाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा अनन्तरोदितराशेः शोध्यन्ते, स्थितानि शेषाणि अष्टौ शतान्येकसप्तत्यधिकानि-(८७१) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते इह कानिचित् नक्षत्राण्यर्द्धक्षेत्राणि तानि च सार्द्धत्रयस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागप्रमाणानि,कानिचित् समक्षेत्राणि तानि परिपूर्णसप्तषष्टिभागप्रमाणानि कानिचिच्च द्व्यर्द्धक्षेत्राणि तान्यर्द्धभागाऽधिकशतसप्तसप्तषष्टिभागप्रमाणानि गाणि त्वधिकृत्य सप्तषष्ट्या शुद्धयन्ति इति तत्र सप्तषष्ट्या भागहरणं लब्धास्त्रयोदश १३ राशिश्चापरितनो निर्लेपनः शुद्धस्तैश्च त्रयादशभिः १३ अश्लेषादीनि उत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि ततः आगतमभिजितो नक्षत्रस्य प्रथमसमये चन्द्रः उत्तरायणं करोति, एवं सर्वाण्यपि चन्द्रस्योत्तरायणानि वेदितव्यानि, उक्तं च-" प

चरमे उ मुहुत्ते, जोइत्ता उत्तराअसाढा उ । एकं च अहोरत्तं, पविसइ अब्भिंतरे चंदो ॥ १ ॥" अधुना पुष्ये दक्षिणा आवृत्तयो भाव्यन्ते-यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन सप्तषष्टिश्चन्द्रस्य पर्याया लभ्यन्ते तत एकेनायनेन किं लभामहे ?, राशित्रयस्थापना-१३४।६७।१। अत्रान्त्येन राशिना एकक १लक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि ६७ रूपस्य गुणने जाताः सप्तषष्टिरेव ६७, तस्याः ६७ चतुस्त्रिंशदधिकशतेन १३४भागहरणे लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य तच्च सप्तषष्टिभागरूपाणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि-९१५, तत एकविंशति २१ अभिजित्सत्कास्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागा शोध्यन्ते स्थितानि पश्चादष्टौ शतानि चतुर्नवत्यधिकानि—८९४ तेषां सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धास्त्रयोदश १३ तैश्च त्रयोदशभि १३ पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि,शेषा तिष्ठति त्रयोविंशति-२३, एते च किल सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य ततो मुहूर्त्तभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि षट् शतानि नवत्यधिकानि-६९० । तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धा दश १० मुहूर्त्ता , शेषास्तिष्ठन्ति विंशति सप्तषष्टिभागास्ततइदमागत पुनर्वसुनक्षत्रं सर्वात्मना भुक्ते पुष्यस्य च दशसु मुहूर्त्तेष्वेकस्य च मुहूर्त्तस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति चन्द्र एव सर्वाण्यपि दक्षिणायनानि भावनीयानि , उक्तं च (" ज्योतिष्करण्डके द्वादशे १२ प्राभृते)-"दस १० य मुहुत्ते सगले, मुहुत्तभागे य वीसई चेव । पुस्सविसयमइगओ, बहिया अभिनिक्खमइ चंदो" ॥ २५३ ॥ चं० प्र० १२ पाहु० ।

साम्प्रतं येन नक्षत्रेण युक्तश्चन्द्रमा अभ्यन्तरं प्रविशन् बहिर्वा निष्क्रामन् आवृत्तीः करोति तत्प्रतिपादनार्थमाह—

चंदस्स वि नायव्वा, आउट्टीओ जुगम्मि जा दिट्ठा ।
अभिईए पुस्सेण य, निययं नक्खत्तसेसेणं ॥ २५२ ॥

यस्मिन्नेव नक्षत्रे वर्त्तमानस्य चन्द्रमसोऽपि नक्षत्रशेषेण-नक्षत्रार्द्धमासेन या उत्तराभिमुखा आवृत्तयो युगे दृष्टास्ता नियतमभिजिता नक्षत्रेण युगे द्रष्टव्याः, याश्च युगे दृष्टा दक्षिणाभिमुखा आवृत्तयस्ताः पुष्येण योगे, तत्राभिजित्युत्तराभिमुखा आवृत्तयो भाव्यन्ते-यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन चन्द्रस्य सप्तषष्टिर्नक्षत्रपर्याया लभ्यन्ते ? ततः प्रथमे अयने किं लभ्यते?, राशित्रयस्थापना-१३४ । ६७।१। अत्रान्त्येन राशिना एकक१लक्षणेन मध्यमस्य राशेः सप्तषष्टि६७लक्षणस्य गुणनम् , जाता सप्तषष्टिरेव ६७, तस्याः ६७ चतुस्त्रिंशदधिकशतेन भागहरणे लब्धमेकमर्द्धं पर्यायस्य, तच्च सप्तषष्टिभागरूपाणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि-(९१५) तत एकविंशतिः २१ अभिजित्संबन्धिनः सप्तषष्टिभागा ६७ शोध्यन्ते स्थितानि पश्चादष्टौ शतानि चतुर्नवत्यधिकानि-(८९४) तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागो ह्रियते लब्धाः त्रयोदश १३, तैश्च त्रयोदशभिः १३ पुनर्वस्वन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयोविंशतिः २३, एते च किल सप्तषष्टिभागा अहोरात्रस्य, ततो मुहूर्त्तभागकरणार्थं ते त्रिंशता ३० गुण्यन्ते जातानि षट्शतानि नवत्यधिकानि—६९० तेषां सप्तषष्ट्या ६७ भागे हृते लब्धा दश १० मुहूर्त्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति विंशतिः २०, आगतं पुनर्वसु नक्षत्रे सर्वात्मना भुक्ते पुष्यस्य दशसु १० मुहूर्त्तेषु एकस्य च मुहूर्त्तस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु भुक्तेषु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति चन्द्र । तथा चाह (चं० प्र० १२ पाहु०।)-

दस १० य मुहुत्ते सगले,मुहुत्तभागे य वीसई २०चेव।
पुस्सस्स विसयमभिगओ , वहिया अभिनिक्खमइ चंदो
॥ २५३ ॥

दश १० च सकलान्-परिपूर्णान् मुहूर्त्तान्-मुहूर्त्तभागान् सप्तषष्टि ६७ रूपान् विंशतिं २० पुष्यविषयमभिगतः सन् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामति चन्द्रः । ज्यो० १२ पाहु० । सू० प्र० ।

आउट्टि(न्)-आकुट्टिन्-त्रि० । यो हि जानन्-अवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति स आकुट्टी । 'कुट्ट' छेदने । आकुट्टनमाकुट्टः स विद्यते यस्येति । छेदनभेदनादिव्यापारवति, सूत्र० । " जाणं कायेणऽणाउट्टी " (२५ × गाथा) । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ज्ञानपूर्वकव्यापारवति, । अनापद्यप्यकार्यकारके च । " आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले ॥ १२ ॥ " 'आउट्टीति '-यो जानन् करोत्यापद्रहितो वा करोति । दशा० २ अ० । सूत्र० ।

आवर्तिन्-त्रि० । आ०+वृत्-णिनि । पुनः पुनर्वर्त्तनशीले, वाच० ।

आउट्टिऊण आवर्त्य-अव्य० । आवर्ज्येत्यर्थे , व्य० १० उ० ।

आउट्टिज्जमाण-आकोट्यमान-त्रि० । संकोच्यमाने , सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आउट्टित्तए-आउट्टितुम्-अव्य०। कारयितुमित्यर्थे, 'आउट्टि' एतादृश एवाय धातुस्सैद्धान्तिकः करणार्थः । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आउट्टिम-आकोट्टिम-न० । उत्कीर्णे, " आउट्टिमं उक्किन्न " (१६७×) आकोट्टिम जधा रूवओ हेट्ठा वि उवरिं वि मुहं काऊण आउट्टिज्जति । दश० २ अ० ।

आउट्टिय-आउट्टित-त्रि० । कृते , कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

आकुट्टित-त्रि० । छिन्ने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ज्ञानपूर्वककृते , दशा० २ अ० ।

आउट्टिया-आउट्टिका-स्त्री० । करणे, कल्प० १ अधि०६ क्षण।

आकुट्टिका-स्त्री० । छेदनभेदनादिव्यापारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ज्ञानपूर्वकव्यापारे , दशा० २ अ० । जीत० । स० । प्रव० । आभोगे , नि० चू० १२ उ० ।

आवृत्तिका-स्त्री० । समन्तात्प्रवर्त्तने, अभिलाषायां च । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ० । आराधनायाम् , व्य० २ उ० । नि० चू० । आवर्जने , व्य० १० उ० । अभिमुखीभूय वर्तने, नं० ३२ सूत्र । निवर्तने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

आउट्टीकम्म-आकुट्टीकर्मन्-न० । आकुट्या कृतं कर्म आगमोक्तकारणमन्तरेणापेत्य प्राण्युपमर्द्देनेन विहिते कर्मणि, आचा० ।

नाम अनुभावनाम यत् यस्मिन् भवे तीव्रविपाकं नामकर्मा-नुभूयते यथा नारकायुषि अशुभवर्णगन्धरसस्पर्शोपघाताऽ-नादेयदुःस्वराऽयशोकीर्त्यादिनामानि तदनुभावनाम । प्रज्ञा० ६ पद । अथवा-गत्यादीनां नामकर्मणामनुभागबन्धरूपो भेदोऽनुभागनाम । स० १५४ सम० । तेन सह निधत्तं यदा-युस्तदनुभागनामनिधत्तायुरिति । अथ किमर्थं जात्यादि-नामकर्मभिरायुर्विशिष्यते ?, उच्यते-आयुष्कस्य प्राधा-न्योपदर्शनार्थं यस्मान्नारकाद्यायुरुदये सति जात्यादिनाम-कर्मणामुदयो भवति । भ० ६ श० ८ उ० । नान्यथेति भव-स्यायुषः प्रधानता । प्रज्ञा० ६ पद ।

नारकादिभवोपग्राहकं चायुरेव, यस्मादुक्तमिहैव—

" नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ, अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ?, गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ, नो अनेर-इए नेरइएसु उववज्जइ " त्ति । एतदुक्तं भवति—नारकायुः-प्रथमसमयसंवेदन एव नारका उच्यन्ते तत्सहचारिणाञ्च पञ्चेन्द्रियजात्यादिनामकर्मणामप्युदय इति । इह चायुर्ब-न्धस्य षड्विधत्वे उपक्षिप्ते यदायुषः षड्विधत्वमुक्तं तदा-युषो बन्धाव्यतिरेकाद्बन्धस्यैव चायुर्व्यपदेशविषयत्वादिति । ' दंडओ ' त्ति-नेरइयाणं भंते ! कइविहे आउयबंधे पन्नत्ते' इत्यादिः वैमानिकान्तश्चतुर्विंशतिदण्डको वाच्योऽत ए-वाह—' जाव वेमाणियाणं ' ति । भ० ६ श० ८ उ० २५० सूत्रटी० । प्रज्ञा० । स० । स्था० ।

अथ कर्मविशेषाधिकारात्तद्विशेषितानां जीवादिपदानां द्वादशदण्डकानाह—

जीवा णं भंते ! किं जाइनामनिहत्ता, ०जाव अणुभाग-नामनिहत्ता ?, गोयमा ! जाइनामनिहत्ता वि ०जाव अणु-भागनामनिहत्ता वि, दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । जीवाणं भंते ! किं जाइनामनिहत्ताउया ०जाव अणुभागनाम-निहत्ताउया ?, गोयमा ! जाइनामनिहत्ताउया वि ०जाव अणुभागनामनिहत्ताउयावि, दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । एवं एए दुवालस १२ दंडगा भाणियव्वा । जीवा णं भंते ! किं जाइनामनिहत्ता १, जाइनामनिहत्ताउया २, जाइनाम-निउत्ता ३, जाइनामनिउत्ताउया ४, जाइगोयनिहत्ता ५, जाइगोयनिहत्ताउया ६, जाइगोयनिउत्ता ७, जाइगोयनि-उत्ताउया ८, जाइनामगोयनिहत्ता ९, जाइनामगोयनि-हत्ताउया १०, जाइनामगोयनिउत्ता ११, जाइनामगोय-निउत्ताउया १२, ०जाव अणुभागनामगोयनिउत्ताउया ?। गोयमा ! जाइनामगोयनिउत्ताउयावि ०जाव अणुभाग-नामगोयनिउत्ताउयावि दंडओ ०जाव वेमाणियाणं । (सूत्र-२५० +)

'जाइनामनिहत्त'त्ति-जातिनाम निधत्तं-निषिक्तं विशिष्टबन्धं वा कृतं यैस्ते जातिनामनिधत्ताः । एवं गतिनामनिधत्ता । यावत्करणात्—" ठिइनामनिहत्ता, ओगाहणानाम निहत्ता, पएसनामनिहत्ता, अनुभागनामनिहत्ता " इति दृश्यम् । व्या-ख्या तथैव नवरं जात्यादिनाम्ना या स्थितिर्ये च प्रदेशा य-श्चानुभागस्तन्स्थित्यादिनाम अवगाहनानाम शरीरनामेति । अयमेको दण्डको वैमानिकान्तः, तथा-'जाइनामनिहत्ताउय' त्ति- । जातिनाम्ना सह निधत्तमायुर्यैस्ते जातिनामनिधत्ता-युषः, एवमन्यान्यपि पदानि अयमन्यो दण्डकः २, एवमेते 'दुवालस दंडग' त्ति-अमुना प्रकारेण द्वादश दण्डका भवन्ति, तत्र द्वावाद्यौ दर्शितावपि संख्यापूरणार्थं पुनर्दर्शयति-जाति-नामनिधत्ता इत्यादिरेकः, 'जाइनामनिहत्ताउया' इत्यादिर्द्वि-तीयः, जीवा णं भंते ! किं जाइनामनिउत्ता इत्यादिस्तृतीयः, तत्र जातिनामनियुक्तं नितरां युक्तं सम्बद्धं निकाचितं वेदने वा नियुक्तं यैस्ते जातिनामनियुक्ताः, एवमन्यान्यपि ५, 'जाइ-नामनिउत्ताउया' इत्यादिश्चतुर्थः । तत्र जातिनाम्ना सह नियु-क्तं निकाचितं वेदयितुमारब्धं वाऽऽयुर्यैस्ते । तथा एवमन्या-न्यपि ५ 'जाइगोयनिहत्ता' इत्यादिः पञ्चमः । तत्र जातेरेके-न्द्रियादिकाया यदुचितं गोत्रं नीचैर्गोत्रादि तज्जातिगोत्रं त-न्निधत्तं यैस्ते जातिगोत्रनिधत्तायुषः एवमन्यान्यपि ५ ' जा-इगोयनिउत्ताउया' इत्यादिरष्टमः, तत्र जातिनामगोत्रं च नि-धत्तं यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, ' जाइगोयनिहत्ताउया ' इत्यादि , दशमः । तत्र जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्त-मायुर्यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, 'जाइनामगोयनिउत्ता' इ-त्यादिरेकादशः । तत्र जातिनामगोत्रञ्च नियुक्तं यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, 'जीवा णं भंते ! किं जाइनामगोयनिउत्ताउ-या' इत्यादिर्द्वादशः । तत्र जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियु-क्तमायुर्यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि ५, इह च जात्यादिनामगो-त्रयोरायुषश्च भवोपग्रहे प्राधान्यख्यापनार्थं यथायोगं जीवा विशेषिता वाचनान्तरे चाद्या एवाष्टौ दण्डका दृश्यन्त इति । भ० ६ श० ८ उ० ।

अथ जात्यादिनामविशिष्टमायुः कियद्भिराकर्षैर्बध्नातीति जिज्ञासुर्जीवादिदण्डकक्रमेण पृच्छति अल्पबहुत्वं च—

जीवा णं भंते ! जातिनामनिहत्ताउयं कतिहिं आगरिसे-हिं पकरंति ?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्केण दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं, नेरइया णं भंते ! जातिनामनिहत्ताउयं कतिहिं आगरिसेहिं पकरंति ? गोयमा ! । (सूत्र-१४५+) प्रज्ञा० ६ पद । सिय १ एक्केणं सिय २।३।४।५।६ ७ सिय ८ अट्ठहिं, नो चेवं णं नवहिं । (सूत्र१५४×)स०१५४ सम०। जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं । (सूत्र-१४५×) प्रज्ञा० ६ पद । स० । एवं ०जाव वेमा-णिया । एवं गतिनामनिहत्ताउए वि । ठितिनामनिहत्ता-उए वि । ओगाहणानामनिहत्ताउएवि । पदेसनामनिहत्त-उए वि । अणुभावनामनिहत्ताउए वि । एतेसि णं भंते ! जीवाणं जातिनामनिहत्ताउयं जहन्नेणं एक्को वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं अट्ठहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा णं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा जातिनामनिहत्ताउयं अट्ठहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा, सत्तहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा संखेज्जगुणा एएहिं आगरिसेहिं पकरेमाणा संखेज्जगुणा, एवं

पचहिं संखेज्जगुणा, तिहिं संखेज्जगुणा, चउहिं संखेज्जगुणा, दोहिं संखेज्जगुणा, एगेणं आगारिसेणं पकरेमा ा संखेज्जगुणा। एवं एतेणं अभिलावेणं ०जाव अणुभावनिहत्ताउयं। एव एते छप्पि अप्पा-बहुदण्डगा जीवादिया भाणियव्वा। (सूत्र-१४५+)

'आगरिसेहिं पगरंती' त्यादि, आकर्षो नाम तथाविधेन प्रयत्नेन कर्मपुद्गलोपादानं यथा गौः पानीयं पिबन्ती भयेन पुनः पुनराघोटयति एवं जीवोऽपि यदा तीव्रेणायुर्बन्धाध्यवसायेन जातिनामनिधत्तायुरन्यद्वा बध्नाति तदा एकेन। प्रज्ञा० ६ पद । मन्देन द्वाभ्यामाकर्षाभ्यां मन्दतरेण त्रिभिर्मन्दतमेन चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिः सप्तभिरष्टाभिर्वा न पुनर्नवभिरेव शेषाण्यपि 'आउगाणि' त्ति—गतिनामनिधत्तायुरादीनि वाच्यानि यावद्वैमानिका इति अयञ्चैकाद्याकर्षनियमो जात्यादीनां कर्मणामायुर्बन्धकाल एव । स० १५४ सम०। आयुषा सह बध्यमानानामवसातव्ये न शेषकालं कासांचित्प्रकृतीनां ध्रुवबन्धिनीत्वादपरासां परावर्त्तमानत्वात्। प्रभूतकालमपि बन्धसम्भवेनाकर्षानियमात् । प्रज्ञा० ६ पद । आयुर्बन्धपरिसमाप्तेरुत्तरकालमपि बन्धोऽस्त्येवैषां ध्रुवबन्धिनीनाञ्च ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां प्रतिसमयमेव बन्धनिवृत्तिर्भवत्येतास्तु परावृत्यावध्यन्ते । स० १५४ सम० । (नारक-तिर्यग्-मनुष्य-देवायुर्बन्धकारणानि बहुप्रकारेण 'बन्धहेउ' शब्दे पञ्चमभागे विस्तरतः प्रतिपादयिष्यन्ते) तथा देवनैरयिकैरपि यदि षण्मासे शेषे आयुर्न बद्धं तत आत्मीयस्यायुषः षण्मासशेषं तावत्संक्षिपन्ति यावत्सर्वजघन्य आयुर्बन्ध उत्तरकालश्चावशेषोऽवतिष्ठते। इह परभवायुर्देवनैरयिका बध्नन्तीत्ययमन्तरकाल इति श्रीस्थानांगषष्ठाध्ययनवृत्त्युपान्ते प्रोक्तमस्तीति "पर बंधंति देवनारयअसंखतिरिनरछम्मासमेसाउ" इत्यादिवचसा कथं संवाद इति प्रश्ने, अत्रोत्तरम्-'बधंति देवनारय' त्यादिवचनं प्रायिकं तेन केषाञ्चिद्देवनारकाणां शेषेऽन्तर्मुहूर्तेऽप्यायुर्बन्धो भवतीति मतान्तरमवसीयते इति न कोऽपि विसंवाद इति। ॥ ३६ ॥ सेन०। (आयुषो बन्धकान् 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) (आयुर्बन्धकानां कर्मप्रकृतिबन्ध 'कम्मपयडि' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) (आयुर्बन्धस्थित्यायुर्बन्धकानां कर्मवेदना आयुर्वेदकानां कर्मप्रकृतिबन्धश्च 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते)

आउयसंवट्टय-आयुष्कर्मसंवर्त्तक-पुं० । संवर्त्तनम्-अपवर्त्तनं संवर्त्तः स एव संवर्त्तकः, उपक्रम इत्यर्थः, आयुषः संवर्त्तकः आयुःसंवर्त्तकः । आयुष उपक्रमः, स्था० ।

(आयुःसंवर्तकमाह)—

दोएहं आउयसंवट्टए पण्णत्ते, तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव २४ । (सूत्र-८५)

स्था० २ ठा० ३ उ० ।

आउयसंवेदन-आयुःसंवेदन-न० । आयुःकर्मोदयविपाकाऽनुभवने, भ० ३५ श० ।

आउयसदव्वया-आयुस्सद्रव्यता-स्त्री० । आयुः-प्रदेशकर्म तस्य द्रव्यैस्सह मानता-आयुस्सद्रव्यता । जीवस्यायुष्कर्मद्रव्यसहचारितायाम् , " आउयसदव्वयभवे ओघो" । आयुस्सद्रव्यता-ओघजीवितं सामान्यजीवितमिदं च सकलसंसारिणामविशेषेण सर्वदाभावीति । आ० म० १ अ० ।

आउयाय-अप्काय-पुं० । एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । भ० । (एतस्य वक्तव्यता 'आउक्काय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आउर-आतुर-त्रि० । ईषदर्थे, आ-अत्-उरच् । वाच० । ग्लाने, (रोगिणि) स्था० १० ठा० ३ उ० । वृ० । विविधदुःखोपद्रुते, (रोगादिपीडिते) सू० १ उ० २ प्रक० । उत्त० । बुभुक्षादिभिः पीडिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अस्वस्थमनसि, " तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति " 'तत्थतत्थे' त्यादि-तत्र तत्र तेषु तेषु कारणेषूत्पन्नेषु वक्ष्यमाणेषु शरीरत्वर्मशोणितादिषु च पृथग्विभिन्नेषु प्रयोजनेषु पश्येति शिष्यचोदना किं तत्पश्येति दर्शयति-मांसभक्षणादिगृद्धाः आतुरा -अस्वस्थमनसः परि-समन्तात्तापयन्ति-पीडयन्ति । आचा० । किंकर्त्तव्यतामूढे, " पासिय आतुरए पाणे अप्पमत्तो परिव्वए" (सूत्र १०६ +) । 'पासिय' इत्यादि, स हि भावजागरस्तैर्भावः ज्ञागरस्वापजनितैः शारीरमानसैर्दुःखैरातुरान्-किंकर्त्तव्यतामूढान् दुःखसागरावगाढान् प्राणान्-भेदापचारात् प्राणिनो दृष्ट्वा ज्ञात्वा अप्रमत्तः परिव्रजेत्-उद्युक्तः सन् संयमानुष्ठानं विदध्यात् । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आकुलतनौ, उत्त० २ अ० । क्वचिदपि स्वास्थ्यमलभमाने सत्याकुले, जी० ३ प्रति० १ अधि० । उत्सुके, सू० १ उ० ३ प्रक० । व्याकुले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । ' आउर लोयमायाए " (सूत्र-१८१ +) । 'आउर' इत्यादि, लोकं मातापितृपुत्रकलत्रादिकं तमातुरं स्नेहानुषक्तया नियोगात्कार्यावसादेन वा । यदि वा-जन्तुलोकं कामरोगातुरमादाय ज्ञानेन परिगृह्य परिच्छिद्य । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । क्लिष्टे, " केषाञ्चिद्विषयज्वराकुलमहो" केषाञ्चिज्जीवानां चित्तं-मनः विषया-इन्द्रियाभिलाषा एव ज्वरस्तेन आतुर-क्लिष्टं मनो यस्य । अष्ट०३२ अष्ट० । दुःस्थे, भ० १६ श० ४ उ० । प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां जिते, (क्षुत्पिपासापीडिते) चिकित्साक्रियाव्यपेते, मरणचिह्नान्युपलभ्याकुले च । न० । व्य० । पा० । " आउराण य अप्पगहयाण मच्छुमसाइ उवदिसइ " (सूत्र-२८×) 'आउराण' ति-चिकित्सायामविषयभूतानाम् । विपा० १ श्रु० ७ अ० । (एतस्य बहुवक्तव्यता 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते) आतुरत्वे च । (क्षुत्पिपासाव्याधिभिरभिभूतत्वे) " सक्किए सहसागारे, उभयाउरे आवतीसु य " (१०० ×) भावप्रधानश्चायं निर्देशस्ततोऽयमर्थः । व्य०१ उ० । 'सभमभयाउरावइ' 'आउर' त्ति—भावप्रधानत्वान्निर्देशस्यातुरपीडितत्त्वं क्षुत्पिपासाद्यैः । जीत० । लुप्तभावप्रत्ययत्वाद्वा । स्था० ६ ठा० ३ उ० । कार्याक्षमे, वाच० । अशक्नुवति, व्य० ४ उ० ।

आउरचिन्न-आतुरचीर्ण-त्रि० । आतुरः-चिकित्साया अविषयभूतो रोगी तस्य मर्तुकामस्य पथ्यापथ्याविवेकेन दीय-

माने मनोज्ञाहारे, उत्त० ८ अ०। ('उरब्भ' शब्दे भावयिष्यते)

आउरपच्चक्खाण-आतुरप्रत्याख्यान-न०। आतुर -क्रियातीतो ग्लानस्तस्य प्रत्याख्यानमातुरप्रत्याख्यानम्। चिकित्सकक्रियाव्यपेतस्य ग्लानस्य प्रत्याख्याने,नं०। आतुर.-चिकित्स्यक्रियाव्यपेतस्तस्य प्रत्याख्यानं यत्राध्ययने विधिपूर्वकमुपवर्ण्यते तदातुरप्रत्याख्यानम्। उत्कालिकश्रुतविशेषे च। विधिश्चातुरप्रत्याख्यानदानविषये चूर्णिकृतैवमुपदर्शितः-" गिलाणं किरियातीयं नाउ गोयत्था पच्चक्खावेंति दिणे दिणे दव्वहासं करेत्ता अंते य सव्वदव्वदायणाए भत्तवरग्गं जाणि (णे) त्ता भत्ते वि (नि) त्तिएहस्स भवचरिमपच्चक्खाणं कारवेंति " नं० ४३ सूत्र। पा०।

आउरपडिसेवणा-आतुरप्रतिसेवना-स्त्री०। प्रतिसेवनाविशेषे, " दप्प-पमायऽणाभोगे, आउरे आवईसु य"। आतुरे-ग्लाने सति तत्प्रतिजागरणार्थमिति भावः, । अथवा-आत्मन एवातुरत्वे सति लुप्तभावप्रत्ययत्वादयमर्थः-क्षुत्पिपासाव्याधिभिरभिभूत. सन् यां करोति। उक्तं च-" पढमबीयद्दुवाहिओ व जं सेव आउराए साइत्ति "। स्था० १० ठा० ३ उ०। (विशेषत. व्याख्या 'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे द्रष्टव्या)

आउरभेसज्जीय-आतुरभैषज्यीय-न०। अवितर्कितसम्भवितुल्य याहच्छिकन्याये, आचा०(यथा-आतुरभवनम्भैषज्योपकारश्चाबुद्धिपूर्विकैव, नाऽऽतुरस्य बुद्धिरस्ति मह्यम्भैषज्यमुपकरिष्यति नापि भैषज्यस्यैतादृशी बुद्धिरस्ति आतुरायोपकरिष्यामीति, अथ तत्तथैव भवत्येव सर्वे जातिजरामरणादिकं लोके याहच्छिकमिति यदृच्छावादिन)। आचा०१ श्रु० १ अ० १ उ०।

आउरसरण-आतुरशरण-न०। दोषातुरस्याश्रयदाने, दश० ३ अ०।

आतुरस्मरण-न०। क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणे, दश० " आउरस्सरणाणि य " ॥ ६॥ तथाऽऽतुरस्मरणानि च क्षुधाद्यातुराणा पूर्वोपभुक्तस्मरणानि च अनाचरितानि। आतुरशरणानि वा दाषातुराश्रयदानानि। दश०३ अ०। रोगादिपीडितस्य हा तात! हा मात! इत्यादिरूपे स्मरणे च। "आउरे सरणं तिंगिच्छियं च तं परिणाय परिव्वए स भिक्खु" 'आउरे सरणं' ति-सुब्व्यत्ययादातुरस्य रोगादिपीडितस्य शरणं-स्मरण हा तात! हा मात.! इत्यादिरूपम्। उत्त० १५ अ०।

आउल-आकुल-त्रि०। व्याप्ते, औ०। ज्ञा०। "कलुसाऽऽउलं चित्त " कलुपयन्ति आत्मानमिति कलुषाः-कषायास्तैराकुलं-व्याप्तं यत्तथोच्यते। आव० ४ अ०। जनाऽऽकीर्णे, बृ० १ उ०। प्रचुरे, भ० १ श० ६ उ०। क्षुब्धे, " जत्थऽत्थमिए अणाउले (१४×) " भिक्षुर्यत्रैवास्तमुपैति सविता; तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति। यत्रास्तमितस्तथाऽनाकुल -स मुद्रचमत्कादिभि परीपहोपसर्गैरक्षुभ्यन्। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। अभिभूते, " तह निव्वकोहलोहाउलस्स " तीव्रावुत्कटौ च तौ क्रोधलोभौ च ताभ्यामाकुलोऽभिभूतस्तस्य। आव० ४ अ०। व्याकुले, (विह्वले) आ० म० १ अ०। व्यग्रे, आव० ४ अ०। व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। संकीर्णे च। " किमिजालाउलसंसत्ते " (सूत्र-६७+) क्रमिजालैराकुले.-व्याकुलैराकुल वा संकीर्णं यथा भवतीत्येव ससक्त यत्तथा । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। " अट्टारसवज्जणाउलं " (सूत्र-१०६×) च० प्र० २० पाहु०। राजगृहाङ्गणजनाकुलवदाकुल'। भावस्कन्धविशेषे च । अनु०।

आउलतर-आकुलतर-त्रि०। अतिशयेनाकुले, तथा च षष्ठपृथिवीनरकापेक्षया सप्तमपृथिवीनारकाणां वर्णनमुपक्रम्योक्तम्-" णो आउलतरा चेव " (सूत्र-४७५ ×) 'आउलतरा चेव ' त्ति-अतिकर्त्तव्यतया ये आकुला-नारकलोकास्तेषामतिशयेन योगादाकुलतराः। भ० १३ श० ४ उ०।

आउलमण-आकुलमनस्-त्रि०। आकुलं व्यग्रं मनः-अन्तःकरणं यस्य स तथा। व्यग्रान्त.करणे, "तप्पडियाराउलमणस्स" तत्प्रतीकारे-वेदनाप्रतीकारे चिकित्सायामाकुल-व्यग्रं मनो यस्य स तथा। आव० ४ अ०।

आउलमाउला-आकुलाऽऽकुला-स्त्री०। निद्राप्रमादाभिभूतस्य मूलगुणानामुत्तरगुणानां वा या नानाविधोपरोधक्रिया तदात्मिकायाम्, अथवा-आकुल-नानाविधरूपं विवाहसंगमादिषु दृष्टमाचरितं वा पुनरपि आकुलास्तादृशा बहवो दृष्टा व्यापारास्तदात्मिकायां स्वप्नान्तिकक्रियायाम्, आव०।

सुप्तस्य दैवसिकमतिचारमधिकृत्योक्तम्-

आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए इत्थीविप्परियासिए दिट्ठिविप्परियासियाए मणविप्परियासियाए पाणभोयणविप्परियासियाए जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥ (सूत्र)

'आउलमाउलाए' त्ति-आकुलाकुलया-स्त्र्यादिपरिभोगविवाहयुद्धादिसंस्पर्शननानाप्रकारया स्वप्नप्रत्ययया स्वप्ननिमित्तया विराधनया योऽतिचार। आव० ४ अ०। " आउलमाउलताए सोवणंतियाए निद्दप्पमायाभिभूतस्स मूलगुणाणं उत्तरगुणाणं वा उवरोधकिरिया जा णाणाविधा सोवणंतिया सा आउलमाउला॥ अहवा-आउलं-णाणाविह रूवं विवाहसंगमादिसु दिट्ठं आयरितं वा पुणो वि आउला तारिसा बहवो वारा दिट्ठा एसा आउलमाउला॥ केई-पुण-आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए एतं आलावग एत्थ जातो सेसाओ आउलमाउलाओ ॥ सोमणंतियाओ इत्थी दिट्ठाओ निद्दापमादाभिभूतेण तस्स मिच्छा मि दुक्कडंति पुव्वभणितं ॥ आ० चू०४ अ०।

आउलवाय-आकुलवाद-पुं०। परस्परसंकीर्णवादे, आकुलवादं इति। सदसत्त्वयो. परस्परसंकीर्णवादे, अने० १ अधि०।

आउलि-आतुलि-स्त्री०। पीतपुष्पके, (तडउडा) नामके वनस्पतिजातिविशेषे, "तडउडाकुसुमेइ वा"तडउडा-आउली। आ० म०१ अ०। आउलिविशेष इत्यर्थ । स्था० ४ ठा०१ उ०। एतत्काष्ठनिष्पादिते दन्ते दोषा भवन्ति। आउलिसत्कदन्तकाष्ठे केचिद्बहु दोषं वदन्ति तत्सत्यमसत्यं वा तथा बहरीबब्बूलदन्तकाष्ठभ्य आउलिदन्तकाष्ठे जीवा किमल्पा बहवस्तुल्या वेति प्रज्ञापनाया प्रथमपदे गुच्छाधिकारे आउलिसत्कमूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालेपु प्रत्येकमसङ्ख्येयजीवा-

त्मकता प्रोक्ताऽस्ति तदनुसारेण बदरीयन्त्रूलयोरपि पदस्थपि स्थानत्रसख्याता जीवा. सभाव्यन्ते; नतु न्यूनाधिकजीवा ॥ ४१ ॥ सेन०।

आकुलि-पुं०। आ कुल इन्। व्याकुलत्वे, वाच०।

आउलीकरण-आकुलीकरण-न०। प्रचुरीकरणे, भ०।

जीवानां संसाराकुलीकरणकारणम् लघुत्वकारणप्रतिपादोक्तम्—

कह णं भंते ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ?, गोयमा! पाणाइवायवेरमणेणं० जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति एवं संसारं आउलीकरेंति। (सूत्र-७२×)

'एवं आउली करेंति ' त्ति-इहैवंशब्द पूर्वोक्ताभिलापससूचनार्थः, स चैवम्-"कह णं भंते ! जीवा संसार आउलीकरेंति ?, गोयमा ! पाणाइवाएणमि " त्यादि,। एव उत्तरत्रापि, तत्र ' आउलीकरेंति ' त्ति-प्रचुरीकुर्वन्ति; कर्मभिरित्यर्थः। भ० १ श० ६ उ०।

आउलीभूय-आकुलीभूत-त्रि०। आ-कुल-च्वि। भूते क्त। स्वयं तथाभूते, वाच०। आ० म० १ अ०।

आउवज्जिय-आयुर्वर्जित-त्रि०। आयुष्कर्मविरहिते,। पञ्चा० १६ विव०।

आउविज्जा-आयुर्विद्या-स्त्री०। वैद्यके पापश्रुतविशेषे, आव० ४ अ०।

आउविवागदसा-आयुर्विपाकदशा-स्त्री०। प्रतिसमयभोगत्वेनायातीत्यायुः विपचन विपाक ; आयुषोऽपरिहारिरित्यर्थः। अनुभागेन युक्तो विभागो दशा इत्युच्यते आयुर्विपाकस्य दशा आयुर्विपाकदशा। आयुर्विपाकविभागे," ज जम्मि काल आउयं उक्कोसं दसधा विभत्तं दस आउविवागदसा भवन्ति " ततो य दसाओ दसवरिसपमाणातो वरिससयाउसो भवन्ति। नि० चू० ११ उ०। (दशाभेदादिकम् 'दसा' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते)

आउव्वेय-आयुर्वेद-पुं०। आयु -जीवितं नहिदन्ति-रक्षितुमनुभवन्ति चोपक्रमरक्षणेन विदन्ति वा लभन्ते यथाकाल तेन तस्मात्तस्मिन्वेत्यायुर्वेद। चिकित्साशास्त्रे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। वैद्यकशास्त्रे, विपा० १ श्रु० ७ अ०।

तच्चाऽष्टविधम्—

अट्ठविहे आउव्वेए पण्णत्ते, तं जहा-कुमारभिच्चे १, कायतिगिच्छा२, सालाइयं३, सल्लहत्ता ४, जंगोली ५, भूयविज्जा६, खारतंते७, रसायणे ८। (सूत्र-६११)

'कुमारभिच्च' ति-कुमाराणा-बालकाना भृतौ-पोषणे साधु कुमारभृत्य तद्धि तन्त्रं कुमारभरणक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यनिमित्ताना व्याधीनामुपशमनार्थं चेति १। कायस्य ज्वरादिरोगग्रस्तस्य चिकित्साप्रतिपादकं तन्त्रं कायचिकित्सातन्त्र तद्धि मध्याङ्गसमाश्रिताना ज्वरातीसाररक्तशोषोन्मादप्रमेहकुष्ठादीनां शमनार्थमिति २। शलाकायाः कर्म शालाक्य तत्प्रतिपादकं तन्त्रं शालाक्यं तद्धि ऊर्ध्वमनुगतानां रोगाणा श्रवणवदननयनघ्राणादिसमाश्रितानामुपशमनार्थमिति३। शल्यस्य हत्या-हननम्-उद्धारः शल्यहत्या तत्प्रतिपादकं तन्त्रमपि शल्यहत्येत्युच्यते,तद्धि तृणकाष्ठपाषाणपांसुलोहलोष्ठास्थिनखप्रायोऽङ्गान्तर्गतशल्योद्धरणार्थमिति ४। 'जागोली'ति-विषविघाततन्त्रम्; अगदतन्त्रमित्यर्थः। तद्धि सर्पकीटलूतादष्टविषविनाशार्थं विविधविषसंप्रयोगोपशमनार्थं चेति ५। भूतादीनां निग्रहार्थं विद्यातन्त्रं भूतविद्या साहि देवाऽसुरगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिकरणादिग्रहोपशमनार्थमिति ६। क्षारतन्त्रमिति—क्षरणं क्षार शुक्रस्य तद्विषयं तन्त्रं यत् तत्तथा, इद हि सुश्रुतादिषु वाजीकरणतन्त्रमुच्यते। स्था० ८ ठा० ३ उ०। तथा च विपाकश्रुते-धन्वन्तरिवर्णने-" अट्ठंगाऽऽउव्वेदपाढए- तं जहा-कोमारभिच्च १, सालागे २, सल्लगहत्ते ३, कायतिगिच्छा ४, जगोले ५, भूयवेज्जे ६, रसायणे ७, वाजीकरणे ८। (सूत्र-२८+)। विपा० १ श्रु० ७ अ०। अवाजिनो वाजीकरणं रेतोवृद्ध्या अश्वस्येव करणमित्यनयोः शब्दार्थः सम एवेति तत्तन्त्र हि अल्पक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थमिति ७। रसः-अमृतरसस्तस्यायन-प्राप्ती रसायन तद्धि वयःस्थापनमायुर्मेधाकरण रोगापहरणसमर्थं च तत्प्रतिपादक शास्त्रं रसायनतन्त्रमिति। कृतरसायनश्च देववच्चिरपक्षमायुर्भवति ८। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

आउस (स्स)-आक्रोश-पुं०। "मृतोऽसि त्वम्"इत्यादिभिरसभ्यवचनरूपैः शापैरभिशापे," अप्पेगइए आउसिहिंति। (सूत्र-५५६+) आक्रोशान्दास्यति, भ० १५ श०। " भंते ! अहं णं पुरिसं आउसेज्जा वा" (सूत्र-४०५) 'आउसेज्जा व' त्ति-आक्रोशयामि वा-मृतोऽसि त्वमित्यादिभि शापैरभिशपामि। उपा० ७ अ०। दण्डमुष्ट्यादिभिर्हननव्यापारे च। सूत्र०।

परतीर्थिकानुद्दिश्योक्तम्—

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता।
आउस्ससरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥ १८ ॥

'रायदोस्सा ' इत्यादि, रागश्च प्रीतिलक्षणो द्वेषश्च तद्विपरीतलक्षणस्ताभ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकाना ते तथा मिथ्यात्वेन विपर्यस्तावबोधेनानस्वाध्यवसायरूपेणाभिद्रुता व्याप्ताः सद्युक्तिभिर्वादं कर्तुमसमर्था क्रोधानुगा आक्रोशान्-असभ्यवचनरूपास्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च हननव्यापारं यान्ति-आश्रयन्ते। अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्य दृष्टान्तमाह-यथा टङ्कणा म्लेच्छविशेषा दुर्जया यदा परेण बलिना स्वानीकादिनाभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरप्यायुधैर्योद्धुमसमर्थाः सन्तः पर्वतं शरणमाश्रयन्त्येवं तेऽपि कुतीर्थिका वादपराजिता क्रोधाद्युपहतदृष्टय आक्रोशादिकं शरणमाश्रयन्ते। न च ते इदमाकलय्य प्रत्याक्रोष्टव्या, तद्यथा-"अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं। लाभ मन्नइ धीरो, जहुत्तराण अभावम्मि" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

आउसंत-आजुषमाण-त्रि०। प्राकृतत्वेन तिङ्व्यत्यय। प्रीतिप्रवणमनसि, स० १ सम०। " सुयं मे आउसंतेणं " श्रवणविधिमर्यादया गुरूनासेवमानेन। स्था० १ ठा०। उत्त०। दशा०।

आयुष्मत्–त्रि०। आयुरस्यास्तीति। दशा० १ अ०। दश०। जीवति, (प्राणधारणधर्मवति) स्था० १ ठा०। चिरजीविनि, उत्त० २ अ०। आयु:-जीवितं तत्संयमप्रधानतया प्रशस्तं प्रभूतं वा विद्यते यस्यासावायुष्मान्। स्था० १ ठा०। चिरप्रशस्तजीविते, भ० १६ श० ६ उ०। चिरायु -(दीर्घायु.) आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। लक्षणगुणवति च शिष्यादौ, स्था० १ ठा०। सकलगुणाधारभूतत्वेनायुश्च प्रधानो गुणः सति तस्मिन्नव्यवच्छित्तिभावात्। दशा० १ अ०। दश०। एतच्च शिष्यामन्त्रणे पुत्रादेरामन्त्रणे च प्रयुज्यते। उत्त० २ अ०। दश०। दशा०। "अयमाउसो" (सूत्र-१०७+) आयुष्मन्निति पुत्रादेरामन्त्रणम्। भ० २ श० ५ उ०। दशा०। परार्थप्रवृत्त्यादिना प्रशस्तमायुर्द्धारयति, न तु मुक्तिमवाप्यापि तीर्थनिकारादिदर्शनात्पुनरिहायातेनाभिमानादिभावतो ऽप्रशस्तमिति। तीर्थकरे, पुं०। उत्त० २ अ०। दशा०। स्था०। यथोच्यते कैश्चित्-"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्। गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः॥ १॥" एव ह्यनुमूलितरागादिदोषत्वात्तद्वचसोऽप्रमाण्यमेव स्यान्निःशेषोन्मूलनं हि रागादीनां कुत पुनरिहागमनसम्भव'। स्था० १ ठा०। "सुय मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं" (सूत्र-१५)। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स०। दश०। दशा०। विष्कुम्भाद्यधिके तृतीये योगे, पुं०। विष्कुम्भ. प्रीतिरायुष्मान्। ज्यो० ति०। वाच०।

आउसुह–आयुःशुभ–न०। तीर्थकरादिसम्बन्धिनि शुभे आयुष्कर्मणि, दश० १ अ०।

आउसोय–अप्शौच–न०। अद्भिः शौचमप्शौचम्। प्रक्षालनात्मके शौचभेदे, "जलशौचं तु पञ्चमम्" इति। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

आउस्सिय–आवश्यक–न०। अवश्यं भाव मनोज्ञा०। वुञ्। अवश्यंभावे, प्रज्ञा० ३६ पद। आ० म०।

आउस्सियकरण–आवश्यककरण–न०। आवश्यकेन-आवश्यंभावेन करणमावश्यककरणम् केवलिसमुद्घातात्पूर्वं केवलिनामवश्यकर्त्तव्ये व्यापारविशेषे, तथाहि-समुद्घातकेऽपि कुर्वन्ति केचिच्च न कुर्वन्ति इदआवश्यककरणं सर्वेऽपि केवलिन कुर्वन्तीति (अत्र विशेष. 'आउज्जीकरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत.।) प्रज्ञा० ३६ पद। आ० म०। वाच०।

आउह–आयुध–न०। आयुध्यतऽनेन। रा०। जी०। आयुध् करणे घञर्थे क। वाच०। अक्षेप्येऽस्त्रे च। औ०। ज्ञा०। प्रहरणे विशे० १८६६ गाथा। "गहियाउहप्पहरणाए"(३१ सूत्र-) गृहीतान्यायुधानि खड्गादीनि प्रहरणाय यैस्ते तथा तेषाम्। अथवा-आयुधान्यक्षेप्याणि, प्रहरणानि तु क्षेप्याणीनि विशेष। औ०। ज्ञा०। शस्त्रमात्रे, तस्य भेदा समासतस्त्रिधा-प्रहरण-हस्तमुक्त-यन्त्रमुक्तभेदात्। तत्र हस्तस्थितैर्यैः प्रह्रियते तानि प्रहरणानि यथा खड्गादीनि, हस्तमुक्तानि चक्रादीनि, यन्त्रमुक्तानि शरादीनि, तेषां सर्वेषां युद्धसाधनत्वादायुधत्वम्। वाच०।

आउहघर–आयुधगृह–न०। प्रहरणशालायाम्, जं० ३ वक्ष०।

आउहघरसाला–आयुधगृहशाला–स्त्री०। प्रहरणगृहशालायाम्, जं० ३ वक्ष०।

आउहघरिय–आयुधगृहिक–पुं०। आयुधाध्यक्षे,। "तए णं से आउहघरिए" (सूत्र-४३+) ततः-चक्ररत्नोत्पत्तेरनन्तरं स -आयुधगृहिको यो भरतेन राज्ञाऽऽयुधाध्यक्षः कृतोऽस्तीति गम्यम्। जं० ३ वक्ष०।

आउहागार–आयुधागार–न०। षष्ठी ६ त०। प्रहरणशालायाम्, औ०। ज्ञा०। (प्रहरणकोशे), स्था० ६ ठा० ३ उ०। तत्र राज्ञां प्रहरणस्थापनार्थं गृहम्। वाच०।

आउहि (न्)–आयुधिन्–त्रि०। आयुधं प्रहरणमस्त्यस्य। शस्त्रधारके, वाच०। विशे० १८६६ गाथा।

आऊसिय–आयूषित–त्रि०। आ-यूष्-क्त। वाच०। प्रविष्टे, 'आऊसियवयणगंडदेसं" (सूत्र-६६५) 'आऊसिय' त्ति-प्रविष्टौ वदने गण्डदेशौ-कपोलभागौ यस्य तत्तथा। सङ्कुचिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। "आऊसियअक्खचम्मओट्ठगंडदेसं" 'आऊसिय' त्ति-संकुचितं यदक्षचर्म जलापकर्षणकोशस्तद्वत् 'उट्ठ' त्ति-अपकृष्टौ-अपकर्षवतौ सङ्कुटितौ गण्डदेशौ यस्य स तथा तम्। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

आयूषित–त्रि०। संकुटिते, "आऊसियअक्खचम्मओट्ठगंडदेसं" अन्ये त्वाहु -आयूषितानि-संकुटितानि अक्षाणि-इन्द्रियाणि चर्म ओष्ठौ च गण्डदेशौ च यस्य स तथा तम्। ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०।

गाहा—

रक्खाभूसणहेउं, भक्खणहेउं च मट्टियागहणं।
दीहाहिभक्खइए, इमाए जतणाए णायव्वं॥ १७०॥

दीहादिणा खइए मंतेणाभिमंतिऊण कडगबंधेण रक्खा कज्जति, मट्टियं वा मुहे घेत्तूडको आऊसिज्जति-आलिप्पति वा। नि० चू० १ उ०।

आए(दे)ज्ज–आदेय–त्रि०। आ-दा-यत्। आकाङ्क्षणीये, जं०२ वक्ष०। उपादेये, जी०३ प्रति०४ अधि०। ग्राह्ये, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। "आएज्जलढद्दसुविभत्तज्जायसोयसंभत्तरुइलरोमराई"। आदेया-दर्शनपथप्राप्ता सती उपादेया-सुभगा। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आदेया-दर्शनपथमुपगता सती पुन पुनराकाङ्क्षणीया। जं० २ वक्ष०।

आए (दे)ज्जवक्क–आदेयवाक्य–पुं०। ग्राह्यवाक्ये, सूत्र०

से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च,
धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते,
स अरिहइ भासिउं तं समाहिं॥ २७॥

स-सम्यग्दर्शनस्यालूपको यथावस्थितागमस्य प्रणेताऽनुविचिन्त्य भाषक शुद्धमवदातं यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतोऽध्ययनतश्च सूत्र-प्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्र'। तथोपधानं-तपश्चरण यद्यस्य सूत्रस्याभिहितमागमे तद्विद्यते यस्यासावुपधानवान्, तथा धर्मं श्रुतचारित्राख्यं य सम्यक् वेत्ति विन्दते वा सम्यक् लभते तत्र तत्रेति य आज्ञाग्राह्यऽ

र्थं स आप्तस्यैव प्रतिपत्तव्यो हेतुनस्तु सम्यग्घेतुना । यदि वा-स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमये व्यवस्थापनीय पर(समय) सिद्धश्च परस्मिन् । अथवा-उत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितोऽर्थस्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्य एतद्गुणसंपन्नश्चादेयवाक्यो-ग्राह्यवाक्यो भवति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

आए (दे) ज्जणाम-आदेयनाम-न० । नामकर्मभेदे, प्रव० २१६ द्वार । तत्र-" आएज्जा सव्वलोयगिज्झवओ" (५० +) आदेयादादेयनामोदयेन सर्वलोकेन-समस्तजनेन ग्राह्यमादेय वचो-वचन यस्य स तथा । कर्म० १ कर्म० । यथा यदुदयवशात् यत्करोति भाषते वा तत्सर्वं लोकः प्रमाणीकरोति दर्शनसमनन्तरमेव च जनोऽभ्युत्थानादि समाचरति तदादेयनाम । प० सं० ३ द्वार । था० । कर्म० ।

आए (दे) ज्जवयण-आदेयवचन-त्रि० । ग्राह्यवचने , दशा० ४ अ० । उत्त० ।

आए (दे) ज्जवयणया-आदेयवचनता-स्त्री० । सकलजनग्राह्यवाक्यतारूपे वचनसम्पद्भेदे , दशा० ४ अ० । स्था० ।

आए (दे) स-आदेश-पुं० । आ-दिश् । भावे घञ् । उपदेशे, आज्ञायाम् , वाच० । आदिश्यते-आज्ञाप्यते संभ्रमेण परिजनो यस्मिन्नागते तदातिथ्याय । तदासनदानादिव्यापारे , स आ देश. । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । उत्त० । आदिशतीत्यादेश । आयासकरे, व्य० ६ उ० । अभ्यर्हिते, उत्त० ६ अ० । नायकादौ प्राघूर्णके , उत्त० ६ अ० । " आएसो पाहुणगं " । आदेश करोतीत्यादेश । नि० चू० १ उ० । ध० । आचा० । आ० म० । "सागारियस्स आएसं" (सूत्र-१-२-३-४-+) " सागारिकपिण्डस्य प्रतिपादक यत् आदिम सूत्रं तस्य संबन्ध , अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-सागारिका नाम-शय्यातरस्तस्याऽऽदेश आयासकर आदेश । यदि वा-आदेशित.-आदेश. । अथवा-आदेशत इति शब्दसंस्कारस्तस्य व्युत्पत्तिमग्रे वक्ष्याम । स च नायको मित्र प्रभुः परतीर्थिको वा द्रष्टव्य । व्य० ६ उ० ।

आदेशमनापृच्छ्य त्रिरात्रात्परं यत. प्रायश्चित्तं सवासवक्तव्यता—

जे भिक्खू वहियावासियं आएसं परं तिरायाउ अवकासेता संवसावेइ संवमावंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

आगतो आदेशं करोतीति आएस ; प्राघूर्णकमित्यर्थ. । सो य अण्णगच्छवासी वहियावासी-भण्णति । तमागत परतो तिरायतो परतो 'तिण्हदिणाण' ति-अविफालियविप्फलणा णाम-विगडणा किं णिमित्त आगता अणवज्जतो वा भदत ! कतो आगया, कहिं वा वच्चह, एव अविफालेतस्स चउत्थदिणे चउगुरु भवति, आणादिणो य दोसा ।

गाहा—

वहियावासगच्छवासी, आदेसं आगयं तु जो भंत ।
तिण्हदिवसाण परतो, ण पुच्छती संवसमाणादी ॥१५७॥

गताथा । गता आरतो अविफालेतस्स दोसा ।

गाहा—

पढमदिण विविएँ ततिए, लहुगुरुलहुगा य सुत्त तेण परं ।
संविग्गमणुण्णितरे, न होंतदपुट्ठे इमे दोसा ॥ १५८ ॥

पढमदिणे अविफालेतस्स मासलहु । वितियदिणे मासगुरु । ततियदिणे चउलहुं । ' तेण पर' ति-चउत्थदिणे सुत्तणिवातो; चउगुरुमित्यर्थ । संविग्गो उज्जमंतो मणुण्णा संभवनि तो पासत्थादिणो वा एए जइ अपुच्छिते संवासेति तो ता इमे दोसा भवंति ।

गाहा—

उवचरगअहिमरे वा, छेवतितो तेण मेधुणऽट्ठी वा ।
रायादवकारी वा, पउत्त अत्ता व तेणो वा ॥ १५९ ॥

कत्ताइ सो तेण वेसगाहणेणं उवचरो-भंडितो गच्छति, अहिमरो-यदि गच्छति छेवति-असविग्गो हि तो भण्णति संपक्ख परिक्खानेणितुमागतो तेणगो वा गच्छति, मेहुण सेवितुमागतो मेहुणट्ठी वा गच्छति, रण्णो वा अवकारं काउमागतो, रण्णो वा अवकारकारणाए गच्छति, वा विकप्पे आयरियस्स वा उदाइमारकवत् । भावे 'तेणो' सिद्धं नाव हरणट्ठताए केणति पउत्तो आगतो, अप्पणा वा, गोविंदवाचकवत् । एवमादिदोसा भवति अपुट्ठ पुच्छितो वा इमं भंण ।

गाहा—

उवसंपयावराहे, कज्जे कारणिएँ अट्ठजाते वा ।
वहिताउ गच्छवासि-स्साऽऽदीवण एवमादीहिं ॥१६०॥
कज्जे भत्तपरिण्णा, गिलाण राया य धम्मकहि वादी ।
छम्मासा उक्कोसा, तेसिं तु वइक्कमे गुरुगा ॥ १६१ ॥

तुब्भे चेव उवसंपज्जणिसव्वा आगतो, अवराहाऽऽलोयण वा दायणं वा दाहामि त्ति आगतो, कुलगणसंघकज्जेण वा आगतो, असिवादीहिं वा कारणेहिं आगतो अट्ठजायणिमित्तेण वा आगतो इमो वहिया गच्छवासी विप्फालितो एवमादी कारणं दीविज्जा आयरिओवि विप्फालितो, एवमाइकारणं सुह जाणति कारण तिण्हदिणाणं परतो न विप्फाले आलोयणं वा न पडिच्छे, कुलगणसंघकज्जेण आयरिओ वा वडो न विप्फालेति, भत्तपरिभत्ती अणसणोवचिट्ठो तस्स वा वाउलो, गिलाणकज्जेण वा वडो दिण वा सव्व, रण्णो धम्ममाइक्खति, परवादिणा वा सद्धिं वादं करेति, एवमादिकारणेहिं तिण्हदिणाणं परतो अविफालतो विसुद्धो, उक्कोसेण जाव छम्मासा । छम्मासातिक्कमपढमदिणे अविफालेंतस्स च गुरुगा ।

गाहा—

अत्थेण पडिच्छावे, तस्साऽसति संतं पडिच्छते रत्तिं ।
उत्तरवीमंसाए, खिप्पोद गिरिसे पि ण पडिच्छे ॥१६२॥

निरातिक्कमं अत्थेण वि आलोयण पडिच्छावे' ति-आगयस्स वा आलोयणादियस्साऽसति समये 'रातो पडिच्छति अह एसो वि पच्छादुत्तरवीमसाए वा वडो दिवा काउकामो चिखा वीमसता एसो वि ण पडिच्छति ए. छम्मासा एसा छम्मास त वि अतर पडिच्छावेति एसेव भावत्थं. ।

गाहा—

दोहिं तिहिं व दिणेहिं, जतिअच्छति तो न होति पच्छित्तं ।
तेण परमणुग्घरगा, कुलादि रन्नो व दीवेंति ॥ १६३ ॥

एवं आगत परतो दोहिं तिहिं वसह ण समाणं तो कुलगणसघस्स रन्नो वा निवेदति अहि वा वडो सदिस्सानि तेण णगणिस्सं कारणेण विप्फालेइणा ।

गाहा—

वितियपदमणप्पज्झे, अंतगणादागयं ण विप्फाले।
अप्पज्झं च गिलाणं, अच्छितुकामं च वयंतं ॥ १६४ ॥

अणवज्झो ण विफालति, ण विफालिज्जति वा, अवज्झो गिलाणेण पुच्छिज्जति गिलाणं वा वडो वा सो वा आदेसो। गिलाणा ण पुच्छिज्जति गिलाणं वा वडो वा आएसो न पुच्छिज्जति। अहवा-तेण अपुच्छिएण चेव कहियं,जहा-तुब्भ सगासे अच्छिउकामो आगतो, अहवा-अपुच्छिएण चेव कहिय इहाहं वसितुं इमिणो कारणेण गच्छामि चेव, एवं अविफालंतो सुद्धो।

सूत्रम्—

जे भिक्खू साहिगरणं अविउसवियं पाहुणगं अकडपायच्छित्तं परं तिरायाओ विप्फालियं अविप्फालियं संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

'जति' णिद्देसे, भिक्खू-पुव्ववणितो, 'सह'-अधिकरणे, कषायभावशुभभावाधिकरणसहितेत्यर्थः। विविधं विविधेहिं वा पगारेहिं उसवियं-उवसामियं किं तं पाहुडं, कलहमित्यर्थ.। ण वि ओसविय अविओसविय पाहुडं तमि पाहुडकरणे जं पच्छित्तं भड जेण सो कडपच्छित्तो अ, मा, नो, ना, प्रतिषेधे,। तत्कृतं प्रायश्चित्तमकृतप्रायश्चित्तं-जो तं संभुजण-संभोएण सभुंजति। एगमंडलीए सभुजति त्ति वुत्तं भवति। अहवा-दाणग्गहण सभोएणं भुजनि, तस्स चउगुरुगा, आणादिणो य दोसा। नि० चू० १० उ०। आज्ञापने, बृ० १ उ० ३ प्रक०। स्था०। आज्ञायाम्, ज्ञा०१ श्रु० ६ अ०। आदेशिने, आदिश्यते-सत्कारपुरस्सरमाकार्य्यते इत्यादेश इति व्युत्पत्तेः। व्य० ६ उ०। आदेशनमादेश। उपचारे, (व्यवहार)। स्था० ४ ठा० २ उ०। विशे०। आ० म०। उपचारेऽर्थे, (आदेशवक्तव्यता 'आएससव्व' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) उद्गमदोषविशेषस्यौद्देशिकस्य तृतीये भेदे च। स च निर्ग्रन्थशाक्यतापसगैरिकाजीविकाना श्रमणानां कृते चादेशाख्यमिति। आदिश्यते-ज्ञाप्यते इत्यादेश.। (कर्मकरादिके) य. कस्यांचित् क्रियाया नियोज्यते कर्म्मकरादि.। आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ०। प्रकारे, नि० चू० १ उ०। "गहियाऽगहियम्मि आदेसे" (८२×) गृहीतागृहीतविषये आदेश -प्रकारश्चतुर्भङ्गयात्मक.। व्य० २ उ०।

दव्वओ १, खेत्तओ२, कालओ३, भावओ ४। दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ। खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वखेत्तं जाणइ, पासइ। एवं कालओ, भावओ वि। (सूत्र-३२१ +)

आदेश.-प्रकार. सामान्यविशेषरूपस्तत्रादेशेनौघतो द्रव्यमात्रतया नतु तद्गतसर्वविशेषापेक्षयेति भाव.। अथवा-देशेन श्रुतपरिकर्म्मिततया सर्वद्रव्याणि—धर्मास्तिकायादीनि जानाति अवायधारणापेक्षयाऽवबुध्यते; ज्ञानस्यावायधारणारूपत्वात्। भ० ८ श० २ उ०। आदेश.-प्रकार.। स च द्विधा-सामान्यरूपो, विशेषरूपश्चेति। नं०।

कोऽयमादेश इत्याह—

आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थि आइयाइं, जाणइ, न उ सव्वभेदेणं ॥४०३॥

इह आदेशो नाम-ज्ञानव्यवस्तुप्रकारः, स च द्विविधः-सामान्यप्रकारो, विशेषप्रकारश्च। तत्रौघादेशेन-सामान्यप्रकारेण; द्रव्यसामान्येनेत्यर्थः, सर्वद्रव्याणि-धर्मास्तिकायादीनि जानाति असंख्येयप्रदेशात्मको लोकव्यापकोऽमूर्त्तः प्राणिनां पुद्गलानां च गत्युपष्टम्भहेतुर्धर्मास्तिकाय इत्यादिरूपेण कियत्पर्यायविशिष्टानि षडपि द्रव्याणि सामान्येन मतिज्ञानी जानातीत्यर्थ.। विशे०। "अन्नो वि य आएसो" अन्यो वाऽऽदेश प्रकार.। बृ० ३ उ०। आदिश्यत इत्यादेशः-आचार्यपारम्पर्यश्रुत्याऽऽयातो वृद्धवादोऽयमितिनामाचक्षते, स आदेश'। वृद्धवादाऽऽयाते दृष्टान्ते, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। आदिश्यत इत्यादेश' निर्देशे, नि० चू० १ उ०। आदिश्यत इत्यादेश.। व्यापारनियोजने, आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०। प्रतिपादने, "घुयमादिसंति" घृतम्-मोक्षम् आदिशन्ति-प्रतिपादयन्ति। सूत्र०१ श्रु० १ अ०। प्रतिवचने, विशे०। मते, "मोत्तूणादेसतिग" मुक्त्वा परिहृत्यादेशत्रिकं-मतत्रिकम्। पिं०। विकल्पे, "आदेसा इमे होंति" आदेशाः-विकल्पा'। नि० चू०१ उ०। आङिति-मर्य्यादया विशेषरूपानतिक्रमात्मिकया आदिश्यते-कथ्यत इत्यादेश। विशेषे, उत्त०।

.... आएसे चेवऽणाएसे ॥ ४७ ॥

आदिट्ठो आएसं-मि बहुविहे सरिसणाणचरणगते।
सामित्तपज्जयाइं-मि चेव किंचित्तओ वोच्छं ॥ ४७ ॥

आङिति-मर्यादया विशेषरूपानतिक्रमात्मिकया आदिश्यते-कथ्यत इति आदेशो-विशेषस्तस्मिन् तदन्यस्त्वनादेश सामान्यं पूर्वत्र चैवशब्दयो' समुच्चयावधारणार्थयोर्भिन्नक्रमत्वात्तस्मिंश्चैव तत्र क्षेत्रविषयोऽनादेशे यथा जम्बूद्वीपजोऽयम्. आदेशे तु-यथा भारतोऽयं, कालविषयोऽनादेशे यथा-ग्रैष्मिकोऽयम्, आदेशे तु-वासन्तिकोऽयं, भावविषयोऽनादेशे भाववानयम्, आदेशे त्वौदयिकादिभाववानिति। सामान्यावगमपूर्वकत्वाद्विशेषावगमस्यैवमुदाहियते। निर्युक्तौ तु विपर्ययाभिधानं जम्बूद्वीप इति सामान्यमपि लोकापेक्षया विशेषो भरतमिति, विशेषोऽपि मगधाद्यपेक्षया सामान्यमित्यादिरूपेण सर्वत्र सामान्यविशेषयोरनियतत्वख्यापनार्थम्। उत्त० १ अ०।

आएसो पुण दुविहो, अप्पियववहारणप्पितो चेव।
एक्केक्को पुण तिविहो, अप्पाण परे तदुभए य ॥४८॥

आदेशोऽभिहितरूप. पुन.शब्दो विशेषणे, द्विविधो-द्विभेद., कथमित्याह-'अप्पिअववहाराणप्पिओ चेव' त्ति-व्यवहारशब्दोऽत्र डमरुकमणिन्यायेनोभयत्र संबध्यते, ततश्चार्पितो व्यवहारो यस्मिन्सोऽयमर्पितव्यवहारः, मयूरव्यसकादित्वात्समासः अनर्पितव्यवहारस्तु तद्विपरीतस्तत्रार्पितो नाम क्षायिकादिर्भाव. स्वाधारे-भाववति ज्ञातोऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वा वचनव्यापारेण वक्त्रा स्थापित. अनर्पितस्तु वस्तुत. साधारत्वेऽपि निराधाररूपतयार्थे विवक्षितो यथा-सर्वभावप्रधानः क्षायिको भा-

वोऽनयोरपि भेदानाद-एकैक इति अर्पितव्यवहार , अनर्पित-व्यवहारश्च । पुनरन्यविध , कथमित्याह-'अत्ताए' त्ति-आक स्वात्मानि परस्मिन् तयोरन्यपरयोरुभयं तदुभयं तस्मिश्च विषयसम्यक्ता , ततो विषयभेदविषयनानत्वात्संविधम् । उत्त० १ अ० ।(आदेशाऽनादेशयोर्बहुवक्तव्यता 'संजोग' शब्दे सप्तमभागे करिष्यते) व्यपदेशे, आचा० ।

एओतम आएसो, वाए ऽभंतेऽवि रूवंमि ॥ १६७ ॥

एतदुपमानो वायावपि भवति आदेशो-व्यपदेश । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

केसिंचिय आएसो, दंसण, णाणेहिं वट्टए तित्थं (५५+)

केषांचिद्-दुर्विदग्धबुद्धीनां ज्ञानलवाध्मातचेतसा-एकदात्-प्रस्तमनसाम् आदेशो-व्यपदेश सूत्रोक्ति यावत् दर्शनज्ञाना-श्या वर्तते । दर्श० ४ तत्त्व । श्रुतपरिकर्मितनयाम् , भ० ८ श० २ उ० । श्रुतपरिकर्मतायाम् , भ० ८ श० २ उ० । सूत्रे च । " आदेशो ण उपवज्जतीति सगयद्दो होति " भवति आदेश ; सूत्रादित्यर्थ । नि० चू० १ उ० ।

तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं म-व्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ । (सूत्र-३६ +)

अथवा-आदेश इति-सूत्रादेशस्तस्मात्सूत्रादेशात्सर्वद्रव्या-णि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, नतु साक्षात्सर्वाणि प-श्यति । न० ।

आएसो चि व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं ।
पसरइ तब्भावणया, विणा मुत्ताणुसारेणं ॥ ४०५ ॥

अथवा-आदेश सूत्रमुच्यते, तेन सूत्रादेशन सूत्रोपल-ब्धेष्वर्थेषु तस्य मतिज्ञानिन सर्वद्रव्यादिविषय मतिज्ञान प्रसरति । विशे० ।

अङ्गोपाङ्गादिसूत्रेष्वयक्ता ये भावा —पदार्था ज्ञानिभि प्र-काशिताश्च ते कस्य तीर्थकरस्य समये कियन्त आदेशा उच्यते-

एवं वद्धमवद्धं, आएसाणं हवंति पंच सया ।
जह एगा मरुदेवा, अच्चंतं थावरा सिद्धा ॥१०२३॥

एवम्-अनन्तरोक्तप्रकारं सर्वं(बद्ध)लोकोत्तरं श्रुतम् । लौकि-कं त्वारण्यकादि द्रष्टव्यम् । अयद्ध पुनरादेशाना भवन्ति पञ्च शतानि, किंभूतानीत्यत आह-यथैका-तस्मिन् समये अद्वि-तीया मरुदेवी-ऋषभजननी अत्यन्तस्थावरा-अनादिवनस्प-तिराशरुद्धृत्य सिद्धा-निष्ठितार्था सजाता । उपलक्षणमेतत् अन्येषामपि स्वयंभूरमणजलधिमत्स्यपद्मपत्राणां वलयव्य-तिरिक्तसकलसंस्थानसभवादीनामिति, लौकिकमप्यनिबद्धं वेदितव्यम् । अङ्गिकाप्रत्यङ्गिकादिकरण अन्याऽनिबद्धत्वात् । अत्र वृद्धसम्प्रदाय.-

' आरुहए पवयणे पच आएससयाणि जाणि अणिबद्धाणि, तत्थेगं मरुदेवा णवि अंग ण उवगे पाढो अत्थि, जहा-अच्चत थावरा होइऊण सिद्धत्ति, विइय सयभुरमणे समुद्दे मच्छा-ण पउमपत्ताण य सव्वसंठाणाणि अत्थि वलयसठाण मोत्तुं, तइय विण्हुस्स सातिरेगजोयणसयसहस्सविउव्वण, चउत्थ करडओकुरुडा दोसट्टियरुवज्झाया, कुणालाणयरीए नि-द्धमणमूले वसही, वरिसासु देवयाणुकपण, नागरेहिं नि-च्छुढण, करडेण रूसिएण वुत्तं-' वरिस देव ! कुणालाए, ' उक्कुरुडेण भणिय-' दस दिवसाणि पंच य ' पुणरवि क-रडेण भणिय-' मुट्ठिमित्ताहिं धाराहिं ' उक्कुरुडेण भणियं-' जहा रत्तिं तहा दिवं ' एव वोत्तूणमवक्कंता, कुणालाएवि पण्णरसदिवसअणुवद्धवरिसेणेणं सजाणवया (सा) जलेण उक्ता तओ ते तइयवरिसे साएए णयरे दोऽवि कालं का-ऊण अहे सत्तमाए पुढवीए काले णरगे वावीससागरोवम-ट्ठिईआ णेरइया संवुत्ता । कुणालाणयरीविणासकालाओतेर-समे वरिसे महावीरस्स केवलणाणसमुप्पत्ती । एय अनिबद्धं, एवमाइ पंचाऽऽएससयाणि अयद्धाणि । एव लोइय अवद्धकरणं वत्तीसं अङ्गियाओ वत्तीसं पच्चङ्गियाओ सोलस करणाणि, लोगप्पवाहे पंचट्ठाणाणि,तजहा-आलीढं, पच्चालीढं,वइसाहं मडल, समपयं । तत्थालीढ दाहिणं पाय अग्गओहुत्तं काउं वामपाय पच्छओहुत्तं ओसारेइ, अतरं दोण्हवि पायाणं पचपाया, एवं चेव विवरीयं पच्चालीढं, वइसाहं पण्हीओ अब्भितराहुत्तीओ समसेढीए करेइ, अग्गिमयलो बहिरा-हुत्तो, मंडल दोवि पाए दाहिणवामहुत्ता ओसारेत्ता ऊरु-णोवि आउटावेइ जहा मंडलं भवइ, अंतरं चत्तारि पया, समपायं दोवि पाए सम निरंतर ठवेइ, एयाणि पंचट्ठाणाणि, लोगप्पवाए (हे) सयणकरणं छट्ठ ठाणं, इत्यलं विस्तरेण । आव० १ अ० । (सूत्रस्यादेशत्वे बहुवक्तव्यता 'आभिणिबो-हियणाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

एष्य—त्रि० । आगमिष्यति , सूत्र० । "आएसा वि भवंति सुव्वया " (२०×) । आगमिष्याश्च ये भविष्यन्ति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

आवेश—पु० । आविशतीत्यावेश यस्मिन् स्थाने प्रविष्टे सागारिकस्याऽऽयासो जन्यते स आवेश । ज्ञातिके, स्वजने, सुहृदि , प्रभौ , परतीर्थिके च । व्य० ।

भाष्यकृदादेशशब्दव्याख्यानमाह—

आयासकरो आए-सितो उ आवेसणं व आविसइ ।
सो नायगो सुही वा,पभू व परतित्थितो वाऽवि ॥ २ ॥

आयासकर आदेश आदिशतीत्यादेश इति व्युत्पत्ते, आ-दिशितो वा आदेश । आदेश्यते सत्कारपुरस्सरमाकार्यत इत्यादेशव्युत्पत्ते । अथवा-आवेश इति सस्कारस्तत्र व्युत्प-त्तिमाह—आवेशन वाशब्द शब्दसंस्कारापेक्षया विकल्पने , आविशतीत्यावेश आवेशनं नाम यस्मिन् स्थाने प्रविष्टेन सागारिकस्याऽऽयासो जन्यते, स आदेश ,आवेशो वा नाम ज्ञातिक.-स्वजन. सुहृद्वा-मित्र प्रभुर्वा-नायक. परतीर्थिको वाऽपि । व्य० १ उ० । आ-विश-घञ् । अहङ्कारभेदे, संरम्भे, अभिनिवेशे, आसङ्गे, अनुप्रवेशे, यथा भूताऽऽवेशः । ग्रह-भये, भूताद्यावेशरोगे च । वाच० ।

आएसकारिन्—आदेशकारिन्—पुं । आज्ञाकारिणि , कौटुम्बि-कादौ , " कोडुंवियपुरिसे सद्दावेंति " (सूत्र-१२×) कौटु-म्बिकपुरुषान्-आदेशकारिणः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आएसग (य)-आदेशक-त्रि०। आदिशति। आ-दिश् धा०-एवुल्। आदेशकारके, आज्ञाकारके, वाच०। आदिश्यते-यस्मिन्नागते सभ्रमेण परिजनस्तदासनदानादिव्यापारं स आदेशक। प्राघूर्णके, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

आएसग्ग-आदेशाग्र-न०। आदिश्यत इत्यादेशो-व्यापार-नियोजना। अग्रशब्दोऽत्र परिमाणवाची, तत्र च यत्र परि-मितानामादेशो, दीयते तदादेशाग्रम्। (आचा०)। आदि-श्यते इत्यादेशो निर्देश इत्यर्थ आदेशनाग्रं आदेशाग्रम्। नि० चू० १ उ०। परिमितानामादेशे, तद्यथा-त्रिभिः पुरुषैः कर्म्म कारयन्ति तान्वा भोजयति। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० १ उ०।

गाहा—

आदेसग्गं पंचगु-लादि जं पच्छिमं तु आदिसति।
पुरिसाण व जेयंते, भोयणकम्मादिकज्जेसु ॥ ५३ ॥

आदिश्यते इति आदेशो, निर्देश इत्यर्थः। तस्स आदेसेण अग्गं आदेसग्गं, तत्थुदाहरणं पंचगुलादि; पचएहं अगुलीदव्वाण कम्मट्ठिताण जदि पच्छिमं आदिसति तं आदेसग्गं भवति आदेसकारणं इमं भोयणकाले जहा सत्तट्ठाणे पहुआण क-म्मट्ठिताण इमं पहुयं भोजयसु त्ति (आदिसति) एव कम्मा-इकज्जेसु वि नेयं। गयं आदसग्गं। नि० चू० १ उ०।

आवेशन-न०। आ-विश आधारे ल्युट्। वाच०। लोह-कारादिशालायाम्। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० २ उ०। तानि चायस्कारकुम्भकारादिस्थानानि येषु लोका आविश-न्ति। औ०। शिल्पशालायाम्, तत्र हि मनोऽभिनिवेशेन च कार्यकरणात्तस्यास्तथात्वम्। भूतावेशादिरोगे, को-पादौ, वाच०।

आएसपर-आदेशपर-त्रि०। आदिश्यते-आज्ञाप्यते इत्या-देश। य. कस्यांचित्क्रियायां नियोज्यते कर्म्मकरादि. स चा-सौ परश्चादेशपर। कस्यांचित्क्रियायां नियुक्ते कर्म्मकरादौ, आचा० २ श्रु० २ चू० ६ अ०।

भोअणपिंसणमादी-सु एगखेत्तट्ठियं तु जं पच्छा।
आदिसइ भुंजऊणसु, व आएसपरो हवइ तत्थ ॥५८३॥

एतद्भाजन प्रतीत, पषणं-व्यापारण तदादिषु कारणेषु यं कञ्चन पुरुषमेकस्मिन् क्षेत्रे स्थितमपि पश्चात्पर्यन्ते आदिशति-यथा, भुङ्क्ष्व-भोजनं विधेहि, कुरु वा कृष्यादिकर्म्म, एष आदेशपरो भवति आदेश-आज्ञपनं तदाश्रित्य परः पाश्चात्य आदेशपर। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

आएसभत्त-आदेशभक्त-न०। आएसो-पाहुणगो आगतो तस्स भत्तं आदेशभक्तम्। प्राघूर्णकभक्ते। नि० चू० ६ उ०। ('एतद्वक्तव्यता' भत्त' शब्दे ५ पञ्चमे भागे करिष्यते)

आएससव्व-आदेशसर्व-पुं०। आदेशनमादेश -उपचारो व्य-वहार। स च बहुतरं प्रधाने वाऽऽदिश्यते, देशेऽपि यथा-वि-वक्षितं घृतमभिसमीक्ष्य बहुतर भुक्ते, स्तोके च शेषे उपचार क्रियते-' सर्वं घृतं भुक्तं ' प्रधानेष्युपचार क्रियते, यथा-ग्रा-मप्रधानेषु गतेषु पुरुषेषु ' सर्वो ग्रामो गत' इति व्यपदिश्यते इति। आदेशन' सर्वमादेशसर्वमुपचारस्सर्वमित्यर्थ.। स्था० ४ ठा०२ उ०। उपचारेण सर्वस्मिन्, स्था०४ ठा०२ उ०। आ०म०।

आदेशसर्वस्य स्वरूपम्—

आएसो उवयारो, सो बहुतरए पहाणतरए वा।
देसे वि जहा सव्वं, भत्तं भुत्तं गओ गामो ॥ ३४८८ ॥

आदेश.-उपचार. स च बहुतर-प्रधानतरे वा आदेशोऽपि सर्वतया प्रवर्त्तत. तद्यथा-परिगृहीतं भक्तमध्याद्बहुतरं भुक्ते सति आदिश्यते-सर्वमनेन भुक्तमिति। प्रधानेनराऽऽदेशे च कतिपयपुरुषेषु गतेषु शेषेष्ववतिष्ठमानेष्वप्यादिश्यते, लोक यथा-"गत. सर्वो ग्रामः"। विशे०।

आएसिन्-आदेशिन्-त्रि०। आदिशति। आ-दिश् णिनि। आदेशकारके, वाच०। अभिलाषिणि, " वणादेसी णारभे कंचण (सूत्र-१५४ ×)। वर्ण -साधुकारस्तदादेशी वर्णादेशी-वर्णाभिलाषी. समारभते कञ्चन। आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

आएसिय-आदेशिक त्रि०। उपदेष्टरि, सूत्र०।
(सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टृणां गुणानाविर्भावयन्नाह)—

लोयं विजाणंति इ केवलेणं,
पुन्नेण णाणेण समाहिजुत्ता।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ,
तारंति अप्पाण परं च तिन्ना ॥ ५० ॥

सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। (अस्या गाथाया व्याख्या ' अद्दग-कुमार ' शब्दे १ प्रथमभागे ४५६ पृष्ठे गता) आदेशितो वा आदेश आदेशात्सत्कारपुरस्सरमाकार्यते इत्यादेश इति व्युत्पत्ते। (व्य०) आदेश, (नायकादौ प्राघूर्णके)। व्य० ६ उ०।

आओग-आयोग-पुं०। आ युज घञ्। गन्धमाल्योपहारे, व्यापारे, रोधे, सम्यक् सम्बन्धे च। वाच०। द्विगुणादिला-भे, स्था० ८ ठा० ३ उ०। द्विगुणादिवृद्ध्याऽर्थप्रदाने च। भ० २ श० ५ उ०। परिकरे, " भीमसंगामिं आओगं " (सूत्र)। भीम -सांग्रामिक आयोगः-परिकरो यस्य। आ० १ श्रु० १६ अ०।

आओगपओग-आयोगप्रयोग-पुं०। आयोगस्य-अर्थला-भस्य प्रयोगा-उपाया। औ०। आयोगेन द्विगुणादिलाभेन द्रव्यस्य प्रयोगोऽधमर्णानां दानम्। स्था० ८ ठा० ३ उ०। द्रव्योपार्जनोपायविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। द्विगुणादि-वृद्ध्याऽर्थप्रदाने, कालान्तरे प्रयोगे च। भ० २ श० ५ उ०।

आओगपओगसंपउत्त-आयोगप्रयोगसम्प्रयुक्त-त्रि०। आदा-नविसर्जनकुशले, रा०। आयोगो द्विगुणादिवृद्ध्यार्थप्र-दान प्रयोगश्च कालान्तरितौ सम्प्रयुक्तौ व्यापारितौ यैस्ते तथा। भ० २ श० ५ उ०। आयोगप्रयोगा-द्रव्योपार्जनो-पायविशेषा सम्प्रयुक्ता.-प्रवर्त्तिता येन स तथा, स्था० ६ ठा०। आयोगस्य-अर्थलाभस्य प्रयोगा-उपाया संप्रयुक्ता-व्यापारिता येन तेषु वा सम्प्रयुक्तो व्यापृतो य स। आ० १ श्रु० १ अ०। औ०। प्रवर्त्तितद्रव्योपार्जनोपायविशेषे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। द्रव्योपार्जनोपायविशेषेषु प्रवृत्ते च। आ० १ श्रु० १ अ०। आयोगेन द्विगुणादिलाभेन द्रव्य-स्य प्रयोग.-अधमर्णानां दानम् तत्र सम्प्रयुक्तानि-व्यापृतानि

तेन वा संप्रयुक्तानि-संगतानीति। स्था० ८ ठा० ३ उ०। द्विगुणादिलाभेन द्रव्यप्रयोगेषु व्यापृते, द्विगुणादिलाभार्थम् द्रव्यप्रयोगेण संगते च। स्था० ८ ठा० ३ उ०।

आंवुरिग्गाम-आंवुरिग्राम-पुं०। अशीतितीर्थजिनान्तर्गतश्रीमतिदेवजिनाधिष्ठिते ग्रामविशेषे, आवुरिग्रामे श्रीमतिदेवः। ती० ४३ कल्प।

आकंखा-आकाङ्क्षा-स्त्री०। आ-काङ्क्ष-अङ्। अभिलाषे, न्यायमते, वाक्यार्थज्ञानहेतौ, यत्पदं विना यत्पदस्यानन्वयस्तत्पदे तत्पदत्वस्वरूपे संबन्धे, पदान्तरव्यतिरेकेणान्वयाभावे च। वाच०। वाञ्छायाम्, पं०१५ विव०। (अभिलाषायाम्) आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०। "नश्वरं यद् दृष्टा, निवर्त्तते दर्शनाऽऽकाङ्क्षा" ॥१२॥ दर्शनाकाङ्क्षा-दर्शनवाञ्छा। पं० १५ विव०।

आकंदमाण-आक्रन्दत्-त्रि०। आक्रन्दशब्दं कुर्वति, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

आकंप-आकम्प-पुं०। आवर्जने, स्था० १० ठा० ३ उ०। व्य०। ध०। आराधने, व्य० १ उ०। आ-ईषदर्थे, कपि घञ्। ईषत्कम्पे, वाच०।

आकंपइत्ता-आकम्प्य-अव्य०। आराध्येत्यर्थे, व्य० १ उ०। आवर्ज्येत्यर्थे, ध० २ अधि०। स्था०। (आकम्पालोचनो हि आलोचकस्य दशसु दोषेषु प्रथमो दोषः. 'आलोयणा' शब्देऽस्मिन्नेव भाग द्रष्टव्य)

आकंपइत्तु-आकम्प्य-अव्य०। आवर्ज्येत्यर्थे, स्था० १० ठा० ३ उ०।

आकंपण-आकम्पन-न०। आराधने, आवर्जने च। व्य० १ उ०। ध०। आकम्पते, आ-कपि-युच्। ईषत्कम्पनशीले, त्रि०। भावे ल्युट्। ईषत्कम्पे, न०। आ-कपि-णिच-ल्यु०। ईषच्चालके, त्रि०। तत एव भावे ल्युट्। ईषच्चालन, न० वाच०।

आकड्ढ-आकर्ष-पुं०। अभिमुखमाकर्षणे, प्रश्न०१ आश्र०द्वार। नि० चू०।

आकड्ढण-आकर्षण-न०। अभिमुखं कर्षणमाकर्षणम्। अभिमुखकर्षणे, प्रश्न० १ आश्र०द्वार। "आकड्ढणमाकसण" अप्पणो तेण आगड्ढणमागसणं"। नि० चू० १८ उ०।

आकड्ढविकड्ढ-आकर्षविकर्ष-पुं०। द्वि०। अभिमुखकर्षणविपरीतकर्षणयोः, "आकड्ढविकड्ढ" (सूत्र-४×)। आकृष अभिमुखं कर्षण कुरु। वि-कृष विपरीत कर्षणं कुरु। प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

आकड्ढविकड्ढिया-आकर्षविकर्षिका-स्त्री०। अभिमुखमाकृष्टस्य विपरीतकर्षणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। 'आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे" (सूत्र-५५६+)। भ० १५ श०। नि० चू०।

आकण्णन-आकर्णन-न०। श्रवणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। ध०र०। (एतद्वक्तव्यता 'सवण' शब्दे सप्तमे भागे द्रष्टव्या) आ-कर्ण-ल्युट्। श्रवणे, 'मुदा तदाकर्णनतत्परोऽभूत्।" नैष०। वाच०।

आकण्णिय-आकर्णित-त्रि०। श्रुते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आकम्हिय-आकस्मिक-त्रि०। अकस्मादित्यव्यय कारणाभावे, कारणं विना भवं। विनया० ठक् टिलोप। अकस्माद्भवं, स्त्रियां ङीप्। वाच०। अकस्मादेव यद्भवति तदाकस्मिकम्। विशे०। निर्युक्तिके, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। अहेतुके, विशे०।

वज्झनिमित्ताभावा, जं भयमाकम्हियं तं ति ॥३४५१॥

यत्तु बाह्यनिमित्ताभावात्-अकस्मादेव भवति तदाकस्मिकम्। विशे०। (एतद्वक्तव्यता 'सभाव' शब्दे सप्तमभागे करिष्यते)

आकि(गि)इ-आकृति-स्त्री०। आ-कृञ्-क्तिन्। "इत्कृपादौ" ॥ ८। १। १२८॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणेत्वम्। प्राकृतत्वात्तकारलोपः। प्रा०। आक्रियते—व्यज्यते जातिरनया। करणे क्तिन्। जातिव्यञ्जकेऽवयवसंस्थानभेदे, "आकृतिग्रहणा जाति" महाभा०। जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थाः। गौ० सू० ॥ वाच०। आकारे, आ० म० १ अ०। ज्ञा०। संस्थान, नयो०। 'आगार त्ति वा आग त्ति वा संठाणं ति वा एगट्ठा' आ० चू० १ अ०। आकृतिशब्देन प्राण्यवयवानां पाण्यादीनां तदवयवानां चाङ्गुल्यादीनां संयोगोऽभिधीयते। तथा च सूत्रम्-' आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या " (न्यायद० अ० २ आ० २ सू० ६७) इति अस्य भाष्यम्। (सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी०। ('सद्द' शब्दे सप्तमे भागे विस्तरतः प्रतिपादयिष्यते) (अस्या शब्दार्थत्वविचार 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे करिष्यते) रूपे, "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आकिइमंत-आकृतिमत्-त्रि०। प्रशस्तस्वरूपोपेते, "जो वि अगीनो वि आगइमंतो" (६७×)। अगीतार्थोऽपि आकृतिमान्-रूपेण मकरध्वजतुल्य स गणधरपदे निवेश्यते। व्य० ३ उ०।

आकिंचणिय-आकिंचन्य-न०। अकिञ्चनस्य भावः ष्यञ्। दरिद्रतायाम्। वाच०। नाऽस्य किञ्चन द्रव्यमस्तीत्यकिञ्चनस्तस्य भाव आकिञ्चन्यम्। प्रव० ६६ द्वार। पं०। ध०। कनकादिरहिततायाम्, पञ्चा० ११ विव०। आकिंचणियंनत्थि जस्स किंचण सो अकिंचणो तस्स भावो आकिंचणियं, कंमनिज्जरट्ठ सदेहादिसु विणस्समणं भवितव्वं। आ० चू० ४ अ०।

आकिंचणियव्वय-आकिञ्चन्यव्रत-न०। पञ्चमे महाव्रते, ध०।

परिग्रहस्य सर्वस्य, सर्वथा परिवर्जनम्।
आकिञ्चन्यं व्रतं प्रोक्त-मर्हद्भिर्हितकाङ्क्षिभिः ॥ ४४ ॥

सर्वस्य-सचित्ताऽचित्तादिविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयस्य वा परिग्रहस्य-मूर्च्छाभावस्य सर्वथा त्रिविधे त्रिविधेन परिवर्जनं-त्याग तत् आकिञ्चन्यव्रत, न विद्यते किंचन द्रव्य यस्यासावकिञ्चनस्तस्य भाव आकिञ्चन्यं तच्च तद्व्रत चेति समासः, अपरिग्रहव्रतमित्यर्थ। प्रोक्तं-प्रज्ञप्त कैरर्हद्भि-र्जिनै, किंविशिष्टैस्तै-र्हितकाङ्क्षिभि-र्हितेच्छुभिरिति शब्दार्थ.। ध०३ अधि०।

आकीलवास-आक्रीडावास-पुं० । गौतमद्वीपस्थसुस्थितलवणाधिपतेरत्यर्थक्रीडावासे भौमेयविहारे, जी० । (तद्वक्तव्यता 'गोयमदीव' शब्दे तृतीये भागे वक्ष्यते)। जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आकुट्ठ-आक्रुष्ट त्रि० । आ-क्रुश-क्त । कृताक्रोशे, यं प्रति आक्रोशः कृतस्तस्मिन्, शब्दिते, निन्दिते च । भावे क्त । पुरुषभाषणे, न० । " मार्जारमूषिकास्पर्शे आक्रुष्टे क्रोधसम्भवे " । कात्या० । आक्रुष्टे, परुषभाषणे, वाच० । वाग्भिराक्रुष्टे, आचा०१ श्रु०६ अ०३ उ०। "आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या ॥ यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृतं किं नु कोपेन ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आकूय-आकूत-न० । आ-कू-भावे क्त। आशये, अभिप्राये, वाच०। अभिप्रेते वस्तुनि, विशे० । भावे च । विशे० ।

आकेवलिय-आकेवलिक-पुं० । न केवलमकेवलं तत्र भवा आकेवलिका । सद्वन्द्वे, (सप्रतिपक्षे) असम्पूर्णे च । " आकेवलिएहिं" (सूत्र-२८२+)। आचा०१ श्रु० ६ अ०२उ०।

आकोसायंत-आकोशायमान-त्रि० । आकोशायन्त इत्याकोशायमानम् । विकचीभवति कमलादौ, जी० । " आकोसायंतपउमगंभीरवियडणाभा" (सूत्र-१६७×)। आकोशायते इत्याकोशायमानं, विकचीभवदित्यर्थः । पद्मं तद्वद्गम्भीरा विकटा च नाभिर्येषां ते । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आखंडल-आखण्डल-पुं० । आखण्डयति भेदयति पर्वतान् आ-खडि-डलच् डस्य नेत्त्वम् । इन्द्रे, वाच० । " अ (आखं) खंडलो सुरवई, पुरंदरो वासवो सुणासीरो । " (२३+) पाइ० ना० २३ गाथा । (अस्य वक्तव्यता 'सक्क' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते)।

आगइ-आगति-स्त्री० । आगमनमागतिः नारकत्वादेरेव प्रज्ञापकप्रत्यासन्नस्थाने प्रतिनिवृत्तौ, (आगमने) स्था० १ ठा० । कल्प० । " गइं च जो जाणइऽणागइं च " (२०+)। यश्च जीवानामागतिम्-आगमनं कुतः समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः । सूत्र० २ श्रु० १२ अ० । " एगस्स जंतो गतिरागती य । " (१८×) । आगतिः-आगमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैव । सूत्र० २ श्रु० १३ अ० । उत्पत्तौ, स्था० ७ ठा० ३ उ० । "एगा आगती" (सूत्र-४३+)। आगमनम्-आगतिर्नारकत्वादेरेव प्रतिनिवृत्तिस्तदेकत्वं गतेरिवेति । स्था० १ ठा० ।

नैरयिकाणां दण्डकक्रमेण गत्यागती—

नेरइया दुगइया दुयागइया पन्नत्ता, तं जहा-नेरइए नेरइएसु उववज्जमाणे मणुस्सेहिंतो वा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वा उववज्जेज्जा । से चेव णं से नेरइए नेरइयत्तं विप्पजहमाणे मणुस्सत्ताए वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्जा । एवं असुरकुमारा वि, णवरं चेव णं से असुरकुमारे असुरकुमारत्तं विप्पजहमाणे माणुस्सत्ताए वा तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्जा । एवं सव्वदेवा, पुढविकाइया दुगइया दुयागइया पन्नत्ता, तं जहा-पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा णो पुढविकाइएहिंतो उववज्जेज्जा । से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा णो पुढविकाइयत्ताए वा गच्छेज्जा, एवं ०जाव मणुस्सा । (सूत्र-७८)

दण्डकः कण्ठ्यो नवरं नैरयिका-नारका द्वयो -मनुष्यगतितिर्यग्गतिलक्षणयोर्गत्योरधिकरणभूतयोर्गतिर्येषां ते तथा, द्वाभ्यामेताभ्यामेवाऽर्थाद्भूताभ्यामागतिः -आगमनं येषां ते तथा, उदितनारकायुर्नारक एव व्यपदिश्यते, अत उच्यते- 'नेरइए नेरइएसु' त्ति-नारकेषु मध्ये इत्यर्थः । इह चोद्देशकक्रमव्यत्ययात् प्रथमवाक्येनागतिरुक्ता, 'से चेव णं से' त्ति-यो मानुषत्वादितो नरकं गतः स एवाऽसौ नारको नाऽन्यः, अनेनैकान्ताऽनित्यत्वं निरस्तमिति । 'विप्पजहमाणे' त्ति-विप्रजहन्-परित्यजन्, इह च भूतभावतया नारकव्यपदेशः, अनेन वाक्येन गतिरुक्ता, इत्थञ्च व्याख्यानं तेजस्कायिकाद्यागतयस्तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया एकगतयस्तिर्यगपेक्षयेति वाक्यमुपजीव्यानि, 'एवं असुरकुमारावि' त्ति-नारकवद्वक्तव्या इत्यर्थः, 'नवरं' ति-केवलमयं विशेषः -तिर्यक्षु न पञ्चेन्द्रियेष्वेवोत्पद्यन्ते । पृथिव्यादिष्वपि तदुत्पत्तेरित्यतः सामान्यत आह-' से चेव णं से' इत्यादि ०जाव तिरिक्खजोणियत्ताए वा गच्छेज्ज' त्ति-' एवं सव्वदेव' त्ति-असुरवद् द्वादशाऽपि दण्डकदेवपदानि वाच्यानि तेषामप्येकेन्द्रियेषूत्पत्तेरिति । 'णो पुढविकाएहिंतो' त्ति-अनेन पृथ्वीकायिकनिषेधद्वारेणाप्कायिकादयः सर्वे गृहीता द्विस्थानकानुरोधादिति, तेभ्यो वा-नारकवर्जेभ्य समुत्पद्यते । 'नोपुढविकाइयत्ताए' त्ति-देवनारकवर्जाऽप्कायादितया गच्छेदिति, 'एवं ०जाव मणुस्से' त्ति-यथा पृथ्वीकायिका " दुगइया " इत्यादिभिरभिलापैरुक्ता, एवमेभिरेवाप्कायिकादयो मनुष्याऽवसाना पृथ्वीकायिकशब्दस्थानेऽप्कायादिकव्यपदेशं कुर्वद्भिरभिधातव्या इति । व्यन्तरादयस्तु पूर्वमतिदिष्टा एवेति । स्था० २ ठा० २ उ० । ('उववाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे आगतिः कुत उत्पद्यत इत्यादि वक्ष्ये)

एकेन्द्रियादीनां गत्यागती—

एगिंदिया पंचगइया पंचाऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-एगिंदिए एगिंदिएसु उववज्जमाणे एगिंदिएहिंतो वा ०जाव पंचेंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा । से चेव णं से एगिंदिए एगिंदियत्तं विप्पजहमाणे एगिंदियत्ताए वा ०जाव पंचेंदियत्ताए वा गच्छेज्जा । बेइंदिया पंचगइया पंचाऽऽगइया एवं चेव । एवं ०जाव पंचेंदिया पंच गइया, पंचाऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-पंचेंदिया ०जाव गच्छेज्जा ।(सूत्र-४५८+) स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

पृथ्वीकायिकादीनां गत्यागती—

पुढविकाइया छ गइया, छ आगइया पन्नत्ता, तं जहा-पुढविकाइए पुढविकाइएसु पुढविकाइएहिंतो वा ०जाव तसकाइएहिंतो वा गच्छेज्जा णो चेव णं से पुढविकाइए पुढ-

त्रिकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए वा ०जाव तस-काइयत्ताए वा गच्छेज्जा । (सूत्र-४८३ ×) । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

अण्डजाऽऽदीना गत्यागतिप्रतिपादनाय सूत्रम्—

अंडगा सत्तगइया सत्ताऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-अंडगे अंडगेसु उववज्जमाणे अंडगेहिंतो वा पोयएहिंतो वा ०जाव उब्भिएहिंतो वा उववज्जेज्जा, से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पजहमाणे अंडयत्ताए वा पोययत्ताए वा ०जाव उब्भियत्ताए वा गच्छेज्जा । पोयया सत्तगइया सत्ताऽऽगइया एवं चेव सत्तण्ह वि गइरागई भाणियव्वा ०जाव उब्भियत्ति । (सूत्र-५४३) ।

'अडये त्यादि सूत्रसप्तकम् ,तत्र सूनाना सप्तगतय अण्डजादियोनिलक्षणा येषां ते सप्त गतय सप्तभ्य एवाण्डजादियोनिभ्य आगतिरुत्पत्तिर्येषा ते सप्ताऽऽगतय । ' एव चेव ' त्ति-यथाऽण्डजाना सप्तविधे गत्यागती भणिते तथा पोतजादिभि सह सप्तानामप्यण्डजादिजीवभेदाना गतिरागतिश्च भणितव्या । ' जाव उब्भिय ' त्ति-सप्तमसूत्र यावदिति, शेषं सुगमम् । स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

अंडया अट्ठगइया अट्ठाऽऽगइया पण्णत्ता, तं जहा-अंडए अंडएसु उववज्जमाणे अंडएहिंतो वा ०जाव उववाइएहिंतो वा उववज्जिज्जा । से चेव णं से अंडए अंडगत्तं विप्पजहमाणे अंडगत्ताए वा पोयगत्ताए वा ०जाव उववाइयत्ताए वा गच्छेज्जा । एवं पोयया वि । जराउया वि । सेसाणं गइरागई नऽत्थि । (सूत्र-५६५+)

' अट्ठविहे ' त्यादि, सूत्रचतुष्टय सुगमं, नवरमौपपातिका देवनारका , ' सेसाण ' ति-अण्डजपोतजजरायुजवर्जिताना रसजादीनां गतिरागतिश्च नास्तीत्यष्टप्रकारेति शेष , यतो रसजादयो नोपपातिकेषु सर्वेषूत्पद्यन्ते , पञ्चेन्द्रियाणामेव तत्रोत्पत्ते । नाप्यौपपातिका रसजादिषु सर्वेष्वप्युत्पद्यन्ते पञ्चेन्द्रियैकेन्द्रियेष्वेव तेषामुत्पत्तेरिति अण्डजपोतजजरायुजसूत्राणि त्रीण्येवं भवन्तीति । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

पृथ्वीकायिकादीनां पुनरपि गत्यागती—

पुढविकाइया नवगइया नवआगइया पण्णत्ता , तं जहा-पुढविकाइए पुढविकाइएसु उववज्जमाणे पुढविकाइएहिंतो वा ०जाव पंचिंदिएहिंतो वा उववज्जेज्जा , से चेव णं से पुढविकाइए पुढविकाइयत्तं विप्पजहमाणे पुढविकाइयत्ताए ०जाव पंचिंदियत्ताए वा गच्छेज्जा । २ ॥ एव आउकाइयाऽवि ॥ ३ ॥ ०जाव पंचिंदियत्ते ॥ १० ॥ (सूत्र-६६६×) स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

गत्यागतिपरिज्ञानेन कर्मक्षयम्—

आगतिं गतिं परिण्णाय दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से ण छिज्जति, ण भिज्जति, ण डज्झति. ण हण्णति कचण सव्वलोए । (सूत्र-११६×)

आगमनमागतिः, सा च तिर्यग्मनुष्ययोश्चतुर्द्धा चतुर्विधनरकादिगमनसद्भावाद् , देवनारकयोर्द्विधा-तिर्यङ्मानुष्यगतिभ्यामेवागमनसद्भावादेव देवगतिरपि मनुष्येषु तु पञ्चधा, तत्र मोक्षगतिसद्भावाद् अनन्तामागतिं गतिं वा परिज्ञाय संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायं त्वरय मनुष्यत्वे मोक्षगतिसद्भावमाकलय्यान्ते हेतुत्वादन्तौ रागद्वेषौ ताभ्यां द्वाभ्यामन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यामनपदिश्यमानाभ्यां वा, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियामाह-' से ' इत्यादि ' से '-आगतिगतिपरिज्ञाता रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो न छिद्यते असत्यादिना, न भिद्यते कुन्तादिना, न दह्यते पावकादिना, न हन्यते नरकगत्यानुपूर्व्यादिना बहुश । अथवा-रागद्वेषाभावात्सिध्यत्येव, तदवस्थस्य चैतानि छेदनादीनि विशेषणानि, ' कचण ' मिति—विभक्तिविपरिणामात् केनचित् सर्वस्मिन्नपि लोके न छिद्यते, नापि भिद्यते रागद्वेषोपशमादिति , तदेवमागतिगतिपरिज्ञानाद्रागद्वेषपरित्यागः, तदभावाच्च छेदनादिसंसारदुःखाऽभावः ।

अपरे च साम्प्रतेक्षिण कुतो वयमागता ?, क्व यास्यामः ?, किं वा तत्र न संपत्स्यते ?, नैवं भावयन्त्यत. संसारभ्रमणपात्रतामनुभवन्तीति दर्शयितुमाह—

अवरेण पुव्विं न सरंति एगे,
किमस्स तीयं किं वाऽऽगमिस्सं ।
भासंति एगे इह माणवाओ,
जमस्स तीयं त तमागमिस्सं ॥ १ ॥
नाऽईयमट्ठं न य आगमिस्सं,
अट्ठं नियच्छन्ति तहाऽऽगया उ ।
विहूयकप्पे एयाणुपस्सी,
निज्झोसइत्ता खवगे महेमी ॥ २ ॥

'अवरेण' इत्यादिरूपकम् , अपरेण-पश्चात्कालभाविना सह पूर्वमतिक्रान्तं न स्मरन्ति अन्ये-मोहाज्ञानावृतबुद्धयो, यथा किमस्य जन्तोर्नरकादिभवोद्भूत बालकुमारादिवयोपचित वा दु खाद्यतीत किं वाऽऽगमिष्यति आगामिनि काले किमस्य सुखाभिलाषिणो दु खद्विषो भावीति । यदि पुनरतीताऽऽगामिपर्यालोचनं स्यान्न तर्हि संसारे रतिः स्यादिति, उक्तं च-" कण ममेत्थुप्पत्ती, कह इओ तह पुणो वि गंतव्व । जो एत्तियं पि चिंतइ, इत्थं सो को न निव्विण्णो " ॥ १ ॥ एके-पुनर्महामिथ्याज्ञानिनो भाषन्ते-इहास्मिन्संसारे-मनुष्यलोके वा मानवा-मनुष्या यथा यदस्य-जन्तोरतीतं-स्त्रीपुनपुंसकसुभगदुर्भगश्वगोमायुब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रादिभेदावेशात्पुनरप्यन्यजन्मानुभूतं तदेवागामिष्यम्-आगामीति । यदि वा-न विद्यते पर-प्रधानोऽस्मादित्यपर संयमस्तेन वासितचित्ता सन्त पूर्व-पूर्वानुभूत विषयसुखोपभोगादि न स्मरन्ति-न तदनुस्मृतिं कुर्वते, एके-रागद्वेषविप्रमुक्ता , तथा नाऽऽगतदिव्याङ्गनाभोगमपि नो काङ्क्षन्ति,किञ्च-अस्य जन्तोरतीत सुखदु खादि किं वाऽऽगमिष्यम्-आगामीति एतदपि न स्मरन्ति, यदि वा-कियान् कालोऽतिक्रान्त कियानेष्यति लोकोत्तरास्तु भाषन्ते-एके-रागद्वेषरहिता केवलिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वा यदस्य-जन्तोरनादिनिधनत्वा-

त्कालशरीरसुखाद्यतीतमागामिन्यपि तदेवेति, अपरे तु पठन्ति-"अवरेण पुव्व किह से अतीतं, किह आगमिस्स न स(म)रंति एगे । भासंति एगे इह माणवाओ, जह से अईयं तह आगमिस्स" ॥१॥ (अस्याः १ व्याख्या)-अपरेण-जन्मादिना सार्द्धं पूर्वम्-अनिक्रान्तं जन्मादि न स्मरन्ति, कथ वा केन प्रकारेणाऽतीतं-सुखदु खादि कथं चैष्यमित्येतदपि न स्मरन्ति, एके भाषन्ते-किमत्र ज्ञेयम् ?, यथैकस्य रागद्वेषमोहसमुत्थैः कर्मभिर्बध्यमानस्य जन्तोस्तद्विपाकांश्चानुभवत. ससारस्य यदतिक्रान्तमागाम्यपि तत्प्रकारमेवेति । यदि वा-प्रमादविषयकषायादिना कर्माण्युपचित्येष्टानिष्टविषयाननुभवतः सर्वज्ञवाक्सुधास्वादासंविदो यथा संसारोऽतिक्रान्तस्तथाऽऽगाम्यपि यास्यति ॥ १ ॥ ये तु पुन. संसारार्णवतीरभाजस्ते पूर्वोत्तरवेदिन इत्येतद्दर्शयितुमाह-' नाऽईयमि ' त्यादि, तथैव-अपुनरावृत्त्यागत गमन येषा ते तथागता.-सिद्धा., यदि वा-यथैव ज्ञेय तथैव गतं-ज्ञान येषां ते तथागता.-सर्वज्ञा , ते तु नाऽतीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छन्ति-अवधारयन्ति नाप्यनागतमतिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात्परिणते' । पुनरर्थग्रहणं पर्यायरूपार्थे, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति । यदि वा-नाऽतीतमर्थं-विषयभोगादिकं. नाऽप्यनागत-दिव्याङ्गनासङ्गादिक स्मरन्ति, अभिलषन्ति वा, क ?, तथागता.-रागद्वेषाभावात्पुनरावृत्तिरहिता', तुशब्दो विशेषमाह-यथा मोहोदयादेके-पूर्वमागामि चाभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिति, तन्मार्गानुयाय्यप्येवंभूत एवेति दर्शयितुमाह-' विहुयकप्पे ' इत्यादि, विविधम्-अनेकधा धूनमपनीतमष्टप्रकारं कर्म्म येन स विधूतः कोऽसौ कल्प - आचार । विधूत कल्पो यस्य साधो स विधूतकल्प । स एतदनुदर्शी भवति; अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीति यावत् , एतदनुदर्शी च किं गुणो भवतीत्याह-' निज्झोसइत्ता ' इत्यादि, पूर्वोपचितकर्म्मणा निर्झोपयिता-क्षपक ; क्षपयिष्यति वा तृजन्तमेतल्लुडन्तं वा ।

कर्मक्षपणायोद्यतस्य च धर्मध्यायिन' शुक्लध्यायिनो वा महायोगीश्वरस्य निरस्तससारसुखदु खविकल्पाऽऽभासस्य यत्स्यात्तद्दर्शयति-

का अरई के आणंदे? इत्थं पि अग्गहे चरे। (सूत्र-११७×)

इष्टाऽप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो विकारो रति ,अभिलषितार्थावाप्तावानन्द योगिचित्तस्य तु धर्म्मशुक्लध्यानावशावष्टब्धध्येयान्तरावकाशस्यारत्यानन्दयोरुपादानकारणाऽभावादनुत्थानमेव इत्यतोऽपदिश्यते-कथमरतिर्नाम को वाऽऽनन्द इति?, नास्त्येवेतरजनक्षुण्णाऽथ विकल्प इति। एवं तर्ह्यरतिरसंयमे संयमे चाऽऽनन्द इत्येतदन्यत्रानुमतमनेनाभिप्रायेण न विधेयमित्येतदनिच्छतोऽप्यापन्नमिति चेत् , न,अभिप्रायापरिज्ञानात् , यतोऽत्राऽरतिरतिविकल्पाध्यवसायो निषिषित्सितो, न प्रसज्यते अप्यरत्यरती , तदाह'-एत्थं पी ' त्यादि । अत्राप्यरत्यावानन्दे वोपसर्ज्जनप्राये न विद्यते ग्रहो गार्द्ध्यं तात्पर्यं यस्य सो ग्रह स एवभूतश्चरेदवतिष्ठेत , इदमुक्तं भवति-शुक्लध्यानादरतौ रत्यानन्दौ कुतश्चिन्निमित्तादायातौ तदाग्रहग्रहरहितस्तावप्यनुचरेदिति । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। परस्पर द्वयोर्द्वयो. पदयोर्यत्र विशेषणविशेष्यतया प्रत्यावृत्त्या-प्रातिकूल्येन गमनमागति. । लक्षणविशेषे , विशे० । यथा " देवो जीव" इत्यत्र देवत्वमनूद्य जीवत्वं पृच्छ्यते इतीह प्रत्यावृत्त्या देवपदाज्जीवपद आगति. । विशे० २१५६ गाथा । आ० म० । (अस्याः भेदादिकम् ' गइरागइलक्खण ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

आगइगइविएणाण-आगतिगतिविज्ञान-न० । शुभाशुभपूर्वजन्मानागनजन्मनां निर्णये,आगत्या-आगमनेनास्खलितेतरादियुक्तेन गतिविज्ञानम् , आगामिभवविज्ञानम् ,आगतिविज्ञानम् । स्खलितास्खलितागमनेनागामिभवविज्ञाने च । पञ्चा०। "आगइगइविण्णाणं" ॥२५॥ आगतिगतिविज्ञानं-शुभाशुभपूर्वजन्मानागतजन्मना निर्णयेन कार्यम् , अथवा-गत्या-गमनेनाऽस्खलितेतरादियुक्तेन गतिविज्ञानम् , आगामिभवज्ञानमागतिविज्ञानाम् , इह व्याख्याने समासितमपि गतिविज्ञानमित्येतत्पद प्राकृतत्वेनोत्तरत्र संबन्धनीयम् । पञ्चा०२ विव०।

आगंतगार-आगन्तागार-पु० न०। आगन्तुकाना कार्पटिकादीनामावासार्थे गृहे , सूत्र० । "आगंतगारे आरामगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं । " (२५+)। आगतुकाना कार्पटिकादीनामगारमागन्तागारम्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

आगंता-आगन्तृ-त्रि०। आ समंताद् गन्ता । आगन्ता। सूत्र० १श्रु०२अ०१उ०। आगमनशीले, स्था०३ठा०२उ०।"आगंतारो महब्भयं" (३१×)। महाभयं पौन.पुन्येन संसारपर्य्यटनतया नारकादिस्वभावं दु खमागन्तार.-आगमनशीला भवन्ति। सूत्र० २ श्रु० ११ अ० ।

आगंतार-आगन्ताऽऽगार-पुं० न० । ग्रामबाह्याऽऽवासे, नि० चू०।"आगतारो जत्थ" आगत्य विहरतीति आगंतारो जत्थ आगारा आगंतु चिहरंति तं आगंतागारं गामपरिसट्ठाणंति वुत्त भवति । आगतुगाण वा कय अगारं आगतागार बाहि यावासो त्ति । नि० चू०३ उ०। आगमा-रुक्खा तेहिं कत अगार आगंतु जत्थ चिट्ठंति आगारा तं आगतागारं परिसंतागारण गिहभावगतत्यर्थ । पज्जायोपवज्जा सो य चरगपरिव्वायगसक्कआजीवगमादिऽणगविधो । नि० चू०३ उ०। (' अएणउत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे पृष्ठ ४६४ विस्तरो गत)

आगन्तार-पु० । न० । यत्र ग्रामादेर्बहिरागत्याऽऽगत्य पथिकादयास्तिष्ठन्ति तान्यागन्तागाराणि । आचा० २ श्रु०१ चू०२ अ०२ उ० । पत्तनाद्बहिर्गृहे आचा०२ श्रु०१ चू०१ अ०८ उ०। प्रसङ्गायाता आगत्य वा यत्र तिष्ठन्ति तदागन्तारं तत्पुनर्ग्रामान्तनगराद्बहि स्थानम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । औ० । (तत्र अन्ययूथिकगृहस्थेभ्योऽशनादिदाननिषेध 'अएणउत्थिय ' शब्दे प्रथमभागे गत)

आगंतारट्ठिय-आगन्तुकागारस्थित-त्रि० । आगन्तुकागारोषिते प्राघूर्णकादौ , बृ० ।

आगंतारट्ठियाणं , कज्जे आदेसमाइणा केइ ।
वमिउं विस्समिउं वा,छड्डिउं गया अणाभोगा ॥१०७१॥

इह यत्रागारिण आगत्याऽऽगत्य तिष्ठन्ति तदागन्तुकागार तत्र कार्ये कारणविशेषेन स्थितानां प्रकृतस्तत्र अवतरति , कथमित्याह—आदेशप्राघूर्णकस्तथा कचित्पथिका आगन्तुकागारे रजन्या वा समुपगता यावद् भोजनाय विश्रामं

विषयसूत्रनार्थमधिकाराङ्काः—
(१) आगमभेदा. ।
(२) आगमस्य स्वत. प्रामाण्यम् ।
(३) आगमस्य पौरुषेयत्वम् ।
(४) आगमश्चाऽऽप्तप्रणीत एव प्रमाणम् ।
(५) सम्भवद्भूयस्यैवाऽऽगमस्य प्रामाण्य, न वेदस्यैव ।
(६) मूलाऽऽगमप्रामाण्यम् , नेतराऽऽगमप्रामाण्यम् ।
(७) प्रमाणान्तराविषय एवाऽऽगमविषय. ।
(८) आगमप्रमाणस्यानुमानप्रमाणेऽन्तर्भावः ।
(९) आगमप्रामाण्ये संवादित्वम् ।
(१०) शब्दस्य बाह्यार्थप्रामाण्यम् ।
(११) अपोह' शब्दार्थ इति बौद्धाः ।
(१२) अर्थ किंस्वरूप ।
(१३) वाच्यवाचकभावः ।
(१४) वाचकरूपस्य शब्दस्य विचारः ।
(१५) स्फोट शब्द.। (इति 'फोड' शब्दे ५ भागे वक्ष्यते ।)
(१६) जैनानां वाचक शब्द. ।
(१७) शब्दनित्यत्वविचारः ।
(१८) शब्दार्थयो. सम्बन्ध' ।
(१९) शब्दार्थयोर्वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध. ।
(२०) आगमद्वैविध्यम् हेतुवादाऽहेतुवादभेदात् ।
(२१) आगमस्य सर्वव्यवहारनियामकत्वम् ।
(२२) आगमस्यैव प्रामाण्यम् धर्ममार्गे, मोक्षमार्गे च ।
(२३) जिनाऽऽगमस्यैव सत्यत्वम् ।
(२४) जिनाऽऽगमपूजासत्कार ।
(२५) आगमशब्दस्य अर्थान्तराणि ।

(१) आगमभेदा —

से किं तं आगमे ? आगमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-लोइए अ, लोउत्तरिए अ । से किं तं लोइए ?, लोइए जण्णं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठीएहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पियं । तं जहा-भारहं, रामायणं ०जाव चत्तारि वेआ संगोवंगा । से तं लोइए आगमे । से किं तं लोउत्तरिए ?, लोउत्तरिए-जण्णं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाणदंसणधरेहिं तीयपच्चुप्पण्णमणागयजाणएहिं तिलुक्कवहिअमहिअपूइएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरसीहिं पणीअं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा-आयारो ०जाव दिट्ठिवाओ । (सूत्र-१४७ ×)

'से किं तं आगमे ' इत्यादि, गुरुपारंपर्येणागच्छतीत्यागम , आ-समन्ताद्गम्यन्ते-ज्ञायन्ते जीवादय. पदार्था अनेनेति वा आगम , अयं च द्विधा प्रज्ञप्तः । अनु० । भ० । ज्ञा० ।

अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सुत्ताऽऽगमे, अत्थाऽऽगमे, तदुभयाऽऽगमे । (सूत्र-१४७ +)

' अहवा आगमे तिविहे ' इत्यादि, तत्र सूत्रमेव सूत्रागम , तदभिधेयश्च अर्थ एवाऽर्थागम., सूत्रार्थोभयरूपस्तु तदुभयागम. ।

अहवा-आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-अत्ताऽऽगमे १, अणंतराऽऽगमे २, परंपराऽऽगमे ३ । तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे. अत्थस्स अणंतरागमे । गणहरसीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे । तेणं परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे, णो अंतरागमे, परंपरागमे । (सूत्र-१४७ +)

अथवा-अनेन प्रकारेणागमस्त्रिविध' प्रज्ञप्त', तद्यथा-'आत्मागम ' इत्यादि, तत्र गुरूपदेशमन्तरेणात्मन एव आगम आत्मागमो—यथा, तीर्थकराणामर्थस्यात्मागमः, स्वयमेव केवलोपलब्धः, गणधराणां तु सूत्रस्यात्मागम. स्वयमेव ग्रथितत्वात् , अर्थस्यानन्तरागमोऽनन्तरमेव तीर्थकरादागतत्वात् , उक्त च-'अत्थं भासइ अ (रि) हा, सुत्तं गथति गणहरा निउणमि ' त्यादि । गणधरशिष्याणा जम्बूस्वामिप्रभृतीनां सूत्रस्याऽनन्तरागम -अव्यवधानेन गणधरादेव श्रुतः, अर्थस्य परपरागम -गणधरेणैव व्यवधानात् । तत ऊर्ध्वं प्रभवादीनां सूत्रस्यार्थस्य च नात्मागमो नानन्तरागम स्तल्लक्षणायोगात् , अपि तु परपरागम एव । अनेन आगमस्य तीर्थकरादिप्रभवत्वभणनेनैकान्ताऽपौरुषेयत्त्व निवारयति । पौरुषताल्वादिव्यापारमन्तरेण नभसीव विशिष्टशब्दानुपलब्धेस्ताल्वादिभिरभिव्यज्यत एव शब्दो न तु क्रियत इति चेत् , ननु यद्येव तर्हि सर्ववचसामपौरुषेयत्वप्रसङ्गस्तेषा भाषापुद्गलनिष्पन्नत्वाद् भाषापुद्गलाना च लोके सर्वदैवावस्थानतो व्यक्रियमाणता अयोगेन ताल्वादिरभिव्यक्तिमात्रस्यैव निर्वर्त्तनात् । न च वक्तव्यं वचनस्य पौद्गलिकत्वमसिद्धं महाध्वनिपटलपूरितश्रवणबाधिर्यकुड्यस्खलनाद्यन्यथानुपपत्ते., तस्मादेकान्तेनाऽपौरुषेयमागमवचस्ताल्वादिव्यापाराभिव्यङ्ग्यत्वादवक्तादिवाक्यवदित्याद्यन्यत्र बहुवक्तव्यं, तत्तु नोच्यते स्थानान्तरनिर्णीतत्वादिति । 'सत्तं लोगुत्तरिए' इत्यादि निगमनत्रयम् । अनु० । भ० । अङ्ग० । नि० चू० । सूत्र० । " आगमो दुविहो-लोइओ, लोउत्तरिओ य । लोइओ चोद्दसविज्जाट्ठाणाणि " " अङ्गानि चतुरो वेदा, मीमांसा न्यायविस्तर । धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याश्चैताश्चतुर्दश ॥१॥" (अस्य श्लोकस्य व्याख्या)-तत्राऽङ्गानि षट् ६,तद्यथा-शिक्षा१, कल्पो२, व्याकरणं ३, छन्दो ४, निरुक्तं ५, ज्योतिष ६, चेति । "लोउत्तरो दुवालस१२, अंगा, चोद्दस१४,पुव्वाणि य"। आ० चू०१ अ०। आ० म०। ('सुय' शब्दे सप्तमे भागे प्रकारान्तरेण निक्षेप.)

(२) आगमस्य च स्वत' प्रामाण्यम्—

सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सा-सणं जिणाणं भवजिणाणं ॥१॥

अस्याश्च समुदायार्थ एतत्पातनिकयैव प्रकाशित.. अवयवार्थस्तु प्रकाश्यते-शास्यन्त जीवादय. पदार्था यथावस्थितत्वेनानेनेति शासनं-द्वादशाङ्गम् , तच्च सिद्ध-प्रतिष्ठित-निश्चितप्रामाण्यमिति यावत्, स्वमहिम्नैव नाऽत. प्रकरणात्प्रतिष्ठाप्यम् । सम्म० १ काण्ड ।

शब्दसमुत्थस्य त्वभिधेयविषयज्ञानस्य यदि प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तदा-अपौरुषेयत्वस्यासम्भवाद् गुणवत्पुरुषप्र-

णीनस्तदुत्पादकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः, अथ तत्प्रणीतत्वं नाऽभ्युपगम्यते तदा तत्समुत्पन्नज्ञानस्य प्रामाण्यमपि न स्यादित्यभिप्रायवानाचार्य. प्राह-जिनाना रागद्वेषमोहल-क्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनास्तेषां शासनं तदभ्युप-गन्तव्यमिति प्रसङ्गसाधनम्। ननु नाऽनेनेदं प्रेर्य-यदि जिनशासन जिनप्रणीतत्वेन सिद्धं निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगमनीयम्; अन्यथा प्रमाण्यस्याप्यनभ्युपगमनीयत्वादिति प्रसङ्गसाधनमत्र प्रतिपाद्यत्वेनाभिप्रेतं तत्किमिति बौद्धयुक्त्यार्हतेन त्वया स्वत प्रामाण्यविरासोऽभिहित ?, यत. सर्वसमयसमूहात्मकत्वमेवाऽऽचार्येण प्रतिपादयितुमभिप्रेतम्। यद्वक्ष्यत्यस्यैव प्रकरणस्य परिसमाप्तौ, यथा-" भद्दं मिच्छदंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स। जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स " ॥ ७० ॥ (अस्यैव ग्रन्थस्य तृतीयकाण्डगाथेयम्) इत्यादि । अयमेवार्थो बौद्धयुक्त्युपन्यासेन समर्थित, अन्यत्राप्यन्यमतेऽपक्षेपेणान्यमतनिरासेऽयमेवाभिप्रायो द्रष्टव्य., सर्वनयानां परस्परसापेक्षाणा सम्यग् मतत्वेन, विपरीताना विपर्ययत्वेनाचार्यस्येष्टत्वात्, अत एवोक्तमनेनैव (चतुर्थ) द्वात्रिंशिकायाम्-"उदधाविव सर्वसिन्धव, समुदीरणास्त्वयि नाथ ! दृष्टय.। न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि.॥ १ ॥" सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी०।

(३) आगमस्य पौरुषेयत्वम्—

स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ?। पौरुषेयश्चेत्सर्वज्ञकृत, तदितरकृतो वा?। आद्यपक्षे-युष्मन्मतव्याहति। तथा च भवत्सिद्धान्त-" अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते। नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चय॥ १ ॥" द्वितीयपक्ष तु-तत्र दोषवत्कर्तृकत्वेनाऽनाश्वासप्रसङ्ग । अपौरुषेयश्चेन्न सम्भवत्येव स्वरूपनिराकरणात्; तुरङ्गशृङ्गवत्। तथाहि- " उक्तिर्वचनमुच्यते " इति चेति पुरुषक्रियानुगतरूपमस्य। एतत्क्रियाभावे कथं भवितुमर्हति । नचैतत्केवलं क्वचिद्ध्वनदुपलभ्यते उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राशङ्कासम्भवात् तस्माद्यद्वचनं तत्पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात् कुमारसम्भवादिवचनवत्। वचनात्मकश्च वेद', तथाचाहु - 'ताल्वादिजन्मा न तु वर्णवर्गो, वर्णात्मको वेद इति स्फुटञ्च। पुंसश्च ताल्वादि तत कथं स्या-दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीति. " ॥ १ ॥ इति। श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यान पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा- 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम " इत्यस्य स्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थो नियामकाभावात्, ततोऽवरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम्। अस्तु वा अपौरुषेयस्तथाऽपि तस्य न प्रामाण्यम् आप्तपुरुषाधीना हि वाचा प्रमाणतेति। स्या० ११श्लोक।

जयइ सुयाणं पभवो, (२+गाथा)

श्रुताना-स्वदर्शन-परदर्शनानुगतसकलशास्त्राणां प्रभवन्ति सर्वाणि शास्त्राणि अस्मादिति प्रभव -प्रथममुत्पत्तिकारण , तदुपदिष्टमर्थमुपजीव्य सर्वेषा शास्त्राणा प्रवर्तनात्, परदर्शनशास्त्रेष्वपि हि य. कश्चित्समीचीनोऽर्थ संसारासारता-स्वर्गापवर्गादिहेतु प्राण्यहिंसादिरूप स भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्य एव समुद्धृतो वेदितव्यो , न खल्वतीन्द्रियार्थपरिज्ञान-मन्तरेणातीन्द्रिय. प्रमाणाबाधितोऽर्थः पुरुषमात्रेणोपदेष्टुं शक्यते , अविषयत्वात्। नच-अतीन्द्रियार्थपरिज्ञानं परतीर्थिकानामस्तीत्येतदग्रे वक्ष्याम.। ततस्ते भगवत्प्रणीतशास्त्रेभ्यो मौलं समीचीनमर्थलेशमुपादाय पश्चाद्भिनिवेशवशतः स्वस्वमत्यनुसारेण तास्ताः स्वप्रक्रियाः प्रपञ्चितवन्तः। उक्तं च स्तुतिकारेण-" सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति या. काश्चन सूक्तिसम्पदः। तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता , जगत्प्रमाण जिनवाक्यविप्लु(पु)ष. ॥१॥" शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणी स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह-" श्रीवीरममृतं ज्योतिर्-नत्वादिं सर्ववेदसाम् " अत्र च न्यासकृतो व्याख्या-'सर्ववेदसां'-सर्वज्ञानानां-स्वपरदर्शनसंबन्धिसकलशास्त्रानुगतपरिज्ञानानाम् 'आदिं' प्रभव प्रथममुत्पत्तिकारणमिति। अत एव चेह श्रुतानामित्यत्र बहुवचनम्, अन्यथैकवचनमेव प्रयुज्यते प्राय. श्रुतशब्दस्य केवलद्वादशाङ्गमात्रवाचिनः सर्वत्रापि सिद्धान्ते एकवचनान्ततया प्रयोगदर्शनात्, सर्वश्रुतकारणत्वेन च भगवत. स्तुतिप्रतिपादने इदमप्यावेदितं द्रष्टव्यम्-सर्वाण्यपि श्रुतानि पौरुषेयाण्येव, न किमप्यपौरुषेयमस्ति, असम्भवात्। तथाहि-शास्त्रं वचनात्मकम्। वचन च ताल्वोष्ठपुटपरिस्पन्दादिरूपपुरुषव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायि, ततस्तदभावे कथ भवति ?, न खलु पुरुषव्यापारमन्तरेण वचनमाकाशे ध्वनदुपलभ्यते। अपि च—तदपौरुषेयं वचनमकारणत्वान्नित्यमभ्युपगम्यते, 'सदकारणवन्नित्य' मिति वचनप्रामाण्यात् । ततश्च—अत्र विकल्पयुगलमवतरतीयते, तदपौरुषेयं वचः किमुपलभ्यस्वभावम्; उताऽनुपलभ्यस्वभावं वा ?। तत्र यद्यनुपलभ्यस्वभावं तर्हि तस्य नित्यत्वेनाभ्युपगमात्कदाचिदपि स्वभावाऽप्रच्युते. सर्वदैवोपलम्भाभावप्रसङ्गः, अथोपलम्भस्वभावं तर्हि सर्वदानुपरमेणोपलभ्येत, अन्यथा-तत्स्वभावताहानिप्रसङ्गात्, अथोपलभ्यस्वभावमपि सहकारिप्रत्ययमपेक्ष्योपलम्भमुपजनयति तेन न सर्वदोपलम्भप्रसङ्गः। तदयुक्तम्, एकान्तनित्यस्य सहकार्यपेक्षया अयोगात्, ततो विशेषप्रतिलम्भलक्षणा हि तस्य तत्रापेक्षा, यदाह-धर्मकीर्ति.-' अपेक्षाया विशेषप्रतिलम्भलक्षणत्वात्' इति । न च नित्यस्य विशेषप्रतिलम्भोऽस्ति,अनित्यत्वापत्तेः। तथाहि-स विशेषप्रतिलम्भ तस्यात्मभूत ,ततो विशेषे जायमाने स एव पदार्थस्तेन रूपेण जातो भवति, प्राक्तनं च विशिष्टावस्थालक्षण रूपं विनष्टमित्यनित्यत्वापत्ति । अथोच्येत-स विशेषप्रतिलम्भो न तस्यात्मभूतः किं तु व्यतिरिक्त कथमनित्यत्वापत्तिः ?, यद्येवं तर्हि कथं स तस्य सहकारी न हि तेन सहकारिणा तस्य वचनस्य किमप्युपक्रियते, भिन्नविशेषकरणात्, अथ भिन्नोऽपि विशेषतस्तस्य संबन्धी तेन तत्संबन्धिविशेषकरणात् तस्याप्युपकारी द्रष्टव्य इति सहकारी व्यपदिश्यते, ननु विशेषेणापि सह तस्य वचनस्य क संबन्धो न तावत् 'तादात्म्य'भिन्नत्वेनाभ्युपगमात्, नापि तदुत्पत्ति , विकल्पद्वयानतिक्रमात्, तथाहि-किं वचनेन विशेषो जन्यते ?; उत विशेषेण वचनं ?, तत्र न तावदाद्य पक्ष ; विशेषस्य सहकारिणोऽभावात्, नापि द्वितीयः; च-

चनस्य नित्यतया कर्तुमशक्यत्वात्, अथ मा भूद् वचनविशेषयोर्जन्यजनकभावः, 'आधाराऽऽधेयभावो' भविष्यति, तदप्यसमीचीनम्, आधाराऽऽधेयभावस्यापि परस्परोपकार्योपकारकभावापन्नत्वात्, तथाहि-बदरं पतनधर्मकं सत्कुण्डेन स्वानन्तरदेशस्थायितया परिणामि जन्यते, ततस्तयोराधाराधेयभाव उपपद्यते, वचनेन तु विशेषो जन्यते, तस्यान्यतो भावात्, ततः कथमनयोराधाराधेयभावः ?। अथ तेन विशेषेण वचनस्योपकारः कश्चित् क्रियते ततः स तस्य संबन्धी, न तु स उपकारस्ततो भिन्नः, अभिन्नो वेत्यादि नदेवावर्तते इत्यनवस्था। अपि च-कुतः प्रमाणाद्वचनस्यापौरुषेयत्वाभ्युपगमः, कर्तुरस्मरणादिति चेत्, न, तस्याप्यसिद्धत्वात्, तथाहि-स्मरन्ति जिनप्रणीतागमतत्त्ववेदिनो वेदस्य कर्तॄन् पिप्पलादप्रभृतीन् सकर्तृस्मरणवादस्तेषां मिथ्यारूप इति चेत्, क इदानीमेवं सति पौरुषेयः सर्वस्याप्यपौरुषेयत्वप्रसक्तेः। तथाहि-कालिदासादयोऽपि कुमारसंभवादिष्वात्मानमन्यं वा प्रणेतारमुपदिशन्त एवं प्रतिक्षेप्तुं शक्यन्ते मिथ्यात्वमात्मानमन्यं वा कुमारसंभवादिषु प्रणेतारमुपदिशन्तीति। ततः कुमारसंभवादयोऽपि ग्रन्थाः सर्वेऽप्यपौरुषेया भवेयुः, तथा च-कः प्रतिविशेषो वेदे ? येन स एव प्रमाणतयाऽभ्युपगम्यते, न शेषाऽऽगमाः। अपि च-यौष्माकीणैरपि पूर्वमहर्षिभिः सकर्तृकत्वं वेदस्याभ्युपगतमेव, तथा च-तद्ग्रन्थः-" ऋग्गिरावृचश्चक्रुः सामानि सामगिराविति"। अथ तत्र करोतिः स्मरणे वर्त्तते, न निष्पादने, दृष्टश्च करोतिरर्थान्तरेऽपि वर्तमानो, यथा संस्कारे, तथा च लोके वक्तारः-'पृष्ठं मे कुरु पादौ मे कुर्विति' अत्र हि संस्कारे एव करोतिर्वर्तते, नापूर्वनिर्वर्त्तने सम्भवति अशक्यक्रियत्वात्, ततोऽन्यथानुपपत्त्या संस्कारे एव करोतिर्वर्त्तते, वेदविषये तु नान्यथानुपपन्नत्वं किमपि निबन्धनमस्ति। ततः कथं तत्र स्मरणे वर्तयितुं शक्यते?, स्यादेतत्-यदि वेदविषये करोति स्मरणेन वर्त्तेत तर्हि वेदस्य प्रामाण्यं न स्याद्, अथ च प्रामाण्यमभ्युपगम्येत, तच्चापौरुषेयत्वादेव, अन्यथा सर्वागमानामपि प्रामाण्यप्रसक्तेः। ततोऽत्रापि करोति प्रामाण्यान्यथानुपपत्त्या स्मरणे वर्त्य इति, तदेतदसत्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्, तथाहि-प्रामाण्ये सिद्धे सति तदन्यथानुपपत्त्या करोतेः स्मरणे वर्त्तन, करोते स्मरणे वृत्तौ चापौरुषेयत्वसिद्धितः प्रामाण्यमित्येकाऽसिद्धावन्यतराऽसिद्धिः, अनैकान्तिकं च कर्त्रस्मरणं, 'वटे वटे वैश्रवणः' इत्यादिशब्दानां पौरुषेयाणामपि कर्त्तुरस्मृते यत्नवान् तत्कर्त्तारमुपलभत एवेति चेत्, नावश्यं तदुपलम्भसंभवः, नियमाभावात्, किं च-पौरुषेयत्वेनाभ्युपगतस्य वेदस्य कर्त्ता नैवास्ति कश्चित् पौरुषेयत्वेनाभ्युपगतस्य च वटे वटे वैश्रमण इत्यादिरस्तीति न प्रमाणात् कुतश्चिद्विनिश्चयः, किं तु-परोपदेशात्, स च भवतो न प्रमाणं, परस्य रागादिपरीतत्वेन यथावद्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, ततः कर्त्रभावसंदेह इति संदिग्धासिद्धोऽप्ययं हेतुः, एतेन यदन्यदपि साधनमवादीत् वेदवादी-'वेदाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं' वेदाध्ययनत्वाद्, अधुनातनवेदाध्ययनवदिति। तदपि निरस्तमवसेयम्। एवमपौरुषेयत्वसाधने सर्वस्याप्यपौरुषेयत्वप्रसक्तेः, तथाहि-कुमारसंभवाध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं, कुमारसंभवाध्ययनत्वात्, इदानीतनकुमारसंभवाध्ययनवदिति कुमारसंभवादीनामध्ययनाऽनादितासिद्धेरपौरुषेयत्वं दुर्निवारम्, न च तेषामपौरुषेयत्वं स्वयं करणपूर्वकत्वेनापि तदध्ययनस्य भावाद् एवं वेदाध्ययनमपि किंचित् स्वयं करणपूर्वकमपि भविष्यतीति वेदाध्ययनत्वादिति व्यभिचारी हेतुः, स्यादेतत्, वेदाऽध्ययनम् स्वयं करणपूर्वकं न भवति, वेदानां स्वयं कर्तुमशक्तेः। तथा चात्र प्रयोगः- पूर्वेषां वेदरचनायामशक्तिः, पुरुषत्वाद्, इदानींतनपुरुषवदिति, तदप्ययुक्तम् अत्रापि हेतोर्व्यभिचारात्, तथाहि--भारतादिष्विदानींतनपुरुषाणामशक्तावपि कस्यचित्पुरुषस्य व्यासादेः शक्तिः श्रूयते, एवं वेदविषयेऽपि, संप्रति पुरुषाणां कर्तुमशक्तावपि कस्यचित्प्राक्तनस्य पुरुषविशेषस्य शक्तिर्भविष्यतीति। अपि च-यथाग्निसामान्यस्य ज्वालाप्रभवत्वमरणिनिर्मथनप्रभवत्वं च परस्परमबाध्यबाधकत्वान्न विरुध्यते, को ह्यत्र विरोधः अग्निश्च स्यात् कदाचिदरणिनिर्मथनपूर्वकः कदाचित् ज्वालान्तरपूर्वकश्च। ततो यथाऽऽद्योऽपि पथिककृतोऽग्निर्ज्वालान्तरपूर्वको नारणिनिर्मथनपूर्वकः पथिकाऽग्नित्वाद् आद्यानन्तराग्निवदित्ययं हेतुर्व्यभिचारी, विपक्षे वृत्तिसंभवात्, तथा वेदाध्ययनमपि विपक्षे वृत्तिसंभवात् व्यभिचार्येव, तथाहि-वेदाध्ययनं स्वयंकरणपूर्वकत्वमध्ययनान्तरपूर्वकत्वं च परस्परमबाध्यबाधकत्वादविरुद्धं, ततश्च वेदाध्ययनमपि स्यात्किंचित् स्वयंकरणपूर्वकमपीति, यदा त्वेवं विशिष्यते-यस्तु तथाविधः स्वयं कृत्वा अध्येतुमसमर्थः तस्य वेदाध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकमिति तदा न कश्चिद्दोषः, यथा यादृशोऽग्निर्ज्वालाप्रभवो दृष्टः तादृशः सर्वोऽपि ज्वालाप्रभव इति, अस्तु वा सर्वं वेदाऽध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं, तथाऽप्येवमनादिता सिद्धेर्वेदस्य; नापौरुषेयत्वम्, अथाऽत एवानादितामात्रादपौरुषेयत्वसिद्धिरिष्यते तर्हि डिम्भकपांशुक्रीडादेरपि पुरुषव्यवहारस्याऽपौरुषेयतापत्तिः, तस्यापि पूर्वपूर्वदर्शनप्रवृत्तित्वेनाऽनादित्वात्।

अपि च-स्युरपौरुषेया वेदा यदि पुरुषाणामादिः स्याद्वेदाध्ययनं चानादि, तदाप्याद्यपुरुषस्याध्ययनमध्ययनान्तरपूर्वकं न सिद्ध्यति, अध्यापयितुरभावात्, न च पुरुषस्य ताल्वादिकरणग्रामव्यापाराभावात् स्वयं शब्दा ध्वनन्ति ततो वेदस्य प्रथमोऽध्यता कर्त्तैव वेदितव्यः, अपि च-यद्वस्तु यद्धेतुकमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रसिद्धं तज्जातीयमन्यदप्यदृष्टहेतुकं ततो हेतोर्भवतीति संप्रतीयते, यथेन्धनादेको वह्निर्दृष्टस्ततस्तत्समानस्वभावोऽपरोऽप्यदृष्टहेतुकः तत्समानहेतुकः संप्रतीयते, लौकिकेन च शब्देन समानधर्मा सर्वोऽपि वैदिकः शब्दराशिः, ततो लौकिकवद्वैदिकोऽपि शब्दराशिः पौरुषेयः सम्प्रतीयताम्। स्यादेतद्वैदिकेषु शब्देषु यद्यपि न पुरुषो हेतुः, तथापि पौरुषेयाभिमतशब्दसमानाऽवशिष्टपदवाक्यरचना भविष्यति ततः कथं तत्समानधर्मतामवलोक्य पुरुषहेतुकता तेषामनुमीयते, तदेतद् बालिशजल्पितं पदवाक्यरचना हि यदि हेतुमन्तरेणापीष्यते तत आकस्मिकी सा भवेत् ततश्चाकाशादावपि सा सर्वत्र सम्भवेत्, अहेतुकस्य देशादिनियमायोगात्, न च

सा सर्वत्राऽपि संभवति, तस्मात् पुरुष एव तस्या हेतुरित्य-वश्यं प्रतिपत्तव्यम् , अन्यच्च पुरुषस्य रागादिपरीतत्वेन यथावद् वस्तुपरिज्ञानाऽभावात् तत्प्रणीतं वाक्यमयथार्थमपि संभाव्यते इति संशयहेतु पुरुषोऽपकीर्णः, स च संशयोऽपौरुषयत्वाभ्युपगमेऽपि वेदवाक्यानां तदवस्थ एव, तथाहि-स्वयं तावत्पुरुषो वेदस्यार्थं नाऽवबुध्यते, रागादिपरीतत्वात् , नाऽप्यन्यत -पुरुषान्तरात् , तस्यापि रागादिपरीतत्वेन यथा वत्स्वमपरिज्ञानाद् , अथ जैमि(म)निश्चिरतरपूर्वकालभावी पटुप्रज्ञः सम्यग्वेदार्थस्य परिज्ञानासीत् ततः परिज्ञानमभूदिति, न हि सर्वेऽपि पुरुषाः समाना प्रज्ञामेधादिगुणैरिति वक्तुं शक्यं, संप्रत्यपि प्रतिपुरुष प्रज्ञादेस्तारतम्यस्य दर्शनात् , ननु स जैमि(म)नि. पुरुषो वेदस्यार्थं यथावस्थितमवगच्छतिस्मेति कुतो निश्चयः ?, प्रमाणेन संवादादिति चेत् नन्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु न प्रमाणस्यावतारो यथाग्निहोत्रवचनस्य स्वर्गसाधनत्वे, बहवश्चातीन्द्रियार्था वेदे व्याख्यायन्ते, तत्कथं तत्र संवादः ?, अथ येष्वर्थेष्वस्मादृशां प्रमाणसमव तद्विषये प्रमाणसंवाददर्शनादतीन्द्रियाणामप्यर्थानां स सम्यक् परिज्ञानाभ्युपगम्यते,तदप्ययुक्तम् , रागादिकलुषिततया तस्याऽतीन्द्रियार्थपरिज्ञानाऽसंभवाद् , अन्यथा सर्वेषामप्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वप्रसक्तिः ततस्तत्कृतातीन्द्रियार्थव्याख्या मिथ्यैव। अपिच—आगमोऽर्थतः परिज्ञात सन् प्रेक्षावतामुपयोगविषयो भवति, नापरिज्ञातार्थः शब्दगडुमात्रं, ततोऽर्थः प्रधान , स चेत्पुरुषप्रणीतः किं शब्दमात्रस्यापौरुषेयत्वपरिकल्पनेन निरर्थकत्वात् , तथाऽन्यतोऽपि वेदार्थस्य सम्यगनुगमः । नाऽपि वेद स्वकीयमर्थमुपदेशमन्तरेण स्वयमेव साक्षादुपदर्शयति, ततो वेदस्यार्थप्रतिपत्त्युपायाऽभावाद् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम ' इत्यत्र श्रुतौ यथा वेदप्रामाणिकैरयमर्थ परिकल्प्यते घृताऽऽद्याहुतिं प्रक्षिपेत् स्वर्गकामः इति । तथाऽयमप्यर्थ तै किं न कल्प्यते-खादेत् स्वमास स्वर्गकामः इति, नियामकाऽभावात् ,

उक्तं च—

" स्वयं रागाऽऽदिमान्नाऽर्थं, वेत्ति वेदस्य नाऽन्यतः।
न वेदयति वेदोऽपि, वेदार्थस्य कुतो गति ॥ १ ॥
तेनाऽग्निहोत्रं जुहुयात् , स्वर्गकाम इति श्रुतौ ।
खादेत्स्वमांसमित्येष, नाऽर्थ इत्यत्र का प्रमा ॥ २ ॥ "

अथ य एव शाब्दो व्यवहारो लोके प्रसिद्ध स एव वेदवाक्यार्थनिश्चयनिबन्धन, न च लोकेऽग्निहोत्रशब्दस्य स्वमासं वाच्यम् , नाऽपि जुहुयादित्यस्य भक्षणं, तत्कथमयमर्थ परिकल्प्यते ?, तदयुक्तं, नानाऽर्था हि लोके शब्दा रूढा यथा गोशब्द ।

अपि च-सर्वे शब्दाः प्राय सर्वार्थाना वाचका देशादिभेदतो द्रुतविलम्बितादिभेदेन, तथाप्रतीतिदर्शनात् , तथाहि-द्रविडस्यार्यदेशमुपागतस्य मारिशब्दात्-मगि(टि)ति वर्षविषया प्रतीतिरुपजायते विलम्बिना चोपसर्गविषया, यद्वा-आर्यदृशोत्पन्नस्य द्रविडदेशमधिगतस्य शीघ्रमुपसर्गविषया प्रतीतिर्विलम्बिना च वर्षविषया एवमनया दिशा सर्वेषामपि शब्दाना सर्वार्थवाचकत्वं परिभावनीयम् ,

न च वाच्यम् एवं सति घटशब्दमात्रश्रवणादखिलार्थप्रतीतिप्रसङ्गो, यथा क्षयोपशमप्रबोधप्रवृत्त , क्षयोपशमश्च

संकेतावपेक्ष इति तदभावे न भवति ततोऽग्निहोत्रादिशब्दस्य स्वमांसादिवाचकत्वेऽप्यवरोध इति लौकिकशाब्दव्यवहारानुसरणेऽपि न वैदिकवाक्यानामभिलपितनियतार्थप्रतिपत्तिः । किं च-लोकप्रसिद्धेनैव शब्देन व्यवहारेण वयं वेदवाक्यानां प्रतिनियतमर्थं निश्चेतुमुद्युक्ता , लौकिकश्च शाब्दो व्यवहारोऽनेकधा परिम्लनमानो दृष्टः संकेतवशतः प्राय सर्वेषामपि शब्दानां सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिसंभवात् , ततो लौकिकेनैव शब्देन व्यवहारेणास्माकमाशङ्कादपादि कोऽत्रार्थ स्यात् ? किं घृताद्याहुतिं प्रक्षिपेत् स्वर्गकाम इति उताहो स्वमास खादेदिति ?, तत्कथं तत एव निश्चयः कर्त्तुं बुध्यते ? । न हि योऽत्र संशयहेतु स तत्र निश्चयमुत्पादयितुं शक्त इति ।

अपि च-नैकान्तेन वेदे लौकिकशब्दव्यवहारानुसरणं स्वर्गोर्वश्यादिशब्दानामरूढार्थानामपि तत्र व्याख्यानात् , यथा स्वर्ग -सुखविशेष , उर्वशी तु अरणिरिति । तथा शब्दान्तरेष्वप्यरूढार्थकल्पना किं न संभविनी ?, उक्तं च-" स्वर्गोर्वश्यादिशब्दस्य, दृष्टा रूढार्थवाचक. । शब्दाऽन्तरेषु ताद्वत्तु, तादृश्येवाऽस्तु कल्पना ॥ १ ॥ " स्यादेतत् अग्निहोत्रादर्वाक्यस्य स्वमासभक्षणप्रसङ्गो न युक्तो, वेदे नैवान्यत्र तस्यान्यथा व्याख्यानात् तदयुक्तम् , तत्राऽपि वाक्यार्थस्य निर्णयाभावाद्यथोक्तं प्राक्-न हि अप्रसिद्धार्थस्य वाक्यस्याऽप्रसिद्धार्थमेव वाक्यान्तरं नियतार्थप्रसाधनायालं, तुल्यदोषत्वात् । अथत्यमाचक्षीथा यत्रार्थे न काचित्प्रमाणबाधा सोऽर्थो ग्राह्यो, न चाग्निहोत्रादिवाक्यस्य घृताऽऽद्याहुतिप्रक्षेपरूपेऽर्थे प्रमाणबाधामुत्पश्याम , तत्कथ तमर्थं न गृह्णीम । तदेतत्स्वमासभक्षणलक्षणेऽप्यर्थे समान न हि तत्रापि काञ्चित् प्रमाणबाधामीक्षामहे ।

अपि च—यदि प्रमाणबलात्प्रवृत्तिमीहसे तर्हि पौरुषेयमेव वचस्त्वयोपादेयं तस्य लोकप्रतीत्यनुसारितया सम्प्रदायतोऽधिगतार्थतया च प्रायो युक्तिविषयत्वात् , नाऽपौरुषेयम् , विपरीततया तत्र युक्तेरसंभवात् , तथाहि—काऽत्र युक्तिः ? यया स्वमासभक्षणात्स्वर्गप्राप्तिर्बाध्यते , न घृताद्याहुतिप्रक्षेपादिति ?, घृताऽऽद्याहुतिप्रक्षेपादीनां स्वर्गप्रापणादिशक्तेरतीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात् , सम्प्रदायस्य चार्थनैयत्यकारिणोऽसंभवात् , एतच्चानन्तरमेव वक्ष्यामः ।

अथाऽऽगमार्थाऽऽश्रया युक्ति स्वमांसभक्षणेन स्वर्गप्राप्तेर्बाधिका भविष्यति,तदयुक्तम् , आगमार्थस्याद्याप्यनिश्चयात् । अनिश्चितार्थस्य च बाधकत्वाऽयोगात् , अथ सम्प्रदायादर्थनिश्चयो भविष्यति, तथा हि-' प्रथमतो वेदेन जैमिनये स्वार्थ उपदर्शित पश्चात्तेनास्मभ्यमुपदिष्ट" इति, तदप्यसत् , वेदस्य हि यदि स्वार्थोपदर्शनशक्तिस्ततोऽस्मभ्यमपि स्वार्थं किं नोपदर्शयति ?, तस्माज्जैमिनयेऽपि न तेन स्वार्थो दर्शित , किन्तु-स वेदमुखेनात्मानमेवार्थनियमस्वरूपमुपदर्शितवान् , यथा कश्चित्केनचित्पृष्ट -' को मार्ग पाटलिपुत्रस्य ? ' स प्राह-एष स्थाणुर्दर्शयमानो वक्ति- अयं मार्गः पाटलिपुत्रस्य ', तत्र न स्थाणोर्वचनशक्ति केवल स्थाणुमुखेन स एवात्मानं मार्गोपदेष्टारं कथयति एव वेदस्यापि न स्वाऽर्थोपदर्शनशक्ति ततस्तन्मुखेन जैमि(म)निरात्मानमेवार्थनियमस्वरूपमुपदर्शितवान् , तत्र लौकिकशब्दव्यवहारानु-

स्वरणात्मापि गुरुतोऽपि च संप्रदायाद्वेदस्यार्थनिश्चयो, नापि तस्याऽपौरुषेयत्वसाधकं किमपि प्रमाणमित्यसंभव्यपौरुषे-यम् ; उक्तं च-"यान्ध्येयस्वरविधागतुल्यमपौरुषेयमि" ति । ननु यदि वान्ध्येयस्वरविधानतुल्यमपौरुषेयं भवेत्तर्हि न वेद-वचोऽपौरुषेयतया शिष्टाः प्रतिगृह्णीयुः ।

अथ च–सर्वेष्वपि देशेषु शिष्टाः प्रतिगृह्णन्तो दृश्यन्ते, तस्मादयमसंभव्यपौरुषेय, तदत्र पृच्छाम -के शिष्टाः ? । ननु किमत्र प्रष्टव्यम् ?, ये ब्राह्मणीयोनिसमुद्भवा वेदोक्तमन्त्रविधि-संस्कृता वेदप्रणीताचारपरिपालनैकनिपुणचेतसस्ते शिष्टाः तदेतदयुक्तं, विचारासहत्वात्, तथा हि–किमिदं नाम ब्राह्मणत्वं यद्योनिसमुद्भवाच्छिष्टत्वं भवेत् ?, ब्रह्मणोऽपत्य-त्वमिति चेत् तथा हि-ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मण इति व्यपदिश-न्ति पूर्वेऽपि. न चैव सति चाण्डालस्यापि ब्राह्मणत्वप्रस-क्तिः, तस्याऽपि ब्रह्मतो समुत्पन्नत्वात् । उक्तं च-"ब्रह्म-णोऽपत्यतामात्रात्, ब्राह्मणोऽतिप्रसज्यते । न कश्चिदब्रह्म-तनो-र्जातश्च कश्चिदिष्यते ॥१॥" यदप्युक्तम्-'वेदोक्तविधि-संस्कृता वेदप्रणीताचारपरिपालनैकनिपुणचेतसः' इति, तदप्ययुक्तम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तथाहि–वेदस्य प्रामाण्ये सिद्धे सति तदुक्तविधिसंस्कृतास्तदर्थसमाचर-णाच्छिष्टा भवेयुः शिष्टत्वे च तेषां सिद्धे सति तत्परिग्रहा-द्वेदप्रामाण्यमित्येकाभावेऽन्यतरस्याऽप्यभावः ।

मनुष्येण लक्ष्यत पद्माभ्यां सद्भावस्थपद्मोदयवदिति चेत्, नन्वसौ-"मनुष्यमात्रमिदं कलेवरम्" इत्यादिनोक्तयन्त्रा-संप्रत्ययकरमेवास्तीति तेऽपि तथा स्युः, तथा च-तत्परि-तानुष्ठाननिष्ठापरिष्ठता विप्राणामपि प्राप्नोति, अन्यथा प्रत्य-वायसंभवात् । अथात्रेयमभिधानानन्तरानुपलम्भेन कारणेन, किं न श्रुतावपि ?। अभिव्यक्तप्रभावसमर्था तदानीमनुपलम्भः श्रुतौ नाभावनिबन्धन इति चेत्, किं न नास्तिकसिद्धा-न्तेऽप्येवम्, इति सकलं समानम् ।

किं च-अनुभवानुसरणचतुरं प्रत्यभिज्ञानम् अनुभवश्च प्रायेण प्रत्यभिज्ञा तादृग्विधा, जातिस्मृत्यादिमतः कस्यापि कतिपयभवविषयां च प्रभावयितुं प्रभुः इति कथमनादौ काले केनापि नेयं श्रुतिः सृष्टेति इतिप्रकटयितुं पर्यावर्णायं स्यात् ? । तत्र तत्र प्रत्यक्षं समस्तं । नाऽप्यनुमाने, यदि कर्तृस्मरणं, वेदाध्ययनवाच्यत्वं, कालत्वं वा तदेतेषु सर्वेषामपि प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमबाधितत्वं नाशत्पक्षदोषः । तत्र प्रत्य-क्षबाधस्तावत्, तथाविधमठपीठिकाप्रतिष्ठशठबठरगर्भगृ-द्वारद्वीपदेशप्रचुरपाखण्डिकेषु यजुर्नामकं उच्चैस्तारं गुण-नत्पूत्कुर्वन्तस्तु कोलाहलममी कुर्वन्तीति प्रत्यक्षं प्रादुर्भूत, तेन चापौरुषेयत्वपक्षो बाध्यते । अभिव्यक्तिमन्त्राणामेव प्रतीतिरिति चेत्, तर्हि इंसपक्षादिलक्षणानि किं नेयं तथा ? इति तेऽपि नित्याः स्युः । वर्णानामनित्यत्वादि-

वैदेशिकार्थकृतो वा भवेत् । न तावदाद्यः, तथाविधोपदेशाऽभवनात् । द्वितीयस्तु स्यात् । न पुनस्तत्रोपदेशस्य प्रामाण्यम्, अस्य स्वार्गप्रयाममात्रकारित्वादीनां स्यात् । प्रतिपादकत्वेनैव प्रमाणानां प्रामाण्यात् । अन्यथा प्रवृत्तावपि न तत्साध्यार्थेऽपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षस्य च त्रिपातिनार्थे वस्तुसाध्यार्थक्रियापि प्रमेया भवेत्, तस्मात्पुरुषप्रेरणाप्रतिबद्धवृत्तिप्रवृत्तिरस्तु । मा वा भूत्, प्रमाणेन वस्तुपरिच्छेदमात्रकरणे, तावतैव प्रेक्षावतोऽप्यवाप्तेः पर्यवसानात्, पुण्य प्रामाण्यमस्यावसेयम् । यथा-अस्तु तस्मादत्र प्रवर्तितव्यमित्यवगमात्कुशलादर्कस्यादिवाक्यानां प्रामाण्यं, किं तु-तद्वदेव वेदे कर्तृप्रतिपादकाऽऽगमस्यापि प्रामाण्य वास्तादिवेति सिद्ध आगमबाधोऽपि ।

यत्तु कर्तृस्मरणं साधनम्, तद्विशेषणं स्वविशेषणं वा वक्तव्येन । प्राक्तनं, तावत्पुराणकूपारामादावामविदारादिभिर्व्यभिचारि, तेषां कर्तृस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात् । द्वितीये तु सम्प्रदायाव्यवच्छेदे सति कर्तृस्मरणादिति व्यधिकरणाऽसिद्धम्, कर्तृस्मरणस्य श्रुतेः सम्प्रदायं पुंसि वर्तनात् । यथाऽपौरुषेयी श्रुतिः, संप्रदायाव्यवच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वाद्, आकाशवद् इत्यनुमानरचनायामनयोराश्रयधिकरणासिद्धिः । नैवम् । एवमपि विशेषणं सन्दिग्धासिद्धताऽऽपत्तेः । तथाहि-आदिमतामपि प्रासादादीनां संप्रदायो व्यवच्छिद्यमानो विलोक्यते, अनादेस्तु श्रुतेरव्यवच्छिन्नः संप्रदायोऽप्यस्ति इति मृतकसुखस्पन्दनमन्वयार्थिनाम् । तथा च-कथं न सन्दिग्धाऽसिद्धं विशेषणम् ? । विशेष्यमप्युभयाऽसिद्धं, वादिप्रतिवादिभ्यां तत्र कर्तुः स्मरणात् । ननु श्रोत्रियाः श्रुतौ कर्तारं स्मरन्तीति मृषावाद श्रोत्रियाणामदः स्मरामो इति चेत् ननु यूयमाम्नायमाम्नातस्मिष्ट तावत्तत-"यो वै वेदांश्च प्रहिणोति" इति, "प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत तत्स्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्त" इति च स्वयमेव स्वस्य कर्तारं स्मारयन्तीं श्रुतिं विधुनामधुनामिव गणयन्तो यूयमेव श्रोत्रियाऽपसदाः किं न स्यात् ? । किं च-कठ-माध्यन्दिनि-तित्तिरिप्रभृतिमुनिनामाङ्किताः काश्चन शाखास्तत्कृतत्वादेव मन्वादिस्मृतय इव । उत्पन्नानां तासां कल्पादौ नैरन्तर्यात्, प्रकाशितत्वाद्वा तन्नामचिह्न अनादौ कालेऽनन्तमुनिनामाङ्कितत्व तासां स्यात् । जैनाश्च-कालाऽसुरमेतत्कर्तारम् स्मरन्ति । कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेरप्रमाणमेवैतत्स्मरणमिति चेत् । नैवम् । यतो यत्र विप्रतिपत्तिः, तद्वाऽप्रमाणमस्तु, न पुनः कर्तृमात्रस्मरणमपि ।

"वेदस्याऽध्ययनं सर्वं, गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनवाच्यत्वा-दधुनाऽध्ययनं यथा ॥ १ ॥
अतीताऽनागतौ कालौ, वेदकारविवर्जितौ ।
कालत्वात्तद्यथा कालो, वर्तमानः समीक्ष्यते ॥ २ ॥"

इति कारिकोक्ते वेदाध्ययनवाच्यत्वकालत्वेऽपि हेतु 'कुरङ्गशृङ्गभङ्गुर कुरङ्गाक्षीणां चेतः' इति वाक्याध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकम् एतद्वाक्याध्ययनवाच्यत्वाद्, अधुनातनाध्ययनवद् अतीतानागतौ कालौ प्रक्रान्तवाक्यकर्तृवर्जितौ कालत्वात्, वर्तमानकालवत्, इतिवदप्रयोजकत्वाद्, अनाकर्णनीयौ सकर्णानाम् । अथाऽर्थाऽऽपत्तेरपौरुषेयत्वनिर्णयो वेदस्य । तथाहि-संवाद-विसंवाददर्शनाऽदर्शनाभ्यां तावदेव निःशेषपुरुषैः प्रामाण्येन निरणायि । तन्निर्णयश्चास्य पौरुषेयत्वे दुरापः । यतः-

" शब्दे दोषोद्भवस्ताव-द्वक्त्रधीन इति स्थितिः ।
तदभावः क्वचित्तावद्, गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ १ ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां, शब्दे सङ्क्रान्त्यसंभवात् ।
वेदे तु गुणवान् वक्ता, निर्णेतुं नैव शक्यते ॥ २ ॥
ततश्च दोषाभावोऽपि, निर्णेतुं शक्यतां कथम् ।
वक्त्रभावे तु सुज्ञानो, दोषाभावो विभाव्यते ॥ ३ ॥
यस्माद्वक्त्रभावेन, न स्युर्दोषा निराश्रयाः " ।

ततः प्रामाण्यनिर्णयान्यथाऽनुपपत्तेरपौरुषेयोऽयमिति । अस्तु तावदत्र करुणापशुपरपरायाणव्यपरोपणप्रगुणप्रचुरोपदेशाऽपवित्रत्वादप्रमाणमेवैषः इत्यनुत्तरोत्तरप्रकारः । प्रामाण्यनिर्णयोऽप्यस्य न साध्यसिद्धिः, विरुद्धत्वाद्, गुणवद्वक्तृकतायामेव वाक्येषु प्रामाण्यनिर्णयोपपत्तेः । पुरुषो हि यथा रागादिमान् मृषावादी, तथा सत्यशौचादिमान् अवितथवचनः समुपलब्धः । श्रुतौ तु तदुभयाभावेनैरर्थक्यमेव भवेत् । कथं वक्तुर्गुणित्वनिश्चयश्छद्मनीति चेत्, कथं पितृपितामहप्रपितामहादेरप्यसौ न स्यात् ? येन तद्धस्तन्यस्ताक्षरश्रेणीः पारंपर्योपदेशस्य वाऽनुसारेण ग्रामक्षेत्रनिधानादौ निःशङ्क प्रवर्तेथाः । क्वचित्संवादाच्चेद्, अत एवान्यत्रापि प्रतीहि । कारीर्यादौ संवाददर्शनात् । कदाचित्-क्वचित्संवादस्तु सामग्रीवैगुण्यादन्यथाऽपि प्रतीयत एव, प्रतीतासमन्त्रापदिष्टमन्त्रवत् । प्रतिपादितश्च प्राक् रागद्वेषाज्ञानशून्यपुरुषविशेषनिर्णयः । किं च-अस्य व्याख्यानं तावत्पौरुषेयमेव, अपौरुषेयत्वे भावनानियोगादिविरुद्धव्याख्याभेदाभावप्रसङ्गात्, तथा च को नामाऽत्र विश्रम्भो भवेत् ? । कथं चैतद् ध्वनीनामर्थनिर्णीति ? लौकिकध्वन्यनुसारेणेति चेत्, किं न पौरुषेयत्वनिर्णीतिरपि ?, तत्रोभयस्याऽपि विभावनाद् । अन्यथा त्वर्द्धजरतीयम् । न च लौकिकाऽर्थानुसारेण मदीयोऽर्थः स्थापनीय इति श्रुतिरेव स्वयं वक्ति, न च जैमिन्यादावपि तथा कथयति प्रत्यय इत्यपौरुषेयवचसामर्थोऽध्यन्य एव कोऽपि संभाव्येत । पौरुषेयीणामपि म्लेच्छार्यवाचामैकार्थ्यं नाऽस्ति, किं पुनरपौरुषेयवाचाम् । ततः परमकृपापीयूषप्लावितान्तःकरणः कोऽपि पुमान् निर्दोषः प्रसिद्धार्थैः ध्वनिभिः स्वाध्यायं विधाय व्याख्याति, इदानींतनग्रन्थकारवत्, इति युक्तं पश्यामः । अवोचाम च-" छन्दः स्वीकुरुषे प्रमाणमथ चेत्तद्वाच्यनिश्चायकं, कंचिद्विश्वविदं न जल्पसि ततो ज्ञातोऽस्य मूल्यक्रयी " इति ।

आगमोऽपि नापौरुषेयत्वमाख्याति । पौरुषेयत्वाविष्कारिण एवास्योक्तवत्सद्भावात् । अपि च-इयमानुपूर्वी पिपीलिकादीनामिव देशकृताङ्कुरपत्रकन्दलकाण्डादीनामिव कालकृता वा वर्णानां वेदे न संभवति तेषां नित्यव्यापकत्वात् । क्रमेणाऽभिव्यक्तेः सा संभवतीति चेत्, तर्हि कथमियमपौरुषेयी भवेद्, अभिव्यक्तेः पौरुषेयत्वात् इति सिद्धा पौरुषेयी श्रुतिः । रत्ना० ४ परि० ।

(४) आगमस्य चाप्तप्रणीतस्यैव प्रामाण्यं; नतु विरुद्धार्थस्य-आगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वं तेषामप्रामाण्यमेव

थस्त्वाप्तप्रणीत आगमः स प्रमाणमेव कषच्छेदतापलक्षणोपाधित्रयविशुद्धत्वात्। कषाऽऽदीना च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः। न च वाच्यम्-आप्तः क्षीणसर्वदोषस्तथाविधं चाऽऽप्तत्वं कस्याऽपि नाऽस्तीति; यतो रागाऽऽदयः कस्यचिदत्यन्तं छिद्यन्ते अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षाऽपकर्षोपलम्भात् सूर्याऽऽद्यावारकजलदपटलवत्। तथा चाऽऽहु:-"देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः। मेघपङ्क्त्यादयो यद्वद्देवं रागाऽऽदयो मताः" ॥१॥ इति। यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एवाऽऽप्तो भगवान् सर्वज्ञ।

अथाऽनादित्वाद्रागाऽऽदीनां कथं प्रक्षय इति चेत्?, न, उपायतस्तद्भावात्, अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात्। तद्वदेवाऽनादीनामपि रागाऽऽदिदोषाणां प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाऽभ्यासेन विलयोपपत्तेः। क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाऽव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वम्। तत्सिद्धिस्तु ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्त तारतम्यत्वात् आकाशपरिमाणतारतम्यवत्। तथा-सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाऽनुमेयत्वात् क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत्। एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादार्थानुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्यास्तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव; तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनं "रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषा-स्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात्" ॥ १ ॥ इति। स्या० १७ श्लोक।

न च-आगमानां परस्परविरुद्धार्थतया सर्वेषामप्यप्रामाण्यमभ्युपेयं, सर्वज्ञमूलस्याऽवश्यं प्रमाणत्वेनाभ्युपगमार्हत्वाद्, अन्यथा-सम्यक् प्रमाणाऽप्रमाणविभागाऽपरिणते' प्रेक्षावत्ताहानिप्रसङ्गात्, अथ कथमेतत्प्रत्येयं यथा-अयमागमः सर्वज्ञमूल इति?, उच्यते-यदुक्तोऽर्थः प्रत्यक्षेणाऽनुमानेन च न बाध्यते नाऽपि पूर्वाऽपरव्याहतः सोऽवसीयते। सर्वज्ञप्रणीतोऽन्यस्य तथारूपत्वाऽसंभवात्, ततस्तस्माद्यत्सिद्धम् तत्सर्वं सुसिद्धम्, उक्तं च-" दिट्ठेण इट्ठेण य, जम्मि विरोहो न जुज्जइ कहिंचि। सो आगमो ततो जं, नाणं तं सम्मनाणं ति ॥ १ ॥" (धर्म० ५१६) आ० म० १ अ० ६०० गाथाटी०।

जैनाऽऽगमस्य च सर्वज्ञप्रणीतत्वम्—

"सव्वण्णु विहाणम्मि वि, दिट्ठेट्ठावाहिया उ वयणाओ। सव्वण्णू होइ जिणो, सेसा सव्वे असव्वन्नू ॥ १ ॥" एतेन यदुक्त-भवतु वा वर्द्धमानस्वामी सर्वज्ञस्तथाऽपि तस्य सत्कोऽयमाचारादिक उपदेश इति कथ प्रतीयते इति, तदपि दूराऽपास्तम्, अन्यस्येत्थंभूतदृष्टेष्टाबाधितवचनप्रवृत्तेरसंभवात्, यदप्युक्तं भवत्वेषोऽपि निश्चयो यथाऽयमाचारादिक उपदेशो वर्द्धमानस्वामिन इति, तथाऽपि तस्योपदेशस्याऽयमर्थो नाऽन्य इति न शक्यं प्रत्येतुमित्यादि, तदप्ययुक्तं, भगवान् हि वीतरागस्ततो न विप्रतारयति विप्रतारणाहेतुरागाऽऽदिदोषगणाऽसंभवात्। तथा सर्वज्ञत्वेन विपरीत सम्यगर्थमवबुध्यमानं शिष्यं जानाति ततो यदि विपरीतमर्थमवबुध्यते श्रोता तर्हि निवारयेत्, न च निवारयति न च विप्रतारयति, करोति च देशना कृतकृत्योऽपि तीर्थकरनामकर्मोदयात्, ततो ज्ञायते एष एवाऽस्योपदेशस्याऽर्थ इति। उक्तं च—

"नाए वि तदुपएसे, एसेवत्थो मओ त्ति से एवं।
नज्जइ पवत्तमाणं, ज न निवारेइ नह चेव ॥ १ ॥
अग्गह य पवत्तं तं, निवारइ न य तओ पवंचेइ।
जम्हा स वीयरागो, कहणे पुण कारणं कम्म ॥ २ ॥"

एवं च भगवद्विवक्षायाः परोक्षत्वेऽपि सम्यगुपदेशस्यार्थनिश्चयं जातं। यदुक्तम्—' गौतमादिरपि छद्मस्थ ' इत्यादि, तदप्यसारमवसेयं, छद्मस्थस्याऽप्युक्तप्रकारेण भगवदुपदेशार्थनिश्चयोपपत्तेः। तथा चित्रार्था अपि शब्दाः भगवतैव समर्थितास्ते च प्रकरणाद्यनुरोधेन तत्तदर्थप्रतिपादकाः प्रतिपादितास्ततो न कश्चिद्दोष, तत्तत्प्रकरणाद्यनुरोधेन तत्तदर्थनिश्चयोपपत्ते। भगवताऽपि च तथा तथाऽर्थावगमे प्रतिषेधाऽकरणादिति एव च तदानीं गौतमादीनां सम्यगुपदेशार्थस्यावगतावाचार्यपरंपरात इदानीमपि तदर्थावगमो भवति। नचाऽऽचार्यपरम्परा न प्रमाणम् अविपरीतार्थव्याख्यातृत्वेन तस्या प्रामाण्यस्याऽपाकर्तुमशक्यत्वात्। अपि च-भवद्दर्शनमपि किमागममूलम्, अनागममूलं वा?, यद्यागममूलं तर्हि कथमाचार्यपरपरामन्तरेण?, आगमार्थस्याऽवबोद्धुमशक्यत्वात्, अथाऽनागममूल तर्हि न प्रमाणम्, उन्मत्तकविरचितदर्शनवत्। नं० ४६ सूत्रटी०।

(५) संभवद्रूपस्यैव वचनस्य प्रामाण्यं, नत्वसंभवद्रूपस्येति-

एयं पि ण जुत्तिखमं,
ण वयणमित्ताउ होइ एवमियं।
संसारमोअगाण वि,
धम्मो दोसप्पसंगाओ ॥१२२३॥ पं०व०।

एतदपि न युक्तिक्षमं यदुक्त परेण, कुत इत्याह—न वचनमात्रादनुपपत्तिकाद्भवत्येवमेतत्सर्वं, कुत इत्याह—संसारमोचकानामपि वचनात् हिंसाकारिणां धर्मस्य, दु खिनो हन्तव्या इत्यस्याऽदोषप्रसङ्गाददुष्टतापत्तेरित्यर्थः ॥१२४॥प्रति०।

सिय त ण सम्मवयणं,
इयरं सम्मवयणंति किं माणं?।
अह लोगो च्चिय णेयं,
तहा अपाढा विगाणा य ॥१२२४॥ पं०व०।

स्यात्-' तत्- ' संसारमोचकवचनं, न सम्यग्वचनमित्याशङ्क्याह-' इतरद् ' वैदिक सम्यग् वचनमिति किं मानम्? अथ लोक एव मानमित्याशङ्क्याह—नैतत्तथा, लोकस्य प्रमाणतया अपाठात्, अन्यथा प्रमाणस्य षट्संख्याविरोधात्। तथाविगानाच्च, नहि वेदवचन प्रमाणमित्येकवाक्यता लोकानामिति ॥ १२५ ॥ प्रति०।

अह पाढोऽभिमओ च्चिय,
विगाणमवि एत्थ थो(थे)वगाणं तु।
इत्थ पि णप्पमाणं,
सव्वेसि विदंसणाओ उ ॥१२२५॥ पं०व०।

अथ पाठोऽभिमत एव लोकस्य प्रमाणमध्ये, पठणमुप-

लक्षणत्वात्, विगानमप्यत्र-वेदवचनाप्रामाण्यं स्तोका-नामेव लोकानामित्यनटाशङ्कयाह-अत्राऽपि-कल्पनायां न प्रमाणं, सर्वेषां लोकानामदर्शनात्, अल्पबहुत्वानिश्चयाऽभा-वादित्यर्थः ॥ १२६ ॥ प्रति० ।

किं तेसि दंसणेणं,
अप्पबहुत्तं जहित्थ तह चेव ।
सव्वत्थ समवमेयं,
णेव वभिचारभावाओ ॥१२३६॥ पं० व० ।

किं तेषां सर्वेषां लोकानां दर्शनेन? अल्पबहुत्वं यथा इह-म-ध्यदेशाऽऽदौ वेदवचनप्रामाण्यं प्रति तथैव सर्वत्र देशान्तरे-ष्वपि समवसेयं, लोकत्वादिहेतुभ्यः, इत्यत्राऽऽह-नैव, व्य-भिचारभावात्कारणात् ॥ १२७ ॥

एतदेवाह (प्रति० ।)—

अग्गाऽऽहारे बहुगा,
दीसंति दिया तहा ण सुद्द त्ति ।
ण य वईमगओ चिय,
सव्वत्थ इमं हवइ एव ॥१२३७॥ पं० व० ।

अग्राऽऽहारे बहवो दृश्यन्ते द्विजा-ब्राह्मणास्तथा न शूद्रा इति, ब्राह्मणवद् बहवो दृश्यन्ते । न च तद्दर्शनादग्राऽऽ-हारे बहुद्विजदर्शनादेव सर्वत्र भिल्लपल्ल्यादावप्यनङ्कवत्येव द्विजबहुत्वमिति गाथार्थः ॥ १२८ ॥ प्रति० ।

उपपत्त्यन्तरमाह—

ण य बहुगाण वि(ग)ऽन्थं,
अविगाणं सोहणं ति णियमोऽयं ।
न य णो थेवाणं पि हु,
मूढयरभावजोएण ॥१२३८॥ पं०व० ।

न च बहूनामप्यत्र-लोके अविगानम्-एकवाक्यतयाऽल्पं शो-भनमिति नियमः नच स्तोकानामपि न शोभनं मूढतरभा-वयोगेन मूढानां बहूनामपि न शोभनममूढस्य त्वेकस्यैवेति भावः ॥ १२६ ॥ प्रति० ।

ण य रागाऽऽइविरहिओ,
को वि पमाया विसेसकारि त्ति ।
जं सव्वे वि य पुरिसा,
रागाऽऽइजुआ उ परपक्खे ॥१२३६॥ पं०व० ।

न च रागादिविरहितः कोऽपि माता-प्रमाता विशेषकारी-विशेषकृत् यत् सर्वेऽपि पुरुषा रागादियुताः परपक्ष-पर-नये मीमांसकस्य सर्वज्ञाऽनभ्युपगन्तृत्वात् ॥१३०॥

दोषान्तरमाह (प्रति० ।)—

एवं च वयणमित्ता,
धम्मादोसा ति मिच्छगाणं पि ।
घाएताण दियवरं,
पुरओ णणु चंडिगाऽऽईणं ॥ १२४० ॥ पं०व० ।

एवं च प्रमाणविशेषाऽपरिज्ञाने सति वचनमात्रात् स्वका-शात् धर्मादृदोषौ प्राप्नुतः म्लेच्छादीनामपि-भिल्लादीना-मपि घातयतां द्विजवरम्-ब्राह्मणमुख्यं पुरतो ननु चण्डि-काऽऽदीनां देवताविशेषाणाम् ॥ १३१ ॥ प्रति० ।

ण य तेसिं पि ण वयणं,
एत्थ णिमित्तं ति जं न मन्ने उ ।
तं तह घायंति सया,
अस्सुअतचोअणावक्का ॥ १२४१ ॥ पं०व० ।

न च तेषामपि म्लेच्छानां न वचनमत्र निमित्तमिह द्विज-घाते किंतु वचनमेव, कुत इत्याह-यत् सर्व एव म्लेच्छास्तं द्विजवरं घातयन्ति अश्रुत तच्चोदनावाक्यं द्विजवरघात-विधिवचन यैस्ते तथा ॥ १३२ ॥ प्रति० ।

अह तं ण एत्थ रूढं,
एयं पि ण तत्थ तुल्लमेवेयं ।
अह तं थो (थ) वमणुचिय,
इमम्मि एयम्मि तेसिं ॥१२४२॥ पं०व० ।

अथ तन्म्लेच्छप्रवर्त्तकवचनं नाऽत्र रूढं लोके इत्याशङ्कया-ह-एतमेतदपि वैदिकं न तत्र भिल्लमेव रूढमिति तुल्यमन्य-तराऽरूढत्वम्, अथ तन्म्लेच्छप्रवर्त्तकं वचनं स्तोकमनुचि-तमसम्मूढमित्याशङ्कयाह-इदमप्येतादृशं तेषां म्लेच्छप्रवर्त्त-कमेव वचनं वेदेऽस्ति न द्विजप्रवर्त्तकं अथर्वणमाश्रित्याऽनन्त-त्वात् अथर्वणमन्योच्छिन्नशाखत्वेनापपत्तेरिति तैरपि वक्तुं शक्यत्वादिति ॥ १३३ ॥

अन्याऽपि कल्पना ब्राह्मणपरिगृहीतत्वादिरूपा भिल्लपरि-गृहीतत्वादितुल्यत्वेन दुष्टेत्याह (प्रति०)-

अह तं वेअंगं खलु,
न तं पि एमेव इत्थ वि ण माणं ।
अह तत्थाऽसवणमिणं,
सि एअमुच्छिण्णमाहं तु ॥ १२४३ ॥
ण य तव्वयणाओ चिय,
तदुभयभावो त्ति तुल्लभणिईओ ।
अण्णा वि कप्पणेवं,
साहम्मविहम्मओ दुट्ठा ॥ १२४४ ॥

अथ तद्वेदाङ्गं खलु द्विजप्रवर्त्तकमित्याशङ्कयाह-न तदपि म्लेच्छप्रवर्त्तकमेवमेव वेदे इत्यत्रापि न मानम्, अथ तत्र वेदे अथर्वणमिदम्-मानम्, न हि तद् वेदे श्रूयते इत्याशङ्क-याह-स्यादेतत्-उत्स(च्छि)न्नशाखमेवैतदपि सम्भाव्यतइति गाथार्थः ॥ १२४३ ॥ न च तद्वचनाद्-वेदवचनादेव तदुभ-यभावो-धर्मादोषभाव इति, कुत इत्याह-भणिते, म्लेच्छव-चनादप्येतदुभयमित्यपि वक्तुं शक्यत्वादित्यर्थः, अन्याऽपि कल्पना ब्राह्मणपरिगृहीतत्वादिरूपा एवम्-उक्तवत् भिल्ल-परिगृहीतत्वादिना प्रकारेण साधर्म्यवैधर्म्येण कारणात् दु-ष्टेति गाथार्थः ॥ १२४४ ॥ प० व० ।

यस्मादेवम् (प्रति०)—

तम्हा ण वयणमित्तं,
सव्वत्थ विसेसओ बुहजणेणं ।

एत्थ पवित्तिणिमित्तं,
ति एय दट्ठव्वयं होइ ॥ १२७५ ॥ पं० व० ।

तस्माद्र वचनमात्रमुपपत्तिशून्यं सर्वत्राऽविशेषेण. कारणात् बुधजनेन—विद्वज्जनेन अत्र लोके प्रवृत्तिनिमित्तमेवं द्रष्टव्यं भवति ॥ १३६ ॥ प्रति० ।

किं पुण विसिट्ठगं चिय,
जं दिट्ठिट्ठाहि णो खलु विरुद्धं ।
तह संभवंस(त)रूवं,
विआरिउं सुद्धबुद्धीए ॥ १२७६ ॥ पं० व० ।

किं पुनः विशिष्टमेव वचनं प्रवृत्तिनिमित्तमिह द्रष्टव्यं, किं भूत यत् दृष्टेष्टाभ्या न खलु विरुद्धं, तृतीयसंस्थानसंक्रान्तमित्यर्थः । तथा संभवत्स्वरूपं यत्, न पुनरत्यन्ताऽसंभवि विचार्यं शुद्धबुद्ध्या मध्यस्थयेति गाथार्थः ॥ १३७ ॥ प्रति० ।

जिनागमस्यैव च सम्भवद्रूपत्वं, तदितरस्य चाऽसम्भवद्रूपत्वम्—

तह संभवंतरूवं,
सव्वं सव्वन्नुवयणओ एयं ।
तं णिच्छियं हि आगम-
पउत्तगुरुसंपदाएहिं ॥१२७७॥ पं०व० ।

तथा संभवद्रूपं सर्वं सर्वज्ञवचनत एतत्, तन्निश्चितं हिताऽऽगमप्रयुक्तगुरुसम्प्रदायेभ्यः ॥ १६८ ॥ प्रति० ।

वेयवयणं तु णेवं,
अपोरुसेयं तु तं मयं जेणं ।
इयमच्चंतविरुद्धं,
वयणं च अपोरिसेयं च ॥१२७८॥ पं०व० ।

वेदवचनं तु नैवं संभवत्स्वरूपम्, अपौरुषेयमेव तन्मतम् इदमत्यन्तविरुद्धं वर्त्तते, यदुत वचनं चाऽपौरुषेयं चेति गाथार्थः ॥ १६९ ॥

एतद्भावनायाऽऽह (प्रति०)—

जं वुच्चइ त्ति वयणं,
पुरिसाभावे उ णेयमेयंति ।
ता तस्सेवाऽभावो,
णियमेण अपोरुसेयत्ते ॥१२७९॥

यत्-यस्मात् उच्यत इति वचनम् इत्यन्वर्थसंज्ञा पुरुषाऽभावे तु नैवमेतत्; नोच्यते इत्यर्थः तत्तस्यैव वचनस्याऽभावो नियमेनाऽपौरुषेयत्वे सत्यापद्यते ॥१७०॥ प्रति० ।

तव्वावारविरहियं,
ण य कत्थइ सुव्व इह तं वयणं ।
सवणे वि य णाऽऽसंका,
अदिस्सकत्तुब्भवाऽभेइ ॥१२८०॥ पं०व० ।

तद्व्यापारविरहितं न च कदाचित् श्रूयते इह च लोके, श्रवणेऽपि च नाऽऽशङ्का अदृश्यकर्त्रुद्भवाऽपैति, प्रमाणाभावादिति गाथार्थः ॥ १७१ ॥ प्रति० ।

अदिस्सकत्तिगं णो,
अणं सुव्वइ कहं णु आसंका ? ।
सुव्वइ पिसायवयणं,
कयाइ एयं तु ण सदेव ॥१२८१॥ पं०व० ।

अदृश्यकर्तृकम् 'नो' नैवान्यत् श्रूयते कथं चाशङ्केति विपक्षादृष्टेरित्यर्थः । अत्राह-श्रूयते पिशाचवचनं, कथनं-कदाचित् लौकिकमेतत्तु वैदिकमपौरुषेयं न सदैव श्रूयते ॥१७२॥

यथाभ्युपगमदूषणमाह (प्रति०)—

वण्णा य पोरसेयं,
लोइयवयणाण ऽवीह सव्वेसिं ।
वेयम्मि को विसेसो,
जेण तहिं एस ऽसग्गाहो ॥१२८२॥ पं०व० ।

वर्णाद्यपौरुषेयं लौकिकवचनानामपीह सर्वेषां, वर्णत्वादिवाचकत्वादेः पुरुषैरकरणात्, वेदे को विशेषो येन तत्रैषोऽसद्ग्राहोऽपौरुषेयत्वासद्ग्रह इति ॥ १७३ ॥ प्रति० ।

ण य णिच्छओ वि हु तओ,
जुज्जइ पायं कहं चि सण्णाया ।
जं तस्सत्थपगासण-
विसएह अइंदिया सत्ती ॥ १२८३ ॥ पं० व० ।

न च निश्चयोऽपि ततो वेदवाक्यात् युज्यते प्रायः कश्चिद् वस्तुनि सन्न्यायात् यद्-यस्मात्तस्य वेदवचनस्यार्थप्रकाशनविषयेहप्रक्रमेऽतीन्द्रियाशक्तिरिति गाथार्थः ॥१७४॥ प्रति० ।

णो पुरिसमित्तगम्मा,
तदतिसओ वि हु ण बहुमओ तुम्हं ।
लोइयवयणेहिंतो,
दिट्ठं च कहिंचि वेहम्मं ॥ १२८४ ॥ पं०व० ।

न पुरुषमात्रगम्या एषा तदतिशयेऽपि न बहुमतो युष्माकम् अतीन्द्रियदर्शी लौकिकवचनेभ्यः सकाशाद् दृष्टं च कथञ्चिद्वैधर्म्यं वेदवचनानामिति गाथार्थः ॥ १७५ ॥ प्रति० ।

तम्हा ह पोरुसेयाणि,
अपोरुसेयाणि वेयवयणाणि ।
सग्गुव्वसिपमुहाणं,
दिट्ठो तह अत्थभेओऽवि ॥ १२८५ ॥ पं०व० ।

तानीह पौरुषेयाणि लौकिकानि अपौरुषेयाणि वेदवचनानीति वैधर्म्यं, स्वर्गोर्वश्यादिप्रमुखानां शब्दानां दृष्टः तथार्थभेदोऽपि, एवं च 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः, त एवैषामर्थः' इति यत् किञ्चिदेतत् ॥ १७६ ॥ प्रति० ।

ण य तं सहावओ च्चिय,
सत्थपगासणपरं पईवो व्व ।
समयविभेयाऽजोगा,
मिच्छत्तपगासजोगा य ॥ १२८६ ॥ पं०व० ।

न च तद्वेदवचनं स्वभावत एव स्वार्थप्रकाशनपरं प्रदीपवत्, कुतः ?, इत्याह—समयविभेदाऽयोगात्-संकेतभेदाऽभावात्

मिथ्यात्वप्रकाशयोगाच्च. क्वचिदेसदापत्तेरिति भाव ॥१७७॥
तदाह (प्रति०)—

इंदीवरंमि दीवो,
पगासई रत्तयं असंतं पि ।
चंदो वि पीअवत्थं,
धवलं ति न णिच्छओ तत्तो ॥१२८७॥ पं० व० ।

इन्दीवरे दीप प्रकाशयति रक्ततामसतीमपि चन्द्रोऽपि पीतवस्त्रं धवलमिति प्रकाशयति न निश्चयस्ततो वेदवचनाद् व्यभिचारित्व इति गाथार्थ ॥ १७८॥ प्रति० ।

एवं णो कहियाऽऽगम-
पओगगुरुसंपयायभावोऽवि ।
जुज्जइ सुहो इहं खलु,
नाएणं छिन्नमूलत्ता ॥ १२८८ ॥ पं० व० ।

एवं न कथिताऽऽगमप्रयोगगुरुसम्प्रदायभावोऽपि प्रवृत्त्यङ्ग-भूतो युज्यते यत इह खलु वेदवचने न्यायेन, 'छिन्नमूलत्वात्' तथाविधवचनासंभवादिति गाथार्थः ॥१७६॥ प्रति० ।

ण कयाइ इमो कस्सइ,
इह णिच्छयमो कहिं चि वत्थुम्मि ।
जाओ त्ति कहइ एवं,
जं सो तत्त स वामोहो ॥ १२८९ ॥ पं० व० ।

न कदाचिदनो-वेदवचनात् कस्यचिदिह निश्चय एव क्वचि-द्वस्तुनि जात इति कथयति एव सति यदसौ वैदिकस्तत्त्वं स व्यामोह स्वतोऽप्यज्ञात्वा कथनात् ॥ १८० ॥ प्रति० ।

तत्तो अ आगमो जो,
विणेयसत्ताण सो वि एमेव ।
तस्स पओगो चेवं,
अणिवारणगं च णियमेणं ॥१२९०॥ पं० व० ।

ततश्च वैदिकादर्थादागमो यो व्याख्यारूप विनेयसत्त्वानां संबन्धी सोऽप्येवमेव-व्यामोह एव तस्याऽऽगमार्थस्य प्रयो-गोऽप्येवमेव-व्यामोह एव अनिवारणं च नियमेन व्यामोह एवेति गाथार्थ ॥ ८१ ॥ प्रति० ।

णेवं परंपराए,
माणं एत्थ गुरुसंपयाओ वि ।
रूवविसेसद्दवणे,
जह जच्चंधाण सव्वेसिं ॥ १२९१ ॥ पं० व० ॥

नैवं परंपराया मानम् , अत्र च व्यतिकरे गुरुसंप्रदायोऽपि निदर्शनमाह-सितेतरादिरूपविशेषस्थापने कथा जात्यन्धानां सर्वेषामनादिमताम् ॥ १८२ ॥

पराऽभिप्रायमाह (प्रति०)—

भवतो वि य सव्वन्नू,
सव्वो आगमपुरस्सरो जेणं ॥
ता सो अपोरुसेओ,
इयरो वाऽणागमा जो उ ॥ १२९२ ॥ पं० व० ।

भवतोऽपि च सर्वज्ञ सर्व आगमपुरस्सरः येन कारणेन स्वर्गकेवलार्थिना तपोध्यानादिकर्तव्यमित्यागमः अन. प्रवृत्ते रिति, तदसावपौरुषेय, इतर अनादिमत् सर्वज्ञोऽनागमा-देव कस्यचित्तमन्तरेणापि भावादितिगाथार्थः ॥ १८३ ॥ प्रति० ।

णोभयमवि जमणाई,
वीयंऽकुरजीवकम्मजोगसमं ॥
अहवऽत्थतो उ एवं,
ण वयणओ वत्तहीणं तं ॥ १२९३ ॥ पं० व० ॥

अत्रोत्तरम्-'नो'नैतदेवमुभयमप्यागम सर्वज्ञश्च यद्यस्मादना-दिर्बीजाङ्कुरजीवकर्मयोगसम न ह्यत्रेद पूर्वमिदं नेति व्यवस्था ततश्च यथोक्तदोषाभाव, अथवा-अथत एव बीजाऽङ्कुरादि-न्याय सर्व एव कथचिदागममासाद्य सर्वज्ञो जातः तदर्थश्च तत्साधक इति न वचनतो-न वचनमेवाश्रित्य मरुदेव्यादी-ना प्रकारान्तरेणापि भावात् । तद्वचनं वक्त्रधीनं नत्वनाद्य-पि वक्तारमन्तरेण वचनप्रवृत्तेरयोगात् । तदर्थप्रतिपत्तिस्तु क्षयोपशमादेरविरुद्धा, तथा दर्शनादेतत्सूक्ष्मधिया भावनी-यम् ॥ १८४ ॥ प्रति० ।

वेयवयणम्मि सव्वं,
णाएणासंभवंतरूवं जं ॥
ता इयरवयणसिद्धं,
वत्थु कहं सिज्झई तत्तो ॥१२९४॥ पं० व० ॥

वेदवचने सर्वमागमादिन्यायेनाऽसंभवद्रूपं यद्—यस्मात् तत्-तस्मादितरवचनात्सिद्ध सद्रूपवचनसिद्धं वस्तु हिंसा-दोसादि कथं सिध्यति ततो--वेदवचनादिति गाथार्थः ॥ १८५ ॥ प्रति० ।

(आगमस्य च स्वरूपप्रतिपादकस्यापि प्रामाण्यम्)—

नच स्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्यम् , प्रमाणजनकत्वस्य सद्भावात् । तथाहि-प्रमाजनकत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्य न प्रवृ-त्तिनिवृत्तिजनकत्वेन तद्धेतुत्वस्यैव प्रवृत्तिनिवृत्ती तु पुरुषस्य सुखदु खसाधनत्वाध्यवसाये समर्थस्यार्थित्वाद्भवत इति । अथ विधावङ्गत्वादमीषां प्रामाण्य न स्वरूपार्थत्वादिति चेत् , तदसत् , स्वार्थप्रतिपादकत्वेन विध्यङ्गत्वात् , तथाहि-स्तुते स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्त्तकत्व,निन्दायास्तु निवर्त्तकत्वमि-ति । अन्यथा हि-तदर्थापरिज्ञाने विहितप्रतिषिद्धेष्वविशेषेण प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यात्तथाविधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपा-दनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्व दृष्टम् एव स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु स्यात् , वाक्यस्वरूपताया अविशेषात् विशेषहेतोश्चाऽभा-वादिति । तथा-स्वरूपार्थानामप्रामाण्ये "मेध्या आपो दर्भा पवित्रम् , अमेध्यमशुची" त्येवस्वरूपापरिज्ञाने विध्य-ङ्गतायामप्यविशेषेण प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्ग , न चैतदस्ति, मेध्येष्वेव प्रवर्त्तते अमेध्येषु च निवर्त्तते इत्युपलम्भात् । तदेवं स्वरूपार्थेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थस्वरूपावबोधे सति इष्टे प्रवृत्ति-दर्शनात् अनिष्टे च निवृत्तेरिति ज्ञायते-स्वरूपार्थानां प्रमा-जनकत्वेन प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा विधिसहकारित्वमिति, अप-रिज्ञानात्तु प्रवृत्तावनिप्रसङ्ग । अथ स्वरूपार्थानां प्रामाण्ये "ग्रावाण प्लवन्ते" इत्येवमादीनामपि यथाऽर्थता स्यात् , न;

मुख्ये बाधकोपपत्तेः । यत्र हि मुख्ये बाधकं प्रमाणमस्ति तत्रोपचारकल्पना, तदभावे तु प्रामाण्यमेव । न चेश्वरसद्भावप्रतिपादनेषु किंचिदस्ति बाधकमिति स्वरूपे प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् । सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी० ।

(मूलाऽऽगमैकदेशभूतस्य चाऽऽगमान्तरस्यापि प्रामाण्यम्)-

ऐदंपर्यं शुध्यति, यत्रासावागमः सुपरिशुद्धः ।
तदभावे तद्देशः, कश्चित्स्यादन्यथा ग्रहणात् ॥ १२ ॥

ऐदंपर्यं-तात्पर्यं पूर्वोक्तं शुध्यति-स्फुटीभवति यत्राऽऽगमेऽसावागमः सुपरिशुद्धः-प्रमाणभूतस्तदभावे-ऐदंपर्यशुद्ध्यभावे तद्देशः-परिशुद्धाऽऽगमैकदेशः कश्चिद्-अन्य आगमः स्यात्तत्तु मूलागम एव अन्यथाग्रहणात् मूलाऽऽगमैकदेशस्य सतो विषयस्यान्यथा प्रतिपत्तेर्यतः समतामवलम्बमानास्तेऽपि तथेच्छन्ति ।

मूलाऽऽगमव्यतिरिक्ते तदेकदेशभूत आगमेऽन्यथा परिगृहीते द्वेषो विधेयो न वेति, तदभावप्रतिपादनायाह—

तत्राऽपि च न द्वेषः, कार्यो विषयस्तु यत्नतो मृग्यः ।
तस्याऽपि न सद्वचनं, सर्वं यत्प्रवचनादन्यत् ॥ १३ ॥

तत्रापि च-तदेकदेशभूत आगमान्तरे न द्वेषः कार्यो-न द्वेषो विधेयो विषयस्त्वभिधेयरूपो यत्नतो-यत्नेन मृग्यः-अन्वेषणीयो यद्येवं सर्वमेव तद्वचनं किं न प्रमाणीक्रियत इत्याह-तस्याप्यागमान्तरस्य न सत्-शोभनं वचनं सर्वम्-अखिलं यत्प्रवचनात्-मूलाऽऽगमादन्यत् यत्तु तदनुपाति तत्सदेवेति ।

कस्मात्पुनस्तत्राऽद्वेषः क्रियत इत्याह—

अद्वेषो जिज्ञासा, शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसाः ।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः, प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे ॥ १४ ॥

अद्वेषः-अप्रीतिपरिहारस्तत्त्वविषयस्तत्पूर्विका ज्ञातुमिच्छा-जिज्ञासा तत्त्वविषया ज्ञानेच्छा तत्त्वजिज्ञासा सा पूर्विका बोधाम्भःश्रोतसः शिराकल्पा श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा तत्त्वविषयैव । तत्त्वशुश्रूषानिबन्धनं श्रवणम्-आकर्णनं तत्त्वविषयमेव बोधः-अवगमः परिच्छेदो विवक्षितार्थस्य श्रवणनिबन्धनस्तत्त्वविषय एव मीमांसा सद्विचाररूपा-बोधानन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव । श्रवणं च बोधश्च मीमांसा च श्रवणबोधमीमांसाः । परिशुद्धा-सर्वतो भावविशुद्धा प्रतिपत्तिर्मीमांसोत्तरकालभाविनी निश्चयाकारा परिच्छित्तिरिदमिदमेवेति तत्त्वविषयैव । प्रवर्त्तनं प्रवृत्तिरनुष्ठानरूपा परिशुद्धाप्रतिपत्त्यनन्तरभाविनी तत्त्वविषयैव, प्रवृत्तिशब्दो द्विरावर्त्यते तेनायमर्थो भवति । तत्त्वे प्रवृत्तिरष्टभिरङ्गैर्निर्वृत्ताष्टाङ्गिकी एभिरद्वेषादिभिरष्टभिरङ्गैस्तत्त्वप्रवृत्तिः संपद्यते तेनाऽऽगमान्तरे मूलाऽऽगमैकदेशभूते न द्वेषः कार्य इति । षो० १६ विव० ।

(७) प्रमाणान्तराविषय एव पदार्थो नाऽऽगमेन बोध्यते किन्तु प्रमाणान्तरविषयाऽपि-

' न ह्यागमगम्या पदार्था " इति, प्रत्यक्षस्यापि प्रतिक्षेपो युक्तः । यदपि प्रत्यक्षानुमानाविषये चार्थे आगमप्रामाण्यवादिभिस्तस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यते-तदुक्तम्-' आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम । ' (जैमि० १-२-१ ।) इति तदप्ययुक्तम् , यतो यथाप्रत्यक्षप्रतीतेऽप्यर्थे निप्रतिपत्तिविषयेऽनुमानमपि प्रवृत्तिमासादयतीति प्रतिपादितम् । तथा प्रत्यक्षानुमानप्रतिपक्षेऽप्यात्मलक्षणेऽर्थे तस्य वा प्रतिनियतकर्मफलसंबन्धलक्षणे किमित्यागमस्य प्रवृत्तिर्नाभ्युपगमस्य विषय ? । नचाऽऽगमस्य तत्राप्रामाण्यमिति वक्तुं युक्तं, सर्वज्ञप्रणीतत्वेन तत्प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वात् । सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी० ।

आगमप्रमाणञ्च प्रमाणान्तरे नान्तर्भवति तथा चाऽत्र शङ्कितम्-

आगमोऽपि नाऽनुमानाद् भिद्यते, परमार्थतस्तस्याप्यनुमानत्वात्तथाहि-'शाब्दं प्रमाणमागमः' उच्यते-शब्दश्च द्विविधो दृष्टार्थविषयः, अदृष्टार्थविषयश्च । तत्र दृष्टार्थविषया शब्दाद् या प्रतीतिः, सा वस्तुतोऽनुमानसमुत्थैव यतः क्वचित्प्रथमं पृथुबुध्नोदरोर्ध्वकुण्डलोष्ठायतवृत्तग्रीवादिमति घटपदार्थे घटशब्दं प्रयुज्यमानं दृष्ट्वा तदुत्तरकालं क्वापि घटमानयेत्यादिशब्दं श्रुत्वा पृथुबुध्नोदरादिमदर्थ एव घट उच्यते, तथाभूतपदार्थे एव घटशब्दप्रयोगप्रवृत्तेः, यथा पूर्वं कुम्भकारापणादौ घटशब्दश्चायमिदानीमपि श्रूयते तस्मात्तथाभूतस्यैव पृथुबुध्नोदरादिमतः पदार्थस्य मया आनयनादिक्रिया कर्त्तव्या इत्यनुमानं विधाय प्रमाता घटानयनादिक्रियां करोति, इत्येवं दृष्टार्थविषयं शाब्दं प्रमाणं वस्तुतो नानुमानाद्भिद्यते । विशे० १५५२ गाथाटी० ।

(८) आगमप्रमाणस्यानुमानप्रमाणेऽन्तर्भावः—

काणादाः—शब्दोऽनुमानं व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद्धूमवदिति । तत्र हेतोरामुखे कूटाऽकूटकार्षापणनिरूपणप्रवणप्रत्यक्षेण व्यभिचारस्तथाभूतस्यापि तत्प्रत्यक्षस्यानुमानरूपताऽपायात् । आः कथं प्रत्यक्षं नाम भूत्वा व्याप्तिग्रहणपुरस्सरं पदार्थं परिच्छिन्द्यात् ? उन्मीलितं हि चक्षुर्जातमेव परीक्षकाणां कूटाकूटविवेकेन प्रत्यक्षमिति क्व व्याप्तिग्रहणावसर इति चेत् , तदेवान्यत्रापि प्रतीहि । तथाहि-समुच्चारितश्चेद्ध्वनिः, जातमेव जनस्य शब्दार्थसंवेदनमिति क्व व्याप्तिग्रहणावकाश इति । एवं तर्हि नालिकेरद्वीपवासिनोऽपि पनसशब्दात्तदर्थसंवित्तिः स्यादिति चेत्, किं नापरीक्षकस्यापि कार्षापणे कूटाकूटविवेकेन प्रत्यक्षोत्पत्तिः ? । अथ यावानेतादृशविशेषसमाकलितकलेवरः कार्षापणः तावानेष कूटोऽकूटो वा निश्चेतनीयस्त्वया; इत्युपदेशसाहायकापेक्षं चक्षुरादि तद्विवेकं कौशलं कलयति; नचापरीक्षकस्याथ प्राक्प्रावर्त्तिष्टेति चेत् तर्हि शब्दोऽपि यावान् पनसशब्दस्तावान् पनसार्थवाचक इति संवित्तिसहायस्तत्प्रतिपादने पटीयान् , न च नालिकेरद्वीपवासिनः प्रागियं प्रादुरासीदिति कथं तस्य तत्प्रतीतिः स्यात् ? । अथैतादृशसंवेदनं व्याप्तिसंवेदनरूपमेव , तदपेक्षायां च शब्दार्थज्ञानमनुमानमेव भवेदिति चेत्, कूटाकूटकार्षापणविवेकप्रत्यक्षमपि किं न तथा । तत्रापि तथाविधोपदेशस्य व्याप्त्युपलम्भरूपत्वात् । अथ व्याप्तेः प्राक् प्रवृत्तमपि तदानीमभ्याससदृशापरसंवेदनानपेक्षणात्प्रत्यक्षमेव तदपेक्षायां तु भवेत्ते तदनुमानं, कूटोऽयं कार्षापणः, तथाविधविशेषसमन्वितत्वात्प्राक्परीक्षितकार्षापणवत् , इति चेत् ,एतदेव समस्तमन्यत्रापि तुल्यं विदाङ्करोतु भवान् । न खलु अभ्यासदशायां शब्दोऽपि व्याप्तिं शब्दोऽपेक्षते, सद्य एव तदर्थमर्पयति । अन्यथा

से तु को नाम नानुमानतां मन्यते, । यथा कस्यचिद्विस्मृतसंकेतस्य कालान्तरे पनसशब्दश्रवणे, य पनसशब्द स आमूलफले प्रहिविटपिविशेषवाचक, यथा देवदत्तोक्त प्राक्तनस्तथा चायमपि देवदत्तोक्त इति । एव च पक्षैकदेशे सिध्यसाध्यता , शब्दोऽनुमानमित्यत्र सकलवाचकाना पक्षीकृतानामेकदेशस्यानुमानरूपतया स्वीकृतत्वात् । यस्त्वागमरूपतया स्वीकृत शब्दस्तत्राभ्यासदशापन्नत्वेन व्याप्तिग्रहणापेक्षैव नास्ति । अन्यथा कूटाऽकूटकार्षापणप्रत्यक्षेण व्यभिचारापत्ते. तथा च हेतोरसिद्धि. । एवं च (शब्दत्वस्य व्याप्तिग्रहणानपेक्षत्वे सिद्धे) विवादास्पद शब्दो नानुमान, तद्भिन्नसामग्रीकत्वात्, कूटाऽकूटकार्षापणविवेकप्रत्यक्षवदिति सिद्धम् ।

किं च-वाचामनुमानमानतामातन्वानोऽसौ कथं पक्षधर्मतादिकमादर्शयत् ? । चैत्रः ककुदादिमदर्थविवक्षावान् गोशब्दोच्चारणकर्तृत्वात्, अहमिव इतीत्थमिति चेत्, नन्वेवं विवक्षामात्रस्यैव प्रतीति. स्यात्, तथा च कथमर्थे प्रवृत्तिर्भवेत् ? । विवक्षातोऽर्थसिद्धिरिति चेत् । नैवम् । अस्या. तद्व्यभिचारात् नाप्तानामन्यथापि तदुपलब्धे । अथ यथाप्राप्ताच्छब्दात्तथाविवक्षातोऽनुमानैवार्थसिद्धिर्भविष्यतीति चेत्, स त्यम् । किं प्रतीतिपराहतैवेयं परम्परा, शब्दश्रुतौ सत्यां प्रतीत्यन्तराव्यवहितस्यैवार्थस्य संवेदनात्, यथा लोचनव्यापारे सति रूपस्य । अपि च-अप्रातीतिकैनादृक्कल्पनामहापातकं क्रियता नाम, यदि नान्या गति स्यात् अस्ति चेयं शब्दस्य स्वाभाविकवाच्यवाचकभावसंबन्धद्वारेणार्थप्रत्यायकत्वोपपत्ते. । एतच्च " स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्याम " इत्यादिसूत्रे निर्णेष्यते ।

उदाहरन्ति—

समस्त्यत्र प्रदेशे रत्ननिधानं, सन्ति रत्नसानुप्रभृतय इति ॥ ३ ॥

वक्ष्यमाणलौकिकजनकादिलोकोत्तरतीर्थकराद्यपेक्षया क्रमेणोदाहरणोभयी । रत्ना० ४ परि० ।

अत्राह मीमांसक.- " शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि शाब्दम् "-(१-१-५ । शाबरभा०) इति वचनात् ' शब्दादुदेति यद् ज्ञान-मप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि । शाब्दं तदिति मन्यन्ते , प्रमाणान्तरवादिन "॥१॥ इतिलक्षणलक्षितस्य प्रमाणान्तरस्य सद्भावात् , कथं द्वे एव प्रमाणे ? । न चास्य प्रत्यक्षप्रमाणता सविकल्पकत्वात् , नाप्यनुमानता त्रिरूपलिङ्गाप्रभवत्वात् अनुमानगोचराविषयत्वाच्च । तदुक्तम्-" तस्मादननुमानत्व , शाब्द प्रत्यक्षवद्भवेत् । त्रैरूप्यरहितत्वेन, तादृग्विषयवर्जनात्" (श्लो० वा० शब्दप० ६८)। तथाहि-न शब्दस्य पक्षधर्मत्व धर्मिणोऽयोगात् । नचार्थस्य धर्मित्वं तेन तस्य संबन्धासिद्धे । नचाप्रतीतेऽर्थे तद्धर्मतया शब्दस्य प्रतीति संभविनी प्रतीते चार्थे न तद्धर्मताप्रतिपत्ति शब्दस्योपयोगिनी तामन्तरेणाप्यर्थस्य प्रागेव प्रतीते अन्यथा तस्य तद्धर्मतया प्रतीत्ययोगात् । भवतु वाऽर्थो धर्मी तथाऽपि किं तत्र साध्यमिति वक्तव्य ?, सामान्यमितिचेत् , न, तस्य धर्मिपरिच्छेदकाल एव सिद्धत्वात् । तदपरिच्छेदे धर्मिपरिच्छेदाऽयोगाद् ' नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धि " इति न्यायात् । न च सामान्यं धर्मि अर्थविशेषस्तत्र साध्यो धर्म उक्तदोषानतिक्रमात् । विशेषस्य चानन्वयाद् । अथ-शब्दो धर्मी अर्थवानिति साध्यो धर्म. शब्द एव च हेतु', न, प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्राप्ते. । अथ शब्दत्व हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वं दोष , न, शब्दत्वस्यागमकत्वात् गोशब्दत्वस्य च निषेत्स्यमानत्वेनासिद्धत्वात् । अत एवानुमानतुल्यविषयताऽपि न शाब्दे संभवति । तदुक्तम्—

" सामान्यविषयत्वं हि , पदस्य स्थापयिष्यते ।
धर्मी धर्मविशिष्टश्च, लिङ्गीत्यतच्च साधितम् ॥
न तावदनुमान हि , यावत्तद्विषय न तत् ।
अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन , पक्ष कस्मान्न कल्प्यते ।
प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते ।
पक्षे धूमविशेषे हि , सामान्य हेतुरिष्यते ।
शब्दत्वं गमक नात्र , गोशब्दत्व निषेत्स्यते ।

व्यक्तिरेव विशेष्याऽतो, हेतोश्चैका प्रसज्यते " इति ।(श्लो० वा० शब्दप० ५५-५६-, ६२-,६४ ।) शब्दस्य चार्थेन संबन्धाभावतो यथा न पक्षधर्मत्वं तथाऽन्वयोऽपि प्रमेयेण व्यापाराभावतोऽसङ्गत एव । तदुक्तम्-

" अन्वयो न च शब्दस्य, प्रमेयेण निरूप्यते ।
व्यापारेण हि सर्वेषा-मन्वेतृत्वं प्रतीयते ।
यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्ने-रस्तित्वेनान्वय स्फुट. ।
नत्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति, तत्राऽर्थोऽस्तीति निश्चयः ।
न तावत् यत्र देशेऽसौ , न तत्कालेऽवगम्यते ।
भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत् , सर्वार्थेष्वपि तत्समम् ।
तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद् ,व्यतिरेकस्य चागते ।

सर्वशब्दैरशेषार्थ-प्रतिपत्ति. प्रसज्यते"(श्लो० वा० शब्दप० ८५-८८) अन्वयाभाव व्यतिरेकस्याप्यभाव., उक्तं च-' अन्वयेन विना तस्मा-द्व्यतिरेक कथ भवेत्-?" इति तदेवमनुमानलक्षणाभावात् शाब्द प्रमाणान्तरमेव । सम्म० २ काण्ड १ गाथाटी० ।

अत्र प्रतिविधीयते-यत्तावत् शाब्दस्य त्रैरूप्यराहितत्वेन तादृग्विषयाभावाच्चानुमानानन्तर्भावप्रतिपादमभ्यधायि तद् युक्तमेव न ह्यप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावो युक्त. । कुत पुन शब्दाद्भवस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यं ?, शब्दस्यार्थप्रतिबन्धाभावात् । न हि शब्दोऽर्थस्य स्वभाव. अत्यन्तभेदात् नापि कार्यं तेन विनाऽपि भावात् । न च तादात्म्यतदुत्पत्तिव्यतिरिक्त संबन्धो गमकत्वनिबन्धनमस्ति । न च सङ्केतबलाद्वास्तवप्रतिपत्तिशक्तियुक्तानां प्रदीपानामिवार्थप्रकाशकत्वं संभवति । न च व्यवस्थितैवार्थप्रतिपादनयोग्यता संकेतेन शब्दस्याभिव्यज्यत इति वक्तव्य पुरुषेच्छावशादन्यत्रार्थे शब्दस्य समयादप्रवृत्तिप्रसक्ते । दृश्यते च पुरुषेच्छावशादन्यत्रापि विषये शब्दाना प्रवृत्ति । न च पुरुषेच्छावृत्ति. समयो वस्तुप्रतिबद्ध तदभावेऽपि तस्य प्रवृत्त. । न च संकेतमन्तरेण शब्दस्य वस्तुप्रत्यायकत्व संकेताभावप्रसक्ते । आप्तप्रणीतशब्दाना पुनरर्थाव्यभिचारेऽप्याप्तप्रणीतत्वानिश्चयादेवाप्रामाण्य न पुनराप्तस्यैवासंभवात् । तदसंभवबाधकप्रमाणाभावात् । ततो बाह्ये विषये शब्दाना प्रतिबन्धाभावेन प्रामाण्यमेव न संभवति

पक्षधर्मत्वाद्यसंभवादनुमानत्वाभावप्रतिपादनं युक्तमेवेति स्थितम्। यत्र तु वक्त्रभिप्रायसूचने प्रामाण्यमस्य तत्रानुमानलक्षणयुक्तस्यैव नान्यादृग्भूतस्येति न प्रमाणान्तरत्वम् । सम्म० २ काण्ड १ गाथाटी०।

(६) आगमसर्वाधिकृत्योक्तम्—

तस्य च जीवाऽजीवादिलक्षण दृष्टविषये वस्तुतत्त्वे सर्वदा अविसंवादात् अदृष्टविषयेऽप्येकवाक्यतया प्रवर्तमानस्य च प्रामाण्यं प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्त्रधीनत्वात् तस्य अप्रामाण्यं वक्त्रधीनत्वप्रमाणत्वयोर्विरोधाभावाद्वक्त्रधीनस्यापि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्योपलब्धेः न चाप्तजत्वाद्वस्तुप्रतिबद्धत्वेन तत्र प्रामाण्यं न शाब्दस्य विपर्ययादिति वक्तव्यं शाब्दस्य अत एव प्रमाणान्तरत्वोपपत्तेः अन्यथा अनुमानादविशेषप्रसङ्गात् । तथाहि-गुणवद्वक्तृप्रयुक्तशब्दप्रभवत्वादेव शाब्दम् अनुमानज्ञानाद्विशिष्यते अन्यथा बाह्यार्थप्रतिबन्धस्यात्रापि सद्भावात् नानुमानादस्य विशेषः स्यात्। यदा च परोक्षेऽपि विषयेऽस्य प्रामाण्यमुक्तन्यायात् तदा गुणवद्वक्तृप्रयुक्तत्वेनास्य प्रामाण्यम् अतश्च गुणवद्वक्तृप्रयुक्तत्वमितीतरेतराश्रयदोषोऽपि नाऽत्राऽवकाशं लभते यथोक्तसंवादादस्य प्रामाण्यनिश्चये । कुतोऽयमस्यात्र संवादः इत्यपेक्षायाम् आप्तप्रणीतत्वादित्यवगमो न पुनः प्रथममेव तत्प्रणीतत्वनिश्चयादस्यार्थप्रतिपादकत्वं प्रतिबन्धनिश्चयादनुमानस्येव नापि दृष्टविषयाविसंवादिवाक्यैकवाक्यता विरहय्य अदृष्टार्थवाक्यैकदेशस्यान्यत कुतश्चित्प्राक् संवादित्वनिबन्धनस्य प्रामाण्यस्य निश्चयोऽभ्यासावस्थायां तु आप्तप्रणीतत्वनिश्चयात् प्रवृत्तिरदृष्टार्थवाक्यात्रवार्यते इति कुत इतरेतराऽऽश्रयाऽवकाशः ?,

(एकान्तिक वाच्यस्वरूप निरसितुं लडादेरर्थविचारपक्षा)—

एकान्तवादिवाक्यात्तु दृष्टार्थेऽपि विसंवादिनः सर्वथा अप्रवृत्तिरेव निश्चितविसंवादाङ्गुल्यग्रहस्तियूथशतप्रतिपादकवाक्यादिवत् नह्येकान्तवादिवचनानां वाच्यं सम्भवतीत्युक्तम्। यतः सामान्यं वा तद्वाच्यं भवेत्, विशेषो वा,उभयम्, अनुभयं वेति विकल्पाः । न तावत्सामान्यं तस्येतरव्यावृत्तप्रतिनियतैकवस्तुरूपत्वायोगात् । शब्दवाच्यत्वे घटाद्यानयनाय प्रेरितः सर्वत्र प्रवर्त्तेत न वा क्वचिद् भेदनिबन्धनत्वात् प्रवृत्तेः सामान्यस्य अनर्थक्रियाकारितया च प्रवृत्तिनिबन्धनत्वायोगात् । अथापि स्याद्यदाऽयं प्रतिपत्ता वाक्यमश्रुतपूर्वं शृणोति तदा पदानां संकेतकालानुभूतानामर्थं सामान्यलक्षणमेव प्रतिपद्यते या तु वाक्यार्थप्रतिपत्तिः सा अपेक्षासन्निधानाभ्यां विशेषणविशेष्यभावात्पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धना न पुनस्ततो वाक्यात् तथाविधस्य तस्य स्वार्थेन सह संबन्धाप्रतिपत्तेः वाक्यमेव च प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यवहारक्षमं न पदं तस्यानर्थक्रियाकारिसामान्यप्रतिपादकत्वेनाऽप्रवृत्त्यङ्गत्वाद् । अत एव न विवक्षापूर्विभासनमप्यर्थं प्रतिपादयन्तः शब्दा अनुमानतामासादयन्ति अगृहीतप्रतिबन्धादपि वाक्यविशेषात् यथोक्तन्यायतो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः । अनेनैवाभिप्रायेण सौगता वाक्यगता चिन्तामनादृत्य पदमेवानुमाने अन्तर्भावितवन्तः । उक्तं च मीमांसकैः —

" वाक्यार्थे तु पदार्थेभ्यः, संबन्धानुगमादृते ।
बुद्धिरुत्पद्यते तस्मा-द्भिन्ना साऽप्यक्षबुद्धिवत् ॥"
(श्लो० वा० शब्द प० श्लो० १०६) तथा—
"वाक्येष्वदृष्टपूर्वेष्वपि सार्थकत्व
पदार्थचिन्मात्रतया प्रतीतिम् ।
दृष्टानुमानव्यतिरेकभीताः ।
क्लिष्टा पदाभेदविचारणायाम् ।"
(श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १११) इति ।

असदेतत्, एवं कल्पनायां पदार्थानामपि वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वासंभवात् । तथा हि-'घट' पट कुम्भ' इत्यादिपदेभ्यो यथाऽन्योन्याननुपक्तस्वतन्त्रसामान्यात्मकार्थप्रतिपत्तिस्तथासंबद्धपदसमूहश्रवणादपि किं न तथाभूतसामान्यप्रतिपत्तिर्भवेत् ? नहि ततः सामान्यमात्राऽधिगमे तत्परित्यागतो विशिष्टार्थप्रतिपत्तौ निमित्तमस्ति न चापेक्षा-सन्निधानादिकं पदार्थानां तत्प्रतिपत्तौ निमित्तं पदार्थस्य पदार्थान्तरं प्रत्युत्पत्तौ प्रतिपत्तौ वाऽपेक्षादेरयोगात् तस्य सामान्यात्मकत्वेनोत्पत्तेरसंभवात् स्वपदेभ्य एव प्रतिपत्तेस्तत्रापि पदार्थान्तरापेक्षाद्यनुपपत्तेः । अर्थशक्तित एव ततो विशेषप्रतिपत्तिरितिचेत् तर्हि पदार्थानामेकार्थसंभवा प्रतिपत्तिर्यस्य तस्यापि ततस्तत्प्रतिपत्तिर्भवेत् । न च सामान्यत्यागे किंचिन्निबन्धनं बाधकाभावात् सत्यर्थित्वे उभयप्रतिपत्ति-प्रवृत्ती स्याताम्। न च वाक्यार्थप्रत्यय एव बाधकस्तेन तस्य विरोधाभावात् सामान्यविशेषयोः साहचर्यात् सामान्यप्रत्ययस्य च विशेषप्रतिपत्तिं प्रति निमित्तत्वाभ्युपगमात् निमित्तस्य च निमित्तिना अबाध्यत्वाद् अन्यथा तस्य तन्निमित्तत्वायोगाद् । अथ प्रागप्येवमयं व्युत्पादितः-यत्र पदार्थानामेकद्रव्यसंभवस्तत्र पदार्थसामान्यत्यागाद्विशेषः प्रतिपत्तव्यो यथा नीलोत्पलादौ, नन्वेवं सर्ववाक्यान्यस्य व्युत्पादितान्येव भवन्ति । तथाहि-यः कश्चित् संभवदेकद्रव्यार्थनिवेशः पदसमूहः स संकेतसमयावगतसामान्यात्मकावयवार्थपरित्यागतस्तेषामेव विशेषणविशेष्यभावेन विशिष्टाऽर्थगोचरः प्रतिपत्तव्यो, यथा ' नीलोत्पलं पश्य ' इत्यादिपदसंघातः, तथा चायमपूर्ववाक्यात्मकः पदसमुदाय इति संकेतमनुस्मृत्य यदा ततस्तथाभूतमर्थं प्रत्येति तदा कथं न विशिष्टार्थवाचकं वाक्यम् ? अनेनैव च क्रमेण शब्दविदां समयव्यवहारः उपलभ्यते । यथा-' धात्वादि क्रियादिवचनः, कर्त्रादिवचनश्च लडादिः ' इति समयपूर्वकं 'प्रकृति-प्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः' इति व्युत्पादितोऽनर्थक्रियाकारित्वेन सामान्यमात्रस्य विशेषनिरपेक्षस्य प्रतिपादयितुमनिष्टेः तत्परित्यागेन व्यवहारकाले विशेषमवगच्छति व्यवहारी । न च प्रकृतिप्रत्ययार्थावेवात्र पदार्थं प्रतिपादयतो न पदमिति मन्तव्यम् ।

" अशाब्दे वाऽपि वाक्यार्थे, न पदार्थेष्वशाब्दता ।
वाक्यार्थस्येव नैतेषा, निमित्तान्तरसंभवः ॥" (श्लो० वा० वाक्याधि० श्लो० २३०) इत्यस्य विरोधप्रसक्तेः । न च वाक्यस्य वाक्यार्थे संकेतकरणेऽनुमानात् शाब्दस्याऽविशेषप्रतिपत्तिः, विशेषस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात् । केवलस्य च पदस्य प्रयोगानर्हत्वाद्वाक्यस्य तु प्रयोगार्हस्य सामान्यानभिधायकत्वात् कथं सामान्यं शब्दार्थः स्यात् ? ।

यस्तु पूर्वपदाऽनुरञ्जितं पदमेव वाक्यं पदार्थ एव पदार्था-

न्तरविशेषितो वाक्यार्थोऽभ्युपगत । तथाहि-'दण्डी' 'छत्री'-त्यादिव्यपदेशं यथा पुरुष एव समासादयति नान्यस्तद्व्यतिरिक्त तथा 'अपाक्षीत्' 'पचति' 'पक्ष्यति' इत्याद्यनीतकालाद्यवच्छिन्न क्रियाविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते-'अपाक्षीद्' इत्यादिशब्दाना देवदत्तशब्देन सामानाधिकरण्यात्-न तु तद्व्यतिरिक्तोऽर्थ अथ यद्यत्र कालाद्यवच्छिन्नपुरुष एव प्रतीयते तदा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'ग्रामं गच्छ' 'स्वाध्याय कर्त्तव्य' इति लिङ्-लोट्-कृत्य-प्रयोगेषु कस्यार्थस्य प्रतीति ? अत्रापि कर्मणि नियुक्त क्रियाविशिष्टोऽध्ययनादिविशिष्टश्च देवदत्त एव प्रतीयते केवलं वर्त्तमानादिकालो न विशेषणत्वेनाऽत्रावतिष्ठते ।

अथ यदि नात्रार्थातिरेकावगतिर्भावसंपादने कथं पुरुष प्रवर्तते ? यथा हि देवदत्त पचति इत्यादिवाक्यान्न प्रवर्तते तथा 'जुहुयाद्' इत्यस्मादपि नैव प्रवर्त्तेत प्रवृत्ति निमित्तस्यानवबोधात्, असदेतत्, 'जुहुयाद्'इत्यादिवाक्यजनितविज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वात् प्रवृत्तेस्तद्भावभावित्वेनोपलम्भाद् एतद्वाक्यसमुत्थं ज्ञानं पुरुषं स्वर्गादिसाधने नियोजयदुपलभ्यते न 'पचति' आदिवाक्यसमुत्थम् । तथाहि-विध्यादिवाक्यजनितज्ञानानन्तरमिच्छा तदनन्तरं प्रयत्न तदनन्तरं च पुरुषस्य स्वर्गादिफलार्थं परिस्पन्दस्ततोऽपि फलपर्यन्ता स्वर्गफलावाप्ति इत्यभिधानात् । तेऽपि अयुक्तिकारिण एकान्तपक्षे विविशेषण-विशेष्ययोरत्यन्तभेदे अभेदे वा विशेषणानुरागस्य पद-पदार्थेषु असंभवाद्वाक्यार्थकल्पनादेरनुपपत्ते अत एव 'अपाक्षीद्देवदत्त' इत्यादौ न कालक्रियाविशिष्टपुरुषप्रतिपत्ति क्रियादे पुरुषाद्भेदे संबन्धाऽसिद्धितो व्यवच्छेदकत्वानुपपत्ते अभेदेऽप्येकस्य तात्त्विकविशेषणविशेष्यरूपतासंगते । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । कल्पनारचितस्य तद्रूपत्वस्य सर्वत्राविशेषात् विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तेश्च अन्यनिमित्तत्वात् विरोधादिदोषस्य च तत्र प्रागेव प्रतिविहितत्वादनेन लिङादियुक्तवाक्यजनितविज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वमेकान्तवादिप्रकल्पित प्रतिक्षिप्तं तद्भावभावित्वस्य अन्यथासिद्धत्वप्रतिपादनात् । सम्म० ३ काण्ड ६३ गाथाटी० ।

(१०) (शब्दस्य बाह्यार्थे प्रामाण्यं शास्त्रप्रयोजनमधिकृत्योक्तम्)—

यदि प्रेक्षावता प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनप्रतिपादनायादिवाक्यमुपादीयते तदा ते प्रेक्षापूर्वकारित्वादप्रमाणक नैव प्रवृत्तिं विदधति । नच प्रयोजनप्रतिपादकमादिवाक्यं तत्प्रभव वा ज्ञान प्रमाणम् अनक्षजत्वेनाध्यक्षत्वायोगात् ।

नाऽप्यनुमान स्वभावकार्यलिङ्गसमुत्थं तद्भावत्वेन तत्कारणत्वेन वा तत्प्रत्याय्य प्रयोजनस्य प्रमाणतोऽप्रतिपत्ते तदुत्थापकस्य लिङ्गस्य तत्कार्यत्वानवगमाद्, अन्यस्य च स्वसाध्याप्रतिबन्धाद् अप्रतिबद्धस्य च स्वसाध्यव्यभिचारेणागमकत्वात्, तत्त्वे चाऽतिप्रसङ्गात्, तत्प्रतिबद्धत्वेऽप्यनिश्चितप्रतिबन्धस्यातिप्रसङ्गत एव अगमकत्वात् ।

न च वाक्यमिदं प्रवर्त्तमानं स्वमहिम्नैव स्वार्थे प्रत्याययतीति शब्दप्रमाणरूपत्वात्स्वाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादने प्रमाणम्, शब्दस्य बाह्येऽर्थे प्रतिबन्धासंभवेनाप्रामाण्यात्, विवक्षायां प्रामाण्येऽपि तस्या बाह्यार्थाविनाभावित्वायोगात् । नाऽपि ये यमर्थं विवक्षन्ति ते तथैवं तं प्रतिपादयन्ति, अन्यविवक्षायामप्यन्यशब्दोच्चारणदर्शनाद्विवक्षायाश्च बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वानुपपत्तेरेकान्तत । तत्र शब्दादपि प्रमाणादादिवाक्यरूपात् प्रयोजनविशेषोपायप्रतिपत्ति तदप्रतिपत्तौ च तेषा तत प्रवृत्तौ प्रेक्षापूर्वकारिताव्यावृत्तिप्रसङ्गात् । प्रयोजनविशेषोपायसंशयोत्पादकत्वेन प्रवृत्त्यङ्गत्वादादिवाक्यस्य सार्थकत्वम् । तथाहि-अर्थसंशयादपि प्रवृत्तिरुपलभ्यते, यथा कृषीबलादीनां कृष्यादावनवगतशस्यावाप्तिफलानाम् । अथ अबीजादिविवेकेनावधृतबीजादिभावतया निश्चितोपाया । तदुपेयशस्यावाप्त्यनिश्चयेऽपि तत्र तेषां प्रवृत्तिर्युक्ता न पुन शास्त्रश्रवणादावुपेयप्रयोजनविशेषानिश्चयवत्तदुपायाभिमतादिवाक्यप्रत्याय्योपायनिश्चयस्याप्यसंभवाद्, अयुक्तमेतत्, यतो यथा शस्यसंपत्त्यादौ फले कृषी बलादे संदेह तथा तदुपायाभिमतबीजादावपि, अनिर्वर्त्तितकार्यस्य कारणस्य तथाभावनिश्चयायोगात् । तत्र यथाकृष्यादिकं संशय्यमानोपायभाव प्रवृत्तिकारण तथा शास्त्रमप्यादिवाक्यादनिश्चितोपायभावं किं न प्रवृत्तिकारणमभ्युपगम्येत इति चेद्, असदेतत् आदिवाक्योपन्यास शास्त्रप्रयोजनविषयसंशयोत्पादनार्थं संशयोऽपि च निश्चयविरुद्ध—अनुत्पन्ने च निश्चये-तत्राप्रतिबद्धप्रवृत्तिहेतुतया प्रादुर्भवन् केन वार्यते आदिवाक्योपन्यासमन्तरेणापि ?,

अथाश्रुतप्रयोजनवाक्याना प्रयोजनसामान्ये तत्सत्त्वेतराभ्या संशयो जायेत-'किमिदं चिकित्साशास्त्रवत्सप्रयोजनम् उत काकदन्तपरीक्षावन्निष्प्रयोजनम् ततश्च संशयादनुपन्यस्ते प्रयोजनवाक्ये प्रयोजनसामान्यार्थिनः प्रवर्त्तन्तां प्रयोजनविशेषे तु कथमश्रुतप्रयोजनवाक्यानां संशयोत्पत्ति ? प्रायेण च प्रयोजनविशेषविषयस्यैव संशयस्य प्रवृत्तिकारणत्वात् तदुत्पादनायादिवाक्यमुपादेयम् अतश्च प्रयोजनसामान्यविशेषेषु संशयाना 'किमिदं सप्रयोजन उत निष्प्रयोजनं सप्रयोजनत्वेऽपि किमभिलषितेनैव प्रयोजनेन तद्वद् इति पक्षपरामर्शं कुर्वाणा प्रवर्त्तन्ते असदेतत् । कुत्रचिच्छास्त्रादनुभूतप्रयोजनविशेष श्रोतार प्रति प्रयोजनवाक्यस्यानुपयोगात्-स हि किंचिच्छास्त्रमुपलभ्य प्रागनुभूतप्रयोजनविशेषेण शास्त्रेणास्य वाक्यात्मकत्वेन साधर्म्यमवधार्येदमपि निष्प्रयोजनम् उत-अनभिमतप्रयोजनवद् उताऽभीष्टप्रयोजनवद्वा इत्याशङ्कमान प्रयोजनवाक्यमन्तरेणापि प्रवर्त्तेत एव अननुभूतप्रयोजनविशेषस्तु प्रयोजनवाक्यादपि नैव प्रवर्त्तते, तं प्रति तस्यापि तदुत्पादकत्वायोगात्-न हि प्रागननुभूतशास्त्रप्रयोजनविशेष 'प्रयोजनप्रतिपादक वाक्यमेतदर्थमि' त्यपि प्रतिपत्तु समर्थोऽपरयत्नमन्तरेण । नाप्यनुभूतविस्मृतप्रयोजनविशेष प्रयोजनवाक्यात्संस्मृत्य तद्विशेषं संशयान प्रवर्त्तेत, तद्राहितशास्त्रादपि तद्विशेषे स्मृतिसंभवात् नियमेन तु नोभाभ्यामपि तदनुस्मरण भवति, तथाऽपि प्रयोजनवाक्यस्य तत स्मृतिहेतुत्वत उपन्यासे अन्यस्यापि तद्धेतो किं नोपन्यास ? सामान्यविशेषयोश्च दर्शनाऽदर्शनाभ्या विशेषस्मरणसहकारिभ्यां संशया, न च प्रयोजनवाक्यं प्रयोजनविशेषस्य भावाऽभावयोः सामान्यम् । अथ विवक्षापरतन्त्रत्वात् स्वार्थतथाभावाऽतथाभावयोरपि प्रयोगसंभवात्सामान्यमेव वाक्य,

शास्त्रमपि तर्हि शास्त्रान्तरसादृश्यात्प्रयोजननिर्वृत्त्युपायत्वा ऽनुपायत्वयोः सामान्यम्-अन्यतरानिश्चयनिमित्ताभावात्तत. संशयात. प्रवर्त्तताम् किमकिंचित्करप्रयोजनवाक्येन ? न च सामान्यस्य विशेषस्य च दर्शनाऽदर्शनाभ्यामेव यथोक्ताभ्यां संशयः, किं तु-साधक-बाधकप्रमाणावृत्तावपि, सा च प्रयोजनवाक्योपन्यासाऽनुपन्यासयोरपि सम्भवत्येव ।

मा भूत्संशयोत्पादनेन वाक्यस्य शास्त्रश्रवणादिप्रवृत्तौ सामर्थ्यं, किं तु-प्रकरणारम्भप्रतिषेधाय 'नारब्धव्यमिदं प्रकरणम्, अप्रयोजनत्वात्, काकदन्तपरीक्षावद्' इति व्यापकानुपलब्धेरसिद्धतोद्भावनाय तदुपन्यास इति चेत्, एतदप्यसत्, यत. शास्त्रप्रयोजनं वाक्यनाप्रदर्शयता तद-सिद्धिरुद्भावयितुमशक्या, वाक्यस्याऽप्रमाणतया प्रयोजनविशेषसद्भावप्रकाशनसामर्थ्याभावात् । न च सप्रयोजनत्वतरयो परस्परपरिहारस्थितयो कुतश्चित्प्रमाणादेक भावाप्रतिपत्तावितराभावप्रतिपत्ति -अतिप्रसङ्गात्-येन वाक्यमात्रस्योपक्षेपेण हेतोरसिद्धि' स्यात्। नाऽपि कुतश्चित्प्रयोजनविशेषमुपलभ्यमानेन स्वयमुपलब्धप्रयोजनविशेषोपलम्भोपायमप्रदर्शयता कर्तुमशक्या असिद्धतोद्भावना वाक्यस्याप्रमाणस्य हेतुप्रतिपक्षभूतार्थोपस्थापना अशक्तस्योपन्यासमात्रेणासिद्धेरयोगात् । नाऽप्यनिबन्धना प्रतिपात्त, अतिप्रसङ्गात् ।

अथ यद्यप्यप्रमाणत्वाद्विपरीतार्थोपस्थापनमुखेनासिद्धतामिद नोद्भावयति । तथापि शास्त्रस्य निष्प्रयोजनता संदिग्धा अत, संदिग्धनिष्प्रयोजनत्वस्य शास्त्रस्य प्रयोजनाभाव निश्चित प्रेक्षावदारम्भप्रतिषेधहेतु प्रयुञ्जानोऽनेन वाक्येन प्रतिक्षेप्तुमिष्ट न पुन प्रयोजनविषयनिश्चय एवोत्पादयितुमिष्ट, नहि प्रतिपक्षोपक्षेपेणैव साधनधर्माणामसिद्धि अपि तु स्वग्राहिज्ञानविकलतया संदिग्धधर्मिसंबन्धित्वमप्यसिद्धत्वमेव तस्मात्संदिग्धसिद्धतोद्भावनाय वाक्यप्रयोग इति, तदप्यनुपपन्नम्, यथाहि-सप्रयोजनत्वे संदेहोत्पादने वाक्यस्यानुपयोगित्वं-शास्त्रमात्रादपि भावात्-तथा निष्प्रयोजनत्वेऽपि, एवं ह्यनेन वाक्येन हेतोरसिद्धतोद्भाविता भवति यदि तत्सत्तासंदेहनिबन्धनानि कारणान्यपि तदैव प्रकाशितानि भवन्ति । न च विपर्यस्तपुरुषसंदेहोत्पादने तद्वाक्यं प्रभवति, अदर्शनात् । नच प्रस्तुतशास्त्रस्य प्रयोजनवत् शास्त्रान्तरेण कथञ्चित्साम्यात्साधक-बाधकप्रमाणाप्रवृत्तितश्चान्यानि संदेहकारणानि सम्भवन्ति, वाक्यमप्येतावन्मात्रप्रकाशनपरं हेतो संदिग्धासिद्धतामुद्भावयेत्, नच तथाप्रकाशनमनुपन्यस्तेऽपि वाक्ये शास्त्रमात्रादपि दर्शनात् प्रमाणद्वयावृत्तेश्च भवतीति कस्तस्योपयोग ? अनुपन्यस्ते कथ नादिति चेत्, उपन्यस्तेऽपि कथं नहि तदुपन्यासाऽनुपन्यासाऽवस्थयो संदिग्धत्वात्प्रस्तुतात्कथञ्चन विशेष पश्याम ? असिद्धतोद्भावनमनेन न्यायेन सर्वमेवासङ्गतमिति चेत्, नैतत्, नह्यनेन प्रकारेणासिद्धतोद्भावनमेव प्रतिक्षिप्यते, किंतु प्रमाणरहिताद्वाङ्मात्रादसिद्धता नोद्भावयितु शक्यते इति प्रदर्श्यते । नच प्रयोजनवाक्य हेत्वसिद्धतोद्भावनार्थमपि युक्तम् ।

नत्र परोपन्यस्ते साधने प्रयोजनवाक्येनासिद्धतामुद्भाव्य कथमसिद्धि साधनस्येति प्रत्यवस्थातव्यं शास्त्रपरिसमाप्ते प्रयोजनमवगमयन् शास्त्रं श्रावयति । तत. समधिगते प्रयोजने तदुपन्यस्तस्य साधनस्याऽसिद्धिरिति वक्तु शक्य, शास्त्रश्रवणतः प्रयोजनावगम शास्त्रस्यादौ तद्वाक्योपन्यासस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः । अत एव "शास्त्रार्थप्रतिज्ञाप्रतिपादनपर आदिवाक्योपन्यासः"( ) इत्याद्यपि प्रतिक्षिप्तम्, अप्रमाणादादिवाक्यात्तदसिद्धे । तथा-सम्बन्धाभिधेयप्रत्यायनपराण्यपि वाक्यानि शास्त्रादौ वाङ्मात्रेण निश्चयायोगान्निष्प्रयोजनानि प्रतिक्षिप्तान्येव, उक्तन्यायस्य समानत्वात् । तदप्युक्तम् 'समय' इत्याद्यभिधेयप्रयोजनप्रतिपादक-(अस्य काण्डस्य द्वितीय) गाथासूत्रम् ।

(उत्तरपक्ष -आदिवाक्योपन्यासस्य सार्थकत्वसमर्थनम्)-

अत्र-प्रतिविधीयते-यदुक्तं न प्रत्यक्षमनुमानं वा शब्द तत्र सिद्धसाध्यता, प्रत्यक्षानुमानलक्षणयोगात्तत्र । यच्च 'नापि' शब्द प्रमाणं बहिरर्थे तस्य प्रतिबन्धवैकल्यत, विवक्षायां तु प्रतिबन्धेऽपि यथाविवक्षमर्थासम्भवात्, तदप्यसारम्, बाह्यार्थेन शब्दप्रतिबन्धस्य प्रसाधयिष्यमाणत्वात् तत्रैव च प्रतिपत्ति-प्रवृत्त्यादिव्यवहारस्योपलभ्यमानत्वाद्बाह्यार्थे एव शब्दस्य प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् प्रत्यक्षवत् । न चार्थाऽव्यभिचारित्वप्रामाण्यनिश्चयवतां तत प्रवर्त्तमानाना प्रेक्षापूर्वकारिताक्षतिः । न चाऽनाप्तप्रणीत 'सरित्तटपर्यस्तगुडशकट पट्टुवाक्यविशिष्टतानवगमात्तत. प्रवृत्ति. प्रत्यक्षाभासात्प्रत्यक्षस्येवानाप्तप्रणीतवाक्यादस्य विशिष्टतावसायात्, यस्य तु न तद्विशिष्टतावसायो नासावत प्रवर्त्तेत अनवधृततत्त्वाभासविवेकाद्धेतोरिवानुमेयार्थक्रियार्थी । न चाप्तानां परहितप्रतिबद्धप्रयासानां प्रमाणभूतत्वात्स्ववाङ्मात्रेण प्रवर्त्तयितुं प्रभवतां प्रयोजनवाक्योपन्यासवैयर्थ्यं सुनिश्चिताप्तप्रणीतवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनां तदुपायानिश्चये तत्र प्रवृत्त्ययोगात् नच प्रयोजनविशेषप्रतिपादकवाक्यमन्तरेणाऽऽप्तप्रणीतशास्त्रस्यापि तद्विशेषप्रतिपादकत्वनिश्चयः येन तत, एव तदर्थिना तत्र प्रवृत्ति स्यात् तदनभिमतप्रयोजनप्रतिपादकानामपि तेषां संभवाद् ।

अत -"यत्र खल्वाप्तै 'इदं कर्त्तव्यम्' इति पुरुषा प्रतीततदाप्तभावा नियुज्यन्ते तत्रावधीरिततत्प्रेरणाऽन्यथाभावविषयविचारास्तदभिहित वाक्यमेव बहु मन्यमाना अनाहतप्रयोजनपरिप्रश्ना एव प्रवर्त्तन्ते विनिश्चिततदाप्तभावानां प्रत्यवस्थानासम्भवात्"( ) इति निरस्तम्, आप्तप्रवर्त्तितप्रतिनियतप्रयोजनार्थिजनप्रेरणावाक्यस्यैव प्रयोजनवाक्यत्वनिश्चयाद् अन्यथाऽभिमतफलार्थिजनप्रेरकवाक्यस्याप्तप्रयुक्तत्वमेवानिश्चितं स्याद् अनभिमतार्थप्रेरकस्यावगताप्तवाक्यत्व चातिप्रसङ्ग, न चाप्तवाक्यादपि प्रतिनियतप्रयोजनार्थिनस्तदवगमे तत्र प्रवर्त्तितुमुत्सहन्ते, अतिप्रसङ्गादेवेति सुप्रसिद्धम् । अर्थसंशयोत्पादकत्वेन चादिवाक्यस्य प्रवर्त्तकत्वप्रतिक्षेप सिद्धसाधनम्, व्यापकानुपलब्धेस्त्वसिद्धतोद्भावनमादिवाक्यान्निश्चितबाह्यार्थप्रामाण्यात् युक्तमेव,यथा च तत्र तस्या(तस्य)प्रामाण्य तथा प्रतिपादयिष्याम । अत एव-"आप्ताभिहितत्वासिद्धेरविसंवादकत्वायोगादप्रमाणत्वाभावनिश्चयनिमित्ताभावादप्रवर्त्तकत्व प्रयोजनवाक्यस्य प्रेक्षापूर्वकारिण प्रति" ( ) इति । यदुच्यते तदपि प्रतिव्यूढ द्रष्टव्यम् । सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी० ।

(११) अपोह शब्दार्थ इति बौद्धाः—

ननु च—' समयपरमार्थविस्तर '-इत्यनेनाऽऽगमस्याकल्पितो वाच्योऽर्थः प्रतिपाद्यत्वेन शब्दार्थयोश्च वास्तवः संबन्धो निर्दिष्टः इतियमप्येतदयुक्तः प्रमाणबाधितत्वाद् इति बौद्धाः । तथाहि-शब्दानां न परमार्थतः किञ्चिद्वाच्यं वस्तुस्वरूपमस्ति ; सर्व एव हि शाब्दप्रत्ययो भ्रान्तः, भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाकाराध्यवसायेन प्रवृत्तः । यत्र तु पारंपर्येण वस्तुप्रतिबन्धस्तत्रार्थसंवादो भ्रान्तत्वेऽपि, तत्र यत्तदारोपितं विकल्पबुद्ध्याऽर्थेष्वभिन्नं रूपं तदन्यव्यावृत्तपदार्थानुभवबलायातत्वात्स्वयं चान्यव्यावृत्ततया प्रतिभासनाद् भ्रान्तैश्चाऽऽन्यव्यावृत्तार्थेन सहैक्येनाध्यवसितत्वात् अन्यापोढपदार्थाधिगतिफलत्वाच्च अन्याऽपोह इत्युच्यते । अत अपोह शब्दार्थ इति प्रसिद्धम् ।

(' विधिरेव शब्दस्यार्थ ' इति विधिवादिमतस्य संक्षिप्य प्रतिस्थापनम्)—

अत्र विधिवादिनः प्रेरयन्ति-यदि भवतां द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्यादिलक्षणानि विशेषणानि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि परमार्थतो न सन्ति कथं लोके ' दण्डी ' इत्याद्यभिधानप्रत्ययाः प्रवर्त्तन्ते द्रव्याद्युपाधिनिमित्ताः, तथाहि- दण्डी '' विषाणी ' इत्यादिधीध्वनी लोके द्रव्योपाधिकौ प्रसिद्धौ, ' शुक्लः '' कृष्णः ' इति गुणोपाधिकौ, ' चलति '' भ्रमति ' इति कर्मनिमित्तौ, ' अस्ति '' विद्यते ' इति सत्तानिमित्तकौ, ' गौः '' अश्वः ' इति सामान्यविशेषोपाधी, ' इह तन्तुषु पटः ' इति समवायनिमित्तः । (तौ) । तदेषां द्रव्यादीनामभावे ' दण्डी ' इत्यादिप्रत्यय-शब्दौ निर्विषयौ स्याताम् । न चानिमित्तावेतौ युक्तौ, सर्वदा तयोरविशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । नचाविभागेन तयोः प्रवृत्तिरस्ति, तस्मात्सन्ति द्रव्यादयः पारमार्थिकाः प्रस्तुतप्रत्ययशब्दविषयाः ।

प्रमाणयन्ति चात्र-ये परस्परासंकीर्णप्रवृत्तयस्ते सनिमित्ताः, यथा श्रोत्रादिप्रत्ययाः असंकीर्णप्रवृत्तयश्च ' दण्डी, इत्यादिशब्दप्रत्यया इति स्वभावहेतुः । अनिमित्तत्वे सर्वत्राऽविशेषेण प्रवृत्तिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम् ।

(विधिवादिमतं सविस्तरं दूषयतम् अपोहवादिनां मतस्य निर्देश)—

अत्र यदि पारमार्थिकबाह्यविषयभूतेन निमित्तेन सनिमित्तत्वमेषां साधयितुमिष्टं तदा अनैकान्तिकता हेतोः ; साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् । अथ येन केनचिन्निमित्तेन सनिमित्तत्वमिष्यते तदा सिद्धसाध्यता । तथाहि--अस्माभिरपीष्यते एवैषामन्तर्जल्पवासनाप्रबोधो निमित्तं नतु विषयभूतम्, भ्रान्तत्वेन सर्वस्य शा(श)ब्दप्रत्ययस्य निर्विषयत्वात् । तदुक्तम्-" येन येन हि नाम्ना वै, यो यो धर्मोऽभिलप्यते । न स संविद्यते तत्र, धर्माणां सा हि धर्मता " ( ) इति ।

नच शाब्दप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वाऽविषयत्वयोः किं प्रमाणमिति वक्तव्यम्, भिन्नेष्वभेदाध्यवसायेन प्रवर्त्तमानस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात् । तथाहि-य ' अतस्मिंस्तद् ' इति प्रत्ययः स भ्रान्तः, यथा मरीचिकायां जलप्रत्ययः, तथा चायं भिन्नेष्वर्थेष्वभेदाध्यवसायी शाब्दः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः । न च सामान्यं वस्तुभूतं ग्राह्यमस्ति येनासिद्धतास्य हेतोः स्यात्, तस्य निषिद्धत्वात् । सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी० । (इतोऽग्रे ' सद्द ' शब्दे सप्तमे भागे ३४० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

इतश्च-स्वलक्षणव्यपदेश्यं शब्दबुद्धौ तस्याः प्रतिभासनात् । यथाहि-उष्णाद्यर्थविषयेन्द्रियबुद्धिः स्फुटप्रतिभासानुभूयते न तथा उष्णादिशब्दप्रभवा तदुपहतनयनादयो मातुलिङ्गादिशब्दश्रवणात्तद्रूपाद्यनुभाविनो भवन्ति यथानुपहतनयनादयः अक्षबुद्ध्यानुभवन्ति । यथोक्तम्-" अन्यथैवाग्निसंबन्धा-दाहं दग्धोऽभिमन्यते । अन्यथा दाहशब्देन, दाहार्थः संप्रतीयते " ॥ (वाक्यप० द्वि० का० श्लो० ४२५)

न च यो यत्र न प्रतिभाति स तद्विषयोऽभ्युपगन्तुं युक्तः अतिप्रसङ्गात् । तथा च प्रयोगः-यो यत् कृतप्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः यथा रूपशब्दजनिते प्रत्यये रसः, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणम् इति व्यापकानुपलब्धिः । अत्र चातिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणम् । तथाहि-शब्दस्य तद्विषयज्ञानजनकत्वमेव तद्वाचकत्वमुच्यते नान्यत्, नच यद्विषयं ज्ञानं यदाकारशून्यं तत्तद्विषयं युक्तमतिप्रसङ्गात् । न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति-स्पष्टम् अस्पष्टं च येनाऽस्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयते-एकस्य द्वित्वविरोधात् । भिन्नसमयस्थायिनां च परस्परविरुद्धस्वभावप्रतिपादनात् न शब्दगोचरः स्वलक्षणम् । सम्म० १ काण्ड २ गाथाटी० ।

(१२) शब्दार्थविचारः

अत्थो किं हुज्ज सुई, विण्णाणं वत्थुमेओ वा ॥१६००॥
जाई दव्वं किरिया, गुणोऽहवा संसओ तवो जुत्तो ।
अयमेवंति न वा यं, न वत्थुधम्मो जओ जुत्तो ॥१६०१॥
सव्वं चिय सव्वमयं, सपरप्पज्जायओ जओ नियय ।
सव्वमसव्वमयं पि य, विचित्तरूवं विवक्खाओ ॥१६०२॥
सामण्णविसेसमओ, तेण पयत्थो विवक्खया जुत्तो ।
वत्थुस्स विस्सरूवो, पज्जाया-वेक्खया सव्वो ॥१६०३॥

अर्थः श्रुतिः-शब्दो भवेत्, यथा भेरी-पटह-ढक्कादीनां शब्दस्य शब्द एवार्थः, अथवा-यद् घटादिशब्दे समुच्चारिते तदभिधेयार्थविषयं विज्ञानं भवद्-दृश्यते तदेषामर्थः ; किं वा-घटशब्दे समुत्कीर्तिते ' पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् घटलक्षणोऽर्थोऽनेनोक्तो, नतु पटादिः ' इत्येवं यो वस्तुभेदः प्रतीयते स एषामर्थः ; यदि वा-किं जातिरमीषामर्थो, यथा गोशब्दे समुच्चारिते गोजातिरवसीयते, यदि वा-किं द्रव्यमेषामर्थो यथा दण्डीत्यादिषु दण्डादिमद् द्रव्यं किं वा धावतीत्यादीनामिव धावनादिक्रिया अमीषामर्थः, अथवा-किं शुक्लादीनामिव शुक्लादिगुण एतेषामर्थः इति ? । अत्र च संशयस्तवाऽयुक्तो, यस्माद्-' अयमेव, नैव वाऽयमिति ' त्येवं कस्यापि वस्तुनो धर्मोऽवधारयितुं न युक्तः । शब्दोऽपि वस्तुविशेष एव, ततः ' एवंभूतस्यैवार्थस्यायमभिधायकः, नैव वा इत्थंभूतस्यार्थस्यायं प्रतिपादकः ' इत्येवमेतद्धर्मस्याप्यवधारणमयुक्तमेव । कुतः ? इत्याह-' सव्वं चिये ' त्यादि, यस्मात्सर्वमपि वाच्यवाचकादिकं वस्तु नियतं-निश्चितं स्व-

परपर्यायै सर्वात्मकमेव सामान्यविवक्षयेत्यर्थः । तथा-सर्वमसर्वमयमप्यस्ति विचित्ररूपं सर्वतो व्यावृत्तम्। कया? इत्याह विवक्षया, केवलस्वपर्यायापेक्षयेत्यर्थः, विशेषविषययेति तात्पर्यार्थः । तस्मात्सर्वेषामपि पदानां विवक्षावशात् सामान्यमयो विशेषमयश्च पदार्थो युक्तः, न पुनरेकान्तेनेत्थंभूत एव अनित्थंभूत एव वेतिकुतः ? इत्याह- वस्तुस्सेत्यादि, 'यस्मात्सर्वोऽपि वाच्यस्य वाचकस्य वा वस्तुनः स्वभावः पर्यायापेक्षया विश्वरूपो नानाविधो वर्त्तते । ततश्च सामान्यविवक्षाया घटशब्दः सर्वात्मकत्वात्सर्वेषामपि द्रव्यगुणक्रियाद्यर्थानां वाचकः विशेषविवक्षया तु प्रतिनियतरूपत्वात् य एवास्येह पृथुबुध्नोदराद्याकारवानर्थो वाच्यतया रूढस्तस्यैव वाचकः । एवमन्योऽपि शब्दो विशेषविवक्षया या यत्र देशादौ यस्यार्थस्य वाचकतया रूढः स तस्य वाचको द्रष्टव्यः । सामान्यविवक्षया तु 'सर्वं सर्वस्य वाचकः सर्वं सर्वस्य वाच्यमि' त्यनया दिशा सकलं स्वधिया भावनीयमिति । विशे० ।

(१३) अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरस्सरं तीर्थान्तरीयप्रकल्पितनदेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रतिभावैभवाऽभावमाह—

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं,
द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्ता-
वतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥ १४ ॥

व्याख्या-वाच्यम्-अभिधेय चेतनम् अचेतनं च वस्तु एवकारस्याप्यर्थत्वात् सामान्यरूपतया एकात्मकमपि व्यक्तिभेदेन अनेकम्-अनेकरूपम् । अथवा-अनेकरूपमपि एकात्मकम् अन्योन्यसंवलितत्वादित्थमपि व्याख्याने न दोषः । तथा च-वाचकमभिधायकं शब्दरूपं तदप्यवश्यं निश्चितं द्वयात्मकं, सामान्यविशेषोभयात्मकत्वादेकानेकात्मकमित्यर्थः ।(उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वान्नपुंसकत्वम्। अवश्यमिति पदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्यनेकात्मकत्वं निश्चिन्वत्तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति) अत उपदर्शितप्रकारादन्यथा सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण 'वाचकवाच्यक्लृप्तौ'-वाच्यवाचकभावकल्पनायाम्, अतावकानाम् -अत्वदीयानाम्-अन्ययूथ्यानाम् प्रतिभाप्रमादः'-प्रज्ञास्खलितम् इत्यक्षरार्थः । (अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राग्निपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाधीनत्वेन वाचकस्याऽर्च्यत्वज्ञापनार्थम्) । तथा च शाब्दिकाः - 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते ॥ १ ॥ इति । भावार्थस्त्वयम्-एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतया शब्दार्थमभ्युपगच्छन्ति ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः, सांख्याश्च । केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वचन्ति । ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगताः । अपरे च-परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते । ते च नैगमनयानुगामिनः काणादा आक्षपादाश्च । स्या० १४ श्लोक ।

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयात्मकम् सामान्य-विशेषात्मकम्) । सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायिशब्दत्वमेकं शाङ्खशार्ङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम्। शब्दस्य हि सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद्व्यक्तमेव, तथाहि-पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत् यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वादतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्त्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्गगनगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यौगैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासाः, तथाहि-शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा न पुनराकाशं तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव। यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात्तथाविधगन्धाऽऽद्याधारद्रव्यपरमाणुवत् । इत्यसिद्धः प्रथमः ।

द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः वर्त्तमानजात्यकस्तूरिकादिगन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निर्याति । नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसम्भवान्नातिनिविडत्वम्। अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वं ? सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः । इति चत्तर्हि शब्देऽप्येतत्समानम् । इत्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु तडि(विद्यु)ल्लतोल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोऽपि तथैव, गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । नहि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते ।

पञ्चमः पुनरसिद्धः । तथाहि-न गगनगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवद् । इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात्सामान्यविशेषात्मकः शब्द इति । नच वाच्यम्-"आत्मन्यपौद्गलिकेऽपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निर्विवादमनुभूयते, इति, यतः संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मपरमाणुभिः सह वह्नितापितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डीभूतसूचीकलापवल्लोलीभावमापन्नस्य कथंचित्पौद्गलिकत्वाभ्यनुज्ञानादिति । यद्यपि स्याद्वादवादिना पौद्गलिकम् अपौद्गलिकं च सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं तथाप्यपौद्गलिकेषु धर्माधर्माकाशकालेषु तदात्मकत्वमर्वाग्दृशां न तथा प्रतीतिविषयमायाति पौद्गलिकेषु पुनस्तत्साध्यमानं तेषां सुखज्ञानम् । इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वं सामान्यविशेषात्मकत्वं साधनायोपन्यस्तमिति ।

अत्रापि नित्यशब्दवादिसंमतः शब्दैकत्वैकान्तोऽनित्यशब्दवाद्यभिमतः शब्दानेकत्वैकान्तश्च प्राग्दर्शितदिशा प्रतिक्षेप्यः । अथवा-वाच्यस्य घटादेरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वम्, शब्दार्थयोः कथंचित्तादात्म्याभ्युपगमात् । यथाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः -

" अभिहाणं अभिहेआउ, होइ भिन्नं अभिन्नं च ।
खुर अग्गिमोयगुच्चा-रणंमि जम्हा उ वयणसवणाणं ॥१॥
न विछेओ न वि दाहो, न पूरणं तेण भिन्नं तु ।
जम्हा य मोयगुच्चा-रणंमि तत्थेव पच्चओ होइ ॥ २ ॥
ण य होइ स अन्नत्थे, तेण अभिन्नं तदत्थाउ ।

एतेन-

"विकल्पयोनयः शब्दाः, विकल्पाः शब्दयोनयः ।

कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि " ॥ १ ॥
इति प्रत्युक्तम् "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः" इति वचनात्, शब्दस्य हि तदेव तत्त्वं यदभिधेयं याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति। स च तत्तथा प्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव वक्तुं शक्तो नान्यथाऽतिप्रसङ्गात्, घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्रसक्तेः। अथवा-भङ्ग्यन्तरेण सकलं काव्यमिदं व्याख्यायते-वाच्यं वस्तु घटादिकमेकात्मकमेकस्वरूपमपि सदनेकम् (अनेकस्वरूपम्) अयमर्थः। प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति। तच्च सजातीयविजातीयव्यवच्छेदादात्मलाभं लभते। यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्था विजातीयाश्च पटादयस्तेषां व्यवच्छेदस्तल्लक्षणम्। पृथुबुध्नोदराद्याकारः कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते। तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्ध्या आरोप्य व्यवच्छिद्यते, अन्यथा-प्रतिनियततत्स्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः सर्वभावानां हि भावाऽभावात्मकं स्वरूपम् एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्याद् एकान्ताऽभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात्, तस्मात्स्वरूपेण सत्त्वात्पररूपेण चाऽसत्त्वाद्भावाभावात्मकं वस्तु. यदाह—' सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च। अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात्, स्वरूपस्याप्यसंभवः " ॥ १ ॥ ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सुपपादम्। एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं, सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात्। आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थित—' जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ "। तथा-' एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः। सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः " ॥ १ ॥ ये तु सौगताः परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः। तथाहि—यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं तथा यदि पररूपादिनापि स्यात्तथा च सति स्वरूपादिसत्त्ववत्पररूपादिसत्त्वप्रसङ्गे कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत्? परासत्त्वेन तु प्रतिनियतताऽसौ सिद्ध्यति।

अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं किं तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेद्वदतो वैदग्धी न खलु यदेव सत्त्वं तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात्। अथ युष्मत्पक्षेऽप्येव विरोधस्तदवस्थ एवेति चेदहो वाचाटता देवानांप्रियस्य; न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं तेनैवासत्त्वं येनैव चाऽसत्त्वं तेनैव सत्त्वमभ्युपेमः, किंतु-स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वं पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्। तदा क्व विरोधावकाशः?, सौगतास्तु प्रगल्भन्ते-" सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रतिनियमसिद्धेः किं तेषामसत्त्वात्मकत्वकल्पनया " इति, तदसत्, यदाहि-पटाद्यभावरूपो घटो न भवति तदा घटः पटादिरेव स्यात्। यथा च घटाभावाद्भिन्नत्वाद् घटस्य घटरूपता तथा पटादेरपि स्याद् घटाभावाद्भिन्नत्वादेव इत्यलं विस्तरेण ॥ सूत्रस्य।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्व्यात्मकम् एकात्मकमपि सदनेकमित्यर्थः, यथोक्तन्यायेन शब्दस्यापि भावाऽभावात्मकत्वात् अथवा—एकविषयस्यापि वाचकस्याऽनेकविषयत्वोपपत्तेः। यथा किल घटशब्दः सङ्केतवशात्पृथुबुध्नोदराद्याकारवति पदार्थे प्रवर्त्तते वाचकतया तथा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादेव पदार्थाऽन्तरेष्वपि तथा वर्त्तमानः केन वार्यते?, भवन्ति हि वक्तारो योगिनः शरीरं प्रति घट' इति; सङ्केतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वात्। यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानाम्-ओदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः, एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः। कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ श्रुतिधरसंहननादिमति प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म। सांप्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देनोपवासत्रयमेव संकेत्यते जीतकल्पव्यवहारानुसारात्।

शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी त्रिपुरार्णवे च अलिशब्देन मदिराभिषिक्ताऽन्नं च मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणमित्यादि। न चैवं संकेतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्यं; स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तेः सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारिसंकेतस्तत्र तमर्थं प्रतिपादयति। तथा च-निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः -" स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः "। अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्रन्थान्तरादवसेयम्, 'अतोऽन्यथे' त्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत्। प्रतिभाप्रमादस्तु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्याङ्गीकृतत्वाद् दोषसद्भावाद् व्यवहारानुपपत्तेः। तदयं समुदायार्थः सामान्यविशेषात्मकस्य भावाऽभावात्मकस्य च वस्तुनः सामान्यविशेषात्मको भावाभावात्मकश्च ध्वनिर्वाचक इति अन्यथा प्रकारान्तरैः पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमानानामन्धवादिनां प्रतिभैव प्रमाद्यति न तु तद्भणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते। कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेदेते ब्रूमः। अपोह एव शब्दार्थ इत्येके " अपोहशब्दलिङ्गाभ्यां, न वस्तुविधिनोच्यते " इति वचनात्। अपरे सामान्यमात्रमेव शब्दानां गोचरः, तस्य क्वचित् प्रतिपन्नस्यैकरूपतया सर्वत्र संकेतविषयतोपपत्तेः, न पुनर्विशेषाः, तेषामानन्त्यतः कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषयतानुपपत्तेः विधिवादिनस्तु विधिरेव वाक्यार्थोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तनस्वभावत्वात्तस्येत्याचक्षते। विधिरपि तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्याऽनेकप्रकारः, तथाहि-वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्त्तकत्वाद्विधिरित्येके तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिः इत्यन्ये। नियोग इत्यपरे। प्रैषादय इत्येके तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्त्तनामात्रमित्यन्ये। एवं फलतदभिलापकर्मादयोऽपि वाच्याः एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयमिति काव्यार्थः। स्या० १४ श्लोक। (इतोऽग्रे 'सद्द' शब्दे सप्तमभागे विशेषः)

(१४) (शब्दस्य वाचकताविचारः)—

('अत्र वैयाकरणा प्राहुः' इत्याद्यारभ्य स्फोटविचारः 'फोड' शब्दे ५ पञ्चमे भागे द्रष्टव्यः ।)

(१५) अथ गकाराद्यानुपूर्वीविशिष्टोऽन्त्यो वर्णो विशिष्टानुपूर्विका वा गकारौकारविसर्जनीयाः शब्दाः। तथा च मीमांसका प्राहुः—"यावन्तो यादृशा ये च, यदर्थप्रतिपादकाः। वर्णाः प्रज्ञातसामार्थ्यास्ते तथैवाऽवबोधकाः" (श्लो० वा० स्फोट० वा० श्लो० ६९) ॥ इति। एतदपि न सम्यग्, यत। आनुपूर्वी यद्यनर्थान्तरभूतास्तदा वर्णा एव नानुपूर्वी, ते च व्यस्ता समस्ता वा अर्थप्रत्यायका न भवन्तीत्यावेदितम्। अथार्थान्तरभूता तदा वक्तव्य सा नित्या, अनित्या वा ?, न तावदनित्या स्वसिद्धान्तविरोधात्—वैदिकानुपूर्व्या नित्यत्वेनाभ्युपगमात्। "वक्ता न हि क्रमं कश्चित्, स्वातन्त्र्येण प्रपद्यते" (श्लो० वा० शब्दनित्य० श्लो० २८८) इत्याद्यभिधानात्। नापि नित्या स्फोटपक्षादिसमस्तदोषप्रसङ्गात्। नच वैदिकवर्णाद्यानुपूर्वी नित्या, लौकिकतदानुपूर्व्याविशेषात्। तथाहि—वैदिकवर्णाद्यानुपूर्वी अनित्या, वदानुपूर्वीशब्दवाच्यत्वात् लौकिकवर्णाद्यानुपूर्वीवत्।

न च लौकिकानुपूर्व्या विलक्षणेयं, वैलक्षण्यासिद्धेः। तथाहि—किमपौरुषेयत्वमस्या वैलक्षण्यम्, आहोस्विद्विचित्ररूपता ?, न तावदाद्य पक्ष अपौरुषेयत्वस्य निरस्तत्वात्। नापि वैचित्र्य—तस्यानित्यत्वेनाविरोधात्तत्सद्भावेऽपि नित्यत्वाप्रसाधकत्वाल्लौकिकवाक्येष्वपि वैचित्र्यस्योपलब्धेश्च। नच वर्णाना नित्यव्यापिनामानुपूर्वी संभवति। देश-कालकृतक्रमानुपपत्तेः। नचाभिव्यक्त्यानुपूर्वी तेषां संभविनी। अभिव्यक्तेः प्राग्निरस्तत्वात्। 'पूर्ववर्णसंवित्प्रभवसंस्कारसहित तत्स्मृतिसहिता वा अन्त्यो वर्ण पदम्' इत्यभ्युपगमोऽपि न युक्तिसङ्गतः। संस्कारस्मरणादेरनुपलभ्यमानस्य तदा सहकारित्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

नचार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिस्तत्कल्पनायां प्रमाणं, तत्प्रतिपत्तेरन्यथासिद्धत्वात्। न चानुपूर्वीसंभवेऽपि परपक्षे वर्णा अर्थप्रतीतिहेतुतया संभवन्ति, तेषां तत्प्रतिपत्तिजननस्वभावत्वे सर्वदा तत्प्रतिपत्तिप्रसक्तेस्तज्जननस्वभावस्य सर्वदा भावात्। अतज्जननस्वभावत्वे न कदाचिदप्यर्थप्रतिपत्तिं जनयेयुः अनपगताऽतज्जननस्वभावत्वात्। नच सहकारिसंनिधानेऽपि तेषामतज्जननस्वभावता व्यपगच्छति अनित्यताप्रसक्तिदोषापत्तेः। नित्याश्च परैस्ते अभ्युपगता इत्यभ्युपगमविरोधश्च।

(१६) (वाच्यवाचकयोः संबन्धस्य नित्यत्वं निषिध्य तस्य कृतकत्वव्यवस्थापनम्)—

नच नित्यसंबन्धवादिनस्तदपेक्षा वर्णा अर्थप्रत्यायका संभवन्ति, नित्यस्यानुपकारकत्वेनापेक्षणीयत्वायोगात्। न नित्य संबन्धः शब्दार्थयोः प्रमाणेनावसीयते। प्रत्यक्षेण तस्याननुभवात्। तदभावेनानुमानेनापि, तस्य तत्पूर्वकत्वाभ्युपगमात्। न च शब्दार्थयोः स्वाभाविकसंबन्धमन्तरेण गोशब्दश्रवणानन्तरं ककुदादिमदर्थप्रतिपत्तिर्न भवेद् अस्ति च सा इति शब्दस्य वाचिका शक्तिरवगम्यत इति वाच्यम्, अनवगतसंबन्धस्यापि ततस्तदर्थप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्।

न च संकेताभिव्यक्तः स्वाभाविकः संबन्धोऽर्थप्रतिपत्तिं जनयतीति नायं दोषः संकेतादेवार्थप्रतिपत्तेः स्वाभाविकसंबन्धपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तथाहि—संकेताद् व्युत्पाद्याः 'अनेन शब्देनेत्थंभूतमर्थं व्यवहारिणः प्रतिपादयन्ति' इत्यवगत्य व्यवहारकाले पुनस्तथाभूतशब्दश्रवणात्। संकेतस्मरणे तत्सदृशं त चार्थं प्रतिपद्यन्ते न पुनः स्वाभाविकं संबन्धमवगत्य पुनस्तत्स्मरणे अर्थमवगच्छन्ति।

न च वाच्यवाचकसंकेतकरणे स्वाभाविकसंबन्धमन्तरेणानवस्थाप्रसक्तिः वृद्धव्यवहारात् प्रभूतशब्दाना वाच्यवाचकस्वरूपावधारणात्। तथाहि—एको व्युत्पन्नव्यवहार तथाभूताय 'गामभ्याज शुक्ला देवदत्त ! दण्डेन' इति यदा व्यपदिशति द्वितीयस्तु तदुपदेशानन्तरं तथैव विदधाति तदा अव्युत्पन्नसंकेत शिशुस्त तथा कुर्वाणमुपलभ्यैवमवधारयति—'अनेन गोशब्दाद्गवार्थः प्रतिपन्न अभ्याजाऽऽदिशब्दादभ्याजिक्रियादिक अन्यथा कथमपरनिमित्ताभावेऽपि गोपिण्डाऽऽनयनादिक वाक्यश्रवणानन्तरं विदध्याद्' एवमपोद्धारकल्पनयाऽव्युत्पन्नाना संकेतग्रहणसंभवान्नानवस्थादोषः।

न च प्रथमसंकेतविधायिनः स्वाभाविकसंबन्धव्यतिरेकेण वाच्यवाचकयो कुतो वाच्यवाचकरूपावगतिरिति वक्तव्यम्, अनादित्वादस्य व्यवहारस्यापरापरसंकेतविधायिपूर्वकत्वेन निर्दोषत्वात्।

न च वाच्यवाचकसंबन्धस्य पुरुषकृतत्वे शब्दवदर्थस्यापि वाचकत्वम् अर्थवच्छब्दस्यापि वाच्यत्वं प्रसक्तमिति वक्तव्यम्। योग्यतानतिक्रमेण संकेतकरणात्। न च स्वाभाविकसंबन्धव्यतिरेकेण प्रतिनियतयोग्यताया अभावः, कृतकत्वेऽपि प्रतिनियतयोग्यतावता भावानामुपलब्धेः। तथाहि—यत्र लोहत्वं छेदिकाशक्तिस्तत्रैव क्रियमाणा दृष्टा, न जलादौ, यत्रैव तन्तुत्वमस्ति तत्रैव निष्पाद्यते पटोत्पादनशक्तिर्न तु वीरणादौ तत्र तन्तुत्वाभावाद् एव च यद्यथोपलभ्यते तत्तथैवाभ्युपगन्तव्यम्। दृष्टाऽनुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तेः। तेन यत्रैव वर्णत्वादिकं निमित्तं तत्रैव वाचिका शक्तिः संकेतेनोत्पाद्यते यत्र तु तन्नियतं निमित्तं नास्ति तत्र न वाचिका शक्तिरिति न नित्यवाच्यवाचकसंबन्धपरिकल्पनया प्रयोजनम्। एकान्तनित्यस्य तु ज्ञानजनकत्वे सर्वदा ज्ञानोत्पत्तिः तदजननस्वभावत्वेन कदाचिज्ज्ञानोत्पत्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम्। समयबलेन तु शब्दादर्थप्रतिपत्तौ यथासंकेत विशिष्टसामग्रीतः कार्योत्पत्तौ न कश्चिद्दोषः।

(अनुमानात् शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसाधनम्)—

अत एवानुमानात् प्रमाणान्तरं शाब्दम्। अनुमानं हि पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकवल्लिङ्गबलादुदयमासादयति। शाब्दं तु संकेतसव्यपेक्षशब्दोपलम्भात् प्रत्यक्षानुमानागोचरेऽर्थे प्रवर्त्तते। स्वसाध्याऽव्यभिचारित्वमप्यनुमानस्य त्रिरूपलिङ्गाद्भूतत्वेनैव निश्चीयते। शाब्दस्य त्वाप्तोक्तत्वनिश्चये सति शब्दस्योत्तरकालमिति। किं च—शब्दा यत्र यत्रार्थे प्रतिपादकत्वेन पुरुषेण प्रयुज्यते त तमर्थं यथासंकेत प्रतिपादयन्ति, नत्वेवं धूमादिकं लिङ्गं पुरुषेच्छावशेन जलादिकं प्रतिपादयतीत्यनुमानात् प्रमाणान्तरं सिद्धः शब्दः।

न च शब्दादर्थप्रतिपत्तौ शब्दस्य त्रैरूप्यमस्ति। यतो न तस्य पक्षधर्मता यत्रार्थस्तत्र धर्मिणि शब्दस्याऽवृत्तेर्गोपिण्डाधारेण प्रदेशेन शब्दस्याऽऽश्रयाऽऽश्रयिभावस्य जन्यजनकभावनिबन्धनस्याऽभावाद् अत एव 'गोपिण्डवानयं देशो गोशब्दवत्त्वात्' इति नाऽभिधातुं शक्यम्। नापि गोपिण्डे गोशब्दो वर्त्तते। आधाराधेयवृत्त्या जन्यजनकभावेन वा गोपिण्डाऽभावेऽपि गोशब्दस्य दर्शनात्। न च-गम्यगमकभावेन तत्रासौ वर्त्तते पक्षधर्मत्वाऽभावे तस्यैवानुपपत्तेः वाच्यवाचकभावेन वृत्तावनुमानात् प्रमाणान्तरत्वम्। न च 'गोपिण्डो गोत्ववान् गोशब्दवत्त्वाद्' अयमपि प्रयोगोऽनुपपन्न एव नापि गोत्वे गोपिण्डविशेषणे वर्त्तते। तत्सामान्येनाश्रयाश्रयिभावस्य जन्यजनकभावस्य वा तस्याभावाद्। अत 'गोत्वं गोपिण्डवत् गोशब्दवत्त्वाद्' इत्यपि वक्तुमशक्यम्। विशेषे च साध्येऽन्वयाभाव एव दोष। न च-'गोशब्दो गवार्थवान् गोशब्दत्वात्' इति प्रयोगो युक्तः तथा प्रतीत्यभावात्। नहि 'गौर्गच्छति' इत्युक्ते गमनक्रियाविशिष्टगवार्थप्रतीतिमन्तरेण गोपिण्डेन तद्वान् शब्दो लोकेनाऽवगम्यते।

न च-गोशब्दो गवार्थवाचकत्वेन गोशब्दत्वादनुमीयते, किंतु-गवार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या गवार्थवाचकत्वं तस्य कल्प्यते। प्रतिनियतपदार्थनिवेशिना तु देवदत्तादिशब्दानामन्वय नापि पक्षधर्मता दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभेदे चानुमानप्रवृत्ते। न च-शाब्दं स्वभावलिङ्गमनुमाने शब्दस्यार्थस्वभावत्वासिद्धेराकारभेदात् प्रतिनियतकरणग्राह्यत्वाद्वाचकस्वभावत्वाच्च तस्य। नापि कार्यलिङ्गम् अर्थाभावेऽपीच्छातः शब्दस्योत्पत्ते। न च-न यथार्थविषयत्वेन शब्दस्यानुमानता सौगतैरभ्युपगम्यते अपि तु विवक्षाविषयत्वेनेति वक्तव्यम्, यतो यथा न तदर्थो विवक्षा तथा शब्दप्रामाण्यप्रतिपादनेऽभिहित न पुनरुच्यते।

(परकल्पिता वर्णानां नित्यता तत्पदादिप्रक्रिया च प्रदूष्यानेकान्तदृष्ट्या शब्द-तदर्थसम्बन्धयोस्स्वरूपनिरूपणम्)-न च-मीमांसकाभिप्रायेण वर्णानां वाचकत्वम् अभिव्यक्तानभिव्यक्तपक्षद्वयेऽपि दोषाद् अनभिव्यक्तानां ज्ञानजनकत्वे सर्वपुरुषान् प्रति सर्वे सर्वदा ज्ञानजनकाः स्युः केनचित् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावाद् अभिव्यक्तानां ज्ञानजनकत्वे एकवर्णाऽऽवरणापाये सर्वेषां समानदेशत्वेनाभिव्यक्तत्वाद् युगपत् सर्वश्रुतिप्रसक्तिरित्युक्तं प्राक्। इन्द्रियसंस्कारपक्षेऽपि पूर्वप्रतिपादितमेव दूषणमनुसर्त्तव्यम्। किं च-यद्यनवगतसंबन्धा वर्णा अर्थप्रत्यायकास्तदा नारिकेलद्वीपवासिनोऽप्युपलभ्यमाना अर्थावगतिं विदध्युः। अथावगतसम्बन्धास्तथा सति पदस्य स्मारकत्वमेव स्यान्न वाचकत्वं तथा चानधिगतार्थाधिगमहेतुत्वाभावाच्च प्रमाणता भवेत्, तदुक्तम्-" पदं त्वभ्यासिकाभावात्, स्मारकान्न विशिष्यते। अथाऽऽधिक्यं भवेत्किञ्चित्, स पदस्य न गोचरः"॥ (श्लो० वा० शब्दप० श्लो० १०७) इति, तच्च मीमांसकमतेनापि वर्णानां शब्दत्वम्। कथं तर्हि वर्णाः शब्दरूपतां प्रतिपद्यन्ते? उक्तमत्र परिमितसङ्ख्यानां पुद्गलद्रव्योपादानपरित्यागेनैव परिणतानामश्रावणस्वभावपरित्यागाविष्टश्रावणस्वभावानां विशिष्टानुक्रमयुक्तानां वर्णानां वाचकत्वात् शब्दत्वम्, अन्यथोक्तदोषानतिवृत्ते। वैशेषिकपरिकल्पितपदादिप्रक्रियात्वनुभवबाधितत्वादयुक्ता।

न च-निरन्वयविनाशिनां विज्ञानहेतुता संभवतीत्यसकृत्प्रतिपादितम्। षट्क्षणावस्थायित्वलक्षणमप्यनित्यत्वं तत्परिकल्पितं निरन्वयविनाशपक्षे अर्थक्रियानिर्वर्त्तनानुपयोगि तेषाम्। न च षट्क्षणावस्थानमपि संभवति, प्रथमक्षणसत्ताया द्वितीयक्षणसत्ताऽनुप्रवेशे तत्क्षणसत्ताया अप्युत्तरक्षणसत्तानुप्रवेशपरिकल्पनायां क्षणिकत्वमेव। अननुप्रवेशेऽपि परस्पराविविक्तत्वात्। क्षणस्थितीनां तदेव क्षणिकत्वमिति कुतः षट्क्षणावस्थानमेकस्य? अक्षणिकत्वे चार्थक्रियाविरोध प्रतिपादित एवेति। न पदादिपरिकल्पना वैशेषिकपक्षे युक्तियुक्तेति स्थितम्। ननु भवत्पक्षेऽपि क्रमस्य वर्णेभ्यो व्यतिरेके न वर्णविशेषणत्वम् अव्यतिरेके वर्णा एव केवलास्ते च न व्यस्तसमस्ता अर्थप्रतिपादका इति पूर्वमेव प्रतिपादितमिति न शब्दः कश्चिदर्थप्रत्यायकः, असदेतत्; वर्णव्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तस्य क्रमस्य प्रतिपत्ते। तथाहि-न वर्णेभ्योऽर्थान्तरमेव क्रमः वर्णानुविद्धतया तस्य प्रतीते। नापि वर्णा एव क्रमः। तद्विशिष्टतया तेषां प्रतिपत्ते। न च तद्विशेषणत्वेन प्रतीयमानस्य क्रमस्याऽपह्नवो युक्तिसङ्गतो वर्णेष्वपि तत्प्रसक्ते।

न च-भ्रान्तिरूपा प्रतिपत्तिरियं, वर्णानां तद्विशिष्टतया बाधिताध्यक्षगोचरतया प्रसाधितत्वाद् अर्थप्रतिपत्तिकारणत्वेनानुमितत्वाच्च। न चाऽभावः कस्यचिद्भावाध्यवसायि तथाविशेषण नाऽप्यर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न च क्रमोऽप्यहेतु तथात्मकवर्णेभ्योऽर्थप्रतीते। ततो भिन्नाऽभिन्नानुपूर्वीविशिष्टा वर्णा विशिष्टपरिणतिमन्त शब्द स च पद-वाक्यादिरूपतया व्यवस्थित तेन विशिष्टानुक्रमवन्ति तथाभूतपरिणतिमापन्नानि पदान्येव वाक्यमभ्युपगन्तव्यम्। तद्व्यतिरिक्तस्य तस्य पदवदनुपपद्यमानत्वात्। सम्म० १ काण्ड ३२ गाथा-टी०।

(१७-१८) शब्दस्य नित्यत्वाऽनित्यत्वविचार, शब्दार्थतत्सम्बन्धविचारश्च-

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः इति ॥ ९॥

पुद्गलैः-भाषावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः। अत्र याज्ञिकाः प्रज्ञापयन्ति- वर्णस्यानित्यत्वमेव तावद् दुरुपपादं कुतस्तरां पुद्गलारब्धत्वमस्य स्यात्?। तथाहि-स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञा, शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववद् इत्यनुमानम्, शब्दो नित्यः परार्थं तदुच्चारणान्यथानुपपत्तेरित्यर्थापत्तिश्चेति प्रमाणानि दिनकरकरनिकरनिरन्तरप्रसरपरामर्शोपजातजृम्भारम्भाम्भोजानीव मनःप्रसादमस्य नित्यत्वमेव द्योतयन्ति। तदवद्यम्। यतः प्रत्यभिज्ञानं तावत्कथंचिदनित्यत्वेनैवाविनाभावमाभेजानम्, एकान्तैकरूपतायां ध्वनेः स एवायमित्याकारोभयगोचरत्वविरोधात्। कथमात्मनि तद्रूपेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञेति चेत्। तदश्लस्यम्। तस्यापि कथंचिदनित्यस्यैव स्वीकारात्। प्रत्यभिज्ञाभासश्चायम्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां बाध्यमानत्वात्, प्रदीपप्रत्यभिज्ञावत्। प्रत्यक्षं हि तावदुत्पन्ना विपन्ना च वागियमिति प्रवर्त्तते।

नच-प्रत्यभिज्ञानेनैवेदं प्रत्यक्षं बाधिष्यत इत्यभिधानीयम्, अस्याऽनन्यथा सिद्धत्वात् । अभिव्यक्तिभावाभावाभ्यामेवेयं प्रतीतिरितिचेत् कुटकटकटाहकटाक्षादावपि किं नेयं तथा?। कुम्भकारमुद्गरादिकारणकलापव्यापारोपलम्भात्तदुत्पत्तिविपत्तिस्वीकृतौ, तालुवातादिहेतुव्यापारप्रेक्षणादक्षरेष्वपि तत्स्वीकारोऽस्तु । तालुवातादेरभिव्यञ्जकत्वनभिव्यक्तिमात्रहेतुत्वे कुलालादेरपि तदस्तु। नचाभिव्यक्तिभावाऽभावाभ्यां तथा प्रतीतिरुपपादि। दिनकरमरीचिराजीव्यज्यमाने, घनतरतिमिरनिकराकीर्यमाणे च कुम्भादावुदपादि व्यपादि चायमिति प्रतीत्यनुत्पत्तेः । तिमिरावरणवेलायामपि स्पार्शनप्रत्यक्षेणास्योपलम्भाच्च तथेयमिति चेत्, यदा तर्हि नोपलम्भस्तदा किं वक्ष्यसि ?। अथ क्वापि तिमिरादेस्तत्सत्त्वाविरोधित्वावधारणात्सर्वत्रानभिव्यक्तिदशायां तत्सत्त्वं निश्चीयत इति चेत्, तत्किमावृतावस्थायां शब्दस्य सत्त्वनिर्णायकं न किंचित्प्रमाणमस्ति ?। ओमिति चेत्तर्हि साधकप्रमाणाभावादसत्त्वमस्तु । अस्त्येव प्रत्यभिज्ञादिकं तदिति चेत्। न। अस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेनोन्मङ्क्तुमशक्तेः । उन्मज्जनेऽपि व्यक्तिभावाभावयोः कुम्भादाविवात्राप्युदयव्ययाध्यवसायो न स्याद्। अस्ति चायम्, तस्मादनन्यथासिद्धप्रत्यक्षप्रतिबद्ध एवेति निश्चीयते। अनित्यः शब्दस्तीव्रमन्दतादिधर्म्मोपेतत्वात्, सुखदुःखादिवदित्यनुमानबाधः । व्यञ्जकाश्रितास्तीव्रतादयस्तत्राभान्तीति चेत्, किं तत्र व्यञ्जकम् ?। कोष्ठवायुविशेषा ध्वनय इति चेत्कथं तर्हि तद्धर्म्माणां तेषां श्रावणप्रत्यक्षे प्रतिभासः स्यात् ?। ध्वनीनामश्रावणत्वेन तद्धर्म्माणामप्यश्रावणत्वात्। न खलु मृदुसमीरलहरीतरङ्ग्यमाणनिष्पङ्कपयोभाजनादौ प्रतिबिम्बितमुखादिगतत्वेन तरलत्वमिव माधुर्यमप्यचाक्षुषं चक्षुःप्रत्यक्षेण प्रेद्यते । श्रोत्रग्राह्य एव कश्चिदर्थः शब्दस्य व्यञ्जकः, स्तीव्रत्वादिधर्म्मवान् अनित्यश्चेष्यत इति चेत्। न। तस्यैव शब्दत्वात् । श्रोत्रग्राह्यत्वं हि शब्दलक्षणं; तल्लक्षणयुक्तस्य च तस्य ततोऽर्थान्तरत्वमयुक्तम् ।

किं च-कस्य किं कुर्वन्तोऽमी व्यञ्जका ध्वनयो भवेयुः ?। शब्दस्य, श्रोत्रस्योभयस्य वा। संस्कारमिति चेत्, कोऽयं संस्कारोऽत्र रूपान्तरोत्पत्तिः, आवरणविपत्तिर्वा । आद्यश्चेत्, कथं न शब्दश्रोत्रयोरनित्यत्वं स्यात् ? स्वभावान्यत्वरूपत्वात्तस्य। अथ रूपं धर्म्मः, धर्म्मधर्म्मिणोश्च भेदात्, तदुत्पत्तावपि न भावस्वभावान्यत्वमिति चेत्, ननु धर्मान्तरोत्पादेऽपि भावस्वभावोऽजनयद्रूपस्वरूपस्तादृगेव चेत्; तदा पटादिनेव श्रोत्रेण घटादेरिव ध्वनेर्नोपलम्भः स्याद्भवेत् । तत्संबन्धिनस्तस्य करणाददोष इति चेत्, स तावत्संबन्धो न संयोगः, तस्याऽद्रव्यत्वात्। समवायस्तु कथञ्चिदविष्वग्भावान्नान्यो भवितुमर्हतीति तदात्मकधर्मोत्पत्तौ धर्म्मिणोऽपि कथञ्चिदुत्पत्तिरनिवार्या। आवरणापगमः संस्कारः चमत्कार इति चेत्, स तर्हि शब्दस्यैव संभाव्यते, ततश्चैकत्रावरणविगमे समग्रवर्णाऽऽकर्णनं स्यात् । प्रतिवर्णं पृथगावरणमिति यस्यैवाऽऽवरणविरमणम्, तस्यैवोपलब्धिरिति चेत् तन्नावितथम् । अपृथग्देशवर्त्तमानैकेन्द्रियग्राह्याणां प्रतिनियतावरणावार्यत्वविरोधात्। यत् खलु प्रतिनियतावरणावार्यं, तत्पृथग्देशे वर्त्तमानम्, अनेकेन्द्रियग्राह्यं च दृष्टं, यथा घटपटौ, यथा वा रूपरसाविति । अपृथग्देशवर्त्तमानैकेन्द्रियग्राह्यत्वादेव च नास्य प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमपि। अस्तु वैवं तथाप्ययमभिव्यज्यमानः सामस्त्येन, प्रदेशतो वा व्यज्येत। नाद्यः पक्षः क्षमङ्गः। सकलशरीरिणां युगपत्तदुपलम्भापत्तेः । द्वितीयविकल्पे तु कथं सकर्णस्यापि संपूर्णवर्णाऽऽकर्णनं भवेत् ?। न खलु निखिलावृताङ्गराजाङ्गनानामपटुपवनापनीयमानवसनाञ्चलत्वेन चलनाङ्गुलिकोटिप्रकटतायां विकस्वरशिरीषकुसुमसुकुमारसमग्रविग्रहयष्टिनिष्टङ्कनं विशिष्टक्षणानामपीष्यते । प्रदेशाभिव्यक्तौ चास्य सप्रदेशत्वं प्रसज्यते । ततो व्यञ्जकस्य कस्यचिच्छब्दे संभवाऽभावात्। तद्गता एव तीव्रतादय इति नासिद्धो हेतुः । यदपि श्रावणत्वादित्यनुमानं, तदपि-" कान्तकीर्त्तिप्रथाकामः, कामयेत स्मातरम्। ब्रह्महत्यां च कुर्वीत, स्वर्गकामः सुरां पिबेत् ॥ १ ॥ " इत्याद्यानुपूर्व्या सव्यभिचारम् । नित्यैवेयमितिचेत् तर्हि प्रेरणाक्षप्रामाण्यप्रसङ्गः, तदर्थानुष्ठानाश्रद्धाने च प्रत्यवायाऽऽपत्तिः । उदात्तस्वरितताम्रमन्दसुस्वरविस्वरत्वादिधर्म्मैश्च व्यभिचारः, तेषां नित्यत्वे सदाप्येकाकारप्रत्ययप्रसक्तेः । नित्यत्वेऽप्यमीषामभिव्यक्तिः कादाचित्कीतिचेत्, तदचारु। परस्परविरुद्धानामेकत्र समावेशासंभवात् । प्रभाकरेण शब्दत्वाऽस्वीकारादुभयविकलश्च तं प्रत्यत्र दृष्टान्तः।

अथ भट्ट एवेत्थमनुमानयति। प्रभाकरस्तु देशकालभिन्ना गोशब्दव्यक्तिबुद्धय एकगोशब्दगोचरा, गौरित्युत्पद्यमानत्वाद्, अद्योच्चारितगोशब्दव्यक्तिबुद्धिवदिति वदतीति चेत्। तदप्यनवदातम् । अत्र प्रतिबन्धाभावात्, तडित्तन्तुनित्यत्वसिद्धावप्येवंविधानुमानस्य कर्तुं शक्यत्वात् । याऽप्यर्थाऽऽपत्तिः प्रत्यपादि, तत्रायमर्थः-अनित्यत्वे सति या गृहीतसंबन्धः शब्दः, स तदैव ध्वस्त इति व्यवहारकालेऽन्य एवाऽगृहीतसंबन्धः कथमुच्चार्येत ? उच्चार्यते च तस्मान्नित्य एवायमिति। तदयुक्तम्। अनेन न्यायेनार्थस्याऽपि नित्यतैकतापत्तेः, अन्यथा बाहुलेये गृहीतसम्बन्धोऽपि गोशब्दः शाबलेयादिष्वगृहीतसंबन्धः कथं प्रतिपत्तिं कुर्यात् ?। सामान्यस्यैव शब्दार्थत्वाददोष इति चेत्। न। लम्बकम्बलः ककुद्मान्, वृत्तशृङ्गश्चायं गौरिति सामानाधिकरण्याभावप्रसक्तेः। ततः सामान्यविशेषाऽऽत्मैव शब्दार्थः, स च नैकान्तेनाऽन्वेतीति न नित्यैकरूपोऽभ्युपेयः स्यात्। कथं च धूमव्यक्तिः पर्वते पावकं गमयेत् ?। धूमत्वसामान्यमेव गमकमिति चेत्, वाचकमपि सामान्यमेवास्तु। अथ शब्दत्वं, गोशब्दत्वं, क्रमाभिव्यज्यमानगत्वौत्वादिकं वा तद्भवेत्। आद्यपक्षे प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिर्न स्यात्, सर्वत्र शब्दत्वस्याऽविशेषात्। गोशब्दत्वं तु नाऽस्त्यत्र, गोशब्दव्यक्तेरेकस्याः कस्याश्चित्तदाधारभूताया असंभवात्, क्रमेण व्यज्यमानं हि वर्णद्वयमेवैतत्। क्रमाभिव्यज्यमानेत्यादिपक्षोऽप्यसंभवी, गत्वाऽऽदिसामान्यस्याविद्यमानत्वात्, सर्वत्र गकारादेरेकत्वात् । अत्रोच्यते-अस्तु तार्तीयीकः कल्पः; नच गकारादेरैक्यं, गर्गभर्गवर्गस्वर्गमार्गादिषु भूयांसोऽमी गकारा इति तद्भेदोपलम्भात् । व्यञ्जकभेदाद्दयमिति चेद्, अकाराद्यशेषवर्णेष्वप्येषोऽस्त्वित्येक एव वर्णः स्यात्। अथ य-

वा अयमपि गकारः, अयमपि गकारः, इत्येकाकारा प्रतीतिः, तथा गकाराद्यशेषवर्णेषु अपीति चेत् । नैवम् । अयमपि वर्णः, अयमपि वर्णः, इत्येकप्रत्ययपरामर्शोत्पत्तेः । सामान्यनिमित्तक एवायमिति चेत्, तर्हि गकारादावपि तथाऽस्तु । अथाकारेकारादौ विशेषोऽनुभूयते, ननु गगादिगकारेषु, तेषां तुल्यस्थानाऽऽस्यप्रयत्नादित्वादिति चेदेवं तर्हि "सर्वे इषन्ते हरिहरिति हम्मीरहरय" इत्यादिहकारात्कण्ठ्याद्धृद्दिजिह्वादिहकारस्य, ह "उरस्यां वर्णजिह्वादौ, वर्गपञ्चमसंयुतः" इति वचनादुरस्यत्वेन स्थानभेदप्रतीतेः । ततो भिन्नोऽयं वर्णो भवेत् ।

नच गकारे नास्ति विशेषावभासः, तीव्रोऽयं मन्दोऽयं गकार इति तीव्रतादिविशेषस्फुरणात् व्यञ्जकगतास्तीव्रतादयस्तत्र स्फुरन्तीति चेत्, कृतोत्तरमेतत् । अकारेकारादावप्यनुभूयमानः स विशेषस्तद्गत एवाऽस्तु, तथा चैक एव वर्णः किन्न भवेत्? । मा भूद्वा विशेषावभासो गकारेषु भेदावभासस्तु विद्यत एव, बहवोऽमी गकारा इति प्रतीतेः । भवति च विशेषावभासं विनापि भेदस्फूर्त्तिः, सर्षपराशौ गुरुलाघवादिविशेषावभासं विनाऽपि तद्भेदप्रतिभासवत् । इति सिद्धो गकारभेदः । तथाच-तदादिवर्णवर्त्तिसामान्यानामेव वाचकत्वमस्तु तस्यानन्तुगोशब्दत्वमेव सदृशपरिणामात्मकं वाचकं क्रमाभिव्यज्यमानं वर्णद्वयमेवैतत्, नैका गोशब्दव्यक्तिरिति च न वाच्यम् । नित्यत्वाप्रसिद्धावप्यस्योत्तरस्य कूर्परस्फोटिमर्दाङ्कितगुडायमानत्वात् । तस्मात्क्रमोत्पादिष्वनु तत्तद्गकारादिपर्यायोपहितभावाद्व्यात्मको गोशब्द एव सदृशपरिणामात्मा वाचकोऽस्तु । तथा च क्षीणाऽर्थाऽऽपत्तिः ।

अस्तु अनित्यो ध्वनिः, किंतु-नाऽयं पौद्गलिकः सगच्छत इति यौगा संगिरमाणा स्वप्रणयप्रणयिनीनामेव गौरवार्हाः । यतः कोऽत्र हेतुः, स्पर्शशून्याश्रयत्वम्, अतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः, पूर्वं पश्चाच्चाऽवयवानुपलब्धिः । सूक्ष्ममूर्त्तद्रव्यान्तराऽप्रेरकत्वं, गगनगुणत्वं वा? । नाद्यः पक्षः । यत शब्दपर्यायस्याश्रयं भाषावर्गणारूपे स्पर्शाभावो न तावदनुपलब्धिमात्रात्प्रसिध्यति, तस्य सव्यभिचारत्वात् । योग्यानुपलब्धिस्त्वसिद्धा, तत्र स्पर्शस्यानुभूतस्वनोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाभावात्, उपलभ्यमानगन्धाऽऽधारद्रव्यवत् । अथ घनसारगन्धसाराऽऽदौ गन्धस्य स्पर्शाव्यभिचारनिश्चयादत्रापि तन्निर्णयेऽप्यनुपलम्भादनुद्भूतत्वं युक्तं, नेतरत्र, तन्निर्णायकाभावाद्, इति चेत्, मा भूत्तावत्तन्निर्णायकं किंचित् । किंतु-पुद्गलानामुद्भूतानुद्भूतस्पर्शानामुपलब्धेः शब्देऽपि पौद्गलिकत्वेन परैः प्रणिगद्यमाने बाधकाभावे च सति सदेह एव स्यात्, नत्वभावनिश्चयः, तथा च सन्दिग्धाऽसिद्धो हेतुः । नच नास्ति तन्निर्णायकम् । तथाहि-शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात्, तथाविधगन्धाऽऽधारद्रव्यवद्, इति । द्वितीयकल्पेऽपि गन्धद्रव्येण व्यभिचारः । वर्त्तमानजात्यकस्तूरिकाकर्पूरकश्मीरजादिगन्धद्रव्यं हि पिहितकपाटसपुटापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निस्सरति, नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसम्भवेनातिनिविडत्वाभावात्तत्प्रवेशनिष्काशौ; अत एव तदल्पीयस्तौ, नत्वपावृतद्वारदशायामिव तदेकार्णवत्त्वं, सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे नैनौ संभवत इति चेद्, एवं तर्हि शब्देऽपि सर्वस्य तुल्ययोगक्षेमत्वादसिद्धता हेतोरस्तु । पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धिः, सौदामिनीदामोल्कादिभिरनैकान्तिकी । सूक्ष्ममूर्त्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वमपि गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमाऽऽदिभिर्व्यभिचारि । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नसि निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं प्रेक्ष्यते । गगनगुणत्व त्वसिद्धम् । तथाहि-न गगनगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, रूपादिवदिति । पौद्गलिकत्वसिद्धिः पुनरस्य, शब्दः पौद्गलिकः इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवदेवेति । रत्ना० ४ परि० ।

अथ संकेतमात्रेणैव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति, नतु स्वाभाविकसबन्धवशादिति गदतो नैयायिकान्, समयादपि नार्थं वस्तु वदतीति वदतः सौगतांश्च पराकुर्वन्ति—

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः इति ॥ ११ ॥

स्वाभाविकम्-सहजम् । सामर्थ्यं-शब्दस्यार्थप्रतिपादनशक्तिः, योग्यतानाम्नी । समयश्च-संकेतः ताभ्यामर्थप्रतिपत्तिकारणं शब्दः इति । तत्र नैयायिकान्प्रत्येव विधेयानुवाद्यभावः, योऽयम् अर्थबोधनिबन्धनं शब्दः अभ्युपगतोऽस्ति, स स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्या-द्वाभ्यामपि, न पुनः समयादेव केवलात् । समयो हि पुरुषाऽऽयत्तवृत्तिः, नच-पुरुषेच्छया वस्तुनियमो युज्यते । अन्यथा तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वादर्थोऽपि वाचकः, शब्दोऽपि वाच्यः स्यात् । अथ गत्वौत्वादिसामान्यसबन्धो यस्य भवति, स वाचकत्वे योग्यः, इतरस्तु वाच्यत्वे, यथा द्रव्यत्वाविशेषेऽप्यग्नित्वादिसामान्यविशेषवत् एव दाहजनकत्वं, न जलत्वादिसामान्यविशेषवत् इति चेत् । तदयुक्तम् । अतीन्द्रियां शक्तिं विनाऽग्नित्वादेरपि कार्यकारणभावनियामकत्वानुपपत्तेः । अग्नित्व हि दाहवह्निजातीयकारणजन्यकार्येष्वपि तुल्यरूपम् । नहि दाहं प्रत्येवाऽग्नेरग्नित्वं, यथा पुत्रापेक्षं पितुः पितृत्वम् । ततश्चाग्निर्दाहवत्पिपासापनोदमपि विदध्यादिति नातीन्द्रिया शक्तिमन्तरेणाग्नित्वादीनां कार्यकारणभावव्यवस्थाहेतुत्वं, तद्वदेव च गत्वौत्वादिसामान्यानामपि न वाच्यवाचकभावनियमहेतुत्वमिति नियामिका शक्तिः स्वीकर्त्तव्यैव । अथ किमनेनातीन्द्रियशक्तिकल्पनाक्लेशेन? । करतलानलसंयोगादिसहकारिकारणनिकरपरिकरितं कुपीटयोनिस्वरूपं हि स्फोटघटनपाटवं प्रकटयिष्यति, किमव शिष्टं यदनया करिष्यते । तथा च जयन्तः-' स्वरूपादुद्भवत्कार्यं, सहकार्युपबृंहितात् । नहि कल्पयितुं शक्तं, शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम् ॥ १ ॥ " यत्तूक्तम्-अग्निर्दाहवत्पिपासापनोदमपि विदध्यादिति । तन्न सत् । नहि वयमद्य कश्चिदभिनवं भावानां कार्यकारणभावमुत्थापयितुं शक्नुमः किंतु यथा प्रवृत्तमनुसरन्तो व्यवहरामः । नह्यस्मदिच्छया आपः शीतं शमयन्ति कृशानुर्वा पिपासां, किंतु तत्र दाहादावन्वयव्यतिरेकाभ्यां वा वृद्धव्यवहाराद्वा ज्वलनादेरेव कारणत्वमवगच्छाम इति तदेव तदर्थिन उपादध्महे, न जलादि । तदेतदतथ्यम् । यतो यथाभूतादेव विभावसोर्दाहोत्पत्तिः

प्रतीयते, तथाभूतादेव मणिमन्त्रयन्त्रतन्त्रौषधादिसन्निधाने सति न प्रतीयते । यदि हि दृष्टमेव रूप स्फुट स्फोटं घटयेत्, तदा तदानीं तस्य समस्तस्य सद्भावात्तदनुत्पादो न स्याद् । अस्ति चासौ, ततो दृष्टरूपस्य व्यभिचार प्रपश्यन्नतीन्द्रियायाः शक्तेः सत्त्व समर्थ(पं)यति । तथा च- " स्वरूपात्क्वाऽप्यनुद्यत्त-त्सहकार्युपबृंहितात् । किं न कल्पयितुं शक्त, शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम् ॥ १ ॥ यत्तूक्तम्— " दाहादावन्वयव्यतिरेकाभ्यां वृद्धव्यवहाराद्वा ज्वलनादेव कारणत्वमवगच्छाम. " इति । तदुक्तिमात्रमेव । यत एव हि दाह-दहनयोः कार्यकारणभावनियम. प्रसिद्धिपद्धतिप्रतिबद्ध एव, तत एव प्रसङ्ग प्रवर्त्तते । यदि कृशानु स्वरूपमात्रादेव दाहमुत्पादयेत्, तर्हि तदविशेषादुदन्यापनोदमपि विदध्यादिति ।

अथ न मणिमन्त्रादिप्रतिबन्धकनैकट्ये सति स्फोटानुत्पत्तिरदृष्ट रूपमाक्षिपति, यथा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधृतसामर्थ्यो दहनो दाहहेतुः, तथा प्रतिबन्धकाभावोऽपि । स च प्रतिबन्धकयोगे विनिवृत्त इति सामग्रीवैगुण्यादेव दाहस्यानुत्पत्तिः, नतु शक्तिवैकल्यादिति चेत् तदयुक्तम् । यत. प्रतिबन्धकाभावो भावादेकान्तव्यतिरिक्त कथं किंचित्कार्यं कुर्यात् ? कूर्मरोमराजीवत् । ननु नित्यानां कर्मणामकरणात्प्रागभावस्वभावात्प्रत्यवाय उत्पद्यते, अन्यथा नित्याऽकरणे प्रायश्चित्तानुष्ठान न स्यात्, वैयर्थ्यात् । तत्र तथ्यम् । नित्याकरणस्वभावात्क्रियान्तरकरणादेव प्रत्यवायोत्पत्तेरभ्युपगमात्, त्वन्मतस्य तस्य तद्धेतुत्वाऽसिद्धेः । यदप्युच्यते—" सुखदु खसमुत्पत्ति-रभाव शत्रुमित्रयो ॥ कण्टकाऽभावमालक्ष्य, पाद पथि निधीयते " ॥२॥ तत्राऽप्यमित्रामित्रकण्टकाभावज्ञानानामेव सुखदु खाद्विनिधानकार्यकारित्वं, नत्वभावानाम् । तज्ज्ञानमप्यमित्रमित्रकण्टकविविक्तप्रतियोगिवस्त्वन्तरसंपादितमेव, नतु त्वदभिमताभावकृतम् । अथ भाववदभावोऽपि भावजननसमर्थोऽस्तु, को दोष । न हि निःशेषसामर्थ्यरहितत्वमभावलक्षणम् ; अपि तु-नास्तीति ज्ञानगम्यत्वम् । सत्प्रत्ययगम्यो हि भाव उच्यते, असत्प्रत्ययगम्यस्त्वभाव इति चेत् । तदयुक्तम् । त्वदभ्युपगताभावस्य भावात्सर्वथा पार्थक्येन स्थितस्य भावोत्पादत्वविरोधात् । तथाहि-विवादास्पदीभूतोऽभावो भावोत्पादको न भवति, भावादेकान्तव्यतिरिक्तत्वात्, यदेवं तदेवं यथा तुरङ्गशृङ्गम् । तथा चायं तस्मात्तथा । प्रागभावप्रध्वंसाभावपरस्पराभावस्वभावो ह्यभावो वस्तुनो व्यतिरिक्तमूर्तिर्भावोत्पादक. परैरिष्ट, सोऽत्र विवादपदशब्दितः । अन्यथा-जैनस्य भावाविष्वग्भूताभावैर्भावोत्पादकत्वेनाङ्गीकृतैर्बाधा स्यात् । यौगस्य चात्यन्ताभावेन भावानुत्पादकेन सिद्धसाध्यता भवेत् । नन्वयं धर्मित्वेनोपात्तोऽभावो भवद्भिः प्रतिपन्नो न वा । यदि प्रतिपन्न ; किं प्रत्यक्षाद्, अनुमानात्, विकल्पाद्वा, उपमानादेरत्रानुचितत्वात् । यदि प्रत्यक्षात्, तदा कथमभावस्य भावोत्पादनापवादस्सूपपाद स्यात् ? प्रत्यक्षस्यैवोत्पादितत्वात् । अथानुमानात्तत्प्रतिपत्तौ ; तत्राप्यभावधर्मिण प्रतीतिरनुमानान्तरादेव, इत्यत्राऽनवस्थादौस्थ्यस्थेमा । विकल्पाद्वपि तत्प्रतीति, प्रमाणमूलात्, तन्मात्रादेव वा । न प्रत्यमात् ; प्रमाणप्रवृत्तेस्तत्र तिरस्कृतत्वात् । विकल्पमात्रात्तु तत्प्रतीतिरसत्कल्पा, ततः कस्यापि प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः । अन्यथा-प्रामाणिकानां प्रमाणपर्येषणमरमणीयं स्यात् । तथा चाश्रयासिद्धो हेतु । अथाप्रतिपन्न., नर्हि कथं धर्मितयोपात्तोऽयि ? । उपात्ते चासिन् । हेतुराश्रयासिद्ध एव । अत्रोच्यते-विकल्पमात्रादेव तत्प्रतिपत्तिं ब्रूमहे । नचाश्रयासिद्धिः, अवस्तुनि विकल्पात्प्रसिद्धेरवश्याश्रयणीयत्वाद् । अन्यथा वन्ध्यास्तनन्धयादिशब्दानुच्चारणप्रसङ्गात् । नच-नोच्चार्यत एवायं मयेति वाच्यम् । वान्ध्येयोऽस्ति, नास्ति वेति । पर्यनुयोगे पृथ्वीपतिपरिषद्यवश्यं विधिनिषेधान्यतराभिधायिवचनस्यावकाशात् । तूष्णीं पुष्णतोऽस्याप्रतिपित्सितं, किंचिदुच्चारयतो वा पिशाचकित्वप्रसङ्गात् । तथाविधवचनोच्चारणे च कथमेतदिति प्रमाणगवेषणे अनुमानमुच्चार्यमाणमाश्रयासिद्धिग्रस्तम् । समस्त निष्प्रमाणकं वचनमात्रं प्रेक्षावता प्रश्नकृताऽनपेक्षितमेव । न चोभयाभावोऽभिधातुं शक्यः विधिनिषेधयोर्भावाभावस्वभावत्वात्, एकनिषेधेनापरविधानात् । विधिप्रतिषेधो हि निषेध, निषेधप्रतिषेधश्च विधि । अस्तु चोभयप्रतिषेधप्रतिज्ञाहेतोस्तु तत्रापादीयमानस्य नाश्रयासिद्धिपरिहार । तदुक्तम्-" धर्मस्य कस्यचिदवस्तुनि मानासिद्धा-बाधाविधिव्यवहृति किमिहास्ति ना वा । अस्त्येव चेत्कथमियन्ति न दूषणानि, नास्त्येव चेत् स्ववचनप्रतिरोधसिद्धि ॥ १ ॥ (अस्य व्याख्या)-अवस्तुनि बाधाविधिव्यवहारो नास्तीत्येतदनेनैव स्ववचनेन प्रतिरुध्यते ; नास्तीति प्रतिषेधस्य स्वयं कृतत्वाद्. इत्यन्त्यपादस्यार्थ । तुरङ्गशृङ्गदृष्टान्तोऽपि विकल्पादेव प्रसिद्धः स्वीकर्त्तव्य । तत्र च वस्त्वेकान्तव्यतिरेके सति भावानुत्पादकत्वमपि प्रतीतम्, इति नास्य साध्यसाधनोभयवैकल्यम् । ननु जैनैर्भावादभिन्नस्याभावस्याभ्युपगमात् बाधसिद्धो हेतुरिति चेत्, तदसत् । पराभ्युपगताभावस्य धर्मीकृतत्वात्, तस्य च भावादेकान्तेन पृथग्भूततया जैनैरपि स्वीकारात् । न खल्वभावस्तु वस्तुभूताद्भावादभिन्नमिति मन्यन्ते जैना । ततो नाभावो भावोत्पादकस्तवास्तीति सिद्धम् ॥ किंच-यदा प्रतिबन्धकाभावो विभावसुस्वरूपादेकान्तभिन्नोऽभ्युपगामि, तदा विभावसु प्रतिबन्धकस्वभावस्स्वीकृत स्यात्, प्रतिबन्धकाभावाद्यावर्त्तमानत्वान्मणिमन्त्रादिप्रतिबन्धकस्वरूपवत् । तथा च कथ कदाचिद्दाहादिकार्योत्पादो भवेत् ? विभावसोरेव प्रतिबन्धकत्वात् । अथ कथं विभावसु प्रतिबन्धक स्यात् ? तत्र प्रतिबन्धकप्रागभावस्य विद्यमानत्वात् । तदनवदातम् । एतावता हि तत्र वर्त्तमान प्रतिबन्धकप्रागभाव एव प्रतिबन्धकस्वभावो मा भूत्, विभावसुस्वरूपं तु तदभावाद्व्यावर्त्तमान प्रतिबन्धकतां कथ न कलयेत् ? । यथाहि—प्रतिबन्धकः स्वभावाद्व्यावर्त्तमान. प्रतिबन्धकतां दधाति, तथा-तनूनपादपि प्रतिबन्धकाभावाद्व्यावर्त्तमानमूर्तिं कथं न प्रतिबन्धरूपता प्रतिपद्येत ? । स्याद्वादिनां तु भावाऽभावोभयात्मक वस्त्विति प्रतिबन्धकाभावात्मन कृष्णवर्त्मनो न प्रतिबन्धकरूपता । किं च-प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वे, प्रतिबन्धकस्य कस्यचिन्नैकट्येऽपि प्रतिबन्धकाभावान्तराणामनेकेषा भावात्कथं न कार्योत्पाद. ? । नहि कुम्भकारकारण कुम्भ. कुम्भकारस्यैकस्याभावेऽपि कुम्भकारान्तरव्यापारान्न भवति । तचैक एव

कश्चित्प्रतिबन्धकाभाव कारणं, यदभावात्तदानीं न कार्यं जायते, तद्वदेव त्वन्मतेन सर्वेषामवधृतसामर्थ्यत्वात्।

अथ सर्वे प्रतिबन्धकाभावाः समुदिता एव कारणं, न पुनरेकैकशः कुम्भकारवत्, तर्हि कदाचिदपि दाहादिकार्योत्पत्तिर्न स्यात् , तेषां सर्वेषां कदाचिदभावात् , भुवने मणिमन्त्रतन्त्रादिप्रतिबन्धकानां भूयसां संभवात् । अथ ये प्रतिबन्धकास्ते तनूनपातं प्रतिबद्धुं प्रसिद्धसामर्थ्याः, तेषामेवाऽभावाः सर्वे कारणं, नतु सर्वेषां; सर्वशब्दस्य प्रकारकार्त्स्न्ये वर्त्तमानस्य स्वीकारात्, इति चेत्। ननु प्रसिद्धसामर्थ्या इति सामर्थ्यशब्दस्यातीन्द्रिया शक्तिः, स्वरूपं वा प्रतिबन्धकानां वाच्यं स्यात्। आद्यपक्षकक्षीकारे, क्षीणः क्षणेनावयोः कण्ठशोषः; अतीन्द्रियशक्तिस्वीकारात्। द्वितीयपक्षे तु त एव तं प्रति प्रतिबन्धकाः नापरे, इति कौतस्कुती नीतिः ?। स्वरूपस्योभयेषामपि भावात्। न खलु मणिमन्त्रादेः कश्चिदेव जातवेदसमाश्रित्य तत्स्वरूपं, न पुनर्जातवेदोऽन्तरमिति। तथा न प्रतिबन्धकस्यात्यन्ताऽभावस्तावत्कारणतया वक्तुं युक्तः, तस्याऽसत्त्वाद् , अन्यथा-जगति प्रतिबन्धककथा प्रत्यस्तमयप्रसङ्गात् ।

अपरे पुनः प्रतिबन्धकाभावा एकैकशः सहकारितां दधीरन्, द्वित्रा वा। प्रथमपक्षे; प्रागभावः, प्रध्वंसाऽभावः, परस्पराऽभावः, च कश्चिद्वा सहकारी स्यात्। न प्रथमः, प्रतिबन्धकप्रध्वंसेऽपि पावकस्य स्फोटकार्योपलम्भात्। न द्वितीयः, प्रतिबन्धकप्रागभावेऽपि दहनस्य दाहोत्पादकत्वात्। न तृतीयः, प्रतिबन्धकसंबन्धवन्ध्योऽपि धनञ्जयस्य स्फोटघटनप्रसङ्गात्, तस्य तदानीमपि भावात्। न चतुर्थः, प्ररूपयिष्यमाणानियतहेतुकत्वदोषानुषङ्गात्। द्वित्रप्रतिबन्धकाभावभेदे तु किं प्रागभावप्रध्वंसाऽभावौ, प्रागभावपरस्पराऽभावौ, प्रध्वंसाऽभावपरस्पराऽभावौ, त्रयोऽपि वा हेतवो भवेयुः। नाद्यः पक्षः, उत्तम्भकवैकल्ये तावन्तरेणापि पावकस्य स्फोटकार्याऽर्ज्जनदर्शनात्। न द्वितीयतृतीयतुरीयाः, प्रतिबन्धकपरस्पराऽभावस्य प्राक् तदकारणत्वेन वर्णितत्वात्, भेदत्रयस्यापि चास्य परस्पराभावसवलितत्वात् । अथ प्रागभावप्रध्वंसाभावोत्तम्भकमणिमन्त्रतन्त्रादयो यथायोगं कारणमिति चेत्। तदस्फुटम्। स्फोटादिकार्यस्यैवमनियतहेतुकत्वप्रसङ्गात्, । अनियतहेतुकं चाऽहेतुकमेव। तथाहि-अन्वयव्यतिरेकावधार्यः कार्यकारणभावो भावानाम्, धूम-धूमध्वजयोरिव। प्रस्तुते तु प्लोषादि यदेकदैकस्मादुत्पद्यमानमाभीक्ष्णामासे, तदन्यदा यद्यन्यतोऽपि स्यात्, तर्हि तत्कारणकमेव तत्र भवेदिति कथं नाऽहेतुकं स्यात् ?।

अथ गोमयात्, वृश्चिकाच्च वृश्चिकोत्पादः प्रेक्ष्यते। न च तत्रानियतहेतुकत्वं स्वीकृतं त्वयापीति चेत्। तदपि अपापात्रम्। सर्वत्र हि शालूकगोमयादौ वृश्चिकडिम्भारम्भशक्तिरस्तीति यानि तच्छक्तियुक्तानि तानि तत्कार्योत्पादकानि, इति नायं नः कलङ्कः सङ्क्रामति। भवतां पुनरत्राप्ययं प्रादुर्भवन् दुष्प्रतिषेधः, येषां वृश्चिकगोमयसाधारणमेकं किंचिन्नास्तीति। नच प्रागभावप्रध्वंसाभावोत्तम्भकादीनामप्येकं किंचित्तुल्यं रूपं वर्त्तते। इति नानियतहेतुकत्वेन दुर्विधदैवेनेवाऽमी मुच्यन्ते। एतेन 'भावस्वभावोऽप्यभाव एवास्तु हेतुर्नत्वतीन्द्रियशक्तिस्वीकारः सुन्दरः' इत्यप्युच्यमानमपास्तम्। उक्ताभावविकल्पानामत्राप्यविशेषात्। अथ शक्तिपक्षप्रतिक्षेपदीक्षिता " आक्षपादाः " एवं साक्षेपमाचक्षते-ननु भवत्पक्षे प्रतिबन्धकोऽकिंचित्करः किंचित्करो वा भवेत्। अकिंचित्करप्रकारेऽतिप्रसङ्गः, शृङ्गभृङ्गशृङ्गाराऽऽदेरप्यकिंचित्करस्य प्रतिबन्धकत्वप्रसङ्गात् । किंचित्करस्तु किंचिदुपचिन्वन् अपचिन्वन्वा स्यात्। आद्यपक्षे, किं दाहकशक्तिप्रतिकूलां शक्तिं जनयेत्, तस्या एव धर्मान्तरं वा। न प्रथमः, प्रमाणाभावात्। दाहाऽभावस्तु, प्रतिबन्धकसन्निधिमात्रेणैव चरितार्थ इति न तामुपपादयितुमीश्वरः। धर्मान्तरजनने तदभावे सत्येव दाहोत्पाद इत्यभावस्य कारणत्वस्वीकारः, त्वदुक्ताशेषप्रागभावाऽऽदिविकल्पाऽवकाशश्च।

अपचयपक्षे तु प्रतिबन्धकस्तां शक्तिं विकुट्टयेत्, तद्धर्मं वा। प्रथमप्रकारे-कुतस्त्यं कृपीटयोनेः पुनः स्फोटघटनपाटवम्। तदानीमन्यैव शक्तिः संजातेति चेत्। ननु सा संजायमाना किमुत्तम्भकात्प्रतिबन्धकाभावात् देशकालादिकारकचक्रात् अतीन्द्रियार्थान्तराद्वा जायेत। आद्यभिदायाम्, उत्तम्भकाभावेऽपि प्रतिबन्धकाभावमात्रात्कौतस्कुतं कार्याऽर्जनं जातवेदसः।

द्वितीयभेदे-तत एव स्फोटोत्पत्तिसिद्धेः शक्तिकल्पनावैयर्थ्यम्। तृतीये-देशकालादिकारकचक्रस्य प्रतिबन्धकालेऽपि सद्भावेन शक्त्यन्तरप्रादुर्भावप्रसङ्गः। चतुर्थे-अतीन्द्रियार्थान्तरनिमित्तकल्पने तत एव स्फोटः स्फुटं भविष्यति, किमनया कार्यम् ?। तत्र शक्तिनाशः श्रेयान्। तद्वदेव तद्धर्मनाशपक्षोऽपि प्रतिक्षेपणीयः। अत्राभिदध्महे। एतेषु शक्तिनाशपक्ष एव कक्षीक्रियते इत्यपरविकल्पशिल्पकल्पनाजल्पाकता कण्ठशोषायैव वः संबभूव। यत्तूक्तम्-कुतः पुनरसावुत्पद्यतेति। तत्र शक्त्यन्तरसहकृता कृपीटयोनेरेवेति ब्रूमः। ननु प्रतिबन्धकदशायां सा शक्तिरस्ति, न वा। नास्ति चेत्, कुतः पुनरुत्पद्यते। शक्त्यन्तरसहकृतादग्नेरेवेति चेत्, तर्हि साऽपि शक्त्यन्तरसध्रीचस्तस्मादेवोन्मज्जेदित्यनवस्था। अथाऽस्ति, तदानीमपि स्फोटोत्पादिकां शक्तिं संपादयेत्, ततोऽपि स्फोटः स्फुटः स्यादेवेति। अत्रोच्यते-प्रतिबन्धकावस्थायामप्यस्त्येव शक्त्यन्तरं, घटयति च स्फोटघटनलम्पटां शक्तिं तदापि। यस्तु तदा स्फोटानुत्पादः, स प्रतिबन्धकेनोत्पन्नोत्पन्नायास्तस्याः प्रध्वंसात्। प्रतिबन्धकापगमे तु स्फोटः स्फुटीभवत्येवेत्यतीन्द्रियशक्तिसिद्धिः। अत्राऽऽशङ्कान्तरपरिहारप्रकारमौक्तिककणप्रचयावचायः स्याद्वादरत्नाकरात् तार्किकैः कर्त्तव्यः। एवं च स्वाभाविकशक्तिमान् शब्दः अर्थं बोधयतीति सिद्धम्, अथ तदङ्गीकारे तत एवार्थसिद्धेः संकेतकल्पनाऽनर्थिकैव स्यादिति चेत्, मैवम्। अस्य सहकारितया स्वीकाराद्, अङ्कुरोत्पत्तौ पय पृथिव्यादिवत्। अथ स्वाभाविकसंबन्धाभ्युपगमे देशभेदेन शब्दानामर्थभेदो न भवेत् भवतिचायम्, चौरशब्दस्य दाक्षिणात्यैरोदने प्रयोगादिति चेत्। तदशस्यम्। सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात्। यत्र च देशे यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारी संकेतः, स तमर्थं तत्र प्रतिपादयतीति सर्वमवदातम्। सौगतास्तु प्रत्यवविधेयानुवाद्यभाव योऽय शब्दो

वर्णात्मा आवयोः प्रसिद्धः, स स्वाभाविकसामर्थ्यसमया-भ्यां कृत्वा अर्थबोधनिबन्धनमेवेति ।

अथ स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यां शब्दस्यार्थे सामान्य-रूपे, विशेषलक्षणे, तदुभयस्वभावे वा वाचकत्वं व्याक्रियेत । न प्रथमे, सामान्यस्यार्थक्रियाकारित्वाभावेन नभोऽम्भो-जसन्निभत्वात् । न द्वैतीयीके, विशेषस्य स्वलक्षणलक्षणस्य वैकल्पिकविज्ञानागोचरत्वेन संकेतास्पदत्वाऽसंभवात् । तत्संभवेऽपि विशेषस्य व्यवहारकालाननुयायित्वेन संके-तनैरर्थक्यात् । तार्त्तीयीके तु स्वतन्त्रयोः, तादात्म्यापन्न-योर्वा सामान्यविशेषयोस्तद्गोचरता समीर्येत । नाद्यः पक्षः, प्राचिकविकल्पोपदर्शितदोषानुषङ्गात् । न द्वितीयः, सामान्यविशेषयोर्विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन तादात्म्याऽयो-गादिति नार्थो वाच्यो वाचाम्, अपि तु परमार्थतः सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपेषु स्वलक्षणेष्वेकार्थकारित्वेन, एककारणत्वेन चोपजायमानैकप्रत्यवमर्शरूपविकल्पस्याकारो बाह्यत्वेना-भिमन्यमानो बुद्धिप्रतिबिम्बव्यपदेशभाक् अपोहः ; शब्दश्रुतौ सत्यां तादृशोल्लेखशेखरस्यैव वेदनस्योत्पादात् । अपोहत्वं चास्य स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकत्वेनावसेयम् । अपो-ह्यते स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेत्यपोह इति व्युत्पत्तेः । तत्त्वतस्तु न किंचिद्वाच्यं वाचकं वा विद्यते, शब्दार्थ-तया कथिते बुद्धिप्रतिबिम्बात्मन्यपोहे कार्यकारणभाव-स्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वात् ।

" अथ श्रीमदनेकान्त-समुद्घोपपिपासितः । अपोहमा-पिबामि प्राग्, वीक्षन्तां भित्तयः क्षणम् " ॥ १ ॥ इह ताव-द्विकल्पानां तथाप्रतीतिपरिहृतविरुद्धधर्माध्यासकथंचि-त्तादात्म्यापन्नसामान्यविशेषस्वरूपवस्तुलक्षणात्क्षुण्णदीक्षादी-क्षितत्वं प्राक्प्राकटयत । ततस्तत्त्वतः शब्दानामपि तत्प्रसि-द्धमेव । यतोऽजल्पि युष्मदीयैः " स एव शब्दानां विषयो यो विकल्पानाम् " इति कथम् अपोहः शब्दार्थः स्यात् । अस्तु वा तथाप्यनुमानवर्तिकं न शब्दः प्रमाणमुच्यते । अपोहगोचरत्वेऽपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात्प्रमाण-मनुमानमिति चेत् तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु अतीतानागताम्बरसरोजादिष्वसत्स्वपि शब्दोपलम्भानार्था-र्थप्रतिबन्ध इति चेत्, तर्ह्यभूद् वृष्टिः, गिरिनदीवेगोपल-म्भात्, भावीभरण्युदयः, रेवत्युदयात्, नास्ति रासभ-शृङ्गं समग्रप्रमाणैरनुपलम्भात् इत्यादेरर्थाभावेऽपि प्रवृत्ते-रनुमानेऽपि नार्थप्रतिबन्धः स्यात् । यदि वचोवाच्याऽ-पोहोऽपि पारंपर्येण पदार्थप्रतिष्ठः स्यात् । तदानीम्-अलाबूनि मज्जन्तीत्यादिविप्रतारकवाक्याऽपोहोऽपि तथा भवेदिति चेद्, अनुमेयाऽपोहेऽपि तुल्यमेतत् प्रमेयत्वादिहेत्वनुमेया-ऽपोहेऽपि पदार्थप्रतिष्ठताप्रसङ्गः । प्रमेयत्वं हेतुरेव न भवति, विपक्षासत्त्वलक्षणाभावादिति कुतस्त्या तदपोहस्य तन्नि-ष्ठतेति चेत्, तर्हि विप्रतारकवाक्यमप्यागम एव न भवति आप्तोक्तत्वलक्षणाभावादित्यादि समस्तं समानम् । यस्तु "नाप्तोक्तत्वं वचसि विवेचयितुं शक्यम्" इति "शाक्यो" वक्ति, स पर्यनुयोज्यः । किमाप्तस्यैव कस्याप्यभावादेवमभिधीयेत, भावेऽप्यभावस्य निश्चयाभावात्, निश्चयेऽपि मौनव्रतिक-त्वात्, वक्तृत्वेऽप्यनाप्तवचनात्, तद्वचसो विवेकावधार-णाभावाद्वा । सर्वमप्येतत् "चार्वाका" दिवाचां प्रपञ्चात् । मा-तापितृपुत्रभ्रातृगुरुसुगतादिवचसां विशेषमानिष्टमानैरप्रकट-नीयमेव ।

नच-नाऽस्ति विशेषस्वीकारः, तत्पठितानुष्ठानघटनायामेव प्रवृत्तेर्निर्निबन्धनत्वाऽऽपत्तेः । अथानुमानिक्येवाप्तशब्दार्थ-प्रतीतिः ; कथम् ?, " पादपार्थविवक्षावान्, पुरुषोऽयं प्रती-ते । वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात्, पूर्वावस्थास्वहं यथा" ॥ १ ॥ इति वि-वक्षामनुमाय, सत्यां विवक्षायाम् ; आप्तविवक्षात्वात्, मद्विव-क्षावदिति वस्तुनो निर्णयादिति चेत्, तदचतुरस्रम् । प्रमृष्ट-शब्दव्यवस्थाया अनन्तरोक्तवैशेषिकपक्षप्रतिक्षेपेण कृतनिर्वच-नत्वात् । किंच-शाखादिमति पदार्थे वृक्षशब्दसंकेते सत्ये-तद्विवक्षानुमानमातन्येत, अन्यथा वा । न तावदन्यथा । केनचित्कचे वृक्षशब्दं संकेत्य तदुच्चारणात्, उन्मत्तसुप्तशु-कसारिकादिना गोत्रस्खलनवता चान्यथाऽपि तत्प्रतिपाद-नाच्च हेतोर्व्यभिचारापत्तेः । संकेतपक्षे तु यद्येष तपस्वी श-ब्दस्तद्वशाद्वस्त्वेव वदेत्तदा किंनाम क्षूणं स्यात् । न ख-ल्वेषोऽर्थाद्बिभेति । विशेषलाभश्चैव सति यदेवाभिधानमनुभू-यमानपारम्पर्यपरित्याग इति । यदकथि-'परमार्थतः सर्वतो-ऽव्यावृत्तस्वरूपेषु स्वलक्षणेष्वेकार्थकारित्वेन' इत्यादि । तद-वद्यम् । यतोऽर्थस्य, वाहदोहादेरेकत्वम्, अभिरूपत्वं, समा-नत्वं वा विवक्षितम् । न तावदाद्यः पक्षः-षण्डमुण्डादौ कुण्डकाण्डभाण्डादिवाहादेरर्थस्य भिन्नस्यैव संदर्शनात् ।

द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामास्पदत्वम् अन्यव्यावृत्त्यधि-ष्ठितत्वं वा समानत्वं स्यात् । न प्राच्यः प्रकारः, सदृशप-रिणामस्य सौगतैरस्वीकृतत्वात् । न द्वितीयः, अन्यव्यावृत्ते-रतात्त्विकत्वेन वान्ध्येयस्येव स्वलक्षणेऽधिष्ठानासंभवात् । किं-च-अन्यतः सामान्येन विजातीयाद्वा व्यावृत्तिरन्यव्यावृ-त्तिर्भवेत् । प्रथमपक्षे, न किंचिदसमानं स्यात्, सर्वस्यापि सर्वतो व्यावृत्तत्वात् द्वितीये तु विजातीयत्वं वाजिकुञ्जरा-दिकार्याणां वाहादिसजातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्, तच्चान्य-व्यावृत्तिरूपमन्येषां विजातीयत्वे सिद्धे सति, इतिस्पष्टं परस्पराश्रयत्वमिति । एवं च कारणैक्यं प्रत्यवमर्शैक्यं च विकल्प्य दूषणीयम् । अपि च-यदि बुद्धिप्रतिबिम्बात्मा श-ब्दार्थः स्यात्तदा कथमतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? । स्व-प्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायाच्चेत् । ननु कोऽयमर्थाध्यवसा-यो नाम अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽयमर्थानर्थयो-रग्निमाणवकयोरिव तद्विकल्पविषयभावे सत्येव समुत्पत्तु-मर्हति नच समारोपविकल्पस्य स्वलक्षणं कदाचन गो-चरतामञ्चति ।

यदि चाऽनर्थेऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा वाहदोहाद्यर्थ-क्रियार्थिनः सुतरां प्रवृत्तिर्न स्यात् । नहि दाहपाकाद्यर्थी समारोपितपावकत्वे माणवके कदाचित्प्रवर्त्तते । रजतरू-पतावभासमानशुक्तिकायामिव रजतार्थिनोऽर्थक्रियार्थिनो विकल्पात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत् । भ्रान्तिरूपस्तर्ह्ययं समा-रोपः, तथा च कथं ततः प्रवृत्तोऽर्थक्रियार्थी 'कृतार्थः स्यात् । यथा शुक्तिकायां प्रवृत्तो रजतार्थक्रियार्थीति । यद-पि प्राक्-कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्था-पितत्वादिति । तदप्ययुक्तम् । यतो यदि कार्यकारणभाव एव वा वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कारणमिति तस्याप्यसौ वा-

चक स्यात्। यथा च विकल्पस्य शब्द कारणम्, एवं परंपरया स्वलक्षणमपि, अनस्तदपि वाचकं भवेदिति प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थानं प्रलयपद्धतिमनुधावेत्, तन शब्द. सामान्यविशेषात्मकार्थावबाधनिबन्धनमेवेति स्थितम्।

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्द. इत्युक्तम्। अथ किमस्य शब्दस्य स्वाभाविक रूपं, किंच परापेक्षमिति विवेचयन्ति—

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवद्यथाऽर्थत्वाऽयथाऽर्थत्वे पुनः पुरुषगुणदोषावनुसरतः इति ॥ १२ ॥

अर्थप्रकाशकत्वम्-अर्थावबोधसामर्थ्यम्। अस्य-शब्दस्य स्वाभाविकम्-पराऽनपेक्षम्। प्रदीपवत्-यथा हि प्रदीप. प्रकाशमानः शुभम् अशुभं वा यथासन्निहितं भावमवभासयति, तथा शब्दोऽपि वक्त्रा प्रयुज्यमान' श्रुतिनिवर्तिनीमवती र्णं सत्ये अनृते वा, समन्विते असमन्विते वा, सफले निष्फले वा, सिद्धे साध्ये वा, वस्तुनि प्रतिपत्तिमुत्पादयतीति तावदेवास्य स्वाभाविक रूपम्। अथ पुन प्रदीपाच्छब्दस्य विशेष.-यदसौ संकेतव्युत्पत्तिमपेक्षमाण. पदार्थप्रतीतिमुपजनयति, प्रदीपस्तु तन्निरपेक्ष। यथाऽर्थत्वाऽयथार्थत्वे-सत्यार्थत्वाऽसत्यार्थत्वे पुन. प्रतिपादकनराधिकरणशुद्धत्वाऽशुद्धत्वे अनुसरत; पुरुषगुणदोषापेक्षे इत्यर्थ'। तथाहि-सम्यग्दर्शिनि शुचौ पुरुषे वक्तरि यथार्था शाब्दी प्रतीति. अन्यथा तु मिथ्यार्थेति। स्वाभाविक तु याथार्थ्ये मिथ्यार्थत्वे वाऽन्या स्वीक्रियमाणे विप्रतारकेतरपुरुषप्रयुक्तवाक्येषु व्यभिचाराऽव्यभिचारनियमो न भवेत्। पुरुषस्य च करुणादयो गुणा द्वेषादयो दोषा प्रतीता एव। तत्र च यदि पुरुषगुणाना प्रामाण्यहेतुत्व नाभिमन्यते जैमिनीयैस्तर्हि दोषाणामप्यप्रामाण्यनिमित्तता मा भूत्। दोषप्रशमनचरितार्था एव पुरुषगुणा, प्रामाण्यहेतवस्तु न भवन्तीत्यत्र च कोशपानमेव शरणं श्रोत्रियाणामिति। रत्ना० ४ परि०।

(१६) (शब्दाऽर्थयोर्वाच्यवाचक भाव एव सम्बन्धः इति 'णिद्देस' शब्दे चतुर्थभागे १५३० विशेषावश्यकगाथाव्याख्यावसरे वक्ष्यते) सवन्धस्त्वभिधेयेन सह वाच्यवाचकभावलक्षण.शास्त्रस्यावश्यंभावी, इत्यनुक्तोऽपि अर्थात् गम्यते, इति सवन्धराहित्वाऽऽशङ्कानुत्थानोपहतैवेति। रत्ना०१ परि०१सूत्रटी०। (सम्मतितर्क—स्याद्वादमञ्जरी-रत्नाकरावतारिकादिग्रन्थेभ्यो विशेषोऽवगन्तव्य)। (शब्दस्य पौद्गलिकत्वं नाऽऽकाशगुणत्वमिति 'सद्द शब्दे ७ सप्तमे भागे दर्शयिष्यते)

(२०) (आगमस्य हेतुवादाऽहेतुवादभेदेन द्वैविध्यम् 'अहेउवाय' शब्दे प्रथमभागे ८६१ पृष्ठ अहेतुवादस्वरूपं, तत्रैव हेतुवादलक्षणमपि गतम्)

"जीवाऽजीवाऽऽस्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्" (तत्त्वार्थसू० १-४) इत्युभयवाऽऽदागमप्रतिपाद्यान् भावास्तथैवासंकीर्णरूपान् प्रतिपादयन् सैद्धान्तिक. पुरुष, इतरस्तु तद्विराधक इत्याह—

जो हेउवायपक्ख-म्मि हेउओ आगमे य आगमिओ।
सो स समयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥ ४५ ॥

यो हेतुवादाऽऽगमविषयमर्थं हेतुवादाऽऽगमेन, तद्विपरीतागमविषयं चार्थमागममात्रेण प्रदर्शयति वक्ता स स्वसिद्धान्तस्य-द्वादशाङ्गस्य प्रतिपादनकुशल', अन्यथाप्रतिपाद्यर्थस्य-तदर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् तत्प्रतिपादके वचसि अनास्थाऽऽदिदोषमुत्पादयन्-सिद्धान्तविराधको भवति सर्वज्ञप्रणीतागमस्य नि.सारताप्रदर्शनात्, तत्प्रत्यनीको भवतीति यावत्।

तथाहि-पृथिव्यादेर्मनुष्यपर्यन्तस्य षड्विधजीवनिकायस्य जीवत्वमागमेनाऽनुमानादिना च प्रमाणेन सिद्धं तथैव प्रतिपादयन् स्वसमयप्रज्ञापक., अन्यथा तद्विराधक'। यतः प्रत्यक्षचेतने त्रसनिकाये चैतन्यलक्षण जीवत्व स्वसवेदनाध्यक्षत' स्वात्मनि प्रतीयते, परत्र तु अपरेण-अनुमानत.। वनस्पतिपर्यन्तेषु पृथिव्यादिषु स्थावरेषु त्वनुमानतश्चैतन्यप्रतिपत्ति। तथाहि-वनस्पतयश्चेतनाः, वृक्षायुर्वेदाभिहितप्रतिनियतकालायुष्कविशिष्टौषधप्रयोगसपादितवृद्धिहानिक्षतभग्नसंरोहणप्रतिनियतवृद्धिषड्भावविकारोत्पादनाशावस्थानियतविशिष्टशरीरस्निग्धत्वरूक्षत्वविशिष्टदौहृदबालकुमारवृद्धावस्थाप्रतिनियतविशिष्टरसवीर्यविपाकप्रतिनियतप्रदेशाहारग्रहणादिमत्त्वान्यथानुपपत्ते, विशिष्टस्त्रीशरीरवदित्याद्यनुमान भाष्यकृत्प्रभृतिभिर्विस्तरत. प्रतिपादितं तच्चैतन्यप्रसाधकमित्यनुमानतस्तेषा चैतन्यमात्र सिद्ध्यति। साधारणप्रत्येकशरीरत्वादिकस्तु भेद. (जीवविचारगाथा)—

" गूढशिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरगं च छिन्नरुहं।
साहारण सरीर, तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥१२॥ "

इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव। जीवलक्षणव्यतिरिक्तलक्षणास्त्वजीवा धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलभेदेन पञ्चविधा। तत्र पुद्गलास्तिकायव्यतिरिक्ताना स्वतो मूर्त्तिमद्द्रव्यसबन्धमन्तरेणात्मद्रव्यवदमूर्त्तत्वादनुमानप्रत्ययावसेयता। तथाहि— "गतिस्थित्यवगाहलक्षण पुद्गलास्तिकायादिकार्य" विशिष्टकारणप्रभव, विशिष्टकार्यत्वात्, शाल्यङ्कुरादिकार्यवत्, यश्चासौ कारणविशेष. स धर्माऽधर्माऽऽकाशलक्षणो यथासंख्यमवसेय। कालस्तु विशिष्टपरापरप्रत्ययादिलिङ्गानुमेय.। पुद्गलास्तिकायस्तु प्रत्यक्षानुमानलक्षणप्रमाणद्वयगम्य. यस्तेषा धर्मादीना सख्येयप्रदेशात्मकत्वादिको विशेषस्तत्प्रदेशाना च सूक्ष्म-सूक्ष्मतरत्वादिको विभाग. स.-"कालो य होइ सुहुमो" इत्याद्यागमप्रतिपाद्य एव नाऽऽगमनिरपेक्षयुक्त्यवसेय.। एवमाश्रवादिष्वपि तत्त्वेषु युक्त्या आगमगम्येषु युक्तिगम्यमश युक्तित एव, आगमगम्य केवलाऽऽगमत एव प्रतिपादयन् तु स्वसमयप्रज्ञापक, इतरस्तु तद्विराधक इति प्रज्ञापकलक्षणमवगन्तव्यम्। सम्म० ३ काण्ड।

(२१) आगमस्य सर्वव्यवहारनियामकत्वम्—

आगमात्सर्व एवाऽयं, व्यवहारः स्थितो यतः।
तत्रापि हाठिको यस्तु, हन्ताऽज्ञानां स शेखरः ॥२३६॥

आगमाद्-गुरुवचनप्रत्ययरूपात्सर्व एव-निखिलोऽप्ययम्-योगमार्गोपयोगी व्यवहारो—हेयोपादेययोर्हानोपादानरूपः स्थित.-प्रतिष्ठितो यत.-यस्मादतीन्द्रियफलत्वात्तस्यातीन्द्रि-

यफलपु चानुष्ठानेपु शास्त्रस्यैव प्रतीतिहेतुत्वात् ततस्तत्प्रा- प्यागमाधीने व्यवहारे किं पुनरितररूप इत्यपि शब्दार्थः। 'हाठिक.' स्वविकल्पप्रवृत्त्यागमनिरपेक्षत्वेन वलात्कारचारी। यस्तु-य. पुनर्योगी हन्तति सन्निहितसभ्यामन्त्रणमज्ञानाम्- अबुद्धिमता स शेखर.-शिरोमणिर्वर्त्तते ऽनुपायप्रवृत्तत्वात्तस्य।

किंच—

तत्कारी स्यात्स नियमात्, तद्द्वेषी चेति यो जडः।
आगमाऽर्थे तमुल्लङ्घ्य, तत एव प्रवर्त्तते ॥ २४० ॥

तत्कारी-तत्करणशील. स्याद्-भवेत्स नियमादवश्यभावेन तद्द्वेषी च-स्वयमेव क्रियमाणवस्तुद्वेषवांश्चेत्येतत्तद्रूप सप- द्यत य.-कश्चिज्जडो-मन्द., आगमार्थे-आगमविहिते चैत्य- वन्दनादौ विधातुमिष्टे। तम्-आगममुल्लङ्घ्य-अतिक्रम्य 'तत एव'-आगमादेव प्रवर्त्तते-आगमनिरूपितविधिनिरपेक्षतया आगमार्थमनुतिष्ठन्नपि न तद्भक्त । किंतु-तद्द्विप एव द्वेषमन्तरेण तदुल्लङ्घनाभावादिति भाव । यो० बिं०।

(अतीन्द्रियार्थप्रत्यायकस्त्वागम एव)—

" आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं दृष्टिलक्षणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थाना, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ १ ॥
आगमो ह्याप्तवचन-माप्त दोपक्षयाद्विदु ।
वीतरागोऽनृत वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् " ॥ २ ॥

दश० ४ अ०। अनु०।

तथा च—

शास्त्रस्यैवावकाशो च, कुतर्काऽऽग्रहतस्ततः।
शीलवान् योगवानत्र, श्रद्धावाँस्तत्त्ववित्क्वचित् ॥ १३ ॥

अत्र-अतीन्द्रियार्थसिद्धौ शास्त्रस्यैवावकाशस्तस्यातीन्द्रि- यार्थसाधनसमर्थत्वाच्छुष्कतर्कस्यातथात्वात्, तदुक्तम्-' गो- चरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धित । चन्द्रसूर्योपरागादि- संवाद्यागमदर्शनात् ॥१॥" द्वा० २३ द्वा०। (श्लोकार्थः 'कुतर्क' शब्दे तृतीयभागे ५८५ पृष्ठे करिष्यते)

अस्थाने रूपमन्धस्य, यथा सन्निश्चयं प्रति।
तथैवातीन्द्रियं वस्तु, छद्मस्थस्यापि तत्त्वतः ॥ २५ ॥
हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं, तत एव कथंचन।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्या-त्तथाचन्द्रोपरागवत् ॥ २६ ॥

द्वा० १६ द्वा०। (अनयोरर्थ. 'इस्सर' शब्देऽस्मिन्नेवभागे विस्तरत दर्शयिष्यते)

(आगमस्य परलोकादिसाधकत्वम्)—

आगमप्रमाणबलाद्धि सकलमपि परलोकादिपरस्वरूपं य- थावदनुगम्यन्ते नान्यतस्तेन यदुच्यते प्रज्ञाकरगुप्तेन-" दी- र्घकालसुखादृष्टा-विच्छा तत्र कथ भवेत् ' इति तदपास्त- मवसेयम् आगतौ दीर्घकालसुखस्य दर्शनात्। न चागमस्य न प्रामाण्यं तदप्रामाण्ये सकलपरलोकानुष्ठानप्रवृत्त्यनुपपत्ते उपायान्तराऽभावात्। नं० ३ गाथाटी०।

शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिके विधौ।
सेव्यं यद्विचिकित्सायां, समाधिप्रतिकूलता ॥ ३० ॥

द्वा० १४ द्वा०। (अस्य श्लोकस्यार्थ. ' जोग ' शब्दे चतु- र्थभागे १६३२ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(२२) धर्ममार्गे चाऽऽगमस्यैव प्रामाण्यम्, कुशीलानामा- गमाऽप्रमाण्यम्)—

जम्हा न धम्ममग्गे, मोत्तूणं आगमं इह पमाणं।
विज्जइ छउमत्थेणं, तम्हा एत्थेव जइअव्वं ॥ १७०७ ॥

यस्मान्न धर्ममार्गे-परलोकगामिनि मुक्त्वा आगममेक परमार्थत इह प्रमाणं-प्रत्याख्यानादि विद्यते छद्मस्थानां प्रा- णिना, तस्मादत्रैवागमे कुग्रहान्निहाय यतितव्यम्। जिज्ञा- साऽश्रवणश्रवणानुष्ठाने यत्न कार्यो नागीतार्थजनाचरणप- रेण भवितव्यमिति गाथार्थ ।

प्रत्यपायप्रदर्शनद्वारेणैनदेवाह—

सुअवज्झायरणरया, पमाणयंता तहाविहं लोअं।
भुअणगुरुणो वरागा, पमाणयं नावगच्छंति ॥१७०८॥

श्रुतबाह्याचरणरता.—आगमबाह्यानुष्ठानसक्ता. प्रमाण- यन्त —सन्त केनचिच्चोदनायां क्रियमाणायां तथाविधं लो कं-श्रुतवाह्यमेवाऽगीतादिक, किमित्याह-भुवनगुरो.-भगव- तस्तीर्थकरस्य वराकास्तेऽप्रमाणतामर्थापत्तिसिद्धा नावग- च्छन्ति, तथाहि-यदि ते सूत्रवाह्यस्य कर्त्तार' प्रमाणं भगवां- स्तर्हि तद्विरुद्धसूत्रार्थवक्ता अप्रमाणमिति महामिथ्यात्वं वलादापद्यत इति गाथार्थ ।

अत एव प्रक्रमाद्धर्मानधिकारिणमाह—

सुत्तेण चोइओ जो, अन्नं उद्दिसिअ तएण पडिवज्जे।
सो तत्तवायवज्झो, न होइ धम्मंमि अहिगारी ॥१७०९॥

सूत्रेण चोदित -इदमित्थमुक्तम् एवं, य सत्त्व अन्यं-प्रा- णिन मुदिश्यात्मतुल्यमुदाहरणतया तन्न प्रतिपद्यते। सौत्र- मुक्तं, स-एवभूत.-तत्त्ववादवाह्य, परलोकमङ्गीकृत्य परमार्थ- वादवाह्यो, न भवति, धर्मे सकलपुरुषार्थहेतावधिकारी सम्यग्विवेकाभावादिति गाथार्थ ।

अत्रैव प्रक्रमे किमित्याह—

तीअबहुस्सुयणायं, तक्किरिआदरिसणा कह पमाणं।
वोच्छिज्जती अइमा, सुद्धा इह दीसई चेव ॥ १७१० ॥

तीतबहुश्रुतज्ञातम्, अतीता अप्याचार्या बहुश्रुता एव, तै कस्मादिद वन्दनं कायोत्सर्गादि नानुष्ठितमित्येवभूत- किमित्याह—तत्क्रियादर्शनाद् तीतबहुश्रुतसवन्धिक्रियाद- र्शनात्कारणात्कथं प्रमाणं; नैव प्रमाण, न ज्ञायते ते कथं वन्दनादिक्रियां कृतवन्त इति । नचेदानींतनसाधुमात्रगत- क्रियानुसारत. तत्तथातावगम इत्याह- व्यवच्छिद्यमाना चेयं क्रिया शुद्धा आगमानुसारिणी इह लोके साम्प्रतमपि दृश्यत एव, कालदोषादिति गाथार्थ. ।

उपसहरन्नाह—

आगमपरतंतेहिं, तम्हा णिच्चं पि सिद्धिकंखीहिं।
सव्वमणुट्ठाणं खलु, कायव्वं अप्पमत्तेहिं ॥ १७११ ॥

यस्मादेवम्-आगमपरतन्त्रै -सिद्धान्तायत्तै. तस्मान्नित्यम- पि-सर्वकालमपि सिद्धिकाङ्क्षिभि-र्भव्यसत्त्वै सर्वमनुष्ठानं खलु वन्दनादि कर्त्तव्यमप्रमत्तै.-प्रमादरहितैरिति गाथार्थ. । पं०व०।

मोक्षमार्गे चाऽऽगमस्यैव प्रामाण्यम्—

जम्हा न मोक्खमग्गे, मोत्तूणं आगमं इह पमाणं ।
विज्जइ छउमत्थाणं, तम्हा तत्थेव जइयव्वं ॥ ३७ ॥

यस्मान्न नैव मोक्षमार्गे-मोक्षे साध्ये मोक्षागमशास्त्रं परित्यज्येत्यर्थ 'इह' ति-धर्मविचारे प्रमाणम्-आलम्बनमित्यर्थः, विद्यते छद्मस्थानाम्, अनिशयवतां हि कथं चेत्स्वेवातिशयवशात्प्रवर्त्तमानानामपि निर्जरालाभ एवाधसी यते, तद्रहितैः पुनः सर्वथा शास्त्रमेव प्रमाणीकर्त्तव्यम् । तस्मात्तत्रैव यतितव्यम्-उद्यम कार्य इति गाथार्थः । दर्श० ४ तत्त्व ।

" धर्माऽधर्मव्यवस्थायां, शास्त्रमेव नियामकम् ।
तदुक्तासेवनाद्धर्म-स्त्वधर्मस्तद्विपर्ययात् ॥ १ ॥ " षो०टी० १ विव० ।

(आगमावलम्बनस्यैवैहिकामुष्मिकफलसिद्धिहेतुत्वम्) धर्मार्थिना-धर्ममार्गे प्रवर्त्तमानेन आगमावलम्बनेनैव प्रवर्त्तितव्यं तस्यैवैकस्यैहिकामुष्मिकफलसिद्धिहेतुतयोपादेयत्वात् अन्यस्य पुरुषमात्रस्यावलम्बने तदुच्छेदः स्यादित्येतद्दर्शयन्निदमाह—

किं वा देइ वराओ, मणुओ सुट्ठु वि धणी वि भत्तो वि ।
आणाइक्कमं पुण, तयं पि अणंतदुहहेऊ ॥ ८२ ॥

किं वा न किंचिद्ददाति-प्रयच्छति वराक -अत्यन्तशक्तिरहिता मनुजो-नरः सुष्ठुपि-अतिशयेन धन्यपि-धान्यादिसम्पदुपेत भक्तोऽपि—भक्तपानवस्त्रपात्रादिदानसमर्थ एव स्याद् ; पुनः सुगेत्र , आज्ञातिक्रमण-भगवदाज्ञोल्लङ्घनं पुन परापेक्षयापि तनुकमपि-स्वल्पमपि आस्ता तावद् बहुत्यपिशब्दार्थ , अनन्तदुःखहेतु ; अनन्तसंसारानिबन्धनमित्यर्थ , अयमत्र सर्वविदाज्ञोल्लङ्घन क्रियते स हि आहारादिदानमात्र एव समर्थ , न पुनः कुगतिनिस्तारणम् , अन किं तदपेक्षया भगवदाज्ञोल्लङ्घनमनन्तसंसारनिवर्त्तनेनेति गाथार्थः । दर्श० ४ तत्त्व ।

(युक्त्युपपन्नस्यैव सदागमत्वम्) नाऽऽगममात्रमेवाऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्भवतीति दर्शयन्नाह—

जुत्तीए अविरुद्धो, सदागमो साऽवि तयविरुद्ध त्ति ।
इय अण्णोण्णाऽणुगयं, उभयं पडिवत्तिहेउ त्ति ॥४५॥

व्याख्या-युक्त्या-उपपत्त्याऽविरुद्ध -अबाधित सदागम -सत्सिद्धान्तो भवति । साऽपि-युक्तिरपि, तदविरुद्धा-सिद्धान्ताऽविरुद्धा स्यात्तदन्या त्वयुक्तिरेव, इति वाक्यार्थसमाप्तौ, इति-एवम् अन्योऽन्यानुगत-परम्परानुयायि, उभयम्-युक्तिसदागमरूप द्वय प्रतिपत्तिहेतु -अर्थप्रतीतिकारणम् , इतिशब्द समाप्तौ, इति गाथार्थः । पञ्चा० १८ विव० ।

वचनाऽऽराधनया खलु, धर्मस्तद्बाधया त्वधर्म इति ।
इदमत्र धर्मगुह्यं, सर्वस्व चैतदेवाऽस्य ॥ १२ ॥

'वचने' त्यादि वचनाराधनया-आगमाराधनयैव खलुशब्द एवकारार्थः । धर्म -अनवाद्यरूप सपद्यते । षो०२ विव० ।
('धम्मदेसणा' शब्दे चतुर्थभागेऽत्र २७२२ पृष्ठे विशेषव्याख्यानम्)

३३

(२३) जिनाऽऽगमस्यैव सत्यत्वम्—

एकाऽप्यनाद्याऽखिलतत्त्वरूपा,
जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।
तत्राऽप्यमत्यं त्यज सत्यमङ्गी.
कुरु स्वयं स्वीयहिताऽभिलाषिन् ! ॥ १ ॥

'एकेति' एकापि जिनेशगी -अर्हद्वाणी अर्हन्मुखाब्निर्गच्छमाना अद्वितीया यथाभाषित तथाश्रूयमाणा तथा अनाद्या-आदिर्रहिता एकेन तीर्थकृता यदुपदिष्टं तदनेकेषां पूर्वपूर्वतरतीर्थकृतामपि तथैव निरूप्यमाणत्वात् आदररहिता । पुन कीदृशी-अखिलतत्त्वरूपा-समस्ततत्त्वमपि वितर्कै -विचारैर्विस्तर-बहुभेदता प्राप्य बहुप्रकारैर्बहुधा विस्तृता, यतो दिग्वाससा मतमपि जिनमतं श्रुत्वा एतादृशनयानाम् अनेकाकान्तां प्रवर्त्तयन्ति, अतस्तन्मतेऽपि यद्विमृश्यमानं सत्यं जायते तदेवाऽङ्गीकुरु, यच्चाऽसत्यं तत्सर्वमपि त्यज. स्वयम्-आत्मना हेस्वीयहिताभिलाषिन् !-निजहितकाङ्क्षिन् ! शब्दान्तरत्वेन तन्मतमपि न द्वेषविषयीकर्त्तव्य सर्वेमपि अर्थैकत्वविवक्षया असमञ्जसमेवेति । द्वया०१ अध्या० ।

सेवं भंते सेवं भंते ! "तमेव सच्चं णिस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं" । हंता जंबू !-" तमेव सच्चं निस्संकं, जं जिणेहिं पवेइयं " । कहं आगासमंडलाओ निवडिआ इव भासइ । अम्मापिऊणं संजोए संताणे भवति । किं अन्नहा वि भवति पवेइयं हंता जंबू ! " तमेव सच्च निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं " । अंग० ।

से णूणं भंते !-" तमेव सचं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं । " हंता गोयमा !-तमेव सचं नीसंकं, एवं ०जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा । (सूत्र-३७×) । भ० १ श० ३ उ० ।

(जिनागमस्य सिद्धत्वम्)—

" जिणवयण सिद्ध " ४६ इत्यादिगाथया ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभाग २६८४ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते ।

(परप्रवादानां मत्सरित्वम् जिनागमस्यामत्सरित्वम्) अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्व प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्याऽन्योन्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभावमाविर्भावयति—

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् ,
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयाऽनशेषानविशेषमिच्छन् ,
न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥

स्या० ३० श्लोक० । (श्लोकार्थ. ' णय ' शब्दे चतुर्थभागे १८६६ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(२४) (जिनागमप्रशंसा) जिनागमो हि कुशास्त्रजनितसंस्कारविषसमुच्छेदनमन्त्रायमाणो धर्माऽधर्मकृत्याऽकृत्यभक्ष्याऽभक्ष्यपेयाऽपेयगम्याऽगम्यसाराऽसारादिविवेचनाहेतु सन्तमसे दीप इव, समुद्रे द्वीपमिव, मरौ कल्पतरुरिव, संसारे दुराप , जिनादयोऽप्यनतप्रामाण्यादेव निश्चीयन्ते यदूचु स्तुतिषु श्रीहेमसूरय —

" यदीयसम्यक्त्वबलात्प्रतीमो,
भवादृशानां परमाप्तभावम्।
कुवासनापाशविनाशनाय,
नमोऽस्तु तस्मै जिनशासनाय ॥१॥"

जिनागमबहुमानिना च देवगुरुधर्मादयोऽपि बहुमता भवन्ति। किंच-केवलज्ञानादपि जिनागम एव प्रामाण्येनातिरिच्यते, यदाहु -' ओहसु उवउत्तो, सुअनाणी जइ हु गिण्हइ असुद्धं। तं केवली वि भुंजइ अपमाणसुअं भवे इहरा ॥१॥" एकमपि च जिनागमवचनं भविनां भवनाशहेतुः, यदाहुः-" एकमपि च जिनवचना-द्यस्मान्निर्वाहकं पदं भवति। श्रूयन्ते चानन्ताः, सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥१॥" यद्यपि च मिथ्यादृष्टिभ्य आतुरेभ्य इव पथ्याऽन्नं न रोचते जिनवचनं तथापि नान्यत्स्वर्गापवर्गमार्गप्रकाशनसमर्थमिति सम्यग्दृष्टिभिस्तदादरेण श्रद्धातव्यं, यतः कल्याणभागिन एव जिनवचनं भावतो भावयन्ति, इतरेषां तु कर्णशूलकारित्वेनामृतमपि विषायते, यदि चेद् जिनवचनं नाभविष्यत्तदा धर्माऽधर्मव्यवस्थाशून्ये भवान्धकारे भुवनमपतिष्यत्, यथा च-" हरीतकीं भक्षयेद्विरेककाम " इति वचनाद्धरीतकीभक्षणप्रभवविरेकलक्षणेन प्रत्ययेन सकलस्याप्यायुर्वेदस्य प्रामाण्यमवसीयते, तथाऽतीन्द्रियज्ञानिभिस्तत्केवलिकाचन्द्रार्कग्रहचारधातुवादरससायनादिभिरप्यागमोपदिष्टैर्दृष्टार्थवाक्यानां प्रामाण्यनिश्चयेनाऽदृष्टार्थानामपि वाक्यानां प्रामाण्यं मन्दधीभिर्निश्चेतव्यम्। ध० २ अधि०। (जिनागमलेखनफलम् 'पोत्थग' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते) (जिनागमलिखितपुस्तकानां दानफलम् 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे वर्णयिष्यते) " आगम आयरंतेणं, अत्तणो हियकंखिणो। तित्थनाहो सयंबुद्धो सव्वे ते बहुमन्निया ॥१॥" अष्ट० २४ अष्ट०। " आगमचक्खू साहू " अष्ट० २४ अष्ट०।

आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्तेऽर्थोऽनेनेत्यागमः। केवलमनःपर्यायावधिपूर्वचतुर्दशकदशकनवकरूपे व्यवहारभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ०। व्यवहारतो चास्य व्यवहारहेतुत्वाद्। पञ्चा० १६ विव०। तन्निबन्धनत्वात् ज्ञानविशेषोऽपि व्यवहारः। स्था० ५ ठा० २ उ०। (विस्तरत आगमव्यवहारस्य वक्तव्यता 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे आगमिष्यति)। प्राप्तौ, दश० १ अ०। (लाभ,) स्था० २ ठा० ४ उ०।

(२५) आगमस्याऽर्थान्तराणि—

आतो त्ति आगमो त्ति य, लाभो त्ति य होंति एगट्ठा ॥६॥

आय इति, आगम इति च, लाभ इति च भवन्त्येकार्थिकाः। उत्त० पाइ० १ अ०। " आगम " लाभम्। लाभ बृ० ३ उ०। पुरुषहामप्रतिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० ? अधि० ७ क्षण। आगच्छति-प्रकृतिप्रत्ययावनुपहत्य उत्पद्यते कर्तरि संज्ञायां घः। व्याकरणोक्ते प्रकृतिप्रत्ययानुपघातके अद इद इत्यादौ शब्दे, आगमोऽनपायोऽपि यतीयानागमो विधि ' व्याकरणान्तरपरिभाषा "यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" "आगमशास्त्रमनित्यम्" इति च परिभा०। ' आगमाः आप्तवाचा." ' आगमा अविद्यमानवद्भवन्तीति ". घ। का या। वाच०।

(आगमनिष्पन्नं नामाधिकृत्याह)—

से किं तं आगमेणं आगमेणं पद्मानि पयांसि कुण्डानि- सेत्तं आगमेणं। (सूत्र-१२५×)

आगच्छतीत्यागमः न्वागमादिस्तेन निष्पन्नं नाम यथा 'पद्मानी' त्यादि, "धुट्स्वराद् घुटि नु " (का०रू०२४) इत्यनेनात्र न्वागमस्य विधानाद् उपलक्षणमात्रं चेदं, संस्कार उपस्कार इत्यादेरपि सुडाद्यागमनिष्पन्नत्वादिति। अनु०। (' सत्थ ' शब्दे सप्तमभागे विस्तारो द्रष्टव्यः)

आगमकुसल-आगमकुशल- त्रि०। आगमनिपुणे, आतु०। " आगमकुसला सदारस्या ॥ ४६४ ॥ " आगमः-श्रुतिस्मृत्यादिरूपस्तस्मिन् कुशला आगमकुशला इति। उत्त० २५ अ०।

आगमण-आगमन-न०। आ+गम् भावे ल्युट्। किंचिद्देशावधिकविभाजनक्रियायामागतौ, । वाच०। गमनं स्वस्थानादन्यत्र यानम्। आगमनञ्च तद्व्यत्ययः। ध० ३ अधि०। अन्यतः स्थानात् प्रज्ञापकसम्मुखं यदागम्यते तदागमनम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०। व्य०। उत्पत्तौ। वाच०। प्राप्तौ, वाच०।

आगमणगहियविणिच्छय-आगमनगृहीतविनिश्चय-त्रि०। आगमेन गृहीतः-कृतो विनिश्चयो-निर्णयो येन स तथा। आगमनाय कृतनिश्चये, भ० ६ श० ३३ उ०।

आगमणगिह-आगमनगृह-न०। पथिकादीनामागमनेनोपेते, तदर्थं वा गृहमागमनगृहम्। बृ० २ उ०। सभाप्रपादौ, सूत्र०। " आगमणगिहंसि वा " (सूत्र-१६१*) स्था० ३ ठा० ४ उ०। आगमनगृहमागन्तुकागारं यत्र कार्पटिकादय आगत्य वसन्तीति। पञ्चा० १८ विव०।

(आगमनगृहं व्याचष्टे)—

आगंतुऽगारत्थजणो जहिं तु,
संठाइ जं वाऽऽगमणंमि तेसिं।
तं आगमोकं तु विदू वयंति,
सभा-पवा-देउलमाइयं वा ॥ १६३ ॥

आगन्तुकः-पथिकः 'अगारस्थजनो' यत्र-आगत्य संतिष्ठते यच्च तेषां पथिकादीनाम् आगमने वर्तते तदागमौकः — आगमनगृहं विद्वांसः-श्रुतधरा वदन्ति, तच्च सभा वा, प्रपा वा, देवकुलादिकं वा मन्तव्यम्। बृ० २ उ०। स्था०। (अत्र च निवासे दोषा 'वसहि' शब्दे षष्ठभागे वर्णयिष्यन्ते।)

आगमणपह-आगमनपथ-पुं०। आगमनमार्गे, नि०चू०। " आगमणपहासिजण पंहण पथिकत्र्यादिस्तु आगच्छति तेमि पहे। नि० चू० ४ उ०। (निर्ग्रन्थीनामागमनपथे दण्डादिस्थापने दोषा 'उवहि' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यन्ते)

आगमणागमणपविभत्ति-आगमनागमनप्रविभक्ति-न०। नाट्यविधिविशेषे, रा०। " आगमणागमणपविभत्तिणामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति " (सूत्र-×) रा०। चन्द्रागमनप्रविभक्तियुक्तमागमनप्रविभक्तिनाम समयं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति। रा०।

आगमणीइ- आगमनीति-स्त्री०। आगमन्याये, पञ्चा०। " एमा पमयगुणीई " (सूत्र-१.४+) एषा-अनन्तरोक्ता प्र-

नयनीति-आगमन्यायो वर्त्तते । पञ्चा० ६ विव० । सिद्धान्तभणिताऽऽचारे, " मग्गो आगमणीई " (८०+) । आगमनीति -सिद्धान्तभणिताचार । ध० र० ३ अधि० १ लक्ष० । ध० । (तस्य मार्गत्वम् ' मग्ग ' शब्दे ६ पष्ठे भागे प्रतिपादयिष्यते)

आगमतंत-आगमतन्त्र-त्रि० । आगमपरतन्त्रे, आगमानुसारिणि षो० ।

आगमतन्त्रः सततं, तद्भक्त्यादिलिङ्गसंसिद्धः ।
चेष्टायां तत्स्मृतिमान्, शस्तः खल्वाशयविशिष्टः ॥१३॥

आगमतन्त्र -आगमपरतन्त्र ;आगमानुसारी । षो०७ विव० । (अत्र विशेषव्याख्या ' चेइय ' शब्दे तृतीयभागे १२६६ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

आगमतत्त-आगमतत्त्व-न० । आगमपरमार्थे, षो० ।

आगमतत्त्वं तु बुधः, परीक्षते सर्वयत्नेन ॥ २ ॥

आगमतत्त्वं तु-आगमपरमार्थमिदं पर्यन्तरूपं बुधो-विशिष्टविवेकसंपन्नः परीक्षते-समीचीनमयलोकयति सर्वयत्नेन-सर्वादरेण धर्माऽधर्मव्यवस्थाया आगमनिबन्धनत्वात् यत उक्तम् " धर्माऽधर्मव्यवस्थाया, शास्त्रमेव नियामकम् । तदुक्तासेवनाद्धर्म-स्त्वधर्मोऽन्यथा विपर्ययात् ॥१॥" षो० १ विव० । (अयार्थे ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभागे २६६४ पृष्ठे विशेषो दर्शयिष्यते)

आगमदिट्ठि-आगमदृष्टि-स्त्री० । आगम -आप्तवचन स एव दृष्टिर्दर्शनाऽतिसूक्ष्मार्थप्रकाशकत्वादागमदृष्टिः । आप्तवचनात्मिकायां दृष्टौ, दर्श० ३ तत्त्व ।

आगमदिट्ठिदिट्ठसुद्धायमग्ग-आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञातमार्ग-पुं० । आगम -आप्तवचनं स एव दृष्टिर्दर्शनाऽतिप्रकाशकत्वात् आगमदृष्टिस्तया दृष्टम्-अवलोकितमागमदृष्टिदृष्टं तेन शोभनप्रकारेण ज्ञातो मार्गो ज्ञानादिको यैस्ते आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञातमार्गाः । आगमदृष्ट्या सम्यगवलोकितदर्शनादिके, दर्श० ३ तत्त्व ।

आगमपरतंत-आगमपरतन्त्र-त्रि० । सिद्धान्तपरतन्त्रे, पं०व० ।

एत्थ वि मूलं णेअं, एगंतेणेव भव्यसत्तेहिं ।
सिद्धाइभावओ खलु, आगमपरतंतया णवरं ॥१७०६॥

अत्रापि-आराधनायत्नं मूलं-कारणं ज्ञेयमेकान्तेनैव भव्यसत्त्व-भव्यप्राणिभिः , किमित्यत्राह-श्रद्धादिभावतः खलु-श्रद्धादिभावादेव कारणादागमपरतन्त्रता-सिद्धान्तपारतन्त्र्य नवरं, नान्यन्मूलमिति गाथार्थः । पं०व० ४ द्वार ।

आगमपह-आगमपथ-पुं० । आगममार्गे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

आगमबलिय-आगमबलिक-पुं० । आगमज्ञानविशेषवति केवल्यादिके, भ० । "आगमबलिया समणा णिग्गंथा" (सूत्र-३४० +) आगमबलिका उक्तज्ञानविशेषबलवन्तः श्रमणा-निर्ग्रन्थाः केवलिप्रभृतयः । भ० ८ श० ८ उ० ।

आगममलारहियय-आगममलारहृदय-पुं० । आगमार्थप्रतिपत्त्यसमर्थहृदये, (आगमार्थकुण्ठितबुद्धौ) सम्म० ।

समयपरमत्थवित्थर-विहाडजणपज्जुवासणसयण्हो ।
आगममलारहियओ, जह होति तमत्थमुन्नेसु ॥ २ ॥

सम्म० १ काण्ड ।

अत्र च-'आगममलारहृदय इत्यनुवादेन समयपरमार्थविस्तरप्रकटजनपर्युपासनसकर्णो यथा भवति तमर्थमुन्नेष्ये' इति-विधिपरा पदघटना कर्त्तव्या । पदार्थस्तु मलमिवारा-प्राजनकविभागो यस्यासौ मलारो-गौर्गली आगमे तद्वत्कुण्ठहृदय यस्य तदर्थप्रतिपत्त्यसामर्थ्यादसौ तथा मन्दधीः , सम्यग् ईयन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽनेनार्था इति समयः-आगमस्तस्य परम -अकल्पितश्चासावर्थः समयपरमार्थस्तस्य विस्तरो-रचनाविशेषः शब्दार्थयोश्च भेदेऽपि पारमार्थिकसंबन्धप्रतिपादनायाऽभेदविवक्षया ' प्रथने वावशब्दे' (पाणि० । ३ । ३ । ३३ ।) इति घञ् न पुनः तस्य विहाट इति-दीप्यमानान् श्रोतृबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् दीपयति-प्रकाशयति विहाटश्चासौ जनश्चचतुर्दशपूर्वविदादिलोक । तस्य पर्युपासनं-'कार्ये कार्योपचारात्' सेवाजनिततद्व्याख्यानम् । तत्र सह कर्णाभ्यां वर्त्तत इति सकर्णः तद्व्याख्यातार्थावधारणसमर्थः । यथा इति-येन प्रकारेण भवति तं तथाभूतमर्थम् उन्नेष्ये-लेशतः प्रतिपादयिष्ये । यथाभूतेनार्थेन प्रतिपादितेनातिकुण्ठधीरपि श्रोतृजनो विशिष्टागमव्याख्यातृप्रतिपादितार्थावधारणपटुः संपद्यते । तमर्थमनेन प्रकरणेन प्रतिपादयिष्यामीति यावत् । सम्म० १ काण्ड ।

आगममाण-आगमयत्-त्रि० । आपादयति , " लाघवियं आगममाणे " (सूत्र-२१३+)। लाघविकमात्मानमागमयन्-आपादयन् । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । आगमयति , (अवबुध्यमाने) "लाघवं आगममाणा" (१८५×)। आगमयन्-अवगमयन् अवबुध्यमान । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

आगमलोयणीइ-आगमलोकनीति-स्त्री० । जिनप्रवचनन्यायलौकिकन्याययोः , षो० ।

जिणबिंबपइट्ठाए, विहिमागमलोयणीतीए ॥ १ ॥

जिनबिम्बप्रतिष्ठायाः प्रतीतायाः विधिं-विधानमागमलोकनीत्या-जिनप्रवचनन्यायेन ; लौकिकन्यायेन चेत्यर्थः । लोकग्रहणेन चेदं दर्शयति-लोकनीतिरपि क्वचिज्जिनमतविरुद्धाश्रयणीया अत एव प्रासादादिलक्षणं तदुक्तमप्याश्रीयत इति गाथार्थः । पञ्चा० ८ विव० ।

आगमवयण-आगमवचन-न० । आर्षवचने, षो० ।

सर्वज्ञवचनमागम-वचनं यत् परिणते ततस्तस्मिन् ।
नासुलभमिदं सर्वं, ह्युभयमलपरिक्षयात् पुंसाम् ॥ ११ ॥

सर्वज्ञवचनम्-आगमवचनं यद्-यस्मात् परिणते ततस्तस्मिन्-आगमवचने नासुलभमिदं-न दुर्लभमिदं किंतु सुलभमेव भवति सर्वं हि-पूर्वोक्तमुभयमलपरिक्षयात् क्रियामलभावमलपरिक्षयात् पुंसां पुरुषाणाम् । षो० ५ विव० ।

आगमवयणपरिणइ-आगमवचनपरिणति-स्त्री० । आगमवचनस्य विषयविभागेन चेतसि व्यवस्थितौ, षो०

किमित्यागमवचनपरिणाम प्रशस्यत इत्याह—

आगमवचनपरिणति-र्भवरोगसदौषधं यदनपायम् ।

तदिह परः सद्बोधः, सदनुष्ठानस्य हेतुरिति ॥ ६ ॥

आगमवचनपरिणतिर्यथावत् तत्प्रकाशरूपा भवरोगसदौषध-भवरोगस्य-संसारामयस्य सदौषधं तदुच्छेदकारित्वेन यद्-यस्मात्, अनपायम्-अपायरहितं-निर्दोषं वर्त्तते तदिह परः सद्बोधस्तच्च भवरोगसदौषधम्-आगमवचनपरिणत्याख्यं, परः-प्रधानः सद्बोधः-सम्यग्ज्ञानं वर्त्तते सदनुष्ठानस्य-सुन्दरानुष्ठानस्य हेतुः-कारणमिति कृत्वा। षो० ५ विव०।

आगमववहार-आगमव्यवहार-पुं०। आ-मर्य्यादाऽभिविधिभ्यां गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था येनासावागमः केवलमनःपर्य्यायावधिचतुर्दशदशनवपूर्वलक्षणे व्यवहारभेदे, पञ्चा०। व्यवहारता चास्य व्यवहारहेतुत्वाद्। पञ्चा० १६ विव०। स्था०। ध०। (एतेषां च यथा आगमत्वं तथा 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

आगमव्यवहारभेदाः—

आगमतो ववहारो, सुणह जहा धीरपुरिसपन्नत्तो।
पच्चक्खो य परोक्खो, सोऽवि य दुविहो मुणेयव्वो ॥२०१॥

तत्र-आगमतो व्यवहारो यथा धीरपुरुषैः प्रज्ञप्तस्तथा शृणुत, स-आगमतो व्यवहारो द्विविधो ज्ञातव्यः, तद्यथा-प्रत्यक्षः, परोक्षश्च।

पच्चक्खो वि य दुविहो, इंदियजो चेव नो व इंदियजो।
इंदियपच्चक्खो वि य, पंचसु विसएसु नेयव्वो ॥ २०२ ॥

प्रत्यक्षोऽपि द्विविधः, तद्यथा-इन्द्रियजो, नोइन्द्रियजश्च। तत्र इन्द्रियजं प्रत्यक्षं पञ्चसु रूपादिषु विषयेषु ज्ञातव्यः।

नोइंदियपच्चक्खो, ववहारो सो समासतो तिविहो।
ओहिमणपज्जवेया, केवलनाणे य पच्चक्खे ॥ २०३ ॥

यस्तु-नोइन्द्रियजः प्रत्यक्षो व्यवहारः स समासतस्त्रिविधः, तद्यथा-अवधिप्रत्यक्षं, मनःपर्यवप्रत्यक्षं, केवलज्ञानप्रत्यक्षम्।

तत्राऽवधिप्रत्यक्षमाह—

ओही गुणपच्चइए, जे वट्टंती सुयंगवी धीरा।
ओहिविसयनाणत्थे, जाणसु ववहारसोहिकरे ॥ २०४ ॥

अवधिर्द्विधा-भवप्रत्ययजो, गुणप्रत्ययजश्च। तत्र संयतानां गुणप्रत्ययज एव, न भवप्रत्ययजः, ततः आह-अवधौ गुणप्रत्यये ये वर्त्तन्ते श्रुताङ्गविदो धीरास्तान् अवधिविषयज्ञानस्थान् जानीत व्यवहारशोधिकरान्-शुद्धव्यवहारकारिणः।

उज्जुमती विउलमती, जे वट्टंती सुयंगवी धीरा।
मणपज्जवनाणत्थे, जाणसु ववहारसोहिकरे ॥ २०५ ॥

ये ऋजुमतौ विपुलमतौ वा मनःपर्यवज्ञाने श्रुताङ्गविदो धीरा वर्त्तन्ते तान् मनःपर्यवज्ञानस्थान् जानीत व्यवहारशोधिकरान्-शुद्धव्यवहारकारिणः।

आदिगरा धम्माणं, चरित्तवरनाणदंसणसमग्गा।
सव्वत्तगनाणेणं, ववहारं ववहरंति जिणा ॥ २०६ ॥

ये धर्म्मयोः-श्रुतधर्म्मस्य चारित्रधर्म्मस्य चादिकराः-तत्प्रथमतया प्रवर्त्तनशीलाश्चारित्रवरज्ञानदर्शनसमग्रास्ते जिनाः सर्वत्रगज्ञानेन व्यवहारं व्यवहरन्ति उक्तः प्रत्यक्षः।

संप्रति परोक्षमाह—

पच्चक्खागमसरिसो, होति परोक्खोऽवि आगमो जस्स।
चंदमुही विव सो वि हु, आगमो ववहारवं होइ॥२०७॥

यद्यपि पूर्वादिकं श्रुतं तथापि यस्याऽऽगमश्चतुर्दशपूर्वादिकः परोक्षोऽपि प्रत्यक्षाऽऽगमसदृशः। प्रत्यक्षावध्यादितुल्यरूपो भवति सोऽप्यागमव्यवहारवान् वक्तव्यो भवति। यथा चन्द्रसदृशमुखी कन्या चन्द्रमुखीति, एतदुक्तं भवति-यद्यपि पूर्वाणि श्रुतं नाऽऽगमतुल्यानीति (तदपि) नैर्व्यवहरन् आगमव्यवहारवानुच्यते इति। व्य० १० उ०। (आगमस्य व्याख्यानम् ' आगम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे प्राग् गतम्)

आगमभेदाः—

पारोक्खं ववहारं, आगमतो सुयधरा ववहरंति।
चोद्दस दस पुव्वधरा, नवपुव्विय गंधहत्थी य ॥२०८॥

ये श्रुतधराश्चतुर्दशपूर्वधरा दशपूर्वधरा नवपूर्विणो वा गन्धहस्तिनो-गन्धहस्तिसमानाः ते आगमतः परोक्षं व्यवहारं व्यवहरन्ति।

अत्राक्षेपपरिहारावभिधित्सुराह—

किह आगमववहारी, जम्हा जीवाऽऽदयो पयत्था उ।
उवलद्धा तेहिं तु, सव्वेहिं नयविगप्पेहि ॥ २१० ॥

कथं-केन प्रकारेण साक्षात् श्रुतेन व्यवहरन्तः आगमव्यवहारिणः प्रोच्यन्ते, सूरिराह-यस्मात् जीवादयः पदार्थास्तैः चतुर्दशपूर्वधरादिभिः सर्वैः-नयविकल्पैः-नैगमादिनयभेदैरुपलब्धाः।

एतदेव सविशेषमाह—

जह केवली वि जाणइ, दव्वं खेत्तं च कालभावं वा।
तह चउलक्खणमेवं, सुयनाणी चेव जाणाति ॥२११॥

यथा केवली केवलज्ञानेन सर्वं द्रव्यं सर्वं क्षेत्रं सर्वं कालं सर्वं भावं च सर्वात्मना स्वपरपर्यायभेदभिन्नं जानाति। एवं श्रुतज्ञान्यपि चतुर्लक्षणं द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपं श्रुतबलेन जानाति।

तत एतेऽप्यागमव्यवहारिण उच्यन्ते, एतदेवं प्रस्तुतं प्रायश्चित्तशुद्ध्यधिकारमधिकृत्य योजयति—

पणगे मासविवड्ढी, मासगहाणी य पणगहाणी य।
एगाऽहे पंचाऽहं, पंचाहे चेव एगाऽहं ॥ २१२ ॥
रागद्दोसविवड्ढिं, हाणिं वा नाउं देंति पच्चक्खी।
चोद्दसपुव्वादी वि हु, तह नाउं देंति हीणाऽहियं॥२१३॥

यथा प्रत्यक्षिणः-प्रत्यक्षागमज्ञानिनस्तुल्येऽप्यपराधे पञ्चकपञ्चकयोग्ये एकस्य पञ्चकं ददति। अपरस्य-रागद्वेषविवृद्धिमुपलभ्य मासेन मासाभ्यां मासैर्वा वृद्धिं प्रयच्छन्ति। उपलक्षणमेतत्-मूलम् अनवस्थाप्यं पाराञ्चिकं वा प्रयच्छन्ति। तथा तुल्येऽपि पाराञ्चितयोग्याऽपराधे एकस्य पाराञ्चितम्, अपरस्य अनवस्थाप्यं मूलं छेदं मासेन मासाभ्यां मासैर्वा हान्या तपो वा चशब्दात्-पञ्चकं यावदन्ते नमस्कारसहितं हा दुष्ठु कृतं, हा दुष्ठुकारितं, हा दुष्ठु अनुमोदितमित्येव वैराग्यभावनातो रागद्वेषहानिं भूयसीम्-अतिभूयस्तरामुपलभ्य प्रयच्छन्ति, तथा कस्यचित् मासिकप्रतिसेवना-

यामलपा राग-द्वेषहानिमुपलभ्य पञ्चकहान्या मासिकं ददति; पञ्चविंशतिं दिनानि ददतीत्यर्थः । तथा एकाहं नाम--अभक्तार्थं प्रतिसेविते पञ्चाहं ददति; पञ्चाहे वा प्रतिसेविते एकाहम् । उपलक्षणत्वादाचाम्लम् एकाशनं पूर्वार्द्धं निर्विकृतं पौरुषीं नमस्कारसहितां वा प्रयच्छन्ति । एवं चतुर्दशपूर्वादयोऽपि 'हु' निश्चित रागद्वेषहानिवृद्धी उपलभ्य हीनमधिकं वा प्रायश्चित्तं ददति ।

अत्र परस्य प्रश्नमुदीरयति—

चोयगपुच्छा पच-क्खनाणिणो थोवं कह बहुं देंति ।
दिट्ठंतो वाणिएण, जिणचोद्दसपुव्विए धमए ॥ २१४ ॥

चोदकस्यात्र पृच्छा-प्रत्यक्षज्ञानिनो जिनादयः स्तोके अपराधे कथं बहु प्रयच्छन्ति प्रायश्चित्तम् उपलक्षणमेतत् भूयसि वा अपराधे स्तोकम् ?, अत्र सूरिराह-दृष्टान्तोऽत्र वणिजा द्रष्टव्य , तथा भूयः परस्य पृच्छा ?-जिनादय केवलज्ञानादिबलेन परस्य भावं जानते चतुर्दशपूर्विणस्तु कथं येन स्तोकेऽपि बहु बहुकेऽपि-स्तोकं ददति । सूरिराह-अत्र धमको दृष्टान्तः ।

तत्र प्रथमतो वणिग्दृष्टान्तं भावयति—

वं जह मोल्लं रयणं , तं जाणइ रयणवाणितो निउणो ।
थोवं तु महल्लस्स वि, कासइ अप्पस्स वि बहुं तु ॥ २१५ ॥

यथा निपुणो रत्नवाणिक् यत् रत्न यथामूल्यं तत्तथा सम्यक् जानाति , ज्ञात्वा च कस्यचित् महतोऽपि रत्नस्य स्तोकं मूल्यं ददाति, कस्यचिदल्पस्याऽप्यद्भुतगुणोपेतस्य बहु ।

इमामेव तद्दृष्टान्तभावना प्रकारान्तरेणाह—

अहवा कायमणिस्स उ, सुमहल्लस्स वि उ कागणी मोल्लं ।
वइरस्स उ अप्पस्स वि, मोल्लं होती सयसहस्सं ॥ २१६ ॥

अथवेति-प्रकारान्तरे रत्नपरीक्षको वणिक् काचमणेः सुमहतोऽपि मूल्यम् काकिनीं करोति , वज्रस्य तु-रत्नस्याल्पस्यापि मूल्य तेन क्रियमाणं शतसहस्रं भवति ।

अत्रोपनयमाह—

इय मासाण बहूण वि, रागद्दोसप्पयाएँ थोवं तु ।
रागद्दोसोवचया, पणगे वि उ तो बहुं देंति ॥ २१७ ॥

इति '-अमुना दृष्टान्तप्रकारेण बहूनामपि-मासाना योग्ये अपराधे वैराग्यभावनाच्छलतो रागद्वेषाल्पतया स्तोकं प्रायश्चित्तं ददति । सिंहव्यापादकस्येव रागद्वेषोपचयात् पञ्चकेऽप्यपराधे बहु प्रायश्चित्त ददति ।

अधुना "जिनचोद्दसपुव्विए धमए" (२१४)
इत्यस्य व्याख्यानमाह—

पच्चक्खी पच्चक्खं, पासइ पडिसेवगस्स सो भावं ।
किह जाणइ पारोक्खी, नायमिणं तत्थ धमएणं ॥२१८॥

प्रत्यक्षी-जिनादिः प्रत्यक्षं प्रतिसेवकस्य भाव जानाति , परोक्षी-चतुर्दशपूर्वादिः कथ जानाति येन सोऽपि तथैव व्यवहरति , सूरिराह-तत्र तस्मिन्विषये ज्ञातम्-उदाहरणमिदं वक्ष्यमाण धमकेन-शङ्खध्माता ।

तदेव दर्शयति—

नालीधमएण जिणा, उवसंहारं करेंति पारोक्खं ।
जह सो कालं जाणइ, सुएण सोहिं तहा सोउं ॥ २१९ ॥

जिना -तीर्थकृतः परोक्षे आगमे उपसंहारं नालीधमकेन कुर्वन्ति , इयमत्र भावना-नाडिकायां गलन्त्यामुदकगलनपरिमाणतो जानाति एतावत्युदके गलितयामो दिवसस्य रात्रेर्वा गत इति ततोऽन्यस्य परिज्ञानाय शङ्खं धमति तत्र यथा सोऽन्यो जन शङ्खस्य शब्देन श्रुतेन कालं यामलक्षण जानाति , तथा परोक्षागमज्ञानिनोऽपि शोधिम्-आलोचना श्रुत्वा तस्य यथाऽवस्थित भावं जानन्ति; ज्ञात्वा च तदनुसारेण प्रायश्चित्त ददति । व्य० १० उ० ।

आगमतो ववहारं, परसोच्चा संकियंमि उ चरित्ते ।
आलोइयंमि आरा-हणा अणालोइए भयणा ॥२२२॥

आगमत प्रत्यक्षज्ञानी वा परे-परस्मिन् व्यवहार करोति । परस्यालोचना श्रुत्वा नान्यथा । तत्र यदि कलुषितचारित्रतया न सम्यगालोचयति, किंतु आलोचनामर्यादामतिक्रम्य वर्त्तते तदा शङ्कितमिति वा भिन्नमिति वा कलुषितमिति वा एकार्थे, चारित्रे सति न सम्यगनेनालोचितमिति ज्ञात्वा तं ब्रूते-अन्यत्र गत्वा शोधिं कुरु, यदि पुन सम्यगालोचयति तदा ददाति प्रायश्चित्तम् । अथ यदि प्रत्यक्षागमज्ञानिनः परोक्षाऽऽज्ञानिनो वा सर्वभावविषयपरिज्ञानात् ततः कस्मात्तस्य पुरत आलोच्यते । किंतु—तस्य समीपमुपगम्य वक्तव्यम्-अपराधं मे भवन्तो जानते तस्य शोधिं प्रयच्छत तत आह-'आलोई' त्यादि, आलोचिते बहुगुणसंभवतः सम्यगाराधना भवति, अनालोचिते आराधनाया भजना—विकल्पना कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति एतच्चाग्रे भावयिष्यते ।

तत्र " आगमतो ववहारं, परसोच्चा "
(२२२) इति व्याख्यानयति—

आगमववहारी छ-व्विहो वि आलोयणं निसामित्ता ।
देति ततो पच्छित्तं, पडिवज्जइ सारिओ जइ य ॥२२३॥

आगमव्यवहारी षड्विधोऽपि परस्यालोचनां निशम्य तत प्रायश्चित्तं ददाति , यदि च-कमप्यपराधं विस्मृतं स्मारितः सन् सम्यक् प्रतिपद्यते तदा सारयति च । अन्यथा तस्याऽऽलोचनामेव न ददाति ।

सांप्रतमुत्तरार्द्धं (२२२) व्याख्यानयति—

आलोइय पडिकंत-स्स होइ आराहणा सुनियमेणं ।
अणालोइयंमि भयणा,किह पुण भयणा हवइ तस्स।२२४

पूर्वमपराधजातमालोचितं ततस्तस्मात्प्रतिक्रान्तस्य अपुनःकारणतया प्रतिनिवृत्तस्य नियमेन पर्यन्ते सम्यगाराधना भवति । अनालोचिते पुनर्भजना । आह-कथं पुनरनालोचिते तस्याराधनाविषये भजना भवति ।

अत्राऽऽह—

कालं कुव्वेज्ज सयं, अमुहो वा हुज्ज अहव आयरियो ।
अप्पत्ते पत्ते वा, आराहणा तह वि भयणेवं ॥ २२५ ॥

कोऽपि आलोचना प्रदास्यामीत्यालोचनापरिणामपरिणत आलोचनाग्रहणाय सप्रस्थित आलोचनार्हसमीप , स च तमप्राप्त एवापान्तराले स्वयं कालं कुर्यात्, यदि वा-

प्राप्तोऽपि रोगवशाद्मुखो जातः । अथवा-तस्याप्राप्तवत एव स आलोचनार्ह आचार्यः कालगत, यदि वा-प्राप्तवतोऽप्य-मुखो जातः ततः स एवमालोचनापरिणत आलोचनाया अलभेऽपि कालं कुर्वन्नाराधकः, यदि पुनर्न सम्यगालोचनापरिणामपरिणतस्तदा सोऽनाराधकः, स च तथा-कालगतो दीर्घसंसारी भवति । एवमाराधना आलोचना हि प्राप्ते अप्राप्ते वा भजनया भवति ।

संप्रत्यागमव्यवहारिणामपि पुरत आलोचनायां गुणानुपदर्शयति—

अवराहं वियाणंति, तस्स सोहिं च जइवि ।
तहाऽवि आलोयणावुत्ता, आलोयंते बहू गुणा ॥२२६॥

यद्यप्यागमव्यवहारिणस्तथाप्यालोचकस्यापराधं विजानन्ति शोधिं च तथाऽपि तेषामपि पुरत आलोचना दातव्या उक्ता तीर्थकरगणधरैर्यत आलोचयति (सति) बहवो गुणास्तथा ह्यालोचनाऽऽचार्येण स आलोचकः प्रोत्साह्यते यथा वत्स ! त्वं धन्यस्त्वं सभाग्य । यदेवं मानं निहत्याऽऽत्महितार्थतया स्वरहस्यानि प्रकटयसि महादुष्करमेतत्, एव स प्रोत्साहितः सन् प्रवर्द्धमानपरिणाम सम्यग् निःशल्यो भूत्वा यथावस्थितमालोचयति । शोधिं च सम्यक् प्रतिपद्यते । ततः पर्यन्ते आराधना स्तोककालेन च मोक्षगमनमिति ।

अथ च कथमागामिनो व्यवहारं प्रयुञ्जते, तत आह—

दव्वेहिं पज्जवेहि य, कम-खेत्त-काल-भावपरिसुद्धं ।
आलोयणं सुणेत्ता, तो ववहारं पउंजंति ॥ २२७ ॥

द्रव्यैः सचित्तादिभिः, पर्यायैः-तेषामेव सचित्तादिद्रव्याणामेव स्थानविशेषैः-परिणामविशेषैः, तथा क्रमतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च परिशुद्धामालोचनां श्रुत्वा ततस्तदनन्तरं व्यवहारं-शोधिव्यवहारं प्रयुञ्जते, नान्यथा, तत्र यदि सचित्तं सेवित्वा सचित्तमेवालोचयति तदा द्रव्यशुद्धा सा आलोचना, यदा तु सचित्तं प्रतिसेव्य अचित्तमालोचयति तदा द्रव्याऽशुद्धा । तथा यामवस्थामुपगतं सचित्तं प्रतिसेव्य तामेवावस्थागतं तदालोचयति तदा सा आलोचना पर्यायशुद्धा, यदा त्वन्यामवस्थामुपगतं प्रतिसेव्यान्यामवस्थामालोचयति तदा पर्यायाऽशुद्धा । तथा यदि प्रतिसेवनानुलोममालोचयति तदा सा क्रमशुद्धा, उत्क्रमेणाऽऽलोचयतः क्रमाऽशुद्धा । तथा यद्यत्र जनपदे अध्वनि वा प्रतिसेवितं तत्तथैवालोचयतः क्षेत्रशुद्धा आलोचना, जनपदे प्रतिसेवितमध्वनि कथयतः क्षेत्राऽशुद्धा । यथा यत् यदा दुर्भिक्षे सुभिक्षे वा दिवा रात्रौ वा प्रतिसेवितं तत्तदाऽऽलोचयतः कालशुद्धा, सुभिक्षे प्रतिसेव्य दुर्भिक्षे कथयतो रात्रौ वा प्रतिसेव्य दिवसे कथयतः कालाऽशुद्धा, तथा-येन अनाभोगादिना सेवितं तं भावं कथयतो भावशुद्धा, उपेत्य प्रतिसेव्याऽनाभोगादिना कथयतो भावाऽशुद्धा ।

संप्रति भावमेवोपदर्शयति—

सहसा अन्नाणेण व, भीएण व पेल्लिएण व परेण ।
वसणेण पमादेण व, मूढेण व रागदोसेहिं ॥ २२८ ॥

तेन-प्रतिसेवकेन सहसा अज्ञानेन वा परेण वा प्रेरितेन वा व्यसनेन वा-द्यूतादिना प्रमादेन वा मूढेन वा रागद्वेषाभ्यां वा प्रतिसेव्य यदि तथैवाऽऽलोच्यते प्रायश्चित्ताय मे ददाति नान्यथेति वाक्यशेषः ।

संप्रति "सहसे" (२२८) त्यस्य व्याख्यानमाह—

पुव्वं अपासिऊणं, (उ) च्छूढे पायंमि जं पुणो पासे ।
न य तरइ नियत्तेउं, पायं सहसाकरणमेयं ॥ २२९ ॥

पूर्वम्-अग्रतनप्रदेशे कुलिङ्गिनमदृष्ट्वा उत्क्षिप्ते-उत्पादिते पादे यत्पुनः पश्यति कुलिङ्गिनं समापतितं न पादं निवर्त्तयितुं शक्नोति । तत एवं यस्तस्य व्यापादनमेतत्सहसाकरणम् ।

सांप्रतमज्ञानमाह—

अन्नयरपमाएणं, असंपउत्तस्स नोवउत्तस्स ।
इरियाइसुं भूयत्थे, अवट्टतो एयमन्नाणं ॥ २३० ॥

पञ्चानां प्रमादानाम्-अन्यतरेणाऽपि प्रमादेनाऽसम्प्रयुक्तस्याऽऽक्रोडीकृतः स्यात्, एवम् ईर्यादिषु समितिषु भूतार्थेन तत्त्वतो वर्त्तमानस्य यद्भवनम् एतदज्ञानम् ॥

अधुना "भीएण व पेल्लिएण व परेण" (२२८ *) इत्यस्य व्याख्यानमाह—

भीतो पलायमाणो, अभियोगभएण वाऽवि जं कुज्जा ।
पडितो वाऽपडितो वा, पेल्लिज्जउ पेल्लिओ पाणे ॥२३१॥

अभियोगभयेन भीतः पलायमानो यत् कुर्यात्प्राणव्यपरोपणादि तत् भीतेनेति द्रष्टव्यं, तथा परेण प्रेरितः सन्पतितोऽपतितो वा प्राणान् द्वीन्द्रियाऽऽदीन् एकेन्द्रियादीन् वा प्रेरयत ।

संप्रति व्यसनाऽऽदिपदानि व्याचष्टे—

जूयादि होइ वसणं, पंचविहो खलु भावपमादो उ ।
मिच्छत्तभावणा उ, मोहो तह रागदोसा य ॥ २३२ ॥

द्यूताऽऽदि भवति व्यसनं प्रमादः खलु मद्यादिभेदाद्भवति पञ्चविधः मिथ्यात्वभावना मोहः रागद्वेषौ सुप्रतीतौ ।

एएसिं ठाणाणं, अन्नयरे कारणे समुप्पन्ने ।
तो आगमवीमंसं, करेंति अत्ता तदुभयेणं ॥ २३३ ॥

एतेषामनन्तरोदितानां सहसा प्रभृतीनां स्थानानामन्यतरस्मिन्कारणे समुत्पन्ने सति आलोचनायां प्रदत्तायामागमविमर्शमाप्ता उभयेन सूत्रार्थलक्षणेन कुर्वन्ति । यथाऽयं सहोऽयमसहः अयमेतावता शोत्स्यति अयं नेति । अथवा-किमनेन सम्यगालोचितं, किं वा नेति ।

सांप्रतमागमविमर्शमेव व्याख्यानयति—

जइ आगमो य आलो-यणा य दोण्णि वि समं तु निवयंति ।
एसा खलु वीमंसा, जो व सहो जेण वा सुज्झे ॥२३४॥

यद्यागमश्चालोचना च एते द्वे अपि समकं-परस्परमविसंवादितया निपततो यथैव तस्याऽऽगमस्तथैवेतरस्याऽऽलोचना । यथैव तस्याऽऽलोचना तथैवागमिन आगम । एष खलु आगमविमर्श उच्यते, अस्मिन् सति शोधिं ददाति नाऽन्यथा, यदि वा-य सहोऽसहो वा येन वा यः शुध्यति । एतत् परिभावनमागमविमर्शः । व्य० १० उ० ।

(" नाणमादीणि अत्ताणि " (२३५) गाथा 'अत्त' शब्दे १ प्रथमभागे गता तत्रैव व्याख्याता च)

सम्प्रति 'उभय' शब्दव्याख्यानार्थमाह—

सुत्तं अत्थो उभयं, आलोयण आगमो वयति उभयं ।
जं तदुभयंति वुत्तं, तत्थ इमा होति परिभासा ॥२३६॥

सूत्रम्, अर्थ इत्युभये तेनागमविमर्शं कुर्वन्ति किमय सह इत्यादि, अथवा-आलोचनमागमविमर्शो विदधाति । यथा किं यथावस्थिताऽस्याऽऽलोचना, किं वा नेति । तत्र यत्तदुभयमित्युक्तं तत्र इयं वक्ष्यमाणा परिभाषा भवति ।

तामेवाह—

पडिसेवणाइयारे, जइ नाउट्टइ जहक्कमं सव्वे ।
न हु देंती पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥२३७॥

यदि प्रतिसेवनातिचारान् यथाक्रमं सर्वान् यदि नाकुट्टयति-नाऽऽलोचयति तदा तस्यागमव्यवहारिण प्रायश्चित्त न ददति । यदि पुन प्रतिसेवनातिचारान् यथाक्रम सर्वान् आकुट्टयति-आलोचयति तदा तस्यागमव्यवहारिण. प्रायश्चित्त ददति ।

कहे(हि)सु सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणोऽवि गूहति ।
न तस्स दिंति पच्छित्तं, बिंति अन्नत्थ सोहय ॥२३८॥

यान् सर्वानालोचयन् कथय सर्वं मा निगूहय इति य उक्तः सन् जानानोऽपि गूहयति तस्य प्रायश्चित्तमागमव्यवहारिणो न ददति, किंतु ब्रुवते-अन्यस्य समीपे गत्वा शोधय-शोधिं गृहाण ।

न संभरति जो दोसे, सब्भावा न य मायया ।
पच्चक्खी साहए ते उ, माइणो उ न साहए ॥२३९॥

यो दोषान् सद्भावतो न स्मरति न मायया तस्य प्रत्यक्षी-प्रत्यक्षागमज्ञानी कथयति ।

जइ आगमतो आलो-यणा य दोऽवि विसमं निवइयाइं ।
न हु देंति य पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥२४०॥

यद्यागम आलोचना च एते द्वे अपि विषम निपतिते यथा तेनालोचितं तथागमज्ञानी तस्यातीचारं न प्रेक्षते किंत्वन्यादृशम्, ऊनमधिकं वा इत्यर्थः। तदा तस्याऽऽगमव्यवहारिण. प्रायश्चित्त न ददति ।

जइ आगमो य आलो-यणा य दोन्नि वि समं निवडियाइं।
देंति ततो पच्छित्तं, आगमववहारिणो तस्स ॥ २४१ ॥

यद्यागम आलोचना च एते द्वे अपि सम निपतिते; यथाऽपराधमालोचनामागमज्ञानी पश्यतीत्यर्थ. । ततस्तस्यागमव्यवहारिण' प्रायश्चित्त ददति । व्य० १० उ० ।

आलोचनार्हस्याष्टादश स्थानानि षट्त्रिंशत्स्थानान्युक्त्वा प्रतिपादितम्—

छत्तीसियाणि ठाणाणि, भणियाणणुपुव्वसो ।
जो कुसलो एएहिं, ववहारी सो समक्खातो ॥ ३२८ ॥

एतानि-अनन्तरोदितानि स्थानानि षट्त्रिंशत् आनुपूर्व्या-क्रमशः-क्रमेण भणितानि यस्तेषु कुशल. स व्यवहारी-आगमव्यवहारी समाख्यातः ।

पुनरपि यादृशा आगमव्यवहारिणस्तादृशानाह—

अट्ठहिँ अट्ठारसहिं,
दसहि य ठाणेहिँ जे अपरोक्खा ।
आलोयणदोसेहिं,
छहियं ठाणेहिं जे अपरोक्खा ॥ ३२९ ॥
आलोयणठाणेहिं,
छहियं ठाणेहिँ जे अपरोक्खा ।
पंचहिँ नियंठेहिं,
पंचहि य चरित्तमंतेहिं अट्ठसु ॥ ३३० ॥

अष्टसु आचारवत्त्वप्रभृतिषु स्थानेषु अष्टादशसु व्रतषट्कप्रमुखेषु दशसु च प्रायश्चित्तस्थानेषु ये अपरोक्षा.-प्रत्यक्षज्ञानिन, तथा-दशसु आलोचनादोषेषु वा ये अपरोक्षविज्ञाना—प्रत्यक्षविज्ञानिन', तथा—दशस्वालोचनागुणेषु षट्सु च स्थानेषु अनन्तरभाविषु ये अपरोक्षाः-साक्षाज्ज्ञानिन.स्तथा पञ्चसु निर्ग्रन्थेषु पुलाकादिषु पञ्चसु चारित्रवत्सु-सामायिकादिसंयमवत्सु ये प्रत्यक्षज्ञानिनस्ते आगमव्यवहारिणः । व्य० १० उ० ।

आगमव्यवहारिणश्च यावदार्यरक्षितमेवाऽभूवन्—

तो जाव अज्जरक्खिय, आगमववहारिणो वियाणित्ता ।
न भविस्सति दोसो त्ति, तो वायंती उ छेदसुयं ॥६२॥

यावदार्यरक्षितास्तावदागमव्यवहारिणोऽभूवन् ते चाऽऽगमव्यवहारबलेन विज्ञाय यथा एतस्याश्छेदश्रुतवाचनायां दोषो न भविष्यतीति संयतीमपि छेदश्रुतं वाचयन्ति स्म ।

आरेणागमरहिया, मा विद्दाहिंति तो न वाएंति ।
तेण कहं कुव्वंतु, सोहिं तु अयाणमाणी ती ॥ ६३ ॥

आर्यरक्षितादारत. आगमरहितास्ततस्ते मा छेदश्रुताध्ययनत संयत्यो विद्रास्यन्ति-विनङ्क्ष्यन्तीति हेतोश्छेदश्रुतानि संयतीर्न वाचयन्तीति, अत्राह-तेन छेदश्रुताध्ययनाभावेन कथ ताः संयत्योऽजानाना' शोधिं कुर्वन्तु,

अत्राऽऽचार्य आह—

तो जाव अज्जरक्खिय, सट्ठाणे पगासयंसु वइणीतो ।
असतीए विवक्खंमि वि, एमेव य होंति समणाऽवि ।६४।

यत. पूर्वमागमव्यवहारिण' स्युश्छेदश्रुतं च संयत्य. अधीयेरन् ततो यावदार्यरक्षितास्तावद् व्रतिन्यः स्वस्थाने-स्वपक्षे संयतीनां प्रकाशनामकार्षुं, स्वपक्षाभावे विपक्षेऽप्यालोचितवत्यः श्रमण्य एवमेव श्रमणा अपि भवन्ति ज्ञातव्याः । किमुक्त भवति-श्रमणा, अपि स्वपक्षे आलोचितवन्तः, तदलाभे विपक्षेऽपि; श्रमणीनां पार्श्वे इत्यर्थ. दोषाभावात्, आगमव्यवहारिभिर्हि दोषाभावमवबुध्य छेदश्रुतवाचना संयतीनां दत्ता नान्यथेति । आर्यरक्षितादारत पुन श्रमणानामेव समीपे आलोचयन्ति श्रमण्योऽपि; श्रमणानामागमव्यवहारव्छेदात् । व्य० ५ उ० ।

आगमववहारि (न्)-आगमव्यवहारिन्-पु० । प्रत्यक्षज्ञानिनि, व्य० ।

आगम-सुय ववहारी, आगमतो छव्विहो उ ववहारी ।

केवलि मणोहि चोद्दस,-दस-नवपुव्वी उ नायव्वो॥१३५॥

तत्राऽऽगमतो व्यवहारी षड्विधः, तद्यथा-केवली-केवलज्ञानी 'मणोहि' त्ति-पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् मन पर्यायज्ञानी, अवधिज्ञानी, 'चाद्दसदसनवपुव्वी' ति-पूर्वि-शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते चतुर्दशपूर्वी दशपूर्वी नवमपूर्वी च ज्ञातव्या एते चागमव्यवहारिणः प्रत्यक्षज्ञानिन उच्यन्ते; चतुर्दशादिपूर्वबलसमुत्थस्यापि ज्ञानस्य प्रत्यक्षतुल्यत्वात् । व्य० १ उ० । जी० । (विस्तरतः आगमव्यवहारिण. 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेवोक्ता.)

आगमविहि-आगमविधि-पुं० । आगमो-गणधरादिविरचितशास्त्रपद्धतिस्तस्य विधिः । आगमन्याये, दर्श० ।

जावज्जीवं आगम-विहिणा चारित्तपालणं पढमो ।(६)

तत्र यावज्जीवं-यावत्प्राणधारणं, नतु परपरिकल्पितन्या येनेत्यर्थः । आगमो-गणधरादिविरचितशास्त्रपद्धतिस्तस्य विधिस्तेन-आगमन्यायेनेत्यर्थः । वयोरिक्तीकरणं चारित्रं तस्य पालनं यत्तत्सकलसमितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानकरणं, नत्किमित्याह-प्रथम.-आद्यस्तस्य मुख्यवृत्त्यैव समस्तसमीहितप्रापकत्वेन प्रधानत्वात् । दर्श० ३ तत्त्व ।

आगमवीमंस-आगमविमर्श-पुं० । आगमपरिभावने, व्य० १० उ० । (आगमविमर्शस्वरूपं विस्तरतः "जइ आगमो० ॥ २३४ ॥" इत्यादि व्यवहारदशमोद्देशगाथया 'आगमववहार' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेवोक्तम्)

आगमसंपरण-आगमसम्पन्न-पुं० । विशिष्टश्रुतधरे, दश० । १ अ० ।

आगमसज्जोग-आगमसद्योग-पुं० । आगमनमागमः-सम्यक्परिच्छेदस्तेन सद्योगः-सद्व्यापारः आगमसहितो वा य सद्योग. सत्क्रिया । सम्यक्परिच्छेदात्मके सद्व्यापारे, आगमसहितायां सत्क्रियायाञ्च । षो० ।

रागादयो मलाः ख-ल्वागमसद्योगतो विगम एषाम् ।
तदयं क्रियात एव हि, पुष्टिः शुद्धिश्च चित्तस्य ॥ ३ ॥

षो० ३ विव० ।

(अस्य व्याख्या 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे २६६६ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगमसत्थ-आगमशास्त्र-न० । आ-अभिविधिना सकलश्रुतिविषयव्याप्तिरूपेण. मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्तेऽर्था येन स आगम । नं० । शिष्यते शिक्ष्यते-बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रम् आगमरूपं शास्त्रम् आगमशास्त्रम् । श्रुतज्ञाने, विशे० ।

अत्र भाष्यम्—

सासिज्जइ जेण तयं,
सत्थं तं वा विसेसियं नाणं ।
आगम एव य सत्थं,
आगमसत्थं तु सुयनाणं ॥ ५५६ ॥ विशे० ।
आगमसत्थग्गहणं,
जं बुद्धिगुणेहि अट्ठहिं दिट्ठं ।
बेंति सुयनाणलंभं,
तं पुव्वविसारदा धीरा ॥१८३॥ (सूत्र ५८+)

आ-अभिविधिना सकलश्रुतिविषयव्याप्तिरूपेण मर्यादया वा यथाऽवस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते-परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन स आगम. । नं० । "पुंनाम्नि घ." ॥ ५ । ३ । १३० ॥ (सिद्धहै०) इति करणे घः । आ० म० १ अ० २१ गाथा टी० । स चैवं व्युत्पत्त्या अवधिकेवलादिलक्षणोऽपि भवति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं विशेषणान्तरमाह-शास्त्रेति-शिष्यतेऽनेनेति शास्त्रम् आगमरूपं शास्त्रम् आगमशास्त्रम् आगमग्रहणेन षष्टितन्त्रादिकुशास्त्रव्यवच्छेदः,तेषां यथावस्थितार्थप्रकाशनाभावतोऽनागमत्वात् आगमशास्त्रस्य ग्रहणमागमशास्त्रग्रहणं यद् बुद्धिगुणैर्वक्ष्यमाणैः कारणभूतैरष्टभिर्दृष्टं, तदेव ग्रहणं श्रुतज्ञानस्य लाभं ब्रुवते पूर्वेषु विशारदाः विपश्चितः धीरा-व्रतपालने स्थिरा., किमुक्तं भवति-यदेव जिनप्रणीतप्रवचनार्थपरिज्ञानं तदेव परमार्थतः श्रुतज्ञानं; न शेषमिति । नं० । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

आगमसिद्ध-आगमसिद्ध-पुं० । आगमो-द्वादशाङ्गं प्रवचनम् तत्रासाधारणार्थावगमात् सिद्ध आगमसिद्धः । सिद्धभेदे, ध० २ अधि० ।

आगमसिद्धो सव्वंऽ-गपारओ गोयमो व्व गुणरासी ।

आगमसिद्ध. सर्वाङ्गपारगो-द्वादशाङ्गवित् अयं च महातिशयवानेव, यत उक्तम्—"संखाता ते वि भवे साहइ," इत्यादि इयं, च गौतम ! अवगुणराशिरवगन्तव्यः अत्र भूयांसः सातिशयचेष्टिता उदाहरणम् । आ० म० १ अ० । भावार्थ. कथानकादवसेय., तच्चेदम्-"तत्थाऽऽगमसिद्धो किर सयंभूरमणे वि मच्छादीया । ज चिट्ठंति स भयवं उवउत्तो जाणइ ।" आ० म० १ अ० ।

आगमसुद्ध-आगमशुद्ध-त्रि० । आगमः-आप्तवचनं तेन शुद्धः-तदुक्तार्थानुवादेन निर्दोष आगमशुद्धः । आगमाऽनुवादेन निर्दोषे, पञ्चा० ।

,स्तवविधिमधिकृत्य—

थयविहिमागमसुद्धं, सपरेसिमणुग्गहट्ठाए ॥ १ ॥

आगम -स्तवपरिज्ञानादिकमाप्तवचनं तेन शुद्धः-तदुक्तानुवादेन निर्दोष आगमशुद्धस्तं, किमर्थमित्याह-स्वपरयोरात्मतदन्ययोरनुग्रह.-उपकारस्तल्लक्षणो योऽर्थ -पदार्थः प्रयोजन वा सोऽनुग्रहार्थस्तस्मै अनुग्रहार्थाय, तत्र स्वानुग्रहः प्रावचनिकार्थानुवादे निर्मलबोधभावात् परोपकारद्वारायातकर्मक्षयाच्च । परानुग्रहस्तु परेषा निर्मलबोधः तत्पूर्वकक्रियासंपादनात्परपरया निर्वाणसंपादनाच्चेति गाथार्थः । पञ्चा० ६ विव० ।

आगमाऽऽभास-आगमाऽऽभास-पुं० । अनाप्तवचनसमुत्थे ज्ञाने, रत्ना० ।

आगमाऽऽभासमाह—

अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानमागमाभासमिति ॥ ८३ ॥

अभिधेयं वस्तु यथाऽवस्थितं यो जानीते, यथाज्ञान चाभिधत्ते स आप्त उक्त । तद्विपरीतोऽनाप्त. । तद्वचनसमुत्थं ज्ञानम्-आगमाऽऽभासं ज्ञेयम् ।

अत्रोदाहरन्ति—

यथा मेकलकन्यकायाः कूले तालहिन्तालयोर्मूले सुलभाः पिण्डखर्जूराः सन्ति, त्वरितं गच्छत गच्छत शावकाः इति ॥ ८४ ॥

रागाऽऽक्रान्तो ह्यनाप्तः पुरुषः क्रीडापरवशः सन् आत्मनो विनोदार्थं किञ्चन वस्त्वन्तरमलभमानः शावकैरपि समं क्रीडाभिलाषेणेदं वाक्यमुच्चारयति । रत्ना० ६ परि० ।

आगमिय-आगमिक–त्रि० । आगमादागतः ठञ् । आगमप्राप्ते, वाच० । आगमगम्ये च । पं० व० । "आगमिअमागमेणं ॥६६१॥" आगमिकं वस्त्वागमेन, यथा-स्वर्गे अप्सरसः, उत्तराः कुरव इति । पं० व० ४ द्वार ।

आगमित–त्रि० । अधीते । वाच० । गृहीते, "उच्चारये त्ति वा अहीतंति वा आगमियंति वा गृहीतंति वा एगट्ठा" नि० चू० १ उ० । ज्ञाते, वाच० । "नायं आगमियं ति एगट्ठं" ०॥२०८×॥ ज्ञातम् आगमितमित्येकार्थम् । व्य० १० उ० । पठिते, प्रेरणे, णिच् क्त । यापिते, प्रापिते च । वाच० ।

आगमिस्स(त्)-आगमिष्यत्–त्रि० । आगामिनि, "जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो" (सूत्र-१२६+) । ये चागामिन । आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आगामिनि काले, "किमस्सऽतीत किंवाऽऽगमिस्सं०" ॥१॥ (सूत्र-११७+) । किंवाऽऽगमिष्यति-आगामिनि काले सुखाभिलाषिणा दुःखद्विषो भावीति । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । "सिज्झिस्सइ आगमिस्सेणं" (सूत्र-६७२+) । आगमिष्यति काले सेत्स्यति । स्था० ६ ठा० ३ उ० । "सो आगमिस्साए जिणो भविस्सइ" 'आगमिस्साए' आयत्याम् । आगामिनि काले, आव० ३ अ० । "आगमिस्सा वि सुव्वया०" (२५+) आगामिनि चानन्ते काले तथाभूताः सत्संयमानुष्ठायिनो भविष्यन्ति । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । "आगमिस्सं च पावगं०" (२१×) आगामिनि काले यत्करिष्यते तत्सर्वमिति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "हवइ पुणो आगमिस्साणं" (५१×) 'आगमिस्साणं' त्ति-एष्यत्काले इत्यर्थः, प्राकृतत्वादत्रापि विभक्तिव्यत्ययः । आतु० । "आगमिस्सेण होक्खइ" ॥ (१+) (सूत्र-५५६+) आगमिष्यता कालेन हेतुना भविष्यतीत्यर्थः । स्था० ७ ठा० ३ उ० । उत्तरकालभाविनि च । "पडिक्कमे आगमिस्साणं" (॥४२॥+) आगमिष्याणाम्-उत्तरकालभाविनाम् । आतु० ।

आग(म्म)मित्ता-आग(म्य)त्य–अव्य० । आ-गम-ल्यप् वा मोलोपे तुक् । आगमनं कृत्वेत्यर्थे । वाच० । ज्ञात्वेत्यर्थे, "आगमेत्ता आणविज्जा" (सूत्र-१५६+) ज्ञात्वाऽऽज्ञापयेदिति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । "आगम्मुक्कुडुओ सतो" ॥ २२ × ॥ आगत्योत्कुटुकः त्यक्तासन इति । उत्त० १ अ० ।

आगमेयव्व-आगमयितव्य–त्रि० । आगमनम्-आगमनपरिज्ञानम् । तद्गोचरत्वमानायितव्ये, वृ० १ उ० २ प्रक० ।

आगमेसि(त्)-आगमिष्यत्–त्रि० । आगामिनि, स्था० ८ ठा० ३ उ० । कल्प० । आगमिष्यति काले, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

आगमेसिभद्द-आगमिष्यद्भद्र–न० । आगमिष्यति काले भद्रं कल्याणं यस्य स आगमिष्यद्भद्रम् । आगमिष्यत्कालभाविनि कल्याणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आगमिष्यद्भद्रं यस्येति । आगमिष्यत्कालभाविकल्याणवति, स्था० ।

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अट्ठ सया अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं०जाव आगमेसिभद्दाणं उक्कोसिया अणुत्तरोववाइसंपया होत्था ॥ १ ॥ (सूत्र-६५३)

आगमिष्यत्भद्र—निर्वाणलक्षणं येषां ते तथा । स्था० ८ ठा० ३ उ० । आगामिभवे सेत्स्यमानत्वात् । कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आगमिष्यद्भद्रकर्मकारणान्याह—

दसहिं ठाणेहिं जीवा आगमेसिभद्दत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा-अनिदाणयाए १, दिट्ठिसंपन्नयाए २, जोगवाहियाए ३, खंतिखमणयाए ४, जिइंदियाए ५, अमाइल्लयाए ६, अपासत्थयाए ७, सुसामन्नयाए ८, पवयणवच्छल्लयाए ९, पवयणउब्भावणयाए १० ॥(सूत्र-७५८)

'दसहिं' इत्यादि, आगमिष्यद्-आगामिभवान्तरे भावि भद्र-कल्याणं; सुदेवत्वलक्षणमनन्तर सुमानुषत्वप्राप्त्या मोक्षप्राप्तिलक्षण च येषां ते आगमिष्यद्भद्रास्तेषां भावः आगमिष्यद्भद्रता तस्यै आगमिष्यद्भद्रतायै, तदर्थमित्यर्थः, आगमिष्यद्भद्रतया वा-कर्म शुभप्रकृतिरूपं प्रकुर्वन्ति-बध्नन्ति, तद्यथा-निदायते-लूयते ज्ञानाद्याराधनालता आनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परशुनेव देवेन्द्रादिगुणर्द्धिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तन्निदानम्-अविद्यमानं तद्यस्य सोऽनिदानस्तद्भावस्तत्ता तया हेतुभूतया, निरुत्सुकतयेत्यर्थः । १ । दृष्टिसम्पन्नतया-सम्यग्दृष्टितया । २ । योगवाहितया-श्रुतोपधानकारितया, योगेन वा-समाधिना सर्वत्रानुत्सुकत्वलक्षणेन वहतीत्येवंशीलो योगवाही तद्भावस्तत्ता तया । ३ । क्षान्त्या क्षमते इति क्षान्तिक्षमणः क्षान्तिग्रहणमसमर्थताव्यवच्छेदार्थं यतः-असमर्थोऽपि क्षमत इति क्षान्तिक्षमणस्य भावस्तत्ता तया । ४ । जितेन्द्रियतया—करणनिग्रहेण । ५ । 'अमाइल्लयाए' त्ति- माइल्लो-मायावांस्तत्प्रतिषेधेनामायावास्तद्भावस्तत्ता तया । ६ । तथा-पार्श्वे बहिर्ज्ञानादीनां देशतः सर्वतो वा तिष्ठतीति पार्श्वस्थः, (स्था०) (पार्श्वस्थलक्षणम् 'पासत्थ' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते) पार्श्वस्थस्य भावः पार्श्वस्थता न सा अपार्श्वस्थता तया । ७ । तथा-शोभनः पार्श्वस्थादिदोषवर्जिततया मूलोत्तरगुणसम्पन्नतया च स चासौ श्रमणश्च साधुः सुश्रमणस्तद्भावस्तत्ता तया । ८ । तथा-प्रकृष्टं-प्रशस्तं, प्रगतं वा वचनम्-आगमः-प्रवचनं-द्वादशाङ्गं तदाधारो वा सङ्घस्तस्य वत्सलता हितकारिता प्रत्यनीकत्वादिनिरासेनेति प्रवचनवत्सलता तया । ९ । तथा-प्रवचनस्य-द्वादशाङ्गस्योद्भावनम्-प्रभावनं प्रावचनिकत्वधर्मकथावादादिलब्धिभिर्वर्णवादजननं प्रवचनोद्भावनं तदेव प्रवचनोद्भावनता तयेति । १० । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

आगय-आगत–त्रि० । आ-गम्-क्त । आयाते, । विशे० । भ० ।

वाच० । जाते , ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । उत्पन्ने , सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

आगयमिवागयं तं, तत्तो जत्तो समुब्भवो जस्स ।
सपरंपरओ य जओ, तमागयमिओ तदुवयारो ॥१०८४॥

'जत्तो' त्ति-यतो यस्मात् रूपकादेर्घटादेर्वा सकाशाद्यस्य भोजनादे रूपादिविज्ञानस्य वा समुद्भव -उत्पत्तिः 'तं' ति-तद्भोजनादिकं रूपादिज्ञानं वा वस्तु 'तत्तो' त्ति-ततो रूपकादेर्घटादेर्वा सकाशादागतमिवागतमुच्यते ; हिमवत समागनगङ्गाप्रवाहस्येव तस्य तद्धेतुकत्वादित्यर्थः । (विशे० ।) आगतशब्दश्चेहोत्पत्तिवचनो, वोधवचनो मन्तव्य –इदमत्र हृदयम्-यस्य वस्तुनो यस्माद्वस्तुन सकाशात्समुद्भवस्त-द्वस्तुन आगतमिवावगतं व्यपदिश्यते । यथा कार्षापण-रूपकादिभ्यः समुद्भूत धान्यभोजनादि , घटाद् समुद्भूतं रूपादिज्ञानं वा तत समागतमित्युच्यते । विशे० । उपस्थिते, वाच० । " आगयसमए " (सूत्र-८२ +) । आ-सन्नीभूतोऽवसरो यस्य स इत्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । ज्ञाते, " अभिसमन्नागया " (सूत्र-१०६ +) । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्राप्ते, वाच० । " सिरीअतुलमागया " ॥१६+॥ (सूत्र-३०+) श्री-र्लक्ष्मीरतुलाऽसाधारणाऽऽगता-प्राप्तेति । स० ३० सम० । भावे क्त । आगमने, न० । वाच० ।

आगयगंध-आगतगन्ध-त्रि० । जातसुरभिगन्धे, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

आगयपन्न-आगतप्रज्ञ-त्रि० । आगता-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्याऽसावागतप्रज्ञः । संजातकर्त्तव्याऽकर्त्तव्यविवेके, सूत्र० । "समितीसु गुत्तीसु य आगयपण्णे" ॥ ५ ×॥ सूत्र०१ श्रु०१४ अ० ।

आगयपण्णाण-आगतप्रज्ञान-त्रि० । आगतं-स्वीकृतं प्रज्ञानम् सदसद्विवेको यस्य स तथा । स्वीकृतसदसद्विवेके, "सया आगयपण्णाणं" (सूत्र-१२१ +) । आचा०१ श्रु०४ अ० २ उ० । " आगयपण्णाणाणं किसा वाहा भवंति " (सूत्र-१८६ ×) । आगतं प्रज्ञानं पदार्थाविर्भावकं येषां ते तथा तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परिषहातिसहनेन च कृशा बाहवो भुजा भवन्ति । यदि वा-सत्यपि महोपसर्गपरिषहाद्यागतप्रज्ञानत्वाद् वाधा-पीडा कृशा भवन्ति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

आगयपण्हया-आगतप्रश्नवा-स्त्री० । आयातप्रस्नवायाम् , "तएणं सा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया " (सूत्र-३८२×) आयातप्रश्नवा, पुत्रस्नेहादागतस्तनमुखस्तन्येत्यर्थः । भ० ६ श० ३३ उ० । अन्त० ।

आगयभम-आगतभ्रम-त्रि० । उत्पन्नभ्रमणे, कल्प० १ अधि० ३ क्षण ।

आगयसमय-आगतसमय-त्रि० । आसन्नीभूतोऽवसरो यस्य स । आसन्नीभूतावसरे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

आगर-आकर-पुं० । आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकर । उत्त० ३० अ० । आगत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकर । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अस्यैकार्थिकानि 'आयारंग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यन्ते) । रत्नां, " धाउमणिसिलप्पवालरयणागरे य साहिंति " (सूत्र-७+) । धातुमणिशिलाप्रवालरत्नानामाकराः-खनयस्तान् साधयतीति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । " गुणआगरं " ॥ ५ + ॥ गुणानां-ज्ञानदर्शनचारित्राणामाकर खनिमिति । उत्त० १६ अ० । निधाने, " गुणसयाऽऽगरो संघो " ॥ ७४४ + ॥ गुणशतानामनेकेषां गुणानामाकरो-निधानम् गुणशताकर संघः । व्य० २ उ० । वृ० । मर्यादयाऽभिविधिनाऽऽक्रियन्ते वज्रादीनि तेष्विति । ओघ० । हिरण्याकरादौ, व्य० १ उ० । जी० । प्रज्ञा० । आवा० । रा० । स च हिरण्याद्युत्पत्तिभूमि । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । ओघ० । उत्त० । ताम्रादेरुत्पत्तिस्थानम् । आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० २ उ० । लोहाद्युत्पत्तिभूमिः । स्था० २ ठा० ४ उ० । लोहाद्युत्पत्तिस्थानम् । अनु० । प्रश्न० । भ० । लोहादिधातूद्गमभूमिः । ग० १ अधि० । लवणाद्युत्पत्तिभूमिः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । लवणाद्युत्पत्तिस्थानमिति । प्रश्न० ४ आश्र०द्वार । यत्र सन्निवेशे लवणाद्युत्पद्यते । स्था० ६ ठा० ३ उ० । रूप्यसुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानम् । नं० । भ० । आकीर्य्यन्ते धातवोऽत्र कृ-अप् । रत्नाद्युत्पत्तिस्थाने, वाच० । " अयमाइआगरा खलु " ॥ २८४ × ॥ अयो-लोहं तदादय आकरा उच्यन्ते यत्र पाषाणं धातुधमनादिना लोहमुत्पाद्यते स अयआकरः, आदिशब्दात्-ताम्ररूप्याद्याकरपरिग्रहः । बृ० १ उ० २ प्रक० । " वइरे कणगे य रयय-लोहे य । चत्तारि आगरा खलु " ॥८+॥ वज्राणि-रत्नानि तेषामाकर -खनिर्वज्राकर , "चिंताओ लोहगारिय" त्ति इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेनाऽऽकरग्रहणं संबध्यते एतेन कारणेन 'होइ उ' त्ति-इत्यस्माद्भवति क्रिया सर्वत्र मीलनीयेति, कनकं-सुवर्णं तस्याऽऽकरो भवति द्वितीयः, रजतं-रूप्यं तद्विषय तृतीय आकरो भवति, चशब्द समुच्चये, अनेकभेदभिन्नं रूप्याकरं समुच्चिनोति, 'लोहे य' त्ति-लोहमयस्तस्मिन्, लोहे लोहविषयश्चतुर्थ आकरो भवति, चशब्दो मृदुकठिनभेदलोहसमुच्चायकः । चत्वार इति संख्या आक्रियन्त एतेष्वित्याकरास्तथा च मर्यादया अभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनि तेष्विति, खलुशब्दो विशेषणे । ओघ० । (एतेषां प्राधान्याऽप्राधान्यविवेक 'अणुओग' शब्दे १ भागे ३५७ पृष्ठ गतः) ।

आकरशब्दस्य चतुर्धा निक्षेप –नामादिस्तत्र व्यतिरिक्तो रजतादि, भावाऽऽकरोऽप्यत्र च ज्ञानादिः, तत्प्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थो, निर्जरादिरत्नानामत्र लाभात् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्पत्तिभूमौ, अनु० । " कमलाऽऽगरनलिणीखंडबोहए " (सूत्र-१६×) कमलानामाकरा-उत्पत्तिभूमयो हृदादिजलाशयविशेषास्तेषु यानि नलिनीखण्डानि तेषां बोधको य. स तथेति । अनु० ।

अयाऽऽगरेइ वा, तंबागरेइ वा, तउआगरेइ वा, सीसागरेइ वा, रुप्पागरेइ वा सुवण्णागरेइ वा । (सूत्र-५६७×)

अयआकरा-लोहाकरा यत्र लोहं ध्मायते । स्था०८ठा०३उ० ।

तत्थ णं बहवे हिरण्णागारा य, सुवण्णागारा य, रयणागारा य, वइरागारा य । (सूत्र-१३२×)

हिरण्याऽऽकरांश्च, सुवर्णाकरांश्च, रत्नाकरांश्च, वैराकरांश्च तदुत्पत्तिभूमीरित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । स्थानमात्रे च । व्य० ।

तत्थ न कप्पइ वासो, गुणाऽऽगरा जत्थ नऽत्थि पंच इमे ।
आयरियउवज्झाए, पवत्तिथेरे य गीयत्थे ॥ ३२४ ॥

वणिज इव राजाद्यभावे साधोरपि तत्र गच्छे वासो न कल्पते, यत्र इमे-वक्ष्यमाणा गुणानामाकरा -स्थानानि गुणाकरा' पञ्च न सन्ति , के ते इत्याह-आचार्य , उपाध्याय., प्रवृत्ति , स्थविरो, गीतार्थश्च । व्य० १ उ० । आकुर्वन्ति, संघीभूय कुर्वन्ति व्यवहारमत्र आ-कृ-घ । समूहे, श्रेष्ठे च । वाच० । अरघट्टादिसमीपस्थे प्रदेशे , अरघट्टादिसमीपे, प्रभूता यत्र तुरा भवन्ति स आकर उच्यते । वृ० ५ उ० । को पुण आगरो भण्णति—जत्थ घरट्टादिसमीवे सुवह अवभुसुहं; सो, आगरो भण्णति । नि० चू० १ उ० । भिल्लपल्ल्यादौ, यत्राऽलावूनि भवन्ति । "आगरपल्लीमाई" ॥ ३४६ × ॥ आकरो नाम-भिल्लपल्ली, भिल्लकोट्ट वा तत्र प्रायोऽलाबूनि प्राप्यन्ते । वृ० ३ उ० ।

आगर-पु० । आगीर्यते-उद्गमितुमारभ्यते चन्द्रमा अत्र । आगृ आधारे अप् । अमावास्यायाम् , वाच० ।

आगरणिवेस-आकरनिवेश-पुं० । आकरस्थाने , " आगरनिवेसेसु " (सूत्र-३५×) । प्रज्ञा० १ पद ।

आगरणी-आकरणी-स्त्री० । लोहकाराग्गरीपायाम् , स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

आगरपल्ली-आकरपल्ली-स्त्री० । सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानस्थिते वृक्षवंशादिगहनाश्रिते प्रान्तजनस्थाने , उत्त० । "निगमे य आगर पल्ली " ॥ १६+ ॥ आकर -सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थान तस्मिन् आकारे । पल्ली वृक्षवंशादिगहनाश्रिता प्रान्तजनस्थानम् । तस्यां पल्ल्याम् , उत्त० ३० अ० ।

आगरमुत्ति-आकरमुक्ति-स्त्री० । विक्रणिकायाम् , सा च नो कर्मद्रव्यलोभे । आव० १ अ० । आ०म० । अण्णे भणतिण कम्मे आकरमोची एवमादि आकरमोत्ति विक्कणिकेति । आ० चू० १ अ० । (एतद्वक्तव्यता ' लोभ ' शब्दे षष्ठभागे वक्ष्यते) ।

आगरि(न्)-आकरिन्-त्रि० । आकर'-उत्पत्तिस्थानं प्राशस्त्येनाऽस्त्यस्येति इनि स्त्रियां ङीप् । प्रशस्ताकरजाते, " दधतमाकरिभि करिभि. क्षतै. " किरा० । वाच० । आकरवति, प्रश्न० २ आश्र०द्वार ।

आगरिस-आकर्ष-पुं० । आकर्षणमाकर्ष. आ-कृष् घञ् । ' र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा " ॥८।२।१०५॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणेकार'। प्रा० । उदाने, आकर्षो नाम कर्मपुद्गलोपादानमिति । स०। आकर्षो नाम-तथाविधेन प्रयत्नेन कर्मपुद्गलोपादानम् । प्रज्ञा० ६ पद ७ द्वार । (आयुष्कर्माकर्षा. 'आउबंध' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता.) ग्रहणे, आ० म० १ अ० । विशे० । प्रथमतया ग्रहणे, मुक्तस्य ग्रहणे च । आ० म० १ अ० । विशे० । ग्रहणमोचनया , आकर्षणमाकर्ष । ग्रहणमोचनमित्यर्थ. । आ० चू० १ अ० । स च द्विविध.-एकभविको, नानाभविकश्चेति । प्रव० १२२ द्वार । आ० चू० । विशे० । अनु० । आ०म० । (सामायिकस्याकर्षा. ' सामाइय ' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते) प्राती, भ० ।

पुलागस्स णं भंते ! एगभवग्गहणिया केवइया आगरिसा पण्णत्ता, जहण्णेणं एक्को, उक्कोसेणं तिण्णि । (सूत्र-७७८+)

आकर्षणमाकर्ष.-चारित्रस्य प्राप्तिरिति । भ० २५ श० ६ उ० । (बकुसाऽऽदीनामाकर्षाः ' णियंठ ' शब्दे चतुर्थभागे २०४२ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगरिसग-आकर्षक-पुं० । आकर्षति सन्निकृष्टस्थं लौहम् आ-कृष्-ण्वुल् । (चुम्बक) इतिख्याते अयस्कान्ते, आकर्षणकर्त्तरि, त्रि० । आकर्षे नियुक्त आकर्षादि० कन् । आकर्षनियुक्ते, " आकष. निकषोपल " इति रेफरहित. पाठो युक्त सि० कौ० । वाच० । आ० म० १ अ० ।

आगरिसण-आकर्षण-त्रि० । आ-कृष् ल्युट् । अन्यत्र स्थितस्य वस्तुन बलेन अन्यत्र नयने,"योषिदाकर्षणे चैत्र-विनियोग प्रकीर्त्तित ।" आकृष्यते अनेन करणे ल्युट् । आकर्षण साधने तन्त्रोक्ते षट्कर्मान्तर्गते विधानभेदे च । वाच० । आकृष्यत-इति आकर्षणम् । द्रविणे, आकृष्यत इति आगरिसणं तं च दविणं । नि० चू० २ उ० । प्रेरणे , आकड्ढणमाकरिसणं अप्पणो तेण । आघट्टणमागसण उद्गगतेन प्रेरणमिति । नि० चू० १८ उ० ।

आगलण-आकलन-न० । अध्यवसाये , " धणुबलं वा आगलंति " (सूत्र-१४३×) 'आगलंति' त्ति-आकलयन्ति-जेष्याम इत्यध्यवस्यन्तीति । भ० ३ श० २ उ० ।

आगलिय-आगलित-त्रि० । निवारिते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

आगल्ल-आगल्ल-त्रि० । ग्लाने, " तेण पस्स आगल्लो " ॥४३६×॥ तेनाऽयमागल्लो-ग्लान' संजात' । बृ० ४ उ० ।

आगाढ-आगाढ-त्रि० । अत्यन्तदुर्भेदे, व्य० । "आगाढपण्हेसु य संथवेसु" ॥ २६६+ ॥ आगाढप्रश्नेषु चाऽत्यन्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेषु सत्स्विति । व्य० १ उ० । कर्कशे, बृ० । "आगाढे अहिगरणे " ॥ ५७३× ॥ आगाढे-कर्कशेऽधिकरणे उत्पन्ने । बृ० १ उ० ३ प्रक० । कारणे , नि० चू० ६ उ० ।

अद्धाणविवित्ताणं, आगाढ सेसऽणागाढं ॥ ८४ ॥

अद्धाणे विवित्ताण आगाढकारण । सेस अद्धाणं तंमि उवगरणाभावे आगाढ ण भण्णइ । नि०चू० ५ उ० । आगाढेहिं वा कारणेहिं वोलेंति । नि० चू० २ उ० । " आगाढकारणेहिं " ॥ ३५० + ॥ आगाढे -कुलादिभिः कारणे । बृ० १ उ० २ प्रक० । आगाढे-प्रत्यनीकस्तेनादिरूपं यत्कारणम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । अशिवादिके कारणे, बृ० ।

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए अ आगाढे ।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, णाणे तह दंसणचरित्ते ॥ ६१८ ॥

आगाढशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, आगाढे-अशिवे, अवमौदर्ये, राज्यद्विष्टे, बोधिकस्तेनादिभये च यथा आगाढ नाम शैक्षसागारिकादिमन्यतमकारण तदा ग्लान उत्तमार्थप्रतिपन्नो वा कश्चिद्देशान्तरे श्रुत. अपान्तराले च तत्र छिन्नपन्था अतस्तत्परिचरणार्थं गन्तव्यम् , उत्तमार्थं वा प्रतिपित्सु. संविग्नगीतार्थसमीपछिन्नेनापि पथा गच्छति ।

ज्ञानमाचारादि, दर्शनं दर्शनविशुद्धिकारकाणि शास्त्राणि तदर्थमध्वानं गच्छेत्, चारित्रार्थं नाम-यत्र देशे स्त्रीदोषा वा भवन्ति तं परित्यज्य देशान्तरं गन्तव्यम्।

एएहिं कारणेहिं, आगाढेहिं तु गम्ममाणेहिं।
उवगरणपुव्वं गहिऊ-ण पडिलेहिएण गंतव्वं ॥६१६॥

एतैः-अशिवादिभिः कारणैरागाढैरेव गम्यमानैः-प्राप्यमाणैः उपकरणमध्वप्रायोग्यं गृहीत्वा पूर्वं गमनात् प्राक् प्रत्युपेक्षित. सम्यक् शुद्धाऽशुद्धतया निरूपितो यः स सार्थस्तेन सह गन्तव्यम्। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

(ग्लानवैयावृत्यमधिकृत्योक्तम्)-आगाढे कारणजाते सति वैयावृत्यं कुर्यादपि, परित्यजेद्वा ग्लानं, किं पुनस्तत्कारणजानम्। बृ० १ उ० २ प्रक०। इति 'गिलाण' शब्दे तृतीयभागे ८६३ पृष्ठे वक्ष्यते।)

अणुवसमंते निग्गमो, लिंगविवेगेण होइ आगाढे।
देसंतरसंकमणं, भिक्खुगमादी कुलिंगेणं ॥ २७० ॥

अनुपशमयति-उपशममकुर्वति राज्ञि निर्गमो भवति। कथमित्याह-लिङ्गविवेकेन—लिङ्गपरित्यागेन; गृहस्थलिङ्गेनेत्यर्थ.। अथ तथाऽपि न मुञ्चति गाढकोपाविशात्, तत आह-आगाढम् अत्यन्तप्रकोपतो गाढममोक्षणे भिक्षुकादिलिङ्गेन देशान्तरसंक्रमणं कर्त्तव्यम्। अशिवाऽऽदौ वा कारणे समुपस्थिते देशान्तरगमनं किल कर्त्तव्यम्। व्य० १ उ०। (" असिवं० " इत्यादिगाथाभि. 'आगाढ' स्वरूपं 'कालकप्प' शब्दे तृतीयभागे ४८६ पृष्ठे वक्ष्यते)

आगाढे अन्नलिंगं, कालक्खेवो य होति गमणं वा ।६६०×।

आगाढे-राजद्विष्टे। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

(आहारमधिकृत्याऽऽगाढस्य भेदाः) किं पुण आगाढं, अणागाढं वा। तत्थिमं आगाढं समासतो चउव्विहं। गाहा—

अद्धाणे ओमे वा, गेलण्ण-परिण्ण-दुल्लभे दव्वे।
आगाढं नायव्वं, मुत्तूण होंति ऽणागाढा ॥ १६१ ॥

इम खेत्ताऽऽगाढं अद्धाणपडिवण्णगाढं सव्व जाहं असंथरणं तं गाढं। इम कालाऽऽगाढ ओमकाले जं असंथरणं त गाढं। इमे गिलाणपरिन्ना दोऽवि भावाऽऽगाढं गिलाणस्स तद्दिवसे पायोग्ग जति न लब्भंति तो गिलाणो गाढं परिण्णस्स असमाधाणे उप्पण्णे दिया रातो वा परिण्णाऽऽगाढ गिलाणस्स तद्दिवस पायोग्ग इह राती अहिगारो। इमं दव्वाऽऽगाढं 'दुल्लभदव्वे'ति-सतपाग-सहस्सपागं,घय,तेल्लं तेण साहुणो कज्जं तंमि अलभते दुल्लभदव्वाऽऽगाढ। एवविधं आगाढं नायव्वं। पडिपक्खे अणागाढं। नि० चू० ११ उ०।

(विस्तरेणाऽऽगाढस्य भेदा.)—

दव्वे खेत्ते काले, भावे पुरिसे तिगिच्छे असहाए।
एतेहिं कारणेहिं, सत्तविहं होइ आगाढं ॥

पं० भा० ४ कल्प०। नि० चू०।

दव्वे ताव वेज्जो पुच्छियव्वो। जाव इयाणि दव्वाणि उवइसइ ताव इयाणि न पडिसेवज्जंति। जदा एयं अम्ह न कप्पइ। ताहे उवइट्ठाणि, ताहे ओमत्थइ परिहाणीए भण्णइ। पं०चू०।

(द्रव्याऽऽगाढम्)—

एगादीयवड्डीए, एगुत्तरिया य होति दव्वाणं।
ओमत्थगपरिहाणी, दव्वागाढं वियाणाहि ॥
जंयेति पुणो वेज्जो, सचित्तं दुल्लभं च दव्वं वा।
अप्पाडिहणंतो अच्छति, उद्दिसिउं जाव सो ठाति ॥
जाहे उद्दिट्ठाणी, ताहे ओमत्थहाणिए भणति।
अम्हे करेमो जोग्गं, अलंभे एयस्स किं कुणिमो ॥
एवं तु हावयंता, खेत्तं कालं च भावमासज्ज।
ता जूहंती जाव उ, लंभे जेसिं तु दव्वाणं ॥
अह पुण भणेज्ज एवं, अवस्समेतेहिं कज्जदव्वेहिं।
एतं दव्वाऽऽगाढं तहिं जए पणगहाणीए ॥
पं० भा०।

एगाइयवड्डीए अम्हे करेमु जोग मग्गसु तं चेव जाव कलमसाली। खेत्तकालगाहा। तहेव य जहिं लाभो तहिं ठायति। अहवा-भणेज्जा अवस्समाणि दव्वाणि जाणि दव्वाणि दुल्लहाणि परित्ताणइ स तेल्लमाईणि वा तहिं त दव्वाऽऽगाढ पणगपरिहाणीए जयंति जाव चउगुरुएण वि गेण्हंति। पं० चू०।

खेत्ताऽऽगाढमियाणिं गाहा—

खेत्ताऽऽगाढं इणमो, असती खेत्ताण मामजोग्गाणं।
असिवं वा अन्नत्थ, णादी व य वा होज्ज सद्धा तु ॥
आयरियादि अहारग, अहवा अन्नत्थ सावता होज्ज।
अंतर जहिं च गम्मति, बाला ताहे ण खुत्तियं वा ॥
एतेहि कारणेहिं, खेत्ताऽऽगाढंमि पुरिसे य।
तो अत्थंति असदभावा, एगखेत्ते वि जयणाए ॥
पं० भा०।

खेत्तस्स वा अलंभे असइ मासकप्पजोग्गाणं खेत्ताणं एगत्थ अत्थंति असिवं वा अन्नत्थ नई वा नीरति गतूण अकारगं वा आयरियाणं अन्नत्थ सावया वा तत्थ अंतरा वा दिग्घ-आइया वा अन्नंमि देसे अंतरा वा ताहे एगत्थ अत्थति अहवा-खेत्ताऽऽगाढं। पं० चू०।

(कालाऽऽगाढम्)—

कालस्स वाऽवि असती, वासावासे वियारणा णऽत्थि।
एतेहि कारणेहिं, कालाऽऽगाढं वियाणाहि ॥
वासाजोग्गं खेत्तं, पडिलेहे तं तु कालेणं वहुतो।
वच्चंताण य अंतर-वासं तु णिवडितुं पव्वत्तं ॥
डहरं अंतरखेत्तं, ताहे तं चेव पुव्वखेत्तं तु।
गंतू वसती वासं, समतीते वा ति दम रातं ॥पं० भा०॥

कालओ कालेण वहुत्तो वासावासपाउग्गं खेत्तं वच्चंताकालओ कालेण... अन्तरागामे पडियं तं च अन्तराखेत्तं। संनिमड्ढगं ताहे न चेव पुव्वपडिलेहियं खेत्तं। जं निउण्णं रि अइगिरा या वासावासे जइ वासइ मग्गसिरे दस राया निग्गिण होंति

उक्कोसेण ओमोयरियाए वा जा जयणा आहाराइसु एयं कालाऽऽगाढं । पं० चू० ।

इयाणिं भावाऽऽगाढं—

अतिउक्कडं च दुक्खं, अप्पा वा वेदणा भवे आसुं ।
एवेहिँ कारणेहिं, भावाऽऽगाढं वियाणाहि ॥
अच्चुक्कडसूलादी, अहिडक्काई तु वेदणा अप्पा ।
तत्थऽग्गि तावणादी, दाहच्छेदोवगाढादी ॥ पं० भा० ॥

'अइउक्कड च' अइउक्कडति-विसूइयाइ अहिदट्ठविस अप्पा वा वेयणा हिययसूलाइ तत्थ अग्गी कदाहं वा परित्ताण ताइ दायव्वं एयं भावाऽऽगाढं । पं० चू० ।

(पुरुषाऽऽगाढम्)—

जंमि विणट्ठे गच्छ-स्स विणासो तह य णाणचरणाणं ।
एतेहिँ कारणेहिं, पुरिसाऽऽगाढं वियाणाहि ॥
तस्स तु सुद्धालंभे, जावज्जीवं पि होत सुद्धेणं ।
कायव्वं तु य णियमा, पुरिसाऽऽगाढं भवे एतं ॥
जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आदरेण रक्खाहि ।
ण हु तुंबुंमि विणट्ठे, अरया साहारगा होंति । पं० भा० ।

पुरिसाऽऽगाढे-जंमि विणट्ठे गच्छस्स विणासो नाणदरिस णचरित्ताईणं विणासो । न हु तुंबुमि विणट्ठे गाहा—ताहे तस्स असुद्धेणावि कीरइ जाव जीवइ एय पुरिसाऽऽगाढं । प० चू० ।

(चिकित्साऽऽगाढम्)—

संजोगदिट्ठपाढी, फासुगउवदेसणासु जो कुसलो ।
एतारिसस्स असती, णायव्वं तिगिच्छमागाढं ॥
मज्जणतूलिविभासा, अरणे पाउरणए य पाणे य ।
केवडियाण पहाणे, अन्नध वचो गिलाणो तु ॥
पं० भा० ।

संयोगदिट्ठपाढी-वेज्जस्स वा संयोगदिट्ठपाढिस्स असइ गीयत्थसंविग्गस्स । ताहे गीयत्थवेज्जस्स जा पाडुडिया कीरइ-पहाणभोयणचोयणाइ तं सद्दहइ । एयं तिगिच्छाऽऽगाढं । प० चू० ।

सहायाऽऽगाढम्—

हुज्ज व सहायरहितो, अव्वत्ता वाऽवि अहव अममत्था ।
एय सहायाऽऽगाढं, तम्हाणु मुणी ण विहरेज्जा । पं० भा० ४ कल्प० ।

होज्ज व सहायसहाया वासावासे नत्थि अवत्तव्वया सुत्तेण वा दोसा य हिंडमाणस्स वा एगाणियस्स ताहे एगत्थ अत्थइ एगं अत्थंतो अपायच्छिन्नो जाव सहाए न लभइ पाउग्गे, एयं सहायाऽऽगाढं । पं० चू० ४ कल्प । आशुघातिनि अहिदंशनादिके कारणे च । वृ० ।

अहिडक्कविसविसूइय-सज्जक्खयसूलमागाढं ॥ १४६ ॥

अहिना-सर्पेण दष्ट कश्चित्साधुः, विष वा केनचिद्भक्ष्यादिमिश्रं दत्त , विसूचिका वा कस्यापि जाता , सद्य क्षयकारि वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम् एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागाढम् । एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुष्ठादिरोगात्मकम्-अनागाढम् । वृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० । ग० । ('गच्छसारणा' शब्द तृतीय भागेऽत्र विस्तरो वक्ष्यते) अवश्यकर्त्तव्ये कार्य्ये , ग० ।

अणागाढे आगाढं, करंति आगाढे अणागाढं ॥११६॥

आगाढम्-अवश्यकर्त्तव्यं ग्लानप्रतिजागरणादिकं न आगाढम् अनागाढं तस्मिन् अनागाढे, कार्य इति शेषः । आगाढम्-अवश्यकर्त्तव्यमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थ । तथा-आगाढे-अवश्यकर्त्तव्य कार्ये । अनागाढ कार्य येन कृतेन विनाऽपि सरति; तत्कार्य कुर्वन्तीत्यर्थ । अथवा-अनागाढयोगानुष्ठाने वर्त्तमाने; आगाढयोगानुष्ठान कुर्वन्ति । तथा-आगाढयोगानुष्ठाने अनागाढयोगानुष्ठान कुर्वन्ति स्वच्छन्दाः । ग० ३ अधि० । औत्पत्तिके कार्य्ये च । आगाढ तु किंचिदौत्पत्तिक कार्य्यम् । वृ० १ उ० ३ प्रक० । "आगाढमुसावाई" ॥३७२×॥ आगाढ-कुलकार्य्ये सघकार्य्ये चेति । व्य० ३ उ० ।

करणे य विग्घचासं, करेइ आगाढेऽणागाढं ॥ ७२२×॥

आगाढं-ग्लानादिकार्य्ये अनागाढ त्रि॰ कृत्वा पारम्भमणादिलक्षणम् , अनागाढं वा आगाढ सद्य प्रतिसेवनात्मक करोति । वृ० १ उ० १ प्रक० । आगाढे-राजद्विष्टादिककार्य्ये । वृ० १ उ० ३ प्रक० । अभिगृहीतमिथ्यादर्शने, पुं० । आगाढः-अभिगृहीतमिथ्यादर्शन । वृ० १ उ० २ प्रक० ।

आगाढजोग-आगाढयोग-पुं० । योगभेदे , नि० चू० ।

आगाढमणागाढे, दुविहे जोगे समासतो होति ॥२६+॥

जोगो दुविहो-आगाढो य, अनागाढो य । आगाढ तु राजम्मि जोगे जनणा सो आगाढो यथा "भगवती" त्यादि । नि० चू० १ उ० । वृ० । (अत्र विशेषव्याख्यानम् 'अज्जा' शब्दे प्रथमभागे २२० पृष्ठे गतम् ।)

आगाढपएण-आगाढप्रज्ञ-न० । शास्त्रे , व्य० । "आगाढपएणसु य भावियप्पा" ॥ ३७× ॥ आगाढप्रज्ञानि-शास्त्राणि तेषु भावितात्मा-तात्पर्यग्राहितया तन्नानीतमिव्यक्षमतिः । व्य० ३ उ० ।

आगाढपएह-आगाढप्रश्न-पु० । अत्यन्तदुर्भेदप्रश्ने, व्य० । "आगाढपएहेसु य सथवेसु" ॥२७०+॥ आगाढप्रश्नेषु वाऽत्यन्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेषु सत्स्विति । व्य० १ उ० ।

आगाढपरियावण-आगाढपरितापन-न० । बहुतमपीडोत्पादनात्मके परितापे, जीत० । "आगाढपरियावणद्दवणे" ॥३'×॥ बहुतमपीडोत्पादनं चाऽऽगाढम् । जीत० ।

आगाढमुसावाइ- (न्)-आगाढमृषावादिन्-त्रि० । आगाढे-कुलकार्ये, गणकार्ये, संङ्घकार्य्ये वा अनाभाव्यस्य आभाव्यस्य वा (नाभाव्यस्य वा) ज्ञानतया रागद्वेषाज्ञानस्य वा भणनात् मृषावदतीत्येवंशील आगाढमृषावादी । कार्य्ये सति मृषावादिनि व्य० ।

आगाढमुसावादी, बितियतइए उ लोवेति वए उ ।३७२+।

आगाढे मृषावादी द्वितीयमृषावादादत्तादानविरतिरूपं व्रते लोपयति । व्य० ३ उ० । ('उद्देस' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽत्र विस्तर वक्ष्यामि)

आगाढवयण-आगाढवचन-न०। अत्यर्थं गाढम् आगाढम्। "गाढुत्तगूढणकर, गाहेउं व तेण आगाढ" (३+)। गाढं उक्तं गाढुत्त तं केरिसं गूढणकरं अन्यस्याख्यातुं न शक्यते। अथवा-शरीरस्योष्मा यनाङ्केन जायते तमागाढम् इत्युक्तलक्षणे वचने, । नि० चू० १० उ०।

सूत्रम्—

जे भिक्खू भदंतं आगाढं वयइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

आगाढवचन-परुषवचना-ऽऽगाढपरुषवचननिषेधः—

मा भुंज रायपिंडं-ति चोदितो तत्थ मुच्छितो गिद्धो।
खुज्जाती माल वच्चह, आगाढ च उप्पत्ती दसमे ॥ १ ॥

गुरुणा वेतितो मुच्छियो गिद्धो एकार्थवचनं, अहवा—तं भुंजनो संजमाऽसंजम ण जाणइ, मूर्च्छितवत् मूर्च्छितो अभिलाषमात्रगृद्धः, अहवा—खुज्जादियाणमालय वच्चहति चोदितो आगाढवयणं भणेज्ज । एस उप्पत्ती आगाढवयणस्स दसमुद्देसगस्स एस संबधो । (१ सूत्र व्याख्या)- 'जे' इति णिद्देसे भिक्खू पुव्ववण्णिओ, 'भदि' कल्याणे, सुखे च । दीप्ति-स्तुति-सौख्येषु वा, मोहात्मस्य सिलोकः। भदंतो-आचार्यो अत्यर्थम्-आगाढे, 'वद' व्यक्तायां वाचि, अण्णं वा वदंति-अणुमोदति ।

णिज्जुत्तीगाहा—

आगाढं पि य दुविधं, होइ असूआए तह य सूयाए ।
एएसिं पत्तेयं, दोण्हं पि परूवणं वोच्छं ॥ २ ॥

आगाढं द्विविधम्-असूताये, सूताए वा । आगाढफरुसो-भयसुत्ताण तिण्ह वि इम सरूं वा ।

गाहा—

गाढुत्तगूहणकरं, गाहेउं व तेण आगाढं ।
णेहरहितं तु फरुसं, उभए संजोयणा णवरं ॥ ३ ॥

गाढम्-उक्तं गाढुत्त, तं केरिसं-गूढणकरं-अन्यस्याख्यातुं न शक्यते । अहवा-शरीरस्योष्मा येनाङ्केन जायते तमागाढं, नेहरहियं णिप्पिवासं, फरुसं भण्णति । गाढफरुसं-उभयं ततियसुत्ते जोगो दोण्ह वि, सूयाऽसूयवयणाणं इमेहिं दारेहिं सरूव जाणियव्वं ।

गाहा—

जातिकुलरूवभासा, धणबलपरियागजसत्तवेलाभे ।
सत्तवयबुद्धिधारण, उग्गहसीले समायारी ॥ ४ ॥
अम्हे 'मो जातिहीणा, जातीमंतेहिँ को विरोहेण ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ५ ॥

लोकप्रसिद्धं उल्लिघितवचन तव अत्र तादृश न गृहीतव्यम् । इह तु- परं दोषेण सूचयति; स्पष्टमेव दोषं भासतीत्यर्थ । परवत्थुणिद्देसो णामं—'भदंत' चेव भणति, तुमं जातिहीणो त्ति ।

गाहा—

अम्हे 'मो कुलहीणा, को कुलपुत्तेहिँ मह विरोहेणं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ६ ॥
अम्हे 'मो रूवहीणा, सरूवदेहेसु को विरोहेण ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ७ ॥
अम्हे मो अकतमुहा, अलं विवाएण णेकतमुहेहिं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ८ ॥

वाग्मीकृतमुखभासाए द्वितीयव्याख्यानम् ।

गाहा—

खरफरुसणिट्ठुरं णे, वक्कं तुज्झं मो महुरगंभीरं ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ ९ ॥

सरोसवणियमिश्रकंतं खर प्रकथनं हणि तण्ह फरुस-जगारादियं अणुवयारं णिट्ठुर । 'मो' इत्यात्मनिर्देशे, अक्खरेहिं मित अत्थमभिधाणेहिं मधुरं सरेण गंभीरं ।

गाहा—

अम्हे मो धणहीणा, आसि अगारंमि इड्ढिमं तुज्झे ।
एस असूया सूया, तु णवरं परवत्थुणिद्देसो ॥ १० ॥
एमेव सेसएसु वि, जोएयव्वा असूय-सूयाओ ।
अत्तगता तु असूया, सूया पुण पागडं भणिया ॥११॥

अप्पणो दोस भासति, ण परस्स, एसा असूया । ण अप्पणो परस्स फुडमेव दोसं भासति एसा सूया । सूयतीव सूया । औरसबलयुक्तो बलवान् । परियाओ-प्रव्रज्याकालः । सक्का वा सक्क-प्रथमे वयसि वर्त्तमान, त्रिदशवत् वयोवर्जो वा जमि वए ठितो तस्स तदा गुणवासंति उप्पत्तियादिबुद्धिजुत्तो बुद्धिमं धारणा दृढस्मृतिः बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रिता -संदिग्धं मुवाणा उग्गहं करेति, अक्कोहादिणा सीलवं चक्कबालसामायारीपज्जुत्तो कुसलो वा एते अत्था सव्वे सूयाऽसूएहिं भाणियव्वा ।

गाहा—

एक्केका सा दुविधा, संतमसंता य अत्तणि परे य ।
पच्चक्खपरोक्खाऽवि य, असंतपच्चक्खदोसयरा ॥१२॥

आत्मगता असूया । परगता सूया । असूया-सता, असता य । सूया वि-संता, असंता य । जहन्थेण ठिय सतं अभूतार्थं अनून, असत-परस्स जं पभासति पच्चक्खं महतदोसतर भवति,अहवा-इमेहिं अप्पाण, परं वा,पससति, णिंदति वा ।

गाहा—

गणि वायते बहुसुते, मेहा वाऽऽयरियधम्मकहिवादी ।
अप्पकमाए थूले, तणुए दीहे य मडहे य ॥ १३ ॥
अम्ह खमणा ण गणी. को गणवसभेहिँ सह विरोहेण ।
एस असूया सूया, तु णवर परवत्थुणिद्देसो ॥१४॥
अगणिं तु हासमादीहिँ अगणिं व गणिं पूयागणिं च ।
एवं सेसपएसु वि, सप्पडिपक्खं तु नेयव्वं ॥ १५ ॥

सेसा पादा बहुसुतादीया निविक्त, बहुयं च सुयं बहुस्सुनो, तिविधो-मेहावी-गहणधारणमेधावी य, आयरियागच्छाहिवती, तत्थेव भासति-अम्हे के ? आयरियत्तस्स जं सामायारिं पि ण याणामो । अहवा-भणति-तुम को आयरियत्तस्स जो सामायारिं पि ण याणसि, चतुव्विहाए अक्खेवणियमादियाए धम्मकहाए लद्धीए जुत्तो ससमय-

१-'मो' इत्यात्मनिर्देशे, (६) गाथा विवरणे नव्याते चूर्णिकारः ।

परसमएसु गतागमो उप्पएणपइतो वादी बहु अलपकषायः क्रियासु दक्ष. स्थूर. तनुर्देहः क्षमापूरदेहाको तणुदेहे हीणेण सह विरोधो घट्टमो णिद्धं उवरिं मडहसरीरेहिं को विरोहेण, णिदं च करेति, थुती य, परमप्पणो कहतरं णाउं परवयणपयोगवसा पुव्वुत्तरमप्पणो देति एतेसामन्नतरं आगाढं जो वदति तस्सिमा सोही।

गाहा—

छेदादी आरोवण, नेयव्वा जाव मासियं लहुगं।
आयरिए वसभंमि य, भिक्खुंमि य खुड्डुए चेव ॥१६॥
आयरिओ आयरियं, आगाढं वयति पावई छेयं।
वसभे छग्गुरु भिक्खु–म्मि छल्लहू खुड्डुए गुरुगा॥१७॥

आयरिओ आयरियं आगाढ वदंत-छेदा, आयरिओ वसभं ह, आयरिओ भिक्खुं ह, आयरिओ खुते ह।

गाहा—

वसभे छग्गुरुगाई, छल्लहुगा भिक्खुखुड्डे गुरुगाई।
अंता पुण सिं चउलहु, मासगुरू मासलहुओ य ॥१८॥

वसभो आयरियं आगाढ वदति ह, खुतो वसभं ह, खुतो खुतं, अहवा अन्यथा प्रायश्चित्तक्रम.।

गाहा—

पंचराहापरियारइ, छेया एक्केकहासणा अहवा।
राइंदियवीसंऽतं, चउएह चत्तारि अविसिट्ठा ॥ १६ ॥

आयरियवसभभिक्खु परो खुतो यच्छेदादी वीसए रातिंदियाइ अन्नेणं चेव वाराणयप्पओगेणं वारेयव्व, जत्थ जत्थ चउगुरुगं तत्थ तत्थ सुत्तणिवाओ दट्ठव्वो, अहवा-पुव्वुत्ताण चउएहं चउगुरुग तव-कालविसेसियं, अहवा-सव्वेसिं अविसिट्ठ चउ।

गाहा—

जं चेव परट्ठाणे, आसायंताण पावए ओमं।
तं चेव य ओमो वि य, आसाइंतो वि राइणियं ॥२०॥

परट्ठाणं परप्रधानं, ज्येष्ठमित्यर्थ.। ज सो ओम आसादेंतो पावति ओमे वि त चेव जेट्ठ आसादेंतो पावति।

गाहा—

एएसामन्नयरं, आगाढं जो वदे भयंतारं।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२१ ॥

असंखडादयो दोसा पक्खाऽपक्खगहणं य गच्छभेदाः कारणे भणेज्जाऽवि। नि० चू० १० उ०।

ण य णिच्छयमावसिया, छट्ठं वल्ली फलाऽवि संबद्धा।
इति हरिसगमणचोदण–आगाढं चोदितो भणति ॥१॥

कारणे-वासावासे भायं णाण कसेण कतेणं वसित्ता पासति। त वीओ जायपुत्त भंडाओ तहि सो हरिसितो भणनि-ण णिच्छयामो वसित्ता मम वादेसु अतीव वल्लीओ पसारिता ण केवल पसरिता तो पभूता फलावि संवद्धा न केवल सवद्धा प्रायशो निष्पन्ना। अभिस्समो पादे तं एवं भणंत कोऽवि साधू पडिचोएज्जा। मा अज्जो! एव भणाहि ण वट्टति। ततो सो पडिचोदणाए रुट्ठो फरुस वएज्ज।

तत्प्रतिषेधार्थमिदं सूत्रमारभ्यते—

जे भिक्खू भिक्खूणं आगाढं वदइ वदंतं वा साइज्जइ॥१॥
जे भिक्खू भिक्खूणं फरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥२॥
जे भिक्खू भिक्खूण आगाढफरुसं–वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

आगाढ–फरुस–मीसग–दसमुद्देसंमि वरिणयं पुव्वं।
तं चेव विवज्जंतो, सो पावति आणमादीणि ॥ ४ ॥
नि० चू० १५ उ०।

जे भिक्खू अएणउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू अएणउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू अएणउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढफरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ नि०चू०–१३ उ०।

आगाढफरुसमीसग–दसमुद्देसंमि वरिणतं पुव्वं।
गिहिअएणतितिथिएहि य, ते चेव य होंति तेरसमे ॥२५॥

जहा दसमुद्देसे भदंतं प्रति आगाढफरुसमीसगसुत्ता भणिता, तहा इहं गिहत्थ अएणउत्थियं प्रति वक्तव्या,इमेहिं जातिमम्मिएहिं गिहत्थं अएणतितिथियं वा ऊणतरं परिभवतो आगाढ फरुसं वा भणति। नि० चू० १३ उ०।

आगाढसुय–आगाढश्रुत–न०। श्रुतभेदे, नि०चू०। आगाढसुयं भगवतीमाइ अणागाढं आयारमाति त्ति। नि० चू० १ उ०। "आगाढे एवमत्थे वि" ॥२४+॥ आगाढे तु–उत्तराध्ययनभगवत्यादिके श्रुते। जीत०।

आगाढाऽऽगाढकारण–आगाढाऽऽगाढकारण–न०। तथाविधे प्रयोजने, "अएणत्थ आगाढाऽऽगाढेहिं"(सूत्र–६६+)। अन्यत्र–तथाविधप्रयोजनात्। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

भिक्खू य बहुस्सुए बब्भागमे बहुआगाढाऽऽगाढेसु कारणेसु माई मुसावाई। (सूत्र–२३ ×)

(इदं सपूर्णं सूत्रम् 'उद्देस' शब्दे अस्मिन्नेव भागे व्याख्यासहितं दर्शयिष्यते।) कुलप्राप्तं गणप्राप्तं संघप्राप्तं यत् सचित्तादिकं व्यवहारेण छेत्तव्यं कार्यं वा आगाढाऽऽगाढं कारणं तेषु आगाढाऽऽगाढेषु। व्य० ३ उ०।

आगाढाऽऽगाढकारणादीनि पदानि व्याचिख्यासुराह (भाष्यकृत्)—

कुलगणसंघप्पत्तं, सचित्तादी तु कारणागाढं ॥२८५×१

सचित्तनिमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहार. कुले क्षिप्तो यथेद सचित्तादिक विवादास्पदीभूत कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्तमेवं गणप्राप्तं सङ्घप्राप्त भावनीयम्, यत्र यत्सचित्तादिक विवादास्पदीभूतं व्यवहारेण छेद्यतया कुलप्राप्तं वा गणप्राप्त वा तत्कारणाऽऽगाढं कारणम्। व्य० ३ उ०।

आगामि(न्)-आगामिन्-त्रि० । आगन्तुके, भविष्यत्कालवृत्तौ च । वाच० । लब्धव्ये, । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

आगामिपह-आगामिपथ-पुं० । आगामिनो-लब्धव्यस्य वस्तुनः पन्थाः आगामिपथः । लब्धव्यवस्तुमार्गे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

आगामिय-आकामिक-त्रि० । अनभिलषणीये , स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अग्रामिक-त्रि० । ग्रामरहिते, स्था०। " अत्थेगइया णिग्गंथा य णिग्गथीओ य एगमहं आगामियं छिन्नावायं दीहमद्धमडविमणुप्पविट्ठा " (सूत्र-४१७ +)। स्था० ५ ठा० २ उ० ।

आगार-आकार-पुं० । आ-कृ-घञ् । आकृतौ, आ० म० १ अ० । कल्प० । ज्ञा० । स्था० । भ० । रा० । संस्थाने, औ० । " सिंगारागारचारुवेसाए " (सूत्र-) शृङ्गारो-मण्डनभूषणाटोपस्तत्प्रधान आकारः-आकृतिर्यस्या सा तथा । तथा चारु वेशो-नेपथ्यो यस्या सा तथा, ततः कर्मधारय । रा० । औ० । सन्निवेशविशेषे, शृङ्गार –शृङ्गाररसपोषक: आकार –सन्निवेशविशेषो यस्य । चं०प्र० २० पाहु० । " आगारविगार तह प्पयासंति " ॥ १२१ + ॥ आकार-मुखनयनस्तनाद्याकृतिः, विकारं च मुखनयनादिविकृतिः । यद्वा-आकारस्य स्वाभाविकाकृतेर्विकारो विकृतिस्त तथा प्रकाशयन्ति । ग० ३ अधि० । आगारो णाम-आगारो त्ति वा, आगति त्ति वा, संठाण ति वा, एगट्ठा । आ० चू० १ अ० । स्वरूपे, ध० ३ अधि० । " कइवागयस्स आगारा " (सूत्र-५५३ +) । आकारा-आकृतय , स्वरूपाणीत्यर्थ । स्था० ७ ठा० ३ उ०। रूपमाकारश्चक्षुर्विषय । स्था० १ ठा० । प्रतिवस्तुनियते ग्रहणपरिणामे च । " आगारो उ विसेसो, " इति वचनादिति । जी० १ प्रति० । सह आकारेण वर्त्तत इति साकारं विशेषग्रहणप्रवणम् । दर्श० ५ तत्त्व ।

(सर्वस्य च वस्तुन आकारवत्त्वम्)—

आगारो च्चिय मइस-द्दवत्थुकिरिया फलाभिहाणाइं ।
आगारमयं सव्वं , जमणागारं तयं नऽत्थि ॥ ६४ ॥
न पराणुमयं वत्थुं, आगाराऽभावओ खपुप्फं व ।
उवलंभव्ववहाराऽ-भावाओ नाणऽऽगारं च ॥ ६५ ॥

विशे० । (अनयोर्गाथयोरर्थं 'ठवणाणय' शब्दे चतुर्थभागे वर्णयिष्यते) आक्रियते-आकल्प्यतेऽभिप्रेतं मनोविकल्पितं वस्त्वनेनेत्याकार । आ-कृ-करणे घञ् । बाह्यचेष्टायाम् , विशे० । आ० म० । आकार -स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावाऽभिव्यञ्जको दिगवलोकनादिः । आह च—

" अवलोयण दिसाणं , वियंभणं साडयस्स सठवण ।
आसणसिढिलीकरणं,पट्ठियलिंगाई एयाइं । उत्त० पाई०१ अ०।

यदुक्तम्—

अवलोकनं दिशानां, विजृम्भणं शाटकस्य संवरणम् ।
आसनशिथिलीकरणं,प्रस्थितलिङ्गानि चैतानि ।१। उत्त १ अ ।

"आगारेहिँ सरेहि य"॥१४०×॥ आकारा -शरीरगता भावविशेषा । व्य० १ उ० (विस्तरोऽस्य 'आगारलक्खण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) । भावे घञ् । हृद्गतभावावेदने , इङ्गिते च । वाच० । आक्रियन्त इत्याकारा आगृह्यन्त इति भावना । सर्वथा कायोत्सर्गापवादे, आव० ५ अ० । ल० । कायोत्सर्गाकारानभिधायोक्तम्-"एवमादिएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ होज्ज मे काउस्सग्गो" (सूत्र-३+) त्ति । ल० । आव० (ते च ' काउस्सग्ग ' शब्दे तृतीयभागे वर्णयिष्यन्ते) । आ-मर्य्यादया मर्य्यादाख्यापनार्थम् आक्रियन्ते-विधीयन्ते प्रत्याख्यानभङ्गपरिहारार्थमित्याकारा. । प्रत्याख्यानापवादहेतावनाभोगादिके , स्था० १० ठा० ३ उ० । प्रव० । पञ्चा० । आव० । " आगारेहिँ विसुद्ध " ॥५०५+॥ आकारैः-अनाभोगादिभि । पं०व० २ द्वार । " गहणे आगारेसु " ॥ ४+ ॥ आकारेषु—प्रत्याख्यानापवादेषु । पञ्चा० ५ विव० । " दो चेव नमुक्कारे आगारा " ॥ ५०८+॥ आकारो हि नाम-प्रत्याख्यानाऽपवादहेतुः । पं०व० २ द्वार ।

(कस्य प्रत्याख्यानस्य कत्याकारा.)—

नवकारपोर (रि) (रु) सीए ,
पुरिमड्ढेकासणेगठाणे अ ।
आयंबिलऽभत्तट्ठे ,
चरिमे अ अभिग्गहे विगई ॥ ५०६ ॥
दो छच्च सत्त अट्ठ य,
सत्तऽट्ठ य पंच छच्च पाणम्मि ।
चउ पंच अट्ठ नवए,
पत्तेअ पिंडए नवए ॥ ५०७ ॥

' नमस्कार ' इति-उपलक्षणत्वात् नमस्कारसहिते पौरुष्यां पुरिमार्द्धे एकासने एकस्थाने च आयाम्ले अभक्तार्थे चरमे च अभिग्रहे विकृतौ, किं ?-यथासङ्ख्यमेते आकारा , द्वौ षट् सप्त अष्टौ च सप्त अष्टौ च पञ्च षट् (पाने) चतु पञ्च नवाऽष्टौ प्रत्येकं, पिण्डके नवक इति गाथाद्वयाक्षरार्थः॥५०६॥५०७॥

भावार्थमाह—

दो चेव नमुक्कारे, आगारा छच्च पोरिसीए उ ।
सत्तेव य पुरिमड्ढे, एकासणगम्मि अट्ठेव ॥ ५०८ ॥
सत्तेकट्ठाणस्स उ, अट्ठेवाऽऽयंबिलस्स आगारा ।
पंच अभत्तट्ठस्स उ, छप्पाणे चरिम चत्तारि ॥ ५०९ ॥
पंच चउरो अभिग्गह, निव्विइए अट्ठ नव य आगारा ।
अप्पावरणे पंच उ, हवंति सेसेसु चत्तारि ॥ ५१० ॥
णवणी उग्गाहिमए, अद्दवदहि पिसिअ घय गुले चेव ।
नव आगारा तेसिं, सेसदवाणं च अट्ठेव ॥ ५११ ॥

द्वावेव नमस्कारे आकारौ, इह नमस्कारग्रहणात् नमस्कारसहितं गृह्यते, तत्र द्वावेवाकारौ, आकारो हि नाम-प्रत्याख्यानापवादहेतु , इह च सूत्रम्-" सूरे उग्गए नमुक्कारसहिअं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं-असणं,पाणं,खाइमं, साइमं, अण्णत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ " सूत्रार्थः प्रकट एव, आकारार्थस्त्वयम्-आभोगनमाभोग न आभोगोऽनाभोग , अत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थ तेन, अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थ , अथ सहसा करणं सहसाकारः , अतिप्रवृत्तयोगानिवर्त्तनमित्यर्थ , 'एवं च पौरुष्यां तु' इह पौरुषीनाम-

प्रत्याख्यानविशेष, तस्यां षडाकारा भवन्ति इह चेदं सूत्रम्-"पोरुसिं पच्चक्खाइ सूरे उग्गए चउव्विहं पि आहारं असणमित्यादि, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ" अनाभोगसहसाकारौ पूर्ववत्, प्रच्छन्नकालादीनां त्विदं स्वरूपम्-" पच्छन्नाओ दिसाओ रएण रेणुना पव्वएण वा अंतरितो सूरो ण दीसइ, पोरुसी पुण्णत्तिकाउं व पारितो, पच्छा णायं ताहे ठाइयव्वं, न भग्ग, जइ भुंजइ तो भग्ग, एवं सव्वेहिंऽवि, दिसामोहेण कस्सइ पुरिसस्स कम्हिवि खित्ते दिसामोहो भवइ, सो पुरिमं दिसं न जाणइ, एव सो दिसामोहेणं अइरुग्गयंपि सूरं दट्ठुं उसूरीहूयत्ति मण्णइ, णाए ठाति। 'साहुवयणेण' साहुणो भणंति-उग्घाडा पोरुसी, ताहे सो पजिमितो, पारित्ता मिणइ, अण्णो वा मिणति, तेण से भुंजंतस्स कहियं ण पूरति, ताहे ठाइयव्वं। समाही णाम तेण पोरुसी पच्चक्खाया आसुकारियं च दुक्खं जायं, अण्णस्स वा, ताहे तस्स पसमणनिमित्तं पाराविज्जइ ओसहं वा दिज्जइ, एत्थंतरा णाए तहेव विवेगो। सत्येव तु पुरिमार्द्धे, पुरिमार्द्धे-प्रथमप्रहरद्वयकालावधिप्रत्याख्यान गृह्यते तत्र सप्ताऽऽकारा भवन्ति, इह चेद सूत्रम्-'सूरे उग्गए' इत्यादि पूर्वसदृशं 'मयहराऽऽगारेण' ति विशेष, अस्य चायमर्थ-अयं च महान् अयं च महान् अयमनयोरतिशयेन महान् महत्तर आक्रियत इत्याकार, एतदुक्तं भवति-महल्ल पयोयणं, तेण अभत्तट्ठा पच्चक्खातो, ताहे आयरिएहिं भण्णइ-अमुग गामं गंतव्व, कहइ जहा मम अज्ज अभत्तट्ठो, जदि ताव समत्थो करेउ जाउ, य, ण तरइ अण्णो अभत्तट्ठिओ अभत्तट्ठिओ वा जो तरइ सो वच्चउ, णऽत्थि अण्णो तस्स कज्जस्स समत्थो ताहे तस्स चेव अभत्तट्ठियस्स गुरू विसज्जेंति, एरिसस्स तं उमनस्स अणभिलासस्स अभत्तट्ठियनिज्जरा जा सा से भवइ, एवमादिमयहरागारो। एकाशने अष्टावेव, एकाशन नाम सकृदुपविष्टपुताचालनेन भाजनं, तत्राष्टावाकारा भवन्ति, इह चेद सूत्रम्-एकासणगमित्यादि, ते च अण्णत्थणाभोगेण १ सहसागारेण २ सागारिआगारेणं ३ आउट्टणपसारणागारेण ४ गुरुअब्भुट्ठाणेण ५ पारिट्ठावणियागारेण ६ मयहरागारेण ७ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ८ वोसिरति, अणाभोगसहसाकारा तहेव, सागारिअं अद्धसमुद्दिट्ठस्स आगय, जइ वोलेइ पडिच्छइ, अह थिर ताहे सज्झायवाघाउ त्ति उट्ठउं अण्णत्थ गंतूण समुद्दिसइ, हत्थं वा पायं वा सीसं वा आउंटिज्ज वा पसारिज्ज वा ण भज्जइ, अब्भुट्ठाणारिहो आयरिओ पाहुणगो वा आगओ अब्भुट्ठेयव्वं तस्स एव समुद्दिट्ठस्स उट्ठियस्स ण भज्जइ, पारिट्ठावणिया जइ होज कप्पइ, मयहरागारसमाहीओ तहेव त्ति गाथार्थ ॥ ५०८ ॥ 'सप्तकस्थानस्य तु' एकस्थान नाम प्रत्याख्यानं, तत्र सप्ताऽऽकारा भवन्ति, इहेद सूत्रम्-'एगट्ठाण' मित्यादि, एगट्ठाणए ज जहा अंगोवगं ठविअं तेण तहाठिएण चेव समुद्दिसियव्व, आगारा से सत्त, आउंटणपसारणा नत्थि, सेस जहा एकासणए। अट्ठैवाऽऽयामाम्लस्याऽऽकारा, अणाभोगा०१ सहसागारेण २ लेवालेवेण ३ उक्खित्तविवेगेण ४ गिहत्थसंसट्ठेण ५ पारिट्ठावणियागारेण ६ मयहरागारेणं ७ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ८ वोसिरति, अणाभोगसहसक्कारा तहेव, लेवालेवो वा, जइ भाणे पुव्वं लेवाडगं गहिअं समुद्दिट्ठं संलिहियं च जइ तेण आणेति ण भज्जइ, उक्खित्तविवेगो जइ आयंबिले पडइ विगतिमादि उक्खिवित्ता विकिंचउ, मा णवरि गलउ, अण्णं वा आयबिलस्स अपाउग्ग जइ उद्धरिउ तीरइ उद्धरिए ण उवहम्मइ, गिहत्थसंसट्ठेऽवि जइ गिहत्थो डोवलियं भायणं वा लेवालेवाडं कुसणाईहिं तेण इ-खित्ति लेवाडादीहिं देति ण भज्जइ, जइ रसो आलक्खिज्जइ बहुओ ताहे ण कप्पइ, पारिट्ठावणियमयहरगसमाहीओ तहेव। पञ्चाऽभक्तार्थस्य तु, न भक्तार्थोऽभक्तार्थ., उपवास इत्यर्थ, तस्य पञ्चाऽऽकारा भवन्ति, इहेदं सूत्रम्-'सूरे उग्गए' इत्यादि, तस्स पच आगारा-अणाभोग-सहसाकार-पारिट्ठावण-मयहर-समाहि त्ति, जइ तिविहस्स पच्चक्खाइ तो विकिंचणिया कप्पइ, जइ चउव्विहस्स पच्चक्खाइ पाणग च नऽत्थि न वट्टइ, जइ पुण पाणगंपि उव्वरियं ताहे से कप्पइ, जइ तिविहस्स पच्चक्खाइ ताहे से पाणगस्स छ आगारा कीरंति-लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहलेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा, वोसिरइ" प्रकटार्थी एते छपि। एतेन एइ पान इत्येतदपि व्याख्यातमेव। 'चरमे चत्वार' इत्यत्र चरिमं दुविहं-दिवसचरिमं भवचरिमं च, दिवसचरिमस्स चत्तारि-अण्णत्थणाभोगा सहस मयहर सव्वसमाहि, भवचरिमं-जावज्जीविय, तस्सवि एए चत्तारि त्ति गाथार्थः ॥५०९॥ पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे निर्विकृतौ अष्टौ नव वाऽऽकाराः 'अप्रावरण' इत्यप्रावणाभिग्रहे पञ्चैवाकारा भवन्ति शेषेष्वभिग्रहेषु-दण्डकप्रमाजनादिषु चत्वार इति गाथार्थ. ॥५१०॥ भावार्थस्तु-'अभिग्गहेसु अवाउडत्तण काइ पच्चक्खाइ तस्स पंच-अणाभोगा सहसा चोलपट्टगाऽऽगारा मयहर समाहि, सेसेसु चोलपट्टगागारो णत्थि, निव्विगईए अट्ठ नव य आगारा' इत्युक्तं, अत्र विकृतय. पूर्वोक्ता, अधुना प्रकृतमुच्यते-काष्टौ क वा नवाऽऽकारा ? इति, तत्र-नवनीते उद्ग्राहिमके अद्रवदध्नि, गालित इत्यर्थ, 'पिशिते'-मांसे घृते गुड चैव, अद्रवग्रहण सर्वत्राभिसंबन्धनीयं, नवाकारा आसीपा विकृतिविशेषाणा भवन्ति, शेषाणा द्रवाणा-विकृतिविशेषाणामष्टावेवाकारा भवन्ति, उत्क्षिप्तविवेको न भवतीति गाथार्थ ॥ ५११ ॥ इह चेद सूत्रम्-' निव्विगतीय पच्चक्खाइ ' इत्यादि, अण्णत्थ १ सहसा २ लेवालेव ३ गिहत्थसंसट्ठ ४ उक्खित्तविवेग ५ पडुच्चमक्खिएण ६ पारिट्ठावणिया ७ मयहर ८ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं ९ वोसिरइ, तत्थ अणाभोग-सहसाकारा लेवालेवा तहेव दट्ठव्वा, गिहत्थसंसट्ठस्स उ इमा विही-खीरेण जइ कुसणिओ कूरो लब्भइ, तस्स जइ कुडगस्स ओदणाउ चत्तारि अंगुलाणि दुद्धं ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, पचम त्वारद्धं विगतीयं, एव दहिस्सवि, वियडस्सवि, केसुवि विसएसु वियडेण मीसिज्जइ ओदणो ओगाहिमगो वा, फाणियगुलस्स तिल्लघयाण य एएहिं कुसिणिए जइ अंगुलं उवरिं अच्छइ तो वट्टइ, परेण न वट्टइ, महुस्स पोग्गलरसगस्स य अद्धअंगुलेण संसट्ठं होइ पिंडगुलस्स नवणीयस्स य अ(द्दा) मलमित्तं संसट्ठं, जइ त्रि बहूणि एतप्पमाणाणि कप्पंति, एग पि वड्ढ न

कप्पइ, उक्खित्तविवेगो जहा आयंबिलये उद्धरिउं तीरइ सेसेसु णऽत्थि, पडुच्च मक्खियं पुण जइ अंगुलिए गहाय मक्खेइ निल्लेए वा घएण वा ताहे निव्विगइयस्स कप्पइ, अह धाराए छुभइ मणागपि न कप्पइ, पारिट्ठावणियागारो उ लेसओ भणिओ एव-इति वृद्धसम्प्रदाय., कृत प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः-आह इह आकारा एव किमर्थमित्याह—

वयभंगे गुरुदोसो, थेवस्सऽवि पालणा गुणकरी अ।
गुरुलाघवं च नेअं, धम्मम्मि अओ उ आगारा ॥५१२॥

व्रतभङ्गो गुरुर्दोष. भगवदाज्ञाविराधनात्, स्तोकस्यापि पालना व्रतस्य गुणकारिणी च, विशुद्धकुशलपरिणामरूपत्वाद्, गुरुलाघवं च विज्ञेय धर्मे, एकान्तग्रहस्य प्रभूतापकारित्वेनाशोभनत्वात्, यत एतदेवमतः-अस्मात् कारणादाकारा इति गाथार्थः ॥ ५१२ ॥ गृह, आगमेहिं कतमागार, आगमा—रुक्खा तेहिं कतं आगार ति । नि० चू० ३ उ० ।

आगारगोवणा-आकारगोपना-स्त्री० । स्त्रीणां द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाभेदे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण।

आगारचरित्तधम्म-आगारचरित्रधर्म-पुं० । अगारं गृहं तद्योगादागारा-गृहिणस्तेषा यश्चरित्रधर्म.-सम्यक्त्वमूलाणुव्रतादिपालनरूप. स तथा । चारित्रधर्मभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

आगारभाव-आकारभाव-पुं० । आकारस्य-आकृतेर्भावा.-पर्य्याया: । भ० ६ श० ७ उ० । आकृतिलक्षणपर्य्याये, भ० १ श० ४ उ० । आकारभाव. स्वरूपविशेष. । जी० ३ प्रति० ४ अधि० ।

आगारभावपडोयार-आकारभावप्रत्यवतार-पुं० । आकारस्य-आकृतेर्भावा.-पर्य्याया. । अथवा-आकाराश्च भावाश्च आकारभावास्तेषा प्रत्यवतार.-अवतरणमाविर्भाव. आकारभावप्रत्यवतार ॥ भ० ६ श० ७ उ० । आकारभावस्य-आकृतिलक्षणपर्य्यायस्य प्रत्यवतार.-अवतरणमाकारभावप्रत्यवतार. । भ० ६ श० ७ उ० । आकृतिलक्षणपर्य्यायस्याविर्भावे, जी० ।

किमागारभावपडोयारा णं भंते ! दीवसमुद्दा पण्णत्ता ।
(सूत्र-१२३+)

आकारभाव -स्वरूपविशेषः कस्याऽऽकारभावस्य प्रत्यवतारो येषां ते किमाकारभावप्रत्यवतारा, बहुलग्रहणाद्वैयधिकरण्येऽपि समास. । णमिति पूर्ववत्, द्वीपसमुद्रा किंस्वरूपं द्वीपसमुद्राणामिति भाव । जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ० । (अत्र विस्तरः 'दीवसमुद्द' शब्दे चतुर्थभागे २५४३ पृष्ठ दर्शयिष्यते)

आगारलक्खण-आकारलक्षण-न० । आक्रियते-अभिप्रेतं ज्ञायतेऽनेनेत्याकारो-बाह्यचेष्टारूप स एवान्तरोङ्गमकत्वाल्लक्षणमाकारलक्षणम् । लक्षणविशेषे, आन्तरोङ्गमकता चाकारस्य सुप्रसिद्धा । आ० म० १ अ० ।

"आगारे " त्ति (२१४६) । आकारलक्षणम् (भाष्यकारः) व्याचिख्यासुराह—

बाहिरचिट्ठागारो, लक्खिज्जइ तेण माणसाकूतं ।
आहारादिच्छाइ-त्थवयणनेत्ताइसएणाहिं ॥ २१५५ ॥

आक्रियते-आकल्प्यते ज्ञायतेऽभिप्रेत-मनोविकारो यस्त्वनेनेत्याकारो—बाह्यचेष्टारूप. । तेन च मानसमाकूतम्-अभिप्रेतं वस्तु लक्ष्यत इति लक्षणमसावुच्यते । तथाहि-राजादीनामाहारादीच्छाइस्तवदननेत्रादिसंज्ञाभिलक्ष्यत एव विचक्षणै । उक्तं च-"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मन " ॥१॥ इति । विशे० ।

(तच्चानेकविध दर्शित यथा)—

" आगारलक्खणं अणेगविहं—गंतुमागारे देति, भोत्तुमागारं देति, सोतुमागारं देति । एवं वक्तुं, द्रष्टुमित्यादि, कहं गतु० । "अवलोयणदिसाणं, विग्गिभणं साडगस्स सट्ठवणं । आसणसिढिलीकरणं, पडिततलिंगाणि चत्तारि ॥ १ ॥ भोत्तुमिच्छातिभोयणविधिं वदणं पसंदते य से बहुसो दिट्ठी य भमति तत्थेव पडति छायस्स लिंगाणि तण्णं क्रियत ॥ ततो हुत्त वा पुलोएति । सोतु जहा उद्दीरते य णिद्दाति तस्स वि य सइयकागयतस्स दुहियस्स उ मिलाइवमसत्थवीयरागस्स गाथा । द्रष्टुं जह आगारेहिं सुणं मोंणी वक्केहिं चक्खुरागेहिं जाणमणुरत्तविरत्तं पहट्ठचित्त च पढुड्ड " आकारैरिङ्गितैर्भावै , क्रियाभिर्भाषितेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मन. " ॥१॥ अत्थीणि चेव जाणति रुट्ठस्स खरा दिट्ठीओ । उप्पलधवला पसन्नचित्तस्स दुहियस्स उ गिलायंति गंतुमणस्सुस्सुया होति । आ० चू० १ अ० ।'

आगारविगार-आकारविकार-पुं० । आकृतेर्विकृतौ, ग० ।

गइविब्भमाइएहिं, आगारविगार तह पयासंति ।

सच्छन्द श्रमणो गतिभ्रमादिकै. । 'आगारविगार' त्ति-अत्र विभक्तिलोप. प्राकृतत्वात् । तत आकारं मुखनयनस्तनाद्याकृति, विकारं च मुखनयनादिविकृति । यद्वा-आकारस्य स्वाभाविकाऽऽकृते विकारो-विकृतिस्तम्, तथा प्रकाशयन्ति । ग० ३ अधि० ।

आगारसुद्धि-आकारशुद्धि-स्त्री० । आकारशुद्धिस्तु राजाभियोगादिप्रत्याख्यानापवादमुत्कलीकरणात्मिका । शुद्धिभेदे, ध० २ अधि० ।

आगारिय-आकारिक-त्रि० । आकारे कुशल. ठञ्, आकारिक । तत्र नियुक्ते, वाच० ।

आकारित-त्रि० । उत्सारिते, " आरिओ आगारि आससारिओ वा एगट्ठं ति,, । आव० ४ अ० ।

आगारिक-न० । अगा-वृक्षास्तै कृतमगारं गृहं तदस्यास्तीति मतुब्लोपादगारो गृहस्थस्तस्येदमाकारिकम् । विशे० ।

दुविहं चेव चरितं, अगारमणगारियं चेव ॥ ७८६ ॥

अगा -वृक्षास्तै कृतत्वाद् आ-समन्तात् राजते इति आगारम्-गृहम्, " क्वचित् " ॥ ५ । १ । १७१ इति डप्रत्यय , तदस्यास्तीति । " अभ्रादिभ्य " ॥ ७ । २ । ४६ ॥ इति मत्वर्थीय. अकारप्रत्यय । अगार -गृही तस्मिन् भवम् आगारिकम् । " अध्यात्मादिभ्य इकण् " ॥ ६ । ३ । ७८ ॥ इति इकण्प्रत्यय. , चारित्रसामायिकभेदे, आ० म० १ अ० । विशे० ।

आगारेऊण-आकार्य-अव्य० । रे कथास्यसीदानीमित्येव-माकूयेत्यर्थे , आव० ।

आगारेऊण परं, रणि व्व जइ सो करिज्ज उस्सग्गं ॥ १४५५× ॥

' आगारेऊण' त्ति—आकार्य रे रे क यास्यसीदानीम् , एवं परम्-अन्यं कञ्चन ' रणि ' व्व संग्राम इव यदि स. कुर्यात्कायोत्सर्गम् । आव० ५ अ० ।

आगाल-आगाल-पुं० । आगालनमागाल' । समप्रदेशावस्थाने, आचा० सोऽपि चतुर्धा-व्यतिरिक्त उदकादेर्निम्नप्रदेशावस्थानम्, भावागालो ज्ञानादिक एव तस्यात्मनि रागादिरहितेऽवस्थानमिति कृत्वा । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उदीरणाविशेषे च । प्रथमस्थितौ च । यत्पुनर्द्वितीयस्थित सकाशादुदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । कर्म० ५ कर्म० । (अधिकम् ' उवसमसेढि ' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आगास-आकाश-पुं० । न० । आकाशन्ते-दीप्यन्ते सधर्मोपेता आत्मादयो यत्र । तस्मिन् , दश०१अ० । आ-समन्तात् सर्वाण्यपि द्रव्याणि काशन्ते दीप्यन्ते अत्र व्यवस्थितानि । जी० १ प्रति० । आ-मर्यादयाऽभिविधिना वा सर्वेऽर्था काशन्ते-प्रकाशन्ते स्वस्वभावं लभन्ते यत्र तदाकाशम् । भ० २ श० १ उ० । आङिति मर्यादया स्वस्वभावापरित्यागरूपया काशन्ते—स्वरूपेण प्रतिभासन्तेऽस्मिन् व्यवस्थिता पदार्था इत्याकाशम्, यदा त्वभिविधावाङ् तदा आङिति सर्वभावाभिव्याप्त्या काशते इत्याकाशम् । (सूत्र-टी० ३) प्रश्न०१प३ । उत्त० । सर्वभावावकाशनादाकाशम् । आ—मर्यादया तत्संयोगेऽपि स्वकीयस्वकीयरूपऽवस्थानत सर्वथा तत्स्वरूपत्वाप्राप्तिलक्षणया काशन्त स्वभावलाभेनावस्थितिकरणेन च दीप्यन्ते पदार्थसार्था यत्र तदाकाशमिति । अथवा-अभिविधिना सर्वात्मना तत्संयोगानुभवलक्षणेन काशन्ते दीप्यन्त पदार्था यत्र तदाकाशम् । अनु० ६७ सूत्रटी० । सर्वद्रव्यस्वभावानाकाशयति-आदीपयति तेषां स्वभावलाभेऽवस्थानदानादित्याकाशम् । आङ्-मर्यादाऽभिविधिवाची,तत्र मर्यादायाम्-आकाशे भवन्तोऽपि भावाः स्वात्मन्येवासते नाकाशनां यान्तीत्यर्थ तेषामात्मसादकरणाद् अभिविधौ तु-सर्वभावव्यापनादाकाशमिति । स्था० २ ठा० १ उ० ७४ सूत्रटी० । आ-समन्तात् काशतेऽवगाहदानतया प्रतिभासत इत्याकाशम् । कर्म० ४ कर्म० । लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकाऽमूर्तद्रव्यविशेषे, अनु० । आकाशं तु जीवादिपदार्थानामाधारान्यथानुपपत्तेरस्तीति श्रद्धेयम् । न च धर्माधर्मास्तिकायावेव तदाधारौ भविष्यत इति वक्तव्य, तयोस्तद्गतिस्थितिसाधकत्वेनोक्तत्वात् , न चान्यसाध्यं कार्यमन्य' प्रसाधयत्यतिप्रसङ्गादिति । अनु० ६७ सूत्रटी० । " जीवानां पुद्गलानां च, धर्माधर्मास्तिकाययो । बादराणा घटादीना-माकाशमवकाशदम् ॥ १ ॥ " इति । आव० ४ अ० । जीवानां पुद्गलाना धर्माधर्मास्तिकाययोर्बादरघटादीनां चोपग्रहवदवकाशदम् । दर्श० ४ तत्त्व।

अथाऽऽकाशद्रव्यस्य लक्षणमाविष्करोति—

यो दत्ते सर्वद्रव्याणां, साधारणावगाहनम् ।
लोकालोकप्रकारेण, द्रव्याकाशः स उच्यते ॥ ८ ॥

यः-आकाशास्तिकाय. सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम्-सामान्यावकाश दत्ते स द्रव्याकाशो लोकालोकप्रकारेण उच्यते इति । यत सर्वद्रव्याणां यः सर्वदा साधारणावकाशदाना स अनुगत एक आकाशास्तिकायः कथितः सर्वाऽऽधार इति । यथा पक्षिणां गगनमित्येति व्यवहारनयदेशभेदेन भवेत्, तद्देशीयानुगत आकाश एव पर्यवसन्नः स्यात् । तथा च-तत्तद्देशावच्छिन्नभागावच्छिन्नमूर्त्ताभावादिना तद्व्यवहारोपपत्तिरिति वर्द्धमानाद्युक्त नाऽनवद्यम् । तस्याभावादिनिष्ठत्वेनानुभूयमानद्रव्याधारांशापलापप्रसङ्गात्ताव-द्गतिसन्धानेऽपि लोकव्यवहारेणाकाशदशप्रतिसंधतयोक्त-व्यवहाराच्च । द्रव्या० १० अध्या० ।

भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥ ६ ॥

यत्पुन सर्वद्रव्याणा-जीवादीनां भाजनम्-आधाररूपं नभः-आकाशम् उच्यते । तच्च नभ अवगाहलक्षण अवगाढुं प्रवृत्ताना जीवानां पुद्गलानां आलम्बा भवति इति । अवगाह-अवकाश. स एव लक्षण यस्य तत् अवगाहलक्षणं नभ उच्यते । उत्त० २८ अ० ।

(आकाशस्य नित्यत्व द्रव्यत्वञ्च)-

आकाशस्यैकान्तनित्य-द्रव्यप्रसिद्धये शब्द गुणत्वाल्लिङ्गत्वेन प्रतिपादयन्ति । तथा च परेषां प्रयोग.-ये विनाशित्वोत्पत्तिमत्वादिधर्माध्यासिनास्ते क्वचिदाश्रिता', यथा घटादय , तथा च-शब्दास्तस्मादाश्रिताश्रिते. क्वचिद् भवितव्यं, यश्चैषामाश्रय. स पारिशेष्यादाकाश , तथाहि-नाय शब्द पृथिव्यादीना वायुपर्यन्ताना गुण', अध्यक्षप्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्, ये तु पृथिव्यादीनां चतुर्णा गुणास्ते बाह्येन्द्रियाऽध्यक्षत्वे सति-अकारणगुणपूर्वका न भवन्ति, यथा रूपादयो, न च तथा शब्द एवम्-'अयावद्द्रव्यभावित्वाद्' 'आश्रयाद्भूर्यादिष्वन्यत्रोपलब्धेश्च' इत्यादयो हेतवो द्रष्टव्या । स्पर्शवता यथोक्तविपरीता गुणा उपलब्धा. । ' प्रत्यक्षत्वे सति ' इति च विशेषणं परमाणुगतै. पाकजैरनैकान्तिकत्वं मा भूदित्युपात्तम् । न च-आत्मगुण अहङ्कारेण विभक्तग्रहणाद् बाह्येन्द्रियाध्यक्षत्वात् आत्मान्तरग्राह्यत्वाच्च , बुध्यादीनामात्मगुणानां तद्विपरीतस्योपलब्धे । न दिक्-काल-मनसा श्रोत्रग्राह्यत्वात् । अत' पारिशेष्यात् गुणो भूत्वा आकाशस्य लिङ्गम् आकाश च शब्दलिङ्गाविशेषात् विशेषलिङ्गाभावाच्च एकं विभु च सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् समवायित्वे सत्यनाश्रितत्वाच्च. द्रव्यम् , अकृतकत्वान्नित्यम् । सम्म० ३ काण्ड ४६ गाथाटी० ।

(आकाशस्य सावयवत्वम्)—

न च सावयवत्वमसिद्ध प्रदेशव्यवहारस्याऽऽकाशे दर्शनात् । न च-' आकाशस्य प्रदेशा ' इति व्यवहारो मिथ्या, मिथ्यात्वनिमित्ताभावात् । न च संयोगस्याऽव्याप्यवृत्तित्वनिमित्त सावयवत्वाध्यारोपो मिथ्यात्वकारण निरवयवे अव्याप्यवृत्ति सयोगाधारत्वस्याध्यारोपनिमित्तस्यैवानुपपत्ते. । यदि च-सावयवं नभो न भवेद् तदा श्रोत्राकाश-

समवेतस्यैव शब्दस्य ब्रह्मभाषितस्याप्युपलम्भोऽस्मदादि(दे)र्भवेत् निरवयवैकाकाशश्रोत्रसमवेतत्वात् । अथ धर्माधर्माभिसंस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धाकाशदेश एव श्रोत्रं तत्र न च ब्रह्मभाषितस्यासमवायात्नाऽस्मदादिभि श्रवणम् । नन्वेवम्मैव सावयवत्वप्रसक्ति श्रोत्राकाशप्रदेशात् ब्रह्मशब्दाधाराकाशदेशस्यान्यत्वात् । यदि च-सावयवमाकाशं न भवेत्, शब्दस्य नित्यत्व सर्वगतत्वं च स्याद् आकाशैकगुणत्वात्तन्महत्त्ववत् । अथ क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वस्य शब्दे प्रमाणत प्रतिसिद्धेर्नायं दोष. । नन्वेवमेकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वाभ्युपगमे कथं न शब्दाधारस्याकाशस्य सावयवत्वप्रसिद्धि. ? ' न हि निरवयवत्वे तस्यैकदेशे एव शब्दो वर्त्तते न सर्वत्र ' इति व्यपदेश सगच्छते । न च संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वनिबन्धनोऽयं यत आकाशं व्याप्य संयोगो न वर्त्तते इति तदेकदेशे वर्त्तते इत्यभ्युपगमप्रसक्ति । व्याप्यवृत्तित्वं हि सामस्त्यवृत्तित्व, तत्प्रतिषेधश्च पर्युदासपक्षे एकदेशवृत्तित्वमेव, प्रसज्यपक्षे तु वृत्तिप्रतिषेध एव, नचासौ युक्त संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । तदभावे च तदभावात् । न च निरवयवत्वे आकाशस्य सन्तानवृत्त्या आगतस्य शब्दस्य श्रोत्रेणाप्युपलब्धि संभवति अन्याऽन्याकाशदेशोत्पत्तिद्वारेण तस्य श्रोत्रसमवेतत्वानुपपत्ते. । जलतरङ्गन्यायेनाऽपराऽपराऽऽकाशदेशादापरापरशब्दोत्पत्तिप्रकल्पनाया कथं नाऽऽकाशस्य सावयवत्वम् ?, किं च-आकाश शब्दोत्पत्तौ समवायिकारणमभ्युपगम्यते. यच्च समवायिकारण तत्सावयव, यथा-तन्त्वादि, समवायिकारण च । परेण शब्दोत्पत्तावाकाशमभ्युपगतम् । न च परमाण्वात्मादिना व्यभिचार. तस्यापि सावयवत्वात्, अन्यथा-द्व्यणुकबुद्ध्यादेस्तत्कार्यस्य सावयत्वं न स्यात् न च बुद्ध्यादे सावयवत्वमसिद्धम् आत्मन सावयवत्वेन साधितत्वात् तद्विशेषगुणत्वेन बुद्ध्यादे कथञ्चित्तादात्म्यसिद्धित सावयवत्वोपपत्ते. ।

नच यत एव प्रमाणादणव सिद्धास्तेषां निरवयवत्वमपि तत एव सिद्धमिति तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् सावयवत्वानुमानस्याप्रामाण्यं प्रमाणत परमाणूनामसिद्धावाश्रयासिद्धित सावयवत्वानुमानस्याप्रवृत्तिरिति वाच्य, यत सावयवकार्यस्य सावयवकारणपूर्वकत्वे साध्ये न पूर्वोक्तदोषावकाश । न च कार्यकारणयोरात्यन्तिको भेद, समवायनिषेध हि हिमवद्-विन्ध्ययोरिव भेदे विशिष्टकार्यकारणरूपतानुपपत्ते । ततो द्व्यणुकादे परमाणुकार्यस्य सावयवत्वात् तदात्मभूता परमाणव कथं न सावयवा इति न परमाण्वादिभिर्व्यभिचारः ।

अपि च-सावयवमाकाश तद्विनाशान्यथानुपपत्ते । नचाऽऽकाशस्य विनाशित्वमसिद्धम् । तथाहि-अनित्यमाकाश, तद्विशेषगुणाभिमतशब्दविनाशान्यथानुपपत्ते । यतो न तावदाश्रयविनाशाच्छब्दविनाशोऽभ्युपगतस्तन्नित्यत्वाभ्युपगमविरोधात् न विरोधिगुणप्रादुर्भावात्, तन्महत्त्वादेरेकार्थसमवायित्वेन रूपरसयोरिव विरोधिनाऽसिद्धे । विरोधित्वे वा श्रवणसमयेऽपि तद्भावप्रसङ्ग तदापि तन्महत्त्वस्य सद्भावात् । नापि संयोगादिर्विरोधिगुणस्तस्य तत्कारणत्वात् । नाऽपि संस्कार तस्य गुणत्वेन शब्देऽसंभवात्सभवे वा शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसक्ति आकाशस्य द्रव्यत्वेन तत्सभवेऽपि तस्याभावे आकाशस्याप्यभावप्रसक्ति तस्य तदव्यतिरेकात् व्यतिरेके वा 'तस्य' इति सम्बन्धायोगात् । नापिशब्दोपलब्धिप्रापकधर्माद्यभावात् तदभाव. तस्य विभिन्नाश्रयस्यानेन विनाशयितुमशक्यत्वात् । शक्यत्वे वा तदाधारस्यापि विनाशप्रसङ्गस्तस्य तदव्यतिरेकात् ततोऽम्बरविशेषगुणत्वे शब्दस्य तद्विनाशान्यथानुपपत्त्या तस्यापि विनाशितत्व, ततोऽपि सावयत्वम् । न च बुद्ध्यादिभिर्व्यभिचारः उक्तोत्तरत्वात् ।

किंच-आश्रितविनाशे आश्रयत्वस्यापि विनाशः आश्रितत्वनिबन्धनत्वात् तस्य धर्मस्य च धर्मिण कथञ्चिदव्यतिरेकात् । तथा आकाशस्य विनाशित्वात्सावयवत्व घटादेरिवोपपन्नम् । किं च-सावयवमाकाशम्, हिमवद्विन्ध्यावरुद्धविभिन्नदेशत्वात् तदवष्टब्धदेशभूभागवद्, अन्यथा तयोरूपरसयोरिवैकदेशाकाशस्थितिप्रसक्ति, न चैतद् दृष्टमिति सर्वं वस्तूत्पादविनाशस्थित्यात्मकत्वात्कथञ्चित्सावयवं सिद्धम् । सम्म० ३ काण्ड ३३ गाथाटी० ।

(आकाशस्य निरालम्बनत्वम्)-" आगास चेव निरालवे " (सूत्र-२६४) आकाशमिव निरालम्बो यथाऽऽकाशमनालम्बनं तथा साधुर्न किञ्चिदालम्बते । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

(आकाश द्विविधम्)—

दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा-लोगागासे चेव, अलोगागासे चेव । (सूत्र-७४+)

तत्र लोको यत्राकाशदेश धर्मास्तिकायादिद्रव्याणां वृत्तिरस्ति स एवाकाशं लोकाकाशमिति । (स्था०) लोकाऽलोकभेदेनाऽऽकाशद्वैविध्यमुक्तम् । स्था० २ ठा० १ उ० ।

(एतमेवार्थं मीमांसयन्नाह)—

धर्मादिसंयुतो लोको-ऽलोकस्तेषां वियोगतः ।
निरवधिः स्वयं तस्या-ऽवधित्व तु निरर्थकम् ॥ ६ ॥

धर्मास्तिकायादिसंयुक्त आकाशो लोक, तदितरस्त्वलोक । स च पुनर्निरवधि -अपार अलोक., तस्य-अलोकस्य स्वयम्-आत्मनाऽवधित्वमन्तर्गडु इति । कश्चिदाहात्र-यथा लोकस्य पार्श्वे अलोकस्यापि पारोऽस्ति; तथाग्रेऽपि द्वितीयतटे पारो भविष्यतीति ब्रुवाणमुत्तरयति-लोकस्तु भावरूपोऽस्ति, तस्यावधित्व घटते परं तु अग्रे अलोकस्य केवलमभावात्मकस्याऽवधित्व कथं कल्पते शशशृङ्गवत् । यथा असद्-अविद्यमान शशशृङ्ग न कुत्रापि निरीक्ष्यमाणं विद्यमानवदाभाति तथैवैतस्याप्यलोकस्य अविद्यमानस्यावधित्वं न घटामाटीकते । अथ भावरूपात्मकत्वमङ्गीक्रियते तदा तु षडतिरिक्तमन्यद् द्रव्य नास्तीति व्यवहारात् आकाशदेशरूपस्य तु तदन्तत्व कथमपि बुद्ध्या ध्यातो ज्ञायते । तस्मादलोकाकाशस्तु अनन्त एव गन्तव्य इति । आकाशो यथा नाऽन्त' गमितो धर्माऽधर्मानुभावात तस्य भावान्तभावात्तथाप । अलोकाकाशोऽपि सान्तो धर्माधर्मानुभावाभवत अतिरिक्तद्रव्यत्वापत्त्यते । तस्मादयमाकाशोऽस्याभव्यम् । यावता आकाशेन तद्धर्माधर्मौ व्याप्य स्थितौ तावता

स्तपरिमाणशालिना आकाशेनापि भवितव्यं तयोरभावात्त-स्याप्यभाव सुपरिशीलनीय इति । द्रव्या० १० अध्या० ।

(लोकाऽलोकाऽऽकाशौ विस्तरेण)—

कइविहे णं भंते ! आगासे पन्नत्ते ?, गोयमा ! दुविहे आगासे पन्नत्ते, तं जहा–लोया.ऽऽगासे य, अलोयाऽऽगासे य।

'कतिविहे णं भंते !' इत्यादि, तत्र लोकाऽलोकाऽऽकाशयोर्लक्षणमिदम्-" धर्मादीनां वृत्ति-द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोक-स्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् " ॥ १ ॥ इति ।

लोयाऽऽगासे णं भंते ! किं जीवा, जीवदेसा, जीवपएसा, अजीवा, अजीवदेसा, अजीवपएसा ? गोयमा ! जीवा वि, जीवदेसा वि, जीवपदेसा वि, अजीवा वि, अजीवदेसा वि, अजीवपदेसा वि । जे जीवा ते नियमा एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अणिंदिया, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा०जाव अणिंदियदेसा, जे जीवपदेसा ते नियमा एगिंदियपदेसा०जाव अणिंदियपदेसा । जे अजीवा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–रूवी य, अरूवी य । जे रूवी ते चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा–खंधा, खंधदेसा, खंधपदेसा, परमाणुपोग्गला । जे अरूवी ते पंचविहा पण्णत्ता तं जहा–धम्मत्थिकाए. नो धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा । अधम्मत्थिकाए नो अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा । अद्धासमए । (सूत्र–१२१)

'लोगागासेण'मित्यादौ षट् प्रश्नाः । तत्र लोकाकाशेऽधिकरणे 'जीव' त्ति-सम्पूर्णानि जीवद्रव्याणि 'जीवदेस' त्ति-जीवस्यैव बुद्धिपरिकल्पिता द्व्यादयो विभागाः । 'जीवप्पएस' त्ति-तस्यैव बुद्धिकृता एव प्रकृष्टा देशाः प्रदेशा निर्विभागा, भागा इत्यर्थः । 'अजीव' त्ति-धर्मास्तिकायादय, ननु लोकाकाशे जीवा अजीवाश्चेत्युक्ते तद्देशप्रदेशास्तत्रोक्ता एव भवन्ति, जीवाद्यव्यतिरिक्तत्वाद्देशादीनां, ततो जीवाजीवग्रहणे किं देशादिग्रहणेनेति ?, नैवम्-निरवयवा जीवादय इति मतव्यवच्छेदार्थत्वादस्येति । अत्रोत्तरम्-' गोयमा ! जीवाऽवी ' त्यादि, अनेन चाद्यप्रश्नत्रयस्य निर्वचनमुक्तम् । अथान्त्यस्य प्रश्नत्रयस्य निर्वचनमाह-' रूवीय ' त्ति-मूर्त्ताः ; पुद्गला इत्यर्थः । ' अरूवीय ' त्ति-अमूर्त्ता, धर्मास्तिकायादय इत्यर्थः, ' खंध ' त्ति-परमाणुप्रचयात्मकाः स्कन्धा - स्कन्धदेशा द्व्यादयो विभागाः स्कन्धप्रदेशास्तस्यैव निरंशा अंशाः परमाणुपुद्गलाः स्कन्धभावमनापन्नाः परमाणव इति, ततो लोकाकाशे रूपिद्रव्यापेक्षया ' अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवप्पएसा वि ' इत्येतदर्थेत स्यादणुना स्कन्धानामजीवग्रहणेन ग्रहणात्, ' जे अरूवी ते पंचविहे ' त्यादि-अन्यत्राप्यरूपिणो दशविधा उक्ता , तद्यथा-आकाशास्तिकायस्तद्देशस्तत्प्रदेशश्चेत्येवं धर्माधर्मास्तिकायौ समयश्चेति दश इह तु समस्तस्याकाशस्याधारत्वेन विवक्षितत्वात्तदाधेया सप्त वक्तव्या भवन्ति, न च तेऽत्र विवक्षिताः वक्ष्यमाणकारणात् . ये तु विवक्षितास्तानाह-पञ्चेति. कथमित्याह-' धम्मत्थिकाये ' त्यादि-इह जीवानां पुद्गलानां च बहुत्वादेकस्यापि जीवस्य पुद्गलस्य वा, स्थाने सङ्कोचादि तथाविधपरिणामवशाद् बहवो जीवा पुद्गलाश्च तथा तद्देशास्तत्प्रदेशाश्च सम्भवन्तीति कृत्वा जीवाश्च जीवदेशाश्च जीवप्रदेशाश्च. तथा रूपिद्रव्यापेक्षया अजीवाश्चाजीवदेशाश्चाजीवप्रदेशाश्चेति सङ्गतम् , एकत्राप्याश्रये भेदवतो वस्तुत्रयस्य सद्भावात् । धर्मास्तिकायादौ तु द्वितयमेव युक्तं, यतो यदा सम्पूर्णं वस्तु विवक्ष्यते तदा धर्मास्तिकायादीत्युच्यते, तद्देशविवक्षायां तु तत्प्रदेशा इति तेषामवस्थितरूपत्वात्, तद्देशकल्पना त्वयुक्ता, तेषामनवस्थितरूपत्वादिति । यद्यपि चानवस्थितरूपत्वं जीवादिदेशानामप्यस्ति तथापि तेषामेकत्राश्रये भेदेन सम्भव प्ररूपणाकारणम् इह तु तत्रास्तिकायादेरेकत्वादसङ्कोचादिधर्मकत्वाच्चेति । अत एव धर्मास्तिकायादिदेशनिषेधायाह-" नो धम्मत्थिकायस्स देसे " तथा-" नो अधम्मत्थिकायस्स देसे " त्ति, चूर्णिकाराऽप्याह—' अरूविणो दव्वा समुदयसद्देण भण्णति । नीसिमा पएसेहिं वा नीसला भणेज्जा, नो देसेणं तस्स अणवट्ठियपमाणत्तणओ. तेण न देसेण निद्देसो, जो पुण देससद्दो पएसु कओ सो सविसयपयववहारत्थं परदव्वफुसणादिपयववहारत्थं चेति, तत्र स्वविषये धर्मास्तिकायादिविषये यो देशस्य व्यवहारो यथा-धर्मास्तिकायः स्वदेशेनोर्ध्वलोकाकाशं व्याप्नोतीत्यादि तदर्थं. तथा परद्रव्येण ऊर्ध्वलोकाकाशादिना य स्वस्य स्पर्शनादिगतो व्यवहारो यथा ऊर्ध्वलोकाकाशेन धर्मास्तिकायस्य देश स्पृश्यते इत्यादि तदर्थमिति ' अद्धासमए ' त्ति-अद्धाकालस्तल्लक्षण' समय —क्षणोऽद्धासमय , स चैक एव वर्त्तमानक्षणलक्षणः, अतीतानागतयोरसत्त्वादिति, । इत लोकाकाशगतप्रश्नषट्कस्य निर्वचनम् ।

अथाऽलोकाऽऽकाशं प्रति प्रश्नयन्नाह—

अलो(गाऽऽ)याकासे णं भंते ! किं जीवा ? पुच्छा तह चेव, गोयमा ! नो जीवा०जाव नो अजीवप्पदेसा । एगे अजीवदव्वदेसे अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वाऽऽगासे अणंतभागूणे । (सूत्र–१२२)

' पुच्छा तह चेव ' त्ति—यथा लोकाकाशप्रश्ने, तथाहि— ' अलोकाकासे णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा जीवप्पएसा अजीवा अजीवदेसा अजीवप्पएस ' त्ति— निर्वचनं त्वेषां षण्णामपि निषेधस्तथा—' एगे अजीवदव्वदेस ' त्ति—अलोकाकाशस्य देशत्वं लोकालोकरूपाकाशद्रव्यस्य भागरूपत्वात् अगरुअलहुए' त्ति-गुरुलघुत्वाव्यपदेश्यत्वात् ' अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं ' त्ति-अनन्तैः स्वपर्यायपरपर्यायरूपैर्गुणैः ; अगुरुलघुस्वभावैरित्यर्थ । ' सव्वागास अणंतभागूण ' त्ति—लोकाकाशस्यालोकाकाशापेक्षयाऽनन्तभागरूपत्वादिति । भ० २ श० १० उ०। (एकैकस्याकाशप्रदेशस्यागुरुलघुपर्याया अनन्ता इति ' अगरुलहुय ' शब्द प्रथमभागे द्रष्टव्यम् ।) आकाशस्य पर्याया –नभो-व्योमा-ऽ-न्तरिक्षाऽऽ-काशादय । विशे० । आकाश नभस्तारापथो व्यो-

माऽम्बरमित्यादि । अनु० । स्था० । (अस्य बहवः पर्याया 'आगासत्थिकाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वर्णयिष्यन्ते)। अवगाहदानलक्षणे सर्वद्रव्याधारभूते महाभूतविशेषे च । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । शब्दतन्मात्रादाकाशं सुषिरलक्षणम् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । "शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्धरसरूपस्पर्शवर्जितमुत्पद्यते" इति च सांख्याः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आकाशमिति पारिभाषिकी संज्ञा एकत्वात्तस्य । तच्च-"संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागशब्दाख्यैः षड्भिर्गुणैर्गुणवत् शब्दलिङ्गश्चे" ति । (वैशेषिकाः ।) सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (शब्दस्याकाशगुणत्वनिराकरणम् 'आगम' शब्दे अस्मिन्नेव भागे गतम्) (आकाशस्य वर्णगन्धादि 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे द्रष्टव्यम्) अनावृते स्थाने च । आकाशमनावृतं स्थानम् । प्रश्न० ४ संव० द्वार । छिद्रे, गणितादिप्रसिद्धे शून्याङ्के च । वाच० ।

आगासग-आकाशग-त्रि० । आकाशगामिनि, वाच० । स्वनामख्याते भूतविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

आगासगमा-आकाशगमा-स्त्री० । गमनं गमः आकाशेन गमो यस्याः सा आकाशगमा । विद्याविशेषे, आ० म०१ अ० । तथा चार्य्यवज्रस्वामिकथायाम्)—" पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती । महापरिज्ञाध्ययना-द्विद्योद्धृते नभोगमा " ॥ १ ॥ आ० क० १ अ० । " तेण भगवया पयाणुसारित्तणओ पडुट्ठा महापरिण्णातो अज्झयणातो आगासगामिणी विज्जा उद्धरिया, तीए समणलद्धिसंपन्नो भयव ति ।

उक्तमर्थं सग्रहगाथयाऽऽह—

जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिण्णातो ।
वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुयधराणं ॥७६६॥

येनोद्धृता विद्या 'आगासगम' त्ति-गमनं गम आकाशेन गमो यस्यां सा आकाशगमा महापरिज्ञातो-महापरिज्ञानामकादध्ययनात् तमार्यवज्रम् आरात्—सर्वहेयधर्मेभ्यो जात-प्राप्तः सर्वैरुपादेयगुणैरित्यार्य, सचासौ वज्रश्चेति आर्यवज्रस्तं वन्दे, अपश्चिमो य श्रुतधराणाम् दशपूर्वविदाम् ।

साम्प्रतमन्येभ्योऽधिकृतयाऽज्ञानिषेधप्रापनाय प्रदानं निराचिकीर्षुस्तदनुवादतावत् ; इदमाह—

भणइ य आहिंडिज्जा, जंबुद्दीवं इमाइ विज्जाए ।
गंतूण माणुसनगं, विज्जाए एस मे विसओ ॥ ७७० ॥

भणति च वर्त्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वत् । आहिण्डेत् । पाठान्तरं वा-' आभणिसु य हिंडिज्जा ' इति, बभाण, हिण्डेत्-पर्यटेत् जम्बूद्वीपमनया विद्यया, तथा गत्वा च मानुषनग-मानुषोत्तरपर्वत; तिष्ठयमिति वाक्यशेषः, विद्याया एष मे विषयो-गोचरः ।

भणइ य धारेयव्वा, न हु दायव्वा इमा मए विज्जा ।
अप्पड्ढिया उ मणुया, होहिंति अतो परं अन्ने ॥७७१॥

' भणति चे'ति पूर्ववत् । धारयितव्या प्रवचनोपकाराय, न पुनर्दातव्या इय मया विद्या । हुशब्द पुनःशब्दार्थे, किमित्यत आह-अल्पर्द्धय एव, तुशब्द एवकारार्थ, भविष्यन्त्यतः परमन्ये भविष्यत् कालभाविनः । आ० म० १ अ० ।

आगासगय-आकाशक-त्रि० । प्रकाशके, स० ३४ सम० ।

आकाशगत-त्रि० । व्योमवर्त्तिनि, स० ३४ सम० । औ० । "आगासगएणं चक्केणं आगासगएणं छत्तेणं" (सूत्र-१०+) आकाशवर्त्तिना चक्रेण । औ० ।

बुद्धातिशेषानधिकृत्येत्याह—

आगासगयं चक्कं, आगासगयं छत्तं, आगासगयाओ सेयचामराओ । (सूत्र-३४×)

आकाशगतं-व्योमवर्ति आकाशग (कं) तं वा; प्रकाशमित्यर्थः, चक्रं धर्मचक्रमिति षष्ठः ॥ ६ ॥ एवमाकाशगं छत्रम् ; छत्रत्रयमित्यर्थः इति सप्तम. ॥ ७ ॥ आकाशके—प्रकाशे श्वेतवरचामरे प्रकीर्णके इत्यष्टम. ॥ ८ ॥ स० ३४ सम० । अत्यर्थे तुङ्ग. च । स० ।

आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ । (सूत्र-३४+)

' आगासगओ ' त्ति-आकाशगतः-अत्यर्थन्तुङ्गमित्यर्थः । स० ३४ सम० ।

आगासगामि (न्)-आकाशगामिन्-त्रि० । आकाशे पक्ष्यादौ, आचा० । "आगासगामिणो पाणा पाणे किलेसंति" (सूत्र-१७७+) अपरे त्वाकाशगामिन -पक्षिण इत्येवं सर्वेऽपि प्राणा -प्राणिनोऽपरान् प्राणिन आहाराद्यर्थं मत्सरादिना वा क्लेशयन्ति-उपतापयन्ति । आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ० । सम्प्राप्ताकाशगमनलब्धिषु, चतुर्विधदेवनिकायविद्याधरवायुषु च । "आगासगामि य पुढोसिया जे" ॥ १३ ॥ के केचनाऽऽकाशगामिन.—संप्राप्तगगनलब्धयश्चतुर्विधदेवनिकायविद्याधरपक्षिवायव । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

आगासत्थिकाय-आकाशास्तिकाय-पुं० । अस्तयश्चेह-प्रदेशास्तेषां काय -सङ्घात. " गणकायनिकाए खंधं वग्गे तहेव रासी य " इति वचनात्, अस्तिकाय , प्रदेशसंघात इत्यर्थः । प्रज्ञा० १ पद । स० । कर्म० । उत्त० । आकाशं च तदस्तिकायश्चेत्याकाशास्तिकाय. । प्रज्ञा० १ पद । जी० । लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकामूर्त्तद्रव्यविशेषे, अनु० ।

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ६+ ॥

आकाशम्-आकाशास्तिकाय जीवपुद्गलयोरवकाशदाय्याकाशमिति सप्तमो भेदोऽरूप्यजीवस्येति । उत्त० ३६ अ० ।

(आकाशास्तिकायस्य पर्याया)—

आगासत्थिकायस्स णं पुच्छा, गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, तं जहा-आगासेइ वा आगासत्थिकाएति वा गगणत्ति वा नभेइ वा समेति वा विसमेति वा खहेति वा विहेति वा वीयीत्ति वा विवरेति वा अंबरेति वा अंबरसेति वा छिड्डेति वा झुसिरेति वा मग्गेति वा विमुहेति वा अ(द्दे)ट्टेति वा वियद्दे(द्दे)ति वा आधारेति वा वोमेति वा भायणेति वा अंतरिक्खेति वा सामेदि वा

उवासंतरेति वा आगमेति वा फलिहेति वा अणंतेति वा, जेयावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते आगासत्थिकायस्स अभिवयणा। (सूत्र-६६४+)

'आगासे' त्ति—आ-मर्यादया, अभिविधिना वा, सर्वेऽर्थाः काशन्ते-प्रकाशन्ते स्वस्वभावं लभन्ते यत्र तदाकाशम्, 'गगणे' त्ति—अतिशयगमनविषयत्वाद्गगनं निरुक्तिवशात्, 'नभे' त्ति-न भाति-न दीप्यत इति नभः 'समे' त्ति-निम्नोन्नतत्वाभावात्समम्, 'विसमे' त्ति-दुर्गमत्वाद् विषमम्, 'खहे' त्ति-खनने भुवो हाने च त्यागे यद्भवति तत्खहमिति निरुक्तिवशात्, 'विहे' त्ति-विशेषेण हीयते-त्यज्यते तदिति विहायः, अथवा-विधीयते—क्रियते कार्यजातमस्मिन्निति विहम्, 'वीइ' त्ति-वचनाद्विविक्तस्वभावत्वाद्वीचि 'विवर' त्ति-विगतवरणतया विवरम्, 'अंबरे' त्ति-अम्बेव-मातेव जननसाधर्म्यादम्बा-जलं तस्य राणाद्-दानादम्बरमिति निरुक्तिवशादम्बरम्, 'अंबरसे' त्ति—अम्बा—पूर्वोक्तयुक्त्या जलं तद्रूपो रसो यस्मात्तन्निरुक्तितोऽम्बरसम्, 'छिड्डे' त्ति-छिद्रं छेदनस्यास्तित्वाच्छिद्रम् 'झुसिरे' त्ति-शुषिरं शुषं शोषस्य दानाच्छुषिरम्, 'मग्गे' त्ति-पथिरूपत्वान्मार्गः 'विमुहे' त्ति—मुखस्यादेरभावाद्विमुखम्, 'अद्दे' त्ति-अर्द्यते-गम्यते, अ- ट्यते वा-अतिक्रम्यतेऽनेनेति अर्दः अट्टो वा, वियद्द (ट्ट) इ' त्ति-स एव विशिष्टो व्यर्दो व्यट्टो वा। 'आहारे' त्ति-आधारणादाधारः 'वोमे' त्ति—विशेषणावनात्—व्योम, 'भायणे' त्ति-भाजनात्-विश्वस्याश्रयणाद्भाजनम्, 'अंतलिक्खं' त्ति-अन्तः-मध्ये ईक्षा-दर्शनं यस्य तदन्तरीक्षम्, 'सामं' त्ति-श्यामवर्णत्वाच्छ्यामम्, 'उवासंतरं' त्ति-अवकाशरूपमन्तरं न विशेषादिरूपमित्यवकाशान्तरम्, 'अगमं' त्ति-गमनक्रियारहितत्वेनागमम्, 'फलिहं' त्ति—स्फटिकमिव स्वच्छत्वात्स्फटिकम्, 'अणंते' त्ति-अनन्तपर्जितत्वात्। भ० २० श० २ उ०। (आकाशस्य वर्णगन्धादिकम् 'अत्थिकाय' शब्दे प्रथमभागे गतम्)

आकाशास्तिकायस्य जीवाजीवद्रव्याधारत्वम्—

आगासत्थिकाए णं भंते! जीवाणं, अजीवाणं य किं पवत्तइ ?, गोयमा! आगासत्थिकाए णं जीवदव्वाण य अजीवदव्वाण य भायणभूए-"एगेण वि से पुण्णे, दोहि वि पुण्णे सयं पि माएज्जा। कोडिसएण वि पुण्णे, कोडिसहस्सं पि माएज्जा ॥ १ ॥" अवगाहणालक्खणेणं आगासत्थिकाए। (४८१+)

'आगासत्थिकाए णमि' त्यादि। जीवद्रव्याणां चाजीवद्रव्याणां च भेदेन भाजनभूत अनेन चेदमुक्तं भवति-एतस्मिन्सति जीवादीनामवगाहः प्रवर्तते एतस्यैव प्रश्नितत्वादिति, भाजनभावमेवास्य दर्शयन्नाह-'एगेण वी' त्यादि. एकेन परमाण्वादिना। 'से' त्ति- असौ आकाशास्तिकायप्रदेश इति गम्यते, पूर्णो भृतस्तथा द्वाभ्यामपि ताभ्यामसौ पूर्णः, कथमेतद्?, उच्यते-परिणामभेदात्, यथा-अपवरकाऽऽकाशमेकप्रदीपप्रभापटलेनाऽपि पूर्यते, द्वितीयमपि तत्तत्र माति यावच्छतमपि तेषां तत्र माति, तथौषधिविशेषापादितपरिणामादेकत्र पारदकर्षे सुवर्णकर्षशतं प्रविशति, पारदकर्षीभूतं च सदौषधिसामर्थ्यात्पुनः पारदस्य कर्षः सुवर्णस्य च कर्षशतं भवति विचित्रत्वात्पुद्गलपरिणामस्येति, 'अवगाहणालक्खणेणं' ति-इहाऽवगाहनाश्रयभावो 'जीवत्थिकाएण' मित्यादि, जीवास्तिकायेनेति अन्तर्भूतभावप्रत्ययत्वाज्जीवास्तिकायत्वेन, जीवतयेत्यर्थः। भ० १३ श० ४ उ०।

आगासत्थिकायदेस-आकाशास्तिकायदेश-पुं०। आकाशास्तिकायस्य बुद्धिकल्पिते द्व्यादिप्रदेशात्मके विभागे, प्रज्ञा० १ पद। जी०। अस्यारूप्यजीवत्वम्- "आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ६+॥" आकाशस्य देशः कतमो विभागः आकाशास्तिकायदेश इत्यष्टमो भेदोऽरूप्यजीवस्य। उत्त० ३६ अ०।

आगासत्थिकायप्पएस-आकाशास्तिकायप्रदेश-पुं०। आकाशास्तिकायस्य निर्विभागे भाग, प्रज्ञा० १ पद। जी०। अस्यारूप्यजीवत्वम्-। "आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए" ॥ ६+ ॥ तस्याकाशास्तिकायस्य निरंशो देशस्तत्प्रदेश आकाशास्तिकायप्रदेश इति नवमो भेदोऽरूप्यजीवस्येति। उत्त० ३६ अ०।

आगासथिग्गल-आकाशथिग्गल न०। शरत्कालिके मेघविनिर्मुक्त आकाशखण्डे,। कृष्णमणिवर्णनमधिकृत्य-"आगासथिग्गलेइ वा" (सूत्र-१२६+) आकाशथिग्गलं-शरदि मेघविनिर्मुक्तमाकाशखण्डं तद्धि कृष्णमतीव प्रतिभातीति तदुपादानम्। जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ०। जं०। आ० म०।

(तच्च केन स्पृष्टमित्याह)—

आगासथिग्गले णं भंते! किणा फुडे कइहिं वा काएहिं फुडे किं धम्मत्थिकाएणं फुडे धम्मत्थिकायस्स देसेणं फुडे धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे, एवं अधम्मत्थिकाएणं आगासत्थिकाएणं एएणं भेदेणं ०जाव पुढवीकाएणं फुडे ०जाव तसकाएणं फुडे अद्धा समएणं फुडे ?, हंता गोयमा! धम्मत्थिकाएणं फुडे, नो धम्मत्थिकायस्स देसेहिं फुडे, धम्मत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे, एवं अधम्मत्थिकायेण वि नो आगासत्थिकाएणं फुडे आगासत्थिकायस्स देसेणं फुडे आगासत्थिकायस्स पदेसेहिं फुडे ०जाव वणस्सइकाएणं फुडे, एवं तसकाइएणं सिय फुडे, सिय नो फुडे, अद्धा समएणं देसेणं फुडे। (१८८×)

आगासथिग्गले णं भन्ते' इत्यादि. आकाशथिग्गलम्-लोकः स हि महतो-बहिराकाशस्य वितनपटस्य थिग्गलमिव प्रतिभाति. भदन्त! केन स्पृष्टो व्याप्त, एतत् सामान्येन स्पृष्टमेतदेव विशेषतः प्रश्नयति-कतिभिः कियत्सङ्ख्याकैः कायैः स्पृष्टः वाशब्दः पक्षान्तरद्योतनार्थः प्रकारान्तरं च सामान्याद्विशेषतः तान् कायान् प्रत्येकं पृच्छन्ति-'किं धम्मत्थिकाएणं फुडे' इत्यादि, सुगमं, भगवानाह-हे गौतम! धर्मास्तिकायेन स्पृष्टः धर्मास्तिकायस्य सर्वात्मना तत्रावगाढत्वात्, अत एव नाधर्मास्तिकायस्य देशेन

स्पृष्टो यो हि येन सर्वात्मना व्याप्तो नासौ तस्यैव देशेन व्याप्तो भवति--विरोधात्, प्रदेशैस्तु व्याप्तः। सर्वेषामपि धर्मास्तिकायप्रदेशानां तत्रावगाढत्वात्, एवमधर्मास्तिकायविषयेऽपि, निर्वचनं वाच्यम्। तथा नो आकाशास्तिकायेन सकलेन द्रव्येण स्पृष्टः, आकाशास्तिकायदेशमात्रत्वाल्लोकस्य, किन्तु-देशेन व्याप्तः। प्रदेशैश्च पृथिव्यादयोऽपि सूक्ष्माः सकललोकापन्ना वर्त्तन्ते ततस्तैरपि सर्वात्मना व्याप्तः, 'तसकाइएणं सिय फुडे' इति, यदा केवली समुद्घातं गतः सन् चतुर्थे समये वर्त्तते तदा तेन स्वप्रदेशैः सकललोकपूरणात् त्रसकायेन स्पृष्टः केवलिनस्त्रसकायत्वात्, शेषकालं तु न स्पृष्टः सर्वत्र त्रसकायनामभावात्। प्रज्ञा० १५ पद १ उ०।

आगासपइट्ठिय-आकाशप्रतिष्ठित-त्रि०। आकाशं-व्योम तत्र प्रतिष्ठितो-व्यवस्थित आकाशप्रतिष्ठितः। आकाशव्यवस्थिते, "आगासपइट्ठिए वाए" (सूत्र-२८६ ×)। स्था० ३ ठा० १ उ०। भ०। "तप्पइट्ठिओ लोगो" ॥ १२३+॥ तत्प्रतिष्ठितो लोकस्तत्-इत्यनेनाकाशपरामर्शस्तस्मिन्नाकाशे प्रतिष्ठितस्तत्प्रतिष्ठितः; प्रकर्षेण स्थितवानित्यर्थः। दश०१ अ०।

आगासपंचम-आकाशपञ्चम-पुं०। आकाशं-सुषिरलक्षणम्। तत्पञ्चमं यथा तानि। पृथिव्यादिके पञ्चमहाभूते, सूत्र०। "पुढवी आउ तेऊ, वाउ आगासपंचमा" ॥ ७ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आगासपय-आकाशपद-न०। सिद्धश्रेणिकपरिकर्मश्रुतभेदे, स० १४७ सूत्र।

आगासप्पएस-आकाशप्रदेश-पुं०। आकाशस्य निर्विभागे भागे, प्रज्ञा० १ पद। षोडशाकाशप्रदेशाः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

आगासफलिह (फालिय)-आकाशस्फटिक-पुं०। आकाशमिव यदत्यन्तमच्छं-स्फाटिकमाकाशस्फटिकम्। स० ३४ सम०। अतिस्वच्छे स्फटिकविशेषे, । "आगासफालियामएणं सपायपीढेण सीहासणेणं" (सूत्र-५ + टी०)। आकाशस्फटिकमतिस्वच्छं स्फटिकविशेषस्तन्मयेनोपलक्षण इति गम्यम्। भ० १ श० १ उ०। ज०। रा०। आकाशे मघवस्फटिक इव वर्षोपले कर्काख्ये संहतजलखण्डे तदुत्पादविलयौ श्रीपतिराह-'उद्धूते पांशुभिर्भूमे. प्रचण्डपवनोद्धयात्। मेघमण्डलमानीतैः-र्मालिन्यपरिवर्जितैः ॥ १ ॥ मिश्रणाज्जलबिन्दूनां, पित्तस्वभावो मर्यादिह। दृषदः संपतन्त्येते, द्रवन्ते च पुनः क्षितौ ॥ २ ॥" वाच०।

आगास (फलिह) फालियसरिसप्पह-आकाशस्फटिकसदृशप्रभ-त्रि०। आकाशस्फटिकयोगाकाशरूपस्फटिकस्य वा सदृशी प्रभा येषा तानि तथा। आकाशस्फटिकतुल्ये, औ०।

आगास (फलिहा) फालियामय-आकाशस्फटिकमय-त्रि०। अतिस्वच्छस्फटिकविशेषमये, भ० १ श० १ उ०। "आगासफालियामय सपायपीढं सीहासणं" (सूत्र-३४ +)। आकाशमिव यदत्यन्तमच्छं स्फटिकं तन्मयं सिंहासनं सपादपीठम्। स० ३४ सम०। रा०। आकाशतुल्य स्वच्छत्वा यद् स्फटिकं तन्मयेन सपादपीठेन सिंहासनेनेति। औ०।

आगासमग्ग-आकाशमार्ग-पुं०। द्रव्यमार्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। आकाशमार्गो विद्याधरादीनाम्। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

आगासातिवाइ (न्)-आकाशातिपातिन्-पुं०। आकाशम्-व्योम अतिपततीति। आकाशगामिविद्याप्रभावात् पादलेपादिप्रभावाद्वा आकाशमतिक्रामति, आकाशाद्वा हिरण्यवृष्ट्यादिकमिष्टमनिष्टं वा अतिशयेन पातयतीत्येवंशीले च। औ० १५ सूत्र०।

आकाशादिवादिन्-पुं०। अमूर्त्तानामपि पदार्थानां साधनसमर्थवादिनि, औ०। "अप्पेगइया विउलमइविउलविउलक्खिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासातिवाइणो" (सूत्र-१५+) 'आगासातिवाइ' त्ति-आकाशं-व्योमातिपतन्ति-अतिक्रामन्ति। आकाशगामिविद्याप्रभावात् पादलेपादिप्रभावाद्वा आकाशाद्वा हिरण्यवृष्ट्यादिकमिष्टमनिष्टं वा अतिशयेन पातयन्तीत्येवंशीला आकाशातिपातिनः। आकाशादिवादिनो वा। अमूर्त्तानामपि पदार्थानां साधनसमर्थवादिन इति भावः। औ०।

आगासिउं-आक्रष्टुम्-अव्य०। हठात्समाकृष्यात्मनः समीपमानेतुमित्यर्थे, विशे०।

आगासिय-आकर्षित-त्रि०। आकृष्टे, उत्पाटिते, औ०।

आकाशित-त्रि०। आकाशम्-अम्बरम् इतः-प्राप्तः। आकाश गते, "आगासियाहिं सेअचामराहिं"। (सूत्र-१०+) आकाशम्-अम्बरमिताभ्यां-प्राप्ताभ्याम्, आकर्षिताभ्यां वा; आकृष्टाभ्याम्-उत्पाटिताभ्यामित्यर्थः। औ०।

आगिइतिग-आकृतित्रिक-न०। आकृतयः-संस्थानानि षट् संहननानि षट् जातयः पञ्चेत्येवं स्वरूपके आवृत्युपलक्षिते त्रिके, कर्म० ५ कर्म०।

आगु-आकु-(गु)-पुं०। 'अक' 'अग' कुटिलायां गतौ, उण् अभिलाषायाम्, आव०। "सक्को वसट्ठवणा इक्खुअगू तेण हुंति इक्खागा" 'अक' 'अग' कुटिलायां गतौ, अनकार्थत्वाद्धातूनाम्। अकुधातोरौणादिके उणप्रत्यये आगुशब्दोऽभिलाषार्थः, ततः स्वामी इक्षो आकुना-अभिलाषेण करं प्रासारयत् शक्रः आर्पयत् तेन कारणेन भवन्ति इक्ष्वाकुवंशभवा ऐक्ष्वाकाः। आ० क० १ अ०।

आग्घाण-आघ्राण-त्रि०। आ-घ्रा-क्त। गृहीतगन्धे पुष्पादौ, नासिकया यस्य गन्धज्ञानं जातम्। तस्मिन्, तृप्ते च। भावे क्त। गन्धग्रहणे, तृप्तौ च। न०। वाच०। 'आङ्घ्रादग्घ.' ॥८।४।१३॥ इति आङ्पूर्वस्य घ्रादेशः। आग्घाइ। आग्घाइ। प्रा०।

आघं-आख्यातवत्-त्रि०। कथयितरि, सूत्र०। "आघं मईमं अणुवीय धम्मं" ॥ १४ ॥ 'आघं' ति-आख्यातवान्। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आघवणज्झयण-आख्यातनदध्ययन-न०। सूत्रकृताङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य समाध्यध्ययनापरनामधेये दशमेऽध्ययने, सूत्र०। निर्युक्तिकृदाह-" आयाणपदेणाऽऽघं, गोणं णामं पुणो समाहि त्ति" ॥१०३४॥ आदीयते-गृह्यत प्रथममादौ यत्-

दादानम् आदानं च तत्पदं च सुबन्तं तिङन्तं वा तदादानपदं तेनाऽऽघन्ति नामास्याध्ययनस्य यस्मादङ्गानादाविद सूत्रम्। सूत्र० १ श्रु० १० अ०। (अत्र विशेषः दृष्टान्तश्च 'समाहि' शब्दे सप्तमे भागे दर्शयिष्यते।)

आघंसण-आघर्षण-न०। भावे ल्युट्। मर्द्दने, वाच०। ईषत् घर्षणे, " आघंसेज्ज वा " (सूत्र-६७×)। ईषत्पुनः पुनर्वा घर्षयेद्। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०।

जे भिक्खू अप्पणो दंते आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा आघसंतं वा पघसंतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

एक्कदिणं-आघंसणं, दिणे दिणे पघंसणं ति। नि० चू० ३ उ०।

आघवत्ता-आख्यातृ-त्रि०। आख्यायके, (प्रज्ञापके) स्था० ४ ठा० ४ उ०।

आघवण-आख्यान-न०। सामान्यविशेषाभ्यां कथने, "आघविज्जति " (सूत्र-१३७×)। प्राकृतशैल्या-आख्यायन्ते सामान्यविशेषाभ्यां कथ्यन्ते इत्यर्थः। स०। आव०। आख्यापने, सामान्यविशेषरूपेण कथने,-" दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेइ"(सूत्र-७५०×)। सामान्यविशेषरूपेण आख्यापयतीति। स्था० १० ठा० ३ उ०।

आग्रहण-न०। आदान, अनु०।

आग्राहण-न०। आदापने, भ० ६ श० ३१ उ०।

अर्थापन-न०। प्रतिपादनतः पूजाप्रापणे, भ०। "केवलिपण्णत्तं धम्म आघवेज्ज वा " (सूत्र-३६८×)। आग्राहयेच्छिष्यानर्थापयद्वा प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेदिति। भ० ६ श० ३१ उ०।

आघवणा-आख्यापना-स्त्री०। आख्याने, उपा०। " बहूहिं आघवणाहि य " (सूत्र-४४×)। ' आघवणाहि य ' त्ति-आख्यानैः। उपा० ७ अ०। तत्र सामान्यतः प्रतिपादनम्-" आघवणाहि य " (सूत्र-४३+)। आख्यापनाभिश्च-सामान्यतः प्रतिपादनैः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। नि०। भ०।

आघवित्तए-आख्यातुम्-अव्य०। भणितुमित्यर्थे, अन्त० १ श्रु० ३ वर्ग ८ अ०। भ०।

आघविय-आख्यात-त्रि०। आ-ख्या-कर्मणि-क्त। कथिते, वाच०। " भगवया महावीरेणं आघविए " (सूत्र-७४×)। 'आघविए' त्ति-आर्षत्वादाख्यात इति। उत्त० २६ अ०।

आगृहीत-त्रि०। आदत्ते, " आवस्सए त्ति पयं आघवियं पच्चवियं परूवियं " ग० २ अधि०। ' आघवियं ' ति-प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च गुरोः सकाशादागृहीतम्। अनु०।

आग्राहित-त्रि०। आदापिते, भ० ६ श० ३१ उ०।

अर्थापित-त्रि०। प्रतिपादनेन पूजां प्रापिते, " केवलिपण्णत्तं धम्म आघवेज्ज वा " (सूत्र-३६८)। आग्राहयेच्छिष्यान्, अर्थापयेद्वा-प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेद्। भ० ६ श० ३१ उ०।

आघवेमाण-आख्यातृ-त्रि०। कथयति, आव० ३ अ०।

आघसंत-आघर्षण-त्रि०। ईषद्घर्षणं कुर्वति, नि० चू० १७ उ०।

आघसावण-आघर्षण-न०। ईषद्घर्षणे, नि० चू०।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आघसावेज्ज वा पघसावेज्ज वा आघसंतं वा पघसंतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥ नि० चू० १७ उ०।

आघाण-आख्यान-न०। कथने,-आचा०" आघाइ णाणी " (सूत्र-१३१×)। ज्ञानी आख्याति-आचष्टे। आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

आघाय-आख्यात-त्रि०। आ-ख्या-कर्मणि क्त। कथिते, वाच०। " आघायं तु सोच्चा" (सूत्र-१८८×)। आख्यातमेवैतत् कुशीलविपाकादिक श्रुत्वा निशम्येति। आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। भावे क्त। आशये च। न०। " आघायं पुण एगेसिं " (॥ १+ ॥)। नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातम्, अत्र च-" अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्तीति " ख्यातेर्धातोर्भावे निष्ठाप्रत्ययस्तद्योगे कर्त्तरि षष्ठी, ततश्चायमर्थ —तैर्नियतिवादिभिः पुनरिदमाख्यान, तेषामयमाशय इत्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

आघात-पुं०। आ-हन्-घञ्। वधे, आहनने, ताडने च। आधारे घञ्। वधस्थाने, वाच०। आहन्यन्ते-अपनयन्ति विनाश्यन्ते प्राणिनां दशप्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातः। मरणे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ०।

आघायकिच्च-आघातकृत्य-न०। अग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिके मरणकृत्ये, सूत्र०।

आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो।
हरंति अन्ने तं वित्तं, ॥ ४× ॥

आहन्यन्ते—अपनयन्ति; विनाश्यन्ते प्राणिनां दशप्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो मरणं तस्मै तत्र वा कृतमग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिकमाघातकृत्यं तदाधातुम्-आधाय-कृत्वा पश्चात् ज्ञातयः-स्वजनाः; पुत्रकलत्रभ्रातृव्यादयः, किम्भूताः ?-विषयानन्वेष्टुं शीलं येषां ते, अन्येऽपि विषयैषिणः सन्तस्तस्य दुःखाऽर्जितं वित्तं-द्रव्यजातम्-अपहरन्ति-स्वीकुर्वन्ति। सूत्र० १ श्रु० ९ अ०।

आ (घ) घायण-आघातन-न०। वधस्थाने, वाच०। " तत्थ णं महं एगं आघायणं पासंति " (सूत्र-८×)। 'आघायण' त्ति-वधस्थानम्। ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०। " आघायणपाडदुवारसपाविया " (सूत्र-१२×)। आघातनस्य वध्यभूमिमण्डलस्य प्रतिद्वारं संप्रापिता। प्रश्न० ३ आश्र०द्वार। " असिवो मा० " ॥ १४५६+ ॥ आघायणंति जत्थ वा महासंगाममया बहू। आ० चू० ४ अ०। आव०। भावे ल्युट्। हनने, वाच०।

आघुम्मिय-आघूर्णित-त्रि०। आ-घूर्ण-क्त। " घूर्णेर्घुल-घोल-घुम्म-पहल्ला " ॥ ८। ४। ११७ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणैते चत्वार आदेशाः। प्रा०। चलिते, भ्रान्ते च। वाच०। घुलइ। घोलइ। घुम्मइ। पहल्लइ। प्रा० ४ पाद।

आघुलिय-आघूर्णित-त्रि०। ' आघुम्मिय ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

आघोलिय-आघूर्णित-त्रि०। ' आघुम्मिय ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद।

आचंदसूरिय-आचन्द्रसूर्य-न० । यावच्चन्द्रसूर्यौ तावदित्यर्थे पञ्चा० ।

आचन्दसूरियं तह, होइ इमा सुप्पतिट्ठ त्ति ॥३४॥

आचन्द्रसूर्य-चन्द्रसूर्यौ यावत्तावद् भवतु-अस्तु इयम्-अधिकृता सुप्रतिष्ठा-शोभनावस्थानम् । पञ्चा० ८ विव० ।

आचेलक आचेलक्य-त्रि० । न विद्यते चेलं-वस्त्रं यस्य स.-अचेलकस्तस्य भाव आचेलक्यम् । विगतवस्त्रत्वे, कल्प० १ अधि० १ क्षण । तदात्मके कल्पभेदे च । आचेलक्यधर्मोपेतत्वादाचेलक्य. । चारित्रलक्षण धर्मे च । पुं० । " आचेलक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स"॥१८+॥ पञ्चा० १७ विव० । (भेदादिवहुवक्तव्यता अचेल (ग)' शब्दे प्रथमभागे गता)

आचोक्ख-आचोक्ष-पुं० । अष्टमे पिशाचनिकाये, प्रज्ञा० १ पद ।

आजम्म-आजन्मन्-अव्य० । यावज्जीवमित्यर्थे, " वसिज्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा ! संजए मुणी " ॥ ७॥ आजन्म-जीवितकालमभिव्याप्य, यावज्जीवमित्यर्थः । ग० १ अधि० ।

आज (य) वंजवीभाव-आजवंजवीभाव-पुं० । पुन पुनर्गमनागमने, " आरभसत्ता पकरंति संगं ' (सूत्र-६० +)। संगाच्च पुनरपि संसार-आजवंजवीभावरूप । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । " एस मरणा पमुच्चई ' (सूत्र-१११×) मरणाद्-आयु क्षयलक्षणान्मुच्यते आयुषो वन्धनाभावात्, यदि वा-आजवंजवीभावात्, आवीचिमरणाद्वा सर्व एव संसारो मरण तस्मात्प्रमुच्यते । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

आजा (या) इ-आजाति-स्त्री० । आ-जन् क्तिन् । आजननमाजाति । स्था० १० ठा० ३ उ० । " आइएणाऽऽजाइ " ॥ ७ × ॥ आजायन्ते तस्यामित्याजाति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (कतिविधा सा आजाति इति 'आयारंग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।) आजनने, जन्मनि, " ताडयित्वा तृणेनापि, सवादान्मतिपूर्वकम् । एकविंशतिमाजाती, पापयोनिषु जायते " ॥ १ ॥ ' साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशै-र्बध्यते वारुणैर्भृशम् । विवश शतमाजाती-स्तस्मात् साक्ष्ये वदेदृतम् " ॥ १ ॥ इति च मनु । वाच० । आजननमाजाति । सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म । स्था० १० अ० ३ उ०। आजाति -ततश्च्युतस्य मनुष्यजन्म । स्था० ८ ठा० ३ उ० । आजायन्ते तस्यामित्याजाति, सा अपि चतुर्दश-व्यतिरिक्ता, मनुष्यादिजाति, भावाऽऽजातिस्तु ज्ञानाद्याचारप्रसूतिरयमेव ग्रन्थ इति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

आयाति-स्त्री० । आगतौ, आजाति-जन्म । आयाति -आगति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । आयाति-गर्भान्निष्क्रम । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

आजीव-आजीव-पुं० । आजीवनमाजीव । भावे घञ् । जीविकायाम्, प्रव० ६७ द्वार । आजीवनार्थमालम्बने, वाच० । आ-समन्ताज्जीवन्त्यनेनेति आजीव । अर्थनिचये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । आजीविकायाम्, व्य० १ उ० । आत्मवर्त्तनोपाय, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । वाच० ।

आजीवमेयं तु अवुज्झमाणो,
पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥ १२ ॥

आजीवम्-आजीविकाम्, आत्मवर्त्तनोपाय कुर्वाण पुन पुन संसारकान्तारे विपर्यासम्-जन्मजरामरणरोगशोकोपद्रवम् उपैति-गच्छति तदुत्तरणायाभ्युद्यतो वा तत्रैव निमज्जतीत्यर्थं विपर्यासम् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । आजीवनं-जातिकुलगणकर्मशिल्पानां सूत्रस्थमानाभिधानत उपजीवनम्-आजीवा । उत्पादनादोषविशेष, पञ्चा० १३ विव० । जात्यादिकथनाद् आजीवनम् आजीव । ग० १ अधि० ।

आजीवस्य भेदादिकमाजीवपिण्डदोषस्य स्वरूपादिकञ्च—

जाई-कुल-गणकम्मे, सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा ।
सूयाएँ असूयाए, व अप्पाणं कहेहि एक्केके ॥ ४३७ ॥

आजीवना पञ्चविधा, तद्यथा-जातिविषया, जातिमाजीवनीं करोतीत्यर्थ., एव-कुलविषया, गणविषया कर्मविषया, शिल्पविषया च । सा चाजीवना एकैकस्मिन् भेदे द्विधा, तद्यथा-सूचया आत्मान कथयति । असूचया च, तत्र सूचा-वचनभङ्गिविशेषेण कथनम्, असूचा स्फुटवचनेन ।

तत्र जात्यादीनां लक्षणमाह—

जाई कुले विभासा, गणो उ मल्लाइ कम्म किसिमाई ।
तूणादि सिप्पणाव-ज्जगं च कम्मे य आवज्जं ॥ ४३८ ॥

जातिकुले विभाषा-विविधं भाषणं कार्यं तच्चैवम्-जाति-ब्राह्मणादिका कुलम्-उग्रादि । अथवा-मातृसमुत्था जाति, पितृसमुत्थं कुलम् । गणो-मल्लादिवृन्दम् । कर्म-कृष्यादि, शिल्प-तूर्णादि, तूर्णनसीवनप्रभृति । अथवा-अनावर्जकम्-अप्रीत्युत्पादकं कर्म, इतरत्तु आवर्जकं प्रीत्युत्पादकं शिल्पम्, अन्ये त्वाहु -अनाचार्योपदिष्टं कर्म, आचार्योपदिष्टं तु शिल्पमिति । पि०।(तत्र जातिलक्षणम्, तद्व्यवस्था च जाइ' शब्दे चतुर्थे भागे दर्शयिष्यते ।) (कुललक्षणम्, तद्भेदा, तद्व्यवस्था च ' कुल ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते ।) (आदिजिनो भगवान् प्रथमम् उग्र-भोग-राजन्य-क्षत्रियलक्षणानि चत्वारि कुलानि स्थापितवान् इति ' उसभ (ह) शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यते ।) (कुलकरास्तेऽन्येऽपि सन्तीति 'कुलगर' शब्दे तृतीयभागे विस्तरतो दर्शयिष्यते ।) (गणलक्षणम्, तद्व्यवस्था च 'गण' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते ।) (कर्मलक्षणम्, तद्विस्तरश्च ' कम्म ' शब्दे ३ भागे दर्शयिष्यते । तत् प्रकृतयश्च 'कम्मपयडि' शब्दे तस्मिन्नेव ३ भागे दर्शिता भविष्यन्ति ।) (शिल्पलक्षणम्, तस्य पञ्च मूलभेदा पुनस्तेषां प्रत्येक विंशति विंशति भेदा सन्तीति प्रतिपादनम् ' सिप्प ' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते ।) शिल्पशतभेदाः कालनियौ विस्तरत. ' भरह ' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते ।)

तत्र यथा साधु सूचया स्वजातिप्रकटनाज्जातिमुपजीवति तथा दर्शयति—

होमायवितहकरणे, नज्जइ जह सोत्तियस्स पुत्तो त्ति ।
वसिओ वेस गुरुकुले, आयरियगुणे व सूएइ ॥ ४३९॥

साधुर्भिक्षार्थमटन् ब्राह्मणगृहे प्रविष्टः सन् तस्य पुत्रं होमादिक्रियां कुर्वन्तं दृष्ट्वा तदागमपुरस्सरं स्वजातिप्रकटनाय जल्पति- होमादिक्रियाणामवितथकारणमेष एव पुत्रः ज्ञायते-यथा श्रोत्रियस्य पुत्र इति । यदि वा-उषित एव सम्यग् गुरुकुल इति सम्भाव्यते । अथवा-सूचयति-एष तव पुत्र आत्मन आचार्यगुणान् ततो नियमादेव महानाचार्यो भविष्यतीति । तत एवमुक्ते स ब्राह्मणो वदति साधो! त्वमवश्यं ब्राह्मणः येनैवं होमादिक्रियामवितथं जानासि. साधुश्च मौनेनाऽवतिष्ठते. एतच्च सूचया स्वजातिप्रकटनम् अत्र च अनेके दोषाः, तथाहि-यदि स ब्राह्मणो भद्रकस्तर्हि स्वजातिरिति प्रभूतमाहारादिकं दापयति । तदपि च जात्युपजीवनं नामकर्मादिजं भगवता प्रतिषिद्धम्. यदि प्रान्तस्तर्हि अहोऽयं पापात्मा ब्राह्मण्यं परित्यक्तवान् इति चिन्तयन् स्वगृहान्निष्कासनादिकं करोति. असूचया तु जात्या जीवनं स्पष्टवचसा आत्मीयां स्वजातिं प्रकटयति- यथा-'अहं ब्राह्मण' इति. तत्राप्यनन्तरोक्ता एव दोषाः एवं क्षत्रियादिजातिष्वपि भावनीयम्, एवं कुलादिष्वपि भावनीयम् । पिं० । प्रव० ।

एतदेव किञ्चिद् व्यक्तीकुर्वन्नाह—

सम्ममसम्मा किरिया, अणेण ऊणाहिया व विवरीया ।
समिहामंताहुइठा-णजागकाले य घोसाई ॥ ४४० ॥

साधुर्भिक्षामटन् कस्यचित् ब्राह्मणगृहे प्रविष्टः सन् तस्य पुत्रं होमादिक्रियां कुर्वाणं दृष्ट्वा पितरं स्वजातिप्रकटनाय जल्पति अनेन तव पुत्रेण सम्यक् अन्यथा वा होमादिका क्रिया कृता तथाऽसम्यक् क्रिया, तथा- न्यूना अधिका विपरीता वा । सम्यक् समिधादीन् घोषादींश्च यथावस्थितानाश्रित्य तत्र समिधः-अश्वत्थादिवृक्षाणां प्रति शाखाखण्डानि, मन्त्राः-प्रणवप्रभृतयो अक्षरपद्धतयः, आहुतिः-वह्नौ घृतादेः प्रक्षेपः, स्थानम्-उत्कुटादि, याग अश्वमेधादि, काल-प्रभातादि घोषाः उदात्तादयः, आदिशब्दात्-ह्रस्वदीर्घादिपरिग्रहः, एवं चोक्ते स साधु ब्राह्मणं जानाति । तथा च सति भद्रप्रान्तेषु वा पूर्ववत् दोषा वक्तव्या. । उक्तं जात्युपजीवनम् ।

अथ कुलाद्युपजीवनमाह—

उग्गाइकुलेसु वि एवा-मेव गणिमण्डलप्पवेसाई ।
देउलदरिसणभासा-उवणयणे दंडमाईया ॥ ४४१ ॥

एवमेव-जात्यादिव कुलादिष्वपि उग्रादिषूपजीवनमवगन्तव्यम्, यथा कोऽपि साधुरुग्रकुले भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र च तत्पुत्रं पदातीन् यथावदारक्षककर्मसु नियुञ्जानं दृष्ट्वा तत्पितरमाह-योऽयं 'त' तव पुत्रोऽप्यवदितोऽपि यथायोगं पदातीन् नियोजयन्नुग्रकुलसम्भूत इति । तत स जानाति एषोऽपि साधुरुग्रकुलसमुत्पन्न इति इदं तु सूचया स्वकुलप्रकाशनम्, यदा तु स्फुटं वा वचसा स्वकुलमावेदयति-यथाहमुग्रकुला भोगकुल इत्यादि । तदा असूचया प्रकटनं तेषां भद्रप्रान्तत्वे पूर्वोक्तानुसारेण दोषा वक्तव्या । तथा-'गण'-गणविषये मण्डलप्रवेशादि इहाक्षवाटके प्रविष्टस्यैकस्य मल्लस्य यल्लभ्यं भूखण्डं तन्मण्डलं तत्र वर्तमानस्य प्रतिद्वन्द्विना मल्लस्य विवाधाय यः प्रवेशस्तदादिशब्दात्-श्रीवा-

महादिपरिग्रहः, तथा देवकुलदर्शनं युद्धप्रदेशे चामुण्डायतनगमनं, भाषा पठनस्य प्रतिमल्लाह्वानाय तथा तथा वचनढौकनं दण्डादिका धरणपातनच्छुप्ताङ्कयुद्धप्रभृतयः, एतान् गुणान् गृहे प्रविष्टः सन् तत्पुत्रस्य प्रशंसति, तथा च सति तेन ज्ञायते-यथैषोऽपि साधुर्मल्ल इत्यादि प्राग्वत् ।

कर्म-शिल्पयोराजीवनमाह—

कत्तरि पओयणावे-क्खवत्थुबहुवित्थरेसु एमेव ।
कम्मेसु य सिप्पेसु य, सम्ममसम्मेसु सू इयर ॥ ४४२ ॥

कर्मसु, शिल्पेषु च एवमेव-कुलादाविवोपजीवनं वक्तव्यम्, कथमित्याह- 'कर्तरि' कर्मणां शिल्पानां च विधायके. उपलक्षणमेतद्विधायके च वणिजादौ, सप्तमी चात्र षष्ठ्यर्थे, ततोऽयमर्थः-कर्तुः कारापकस्य च प्रयोजनापेक्षेषु भूमिविलेखनादिप्रयोजननिमित्तं ध्रियमाणेषु हलादिषु वस्तुषु सूत्रं चात्र विभक्तिलोपः आर्षत्वात् । बहुविस्तरेषु-प्रभूतेषु नानाविधेषु च सम्यक् असम्यगिति वा प्रोच्यमानेषु शोभनानि अशोभनानीति वा कथ्यमानेषु यदात्मनि कर्माणि शिल्पे वा कौशलज्ञापनं तत्तयोरुपजीवनम् इयमत्र भावना-भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् साधुः कृष्यादि कर्तुः कारापकस्य वा तत्प्रयोजनापेक्षणीयानि नानारूपाणि हलादीनि बहूनि वस्तूनि तानि दृष्ट्वा आत्मनः कर्मणि शिल्पे वा कौशलज्ञापनाय शोभनान्यशोभनानि वा यत् वक्ति तत्कर्मशिल्पयोराजीवनम् । अनेन च प्रकारेण कौशलज्ञापनं सूचा स्फुटवचनेन च कौशलकथनम् असूचा । पिं० । नि० चू० ।

आजीविकापिण्डग्रहणे दोषाः । सूत्रम्-

जे भिक्खू आजीवियं पिंडं भुंजइ भुंजतं वा साइज्जइ ॥ ६२ ॥

जातिमातिभाव उवजीवति त्ति आजीवणपिंडो ।

गाहा—

जे भिक्खू जीविपिंडं, गेण्हेज्ज सयं तु अहवा सातिज्जे ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १४८ ॥

स्वयं हरहति, अण्णं वा गेण्हावेति, अणुजाणाति वा, तस्स आणादिया य दोषा चउलहुं च पच्छित्तं । नि० चू० १३ उ० । आजीवति कर्त्तरि अच् । आजीवनकारिणि, कर्माजीवनृ ग्राजीव इत्यादौ तु आजीव अण् उप० स० इति भेदः । वाच० । कुशीलभेदे प्रव० २ द्वार । व्य० । आजीवनम्-उपजीवनं जातिकुलगणशिल्पादिना करोतीति । दर्श० ४ तत्त्व ।

स च पञ्चविधः —

पंचविहे आजीवे पण्णत्ते, तं जहा-जाइआजीवे, कुलाऽऽजीवे, कम्माऽऽजीवे, सिप्पाऽऽजीवे, लिंगाऽऽजीवे ।
(सूत्र-४०७)

कुशीलभेदे, व्य० ।

(अस्य सप्त भेदाः)—

जाती कुले गणे वा, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव ।
सत्तविहं आजीवं, उवजीवइ जो कुसीलो उ ॥ २५३ ॥

जातिर्मातृकी, कुलं पैतृकं गणो मल्लगणादिः, कर्म-अनाचार्यकम्, आचार्योपदेशजं शिल्पम् । तपः-श्रुते, प्रतीते । एवं सप्तविधम् आजीवं य उपजीवति-जीवनार्थमाश्रयति, त-

यथा-जातिं कुलं चात्मीयं लोकेभ्यः कथयति । येन जातिपूज्यतया कुलपूज्यतया वा भक्तपानादिकं प्रभूतं लभेयमिति, अनयैव बुद्ध्या मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कर्मशिल्पकुशलेभ्यः कर्मशिल्पकौशलं कथयति । तपसः उपजीवना तपः कृत्वा तपकोऽहमिति जनेभ्यः कथयति श्रुतोपजीवना बहुश्रुतोऽहमिति सः कुशीलः । व्य० १ उ० ।(कुशीलानां बहवो भेदाः ते च 'कुसील' शब्दे तृतीयभागे विस्तरतो वक्ष्यते । आजीवस्य प्रायश्चित्तं च तत्रैव ।) श्रमणभेदे च । ये गोशालकमतमनुसरन्ति भण्यन्ते ते तु आजीवकाः इति । एते ऽपि लोके श्रमणा इति व्यपदिश्यन्त इति । प्रव० ६४ द्वार ।

आजीवग-आजीवक-पुं० । आ-जीव-कर्त्तरि एवुल् । आजीवनकर्त्तरि । वाच० । श्रमणभेदे, । प्रव० ६५ द्वार । आचा० ।

आजीवग-पु० । आ-समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीव -अर्थनिचयस्तं गच्छति-आश्रयत्यसौ-आजीवगः । अर्थमदे,सूत्र० । "आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से" ॥ १५ ॥ आ-समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीवोऽर्थनिचयस्तं गच्छत्याश्रयत्यसौ आवाजीगः-अर्थमदस्तं च चतुर्थं नामयेत्, चशब्दाच्छेषानपि मदान्नामयेत् तन्नामनाच्चासौ पण्डितःतत्ववेत्ता भवति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

आजीवण-आजीवन-न० । आजीवत्यनेन, करणे ल्युट् । वृत्त्युपाये, भावे ल्युट् । वृत्त्यर्थमुपायग्रहणे, वाच० । जात्याद्याजीवनेनोत्पादिते आहारशय्यादिके, "वणीमगाऽऽजीवणनिकाए" ॥ १६४ +॥ आजीवन यदाहारशय्यादिकं जात्याद्याजीवनेनोत्पादितम् । व्य० ३ उ० ।

आजीवणा-आजीवना-स्त्री० । परोपजीवने, दर्श० १ तत्त्व ।

आजीवणापिंड-आजीवनापिण्ड-पु० । उत्पादनादोषविशेषस्पृष्टे जातिकुलगणकर्मशिल्पैरात्मनो गृहस्थस्य च तुल्यरूपताख्यापनेन लब्धजीवनापिण्डे, जीत० ।

आजीवणाभय-आजीवनाभय-न० । आजीवना-परोपजीवन सैव भयम् आजीवनाभयम् । भयभेदे, यथा राजामात्यादिपदातिराजीवनाभयात्संग्रामादौ मरणमध्यवस्यति । दर्श० १ तत्त्व ।

आजीवदिट्ठंत-आजीवदृष्टान्त-पुं० । आ-सकलजगदाभिव्याप्य जीवाना यो दृष्टान्तः-परिच्छेदः स आजीवदृष्टान्तः । सकलजीवनिदर्शने, आह च मूलटीकाकार- 'आजीवदृष्टान्तेन-सकलजीवनिदर्शनेन । जी० ३ प्रति० २ अधि० १ उ० । (आजीवदृष्टान्तेन तिर्यग्योनिकानां जातिकुलकोटिविचार 'निरिक्खजोणिय' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते)

आजीवपिंड-आजीवपिण्ड-पुं० । जातिकुलगणकर्मशिल्पादिप्रधानेभ्य आत्मनस्तद्गुणत्वारोपणं भिक्षार्थमाजीवपिण्ड इत्युक्तलक्षणे उत्पादनादोषभेदे, ध० ३ अधि० । आचा० । पञ्चा० । "जच्चाइणा जीवे'-जात्यादिना जातिकुलगणकर्मशिल्पादिकमाजीवेद्-उपजीवति यस्तस्य तत्कथनमुपजीवन चोत्पादनादोषः । पञ्चा० १३ विव० । (अस्य वक्तव्यता 'आजीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव गता ।)

आजीववित्तिया-आजीववृत्तिता-स्त्री० । जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनमाजीवस्तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता । जात्याद्याजीवनेनात्मपालनायाम्, "जा य आजीववित्तिया" ॥ ६+ ॥ इयं चानाचरिता । दश० ३ अ० ।

आजीवि(न्)-आजीविन्-पु । गोशालकशिष्ये, उपा० १ अ० ।

आजीविय-आजीविक-पु । नाग्न्यधारिणि पाखण्डिविशेषे, अविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्तपश्चरणादीन्याजीवति, भ० १ श० २ उ० । श्रमणभेदे, आचा० २ श्रु० २ चू० १ अ० १ उ० । स्था० । ते च गोशालकशिष्याः (स्था० । ४ ठा० २ उ० । उपा० ।) गोशालकप्रवर्त्तिता आजीविकाः पाखण्डिनः । नं० । "आजीवियाणं' (सूत्र-२५×) पाखण्डिविशेषाणां नाग्न्यधारिणां, गोसालकशिष्याणामित्यन्ये । आजीवन्ति वा ये अविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्तपश्चरणादीनि ते आजीविकास्तित्वेनाऽऽजीविका अतस्तेषाम् भ० १ श० २ उ० ।

आजीविकाः-निह्नवा अनाराधकाः तेषामुपपत्तिगतिस्थितयो यथा—

से जे इमे गामागर०जाव सन्निवेसेसु आजीवका भवंति । तं जहा—दुघरंतरिया तिघरंतरिया सत्तघरंतरिया उप्पलबेंटिया घरसमुदाणिया विज्जुअंतरिया उट्टिया समणा, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तेहिं तेसिं गती बावीसं सागरोवमाइं ठिती, अणाराहका सेसं तं चेव ॥ १७ ॥ (सूत्र-४१×)

आजीविका-गोशालकमतानुवर्त्तिनः, 'दुघरंतरिय' त्ति-एकत्र गृहे भिक्षां गृहीत्वा येऽभिग्रहविशेषाद् गृहद्वयमतिक्रम्य पुनर्भिक्षां गृह्णन्ति;न निरन्तरमेकान्तरं वा ते द्विगृहान्तरिकाः द्वे गृहे अन्तरं भिक्षाग्रहणे येषामस्ति ते द्विगृहान्तरिका इति निर्वचनम् । एवं त्रिगृहान्तरिकाः सप्तगृहान्तरिकाश्च 'उप्पलबेंटिय त्ति-उत्पलवृन्तानि नियमविशेषात् आहारतया भैक्षत्वेन येषां सन्ति ते उत्पलवृन्तिकाः । 'घरसमुदाणिय'त्ति-गृहसमुदाने-प्रतिगृहं भिक्षाया येषा आहारतयाऽस्ति ते गृहसमुदानिका । 'विज्जुयंतरिय'त्ति—विद्युति सत्याम् अन्तरं भिक्षाग्रहणस्य येषामस्ति ते विद्युदन्तरिका, विद्युत्सम्पाते भिक्षां नाटन्तीति भावार्थः । 'उट्टियासमण' त्ति—उष्ट्रिका—महान्मृण्मयो भाजनविशेषस्तत्र प्रविष्टा ये श्राम्यन्ति तपस्यन्तीत्युष्ट्रिकाश्रमणाः । एषां च पदानामुत्प्रेक्षया व्याख्या कृतेति ॥ १७ ॥ औ० । कुशीलभेदे च । आव० ३ अ० । (तस्य भेदादि 'आजीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शिता ।) सामायिककृत श्रावकस्य कोऽपि भाण्डमपहरेत्तत्कस्येति आजीविकपृच्छा 'सामाइयकय' शब्दात्सप्तमभागावगन्तव्या)

आजीवियभय-आजीविकाभय-न० । निर्द्धनः कथं दुर्भिक्षादावात्मानं धारयिष्यामीत्येवंरूपे भयभेदे, आव० ४ अ० ।

आजीवियभयगत्था, मूढा णो साहुणो णेया ॥ ५१ ॥

आजीवनमाजीविका-निर्वाहस्तदभावेनया यद् भय-भीतिस्तदाजीविकाभयं तेन ग्रस्ता-अभिभूता ये तथा गृहस्थैर्विज्ञाननिर्गुणत्वाद्नादिविरहिता वा; कथं निर्वहयाम इत्यभिप्रायवन्त इत्यर्थः । मूढा-मुग्धा परलोकसाधनवैमुख्यनेहलोकप्रतिबद्धत्वात् । 'नो' नैव साधवो ज्ञेया-ज्ञातव्याः । पञ्चा० १७ विव० ।

आजीवियसमय-आजीविकसमय-पुं० । गोशालकसिद्धान्ते, भ० ।

आजीवियसमयस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते, अक्खीणपडिभोइणो सव्वे सत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता आहारमाहरेंति । (सूत्र-३३०+)

आजीविकसमयस्य-गोशालकसिद्धान्तस्य 'अयमट्ठे 'त्ति-इदमभिधेयम्-'अक्खीणपरिभोइणो सव्वसत्त'त्ति-अक्षीणम् अक्षीणायुष्कम्-अप्रासुकं परिभुञ्जन इत्येवंशीला अक्षीणपरिभोगिन, अथवा—इन्प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वादक्षीणपरिभोगाः अनपगताहारमेवगाः सक्रय इत्यर्थः, सर्वे सत्त्वा असंयता सर्वे प्राणिनो यद्येवं ततः किमित्याह-' से हंते 'त्यादि, 'से'त्ति-तत । 'हन्ते' त्ति-हत्वा लगुडादिनाऽभ्यवहार्यं प्राणिजातं छित्त्वा-असिपुत्रिकादिना द्विधा कृत्वा 'भित्वा' शूलादिना भिन्नं कृत्वा 'लुप्त्वा' पक्षमादिलोपनेन 'विलुप्य' त्वचो विलोपनेन 'अपद्राव्य' विनाश्य आहारमाहारयन्ति । भ० ८ श० ५ उ० ।

आजीवियसुत्त-आजीविकसूत्र-न० । गोशालकप्रवर्तितपाखण्डसूत्र, स० । "आजीवियसुत्तपरिवाडीए" (सूत्र-१४७×) गोशालकप्रवर्तितपाखण्डसूत्रपरिपाट्या । स० १४७ सम० । (एतद्वक्तव्यता विशेषेन 'सुत्त' शब्दे सप्तमभागे वक्ष्यते ।)

आजीविया-आजीविका-स्त्री० । आजीवयति आ-जीव णिच-ण्वुल् । जीविकायाम्, वृत्तौ, जीवनार्थे व्यापारे, वाच० । आजीवनमाजीविका । निर्वाहे, पञ्चा० १७ विव० । आजीविका च सप्तभिरुपायैः स्याद्-वाणिज्येण १ विद्यया २ कृष्या ३ शिल्पेन ४ पाशुपाल्येन ५ सेवया ६ भिक्षया ७ च । तत्र वाणिज्येन वणिजाम् १, विद्यया वैद्यादीनाम् २, कृष्या कौटुम्बिकादीनाम् ३, पाशुपाल्येन गोपालादीनाम् ४, शिल्पेन चित्रकारादीनाम् ५, सेवया सेवकानाम् ६, भिक्षया भिक्षाचराणाम् । ७ । (६४ श्लोकटी०) । ध० २ अधि० ।

आजीवियादोस-आजीविकादोष-पुं० । चतुर्थे उत्पादनादोषे, उत्त० । यदा गृहस्थस्य ज्ञातिं कुलं ज्ञात्वा आत्मीयमपि साधुस्तमेव ज्ञातिं तदेव कुलं स्वकीयं प्रकाश्याऽऽहारं गृह्णाति तदाऽऽजीविकादोषश्चतुर्थः । उत्त० २४ अ० ।

आजीवियोवासग-आजीविकोपासक-पुं० । आजीविका-गोशालकशिष्यास्तेषामुपासक आजीविकोपासक । उत्त० २४ अ० । गोशालकशिष्यश्रावके, भ० ।

आजीविकसमयमधिकृत्य दर्शिता —

तत्थ खलु इमे दुवालस आजीवियोवासगा भवंति तं जहा-ताले १, तालपलंबे २, उव्विहे ३, संविहे ४, अववविहे ५, उदए ६, नामुदए ७, णमुदए ८, अणुवालए ९, संखवालए १०, अयंबुले ११, कायरिए १२, इच्चेए दुवालस आजीवियोवासगा अरहंतदेवयागा अम्मापिउसुस्सूसगा पंचफलपडिक्कंता, तं जहा-उउंबरेहिं वडेहिं बोरेहिं सतरेहिं पिलक्खूहिं पलंडुल्हसुणकंदमूलविवज्जगा अणिल्लंछिएहिं अणक्कभिण्णेहिं गोणेहिं तसपाणविवज्जिएहिं वित्तेहिं वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । एए वि ताव एवं इच्छंति किमंग ! पुण जे इमे समणोवासगा भवंति तेसिं णो कप्पंति इमाइं पण्णरसकम्माऽऽदाणाइं सयं करेत्तए वा कारवेत्तए वा करंतं वा अण्णं ण समणुजाणेत्तए, तं जहा-इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे केसवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे जंतपीलणकम्मे निल्लंछणकम्मे दवग्गिदावणया सरदहतलावपरिसोसणया असईपोसणया इच्चेए समणोवासगा सुक्का सुक्काभिजाइया भविया भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । (सूत्र-३३० +)

'तत्थ' त्ति-तत्र—एवं स्थितेऽस्मिन्नसत्त्ववर्गे; हननादिदोषपरायणे इत्यर्थः, आजीविकसमये वाऽधिकरणभूते द्वादशेति विशेषानुष्ठानत्वात् परिगणितः अवन्द्यादिश्रमणोपासकवदन्यथा बहवस्ते, 'ताले' त्ति-तालाभिधान एक, एव तालप्रलम्बादयोऽपि, 'अरहंतदेवयाग' त्ति-गोशालकस्य तत्कल्पनमाऽऽर्हत्वात् 'पंचफलपडिक्कंत' त्ति-फलपञ्चकाभिवृत्ता उदुम्बरादीनि च पञ्च पदानि पञ्चमीबहुवचनान्तानि प्रतिक्रान्तशब्दानुस्मरणादिति । 'अनिल्लाछुएहिं' त्ति-अवर्धितकैः, 'अणक्कभिन्नेहिं' ति-अनासितनैः 'एए वि ताव एवं इच्छंति' त्ति-एतेऽपि तावत, विशिष्टयोग्यताविकला इत्यर्थः, 'एवं इच्छति' अमुना प्रकारेण वाञ्छन्ति धर्ममिति गम्यम् ' किमंग ! पुण ' इत्यादि, किं पुनर्ये इमे श्रमणोपासका भवन्ति ते नेच्छन्तीति गम्यम्, इच्छन्त्येवेति विशिष्टतरदेवगुरुप्रवचनसमाश्रितत्वाच्चेषाम् । भ० ८ श० ५ उ० ।

आजुत्त-आयुक्त-त्रि० । अप्रमत्ते, "अच्छरथ जुत्तो आजुत्तो वा" अप्रमत्त इत्यर्थे । नि० चू० १ उ० ।

आडंबर-आडंबर-पुं० । आड×वि । क्षेप, अरन् । हर्षे, दर्पे, तूर्यस्वने, आरम्भे, संरम्भे, अक्षिलाक्षिन, घनगर्जिते, आयोजने च, मत्वर्थे इनि । आडम्बरिन् । तद्युक्ते त्रि० । वाच० । पटहे, "आडम्बरो धवहयं" (सूत्र-५५३+) । स्था० ७ ठा० ३ उ० । अनु० । यक्षे, "पाणाडवरे अरुहे पाणत्ति मायगा तेसिं आडम्बरो जक्खो हरिमिक्को त्ति भण्णतीति । आव० ४ अ० । आ० चू० । यक्षायतने, "आडंबरे य" ॥ ३ ४+ ॥ आडम्बर—आडम्बरयक्षायतने । व्य० ७ उ० ।

आडहण-आदहन-न०। आ-दह भावे ल्युट्। आ-समन्ताद्दहने, "थूलं वियासं मुहे आडहंति" ॥ ३४॥ मुखे विकाशं कृत्वा स्थूलं बृहत्तप्तायोगोलादिकं प्रक्षिपन्त आ-समन्ताद्दहन्ति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। दाहे, हिंसायां, कुत्सने च। आदहन्त्यत्र आधारे ल्युट्। श्मशाने वाच०।

आडोव-आटोप-पुं०। आ-तुप् घञ्-पृषो० टत्वम्। दर्पे, संरम्भे,। वाच०। आडम्बरे च। उपा० २ अ०। स्फारतायाम्, आ० १ श्रु० १ अ०। वातजन्ये उदरशब्दभेदे, वाच०।

आढई-अ.ढकी-स्त्री०। आढौकते अच् पृषो० गौ० ङीप्। गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। "आढकी तुवरी रूक्षा, मधुरा शीतला लघु। ग्राहिणी वातजननी, वर्ण्या पित्तकफास्रजित्" ॥१॥ भावप्र०। फले, अस्य पुंस्त्वमपि "आढकाश्च मधुराश्च, कोद्रवान् लवणं त्यजेत्। काशी० स्त०। वैश्वदेवे, वर्जने, वाच०।

आढग(य)-आढक-पुं०। आढौकते आ-ढौक-घञ्-पृ०। चतुष्प्रस्थात्मके धान्यप्रमाणविशेषे, अनु०। "चउपत्थमाढयं" (सूत्र-३८+टी०)। औ०। ज्यो०। आ० म०। ज्ञा०। उत्त०। चतुर्भिः प्रस्थैराढक.। तं०। "तंदुलाणाऽऽढयं कलमा" ॥ ५८८ ॥ तन्दुलानां कलमाः इति प्राकृतशैल्या कलमानाम् आढकम्-चतु प्रस्थप्रमाणम्। आ० म० १ अ०। "आढकं तडुलाणं सिट्ठ त्ति" । आ० चू० १ अ०। "अष्टमुष्टिर्भवेत् कुञ्चि, कुञ्चयोऽष्टौ तु पुष्कलम्। पुष्कलानि च चत्वारि, आढक. परिकीर्त्तित" ॥ १ ॥ वाच०।

आढत्त-(आरद्ध)-आरब्ध-त्रि०। आ-रभ-क्त। "मलिनोभयशुक्तिछुप्तारब्धपदातेर्मइलावहसिप्पिछिक्काऽऽढत्तपाइक्कं" ॥ ८। २। १३८॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण आढत्त इत्यादेशो वा। पक्षे-आरद्ध। प्रा०। कृतारम्भणे, भावे क्त। आरम्भे, न०। अवरुद्धे, वाच०। "सा दाउं आढत्ता" ॥१३४॥ सा संघाटं दातुं प्रवृत्ता, परावर्तयितु, व्याख्यातु च, प्रवृत्तेत्यर्थः। व्य० ५ उ०।

आढप्प-आरभ्य-"आरभेराढप्प" ॥ ८। ४। २५४॥ इति इति हैमप्राकृतसूत्रेणाङ्पूर्वस्य रभे कर्मभावे आढप्प इत्यादेशो वा यक्लुक् च। आढप्पइ। पक्षे-आढवीअइ। प्रा०।

आढव-आरंभ-पु०। आ-रभ-भावे घञ्। "आडो रभेः रम्भ-ढवौ" ॥ ८। ४। १५५॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण रभेः रम्भढव इत्यादेशौ वा। प्रा०। आरम्भणे, वाच०। आरम्भइ। आढवइ। आरभइ। प्रा० ४ पाद।

आढाइत्ता-अ.दृत्य-अव्य०। आ-दृ-ल्यप्। सम्मान्येत्यर्थे. वाच०। "एयमट्ठं णो आढाइ" (सूत्र-३८६४) नाद्रियते तदर्थेऽनादरवान् भवति। भ० ६ श० ३३ उ०। स्था०।

आढायमाण-आद्रियमाण त्रि०। आदरक्रियाविषयीक्रियमाणे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। "पर आढायमाणे" (सूत्र-१६७४) परम्-अत्यर्थमाद्रियमाण इति अत्यर्थमादरवान्। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

आढिय-आदृत-त्रि०। आ-दृ-कर्त्तरि क्त। "आदृते. ढि" ॥ ८। १। १४३॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण ढिरादेशः। प्रा०। सादरे, कृतादरे, कर्मणि क्त। यस्यादरः कृतस्तस्मिन्, वाच०। आदरक्रियाविषयीकृते, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। सम्मानित, पूजिते च। वाच०। आदरे, न०। आव० ३ अ०।

आण-आण(न)-पुं०। उच्छ्वासक्रियायाम्, प्रज्ञा० ७ पद।

स च नैरयिकादिदण्डकक्रमेण दर्शितः—

णेरइया णं भंते! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा?, गोयमा! सततं संतयामेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा। (सूत्र-१४६+)

'नेरइया णं भंते!' इत्यादि, नैरयिका णमिति वाक्यालंकारे, 'भदन्त! केवइकालस्स' इति-प्राकृतशैल्या पञ्चम्यर्थे तृतीयार्थे षष्ठी, ततोऽयमर्थ-कियत. कालात्-कियता वा कालेन आणमन्ति 'आन ति-'अन' प्राणने इति धातुपाठात्, मकारोऽलाक्षणिक., एवमन्यत्रापि यथायोग परिभावनीयम् 'पाणमन्ति वा'-प्राणन्ति वाशब्दौ समुच्चयार्थौ, एतदेव पदद्वय क्रमेणार्थत' स्पष्टयति-' ऊससंति वा नीससंति वा '-यदेवोक्तम्-आनन्ति तदेवोक्तमुच्छ्वसन्ति तथा यदेवोक्त प्राणन्ति तदेवोक्त- नि श्वसन्ति, अथवा-आनमन्ति प्राणमन्ति इति-'णम्' प्रह्वत्वे शब्दे इत्यस्य द्रष्टव्यम्; धातूनामनेकार्थतया श्वसनार्थत्वस्याप्यविरोधः। अपरे व्याचक्षते-आनन्ति प्राणन्तीत्यनेनान्त' स्फुरन्ति उच्छ्वासनि श्वासक्रिया परिगृह्यते उच्छ्वसन्ति नि.श्वसन्तीत्यनेन तु बाह्या, एवं गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह गौतम! सततम्-अविरहित अनिदु खिता हि नैरयिका दु खितानां च निरन्त रमुच्छ्वासनि.श्वासौ, तथा लोके दर्शनात्, तच्च सततं प्राया वृत्त्याऽपि स्यादत आह-'संतयामेव'-सततमेव-अनवरतमेव नैकोऽपि समयस्तद्विरहकालो, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, आनमन्तीत्यादे पुनरुच्चारण शिष्यवचने आदरोपदर्शनार्थं गुरुभिराद्रियमाणवचना हि शिष्याः सन्तोषवन्तो भवन्ति, तथा च सति पौन पुन्येन प्रश्नश्रवणार्थे निर्णयादिषु घटन्ते, लोके आदेयवचना भवन्ति एव प्रभूतभव्यापकारस्तीर्थाभिवृद्धिश्च।

असुरकुमारा णं भंते! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा?, गोयमा! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं सातिरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा।

नागकुमारा णं भंते! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा?, गोयमा! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स।

एवं जाव थणियकुमारा णं। (सूत्र-१४६+)

असुरकुमारसूत्रे 'उक्कोसेणं सातिरेगस्स पक्खस्स' इतिइह देवेषु यस्य यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्य तावत् पक्षप्रमाण उच्छ्वासनि.श्वासक्रियाविरहकाल। असुरकुमाराणां चोत्कृष्टा स्थितिरेक सातिरेक सागरोपमम् "चमरबलिसारमहियं" मिति वचनात्, तत.' साति-

रेगस्स पक्खस्स' इत्युक्तं सातिरेकपक्षादूर्ध्वमुच्छ्वसन्तीत्यर्थः, । प्रज्ञा० ७ पद । भ० । 'मुहुत्तपुहुत्तस्स ' त्ति-सप्तानां स्तोकानामुपरीति गम्यते, स्तोकलक्षणं चेदम्- "हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जंतुणो । एगे ऊसासनीसासे, एस पाणु त्ति वुच्चइ " ॥ १ ॥ सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे । लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥ २ ॥ " इति । इदं जघन्यमुच्छ्वासादिमान भवनपतिनिकायाभिप्रायेणावसेयम्, उत्कृष्टं तु ज्योतिष्कनिकायाभिप्रायेणेति । भ० १ श० १ उ० । 'मुहुत्तपुहुत्तस्स' त्ति-मुहूर्तं उत्कृष्टत एव, पृथक्त्वं तु द्विप्रभृतिरानवपर्यन्तसंख्याविशेष, समयभाषया प्रसिद्ध । भ० १ श० १ उ० ।

पुढवीकाइया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! वेमायाए आणमंति वा ०जाव नीससंति वा । एवं ०जाव मणुस्सा ।

वाणमंतरा जहा नागकुमारा । (सूत्र-१४६ +)

पृथिवीकायिकसूत्रे ' वेमायाए ' इति-विषमा मात्रा यथा, किमुक्तं भवति—अनियतविरहकालमात्रप्रमाणा तेषामुच्छ्वासादि इत्यर्थक्रिया । प्रज्ञा० ७ पद ।

जोइसिया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहुत्तस्स ०जाव नीससंति वा (सूत्र-१४६+)

उच्छ्वासस्तथा न नागकुमारसमान, किंतु-पृथग्भाव, तथा चाह-' जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स ' इत्यादि, पृथक्त्वं द्विप्रभृतिरानवभ्यस्तत्र यज्जघन्यं मुहूर्तपृथक्त्वं तद् द्विधा मुहूर्तौ, यदुत्कृष्टं तदष्टौ नव वेति । भ० १ श० १ उ० ।

वेमाणिया णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा० जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

सोहम्मदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेणं दोण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

ईसाणगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगस्स मुहुत्तपुहुत्तस्स उक्कोसेणं सातिरेगाणं दोण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

सणंकुमारदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं दोण्हं पक्खाणं उक्कोसेणं सत्तण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

माहिंदगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सातिरेगं दोण्हं पक्खाणं, उक्कोसेणं सातिरेगं सत्तण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

बंभलोयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं पक्खाणं, उक्कोसेणं दसण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

लंतगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा?, गोयमा ! जहन्नेणं दसण्हं पक्खाणं, उक्कोसेणं चउद्दसण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

महासुक्कदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं चोद्दसण्हं पक्खाणं उक्कोसेणं सत्तरसण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

सहस्सारगदेवा णं भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं सत्तरसण्हं पक्खाणं उक्कोसेणं अट्ठारसण्हं पक्खाणं ०जाव नीससंति वा।

आणयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठारसण्हं पक्खाणं उक्कोसेणं एगूणवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

पाणयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा?, गोयमा ! जहन्नेणं एगूणवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं वीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

आरणदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं वीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं एगवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

अच्चुयदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा?, गोयमा ! जहन्नेणं एक्कवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं बावीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं बावीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं तेवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

हेट्ठिममज्झिमगेविज्जदेवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं तेवीसाए पक्खा० उक्कोसेणं चउव्वीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

हेट्ठिमउवरिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं चउव्वीसाए पक्खाणं, उक्कोसेणं पणवीसाए पक्खाणं ०जाव नीससंति वा ।

मज्झिमहेट्ठिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं पणवीसाए पक्खाणं उक्कोसेणं छव्वीसाए पक्खाणं० जाव नीससंति वा ।

मज्झिममज्झिमगेविज्जगा णं देवा णं भंते ! केवइकालस्स ०जाव नीससंति वा ?, गोयमा ! जहन्नेणं छ-

जे देवा सिरिवच्छं सिरिदामकंडं मल्लं किट्टं चावोण्णतं अरणणवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववरणा । (स०) ते णं देवा एक्कवीसाए अद्धमासाणं आणमंति वा पाणमति वा उस्ससंति वा नीससंति वा । (सूत्र-२१ ×) स० २१ सम० ।

जे देवा महियं विसहियं विमलं पभासं वणमालं अच्चुतवडिंसगं विमाणं देवत्ताए उववरणा । (स०) ते णं देवा बावीसाए अद्धमासएणं आणमंति वा पाणमंति उस्ससंति वा नीससंति वा । (सूत्र-२२ ×) स० २२ सम० ।

द्वीन्द्रियाऽऽदीनामानप्राणाद्यस्तित्वं यथा—

जे इमे भंते ! बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया । जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा जाणामो पासामो, जे इमे पुढविकाइया ०जाव वणप्फइकाइया एगिंदिया जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा ण जाणामो, ण पासामो । एएसि णं भंते ! जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ?, हंता गोयमा ! एए वि य णं जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा । (सूत्र-८४ ×)

'जे इमे' इत्यादि, यद्यप्येकेन्द्रियाणामागमादिप्रमाणाज्जीवत्वं प्रतीयते तथापि तदुच्छ्वासादीनां साक्षादनुपलम्भाज्जीवच्छरीरस्य च निरुच्छ्वासादेरपि कदाचिद्दर्शनात् पृथिव्यादिषूच्छ्वासादिविषया शङ्का स्यादिति तन्निरासाय तेषामुच्छ्वासादिकमस्तीत्येतस्यागमप्रमाणप्रसिद्धस्य प्रदर्शनपरमिदं सूत्रमवगन्तव्यमिति ।

उच्छ्वासाद्यधिकाराज्जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेषूच्छ्वासादिद्रव्याणां स्वरूपनिर्णयाय प्रश्नयन्नाह—

किराणं भंते ! एते जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ?, गोयमा ! दव्वओ णं अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खित्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं, कालओ अन्नयरट्ठिइयाइं, भावओ वरणमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा । जाइं भावओ वरणमंताइं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ताइं किं एगवरणाइं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा ?, आहारगमो नेयव्वो ०जाव पंचदिसं ।

किराणं भंते ! जीवे' त्यादि, किमित्यस्य सामान्यनिर्देशत्वात्कानि, किंविधानि द्रव्याणीत्यर्थः, 'आहारगमो नेयव्वो' त्ति, प्रज्ञापनाया अष्टाविंशतितमाहारपदोक्तसूत्रपद्धतिरिहाध्येयेत्यर्थः, सा चेयम्- दुवरणाइं तिवरणाइं ०जाव पचवरणाइं पि जाइं वरणओ कालाइं ताइं किं एगगुणकालाइं ०जाव अणंतगुणकालाइं पि" इत्यादिरिति ।

किराणं भंते ! णेरइया आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा निस्ससंति वा तं चेव ०जाव नियमा छद्दिसिं आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नी०वा, जीवा एगिंदिया वाघाया निव्वाघाया भाणियव्वा, सेसा नियमा छद्दिसिं ।

'जीवेगिंदिए' त्यादि, जीवा एकेन्द्रियाश्च 'वाघाय-निव्वाघाय' त्ति-मतुब्लोपाद् व्याघातनिर्व्याघातवन्तो भणितव्याः, इह चैव पाठेऽपि निर्व्याघातशब्दः पूर्वं द्रष्टव्यस्तदभिलापस्य सूत्रे तथैव दृश्यमानत्वात्, तत्र जीवा निर्व्याघाता सव्याघाताः सूत्र एव दर्शिताः, एकेन्द्रियास्त्वेवम्-' पुढविकाइया णं भंते ! कइ दिसिं आणमंति ? गोयमा ! निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसि' मित्यादि, एवमप्कायादिष्वपि तत्र निर्व्याघातेन षड्दिश षड्दिशो यत्रानमनादौ तत्तथा । व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशं, स्याच्चतुर्दिशं, स्यात्पञ्चदिशं, आनमन्ति यतस्तेषां लोकान्तवृत्तावलोकेन व्याप्तिदिग्नूच्छ्वासादिपुद्गलानां व्याघातः सम्भवतीति 'सेसा नियमा छद्दिसिं' इति-शेषा नारकादित्रसाः षड्दिशमानमन्ति तेषां हि त्रसनाड्यन्तर्भूतत्वात् षड्दिशमुच्छ्वासादिपुद्गलग्रहोऽस्त्येवेति । अथैकेन्द्रियाणामुच्छ्वासादिभावादुच्छ्वासादेश्च वायुरूपत्वात् किं वायुकायिकानामप्युच्छ्वासादिना वायुनैव भवितव्यम् ? उत अन्येन केनापि पृथिव्यादीनामिव तद्विलक्षणेनेत्याशङ्कया प्रश्नयन्नाह—

वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा ? हंता गोयमा ! वाउयाए णं ०जाव नीससंति वा । (सूत्र-८५)

'वाउयाए णमि' त्यादि, अथोच्छ्वासस्यापि वायुत्वादन्येनोच्छ्वासवायुना भाव्यम्, तस्याप्यन्येनैवमनवस्था, नैवमचेतनत्वात्तस्य, किञ्च-योऽयमुच्छ्वासवायुः स वायुत्वेऽपि न वायुसम्भाव्यौदारिकवैक्रियशरीररूपः तदीयपुद्गलानामानप्राणसञ्ज्ञितानामौदारिकवैक्रियशरीरपुद्गलेभ्योऽनन्तगुणप्रदेशत्वेन सूक्ष्मतया एतच्छरीराव्यपदेशत्वात्, तथा च प्रत्युच्छ्वासादीनामभाव इति नाऽनवस्था । भ० २ श० १ उ० । संख्येयावलिकाप्रमाणे एकोच्छ्वासात्मके कालविशेषे च । संख्येया आवलिका-" आण त्ति " (सूत्र-११४+) आण-एक उच्छ्वास इत्यर्थः, अनु० । जी० । कर्म० । ज्ञा० । स्था० । भ० ।

पुढविकाइया णं भंते ! पुढविकाइयं चेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?, हंता गोयमा ! पुढवीकाइया पुढवीकाइयं चेव आणमंति वा०जाव नीससंति वा । पुढवीकाइए णं भंते ! आउकाइयं आणमंति वा०जाव नीससंति वा ?, हंता गोयमा ! पुढवीकाइया णं आउकाइयं आणमंति वा० जाव नीससंति वा, एवं तेउकाइय-वाउकाइयं, एवं वणस्सइकाइयं । आउकाइए

णं भन्ते ! पुढविकाइयं आणमंति वा पाणमंति वा ?, एवं चेव, आउकाइए णं भंते ! आउकाइय चेव आणमंति वा, एव चेव, एवं तेऊवाऊवणस्सइकाइयं । तेऊकाइए णं भन्ते ! पुढवीकाइयं आणमंति वा एवं ०जाव वणस्सइकाइए णं भन्ते ! वणस्सइकाइयं चेव आणमंति वा तहेव ।

'पुढविकाइया णं भंते !' इत्यादि, इह पूज्यव्याख्या । यथा वनस्पतिरन्यस्योपर्यन्य स्थितस्तत्तेजोग्रहणं करोति एव पृथिवीकायिकादयोऽप्यन्योन्यमस्य द्वत्वात्तत्त्रूप प्राणापानादि कुर्वन्तीति, तत्रैक पृथिवीकायिकोऽन्य स्वमस्वकं पृथिवीकायिकम्, आनिति—तद्रूपमुच्छ्वास करोति यथा दूरस्थितकपूर पुरुप कर्पूरस्वभावमुच्छ्वास करोति एवमप्कायादिकानित्येवं पृथिवीकायिकसूत्राणि पञ्च एवमेवाप्कायादयः प्रत्यक पञ्च सूत्राणि लभन्त इति पञ्चविंशति. सूत्राण्येतानीति ।

पुढवीकाए णं भंते ! पुढवीकाइयं चेव आणममाणे वा पाणममाणे वा ऊससमाणे वा नीससमाणे वा कइकिरिए ?, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । पुढवीकाइए णं भन्ते ! आउकाइय आणममाणे वा एवं चेव, एवं०जाव वणस्सइकाइयं, एवं आउकाइएण वि सव्वे वि भाणियव्वा, एव तेउकाइएण वि, एवं वाउकाइएण वि, ०जाव वणस्सइकाइए णं भंते ! वणस्सइकाइयं चेव आणममाणे वा पुच्छा, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ।(सूत्र-३६२)। वाउकाइए णं भन्ते ! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइकिरिए ?, गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए । एवं कंदं एवं० जाव मूलं बीयं पचालेमाणे वा पुच्छा ?, गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय पंचकिरिए, सेवं भन्ते ! भंत त्ति । (सूत्र-३६३)

क्रियासूत्राण्यपि पञ्चविंशतिस्तत्र 'सिय किरिए' त्ति-यदा पृथिवीकायिकादि पृथिवीकायिकादिरूपमुच्छ्वासं कुर्वन्नपि न तस्य पीडामुत्पादयति स्वभावविशेषात्तदासौ कायिक्यादित्रिक्रिय स्यात् । यदा तु तस्य पीडामुत्पादयति तदा पारितापनिकक्रियाभावाच्चतुष्क्रिय , प्राणातिपातिसद्भावे तु पञ्चक्रिय इति । क्रियाधिकारादेवेदमाह—'वाउकाइए णमि' त्यादि, इह च वायुना वृक्षमूलस्य प्रचलन प्रपातन वा तदा सम्भवति यदा नदीभित्त्यादिषु पृथिव्याऽनावृत तत्स्यादिति । अथ कथं प्रपातने त्रिक्रियात्वं परितापादे सम्भवात्-उच्यते-अचेतनमूलापत्त्येति । भ० ६ श० ३४ उ० ।

आणंतरिय-आनन्तर्य-न० । अनन्तरमेव चतुर्व० स्वार्थे ष्यञ् । अव्यवहिते, अनन्तरस्य भावे ष्यञ् । अव्यवधाने, वाच० । अनुक्रमे, "आणंतरिय णाम-आणनरियंति वा अणुपरिवाडि त्ति वा अणुक्कमंत्ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

आणंद-आनन्द-पुं० । आ-नन्द-घञ् । चित्ताह्लादे, औ० । सुखे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सुरतविशेषे, प० सू० ५ सूत्र । हर्षे, दश० २ चू० । अभिलषितार्थावाप्तिजन्ये, मानसे विकारे, " के आणंद " (सूत्र-११७+) अभिलषितार्थावाप्तावानन्द. । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । (अत्र विशेषव्याख्यानम् 'आणइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्) तु खाभावे प्रमोदे, अर्शआदित्वाद्च । आनन्दवति, त्रि० । वाच० । अहोरात्रभवे त्रिंशन्मुहूर्त्तान्तर्गते स्वनामख्याते षोडशे मुहूर्त्ते, ज्यो० २ पाहु० । कल्प० । ज० । चं०प्र० । (गणनया एकादशो मुहूर्त्त आनन्द) स० ३० समः । स्वनामख्याते षष्ठ बलदेवे, (८४ गाथा) स० (१५६ सूत्र×) (तद्वक्तव्यता 'दसारमंडल' शब्दे चतुर्थभागे २४८५ पृष्ठे दर्शयिष्यते) स्वनामख्याते शीतलजिनस्य प्रथमशिष्ये च । " पुण आणंदे० " ॥४०+॥ स० । (सूत्र-१५८+) (तद्वृत्तम् 'तित्थयर' शब्दे चतुर्थभागे २२६१ पृष्ठे दर्शयिष्यते) भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रान्तर्गते स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण । स्वनामख्याते भगवतो महावीरस्यान्तेवासिनि स्था० १० ठा० ३ उ० । "समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे णाम थेरे" (सूत्र-५४७×) भ० १५ श० । (तद्वक्तव्यता 'गोसालग' शब्दे तृतीयभागे दर्शयिष्यते) धरणस्य नागेन्द्रस्य नागराजस्य स्वनामख्याते रथानीकाधिपतौ । (सूत्र-४०४×) स्था० ५ ठा० १ उ० । गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते देवे, ज० ४ वक्ष० । पुष्करवरद्वीपार्द्धस्थितमानुषोत्तरपर्वतस्थे स्वनामख्याते सुवर्णकुमारे, द्वी० । स्वनामख्याते पितृसेनकृष्णाङ्गजे, तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धे निरयावलिकोपाङ्गे द्वितीयवर्गस्य कल्पावतंसिकाभिधस्य नवमेऽध्ययने च । नि० १ श्रु० २ वर्ग ६ अ० । (तद्वक्तव्यता यथा पितृसेनकृष्णाङ्गजो नवम वर्षद्वय व्रतपर्य्यायपरिपालन कृत्वा प्राणतदेवलोके दशमे उत्पद्य एकोनविंशतिसागरोपमाण्यायुरनुपाल्य ततश्च्युतो विदेहे सेत्स्यतीति) वाणिजग्रामस्थे स्वनामख्याते श्रावके, उपा० १ अ० । नि० । स्था० । " अट्ठ य वीसाऽऽणन्दे० " ॥ ४६६× ॥ आनन्दस्य गृहे, आ० म० १ अ० । म० । आनन्दाभिधानोपासकवक्तव्यता प्रतिबद्धमध्ययनमानन्द । उपा० ३ अ० । आनन्दो वाणिजग्रामाभिधाननगरवासी-महर्द्धिको गृहपतिर्महावीरेण बाधित एकादशोपासकप्रतिमा कृत्वोत्पन्नावधिज्ञानो मासिक्या सलेखनया सौधर्मस्मात्-दिति वक्तव्यता प्रतिबद्धे उपासकदशाया प्रथमेऽध्ययने च । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

(तद्वक्तव्यता यथा)—

पढमस्स णं भंते ! ०जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते ?, (सूत्र-२ ×) एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियग्गामे णामं णयरे होत्था । वण्णओ । तस्स णं वाणियग्गामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूयपलासे चेइए । तत्थ णं वाणियग्गामे जिय-

सत्तू राया, वएणओ । तत्थ णं वाणियग्गामे आणंदे णामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे ०जाव अपरिभूए, तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स चत्तारि हिरएणकोडीओ णिहाणपत्ताओ चत्तारि हिरएणकोडीओ वुड्ढिपत्ताओ चत्तारि हिरएणकोडीओ पवित्थरपत्ताओ, चत्तारि वया, दस गोसाहस्सीणं वएण होत्था । से आणंदे गाहावई बहूणं ईसर ०जाव सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढीभूए आहारे आलंबणं चक्खुमेढिभूये सव्वकज्जवड्ढावए आवि होत्था । तस्स णं आणंदस्स गाहावइस्स "सिवाणंदा" णामं भारिया होत्था, अहीण ०जाव सुरूवा । आणंदस्स गाहावइस्स इट्ठा आणंदेणं गाहावइणा सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठा सद् ०जाव पंचविहे माणुस्सए कामभोए पचणुब्भवमाणी विहरइ । तस्स णं वाणियग्गामस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं "कोल्लागए" णामं सन्निवेस होत्था । रिद्धित्थमिए ०जाव पासादीए ४, तत्थ णं कोल्लागए सन्निवेसे आणंदस्स गाहावइस्स बहूए मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणे परिवसइ । अड्ढे ०जाव अपरिभूए । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे ०जाव समोसरिए परिसा निग्गया कोणिए राया जहा, तहा जियसत्तू राया णिग्गच्छति निग्गच्छित्ता ०जाव पज्जुवासइ, तए ण से आणंदे गाहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु समणे भगवं ०जाव विहरइ । तं महाफलं ०जाव गच्छामि णं ०जाव पज्जुवासामि । एवं संपेहेइ संपेहित्ता, ण्हाये सुद्धप्पावेसाइं ०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे । साओ गिहाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमित्ता स कोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेण माणुस्सवग्गुरापरिक्खित्ते पायविहारचारेणं वाणियग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ णिग्गच्छित्ता जेणामेव दूयपलासे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ आया० करित्ता वदइ णमसइ ०जाव पज्जुवासइ।(सूत्र-३)

तए णं समणे भगवं महावीरे आणंदस्स गाहावइस्स तीसे य महइ महालियाए ०जाव धम्मकहा, परिसा पडिगया, रायाऽवि य गओ । (सूत्र-४) तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ अंतिए धम्मं सोचा णिसम्म हट्ठतुट्ठ ०जाव एव वयासी-सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथ पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! णिग्गथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते !, तहमेयं भंते !, अवितहमेयं भंते !, इच्छियमेयं भंते !, पडिच्छियमेयं भंते !, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते !, से जहेयं । तुब्भे वयहत्तिकट्टु जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियसेट्ठिसत्थवाहप्पभिइया मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया ०जाव पव्वइत्ता । णो खलु तहा अहं संचाएमि मुंडे ०जाव पव्वइत्तए, अहणं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वयं सत्तसिक्खावयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि । जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।(सूत्र-५)

तए णं से आणंदे गाहावइस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए तप्पढमयाए थूलगं पाणाइवायं पचक्खामि। (उपा०) (तत्स्वरूपम् 'पाणाइवायवेरमण' शब्दे ५ भागे वक्ष्यते ।) तयाणंतरं च णं थूलगं मुसावायं पचक्खा(मि) इ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेण-ण करेमि, ण कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा । (उपा०) (स्थूलमृषावादस्वरूपम् 'मुसावायवेरमण' शब्दे षष्ठभागे दर्शयिष्यते ।) तदाणंतरं च णं थूलगं आदिण्णादाणं पच्चक्खामि । (उपा०)(तत्स्वरूपम् 'अदत्तादाणवेरमण' शब्दे १ भागे गतम् ।) तयाणंतरं च णं सदारसंतोसिए परिमाणं करेइ णण्णत्थ एकाए सिवाणंदाए भारियाए अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पचक्खामि (तत्स्वरूपं प्रतिषेधरूपेण 'मेहुण' शब्दे षष्ठे भागे, 'हत्थकम्म' शब्दे सप्तमभागे च वक्ष्यते) (उपा०) तयाणंतरं च णं इच्छापरिमाणं करेइ, हिरएणसुवएणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं हिरएणकोडीहिं णिहाणपउत्ताहिं चउहिं वुड्ढिपउत्ताहिं चउहिं पवित्थरमाणपत्ताहिं अवसेसं सव्वं हिरएणसुवएणविहिं पचक्खामि दुविहं तिविहेणं मणसा वयसा, ण करेमि, ण कारवेमि, कायसा, तयाणंतर च णं चउप्पयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं वएहिं दसगोसाहस्सिएणं वएणं अवसेसं सव्वं च(उ)प्पयविहिं पच्चक्खामि, दुविहं तिविहेणं-मण० ३ तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुपरिमाणं करेइ णण्णत्थ पंचहिं हलसएहिं णियत्तणसइएणं हलेणं अवसेसं सव्वं खेत्तवत्थुं पच्चक्खामि, दुविहं तिविहेणं मण० ३, तयाणंतरं च णं सगडविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ पंचहिं सगडसएहिं दिसाजत्तिएहिं पंचहिं सगडीसएहिं संवाहणिएहिं अवसेसं सव्वं सगडविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं वाहणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ चउहिं वाहणेहिं दिसाजत्तिएहिं चउहिं वाहणेहिं संवाहणिएहिं अवसेसं सव्वं वाहणविहिं पच्चक्खामि० ३, (सूत्र०५) । तयाणंतरं च णं

उवभोगपरिभोगविहिं पच्चक्खामि (उपा० ।) (अस्य विधेः स्वरूपम् 'उवभोगपरिभोगपरिमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।) तयाणंतरं च णं ण्हाणमाणे उल्लणियाविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगाए गंधकासाईए अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं मणसा, वयसा, कायसा ।

तयाणंतरं च णं दंतवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं अल्ललट्ठीमहुएणं. अवसेसं दंतवणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं फलविहिपरिमाणं करेइ णण्णत्थ एगेणं खीरामलएणं अवसेसं सव्वं फलविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं अब्भङ्गणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सयपागसहस्सपागेहिं तेल्लेहिं, अवसेसं अब्भंगणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं उव्वट्टणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं सुरभिणा गंधवट्टएणं अवसेसं उवट्टणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं मज्जणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अट्ठहिं उट्टिएहिं उदगस्स घडएहिं अवसेसं मज्जणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं वत्थविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं खोमयजुयलेणं अवसेसं वत्थविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणंतरं च णं विलेवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अगरुकुंकुमचंदणमाइएहिं अवसेसं विलेवणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणतरं च णं पुप्फविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं सुद्धपउमेणं मालतिकुसुमदामेणं वा, अवसेसं पुप्फविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणतरं च णं आभरणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ मट्ठकण्णेज्जएहिं णाममुद्दिएहिं, अवसेसं आभरणविहिं पच्चक्खामि०३, तयाणतरं च णं धूवणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ अगरुतुरुक्कधूवमाइएहिं, अवसेसं धूवणविहिं पच्चक्खामि० ३ तयाणंतरं च णं भोयणविहिपरिमाणं करेमाणे पेज्जविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगाए कट्ठपेज्जाए, अवसेसं पेज्जविहिं पच्चक्खामि मण० ३, तयाणंतरं च णं भक्खणविहिपरिमाणं करेइ. णण्णत्थ एगेहिं घयपुन्नेहिं खंडखज्जएहिं वा, अवसेसं भक्खणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं ओयणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ कलमसालिओदणेणं, अवसेसं ओदणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणतरं च णं सूवविहिपरिमाणं करेइ णण्णत्थ कलायसूवेण वा मुग्गमाससूवेण वा अवसेसं सूवविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं घयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सारइएणं गोघयमंडेणं, अवसेसं घयविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं सागविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ वत्थुसाएण वा

सोत्थियसाएण वा मंडुक्कियसाएणं वा, अवसेसं सागविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं माहुरयविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं पालंगामाहुरएणं, अवसेसं माहुरयविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं जेमणविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ सेहंबदालियंबेहिं अवसेसं जेमणविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं पाणियविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ एगेणं अंतलिक्खोदएणं अवसेसं पाणियविहिं पच्चक्खामि० ३, तयाणंतरं च णं मुहवासविहिपरिमाणं करेइ, णण्णत्थ पंचसोगंधिएणं तंबोलेणं, अवसेसं मुहवासविहिं पच्च०३, (सूत्र-६)

तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणत्थदंडं पच्चक्खामि तं जहा-अवज्झाणाचरियं पमायाचरियं हिंसप्पयाणं पावकम्मोवएसे दुविहं तिविहेणं मणसा, वयसा, कायसा (सूत्र७)

इह खलुआणंदाइसमणेभगवं महावीरे आणंदं समणोवासगं एवं वयासी--एवं खलु आणंदाइसमणोवासएणं अभिगयजीवाजीवेणं उवलद्धपुण्णपावेणं आसवसंवरनिज्जरकिरियाअहिगरणबंधमुक्खकुसलेणं असहिज्जदेवासुरनागसुवन्नजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा-संका, कंखा, वितिगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवो । तदाणंतरं च णं थूलयस्स पाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा-बंहे, वंधे, छविच्छेए अइभारे, भत्तपाणवोच्छेए, तयाणंतर च णं थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-सहसाऽब्भक्खाणे, रहस्साऽभक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे य २ । (उपा०) (स्थूलकाऽदत्तादानस्य अतिचाराः 'अदिण्णादाणवेरमण' शब्दे १भागे गताः) । (स्वदारसंतोपविषयाऽतिचाराः 'परदारगमण' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते ।) (इच्छापरिमाणातिचारस्वरूपम् 'इच्छापरिमाण' शब्दे अस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।) तयाणंतर च णं दिसि विदिसि पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा. तं जहा-उड्ढदिसि परिमाणाइक्कमे अहोदिसि परिमाणाइक्कमे, चउदिसि परिमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढिस्स अंतरद्धा । (उपा०) (उपभोग-परिभोगपरिणामस्याऽतिचाराः 'उवभोगपरिभोग परिमाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते ।) (अनर्थदण्डविरमणविषयातीचाराः 'अणट्ठादंडवेरमण' शब्दे प्रथमभागे गताः ।) (सामायिकविषयातिचाराः 'सा-

माइय ' शब्दे दर्शयिष्यते) (देशाऽवकाशिकविषयाऽतिचाराः 'देसाऽवगासिय' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) (पौषधोपवासविषयाऽतिचाराः 'पोसह' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते)(अतिथिसंविभागविषयातिचाराः 'अइहिसंविभाग' शब्दे प्रथमभागे गताः) (अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाऽऽराधनताविषयाऽतिचाराः ' अपच्छिममारणन्तियसंलेहणाभूसणाऽऽराहणता ' शब्दे प्रथमभागे गताः ।)

तए णं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जइ पडिवज्जित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-णो खलु मे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा अरिहंतचेइयाइ वंदित्तए वा णमंसित्तए वा, पुव्विं अणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा णण्णत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं, कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं पीढफलगसेज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए त्तिकट्टु । इमं एयाणुरूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ २ त्ता, पसिणाइं पुच्छइ पुच्छित्ता, अट्ठाइं आइयइ२त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ वंदित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ २ त्ता जेणेव वाणियगामे णयरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता सिवाणंदं भारियं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे णिसंते, सेवि य धम्मे मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदाहि०जाव पज्जुवासाहि समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पंचाणुव्वतियं सत्तसिक्खावतियं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि । (सूत्र-८)

तए णं सा "सिवाणंदा" भारिया आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी--खिप्पामेव लहुकरणं ०जाव पज्जुवासति । तए णं समणे भगवं महावीरे सिवाणंदाए भारियाए । तीसे य महइ०जाव धम्मं कहेइ, तए णं सा सिवाणंदा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सुच्चा णिसम्म हट्ठा०जाव गिहिधम्मं पडिवज्जइ २ त्ता तमेव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहइ २ त्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया । (सूत्र-९) भंतेत्ति, भयवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ वंदित्ता एवं वयासी-पहू णं भंते ! आणंदे समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे०जाव पव्वइत्तए, णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! आणंदे णं समणोवासए बहूइं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणिहिइ २ त्ता ०जाव सोहम्मे कप्पे अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणंदस्स वि समणोवासगस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता । तते णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइ बहिया० जाव विहरति । (सूत्र-१०)

ततेणं से आणंदे समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे०जाव पडिलाभेमाणे विहरइ । तए णं सा सिवाणंदा भारिया समणोवासिया जाया०जाव पडिलाभेमाणी विहरइ (सूत्र-११)। तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणस्स चोद्दससंवच्छराइं वीइक्कंताइं पण्णरससंवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने-एवं खलु अहं वाणियग्गामे नयरे बहूणं ईसर-०जाव सयसावियकुटुंबस्स ०जाव आधारे,तं एतेणं विक्खेवेणं अहं णो संचएमि समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उपसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । तं सेयं खलु मम कल्लं०जाव जलंते विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा जहा पूरणो०जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठवित्ता तं मित्त०जाव जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता कोल्लाए सन्निवेसे णायकुलंसि । पोसहसालं पडिलेहित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । एवं संपेहेइ संपेहित्ता कल्लं विउलं तहेव जिमितभुत्तरागए तं मित्त० जाव विउलेणं पुप्फ-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं सक्कारेइ संमाणेइ२ त्ता तस्सेव मित्त०जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं सद्दावेइ २ त्ता, एवं वयासी-एवं खलु पुत्ता ! अहं वाणियग्गामे बहूणं ईसर जहा चिंतियं ०जाव विहरित्तए । तं सेयं खलु मम इयाणिं तुमं सयस्स कुटुंबस्स आलंबणं०४ ठावित्ता०जाव विहरइ । तए णं जेट्ठपुत्ते आणंदस्स समणोवासगस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडि-

सुणेइ । तए णं से आणंदे समणोवासए तस्सेव मित्त० जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठवेइ २ त्ता । एवं वयासी-मा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे अज्जप्पभिइं केइ ममं बहुसु कज्जेसु०जाव आपुच्छउ वा पडिपुच्छउ वा ममं अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडेउ वा उवकरेउ वा । तए णं से आणंदे समणोवासए जेट्ठपुत्तं मित्तणाइं आपुच्छइ २ त्ता सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ २ त्ता वाणियग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ २ त्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेसे जेणेव नायकुले जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ २ त्ता पोसहसालं पमज्जइ २ त्ता उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहइ २ त्ता दब्भसंथारं संथरइ २ त्ता दब्भसंथारयं दूरूहइ २ त्ता पोसहसालाते पोसहिते दब्भसंथारोवगये समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । (सूत्र-१२) ।

तए णं से आणंदे समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्च सम्मं काएणं फासेइ ०जाव आराहेइ । तए णं से आणंदे समणोवासए दोच्चं उवासगपडिमं,अहासु०।एवं-तच्चं उवा०,चउत्थं उ०पंचमं उ०छट्ठं उ० सत्तमं उ० अट्ठमं उ० नवमं उ० दशमं उ० एक्कारसमं उ० ०जाव आराहेइ (सूत्र-१३)। तए णं से आणंदे समणोवासए इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पयाहित्तेणं तवोकम्मेणं सुक्के०जाव किसे धमणिसंतते जाए । तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्ता ०जाव धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने एवं खलु अहं इमेणं०जाव धमणिसंतए जाए तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्म-बल-वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे सद्धा धिई संवेगे । तं० जाव ताव अत्थि उट्ठाणे सद्धा धिई संवेगे ०जाव मे धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ, ताव ता मे सेयं कल्लं०जाव जलंते अपच्छिमसारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसितस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए । एवं संपेहेइ संपेहित्ता कल्लं पा०उ०जाव अपच्छिमं० जाव कालं अणवकंखमाणे विहरइ । तए णं तस्स आणंदस्स समणोवासगस्स अण्णया कयइ सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेसाहिं वि सुज्झमाणीहिं णाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने पुरच्छिमे णं लवणसमुद्दे पंचजोयणसइय खेत्तं जाणइ पासइ । एवं दक्खिणेणं पच्चत्थिमेण य उत्तरेणं ०जाव चुल्लहिमवंतं वासधरपव्वतं जाणइ पासइ । उड्ढं ०जाव सोहम्म कप्पं जाणइ पासइ अहे ०जाव इमी से रयणप्पभाए पुढवीए लोलुयं अच्चुयं णरयं चउरासीइवाससहस्सट्ठितियं जाणइ पासइ (सूत्र-१४) ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए परिसा निग्गया ०जाव पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूईणामं अणगारे गोयमगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचतुरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे घोरतवे महातवे उराले घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे सखित्तविउलतेउलेसे जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोभे जाइसंपण्णे कुलसंपण्णे बलसंपण्णे रूवसंपण्णे ०जाव तेयंसी छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ बीआए पोर.रु)सीए झाणं झियाइ, तईयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंताए मुहपत्तियं पडिलेहेइ २ त्ता । भायणवत्थाइं पडिलेहेइ २ त्ता । भायणवत्थाइं पमज्जइ २ त्ता भायणाइं उग्गाहेइ २ त्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियग्गामे णयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगंतरपरिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ इरियं सोहमाणे जेणेव वाणियग्गामे णयरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता वाणियग्गामे णगरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ । तए णं से भगवं गोयमे वाणियग्गामे नगरे जहा पण्णत्तीए तहा ०जाव भिक्खायरियाए ०जाव अडमाणे अहापज्जत्तं भत्तपाणं संमं पडिगाहेइ २ त्ता वाणियगामाओ पडिणिग्गच्छइ २ त्ता कोल्लायस्स सन्निवेसस्स अदूरसामंते णं वीतीवयमाणे बहुजणसद्दं णिसामेइ बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० ४ एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी

आणंदे णामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिममार० जाव अणवकंखमाणे विहरइ, तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एतमट्ठं सोचा णिसम्म अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने. तं गच्छामि णं आणंदं समणोवासयं पासामि, एवं संपेहेइ संपेहित्ता जेणेव कोल्लाए संनिवेसे जेणेव आणंदे समणोवासए जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ। तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासेत्ता हट्ठ ०जाव हियए, भगवं गोयमं वंदति णमंसति २ त्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते ! अहं इमेणं उरालेणं ०जाव धमणिसंतते जाए, णो संचाएमि देवाणुप्पियस्स अंतियं पाउब्भवित्ता णं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाए अभिवंदित्तए, तुब्भे णं भंते ! इच्छाकारेणं अणभिओएणं इतो चेव (एह) एवं जएणं देवाणुप्पियाणं तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदामि णमंसामि। तए णं से भगवं गोयमे जेणेव आणंदे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ (सूत्र-१५)।

तए णं से आणंदे समणोवासए भगवओ गोयमस्स तिक्खुत्तो मुद्धाणेणं पाएसु वंदति णमंसति २ त्ता एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! गिहिणो गिहिमज्झावसंतस्स ओहिणाणे णं समुपज्जइ। हंता अत्थि, जइ णं भंते ! गिहिणो ०जाव समुप्पज्जइ। एवं खलु भंते ! मम वि गिहिणो गिहिमज्झावसंतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दे पंच जोयणसयाइं ०जाव लोलुयच्चुयं णरयं जाणामि पासामि। तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणोवासयं एवं वयासी-अत्थि णं आणंदा ! गिहिणो ०जाव समुप्पज्जइ, णो चेव णं एव महालए तं णं तुमं आणंदा ! एतस्स ठाणस्स आलोएहि ०जाव तवोकम्मं पडिवज्जाहि। तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! जिणवयणे संताणं तच्चाणं तहियाणं सब्भूयाणं भावाणं आलोइज्जइ ०जाव पडिवज्जिज्जइ ?, णो इणट्ठे समट्ठे। जइ णं भंते ! जिणवयणे संताणं ०जाव भावाणं णो आलोइज्जइ ०जाव तवोकम्मं णो पडिवज्जिज्जइ। तं णं भंते ! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह ०जाव पडिवज्जह। तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिए कंखिए वितिगिच्छासमावण्णे आणंदस्स अंतियाओ पडिनिक्खमइ २ त्ता जेणेव दूइपलासे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ त्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमइ २ त्ता। एस णं समणे आलोएइ २ त्ता भत्तपाणे पडिदंसेइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता। एवं वयासी-एवं खलु भंते ! अहं तुम्हेहिं अब्भणुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ ०जाव तए णं पडिदंसेइ। अहं संकिते कंखिए वितिगिच्छासमावण्णे आणंदसस्स समणोवासगस्स अंतिए पडिणिक्खमामि २ त्ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए तं णं भंते ! किं आणंदे णं समणोवासए णं तस्स ठाणस्स आलोएयव्व ०जाव पडिवज्जेयव्वं। उदाहु मए ?, गोयमाइसमणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एव वयासी-गोयमा ! तुमं चेव णं तस्स ठाणस्स आलोएहि ०जाव पडिवज्जेहि, आणंदं समणोवासयं एयमट्ठं खामेहि। तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ २ त्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ ०जाव पडिवज्जइ। आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ २ त्ता तए णं से समणे भगवं महावीरे बहिया अण्णया कयाइ बहिया जणवयविहारं विहरइ (सूत्र-१६+)। तए णं से आणंदे समणोवासए बहूहिं सीलव्वएहिं ०जाव अप्पाणं भावेइ २ त्ता वीसं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणित्ता एक्कारस य उवासगपडिमाओ सम्मं काएणं फासित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरच्छिमेणं अरुणे विमाणे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं आणदस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। आणदे णं भंते ! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चुओ चुइत्ता कहिं गच्छहिति कहिं उववज्जिहिति। गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, णिक्खेवो। सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमं अज्झयणं सम्मत्तं। (सूत्र-१७)।

उपा० १ अ०। आचू०। आ० म०। भाविन्यामुत्सर्पिण्यामरकद्विके व्यतिक्रान्ते तृतीयारके आनन्दजीव पेढालस्तीर्थकृद्भविष्यति। ती० २० कल्प। भाविन्या उत्सर्पिण्यास्तृतीयारके, "पढाल अट्ठमयं, आणंदजीयं नमंसामि" ॥ ४६६ ॥ पेढालमष्टमकम् आनन्दजीव नमस्यामि। प्रव० ४६ द्वार। अनुत्तरोपपातिकदशाया दशमेऽध्ययने च। एतच्च वाच्यान्तरापेक्षया नतूपलभ्यमानवाचनापेक्षया। स्था० १० ठा० ३ उ०।

१-टी०। सन्तानमित्यादय शब्दा स्कार्था.।

आणंदअंसुपाय-आनन्दाऽश्रुपात-पुं०। हर्षाश्रुमोक्षणे, "आ-णंदअंसुपायं कासि सिज्जभवा तहिं थेरा" ॥३७१४॥ आन-न्दाश्रुपातम्-अहो आराधितमनेनेति हर्षाश्रुविमोक्षणम्। दश०२ चू०।

आणंदकूड-आनन्दकूट-न०। आनन्दनाम्नो देवस्य कूटमा-नन्दकूटम्। गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्थे कूटभेदे, जं० ४ व-क्ष०।

आणंदचंदण-आनन्दचन्दन-न०। स्वरूपानुभवानन्दचन्दने, अष्ट०। "वेष्टनं भयसर्पाणां, न तदानन्दचन्दने" ॥५॥ अष्ट० १७ अष्ट०।

आणंदजीव-आनन्दजीव-पुं०। आनन्दस्यात्मनि, भावि-न्या उत्सर्पिण्यास्तृतीयारके, पेढालम् अष्टकम् आनन्दजी-वं नमस्यामि। "आणंदजी (वं)यं" ॥५६६४॥ प्रव० ४६ द्वार।

आणंदज्झयण-आनन्दाध्ययन-न०। आनन्दचरित्रप्रतिपाद-के उपासकदशाया: प्रथमेऽध्ययने, उपा० १ अ०। स्था०। अनुत्तरोपपातिकदशाया सप्तमेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ३ उ०। निरयावलिकोपाङ्गद्वितीयवर्गस्य कल्पावतंसिकाभि-धस्य नवमेऽध्ययने च। नि० १ श्रु० २ वर्ग २ अ०। (एतेषां वक्तव्यता 'आणंद' शब्देऽस्मिन्नेव भाग ऽनुपद-मव गता।)

आणंदण-आनन्दन-न०। आनन्दयत्यनेन आ-नदि-णिच् करणे ल्युट्। यातायातकाले, मित्रादे आगेग्यस्वागतादि-प्रश्ने, तत्कालिकालिङ्गने च। भावे ल्युट्। सुखजनने, वाच०। भगवत ऋषभदेवस्य शतपुत्रान्तर्गते स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ अधि० ७ क्षण। वक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते देवे च। स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आणंदणंदण-आनन्दनन्दन-न०। आनन्द -आत्मानन्दस्त-देव नन्दनमानन्दनन्दनम्। आनन्दात्मके नन्दनवने, "नि-र्भय: शक्रवद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७॥" अष्ट० ५ अष्ट०।

आणंदणकूड-आनन्दनकूट-न०। गन्धमादनवक्षस्कारपर्व-तस्थे स्वनामख्याते कूटभेदे, स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आणंदपुर-आनन्दपुर-न०। स्वनामख्याते नगरे, "आणं-दपुरं नगरं जितारी राया" । वृ०४ उ०। (जितारिराज वृत्तम् 'मूढ' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते।) "आणंदपुरे मरुओ" आ० म० १ अ०। बृ०। "वीरात्त्रिनन्दाङ्क (६६३) शरद्यचीकर-त्त्वच्चैत्यपूते ध्रुवसेनभूपति:। यस्मिन्महे संसदि कल्पवाच-ना-माद्यां तदानन्दपुरं न क: स्तुते " ॥ १ ॥ कल्प० १ अधि० ६ क्षण।

आणंदमेरु-आनन्दमेरु-पुं०। राजमल्लाभ्युदयनाममहाका-व्यकृत पद्मसुन्दरस्य परमगुरो पद्ममेरोर्गुरौ, जै० इ०।

आणंदरक्खिय-आनन्दरक्षित-पुं०। स्वनामख्याते स्थविरे, "तत्थ णं आणंदरक्खिए नामं थेरे," । (सूत्र-११० +) भ० २ श० ५ उ०।

आणंदविमलसूरि-आनन्दविमलसूरि-पुं०। स्वनामख्याते सूरिविशेषे, "आनन्दनन्दविमलाभिधानै-रिहोद्धृता सूरि-भिरुग्रचर्या" ॥ ६ ॥ प्रति०। स च हेमविमलसूरे: शिष्य:।

इतश्च-

"श्रीहेमविमलसूरि-र्दूरीकृतकलमष स सूरिगुणम्।
ज्ञात्वा योग्य तूर्णं, धर्मस्याभ्युदयसंसिद्धै: ॥ ४४ ॥
सौभाग्यपूर्णसंवेग-तरङ्गनीरनिधिम्।
आनन्दविमलसूरिं, स्वपट्टे स्थापयामास ॥ ४५ ॥ युग्मम्।
धन्या नागरसकाशा-त्तनयाभिर्दुस्तपैर्भृशम्।
स्थूलभद्रोपमा यस्य, ब्रह्मचर्यगुणैरपि ॥ ४६ ॥
श्रीमदानन्दविमल-प्रभव शासनाद् गुरो:।
शश्वत् शुद्धां क्रियां कर्तुमकुर्वे निश्चल मन ॥४७॥"
ग० २ अधि०।

आणंदवीर-आनन्दवीर-पुं०। श्राद्धप्रतिक्रमं भाष्यकृत. र-त्नशेखरसूरेर्गुरोरुदयवीरगणिन: परमगुरौ, जै० इ०।

आणंदसूरि-आनन्दसूरि-पुं०। नागेन्द्रगच्छीये सिद्धराजेन राज्ञा व्याघ्रशिशुकेति नाम्ना प्रख्यापिते बृहद्गच्छीये स्व-नामके आचार्ये च। जै० इ०।

आणंदहियभाव-आनन्दहृदयभाव-पुं०। आनन्दलक्षणे भावे, "आणंदहियभावनंदणकरा" (सूत्र-१५ +) आ-नन्दलक्षणो यो भावस्तस्य नन्दकरा -वृद्धिकरा य ते तथा। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

आणंदा-आनन्दा-स्त्री०। आनन्दयति सेवनात् आ+नदि णिच् अच्। विजयायाम्, (सिद्धि) राजनि०। वाच०। पौरस्त्यायां स्वनामख्यातायां दिक्कुमार्याम् आ० म० १ अ०। जी०। जं०। स्था०। ती०। आ० चू०। आ० क०। लवणद्वीपस्थपौरस्त्यां जनकपर्वतस्थायां स्वनामख्याता-यां नन्दापुष्करिण्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ०।

आणंदिय-आनन्दित-त्रि०। आ-नदि क्त० हर्षयुक्ते, वाच०। प्रमोदं प्राप्त, ज० ३ वक्ष०। सुखिनि, आ-नदि-णिच्-क्त यस्यानन्दो जनितस्तस्मिन् अभिनन्दिते, त्रि०। वा-च०। स्फीतीभूते, 'टुनदि' समृद्धाविति वचनात्। आ० म०१ अ०। जी०। रा०। ईषन्मुखसौम्यतादिभावैस्समृद्धिमुपगते, "हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए" (सूत्र-११×)। औ०।

आणग्गहण-आणग्रहण-न०। प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादाने, "समय आणग्गहणं" ॥ ६५+॥ (सूत्र-२६+) समर्क च प्राणापानग्रहण-प्राणापानयोग्यपुद्गलोपादानम्। प्रज्ञा० १ पद।

आणट्ठाकिइ-आज्ञार्थाकृति-त्रि०। आज्ञाऽऽगमोऽर्थशब्दस्य हेतुवचनस्यापि दर्शनादर्थो-हेतुरस्या: सा तथाविधाऽऽ-कृतिरर्थात्मुनिवेषात्मिका यत्र तदाज्ञार्थाकृति। उत्त०। मु-निवषाकृतिमति, उत्त०। "आणट्ठाकिइ पव्वए" (॥४६+॥) आज्ञार्थाकृति यथाभवत्येवं प्राव्राजीदिति। उत्त० १८ अ०।

आणण-आनन-न०। अनितनेन आ+अन-करणे ल्युट्। मुखे, मुखेन हि जलपानादिना प्राणादे: स्थितिरतस्तस्य-तथात्वम्। 'जिनीश्वर:, नृपस्य कान्त पिवत सुनान-नम्" इति च रघु। वाच०। "कुंडलउज्जोइयाऽऽणणे" (सूत्र-४३+) कुण्डलाभ्यामुद्योतितम् आननं-मुख यस्य स तथेति। जं० ३ वक्ष०। तं०। रा०। हे०।

आणणकोडुंबिय--आननकौटुम्बिक--त्रि० । मुखस्य सहायके, कल्प० । "आणणकोडुंबियएणं" (सूत्र-३६×)। आननस्य-मुखस्य कौटुम्बिकेनेव यथा राजा कौटुम्बिके-सेवके शोभते एव श्रीदेव्या आननं तेन शोभासमुदयेनेति । कल्प० १ अधि० २ क्षण ।

आणत्त-आज्ञप्त-त्रि० । आ ज्ञा-णिच् पुक् क्त ह्रस्वः । आदिष्टे, कृतादेशे, वाच० । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । नि० चू० । आच० ।

आनर्त--पुं० । आनृत्यत्यत्र-आधारे घञ् । नृत्यशालायाम्, युद्धे च । तत्र हि वीरैर्हर्षात् नृत्यमिव क्रियते इति तस्य तथात्वम् । सूर्यवंश्ये राजभेदे, "शर्य्यातेर्मिथुनं त्वासीदानर्त्तो नामविश्रुत"। हरिवं १० अ० । तत्कृते देशभेदे, वाच० । तद्देशवासिजनेषु, तद्राजेषु च । चन्द्रवंश्ये राजभेदे, पुं० । आनृत्यतीति कर्त्तरि अच् । जलेन तस्य तरङ्गरूपेण नृत्यस्येव करणात्तथात्वम् । नर्त्तके, त्रि० । भवि घञ् । नर्तने, वाच० ।

अन्यत्व-न० । परस्परं भिन्नत्वे, "तेसिं णिज्जरापोग्गलाण किं आणत्त वा" (सूत्र-१६६+) । प्रज्ञा० १५ पद १ उ० ।

आणत्ति-आज्ञप्ति-स्त्री० । आ-ज्ञा-णिच्-पुक्-क्त ह्रस्व । आज्ञायाम्, वाच० । आदेशे, "आणत्तियं पच्चप्पिणह" (सूत्र-१२+) आज्ञप्तिम्-आदेशं, प्रत्यर्पयत । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रज्ञा० ।

आणत्तिकिंकर-आज्ञप्तिकिङ्कर--पुं० । यथादेशकारिणि, "आणत्तिकिंकरेहिं" (सूत्र-१२+) आज्ञप्तिकिंकरैर्यथादेशकारिकिंकुर्वाणैः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

आणत्तिया-आज्ञप्तिका-स्त्री० । आज्ञायाम्, "आणत्तिअं पच्चप्पिणह" (सूत्र-३०×) आज्ञप्तिकाम्-आज्ञां प्रत्यर्प्य-सम्पाद्य, मम निवेदयत्यथ । औ० । 'एतमाणत्तिअं खिप्पमेव पच्चप्पिणाहिह" (सूत्र-४६+) एतामाज्ञप्तिकां क्षिप्रं प्रत्यर्पयतीति । जं० ३ वक्ष० ।

आणप्प-आज्ञाप्य-त्रि० । आज्ञापनीये, सूत्र० । "आणप्पा हवंति दासा वा" (॥ १५ ॥) स्त्रीणाम्पुरुषाः स्ववशीकृता दासा इव-क्रयक्रीता इव आज्ञाप्या-आज्ञापनीया भवन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

आणम (व) णी-आज्ञापनी-स्त्री० । असत्यामृषाभाषाभेदे, आज्ञापनी कार्य्ये प्रवर्तनी (परस्य प्रवर्त्तनं-यथेदं कुर्विति) । भ० १० श० ३ उ० । प्रज्ञा० । ध० ।

आणय-आनत-त्रि० । आ+नम्--क्त । कृतप्रणामे, अधोमुखे, विनयेन नते च । वाच० । विमानविशेषे, अनु० । सकलविमानप्रधानावतंसकविमानविशेषोपलक्षित आनत । कल्पभेदे, ऊर्ध्वदेवलोकभेदे. अनु० । स च वैमानिकदेवलोक । प्रव० १६४ द्वार । विशे० । स० । आनते भवा आनता । कल्पोपगवैमानिकदेवभेदे, "आणया" ॥१३+॥ उत्त० ३६ अ० ।

आनय-पुं० । आ+नी-भावे अच् । देशात् देशान्तरनयने, आनीयते वेदाद्यध्ययनायाऽत्र आधारे अच् । उपनयनसंस्कारे, हेम० । भावे ल्युट् । आनयनमप्युभयत्र । न० । वाच० ।

आणयण-आनयन-न० । विवक्षितक्षेत्राद्बहिःस्थितस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणे, "आणण" ॥२८१॥ प्रव० ६ द्वार । ध० । पञ्चा० । आनीयतेऽनेनेत्यानयनम्-आनयनसाधने त्रि० । उत्त० ३६ अ० ।

आण (व) यणप्पओग--आनयनप्रयोग--पुं० । आनयने विवक्षितक्षेत्राद्बहिर्वर्त्तमानस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रप्रापणे प्रयोग आनयनप्रयोगः । देशावकाशिकदिग्व्रतस्यातिचारभेदे, स च स्वयं गमने व्रतभङ्गभयादन्यस्य संदेशकादिना व्यापारणम् । पञ्चा० १ विव० । उपा० । ध० । प्रव० ।

आणवण- आज्ञापन-न० । आदेशे, स्था० २ ठा० १ उ० । प्रतिबोधने, "आगमेत्ता आणवेज्जा" (सूत्र-२१०+) आगम्य ज्ञात्वा तं गृहपतिमाज्ञापयेत्प्रतिबोधयेदिति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० । प्रवर्त्तने, "आणवयंति भिक्खकहाहिं" ॥७×॥ आज्ञापयन्ति-प्रवर्त्तयन्ति स्ववशं ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । प्रा० ।

आनायन-न० । प्रापणे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

आणवणिया-आज्ञापनकी-(आनायनी)-स्त्री० । आज्ञापनस्यादेशनस्येयमाज्ञापनमेवत्याज्ञापनी सैवाज्ञापनिका तज्जः कर्मबन्ध आदेशनमेवेति, आनायनं वा । आनायनीक्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

आणवणिया किरिया दुविहा । जीवआणवणिया, अजीवआणवणिया य । जीवाऽऽणवणी जीवं आज्ञापयति परेण, अजीवं च आणवेइ । आव० ४ अ० ।

जीवमाज्ञापयत आनायतो वा परेण जीवाज्ञापनी, जीवानयनी वा । एवमेवाजीवविषया अजीवाज्ञापनी, अजीवानायनी वा । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० ।

आणा-आज्ञा-स्त्री० । आ-ज्ञा-अङ् । अनुष्ठाने । विशे० ५६५ गाथा । आदेशे, आदेशश्च निकृष्टस्य भृत्यादेः कृत्यादौ प्रवृत्त्यर्थो व्यापारभेदः । वाच० । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पञ्चा० । "आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठति" (सूत्र-१३७।१४०+) आज्ञा-कर्त्तव्यमेवेदमित्याद्यादेशः । उपपातः- सेवा । वचनम्-अभियोगपूर्वक आदेश, निर्देश-प्रश्निते कार्ये नियतार्थमुत्तरम् । भ० ३ श० १ उ० । विधिविषयक आदेश आज्ञा । स्था० ७ ठा० ३ उ० । आज्ञायोगेषु प्रवर्त्तनालक्षणा । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

आणाबलाभियोगो, निग्गंथाणं न कप्पए ॥

आज्ञापनमाज्ञा भवतेदमित्येवरूपा तथा विवक्षित कार्य्यमाज्ञापि यस्याप्यकुर्वतो बलात्कारेण नियोजनं बलाभियोगः एतौ द्वावपि निर्ग्रन्थानां न कल्पते कर्त्तुम् । आ० म० १ अ० । (अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ इति 'इच्छाकार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) उपदेशे, "अणाणाए एगे सोवट्ठाणा" (सूत्र-१६६ +) । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । "एसा आणा नियंठिया" ॥ २६ + ॥ एषाऽऽज्ञा-अयमुपदेशो निर्ग्रन्थो भगवांस्तस्य । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आज्ञाप्यत इत्याज्ञा-हितप्राप्तिपरिहाररूपतयोपदेशे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । कल्प० । पञ्चा० । तीर्थंकर-

गणधरापदेश, । दश० १० अ० । तीर्थकरोपदेशप्रणीते स-द्वाचारे, "आणाए एगे निरुवट्ठाणा" (सूत्र-१६६×) आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । निर्देश. (४१७ गाथा टी० ।) "उववातो णिद्देसो, आणा विणओ य होंति एगट्ठा" ॥ व्य० १ उ० । वचने, पञ्चा० ४विव० । आसामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्ते-अवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा । स्या० २१ श्लोक । आ-समन्तात् ज्ञाप्यन्ते-बोध्यन्ते सुकृतकर्माणोऽनयेत्याज्ञा । आगम, (प्रवचने) दर्श० ४ तत्त्व । आहिते स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाऽभिव्याप्त्या वा ज्ञायन्तेऽर्था अनयेत्याज्ञा । उत्त०१ अ०। स्था०। भगवदभिहितागमे, उत्त० १ अ० । आप्तप्रवचने, स्था० ४ ठा० १ उ० । "आणाए अभिसमेच्चा" (सूत्र-१२०×) आज्ञया-तीर्थकरप्रणीतागमेनेति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। आज्ञया-मौनीन्द्रप्रवचनेनेति । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । "आणाए मामगं धम्मं" (सूत्र-१८४+) आज्ञायतेऽनयेत्याज्ञा तया मामकं धर्मं सम्यगनुपालय तीर्थकर एवमाहेति । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । आज्ञाप्यन्ते जन्तुगणो हितप्रवृत्तौ यया साऽऽज्ञा । द्वादशाङ्गे, नं० । मोक्षार्थमाज्ञाप्यन्ते प्राणिनोऽनयेत्याज्ञा । श्रुते, अनु० । विशे० । सर्वज्ञवचने, स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । बोधौ, (सम्यक्त्वे) "आणाए लभो णत्थि" (सूत्र-१३८×) आज्ञायास्तीर्थकरोपदेशस्य लाभो नास्ति, यदि वा-आज्ञा-बोधिः सम्यक्त्वम् । आचा० १ श्रु० ४ अ०३ उ० । सूत्रार्थे, 'आगमउववण्णाऽऽणा' । आगम.-सूत्रमेतदनुसारेण कथनमुपदेश आज्ञा त्वर्थ इति । आव० १ अ० । निर्युक्त्यादिके सूत्र व्याख्याने च । स्था०४ ठा० १ उ०।

विषयसूचना—

(१) आज्ञानिक्षेपः ।
(२) आज्ञामनुचिन्तयेत् ।
(३) सदाऽऽज्ञाराधकः स्यात् ।
(४) परलोके आज्ञाया एव प्रामाण्यम् ।
(५) आज्ञया प्रवर्त्तमानोऽप्यप्रवर्त्तमानः ।
(६) अपुनर्बन्धकादिभ्य एव देयाऽऽज्ञा ।
(७) तीर्थकराऽऽज्ञाऽन्यथाकरणे दोषाः ।
(८) आज्ञाऽऽराधन-विराधने ।
(९) आज्ञाऽऽराधकत्वे वज्राऽऽचार्यः ।
(१०) आज्ञाभङ्गे प्रायश्चित्तम् ।
(११) आज्ञारहितस्य चारित्रमपि न भवति ।
(१२) आज्ञाव्यवहारः ।

(१) आज्ञाया निक्षेपः—

कडकरणं दव्वे सा-सणं तु दव्वे व दव्वओ आणा ।
दव्वनिमित्तं अुवयं, दुन्नि वि भावे इमं चेव ॥१८७॥

नोआगमतो द्रव्यशासनं व्यतिरिक्तं कृतकरणः मुद्रा इत्यर्थः । आज्ञाऽपि द्रव्यतो नोआगमतो व्यतिरिक्ता सैव मुद्रा । अथवा-द्रव्यनिमित्त-द्रव्योत्पादननिमित्तं यत् उभयं शासनम्--आज्ञा तद्द्रव्यशासनम्—सा द्रव्याज्ञा, द्वे अपि च शासनाऽऽज्ञे भवतः इदमेवाध्ययनम् , किमुक्तं भवति—नोआगमतो भावशासनं भावाज्ञा च इदमेव कल्पाख्यमध्ययनं, तथाहि-य एतस्याऽऽज्ञां न करोति सोऽनेकानि मरणाऽऽदीनि प्राप्नोति । बृ० १ उ० २ प्रक० । दर्श० ।

(२) आज्ञामनुचिन्तयेत्—

सुनिउणमणाइणिहणं, भूयहियं भूयभावणमहग्घं ।
अमियमजियं महत्थं, महाणुभावं महाविसयं ॥ ४५ ॥

व्याख्या—सुष्ठु-अतीव निपुणा—कुशला सुनिपुणा ताम् , आज्ञामिति योगः, नैपुण्यं पुनः सूक्ष्मद्रव्याद्युपदर्शकत्वात्तथा मत्यादिप्रतिपादकत्वाच्च उक्तं च-' सुयनाणम्मि नेउण्णं, केवले तयणंतरं । अप्पणो सेसगाणं च, जम्हा तं परिभावग ॥ १ ॥' इत्यादि, इत्थं सुनिपुणां ध्यायेत्, तथा 'अनाद्यनिधनाम्' अनुत्पन्नशाश्वतामित्यर्थः , अनाद्यनिधनत्वं च द्रव्याद्यपेक्षयेति , उक्तं च-" द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासी " दित्यादि , तथा 'भूतहिता' मिति इह भूतशब्देन प्राणिनः उच्यन्ते तेषां हिता-पथ्यामिति भावः, हितत्वं पुनस्तदनुपराधिनीत्वात्तथा हितकारिणीत्वाच्च, उक्तं च-' सर्वे जीवा न हन्तव्या ' इत्यादि, एतत्प्रभावाच्च भूयांसः सिद्धा इति, 'भूतभावनाम्' इत्यत्र भूतं-सत्यं भाव्यतेऽनयेति भूतस्य वा भावना भूतभावना, अनेकान्तपरिच्छेदात्मिकेत्यर्थः , भूतानां वा-सत्त्वानां भावना भूतभावना, भावना वासनेत्यनर्थान्तरम् , उक्तं च-'कूराविं सहावेणं, रागविसवसाणुगावि होऊणं । भावियजिणवयणमणा, तेलुक्कसुहावहा होंति ॥ १ ॥' श्रूयन्ते च चिलातीपुत्रादय एवंविधा बहव इति, तथा 'अनर्घ्याम्' इति सर्वोत्तमत्वाद्विद्यमानमूल्यामिति भावः, उक्तं च-" सव्वेऽवि य सिद्धंता, सदव्वरयणासया सतेलोक्का । जिणवयणस्स भगवओ, न मुल्लमित्तं अणग्घेयं ॥ १ ॥" तथा स्तुतिकारेणाप्युक्तम्-" कल्पद्रुमः कल्पितमात्रदायी, चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते । जिनेन्द्रधर्मातिशयं विचिन्त्य, द्वयेऽपि लोको लघुतामवैति ॥ १ ॥" इत्यादि, अथवा 'ऋणघ्ना' मित्यत्र ऋण—कर्म तद्घ्नामिति, उक्तं च-" जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहिँ गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥" इत्यादि, तथा 'अमिताम्' इत्यपरिमिताम् , उक्तं च-" सव्वनदीणं जा होज्ज वालुया सव्वउदहीण जं उदयं । एत्तोवि अणंतगुणो, अत्थो एगस्स सुत्तस्स ॥ १ ॥" अमृतां वा मृष्टां वा पथ्यां वा, तथा चोक्तम्-" जिणवयणमोदगस्स उ, रत्तिं च दिवा य खज्जमाणस्स । तित्तिं बुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ॥१॥ नरनारयतिरियसुरगण-संसारियसव्वदुक्खरोगाण । जिणवयणमेगमोसह-मपवग्गसुहक्खयफलयं ॥ २ ॥' सजीवां वाऽमृतामुपपत्तिक्षमत्वेन सार्थिकामिति भावः, न तु यथा-' तेषां कटतटभ्रष्टै-र्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी ॥ १ ॥' इत्यादिवन्मृतामिति, तथा 'अजिता' मिति शेषप्रवचनाज्ञाभिरपराजितामित्यर्थः , उक्तं च-'जीवाइवत्थुचिंतण-कोसल्लगुणेणऽणण्णसरिसेणं । सेसवयणेहिँ अजियं, जिणिंदवयणं महाविसयं ॥ १ ॥' तथा 'महार्थां' मिति, महान्-प्रधानोऽर्थो यस्याः सा तथाविधा तां, तत्र पूर्वापराविरोधित्वादनुयोगद्वारात्मकत्वान्नयगर्भत्वाच्च प्रधाना, महत्स्थां वा अत्र महान्तः—सम्यग्दृष्टयो भव्या एवोच्यन्ते ततश्च महत्सु

स्थिता महत्स्था तां च; प्रधानप्राणिस्थितामित्यर्थः, महास्थां चेत्यत्र महापूजोच्यते तस्यां स्थिता महास्था तां, तथा चोक्तम्-' सव्वसुरासुरमाणुस-जोइसवंतरसुपूइयं णाणं । जेणह गणहराणं, सुइंति सुणेइ सुरिंदावि ॥ १ ॥ ' तथा 'महानुभावा' मिति तत्र महान्-प्रधान. प्रभूतो वाऽनुभावः-सामर्थ्यादिलक्षणो यस्या. सा तथा तां, प्राधान्यं चास्याश्चतुर्दशपूर्वविदः सर्वलब्धिसम्पन्नत्वात्, प्रभूतत्व च प्रभूतकार्यकरणाद्, उक्तं च-' पभू णं चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं करित्तए ' इत्यादि, एवमिहलोके, परत्र तु जघन्यतोऽपि वैमानिकोपपात', उक्तं च-' उववाओ लंतगंमि, चोद्दसपुव्वीस्स होइ उ जहण्णो । उक्कोसो सव्वट्ठे, सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥ १ ॥' तथा 'महाविषया' मिति महद्विषयत्वं तु सकलद्रव्यादिविषयत्वाद्, उक्त च-'दव्वओ सुयनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणई'-त्यादि कृतं विस्तरेणेति गाथार्थ ।

झाइज्जा निरवज्जं, जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।
अणिउणजणदुन्नेयं, नयभंगपमाणगमगहणं ॥ ४६ ॥

व्याख्या-'ध्यायेत्' चिन्तयेदिति सर्वपदक्रिया, 'निरवद्या' मिति अवद्य—पापमुच्यते निर्गतमवद्यं यस्या' सा तथा ताम्, अनृतादिद्वात्रिंशद्दोषावद्यरहितत्वात्, क्रियाविशेषणं वा, कथं ध्यायेत् ?-निरवद्यम्-इहलोकाद्याशंसारहितमित्यर्थ', उक्तं च-' नो इहलोगट्ठयाए नो परलोगट्ठयाए नो परपरिभवओ अहं नाणी ' त्यादिक निरवद्य ध्यायेत्, 'जिनानां' प्राग्निरूपितशब्दार्थानाम् ' आज्ञां ' वचनलक्षणां कुशलकर्मण्याज्ञाप्यन्तेऽनया प्राणिन इत्याज्ञा तां, किंविशिष्टां ?-जिनाना-केवलालोकेनाशेषसंशयतिमिरनाशनाज्जगत्प्रदीपानामिति, आज्ञैव विशेष्यते-' अनिपुणजनदुर्ज्ञेयां ' न निपुण' अनिपुण, अकुशल इत्यर्थ जन—लोकस्तेन दुर्ज्ञेयामिति-दुरवगमां, तथा ' नयभङ्गप्रमाणगमगहनाम् ' इत्यत्र नयाश्च भङ्गाश्च प्रमाणानि च गमाश्चेति विग्रहस्तैर्गहना-गहरा ता, तत्र नैगमादयो नयास्ते चानेकभेदा, तथा भङ्गा' क्रमस्थानभेदभिन्ना, तत्र क्रमभङ्गा यथा एको जीव एक एवाजीव इत्यादि, स्थापनास्थानभङ्गास्तु यथा प्रियधर्मा नामैक, नो दृढधर्मे त्यादि, तथा प्रमीयते ज्ञेयमेभिरिति प्रमाणानि-द्रव्यादीनि, यथा-ऽनुयोगद्वारेषु गमा'-चतुर्विंशतिदण्डकादय, कारणवशतो वा किञ्चिद्विसदृशा' सूत्रमार्गा यथा षड्जीवनिकाऽऽदाविति कृत विस्तरेणेति गाथार्थ ॥

।ऽ।ऽ
ऽ। ऽ।
ऽऽ ऽऽ

ननु या एवंविशेषणविशिष्टा सा बोद्धुमपि न शक्यते मन्दधीभि', आस्तां तावद्ध्यातुं, ततश्च यदि कथञ्चिन्नावबुध्यते तत्र का वार्तेत्यत आह—

तत्थ य मइदोब्बलेणं, तव्विहाऽऽयरियविरहओ वाऽवि।
णेयगहणत्तणेण य, णाणावरणोदएणं च ॥ ४७ ॥

व्याख्या—' तत्र ' तस्यामाज्ञाया, चशब्द प्रस्तुतप्रकरणानुकर्षणार्थः, किं ?-जडतया चलत्वेन वा मतिदौर्बल्येन-बुद्धे', सम्यगर्थानवधारणेनेत्यर्थ, तथा ' तद्विधाचार्यविरहतोऽपि ' तत्र तद्विध —सम्यगविपरीततत्त्वप्रतिपादनकुशलः आचर्यतेऽसावित्याचार्य' सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यत इत्यर्थ', तद्विधश्चासावाचार्यश्च तद्विधाचार्य तद्विरहतः-तदभावतश्च, चशब्दः अयोपे द्वितीयकारणसमुच्चयार्थ', अपिशब्दः क्वचिदुभयवस्तूपपत्तिसम्भावनार्थ', तथा 'ज्ञेयगहनत्वेन च ' तत्र ज्ञायत इति ज्ञेय-धर्मास्तिकायादि तद्गहनत्वेन-गहरत्वेन, चशब्दोऽबोध एव तृतीयकारणसमुच्चयार्थः, तथा ' ज्ञानावरणोदयेन च ' तत्र ज्ञानावरणं प्रसिद्धं तदुदयेन तत्काल तद्विपाकेन, चशब्दश्चतुर्थावबोधकारणसमुच्चयार्थ, अत्राह-ननु ज्ञानावरणोदयादेव मतिदौर्बल्य तथा तद्विधाचार्यविरहो ज्ञेयगहनाप्रतिपत्तिश्च, ततश्च तदभिधाने न युक्तममीषामभिधानमिति, न, तत्कार्यस्यैव सङ्क्षेपविस्तरत उपाधिभेदेनाभिधानादिति गाथार्थः ।

तथा—

हेऊदाहरणासं-भवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वण्णुमयमवितहं, तहावि तं चिंतए मइमं ॥ ४८ ॥

व्याख्या-तत्र हिनोति-गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतु.-कारको व्यञ्जकश्च, उदाहरण-चरितकल्पितभेद, हेतुश्चोदाहरणं च हेतूदाहरणे तयोरसंभवः, कञ्चन पदार्थं प्रति हेतूदाहरणासम्भवात्, तस्मिंश्च, चशब्दः पञ्चमषष्ठकारणसमुच्चयार्थः, 'सति' विद्यमाने, किं ?-'यद्' वस्तुजात ' न सुष्ठु बुद्ध्येत ' नातीवावगच्छेत् ' सर्वज्ञमतमवितथं त ,पि तच्चिन्तयेन्मतिमा ' निति तत्र सर्वज्ञा'-तीर्थकरास्तेपा मत सर्वज्ञमतं-वचनं, किं ?-वितथम्-अनृत न वितथम्-अवितथं, सत्यमित्यर्थ, ' तथापि ' तदवाधकारणे सत्यनवगच्छन्नपि ' तत् ' मतं वस्तु वा ' चिन्तयेत् ' पर्यालोचयेत् ' मतिमान् ' बुद्धिमानिति गाथार्थ ।

किमित्येतदेवमित्यत आह—

अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जियरागदोसमोहा, य णण्णहावादिणो तेणं ॥ ४९ ॥

आव० ४ अ० । दर्श० । (अस्या गाथाया व्याख्या ' जिण ' शब्दे चतुर्थे भागे १४६२ पृष्ठे वक्ष्यते ।)

(३) आज्ञाग्राहकेण च सदैव भवितव्यम्—

सयाऽऽणागाहगे सिया, सयाणाभावगे सिया, सयाणापरितंते सिया, आणा हि मोहविसपरममंतो, जलं रोसाइजलणस्स, कम्मवाहितिगिच्छासत्थं, कप्पपायवो सव्वफलस्स । (सूत्र-२+)

सदाज्ञाग्राहक स्यात्, अध्ययनश्रवणाभ्याम्, आज्ञा—आगम उच्यते । सदाज्ञाभावक स्यात्, अनुप्रेक्षाद्वारेण सदाज्ञापरतन्त्र स्यादनुष्ठानं प्रति । किमेवमित्याह—आज्ञा हि मोहविषपरममन्त्र. तदपनयनेन । जल, द्वेषादिज्वलनस्य, तद्विध्यापनेन । कर्मव्याधिचिकित्साशास्त्र, तत्क्षयकारकत्वेन कल्पपादप. सर्वफलस्य, तदवन्ध्यसाधकत्वेन । पं० सू० २ सूत्र । (आज्ञाग्राह्यार्थस्यास्यैव व्याख्यानमिति ' पव्वज्जा ' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते)

(यत्राऽऽज्ञा न स्खलति स एव गच्छ')—

जत्थ य उसभाऽऽदीणं, तित्थयराणं सुरिंदमहियाणं।

कम्मऽट्ठविप्पमुक्काणं, आणं न खलिज्जइ स गच्छो ।
महा० १ अ० ।

(मोक्षार्थिनाऽऽज्ञयैव सर्वत्र यतितव्यम् इति 'चेइय' शब्दे तृतीये भागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते)

(आज्ञास्थितानामेव साधुत्वम्) तीर्थकराज्ञास्थितानेव स्वरूपत आह—

ते पुण समिया गुत्ता, पियदढधम्मा जिइंदियकसाया ।
गंभीरा धीमंता, पएणवणिज्जा महासत्ता ॥ ४० ॥

व्याख्या-तीर्थकराज्ञास्थिताः, साधवः, पुनरिति विशेषणार्थे । समिताः समितिपञ्चकेन गुप्ता—गुप्तित्रयेण, प्रियः प्रीतिस्थानं दृढश्च स्थिरो विपत्स्वपि अविमोचनाद् धर्मः श्रुतचारित्रात्मको येषां ते प्रियदृढधर्म्माः । जितेन्द्रियकषाया –न्यक्कृतकरणकोपादिभावाः । गम्भीरा अलक्ष्यमाणहर्षदैन्यादिभावाः । गाम्भीर्यलक्षणं चेदम्—"यस्य प्रभावादाकाराः, क्रोधहर्षभयादिषु । भावेषु नोपलक्ष्यन्ते, तद् गाम्भीर्यमुदाहृतम् ॥ १ ॥" इति । धीमन्तो—बुद्धिमन्तः प्रज्ञापनीयाः-सुखावबोध्याः, महासत्त्वाः-अवैक्लव्याऽध्यवसायवन्तः । 'आपत्सु अवैक्लव्यकरमध्यवसानकरं सत्त्वम्" इत्युक्तेः. इति गाथार्थः ।

उस्सग्गववायाणं, वियाणगा सेवगा जहासत्ती ।
भावविसुद्धिसमेता, आणारुइणो य सम्मं ति ॥४१॥

व्याख्या-उत्सर्गापवादयोः —सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योः, विज्ञायकाः-विज्ञाः, तथा सेवकाः -अनुष्ठानरताः, तयोरेव । यथाशक्ति-शक्त्यनिगूहनेन, भावविशुद्धिसमेताः -परिणामविशुद्धितान्विताः आज्ञारुचयः -आगमबहुमानिनः, चशब्दः समुच्चये, सम्यग्-अविपरीततया, न पुनः स्वाग्रहानुसारेण, इतिशब्दः समाप्तौ इति गाथार्थः । पञ्चा० ११ विव० ।

(आज्ञासारमेव सम्यगनुष्ठानं साधुधर्मः)—

धम्मो पुण एयस्सिह, सम्माणुट्ठाणपालणारूवो ।
विहिपडिसेहजुयं तं, आणासारं मुणेयव्वं ॥ ८ ॥

व्याख्या-एष तावत्साधुरुक्तो धर्मः पुनर्दुर्गतिगमनधारणस्वभावः एतस्य साधोः इह-साधुधर्मविचारे, सम्यक्-समीचीनं, यदनुष्ठानं-प्रत्युपेक्षादिक्रिया तस्य या अनुपालना-सेवा सम्यग् वा याऽनुष्ठानपालना सैव रूपं-स्वभावो यस्यासौ सम्यगनुष्ठानपालनारूपः, सम्यगनुष्ठानमेव किमुच्यते ?, इत्याह-विधिप्रतिषेधयुक्तं-ध्यानादिहिंसादिस्वासेवापरिहारान्वितं, तत्सम्यगनुष्ठानम् आज्ञासारमाप्तवचनप्रधानम् 'मुणेयव्वं' ति-विज्ञेयम् । इति गाथार्थः । पञ्चा० ११ विव० ।

अथ कस्मादाज्ञासारमेव सम्यगनुष्ठानं साधुधर्म इत्युक्तमित्याशङ्क्याह—

आणारुइणो चरणं, आणाए च्चिय इमंति वयणाओ ।
एत्तोऽणाभोगम्मि वि, पन्नवणिज्जो इमो होइ ॥ १२ ॥

व्याख्या—आज्ञारुचेः -आप्तोपदेशाभिलाषयुक्तस्य । न त्व(न्य)स्य चरणं चारित्रं भवतीति गम्यं, कुत एवं सिद्धमित्याह-' आणाए च्चिय ' त्ति—आज्ञयैव—आप्तोपदेशेनैव, नाऽन्यथा, 'इदं चरणं भवती' ति वचनात्-आगमवाक्यात्, तथाहि-" आणाए च्चिय चरणं तब्भंगे जाण किं न भग्गं ति । आणं च अइक्कंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं " ॥ १ ॥ अथाज्ञारुचेरप्यनाभोगाच्चरणविघातो भविष्यतीत्याशङ्क्याह-'एत्तो' त्ति-इत अस्मादाज्ञारुचित्वात्प्रज्ञापनीयो भवतीति योगः । अनाभोगेऽपि-अज्ञानेऽपि अनाभोगजनिते, सद्सत्प्रवृत्तावपीत्यर्थः । अनाभोगस्तस्य प्रायो न संभवतीति ख्यापनार्थोऽपिशब्दः । प्रज्ञापनीयः -सुखसंबोध्यः, अयमाज्ञारुचिः, भवति-स्यात्, ततश्चाज्ञारुचित्वात्प्रज्ञापनीयत्वेनाऽस्य चरणं भवतीत्याज्ञासारं तदुक्तम् । इति गाथार्थः । पञ्चा० ११ विव० ।

(४) परलोके चाऽऽज्ञाया एव प्रामाण्यम्—

आणा इत्थ पमाणं, विएणेआ सव्वहा उ परलोए ॥१३८४+।

आज्ञा अत्र प्रमाणं विज्ञेया, सर्वथैव परलोके । प०व०४ द्वार।

धर्ममूलं चाऽऽज्ञैव—

आणाभंगाउ च्चिय, धम्मो आणाए पडिबद्धो ॥ १८ ॥

आज्ञाभङ्गादेव-सर्वविदामागमोल्लङ्घनादेव । (दर्श०) धर्मः-द्रव्यस्तवरूपः आज्ञायाम्-आप्तवचने प्रतिबद्धः-नियमाद् वर्तते । दर्श० १ तत्त्व ।

आज्ञोल्लङ्घनेऽपि कथं धर्माऽभाव इत्याह—

तित्थगराणामूलं, नियमा धम्मस्स तीए वा पाए ।
किं धम्मो किमहम्मो, मूढा नेयं वियारिंति ॥ १६ ॥

तीर्थकराज्ञैव-सर्वविदुपदेश एव मूलं प्रथमारोहणरूपं नियमो-निश्चयो न धर्मस्य । महामहीसहस्याविकलसकलसुखफलससाधकस्य तस्याः तीर्थकरस्याज्ञाया विघाते-विनाशे किं धर्मः शुभस्वभावः सुखसंदोहसंपादको वा किम्, अथवा-धर्मः पुण्याभावस्वभावः सदा देहिसंदोहदुःखदानदुर्ललितः । मूढा-मिथ्यात्वमहामोहमोहितान्तःकरणा हिताऽहितविवेकविकला नेदं विचारयन्ति नेदं पर्यालोचयन्ति यदुत-सर्वविदुपदेशोल्लङ्घनेन स्वबुद्ध्या सुन्दरमप्यनुष्ठानं विधीयमानं किं कर्माऽभावाय-कर्मबन्धाय भविष्यतीति गाथार्थः ।

तर्हि तत्त्वपर्यालोचनेऽपि किं वृत्तमित्याह—

आराहणाए तीए, पुन्नं पावं विराहणाए उ ।
एयं धम्मरहस्सं, विएणेयं बुद्धिमंतेहिं ॥ २० ॥

आराधनया तस्याः -आज्ञायाः सर्वविदुपदेशस्य पुण्य-शुभं सर्वज्ञाऽऽज्ञाप्रज्ञापनजनितशुभभावकुशलानुष्ठायिना हि शुभभावादेव शुभानुबन्धि पुण्यबन्धो भवत्येव, पापमशुभवेद्यं-विराधनया सर्वविदाज्ञोल्लङ्घनेन, तुशब्दः पुनरर्थस्ततोऽयमर्थः -स यद्यपि स्वाग्रहवशाद्-गतानुगतप्रवाहदर्शनाद् बोधकुशलबुध्या धर्माद्यन्येषु प्रवर्तते तथाऽपि जिनागमोक्तमार्गोल्लङ्घनर्जानितं पापमेव भवति, यतः -" धर्मार्थी खलु शुद्धबुद्धिविभवः सर्वत्र कृत्येषु वा , प्राणिप्राणविधावपीह सततं जैनेषु पूजादिषु । स्वाभिप्रायवशो गतानुगतिकप्रायप्रवाही सदा , दत्ते धर्मधियाऽपि पापमतुलं तीर्थाधिपाज्ञां विना ॥१॥" अन्यैरप्युक्तम्-" जिणाणाए कुणंताणं , नूणं निव्वाणसाहणं । सुंदरं पि सबुद्धीए, सव्वं भवनिबंधणं " ॥ १ ॥ एतद्धर्मरहस्यं-धर्मसर्वस्वं विज्ञेयम्-अवबोद्धव्यम् । बुद्धिमद्भिः -

हिताहितविवेकविकलैरिति गाथार्थः । दर्श० १ तत्त्व ।

(५) (आज्ञया प्रवर्त्तमानस्याऽप्रवर्त्तमानत्वम् सर्वज्ञवचन एवाज्ञाया सर्वहितकारकत्व च ।)—

आणा परतंतो सो, सा पुण सव्वएणुवयणओ चेव ।
एगंतहिया वेज्जग-णातेणं सव्वजीवाणं ॥ १६ ॥

व्याख्या-आज्ञापरतन्त्रः-आप्तवचनाधीन , स-प्रस्तुतसाधु , सा पुन:-आज्ञा पुन:, सर्वज्ञवचनत्वादेव-आप्तप्रणीतत्वादेव, इह भावप्रत्ययो लुप्तो द्रष्टव्य:। एकान्तहिता-सर्वथोपकारिणी , वैद्यकज्ञातेन-आयुर्वेदोदाहरणेन , सर्वजीवाना विवक्षया-समस्ताङ्गिना , यथा हि-वैद्यशास्त्र नैकस्य कस्यचिदेवातुरस्य स्वस्थस्य वा वैद्यस्य तत्पुत्रस्य तदन्यस्य वा उपकारकम्, एवमाज्ञापि न केषांचिदेवोपकारिणी । इति गाथार्थ:। पञ्चा० १४ विव०। प० व०।

(६) (आज्ञा वा पुनर्बन्धकातिरिक्तेभ्यो न प्रदेया)—

एसा आणा इह भगवओ समंतभद्दा तिकोडिपरिसुद्धीए अपुणबंधगाइगम्मा । एअविवरीअं खलु इत्थ लिंगं ओचित्तपवित्तिविन्नेयं संवेगसाहगं निअमा । न एसाऽओसि देया । लिंगविवज्जयाओ तप्परिण्णा। तयणुग्गहट्ठयाए आमकुंभोदगनासनाएणं एसा करुणा त्ति वुचइ, एगंतपरिसुद्धा अविराहणाफला तिलोगनाहबहुमाणेणं निस्सेअसमाहिग त्ति । (सूत्र-५+) पं० सू०। (अस्य व्याख्या-'पवज्जा' शब्दे पञ्चमभागे ७६०पृष्ठे वक्ष्यते)

आज्ञाया च प्रमादो न विधेय —

लद्धूण माणुसत्तं, संजमसारं च दुल्लभं जीवा ।
आणाएँ पमाएणं, दुग्गइभयवड्ढणा होंति ॥ ६२ ॥

लब्ध्वा—प्राप्य मानुषत्व, तथा सयम एव सार-प्रधानं मोक्षाङ्ग तं च दुर्लभ-महावारिधिनिमग्नानर्घ्यरत्नमिव दुष्प्राप लब्ध्वा ये जीवा भागवत्या आज्ञाया-विधिप्रतिषेधरूपाया प्रमादेन काल गमयन्ति । ते दुर्गतिभयवर्धना भवन्ति '-आत्मनो देवादिदुर्गतिपरिभ्रमणजनित भयं वर्द्धयन्तीति भाव । बृ० ३ उ०।

(७) (तीर्थकराऽऽज्ञाया अन्यथाकरणे दोष)—

तित्थगराणं आणा, सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा ।
तस्सऽण्णहा उ करणे, मोहादतिसंकिलेसो त्ति ॥ ६ ॥

व्याख्या-तीर्थकराणा-जिनानामाज्ञोपदेश सम्यग्भावत -विधिना तु—वक्ष्यमाणविधानेनैव भवति—स्यात् कर्त्तव्या. विधिविपर्यये दोषमाह-तस्या-जिनाज्ञाया अन्यथा तु करणेअविधिविधाने, पुन कुत इत्याह-मोहाद्-अज्ञानात् किमित्याह-अतिसङ्क्लेशम्-आत्यन्तिक चित्तमालिन्य भवति। पञ्चा० १५ विव०।

(८) जिनाज्ञारहितस्य सुन्दरस्यापि स्वबुद्धिकल्पितस्य भवकारणत्वम् , यत उक्तम्—

" जिणाणाए कुणताण, नूण निव्वाणकारण ।
सुन्दर पि सबुद्धीए, सव्व भवनिबधण ॥१॥" दर्श०३ तत्त्व ।

आज्ञाराधन-विराधनयोर्दोषगुणौ—

जह चेव उ मोक्खफला, आणा आराहिआ जिणिंदाणं ।
संसारदुक्खफलया, तह चेव विराहिया होइ ॥ ११६ ॥

व्याख्या-यथैव तु मोक्षफला भवतीति योग , आज्ञा आराधिता-अखण्डिता सती जिनेन्द्राणां संबन्धिनीति। ससारदु खफलदा तथैव च विराधिता-खण्डिता भवतीति गाथाऽर्थ । पं० व० १ द्वार।

(आज्ञाराधकानाराधकौ तयोर्दोषाऽदोषौ वासाऽर्हमवासाऽर्हंगच्छमधिकृत्योक्तम्)—

से भयवं ! किमेस वासेज्जा ?, गोयमा ! अत्थेगे जेण वासेज्जा, अत्थेगे जेणं नो वासेज्जा । से भयवं ? केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ ? । जहा णं गोयमा ! अत्थेगे जेणं वासेज्जा, अत्थेगे जेणं नो वासज्जा । गोयमा ! अत्थेगे जेणं आणाएठिए । अत्थे(ङ्गे)गे जेणं आणाविराहगे । जेणं आणाठिए । से णं सम्मदंसणनाणचरित्ताराहगे, जेणं सम्मदंसणनाणचरित्ताराहगे से णं गोयमा ! अच्चंतविऊ सुपवरकडुज्जुए मोक्खमग्गे । जे य उण आणाविराहगे से णं अणंताणुबंधी कोहे माणे अणंताणुबंधी माणे से णं अणंताणुबध. कइयावसेणं अणंताणुबंधी लोभे । जेणं अणंताणुबधी कोहाइकसायचउक्के से ण घणरागदोसमोहमिच्छत्तपुंजे जेणं घणरागदोसमोहमिच्छत्तपुंजे से णं अणुत्तरघोरसंसारसमुद्दे । जेणं अणुत्तरघोरसंसारसमुद्दे से णं पुणो पुणो जंमे, पुणो पुणो जरा, पुणो पुणो मच्चू । जेण पुणो पुणो जम्मजरामरणे से णं पुणो पुणो बहुभवंतरवत्ते । से णं पुणो पुणो चुलसीइजोणिलक्खमाहिंडणं । जेणं पुणो पुणो चुलसीइलक्खजोणिमाहिंडणं मे णं पुणो पुणो सुदूसहे घोरतिमिरंऽधयारे रुहिरविलिविलेवसयमपूयवंतपित्तसिंभचिक्खिल्लदुग्गंधाऽसुइविलीणजंबालकेयकिट्टिमक्खरनपडिपुन्ने । अणिट्ठउव्वियणिज्जअइघोरचडमहरोहदुक्खदारुणगब्भपरंपरापवेसे । जेणं पुणो पुणो दारुणो गब्भपरम्परापवेसे ण दुक्खो से णं के म णं रोगाण के सेयं सेयं सणं गोगमंताणुवंगे से णं अवणे वुत्ती जेणं अवणे वुत्ती मे णं जहट्ठिमपोरद्धाण असंपत्ती । मे णं नोरपंचप्पयारअणंतरायकम्मोदए जत्थ णं पंचोपयारअंतराकम्मोदए तत्थ णं मव्वदुक्खाणं अग्गणीभूए पढमे ताव दरिद्दे जेणं दारिद्दे से णं अयसभक्खाणं अकित्तीकलंकरासीणं मलाणाणं । मे णं मयलजणलज्जणिअनिंदणिज्जे गरहणिज्जे खिंसणिज्जे दुगुंछणिज्जे सव्वपरिभूए जीविए, जेणं सव्वपरिभूए जीविए से णं सम्मदंसणनाणचरित्ताइगुणेहिं सुदूरयरं विप्प-

मुक्के चेव मणुयजंमे अन्नहा वा सव्वपरिभूए चेव णं भवेज्जा॥। जेणं सम्मद्दंसणनाणचरित्ताइगुणेहिं सुदूरयरेणं विप्पमुक्के चेव णिभवो से णं अणिरुद्धा सदारत्ते चेव जेणं अणिरुद्धा मव्वचारित्ते चेव से णं बहूण लघूणं पावकम्मायणे जेणं बहूण लघूण पावकंमागमे से णं बंधी से णं वंदी मे णं गुत्ती से णं चारगे से णं सव्वमकल्लाणममंगलजाले। दुविमोक्खे कक्खडघणबद्धपुट्ठनिगाइयकंमगंठी जेणं कक्खडघणबद्धपुट्ठनिगाइयकमगंठी से णं एगेंदियत्ताए बेइंदियत्ताए तेइंदियत्ताए चउरिंदियत्ताए पंचिंदियत्ताए नारयतिरिच्छकुमाणुमेसुं अणेगविहं सारीरमाणमं दुक्खमणुभवमाणं वइयव्वे। एएणं अट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—जहा अत्थेगे जेणं वाभेज्जा से भयवं किमित्थ तेणं उच्छाइए केइ गच्छे भवेज्जा गोयमा! जेणं से आणाविराहगे गच्छे भवेज्जा से णं निच्छयओ चेव मिच्छत्तेणं उच्छाइयगच्छे भवेज्जा। से भयवं! कयराओ ण सा आणाजीविए गच्छे आराहगे भवेज्जा?, गोयमा! संखाइएहिं ठाणंतरेहिं गच्छे मे णं आणापन्नत्तीए ठिए गच्छे आराहगे भवेज्जा। से भयवं! किं तेसि मखातीतागं गच्छमेग ठाणतराणं। अत्थि केई अन्नयरे थाणतरे णं जेणं उस्सग्गेण वा अववाएण वा कह वि पमायदोसेणं असई अइक्कमेज्जा अइक्कंतेणं वा आराहगे भवेज्जा?। गोयमा! णिच्छयओ नत्थि। से भयवं! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं निच्छयओ नऽत्थि। गोयमा! तित्थयरेणं ताव तित्थयरे तित्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे से णं गच्छे सुपइट्ठिए गच्छेसु पुण सम्मद्दंसणनाणचरित्तपइट्ठिए ते य सम्मद्दंसणनाणचारित्ते परमपुज्जेण परमपुज्जयरे। परमसरन्नाण सरन्ने परमच्चाणं सच्चयरे ताइं च जत्थ णं गच्छे अन्नयरे ठाणे कत्थइ विराहिज्जंति से णं गच्छे समग्गपणासए उम्मग्गदेसए जेणं गच्छे समग्गणासगे उम्मग्गदेसए से ण निच्छओ चेव अणाराहगे, एएणं अट्ठेणं गोयमा! एव वुच्चइ जहा णं संखादीयाण गच्छमेरा ठाणतराणं जेण गच्छे एगमयरट्ठाण अइक्कमेज्जा से णं एगंतेणं चेव अणाराहगे॥ महा० ५ अ०।

(आज्ञाऽऽराधन-विराधनयोः फलं 'सुय' शब्दे सप्तम भागे वक्ष्यते) (भगवदाज्ञाराधनकृतमेवाराधा भगवदाज्ञाखण्डनकृतमेव दोष च इति 'आहाकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे व्याख्यास्यते)

एगंते मिच्छत्तं, जिणाण आणा य होइऽणेगंता ।
एगं पि असद्दहाउ, मिच्छद्दिट्ठी जमालि व्व १२०२ ति०।
(सावद्याचार्यकथा 'सावज्जायरिय'शब्दे सप्तम भागे कथयिष्यामि)

तित्थयरसमो सूरी, दुज्ज य कम्मट्ठमल्लपडिमल्ले ।
आणं अइक्कमंते, ते कापुरिसे न सप्पुरिसे ॥
भट्ठाऽऽयारो सूरी, भट्ठायाराणुसिक्खिओ सूरी ।
उम्मग्गट्ठिओ सूरी, तिण्णि वि मग्गं पणासेंति ॥
उम्मग्गट्ठिए सूरि-म्मि निच्छयं भव्वसत्तसंघाए ।
जम्हा त मग्गमणु-सरति तम्हा ण तं जुत्तं। महा० ६ अ०।

(कीदृशेन गणिना भाव्यमिति 'गणि' शब्दे तृतीयभागे ८७३ पृष्ठ वक्ष्यते)

तम्हा गणिणं समस-त्तुमित्तपक्खेण परहियरएणं ।
कल्लाणकंखुणा अ-प्पणो वि आणा ण लंघेया ॥
महा० ६ अ० ।

(जिनस्याऽऽचार्यादेश्चाऽऽज्ञाया अतिक्रमे आराधकाऽनाराधकत्वं यत्राऽऽचार्यदृष्टान्तश्च)—

से भयवं! जइ णं गणिणो अच्चंतविसुद्धपरिणामस्स वि कइ दुस्सीले सच्छंदत्ताए जइ गारवत्ताएइ वा जायाइमयत्ताए वा आणं अइक्कमेज्जा से णं किमाराहगे भवेज्जा?, गोयमा! जे णं गुरुसमसत्तुमित्तपक्खो गुरुगुणेसु ठिए सयं सुत्ताणुसारेणं चेव विसुद्धासए विहरेज्जा तस्साऽऽणामइक्कंतेहिं णवणउएहिं चउहिं सएहिं साहूणं जहा तहा चेव अणाराहगे भवेज्जा। से भयवं! कयरे णं ते पंचसए कविवज्जिए साहूणं जेहिं च णं तारिसगुणोववेयस्स महाणुभागस्स गुरुणो आणं अइक्कमिय णाराहियं गोयमा! णं इमाए चेव उसभं चउवीसगाए अतीताए तेवीसइमाए चउवीसगाए जाव णं परिनिव्वुडे चउवीसं इमे अरहा ताव णं अइक्कंतेणं केणइ णं कालेणं गुणनिप्फन्ने कम्मसेलमसुमूरणे महायसे महासत्ते महाणुभागे सुग्गहियनामधिज्जे "वइरे" णाम गच्छाहिवई भूए, तस्स णं पंचसयं गच्छं निग्गंथाइं विणा निग्गंथीहिं समं दो सहस्से अहेसि ता गोयमा! ताओ निग्गंथीओ अच्चंतपरलोगभीरुयाओ सुविसुद्धनिम्मलनकरणाओ खंताओ दंताओ मुत्ताओ जिइंदियाओ अच्चंतभणिरीओ नियसरीरस्सवि य छक्कायवच्छलाओ जहोवइट्ठअच्चतघोरवीरतवचरणसोसियसरीराओ जहा णं तित्थयरेणं पन्नवियं तहा चेव अदीणमणसाओ मायामयमहंकारममकर इतिहासखेडकंदप्पणादवायविप्पमुक्काओ तस्साऽऽयरियस्स सगासमन्नमणुचरंति। ते य साहुणो सव्वे वि गोयमा! न तारिसे भणगे अहन्नया गोयमा! ते साहुणो त आयरियं भणंति जहा णं जइ भणिय च तुमं आणवेहिताण अम्हेहिं तित्थयत्त कारियं। चंदप्पहसामियं वंदिया धम्मचक्क गंतूण मा गच्छामो ताहे गोयमा! अदीणमणसा अणुत्तालगंभीरमहुराए

भारतीए भणियं तेणाऽऽयरिएणं जहा इच्छायारेणं न कप्पइ तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाणं ता ०जाव णं वोलेइ जत्तं ताव णं अहं तुम्हे चंदप्पहं वंदावेहामि, अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ, एएणं कारणेणं तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ। तओ तेहिं भणियं-जहा भयवं! केरिसओ णं तित्थयत्ताए गच्छमाणाणं असंजमो भवइ, सो पुण इच्छायारेणं विइज्जवारपरिसंउलावेज्जा बहुजणेणं वाउलगो भन्निहिमि ताहे गोयमा! चिंतेणं तेणं आयरिएणं जहा णं मम वइक्कमिय निच्छयओ एए गच्छिहिंति तेणं तुमए समयं च उत्तरेहिं चयंति अह अन्नया सुबहुं मणमा संधीरेउ णं चेव भणियं तेणं आयरिएणं-जहा णं तुब्भे किंचि वि सुत्तत्थं वियाणह णवियाणह तारिसं तित्थजत्ताए गच्छमाणाणं असंजमं भवइ। तारिसं सयमेव वा वियाणेह किंचि एत्थ बहुविलंबिएणं अन्नं च चिंदियं तुम्हेहिं पि संसारमहावजीवाइपयत्थं तत्थं वा अहएणया बहुउवाएहिं णं विणिवारितस्स वि तस्साऽऽयरियस्स मन्नए चेव। तं माहुणो ण कुट्टेणं कयं तेणं परिए तित्थयत्ताए तेसिं च गच्छमाणाणं कत्थइ णेसणं कत्थइ हरियकायसंघट्टणं कत्थइ वीयकमणं कत्थइ पिवीलियादीणं तसाणं संघट्टएणं परितानेणोद्दवणाइं संभवं कत्थइ वि इट्टपडिकमणं कत्थइ ण कीरिए चेव चाउकाइयं सज्झायं कत्थइ ण संपडिलेहेज्जा मत्तभंडोवगरणस्स विहीए उभयकालं पेहपक्खेज्जा ण पडिलेहणपडणं किं बहुणा गोयमा! कित्तियं भन्निहियं अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं सत्तरस्स वि सहस्साणं संजमस्स दुवालसविहस्स णं सब्भिंतरबाहिरस्स तवस्स ०जाव णं खंताइ अहिंसालक्खणस्स वयस्स दसविहमहस्साऽणगारधम्मस्स जत्थेकेक्कपयं चेव सुबहुएणं पि कालेणं थिरपडिचिएण दुवालसंगमहासुयक्खंधेणं बहुभंगसयं संघत्तणाए दुक्खनिरइयारं परिवालिऊणं। जे एयं च सव्वं जहा भणियं निरइयारमणुट्ठयंति एव संभारिऊण चिंतियं तेण गच्छाहिवइणा जहा ण मे विप्परुक्खेणं ते दुट्ठसीमे मज्झ आणाभंगमविणएणं सुबहुं असंजमं काहेंति। तं च सव्वमपच्छंतियं होही। जओ णं हं तेसिं गुरू ताहं तेसिं पट्ठिए गतूणं पडिजागरामि जयाहमित्थपए पायच्छित्तेणं णो संबज्झत्ति वियप्पिऊणं गओ। सो आयरिओ तेसिं पट्ठीए ०जाव ण दिट्ठे तेणं असमंजमेण गच्छमाणं ताहे गोयमा! सुमहुरमंजुलालावेणं भणिय तेणं गच्छाहिवइणा जह भो! भो! उत्तमकुलनिम्मलवंसविहूसणा! असुगयसुरगइमहासत्ता! साहूउ पडिवन्नाए पंचमहव्वयाहिया! तं एवणं महाभागाणं साहूणं साहुणीणं सत्तावीसं सहस्साइं थंडिलाणं सव्वदंसीहिं पन्नत्ताइं ते य सुओवउत्तेहिं विसोहिज्जंति ण उण अन्नोवउत्तेहिं ता किमेयं सुन्नासुन्नीए अणणोवउत्तेहिं गम्मइ इच्छायारेणं उवओगं देहि अन्नं इणमो सुत्तत्थं। किं तुम्हाणं वि समरिओ भवेज्जा। जं सारं सव्वपरमतत्ताणं जहा एगो वेदिये पाणी एगं सयमेव। हत्थेण वा पाएण वा अन्नयरेण वा सलागाइअहिगरणभूओ चरणजाएणं जेणं केइं संघट्टावेज्जा पासघट्टियं वा अपरं समणुजाणेज्जा से णं तकम्मं जया उदिण्णं भवेज्जा तया जहा उच्छुखंडाइं जंते तहा निपीडिज्जमाणो छम्मासेणं खवेज्जा, एवं गाढे दुवालसेहिं संवच्छरेहिं तं कम्मं वेदेज्जा, एवं आगाढपरियावणे वाससहस्सं, गाढपरियावणे दसवाससहस्सं, एवं आगाढकिलावणे वासलक्खं, गाढकिलावणे दसवासलक्खाइं, उद्दवणे वामकोडी. एवं तेइंदियाइसुं पि णेयं ता एवं च वियाणमाणो मा तुम्हे मुज्झह त्ति। एवं च गोयमा! सुत्ताणुसारेणं सारयंतस्सवि तस्साऽऽयरियस्स ते महापावकम्मे गमगमहल्लफलेणं हल्लोहलीभूएणं त आयरियाणं असेसपावकम्मट्ठदुक्खविमोयगे णो बहुकम्मट्ठदुक्खविमोयगे णो बहु मन्नंति ताहे गोयमा! मुणियंतेणाऽऽयरिएणं जहा निच्छियओ उम्मग्गपट्ठिए सव्वपगारेहिं चेव इमे पावमई दुट्ठसीसे ता किमट्ठमहमिमेसिं पट्ठीए लल्लीवागरणं करेमाणो अणुगच्छमाणो य सुक्खाए गयजलाए णदीए उवुज्झए गच्छदमदुवारेहिं। अहयं तु तावाऽऽयहियमेवाऽणुचिट्ठेमो किमज्झपक्खएणं सुगुहं तेणावि पुत्तपब्भरेणं थेवमवि किं वि परित्ताणं भवेज्जा अप्परक्कमेणं चेव आगजुत्ततवसंजमाणुट्ठाणेणं भवोयही तरेयव्वो एस उण तित्थयराऽऽएसो, जहा-

" अप्पहियं कायव्वं, जइ सक्का परहियं च पयरेज्जा।
अत्तहिय-परहियाणं, अत्तहियं चेव कायव्वं ॥ १ ॥"

अन्नं च—

"जइ एते तवसंजम-किरियं अणुपालियं होंति तओ।
एएसिं चवसेयं, होइ जेहिं ण काहिंति ॥ १ ॥"

तओ एएसिं चेव दुग्गइगमणमणुत्तरं हविज्जा। नवरं तहा वि मम गच्छो समप्पिओ गच्छाहिवई अहयं भणामि। अन्नं च जे तित्थयरेहिं भगवंतेहिं छत्तीम आयरियगुणे समाइट्ठे। तेसिं तु अह यं एक्कमवि णाइक्कमामि। जइ वि पाणोवरमं भवेज्जा जवाऽऽगमं इहपरलोगविरुद्धं नं णाऽऽयरामि, ण कारयामि, न कज्जमाणं समणुजाणामि। तमेरिसगुणजुत्तस्सऽवि जइ भणियं ण करेंति नाहमिमेसिं वेमग्गहणा उद्दालेमि एवं समए पन्नत्ती, जहा जं केई साहू

साहुणी वा वायामित्ते णो वि असंजममणुचेट्ठेज्जा। से णं सारेज्जा से णं सारिज्जंते वा वारिज्जंते वा चोइज्जंते वा पडिचोइज्जंते वा। जया तं वयणमवमन्निय कसिणाइमाणे वा अभिनिविट्ठेइ वा तह त्ति पडिवज्ज इत्थ पउंजियाणं तत्थ आणापडिक्कमेज्जा से णं तस्स वेसग्गहणं उद्दालेज्जा। एवं तु आगमुत्तणाएणं गोयमा! जाव णं आयरिए एगस्स सेहस्स वेसग्गहणं उद्दालियं ताव णं अवसेसे दिसोदिसिं पणट्ठे ताहे गोयमा! सो आयरिओ सणियं सणियं तेसिं पट्ठिए जाउमारद्धो णो णं तुरियं तुरियं से भयवं किमट्ठं तुरियं तुरियं णो पयाइ, गोयमा! खाराए भूमीए जा महुरं संकमेज्जा महुराए खारं किण्हाए पीयं पीयाओ किण्हं जलाउ थलं थलाओ जलं संकमेज्जा। विहीए पाए पमज्जिज्ज संकामियव्वं णो पमज्जेज्जा तओ दुवालससंवच्छरियपच्छित्तं भवेज्जा एएणमट्ठेणं। गोयमा! सो आयरिओ ण तुरियं तुरियं गच्छे। अहऽन्नया सुयाउत्तविहीए थंडिलजलसंकमणं करेमाणस्स णं गोयमा! तस्सायरियस्स आगओ बहुवासरखुहापरिगयसरीरो वियडदाढविकरालयं तं मासुरोपलयकालमिव घोररूवो केसरी। भणियं च तेण महाणुभागेणं गच्छाहिवइणा जहा जयं दुग्गं गच्छेज्जा इमस्स णवरं दुग्गं गच्छमाणेणं असंजमं ताव सरीरवोच्छेयं स असंजमपवत्तणं ति चिंतिऊण विहीए उवट्ठियस्स सहसा जमुद्दालियं वेसग्गहणं तं दाऊण ठिओ णिप्पडिकम्मपायवोवगमणाणं से एए णं सिसोही तहेव अहऽन्नया अच्चंतविसुद्धन्तकरणे पंचमंगलवायारं सुहज्झवसायत्ताए दुवियगोयमवाईए तेण सीहेणं अन्तगडकेवली जाए। अट्ठप्पयारमलकलंकविप्पमुक्के सिद्धे य ते पुण गोयमा! एकूणे पंचसए साहूणं तकम्मदोसेणं जं दुक्खमणुभवमाणे चिट्ठंति जं चाऽणुभूयं जं चाऽणुभविहिंति अणंतसंसारसागरं परिभमंते तं कालेणं केवलिणं अणंतेणं भणिउं समत्थो। एते गोयमा! एगूणे पंचसए साहूणं जेहिं च णं तारिसगुणोववेयस्स णं महाणुभागस्स गुरुणो आणं अइक्कमियं णो आराहियं अणंतसंसारियं जाए, से भयवं! किं तित्थयरसंतियं आणं णाइक्कमेज्जा, उयाहु आयरियसंतियं?, गोयमा! चउव्विहा आयरिया भवंति, तं जहा-नामाऽऽयरिया, ठवणाऽऽयरिया, दव्वाऽऽयरिया, भावाऽऽयरिया, तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतियाऽऽणं णाइक्कमेज्जा। महा० ४ अ०।

(आज्ञाभङ्गे दण्डो यथा)—

तित्थकरआणा य एसा अणुपालियव्व त्ति जहा रण्णो अप्पणो रज्जे जं माणं पतिट्ठावितं जो ततो माणतो अतिरेगभूयाणं वा करेति सो अवराही डंडिज्जति, एवं जो तित्थकराणं आणं कोवेति सो दीहसंसारी (१८६ गाथाचूर्णिः) नि० चू० २० उ०। व्य० १ उ० २ प्रक० २२० गाथाटी०। "तंमि य आणाभंगे चउगुरुयं पच्छित्त ति"। नि० चू० ५ उ० ६४ गाथा।

(१०) (प्रलम्बग्रहणमधिकृत्य)—भगवता प्रतिषिद्धं यत्प्रलम्ब-न कल्पते तद्ग्रहणं कुर्वता भगवतामाज्ञाभङ्गः कृतो भवति, तस्मिंश्चाज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकाः।

अत्र पर आह—

अवराहे लहुगतरो, आणाभंगम्मि गुरुतरो किह णु।
आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु ॥११८॥

अपराध-चारित्रातिचारे लघुतरो दण्डो भवद्भिः पूर्वं भणितः, तथाहि—अचित्ते प्रलम्बे मासलघु, इह पुनराज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकमिति गुरुतरो दण्डः, कथं-कस्मात् सूरिरिति वितर्के, अपि च-अपराधे जीवोपघातो दृश्यते, तेन तत्र गुरुतरो दण्डो युक्तियुक्तः, आज्ञायां पुनर्नास्ति जीवोपघात इति लघुतरः प्रायश्चित्तमुचित इति। आचार्य आह-आज्ञायामेव भगवत्यां चरणं-चारित्रं व्यवस्थितम्, अतस्तद्भङ्गे-तस्या आज्ञाया भङ्गे किं तन्मूलं उत्तरगुणात्मकं वस्तु न भग्नम्, अपि तु सर्वमपि भग्नमिति, अत आज्ञायां गुरुतरो दण्डः।

उक्तस्यैवार्थस्य प्रसाधनार्थं दृष्टान्तमाह—

सोऊण य घोसणयं, अपरिहरंता विणासं जह पत्ता।
एवं अपरिहरंता, हियसव्वस्सा उ संसारे ॥ ११९ ॥

राज्ञा कारिता घोषणा श्रुत्वा घोषणायां च निवारितमर्थमपरिहरन्तो यथा द्रव्यापहारलक्षणं विनाशं प्राप्ता एवं तीर्थकरनिषिद्धं प्रलम्बग्रहणमपरिहरन्तो हृतसर्वस्वा-अपहृतसंयमरूपसर्वस्वाः संसारे दुःखमवाप्नुवन्ति एषा "भद्रबाहुस्वामि" विरचिता गाथा।

अथाऽस्या एव भाष्यकारो व्याख्यानं करोति—

छप्पुरिसा मज्झपुरे, जो आसादेज्ज ते आजावो।
तं दंडेमि अकंडे, सुणेत्तु पुरओ जणवया य ॥ १२० ॥
आणामिय परिहरंता, निद्दोसा सेसगा न निद्दोसा।
जिणआणागमचारी, अदोस इयरे भवे दंडो ॥१२१॥

"जहा केइ नरवई सो छहिं पुरिसेहिं अन्नतरे कज्जे तोसितो इमेणऽत्थेण घोसणं करेइ-इमे छप्पुरिसा। मज्झपुरे अप्पणो इच्छाए विहरमाणा महाजणेण अदिट्ठपुव्वा अणुवलद्धविभवत्था अच्छंति। जो ते छिवइ वा पाडेइ वा मारेइ वा तस्स उग्गं दंडं करेमि, एवं घोसणत्थं सोऊण ते पउरजणवया य दढभीता ते पुरिसे पयत्तेण वत्थरूवाईहिं चिंधेहिं आगमिऊण पीडापरिहारकयबुद्धी तेसिं छण्हं पुरिसाणं पीडं परिहरंति ते निद्दोसा। जे पुण अणायारमंता न परिहरंति घोसणसाऽवराहदंडेण दंडिया। एस दिट्ठंतो। अयमत्थोवणओ—रायत्थाणीया तित्थयरा, पुरत्थाणीओ लोगो, छप्पुरिसत्थाणीया छक्काया, घोसणात्थाणीया छक्कायरक्खणपरूवणपरा छज्जीवणियादओ आगमा, चिंधाइत्था-

णीया संघट्टणादी, पउरजणवयत्थाणीया साहू, दंडत्थाऽऽणीओ ससारो, तत्थ जे पयत्तेण छएहं कायाणं सरूवं रक्खणे वाय च आगमऊण जहुत्तविहीए पीडं परिहरति ते कम्मबधदंडेणं न दंडिज्जंति, इयरे पुण समारे पुणो पुणो सारीरमाणसेहिं दुक्खसयसहस्सेहिं दंडिज्जंति त्ति ।

अथाऽक्षरगमनिका-षट्पुरुषा मम पुरे वर्त्तन्ते यस्तानजानन्नपि आशातयेत् तमहं दण्डयाम्यकाण्डे-अकाले श्रृण्वन्तु एतत्पौरा.—पुरवासिनो जनपदाश्च—ग्रामवासिनो लोका, इति, राज्ञा कारिता घोषणा श्रुत्वा तान् पुरुषानागम्योपलभ्य परिहरन्त सन्तो निर्दोषा. शेषा. पुनर्ये पीडा न परिहरन्ति ते न निर्दोषा इति दण्डिता । एवमत्रापि जिनाज्ञया य. षट्कायानामागमः—परिज्ञान तत्पूर्वकचारित्र — सयमाध्वगामिनः सन्तोऽदोषा., इतरेषां भव-ससारे शारीरमानसिकदुःखलक्षणो दण्ड. । गतमाज्ञाद्वारम् । बृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० ।

(अपराधपदमधिकृत्याऽपि उक्तम्)—

अपराधपदं वर्त्तमानस्तीर्थकृतामाज्ञाभङ्ग करोति तत्र चतुर्गुरुरिति । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

अत्र नोदक. प्राह—

अवराहे लहुगयरो, किं णु हु आणाए गुरुतरो दंडो ।
आणाए चिय चरणं, तब्भंगे किं न भग्गं तु ॥३५१॥

जघन्यके अपरिगृहीते वा तिष्ठति प्राजापत्यपरिगृहीतं जघन्यमसंनिहितमदृष्ट प्रतिसेवित उभयत्रापि चतुर्लघु, एवं स्थानत प्रतिसेवनन यश्चापराधे लघुकतरो दण्ड उक्त आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरुकमित्यत 'किमि' ति परिप्रश्ने, 'नुरि' ति वितर्के, 'हुरि' ति गुर्वामन्त्रणे, किमेव भगवदाज्ञायां भङ्गाया गुरुतरो दण्डो दीयत । सूरिराह-आज्ञयैव चरणं व्यवस्थितं तस्य भङ्गे कृते सति किं न भग्नः चरणस्य सर्वमपि भग्नमेवेति भावः । अपि च-लौकिका अप्याज्ञाभङ्गे गुरुतरं दण्डं प्रवर्त्तयन्ति ।

तथा चाऽत्र पूर्वोद्दिष्ट मौर्यदृष्टान्तमाह—

भत्तमदाणमडंते, अणवट्ठाणवं अंबच्छेत्तु वसवती ।
गविमणपहदरिसिए, पुरिसवइवालडहण च ॥ ३५२ ॥

"पाडलिपुत्ते नयरे चंदगुत्तो राया, सो य मोरपोसगपुत्तो त्ति जे खत्तिया अभिजाइणो ते तस्स आणं परिभवंति । चाणक्कस्स चिंता जाया, आणाहीणो केरिसो राया । तम्हा जम्हा एयस्स आणाभिक्खा भवइ तहा करेमि त्ति तस्स य चाणक्कस्स कप्पडियत्त भिक्खं अडतस्स एगंमि गामे भत्तं न लद्ध तत्थ य गामे बहुअ वा, वं सा य अत्थि । तेउ तस्स गामस्स पडिनिविट्ठेण आणाहवणनिमित्तं इमेरिसो लेहो पेसिओ-आम्रान् छित्त्वा वंशाना वृत्ति शीघ्र कार्यते तहिं गामेअगेहिं दुल्लिहियं नि काउ वंसे छेत्तु अवाण वई कया गवेसावियं चाणक्केणेक्किक्कय तओ तत्थागतूण उवालद्धा भे गामेयगा एंन वसगा रोहगादिसु उवउज्जंति कीस भे छिन्नत्ति दंसिय लहवीरिय अन्न सांदिट्ठ. अन्नं चव करेह त्ति. तओ पुरिसेहिं अधासिरेहिं वयं काउ सो गामो सव्वो दड्ढो ।

अथ गाथाऽक्षरगमनिका—चाणक्यस्य भिक्षामटत. क्वापि ग्रामे भक्तस्यादान, भिक्षा न लब्धेत्यर्थः । तत आज्ञास्थापनानिमित्तमय लेख प्रेषित.-'अम्ब छेत्तु वंसवइ' त्ति आम्रान् छित्त्वा वंशानां वृत्तिः कर्त्तव्या तता गवेषणे कृते ग्रामेण च पथिदर्शिते अन्यदादिष्ट मया, अन्यदेव च भवद्भिः कृतमित्युपालभ्य तै पुरुषै वृत्तिं कारयित्वा सबालवृद्धस्य ग्रामस्य दहन कृतम् । एष दृष्टान्तः ।

अर्थोपनयस्त्वेवम्—

एगमरणं तु लोए, आणात्ति उत्तरे अणंताइं ।
अवराहरक्खणट्ठा, तेणाऽऽणा उत्तरे बलिया ॥३५३॥

लोके आज्ञाया अतिचारे-अतिक्रम एकमेव मरणमवाप्यते , लोकोत्तरे पुनराज्ञाया अतिचारे अनन्तानि जन्ममरणानि आप्यन्ते तेन कारणेन अपराधरक्षणार्थं लोकोत्तरे आज्ञा बलीयसी । बृ० १ उ० ३ प्रक० । (आज्ञाभङ्गे सति दण्डे दृष्टान्त. 'असज्झाइय' शब्दे प्रथमभागे ८२७ पृष्ठे गत.)

(आज्ञाभङ्गस्य दुःखकारणत्वम्)—

ता जत्थ दुक्खविक्खिरणं, एगंतसुहपावणं ।
सा आणा नो खंडेज्जा, आणाभंगे कओ ! सुहो ॥ १ ॥ महा० ४ अ०

(११) (आज्ञारहितस्य चारित्रमपि न भवति)—

दुप्पसहं तं चरणं, जं भणियं भगवया इहं खेत्ते ।
आणाजुत्ताणमिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो ॥५७॥

दर्श० ४ तत्त्व । (गाथार्थ. 'दुप्पसह' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यते)

(तीर्थकराऽऽज्ञानिन्दकस्य निन्दा)—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि ,
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः ,
स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ॥ २१ ॥

त्वदाज्ञा (आ-सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवादय पदार्था यया सा आज्ञा-आगम ; शासनं तवाऽऽज्ञा त्वदाज्ञा ता त्वदाज्ञां) भवत्प्रणीत "स्याद्वादमुद्रा," य -कश्चिदविवेकी अवमन्यते-अवजानाति (जात्यपेक्षमेकवचनमवज्ञया वा) स पुरुषपशु वातकी, पिशाचकी वा । स्या० । ('अस्य विशेषन व्याख्यानम् 'अणेगनवाय' शब्दे प्रथमभागे ४२५ पृष्ठे गतम् ।) (तीर्थकराऽऽज्ञारहितधर्मस्य फलाऽफलत्वविचार. 'आणाखण्डण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

(जिनाऽऽज्ञास्थित्यवधिश्च)—

से भयवं ! केवइयं कालं जाव एस आणा पवेइया ?, गोयमा ! जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे सिरिप्पभे अणगारे । से भयवं ! केवइएणं कालेणं से सिरिप्पभे अणगारे भवेज्जा । गोयमा ! ! होही दुरंतपंतलक्खणे अदव्वे रोद्दे चंडे उग्गे पयंडदंडे निम्मिरे निकिवे निग्घिणे नित्तिंसे कूरयरपावमई अणारिए मिच्छद्दिट्ठी "कक्की" नाम रायाणो

(णे) से णं पावे पाहुडियं भमाडिउकामे सिरिसमणसंघं कयत्थेज्जा जाव णं कयत्थे ताव णं गोयमा ! जे केइ तत्थ सलिद्धो महाणुभागो अचलियमत्ते तवोवहाणे अणगारे। तेसिं च पाडिहेरियं कुज्जा सोहम्मे कुलिसपाणी एरावणगामी सुरवरिंदे एवं च गोयमा ! देविंदवंदिए दिट्ठपच्चए णं सिरिसमणसंघेज्जा खिट्टिज्जा कुणए पामेलधम्मे ०जाव णं गोयमा ! एगे अविइज्जे। अहिंसालक्खणं खंतादिदमविइधम्मे। एगे अरहा देवाहिदेवे एगे जिणालये एगे वंदे पूए दक्खे सक्कारे संमाणे महाजसे महासत्ते महाणुभागे दढसीलव्वयनियमधारए तवोवहाणे साहु तत्थ णं चंदमिव सोमलेसे सूरिए इव तवतेयरासी पुढवी इव परिसहोवसग्गसहे मेरुमंदरधरे इव निप्पकंपे ठिए अहिंसालक्खणखंतादिदसविहे धम्मे। से णं सुसमणगणपरिवुडे। निरब्भगयणामलकोमुइजोगजुत्ते इव गहरिक्खपरिवारिए गहवई चंदे अहिययरं विराहेज्जा गोयमा ! से णं सिरिप्पभे। अणगारे भो गोयमा ! एवतियं कालं ०जाव एसा आणा पवेइया से भयवं उड्ढं पुच्छा गोयमा ! तओ परेणं उड्ढं हायमाणे कालसमये तत्थ णं जे केई छक्कायसमारंभविवज्जए। से णं धन्ने पुन्ने वंदे पूए पसंसणिज्जे। जीवियं सुजीवियं तेसिं। महा० ४ अ०।

(१२) आज्ञाव्यवहार —

आज्ञाप्यते-आदिश्यते इत्याज्ञा। व्यवहारभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ०। भ०। व्य०। पञ्चा०। देशान्तरस्थितयोर्द्वयोर्गीतार्थयोर्गूढपदैरालोचनानि जानिवार्गनिवेदनम्-आज्ञाव्यवहारः, एतदुक्तं भवति-यदा द्वावप्याचार्यावासेवितसूत्रार्थतयाऽनिर्गीतार्थौ क्षीणजङ्घाबलौ विहारक्रमानुगंप्रतो दूरतरदेशान्तरव्यवस्थितावपि एव परस्य समीपे गन्तुमसमर्थाविभूता तदाऽन्यतरप्रायश्चित्ते समापतिते सति तथाविधयोग्यगीतार्थशिष्याऽभावे मतिधारणाकुशलमगीतार्थमपि शिष्यं समयभाषया गूढार्थान्यतिचारासेवनपदानि कथयित्वा प्रेषयति, तेन च गत्वा गूढपदेषु कथितेषु स आचार्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंहननधृतिबलादिकं परिभाव्य स्वयं च तत्राऽऽगमनं करोति, शिष्यं वा तथाविधं योग्यं गीतार्थं प्रज्ञाप्य प्रेषयति। तदभावे तस्यैव प्रेषितस्य गूढार्थमतिचारशुद्धिं कथयतीति। प्रव० १२६ द्वार। व्य०।

(तथा च)—

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
पढमे छक्के अब्भिं-तरं उ पढमं भवे ठाणं ॥ १ ॥

अत्र प्रथमं कार्यं दर्पः, तत्र प्रथमं पदं दर्शननिमित्तं प्रथमं षट्कं व्रतषट्कं तत्राभ्यन्तरम्-अन्तर्गतं प्रथमस्थानं प्राणातिपातः।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
पढमे छक्के अब्भिं-तरं तु बीयं भवे ठाणं ॥ २ ॥

अत्र द्वितीयं स्थानं मृषावादः, एवमदत्तादानादिष्वपि भावनीयम्।

पढमस्स य कज्जस्स य, पढमेण पएण सेवियं जं तु।
बिइए छक्के अब्भिं-तरं तु पढमं भवे ठाणं ॥ ३ ॥

अत्र द्वितीयं षट्कं कायषट्कमित्यादि। एवं तेन कथितेन आचार्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंहननधृतिबलादिकं परिभाव्य स्वयं वा गमनं करोति। शिष्यं वा तथाविधं योग्यं गीतार्थं प्रज्ञाप्य प्रेषयति, तदभावे तस्यैव प्रेषितस्य गूढार्थमतिचारविशुद्धिं कथयति। व्य० १ उ०।

आणाए ववहारं, सुण वच्छ जहक्कमं बुच्छं ॥ ६०९ ॥

आज्ञया व्यवहारं यथाक्रमं यथा वक्ष्ये तं च वक्ष्यमाणं वत्स ! शृणु।

समणस्स उत्तमट्ठे, सल्लुद्धरणकरणे अभिमुहस्स।
दूरत्था जत्थ भवे, छत्तीसगुणा उ आयरिया ॥६१०॥

श्रमणस्य उत्तमार्थे-भक्तप्रत्याख्याने व्यवसितस्य यत्किमपि शल्यमनुद्धृतमस्ति तदुद्धरणकरणे अभिमुखस्य। 'दूरत्था जत्थ भवे छत्तीसगुणा' त्ति-यत्र प्रायश्चित्तव्यवहारे षट्त्रिंशद्गुणा आचार्या दूरस्था भवेयुस्तत्राऽऽज्ञया व्यवहारः।

कथमित्याह—

अपरक्कमो सि जाओ, गंतुं जे कारणं च उप्पन्नं।
अट्ठारसमन्नयरे, वसणगतो इच्छिमो आणं ॥ ६११ ॥

स आलोचयितुकामश्चिन्तयति-साम्प्रतमहमपराक्रमो जातोऽस्मि ततस्तस्य समीपं गन्तुं न शक्नोमि। कारणं च मम तत्राऽऽगमननिमित्तं समुत्पन्नम्। यताऽष्टादशानां व्रतषट्कादीनाम् अन्यतरस्मिन्नतीचारे व्यसनगतः-पातितस्तस्मादिच्छाम्याज्ञाव्यवहारमिति।

एतदेव सविशेषं भावयति—

अपरक्कमो तवस्सी, गंतुं जो सोहिकारगसमीवं।
आगंतुं न वाएई, सो सोहिकरो वि देसाउ ॥ ६१२ ॥

स-आलोचयितुकामस्तपस्वी शोधिकारकसमीपे गन्तुम् अपराक्रमो यस्य शोधिः कर्त्तव्या सोऽपि देशादालोचयितुं समीपमागन्तुं न शक्नोति।

अह पट्ठवेइ सीसं, देसंतरगमणनट्ठचेट्ठागो।
इच्छामज्जो काउं, सोहिं तुब्भं सगासम्मि ॥ ६१३ ॥

अथ—अनन्तरमालोचयितुकामो देशान्तरगमननष्टचेष्टक आलोचनाऽऽचार्यस्य समीपे शिष्यम्, आर्य ! युष्माकं सकाशे शोधिं कर्तुमिच्छामीत्येतत्कथयित्वा प्रेषयति।

सो वि अपरक्कमग-सीसं पेसेइ धारणाकुसलं।
एयस्स दाणि पुरओ, करेहि सोहिं जहावत्तं ॥ ६१४ ॥

सोऽपि आलोचनाऽऽचार्योऽपराक्रमगतिनिर्विचते पराक्रमो गतो यस्येति विग्रहः। शिष्यं धारणाकुशलं प्रेषयति। यस्त्वालोचयितुकामेन प्रेषितस्तस्य संदेशं कथयति, त्वमिदानीमेतस्य पुरतो यथावृत्तं शोधिं कुरु।

अपरक्कमो अ सीसं, आणापरिणामगं परिच्छेज्जा।
रुक्खे य बीयकाए, सुत्ते वा मोहणाधारी ॥ ६१५ ॥

स.-आलोचनाचार्योऽपराक्रमः शिष्यमाज्ञापरिणामक परीक्षेत; किमेष आज्ञापरिणामक, किं वा नेति ? । आज्ञापरीणामको नाम-यत् आज्ञाप्यते तत्कारणं न पृच्छति 'किमर्थमेतदिति" किंत्वाज्ञया एव कर्त्तव्यतया श्रद्दधाति, यदत्र कारणं तत्पूज्या एव जानन्ते एवं य परिणामयति स आज्ञापरीणामकस्तत्परीक्षा च वृक्ष बीजकाय च वक्ष्यमाणरीत्या कर्त्तव्या । आज्ञापरिणामित्व परीक्ष्य, पुनरिद परीक्षणीय यथा किमेषोऽवग्रहणे समर्थो धारणासमर्थश्च किं वा नेति । तत्राध्ययनादिपरीक्षया सूत्रे चशब्दात्-अर्थे वा अमोहन-मोहरहित समस्तम् आ-समन्ताद्धारयतीत्येवं शील अमोहधारी तं परीक्षेत ।

तत्र वृक्षेणाऽऽज्ञापरिणामित्वपरीक्षामाह—

दट्ठुमहं ते भक्खो, गणिओ रुक्खो विलग्गिउं डेव ।
अपरिणयं बेंति तहिं. न वट्टइ रुक्खे वि आरोढुं ॥६१६॥
किं वा मारेयव्वो, अहियंतो वेह रुक्खओ डेव ।
अतिपरिणामो भणति, इय हेऊ अम्ह वेसिच्छा ॥६१७॥

दृष्ट्वा महतो महीरुहान् गणिक.-आचार्यो ब्रूते-अस्मिन्नुच्चैस्त्वेन तालप्रमाणे वृक्षे विलग्य तत आत्मान (डिप) क्षिप्रपात कुर्वित्यर्थ, एवमुक्ते तत्र-आज्ञापरिणामका ब्रूते-न वर्त्तते वृक्षे विलगितु साधो. सचित्तत्वाद्वृक्षस्य प्रपाते च कुर्वन् आत्मविराधना भवति । सा च भगवता निषिद्धा, किंतु-अमुनोपायेन मारयितव्योऽभिप्रेतो ब्रूथ वृक्षादात्मानं डेपति । अतिपरिणामक पुनरिदं भणति-इत्येव भवतु, करोमि प्रपातमिति भाव. अस्माकमप्येषा इच्छा वर्त्तते ।

बेइ गुरू अह तं तू, अपरिच्छियत्थे पभासमे एवं ।
किं च मए तं भणितो, आरुहरुक्खे (य) मचिते ॥६१८॥

अथ-अनन्तरं तमतिपरिणामक शिष्य ब्रूते-अपरीक्षिते-अपराभाविते मद्वचनस्यार्थे त्वमवमुक्तप्रकारेण प्रभाषसे यथा करोमि प्रपातमस्माकमप्येषेच्छा वर्त्तते । अपरिणामकमधिकृत्य ब्रूते-त्व वा मया किमेव भणितो यथा सचित्त वृक्षे आरोहाय नोद्यते न वर्त्तते साधो वृक्षे विलगितुमिति किंतु-तन्मयोक्तम् ।

तदेवाऽऽह—

तवनियमनाणरुक्खं, आरुहिउं भवमहण्णवाऽऽपण्णं ।
संसारग(ड्ड)त्तकूलं, डेवे हंत मए भणितो ॥ ६१९ ॥

तपोनियमज्ञानमय वृक्षं भवार्णवापन्नं-भवसमुद्रमध्यप्राप्तमारुह्य संसारगर्त्ताकूल 'डिप' उल्लङ्घय इति मया भणित ।

जो पुण परिणामो खलु, आरुह भणितो वि सो विचिंतेइ ।
नेच्छति पावमेते, जीवाणं थावरा(दी)णं(पि) ॥६२०॥
किं पुण पंचेंदीणं, तं भणियव्वेत्थ कारणेणं तु ।
आरुहणपवसियं तु, वारेइ गुरुव्ववत्थंतो ॥ ६२१ ॥

यः पुन खलु परिणाम -आज्ञापरिणामक स आरोहेति भणितश्चिन्तयति-नेच्छन्ति पापमेते मदीया गुरवो जीवाना स्थावराणामपि, किं पुन पञ्चेन्द्रियाणा तस्मादत्र कारणेन भवितव्यम्, एवं विचिन्त्य आरोहणे व्यवसित । तमारोहणव्यवसितं गुरुरवष्टभ्य—बाहौ धृत्वा वारयति । यदेवमुक्त वृक्ष परीक्षणम् ।

अधुना जीवेषु तदाह—

एत्थाऽऽणेह य बीयाइँ, भणितो पडिसेहे अपरिणामो ।
अइपरिणामो पोट्टल, बंधूणं आगतो तहियं ॥ ६२२ ॥

एवम्-अमुना प्रकारेण बीजानि आनयत इत्युक्ते अपरिणामः प्रतिषधयति-न कल्पन्ते बीजानि गृहीतुमिति, यस्त्वतिपरिणामक स बीजानां पोट्टलं बद्ध्वा तत्र गुरुसमीपे समागत ।

ते वि भणिया गुरूणं, भणिया नेह अमलिबीयाइं ।
न विरोहसमत्थाइं, सचित्ताइं व भणियाइं ॥ ६२३ ॥

तावत् य अपरिणामका गुरुणा भणितो मया भणितमानय अम्लिकाबीजानि-काञ्चिकनीबीजानि, यदि वा-सचित्तानि-विध्वस्तयोनिमयानि, यानि न विरोहसमर्थानि तान्यानयेति भणितानि ।

तत्थ वि परिणामो तू, भणती आणेसि केरिसाइं तु ।
कत्तियमित्ताइं वा, विरोहमविरोहजोग्गाइं ॥ ६२४ ॥

तत्रापि य परिणामक स भणति-कीदृशानि बीजान्यानयामि । विरोहयोग्यानि, अविरोहयोग्यानि वा, कियन्मात्राणि वा ।

सो वि गुरूहिं भणितो, न ताव कज्जं पुणो भणीहामि ।
हसितो व मए तासि, वीमंसत्थं व भणितो सि ॥६२५॥

स-अप्याज्ञापरिणामका गुरुभिर्भणितो न तावदिदानीं कार्यं यदा तु कार्यं भविष्यति तदा पुनर्भणिष्याम । अथवा-हसितोऽसि मया तावदिदानीं न पुनर्बीज. प्रयोजनं, यदि वा-विमर्शार्थं तव-विमर्शपरीक्षणार्थं त्वमेव भणितोऽसि ।

संप्रत्यमोहनाधारिपरीक्षामाह—

पयमक्खरमुद्देसं, संधीसु तत्थ तदुभयं चेव ।
अक्खरवंजणसुद्धं, जह भणितं सो परिकहेइ ॥ ६२६ ॥

पदमक्षरमुद्देशं सन्धिम्-अधिकारविशेष सूत्रमर्थं तदुभय च अक्षरव्यञ्जनशुद्धं पूर्वमवग्राहयति किमेष ग्रहणधारणायोग्य किं वा नेति अवग्राह्य, ततो ब्रूते-उच्चारय प्रेक्ष किमपि गृहीत न या किं त्वगृहीतमपि किं स्मृतं किं वा नेति । तत्र यदि यथा भणित तथा सर्वं परिकथयन्ति तदा ज्ञातव्य एष ग्रहणधारणे कुशल इति ।

एवं परिच्छिऊणं, जोग्गं नाऊण पेसये तं तु ।
वच्चाहि तस्सगासं, सोहिं मोऊण आगच्छ ॥ ६२७ ॥

एव परीक्ष्य-योग्यं ज्ञात्वा न प्रेषयेत् सादिशति च व्रज तस्य-साधोरालोचयितुकामस्य शोधिम्-आलोचनां श्रुत्वा पुनरत्राऽऽगच्छ ।

अह सो गतो उ तहियं, तस्स सगासंमि सो करे सोहिं ।
दुगतिचउविसुद्धं, तिविहे काले विगटभावो ॥ ६२८ ॥

अथ-प्रेषणानन्तर यत्राऽऽलोचयितुकामा विद्यते । तत्र गत्वा-प्रशस्तेषु द्रव्यास्तस्याऽऽगतस्य समीपे आलोचयितुकाम. प्रशस्तेषु द्रव्यादिषु शोधिम्-आलोचना करोति । कथमित्याह-द्विकदर्शना-

तिचारः चारित्राचारमालोचयतीत्यर्थः। दर्शनग्रहणं ज्ञानग्रहणमपीति ज्ञानातिचारं चेत्यपि द्रष्टव्यम्। चारित्रातिचारालोचनेऽपि च द्विभेदा-मूलगुणातिचारविषया, उत्तरगुणविषया च। तां करोति। पुनस्त्रिकाम् आहारोपधिशय्या भेदत एकैका त्रिप्रकाराम्, चतुर्विशुद्धां-प्रशस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावोपेता. त्रिविधे काले—अतीते, प्रत्युत्पन्ने च यत्सेवितम्, अनागते च यत्सेविष्ये इत्यध्यवसित विकटभाव - प्रकटभाव; अप्रतिकुञ्चन इत्यर्थः। व्य० १० उ०।

(आज्ञाव्यवहारसाधक)—

दव्वे भावे आणा, खलु सुयं जिणवराणं।
सम्मं ववहरमाणो, उ तीए आराहओ होति ॥ ५६ ॥

आज्ञा द्विविधा-द्रव्ये, भावे च। तत्र द्रव्याज्ञा-राजादीनामाज्ञा, भावाज्ञा खलु श्रुतं जिनवराणाम्। तत्र सम्यक् पञ्चविधान्यतमेन व्यवहारेण-प्रागुक्तनीत्या व्यवहरन्, तस्या - आज्ञाया आराधका भवति। व्य० ३ उ०।

आणाअविराहग-आज्ञाऽविराधक-पुं०। आज्ञाया आराधक, पं०सू० ४ सूत्र।

आणाआराहण-आज्ञाऽऽराधन-न०। आप्तोपदेशानुपालने, पञ्चा० "आणा आराहणाओ" ॥ (४+) ॥ आज्ञाऽऽराधनात्-आप्तोपदेशानुपालनान्निर्निदानतामेव हि जिना मन्यन्ते। पञ्चा० ६ विव०।

आणाआराहणजोग-आज्ञाऽऽराधनयोग-पुं०। आप्तोपदेशानुपालनसम्बन्धे, पञ्चा० १२ विव०।

आणाइत्त-आज्ञावत्-त्रि०। आप्तोपदेशवर्तिनि, पञ्चा० १५ विव०।

आणाईसर-आज्ञेश्वर-पुं०। आज्ञया आज्ञाया वा ईश्वर आज्ञेश्वर। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आ० म०। आज्ञाप्रधाने ईश्वरे, जं० १ वक्ष०। औ०।

आणाईसरसेणावच्च-आज्ञेश्वरसेनापत्य-न०। आज्ञाया ईश्वर आज्ञेश्वर। (जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आ० म०।) सेनाया पति सेनापति आज्ञेश्वरश्चासौ सेनापतिश्च आज्ञेश्वरसेनापतिस्तस्य कर्म आज्ञेश्वरसेनापत्यम्। जी० ३ प्रति० ४ अधि०। आज्ञाप्रधानो य. सेनापति -सैन्यनायक. तस्य भाव कर्म वा आज्ञेश्वरसेनापत्यम्। औ०। स्वसैन्य प्रत्यद्भुत आज्ञाप्राधान्ये, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। " आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे ' ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विपा०। म०। प्रश्न०।

आणाकंखि(न्)-आज्ञाकाङ्क्षिन्-पुं०। आज्ञामाकाङ्क्षितु शीलमस्येत्याज्ञाकाङ्क्षी। सर्वज्ञोपदेशानुष्ठायिनि, आचा०। ' इह आणाकंखी पंडिए ' (सूत्र १४३×) इह-अस्मिन् मौनीन्द्र प्रवचने व्यवस्थित। सन् आज्ञा-तीर्थकृतोपदेशमाकाङ्क्षितु शीलमस्येत्याज्ञाकाङ्क्षी आगमानुसारप्रवृत्तिक कश्चैवंभूत पण्डित -सदसद्विवेकज्ञ। आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ०।

आणाकरण-आज्ञाकरण-न०। आगमवचनानुष्ठाने, पञ्चा०। सार्वविधिसम्पादने, पं० व०।

ता एअम्मि वि काले. आणाकरणे अमूढलक्खेहिं।
सत्तीए जइयव्वं, एत्थ विही हंदि एसो अ ॥१०००॥

यस्मादेव तस्मादेतस्मिन्नपि काले-दुःषमारूपे आज्ञाकरणे-सार्वविधिसम्पादने अमूढलक्षैः-सद्भि शक्त्या यतितव्यमुपसम्पदादौ, अत्र विधिरेष व्याख्यानकरणे हन्तीत्युपप्रदर्शने, एष च वक्ष्यमाणलक्षण। इति गाथार्थ। पं० व० ४ द्वार।

आणाका(गा)रि(न्)-आज्ञाकारिन्-पुं०। आप्तोपदेशवर्तिनि, पञ्चा० ८ विव०। आप्तोपदेशविधायिनि, पञ्चा०।

तथा च—

एयस्स फलं भणियं इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स ॥४४+॥

एतस्य-समस्तजिनभवनविधानस्य फलम्-प्रयोजन भणितम्-उक्तम् इत्येवम्-उक्तनीत्या। आज्ञाकारिणस्तु-आप्तोपदेशविधायिन एव श्राद्धस्य-श्रद्धावत, श्रावकस्येत्यर्थ। पञ्चा० ७ विव०।

आणाखंडण-आज्ञाखण्डन-न०। आज्ञाभङ्गे, " आणा नो खंडज्जा आणाभंगे कओ सुहो "। महा० ४ अ०।

(आज्ञाखण्डनकरधर्मस्य विचारे पण्डितश्रीकल्याणकुशलगणिकृतप्रश्नो यथा)—

" आणाखंडणकरी य, सव्वं पि निरत्थयं तस्स।
आणारहिओ धम्मो, पलालपूलु व्व पडिहाइ ॥१॥ "

" कलं नग्घइ सोलसिमि " त्यादि वचनालम्बनेन साध्वादिदर्शनाद्वेषु यद्बालतप कष्टानुष्ठान समाचरन्ति तत्सर्वं सर्वथा निष्फलमेव, न कापि कर्मनिर्जरा भवति कपाचित्समेत, कैपाञ्चित्तु तेपामपि तारतम्येन स्वल्पमपि फल स्वीकार्यं न तु निष्फलता। अत्राऽऽगम -' ज अन्नाणी कम्म, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं। त नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण ॥ १ ॥ " पं० भा०। " कलं नग्घइ सोलसि पलालपूलु व्व " इत्याद्यपीदमेव तात्पर्यम्-" अविरयमाइसुराउ, बालतवोकामनिज्जरा जयइ "-त्ति, " सरागसंजमसं बालतवेण " ति, "चरगपरिव्वायगबंभलोगो जा"। इत्यपि अत एव बालतपस्विनामपि कौण्डिन्यदिन्नसेवालिनाम्ना स्वीयस्वीयतपोऽनुसारेणैव सोपानप्राप्ति, सर्वथा विफलतायां तु सर्वेषामप्राप्ति प्रसज्यते कथं च कर्मलाघवमन्तरेण मिथ्यात्विन एव अन्यदेश यावदागच्छन्ति न वा कामनिर्जरामात्रमेव तत्र हेतु कारणान्तराणामपि विवाध प्रज्ञप्तिवृत्तावुक्तत्वात्, तथाहि-

" अणुकंपकामनिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे।
संजोगविप्पओगे, वसणुस्सवइड्ढिसक्कारे " ॥ १ ॥

दृश्यते चैतदर्थसंवाद साक्षादेव महानिशीथे नागिलाधिकारे, तथा-"अकामनिज्जराए वि किंचि कम्मक्खय भवइ। किं पुण ज बालतवेणं, एवं मति निरत्थय तस्स ॥ १ ॥ इत्यादीना का गतिरिति चेत्सत्यम्, सर्वाणि चैतानि उत्सर्गसूत्राणि ततोऽत्र उत्सर्गादपवादो बलीयान् अयमेव न्यायोऽनुसर्त्तव्य, तत सिद्ध तेषामपि तारतम्येन किंचित् २ फलमिति समाधत्त ३। तथा कथित महानिशीथगतम्-' ज थाव निद्दयाण अनकूल भासिज्जा इत्यादि पसिद्धालापकमुपदर्श्य सक्षाम्। भवन्त। तथाहि-ये

पक्षान्तरीयविहितं परजिनप्रासादादिपरिग्रहमाचार्योपाध्यायादीनामपि निवारण साधुमुद्दिश्य दानसत्कारादिकं चानुमन्यन्ते तेषां महत्पातकं जायते, सम्यक्त्वमपि प्रतिहन्यते, तेन मतान्तरीयस्य तु युगप्रधानाचार्यभक्त्यादिकमपि सर्वथा नानुमोदनीयमेवेति, केचित्तु-तानपि प्रतिवदन्ति । यथा-नयसाधनश्रेष्ठिनगमादीनां मिथ्यात्वभाजामपि दान बहुषु ग्रन्थेषु परंपरया चानुमोद्यमानं दृश्यते, तथा सर्वतीर्थकृत्सातिशयसाधुपारणासु पञ्चदिव्यावसरे अहो दानमहो दानमित्युद्घोषोऽपि यदनुमोदनीयं न तत्कार्यंत, कथं दृश्यन्ते च भवदादयः सर्वेऽपि मार्गे प्रतिपन्ना । कारयन्तो यथा देहि भोः किञ्चिदस्मभ्य तव भूयान् लाभो भावीति, यदि च प्रदत्ते तत्रा सन्तुष्टिरपि जायते इति स्वयमनुभूयमानस्यार्थस्य विलोपः कर्तुं सतां नोचित इत्याशयतयैव सूत्रकारेणाभ्यधायि, " अहवा सव्वं चिय विअराय " इत्यादि अत्र सम्यग्दृष्टिपर्यन्तानां पूर्वमुक्तत्वान्मिथ्यात्विनामपि किञ्चित्करणीयमनुमोदनीयमित्यापतितम्, तच्च विचार्यमाणं जिनजिनबिम्बजिनालयाचार्योपाध्यायसाधुश्राद्धादीनां वास्तवागाध्यानामशनपानप्रदानादि भक्तिगुणसंज्वलनाऽऽपत्परित्राणादिकं दृश्यते चानुमोदितं साक्षाद्व्याचाराङ्गादौ, साधुना सांग्निशकटीपुरस्करणे मम न कल्पते भवता । पुनः पुण्यप्राग्भारार्जनमकरीत्यादि कथं च जिनशासनप्रभावनाकारिणो म्लेच्छा अप्यनुमोद्यन्ते इत्याद्यनाग्रहबुद्ध्या पर्यालोचनीयमिति ॥८॥ ही० । तथा तृतीय-चतुर्थप्रश्नप्रतिवचनं तु द्वादशजल्पपट्टकादवसेयं, किञ्च-" सव्वं पि निरत्थयं तस्स " इत्यादिवचनस्यापेक्षिकत्वान्नैकान्तवादः । अपेक्षा च मोक्षफलाभावलक्षणेति भावः । अन्यच्च महानिशीथप्रसिद्धालापकमुपष्टभ्य एकान्तेन परपाक्षिकप्रशंसानिषेधः । सोऽपि न संगच्छते यतस्तस्मिन्नेवालापके-" अविमुद्दमुद्धपरिसामज्झगए सलाहेज्जा " इति वचनेनाभिमुखमुग्धपरिषद्विशेषमध्य एव तत् श्लाघाया निषेध प्रतिपादितोऽस्ति, न तु सामान्यपर्षदीति, किंचाऽत्रार्थे-ऊह-प्रत्यूहादिबहुवक्तव्यमस्ति तत्तु साक्षान्मिलने एव समीचीनतामञ्चतीति ॥ २ ॥ ४ ॥ ही० १ प्रका० ।

आणागाहग-आज्ञाग्राहक-पुं० । आगमग्राहके, " सयाऽऽणागाहगे सिया "(सूत्र २+)। सदाऽऽज्ञाग्राहकः स्यात्, अध्ययनश्रवणाभ्याम् । पं०सू० २ सूत्र ।

आणागिज्झ-आज्ञाग्राह्य-त्रि० । आगमविनिश्चये, पं०व० ।

आणागिज्झो अत्थो,
आणाए चेव सो कहेयव्वो ॥ ९९३+ ॥

पं० व० ४ द्वार ।

आज्ञा-आगमस्तद्ग्राह्यस्तद्विनिश्चयोऽर्थोऽनागतातिक्रान्तप्रत्याख्यानादिराज्ञयैव-आगमेनैवासौ कथयितव्य इति । यद्वा-सामान्येनैवाज्ञाग्राह्योऽर्थ -सौधर्मादि, आज्ञयैवासौ कथयितव्यो, न दृष्टान्तेन तस्य तत्र वस्तुनोऽसम्भवात् । आव० ६ अ० । (इत्यादिबहुवक्तव्यता 'पच्चक्खाण' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यते ।)

आणाजुत्त-आज्ञायुक्त-त्रि० । आगमोपेते, दर्श० ।

चारित्रमुद्दिश्य-" आणाजुत्ताणमिणं, न होइ अहुणो त्ति वामोहो " ॥ ५७ ॥ आज्ञायुक्तानामपि न केवलमाज्ञाबाह्यानामिदं प्रस्तुतं चारित्रं न भवति-न जायते । दर्श० ४ तत्त्व ।

आणाजोग (य)-आज्ञायोग-पुं० । आज्ञा-नियोग शासनं यथा राजाऽऽज्ञा-राजशासनम् तस्यां योग-उत्साहः तया वाऽऽज्ञया योगः-सम्बन्धः । दत्ताया अविफलीकरणे, षो० १३ विव० । आप्तवचनसम्बन्धे च । पञ्चा० १३ विव० । सूत्रव्यापारे, पं० व० ।

पावं विसाइतुल्लं, आणाजोगो अ मंतसमो ॥ ९९९ ॥

सर्वमपि पाप निन्द्यम्; विषादितुल्यं, विपाकदारुणत्वाद् आज्ञायोगश्च-सूत्रव्यापारश्च अत्र मन्त्रसमः तद्दोषापनयनात् । पं० व० ४ द्वार ।

आणाणिद्देस-आज्ञानिर्देश-पुं० । भगवदभिहितागमस्योत्सर्गापवादाभ्यामिदमित्थं विधेयमिदमित्थं चेत्येवमात्मके प्रतिपादने, उत्त० १ अ० ।

आणाणिद्देसयर-आज्ञानिर्देशकर-त्रि० । भगवदभिहितागमप्रतिपादनकरणशीले, भगवदभिहितागमानुलोमानुष्ठायिनि च । उत्त० १ अ० ।

आज्ञानिर्देशतर-त्रि० । गुरुवचनस्येदमित्थमेवं करोमीति निश्चयाभिधानेन भवाम्भोधेस्तरणशीले, उत्त० १ अ० ।

तथा च विनीतशिष्यमधिकृत्य—

आणाणिद्देसकरे ॥ २+ ॥

आङिति स्वस्वभावावस्थानात्मिकया मर्यादयाभिव्याप्त्या वा ज्ञायतेऽर्थो अनयेत्याज्ञा-भगवदभिहितागमरूपा तस्या निर्देश-उत्सर्गाऽपवादाभ्यां प्रतिपादनम्, आज्ञानिर्देश इदमित्थं विधेयमिदमित्थं चेत्येवमात्मकं तत्करणशीलस्तदनुलोमानुष्ठानो वा आज्ञानिर्देशकर । यद्वा—आज्ञा-सौम्य ! इदं कुरु, इदं च मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देश -इदमित्थमेव करोमीति निश्चयाभिधानं तत्करः । आज्ञानिर्देशेन वा तरति भवाम्भोधिमित्याज्ञानिर्देशतर इति, इत्यादयोऽनन्तगमपर्यायत्वाद् भगवद्वचनस्य व्याख्याभेदा संभवन्तोऽपि मन्दमतीनां व्यामोहहेतुतया बालाऽबलादिबोधोत्पादनार्थत्वाच्चास्य प्रयासस्य न प्रतिसूत्रं प्रदर्शयिष्यन्ते । उत्त० १ अ० ।

आज्ञाऽनिर्देशकर-पुं० । आज्ञाविराधके, उत्त० ।

अविनीतशिष्यमधिकृत्य-" आणाऽनिद्देसकरे ॥३×॥" स शिष्योऽविनीत इत्युच्यते य आज्ञाया -तीर्थकरवाक्यस्य, गुरोर्वाक्यस्य चाऽनिर्देशकरः-अप्रमाणकर्त्ता आज्ञाविराधक । उत्त० १ अ० ।

आणाणिप्फादय-आज्ञानिष्पादक-पुं० । आज्ञासाधके, पं० सू० २ सूत्र ।

आणाऽणुग-आज्ञाऽनुग-त्रि० । आज्ञामनुगच्छति, अनु० । आगम-ड ६ त० । आदेशानुसारेण गन्तरि दासादौ, क्त आगम-ड ६ त० । आज्ञानुगतोऽप्यत्र । त्रि० । वाच० । आज्ञानुसारिणि, दर्श० ४ तत्त्व । आगमानुसारिणि, पञ्चा० ।

सुहभावा तव्विगमो, सो वि य आणाणुगो निओगेण ॥ २९+ ॥

शुभभावात्-प्रशस्ताध्यवसायात्तद्विगम'-अशुभकर्मविगमो भवति 'सो वि य' त्ति स पुन शुभभाव आज्ञानुग'-आगमानुमारी भवति नियोगेन—नियमेन अनाज्ञाऽनुगम्यशुभ एवेति भाव'। पञ्चा० १६ विव०।

आणाऽणुगामि-(न्)-आज्ञाऽनुगामिन्-त्रि०। आज्ञामनुच्छति. अनु०। गम—णिनि ६ त० स०। आज्ञानुगते, स्त्रियां ङीप्। वाच०।

आणापडिच्छय-आज्ञाप्रतीच्छक-पुं०। आज्ञाप्रतीच्छाकारके पं०सु० २ सूत्र।

आणापरतंत-आज्ञापरतन्त्र-पु०। आप्तवचनाधीने, पञ्चा० १४ विव०। (आज्ञापरतन्त्रा प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वेति 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे उक्तम्।)

आणापरिणामग-आज्ञापरिणामक-पु०। यदाज्ञाप्यते तत्करोति तत्कारणाम्न पृच्छति,-किमर्थमेतदिति किन्त्वाज्ञयैव कर्तव्यतया श्रद्धातीत्येवलक्षणे परिणामकभेदे. व्य० १० उ०। (एतस्य लक्षणाऽऽदिकं बहुवक्तव्यतया 'परिणामग' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (एतस्य परीक्षाप्रकार आज्ञाव्यवहारनिरूपणावसरे 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गत)

आणापवित्ति-आज्ञाप्रवृत्ति-स्त्री०। आप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तन, पञ्चा०।

आज्ञाप्रवृत्तिकश्च शुद्ध एव। तथाच बिम्बविधिमधिकृत्य-

आणापवित्तिउ च्चिय, सुद्धो एसो ण अण्णहा णियमा।
तित्थगरे बहुमाणो, तदभावाओ य णायव्वो ॥ १२ ॥

आज्ञाप्रवृत्तित एव-आप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तनादेव शुद्धो-विशुद्ध। एष परिणामो बिम्बविधायको वा प्रत्य इति योग। पञ्चा० ८ विव०। (अत्र विशेष 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते)

आणापवित्तिय-आज्ञाप्रवृत्तिक-पुं०। आप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवृत्तिमति, पञ्चा० ८ विव०।

आणापहाण-आज्ञाप्रधान-पुं०। आगमपरतन्त्रे, ध० २ अधि०।

आणापाणपज्जत्ति-आनप्राणपर्याप्ति-स्त्री०। पर्याप्तिभेदे, मया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा प्राणापानपर्याप्तिरिति। प्रव० २३२ द्वार।

आणापाणवग्गणा-आनप्राणवर्गणा-स्त्री०। उच्छ्वासनिश्वासयोग्यायां पुद्गलवर्गणायाम्, कर्म० ५ कर्म०। (वक्तव्यता 'वग्गणा' शब्दे षष्ठ भागे वक्ष्यते)

आणापाणु-आनप्राण-पुं०। कालविशेषे, जी० ३ प्रति० ४ अधि०। अनु०। स्था०। ज्ञा०। कर्म०।

आणुप्राणु-त्रि०। प्र अनू उण्। वाच०।

(सूर्यप्रज्ञप्तावानप्राणकालपरिमाणम्)—

"आवलियाति वा आणापाणू ति वा। (सूत्र-१०५+) असङ्ख्यया आवलिका एक आनप्राण, "द्विपञ्चाशदधिकत्रिचत्वारिंशच्छतानङ्ख्यावलिकाप्रमाण एक आनप्राण" इति वृद्धसम्प्रदाय.।

तथा चोक्तम्—

"एगो आणापाणू, तेयालीसं (तेयालीसं) सया उ वावन्ना।
आवलियपमाणेण, अणंतनाणीहिँ निद्दिट्ठो ॥ १ ॥"

सप्ताऽऽनप्राणप्रमाण' स्तोक। सू०प्र० २० पाहु०।

आणावज्झ-आज्ञावाह्य-त्रि०। आप्तोपदेशशून्ये, पञ्चा०।

आज्ञावाह्यायाश्च स्वमतिप्रवृत्तेर्भवनिबन्धनत्वम्—

समितिपवित्ती सव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव।
तित्थगरुद्देसेण वि, ण तत्तओ सा तदुद्देसा ॥ १३ ॥

स्वमतिप्रवृत्तिः-आत्मबुद्धिपूर्विका चेष्टा सर्वा-समस्ता द्रव्यस्तव-भावस्तवविषया आज्ञावाह्या-आप्तोपदेशशून्या इति हेतोर्भवफलैव-संसारनिबन्धनमेव आज्ञाया एव भवोत्तारहेतुषु प्रमाणत्वात्। पञ्चा० ८ विव०। (विशेषः 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे १२६८ पृष्ठे वक्ष्यते।) आप्तवचनबहिष्कृते च। पञ्चा०।

आणावज्झत्तणओ, न होइ मोक्खंगया णवरं।

आज्ञावाह्यत्वाद्-आप्तवचनबहिष्कृतत्वाद्यदाज्ञावाह्यं तन्मोक्षाङ्ग न भवति। पञ्चा० ६ विव०।

आणाबलाभिओग-आज्ञाबलाभियोग-पुं०। आज्ञापनम्-आज्ञा; भवतेदं कार्यमेव तदकुर्वतां बलात्कारणम् बलाभियोगस्ततश्चाऽऽज्ञया सह बलाभियोग आज्ञाबलाभियोगः आज्ञाबलयोरभियोगो-व्यापारणमिति समास। आज्ञाबलयोर्व्यापारणे, पञ्चा०।

आणाबलाऽभियोगो, णिग्गंथाणं ण कप्पते काउं।
इच्छा पउंजियव्वा, सेहे तह चेव राइणिए ॥ ८ ॥

आज्ञाबलाऽभियोगो निर्ग्रन्थाना-साधूनां न कल्पते-न युज्यते कर्तुं-विधातुं परपीडोत्पादकत्वादात्मनश्चाभियोगिककर्मबन्धहेतुत्वात्तस्येत्यादि-(बहुवक्तव्यता 'इच्छाकार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) पञ्चा० १२ विव०।

आणाभंग-आज्ञाभङ्ग-पुं०। आज्ञाया-आदेशस्य भङ्ग-स्वविषयेषु प्रभावाभावः, आदेशस्याऽकरणेन आदिष्टविषयेषु प्रचाराऽभावे, वाच०। आप्तोपदेशाननुपालने, पञ्चा० १५ विव०। सर्वविदागमोल्लङ्घने च। दर्श० १ तत्त्व। (एतद्वक्तव्यता 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

आणाभावग-आज्ञाभावक-पु०। आज्ञाया भावयितरि, पं० सू०। "सयाणाभावग सिया" (सूत्र-२+)। सदाऽऽज्ञाभावक. स्यादनुप्रेक्षाद्वारेणेति। पं० सू० २ सूत्र।

आणामिय-आनामित-त्रि०। ईषन्नामिते, उपा० २ अ०। त०। प्रश्न०। जी०। "आणामियचावरुइलकिण्हचिउरराइसुसंठियसंगयआययसुजायभूमया" (सूत्र-१४+)। (आनामितं चापरुचिरकृष्णचिकुरराजिसुसंस्थितसंगतायतसुजातभ्रूका.) आनामितम्-ईषन्नामित यच्चाप-धनुस्तद्वद्रुचिर-शोभने कृष्णचिकुरराजिसुसंस्थिते कुत्रापिकृष्णा भ्रूराजिसुसंस्थिते सगते आयते-दीर्घे सुजाते-सुनिष्पन्ने भ्रुवौ येषां ते तथा। तं०। प्रश्न०। "आणामियचावरुइलतणुकसिणनिद्धभूमया" (सूत्र-१४७ +)। आनामितम्-ईषन्नामितम्-आरोपितमिति भाव, यच्चापधनुस्तद्वत् रुचिर-संस्थानविशेषभावतो रमणीये तनू-तनु.

श्लक्ष्णपरिमितबालपङ्क्त्यात्मकत्वात् कृष्णे-परमकालिमोपेते स्निग्धे-स्निग्धच्छाये भ्रुवौ येषां ते आनामितचापरुचिरतनुकृष्णस्निग्धभ्रूकाः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० । (हस्तिवर्णकमधिकृत्य)-" आणामियचावललितसंवेल्लितऽग्गसोंडं " (सूत्र-२१x) । आनामितम्-ईषन्नामितं यच्चापं धनुस्तद्वद् ललिता च-विलासवती संवेल्लिता च-वेल्लन्ती सकाचिता वा अग्रशुण्डा-शुण्डाग्रं यस्य तत्तथा । उपा० २ अ० ।

आणामेत्त-आज्ञामात्र-न० । आप्तवचनमात्रे, " आणामेत्तंमि सव्वहा जुत्तं " ॥ २८ + ॥ आज्ञामात्रे, आप्तवचन एव सर्वथा सर्वप्रकारैर्युक्तं -उद्यतं । पञ्चा० १४ विव० ।

आणारुइ-आज्ञारुचि-स्त्री० । आज्ञा-सूत्रव्याख्यानं; निर्युक्त्यादि. तत्र तया वा रुचिः श्रद्धानम् सा आज्ञारुचिः । स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । निर्युक्त्यादिग्रन्थश्रद्धाने, ग० १ अधि० । औ० । " आणारुई तित्थगराणं आण पसमति " । आ० चू० ४ अ० १२४८ गाथा । रागद्वेषरहितस्य पुंस आज्ञयैव धर्मानुष्ठानगता-रुचिराज्ञारुचि । तृतीये सम्यग्दर्शनभेदे. ध० २ अधि० । आज्ञा-सर्वज्ञवचनात्मिका तया रुचिर्यस्य स । स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । आप्तोपदेशाभिलाषयुक्ते. पञ्चा० । ' आणारुइणो चरणं " ॥ १२ + ॥ आज्ञारुचेः -आप्तोपदेशाभिलाषयुक्तस्य चरणं—चारित्रम् । पञ्चा० ११ विव० । आगमबहुमानिनि च । पञ्चा० १६ विव० । " आणारुइणा य सम्मं ति ' ॥ ४१ + ॥ आज्ञारुचय -आगमबहुमानिन । पञ्चा० ११ विव० । तदात्मके तृतीये सरागसम्यग्दर्शिनि च । स्था० १० ठा० ३ उ० । उत्त० । यो हि प्रतनुरागद्वेषमिथ्याज्ञानतयाऽऽचार्यादीनामाज्ञैव कुग्रहाभावाज्जीवादितथेति रोचयते मासतुषादिवत् स आज्ञारुचि । स्था० १० ठा० ३ उ० ।

(तल्लक्षणं यथा)—

रागो दोसो मोहो, अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो, सो खलु आणारुई नाम ॥ २० ॥

स खलु निश्चयेन आज्ञारुचिर्नाम इति प्रसिद्धो भवति, स इति क ?-यस्य राग -स्नेहः द्वेष -अप्रीति ,मोह -शेषमोहनीयप्रकृतय , अज्ञान -मिथ्यात्वरूपम् एतत्सर्वं नष्टं भवति अस्य देशतोऽपगतं गम्यते; न सर्वतोऽपगतशब्दस्य प्रत्येकं संबन्ध । यस्य रागो द्वेषोऽपगत., यस्य द्वेषोऽपि देशतोऽपगत , यस्य मोहोऽपि देशतोऽपगत., यस्य अज्ञान देशतोऽपगतम्. एतेषां अपगमात् आज्ञया आचार्याद्युपदेशेन रोचमानजीवादितत्त्वं तथैवेति प्रतिपद्यमानो यो भवति स , आज्ञारुचिरित्यर्थ । अत्र मापतुषदृष्टान्त -मा रूस मा तुस इति स्थाने माषतुष इति दृष्टान्तोऽस्ति ॥२०॥ उत्त० २८ अ० । प्रव० । स्था० । ' आणारुई" ॥११५+॥ आज्ञा-सर्वज्ञवचनात्मिका तस्यां रुचि -अभिलाषो यस्य स आज्ञारुचि । सरागसम्यग्दर्शनाऽऽर्यभेदे, जिनाज्ञैव मे तत्त्वं, न शेष युक्तिजातमिति योऽभिमन्यते स आज्ञारुचि । (३७ सूत्र टी०) प्रज्ञा० १ पद ।

(आज्ञारुचिमाह)—

जो हेउमयाणंतो, आणाए रोयए पवयणं तु ।
एमेव णण्णहत्ति य, एसो आणारुई नाम ॥ ११६ ॥ (सूत्र-३७)

यो हेतुम्-विवक्षितार्थगमकमजानान. प्रवचनमाज्ञयैव तुशब्द एवकारार्थः, केवलया रोचते, कथमित्याह-एवमेतत् ; प्रवचनोक्तमर्थजातं, नान्यथेति एष आज्ञारुचिर्नाम । प्रज्ञा० १ पद ।

आणाल-आलान-न० । आ-लीयतेऽत्र आ-ली-ल्युट् । "आलाने ल-नो." ॥८।२।११७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण ल-नो-र्व्यत्ययः । प्रा० । गजबन्धनस्तम्भे, करणे ल्युट् । तद्बन्धनरज्ज्वाम् , भावे ल्युट् । बन्धनमात्रे च । वाच० ।

आणालक्खंभ-आलानस्तम्भ-पुं० । गजबन्धनस्तम्भे, प्रा० २ पाद । वाच० ।

आणावं-आज्ञावत्-त्रि० । आप्तोपदेशवर्त्तिनि, ध० २ अधि० ।

आणावट्टि(न्)-आज्ञावर्तिन्-त्रि० । भगवत्प्रणीतवचनानुसारिणि आचा० ।

आणाववहार-आज्ञाव्यवहार-पुं० । व्यवहारभेदे, ध० २ अधि० । व्य० । प्रव० । पञ्चा० । (वक्तव्यता 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता ।)

आणाविजय-आज्ञाविच (ज) य-पुं० । आ-अभिविधिना ज्ञायन्तेऽर्था यया सा-प्रवचन, सा विचीयते-निर्णीयते , पर्यालोच्यते वा यस्मिंस्तदाज्ञाविचयं-धर्मध्यानमिति , प्राकृतत्वेन-विजयमिति । स्था० ४ ठा० १ उ० । आज्ञा-जिनप्रवचन तस्या विचयो-निर्णयो यत्र तदाज्ञाविचयम्, प्राकृतत्वात्-आणाविजयम् । औ० । ग० । आज्ञा वा विजीयते-अधिगमद्वारेण परिचितीक्रियते यस्मिन्नित्याज्ञाविजयम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । आज्ञागुणानुचिन्तनात्मके धर्मध्यानभेदे, औ० । ग० । भ० । स च आज्ञाया अनन्तत्वपूर्वापराविरोधित्वादिस्वरूपे चमत्कारपूर्वकचित्तविश्रामः-आज्ञाविचय । अष्ट० ६ अष्ट० । अतीन्द्रियत्वाद्धेतूदाहरणादिसद्भावेऽपि बुध्यतिशयशक्तिविकलैः परलोकबन्धमोक्षधर्माधर्मादिभावेष्वत्यन्ततद्गताबाधाप्तप्रामाण्यात्तद्विषय तद्वचनं तथैवेत्याज्ञाविचयम् । सम्म० ३ काण्ड ६३ गाथाटी० । धर्म्यमपि ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्यभावनाभि. कृताभ्यासस्य नयादिभिरतिगहनं न बुध्यते तुच्छमतिना परं सर्वज्ञमत सत्यमेवेति चिन्तनमाज्ञाविचय. । ध० ३ अधि० ।

(एतत्स्वरूपम्)—

(१२८४ गाथा) तत्थ आणाविजये आणं विवेएति । जधा पचत्थिकाए छज्जीवनिकाए अट्ठ पवयणमाता , अण्णे य सुत्तनिबद्धे भावे, अबद्धे य पच्छ, कह आणाए परियाणिज्जांति ? एवं चिंतेति , भासति य । तधा पुरिसादिकारणं पडुच्च किच्छासज्झसु हेतुविसया नातेसु वि वत्थुसु वि सव्वण्णादिट्ठेसु एवमेव सततिं चिंतेतो भासतो य आणा विधयेति । आ० चू० ४ अ० ।

आणाविराहणा-आज्ञाविराधना-स्त्री० । आप्तोपदेशाननुपालन, पञ्चा० १६ विव० । (आप्तोपदेशाऽननुपालने किं भवतीति 'आणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

आणाविराहणाऽणुग-आज्ञाविराधनाऽनुग-त्रि० । आप्तोपदेशाऽननुपालनानुसारिणि, पञ्चा० ।

तथा च अशुभाऽध्यवसानमधिकृत्य—

आणाविराहणाणुग-मेयं पि य होति दट्ठव्वं ॥ २८ ॥

इद पुनरशुभाध्यवसानम्—आज्ञाविराधनाम्-आप्तोपदेशानुपालनाम्-अनुगच्छति-अनुसरतीत्याज्ञाविराधनानुगं भवति स्याद् द्रष्टव्यम्-ज्ञेयम्। पञ्चा० १६ विव०।

आणाविवरीय-आज्ञाविपरीत-त्रि०। आप्तवचनविपर्यस्ते, पञ्चा०। "आणाविवरीयमेव जं किंचि" ॥ ६+ ॥ आज्ञाविपरीतमेव-आप्तवचनविपर्यस्तमपि। पञ्चा० ६ विव०।

आणावेतव्व-आज्ञापयितव्य-त्रि०। आदेशनीये, आचा०।

आणासार-आज्ञासार-त्रि०। आप्तवचनप्रधाने, "आणासार मुणेयव्वं" ॥ ८+ ॥ आज्ञासारम्-आप्तवचनप्रधानम्। पञ्चा० ११ विव०।

आणासिद्ध-आज्ञासिद्ध-त्रि०। आप्तवचनसिद्धे सूत्र०। "पुराणं मानवो धर्मः, साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ १ ॥ इति परतीर्थिका। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

आणिज्जंत-आनीयमान-त्रि०। प्राप्यमाणे, "णिज्जंताऽऽणिज्जता" ॥ ८४२ ॥ 'आणिज्जतो' त्ति-गृहपति गृहादानीयमानो वा। बृ० ३ उ०।

आणि (णी) य-आनीत-त्रि०। आ-नी—कर्मणि क्त। "पानीयादिष्वित् ॥ ८। १। १०१ ॥" इति हैम प्राकृतसूत्रेण-इत्वम्। प्रा०। देशाद्देशान्तरं नीत, वाच०। आहृते, प्रव० ६ द्वार।

आणील-आनील-पुं०। ईषदर्थे, आङ्। प्रा० स०। ईषन्नीलवर्णे सामस्त्येन नीलवर्णे च। "आणीलं च वत्थं रयावेहि" ॥ ६ ॥ वस्त्रम्-अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय आनीलम्-ईषन्नील सामस्त्येन नील भवति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। तद्वति, त्रि०। नीलघोटके, पुं०। हेम०। तज्जातिस्त्रियाम् स्त्री०। ङीप्। वाच०।

आणुकंपिय-आनुकम्पिक-त्रि०। अनुकम्पया चरतीत्यानुकम्पिक। भ० १५ श०। कृपावति, भ०३ श० १ उ०। प्रति०।

आणुगामिय-आनुगामिक-त्रि०। गच्छन्तं पुरुषम् आसमन्तादनुगच्छत्येवंशील आनुगामि,आनुगाम्येवानुगामिक स्वार्थे कप्रत्यय। अथवा-अनुगम, प्रयोजन यस्य तदानुगामिकम्। अनुशतिकादिपाठादुभयपदवृद्धि। आ० म० १ अ०। नं०। स्था०। अनुगन्तरि, (अनुगमनशीले)। ध० ३ अधि०। 'आणुगामिय त्ति धम्मि" (सूत्र-२१७+)। आनुगामिक तदार्जितपुण्यानुगमनाद्। आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ०। सह गन्तरि, सूत्र०। "स एगईओ आणुगामियभाव पडिसंधाय" (सूत्र-३१ ×)। आनुगामुकभाव प्रतिसंधाय-सहगन्तृभावेनानुकूल्य प्रतिपद्य। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। अवधिज्ञानविशेष, देशान्तरगतमपि ज्ञानिनमनुगच्छति लोचनवत्तदवधिज्ञानमानुगामि। कर्म० १ कर्म०।

आणुगामिओऽणुगच्छइ,
गच्छंतं लोअणं जहा पुरिसं ॥ ७१४+ ॥विशे०।

नं० स्था०। (एतद्व्याख्याम् 'ओहि' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे करिष्यते।)

(आनुगामिकानानुगामिकमिश्रावधिज्ञानस्वरूपम्)—

आणुगामिओ य ओही, नेरइयाणं तहेव देवाणं।
अणुगामि अणाणुगामी, मीसो य मणुस्सतेरिच्छे।७१४।

अनुगमनशील आनुगामुक। (सर्वोऽप्यवधिज्ञानविषय. 'ओहि' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (विशे०।) त्रिविधोऽप्यत्रावधिर्मनुष्येषु तिर्यक्षु च भवतीति निर्युक्तिगाथार्थ। विशे०। तत्रेहान्तगतो न ग्राह्यो, देवनारकाणामभ्यन्तरावधित्वात्, किन्तु-मध्यगत, सोऽप्यन्त (न्त्य) व्याख्यानविशिष्टो देवनारकाणां स्वावधिद्योतितक्षेत्रमध्यवर्तित्वात्, तुशब्द एवकारार्थः, सत्त्ववधारणे आनुगामिक एव यथाक्तरूपो नान्य इति, कथमित्याह-नरान् कायन्ति-स्वयोग्यतयाऽऽह्वयन्तीति नरका तेषु भवा नारकास्तेषां तथा दीव्यन्ति-यथेच्छया क्रीडन्तीति देवा तेषां मनुष्याश्च तिर्यञ्चश्च मनुष्यतिर्यञ्च तस्मिन्मनुष्यतिरश्चि जातावेकवचन, ततोऽयमर्थ-मनुष्येषु तिर्यक्षु आनुगामिक उक्तशब्दार्थ, अनानुगामिक-अर्चास्थत शृङ्खलादिनियन्त्रितप्रदीप इव यो गच्छन्त पुरुष नानुगच्छति आह च भाष्यकृत्-"अणुगामिओऽणुगच्छइ, गच्छंत लोयण जहा पुरिसं। इयरो उ नाणुगच्छइ, ठियप्पदीवो व्व गच्छत" (विशे० ७१४)। यस्य तु एकस्यावधेर्देशो व्रजति स्वामिना सह अपरश्च देश. प्रदेशान्तरचलितपुरुषस्योपहतैकलोचनवदन्यत्र न व्रजति स मिश्र उच्यते, उक्त च-"उभयसहावो मीसो, देसो जस्साऽणुजाइ नो अन्नो। कासइ गयस्स कत्थइ, एग उवहम्मइ जहऽच्छि" (विशे०७१५) एष च भवति गाथासक्षेपार्थ। देवनारकाणां सर्वात्मदेशजाऽभ्यन्तरावधिरूपमध्यगत आनुगामिकोऽवधि, तिर्यङ्मनुष्याणां सर्वप्रभेद-आनुगामिक, अनानुगामिको, मिश्रश्चेति। आ० म० १ अ०।

एतस्य भेदा—

से किं तं आणुगामियं ओहिनाणं ?, आणुगामियं ओहिनाणं दुविहं पण्णत्तं; तं जहा-अंतगयं; मज्झगयं च। (सूत्र-१०+)

'से किं तमि' त्यादि, अथ किं तदानुगामिकमवधिज्ञानम्?। आनुगामिकमवधिज्ञान द्विविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-अन्तगत च, मध्यगत च। नं०। (अन्तगताऽवधिज्ञानस्वरूपम् 'अन्तगय' शब्दे प्रथमभागे गतम्।) (मध्यगताऽवधिज्ञानस्वरूपम् 'मज्झगय' शब्दे षष्ठ भागे वक्ष्यते।)

(अन्तगत-मध्यगतयोर्विशेष)—

अंतगयस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो ?, पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पुरओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, पासओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पासओ चेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि

वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मज्झगएणं ओहिनाणेणं सव्वओ समंता संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ । (सूत्र-१० +)

अन्तगतस्य मध्यगतस्य च परस्पर कः प्रतिविशेषः? -प्रतिनियतो विशेषः सूरिराह-पुरतोऽन्तगतेनावधिज्ञानेन पुरत-एवाग्रत एव संख्येयानि-एकादीनि, शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तान्यसङ्ख्येयानि वा योजनानि, एतावत्सु योजनेष्ववगाढं; द्रव्यमित्यर्थः, जानाति-पश्यति ज्ञान विशेषग्रहणात्मकं, दर्शन सामान्यग्रहणात्मकम् । तदेवं पुरतोऽन्तगतस्य शेषावधिज्ञानेभ्यो भेद । एव शेषाणामपि परस्परं भावनीयः । 'नवरं सव्वओ समता' इति-सर्वत सर्वासु दिग्विदिक्षु समन्तात्सर्वैरेवात्मप्रदेशैः सर्वैर्वा विशुद्धस्पर्द्धकैः, उक्त च चूर्णौ-" सव्वउ त्ति सव्वासु दिसि विदिसासु समता इति सव्वायप्पएसेसु सव्वेसु वा विसुद्धफड्डगेसु " इति । अत्र 'सव्वायप्पएसेसु' इत्यादौ तृतीयार्थे सप्तमी भवति च तृतीयार्थे सप्तमी, यदाह पाणिनि स्वप्राकृतलक्षणे-"व्यत्ययोऽप्यासा " मित्यत्र सूत्रे-'तृतीयार्थे सप्तमी' यथा-" तिसु तेसु अलंकिया पुहवी " इति । अथवा-समन्ता इत्यत्र स अवधिज्ञानी परामृश्यते, मन्ता इति ज्ञाता, शेषं तथैव । नं० । साध्यमसाध्यमगम्या।दिकमनुगच्छति साध्याभावेन भवति या धूमादिहेतुः सोऽनुगामी ततो जातमानुगामिकम् अनुमानं तद्रूपा व्यवसायोऽपि आनुगामिक एव । अनुमाने, तदात्मक व्यवसायविशेषे च । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

आणुगामियत्ता-आनुगामिकता-स्त्री० । परम्पराशुभानुबन्ध, 'आणुगामियत्ताए भविस्सइ " (सूत्र-३८० ×) आनुगामिकत्वाय शुभानुबन्धायेत्यर्थ । भ० ९ श० ३३ उ० । " आणुगामियत्ताए अब्भुट्ठत्ता भवति " ॥ १९ + ॥ आनुगामिकतायै-परम्पराशुभानुबन्धायेति । दशा० ४ अ० । स्था० । भवपरम्परासु, सानुबन्धसुखे च । " आणुगामियत्ताए भविस्सइ ॥ ११ + ॥ " आनुगामिकत्वाय-भवपरम्परासु सानुबन्धसुखाय भविष्यति । दशा० १० अ० । नि० ।

आणुधम्मिय-आनुधार्मिक-त्रि० । अन्यैरपि तद्धार्मिकैस्समाचीर्णे, आचा० । भगवतो महावीरस्य विहारसमये इन्द्रप्रक्षिप्तवस्त्रधारणमधिकृत्य-" एवं खु आणुधम्मियं तस्स " (सूत्र-२ +) । एतद्वस्त्रावधारण तस्य भगवतोऽनुपश्चाद्धार्मिकमानुधार्मिकमन्येत्यपरैरपि तीर्थकृद्भि समाचीर्णमित्यर्थ । आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

आणुपुव्व-आणुपूर्व्य-न० । पूर्वस्य पश्चादनुपूर्वे तस्य भाव इत्यर्थे । " गुणवचनब्राह्मणादिभ्य " (पाणि० ५ । १ । १२-९) कर्मणि चेति ष्यञ् । उत्त० १ अ० । अनु० । क्रमे, औ० । परिपाट्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । विशिष्टरचनायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आणुपुव्वट्ठिय- आनुपूर्व्यस्थित- त्रि० । विशिष्टरचनया स्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आणुपुव्व-(व्वि) सुजाय-आनुपूर्व्य (र्वी) सुजात-त्रि० । परिपाट्या सुष्ठुजात, । तथा च वृक्षवर्णनमुपक्रम्य-" आणुपुव्वसुजायरुइलवट्टभावपरिणया" (सूत्र- २ टी०) आनुपूर्व्येण-मूलादिपरिपाट्या सुष्ठु जाता रुचिरा वृत्तभावं च परिणता ये ते तथा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आनुपूर्व्या-मूलादिपरिपाट्या जन्मदोषरहितं यथा भवति एव जात आनुपूर्वीसुजात । रा० । जं० । तथा च ह्रदवर्णनमुपक्रम्य-" आणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयजले " (सूत्र-५८+) आनुपूर्व्येण-परिपाट्या सुष्ठु जाता वप्रा -तटा यत्र स तथा गम्भीरम्-अगाधं शीतलं जलं यत्र स तथा ततः पदद्वयस्य कर्मधारय । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । " आणुपुव्वसुसंहयगुलीए "(सूत्र-१०+) आनुपूर्व्येण-क्रमेण वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यम्, सुसंहता-सुष्ठु अविरला अङ्गुल्यः पादाग्रावयवा यस्य स तथा । औ० ।

आणुपुव्विग-आनुपूर्वीग-त्रि० । आनुपूर्वी-क्रमस्तं गच्छतीत्यानुपूर्वीग । क्रमवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । " आणुपुव्विगमा एसो पव्वज्जासुत्तअत्थकरण च " ॥ २-९८+ ॥ आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

आणुपुव्विगंठिय-आनुपूर्वीग्रन्थित-त्रि० । परिपाट्या गुम्फिते, भ० । अन्ययूथिकानधिकृत्य-" आणुपुव्विगंठिया " (सूत्र-१८३×) आनुपूर्व्या-परिपाट्या ग्रन्थिता-गुम्फिता आदुचितग्रन्थीनामादौ विधानादनन्तेचितानां च क्रमेणान्त एव करणाद् । भ० ५ श० ३ उ० ।

आणुपुव्विणाम-आनुपूर्वीनामन्-न० । वृषभनासिकान्यस्तरज्जुसंस्थानीया कर्मसंहत्या विशिष्टं स्थानं प्राप्यते असौ यया चोर्द्धोत्तमाङ्गाधश्चरणादिरूपो नियमत शरीरविशेषो भवति सा अनुपूर्वीति । आव० १ अ० । कूर्परलाङ्गलगोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वित्रिचतु समयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाटी आनुपूर्वी, तद्विपाकवद्या कर्मप्रकृतिरपि, कारणे कार्योपचारादानुपूर्वी । पंचा० ७ विव० । कूर्परलाङ्गलगोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वित्रिचतु समयप्रमाणेन विग्रहण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्य अनुश्रेणिगमनमानुपूर्वी, तन्निबन्धनं नाम आनुपूर्वीनाम । कर्म० ६ कर्म० । नामकर्मभेदे, यदुदयादन्तराले गतो जीवा याति तदानुपूर्वीनाम । स०४२ सम० । तच्चतुर्विधम्-नारकानुपूर्वीनाम १, तिर्यगानुपूर्वीनाम २, मनुष्यानुपूर्वीनाम ३, देवानुपूर्वीनाम ४, । कर्म० ६ कर्म० । " आणुपुव्वी चउभया " ॥ १२८३× ॥ आनुपूर्वी चतुर्द्धा-नारक तिर्यग्मनुष्यदेवानुपूर्वीभेदाद् । प्रव० २१६ द्वार । कर्म० । चतुर्द्धा गतिरिवानुपूर्वी प्रागुक्तरूपा भवति, कोऽर्थ -गत्यभिधानव्यपदेश्यमानुपूर्वीनाम, ततो निरयानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीदेवानुपूर्वीभेदात्-आनुपूर्वीनाम चतुर्द्धेति तात्पर्यम् । तत्र नरकगत्या नाम कर्मप्रकृत्या सहचरितानुपूर्वी नरकगत्यानुपूर्वी तत्समकाल चास्या वेद्यमानत्वात्सहचरितत्वम् । एव तिर्यग्मनुष्यदेवानुपूर्व्योऽपि वाच्या । कर्म०१ कर्म० । ननु आनुपूर्व्या उदयो नरकादिषु किमृजुगत्या गच्छत आहोस्विद्वक्रगत्येत्याशङ्क्याऽऽह-'पूव्वीउदओ वक्के' त्ति पूर्व्या आनुपूर्व्या वृषभस्य नासिकारज्जुकल्पाया उदयो-विपाको वक्र एव भवति । अयमर्थ -नरक द्विसमयादिवक्रेण

गच्छतो जीवस्य नरकानुपूर्व्या उदय . निर्यक्षु-द्विसमयादिवक्रेण जीवस्य गच्छतस्तिर्यगानुपूर्व्या उदय . मनुष्येषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य मनुष्यानुपूर्व्या उदय , देवेषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य देवानुपूर्व्या उदय । उक्तं च बृहत्कर्मविपाके—

" नरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स ।
नरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिँ नऽत्थि ॥ १ ॥
एव तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स ।
तासिमाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिँ नत्थि ॥ २ ॥
कर्म० १ कर्म० ४२ गाथाटी० ।

आणुपुव्विविहारि (न्) आनुपूर्वीविहारिन्-पुं० । प्रव्रज्यादिक्रमेण विहारिणि, आचा० ।

(आह निर्युक्तिकार)—

आणुपुव्विविहारीणं, भत्तपरिण्णा य इंगिनीमरणं ।
पायवगमणं च तहा, अहियारो होइ अट्ठमए ॥ २५७ ॥

अष्टमक तु अयमर्थाधिकार ,तद्यथा-आनुपूर्वीविहारिणाम् प्रतिपालितदीर्घसंयमानाम् ,शास्त्रार्थग्रहणप्रतिपादनानन्तरका समवसीदत्संयमाऽध्ययनाऽध्यापनक्रियाणां निष्पादितशिष्याणामुत्सर्गतो द्वादशसंवत्सरसंलेखनाक्रमसंलिखितदेहाना भक्तपरिज्ञेङ्गितमरण,पादपोपगमन वा यथा भवति तथोच्यते । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

तत्रैवानुपूर्वीविहारिणा मरणमधिकृत्य सूत्रम्—

अणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज ॥ १ + ॥

आनुपूर्वी क्रम ,-तद्यथा-प्रव्रज्याशिक्षासूत्रार्थग्रहणपरिनिष्ठितस्यैककालिकविहारित्वमित्यादि , यदि वा-आनुपूर्वी-संलेखनाक्रमश्चत्वारि विकृष्टानीत्यादि, तया आनुपूर्व्या याऽन्यभिहितानि । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

आणुपुव्वियसंखाए, कम्मुणाओ तिउट्टइ ॥ २ ॥

आनुपूर्व्या-प्रव्रज्यादिक्रमेण संयममनुपाल्य मम जीवत कश्चिद् गुणो नाऽस्तीत्यत शरीरमोक्षावसर प्राप्तस्तथा कस्मै मरणाय समर्थोऽहमित्येवं संख्याय-ज्ञात्वा आरम्भणमारम्भ -शरीरधारणायाऽन्नपानाद्यन्वेषणात्मकस्तस्मात् त्रुट्यति, अपगच्छतीत्यर्थ. त्रुट्यत्यनेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी पाठान्तर वा-" कम्मुणाओ तिउट्टइ " कर्माष्टभेद तस्मात् त्रुट्यतीति त्रुट्यति, ' वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" (पाणि० ३ । ३ । १३१ । इत्यनेन भविष्यत्कालस्य वर्त्तमानता । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

आणुपुव्वी-आनुपूर्वी-स्त्री० । पूर्वस्य पश्चादनुपूर्व तस्य भाव इत्यर्थे गुणवचनब्राह्मणादिभ्य " (पाणि० । ५ । १ । १२४ ।) कर्मणि चेति ष्यञ् तस्य च पित्करणसामर्थ्यात् स्त्रीत्वे ' पिद्गौरादिभ्य श्च " (पाणि० । ४ । १ । ४१) इति ङीषि आनुपूर्वी । क्रमे, परिपाट्याम् उत्त० १ अ० । आचा० । रा० । विशे० । पं० स० । ज० । आनुपूर्वी, अनुक्रम , अनुपरिपाटीति पर्य्याया ,ऽयादिवस्तुसघा इत्यर्थ । अनु० । " आणुपुव्व पाणेहिं संजए " (सूत्र-१२ ×) । आनुपूर्व्या-श्रमणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यक् यत संयतः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । " आणुपुव्वियसखाए " सूत्र-२ +) आनुपूर्व्या-प्रव्रज्यादिक्रमेण । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । विशिष्टरचनायाम् , सूत्र० २ श्रु० १ अ० । तदात्मके शास्त्रीयोपक्रमभेदे, प्रकारान्तरेण शास्त्रभावोपक्रमभेदे च । अनु० ।

विषयसूचनार्थमधिकाराङ्का—

(१) आनुपूर्व्या सामान्यतो भेदा ।
(२) आनुपूर्व्याः द्रव्यादिना भेदा ।
(३) नैगमव्यवहारसम्मताया द्रव्यानुपूर्व्या निरूपणम् ।
(४) प्रसङ्गागतस्यानुगमस्य निरूपणम् ।
(५) आनुपूर्व्या संग्रहनयमतेन निरूपणम् ।
(६) प्रागुद्दिष्टाया औपनिधिकया द्रव्याऽऽनुपूर्व्या निरूपणम् ।
(७) प्रागुद्दिष्टक्षेत्राऽऽनुपूर्व्या निरूपणम् ।
(८) क्रमप्राप्तकालाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम् ।
(९) उत्कीर्त्तनाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम् ।
(१०) गणनाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम् ।
(११) प्रागुद्दिष्टसंस्थानाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम् ।
(१२) भावाऽऽनुपूर्व्या निरूपणम् ।

(१) आनुपूर्वीस्वरूपनिरूपणगर्भं भेदमाह—

से किं तं आणुपुव्वी ?, आणुपुव्वी दसविहा पण्णत्ता, तं जहा-नामाऽऽणुपुव्वी १, ठवणाऽऽणुपुव्वी २. दव्वाऽऽणुपुव्वी ३, खेत्ताऽऽणुपुव्वी ४, कालाणुपुव्वी ५, उक्कित्तणाऽऽणुपुव्वी ६, गणणाऽऽणुपुव्वी ७, संठाणाऽऽणुपुव्वी ८, सामाआरियाणुपुव्वी ९, भावाऽऽणुपुव्वी १० (सूत्र-७१) नामट्ठवणाओ गयाओ । (सूत्र-७२+)

' से किं तमि ' त्यादि, अथ किं तदानुपूर्वी वस्त्विति प्रश्नार्थ । अत्र निर्वचनम्-' आणुपुव्वी दसविहे 'त्यादि , इह हि पूर्व प्रथमम् आदि., इति पर्याया । पूर्वस्य अनु-पश्चादनुपूर्व, ' तस्य भाव " इति यणप्रत्यये स्त्रियामीकारे चानुपूर्वी, अनुक्रमो, अनुपरिपाटीति पर्याया , ऽयादिवस्तुसहतिरित्यर्थ. । इयमानुपूर्वी दशविधा-दशप्रकारा प्रज्ञप्ता तद्यथा-नामाऽऽनुपूर्वी, स्थापनाऽऽनुपूर्वी, द्रव्याऽऽनुपूर्वी , क्षेत्राऽऽनुपूर्वी, कालाऽऽनुपूर्वी, उत्कीर्तनाऽऽनुपूर्वी, गणनाऽऽनुपूर्वी, संस्थानाऽऽनुपूर्वी, सामाचार्यानुपूर्वी, भावानुपूर्वीति ॥७१॥ अत्र नामस्थापनानुपूर्वीसूत्रे नामस्थापनावश्यकसूत्रव्याख्यानुसारेणव्याख्येये ॥ ७२ ॥

(२) द्रव्यादिना आनुपूर्वीभेदमाह—

से किं तं दव्वाणुपुव्वी ?, दव्वाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-आगमतो अ, नो आगमतो (ओ) अ । से किं त आगमओ दव्वाणुपुव्वी ?, २ जस्स णं आणुपुव्वि त्ति पदं सिक्खि (अं) त ठितं जितं मितं परिजितं०जाव नो अणुप्पेहाए कम्हा अणुवओगो दव्वमिति कट्टु णेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमतो एगा दव्वाणुपुव्वी०जाव कम्हा जति जाणए अणुवउत्ते न भवति । सेत्तं आगमओ दव्वाणुपुव्वी ॥ से किं तं नोआगमतो दव्वाणुपुव्वी ?, नो-

आगमतो दव्वाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता ?, तं जहा-जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी, भवियसरीरदव्वाणुपुव्वी, जाणगसरीरभविअसरीरव्वतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी । से किं तं जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी ?, जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी पदत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरय ववगतचुतचावितचत्तदेहं, सेसं जहा दव्वाऽऽवस्सए तहा भाणिअव्वं०जाव सेत्तं जाणगसरीरदव्वाणुपुव्वी । से किं तं भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी ?, भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते, सेसं जहा दव्वावस्सए०जाव से(तं)त्तं भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी । से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी ?, जाणयसरीरभविअसरीरवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता ?, तं जहा-उवणिहिआ य, अणोवणिहिआ य । तत्थ णं जा सा उवणिहिआ सा ठप्पा, (सूत्र-७२+)

द्रव्यानुपूर्वीसूत्रमपि द्रव्यावश्यकवदेव भावनीयम् यावत्- " जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुपुव्वी दुविहे " त्यादि, तत्र निधानं निधिः, निक्षेपो, न्यासः, विरचना प्रस्तारः, स्थापना इति पर्यायाः । तथा च-लोके-निधेहीदं निहितमिदमित्यत्र निपूर्वस्य धागो निक्षेपाऽर्थे प्रतीत एव, उप-सामीप्येन निधिरुपनिधिः एकस्मिन्विवक्षितेऽर्थे पूर्वं व्यवस्थितापिते तत्समीप एवापरापरस्य वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण यन्निक्षेपणं स, उपनिधिरित्यर्थः । उपनिधिः प्रयोजनं यस्या आनुपूर्व्याः सा औपनिधिकीति, प्रयोजनार्थे इकण् प्रत्ययः । सामायिकाध्ययनादिवस्तूनां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिप्रस्तारप्रयोजनानुपूर्वी औपनिधिकी युच्यते इति तात्पर्यम् । अनुपनिधिः वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेणाविऽरचनं प्रयोजनमस्या इत्यनौपनिधिकी, यस्या वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचना न क्रियते सा द्व्यादिपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धविषया आनुपूर्वीति अनौपनिधिकीत्युच्यते इति भावः । आह नन्वानुपूर्वी परिपाटिरुच्यते भवता च द्व्यणुकादिकोऽनन्ताणुकावसान एकैकस्कन्ध अनौपनिधिक्यानुपूर्वीत्वेनाभिप्रेता न च स्कन्धगतद्व्यादिपरमाणुना नियता काचित्परिपाटिरस्ति विशिष्टैकपरिणामपरिणतत्वात्तेषां तत्कथमिहानुपूर्वीत्वं, सत्यम् , किंतु-द्व्यादिपरमाणूनामादिमध्यावसानभावेन नियतपरिपाट्या व्यवस्थापनयोग्यताऽस्तीति योग्यतामाश्रित्यात्राप्यानुपूर्वीत्वं न विरुध्यते । ' तत्थ णं ' त्यादि, तत्र या सा औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी सा स्थाप्या सा न्यासिकी तिष्ठतु तावदल्पतरवक्तव्यत्वेन तस्या उपरि वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ।

अनौपनिधिकी तु पश्चान्निर्दिष्टाऽपि बहुतरवक्तव्यत्वेन प्रथमं व्याख्यायते । बहुतरवक्तव्यत्वे हि वस्तुनि प्रथममुच्यमानेऽल्पतरवक्तव्यवस्तुगतः कश्चिदर्थस्तन्मध्येऽप्युक्त एव लभ्यते इति गुणाभिक्ष्य पर्यालोच्य सूत्रकारोऽनौपनिधिक्या स्वरूपं विवरीषुराह—

तत्थ णं जा सा अणोवणिहिआ सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-नेगमववहाराणं, संगहस्स य ॥ (सूत्र-७२+)

' तत्थ णं ' त्यादि, तत्र याऽसावनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी सा नयवक्तव्यताश्रयणात्-द्रव्यास्तिकनयमतेन द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-नैगमव्यवहारयोः, संग्रहस्य च । नैगमव्यवहारसम्मता संग्रहसंमता, चेत्यर्थः । अयमत्र भावार्थः- इहौघतः सप्त नया भवन्ति नैगमादयः, उक्तं च-नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढै-वंभूता नया एते च द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकलक्षणनयद्वयेऽन्तर्भाव्यन्ते द्रव्यमेव परमार्थतोऽस्मिन् पर्याया इत्यभ्युपगमपरः द्रव्यास्तिकः, पर्याया एव वस्तुतः सन्ति न द्रव्यमित्यभ्युपगमपरः पर्यायास्तिकः, तत्राद्यास्त्रयो द्रव्यास्तिकाः, शेषास्तु पर्यायास्तिकाः । पुनर्द्रव्यास्तिकोऽपि सामान्यतो द्विविधः- विशुद्धः, अविशुद्धश्च । तत्र नैगमव्यवहाररूपः अविशुद्धः, संग्रहरूपस्तु विशुद्धः । कथं यतो नैगमव्यवहारावनन्तपरमाण्वनन्तद्व्यणुकाद्यनेकव्यक्त्यात्मकं कृष्णाद्यनेकगुणाधारं त्रिकालविषयं चाविशुद्धं द्रव्यमिच्छतः संग्रहश्च परमाण्वादिक-परमाण्वादिसाम्यादिकं तिरोभूतगुणकलापमविद्यमानपूर्वापरविभागं नित्यं सामान्यमेव द्रव्यमिच्छति, एतच्च किलानेकताद्यभ्युपगमकलङ्केनाकलङ्कितत्वाच्छुद्धम्, ततः शुद्धद्रव्याभ्युपगमपरत्वादयमेव शुद्धः । अत्र च द्रव्यानुपूर्व्येव विचारयितुं प्रक्रान्ता अतः शुद्धाऽशुद्धस्वरूपद्रव्यास्तिकमतेनैवासौ दर्शयिष्यते न पर्यायास्तिकमतेन पर्यायविचारस्यानुपक्रान्तत्वात् , इत्यलं विस्तरेण ।

(३) तत्र नैगमव्यवहारसम्मतामिमां दर्शयितुमाह—

से किं तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी ?, नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५ (सूत्र-७३)

अत्र निर्वचनम् । ' नैगमववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी पंचविहे' त्यादि, अर्थपदप्ररूपणतादिभिः पञ्चभिः प्रकारैर्विचार्यमाणत्वात्पञ्चविधा-पञ्चप्रकारा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-अर्थपदप्ररूपणता , भङ्गसमुत्कीर्त्तनता , भङ्गोपदर्शनता, समवतारः, अनुगमः , एभिः पञ्चभिः प्रकारैर्नैगमव्यवहारनयमतेन अनौपनिधिक्या द्रव्यानुपूर्व्याः स्वरूपं निरूप्यते इतीह तात्पर्यम् । तत्र अर्यते इति अर्थः त्र्यणुकस्कन्धादिस्तद्युक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं तस्य प्ररूपणं-कथनं तद्भावोऽर्थपदप्ररूपणता इयमानुपूर्व्यादिका संज्ञा अयं च तदभिधेयस्त्र्यणुकादिरर्थः । संज्ञीत्येवं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धकथनमात्रं प्रथमं कर्त्तव्यमिति भावार्थः । तेषामेवानुपूर्व्यादिपदानां समुदितानां वक्ष्यमाणन्यायेन संभविनो विकल्पाः-भङ्गा उच्यन्ते-विभज्यन्तेः विकल्प्यन्ते इति कृत्वा , तेषां समुत्कीर्तन-समुच्चारणं भङ्गसमुत्कीर्त्तनं , तद्भावो भङ्गसमुत्कीर्त्तनता , आनुपूर्व्यादिपदनिष्पन्नानां प्रत्येकभङ्गानां द्व्यादिसंयोगभङ्गानां च समुच्चारणमित्यर्थः, तेषामेव सूत्रमात्रतया समनन्तरसमुत्कीर्त्तितभङ्गानां प्रत्येकं स्वाभिधेयेन त्र्यणुकाद्यर्थेन सहोपदर्शनं-भङ्गोपदर्शनं तद्भावो भङ्गोपद-

र्शनता । भङ्गसमुत्कीर्त्तने भङ्गकविषयं सूत्रमेव केवलमुच्चारणीयम्, भङ्गोपदर्शने तु तदेव स्वविषयभूतेनार्थेन सहोच्चारयितव्यमिति विशेष । तथा तेषामेवानुपूर्व्यादिद्रव्याणां स्वस्थानपरस्थानान्तरभावचिन्तनप्रकार समवतार । तथा तेषामेव आनुपूर्व्यादिद्रव्याणां सत्पदप्ररूपणादिभिरनुयोगद्वारैरनुगमन-विचारणमनुगम ।

तत्राऽऽद्यभेद विवरीपुराह—

से किं तं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया?, नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया तिपएसिए आणुपुव्वी चउप्पएसिए आणुपुव्वी ०जाव दसपएसिए आणुपुव्वी, संखेज्जपएसिए आणुपुव्वी, असंखिज्जपएसिए आणुपुव्वी, अणंतपएसिए आणुपुव्वी, परमाणुपोग्गले अणाणुपुव्वी, दुपएसिए अवत्तव्वए, तिपएसिआ आणुपुव्वीओ, ०जाव अणंतपएसिआओ आणुपुव्वीओ, परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वीओ, दुपएसिआइं अवत्तव्वयाइं सेत्तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया । (सूत्र-७४)

अथ केय नैगम-व्यवहारयो सम्मता अर्थपदप्ररूपणना? इति । अत्रोत्तरमाह । 'नेगमववहाराणमि' त्यादि, तत्र त्रय प्रदेशा परमाणुत्रयलक्षणा यत्र स्कन्धे सा त्र्यणुकानुपूर्वीत्युच्यते, एव यावदनन्ता अणवो यत्र स अनन्ताणुक सोऽप्यानुपूर्वीत्युच्यते । 'परमाणुपोग्गले' त्ति—एक परमाणु परमाण्वन्तरासंसक्तोऽनानुपूर्वीत्यभिधीयते । द्वौ प्रदेशौ यत्र स द्विप्रदेशिक स्कन्धाऽवक्तव्यकमित्याख्यायत बहवस्त्रिप्रदेशिकादय स्कन्धा आनुपूर्व्यो, बहवश्चैकाकिपरमाणवोऽनानुपूर्व्य, बहूनि च द्व्यणुकस्कन्धद्रव्याण्यवक्तव्यकानि । आनुपूर्व्यां प्रकान्तायामनानुपूर्व्यवक्तव्यकया प्ररूपणमसङ्गतमिति चेत्, न, तत्प्रतिपक्षत्वात्तयोरपि प्ररूपणीयत्वात्, प्रतिपक्षपरिज्ञाने च प्रस्तुतवस्तुन सुखावसेयत्वादिति भावार्थ । इहानुपूर्वी अनुपरिपाटिरिति पूर्वमुक्तं सा च यत्रैवादिमध्यान्तलक्षण सपूर्णो गणनानुक्रमोऽस्ति तत्रैवोपपद्यते; नान्यत्र, एतच्च त्रिप्रदेशिकादिस्कन्धेष्वेव । तथा हि–"यस्मात्परमस्ति न पूर्वं स आदि, यस्मात् पूर्वमस्ति न परं सोऽन्त, तयोरन्तरं मध्यमुच्यते, 'अयं च संपूर्णो गणनानुक्रमस्त्रिप्रदेशादिस्कन्ध एव, न परमाणौ; तस्यैकद्रव्यत्वेनाऽऽदिमध्यान्तव्यवहाराभावाद्, अत एवायमनानुपूर्वीत्वेनोक्त, नापि द्व्यणुकस्कन्ध, तत्रापि मध्याभावेन संपूर्णगणनानुक्रमाऽभावाद्, अत्राऽऽह–ननु पूर्वस्यानु-पश्चादनुपूर्वं तस्य भाव आनुपूर्वीति पूर्वं व्याख्यातम्, एतच्च द्व्यणुकस्कन्धेऽपि घटत एव परमाणुद्वयस्यापि परस्परापेक्षया पूर्वपश्चाद्भावस्य विद्यमानत्वात्तत सपूर्णगणनानुक्रमाभावेऽपि कस्मादयमप्यानुपूर्वी न भवति? नैतदेव, यतो यथा मर्यादिके क्वचित्पदार्थे मध्ये अवधौ व्यवस्थापिते लोके पूर्वादिविभाग प्रसिद्धस्तथा यद्यत्रापि स्यात्तदा स्यादप्येवं न चैवमत्रास्ति, मध्येऽवधिभूतस्य कस्यचिदभावतोऽमाङ्ख्येण पूर्वपश्चाद्भावस्यासिद्धत्वात्, यद्येव परमाणुवत् द्व्यणुकस्कन्धोऽप्यनानुपूर्वीत्वेन कस्मान्नोच्यते सत्य, किंतु—परस्परापेक्षया पूर्वपश्चाद्भावमात्रस्य सद्भावादेवमप्यभिधातुमशक्योऽसौ तस्मादानुपूर्व्यनानुपूर्वीप्रकाराभ्या वक्तुमशक्यत्वादवक्तव्यकमेव द्व्यणुकस्कन्धः, तस्माद्व्यवस्थितमिदम् आदिमध्यान्तभावेनाऽवधिभूत मध्यवर्त्तिनमपेक्ष्याऽऽसांकर्येण मुख्यस्य पूर्वपश्चाद्भावस्य सद्भावात् त्रिप्रदेशादिस्कन्ध एवानुपूर्वी, परमाणुस्तूक्तयुक्त्या अनानुपूर्वी द्व्यणुकोऽवक्तव्यक इत्येव सञ्ज्ञासञ्ज्ञिकसंबन्धकथनरूपा अर्थपदप्ररूपणा कृता भवति । यद्येव त्रिप्रदेशिका आनुपूर्व्य इत्यादि बहुवचननिर्देश किमर्थ ?, एकत्वमात्रेणैव सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसबन्धकथनस्य सिद्धत्वात्, सत्यम्, किंत्वानुपूर्व्यादिद्रव्याणां प्रतिभेदमनन्तव्यक्तिख्यापनार्थो नैगमव्यवहारयोरित्थमूताभ्युपगमप्रदर्शनार्थश्च बहुत्वनिर्देश इत्यदोष । अत्राह- नन्वनानुपूर्वीद्रव्यमेकेन परमाणुना निष्पद्यते अवक्तव्यकद्रव्य परमाणुद्वयेन आनुपूर्वीद्रव्य तु जघन्यतोऽपि परमाणुत्रयेण इत्थ द्रव्यवृद्ध्या पूर्वानुपूर्वीक्रममाश्रित्य प्रथममनानुपूर्वी तत अवक्तव्यकम् ततश्चानुपूर्वीत्येवं निर्देशो युज्यते, पश्चानुपूर्वीक्रमाश्रयणे तु व्यत्ययत युक्तस्तत्कथं क्रमद्वयमुल्लङ्घ्यान्यथा निर्देश कृत ?, सत्यमेतत्, किंत्वनानुपूर्व्यपि व्याख्याङ्गमिति ख्यापनार्थं । यदि वा-त्र्यणुकचतुरणुकादीन्यानुपूर्वीद्रव्याण्यनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येभ्यो बहूनि तेभ्योऽनानुपूर्वीद्रव्याण्यल्पानि तेभ्योऽप्यवक्तव्यकद्रव्याण्यल्पतराणीत्यग्रेव वक्ष्यते, ततश्चेत्थ द्रव्यहान्या पूर्वानुपूर्वीक्रमनिर्देश एवायमिति । अलं विस्तरेण । 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम् ।

एआए णं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ?, एआए णं नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ । (सूत्र-७५)

'एताए णमि' त्यादि, एतया अर्थपदप्ररूपणतया किं प्रयोजनमिति, अत्राऽऽह—एतया अर्थपदप्ररूपणतया भङ्गसमुत्कीर्तना क्रियते, इदमुक्त भवति-अर्थपदप्ररूपणताया सञ्ज्ञासञ्ज्ञिव्यवहारो निरूपितस्तस्मिश्च सत्येव भङ्गका समुत्कीर्त्तयितु शक्यन्ते, नाऽन्यथा, संज्ञामन्तरेण निर्विषयाणां भङ्गाना प्ररूपयितुमशक्यत्वात् तस्मादुक्तमुक्तम् एतया अर्थपदप्ररूपणतया भङ्गसमुत्कीर्त्तना क्रियते इति ।

तामेव भङ्गसमुत्कीर्त्तना निरूपयितुमाह—

से किं तं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ?, नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया-अत्थि आणुपुव्वी १, अत्थि अणाणुपुव्वी २, अत्थि अव्वत्तव्वए ३, अत्थि आणुपुव्वीओ ४, अत्थि अणाणुपुव्वीओ ५, अत्थि अव्वत्तव्वयाइं ६, इक्कसंयोगी छ भंगा । द्विकसंयोगीभंगा-अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ १, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ २, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ ३, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ ४, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वए अ ५, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वयाइं च ६, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अव्वत्तव्वए अ ७, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वाइं च ८, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वी अ अवत्तए अ ९, अहवा-अत्थि अणाणु-

पुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १०, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ११, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च १२ ॥ त्रिकसंयोगी भङ्गा- अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ १, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च २, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीअ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ३, अहवा--अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ४, अहवा--अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा--अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ६, अहवा--अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ७, अहवा-अत्थि आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ८, त्रिकसंयोगी एए अ(ड)ट्ठ भंगा । एवं सव्वेऽवि छव्वीसं भंगा। सेत्तं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ।(सूत्र-७६)

प्रश्न अत्र चानुपूर्व्यादिपदत्रयेणैकवचनान्तेन त्रयो भङ्गा भवन्ति । बहुवचनान्तेनापि तेन त्रय एव भङ्गा , एवमेते असंयोगतः प्रत्येक भङ्गा षड् भवन्ति, संयोगपक्षे तु पदत्रयस्यास्य त्रयो द्विकसंयोगा , एकैकस्मिंस्तु द्विकसंयोगे एकवचनबहुवचनाभ्यां चतुर्भङ्गीसद्भावत. त्रिष्वपि द्विकसंयोगेषु द्वादशभङ्गा संपद्यन्ते, त्रिकसंयोगस्त्वेक एव, तत्र च (एकवचनान्तास्त्रय एते बहुवचनान्तास्त्रय) एकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गा. सर्वेऽप्यमी षड्विंशति., अत्र स्थापना चेयम्—

इत्येकवचनान्तास्त्रय.	बहुवचनान्तास्त्रय
आनुपूर्वी १	आनुपूर्व्यः ३
अनानुपूर्वी १	अनानुपूर्व्यः ३
अवक्तव्यकं १	अवक्तव्यकानि ३

१ द्विकयोगे चतुर्भङ्गी ।	२ द्विकयोगे ४ ।	३ द्विकयोगे ४ ।
आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वी १	आनुपूर्वी १ अवक्तव्यक १	अनानुपूर्वी १ अवक्तव्यक १
आनुपूर्वी १ अनानुपूर्व्यः ३	आनुपूर्वी १ अवक्तव्यकाः ३	अनानुपूर्वी १ अवक्तव्यकाः ३
आनुपूर्व्यः ३ अनानुपूर्वी १	आनुपूर्व्यः ३ अवक्तव्यक १	अनानुपूर्व्यः ३ अवक्तव्यक १
आनुपूर्व्यः ३ अनानुपूर्व्यः ३	आनुपूर्व्यः ३ अवक्तव्यकाः ३	अनानुपूर्व्यः ३ अवक्तव्यकाः ३

त्रिकसंयोगेऽष्टौ भङ्गाः

आनुपूर्वी १	अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यक १
आनुपूर्वी १	अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यका ३
आनुपूर्वी १	अनानुपूर्व्य ३	अवक्तव्यक १
आनुपूर्वी १	अनानुपूर्व्य ३	अवक्तव्यकाः ३
आनुपूर्व्य ३	अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यक. १
आनुपूर्व्य ३	अनानुपूर्वी १	अवक्तव्यका ३
आनुपूर्व्य ३	अनानुपूर्व्य ३	अवक्तव्यक १
आनुपूर्व्य. ३	अनानुपूर्व्य ३	अवक्तव्यका ३

सर्वेऽपि षड्विंशतिरेव एते चोत्तरं प्रयच्छता अनेनैव क्रमेण सूत्रेऽपि लिखिताः सन्तीति भावनीया । अथ किमर्थं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनं क्रियत इति चेत्, उच्यते-इहानुपूर्व्यादिभिस्त्रिभि पदैरेकवचनान्तबहुवचनान्तै प्रत्येकचिन्तया संयोगचिन्तया च षड्विंशतिर्भङ्गा जायन्ते , तेषु च मध्ये येन केनचिद्भङ्गेन वक्ता द्रव्यं वक्तुमिच्छति तेन प्रतिपादयितु सर्वानपि प्रतिपादनप्रकारानेकरूपान्नैगमव्यवहारनयाविच्छन्न इति प्रदर्शनार्थं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनमिति । ' सेत्तमि ' त्यादि निगमनम् । उक्ता भङ्गसमुत्कीर्त्तनता ।

अथ भङ्गोपदर्शनतां प्रतिपिपादयिषुराह—

एआए णं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ? एआए णं नेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया कीरइ । (सूत्र-७७)

'एताए णमि' इत्यादि , एतया भङ्गसमुत्कीर्त्तनतया किं प्रयोजनमिति ?, अत्रोत्तरमाह-' एताए णमि ' त्यादि, एतया भङ्गसमुत्कीर्त्तनया भङ्गोपदर्शनता क्रियते, इदमुक्तं भवति-भङ्गसमुत्कीर्त्तनतायां भङ्गकसूत्रमुक्तं, भङ्गोपदर्शनतायां तस्यैव वाच्य त्र्यणुकस्कन्धादिकं कथयिष्यते । तच्च सूत्रे समुत्कीर्त्तिते एव कथयितुं शक्यते , वाचकमन्तरेण वाच्यस्य कथयितुमशक्यत्वाद् अतो युक्तं भङ्गकसमुत्कीर्त्तनतायां भङ्गोपदर्शनताप्रयोजनम् , अत्राह-ननु भङ्गोपदर्शनतायां वाच्यस्य त्र्यणुकस्कन्धादे कथनकाले आनुपूर्व्यादिसूत्रं पुनरप्युत्कीर्त्तयिष्यति तत् किं भङ्गसमुत्कीर्त्तनतया प्रयोजनमिति , सत्य , किंतु-भङ्गसमुत्कीर्तनता सिद्धस्यैव सूत्रस्य भङ्गोपदर्शनतायां वाच्यवाचकभावसुखप्रतिपत्त्यर्थं प्रसङ्गेन पुनरपि समुत्कीर्त्तनं करिष्यते, न मुख्यतयेत्यदोष । यथाहि-" संहिता च पद चैव " इत्यादि व्याख्याक्रमे सूत्र संहिताकाले समुच्चारितमपि पदार्थकथनकाले पुनरप्यर्थकथनार्थमुच्चार्यते तद्वदत्रापीति भाव ।

अथ केय पुनर्भङ्गोपदर्शनतेति प्रश्नपूर्वकं तामेव निरूपयितुमाह—

से किं तं नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ?, नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ?, तिपएसिए आणुपुव्वी १, परमाणुपोग्गले अणाणुपुव्वी १, दुपएसिए अवत्तव्वए २, अहवा-तिपएसियाणुपुव्वीओ परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वीओ दुपएसिया अव्वत्तव्वयाइ ३, अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गले अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ ४, चउभंगो । अहवा- दुपयसिए य तिपएसिए अ आणुपुव्वी अ अव्वत्तव्वए य चउभंगो , अहवा-दुपएसिए य परमाणुपोग्गले अ अवत्तव्वए य आणुपुव्वी अ, अहवा- तिपएसिआ य परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ ४, अहवा-तिपएसिए अ दुपएसिए अ आणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा-तिपएसिए अ दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ६ अहवा-तिपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइ च ७,अ-

हवा-तिपएसिआ य दुपएसिए अ आणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ, अहवा-तिपएसिआ य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ, अहवा-तिपएसिआ य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च ८, अहवा-परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ९, अहवा-परमाणुपोग्गले अ दुपसिएआ य अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १०, अहवा-परमाणुपोग्गला य दुपएसिए अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ११, अहवा-परमाणुपोग्गला य दुपएसिआ य अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च १२,

अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ १, अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गल य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ अवत्तव्वयाइं च २, अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला अ दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ३, अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला य दुपएसिया अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ४, अहवा-तिपएसिए अ परमाणुपोग्गला य दुपएसिआ य आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वए अ ५, अहवा-तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिए अ आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ६, अहवा-तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिआ य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वी अवत्तव्वआ ७, अहवा-तिपएसिआ य परमाणुपोग्गले अ दुपएसिआ य आणुपुव्वीओ अ अणाणुपुव्वीओ अ अवत्तव्वयाइं च ८। सेत्तं नेगमववहाराण भंगोवदंसणया। (सूत्र-७८)

'से किं तमि' त्यादि, 'तिपएसिए आणुपुव्वी' त्ति-त्रिप्रदेशिकोऽर्थ आनुपूर्वीत्युच्यते, त्रिप्रदेशिकस्कन्धलक्षणेनार्थेनानुपूर्वीति भङ्गको निष्पद्यत इत्यर्थः। एवं परमाणुपुद्गललक्षणोऽर्थ अनानुपूर्वीत्युच्यते, द्विप्रदेशिकस्कन्धलक्षणोऽर्थोऽवक्तव्यकमुच्यते, एवं बहवस्त्रिप्रदेशिका आनुपूर्व्यः, बहवः परमाणुपुद्गला अनानुपूर्व्यः बहवो द्विप्रदेशिकस्कन्धा अवक्तव्यकानीति परेण प्रत्येकभङ्गानामर्थकथनम्। एवं द्विकसंयोगेऽपि त्रिप्रदेशिकस्कन्धः परमाणुपुद्गलश्चानुपूर्व्यनानुपूर्वीत्वेनोच्यते, यदा त्रिप्रदेशिकस्कन्धः परमाणुपुद्गलश्च प्रतिपादयितुमभीष्टो भवति। तदा 'अत्थि आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ' इत्येवं भङ्गो निष्पद्यत इत्यर्थः, एवमर्थकथनपुरस्सरा शेषभङ्गा अपि भावनीयाः। अत्राह-नन्वर्थोऽप्यानुपूर्व्यादिपदानां त्र्यणुकस्कन्धादिकोऽर्थपदप्ररूपणतालक्षणे प्रथमद्वारे कथित एव तत्किमनेन? सत्यम्?, किंतु तत्र पदार्थमात्रमुक्तम्, अत्र तु तेषामेवानुपूर्व्यादिपदानां भङ्गरचनासमादिष्टानामर्थः कथ्यत इत्यदोषः, नयमतवैचित्र्यप्रदर्शनार्थं वा पुनरित्थमर्थोपदर्शनमिति। अलं विस्तरेण। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्ता भङ्गोपदर्शनता।

अथ समवतारं विभणिषुराह—

से किं तं समोआरे?, समोआरे नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोअरंति?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति?, अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति?, अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति?, नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोअरंति, नो अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोअरंति, नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति, नेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं कहिं समोअरंति?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति? अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति?, नो आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति, अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति, नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति। नेगमववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं कहिं समोअरंति?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति? अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति?, अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति नो आणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति; नो अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति; अवत्तव्वयदव्वेहिं समोअरंति। सेत्तं समोआरे। (सूत्र-७९)

अथ कोऽयं समवतार इति प्रश्ने सत्याह-'समोयारे' त्ति-अथ समवतार उच्यत इति शेषः, कः समवतार इत्याह—'नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोयरंती' त्यादि प्रश्नः, अत्रोत्तरम् 'नेगमववहाराणं आणुपुव्वी' इत्यादि, आनुपूर्वीद्रव्याणि आनुपूर्वीद्रव्यलक्षणायां स्वजातावेव वर्त्तन्ते, न स्वजात्यतिक्रमणेत्यर्थः, इदमुक्तं भवति—सम्यग्-अविरोधेनावतरणं-वर्त्तनं समवतारः अविरोधवृत्तिता प्रोच्यते, सा च स्वजातिवृत्तावेव स्यात् परजातिवृत्तेर्विरुद्धत्वात् ततो नानादेशादिवृत्तीन्यपि सर्वाण्यानुपूर्वीद्रव्याणि आनुपूर्वीद्रव्येष्वेव वर्त्तन्ते इति स्थितम्। एवमनानुपूर्व्यादीनामपि स्वस्थानावतारो भावनीयः। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्तः समवतारः।

(४) अथाऽनुगमं विभणिषुरुपक्रमते—

से किं तं अणुगमे?, अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा-

"संतपयपरूवणया १,
दव्वपमाणं च २. खित्त ३ फुसणा य ४।
कालो य ५ अंतरं ६ भा-
ग ७ भाव ८ अप्पाबहुं चेव ९ ॥ १ ॥" (सूत्र-८०)

अत्रोत्तरम 'अणुगमे नवविहे' इत्यादि तत्र सूत्रार्थस्यानुकूलमनुरूपं वा गमनं व्याख्यानमनुगमः। अथवा-सूत्रपठनादनु-पश्चाद् गमनं व्याख्यानमनुगमः। यदि वा—अनुसूत्रमर्थो गम्यते-ज्ञायते अनेनेत्यनुगमो-व्याख्यानमेवेत्याद्यन्यदपि वस्त्वविरोधेन स्वधिया वाच्यमिति। स च नवविधो-नवप्रकारो भवति। तदेव नवविधत्वं दर्शयति

तद्यथेत्युपदर्शनार्थः। 'संतपयगाहा'-सदर्थविषयं पद सत्पद तस्य प्ररूपणं-प्रज्ञापनं सत्पदप्ररूपणं तस्य भाव. सत्पदप्ररूपणता सा प्रथम कर्त्तव्या। इदमुक्त भवति—इह स्तम्भकुम्भादीनि पदानि सदर्थविषयाणि दृश्यन्ते खरशृङ्गव्योमकुसुमादीनि त्वसदर्थविषयाणि दृश्यन्ते तत्रानुपूर्व्यादिपदानि किं स्तम्भादिपदानीव सदर्थविषयाणि आहोस्वित् खरविषाणादिपदवत् असदर्थगोचराणि इत्येतत्प्रथम पर्यालोचयितव्यं, तथा आनुपूर्व्यादिपदाभिधेयद्रव्याणां प्रमाण संख्यास्वरूपं प्ररूपणीयम्, च. समुच्चय, एवमन्यत्रापि तथा तेषामेव क्षेत्रं तदाधारस्वरूपं प्ररूपणीयं, कियति क्षेत्रे तानि भवन्तीति चिन्तनीयमित्यर्थः। तथा स्पर्शना च वक्तव्या, कियत्क्षेत्रं तानि स्पृशन्तीति चिन्तनीयमित्यर्थ। तथा कालश्च तत्स्थितिलक्षणो वक्तव्य, तथा अन्तर-विवक्षितस्वभावपरित्यागे सति पुनस्तद्भावप्राप्तिविरहलक्षणं प्ररूपणीय, तथा आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्याणां कतिभाग वर्त्तन्ते इत्यादिलक्षणो भाग प्ररूपणीय, तथा आनूपूर्व्यादिद्रव्याणि कस्मिन् भावे वर्त्तन्ते इत्येवरूपो भाव. प्ररूपणीय', तथा अल्पबहुत्वं चानुपूर्व्यादिद्रव्याणां द्रव्यार्थप्रदेशार्थोभयार्थताश्रयणेन परस्पर स्तोकबहुत्वचिन्तालक्षणं प्ररूपणीयम् एवकारोऽवधारणे. एतावत्प्रकार एवानुगम इति गाथासमासार्थः।

विस्तरा(व्यासा)र्थं तु ग्रन्थकार स्वयमेव विभणिषुराद्यावयवमधिकृत्याह—

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ?, णियमा अत्थि। नेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ?, नियमा अत्थि। नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि, नियमा अत्थि। (सूत्र-८१)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीशब्दाभिधेयानि द्रव्याणि त्र्यणुकस्कन्धादीनि किं सन्ति, न इति(च) प्रश्न, अत्रोत्तरं-नियमा 'अत्थि' इति, एतदुक्त भवति-नेदं खरशृङ्गादिवदानुपूर्वीपदमसदर्थगोचरम्, अतो नियमात्सन्ति तदभिधेयानि द्रव्याणि तानि च त्र्यणुकस्कन्धादीनि पूर्वं दर्शितान्येव, एवमनानुपूर्व्यवक्तव्यकपक्षद्वयेऽपि वाच्यम्। कृता सत्पदप्ररूपणा।

अथ द्रव्यप्रमाणमभिधित्सुराह—

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखिज्जाइं असंखिज्जाइं अणंताइं ?, नो संखिज्जाइं नो असंखिज्जाइं, अणंताइं, एवं अणाणुपुव्विदव्वाइं, अवत्तव्वगदव्वाइं च अणंताइं भाणिअव्वाइं। (सूत्र-८२)

'नेगमववहाराण आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइमि'त्यादि, अयमत्र निर्वचनभावार्थ -इहानुपूर्व्यनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणि प्रत्येकमनन्तान्येकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे प्राप्यन्ते, किं पुन सर्वलोके, अत सख्याऽसंख्येयप्रकारद्वयनिषेधेन त्रिष्वपि स्थानेष्वानन्त्यमेव वाच्यमिति। न च वक्तव्यं कथमसंख्येये लोके अनन्तानि द्रव्याणि तिष्ठन्ति ?, अचिन्त्यत्वात् पुद्गलपरिणामस्य. शक्तिर्दृश्यत चैकगृहान्तर्वर्त्याकाशप्रदेशेष्वेकप्रदीपप्रभापरमाणुव्याप्तेष्वनेकाऽपरप्रदीपप्रभापरमाणूनां तत्रैवावस्थानं, नचाऽदृष्टेऽप्यर्थेऽनुपपत्तिः अतिप्रसङ्गादिति। अलं प्रपञ्चेन।

इदानीं क्षेत्रद्वारमुच्यते—

नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं लोअस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा असंखिज्जइभागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखज्जेसु भागेसु होज्जा सव्वलोए होज्जा ?, एगं दव्वं पडुच्च संखेज्जइ भागे वा होज्जा असंखिज्जइ भागे वा होज्जा संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा असंखिज्जेसु भागेसु वा होज्जा सव्वलोए वा होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा। नेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं किं लोअस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा ०जाव सव्वलोए वा होज्जा ?, एगं दव्वं पडुच्च नो संखेज्जइभागे होज्जा, असंखिज्जइभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा. नो सव्वलोए होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा, एवं अवत्तव्वगदव्वाइं भाणिअव्वाइं। (सूत्र-८३)

आनुपूर्वीद्रव्याणि किं लोकस्यैकस्मिन् संख्याततमे भागे 'होज्ज' त्ति। आर्षत्वात् भवन्ति अवगाहन्त इति यावत्। यदि वा-एकस्मिन्नसख्याततमे भाग भवन्ति उत बहुषु संख्येयेषु भागेषु भवन्ति आहोश्विद्बहुष्वसंख्येयेषु भागेषु भवन्ति अथ सर्वलोके भवन्तीति पञ्च प्रश्नस्थानान्यत्र निर्वचनसूत्रस्येयं भावना-इहानुपूर्वीद्रव्याणि त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुस्कन्धपर्यवसनान्युक्तानि तत्र च सामान्यत एकं द्रव्यमाश्रित्य तथाविधपरिणामवैचित्र्यात् किंचिल्लोकस्यैकस्मिन् सख्याततमे भागे भवति एक तत्संख्यातभागमवगाह्य तिष्ठतीत्यर्थ, अन्यत्तु तदसंख्येयभागमवगाहन, अपरस्तु—बहूंस्तदसख्येयान् भागानवगाह्य वर्त्तते, अन्यच्च बहून् तदसंख्येयभागानवगाह्य तिष्ठतीति, 'सव्वलोए वा होज्ज त्ति' इहानन्तानन्तपरमाणुप्रचयनिष्पन्न प्रज्ञापनादिप्रसिद्धाचित्तमहास्कन्धलक्षणमानुपूर्वीद्रव्य समयमेक सकललोकावगाहि प्रतिपत्तव्यमिति। कथं पुनरयमचित्तमहास्कन्ध सकललोकावगाही स्याद् ?, उच्यते-समुद्घातवर्तिकेवलिवत्। तथाहि-लोकमध्यव्यवस्थितोऽसौ प्रथमसमये तिर्यगसख्यातयोजनविस्तरं सख्यातयोजनविस्तर वा ऊर्ध्वमधस्तु चतुर्दशरज्ज्वायतं विश्रसापरिणामेन वृत्त दण्ड करोति द्वितीये कपाटम्, तृतीये मन्थान, चतुर्थे लोकव्याप्ति प्रतिपद्यते। पञ्चमे अन्तराणि संहरति षष्ठे मन्थान सप्तमे कपाटमष्टमे तु दण्डं संहृत्य खण्डशो भिद्यत इत्येके, अन्येत्वन्यथापि व्याचक्षते, तत्तु विशेषावश्यकादवसेयमिति 'वा' शब्द. समुच्चये एव यथासंभवमन्यत्रापि। 'नाणा दव्वाइं पडुच्च'त्यादि नानाद्रव्याण्यानुपूर्वीपरिणामवन्ति प्रतीत्य प्रकृत्य वा; अधिकृत्येत्यर्थ, नियमात् नियमेन सर्वलोके भवन्ति, न सख्येयादिभागेषु यत सर्वलोकाकाशस्य स प्रदेशोऽपि नास्ति यत्र सूक्ष्मपरिणामवन्त्यनन्तान्यानुपूर्वीद्रव्याणि न सन्तीति अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येषु त्वेकं द्रव्यमाश्रित्य लोकस्याऽ-

संख्येयभाग एव वृत्तिर्न संख्येयभागादिषु यतोऽनानुपूर्वी तावत्परमाणुरुच्यते, स चैकाकाशप्रदेशाऽवगाढ एव भवति, अवक्तव्यकं तु द्व्यणुकस्कन्ध, स चैकाकाशप्रदेशावगाढो द्विप्रदेशावगाढो वा स्यादिति यथोक्तभागवृत्तितैवेति, नाना द्रव्यभावना पूर्ववदिति । उक्तं क्षेत्रद्वारम् ।

साम्प्रतं स्पर्शनाद्वारमुच्यते—

नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइ भागं फुसंति असंखेज्जइभागं फुसंति संखेज्जे भागे फुसंति असंखेज्जे भागे फुसंति सव्वलोअं फुसंति?, एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागं वा फुसंति० जाव सव्वलोअं वा फुसंति णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोगं फुसंति । णेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं लोअस्स किं संखेज्जइभागं फुसंति० जाव सव्वलोगं फुसंति । एगं दव्वं पडुच्च नो संखिज्जइभागं फुसंति असंखिज्जइभागं फुसंति नो संखिज्जे भागे फुसंति नो असंखेज्जे भागे फुसंति नो सव्वलोअं फुसंति, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोअं फुसंति, एवं अवत्तव्वगदव्वाइं भाणिअव्वाइं । (सूत्र-८४)

भावना तु क्षेत्रद्वारवदेव कर्त्तव्या, नवरं क्षेत्रस्पर्शनयोरयं विशेष क्षेत्रम् अवगाढाक्रान्तप्रदेशमात्रं, स्पर्शना तु षड्दिक्के प्रदेशैस्तद्बहिरपि भवति. तथा च—परमाणुद्रव्यमाश्रित्य तावदवगाहनास्पर्शनयोरन्यत्रोक्तो भेद । 'एगपएसोगाढं सत्त पएसा य से फुसणा'त्ति-अस्यार्थ -परमाणुद्रव्यमवगाढ तावदेकस्मिन्नेवाकाशप्रदेशे, स्पर्शना तु (से) तस्य सप्त प्रदेशा भवन्ति, षड्दिग्व्यवस्थितान् षट्प्रदेशान् यत्र चावगाढस्तं च स्पृशतीत्यर्थ ,एवमन्यत्रापि क्षेत्रस्पर्शनयोर्भेदो भावनीय । अत्र सौगता प्रेरयन्ति-यदि परमाणो षड्दिक्स्पर्शना अभ्युपगम्यते तदैकत्वमस्य हीयते, तथा हि-प्रष्टव्यमत्र, किं येनैव स्वरूपेणासौ पूर्वाद्यन्यतरदिशा सम्बद्धस्तेनैवान्यदिग्भि , उत स्वरूपान्तरेण ?, यदि तेनैव तदाऽयं पूर्वदिक्सम्बन्धोऽयं चापरदिक्सम्बन्ध इत्यादि विभागो न स्यात् एकस्वरूपत्वात्, विभागाभावे च षड्दिक्संबन्धवचनमुपप्लवत् एव, अथाऽपरो विकल्प कल्प्यते तर्हि तस्य षट्स्वरूपाऽऽपत्त्या एकत्व विशीर्यते, उक्तं च-'दिग्भागभेदो यस्याऽस्ति तस्यैकत्वं न युज्यत' इति । अत्र प्रतिविधीयते-इह परमाणुद्रव्यमादिमध्याऽन्त्यादिविभागरहित निरंशमेकस्वरूपमिष्यत अत सांशवस्तु सम्भविन्यायपरोक्त विकल्पद्वयं निरास्पदमेव, अथानभ्युपगम्यमानाऽपि परमाणो· साशता अनन्तरोक्तविकल्पबलेनापाद्यते, ननु भवन्तोऽपि तर्हि प्रष्टव्या -क्वचिज्ज्ञानसंताने विवक्षित काश्चिज्ज्ञानलक्षणक्षणः स्वजनकपूर्वक्षणस्य कार्य स्वजन्योत्तरक्षणस्य कारणमित्यत्र सौगताना तावदविप्रतिपत्ति , तत्रहापि विचार्यते—किमसौ येन स्वरूपेण पूर्वक्षणस्य कार्य तेनैवोत्तरक्षणस्य कारणम् , उत स्वरूपान्तरेण ?, यद्याद्य पक्षस्तर्हि यथा पूर्वापेक्षयाऽसौ कार्य तथोत्तरापेक्षयापि स्यात् यथा वा उत्तरापेक्षया कारण तथा पूर्वापेक्षयापि स्याद्, एकस्वरूपत्वात्तस्येति, अथ द्वितीय पक्षस्तर्हि तस्य साशत्वप्रसङ्गोऽत्राऽपि दुर्वारः स्याद् अथ निरंश एवासौ ज्ञानलक्षणक्षणोऽकार्य्याकारणरूप तत्तद्वस्तुव्यापृतत्वात् । तथा तथा व्यपदिश्यते, न पुनस्तस्यानेकस्वरूपत्वमस्ति , नन्वस्माकमपि नेदमुत्तरमतिदुर्लभ स्यात्, यतो द्रव्यतया निरंश एव परमाणुस्तथाविधाऽचिन्त्यपरिणामत्वाद् दिक्षट्केन सह नैरन्तर्येणावस्थितत्वात्तस्य स्पर्शकमुच्यते, न पुनस्तत्रांशे काचित् स्पर्शना समस्तीति, अत्र बहुवक्तव्य, तत्तु नोच्यते, स्थानान्तरेषु चर्चितत्वादिति । अलं विस्तरेण । उक्तं स्पर्शनाद्वारम् ।

इदानीं कालद्वारं विभणिषुराह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णिअमा सव्वऽद्धा अणाणुपुव्विदव्वाइं अवत्तव्वगदव्वाइं च एवं चेव भाणिअव्वाइं । (सूत्र-८५)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीद्रव्याणि कालत'—कालमाश्रित्य कियच्चिरं-कियन्त काल भवन्ति-आनुपूर्वीत्वपर्यायेणावतिष्ठन्ते ? अत्रोत्तरम्-'एगं दव्वमि' त्यादि , इयमत्र भावना-परमाणुद्वयादरपरैकादिपरमाणुमीलने अपूर्वं किंचिदानुपूर्वीद्रव्यं समुत्पन्नम्, तत समयादूर्ध्वं पुनरप्येकाद्यणौ वियुक्तेऽपगतस्तद्भाव इत्येकमानुपूर्वीद्रव्यमधिकृत्य-जघन्यत समय —अवस्थितिकाल, यदा तु तदेवासख्यात कालं सद्भावेन स्थित्वाऽनन्तरोक्तस्वरूपेण वियुज्यते तदा उत्कृष्टतोऽसख्येयोऽवस्थितिकाल. प्राप्यते, अनन्तं कालं पुनर्नावतिष्ठते उत्कृष्टाया अपि पुद्गलसंयोगस्थितेरसख्येयकालत्वादिति । नानाद्रव्याणि बहूनि पुनरानुपूर्वीद्रव्याण्यधिकृत्य सर्वाऽद्धास्थितिर्भवति, नास्ति स कश्चित्कालो यत्रानुपूर्वीद्रव्यविरहितोऽयं लोक स्यादिति भाव । अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वपि जघन्यादिभेदभिन्न एतावानेवावस्थितिकाल , तथाहि-कश्चित्परमाणुरेक समयमेकाकीभूत्वा तत· परमाण्वादिना अन्येन सह संयुज्यत इत्यमेकमनानुपूर्वीद्रव्यमधिकृत्य जघन्यत· समय -अवस्थितिकाल , यदा तु स एवासंख्यातं काल तद्भावेन स्थित्वा अन्येन परमाण्वादिना सह संयुज्यते तत उत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽवस्थितिकाल संप्राप्यते, नानाद्रव्यपक्षस्तु पूर्ववदेव भावनीय । अवक्तव्यकद्रव्यमपि परमाणुद्वयलक्षण यदा समयमेकं संयुक्त स्थित्वा ततो वियुज्यते तदवस्थमेव वाऽन्येन परमाण्वादिना सयुज्यते तदा तस्याऽवक्तव्यकद्रव्यतया जघन्यत समयोऽवस्थान लभ्यते, यदा तु तदेवाऽसंख्यात कालं तद्भावेन स्थित्वा विघटते तदवस्थमेव वाऽ (चा)न्येन परमाण्वादिना सयुज्यते तदोत्कृष्टत अवक्तव्यकद्रव्यतया असख्यात कालमवस्थान प्राप्यते, नानाद्रव्यपक्षस्तु तथैव भावनीय इति । उक्तं कालद्वारम् ।

अथाऽन्तरद्वार प्रतिपिपादयिषुराह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणं अंतर कालओ केवच्चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एग समयं

उक्कोसेणं अणंतं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अंतरं। णेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाणं अन्तरं कालओ केवच्चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अन्तरं । णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाणं अन्तरं कालओ केवच्चिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं । नाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अन्तरं । (सूत्र-८६)

नैगमव्यवहारयोरानुपूर्वीद्रव्याणामन्तरं कालतः कियच्चिरं भवतीति प्रश्नः, अन्तरम्-व्यवधानं, तच्च क्षेत्रतोऽपि भवति, यथा भूतलसूर्ययोरष्टौ योजनशतान्यन्तरमित्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तं कालतः-कालमाश्रित्य, तदयमत्रार्थः-आनुपूर्वीद्रव्याण्यानुपूर्वीस्वरूपतां परित्यज्य कियता कालेन तान्येव पुनस्तथा भवन्ति; आनुपूर्वीत्वपरित्याग-पुनर्लाभयोरन्तरे कियान् कालो भवतीत्यर्थः । अत्र निर्वचनम्-' एगं दव्वमि ' त्यादि, इयमत्र भावना-इह विवक्षितं त्र्यणुकस्कन्धादिकं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं विश्रसापरिणामात्प्रयोगपरिणामाद्वा खण्डशो वियुज्य परित्यक्तानुपूर्वीभावं संजातं एकस्माच्च समयादूर्ध्वं विश्रसादिपरिणामात्पुनस्तैरेव परमाणुभिस्तथैव तन्निष्पन्नमित्येवं जघन्यतः सर्वस्तोकतया एकं द्रव्यमाश्रित्याऽऽनुपूर्वीत्वपरित्याग-पुनर्लाभयोरन्तरे समयः प्राप्यते, उत्कृष्टतः सर्वबहुतया पुनरन्तरमनन्तं कालं भवति, तथाहि-तदेव विवक्षितं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं तथैव भिन्नं भित्त्वा च ते परमाणवोऽन्येषु परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिषु अनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तेषु अनन्तस्थानेषूत्कृष्टान्तराधिकारादसकृत्प्रतिस्थानमुत्कृष्टां स्थितिमनुभवन्तः पर्यटन्ति, कृत्वा चेत्थं पर्यटनं कालस्यानन्तत्वाद्विश्रसादिपरिणामतो यदा तैरेव परमाणुभिस्तदेव विवक्षितमानुपूर्वीद्रव्यं निष्पद्यते, तदाऽनन्त उत्कृष्टान्तरकालः प्राप्यते, नानाद्रव्याण्यधिकृत्य पुनर्नाऽस्त्यन्तरम् , नहि स कश्चित्कालोऽस्ति यत्र सर्वाण्यप्यानुपूर्वीद्रव्याणि युगपदानुपूर्वीभावं परित्यजन्ति, अनन्तानन्तैरानुपूर्वीद्रव्यैः सर्वदैव लोकस्याऽशून्यत्वादिति भावः । अनानुपूर्वीद्रव्यान्तरकालचिन्तायाम्-'एगं दव्वं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं'ति-इह यदा किंचिदनानुपूर्वीद्रव्यं परमाणुलक्षणमन्येन परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिना केनचित् द्रव्येण सह संयुज्य समयादूर्ध्वं वियुज्य पुनरपि तथा स्वरूपमेव भवति तदा समयलक्षणो जघन्यान्तरकालः प्राप्यते, 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति-तदेवाऽनानुपूर्वीद्रव्यं यदा अन्येन परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादिना केनचिद् द्रव्येण सह संयुज्यते तत् संयुक्तं चाऽसंख्येयं कालं स्थित्वा वियुज्य पुनस्तथास्वरूपमेव भवति तदा असंख्यातः उत्कृष्टान्तरकालो लभ्यते । अत्राह-ननु अनानुपूर्वीद्रव्यं यदा अनन्ताऽनन्तपरमाणुप्रचितस्कन्धेन सह संयुज्यते तत्संयुक्तं चासंख्येयं कालमवतिष्ठते, ततोऽसौ स्कन्धः उद्भिद्यते भिन्ने च तस्मिन् यस्तस्माल्लघुस्कन्धो भवति तेनापि सह संयुक्तमसंख्यातं कालमवतिष्ठते पुनस्तस्मिन्नपि भिद्यमाने यः तस्माल्लघुतरः स्कन्धो भवति तेनापि संयुक्तमसंख्येयं कालमवतिष्ठते, पुनस्तस्मिन्नपि भिद्यमाने यस्तस्माल्लघुतमः स्कन्धो भवति तेनापि संयुक्तमसंख्येयं कालमवतिष्ठत इत्येवं तत्र भिद्यमाने क्रमेण कदाचिदनन्ता अपि स्कन्धाः संभाव्यन्ते, तत्र च प्रतिस्कन्धसंयुक्तमनानुपूर्वीद्रव्यं यदा यथोक्तां स्थितिमनुभूय ततः एकाक्येव भवति तदा तस्य यथोक्तानन्तस्कन्धस्थित्यपेक्षया अनन्तोऽपि कालोऽन्तरं प्राप्यते, किमित्यसंख्येय एवोक्तः. अत्रोच्यते-स्यादेवं, हन्त यदि संयुक्तोऽणुरेतावन्तं कालं तिष्ठेत्तच्च नास्ति, पुद्गलसंयोगस्थितेरुत्कृष्टतोऽप्यसंख्येयकालत्वादित्युक्तमेव, अथ ब्रूयात्-यस्मिन्नेव स्कन्धे संयुज्यते असौ परमाणुः स चेत् स्कन्धः असंख्येयकालाद् भिद्यते तर्ह्येतावतैव चरितार्थः पुद्गलसंयोगाऽसंख्येयकालनियमो , विवक्षितपरमाणुद्रव्यस्य तु वियोगो मा भूदपीति, नैतदेवं, यस्मादन्येन संयोगो जातस्तस्यासंख्येयकालाद्वियोगश्चिन्त्यते, यदि च परमाण्वाश्रयः स्कन्धो वियुज्यते तर्हि परमाणोः किमायातं ?, तस्यान्यसंयोगस्य तदवस्थत्वात् , तस्मादणुत्वेनासौ संयुक्तोऽसंख्येयकालादणुत्वेनैव वियोजनीय इति यथोक्त एवान्तरकालो नत्वनन्त इति, कथं पुनरणुत्वेनैव तस्य वियोगश्चिन्तनीय इति चेत् सूत्रप्रामाण्यात् , प्रस्तुतसूत्रे व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिषु च परमाणोः पुनः परमाणुभवने संख्येयरूपस्यैवान्तरकालस्योक्तत्वाद् इत्यलं विस्तरेण । 'नाणादव्वाइं पडुच्च' त्यादि, पूर्ववद्भावनीयम् । अवक्तव्यकद्रव्याणामन्तरचिन्तायाम् 'एगं दव्वं पडुच्च' त्यादि । अत्र भावना-इह कश्चिद् द्विप्रदेशिकः स्कन्धो विघटितः स्वतन्त्रं परमाणुद्वयं जातं, समयं चैकं तथा स्थित्वा पुनस्ताभ्यामेव परमाणुभ्यां द्विप्रदेशिकः स्कन्धो निष्पन्नः, अथवा-विघटित एव द्विप्रदेशिकः स्कन्धोऽन्येन परमाण्वादिना संयुज्य समयादूर्ध्वं पुनस्तथैव वियुक्त इत्यवक्तव्यकस्य पुनरप्यवक्तव्यकभवने उभयथाऽपि समयोऽन्तरे लभ्यते, ' उक्कोसेणं अणंतं कालं' इति कथम् ?, अत्रोच्यते--अवक्तव्यकद्रव्यं किमपि विघटितं विशकलितपरमाणुद्वयं जातं तच्चानन्तैः परमाणुभिरनन्तैर्द्व्यणुकस्कन्धैरनन्तैस्त्र्यणुकस्कन्धैर्यावदनन्तैरनन्ताणुकस्कन्धैः सह क्रमेण संयोगमासाद्य उत्कृष्टान्तराधिकाराच्च प्रतिस्थानमसकृदुत्कृष्टां संयोगस्थितिमनुभूय कालस्यानन्तत्वात् यदा पुनरपि तथैव द्व्यणुकस्कन्धतया संयुज्यते तदा अवक्तव्यकैकद्रव्यस्य पुनस्तथाभवने अनन्तोऽन्तरकालः प्राप्यते नानाद्रव्यपक्षभावना लोके सर्वदैव तद्भावात् पूर्ववद्वक्तव्या । उक्तमन्तरद्वारम् ।

सांप्रतं भागद्वारं निर्दिदिक्षुराह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ?, किं संखिज्जइ भागे होज्जा असंखिज्जइ भागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा?, नो संखिज्जइ भागे होज्जा नो असंखिज्जइ भागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नियमा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा । णेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ?। किं संखिज्जइ भागे होज्जा असंखिज्जइ भागे होज्जा संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा ?, नो

संखेज्जइ भागे होज्जा नो असंखिज्जइ भागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागे होज्जा । एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि । (सूत्र-८७)

नैगमव्यवहारयोस्त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तानि सर्वाण्यप्यानुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्याणां समस्तानामानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्यलक्षणानां 'कति भागे होज्ज' त्ति-कति भागे भवन्तीत्यर्थः, किं संख्याततमभागे भवन्ति, यथा असत्कल्पनया शतस्य विंशतिमिता किमसंख्याततमे भागे भवन्ति ?, यथा शतस्यैव दश, अथ संख्यातेषु भागेषु भवन्ति ?, यथा शतस्यैव चत्वारिंशत्पूर्वार्धा, किमसंख्यातेषु भागेषु भवन्ति यथा शतस्यैवाशीतिरिति प्रश्नः, अत्र निर्वचनम्-' नो संखेज्जइभागे होज्जा ' इत्यादि, नियमात् 'असंखेज्जेसु भागेसु होज्ज' त्ति—इह तृतीयार्थे सप्तमी, ततश्चानुपूर्वीद्रव्याणि शेषेभ्योऽनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येभ्योऽसंख्येयैर्भागैरधिकानि, भवन्तीति वाक्यशेषो द्रष्टव्यः, ततश्चायमर्थः प्रतिपत्तव्यः-आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्येभ्योऽसंख्येयगुणानि, शेषद्रव्याणि तु तदसंख्येयभागे वर्त्तन्ते, न पुनः शतस्याशीतिरिवानुपूर्वीद्रव्याणि शेषेभ्यः स्तोकानीति, कस्मादेवं ? व्याख्यायते—स्तोकान्यपि तानि भवन्त्विति चेत् नैतदेवम्, अघटमानकत्वात्, तथाहि-अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येषु एकाकिनः परमाणुपुद्गला द्व्यणुकाश्च स्कन्धा इत्येतावन्त्येव द्रव्याणि लभ्यन्ते, शेषाणि तु त्र्यणुकस्कन्धादीन्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तानि द्रव्याणि समस्तान्यप्यानुपूर्वीरूपाण्येव तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यदुक्तम्-"एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखिज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाण य खंधाण कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा, परमाणुपोग्गला अणंतगुणा, संखिज्जपएसिया खंधा संखिज्जगुणा असंखेज्जपएसिया खंधा असंखेज्जगुणा" तदत्र सूत्रे पुद्गलजातेः सर्वस्यापि सकाशादसंख्यातप्रदेशिकाः स्कन्धा असंख्यातगुणा उक्तास्ते चानुपूर्व्यामन्तर्भवन्ति, अतः तदपेक्षया आनुपूर्वीद्रव्याणि शेषात्समस्तादपि द्रव्यादसंख्यातगुणानि,किं पुनरनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्यमात्रात्, ततो यथोक्तमेव व्याख्यानं कर्त्तव्यमित्यलं विस्तरेण । ' अणाणुपुव्विदव्वाइमि ' त्यादि । इहानानुपूर्वीद्रव्याण्यवक्तव्यकद्रव्याणि च शेषद्रव्याणां यथा असंख्याततमे एव भागे भवन्ति, न शेषभागेषु तथा अनन्तरोक्तन्यायादेव भावनीयमिति । उक्तं भागद्वारम् ।

साम्प्रतं भावद्वारमाह—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कतरम्मि भावे होज्जा ?, किं उदइए भावे होज्जा उवसमिए भावे होज्जा खइए भावे होज्जा खओवसमिए भावे होज्जा पारिणामिए भावे होज्जा संनिवाइए भावे होज्जा ?, णिअमा सादिपारिणामिए भावे होज्जा, अणाणुपुव्विदव्वाणि, अवत्तव्वगदव्वाणि अ ; एवं चेव भाणिअव्वाणि । (सूत्र-८८)

' नेगमववहाराणमि ' त्यादि प्रश्नः, अत्र चौदयिकादिभावाना शब्दार्थो भावार्थश्च विस्तरेणोपरिष्टात् स्वस्थान एव वक्ष्यते, अत्र निर्वचनसूत्रे नियमा ' साइपारिणामिए भावे होज्ज ' त्ति-परिणमनं-द्रव्यस्य तेन तेन रूपेण वर्त्तनभवनं परिणामः, स एव पारिणामिकः तत्र भवस्तेन वा निर्वृत्त इति वा पारिणामिकः, स च द्विविधः-सादिः, अनादिश्च । तत्र धर्मास्तिकायाद्यरूपि द्रव्याणामनादिपरिणामोऽनादिकालात्तद्द्रव्यत्वेन तेषां परिणतत्वाद्, रूपिद्रव्याणां तु सादिः परिणामः, अभ्रेन्द्रधनुरादीनां तथा परिणतेरनादित्वाभावाद्, एवं च स्थिते नियमाद्-अवश्यतया आनुपूर्वीद्रव्याणि सादिपारिणामिक एव भावे भवन्ति, आनुपूर्वीत्वपरिणतेरनादित्वासंभवात्, विशिष्टैकपरिणामेन पुद्गलानामसंख्येयकालमेवावस्थानादिति भावः । अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वप्येवमेव भावना कार्या इति । उक्तं भावद्वारम् ।

इदानीमल्पबहुत्वद्वारं विभणिषुराह—

एएसिं णं भंते ! णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणं अणाणुपुव्विदव्वाणं अवत्तव्वगदव्वाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कतरे कतरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिआ वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं पएसट्ठयाए णेगमववहाराणं सव्वत्थोवाइं अणाणुपुव्विदव्वाइं अपएसट्ठयाए अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहिआइं आणुपुव्विदव्वाइं पएसट्ठयाए अणंतगुणाइं दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए विसेसाहिआइं अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहिआइं आणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं ताइं चेव पएसट्ठयाए अनंतगुणाइं । सेत्त(त) अणुगमे। सेत्तं (तं) णेगमववहाराणं अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी। (सूत्र-८९)

द्रव्यमेवार्थो द्रव्यार्थस्तस्य भावो द्रव्यार्थता तया; द्रव्यत्वेन इत्यर्थः, प्रकृष्टो-निरंशो देशः प्रदेशः स चासावर्थश्च प्रदेशार्थस्तस्य भावः प्रदेशार्थता तया, परमाणुत्वेनेति भावः, द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया तु यथोक्तोभयरूपतयेति भावः, तदयमर्थः एतेषां आनुपूर्व्यादिद्रव्याणां मध्ये ' कयरे कयरेहिंतो ' त्ति-कतराणि कान्याश्रित्य द्रव्यापेक्षया प्रदेशापेक्षया उभयापेक्षया वाऽल्पानि विशेषहीनत्वादिना बहूनि असंख्येयगुणत्वादिना तुल्यानि समसंख्यत्वेन विशेषाधिकानि किंचिदाधिक्येनेति वाशब्दाः पक्षान्तरसूचनद्योतकाः, इति पृष्टे वाचः क्रमवर्त्तित्वाद् द्रव्यार्थतापेक्षया तावदुत्तरमुच्यते, तत्र-' सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए ' त्ति-नैगमव्यवहारयोः द्रव्यार्थतामपेक्ष्य तावदवक्तव्यकद्रव्याणि सर्वेभ्योऽप्येभ्यः स्तोकानि सर्वस्तो-

कानि अनानुपूर्वीद्रव्याणि तु द्रव्यार्थतामेवापेक्ष्य विशेषाधिकानि कथम् ?, वस्तुस्थितिस्वभावात्, उक्तं च- "एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपएसियाण खंधाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा० ?, गोयमा ! दुपएसिएहिंतो खंधेहिंतो परमाणुपोग्गला बहुग" त्ति-तेभ्योऽपि आनुपूर्वीद्रव्याणि द्रव्यार्थतयैवासंख्येयगुणानि, यतोऽनानुपूर्वीद्रव्येष्वेव वक्तव्यकद्रव्येषु च परमाणुलक्षणं द्व्यणुकस्कन्धलक्षणं चैकैकमेव स्थानं लभ्यते, आनुपूर्वीद्रव्येषु तु त्र्यणुकस्कन्धादारभ्यैकोत्तरवृद्ध्यानन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तान्यनन्तानि स्थानानि प्राप्यन्ते, अतः स्थानबहुत्वादानुपूर्वीद्रव्याणि पूर्वेभ्योऽसंख्यातगुणानि। ननु यदि तेषु स्थानान्यनन्तानि तर्ह्यनन्तगुणानि पूर्वेभ्यस्तानि कस्मान्न भवन्तीति चेत्, नैवम्, यतोऽनन्ताणुकस्कन्धाः केवलानानुपूर्वीद्रव्येभ्योऽप्यनन्तभागवर्तित्वात् स्वभावादेव स्तोका इति न किञ्चित्तैरिह वर्ध्यते अतो वस्तुवृत्त्या किलासंख्यातान्येव तेषु स्थानानि प्राप्यन्ते तदपेक्षया त्वसंख्यातगुणान्येव तानि एतच्च पूर्वं भागद्वारे लिखितप्रज्ञापनासूत्रात्सर्वं भावनीयमित्यलं विस्तरेण। उक्तं द्रव्यार्थतया अल्पबहुत्वम्, इदानीं प्रदेशार्थतया तदेवाह- 'पएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणमि' त्यादि, नैगमव्यवहारयोः प्रदेशार्थतया अल्पबहुत्वे चिन्त्यमाने अनानुपूर्वीद्रव्याणि सर्वेभ्यः स्तोकानि, कुत इत्याह-'अपएसट्ठयाए' त्ति-प्रदेशलक्षणस्यार्थस्य तेष्वभावादित्यर्थः, यदि हि तेषु प्रदेशाः स्युस्तदा द्रव्यार्थतायामिव प्रदेशार्थतायामप्यवक्तव्यकापेक्षयाधिकत्वं स्यात्, न चैतदस्ति "परमाणुरप्रदेशः" इति वचनाद् अतः सर्वस्तोकान्येतानि, ननु यदि प्रदेशार्थता तेषु नास्ति तर्हि तया विचारोऽपि तेषां न युक्त इति चेत्, न, एतदेवम्-प्रकृष्टः-सर्वसूक्ष्मः पुद्गलास्तिकायस्य देशो-निरंशो भागः-प्रदेश इति व्युत्पत्तेः प्रतिपरमाणुप्रदेशार्थताभ्युपगम्यत एव आत्मव्यतिरिक्तप्रदेशान्तरापेक्षया त्वप्रदेशार्थतेत्यदोषः, अवक्तव्यकद्रव्याणि प्रदेशार्थतयाऽनानुपूर्वीद्रव्येभ्यो विशेषाधिकानि, यतः किलासत्कल्पनया अवक्तव्यकद्रव्याणां षष्टिः अनानुपूर्वीद्रव्याणां तु शतम्, ततो द्रव्यार्थताविचारे एतानीतरापेक्षया विशेषाधिकान्युक्तानि, अत्र तु प्रदेशार्थताविचारे अनानुपूर्वीद्रव्याणां निष्प्रदेशत्वात्तदेव शतमवस्थितम् अवक्तव्यकद्रव्याणां त्विह प्रत्येकं द्विप्रदेशत्वाद् द्विगुणितानां विंशत्युत्तरं प्रदेशशतं जायते इति तथामितरेभ्यः प्रदेशार्थतया विशेषाधिकत्वं भावनीयम्। आनुपूर्वीद्रव्याणि प्रदेशार्थतया अवक्तव्यकद्रव्येभ्योऽनन्तगुणानि भवन्ति, कथम् ?, यतो द्रव्यार्थतयापि तावदेतानि पूर्वेभ्योऽसंख्यातगुणान्युक्तानि, यदा तु संख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामसंख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामनन्ताणुकस्कन्धानां च सम्बन्धिनः सर्वेऽपि प्रदेशा विवक्ष्यन्ते तदा महानसौ राशिर्भवतीति प्रदेशार्थतयाऽमीषां पूर्वेभ्योऽनन्तगुणत्वं भावनीयम्। उक्तं प्रदेशार्थतयाऽल्पबहुत्वम्। इदानीमुभयार्थतामाश्रित्य तदाह-'दव्वट्ठपएसट्ठयाए' इत्यादि, इहोभयार्थताधिकारेऽपि यदेवाल्पं तदेवाऽऽदौ दृश्यते-अवक्तव्यकद्रव्याणि च सर्वाऽल्पानि इति प्रथममवोक्तम्, 'सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए' त्ति-अपरं चोभयार्थताधिकारेऽपि-"अणाणुपुव्विदव्वाइं दव्वट्ठयाए" इत्यादि यदुक्तम्-'अपएसट्ठयाए' त्ति-तदात्मव्यतिरिक्तप्रदेशान्तराभावतोऽनानुपूर्वीद्रव्याणामप्रदेशिकत्वादिति मन्तव्यम्। ततश्चेदमुक्तं भवति-द्रव्यार्थतया अप्रदेशार्थतया च विशिष्टान्यनानुपूर्वीद्रव्याण्यवक्तव्यकद्रव्येभ्यो विशेषाधिकानि, शेषभावना तु प्रत्येकचिन्तावत्सर्वा कार्या। आह-यद्येवं प्रत्येकचिन्तायामेव प्रस्तुतोऽर्थः सिद्धः किमनयोभयार्थताचिन्तयेति चेत्, नैवम्, यत आनुपूर्वीद्रव्येभ्यस्तत्प्रदेशाः कियताप्यधिका इति प्रत्येकचिन्तायां न निश्चितम्, अत्र तु-'ताइं चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणाइं' इत्यनेन तन्निर्णीतमेव ततोऽनवगतार्थप्रतिपादनार्थत्वात्प्रत्येकावस्थातो भिन्नैवोभयावस्था वस्तूनामिति दर्शनार्थत्वाच्च युक्तमेवोभयार्थताचिन्तनमित्यदोषः। तदेवमुक्तो नवविधोऽप्यनुगम इति निगमयति। 'से तं अणुगमे' त्ति। तद्भणने च समर्थिता नैगमव्यवहारयोरनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी इति निगमयति। से तं नेगमे' त्यादि, व्याख्याता नैगमव्यवहारनयमतेन अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी।

(४) साम्प्रतं सग्रहनयमतेन तामेव व्याचिख्यासुराह-

से किं तं संगहस्स अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी ?, संगहस्स अणोवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५। (सूत्र-६०)

सामान्यमात्रसंग्रहणशीलः संग्रहो नयः, अथ तस्य संग्रहनयस्य किं तद्वस्त्वनौपनिधिकीद्रव्यानुपूर्वीति प्रश्नः, आह-ननु "नेगमसंगहववहारे" त्यादिसूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगमानन्तरं संग्रहस्योपन्यासो युक्तः, तत्किमिति व्यवहारमपि निर्दिश्य ततोऽयमुच्यत इति, सत्यम्, किं तु-नैगमव्यवहारयोरत्र तुल्यमतत्वाल्लाघवार्थं युगपत्तन्निर्देशं कृत्वा पश्चात्संग्रहो निर्दिष्ट इत्यदोषः, अत्र निर्वचनमाह-'संगहस्स अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ते' त्ति-संग्रहनयमतेनाप्यनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी प्राक्प्ररूपितशब्दार्थैः पञ्चभिरर्थपदप्ररूपणतादिभिः प्रकारैर्विचार्यमाणत्वात् पञ्चविधा-प्रकारा प्रज्ञप्ता, तदेव दर्शयति-'तं जहे' त्यादि, अत्र व्याख्या पूर्ववदेव।

से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ?, संगहस्स अट्ठपयपरूवणया तिपएसिए आणुपुव्वी चउप्पएसिए आणुपुव्वी ०जाव दसपएसिए आणुपुव्वी संखिज्जपएसिए आणुपुव्वी असंखिज्जपएसिए आणुपुव्वी अणंतपएसिए आणुपुव्वी, परमाणुपुग्गले अणाणुपुव्वी, दुपएसिए अवत्तव्वए। सेत्तं(तं)संगहस्स अट्ठपयपरूवणया। (सूत्र-६१)

'तिपएसिए आणुपुव्वी' इत्यादि-इह पूर्वं नैगमव्यवहारयोः 'तिपएसिए आणुपुव्वी' इत्यादि-इह पूर्वमर्काक्ष यावत् 'तिपएसिए आणुपुव्वी' इत्याद्युक्तम्, प्रदेशिक आनुपूर्वी अनेके त्रिप्रदेशिका आनुपूर्व्य इत्याद्युक्तम्, अत्र तु संग्रहस्य सामान्यवादित्वात्सर्वेऽपि त्रिप्रदेशिका एकैवानुपूर्वी इमां चात्र युक्तिमयमभिधत्ते-त्रिप्रदेशिका स्कन्धास्त्रिप्रदेशिकत्वसामान्याद्व्यतिरेकिणः, अव्यतिरेकिणो वा ?, यद्याद्य पक्षस्तर्हि ते त्रिप्रदेशिकाः स्कन्धा त्रिप्रदेशिका

एव न भवन्ति, तत्सामान्यव्यतिरिक्तत्वात् द्विप्रदेशिकादि- र्सादिति । अथ चरम पक्षस्तर्हि सामान्यमेव ते तद्व्यतिरे- कात्तत्स्वरूपवत्सामान्यं चैकस्वरूपमेवेति सर्वेऽपि त्रिप्रदे- शिका एकैवानुपूर्वी एवं चतु प्रदेशिकत्वसामान्याऽव्यतिरे- कात्सर्वेऽपि चतु प्रदेशिका एकैवानुपूर्वी, एवं यावदनन्तप्रदे- शिकत्वसामान्याऽव्यतिरेकात्सर्वेऽप्यनन्तप्रदेशिका एकैवानु- पूर्वी इत्यविशुद्धसंग्रहनयमतं विशुद्धसंग्रहनयमतेन तु सर्वेषां त्रिप्रदेशिकादीनामनन्ताणुकपर्यन्तानां स्कन्धानामानुपूर्वी- त्वसामान्याव्यतिरेकाद् व्यतिरिक्ते चानुपूर्वीत्वाभावप्रसङ्गा- त्सर्वाऽप्येकैवानुपूर्वीति । एवमनानुपूर्वीत्वसामान्याव्यतिरे- कात्सर्वेऽपि परमाणुपुद्गला एकैवानानुपूर्वी, तथा अवक्त- व्यकत्वसामान्याव्यतिरेकात्सर्वेऽपि द्विप्रदेशिकस्कन्धा एक- मेवावक्तव्यकमिति सामान्यवादित्वेन सर्वत्र बहुवचनाभाव । 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनम् ।

भङ्गसमुत्कीर्त्तनतां निर्दिदिक्षुराह—

एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ?, एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए संगहस्स भंगसमु- क्कित्तणया कज्जइ । से किं तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया ?, संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आणुपुव्वी १, अत्थि अणाणुपुव्वी २, अत्थि अवत्तव्वए ३, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ, अणाणुपुव्वी अ ४, अहवा-अत्थि आणु- पुव्वी अ, अवत्तव्वए अ ५, अहवा-अत्थि अणाणुपुव्वी अ, अवत्तव्वए अ ६, अहवा-अत्थि आणुपुव्वी अ अणा- णुपुव्वी अ अवत्तव्वए अ ७, एवं सत्तभंगा । सेत्तं संग- हस्स भंगसमुक्कित्तणया । एआए णं संगहस्स भङ्गसमुक्कि- त्तणयाए किं पओअणं ?, एआए णं संगहस्स भंगसमु- क्कित्तणयाए संगहस्स भंगोवदंसणया कीरइ । (सूत्र-९२)

'एयाए णमि' त्यादि, अत्रापि व्याख्या कृतैव द्रष्टव्या या- वत् 'अत्थि आणुपुव्वी' त्यादि, इहैकवचनान्तास्त्रय, एव प्रत्येकभङ्गा, सामान्यवादित्वेन व्यक्तिबहुत्वाभावतो बहु- वचनाभावाद् आनुपूर्व्यादिपदत्रयस्य च त्रयो द्विकयोगा भवन्ति, एकैकस्मिंश्च द्विकयोगे एकवचनान्त एक एव भङ्ग, त्रिकयोगेऽपि एक एवैकवचनान्त इति, सर्वेऽपि सप्त भङ्गाः संपद्यन्ते, शेषास्त्वेकानेकविशेषितबहुवचनसम्भवि- त्वान्न भवन्ति । अत्र स्थापना-आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वी १ अवक्तव्यक १ इति त्रयः प्रत्येकभङ्गा, आनुपूर्वी १ अना- नुपूर्वी १ इति प्रथमो द्विकयोग., आनुपूर्वी १ अवक्तव्यक १ इति द्वितीयो द्विकयोग. । अनानुपूर्वी अवक्तव्यक इति तृतीयो द्विकयोग । आनुपूर्वी १ अनानुपूर्वी १ अवक्तव्य- क १ इति त्रिकयोग., एवमेते सप्त भङ्गा । 'सत्तमि' त्यादि निगमनम् ।

भङ्गोपदर्शनतां बिभणिषुराह—

से किं तं संगहस्स भंगोवदंसणया ?, संगहस्स भंगो- वदंसणया तिपएसिया आणुपुव्वी परमाणुपोग्गला अ- णाणुपुव्वी दुपएसिया अवत्तव्वए, अहवा-तिपएसिया अ परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वी य, अणाणुपुव्वी य, अहवा-तिपएसिया य दुपएसिया अ आणुपुव्वी य अ- वत्तव्वए य, अहवा-परमाणुपोग्गला अ दुपएसिया य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य, अहवा-तिपएसिया य परमाणुपोग्गला य दुपएसिया य आणुपुव्वी य अणा- णुपुव्वी य अवत्तव्वए अ । सेत्तं संगहस्स भंगोवदं- सणया । (सूत्र-९३)

अत्राऽपि सप्त भङ्गास्त एवाऽर्थकथनपुरस्सरा भावनीयाः, भावार्थस्तु सर्वं पूर्ववत्, 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम् ।

अथ समवताराऽभिधित्सया प्राऽऽह—

से किं तं संगहस्स समोआरे ?, संगहस्स समोआरे सं- गहस्स आणुपुव्विदव्वाइं कहिं समोयरंति ?, किं आणुपु- व्विदव्वेहिं समोयरंति ?, अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोय- रंति ?, अवत्तव्वगदव्वेहिं समोयरंति ?, संगहस्स आणुपु- व्विदव्वाइं आणुपुव्विदव्वेहिं समोयरन्ति, णो अणाणु- पुव्विदव्वेहिं समोयरंति, णो अवत्तव्वगदव्वेहिं समोयरंति, एवं दोण्णि वि सट्ठाणे सट्ठाणे समोयरंति । सेत्तं (तं) समोयारे । (सूत्र-९४)

'से किं तं संगहस्स समोयारे' इत्यादि । इदं च द्वारं पूर्ववन्निखिलं भावनीयम् ।

अथाऽनुगमं व्याचिख्यासुराह—

से किं तं अणुगमे ?, अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा- संतपयपरूवणया १

दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४ ।
कालो य ५ अंतर ६ भा-
ग ७ भावे ८ अप्पाबहुं णऽत्थि ॥ १ + ॥"

'से किं तं अणुगमे' त्ति—अत्रोत्तरम् 'अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते' इति पूर्वं नवविध उक्तोऽत्र त्वष्टविध एव, अल्प- बहुत्वव्यवहाराभावात्तदेवाष्टविधत्वं दर्शयन्ति-तदर्थस्तूपदर्श- नार्थं 'संतपयगाहा' इय पूर्वं व्याख्यातैव नवरम् 'अ- प्पाबहु नऽत्थि' संग्रहस्य सामान्यवादित्वात्सामान्यस्य च सर्वत्रैकत्वादल्पबहुत्वविचारोऽत्र न संभवतीत्यर्थः ।

तत्र सत्पदप्ररूपणताभिधानार्थमाह—

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि ?, नऽत्थि ? । नियमा अत्थि, एवं दोण्णि वि × ।

'संगहस्से' त्यादि, ननु संग्रहविचारे प्रक्रान्ते आनुपूर्वी- द्रव्याणि सन्तीत्यनुपपन्नम् आनुपूर्वीसामान्यस्यैवैकस्य ते नास्तित्वाभ्युपगमात् सत्यं मुख्यरूपतया सामान्यमेवास्ति, गुणभूतं च व्यवहारमात्रनिबन्धनं द्रव्यबाहुल्यमप्यसौ मन्य- तीत्यदोष शेषभावना पूर्ववदिति ।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइं, असंखेज्जाइं,

अणंताइं ? । नो संखिज्जाइं, नो असंखिज्जाइं, नो अणंताइं । णिअमा एगो रासी, एवं दोरिण वि + ।

द्रव्यप्रमाणद्वारं यदुक्तं नियमा ' एगो रासि ' त्ति-अत्राह-ननु यदि संख्येयासंख्येयरूपाण्यनेकानि न भवन्ति तर्ह्येको राशिरित्यपि नोपपन्नम्, द्रव्यबाहुल्ये सति तस्यानुपपद्यमानत्वात्, व्रीह्यादिराशिषु तथैव दर्शनात्, सत्य किन्त्वेको राशिरिति वदत कोऽभिप्रायः, बहूनामपि तेषामानुपूर्वीत्वसामान्येनैकत्र क्रोडीकृतत्वादेकत्वमेव, किं च यथा विशिष्टैकपरिणामपरिणते स्कन्धे तदारम्भकाऽवयवानां बाहुल्येऽप्येकत्वेव मुख्या, तद्वदत्राऽऽनुपूर्वीद्रव्यबाहुल्येऽपि तत्सामान्यस्यैकरूपत्वादेकत्वमेव मुख्यमसौ नयः प्रतिपद्यते, तद्दर्शनेन तेषामानुपूर्वीत्वसिद्धेः, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, तस्मान्मुख्यस्यैकत्वस्याऽनेन कक्षीकृतत्वात्संख्येयरूपतादिनिषेधो गुणभूतानि तु द्रव्याण्याश्रित्य राशिभावोऽपि न विरुध्यते, एवमन्यत्रापि भावनीयमित्यलं प्रपञ्चेन ।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स कइ भागे होज्जा ? । किं संखेज्जइभागे होज्जा असंखेज्जइभागे होज्जा । संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा सव्वलोए होज्जा ?, नो संखिज्जइभागे होज्जा नो असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा णो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा; णिअमा सव्वलोए होज्जा, एवं दोण्णि वि । संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसंति असंखेज्जइभागं फुसंति । संखेज्जे भागे फुसंति असंखेज्जे भागे फुसंति सव्वलोअं फुसंति, नो संखेज्जइभागं फुसंति नो असंखेज्जइभागं फुसंति । नो संखेज्जे भागे फुसंति नो असंखेज्जे भागे फुसंति । णिअमा सव्वलोगं फुसंति । एवं दोण्णि वि + ।

क्षेत्रद्वारे-'नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति—आनुपूर्वीसामान्यस्यैकरूपत्वाद् सर्वलोकव्यापित्वाच्चेति भावनीयम्, (एकत्वमेव मुख्यमसौ नय प्रतिपद्यते, तद्दर्शनेन तेषामानुपूर्वीद्वाराण्येव) एवमितरद्वयेऽप्यभ्यूह्यमिति स्पर्शनाद्वारमप्येवमेव चिन्तनीयमिति ।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवच्चिरं होन्ति?, णिअमा सव्वद्धा, एवं दोण्णि वि । संगहस्स आणुपुव्विदव्वाणं कालओ केवच्चिरं अन्तरं होइ ?, नऽत्थि अंतरं, एवं-अणाणुपुव्वीदव्वाणं, अवत्तव्वगदव्वाण वि + ।

कालद्वारेऽपि तत्सामान्यस्य सर्वदा अव्यवच्छिन्नत्वात् त्रयाणामपि सर्वाऽद्धावस्थानं भावनीयमिति, अत एवाऽन्तरद्वारे नास्त्यन्तरमित्युक्तं, तद्भावव्यवच्छेदस्य कदाचिदप्यभावादिति ।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कति भागे होज्जा ?, किं संखेज्जइ भागे होज्जा असंखेज्जइभागे होज्जा, संखेज्जेसु भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा ? । नो संखेज्जइभागे होज्जा नो असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा णियमा तिभागे होज्जा, एवं दोण्णि वि × ।

भागद्वारे-'नियमा तिभागे होज्ज' त्ति—त्रयाणां राशीनामेको राशिस्त्रिभाग एव वर्त्तत इति भाव, यत्तु राशिगतद्रव्याणां पूर्वोक्तमल्पबहुत्वं तदत्र न गण्यते, द्रव्याणां प्रस्तुतनयमते व्यवहारस्वर्वृत्तिमात्रेणैव सत्त्वादिति ।

संगहस्स आणुपुव्विदव्वाइं कतरम्मि भावे होज्जा ?, णिअमा साइपारिणामिए भावे होज्जा, एवं दोण्णि वि + ।

भावद्वारे—' सादिपारिणामिए भावे होज्ज ' त्ति—यथा आनुपूर्व्यादिद्रव्याणामेतद्भाववर्त्तित्वं पूर्वं भावितं, तथाऽत्रापि भावनीयम्, तेषां यथास्व सामान्याद्व्यतिरिक्तत्वादिति ।

संगहस्स अप्पाबहुं नऽत्थि । सेत्तं अणुगमे । सेत्तं संगहस्स अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी । सेत्तं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी । (सूत्र-६५)

अल्पबहुत्वद्वाराऽसंभवस्तु उक्त एव, इति समर्थितोऽनुगमः, तत्समर्थने च समर्थिता संग्रहनयमतेनानौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी, तत्समर्थने च व्याख्याता सर्वथापीयम्, अत. 'सेत्तं मे' त्यादि, निगमनत्रयम् । गता अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी ।

(६) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टामौपनिधिकीं द्रव्यानुपूर्वीं व्याचिख्यासुराह—

. से किं तं उ(ओ)वणिहिया दव्वाणुपुव्वी ?, उवणिहिया दव्वाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी य । (सूत्र--६६)

' से किं तमि ' त्यादि, अथ केयं प्राग्निर्णीतशब्दार्थमात्रा औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वीति प्रश्न, अत्र निर्वचनम्-औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी त्रिविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-पूर्वानुपूर्वीत्यादि, उपनिधिर्निक्षेपो विरचनं प्रयोजनमस्या इत्यौपनिधिकी द्रव्यविषया आनुपूर्वी-परिपाटिर्द्रव्यानुपूर्वी सा त्रिप्रकारा, तत्र विवक्षितधर्मास्तिकायादिद्रव्यविशेषस्तत्समुदाये य पूर्व -प्रथम, तस्मादारभ्यानुपूर्वी-अनुक्रमः परिपाटिर्निक्षिप्यते-विरच्यते यस्या सा पूर्वानुपूर्वी तत्रैव य पाश्चात्य.-चरमस्तस्मादारभ्य व्यत्ययेनैवानुपूर्वी-परिपाटिर्विरच्यते यस्या- सा निरुक्तविधिना पश्चानुपूर्वी न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी । यथोक्तप्रकारद्वयातिरिक्तस्वरूपेत्यर्थ ।

तत्राऽऽद्यभेदं तावन्निरूपयितुं प्रश्नमाह—

से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी + ।

(धर्मास्तिकायपदव्याख्या ' धम्मत्थिकाय ' शब्दे चतुर्थे भागे वक्ष्यते) (अधर्मास्तिकायव्याख्या 'अध(ह)म्मत्थिकाय'

शब्दे प्रथमभागे ८६७ पृष्ठे गता) (विशेषत स्वरूपम् ' अ-त्थिकाय ' शब्दे प्रथमभागे ५१३ पृष्ठे गतम्) (आकाशा-स्तिकायव्याख्या ' आगासत्थिकाय ' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे प्राग् गता) अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथाऽनुपपत्ते-र्धर्माऽस्तिकायस्य तेषामेव स्थित्यन्यथानुपपत्तेरधर्मा-स्तिकायस्य सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । अनु० । (जीवा-स्तिकायव्याख्या ' जीवत्थिकाय ' शब्दे चतुर्थभागे व-क्ष्यते) पुद्गलास्तिकायस्य तु घटादिकार्यान्यथानुपपत्ते. कालोऽप्यस्ति बकुलाशोकचम्पकादिषु पुष्पफलप्रदानस्या-नियमेनादर्शनात्, यस्तु तत्र नियामक स काल इति, स्व-भावादेव तु तद्भवनं " नित्य सत्त्वमसत्त्व वा० " इत्यादि दूषणप्रसङ्ग, अत्र बहु वक्तव्य तत्तु नोच्यत ग्रन्थदुरवगमना-भयादिति । आह—धर्मास्तिकायस्य प्राथम्यम् अधर्मा-स्तिकायादीनां तु तदनन्तरं क्रमेणैव निर्देश कुत सिद्ध ?, येनात्र पूर्वानुपूर्वीरूपता स्यादिति, अत्रोच्यते-आगमे-इत्थमेव पठितत्वात्तत्रापि कथमित्थमेव पाठ इति चेत्, उच्यते-धर्मास्तिकाय इत्यत्र यदादौ 'धर्म' ति पद तस्य माङ्गलिकत्वाद्धर्मास्तिकायस्य प्रथममुपन्यास, ततस्तत्प्र-तिपक्षत्वादधर्मास्तिकायस्य ततस्तदाधारत्वादाकाशास्ति-कायस्य तत: स्वाभाविकाऽमूर्तत्वसाम्यादजीवास्तिकायस्य ततस्तदुपयोगित्वात्पुद्गलास्तिकायस्य ततो जीवाजीव-पर्यायत्वात्तदनन्तरमद्धासमयस्योपन्यास इति पूर्वानुपूर्वी-सिद्धिरिति ।

अथ पश्चानुपूर्वीं निरूपयितुमाह—

से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी, छव्वि० तं०—अद्धासमए पोग्गलत्थिकाए जीवत्थिकाए,आगासत्थिकाए अहम्मत्थि काए धम्मत्थिकाए । सेत्तं पच्छा(णु)नुपुव्वी ।

से किं तं पच्छाणुपुव्वी' इत्यादि, पाश्चात्यादारभ्य प्रति-लोम व्यत्ययेनैव आनुपूर्वी-परिपाटी क्रियते यस्यां सा पश्चानुपूर्वी, अत्रोदाहरणमुत्क्रमेण, इदमेवाह- अद्धासमये ' त्यादि, गतार्थमेव ।

अथाऽनानुपूर्वीं पूर्वं निरूपयति—

से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए छगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्न-ब्भासो दु(दु)रूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । (सूत्र-९७)

' से किंतमि ' त्यादि, अत्र निर्वचनम्—' अणाणुपुव्वी एताए चेव ' इत्यादि, न विद्यते आनुपूर्वी-यथोक्तपरिपाटि-द्वयरूपा यस्यां सा अनानुपूर्वी, विवक्षितपदानामनन्तरं-क्रमद्वयमुल्लङ्घ्य परस्पराऽसदृशै भङ्गकैर्यस्यां वि-रचना क्रियते साऽनानुपूर्वीत्यर्थ । का पुनरियमित्याह—' अन्नमन्नब्भासो ' त्ति-अन्योन्यम्-परस्परमभ्यासो गुणनम् अन्योन्याऽभ्यास 'दु(दु)रूवूणा' त्ति-द्विरूपन्यून आद्यन्त-रूपरहित अनानुपूर्वीति सटङ्क । कस्यां विषये योऽसा-वभ्यास इत्याह-श्रेण्याम्-पङ्क्तौ, कस्यां पुन श्रेण्यामित्याह-' एताए चेव ' त्ति-अस्यामेवाऽनन्तराधिकृतधर्मास्तिकाया-दिसम्बन्धिन्याम् कथंभूतायामित्याह-एक आदिर्यस्यां सा एकादिकी एकैक उत्तर प्रवर्द्धमानो यस्यां सा एकोत्तरा तस्याम्, पुन कथंभूतायामित्याह-' छगच्छगयाए ' त्ति-षण्णां गच्छ -समुदाय पङ्गच्छस्तं गता-प्राप्ता षड्गच्छ-गता तस्यां धर्मास्तिकायादिवस्तुषट्कविषयायामित्यर्थ । आदौ व्यवस्थापितैकाकायां पर्यन्ते न्यस्तषट्कायां धर्मा-स्तिकायादिवस्तुषट्कविषयायाः पङ्क्तेर्या परस्परगुणने भ-ङ्गकसङ्ख्या भवति सा आद्यन्तभङ्गकद्वयरहिता अनानुपूर्वी-ति भावार्थ तत्रोर्ध्वाध किलैककादय पट्पर्यन्ता अङ्काः स्थापिता, तत्र चैककेन द्विके गुणिते जातौ द्वावेव, ता-भ्यां त्रिको गुणितो जाता षट्, तैरपि चतुष्को गुणितो जाता चतुर्विंशति, पञ्चकस्य तु तद्गुणने जातं विंशं शतं, षट्कस्य तद्गुणने जातानि विंशत्यधिकानि सप्तशतानि, स्थापना ६-५-४-३-२-१, आगतम्-७२०, अत्राद्यो भङ्गः पूर्वानुपूर्वी, अन्त्यश्च (स्तु) पश्चानुपूर्वीति तद्पगमे शेषाण्य-ष्टादशोत्तराणि सप्तभङ्गकशतान्यनानुपूर्वीति मन्तव्यानि । अत्र च भङ्गकसरूपानयनार्थं करणगाथा—

" पुव्वाणुपुव्विहिट्ठा, समयाभेएण कुरु जहा जेट्ठं ।
उवरिमतुल्लं पुरओ, निसेज्ज पुव्वक्कमा सेसे ॥ १ ॥" इति ।

व्याख्या इह विवक्षितपदानां क्रमेण स्थापना पूर्वा-नुपूर्वीत्युच्यते, तस्या ' हिट्ठ ' त्ति-अधस्तात्-द्वितीया-दिभङ्गकान् जिज्ञासु ' कुरु ' त्ति—स्थापय एकादीनि-पदानीति शेष, कथमित्याह-ज्येष्ठस्यानतिक्रमेण यथाज्येष्ठं यो यस्मादौ स तस्य ज्येष्ठ, यथा द्विकस्यैको ज्येष्ठ त्रिकस्य त्वेककोऽनुज्येष्ठश्चतुष्कादीनां तु स एव ज्ये-ष्ठानुज्येष्ठ इति, एव त्रिकस्य द्विको ज्येष्ठ स एव चतु-ष्कस्यानुज्येष्ठ पञ्चकादीनां तु स एव ज्येष्ठानुज्येष्ठ इत्यादि, एवं च सति उपरितनाङ्कस्य अधस्ताज्ज्येष्ठो निक्षिप्यते, तत्रालभ्यमाने अनुज्येष्ठ, तत्राप्यलभ्यमाने ज्येष्ठानुज्येष्ठ इति यथाज्येष्ठ निक्षेप कुर्यात्, कथमित्याह-समयाऽभेद-नेति समय -सङ्केत प्रस्तुतभङ्गकरचनव्यवस्था तस्य अ-भेद -अनतिक्रम, तस्य च भेदस्तदा भवति यदा तस्मिन्नेव भङ्गके निक्षिप्ताङ्कसदृशोऽपरोऽङ्क पतति, ततो यथोक्त स-मयभेदं वर्जयन्नेव ज्येष्ठाद्यङ्कनिक्षेप कुर्यात्, उक्त च-" ज-हियम्मि उ निक्खित्त, पुणरवि सो चेव होइ कायव्वो । सो होइ समयभेओ, वज्जेयव्वो पयत्तेणं ॥ १ ॥" निक्षिप्तस्य चाङ्कस्य यथासंभवं ' पुरओ ' त्ति-अग्रत उपरितनाङ्कतुल्य-सदृशं यथा भवत्येवं न्यसेत्, उपरितनाङ्कसदृशानेवाङ्का-न्निक्षिपेदित्यर्थ ' पुव्वक्कमो सेसे ' त्ति—स्थापितशेषानङ्का-न्निक्षिप्ताङ्कस्य यथासंभव पृष्ठत -पूर्वक्रमेण स्थापयेदित्यर्थ, य सङ्ख्यया लघुरेककादि स प्रथमं स्थाप्यते वस्तुतया महान् द्विकादि स पश्चादिति पूर्वक्रम, पूर्वानुपूर्वीलक्षणे प्रथमभङ्गके इत्थमेव दृष्टत्वादिति भाव इत्यक्षरघटना । भा-वार्थस्तु दिङ्मात्रदर्शनार्थं सुखाधिगमाय च त्रीणि पदा-न्याश्रित्य तावत् दर्श्यते, तेषां च परस्पराभ्यासे षड् भङ्ग-का भवन्ति, ते चैवमानीयन्ते-पूर्वानुपूर्वीलक्षणस्तावत्प्रथमो भङ्ग, तद्यथा-१-२-३ अस्याश्च पूर्वानुपूर्व्या अधस्ताद्भङ्ग-करचने क्रियमाणे एककस्य तावज्ज्येष्ठ एव नास्ति, द्वि-कस्य तु विद्यते एक, स तदधो निक्षिप्यते, तस्य चाग्रत-स्त्रिको दीयते, "उवरिमतुल्लमि ' त्यादिवचनात्, पृष्ठ-

तस्तु स्थापितशेषो द्विको दीयते, ततोऽयं द्वितीयो भङ्गः २-१-३ अत्र च द्विकस्य विद्यते एकको ज्येष्ठः, परं नासौ तदधस्तान्निक्षिप्यते, अग्रतः सदृशाङ्कपातेन समयभेदप्रसङ्गात्, एकस्य तु ज्येष्ठ एव नास्ति, त्रिकस्य तु विद्यते द्विको ज्येष्ठः, स तदधस्तान्निक्षिप्यते, अत्र चाग्रभागस्य तावत्सम्भव एव पृष्ठतस्त्वस्थापितशेषावेककत्रिकौ क्रमेण स्थाप्येते " पुव्वक्कमो सेसे त्ति " वचनात्, ततस्तृतीयोऽयं भङ्गः १-३-२, अत्राप्येककस्य ज्येष्ठ एव नास्ति त्रिकस्य तु ज्येष्ठोऽस्ति द्विको न च क्षिप्यते अग्रे सदृशाङ्कपातेन समयभेदापत्तेस्ततोऽस्यैवानुज्येष्ठ एककः स्थाप्यते, अग्रतस्तु द्विकः " उवरिमतुल्लम्मि " त्यादिवचनात्, पृष्ठतस्तु स्थापितशेषस्त्रिको दीयते इति चतुर्थोऽयं भङ्गः ३-१-२ एवमनया दिशा पञ्चमषष्ठावप्यभ्यूह्यौ, सर्वेषां चामीषामियं स्थापना-१-२-३ अत्राप्याद्यभङ्गस्य पूर्वानुपूर्वीत्वादन्त्यस्य च पश्चानुपूर्वीत्वान्मध्यमा एव चत्वारोऽनानुपूर्वीत्वेन मन्तव्याः एवमनया दिशा, १-२-३ चतुरादिपदसंभाविनोऽपि भङ्गाः भावनीया', भूयासश्चोत्तराध्ययनटीकादिनिर्दिष्टाः प्रस्तुतभङ्गानयनोपाया. १-३-२। सन्ति नचोच्यन्ते अतिविस्तरभयात्, तदर्थिना तु तत एवावधारणीयाः। तदिदमत्र तात्पर्यं ३-१-२ पूर्वानुपूर्व्यां तावद्धर्मास्तिकायस्य प्रथमत्वमेव तदनुक्रमेणाधर्मास्तिकायादीनां द्वितीयादित्वं पश्चानुपूर्व्यां २-३-१, त्वद्धासमयस्य प्रथमत्वं, पुद्गलास्तिकायादीनां तु प्रतिलोमतया द्वितीयादित्वं अनानुपूर्व्यां त्वनियमेन कस्मिंश्चिद्भङ्गके ३-२-१, कस्यचित्प्रथमादित्यलं विस्तरेण 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनं, तदेवमत्र एते धर्मास्तिकायादीनि षडपि द्रव्याणि पूर्वानुपूर्व्यादित्वेनोदाहृतानि।

साम्प्रतं त्वेकमेव पुद्गलास्तिकायमुदाहर्तुमाह—

अहवा-उवनिहिआ दव्वाऽऽणुपुव्वी, तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी परमाणुपोग्गले दुपएसिए तिपएसिए०जाव दसपएसिए संखिज्जपएसिए असंखिज्जपएसिए अणंतपएसिए। सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी। से किं तं पच्छाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी अणंतपएसिए असंखिज्जपएसिए संखिज्जपएसिए ०जाव दसपएसिए०जाव तिपएसिए दुपएसिए परमाणुपोग्गले। सेत्तं पच्छाणुपुव्वी।

'अहवा 'इत्यादि, अत्र चौपनिधिकया द्रव्यानुपूर्व्या ख्यातमपि त्रैविध्यं यत्पुनरप्युपन्यस्तं तत्प्रकारान्तरभणनप्रस्तावादेवेति मन्तव्यम्।

से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए अणंतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणाणुपुव्वी। सेत्तं उवणिहिआ दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं जाणगवतिरित्ता दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं नोआगमतो दव्वाणुपुव्वी। सेत्तं दव्वाणुपुव्वी। (सूत्र-९८)

'अणंतगच्छगताए' त्ति-अनेकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धानामनन्तत्वाद्नन्तानां गच्छः-समुदायोऽनन्तगच्छस्तं गता अनन्तगच्छगता तस्याम्, अत एव भङ्गाः अत्राऽनन्ता एवाऽवसेया इति। शेषभावना च सर्वा पूर्वोक्तानुसारतः स्वयमप्यवसेयेति। आह—ननु यथैकः पुद्गलास्तिकायो निर्द्धार्य पुनरपि पूर्वानुपूर्व्यादित्वेनोदाहृतः, एवं शेषा अपि प्रत्येकं किमिति नोदाह्रियन्ते ?, अत्रोच्यते-द्रव्याणां क्रमपरिपाट्यादिलक्षणः पूर्वानुपूर्व्यादिविचारः इह प्रक्रान्त, स च द्रव्यबाहुल्ये सति सम्भवति, धर्माऽधर्माऽऽकाशास्तिकायेषु च पुद्गलास्तिकायवन्नाऽस्ति प्रत्येकं द्रव्यबाहुल्यम्; एकैकद्रव्यत्वात्तेषाम्, जीवास्तिकाये त्वनन्तजीवद्रव्यात्मकत्वादस्ति द्रव्यबाहुल्यं केवलं परमाणुद्विप्रदेशिकादिद्रव्याणामिव जीवद्रव्याणां पूर्वानुपूर्व्यादित्वनिबन्धनं प्रथमणाद्यादिभावो नाऽस्ति, प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वेन सर्वेषां तुल्यप्रदेशत्वात्परमाणुद्विप्रदेशिकादिद्रव्याणां तु विषमप्रदेशिकत्वादिति अद्धासमयस्यैकत्वादेव तदसम्भव इत्यलमतिचर्चितेन, तदेवं समर्थिता औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी। तत्समर्थने च समर्थिता प्रागुद्दिष्टा द्विप्रकारापि द्रव्यानुपूर्वी। ततः 'सेत्तमि' त्यादि निगमनानि, इति द्रव्यानुपूर्वी समाप्ता; उक्ताद्रव्यानुपूर्वी।

(७) अथ प्रागुद्दिष्टामेव क्षेत्रानुपूर्वीं व्याचिख्यासुराह—

से किं तं खेत्ताऽऽणुपुव्वी ?, खेत्ताणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-उवणिहिआ य, अणोवणिहिआ य। (सूत्र-९९) तत्थ णं जा सा उवणिहिआ सा ठप्पा।

'से किं तं खेत्ताणुपुव्वि' त्ति-इह क्षेत्रविषयानुपूर्वी क्षेत्रानुपूर्वी, का पुनरियमित्यत्र निर्वचन-क्षेत्रानुपूर्वी द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-औपनिधिकी, पूर्वोक्तशब्दार्था अनौपनिधिकी च। तत्र या सा औपनिधिकी सा स्थाप्या; अल्पवक्तव्यत्वादुपरि वक्ष्यते इत्यर्थः।

तत्थ णं जा अणोवणिहिया सा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-णेगमववहाराणं, संगहस्स य। (सूत्र-१००)

तत्र या असौ अनौपनिधिकी सा नयवक्तव्यताश्रयणात् द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—नैगमव्यवहारयोः, संग्रहस्य च, सम्मतेति शेषः।

तत्र नैगमव्यवहारसम्मतां तावद्दर्शयितुमाह—

से किं तं णेगमववहाराणं अणोवणिहिआ खेत्ताऽऽणुपुव्वी ?, णेगमववहाराणं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया२, भंगोवदंसणया३, समोआरे४, अणुगमे५। से किं तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ?, णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया तिपएसोगाढे आणुपुव्वी ०जाव दसपएसोगाढे आणुपुव्वी ०जाव संखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी असंखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वी, दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, तिपएसोगाढा आणुपुव्वीओ ०जाव दसपएसोगाढा आणुपुव्वीओ, ०जाव

असंखिज्जपएसोगाढा आनुपुव्वीओ, एगपएसोगाढा अणाणुपुव्वीओ, दुपएसोगाढा अवत्तव्वगाइं। सेत्तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया। एआए णं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ?, एआए णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ। से किं तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ?, णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आनुपुव्वी, अत्थि अणानुपुव्वी, अत्थि अवत्तव्वए, एवं दव्वानुपुव्विगमेणं खेत्तानुपुव्वीएऽवि ते चेव छव्वीसं भंगा भाणिअव्वा, ०जाव सेत्तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया। एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ?, एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया कज्जइ। से किं तं णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ?, णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया तिपएसोगाढे आनुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणानुपुव्वी, दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, तिपएसोगाढा आणुपुव्वीओ, एगपएसोगाढा अणानुपुव्वीओ, दुपएसोगाढा अवत्तव्वगाइं, अहवा-तिपएसोगाढे अ, एगपएसोगाढे अ, आणुपुव्वी अ, अणाणुपुव्वी अ। एवं तहा चेव दव्वाणुपुव्विगमेणं छव्वीसं भंगा भाणिअव्वा ०जाव सेत्तं णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया। से किं तं समोआरे ?, समोआरे णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कहिं समोतरंति ?, किं आणुपुव्विदव्वेहिं समोतरति ?, अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति ?, अवत्तव्वगदव्वेहिं समोतरंति ?, आणुपुव्विदव्वाइं आणुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति, णो अणाणुपुव्विदव्वेहिं समोतरन्ति णो अवत्तव्वगदव्वेहिं समोतरन्ति, एवं तिण्णि वि सट्ठाणे समोअरंति त्ति भाणिअव्वं, सेत्तं समोतारे। से किं तं अणुगमे ?, अणुगमे नवविहे पण्णत्ते, तं जहा-"संतपयपरूवणया ०जाव अप्पा बहुं चेव" १, णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि नऽत्थि ?, णिअमा अत्थि, एवं दोण्णि वि +।

'से किं तमि' त्यादि, इह व्याख्या-यथा द्रव्यानुपूर्व्या तथैव कर्त्तव्या, विशेषं तु वक्ष्यामः, तत्र 'तिपएसोगाढे आणुपुव्वि' त्ति-त्रिषु नभःप्रदेशेष्ववगाढः-स्थितः त्रिप्रदेशावगाढः त्र्यणुकादिकोऽनन्ताणुकपर्यन्तो द्रव्यस्कन्ध एवानुपूर्वी, ननु यदि द्रव्यस्कन्ध एवानुपूर्वी कथं तर्हि तस्य क्षेत्रानुपूर्वीत्वं ?, सत्यं, किन्तु-क्षेत्रप्रदेशत्रयावगाहपर्यायविशिष्टोऽसौ द्रव्यस्कन्धो गृहीतो नाविशिष्टः, ततोऽत्र क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारात् क्षेत्रावगाहपर्यायस्य प्राधान्यात्सोऽपि क्षेत्रानुपूर्वीति न दोषः, प्रदेशत्रयलक्षणस्य क्षेत्रस्यैवात्र मुख्यः क्षेत्रानुपूर्वीत्य तदधिकारादेव, किन्तु तदवगाढं द्रव्यमपि तत्पर्यायस्य प्राधान्येन विवक्षितत्वात् क्षेत्रानुपूर्वीत्वेन न विरुध्यत इति भावः, यद्येवं तर्हि मुख्यं क्षेत्रं परित्यज्य किमिति तदवगाढद्रव्यस्यानुपूर्व्यादिभावश्चिन्त्यते ?, उच्यते-'संतपयपरूवणये' त्यादिवक्ष्यमाणबहुतरविचारविषयत्वेन द्रव्यस्य शिष्यमतिव्युत्पादनार्थत्वात् क्षेत्रस्य तु नित्यत्वेन सदावस्थितमानत्वादचलत्वाच्च प्रायो वक्ष्यमाणविचारस्य सुप्रतीतत्वेन तथाविधशिष्यमतिव्युत्पत्त्यविषयत्वाद् एवमन्यदपि कारणमभ्यूह्यमित्यलं विस्तरेण। एवं चतुःप्रदेशावगाढादिष्वपि भावना कार्या, यावदसङ्ख्यातप्रदेशावगाढा आनुपूर्वीति, असंख्यातप्रदेशेषु चावगाढोऽसंख्याताणुकोऽनन्ताणुको वा द्रव्यस्कन्धो मन्तव्यः, यतः पुद्गलद्रव्याणामवगाहमित्थं जगद्गुरवः प्रतिपादयन्ति-परमाणुराकाशस्यैकस्मिन्नेव प्रदेशेऽवगाहते, द्विप्रदेशिकादयोऽसंख्यातप्रदेशिकान्तास्तु स्कन्धाः प्रत्येकं जघन्यत एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहन्ते, उत्कृष्टतस्तु यत्र स्कन्धे यावन्तः परमाणवो भवन्ति स तावत्स्वेव नभःप्रदेशेष्ववगाहते, अनन्ताणुकस्कन्धस्तु जघन्यतस्तथैव उत्कृष्टतस्त्वसंख्येयेष्वेव नभःप्रदेशेष्ववगाहते, नाऽनन्तेषु, लोकाकाशस्यैवासंख्येयप्रदेशत्वात्, अलोकाकाशे च द्रव्यस्याऽवगाहाऽभावादित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतमुच्यते-तत्रानुपूर्वीप्रतिपक्षत्वादनानुपूर्व्या दिस्वरूपमाह-'एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वि' त्ति-एकस्मिन्नभःप्रदेशेऽवगाढः स्थितः एकप्रदेशाऽवगाढः परमाणुसङ्घातस्स्कन्धसङ्घातश्च क्षेत्रतोऽनानुपूर्वीति मन्तव्य, 'दुपएसोगाढे अवत्तव्वए' त्ति-प्रदेशद्वयेऽवगाढो द्विप्रदेशिकादिस्कन्धः क्षेत्रतोऽवक्तव्यकः, शेषो बहुवचननिर्देशादिको ग्रन्थो यथाऽधस्ताद् द्रव्यानुपूर्व्या व्याख्यातस्तथेहापि तदुक्तानुसारतो व्याख्येयः यावत् द्रव्यप्रमाणद्वारं।

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखिज्जाइं असंखिज्जाइं अणंताइं ?, नो संखिज्जाइं, असंखिज्जाइं, णो अणंताइं, एवं दोण्णि वि। * नेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं अणंताइं, नो संखिज्जाइं, असंखिज्जाइं, नो अणंताइं एव तिण्णि वि ×।

'णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइं' इत्यादिप्रश्नः, अत्रोत्तरम्-'नो संखेज्जाइमि' त्यादि त्र्यादिप्रदेशविभागावगाढानि द्रव्याणि क्षेत्रत आनुपूर्वीत्वेन निर्दिष्टानि, त्र्यादिप्रदेशविभागाश्चासङ्ख्यातप्रदेशात्मके लोकेऽसङ्ख्याता भवन्ति, अतो द्रव्यतया बहूनामपि क्षेत्रावगाढभेदस्य तुल्यप्रदेशावगाढानामकत्वात् क्षेत्रानुपूर्व्यामसङ्ख्यातान्येवानुपूर्वीद्रव्याणि भवन्तीति भावः, एवमेकप्रदेशावगाढं बह्वपि द्रव्यं क्षेत्रत एकैवाऽनानुपूर्वीत्युक्तम्। लोके च प्रदेशा असङ्ख्याता भवन्ति अनस्तत्तुल्यसङ्ख्यत्वादनानुपूर्वीद्रव्याण्यप्यसङ्ख्येयानीति, एवं प्रदेशद्वयऽवगाढं बह्वपि द्रव्यं क्षेत्रत एकमेवावक्तव्यकमुक्तं द्विप्रदेशात्मकाश्च विभागा लोकेऽसङ्ख्याता भवन्त्यतस्तान्यप्यसंख्ययानीति।

क्षेत्रद्वारे निर्वचनसूत्रे-

नेगमववहाराणं आनुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा असंखिज्जइभागे होज्जा ०जाव सव्वलोए

होज्जा ?, एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखिज्जइभागे वा होज्जा असंखिज्जइभागे वा होज्जा संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा देसूणे वा लोए होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा. नेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाणं पुच्छा-एगं दव्वं पडुच्च नो संखिज्जइभागे होज्जा, असंखिज्जइभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु नो असंखेज्जेसु नो सव्वलोगे होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वलोए होज्जा, एवं अवत्तगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि X।

'एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स सखेज्जइभागे वा होज्जे' त्यादि' इह स्कन्धद्रव्याणां विचित्ररूपत्वात् कश्चित् स्कन्धो लोकस्य सङ्ख्येयं भागमवगाह्य तिष्ठति, अन्यस्त्वसंख्येयम, अन्यस्तु संख्येयांस्तद्भागानवगाह्य वर्त्तते, अन्यस्त्वसंख्येयान् इत्यतस्तत्स्कन्धद्रव्यापेक्षया सङ्ख्येयाऽऽदिभागवर्त्तित्वं भावनीयम्, विशिष्टक्षेत्रावगाहोपलक्षितानां स्कन्धद्रव्याणामेव क्षेत्रानुपूर्वीत्वेनोक्तत्वादिति भावः । 'देसूणे वा लोए होज्ज' त्ति-देशोने वा लोके आनुपूर्वीद्रव्यं भवेदिति, अत्राह—नन्वचित्तमहास्कन्धस्य सर्वलोकव्यापकत्वं पूर्वमुक्तं तस्य च समस्तलोकवर्त्यसंख्येयप्रदेशलक्षणायां क्षेत्रानुपूर्व्यामवगाढत्वात्परिपूर्णस्यापि क्षेत्रानुपूर्वीत्वं न किंचिद्विरुध्यते, अतः तदपेक्षं क्षेत्रतोऽप्यानुपूर्वीद्रव्यं सर्वलोकव्यापि प्राप्यते, किमिति देशोनलोकव्यापिता प्रोच्यते ?, सत्यं, किन्तु-लोकोऽयमानुपूर्व्यनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्यैः सर्वदैवाऽशून्य एवैष्टव्य इति समयस्थितिः, यदि चात्रानुपूर्व्या सर्वलोकव्यापिना निर्दिश्येत तदाऽनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणां निरवकाशतया अभावः प्रतीयेत, ततः—अचित्तमहास्कन्धपूरितेऽपि लोके जघन्यतोऽप्येकः प्रदेशोऽनानुपूर्वीविषयत्वेन प्रदेशद्वयं चाऽवक्तव्यकविषयत्वेन विवक्ष्यते, आनुपूर्वीद्रव्यस्य तत्र सत्त्वेऽप्यप्राधान्यविवक्षणादनानुपूर्व्यवक्तव्यकयोस्तु प्राधान्यविवक्षणादिति भावः, ततोऽनेन प्रदेशत्रयलक्षणेन देशेन हीनोऽत्र लोकः प्रतिपादित इत्यदोषः, उक्तं च पूर्वमुनिभिः—" महखंधा पुण्णे वि, अवत्तव्वगणाणुपुव्विदव्वाइं । जहेसंगाढाइ, तद्देसेण स लोगूणो ॥ १ ॥" ननु यद्येवं तर्हि द्रव्यानुपूर्व्यामपि सर्वलोकव्यापित्वमानुपूर्वीद्रव्यस्य यदुक्तं तदसङ्गतं प्राप्नोति, अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणामनवकाशत्वेन तत्राप्यभावप्रतीतिप्रसङ्गात्, सर्वकालं च तेषामप्यवस्थितिप्रतिपादनात्, नैतदेवं, यतो द्रव्यानुपूर्व्यां द्रव्याणामेवानुपूर्व्यादिभाव उक्तो, न क्षेत्रस्य, तस्य तत्रानाधिकृतत्वाद्, द्रव्याणां चानुपूर्व्यादीनां परस्परभिन्नानामप्येकत्रापि क्षेत्रेऽवस्थानं न किंचिद्विरुध्यते, एकाऽपवरकान्तर्गताऽनेकप्रदीपप्रभावस्थानदृष्टान्तादिसिद्धत्वात्, अतो न तत्र कस्याप्यनवकाशः, अत्र तु द्रव्याणामौपचारिक एवानुपूर्व्यादिभावो मुख्यस्तु क्षेत्रस्यैव क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारात्, ततो यदि लोकप्रदेशाः सामस्त्येनैवानुपूर्व्या क्रोडीकृताः स्युस्तदा किमन्यदनानुपूर्व्यवक्तव्यकतया प्रतिपद्येत यस्त्विहैव येष्वाकाशप्रदेशेष्वानुपूर्व्यस्तेष्वेवेतरयोरपि सद्भावः कथयिष्यते स द्रव्यावगाहभेदेन क्षेत्रभेदस्य विवक्षणात्, अत्र तु तदविवक्षणादिति, तस्मादनानुपूर्व्यवक्तव्यकविषयप्रदेशत्रयलक्षणेन देशेन लोकस्योनता विवक्षितेति । अथवा-आनुपूर्वीद्रव्यस्य स्वावयवरूपा देशाः कल्प्यन्ते यथा पुरुषस्याङ्गुल्यादयः, ततश्च विवक्षिते कस्मिंश्चिद्देशे देशिनोऽसद्भावो विवक्ष्यते, यथा पुरुषस्यैवाङ्गुलीदेशे देशित्वस्यैव तत्र प्राधान्येन विवक्षितत्वादिति भावः, न च वक्तव्यं देशिनो देशा न कश्चिद्भिन्नो दृश्यते, एकान्ताभेदे देशमात्रस्य देशिमात्रस्य चाभावप्रसङ्गात्, ततश्च समस्तलोकक्षेत्रावगाहिपर्यायस्य प्राधान्याश्रयणादचित्तमहास्कन्धस्यानुपूर्वीत्वेऽपि देशेन एव लोकः, स्वकीयैकस्मिन्देशे तस्याऽभावविवक्षणात्, तस्मिंश्चानुपूर्व्यव्याप्तदेशे इतरयोरवकाश इति भावः । न च देशदेशिभावः कल्पनामात्रं सम्मत्यादिन्यायनिर्दिष्टयुक्तिसिद्धत्वात् इत्यलं प्रसङ्गेन । 'नाणादव्वाइंमि' त्यादि, त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्यभेदतोऽत्रानुपूर्व्यां नानात्वं, तैश्च त्र्यादिप्रदेशावगाढैः द्रव्यभेदैः सर्वोऽपि लोको व्याप्त इति भावः । अत्रानानुपूर्वीचिन्तायामेकद्रव्यं प्रतीत्य लोकस्यासंख्येयभागवर्त्तित्वमेव, एकप्रदेशावगाढस्यैवानानुपूर्वीत्वेन प्रतिपादनात्, एकप्रदेशस्य च लोकाऽसंख्येयभागवर्त्तित्वादिति, 'नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति-एकैकप्रदेशावगाढैरपि द्रव्यभेदैः समस्तलोकव्याप्तेरिति एवम्-'अवत्तव्वगदव्वाणि वि' त्ति-अवक्तव्यकद्रव्यमप्येकं लोकासंख्येयभाग एव वर्त्तते, द्विप्रदेशावगाढस्यैवाऽवक्तव्यकत्वेनाभिधानात्, प्रदेशद्वयस्य च लोकाऽसंख्येयभागवर्त्तित्वादिति, तथा प्रत्येकं द्विप्रदेशावगाढैरपि द्रव्यभेदैः समस्तलोकव्याप्तेर्नानाद्रव्याणामत्रापि सर्वलोकव्यापित्वमवसेयमिति । अत्राऽऽह-नन्वानुपूर्व्यादिद्रव्याणि त्रीण्यपि सर्वलोकव्यापीनीत्युक्तानि, ततश्च येष्वेवाकाशप्रदेशेष्वानुपूर्वी तेष्वेवेतरयोरपि सद्भावः प्रतिपादितो भवति कथं चैतत्परस्परविरुद्धं भिन्नविषयं व्यपदेशत्रयमेकस्य स्यात् ?, अत्रोच्यते-इह त्र्यादिदेशावगाढात् द्रव्याद्भिन्नमेव तावदेकप्रदेशावगाढं ताभ्यां च भिन्नं द्विप्रदेशावगाढं, ततश्चाधेयस्यावगाहकद्रव्यस्य भेदादाधारस्याप्यवगाह्यस्य भेदः स्यादेव, तथा च व्यपदेशभेदो युक्त एव, अनन्तधर्माध्यासिते च वस्तुनि तत्तत्सहकारिसन्निधानात्तत्तद्धर्माभिव्यक्तौ दृश्यत एव समकालं व्यपदेशभेदो, यथा खड्गकुन्तकवचादियुक्ते देवदत्ते खड्गी कुन्ती कवचीत्यादिरिति । इह क्वचिद्वाचनान्तरे-' अणाणुपुव्विदव्वाइं अव्वत्तव्वगदव्वाणि य जहेव हिट्ठे' त्ति-अतिदेश एव दृश्यते तत्र 'हिट्ठे'त्ति-यथाऽधस्ताद् द्रव्यानुपूर्व्यामनया क्षेत्रमुक्तं, तथाऽत्रापि ज्ञातव्यमित्यर्थः, तच्च व्याख्यानमेव, इत्येवमन्यत्रापि यथासंभवं वाचनान्तरमवगन्तव्यमिति । गतं क्षेत्रद्वारम् ।

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसन्ति असंखिज्जइभागं फुसंति संखिज्जे भागं फुसंति०जाव सव्वलोगं फुसंति ?, एगं दव्वं पडुच्च संखिज्जइभागं वा फुसइ असंखिज्जइ भागे असंखिज्जइ भागे संखेज्जे भागे वा असंखेज्जे भागे वा देसूणं वा लोगं फु-

सइ, नाणादव्वाइं पडुच णिअमा सव्वलोगं फुसंति, अणाणुपुव्वीदव्वाइं अवत्तव्वगदव्वाइं च जहा खेत्तं नवरं फुसणा भणिअव्वा + ।

स्पर्शनाद्वारमपि चेत्थमेव निखिलं भावनीयं नवरमत्र कस्याश्चिद्वाचनाया अभिप्रायेणानुपूर्व्यामेकद्रव्यस्य सङ्ख्येयभागादारभ्य यावद्देशोनलोकस्पर्शना भवतीति ज्ञायते, अन्यस्यास्त्वभिप्रायेण असङ्ख्येयभागादारभ्य यावत्सम्पूर्णलोकस्पर्शना स्यादित्यवसीयते एतच्च द्वयमपि युज्यत एव, यतो यदि मुख्यनया क्षेत्रप्रदेशानामानुपूर्वीत्वमङ्गीक्रियते तदा अनानुपूर्व्यवक्तव्यकयोर्निरवकाशतापसङ्गात्पूर्ववद्देशोनता लोकस्य वाच्या, अथाऽऽनुपूर्वीरूपे क्षेत्रे अवगाढत्वादचित्तमहास्कन्धस्यैवानुपूर्वीत्वं तर्हि द्रव्यानुपूर्व्यामिवात्रापि सम्पूर्णता लोकस्य वाच्यति नचात्रानुपूर्व्या सकलस्यापि लोकस्य स्पृष्टत्वादितरयोरवकाशाभाव इति वक्तव्यम्, एकैकप्रदेशरूपे द्विद्विप्रदेशरूपे च क्षेत्रेऽवगाढानां प्रत्येकमसङ्ख्येयानां द्रव्यभेदानां सद्भावतस्तयोरपि प्रत्येकमसङ्ख्येयभेदया लोके सद्भावाद्, द्रव्यावगाहभेदेन च क्षेत्रभेदस्येह विवक्षितत्वादिति भावः, शृङ्गग्राहिकयाऽऽगमापि पक्षो लक्ष्यते, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति । क्षेत्रस्पर्शनयोस्तु विशेषः प्राग्निदर्शित एवेति । गतं स्पर्शनाद्वारम् ।

अथ कालद्वारम्—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवचिरं होइ ?, एवं तिरिण वि, एगं दव्वं पडुच जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च निअमा सव्वद्धा × ।

तत्र क्षेत्राऽवगाहपर्यायस्य प्राधान्यविवक्षया त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्याणामेवाऽऽनुपूर्व्यादिभावः पूर्वमुक्तः, अतस्तेषामेवाऽवगाहस्थितिकालं निरूपयन्नाह—' एगं दव्वं पडुच्च ' त्यादि, अत्र भावना-इह द्विप्रदेशावगाढस्य वा एकप्रदेशावगाढस्य वा द्रव्यस्य परिणामवैचित्र्यात्प्रदेशत्रयाद्यवगाहभवने आनुपूर्वीव्यपदेशः सञ्जातः, समयं चैकं तद्भावमनुभूय पुनस्तथैव द्विप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं वा तद् द्रव्यं सञ्जातमित्यानुपूर्व्याः समयो जघन्याऽवगाहस्थितिः, यदा तु तदेव द्रव्यमसङ्ख्येयं कालं तद्भावमनुभूय पुनस्तथैव द्विप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं वा जायते तदा उत्कृष्टतया असङ्ख्येयाऽवगाहस्थितिकालः सिध्यति, अनन्तस्तु न भवति, विवक्षितैकद्रव्यस्यैकावगाहेनोत्कृष्टतोऽप्यसङ्ख्यातकालमेवावस्थानादिति, नानाद्रव्याणि तु सर्वाऽद्धा—सर्वकालमेव भवन्ति त्र्यादिप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सदैवाऽवस्थानादिति, एवं यदा समयमेकं किंचिद् द्रव्यमेकस्मिन् प्रदेशे अवगाढं स्थित्वा ततो द्व्यादिप्रदेशावगाढं भवति तदा अनानुपूर्व्याः समयो जघन्यावगाहस्थितिः, यदा तु तदेवाऽसङ्ख्यातं कालं तद्रूपेण स्थित्वा ततो द्व्यादिप्रदेशावगाढं भवति तदोत्कृष्टतोऽसङ्ख्येयोऽवगाहस्थितिकालः नानाद्रव्याणि तु सर्वकालम् एकप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सर्वदैव सद्भावादिति, अवक्तव्यकस्य तु द्विप्रदेशावगाढस्य समयादूर्ध्वमेकस्मिंस्त्र्यादिषु वा प्रदेशेष्ववगाढप्रतिपत्तौ जघन्यः समयोऽवगाहस्थितिः, असङ्ख्येयकालादूर्ध्वं द्विप्रदेशावगा(हं)ढं परित्यजत उत्कृष्टतोऽसङ्ख्येयाऽवगाहस्थितिकालः सिध्यति, नानाद्रव्याणि तु सर्वकालं, द्विप्रदेशावगाढद्रव्यभेदानां सदैव भावादिति, एवं समानवक्तव्यत्वादतिदिशति एव ' दोराण वि ' त्ति ।

इदानीमन्तरद्वारम्—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणं अंतरं कालओ केवचिरं होइ ?, तिरहं पि एगं दव्वं पडुच्च जहराणेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं × ।

' जहएणेणं एगं समयं ' ति—अत्र भावना इह यदा त्र्यादिप्रदेशावगाढं किमप्यानुपूर्वीद्रव्यं समयमेकं तस्माद्विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रावगाह्य प्रतिपद्य पुनरपि केवलमन्यद्रव्यसंयुक्तं वा तेष्वेव विवक्षितत्र्याद्याकाशप्रदेशेष्ववगाहते । तदैकानुपूर्वीद्रव्यस्य समयो जघन्योऽन्तरकालः प्राप्यते, ' उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ' ति-तदेव यदाऽन्येषु क्षेत्रप्रदेशेष्वसङ्ख्येयं कालं परिभ्रम्य केवलमन्यद्रव्यसंयुक्तं वा समागत्य पुनरपि तेष्वेव विवक्षितत्र्याद्याकाशप्रदेशेष्ववगाहते तदोत्कृष्टतोऽसङ्ख्येयोऽन्तरकालः प्राप्यते, न पुनर्द्रव्यानुपूर्व्यामिवानन्तः, यतो द्रव्यानुपूर्व्यां विवक्षितद्रव्यादन्ये द्रव्यविशेषा अनन्ताः प्राप्यन्ते, तैश्च सह क्रमेण संयोगे । उक्तोऽनन्तः कालः । अत्र तु विवक्षिताधगाहक्षेत्रादन्यत्क्षेत्रमसङ्ख्येयमेव, प्रतिस्थानं चावगाहनामाश्रित्य संयोगस्थितिरत्राप्यसङ्ख्येयकालैव । ततश्च-असङ्ख्येये क्षेत्रे परिभ्रमता द्रव्येण पुनरपि केवलेनान्ययुक्तेन वाऽसङ्ख्येयकालात्तेष्वेव नभःप्रदेशेष्वागत्यावगाहनीयम्, न च वक्तव्यमसङ्ख्येयेऽपि क्षेत्रे पौनःपुन्येन तत्रैव परिभ्रमणे कस्मादनन्तोऽपि कालो नोच्यत इति ?, यत इहासङ्ख्येयक्षेत्रे असङ्ख्येयकालमेवान्यत्र तेन पर्यटितव्यम् तत ऊर्ध्वं पुनस्तस्मिन्नेव विवक्षितक्षेत्रे नियमादवगाहनीयं, वस्तुस्थितिस्व(स्वा)भावा(द्या)दिति,तावदेकीय व्याख्यानमादर्शितम्, अन्ये तु व्याचक्षते-यस्मात् त्र्यादिप्रदेशलक्षणाद्विवक्षितक्षेत्रात्तदानुपूर्वीद्रव्यमन्यत्र गतं, तस्य क्षेत्रस्य स्वभावादेवासङ्ख्येयकालादूर्ध्वं तेनैवानुपूर्वीद्रव्येण वर्णगन्धरसस्पर्शसङ्ख्यादिधर्मैः सर्वथा तुल्येनान्येन वा तथाविधाऽऽधेयेन संयोगे सति नियमात्तथाभूताधारतोपपत्तेरसङ्ख्येय एवान्तरकाल इति, तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति, गम्भीरत्वात् सूत्रप्रवृत्तेरिति । ' नाणादव्वाइं ' इत्यादि, नहि त्र्यादिप्रदेशावगाढानुपूर्वीद्रव्याणि युगपत्सर्वाण्यपि तद्भावं विहाय पुनस्तथैव जायन्त इति कदाचिदपि सम्भवति, असङ्ख्येयानां तथा सर्वदैवोक्तत्वात्क्षितिभावः । अनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्येष्वप्येवमेवैकानेकद्रव्याश्रया अन्तरकालवक्तव्यता केवलमनानुपूर्वीद्रव्यस्यैकप्रदेशावगाढस्यावक्तव्यकद्रव्यस्य तु द्विप्रदेशावगाढस्य पुनस्तथाभवने अन्तरकालश्चिन्तनीयः, शेषा तु व्याख्याद्वयभावना सर्वाऽपि तथैवेति । उक्तमन्तरद्वारम् ।

साम्प्रतं भागद्वारमुच्यते—

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कइ—

भागे होज्जा ?, तिसु वि जहा दव्वाणुपुव्वीए ×।

तत्र च यथा द्रव्यानुपूर्व्यां तथाऽत्राऽप्यानुपूर्वीद्रव्याणि अनानुपूर्व्यवक्तव्यकलक्षणेभ्यः शेषद्रव्येभ्योऽसंख्येयैर्भागैरधिकानि, शेषद्रव्याणि तु तेषामसंख्येयभागे वर्तन्त इति। अत्राह-ननु त्र्यादिप्रदेशावगाढानि द्रव्याण्यानुपूर्व्य एकैकप्रदेशावगाढान्यनानुपूर्व्यो द्विद्विप्रदेशावगाढान्यवक्तव्यकानीनि प्राक् प्रतिज्ञातम्, एतानि चानुपूर्व्यादीनि सर्वस्मिन्नपि लोके सन्त्यतो युक्त्या विचार्यमाणान्यानुपूर्वीद्रव्याण्येव स्तोकानि ज्ञायन्ते, तथाहि-असत्कल्पनया किल लोके त्रिंशत्प्रदेशाः, तत्र चानानुपूर्वीद्रव्याणि त्रिंशदेव, अवक्तव्यकानि तु पञ्चदश आनुपूर्वीद्रव्याणि तु यदि सर्वस्तोकतया त्रिप्रदेशनिष्पन्नानि गण्यन्ते तथापि दशैव भवन्तीति, शेषेभ्यः स्तोकान्येव प्राप्नुवन्ति, कथमसंख्येयगुणानि स्युरिति ?, अत्रोच्यते-एकस्मिन्नानुपूर्वीद्रव्ये ये नभःप्रदेशाः उपयुज्यन्ते ते यद्यन्यस्मिन्नपि नोपयुज्येरँस्तदा स्यादेवं, तच्च नास्ति यत एकस्मिन्नपि प्रदेशत्रयनिष्पन्ने आनुपूर्वीद्रव्ये ये त्रयः प्रदेशास्त एवाऽन्यान्यरूपतयाऽवगाढेनाधेयद्रव्येणाऽऽक्रान्ताः सन्तः प्रत्येकमनेकेषु त्रिकसंयोगेषु गण्यन्ते, प्रतिसंयोगमाधेयद्रव्यस्य भेदात्, तद्भेदे चाधारभेदादिति भावः। एवमन्यान्यपि चतुःप्रदेशावगाढाद्याधेयेनाध्यासितत्वात् त एवानेकेषु चतुष्कसंयोगेष्वनेकेषु पञ्चकसंयोगेषु यावदनेकेष्वसंख्येयकसंयोगेषु प्रत्येकमुपयुज्यन्ते, एवं चतुरादिप्रदेशनिष्पन्नेष्वप्यानुपूर्वीद्रव्येषु ये चतुरादयः प्रदेशास्तेषामप्यन्यान्यसंयोगोपयोगिता भावनीया, तस्मादसंख्येयप्रदेशात्मकेऽवस्थितया व्यवस्थिते लोके यावन्तस्त्रिकसंयोगादयोऽसंख्येयकसंयोगपर्यन्ताः संयोगा जायन्ते तावन्त्यानुपूर्वीद्रव्याणि भवन्ति, प्रतिसंयोगमाधेयद्रव्यस्य भेदेनावस्थितिसद्भावाद्, आधेयभेदे चाधारभेदात्, नहि नभःप्रदेशा येनैव स्वरूपेणैकस्मिन्नाधेये उपयुज्यन्ते तेनैव स्वरूपेणाधेयान्तरेऽपि, आधेयैकताप्रसङ्गाद्, एकस्मिन्नाधारस्वरूपे तदवगाहाभ्युपगमात्, घटे तत्स्वरूपवत्, तस्मात् त्र्यादिसंयोगानां लोके बहुत्वादानुपूर्वीणां बहुत्वं भावनीयम्। अवक्तव्यकानि तु स्तोकानि द्विकसंयोगानां तत्र स्तोकत्वाद्, अनानुपूर्व्योऽपि स्तोका एव लोकप्रदेशसंख्यमात्रत्वाद् अत्र सुखप्रतिपत्त्यर्थं लोके किल पञ्चाकाशप्रदेशा कल्प्यन्ते, तद्यथा- ⁘ अत्रानुपूर्व्यस्तावत् पञ्चैव प्रतीताः, अवक्तव्यकानि त्वष्टौ, द्विकसंयोगानामिहाष्टानामेव संभवाद् आनुपूर्व्यस्तु षोडश संभवन्ति, दशानां त्रिकसंयोगानां पञ्चानां चतुष्कसंयोगानामेकस्य तु पञ्चकयोगस्येह लाभाद्, दश त्रिकयोगाः कथमिह लभ्यन्ते ? इति चेत् उच्यते-षट् तावत् मध्यव्यवस्थापिनेन सह लभ्यन्ते चत्वारस्तु त्रिकसंयोगादिव्यवस्थापितैश्चतुर्भिरेव केवलैरिति चतुष्कयोगास्तु चत्वारो मध्यव्यवस्थापिनेन सह लभ्यन्ते, एकस्तु सन्निरपेक्षैर्दिग्व्यवस्थितैरेवेति सर्वे पञ्च, पञ्चकयोगस्तु प्रतीत एवेति, तदेवं प्रदेशपञ्चकप्रस्तारेऽप्यानुपूर्वीणां बाहुल्यं दृश्यते अत एव तदनुमानेन सद्भावतोऽसंख्येयप्रदेशात्मके लोकेऽप्यानुपूर्वीद्रव्याणां शेषेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं भावनीयमित्यलं विस्तरेण। उक्तं भागद्वारम्।

साम्प्रतं भावद्वारमाह-

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कत(य)रंमि भावे होज्जा ?, तिण्णि वि णियमा साऽऽदिपारिणामिए भावे होज्जा॥ एवं दोण्णि वि ×।

तत्र च द्रव्याणां त्र्यादिप्रदेशावगाहपरिणामस्य एकप्रदेशावगाहपरिणामस्य द्विप्रदेशावगाहपरिणामस्य च सादिपारिणामिकत्वात् त्रयाणामपि सादिपारिणामिकभाववर्तित्वं भावनीयमिति।

अल्पबहुत्वद्वारे-

एएसि णं भंते ! णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणं अणाणुपुव्विदव्वाणं अवत्तव्वगदव्वाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए कतरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा तुल्ला वा विसेसाहिआ वा, जहा दव्वाणुपुव्वीए तहा भाणिअव्वं, णवरं अणंतगं नऽत्थि॥ (गोयमा ! सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं, पएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं अपएसट्ठयाए अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वीदव्वाइं पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं, दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए विसेसाहियाइं अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं ताइं चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं।) सेत्तं अनुगमो (मे)। सेत्तं णेगमववहाराणं अणोवणिहिआ खेत्ताणुपुव्वी। (सूत्र-१०१)

इह द्रव्यगणनं द्रव्यार्थता, प्रदेशगणनं प्रदेशार्थता, उभयगणनं तूभयार्थता, तत्रानुपूर्व्यो विशिष्टद्रव्यावगाहोपलक्षितास्त्र्यादिनभःप्रदेशसमुदायास्तावद् द्रव्याणि। समुदायारम्भकास्तु प्रदेशाः अनानुपूर्व्यस्त्वेकैकप्रदेशावगाहिद्रव्योपलक्षिताः सकलनभःप्रदेशाः प्रत्येकं द्रव्याणि, प्रदेशास्तु न सम्भवन्ति, एकैकप्रदेशद्रव्ये हि प्रदेशान्तरायोगाद्, अवक्तव्यकेषु तु यावन्तो लोके द्विकयोगाः सम्भवन्ति तावन्ति प्रत्येकं द्रव्याणि तदारम्भकास्तु प्रदेशा इति, शेषा त्वत्र व्याख्या द्रव्यानुपूर्वीवत्कर्त्तव्येति 'नवरं सव्वत्थोवाइं नेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइमि' त्यादि, अत्राह-ननु यदा पूर्वोक्तयुक्त्या एकैको नभःप्रदेशोऽनेकेषु द्विकसंयोगेषूपयुज्यते तदा अनानुपूर्वीद्रव्येभ्योऽवक्तव्यकद्रव्याणामेव बाहुल्यमवगम्यते, यतः पूर्वोक्तायामपि पञ्चप्रदेशनभःकल्पनायामवक्तव्यकद्रव्याणामष्टाऽप्यसंख्येयेनानां पञ्चसंख्येभ्योऽनानुपूर्वीद्रव्येभ्यो बाहुल्यं दृष्टं तत्कथमत्र व्यत्ययः प्रतिपाद्यते ?, सत्यम्, अस्त्येतत् केवलं लोकमध्ये, लोकनिष्कुटगतास्तु ये कण्टकाकारतयाऽवस्थिता निर्यग्वर्त्तिनिष्कुटगताः प्रदेशास्ते विश्रेणिकत्वात्...एकाकिनः प्रदेशास्त विश्रेणिकत्वात्...

स्याऽयोग्या इत्यनानुपूर्वीसङ्ख्यायामेवान्तर्भवन्ति, अतो लोकमध्यगतां निष्कुटगतां च प्रस्तुतद्रव्यसंख्यां मीलयित्वा यदा केवली चिन्तयति तदा अवक्तव्यकद्रव्याण्येव स्तोकानि, अनानुपूर्वीद्रव्याणि तु तेभ्यो विशेषाधिकतां प्रतिपद्यन्ते, अत्र निष्कुटस्थापना-'४४४', अत्र विश्रेणिलिखितौ द्वौ अवक्तव्यकायोग्यौ द्रव्याविति, एवंभूताश्च किलामी सर्वलोकपर्यन्तेषु बहव सन्तीत्यनानुपूर्वीद्रव्याणां बाहुल्यमित्यलं विस्तरेण । आनुपूर्वीद्रव्याणां तु तेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं भावितमेव, शेषं द्रव्यानुपूर्व्यनुसारेण भावनीयम्, नवरमुभयार्थताविचारे आनुपूर्वीद्रव्याणि स्वद्रव्येभ्य प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणानि कथम्?, एकैकस्य तावद् द्रव्यस्य त्र्यादिभिरसंख्येयान्तैर्नभःप्रदेशैरारब्धत्वात्, न भःप्रदेशाना च समुदितानामप्यसंख्येयत्वादिति ।' सेत्तमि' त्यादि निगमनद्वयम् । उक्ता नैगमव्यवहारनयमतेन अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी ।

अथ तामेव संग्रहमतेन विभणिषुराह—

से किं तं संगहस्स अणोवणिहिआ खेत्ताऽऽणुपुव्वी ?, संगहस्स अणोवणिहिया खेत्ताऽऽणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया१, भंगसमुक्कित्तणया२, भंगोवदंसणया३, समोतारे४, अणुगमे५ । से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ?, संगहस्स अट्ठपयपरूवणया तिपएसोगाढे आणुपुव्वी चतुप्पएसोगाढे आणुपुव्वी०जाव दसपएसोगाढे आणुपुव्वी संखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी असंखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वी, दुपएसोगाढे अवत्तव्वए । सेत्तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया । एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ?, एआए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ । से किं तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया ?, संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आ(णु)नुपुव्वी अत्थि अणानुपुव्वी अत्थि अवत्तव्वए, अहवा-अत्थि आनुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ । एवं जहा दव्वानुपुव्वीए संगहस्स तहा भाणिअव्वं ०जाव सेत्तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया । एआए णं संगहस्स[1] भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ? एआए णं भंगसमुक्कित्तणयाए संगहस्स भंगोवदंसणया कज्जइ । से किं तं संगहस्स भंगोवदंसणया ?, संगहस्स भंगोवदंसणया तिपएसोगाढे आनुपुव्वी एगपएसोगाढे अणानुपुव्वी दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, अहवा-तिपएसोगाढे अ एगपएसोगाढे अ आनुपुव्वी अ अणानुपुव्वी अ । एवं जहा दव्वानुपुव्वीए संगहस्स तहा खेत्तानुपुव्वीए वि भाणिअव्वं ०जाव सेत्तं संगहस्स भंगोवदंसणया । से किं तं समोआरे ?, समोआरे संगहस्स आनुपुव्विदव्वाइं कहिं समोतरंति ?, किं आनुपुव्विदव्वेहिं समोतरंति अणानुपुव्विदव्वेहिं समोअरंति अवत्तव्वगदव्वेहिं समोअरंति ?, तिण्णि वि सट्ठाणे समोतरंति । सेत्तं समोआरे । से किं तं अणुगमे अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा-" संतपयपरूवणया, ०जाव अप्पाबहुं नऽत्थि " ॥ १ ॥ संगहस्स आनुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि नऽत्थि निअमा अत्थि । एवं तिण्णि वि सेसगदाराइं जहा दव्वाणुपुव्वीए संगहस्स तहा खेत्तानुपुव्वीए वि भाणिअव्वाइं ; ०जाव सेत्तं अनुगमे । सेत्तं संगहस्स अणोवणिहिआ खेत्तानुपुव्वी । सेत्तं अणोवनिहिआ खेत्ता(णु)पुव्वी । (सूत्र १०२)

' से किं तमि ' त्यादि, इह संग्रहाभिमतद्रव्यानुपूर्व्यनुसारेण निखिलं भावनीयम् । नवरं क्षेत्रप्राधान्यादत्र तिपएसोगाढा आणुपुव्वी०जाव असंखेज्जपएसोगाढा आणुपुव्वी, एगपएसोगाढा अणाणुपुव्वी, दुपएसोगाढा अवत्तव्वए' इत्यादि वक्तव्य, शेषं तथैवेति । उक्ता अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी ।

अथौपनिधिकीं तां निर्दिदिक्षुराह—

से किं तं उवनिहिआ खेत्तानुपुव्वी ?, उवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी१, पच्छाणुपुव्वी२, अणानुपुव्वी ३ । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी अहोलोए तिरिअलोए उड्ढलोए । सेत्तं पुव्वानुपुव्वी । से किं तं पच्छानुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी उड्ढलोए तिरिअलोए अहोलोए । सेत्तं पच्छानुपुव्वी । से किं तं अणानुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी, एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए तिगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी ।

' से किं तं उवणिहिये'त्यादि । अत्र व्याख्या पूर्ववत्कर्त्तव्या, नवरं तत्र द्रव्यानुपूर्व्यधिकाराद्धर्मास्तिकायादिद्रव्याणि पूर्वानुपूर्व्यादित्वेनोदाहृतानि, अत्र तु क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारादधोलोकादिक्षेत्रविशेषा इति, (अनु०) (अधोलोकव्याख्या ' अहोलोय ' शब्दे प्रथमभागे ८६२ पृष्ठे गता) (तिर्यग्लोकव्याख्या ' तिरियलोय ' शब्दे चतुर्थभागे २३२२ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (ऊर्ध्वलोकव्याख्या 'उड्ढलोग' शब्दे अस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) अत्र च जघन्यपरिणामवद् द्रव्ययोगतो जघन्यतया गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टेरिवादावेवाऽधोलोकस्योपन्यास, तदुपरि मध्यमद्रव्ययोगान्मध्यमतया तिर्यग्लोकस्य तदुपरिष्टादुत्कृष्टद्रव्ययोगादूर्ध्वलोकस्योपन्यास इति पूर्वानुपूर्वीत्वसिद्धि, पश्चानुपूर्वी तु व्यत्ययेन प्रतीतैव, अनानुपूर्व्यां तु पदत्रयस्य षड् भङ्गा भवन्ति, ते च पूर्वं दर्शिता एव, शेषभावना त्विह प्राग्वदेवेति । अत्र च क्वचिद्वाचनान्तरे—एकप्रदेशावगाढादीनामसंख्यातप्रदेशावगाढान्तानां प्रथमं पूर्वानुपूर्व्यादिभाव उक्तो दृश्यते, सोऽपि क्षेत्रानुपूर्व्यधिकारादविरुद्ध एव, सुगमत्वाच्चोक्तानुसारेण भावनीय इति ।

[1] १-अस्मिन्नेव भागे ५७ पृष्ठे ८१ सूत्रे व्याख्यासंग्रहस्य गतम् ।

साम्प्रत वस्त्वन्तरविषयत्वेन पूर्वानुपूर्व्यादिभावं दिदर्शयिषुरधोलोकादीनां च परिभेदज्ञानं शिष्यव्युत्पत्तिं पश्यन्नाह—

अहोलोअखेत्तानुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वानुपुव्वी, पच्छानुपुव्वी, अणानुपुव्वी । से किं तं पुव्वानुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी रयणप्पभा सक्करप्पभा वालुअप्पभा पंकप्पभा धूमप्पभा तमप्पभा तमतमप्पभा । सेत्तं पुव्वानुपुव्वी । से किं तं पच्छानुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी तमतमा ०जाव रयणप्पभा । सेत्तं पच्छानुपुव्वी । से किं तं अणानुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए सत्तगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणानुपुव्वी + ।

'अहोलोयखेत्ताणुपुव्वी तिविहे' त्यादि । अधोलोकक्षेत्रविषया आनुपूर्वी, आनुपूर्वी औपनिधिकीति प्रक्रमाल्लभ्यते, सा त्रिविधा प्रज्ञप्ता, 'तद्यथे' त्यादि, शेषं पूर्ववद्भावनीयम् । यावद्रत्नप्रभेत्यादि (अनु०) । रत्नप्रभाया. व्याख्या 'रयणप्पभा' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यामि) (शर्कराप्रभाया सर्वो वृत्तान्त 'सक्करप्पभा' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते) (वालुकाप्रभाविस्तर 'वालुयप्पभा' शब्दे षष्ठे भागे कथयिष्यते) (पङ्कप्रभाया. सर्वं वृत्तम् 'पंकप्पभा' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते) (धूमप्रभाया व्याख्यानम् 'धूमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे करिष्यते) (तम प्रभाकीदृशीति 'तमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे वक्ष्यते) (तमस्तम - प्रभाया. सर्वो विषय. 'तमतमप्पभा' शब्दे चतुर्थे भागे करिष्यते ।) अत्र प्रज्ञापकप्रत्यासन्नेति रत्नप्रभाया आदावुपन्यास कृत, तत परं व्यवहितव्यवहिततरादित्वात् क्रमेण शर्कराप्रभादीनामिति पूर्वाऽऽनुपूर्वीत्वं, व्यत्ययेन पश्चानुपूर्वीत्वम् , अमीषा च सप्ताना पदाना परस्पराभ्यासे पञ्चसहस्राणि चत्वारिंशदधिकानि भङ्गाना भवन्ति तानि चाद्यन्तभङ्गकद्वयरहितान्यनानुपूर्व्या द्रष्टव्यानि इति, शेष-भावना पूर्ववदिति ।

तिरिअलोअखेत्तानुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा- पुव्वाणुपुव्वी१ पच्छाणुपुव्वी२, अणाणुपुव्वी ३ । से किं त पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-

" जंबुद्दीवे लवणे, धायइ कालोअ पुक्खरे वरुणे ।
खीर घय खोअ नंदी, अरुणवरे कुंडले रुअगे ॥ १ ॥
आभरणवत्थगंधे, उप्पलतिलए अ पुढविनिहिरयणे ।
वासहर-दह-नईओ, विजया वक्खार-कप्पिंदा ॥ २ ॥
कुरुमंदरआवासा, कूडा नक्खत्तचंदसूरा य ।
देवे नागे जक्खे, भूए अ सयंभुरमणे अ ॥ ३ ॥
सेत्त पुव्वाणुपुव्वी ।

से किं त पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी सयंभूरमणे अ ०जाव जंबुद्दीवे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखेज्जगच्छगयाए सेढीए अन्नमण्णब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । (सूत्र-१०३)

तिर्यग्लोके क्षेत्रानुपूर्व्या 'जंबुद्दीवे' इत्यादि गाथाव्याख्याद्वाभ्यां प्रकाराभ्या स्थानदातृत्वाहाराद्युपष्टम्भहेतुत्वलक्षणाभ्या प्राणिनः पान्तीति द्वीपा —जन्त्वाश्रयभूतक्षेत्रविशेषाः, सह मुद्रया-मर्यादया वर्त्तन्त इति समुद्रा -प्रचुरजलोपलक्षिता. क्षेत्रविशेषा एव, एते च तिर्यग्लोके प्रत्येकमसंख्येयया भवन्ति, तत्र समस्तद्वीपसमुद्राभ्यन्तरभूतत्वेनादौ तावज्जम्बूवृक्षेणोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्ततस्तं परिक्षिप्य स्थितो लवणरसास्वादनीरपूरित समुद्रो लवणसमुद्र एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वात् , एवं पुरस्तादपि यथासम्भवं द्रष्टव्य 'धायइकालोय' त्ति—ततो लवणसमुद्रं परिक्षिप्य स्थितो धातकीवृक्षखण्डोपलक्षितो द्वीपो धातकीखण्डस्तत्परितोऽपि शुद्धोदकरसास्वादः कालोदधिसमुद्र., तं च परिक्षिप्य स्थित. पुष्करै -पद्मवरैरुपलक्षितो द्वीप पुष्करवरद्वीप, तत्परितोऽपि शुद्धोदकरसास्वाद एव पुष्करोद. समुद्र , अनयोश्च द्वयोरप्येकेनैव पदेनात्र संग्रहो द्रष्टव्य. 'पुक्खरे' त्ति-एवमुत्तरत्रापि तत -' वरुणे' त्ति-वरुणवरो द्वीपस्ततो वारुणीरसास्वादो वारुणोद समुद्रः 'खीर' त्ति-क्षीरवरो द्वीप क्षीररसास्वाद. क्षीरोद समुद्र 'घय' त्ति-घृतवरो द्वीप. घृतरसास्वादो घृतोद समुद्र 'खोय' त्ति-इक्षुवरो द्वीपः इक्षुरसास्वाद एवक्षुरस समुद्र , इत ऊर्ध्वं सर्वेऽपि समुद्रा द्वीपसदृशनामानो मन्तव्या , अपर च-स्वयंभूरमणवर्जा सर्वेऽपीक्षुरसास्वादा तत्र द्वीपनामान्यमूनि, तद्यथा-नन्दी-समृद्धिस्तस्या ईश्वरो द्वीपो नन्दीश्वर , एवम्-अरुणवर , अरुणावास-, कुण्डलवरः, शङ्खवर , रुचकवर , इत्येव पद्द् द्वीपनामानि चूर्णौ लिखितानि दृश्यन्ते, सूत्रे तु-' नन्दी अरुणवरे कुण्डले रुयगे' इत्येतस्मिन् गाथा दले चत्वार्येव तान्युपलभ्यन्ते अतश्चूर्णिलिखितानुसारेण रुचकस्त्रयोदश', सूत्रलिखितानुसारतस्तु स एवैकादश भवति, तत्त्व तु केवलिनो विदन्तीति गाथार्थ । इदानीमनन्तरोक्तद्वीपसमुद्राणामवस्थितिस्वरूपप्रतिपादनार्थं शेषाणा तु नामाभिधानार्थमाह-

" जंबुद्दीवाओ खलु निरंतरा सेसया असंखइमा ।
भुयगवरकुसवरा वि य,कोंचवराऽऽभरणमाई य"॥१॥ इति ।

(अस्याः गाथाया) व्याख्या-एते-पूर्वोक्ता' सर्वेऽपि जम्बूद्वीपादारभ्य निरन्तरा नैरन्तर्येण व्यवस्थिता , न पुनरमीपामन्तरे अपरो द्वीप कश्चनापि समस्तीति भाव, ये तु शेषका भुजगवरादय इत ऊर्ध्वं वक्ष्यन्ते त प्रत्येकमसंख्याततमा द्रष्टव्या , तथा हि-' भुयगवरे ' त्तिपूर्वोक्ताद् रुचकवराद् द्वीपादसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा भुजगवरो नाम द्वीप समस्ति । कुसवर' त्ति-ततोऽप्यसंख्येयांस्तान् गत्वा कुशवरो नामद्वीप समस्ति, अपि-चेति समुच्चय कोंचवर' त्ति-ततोऽप्यसंख्येयास्तानतिक्रम्य क्रौञ्चवरो नाम द्वीप समस्ति 'आभरणमाई य' त्ति-एवमसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानुल्लङ्घ्याऽऽभरणाऽऽदयश्च-आभरणादिसदृशनामानश्च द्वीपा वक्तव्या , समुद्रास्तु तत्सदृशनामा-

मान एव भवन्तीत्युक्तमेवेति गाथार्थः । इयं च गाथा कस्याश्चिद्वाचनाया न दृश्यत एव केवल काऽपि वाचनाविशेषे दृश्यते टीकाचूर्ण्योस्तु तद्व्याख्यानमुपलभ्यत इत्यस्माभिरपि व्याख्यातेति । तान्येवाऽऽभरणादीनाह-"आभरणवत्थे"त्यादि गाथाद्वयम् , असङ्ख्येयाना संख्येयाना द्वीपानामन्ते आभरणवस्त्रगन्धोत्पलतिलकादिपर्यायसदृशनामक एकैकोऽपि द्वीपस्तावद्वक्तव्यो यावदन्ते स्वयंभूरमणो द्वीपः शुद्धोदकरसः स्वयंभूरमण एव समुद्र इति गाथाद्वयभावार्थः । ननु यद्येवं तर्ह्यसङ्ख्येयान् द्वीपानतिक्रम्य ये वर्त्तन्ते तेषामेव द्वीपानामेतानि नामान्याख्यातानि, ये त्वन्तरालेषु द्वीपास्ते किंनामका इति वक्तव्यम् ?, सत्यम् लोके पदार्थानां शङ्खध्वजकलशस्वस्तिकश्रीवत्सादीनि यावन्ति शुभनामानि तैः सर्वैरप्युपलक्षितास्तेषु द्वीपाः प्राप्यन्त इति स्वयमेव द्रष्टव्यं यत उक्तम्-" दीवसमुद्दा णं भंते ! केवइया नामधिज्जेहिं पएणत्ता ?, गोयमा ! जावइया लोए सुभा नामा सुभा रूवा सुभा गंधा सुभा रसा सुभा फासा एवइया ण दीवसमुद्दा नामधिज्जेहिं पएणत्ता" इति । संख्या तु सर्वेषामसंख्येयस्वरूपा "उद्धारसागराणं अड्ढाइज्जाण जत्तिया समया । दुगुणा दुगुणपवित्थर-दीवोदहिरज्जु एवइया ॥ १ ॥ " इति गाथा प्रतिपादिता द्रष्टव्या, तदेवमत्र क्रमोपन्यासे पूर्वानुपूर्वीव्यत्ययेन पश्चानुपूर्वी, अनानुपूर्वी त्वमीषामसंख्येयाना पदाना परस्पराभ्यासे येऽसंख्येया भङ्गा भवन्ति भङ्गकद्वयोना तत्स्वरूपा द्रष्टव्येति ।

उड्ढलोअखेत्ताणुपुव्वी तिविहा पएणत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-सोहम्मे ईसाणे सणंकुमारे माहिंदे बंभलोए लंतए महासुक्के सहस्सारे आणए पाणए आरणे अच्चु(ए)ते गेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणे ईसिपब्भारा । सेत्त पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी ईसिप्पब्भारा ०जाव सोहम्मे । सेत्त पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए पएणरसगच्छगयाए सेढीए अएणमएणब्भासो दुरूवूणो । सेत्त अणाणुपुव्वी । अहवा-उवनिहिआ खेत्ताऽऽणुपुव्वी तिविहा पएणत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-एगपएसोगाढे दुपएसोगाढे दसपएसोगाढे संखिज्जपएसोगाढे ०जाव असंखिज्जपएसोगाढे । सेत्त पुव्वाणुपुव्वी ॥ से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी-असंखिज्जपएसोगाढे संखिज्जपएसोगाढे ०जाव एगपएसोगाढे । सेत्त पच्छाणुपुव्वी ॥ से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखिज्जगच्छगयाए सेढीए अएणमएणब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । सेत्तं उवनिहिआ खेत्ताणुपुव्वी । सेत्त खेत्ताणुपुव्वी । (सूत्र १०४)

ऊर्ध्वलोकक्षेत्रानुपूर्व्याम्-'सोहम्मे' त्यादि । सकलविमानप्रधानसौधर्मावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षितत्वात्सौधर्म्मः एव सकलविमानप्रधानेशानावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षित ईशान , एवं तत्तद्विमानावतंसकप्राधान्येन तत्तन्नाम वाच्यं यावत्सकलविमानप्रधानाच्युतावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षितोऽच्युत , लोकपुरुषस्य ग्रीवाविभागे भवानि विमानानि ग्रैवेयकानि, तेषामन्यान्युत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि, ईषद्भाराक्रान्तपुरुषवन्नता अन्तेष्वितीषत्प्राग्भारेति । अत्र प्रज्ञापकप्रत्यासत्तेरादौ सौधर्मस्योपन्यास , ततो व्यवहितादिरूपत्वात् क्रमेणेशानादीनामिति पूर्वानुपूर्वीत्व, शेषभावना तु पूर्वोक्तानुसारेण कर्त्तव्येति । क्षेत्रानुपूर्वी समाप्ता । उक्ता क्षेत्रानुपूर्वी ।

(८) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टामेव क्रमप्राप्तां कालानुपूर्वी व्याचिख्यासुराह—

से किं तं कालाणुपुव्वी?, कालाणुपुव्वी दुविहा पएणत्ता, तं जहा-उवनिहिआ य, अणोवणिहिआ य ॥(सूत्र-१०५)॥ तत्थ णं जा सा उवनिहिआ सा ठप्पा । तत्थ णं जा सा अणोवणिहिआ सा दुविहा पएणत्ता, तं जहा-णेगमववहाराणं, संगहस्स य । (सूत्र-१०६) । से किं तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी ?, अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी पंचविहा पएणत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोआरे ४, अणुगमे ५ । (सूत्र-१०७) । से किं तं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ?, णेगम० तिसमयट्ठिइए आणुपुव्वी ०जाव दससमयट्ठिईए आणुपुव्वी संखिज्जसमयट्ठिईए आणुपुव्वी असंखिज्जसमयट्ठिईए आणुपुव्वी एगसमयट्ठिईए अणाणुपुव्वी दुसमयट्ठिईए अवत्तव्वए, तिसमयट्ठिइयाओ आणुपुव्वीओ एगसमयट्ठिइयाओ अणाणुपुव्वीओ दुसमयट्ठिइओ अवत्तव्वगाइ । सेत्त नेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणया । एआए णं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ?, एयाए णं णेगमववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ, (सूत्र-१०८) । से किं तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ?, णेगम० अत्थि आणुपुव्वी, अत्थि अणाणुपुव्वी अत्थि अवत्तव्वए, एवं दव्वाणुपुव्वीगमेणं कालाणुपुव्वीए वि ते चेव छव्वीसं भंगा भाणियव्वा ०जाव सेत्तं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया । एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओअणं ? एआए णं णेगमववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए भंगोवदंसणया कज्जइ, (सूत्र १०९) [illegible]

णेगमववहाराणं भंगोवदंसणया ?, णेगमव० तिसमयट्ठिईए आणुपुव्वी, एगसमयट्ठिईए अणाणुपुव्वी, दुसमयट्ठिईए अवत्तव्वए, तिसमयट्ठिईओ आणुपुव्वीओ, एगसमयट्ठिईओ अणाणुपुव्वीओ, दुसमयट्ठिईओ अवत्तव्वगाइं। अहवा-तिसमयट्ठिईए अ एगसमयट्ठिईए अ आणुपुव्वी अ अणाणुपुव्वी अ, एवं तहा चेव दव्वाणुपुव्वीगमेणं छव्वीसं २६ भंगा भाणिअव्वा०जाव सेत्तं नेगमववहाराणं भंगोवदंसणया, (सूत्र-११०)। से किं तं समोतारे ?, समोआरे णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोतरंति ?, किं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोतरंति अणाणुपुव्वीदव्वेहिं, एवं तिण्णि वि सट्ठाणे समोतरंति इति भाणिअव्वं । सेत्तं समोतारे । (सूत्र-१११) ।

से किं तं अणुगमे ?, अणुगमे णवविहे पण्णत्ते, तं जहा-
" संतपयपरूवणया ०जाव अप्पाबहुं चेव " ॥ १ ॥
(सूत्र-११२ ×)

' से किं तं कालानुपुव्वी ' त्यादि । अत्राक्षरगमनिका यथा द्रव्यानुपूर्व्यां तथा कर्त्तव्या, यावत्—' तिसमयट्ठिईए आणुपुव्वी ' त्यादि, त्रय समया स्थितिर्यस्य परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकाद्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्तस्य द्रव्यविशेषस्य स. त्रिसमयस्थितिर्द्रव्यविशेष आनुपूर्वीति । आह—ननु यदि द्रव्यविशेष एवात्राप्यानुपूर्वी कथं तर्हि तस्य कालानुपूर्वीत्वम् ?, नैतदेवम्—अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् ,यत समयत्रयलक्षणकालपर्यायविशिष्टमेव द्रव्य गृहीत, ततश्च पर्यायपर्यायिणो. कथञ्चिदभेदात्कालपर्यायस्य चेह प्राधान्येन विवक्षितत्वाद् द्रव्यस्यापि विशिष्टस्य कालानुपूर्वीत्व न दुष्यति, मुख्यं समयत्रयस्यैवात्रानुपूर्वीत्व, किन्तु-तद्विशिष्टद्रव्यस्यापि तदभेदोपचारात्तदुक्त इति भाव । एव चतु समयस्थित्यादिष्वपि वाच्यं, यावद्दश समया स्थितिर्यस्य परमाण्वादिद्रव्यसङ्घातस्य स तथा । सख्येया समया स्थितिर्यस्य परमाण्वादे' स तथा । असख्येया समया स्थितिर्यस्य परमाण्वादे स तथा, " अनन्तास्तु समया द्रव्यस्य स्थितिरेव न भवति" स्वाभाव्यादित्युक्तमवेति, शेषा बहुवचननिर्देशादिभावना पूर्ववदेव एकसमयस्थितिक परमाण्वाद्यनन्ताणुकस्कन्धपर्यन्त द्रव्यमनानुपूर्वी, द्विसमयस्थितिक तु तदेवावक्तव्यकमिति, शेष पूर्वोक्तानुसारेण सर्व भावनीयम् ।

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णऽत्थि ?, नियमा तिण्णि वि अत्थि । नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइ किं संखिज्जाइं ?, असंखिज्जाइं ?, अणंताइं ? । तिण्णि वि नो संखिज्जाइं, असंखिज्जाइं, नो अणंताइं × ।

यावद् द्रव्यप्रमाणद्वारे— नो सखिज्जाइं, असखिज्जाइं, नो अणंताइ ' इति । अस्य भावना इह त्र्यादिसमयस्थितिकानि परमाण्वादिद्रव्याणि लोके यद्यपि प्रत्येकमनन्तानि प्राप्यन्त तथाऽपि समयत्रयलक्षणाया स्थितेरेकस्वरूपत्वात् काल(स्य चेह) स्यैवेह प्राधान्येन द्रव्यबहुत्वस्य गुणीभूतत्वात् त्रिसमयस्थितिकैरनन्तैरप्येकमेवानुपूर्वीद्रव्यम् , एवं चतु समयलक्षणाया स्थितेरेकत्वादनन्तैरपि चतु समयस्थितिकद्रव्यैरेकमेवानुपूर्वीद्रव्यम् , एवं समयवृद्ध्या तावन्नेयं यावदसख्येयसमयलक्षणाया' स्थितेरेकत्वादनन्तैरप्यसख्येयसमयस्थितिकैर्द्रव्यैरेकमेवानुपूर्वीद्रव्यमिति, एवमसंख्येयान्येवात्रानुपूर्वीद्रव्याणि भवन्ति, एवमनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याण्यपि प्रत्येकमसख्येयानि वाच्यानि, अत्राह—नन्वेकसमयस्थितिकद्रव्यस्यानानुपूर्वीत्व द्विसमयस्थितिकस्य त्ववक्तव्यकत्वमुक्तम् , तत्र यद्यप्येकद्विसमयस्थितीनि परमाण्वादिद्रव्याणि लोके प्रत्येकमनन्तानि लभ्यन्ते तथाऽप्यनन्तरोक्तत्वादुक्तयुक्त्यैव समयलक्षणाया द्विसमयलक्षणायाश्च स्थितेरेकैकरूपत्वाद् द्रव्यबाहुल्यस्य च गुणीभूतत्वादेकमेवानानुपूर्वीद्रव्यमेकमेव चाऽवक्तव्यकद्रव्य वक्तुं युज्यते, न तु प्रत्येकमसख्येयत्वम् , अथ द्रव्यभेदेन भेदोऽङ्गीक्रियते तर्हि प्रत्येकमानन्त्यप्रसक्ति एकसमयस्थितीना द्विसमयस्थितीनां च द्रव्याणा प्रत्येकमनन्ताना लोके सद्भावादिति,सत्यमेतत् , किन्त्वेकसमयस्थितिकमपि यदवगाहभेदेन वर्त्तते तदिह भिन्नं विवक्ष्यते, एव द्विसमयस्थितिकमप्यवगाहभेदेन भिन्न चिन्त्यते, लोके च असख्येया अवगाहभेदा सन्ति । प्रत्यवगाह चैकद्विसमयस्थितिकाऽनेकद्रव्यसम्भवादनानुपूर्व्यवक्तव्यकद्रव्याणामाधारक्षेत्रभेदात् प्रत्येकमसख्येयत्व न विहन्यत इति अनया दिशा अतिगहनमिदं सूक्ष्मधिया पर्यालोचनीयमिति ।

क्षेत्रद्वारे—

नेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स किं संखिज्जइभागे होज्जा ? असंखिज्जइभागे होज्जा ? संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा ? असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा ? सव्वलोए वा होज्जा ?। एगं दव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जा असंखेज्जइभागे वा होज्जा ? संखेज्जेसु वा भागेसु होज्जा ? असंखेज्जेसु वा भागेसु होज्जा ? देसूणे वा लोए होज्जा ?, नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा, एवं अणाणुपुव्वीदव्वं, आएसंतरेण वा सव्वपुच्छासु होज्जा, एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणिअव्वाणि जहा खेत्ताणुपुव्वीए । फुसणा कालाणुपुव्वीए वि तहा चेव भाणिअव्वा ।
(सूत्र-११२ +)

" एग दव्व पडुच्च लोगस्स सखेज्जइभागे वा होज्जा ०जाव देसूणे वा लोगे होज्ज ' त्ति—इह त्र्यादिसमयस्थितिकद्रव्यस्य तत्तदवगा(ह)दसंभवत संख्येयादिभागवर्त्तित्व भावनीयम्, यदा त्र्यादिसमयस्थितिक सूक्ष्मपरिणाम स्कन्धो देशोने लोकेऽवगाहते तदैकस्यानुपूर्वीद्रव्यस्य देशोनलोकवर्त्तित्व भावनीयम , अन्ये तु-" पदेसूणे वा लोगे होज्ज " त्ति पाठं मन्यन्ते, तत्राप्ययमेवार्थ , प्रदेशस्यापि विवक्षया देशत्वादिति, सपूर्णेऽपि लोके कस्मादिदं न प्राप्यत इति चेद् , उच्यते-सर्वलोकव्यापी अचित्तमहास्कन्ध एव प्राप्यते, स च तद्व्यापितया एकसमय समवगाय-

तिष्ठते, तत ऊर्ध्वमुपसंहारस्योक्तत्वात् नचैकसमयस्थिति कमानुपूर्वीद्रव्यं भवितुमर्हति, त्र्यादिसमयस्थितिकत्वेन न स्यात्क्तत्वात्, तस्मात् त्र्यादिसमयस्थितिकमन्यदेव द्रव्यं नियमादेकनाऽपि प्रदेशेनोन एव लोकेऽवगाहत इति प्रतिपत्तव्यम् । अथाह-नन्वचित्तमहास्कन्धोऽप्येकसमयस्थितिको न भवति, दण्डाद्यवस्थासमयगणनेन तस्याप्यष्टसमयस्थितिकत्वाद् एव न सति तस्याप्यानुपूर्वीत्वात् सपूर्णलोकव्यापित्वं युज्यतेऽत्र वक्तुमिति, नैतदेवम्, अवस्थाभेदेन वस्तुभेदस्येह विवक्षितत्वाद्धिक्षाश्च परस्परं दण्डकपाटाद्यवस्था, ततस्तद्भेदेन (स्कन्धभेदेन) वस्तुतोऽपि भेदाद्, अन्यदेव दण्डकपाटाद्यवस्थाद्रव्येभ्य सकललोकव्याप्यचित्तमहास्कन्धद्रव्यं, तच्चैकसमयस्थितिकमिति, न तस्यानुपूर्वीत्वम् एतच्चानन्तरमेव पुनर्वक्ष्यत इत्यलं विस्तरेण । अथवा—यथा क्षेत्रानुपूर्व्यां नयमतेऽपि सर्वलोकव्यापिनोऽप्यचित्तमहास्कन्धस्य विवक्षामात्रमाश्रित्य एकस्मिन्नभ प्रदेशे त्वप्रधान्याद्देशेनैव लोकवर्तित्वं वाच्यम्, एकसमयस्थितिकस्यैवानानुपूर्वीद्रव्यस्य द्विसमयस्थितिकावक्तव्यकस्य च तत्र प्रदेशे प्रधान्याश्रयणादिति भाव । एवमन्यदपि आगमाऽविरोधतो वक्तव्यमिति । 'णाणादव्वाइ पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्ज' त्ति—त्र्यादिसमयस्थितिकद्रव्याणां सर्वलोकेऽपि भावादिति भावनीयम् । अनानुपूर्वीद्रव्यचिन्तायां यथा क्षेत्रानुपूर्व्यां तथा अत्राप्यकद्रव्यं लोकस्यासख्येयभाग एव वर्त्तते कथमिदम् ? उच्यते-यत् कालत एकसमयस्थितिक तत् क्षेत्रतोऽप्येकप्रदेशावगाढमेवेहानानुपूर्वीत्वेन विवक्ष्यते तच्च लोकासख्येयभाग एव भवति ' आएसतरेण वा सव्वपुच्छासु होज्ज ' त्ति-अस्य भावना-इहाचित्तमहास्कन्धस्य दण्डाद्यवस्था परस्परं भिन्ना, आकारादिभेदाद्, द्विविधस्तु प्रदेशकान्तिस्कन्धवत् तच्च ता एकैकसमयवृत्तित्वात् पृथगनानुपूर्वीद्रव्याणि तेषु च मध्ये किमपि कियत्यपि क्षेत्रे वर्त्तत इत्यनया विवक्षया किलैकमनानुपूर्वीद्रव्यं मतान्तरेण सख्येयभागादिकासु पञ्चस्वपि पृच्छासु लभ्यते, एतच्च सूत्रेषु प्रायो न दृश्यते, टीकाचूर्ण्योस्त्वेव व्याख्यानमुपलभ्यत इति, नानाद्रव्याणि तु सर्वस्मिन्नपि लोके भवन्ति, एकसमयस्थितिकद्रव्याणां सर्वत्र भावादिति । अवक्तव्यकद्रव्यचिन्तायां क्षेत्रानुपूर्व्यामिवैकद्रव्यं लोकस्यासख्येयभाग एव वर्त्तते, कथमिति, उच्यते-यत्कालतो द्विसमयस्थितिकं तत् क्षेत्रतो द्विप्रदेशावगाढमेवेहावक्तव्यकत्वेन गृह्यते, तच्च लोकासंख्येयभाग एव स्यात्, अथवा-द्विसमयस्थितिकं द्रव्य स्वभावादेव लोकस्यासंख्येयभाग एवावगाहते न परत, आदेशान्तरेण वा-' महाखंधवज्जमन्नदव्वेसु आइल्लचउपुच्छासु होज्ज " त्ति—अस्य हृदयम्—मतान्तरेण किल द्विसमयस्थितिकमपि द्रव्य किंचिल्लोकस्य संख्येयभागेऽवगाहते किंचित्त्वसख्येये अन्यत्तु संख्येयेषु तद्भागेष्ववगाहते अपरत्वसंख्येयेष्विति महास्कन्धं वर्जयित्वा शेषद्रव्याण्याश्रित्य यथोक्तस्वरूपास्वाद्यासु चतसृषु पृच्छास्ववक्तव्यकद्रव्य लभ्यते, महास्कन्धस्य त्वष्टसमयस्थितित्वेनोक्तत्वाच्च द्विसमयस्थितिकत्वसंभव इति तद्वर्जनम्, अत एव सर्वलोकव्याप्तिलक्षणायां पञ्चमपृच्छायां अत्राऽसभव, महास्कन्धस्यैव सर्वलोकव्यापकत्वात्तस्य चावक्तव्यकत्वायोगादिति । एतदपि सूत्रं वाचनान्तरे क्वचिदेव दृश्यते । नानाद्रव्याणि तु सर्वलोके भवन्ति द्विसमयस्थितीनां सर्वत्र भावादिति । गतं क्षेत्रद्वारम् । स्पर्शनाद्वारमप्येवमेव भावनीयम् ।

कालद्वारे—

णेगमववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवचिरं होन्ति?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं तिण्णि समया, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । णाणादव्वाइं पडुच्च सव्वऽद्धा । णेगमववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवचिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं एक्कं समयं नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वऽद्धा । अवत्तव्वगदव्वाण पुच्छा, एगं दव्वं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं एक्कं समयं णाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वऽद्धा+ ।

एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं तिण्णि समय ' त्ति—जघन्यतोऽपि त्रिसमयस्थितिकस्यैवानुपूर्वीत्वेनोक्तत्वादिति भाव । ' उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ' ति-असंख्येयकालात्परत एकेन परिणामेन द्रव्यावस्थानस्यैवाभावादिति हृदयम् । नानाद्रव्याणि तु सर्वकालं भवन्ति, प्रतिप्रदेशं लोकस्य सर्वदा तैरशून्यत्वादिति । अनानुपूर्व्यवक्तव्यकचिन्तायाम् ' अजहन्नमणुक्कोसेणं ' ति—जघन्योत्कृष्टचिन्तामुत्सृज्येत्यर्थ, न हि एकसमयस्थितिकस्यैवानानुपूर्वीत्वे द्विसमयस्थितिकस्यैव चावक्तव्यकत्वेऽभ्युपगम्यमाने जघन्योत्कृष्टचिन्ता सम्भवतीति भाव, नानाद्रव्याणि तूभयत्रापि सर्वकालं भवन्ति, प्रतिप्रदेश तैरपि सर्वदा लोकस्याशून्यत्वादिति ।

अन्तरद्वारे—

णेगमववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणमंतरं कालओ केवचिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं दो समया णाणादव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं । णेगमववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाणमंतरं कालओ केवचिरं होइ ?, एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं दो समया, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णऽत्थि अंतरं । णेगमववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाणुपुव्विदव्वाणं पुच्छा एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च नऽत्थि अंतरं+ ।

'एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं ' ति-अत्र भावना-इह त्र्यादिसमयस्थितिकं विवक्षितं किञ्चिदेकमानुपूर्वीद्रव्यं त परिणामं परित्यज्य यदा परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा पुनस्तेनैव परिणामेन त्र्यादिसमयस्थितिकं जायते तदा जघन्यतया समयोऽन्तरं लभ्यते, उक्कोसेणं दो समया ' त्ति-तदेव यदा परिणामान्तरेण द्वौ समयौ स्थित्वा पुनस्तमेव त्र्यादिसमयस्थितियुक्तम् प्राक्तन परिणाममासादयति तदा द्वौ समयावुत्कृष्टतोऽन्तरं भवत, यदि पुन, परिणामान्तरेण त्र्यादिसमय-

द्वयात् परतोऽपि तिष्ठेत्तदा तत्राप्यानुपूर्वीत्वमनुभवेत्, ततोऽन्तरमेव न स्यादिति भावः। नानाद्रव्याणां तु नाऽस्त्यन्तरं सर्वदा लोकस्य तदशून्यत्वादिति। अनानुपूर्वीचिन्तायाम् 'एगं दव्वं पडुच्च जहएणेणं दो समया' त्ति-एकसमयस्थितिकं द्रव्यं यदा परिणामान्तरेण समयद्वयमनुभूय पुनस्तमेवैकसमयस्थितिकं परिणाममासादयति तदा समयद्वयं जघन्योऽन्तरकालः, यदि तु-परिणामान्तरेणाऽप्येकमेव समयं तिष्ठेत्तदा अन्तरमेव न स्यात्, तत्राप्यनानुपूर्वीत्वाद्, अथ समयद्वयात्परतोऽस्तिष्ठेत्तदा जघन्यत्वं न स्यादिति भावः। 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति-तदेव यदा परिणामान्तरेणासंख्येयकालमनुभूय पुनरेकसमयस्थितिकं परिणाममनुभवति तदोत्कृष्टतोऽसंख्येयोऽन्तरकालः प्राप्यते। आह-ननु यदि च अन्यान्यद्रव्यान्तरसम्बन्धे तस्यानन्तोऽपि कालाऽन्तरे लभ्यते किमित्यसंख्येय एवोक्तः?, सत्यम्, किन्तु-कालानुपूर्वीप्रक्रमात्कालस्यैवेह प्राधान्यं कर्त्तव्यम्, यदि त्वन्यान्यद्रव्यक्षेत्रसम्बन्धतोऽन्तरकालबाहुल्यं क्रियते तदा तद्द्वारेणैवान्तरकालस्य बहुत्वकरणात्तयोर्द्वयोरेव प्राधान्यमाश्रितं स्यान्न कालस्य तस्मादेकस्मिन्नेव परिणामान्तरे यावान् कश्चिदुत्कृष्टः कालो लभ्यते स एवान्तरे चिन्त्यते, सचासंख्येय एव ततः परमेकेन परिणामेन वस्तुनोऽवस्थानस्यैव निषिद्धत्वादित्येवं भगवतः सूत्रस्य विचित्रवैचित्र्यात्सर्वं पूर्वमुत्तरत्र चागमाऽविरोधेन भावनीयमिति। नानाद्रव्याणां तु नास्त्यन्तरं प्रतिप्रदेशं लोके सर्वदा तद्भावादिति। अवक्तव्यकद्रव्यचिन्तायाम् 'जहएणेणं एगं समयं' ति-द्विसमयस्थितिकं किञ्चिदवक्तव्यकद्रव्यं परिणामान्तरेण समयमेकं स्थित्वा यदा पूर्वानुभूतमेव द्विसमयस्थितिकपरिणाममासादयति तदा समयो जघन्यान्तरकालः। 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति—तदेव यदा परिणामान्तरेणासंख्येयं कालं स्थित्वा पुनस्तमेव पूर्वानुभूतं परिणाममासादयति तदाऽसंख्यातः उत्कृष्टोऽन्तरकालो भवति, आक्षेपपरिहारावत्राप्यनानुपूर्वीवत् द्रष्टव्याविति। नानाद्रव्यान्तरं तु नास्ति सर्वदा लोके तद्भावादिति। उक्तमन्तरद्वारम्।

भागद्वारे—

भाग-भाव अप्पा बहुं चेव जहा खेत्ताणुपुव्वीए तहा भाणिअव्वाइं, ०जाव सेत्तं अणुगमे। सेत्तं नेगमववहाराणं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी। (सूत्र- ११२ ×)

भागद्वारे तु यथा द्रव्य-क्षेत्रानुपूर्व्योस्तथैवानुपूर्वीद्रव्याणि शेषद्रव्येभ्योऽसंख्येयैर्भागैरधिकानि व्याख्येयानि, शेषद्रव्याणि त्वानुपूर्वीद्रव्याणामसंख्येयभाग एव वर्त्तन्ते इति, भावना त्वित्थं कर्त्तव्या-इहानानुपूर्व्यामेकसमयस्थितिलक्षणमेकमेव स्थानं लभ्यते अवक्तव्यकेऽपि द्विसमयस्थितिलक्षणमेकमेव तल्लभ्यते, आनुपूर्व्यां तु त्रिसमयचतुःसमयपञ्चसमयस्थित्यादीन्येकोत्तरवृद्ध्याऽसंख्येयसमयस्थित्यन्तान्यसंख्येयानि स्थानानि लभ्यन्ते, इत्यानुपूर्वीद्रव्याणामसंख्येयगुणत्वम्, इतरयोस्तु तदसंख्येयभागवर्त्तित्वमिति। भावद्वार-सादिपारिणामिकभाववर्त्तित्वं त्रयाणामपि पूर्ववद्भावनीयम्। अल्पबहुत्वद्वारम्-सर्वस्तोकान्यवक्तव्यकद्रव्याणि द्विसमयस्थितिकद्रव्याणां स्वभावत एव स्तोकत्वात्, अनानुपूर्वीद्रव्याणि तु तेभ्यो विशेषाधिकानि, एकसमयस्थितिकद्रव्याणां निसर्गत एव पूर्वेभ्यो विशेषाधिकत्वाद्, आनुपूर्वीद्रव्याणि तु पूर्वेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं भागद्वारे भावितमेव, शेषं तु चानुपूर्व्याद्युक्तानुसारतः सर्वं वाच्यमिति अत एव कपुचिद्वाचनान्तरेषु भागादिद्वारत्रयं क्षेत्रानुपूर्व्यतिदेशेनैव निर्दिष्टं दृश्यते, नतु विशेषतो लिखितमिति। 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम्। उक्ता नैगमव्यवहारनयमतेनानौपनिधिकी कालानुपूर्वी।

अथ संग्रहनयमतेन तामेव व्याचिख्यासुराह—

से किं तं संगहस्स अणोवनिहिआ कालाऽऽनुपुव्वी?, संगहस्स अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी पंचविहा पएणत्ता, तं जहा-अट्ठपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोतारे ४, अणुगमे ५। (सूत्र-११३)। से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया?, संगहस्स अट्ठपयपरूवणया एआइं पंच वि दाराइं जहा खेत्ताणुपुव्वीए संगहस्स तहा कालाणुपुव्वीए वि भाणिअव्वाइं, णवरं ठिई, अभिलावो, ०जाव सेत्तं अणुगमे। सेत्तं संगहस्स अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी। सेत्तं अणोवनिहिआ कालाणुपुव्वी, (सूत्र-११४)।

'से किं तमि' त्यादि। यथा क्षेत्रानुपूर्व्यामियं संग्रहमतेन प्राग्निर्दिष्टा तथाऽत्रापि वाच्या, 'नवरं तिसमयट्ठिइया आनुपुव्वी ०जाव असंखेज्जसमयट्ठिइया आणुपुव्वी' त्यादि अभिलापः कार्यः, शेषं तु तथैवेति। उक्ता संग्रहमतेनाप्यनौपनिधिकी कालानुपूर्वी, तथा च सति अवसितः तद्विचारः।

इदानीं प्रागुद्दिष्टामेवौपनिधिकीं तां निर्दिदिक्षुराह—

से किं तं उवनिहिआ कालाणुपुव्वी उवणिहिआ कालाणुपुव्वी तिविहा पएणत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी, से किं तं पुव्वानुपुव्वी?, पुव्वाणुपुव्वी। (अनु०)।

एगसमयट्ठिइए, दुसमयट्ठिइए, तिसमयट्ठिइए ०जाव दसमयट्ठिइए संखिज्जसमयट्ठिइए असंखिज्जसमयट्ठिइए। सेत्तं पुव्वानुपुव्वी। से किं तं पच्छानुपुव्वी?, पच्छाणुपुव्वी असंखिज्जसमयट्ठिइए ०जाव एगसमयट्ठिइए। सेत्तं पच्छानुपुव्वी। से किं तं अणानुपुव्वी?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखिज्जगच्छगयाए सेढीए अएणमएणब्भासो दुरूवूणो। सेत्तं अणानुपुव्वी।

'से किं तमि' त्यादि। एकः समयः स्थितिर्यस्य द्रव्यविशेषस्य स तथा, एवं यावदसंख्येयाः समयाः स्थितिर्यस्य स तथेति पूर्वानुपूर्वी, शेषभावना त्वत्र पूर्वोक्तानुसारेण सुकरैव।

अथ कालविचारस्य प्रस्तुतत्वात्समयादेश्च कालत्वेन प्रसिद्धत्वात्तदनुपङ्गतो विनेयानां समयादिकालपरिज्ञानदर्शनाय तद्विषयत्वेनैव प्रकारान्तरेण तामाह—

अहवा उवणिहिआ कालाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी अणाणुपुव्वी। से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?. पुव्वाणुपुव्वी। (अनु०)

समए १, आवलिआ २, आण ३, । ४ । पाणू ५, थोवे ६, लवे ७, मुहुत्ते ८, अहोरत्ते ९, पक्खे १०, मासे ११, उऊ १२, अयणे १३, संवच्छरे १४, जुगे १५. वाससए १६, वाससहस्से १७, वाससयसहस्से १८, पुव्वंगे १९, पुव्वे २०, तुडिअंगे २१, तुडिए २२, अडडंगे २३, अडडे २४, अववंगे २५, अववे २६, हुहुअंगे २७, हुहुए २८ उप्पलंगे २९, उप्पले ३०, पउमंगे ३१, पउमे ३२. णलिणंगे ३३, णलिणे ३४, अत्थनिउरंगे ३५, अत्थनिउरे ३६, अउअंगे ३७ अउए ३८, नउअंगे ३९, नउए ४०, पउअंगे ४१, पउए ४२, चूलिअंगे ४३, चूलिआ ४४, सीसपहेलिअंगे ४५, सीसपहेलिआ ४६ पलिओवमे ४७, सागरोवमे ४८, ओसप्पिणी ४९, उस्सप्पिणी ५०, पोग्गलपरिअट्टे ५१, अतीतद्धा ५२ अणागतद्धा ५३, सव्वद्धा ५४ । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी। से किं त पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी सव्वद्धा अणागतद्धा ०जाव समए, से त पच्छाणुपुव्वी। से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए अणंतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो, से तं अणाणुपुव्वी॥ सेत्त उवणिहिआ कालाणुपुव्वी। सेत्तं कालाणुपुव्वी। (सूत्र-११५)।

'अहवे' त्यादि, तत्र समयो-वक्ष्यमाणस्वरूपः सर्वसूक्ष्मः कालांऽशः, स च सर्वप्रमाणानां प्रभवत्वात् प्रथमं निर्दिष्टः (१)। तैरसङ्ख्येयैर्निष्पन्ना आवलिका (२)। सङ्ख्येया आवलिका 'आण' त्ति—आणः, एक उच्छ्वास इत्यर्थः (३)। ता एव सङ्ख्येया निःश्वासः, अयं च सूत्रेऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः, स्थानान्तरप्रसिद्धत्वादिति (४)। द्वयोरपि कालः 'पाणु' त्ति-एकः प्राणुरित्यर्थः (५)। सप्तभिः प्राणुभिः स्तोकः (६)। सप्तभिः स्तोकैर्लवः (७)। सप्तसप्तत्या लवानां मुहूर्तः (८)। त्रिंशता मुहूर्तैरहोरात्रम् (९)। ते पञ्चदशभिः पक्षः (१०)। ताभ्यां द्वाभ्यां मासः (११)। मासद्वयेन ऋतुः (१२)। ऋतुत्रयमानमयनम् (१३)। अयनद्वयेन संवत्सरः (१४)। पञ्चभिस्तैर्युगम् (१५)। विंशत्या युगैर्वर्षशतम् (१६)। तद्दशभिर्वर्षसहस्रम् (१७)। तेषां शतेन वर्षशतसहस्रम्, लक्षमित्यर्थः (१८)। चतुरशीत्या च तैः पूर्वाङ्गं भवति (१९)—८४००००० । तदपि चतुरशीतिलक्षगुणितं पूर्वं भवति (२०), तच्च सप्ततिशत्कोटि-

लक्षाणि षट्पञ्चाशच्च कोटिसहस्राणि वर्षाणाम् उक्तं च— "पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु हुंति कोडिलक्खाउ। छप्पण्णं च सहस्सा, बोद्धव्वा वासकोडीण॥ १॥" स्थापना—७०५६०००००००००० । इदमपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटिताङ्गं भवति (२१)—५९२७०४००००० , अग्रे दश १० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं त्रुटितं भवति (२२)-४९७८७१३६०००००० अग्रे पञ्चदश १५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । तदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितमटटाङ्गम् (२३)—४१८२११९९२४०००००० अग्रे विंशति २० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । एतदपि तेनैव गुणकारेण गुणितमटटम् (२४)—३५१२९९८०३१६१६०००००० अग्रे पञ्चविंशति २५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। एवं सर्वत्र पूर्वः पूर्वो राशिश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण गुणित उत्तरोत्तरराशिरूपतां प्रतिपद्यत इति प्रतिपत्तव्यं, ततश्च-अववाङ्गम् (२५)—२९५०९०३४६५५७४४०००००० अग्रे त्रिंशत् ३० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अववम् (२६)-२४७८७५८९११०८२४९६०००००० अग्रे पञ्चत्रिंशत् ३५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । हूहुकाङ्गम (२७)-२०८२१५७४८५३०९२९९६४०००००० अग्रे चत्वारिंशत् ४० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। हूहुकम् (२८)-१७४९०१२२८७६५९८०९१७७६०००००० अग्रे पञ्चचत्वारिंशत् ४५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। उत्पलाङ्गम् (२९)-१४६९१७०३२१६३४ ३९७०९१८४०००००० अग्रे पञ्चाशत् ५० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । उत्पलम् (३०)-१२३४१०३०७०१७२७९१३४५७१४५६०००००० अग्रे पञ्चपञ्चाशत् ५५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । पद्माङ्गम् (३१)—१०३६६४९५७८९४११९५३८८००२३०४०००००० अग्रे षष्टि ६० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। पद्मम् (३२)-८७०७८३१२८३१३९००४१२५९२११९३५३६०००००० अग्रे पञ्चषष्टि ६५शून्यान्यन्यानि स्थाप०। नलिनाङ्गम् (३३)—७३१४५७८२९१०३१७९३४९५७७४४२५७०२४०००००० अग्रे सप्तति ७० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। नलिनम् (३४)-६१४४४२४५७३९२७०८८१३११२५०५१७५१००१६०००००० अग्रे पञ्चसप्तति ७५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । अर्थनिपूराङ्गम (३५)-५१६११९६४२०९८५४०३०१४५०४३४७७५९१३४४०००००० अग्रे अशीति ८० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अर्थनिपूरम् (३६)-[illegible]९६०००००० अग्रे पञ्चाशीति ८५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। अयुताङ्गम् (३७)-[illegible]४०००००० अग्र नवति ९० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । अयुतम् (३८)-[illegible]०००० अग्रे पञ्चनवति ९५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। नयुताङ्गम् (३९)-[illegible]०००० अग्रे शत १०० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि। नयुतम् (४०)-[illegible]०००० अग्रे पञ्चोत्तरशत-

१-सप्तत्यं अन्तराद्ध्या।

१ [illegible]

कशत १०४ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । प्रयुताङ्गम् (४१)—१८१३१०७६०४४३५५१८४६८७६१००६००६४६०३६६-११०६१४५१६०४००००० अग्रे दशाधिकशत ११० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । प्रयुतम् (४२)—१५०३०१०३८७८-०६८३५५३८६५६२४७५६५४२६७३०७३३१६८१६५६६३६००० ०० अग्रे पञ्चदशाधिकशत ११५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । चूलिकाङ्गम् (४३)-१२७६३२८७२५७६०२६१८५२ ७२५७६७६५४६५८३५५४६५८६१२८३६३५६२४०००००० अग्रे विंशत्यधिकशत १२० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । चूलिका (४४)-१०७४६३६१२६६३८६१६६५६२८६६४५०६११-६५१०२११६५३३४७७४१३०८४१६००००० अग्रे पञ्चविंशत्यधिकशत १२५ शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि । शीर्षप्रहेलिकाङ्गम् (४५)-६०२६६४३४८८६६४४०७६३२८३३०१८५-१३७८६८६१६७८७६७२१०२६६६०६६४५००००० अग्रे त्रिंशदधिकशत १३० शून्यानि अन्यानि स्थापनीयानि ।) एवमेते राशयश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण यथोत्तरं वृद्धा द्रष्टव्यास्तावद् यावदिदमेव शीर्षप्रहेलिकाङ्गम् चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितं शीर्षप्रहेलिका भवति (४६) अस्याः स्वरूपमङ्कतोऽपि दर्श्यते-७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५५५१-५८०६६४०६२१८६६५६६२६७२१८३२६६ अग्रे च चत्वारिंशं शून्यशतम् १४०, तदेव शीर्षप्रहेलिकायां सर्वाण्यमूनि चतुर्णवत्यधिकशतसंख्यानि १६४ अङ्कस्थानानि भवन्ति, अनेन चैतावता कालमानेन केषाञ्चिद् रत्नप्रभानारकाणां भवनपतिव्यन्तरसुराणां सुषमदुष्षमारकसंभविनां नरतिरश्चां च यथासंभवमायूंषि मीयन्ते, एतस्माच्च परतोऽपि संख्येयः कालोऽस्ति, किन्त्वनतिशायिनामसंव्यवहार्यत्वात्स एषोपमया ऽत्रैव वक्ष्यमाणत्वाच्च नेहोक्तः, किं तर्हि ?, उपमामात्रप्रतिपाद्यानि पल्योपमादीन्येव, तत्र पल्योपम-सागरोपमे ४७, ४८, अत्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपे दशसागरोपमकोटाकोटिमाना त्ववसर्पिणी ४६, तावन्मानैवोत्सर्पिणी ५०, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः पुद्गलपरावर्त ५१ अनन्तास्तेऽतीताद्धा ५२, तावन्मानैवाऽनागताद्धा ५३ अतीतानागतवर्त्तमानकालस्वरूपा सर्वाऽद्धेति ५४, एषा पूर्वानुपूर्वी । शेषभावना तु पूर्वोक्तानुसारेण सुकरैव यावत्कालानुपूर्वी समाप्ता ।

(६) साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टामेवोत्कीर्त्तनानुपूर्वीं विभणिषुराह—

से किं तं उक्कित्तणाणुपुव्वी ?, उक्कित्तणाणुपुव्वी तिविहा पएणत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-उसभे १, अजिए २, संभवे ३, अभिणंदणे ४, सुमती ५, पउमप्पहे ६, सुपासे ७, चंदप्पहे ८ सुविही ६, सीतले १०, सेज्जंसे ११, वासुपुज्जे १२, विमले १३, अणंते १४, धम्मे १५, संती १६ कुंथू १७, अरे १८, मल्ली १६, मुणिसुव्वते २०, नमी २१, अरिट्ठनेमी २२, पासे २३, वद्धमाणे २४, । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी-वद्धमाणे ०जाव उसभे । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए चउवीसगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो सेत्तं । अणाणुपुव्वी । सेत्तं उक्कित्तणाणुपुव्वी । (सूत्र-११६)

'से किं तमि' त्यादि । उत्कीर्त्तनं-संशब्दनम्-अभिधानोच्चारणम्, तस्यानुपूर्वी—अनुपरिपाटिः सा पूर्वानुपूर्व्यादिभेदेन त्रिविधा, तत्र ऋषभः प्रथममुत्पन्नत्वात्पूर्वमुत्कीर्त्यते, तदनन्तरं क्रमेण अजितादय इति पूर्वानुपूर्वी, शेषभावना तु पूर्ववद् । अत्राह—ननु औपनिधिक्या द्रव्यानुपूर्व्या अस्याश्च को भेदः ?, उच्यते-तत्र द्रव्याणां विन्यासमात्रमेव पूर्वानुपूर्व्यादिभावेन चिन्तितम्, अत्र तु तेषामेव तथैवोत्कीर्त्तनं क्रियते, इत्येतावन्मात्रेण भेद इति, भवत्वेवं, किन्त्वावश्यकस्य प्रस्तुतत्वादुत्कीर्तनमपि सामायिकाद्यध्ययनानामेव युक्तम्, किमित्यप्रक्रान्तानाम् ऋषभादीनां, तत्क्रियते इति ?, सत्यं, किंतु-सर्वव्यापकं प्रस्तुतशास्त्रमित्यादावेवोक्तं, तद्दर्शनार्थमृषभादिसूत्रान्तर्गोपादानं भगवतां च तीर्थप्रणेतृत्वात्तत्स्मरणस्य समस्तश्रेयःफलकल्पपादपत्वात् युक्तं तन्नामोत्कीर्त्तनं, तद्विषयत्वेन चास्यानुपलक्षणत्वात् दन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति, शेषं भावितार्थं यावत् 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम् ।

इदानीं पूर्वोद्दिष्टामेव गणनाऽऽनुपूर्वीमाह—

से किं तं गणणाऽऽणुपुव्वी ?, गणणाऽऽणुपुव्वी तिविहा पएणत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी १, पच्छाणुपुव्वी २, अणाणुपुव्वी ३ । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-एगो, दस, सतं, सहस्सं, दससहस्साइं, सतसहस्सं, दससतसहस्साइं, कोडी, दसकोडीओ, कोडिसयं, दसकोडिसयाइं । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?, पच्छाणुपुव्वी-दसकोडीसयाइं०जाव एक्को । सेत्तं पच्छाणुपुव्वी । से किं तं अणाणुपुव्वी ?, अणाणुपुव्वी-एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए दसकोडिसतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो । सेत्तं अणाणुपुव्वी । सेत्तं गणणाणुपुव्वी । (सूत्र-११७)

'से किं तमि' त्यादि, गणनं-परिसंख्यानम्-एकं, द्वे त्रीणि, चत्वारि इत्यादि, तस्य आनुपूर्वी-परिपाटिर्गणनानुपूर्वी, अत्रोपलक्षणमात्रमुदाहर्त्तुमाह-'एग' त्यादि सुगमम् उपलक्षणमात्रं चेदमतोऽन्येऽपि संभवन्ति, संख्याप्रकारा अत्र द्रष्टव्या । उत्कीर्त्तनानुपूर्व्यां नाममात्रोत्कीर्त्तनमेव कृतम्, अत्र त्वेकादिसंख्याभिधानमिति भेदः । 'सेत्तमि' त्यादि निगमनम् ।

अथ प्रागुद्दिष्टामेव संस्थानानुपूर्वीमाह—

से किं तं संठाणाणुपुव्वी ?, संठाऽऽणाणुपुव्वी तिविहा पएणत्ता, तं जहा-पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी । से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?, पुव्वाणुपुव्वी-समचउरंसे निग्गोहमंडले, सादी, खुज्जे, वामणे, हुंडे । सेत्तं पुव्वाणुपुव्वी । से किं तं पच्छाणुपुव्वी ? पच्छाणुपुव्वी हुंडे

वा भवन्तु प्राणिनस्तेन तेन रूपेणेति भावा यथोक्ता एव तेषामानुपूर्वी परिपाटिर्भावानुपूर्वी, औदयिकादीनां तु स्वरूपं पुरस्तात् स्वस्थानेऽवक्ष्यते. अत्र च नारकादिगतिरौदयिको भाव इति वक्ष्यते, तस्यां च सत्यां शेषा भावाः सर्वेऽपि यथासम्भवं प्रादुर्भवन्तीति शेषभावाऽऽधारत्वेन प्रधानत्वादौदयिकस्य प्रथममुपन्यासः, ततश्च शेषभावपञ्चकस्य मध्ये औपशमिकस्य स्तोकविषयत्वात् स्तोकतया प्रतिपादयिष्यत इति तदनन्तरमौपशमिकस्य, ततो बहुविषयत्वात् क्षायिकस्य, ततो बहुतरविषयत्वात् क्षायोपशमिकस्य, ततो बहुतमविषयत्वात्पारिणामिकस्य, ततोऽप्येषामेव भावानां द्विकादिसंयोगसमुत्थत्वात्सान्निपातिकस्योपन्यास इति पूर्वानुपूर्वीक्रमसिद्धिरिति । शेषं पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयम् । तदेवमुक्ताः प्रागुद्दिष्टा दशाप्यानुपूर्वीभेदाः, तद्भणने चोपक्रमप्रथमभेदलक्षणा आनुपूर्वी समाप्ता । अनु० ।

आणोह-आज्ञौघ-पुं० । सम्यग्दर्शनविकले आज्ञामात्रे, पञ्चा० । "आणोहेणाऽणंता, मुक्का" ॥ ४८× ॥ पञ्चा० । आज्ञाया-आप्तोपदेशस्यौघः-सामान्यमाज्ञौघः सम्यग्दर्शनविकलमाज्ञामात्रमित्यर्थः । तेन सताऽपीति गम्यम् अनन्तानि अनन्तसंख्यानि मुक्तानि-त्यक्तानीति । पञ्चा० १४ विव० ।

आतं (यं) क-आतङ्क-पुं० । 'तकि' कृच्छ्रजीवने, आतङ्कनमातङ्कः । आ तकि-घञ् । कृच्छ्रजीवने, (दुःखे) आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । नरकादिदुःखे च । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । तच्च द्विविधम्-शारीरं, मानसं च । तत्राद्यम्-कटुकक्षारशस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थम्, मानसं प्रियविप्रयोगाऽप्रियसम्प्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिकृतम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । यदि वा-आतङ्को द्विधा-द्रव्यभावभेदात् । (स च 'आत(यं)कदंसि' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव दर्शयिष्यते) रोगे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । उत्त० । को० । अनु० । आ-ईषदपि सर्वात्मप्रदेशाऽभिव्याप्त्या तङ्कयन्ति-कृच्छ्रजीवितमात्मानं कुर्वन्तीत्यातङ्काः । सद्योघातिनि रोगविशेषे उत्त० १० अ० । "आयङ्को जरमाई" ॥ १४३२+ ॥ आतङ्को-ज्वरादिः सद्यो घाती रोगः । प्र०व० ५ द्वार । उत्त० "आसुघाइ आतंको" आव० ४ अ० । स्था० । प० सू० । आ० चू० । जी० । उत्त० । प्रव० । रा० । आ० म० । दर्श० । "आतंका विविहा फुसंति" ॥ ?८+ ॥ आतङ्काः-रोगपरीषहाः स्पृशन्ति । उत्त० २१ अ० । आतङ्क-कृच्छ्रजीवितकारी ज्वरादिकः । भ० १६ श० २ उ० । 'उयाहु ते आतंका फुसंति' (सूत्र-१४७×) । आतङ्का-आशुजीवितापहारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः स्पृशन्ति-अभिभवन्ति-पीडयन्ति । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । उत्त० । भ० । ज्ञा० । सूत्र० । स्था० । 'दीहकालिएणं रोगातंकेणं' (सूत्र-१२५+) । आतङ्क-कृच्छ्रजीवितकारी सद्योघाती शूलादि । स्था० ३ ठा० १ उ० । ज्ञा० । प्रश्न० । आतङ्का-सद्योघातिनः शूलादिका रोगाः । स्था० । भ० । 'आयंके से वहाय होइ ॥६॥' (सूत्र-१×) । आतङ्क-सद्योघाती विशूचिकादिको रोगस्तस्य गृहिणो धर्मबन्धुरहितस्य वधाय-विनाशाय भवति । दश० १ चू० ।

ते चोत्तराध्ययने दर्शिता यथा—

अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते ।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

हे गौतम ! 'ते' तव विविधा-नानाप्रकारा आतङ्का रोगाः शरीरं स्पृशन्ति ते के? अरतिः आतङ्का-अरतिश्चतुरशीतिविविधवातोद्भूतचित्तोद्वेगो; वातप्रकोप इत्यर्थः । गण्ड-रुधिरप्रकोपोद्भूतस्फोटकः । विशूचिका-अजीर्णोद्भूतवमनाध्मातविरेचादि सद्यो मृत्युकृत् रुक्, इत्यादयो रोगा-आतङ्का देहं पीडयन्ति, तैः रोगैः पीडिते शरीरे सति धर्माराधनं दुष्करं ते शरीरं रोगाभिभूतं सत् विपतति, विशेषेण बलापचयात् नश्यति, पुनः शरीरं 'ते' तव विध्वस्यते जीवमुक्तं सत् विशेषेण अधः पतति, अत्र सर्वत्र यद्यपि 'ते' तव इत्युक्तं गौतमे च केशपाण्डुरत्वादि इन्द्रियाणां हानिश्च न संभवति तथापि तन्निश्रया अपरशिष्यादिवर्गप्रतिबोधार्थमुक्तं दोषाय न भवति, तथा च प्रमादो न विधेयः । उत्त० १० अ० । रोगाः-अकालमहाव्याधयः आतङ्कास्त एव सद्योघातिन इति । औ० । आतङ्क-रोगयोर्विशेषो यथा—स्यात् केरिसो रोगो, केरिसो वा आतङ्कस्तत उच्यते ।

गाहा—

गंडी कोढं खइयादी, रोगा कासादितो तु आतंको ।
दीहरुया वा रोगो, आतङ्को आसुघाती य ॥ २१६ ॥

(अस्या गाथाया व्याख्या 'पलब' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यते । बृ० १ उ० २ प्रक० ।) । नि० चू० । आतङ्को ज्वरादिस्तद्योगादातङ्किनोऽप्यातङ्काः । आतङ्किनि, पिं० । संतापे, सन्देहे, मुरजशब्दे, भये च । वाच० ।

आतं (यं) कदंसि (न्)-आतङ्कदर्शिन्-पुं० । 'तकि' कृच्छ्रजीवने, आतङ्कनमातङ्कः कृच्छ्रजीवन-दुःखं तच्च द्विविधम्-शारीरं, मानसं च । तत्राद्य-कटुकक्षारशस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थम्, मानसं प्रियसंप्रयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिकृतम् । एतदुभयमातङ्कं पश्यति तच्छीलश्चेत्यातङ्कदर्शी । अवश्यमेतदुभयमपि दुःखमभ्यापततीत्येव जानाति आचा० ।

(तथा च वायुकायसमारम्भमधिकृत्य)—

आयंकदंसी अहियंति णच्चा । (सूत्र-५६ +)

अवश्यमेतदुभयमपि दुःखमापतति मत्वानिवृत्तवायुकायसमारम्भे ततश्च तद्वायुकायसमारम्भमातङ्कहेतुभूतमहितमिति ज्ञात्वैतस्मान्निवर्त्तते प्रभुर्भवतीति । यदि वा-आतङ्को द्विधा-द्रव्य-भावभेदात् । तत्र द्रव्यातङ्के इदमुदाहरणम्-

"जंबुद्दीवे दीवे, भारहवासम्मि अत्थि सुपसिद्धं ।
बहुणयरगुणसमिद्धं, रायगिहं णाम णयरं ति ॥ १ ॥
तत्थासि गरुयदरिया-रिमद्दणो भुवणनिग्गयपयावो ।
अभिगयजीवाजीवो, राया णामेण जियसत्तू ॥ २ ॥
अणवरयगरुयसंवे-गभाविओ धम्मघोसपामूले ।
सो अन्नयाकयाई, पमाइए पासए सेहे ॥ ३ ॥
चोइज्जनमभिक्खं अवराहे न पुणो वि कुणमाणे ।
तस्स हिअट्ठ राया, वेज्जाण य रक्खणट्ठाए ॥ ४ ॥

आयरियाणुगएणाए, आणावइ सो उ णियपुरिसेहिं ।
तिण्हुक्कडदव्वेहिं सचिय पुव्वं नहिं खार ॥ ५ ॥
पक्खित्ता जत्थ खणे, णवर दोगोहमेत्तकालेण ।
णिज्जिण्णगंमसोणिय-अट्ठिऽवसेसत्तणमुवेइ ॥ ६ ॥
दो नाह पुव्वमए, पुरिसे आणाविए तहिं पया ।
एग गिहत्थवेसं, बीय पासंडिणेवत्थं ॥ ७ ॥
पुव्वं वि य सिक्खविए, ते पुरिसे पुच्छए तओ राया ।
अवराहो एएसिं, भणंति आण अइक्कमइ ॥ ८ ॥
पासंडिओ जहुत्त-ण वट्टई अत्तणो य आयारे ।
पक्खिवह खारमज्झे, खित्ता गोदोहमेत्तस्स ॥ ९ ॥
दट्ठूणऽट्ठिऽवसेसं, ते पुरिसे अलियरोसरत्तच्छो ।
सेह आलायंतो, राया तो भणइ आयरियं ॥ १० ॥
तुम्ह वि कोऽवि पमादी,
सासेमि य तं पि णऽत्थि भणइ गुरू ।
जइ होहिइ तो साहे,
तुम्ह चिय तस्स जाणिहिह ॥ ११ ॥
सेहो गए णिवंमि, भणइ ते साहुणो उण पुण ति ।
हा हं पमायसीलो, तुम्ह सरणागओ धणियं ॥ १२ ॥
जइ पुण होज्ज पमाओ, पुणो मम सइभावरोहयस्स ।
तुम्हे गुरुहिं सुविहिय, तो सायगरक्खसामुहं ॥ १३ ॥
आयकमउविग्गो, नाहे सो णिक्कउक्कुसो जाओ ।
कोविय मती य-समए, दुहा नरिसाविओ गच्छा ॥ १४ ॥
इहआयंकाऽऽदंसी अत्ताण सव्वहा णियत्तेइ ।
अहियारभा उ सया, जह सीसो धम्मघोसस्स ॥ १५ ॥"

भावातङ्काऽऽदर्शी तु नरकातिर्यग्मनुष्यामरभवेषु प्रियविप्रयोगादिशारीरमानसाऽऽतङ्कभीत्या न प्रवर्तते वायुसमारम्भे । अपि तु-अहितमेतद्वायुसमारम्भणमिति मत्वा परिहरति । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

आयंकदंसी न करेइ पावं ॥४+॥ (सूत्र-१११)

आतङ्को-नरकादिदुःख तदृष्टुं शीलमस्येत्यातङ्कदर्शी स 'पाप' पापानुबन्धि कर्म न करोति. उपलक्षणार्थत्वान्न कारयति नानुमन्यत इति । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

आतं(य) कविव्वास-आतङ्कविपर्यास-पुं० । आगाढे अनागाढकरणे । आयंकविव्वासो नाम-आगाढे अहिदट्ठाइ, अणागाढं करेइ त्ति । पं० चू० ४ कल्प ।

आतं (यं) कसंपओगसंपउत्त-आतङ्कसंप्रयोगसंप्रयुक्त-त्रि० । आतङ्को-रोगस्तस्य सम्प्रयोग -सम्बन्धस्तेन सम्प्रयुक्त सम्बन्धो य स तथा । आतङ्कसम्बद्धे, "आतकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगे सति समण्णागए यावि भवइ ३ ।" (सूत्र-४४७+) (अयं चार्तध्यानस्य तृतीयो भेदस्तद्व्याख्या'अ(ट्ट)ज्झाण' शब्दे प्रथमभागे गता) स्था० ४ ठा० १ उ० । ग० । औ० ।

आत (यं) कि (न्)-आतङ्किन्-पुं० । रोगिणि, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

आतं (यं)चणिया-आतंचनिका-स्त्री० । कुम्भकारभाजने, भ० । "आयचणिओदएण गाताइं परिसिंचमाणे विहरइ" (सूत्र-५५३+) । 'आयचणिओदएण' ति-इह आतञ्चनिकोदक-कुम्भकारस्य भाजन स्थितं तेमनाय मृन्मिश्र जल तेन । भ० १५ श० ।

आतंऽ(यं) तकर-आत्मान्तकर-पुं० । आत्मनोऽन्तम्-अवसानं भवस्य करोतीत्यात्मान्तकर । प्रत्येकबुद्धादिके, स्था० ४ ठा० २ उ० । आत्मनोऽन्त-मरण करोतीत्यात्मान्तकर । आत्मवधके स्था० ४ ठा० २ उ० । "आयतकरे णाममेगे णो परंतकर" (सूत्र-२८७) स्था० ४ ठा० २ उ० ।

आतं (यं)तम-आत्मतम-पु० । आत्मानं तमयति-खेदयतीत्यात्मतम । आचार्यादिके आत्मखेदयितरि, स्था० । आत्मैव तम -अज्ञान, क्रोधो वा यस्य स आत्मतमा । अज्ञानात्मनि, क्रोधात्मनि च । स्था० । 'आयतमे णाममेगे णो परंतमे" (सूत्र-२८७+) स्था० ४ ठा० २ उ० ।

आतं (यं) दम-आत्मदम-पु० । आत्मानं दमयति-शमवन्त करोति-शिक्षयतीति वेत्यात्मदम । आचार्ये, स्था० । अश्वदमकादौ च । "आयदमे णाममेगे णो परंदमे" (सूत्र-२८७+)। स्था० ४ ठा० २ उ० ।

आत (यं) ब-आताम्र-त्रि० । ईषद्रक्ते, जं० २ वक्ष० । औ० । "आयंबतलिणसुइरुइलनिद्धनक्खा" (सूत्र-१४७) । आताम्रा -ईषद्रक्तास्तलिना -प्रतला शुचय -पवित्रा रुचिरा दीप्ता स्निग्धा-अरूक्षा नखाः-कररुहा येषा ते आताम्रतलिनशुचिरुचिरस्निग्धनखा । जी० ३ प्रति०४ अधि०२ उ० ।

आतं (यं) बज्झयण-आताम्राऽध्ययन-न० । सूर्यस्याग्रमहिष्या आताम्राया वक्तव्यताप्रसिद्धे ज्ञाताधर्मकथाया द्वितीयश्रुतस्कन्धसप्तमवर्गस्य द्वितीयेऽध्ययने, ज्ञा० २ श्रु० ७ वर्ग १ अ० ।

आतं (यं) भरि-आत्मम्भरि-त्रि० । आत्मानं बिभर्ति भृ-खि-मुम्-च उप० स० । स्वोदरमात्रपूरके, । देवतातिथ्यनादरेणात्मपोषकत्वात्तस्य तथात्वम् । "आत्मम्भरिस्त्वं पिशितैर्नराणाम्" भट्टि । वाच० । आत्मानं बिभर्ति-पुष्णातीति आत्मम्भरि । स्वार्थकारके, स्था० । "आयंभरे णाममेगे णो परंभरे" (सूत्र-३२७+) । आत्मम्भरि प्राकृतत्वात् 'आयंभरे' । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

आत (य) कम्म(न्)-आत्मकर्मन्-त्रि० । ६ त० । आत्मन -स्वस्य कर्तव्य कार्ये, " आत्मकर्मक्षम देह क्षात्रो धर्म इवाश्रित ।" रघु । वाच० । ज्ञानावरणादिके आत्मकृतकर्मणि, भ० "किं आयकम्मुणा उववज्जति ?, परकम्मुणा उववज्जति " (सूत्र-६८६+) । भ० २० श० १० उ० ।

आत (य) गवेसय-आत्मगवेषक-त्रि० । आत्मानं कर्ममलापहारेण शुद्ध गवेषयतीत्यात्मगवेषक. । उत्त० १५ अ० । आत्मान कर्मविगमाच्छुद्धस्वरूप गवेषयति-कथमयमित्थंभूतो भवेदित्यन्वेषयते य. स आत्मगवेषक. । कर्मविगमाच्छुद्धस्वरूपस्यात्मनोऽन्वेषके, उत्त०पाई० १५ अ० । "सोहए आयगवेसए स भिक्खू" ॥ ५ ४ ॥ उत्त० १५ अ० ।

आत (य) गय-आत्मगत-त्रि० । आत्मनि गतमात्मगतम् । आत्मगे, सूत्र० ।

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणे णाहंसु ॥२०॥

सलोकनीय-संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कञ्चनाऽनगारं-साधुमात्मनि, गतमात्मगतम्; आत्मज्ञमित्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

आत (य) गुत्त-आत्मगुप्त-त्रि०। आत्मा-शरीरम् आत्मशब्दस्य शरीरवचनस्यापि दर्शनात्, उक्तं हि-"धर्मधृत्यग्निधीन्द्वर्क-स्वकूनरवस्वार्थदेहिषु। शीलाऽनिलमनोयत्नै-र्कवीर्येष्वात्मनः स्मृतिः॥१॥" इति तेन गुप्त आत्मगुप्तो न यतस्ततः करचरणादिविक्षेपकृत्, इतस्ततः करचरणाऽविक्षेपक, यद्वा-गुप्तो रक्षितोऽसंयमस्थानेभ्य आत्मा येन स तथा। उत्त०पाई० १५ अ०। असंयमस्थानेभ्यो रक्षितात्मनि, आत्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। मनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। मनोवाक्कायगुप्ते, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। इन्द्रिय-नोइन्द्रियात्मना गुप्त आत्मगुप्तः। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। आत्मना-मनोवाक्कायरूपेण गुप्त आत्मगुप्तः। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। मनोवाक्कायात्मना गुप्तः, "आयगुत्ते सयावी(धी)रे ॥१॥" (सूत्र-११६४)। "आयगुत्ते सया दंते" ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

(आत्मगुप्तस्य फलमाह)—

कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥ २१ ॥

साधूद्देशेन यद् अपरै-रनार्यकल्पैः कृतम्-अनुष्ठित पापकं कर्म तथा वर्त्तमाने च काले क्रियमाणं तथाऽऽगामिनि च काले यत्करिष्यते तत्सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुजानन्ति नानुमोदन्ते तदुपभोगपरिहारेणेति भावः। यच्चात्मार्थं पापकं कर्म परैः कृतं, क्रियते, करिष्यते च। तद्यथा-शत्रोः शिरश्छिन्नं, छिद्यते, छेत्स्यते वा, तथा चौरो हतो, हन्यते, हनिष्यते वा, इत्यादिकं परानुष्ठानं नाऽनुजानन्ति-न च बहु मन्यन्ते, तथाहि। यदि परः कश्चिदशुद्धेनाहारेणोपनिमन्त्रयेत्तमपि नानुमन्यत इति। कएवंभूता भवन्तीति दर्शयति-आत्माऽकुशलमनोवाक्कायनिरोधेन गुप्तो येषां ते तथा, जितानि-वशीकृतानि इन्द्रियाणि-श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा एवंभूताः पापकर्म नाऽनुजानन्तीति स्थितम्। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

गुप्तात्मन्-त्रि०। गुप्तः-असंयमस्थानेभ्यो रक्षित आत्मा येन स गुप्तात्मा प्राकृतत्वाद्विपर्ययः। असंयमस्थानेभ्यो रक्षितात्मनि, उत्त० १५ अ०। आत्मना गुप्तः। स्वशक्त्यैव रक्षिते लताभेदे, स्त्री०। तस्याः स्पर्शेन हि अतिकण्डूयनदु:खं भवति तद्भयाज्जन्यैर्न सा स्पृश्यत इति तस्या आत्मगुप्तत्वम्। वाच०।

आत (य) छट्ठवाइ (न्)-आत्मषष्ठवादिन्-पुं०। आत्मा षष्ठो येषां तान्यात्मषष्ठानि भूतानि विद्यन्त इत्येवं वादिनि साङ्ख्यादौ, सूत्र०।

साम्प्रतमात्मषष्ठवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह—

संति पंचमहाभूया, इह मेगेसिं आहिया।

आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥१५॥

शाश्वतत्वमेव भूय प्रतिपादयितुमाह—

दुहओ ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतीभावमागया ॥ १६ ॥

सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (अनयोर्गाथयोर्व्याख्यानम् 'आयछट्ठ' शब्दे प्रथमभागे ४०२ पृष्ठे गतम्।)

आत (य) जस (स्)-आत्मयशस्-न०। आत्मसंबन्धिनि यशसि, यशोहेतुभूते संयमे च। भ०। "जीवा किं आयजसं उववज्जंति" (सूत्र-८६७+)। 'आयजसेणं' ति-आत्मनः संबन्धि यशो यशोहेतुत्वाद्यशः-संयम आत्मयशस्तेन (भ०) 'आयजसं उवजीवंति' त्ति-आत्मयशः-आत्मसंयममुपजीवन्ति-आश्रयन्ति, विदधतीत्यर्थः। भ०४१ श०।

आत (य) जोगि (न्)-आत्मयोगिन्-पुं०। आत्मनो योगः कुशलमनःप्रवृत्तिरूप आत्मयोगः स यस्यास्ति। सदा धर्मध्यानावस्थिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

आत (य) ट्ठ (अप्पणट्ठ)-आत्मार्थ-पुं०। आत्महिते, "आयट्ठं" (सूत्र-६६ + टी०)। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। आत्मनोऽर्थ आत्मार्थः। ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, आत्मने हितम्-प्रयोजनमात्मार्थम्। चरित्रानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

आयतट्ठ (अप्पणट्ठ)-आयतार्थ-पुं०। आयतः-अपर्यवसानान्मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थः। मोक्षात्मके प्रयोजने, आयतो-मोक्षः अर्थ-प्रयोजनं यस्य सः। मोक्षप्रयोजनके दर्शनादिके, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। आत्मनिमित्त, "अप्पणट्ठा परट्ठा वा" (सूत्र-१३ +)। आत्मार्थमात्मनिमित्तम्। दश० ६ अ० २ उ०।

(आत्मार्थश्चावश्यमुपासनीयः)—

अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं ॥ ६२ ॥

आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०। (अस्य व्याख्या 'आउ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे प्राग् दर्शिता)

येऽपि दीर्घायुष्कस्थितिका उपक्रमणकारणाभावे आयुःस्थितिमनुभवन्ति तेऽपि मरणादप्यधिकां जराभिभूतविग्रहा जघन्यतरामवस्थामनुभवन्तीति तद्यथेत्यादिना दर्शयति-

तं जहा-सो य परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं रसणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं फासपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिकंतं च खलु वयं सपेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति ॥ ६३ ॥

'सो य परिण्णाणेहिं' इत्यादि। तत स एकदा मूढभाव जनयतीति। यावत् शृणोति भाषापरिणतान् पुद्गलानिति श्रोत्रं, तच्च कदम्बपुष्पाऽऽकार द्रव्यतो, भावतो भाषाद्रव्यग्रहणलब्ध्युपयोगस्वभावमिति, तेन श्रोत्रेण परि.-समन्ताद् घटपटशब्दाऽऽदिविषयाणि ज्ञानानि-परिज्ञानानि तैः श्रोत्रपरिज्ञानैर्जराप्रभावात्परिहीयमाने सद्भिस्ततोऽसौ प्राणी एकदा-वृद्धावस्थायाम्-रोगाद्यावसरे वा मूढभावम्-मूढता कर्त-

१-नोइन्द्रियशब्देन मनः गृह्यते।

व्याऽकर्त्तव्यज्ञनामिन्द्रियपाटवाभावादात्मनो जनयतिः हिताऽहितप्राप्तिपरिहारविवेकशून्यतामापद्यत इत्यर्थः । जनयन्तीति विवेकवचनावसरे निर्दा निद्रो भवन्ति " इति बहुवचनमकारि, अथवा-तानि वा श्रोत्रविज्ञानानि परिहीयमाणान्यात्मन सदसद्विवेकशून्यतामापादयन्तीति, श्रोत्रादिविज्ञानानां च तृतीया प्रथमार्थे सुपव्यत्ययेन द्रष्टव्येति, एवं चक्षुरादिविज्ञानेष्वपि योज्यम् । अत्र च करणत्वमिन्द्रियाणामेव सर्वत्र द्रष्टव्यम्—श्रोत्रेणात्मनो विज्ञानानि चक्षुषात्मना विज्ञानानीति । (आचा०) अत्र च 'सोयपरिन्नाणेहिं परिहायमाणेहिं' त्यादि, य उत्पत्ति प्रति व्यत्ययेनेन्द्रियाणामुपन्यास स एवमर्थं द्रष्टव्यः-इह संज्ञिन पञ्चेन्द्रियस्य उपदेशदानेनाधिकृतत्वादुपदेशश्च श्रोत्रेन्द्रियविषय इति कृत्वा तत्पर्याप्तौ च सर्वेन्द्रियपर्याप्ति सूचिता भवति । श्रोत्रादिविज्ञानानि च वयोऽतिक्रमे परिहीयन्ते, तदाह—'अभिक्कंतमि'त्यादि. अथवा-श्रोत्रादिविज्ञानैरपचितैः करणभूतैः सद्भि 'अभिक्कंतं च खलु वयसपेहाए' तत्र प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था-यौवनादिर्वय तज्जरामभि मृत्युं वा क्रान्तमभिक्रान्तम् , इह हि चत्वारि वयांसि कुमारयौवनमध्यमवृद्धत्वानि, उक्त च— 'प्रथमे वयसि नाधीत, द्वितीये नार्जितं धनम् । तृतीये न तपस्तप्त, चतुर्थे किं करिष्यति " ॥ १ ॥ तत्राद्यवयोद्वयातिक्रमे जराभिमुखमभिक्रान्त वयो भवति, अन्यथा वा त्रीणि वयांसि कौमारयौवनस्थविरत्वभेदाद् , उक्तं च-" पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने । पुत्राश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥१॥ " अन्यथा वा त्रीणि वयांसि बालमध्यमत्ववृद्धत्वभेदाद् , उक्तं च-' आषोडशाद्भवेद् बालो, यावत् क्षीरान्नवर्तक । मध्यम. सप्ततिं याव-त्परतो वृद्ध उच्यते ॥१॥" एतेषु वयस्सु सर्वेष्वपि या उपचयवत्यवस्था तामतिक्रान्ताऽतिक्रान्तवया इत्युच्यते, च समुच्चये, न केवल श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनविज्ञानैर्व्यस्तसमस्तैर्देशत सर्वतो वा परिहीयमानैर्वा मौढ्यमापद्यते, वयश्चातिक्रान्तं प्रेक्ष्य—पर्यालोच्य, ' स ' इति-प्राणी, खलुरिति विशेषणे विशेषेण अत्यर्थं मौढ्यमापद्यत इति, आह च-'ततो से' इत्यादि,'तत' इति-तस्मादिन्द्रियविज्ञानापचयाद् वयोऽतिक्रमणाद्वा 'स' इति-प्राणी 'एकदे' ति-वृद्धावस्थाया मूढभावो-मूढत्व किंकर्तव्यताभावमात्मनो जनयति, अथवा- से' तस्याऽसुभृत श्रोत्रादिविज्ञानानि परिहीयमाणानि मूढत्वभावं जनयन्तीति ।

स एव वार्द्धक्ये मूढस्वभाव. सन् प्रायेण लोकावगीतो भवतीत्याह—

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वि णं एगदा णियगा पुव्विं परिवयंति, सोऽवि ते णियए पच्छा परिवएज्जा, णाऽलं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णाऽलं ताणाए वा सरणाए वा, से ण हासाय ण किड्डाए ण रतीए ण विभूसाए । (सूत्र-६४)

'जेहिं वे' त्यादि वाशब्द उत्तरपक्षद्योतक । आस्ता तावत् अपरो लोका यै. पुत्रकलत्रादिभि सार्द्धं सह संवसति स एव भार्यापुत्रादयो णमिति वाक्यालङ्कारेण एकदेति-वृद्धावस्थाया ' णियगा ' आत्मीया ये तेन समर्थावस्थायां पूर्वमेव पोषितास्ते तं ' परिवदन्ति ' परि-समन्ताद्वदन्ति-यथाऽयं न म्रियते, नापि मञ्चक ददाति यदि वा-परिवदन्ति-परिभवन्तीत्युक्तं भवति, अथ वा-किमनेन वृद्धेनेत्येवं परिवदन्ति. न केवलमेषां तस्यात्मापि तस्यामवस्थायामवगीतो भवतीति, आह च-" वलिसन्ततमास्थिशेषितं, शिथिलस्नायुधृत कंड(ल)वरम । स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कान्ता कमनीयविग्रहा " ॥ १ ॥ गोपालबालाङ्गनादीनां च दृष्टान्तद्वारेणोपन्यस्तोऽर्थो बुद्धिमधितिष्ठतीत्यतस्तदाविर्भावनाय कथानकम्-कौशाम्ब्यां नगर्यामर्थवान् बहुपुत्रो धनो नाम सार्थवाहस्तेन चैकाकिना नानाविधैरुपायै स्वापतेयमुपार्जितम् तच्चाशेषेषु खिन्नबन्धुजनस्वजनमित्रकलत्रपुत्रादिभोग्यतां निन्ये, ततोऽसौ कालपरिपाकवशाद् वृद्धभावमुपगत सन् पुत्रेषु सम्यक्पालनोपचितकलाकुशलेषु समस्तकार्यचिन्ताभार निचिक्षेप । तैरपि वयमनेनेदृशीमवस्था नीताः सर्वजनाग्रे "सरा विहिता ' इति कृतोपकारा सन्त कुलपुत्रतामवलम्बमाना स्वत कश्चित् कार्यव्यासङ्गात् स्वभार्याभिस्तमकल्प वृद्ध प्रत्यजजागरन् ता अभ्युद्वर्तनस्नानभोजनादिना यथाकालमक्षुण्ण विहितवत्यस्ततो गच्छत्सु दिवसेषु वर्द्धमानेषु पुत्रभाण्डेषु प्रौढीभवत्सु भर्तृषु जरद्वृद्धे च विवशीकरणपरिचारे सर्वाङ्गकम्पिते गलद्दंशप्रथात्रासि सति शनै शनैरुचितमुपचारं शिथिलतां निन्यु असावपि मन्दप्रतिजागरणतया चित्ताभिमानेन विधुरतया च सुतरा दु खसागरावगाढ सन् पुत्रेभ्य स्नुषाणामुपालम्भाऽऽचचक्षे ताश्च स्वभर्तृभिः खिद्यमाना सुतरामुपचार परिहृतवत्य सर्वाश्च पर्यालोच्यैकवाक्यतया स्वभर्तृनभिहितवत्य. क्रियमाणेऽप्यस्य प्रतिजागरणे वृद्धभावाद्विपरीतबुद्धितयाऽपह्नुते , यदि भवतामप्यस्माकमुपर्यविस्रम्भस्ततोऽन्येन विश्वसनीयेन निरूपयत तेऽपि तथैव चक्रु , तास्तु तस्मिन्नवसरे सर्वा अपि सर्वाणि कार्याणि यथावसरं विहितवत्य , असावपि पुत्रै पृष्ट पूर्वविरूढितत्वेनास्तथैव ता अपवदति नैता मम किञ्चित्सम्यक् कुर्वन्ति, तैस्तु प्रत्ययैकवचनादवगतनत्वैर्यथायमुपचर्यमाणोऽपि वार्द्धक्याद् गेरुयते, ततस्तैरप्यवधीरिताऽन्यषामपि यथाऽवसरं तद्धण्डनस्वभावतामचचक्षिरे । ततोऽसौ पुत्रैरवधीरितः स्नुषाभि परिभूत. परिजनेनावगीतो वाङ्मात्रेणापि केनचिदप्यननुवर्त्यमान सुखितेषु दु खित कष्टतरामायु शेषामवस्थामनुभवतीति, एवमन्योऽपि जराभिभूतविग्रहस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थ सन् तादृशैकनिष्ठलोकात्परिभवमाप्नोतीति, आह-" गात्र सङ्कुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाश गता, दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते । वाक्यं नैव करोति बान्धवजन· पत्नी न शुश्रूषते, धिक्कष्ट जरयाऽभिभूतपुरुष पुत्रोऽप्यवज्ञायते"॥१॥ इत्यादि, तदेव जराभिभूत निजा परिवदन्त्यसावपि परिभूयमानस्तद्विरक्तत्वेनास्तदपवादान् जनायाऽऽचष्टे , आह च-' सो वा ' इत्यादि, वाशब्द पूर्वापेक्षया पक्षान्तर दर्शयति-ते वा निजास्त परिवदन्ति, स वा जराजर्जरितदेहस्तान्निजान् अन्तर्दोषोद्घट्टनतया परिवदेत्-निन्देद् ,

अथ वा-खिद्यमानार्थतया तानलाघवमायति, परिभवतीत्यर्थः। येऽपि पूर्वकृतधर्म्मवशास्तं वृद्धं न परिवदन्ति तेऽपि तद्दुःखाऽपनयनसमर्था न भवन्ति, आह च—'नालमि' त्यादि-नाऽलं-न समर्थास्ते पुत्रकलत्रादयस्तवेति। प्रत्यन्तभावमुपगतं वृद्धमाह—त्राणाय शरणाय वेति, तत्रापत्तरणसमर्थं त्राणमुच्यते, यथा महाश्रोतोऽभिरुह्यमानः सुकर्णधाराऽधिष्ठितं प्लवमासाद्याऽऽपस्तरतीति, शरणं पुनर्यदचष्टम्भान्निर्भयैः स्थीयते तदुच्यते, तत्पुनर्दुर्गं-पर्वतः पुरुषो वेति, एतदुक्तं भवति—जराभिभूतस्य न कश्चित् त्राणाय शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय शरणाय वेति, उक्तञ्च—" जन्मजरामरणभयै-रभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते। जिनवरवचनादन्य-त्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ १ ॥" इत्यादि, स तु तस्यामवस्थायां किंभूतो भवतीत्याह-'से ण हस्साए' इत्यादि, स जराजीर्णविग्रहो न हास्याय भवति, तस्यैव हसनीयत्वात्, न परान् हसितुं योग्यो भवतीत्यर्थः। स च समस्तः परांसं वा एवमभिधीयते जनैः-किं किलास्य हसितेन हास्यास्पदस्येति। न च क्रीडायै न च लङ्घनवल्गनास्फोटनक्रीडानां योग्योऽसौ भवति, नापि रत्यै भवति रतिरिह विषयगता गृह्यते सा पुनर्ललनावगूहनादिका, तथाभूतोऽप्यवजुगुप्सिषु स्त्रीभिरभिधीयते-न लज्जते भवान् पश्यति-आत्मानं नावलोकयति शिरःपलितभस्मावगुण्ठितं मां दुहितृभूतामेवं गूहितुमिच्छसीत्यादिवचसामास्पदत्वान्न रत्यै भवति, न विभूषायै, यतो विभूषितोऽपि प्रततचर्म्मवलिकः स नैव शोभनः, उक्तञ्च—

" न विभूषणमस्य युज्यते, न च हास्यं कुत एव विभ्रमः।
अथ तेषु च वर्त्तते जनो, ध्रुवमायाति परां विडम्बनाम्"॥१॥
" जं ज करेइ त तं, न सोहए जोव्वणे अतिक्कन्ते।
पुरिसस्स महिलियाए, एक्कं धम्मं पमुत्तूणं " ॥ २ ॥

गतमप्रशस्तं मूलस्थानम्। सांप्रतं प्रशस्तमुच्यते—

इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए वओ अच्चेति जोव्वणं व। (सूत्र-६५)

अथ वा-यत एवं ते सुहृदो नाऽलं त्राणाय शरणाय वा अतः किं विदध्यादित्याह-'इच्चेवमि' त्यादि, इतिरुपप्रदर्शने, अप्रशस्तमूलगुणस्थाने वर्त्तमानो जराभिभूतो न हास्याय न क्रीडायै न रत्यै न विभूषायै प्रत्येकं च शुभाशुभकर्म्मफलं प्राणिनामित्येवं मत्वा, समुत्थितः—सम्यगुत्थितः शल्यपरित्यक्तो मूलगुणस्थानमधितिष्ठन् 'अहो' इत्याश्चर्ये विहरणं विहार आश्चर्यभूतो विहारोऽहोविहारो यथोक्तसंयमानुष्ठानं तस्मै अहोविहारायोत्थितः सन् क्षणमपि नो प्रमादयेदित्युत्तरेण सण्टङ्कः। किं च-'अन्तरं चे' त्यादि, अन्तरमिति-अवसरस्तच्चार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिबोधिलाभसर्वविरत्यादिकं, च समुच्चये, खलुरवधारणे, इममिति अनेनेदमाह-विनेयस्तप संयमादावचसीदन् प्रत्यन्तभावापन्नमार्यक्षेत्रादिकमन्तरमवसरमुपदर्श्याभिधीयते—तवायमेवंभूतोऽवसरोऽनादौ संसारे पुनरतीव सुदुर्लभः एवेति, अतस्तमवसरं संप्रेक्ष्य-पर्यालोच्य धीरः सन् मुहूर्त्तमप्येकं नो प्रमादयेत्-नो प्रमादवशगो भूयादिति संप्रेक्ष्येत्यत्र अनुस्वारलोपश्छान्दसत्वादिति, अन्यदप्यलाक्षणिकमेवञ्जातीयमस्मादेव हेतोरवगन्तव्यमिति, आन्तर्मौहूर्त्तिकत्वाच्च छाद्मस्थिकोपयोगस्य मुहूर्त्तमित्युक्तम्, अन्यथा समयमप्येकं न प्रमादयेदिति वाच्य, तदुक्तम्-

" संप्राप्य मानुषत्वं, संसारासारतां च विज्ञाय।
हे जीव ! किं प्रमादा-न्न चेष्टसे शान्तये सततम् ॥ १ ॥
ननु पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम्।
मानुष्यं खद्योतक-तडिल्लताविलसितप्रतिमम् " ॥ २ ॥

इत्यादि, किमर्थञ्च नो प्रमादयेदित्याह-'वयो अच्चेइ' त्ति वयः-कुमारादि 'अत्येति' अतीव एति-याति अत्येति, अन्यच्च-"जोव्वणं च" त्ति-अत्येत्यनुवर्त्तते, यौवनं वाऽत्येति-अतिक्रामति, वयोग्रहणेनैव यौवनस्यावगतत्वात्तदुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं, धर्मार्थकामानां तन्निबन्धनत्वात् सर्ववयस्सु यौवनं साधीयः, तदपि त्वरितं यातीति। उक्तं च-"नईवेगसमं चवलं, च जीवियं जोव्वणञ्च कुसुमसमं। सोक्खं च जं अणिच्चं, तिण्णि वि तुरमाणभोज्जाइं" ॥ १ ॥ तदेव मत्वा अहो विहारायोत्थानं श्रेय इति।

ये पुनः संसाराभिष्वङ्गिणोऽसंयमजीवितमेव बहु मन्यन्ते ते किंभूता भवन्तीत्याह—

जीविए इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपिता उद्दविता उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा नाऽलं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं नाऽलं ताणाए वा सरणाए वा। (सूत्र-६६)

'जीविए' इत्यादि, ये तु वयोऽतिक्रमणं नावगच्छन्ति ते 'इह' इति-अस्मिन्नसंयमजीविते प्रमत्ता अभ्युपपन्ना विषयकषायेषु प्रमाद्यन्ति प्रमत्ताश्चाहर्निशं परितप्यमानाः कालाऽकालसमुत्थायिनः सन्तः सत्त्वोपघातकारिणीः क्रियाः समारभन्त इति, आह च-'से हंता' इत्यादि, 'से' इत्यप्रशस्तगुणमूलस्थानवान्विषयाभिलाषी प्रमत्तः सन् स्थावरजङ्गमानामसुमतां हन्ता भवतीति, अत्र च बहुवचनप्रक्रमेऽपि जात्यपेक्षयैकवचननिर्देश इति, तथा छेत्ता कर्णनासिकादीनां भेत्ता-शिरोनयनादरादीनां लुम्पयिता प्रन्थिच्छेदनादिभिर्विलुम्पयिता ग्रामघातादिभिरपद्रावयिता प्राणव्यपरोपकः विषशस्त्रादिभिरपद्रावयिता वा उत्त्रासकः लोष्टप्रक्षेपादिभिः स किमर्थं हननादिकाः क्रियाः करोतीत्याह-'अकडं' इत्यादि, अकृतमिति, यदन्येन नानुष्ठितं तदहं करिष्यामीत्येवं मन्यमानोऽर्थोपार्जनाय हननादिक्रियासु प्रवर्त्तते स एवं क्रूरकर्म्मा-अतिशयकारी समुद्रलङ्घनादिकाः क्रियाः कुर्वन्नप्यलाभोदयादपगतसर्वस्वः किंभूतो भवतीत्याह-'जेहिं वा' इत्यादि। वाशब्दो भिन्नक्रमः पक्षान्तरद्योतकः, यैर्मातापितृस्वजनादिभिः सार्द्धं संवसत्यसौ त एव वा णमिति वाक्यालङ्कारे, एकदेति-अर्थनाशाद्यापदि शैशवे वा निजा आत्मीया बान्धवा सुहृदो वा

'पुव्विं' पूर्वमेव तं सर्वोपायक्षीणं पोषयन्ति स चाऽप्राप्तमनोरथलाभ संस्तान्निजान् पश्चात्पोषयेदर्थदानादिना सम्मानयेदिति। ते च पोषका-पोष्या वा तत्राणद्रतस्य न त्राणाय भवन्तीत्याह-'नाल' इत्यादि। ते निजा मातापित्रादयस्तवेत्युपदेशविषयापन्ना, उच्यते-त्राणाय-आपद्रक्षणार्थं शरणाय-निर्भयस्थित्यर्थं नाल-न समर्था, त्वमपि तेषां त्राण-शरणे कर्त्तुं नालमिति; तदेवं तावत् स्वजना न त्राणाय भवन्तीत्येतत्प्रतिपादितम्।

अर्थोऽपि महता क्लेशेनोपात्तो रक्षितश्च न त्राणाय भवतीत्येतत्प्रतिपिपादयिषुराह—

उवादितसेसं तेण वा संणिहिसंणिचओ किज्जइ, इहमेगेसिं असंजयाणं भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसति, ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियए पच्छा परिहरेज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा, (सूत्र-६७)

'उवादिते' ति-'अद्' भक्षणे इत्येतस्मादुपपूर्वान्निष्ठाप्रत्यय, तत्र बहुलं छन्दसीतीडागम, उपादितम्-उपभुक्त. तस्य शेषमुपभुक्तशेष, तेन वा वाशब्दादनुपभुक्तशेषेण वा संनिधान सान्निधिस्तस्य सन्निचयस्सान्निधिसंनिचय, अथ वा-सम्यङ्निधीयते-स्थाप्यते उपभोगाय योऽर्थः स संनिधिस्तस्य सन्निचय-प्राचुर्यम्; उपभोग्यद्रव्यनिचय इत्यर्थः, स इहास्मिन् संसारे एकेषाम्-असंयतानां, संयतानां भासमाना वा केषां चिद्भोजनाय-उपभोगार्थं क्रियते-विधीयत इति, अस्मादपि यदर्थमनुष्ठितोऽन्तरायोदयाच्चत्ससपत्तये न प्रभवतीत्याह-'तओ से' त्यादि, ततो द्रव्यसंनिधिसनिचयादुत्तरकालमुपभोगाऽवसरे से तस्य बुभुक्षोरेकदेति द्रव्यक्षेत्रकालभावनिमित्ताविर्भाविनवेदनीयकर्मोदये रोगसमुत्पादाः-ज्वरादिप्रादुर्भावा 'समुत्पद्यन्त' इति—आविर्भवन्ति। स च तै कुष्ठराजयक्ष्मादिभिरभिभूत सन् भग्नासिको गलत्पाणिपादोऽविच्छदप्रवृत्तश्वासाऽऽकुल, किंभूतो भवति इत्याह—'जेहिं' इत्यादि, यैर्मातापितृभिर्निजै सार्द्धं संवसति त एव वा निजा एकदा-रोगोत्पत्तिकाले पूर्वमेव तं परिहरन्ति, स वा तान्निजान् पश्चात्परिभवोत्थापितविवेक परिहरेत् त्यजेत्तान्निरपेक्ष, सेहुककवत्स्यादित्यर्थ, ते च स्वजनादयो रोगोत्पत्तिकाले परिहरन्तो अपरिहरन्तो वा न त्राणाय भवन्तीति दर्शयति-'नालं' इत्यादि, पूर्ववद्,

रोगाद्यभिभूतान्त करुणेन-वाऽपगतत्राणेन न च किमालम्ब्य सम्यक्करणेन रोगवेदना सोढव्या इति आह—

जाणित्तु दुक्खं पत्तेय सायं। (सूत्र-६८)

'जाणित्तु' इत्यादि, ज्ञात्वा प्रत्यक प्राणिना दुःखं तद्विपरीत शात वा दीनमानसेन ज्वरादिवेदनोत्पत्तिकाले स्वकृतकर्मफलमवश्यमनुभवनीयमिति मत्वा न वैक्लव्यं कार्यमिति, उत्युक्त च- सह कले(डे)वर! दु खमचिंतयत्, स्ववशता हि पुनस्तत्र दुर्लभा। बहुतर च सहिष्यसि जीव हे!, परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते"॥ १॥

यावच्च श्रोत्रादिभिर्विज्ञानैरपरिहीयमानैर्ज्जराजीर्णं न निजा परिवदन्ति यावच्चानुकम्पया न पोषयन्ति रोगाभिभूतं च न परिहरन्ति तावदात्मार्थो ऽनुष्ठेय इत्येतद्दर्शयति-

अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए। (सूत्र-६९)

'अणभिक्कतञ्च' इत्यादि, चशब्द आधिक्ये, खलु शब्दः पुन.शब्दार्थे, पूर्वमभिक्रान्त वय समीक्ष्य मूढभाव व्रजतीति प्रतिपादितम्, अनभिक्रान्त च पुनर्वय संप्रेक्ष्य 'आयट्ठ सम्मं समणुवासिज्जासि' (सूत्र-७१)। इत्युत्तरेण सबन्ध, आत्मार्थम् आत्महित समनुवासयेत्, कुर्यादित्यर्थ।

किमनतिक्रान्तवयस्येवात्महितमनुष्ठेयमुतान्यदापीति?, परेणापि लब्धावसरेणात्महितमनुष्ठेयमित्येतद् दर्शयति—

खणं जाणाहि पंडिए। (सूत्र-७०)

क्षण-अवसरो धर्मानुष्ठानस्य स आर्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्त्यादिक. परिवादपोषणपरिहारदोषदुष्टाना जराबालभावरोगाणामभावे सति, न क्षण जानीहि-अवगच्छ पण्डित!-आत्मज्ञ!। अथ वा-अवसीदन् शिष्य आत्माह्वान-हे अनतिक्रान्तयौवन! परिवादादिदोषत्रयास्पृष्टपण्डित! द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्न क्षणम्-अवसरमवभूत जानीहि-अवबुध्यस्व। आचा०।(क्षणस्वरूपम् 'खण' शब्द ३ भाग दर्शयिष्यते।) एवभूतमवसरमवाप्यात्मार्थं समनुवासयेदित्युत्तरेण सम्बन्ध।

किञ्च—

०जाव सोत्तपरिणाणा अपरिहीणा णेत्तपरिणाणा अपरिहीणा घाणपरिणाणा अपरिहीणा रसणपरिणाणा अपरिहीणा फासपरिणाणा अपरिहीणा इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहायमाणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि। (सूत्र-७१)

'जाव' इत्यादि, यावदस्य—विशरारो कायापसदस्य श्रोत्रविज्ञानानि जरसा रोगेण वा अपरिहीनानि भवन्ति एवं नेत्रघ्राणरसनस्पर्शविज्ञानानि न विषयग्रहणस्वभावतया मान्द्य प्रतिपद्यन्ते इत्येतैर्विरूपरूपै-इष्टानिष्टरूपतया नानारूपै प्रज्ञानै-प्रकृष्टैर्ज्ञानैरपरिक्षीयमाणै सद्भि किं कुर्यात्, इत्याह-'आयट्ठ' इत्यादि, आत्मनोऽर्थ आत्मार्थ, स च ज्ञानदर्शनचारित्रात्मक, अन्यस्त्वनर्थ एव। अथवा-आत्मने हित प्रयोजनमात्मार्थ, तच्च चारित्रानुष्ठानमेव। अथ वा-आयत—अपर्यवसानात् मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थोऽतस्तम्, यदि वा-आयत्तो-मोक्ष अर्थ-प्रयोजन यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा 'समनुवासयेद्' इति-'वस' निवासे, इत्यस्माद्धेतुर्मण्यणन्तान्लिद् (सिप्) सम्-सम्यग्-यथोक्तानुष्ठानेन अनु-पश्चादनभिक्रान्त वय संप्रेक्ष्य क्षणम्-अवसरं प्रतिपद्य श्रोत्रादिविज्ञानाना वा प्रहीणतामधिगम्य तत आत्मार्थं समनुवासय-आत्मनि विदध्याः। अथ वा-अर्थवशाद्विभक्तिपुरुषविपरिणाम इति कृत्वा तेन

वा आत्मार्थेन ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकेनात्मानं समनुवासयेद्-भावयेद्-रञ्जयत्, आसनार्थे वा मोक्षाख्यं सम्यक् अपुनरागमनेना अन्विति-यथोक्तानुष्ठानात्पश्चाद्वातमना समनुवासयेद्-अधिष्ठापयेत्, इति. परिसमाप्तौ. ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमित्थमाह-यद्भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिनाऽर्थतोऽभ्यधायि तदेवाहं सूत्रात्मना वच्मीति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

आत (य) ट्ठि (न्)-आत्मार्थिन्-पुं०। आत्मनोऽर्थ आत्मार्थः स विद्यते यस्य स तथा। आत्मार्थिनि, " एवं से भिक्खू आत(य)ट्ठी " (सूत्र-४२ ×)। यो ह्यन्यमपायेभ्यो रक्षति स आत्मार्थी-आत्मवानित्युच्यते। सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

आत (य) निप्फेडय-आत्मनिस्फोटक-पुं०। आत्मान सम्यग्दर्शनादिकेनानुष्ठानेन संसारचारकान्निस्सारके, सूत्र०। " आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि " (सूत्र-४२ +)। आत्मानं सम्यग्दर्शनादिकेनानुष्ठानेन संसारचारकान्निस्सारयतीति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

आत(य)ण्णु-आत्मज्ञ-पुं०। आत्मज्ञानिनि, सूत्र०।

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं। (सूत्र० २० ×)

यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्त्तते स आत्मज्ञो भवति। येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहंप्रत्ययग्राह्योऽभिज्ञातो भवति तेनायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावाद भाषितुमर्हतीति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

आत (य) तंत-आत्मतन्त्र-त्रि०। आत्मायत्ते, स्था० ४ ठा० २ उ०।

आत (य) तंतकर-आत्मतन्त्रकर-पुं०। आत्मतन्त्रः सन् कार्याणि करोतीत्यात्मतन्त्रः। आत्मायत्ते जिनादौ, आत्मतन्त्रमात्मायत्तं धनम्-गच्छादि करोतीत्यात्मतन्त्रकरः। आत्माऽऽयत्तस्य धनस्य गच्छादिकस्य कारके च। स्था० ४ ठा० २ उ०।

आत (य) तत्त-आत्मतत्त्व-न०। आत्मनस्तत्त्वम्। आत्मनो यथार्थस्वरूपे, चैतन्यरूपे मतभेदे, कर्तृत्वादिरूपे, आत्मैव तत्त्वम्परमपदार्थे, आत्मरूपे परमपदार्थे च, वाच०। ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके तत्त्वे च। परमार्थदृशां ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकमात्मतत्त्वं विहायान्यत्सर्वं शरीराद्यपि पराक्यमेवेति। आचा०।

आत [य] तत्तप्पगास-आत्मतत्त्वप्रकाश-पुं०। आत्मधर्मप्राग्भावे, अष्ट०।

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षासात्म्येन यावता।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत्सेव्यो गुरूत्तमः ॥ ५ ॥

अष्ट० ८ अष्ट०। वाच०।

आत (य) तरग-आत्मतरक-पुं०। आत्मानं केवलं तारयतीत्यात्मतराः, स्वार्थिककप्रत्ययविधानात् आत्मतरकाः। व्य०। प्रायश्चित्तार्हे पुरुषविशेषे, व्य०। " आयतरगा० " ये पुनस्तपोबलिष्ठा वैयावृत्त्यलब्धिहीनास्ते तप एव यथोक्तरूपं कुर्वन्ति न वैयावृत्त्यमाचार्यादीनामित्यात्मानं केवलं तारयन्तीत्यात्मतराः, स्वार्थिककप्रत्ययविधानात् आत्मतरकाः। व्य० १ उ०।

आत (य) तुला-आत्मतुला-स्त्री०। आत्मौपम्ये, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आत्मतुल्यतायाम्, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?, पाणिनो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ ?, दुक्खं ति मन्नमाणा पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे। (सूत्र०४१+)

अवश्यमग्निदाहभयात्र कश्चिदग्न्यभिमुखं पाणिं ददातीत्येतत्परोऽयं दृष्टान्तः। पाणिना दग्धेनापि किं भवता भविष्यतीति ? दुःखमिति चेत् यद्येवं भवन्तो दाहापादितदुःखभीरवः सुखलिप्सवः, तदेवं सन्ति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्तिन एवंभूता एवेत्येवम् आत्मतुलया-आत्मौपम्येन यथा मम नाभिमतं दुःखमित्येवं सर्वजन्तूनामित्यवगम्याऽहिंसैव प्राधान्येनाश्रयणीया, तदेतत्प्रमाणम्, एषा युक्तिः। "आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति"। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

एवं सहिते हियासए, आयतुलं पाणेहिं संजए ॥१२×॥

'एवम्' अनन्तरोक्तरीत्या परिवर्त्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादियुक्तो वा संयतः -प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थिभिरात्मतुलाम्-आत्मतुल्यतां दुःखाऽप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामधिकं पश्येत् आत्मतुल्यान् सर्वानपि प्राणिनः पालयेत्। सूत्र० १ श्रु० २ अ०। "आयतुले पयासु" ॥३×॥ प्रजायन्त इति प्रजाः पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वात्मतुल्यः ; आत्मवत्सर्वप्राणिनः पश्यतीत्यर्थः, एवंभूत एव साधुर्भवतीति. तथा चोक्तम्—" जह मम ण पियं दुःख, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। ण हणइ ण हणावेइ य, सममणई तेण सो समणो " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आतओ पासइ सव्वलोए ॥ १८+ ॥

ये केचन 'डहरे'त्ति-लघवः -कुन्थ्वादयः सूक्ष्मा वा ते सर्वेऽपि प्राणाः प्राणिनो ये च वृद्धाः बादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान्-आत्मवत्पश्यति-सर्वस्मिन्नपि लोके यावत्प्रमाणं मम तावदेव कुन्थोरपि यथा वा मम दुःखमनभिमतमेव सर्वलोकस्यापि-सर्वेषामपि प्राणिनां दुःखमुत्पद्यते, दुःखाद् वोद्विजन्ते। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

आत (य) त्त-आत्मत्व-न०। आत्मनो भावे, आत्मधर्मे, वाच०।

अह पास तेहिं कुलेहिं, आयताए जाया। (सूत्र-१७२×)

'अथ' इति-वाक्योपन्यासार्थे, पश्य त्वं तेषूच्चावचेषु कुलेषु आत्मत्वाय आत्मीयकर्मानुभवनाय जाताः, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

अशेषकर्मकलङ्करहितत्वे मोक्षभावे, संयमभावे च। सूत्र०।

आरंभं तिरियं कट्टु, आतत्ताए परिव्वए ॥ ७ ॥

आरम्भम्-सावद्यानुष्ठानरूपं, तिर्यक्कृत्वा-अपहस्तयित्वा आत्मनो भाव आत्मत्वम्-अशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय । यदि वा-आत्मा-मोक्ष, संयमो वा तद्भावस्तस्मै तदर्थं परि-समन्तात् व्रजेत्; संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

आत (य)दंड-आत्मदण्ड-पुं० । आत्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः । आत्मन उपघातके, "धीयाइ अस्संजय आयदण्डे" ॥ ६ + ॥ असंयतो-गृहस्थ, प्रव्रजितो वा तत्कर्मकारी गृहस्थ एव । स च हरितच्छेदविधाय्यात्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्ड । स हि परमार्थत परोपघातेनात्मानमेवोपहन्ति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । "एतेसु काएसु य आयदण्डे" ॥ २ + ॥ यथैभि कायैः-समारभ्यमाणैः; पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते, तत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थ । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । "णिस्सिय, आयदण्डा" ॥ २३,× ॥ आत्मैव दण्डयतीति दण्डो येषां त भवन्त्यात्मदण्डा असदाचारप्रवृत्तेरिति । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

आत (य) दण्डसमायार-आत्मदण्डसमाचार-त्रि० । आत्मा दण्ड्यते-हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्ड, समाचार:-अनुष्ठानं येषामनार्याणां ते । आत्महितानुष्ठातरि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "आयदण्डसमायारे" ॥१४+॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

आत (य) दरिस-आत्मदर्श-पुं० । आत्मा-देह दृश्यतेऽस्मिन् आधारे घञ् । दर्पणे, आदर्शे, को० । घञ् ६ त० । आत्मनो दर्शने, आत्मसाक्षात्कारे, वाच० ।

आत (य) पएस-आत्मप्रदेश-पुं० । जीवांशे, पञ्चा० १४ विव० ।

आत (य) परिणइ-आत्मपरिणति-स्त्री० । आत्मनो-जीवस्य परिणतिरात्मपरिणति । जीवस्यानुष्ठानविशेषसम्पादके परिणामविशेषे, द्वा० ।

विषयप्रतिभासं चा-त्मपरिणतिमत्तथा ।
तत्त्वसंवेदनं चैव, ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥ १ ॥

आत्मनो-जीवस्य परिणते -अनुष्ठानविशेषसंपाद्य परिणामविशेष, सैव ज्ञेयतया यस्मिन्नस्ति ज्ञानेन पुनस्तद्रूपप्रवृत्तिनिवृत्ती अपि तदात्मपरिणतिमत् । द्वा० ६ अष्ट० ।

विषयप्रतिभासाख्य-मात्मपरिणतिमत्तथा ।
तत्त्वसंवेदनं चैव, त्रिधा ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥ २ ॥

तथा-आत्मन-स्वस्य परिणाम-अर्थानर्थप्रतिभासात्मा विद्यते यत्र तत्, आत्मनो-जीवस्य परिणाम -अनुष्ठानविशेषसंपाद्यो विद्यते यत्रेति यन सम्यक्त्वलाभप्रयोज्यवस्तुविषयतावत्त्वमर्थो लभ्यते । द्वा० ६ द्वा० ।

आत (य)पसंसा-आत्मप्रशंसा-स्त्री० । आत्मस्तुतौ, अष्ट० । (आत्मप्रशंसा च न कार्या) आत्मस्वरूपध्यानी सर्व परम्-अनात्मत्वेन जानाति । स आत्मवित् प्रशंसा न करोति, तदवाऽऽह-

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशंसया ।
गुणैरेवाऽसि पूर्णश्चेत्, कृतमात्मप्रशंसया ॥ १ ॥

व्या०-गुणैरिति-'यदि गुणै' केवलज्ञानादिभिः पूर्णः न असि तर्हि 'आत्मप्रशंसया' व्यर्थात्मस्तुत्या 'कृतं' नाम-स्थित निर्गुणात्मन का प्रशंसा ?, पौद्गलिकोपाधिजा गुणा इति मूढा वदन्ति तैर्न प्रशंसा 'चेद्' यदि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपै साधनगुणै क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्ररूपै सिद्धगुणै पूर्ण तर्हि वाचकात्मकप्रशंसया कृतम्; स्थितमित्यर्थ, प्रागुभाविता गुणा स्वत एव प्रकटीभवन्ति नेक्षुरपि पलालावृता चिरकालं तिष्ठति इति का स्वमुखात्स्वगुणप्रशंसना ।

पुनर्व्यवहारेण दर्शयन्ति-

श्रेयोद्रुमस्य मूलानि, स्वोत्कर्षाम्भःप्रवाहतः ।
पुण्यानि प्रकटीकुर्वन्, फलं किं समवाप्स्यसि ? ॥ २ ॥

व्या०-'श्रेयोद्रुम' इति-भो भद्र ! 'पुण्यानि' पवित्राणि 'श्रेयोद्रुमस्य मूलानि' कल्याणवृक्षस्य मूलानि 'स्वोत्कर्षाम्भःप्रवाहत' स्वस्य उत्कर्ष-औत्सुक्यं स एव अम्भःप्रवाह तस्मात् 'प्रकटीकुर्वन्' व्यक्त कुर्वन् किं फलं समवाप्स्यसि ?, अपि तु नैव, यस्य द्रुमस्य मूलम् उत्खातं तेन फलोत्पत्तिर्न भवति ।

आलम्बिता हिताय स्युः, परैः स्वगुणरश्मयः ।
अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ ॥ ३ ॥

व्या०-'आलम्बिता' इति-'स्वगुणरश्मयः' आत्मीयगुणरज्जव 'परै' अन्यै 'आलम्बिता' स्मरणचिन्तनेन गृहीता 'हिताय' कल्याणाय स्यु, स्वसुखाय भवन्ति, 'अहो' इति-आश्चर्ये स्वगुणा स्वयं गृहीता भवोदधौ पातयन्ति, स्वमुखेन स्वगुणोत्कर्षं न कार्यं ।

उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थ-स्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम् ।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥ ४ ॥

व्या०-'उच्चत्वदोष' इति-अभ्यासात्प्राप्तज्ञानविनयतपोरूपगुणास्तज्ज्वलितमहामोहोदयेन आत्मनि उच्चत्वम् अहं गुणी मया प्राप्तमिदं, ज्ञानं विनयगुणवानहमिति उच्चत्वदृष्टिदोषेण उत्थो य स्वोत्कर्ष स एव ज्वर तस्य 'शान्तिकम्' उपशमकारण 'पूर्वपुरुषा' अर्हदादय ते एव सिंहा तेभ्य 'आत्मन्यूनत्वभावनं' मानोदयतापनिर्वापणं ज्ञेयम् ।

"धन्नो धन्नो वयरो, सालिभद्दो य थूलभद्दो अ ।
जेहिं विसयकसाया, चत्ता रत्ता गुणे नियए ॥ १ ॥"

(अस्या गाथाया व्याख्या)-धन्या पूर्वपुरुषा ये चान्ताश्रवा -अनादिभुक्तपरभावास्वादनरामणीयकं त्यजन्ति, सदुपदेशश्रवणसत्तासुखरूपया आत्मधर्मश्रवणसुखम् अनुभूयमाना चक्रिसंपदो विपद इव मन्यन्ते, स्वगुणेषु धन्यः स्थूलभद्र यो ह्यत्यातुररक्त, कोशाप्रार्थनाऽकम्पितपरिणामस्तु-"अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ ॥ ३ ॥
उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थ, स्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम् ।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥ ४ ॥
शरीररूपलावण्य-ग्रामारामधनादिभि ।

१-कोशानाम्न्या वेश्या २ मूलमेव टीकाकारेण गृहीतम् ।

उत्कर्षः परपर्यायै-श्चिदानन्दघनस्य कः ॥ ५ ॥"

अहं तु निरर्थककुविकल्पैः चिन्तयामि विषयविशेषोपायान्।

उक्तं च-"संतेवि कोवि उज्झइ, को वि असंते वि अहिलसई। भोए चय इयरव्वयेण वि, दट्ठु पभवेण जह जंबू॥१॥"

इत्यादिभावनया स्वदोषचिन्तनेन आत्मोत्कर्षपरिणामो निवार्य ।

शरीररूपलावण्य-ग्रामाऽऽरामधनादिभिः।
उत्कर्षः परपर्यायै-श्चिदानन्दघनस्य कः ॥ ५ ॥

व्या०-'शरीरे' ति-'चिदानन्दघनस्य' चिद्-ज्ञानम् आनन्द-सुखं ताभ्यां घनस्य-आत्मनः परपर्यायैः-सयोगसंभवैः पुद्गलसंनिकर्षोद्भवैः क उत्कर्ष-उन्मादः कैरिति शरीराणि-औदारिकादीनि विनाशिस्वभावानि रूपं-संस्थाननिर्माण-वर्णनामकर्मोद्भवं लावण्यं-चातुर्यं सौभाग्यनामोदयनिष्पन्नं वेदादिमोहसंनिकर्षसंभवं ग्राम -जननिवासलक्षण , आरामा -वनोद्यानभूमयः, धने-गणिमधरिमादि तेषां द्वन्द्वः तैः क उत्कर्षः परत्वात् कर्मबन्धनिबन्धनात् स्वस्वरूपरोधकात् तत्संयोग. निन्द्य एव तर्हि क उत्कर्षः ?, उक्तं च उत्तराध्ययने—

" धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेण वा कामगुणेहिं चेव ।
समणा भविस्सामो गुणोहधारी,
बहिं विहारा अभिगम्म भिक्खुं ॥ १ ॥
न तस्स दुक्खं विभजंति णाइओ,
न मित्तवग्गा न सुआ न बांधवा ।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं" ॥ २ ॥

अत आत्मगुणानन्दपरिणतानां कर्मोपाधिसंभवे उत्कर्षो न भवति ।

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन, पर्यायाः परिभाविताः ।
अशुद्धाश्चाप्रकृष्टत्वात्, स्वोत्कर्षाय महामुनेः ॥ ६ ॥

व्या०-'शुद्धा. प्रत्यात्म' इति-तथा मुने -निर्ग्रन्थस्य पाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरसगृहीतात्मस्वरूपस्य शुद्धा.—पर्याया सम्यग्ज्ञानचरणध्यानप्राग्भावरूपा आत्मपर्याया न उत्कर्षाय भवन्ति । कथं न भवन्तीत्याह—प्रत्यात्मसाम्येन परिभाविता आत्मानम् आत्मानं प्रति प्रत्यात्म तत्र साम्येन तुल्यत्वेन भाविता. । भावना च किमाधिक्यं मम जातं ?, तेन एते ज्ञानादयो गुणाः सर्वात्मनि सन्त्येव सर्वसाधारणे क उत्कर्ष ? इति भावितनाशय सर्वजीवाना ज्ञानाद्यनन्तपर्यायत्वं तुल्यं सिद्ध-संसारस्थयो न सत्ताभेद । उक्त च संवेगरङ्गशालायाम्—

"नाणाइणंतगुणोवेयं, अरूवमणह च लोगपरिमाणं ।
कत्ता भोत्ता जीवं, मन्नहु सिद्धाण तुल्लमिणं ॥ १ ॥"

श्रीपूज्यैश्च-" जीवो गुणपडिवन्नो, न जस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं " । तथा ठाणांगे-'एग आया' (सूत्र-२। स्था० १ ठा०) इत्यादिपाठात् सर्वत्र तुल्यत्वं आत्मन सद्गुणप्राकट्य क उत्कर्ष. अशुद्धा पर्याया औदयिका. शक्रत्वादय. अपकृष्टत्वात् तुच्छत्वाद् दोषत्वाद् गुणघाततत्त्वज्ञानरमणोपघातत्वात् शोकरोगपुष्टत्ववच्च उत्कर्षाय भवन्ति, किमेभिः पुद्गलोपचयरूपैः परोपाधिजैः संसर्गैश्च मे कदा निवृत्तिः एभ्य इति संवेगनिर्वेदपरिणतानां नोन्माद इति ।

पुनः आत्मानमुपदिशति—

क्षोभं गच्छन्समुद्रोऽपि, स्वोत्कर्षपवनेरितः ।
गुणौघान् बुद्बुदीकृत्य, विनाशयसि किं मुधा ॥ ७ ॥

व्या०-'क्षोभं गच्छन्नि' ति-हे हंस ! स्वतत्त्वजलपूर्णस्वरूपमानसनिवासरसिक. त्वं 'समुद्रोऽपि' मुद्रा-साधुलिङ्गरूपा तया युक्तोऽपि ' स्वोत्कर्षपवनेरित ' साऽहङ्कारपवनप्रेरित' क्षोभं गच्छन् अध्यवसायैः एवमेवं भवन् गुणौघान् अभ्यासोत्पन्नान् श्रुतधरव्रतधरलक्षणान् आमर्षौषधिरूपान् बुद्बुदीकृत्य ' मुधा ' व्यर्थं किं विनाशयसि प्राप्तगुणगम्भीरो भव, स्वगुणा. स्वस्यैव हितहेतव. तत्र, किं परदर्शनेन मानोपहतस्य गुणा. तुच्छीभवन्ति, अतो न मानो विधेयः ।

निरपेक्षाऽनवच्छिन्ना-नन्तचिन्मात्रमूर्तयः ।
योगिनो गलितोत्कर्षा-पकर्षानल्पकल्पनाः ॥ ८ ॥

व्या०-' निरपेक्षा ' इति-योगिनो-यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगाभ्यासोत्पन्नरत्नत्रयीलक्षणस्वयोगसिद्धा ईदृशा भवन्ति, ' निरपेक्षा ' निर्गता अपेक्षा-अपेक्षणं येभ्यस्ते निरपेक्षा , अपेक्षारहिता इत्यर्थ । ' अनवच्छिन्ना ' अवच्छेदरहिता । अनन्तचिन्मात्रमूर्तय ' अनन्त प्रान्तरहित चिद्-ज्ञानं तन्मात्रा ज्ञानमात्रा मूर्तिः येषां ते अनन्तचिन्मात्रमूर्तयः इत्यनेन परभावानुगतचेतनाविकलाः स्वच्छस्वरूपानुगतचित्तनपरिणताः ' गलितोत्कर्षापकर्षाः ' गलित उत्कर्ष-उन्माद अपकर्ष-दीनता तयोः अनल्पा-कल्पना विकल्पजालपटलानि येषां एवंविधा योगिनः ज्ञानपरिणताः ज्ञानैकरसाः तिष्ठन्ति ते एव तत्त्वसाधनचिन्मया इति अतो मानोन्मादजनक. स्वोत्कर्षो निवार्य. । अष्ट० १८ अष्ट० ।

अहाहु से आयरियाण सयंसे,
जो लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥ २४ ॥

अथाऽसावाचार्यगुणानां शतांऽशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्राऽशादप्यधो वर्तते इति 'यो' ह्यसस्य हेतुम्-भाजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्त वा आत्मगुणान् परेणालापयेद् भाणयेत् असावप्याचार्यगुणाना सहस्रांशे वर्तते । किमङ्ग ! पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसा विदधातीति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

आत (य) प्पओग-आत्मप्रयोग-पुं० । आत्मव्यापारे , " आयप्पओगेणं उवचज्जंति, णो परप्पओगेणं उववज्जंति" (सूत्र-६८६४) भ० २० श० १० उ० ।

आत (य) प्पओगणिव्वत्तिय-आत्मप्रयोगनिर्वर्तित-त्रि० । " आयप्पओगणिव्वत्तिए " (सूत्र-४६४ +) । आत्मन प्रयोगेण-मन प्रभृतिव्यापारेण निर्वर्तितं निष्पादितं यत्तत्तथा । आत्मनो मन प्रभृतिव्यापारेण निष्पादिते, भ० १६ श० १ उ० ।

आत (य) प्पमाण-आत्मप्रमाण-त्रि० । सार्द्धहस्तत्रय-प्रमाणे, प्रव० २ द्वार ।

आत (य) प्पवाय-आत्मप्रवाद-न० । आत्मानं जीवमनेकधा नयमतभेदेन यत्प्रवदति तदात्मप्रवादम् । नं० । यत्राऽऽत्मा-जीवोऽनेकनयैः प्रोच्यते तदात्मप्रवादम् । स० १४ सम० । आत्माऽनेकधा यत्र नयदर्शनैर्वर्ण्यते तदात्मप्रवादम् । (स० १४७ सूत्रटी०) पूर्वगतश्रुतविशेषे, (स० १४७ सूत्रटी०) तस्य पदप्रमाणं षड्विंशतिपदकोट्यः । नं० । स० ।

आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस१६ वत्थू पण्णत्ता । नं० ।

आत्मप्रवादपूर्वस्य सप्तमस्य । स० १६ सम० ।

आयप्पवायपुव्वं, अहिज्जमाणस्स तीमगुत्तस्स ।
नयमयमयाणमाणस्स, दिट्ठीमोहो समुप्पन्नो ॥२३३५॥

आत्मप्रवादनामकं पूर्वमधीयानस्य । विशे० । (अस्या गाथायाः व्याख्या 'जीवपएसिय' शब्दे चतुर्थभागे १५५४ पृष्ठे वक्ष्यते)

आयप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती ॥१६+॥

इह आत्मप्रवादपूर्वं-यत्रात्मन ससारिमुक्ताद्यनेकभेदभिन्नस्य प्रवदनमिति तस्मान्निर्यूढा भवति धर्मप्रज्ञप्तिः, षड्जीवनिकेत्यर्थः । दश० १ अ० ।

आत (य) प्पियसंबंधणसंयोग-आत्मार्पितसम्बन्धनसंयोग-पुं० । सयोगभेदे, उत्त० १ अ० । (तद्वक्तव्यता 'संजोग' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते)

आत (य) बल-आत्मबल-न० । आत्मनो बलम् शक्त्युपचय आत्मबलम् । आत्मन शक्त्युपचये, आचा० १ श्रु० २ अ०२ उ०। बहुलाधिकारात् । पो व ॥ ८ । १ । २३१ ॥ अस्य वैकल्पिकत्वात् ।

आत (य) बोध-आत्मबोध-पुं० । आत्मज्ञाने, अष्ट० ।

आत्मबोधो न वः पाशो, देहगेहधनादिकम् ।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु, स्वस्य बन्धाय जायते ॥ ६ ॥

भो भव्या ! व -युष्माकम् आत्मबोध आत्मज्ञान न पाश - न बन्धहेतु तेषु देहगृहधनादिषु य आत्मना क्षिप्त स पाश -रागपरिणाम स्वस्य-आत्मन एव बन्धाय जायते इत्यनेन देहगृहादिषु य रक्त स सर्वं भवपाशैर्बध्नाति स्वस्य बन्धहेतु इत्यनेन परभावा-रागादय. आत्मनो बन्धवृद्धिहेतव । अष्ट० १४ अष्ट० ।

आत (य) भाव-आत्मभाव-पुं० । अनादिभवाभ्यस्ते मिथ्यात्वादिके विषयगृध्नुतायाम्, " विणइज्जओ सव्वउ आयभाव " ॥ २१ + ॥ आत्मभाव -अनादिभवाभ्यस्तो मिथ्यात्वादिकस्तमपनयेत् । यदिवा-आत्मभावो-विषयगृध्नुता, अतस्तमपनयेद् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । स्वाभिप्राये च । भ० २ श० ५ उ० ।

आत (य) भाववंकणया-आत्मभाववङ्कनता-स्त्री० । आत्मभावस्याऽप्रशस्तस्य वङ्कनता-वक्रीकरण प्रशस्ततयोपदर्शनतात्मभाववङ्कनता । मायाप्रत्ययिकक्रियाभेदे वङ्कनाना च बहुत्वविवक्षाया भावप्रत्ययो न विरुद्ध सा च क्रियाव्यापारत्वात् । स्था० २ ठा० १ उ० । " अप्पणो चिय भावं गूहति नियडिमनो उज्जगभावं दरिसेइ संजमादिसिढिलो वा करणफला जो डोम दरिसेइ । " आव० ४ अ० ।

आत (या) भाववत्तव्वया-आत्मभाववक्तव्यता-स्त्री० । आत्मभाव एव-स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्त्वं वक्तव्यो-वाच्यो ऽभिमानाद् येषां ते आत्मभाववक्तव्यास्तेषां भाव आत्मभाववक्तव्यता । अहंमानितायाम् । भ० २ श० ५ उ० ।
" सच्चेण एस अट्ठे नो चेव ण आयभाववत्तव्वयाए "
(सूत्र-१११ ×) । नैवात्मभाववक्तव्यतयाऽयमर्थ न वयमहंमानितयैव ब्रूमः; अपि तु-परमार्थ एवायमेवंविध. इति भावना । भ० २ श० ५ उ० ।

आत (य) भू-आत्मभू-पुं० । आत्मनो-मनसो, देहाद्वा भवति, भू-क्विप्-६-त० । मनोभवे कामे, देहभवे पुत्रे, कन्यायाम्, वाच० ।

" नार्य्यो कुत्राऽपि कस्याश्चि-द्दारकौ द्वौ बभूवतु. ।
सपत्नीनतुभूरेको, द्वितीयश्चात्मभूर्द्वयो " ॥ १ ॥

आ० क० ६ अ० । बुद्धौ च । स्त्री० । आत्मनैव भवति । भू-क्विप् । शिवे, विष्णौ च । वाच० ।

आत (य) रक्ख-आत्मरक्ष-त्रि० । अङ्गरक्षके, औ० । आत्मानं रागद्वेषादरकृत्योद्भवकूपाद्वा रक्षन्तीत्यात्मरक्षा । रागद्वेषादरकृत्याच्चात्मनो रक्षके, स्था० ।

ते च—

तओ आयरक्खा पन्नत्ता, तं जहा-धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ १, तुसिणीए वा सिया २, उट्ठित्तु वा आयाए एगंतमवक्कमेज्जा ३। (सूत्र-१७२ +)

' धम्मियाए पडिचोयणाए ' त्ति-आत्मना एव धार्मिकोपदेशेन नेदं भवादृशा विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिता-उपदेष्टा भवतीति अनुकूलतरोपसर्गकारिण ततोऽसावुपसर्गकरणान्निवर्तते ततोऽकृत्यासेवा न भवतीत्यत आत्मा रक्षितो भवतीति १, तूष्णीको वा-वाचयम, उपेक्षक इत्यर्थ, स्यादिति २, प्रेरणाया अविषये उपेक्षणासामर्थ्ये च तत. स्थानादुत्थाय ' आय ' त्ति-आत्मना एकान्तम्-विजनम् अन्तं भूमिभागमवक्रामेत्-गच्छेत् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । विमानाधिपते सूर्याभस्य देवस्यात्मान रक्षयन्तीत्यात्मरक्षा । कर्मणोऽण् ॥ ५ । ३ । १४ ॥ इत्यण्प्रत्यय । रा० । देवविशेष, रा० । सूर्याभस्य वर्णकमधिकृत्य-" सोलसेहिं आयरक्खदेवसाहस्सीणं " (अस्य सूत्रांशस्य व्याख्या)-षोडशभिरात्मरक्षदेवसहस्रैरिति विमानाधिपते सूर्याभस्य देवस्यात्मान रक्षयन्तीत्यात्मरक्षा । कर्मणोऽण् । ५ । ३ । १४ । इत्यण्प्रत्यय । ते च शिरस्त्राणकल्पा, यथा हि शिरस्त्राणं-शिरस्याविद्धप्राणरक्षक भवति तथा तेऽप्यात्मरक्षका गृहीतधनुर्दण्डादिप्रहरणा समन्तत सप्तानीकाधिपतेरग्रतश्चावस्थायिना विमानाधिपते सूर्याभस्य देवस्य प्राणरक्षका । देवानामपायाभावात् तथा तथाग्रहणपुरस्सरमवस्थानं निरर्थकमिति चेतराणा स्थितिमात्रपरिपालनहेतुत्वात् प्रीतिप्रकर्षहेतुत्वाच्च, तथा हि-ते समन्तत - सर्वासु दिक्षु गृहीतप्रहरणा ऊर्ध्वस्थिता अप्रतिष्ठमाना

स्वनायकशरीररक्षणपरायणाः स्वनायकैकनिषण्णदृष्टय' परेषामसहमानानां क्षोभमुत्पादयन्ति-जनयन्ति स्वनायकस्य परां प्रीतिम् । रा० ।

(तथा च)-

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो कइ आयरक्खदेवसहस्सीओ पण्णत्ताओ ?, गोयमा ! चत्तारि चउसट्ठीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, एए णं आयरक्खवण्णओ । एवं सव्वेसिं इंदाणं जस्स जत्तिया आयरक्खा ते भाणियव्वा । (१६४ +)

'वण्णओ' त्ति-आत्मरक्षदेवानां वर्णको वाच्य , स चायम्-" सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगेवेज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधियाइं वइरामयकोडीणि धणूइं अभिगिज्झ पयओ परमाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो एवं चारुचावचम्मदंडखग्गपासपाणिणो नीलपीयरत्तचारुचावचम्मदंडखग्गपासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया इव चिट्ठंति " त्ति, अस्यायमर्थः--संनद्धा-सन्नहनिकया कृतसन्नाहाः बद्ध कशाबन्धनतः वर्म्मितश्च वर्म्मीकृतः शरीरारोपणेन कवचः कङ्कटो यैस्ते तथा, ततः सन्नद्धशब्देन कर्मधारयः । तथा उत्पीडिता प्रत्यञ्चाऽऽरोपणेन शरासनपट्टिका धनुर्यष्टिर्यैस्ते तथा, अथ वा—उत्पीडिता बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका धनुर्यष्टिर्यैस्ते तथा । पिनद्धं परिहितं ग्रैवेयकं ग्रीवाभरणं यैस्ते तथा, तथा बद्धो ग्रन्थिदानेन आविद्धश्च शिरस्यारोपणेन विमलो वरश्च चिह्नपट्टो योधतासूचको नेत्रादिवस्त्ररूपः सौवर्णो वा पट्टो यैस्ते तथा, तथा गृहीतान्यायुधानि प्रहरणाय यैस्ते तथा, अथ वा-गृहीतान्यायुधानि क्षेप्यास्त्राणि प्रहरणानि च यैस्ते तथा, तथा त्रिनतानि मध्यपार्श्वद्वयलक्षणस्थानत्रयेऽवनतानि त्रिसन्धितानि त्रिषु स्थानेषु कृतसन्धिकानि, नैकाङ्गिकानीत्यर्थः । वज्रमयकोटीनि धनूंष्यभिगृह्य पदतः पदे मुष्टिस्थानं तिष्ठन्तीति सम्बन्धः । परिमात्रिकः सर्वतो मात्रावान् काण्डकलापो येषां ते तथा । नीलपाणय इत्यादिषु नीलादिवर्णपुङ्खत्वान्नीलादयो बाणभेदाः सम्भाव्यन्ते । चारुचापपाणय इत्यत्र च चाप-धनुरेवानारोपितज्यमतो न पुनरुक्तता, चर्मपाणय इत्यत्र चर्मशब्देन स्फुरक उच्यते दण्डादयः प्रतीता , उक्तमेवार्थं संग्रहणेनाह-' नीलपीए ' त्यादि अथ वा-नीलादीन् सर्वानेव युगपत्कश्चिद्धारयन्ति देवशक्तेरिति दर्शयन्नाह-'नीलपीए'त्यादि, ते चात्मरक्षा न सञ्ज्ञामात्रेणैवेत्याह आत्मरक्षा , स्वाम्यात्मरक्षा इत्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते रक्षोपगता रक्षामुपगताः , सततं प्रयुक्तरक्षा इत्यर्थः । एतदेव कथमित्याह—गुप्ता अभेदवृत्तयः , तथा-गुप्तपालीका तदन्यतो व्यावृत्तमनोवृत्तिका मण्डलीका, युक्ता परस्परसम्बद्धा युक्तपालीका निरन्तरमण्डलीका , प्रत्येकमेकैकशः समयतः पदातिसमाचारेण विनयतो-विनयेन किंकरभूता इव-प्रेष्यत्वं प्राप्ता इवेति, अयं च पुस्तकान्तरे साक्षाद् दृश्यत एवेति । ' एवं सव्वेसिमिंदाण ' ति-'एवमि'ति-चरमवत्सर्वेषामिन्द्राणां सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षा वाच्याः , ते चार्थत एवम्-सर्वेषामिन्द्राणां सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षा , तत्र चतुःषष्टिसहस्राणि चमरस्येन्द्रसामानिकानाम् , बलेस्तु षष्टिः, शेषभवनपतीन्द्राणां प्रत्येकं षट् षट् सहस्राणि, शक्रस्य चतुरशीतिः , ईशानस्याऽशीतिः सनत्कुमारस्य द्विसप्ततिः , माहेन्द्रस्य सप्ततिः, ब्रह्मणः षष्टिः, लान्तकस्य पञ्चाशत् , शुक्रस्य चत्वारिंशत्, सहस्रारस्य त्रिंशत् , प्राणतस्य विंशतिः, अच्युतस्य दशसहस्राणि सामानिकानामिति, यदाह—

" चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाण ।
सामाणिया उ एए, चउग्गुणा आयरक्खाउ ॥ १ ॥
चउरासीइ असीई, बावत्तरि सत्तरी य सट्ठी य ।
पण्णा चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा" ॥ २ ॥ इति ।

भ० ३ श० ६ उ० ।

आत [य] रक्खि [न्]-आत्मरक्षिन्-त्रि० । आत्मानं रक्षत्यपायेभ्य —कुगतिगमनादिभ्य इत्येवशील आत्मरक्षी । कुगतिगमनादिभ्य आत्मनो रक्षणशीले, उत्त०पाइ० ४ अ० । " अप्पाणरक्खी चरमप्पमत्तो " ॥ १०+ ॥ उत्त० ४ अ० ।

आत (य) रक्खिय-आत्मरक्षित-त्रि० । आत्माऽपायेभ्यो-दुर्गतिगमनादिभ्यो रक्षितो येन स तथा । दुर्गतिगमनहेतुनिबन्धनात्सावद्यानुष्ठानान्निवृत्ते, सूत्र० । " आयपरक्कम आयरक्खिए " (सूत्र० ४२ +) । दुर्गतिगमनहेतुनिबन्धनस्य सावद्यानुष्ठानस्य निवृत्तत्वाद् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ॥ १५ × ॥

आत्मरक्षितो दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः । आहिताग्न्यादिषु ॥३।१।१५३॥ दर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः (हैम व्याकरण सूत्रेण) उत्त० २ अ० ।

आत (य) वं-आत्मवत्-त्रि० । " आयवं " (सूत्र-१० ×) । आत्मा ज्ञानादिकोऽस्यास्तीत्यात्मवान् । ज्ञानादिमति, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

आत्मा-चित्तं वश्यतयाऽस्त्यस्य मतुप् । मस्य वः स्त्रियां ङीप् । वश्यचित्ते, निर्विकारचित्ते च । आत्मा प्रकाश्यतया विद्यतेऽस्य आत्मप्रकाशके शास्त्रे, आत्मना तुल्यक्रियावति, आत्मतुल्यक्रियायाम् , अव्य० । वाच० ।

आतव-आतप-पुं० । आ-समन्तात्तपति संतापयति जगदित्यातप । उत्त० १ अ० । आ-तपश्च । उद्द्योते, कर्म० २ कर्म० । स चोद्योतो यद्यपि लोके भेदेन प्रसिद्धो-यथा, सूर्यगत आतप , चन्द्रगतः प्रकाश इति । तथाप्यातपशब्दः चन्द्रप्रभायामपि वर्त्तते, यदुक्तम्-" चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना, तथा चन्द्रातप स्मृत " ॥ १ ॥ इति । सू० प्र० ३ पाहु० । "आतवाइ वा" (सूत्र-६५×) आतप इति वा । आतप आदित्यस्येति । स्था० ७ ठा० ५ उ० । घर्मे, उत्त० २ अ० । ' आयवनाणनिमित्त" ॥ ६६× ॥ उष्णेन परितापना । सूत्र० ८ उ० । आतप्यते-पीड्यते शरीरमनेनेत्यातप । सूत्र० पाषाणादौ, " आयवस्स निवाएण, अउला हवइ वेयणा " ॥ ३५× ॥ उत्त० २ अ० । निविडकिरणे गंध च प्रकाशे, वाच० । स्वभावस्थाने अहोरात्रभेदे चतुर्विंशतितमे मुहूर्ते च । स०३० सम० । च० प्र० । ज्यो० ॥२।१।२८॥ इत्यादस्य ।

आतवणाम (न्)-आतपनामन्-न० नामकर्मभेदे,था०। यदु-दयादातपवान् भवति। पृथिवीकाये, आदित्यम ण्डलादिवत्। था० । यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्ण-प्रकाशलक्षणमातप कुर्वन्ति तदातपनाम । तद्विपाकश्च भानुमण्डलगतभूकायिकेष्वेव, न वह्नौ, प्रवचनप्रतिषेधात्; तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात् , उत्कटलोहितवर्णनामो-दयाच्च प्रकाशकत्वमिति । पं० सं० ३ द्वार । यदुदयवशा-ज्जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथ्वीकायिकरूपाणि स्वरू-पेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातप कुर्वन्ति तदातप-नाम। आतपनामोदयश्च वह्निशरीरे न भवति सूत्रे प्रति-षेधात्। तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात् । उत्कटलोहित-वर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वम्। कर्म० ६ कर्म० ।

रविबिंबे उ जियंगं, तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवण्णस्स उदउ त्ति ॥४४॥

आतपाद्-आतपनामोदयाज्जीवानामङ्गं-शरीरम् तापयुतं स्वयमनुष्णमपि उष्णप्रकाशयुक्तं भवति । आतपस्य पुनरु-दयो रविबिम्बे एव।तुशब्द एवकारार्थः ।भानुमण्डलादिपा-र्थिवशरीरेष्वेव, न पुनर्ज्वलने-हुतभुजि।अत्र युक्तिमाह-यद्-यस्मात्कारणात् तत्र-ज्वलने-ज्वलनजन्तुशरीरेः तैजस्का-यशरीरे इत्यर्थ , उष्णस्पर्शस्योदय , तथा-'लोहितवर्णस्यो-दय ' इति-तेजस्कायशरीराण्येवोष्णस्पर्शोदयेनोष्णानि, लो-हितवर्णनामोदयात्तु प्रकाशयुक्तानि भवन्ति, न त्वातपोदया-दिति भाव । तदुदयाज्जन्तुशरीराण्यात्मनानुष्णान्यप्युष्ण-प्रकाशरूपमातपं कुर्वन्ति, तदातपनामेत्यर्थ । कर्म० १ कर्म० ।

आत(य)वणिवाय-आतपनिपात-पु० । आतपस्य-घर्मस्य नितरां पातो निपात । घर्मस्य नितरांपाते, उत्त० ।

आयवस्स निवाएणं, अउला हवइ वेयणा ॥ ३५× ॥

आतपस्य निपातेन-घर्मस्य संयोगेन अतुला वेदना भवति, तापशीतवर्षावातादिपीडाऽस्माभि सोढुं न शक्यते। अथ वा-आतप्यते-पीड्यते शरीरमनेनेत्यातप तृणपाषाणादि-रप्युच्यते तस्य संगेनास्मच्छरीरे महती वेदना भवति । उत्त० २ अ० ।

आत (य) वतत्त-आतपतप्त--त्रि० । घर्मतप्ते, " आतवतत्ते वहे अहव " ॥ २०१ × ॥ आयवतत्त अप्पोदगं अवहं घे-प्पंति । असइ आयवतत्तं वह घिप्पति । नि० चू०१ उ० ।

आत (य) वं (त्)-आतपवत्--त्रि० । आतपोऽस्त्यत्र मतुप् । मस्य व । आतपयुक्ते, " शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धा " वाच० । अहोरात्रभवे स्वनामख्याते चतुर्विंशे मुहूर्ते, जं० ७ वक्ख० । कल्प० ।

आत (य)वाल-आतमपाल--त्रि० । आत्मानमेव पालयतीत्यातमपाल. । आत्मन. पालके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आतवालोय-आतपालोक--पु० । हुतवहतापदर्शने, ज्ञा०।"आ तवालोयमहंतनुवइयपुरणकरणे " (सूत्र-२७ ×) । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

आत (य) वस-आत्मवश-त्रि० । आत्मनो वश.-आय-त्तता यत्र । आत्माधीने, " यद्यदात्मवश तु स्या-त्तत्तत्से-वेत यत्नत । सर्वं परवशं दु ख, सर्वमात्मवश सुखम् " ॥१॥ मनु० । वाच० ।

सव्वत्थेसु विमुत्तो, साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।६८+।

सर्वार्थेषु विमुक्त-सर्वपदार्थेषु ममतारहित. साधु -मोक्ष-साधक सर्वत्रात्मवशो भवति; न कुत्रापि परवश. । ग० २ अधि० ।

आत (य) वायपत्त-आत्मवादप्राप्त-त्रि० । आत्मन उपयो-गलक्षणस्य जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य संकोचविकाश-भाज स्वकृतफलभुज प्रत्येकसाधारणतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्य्यायतया नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवादस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्त. । सम्यग् यथावस्थि-तात्मस्वतत्त्ववेदिनि , सूत्र० । " आयवायपत्ते विऊ " (सूत्र० ४ ×) । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

आत (य) वि (दु)-आत्मविद्-त्रि० । पाठान्तरे-" आ-यवी " (सूत्र-१०७ ×) । आत्मान श्वभ्रादिपतनरक्षण-द्वारेण वेत्तीत्यात्मवित् । आत्मनो रक्षके, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आत्मान यथार्थरूपेण वेत्ति, विद्—क्विप्—६ त० । आत्मस्वरूपज्ञे, आत्मानं स्वपक्ष वेत्ति क्विप् । स्व-पक्षज्ञातरि, । वाच० ।

आत (य) वीरिय-आत्मवीर्य्य-न० । वीर्यभेदे, नि० चू० । आयविरिय दुविह—विओगायवीरियं च, अविओगायवी-रियं च । विओगायवीरियं जहा—संसारत्थस्स जीवस्स मणमादिजोगा वियोगजा भवन्ति, अविओगाऽऽयवीरियं पुण-उवओगो असखेज्जा पप्प पएसत्तं । नि० चू० १ उ० ।

आत (य) विसोहि-आत्मविशुद्धि-स्त्री० । उत्कालिकश्रुत-विशेषे, न० । आत्मनो-जीवस्यालोचना प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिप्र-भृतिप्रकारेण विशुद्धि कर्मविगमनलक्षणा प्रतिपाद्यते यस्यां ग्रन्थपद्धतौ सा आत्मविशुद्धि. । नं० । आत्मनो जीव-स्यालोचनादिप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण विशुद्धिः कर्म-विगमनलक्षणा प्रतिपाद्यते यत्र तदध्ययनमात्मविशुद्धि । पा० ।

आत (य) वेयावच्चकर-आत्मवैयावृत्यकर-त्रि० । अलसे, विसम्भोगिके च । स्था० ।

आयवेयावच्चकरे नाममेगे, णो परवेया वच्चकरे ।
(सूत्र-३२०×)

आत्मवैयावृत्यकर'-अलसो, विसम्भोगिको वा । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

आतमंचेयणिज्ज-आत्मसंचेतनीय-पुं० । आत्मना संचेत्यन्ते-क्रियन्त इत्यात्मसंचेतनीया. । स्था० ४ ठा० ४ उ० । उप-सर्गभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (अस्य भेदोदाहरणादिवक्तव्य-क्तव्यता 'उवसग्ग' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

आत (य) संजम-आत्मसंयम-पुं० । आत्मन.—शरीरस्य संयम । सङ्कुचिताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वे, पा० । आत्मनो—मनसः संयम । चित्तसंयमने, वाच० ।

आत (य) संयमपर-आत्मसंयमपर-त्रि०। आत्मन -शरीरस्य सयम संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वम् तत्पर-तत्प्रधानम्। संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वप्रधाने, पो० ६ विव०।

आत (य)संयमोवाय-आत्मसंयमोपाय-पु०। संयमनं संयम आत्मन. संयम आत्मसयमस्तदुपाय । आत्मसंयमनोपाये, दश०। उक्तं च—" तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारं रतस्सदा। स एव धृतिमान् धर्म-स्तस्यैव च जिनो हित. " ॥ १ ॥ इति। दश० १ अ०।

आत(य)संवेयण-आत्मसंवेदन-न०। द्रव्योपसर्गभेदे, सूत्र०। तथा च उपसर्गमधिकृत्य—

दव्वे चउव्विहो दे-वमणुयतिरियायसंवेत्तो ॥ ४७ ॥

आत्मसंवेदना अपि चतुर्विधा, तद्यथा-घट्टनात, लेशनात, अङ्गुलाद्यवयवसंश्लेषरूपाया स्तम्भनात, प्रपाताच्च। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

आत (य) संवेयणिज्ज-आत्मसंवेदनीय-पु० । आत्मना क्रियन्त इत्यात्मसंवेदनीया । द्रव्योपसर्गभेदे, आ० चू० १ अ०। (एतस्य भेदादिबहुवक्तव्यता 'उवसग्ग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)।

आत(य) सक्खि (न्)-आत्मसाक्षिन्-त्रि०। आत्मन. बुद्धिवृत्त. साक्षी-प्रकाशक वेदान्तादिमतसिद्धे बुद्धिवृद्धिप्रकाशके चैतन्ये, वाच०। आत्मा-स्वजीव. स्वस्वसंचितप्रत्यक्षविरतिपरिणामपरिणत. साक्षी यत्र तदात्मसाक्षिकम्। स्वजीवसाक्षिके, पा०।

आत (य) (अप्प)सत्तम-आत्मसप्तम-त्रि०। आत्मना सप्तम -सप्तानां पूरण आत्मा वा सप्तमो यस्यासावात्मसप्तम । सप्तानां पूरण आत्मा यस्य। तस्मिन् स्था०। " मल्लीणं अरहा अप्पसत्तमे मुंडे भवित्ता " (सूत्र-५६४+) स्था० ७ ठा० ३ उ०।

आत(य)समप्पण-आत्मसमर्पण-न०। आत्मनिवेदने,पञ्चा०।

गुरवे चात्मनिवेदनं महते फलाय—

अह तिपयाहिणपुव्वं, सम्मं सुद्धेण चित्तरयणेण।
गुरुणोऽणुवेयणं स-व्वहेव दढमप्पणा एत्थ ॥ २६ ॥

अथ तदात्मनिवेदनं गुरु प्रतिपद्यते न वा, यदि न प्रतिपद्यते तदा न युक्तं निष्फलत्वात्तस्येत्याशङ्कां परिहरन्नाह-

एसा खलु गुरुभत्ती, उक्कोसो एस दाणधम्मो उ।
भावविसुद्धीएँ दढं, इहरा वि य कीयमेयस्स ॥ ३० ॥

कथमिद भावविशुद्धश्राभावपूर्वकमात्मनिवेदनमुत्कृष्टदानधर्मबीज भवतीत्याह—

जं उत्तमचरियमिणं, मोउं पि अणुत्तमाण पारे त्ति।
ता एयमगामाओ, उक्कोसो होइ एयस्स ॥ ३१ ॥

अथ यदि तदात्मनिवेदन गुरु प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणदोषो गुरु स्यादित्याशङ्का परिहरन्नाह—

गुरुणो वि णाऽहिगरणं, ममत्तरहियस्स एत्थ वत्थुम्मि।
तब्भवसुद्धिहेउं, आणाएँ पयत्तमाणस्स ॥ ३२ ॥

पञ्चा० २ विव०।

(एतासां गाथानां व्याख्या 'पव्वज्जा' शब्दे पञ्चमेभागे करिष्यते।)

आत(य)समया-आत्मसमता-स्त्री०। आत्मौपम्ये, आचा०। सर्वत्रात्मौपम्यं समाचरेदित्याह—

आतवो बहिया पास, तम्हा ण हंता ण विघायए।
(सूत्र-११५×)।

यथा ह्यात्मन सुखमिष्टमितरत्त्वन्यथा तथा बहिरपि-आत्मनो व्यतिरिक्तानामपि जन्तूनां सुखप्रियत्वमसुखाप्रियत्वं च पश्य-अव धारय, तदेवमात्मसमतां सर्वप्राणिनामवधार्य किं कर्त्तव्यमित्याह-' तम्हा ' इत्यादि। यस्मात्सर्वेऽपि जन्तवो दुःखद्विष सुखलिप्सवस्तस्मात्तेषा न हन्ता-न व्यापादक स्यात्, नाप्यपरैस्तान् जन्तून् विविधैर्नानाप्रकारैरुपायैर्घातयेत्-विघातयेदिति। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

आत (य) समोयार-आत्मसमवतार-पुं०। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यसमवतारभेदे, अनु०।

सव्वदव्वा वि णं आयसमोआरेणं आयभावे समोअरंति। (सूत्र-१५३+)

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यसमवतारस्त्रिविधः प्रज्ञप्त, तद्यथा-आत्मसमवतार इत्यादि। तत्र सर्वद्रव्याण्यप्यात्मसमवतारेण चिन्त्यमानान्यात्मभावे—स्वकीयस्वरूपे समवतरन्ति—वर्तन्ते तद्व्यतिरिक्तत्वात्तेषाम्। अनु०। (अत्र बहुवक्तव्यता ' समोयार ' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते)

आत (य) सरीरखेत्तोगाढ-आत्मशरीरक्षेत्रावगाढ-त्रि०। स्वशरीरक्षेत्रव्यवस्थिते, भ०। ' आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारंति " (सूत्र-२५८+)। स्वशरीरे व्यवस्थितानित्यर्थः। भ० ६ श० १० उ०।

आत (य) साय-आत्मसात-न०। आत्मसुखे, सूत्र०। " भूताइं जे हिंसति आयसाते ॥२+॥ " अमूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि-प्राणिनस्तानि आत्मसुखार्थं हिनस्तिव्यापादयति। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

आत (य) सायाणुगामि (न्)-आत्मसातानुगामिन्-पुं०। स्वसुखलिप्सौ, सूत्र०।

हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥ ५ ॥

आत्मसातानुगामिन -स्वसुखलिप्सव। सूत्र०१ श्रु०८ अ०।

आत(य)सुह-आत्मसुख-न०। शरीरसुखे, सूत्र०। " आयसुह पडुच्च " ॥ ४+॥ आत्मसुखम्प्रतीत्य-स्वस्य शरीरसुखं प्रतीत्य। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। जे छिंदंति आयसुहं पडुच्च ॥ ८×॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। जीवसुखे, द्वा०।

अर्हत्क्रमाऽम्भोजयुगोपयोगि,
चेतः कुरुष्वाऽऽत्मसुखं लभस्व ॥ ७ ॥

आत्मनो-जीवस्य सुखं-निराबाधानुभवं लभस्व-प्राप्नुहि नयज्ञानात् जीवादीन् परीक्ष्य कर्मभ्य आत्मानं वियोज्याऽनन्तसुखभाक् भव इत्यर्थः । द्रव्या० ८ अध्या० । आत्मैव सुखमस्य आत्मलाभमात्रेण सुखिनि, त्रि० । आत्मैव सुखं सच्चिदानन्दरूपत्वात् । आत्मरूपे परमानन्दे, न० । वाच० ।

आत (य) सोहि-आत्मशुद्धि-स्त्री० । आत्मनो-देहस्य, मनसो वा शुद्धिः । देहशुद्धौ, चित्तशुद्धौ च । वाच० । कर्मक्षयोपशमक्षये च । " आययजोगमायसोहीए " ॥ १५४ ॥ आत्मशुध्या-कर्मक्षयोपशमक्षयलक्षणयाऽऽयतयोगं-सुप्रणिहितमनोवाक्कायात्मकं विधाय । आचा० १ श्रु० ६ अ०४ उ०।

आत (य) हित-आत्महित-त्रि० । स्वहिते, सूत्र० । "आयहियाए सन्निसेज्जाओ" ॥१६४॥ आत्महिताय स्वहितं मन्यमाना. । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । शरीराय हिते, " आयहीए आयहिताए " (सूत्र-१+॥) आत्महितानां हितमिव हितम् आत्महितं च शरीरे आत्मनि च भवति । तत्र शरीरे हिताऽहितं पथ्याऽपथ्याहारादिकम् । आत्मनि तु हिंसादिप्रवृत्तिनिवृत्ती । अथवा-आत्मनो हितानि त्रीणि त्रिषष्टानि पाखण्डिकशतानि तदपनयनं तदस्ति येषां ते आत्महिता. । दशा० ५ अ० । अहिताचाराश्च चौरादय , अयं त्वात्महित ऐहिकामुष्मिकापायभीरुत्वात् । सूत्र०२ श्रु० २ अ० । "आयहिए अणियाणसंवुडे" (सूत्र-२०१)। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

आयहेउ-आत्महेतु-पुं०। आत्मनिमित्ते, दश०। "आयहेउ पर उभये"॥३३६+॥ आत्महेतो -आत्मनिमित्तम् । दश०१० अ०। "केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा"(सूत्र-१७+) । आत्मनिमित्तम्-आत्मार्थम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

आता (अप्पा)-स्त्री० । आत्मन्-पुं० । अत-मनिण् । स्वरूपे, वाच०। भ०। भस्माऽऽत्मनो पो वा ॥८।२।५१॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण भस्माऽऽत्मनोः संयुक्तस्य पो वा । अप्पा । अप्पाणो। पक्षे-अत्ता। प्रा० । पुंस्यन आणो राजवच्च ॥ ८ । ३ । ५६ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण पुंल्लिङ्गे वर्तमानस्याऽन्नन्तस्य स्थाने आण इत्यादेशो वा भवति । पक्षे यथादर्शनं राजवत् च कार्य्यं भवति । आणादेशे च-" अनः सेर्डोः " ॥ ८ । ३ । २ ॥ इत्यादयः प्रवर्तन्ते । पक्षे तु-राजवत्-अप्प शस् । जस्शस्ङसिङसां णो ॥ ८ । ३ । ५० ॥ टो णा ॥ ८ । ३ । ५१ ॥ इणममामा ॥ ८ । ३ । ५३ ॥ इति प्रवर्तन्ते । अप्पाणो । अप्पाणा, प्रथमा । अप्पाणं । अप्पाणे, द्वितीया । अप्पाणेण । अप्पाणेहिं, तृतीया । अप्पाणाओ । अप्पाणासुन्तो, पञ्चमी । अप्पाणस्स । अप्पाणाण, षष्ठी । अप्पाणम्मि । अप्पाणेसु, सप्तमी । अप्पाण कअ । पक्षे राजवत् । अप्पा । अप्पो प्रथ० । हे अप्पा !, हे अप्प !, संबोधनम् । अप्पाणो चिट्ठन्ति । अप्पाणो पेच्छ । अप्पाणा, अप्पेहिं । अप्पाणो । अप्पाओ । अप्पाउ । अप्पाहि । अप्पाहिन्तो । अप्पा । अप्पासुन्तो । अप्पाणो धणं । अप्पाणं । अप्पे । अप्पेसु । प्रा० । " आत्मनष्टो णिआ णइआ " ॥ ८ । ३ । ५७ ॥ आत्मन परस्याष्टाया स्थाने णिआ णइआ इत्यादेशौ वा भवत । अप्पणिआ पाउसे उवगअम्मि । अप्पणिआ अविअद्दिखाणिआ। अप्पणइआ । पक्षे-अप्पाणेण । प्रा० । यत्ने, वाच० । स्वस्मिन् , " आयाए एगंतमंतं अवक्कामंति " (सूत्र-१४२+) । ' आयाए ' त्ति—आत्मना, स्वयमित्यर्थः । भ० ३ श० २ उ० ।

दोहिं ठाणेहिं आया सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, तं जहा-देसेण वि आया सरीरं फुसित्ता णं णिज्जाति, सव्वेण वि आया सरीरगं फुसित्ता णं णिज्जाति, एवं फुरित्ता णं, एवं फुडित्ता, एवं संवट्टित्ता, निव्वट्टित्ता । (सूत्र-६७)

' दोहिं ' इत्यादिकं कण्ठ्यम् । नवरं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां ' देसेण वि ' त्ति-देशेनापि कतिपयप्रदेशलक्षणेन केषाचित्प्रदेशा वा इलिकागत्योत्पादस्थानं गच्छता जीवेन शरीराद् बहिः क्षिप्तत्वात्, आत्मा-जीव , शरीरम्-देहं स्पृष्ट्वा-श्लिष्ट्वा निर्याति शरीरान्मरणकाले निस्सरतीति, ' सव्वेण वि ' त्ति-सर्वेण-सर्वात्मना सर्वैर्जीवप्रदेशैः कन्दुकगत्योत्पादस्थानं गच्छता शरीराद् बहिःप्रदेशानामक्षिप्तत्वादिति । अथवा-देशेनाऽपि-देशतोऽपि अपिशब्द. सर्वेणापीत्यपेक्ष । आत्मा-शरीरं कोऽर्थ ? शरीरदेशं-पादादिकं स्पृष्ट्वा अवयवान्तरेभ्य प्रदेशसंहारान्निर्याति, स च संसारी । सर्वेणापि-सर्वतयाऽपि, अपिः देशेनापीत्यपेक्ष सर्वमपि शरीरं स्पृष्ट्वा निर्यातीति भाव , स च सिद्धो, वक्ष्यति च-" पायणिज्जाणा निरएसु उववज्जंती " त्यादि, यावत्-" सव्वंगनिज्जाणा सिद्धेसु " त्ति । आत्मना शरीरस्य स्पर्शने सति स्फुरणं भवतीति, इत्यत उच्यते-'एवमि' त्यादि, 'एवमि' ति 'दोहिं ठाणेहिं ' इत्याद्यभिलापसंसूचनार्थ , तत्र देशेनापि कियद्भिरप्यात्मप्रदेशैरिलिकागतिकाले ' सव्वेण वि ' त्ति सर्वैरपि गेन्दुकगतिकाले शरीरम् । ' फुरित्ता णं ' ति-स्फोरयित्वा सस्पन्दं कृत्वा निर्याति, अथवा-शरीरकं देशत.; शरीरदेशमित्यर्थ , स्फोरयित्वा पादादिनिर्याणकाले सर्वत शरीरं स्फोरयित्वा सर्वाङ्गनिर्याणावसर इति । स्फुरणाच्च सात्मकत्वं स्फुट भवतीत्याह-' एवमि ' त्यादि-' एवमि ' तितथैव देशेनात्मदेशेन शरीरकम् ' फुडित्ता णं ' ति-सचेननतया स्फुरणलिङ्गत. स्फुट कृत्वा इलिकागतौ सर्वेण-सर्वात्मना स्फुटं कृत्वा गेन्दुकगताविति, अथवा-शरीरकं देशतः सात्मकतया स्फुटं कृत्वा पादादिना निर्याणकाले सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणप्रस्ताव इति, अथवा-'फुडित्ता' स्फोटयित्वा विशीर्णं कृत्वा तत्र देशतोऽक्ष्यादिविघातेन, सर्वतः सर्वविशरणेन देवदीपादिजीववदिति शरीरकं सात्मकतया स्फुटीकुर्वंस्तत्सवर्तनमपि कश्चित्करोतीत्याह-' एवमि ' त्यादि , ' एवमि ' ति, तथैव ' संवट्टइत्ता णं ' तिसंवर्त्य-सकोच्य शरीरकं देशेनेलिकागतौ शरीरस्थितप्रदेशैः सर्वेण—सर्वात्मना गेन्दुकगतौ सर्वात्मप्रदेशानां शरीरस्थितत्वान्निर्यातीति , अथवा—शरीरक शरीरिणमुपचाराद्दण्डयोगाद्दण्डपुरुषवत्, तत्र देशत संवर्तनं संसारिणो म्रियमाणस्य पादादिगतजीवप्रदेशसंहारात्सर्वतस्तु निर्वाणं गन्तुरिति । अथवा-शरीरकं देशत संवर्त्य हस्तादिसङ्कोचनेन सर्वत.-सर्वशरीरसङ्कोचनेन पिपीलिकादिवदिति । आत्मनश्च संवर्तनं कुर्वन् शरीरस्य निवर्तनं करोतीत्याह-एवं ' निवट्टइत्ता ण ' ति-तथैव निवर्त्य-जीवप्रदे-

शेभ्य, शरीरकं पृथक् कृत्वेत्यर्थः,तत्र देशेनेलिकागतौ सर्वेण गेन्दुकगतौ, अथवा-प्रदेशतः शरीरक निवर्त्यात्मनः पादादिनिर्याणवान्, सर्वतः सर्वाङ्गनिर्याणवानिति, अथवा-पञ्चविधशरीरसमुदयापेक्षया देशतः शरीरम्—औदारिकादि निवर्त्य, तैजसकार्म्मणे त्वादायैव, तथा सर्वेण सर्वं शरीरसमुदायं निवर्त्य निर्याति, सिद्ध्यतीत्यर्थः,

अनन्तरं सर्वनिर्याणमुक्तं, तच परम्परया धर्मश्रवणलाभादिषु ते च यथा स्युस्तथा दर्शयन्नाह—

दोहिं ठाणेहिं आता केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणताते, तं जहा-खतेण चेव, उवसमेण चेव, एवं ०जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा, तं जहा-खतेण चेव, उवसमेण चेव। (सूत्र-६८)

'दोही'त्यादि, कण्ठ्यं, नवरम्'खपण चेव' त्ति-ज्ञानावरणीयस्य दर्शनमोहनीयस्य च कर्मण उदयप्राप्तस्य क्षयेण-निर्जरणेन, अनुदितस्य चोपशमेन-विपाकानुभवनेन क्षयोपशमेनेत्युक्तं भवति, यावत्करणात्-" केवलं बोहिं बुज्झेज्जा मुडेभवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा केवल बंभचेरवासमावसेज्जा केवलेण संजमेणं संजमेज्जा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा केवलमाभिणिबोहियनाणमुप्पाडेज्जा" इत्यादि दृश्यम्, एवं यावन्मन.पर्यवज्ञानमुत्पादयेदिति, केवलज्ञान तु क्षयादेव भवतीति तन्नोक्तम्। इह च यद्यपि बोध्यादय. सम्यक्त्वचारित्ररूपत्वात्केवलेन क्षयेण, उपशमेन च, भवन्ति। तथाप्येते क्षयोपशमेनापि भवन्ति। श्रवणाभिनिबोधिकादीनि तु क्षयोपशमन भवन्तीति सर्वसाधारण' क्षयोपशम उक्त। स्था० २ ठा० ४ उ०। देहे, उक्त०। उक्तं हि-"धर्म्मधृत्यग्निधीन्द्वर्क-त्वक्रनस्वसूर्यदेहेषु। शीलानिलमनोयत्ने-कवीर्येऽप्यात्मनः स्मृति." ॥१॥ इति। उत्त० १५ अ०।

तथा च—

जंमिं णं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति, तं जहा-अप्पणो से पुत्ताणं। (८६+)

' तं जहा अप्पणो ' इत्यादि, तद्यथेत्युपप्रदर्शनार्थे नोक्तमात्रमेवान्यदप्येवंजातीयक मित्रादिकं द्रष्टव्यम् (से) तस्यारम्भारिप्सोर्य आत्मा-शरीर तस्मै अर्थं तदर्थं कर्म्मारम्भा' गाकादय. क्रियन्ते। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। मनसि, बुद्धिस्थे निजे स्वभावे, बुद्धौ च। वाच०। देहावच्छिन्न चैतन्ये च। अन्त करणे, वाच०। ज्ञाने, प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि, बुद्धिर्हि मनआदिकरणानि प्राप्नोत्यात्मा तथा प्रत्यभिज्ञानम्। वाच०। अर्के, वह्नौ, वायौ, वाच०। अननीत्यात्मा। विशे० २२५६ गाथा। अतति-सततं गच्छत्यपरापरान् स्वपरपर्यायानित्यात्मा। अथवा-अतधातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानाऽर्थत्वादतति—सततमवगच्छत्युपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा। भ० १० श० १२ उ०। अतति—सातत्येन गच्छति तांस्तान् ज्ञानदर्शनसुखादिपर्यायानित्याद्यात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंभवात्, उक्तञ्च-" एवं जीवो जीवो, ससारी पाणधारणाणुभवो। सिद्धो पुणरजीवो, जीवणपरिणामरहिओ त्ति" आ० म० १ अ०। को ह्यात्मा भगवानाह-योऽहमित्यभिमन्यते, स कीदृक् सूक्ष्मोऽसौ, किं तत्सूक्ष्मं-यन्न गृह्णीमः,न तु शब्दगन्धानिला., किं तु ते इन्द्रियग्राह्याः, तेन ग्रहणमात्मा न तु ग्राहयिता हि सः। आ० चू० १ अ०।

विषयसूचना—

(१) एकविधः आत्मा।
(२) एकविधोऽप्यात्मा त्रिविधः।
(३) निक्षेप आत्मनः।
(४) अष्टविध आत्मा।
(५) आत्मान.-सूक्ष्मा, बादराश्च नवविधाश्च।
(६) आत्मन लक्षणम्।
(७) परिभोगोपभोगकषायद्वाराणि।
(८) इन्द्रियाण्यात्मन.।
(९) चित्तादीनि आत्मनः।
(१०) आत्मनः अस्तित्वम्।
(११) अभ्याख्यानमात्मनः।
(१२) आत्मनोऽस्तित्वमिन्द्रभूतिं प्रति।
(१३) अभौतिकत्वमात्मनः।
(१४) कस्या दिश आगतोऽहम्।
(१५) अन्यत्वम्, अमूर्त्तत्वम्, अनित्यत्वं च आत्मनः।
(१६) कर्त्तृत्वमात्मनः।
(१७) विभुत्वमात्मनः।
(१८) परिमाणमात्मनः।
(१९) विस्तरत एकत्वमात्मनः।
(२०) क्रियावत्त्वमात्मन।
(२१) ज्ञानमात्मनो भिन्नम्, अभिन्नं च।
(२२) द्वाभ्यां स्थानाभ्यामात्मा जानाति।
(२३) आत्मनिरूपणे स्फुटगाथाः।
(२४) क्षणिकत्वमात्मन.।
(२५) रत्नप्रभादिभावानामात्मत्वम्।
(२६) गाथा.-" अप्पा नई वेयरणी " ति।

(१) एकविध आत्मा।

एगे आता (या)। (सूत्र-२)

एको, न द्व्यादिरूप आत्मा-जीव. कथञ्चिदिति गम्यते। स्था० १ ठा०। (अस्य सूत्रस्य विस्तरतो व्याख्या (११) ऊनविंशे अधिकाराङ्के करिष्यते) (' आत्मत्वमेव जीवत्वम् ' अस्याग्रे विवेचनं भविष्यति द्विविधत्वम् जीवस्य ' जीव ' शब्दे चतुर्थभागे १५२२ पृष्ठे करिष्यते)

(२) एकविधोऽपि स च (आत्मा) त्रिविधः—

बाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७॥

बाह्यात्मा चेति-काय. स्वात्मधिया प्रतीयमान. अहं स्थूल', अहं कृश इत्याद्युल्लेखेनाधिष्ठायक कायचेष्टाजनकप्रयत्नवान्, ध्येयश्च ध्यानभाव्य एते त्रय'-'बाह्यात्मा च अन्तरात्मा च परमात्मा चे'ति-योगवाङ्मये-योगशास्त्रे प्रसिद्धा। द्वा०२० द्वा०। यस्य देहमनोवचनादिषु आत्मत्वभास' देह एवाहमा एव सर्वपौद्गलिकप्रवर्त्तनेषु आत्मनिष्ठेषु आत्मत्वबुद्धि स बाह्यात्मा १, मिथ्यादृष्टि एष। पुन. स कर्मावस्थायाम-

पि आत्मनि ज्ञानाद्युपयोगलक्षणे शुद्धचैतन्यलक्षणे महानन्दस्वरूपे निर्विकाराऽमृताऽव्याबाधरूपे समस्तपरभावमुक्ते आत्मबुद्धि, अन्तरात्मा-सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकृत क्षीणमोहं यावत् अन्तराऽऽत्मा उच्यते २, य केवलज्ञानदर्शनोपयुक्त शुद्धसिद्ध स परमात्मा-सयोगी अयोगी केवली सिद्धश्च स परमाऽऽत्मा उच्यते। अष्ट० १५ अष्ट०। (अस्य वक्तव्यता ('जोग' शब्दे चतुर्थभागे १६३१ पृष्ठे वक्ष्यते) (" आत्मत्वमेव जीवत्वम् " ॥ ४६ ४ ॥ इत्यादि श्लोकविवरणं 'जीव' शब्दे चतुर्थभागे १५५१ पृष्ठे वक्ष्यते)

(३) अधुना जीवपद (निक्षेप) माह—

जीवस्स उ निक्खेओ, परूवणा लक्खणं च अत्थित्तं।
अन्नामुत्तत्तं नि-च्चकारगो देहवावित्तं ॥ २२० ॥
गुणिउड्ढगइत्ते या, निम्मयसाफलता य परिमाणे।
जीवस्स तिविहिकालं-मि परिक्खा होइ कायव्वा ।२२१।

[दो दारगाहाओ] एतद् द्वारगाथाद्वयम्, अस्य व्याख्या०-जीवस्य तु निक्षेपा नामाऽऽदि. प्ररूपणा द्विविधाश्च भवन्ति जीवा इत्यादिरूपा लक्षण चाऽऽदानादि अस्तित्व सत्त्व शुद्धपदवाच्यत्वादिना अन्यत्वं देहात्, अमूर्तत्वं स्वतः, नित्यत्वं विकारानुपलम्भेन, कर्तृत्व-स्वकर्मफलभोगात्, देहव्यापित्व-तत्रैव तल्लिङ्गोपलब्ध्या, गुणित्वं योगादिना, ऊर्ध्वगतित्वमगुरुलघुभावेन, निर्मायता विकाररहितत्वेन, सफलता च कर्मणः, परिमाण लोकाकाशमात्र इत्यादि, एवम्-'जीवस्य त्रिविधकाल' इति-त्रिकालविषया, परीक्षा भवति-कर्तव्या। इति द्वारगाथाद्वयसमासार्थ.। व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेय.।

तथा च निक्षेपमाह—

नामं ठवणा जीवो, दव्वजीवो य भावजीवो य।
ओहभवग्गहणंमि य, तब्भवजीवे य भावम्मि ॥ २२२ ॥

व्या०-'नामस्थापनाजीव' इति-जीवशब्द प्रत्येकमभिसम्बध्यते, नामजीव स्थापनाजीव इति। तथा द्रव्यजीवश्च भावजीवश्च वक्ष्यमाणलक्षण.। तत्रौघ इति ओघजीव., भवग्रहणे चेति भवजीव, तद्भवजीवश्च-तद्भव एवोत्पन्न, भावे भावजीव इति गाथासमासार्थः।

व्यासार्थं त्वाह [भाष्यकार]—

नामं ठवणोगयाओ, दव्वे गुणपज्जवेहि रहिओ त्ति।
तिविहो य होइ भावे, ओहे भवतब्भवे चेव ॥ ६ ॥

व्या०-नामस्थापने गते क्षुण्णत्वादिति भाव। 'द्रव्ये' इति-द्रव्यजीवो गुणपर्यायाभ्या चैतन्यमनुष्यत्वादिलक्षणाभ्या रहितः। बुद्धिपरिकल्पितो, न त्वसावित्थंविध संभवतीति। त्रिविधश्च भवति 'भाव' इति—भावजीवस्त्रैविध्यमाह-ओघजीवो भवजीवस्तद्भवजीवश्चेति। प्रागगाथोक्तमप्येतदित्थंविधभाष्यकारशैलीप्रामाण्यतोऽदुष्टमेवेति। अन्ये तु पठन्ति-" भावे उ तिहा भणिओ, तं पुण सखेवओ वोच्छं " 'भाव' इति-भावजीव., त्रिधेति-त्रिप्रकारो भणितो निर्युक्तिकारेण ओघजीवादि, तमपि च भावार्थमधिकृत्य सक्षेपतो वक्ष्य इति गाथार्थ.।

तत्रौघजीवमाह [भाष्यकार.]—

संते आउयकम्मे, धरई तस्सेव जीवई उदए।
तस्सेव निज्जराए, मओ त्ति सिद्धो नयमएणं ॥ ७ ॥

व्या०—सति—विद्यमाने आयुष्ककर्मणि सामान्यरूपे ध्रियते सामान्येनैव तिष्ठति भवोदधौ कथमित्थमवस्थानमात्राज्जीवत्वमस्येत्याशङ्कयाऽन्वैवान्वर्थयोजनामाह-तस्यैव-ओघायुष्ककर्मणो 'जीवत्युदये' उदये सति जीवत्यासंसार प्राणान् धारयत्यतो जीवनाज्जीव इति। तस्यैवौघायुष्ककर्मणो निर्ज्जरया क्षयेण 'मृत इति' सर्वथा जीवनाभावात्, स च सिद्धो मृतो नान्य, विग्रहगतावपि तथा जीवनसद्भावात्, नयमतेनेति सर्वनयमतेनैव मृत इति गाथार्थ.।
* जीवत्यनेनेति जीव ओघेन सामान्येन जीव ओघजीवितविशिष्टो जीव मध्यपदोत्तरपदलोपादित्थं भवति उक्त ओघजीवितविशिष्ट ओघजीव। * अधिक. पाठ।

साम्प्रतं भवजीव तद्भवजीव चाह (भाष्यकार)—

जेण य धरइ भवगओ, जीवो जेण य भवाउ संकमइ।
जाणाहि तं भवाऽऽउं, चउव्विहं तब्भवे दुविहं ॥ ८ ॥
निक्खेओ त्ति गयं।

व्या०—येन च-नारकाद्यायुष्केण ध्रियते तिष्ठति भवगतो नारकादिभवस्थितो जीव, तथा येन च मनुष्याद्यायुष्केण भवान्नारकादिलक्षणात् संक्रामति-याति, मनुष्यादिभवान्तरमिति सामर्थ्याद्गम्यते, जानीहि-विद्धि। तदित्थंभूतं भवायुर्भवजीवित चतुर्विध नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभेदेन तथा तद्भव तद्भवविषयम् आयुरिति वर्तते, तच्च द्विविधम् तिर्यक्त्वतद्भवायु, मनुष्यत्वतद्भवायुश्च। यस्मात्तावेव मृतौ सन्तौ भूयस्तस्मिन्नेव भव उत्पद्येते, नान्ये, तद्भवजीवितं च तस्मान्मृतस्य तस्मिन्नेवोत्पन्नस्य यत्तदुच्यत इति। अत्रापि च भावजीवाधिकारात्तद्भवजीवितविशिष्टश्च जीव एव ग्राह्य, जीवितं तु तद्विशेषणत्वादुक्तमिति गाथार्थ। उक्तो निक्षेप। दश०४ अ०। (चतुर्विध-पञ्चविध-षड्विध-सप्तविधत्व 'जीव'शब्दे चतुर्थभागे १५२४ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

(४) आत्मनोऽष्टविधनिक्षेप.—

कइविहा णं भंते ! आता पण्णत्ता ?, गोयमा ! अट्ठविहा आता पण्णत्ता, त जहा-दवियाऽऽता १, कसायाऽऽता २, जोगायाऽऽता ३, उवओयाऽऽता ४, णाणऽत्ता ५, दंसणाऽऽया ६, चरित्ताऽऽया ७, वीरियाऽऽता ८।

'कइ विहा ण' मित्यादि, 'आय' त्ति—अतति-सततं गच्छति अपरापरान् स्वपरपर्यायानित्यात्मा, अथवा-अत धातोर्गमनार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वादतति-सततमवगच्छत्युपयोगलक्षणत्वादित्यात्मा, प्राकृतत्वाच्च सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देश, तस्य चोपयोगलक्षणत्वात्सामान्येनैकविधत्वेऽप्युपाधिभेदादष्टधात्व, तत्र 'दवियाय' त्ति-द्रव्यं त्रिकालानुगाम्युपसर्जनीकृतकषायादिपर्याय तद्रूप आत्मा द्रव्यात्मा सर्वेषां जीवानाम् १, 'कसायाय' त्ति-क्रोधादिकषायविशिष्ट आत्मा कषायात्मा, अक्षीणानुपशान्तकषायाणाम् २, 'जोगाय' त्ति-योगा मन.प्रभृतिव्यापारास्तत्प्रधान आत्मा योगात्मा,

योगवतामेव ३, 'उवओगाय' त्ति-उपयोगः साकारानाकारभेदस्तत्प्रधान आत्मा उपयोगात्मा, सिद्धसंसारिस्वरूपः सर्वजीवानाम् । अथवा-विवक्षितवस्तूपयोगापेक्षयोपयोगात्मा ४, 'नाणाय' त्ति-ज्ञानविशेषित उपसर्जनीकृतदर्शनादिरात्मा ज्ञानात्मा, सम्यग्दृष्टेः ५, एवं दर्शनात्मादयोऽपि नवरं दर्शनात्मा सर्वजीवानाम् ६, चारित्रात्मा विरतानाम् ७, वीर्यम्-उत्थानादि तदात्मा सर्वसंसारिणामिति । उक्तं च—

जीवानां द्रव्यात्मा, ज्ञेयः स कषायिणां कषायात्मा ।
योगः संयोगिनां, पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥ १ ॥
ज्ञानं सम्यग्दृष्टेः दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम् ।
चारित्रं विरतानां, तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥२॥ इति, ८ ॥

एवमष्टधात्मानं प्ररूप्य अथ यस्यात्मभेदस्य यदन्यदात्मभेदान्तरं युज्यते यच्च न युज्यते तस्य तद्दर्शयितुमाह—

जस्स णं भन्ते ! दविआऽऽता तस्स णं कसायाता, जस्स कसायाता तस्स दवियाता ?, गोयमा ! जस्स दवियाता तस्स कसायाता सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स पुण कसायाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि ।

' जस्स णमि ' त्यादि, इहाष्टौ पदानि स्थाप्यन्ते तत्र प्रथमपदं शेषैः सप्तभिः सह चिन्त्यते-तत्र यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा-द्रव्यात्मत्वं; जीवत्वमित्यर्थः, तस्य कषायात्मा स्यादस्ति कदाचिदस्ति सकषायावस्थायां स्यान्नास्ति कदाचिन्नास्ति क्षीणोपशान्तकषायावस्थायां, यस्य पुनः कषायात्माऽस्ति तस्य द्रव्यात्मत्वं जीवत्वं नियमादस्ति, जीवत्वं विना कषायाणामभावादिति ।

जस्स णं भंते ! दवियाऽऽता तस्स जोगाता ?, एवं जहा दवियाता कसायाता भणिया तहा दवियाता जोगाया वि भाणियव्वा ।

तथा यस्य द्रव्यात्मा तस्य योगात्माऽस्ति योगवतामिव नास्ति चायोगिसिद्धानामिव, तथा यस्य योगात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति जीवत्वं विना योगानामभावादेतदेव पूर्वसूत्रोपमानेन दर्शयन्नाह-' एवं जहा दवियाये' त्यादि ।

जस्स णं भंते ! दविताऽऽया तस्स उवओगाता एवं सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वा, गोयमा ! जस्स दवियाता तस्स उवओगाया णियमं अत्थि, जस्स वि उवओगाता तस्स वि दवियाता णियमं अत्थि, जस्स दवियाता तस्स णाणाता भयणाए, जस्स पुण णाणाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि । जस्स दवियाता तस्स दंसणाता णियमं अत्थि, जस्स वि दंसणाता तस्स दवियाता णियमं अत्थि, जस्स दवियाता तस्स चरित्ताया भयणाए, जस्स पुण चरित्ताता तस्स दवियाता णियमं अत्थि । एवं वीरियाताए वि समं ।

तथा यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य नियमादुपयोगात्मा यस्याप्युपयोगात्मा तस्य नियमाद् द्रव्यात्मा, एतयोः परस्परेण अविनाभूतत्वाद्यथा सिद्धस्य, तदन्यस्य च द्रव्यात्मास्त्युपयोगात्मा चोपयोगलक्षणत्वाज्जीवानाम्, एतदेवाह-' जस्स दवियाये ' त्यादि, तथा ' जस्स दवियाता तस्स णाणाया भयणाए, जस्स पुण णाणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि ' त्ति-यस्य जीवस्य द्रव्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृष्टीनां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृष्टीनामित्येव भजना, यस्य तु ज्ञानात्मा तस्य द्रव्यात्मा नियमादस्ति, यथा सिद्धस्येति । तथा ' जस्स दवियाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि ' त्ति-यथा सिद्धस्य केवलदर्शनम् । ' जस्स वि दंसणाया तस्स दवियाया नियमं अत्थि ' त्ति-यथा चक्षुर्दर्शनादिदर्शनवतां जीवत्वमिति तथा ' जस्स दवियाया तस्स चरित्ताया भयणाए ' त्ति-यतः सिद्धस्याविरतस्य वा द्रव्यात्मत्वे सत्यपि चरित्रात्मा नास्ति विरतानां चास्तीति भजनेति 'जस्स पुण चरित्ताया तस्स दवियाया नियमं अत्थि' त्ति-चारित्रिणां जीवत्वाव्यभिचारित्वादिति, एवं 'वीरियाताए वि समं' ति—यथा द्रव्यात्मनश्चारित्रात्मना सह भजनोक्ता, नियमश्चैवम्-वीर्यात्मनापि सहेति, तथाहि—यस्य द्रव्यात्मा तस्य वीर्यात्मा नास्ति, यथा सकरणवीर्यापेक्षया सिद्धस्य, तदन्यस्य त्वस्तीति भजना, वीर्यात्मनस्तु द्रव्यात्मास्त्येव यथा संसारिणामिति ॥ ७ ॥

अथ कषायात्मनः सहान्यानि पदानि चिन्त्यन्ते-

जस्स णं भंते ! कसायाऽऽता तस्स जोगाया पुच्छा ?, गोयमा ! जस्स कसायाता तस्स जोगाता णियमं अत्थि, जस्स पुण जोगाया तस्स कसायाता सिय अत्थि सिय णत्थि, एवं उवओगाए वि समं कसायाता णेयव्वा, कसायाता णाणाता य परोप्परं दोवि भइयव्वाओ, जहा कसायाया य उवओगाया य तहा कसायाया य दंसणाता य कसायाता चरित्ताता य दोऽवि परोप्परं भइयव्वाओ, जहा कसायाता य जोगाता तहा कसायाता य वीरियाया य भाणियव्वाओ एवं जहा कसायायाए वत्तव्वया भणिया तहा जोगायाए वि उवरिमाहिं समं भाणियव्वाओ ।

'जस्स णमि'त्यादि यस्य कषायात्मा तस्य योगात्माऽस्त्येव न हि सकषायोऽयोगी भवति यस्य तु योगात्मा तस्य कषायात्मा स्याद्वा न वा । सयोगानां सकषायाणामकषायाणां च भावादिति । एवम्-' उवओगायाए वी ' त्यादि, अयमर्थः-यस्य कषायात्मा तस्योपयोगात्मावश्यं भवत्युपयोगरहितस्य कषायाणामभावात् यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य कषायात्मा भजनया, उपयोगात्मतायां सत्यामपि कषायिणामेव कषायात्मा भवति । निष्कषायाणां तु नास्तीति भजनेति, तथा-' कसायाया य णाणाया य परोप्परं दोवि भइयव्वाओ ' त्ति-कथं ?, यस्य कषायात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, यतः कषायिणः सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानात्मास्ति मिथ्यादृष्टेस्तु तस्य नास्त्यमावस्तीति भजना । तथा यस्य ज्ञानात्मास्ति तस्य कषायात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, ज्ञानिना कषायभावात् तदभावाच्चेति भजनेति । ' जहा कसायाया उवओगाया तहा कसायाया य दंसणाया

य ' त्ति-अतिदेशः, तस्मादेवेदं लब्धम्-' जस्स कसायाया तस्स दंसणाया नियमं अत्थि ' दर्शनरहितस्य घटादेः कषायात्मनोऽभावात् ' जस्स पुण दंसणाया तस्स कसायाया सिय अत्थि सिय नऽत्थि' दर्शनवता कषायसद्भावासद्भावाच्चेति, दृष्टान्तार्थस्तु प्राक् प्रसिद्ध एवेति 'कसायाया य चरित्ताया य दोवि परोप्परं भइयव्वाओ' त्ति-भजना चैवम्-यस्य कषायात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, कथं कषायिणां चारित्रस्य सद्भावात्, प्रमत्तयतीनामिव तदभावाच्चासयतानामिवेति, तथा यस्य चारित्रात्मा तस्य कषायात्मा स्यादस्ति स्यान्नास्ति, कथं सामायिकादिचारित्रिणां कषायाणां भावाद्यथाख्यातचारित्रिणां च तदभावादिति । ' जहा कसायाया य जोगाया य तहा कसायाया य वीरियाया य भाणियव्वाओ ' त्ति-दृष्टान्त प्राक् प्रसिद्ध, दार्ष्टान्तिकस्त्वेवम्-यस्य कषायात्मा तस्य वीर्यात्मा नियमादस्ति, न हि कषायवान् वीर्यविकलोऽस्ति, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्य कषायात्मा भजनया, यतो वीर्यवान् सकषायोऽपि स्याद्यथाऽसंयत. अकषायोऽपि स्याद्यथा केवलीति ॥६॥ अथ योगात्माऽग्रेतनपदैः पञ्चभिः सह चिन्तनीयस्तत्र च लाघवार्थमतिदिशन्नाह-' एव जहा कसायायावत्तव्वया भणिया तहा जोगायाए वि उवरिमाहिं समं भाणियव्व ' त्ति-सा चैवम्-यस्य योगात्मा तस्योपयोगात्मा नियमात् यथा सयोगानां.यस्य पुनरुपयोगात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति यथा सयोगानां स्यान्नास्ति यथा-अयोगिनां सिद्धाना चेति, तथा यस्य योगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति सम्यग्दृष्टीनामिव, स्यान्नास्ति मिथ्यादृष्टीनामिव, यस्य ज्ञानात्मा तस्यापि योगात्मा स्यादस्ति, योगिनामिव, स्यान्नास्ति अयोगिनामिवेति, तथा यस्य योगात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येवेति योगिनामिव, यस्य च दर्शनात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति योगवतामिव स्यान्नास्त्ययोगिनामिव, तथा यस्य योगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति विरतानामिव, स्यान्नास्त्यविरतानामिव, यस्यापि चारित्रात्मा तस्य योगात्मा स्यादस्ति सयोगचारित्रवतामिव, स्यान्नास्त्ययोगिनामिवेति, वाचनान्तरे पुनरिदमेव दृश्यते-' जस्स चरित्ताया तस्स जोगाया नियमं ' ति-तत्र च चारित्रस्य प्रत्युपेक्षणादिव्यापाररूपस्य विवक्षितत्वात्तस्य च योगाविनाभावित्वाद्यस्य चारित्रात्मा तस्य योगात्मा नियमादित्युच्यते इति, तथा यस्य योगात्मा तस्य वीर्यात्मास्त्येव योगसद्भावे वीर्यस्यावश्य भावात्, यस्य तु वीर्यात्मा तस्य योगात्मा भजनया यतो वीर्यविशेषवान् सयोग्यपि स्यात् यथा सयोगिकेवल्यादिरयोग्यपि स्याद्यथाऽयोगिकेवलीति ॥ ७ ॥

अथोपयोगात्मना सहान्यानि चत्वारि चिन्त्यन्ते । तत्रातिदेशमाह—

जहा दवियाताए वत्तव्वया भणिया तहा उवओगाताए वि उवरिल्लाहिं समं भाणियव्वा ।

एव च भावना कार्या यस्योपयोगात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृशां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशां, यस्य च ज्ञानात्मा तस्यावश्यमुपयोगात्मा सिद्धानामिवेति १, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव, यस्यापि दर्शनात्मा तस्योपयोगात्मास्त्येव यथा सिद्धादीनामिति २, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, यथा सयतानाम्, असयतानां च, यस्य तु चारित्रात्मा तस्योपयोगात्मास्त्येव यथा सयतानां ३, तथा यस्योपयोगात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति संसारिणामिव स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्योपयोगात्मास्त्येव ससारिणामिवेति ४ ।

अथ ज्ञानात्मना सहान्यानि त्रीणि चिन्त्यन्ते—

जस्स णाणाऽऽया तस्स दंसणाया णियमं अत्थि, जस्स पुण दंसणाया तस्स णाणाया भयणाए, जस्स णाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स पुण चरित्ताया तस्स णाणाया णियमं अत्थि, णाणाता वीरियाता दो वि परोप्परं भयणाए ।

तत्र यस्य ज्ञानात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव सम्यग्दृशामिव, यस्य च दर्शनात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति यथा सम्यग्दृशां, स्यान्नास्ति यथा मिथ्यादृशामत एवोक्तम्- भयणाए ' त्ति, १, तथा ' जस्स नाणाया तस्स चरित्ताया सिय अत्थि ' त्ति । सयतानामिव । ' सिय नत्थि ' त्ति, असंयतानामिव ' जस्स पुण चरित्ताया तस्स नाणाया नियमं अत्थि ' त्ति, ज्ञानं विना चारित्रस्याभावादिति २, तथा-' नाणाये ' त्यादि । अस्यार्थः-यस्य ज्ञानात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति केवल्यादीनामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्यापि वीर्यात्मा तस्य ज्ञानात्मा स्यादस्ति, सम्यग्दृष्टेरिव, स्यान्नास्ति मिथ्यादृश इवेति ३ ।

अथ दर्शनात्मना सह द्वे चिन्त्येते—

जस्स दंसणाया तस्स उवरिमाओ दो वि भयणाए, जस्स पुण ताओ तस्स दंसणाया णियमं अत्थि । जस्स चरित्ताया तस्स वीरियाता णियमं अत्थि, जस्स पुण वीरियाता तस्स चरित्ताया सिय अत्थि सिय णत्थि ।

' जस्स दंसणाये ' त्यादि, भावना चास्य—यस्य दर्शनात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति सयतानामिव, स्यान्नास्त्यसयतानामिव, यस्य च चारित्रात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव साधूनामिवेति, तथा यस्य दर्शनात्मा तस्य वीर्यात्मा स्यादस्ति ससारिणामिव, स्यान्नास्ति सिद्धानामिव, यस्य च वीर्यात्मा तस्य दर्शनात्मास्त्येव संसारिणामिवेति ॥ २ ॥ अथान्तिमपदयोर्योजना-' जस्स चरित्ते ' त्यादि, यस्य चारित्रात्मा तस्य वीर्यात्मास्त्येव वीर्यं विना चारित्रस्याभावात्, यस्य पुनर्वीर्यात्मा तस्य चारित्रात्मा स्यादस्ति साधूनामिव, स्यान्नास्ति असंयतानामिवेति ।

अधुनैषामेवात्मनामल्पबहुत्वमुच्यते—

एयासि णं भंते ! दवियाऽऽताणं कसायाऽऽताणं ०जाव वीरियायाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ०जाव विसेसाहिया वा ?, गोयमा ! सव्वत्थोवा चरित्तायाओ णाणायाओ अणंतगुणाओ, कसायायाओ अणंतगुणाओ जोगायाओ

विसेसाहियाओ, वीरियाताओ वि उवयोगदवियदंसणाया-ओ तिन्नि वि तुल्लाओ, विसेसाहियाओ । (सूत्र-४६७)

तत्र च ' सव्वत्थोवाओ चारित्तायाओ ' त्ति-चारित्रिणां संख्यातत्वात् । ' नाणायाओ अणंतगुणाओ ' त्ति-सिद्धादीनां सम्यग्दृशां चारित्रिभ्योऽनन्तगुणत्वात् । ' कसायायाओ अणंतगुणाओ ' त्ति, सिद्धेभ्य. कषायोदयवतामनन्तगुणत्वात् ' जोगायाओ विसेसाहियाओ ' त्ति-अपगतकषायोदयैर्योगवद्भिरधिका इत्यर्थ., ' वीरियायाओ विसेसाहियाओ ' त्ति-अयोगिभिरधिका इत्यर्थः, अयोगिनां वीर्यवत्त्वादिति, ' उवओगदवियदसणायाओ तिरिण वि तुल्लाओ विसेसाहियाओ ' त्ति-परस्परापेक्षया तुल्या सर्वेषां सामान्यजीवरूपत्वात् , वीर्यात्मभ्यः सकाशादुपयोगद्रव्यदर्शनात्मानो विशेषाधिका , यतो वीर्यात्मन सिद्धाश्च मीलिता उपयोगाद्यात्मानो भवन्ति, ते च वीर्यात्मभ्य सिद्धराशिनाऽधिका भवन्तीति । भवन्ति चात्र गाथाः-

" कोडिसहस्सपुहुत्तं, जईण नो थोवियाउ चरणाया ।
नाणायाणंतगुणा, पडुच्च सिद्धे य सिद्धाओ ॥ १ ॥
होंति कसायायाओ-ऽणंतगुणा जेण ते सरागाणं ।
जोगायाभणियाओ, अजोगिवज्जाण तो अहिया ॥ २ ॥
ज सेलेसिगयाण वि, लद्धी विरियं तओ समहियाओ ।
उवओगदवियदसण-सव्वजियाण तवो अहिया ' ॥ ३ ॥
इति । भ० १२ श० १० उ० ।

(५) जीवा सूक्ष्मा., बादराश्च (नवविधाश्च) ।

यथा सन्ति तथाऽऽह भाष्यकार.—

दुविहा य हुंति जीवा, सुहुमा तह बायरा य लोगम्मि ।
सुहुमा य सव्वलोए, दो चेव य बायरविहाणे ॥ ६ ॥

व्या०-द्विविधाश्च—द्विप्रकाराश्च, चशब्दात्—नवविधाश्च पृथिव्यादिद्वीन्द्रियादिभेदेन भवन्ति जीवा , द्वैविध्यमाह-सूक्ष्मा, तथा बादराश्च । तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मा', बादरनामकर्मोदयाच्च बादरा इति, 'लोके' इति लोकग्रहणमलोके जीवभवनव्यवच्छेदार्थं तत्र सूक्ष्माश्च सर्वलोक इति चशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सूक्ष्मा एव सर्वलोकेषु न बादरा । क्वचित्तेषामसंभवात् ' द्वे एव च ' पर्याप्तकाऽपर्याप्तकलक्षणे ' बादरविधाने ' बादरविधौ चशब्दात् सूक्ष्मविधाने च । तेषामपि पर्याप्तकाऽपर्याप्तकरूपत्वादिति गाथार्थ. ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह (भाष्यकार)—

सुहुमा य सव्वलोए, परियावन्ना भवंति नायव्वा ।
दो चेव बायराणं, पज्जत्तियरे अ नायव्वा ॥ १० ॥

व्या०-सूक्ष्मा एव पृथिव्यादय सर्वलोके-चतुर्दशरज्ज्वात्मके पर्यायापन्ना भवन्ति-ज्ञातव्या', 'पर्यायापन्ना ' इति-तमेव सूक्ष्मपर्यायमापन्ना भावसूक्ष्मा न तु भूतभाविनो द्रव्यसूक्ष्मा इति भाव । तथा द्वौ भेदौ बादराणा पृथिव्यादीना चशब्दात्सूक्ष्माणा च पर्याप्तकेतरौ ज्ञातव्यौ पर्याप्तकाऽपर्याप्तकाविति गाथार्थ । दश० ४ अ० ।

(६) (लक्षणद्वारम् 'लक्खण' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते)।

तत्रादानादीना दृष्टान्तानाह (भाष्यकार)—

अयगारकूरपरसू , अग्गिसुवन्ने य खीरनरवासी ।
आहारो दिट्ठंता, आयाणाईण जहसंखं ॥ १३ ॥

व्या०-अयस्कारः क्रूरस्तथा परशुरग्नि. सुवर्णं च क्षीरनरवाश्यः तथा आहारो दृष्टान्ता आदानादीनां प्रक्रान्तानां यथासंख्यं प्रतिज्ञादुष्टत्वेन चैतदभिधानं परोक्षार्थप्रतिपत्तिं प्रति प्रायः प्रधानाङ्गताख्यापनार्थमिति गाथार्थः ।

सांप्रतं प्रयोगानाह (भाष्यकार.)—

देहिंदियाइरित्तो, आया खलु गज्झगाहगपओगा ।
संडासा अयपिंडो, अयकाराइ व्व विन्नेओ ॥ १४ ॥

व्या०-देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा । खलुशब्दो विशेषणार्थ', कथञ्चित् , न सर्वथा अतिरिक्त एव तदसंवेदनादिप्रसङ्गादिति अनेन प्रतिज्ञार्थमाह, प्रतिज्ञा पुन. अर्थेन्द्रियाण्यादेयादानानि विद्यमानादातृकाणि, कुत इत्याह-ग्राह्यग्राहकप्रयोगात् । ग्राह्या-रूपादय. । ग्राहकाणीन्द्रियाणि तेषां प्रयोग -स्वफलसाधनव्यापारस्तस्मान्न ह्यमीषां कर्मकरणभाव. कर्त्तारमन्तरेण स्वकार्यसाधनप्रयोग. संभवत्यनेनापि हेत्वर्थमाह । हेतुश्चादेयादानरूपत्वादिति । दृष्टान्तमाह-संदंशादादानात्-अयस्पिण्डादादेयात् ' अयस्कारादिवत् ' लोहकारवद्विज्ञेयः अतिरिक्तो विद्यमान आदानत्यनेनापि दृष्टान्तार्थमाह-दृष्टान्तस्तु सदंशकायस्पिण्डवत् । यस्तु तदनतिरिक्तः न ततो ग्राह्यग्राहकप्रयोग । यथा देहादिभ्य एवेति व्यतिरेकार्थं , व्यतिरेकस्तु यानि विद्यमानादातृकाणि न भवन्ति तान्यादानादेयरूपाण्यपि न भवन्ति । यथा मृतकद्रव्येन्द्रियादीनीति गाथार्थ. । उक्तमादानद्वारम् ।

(७) अधुना (भाष्यकारः) परिभोगद्वारमाह—

देहो सभोत्तिओ खलु, भोज्जत्ता ओयणाइथालं व ।
अन्नप्पउत्तिगा खलु, जोगा परसु व्व करणत्ता ॥१५॥

व्या०-देह सभोक्तृक खल्विति प्रतिज्ञा, भोग्यत्वादिति हेतु ओदनादिस्थालवत्-स्थालस्थितौदनवदिति दृष्टान्त । भोग्यत्वं च देहस्य जीवेन तथानिवसतोपभुज्यमानत्वादिति । उक्तं परिभोगद्वारम् । अधुना योगद्वारमाह-अन्यप्रयोक्तृका खलु योगा., योगा -साधनानि मन प्रभृतीनि करणानीति प्रतिज्ञार्थ', करणत्वादिति हेतु, परशुवदिति दृष्टान्त । भवति च विशेषे पक्षीकृते सामान्य हेतु , यथा अनित्यो वर्णात्मकः शब्द., शब्दत्वात् मेघशब्दवदिति गाथार्थ' । उक्तं योगद्वारम् ।

साम्प्रतम् (भाष्यकार') उपयोगद्वारमाह—

उवओगा नाभावो, अग्गि व्व सलक्खणा परिच्चागा ।
सकमाया णाभावो, पज्जयगमणा सुवन्नं व ॥ १६ ॥

व्या०-उपयोगात्-साकारानाकारभेदभिन्नात् ' नाभावो ' जीव इति गम्यते, कुत इत्याह-स्वलक्षणापरित्यागादुपयोगलक्षणासाधारणात्मीयलक्षणाऽपरित्यागात् अग्निवद्यथाऽग्निरौष्ण्यादिस्वलक्षणापरित्यागान्नाभावस्तथा जीवोऽपीति प्रयोगार्थ , प्रयोगस्तु सन्नात्मा स्वलक्षणापरित्यागात् , अग्निवदिति । उक्तमुपयोगद्वारम् ।

अधुना कषायद्वारमाह-सकषायत्वात् अनंतनयिलक्षणको-धादिपरिणामोपेतत्वादित्यर्थ । नाभावो जीव. । कुत

इत्याह-पर्यायगमनात् क्रोधमानादिपर्यायप्राप्तेः । सुवर्णवत् कटकादिपर्यायगमनोपेतसुवर्णवदिति प्रयोगार्थः प्रयोगस्तु, सदात्मा, पर्यायगमनात्सुवर्णवदिति गाथार्थः । उक्तं कषायद्वारम् ।

इदानीं (भाष्यकारः) लेश्याद्वारमाह—

लेसाओ नाऽभावो, परिणमणसभावाओ य खीरं व ।
उस्सासा णाभावो, समसब्भावा खउ व्व नरो ॥१७॥

व्या०-लेश्यातो लेश्यासद्भावेन न अभावो जीवः, किं तु-भाव इति, कुत इत्याह-परिणमनस्वभावत्वात्कृष्णादिद्रव्यसांनिध्येन अमूर्तात्मकादिदृष्टान्तसिद्धतथाविधपरिणामधर्मत्वात्, क्षीरवदिति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु सदात्मा परिणामित्वात् क्षीरवदिति । गतं लेश्याद्वारम् ।

प्राणापानद्वारमाह-उच्छ्वासादिति अचेतनधर्मविलक्षणप्राणापानसद्भावान्नाऽभावो जीवः, किन्तु-भावः एव इति, प्रसद्भावेन परिस्पन्दोपेतपुरुषवदिति प्रयोगार्थः । प्रयोगस्तु पुनरत्र व्यतिरेकी द्रष्टव्यः । सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात् यत्तु सात्मकं न भवति तत्प्राणादिमदपि न भवति, यथाऽऽकाशमिति गाथार्थः । उक्तं प्राणापानद्वारम् ।

(८) (भाष्यकारेण) अधुनेन्द्रियद्वारमुच्यते—

अक्खाणेयाणि पर-त्थगाणि वासाइनेह करणत्ता ।
गहवेयगनिज्जरओ, कम्मस्सणो जहाहारो ॥ १८ ॥

व्या०-अक्षाणीन्द्रियाणि एतानीति लोकप्रसिद्धानि देहाश्रयाणि परार्थानि-आत्मप्रयोजनानि वास्यादिवदिह करणत्वादिहलोके वास्यादिवदिति प्रयोगार्थः । आह-भावान्येवेन्द्रियाणि तत्किमर्थं भेदोपन्यासः ?, उच्यते-निर्वृत्त्युपकरणद्वारेण द्वैविध्यख्यापनार्थं ततश्च तत्रोपकरणस्य ग्रहणमिह तु निर्वृत्तेरिति, प्रयोगस्तु-परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनादिवत् न चायं विशेषविरुद्धः, कर्मसंबद्धस्यात्मनः संघातरूपत्वाभ्युपगमात् । उक्तमिन्द्रियद्वारम् । इदानीं (अधुना) बन्धादिद्वाराण्याह—ग्रहणवेदकनिर्जरकः कर्मणोऽन्यो, 'यथाहार' इति-तत्र ग्रहणं-कर्मणो बन्धः वेदनम्-उदयः निर्जरा-क्षयः, 'यथाहारं' इति-आहारविषयाणि ग्रहणादीनि न कर्त्रादिव्यतिरेकेण तथा कर्मणोऽपीति प्रयोगार्थः । प्रयोगस्तु विद्यमानभोक्तृकमिदं कर्मग्रहणवेदननिर्जरणसद्भावात्, आहारवदिति गाथार्थः । उक्तानि बन्धादिद्वाराणि । व्याख्याता च प्रथमा प्रतिद्वारगाथा ।

(९) साम्प्रतं द्वितीयामधिकृत्य चित्तादिस्वरूपव्याचिख्यासयाऽऽह—

चित्तं तिकालविसयं, चेयणपच्चक्खसण्णमणुसरणं ।
विण्णाणणेगभेयं, कालमसंखेयरं धरणा ॥ १९ ॥

व्या०-चित्तं त्रिकालविषयम् ओघतोऽतीतानागतवर्तमानग्राहि चेतनं चेतना सा प्रत्यक्षवर्तमानार्थग्राहिणी । संज्ञानं संज्ञा सा अनुस्मरणम् इदं तदिति ज्ञानम्, विविधं ज्ञानं विज्ञानमनेकभेदम्-अनेकप्रकारम्, अनेकधर्मिणि वस्तुनि तथा; तथाऽध्यवसाय इत्यर्थः । 'कालमसंख्येयेतरम्' असंख्येयं संख्येयं वा धारणा अविच्युतिस्मृतिवासनारूपा, तत्र वासनारूपा संख्येयवर्षायुषामसंख्येयम्, संख्येयवर्षायुषां च संख्येयमिति गाथार्थः ।

(भाष्यम्)—

अत्थस्स ऊह वुद्धी, ईहा चेट्ठत्थअवगमो उ मई ।
संभावणत्थतक्का, गुणपच्चक्खा घडो व्व ऽत्थि ॥२०॥

व्याख्या-अर्थस्येहा बुद्धिः संज्ञिनः परनिरपेक्षार्थपरिच्छेद इति भावः, ईहा-चेष्टा किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इति, सदर्थपर्यालोचनरूपा, अर्थावगमस्तु अर्थपरिच्छेदस्तु शिरःकण्डूयनादिधर्मोपपत्तेः पुरुषः एवायमित्येवंरूपा मतिः 'संभावणत्थतक्क' त्ति-प्राकृतशैल्या अर्थसंभावना । एवमेव आवमर्थे उपपद्यत इत्यादिरूपा तर्कः । इत्थं द्वाराणि व्याख्याय सर्वे एते चित्तादयो गुणा वर्तन्त इति जीवाख्यगुणप्रतिपादकेन प्रयोगार्थेनोपसंहरन्नाह—गुणप्रत्यक्षत्वाद्धेतोः घटवदस्ति जीव इति गम्यते । एष गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) एतदेवस्फुटयति—

जम्हा चित्ताईया, जीवस्स गुणा हवंति पच्चक्खा ।
गुणपच्चक्खत्तणओ, घडु व्व जीवो अओ अत्थि ॥२१॥

व्याख्या-यस्माच्चित्तादयोऽनन्तरोक्ता जीवस्य गुणाः नाऽजीवस्य, शरीरादिगुणविधर्मत्वात् । एते च भवन्ति प्रत्यक्षाः, स्वसंवेद्यत्वात्, यतश्चैवम्-गुणप्रत्यक्षत्वाद्धेतोर्घटवज्जीवः । अतोऽस्तीति प्रयोगार्थः । प्रयोगस्तु सदात्मा गुणप्रत्यक्षत्वात् घटवन्नायं घटवदात्मनोऽचेतनत्वापादनेन विरुद्धः "विरुद्धोऽसति बाधने" इति वचनात्, एतच्चैतन्यं प्रत्यक्षेणैव बाधनमिति गाथार्थः । व्याख्यातं मूलद्वारगाथाद्वये प्रतिद्वारद्वयेन लक्षणद्वारम् ।

(१०) इदानीमस्तित्वद्वारावसरः,तथा चाह भाष्यकारः—

अत्थि त्ति दारमहुणा, जीवस्सइ अत्थि विज्जए नियमा ।
लोगायतमयघाय-त्थमुच्चए तत्थिमो हेऊ ॥ २२ ॥

व्याख्या-अस्तीति द्वारमधुना सांप्रतमवसरप्राप्तम् तत्रेतदुच्यते-जीवः सन्, पृथिव्यादिविकारदेहमात्ररूपः सन्निति सिद्धसाध्यता । न तु ततोऽन्योऽस्तीत्याशङ्कापनोदायाह-अस्त्यन्यश्चैतन्यरूपस्तदपि मातृचैतन्योपादानं भविष्यति परलोकयायी तु न विद्यत इति मोहापोहायाह-विद्यते नियमात्-नियमेन, तथाचाह-लोकायतमतघातार्थम्-नास्तिकाभिप्रायनिराकरणार्थमुच्यते एतत्, तस्य चानन्तरोदित एवाभिप्राय इति सफलानि विशेषणानि तत्र-लोकायतमतविघाते कर्तव्ये अयम्-वक्ष्यमाणलक्षणो हेतुः; अन्यथानुपपत्तिरूपो युक्तिमार्ग इति गाथार्थः ।

(भाष्यम्)-

जो चिंतेइ सरीरे, नऽत्थि अहं स एव होइ जीवो त्ति ।
न हु जीवम्मि असंते, संसय उप्पायओ अन्नो ॥ २३ ॥

व्याख्या-यश्चिन्तयति शरीरे अत्र लोकप्रतीते नास्त्यहं स एव चिन्तयिता भवति 'जीव इति' कथमेतदेवमित्याह-न यस्माज्जीवे असति मृतदेहादौ संशयोत्पादकः अन्यः-प्राणादिः, चैतन्यरूपत्वात्संशयस्येति गाथार्थः ।

एतदेव (भाष्यकारः) भावयति—

जीवस्स एस धम्मो, जा ईहा अत्थि नऽत्थि वा जीवो ।

खाणुमणुस्साणुगया, जह ईहा देवदत्तस्स ॥ २४ ॥

व्या०-जीवस्यैव स्वभावः-एष धर्मः या ईहा सदर्थपर्यालोचनात्मिका, किं विशिष्टेत्याह अस्ति, नाऽस्ति वा जीव इति। लोकप्रसिद्धं निदर्शनमाह-स्थाणुमनुष्यानुगता-किमयं स्थाणुः ?, किं वा पुरुषः ?, इत्येवंरूपा या ईहा-देवदत्तस्य जीवतो धर्म्मः। इति गाथार्थः।

(भाष्यकारः) प्रकारान्तरेणैतदेवाह—

सिद्धं जीवस्स अत्थित्तं, सद्दादेवाणुमीयए।

नासओ भुवि भावस्स, सद्दो हवइ केवलो ॥ २५ ॥

व्या०—सिद्धम्-प्रतिष्ठितं जीवस्योपयोगलक्षणस्यास्तित्वं, कुत इत्याह-शब्दादेव जीव इत्यस्मादनुमीयते, कथमेतदेवमित्याह-' नाऽसत ' इति-न असतः-अविद्यमानस्य भुवि पृथिव्यां भावस्य पदार्थस्य शब्दो भवति वाचक इति, खरविषाणादिशब्दैर्व्यभिचारमाशङ्कयाह-केवलः शुद्धः-अन्यपदासंसृष्टः, खरादिपदसंसृष्टाश्च विषाणादिशब्दा इति गाथार्थः।

एतद्विवरणायैवाह भाष्यकारः—

अत्थि त्ति निव्विगप्पो, जीवो नियमाउ सद्दओ सिद्धो।

कम्हा सुद्धपयत्ता, घडखरसिंगाणुमाणाओ ॥ २६ ॥

व्या०—अस्तीति निर्विकल्पो जीव 'निर्विकल्प' इति-निःसंदिग्धः नियमात् नियमेनैव प्रतिपत्त्रपेक्षया शब्दतः सिद्धिः वाचकाद्वाच्यप्रतीतेः । एतदेव प्रश्नद्वारेणाह-कस्मात्कुत एतदेवमिति ? आह-शुद्धपदत्वात्-केवलपदत्वाज्जीवशब्दस्य घटखरशृङ्गानुमानादनुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः घटखरशृङ्गदृष्टान्तादिति प्रयोगार्थः , प्रयोगस्तु-मुख्येनार्थेनार्थवान् जीवशब्दः, शुद्धपदत्वात् घटशब्दवत् , यस्तु मुख्येनार्थेनार्थवान्न भवति स शुद्धपदमपि न भवति, यथा खरशृङ्गशब्द इति गाथार्थः।

पराभिप्रायमाशङ्कय परिहरन्नाह (भाष्यकारः)—

चोयग ! सुद्धपयत्ता, सिद्धी जइ एव सुन्नसिद्धि अम्हं पि।

तं न भवइ संतेणं, जं सुन्नं सुन्नगेहं व ॥ २७ ॥

व्या०-उक्तवच्छुद्धपदत्वात्सिद्धिर्यदि जीवस्य एव तर्हि शून्यसिद्धिरस्माकमपि, शून्यमिति शब्दस्यापि शुद्धपदत्वादित्यभिप्रायः। अत्रोत्तरमाह तन्न भवति यदुक्तं परेण। कुत इत्याह-सता विद्यमानेन पदार्थेन यद्-यस्मात् शून्यं शून्यमुच्यते। किंवदित्याह-शून्यगृहमिव, तथा हि-देवदत्तेन रहितं शून्यगृहमुच्यते। निवृत्तो-घटो नष्ट इति, न त्वनयोर्जीवशब्दस्य जीववद्यथेष्टं वाच्यमस्तीति गाथार्थः।

प्रकारान्तरेणास्तित्वपक्षमेव समर्थयन्नाह (भाष्यकारः)—

मिच्छा भवेउ सव्वऽत्था, जे केई पारलोइया।

कत्ता चेवोपभोत्ता य, जइ जीवो न विज्जइ ॥ २८ ॥

व्या०—मिथ्या भवेयुः-अनृताः स्युः सर्वेऽर्था ये केचन पारलौकिका दानादयः , यदि किमित्याह-कर्त्ता चैव कर्म्मणः उपभोक्ता च तत्फलस्य, यदि जीवो न विद्यते परलोकयायीति गाथार्थः।

एतत्रैवाव्युत्पन्नशिष्यानुग्रहार्थं स्पष्टतरमाह(भाष्यकारः)

पाणिदया-तव-नियमा, बम्भं दिक्खा य इंदियनिरोहो।

सव्वं निरत्थमेयं, जइ जीवो न विज्जई ॥ २९ ॥

व्या०—प्राणिदया-तपो-नियमाः-करुणोपवासहिंसाविरत्यादिरूपाः, तथा—ब्रह्म—ब्रह्मचर्यम् , दीक्षा च योगलक्षणा इन्द्रियनिरोधः-प्रव्रज्याप्रतिपत्तिरूपः सर्वं निरर्थकं-निष्फलमेतत्, यदि जीवो न विद्यते परलोकयायीति गाथार्थः।

किंच शिष्टाचरितो मार्गः शिष्टैरनुगन्तव्य इति।

तन्मार्गस्थापनायाह (भाष्यकारः)—

लोइया वेइया चेव, तहा सामाइया विऊ।

निच्चो जीवो पि हो देहा, इइ सव्वे ववत्थिया ॥३०॥

व्या०-लोके भवा लोके वा विदिता इति लौकिका-इतिहासादिकर्त्तारः। एवं वैदिकाश्च-त्रैविद्यवृद्धास्तथा सामायिकाः त्रिपिटकादिसमयवृत्तयो विद्वांसः—पण्डिता नित्यो जीवो अनित्यः। एवं पृथग् देहात्-शरीराद्विति सर्वे व्यवस्थिता नान्यथेति गाथार्थः।

एतदेव व्याचष्टे (भाष्यकारः)—

लोगे अच्छेज्ज भेज्जो, वेए सपुरीसदद्धगसियालो।

समए अहमासि गओ, तिविहो दिव्वाइसंसारो ॥३१॥

व्या०-लोके अच्छेद्योऽभेद्य आत्मा पठ्यते, यथोक्तं गीतासु "अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयं-मविकार्योऽयमुच्यते। नित्यः सर्वगतः स्थाणु-रचलोऽयं सनातनः ॥१॥" इत्यादि। तथा वेदे-"सपुरीषो दग्धः शृगालः पठ्यते" इति, यथोक्तम्-" शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते "-अथाऽपुरीषो दह्यते "आक्रोधुका अस्य प्रजाः प्रादुर्भवन्ती" त्यादि। तथा समये "अहमासीद्गज" इति पठ्यते, तथा च बुद्धवचनम्-"अहं भासे भिक्षवो हस्ती, षड्दन्तः शङ्खसंनिभः। शुकः पञ्जरवासी च, शकुन्तो जीवजीवकः" ॥१॥ इत्यादि। तथा त्रिविधो दिव्यादिसंसारः कैश्चिदिष्यते । देवमानुषतिर्यग्भेदेन, आदिशब्दाच्चतुर्विधः—कैश्चिन्नारकाधिक्येनेति गाथार्थः।

अत्रैव प्रकारान्तरेण तदस्तित्वमाह (भाष्यकारः)—

अत्थि सरीरविहाया, पइनियायागारयाइभावाओ।

कुंभस्स जह कुलालो, सो मुत्तो कम्मजोगाओ ॥३२॥

व्या०-अस्ति शरीरस्यौदारिकादेर्विधाता विधातेति-कर्त्ता। कुत इत्याह-'प्रतिनियताकारादिसद्भावात्।' आदिमत्प्रतिनियताकारत्वादित्यर्थः । दृष्टान्तमाह—कुम्भस्य यथा कुलालो विधाता कुलालवदेवमसावपि मूर्त्तः प्राप्नोतीति विरुद्धमाशङ्कय परिहरन्नाह-स आत्मा य' शरीरविधाता असौ मूर्त्तः कर्मयोगादिति-मूर्त्तकर्मसम्बन्धादिति गाथार्थः।

(भाष्यकारः) अत्रैव शिष्यव्युत्पत्तये अन्यथा तद्ग्रहविधिमाह—

फरिसेण जहा वाऊ, गिज्झई कायसंसिओ।

नाणाईहिं तहा जीवो, गिज्झई कायसंसिओ ॥३३॥

व्या०-स्पर्शेन-शीतादिना यथा वायुर्गृह्यते कायसंस्पर्शनो-देहसङ्गत अदृष्टोऽपि तथा ज्ञानादिभिर्ज्ञानदर्शनेच्छादिभि-र्जीवो गृह्यते कायसङ्गतो देहसङ्गत इति गाथार्थः ।

असकृदनुमानादस्तित्वमुक्तं जीवस्य, अनुमानं च प्रत्यक्षपूर्वकं न चैनं केचन पश्यन्तीति ततश्चाशोभनमेतदित्याशङ्क्याह (भाष्यकारः)—

अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा ।
सिद्धा पासंति सव्वन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो ॥३४॥

व्या०-अनिन्द्रियगुणम्—अविद्यमानरूपादीन्द्रियग्राह्यगुणं जीवम्-अमूर्तत्वादिधर्मकं दुर्ज्ञेय-दुर्लक्ष्यं मांसचक्षुषा-छद्मस्थेन पश्यन्ति, सिद्धाः-सर्वज्ञा अञ्जनसिद्धादिव्यवच्छेदार्थं सर्वज्ञग्रहणं; ततश्च अपभ्राज्य इत्यर्थः, ज्ञानसिद्धाश्च साधवो-भवस्थकेवलिन इति गाथार्थः ।

साम्प्रतमागमादस्तित्वमाह (भाष्यकारः)—

अत्तवयणं उ सत्थं, दिट्ठा य ततो अइंदियाणं पि ।
सिद्धी गहणाईणं, तहेव जीवस्स विन्नेया ॥ ३५ ॥

व्या०—आप्तवचनं तु शास्त्रम् आप्तो रागादिरहितः तु-शब्दोऽवधारणे, आप्तवचनमेव अनेन अपौरुषेयव्यवच्छेदमाह, तस्याऽसंभवादिति । दृष्टा च तत इत्युपलब्धा च तत आप्तवचनशास्त्रात् अतीन्द्रियाणामपि इन्द्रियगोचरातिक्रान्तानामपि, सिद्धिर्ग्रहणादीनामिति उपलब्धिश्चन्द्रोपरागादीनामित्यर्थः, तथैव जीवस्य विज्ञेयेति । अतीन्द्रियस्याप्याप्तवचनप्रामाण्यादिति गाथार्थः । मूलद्वारगाथायां व्याख्यातमस्तित्वद्वारम् । दश० ४ अ० ।

(११) अभ्याख्यानम् । आत्मनोऽस्तित्वे—

णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा । जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ । (सूत्र-३१ +)

नैवात्मानं शरीराधिष्ठातारं ज्ञानगुणं प्रत्यात्मसंवेद्यं प्रत्याचक्षीत तस्य शरीराधिष्ठातृत्वेनाह्नतमिदं शरीरं केनचिदभिसंधिमता, तथा त्यक्तमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमंतत्वेस्येवमादिभिर्हेतुभिः प्रसाधितत्वात्, न च साधितसाधनं पिष्टपेषणवत् विद्वज्जनमनांसि रञ्जयति । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अन्यच्च—

आत्मा न विद्यते; तस्य प्रत्यक्षादिभिरनुपलभ्यमानत्वात्, तथाहि-न प्रत्यक्षग्राह्योऽसावनीन्द्रियत्वात्, नाप्यनुमानग्राह्यः, अनुमानस्य लिङ्गलिङ्गिनोः साक्षात्सम्बन्धदर्शनेन प्रवृत्तेरिति, आगमगम्योऽपि नाऽसौ, आगमानामन्योऽन्यं विसंवादादिति, अत्रोच्यते-कथमनुपलभ्यमानता ?, किमेकपुरुषाश्रिता ?, सकलपुरुषाश्रिता वा ?, यद्येकपुरुषाश्रिता न तयाऽऽत्माऽभावः सिध्यति सत्यपि वस्तुनि तस्याः सम्भवात्, न हि कस्यचित् पुरुषविशेषस्य घटाद्यर्थग्राहकं प्रमाणं न प्रवृत्तमिति सर्वत्र सर्वदा तदभावो निर्णेतुं शक्य इति, नहि प्रमाणनिवृत्तौ प्रमेयं विनिवर्त्तते, प्रमेयकार्यत्वात् प्रमाणस्य न च कार्याभावे कारणाभावो दृष्ट इत्यनैकान्तिकताऽनुपलम्भहेतोः, सकलपुरुषाश्रितानुपलम्भस्त्वसिद्ध इत्यसिद्धो हेतुः, न ह्यसर्वज्ञेन सर्वे पुरुषाः सर्वदा सर्वत्रात्मानं न पश्यन्तीति वक्तुं शक्यमिति, किञ्च-विद्यते आत्मा, प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यमानत्वात्, घटवदिति न चायमसिद्धो हेतुः, यतोऽस्मदादिप्रत्यक्षेणाप्यात्मा तावद्गृह्यत एव, आत्मा हि ज्ञानादनन्यः, आत्मधर्मत्वात् ज्ञानस्य, तस्य च स्वसंविदितरूपत्वात्, स्वसंविदितत्वं च ज्ञानस्य नीलज्ञानमुत्पन्नमासीदित्यादिस्मृतिदर्शनात् न ह्यसंविदिते ज्ञाने स्मृतिप्रभवो युज्यते, प्रमात्रन्तरज्ञानस्यापि स्मृतिगोचरत्वप्रसङ्गादिति, तदेवं तदव्यतिरिक्तज्ञानगुणप्रत्यक्षत्वे आत्मा गुणी प्रत्यक्ष एव, रूपगुणप्रत्यक्षत्वे घटगुणीप्रत्यक्षत्ववदिति, उक्तञ्च विशेषावश्यके—

" गुणपच्चक्खत्तणओ, गुणी वि जीवो घडो व्व पच्चक्खो ।
घडओ व्व घिप्पइ गुणी, गुणमित्तग्गहणओ जम्हा ।१५५८।"

तथा—

"अन्नोऽणन्नो व गुणी, होज्ज गुणेहिं ? जइ णाम सोऽणन्नो ।
णणुगुणमित्तगहणे, घिप्पइ जीवो गुणी सक्खं ॥ १५५६ ॥
अह अन्नो तो एवं, गुणिणो न घडादयो वि पच्चक्खा ।
गुणमित्तग्गहणाओ, जीवम्मि कुतो वियारोयं ॥१५६०॥ "

इति, ये तु सकलपदार्थसार्थस्वरूपाविर्भावनसमर्थज्ञानवन्तस्तेषां सर्वात्मनैव प्रत्यक्ष इति । तथाऽनुमानगम्योऽप्यात्मा, तथाहि-विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वात्, ओदनादिवत् व्योमकुसुमं विपक्षः स च कर्त्ता जीव इति, नन्वोदनकर्तृवन्मूर्त आत्मा सिद्ध्यतीति साध्यविरुद्धो हेतुरिति नैव, संसारिणो मूर्त्तत्वेनाप्यभ्युपगमात्, आह च-" जो कत्ता सो जीवो, सज्भविरुद्धो त्ति ते मई होज्जा । मुत्ताइ य संगाओ, तत्तो संसारिणो दोसो " ॥ १ ॥ इति । न चायमेकान्तो; यदुत-लिङ्गधिनाभूतलिङ्गोपलम्भव्यतिरेकेणानुमानस्यैव एकान्ततोऽप्रवृत्तिरिति हसितादिलिङ्गविशेषस्य ग्रहाख्यलिङ्गिविनाभावग्रहणमन्तरेणापि ग्रहगमकत्वदर्शनात् । न च देह एव ग्रहो येनाऽन्यदेहे दर्शनमविनाभावग्रहणनियामकं भवतीति, उक्तञ्च(विशे०)-"सो नेगंतो जम्हा, लिंगेहिं समं अदिट्ठपुव्वो वि । गहलिंगदरिसणाओ, गहोऽणुमेओ सरीरम्मि ॥ १५६६ ॥ " इत्यागमगम्यस्त्वात्मन-'एगे आया ' अत एव वचनात्, न चास्यागमान्तरैर्विसंवादः सम्भावनीयः । सुनिश्चिताप्तप्रणीतत्वादस्येति, बहुवक्तव्यमत्र तत्तु स्थानान्तरादवसेयमिति । किञ्च—आत्माभावे जातिस्मरणादयस्तथा प्रेतीभूतपित्रादिनामहादिकृतानुग्रहोपघातौ च न प्राप्नुयुरिति । स्था० १ ठा० ।

(१२) इन्द्रभूतिमुद्दिश्य भगवता महावीरेणोक्तं विस्तरतः जीवास्तित्वम्—

जीवे तुह संदेहो, पच्चक्खं जं न घिप्पइ घडो व्व ।
अच्चंता पच्चक्खं, च नऽत्थि लोए खपुप्फं व ॥१५४६॥

आयुष्मन् ! इन्द्रभूते ! तवैष संदेह । किमयमात्मा-अस्ति?, नास्ति वा ?, उभयहेतुसद्भावात्, तत्र नास्तित्वहेतवोऽमी-नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षेणात्यन्तमगृह्यमाणत्वात्, इह यदत्यन्ताऽप्रत्यक्षं तल्लोके नास्त्येव, यथा-खपुष्पं, यस्त्वस्ति स प्रत्यक्षेण गृह्यत एव, यथा—घटः इत्यसौ व्यतिरेकदृष्टा-

न्तः । अणवोऽपि ह्यप्रत्यक्षाः, किंतु-घटादिकार्यतया परिणतास्ते प्रत्यक्षत्वमुपयान्ति , न पुनरेवमात्मा कदाचिदपि भावप्रत्यक्षमुपगच्छत्यतोऽत्रात्यन्तविशेषणमिति ।

एवं च मन्यसे त्वं किमित्याह–

न य सोऽणुमाणगम्मो, जम्हा पच्चक्खपुव्वयं तं पि ।
पुव्वोवलद्धसंबं-धसरणश्रो लिंगलिंगीणं ॥ १५५० ॥

न चासावात्मानुमानगम्यः यस्मात्तदप्यनुमानं प्रत्यक्षपूर्वकं प्रवर्त्तते, कुत इत्याह-'पुव्वोवलद्धे' त्यादि लिङ्ग्यते-गम्यतेऽतीन्द्रियार्थोऽनेनेति लिङ्गम्, अथ वा-लीनं-तिरोहितमर्थं गमयतीति लिङ्ग धूमकृतकत्वादिक, तदस्यास्तीति लिङ्गी वह्न्यनित्यत्वादिस्तयोर्लिङ्गलिङ्गिनोर्य पूर्वं महानसादौ प्रत्यक्षादिना उपलब्धकार्यकारणभावादिक संबन्धस्तस्य यत् स्मरणं तस्मादिति । इदमुक्तं भवति-पूर्वं महानसादावग्निधूमयोर्लिङ्गिलिङ्गयोरन्वयव्यतिरेकवन्तमविनाभावमध्यक्षतो गृहीत्वा तत उत्तरकालं क्वचित्कान्तारपर्वतनितम्बाऽऽदौ गगनाऽवलम्बिनीं धूमलेखामवलोक्य प्राग्गृहीतं संबन्धमनुस्मरति, तद्यथा-" यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र प्रागहं वह्निम् अद्राक्षं 'यथा-महानसादौ, धूमश्चात्र दृश्यते तस्माद्वह्निनापीह भवितव्यम् इत्येवं लिङ्गग्रहणसबन्धस्मरणाभ्यां तत्र प्रमाता हुतभुजमवगच्छति; न चैवमात्मना लिङ्गिना सार्द्धं कस्यापि लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण संबन्ध सिद्धोऽस्ति, यतः तत्संबन्धमनुस्मरत पुनस्तल्लिङ्गदर्शनाज्जीवे संप्रत्ययः स्यात् । यदि पुनर्जीवलिङ्गयो प्रत्यक्षत संबन्धसिद्धिः स्यात्तदा जीवस्यापि प्रत्यक्षत्वापत्त्यानुमानवैयर्थ्यं स्यात्तत एव तत्सिद्धेरिति ।

एतदेवाह–

न य जीवलिंगसंबं-धदरिसणमभू जश्रो पुणो सरश्रो ।
तल्लिंगदरिसणाश्रो, जीवे संपच्चश्रो होज्जा ॥१५५१॥

गतार्था । न च वक्तव्य सामान्यतो दृष्टात् अनुमानात् आदित्यादिगतिवज्जीव सिध्यति, यथा-गतिमानादित्यो, देशान्तरप्राप्तेः देवदत्तवदिति, यतो हन्त देवदत्ते दृष्टान्तधर्मिणि सामान्येन देशान्तरप्राप्तिं गतिपूर्विकां प्रत्यक्षेणैव निश्चित्य सूर्येऽपि तां तथैव प्रमाता साधयतीति युक्तम् , न चैवमत्र क्वचिदपि दृष्टान्ते जीवसत्त्वेनाविनाभूत कोऽपि हेतुरध्यक्षेणोपलक्ष्यते इति । अतो न सामान्यतो दृष्टादप्यनुमानात्तत्सिद्धिरिति ।

न चाऽऽगमगम्योऽपि जीव इति दर्शयति–

नाऽऽगमगम्मो वि तश्रो,भिज्जइ जं नागमोऽणुमाणाश्रो।
न य कासइ पच्चक्खो,जीवो जस्साऽगमो वयणं ।१५५२।

न चागमगम्योऽपि तकोऽसौ जीवो, यद्-यस्मादागमोऽपि अनुमानाद् न भिद्यते (इत्यादिगाथार्द्धव्याख्यानं ' आगम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्) । न चैवमसौ आत्मशब्द शरीराद् ऋते--अन्यत्र प्रयुज्यमान क्वचिदुपलब्धो, यत्र खल्वात्मशब्दश्रवणाद् आत्मा इति प्रत्ययो भवेदिति । यदपि स्वर्गनरकाद्यदृष्टार्थविषयं शाब्दं प्रमाणं, तदपि तत्त्वतोऽनुमान , नातिवर्तते । तथाहि-प्रमाण स्वर्गनरकाद्यदृष्टार्थविषयं वचनम् , अविसंवादिवचनाप्तप्रणीतत्वाच्चन्द्रार्कोपरागादिवचनवदित्येवमनुमानादेव तत्र प्रमाणता । न चैवं भूतमाप्त कमपि पश्यामो, यस्यात्मा प्रत्यक्ष इति तद्वचनमागम इति प्रतिपद्येमहि इति शेषः ।

किं च--

जं चाऽऽगमा विरुद्धा, परोप्परमश्रो वि संजुत्तो ।
सव्वप्पमाणविसया-इश्रो जीवो त्ति तो बुद्धी ॥१५५३॥

यतश्च तीर्थिकाना संबन्धिन सर्वेऽप्यागमा परस्परविरोधिन खल्वतोऽपि संशय एवात्मनो युक्तो;न तु निश्चयः, तथाहि-केचिदागमा आत्मनो नास्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति, यदाहुर्नास्तिका.—" एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ! वृकपद पश्य, यद्वदन्ति बहुश्रुताः" ॥ १ ॥ इत्यादि, भट्टोऽप्याह-"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न च प्रेत्य संज्ञास्ति" । सुगतस्त्वाह-" न रूप भिक्षवः पुद्गलः " इत्यादि । आत्मास्तित्ववचनान्यप्यागमेषु श्रूयन्ते,तथा च वेद.-"न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत" इति । तथा-"अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम.' इत्यादि । कापिलागमे तु प्रतिपाद्यते-"अस्ति पुरुष अकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूप." इत्यादि । तस्मादागमानां परस्परविरुद्धत्वान्नागमप्रमाणादप्यात्मसत्त्वसिद्धि । इदं च वैशेषिकमतेन प्रत्यक्षानुमानागमलक्षणं प्रमाणत्रयमुपन्यस्तम् ॥ एतच्च स्वयं द्रष्टव्यम्—उपमाप्रमाणगम्योऽपि जीवो न भवति । तत्र हि ' यथा गौस्तथा गवय ' इत्यादावेव सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति । न चेहाऽन्य कश्चित् त्रिभुवनेऽप्यात्मसदृश पदार्थोऽस्ति, यद्दर्शनादात्मानमवगच्छामः । कालाऽऽकाशदिगादयो जीवतुल्या विद्यन्ते इति चेत् ?, न, तेषामपि विवादास्पदीभूतत्वेन तर्हि(हि) पक्षत्वात् । अर्थापत्तिसाध्योऽपि जीवो न भवति, न हि दृष्टः श्रुतो वा कोऽप्यर्थ आत्मानमन्तरेण नोपपद्यते, यद्बलात् साधयाम , तस्मात्सर्वप्रमाणविषयातीतो जीव इति तव बुद्धि, भावोपलम्भप्रमाणपञ्चकविषयातीतत्वात् प्रतिषेधसाधकाऽभावाख्यषष्ठप्रमाणविषय एव जीव इत्यर्थ । इति पूर्वपक्ष ।

अथैतत्प्रतिविधानमाह—

गोयम ! पच्चक्खो च्चिय, जिवो जं संसयाइविन्नाणं।
पच्चक्खं च न सज्झं,जह सुह-दुक्खा सदेहम्मि।१५५४।

गौतम ! भवतोऽपि प्रत्यक्ष एवाय जीव , किमन्येन प्रमाणान्तरोपन्यासेन ?, कोऽयं जीवो मम प्रत्यक्ष ? इति चेत् , उच्यते—यदेतत्—तवैव संशयादिविज्ञान स्वसंवेदनसिद्ध हृदि स्फुरति । स एव जीव , संशयादिज्ञानस्यैव तदनन्यत्वेन जीवत्वात् । यच्च प्रत्यक्ष तद् न प्रमाणान्तरेण साध्य, तथा-स्वशरीर एवात्मसंवेदनसिद्धा सुखदु खादयः, प्रत्यक्षसिद्धमपि सग्रामनगर विश्वं शून्यवादिन प्रति साध्यत एवेति चेत्, नैवम , निरालम्बना सर्वे प्रत्यया , प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवद्, इत्यादेस्तदुद्भावितबाधकप्रमाणस्यैव तत्र निराकरणाद् , अत्र त्वात्मग्राहके प्रत्यक्षे बाधकप्रमाणाऽभावादिति ।

इतश्चायं प्रत्यक्षो जीव कुत ? इत्याह—

कयवं करेमि काहं, वाहमहं पञ्चया इमाऊ य ।
अप्पा स प्पच्चक्खो, तिकालकज्जोवएसाओ ॥१५५५॥

'वा' इति-अथवा—कृतवानहं, करोम्यहं, करिष्याम्यहम्, उक्तवानहं, ब्रवीम्यहं, वक्ष्याम्यहं, ज्ञातवानहं, जानेऽहं, ज्ञास्याम्यहम्, इत्यादिप्रकारेण योऽयं त्रैकालिक कार्यव्यपदेशस्तद्विषयप्रयुज्यमानतया तत्समुत्थो योऽयम्—'अहंप्रत्यय' एतस्मादपि प्रत्यक्ष एवायमात्मेति प्रपद्यस्व, अयं 'ह्यहंप्रत्ययो' नानुमानिक, अलैङ्गिकत्वात् नाप्यागमादिप्रमाणसंभव , तदनभिज्ञानानां बालगोपालादीनामप्यन्तर्मुखतया आत्मग्राहकत्वेन स्वसंविदितस्य तस्योत्पादाद् घटादौ चानुत्पादादिति ।

अपि च—

कह पडिवन्नमहं ति य,किमत्थि नऽत्थि त्ति संसओ कह णु।
सइ संसयंमि वायं, कस्साऽहंपच्चओ जुत्तो ॥१५५६॥

हन्त कथमसति जीवे 'अहमिति' प्रतिपन्नं त्वया विषयाभावे विषयिणोऽनुत्थानप्रसक्तेरिह एवास्य प्रत्ययस्य विषय इति चेत्, न, जीवविप्रमुक्तेऽपि देहे तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्, सति च जीवविषये अस्मिन्नहंप्रत्यये किमहमस्मि नास्मीति भवत. संशय. कथ केन प्रकारेणोपजायते ?, अहंप्रत्ययग्राह्यस्य जीवस्य सद्भावाद् अस्म्यहमिति निश्चय एव युज्यते इति भाव. । सति वा अस्मिन्नात्मास्तित्वसंशये कस्यायम् 'अहंप्रत्ययो' युज्यते निर्मूलत्वेन तदनुत्थानप्रसङ्गादिति ।

जीवाभावे संशयविज्ञानमपि न युज्यत एवेति तदर्शयन्नाह—

जइ नऽत्थि संसय च्चिय,किमत्थि नऽत्थि त्ति संसओ कस्स।
संसइए व सरूवे, गोयम ! किमसंसयं होज्जा ॥१५५७॥

यदि संशयी जीव एवादौ नास्ति, तर्ह्यस्ति नास्तीति संशय. कस्य भवतु । संशयो हि विज्ञानाख्यो गुण एव, न च गुणिनमन्तरेण गुण. संभवति । देहोऽत्र गुणीति चेत्, न देहस्य मूर्त्तत्वाज्जडत्वाच्च ज्ञानस्य चामूर्त्तत्वाद् बोधरूपत्वाच्च न चाननुरूपाणा गुणगुणिभावो युज्यते, आकाशरूपादीनामपि तद्भावापत्त्या अतिप्रसङ्गप्राप्तेः । 'संसइए वे' त्यादि, 'वा' इति-अथवा संशयिने स्वरूपे गौतम ! किमसशयं शेषं भवेद् ? । इदमुक्तं भवति—किमस्मि नास्म्यहमित्येव य. स्वरूपेऽपि संशेते-आत्मनिश्चयोऽपि यस्य नास्तीत्यर्थ., तस्य शेष कर्मबन्धमोक्षादिकं घटपटादिकं च किमसंशयम्-असदिग्धं स्यात् ? न किंचित्सर्वसंशय एव तस्य स्यादित्यर्थ., आत्मास्तित्वनिश्चयमूलो हि शेषवस्तुनिश्चय इति भाव । अहंप्रत्ययग्राह्य च प्रत्यक्षमात्मानं निह्नुवानस्य अश्रावण शब्द इत्यादिवत्प्रत्यक्षविरुद्धो नाम पक्षाऽऽभास , तथा-वक्ष्यमाणात्मास्तित्वानुमानसद्भावाच्चित्य. शब्द इत्यादिवदनुमानविरुद्धोऽपि । तथा-अहमस्मि संशयीति प्रागभ्युपगम्योत्तरत्र नास्मीति प्रतिजानानस्य साङ्ख्यस्य अनित्य कर्त्ता अचेतन आत्मेत्यादिवदभ्युपगमविरोध. । बालगोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं चात्मानं निराकुर्वत. अचन्द्र शशी इत्यादिवल्लोकविरोध , अहं नाहं चेति गद-

तो 'माता मे वन्ध्या' इत्यादिवत्स्ववचनव्याहतिः । एवं च प्रत्यक्षादिबाधितेऽस्मिन् पक्षे अपक्षधर्मतया हेतुरप्यसिद्ध' । हिमवत्पलपरिमाणादौ पिशाचादौ च प्रमाणपञ्चकाभावस्य प्रवृत्तेरनैकान्तिकोऽपि वक्ष्यमाणानुमानप्रमाणसिद्धे चात्मनि विपक्ष एव वृत्तेर्विरुद्धश्चेति ।

प्रकारान्तरेणाप्यात्मनः प्रत्यक्षसिद्धतामाह—

गुणपच्चक्खत्तणओ, गुणी वि जीवो घडो व्व पच्चक्खो ।
घडओ वि घेप्पइ गुणी,गुणमित्तग्गहणओ जम्हा ॥१५५८॥

प्रत्यक्ष एव गुणी जीव. स्मृतिजिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषासंशीत्यादिज्ञानविशेषाणां तद्गुणानां स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वाद्, इह यस्य गुणा प्रत्यक्षा स प्रत्यक्षो दृष्टो, यथा घट., प्रत्यक्षगुणश्च जीव, तस्मात्प्रत्यक्ष' यथा घटोऽपि गुणी रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेव प्रत्यक्षस्तद्वद्विज्ञानादिगुणप्रत्यक्षत्वादात्मापीति । आह—अनैकान्तिकोऽयं यस्मादाकाशगुण शब्द प्रत्यक्षोऽस्ति, न पुनराकाशमिति । तदयुक्तम्, यतो नाकाशगुण. शब्द., किं तु-पुद्गलगुणः, ऐन्द्रियकत्वात्, रूपादिवदिति ।

गुणानां प्रत्यक्षत्वे गुणिनस्तद्रूपतायां किमायातम् ?, इति चेद्, उच्यते—

अन्नोऽणन्नो व गुणी, होज्ज गुणेहिं जइ नाम सोऽणन्नो ।
ननु गुणमेत्तग्गहणे, घेप्पइ जीवो गुणी सक्खं ॥१५५९॥
अह अन्नो तो एवं, गुणिणो न घडादओ वि पच्चक्खा।
गुणमेत्तग्गहणाओ, जीवम्मि कउ वियारोऽयं ॥१५६०॥

ननु भवता गुणेभ्यो गुणी किमर्थान्तरभूतोऽभ्युपगम्यते, अनर्थान्तरभूतो वा ? । यदि नाम-सोऽनन्यस्तेभ्योऽनर्थान्तरभूत. तर्हि ज्ञानादिगुणग्रहणमात्रादेव गुणी जीव प्रत्यक्षेण गृह्यत इति सिद्धमेव । प्रयोग -यो यस्मादनर्थान्तरं स तद्ग्रहणेन गृह्यते, यथा वाससि रागो, गुणेभ्योऽनर्थान्तरं च गुणी, तस्माद् गुणग्राहकप्रत्यक्षेण सोऽपि गृह्यत एवेति । अथ गुणेभ्योऽन्योऽर्थान्तरभूत एव गुणी, तत एव सति घटादयोऽपि गुणिन. न प्रत्यक्षास्तदर्थान्तरभूतस्य रूपादिगुणमात्रस्यैव ग्रहणात् । इह यद्-यस्मादर्थान्तरभूत तद्ग्रहणेऽपि नेतरस्य ग्रहणं, यथा घटे गृहीते पटस्य, अर्थान्तरभूताश्च गुणिनो गुणा इष्यन्ते अतो गुणग्रहणेऽपि न गुणिग्रहणम् । अतो घटादीनामपि समानाऽग्रहणदोषे कोऽय नाम भवत. केवलजीवे विचारो नास्तित्वविवक्षा, येनोच्यते-"पच्चक्खं ज न घिप्पइ घडो व्व" इत्यादि, अथ द्रव्यविरहिता केऽपि न सन्त्येव गुणा , इत्यतस्तद्ग्रहणद्वारेण गृह्यन्त एव घटादयः । न त्वेतदात्मन्यपि समानमव । किं च-गुणिनो गुणानामर्थान्तरत्वे अभ्युपगम्यमाने गुणीभवतु, मा भूद्वा प्रत्यक्ष., तथापि ज्ञानादिगुणेभ्य. पृथगात्मा गुणी त्वदभ्युपगमेनापि सिद्धयत्येवेति ।

अत्र पराभिप्रायमाशङ्कमानः प्राह—

अहमन्नासि अत्थि गुणी, न य देहत्थंतरं तओ किं तु ।
देहे नाणाइगुणा, सो च्चिय तेसिं गुणी जुत्तो ॥१५६१।

अथ मन्यसे अस्त्येव ज्ञानादिगुणाना गुणिनैव त प्रत्या-

चक्ष्महे. एतत्तु नाभ्युपगच्छामो यद्देहादर्थान्तरं तर्कोऽसौ इति,किन्तु-देह एव ज्ञानादयो गुणाः समुपलभ्यन्ते अतः स एव तेषां गुणी युक्तो, यथा रूपादीनां घटः प्रयोगः देहगुणा एव ज्ञानादयः, तत्रैवोपलभ्यमानत्वाद्गौरकृशस्थूलतादिवदिति ।

अत्रोत्तरमाह-

नाणादओ न देहस्स, मुत्तिमत्ताइओ घडस्सेव ।
तम्हा नाणाइगुणा, जस्स सदेहाहिओ जीवो ॥१५६२॥

प्रयोगो देहस्य सम्बन्धिनो ज्ञानादयो गुणा न भवन्त्येव तस्य मूर्त्तिमत्त्वात्, चाक्षुषत्वाद्वा, घटवत् । न च द्रव्यरहितो गुणः समस्ति ततो यो ज्ञानादिगुणानामनुरूपः अमूर्तः, अचाक्षुषश्च गुणी स देहातिरिक्तो जीवो ज्ञातव्यः । आह—ज्ञानादयो न देहस्येति प्रत्यक्षबाधितमिदम्, देह एव ज्ञानादिगुणानां प्रत्यक्षेणैव ग्रहणात् । तदयुक्तम्, अनुमानबाधितत्वादस्य प्रत्यक्षस्य, तथा हि-इहेन्द्रियातिरिक्तो विज्ञाता, तदुपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, यो हि यदुपरमेऽपि यदुपलब्धमर्थमनुस्मरति स तस्मादर्थान्तरं दृष्टो, यथा-पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्त्ता देवदत्त इत्यादि वायुभूतिप्रश्ने । वक्ष्याम इति ॥

उपसंजिहीर्षुराह—

इय तुह देसेणाऽयं, पच्चक्खो सव्वहा महं जीवो ।
अविहयनाणत्तणओ, तुह विन्नाणं व पडिवज्जा ।१५६३।

'इति'-एवम्-उक्तप्रकारेण स्वशरीरे तवापि देशतः प्रत्यक्षोऽयमात्मा छद्मस्थत्वेन भवतः सर्वस्यापि वस्तुनो देशविषयत्वात्, घटवत्, तथाहि-सर्वमपि-स्व-परपर्यायतोऽनन्तपर्यायं वस्तु छद्मस्थश्च प्रत्यक्षेण साक्षात् तद्देशमेव गृह्णाति । प्रत्यक्षेण च प्रदीपादिप्रकाश्यैनैव देशतः प्रकाशिता अपि घटादयो व्यवहारतः प्रत्यक्षा उच्यन्ते एव । सर्वात्मना च केवली प्रत्यक्षमेव वस्तु प्रकाशयति अतो ममाऽप्रतिहताऽनन्तज्ञानत्वेन सर्वात्मनाऽपि प्रत्यक्षोऽयं जीवो यथाऽतीन्द्रियमपि त्वत्संशयविज्ञानमिति प्रतिपद्यस्वेति ।

परशरीरे तर्हि कथमित्याह—

एवं वि य परदेहे, ऽणुमाणओ गिण्ह जीवमत्थि त्ति ।
अणुवित्तिनिवित्तीओ, विन्नाणमयं सरूवे व्व ॥१५६४॥

यथा स्वदेहे, एवं परदेहेऽपि गृहाण जीवमनुमानतः कथम्? इत्याह—अस्ति—विद्यते इति । कथंभूतं जीवम्? इत्याह-विज्ञानमयं-विज्ञानात्मकम् अनुमानमेव सूचयन्नाह-'अणुवित्तिनिवित्तीओ' 'सरूवे व' त्ति—इदमुक्तं भवति-परशरीरेऽप्यस्ति जीवः । इष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात् यथा-स्वरूपे स्वात्मनि इह यथेष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती दृश्येते तत्सात्मकं दृष्टं यथा स्वशरीरं तथा च प्रवृत्तिनिवृत्ती दृश्येते परशरीरे, अतस्तदपि सात्मकम् आत्माभावे चेष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्ती न भवतो, यथा घटे इत्यनुमानात्परशरीरेऽपि जीवसिद्धिः ।

अत्र परमतमाशङ्कयोत्तरमाह—

जं च न लिंगेहिँ समं, मन्नसि लिंगी पुरा जओ गहिओ ।
संगं ससेण व समं, न लिंगओ तोऽणुमेओ सो ॥१५६५॥

सोऽणेगंतो जम्हा, लिंगेहिँ समं न दिट्ठपुव्वो वि ।
गहलिंगदरिसणाओ, गहोऽणुमेओ सरीरम्मि ॥१५६६॥

यच्च न य जीवलिङ्गसंबन्धदरिसणमभू० ।१५५१। 'इत्यादि पूर्वोक्तपूर्वपक्षानुसारेण मन्यसे त्वम् । किमित्याह—ततो न लिङ्गतो-लिङ्गादनुमेयोऽसौ जीवः । यतः, किमित्याह-यतो न खलु लिङ्गैः कैश्चिदपि समं लिङ्गी जीवः क्वापि केनापि पुरा पूर्वं गृहीतः, किंवदित्याह—शृङ्गमिव शशकेन समं ततो लिङ्गलिङ्गिनोः पूर्वं सम्बन्धाग्रहणान्न लिङ्गाज्जीवोऽनुमीयत इति यन्मन्यसे त्वं, तत्र प्रतिविधीयते-सोऽनेकान्तः यस्माल्लिङ्गैः समम् अदृष्टपूर्वोऽपि ग्रहो-देवयोनिविशेषतः, शरीरे हसनगानरोदनकरचरणभ्रूविक्षेपादिविकृतग्रहलिङ्गदर्शनादनुमीयत इति बालानामपि प्रतीतमेवेति ।

अनुमानान्तरमप्यात्मसाधकमाह—

देहस्सऽत्थिविहाया, पइनियायागारओ घडस्सेव ।
अक्खाणं च करणओ, दंडाईणं कुलालो व्व ॥१५६७॥

देहस्यास्ति विधाता-कर्त्तेति प्रतिज्ञा, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, घटवत्, यत्पुनरकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथा अभ्रविकारः, यश्च देहस्य कर्त्ता स जीवः । प्रतिनियताऽऽकारत्वं मेर्वादीनामप्यस्ति, न च तेषां कश्चिद्विधाता, इति तैरनैकान्तिको हेतुः स्यात्, अतोऽनुक्तमप्यादिमत्त्वविशेषणं द्रष्टव्यमिति । तथा अक्षाणाम्—इन्द्रियाणामस्त्यधिष्ठाता इत्यध्याहारः, करणत्वात् यथा चक्रचीवरमृत्सूत्रदण्डादीनां कुलालः, यच्च निरधिष्ठातृकं तत्करणमपि न भवति, यथा आकाशं, यश्चेन्द्रियाणामधिष्ठाता स जीव इति ।

तथा—

अत्थिंदियविसयाणं, आयाणादेयभावओऽवस्सं ।
कम्मार इवादाया, लोए संडासलोहाणं ॥ १५६८॥

इह यत्रादानादेयभावस्तत्रावश्यमादाता समस्ति, यथा लोके संदंशकलोहानां कर्मारोऽयस्कारः विद्यते चेन्द्रियविषयाणामादानादेयभावः, अतस्तेषामप्यस्त्यादाता, स च जीवः, यत्र त्वादाता नास्ति, तत्रादानादेयभावोऽपि न विद्यते यथा आकाश इति ।

तथा—

भोत्ता देहाईणं, भोज्जत्तणओ नरो व्व भत्तस्स ।
संघायाइत्तणओ, अत्थि य अत्थी घरस्सेव ॥१५६९॥

इह देहादीनां भोक्ता समस्ति, भोग्यत्वात्, यथा शाल्यादिभक्तवस्त्रादीनां नरः, यस्य च भोक्ता नास्ति तद्भोग्यमपि न भवति, यथा खरविषाणं, भोग्यं च शरीरादिकं, ततो विद्यमानभोक्तृकमिति । तथा-अर्थी-स्वामी । ततश्च देहादीनां विद्यते स्वामी, संघातरूपत्वाद् आदिशब्दात् मूर्तिमत्त्वात् इन्द्रियत्वाच्चाक्षुषत्वाद् इत्यादयोऽप्यनैकान्तिकत्वपरिहारार्थं समवच्छिन्नविशेषणा हेतवो योजनीया, यथा गृहादीनां सूत्रधारादय इति दृष्टान्तः, यत् पुनरस्वामिकं तत्संघातादिरूपमपि न भवति यथा गगनकुसुमं, संघातादिरूपं च देहादिकं तस्माद्विद्यमानस्वामिकमिति ।

आह-ननु " देहस्सऽत्थि विहाया (१५६७) " इत्यादिना शरीरादीनां कर्त्रादय एव सिध्यन्ति ! न तु प्रस्तुतो जीव', इत्याशङ्कयोत्तरमाक्षेपपरिहारौ चाह—

जो कत्ताइ स जीवो, सज्झविरुद्धो त्ति ते मई होज्जा।
मुत्ताइपसंगाओ, तं न संसारिणो दोसो ॥ १५७० ॥

यश्चायमनन्तरं देहेन्द्रियादीनां कर्त्ता, अधिष्ठाता, आदाता, भोक्ता, अर्थी, चोक्तः स सर्वोऽपि जीव एव, अन्यस्येश्वरादेर्युक्त्यक्षमत्वेन कर्तृत्वाद्यसंभवादिति। अथ साध्यविरुद्धसाधकत्वाद्विरुद्धा एते हेतव इति तव मतिर्भवेत् तथा हि-घटादीनां कर्त्रादिरूपा कुलालादयो मूर्तिमन्त संघातरूपा अनित्यादिस्वभावाश्च दृष्टा इत्यतो जीवोऽप्येवंविध एव सिध्यति, एतद्विपरीतश्च किलास्माकं साधयितुमिष्ट, इत्येवं साध्यविरुद्धसाधकत्व हेतूनामिति, तदेतदयुक्तत्वात्, यत खलु ससारिणो जीवस्य साधयितुमिष्टस्याऽदोषोऽयं, स हि अष्टकर्मपुद्गलसघातोपगूढत्वात् सशरीरत्वाच्च कथंचिन्मूर्त्तत्वादिधर्मयुक्त एवेति भाव।

अपरमप्यात्मसाधकमनुमानमाह—

अत्थि चिय ते जीवो, संसयओ सोम्म ! थाणुपुरिसो व्व।
जं संदिद्धं गोयम !, तं तत्थऽन्नत्थवत्थु(त्थि)धुवं।१५७१।

हे सौम्य ! गौतम ! अस्त्येव तव जीव सशयत -सशयसद्भावात्यत्र यत्र संशयस्तत्तदस्ति यथा स्थाणुपुरुषौ, संशयश्च तव जीवे, तस्मादस्त्येवायं, तथाहि-स्थाणुपुरुषयोरूर्ध्वत्वारोहपरिणाहाद्युभयसाधारणधर्मप्रत्यक्षताया चलनशिर कण्डूयनवयोनिलयनवल्ल्यारोहणाद्युभयगतविशेषधर्माप्रत्यक्षताया चोभयगतैतद्धर्मानुस्मरणे च सत्येकतरविशेषनिश्चयचिकीर्षो किमिदमिति विमर्शरूप संशय प्रादुरस्ति। एवंभूते च स्थाणुपुरुषादिगतसशये तत्स्थाणुपुरुषादिक वस्त्वस्त्येव, अवस्तुनि सशयायोगात् एवमात्मशरीरयोरपि प्रागुपलब्धसामान्यविशेषधर्मस्य प्रमातुस्तयो सामान्यधर्मप्रत्यक्षताया विशेषधर्माऽप्रत्यक्षत्वेऽपि च तद्विषयानुस्मृतौ सत्यामेकतरविशेषोपलिप्सो ' किमयमात्मा किं वा शरीरमात्रमिदम् ' इति, विमर्शरूप संशयो जायते। अय चात्मशरीरयो सत्त्व एवोपपद्यते, नैकतरस्याप्यभावेअतोऽस्ति जीव । अथैवं ब्रूषे-अरण्यादिषु स्थाणुपुरुषसशये तत्र विवक्षितप्रदेशे अनयोरेकतर एव भवति न पुनरुभयमपि तत्कथमुच्यते-विद्यमान एव वस्तुनि सशयो भवति इति ?, तदयुक्तम्, अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्, न हि वयमेव ब्रूमस्तत्रैव प्रदेशे तदुभयमप्यस्ति इति, किं तु यद्गतसदेह तद्वस्तु तत्रान्यत्र वा प्रदेशे ध्रुवमस्त्येव, अन्यथा-षष्ठभूतविषयोऽपि सशय स्यादेतदेवाह-' जं संदिद्धमि ' त्यादितस्मात् संशयविषयत्वादस्त्येव जीव इति स्थितम्।

अथ पूर्वपक्षमाशङ्कय परिहरन्नाह—

एवं नाम विसाणं, खरस्स पत्तं न तं खरे चेव।
अन्नत्थ तदत्थि चिय, एवं विवरीयगाहे वि ॥१५७२॥

हन्त, यदि यत्र संशयस्तेनावश्यमेव भवितव्यम्, एव तत खरविषाणमप्यस्तीति प्राप्त, तत्रापि कस्यचित्संशयसद्भावात् उच्यते-नन्वभिहितमत्र यत्तु न तत्रान्यत्र वा विद्यमान एव वस्तुनि संशयो भवति, नाविद्यमाने। खरस्य विषाणं खरविषाण नास्तीत्यत्र च कोऽर्थ इत्याह-' न तं खरे चेव ' त्ति-खर एव तद्विषाण नास्ति, अन्यत्र गवादावस्त्येवेति; न कश्चिद् व्यभिचार । एवं ' विवरीयगाहे वि ' त्ति-इदमुक्तं भवति-यदा विपर्यस्त कश्चित्स्थाणौ पुरुष एवायमित्यादिविपरीतग्रह करोति तदाप्ययमेव न्यायो वाच्य -सोऽपि विपरीतग्रहो विपरीते पुरुषादिके वस्तुनि सत्येवोपपद्यते; नाविद्यमान इत्यर्थ । एवं भवदभिप्रायेण योऽस्मादृशां शरीरे आत्मास्तित्वाभिमानो, नायमात्मन सर्वथा नास्तित्वे युज्यते इति।

इतोऽप्यस्ति जीव' कुत ?, इत्याह—

अत्थि अजीवविवक्खो, पडिसेहाओ घडोऽघडस्सेव।
नऽत्थि घडोत्ति व जीव-त्थित्तपरो नऽत्थि सद्दोयं।१५७३।

अत्र प्रयोग -प्रतिपक्षवानयमजीव, अत्र व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदप्रतिषेधात् यत्र व्युत्पत्तिमत शुद्धपदस्य प्रतिषेधो दृश्यते स प्रतिपक्षवान् दृष्टो, यथा घटोऽघटप्रतिपक्षवान्, अत्र ह्यघटप्रयोगे शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च पदस्य प्रतिषेध, अतोऽवश्यं घटलक्षणेन प्रतिपक्षेण भवितव्यम् । यस्तु न प्रतिपक्षवान् न तत्र शुद्धस्य व्युत्पत्तिमतश्च पदस्य प्रतिषेध', यथा—अखरविषाणम्, ' अडित्थ ' इति—अखरविषाणमित्यत्र खरविषाणलक्षणस्याऽशुद्धस्य सामासिकपदस्य प्रतिषेध इति, अतोऽत्र खरस्य विषाणं खरविषाणमित्यादिव्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि खरविषाणलक्षणो विपक्षो नास्ति ' अडित्थ ' इत्यत्र तु व्युत्पत्तिरहितस्य डित्थस्य-डित्थपदस्य प्रतिषेध इति समासरहितत्वेन शुद्धत्वे सत्यपि नावश्यमवस्थितो डित्थलक्षण कोऽपि पदार्थो जीववद्विपक्षभूतोऽस्तीति ।

' नऽत्थि घडो त्ति व ' इत्यादि पश्चार्धम्। ' नास्त्यात्मा ' इति च योऽयमात्मनिषेधध्वनि स जीवास्तित्वे नान्तरीयक एव, यथा नास्त्यत्र घट इति शब्दोऽन्यत्र घटास्तित्वाविनाभाव्येव। प्रयोग -यस्य निषेध क्रियमाणो दृश्यते तत् क्वचिदस्त्येव, यथा घटादिकम्, निषिध्यते च भवता ' नास्ति जीव ' इति वचनात् जीव, तस्मादस्त्येव असौ, यच्च सर्वथा नास्ति तस्य निषेधो न दृश्यत एव, यथा खरविषाणकल्पाना पञ्चभूतातिरिक्तभूताना निषिध्यते च त्वया जीव, तस्मान्निषेध एवायं तत्सत्त्वसाधक इति ।

अनैकान्तिकोऽयं हेतु, असतोऽपि खरविषाणादेर्निषेधदर्शनादित्याशङ्कयाह—

असओ नऽत्थि निसेहो, संजोगाइपडिसेहओ सिद्धं ।
संजोगाइचउक्कं, पि सिद्धमन्नत्थतरे नियय ॥ १५७४ ॥

असत -अविद्यमानस्य नास्ति-न सभवत्येव निषेध इति सिद्धम्। कुत इत्याह सयोगादिप्रतिषेधाद्, आदिशब्दात्-समवायसामान्यविशेषपरिग्रह । एतदुक्तं भवति-इह यत्किंचित्कचित् देवदत्तादिक निषिध्यते तस्यान्यत्र सत एव विवक्षितस्थाने कस्मिंश्चित्संयोग-समवाय-सामान्य-विशेषलक्षणं चतुष्टयमेव निषिध्यते, न तु सर्वथैव देवदत्तादेर-

भावः प्रतिपाद्यते। तत्र 'नास्ति गृहे देवदत्त' इत्यादिषु गृहदेवदत्तादीनां सतामेव संयोगमात्रं निषिध्यते, न तु तेषां सर्वथैवास्तित्वमपाक्रियते। तथा-'नास्ति खरविषाणम्' इत्यादिषु खरविषाणादीनां सतामेव समवायमात्रं निराक्रियते। तथा-'नास्त्यन्यश्चन्द्रमाः' इत्यादिषु विद्यमानस्यैव चन्द्रमसोऽन्यचन्द्रनिषेधाच्चन्द्रसामान्यमात्रं निषिध्यते, न तु सर्वथा चन्द्राभावः प्रतिपाद्यते। तथा- न सन्ति घटप्रमाणा मुक्ता' इत्यादिषु घटप्रमाणतामात्ररूपो विशेषो मुक्तानां निषिध्यते, न तु मुक्ताभाव, इत्याप्यत इति, एवं च सति 'नास्त्यात्मा' इत्यत्र विद्यमानस्यैवात्मनो यत्र क्वचन येन केनचित्सहसंयोगमात्रमेव त्वया निषेद्धव्यम्, यथा 'नास्त्यात्मा वपुषी' त्यादि, न तु सर्वथात्मनः सत्त्वमिति। अत्राह कश्चित्-ननु यदि यन्निषिध्यते तदस्ति, तर्हि मत्त्रिलोकेश्वरताऽप्यस्ति, युष्मदादिभिर्निषिध्यमानत्वात्, तथा—चतुर्णां समवायादिप्रतिषेधानां पञ्चमोऽपि प्रतिषेधप्रकारोऽस्ति त्वयैव निषिध्यमानत्वात्, तदयुक्तम्-त्रिलोक्येश्वरताविशेषमात्रं भवतो निषिध्यते, यथा घटप्रमाणत्व मुक्तानां, न तु सर्वदैवेश्वरता, स्वशिष्यादीश्वरतायास्तवापिविद्यमानत्वात्। तथा-प्रतिषेधस्यापि पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमपाक्रियते, न तु सर्वथा प्रतिषेधस्याभाव, चतु सख्याविशिष्टस्य तस्य सद्भावात्। ननु सर्वमप्यसबद्धमिदम्, तथाहि-मत्त्रिलोकेश्वरत्वं तावदसदेव निषिध्यते, प्रतिषेधस्यापि पञ्चसख्याविशिष्टत्वमविद्यमानमेव निवार्यते, तथा संयोग समवाय-सामान्य-विशेषाणामपि गृहदेवदत्तखरविषाणादिष्वमतामेव प्रतिषेध', इत्यत. 'यन्निषिध्यते तदस्त्येव' इत्येतत्कथं न प्लवते इत्याशङ्क्याह-'संयोगाइचउक्कं पी' त्यादि, इदमुक्तं भवति-देवदत्तादीनां संयोगादयो गृहादिष्वेवाऽसन्तो निषिध्यन्ते। अर्थान्तरे तु-तेषा ते विद्यन्त एव; तथाहि-गृहेणैव सह देवदत्तस्य संयोगो न विद्यते, अर्थान्तरेण तु क्षेत्रहट्टग्रामादिना सह तस्यासौ समस्त्येव, गृहस्यापि देवदत्तेन सह संयोगो नास्ति, खट्वादिना तु सह तस्यासौ विद्यत एव, एवं विषाणस्यापि खर एव समवायो नास्ति गवादावस्त्येव; सामान्यमपि द्वितीयचन्द्राभावाच्चन्द्र एव नास्ति, अर्थान्तरे तु घटगवादावस्त्येव, घटप्रमाणत्वमपि मुक्तासु नास्ति, अर्थान्तरे तु-कूष्माण्डादावस्त्येव। त्रिलोकेश्वरताऽपि भवत एव नास्ति, तीर्थकरादावस्त्येव, पञ्चसंख्याविशिष्टत्वमपि प्रतिषेधं नाऽस्ति, अर्थान्तरे त्वनुत्तरविद्यमानादावस्त्येव, इत्यनया विवक्षया ब्रूम.-'यन्निषिध्यते तत्सामान्येनाऽस्त्येव, मत्येव प्रतिजानीमहे-यद् यत्र निषिध्यते तत्तत्रैवास्ति, इति, येन व्यभिचार. स्यात्। वयमपि शरीरे जीवं निषेधयामो नान्यत्रेति चेत् साधूक्तम्, अस्मत्समीहितस्य सिद्धत्वात्, जीवसिद्ध्यर्थमेव हि यतामहे वयं, स चेत्सिद्ध, तर्हि तत्सिद्धयन्यथानुपपत्तेरेव तदाश्रय. सेत्स्यति किं तया चिन्तया?। न च शरीरमन्तरेण जीवस्याश्रयान्तरमुपपद्यते, तत्रैव तदवस्थानलिङ्गोपलब्धे, न च वक्तव्यम्-शरीरमेव जीवो, 'जीवति, मृतो, मूर्च्छित' इत्यादिव्यवस्थानुपपत्ते, इत्यादेरभिधास्यमानत्वादिति।

जीवसिद्धावेवोपपत्त्यन्तरमाह—

जीवो त्ति सत्थयमिणं, सुद्धत्तणओ घडाभिहाणं व।
जेणऽत्थेण सदत्थं, सो जीवो अह मई होज्ज॥१५७५॥
अत्थो देहो च्चिय, से नो पज्जायवयणभेयाओ।
नाणाइगुणो य जओ,भणिओ जीवो न देहो त्ति।१५७६।

जीव इत्येतद्वचन सार्थकमिति प्रतिज्ञा, व्युत्पत्तिमत्त्वे सति शुद्धपदत्वात्, इह यद् व्युत्पत्तिमत्त्वे सति शुद्धपदं तदर्थवद् दृष्टं, यथा घटादिकं, तथा च जीवपदं, तस्मात्सार्थकं, यत्तु सार्थकं न भवति तद्व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदं च न भवति, यथा डित्थादिकं, खरविषाणादिक च, न च तथा जीवपद, तस्मात्सार्थकम्। यद्व्युत्पत्तिमन्न भवति तच्छुद्धपदमपि सद् न सार्थकम्। यथा डित्थादिपदम्, इति हेतोरनैकान्तिकतापरिहारार्थं व्युत्पत्तिमत्त्वविशेषणं द्रष्टव्यम्। यदपि शुद्धपदं न भवति किं तु सामासिकं, तदपि व्युत्पत्तिमत्त्वे सत्यपि सार्थकं न भवति, यथा खरविषाणादिकम्, इति शुद्धत्वविशेषणम्। अथ मन्यसे देह एवास्य जीवपदस्यार्थो न पुनरर्थान्तरम्, उक्तं च-" देह एवायमनुप्रयुज्यमानो दृष्टो, यथैष जीवः, एवं न हिनस्ति" इति अतो देह एवास्यार्थो युक्त इति। तदेतन्न, कुत.? इत्याह-देहजीवयो. पर्यायवचनभेदात्, यत्र हि पर्यायवचनभेदस्तत्रान्यत्व दृष्टम्, यथा घटाकाशयो. तत्र घटकुटकुम्भकलशादयो घटस्य पर्यायाः, नभोव्योमान्तरिक्षाऽऽकाशादयस्तु आकाशपर्यायाः। प्रस्तुते च जीवो जन्तुरसुमान्प्राणी सत्त्वो भूत इत्यादयो जीवपर्याया', शरीरं वपु. कायो देह कलेवरमित्यादयस्तु शरीरपर्याया.। पर्यायवचनभेदेऽपि च वस्त्वेकत्वे सर्वैकत्वप्रसङ्गोऽत्र बाधकम्। यत्पुनरिदमुक्तम्-" देह एवायमनुप्रयुज्यमानो दृष्ट." इत्यादि. तच्छरीरसहचरणावस्थानादित. शरीरे जीवोपचार क्रियते। किं च-इत्थमपि श्रूयत एव-'गत. स जीव', दह्यतामिदं शरीरम्' इति। किं च—'नाणाइ' इत्यादि. यस्माच्च ज्ञानादिगुणयुतो जन्तु, अज्ञश्च देह, तत्कथं देह एव जीव। प्रागिहैव चोक्तम्-न ज्ञानादिगुणो देहः, मूर्तिमत्त्वाद्, घटवत्; तथा-देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा, तदुपरमेऽपि तदुपलब्धार्थानामनुसरणात्, वातायनपुरुषवदिति।

तदद्याप्यप्रतिबुध्यमाने इन्द्रभूतौ भगवानाह—

जीवोऽत्थि वओ सच्चं, मव्वयणाओऽवसेसवयणं व।
सव्वण्णुवयणओ वा, अणुमयसव्वण्णुवयणं व।१५७७।

'जीवोऽस्ति' इत्येतद्वच सत्यं, मद्वचनत्वात्, भवत्संशयविषयाद्यवशेषवचनवत्, यच्च सत्यं न भवति तद् मदीयवचनमपि न भवति, यथा कूटसाक्षिवचनम्। अथ वा-सत्य 'जीवोऽस्ति' इतिवचनं सर्वज्ञवचनत्वाद्भवदनुमतसर्वज्ञवचनवदिति।

यदि वा—

भयरागदोसमोहा-भावाओ सच्चमणइवाई च।
सव्वं चिय मे वयणं, जाणयमज्झत्थवयणं व॥१५७८॥

सर्वमपि मद्वचनं सत्यम् अनतिपाति च बोद्धव्य भयरागद्वेषाज्ञानरहितत्वात् इह यद्भयादिरहितस्य वचन त-

त्सत्य दृष्टम्, यथा मार्गज्ञस्य भयरहितस्य प्रष्टरि रागद्वेषरहितस्य मार्गोपदेशवचनम्, तथा च मद्वचः, तस्मात्सत्यमननिपाति चेति ।

अत्र गौतममाशङ्क्य भगवानुत्तरमाह—

कह सव्वण्णु त्ति मई, जेणाहं सव्व संसयच्छेई ।
पुच्छसु व जं न जाणसि,जेण व ते पच्चओ होज्जा ।१५७९।

कथ नाम ' त्वं सर्वज्ञ. ' इति ते मति. ? एव त्व मन्यसे, तथा भयरागद्वेषमोहाभावश्चासिद्ध इति मन्यसे, तदयुक्तम्, येनाहं सर्वसंशयच्छेदी, यश्च सर्वसशयच्छेत्ता स सर्वज्ञ एव । दृष्टान्ताभावेनान्वयासिद्धेरनैकान्तिकोऽय हेतुरिति चेत्, न, सर्वसशयच्छेतृत्वानुपपत्तिरेवेह विपर्यये बाधक प्रमाणं, किमिहान्वयान्वेषणेन ? । यदि वा-पृच्छयतां यत्त्रैलोक्यान्तर्गत, वस्तु त्वं न जानासि, येन सर्वज्ञत्वप्रत्ययस्तव जायते । भयाद्यभावोऽपि तल्लिङ्गादर्शनात् मयि सिद्धएवेति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । कदाचिदपि लिङ्गादर्शने लिङ्गिनोऽस्तित्वशङ्कायामतिप्रसङ्ग इति ।

अथोपसहरन्नाह—

एवमुवओगलिंगं, गोयम ! सव्वप्पमाणसंसिद्धं ।
संसारीयरथावर-तसाइभेयं मुणे जीवं ॥ १५८० ॥

एवम्—उक्तेन प्रकारेण जीवम्—आत्मानं गौतम ! मुणप्रतिपद्यस्वेति संवन्ध । कथंभूतम् ? । उपयोग एव लिङ्गं यस्य स तथा, सर्वै. प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणै संसिद्धम्-प्रतिष्ठितम्, तथा संसारीतरस्थावरत्रसादिभेदम् । संसारिणश्च इतरे-सिद्धा' । आदिशब्दाच्च सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तादिभेदपरिग्रह इति । विशे० । (जीवस्यैकत्वनिराकरणयुक्ति ' एगावाइ ' शब्दे तृतीयभाग ३४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथ "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य. समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति; न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्यादिवेदवाक्यार्थमनुभावयतस्त्यजतोऽपि मम सशयोऽतिविरोधिताहित इव पृष्ठ न मुञ्चति, तत्किं करोमि ? इति चेत्तदयुक्त कुत. ? इत्याह-

गोयम ! वेयपयाणं, इमाण अत्थं च तं न याणासि ।
जं विन्नाणघणो च्चिय, भूएहिंतो समुत्थाय ॥१५८८॥
मन्नसि मज्जंगेसु व, मयभावो भूयसमुदउब्भूओ ।
विण्णाणमेत्तमाया, भूएऽणुविणस्सइ सब्भूओ ।१५८९॥
अत्थि न य पेच्च सण्णा, जं पुव्वभवेऽभिहाणममुगो त्ति ।
जं भणियं न भवाओ, भवंतरं जाइ जीवो त्ति ॥१५९०॥

गौतम ! इत्यामन्त्रणम्, वेदपदानाम्-श्रुतिवाक्यानाममीषा " विज्ञानघन एवैतेभ्य " इत्यादीनां चेतसि वर्तमानानामर्थं यथास्थितं त्वं न जानासि-नावबुध्यसे । किमिति ? अत आह-यद्यस्मात्त्वमात्माभिप्रायेणैवंभूतमिहार्थं मन्यसे-विकल्पयसीति संवन्ध । कथभूतम् ? इत्याह-' विण्णाणघणो च्चिय ' त्ति-पृथिव्यादिभूताना विज्ञानलवसमुदायो विज्ञानघन, पृथिव्यादिविज्ञानांशाना पिण्ड इत्यर्थ. । अवधारण त्वात्मवादिपरिकल्पितस्य भूतसमुदायातिरिक्तस्य ज्ञानदर्शनादिगुणाश्रयस्यात्मनो निरासार्थम् । भूतेभ्य -पृथिव्यादिभ्य समुदितेभ्यो न तु व्यस्तेभ्यो, ज्ञानस्य तत्समुदायपरिणामाङ्गीकारादिति भाव', मद्याङ्गेषु-मद्यकारणेषु धातक्यादिषु मदभाव इव, कथभूतो विज्ञानघन. ? इत्याह-' भूयसमुदउब्भूओ विण्णाणमेत्तमाय ' त्ति-भूतसमुदायादुद्भूतस्तदैव जातो न तु परभावात्कश्चिदायातो; विज्ञानमात्ररूप आत्मेत्यर्थः, समुत्थाय-उत्पद्य ततस्तान्येव-पृथिव्यादिभूतानि विनाशमश्नुवानान्यनु-लक्षीकृत्य भूय.-पुनरपि स विज्ञानघनो-विज्ञानमात्ररूप. आत्मा विनश्यति, न त्वात्मवादिनामिवान्यभवं याति । अत एव न प्रेत्य भवे-परभवे सज्ञास्ति, यत्पूर्वभवे नारकादिजन्मन्यभिधानमासीत्तत्परभवे नास्ति, यदुत-अमुको नारको देवो वा भूत्वा इदानीं मनुष्य संवृत्त इत्यादि, नारकादे प्रागेव सर्वनाशं नष्टत्वादिति भाव' । किमिह वाक्ये तात्पर्यवृत्त्या प्रोक्तं भवति ?, इत्याह-' जं भणियमि' त्यादि सर्वथात्मन समुत्पद्य विनष्टत्वान्न भवाद्भवान्तरं कोऽपि यातीत्युक्त भवति ।

यद्येवभूतमस्य वेदवाक्यस्यार्थमहम—
वगच्छामि तत किम् ? इत्याह—

गोयम ! पयत्थमेवं, मन्नंतो नऽत्थि मन्नसे जीवं ।
वक्कंतरेसु य पुणो, भणिओ जीवो जमत्थि त्ति ॥१५९१॥
अग्गिहवणाइकिरिया-फलं च तो संसयं कुणसि जीवे ।
मा कुरु न पयत्थोऽयं, इमं पयत्थं निसामेहि ॥१५९२॥

गौतम ! अस्य वाक्यस्य दर्शितरूपमेव पदार्थ मन्यमानस्त्व ' नास्ति ' इत्येव जीव मन्यसे । यस्माच्च पुन. "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत " इत्यादिषु वेदवाक्यान्तरेषु ' अस्ति ' इत्येव जीवो भणित -प्रतिपादित, तथा-" अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम " इत्यादिवचनादग्निहवनादिक्रियाया. फलं च पारभविकं श्रूयते । न चेद भवान्तरयायिनमात्मानमनन्तरेणोपपद्यते । अत किं जीव अस्ति, नास्ति वा इत्येवं संशय जीवे करोषि त्वम्; तदमुं मा कृथा, यस्माद्-" विज्ञानघन एव" इत्यादिवाक्यस्य नाऽयमर्थो य भवानध्यवस्यति, किं त्वमुम्-वक्ष्यमाण पदार्थमिह निशमय-आकर्णयेति ।

तमेव दर्शयति—

विण्णाणाओऽणण्णो, विण्णाणघणो त्ति सव्वओ वाऽवि ।
स भवइ भूएहिंतो, घडविण्णाणाइभावेण ॥ १५९३ ॥
ताइं चिय भूयाइं, सोऽणुविणस्सइ विणस्समाणाइं ।
अत्थंतरोवओगे, कमसो विण्णेयभावेणं ॥ १५९४ ॥

इह विज्ञानघनो जीव उच्यते । कथम् ? इति चेत्, उच्यते-विशिष्ट ज्ञान विज्ञान, ज्ञानदर्शनोपयोग इत्यर्थ., तेन विज्ञानेन सहानन्यभूतत्वादेकतया घनत्व निविडत्वमापन्नो विज्ञानघनो जीव. उच्यते । यदि वा- सव्वओ वा वि' त्ति-सर्वत.-प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तविज्ञानपर्यायसंघातघटितत्वाद्विज्ञानघनो जीव । एवकारेण तु विज्ञानघन एवासौ, न तु नैयायिकादीनामिव ' स्वरूपेण निर्विज्ञानत्वाज्जडोऽसौ, बुद्धिस्तु तत्र समवेतैव ' इति नियम्यते । स भवति उद्यत इति क्रिया । केभ्य ?, इत्याह-' भूएहिंतो ' त्तिभूतानीह घटपटादिज्ञेयवस्तुरूपाण्यभिप्रेतानि, तेभ्यो ज्ञेय-

भावेन परिणतस्य. । केन भवति ? इत्याह-'घटोऽयं' 'पटोऽयमि' त्यादिविज्ञानभावेन—घटादिज्ञानपर्यायेण । ततः किम् ? इत्याशङ्कय तान्येवानुविनश्यतीत्यस्यार्थमाह--' ताइं चिय ' त्यादि, तान्येव-ज्ञानालम्बनभूतानि-घटादिभूतानि क्रमशः—कालक्रमेण व्यवधानस्थगनाऽन्यमनस्कत्वादिना-र्थान्तरोपयोगे सति विज्ञेयभावेन-ज्ञानविषयभावेन विनाशमश्नुवानानि अनु-पश्चात्-तद्बोधपर्यायेण, स विज्ञानघनो विनश्यतीति संबन्धः । ज्ञानपर्यायेण घटादिभ्यो ज्ञेयभूतेभ्यो जीवः समुत्थाय कालक्रमाद् व्यवधानादिना अर्थान्तरोपयोगे सति ज्ञेयभावेन तान्येव विनाशमश्नुवानान्यनुविनश्यतीति तात्पर्यार्थः ।

किमित्थं सर्वथाऽयमात्मा विनश्यति ?, न इत्याह—

पुव्वावरविण्णाणो-वओगओ विगमसंभवसहाओ ।
विण्णाणसन्तईए, विण्णाणघणोऽयमविनासी ॥१५६५॥

एवं एवायमात्मा त्रिस्वभावः । कथम् ? इत्युच्यते-अर्थान्तरोपयोगकाले पूर्वविज्ञानोपयोगेन तावदयं विगमस्वभावो-विनश्वररूपः, अपरविज्ञानोपयोगतस्तु संभवस्वभाव उत्पादस्वरूपः, अनादिकालप्रवृत्तसामान्यविज्ञानमात्रसंतत्या पुनरयं विज्ञानघनो जीव अविनष्ट एवावतिष्ठते । एवमन्यदपि सर्वं वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावमेवावगन्तव्यम्, न पुनः किमपि सर्वथोत्पद्यते विनश्यति चेति ।

' न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति ' इत्येतद्व्याचिख्यासुराह—

न च पेच्च नाणसण्णा-ऽवतिट्ठए संपओवओगाओ ।
विण्णाणघणाभिक्खो, जीवोऽयं वेयपयभिहिओ॥१५६६॥

न च प्रत्येति-न चान्यवस्तूपयोगकाले प्राक्तनी ज्ञानसंज्ञाऽस्ति कुतः ? साम्प्रतवस्तुविषयोपयोगात् । इदमुक्तं भवति-यदा घटोपयोगनिवृत्तौ पटोपयोग उत्पद्यते, तदा घटोपयोगसंज्ञा नास्ति, तदुपयोगस्य निवृत्तत्वात्, किं तु पटोपयोगसंज्ञैवास्ति, तदुपयोगस्यैव तदानीमुत्पन्नत्वात् । तस्माद्विज्ञानघनाभिख्यो वेदपदेष्वभिहितोऽयं जीवः । ततो गौतम ! प्रतिपद्यस्व एनमिति ।

पुनरपीह प्रेर्यमाशङ्कय परिहरन्नाह—

एवं पि भूयधम्मो, नाणं तब्भावभावओ बुद्धी ।
तन्नो तदभावम्मि वि, जं नाणं वेयसमयम्मि ॥१५६७॥
अत्थमिए आइच्चे, चंदे संतासु अग्गिवायासु ।
किं जोइरयं पुरिसो, अप्पज्जोइ त्ति निद्दिट्ठो ॥ १५६८ ॥

' बुद्धी ' ति स्याद् बुद्धिः प्रेरकस्य-एवमपि ' न भवइ भूयेहिंतो' इत्यादिना युष्मद्व्याख्यानप्रकारेणापीत्यर्थः, पृथिव्यादिभूतधर्म एव ज्ञानं भूतस्वभावात्मकमेव ज्ञानमिति भावः । कुत इत्याह-' तब्भावभावउ ' त्ति-एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यतीति वचनाद्भूतसद्भावे ज्ञानस्य भावात्; तदभावे चाभावादित्यर्थः, यस्य च भावे एव यद्भवति, अभावे च न भवति तत्तस्यैव धर्मो, यथा चन्द्रमसश्चन्द्रिका, तथा च ज्ञानमनुविदधाति भूतान्वयव्यतिरेकौ, तस्मात्तद्भूतधर्म एव । तदयुक्तम्, विशिष्टेभ्य हि

नीलपीतादिभूतग्राहकं ज्ञानं तदन्वयव्यतिरेकावनुविदधाति न तु सामान्यं ज्ञानमात्रम्, यस्माद् भूताभावेऽपि वेदलक्षणे समये सिद्धान्ते ' सामान्यज्ञानं भणितमेव ' इति शेषः । केन वाक्येन इत्याह-' अत्थमिए ' इत्यादि, अस्तमिते आदित्ये, याज्ञवल्क्यश्चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां वाचि, किं ज्योतिरेवायं पुरुषः, आत्मज्योतिः सम्राडिति होवाच, ' ज्योति ' रिति-ज्ञानमाह । आदित्याऽस्तमयादौ किं ज्योतिः ? इत्याह-' अयं पुरुष ' इति, पुरुषः; आत्मेत्यर्थः । अयं च कथंभूतः ?, इत्याह-' अप्पज्जोइ ' त्ति-आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमात्मज्योतिः-ज्ञानात्मक इति हृदयम्, निर्दिष्टो वेदविद्भिः कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधर्म इति स्थितम् ।

इतश्च न ज्ञानं भूतधर्मः । कुतः ?, इत्याह—

तदभावे भावाओ, भावे चाभावओ न तद्धम्मो ।
जह घडभावाऽभावे, विवज्जयाओ पडो भिन्नो ॥१५६९॥

न भूतधर्मो ज्ञानम्, मुक्त्यवस्थायां भूताभावेऽपि भावात्, मृतशरीरादौ तद्भावेऽपि चाभावात्, यथा घटस्य धर्मः पटो न भवति, किं तु तस्माद्भिन्न एव । कुतः ?, इत्याह-घटभावाभावे विपर्ययात्-घटभावेऽप्यभावात्; तदभावेऽपि च भावादित्यर्थः । विशे० । आ० म० । आव० । कल्प० । (विशेषस्त्वत्र सम्मतितर्कग्रन्थादवसेयः)

(१३) अभौतिकत्वमात्मनः—

(पञ्चभूताद् व्यतिरिक्तो गन्धरसरूपस्पर्शशब्दरूपः भिन्नो न कश्चित् पदार्थः)—

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥ ८ ॥

' एए पञ्च महब्भूया ' इत्यादि, एतानि-अनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्चमहाभूतानि यानि तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यः एकः कश्चिच्चिद्रूपो भूताऽव्यतिरिक्त आत्मा भवति; न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित्परः-परलोकेषु परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्यवमाख्यातवन्तस्ते, तथाहि-एवं प्रमाणयन्ति-न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्मास्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्, प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकम्, तत्रेन्द्रियेण साक्षादर्थस्य सम्बन्धाभावाद्व्यभिचारसंभवः । सति च व्यभिचारसंभवे सदृशे च बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः । तथा चोक्तम्—" हस्तस्पर्शादिवान्धेन, विषमे पथि धावता । अनुमानप्रधानेन, विनिपातो न दुर्लभः " ॥ १ ॥ अनुमानं चात्रोपलक्षणमागमादीनामपि । साक्षादर्थसम्बन्धाभावादव्यभिचारित्वं प्रमाणानामिति । तस्मात्प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, तेन च भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनो न ग्रहणम् । यत्तु चैतन्यं तेषूपलभ्यते तद्भूतेष्वेव कायाकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवदिति । तथा न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वात् घटादिवदिति तदेवं भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावात् भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिः तस्य सुखदुःखाभिव्यक्तिर्यानि । कायाकारपरिणतानामाकाशादीनामपि भूतानामेवाप्रत्ययानामकस्मादिति तदभावोऽपत्यागो न दोषायेति । ननु च यदि भूतव्यतिरिक्त...

तिरिक्तोऽपर कश्चिदात्माख्य पदार्थो न विद्यते कथं तर्हि मृत इति व्यपदेश इत्याशङ्कयाह-अथैषां कायाऽऽकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य विनाशे-अपगमे वायोस्तेजसश्च, उभयोर्वा देहिनो-देवदत्ताख्यस्य विनाश -अपगमो भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेश. प्रवर्तते, न पुनर्जीवापगम इति भूताऽव्यतिरिक्तचैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति ।

अत्र प्रतिसमाधानार्थं निर्युक्तिकृदाह-

पंचण्हं संजोए, अएणगुणाणं च चेयणाइगुणो ।
पचिंदियठाणाणं, ण अएणमुणियं मुणइ अन्नो ॥३३॥

'पचण्हं संजोए' इत्यादि, पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूताना संयोगे-कायाकारपरिणामे चैतन्यादिक । आदिशब्दात्-भाषाचङ्क्रमणादिकश्च गुणो न भवतीति प्रतिज्ञा, अन्यादयस्त्वत्र हेतुत्वेनोपात्ता । दृष्टान्तस्त्वभ्यूह्य, सुलभत्वात्तस्य नोपादानम् । तत्रेदं चार्वाक प्रष्टव्य -यदेतद्भूताना संयोगे चैतन्यमभिव्यज्यते तत्किं तेषां संयोगेऽपि स्वातन्त्र्य एव, आहोस्वित् परस्परापेक्षया पारतन्त्र्ये इति । किंचात ?, न तावत्स्वातन्त्र्ये, यत आह-' अन्नगुणाणं चे ' ति—चैतन्यादन्ये गुणा येषा तान्यन्यगुणानि, तथाहि-आधारकाठिन्यगुणा पृथिवी, द्रवगुणा आप , पक्तृगुण तेज , चलनगुणो वायु , अवगाहदानगुणमाकाशमिति । यदि वा-प्रागभिहिता गन्धादय पृथिव्यादीनामेकैकपरिहान्याऽन्ये गुणाश्चैतन्यादिति, तदेवं पृथिव्यादीन्यन्यगुणानि, चशब्दो द्वितीयविकल्पवक्तव्यतासूचनार्थं, चैतन्यगुणे साध्ये पृथिव्यादीनामन्यगुणाना सता चैतन्यगुणस्य पृथिव्यादीनामेकैकस्याप्यभावात्र तत्समुदायाच्चैतन्याख्यो गुण सिद्धयतीति, प्रयोगस्तत्र भूतसमुदाय स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते न तस्य चैतन्याख्यो गुणोऽस्तीति साध्यो धर्म. पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात् , यो योऽन्यगुणानां समुदायस्तत्र तत्राऽपूर्वगुणोत्पत्तिर्न भवतीति, यथा सिकतासमुदाये स्निग्धगुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा न स्तम्भाद्याविर्भाव इति, दृश्यते च काये चैतन्य, तदात्मगुणो भविष्यति, न भूतानामिति । अस्मिन्नेव साध्ये हेत्वन्तरमाह-' पचिंदियठाणाण ' ति-पञ्च च तानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषा स्थानानि-अवकाशास्तेषा चैतन्यगुणाभावान्न भूतसमुदाये चैतन्यम् । इदमत्र हृदयम्-लोकायतिकाना हि अपरस्य द्रष्टुरनभ्युपगमादिन्द्रियाण्येव द्रष्टृणि । तेषा च यानि स्थानान्युपादानकारणानि तेषामचिद्रूपत्वान्न भूतसमुदाये चैतन्यमिति, इन्द्रियाणा चामूनि स्थानानि । तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात्, घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात्, चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात्, एव रसनेन्द्रियस्याऽऽप, स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति । प्रयोगश्चात्र-नेन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति तेषामचेतनगुणाऽऽरब्धत्वात्, यद्यदचेतनगुणाऽऽरब्ध तत्तदचेतनम्, यथा घटपटादीनि । एवमपि च भूतसमुदाय चैतन्याभाव एव साधितो भवति, पुनर्हेत्वन्तरमाह—'ण अएणमुणिय मुणइ अएणो ' त्ति-इहेन्द्रियाणि प्रत्येक भूतात्मकानि नान्येनापरस्य द्रष्टुरभावाद् द्रष्टृणि तेषां च प्रत्येकं स्वविषयग्रहणादन्यविषये चाप्रवृत्तेर्नान्यदिन्द्रियज्ञानमन्यदिन्द्रियं जानातीत्यतो मया पञ्चापि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मक सकलनाप्रत्ययो न प्राप्नोति, अनुभूयते चायं, तस्मादेकेनैव द्रष्टा भवितव्यम्, तस्यैव च चैतन्यं न भूतसमुदायस्येति, प्रयोग पुनरेवम्-न भूतसमुदाये चैतन्य, तदारब्धेन्द्रियाणां प्रत्येकविषयग्राहित्वे सति सकलनाप्रत्ययाभावात्, यदि पुनरन्यगृहीतमप्यन्यो गृह्णीयाद्देवदत्तगृहीत यज्ञदत्तेनापि गृह्येत नचैतद् दृष्टमिष्टं चेति । ननु च स्वातन्त्र्यपक्षेऽय दोष । यदा पुन परस्परसापेक्षाणां संयोगपारतन्त्र्याभ्युपगमेन भूतानामेव समुदितानां चैतन्याख्यो धर्म सयोगवशादाविर्भवति, यथा किण्वोदकादिषु मद्याङ्गेषु समुदितेषु प्रत्येकमविद्यमानापि मदशक्तिरिति तदा कुतोऽस्य दोषस्यावकाश इति । अत्रोत्तरम्-गाथोपात्तचशब्दाऽऽक्षिप्तमभिधीयते-यत्तावदुक्तं यथा भूतेभ्य परस्परसव्यपेक्षसंयोगभाग्भ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते . तत्र विकल्पयाम -किमसौ सयोगः संयोगिभ्यो भिन्न अभिन्नो ? वा भिन्नश्चेत्षष्ठभूतप्रसङ्गो नचान्यत्पञ्चभूतव्यतिरिक्तमयोगाख्यभूतग्राहक भवता प्रमाणमस्ति प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमात्तेन च तस्याग्रहणात् प्रमाणान्तराभ्युपगमे च तेनैव जीवस्यापि ग्रहणमस्तु तथाऽभिन्नो भूतेभ्यो भूतानामेव संयोगस्तत्राप्येतच्चिन्तनीय किं भूतानि प्रत्येक चेतनावन्ति, अचेतनावन्ति वा, यदि चेतनावन्ति तदा एकेन्द्रियसिद्धिस्तदा समुदायस्य पञ्चप्रकारचैतन्यापत्ति , अथ-अचेतनानि तत्रोक्तो दोषो न हि यद्यत्र प्रत्येकमविद्यमान तत्समुदाये भवदुपलभ्यते सिकतासु तैलवदित्यादिना । यदप्यत्रोक्तम्—यथा मद्याङ्गेष्वविद्यमानाऽपि प्रत्येक मदशक्ति समुदाये प्रादुर्भवतीति । तदप्ययुक्तम् , यतस्तत्र किण्वादिषु या च यावती शक्तिरुपलभ्यते, तथाहि-किण्वे बुभुक्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यं चोदकस्य तृडपनयनसामर्थ्यमित्यादिरिति, भूतानां प्रत्येक चैतन्याऽनभ्युपगमे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यम् । किं च-भूतचैतन्याभ्युपगमे मरणाऽभावो, मृतकायेऽपि पृथिव्यादीनां भूताना सद्भावात् , नैतदस्ति, तत्र-मृतकाये वायोस्तेजसो वा अभावान्मरणसद्भाव इत्यशिक्षितस्योल्लाप । तथाहि—मृतकाये शोफोपलब्धेर्न वायोरभाव , कोथस्य च पक्तिस्वभावस्य दर्शनान्नाग्नेरिति, अथ सूक्ष्म कश्चिद्वायुविशेषोऽग्निर्वा ततोऽपगत इति मतिरित्येव च जीव एव नामान्तरेणाभ्युपगतो भवति, यत् किंचिदेतत् । तथा न भूतसमुदायमात्रेण चैतन्याविर्भाव । पृथिव्यादिष्वेकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धे । अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न यतो लेप्यमयप्रतिमायां समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते । तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्यमानो नायं चैतन्याख्यो गुणो भूताना भवितुमर्हति, समुपलभ्यते चाय शरीरेषु । तस्मात् पारिशेष्यात् जीवस्यैवायमिति स्वदर्शनपक्षपात विहायाङ्गीक्रियतामिति । यच्चोक्त प्राग् न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्मास्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् , प्रमाण चात्र प्रत्यक्षमेवैकमित्यादि, तत्र प्रतिविधीयते-यत्तावदुक्तम्— प्रत्यक्षमेवैकं

प्रमाणं नानुमानादिकम् ' इत्येतदनुपासितगुरोर्वचः । तथाहि—अर्थाऽविसंवादकं प्रमाणमित्युच्यते, प्रत्यक्षस्य च प्रामाण्यमेवं व्यवस्थाप्यते। काश्चित्प्रत्यक्षव्यक्तीर्धर्मित्वेनोपादाय प्रमाणयति—प्रमाणमेता अर्थाऽविसंवादकत्वादनुभूतप्रत्यक्षव्यक्तिवत् । न च ताभिरेव प्रत्यक्षव्यक्तिभि· स्वसंविदिताभिः परं व्यवहारयितुमयमीशस्तासां स्वसन्निविष्टत्वान्मूकत्वाच्च । प्रत्यक्षस्य नानुमानं प्रमाणमित्यनुमानेनैवानुमाननिरासं कुर्वंश्चार्वाकः कथं नोन्मत्तः स्यात् ?, एवं ह्यसौ तदप्रामाण्यं प्रतिपादयेत् । यथा नानुमानं प्रमाणं विसंवादकत्वादनुभूतानुमानव्यक्तिवदित्येनद्यानुमानम्, अथ परप्रसिध्ध्येतदुच्यते तदप्ययुक्तम्, यतस्तत्परप्रसिद्धमनुमानं भवत प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ?। प्रमाणं चेत्कथमनुमानमप्रमाणमित्युच्यते, अथाऽप्रमाणं कथमप्रमाणेन सता तेन पर· प्रत्याय्यते ?, परेण तस्य प्रामाण्येनाभ्युपगतत्वादिति चेतदप्यसांप्रतम्, यदि नाम परो मौढ्यादप्रमाणमेव प्रमाणमित्यध्यवस्यति किं भवताऽतिनिपुणेनापि तेनैवाऽसौ प्रतिपाद्यते ?, यो ह्यज्ञो गुडमेव विषमिति मन्यते किं तस्य मारयितुकामेनापि बुद्धिमता गुड एव दीयते ?, तदेवं प्रत्यक्षानुमानयो प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थापयतो भवतोऽनिच्छतोऽपि बलादायातमनुमानस्य प्रामाण्यम् । तथा स्वर्गापवर्गदेवतादे· प्रतिषेध कुर्वन् भवान् केन प्रमाणेन करोति ?, न तावत्प्रत्यक्षेण प्रतिषेध· कर्तुं पार्यते, यतस्तत्प्रत्यक्षं प्रवर्त्तमानं वा तन्निषेधं विदध्यान्निवर्त्तमानं वा ?।, न तावत्प्रवर्तमानं, तस्याऽभावविषयत्वविरोधात्, नापि निवर्तमानम्, । यतस्तच्च नास्ति तेन च प्रतिपत्तिरित्यसङ्गतम्। तथाहि-व्यापकविनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि निवृत्तिरिष्यते, न चार्वाकदर्शिनप्रत्यक्षेण समस्तवस्तुव्याप्तिः संभाव्यते, तत्कथं प्रत्यक्षविनिवृत्तौ पदार्थव्यावृत्तिरिति ?। तदेव स्वर्गाऽऽदे प्रतिषेध कुर्वता चार्वाकेणाऽवश्य प्रमाणान्तरमभ्युपगतम्। तथाऽन्याभिप्रायविज्ञानाभ्युपगमादत्र स्पष्टमेव प्रमाणान्तरमभ्युपगतम् । अन्यथा कथ परावबोधाय शास्त्रप्रणयनमकारि चार्वाकेणत्यलमतिप्रसङ्गेन । तदेवं प्रत्यक्षादन्यदपि प्रमाणमस्ति तेनात्मा सेत्स्यति किं पुनस्तदिति चेत्, उच्यते-अस्त्यात्मा, असाधारणतद्गुणोपलब्धे, चक्षुरिन्द्रियवत् । चक्षुरिन्द्रियं हि न साक्षादुपलभ्यते । स्पर्शनादीन्द्रियाऽसाधारणरूपविज्ञानोत्पादनशक्त्या त्वनुमीयते। तथाऽऽत्मापि पृथिव्याद्यसाधारणचैतन्यगुणोपलब्धेरस्तीत्यनुमीयते, चैतन्य च तस्यासाधारणगुण इत्येतत्पृथिव्यादिभूतसमुदाये चैतन्यस्य निराकृतत्वादवसेयम् । तथाऽस्त्यात्मा समस्तेन्द्रियोपलब्धार्थसंकलनाप्रत्ययसद्भावात् । पञ्चगवाक्षान्तरोपलब्धार्थसकलनाविधाय्येकदेवदत्तवत् , तथाऽऽत्माऽर्थद्रष्टा नेन्द्रियाणि। तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थस्मरणात्, गवाक्षोपरमेऽपि तद्द्वारोपलब्धार्थस्मर्तृदेवदत्तवत् । तथाऽर्थापत्त्याप्यात्मास्तीत्यवसीयते, तथाहि—सत्यपि पृथिव्यादिभूतसमुदाये लेप्यकर्मादौ न सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादिक्रियाणां सद्भाव इत्यत सामर्थ्यादवसीयते। अस्ति भूतातिरिक्तः कश्चित्सुखदुःखेच्छादीनां क्रियाणां समवायिकारणं पदार्थ·, स चात्मेति, तदेव प्रत्यक्षानुमानादिपूर्विकाऽन्याप्यर्थापत्तिरभ्यूह्या । तस्यास्त्विदं लक्षणम्—" प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्राऽर्थो नाऽन्यथाभवन्। अदृष्टं कल्पयेदन्य, सार्थापत्तिरुदाहृता " ॥१॥ तथाऽऽगमादप्यस्तित्वमवसेयम्। स चायमागम·-" अत्थि मे आया उववाइए" इत्यादि । यदि वा-किमत्राऽपरप्रमाणचिन्तया ?, सकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणैवात्माऽस्तीत्यवसीयते । तद्गुणस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्। ज्ञानगुणस्य च गुणिनोऽनन्यत्वात् प्रत्यक्ष एवाऽऽत्मा, रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वेन घटाऽऽदिप्रत्यक्षवत्, तथाहि-अहं सुखी अहं दुःखी एवमाद्यहप्रत्ययग्राह्यश्चात्मा प्रत्यक्ष, अहमत्ययस्य स्वसंविद्रूपत्वादिति । ममेदं शरीरं पुराणं कर्मेति च शरीराद्भेदेन निर्दिश्यमानत्वादित्यादीन्यन्यान्यपि प्रमाणानि जीवसिद्धावभ्यूह्यानीति । तथा यदुक्तम्-न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वात् घटादिवदिति, एतदप्यसमीचीनम्, हेतोरसिद्धत्वात्, तथाहि-न भूतानां कार्यं चैतन्य, तेषामतद्गुणत्वात् भूतकार्यचैतन्ये संकलनाप्रत्ययासंभवाच्च इत्यादिनोक्तप्रायम्, अतोऽस्त्यात्मा भूतव्यतिरिक्तो ज्ञानाधार इति स्थितम्। ननु च किं ज्ञानाधारभूतेनात्मना ज्ञानाद्भिन्नेनाश्रितेन ?, यावता ज्ञानादेव सर्वसकलनाप्रत्ययादिकं सेत्स्यति, किमात्मनान्तर्गडुकल्पेनेति । तथाहि-ज्ञानस्यैव चिद्रूपत्वाद् भूतैरचेतनै· कायाकारपरिणतै· सह सबन्धे सति सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नक्रिया· प्रादुष्यन्ति तथा सकलनाप्रत्ययो भवान्तरगमनं चेति । तदेव व्यवस्थिते किमात्मना कल्पितेनेति ?, अत्रोच्यते-न ह्यात्मानमेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते, तथाहि-प्रत्येकमिन्द्रियै स्वविषयग्रहणे सति परविषये चाप्रवृत्तेरेकस्य च परिच्छेत्तुरभावात्। मया पञ्चापि विषया परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याभाव इति । आलयविज्ञानमेकमस्तीति चेत्, एव सत्यात्मन एव नामान्तरं भवता कृतं स्यात्। न च ज्ञानाख्यो गुणो गुणिनमन्तरेण भवतीत्यवश्यम्-आत्मना गुणिना भाव्यमिति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० । सूक्ष्मान्तरितदूरार्था· कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात् क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत्। एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्या । तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगम प्रमाणमेव । तदप्रामाण्य हि प्रणायकदोषनिबन्धनम् " रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् " ॥ १ ॥ इति वचनात् । प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेव । इति सिद्ध आगमादप्यात्मा-' एगे आया " इत्यादिवचनात्। तदेव प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्ध प्रमाता। स्या० १७ श्लोक।

प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा ॥५५॥

अतति-परापरपर्यायान् सतत गच्छतीत्यात्मा-जीव· । रत्ना० ७ परि० । (अस्य टीका रत्नाकरावतारिकाग्रन्थादवसेया) (शून्यवादनिराकरणपूर्विकाऽऽत्मत्वसिद्धि विस्तरेण स्याद्वादमञ्जरीग्रन्थादवसेया)

१-अन्यथा स्थितस्य वस्तुन· अन्यथा कथनम्-विसंवाद· ।

(१४) साम्प्रतं कस्या दिश आगतोऽहमिति प्रकृतमनुस्त्रियते । यो हि 'सोऽहम्' इत्यनेनाहङ्कारज्ञानेनात्मोल्लेखेन पूर्वादिदिश आगतमात्मानमवच्छिन्नसन्ततिपतितं द्रव्यार्थतया नित्यम्; पर्यायार्थतया त्वनित्यं जानाति स परमार्थेन आत्मवादीति । सूत्रकृद्दर्शयति—

अत्थि मे आया उववाइये, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोहं । (सूत्र-४×) आचा० १ श्रु०१ अ०१ उ०।

(अस्य सूत्रस्य व्याख्या चतुर्थभागात्-२५२६ पृष्ठे करिष्यमाणादवगन्तव्या)

से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी । (सूत्र-५)

'से' इति-यो भ्रान्तः पूर्वं नारकतिर्यङ्नरामरावासु भावदिक्षु पूर्वाद्यासु च प्रज्ञापकदिक्षु अदत्तिणकामूर्तादिलक्षणेपेनमात्मानमवैति स इत्थंभूत आत्मवादीति आत्मान वदितु शीलमस्येति । यः पुनरेवंभूतमात्मानं नाभ्युपगच्छति । सोऽनात्मवादी; नास्तिक इत्यर्थः । योऽपि सर्वव्यापिनं नित्य क्षणिकं वाऽऽत्मानमभ्युपैति, सोऽप्यनात्मवाद्येव यत सर्वव्यापिनो निष्क्रियत्वाद्भवान्तरसंक्रान्तिर्न स्यात्सर्वथा नित्यत्वेऽपि अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमिति कृत्वा मरणाऽभावेन भवान्तरसंक्रान्तिरेव न स्यात्, सर्वथा क्षणिकत्वेऽपि । निर्मूलविनाशात् सोऽहमित्यनेन पूर्वोत्तरानुसंधानं न स्यात् । य एव चात्मवादी स एव परमार्थतो लोकवादी । यतो-लोकयतीति लोक -प्राणिगणस्तं वदितुं शीलमस्येत्यनेन चात्माद्वैतवादिनिरासेनात्मबहुत्वमुक्तम् , यदि वा-लोकाऽऽपनीति लोक -चतुर्दशरज्ज्वात्मक , प्राणिगणो वा, तत्राऽऽपतितुं शीलमस्येत्यनेन च विशिष्टाकाशखण्डस्य लोकसंज्ञा वेदिता, तत्र च जीवास्तिकायस्य संभवेन जीवानां गमनागमनमावेदितं भवति । य एव च दिगादिगमनपरिज्ञानेनात्मवादी लोकवादी च संवृत्त स एवासुमान् कर्मवादी कर्म-ज्ञानावरणीयादि तद्वदितु शीलमस्य यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः पूर्वं गत्यादियोग्यानि कर्माण्याददते, पश्चात्तासु तासु विरूपरूपासु योनिषूत्पद्यन्ते । कर्म च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकमवसेयमिति । अनेन च कालयदृच्छानियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्या । तथा य एव कर्मवादी, स एव क्रियावादी । यत कर्म योगनिमित्त बध्यते, योगश्च-व्यापार , स च क्रियारूप , अत. कर्मण कार्यभूतस्य वदनात्तत्कारणभूताया क्रियाया अप्यमादेव परमार्थतो वादीनि क्रियायाश्च कर्मनिमित्तत्वं प्रसिद्धमागमे, स चायमागम - "जाव णं भंते ! एस जीवे सया समियं एयइ वेयइ चलति फंदति घट्टनि निप्पति जाव तं तं भाव परिणमति ताव(व)च णं अट्ठविहवधए वा सत्तविहवधए वा छव्विहवधए वा एकविहवधए वा णो णं अवधए" त्ति । एव च कृत्वा य एव कर्मवादी स एव क्रियावादीति । अनेन च साङ्ख्याभिमतमात्मनोऽक्रियावादित्वं निरस्त भवति ।

सांप्रतं पूर्वोक्तां क्रियामात्मपरिणतिरूपा विशिष्टकालाभिधायिना तिङ्प्रत्ययेनाभिदधदहंप्रत्ययसाध्यस्यात्मनस्तद्भव एवावधिमन पर्यायकेवलज्ञानजातिस्मरणव्यतिरेकेणैव त्रिकालसस्पर्शिना मतिज्ञानेन सद्भावावगमं दर्शयितुमाह—

अकरिस्सं च हं कारवेसुं च हं करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि । (सूत्र-६)

इह भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालापेक्षया कृतकारितानुमतिभिर्नवविकल्पा संभवन्ति, ते चामी-अहमकार्षमचीकरमहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञासिषमहं करोमि कारयाम्यनुजानाम्यहमिति करिष्याम्यहं कारयिष्याम्यहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्याम्यहमिति, एतेषां च मध्ये आद्यन्तौ सूत्रेणैवोपात्तौ तदुपादानाच्च तन्मध्यपातिना सर्वेषां ग्रहणम् , अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्प । "कारवेसुं चऽहमिति' सूत्रेणोपात्त , एते च चकारद्वयोपादानादपिशब्दोपादानाच्च मनोवाक्कायैश्चिन्त्यमाना सप्तविंशति २७ भेदा भवन्ति, अयमत्र भावार्थ -अकार्षमहमित्यत्राहमित्यनेनात्मोल्लेखिना विशिष्टक्रियापरिणतिरूप आत्मा अभिहितस्तत्रश्चाय भावार्थो भवति-स एवाऽह येन मयास्य देहाद् पूर्वं यौवनावस्थायामिन्द्रियवशंगन विषयविषमोहितान्धचेतसा तत्तदकार्यानुष्ठानपरायणेनानुकूल्यमनुष्ठितम् । उक्तञ्च-" विहवावलेवनडिएहिं, जाइ कीरति जोव्वणमएण । वयपरिणामे सरियाइ, ताइ हियए खुडुक्कति" ॥ १ ॥ तथा अचीकरमहमित्यनेन परोपकार्यादौ प्रवर्त्तमानो मया प्रवृत्ति कारित', तथा कुर्वन्तमन्यमनुज्ञातवानित्येवं कृतकारितानुमतिभिर्भूतकालाभिधान, तथा करोमीत्यादिना वचनत्रिकेण वर्त्तमानकालोल्लेख , तथा करिष्यामि कारयिष्यामि कुर्वतोऽन्यान्प्रति समनुज्ञापरायणो भविष्यामीत्यनागतकालोल्लेख , अनेन च कालत्रयसंस्पर्शेन देहेन्द्रियातिरिक्तस्यात्मनो भूत-वर्तमान-भविष्यत्कालपरिणतिरूपस्यास्तित्वावगतिरावेदिता भवति, सा च-नैकान्तक्षणिकनित्यवादिना संभवतीत्यतोऽनेन ते निरस्ता क्रियापरिणामेनात्मनः परिणामित्वाभ्युपगमादिति, एतदनुसारेणैव सभवानुमानादतीतानागतयोरपि भवयोरात्मास्तित्वमवसेयम् । यदि वा— अनेन क्रियाप्रबन्धप्रतिपादनेन कर्मण उपादानभूतायाः क्रियाया स्वरूपमावेदितमिति ।

अथ किमेतावत्य एव क्रिया , उतान्या अपि सन्तीत्येतावेत्याह—

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति । (सूत्र-७)

एतावन्त सर्वेऽपि लोके प्राणिसंघाते कर्मसमारम्भाः- क्रियाविशेषा ये प्रागुक्ता अतीतानागतवर्त्तमानभेदेन कृतकारितानुमतिभिश्चाशेषक्रियानुयायिना च करोतिना सर्वेषां संग्रहादित्येतावन्त एव परिज्ञातव्या भवन्ति, नान्ये इति । परिज्ञा च ज्ञप्रत्याख्यानभेदाद् द्विधा, तत्र ज्ञपरिज्ञायात्मनो बन्धस्य चास्तित्वमेतावद्भिरेव सर्वैः कर्मसमारम्भैर्ज्ञातं भवति प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सर्वे पापोपादानहेतव —कर्मसमारम्भा. प्रत्याख्यातव्या इति । इयता सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाधितम् ।

अधुना तस्यैवात्मनो दिगादिभ्रमणहेतूपदर्शनपुरस्सरमपायान् प्रदर्शयितुमाह-यदि वा-यस्तावदात्मकर्मादिवादी स दिगादिभ्रमणान्मोक्ष्यते इतरस्य तु विपाकान्दर्शयितुमाह—

अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ अणु संचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति । (सूत्र-८)

'अपरिन्नाये' त्यादि, योऽयं पुरि शयनात्पूर्णः सुखदुःखाना वा पुरुषो जन्तुर्मनुष्यो वा, प्राधान्याच्च पुरुषस्योपादानम्, उपलक्षण चैतत्, सर्वोऽपि चतुर्गत्यापन्नः प्राणी गृह्यते दिशोऽनुदिशो वा अनुसञ्चरति, स. अपरिज्ञातकर्मा-अपरिज्ञात कर्मा ऽनेनेत्यपरिज्ञातकर्मा, खलुरवधारणे, अपरिज्ञातकर्मैव दिगादौ भ्राम्यति नेतर इति, उपलक्षणं चैतद् अपरिज्ञाताऽऽत्मा अपरिज्ञातक्रियश्चेति यश्चापरिज्ञातकर्मा स, सर्वा दिशः सर्वाश्चानुदिशः 'साहेति' स्वयकृतेन कर्मणा सहानुसञ्चरति, सर्वग्रहणं सर्वासा प्रज्ञापकदिशा भावदिशां च उपसंग्रहार्थम्।

स यदाप्नोति तद्दर्शयति—

अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ । (सूत्र-९)

आचा० । (कति जीवोत्पत्तिस्थानानि इति 'जोणि' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते ।) एताश्चानेकरूपा योनीर्दिगादिषु पर्यटन्नपरिज्ञातकर्माऽसुमान् 'संधेइ' त्ति-सन्धयति सन्धि करोत्यात्मना सहाऽविच्छेदेन संघट्टयतीत्यर्थ, 'सन्धावइ' त्ति-पाठान्तरं, सन्धावति, पौन पुन्येन तासु गच्छतीत्यर्थं, तत्सन्धाने च यदनुभवति तद्दर्शयति-विरूपं बीभत्समनोज्ञं रूपं स्वरूप-येषां स्पर्शानां दुःखोपनिपातानां ते तथा स्पर्शाश्रिता दुःखोपनिपाता. स्पर्शा इत्युक्तास्तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति कृत्वा उपलक्षणं चैतन्मानस्याऽपि वेदना ग्राह्या अतस्तानेवभूतान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति-अनुभवति प्रतिग्रहणात्प्रत्येकं शारीरान्मानसाश्च दुःखोपनिपातानुभवतीत्युक्तं भवति स्पर्शग्रहण चेह सर्वसंसारान्तर्वर्तिजीवराशिसंग्रहार्थ, स्पर्शनेन्द्रियस्य सर्वजीवव्यापित्वात्, अत्रेदमपि वक्तव्यं, सर्वान्विरूपरूपान् रसगन्धरूपशब्दान् प्रतिसंवेदयतीति विरूपरूपत्वञ्च स्पर्शानां कार्यभूतानाम् विचित्रकर्मोदयात् कारणभूताद्भवतीति वेदितव्य, विचित्रकर्मोदयाच्चापरिज्ञातकर्मा संसारी स्पर्शादीन्विरूपरूपांस्तेषु तेषु योन्यन्तरेषु विपाकत. परिसंवेदयतीति, आह च—

"तै कर्मभि स जीवो, विवश संसारचक्रमुपयाति ।
द्रव्यक्षेत्राद्धाभा-वभिन्नमावर्त्तते बहुश ॥ १ ॥
नरकेषु देवयोनिषु, तिर्यग्योनिषु च मनुजयोनिषु च ।
पर्यटति घटीयन्त्रव-दात्मा विभ्रच्छरीराणि ॥ २ ॥
सततानुबद्धमुक्त, दु ख नरकेषु तीव्रपरिणामम् ।
तिर्यक्षु भयक्षुत्तृड्-वधादिदु ख सुख चाल्पम् ॥ ३ ॥
सुखदु खे मनुजाना, मन शरीराश्रये बहुविकल्प ।
सुखमेव हि देवाना, दु ख स्वल्प च मनसि भवम् ॥ ४ ॥
कर्मानुभावदु खित, एव मोहान्धकारगहनवति ।
अन्ध इव दुर्गमार्गे, भ्रमति हि संसारकान्तारे ॥ ५ ॥
दु खप्रतिक्रियार्थ, सुखाभिलाषाच्च पुनरपि तु जीव ।
प्राणिवधादीन् दोषा-नधिनिष्ठति मोहसंछन्न ॥ ६ ॥
बध्नाति ततो बहुविध-मन्यत्पुनरपि नव सुबहु कर्म ।
तेनाथ पच्यते पुन-रग्नेरग्निं प्रविश्यैव ॥ ७ ॥
एव कर्माणि पुन , पुन सम्बध्नंस्तथैव मुञ्चश्च ।
सुखकामो बहुदु ख, संसारमनादिकं भ्रमति ॥ ८ ॥
एवं भ्रमत संसा-रसागरे दुर्लभं मनुष्यत्वम् ।
संसारस्य महत्त्व, त्वधर्मदुष्कर्मबाहुल्यै ॥ ९ ॥
आर्यो देशः कुलरूप-सम्पदायुश्च दीर्घमारोग्यम् ।
यतिसंसर्ग. श्रद्धा, धर्मश्रवणं च मतिनैपुण्यम् ॥ १० ॥
एतानि दुर्लभानि, प्राप्तवतोऽपि दृढमोहनीयस्य ।
कुपथाकुलेऽर्हदुक्तोऽ-तिदुर्लभो जगति सन्मार्ग. " ॥ ११ ॥

यदि वा-योऽय पुरुषः सर्वा दिशोऽनुदिशश्चानुसञ्चरति तथा-अनेकरूपा योनी. सन्धावति विरूपविरूपाश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति 'सोऽविज्ञातकर्मा' अविज्ञातम्-अविदितं कर्म क्रिया-व्यापारो मनोवाक्कायलक्षण, अकार्षमह, करोमि, करिष्यामीत्येवंरूप. जीवोपमर्दात्मकत्वेन बन्धहेतु. सावद्यो येन सोऽयमविज्ञातकर्मा, अविज्ञातकर्मत्वेन च तत्र तत्र कर्मणि जीवोपमर्दादिके प्रवर्त्तते येन येनास्याष्टविधकर्मबन्धो भवति, तदुदयाच्चानेकरूपयोन्यनुसन्धान विरूपरूपस्प भवश्च भवतीति ।

यद्येव तत किमित्यत आह—

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया । (सूत्र-१०)

(अस्य सूत्रस्य व्याख्या 'परिण्णा' शब्दे पञ्चमे भागे करिष्यते) आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अमुमेवार्थं निर्युक्तिकृदाह—

तत्थ अकारि करिस्सं-ति बंधचिंता कया पुणो होइ ।
सहसंमइया जाणइ, कोई पुण हेउजुत्तीए ॥ ६७ ॥

तत्र—कर्मणि—क्रियाविशेषे, किम्भूत इत्याह—'अकारि करिस्सति' अकारीति-कृतवान् 'करिस्संति' करिष्यामीत्यनेनातीतानागतोपादानेन तन्मध्यवर्तिनो वर्तमानस्य कारितानुमत्योश्चोपसंग्रहात्-नवापि भेदा आत्मपरिणामत्वेन योगरूपा उपात्ता द्रष्टव्या, तत्रानेनात्मपरिणामरूपेण क्रियाविशेषेण बन्धचिन्ता कृता भवति, बन्धस्योपादानमुपात्त भवति, " कर्मयोगनिमित्त बध्यत " इति वचनात्, एतच्च कश्चिज्जानाति आत्मना सह या सन्मति स्वमतिर्वाऽवधिमन पर्यायकेवलिजातिस्मरणरूपा तया जानाति, कश्चिच्च पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणया हेतुयुक्त्येति ।

अथ किमर्थमसौ कटुकविपाकेषु कर्माश्रवहेतुभूतेषु क्रियाविशेषेषु प्रवर्त्तत इत्याह—

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं । (सूत्र-११)

तत्र जीवितमिति-जीवन्त्यनेनायुष्कर्मणेति जीवितं-प्राणधारण, तच्च प्रतिप्राणि स्वसंविदितमिति कृत्वा प्रत्यक्षासन्नवाचिना इदमा निर्दिशति चशब्दो वक्ष्यमाणजात्यादिसमुच्चयार्थ, एवकारोऽवधारणे, अस्यैव जीवितस्यार्थे परि-

फल्गुसारस्य तडिल्लताविलसितचञ्चलस्य बहुपायस्य दीर्घमुमार्थं क्रियासु प्रवर्त्तते । तथा हि-जीविष्यामयहमरोग सुमन भोगान् भोक्ष्ये ततो व्याध्यपनयनार्थं रसपानलावकपिशितभक्षणादिषु क्रियासु प्रवर्त्तते, तथा अलब्धस्य सुखस्य कृतेऽभिमानग्रहाकुलितचेता बह्वारम्भपरिग्रहाद् बह्वशुभ कर्माऽऽदत्ते, उक्तञ्च—

"द्वे वाससी प्रवरयोषिदपायशुद्धा,
शय्यासनं करिवरस्तुरगो रथो वा ।
काले भिषग्नियमिताशनपानमात्रा,
राज्ञः पराक्यमिव सर्वमवेहि शेषम् ॥ १ ॥

पुण्यर्थमन्नमिह यत्प्रणिधिप्रयोगैः,
सन्त्रासदोषकलुषं नृपतिस्तु भुङ्क्ते ।
यन्निर्भयः प्रशमसौख्यरतिश्च भैक्षं,
तत् स्वादुतां भृशमुपैति न पार्थिवाऽन्नम् ॥ २ ॥

भृत्येषु मन्त्रिषु सुतेषु मनोरमेषु,
कान्तासु वा मधुमदाङ्कुरितेक्षणासु ।
विश्रम्भमेति न कदाचिदपि क्षितीश,
सर्वाभिशङ्कितमते कतरत्तु सौख्यम्" ॥ ३ ॥

तदेवमनवबुद्धतरुणकिशलयपलाशचञ्चलजीवितस्तत्र कर्माऽऽश्रवेषु जीविनोपमर्दादिरूपेषु प्रवर्त्तन्ते तथा अस्यैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्त्तन्ते । तथा परिवन्दनम्-संस्तव, प्रशंसा तदर्थमाचेष्टते, तथाहि-अहं मयूरादिपिशिताशनाद्बली तेजसा देदीप्यमानो देवकुमार इव लोकानां प्रशंसास्पदं भविष्यामीति माननम्-अभ्युत्थानासनदानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपं तदर्थं वा चेष्टमानः कर्माऽऽचिनोति, तथा पूजन-पूजा द्रविणवस्त्रान्नपानसत्कारप्रणामसेवाविशेषरूपं तदर्थं च प्रवर्त्तमानः क्रियासु कर्माश्रवैरात्मानं सम्भावयति, तथाहि-वीरभोग्या वसुन्धरेति मत्वा पराक्रमते, दण्डभयात्सर्वा प्रजा बिभ्यतीति दण्डयति, इत्येवं राज्ञामन्येषामपि यथासम्भवमायोजनीयम्, अत्र च वन्दनादीनां द्वन्द्वसमासं कृत्वा तादर्थ्ये चतुर्थी विधेया, परिवन्दनमाननपूजनाय जीवितस्य कर्माश्रवेषु प्रवर्त्तन्त इति समुदायार्थः । न केवलं परिवन्दनाद्यर्थमेव कर्माऽऽदत्ते, अन्यार्थमप्यादत्त इति दर्शयति—जातिश्च मरणञ्च मोचनञ्च जातिमरणमोचनमिति समाहारद्वन्द्वस्तादर्थ्ये चतुर्थी, एतदर्थं च प्राणिनः क्रियासु प्रवर्त्तमानाः कर्माऽऽददते, तत्र जात्यर्थं क्रौञ्चारिचन्दनादिका क्रिया विधत्ते, तथा यान् यान् कामान् ब्राह्मणादिभ्यो ददाति तांस्तानन्यजन्मनि पुनर्जातो भोक्ष्यते, तथा मनुनाऽप्युक्तम्-"वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षयमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां, दीपदश्चक्षुरुत्तमम्" ॥१॥ अत्र चैकमेव सुभाषितम्-अभयप्रदानमिति ... ... हिंसायां प्रवृत्तिं विदधाति, तथा मरणार्थमपि पितृपिण्डदानादिषु क्रियासु प्रवर्त्तते, यदि वा-समाहितमरणार्थं ... ... अप्रवर्त्तमानो ... ... धर्मार्थं ... ... तथा ... ... आत्मपरिवारार्थं ...

प्रवर्त्तमानः कर्माऽऽस्रवते, यदि वा-जातिमरणयोर्विमोचनाय हिंसादिका क्रिया कुर्वते, 'आत्मशरीरार्थं पाप' इति-पाठान्तरम्, तत्र भोजनार्थं कृष्यादिकर्मसु प्रवर्त्तमानाः वसुधाजलज्वलनपवनवनस्पतित्रसकायान् पञ्चेन्द्रियव्यापत्तये व्याप्रियन्त इति । तथा दुःखप्रतिघातहेतुं ... ... तथा हि-व्याधिरुन्नानां लावकपिशितभक्षणाद्यारम्भेणेति तथा ... निमूलत्वक्पत्रकन्दफलाद्युपयोगार्थं ... ... समारम्भेण पापं कुर्वन्ति, स्वतः कारयन्त्यन्यैः कुर्वतोऽन्यान् समनुजानते इत्येवमतीतानागतकालयोरपि मनोवाक्काययोगैः कर्माऽऽदानं विदधतीत्यायोजनीयम् । तथा दुःखप्रतिघातार्थमेव सुखोत्पत्त्यर्थं च कलत्रपुत्रगृहादिपरिग्रहमाददते तल्लाभपालनार्थं च तासु तासु क्रियासु प्रवर्त्तमानाः पापकर्माऽऽस्रवन्त इति । उक्तञ्च- "आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृहिणः सुतेषु । कर्तुं पुनस्तेषु गुणप्रकर्षं, चेष्टा तदूर्ध्वं पदलङ्घनाय" ॥ १ ॥ तदेवमेते क्रियाविशेषैः कर्मोपादाय नानाविधासु ... ... योनिषु सन्धावन्ति विरूपरूपांश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति, इत्येतज्ज्ञात्वा क्रियाविशेषनिवृत्तिर्विधेयेति ।

एतावन्त एव च क्रियाविशेषा इति दर्शयितुमाह—

एयावन्ति सव्वावन्ति लोगंसि कम्मसमारम्भा परिजाणियव्वा भवन्ति । (सूत्र- १२)

'एतावन्ती'त्यादि 'एयावन्ति सव्वावन्ति' इति-एतौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्ध्या एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायौ एतावन्त एव सर्वस्मिन् लोके-धर्माऽधर्मास्तिकायावच्छिन्ने तस्य सूत्रे ये पूर्वं प्रतिपादिताः कर्मसमारम्भाः-क्रियाविशेषा नैतेभ्योऽधिकाः सन्तीत्यतः परिज्ञातव्या भवन्ति, सर्वेषां पूर्वप्रोपादानादिति भाव, तथाहि-आत्मपरोभयार्थकायवाङ्मनोऽतीतानागतवर्त्तमानकालकृतकारितानुमतिभिरारम्भा क्रियन्ते, ते च सर्वेऽपि प्रागुक्ता यथा सम्भवमायोज्या इति ।

एवं सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाध्य तदुपमर्दकारिणीं च क्रियाविशेषाणां ... ... विरतिं प्रतिपादयन्नाह—

जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवन्ति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि । (सूत्र-१३)

'यस्ये'त्यादि, भगवान् ... ... कर्मसमारम्भाः क्रियाविशेषाः ... ...

विचारः कर्मबन्धहेतुविचारश्च सकलोद्देशकेन परिसमापित इति प्रदर्शक, यदि वा-' इति '-एतदहं ब्रवीमि यत्प्रागुक्तं यच्च वक्ष्ये तत् सर्वं भवगदन्तिके साक्षात् श्रुत्वेति। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (आत्माऽस्तित्वे बहुभङ्गाः क्रियावादिन., अक्रियावादिनः, ते च ' अकिरियावाइ ' शब्दे प्रथमभागे दर्शिता.। ' किरियावाइ ' शब्दे तृतीयभागे च दर्शयिष्यामि।)

आत्मास्तित्व विस्तरेण—

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इहमेगेसिं णो सरणा भवइ। (सूत्र-१)। तं जहा-पुरच्छिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चच्छिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं णो णायं भवति। (सूत्र-२)

आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (अनयो. सूत्रयोर्व्याख्यानं ' सण्णा ' शब्दे सप्तमभागे करिष्यते) (अत्रस्थनिर्युक्तिगाथाव्याख्यानम् ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते) अत्र च सामान्यदिग्ग्रहणेऽपि यस्या दिशि जीवानामविज्ञानेन गत्यागती स्पष्टे सर्वत्र संभवनस्तयैवेहाधिकार इति तामेव निर्युक्तिकृत्साक्षाद्दर्शयति भावदिग्भावेन भाविनी सामर्थ्यादधिकृतैव यतस्तदर्थमन्वादिशश्चिन्तयन्नाह। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ। तत्रेह-' एवमेगेसिं णो णायं भवइ ' इत्यनेन केषांचिदेव संज्ञानिषेधात्केषांचित्तु भवतीत्युक्तं भवति। तत्र सामान्यसंज्ञाया प्रतिप्राणि सिद्धत्वात्तत्कारणपरिज्ञानस्य चेहाकिंचित्करत्वाद्विशिष्टसंज्ञायास्तु केषांचिदेव भावात्तस्याश्च भवान्तरगात्मयात्मन स्पष्टप्रतिपादने सोपयोगित्वाद् सामान्यसंज्ञाकारणप्रतिपादनमनादृत्य विशिष्टसंज्ञाया कारणं सूत्रकृद्दर्शयितुमाह—

से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं अंतिए वा सोच्चा, त जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, ०जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवति-अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोऽहं। (सूत्र-४)

आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (अस्य सूत्रस्य व्याख्यानम् ' दिसा ' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते)

इममेवार्थं निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमना गाथात्रितयमाह—

जाणइ सयं मतीए, अन्नेसिं वाऽवि अंतिए सोच्चा।
जाणगजणपण्णविओ, जीवं तह जीवकाए वा ॥६४॥
एत्थ य सह सम्मइय-त्ति जं एयं तत्थ जाणणा होइ।
ओहीमणपज्जवना-णकेवले जाइसरणे य ॥ ६५ ॥

परवइवागरणं पुण, जिणवागरणं जिणा परं नऽत्थि।
अण्णेसिं सोच्चं ति य, जिणेहिँ सव्वो परो अन्नो॥६६॥

'जाणइ' त्यादि, 'एत्थये' त्यादि, 'परे' त्यादि, कश्चिदनादिसंसृतौ पर्यटन्नवध्यादिकया चतुर्विधया स्वकीयया मत्या जानाति। अनानुपूर्वीन्यायप्रकटनार्थं पश्चादुपात्तमप्यन्येषामित्येतत्पदं तावदाचष्टे अन्येषां वाऽतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानाति, तथा-'जाणगजणपण्णविओ' इत्यनेन परव्याकरणमुपात्तं, तेनायमर्थो-ज्ञापकस्तीर्थकृत् तत्प्रज्ञापितश्च जानाति यज्जानाति तत्स्वन एव दर्शयति—सामान्यतो 'जीवमि' ति-अनेन चाधिकृतोद्देशकस्यार्थाधिकारमाह, तथा-' जीवकायांश्च ' पृथ्वीकायादीन् इत्यनेन चोत्तरेषां षण्णामप्युद्देशकाना यथाक्रममधिकारार्थमाहेति, अत्र च—'सहस्मइए'त्ति-सूत्रे यत् पदं, तत्र 'जाणण' त्ति-ज्ञानमुपात्त भवति 'मन' ज्ञाने, मननं मतिरिति कृत्वा, तच्च किंभूतमिति दर्शयति—अवधिमन पर्यायकेवलजातिस्मरणरूपमिति, तत्रावधिज्ञानी संख्येयानसंख्येयान्वा भवान् जानाति, एव मन पर्यायज्ञान्यऽपि, केवली तु नियमतोऽनन्तान्, जातिस्मरणस्तु नियमत संख्येयानिति, शेषं स्पष्टम् अत्र च-सहसन्मत्यादिपरिज्ञाने सुखप्रतिपत्त्यर्थं त्रयो दृष्टान्ताः प्रदर्श्यन्ते, तद्यथा-वसन्तपुरे नगरे जितशत्रू राजा, धारणी महादेवी, तयोर्द्धर्मरुच्यभिधान सुत। स च राजाऽन्यदा तापसत्वेन प्रव्रजितुमिच्छुर्द्धर्मरुचिं राज्ये स्थापयितुमुद्यत, तेन च जननी पृष्टा किमिति तातो राज्यश्रियं त्यजति ?, तयोक्तं किमनया चपलया नारकादिसकलदुःखहेतुभूतया स्वर्गापवर्गमार्गार्गलयाऽवश्यमपायिन्या परमार्थेन इह लोकेऽप्यभिमानमात्रफलयेत्यतो विहायैनां सकलसुखसाधन धर्मं कर्त्तुमुद्यत, धर्मरुचिस्तदाकर्ण्योक्तवान्यद्येवं किमहं तातस्यानिष्टो येनैवभूतां सकलदोषाश्रयणीं मयि नियोजयति, सकलकल्याणहेतोर्द्धर्मात्प्रत्यावयतीत्यभिधाय पित्राऽनुज्ञातस्तेन सह तापसाश्रममगात्, तत्र च सकलास्तापसक्रिया यथोक्ताः पालयन्नास्त। अन्यदामावास्याया पूर्वाह्ने केनचित्तापसेनोक्तं यथा भो भो तापसा श्वोऽनाकुट्टिर्भविता अतोऽद्यैव समित्कुसुमकुशकन्दफलमूलाद्याहरण कुरुतैतच्चाकर्ण्य धर्मरुचिना जनक पृष्टस्तात ! केयमनाकुट्टिरिति तेनोक्तं-पुत्र ! कन्दफलादीनामच्छेदनं तच्चामावास्यादिके विशिष्टे पर्वदिवसे न वर्त्तते, सावद्यत्वाच्छेदनादिक्रियाया। श्रुत्वा चैतदसावचिन्तयत्-यदि सर्वदानाकुट्टिः स्यात्शोभन भवेद्, एवमध्यवस।यिनस्तस्यामावास्याया तपोवनासन्नपथेन गच्छता साधूना दर्शनमभूत्ते च तेनाभिहिता किमद्य भवतामनाकुट्टिर्न सञ्जाता येनाटवीं प्रस्थिता, तैरप्यभिहितं यथाऽस्माकं यावज्जीवमनाकुट्टिः इत्यभिधायातिक्रान्ता साधवस्तस्य च तदाकर्ण्येहापोहविमर्शेन जातिस्मरणमुत्पन्न-यथाह जन्मान्तरे प्रव्रज्या कृत्वा देवलोकसुखमनुभूयेहागत इति एव तेन विशिष्टदिगागमन स्वमत्या जातिस्मरणरूपया विज्ञात, प्रत्येकबुद्धश्च जात, एवमन्येऽपि वल्कलचीरिश्रेयांसप्रभृतयोऽत्र योज्या

इति । परव्याकरणे त्विदमुदाहरणम्-गौतमस्वामिना भगवान्वर्द्धमानस्वामी पृष्टो-भगवन् ! किमिति मे केवलज्ञानं नोत्पद्यते ?, भगवता व्याकृतम्-भो गौतम ! भवतोऽतीव ममोपरि स्नेहोऽस्ति तद्वशात् तेनोक्तम्-भगवन्नेवमेवं, किंनिमित्तः पुनरसौ मम भगवदुपरि स्नेहः ?, ततो भगवता तस्य बहुषु भवान्तरेषु पूर्वसंबन्धः समावेदित " चिरसंसिट्ठो सि मे परिचिओ सि मे गोयमा " इत्येवमादि, तच्च तीर्थकृद्व्याकरणमाकर्ण्य गौतमस्वामिनो विशिष्टदिगागमवादि विज्ञानमभूदिति । अन्यश्रवणे त्विदमुदाहरणम्-मल्लिस्वामिना परणा राजपुत्राणामुद्वाहार्थमागतानामवधिज्ञानेन तत्प्रतिबोधनार्थं यथा जन्मान्तरे सहितैरेव प्रव्रज्या कृता, यथा च तत्फलं देवलोके जयन्ताभिधानविमानेऽनुभूत तथाऽऽख्यातं, तच्चाकर्ण्य ते लघुकर्मत्वात्प्रतिबुद्धा विशिष्टदिगागमनविज्ञानं च सञ्जातम्, उक्तञ्च-" किं च तयं पम्हुट्ठं जं च तया भो ! जयंतपवरंमि । वुच्छा समयनिबद्ध, देवा ! तं संभरह जाति " इति गाथात्रयतात्पर्यार्थ. । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

(१५) (भाष्यकार) अन्यत्वादिद्वारत्रयव्याचिख्यासुराह-

अरणत्तममुत्तत्तं, णिचत्तं चेव भन्नए समयं ।
कारणअविभागाई-हेऊहिं इमाहिँ गाहाहिं ॥ ३६ ॥

व्याख्या-अन्यत्वं देहात् अमूर्तत्वं स्वरूपेण नित्यत्व चैव-परिणामिनित्यत्वं भण्यते । समकम्-एकैकेन हेतुना त्रितयमपि युगपदिति, एककालमित्यर्थ , कारणाविभागादिभि -वक्ष्यमाणलक्षणैर्हेतुभि. इमाभिस्तिसृभिर्निर्युक्तिगाथाभिरेवेति गाथार्थ. ।

कारणविभागकारण-विणासबंधस्स पच्चया भावा ।
विरुद्धस्स य अत्थस्सा-पाउब्भावाऽविणासा य ।२२५।

व्याख्या-कारणविभागकारणविनाशबन्धस्य प्रत्ययाभावादिति-अत्राऽभावशब्द. प्रत्येकमभिसंबध्यते कारणविभागाभावान्न खलु जीवस्य पटादेरिव तन्त्वादिकारणविभागोऽस्ति कारणाभावादेव । एवं कारणविनाशाभावेऽपि योज्यम्, तथा बन्धस्य ज्ञानाऽऽवरणादिपुद्गलयोगलक्षणस्य प्रत्ययाभावात्-हेतुत्वानुपपत्ते , बन्धस्येति वध्यमानव्यतिरिक्तबन्धज्ञापनार्थमसमास । व्यतिरेकी चायमन्वयव्यतिरेकावर्थसाधकाविति दर्शनार्थमिति, तथा विरुद्धस्य चार्थस्य पटादिनाशे भस्मादेरिव अप्रादुर्भावाद् अविनाशाच्च अप्रादुर्भावे-अनुत्पत्तौ सत्यामविनाशाच्च हेतोर्जीवस्य नित्यत्वम्, नित्यत्वादमूर्तत्वम्, अमूर्तत्वाच्च देहादन्यत्वमिति प्रतिपत्त्यानुगुण्यतो व्यत्ययेन साध्यनिर्देश । वक्ष्यति च निर्युक्तिकार -' जीवस्स सिद्धमेवं, णिच्चत्तममुत्तमरणत्तं " इति गाथसमासार्थ ।

व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेय. , तत्राव्युत्पन्नविनेयासंमोहनिमित्त यथान्यासं तावद् द्वाराणि व्याख्याय पश्चान्निर्युक्तिकाराभिप्रायेण मीलयिष्यतीत्यत आह—

अन्न त्ति दारमहुणा, अन्नो देहा गिहाउ पुरिसो व्व ।
तज्जीवतस्सरीरिय-मयघायत्थं इमं भणियं ॥ ३७ ॥

व्याख्या—अन्यो देहादिति द्वारमधुना तदेतद्व्याख्यायतेऽन्यो देहाज्जीव इति गम्यते, गृहादिगतपुरुषवदिति दृष्टान्त., तद्भावेऽपि तत्र अनियमतोऽभावादिति हेतुरभ्यूह्य , न चासिद्धोऽयम्, मृतदेहे अदर्शनात्, प्रयोगफलमाह-तज्जीवतच्छरीरवादिमतविघातार्थमिदं प्रयोगरूपं भणितमिति गाथार्थ. ।

(भाष्यकार·) प्रयोगान्तरमाह—

देहिंदियाऽइरित्तो, आया खलु तदुवलद्धअत्थाणं ।
तव्विगमेऽवि सरणओ,गेहगवक्खेहिँ पुरिसो व्व ॥३८॥

व्याख्या-खलुशब्दो विशेषणार्थत्वात् कथंचिद्देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मेति प्रतिज्ञार्थ., तदुपलब्धार्थानामिति सम्भवतः परामर्शत्वात् इन्द्रियोपलब्धार्थानाम् तद्विगमेऽपि-इन्द्रियविगमेऽपि स्मरणादिति हेत्वर्थ , स्मरन्ति चान्धबधिरादयः पूर्वानुभूत रूपादीति गेहगवाक्षै. पुरुषवदिति दृष्टान्त. । प्रयोगस्तु कथंचिद्देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्तृदेवदत्तवदिति गाथार्थ ।

(भाष्यकार) इन्द्रियोपलब्धिमत्त्वाशङ्कापोहायाह—

न उ इंदियाइँ उवल-द्धिमंति विगएसु विसयसंभरणा ।
जह गेहगवक्खेहिं, जो अणुसरिया स उवलद्धा ॥३६॥

व्याख्या-न पुनरिन्द्रियाण्येवोपलब्धिमन्ति द्रष्टृणि, कुत इत्याह-विगतेष्विन्द्रियेषु विषयसस्मरणात्—तद्गृहीतरूपाद्यनुस्मृतेरन्धबधिरादीनामिति । निदर्शनमाह-यथा गेहगवाक्षै. करणभूतैर्दृष्टानर्थाननुस्मरन् योऽनुस्मर्ता स उपलब्धा, न तु गवाक्षा एवमत्रापीति गाथार्थ । उक्तमेकेन प्रकारेणान्यत्वद्वारम् ।

अधुना अमूर्त्तद्वारावसर इत्याह भाष्यकार.—

संपयममुत्तदारं, अइंदियत्ता अछेयभेयत्ता ।
रूवाइविरहओ वा, अणाइपरिणामभावाओ ॥ ४० ॥

व्याख्या—सांप्रतममूर्त्तद्वारम् , तद्व्याख्यायते-अमूर्तो जीव अतीन्द्रियत्वाद् द्रव्येन्द्रियाग्राह्यत्वात्, अच्छेद्याभेद्यत्वात्-खड्गशूलादिना, रूपादिविरहितश्च, अरूपत्वादित्यर्थ. । तथा अनादिपरिणामभावादिति स्वभावतोऽनाद्यमूर्तपरिणामत्वादिति गाथार्थ. ।

(भाष्यम्)—

छउमत्थाणुवलंभा, तहेव सव्वन्नुवयणओ चेव ।
लोयाइपसिद्धीओ, जीवोऽमुत्तो त्ति नायव्वो ॥ ४१ ॥

व्याख्या-छद्मस्थानुपलम्भात् । अवधिज्ञानिप्रभृतिभिरपि साक्षादगृह्यमाणत्वात्, तथैव सर्वज्ञवचनाच्चैव, सत्यचक्रवीतरागवचनादित्यर्थ., लोकादिप्रसिद्धे. लोकादावमूर्तत्वेन प्रसिद्धत्वात्, आदिशब्दाद्वेदसमयपरिग्रह । " अमूर्त्तो जीव " इति ज्ञातव्य , सर्वत्रैवेय प्रतिज्ञेति गाथार्थ । उक्तममूर्तद्वारम् । दश० ४ अ० । तस्य चानादिकर्मसंबद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकस्यात्मन· स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्तत्वे मूर्त्तेन कर्मणा संबन्धो न विरुध्यते, कर्मसंबन्धाच्च सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतु पञ्च-

न्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्ताद्यवस्था· बहुविधाः प्रादुर्भवन्ति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

इदानीं नित्यत्वद्वारावसरस्तथा चाह भाष्यकारः—

णिच्चो त्ति दारमहुणा, णिच्चो अविणासि सासओ जीवो।
भावत्ते सइ जम्मा ऽ–भावाउ नहं व विन्नेओ ॥ ४२ ॥

व्याख्या-' नित्य इति '-नित्यद्वारमधुना-अवसरप्राप्त तद् व्याचिख्यासुराह—नित्यो जीव इति-एतावत्युच्यमाने परैरपि सन्तानस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्सिद्धसाध्यतेति । तन्निराकरणायाह—अविनाशी-क्षणापेक्षयापि न निरन्वयनाशधर्मा, एवमपि परिमितकालावस्थायी कैश्चिदिष्यते-" कप्पट्ठाइ पुढवी भिक्खू वा " इति वचनात्तदपोहायाह-शाश्वत इति-सर्वकालावस्थायी, कुत इत्याह—भावत्वे सति; वस्तुत्वे सतीत्यर्थ ; जन्माऽभावात्-अनुत्पन्नेर्नभोवद्-आकाशवद्विज्ञेयः भावत्वे सतीति विशेषणं खरविषाणादिव्यवच्छेदार्थमिति गाथार्थः ।

(भाष्यकारः) हेत्वन्तराण्याह—

संसाराओ आलो–यणाओ तह पच्चभिन्नभावाओ ।
खणभंगविघायट्ठं, भणियं तेलोकदंसीहिं ॥ ४३ ॥

व्याख्या-संसारादिति-संसरणं संसारस्तस्मात्, स एव नारकः स एव तिर्यगादिरिति नित्य , आलोचनादिति आलोचनं-करोम्यहं, कृतवानहं, करिष्येऽहमित्यादिरूपं त्रिकालविषयमिति नित्य , तथा प्रत्यभिज्ञाभावात् स एव-इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय आविद्वदङ्गनादिसिद्धस्तदभेदग्राहीति नित्य इति, उक्ताभिधानफलमाह-क्षणभङ्गविघातार्थे—निरन्वयक्षणिकवस्तुवादविघातार्थं भणितं त्रैलोक्यदर्शिभि -तीर्थकरै एतत्-अदनन्तरोदित न पुनरेष एव परमार्थ इति गाथार्थ ।

एतदेव (भाष्यकार·) दर्शयति—

लोगे वेए समये, निच्चो जीवो विभासओ अम्हं ।
इहरा संसाराई, सव्वं पि न जुज्जए तस्स ॥ ४४ ॥

व्याख्या-लोके-" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि " इत्यादिवचनप्रामाण्यात्, वेदे-"स एष अक्षयोऽज" इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यात्, समये-' न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष " इति वचनप्रामाण्यात्, किमित्याह—नित्यो जीव -अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव , एकान्तनित्य एव न चैतन्न्याय्यम् एकस्वभावतया संसरणादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गादिति वक्ष्यति अत आह-विभाषयाऽस्माकं विकल्पनेन भजनया स्यान्नित्य इत्यादिरूपया द्रव्यार्थादेशान्नित्य पर्यायार्थादेशादनित्य इत्यर्थः, इतरथा-यद्येव नाभ्युपगम्यते तत संसारादि-संसारालोचनादि सर्वमेव न युज्यते तस्यात्मन स्वभावान्तरानापत्त्या एकस्वभावतया वार्तमानिकभावातिरेकेण भावान्तरानापत्ते , एवममूर्तत्वाऽन्यत्वयोरपि विभाषा वेदितव्या, अन्यथा व्यवहाराभावप्रसङ्गात्, एकान्तामूर्तस्य एकान्तदेहभिन्नस्य चानिपानाद्यसंभवादित्यत्र बहु वक्तव्य तत्तु नोच्यते,अक्षरगमनिकामात्रत्वात्प्रारम्भस्येति गाथार्थ ।

एवमन्यत्वादिद्वारत्रयं व्याख्यायाधिकृतनिर्युक्तिगाथा (भाष्यकार) व्याचिख्यासुराह—

कारणअविभागाओ, कारणअविणासओ य जीवस्स ।
निच्चत्तं विन्नेयं, आगासपडाऽणुमाणाओ ॥ ४५ ॥

व्याख्या-कारणविभागात्पटादेस्तन्त्वादेरिव, कारणविभागाभावादित्यर्थः, कारणविनाशतश्च कारणविनाशश्च कारणानामेवाभावात्, किमित्याह-जीवस्य-आत्मनो नित्यत्व विज्ञेय कुत इत्याह-आकाशपटानुमानाद् अत्रानुमानशब्दो दृष्टान्तवचन । आकाशपटदृष्टान्तात्। ततश्चैवं प्रयोग -नित्य आत्मा स्वकारणविभागाभावाद् आकाशवत्, तथा कारणविनाशाभावाद् आकाशदेव यस्त्वनित्यस्तस्य कारणविभागभाव कारणविनाशभावो वा यथा पटस्येति व्यतिरेकः, पटाद्धि तन्तवो विभज्यन्ते विनश्यन्ति चेति नित्यत्वसिद्धि नित्यत्वादमूर्त', अमूर्तत्वाद्देहादन्य इति गाथार्थः। दश० ४ अ०। तस्य चैकान्तेन क्षणिकत्वे ध्यानाऽध्ययनश्रमप्रत्यभिज्ञानाद्यभाव', एकान्तनित्यत्वे च नारकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिपरिणामाभाव स्यात्, तस्मात्स्यादनित्य स्यान्नित्य आत्मेति अलमतिप्रसङ्गेन। सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

दव्वादिएहिं निच्चो, एगंतेणेव जेसिँ अप्पा उ।
होइ अभावो तेसिं, सुहदुहसंसारमोक्खाणं ॥ ५६ ॥

व्याख्या-द्रव्यादिभिः—द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नारकत्वविशिष्टक्षेत्रवयोऽवस्थितत्वाऽप्रसक्तत्वादिभिर्नित्यः-अविचलितस्वभाव एकान्तेनैव-सर्वथैव येषा वादिनामात्मा-जीव तुशब्दादन्यच्च वस्तु भवति-संजायते, अभावः-असंभवस्तेषा वादिना केषां सुखदु खसंसारमोक्षाणां तत्राह्लादानुभवरूपं क्षण सुखं, तापानुभवरूपं दु ख, तिर्यङ्नरनारकाऽमरभवसंसरणरूपः संसार , अष्टप्रकारकर्मबन्धवियोगो मोक्षः, तत्र कथं पुनस्तेषा वादिनां सुखाद्यभाव ?, आत्मनोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावाद् , अन्यथात्वापरिणते , सदैव नारकत्वादिभावाद् अपरित्यक्तप्रसक्तत्वं पूर्वरूपस्य च प्रसक्तत्वेनाभवनाद् एवं शेषेष्वपि भावनीयमिति गाथार्थः।

ततश्चैवम्—

सुहदुक्खसंपओगो, न विज्जई निच्चवायपक्खम्मि ।
एगंतच्छेअम्मि अ, सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं ॥ ६० ॥

व्याख्या-सुखदु खसंप्रयोग सम्यक्सङ्गतो वा प्रयोग' संप्रयोग , अकल्पित इत्यर्थ' । न विद्यते नास्ति; न घटत इत्यर्थ , क्व-नित्यवादपक्षे-नित्यवादाभ्युपगमे संप्रयोगो न विद्यते, कल्पितस्तु भवत्येव, यथाऽऽहुर्नित्यवादिन —" प्रकृत्युपधानत पुरुषस्य सुखदु ख स्त·, स्फटिके रक्तादिवद् बुद्धिप्रतिबिम्बाद्वाऽन्ये " इति, कल्पितत्व चास्य आत्मनस्तत्त्वत एव तथा परिणतिमन्तरेण सुखाद्यभावादुपधानसन्निधावप्यन्धोपले रक्तादिवत् तदभ्युपगमे चाभ्युपगमक्षति· , बुद्धिप्रतिबिम्बपक्षेऽप्यविचलितस्यात्मनः सदैवैकस्वभावत्वात्। सदैवैकरूपप्रतिबिम्बाऽऽपत्ते । स्वभावभेदाभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसक्त इति । मा भूदनित्यैकान्तग्रह इत्यत आह-एकान्तेन सर्वथा उत्—प्राबल्येन छेदो-विनाश एकान्तोच्छेद; निरन्वयो नाश इत्यर्थ । अस्मिंश्च किं सुखदु खयोर्विकल्पन सुखदु खविकल्पनम्, अयुक्तम्-अघटमानकम्। अयमत्र भावार्थ -एकान्तोच्छेदेऽपि सुखाद्यनुभवितुस्तत्क्षण एव सर्वथोच्छेदादहेतुकत्वा-

तदुत्तरलक्षणस्योत्पत्तिरपि न युज्यते, कुन पुनस्तद्विकल्पनमिति गाथार्थ । दश० ४ अ० ।

पूर्वं भावितमपीदं पुनरपि स्मारयन्नाह—

एक्कं पि सव्वकारग-परिणामाणन्नभावयाभेइ ।

नाया णाणाऽणन्नो, जह विन्नेयाइपरिणामं ॥२५२८॥

विश० । (अस्या गाथाया व्याख्या 'सामाइय' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते)

इदानीं देहव्यापित्वद्वारावसर इत्याह भाष्यकार —

वावि त्ति दारमहुणा, देहव्वावी मओऽग्गिउण्हं व ।

जीवो न उ सव्वगओ, देहे लिंगोवलंभाओ ॥ ५१ ॥

व्याख्या-व्यापीति द्वारमधुना तदेतद्व्याख्यायते, देहव्यापी-शरीरमात्र व्याप्तु शीलमस्यति तथा मत -इष्ट प्रवचनज्ञैर्जीवा, न तु सर्वग इति योग , तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न चाण्वादिमात्र , कुत इत्याह-देह लिङ्गोपलम्भात् शरीर एव सुखादिर्तात्लिङ्गोपलब्धे अग्न्यौष्ण्यवत् उष्णत्वं ह्यग्निलिङ्गं नान्यत्राग्नेर्नेच नाग्नावितिति (गाथा) प्रयोगार्थ । प्रयोगस्तु शरीरनियतदेश आत्मा परिमितदेश लिङ्गोपलब्धेरग्न्यौष्ण्यवदिति गाथार्थ । व्याख्याता प्रथमा मूलद्वारगाथा । दश० ४ अ० ।

आत्मानमधिकृत्य—

स च न सर्वव्यापी, तद्गुणस्य सर्वत्रानुपलभ्यमानत्वात्, घटवत् । नापि श्यामाकतण्डुलमात्र., अङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा तावन्मात्रस्योपात्तशरीराव्यापित्वात्, त्वक्पर्यन्तशरीरव्यापित्वेन चोपलभ्यमानगुणत्वात् । तस्मात्स्थितमिदम्उपात्तशरीरत्वक्पर्यन्तशरीरव्याप्यात्मा । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अथ ते वादिन कायप्रमाणत्वमात्मन स्वयं संवेद्यमानमप्यपलप्य तादृशकुशास्त्रसम्पर्कविनष्टसद्दृष्टयस्तस्य विभुत्वं मन्यन्ते । अतस्तत्रोपलम्भमाह—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र,
कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथाऽपि देहाद्बहिरात्मतत्त्व-
मतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ६ ॥

यत्रैव-देशे य पदार्थो, दृष्टगुणो दृष्टा -प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूता गुणा-धर्मा यस्य स तथा स पदार्थ तत्रैव-विवक्षितदेश एवोपपद्यत इति क्रियाध्याहारो गम्य , पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यभिसम्बन्धात्तत्रैव-नान्यत्रेत्य -न्ययोगव्यवच्छेद । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति—कुम्भादिवदिति-घटादिवत् । यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते तत्रैव तस्यास्तित्व प्रतीयते, नान्यत्र । एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न बहि तस्मात्तत्प्रमाण एवात्मेति । यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते तथाऽपि तेन न व्यभिचार । तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलास्तेषां च वैस्रसिकया प्रायोगिकया वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति । अत एवाह-'निष्प्रतिपक्षमेतदिति'-एतन्निष्प्रतिपक्षं-बाधकरहितं न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात् । ननु मन्त्रादिना भिन्नदेशस्थानामप्याकर्षणोच्चाटनादिको गुणो योजनशतादे परतोऽपि दृश्यत इत्यस्ति बाधकमिति चेत् । मैवं वोच. । स हि न खलु मन्त्रादीनां गुण , किं तु-तदधिष्ठातृदेवतानां तासां चाऽऽकर्षणीयोच्चाटनीयादिदेशगमने कौतुकताऽयमुपालम्भ । न जातु गुणा गुणिनमतिरिच्य वर्तन्त इति । अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते—'तथापी' त्यादि, तथापि-एवं नि सपत्नं व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे अतत्त्ववादोपहता अनाचार इत्यत्रेव नञ कुत्सार्थत्वात्, कुत्सिततत्त्ववादेन तदभिमताप्ताभासपुरुषविशेषप्रणीतेन तत्त्वाभासप्ररूपणेनोपहता-व्यामोहिता देहाद् बहि शरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे आत्मतत्त्वम्—आत्मस्वरूप पठन्ति, शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते इत्यक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्-आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धे । यो य सर्वत्रानुपलभ्यमानगुण स स सर्वगतो न भवति । यथा घट , तथा चायम् तस्मात्तथा व्यतिरेके व्योमादि न चायमसिद्धो हेतु । कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणाना बुद्ध्यादीनां वादिना प्रतिवादिना वाऽनभ्युपगमात् । तथा च भट्ट श्रीधर -" सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वं नान्यत्र शरीरस्योपभोगायतनत्वात् । अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति" । अथाऽस्त्यदृष्टमात्मनो विशेषगुणस्तच्च सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तं सर्वव्यापक च । कथमितरथा द्वीपान्तरादिष्वपि प्रतिनियतदेशवर्तिपुरुषोपभोग्यानि कनककर्पूरचन्दनाङ्गनादीनि तेनोत्पाद्यन्ते । गुणश्च गुणिनं विहाय न वर्तते अतोऽनुमीयते सर्वगत आत्मेति । नैवम् । अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधने प्रमाणाभावात् । अथाऽस्त्येव प्रमाण वह्नेरूर्ध्वज्वलन वायोस्तिर्यक्पवन चादृष्टकारितमिति चेत्-न, तयोस्तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेः दहनस्य दाहशक्तिवत् साप्यदृष्टकारिता चेत्तर्हि जगत्त्रयवैचित्रीसूत्रणेऽपि तदेव सूत्रधारायतां किमीश्वरकल्पनया । तन्नायमसिद्धो हेतु । न चानैकान्तिक साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराभावात् । नाऽपि विरुद्ध । अत्यन्तं विपक्षव्यावृत्तत्वात्, आत्मगुणाश्च बुद्ध्यादय शरीरे एवोपलभ्यन्ते, ततो गुणिनापि तत्रैव भाव्यम्, इति सिद्ध कायप्रमाण आत्मा । अन्यच्च त्वयात्मनां बहुत्वमिष्यते "नानाऽऽत्मानो व्यवस्थात " इति वचनात्, ते च व्यापकास्तेषां प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुवेधे तदाश्रितशुभाऽशुभकर्मणामपि परस्पर सङ्कर. स्यात्, तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्य सुखी भवेत् इतरस्याशुभकर्मणा चाऽन्यो दु खीत्यसमञ्जसं समापद्येत । अन्यच्च—एकस्यैवात्मन स्वोपात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्वं परोपार्जिताऽशुभकर्मविपाकसम्बन्धेन च दु खित्वमिति युगपत् सुखदु खसंवेदनप्रसङ्ग । अथ स्वायत्तदृष्टभोगायतनमाश्रित्यैव शुभाऽशुभयोर्भोगस्तर्हि स्वोपार्जितमप्यदृष्टं कथ भोगायतनाद् बहिर्निष्क्रम्य वह्नेरूर्ध्वज्वलनादिक करोतीति चिन्त्यमेतत् । आत्मना च सर्वगतत्वे एकैकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्ग सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरानुप्रवेशस्य सम्भावनीयत्वात् । ईश्वरस्य वा तदन्तरनुप्रवेशे

१-निवर्तकत्वात् ।

तस्यापि अकर्तृत्वापत्ति । न हि क्षीरनीरयोरन्योन्यसंबन्धे एकतरस्य पानादिक्रिया अन्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्, किञ्च-आत्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः, अथ भोगायतनानभ्युपगमान्नाय दोष इति चेन्ननु स भोगायतनं सर्वात्मनावष्टभ्नीयादेकदेशेन वा सर्वात्मना-चेदस्मदभिमताऽङ्गीकारः एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः परिपूर्णभोगाऽभावश्च। अथाऽऽत्मनो व्यापकत्वाभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत् संयोगाभावादाद्यकर्माभावस्तदभावादन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्संबन्धस्य चाभावादनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्। नैवम्। यद् येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमाऽसंभवात्। अयस्कान्तं प्रत्ययसस्तेनाऽसंयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धेः। अथासंयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गान्न जाने तच्छरीरं कियत्प्रमाणं स्यादिति चेत् संयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेत्। आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणुना तेन संयोगात्। अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद् विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति तदितरत्रापि तुल्यम्। अथाऽस्तु यथाकथञ्चिच्छरीरोत्पत्तिस्तथापि सावयवं शरीरं, प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात्, तथा चास्य पटादिवत्कार्यत्वप्रसङ्गः कार्यत्वे चासौ विजातीयैस्सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत। न तावद्विजातीयैस्तेषामनारम्भकत्वात् नहि तन्तवो घटमारभन्ते। न च सजातीयैर्यत आत्मत्वाभिसंबन्धादेव तेषां कारणानां सजातीयत्वम्। पार्थिवादिपरमाणूनां विजातीयत्वात्। तथा चात्मभिरात्माऽऽरभ्यत इत्यायातं, तच्चायुक्तम्-एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणामसंभवात् संभवे वा प्रतिसंधानाऽनुपपत्तिः। न ह्यन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसंधातुमर्हति अतिप्रसङ्गात्। तदारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्विनाशः स्यात्। तस्माद्व्यापक एवात्मा युज्यते कायप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावात् इति चेत्-न, सावयवत्वकार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्। तत्र सावयवत्वं तावदसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्। तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ[1]-"आकाशोऽपि सदेशः सकृत् सर्वमूर्ताभिसंबन्धाऽर्हत्वात्" इति। यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या। प्रदेशेष्वप्यवयवव्यवहारात् कार्यत्वं तु वक्ष्याम। नन्वात्मनः कार्यत्वे घटादिवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते यथा तन्तवः पटमिति चेन्न वाच्यम्। न खलु घटादावपि कार्ये प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम्। कुम्भकारादिव्यापारान्वितान्मृत्पिण्डात्प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्याऽस्योत्पत्तिप्रतीतेः। द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वं तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव। ततश्चात्मापि स्यात् कार्यः। न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात्सर्वत्र तथाभावो युक्तः काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भात् वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्। प्रमाणबाधनमुभयत्रापि तुल्यम्. न च-उक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात्प्रतिसन्धानाभावोऽनुषज्यते। कथंचिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात्। प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामि इत्यादिरूपं तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते अवस्थाभेदात् अन्या ह्यनुभवावस्था अन्या च स्मरणावस्था। अवस्थाभेदे चाऽवस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथंचिदनित्यत्वं युक्त्याऽऽयातं केन वार्यताम्। अथाऽऽत्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गाच्छरीरेऽनुप्रवेशो न स्यान्मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात्ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत् किमिदं मूर्तत्वं नाम असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं रूपादिमत्त्वं वा। तत्र नाद्यः पक्षो दोषाय। संमतत्वात्। द्वितीयस्त्वयुक्तः व्याप्त्यभावात्, न हि यदसर्वगतं तन्नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति। मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मते तदसंभवात्। आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं चेत्युक्त्वा मनसो वैधर्म्यात्सर्वगतत्वप्रतिषेधनात्। अतो नात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिर्येन निरात्मकं तत्स्यात् असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत्प्रवेशाऽप्रतिबन्धकत्वात्। रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्वालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते। आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्। अथात्मनः कायप्रमाणत्वे बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः कथं स्यात्। किं तत्परिमाणपरित्यागात्तदपरित्यागाद्वा। परित्यागाच्चेत्तदा शरीरवत्तस्याऽनित्यत्वप्रसङ्गात्परलोकाद्यभावानुषङ्गः। अथाऽपरित्यागात्। तन्न। पूर्वपरिमाणाऽपरित्यागे शरीरवत्तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। तदयुक्तम्। युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसंभवात्। विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्। इति कथं परलोकाभावाऽनुषज्यते पर्यायतस्तस्याऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्। अथ आत्मनः कायप्रमाणत्वे तत्खण्डने खण्डनप्रसङ्ग इति चेत् किमाह। शरीरस्य खण्डने कथंचित् तत्खण्डनस्येष्टत्वात्। शरीरसंबद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मनः खण्डनं तच्चात्र विद्यत एव। अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः तत्रैवानुप्रवेशात्। न चैकत्र सन्तानेऽनेके आत्मानः अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाऽभावप्रसङ्गात् शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसंवित्तिवत्। कथं खण्डितावयवयोः सङ्घट्टनं पश्चादिति चेत् एकान्तेन छेदानभ्युपगमात् पद्मनालतन्तुवच्छेदस्यापि स्वीकारात्। तथाभूतादृष्टवशात्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्त्तव्यो न व्यापकः, तथा च-आत्मा व्यापको न भवति चेतनत्वात् यत्तु व्यापकं न तच्चेतनम्। यथा व्योम चेतनश्चाऽऽत्मा। तस्मान्न व्यापकः अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता। यत् पुनरष्टसमयसाध्यकेवलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वं तत् कादाचि-

[1] हेमचन्द्र-गुणचन्द्रौ।

त्कमिति, न तेन व्यभिचारः । स्याद्वादमन्त्रकवचावगुण्ठितानां च नेदृशविभीषिकाभ्यो भयमिति काव्यार्थः । स्या० ।

(१६) इदानीं कर्तृद्वारावसरस्तथा चाह (भाष्यकार)—

कत्त त्ति दारमहुणा, सकम्मफलभोइणो जओ जीवा ।
वाणियकिसीवला इव, कविलमयनिसेहणं एयं ॥५०॥

व्याख्या-कर्त्तेति द्वारमधुना तदेतद्व्याख्यायते-स्वकर्मफलभोगिनो यतो जीवास्ततः कर्तारः इति, वणिक्कृषीवलादय इव, न ह्यमी अकृतमुपभुञ्जन्त इति प्रयोगार्थः, प्रयोगस्तु-कर्तात्मा, स्वकर्मफलभोक्तृत्वात्, कर्षकादिवत् । ऐदंपर्यमाह—कपिलमतनिषेधमेतत्-साङ्ख्यमतनिराकरणमेतत्, तत्राऽकर्तृवादप्रसिद्धेरिति गाथार्थः । मूलद्वारगाथाद्वयं व्याख्यातं कर्तृद्वारम् । दश० ४ अ० ।

जेसिं पि अत्थि आया, वत्तव्वा ते वि अम्ह वि स अत्थि ।
किं तु अकत्ता न भवइ, वेययइ जेणं सुहदुक्खं ॥७५॥

व्याख्या-येषामपि द्रव्यास्तिकादिनयमतावलम्बिनां तन्त्रान्तरीयाणां किम्? अस्ति-विद्यते आत्मा जीव वक्तव्यास्तेऽपि तन्त्रान्तरीयाः साध्यतदस्माकमप्यस्ति स., तदभावे सर्वक्रियावैफल्यात्, किन्तु-अकर्त्ता न भवति—सुकृतदुष्कृतानां कर्मणामकर्त्ता न भवति—अनिष्पादको न भवति, किं तु-कर्त्तैव, अत्रैवोपपत्तिमाह-वेदयते-अनुभवति येन कारणेन, किम्?-सुखदु खं-सुकृतदुष्कृतकर्मफलमिति भाव । न चाकर्तुरात्मनस्तदनुभावो युज्यते, अतिप्रसङ्गान्मुक्तानामपि सांसारिकसुखदु खवेदनापत्ते, अकर्तृत्वाविशेषात्, प्रकृत्यादिवियोगस्याप्यनाधेयातिशयमेकान्तेनाकर्त्तारमात्मानं प्रत्याकिंचित्करत्वात्, अल विस्तरेणेति गाथार्थ. । दश० ४ अ० ।

(आत्मन सक्रियत्वं साधयन्नाह)—

कत्ताइत्तणओ वा, सक्किरिओऽयं मओ कुलालो व्व ।
देहप्फन्दणओ वा, पच्चक्खं जंतपुरिसो व्व ॥ १८४६ ॥

पराशङ्कां प्रतिविधानं चाऽऽह—

देहप्फंदणहेऊ, होज्ज पयत्तो त्ति सो वि नाकिरिए ।
होज्जा दिट्ठो व मई, तदरूवत्ते ननु समाणं ॥ १८४७ ॥
रूवित्तम्मि सदेहो, वच्चो तप्फंदणे पुणो हेऊ ।
पइनिययपरिप्फंदण-मचेयणाणं न वि य जुत्तं ॥१८४८॥

विशे० । (आसां गाथाना व्याख्यानम् 'बन्धमोक्खसिद्धि' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)

साङ्ख्यमते आत्मनोऽक्रियत्वम्—

"अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्य सर्वगतोऽक्रिय ।
अकर्ता निर्गुण सूक्ष्म, आत्मा कापिलदर्शने" ॥ १ ॥ इति ।

स्या० १५ श्लोक ।

(एतन्मतनिराकरणम्)—

जे केइ लोगंमि उ अकिरियआया,
अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति ।
आरंभसत्ता गढिता य लोए,
धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं ॥ १६ ॥

सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

(अस्य सूत्रस्य व्याख्यानम् 'अकिरियाआय' शब्दे प्रथमभागे गतम्)

(१७) (आत्मनो विभुत्वविचारः)—

न च-आत्मनो विभुत्वमसिद्धम्, अनुमानात् तत्सिद्धेः । तथाहि-बुद्ध्यधिकरणं द्रव्यं विभु, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वात्; यद्यन्नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानं तत्तद्विभु, यथा आकाशम्, तथा च-बुध्यधिकरणं द्रव्य, तस्माद्विभु-नच बुद्धेर्गुणत्वासिद्धेर्हेतुविशेषणासिद्धता हेतोरसिद्धिरभिधातु शक्या, बुद्धिगुणत्वस्यानुमानात्सिद्धे । सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी० ।

(बुद्धेर्गुणत्वाऽसाधनम् 'बुद्धि' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)

आत्मन. प्रदेशत्वाऽप्रदेशत्वविचार —

न च-आत्मन प्रदेशास्सन्ति येन प्रदेशवृत्तित्वं ज्ञानस्य सिद्धं स्यात् । कल्पितनत्प्रदेशाभ्युपगमे च तद्वृत्तित्वमपि हेतु कल्पित इति न काल्पतात्साधनात्साध्यसिद्धिर्युक्ता, सर्वेण सर्वसिद्धिप्रसङ्गात् । सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्व च हेतोर्विपर्यये वाधकप्रमाणावृत्त्यात्राऽपि समानमिति ।

तथा-स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन हर्षविषादाद्यनेकविवर्तात्मकस्याहमिति स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वादात्मनो विभुत्वसाधकत्वेनोपन्यस्यमान. सर्व एव हेतु प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्ट. । सप्रतिपक्षश्चायं हेतुरित्यसत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्य लक्षणमसिद्धम् । स्वदेहमात्रत्मप्रसाधकश्च प्रतिपक्षहेतुरत्रैव प्रदर्शयिष्यते । तस्मातोऽपि हेतोरात्मनो विभुत्वसिद्धि ।

यदप्यात्मनो विभुत्वसाधन कैश्चिदुपन्यस्तम्-"अदृष्ट स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्, यो य एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुण स स स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते यथा वेग', तथा च-अदृष्ट, तस्मात्तदपि स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभत इति । न चासिद्धं क्रियाहेतुगुणत्वम्, 'अग्नेरूर्द्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनम्, अणु-मनसोश्चाद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितम्, कार्यत्वे सति देवदत्तस्योपकारकत्वात्, पाण्यादिपरिस्पन्दवत् एकद्रव्यत्वं चैकस्यात्मनस्तदाश्रयत्वात् एकद्रव्यमदृष्ट विशेषगुणत्वात्, शब्दवत् । एकद्रव्यत्वादित्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं क्रियाहेतुगुणत्वादित्युक्तम् । क्रियाहेतुगुणत्वादित्युच्यमाने मुसलहस्तसंयोगेन स्वाश्रयासंयुक्तस्तम्भादिचलनाहेतुना व्यभिचार, तन्निवृत्त्यर्थमेकद्रव्यत्वे सति, इति विशेषणम् । 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने स्वाश्रयासंयुक्तलोहादिक्रियाहेतुनाऽयस्कान्तेन व्यभिचार, तन्निवृत्त्यर्थं गुणत्वादित्यभिधानम्" एतदपि प्रत्यक्षाबा-

१-"देहस्पन्दनहेतुर्भवेत् प्रयत्न इति सोऽपि नाक्रिये ।
भवेदहृष्टो वा मतिस्तदरूपत्वे ननु समानम् ॥ १८४७ ॥
२-रूपित्वे स देही वाच्यस्तत्स्पन्दने पुनर्हेतु ।
प्रतिनियतपरिस्पन्दनमचेतनानां नापि च युक्तम् ॥ १८४८ ॥

धिनप्रतिज्ञासाधकत्वेनैकशाखाप्रभवत्वानुमानवदनुमानाभासम् । 'एकद्रव्यत्वे' इति च विशेषणं किमेकस्मिन्द्रव्ये संयुक्तत्वाद्, उत—तत्र समवायात् ? तत्र यद्याद्यः पक्षः, स न युक्तः; संयोगगुणेनादृष्टस्य गुणवत्त्वात् द्रव्यत्वप्रसक्तेः 'क्रियाहेतुगुणत्वाद्' इत्येतस्य बाधाप्रसङ्गाद् । अथ द्वितीयस्तदा द्रव्येण सह कथंचिदेकत्वमदृष्टस्य प्राप्तम्, न ह्यन्यस्यान्यत्र समवायः घट-रूपादिषु तस्य तत्रानुभूतस्यैवोपलब्धेः । न हि घटाद्रूपादयः, तेभ्यो वा घटः तदन्तरालवर्ती समवायश्च भिन्नः प्रतीतिगोचरः, अपि तु-कथंचित् रूपाद्यात्मकाश्च घटपटादयः तदात्मकाश्च रूपादयः प्रतीतिगोचरचारिणोऽनुभूयन्ते; अन्यथा गुणगुणिभावेऽतिप्रसङ्गात् घटस्याऽपि रूपादयो पटस्य स्युः । 'तेषां तत्राप्यप्रतीतेरिरनंरर्यां तु प्रतीते' इत्यादिकं प्रतिविहितत्वान्नात्रोद्घोष्यम् । तेन समवायेनैकत्रात्मनि वर्त्तनाददृष्टस्यैकद्रव्यत्वं वादिप्रतिवादिनोरसिद्धम्, एकान्तभेदे समवायाभावेनैकद्रव्यत्वस्यासिद्धेः ।

अथ गुणिनो गुणानामनर्थान्तरत्वे गुण-गुणिनोरन्यतर एव स्याद्, अर्थान्तरत्वे परपक्ष एव समर्थितः स्यादिति समवायः सिद्धः । कथंचिद्वादोऽपि न युक्तः; अनवस्थादिदोषप्रसङ्गाद्, अयुक्तमेतत्; पक्षान्तरेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि-द्वित्वसंख्या-संयोगादिकमनेकेन द्रव्येणाभिसंबध्यमानं यदि सर्वात्मनाभिसंबध्यते द्वित्वसंख्यादिमात्रं द्रव्यमात्रं वा स्याद्, एकेनैव वा द्रव्येण सर्वात्मनाभिसंबन्धात्र द्रव्यान्तरेण तत्प्रतीतिः । अथैकेन देशेनैकत्र वर्त्तते अन्येनान्यत्र, तेऽपि देशा यदि ततो भिन्नास्तेष्वपि स तथैव वर्त्तते इत्यनवस्था । अभिन्नाश्चेदुक्तो दोषः । कथंचित्पक्षे परवाद एव समर्थितः स्यादित्यात्मना सहाऽदृष्टस्य कथञ्चिदनन्यभाव एव एकद्रव्यत्वमित्यविभुत्वाद् गुणानां तद्व्यतिरिक्तस्यात्मनोऽप्यविभुत्वमिति विपक्षसाधकत्वादेकद्रव्यत्वलक्षणस्य हेतुविशेषणस्य विरुद्धत्वम् । 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यत्रापि यदि देवदत्तसंयुक्तात्मप्रदेशे वर्त्तमानमदृष्टं द्वीपान्तरवर्त्तिषु मुक्ताफलादिषु देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुः, तदयुक्तम्, अतिदूरत्वेन द्वीपान्तरवर्त्तिभिस्तैस्तस्यानभिसंबन्धित्वेन तत्र क्रियाहेतुत्वाऽयोगात्, तथाऽपि तद्धेतुत्वे सर्वत्र स्याद्, अविशेषात् । अथाऽनभिसंबन्धाविशेषेऽपि यदेव योग्यं तदेव तेनाकृष्यते न सर्वमिति नातिप्रसङ्गः, नः चक्षुषः अप्राप्यकारित्वेऽपि यदेव योग्यं तदेव तद्ग्राह्यमिति यदुक्तं परेण-"अप्राप्यकारित्वे चक्षुषोर्दूरव्यवस्थितस्याऽपि ग्रहणप्रसङ्गः" इत्ययुक्तं स्याद् । अथ स्वाश्रयसंयोगसंबन्धसम्भवाद् 'अनभिसंबन्धाद्' इत्यसिद्धम् । तथाहि-यमात्मानमाश्रितमदृष्टं तेन संयुक्तानि देशान्तरवर्त्तिमुक्ताफलादीनि देवदत्तं प्रत्याकृष्यमाणानि, नः सर्वस्याकर्षणप्रसङ्गात्तेनाभिसंबन्धाविशेषात् । न च-यददृष्टेन यज्जन्यते तत्तेनाकृष्यत इति कल्पना युक्तिमती, देवदत्तशरीरारम्भकपरमाणुना तददृष्टाजन्यत्वेनाऽनाकर्षणप्रसङ्गात्; तथाऽप्याकर्षणे अतिप्रसङ्गः प्रतिपादित एव । यथा च कारणत्वाविशेषे घटदेशादौ सन्निहितमेव दण्डादिकं घटादिकार्यं जनयत्यदृष्टं त्वन्यथेत्यभ्युपगमः तथा बाह्येन्द्रियत्वाऽविशेषेऽपि त्वगिन्द्रियं प्राप्तमर्थमवभासयति, लोचनं त्वन्यथेत्यभ्युपगमः किं न युक्तः ?, नापि द्वीपान्तरवर्त्तिमुक्तादिसंयुक्ताऽऽत्मप्रदेशे वर्त्तमानं तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि-यथा वायुः स्वयं देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवान् अन्येषां तृणादीनां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः तथा यद्यदृष्टमपि तं प्रत्युपसर्पत् स्वयमन्येषां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः, तथा सत्यदृष्टस्येव मुक्तादेरपि तथैव तं प्रत्युपसर्पणाविरोधाद् व्यर्थमदृष्टपरिकल्पनम् । तथाभ्युपगमे च 'यद्देवदत्तं प्रत्युपसर्पति तद्देवदत्तगुणाकृष्टं तं प्रत्युपसर्पणाद्' इति हेतुरनैकान्तिकः अदृष्टेनैव वायुवच्च सक्रियत्वमदृष्टस्य गुणत्वं बाधते । शब्दवच्चापरापरस्योत्पत्तावपरमदृष्टं निमित्तकारणं तदुत्पत्तौ प्रसक्तं, तत्राप्यपरमित्यनवस्था; अन्यथा शब्देऽपि किमदृष्टलक्षणनिमित्तपरिकल्पनया ? अदृष्टान्तरात्तस्य तं प्रत्युपसर्पणे तदप्यदृष्टान्तरं तं प्रत्युपसर्पत्यदृष्टान्तरात् तदपि तदन्तरादित्यनवस्था ।

अथ तत्रस्थमेव तत्तेषां तं प्रत्युपसर्पणे हेतुः, तदपि न युक्तम्, अन्यत्र प्रयत्नादावात्मगुणे तथा अदर्शनात्, न हि प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्ताऽऽत्मप्रदेशस्थ एव हस्तादिसचलनहेतुर्ग्रासादिकं देवदत्तमुखं प्रति प्रापयन् दृष्टः, अन्तरालप्रयत्नवैफल्यप्रसङ्गात् । अथ प्रयत्नवैचित्र्यदृष्टेऽदृष्टेऽप्यन्यथा कल्पनम् । तथाहि-कश्चित् प्रयत्नः स्वयमपगापरदेशवान् परत्र क्रियाहेतुर्यथानन्तरोदितः; अपरश्चाऽन्यथा यथा शरासनाद्यासपदसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव शरीरादीनां लक्षप्रदेशप्राप्तिक्रियाहेतुः । यद्येवम्, इयं चित्रता एकद्रव्याणां क्रियाहेतुगुणानां स्वाश्रयसंयुक्ताऽसंयुक्तद्रव्यक्रियाहेतुत्वेन किं नेष्यते विचित्रशक्तित्वाद्भावानां ? तथा दृष्टेरिति नोत्तरम्, अयस्कान्ताख्यमकस्पर्शगुणस्यैकद्रव्यस्य स्वाश्रयाऽसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुत्वे अप्याकर्षकाख्यद्रव्यविशेषव्यवस्थितस्य तथाविधस्यैव तस्य स्वाश्रयसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुत्वदर्शनात् । अथ द्रव्यं क्रियाकारणं न स्पर्शादिर्गुणः, द्रव्यरहितस्य क्रियाहेतुत्वादर्शनात्, नः वेगस्य क्रियाहेतुत्वं, क्रियायाश्च संयोगनिमित्तत्वं तस्य च द्रव्यकारणत्वं तत एव न स्यात्, तथा च वेगवदिति दृष्टान्ताऽसिद्धिः । अथ द्रव्यस्य तत्कारणत्वे वेगादिरहितस्यापि तत्प्रसक्तिः, स्पर्शादिरहितस्यायस्कान्तस्यापि स्पर्शस्याऽकारणत्वेऽन्यत्र क्रियाहेतुत्वप्रसक्तिः । तद्रहितस्य तस्यादृष्टेर्नायं दोषस्तर्हि लोहद्रव्यक्रियोत्पत्तावुभयं दृश्यत इत्युभयं तदस्तु, अविशेषात् । एवं सति 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वाद्' इति व्यभिचारी हेतुः । एतेन यदुक्तं परेण-"अदृष्टमेवायस्कान्तेनाकृष्यमाणलोहदर्शने सुखवत्पुंसो निःशल्यत्वेन तत्क्रियाहेतुः" इति तन्निरस्तम्, सर्वत्र कार्यकारणभावे अस्य न्यायस्य समानत्वात् अदृष्टमेव कारणं स्यात्, यस्य शरीरं सुखं दुःखं चोत्पादयति तददृष्टमेव तत्र हेतुरिति न तदारम्भकाऽवयवक्रियासंयोगादयः । अपि च-तददृष्टस्य कथं तद्धेतुत्वं ? तस्य भावे भावादभावे अभावादिति चेत् किं पुनरयस्कान्तस्पर्शाद्यभाव एव तत्क्रिया दृष्टा येनैषा तत्र कारणत्वाक्लृप्तिः ? ततो न दृष्टानुसारेण तत्रस्थस्यैवाऽदृष्टस्य तं प्रति तत्क्रियाहेतुत्वम् । प्रयत्नवैचित्र्याभ्युपगमे च हेतोरनैकान्तिकत्वम् ।

अथ सर्वत्राऽदृष्टस्य वृत्तिस्तर्हि सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वम् । यददृष्टं यद् द्रव्यमुत्पादयति तत् तत्रैव क्रियामुपरचयतीत्यभ्युपगमे शरीरारम्भकेषु परमाणुषु ततः क्रिया न स्यादित्युक्तम् । न च गुणत्वमप्यदृष्टस्य सिद्धमिति 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः । अथ 'अदृष्टं गुणः, प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्म्मभावे सति सत्तासंबन्धित्वात् रूपादिवत्'। न च प्रतिषिध्यमानद्रव्यत्वमसिद्धम् । तथाहि—'न द्रव्यमदृष्टम्, एकद्रव्यत्वात्, रूपादिवत्' इति, असदेतत्, एकद्रव्यत्वस्याऽसिद्धताप्रतिपादनात्, सत्तासंबन्धित्वस्य चेति । यदपि तद्गुणत्वसाधनमुक्तम् 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्त पश्वादयो देवदत्तविशेषगुणाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् ग्रासादिवत्' इति, तदप्ययुक्तं, यतो यथा तद्विशेषगुणेन प्रयत्नाख्येन समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पन्तो ग्रासाऽऽदयः समुपलभ्यन्ते तथा नयनाञ्जनादिद्रव्यविशेषेणाऽपि समाकृष्टाः स्त्र्यादयस्तं प्रत्युपसर्पन्तः समुपलभ्यन्त एव, ततः 'किं प्रयत्नसधर्मणा केनचिदाकृष्टाः पश्वादयः, उत नयनाञ्जनादिसधर्मणा' इति संदेहः, शक्यते ह्ययमनुमानमारचयितुं परेणापि—'नयनाञ्जनादिसधर्मणा वियादगोचरचारिणः पश्वादयः समाकृष्टा देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्ति, तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् स्त्र्यादिवत्' । अथ तदभावेऽपि प्रयत्नादपि तद्दर्शनादनैकान्तिकत्वं प्रयत्नसधर्मणो गुणस्याभावेऽप्यञ्जनादेरपि तद्दर्शनमेवदीयहेतोरनैकान्तिकत्वम् । न चायानुमीयमानस्य प्रयत्नसधर्म्मणो हेतो सद्भावादव्यभिचारः, अन्यत्राप्यञ्जनादिसधर्म्मणोऽनुमीयमानस्य सद्भावेनाव्यभिचारप्रसङ्गात् । तत्र प्रयत्नसामर्थ्यादस्य वैफल्यऽन्यत्राप्यञ्जनादिसामर्थ्यात् वैफल्यं समानम् । अथाऽञ्जनादेरेव तद्धेतुत्वं सर्वस्य तद्वत स्त्र्याद्याकर्षणप्रसक्तिः, न चाऽञ्जनादौ सत्यप्यविशिष्टे तद्वत सर्वान्प्रति तदागमनं ततोऽवसीयते 'तदविशेषेऽपि यद्वैकल्यात्तन्नेति तदपि कारणं नाञ्जनादिमात्रम्' इति । तदेतत्प्रयत्नकारणेऽपि समानं, न हि सर्वं प्रयत्नवन्तं प्रति ग्रासादय उपसर्पन्ति, तदपहारादिदर्शनात् । ततोऽत्राप्यन्यत्कारणमनुमीयताम्, अन्यथा न प्रकृतेऽपि, अविशेषात् । ततः प्रयत्नवदञ्जनादेरपि तं प्रति तदाकर्षणहेतुत्वात्कथं न संदेहः ? अञ्जनादेः स्त्र्याद्याकर्षणे प्रत्यकारणत्वे गन्धादिवत्तदर्थिना न तदुपादानम् । न च दृष्टसामर्थ्यस्याप्यञ्जनादेः कारणत्वक्लृप्तिपरिहारेणान्यकारणत्वकल्पने भवताऽनवस्थामुक्तिः । अथाऽञ्जनादिकमदृष्टसहकारित्वात्तत्कारणं न केवलमिति, नन्वेवं सिद्धमदृष्टवदञ्जनादेरपि तत्र कारणत्वं, ततः संदेह एव 'किं ग्रासादिवत्प्रयत्नसधर्म्मणाऽऽकृष्टाः पश्वादयः, किं वा—'स्त्र्यादिवदञ्जनादिसधर्म्मणा तत्संयुक्तेन द्रव्येण' इति संदिग्धं 'गुणत्वात्' इत्येतत्साधनं सपरिस्पन्दात्मप्रदेशमन्तरेण ग्रासाद्याकर्षणहेतोः प्रयत्नस्यापि देवदत्तविशेषगुणस्य परं प्रत्यसिद्धत्वात् साध्यविकलता चात्र दृष्टान्तस्य । यच्च 'यद् देवदत्तं प्रत्युपसर्पति' इत्युक्तं तत्र कः पुनरसौ देवदत्तशब्दवाच्यः ? यदि शरीरं तदा शरीरं प्रत्युपसर्पणात् शरीरगुणाकृष्टाः पश्वादय इति आत्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणाकृष्टत्वस्य साधनाद्विरुद्धो हेतुः । अथाऽऽत्मा, तस्य समीकृष्यमाणपदार्थदेश-कालाभ्यां सदाभिसम्बन्धात् न न प्रति कस्यचिदुपसर्पणम्—अन्यदेशं प्रत्यन्यदेशस्योपसर्पणदर्शनात् अन्यकालं प्रत्यन्यकालस्य च यथाऽङ्कुरं प्रति अपगापरशक्तिपरिणामप्राप्तबीजादेः । न चैतदुभयं नित्यव्यापित्वाभ्यामात्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते सम्भवति 'अतो देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्ति' इति धर्मिविशेषणं, 'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः, 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद्' इति साधनधर्म्मः परस्य स्वरुचिविरचितमेव । न च शरीरसंयुक्त आत्मा सह तस्यापि नित्यव्यापित्वेन तत्र सन्निधानेनाऽनिवारणात्, न हि घटयुक्तमाकाशं सर्वादौ न सन्निहितम् । अथ शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशो देवदत्तः स काल्पनिकः पारमार्थिको वा ?, काल्पनिकत्वे 'काल्पनिकात्मप्रदेशगुणाकृष्टाः पश्वादयः, तथाभूतात्मप्रदेशं प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद्' इति तद्गुणानामपि काल्पनिकत्वं साधयेत् । तथा च सौगतस्येव तद्गुणकृत प्रेत्यभावोऽपि न पारमार्थिकः स्यात्, न हि कल्पितस्य पावकस्य रूपादयस्तत्कार्यं वा दाहादिकं पारमार्थिकं दृष्टम् । पारमार्थिकाश्चेदात्मप्रदेशाः, तेऽपि यदि ततोऽभिन्नास्तदाऽऽत्मैव ते इति न पूर्वोक्तदोषपरिहारः, भिन्नाश्चेत्तर्हि तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादय इति तेषामेवाऽऽत्मत्वप्रसक्तिरित्यात्मान्यात्मपरिकल्पना व्यर्था । तेषां च न द्वीपान्तरवर्तिभिर्मुक्तादिभिः संयोग इति 'अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्तेऽन्यत्र क्रियाहेतुः' इति व्याहतम् । संयोगे वाऽऽत्मवदित्यनिवृत्तो व्याघातः । अथ तेषामप्यपरे शरीरसंयुक्ताः प्रदेशाः देवदत्तशब्दवाच्याः, तत्राप्यनन्तरदूषणमनवस्थाकारि । अथात्मानमन्तरेण कस्य ते प्रदेशाः स्युरिति तत्प्रदेशपर आत्मेत्यभ्युपगमनीयम् । नन्वर्थान्तरभूतत्वे आत्मनः कथं तस्य ते इति व्यपदेशः ? अथ तेषु तस्य वर्तनात्तथा व्यपदेशः, न संदेतत्, तथाऽभ्युपगमेऽवयविपक्षभाविदूषणावकाशात् । यथा च तेषां सदूषणत्वं तथा प्रतिपादितम्, प्रतिपादयिष्यते चेत्यास्तां तावत् । तन्न परस्य देवदत्तशब्दवाच्यः कश्चिदस्ति यं प्रत्युपसर्पणवन्तः पश्वादयः स्वक्रियाहेतोर्गुणत्वं साधयेयुः । अतो नैतदपि साधनमात्मनो विभुत्वप्रसाधकम् ।

यदपि 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वाद्, आकाशवद्' इति साधनं, तदप्यचारु, यतो यदि स्वशरीरे सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वाद्' इति हेतुस्तथा सति तत्रैव ततस्तस्य सर्वगतत्वसिद्धेर्विरुद्धो हेत्वाभासः । अथ स्वशरीरवत्परशरीरेऽन्यत्र नोपलभ्यमानगुणत्वं हेतुस्तदा असिद्धः, तथोपलम्भाभावात् नहि बुद्ध्यादयस्तद्गुणास्तथोपलभ्यन्ते, अन्यथा सर्वत्रसर्वज्ञताप्रसङ्गः । अथैकनगरे उपलब्धा बुद्ध्यादयो नगरान्तरेऽप्युपलभ्यन्ते, मनुष्यजन्मवज्जन्मान्तरेऽपीति कथं न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं ? न, वायोरपि स्पर्शविशेषगुणः एकत्रैकदा उपलब्धोऽन्यत्रान्यदोपलभ्यमानः तस्यापि सर्वगतत्वं प्रसाधयेद्, अन्यथा तेनैव हेतोर्व्यभिचारः । अथ तांस्तान् देशान् क्रमेण गतस्य तस्य तद्गुण उपलभ्यते, आत्मनोऽपि तथैव तद्गुणस्योपलम्भ इति समानं पश्यामः । न च तद्वत्तस्यापि सक्रियत्वप्रसक्तेरयुक्तमेव कल्पनमिति वाच्यम्, इष्टत्वाद् । अथ लोष्टवत् ततो मूर्तत्वप्रसङ्गस्तस्य दोषः । ननु केयं मूर्तिः ?। असर्वगतद्रव्यपरिमाणं सेति चेत् नाऽयं दोषः, असर्वगताऽभवादिनोऽ-

भीष्टत्वात् । रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्वं सेति चेत्, न ताहशीं मूर्त्तिमात्मनः सक्रियत्वं साधयति, व्याप्त्यभावात्; रूपादिमन्मूर्त्यभावे सक्रियत्वात्। 'यो यः सक्रियः स रूपादिमन्मूर्त्तिमान्, यथा शरः, तथा चाऽऽत्मा, तस्माद्रूपादिमन्मूर्त्तिमान्' इति कथं न व्याप्तिसंभवः ? असदेतत्, मनसाऽपि व्यभिचारात्। न च तस्याऽपि पक्षीकरणं, 'रूपादिविशेषगुणाऽनधिकरणं सद् मनोऽर्थं प्रकाशयति, शरीराद्यर्थान्तरत्वे सति सर्वत्र ज्ञानकारणत्वाद्, आत्मवद्' इत्यनुमानविरोधप्रसङ्गात्। न च सक्रियत्वं रूपादिमन्मूर्त्यभावेन विरुद्धं यतस्ततस्तन्निवर्त्तमानमात्मनि तथाविधां मूर्त्तिं साधयेत्। न च तथाविधमूर्त्तिरहितेऽम्बरादौ तददर्शनात्सिद्धो विरोधः, एकशाखाप्रभवत्वस्याप्यन्यत्र पक्षे अदर्शनाद्विरोधसिद्धिप्रसङ्गः। पक्ष एव व्यभिचारदर्शनात्सा तत्र नेति चेत्, न, सक्रियत्वस्याऽपि तथा व्यभिचारः समानः, पक्षीकृत एवाऽऽत्मनि रूपादिमन्मूर्त्तिरहिते तद्दर्शनात्। अनेनैव च तत्साधनान्न व्यभिचार इत्येकशाखाप्रभवत्वाऽनुमानेऽपि समानम्। प्रत्यक्षबाधितकर्म्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वमुभयत्र तुल्यम्। तन्न सक्रियत्वमात्मनो रूपादिमन्मूर्त्तित्वं साधयतीति व्यवस्थितम्।

अथ सक्रियत्वे तस्यानित्यत्वम्। तथा हि-'यत्सक्रियं तदनित्यं, यथा लोष्टादि, तथा चाऽऽत्मा, तस्मादनित्यः' इति, एतदपि न सम्यक्; परमाणुभिरनैकान्तिकत्वात्; कथञ्चिदनित्यत्वस्येष्टत्वात् सिद्धसाधनं च। सर्वात्मना अनित्यत्वस्य लोष्टादावप्यसिद्धत्वात्साध्यविकलता दृष्टान्तस्य। तन्न सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनः सिद्धम्।

अपरे—सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वमात्मनोऽतोऽनुमानात्साधयन्ति-"देवदत्तोपकरणभूतानि मणिमुक्ताफलादीनि द्वीपान्तरसंभूतानि देवदत्तगुणकृतानि कार्यत्वे सति देवदत्तोपकारकत्वात्, शकटादिवत्। न च तद्देशे असन्निहिता एव तद्गुणास्तान् व्युत्पादयितुं समर्था, न हि पटदेशे असन्निधानवन्तस्तन्तु-तुरी-कुविन्दादयः पटमुत्पादयितुं क्षमाः। आत्मगुणानां च तद्देशसन्निधानं न तद्गुणिसन्निधिमन्तरेण संभवि, अगुणत्वप्राप्तेः, ततस्तस्यापि तद्देशत्वम्" असदेतत्, तत्कार्यत्वेऽपि तेषां न 'अवश्यतया कार्यदेशसन्निधिमद् निमित्तकारणम्' इति नियम उपलब्धिगोचरः, अन्यदेशस्याऽपि ध्यानादेरन्यस्थितविषापनयनकार्यकर्तृत्वस्योपलब्धिविषयत्वात् तन्न अतोऽपि सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वसिद्धिः, इत्यसिद्धो हेतुः।

एतेन 'विभुत्वान्महानाकाशः तथा चात्मा' इति निरस्तम्, विभुत्वस्यात्मन्यसिद्धेः। तथा हि-"सर्वमूर्त्तैर्युगपत्संयोगो विभुत्वम्"। न च सर्वमूर्त्तिमद्भिर्युगपत्संयोगस्तस्य सिद्धः। अथैकदेशवृत्तिविशेषगुणाधारत्वात्तस्य सर्वमूर्त्तैर्युगपत्संयोग आकाशस्येव सिद्धः, असदेतत्, एकदेशवृत्तिविशेषगुणाधिष्ठानत्वस्य साधनस्य सर्वमूर्त्तिमत्संयोगाऽऽधारत्वस्य च साध्यस्याकाशेऽप्यसिद्धेरुभयविकलो दृष्टान्तः। न चाऽऽत्मदृष्टान्तादाकाशे साध्यसाधनोभयधर्मसंबन्धित्वं सिद्धमिति शक्यं वक्तुम्, इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। यदपि 'विभुरात्मा, अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्, यद्यदणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यं तत्तद् विभु, यथा-आकाशं, तथा चाऽऽत्मा, तस्माद्विभुः' इति, तदप्यसारं तन्नित्यत्वाऽसिद्धहेतोरसिद्धत्वाद् अणुपरिमाणानधिकरणत्वस्य च विशेषणस्यात्मनो द्रव्यत्वासिद्धेरसिद्धिः, तदसिद्धिश्च इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः। तथाहि-अणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वे सिद्धे अनाधारस्य तस्यासंभवादात्मनो गुणवत्त्वेन द्रव्यत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदाश्रितत्वेनाणुपरिमाणान्यगुणस्य गुणत्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। न चाऽऽकाशस्याप्यणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं विभुत्वं च सिद्धमिति साध्य-साधनविकलो दृष्टान्तः। न चाऽऽत्मदृष्टान्तबलात्तस्य तदुभयधर्मयोगित्वं सिद्धमिति वक्तुं युक्तम्, अत्रापीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गस्य व्यक्तत्वात्। अपि च-अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वं च भविष्यत्यविभुत्वं च, विपक्षे हेतोर्बाधकप्रमाणाऽसत्त्वेन ततो व्यावृत्तिसिद्धेः सन्दिग्धानैकान्तिकश्च हेतुः। न च विपक्षे हेतोरदर्शनं बाधकं प्रमाणम्, सर्वात्मसम्बन्धिनस्तस्यासिद्धानैकान्तिकत्वप्रतिपादनात्। अपि च-आत्मनः स्वदेहमात्रव्यापकत्वेन सुखदुःखादिपर्यायाक्रान्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वात्तद्विभुत्वसाधकस्य हेतोरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वम्। अन्यस्य च 'अहम्' इत्यध्यक्षासिद्धस्य प्रमाणाविषयत्वेनाऽसत्त्वादाश्रयासिद्धो हेतुरिति। अनया दिशा अन्येऽपि तद्विभुत्वसाधनायोपन्यस्यमाना हेतवो निराकर्तव्याः, अस्य निराकरणप्रकारस्य सर्वेषु तत्साधकहेतुषु समानत्वात्। तत् न आत्मनः कुतश्चित् विभुत्वसिद्धिः।

अथापि स्यात् यथाऽस्माकं तद्विभुत्वसाधकं प्रमाणं न संभवति तथा भवतामपि तदविभुत्वसाधकप्रमाणाभाव इति नाऽनुपमसुखस्थानोपगतिस्तेषां सिद्धेति तदवस्थं चोद्यं, न हि परपक्षे दोषोद्भावनमात्रतः स्वपक्षाः सिद्धिमुपगच्छन्ति अन्यत्र स्वपक्षसाधकत्वलक्षणपरप्रयुक्तहेतुविरुद्धतोद्भावनात्, न चासौ भवता प्रदर्शितेति, न सम्यगेतत्, तद्भावासिद्धेः। तथाहि-'देवदत्तात्मा देवदत्तशरीरमात्रव्यापकः, तत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणत्वात्, यो यत्रैव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणः स तन्मात्रव्यापकः, यथा देवदत्तस्य गृह एव व्याप्त्योपलभ्यमानभास्वरत्वादिगुणः प्रदीपः, देवदत्तशरीर एव व्याप्त्योपलभ्यमानगुणस्तदात्मा' इति। तदात्मनो हि ज्ञानाऽऽदयो गुणास्ते च तद्देह एव व्याप्त्योपलभ्यन्ते, न परदेहे, नाप्यन्तराले।

अत्र कश्चिद्धेतोरसिद्धतामुद्भावयन् "शरीरान्तरेऽपि तदङ्गनासंबन्धिनि तद्गुणा उपलभ्यन्ते" इत्यभिदधाति। तथाहि-'देवदत्ताङ्गनाङ्गं देवदत्तगुणपूर्वकं, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वाद्, ग्रासादिवत्'। कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं तज्जनने व्याप्रियते अन्यथातिप्रसङ्गादिति तदङ्गनाङ्गप्रादुर्भावदेशे तत्कारणात्तद्गुणसिद्धिः। तथा-तदन्तराले च प्रतीयन्ते। तथाहि-अग्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यग् पवनम् तद्गुणपूर्वकं, कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वाद् वस्त्रादिवत्। यत्र च तद्गुणास्तत्र तद्गुण्यप्यनुमीयत इति, 'स्वदेह एव देवदत्ताऽऽत्मा' इति प्रतिज्ञा अनुमानबाधिता। ततोऽनुमानबाधितकर्म्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालाऽत्य-

सापदिष्टो हेतुः"। ननु केऽत्र देवदत्तात्मगुणा ये तदङ्गनाद्यन्तराले न प्रतीयन्ते? यदि ज्ञान-दर्शन-सुखवीर्यस्वभावाः -" सह वर्तिनो गुणाः " इति वचनाद्-इति मतं, तन्न युक्तः; ज्ञान-दर्शन-सुखानि संवेदनरूपाणि न तदङ्गनाद्यन्तराले व्याप्रियमाणानि प्रतीयन्ते; नापि सत्तामात्रेण तद्देशे प्रतीतिगोचराणि। वीर्यं तु शक्तिः क्रियानुमेया, साऽपि तद्देह एवानुमीयते, तत्रैव तत्सिद्धभूतपरिस्पन्ददर्शनात्; नत्वाश्च तदङ्गनादेशान्तरोत्पत्तौ देवदत्तस्य भार्या दुहिता स्यात्। ततस्तज्ज्ञानादप्यत्र देह एव तत्कार्यजननोपयुक्तस्य प्रतीतेः प्रत्यक्षस्तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति हेतुः।

अथ धर्माधर्मौ तदङ्गनादिकार्यनिमित्तं तद्गुणः, तदयुक्तं; न धर्माधर्मौ तदात्मनो गुणौ, अचेतनत्वात्, शब्दादिवत्। न सुखादिना व्यभिचारः, तत्र हेतोरप्रवर्तनात्; तद्धि स्वसंवेदनलक्षणचैतन्येन तस्य व्याप्तत्वात्, अतिमतगन्धरूपरसस्पर्शवत् न स्वसंवेदनरूपाद्यन्यभावस्य तदात्मनोऽनुभवात्, अन्यथा सुखादेः स्वयमननुभवात् अनवस्थादोषप्रसङ्गात् अन्यज्ञानेनाप्यननुभवे सुखस्य परलोकवत्त्वनाप्रसक्तिः। प्रमाधिक मतेन प्रकृ।

न च-असिद्धता 'अचेतनत्वात्' इति हेतोः। तथाहि—अचेतनौ तौ, अस्वसंविदितत्वात्, घटवत्। न बुद्ध्या अस्य व्यभिचारः, अस्याः स्वसंवेदनत्वेन स्वग्रहणात्मिका बुद्धिः, अर्थग्रहणात्मकत्वात्, यत्स्वग्रहणात्मकं न भवति न तद् अर्थग्रहणात्मकं, यथा घटः, इति व्यतिरेकी हेतुः।

न च धर्माऽधर्मयोर्ज्ञानरूपत्वाद् अदृष्टरूपत्वात् ज्ञानस्य च स्वग्रहणात्मकत्वादसिद्धो हेतुरिति वक्तव्यं, तयोः स्वरूपग्रहणात्मकत्वे सुखादिवद् विवादाभावप्रसङ्गः। अस्ति चानयोः अनुमानेनान्यथानुपपत्त्या च तत्र। न च लौकिकपरीक्षकयोः प्रत्यक्षं कर्मेति व्यवहारसिद्धम्। न चाविकल्पकाविषयत्वात्स्वग्रहणात्मकत्वेऽपि तयोर्विवाद क्षणिकत्वादिवत्, तथा अनिश्चयात् नीलादिवदतिप्रसङ्गात्। तथाहि-अविकल्पकाध्यक्षविषय जगज्जन्तुमात्रस्य, तथा— अनिश्चयस्तु क्षणिकत्ववत् निर्विकल्पकाध्यक्षविषयत्वात्। न च सूपकालकर्मविपाकस्य तदनन्तरं तत्फलादर्शनात्, तद्दर्शनव्यवहार इति, स्वसत्तासमये स्वकार्यजननसामर्थ्ये तस्य तदैव तत्कार्यमिति तदनन्तरं तद्दर्शनप्रसक्तेः अन्यदा तु स एव नास्तीति कुतस्तनस्तस्य भावः ?

अथ तयोरचेतनत्वेऽपि तदात्मगुणत्वे को विरोधः अचेतनस्य चेतनात्मगुणत्वमेव। चेतनश्च तदात्मा स्वपरप्रकाशकत्वात् अन्यथा तद्योगात् कुड्यादिवत्। न च धर्माधर्मयोरभावादाश्रयासिद्धो हेतुः, अनुमानतस्तयोः सिद्धेः। तथाहि-चेतनस्य स्वपरज्ञस्य तदात्मनो हीनमातृगर्भस्थानप्रवेशस्तत्सम्बन्धान्यनिमित्तः, अनन्यवेद्यत्वे सति तत्प्रवेशात्, मत्तस्याशुचिस्थानप्रवेशवत्, योऽसावन्यः स द्रव्यविशेषो धर्मादिरिति। न च कस्यचित्पूर्वशरीरत्यागेन शरीरान्तरगमनाभावात्तत्प्रवेशोऽसिद्धः अनुमानात्तत्सिद्धेः। तथाहि-तदहर्जातस्य स्तनादौ प्रवृत्तिस्तदभिलाषपूर्विका तत्त्वात् मध्यदशावत्। यथा च परलोकाऽऽ-

गाम्यात्मा अनुमानात्सिद्धिमुपगच्छति तथा प्राक् प्रतिपादितम्। सुखसाधनजलादिदर्शनानन्तरोद्भूतस्मरणसहायेन्द्रियप्रभवप्रत्यभिज्ञानक्रमोपजायमानाभिलाषादेर्व्यवहारस्यैककर्तृपूर्वकत्वेन प्राक् प्रसाधितत्वात् नाऽत्र प्रयोगे व्याप्त्यसिद्धिः। अत एव स्तनादिप्रवृत्तेरभिलाषः सिद्धिमासादयन् तद्धेतुभूतज्ञान गमयति तदपि स्मरणम्, तच्च सुखादिसाधनपदार्थदर्शनम्। 'कारणव्यतिरेकेण कार्योत्पत्तौ तस्य निर्हेतुकत्वप्रसक्तिः' इति अत्र विपर्ययबाधक प्रमाणं व्याप्तिनिश्चायकं प्रदर्शितम्। अपूर्वप्राणिप्रादुर्भावे च सर्वोऽप्ययं व्यवहारः प्रतिप्राणिप्रसिद्धः उत्सीदेत्, तज्जन्मनि सुखसाधनदर्शनादेरभावात्, न हि मातुरुदर एव स्तनादेः सुखसाधनत्वेन दर्शनम्। यतः प्रत्यग्रजातस्य तत्र स्मरणादिव्यवहारः संभवेदिति पूर्वशरीरसम्बन्धोऽप्यात्मनः सिद्धः।

न च मध्यावस्थायां सुखसाधनदर्शनादिक्रमेणोपजायमानोऽपि प्रवृत्त्यन्तो व्यवहारो जन्मादावन्यथा कल्पयितुं शक्यः। विजातीयादपि गोमयादेः कारणाच्छालूकादेः कार्यस्योत्पत्तिदर्शनादिति वक्तुं शक्यं, जलपाननिमित्ततृपाच्छेदादावप्यनलनिमित्तत्वसंभावनया तदर्थिनः पावकादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गात् सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः।

अथ 'देहिनो देहाद्देहान्तरानुप्रवेशस्तदभिलाषपूर्वकः गृहाद् गृहान्तरानुप्रवेशवद्' इत्यतोऽन्यथासिद्धो हेतुरिति न द्रव्यविशेषं साधयति। तदुक्तं सौगतैः -" दुःखे विपर्यासमतिस्तृष्णा वाऽवन्ध्यकारणम्। जन्मिनो यस्य ते न स्तो, न स जन्माधिगच्छति " ॥ १ ॥ इति, असदेतद्, इह जन्मनि प्राणिनां तदभिलाषस्य परलोकेऽभावात् न ततस्स इति युक्तम्। नापि मनुष्यजन्मा हीनशूद्रादिगर्भसंभवमभिलषति यतस्तत्र तत्संभवः स्यात्। तदेवं धर्माऽधर्मयोस्तदात्मगुणत्वनिषेधात्तन्निषेधानुमानबाधितमेतत् 'पावकादूर्ध्वज्वलनादिदेवदत्तगुणकारितम्' इति।

यत्पुनरुक्तम्- गुणवद् गुणि अप्यनुमानतस्तद्देशे अस्तीत्यनुमानबाधितस्वदेहमात्रव्यापकाऽऽत्मकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनायो हेतुः कालात्ययापदिष्ट ' इति, तदपि निरस्तं; तत्र तत्सद्भावासिद्धेः। यच्चान्यत्कार्यत्वे 'सति तदुपकारकत्वाद्' इति, तत्र किं तद्गुणपूर्वकत्वाभावेऽपि तदुपकारकत्वं दृष्टं यत कार्यत्वे सति इति विशेषणमुपादीयते सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणोपादानस्यार्थवत्त्वात्? कालेश्वरादौ दृष्टमिति चेत्, न, कालेश्वरादिकमतद्गुणपूर्वकमपि यदि तदुपकारकं कार्यमपि किंचिदन्यपूर्वकं तदुपकारकं स्यादिति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः। सर्वज्ञत्वाभावसाधने वागादिवत्त्वविशेषणस्यैव तस्याभिधाने को दोषः? व्यभिचारः कालेश्वरादिनेति चेत्, नः नित्यकस्वभावात्कस्यचिदुपकाराभावात्। अपि च—अत्र-शरीरप्रदेशमाभावस्तद्विपक्षस्यापकारको भवति सोऽपि तद्गुणनिमित्तः स्यात्। तदभ्युपगमे वा तत्र कार्यत्वासम्भवेन सविशेषणस्य हेतोरवचनाद्भागाऽसिद्धो हेतुः। अतद्गुणनिमित्तत्वे तस्यान्यदप्यतद्गुणपूर्वकं तदुपकारकं तद्वदेव स्यादिति न तद्गुणसिद्धिः।

यत्पुनर्ग्रासादिवद् इति निदर्शनं, तत्र यदि तदात्मगुणो

धर्मादिर्हेतुः, साध्यवत्प्रसङ्गः । प्रयत्नश्चेत्, न; तत्स्वरूपासिद्धेः—शरीरावयवप्रविष्टानामात्मप्रदेशानां परिस्पन्दस्य चलनलक्षणक्रियारूपत्वान्न गुणत्वं, तत्त्वे वा गमनादेरपि तत्त्वान्न कर्मपदार्थसद्भावः कश्चित्स्यादिति न युक्तं क्रियावद् इति द्रव्यलक्षणं निष्क्रियस्यात्मनो न स इति चेत्, कुतस्तस्य निष्क्रियत्वम्? अमूर्तत्वादिति चेत्, प्रत्यक्षनिराकृतमेतत्—प्रत्यक्षेण हि देशाद्देशान्तरं गच्छन्तमात्मानमनुभवति लोकः। तथा च व्यवहारः—अहमद्य योजनमात्रं गतः, न च मनः शरीरं वा तद्व्यवहारविषयः, तस्याऽहं प्रत्ययावेद्यत्वात्। तदेव परस्य साध्यविकलं निदर्शनमिति स्थितम्। तेन यदुक्तम्—'यस्मात्तदात्मनो गुणा अपि दूरदेशभाविनि तदङ्गनादौ अन्तराले चोपलभ्यन्ते तस्मात्सिद्धं तस्य सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम्, अतः 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात् आकाशवद्' इत्यनुमानबाधिता तदात्मस्वशरीरमात्रप्रतिज्ञा' इति, तन्निरस्तः; सर्वेषां सर्वगतात्मप्रसाधकहेतूनां पूर्वमेव निरस्तत्वाद्। अतो न स्वदेहमात्रव्यापकात्मप्रसाधकहेतोरसिद्धिः। नाऽप्यनुमानेन तत्पक्षबाधा। न च तद्देहव्यापकत्वेनैवोपलभ्यमानगुणोऽपि तदात्मा सर्वगतो निजदेहैकदेशवृत्तिर्वा स्यात् अविरोधात्संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः इति युक्तं, वाय्वादावपि तथाभावप्रसङ्गतः प्रतिनियतदेशसंबद्धपदार्थव्यवहारोच्छेदप्रशङ्कः। तथाहि—यद्यथा प्रतिभाति तत्तथैव सद्व्यवहारपथमवतरति, यथा प्रतिनियतदेशकालाकारतया प्रतिभासमानो घटादिकोऽर्थः, अन्यथा प्रतिभासमाननियतदेशकालाकारस्पर्शविशेषगुणोऽपि वायुः सर्वगतः स्यात्। न चात्र प्रत्यक्षबाधः, परेण तस्य परोक्षत्वोपवर्णनात्। यदि च—स्वदेहैकदेशस्थितः, कथं तत्र सर्वत्र सुखादिगुणोपलब्धिः? इतरथा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणोऽपि वायुरेकपरमाणुमात्रः स्यात्। न च क्रमेण सर्वदेहभ्रमणात्तस्य तथा तत्रोपलब्धिः युगपत्तत्र सर्वत्र सुखादेर्गुणस्योपलम्भात्। न चाऽऽशुवृत्तेर्यौगपद्याभिमानः, अन्यत्रापि तथा प्रसक्तेः—शक्यं हि वक्तुं घटादिरप्येकावयववृत्तिः आशुवृत्तेर्युगपत्सर्वेष्ववयवेषु प्रतीयते इति। अत एव सौगतोऽपि तत्रैकं निरंशं ज्ञानं कल्पयन्निरस्तः प्रत्यवयवमनेकसुखादिकल्पने सन्तानान्तरवत् परस्परमसंक्रमात् अनुस्यूतैकप्रतीतिविलोपः सर्वत्र शरीरे मम सुखम् इति। अथ युगपज्ज्ञातृभिरेकशरीरवर्तिभिरनेकनिरंशक्षणिकसुखसंवेदनैरेकपरामर्शविकल्पजननाद्ययमदोषः, असदेतत्; अनेकोपादानस्य परामर्शविकल्पस्यैकत्वसंभवे चार्वाकाभिमतैकशरीरव्यपदेशभागनेकपरमाणूपादानानेकविज्ञानभावेऽपि तद्विकल्पसंभवात्। ततो यदुक्तं धर्मकीर्तिना तं प्रति—"अनेकपरमाणूपादानमनेकं चेद्विज्ञानं सन्तानान्तरवदेकपरामर्शाभावः" इति, तत्तस्य न सुभाषितं स्यात्।

यच्च 'सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशंस्तदात्मा सावयवः स्यात्, तथा—पटवत् समानजातीयारब्धत्वाच्च तद्वद्विनाशवांश्च स्याद्' इति, तदपि न सम्यक्; घटादिना व्यभिचारात् घटादिर्हि सावयवोऽपि न तन्तुवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वकः, मृत्पिण्डात्प्रथममेव स्वावयवरूपाद्यात्मनः प्रादुर्भावादिति निरूपयिष्यमाणत्वाद् अपि च—यदि तदात्मनः कथंचिद्विनाशः प्रतिपादयितुमिष्टः समानजातीयावयवारब्धत्वात् तदा सिद्धसाधनं, तदभिन्नसमायत्तस्याविनाशेन तद्रूपतया तस्यापि नष्टत्वात्। अथ सर्वात्मना सर्वथा नाशः, स घटादावप्यसिद्ध इति साध्यविकलो दृष्टान्तः। यदि च—तदहर्जातबालाऽऽत्मा प्राग्भवान्तनात्मनस्तथा अवयवैरारभ्यते तदा स्तनादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्, तदभिलाषप्रत्यभिज्ञान-स्मरण-दर्शनादेरभावात्। तदारम्भकावयवानां प्राक्तनो विषयदर्शनादिकमिति चेत् नर्हि तेषामेव तदहर्जातवेलायां तन्वन्तराणामिव तत्र प्रवृत्तिः स्यान्नात्मनः, स्मरणाद्यभावात्। कारणगमने तस्यापि सर्वत्र सा स्यात्, "कारणसंयोगिना कार्यमवश्यं संयुज्यते" इति वचनात् न तस्य विषयानुभवाभावः, भेदैकान्ते चास्याः प्रक्रियायाः समवायनिषेधेन निषेधात्।

अथ कारणगुणप्रक्रमेण तत्र दर्शनादयो गुणा वर्ण्यन्ते, तेऽपि प्रागसन्त एव जायन्त इति, एवमपि न किंचित् परिहृतम्। एतेन "अवयवेषु क्रिया, क्रियातो विभागः, ततस्संयोगविनाशः, ततोऽपि द्रव्यविनाशः" इति परस्याऽऽकूतं पूर्वभवाऽन्ते तथा तद्विनाशे आदिजन्मनि स्मरणाद्यभावप्रसङ्गान्निरस्तम्। न चायमेकान्तः—कटकस्य केयूरभावे कुतश्चिद्भागेषु क्रिया, विभागः, संयोगविनाशः, द्रव्यनाशः, पुनस्तदवयवाः केवलाः; तदनन्तरं कर्म-संयोगक्रमेण केयूरभावः प्रमाणगोचरचारी। केवलं सुवर्णकारव्यापारात्कटकस्य केयूरीभावं पश्यामः, अन्यथाकल्पने प्रत्यक्षविरोधः। न हि पूर्वं विभागस्ततः संयोगविनाश इति, तद्भेदानुपलक्षणादनन्य-बुद्धिवद्। नचैकान्तेन तस्याः क्षणिकत्वे सुखसाधनदर्शनादयः संभवन्तीत्यऽसकृदावेदितमावेदयिष्यते चेत्यास्तां तावत्। ततो नाऽनैकान्तिको हेतुः, विपक्षेऽसंभवात्। अत एव न विरुद्धोऽपीति भवत्यतः सर्वदोषरहितात् केशनखादिरहितशरीरमात्रव्यापकस्य विवादाध्यासितस्याऽऽत्मनः सिद्धिरिति साधूक्तम्—"ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं" इति। सम्म० १ काण्ड १ गाथाटी०।

जीवानां नानात्वं व्यवस्थाप्य, भवतु नाम जीवानां नानात्वं, किंत्वेकैको जीवः सर्वजगद्व्यापकोऽस्त्विति नैयायिकादिमतमपाकुर्वन्नाह—

जीवो तणुमेत्तत्थो, जह कुंभो तग्गुणोवलंभाओ ।
अहवाऽणुवलंभाओ, भिन्नम्मि घडे पडस्सेव ॥१५८६॥

तनुमात्रस्थो जीव इति प्रतिज्ञा, तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः, यथा घटः, स्वात्ममात्रे इति शेषः। 'अहवा' इत्यादि, अथवा—यो यत्र प्रमाणैर्नोपलभ्यते तस्य तत्राभाव एव, यथा भिन्ने घटे पटस्य, नोपलभ्यते च शरीराद् बहिर्जीवः, तस्मात्तस्य तत्राऽभाव एवेति। विशे०।

सांप्रतं द्वितीयद्वारगाथा व्याख्यायते तत्र गुणीत्याद्यद्वारम्, तद्व्याचिख्यासयाऽऽह भाष्यकारः—

अहुणा गुणि त्ति दारं, होइ गुणेहिं गुणि त्ति विन्नेओ ।
ते भोगजोगउवओ-गमाइरूवाइ व घडस्स ॥ ५२ ॥

व्याख्या—अधुना गुणीति द्वारं तदेतद्व्याख्यायते—भवति गुणैर्हि गुणी, न तद्व्यतिरेकेण इति एव विज्ञेयः, अनेन

गुणगुणिनोर्भेदाऽभेदमाह, ते भोगयोगोपयोगादयो गुणा इति आदिशब्दादमूर्तत्वादिपरिग्रहः, निदर्शनमाह-रूपादय इव घटस्य गुणा इति गाथार्थः। व्याख्यातं मूलद्वारगाथायां गुणिद्वारम्।

अधुनोर्ध्वगतिद्वारावसर इत्याह भाष्यकारः—

उड्डुं गइ त्ति अहुणा, अगुरुलहुत्ता सभाव उड्डगई।
दिट्ठतलाउएणं, एरंडफलाइएहिं च ॥ ५३ ॥

व्याख्या—ऊर्ध्वगतिरित्यधुना द्वारम्—तदेतद्व्याख्यायते, अगुरुलघुत्वात्कारणात्स्वभावतः कर्मविप्रमुक्तः सन्नूर्ध्वगतिः जीव इति गम्यते, यद्येवं तर्हि कथमधो गच्छति ?, अत्राह-दृष्टान्तः-अलाबुना-तुम्बकेन, यथा तत्स्वभावत ऊर्ध्वगमनरूपमपि मृल्लेपाज्जलेऽधो गच्छति तदपगमादूर्ध्वमाजलान्तादेवमात्मापि कर्मलेपादधो गच्छति तदपगमादूर्ध्वमालोकान्तादिति। एरण्डफलादिभिश्च दृष्टान्त इति, अनेन दृष्टान्तबाहुल्यं दर्शयति, यथा—चैरण्डफलमपि बन्धनपरिभ्रष्टमूर्ध्वं गच्छति, आदिशब्दादग्न्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः। व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथायामूर्ध्वगतिद्वारम्।

साम्प्रतं निर्मयद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह (भाष्यकारः)—

अमओ य होइ जीवो, कारणविरहा जहेव आगासं।
समयं च होइ अनिच्चं, मिम्मयघडतंतुमाईयं ॥ ५४ ॥

व्याख्या-अमयश्च भवति जीवः; न किम्मयोऽपीत्यर्थः, कुत इत्याह-कारणविरहात्-अकारणत्वात्, यथैवाकाशम्; आकाशवदित्यर्थः। समयं च वस्तु भवत्यनित्यम्, एतदेव दर्शयति-मृन्मयघटतन्त्वादि, यथा मृन्मयो घटः, तन्तुमयः पट इत्यादि, न पुनरात्मा, नित्य इति दर्शितम्। आह— अस्मिन् द्वारे सति 'अमयो, न तु मृन्मय इव घट' इति प्राक्तमर्थमुक्तमिति. उच्यते-अत एव द्वारदनुमद्वार्थमुक्तमिति लक्ष्यते, भवति चास्कृत्कथनाद्दृढस्मृत्या परिज्ञानमित्यनुग्रहः, अतिगम्भीरत्वाद्भाष्यकाराभिप्रायस्य न वा वयमभिप्रायं विद्म इति। अन्ये त्वामिदधति, अन्यकर्तृकेयमसौ गाथेति गाथार्थः। व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथाया निर्मयद्वारम्।

अधुना साफल्यद्वारावसर, तथा चाह भाष्यकारः—

साफल्लदारमहुणा, निच्चाऽनिच्चपरिणामि जीवम्मि।
होइ तयं कम्माणं, इहरेगसभावओ जुत्तं ॥ ५५ ॥

व्याख्या-साफल्यद्वारमधुना-तदेतद्व्याख्यायते नित्यानित्य एव परिणामिनि, जीव इति योगः, भवति तत्साफल्यं कालान्तरफलप्रदानलक्षणम्, केषामित्याह-कर्मणा-कुशलाऽकुशलानाम्, कालभेदेन कर्तृभोक्तृपरिणामभेदे सत्यात्मनस्तदुभयोपपत्तेः कर्मणां कालान्तरफलप्रदानमिति। इतरथा पुनर्यद्येवं नाभ्युपगम्यते तत एकस्वभावत्वत कारणाद्युक्तं तत्कर्मणां साफल्यमिति. एतदुक्तं भवति यदि नित्य आत्मा कर्तृस्वभाव एव कुतोऽस्य भोगः ? भोक्तृस्वभावत्वे चाकर्तृत्वम् क्षणिकस्य तु कालद्वयाभावादेवैतदुभयमनुपपन्नम्, उभये च सति कालान्तरफलप्रदानेन कर्म सफलमिति गाथार्थः। द्वितीयमूलद्वारगाथायां व्याख्यातं साफल्यद्वारम्।

(१८) अधुना परिमाणद्वारमाह (भाष्यकारः)—

जीवस्स उ परिमाणं, वित्थरओ जाव लोगमेत्तं तु।
ओगाहणा य सुहुमा, तस्स पएसा असंखेज्जा ॥ ५६ ॥

व्याख्या जीवस्य तु परिमाणं विस्तरतो-विस्तरेण यावल्लोकमात्रमेव एतच्च केवलिसमुद्घातचतुर्थसमये भवति तत्रावगाहना च सूक्ष्मा विनर्तकैकप्रदेशरूपा भवति तस्य जीवस्य प्रदेशाश्चासंख्येयाः सर्वे एव लोकाकाशप्रदेशतुल्या इति गाथार्थः।

अनेकेषां जीवानां गणनापरिमाणमाह (भाष्यकारः)—

पत्थेण व कुलएण व, जह कोइ मिणेज्ज सव्वधन्नाइं।
एवं मविज्जमाणा, हवंति लोगा अणंताओ ॥ ५७ ॥

व्याख्या-प्रस्थेन वा-चतुःकुडवमानेन कुडवेन वा-चतुःसेतिकामानेन-यथा कश्चित्प्रमाता मिनुयात् सर्वधान्यानि व्रीह्यादीनि एवं 'मीयमाना असत्कल्पनया व्यवस्थापनया भवन्ति लोका अनन्तास्तु जीवभूता इति भावः'। आह यद्येवं कथमेकस्मिन्नेव ते लोके माता इति ?, उच्यते-सूक्ष्माऽवगाहनया यत्रैकस्तत्रानन्ता व्यवस्थिताः, इह तु प्रत्येकावगाहनया मीयन्ते इति न दोषः दृष्टं च बादरद्रव्याणामपि प्रदीपप्रभापरमाण्वादीनां तथा परिणामतो भूयसामेकत्रावस्थानमिति गाथार्थः। व्याख्यातं द्वितीयमूलद्वारगाथायां परिमाणद्वारम्। तद्व्याख्यानाच्च द्वितीया मूलद्वारगाथा जीवपदं चेति। दश० ४ अ०।

(१६) आत्मन एकत्वाऽनेकत्वविचारः—

एगे आया। (सूत्र-२)

एकः; न द्वयादिरूपः, आत्मा-जीवः, कथञ्चिदिति गम्यते, तत्र अतति-सततमवगच्छति 'अत' सातत्यगमने इति वचनात् 'अत' धातोर्गत्यर्थत्वाद्गत्यर्थानां च ज्ञानार्थत्वात्सततं जानातीति निपातनाद्-आत्मा-जीवः, उपयोगलक्षणत्वादस्य सिद्धसंसारिदशाद्वयेऽप्युपयोगभावेन सततावबोधभावात्, सततावबोधाभावे चाजीवत्वप्रसङ्गात्, अजीवस्य च सतः पुनर्जीवत्वाभावात्, भावे चाकाशादीनामपि तथात्वप्रसङ्गात्, एवं च जीवाऽनादित्वाभ्युपगमाभावप्रसङ्ग इति अथवा-अतति-सततं गच्छति स्वकीयान् ज्ञानादिपर्यायानिति आत्मा, नन्वेवमाकाशादीनामप्यात्मशब्दव्यपदेशप्रसङ्गः, तथाहि स्वपर्यायेषु सततगमनात्, अन्यथा अपरिणामित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गादिति, नैवम्, व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वादस्य, उपयोगस्यैव च प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, जीव एवाऽऽत्मा; नाऽऽकाशादिरिति, यद्वा-संसारापेक्षया नानागतिषु सततगमनात्, मुक्तापेक्षया च भूततद्भावत्वादात्मेति. तस्य चैकत्वं कथञ्चिदेव, तथाहि-द्रव्यार्थतयैकत्वमेकद्रव्यत्वादात्मनः, प्रदेशार्थतया त्वनेकत्वमसंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्तस्येति, तत्र द्रव्यं च तदर्थश्चेति द्रव्यार्थस्तस्य भावो द्रव्यार्थता प्रदेशगुणपर्यायाधारता अवयविद्रव्यतेति यावत्, तथा प्रकृष्टो देशः 'प्रदेशः-निरवयवोऽशः' स चासावर्थश्चेति प्रदेशार्थः तस्य भावः प्रदेशार्थता-गुणपर्यायाधाराधेयलक्षणार्थतेति यावत्। स्था० १ ठा०। (नन्ववयवि द्रव्यमेव नास्ति, इत्यादिशङ्काप्रतीकारः 'अवयवि' शब्दे प्रथमभागे ७६७ पृष्ठे द्रष्टव्यः।)

१- लोग शब्दे षष्ठे भागे व्याख्या। तत्रैव बालव्याख्या च।

आत्मनस्तु सप्रदेशत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । निरवयवत्वे तु हस्ताद्यवयवानामेकत्वप्रसङ्गः प्रत्यवयवं स्पर्शाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्चेति सदेश आत्मा प्रत्यवयव चैतन्यलक्षणतद्गुणोपलम्भात्, प्रतिग्रीवाद्यवयवमुपलभ्यमानरूपगुणघटवदिति स्थापितमेतद् द्रव्यार्थतयैक आत्मा इति । अथ वा-एक आत्मा कथंचिदिति, प्रतिक्षण सम्भवदपरापरकालकृतकुमारतरुणनरनारकत्वादिपर्यायैरुत्पादविनाशयोगेऽपि द्रव्यार्थतयैकत्वादस्य, यद्यपि हि कालकृतपर्यायैरुत्पद्यते नश्यति च वस्तु तथाऽपि स्वपरपर्यायरूपानन्तधर्मात्मकत्वात्तस्य न सर्वथा नाशो युक्त इति, आह च-

" न हि सव्वहा विणासो, अद्धा पज्जायमित्तनासम्मि ।
सपरपज्जायाणं-ऽणंतधम्मुणो वत्थुणो जुत्तो ॥१॥ " इति ।

किंच-प्रतिक्षणं क्षयिणो भावा इत्यतस्माद्वचनात्प्रतिपाद्यस्य यत् क्षणभङ्गविज्ञानमुपजायते तदसंख्यातसमयैरेव वाक्यार्थग्रहणपरिणामाज्जायते, न तु प्रतिपत्तुः प्रतिसमय विनाशे सति, यत एकैकमप्यक्षरं पदस्यैकं संख्यातीतसमयसंभूतं, संख्यातानि चाक्षराणि पदं संख्यातपद च वाक्य, तदर्थग्रहणपरिणामाच्च सर्वं क्षणभङ्गुरमिति संविज्ञान भवेत्, तच्चायुक्तं समयनष्टस्येति. आह च—

"कह वा सव्वं खणियं. विन्नायं ?, जइ मइसुयाओ त्ति ।
तदसंखसमयसुत्त-त्थगहणपरिणामओ जुत्त ॥ १ ॥
न उ पइसमयविणासे जेणेक्कक्खरं पि य पयस्स ।
संखाईयसमइय, संखेज्जाइ पय ताइं ॥ २ ॥
संखेज्जपयं वक्क, तदत्थगहणपरिणामओ होज्जा ।
सव्वक्खणभङ्गनाणं, तदजुत्त समयनट्ठस्स " ॥३॥ इति ।

तथा सर्वथोच्छेदे तृप्त्यादयो न घटन्ते पूर्वसंस्कारानुवृत्तावेव तेषां युज्यमानत्वात्, आह च—" तित्तीसमो किलामो, सारिक्खविपक्खपच्चयाईणि । अज्झयणं भाणं, भा-वणा य का सव्वनासम्मि " ॥ १ ॥ इति । (अस्या गाथाया व्याख्या)—तत्र तृप्ति-प्राणिः श्रम-अध्वादिखेदः क्लमो-ग्लानिः सादृश्य-साधर्म्यं विपक्षो-वैधर्म्यं प्रत्ययः-अवबोध, शेषपदानि प्रतीतानि इत्यादि बहु वक्तव्यं तत्तु स्थानान्तरादवसेयमिति । तदेवम्—आत्मा स्थितिभवनभङ्गरूप स्थिररूपापेक्षया नित्यो नित्यत्वाच्चैको भवनभङ्गरूपापेक्षया त्वनित्योऽनित्यत्वाच्चानेक इति, आह च-

" जमणंतपज्जयमयं. वत्थु भवणं च चित्तपरिणामं ।
ठिइविभवभंगरूवं, णिच्चाणिच्चाइ तोऽभिमयं ॥१॥ इति ।

एवं च—

"सुहदुक्खबंधमोक्खा, उभयनयमयाणुवत्तिणो जुत्ता ।
एगयरपरिच्चाए, सव्वव्ववहारवोच्छित्ती ॥ २ ॥ " इति ।

अथ वा-एक आत्मा कथंचिदेवेति, यतो जैनानां न हि सर्वथा किंचिद्वस्तु एकमनेकं वाऽस्ति सामान्यविशेषरूपत्वाद्वस्तुन, अथ ब्रूयाद्विशेषरूपमेव वस्तु, सामान्यस्य विशेषेभ्यो भेदाऽभेदाभ्यां चिन्त्यमानस्यायोगात्, तथाहि—सामान्य विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा स्यात् ?, न भिन्नमुपलम्भाभावात् तत्रानुपलभ्यमानमपि सत्तया व्यवहर्तुं शक्यं खरविषाणस्यापि तथा प्रसङ्गात् । अथाऽभिन्नमिति पक्ष, तथा च सामान्यमात्र वा स्याद्विशेषमात्रं वेति न ह्येकस्मिन्सामान्यमेकं विशेषाश्चानेकरूपा इत्यसंकीर्णवस्तुव्यवस्था स्यादिति, अत्रोच्यते-न ह्यस्माभि सामान्यविशेषयोरेकान्तेन भेदाऽभेदो वाऽभ्युपगम्यते, अपि तु-विशेषा एव प्रधानीकृतास्तुल्यरूपा उपसर्जनीकृततुल्यरूपा. विषमतया प्रज्ञायमाना विशेषा व्यपदिश्यन्ते त एव च विशेषा उपसर्जनीकृताः तुल्यरूपा प्रधानीकृततुल्यरूपा. समतया प्रज्ञायमाना. सामान्यमिति व्यपदिश्यन्त इति, आह च—

" निर्विशेषं गृहीताश्च, भेदा. सामान्यमुच्यते ।
ततो विशेषात्सामान्यं, विशिष्टत्वं न युज्यते ॥ १ ॥
वैषम्यसमभावेन, ज्ञायमाना इमे किल ।
प्रकल्पयन्ति सामान्य-विशेषस्थितिमात्मनि ॥ २ ॥" इति ।

तदेवं सामान्यरूपेणात्मा एको विशेषरूपेण त्वनेक., न च-आत्मनां तुल्यरूपं नास्ति एकात्मव्यतिरेकेण शेषात्मनामनात्मत्वप्रसङ्गादिति, तुल्यश्च सरूपमुपयोग. ' उपयोगलक्षणो जीव ' इति वचनात् तदेवमुपयोगरूपैकलक्षणत्वात्सर्व एवात्मान एकरूपाः, एवं च एकलक्षणत्वादेक आत्मेति, अथवा-जन्ममरणसुखदु खादिसंवेदनस्वसहायत्वादेक आत्मेति भावनीयमिति । इह च सर्वसूत्रेषु कथचिदित्यनुस्मरणीयं. कथंचिद्वादस्याविरोधेन सर्ववस्तुव्यवस्थानिबन्धनत्वात्, उक्त च—" स्याद्वादाय नमस्तस्मै, य विना सकलाः क्रिया । लोकद्वितयभाविन्यो, नैव साङ्गत्यमियूति ॥१॥ " तथा-" नयास्तव स्यात्पदसत्त्वलाञ्छना, रसोपविद्धा इव लोहधातव । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिण ॥ १ ॥ ' इति । स्था० १ ठा० । एक आत्मा कथंचिदिति गम्यते, इद च सर्वसूत्रष्वनुगमनीयम्, तत्र प्रदेशार्थतया असंख्यातप्रदेशोऽपि जीवो द्रव्यार्थतया एक । अथ वा-प्रतिक्षण पूर्वस्वभावक्षयाऽपरस्वरूपोत्पादयोगेनानन्तभेदोऽपि कालत्रयानुगामिचैतन्यमात्रापेक्षया एक एव आत्मा. अथवा-प्रतिसन्तान चैतन्यभेदेनाऽनन्तत्वेऽप्यात्मनां संग्रहनयाऽऽश्रितसामान्यरूपापेक्षयैकत्वमात्मन इति । तथा न आत्मा अनात्मा—घटादिपदार्थ, सोऽपि प्रदेशार्थतया संख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रदेशोऽपि तथाविधैकपरिणामरूपद्रव्यार्थापेक्षया एक एव, एवं सन्तानापेक्षयाऽपि तुल्यरूपापेक्षया तु अनुपयोगलक्षणैकस्वभावयुक्तत्वात्कथंचिद्भिन्नस्वरूपाणामपि धर्मास्तिकायादीनामनात्मनामेकत्वमवसेयमिति । स० १ सम०टी० । ननु बहुभेदत्वमात्मनोऽसिद्धं, तस्य सर्वत्रैकत्वात्, तदुक्तम्-

' एक एव हि भूतात्मा भूते भूते प्रतिष्ठित ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥
यथा विशुद्धमाकाश, तिमिरोपप्लुतो जन ।
संकीर्णमिव मात्राभि-र्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥ २ ॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वमूलमध शाख-मश्वत्थ प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्त वद स वेदवित् ॥ ४ ॥"

तथा ' पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूत यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नैजति, यद् दूरे, यदन्तिके, यदन्तरस्य सर्वस्य, यत्सर्वस्यास्य बाह्यत ' इत्यादि ।

इत्येतदेव पूर्वार्द्धेनोत्क्षिप्योत्तरार्द्धेन परिहरन्नाह—

जइ पुण सो एगो चिय, हवेज्ज वोमं व सव्वपिंडेसु ।
गोयम ! तदेगलिंगं, पिंडेसु तहा न जीवोऽयं ॥१५८१॥

परः प्राह–यदि पुनर्दर्शितन्यायेन स आत्मा सर्वेष्वपि नारकतिर्यङ्नरामरपिण्डेषु व्योमवदेक एव भवेत्न तु संसारीनरादिभेदभिन्न., तर्हि किं नाम दूषणं स्याद् ?; एवमुक्ते भगवानाह–गौतम ! तद्व्योम सर्वेष्वपि पिण्डेषु-मूर्तिविशेषेषु स्थितमेकलिङ्गं वैसदृश्याभावादेकरूपमेव, इति युक्तं तस्यैकत्वम्, जीवस्त्वयं विचार्यत्वेन प्रस्तुतो न तथा–नैकलिङ्ग· सर्वत्र दृश्यते, प्रतिपिण्डं तस्य विलक्षणत्वात् लक्षणभेदे च लक्ष्यभेदात् इति न तस्यैकत्वमिति ।

अत्र प्रयोगमाह—

नाणा जीवा कुंभा–दओ व्व भुवि लक्खणाइभेयाओ ।
सुहदुक्खबंधमोक्खा–भावो य जओ तदेगत्ते ॥१५८२॥

नानारूपा भुवि जीवाः; परस्परं भेदभाज इत्यर्थ, लक्षणादिभेदादिति हेतु, कुम्भादय इवेति दृष्टान्त· । यच्च न भिन्न, न तस्य लक्षणभेद·, यथा नभस इति । सुखदु खबन्धमोक्षाभावश्च यस्मात्तदेकत्वे तस्माद्भिन्ना एव सर्वेऽपि जीवा इति ।

कथं पुनस्तेषां प्रतिपिण्डं लक्षणभेदः ? इत्याह—

जेणोवओगलिंगो, जीवो भिन्नो य सो पइसरीरं ।
उवओगो उक्करिसा–वगरिसओ तेण तेऽणंता ॥१५८३॥

येन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणोऽसौ जीव, स चोपयोग प्रतिशरीरमुत्कर्षापकर्षभेदादनन्तभेद·, तेन जीवास्तद्भेदादनन्तभेदा भवन्ति । तदेव भावितम् 'नाणा जीवा' इत्यादि पूर्वार्द्धम् ।

इदानीं सुखदु खेत्याद्युत्तरार्द्धं भावयन्नाह—

एगत्ते सव्वगय–त्तओ य न मोक्खाऽऽदओ नभस्सेव ।
कत्ता भोत्ता मंता, न य संसारी जहाऽऽगासं ॥१५८४॥

एकत्वे जीवानां सुखदु खबन्धमोक्षादयो नोपपद्यन्ते, सर्वगतत्वात्, नभस इव, यत्र तु सुखादयो न तत्सर्वगत यथा देवदत्त· इति । किं च–न कर्त्ता, न भोक्ता, न मन्ता, न संसारी जीव·, एकत्वात् सर्वजीवाना, यच्चैक न तस्य कर्तृत्वादय·, यथा नभस इति ।

अपि च—

एगत्ते नऽत्थि सुही, बहूवघाउ त्ति देसनिरुउ व्व ।
बहुतरबद्धत्तणओ, न य मुक्को देसमुक्को व्व ॥ १५८५ ॥

इहमत्र हृदयम्–नारकतिर्यगादयोऽनन्ता जीवा नानाविधशरीरमानसोपघातसंपातैर्दु खिता एव, तदनन्तभागवर्तिनस्तु सुखिन, एवम् अनन्ता बद्धा, तदनन्तभागवर्तिनस्तु मुक्ता, तेषां च सर्वेषामेकत्वे न कोऽपि सुखी प्राप्नोति, बहुतरोपघातान्वितत्वात्, यथा सर्वाङ्गरोगग्रस्तोऽङ्गुल्येकदेशेन नीरोगो यज्ञदत्त· एवं न कोऽपि मुक्तस्तत्सुखभाक् च न कोऽपि घटते बहुतरबद्धत्वात्, यथा सर्वाङ्गकीलितो

ऽङ्गुल्येकदेशमुक्तस्तस्मादेकत्वे सुखाद्यनुपपत्तेर्नानात्वं जीवानामिति स्थितम् । विशे० ।

तथा च—

एगे भवं०जाव संबुद्धे सावगधम्मं पडिवज्जित्ता पडिगते ।

'एगे भवं' ति–एको भवान् इत्येकत्वाभ्युपगमे आत्मनः कृते भगवता श्रोत्रादिविज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकश उपलब्ध्या एकत्व दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो द्विजेन कृत·, यावच्छब्दात्—'दुवे भवं' ति गृह्यते द्वौ भवान् इति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहित· । अत्र भगवान् स्याद्वादपक्षं निखिलदोषगोचरातिक्रान्तमवलम्ब्योत्तरमदायि––एकोऽप्यहं कथं द्रव्यार्थतया जीवद्रव्यस्यैकत्वात् न तु प्रदेशार्थतया ह्यनेकत्वात्, ममेत्यवादिनामेकत्वोपलम्भो न बाधकः ज्ञानदर्शनार्थतया कदाचिद् द्वित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्तं द्वावप्यहं, किं चैकस्यापि स्वभावभेदेनानेकधात्व दृश्यते, तथाहि–एको हि देवदत्तादिपुरुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृव्यत्वमातुलत्वभागिनेयत्वादीननेकान् स्वभावान् लभते । 'तहा–अक्खए अव्वए निच्चे अवट्ठिए आय' त्ति–यथा जीवद्रव्यस्यैकत्वादेकस्तथा प्रदेशार्थतया असंख्येयप्रदेशतामाश्रित्याऽक्षय·, सर्वथा प्रदेशाना क्षयाभावात्, तथा अव्यय कियतामपि च व्ययत्वाभावात् असंख्येयप्रदेशता हि न कदाचनाप्यपैति, अतो व्यवस्थितत्वान्नित्यताभ्युपगमेऽपि न कश्चिद्दोष, इत्येव भगवताऽभिहिते तेनापृष्टेऽप्यात्मस्वरूपे तद्बोधार्थं, व्यवच्छिन्नसंशय·–सञ्जातसम्यक्त्व· 'दुवालसविहं सावगधम्मं पडिवज्जित्ता सट्ठाणमुवगओ सोमिलमाहणो' । नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० ।

एगे भवं, दुवे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भवं, अणेगभूयभावभविए भवं । एवं सुया एगे वि अहं दुवे वि अहं ०जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं. से केणऽट्ठेणं भन्ते ! एगे वि अहं ०जाव सुया दव्वट्ठाए एगे अहं, णाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, उवओगट्ठए अणेगभूयभावभविए वि अहं । (सूत्र–५५ +)

ज्ञाता० १ श्रु० ५ अ० । (अस्य सूत्रखण्डस्य व्याख्या 'थावच्चापुत्त' शब्दे चतुर्थभागे २४०७ पृष्ठे करिष्यते)

मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवं भवो वा,
भवस्थशून्योऽस्तु मिताऽऽत्मवादे ।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसङ्ख्य–
माख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥ २९ ॥

व्याख्या–मितात्मवादे–सङ्ख्यातानामात्मनामभ्युपगम, दूषणद्वयमुपतिष्ठते; तत्क्रमेण दर्शयति–मुक्तोऽपि वा अभ्येतु भवमिति—मुक्तो—निर्वृतिप्राप्त· सोऽपि वा (अपिर्विस्मये, वाशब्द उत्तरदोषापेक्षया समुच्चयार्थ·, यथा देवो वा दानवो वेति ।) भवमभ्येतु–संसारमभ्यागच्छतु इत्येको दोषप्रसङ्ग ।

भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु-भवः-संसारः स वा भवस्थशून्यः-संसारिभिर्जीवैर्विरहितः अस्तु-भवतु इति द्वितीयो दोषप्रसङ्गः । इदमत्राऽऽकूतम्-यदि परिमिता एवाऽऽत्मानो मन्यन्ते तदा तत्त्वज्ञानाभ्यासप्रकर्षादिक्रमेणापवर्गं गच्छत्सु तेषु संभाव्यते खलु स कश्चित्कालो यत्र तेषां सर्वेषां निर्वृतिः, कालस्याऽनादिनिधनत्वाद् आत्मना च परिमितत्वात्संसारस्य रिक्तता भवन्ती केन वार्यताम् । समुपलभ्यते हि प्रतिनियतसलिलपटलपरिपूर्णे सरसि पवनतपनातपजनोदञ्चनादिना कालान्तरे रिक्तता । नचाऽयमर्थः प्रामाणिकस्य कस्यचित्प्रसिद्धः संसारस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात् तत्स्वरूपं ह्येतदेव कर्मवशवर्तिनः प्राणिनः संसरन्ति समासाद्य संसरिष्यन्ति चेति सर्वेषां च निर्वृतत्वे संसारस्य वा रिक्तत्व हठादभ्युपगन्तव्यम् । मुक्तैर्वा पुनर्भवे आगन्तव्यम । न च क्षीणकर्मणां भवाधिकारः-" दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः." ॥ १ ॥ इति वचनात् । आह च पतञ्जलिः-" सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः " इति एतट्टीका च-"सत्सु क्लेशेषु कर्माऽऽशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावा प्ररोहणसमर्था भवन्ति, नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा । तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न दग्धबीजभावो वा इति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग " इति । अक्षपादोऽप्याह-"न प्रवृत्तिः प्रतिसंधानाय हीनक्लेशस्य" इति, एवं विभङ्गज्ञानिशिवराजर्षिमतानुसारिणो दूषयित्वा उत्तरार्द्धेन भगवदुपज्ञमपरिमितात्मवादं निर्दोषतया स्तौति-'षड्जीवे' त्यादि त्वं तु हे नाथ ! अनन्तसङ्ख्यम्-अनन्ताख्यसंख्याविशेषयुक्तं षड्जीवकायम् , अजीवन् जीवन्ति, जीविष्यन्ति चेति जीवाः-इन्द्रियादिद्रव्यभावप्राणधारणयुक्तास्तेषाम् " संघेऽ(वाऽ)नूर्ध्वे " ॥ ५।३।८० ॥ इति चिनोतेर्घञि आदेश्च कत्वे कायः-समूहो जीवकायः पृथिव्यादिः । षण्णां जीवकायानां समाहारः षड्जीवकायम् । पात्रादिदर्शनान्नपुंसकत्वम् , अथवा-षण्णां जीवानां कायः प्रत्येकं सङ्घातः षड्जीवकायः, तं षड्जीवकायं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणषड्जीवनिकाय तथा तेन प्रकारेण आख्य -मर्यादया प्ररूपितवान् , यथा-येन प्रकारेण न दोषो-न दूषणमिति, जात्यपेक्षमेकवचनम् । प्रागुक्तदोषद्वयजातीया अन्येऽपि दोषा यथा न प्रादुष्यन्ति तथा त्व जीवाऽनन्त्यमुपदिष्टवानित्यर्थः । ' आख्य ' इति आङ्पूर्वस्य ख्यातेरङि सिद्धिः । त्वमित्येकवचनं चेदं ज्ञापयति यज्जगद्गुरोरेवैकस्यैवञ्च प्ररूपणसामर्थ्य न तीर्थान्तरशास्तॄणामिति । पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्-यथा साऽऽत्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी, छेदे समानधातूत्थानादर्शाङ्कुरवत् । भौममम्भोऽपि सात्मकं क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य संभवात् ; शालूरवत् । आन्तरिक्षमपि सात्मकम् , अभ्रादिविकारे स्वतः संभूय पातात् , मत्स्यादिवत् । तेजोऽपि सात्मकम्-आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात् पुरुषाङ्गवत् । वायुरपि साऽऽत्मकः अपरप्रेरितत्वेऽपि तिर्यग्गतिमत्त्वात् , गोवत् । वनस्पतिरपि सात्मकः छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनात् , पुरुषाङ्गवत् । केषांचित् स्वापाङ्गनोपश्लेषादिविकाराच्च अपकर्षतश्चैतन्याद्वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः, आप्तवचनाच्च । त्रसेषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिषु न केषाञ्चित्सात्मकत्वे विगानमिति । यथा च भगवदुपक्रमे जीवानन्त्ये न दोषस्तथा दिग्मात्रं भाव्यते । भगवन्मते हि षण्णां जीवनिकायानामेतदल्पबहुत्वम्-सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः । तेभ्योऽसंख्यातगुणास्तेजस्कायिकाः । तेभ्यो विशेषाधिकाः पृथ्वीकायिकाः । तेभ्यो विशेषाधिका अप्कायिकाः । तेभ्यो विशेषाधिका वायुकायिकाः । तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिकायिकाः; ते च व्यावहारिका, अव्यावहारिकाश्च-

" गोला य असंखिज्जा, असंखनिग्गोयगोलओ भणिओ ।
इक्किक्कनिगोयम्मि, अणंतजीवा मुणेयव्वा ॥ १ ॥
सिज्झंति जत्तिया खलु, इह संववहारजीवरासीओ ।
एंति अणाइवणस्सइ, रासीओ तत्तिया तंमि ॥ २ ॥"

इति वचनात् यावन्तश्च यतो गच्छन्ति मुक्तिं जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्राऽऽगच्छन्ति न च तावता तस्य काचित्परिहाणिर्निगोदजीवाऽनन्त्यस्याक्षयत्वात् । निगोदस्वरूपं च समयसागरादवगन्तव्यम् , अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्निर्वृता निर्वान्ति निर्वास्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागेऽपि न वर्त्तन्ते, नाऽवर्तिषत, न वर्त्स्यन्ति । ततश्च कथं मुक्तानां भवाऽऽगमनप्रसङ्गः ? कथं च संसारस्य रिक्ततामसक्तिरिति अभिप्रायं चैदतन्ययूथ्यानामपि । यथाचोक्तं वार्तिककारेण-

" अत एव च विद्वत्सु, मुच्यमानेषु सन्ततम् ।
ब्रह्माण्डलोकजीवाना-मनन्तत्वादशून्यता ॥ १ ॥
अन्त्यन्यूनातिरिक्तत्वै-र्युज्यते परिमाणवत् ।
वस्तुन्यपरिमेये तु, नूनं तेषामसंभवः " ॥ २ ॥
इतिकाव्यार्थः । स्या० । आव० ।
"एको नित्यस्तथा बद्धः, क्षय्यसत्स्वेह सर्वथा ।
आत्मेति निश्चयाद् भूयो, भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥ ४ ॥
तस्यागायोपशान्तस्य, सद्वृत्तस्यापि भावतः ।
वैराग्य तद्गत यत्त-न्मोहगर्भमुदाहृतम् ॥ ५ ॥
भूयांसो नामिनो बद्धा, बाह्येनेच्छादिना ह्यमी ।
आत्मानस्तद्वशात्कष्टं, भवे तिष्ठन्ति दारुणे ॥ ६ ॥
एवं विज्ञाय तत्याग-विधिं त्याग च सर्वथा ।
वैराग्यमाहुः सज्ज्ञान-संगतं तत्त्वदर्शिनः ॥ ७ ॥"

अष्ट० ३ अधि० । (आत्मन एकत्वाऽनेकत्व-सर्वगतत्व-सक्रियत्व-निष्क्रियत्वचक्तव्यता ' परलोग ' शब्दे पञ्चमे भागे च वक्ष्यते)

(२०) अथवा मुक्ताऽमुक्तविशेषमपहाय सामान्येनाऽऽत्मनः सक्रियत्वं साधयन्नाह-

कत्ताइत्तणओ वा, सकिरिओ यं मओ कुलालो व्व ।
देहप्फंदणओ वा, पचक्खं जंतपुरिसो व्व ॥ १८४८ ॥

विशे० । (व्याख्या 'बंधमोक्खसिद्धि' शब्दे ५ भागे वक्ष्यते)

(२१) आत्मनो ज्ञानस्वरूपत्वम्-

अणुसंवेदणमप्पाणेणं जं हंतव्वं ति णाभि पत्थए ।
(सूत्र-१६४×)

संवेदनम्-अनुभवनम् अनु-पश्चात् संवेदनं केनात्मना य-त्परेषां मोहोदयाद्धननादिना दुःखोत्पादनं विधीयते तत्प-श्चादात्मना संवेद्यमित्याकलय्य यत्किमपि हन्तव्यमिति चिकीर्षितं तन्नाभिप्रार्थयेत्-नाऽभिलषेत् ।

ननु चाऽऽत्मना अनुसंवेद्यमित्युक्तं संवेदनं च ज्ञानाऽऽत्म-रूपं तच्च यथा नैयायिकवैशेषिकाणामात्मनो भिन्नेन गुण-भूतेनैकार्थसमवायिना ज्ञानेन भवति तथा भवतामप्याहो-स्विद् भिन्नात्मन इत्यस्य प्रतिवचनमाह—

जे आया, से विण्णाया, जे विण्णाया, से आया, जेण वियाणति से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए । एस आ-यावादी समियाए परियाए वियाहिए त्ति बेमि । (सूत्र-१६५×)

य आत्मा नित्य उपयोगलक्षणः स विज्ञाताऽप्यसावेव, न तु पुनस्तस्मादात्मनो भिन्नं ज्ञानं पदार्थसंवेदकं, यश्च विज्ञाता पदार्थानां परिच्छेदक उपयोगः स आत्माऽप्यसावेव, उपयोग-लक्षणत्वात् जीवस्योपयोगस्य च ज्ञानात्मकत्वादिति ज्ञा-नात्मनोरभेदाभिधानाद् यद्यभिन्नं ज्ञानमथैकं स्यादिति चेत्, तत्र भेदाभावेऽपि केवलं चिकीर्षितो नैकमेतदेवैकत्वं वा भेदाभाव इति चेत्, यदसंगतम्, तथा हि-पटशुक्ल-त्वयोर्भेदेनावस्थानाभावेऽपि नैकत्वापत्तिः, अथापि शु-क्लत्वपर्यायेण नापरः पटः कश्चिदस्तीति चेदशि-क्षितस्योल्लापो यतः शुक्लवर्णविनाशे सर्वथा पटाभावा-पत्तिः स्यात्, तदात्मना विनष्ट एवेति चेत्, भवतु का नो हानि ? अनन्तधर्मात्मकत्वाद्वस्तुनोऽपरमृद्वादिधर्मसद्भाव तद्धर्मविनाशेऽप्यविनष्ट एवम्यमात्मनोऽपि प्रत्युत्पन्नज्ञा-नात्मकतया विनाशेऽप्यपरामूर्त्तत्वासंख्येयप्रदेशता अगु-रुलघ्वादिधर्मसद्भावादविनाश एवेत्यलं प्रसङ्गेन । ननु च य आत्मा स विज्ञातेत्यत्र तृजन्तेन कर्तुरभिधानादात्मनश्च कर्तृत्वात्तस्य च य एवात्मा स एव विज्ञातेत्यत्र विप्रतिप-त्त्यभावो, येन चासौ जानाति तद्भिन्नमपि स्यात्, तथा हि-तत्करणं क्रिया वा भवेत् यदि करणं तद्दात्रादिवद्भिन्नं स्यात्, अथ क्रिया सा यथा कर्तृस्था समवायेन कर्म-स्थापीति एवं भेदसम्भवे कुत एकत्वमिति यश्चोदयेत्तं प्रति स्पष्टतरमाह-'जेण' इत्यादि, येन मत्यादिना ज्ञानेन कर-णभूतेन वा क्रियारूपेण वा विविध सामान्यविशेषाकार-तया वस्तु जानाति-विजानाति स आत्मा न तस्मादात्मनो भिन्नं ज्ञानं, तथा हि-न करणतया भेदः, एकस्यापि क-र्तृकर्मकरणभेदेनोपलब्धेः, तद्यथा-देवदत्त आत्मानमात्मना परिच्छिनत्ति, क्रियापक्षे पाक्षिको ह्यभेदो भवताऽप्यभ्युपगत एव, अपि च-'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते' इत्यादिनैकत्वमेवेति । ज्ञानात्मनोश्चैकत्वे यद्भवति तद्दर्शयि-तुमाह-'तं' इत्यादि, तं ज्ञानपरिणामं प्रतीत्य-आश्रित्यात्मा तेनैव प्रतिसंख्यायते—व्यपदिश्यते, तद्यथा—इन्द्रोपयुक्त इन्द्र इत्यादि यदि वा—मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी यावत् केवलज्ञानीति यश्च ज्ञानात्मनोरेकत्वमभ्युपगच्छति स किं गुणः स्यादिति आह—'एस' इत्यादि एष—अनन्तरोक्तया नीत्या यथावस्थितात्मवादी स्यात्तस्य च सम्यग्भावेन शमितया वा पर्यायः संयमानुष्ठानरूपो व्या-ख्यातः । इत्यधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

आत्मनो ज्ञानस्वरूपत्वमभिधातुमात्मन एव स्वरूपनि-रूपणायाह—

आया भंते ! णाणे, अण्णाणे, गोयमा ! आया सिय णाणे, सिय अण्णाणे ? । णाणे पुण णियमं आया ।

'आया भंते ! णाणे' इत्यादि, आत्मा ज्ञानं योऽयमात्माऽ-सौ ज्ञानं न तयोर्भेदः अथात्मनोऽन्यज्ज्ञानमिति प्रश्नः । उत्तरन्तु-आत्मा स्यात् ज्ञानं सम्यक्त्वे सति मत्यादिज्ञान-स्वभावत्वात्तस्य, स्यादज्ञानं मिथ्यात्वे सति तस्य मत्य-ज्ञानादिस्वभावत्वात्, ज्ञानं पुनर्नियमादात्मा आत्मधर्म-त्वात् ज्ञानस्य । न च सर्वथा धर्मो धर्मिणो भिद्यते, स-र्वथा भेदे हि विप्रकृष्टगुणिनां गुणमात्रोपलब्धौ प्रतिनियत-गुणिविषय एव संशयो न स्यात्, तदन्येभ्योऽपि तस्य भेदाविशेषात्, दृश्यते च यथा कश्चिद्दूरितरतरुणशाखा-विसरस्योपरान्तरे किमपि शुक्लं पश्यति तदा किमियं पताका किमियं बलाका ? इत्येवं प्रतिनियतगुणिविषयोऽसौ तानि धर्मिणो धर्मं सर्वथैवाभिन्नं सर्वथैवाभेदे हि सं-शयानुत्पत्तिरेव गुणग्रहणेन एव गुणिनोऽपि गृहीतत्वादतः कथञ्चिद्भेदपक्षमाश्रित्य ज्ञानं पुनर्नियमादात्मेत्युच्यत इति, इह चात्मा ज्ञानं व्यभिचरति, ज्ञानं त्वात्मानं न व्यभि-चरति, यदिरवनस्पातवदिति सूत्रगर्भार्थ इति ।

अमुमेवार्थं दण्डके निरूपयन्नाह—

आया भंते ! णेरइयाणं णाणे, अण्णे णेरइयाणं णाणे ?, गोयमा ! आया णेरइयाणं सिय णाणे, सिय अण्णाणे, णाणे पुण से णियमं आया एवं ०जाव थणियकुमाराणं ।

'आये' त्यादि, नारकाणाम् 'आत्माऽऽत्मस्वरूपं ज्ञानम् ?' उतान्यन्नारकाणां ज्ञानं, तेभ्यो व्यतिरिक्तमित्यर्थं इति प्रश्नः, उत्तरन्तु-आत्मा नारकाणां स्यात् ज्ञानं सम्यग्दर्शनभावात्, स्यादज्ञानं मिथ्यादर्शनभावात्, ज्ञानं पुनः 'सेति' तन्ना-रकसम्बन्धि आत्मा न तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः ।

आया भंते ! पुढवीकाइयाणं अण्णाणे अण्णे पुढवी-काइयाणं अण्णाणे ?, गोयमा ! आया पुढवीकाइयाणं णियमं अण्णाणे, अण्णाणे वि णियमं आया, एवं ०जाव वणस्सइकाइयाणं, बेइंदियतेइंदिय ०जाव वेमाणियाणं, जहा णेरइयाणं ।

'आया भंते ! पुढवीकाइयाणमि' त्यादि, आत्मा आत्म-स्वरूपमज्ञानम् उतान्यत्तत्तेषाम् उत्तरन्तु-आत्मा तेषाम-ज्ञानरूपो नान्यत्तत्तस्य इति भावार्थः ।

आया भंते ! दंसणे अण्णे दंसणे ?, गोयमा ! आया णियमं दंसणे दंसणे वि णियमं आया । आया भंते ! णेरइयाणं दंसणे अण्णे णेरइयाणं दंसणे ? गोयमा ! आया णेरइयाणं णियमा दंसणे दंसणे वि से णियमं आया एवं ०जाव वेमाणियाणं निरंतरं दंडओ । (सूत्र-४६८)

एव दर्शनसूत्राण्यपि, नवरं सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योर्दर्शनस्याविशिष्टत्वादात्मा दर्शनं-दर्शनमप्यात्मैवेति वाच्यं, यत्र हि धर्मे विपर्ययो नाऽस्ति तत्र नियम एवोपनीयते, न व्यभिचारो यथेहैव दर्शने, यत्र तु विपर्ययोऽस्ति तत्र व्यभिचारो नियमश्च यथा ज्ञाने, आत्मा ज्ञानरूपोऽज्ञानरूपश्चेति व्यभिचारः, ज्ञानं त्वात्मैवेति नियम इति । भ० १२ श० १० उ० ।

आत्मनः स्वपर्यायेभ्यः कथञ्चिदव्यतिरिक्तत्वम्—

जीवो अणाइणिहणो, जीव त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो ।
जं पुरिसाऽऽउयजीवो, देवाऽऽउयजीवियविसिट्ठो ॥४२॥

व्यतिरेकादात्मनो वा केवलज्ञानाव्यतिरेकात् । कथंचिदेकत्वं तयोरित्याह—

संखेज्जमसंखेज्जं, अणंतकप्पं च केवलं णाणं ।
तह रागदोसमोहा, अन्नेऽवि य जीवपज्जाया ॥ ४३ ॥

सम्म० २ काण्ड० । (अनयोर्गाथयोर्व्याख्या 'केवलणाण' शब्दे तृतीयभागे ६४५ पृष्ठे वक्ष्यते)

आत्मकर्मणोरन्योन्यानुगतत्वम्—

('णय' शब्दे चतुर्थभागे "अणोरणाणुगयाणं०" (५७) इत्यादि प्रथमकाण्डगाथाभिः दर्शयिष्यामि) आत्मना आत्मानं ज्ञात्वा । अष्ट० १३ अष्ट० । (आत्मज्ञानस्यैव सम्यक्त्वम्, आत्मज्ञानस्यैव ज्ञानदर्शनचारित्रत्वमिति 'मुणि' शब्दे पञ्चमे भागे दर्शयिष्यते)

(२२) आत्मनो ज्ञानदर्शनश्रवणादिप्रकारः—

दोहिं ठाणेहिं आया अधोलोगं जाणइ पासइ, तं जहा-समोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ, असमोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ, आघोहिसमोहतासमोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ पासइ १, एवं तिरियलोगं २, उड्ढलोगं ३, केवलकप्पं लोगं ४, दोहिं ठाणेहिं आया अहोलोगं जाणइ पासइ, तं जहा-विउव्विएण चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ पासइ अविउव्विएणं चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ पासइ, आहोहिविउव्वियाऽविउव्विएण चेव अप्पाणेणं आया अहोलोगं जाणइ पासइ १, एवं तिरियलोगं २, उड्ढलोगं ३, केवलकप्पं लोगं ४,

'दोही' त्यादि सूत्रचतुष्टयं द्वाभ्यां स्थानाभ्यां-प्रकाराभ्यामात्मनाभ्यामात्मा-जीवोऽधोलोकं जानात्यवधिज्ञानेन पश्यत्यवधिदर्शनेन 'समवहतेन' वैक्रियसमुद्घानगतेनात्मना—स्वभावेन, समुद्घातान्तरगतेन वा, असमवहतेन त्वन्यथेति, एतदेव व्याख्याति—'आहोही' त्यादि यत्प्रकारोऽवधिरस्येति यथावधि, आदिदीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, परमावधेर्वाऽधोवर्त्यवधिर्यस्य सोऽधोऽवधिरात्मा नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानी स कदाचित् समवहतेन कदाचिदन्यथेति समवहताऽसमवहतेनेति, 'एव' मित्यादि, 'एव' मिति यथाऽधोलोकः समवहतासमवहतप्रकाराभ्यामवधेर्विषयतयोक्त एवं तिर्यग्लोकादयोऽपीति, सुगमानि च तिर्यग्लोकोर्द्ध्वलोककेवलकल्पसूत्राणि, नवरं केवल:—परिपूर्णः स चासौ स्वकार्यसामर्थ्यात् कल्पश्च केवलज्ञानमिव वा परिपूर्णतयेति केवलकल्पः, अथवा-केवलकल्पः समयभाषया परिपूर्णस्तं लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकमिति । वैक्रियसमुद्घातानन्तरं वैक्रियं शरीरं भवतीति वैक्रियशरीरमाश्रित्याधोलोकादिज्ञाने प्रकारद्वयमाह—'दोही' त्यादि सूत्रचतुष्टयं कण्ठ्यम्, नवरं 'विउव्विएणं' ति कृतवैक्रियशरीरेणेति ।

ज्ञानाधिकार एवेदमपरमाह—

दोहिं ठाणेहिं आया, सद्दाइं सुणेइ, तं जहा-देसेण वि आया सद्दाइं सुणेइ, सव्वेण वि आया, सद्दाइं सुणेइ १ । एवं रूवाइं पासइ, गंधाइं अग्घाति ३, रसाइं आसाएइ ४, फासाइं पडिसंवेएइ ५ ।

'दोही' त्यादि, पञ्चसूत्री, द्वाभ्यां स्थानाभ्यां-प्रकाराभ्याम् 'देसेण वि' त्ति-देशेन च शृणोत्येकेन श्रोत्रेणैकश्रोत्रोपघाते सति सर्वेण वानुपहतश्रोत्रेन्द्रियो यो वा संभिन्नश्रोतोऽभिधानलब्धियुक्तः स सर्वैरिन्द्रियैः शृणोतीति सर्वेणेति व्यपदिश्यते, एवमिति यथा शब्दान् देशसर्वाभ्याम् एवं रूपादीनपि नवरं जिह्वादेशस्य प्रसुप्त्यादिनोपघाताद्देशेनास्वादयतीत्यवसेयमिति । शब्दश्रवणादयो जीवपरिणामा उक्ताः ।

तत्प्रस्तावात् तत्परिणामान्तराण्याह—

दोहिं ठाणेहिं आया ओभासइ, तं जहा-देसेण वि आया ओभासइ, सव्वेण वि आया ओभासइ १ । एवं पभासइ २, विउव्वइ ३, परियावेइ ४, भासं भासइ ५, आहारेइ ६, परिणामेइ ७, वेएइ, ८, निज्जरेइ ९ । (सूत्र-८०X)

'दोही' त्यादि, नव सूत्राणि सुगमानि, नवरं, अवभासते-द्योतते, देशेन-खद्योतकवत्, सर्वतः-प्रदीपवत्, अथ वा-अवभासते-जानाति, १, स च देशतः फड्कावधिज्ञानी, सर्वतः-अभ्यन्तरावधिरिति, एवमिति-देशसर्वाभ्यां-प्रभासते प्रकर्षेण द्योतते २, विकरोति देशेन-हस्तादिवैक्रियकरणेन, सर्वेण सर्वस्यैव कायस्येति ३, 'परियारे' इति-मैथुनं सेवते, देशेन-मनोयोगादीनामन्यतमेन, सर्वेण-योगत्रयेणापि ४, भाषां भाषते देशेन-जिह्वाग्रादिना, सर्वेण-समस्ततात्वादिस्थानैः ५, आहारयति, देशेन मुखमात्रेण, सर्वेण-ओजआहारापेक्षया ६ आहारमेव परिणमयति परिणामं नयति-खलरसविभागेनेति भक्ताश्रयदेशस्य प्लीहादिना रुद्धत्वात् । देशतः, अन्यथा तु सर्वतः ७ वेदयति-अनुभवति, देशेन—हस्तादिना अवयवेन, सर्वेण सर्वावयवैराहारसत्कान्-परिणमितपुद्गलान् इष्टानिष्टपरिणामान् ८, निर्जरयति-त्यजति आहारितान्-परिणामितान् वमनादिना आहारपुद्गलान् देशेन अपानादिना, सर्वेण सर्वशरीरेणैव प्रस्वेदादिना ९ । अथ वा-एतानि चतुर्दशापि सूत्राणि विवक्षितविषयप्रत्यक्षतया नेयानि, तत्र देशसर्वयो-

जना यथा देशेनापीति देशतोऽपि शृणोति विवक्षितशब्दानां मध्ये कांश्चिच्छृणोतीति सर्वेणापीति सर्वतश्च सामस्त्येन; सर्वानेवेत्यर्थः, एव रूपादीनपि, तथा निर्वाक्षितस्य देशं सर्व्वं वा विवक्षितमवभासयन्नेव प्रभासयति एवं विकुर्वणीयं विकुरुते परिच रणीय स्त्रीसरीरादि परिचारयति भाषणीयापेक्षया देशतो भाषां भाषते सर्व्वतो वेति अभ्यवहार्यमाहारयति, आहृन परिणमयति, वेद्य कर्म्म वेदयति देशतः सर्व्वतो वा, एवं निर्जरयत्यपि । स्था० २ ठा० २ उ० ।

(२३) आत्मनिरूपणम् । तथा च पूर्वाचार्यकृतगाथा —

'जीवो अणाइनिहणो, अविणासी अक्खओ धुवो निच्च ।
दव्वट्ठयाए णिच्चो, परियायगुणेहि य अणिच्चो ॥ १ ॥
जह पजराउ सउणी, घडाउ वयराणि कचुआ पुरिसो ।
एव न चेव भिण्णो, जीवो देहाउ संसारी ॥ २ ॥
जह खीरोदगतिललातल्ल-कुसुमगंधाए दीसइ न भेओ ।
तह चेव न जीवस्स वि, देहादव्वंतिओ भेओ ॥ ३ ॥
सकोअविकोएहि य, जहकम देहलोयमित्तो वा ।
हत्थिस्स व कुथुस्स व, पएससंखा समा चेव ॥ ४ ॥
कालो जहा अणाई, अविणासी होई तिसु वि कालसु ।
तह जीवा वि अणाई, अविणासी तिसु वि कालेसु ॥ ५ ॥
गयण जहा अरूवी, अवगाहगुणेण घिप्पई तं तु ।
जीवो तहा अरूवी, विण्णाणगुणेण घत्तवो ॥ ६ ॥
जह पुढवी अविणट्ठा, आहारा होइ सव्वदव्वाणं ।
तह अहारो जीवो, नाणाईणं गुणगणाण ॥ ७ ॥
अक्खयमणंतमउलं, जह गयण होइ तिसु वि कालेसु ।
तह जीवो अविणासी, अवट्ठिओ तिसु वि कालेसु ॥ ८ ॥
जह कणगाओ कीरं-ति पज्जवा मउलकुडलाईया ।
दव्व कणगं न च्चिय, नाम विसेसो इमो अन्नो ॥ ९ ॥
एव चउग्गईए, परिब्भमंतस्स जीवकणगस्स ।
नामाइँ बहुविहाइं जीवदव्वं तय चेव ॥ १० ॥
जह कम्मयरो कम्मं, करेइ भुजेइ सो फल तस्स ।
तह जीवो वि अकम्मं, करइ भुजइ तस्स फलं ॥ ११ ॥
उज्जोवेउं दिवसं, जह सूरो वच्चई पुणो अत्थ ।
नय दीसइ सो सूरो, अन्नं खित्तं पयासंतो ॥ १२ ॥
जह सूरो तह जीवो, भवंतर वच्चए पुणो अन्न ।
तत्थ वि सरीरमन्नं, खेत्त व रवी पयासेई ॥ १३ ॥
फुल्लुप्पलकमलाण, चंदणअगरूण सुरहिगंधीणं ।
घिप्पइ नासाइगुणो, न य रूवं दीसए तंमि ॥ १४ ॥
एवं नाणगुणेणं, घिप्पइ जीवो वि बुद्धिमंतेहिं ।
जह गंधो तह जीवो, न हु सक्खा कीरए भिन्नु ॥ १५ ॥
भभामउद्दमद्दल-पणवमकुदाण सखसद्दाणं ।
रूद्दु च्चिय सुव्वइ, के-वलु त्ति म हु दीसई रूवं ॥ १६ ॥
पच्चक्ख गहगहिओ, दीसइ पुरिसो न दीसइ पिसाओ ।
आगारेहिँ मुणिज्जइ, एव जीवो वि देहठिओ ॥ १७ ॥
हसइ विरूसइ रूसइ, नच्चइ गाएइ रुयइ सुहदुक्खं ।
जीवो देहमइगओ, विविहपयारं पयंसइ ॥ १८ ॥
जह आहारो भुत्तो, जिआए परिणमइ सत्तभएहिं ।
चम्म १ सोणिय २ मस ३ऽट्ठिअ ४ मज्जा ५ तह मेय ६ ।
सुक्केहिं ७ ॥ १९ ॥
एवं अट्ठविहं च्चिअ जीवेण अणाइमहगयं कम्मं ।
जह कणगपाहाणे, अणाइसंजोगनिप्फन्नं ॥ २० ॥
जीवस्स य कम्मस्स य, अणाइमं चेव होइ संजोगो ।
सो वि उवाएण पुढो, कीरइ न बलाउ जह कणगं ॥ २१ ॥
जइ पुव्वयरं कम्मं, जीवो वा जइ हविज्ज वा वई कोई ।
सो वत्तव्वो कुक्कुडि-अंडाण भणसु को पढमो ॥ २२ ॥
जह अंडसंभवा कुक्कुडि, त्ति अडं च कुक्कुडी उ भवं ।
न य पुव्वाऽवरभावो, जह तह कम्माण जीवाणं ॥ २३ ॥
अणुमाणपह सिद्धं, छउमत्थाण जिणाण पच्चक्ख ।
गिण्हसु गणहर ! जीवं, अणाइयमक्खयसरूवं ॥ २४ ॥
कत्थ य जीवो बलिओ, कत्थ य कम्माइँ हुंति बलियाइं ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वनिबद्धाइँ वराइ ॥ २५ ॥ "
ग० २ अधि० ।

(२४) आत्मतत्त्वनिरूपणं बौद्धादिसम्मतानात्मत्वनिराकरणेन प्रदर्शितम्—

बौद्धास्तु—बुद्धिक्षणपरंपरामात्रमेवाऽऽत्मानमाम्नासिषु, न पुनर्मौक्तिककणनिकरनिरन्तरानुस्यूतैकसूत्रवत्तदन्वयिनमेकम् । ते लोकायतलुण्टाकेभ्योऽपि पापीयांसः, तदभावेऽपि तेषां स्मरणप्रत्यभिज्ञानाद्यघटनात्; तथा हि—पूर्वबुद्ध्यानुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृति सम्भवति, ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत् । न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते, अन्यथैकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत । स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः ?, तस्याः स्मरणानुभवोभयसम्भवत्वात्; पदार्थप्रत्यक्षप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातु स एवायमित्याकारेणेयमुत्पद्यते । अथ स्यादयं दोषो यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते किं त्वन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावादेव स्मृतिः, भिन्नसन्तानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नाऽस्ति, तेन सन्तानान्तराणां स्मृतिर्न भवति; न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीना स्मृतिर्न स्यात् । तदप्यनवदातम्, एवमपि नानात्वस्य तदवस्थत्वात् । अन्यत्व हि स्मृत्यसंभवे साधनमुक्तम्, तच्च कार्यकारणभावाभिधानेऽपि नाऽपगतम्, न हि कार्यकारणभावाभिधाने तस्यासिद्धत्वादीनामन्यतमो दोषः प्रतिपद्यते । नाऽपि स्वपक्षसिद्धिरनेन क्रियते, न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्त । अथ " यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, कर्पासे रक्तता यथा ॥ १ ॥" इति कर्पासरक्तादृष्टान्तोऽस्तीति चेत् । तदसाधीयः, साधनदूषणाऽसम्भवात् । अन्वयाद्यसंभवात् न साधन-न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृति कर्पासे रक्तताधदित्यन्वयः संभवति, नाऽपि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽस्ति । असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम् । न हि ततोऽन्यत्वादित्यस्य हेतोः कर्पासे रक्ततावदित्यनेन कश्चिद्दोष प्रतिपाद्यते । किं च-यद्यन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादि स्यात् । अथ नाऽयं प्रसङ्ग, एकसन्तानत्वे सतीति विशेषणादिति चेत्, तदयुक्तम् भेदाऽभेदपक्षाभ्या तस्यापक्षीणत्वात् । क्षणपरं-

परानस्तस्याऽभेदे हि क्षणपरंपरैव सा, तथा च सन्तान इति न किंचिदतिरिक्तमुक्तम् । भेदे तु पारमार्थिकोऽपारमार्थिको वाऽसौ स्यात् । अपारमार्थिकत्वे त्वस्य तदेव दूषणम् । पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात्, क्षणिको वा । क्षणिकत्वे सन्तानिनिर्विशेष एवायमिति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणकारिणा ? ।

"स्थिरमथ सन्तानमभ्युपेया', प्रथयन्तं परमार्थसत्स्वरूपम् । अमृत पिब पूतयाऽनयोक्त्या, स्थिरवपुष परलोकिन प्रसिद्धेः ॥ १ ॥" उपादानोपादेयभावप्रबन्धेन प्रवर्तमान कार्यकारणभाव एव सन्तान इति चेत् । तदवद्यम्, अविच्छन्भावादसंबन्धविशेषाभावे कारणत्वमात्राऽविशेषादुपादानेतरविभागानुपपत्तेः । सन्तानजनकं यत्तदुपादानमिति चेत् । न, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् सन्तानजनकत्वेनोपादानकारणत्वम्, उपादानकारणजन्यत्वेन च सन्तानत्वमिति । लोके तु समानजातीयानां कार्यकारणभावे सन्तानव्यवहार, तद्यथा-ब्राह्मणसन्तान इति, तत्प्रसिद्धया चास्माभिरपि शब्दप्रदीपादिषु सन्तानव्यवहार क्रियते । तथापि यद्येवमभिप्रेत सन्तानस्तदा कथ न शिष्याचार्यबुद्धीनामेकसन्तानत्वम् ? । तद्यासां समानजातीयत्वं कार्यकारणभावो वा नाऽस्ति, तत. शिष्यस्य चिरव्यवहिता अपि बुद्धय पारंपर्येण कारणमिति तदनुभूतेऽप्यर्थे यथा स्मृतिर्भवति तथोपाध्यायबुद्धयोऽप्याजन्मप्रभृत्युत्पन्ना पारपर्येण कारणमिति तदनुभूतेऽप्यर्थे स्मृतिर्भवेत् । किंच—धूमशब्दादीनामुपादानकारणं विनैवोत्पत्तिस्तव स्यात्, न हि तेषामप्यनादिप्रबन्धेन समानजातीयं कारणमस्तीति शक्यते वक्तुम्, तथा च ज्ञानस्यापि गर्भादावनुपादानैवोत्पत्ति स्यादिति परलोकाभाव । अथ धूमशब्दादीनां विजातीयमप्युपादानमिष्यते, एवं तर्हि ज्ञानस्याप्युपादान गर्भशरीरमेवास्तु न जन्मान्तरज्ञान कल्पनीयम्, यथा दर्शन ह्युपादानमिष्टम्, अन्यथा धूमशब्दादीनामप्यनादि सन्तान कल्पनीय स्यादिति सन्तानघटनात् न परेषां स्मृत्यादिव्यवस्था नापि परलोक कोऽपि प्रसिद्धिपद्धतिं दधाति परलोकिन कस्यचिदसंभवात् । सत्यपि वा परलोके कथमकृताभ्यागमकृतप्रणाशौ पराक्रियेते ? येन हि ज्ञानेन चैत्यवन्दनादि कर्मकृतम्, तस्य विनाशान्न तत्फलोपभोगो यस्य च फलोपभोगस्तेन न तत्कर्म कृतमिति । अथ नाऽयं दोष कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्, अनादिप्रबन्धप्रवृत्तो हि ज्ञानानां हेतुफलभावप्रवाह । स च सन्तान इत्युच्यते तद्वशात्सर्वो व्यवहार संगच्छते । नित्यस्त्वात्माभ्युपगम्यमानो यदि सुखादिजन्मना विकृतिमनुभवति । तदयमनित्य एव चर्मादिवदुक्त स्यात्, निर्विकारकत्वे तु सताऽसता वा सुखदुःखादिना कर्मफलेन कस्तस्य विशेष ? इति कर्मवैफल्यमेव । तदुक्तम्-' वर्षाऽऽतपाभ्या किं व्योम्न-श्चर्मण्यस्ति तयो. फलम् । चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्य, खतुल्यश्चेदसत्सम ॥ १ ॥" इति तस्मात् त्यज्यतामेष मूर्द्धाभिषिक्त प्रथमो मोह आत्मग्रहो नाम, तन्निवृत्तौ चात्मीयग्रहोऽपि विरंस्यति । अहमेव न, किं मम ? इति । तदिदमहङ्कारममकारग्रन्थिप्रहाणेन नैरात्म्यदर्शनमेव निर्वाणद्वारम् अन्यथा कौतुस्कुती निर्वाणवार्तापि ? । तदपि वार्त्तम्, हेतुफलभावप्रवाहस्वभावस्य सन्तानस्यानन्तरमेव नियामकत्वेन निरस्तत्वात् । यत्पुन. सुखादिविकाराभ्युपगमे चर्मादिवत् आत्मनोऽनित्यत्व प्रसञ्जित तदिष्टमेव, कथंचिदनित्यत्वेनात्मन. स्याद्वादिभि. स्वीकारात् । नित्यत्वस्य कथंचिदेवाभ्युपगमात् । यत्तु नित्यत्वे अस्यात्मीयग्रहसद्भावेन मुक्त्यभावादिदूषणमभाणि, तदप्यनवदात विदितपर्यन्तविरससंसारस्वरूपाणां परिगतपारमार्थिकैकान्तिकात्यन्तिकानन्दसन्दोहस्वभावाऽपवर्गोपनिषदां च महात्मना शरीरेऽपि किंपाकपाकोपलिप्तपायस इव निर्ममत्वदर्शनात् । नैरात्म्यदर्शने पुनरात्मैव तावन्नास्ति क प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते ?, ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते ?; न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्ट:; एकक्षणस्य तु दुःखस्वरसनाशित्वात्तेनैव सार्द्धं दध्वसे । सन्तानस्तु न वास्तवः कोऽर्थश्चिदिति प्रकल्पनमेव, वास्तवत्वे तस्य निष्प्रत्यूहात्मसिद्धिरिति ।

अथ-आत्मन परपरिकल्पितस्वरूपप्रतिषेधाय स्वाभिमतधर्मान्वर्णयन्ति—

चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकाऽदृष्टवांश्चाऽयमिति ।५६।

चैतन्यं साकारनिराकारोपयोगात्मक स्वरूप यस्यासौ चैतन्यस्वरूप. परिणमन प्रतिसमयमपरापरपर्यायेषु गमन परिणाम. स नित्यमस्यास्तीति परिणामी, करोत्यदृष्टादिकमिति कर्त्ता, साक्षादनुपचरितवृत्त्या भुङ्क्ते सुखादिकमिति साक्षाद्भोक्ता, स्वदेहपरिमाण स्वोपात्तवपुर्व्यापक., प्रतिक्षेत्र प्रतिशरीरं भिन्न. पृथक्, पौद्गलिकादृष्टवान् पुद्गलघटितकर्मपरतन्त्र', अयमित्यनन्तरं प्रमातृत्वेन निरूपित आत्मेति । अत्र चैतन्यस्वरूपत्वपरिणामित्वविशेषणाभ्या जडस्वरूप कूटस्थनित्यो नैयायिकादिसम्मतः प्रमाता व्यवच्छिद्यते । यतो येषामात्मानुपयोगस्वभावस्तावत्, तेषां नासौ पदार्थपरिच्छेदं विदध्याद्, अचेतनत्वाद्, आकाशवत् । अथ नोपयोगस्वभावत्व चेतनत्वम्, किं तु चैतन्यसमवाय, स चात्मनोऽस्तीत्यसिद्धमचेतनत्वमिति चेत् । तदनुचितम्, इत्थमाकाशादेरपि चेतनत्वापत्ते, चैतन्यसमवायो हि विहाय -प्रमुखेऽपि समान, समवायस्य स्वयमविशिष्टत्वैकस्य प्रतिनियमहत्वभावादात्मन्येव ज्ञानं समवेत नाकाशादिष्विति विशेषाव्यवस्थितं । ननु यथेह कुण्डे दधीतिप्रत्ययात्तत्कुण्डादन्यत्र तद्दधिसंयोग. शक्यसंपादन, तथेह मयि ज्ञानमितीहप्रत्ययात् नात्मनोऽन्यत्र गगनादिषु ज्ञानसमवाय इति चेत् । तदयौक्तिकम् । यत आऽऽद्योऽपि ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्तु, स्वयमचेतनत्वाद्, आत्मवत्, आत्मानो वा मैव प्रतियु, तत एव, खादिवद् । इति जडात्मवादिमते सर्वापि ज्ञानमिहेति प्रत्यय. प्रत्यात्मवेद्या न ज्ञानस्यात्मनि समवाय नियमयति, विशेषाभावात् । नन्वयमिह पृथिव्यादिषु रूपादय इति प्रत्ययोऽपि न रूपादीनां पृथिव्यादिषु समवाय साधयेत्, यथा खादिषु, तत्र वा स तं साधयेत्, पृथिव्यादिष्विव, इति न कश्चित्प्रत्ययविशेषात् कस्यचित् व्यवस्थेति चेत् । सत्यम्, अयमपरा-

ऽस्य दोषोऽस्तु, पृथिव्यादीनां रूपाद्यनात्मकत्वे खादिभ्यो विशिष्टतया व्यवस्थापयितुमशक्तेः । स्यान्मतम् आत्मनो ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्ति । आत्मत्वात्, ये तु न तथा ते नाऽऽत्मानो, यथा खादयः, आत्मानश्चैतेऽहंप्रत्ययग्राह्या-स्तस्मात्तथा; इत्यात्मत्वमेव खाऽऽदिभ्यो विशेषमात्मनां साधयति, पृथिवीत्वादिवत्, पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादि-योगाद्धि पृथिव्यादयः, तद्वदात्मत्वयोगादात्मान इति । तदयुक्तम्, आत्मत्वादिजातीनामपि जातिमदनात्मकत्वे तत् समवायनियमासिद्धेः । प्रत्ययविशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, स एव विचारयितुमारब्धः परस्परमत्यन्तभेदाविशेषेऽपि जातितद्वताम्, आत्मत्वजातिरात्मनि प्रत्ययविशेषमुपजन-यति, न पृथिव्यादीषु, पृथिवीत्वादिजातयश्च तत्रैव प्रत्य-यमुत्पादयन्ति, नात्मनि, इति कोऽत्र नियमहेतुः ? समवाय इति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः-सति प्रत्ययविशेषे जा-तिविशेषस्य जातिमति समवायः, सति च समवाये प्रत्य-यविशेष इति । प्रत्यासत्तिविशेषादन्यत एव तत्प्रत्ययवि-शेष इति चेत् । स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचित्तादात्म्यपरिणा-माद् ?, इति स एव प्रत्ययविशेषहेतुरेषितव्यः तदभावे तद्-घटनाज्जातिविशेषस्य क्वचिदेव समवायाऽसिद्धेरात्मादिवि-भागानुपपत्तेरात्मन्येव ज्ञानं समवेतमिहेदमिति प्रत्ययं कुरुते न पुनराकाशादिषु, इति प्रतिपत्तुमशक्तेर्न चैतन्ययोगादात्म नश्चेतनत्वं सिध्येत्; अथ किमपरम् ? प्रतीयते नायचेतना-समवायादात्मा चेतन इति चेत् । तदयुक्तम् । यतः प्रतीतिश्चे-त्प्रमाणीक्रियते, तर्हि निष्प्रतिद्वन्द्वमुपयोगात्मक एवाऽऽत्मा प्रसिध्यति । न हि जातुचित्स्वयमचेतनोऽहं चेतनायो-गाच्चेतनः, अचेतने वा मयि चेतनाया समवाय इति प्रतीतिरस्तिः ज्ञाताऽहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः । भेदे तथा प्रतीतिरिति चेत् । न, कथंचित्तादात्म्याभावे तद्-दर्शनात् । यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचा-राद् दृष्टा न पुनस्तात्त्विकी, तथा चात्मनि ज्ञाताऽहमिति प्रतीतिः कथंचिच्चेतनाऽऽत्मता गमयति तामन्तरेणानुप-पद्यमानत्वात् कलशादिवत्; न हि कलशादिरचेतनात्मको ज्ञाताऽहमिति प्रत्येति । चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत् । न, अचेतनस्यापि चैतन्ययोगाच्चेतनोऽह-मिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वाद्, इत्यचेतनत्वं सि-द्धमात्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति; न पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपताऽस्य स्वीकरणीया । ननु 'ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनतद्वतोर्भेदाभावानुषक्तादिति कश्चित् । तदप्यसत् । यतो 'ज्ञानवानहमिति नाऽऽत्मा प्रत्येति जडत्वैकान्तरूपत्वाद्, घ-टवत् । सर्वथा जडश्च स्यादात्मा, ज्ञानवानहमिति प्रत्यय-श्चाऽस्य स्यात्, विरोधाभावाद्, इति मा निर्णैषी, तस्य तथोत्पत्त्यसंभवात्, ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमत-विरोधात् । " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात् । गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यते इति चेत्, कुतस्तद्-गृहीतिः ? । न तावत्स्वतः स्वसंवेदनानभ्युपगमात्, स्व-संविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नान्यथा; सन्तानान्तरवत् । परतश्चेत्, तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यमिति । ज्ञानान्तरात्, तद्ग्रहणेन भाव्यमित्यनवस्थानात्कुतः प्रकृतप्रत्ययः ? । तदेव नाऽऽत्मनो जडस्वरूपता संगच्छते नाऽपि कूटस्थ-नित्यता । यतो यथाविधः पूर्वदशायामात्मा तथाविध एव चेत् ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि भवेत्तदा प्रागिव कथमेष प-दार्थपरिच्छेदकः स्यात् ? प्रतिनियतस्वरूपाप्रच्युतिरूप-त्वात्कौटस्थ्यस्य, पदार्थपरिच्छेदे तु प्राग् प्रमातृ प्रमातृ-रूपतया परिणामात्कुतः कौटस्थ्यमिति कर्त्ता साक्षा-द्भोक्तेति विशेषणयुगलकेन कापिलमतं निरस्यते, तथा हि-कापिलः कर्तृत्वं प्रकृतेः प्रतिजानीते; न पुरुषस्य । " अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता " इति वचनात् । तदयुक्तम् । यतो यद्ययमकर्त्ता स्यात्, तदानीमनुभवितापि न भवेत् । द्रष्टुः कर्तृत्वे मुक्तस्याऽपि कर्तृत्वप्रसक्तिरिति चेत् । मुक्तः किम-कर्तैव ? । विषयसुखादेरकर्तैवेति चेत्, कुतः स तथा ? । तत्कारणकर्मकर्तृत्वाभावादिति चेत्, तर्हि संसारी वि-षयसुखादिकारणकर्मविशेषस्य कर्तृत्वात् विषयसुखादेः क-र्त्ता, स एव चानुभविता किं न भवेत् ? । संसार्यवस्थाया-मात्मा विषयसुखाऽऽदितत्कारणकर्मणां न कर्त्ता चेतन-त्वात्, मुक्ताऽवस्थावत्; इत्येतदपि न सुन्दरम् । स्वेष्ट-विघातकारित्वात् संसार्यवस्थायामात्मा न सुखादेर्भोक्ता, चेतनत्वात्, मुक्तावस्थावद्, इति स्वेष्टस्यात्मनो भोक्तृ-त्वस्य विघातात् । प्रतीतिविरुद्धमिष्टविघातसाधनमिद्-मिति चेत् । कर्तृत्वाभावसाधनमपि किं न तथा ? पुंसः श्रोता ज्ञाताऽहमिति स्वकर्तृत्वप्रतीतेः । अथ श्रोता-ऽहमित्यादिप्रतीतिरहंकाराऽऽस्पदम्, अहंकारस्य च प्र-धानमेव कर्तृतया प्रतीयत इति चेत्, तत एवाऽ-नुभवितृप्रधानमस्तु । न हि तस्याऽहंकाराऽऽस्पदत्वं न प्रतिभाति, शब्दादेरनुभवितहमिति प्रतीतेः सकलजन-साक्षिकत्वात् । भ्रान्तमनुभवितुरहङ्काराऽऽस्पदत्वमिति चेत्, कर्तुः कथम भ्रान्तम् ? । तस्याऽहंकाराऽऽस्प-दत्वादिति चेत्, तत एवानुभवितुस्तदभ्रान्तमस्तु तस्योपा-धिकत्वादहंकाराऽऽस्पदत्वं भ्रान्तमिति चेत्, कुतस्तदौपा-धिकत्वसिद्धिः ? । अथ पुरुषस्वभावत्वाऽभावादहंकारस्य तदास्पदत्वं पुरुषस्वभावस्यानुभवितृत्वस्यौपाधिकमिति चेत् । स्यादेव, यदि पुरुषस्वभावाऽहंकारो न स्यात् । मुक्त-स्याऽहंकाराऽभावात् अपुरुषस्वभाव एवाऽहंकारः स्व-भावो हि न जातुचिद्वन्तं त्यजति, तस्य निःस्वभावत्व-प्रसङ्गादिति चेत् । न, स्वभावस्य द्विविधत्वात् सामान्यवि-शेषपर्यायभेदात् तत्र सामान्यपर्यायः शाश्वतिकस्वभावः । कादाचित्को विशेषपर्याय इति न कादाचित्कत्वात्पुंस्य-हङ्कारादेव तत्स्वभावता, ततो न तदास्पदत्वमनुभवितृत्व-स्यौपाधिकं, येनाऽभ्रान्तं न भवेत् । ततः सिद्धमात्मानुभ-वितेव कर्त्ता अकर्तुर्भोक्तृत्वानुपपत्तेश्च । ननु भोक्तृत्वम-प्युपचरितमवास्य, प्रकृतिविकारभूताया हि दर्पणाकारायां बुद्धौ सक्रान्तानां सुखदुःखादीनां पुरुषः स्वात्मनि प्रति-बिम्बोदयमात्रेण भोक्ता व्यपदिश्यते । तदशास्य, तस्य तथा-परिणाममन्तरेण प्रतिबिम्बोदयस्याऽघटनात् स्फटिका-दावपि परिणामेनैव प्रतिबिम्बोदयसमर्थनात्, तथापरिणा-माभ्युपगमे च कुतः कर्तृत्वमस्य न स्यात् ?, इति सिद्ध-

मस्य कर्तृत्वं साक्षाद् भोक्तृत्वं चेति. स्वदेहपरिमाण इत्य-
नेनापि नैयायिकादिपरिकल्पितं सर्वगतत्वमात्मनो निषि-
ध्यते तथात्वे जीवतत्त्वप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धिप्रसङ्गात्।
सर्वगतात्मन्येकत्रैव नानात्मकार्यपरिसमाप्तेः, सकृज्ज्ञानामन -
समायोगो हि नानाऽऽत्मकार्ये तथैकत्रापि युज्यते. नभसि
नानाघटादिसंयोगवत्। एतेन युगपज्ज्ञानाशरीरेन्द्रियसंयोगः
प्रतिपादितः । युगपज्ज्ञानाशरीरेष्वात्मसमवायिनां सुखदुः
खादीनामनुपपत्तिः, विरोधादिति चेत् । न, युगपज्ज्ञानाभे-
र्यादिष्वाकाशसमवायिना विततादिशब्दानामनुपपत्तिप्रस-
ङ्गात् तद्विरोधस्याविशेषात् । तथाविधशब्दकारणभेदान्न
तदनुपपत्तिरिति चेत् , सुखाऽऽदिकारणभेदात्तदनुपपत्ति-
रप्येकत्रात्मनि मा भूद् विशेषाभावात । विरुद्धधर्माध्यासा-
दात्मनो नानात्वमिति चेत्। तत एवाकाशस्यापि नानात्वम-
स्तु । प्रदेशभेदोपचाराददोष इति चेत्, तत एवात्मन्य-
प्यदोषः । जननमरणकरणादिप्रतिनियमोऽपि सर्वगतात्मवा-
दिनां नाऽऽत्मबहुत्वं साधयेत्, एकत्राऽपि तदुपपत्तेः, घटा-
काशादिजननविनाशाऽऽदिवत्, न हि घटाकाशस्योत्पत्तौ
घटाकाशस्योत्पत्तिरेव, तदा विनाशस्यापि दर्शनात् ;
नापि विनाशे विनाश एव, जननस्यापि तदोपलम्भात्,
स्थितौ वा न स्थितिरेव विनाशोत्पादयोरपि तदा समीक्ष-
णात्। सति बन्धे न मोक्षः सति वा मोक्षे न बन्धः स्याद्,
एकत्रात्मनि विरोधादिति चेत् । न, आकाशेऽपि सति घट-
बन्धे घटान्तरमोक्षाभावप्रसङ्गात्, सति वा घटविश्लेषे घ-
टान्तरविश्लेषप्रसङ्गात्। प्रदेशभेदोपचारान्न तत्प्रसङ्ग इति
चेत्, तत एवात्मनि न तत्प्रसङ्गः। नभसः प्रदेशभेदोपगमे जी-
वस्याप्येकस्य प्रदेशभेदोऽस्त्विति कुतो जीवतत्त्वप्रभेदव्य-
वस्था ? यतो व्यापकत्वं स्यात्। नन्वात्मनो व्यापकत्वाऽभावे
दिग्देशान्तरवर्त्तिपरमाणुभिर्युगपत्संयोगाभावादाद्यकर्माभा
व , तदभावादन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्सम्ब-
न्धस्य चाऽभावादनुपायसिद्धः । सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्।
अस्तु वा यथा कथंचिच्छरीरोत्पत्तिः, तथाऽपि सावयवं
शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा साऽवयवः स्यात्, तथा
चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः । कार्यत्वे चाऽसौ विजाती-
यैः सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत । न प्राच्यः प्रकारः, विजा-
तीयानामनारम्भकत्वात् । न द्वितीयः, यतः सजातीयत्वं ते-
षामात्मत्वाऽभिसम्बन्धादेव स्यात् तथा चात्मभिरारभ्यते
इत्यायातम्, एतच्चायुक्तम्, एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मार-
म्भकाणामसंभवात् । संभवे वा प्रतिसंधानानुपपत्तिः, न
ह्यन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसंधातुमर्हत्यतिप्रसङ्गात्, तदारम्भत्वे
चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्वि-
नाशः स्यात्। शरीरपरिमाणत्वे चात्मनो मूर्त्तत्वानुषङ्गा-
च्छरीरेऽनुप्रवेशो न स्यात्, मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात्,
ततो निरात्मकमेव अखिलं शरीरमनुषज्यते। कथं वा तत्प-
रिमाणत्वे तस्य बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरि-
माणस्वीकारः स्यात्?, तत्परिमाणपरित्यागात्, तदपरित्या-
गाद्वा। परित्यागाच्चेत् तदा शरीरवत्तस्याऽनित्यत्वप्रसङ्गा-
त्परलोकाद्यभावाऽनुषङ्गः। अथापरित्यागात्, तन्न, पूर्वपरि-
माणाऽपरित्यागे शरीरवत्तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः ।
तथा- यदि वपुःपरिमाणपवित्रितः, वदसि जैनमतानुग !

पूरुषम् । यद् तदा कथमस्य विखण्डने, भवति तस्य न ख-
ण्डनदुस्तरम् ॥ १ ॥" अत्राभिदध्महे-यदभ्यधायि तत्रा-
त्मनो व्यापकत्वाभाव इत्यादि, तदसत्यम् । यद्येन संयुक्तं
तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमाऽसंभवात्, अयस्कान्त
प्रत्ययसस्तेनाऽसंयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धेः । अथासंयुक्त-
स्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूताना त्रिभुव-
नोदरविवरवर्त्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गात् न जाने कि-
यत्परिमाणं तच्छरीरं स्यादिति चेत् । संयुक्तस्याप्याकर्षणे
कथं स एव दोषो न भवेद् ? आत्मनो व्यापकत्वेन सकल-
परमाणुभिस्तेन संयोगात् । अथ तदभावाविशेषेऽप्यदृष्ट-
वशाद्विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव
उपसर्पन्ति तदितरत्रापि तुल्यम् । यच्चान्यदुक्तम्-" सा-
वयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा " इत्यादि, तदप्युक्ति-
मात्रम्-सावयवत्व-कार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्।
न चैवं घटादिवत्प्राक् प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्व-
प्रसक्तिः; न खलु घटाद्यपि कार्ये प्राक् प्रसिद्धसमान-
जातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम्, कुम्भकारादिव्यापा-
रान्वितान्मृत्पिण्डात्प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्याऽस्यो-
त्पत्तिप्रतीतेः । द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकार-
परिणामः कार्यत्वं, तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव । न
च पटाऽऽदौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र
तथाभावो युक्तः, काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भात् वज्रेऽपि
तथाभावप्रसङ्गात्; प्रमाणबाधनमुभयत्र तुल्यम्। न चा-
क्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात् । प्र-
तिसंधानाभावोऽनुषज्यते, कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योप-
पद्यमानत्वात्। यच्चाऽवाचि शरीरपरिमाणत्वे चाऽऽत्मनो
मूर्त्तत्वानुषङ्ग इत्यादि, तत्र किमिदं मूर्त्तत्वं नाम ?-
असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं, रूपादिमत्त्वं वा । तत्र नाद्यः
पक्षो दोषपोषाय, सम्मतत्वात् । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः;
व्याप्त्यभावात्; न हि यदसर्वगतं तन्नियमेन रूपादिमदि-
त्यविनाभावोऽस्ति, मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि तदसंभवात् ।
अतो नाऽऽत्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिर्येतो निरात्मकं
तत्स्यात् । असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्त्तत्वस्य मनोव-
त्प्रवेशाप्रतिबन्धकत्वात्; रूपाऽऽदिमत्त्वलक्षणमूर्त्तत्वोपे-
तस्याऽपि हि जलादेर्भस्मादावनुप्रवेशो न निषिध्यते. आ-
त्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्।
यदप्यवादि-तत्परिमाणत्वे तस्य बालशरीरपरिमाणस्ये-
त्यादि, तदप्ययुक्तम्, युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो
बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसंभवात्,
विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्, इति कथं परलोकाभावोऽनु-
षज्यते ?; पर्यायतस्तस्यानित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्।
यच्चाजल्पि "यदि वपुःपरिमाणपवित्रितम्' इत्यादि तदप्य
पेशलम्, शरीरखण्डने कथञ्चित्तत्खण्डनस्येष्टत्वात् शरी-
रसंबद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डित-
शरीरप्रदेशे अवस्थानमात्मनः खण्डनं तच्चात्र विद्यत एव;
अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्।
न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्व-
प्रसङ्गः । ' तत्रैवानुप्रवेशात्' । न चैकत्र सन्तानेऽनेक आत्मा
अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासा-
भावप्रसङ्गात्, शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थस-

वित्तिवत् । कथं खण्डिताऽखण्डितावयवयोः संघट्टन पश्चादिति चेत् ?, एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्, पद्मनालतन्तुवदच्छेदस्यापि स्वीकारात्; तथाभूताऽदृष्टवशाच्च तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवाऽऽत्माङ्गीकर्त्तव्यो, न व्यापकः । तथा चाऽऽत्मा व्यापको न भवति, चेतनत्वात्, यत्तु नैवं न तच्चेतनं; यथा व्योम, चेतनश्चाऽऽत्मा, तस्मादव्यापकः । अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा शरीरपरिमाणता । प्रतिक्षेत्र विभिन्न इत्यनेन तु विशेषणेनाऽऽत्माद्वैतमपास्तम् एतदपासनप्रकारश्च प्रागेव प्रोक्त इति न पुनरुच्यते । रत्ना० ७ परि० ।

(२४) आत्माधिकाराद् रत्नप्रभादिभावानात्मत्वादिभावेन चिन्तयन्नाह—

आया भंते ! रयणप्पभा पुढवी, अण्णा रयणप्पभा पुढवी ?, गोयमा ! रयणप्पभापुढवी सिय आया, सिय णो आया, सिय अवत्तव्वं आताति य, णो आताति य । से केणऽट्ठे णं भंते ! एवं वुचइ रयणप्पभा पुढवी सिय आया, सिय णो आया, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं रयणप्पभा पुढवी आयाति य, णो आयाति य से तेणऽट्ठेणं तं चेव ०जाव णो आयाति य । आया भंते ! सक्करप्पभा पुढवी जहा रयणप्पभा पुढवी तहा सक्करप्पभाए वि एवं ०जाव अहे सत्तमा ।

'आया भंते!' इत्यादि, अतति-सतत गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा ततश्चात्मा सद्रूपा रत्नप्रभा पृथिवी, 'अन्न' त्ति-अनात्मा, असद्रूपेत्यर्थः । 'सिय आया सिय नो आय' त्ति-स्यात्सती स्यादसतीति । 'सिय अवत्तव्व' ति-आत्मत्वेनाऽनात्मत्वेन च व्यपदेष्टुमशक्यं वस्त्विति भाव । कथमवक्तव्यम्? इत्याह-आत्मेति च नो आत्मेति च, वक्तुमशक्यमित्यर्थः, 'अप्पणो आइट्ठे' त्ति-आत्मन, स्वस्य रत्नप्रभाया एव वर्णादिपर्यायैरादिष्टे आदेशे सति तैर्व्यपदिष्टाऽसतीत्यर्थः, आत्मा भवति स्वपर्यायापेक्षया सतीत्यर्थः, 'परस्स आइट्ठे नो आय' त्ति-परस्य शर्करादिपृथिव्यन्तरस्य पर्यायैरादिष्टे-आदेशे सति, तैर्व्यपदिष्टा रुतीत्यर्थः, नोआत्मा अनात्मा भवति, पररूपापेक्षयाऽसतीत्यर्थः, 'तदुभयस्स आइट्ठे अवत्तव्व' ति—तयोः स्वपरयोरुभय तदेव वा उभय तदुभयं तस्य पर्यायैरादिष्टे आदेशे सति, तदुभयपर्यायैर्व्यपदिष्टेत्यर्थः, अवक्तव्यम्—अवाच्य वस्तु स्यात्, तथाहि—नहासौ आत्मेति वक्तु शक्या, परपर्यायापेक्षया अनात्मत्वात्तस्या नाऽप्यनात्मेति वक्तु शक्या, स्वपर्यायापेक्षया तस्या आत्मत्वादिति, अवक्तव्यत्वं च आत्माऽनात्मशब्दापेक्षयैव न तु सर्वथा, अवक्तव्यशब्देनैव तस्या उच्यमानत्वादनभिलाप्यभावानामपि भावपदार्थ-वस्तु प्रभृतिशब्दैरनभिलाप्यशब्देन वाऽभिलाप्यत्वादिति ।

आया भंते ! सोहम्मे कप्पे पुच्छा, गोयमा ! सोहम्मे कप्पे सिय आया, सिय णो आया ०जाव णो आयाति य, से केणऽट्ठेणं भंते ! ०जाव णो आयाति य ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! तं चेव ०जाव णो आयाति य, एवं ०जाव अच्चुयकप्पे । आया भंते ! गेविज्जगविमाणे अण्णे गेविज्जगविमाणे एवं जहा रयणप्पभापुढवी तहेव, एवं अणुत्तरविमाणा वि, एवं ईसिप्पब्भारा वि । आया भंते ! परमाणुपोग्गले, अण्णे परमाणुपोग्गले । एवं जहा सोहम्मे कप्पे तहा परमाणुपोग्गले वि भाणियव्वे ।

एवं परमाणुसूत्रमपि ।

आया भंते ! दुपदेसिए खंधे, अण्णे दुपदेसिए खंधे ?, गोयमा ! दुपदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य, सिय णो आया य ४, सिय आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ५, सिय णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ६, से केणऽट्ठेण भंते ! एवं तं चेव ०जाव णो आयाति य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं दुपदेसिए खंधे आयाति य णो आयाति य ३ । देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे दुपदेसिए खंधे आया य णो आया य ४, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ५, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे दुपदेसिए खंधे णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ६ से तेणऽट्ठेणं तं चेव ०जाव णो आयाति य ।

द्विप्रदेशिकसूत्रे षड् भङ्गाः, तत्राद्यास्त्रयः सकलस्कन्धापेक्षाः पूर्वोक्ता एव, तदन्ये तु त्रयो देशापेक्षास्तत्र च गोयमेत्यत आरभ्य व्याख्यायते-'अप्पणो' त्ति-स्वस्य पर्यायैः 'आदिट्ठे' त्ति-आदिष्टे-आदेशे सति; आदिष्ट इत्यर्थः, द्विप्रदेशिकस्कन्ध आत्मा भवति १, एव परस्य पर्यायैरादिष्टोऽनात्मा २, तदुभयस्य द्विप्रदेशिकस्कन्धतदन्यस्कन्धलक्षणस्य पर्यायैरादिष्टोऽसाववक्तव्यं वस्तु स्यात्, कथम् ? आत्मेति वाऽनात्मेति वेति ३, तथा द्विप्रदेशत्वात्तस्य देश एक आदिष्टः, सद्भावप्रधाना-सत्तानुगताः पर्यवा यस्मिन् स सद्भावपर्यवः, अथवा-तृतीयाबहुवचनमिदं स्वपर्यवैरित्यर्थः, द्वितीयस्तु देश आदिष्ट असद्भावपर्यवः परपर्यायैरित्यर्थः, परपर्यवाश्च तदीयद्वितीयदेशसम्बन्धिनो वस्त्वन्तरसम्बन्धिनो वेति, ततश्चासौ द्विप्रदेशिक स्कन्ध क्रमेणात्मा चेति नोआत्मा चेति ४, तथा तस्य देश आदिष्ट सद्भा-

वपर्यवो देशश्चोभयपर्यवस्ततोऽसौ , आत्मा चावक्तव्यं चेति ५, तथा तस्यैव देश आदिष्टोऽसद्भावपर्यवो देशस्तूभयपर्यवस्ततोऽसौ नोआत्मा चावक्तव्य च स्यादिति ६, सप्तमः पुनरात्मा च नोआत्मा चावक्तव्यं चेत्येव रूपो न भवति द्विप्रदेशिके द्व्यंशत्वादस्य, त्रिप्रदेशिकादौ तु स्यादिति सप्तभङ्गी ।

आया भन्ते ! तिपदेसिए खंधे अन्ने तिपदेसिए खंधे ?, गोयमा ! तिपदेसिए खंधे सिय आया १. सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३. सिय आया य णो आया य ४, सिय आया य णो आयाओ य ५, सिय आयाओ य णो आया य ६, सिय आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ७, सिय आयाइ य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य ८, सिय आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ९, सिय णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १०, सिय आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य ११, सिय णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १२, सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १३, से केणऽट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ तिपदेसिए खंधे सिय आया एवं चेव उच्चारेयव्वं ०जाव सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आया य ४, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आयाओ य ५, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे तिपदेसिए खंधे आयाओ य णो आया य ६, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ७, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा तिपदेसिए खंधे आया य अवत्तव्वाइं आया उ य णो आयाउ य ८, देसा आदिट्ठा सब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ९, एए तिण्णि भंगा देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खधे णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १०, देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा तिपदेसिए खंधे णो आया य अवत्तव्वाइं आयाउ य णो आयाउ य ११, देसा आदिट्ठा असब्भावपज्जवा देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १२, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे तिपदेसिए खंधे आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १३, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-तिपदेसिए खंधे सिय आया तं चेव०जाव णो आयाति य ।

त्रिप्रदेशिकस्कन्धे तु त्रयोदशभङ्गास्तत्र पूर्वोक्तेषु सप्तसाद्या सकलादेशास्त्रयस्तथैव तदन्येषु तु त्रिषु त्रयस्त्रय एकवचनबहुवचनभेदात् , सप्तमस्त्वेकविध एव, स्थापना चेयम्—

आ० १	~ ~ ~ आ०	~ ~ ~ आ०	~ ~ ~ आ०	आ० १
नो० २				नो० २
अव० ३	~ ~ ~ अव०	~ ~ ~ अव०	~ ~ ~ अव०	अव० ३

यच्चेह प्रदेशद्वयेऽप्येकवचनं क्वचित्तत्तस्य प्रदेशद्वयस्यैकप्रदेशावगाढत्वादिहेतुनैकत्वविवक्षणात् , भेदविवक्षायां च बहुवचनमिति ।

आया भंते, चउप्पदेसिए खंधे अन्ने० पुच्छा, गोयमा ! चउप्पदेसिए खंधे सिय आया १, सिय णो आया २, सिय अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, सिय आया य णो आया य ४, सिय आया य अवत्तव्वं ४, सिय णो आया य अवत्तव्वं ४, सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं आयानि य णो आति य १६ सिय आया य णो आया य अवत्तव्वाइं आयाओ य णो आयाओ य १७, सिय आया य णो आयाओ य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १८, सिय आयाओ य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १९, से केणऽट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-चउप्पदेसिए खंधे सिय आया य णो आया य अवत्तव्वं, तं चेव अट्ठे पडिउच्चारेयव्वं ?, गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया १, परस्स आदिट्ठे णो आया २, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य ३, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे ४ चउभंगो, सब्भावपज्जवेणं तदुभएण य ४ चउभंगो, असब्भावेणं तदुभएण य ४ चउभंगो, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे तदुभयपज्जवे चउप्पदेसिए खंधे आया य णो आया य अवत्तव्वं आयाति य णो आयाति य १६, देसे आदिट्ठे सब्भावपज्जवे देसे आदिट्ठे असब्भावपज्जवे देसा आदिट्ठा तदुभयपज्जवा चउप्पदेसिए खंधे भवइ आया य णो आया य

स मम ज्ञाने-ज्ञानविषयं आलम्बनं; सहाय इत्यर्थः, 'हु' स्फुटं भवतु इति शेषः। आत्मा मे दर्शने सम्यक्त्वे चारित्रेऽपि चालम्बनं, तथा प्रत्याख्याने-भक्तपरिज्ञारूपे सयमे च संयमसर्वविरत्यङ्गीकाररूपे, योगे च-प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापाररूपे ममाऽऽत्मैवालम्बनमनन्तान्यप्युपात्तानि द्रष्टव्यानि। एक एव चाऽऽत्मा सर्वमङ्गीकरोति।

अथ निर्ममत्वाय एकत्वभावनां भावयति—

एगो वच्चइ जीवो, एगो चेवुववज्जइ।
एगस्स चेव मरणं, एगो सिज्झइ नीरओ ॥ ३९ ॥

'एगो वच्चइ' एकः स्वजनधनादिरहितो व्रजति जीवो, भवान्तरमिति शेषः, एक एव च उत्पद्यते मनुष्यादिरूपतया, एकस्यैव मरणं भवति, एक एव च कर्मरजोरहितः सन् सिध्यति जीवः, भवान्तरगमनस्य मरणस्य चैकार्थत्वेऽपि पृथगुपादानमेकत्वभावनोत्कर्षपोषार्थं नानादेशजविनेयानां व्यक्तार्थप्रतिपादनार्थं वा।

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ४० ॥

'एगो मे' एक एव 'मे' मम आत्मा शश्वद्भवनात् शाश्वतः सहचारी ज्ञानदर्शनसंयुक्तः स एव, मदीय इत्यर्थः, शेषाः केचन 'मे' मम बाह्या भावाः-पदार्थाः, पुत्रकलत्रादिकाः ते सर्वे संयोजनं संयोगः स एव लक्षणं येषां ते तथा कृत्रिममेलापका एवेत्यर्थः, न तु शाश्वताः येषां संयोगस्तेषामवश्यंभावी वियोग इति हेतोर्न मदीयास्ते इति परमार्थः। आतु०।

आत्मकृतमेव च भुज्यते—

को देइ कस्स देजइ, विहिय को हरइ हीरए कस्स।
सयमप्पणा विढत्तं, अल्लियइ सुहं पि दुक्खं पि ॥ १ ॥
महा० ६ अ०।

आत्मनैव च संसारमुत्तरति—

णो णं गोयमा! गुरुसीसगाणं निस्साए संसारमुत्तरेज्जा। णो णं गोयमा! परस्स निस्साए संसारमुत्तरेज्जा। अप्पणो निस्साए संसारमुत्तरेज्जा। महा० ३ अ०।

(आत्मजयेनैव च क्रोधादिजयः)—

जे उ संगामकालंमि, नाया सूरपुरंगमा।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ॥ ६ ॥

सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। (अस्या गाथाया अर्थः 'अभत्तविसीयण' शब्दे प्रथमभागे २२१ पृष्ठे गतः)

तदेव सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

तमेगे परिभामंति, भिक्खयं साहुजीविणं।
जे एवं परिभामंति, अंतए ते समाहिये ॥ ८ ॥

सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। (अस्या गाथाया अर्थः 'परवादिवयण' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)

धर्मे स्वाऽऽत्मसाक्षिक एव—

आया सयमेव अत्थाणं, निउणं जाणे जहट्ठियं।
आया चेव दुप्पतिज्जे, धम्मं वि य अत्तसक्खियं ॥९॥
महा० १ अ०।

उक्तं च श्रीहरिभद्रपूज्यैः—

" आयप्पभवं धम्मं, आयंति य अप्पणो सरूवं च।
दंसणनाणचरित्ते-गत्त जीवस्स परिणाम ॥ १ ॥ "

रे भव्य! हिताय वदामः सर्वागमेषु धर्मः आत्मनः शुद्धपरिणतिरेव निमित्तस्योपादानात्प्राकट्यहेतुत्वात्, बाह्याचरणादिकं साधकैराराध्यते तथापि धर्महेतुत्वेनोपादेयं श्रद्धावद्भिः, तत्स्वात्मक्षेत्रव्यापकरूपानन्तपर्यायलक्षणः धर्मः उत्तराध्ययनावश्यकादिसर्वसिद्धान्ताशयः। अष्ट०३२ अष्ट०।

आत्मज्ञानस्यैव विद्यात्वम्—

नित्यशुच्यात्मताख्याति-रनित्याऽशुच्यनात्मसु।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥ १ ॥
यः पश्येन्नित्यमात्मान-मनित्यं परसंगमम्।
छलं लब्धुं न शक्नोति, तस्य मोहमलिम्लुचः ॥ २ ॥
तरङ्गतरलां लक्ष्मी-मायुर्वायुवदस्थिरम्।
अदभ्रधीरनुध्याये-दभ्रवद्भङ्गुरं वपुः ॥ ३ ॥
शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं, समर्थेऽशुचिसम्भवे।
देहे जलादिना शौच-भ्रमो मूढस्य दारुणः ॥ ४ ॥
यः स्नात्वा समताकुण्डे, हित्वा कश्मलजं मलम्।
पुनर्न याति मालिन्यं, सोऽन्तरात्मा परः शुचिः ॥ ५ ॥
आत्मबोधो नवः पाशो, देहगेहधनादिषु।
यः क्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु स्वस्य बन्धाय जायते ॥ ६ ॥
मिथो युक्तपदार्थाना-मसंक्रमचमत्क्रिया।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥ ७ ॥
अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा।
पश्यन्ति परमात्मान-मात्मन्येव हि योगिनः ॥ ८ ॥

अष्ट० १४ अष्ट०। (अस्याष्टकस्य व्याख्या 'विज्जा' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यामि)

(आत्मविवेकस्यैव विवेकत्वम्)—

कर्मजीवं च संश्लिष्टं, सर्वदा क्षीरनीरवत्।
विभिन्नीकुरुते योऽसौ, मुनिहंसो विवेकवान् ॥ १ ॥
देहाऽऽत्माद्यविवेकोऽयं, सर्वदा सुलभो भवे।
भवतोऽप्यापि तद्भेद-विवेकस्त्वतिदुर्लभः ॥ २ ॥
शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद्, रेखाभिर्मिश्रिता यथा।
विकारैर्मिश्रिता भाति, तथात्मन्यविवेकतः ॥ ३ ॥
यथा योधैः कृतं युद्धं, स्वामिन्येवोपचर्यते।
शुद्धात्मन्यविवेकेन, कर्मस्कन्धोर्जितं तथा ॥ ४ ॥
इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं, पीतोन्मत्तो यथेक्षते।

आत्मा भेदभ्रमस्तद्वत्, देहादावविवेकिनः ॥ ५ ॥
इत्थं परगतभावान्, विवेकाद्रेः पतत्यधः।
परं भावमविज्ञाय-मविवेके निमज्जति ॥ ६ ॥
आत्मन्येवात्मनः कुर्यात्, यः षट्कारकसंगतिम्।
कोऽविवेकज्वरस्यास्य, वैषम्यं जलमज्जनात् ॥ ७ ॥
संयमास्त्रं विवेकेन, शाणेनोत्तेजितं मुनेः।
धृतिधाराल्बणं कर्म,शत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ॥८॥ अ० १५ अ०.
या आत्माश्रयैव भावपूजाऽऽह—
दयाऽम्भसा कृतस्नानः, सन्तोषशुभवस्त्रभृत्।
विवेकतिलकभ्राजी, भावनापावनाशयः ॥ १ ॥
भक्तिश्रद्धानघुसृणो-न्मिश्रपाटीरजद्रवैः।
नवब्रह्माङ्गतो देवं, शुद्धमात्मानमर्चय ॥ २ ॥
क्षमापुष्पस्रजं धर्म- युग्मक्षौमद्वयं तथा।
ध्यानाभरणसारं च, तदङ्गे विनिवेशय ॥ ३ ॥
मदस्थानभिदा त्यागी-लिखाग्रे चाष्टमङ्गलम्।
ज्ञानाग्नौ शुभसंकल्प काकतुण्डं च धूपय ॥ ४ ॥
प्राग् धर्मलवणोत्तारं, धर्मसंन्यासवह्निना।
कुर्वन्पूरय सामर्थ्य-राजन्नीराजनाविधिम् ॥ ५ ॥
स्फुरन्मङ्गलदीपं च, स्थापयानुभवं पुरः।
योगनृत्यपरस्तौर्य-त्रिकसंयमवान् भव ॥ ६ ॥
उल्लसन्मनसः सत्य-घण्टां वादयतस्तव।
भावपूजारतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः ॥ ७ ॥
द्रव्यपूजोचिता भेदो पासना गृहमेधिनाम्।
भावपूजा तु साधूना-मभेदोपासनात्मिका ॥ ८ ॥
अष्ट० २९ अष्ट०। (अस्याष्टकस्य व्याख्या 'पूया' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते) मोक्षे, संयमे च। "आततए परिव्वए" ॥ ७ ॥ आयता-मोक्ष, संयमो वा, तत्राप्तस्तदर्थं परि-समन्तात् व्रजेत्, संयमानुष्ठानक्रियया दयाप्रधानो भवेदित्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। तथा प्रवचनसारोद्धारवृत्त्यादौ इन्द्रियविषयप्रमाणता आत्माङ्गुलेन प्रोक्ताऽस्ति चक्षुष उत्कृष्टविषयतया एकलक्षयोजनरूपा विष्णुकुमारैर्दृष्टान्तः प्रोक्तोऽस्ति, तथा दिक्षु सातिरेकयोजनलक्षाद्रूप गृह्णातीति, सातिरेकत्व तु विष्णुकुमारस्य स्वपदपुर स्थित गर्तादिकं तन्मध्यगत च लेष्ट्वादिकं पश्यन्तीति नयनस्यमहाचूर्णायस्मि, इति चक्षुष सातिरेकलक्षयोजनदूरस्थरूपग्रहणविषये दृष्टान्तकरणाद्विष्णुकुमारविकुर्वितरूपमात्माङ्गुलेन सम्भाव्यते, अन्यथा न दृष्टान्तसमतिस्थित सति प्रश्नोत्तरसमुच्चयचतुर्थप्रकाशप्रान्ते यद्विष्णुकुमारविकुर्वितरूपमुत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नलक्षयोजनप्रमाणमुक्तमस्ति तत्कथमिति प्रश्न., अत्रोत्तरम्-विष्णुकुमारकृत सातिरेकलक्षयोजनप्रमाणरूप चक्षुरिन्द्रियविषयप्रमाणाङ्गुलेनापि सम्भवति न काऽपि विप्रतिपत्ति, यत्र प्रश्नोत्तर उत्सेधाङ्गुलेन प्रोक्तमस्ति तत्र किंचिद्विधेयमस्तीति। २८० प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

आता (या) णुकंपय-आत्मानुकम्पक त्रि०। आत्मानमेवानर्थपरिहारद्वारेणानुकम्पते शुभानुष्ठानेन सद्गतिगामिनं विधत्ते इत्यात्मानुकम्पक। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आत्महितप्रवृत्ते, प्रत्येकबुद्धे जिनकल्पिके च। स्था०। "आयाणुकंपए णाममेगे" (सूत्र-३४२ ×)। आत्मानुकम्पकः-आत्महितप्रवृत्त प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो वा निर्घृण। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

आता (या) णुस्सरण-आत्मानुस्मरण-न०। आत्मनोऽनुस्मृतौ, पं०। "आ-मानुस्सरणाय च" ॥ १६ + ॥ आत्मनोऽनुस्मरणाय च—स्वयंमेवानुस्मृतिनिमित्तम्। पं०। १६ विव०।

आता (या) णुसासण-आत्मानुशासन-न०। आत्मनोऽनुशासने, सूत्र०।

मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयती, से थणती परिदेवती बहु ॥७॥

मा पश्चात्-मरणकाले, भवान्तरे वा कामानुषङ्गादसाधुता-कुगतिगमनादिरूपा भवेत्-प्राप्नुयादिति। अतो विषयासङ्गादात्मानम्-अत्येहि-त्याजय। तथा-आत्मानं च अनुशाधि-आत्मनोऽनुशास्ति कुरु, यथा-हे जीव! यो ह्यसाधु असाधुकर्मकारी-हिंसानृतस्तेयादौ प्रवृत्त सन् दुर्गतौ पतित अधिकम्-अत्यर्थमेव शोचति, स च परमाधार्मिकैः कदर्थ्यमानस्तिर्यक्षु वा क्षुधादिवेदनाग्रस्तोऽत्यर्थं स्तनति—सशब्दं निःश्वसिति। तथा-परिदेवते विलपति-आक्रन्दति। सुबहिति। "हा मातर्म्रियत इति, त्राता नैवाऽस्ति साम्प्रत कश्चित्। किं शरणं मे स्यादिह, दुष्कृतचरितस्य पापस्य ? ॥ १ ॥" इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिण प्राप्नुवन्तीत्यतो विषयानुषङ्गो न विधेय इत्येवमात्मनोऽनुशासनं कुर्विति संबन्धनीयम्। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

आताव-आताप-पुं०। ईषत्तापे, आचा०। "णो खलु मे कप्पति अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा" (सूत्र-२१० +)। कायम्-शरीरमीषत्तापयितुं वा प्रकर्षेण तापयितुं प्रतापयितुं वा। आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ०। "अनादौ स्वरादसंयुक्ताना क-ख-त-थ-प-फा-ग-घ-द-ध-ब-भा." ॥ ८। ४। ३९६ ॥ इति अपभ्रंशे पस्य व.। प्रा०।

आता (या) वग-आतापक-पुं०। आतापयत्यातापनां शीतातपादिसहनरूपा करोतीत्यातापक.। स्था० ५ ठा० २ उ०। आतापनाग्राहिणि परतीर्थिकभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

आता (या) वण-आतापन-न०। सकृदीषद्वा तापने, "आयाविज्जा न पयाविज्जा" सकृदीषद्वा तापनमातापनम्। दश० ४ अ०। शीतादिभि शरीरस्य सन्तापने च। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

आता (या) वणया-आतापनता-स्त्री०। आतापनाता-शीतादिभि शरीरस्य संतापनाता साधः आतापनता। शीतातपादि सहने, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

आता (या) वणा-आतापना-स्त्री० । शीतादिसहनात्मके तपोभेदे पञ्चा० । "आयावणठाणमाईया ॥४८॥" पञ्चा० १८ विव० । " आयावणाए आयावेमाणस्स " । आ० म० १ अ० ५२४गाथाटी० । " आतावते " (सूत्र०-३६६ ×) आतापयति-आतापनाम्-शीताऽऽतपादिसहनरूपाम् । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

"आयावणा य तिविहा, उक्कोसा१ मज्झिमा २ जहन्ना य ३।
उक्कोसा उ निविरणा, निसएणमज्झा ठिय जहन्ना ॥ २ ॥
तिविहा होइ निवएणा,ओमंथिय१ पास२ तइय उत्ताणा ॥"
इति ।

निषएणाऽपि त्रिविधा—

" गोदुह उक्कुड पलिय-कमेस तिविहा य मज्झिमा होइ ।
तइया उ हत्थिसुंड-गपायसमपाइया चेव ॥ १ ॥ "

इयं च निषएणादिका त्रिविधाप्यातापना स्वस्थाने पुनरुत्कृष्टादिभेदा ओमन्थियादिभेदेनावगन्तव्या । इह च यद्यपि स्थानानिगत्वान्नीनामातापनायामन्तर्भावस्तथापि प्रधानतराविवक्षया न पुनरुक्तस्त्व मन्तव्यमिति । स्था०५ ठा०१ उ०।

तद्वक्तव्यता—

नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स वा ०जाव सन्निवेसस्स वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहाए एगपाइयाए ठिचा आयावणाए आयावित्तए ॥२३॥ कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबियाहियाए समतलपाइयाए ठिचा आयावणाए आयावित्तए ॥२४॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या बहिर्ग्रामस्य वा यावत् सन्निवेशस्य वा ऊर्ध्वम्-ऊर्ध्वमुखौ बाहू प्रगृह्य; प्रकर्षेण गृहीत्वा, कृत्वेत्यर्थ , सूर्याभिमुख्या एकपादिकाया एक पादमूर्द्धमाकुञ्च्य अपरं एकपदे सुविकृतवत्या एवंविधाया· स्थित्वा आतापयितुम् ॥ २३ ॥ किं तु कल्पते-' से ' तस्या उपाश्रयस्यान्तर्वगडाया सघाटीप्रतिबद्धाया प्रलम्बितबाहुकाया समतलपादिकाया स्थित्वा आतापनया-आतापनाय; आतापयितुमिति सूत्रार्थ ।

अथ भाष्यम्—

आयावणा य तिविहा, उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना य ।
उक्कोसा उ णिवन्ना, णिसन्नमज्झा वि य जहन्ना ॥२६५॥

आतापना त्रिविधा उत्कृष्टा, मध्यमा, जघन्या च । तत्रोत्कृष्टा-निपन्ना-निपत्य; शयिता या करोतीत्यर्थ । मध्यमा-निषएणस्य, जघन्या तु ऊर्द्धस्थितस्य ।

पुनरेकैका त्रिविधा—

तिविहा होइ निवन्ना, ओमंथे पासतइयमुत्ताणा ।
उक्कोसुक्कोसा उक्को-समज्झिमा उक्कोसगजहन्ना ॥२६६॥

निपन्नस्योत्कृष्टा आतापना, सा त्रिविधा भवति-उत्कृष्टोत्कृष्टा, उत्कृष्टमध्यमा, उत्कृष्टजघन्या च । तत्र यदवाङ्मुख निपत्य आतापना क्रियते सा उत्कृष्टोत्कृष्टा, या तु पार्श्वेन शयान क्रियते सा उ कृष्टमध्यमा, या पुनरुत्तानशयनेन विधीयते सा उत्कृष्टजघन्या ।

उक्कोसा दुइओ वि, मज्झिममज्झिमा जहन्ना य ।
अहमुक्कोसाइममज्झिमा,य अहमाऽधमा चरिमा।२६७॥

निषएणस्य मध्यमा आतापना, सा द्विधा-मध्यमोत्कृष्टा, ' दुइओ वि मज्झिम ' त्ति-मध्यममध्यमा, मध्यमजघन्या । ऊर्ध्वस्थितस्य या जघन्या सा त्रिधा-अधमोत्कृष्टा, अधममध्यमा । अधमा च चरमेति अधमशब्दो जघन्यवाचकोऽत्र द्रष्टव्य ।

एतामामिदं सूत्रम्—

पलियंक अद्ध उक्कुड्ड-गमो य तिविहा उ मज्झिमा होइ ।
तइया उ हत्थिसुंडे-गपादसमपादिगा चेव ॥ २६८ ॥

मध्यमोत्कृष्टा-पर्यङ्कासनसंस्थिता, मध्यममध्या-अर्द्धपर्यङ्का, मध्यमजघन्या-उत्कुटुका । क्वचिदादर्शे पूर्वार्द्धमित्थ दृश्यते-" गोदोहुक्कुडुपलियकमो य ति तिविहा उ मज्झिमा होइ " त्ति, तत्र मध्यमोत्कृष्टा-गोदोहिका, मध्यमा-उत्कुटुका, मध्यमजघन्या-पर्यङ्कासनरूपा । गोशब्द पादपूरणे, एवा त्रिविधा मध्यमा भवति । या तु तृतीयाऽस्ति तस्या जघन्योत्कृष्टादिभेदात्त्रिधा भणिता, सजघन्योत्कृष्टा, हस्तिसुण्डिका पुनर्नाम्यामुपविष्टस्यैकपादोत्पादनरूपा । जघन्यमध्यमा-एकपादिका, उत्थितस्यैकपादेनावस्थान, जघन्यजघन्या-समतलाभ्यां पादाभ्यां स्थित्वा यदूर्द्ध्वस्थितैरातापयते ।

कथ पुन शयितस्योत्कृष्टा आतापना भवतीत्युच्यते—

सव्वंगिओ पतावो, य ताविया घम्मरस्सिणा भूमी ।
ण य कमइ तत्थ वाऊ, विस्सामो नेव गत्ताणं ॥२६९॥

भूमौ निपन्नस्य सर्वाङ्गाना प्रताप -प्रकर्षेण तापो लगति घर्मरश्मिना च भूमि प्रकर्षेणात्यन्ततापिता, नच तत्र भूमौ वायु· क्रमते-प्रचरति न च गात्राणाम्-अङ्गाना विश्रामो भवति, अतो निपन्नस्योत्कृष्टा आतापना मन्तव्या । अथैतासां मध्यादार्यिकाणा का आतापना कर्तुं कल्पते इत्यत आह—

एयासिं णवण्हा-णुन्नाया संजईण अंतिल्ला ।
सेसा नाणुन्नाया, अट्ठ तु आतावणा तेसिं ॥ २७० ॥

एतासा नवानामप्यातापनाना मध्याद् अन्तिमा-समपादिकाख्या आतापना संयतीनामनुज्ञाता, शेषा अष्टावातापना आसा नाऽनुज्ञाता ।

कीदृशे पुन स्थाने च आतापयन्तीत्युच्यते—

पालीहिं जत्थ दीसइ, जत्थ य सइर विसंति न हु दाता ।
उग्गहमादिसु सज्जा, आयावयते ताहिं अज्जा ॥२७१॥

यत्र प्रतिश्रयपालिकाभि -सयतीभि आतापयता दृश्यते । यत्र च स्वैर-स्वच्छन्द युवानो न प्रविशन्ति तत्र स्थाने अवग्रहानन्तकादिभि सघटिकान्तैरुपकरणै सज्जा-आयुक्ता आर्यिका प्रलम्बितबाहुयुगला आतापयन्ति ।

किमर्थमवग्रहानन्तकादिसज्जत्वे चेदत आह—

मुच्छाए विवडिताए, तविए सुमुच्छुतेव संवरणे ।
गोचरमजयणदोसा, जे वुत्ता ते उ पावेज्जा ॥ २७२ ॥

तस्या आतापयन्त्या खरतराऽऽतपसंपर्कपरितापिताया कदाचिन्मूर्च्छा संजायेत तया च निपतिता वा तेन वा

संवरणे-प्रावरणे समुद्भूते 'अत्रप्रहान'तकादिभिर्विना गोचरचर्यायामयतनया प्रविष्टाया ये दोषास्तृतीयोद्देशके उक्तास्तान् प्राप्नुयात्, अतस्तै प्रातृना आतापयेत् । बृ० ५ उ० । (आतापनोदकतीरे न कर्त्तव्येति 'दगतीर' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते ।)

आतावि (न्)-आतापिन्-पुं० । आतापयति-आतापनां शीतातपादिसहनरूपां करोतीत्यातापी । शीतादिसहनकर्तरि, स्था० ४ ठा० ३ उ० । वस्त्रादेरातपे दातरि च । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण । आतपति आ-तप्-णिनि । पक्षिभेदे क्षीरस्वामी । वाच० ।

आता (या) वित्तए-आतापयितुम्-अव्य० । आतपे दातुमित्यर्थे, " आयावित्तए पयावित्तए वा " (सूत्र-५२ ×) आतापयितुमेकवारमातपे दातुं, प्रतापयितुं पुनः पुनरातपे दातुमिच्छति । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ।

आता (या) विया-आतापयित्वा-अव्य० । आतापनां कृत्वेत्यर्थे, " आयाविय २ " (सूत्र- ×) । आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० ३ उ० ।

आता (या) वेमाण-आतापयत्-त्रि० । आतापनां कुर्वति, " आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठंगं भत्तेणं " (५२४ गाथाटी०) । आ० म० १ अ० ।

आता (या) भिणिवेस-आत्माभिनिवेश-पुं० । आत्मनोऽभिनिवेशे, यावदात्माभिनिवेशस्तावदेव संसारः । नं० ।

शौद्धोदनीया पुनरेवमाहुः—

नैरात्म्यादिभावना रागादिक्लेशप्रहाणहेतुः नैरात्म्यादिभावनायाः सकलरागादिविपक्षभूतत्वात्, तथाहि नैरात्म्यावगतौ नाऽऽत्माभिनिवेशः । आत्मनोऽवगमाभावाद्, आत्माभिनिवेशाभावाच्च न पुत्रभ्रातृकलत्रादिष्वात्मीयाभिनिवेशः, आत्मनो हि य उपकारी स आत्मीयो, यश्च प्रतिघातकः स द्वेष्यः, यदा त्वात्मैव न विद्यते किन्तु पूर्वापरक्षणत्रुटितानुसन्धानाः पूर्वपूर्वहेतुप्रतिबद्धाः ज्ञानक्षणा एव तथा तथोत्पद्यन्ते तदा कः कस्योपकर्त्ता उपघातको वा ?, ज्ञानक्षणानां च क्षणमात्रावस्थायितया परमार्थेन उपकर्तुमपकर्तुं वा अशक्यत्वात्, तत्र, तत्त्ववेदिनः पुत्रादिष्वात्मीयाभिनिवेशो, नाऽपि वैरिषु द्वेषो, यस्तु लोकानाममात्मीयानात्मीयाद्यभिनिवेशः सोऽनादिवासनापरिपाकोपनीतो वेदितव्योऽनत्त्वमूलत्वात्, ननु यदि न परमार्थतः कश्चिदुपकार्योपकारकभावस्तर्हि कथमुच्यते भगवान् सुगतः करुणया सकलसत्त्वोपकाराय देशनां कृतवानिति । क्षणिकत्वमपि च यद्येकान्तेन तर्हि तत्त्ववेदी क्षणानन्तरं विनष्टः सन् कदाचनाऽप्येवं भूयो भविष्यामीति जानानः किमर्थं मोक्षाय यत्नमारभते ? तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, भगवान् हि प्राचीनायामवस्थायामवस्थितः सकलमपि जगद्रागद्वेषादिदुःखसमाकुलमभिजानानः कथमिदं सकलमपि जगन्मया दुःखादुद्धर्तव्यमिति समुत्पन्नकृपाविशेषो नैरात्म्यक्षणिकत्वादिकमवगच्छन्नपि तेषामुपकार्यसत्त्वानां निःक्लेशक्षणोत्पादनाय प्रजाहितो राजेव स्वसंततिशुद्ध्यर्थं सकलजगत्साक्षात्करणसमर्थं स्वसंततिगतविशिष्टक्षणोत्पत्तये यत्नमारभते, सकलजगत्साक्षात्कारमन्तरेण सर्वेषामनुग्रहविधानमुपकर्त्तुमशक्यत्वात् । ततः समुत्पन्नकेवलज्ञानः पूर्वोऽहितकृपाविशेषसंस्कारवशात् कृतार्थोऽपि देशनायां प्रवर्त्तते इति । तदेवं श्रुतमय्यात्मप्रज्ञया निर्दोषं नैरात्म्यादिवस्तुतत्त्वं परिभाव्य भावतः तथैव भावयतो जन्तोर्भावनाप्रकर्षविशेषतो वैराग्यमुपजायते ततो मुक्तिलाभः, यस्त्वात्मानमभिमन्यते न तस्य मुक्तिर्भवेत्, यत् आत्मनि परमार्थतया विद्यमाने तत्र स्नेहः प्रवर्तते । ततः स्नेहवशाच्च तत्सुखेषु परितर्षवान् भवति, तृष्णावशाच्च सुखसाधनेषु दोषान् सतोऽपि तिरस्कुरुते गुणांस्त्वाभिभूतानपि पश्यति । ततो गुणदर्शी सन् तानि ममत्वविषयीकरोति तस्माद्यावदात्माभिवेशः तावत्संसारः,

आह च-

" यः पश्यत्यात्मानं तत्रा-स्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति, तृष्णादोषांस्तिरस्कुरुते ॥ १ ॥
गुणदर्शी परितृष्यन्, ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो, यावत्तावत्स संसारे ' ॥ २ ॥

तदेतत्सर्वमन्तःकरणकृतावासमहामोहमहीयस्ताविलसितम्, आत्माभावे बन्धमोक्षाऽऽद्येकाधिकरणत्वायोगात्, तथाहि—यदि नात्माभ्युपगम्यते किं तु पूर्वापरक्षणत्रुटितानुसंधाना ज्ञानलक्षणा एव, तथा सत्यन्यस्य बन्धः, अन्यस्य मुक्तिः, अन्यस्य क्षुद्, अन्यस्य तृप्तिः, अन्योऽनुभविता, अन्यः स्मर्ता, अन्यश्चिकित्सादुःखमनुभवति, अन्यो व्याधिरहितो भवति, अन्यः तपःक्लेशमपि सहते, परः स्वर्गसुखमनुभवति, अपरः शास्त्रमभ्यसितुमारभते, अन्योऽधिगतशास्त्रार्थो भवति, न चैतद्युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्, सन्तानापेक्षया बन्धमोक्षादेरेकाधिकरण्यमितिचेत्, न, सन्तानस्यापि भवन्मते नानुपपद्यमानत्वात्, सन्तानो हि सन्तानिभ्यो भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा ? यदि भिन्नस्तर्हि पुनरपि विकल्पयुगलमुपढौकते । स किं नित्यः, क्षणिको वा ?, यदि नित्यस्ततो न तस्य बन्धमोक्षादिसंभवः, आकालमेकस्वभावतया तस्यावस्थावैचित्र्यानुपपत्तेः । न च नित्यं किमप्यभ्युपगम्यते, " सर्वं क्षणिकम् " ति वचनात्, अथ क्षणिकस्तर्हि तदेव प्राचीनं बन्धमोक्षादिवैयधिकरण्यं प्रसक्तम्, अथाभिन्न इति पक्षस्तर्हि सन्तानिन एव, न सन्तानः, तदभिन्नत्वात् तत्स्वरूपवत्, तथा च सति तदवस्थमेव प्राक्तनं दूषणमिति । नं० ।

आता-(या)भिसित्त-आत्माभिषिक्त-पुं० । निजबलेन राज्याभिषिक्ते भरतादौ, व्य० ।

अहवा राया दुविहो, आयॉभिसित्तो पराभिसित्तो य
आयॉभिसित्तो भरहो, तस्स उ पुत्तो परेणं तु ॥१०५॥

राजा द्विविधो भवति । तद्यथा-आत्माभिषिक्तः, पराऽभिषिक्तश्च । व्य० ५ उ० । (विशेषतश्चास्या गाथाया व्याख्या षष्ठे भागे ' राय ' शब्दे करिष्यते)

आता(या)रामि(न्) आत्मारामिन्-पुं० । आत्मविश्रामिणि आत्मानुभवमग्ने, स स्वयं संसारान्निवृत्तस्तत्सेवनापरान्निस्तारयति । अष्ट० ६ अष्ट० ।

आतालिज्जंत-आताड्यमान-त्रि० । आ-समन्तात् ताड्यमाने, " आतालिज्जताण तालीणं, तालाणं, कम्मनालाण " नि। आ० चू० १ अ० ।

आता (या) व-आताप-पुं०। " पो व " ॥ ८ । १ । २३१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण पस्य व. । असुरकुमारविशेषे, विशेषस्तु नाव गम्यते इति, अभयदेवसूरि । भ० १३ श० ६ उ०।

आता (या) वाइ (न्)-आत्मवादिन्-पुं०। " से आयावादी " (सूत्र-५ ×) । आत्मान वदितु शीलमस्येति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " एस आयावाई " (सूत्र-१६५ ×) । यथावस्थितात्मवादिनि. आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । (आत्मवादिनोऽशब्दवक्तव्यनाऽऽचाराङ्ग-प्रथमश्रुतस्कन्धप्रथमाध्ययनस्य प्रथमे उद्देशके (सूत्र-५ आरभ्य) सा ' आता ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता) तथा च ऐक्यवादिनमधिकृत्य-अपरस्त्वात्मैवास्ति, नान्यदिति प्रतिपन्नः, तदुक्तम्-' पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् , उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्यास्य बाह्यत " इति। स्था० टी० ८ ठा० ३ उ० । येऽपि च आत्मवादिन "पुरुष एवेदं सर्वमि" त्यादि प्रतिपन्ना , तेऽपि महामोहोरगगरलपूरमूर्छितमानसा वेदितव्या । नं० । (अत्र विस्तरं ' एगावाइन् ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यामि)

आता (या) हम्म-आत्मघ्न-न० । आत्मा हन्यते तेषु तेषु यातनास्थानेषु येन तदात्मघ्नम् । दर्श० ४ तत्त्व ।

आत्मघ्नैकार्थिकानि—

आहा अहे य कम्मे, आताहम्मे य अत्तकम्मे य।
तं पुण आहाकम्मं, नायव्वं कप्पते कस्स ॥ ४५६ ॥

आधाकर्म १, अध कर्म २, आत्मघ्न. ३, आत्मकर्म ४, इति चत्वारि नामानि । (वृ०) आत्मानं-ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नम् । वृ० ४ उ०। आत्मानं दुर्गतिप्रपातकारणतया हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नम् । पिं० । आधाकर्मणि, पिं० । (आत्मघ्नस्याधाकर्मैकार्थिकत्वम् ' आधाकम्म ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे विस्तरतो वक्ष्यते)

एतस्य निक्षेप.—

आयाहम्मं वि चउव्विधो निक्खेवो. दव्वाऽऽयाहम्मे अणुवउत्तो पाणाऽतिवायं करेंतो भावाऽऽते णाणदंसणचरणा, तं हणंतो भावाऽऽताहम्म । नि० चू० १० उ०।

सम्प्रत्यात्मघ्ननाम्नोऽवसर , तदपि चात्मघ्नं चतुर्द्धा. तद्यथा-नामाऽऽत्मघ्न स्थापनात्मघ्न , द्रव्यात्मघ्न भावात्मघ्न च । इदमप्यध कर्मवत् तावद्भावनीय यावन्नोआगमतो ज्ञशरीरद्रव्यात्मघ्नम् , भव्यशरीरद्रव्यात्मघ्नम् ।

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यात्मघ्न निर्युक्तिकृदाह-

अट्ठाए अणट्ठाए, छक्कायपमद्दणं तु जो कुणइ।
अनियाए अ नियाए, आयाहम्मं तयं बेंति ॥ १०३ ॥

यो गृहं अर्थाय-स्वस्य परस्य वा निमित्तम् अनर्थाय प्रयोजनमन्तरेण एवमेव पापकरणशीलतया ' अणियाए य नियाए ' त्ति-निदान निदा-प्राणिहिंसा नरकादिदु खहेतुरिति जानतापि, यद्वा-साधूनामाधाकर्म न कल्पते इति परिज्ञानवतापि यज्जीवानां प्राणव्यपरोपणं सा निदा । तन्निषेधाद्-अनिदा पूर्वोक्तपरिज्ञानविकलेन सता यत् परप्राणनिर्वहणं सा अनिदेति भावार्थ. । अथवा-स्वार्थं परार्थं वेति विभागेनोद्दिश्य यत् प्राणव्यपरोपणं सा निदा, तन्निषेधाद्-अनिदा, यत् स्वं पुत्रादिकमन्य वा विभागेनाविविच्य सामान्येन विधीयते । अथ वा-व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य हा धिक् सम्प्रत्येष मां मारयिष्यतीति परिज्ञानतो यत् प्राणव्यपरोपणं सा निदा, तद्विपरीता-अनिदा, यत् अजानतो व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य व्यापादनमिति ।

तथा चाह भाष्यकृत्—

जाणंतो अजाणंतो, तहेव उद्दिसिय ओहओ वाऽवि।
जाणगअजाणगं वा, वहेइ अनिया निया एसा ॥ ३१ ॥

व्याख्यातार्थो । ततो निदया अनिदया वा य षट्कायप्रमर्दन करोति—षण्णा पृथिव्यादीना कायाना प्राणव्यपरोपण विदधाति । तत् षट्कायप्रमर्दनम् आत्मघ्नम् नोआगमतो द्रव्यात्मघ्न ब्रुवन्ति तीर्थकरगणधरा । अथ षट्कायप्रमर्दनं कथं नोआगमतो द्रव्यात्मघ्नम् ?, यावता भावाऽऽत्मघ्न कस्मान्न भवति ?, अत आह-

दव्वाऽऽया खलु काया,

अस्य व्याख्या—काया —पृथिव्यादय खलु निश्चयेन द्रव्यात्मानो द्रव्यरूपा आत्मान जीवानां गुणपर्यायवत्तया द्रव्यत्वात् , उक्त च-" अजीवकाया -धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गला , द्रव्याणि जीवाश्च " (तत्त्वा० ५ अ०-सूत्र१-२) इति। ततस्तेषां यत् उपमर्दनं तत् द्रव्याऽऽत्मघ्न भवति। उक्त द्रव्यात्मघ्नम्।

संप्रति भावाऽऽत्मघ्नं वक्तव्य, तच्च द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमत आत्मघ्नशब्दार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्त ।

नोआगमत आत्मघ्नमाह—

भावाऽऽया तिन्नि नाणमाईणि।
परपाणपाडणरओ, चरणायं अप्पणो हणइ ॥ १०४॥

भावाऽऽत्मानो भावरूपा आत्मानस्त्रीणि ज्ञानादीनि—ज्ञानदर्शनचारित्राणि आत्मनो हि पारमार्थिकं स्वरूप ज्ञानदर्शनचरणात्मकं ततस्तान्येव परमार्थत आत्मनो न शेष द्रव्यमात्रं स्वस्वरूपाभावात् , ततो यश्चारित्री सन् परेषां पृथिव्यादीना य प्राणा इन्द्रियादयस्तेषा यत् पातन-विनाशन तस्मिन् रत.-आसक्त स आत्मनश्चरणरूपं भावाऽऽत्मानं हन्ति । चरणात्मनि च हते ज्ञानदर्शनरूपावप्यात्मानौ परमार्थतो हतावेव द्रष्टव्यौ ।

यत आह—

निच्छयनयस्स चरणा-ऽऽयविघाए नाणदंसणवहो वि।
ववहारस्स उ चरणे, हयम्मि भयणा उ सेसाणं ॥१०५॥

निश्चयनयस्य मतेन चरणात्मविघाते सति ज्ञानदर्शनयोरपि वधो-विघातो द्रष्टव्य , ज्ञानदर्शनयोर्हि फल चरणप्रतिपत्तिरूपा सन्मार्गप्रवृत्तिः । सा चेन् नास्ति तर्हि ते अपि

ज्ञानदर्शने परमार्थतोऽसती एव, स्वकार्याकरणात् । उक्तं च मूलटीकायाम्-चरणाऽऽत्मविघाते ज्ञानदर्शनयोरपि तयोश्चरणफलत्वात् फलाभावे च हेतोर्निरर्थकत्वादिति । अपि च-यश्चरणं प्रतिपद्य आहारलाम्पट्यादिना ततो न विनिवर्तते स नियमाद्भगवदाज्ञाविलोपादिदोषभागी, भगवदाज्ञाविलोपादौ च वर्तमानो न सम्यग्ज्ञानी नापि सम्यग्दर्शनी । उक्तं च—

"आणाइ चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गं ति ।
आणं च अइक्कंतो, कस्साऽऽएसा कुणइ सेस" ॥ १ ॥

तथा—

"जो जह वायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी-तओ हु को अन्नो ।
वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो" ॥ २ ॥

तन्नश्चरणविघाते नियमतो ज्ञानदर्शनविघात । व्यवहारस्य-व्यवहारनयस्य पुनर्मतेन हते चरणे शेषयोर्ज्ञानदर्शनयोर्भजना कश्चित्कृत । कथंचिन्न । य एकान्तेन भगवतो विप्रतिपन्नस्तस्य न भवतो यस्तु देशविरति भगवति श्रद्धानमात्र वा कुर्वन तस्य व्यवहारनयमतेन सम्यग्दर्शनसद्भाव इति । ततो निश्चयनयमतापेक्षया चरणात्मनि हते ज्ञानदर्शनरूपावप्यात्मानौ हतावेवेति । परप्राणव्यपरोपणेन समूलमात्मानम्म इति परप्राणव्यपरोपणमात्मघ्ना. तच्च साधोराधाकर्मभुञ्जानस्यानुमोदनादिद्वारेण नियमेन संभवतीत्युपचारत आधाकर्म आत्मघ्नमित्युच्यते तदेवमुक्तमात्मघ्ननाम । पिं० । आत्मघ्नपिण्डे, पिं० ।

आता (या) हिगरणवत्तिय-आत्माधिकरणप्रत्यय-त्रि० । आत्मनोऽधिकरणानि आत्माधिकरणानि तान्येव प्रत्यय -कारणं यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययम् । आत्माधिकरणकारणके " आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ " (सूत्र-२६२ ×) । साम्परायिकी क्रिया क्रियत इति योग. । भ० ७ श० १ उ० ।

आता (या) हिगरणि (न्)-आत्माधिकरणिन्-पुं० । अधिकरणी कृष्यादिमान् आत्मनाऽधिकरणी आत्माधिकरणी । आत्मना कृष्यादिमति, भ० १६ श० १ उ० । " आया हिगरणी भवइ" (सूत्र-२६२×)। आत्मा-जीवोऽधिकरणानिहलशकटादीनि कषायाश्रयभूतानि यस्य सन्ति सोऽधिकरणी । भ० ७ श० १ उ० ।

आता(या)हिय-आत्महित-त्रि० । आत्मोपकारके, आचा० । " परलोकविरुद्धानि, कुर्वाण दूरतस्त्यजेत् । आत्मानं यो न सन्धत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितं ॥१॥ " इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

आति (ती) ण- आजिन-न० । मूषिकादिचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा० । " आति (ती) णाणि वा, " (सूत्र-१४५ +) । आजिनानि मूषिकादिचर्मनिष्पन्नानि । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

आती (अप्पी) कय-आत्मीकृत-त्रि० । आत्मना गाढतरमागृहीते आत्मप्रदेशैस्तनुलग्नतोयवन्मिश्रीभूते , विशे० । आ० म० ।

आतीय-आतीत-त्रि० । आ-समन्तादतीव इतः-ज्ञातः । समन्तादतीव ज्ञाते, सामस्त्येनानिक्रान्ते, समन्तादतीव गते च । आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । " अणातीयं " (सूत्र-२२२+) आ—समन्तादतीव इतो-गतोऽनादयनन्ते ससारे आतीत न आतीतोऽनातीतः, अनाप्तो वा सशयो येन स तथा; ससारार्णवपारगामीत्यर्थ. । आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० ।

आत्मीय-त्रि० । आत्मनोऽयम् । छ प्रत्यय. छस्य ईया-ऽऽदेशश्च । आत्मसंबन्धिनि, वाच० ।

आतीयट्ठ-आतीतार्थ-त्रि० । आ-समन्तादतिशयेन ज्ञातजीवादिपदार्थे सामस्त्येनानिक्रान्तार्थे, उपरतव्यापारे, " आतीयट्ठ अणानीय " (सूत्र-२२२+)। आ-समन्तादतीव इता.-ज्ञाता परिच्छिन्ना जीवादयोऽर्था येन सोऽयमतीतार्थ. । आदृतार्थे वा । यदि वा—अतीता -सामस्त्येनातिक्रान्ता अर्था —प्रयोजनानि यस्य स तथा, उपरतव्यापार इत्यर्थ. । आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

आतुर-आतुर-त्रि० । ईषदर्थे, आ । आत-उरच् । कार्य्याऽ-क्षम वाच० । विह्वले, उत्त० ३२ अ० ।

आतिस्सरिय-आत्मैश्वर्य-न० । स्वरूपसाम्राज्ये,अष्ट० । आत्मैश्वर्यम्-स्वरूपसाम्राज्यम् (१ श्लोकटी०) अष्ट० १२ अष्ट० ।

आत्त(ताय)-आदत्त-त्रि० गृहीते, अनु० । " आत्तपएं सरीरसमुस्सएण जिणदिट्ठेणं भावेणं, " (सूत्र-१७+) । आत्तेन आदत्तेन वा गृहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा । अनु० ।

आत्ततर- आत्ततर-त्रि० । अतिशयेन आत्तो-गृहीतः आत्ततर । यत्नेनाध्यवसिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

आदं (यं) स-आदरिस-आदस्स-आदर्श-पुं० । आदृश्यतेऽत्र दृश-आधारे घञ् । वाच० । आ-समन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्श । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दर्पणे, रा० । " आदंसगं च पयच्छाहि " (सूत्र-११+) । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । चक्षुरिन्द्रियजज्ञाने च । " आपण वेदनादर्शीऽऽस्वाद्यवार्ताश्च विन्दथ ॥११॥ " द्वा० । आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजज्ञानम्, आ-समन्तात् दृश्यते-अनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, यत्प्रकर्षाद्दिव्यरूपज्ञानमुत्पद्यते । द्वा० २६ द्वा० । तत्र हि विम्बपदार्थस्य प्रतिबिम्बपतनात् तत्संयोगेन नयनरश्मीनां परावर्तने वा बिम्बग्राहितया बिम्ब दृश्यते इति तस्य तथात्वम् । आदृश्यते सम्यग्रूपेण ज्ञायते प्रास्यार्थो यस्मिन् । टीकायां ३ मनिरूपपुस्तकादौ यत्रस्थमक्षरसंनिवेश दृष्ट्वा तदनुरूपमन्यल्लिख्यते तादृशे पुस्तके । यथादर्शं तथा लिखितमिति भूरि प्रयोग । तत्र तदीयगुणान् दृष्ट्वा परैस्तथा गुणा आश्रीयन्त इति तस्य तथात्वम् । अनवसीमाभेदे च । वाच० । वृषभादिग्रीवाभरणे च । आदर्शस्तु-वृषभादिग्रीवाभरणम् । अनु० ।

आदं (यं) सग-आदरिसग- आदसग-आदर्शक-पु० । आ-समन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्श । स एवादर्शकः । दर्पणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ०२ उ० । रा० । आदर्श भव. ।

भवादौ वुञ् जनपदात्रधिसूत्रकस्थानभवे च । त्रि०। वाच०।

आदं (यं) स (आदरिस) (आदस्स) घरग-आदर्शगृहक-न०। आदर्शमये गृहे, रा०। "आदसघरगा सव्वरयणामया" आदर्शगृहकाणि आदर्शमयानीव गृहाणि । रा०। जं०। जी०। (भरतस्यादर्शगृहस्थितिकथानकं 'भरह' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते ।)

आदं (यं) सतल-आदर्शतल-न०। दर्पणतले, औ०।

आदं (यं) स (आदरिस) (आदस्स) तलोवम-आदर्शतलोपम-त्रि०। आदर्शो-दर्पणस्तस्य तलं तेन समतयोपमा यस्य आदर्शतलोपमः । आदर्शतलवत्समे, रा०।

आदं (यं) स (आदरिस)(आदस्स) मंडल-आदर्शमण्डल-न०। आदर्श इव मण्डलमस्य। आदर्शाकारमण्डलयुक्ते सर्पभेदे, आदर्शो मण्डलमिव । मण्डलाकारे दर्पणे, न०। वाच०। जावशब्दग्राह्य बहुसमत्ववर्णके टीकायाम् पाठ— "आयसमण्डलेइ वा" (सूत्र-६+) । जं० १ वक्ष०। "आयंसमंडलतल व्व" (सूत्र-२६)। प्रश्न० ५ संव० द्वार।

आदं (यं) स (आदरिस) (आदस्स) मुह-आदर्शमुख-पुं०। स्वनामख्याते अन्तरद्वीपभेदे, जी० ३ प्रति० ३ अधि०। तद्वक्तव्यता 'अन्तरदीव' शब्दे प्रथमभागे गता)

आदं (यं) स (आदरिस) (आदस्स) लिवि-आदर्शलिपि-स्त्री०। ब्राह्मीलिपेर्लेख्यविधानभेदे, स० १८ सम०।

आद (य) र-आदर-पुं०। आ-दृ-कप्। गौरवहेतुके कर्मणि, सम्माने, वाच०। सत्कारे, स्था० ६ ठा० ३ उ०। "तं पुरिसं आयरेण रक्खेह ॥ १३३ + ॥ आ० म० १ अ०। उचितकृत्यकरणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रयत्नातिशये, पञ्चा०। "यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति । कर्तुः शेषत्यागेन करोति यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥१॥ पञ्चा० २ विव०। "आ दृङः सन्नामः" ॥ ८।४।८३ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणाद्रियतेः सन्नाम इत्यादेशो वा भवति । सन्नामइ । आदरेइ । प्रा०।

आद (य) रण-आदरण-न०। अभ्युपगमे, भ० १२ श० ५ उ०।

आद (य) रणया-आदरणता-स्त्री०। अभ्युपगमे, "आयरणया" (सूत्र-४४६ +) । 'आयरणय' त्ति-यतो मायाविशेषादादरणमभ्युपगमं कस्यापि वस्तुनः करोत्यसावादरणम् , तापत्ययस्य च स्वार्थिकत्वात् आदरणया, आचरणं वा परप्रतारणाय विविधक्रियाणामाचरणम् । भ० १२ श० ५ उ०।

आद (य) रतर-आदरतर-पुं०। अत्यादरे, दश०। "आयरतरेण रक्खंते" (११२४)। अत्यादरेण राध्यन्ति । दश०१ अ०।

आद (य) राइजुत्त-आदरादियुक्त-त्रि० । आदरकरणप्रीत्यादिसमन्वितं पा०।

स्यादादरादियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम् ॥ १४ ॥

'स्यादादरादियुक्तं' यद् आदरकरणप्रीत्यादिसमन्वितं यत् स्यात् तद्देवार्चनं चेष्ट-नच देवार्चनमिष्टम् । पो० ५ विव०।

आदहण-आदहन-न०। आ-दह-भावे ल्युट् । दाहे, हिंसायाम् , कुत्सने च । आदह्यतेऽत्र आधारे ल्युट् श्मशाने, वाच०। आ-समन्ताद्दहने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

आदा (या) ण-आदान-न०। आ-दा-भावे ल्युट् । ग्रहणे, वाच०। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । पं० व०। औ०। आ०चू०। उत्त०। स्था०। विशे०। प्रव०। "आयाण सुसमाहरे" ॥२०॥ आहरेत्-आददीत; गृह्णीयादित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। 'दण्डसमादाणं संपेहाए" (सूत्र-७४४)। दण्ड्यन्ते-व्यापाद्यन्ते प्राणिनो येन स दण्डस्तस्य सम्यगादानं-ग्रहणम्-समादानम् । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०। स्वीकरणे स्था० ३ ठा० ३ उ०। "सयमाइयति अन्ने वि, आदियावेति अन्न पि आयतंतं समणुजाणंति " (सूत्र-६+) स्वयम्-आत्मना सावद्यमनुष्ठानमाददते स्वीकुर्वन्ति अन्यान्यप्यादापयन्ति—ग्राहयन्ति अन्यमप्यादानं-परिग्रहं स्वीकुर्वन्तं समनुजानन्ति । सूत्र० २ श्रु० १ अ०। आदीयत इत्यादानम् परिग्राह्ये वस्तुनि, स्था० ४ ठा० १ उ०। आदीयते-गृह्यत इत्यादानम् । धनधान्यादिके परिग्रहे, आव० ४ अ०। प्रव०। कल्प०। स्था०।

आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि ॥ ८+ ॥

साधुस्तृणमपि 'नायइज्ज' इति-नाऽऽददीत-अदत्तं न गृह्णीत, किं कृत्वा आदानं-नरकं दृष्ट्वा आदीयते इत्यादानं-धनधान्यादिकं परिग्रहं, नरकं-नरकहेतुत्वान्नरकं ज्ञात्वेत्यर्थः । उत्त० लक्ष्मी० टी० ६ अ०। आदीयत इत्यादानधनधान्यादि, कृत्यल्युटोऽन्यत्रापि " कृत्यल्युटो बहुलम्" (पाणि० ३।३।११३।) इति कर्मणि ल्युट् । अपिर्व्याख्यानीय वा नरककारणत्वान्नरकं दृष्ट्वा, किमित्याह—नाददीत—न गृह्णीत न स्वीकुर्य्यादिति यावत् । 'तणामवी'ति तृणमप्यास्तां रजतरूप्यादीनि । उत्त०पाई० १ अ०। मिथ्यात्वादि नाऽऽदीयत इत्यादानम् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। आदीयते सावद्यानुष्ठानेन स्वीक्रियते इत्यादानम् , कर्म । " आयाणसायगढिए" (सूत्र-१३८४) । अष्टप्रकारके कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। आचा०। आदीयते वाऽनेनेत्यादानम् । कर्मोपादाने, "आयाण" (सूत्र-१८४+)। आचा०१ श्रु०६ अ० ३ उ०। " सागारिए उवस्सए णो ठाणं वा निसीयणं वा तुयट्टणं वा चेतेज्जा । आयाणमेय' (सूत्र-६७४)। आचा० २ श्रु० १ चू० २ अ० १ उ०। " एय खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता " (सूत्र-१८४+)। एतत्-पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा खु वाक्यालंकारे, आदीयत इत्यादानं—कर्म, आदीयते वाऽनेन कर्मेत्यादानं-कर्मोपादानम् तच्च धर्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्निर्मोक्षयितेति सम्बन्धः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। "सन्ति मे तओ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं " (२६४)। सन्ति-विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयन्ते—स्वीक्रियन्ते श्रमीभिः कर्मेत्यादानानि एतदेव दर्शयति-यैरादानैः क्रियते-विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। " संखडिं संखडिपडियाए णो अभिसंधारेज्जा गमणाए, केवली बूया-आयाणमेयं (सूत्र-१७+)। केवली

ग्रहात्-आदानानि-कर्मोपादानानि-आस्रवद्वाराणि इति। पाठान्तरं वा— 'आयतणेसु' ति-आयतन-स्थानमनर्थानां यत्सम्यग्दर्शनम्। आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ३ उ०। "एत्थ आयाणा संति" (सूत्र-१५४)। एतस्मिन्नपि आयतनानि-कर्मोपादानकारणानि सन्ति-भवन्ति। आचा० २ श्रु०१ चू० १ अ० ३ उ०। आदीयते-गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह एकत्वेन अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानम्। हिंसाद्याश्रवद्वारे, अष्टादशपापस्थानेषु च। आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। "आयाणं सगडब्भि" (सूत्र-१२१×)। आदीयते गृह्यते आत्मप्रदेशैः सह एकत्वेन अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं हिंसाद्याश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूपं वा, तत्र स्वकीयनिर्मितानाम् कपायाणामादानं तदभिमानं स्वकृतमिति यावत्। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। ('समदंसिकञ्च आदेइ' इत्यत्र आदानं ...) कर्माणि, परिग्रहे सावद्यानुष्ठाने च। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। "जमिणं जगती पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो। सयमेव कडेहिं गाहइ णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं।" सूत्र० ... "आयाणसो पुरा परिणवि" (सूत्र ×) आदीयते-स्वीक्रियते अष्टप्रकारं कर्म येन तदादानम्-हिंसादि, परिग्रहः सावद्यानुष्ठानं वा। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

सुनावाणे रहिंदं च, उवगहं च अज्झाइया।
सन्व्यादाणाइं लोगंसि, तं विज्ज परिजाणिया ॥ १० ॥
पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्ज परिजाणिया ॥ ११ ॥

तथा-आदीयते-गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्म येनाऽऽस्रवद्वारेण तानि (आदानानि)-कर्मोपादानकारणानि ... सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। एतानि पापकृतादीनि आदानानि लोके आदानानि वर्तन्ते, विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। (१०-११। अनयोर्गाथयोर्विशेषतः व्याख्यानं 'धम्म' शब्दे चतुर्थभागे करिष्यते) आदीयते-स्वीक्रियते, प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानम्। ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, "सुनीय य विगयगेही आयाणं सम्मरक्खए" ॥१५॥ विविधम्-अनेकप्रकारमुक्तेन न्यायेन दश विधचक्रवालसामाचार्यां व्यवस्थितः ... आदानीयं ज्ञानदर्शनचारित्रमादीयते-स्वीक्रियते, प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानीयं ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं सम्यगात्मनि रक्षयेत्-अनुपालयेत्, यथा तस्य वृद्धिर्भवति तथा कुर्यादित्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। "आयाणमट्ठी वोदाणमोणं" (सूत्र-१७×)। मोक्षार्थिनाऽऽदीयत इत्यादानम् सम्यग्ज्ञानादिकर्माणि। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। "आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा ॥४४॥ मोक्षार्थमादीयत-इत्यादानं-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं तद्विद्यते यस्यासावादानवान्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। "आयाणं सम्ममाहरे" ॥१६॥ मोक्षस्यादानम्-उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तयुक्त सम्यग्ज्ञानाऽभिकारहितं आहरेत्-आददीत, गृह्णीयादित्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। "अज्झप्पजोगसुद्धादाणे" १४१। (सूत्र-३ ×) शुद्धमवदानम् आदानं-चारित्रं यस्य स शुद्धादानो भवति। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। आदीयत इत्यादानम्। मोक्षे, 'आयाणमट्ठं खलु वञ्चयित्ता' (सूत्र-४+) आदीयत इत्यादानम्-ज्ञानादिकं, मोक्षो वा तमर्थं वञ्चयन्ति-भ्रंशयन्त्यात्मन। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। संयम, "आयाणगुत्ते वलयाविमुक्के ॥२२+॥ मोक्षार्थिनाऽऽदीयते-गृह्यत इत्यादानं-संयमस्तेन तस्मिन् वा सति गुप्तः। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। संयमानुष्ठाने च। "एस वीरे पसंसिए, जे ण णिविज्जति आदाणाए" (सूत्र-८४+) भोगाशाछन्दविविक्तोऽप्रमादी पञ्चमहाव्रतभारारोपणार्पितस्कन्धो वीरः कर्मविदारणात् प्रशंसितः-स्तुतो देवराजादिभिः, क एव वीरो नाम योऽभिष्टूयत इत्यत आह 'जे' इत्यादि; यो न निर्विद्यते न खिद्यते न जुगुप्सते, कस्मै? आदानाय—आदीयते-गृह्यते अपास्यते आत्मस्वरूपमशेषात्मककर्मतयाविर्भूतसमस्तवस्तुस्वभावानां येन तदादानं—संयमानुष्ठानं तस्मै न जुगुप्सते, तथा कुर्वन् सिकताकवलवन्निरस्वादं कश्चिद्दलाभार्थी न सुदमुपयातीति। आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०। आदीयत इत्यादानम्। प्रथमव्रतग्रहणे। सूत्र०। 'जावज्जीवाए जाहिं समणोवासगस्स आयाणसो, आमरणताए दंडे णिक्खित्ते' (सूत्र०)। श्रमणोपासकस्याऽऽदीयत इत्यादानम्-प्रथमव्रतग्रहणम्, तत आरभ्य आमरणान्तादण्डो निक्षिप्त -परित्यक्तो भवति। सूत्र०२ श्रु०७ अ०। कतश्चिदादीयत इत्यादानम्। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। कारणे, कल्प०। "आयाणमेयं," कर्मणां-दोषाणां वा आदानम्-उपादानकारणम्। कल्प० ३ अधि०६ क्षण। "पगइओ कम्मइ आयाणेण विरुद्धे समाणे" (सूत्र-३२+)। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। एकः कश्चित् प्रकृत्या क्रोधनाऽसहिष्णुतया कतश्चिदादीयत इत्यादानम्-शब्दादिकं कारणं तेन विरुद्धः सन् परस्यापकुर्यात् शब्दादानेन तावत्केनचिदाक्रुष्टो निन्दितो वा विरुध्येत् रूपादानेन तु बीभत्सं कञ्चन दृष्ट्वा अपशकुनाध्यवसायेन कुप्येत। सूत्र० २ श्रु० २ अ०। आदीयन्ते-गृह्यन्ते शब्दादयोऽर्था एभिरित्यादानानि। इन्द्रिय, वृ० १ उ०। "केवली णं आयाणेहिं न जाणइ न पासइ" (सूत्र-१६८+)। आदीयते गृह्यतेऽर्थ एभिरित्यादानानि-इन्द्रियाणि तैर्न जानाति केवलित्वात्। भ० ५ श० ४ उ०। "आयाणनिरुद्धाओ" ॥१८६+॥ आदानानीन्द्रियाणि निरुद्धानि यस्याः सा निरुद्धादाना, गाथायां व्यत्ययेन पूर्वापरनिपातः प्राकृतत्वात्। वृ० १ उ० ३ प्रक०। "आयाणगुत्ता विकहाविहीणा" (८८४+)। आदाने-इन्द्रियैर्गुप्ता। वृ०३ उ०। आदीयते कर्मानेनेत्यादानम्। कुत्सितेहित इन्द्रिये च। आचा०। "आयाणसोयमतिवायसोय" ॥१६५॥ आचा० १ श्रु०६ अ०। आदीयत गृह्यत, प्रथमम्-आदौ यत्तदानम्। सूत्र०१ श्रु०१० अ०। आचा०। आदौ, (प्रथमे) 'आयाणपएणं ॥५०३+॥ आदीयत-इत्यादानम्—आदि, प्रथममित्यर्थः, तच्च तत्पदञ्च निराकाङ्क्षतया अर्थगमकत्वेन वाक्यमेवादानपदम्। उत्त० २६ अ०। "से किं त आयाणपदेणं" (सूत्र-+) आदीयते तत्प्रथमतया उच्चारयितुमारभ्यते शास्त्रस्याध्ययनोद्देशकादेर्यत्तदादिपदमित्यर्थः। अनु०। नि०चू०।

आदानशब्दस्य तत्पर्यायस्य च ग्रहणशब्दस्य
च निक्षेपं कर्तुकामो निर्युक्तिकृदाह—

आदाणे गहणंमि य, णिक्खेवो होति दोन्नि वि चउक्के।

एगडं नाणडं, च होज्ज पमयं तु आदाणे ॥ १३२ ॥

अथवा-' जमनीय ' ति-अस्याध्ययनस्य नाम, तथाऽऽदानपदेन, आदावादीयते इत्यादानं, तच्च ग्रहणमित्युच्यते, तथाऽऽदानग्रहणयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह-'आदाणे' इत्यादि. आदीयते-कार्यार्थिना तदित्यादानं. कर्मणि ल्युट्प्रत्यय, करणे वा, आदीयते-गृह्यते स्वीक्रियते विवक्षितमनेनेति कृत्वा, आदान च-पर्यायतो ग्रहणमित्युच्यते, तत आदानग्रहणयोर्निक्षेपो भवति द्वौ चतुष्कौ, तद्यथा-नामादानम्, स्थापनादानम्, द्रव्यादानम्, भावादानञ्च। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यादानं वित्तं यस्माल्लौकिकैः परित्यक्ताऽन्यकर्तव्यैर्महता क्लेशेन तदादीयते, तेन वाऽपरं द्विपदचतुष्पदादिकमादीयत इति कृत्वा, भावाऽऽदानं तु द्विधा-प्रशस्तम्, अप्रशस्तं च। तत्र-अप्रशस्तम्-क्रोधाद्युदयो, मिथ्यात्वाविरत्यादिकं वा, प्रशस्तं-तूत्तरोत्तरगुणश्रेण्या विशुद्धाध्यवसायकण्डकोपादान, सम्यक्ज्ञानादिकं वेत्येतदर्थप्रतिपादनपरमेतदेव वाऽध्ययनं द्रष्टव्यमिति। सूत्र०१ श्रु०१५ अ०।

आदा (या) णअट्ठि (न्)-आदानाऽर्थिन्-पुं०। मोक्षार्थिनाऽऽदीयते इत्यादानम्-सम्यक्ज्ञानादिकं तेनार्थः स एवार्थः आदानार्थः स विद्यते यस्यासावादानार्थी। सम्यक्ज्ञानादिप्रयोजनवति, ' आदाणअट्ठी वोदाणमोणं " (सूत्र-१७ ×)। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

आदा (या) णगुत्त-आदानगुप्त-त्रि०। संयमगुप्ते, मनोवाक्कायैः कर्मणि गुप्तं च। सूत्र०। ' आयाणगुत्ते वलयाविमुक्के'' (सूत्र-२२ +)। मोक्षार्थिनाऽऽदीयते-गृह्यत इत्यादानसंयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्त, यदि वा-मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयते इत्यादानम्-अष्टप्रकारक कर्म तस्मिन्नादानव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्त समितश्च। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। इन्द्रियैर्गुप्ते च। "आयाणगुत्ता विकहाविहीणा" (८८४×)। आदानैः-इन्द्रियैर्गुप्तः। सू० ३ उ०।

आदा (या) णणिक्खेवदुगुंछय-आदाननिक्षेपजुगुप्सक-त्रि०। आदाननिक्षेपौ-पात्रादेर्ग्रहणमोक्षौ आगमप्रतिषि(सि)(द्ध) द्वौ जुगुप्सति-न करोतीति आदाननिक्षेपजुगुप्सक। आव० ४ अ०। आगमप्रति(षि)द्धौ पात्रादेर्ग्रहणमोक्षौ न कुर्वति. आगमानुसारेण प्रत्यवेक्षणप्रमार्जनपूर्वमुपयुक्त सन्नुपधेरादाननिक्षेपौ करोतीत्यर्थः। (६४३ गाथाटी०)। प्रव० ७२ द्वार।

आदा (या) णणिरुद्ध निरुद्धाऽऽदान-त्रि०। निरुद्धेन्द्रिये, " आयाणणिरुद्धाओ "॥ १८६ × ॥ आदानानि-इन्द्रियाणि निरुद्धानि यस्या सा निरुद्धाऽऽदाना, गाथाया व्यत्ययेन पूर्वाऽपरनिपात प्राकृतत्वाद्। सू० १ उ० १ प्रक०।

आदा (या) णपय-आदानपद-न०। आदीयते-गृह्यते प्रथमम्-आदौ यत्तदादानम् आदानञ्च तत्पद च सुप्तन्तं तिङन्तं वा तदादानपदम्। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। शास्त्रस्याध्ययनोद्देशकादेरादिपदे, अनु०। येषामादानपदेनाऽभिधान तन्मतेनादौ यत्पदं तदादानपदम्। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। उत्त०।

से किं तं आयाणपदेणं ?, आयाणपएणं धम्मो मंगलं चूलिआ आवंती चाउरंगिज्जं असंखयं अहातत्थिज्जं अद्दइज्जं जण्णइज्जं पुरिसइज्जं (उसुकारिज्जं) एलइज्जं वीरियं धम्मो मग्गो समोसरणं गत्थो जमइयं। सेतं आयाणपएणं। (सूत्र-१३१×)

' से किं तं आयाणपएणमि 'त्यादि-आदीयते-तत्प्रथम तया उच्चारयितुमारभ्यते शास्त्रादनेनेत्यादानं तच्च तत्पदं चादानपद, शास्त्रस्याध्ययनोद्देशकादेरादिपदमित्यर्थ, तेन हेतुभूतेन किमपि नाम भवति, तच्च "आवंती" त्यादि, तत्र-आवन्तीत्याचारस्य पञ्चमाध्ययनम्, तत्र ह्यादावेव-'आवंती' त्यालापको विद्यते इत्यादानपदेनैतन्नाम। "चाउरंगिज्जं" ति-एतदुत्तराध्ययनेषु तृतीयमध्यनम्, तत्र-"चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जतुणो" इत्यादि विद्यते, " असंखयं ति-इदमप्युत्तराध्ययनेष्वेव चतुर्थमध्ययनम्, तत्र च आदावेव-" असंखयं जीवियमापमायए " इत्येतत् पदमस्ति, ततस्तेनेदं नाम, एवमन्यान्यपि कानिचिदुत्तराध्ययनान्तर्वर्तीन्यध्ययनानि, कानिचित्तु दशवैकालिकसूयगडाध्ययनानि (सूत्रकृताङ्गाऽध्ययनानि) स्वधिया भावनीयानि। अनु०।

आदा (या) णफलिह-आदानपरिघ-पुं०। आदीयते-द्वारस्थगनार्थं गृह्यत इत्यादानः। स चासौ परिघश्चादानपरिघ. । द्वारस्थगनार्थं ग्राह्यायामर्गलायाम्, जं० २ वक्ष० २१ सूत्रटी०। औ०। " आयाणफलिह० " (सूत्र-२१+) आदीयते इत्यादानम्-आदेयो-रम्यो यः परिघ -अर्गला स आदानपरिघः। रम्यायामर्गलायाम्, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

आदा (या) णभंडमत्तनिक्खेवणासमिइ-आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति-स्त्री०। आदाने-ग्रहणे भाण्डमात्राया-उपकरणमात्राया, भाण्डस्य वा वस्त्राद्युपकरणस्य मृण्मयादिपात्रस्य च साधुभाजनविशेषस्य निक्षेपणाया च समितिः सुप्रत्युपेक्षितसुप्रमार्जितक्रमेणेति आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति। समितिभेदे, स्था० १७ सूत्रटी०। स्था०। (अत्र सूत्रम् ' समिइ ' शब्दे सप्तम भागे वक्ष्यते) भाण्डमात्रे, आदाननिक्षेपविषया सुन्दरचेष्टा। स्था० ४ ठा० ३ उ० ४४८ सूत्रटी०। " इह च सत्त भंगा होंति पत्तादि न पडिलेहइ, ण पमज्जइ, चउभंगो, एत्थ चउरो चत्तारि गमा-दुप्पडिलेहियं दुप्पमज्जियं चउभंगो, आइल्ला छ अप्पसत्था, चरिमो पसत्थो, चउत्थीए उदाहरणं-"आयरिएण साहू भणिओ गाम वच्चामो, उग्गाहिए संते केण इ कारणेण ठिया, एक्को एत्ताहे पडिलेहियाणि त्ति काउं ठवेउमारद्धो, साहूहिं चोइओ भणइ-किमित्थ सप्पो अच्छइ सन्निहियाए देवयाए सप्पो विउव्विओ. एस अहन्नओ असमिओ, अन्नो तेणेव विहिणा पडिलेहिणा ठवेइ, सो उक्कोसओ समिओ "। आव० ४ अ० १०४ गाथाटी०। अत्राप्युदाहरणम्-"एकस्स आयरियस्स पंच सीससया, तेसिमेगो सेट्ठिसुओ पव्वइओ, सो जं जं गाहू पइ तस्स तस्स इंगणं गिव्विसयइ, एवं तस्स उद्दिठ्ठगाम

अग्गो एति, अग्गो आइ, तदावि सो भगवं अतुरिय अच-
वल उवरिं हेट्ठा मज्जिउ ठवेइ । एवं बहुएण वि कालेण न
परितम्मइ " पा० १७ सूत्रटी० ।

आदा (या) णभंडमत्तनिक्खेवणासमिय आदानभाण्ड-
मात्रनिक्षेपणासमित-त्रि० । " आयाणभंडमत्तनिक्खेवणा-
समिए " (सूत्र-१२ ×) । आदानेन-ग्रहणेन सह भाण्ड-
मात्रं वा-उपकरणपरिच्छदस्य वा निक्षेपणा-न्यासस्तस्यां
समितो य स तथा । आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितो
सम्यक् प्रवृत्ते, भ० २ श० १ उ० ।

आदा (या) णभय-आदानभय-न० । आदीयत इत्यादा-
नं-धनं तदर्थं चौरादिभ्यो यद् भयं तदादानभयम् । आव०
४ अ० ८३ गाथाटी० । स्था० । भयस्थानभेदे, स० ७ सम० ।
नि० चू० । आदानभयम्-आदान पुण्यार्थमपुण्यार्थं वा
परेण गृह्यादिना यदिति नामतमभूग्नाडादि. स्त्रीकरणं
तदेव भयम् आदानभयम् मा कश्चनापराधमापाद्य तद् ग्रही-
ष्यति । दर्श० १ तत्त्व ६ गाथाटी० ।

आदा(या)णभरिय आदानभृत-न० । आमदनभृते, उपा० ।
" आयाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि " (सूत्र-७८ +)
आदानम्—आद्रहनं यदुदकतैलादिकमग्न्यतद्भ्यपाका-
यारोप्यते तद्भृते । उपा० २ अ० ।

आदा(या)णया-आदानता-स्त्री० । ग्रहणतायाम् , ६८ च
तावदय व्याधिक । प्राकृतत्वेनादानादीनां भावविवक्षया
वा । स्था० २ ठा० २ उ० ।

आदा (या) णवंत-आदानवत्-त्रि० । मोक्षार्थमादीयत
इत्यादानम् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं तद्विद्यते यस्या-
सावादानवान् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवति साधौ, सूत्र० ।
"आयाणवन्तं समुदाहरेज्जा" ॥४४॥ सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

आदा (या) णसोयगढिय-आदानश्रोतोगृद्ध-त्रि० । आ-
दीयते-कर्मानेनेति आदान-दुष्प्रणिहितानीन्द्रियाण्यादानं च
श्रोतश्चादानश्रोतः । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० १६
गाथाटी० । आदीयते-स्वापायानुष्ठानेन स्वीक्रियत इत्यादान
कर्म तस्यादानभूतं तस्य श्रोतांसि इन्द्रियविषया मिथ्या-
त्वाविरतिप्रमादकषाययोगा वा तेषु गृद्ध -अभ्युपपन्न ।
आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । " आदानश्रोतस्यभ्युपपन्ने,
आचा० ।

आयाणसोयगढिए बाले अवोच्छिन्नबंधणे अणभिक्कंत-
संजोए तमंसि अविजाणओ आणाए लंभो णऽत्थि त्ति
बेमि । (सूत्र-१३८+)

(आदानश्रोतोगृद्ध) स्यात् , कोऽसौ ? बाल -अज्ञ. राग-
द्वेषमहामोहाभिभूतान्तःकरण । यश्चादानश्रोतोगृद्धः स किं
भूत स्यादित्याह-" अव्वोच्छिन्नबंधणे " इत्यादि, अव्यव-
च्छिन्न-जन्मशतानुवृत्तिबन्धनम्-अष्टप्रकार कर्म यस्य स
तथा, किञ्च-' अणभिक्कंत ' इत्यादि-अनभिक्रान्त -अनति-
लङ्घित संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतोऽसंय-
मसंयोगो वा येनासावनभिक्रान्तसंयोग तस्य चैवंभूत-

स्येन्द्रियानुकूल्यरूपे मोहात्मके वा तमसि वर्तमानस्यात्म-
हितं मोक्षोपाय वा अविजानत आज्ञायाः-तीर्थकरोपदे-
शस्य लाभो नास्तीत्येतदहं ब्रवीमि तीर्थकरवचनोपलब्ध-
सद्भाव. । आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

आदा (या) णिज्ज-आदानीय-त्रि० । आदीयते-उपादी-
यते इत्यादानीय । उपादेये, स्था० ६ ठा० ३ उ० । स० ।
ग्राह्ये, आचा० । "आयाणिज्जे वियाहिए" (सूत्र-१२७+) ।
स वीराणां मार्गं प्रतिपन्न मानशोणितयोरपनेता मुमुक्षू-
णामादानीयो-ग्राह्य आदेयवचनश्च व्याख्यात । आ-
चा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० । आदीयन्ते-गृह्यन्ते सर्वभावा
अनेनेत्यादानीयम् । श्रुते, भोगाङ्गे, द्विपदचतुष्पदधनधान्य-
हिरण्यादिके, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । "आयाणिज्ज"
(सूत्र-१८४+) आदीयते इत्यादानीयम् । कर्मणि आचा० १
श्रु० ६ अ० २ उ० । " आयाणिज्ज च आदाय तम्मि ठाणे ण
चिट्ठइ " । आदीयन्ते-गृह्यन्ते-सर्वभावा अनेनेत्यादानीयम्-
श्रुतम् , तदादाय तदुक्ते तस्मिन् संयमस्थाने न तिष्ठति ।
यदि वा-आदानीयम्-आदातव्य भोगाङ्गं द्विपदचतुष्पद-
धनधान्यहिरण्यादि तदादाय-गृहीत्वा । अथ वा-मिथ्या-
त्वाऽविरतिप्रमादकषाययोगैरादानीयं कर्मादाय, किंभूतो-
भवतीत्याह-तस्मिन् ज्ञानादिमये मोक्षमार्गे सम्यगुपदेशे
वा प्रशस्तगुणस्थाने न तिष्ठति नात्मान विधत्ते । आचा० १
श्रु० २ अ० ३ उ० । " आयाणिज्जं परिण्णाय, परियाएणं
विगिंचइ (सूत्र-१८४×) । आदीयते इत्यादानीय-कर्म तत्प-
रिज्ञाय मूलोत्तरप्रकृतिभेदतो ज्ञात्वा पर्यायेण-श्रामण्येन
विवेचयति, क्षपयतीत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।
आश्रयणीये, मोक्षे, मोक्षमार्गे, सम्यग्दर्शनादिके च ।
" पुरिसाऽऽदाणिया नरा " ३४+ । मुमुक्षूणामादानीया-
आश्रयणीया पुरुषादानीयाः महान्तोऽपि महीयांसो भव-
न्ति । यदि वा-आदानीयो-हितैषिणा मोक्ष, तन्मार्गो
वा-सम्यग्दर्शनादिक पुरुषाणा-मनुष्याणामादानीय स
विद्यते येषामिति विगृह्य मत्वर्थीय । ' अर्शआदिभ्योऽच् '
इति । सूत्र० १ श्रु०६ अ० ।

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए तम्हा पावं कम्मं
णेव कुज्जा ण कारवेज्जा । (सूत्र-९४ ×)

आदानत्वम्-आदानीय तच्च परमार्थतो भावाद्-आदा-
नीय ज्ञानदर्शनचारित्ररूप तदुत्थाय इति अनेकार्थत्वाद्-
आदाय-गृहीत्वा । अथवा-स अनगारः एतदादानीय-ज्ञा-
नाद्यपवर्गकारणम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । (९६-
अस्य संपूर्णसूत्रस्य व्याख्या ' लोगविजय ' शब्दे षष्ठे भागे
करिष्यामि) । " आयाणीयं समुट्ठाय " (सूत्र-१६ +) ।
आदानीयं-ग्राह्यं सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्थाय-अभ्युपगम्य ।
आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

आदा (या) णिज्जज्झयण-आदानीयाध्ययन-न० । मोक्षा-
र्थिनाऽशेषकर्मक्षयार्थं यज्ज्ञानादिकमादीयते-तदत्र प्रतिपा-
द्यत इति कृत्वाऽऽदानीयमिति नाम सम्वृत्तम् । सूत्रकृता-
ङ्गस्य स्वनामख्याते पञ्चदशेऽध्ययने सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।
आदानपदमाश्रित्यास्याभिधानमाकारि, आदानीय वा-

ज्ञानादिकमाश्रित्य नाम कृतमिति । आदानीयाभिधानस्यान्यथा वा प्रवृत्तिनिमित्तमाह—

जं पढमस्सऽतिमए, बितियस्स उ तं हवेज्ज आदिम्मि ।
एतेणाऽऽदाणिज्जं, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ १३५ ॥

यत्पदं प्रथमश्लोकस्य तदर्द्धस्य च अन्ते-पर्यन्ते तदेव पद शब्दतः अर्थत उभयतश्च द्वितीयश्लोकस्यादौ तदर्धस्य वाऽऽदा भवति-एतेन प्रकारेणाद्यपदसदृशत्वेनादानीयं भवति, एष आदानीयाभिधानप्रवृत्ते पर्याय —अभिप्राय अन्यो वा विशिष्टज्ञानादि आदानीयोपादानादिति । केचित्तु-पुनरस्याध्ययनस्यान्तादिपदयो सकलनात्संकलिकेति नाम कुर्वते । तस्या अपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेप । (स च ' सकलिया ' शब्दे सप्तमे भागे दर्शयिष्यते) सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । पञ्चदशे त्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयम् , तद्यथा-" आदाणियसंकलिया आदाणीयम्मि आदयचरित्त " ॥ २८ × ॥ आदीयन्ते-गृह्यन्ते-उपादीयन्ते, इत्यादानीयानि पदानि अर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैरर्थैश्च प्रायशोऽत्र संकलिता , तथा-आयतं चरित्र-सम्यक् चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकं तच्चात्र व्यावर्ण्यते । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

आदाणीय-आदानीय-त्रि० । उपादेये, स्था० ६ ठा० ३ उ० । सूत्र० । (अस्य बहवोऽर्था ' आदाणिज्ज ' शब्देऽनुपदमेव गता.)

आदा (या) य- आदाय-अव्य० । आ-दा-ल्यप् । गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । " इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइय " ॥ २० + ॥ आदाय-उपादाय-आचार्योपदेशेन गृहीत्वेति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आचा० । प्राप्येत्यर्थे, " एवं विवेगमादाय " ॥ १० × ॥ विपाक-स्वानुष्ठानस्य आदय-प्राप्य, विवेकमिति वा क्वचित् पाठस्तद्विपाक-विवेक चादाय-गृहीत्वा । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अङ्गीकृत्येत्यर्थे, " तवोवहाणमादाय " ॥ ४३ × ॥ उत्त०लक्ष्मी० २ अ० । स्वीकृत्येत्यर्थे, उत्त० पाई० २ अ० । अवगम्येत्यर्थे, " आयाए एगतमवक्कमेज्जा " (सूत्र-३० ×) । आदाय—अवगम्यैकान्तमपक्रामेत् । आदाने, पु० । आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० ।

आदा (या) हिणपयाहिण-आदक्षिणप्रदक्षिण-त्रि० । आ-दक्षिणात्-दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिण परितो-भ्राम्यतोदक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिण । रा० । आदक्षिणाद्-दक्षिणपार्श्वादारभ्य प्रदक्षिणो-दक्षिणपार्श्ववर्ती आदक्षिणप्रदक्षिण । विपा० १ श्रु० १ अ० । दक्षिणपार्श्वादारभ्य परितो भ्राम्यतो दक्षिणपार्श्ववर्तिनि, भ० । " समण भगव महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेइ " (सूत्र-७ +) । आदक्षिणाद्-दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिण -परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव आदक्षिणप्रदक्षिणोऽनस्त करोतीति । भ० १ श० १ उ० । नि० । औ० । "आयाहिण पयाहिण करेंति " (१८४ गाथाटी०) । आ-सर्वत समन्तात्-परिभ्रमता दक्षिणमेव जन्मभवन यथा भवति एव प्रदक्षिण कुर्वन्ति । आ० म० १ अ० । अं० ।

आदा (या) हिणपयाहिणा-आदक्षिणप्रदक्षिणा-स्त्री० । आदक्षिण-पार्श्वात्प्रदक्षिणा पार्श्वभ्रमणमादक्षिणप्रदक्षिणा । स्था० १ ठा० । दक्षिणपार्श्वादारभ्य परिभ्रमणतो दक्षिणपार्श्वमाप्तौ, नि० । "अज्जसुहम्म थेरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेइ " । त्रि कृत्व-त्रीन् वारान् आदक्षिणप्रदक्षिणां दक्षिणपार्श्वादारभ्य परिभ्रमणतो दक्षिणपार्श्वप्राप्तिरादक्षिणप्रदक्षिणा तां करोति । नि० १ श्रु०१ वर्ग १ अ० ।

आदि(इ)च्च-आदृत्य-त्रि० । आ-दृ-कर्म्मणि क्यप् । आदरणीये, आदर्तव्ये, ल्यप् । सम्मान्येत्यर्थे, अव्य० । वाच० ।

आदित्य-पुं० । कृष्णराज्यवकाशान्तरस्थलोकान्तिकमङ्कार्चिर्मालिविमानस्थे लोकान्तिकदेवविशेषे, भ० ६ श० ५ उ० । समयावलिकादीनामादौ भवे, सू० प्र० २० प्राहु० । सूर्ये, आव० ४ अ० । आदित्यो हि सर्वजगत्प्रतीतो जगत्प्रदीपकल्पो दिवसादिकालविभागकारी । (सूत्र०) आ-गोपालाङ्गनादिप्रतीत समस्तान्धकारक्षयकारी कमलाकरोद्घाटनपटीयान् आदित्योद्गम प्रत्यहं भवन्नुपलक्ष्यते । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । (अस्य विमानवक्तव्यता ' विमाण ' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते) (अस्य मण्डलादिवक्तव्यता ' सूरमंडल ' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते) (अस्य आवृत्तय ' आउट्टि ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गता)

जस्स जओ आइच्चो, उएइ सा भवइ तस्स पुव्वदिसा ।
जत्तो य अत्थमेइ उ, अवरदिसा सा उ नायव्वा ॥४७॥
दाहिणपासम्मि य दा-हिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एया चत्तारि दिसा, तावक्खेत्ते उ अक्खाया ॥ ४८ ॥

तापयतीति ताप -आदित्य । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अत्र विस्तरं ' दिसा ' शब्दे चतुर्थे भागे कथयिष्यामि)

आदिच्छा-आदित्सा-स्त्री० । आदातुमिच्छायाम् , आव० ६ अ० ।

आदिम-आदिम-त्रि० । अग्रिमे, सू० । " आवासगमाईया सूयगडा जाव आइमा भावा " (७८० ×) । आवश्यकादय सूत्रकृताङ्ग यावत् ये आगमग्रन्थास्तेषु ये पदार्था अभिधेयास्ते आदिमा भावा उच्यन्ते । सू० १ उ० १ प्रक० ।

आदियावण-आदापन-न० । ग्राहणायाम् , सूत्र० । " स य माइअति अन्ने वि आदियावेति " (सूत्र-६ +) । स्वयम्-आत्मना सावद्यमनुष्ठानमाददते-स्वीकुर्वन्ति,'अन्यानप्यादापयन्ति-ग्राहयन्ति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

आदीण-आदीन-त्रि० । आ-समन्ताद्दीन आदीन । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । समन्तात्करुणास्पदे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

आदीणभोइ (न्)-आदीनभोजिन्-पुं० । परिनतपिण्डोपजीविनि, " आदीणभोइं वि करेइ पावं " (६ ×) । आदीनभोज्यपि पाप करोतीति । उक्तं च-" पिंडोलकेव्व दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चइ " स कदाचिच्छोभनमाहारमलभमानोऽलपत्वादार्त्तरौद्रध्यानोपगतोऽप्यध सप्तम्यामप्युत्पद्येत । तद्यथा-असावेव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूहो बै-

भारगिरिशिलापातनोद्यत स दैवात्स्वयं पतित पिण्डोपजीवीति तद्देवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जन पाप कर्म करोति। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आदीणवित्ति-आदीनवृत्ति-त्रि०। आ-समन्तादीना-करुणास्पदा वृत्ति -अनुष्ठान यस्य। एवंभूते, "आदीणवित्ती वि करेइ पाव" (६४) आ-समन्तादीना-करुणास्पदा वृत्तिरनुष्ठान यस्य कृपणवनीपकादे स भवत्यादीनवृत्तिरेवंभूतोऽपि पापं कर्म करोति। सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

आदीणिय-आदीनिक-त्रि०। आ-समन्तादीनमादीन तच्छिद्यते यस्मिन्न आदीनिक। अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रये, सूत्र० "आदीणिय दुक्कडिय पुरत्था ॥ २॥" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

आदीव-आदीप-अव्य०। दीपादारभ्येत्यर्थे, स्या० ५ श्लोक।

आध (ह) रिसिय-आधर्षित-त्रि०। आ-धृष-क्त। अंर्थयात्ये इट् गुणश्च। अवमानिते, तिरस्कृते, बलात्कारेणाभिभूते च। वाच०। 'नेण भणिय जो चउमेह दूय आधरिसेइ त्ति। (४४४-४४५ गाथाटी०।) आ० म० १ अ०। आहरिसिओ दूओ सभनेण नियत्तिओ (४४४-४४५ गाथा टी०) आ० म० १ अ०।

आधा(हा)-आधा-स्त्री०। आधानमाधा। उपसर्गादात ॥५। ३।११०॥ इत्यङ्प्रत्यय। पिं०। साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधाने, पञ्चा० ३१ विव०। पिं०। प्रव०। प्रश्न०। दशा०। ग०। धृ०। करण, उत्त० ४ अ०। आधीयतेऽस्यामित्याधा। आश्रये, पिं०। आश्रय आधार इत्यनर्थान्तरमिति। पिं०। साऽपि च-आधा नामादिभेदाच्चतुर्द्धा। तद्यथा-नामाऽऽधा, स्थापनाऽऽधा, द्रव्याऽऽधा, भावाऽऽधा च। तत्र नामाऽऽधा, द्रव्याऽऽधाऽपि च आगमतो नो आगमतश्च ज्ञशरीररूपा भव्यशरीररूपा च पूर्ववत् भावनीया। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तां तु द्रव्याऽऽधामभिधित्सुराह—

धणुजुयकायभराणं, कुडुंबरज्जधुरमाइयाण च।
खंधाई हिययं चिय, दव्वाऽऽहा अतए धणुणो ॥६६॥

इह द्रव्याऽऽधाया विचार्यमाणायामाधाशब्दोऽधिकरणप्रधानो विवक्ष्यते आधीयते अस्यामित्याधा, आश्रय आधार इत्यनर्थान्तरम्। तत्र 'धणु' त्ति-धनु -चाप तत् आधा-आश्रय प्रत्यञ्चाया इति सामर्थ्याल्लभ्यते, यूप. प्रतीत। काय -कापोती यया पुरुषा स्कन्धारूढया पानीय वहन्ति। भर -यवसादिसमूह, तथा—कुटुम्बम्—पुत्रकलत्रादिसमुदाय, राज्यं प्रतीतं तयोर्धूः -चिन्ता आदिशब्दात्-महाजनधू प्रभृतिपरिग्रह तेषा च यथासख्य द्रव्याऽऽधा द्रव्यरूप आधारस्कन्धादिर्हृदय च। तत्र स्कन्धो बलीवर्दादिस्कन्धो, नरादिस्कन्धश्च परिगृह्यते, आदिशब्दात्-गन्त्र्यादिपरिग्रह, तत्र यूपस्य द्रव्याऽऽधा द्रव्यरूप आश्रयो—वृषभादिस्कन्ध, स हि यूपस्तत्राऽऽरोप्यते। कापोत्या आश्रयो नरस्कन्ध, नरो हि पानीयानयनाय कापोतीं स्कन्धेन वहति। भरस्याश्रयो गन्त्र्यादि, महाप्रमाणो हि भरो गन्त्र्यादिनैवानेतु शक्यते, नान्येन। तथा-कुटुम्बचिन्ताया राज्यचिन्तायाश्चाश्रयो हृदयं मन, हृदयमन्तरेण चिन्ताया अयोगात्, धनुर्विषये भावनामाह-अन्तके करहस्तके धनुष. सबन्धिनि प्रत्यञ्चाऽऽरोप्यते ततो धनु प्रत्यञ्चाया आश्रय, एव शेषाणामपि यूपादीनां प्रत्याश्रयत्वं भावनीयम्, तच्च भावितमेव। उक्ता द्रव्याऽऽधा। संप्रति भावाऽऽधा वक्तव्या-सा च द्विधा-आगमतो, नो आगमतश्च। तत्राऽऽगमत आधाशब्दार्थपरिज्ञानकुशलस्तत्र चोपयुक्त, "उपयोगो भावनिक्षेप" इति वचनात्। नोआगमतस्तु भावाऽऽधा, यत्र तत्र वा मन.प्रणिधानम्, तथा हि-भावो नाम-मानसिक परिणामस्तस्य चाऽऽधान—निष्पादन भवति मनसस्तदनुगुणतया तेन तेन रूपेण परिणमने सति नाऽन्यथा, ततो मन प्रणिधान भावाऽऽधा, सा चेह प्रस्तावात्साधुदानार्थमोदनपचनपाचनादिविषया द्रष्टव्या। पिं०।

आधा (हा) कम्म-आधाकर्म-न०। आधानम् आधा। उपसर्गादात ॥ ५। ३। ११॥ इत्यङ् प्रत्यय.। साधुनिमित्तं चेतसा प्रणिधानम्। यथा-अमुकस्य साधो कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति, आधाया कर्म-पाकादिक्रिया-आधाकर्म तद्योगात् भक्ताद्यप्याधाकर्म। इह दोषाभिधानप्रक्रमेऽपि यद्दोषवतोऽभिधान तद्दोषदोषवतोरभेदविवक्षया। द्रष्टव्यम्। पिं०। ग०। प्रव०। ख-घ-थ-ध-भाम् ॥८।१।१८७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण बहुल धस्य हः। प्रा०।

विषयसूची—

(१) वक्तव्यसंग्रह.।
(२) व्युत्पत्तय।
(३) प्रतिषेवणादीनि।
(४) प्रतिश्रवणस्वरूपम्।
(५) एकार्थिकानि आधाकर्मण।
(६) आधाकर्माश्रित्य कल्प्याऽकल्प्यविधि।
(७) तीर्थंकरस्य आधाकर्मभोजित्वम्।
(८) द्वाविंशतिजिनेषु कल्प्याऽकल्प्यविधि.।
(९) अशनादिषु आधाकर्मसभव।
(१०) आधाकर्मण एवाऽकल्प्यविधि।
(११) आधाकर्मभोजिना कटुकविपाक।
(१२) आधाकर्मभोजिनां बन्ध।

(१) आधाकर्मदोष व्याचिख्यासुस्तत्प्रतिबद्धद्वारगाथामाह-

आहाकम्मिय नामा, एगट्ठा कस्स वाऽवि किं वाऽवि।
परपक्खे य सपक्खे, चउरो गहणे य आणाई ॥ ६४॥

इह प्रथमत आधाकर्मिकस्य नामान्येकार्थिकानि वक्तव्यानि, तदनन्तर कस्याथाय कृतमाधाकर्म भवतीति विचारणीय, तदनन्तर च किंस्वरूपमाधाकर्मेति विचार्य, तथा परपक्ष—गृहस्थवर्ग स्वपक्ष-साध्व्यादिवर्ग, तत्र परपक्षनिमित्त कृतमाधाकर्म न भवति। स्वपक्षनिमित्त तु कृत भवतीति वक्तव्यम्, तथा—आधाकर्मग्रहणविषये चत्वारोऽतिक्रमादय प्रकारा भवन्तीति वक्तव्य, तथा ग्रहणे-आधाकर्मणो भक्तादेरादाने आज्ञादय "सूचनात्सूत्रम्" इति न्यायादाज्ञाभङ्गादयो दोषा वक्तव्या।

तत्रैकार्थिकाभिधानलक्षण प्रथम द्वार विवक्षुराह—

आहा अहे य कम्मे, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य।

पडिसेवणपडिसुणणा, संवासऽणुमोयणा चेव ॥९५॥

'आहा अहे य कम्मे' त्ति-अत्र कर्मशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, चकारश्च कर्मेत्यनन्तरं समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः, तत एवं निर्देशो ज्ञातव्यः-आधाकर्म, अधः कर्म च । तत्राऽऽधाकर्मेति प्रागुक्तशब्दार्थम्, अधःकर्मेति अधोगतिनिबन्धनं कर्म अधःकर्म, तथा हि-भवति साधूनामाधाकर्मभुञ्जानानामधोगतिः, तन्निबन्धनप्राणातिपाताद्याश्रवेषु प्रवृत्तेः, तथा आत्मानं दुर्गतिप्रपातकारणतया हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नं, तथा यत् पाचकादिसंबन्धिकर्म पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा । तदात्मनः संबन्धि क्रियतेऽनेनेति आत्मकर्म । एतानि च नामान्याधाकर्मणो मुख्यानि । सप्रति पुनर्यैः प्रतिषेवणादिभिः प्रकारैस्तदाधाकर्म भवति । तान्यप्यभेदविवक्षया नामत्वेन प्रतिपादयति-'पडिसेवणे' त्यादि-प्रतिसेव्यते इति प्रतिषेवणं, तथा-आधाकर्मनिमन्त्रणानन्तरं प्रतिश्रूयते । अभ्युपगम्यते यत् आधाकर्म तत् प्रतिश्रवणं, तथा आधाकर्मभोक्तृभिः सह संवसनं संवासः तद्वशात् शुद्धाऽऽहारभोज्यपि आधाकर्मभोजी द्रष्टव्यः, यो हि तैः सह संवासमनुमन्यते स तेषामाधाकर्मभोक्तृत्वमप्यनुमन्यते, अन्यथा तैः सह संवसनमेव नेच्छेत् अन्यच्च संवासवशतः कदाचिदाधाकर्मगतमनोज्ञगन्धाऽऽघ्राणादिना विभिन्नः सन् स्वयमप्याधाकर्मभोजने प्रवर्तेत ततः संवास आधाकर्मदोषहेतुत्वादाधाकर्म उक्तः, तथाऽनुमोदनम् अनुमोदना आधाकर्मभोक्तृप्रशंसाऽपि आधाकर्मसमुत्थपापनिबन्धनत्वादाधाकर्मप्रवृत्तिकारणत्वाच्च आधाकर्मेति उक्तम् । अमीषां च प्रतिषेवणादीनामाधाकर्मत्वमात्मकर्मरूपं नाम प्रतीत्य वेदितव्यं, तथा च वक्ष्यति-'अत्तीकरेइ कम्ममिमं' त्यादि-इह आधाकर्मेति शब्दार्थविचारे आधया कर्म आधाकर्मेत्युक्तम् । पिं० । साधूनाम् आधया-प्रणिधानेन यत्कर्म षट्कायविनाशेनाऽशनादिनिष्पादनं तदाधाकर्म । सू० ४ उ० ४५६ गाथाटी० । नि० चू० ।

(२) आधाकर्मशब्दव्युत्पत्तयः.—

आधानमाधा प्रस्तावात्साधुप्रणिधानम् अमुकस्मै साधवे देयमिति, तया आधाय वा साधून् कर्म षड्जीवनिकायविराधनादिना भक्तादिपाकक्रिया आधाकर्म तद्योगाद् भक्ताद्यपि तथा निरुक्ताद् यलोपः । ग० १ अधि० २१ गाथाटी० । साधु चेतसि आधाय-प्रणिधाय; साधुनिमित्तमित्यर्थः, कर्म सचित्तस्याऽचित्तीकरणमचित्तस्य वा पाको निरुक्तादाधाकर्म । ध० ३ अधि० २२ श्लोकटी० । आधानमाधा-प्रणिधानं तया, साधुप्रणिधानेनेत्यर्थः, कर्मक्रिया पाकादिका आधाकर्म । पञ्चा० १३ विव० ५ गाथाटी० । यद्वा-आधाय साधु-चेतसि प्रणिधाय यत् क्रियते-भक्तादि तदाधाकर्म । पृषोदराऽऽदय ॥ ३ । २ । १५५ ॥ इति यलोपः । पिं० । प्रव० । आधाय-चेतसि अवस्थाप्य साधुं यदशनादि सचेतनमचेतनं वा पच्यते-अचित्तीक्रियते तदाधाकर्म । दश० ४ तत्त्व ६ गाथाटी० । आधया-साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते अचेतनं वा पच्यते-चीयते वा गृहादिकं वयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्म । "आहाकम्मं भुंजमाणे सबले भवइ" ॥ ४ ॥ दशा० २ अ० । साधुनिमित्तं सचित्तस्याचित्तीकरणे-अचित्तस्य पाके च । प्रव० ६७ द्वार २७० गाथाटी० । साधुनिमित्तं कृते ओदनादौ च । दर्श० ४ तत्त्व ६ गाथाटी० । तदात्मके उद्गमदोषविशेषे च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । आचा० । उत्त० । आधाकर्मिकं यन्मूलत एव साधूनां कृते कृतम् । व्य० ३ उ० १६४ गाथाटी० ।

सचित्तं जमचित्तं, साहूणऽट्ठाए कीरए जं च ।
अचित्तमेव पच्चइ, आहाकम्मं तयं भणियं ॥ ७ ॥

सचित्तम्-विद्यमानचैतन्यं सत् फलबीजादि । यदचित्तम् अचेतनं साधूनां-संयतानाम् अर्थाय-हेतवे क्रियते-विधीयते तथा यत्, 'च' शब्दो-लक्षणान्तरसमुच्चयार्थः, अचित्तमेव-अचेतनमपि सत्तण्डुलादि पच्यते-राध्यते साधूनामर्थायेति प्रकृतम्, आधाकर्मोक्तनिर्वचनतः तत्कथितम्-उक्तं जिनादिभिर्यद्यपि सचित्तस्य पृथिव्यादेरचित्तीकरणेन यत् क्रियते गृहवस्त्रादि, तदपि आधाकर्मोच्यते, तथापीह तन्नोक्तं पिण्डस्यैवाधिकृतत्वादिति गाथार्थः । पञ्चा० १३ विव० । ध० । पं० व० ।

आधाया निक्षेपं प्रतिपादयति तया (आधया) यत्कृतं कर्म-ओदनपाकादि तदाधाकर्म । तथा चाह निर्युक्तिकृत्—

ओरालसरीराणं, उद्दवणतिवायणं च जस्सऽट्ठा ।
मणमाहित्ता कीरइ, आहाकम्मं तयं बेंति ॥ ९७ ॥

औदारिकं शरीरं येषां ते औदारिकशरीराः-तिर्यञ्चो, मनुष्याश्च । तत्र तिर्यञ्चः-एकेन्द्रियादयः पञ्चेन्द्रियपर्यन्ता द्रष्टव्याः, एकेन्द्रिया अपि सूक्ष्मा, बादराश्च । नन्विह ये अपद्रावणयोग्यास्तिर्यञ्चस्ते ग्राह्याः, न च सूक्ष्माणां मनुष्यादिकृतमपद्रावणं संभवति, सूक्ष्मत्वादेव, ततः कथं ते इह गृह्यन्ते ? उच्यते, इह यो यस्मादविरतः स तदकुर्वन्नपि परमार्थेन कुर्वन्नेव अवसेयो यथा रात्रिभोजनादनिवृत्तो रात्रिभोजनम् । गृहस्थश्च । सूक्ष्मैकेन्द्रियापद्रावणादनिवृत्तस्ततः साध्वर्थं समारम्भं कुर्वन् स तदपि कुर्वन्नवगन्तव्य इति सूक्ष्मग्रहणम्, यद्वा-एकेन्द्रिया बादरा एव ग्राह्या, न सूक्ष्मा, तथा च वक्ष्यति भाष्यकृत्—"ओरालग्गहणेणं, तिरिक्खमणुयाहवा सुहुमवज्जा" तेषां औदारिकशरीराणां यत् अपद्रावणम्—अतिपातविवर्जिता पीडा । किमुक्तं भवति-साध्वर्थमुपस्क्रियमाणेष्वोदनादिषु यावदद्यापि शाल्यादिवनस्पतिकायादीनामतिपातः-प्राणव्युपरमलक्षणो न भवति । तावदर्वाग्वर्तिनी सर्वाऽपि पीडा अपद्रावणम्, यथा साध्वर्थं शाल्योदनकृते शालिकरटेर्यावद्वारद्वयं कण्डनम् । तृतीयं तु कण्डनमतिपातः । तस्मिन् सति शालिजीवानामवश्यमतिपातभावात् । ततस्तृतीयकण्डनमतिपातग्रहणेन गृह्यते, वक्ष्यति च भाष्यकृत्-"उद्दवणं पुण जाणसु अइवायविवज्जियं पीडं" ति । उद्दवणशब्दात्-परतो विभक्तिलोप आर्षत्वात् "तथा तिपायणं" ति त्रीणि-काय-वाङ्-मनांसि, यद्वा-त्रीणि देहाऽऽयुरिन्द्रियलक्षणानि । पातनं चातिपातो विनाश इत्यर्थः तत्र च त्रिधा समासविवक्षा, तद्यथा—षष्ठीतत्पुरुषः, पञ्चमीतत्पुरुषः तृतीयातत्पुरुषश्च । तत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्-त्रयाणां-काय-वाङ्-मनसां पातन-

विनाशनं त्रिपातनम् एतच्च परिपूर्णगर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणामवसेयम्, एकेन्द्रियाणां तु कायस्यैव केवलस्य विकलेन्द्रियसमूर्च्छिमतिर्यङ्मनुष्याणां तु कायवचनयोरेवेति। यद्वा—त्रयाणां—देहायुरिन्द्रियरूपाणां पातन—विनाशनं त्रिपातनम्, इद च सर्वेषामपि तिर्यङ्मनुष्याणां परिपूर्णं घटते केवलं यथा येषां सम्भवति तथा तेषां वक्तव्यम्, यथा एकेन्द्रियाणां देहस्य औदारिकस्य आयुष-तिर्यगायुरूपस्य इन्द्रियस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य, द्वीन्द्रियाणां देहस्यौदारिकरूपस्य आयुषस्तिर्यगायुष इन्द्रिययोश्च स्पर्शनरसनलक्षणयोरित्यादि, पञ्चमीतत्पुरुषस्त्वयम्-त्रिभ्य-कायवाङ्मनोभ्यो देहायुरिन्द्रियेभ्यो वा पातन-च्यावनमिति त्रिपातनम्, अत्रापि त्रिभ्यः परिपूर्णेभ्य कायवाङ्मनोभ्य पातन गर्भजपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणाम् एकेन्द्रियाणां तु कायादेव केवलात् विकलेन्द्रियसंमूर्च्छिमतिर्यङ्मनुष्याणां तु कायवाग्भ्यामिति, देहायुरिन्द्रियरूपेभ्यस्तु त्रिभ्य पातन सर्वेषामपि परिपूर्णं संभवति, केवल यथा येषां सम्भवति तथा तेषां प्रागिव वक्तव्यम्, तृतीयातत्पुरुष पुनरयम्-त्रिभि कायवाङ्मनोभिर्विनाशकेन स्वसम्बन्धिभि पातन-विनाशन त्रिपातन, 'च' शब्द समुच्चये, भिन्नविभक्तिनिर्देशश्चशब्दोपादान च यस्य सार्थ्वर्थमपद्रावण कृत्वा गृही स्वार्थमतिपातं करोति तत्कल्प्यं, यस्य तु गृही त्रिपातनमपि साध्वर्थं विधत्ते तत्तु कल्प्यमिति ख्यापनार्थम्, इत्थमूतमौदारिकशरीराणामपद्रावणं त्रिपातनं च यस्य साधोरेकस्यानेकस्य वाऽर्थाय-निमित्त मन आधाय-चित्तं प्रवर्त्य क्रियते तदाधाकर्म ब्रुवते तीर्थकरगणधरा।

इमामेव गाथा भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति—

ओरालग्गहणेणं, तिरिक्खमणुयाऽहवा सुहुमवज्जा।
उद्दवणं पुण जाणसु, अइवायविवज्जिय पीडं ॥२५॥
कायवइमणो तिन्नि उ, अहवा देहाऽऽउइंदियप्पाणा।
सामित्ता वायाणे, होइ तिवाओ य करणेसु ॥ २६ ॥
हिययंमि समाहेउं, एगमणेगं च गाहगं जो उ।
वहणं करेइ दाया, काएण तमाह कम्मंति ॥ २७ ॥

सुगमा। नवरं 'देहाऽऽउइंदियप्पाण' त्ति—देहायुरिन्द्रियरूपास्त्रय प्राणा, 'सामित्ते' त्यादि स्वामित्वे-स्वामित्वविषये संबन्धविवक्षयेति भावार्थ, एवमपादाने-अपादानविवक्षया करणेषु विषमे-करणविवक्षया अतिपातो भवति, यथा त्रयाणा पातनं त्रिपातनम्, यद्वा-त्रिभ्य पातन त्रिपातनम्, त्रिभिर्वा करणभूतै पातन त्रिपातन, भावार्थस्तु प्रागेवोपदर्शित तदेवमुक्तमाधाकर्मनाम। पिं०। (आधाकर्मणोऽध कर्मत्वमध कर्म 'अधकम्म' शब्दे प्रथमभागे ५८६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) आधाकर्म अधोगतिनिबन्धनम् इत्यध कर्मेत्युच्यते। पिं० १०२ गाथाटी०। (आत्मघ्नकर्म 'आताहम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे प्रागुक्तम्।) (तच्च आत्मघ्नकर्म) साधो आधाकर्मभुञ्जानस्याऽनुमोदनादिद्वारेण नियमत संभवतीत्युपचारत आधाकर्म आत्मघ्नमित्युच्यते। पिं० १०४ गाथाटी०। (आत्मकर्म 'अत्तकम्म' शब्दे प्रथमभागे ५०० पृष्ठे दर्शितम्) अशुभो भाव आधाकर्म ग्रहणरूप साधुना प्रयत्नेन वर्जयितव्य। पिं० ११० गाथाटी०। परकर्मणश्चात्मीकरणम् आधाकर्मणा ग्रहणे भोजने वा सति भवति, नान्यथा, तत उपचाराद्-आधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते। पिं० १११ गाथाटी०। अतिप्रसङ्गदोषभयात् कृतकारितदोषरहितमपि न आधाकर्म भुञ्जीत। अन्यच्च तदाधाकर्म जानानोऽपि भुञ्जानो नियमतोऽनुमोदते; अनुमोदना हि नाम अप्रतिषेधनम्, 'अप्रतिषिद्धमनुमतम्' इति विद्वत्प्रवादात्। पिं० १११ गाथाटी०।

(३) सम्प्रति प्रतिषेवणादीनि नामानि वक्तव्यानि तानि चाऽऽत्मकर्मेति नामाङ्कत्वेन प्रवृत्तानि, ततस्तेषां आत्मकर्मेति नामाङ्कत्व परस्पर गुरुलघुचिन्ता च चिकीर्षुरिदमाह—

अत्तीकरेइ कम्मं, पडिसेवाईहिं तं पुण इमेहिं।
तत्थ गुरू आइपयं, लहु लहु लहुगा कमेणियरे ॥११२॥

तत्पुनर्ज्ञानावरणीयादिकं परकर्म आत्मीकरोति-आत्मसात्करोति एभि-वक्ष्यमाणस्वरूपै प्रतिषेवणादिभि तत प्रतिषेवणादिविषयमाधाकर्माऽपि प्रतिषेवणादिनाम तत्र तेषा प्रतिषेवणादीनां चतुर्णां मध्ये आदिपद-प्रतिषेवणालक्षण गुरु-महादोष, शेषाणि तु पदानि प्रतिषेवणादीनि लघुलघुलघुकानि द्रष्टव्यानि, प्रतिषेवणापेक्षया प्रतिश्रवण लघुप्रतिश्रवणादपि सवासन लघु सवासनादप्यनुमोदनमिति।

सम्प्रत्येतेषामेव प्रतिषेवणादीना स्वरूप दृष्टान्ताश्च प्रतिपिपादयिषुस्तद्विषयां प्रतिज्ञामाह—

पडिसेवणमाईणं, दाराणणुमोयणाऽवसाणाणं।
जहसंभव सरूवं, सोदाहरणं पवक्खामि ॥ ११३ ॥

प्रतिषेवणाऽऽदीना द्वाराणामनुमोदनापर्यवसानाना यथासंभव यद्यस्य संभवति। तस्य तत् स्वरूप सोदाहरणम्-सदृष्टान्तं प्रवक्ष्यामि, तत्र प्रथमत प्रतिषेवणास्वरूपं वक्तव्यम्। पिं०। (प्रतिषेवणारूपम् 'पडिसेवणा' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते ११४-११५ गाथाभ्याम्)

[४] सम्प्रति प्रतिश्रवणस्वरूपमाह—

उवओगम्मि य लाभं, कम्मग्गाहिस्स चित्तरक्खट्ठा।
आलोइए सुलद्धं, भणइ भणंतस्स पडिसुणणा ॥११६॥

पिं०। [अस्या गाथाया व्याख्या 'पडिसुणणा' शब्दे पञ्चमभागे करिष्यते]

सम्प्रति सवासा-ऽनुमोदनयो स्वरूपं प्रतिपादयति—

संवासो उ पसिद्धो, अणुमोयणकम्मभोयगपसंसा।
एएसिमुदाहरणा, एए उ कमेण नायव्वा ॥११७॥

'सवास' आधाकर्मभोक्तृभि सह एकत्र संवसनरूप प्रसिद्ध एव, अनुमोदनादाधाकर्मभोजकप्रशसा-कृतपुण्या सुलब्धिका एते ये इत्थ सदैव लभन्ते भुञ्जते चेत्येवंरूपा। तदेवमुक्तं प्रतिषेवणादीना चतुर्णामपि स्वरूपम्, सम्प्रत्येतेषामेव प्रतिषेवणादीना क्रमेण एतानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि उदाहरणानि ज्ञातव्यानि, सूत्रे च उदाहरणशब्दस्य पुंल्लिङ्गता प्राकृतलक्षणवशात्।

तत्र यान्युदाहरणानि वक्ष्यामि तेषां नामानि क्रमेण प्रतिपादयति—

पडिसेवणाए तेणा, पडिसुणणाए उ रायपुत्तो उ।
संवासंमि य पल्ली, अणुमोयण रायदुट्ठो य ॥११८॥

प्रतिषेवणस्य स्तेना उदाहरणम्, प्रतिश्रवणस्य तु राजपुत्रं, राजपुत्रोपलक्षिता. शेषा पुरुषा, । संवासे 'पल्ली'-पल्लीवास्तव्या वणिज, अनुमोदनाया राजदुष्टो-राजदुष्टोपलक्षितास्तत्प्रशंसाकारिण । ।

तत्र प्रथमत. प्रतिषेवणसंबन्धिनं स्तेनदृष्टान्तं भावयति—

गोणीहरण सभूमी, नेऊणं गोणिओ पहे भक्खे।
निव्विसया परिवेसण-ट्टियाऽवि ते कूविया घत्थे ॥११६॥

इह गाथाक्षरयोजना सुगमत्वात् स्वयमेव कर्त्तव्या, केवलं 'निर्विशका'-उपभोक्तारो, नि पूर्वस्य विशेरुपभोगे वर्तमानत्वात् तथा चोक्तम्-" निर्वेश उपभोग स्यात् " कूजकाव्याहारकारिण, गवां व्यावर्तका इत्यर्थ', 'घत्थे' इति गृहीता । कथानकमुच्यते-इह क्वचिद्ग्रामे बहवो दस्यव., ते चान्यदा कुतश्चित्सन्निवेशाद् गा. अपहृत्य निजग्रामाऽभिमुखं प्रचलिता, गच्छता च तेषामपान्तराले केऽप्यन्ये दस्यव पथिका मिलितवन्तस्ततस्तेऽपि तै सार्द्धं व्रजन्ति; व्रजन्तश्च स्वदेशं प्राप्ता, तत' प्राप्त स्वदेश इति निर्भया भोजनवेलाया कतिपया गा विनाश्य भोजनाय तन्मांसं पक्तुमारब्धवन्त । अस्मिंश्च प्रस्तावे केऽप्यन्येऽपि पथिका' समाययु, ततस्तेऽपि तैर्दस्युभिर्भोजनाय निमन्त्रिता ततो गोमांसे पक्वे केऽपि चौरा पथिकाश्च भोक्तुं प्रवृत्ता, केऽपि गोमांसभक्षणं बहुपापमिति परिभाव्य न भोजनाय प्रवृत्ता, केवलमन्येभ्य. परिवेषणं विदधति अत्रान्तरे च निष्प्रत्याकारनिशितकरवालभीषणमूर्त्तय समाययु' कूजका., ततस्तै सर्वेऽपि भोक्तार. परिवेषकाश्च परिगृहीता, तत्र ये पथिका अपान्तराले मिलितास्ते पथिका वयमिति ब्रुवाणा अपि चौरोपनीतगोमांसभक्षणपरिवेषणप्रवृत्ततया चौरवद् दुष्टा इति गृहीता, विनाशिताश्च ।

अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

जे वि य परिवेसंती, भायणाणि धरंति य ।
तेऽवि बज्झंति तिव्वेण, कम्मुणा किमु भोयिणो? ॥१२०॥

इह चौराणा येऽपान्तराले भोजनवेलायां वा ये मिलिता पथिकास्तत्रापि ये परिवेषमात्र भाजनधारणमात्र वा कृतवन्तस्तेऽपि कूजकैरागत्य बद्धा-विनाशिताश्च, एवमिहापि ये साधवोऽन्येभ्य साधुभ्य आधाकर्म्म परिवेषयन्ति वा धरन्ति । तेऽपि तीव्रेण-दु सहविपाकेन नरकादिगतिहेतुना कर्म्मणा बध्यन्ते, किं पुनराधाकर्म्मभोजिन: ?। तत एतद्दोषभयात्परिवेषणादिमात्रमप्याधाकर्म्मण' प्रतिषेवणं यतिभिर्नैकर्त्तव्यम्, इह चौरस्थानीया आधाकर्म्मनिमन्त्रिण साधवो. गोमांसभक्तचौरपथिकस्थानीया स्वयगृहीतनिमन्त्रिताधाकर्म्मभोजिनो, गोमांसपरिवेषकादिस्थानीया आधाकर्म्मपरिवेषकादय, गोमांसस्थानीयमाधाकर्म्म, पथस्थानीय मानुष जन्म कूजकस्थानीयानि कर्म्माणि मरणस्थानीयं नरकादिप्रपात. ।

संप्रति प्रतिश्रवणस्य पूर्वोक्तराजसुतदृष्टान्तं भावयति—

सामत्थण रायसुए, पिइवहणसहाय तह य तुण्हिक्का ।
तिण्हं पि हु पडिसुणणा, रन्ना सिट्ठंमि सा नऽत्थि ।१२१।

गुणसमृद्ध नाम नगरं तत्र महाबलो राजा तस्य शीला नाम देवी तयोर्विजितसमरो नाम ज्येष्ठ कुमार, स च राज्यं जिघृक्षु पितरि दुष्टाशयश्चिन्तयामास यथा ममैष पिता स्थविरोऽपि न म्रियते नून दीर्घजीवी संभाव्यते ततो निजभटान् सहायीकृत्यैनं मारयामीति, एवं च चिन्तयित्वा निजभटै समं मन्त्रयितु प्रावर्त्तत, तत्र कैश्चिदुक्तं वयं तव साहायककारिण', अपरैरुक्तमेव कुरु, केचित्पुनस्तूष्णीं प्रतिपेदिरे, अपरे पुनश्चैतस्यप्रतिपद्यमाना' सकलमपि तद् वृत्तान्त राज्ञे निवेदयामासु, ततो राजा ये साहायकं प्रतिपन्ना ये च एव कुर्वित्युक्तवन्तो येऽपि च तूष्णीं तस्थु तान् सर्वानपि येष्ठ च कुमार वैवस्वतमुखे प्रतिचिक्षेप येऽस्त्वागत्य निवेदिता ते पूजिता', गाथाक्षरयोजना त्वियम्-'सामत्थण' स्वभटै सह पर्यालोचनं 'राजसुए' त्ति-तृतीयार्थे-सप्तमी, ततोऽयमर्थ -राजसुतेन कर्त्तुमारब्धमिति शेष, तत्र कैश्चिदुक्त पितृहनने कर्त्तव्ये तव सहाया वयमिति 'तथा' इति समुच्चये, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थ', स च केचिदेवं कुर्वीति भाषितवन्त इति समुच्चिनोति, केचित् पुनस्तूष्णीका जाता-मौनेनावस्थिता, एतेषा च त्रयाणामपि प्रतिश्रवणदोष, यैस्तु राज्ञे शिष्टं तेषां 'सा' तत्प्रतिश्रवण नास्ति ।

अमुमेवार्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

भुंज न भुंजे भुंजसु, तइओ तुसिणीए भुंजए पढमो ।
तिण्हं पि हु पडिसुणणा, पडिसेहंतस्स सा नऽत्थि ।१२२।

इह किल केनापि साधुना चत्वारः साधव आधाकर्म्मणे निमन्त्रिता यथा भुङ्ध्व यूयमेतमाहारमिति तत्रैव निमन्त्रणे कृते प्रथमो भुङ्क्ते द्वितीय आह-नाह भुञ्जे भुङ्क्ष्व त्वमिति, तृतीयो मौनमाश्रित', चतुर्थ पुन. प्रतिषिद्धवान् यथा न कल्पते साधूनामाधाकर्म तस्मादहं भुञ्ज इति, त्रयाणामाद्याना प्रतिश्रवणदोष', चतुर्थस्य प्रतिषेधत' सत. 'सा' तत्प्रतिश्रवण नास्ति, अत्राह—नन्वाद्यस्याधाकर्मभुञ्जानस्य प्रतिषेवणलक्षण एव दोष, कथं प्रतिश्रवणदोष उक्त. ? । उच्यते—इह यदा आधाकर्म्मनिमन्त्रित सन् तद्भोजनमभ्युपगच्छति । तदा नाद्यापि प्रतिषेवणमिति प्रतिश्रवणदोष, तत ऊर्ध्वं तु प्रतिषेवणं ततो न कश्चिद्दोष । अथामीषामेव भोजकादीनां क. क कायिकादिको दोष. स्यात्? अत आह—

आणंतभुंजगा क-म्मुणा उ, वीयस्स वाइओ दोसो ।
तइयस्स य माणसिओ, तीहिं विसुद्धो चउत्थो उ ।१२३।

इह य आधाकर्म्मण स्वयमानेता यश्चानीतस्य निमन्त्रित. सन् भोक्ता तौ द्वावपि कर्म्मणा आनयनभोजनरूपतया कायक्रियया तुशब्दान्मनसा वाचा च दोषवन्तौ द्वितीयस्य तु भुङ्क्ष्व त्व नाहं भुञ्ज इति ब्रुवाणस्य वाचिको दोष, उपलक्षणमेतत्-मानसिकश्च, तृतीयस्य तु तूष्णींस्थितस्य तु मानसिको, यस्तु चतुर्थ स त्रिभिरपि दोषैर्विशुद्ध, तस्माच्चतुर्थकल्पेन सर्व्वैरेव साधुना भवितव्यम् ।

संप्रति दृष्टान्तोक्तस्य कुमारस्य ये दोषा. सम्भवन्ति तानु-पदर्श्याऽऽधाकर्म्मणो भोक्तरि योजयति—

पडिसेवण पडिसुणणा, संवासऽणुमोयणा उ चउरोऽवि ।
पियमारग रायसुए, विभासियव्वा जइजणेऽवि ॥१२४॥

पितृमारके राजसुते प्रतिषेवण-प्रतिश्रवण-संवासाऽनुमोदनारूपाश्चत्वारोऽपि दोषा घटन्ते, तथाहि-तस्य स्वयं पितृमारणाय प्रवृत्तत्वात् प्रतिषेवण , वयं तत्र सहाया इति निजभटवचनं प्रतिपद्यमानस्य प्रतिश्रवणं, तैरेव सार्द्धमेकत्र निवसनेन संवास , तेष्वेव बहुमानकरणादनुमोदना, एव यतिजनेऽप्याधाकर्म्मणो भोक्तरि विभाषितव्या-योजनीया., अत्र य. स्वयमानीयान्यै. सह भुङ्क्ते तत्र प्रथमतो योज्यन्ते तस्य आधाकर्म गृहस्थगृहादानीय भुञ्जानस्य प्रतिषेवण, गृहस्थेनाधाकर्मग्रहणाय निमन्त्रितस्य तद्ग्रहणाभ्युपगम प्रतिश्रवण, तस्मै तदाधाकर्म आत्मीय संविभागेन प्रयच्छति तेन सहैकत्र संवसत संवास , तत्रैव बहुमानकरणादनुमोदना यश्चान्येनानीतमाधाकर्मनिमन्त्रित सन् भुङ्क्ते तस्य प्रथमतो निमन्त्रणानन्तरमभ्युपगच्छत प्रतिश्रवणं, ततो भुञ्जानस्य प्रतिषेवणं, निमन्त्रकेण सह एकत्र संवसत संवास तत्र बहुमानकरणादनुमोदना, तदेव यत्र प्रतिषेवण तत्र नियमतश्चत्वारोऽपि दोषा , प्रतिश्रवणे च केवले त्रय , संवासे द्वौ अनुमोदनाया त्वनुमोदनैव केवला, अत एवाऽऽदिपद गुरु, शेषाणि तु पदानि लघुलघुलघुकानीति ।

संप्रति संवासे पल्लीदृष्टान्त भावयति—

पल्लीवहम्मि नट्ठा, चोरा वणिया वयं न चोर त्ति ।
न पलाया पावकर त्ति, काउं रन्ना उवालद्धा ॥१२५॥

वसन्तपुरं नाम नगर तत्र-अरिमर्दनो नाम राजा, तस्य प्रियदर्शना देवी, तस्य वसन्तपुरस्य प्रत्यासन्ना भीमाभिधाना पल्ली, तस्यां च वहवो भिल्लरूपा दस्यव परिवसन्ति, वणिजश्च । ते च दस्यवस्सदैव स्वपल्या विनिर्गत्य सकलमप्यरिमर्दनराजमण्डलमुपद्रवन्ति । न स कश्चिदस्ति राजा सामन्तो माण्डलिको वा यस्तान् साधयति, ततोऽन्यदा तत्कृत सकलमण्डलोपद्रवमाकर्ण्य महाकोपावेशपूरितमानसो राजा स्वयं महतीं सामग्रीं विधाय भिल्लान् प्रतिजगाम, भिल्लाश्च पल्लीं मुक्त्वा संमुखीभूय सङ्ग्राम दातुमुद्यता , राजा प्रबलसेनापरिकलिततया तान् सर्व्वानप्यविगणय्य सोत्साहो हन्तुमारब्धवान् , ते चैव हन्यमाना केऽपि तत्रैव परासवो बभूवु , केऽपि पुन पलायितवन्त , राजा च साऽमर्ष पल्लीं गृहीतवान् , वणिजश्च तत्रत्या न वय चौरास्तत किमस्माक राजा करिष्यतीति बुद्ध्या नाऽनेशन् , राज्ञा च तेऽपि ग्राहिता , ततस्तैर्विज्ञपयाञ्चक्रे यथा देव ! वय वणिजो; न चोरा इति, ततो राजाऽवादीत्-यूय चौरेभ्योऽप्यतीवापराधकारिणो येऽस्माकमपराधकारिभिश्चौरै सह संवसथेति, ततो निगृहीता. । गाथाऽक्षरयोजना तु सुगमत्वात् स्वय कार्या ।

दार्ष्टान्तिकयोजना करोति—

आहाकडभोईहिं, सहवासो तह य तव्विवज्जं पि ।
दंसणगंधपरिकहा, भावेंति सुल्लूहवित्तिं पि ॥ १२६ ॥

भावना-यथा वणिजा चौरैस्सहैकत्र संवासो दोषाय बभूव तथा साधूनामप्याधाकर्मभोक्तृभि सहैकत्र संवासो दोषाय वेदितव्य , यतस्तद्विवर्ज्जमपि—आधाकर्मपरिहारकमपि तथा सुरूक्षवृत्तिमपि,सुष्ठु अतिशयेन रूक्षा द्रव्यतो विकृत्य परिभोगेन भावतोऽभिष्वङ्गाभावेन नि स्नेहा वृत्ति.-वर्तनं यस्य तथा तमपि आधाकर्मसम्बन्धिन्यो दर्शनगन्धपरिकथा भावयन्ति—आधाकर्मपरिभोगवाञ्छोत्पादनेन वासयन्ति । तथाहि दर्शनम्-अवलोकन, तच्च मनोज्ञमनोज्ञतराऽऽधाकर्माहारविषयं नियमाद्भासयति, यत. कस्य नाम शङ्ख-कुन्दावदातो रसपाकविधाननिष्णातमहासूपकारसुसंस्कृत शाल्याद्योदनो न मन क्षोभमुत्पादयति । गन्धोऽपि सद्यस्तापितघृतादिसम्बन्धी नासिकेन्द्रियाऽऽप्यायनशीलो बलादपि तद्भोजने श्रद्धामुपजनयति, परिकथाऽपि च विशिष्टविशिष्टतरद्रव्यनिष्पादितमोदकादिविषया विधीयमाना तदास्वादसपरयाशनाविधौ चेत् उत्साहयितुमीश्वरा, तथादर्शनात् ततोऽवश्यमाधाकर्मभोक्तृभि सह संवासो यतीनां दोषायेति ।

अनुमोदनायां राजदुष्टदृष्टान्तं भावयति—

रायारोहवराहे, विभूसिओ घाइओ नयरमज्झे ।
धन्नाऽधन्न त्ति कहा, वहाऽवहो कप्पडिय खोला ॥१२७॥

श्रीनिलय नाम नगरं, तत्र गुणचन्द्रो नाम राजा, तस्य गुणवतीप्रमुखमन्त पुर, तत्रैव च पुरे सुरूपो नाम वणिक्. स च निजशरीरसौन्दर्यविनिर्जितमकरध्वजलावणिमाकमनीयकामिनीनामतीव कामास्पदं स्वभावतश्च परदाराभिष्वङ्गलालस , तत सोऽन्यदा राजान्त पुरसन्निवेशसमीप गच्छन्नन्त पुरिकाभि सस्नेहमवलोकित , तेनाप्यपश्चिमा साभिलापमवेक्षितास्ततो जात परस्परमनुराग , दूतीनिवेदितप्रयोगवशेन च ता प्रतिदिन तेन सेवितुमारब्धा , राज्ञा च कथमप्यय वृत्तान्तो जज्ञे, ततो यदा सोऽन्त.पुर प्राविशत्तदा निजपुरुषैर्ग्राहितो ग्राहयित्वा च यैरेवाभरणैरलङ्कृतोऽन्त पुर प्रविवेश तैरेवाभरणैर्विभूषितो नगरमध्ये चतुष्पथे सकलजनसमक्ष विचित्रकदर्थनापुरस्सर विनिपातित । राजा चान्त पुरविध्वंसनातीवदूनमनास्तस्मिन् विनाशितेऽपि न कोपावेश मुञ्चति । ततो हेरिकान् प्रेषयामास, यथा रे दुरात्मान ! ये प्रशंसन्ति ये वा निन्दन्ति तान् द्वयानपि मह्य निवेदय ! इति, एव च ते प्रेषिता कार्पटिकवेषधारिण सर्व्वत्रापि नगरे परिभ्रमन्ति, लोकाश्च तं विनाशित दृष्ट्वा केचन ब्रुवते, यथा अहो जातेन मनुजन्मना अवश्य तावन्मर्त्तव्य परं या अस्मादृशामधन्याना दृष्टिपथमपि कदाचनापि नायान्ति ता अप्येष यथासुखं चिरकाल भुक्त्वा मृतस्तस्माद्धन्य एष इति, अपरे ब्रुवते-अधन्य एष उभयलोकविरुद्धकारी स्वामिनोऽन्त पुरिका हि जननीतुल्यास्ततस्तास्वप्येष सचरन् कथ प्रशंसामर्हति शिष्टेभ्य इति, ततस्ते द्वये अपि हेरिकैर्निवेदिता राज्ञो, राज्ञा च ये तस्य निन्दाकारिणस्ते सद्बुद्धय इति कृत्वा पूजिता , इतरे तु-कृतान्तमुखं प्राक्षिप्यन्त, गाथाक्षरयोजना त्वेवम्-राज्ञोऽवरोधोऽन्त पुरं तद्विषयेऽपराधे यैरेवाऽऽभरणैर्विभूषितोऽन्त पुरे प्रविष्टस्तैरेव विभूषितो नगरमध्ये घातित । तत. कार्पटि-

कवचधारिणः खोला-हेरिका राज्ञा नियुक्ताः । लोकानां च तद्विषया धन्याऽधन्यकथा। ततो धन्यकथाकारिणां विनाशः, इतरेषां त्वविनाश इति । दार्ष्टान्तिकयोजना त्वेवम्-एके साधवस्तावदाधाकर्म भुञ्जते । तत्राऽपरे-जल्पन्ति धन्या एते सुखं जीवन्ति, अन्ये ब्रुवते-धिग् एतान् ये भगवत्प्रवचनप्रतिषिद्धमाहारमश्नन्ति. तत्र ये प्रशंसिनस्ते कर्मणा बध्यन्ते, इतरे तु न, इहान्तःपुरस्थानीयमाधाकर्म, अन्तःपुरद्रोहकारिस्थानीया आधाकर्मभोजिनः साधवः, नृपस्थानीयं ज्ञानावरणादिकं कर्म, मरणस्थानीयः संसारः, तत्र ये आधाकर्मभोक्तृप्रशंसकास्ते कर्मराज्ञो निग्राह्याः शेषास्त्वनिग्राह्याः ।

सम्प्रत्यनुमोदनाप्रकारमेव दर्शयति—

साउं पज्जत्तं आ-यरेण काले रिउक्खमं निद्धं ।
तग्गुणविकत्थणाए, अभुंजमाणे वि अणुमन्ना ॥१२८॥

आधाकर्मभोजिन उद्दिश्य केचिदेव ब्रुवते—वयं तावन्न कदाचनाऽपि मनोज्ञमाहारं लभामहे, एते पुनः सदैव स्वादु लभन्ते. तदपि च पर्याप्त-परिपूर्णं तत्राप्यादरेण-बहुमानपुरस्सरं तत्रापि काले-प्रस्तुतभोजनवेलायां तदपि ऋतुक्षम-शिशिरादिऋतूपयोगि तथा स्निग्ध-घृतपूरादि तस्माद्धन्या अमी सुखं जीवन्ति । एवं तद्गुणविकत्थनया-तद्गुणप्रशंसया अभुञ्जानेऽपि-अनभ्यवहरत्यपि अनुमन्या-अनुमोदना इह अनुमन्याजनितो दोषोऽपि कार्ये कारणोपचारादनुमन्येत्युक्तम्, ततोऽयमर्थः—अभुञ्जानेऽप्यनुमोदनाद्वारेणाधाकर्मभोजिन इव दोषो भवतीति । अन्ये तु तद्गुणविकत्थनामेव योजयन्ति-आधाकर्मभोजिनं कोऽपि कन्दर्पेणानाभोगेन वा पृच्छति-साधु लब्धं त्वया भोजनं, तथा पर्याप्तं, तथा आदरेण भक्त्या इत्यादि?, तत्राप्यविरोधः । तदेवमुक्तान्याधाकर्मणो नामानि, तदुक्तौ च यदुक्तं प्राक् मूलद्वारगाथायाम् "आधाकम्मियनामा" इति तद् व्याख्यातम् । पिं० ।

(५) एकार्थिकानि आधाकर्मणः । संप्रति 'एगट्ठा' इत्यवयवं व्याचिख्यासुरिदमाह—

आहा अहे य कम्मं, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य ।
जह वंजणनाणत्तं, अत्थेण वि पुच्छए एवं ॥ १२९ ॥

अत्र परः एवं पृच्छति-यथा आधाकर्म १, अधःकर्म २, आत्मघ्नकर्म ३, आत्मकर्म ४, इत्येतेषु चतुर्षु नामसु व्यञ्जनैर्नानात्वं विद्यते, तथाऽत्रार्थेनाऽपि-अर्थापेक्षयापि नानात्वमस्ति किं वा न ? इति, पृच्छतश्चायमभिप्रायः-इहाऽऽधाकर्मादीनां नाम्नां सर्वेषामपि व्युत्पत्तिनिमित्तं पृथगुक्तं, तद्यथा-आधया कर्म आधाकर्म, अत्र साधुविषयप्रणिधानपुरस्सरपाकादिक्रियारम्भो व्युत्पत्तिनिमित्तम्. अधोऽधः कर्म-अधःकर्म, अत्र विशुद्धेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽधोऽधस्तरामागमनम्, आत्मानं हन्तीत्यात्मघ्नमिति अत्र चरणाद्यात्मविनाशनम्, परकर्म आत्मकर्म क्रियते इत्यात्मकर्म, अत्र परकर्मण आत्मसम्बन्धितया करणं, ततोऽत्र संशयो, यथा व्युत्पत्तिनिमित्तं पृथक् पृथक् भिन्नमेवं प्रवृत्तिनिमित्तमपि पृथक् पृथक् भिन्नं यथा घटपटशकटादिशब्दानां, किं वा न यथा घटकलशकुम्भादीनामिति । अत्र 'आहा अहेयकम्मे' इत्यादावक्षरयोजना प्रागिव भावनीया ।

एवं परेण प्रश्ने कृते सति शिष्यमतिप्रागल्भ्याधानाय सामान्यतो नामविषयां चतुर्भङ्गिकामाह—

एगट्ठ एगवंजण, एगट्ठा नाणवंजणा चेव ।
नाणट्ठ एगवंजण, नाणऽट्ठा वंजणा नाणा ॥ १३० ॥

इह नामानि जगति प्रवर्तमानानि कानिचिदुपलभ्यन्ते । एकार्थानि—एकव्यञ्जनानि १, कानिचिदेकार्थानि नानाव्यञ्जनानि २, कानिचिन्नानार्थानि एकव्यञ्जनानि ३, कानिचित् पुनर्नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि ४ ।

अस्या एव चतुर्भङ्गिकायाः क्रमेण लौकिकनिदर्शनानि गाथाद्वयेनोपदर्शयति—

दिट्ठं खीरं खीरं, एगऽट्ठं एगवंजणं लोए ।
एगऽट्ठं बहुनामं, दुद्ध पओ पीलु खीरं च ॥ १३१ ॥
गोमहिसिअयाखीरं, नाणऽट्ठं एगवंजणं नेयं ।
घडपडकडसगडरहा, होइ पिहत्थं पिहंनामं ॥ १३२ ॥

इह सर्वत्राऽपि जातावेकवचनं, ततोऽयमर्थः-एकार्थानि एकव्यञ्जनानि नामानि लोके प्रवर्त्तमानानि दृष्टानि यथा क्षीरं क्षीरमिति, इयमत्र भावना-एकत्र क्वचिद् गृहे गोदुग्धादिविषये क्षीरमिति नाम प्रवृत्तमुपलब्धं, तथाऽन्यत्रापि गोदुग्धादावेव विषये क्षीरमिति नाम प्रवर्तमानमुपलभ्यते, एवं ततोऽप्यन्यत्र गृहान्तरे ततोऽमूनि सर्वाण्यपि क्षीरं क्षीरमित्येवरूपाणि नामान्येकार्थानि एकव्यञ्जनानि, तथा एकार्थानि बहुव्यञ्जनरूपाणि नामानि यथा दुग्धं पयः पीलु क्षीरमिति अमूनि हि नामानि सर्वाण्यपि विवक्षितगोदुग्धादिलक्षणैकार्थाभिधायितया नानापुरुषैरेककालं क्रमेणैकपुरुषेण वा प्रयुज्यमानान्येकार्थानि नानाव्यञ्जनानि च ततो द्वितीये भङ्गे निपतन्ति । नानार्थान्येकव्यञ्जनानि, यथा-गोमहिष्यजासम्बन्धिषु क्षीरं क्षीरमिति नामानि प्रवर्त्तमानानि, एतानि हि नामानि सर्वाण्यपि समानव्यञ्जनानि भिन्नभिन्नगोदुग्धमहिषीदुग्धादिरूपार्थवाचकतया भिन्नार्थानि च तत उच्यन्ते-नानार्थान्येकव्यञ्जनानि, नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटकटशकटरथादीनि नामानि । तदेवमुक्तानि चतुर्थभङ्गिकया निदर्शनानि ।

साम्प्रतमिमामेव चतुर्भङ्गिकामाधाकर्मणि यथासम्भवं गाथाद्वयेन योजयति—

आहाकम्माईणं, होइ दुरुत्ताइ पढमभंगो उ ।
आहाऽहेकम्मति य, बिइओ सक्किंद इव भंगो ॥ १३३ ॥
आहाकम्मंतग्गिया, असणाई उ चउरो तइयभंगो ।
आहाकम्मा पडुचा, नियमा सुन्नो चरिमभंगो ॥ १३४ ॥

आधाकर्मादीनां नाम्नां युगपद्बहुभिः पुरुषैरेकेन वा कालभेदेन एकस्मिन्नेव अशनादिरूपे वस्तुनि यद् द्विरुक्तादिलक्षणमुच्चारणादि, आदिशब्दात्त्रिरुच्चारणादिपरिग्रहः, स भवति प्रथमो भङ्गः, किमुक्तं भवति ?-एकत्र वसतावशनविषये केनाप्याधाकर्मेति नाम प्रयुक्तं, तथाऽन्यत्रापि वसत्य-

न्तरेऽशनविषये एवाधाकर्मेति नाम प्रयुज्यते, तथा ततोऽन्यत्रापि वर्त्तमानत्वात्, तान्यमूनि सर्वाण्यप्याधाकर्मेति नामान्येकार्थानि एकव्यञ्जनानीति प्रथमे भङ्गेऽवतरन्ति, आधाकर्म अध कर्मेत्यादीनि तु नामानि विवक्षिताशनादिकैकविषये प्रवर्तमानानि । द्वितीयो भङ्ग, एकार्थानि नानाव्यञ्जनानीत्येवरूपाद्वितीयभङ्गविषयाणि 'सक्किद इये' ति- यथा इन्द्र शक्र इत्येवमादीनि नामानि, तथा अशनाद्य- अशनपानखादिमस्वादिमरूपाश्चत्वार आधाकर्मान्तरेना- आधाकर्मशब्देन-व्यवहिता यथा-अशनमाधाकर्म पानमाधाकर्म इत्येवमादि, तृतीयभङ्ग-तृतीयभङ्गविषय, अमाव्यय भावार्थ -यदा-अशनादय. प्रत्येकमाधाकर्म आधाकर्मेति देशभेदेन चतुर्भि । पुरुषरेककालमेकेन वा पुरुषेण कालभेदेनोच्यन्ते तदा तानि आधाकर्म आधाकर्मेति नामानि नानार्थान्येकव्यञ्जनानीति तृतीये भङ्गेऽवतरन्ति, आधाकर्मेरूप नामाधिकृत्य पुनश्चरमो भङ्गो नानार्थानि नानाव्यञ्जनानीत्येवंरूपो नियमाच्छून्य आधाकर्म आधाकर्मेत्येवमादिनाम्ना सर्वेषामपि समानव्यञ्जनत्वात, उपलक्षणमेतत्, तेन सर्वाण्यपि नामानि प्रत्येक चरमभङ्गे न वर्त्तन्ते, यदा तु कोऽप्यशनविषये आधाकर्मेति नाम प्रयुङ्क्ते, पानविषये त्वध कर्मेति, खादिमविषये त्वात्मघ्नमिति, स्वादिमविषये त्वात्मकर्मेति तदाऽमूनि नामानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि चेति चरमोऽपि भङ्ग प्राप्यते ।

इह विवक्षिताशनादिकैकविषये प्रवर्तमानान्याधाकर्माध कर्मप्रभृतीनि नामानि द्वितीयभङ्ग उक्तमतस्तदेव भावयति-

इदत्थं जह सद्दा, पुरंदराई उ नाऽइवत्तते ।
अहकम्म आयहम्मा, तह आह नाऽइवत्तंते ॥ १३५ ॥

यथा इन्द्रार्थं इन्द्रशब्दवाच्य देवराजरूप पुरन्दरादय'- पुरन्दरः शक्र इत्येवमादय शब्दा नातिवर्तन्ते-नातिक्रामन्ति । तथा अध कर्म-आत्मघ्नशब्दौ उपलक्षणमेतत् । आत्मकर्मशब्दश्च 'आह'ति-"सूचनात् सूत्रमि"ति न्यायात् आधाकर्मार्थम्-आधाकर्मशब्दवाच्य नातिवर्तन्ते, यदेव येन दोषेण दुष्टमाधाकर्मशब्दवाच्यमोदनादि तदेव तेनैव दोषेण दुष्टमध कर्मादयोऽपि शब्दा ब्रुवते इति भाव ।

एतदेव भावयति—

आहाकम्मेण अहे, करेइ जं हणइ पाणभूयाइं ।
ज तं आययमाणो, परकम्मं अत्तणो कुणइ ॥ १३६ ॥

आधाकर्मणा भुज्यमानेन कृत्वा यस्माद्विशुद्धेभ्यो विशुद्धतरेभ्य संयमादिस्थानेभ्योऽवतीर्याधस्तादात्मान करोति । तेन कारणेन तदाधाकर्म अध कर्मेत्युच्यते, तथा यस्मादाधाकर्मणा भुज्यमानेन कृत्वा स एव भोक्ता । परमार्थत. प्राणान्-द्वीन्द्रियादीन् भूतान्-वनस्पतिकायान् उपलक्षणमेतत् जीवान्-सत्त्वांश्च हन्ति-विनाशयति । 'जम्मऽट्ठा आरम्भो पाणिवहो होइ तस्स नियमेण' इति वचनप्रामाण्यात्प्राणादींश्च घ्नन् नियमतश्चरणादिरूपमात्मान हन्ति-विनाशयति । 'पाणिवहे वयभंगो' इत्यादिवचनात् तत आधाकर्म आत्मघ्नमित्युच्यते, तथा यत्-यस्मात्कारणात् तत्-आधाकर्म आददान परस्य-पाचकादे सम्बन्धि यत्कर्म आरम्भजनित ज्ञानावरणीयादिकमुत्पन्नमासीत् तदात्मनोऽपि करोति, ततस्तदाधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते तस्मादध कर्मादीनि नामानि सर्वाण्यपि नाऽऽधाकर्मशब्दार्थमतिवर्तन्ते इति द्वितीये भङ्गेऽवतरन्ति । तदेव मूलद्वारगाथायाम् 'एगट्ठा' इत्यपि व्याख्यानम् । पिं० ।

(६) आधाकर्माश्रित्य कल्प्याऽकल्प्यविधि । सम्प्रत्येनान्येवाधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिर्वक्तव्य, तत्र नाममाधर्मिकमधिकृत्य प्रथमत. कल्प्याकल्प्यविधि गाथाद्वयेन प्रतिपादयति—

जावंत देवदत्ता, गिहीव अगिहीव तेसि दाहामि ।
नो कप्पई गिहीणं, दाहंति विसेसिए कप्पे ॥ १४२ ॥
पासंडीसु वि एवं, मीसाऽमीसेसु होइ हु विभासा ।
समणेसु संजयाण उ,विसरिसनामाण वि न कप्पे॥१४३॥

इह कोऽपि पितरि मृते जीवति वा तन्नामानुरागतस्तन्नामयुक्तेभ्यो दान दित्सुरेव सकल्पयति यथा यावन्तो गृहस्था अगृहस्था वा देवदत्तास्तेभ्यो मया भक्तादिकमुपस्कृत्य दातव्य, तत्रैव सकल्पे कृते देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, देवदत्तशब्देन तस्यापि संकल्पविषयीकृतत्वात्, यदा पुनरेव संकल्पयति, यथा यावन्तो गृहस्था देवदत्तास्तेभ्यो दातव्यमिति, तदा एवं विशेषिते-निर्द्धारिते सति तदर्थमुपस्कृत देवदत्ताख्यस्य साधो. कल्पते, तस्य विवक्षितसंकल्पविपर्यीकरणाभावात्, तथा पाषण्डिष्वपि मिश्राऽमिश्रेषु एवं-पूर्वोक्तप्रकारेण विभाषा कर्त्तव्या, इह सामान्यसंकल्पविषया मिश्रा उच्यन्ते, यथा यावन्त पाषण्डिनो देवदत्ता इति, प्रतिनियतसंकल्पविषयास्त्वमिश्रा यथा यावन्त सरजस्का पाखण्डिनो, यदिवा- सौगता देवदत्ता इत्यादि. तत्र यावन्तो देवदत्ता. पाखण्डिन इति मिश्रसकल्पे कृते न कल्पते । पाषण्डिदेवदत्तशब्दाभ्या देवदत्ताख्यस्याऽपि साधो. सकल्पविषयीकृतत्वात् यदा पुनरमिश्र सकल्पो यथा यावन्त सरजस्काः पाषण्डिनो देवदत्ता, यदि वा-यावन्त सौगता देवदत्ता., यद्वा-साधुव्यतिरेकेण सर्वेऽपि पाषण्डिनो देवदत्तास्तेभ्यो दास्यामीति, तदा देवदत्ताख्यस्य साधो कल्पते, तस्य सकल्पविषयीकरणाभावात्, यथा च पाषण्डिषु मिश्रामिश्रेषु विभाषा कृता तथा श्रमणेष्वपि मिश्रामिश्रेषु कर्त्तव्या, श्रमणा हि शाक्यादयोऽपि भण्यन्ते, यतो वक्ष्यति-" निग्गंथ-सक्क-तावस-गेरुय-आजीवपचहा समणा " ततो यद्येव मिश्र सकल्पो यावन्त. श्रमणा देवदत्ताख्यास्तेभ्यो दास्यामीति तदा देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तस्य श्रमणदेवदत्तशब्दाभ्या सकल्पविषयीकृतत्वात्, यदा पुनरेवममिश्र सकल्पो यावन्त शाक्या श्रमणा, यदि वा-आजीवका देवदत्ता, यद्वा—साधुव्यतिरेकेण सर्वे श्रमणा देवदत्तास्तेभ्यो दास्यामीति तदा कल्पते, तस्य विवक्षितसंकल्पविपर्यीकरणाभावात्, संयताना तु निर्ग्रन्थानां विसदृशनाम्नामपि सकल्पे कृते देवदत्ताख्यादे साधोर्न कल्पते, किमुक्तं भवति-चैत्रनाम्नोऽपि संयतस्योद्देशेन कृत देवदत्ताख्यस्य साधोर्न कल्पते, तथा भगवदाज्ञाविजृम्भ-

यात्, यदा पुनस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धसंकल्पनेन कृत तदा कल्पते, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धानां सङ्घातीतत्वेन सङ्घमध्यवर्तिभि' साधुभि. सह साधर्मिकत्वाभावात्। " संजयाणउ विसरिसनामाण वि न कप्पे " इति वचनाच्चार्थापत्त्या यावन्तो देवदत्ता इत्यादौ विसदृशचैत्रादिनाम्ना साधूना कल्पन एवेति प्रतिपादित द्रष्टव्यम्। तदेवमुक्तो नाम साधर्मिकमधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिः।

सम्प्रति स्थापनाद्रव्यसाधर्मिकावधिकृत्य तमाह—

नीसमनीसावकडं, ठवणा साहंमियम्मि उ विभासा ।
दव्वे मयतणुभत्तं, न तं तु कुच्छा विवज्जेज्जा ॥ १४४ ॥

इह कोऽपि गृही गृहीतप्रव्रज्यस्य मृतस्य जीवतो वा पित्रादे स्नेहवशात्प्रतिकृतिं कारयित्वा तत्पुरतो ढौकनाय बलिं निष्पादयति, तन्निष्पादन च द्विधा, तद्यथा-निश्रया, अनिश्रया च । तत्र य रजोहरणादिवेषधारिणो मत्पितृतुल्यास्तेभ्यो दास्यामीति सकल्प्य निष्पादयति। तदा तद्बलिनिष्पादन निश्राकृतमुच्यते, यदा त्वेवंविध सकल्पो न भवति, किन्त्वेवमेव ढौकनाय बलिं निष्पादयति । तदा तद्बलिनिष्पादनमनिश्राकृतमुच्यते, तथा चाह—" नीसमनीसा व कडं ' इह प्रथमा तृतीयार्थे वेदितव्या ततोऽयमर्थ —निश्रया अनिश्रया वा यत्कृत—निष्पादित भक्तादिस्थापनासाधर्मिकविषये । तत्र विभाषा कर्त्तव्या, यदि निश्राकृतं तदपि च ढौकितमढौकित वा तर्हि न कल्पते, अनिश्राकृतं तु ढौकितमढौकितं वा कल्पते, पर तत्रापि प्रवृत्तिदोषप्रसङ्ग इति पूर्वसूरयो निषेधमाचक्षते, तथा द्रव्ये-द्रव्यसाधर्मिकविषये यत् मृततनुभक्त तत्काल मृतस्य साधोर्या तनुस्तस्या पुरतो ढौकनाय यदशनादि तत् पुत्रादिना कृत तत् मृततनुभक्त तदपि द्विधा-निश्राकृतम् , अनिश्राकृत च। तत्र साधुभ्यो दास्यामीति सकल्प्यकृत निश्राकृतम् , इतरत्तु स्वपित्रादिभक्तिमात्रकृतमनिश्राकृत तत्र यन्निश्राकृत तन्निषेधयति-नैव कल्पते, इतरत्तु अनिश्राकृत कल्पते, किंतु तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा-निन्दा प्रवर्त्तते, यथा अहो अमी भिक्षवो निःशूका मृततनुभक्तमपि न परिहरन्तीति ततो विवर्जयन्ति तत्साधव ।

सम्प्रति क्षेत्रकालसाधर्मिकावधिकृत्यातिदेशेन कल्प्याऽकल्प्यविधिमाह—

पासंडियसमणाणं, गिहिनिग्गंथाण चेव उ विभासा ।
जह नामम्मि तहेव य, खेत्ते काले य नायव्वं ॥ १४५ ॥

यथा नाम्नि-नामसाधर्मिकविषये पाषण्डिना श्रमणानां 'गिहि' त्ति-"सूचनात् सूत्रम्"ति न्यायात् गृहस्थगृहिणा निर्ग्रन्थाना च विभाषा कृता तथा क्षेत्रे काले च विभाषण ज्ञातव्य, तत्र क्षेत्र-सौराष्ट्रादिक काल -दिनपौरुष्यादिक ; तत्र क्षेत्रविषये विभाषा एवम् यदि सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्य पाषण्डिभ्यो मया दातव्यमिति संकल्प तदा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्य साधोर्नकल्पते, सौराष्ट्रदेशोत्पन्नत्वेन तस्यापि संकल्पविषयीकरणात् , शेषदेशोत्पन्नाना तु कल्पते, तेषा संकल्पविषयीकरणाभावात् यदि पुन सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेभ्य पाषण्डिभ्य सरजस्केभ्य , यदि वा-सौगतेभ्य.

यद्वा-साधुव्यतिरेकेण सर्वपाषण्डिभ्यो दास्यामीति संकल्पस्तदा सौराष्ट्रदेशोत्पन्नस्यापि साधोः कल्पते, तस्य सकल्पाकोडीकरणात्, एवं श्रमणेष्वपि सामान्यत सकल्पितेषु न कल्पते, साधुव्यतिरेकेण तु संकल्पितेषु कल्पते तथा गृहस्थगृहिषु सामान्यत सौराष्ट्रदेशोत्पन्नत्वेन सकल्पितेषु न कल्पते, केवलेषु तु गृहिषु कल्पते, निर्ग्रन्थेषु तु सौराष्ट्रदेशोत्पन्नेषु असौराष्ट्रदेशोत्पन्नेषु वा संकल्पितेषु सौराष्ट्रदेशोत्पन्नानामन्यदेशोत्पन्नाना वा सर्वथा न कल्पते. तदेवं क्षेत्रसाधार्मिके विभाषा भाविता, एव कालसाधर्म्मिकेऽपि भावनीया, यथा विवक्षितदिनजातेभ्य पाषण्डिभ्यो मया दातव्यमिति सकल्पित तस्यापि तद्दिनजातस्य साधो. न कल्पते, तस्यापि तद्दिनजातत्वेन संकल्पविषयीकरणात् , शेषदिनजातानां तु कल्पते, संकल्पविषयीकरणाऽभावात् इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयम् , प्रवचनादिपदसप्तके पुनरेवं पूर्वाचार्यव्याख्या—प्रवचनलिङ्गदर्शनज्ञानचारित्राभिग्रहभावनारूपेषु सप्तसु पदेषु द्विसंयोगभङ्गा एकविंशति , तद्यथा-प्रवचनस्य लिङ्गेन सह एको, दर्शनेन सह द्वितीयो, ज्ञानेन सह तृतीय , एवं यावत् भावनया सह षष्ठ इति षड् भङ्गा. एव लिङ्गस्य दर्शनादिभि. सह पञ्च, दर्शनस्य ज्ञानादिभिः सह चत्वार., ज्ञानस्य चारित्रादिभि. सह त्रय , चारित्रस्याभिग्रहभावनाभ्यां द्वौ अभिग्रहस्य भावनया सहैक इत्येकविंशतिः, एतेषु च एकविंशतिसङ्ख्येषु भङ्गेषु प्रत्येकमेकैकाः चतुर्भङ्गिका , तद्यथा-प्रवचनत' साधर्मिको न लिङ्गत , लिङ्गत साधर्मिको न प्रवचनत , प्रवचनत साधर्म्मिको लिङ्गतश्च, न प्रवचनतो न लिङ्गतश्च, शेषेषु भङ्गेषु यथास्थानं चतुर्भङ्गिका दर्शयिष्यन्त ।

तत्र प्रथमचतुर्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयोदाहरणमुपदर्शयति-

दस ससिहागा सावग, पवयण साहम्मिया न लिंगेणं ।
लिंगेण उ साहंमी, नो पवयण निण्हगा सव्वे ॥१४६॥

प्रवचनत साधर्म्मिका न लिङ्गेन अविरतसम्यग्दृष्टेरारभ्य यावद्दशमीं श्रावक प्रतिमां प्रतिपन्ना ये श्रावकास्ते द्रष्टव्या , कुत इत्याह-' दस ससिहागा ' इत्यत्र " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा विभक्तीनां प्रायो दर्शनम् " इति न्यायाद्धेतौ प्रथमा, ततोऽयमर्थ -यतस्ते दशमीं श्रावकप्रतिमां प्रतिपन्ना', सशिखाका -शिखासहिता केशसहिता एवेत्यर्थ , ततस्ते प्रवचनत एव साधर्मिका भवन्ति न लिङ्गत , ये त्वेकादशीं श्रावकप्रतिमां प्रतिपन्नास्ते निष्कशा इत्यादिना लिङ्गतोऽपि साधर्मिका भवन्तीति तद्विवर्जनम् एतेषा चार्थाय यत् कृतं तत्साधूना कल्पते, तथा लिङ्गत साधर्मिका न प्रवचनतो निह्नवा , तेषा प्रवचनबहिर्भूतत्वेन प्रवचनत साधर्मिकत्वाभावात् , लिङ्ग तु तेषामपि रजोहरणादिकं विद्यते इति लिङ्गत साधर्मिका ,तेषामप्यर्थाय कृत साधूना कल्पते, निह्नवाश्च द्विधा-लोके निह्नवत्वेन ज्ञाता अज्ञाताश्च। तत्र ये अज्ञातास्ते इह ग्राह्या , अज्ञातत्वाना लोके साधुत्वेन व्यवहरणभावत. प्रवचनान्तर्वर्त्तित्वात् . इहाद्यभङ्गद्वयेन उदाहृते शेषमुत्तरं भङ्गद्वय स्वयमेव श्रोतारोऽवभोत्स्यन्ते । इति बुद्ध्या निर्युक्तिकृतोदाहृतवान . अनेनैव च कारणेन शेषाणामपि चतुर्भङ्गिकाणामाद्यमेव भङ्गद्वयमुदाहरिष्यति नोत्तर भङ्गद्वयं वयं

तु सुखावबोधाय उदाहरिष्यामः, तत्रास्यामेव प्रथमचतुर्भङ्गिकाया प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतश्चेति तृतीयभङ्गे उदाहरण साधवः एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावका वा, तत्र साधूनामर्थाय कृतं न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतः साधर्मिका नाऽपि लिङ्गतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा, तेषां प्रवचनलिङ्गातीतत्वात् तेषामर्थाय कृतं कल्पते. द्वितीयाचतुर्भङ्गिका-प्रवचनतः साधर्मिका, न दर्शनतः, दर्शनतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतः साधर्मिका दर्शनतश्च। न प्रवचनतो न दर्शनतः ।

तत्राद्यभङ्गद्वयोदाहरणमाह—

विसरिमदंसणजुत्ता, पवयणसाहम्मिया न दंसणओ ।
तित्थगरा पत्तेया, नो पवयणदंससाहम्मी ॥ १४७ ॥

प्रवचनतः साधर्मिका न दर्शनतो, विसदृशदर्शनयुक्ता -विभिन्नक्षायिकादिसम्यक्त्वयुक्ताः साधवः श्रावका वा किमुक्तं भवति-एकेषां साधूनां श्रावकाणां वा क्षायोपशमिकं दर्शनमपरेषां त्वौपशमिकं क्षायिकं वा ते परस्परं प्रवचनतः साधर्मिका न दर्शनतः, तत्र साधूनामर्थाय कृतं साधूनां न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, तथा दर्शनतः साधर्मिका न प्रवचनतः, तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा वा समानदर्शना वेदितव्याः, तेषामर्थाय कृतं साधूनां कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका दर्शनतश्च, साधवः श्रावका वा समानदर्शनाः, अत्रापि साधूनामर्थाय कृतं साधूनां न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतो नापि दर्शनतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धाश्च विभिन्नदर्शना वेदितव्याः, निह्नवाश्च मिथ्यादृष्टयः प्रतीता एव एतेषां च सर्व्वेषामर्थाय कृतं कल्पते, तृतीया चतुर्भङ्गिका-प्रवचनतः साधर्मिका न ज्ञानतः, ज्ञानतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतोऽपि साधर्मिका ज्ञानतश्च, न प्रवचनतो नापि ज्ञानतः, एवं चतुर्थ्यपि चतुर्भङ्गिका प्रवचनस्य चारित्रेण सह वेदितव्या ।

एतयोर्द्वयोरपि चतुर्भङ्गिकयोराद्यभङ्गद्वयमतिदेशेनोदाहरति —

नाणचरित्ता एवं, नायव्वा होंति पवयणेणं तु ॥

यथा प्रवचनेन सह दर्शनमुक्तमेव ज्ञानचारित्रे अपि प्रवचनेन सह ज्ञातव्ये, तद्यथा-प्रवचनतः साधर्मिका न ज्ञानतः, विसदृशज्ञानसहिताः साधवः श्रावका वा, अत्रापि यदि साधवस्तर्हि न कल्पते, अथ श्रावकास्तर्हि कल्पते, ज्ञानतः साधर्मिका न प्रवचनतः, तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धा वा समानज्ञानाः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका ज्ञानतश्च, साधवः श्रावका वा समानज्ञानाः, अत्रापि साध्वर्थं कृतं न कल्पते, श्रावकाणां त्वर्थाय कृतं कल्पते, न प्रवचनतो नाऽपि ज्ञानतः तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धाश्च विभिन्नज्ञाना वेदितव्याः, निह्नवास्तु मिथ्यादृष्टित्वादज्ञानिनः प्रतीता एव, एतेषां सर्व्वेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते, तथा प्रवचनतः साधर्मिका न चारित्रतः साधवः, श्रावकाश्च, तत्र साधवो विसदृशचारित्रसहिता वेदितव्याः, श्रावकाणां त्वविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्व्वथा विरत्यभावेन देशविरतानां तु देशचारित्रतया चारित्रतः साधर्म्मिकत्वाभावः सुप्रतीतः, साध्वर्थं चेत् कृतं न कल्पते, श्रावकार्थं चेत्तर्हि कल्पते, चारित्रतः साधर्मिका न प्रवचनतः, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः समानचारित्राः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिकाश्चारित्रतश्च साधवः समानचारित्राः, तेषामर्थाय कृतं न कल्पते, न प्रवचनतो नापि चारित्रतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवाः, तत्र तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा विसदृशचारित्रा वेदितव्याः, निह्नवास्त्वचारित्रिण एव एतेषां च सर्व्वेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते । पञ्चमी चतुर्भङ्गिका-प्रवचनतः साधर्म्मिका नाऽभिग्रहतः, अभिग्रहतः साधर्मिका न प्रवचनतः, प्रवचनतोऽपि साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च, न प्रवचनतोऽपि नाप्यभिग्रहतश्च, एवं षष्ठ्यपि चतुर्भङ्गिका प्रवचनस्य भावनया सह वेदितव्या ।

एतयोर्द्वयोरपि चतुर्भङ्गिकयोः प्रत्येकमाद्य भङ्गद्वयमुदाहरति-

पवयणओ साहमी, नाभिग्गहसावगा जइणो ॥ १४८ ॥
साहम्मऽभिग्गहेणं, नो पवयणनिण्हतित्थ पत्तेया ।
एवं पवयणभावण, एत्तो सेसाण वोच्छामि ॥ १४९ ॥

प्रवचनतः साधर्मिका नाभिग्रहतः श्रावका यतयश्च विसदृशाभिग्रहसहिताः, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनाम्, अभिग्रहेण साधर्मिका न प्रवचनेन, निह्नवतीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः, एतेषां चार्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च साधवः श्रावकाश्च समानाभिग्रहाः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न प्रवचनतो नाऽप्यभिग्रहतः, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवा विसदृशाभिग्रहकलिता निरभिग्रहा वा, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, एवम्-'पवयणभावण' त्ति-एव-पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रवचनभावनेति प्रवचनभावना चतुर्भङ्गिका भावनीया तद्यथा-प्रवचनतः साधर्मिका न भावनातः, साधवः श्रावका वा विसदृशभावनाकाः, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते, न साधूनां, भावनातः साधर्मिका न प्रवचनतः, निह्नवतीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, प्रवचनतः साधर्मिका भावनातश्च, साधवः श्रावकाश्च समानभावनाकाः, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न साधूनां, न प्रवचनतो नापि भावनातस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धनिह्नवा विसदृशभावनाकाः, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवमुक्तानि प्रवचनाश्रितानां षण्णां चतुर्भङ्गिकानामुदाहरणानि-'एत्तो सेसाण वोच्छामि' त्ति-इत ऊर्ध्वं शेषाणां चतुर्भङ्गिकानामुदाहरणानि वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेवातिदेशेन निर्वाहयति—

लिंगाईहि वि एवं, एक्केक्केणं तु उवरिमा नेया ।
जेऽणन्ने उवरिल्ला, ते मोत्तुं सेसए एवं ॥ १५० ॥

'लिंगाईहि वि' इत्यत्र सप्तम्यर्थे तृतीया, ततोऽयमर्थः-एवं-पूर्वोक्तेन प्रकारेण लिङ्गादिष्वपि लिङ्गदर्शनप्रभृतिष्वपि पदेषु एकैकेन लिङ्गादिना पदेन उपरितनानि-दर्शनज्ञानप्रभृतीनि पदानि नयेत्, किमुक्तं भवति ?-लिङ्गदर्शनप्रभृतिषु पदेषु दर्श-

नज्ञानादिभिः पदैः सह याश्चतुर्भङ्गिकास्ताः पूर्वोक्तानुसारेणोदाहरेत्, अनीवेदं सङ्क्षिप्ततरमुक्तम्, अतः स्पष्टेन विवक्षुरिदमाह-'जेऽनन्ने' इत्यादि, ये अनन्ये उदाहरणापेक्षया अन्यादृशा न भवन्ति भङ्गास्तान् मुक्त्वा शेषकान् भङ्गकान् एवं—वक्ष्यमाणप्रकारेण जानीत, इयमत्र भावना—इह लिङ्गदर्शनयोर्ये चत्वारो भङ्गा. सोदाहरणा वक्ष्यन्ते तादृशा एव प्राय उदाहरणापेक्षया लिङ्गज्ञानलिङ्गचरणयोरपि भङ्गा, ततस्तान् मुक्त्वा लिङ्गदर्शनलिङ्गाभिग्रहादिसत्कान् भङ्गानुदाहरिष्यामीति, तत्र लिङ्गदर्शनयोरियं चतुर्भङ्गिका, लिङ्गतः साधर्म्मिका न दर्शनत., दर्शनतः साधर्म्मिका न लिङ्गतः, लिङ्गतोऽपि साधर्म्मिका दर्शनतश्च, न लिङ्गतो नापि दर्शनत ।

तत्राऽऽद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

लिंगेण उ साहंमी, न दंसणे वीसुदंसि जइ निण्हा ।
पत्तेयबुद्धतित्थं-करा य वीयंमि भंगम्मि ॥ १५१ ॥

लिङ्गेन साधर्म्मिका 'न दसणे' इत्यत्र तृतीयार्थे सप्तमी न दर्शनेन, विष्वग्दर्शना-विभिन्नदर्शना यतयो निह्नवाश्च उपलक्षणमेतद्विभिन्नदर्शना एकादशप्रतिमाप्रतिपन्ना श्रावकाश्च, तत्र निह्नवा मिथ्यादृष्टित्वात् न दर्शनत. साधर्मिका', अत्र च निह्नवाना श्रावकाणां चार्थाय कृत कल्पते; न यतीनां, द्वितीये भङ्गे दर्शनत. साधर्मिका न लिङ्गत इत्येवंरूपे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृत एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जा श्रावकाश्च समानदर्शना ज्ञेयाः, तेषामर्थाय कृतं कल्पते, शेष भङ्गद्वयं वयमुदाहराम', लिङ्गत' साधर्म्मिका दर्शनतश्च समानदर्शना' साधव एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्ना. श्रावकाश्च, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृत कल्पते न साधूनां, न लिङ्गतो नापि दर्शनतो विसदृशदर्शना' प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जा श्रावकाश्च तेषामर्थाय कृतं कल्पते, लिङ्गज्ञानचतुर्भङ्गिका त्वेवम्-लिङ्गत' साधर्मिका न ज्ञानत., ज्ञानत साधर्मिका न लिङ्गत., लिङ्गतः साधर्मिका ज्ञानतश्च, न लिङ्गतो नाऽपि ज्ञानत, अस्याश्चतुर्भङ्गिकाया आद्यभङ्गद्वयोदाहरणानि प्रायो लिङ्गदर्शनचतुर्भङ्गिकाद्यद्वयसदृशानीति कृत्वा निर्युक्तिकृन्नोदाहरति, ततो वयमेवोदाहराम.-लिङ्गतः साधर्मिका न ज्ञानत', विभिन्नज्ञाना यतय एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्ना. श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकाणा निह्नवाना चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनां, ज्ञानत. साधर्मिका न लिङ्गतः समानज्ञानास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धा एकादश प्रतिमावर्जा' श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृत कल्पते लिङ्गत साधर्मिका ज्ञानतश्च समानज्ञाना साधव एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावकाश्च, अत्राऽपि श्रावकाणामर्थाय कृत कल्पते न यतीनां, न लिङ्गतो नाऽपि ज्ञानतो विभिन्नज्ञाना प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जा श्रावकाश्च एतेषामर्थाय कृत कल्पते,। लिङ्गचरणयोरिय चतुर्भङ्गिका, लिङ्गत साधर्मिका न चरणत १, चरणत साधर्मिका न लिङ्गत २, लिङ्गत. साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न लिङ्गतो नापि चरणत ४, अस्या अपि चतुर्भङ्गिकाया उदाहरणानि प्राय. पूर्वसदृशानीति कृत्वा निर्युक्तिकृत् नोदाहृतवान् ततोऽहमेवोदाहरामि-लिङ्गत साधर्मिका न चरणतो विभिन्नचारित्रा यतय, एकादशी प्रतिमा प्रतिपन्ना' श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकाणा निह्नवानां चार्थाय कृत कल्पते न यतीनां, चरणत साधर्मिका न लिङ्गत, प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृतश्च समानचारित्रा., तेषामर्थाय कृत साधूनां कल्पते, लिङ्गतः साधर्म्मिकाश्चरणतश्च समानचारित्रा यतय', तेषामर्थाय कृत न कल्पते, न लिङ्गतो नापि चरणतो विसदृशचरणा. प्रत्येकबुद्धतीर्थकरा एकादशप्रतिमावर्जा श्रावकाश्च, तेषामर्थाय कृतं कल्पते। लिङ्गाभिग्रहयोश्चतुर्भङ्गिका इयम्-लिङ्गत. साधर्मिका नाभिग्रहत १, अभिग्रहत 'साधर्मिका न लिङ्गत २, लिङ्गत. साधर्मिका अभिग्रहतश्च ३, न लिङ्गतो नाप्यभिग्रहत' ४।

तत्राद्यं भङ्गत्रयमुदाहरति—

लिंगेण उ नाभिग्गह. अणभिग्गह वीसुऽभिग्गही चेव ।
जइ सावग वीयभंगे, पत्तेयबुहा य तित्थयरा ॥ १५२ ॥

लिङ्गेन साधर्मिका नाभिग्रहतोऽनभिग्रहाः, यद्वा—विष्वग्-अभिग्रहिणो-विभिन्नाभिग्रहकलिता यतय एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावकाश्च वेदितव्या, उपलक्षणमेतत् निह्नवाश्च, अत्रापि निह्नवाना श्रावकाणां चार्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् १. अभिग्रहत. साधर्मिका न लिङ्गत. इत्येवंरूपे द्वितीये भङ्गे प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकराश्चशब्दादेकादशप्रतिमावर्जा. श्रावकाश्च समानाभिग्रहा द्रष्टव्या, एतेषामर्थाय कृत कल्पते २, लिङ्गत. साधर्मिका अभिग्रहतश्च समनाभिग्रहाः साधव एकादर्शी प्रतिमा प्रतिपन्ना' श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् ३, न लिङ्गतो नाप्यभिग्रहतश्च विसदृशाभिग्रहास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धैकादशप्रतिमावर्जश्रावका, एतेषामर्थाय कृतं कल्पते। लिङ्गभावनयोरिय चतुर्भङ्गिका-लिङ्गत साधर्मिका न भावनात., भावनात साधर्मिका न लिङ्गत, लिङ्गत. साधर्मिका भावनातश्च, न लिङ्गतो नापि भावनात' ।

तत्रास्या उदाहरणान्यतिदेशेनाह-

एवं लिङ्गेण भावण,

यथा लिङ्गे अभिग्रहेण भङ्गेषूदाहृतमेवं भावनयाऽप्युदाहर्तव्यम्। तद्यथा-लिङ्गत' साधर्मिका न भावनात, भावनारहिता विष्वग्भावना वा यतय एकादर्शी प्रतिमा प्रतिपन्ना श्रावका निह्नवाश्च। अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृत कल्पते न साधूनामर्थाय १, भावनात साधर्मिका न लिङ्गत, प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकृत एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्ना श्रावकाश्च समानभावनाका, एतेषामर्थाय कृत कल्पते २, लिङ्गत साधर्मिका भावनातश्च समानभावनाका साधव एकादर्शी प्रतिमां प्रतिपन्ना. श्रावका निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् ३, न लिङ्गतो नापि भावनातो विसदृशभावनाकास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धैकादशप्रतिमावर्जश्रावका, एतेषामर्थाय कृत कल्पते, तदेव लिङ्गविषया पञ्च चतुर्भङ्गिका उक्ता.। संप्रति दर्शनस्य ज्ञानादिभि सह वक्तव्यास्तत्र दर्शनज्ञानयोरियं चतुर्भङ्गिका-दर्शनत साधर्मिका न ज्ञानतः १, ज्ञानत साधर्मिका न दर्शनत २, दर्शनतोऽपि साधर्म्मिका ज्ञानतश्च ३, न दर्शनतो नाऽपि ज्ञानत' ४।

तत्राद्य भङ्गद्वयमुदाहरति—

दंसणनाणे य पढमभंगो उ ।

जइ सावग वीसुनाणी, एवं चिय विइयभंगोऽवि ।१५३।

दर्शनज्ञाने-दर्शनज्ञानाविषयाया च. समुच्चये, प्रथमो भङ्गो दर्शनत. साधर्मिका न ज्ञानत. इत्येवंरूपो विष्वगृज्ञानिन.—विभिन्नज्ञानाः समानदर्शना यतय. श्रावकाश्च वेदितव्या, तत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनामर्थाय कृतम् । एवमेव ज्ञानत साधर्मिका न दर्शनत इत्येवरूपो द्वितीयभङ्गोऽपि ज्ञातव्य; तत्राऽपि यतय. श्रावकाश्च वेदितव्या इत्यर्थ, केवल विभिन्नदर्शना समानज्ञानाः, अत्रापि कल्प्याऽकल्प्यविधि प्रागिव, ज्ञानतः साधर्मिका दर्शनतश्च समानज्ञाना' समानदर्शना यतय. श्रावकाश्च, अत्राऽपि कल्प्याऽकल्प्यविधि. प्राग्वत्, न ज्ञानतो नापि दर्शनतो विसदृशज्ञानदर्शना' साधवः श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृत कल्पते न साधूनाम् । दर्शनचरणयोश्चतुर्भङ्गिका त्वियम्-दर्शनत साधर्मिका न चरणत. १, चरणत साधर्मिका न दर्शनत २, दर्शनतोऽपि साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न दर्शनतो नापि चरणत ४ ।

तत्राऽऽद्यं भङ्गद्वयमुदाहरति—

दंसणचरणे पढमो, सावग जइणो य बीयभंगो उ ।

जइणो विसरिसदंसी, दंसे य अभिग्गहे वोच्छं ॥१५४॥

दर्शनचरणे-दर्शनचरणचतुर्भङ्गिकाया प्रथमो भङ्गो दर्शनतः साधर्मिका न चरणत इत्येवरूप समानदर्शना श्रावका विसदृशचरणा यतयश्च अत्र श्रावकाणामर्थाय कृत कल्पते न यतीनामर्थाय कृतम् १, द्वितीयो भङ्ग पुनश्चरणत. साधर्मिका न दर्शनत इत्येवंरूप विसदृशदर्शना समानचारित्रा यतय., एतेषामर्थाय कृतं न कल्पते २, दर्शनत साधर्मिकाश्चरणतश्च समानदर्शनचरणा यतय, अत्रापि न कल्पते ३, न दर्शनतो नापि चरणतो निह्नवा विसदृशदर्शना श्रावका विसदृशचरणा यतयश्च, तत्र निह्नवश्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम्, दर्शनाभिग्रहयोरिय चतुर्भङ्गिका-दर्शनत साधर्मिका नाभिग्रहत. १, अभिग्रहत साधर्मिका न दर्शनत २, दर्शनत. साधर्मिका अभिग्रहतश्च ३, न दर्शनतो नाप्यभिग्रहत. ४ तत्राद्य भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुरिदमाह—'दंसण' इत्यादि, दर्शने अभिग्रहे चाद्यभङ्गद्वयमधिकृत्योदाहरण वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

सावग जइ बीमऽभिग्गह-पढमो बीओ य

समानदर्शना विष्वगभिग्रहा—विभिन्नाभिग्रहा श्रावका यतयश्च दर्शनत साधर्मिका नाभिग्रहत एवरूप प्रथमो भङ्ग, अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृत कल्पते, न यतीनां, द्वितीयोऽपि भङ्गोऽभिग्रहत साधर्मिका न दर्शनत इत्येवंलक्षण श्रावकयतिरूप एव, केवलं ते यतयः श्रावकाश्च विसदृशदर्शना समानाभिग्रहा वेदितव्या, उपलक्षणमेतत्, तेन निह्नवाश्च समानाभिग्रहा ज्ञातव्या । अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृत कल्पते न यतीनां, दर्शनतः साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानदर्शनाभिग्रहा. साधुश्रावका., अत्रापि श्रावकाणामर्थाय कृत कल्पते न साधूनां, दर्शनतो नाप्यभिग्रहतो विसदृशदर्शनाभिग्रहा साधुश्रावकनिह्नवा, अत्र कल्प्याऽकल्प्यविधिर्द्वितीयभङ्गवत् । दर्शनभावनयोरिय चतुर्भङ्गिका-दर्शनत साधर्मिका न भावनातो १. भावनात. साधर्मिका न दर्शनत २. दर्शनतोऽपि साधर्मिका भावनातश्च ३, न दर्शनतो नाऽपि भावनात. ४ ।

अस्या आद्यभङ्गद्वयोदाहरणातिदेशार्थमाह—

भावणा चेवं ।

यथा दर्शनेन अभिग्रह उदाहृत एव भावनाऽप्युदाहर्तव्या, सा चैवम्-दर्शनतः साधर्मिका न भावनात, विसदृशभावनाका समानदर्शना श्रावका यतय. १, भावनात. साधर्मिका न दर्शनतो विसदृशदर्शनसमानभावनाका. साधव श्रावका निह्नवाश्च २. दर्शनत साधर्मिका भावनातश्च समानदर्शनभावनाका साधुश्रावका'३, न दर्शनतो नापि भावनातो विसदृशदर्शनभावनाका साधुश्रावकनिह्नवा ४. अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः प्रागिव । तदेवं दर्शनविषया अपि चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ता ।

सम्प्रति ज्ञानस्य चारित्रादिभिः सह वक्तव्या । ताश्चाऽतिदेशेनाह—

नाणेण वि नेज्जेवं,

यथा दर्शनेन सह चतस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ता एवं ज्ञानेनापि सह चारित्रादीनि पदानि अधिकृत्य तिस्रश्चतुर्भङ्गिका भावनीया. । अतीविद सङ्क्षिप्तमुक्तमत स्पष्ट विव्रियते-ज्ञानचरणयोरियं चतुर्भङ्गिका-ज्ञानत साधर्मिका न चरणत. १, चरणत. साधर्मिका न ज्ञानत. २, ज्ञानतोऽपि साधर्मिकाश्चरणतश्च ३, न ज्ञानतोऽपि नापि चरणत ४ । तत्र ज्ञानत साधर्मिका न चरणत . समानज्ञाना. श्रावका' विसदृशचरणसमानज्ञाना यतयश्च, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते न यतीनाम् १. चरणत. साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञानाः समानचरणयतय, अत्र न कल्पते २, ज्ञानत. साधर्मिकाश्चरणतश्च समानज्ञानचरणाः यतय., अत्रापि न कल्पते ३, न ज्ञानतो नापि चरणतो विसदृशज्ञानचरणा यतयो विसदृशज्ञाना. श्रावका निह्नवाश्च, अत्र श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृतं कल्पते, न यतीनाम् ४ । ज्ञानाभिग्रहयोरिय चतुर्भङ्गिका-ज्ञानत. साधर्मिका नाभिग्रहत. १, अभिग्रहत. साधर्मिका न ज्ञानत २, ज्ञानतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च ३, न ज्ञानतो नाप्यभिग्रहत ४ । तत्र ज्ञानत. साधर्मिका नाभिग्रहत. समानज्ञाना विसदृशाभिग्रहा. साधुश्रावका, अत्र श्रावकाणामर्थाय कृतं कल्पते, न साधूनाम् १, अभिग्रहत' साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञाना. समानाभिग्रहा साधुश्रावका. समानाभिग्रहा निह्नवाश्च, अत्रापि श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृत कल्पते, न साधूनाम् २, ज्ञानत. साधर्मिका अभिग्रहतश्च समानज्ञानाभिग्रहा. साधुश्रावका., अत्र कल्प्याऽकल्प्यविधि प्रथमभङ्ग इव ३, न ज्ञानतो नाप्यभिग्रहतो विसदृशज्ञानाभिग्रहा साधुश्रावका विसदृशाभिग्रहा निह्नवाश्च अत्र द्वितीये भङ्गे इव कल्प्याऽकल्प्यभावनाऽ, ज्ञानभावनयोरिय च-

तुर्भङ्गिका-ज्ञानतः साधर्म्मिका न भावनात, भावनातः साधर्मिका न ज्ञानत, ज्ञानतोऽपि साधर्म्मिका भावनातश्च, न ज्ञानतो नापि भावनात, तत्र-ज्ञानतः साधर्मिका न भावनात. समानज्ञाना विसदृशभावनाका साधुश्रावका' १, भावनातः साधर्मिका न ज्ञानतो विसदृशज्ञाना. समानभावनाका साधुश्रावका समानभावना निह्नवाश्च २, ज्ञानत साधर्मिका भावनातश्च समानज्ञानभावनाका. साधुश्रावका ३, न ज्ञानतो नापि भावनातो विसदृशभावनाः साधुश्रावका विसदृशभावना निह्नवाश्च ४. अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु कल्प्याऽकल्प्यभावना प्रागिव । तदेव ज्ञानविषया अपि तिस्रश्चतुर्भङ्गिका उक्ता' ।

संप्रति चरणेन सह यच्चतुर्भङ्गिकाद्वयं तदुदाहर्तुमाह—

एत्तो चरणेण वोच्छामि ॥ १५५ ॥

इत ऊर्ध्वं चरणेन सह ये द्वे चतुर्भङ्गिके तदुदाहरणानि वक्ष्ये, तत्र चरणाभिग्रहयोरिय चतुर्भङ्गिका-चरणतः साधर्मिका नाभिग्रहत, अभिग्रहतः साधर्म्मिका न चरणत', चरणतोऽपि साधर्मिका अभिग्रहतश्च, न चरणतो नाप्यभिग्रहतः ।

तत्राद्यं भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुराह—

जइणो वीसाऽभिग्गह, पढमो बिय निण्ह सावगजइणो उ।

चरणत. साधर्म्मिका नाभिग्रहत इत्येवंरूप प्रथमो भङ्ग' समानचरणा विष्वगभिग्रहा-विभिन्नाभिग्रहा यतय, अत्र न कल्पते. अभिग्रहत साधर्म्मिका न चरणत इत्येवरूपो द्वितीयो भङ्ग, समानाभिग्रहा निह्नवा श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च, अत्र श्रावकाणां निह्नवानां चार्थाय कृत कल्पते, न यतीनाम्, २ चरणत साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च समानाभिग्रहचरणा यतय, अत्र न कल्पते ३, न चरणतो नाप्यभिग्रहत विसदृशाभिग्रहचरणा साधवो विसदृशाभिग्रहा. श्रावकनिह्नवाश्च, अत्र कल्प्याऽकल्प्यभावना द्वितीयभङ्ग इव ४. चरणभावनयोरिय चतुर्भङ्गिका-चरणत. साधर्म्मिका न भावनात. १, भावनात साधर्म्मिका न चरणत' २, चरणत साधर्म्मिका भावनातश्च ३, न चरणतो नापि भावनात ४ ।

अस्या उदाहरणान्यतिदेशत आह—

एवं तु भावणासु वि,

यथा चरणेन सहाभिग्रहे उदाहृतम् एव भावास्वप्युदाहर्तव्यम्. तच्चैवम्-चरणत. साधर्म्मिका न भावनात समानचरणविभिन्नभावना यतय १, भावनात साधर्म्मिका न चरणत समानभावना निह्नवा श्रावका विभिन्नचरणा यतयश्च २, चरणत साधर्मिका भावनातश्च समानचरणभावना यतय. ३, न चरणतो नापि भावनात विसदृशचरणभावना साधवो विसदृशभावना. श्रावका निह्नवाश्च ४, अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु कल्प्याऽकल्प्यविधि' प्रागिव । तदेव चरणविषये अपि द्वे चतुर्भङ्गिके उक्ते ।

सम्प्रत्यभिग्रहभावनयोश्चतुर्भङ्गिका वक्तुकाम आह—

वोच्छं दोण्ह ति मग्गिन्तो ॥१५६॥

इत ऊर्ध्वं द्वयोरन्तिमयो - अभिग्रहभावनालक्षणयो' पदयोश्चतुर्भङ्गिकामुदाहरणतो वक्ष्ये । तत्र तयोरिय चतुर्भङ्गिका-अभिग्रहत' साधर्म्मिका न भावनात १. भावनात साधर्म्मिका नाभिग्रहत २, भावनातः साधर्म्मिका अभिग्रहतश्च ३, नाभिग्रहतो नापि भावनातः ४ ।

तत्राद्य भङ्गद्वयमुदाजिहीर्षुराह—

जइणो सावगनिण्हव-पढमे बीए य हुंति भंगे य ।

अभिग्रहत. साधर्म्मिका न भावनात इत्येवरूपे प्रथमे भङ्गे भावनात साधर्म्मिका नाभिग्रहत इत्येवं रूपे द्वितीये च भङ्गे यतय. श्रावका निह्नवाश्च भवन्ति, केवल प्रथमभङ्गे समानाभिग्रहा विसदृशभावना वेदितव्या., द्वितीयभङ्गे पुन. समानभावना विसदृशाभिग्रहा. अभिग्रहत साधर्म्मिका भावनातश्च समानभावनाभिग्रहा साधुश्रावकनिह्नवा, नाभिग्रहतो नापि भावनातो विसदृशभावनाभिग्रहाः साधुश्रावकनिह्नवाः । अत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु श्रावकनिह्नवानामर्थाय कृत कल्पते, न साधूनामिति । तदेवमुक्ताः २१ एकविंशतिरपि चतुर्भङ्गिका ।

(७) तीर्थकरस्य आधाकर्ममभोजित्वम् । संप्रति सामान्यकेवलिन तीर्थकर चाधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिं कथयन्ति—

केवलनाणे तित्थं-करस्स नो कप्पइ कयं तु ॥ १५७॥

केवलज्ञाने—केवलज्ञानिन सामान्यसाधौ उपलक्षणमेतत्; तेन तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जानां शेषसाधूनामित्यर्थ., तीर्थकरस्य, तीर्थकरग्रहणमुपलक्षणम्, तेन प्रत्येकबुद्धस्य चार्थाय कृतं यथाक्रम न कल्पते, तुशब्दस्यानुक्तार्थसमुच्चायकत्वात् कल्पते च । इयमत्र भावना-तीर्थकरप्रत्येकबुद्धवर्जशेषसाधूनामर्थाय कृत न कल्पते, तीर्थकरप्रत्येकबुद्धाना त्वर्थाय कृत कल्पते, तथा हि-तीर्थकरनिमित्तं सुरैः कृतेऽपि समवसरणे तत्र साधूनां देशनाश्रवणार्थमुपवेशनादि कल्पते, एव भक्ताद्यपि, एव प्रत्येकबुद्धस्याऽपि ।

संप्रति यानाश्रित्य पूर्वोक्ता भङ्गाः सम्भवन्ति स तान् प्रति पादयति—

पत्तेयबुद्ध निण्हव, उवासए केवलीऽवि आसज्ज ।

खइयाइए य भावे, पडुच भंगे उ जोएज्जा ॥ १५८ ॥

प्रत्येकबुद्धान्-निह्नवान् उपासकान्-श्रावकान् केवलिनस्तीर्थकरान् अपिशब्दात्-शेषसाधूंश्चाश्रित्य तथा क्षायिकादीन् भावान् क्षायिकक्षयोपशमिकानि दर्शनानि चशब्दाद्विचित्राणि ज्ञानानि चरणाणि अभिग्रहान् भावनाश्च प्रतीत्य भङ्गान् योजयेत्, ते च तथैव योजिता ।

तत्र प्रथमचतुर्भङ्गिका प्रवचनलिङ्गविषयामधिकृत्य विशेषत कल्प्याऽकल्प्यविधिमाह—

जत्थ उ तइओ भंगो, तत्थ न कप्पं तु, सेसए भयणा।

तित्थंकरकेवलिणो, जहकप्पं नो य सेसाणं ॥ १५९ ॥

यत्र साधर्मिके तृतीयो भङ्ग प्रवचनत साधर्म्मिका लिङ्गतश्चेत्येवरूपस्तत्र न कल्पते, यत. प्रवचनतो लिङ्गतश्च साधर्मिका प्रत्येकबुद्धतीर्थकरवर्जा यतयस्ततस्तेषा-

मर्थाय कृतं न कल्पते, तुशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थं, स च श्रावकस्य एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नस्य तृतीयभङ्गभाविनोऽप्यर्थाय कृतं कल्पत इति समुच्चिनोति, केचिदाहु-एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नः साधुकल्प इति तस्याप्यर्थाय कृतं न कल्पते, तदयुक्तं मूलटीकायामस्यार्थस्यासम्मतत्वात्, मूलटीकायां हि लिङ्गाभिग्रहचतुर्भङ्गिकाविषये कल्प्याऽकल्प्यविधिरेवमुक्तः-' लिंगे नो अभिग्गहे जइ साहू न कप्पइ, गिहत्थनिएहवे कप्पइ " त्ति । इह लिङ्गयुता गृहस्था एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नाः श्रावका एव लभ्यन्ते, ततस्तेषामर्थाय कृतं कल्प्यमुक्तम्, ' सेसए भयणा ' त्ति-शेषके भङ्गकत्रये भजना-विकल्पना क्वचित् कथंचित्कल्पते, क्वचिन्न, भङ्गचतुष्टयमप्यधिकृत्य सामान्यत उदाहरति-' तित्थंकरे ' त्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । तीर्थकरकेवलिनोऽर्थाय कृतं कल्पते, इह तीर्थकर उत्पन्नकेवलज्ञान एव प्रायः सर्वत्रापि भूमण्डले प्रतीतो भवति । प्रतीतस्य च तीर्थकरस्यार्थाय कृतं कल्पते, नाप्रतीतस्य ततः केवलिग्रहणम्, यदा पुनः छद्मस्थावस्थायामपि तीर्थकरत्वेन प्रतीतो भवति । तदा तस्यामप्यवस्थायां तन्निमित्तं कृतं कल्पते, तीर्थग्रहणं च प्रत्येकबुद्धानामुपलक्षणं, तेन तेषामप्यर्थाय कृतं कल्पते, ' नो य सेसाणं ' ति-शेषसाधूनामर्थाय कृतं न कल्पते, इद च सामान्येन उक्तम्, ततोऽमुमेवार्थं मुपजीव्य तृतीयवर्जे शेषे भङ्गत्रये भजना स्पष्टमुपदर्श्यते-प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गतः, एकादशप्रतिमाप्रतिपन्नवर्जाः शेषश्रावकास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, ये तु चौरादिमुषितरजोहरणादिलिङ्गाः साधवस्तेषामर्थाय कृतं न कल्पते द्रव्यलिङ्गापेक्षया साधर्मिकत्वाभावेऽपि भावतश्चरणसाधर्म्मिकत्वात् लिङ्गतः साधर्मिका न प्रवचनतो निह्नवास्ते यदि लोके निह्नवत्वेन ख्यातास्ततस्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, अन्यथा न, न प्रवचनतो न लिङ्गतस्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तेषामर्थाय कृतं कल्पते, तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकामधिकृत्य कल्प्याऽकल्प्यविधिरुक्तः एतदनुसारेण च शेषास्वपि चतुर्भङ्गिकासु विज्ञेयः, स च प्रागेव प्रत्येकं दर्शितः । सर्वत्राप्ययं तात्पर्यार्थोऽवधारणीयः-यदि तीर्थकराः प्रत्येकबुद्धाः निह्नवाः श्रावका वा तर्हि तेषामर्थाय कृतं कल्पते । साधूनामर्थाय कृतं न कल्पते । तदेवमुक्तः कल्प्याऽकल्प्यविधिः, तदुक्तौ च-' आहाकम्मियनामे '-त्यादि मूलद्वारगाथाया ' कस्स वाऽवी ' ति व्याख्यातम् । पिं० ।

आत्मघ्नपिण्डे—

जीवं उद्दिस्स कडं, कम्मं सोऽवि य जया उ साहंमी ।
साऽवि य तइए भंगे, लिंगादीणं न सेसेसु ॥ ६४० ॥

जीवमुद्दिश्य यत् षट्कायविराधनया कृतं सोऽपि च यदि जीवः साधर्मिकः—समानधर्मा भवति सोऽपि च साधर्मिको लिङ्गादीनां लिङ्गतः साधर्मिको न प्रवचनत इत्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां तृतीये भङ्गे लिङ्गतः—प्रवचनतोऽपीत्येवं लक्षणे यदि वर्त्तते न शेषेषु तदेतत्-आधाकर्म मन्तव्यम् ।

अथ तीर्थकरप्रतिमार्थं तन्निर्वर्तते तत्साधूनां किं कल्पते नवेत्याशङ्कानिरासार्थमाह—

संवट्टमेहपुप्फा, सत्थनिमित्तं कया जइ जईणं ।
न हु लब्भा पडिसिद्धं, किं पुण पडिमट्ठमारद्धं ॥ ६४१ ॥

शास्ता-तीर्थकरस्तस्य निमित्तं यानि दैवैः संवर्त्तकमेघपुष्पाणि समवसरणभूमौ कृतानि तानि यतीनां यदि प्रतिषेद्धुं न लभ्यानि तेषां तत्रावस्थातुं यदि कल्पते इति भावः । तर्हि किं पुनः प्रतिमार्थम्-अजीवानां हेतोरारब्धं ततः-पुरातनं प्रतिषेधमर्हतीत्यभिप्रायः ।

आह—यदि तीर्थकरार्थं संवर्तकमेघपुष्पाणि कृतानि तर्हि तस्य भगवतस्तानि प्रतिसेवमानस्य कथं न दोषो भवतीति ?, उच्यते—

तित्थयरनामगोयस्स, खयऽट्ठा अवि य दोण्णि साभव्वा ।
धम्मं कहेइ सत्था, पूयं वा सेवई तं तु ॥ ६४२ ॥

तीर्थकरनाम्नो गोत्रस्य कर्मणः क्षयार्थं शास्ता भगवान् धर्मं कथयति पूजां च तामनन्तरोक्तां संवर्त्तकवातप्रभृतिकामासेवते भगवता हि तीर्थकरनामगोत्रं कर्मावश्यं वेदनीयं विपाकोदयाऽऽवर्तित्वात्, तस्य च वेदने अयमेवोपायो यदग्लान्या धर्मदेशनाकरणं सदेवमनुजासुरलोकविरचितायाश्च पूजाया उपजीवनम् । " तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाईहिं " तथा-" उदए जस्स सुराऽसुरनरवइनिवहेहिं पूइओ लोए । तं तित्थयरं नाम, तस्स विवागो उ केवलिणो " ॥ १ ॥ इति वचनप्रामाण्यात्, अपिचेत्यभ्युच्चये, ' दोण्णि ' त्ति-निपातो वाक्यालङ्कारे, सा भवति । स्वो भावः स्वभावः, यथा-आपो द्रवाः चलो वायुरित्यादि, तस्य भावः स्वाभाव्यं तस्मात् तस्य हि भगवतः स्वभावोऽयं यत्तथा धर्मकथाविधानं पूजायाश्चाऽऽसेवनम् ।

इदमेव स्पष्टतरमाह—

खीणकसाओ अरिहा, कय किच्चो अवि य जीयमणुयत्ती ।
पडिसेवंतो वि अ तओ, अदोसवं होइ तं पूयं ॥ ६४३ ॥

क्षीणाः-प्रलयमुपगताः कषायाः-क्रोधादयो यस्य सः क्षीणकषायः एवंविधोऽर्हन् तां पूजां प्रतिसेवमानोऽपि न दोषवान्, इयमत्र भावना-यो हि रागादिमान् पूजामुपजीवन् स्वात्मन्युत्कर्षं मन्यते स दोषभाग् भवति, भगवतस्तु क्षीणकषायस्य पूजामुपजीवतोऽपि नास्ति स्वात्मन्युत्कर्षगन्धः ; अतो दूरापास्तप्रसरा तस्य सदोषतेति तथा कृतकृत्यः-केवलज्ञानलाभान्निष्ठितार्थः ततः कृतकृत्यत्वादेवाऽसौ पूजामासेवते, न च दोषमापद्यते । अपि च-जीतमुपजीवनीया सुराऽसुरविरचिता पूजेत्येवलक्षणं कल्पमनुवर्त्तयितुं शीलमस्यासौ जीवानुवर्त्ती गाथायां मकारोऽलाक्षणिकः ।

आह भवत्वेवं परं तीर्थकरस्य तत्प्रतिमाया वा निमित्तं यत्कृतं तत्केन कारणेन यतीनां कल्पते ?, उच्यते—

साहंमिओ न सत्था, तस्स कयं तेण कप्पइ जईणं ।
जं पुण पडिमाण कयं, कस्स कहा का अजीवत्ता ॥ ६४४ ॥

शास्ता-तीर्थकरः सधार्मिको लिङ्गतः प्रवचनतोऽपि न भवति तथा लिङ्गमस्य भगवतो नास्ति तत्याकल्पत्वात्, अतो

न लिङ्गत साधर्मिक', प्रवचनतोऽपि साधर्मिकः सोऽभिधीयते-यश्चतुर्वर्णसङ्घाभ्यन्तरवर्त्ती भवति " पवयणसंघेयगरे " इति वचनात् , भगवांश्च तत्प्रवर्तकतया न तदभ्यन्तरवर्ती किं तु वर्णस्यापि सङ्घस्यापि ततो न प्रवचनतोऽपि साधर्मिक इत्यनस्तस्य तीर्थकरस्यार्थाय कृतं यतीनां कल्पते, यत्पुन. प्रतिमानामर्थाय कृत तस्य का कथा-का वार्ता सुतरा तत् कल्पते, कुत इत्याह-अजीवत्वात् , जीवमुद्दिश्य यदि यत्कृतं तदाधाकर्म भवति ' जीव उद्दिस्स कड०॥६४०॥ " इति प्रागेवोक्तत्वात् तच्च जीवत्वमेव प्रतिमानां नास्तीति ।

अथ वसतिविषयमाधाकर्म दर्शयति—

ठाइमठाई ओसरणे, अमंडवा संजयट्ठे देसे वा ।
पेढी भूमीकंमे, निसेवतो अणुमई दोसा ॥ ६४५ ॥

' ओसरणे ' समवसरणे यद्यत्र सयता समागमिष्यन्तीति बुद्ध्या श्रावका धर्मश्रद्धया बहून् मण्डपान् कुर्युः ते च द्विधा-स्थायिन., अस्थायिनश्च । ये समवसरणपर्वणि व्यतीते सति नोत्कील्यन्ते ते स्थायिन., ये पुनरुत्कील्यन्ते ते अस्थायिन. । पुनरेकैके द्विविधा -संयतार्थकृता, देशकृता वा । ये आधाकर्मिकास्ते सयतार्थकृता । ये तु साधूनामात्मन. स्वार्थाय कृतास्ते देशकृता. एतेषु तिष्ठता नास्ति प्रायश्चित्तम् । तथा पीठिकानाम-उपवेशनादिस्थानविशेषा. ' भूमीकम्मे ' त्ति—भूमिकर्म—विषमाया. भूमे. समीकरणम् उपलक्षण चेद तेन समार्जनोपलेपनादिपरिग्रह. । एतान्यपि पीठिकादीनि सयतार्थकृतानि देशकृतानि भवेयु । एतानि मण्डपादीनि सदोषाणि निषेवमाणस्य अनुमतिदोषा भवन्ति एतेषु क्रियमाणेषु या षण्णां जीवनिकायानां विराधना सा अनुमोदिता भवतीति भाव. । बृ० १ उ० २ प्रक० ।

आधाकर्मण कल्प्याऽकल्प्यविवेक —

आहा अहे य कम्मे, आताहम्मे य अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मं, णायव्वं कप्पते कस्स ॥ ६४६ ॥

आधाकर्म, अध कर्म, आत्मघ्नम् , आत्मकर्म चेति चत्वारि नामानि । तत्र साधूनामाधया-प्रणिधानेन यत्कर्मषट्कायविनाशेनाशनादिनिष्पादनं तदाधाकर्म, तथा विशुद्धसंयमस्थानेभ्य प्रतिपत्यात्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदधोऽध करोति तदध कर्म । आत्मान-ज्ञानदर्शनचारित्ररूप हन्ति-विनाशयतीत्यात्मघ्नो यत्पाचकादिसंबन्धि कर्म पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षण वा तदात्मन. सबन्धि क्रियते अनेनेत्यात्मकर्म । तत्पुनराधाकर्म्म कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा, यद्वा-कस्य तीर्थे कथ कल्पते, न कल्पते च । बृ० ४ उ० । (इति ' अकप्पट्ठिय ' शब्दे प्रथमभागे गतम् ।)

(८) यथाक्रमं द्वाविंशति २२ जिनेषु कल्प्याऽकल्प्यविधिः-' अकप्पट्ठिय ' शब्दे प्रथमभागे गतः ।)

(९) अशनादिषु आधाकर्म्मसंभवः । संप्रति ' किंवावी ' ति व्याचिख्यासुराह—

किं तं आहाकम्मं, ति पुच्छिए तस्स रूवकहणऽत्थं ।
संभवपदंसणत्थं, च तस्स असणाइयं भणइ ॥१६०॥

किं तदाधाकर्मेति शिष्येण पृष्टे तत्स्वरूपकथनार्थम्—आधाकर्मस्वरूपकथनार्थम् , तस्य-आधाकर्म्मणः संभवप्रदर्शनार्थं च अशनादिकम्-अशनपानखादिमस्वादिमं गुरुर्भणति, इयमत्रभावना-अशनादिस्वरूपमाधाकर्म्म-अशनादावेव आधाकर्म्मण. संभवः, ततो गुरु किमाधाकर्म्मेति पृष्टः सन्नशनादिकमेव वक्ति, तथा च शय्यंभवसूरिराधाकर्म दर्शयन् पिण्डैषणाध्ययने अशनादिकमभिधत्ते, तद्यथा-

" असणं पाणगं चेव, खाइम साइम तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा, समणऽट्ठा पगड इमं ॥१॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं " ॥ २ ॥ इति ।

संप्रत्यशनादिकमेव व्याचष्टे—

सालीमाई अवडे, फलाइ सुंठाइ साइमं होइ ।

शाल्यादिकमशनम् , ' अवट ' इति—वापीकूपतडागाद्युपलक्षणं, तत. कूपवापीतडागादौ यज्जलं तत्पान, तथा फलादि-फल नालिकेरादि , आदिशब्दाच्चिञ्चिणिकापुष्पादिपरिग्रह. तत् खादिम, शुण्ठ्यादिकं स्वादिमं, तत्र शुण्ठी प्रतीता, आदिशब्दात्-हरीतक्यादिपरिग्रह. ।

तदेवं व्याख्यातान्यशनादीनि—

संप्रत्येतेष्वेवाधाकर्मरूपेषु प्रत्येक भङ्गचतुष्टयमाह—

तस्स कडनिट्ठियंमी, सुद्धमसुद्धे य चत्तारि ॥ १६१ ॥

तस्येति प्रस्तावात् साधोरर्थाय ' कृत ' मित्यत्र बुद्ध्यादिकर्मविवक्षायां क्तप्रत्ययः. ततोऽयमर्थः-कर्त्तु प्रारब्ध, तथा तस्य साधोरर्थाय निष्ठित-सर्वथा प्रासुकीकृतमिति, अत्र विषये 'चत्तारी' ति-चत्वारो भङ्गा भवन्ति तत्र प्रथम एष एव भङ्गस्तस्य कृत तस्य निष्ठित. द्वितीय -तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं, तृतीय.-अन्यस्य कृत तस्य निष्ठित, चतुर्थ , अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम् । तत्र प्रथमो व्याख्यात , द्वितीयादीनां तु भङ्गानामयमर्थ -पूर्वं तावत्तस्य साधोरर्थाय कृतम्-आरब्ध ततो दातु साधुविषयदानपरिणामाभावतोऽन्यस्य-आत्मनं स्वपुत्रादेर्वाऽर्थाय निष्ठा नीत, तथा प्रथमतोऽन्यस्य पुत्रादेरात्मनो वाऽर्थाय कर्त्तुमारब्ध तत साधुविषयदानपरिणामभावतः साधोरर्थाय निष्ठा नीत, तथा प्रथमत एवाऽन्यस्य निमित्त कर्त्तुमारब्धमन्यस्यैव च निमित्तं निष्ठा नीतम् । एवमशने पाने खादिमे स्वादिमे च प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तत. ' सुद्धमसुद्धे य ' त्ति-आर्षत्वात् शुद्धावशुद्धौ चेति द्रष्टव्य, तत्र शुद्धौ साधोरासेवनायोग्यौ, तौ च द्वितीयचतुर्थभङ्गौ, तथा हि—क्रिया या निष्ठा प्रधाना, ततो यद्यपि प्रथमत. साधुनिमित्त क्रिया प्रारब्धा तथाऽपि निष्ठाम्-अन्यनिमित्तं नीतेति द्वितीयो भङ्ग साधो. कल्पते, चतुर्थस्तु भङ्ग शुद्ध एव न तत्र विवाद., अशुद्धौ अकल्पनीयौ, तौ च प्रथमतृतीयौ तत्र प्रथम एकान्तेनाशुद्ध एव साध्वर्थं प्रारब्धत्वान्निष्ठितत्वाच्च, तृतीये तु भङ्गे यद्यपि पूर्वं न साधुनिमित्त पाकादिक्रियारम्भस्तथापि साधुनिमित्तं निष्ठा नीता, निष्ठा च प्रधानेति न कल्पते । तदेवमाधाकर्मस्वरूपमुक्तम् । पिं० ।

आधाकर्मण उत्पत्ति —

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जातेसु ।

पुष्पऽट्ठकरणसड्ढा, आहाकम्मे णिमंतणता ॥ ६३९ ॥

कस्यापि दानरुचेरभिगमश्राद्धस्य वा नवः शालिर्भूयान् गृहे समायातस्ततः स चिन्तयति-पूर्वं यतीनामदत्वा ममाऽऽत्मना परिभोक्तुं न युक्त इति परिभाव्याऽऽधाकर्म कुर्यात्, एवं घृते गुडे गोरसे नवेषु वा तुम्ब्यादिवल्लीफलेषु जातेषु पुण्यार्थं दानरुचि श्राद्धः 'करण' ति-आधाकर्म कृत्वा साधूना निमन्त्रणं कुर्यात् । बृ० ४ उ० ।

आधाकर्म सम्भवे भेदाश्च प्रदर्शिताः, तस्स आहाकम्मस्स कह संभवो हवेज्ज इमो भण्णति ।

सूत्रम्—

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जातेसु ।
पुण्णट्ठदाणसड्ढा, आहाकंमे णिमंतणया ॥ ५७ ॥
आहाकंमे तिविहो, आहारे उवधिवसहिमादीसु ।
आहाए वा कम्मं, चउव्विधं होति असणादी ॥५८॥

कस्सति दाणरुइणो अभिगमसड्ढस्स वा णवो साली घरे पवेसितो ताहे दाणसड्ढो चिंतेति—पुव्व जतीणं दाउ पच्छा अप्पणा परिभोगं करेमि त्ति आहाकम्म करेज्ज, जहा सालीए, एवं घृतगुडे गोरसे वा नवेसु वा तुम्ब्यादिवल्लिफलेषु जातेषु पुण्ण णिमित्तं दाणसड्ढा जया आहाकम्म काउं साहुणो णिमंतेज्ज तस्स य आहाकम्मस्स इमे दोसा—आहाकम्म तिविध-आहारे, उवधौ, वसहीए । आदिसद्दो णामादिभेदप्रदर्शनार्थं । उत्तरभेदप्रदर्शनार्थं वा आहाए कम्म चउव्विधं असणादिय ।

गाहा—

उवही आहाकम्मं, वत्थे पाए य होति नायव्वं ।
वत्थे पंचविधं पुण, तिविहं पुण होति पातम्मि ॥ ५९ ॥

उवधीआहाकम्मं दुविध-वत्थे, पादे य । तत्थ वत्थे पंचविह-जंगियं भंगियं, सणियं, पत्तया तिरीडपट्टं च । पादे तिविह-लाउयं, दारुयं, मट्टियापादं च । एतेसिं वक्खाणं पूर्ववत् । नि० चू० १० उ० ।

साम्प्रतमशनादिरूपस्याधाकर्मणः सम्भव प्रतिपिपादयिषुः कथानक रूपकषट्केनाह—

कोद्दवरालगगामे, वसही रमणिज्ज भिक्खसज्झाए ।
खेत्तपडिलेहसंजय, सावयपुच्छुज्जुए कहणा ॥ १६२ ॥
जुज्जइ गणस्स खेत्त, नवरि गुरूणं तु नऽत्थि पाउग्गं ।
सालित्ति कए रुपण, परिभायण निययगेहेसुं ॥१६३॥
वोलेंता ते व अन्ने वा, अडता तत्थ गोयरं ।
सुणंति एसणाजुत्ता, बालादिजणसंकहा ॥ १६४ ॥
एए ते जेसिमो रद्धो, सालिकूरो घरे घरे ।
दिन्नो वा सेसयं देमि, देहि वा वेंति वा इमं ॥ १६५ ॥
थक्के थक्कावडियं, अभत्तए सालिभत्तयं जायं ।
मज्झ य पइस्स मरणं, दियरस्स य मे मया भज्जा ।१६६।
चाउलोदगं पि से देहि, सालीआयामकज्जिय ।
किमेयंति कयं नाउं, वज्जंतऽन्नं वयंति वा ॥ १६७ ॥

इह सकुलो नाम ग्रामः, तत्र जिनदत्तनामा श्रावकः, तस्य भार्या जिनमतिः, तत्र च ग्रामे कोद्रवा रालकाश्च प्राचुर्येणोत्पद्यन्ते इति तेषामेव कूर गृहे गृहे भिक्षार्थमटन्तः साधवो लभन्ते वसतिरपि स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता समभूतलादिगुणैरतिरमणीया कल्पनीया च प्राप्यते, स्वाध्यायोऽपि तत्र वसतामविघ्नमभिवर्द्धते, केवलं शाल्योदनो न प्राप्यत इति न केचनापि सूरयो भरेण तत्राऽवतिष्ठन्ते । अन्यदा च संकुलग्रामप्रत्यासन्ने भद्रिलाभिधाने ग्रामे केचित् सूरय समाजग्मुः, तैश्च संकुलग्रामे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय साधवः प्रेष्यन्ते, साधवोऽपि तत्राऽऽगत्य यथाऽऽगम जिनदत्तस्य पार्श्वे वसतिमयाचिषत, जिनदत्तेनापि च साधुदर्शनसमुच्छलितप्रमोदभरसमुद्भिन्नरोमाञ्चकञ्चुकितगात्रेण तेभ्यो वसतिः कल्पनीया उपादेशि । साधवश्च तत्र स्थित्वा, यथाऽऽगम भिक्षाप्रवेशनेन वहिर्भूमौ स्थण्डिलानिरीक्षणेन च सकलमपि ग्रामं प्रत्युपेक्षितवन्तः, जिनदत्तोऽपि च श्रावको वसतावागत्य यथाविधि साधून् वन्दित्वा महत्तरं साधुमपृच्छत्—भगवन् ! रुचितमिदं युष्मभ्य क्षेत्रम् ?, सूरयोऽत्र निजसमागमेनाऽस्माकं प्रसादमाधास्यन्ति । ततः स ज्येष्ठ साधुरवादीत्-वर्तमानयोगेन, ततो ज्ञात जिनदत्तेन-यथा न रुचितमिदमेतेभ्यः क्षेत्रमिति, चिन्तयति च-अन्येऽपि साधवोऽत्र समागच्छन्ति पर न केचिदवतिष्ठन्ते, तन्न जानामि किमत्र कारणमिति, ततः कारणपरिज्ञानाय तेषां साधूनामन्यतम कमपि साधुमृजुं ज्ञात्वा पप्रच्छ, स च यथाऽवस्थितमुक्तवान्, यथाऽत्र सर्वेऽपि गुणा विद्यन्ते गच्छस्यापि च योग्यमिदं क्षेत्रं, केवलमत्राऽऽचार्यस्य प्रायोग्यः शाल्योदनो न लभ्यते, इति नाऽवस्थीयते । तत एव कारण परिज्ञाय तेन जिनदत्तश्रावकेण परस्माद् ग्रामात् शालिबीजमानीय निजग्रामक्षेत्रभूमिषु वापितं, ततः सपन्नो भूयान् शालिः, अन्यदा च यथाविहारक्रम ते वाऽन्ये वा साधवः समायासिषुः, श्रावकश्च चिन्तयामास-यथैतेभ्यो मया शाल्योदनो दातव्यो येन सूरीणामिदं योग्य क्षेत्रमिति परिभाव्य साधवोऽमी सूरीनत्राऽऽनयन्ति, तत्र यदि निजगृह एव दास्यामि ततोऽन्येषु गृहेषु कोद्रवरालककूर लभमानानामेतेषामाधाकर्मशङ्कोत्पत्स्यते तस्मात् सर्वेष्वपि स्वजनगृहेषु शालिं प्रेषयामीति, तथैव च कृत स्वजनाश्चोक्तवान् यथा स्वयमप्यमुं शालिं पक्त्वा भुञ्जत, साधुभ्योऽपि च ददत, एष च वृत्तान्तः सर्वोऽपि बालादिभिरवजग्मे, साधवश्च भिक्षामटन्तो यथाऽऽगममेषणासमितिसमिता बालादीनामुक्तानि शृण्वन्ति, तत्र कोऽपि बालको वक्ति एते ते साधवो येषामर्थाय गृहे गृहे शाल्योदनो निरपादि, अन्यो भाषते साधुसबन्धी शाल्योदनो मह्यं जनन्या ददे, दात्री वा काचिदेवं भाषते-दत्तः परकीय शाल्योदनः, सप्रत्यात्मीयं किमपि ददामि, गृहनायकोऽपि क्वापि ब्रूते-दत्त शाल्योदनः परकीय ; सप्रत्यात्मीय किमपि देहि, बालकोऽपि क्वापि कोऽप्यनभिज्ञो जननीं ब्रूते-मम साधुसम्बन्धिन शाल्योदन देहीति, अन्यस्त्वीषद्दरिद्र सहर्ष भाषते-अहो थक्के थक्कावडियमस्माकं सपन्नम् । इह यदवसरे अवसरानुरूपमापतति तत् थक्के थ-

क्कावडियमित्युच्यते, ततः स एवमाह-येन-अभक्ते-भक्ताभावेऽस्माकं शालिभक्तमुदपादि. अत्रैवाऽर्थे स लौकिकं दृष्टान्तमुदाहरति-सूरग्रामे यशोधराभिधाना काचिदाभीरी, तस्या योगराजो नाम भर्ता, वत्सराजो नाम देवर, तस्य भार्या योधनी. अन्यदा च मरणपर्यवसानो जीवलोको मरण चानियतहेतुकम्—अनियतकालमिति योधनी-योगराजौ समकाल मरणमुपगतौ, ततो यशोधरा देवर वत्सराजमयाचत-तव भार्याऽहं भवामीति, देवरोऽपि च-ममापि भार्या न विद्यते इति विचिन्त्य प्रतिपन्नवान्, तत. सा चिन्तयामास—अहो ! अवसरे-अवसराऽऽपतितमस्माकमजायत. यस्मिन्नेवाऽवसरे मम पति पञ्चत्वमुपाऽगमत् तस्मिन्नेवावसरे मम देवरस्यापि भार्या मृत्युमगच्छत्, ततोऽहं देवरेण भार्यात्वेन प्रतिपन्ना अन्यथा न प्रतिपद्येत । तथा क्वाऽपि बालको जननीमाचष्टे-मात ! शालितण्डुलोदकमपि साधुभ्यो देहि, अन्यस्त्वाह-शालिकाञ्जिकं, तत एवमादीनि बालादिजनजल्पितानि श्रुत्वा किमेतदिति पृच्छन्ति पृष्टे च सति ये ऋजवस्ते यथावत् कथितवन्तो यथा युष्माकमर्थायेदं कृतमिति, ये तु मायाविन' श्रावकेण वा तथा प्रज्ञापितास्ते न कथयन्ति, केवल परस्परं निरीक्षन्ते, तत एव नूनमिदमाधाकर्मेति परिज्ञाय तानि सर्वाण्यपि गृहाणि परिहृत्याऽन्येषु भिक्षार्थमटन्ति स्म, ये च तत्र न निर्वहन्ति स्म ते तत्राऽनिर्वहन्त प्रत्यासन्ने ग्रामे भिक्षार्थमगच्छन्, एवमन्यत्राप्याधाकर्म संभवति, तच्च बालादिजल्पितविशेषैरवगत्य कथानकोक्तसाधुभिरिव नियमतो निष्कलङ्कसंयममिच्छुना परिहर्त्तव्यम् । सूत्र तु सकलमपि सुगमं, नवर 'रुपण' त्ति-रोपणम् 'परिभायण' त्ति-गृहे परिभाजनम्' से' इतिएतेभ्य 'अन्न' ति-अन्य ग्रामम् । तदेवमुक्तोऽशनस्याधाकर्मण. संभव. ।

सम्प्रति पानस्याऽऽह—

लोणाऽगडोदए एवं, खाणितु महुरोदगं ।
ढकिएणऽच्छते ताव, जाव साहु त्ति आगया ॥१६८॥

यथा-अशनस्याधाकर्मकथानकसूचनेन संभव उक्तस्तथा पानस्याऽप्याधाकर्मणो वेदितव्य, कथानकमपि तथैव, केवलमयं विशेष -क्वचिद् ग्रामे सर्वेऽपि कूपा' क्षारोदका आसीरन् क्षारोदका नाम-आमलकोदका विज्ञेया'. ननु अत्यन्त क्षारजला तथा सति ग्रामस्याप्यवस्थानानुपपत्ते, ततस्तस्मिन् लवणावटे क्षेत्रे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय साधव समागच्छन्, परिभावयन्ति स्म च यथाऽऽगम सकलमपि क्षेत्र, ततस्तन्निवासिना श्रावकेण सादरमुपरुध्यमाना अपि साधवो नावतिष्ठन्ते, ततस्तन्मध्यवर्ती कोऽपि ऋजुकोऽनवस्थानकारण पृष्ट, स च यथाऽवस्थित तस्मै कथयामास. यथा-विद्यन्ते सर्वेऽप्यत्र गुणा, केवलं क्षार जलमिति नाऽवतिष्ठन्ते, ततो गतेषु तेषु साधुषु स मधुरोदक कूप खानितवान्, त खानयित्वा लोकप्रवृत्तिजनितपापभयात् फलकादिना स्थगितमुख कृत्वा तावदास्ते यावत्ते वाऽन्य वा साधव समाययु, समागतेषु च साधुषु मा मम गृहं केवले आधाकर्मिकशङ्काऽभूदिति प्रतिगृह तन्मधुरमुदक भाजितवान्, तत. पूर्वोक्तकथानकप्रकारेण साधवो बालादीनामुल्लापानाकर्ण्याऽऽधाकर्मेति च परिज्ञाय तं ग्रामं परिहृतवन्त । एवमन्यत्राप्याधाकर्म पानीयसंभवो द्रष्टव्य', तेऽपि बालाद्युल्लापविशेषै. परिकलय्य कथानकोक्तसाधव इव परिहरेयुरिति । सूत्र सुगमम् ।

सम्प्रति खादिम-स्वादिमयोराधाकर्मणोः संभवमाह—

कक्कडिय अंबगा वा, दाडिम दक्खा य बीयपूराई ।
खाइमऽहिगरणकरणं-ति साइमं तिगडुगाईयं ॥१६६॥

कर्कटिका-चिर्भटिका आम्रकाणि—चूतफलानि दाडिमानि द्राक्षाश्च प्रतीता. बीजपूरकादिकम्, आदिशब्दात्-कपित्थाऽऽदिपरिग्रह., एतान्याश्रित्य खादिमविषये अधिकरणकरणं भवेत्-पापकरण भवेत्, एतानि साधूनां शालनकादिकार्येषु प्रयुज्यन्ते इति तेषा वपनादि कुर्यादिति भावः । तथा त्रिकटुकादिक-शुण्ठीपिप्पलीमरिचकादिकमाश्रित्य स्वादिमे अधिकरणकरण भवेत्-साधूनामौषधाद्यर्थममूनि कल्पन्ते इति तेषा रोपणादि कुर्यादिति भाव ।

संप्रति यदुक्तं प्राक् 'तस्स कडनिट्ठियमी ' त्यादि, तत्र कृतनिष्ठितशब्दयोरर्थमाह—

असणाईण चउण्ह वि, आमं जं साहुगहणपाउग्गं ।
तं निट्ठियं वियाणसु, उवक्खडं तू कडं होइ ॥ १७० ॥

अशनादीनां चतुर्णामपि मध्ये यत् आमम्-अपरिणतं सत् साधुग्रहणप्रायोग्य कृतम् प्रासुकीकृतमित्यर्थ, तं निष्ठित विजानीत उपस्कृत तु अत्रापि बुद्धावादिकर्मविवक्षाया क्तप्रत्यय. । ततोऽयमर्थ.—उपस्कर्तुमारब्धमिति भाव, कृत भवति ज्ञातव्यम् ।

एतदेव विशेषतो भावयति—

कंडिय तिगुणुकंडा उ, निट्ठिया नेगदुगुणउकंडा ।
निट्ठियकडो उ कूरो, आहाकम्मं दुगुणमाहु ॥ १७१ ॥

इह ये तण्डुला प्रथमत' साध्वर्थमुप्तास्तत' क्रमेण कटत्या जातास्तत् कण्डिता कथभूता कण्डिता ? इत्याह-त्रिगुणोत्कण्डा —त्रिगुण त्रीन् वारान् यावत्-उत्-प्राबल्येन कण्डनं-छटन येषां त त्रिगुणोत्कण्डा, त्रीन् वारान्-कण्डिता इत्यर्थ, ते निष्ठिता उच्यन्ते, ये पुनर्वपनादारभ्य यावदेकगुणोत्कण्डा द्विगुणोत्कण्डा वा कृता वर्त्तन्ते ते कृता, अथवा-मा भूवन् साध्वर्थमुप्ता केवलं ये कटय. सन्त साध्वर्थ त्रिगुणोत्कण्डकण्डितास्ते निष्ठिता उच्यन्ते, ये त्वेकगुणोत्कण्डं द्विगुणोत्कण्ड वा कण्डितास्ते कृता । अत्र वृद्धसंप्रदाय —इह यद्येकं वार द्वौ वा वारौ साध्वर्थे कण्डितास्तृतीयं तु वारमात्मनिमित्तं कण्डिता राद्धाश्च ते साधूना कल्पन्ते, यदि पुनरेक द्वौ वा वारौ साध्वर्थे कण्डितास्तृतीय वार स्वनिमित्तमेव कण्डिता राद्धास्तु आत्मनिमित्तं ते केषांचिदादेशेन एकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्यस्मायित्येव यावत्सहस्रसंख्येयस्थाने गतास्तत परं गता कल्पन्ते नाऽर्वाक्, अपरेषा त्वादेशेन न कदाचिदपि यदि पुनरेक द्वौ वा वारौ साधुनिमित्तम् आत्मनिमित्त वा कण्डितास्तृतीय तु वारमात्मनिमित्त राद्धा पुन साध्वर्थे ते न कल्पन्ते, यदि पुनरेकं द्वौ वा वारौ

साधुनिमित्तम् आत्मनिमित्तं वा कण्डितास्तृतीय तु वारं साध्वर्थमेव नैरेव च तण्डुलै साधुनिमित्त निष्पादित कूरः स निष्ठितकृत उच्यते । निष्ठितै -आधाकर्मतण्डुलै. कृतो-निष्पादितो; राद्ध इत्यर्थ., निष्ठितकृत , स साधूनां सर्वथा न कल्पते, कुत ? इत्याह-' आहाकम्मं ' इत्यादि, आधाकर्म प्रतीत, द्विगुणमाहुस्तीर्थकरादयस्त निष्ठितकृत कूर, तत्रैकमाधाकर्मनिष्ठिततण्डुलरूपं द्वितीय तु पाकक्रियारूप, तदेवमुक्तो निष्ठितकृतशब्दयोरर्थ , सम्प्रति चतुर्ष्वप्यशनादिषु कृतनिष्ठितता भाव्यते तत्र वपनादारभ्य यावद् वारद्वय कण्डन तावत् कृतत्वं, तृतीयवार तु कण्डन निष्ठितत्वम् , एतच्चाऽनन्तरमेवोक्त पाने कूपादिक साधुनिमित्तं खनितं, ततो जलमाकृष्ट, ततो यावत्प्रासुकीक्रियमाण नाद्यापि सर्वथा प्रासुकीभवति तावत् कृत, प्रासुकीभूत च निष्ठित, खादिमे कर्कटिकादयः साधुनिमित्तमुप्ता क्रमेण निष्पन्ना यावद्दात्रादिना खण्डिता., तानि च खण्डानि यावन्नाद्यापि प्रासुकीभवन्ति तावत्कृतत्वमवसेयं, प्रासुकीभूतानि च तानि निष्ठितानि । एवं स्वादिमेऽपि विज्ञेयम् । सर्वत्रापि च द्वितीयचतुर्थभङ्गौ शुद्धौ, प्रथमतृतीयौ त्वशुद्धाविति ।

सम्प्रति खादिम-स्वादिममाश्रित्य मतान्तरं प्रतिचिक्षिप्सुराह—

छायं पि विवज्जंती, केइ फलहेउगाइवुत्तस्स ।
तं तु न जुज्जइ जम्हा, फलं पि कप्पं बिइयभंगे ॥१७२॥

इह फलहेतुकादे —फलहेतो पुष्पहेतोरन्यस्माद्वा हेतो साध्वर्थमुप्तस्य वृक्षस्य केचिदगीतार्था छायामप्याधाकर्मिकवृक्षसम्बन्धिनीति कृत्वा विवर्जयन्ति-परिहरन्ति, तत्तु छायाविवर्जन न युज्यते, यस्मात्फलमपि यदर्थं स वृक्ष आरोपितस्तत आधाकर्मिकवृक्षसम्बन्धि द्वितीये भङ्गे तस्य कृतमन्यार्थं निष्ठितमित्येवरूपे वर्त्तमान सत्कल्पते, किमुक्तं भवति ?—साध्वर्थमारोपितेऽपि कदल्यादौ वृक्षे यदा फल निष्पद्यमान साधुसत्ताया अपनीय आत्मसत्तासम्बन्धि करोति त्रोटयति च तदा तदपि कल्पते. किं पुन छाया ?, सा हि सर्वथा न साधुसत्तासम्बन्धिनी विवक्षिता, न हि साधुच्छायानिमित्तं स वृक्ष आरोपितस्तत् कथं न कल्पते ? ।

परपच्चइया छाया, न वि सा रुक्खो व्व वड्डिया कत्ता ।
नट्ठच्छाए उ दुमे. कप्पइ एवं भणतस्स ॥ १७३ ॥

सा छाया परप्रत्ययिका-सूर्यहेतुका न वृक्षमात्रनिमित्ता, तस्मिन् सत्यपि सूर्याभावे अभावात् , तथाहि—छाया-नाम " पार्श्वत सर्वत्राऽऽतपपरिवेष्टितप्रतिनियतदेशवर्त्ती श्यामपुद्गलात्मक आतपाभाव " इत्थभूता च छाया सूर्यस्यैवान्वयव्यतिरेका चतुर्विधत्वेन द्रुमस्य, द्रुमस्तु केवल तस्या निमित्तमात्र, नचैतावता सा दुष्यति, छायापुद्गलाना द्रुमपुद्गलेभ्यो भिन्नत्वात् , न च वृक्ष इव-तरुरिव कर्त्रा वृक्षारोपकेण वृद्धिं नीता तद्विपयत्वयाऽऽसकल्पस्यैवाभाघात् ततो नाऽऽधाकर्मिकी छाया । किं च-यद्याधाकर्मिकीच्छायेति न तस्यामवस्थान न कल्पते । तत एव परस्य भणतो यदा घनपटलैराच्छादितं गगनमण्डलं भवति तदा तस्मिन् द्रुमे नष्टच्छाये सति तस्याध शीतभयादिनाऽवस्थान कल्पते इति प्राप्त न चैतदयुक्त तस्मात्स एव द्रुम आधाकर्मिकस्तत्संस्पृष्टाश्चाध'कतिपयप्रदेशा. पूतिरिति प्रतिपत्तव्यम् , न तु छायाऽऽधाकर्मिकीति ।

पुनरपि परेषां दूषणान्तरमाह—

वड्ढइ हायइ छाया, तत्थिक्कं पूइयं पि व न कप्पे ।
न य आहाय सुविहिए, निव्वत्तयई रविच्छायं ॥ १७४ ॥

इह छाया तथा तथा तथा सूर्यगतिवशात् वर्द्धते हीयते च ततो रवेरस्तमयसमये-प्रात समये चातिद्राघीयसी विवर्द्धमाना छाया सकलमपि ग्राममभिव्याप्य वर्तते, अतस्तत्संस्पृष्ट सकलमपि ग्रामसम्बन्धि वसत्यादिकं पूतिकमिव-तृतीयोद्गमदोषदुष्टमशनादिकमिव न कल्पते , न चैतदागमोपदिष्ट तस्माऽऽधाकर्मिकी वृक्षस्य छाया, अपि च-प्रागेवैतदुक्त सूर्यप्रत्यया सा छाया न वृक्षहेतुका , न च सूर्य सुविहितानाधाय छाया निर्वर्तयति । तत. कथमाधाकर्मिकी ? ।

यदि पुनराधाकर्मिकी भवेत् तर्हि—

अघणघणचारिगगणे , छाया नट्ठा दिया पुणो होइ ।
कप्पइ निरायवे ना-म आयवे तं विवज्जेउं ॥ १७५ ॥

अघना-विरला घना-मेघाश्चारिण -परिभ्रमणशीला यत्र इत्थभूते गगने, विरलविरलेषु, नभसि मेघेषु परिभ्रमत्सु इत्यर्थ , छाया नष्टाऽपि सती दिवा पुनरपि भवति, ततो मेघैरन्तरिते सूर्ये-निरातपे-आतपाभावे तस्य वृक्षास्याधस्तन प्रदेशं सेवितु कल्पत, आतप तु तं वर्ज्जयितुं, न चात्र विषयविभाग सूत्रेऽपदिश्यते न च पूर्वपुरुषाचीर्णो नापि परेषा सम्मत , तस्मादसदेतत्परोक्तमिति । इह पूर्वं वृक्षसंबन्धित्वेन छायामाधाकर्मिकीमाशङ्कय ' नट्ठच्छाए उ दुमे कप्पइ ' इत्याद्युक्तम् इदानीं तु रविकृतत्वेनाधाकर्मिकीमाशङ्कय ' कप्पइ निरायवे नाम ' इत्याद्युक्तम् , अतो न पुनरुक्तता ।

सम्प्रति छायानिर्दोषतानिगमनमगीतार्थधार्मिकाणा परेषां किंचिदाश्वासन च विवक्षुराह—

तम्हा न एस दोसो, संभवइ कम्मलक्खणविहूणो ।
तं पि य हु अइघिणिल्ला, वज्जेमाणा अदोसिल्ला॥१७६॥

यस्मात् फलमपि द्वितीयभङ्गे कल्पते तथा रविहेतुका छायत्यादि चोक्त तस्मादाधाकर्मिकी छायेति यो दोष उच्यते स एष दोषो न संभवति, कुत ? इत्याह-कर्मलक्षणविहीन इति-अत्र हेतौ प्रथमा. कर्मेति च आधाकर्मेति द्रष्टव्य, ततोऽयमर्थ -यत आधाकर्मलक्षणविहीन एष दोष , न हि तरुरिव छायाऽपि कर्त्रा वृद्धिं नीता इत्यादि तस्मान्नैष दोष संभवति, अथ वा-तामपि-आधाकर्मिकवृक्षच्छाया हु -निश्चितम् अतिघृणावन्त -अतिशयेन दयालवो विवर्ज्जयन्त परे-अदोषवन्त । तदेवमुक्तमानुषङ्गिक, तदुक्तौ च 'आहाकम्मियनाम' इत्यादि मूलद्वारगाथाया ' किं वाऽवी ' ति व्याख्यानम् ।

सम्प्रति " परपक्खो य, सपक्खो " द्वारद्वयं व्याख्यानयन् प्रसङ्गतो निष्ठित-प्रकृतयोः स्वरूप ताभ्यामुत्पन्न भङ्गचतुष्टय चाऽऽह—

परपक्खो उ गिहत्था, समणो समणी उ होइ उ सपक्खो।
फासुकडं रद्धं वा, निट्ठियमियरं कडं सव्वं ॥ १७७ ॥
तस्स कडनिट्ठियंमी, अन्नस्स कडंमि निट्ठिये तस्स।
चउभंगो इत्थभवे, चरमदुगे होइ कप्पं तु ॥१७८॥

इह परपक्ष.-गृहस्था., श्रावकादय.,तेपामर्थाय कृतं साधूनामाधाकर्म न भवति, स्वपक्ष -श्रमणा', साधव , ' समणी उ ' त्ति-श्रमण्यो-व्रतिन्य , तेपामर्थाय कृत साधूनामाधाकर्म वेदितव्यम् , तथा प्राशु(सु)क कृत कण्टयादिकं सचेतनं सत् साध्वर्थं निश्चेतनीकृत यत्र स्वयमचेतनमपि तण्डुलादिकं कूरत्वेन निष्पादित तन्निष्ठितमित्युच्यते, इतरत् पुनरेकगुणद्विगुणकण्डततण्डुलादिकं सर्व्वं कृतमिति। अत्र च कृत-निष्ठितविषयं तस्य साधोरर्थाय कृतं निष्ठितं च तथा अन्यस्याऽप्यर्थाय कृते तस्य साधोरर्थाय निष्ठिते भक्तादौ चतुर्भङ्गिका भवति, तत्र प्रथमतृतीयभङ्गौ साक्षाद्दर्शितौ द्वितीयचतुर्थौ तु हेतुगम्यौ, तौ चैव-तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं, तत्रोपात्तयोर्द्वयोर्भङ्गयो. चरमौ-अनुक्तौ पाश्चात्यौ द्वौ भङ्गौ; द्वितीयचतुर्थावित्यर्थः, प्रथमस्य हि द्वितीय' पाश्चात्यस्तृतीयस्य तु चतुर्थ , तत उपात्तप्रथमतृतीयभङ्गापेक्षया चरमौ द्वितीयचतुर्थौ लभ्येते, तस्मिन् चरमद्विके भवति कल्प्यमशनादि एतच्च यद्यपि प्रागेवोक्त तथापि विस्मरणशीलाना स्मरणाय भूयोऽप्युक्तमिति न कश्चिद्दोष. । उक्त परपक्षस्वपक्षरूप द्वारद्वयम् ।

संप्रति ' चउरो ' इति व्याचिख्यासुराह—

चउरो अइक्कम्मवइ-कमा य अइयार तह अणायारो।
निद्दरिसणं चउण्ह वि, आहाकम्मे निमंतणया ॥१७९॥

आधाकर्मणि विषये केनाप्यभिनवेन श्राद्धेन निमन्त्रणे कृते चत्वारो दोषा सभवन्ति, तद्यथा-अतिक्रमः १. व्यतिक्रम २, अतीचार ३, अनाचारश्च ४। एते चत्वारोऽपि स्वयमेव सूत्रकृता व्याख्यास्यन्ते, एतेषा च चतुर्णामपि निदर्शनं-दृष्टान्तो भावनीय , तमपि च वक्ष्यति ।

तत्र प्रथमत आधाकर्मनिमन्त्रण भावयति—

सालीघयगुलगोरस-नवेसु वल्लीफलेसु जाएसुं।
दाणे अहिणवसड्ढे, आहायकए निमंतेइ ॥ १८० ॥

शालिषु-शाल्योदनेषु तथा घृतगुडगोरसेषु साधूनाधाय षट्कायोपमर्दनेन निष्पादितेषु नवेषु च वल्लीफलेषु जातेषु। साधुनिमित्तमचित्तीकृतेषु दाने-दानविषये कोऽप्यभिनवश्राद्ध (द्धम्)-अभ्युत्पन्नश्रावको निमन्त्रयते, यथा भगवन्! प्रतिगृह्णीत यूयमस्मद्गृहे शाल्योदनादिकमिति।

ततश्च—

आहाकम्मग्गहणे, अइक्कमाईसु वट्टए चउसु।
नेउरहारिगहत्थी, चउतिगदुगएगचलणेणं ॥ १८१ ॥

आधाकर्मग्रहणे अतिक्रमादिषु चतुर्षु दोषेषु वर्त्तते, स च यथा यथा उत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन् दोषे वर्त्तते, तथा तथा तद्दोपजनितात् पापादात्मानं महता कष्टेन व्यावर्त्तयितुमीश , अत्र दृष्टान्तमाह-' नेउरे ' त्यादि, इह नुपुरपण्डितायाः कथानकमतिप्रसिद्धत्वाद् बृहत्त्वाच्च न लिख्यते, किंतु-धर्मोपदेशमालाविवरणादेरवगन्तव्यम् , तत्र नूपुर-मञ्जीरं तस्य हारो-हरणं श्वशुरकृत तेन या प्रसिद्धा सा नूपुरहारिका, आगमे चान्यत्र नूपुरपण्डितेति प्रसिद्धा, तस्या कथानके यो हस्ती राजपत्नीं सञ्चारयन् प्रसिद्ध. स नूपुरहारिको हस्ती स यथा ' चउतिगदुगएगचलणेण ' ति-पश्चानुपूर्व्या योजना, एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्च चरणैराकाशस्थैर्महतामहत्तरेण कष्टेन आत्मानं व्यावर्त्तयितुमीशस्तथा आधाकर्मग्राह्यपि, इयमत्र भावना-नूपुरहारिकाकथानके राज्ञा हस्ती स्व पत्नीमिण्ठाभ्या सह छिन्नटङ्के समारोपित , ततोऽपि मिण्ठेन छिन्नटङ्कपर्वताग्रभागे व्यवस्थाप्याऽग्रेतनमेकं कंचिच्चरणमाकाशे कारित , स च तथाकारित सन् स्तोकेनैव क्लेशेन तं चरण व्यावर्त्य तत्रैव पर्वते आत्मान स्थापयितु शक्नोति, एव साधुरपि कश्चिदतिक्रमाख्य दोषं प्राप्त सन् स्तोकेनैव शुभाध्यवसायेन त दोष विशोध्याऽऽत्मानं संयमे स्थापयितुमीश , यथा च स हस्ती चरणद्वयमग्रेतनमाकाशस्थ क्लेशेन व्यावर्त्तयितु शक्नोति, एवं च साधुरपि व्यतिक्रमाख्यं दोष विशिष्टेन शुभेनाध्यवसायेन विशोधयितुमीष्टे, यथा च स हस्ती चरणत्रयमाकाशस्थमेकेन केनापि पाश्चात्येन चरणेन स्थितो गुरुतरेण कष्टेन व्यावर्त्तयितुं क्षम , तथा साधुरप्यतीचारदोष विशिष्टतरेण शुभेनाध्यवसायेन विशोधयितु प्रभु , यथा च स हस्ती चरणचतुष्टयमाकाशस्थित सर्व्वथा न व्यावर्त्तयितुमीश', किं तु-नियमतो भूमौ निपत्य विनाशमाविशति, एव साधुरप्यनाचारे वर्त्तमानो नियमत. सयमात्मान विनाशयति। इह दृष्टान्ते चरणचतुष्टय हस्तिना नोत्पाटित, किंतु-दार्ष्टान्तिकयोजनानुरोधात्संभावनामङ्गीकृत्य प्रतिपादितम्। पिं०।

संप्रति ' गहणे य आणाई ' इति व्याख्यानयन्नाह—

आणाइणो य दोसा, गहणे जं भणिय मह इमे ते उ।
आणाभंगऽणवत्था, मिच्छत्तविराहणा चेव ॥ १८३ ॥

यदुक्तम् ' आहाकम्मियनामे ' त्यादि मूलद्वारगाथायामाधाकर्मग्रहणे आज्ञादय'-आज्ञाभङ्गादयो दोषास्ते इमे, तद्यथा-आज्ञाभङ्ग १, अनवस्था२, मिथ्यात्वम्३, विराधना च ४।

तत्र प्रथमत आज्ञाभङ्गदोष भावयति—

आणं सव्वजिणाणं, गिण्हतो तं अइक्कमइ लुद्धो।
आणं अइक्कमंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं ॥ १८४ ॥

तद्-आधाकर्मिकमशनादिक लुब्ध सन् गृह्णान सर्वेषामपि जिनानामाज्ञामतिक्रामति, जिना हि सर्वेऽप्येतदेव ब्रुवन्ति स्म-यदुत मा गृह्णत मुमुक्षवो ! भिक्षव्र आधाकर्मिकां भिक्षामिति, ततस्तदाददानो जिनाज्ञामतिक्रामति, ता चातिक्रमन् कस्य नाम ! आदेशाद्-आज्ञाया शेष-केशस्मश्रुलुञ्चनभूशयनमलिनवासोधारणप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानं करोति ?, न कस्यापीति भाव , सर्व्वस्यापि सर्वज्ञाऽऽज्ञाभङ्गकारिणोऽनुष्ठानस्य (नैष्फल्यात्।) निष्फलत्वात्।

अनवस्थादोषं भावयति—

एक्केण कयमकज्जं, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो ।
सायाबहुलपरंपर-वोच्छेओ संयमतवाणं ॥ १८५ ॥

इह प्राय सर्वेऽपि प्राणिन. कर्मगुरुतया दृष्टमात्रसुखाभिलाषिणो न दीर्घसुखदर्शिनस्तत एकेनापि साधुना यदाधाकर्मपरिभोगादिलक्षणमकार्यमासेव्यते तदा तत्प्रत्ययात् तेनापि साधुना तत्त्वं विदुषापि सेवितमाधाकर्म ततो वयमपि किं न सेविष्यामहे इत्येवं तमालम्बनीकृत्यान्योऽप्यासेवते, तमप्यालम्ब्याऽन्य सेवते इत्येवं सातबहुलाना प्राणिनां परंपरया सर्वथा व्यवच्छेद प्राप्नोति संयमतपसाम् , तद्व्यवच्छेदे च तीर्थव्यवच्छेद', यश्च भगवत्तीर्थविलोपकारी स महाऽऽशातनाभागित्यनवस्थादोषभयान्न कदाचनाऽप्याधाकर्म सेवनीयम् ।

मिथ्यात्वदोष भावयति—

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो ।
वड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥१८६॥

इह यद्देशकालसंहननानुरूपं यथाशक्ति यथावदनुष्ठान तत् सम्यक्त्वम्, यत उक्तमाचारसूत्रे-" ज मोणंति पासहा, त सम्मंति पासहा. जं सम्मंति पासहा, तं मोणंति पासहा " इति । ततो यो देशकालसंहननानुरूप शक्त्यनिगूहनेन यथाऽऽगमेऽभिहितं तथा न करोति तत. सकाशात् कोऽन्यो मिथ्यादृष्टि ?, नैव कश्चित्, किंतु-स एव मिथ्यादृष्टीनां धुरि युज्यते, महामिथ्यादृष्टित्वात्, कथ तस्य मिथ्यादृष्टिता ? इत्यत आह-' वड्ढेइ य ' इत्यादि चशब्दो हेतौ यस्मात्स यथावादमकुर्वन् परस्य शङ्कां जनयति, यथा-(तथाहि) यदि यत्प्रवचने अभिधीयते तत्तत्त्वं तर्हि किमयं तत्त्व जानानोऽपि तथा न करोति ?, तस्माद् वितथमेतत् प्रवचनोक्तमिति, एवं च परस्य शङ्का जनयन् मिथ्यात्व सन्तानेन वर्द्धयति । तथा च प्रवचनस्य व्यवच्छेद , शेषास्तु मिथ्यादृष्टयो नैवं प्रवचनस्य मालिन्यमापाद्य परपरया व्यवच्छेदमाधातुमीशा , तत शेषमिथ्यादृष्ट्यपेक्षयाऽसौ यथावादमकुर्वन् महामिथ्यादृष्टिरिति ।

अन्यच्च—

वड्ढेइ तप्पसंगं, गेही अ परस्स अप्पणो चेव ।
सजियं पि भिन्नदाढो, न मुयइ निद्धंधसो पच्छा॥१८७

साधुराधाकर्म गृह्णान परस्य " एक्केण कयमकज्ज " इत्यादिरूपया पूर्वोक्तनीत्या 'तत्प्रसङ्गम्'--आधाकर्मग्रहणप्रसङ्ग वर्द्धयति आत्मनोऽपि तथाहि-सकृदपि चेदाधाकर्म गृह्णाति तर्हि तद्गतमनोज्ञरसास्वादलाम्पट्यतो भूयोऽपि तद्ग्रहणे प्रवर्तते, तत एवमेकदाप्याधाकर्म गृह्णन् परस्य आत्मनश्च तत्प्रसङ्ग वर्द्धयति, तत्प्रसङ्गवृद्धौ च कालेन गच्छता परस्य आत्मनश्च गृद्धि -अत्यन्तमाशक्तिरुपजायते, ततो विशिष्टविशिष्टतरमनोज्ञरसास्वादनेन भिन्नदंष्ट्राको ' निद्धंधस ' अपगतसर्वथादयावासनाको भूत्वा पश्चात् स्वय परो वा सजीवमपि-सचेतनमपि चूतफलादिक न मुञ्चति तदमोचने च दूर दूरतरमपसर्पन् अपगतसर्वथाजिनवचनपरिणामो मिथ्यात्वमपि गच्छतीति ।

संप्रति विराधनादोषं भावयति—

खद्धे निद्धे य सया, सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया ।
पडियरगाण वि हाणी,कुणइ किलेस किलिस्संतो॥१८८॥

आधाकर्म प्राय प्राघूर्णकस्यैव गौरवेण क्रियते, ततस्तत्स्वादु स्निग्ध भवति, तस्मिंश्च खद्धे-प्रचुरे स्निग्ध बहुस्नेहे भक्षिते रुजा-रोगा ज्वरविसूचिकादिरूप प्रादुर्भवति, इयमात्मविराधना, ततो रुजा पीडितस्य 'सूत्रे'-सूत्रग्रहणमुपलक्षणम् अर्थस्य च हानि , तथा यदि चिकित्सां न कारयति तर्हि चिरकालसयमपरिपालनभ्रंश., अथ कारयति तर्हि चिकित्सायां क्रियमाणायां काया -तेजस्कायादयो विनाशमाविशन्ति, तथा च सति संयमविराधना, तथा प्रतिचारकाणामपि-परिपालकानामपि साधूनां तद्वैयावृत्त्यव्यापृततया सूत्रार्थहानि, षट्कायोपमर्दकारणानुमोदनाभ्यां च सयमस्यापि हानि, तथा प्रतिचारकास्तदुक्त यावन्न प्रपारयन्ति तावत्स -क्लिश्यमान पीडा सोढुमशक्नुवन् तेभ्य कुप्यति, कुप्यंश्च तेषामपि मनसि क्लेशमुत्पादयति, अथ वा-क्लिश्यमानो दीर्घकाल क्लेशमनुभवन् प्रतिचारकाणामपि जागरणत. क्लेशम्-रोगमुत्पादयति, ततस्तेषामपि चिकित्साविधौ षट्कायविराधना । तदेवं व्याख्याता सकलापि 'आहाकम्मियनाम ' इत्यादिका मूलगाथा।

(१०) सम्प्रत्याधाकर्मण एवाऽकल्प्यविधिं विभणिषु सम्बन्धमाह—

जह कम्मं तु अकप्पं, तच्छिक्कं वाऽवि भायणठियं वा ।
परिहरणं तस्सेव य, गहियमदोसं च तह भणइ॥१८९॥

यथा कर्म-आधाकर्म अकल्प्यम्-अभोज्य, यथा च तेनाऽऽधाकर्मणा स्पृष्टमकल्प्यं यथा च भाजनस्थितं-यस्मिन् भाजने तदाधाकर्म्म क्षिप्त तस्मिन्नाधाकर्मपरित्यागानन्तरमकृतकल्पत्रयप्रक्षालने यत् क्षिप्त शुद्धमशनादि तदपि यथा न कल्प्य यथा च तस्याऽऽधाकर्मण. परिहारो विध्यविधिरूपो यथा च गृहीतं सद्धक्तमदोषं भवति तथा गुरुर्भणति । अनेन यथैवागमे पिण्डविशुद्धिरभाणि तथैवाऽहमपि भणामीत्यावेदित द्रष्टव्यम् , अनया च गाथया पञ्च द्वाराणि प्रतिपाद्यान्युक्तानि ।

सम्प्रति तान्येव शेष प्रतिपाद्यत्वेनाह—

अब्भुज्जे गमणाइ य, पुच्छा दव्वकुलदेसभावे य ।
एवं जयंते छलणा, दिट्ठंता तत्थिमे दोन्नि ॥ १९० ॥

यथा साधूनामाधाकर्म्म तत्स्पृष्ट कल्पत्रयाप्रक्षालितभाजनस्थं वा अभोज्यं तथा भणनीय, तथा अविधिपरिहारे गमनादिका' कायक्लेशादिलक्षणा दोषा वक्तव्या , तथा विधिपरिहारे कर्तव्ये यथा द्रव्यकुलदेशभावे पृच्छा कर्तव्या चशब्दाद्-यथा च न कर्तव्या तथा वक्तव्यम् , एव यतमाने प्रायश्छलनाया असम्भवो, यदि पुनरेवमपि यतमाने छलना-अशुद्धभक्तादिग्रहणरूपा भवेत् ततस्तत्र दृष्टान्ताविमौ वक्ष्यमाणौ वक्तव्यौ । इह ' अब्भुज्जे ' इत्यनेन पूर्वगाथाया द्वारत्रयं परामृष्टम्, 'गमणाइ य पुच्छा दव्व-

कुलंदसभावे य' इत्यनेन पुन परिहरणस्य विशेषो वक्तव्य उक्त, उत्तरार्द्धेन तु 'गहियमदोसं' चेत्यस्य विशेष।

सम्प्रति प्रथमं द्वारमाधाकर्मणोऽकल्प्यतालक्षणं व्याचिख्यासुराह—

जह वंतं तु अभोज्जं, भत्तं जइ वि य सुसक्कयं आसि।
एवमसंजमवमणे, अणेसणिज्जं अभोज्जं तु ॥ १६१ ॥

इह यद्यपि वमनकालादर्वाक् भक्तम्-ओदनादिकं सुसंस्कृत-शोभनद्रव्यसंपर्ककृतोपस्कारमासीत्, तथापि यथा तद्वान्तमभोज्यम्, एवमसंयमवमने कृते साधोरप्यनेषणीयमभोज्यमेव, तुरेवकारार्थः, इयमत्र भावना-संयमप्रतिपत्तौ हि पूर्वमसंयमो वान्त -असंयमरूपं चाधाकर्म, षट्कायोपमर्द्देनेन तस्य निष्पन्नत्वात् न च वान्तमभ्यवहर्त्तुमुचितं विवेकिनाम्, अतः साधोरनेषणीयमभोज्यमिति।

पुनरप्याधाकर्म्मण एवाऽभोज्यतां दृष्टान्तान्तरेण समर्थयमानो गाथाद्वयमाह—

मज्जारखइयमंसा, मंसासिरिथि कुणिमं सुणयवंतं।
वन्नाइ अन्नउप्पा-इयं पि किं तं भवे भोज्जं ? ॥ १६२ ॥
केई भणंति पहिए, उद्दाणे मंसपेसि वोसिरणं।
संभारिय परिवेसण, वारेइ सुओ करे घेत्तुं ॥ १६३ ॥

वक्रपुरं नाम पुरं, तत्र वसत्युग्रतेजा, पदाति, तस्य भार्या रुक्मिणी, अन्यदा च उग्रतेजसो ज्येष्ठभ्राता सोदासाभिधन, प्रत्यासन्नपुरात्प्राघूर्णक समाययौ, उग्रतेजसा च भोजनाय क्वाऽपि मांसं क्रीत्वा रुक्मिण्यै समर्प्पयामासे, तस्याश्च रुक्मिण्या गृहव्यापारव्यापृताया तन्मांसं मार्जाराऽवभक्षत्। इतश्च सोदासोग्रतेजसोर्भोजनार्थमागमवेला, तत, सा व्याकुलीबभूव। अत्रान्तरे च क्वापि कस्याऽपि मृतस्य कार्प्पटिकस्य शुना मांसं भक्षयित्वा तद्गृहप्राङ्गणप्रदेशे तस्या साक्षात्पश्यन्त्या पुरत कथमपि वातसत्त्वाभादिवशादुद्वमितम्। तत साऽचिन्तयत्—यदि नाम कुतोऽपि विपणेरन्यत् मांसं क्रीत्वा समानयिष्यामि तर्हि महद्दूरं लगिष्यति, प्राप्ता च समीप पतिज्येष्ठयोर्भोजनवेला, तस्मादेतदेव मांसं जलेन सम्यक् प्रक्षाल्य वेसवारेणोपस्करोमि, तथैव च कृतम्। समागतौ सोदासोग्रतेजसौ उपविष्टौ च भोजनार्थं, परिवेषित तयोस्तन्मांसम्, ततो गन्धविशेषेणोग्रतेजसा विज्ञ्ज्ञे यथा वान्तमेतदिति, ततस्तेन साक्षेप भ्रुवमुत्पाट्य रुक्मिणी पप्रच्छे सा च साटोपभृत्लेपदर्शनतो बिभ्यती पवनधुतवृक्षशाखेव कम्पमानवपुर्यथाऽवस्थितं कथितवती, तत परित्यज्य तन्मांस साक्षेप निर्भर्त्स्य भूयोऽन्यन्मांसं पाचिता तदुक्तम्। प्रथमगाथाक्षरयोजना त्वियम्-मार्जारेण खादित-भक्षित मांस यस्या सा मार्जारखादितमांसा मांसाशिन उग्रतेजस स्त्री—महेला अन्यन्मांसमप्राप्नुवती श्ववान्त कुणपं मांसं गृहीतवती तच्च वेसवारोपस्कारेण वर्णादिभिरन्यदिवोत्पादितमपि किं भवति भोज्य ?, नैव भवतीति भाव, एवमाधाकर्माऽपि संयमिनामभोज्यम् ॥ केचित्पुनरत्रैव कथानके एवमाहु -तस्या रुक्मिण्या गृहे कोऽप्यतीसारेण पीडितो "दुष्प्रभनामा" कार्प्पटिक किंचित् विविक्तं स्थानं याचित्वा स्थितवान्, स चातीसारेण मांसखण्डानि व्युत्सृजति, तत सौदासे प्राघूर्णके समागते सति भर्त्रा च समानीते मांसे मार्ज्जारेण च तस्मिन् भक्षिते रुक्मिणी प्रत्यासन्ना समागता भोजनवेलेति भयभीता अन्यन्मांसमप्राप्नुवती तान्येवानीसारव्युत्सृष्टानि मांसखण्डानि गृहीत्वा जलेन प्रक्षाल्य वेसवारेण चोपस्कृत्य भोजनायोपविष्टयो पति-ज्येष्ठयो परिवेषितवती, अथ च सा तानि मांसखण्डानि गृह्णन्ती मृतसपत्नीपुत्रेणोग्रतेजसो जातेन गुणमित्रेण ददृशे, न च तदानीं तेन किमपि भयादुक्तुं शक्त, ततो भोजनकाले तौ द्वावपि पितृ-पितृव्यौ तेन करे गृहीत्वा निवारितौ, यथा कार्प्पटिकातीसारसक्तान्यमूनि मांसखण्डानि तन्मा धूय विभक्षत, तत उग्रतेजसा सा दूरं निर्भर्त्सयामासे, तत्त्यजे च तन्मांसम्, द्वितीयगाथाक्षरयोजना त्वेवं केचिद्भणन्ति-पथिके-पथिकस्य 'उद्दाणे' अतीसारोत्थाने मांसपेशीव्युत्सर्जनं ततस्तन्मांसपेशीरादाय तासां संभृत्य—वेसवारेणोपस्कृत्य परिवेषणे कृते सुत करेण गृहीत्वा तौ पितृ-पितृव्यौ भोजनाय वारयति स्म, ततो यथापुरीषमांसमभोज्यं विवेकिनामेवमाधाकर्माऽपि साधूनामिति।

किं च—

अविलाकरहीखीरं, ल्हसण पलंडु सुरा य गोमंसं।
वेयसमए वि अमयं, किंचि अभोज्जं अपेज्जं च ॥१६४॥

अविला-ऊरणी करभी-उष्ट्री तयो क्षीर, तथा लशुनम्-पलाण्डु सुरा गोमांसं च वेदे यथायोगं शेषेषु च समयेषु-निर्द्धर्मप्रणीतेषु अमतम्-असम्मतं भोजने पाने च, तथा जिनशासनेऽपि किंचिदाधाकर्मिकादिरूपमभोज्यमपेयं च वेदितव्यम्। इयमत्र भावना-पूर्वमिह संयमप्रतिपत्तावसंयमवमनेनाधाकर्मापि साधुभिर्वान्तं, पुरीषमिवोत्सृष्टं वा, नच वान्त पुरीषं वा भोक्तुमुचितं विवेकिनामिति युक्तिवशादभोज्यमुक्तमाधाकर्म्म। अथवा-मा भूत् युक्ति, केवल वचनप्रामाण्यादभोज्यमवसेयं, तथा च मिथ्यादृष्टयोऽपि वेदेषु यथायोगमन्येष्वपि समयेषु गोमांसादिकं करभीक्षीरादिकं चाभोज्यमपेयं चाभिधीयमान वचनप्रामाण्याभ्युपगमतस्तथेति प्रतिपद्यन्ते। तद्यदि मिथ्यादृष्टयोऽपि स्वसमयवचनप्रामाण्याभ्युपगमतस्तथेति प्रतिपन्नास्ततः साधुभिर्भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययदार्ढ्यमवलम्बमानैर्विशेषतो भगवत्प्रणीते वचस्यभिधीयमानमाधाकर्मादिकमभोज्यमपेयं च तथेति प्रतिपत्तव्यम्।

संप्रति तत्स्पृष्टस्याऽकल्प्यतामाह—

वन्नाइजुयावि वली, सपललफलसेहरा असुइगंधा।
असुइस्स विप्पुसेण वि, जह छिक्काओ अभोज्जाओ ॥१६५॥

यथा वर्णादियुतोऽपि वलि -उपहार सपललफलशेखर, इह पलल-तिलक्षोद उच्यते फलं-नालिकेरादि तत्सहित-शेखर -शिखा यस्य स तथा, आस्तामनेवंविध इत्यपिशब्दार्थ, एतेनास्य प्राधान्यमुक्त, स एवंविधोऽपि यद्वा अशुचौ न्यस्त -पुरीषस्योपरि स्थापित सन् अशुचि विप्रुषापि-लवेनापि, आस्ता स्तवकादिनेत्यपिशब्दार्थ, स्पृष्टो

भवति तदा अभोज्यो भवति, एव निर्दोषतया भोज्योऽप्याहार आधाकर्मावयवसंस्पृष्टतया साधूनामभोज्यो वेदितव्य. ।

भोजनस्थितस्याऽकल्प्यतां भावयति—

एमेव उज्झियंमि वि, आहाकम्मंमि अकयए कप्पे ।
होइ अभोज्जं भाणे, जत्थ व सुद्धेऽवि तं पडियं ॥१६६॥

यथा आधाकर्मावयवेन संस्पृष्टमभोज्यम् एव, यस्मिन् भाजने तदाधाकर्म गृहीतं तस्मिन्नाधाकर्मण्युज्झितेऽपि अकृते-कल्पे-वक्ष्यमाणप्रकारेण कल्पत्रयेणाप्रक्षालिते, यद्वा-यत्र भाजने पूर्वं शुद्धेऽपि भक्ते गृहीते आधाकर्म स्तोकमात्र पतितं तस्मिन् भाजने पूर्वगृहीते शुद्धे आधाकर्मणि च सर्वात्मना त्यक्ते पश्चादकृतकल्पे-वक्ष्यमाणप्रकारेणाकृतकल्पत्रये यद् भूय. शुद्धमपि प्रक्षिप्यते तदभोज्यमवसेयं, न खलु लोकेऽपि यस्मिन् भाजने पुरीष न्यपतत् तस्मिन्नशुचिपरित्यागानन्तरमप्रक्षालिते, यद्वा—यस्मिन् भाजने भक्तादिना पूर्णेऽपि तदुपरि पुरीषं निपतित भवेत् तस्मिन् पूर्वपरिगृहीतभक्तादिपुरीषपरित्यागानन्तरमप्रक्षालिते भूय प्रक्षिप्तमशनादिकं भोज्य भवति, पुरीषस्थानीय च सयमिनामाधाकर्म, ततस्तस्मिन् सर्वात्मना परित्यक्तेऽपि पश्चादकृते कल्पत्रये भाजने यत्प्रक्षिप्यते तदभोज्यमवसेयम् ।

संप्रति परिहरण प्रतिपिपादयिषुरिदमाह-

वंतुच्चारसरिच्छं, कम्मं सोउमवि कोविओ भीओ ।
परिहरइ सावि य दुहा,विहिअविहीए य परिहरणा १६७।

वान्तसदृशम्—उच्चारसदृश च आधाकर्म यतीन् प्रति प्रतिपाद्यमानं श्रुत्वा अपि संभावने, सभाव्यते एतदिदमतः कोविद -ससारविमुखमक्षतया परिडतोऽत एव भीत -आधाकर्मभोगतः ससारो भवतीत्याधाकर्मणस्त्रस्तदाधाकर्म परिहरति-न गृह्णाति, परिहरणं च द्विधा-विधिना, अविधिना च । सूत्रे च परिहरणशब्दस्य स्त्रीत्वेन निर्देश प्राकृतत्वात्, "प्राकृते हि लिङ्ग व्यभिचारि" ।

तत्राऽविधिपरिहरण विभणिषु कथानक गाथात्रयेणाह—

सालीओयणहत्थं, दट्ठुं भणइ अकोविओ दिंतिं ।
कत्तो चउत्ति साली, वणि जाणइ पुच्छ तं गंतुं ॥१६८॥
गंतूण आवणं सो, वाणियगं पुच्छए कओ साली ? ।
पचंते मगहाए, गोब्बरगामो तहिं वयइ ॥१६६॥
कम्मासंकाएँ पहं, मोत्तुं कंटाहि सावया अदिसिं ।
छायं पि वज्जयंतो, डज्झइ उण्हेण मुच्छाई ॥ २०० ॥

शालिग्रामे ग्रामे ग्रामणीनामा वणिक् तस्य भार्याऽपि ग्रामणी , अन्यदा च वणिजि विपणि गते भिक्षार्थमटन् अकोविद कोऽपि साधुस्तद्गृह प्रविवेश, आनीतश्च तद्भार्यया ग्रामण्या शाल्योदन , साधुना चाऽऽधाकर्मदोषाऽऽशङ्कापनोदाय सा पप्रच्छ, यथा श्राविके ! कुतस्त्य एष शालि ? इति, सा प्रत्युवाच-नाह जाने; वणिग्जानाति, ततो वणिज विपणौ गत्वा पृच्छ इति, तत एवमुक्त सन् स साधुस्त शाल्योदनमपहाय वणिज विपणौ गत्वा पृष्टवान् , वणिजाऽप्युक्त मगधजनपदप्रत्यन्तवर्तिनो गोर्वरग्रामादागत. शालिरेष इति, तत. स तत्र गन्तु प्रावर्तत, तत्रापि साधुनिमित्त केनापि श्रावकेणाऽय पन्था कृतो भविष्यतीति आधाकर्मशङ्कया पन्थानं विमुच्योत्पथेन व्रजति, उत्पथेन व्रजन्नहिकण्टकश्वापदादिभिरभिद्रूयते, नापि काञ्चन दिशं जानाति, तथा आधाकर्मशङ्कया वृक्षच्छायामपि परिहरन् मूर्ध्नि सूर्यकरनिकरप्रपातेन तप्यमानो मूर्च्छामगमत् , क्लेश च महान्तं प्रापेति ।

इय अविहीपरिहरणा, नाणाईणं न होइ आभागी ।
दव्वकुलदेसभावे, विहिपरिहरणा इमा तत्थ ॥ २०१ ॥

इति-एवम् उक्तेन प्रकारेण अविधिना परिहरणात् ज्ञानादीनामाभागी न भवति, तस्माद्विधिना परिहरणा कर्त्तव्या, तत्र-विधिपरिहरणम् इद-वक्ष्यमाणं द्रव्यकुलदेशभावानाश्रित्य तत्र-आधाकर्मणि विषये द्रष्टव्यम् ।

तत्र प्रथमतो द्रव्यादीन्येव गाथाद्वयेनाऽऽह—

ओयणसमिइमसत्तुग-कुम्मासाई उ होंति दव्वाइं ।
बहुजणमप्पजणं वा, कुलं तु देसो सुरट्ठाऽऽई ॥२०२॥
आयरऽणायरभावे, सयं व अन्नेण वाऽवि दावणया ।
एएसिं तु पयाणं, चउपयतिपया व भयणा उ ॥२०३॥

ओदन -शाल्यादिकूर. समितिमा'-माण्डाविका. सक्तव. कुलमाषाश्च प्रतीता , आदिशब्दात्-मुद्गादिपरिग्रह , अमूनि भवन्ति द्रव्याणि, कुलम्-अल्पजन बहुजन वा देश -सौराष्ट्रादिक , भावे आदरोऽनादरो वा एतावेव स्वरूपतो व्याख्यानयति—स्वय वा अन्येन वा कर्मकरादिना यत् दापन तौ यथासख्यमादरानादरौ, एतेषां च पदानां भजना-विकल्पना चतुष्पदा त्रिपदा वा स्यात्, किमुक्तं भवति ?-कदाचिच्चत्वार्यपि पदानि संभवन्ति कदाचित्त्रीणि तत्र यदा चत्वार्यपि द्रव्यादीनि प्राप्यन्ते तदा चतुष्पदा, यदा तु आदरो नाप्यनादर. केवलं मध्यस्थवृत्तिता तदा भावस्याऽभावात् त्रिपदेति ।

संप्रति यादृशेषु द्रव्यादिषु सत्सु पृच्छा कर्त्तव्या यादृशेषु न कर्त्तव्या तान्याह—

अणुचिय देसं दव्वं, कुलमप्पं आयरो य तो पुच्छा ।
बहुएऽवि नऽत्थि पुच्छा,सदेसदविए अभावेऽवि ।२०४।

यदा अनुचितदेशम्-विवक्षितदेशासभवि द्रव्य लभ्यते तदपि च प्रभूतं एतच्च 'आयरो य' इत्यत्र चशब्दाल्लभ्यते, एतेन द्रव्यदेशावुक्तौ, कुलमपि च अल्पमल्पजनं अनेन कुलमुक्तम् आदरश्च प्रभूत , एतेन भाव उक्त , ततो भवति पृच्छा, आधाकर्मसंभवात् , बहुकेऽपि च स्वदेशद्रव्ये-प्रभूतेऽपि च तद्देशसंभाविनि लभ्यमाने द्रव्ये यथा मालवके मण्डकादौ नास्ति पृच्छा, यत्र हि देशे यद् द्रव्यमुत्पद्यते तत्र तत्प्राय प्राचुर्येण जनैर्भुज्यत इति नास्ति तत्र बहुकेऽपि लभ्यमाने पृच्छा, आधाकर्माऽसंभवात् , पर तत्रापि कुलं महदपेक्षणीयम् , अन्यथाऽल्पजने भवेदाधाकर्मेति शङ्का न निवर्त्तते । तथा-अभावेऽपि-अनादरेऽपि नास्ति पृच्छा, यो ह्याधाकर्म कृत्वा दद्यात्स प्राय आदरमपि कुर्यात् , तत आदराऽकरणेन ज्ञायते यथा नास्ति तत्राऽऽधा-

कर्मेति न पृच्छा । तदेव यदा पृच्छा कर्त्तव्या यदा च न कर्त्तव्या तत्प्रतिपादितम् ।

संप्रति पृच्छायां कृतायां यदा तद् ग्राह्यं भवति यदा च न तदेतत्प्रतिपादयति-

तुज्झऽट्ठाए कयमिण-मन्नोऽन्नमवेक्खए य सविलक्खं।
वज्जंति गाढरुट्ठा, का भे तत्ति त्ति वा गिण्हे ॥ २०५ ॥

इह या दात्री ऋज्वी भवति सा पृष्टा सती यथावत् कथयति,यथा भगवन् ! तवाऽर्थाय कृतमिदमशनादिकमिति, यत्तु भवति मायाविकुटुम्बं तन्मुखेनैवमाचष्टे-गृहार्थमेतत् कृत, न तवाऽर्थायेति, परं ज्ञाता वयमिति सविलक्षणं सर्वाण्यपि मानुषाणि परस्परमवेक्षन्ते कपोलोद्भेदमात्र च हसन्ति, ततो यदा तवाऽर्थायेदं कृतमशनादिकमिति जल्पति, यद्वा-सविलक्षं-सलज्जमन्योऽन्यम् अवेक्षन्ते चशब्दाद्-हसन्ति वा, तदा साधवस्तदेयमाधाकर्मेति परिज्ञाय वर्जयन्ति, यदा तु कस्यार्थायेद कृतमिति पृष्टा सती गाढ सत्यवृत्त्या रुष्टा भवति, यथा का 'भे' भट्टारक ! तव त्(त)सिः इति तदा नैवाधाकर्मेति नि शङ्क गृह्णीत ।

सम्प्रति " गहियमदोसं च " इत्यवयवं व्याचिख्यासु परं प्रश्नयति—

गूढायारा ण करेंति, आयरं पुच्छिया वि न कहेंति ।
थोवंति व णो पुट्ठा, तं च असुद्ध कहं तत्थ ॥ २०६ ॥

इह ये श्रावका श्राविकाश्चाऽतीव भक्तिपरवशगा गूढाचाराश्च ते नाऽऽदरमतिशयेन कुर्वन्ति मा भूत्- न ग्रहीष्यन्तीति नापि पृष्टा सन्तो यथावत् कथयन्ति, यथा तवाऽर्थायेदं कृतमिति, अथवा-स्तोकमिति कृत्वा ते साधुना न पृष्टा, अथ च तद् देय वस्तु अशुद्धम्-आधाकर्मदोषदुष्टम् , अतः कथ तत्र साधो शुद्धिर्भविष्यति इति ।

एवं परेणोक्ते गुरुराह-

आहाकम्मपरिणओ, फासुयभोई वि बंधओ होइ ।
सुद्धं गवेसमाणो, आहाकम्मे वि सो सुद्धो ॥ २०७ ॥

इह प्रासु (शु) कग्रहणेन एषणीयमुच्यते, सामर्थ्यात् , तथाहि-साधूनामय कल्पो-ग्लानादिप्रयोजनेऽपि प्रथमतस्तावदेषणीयमेषितव्यम् , तदभावेऽनेषणीयमपि श्रावकादिना कारयित्वा श्रावकाभावे स्वयमपि कृत्वा भोक्तव्य, नतु कदाचनापि प्रासुकाभावेऽप्रासुकमिति तत. कदाचिदप्यप्रासुकभोजनाऽसम्भवे ' फासुयभोई वी ' ति-वाक्यमनुपपद्यमानम् अर्थात् प्रासुकशब्दमेषणीये वर्त्तयति ततोऽयमर्थ -प्रासुकभोज्यपि-एषणीयभोज्यपि यद्याधाकर्मपरिणतस्तर्हि सोऽशुभकर्मणा बन्धको भवति, अशुभपरिणामस्यैव वस्तुस्थित्या बन्धकारणत्वात् , शुद्धम्—उद्गमादिदोषरहित पुनर्गवेषयन्नाधाकर्मण्यपि गृहीते मुक्त च स शुद्धो वेदितव्य. । शुद्धपरिणामयुक्तत्वाद् ।

एतदेव कथानकाभ्यां भावयति—

संघुद्दिट्ठ मोउं, एइ दुयं कोड भाइए पत्तो ।
दिन्नं ति देहि मज्झं- ति गाउ साउं तओ लग्गो॥२०८॥

शतमुखं नाम पुरं, तत्र गुणचन्द्र श्रेष्ठी, चन्द्रिका तस्य भार्या, श्रेष्ठी च जिनप्रवचनानुरक्तो हिमगिरिशिखरानुकारि जिनमन्दिर कारयित्वा तत्र युगादिजिनप्रतिमा प्रतिष्ठापितवान् , तत सङ्घभोज्यं दापयितुमारब्धम् । इतश्च प्रत्यासन्ने कस्मिंश्चिद् ग्रामे कोऽपि साधुवेषविडम्बक साधुर्वर्त्तते । तेन च जनपरंपरया शुश्रुवे । यथा शतमुखपुरे गुणचन्द्रः श्रेष्ठी सङ्घभोज्यमद्य ददातीति । तत स तद्ग्रहणाय सत्वरमाजगाम । सङ्घभक्तं च सर्वं दत्त तेन च श्रेष्ठी याचितो यथा मह्यं देहि, श्रेष्ठिना च चन्द्रिका अभ्यधायि-देहि साधवेऽस्मै भक्तमिति । सा प्रत्युवाच-दत्तं सर्वं न किमपीदानीं वर्त्तते, तत श्रेष्ठिना सा पुनरप्यभाणि-देहि निजरसवतीमध्यात्परिपूर्णमस्मायिति । तत. सा शाल्योदनमोदकादिपरिपूर्णमदात् , साधुश्च सङ्घभक्तमिति बुद्ध्या परिगृह्य स्वोपाश्रय भुक्तवान् । तत स शुद्धमपि स भुञ्जान आधाकर्मग्रहणपरिणामवशादाधाकर्मपरिभोगजनितेन कर्मणा बद्ध । एवमन्योऽपि वेदितव्य । सूत्र सुगम् नवरम् ' देहि मज्झति गाउ ' त्ति-भार्यया दत्तमित्युक्ते, श्रेष्ठी वभाण देहि मम मध्यात्-मदीयभोजनमध्यात् । दत्ते च स्वादुमिष्टमिद सङ्घभक्तमिति भुञ्जानो विचिन्तयति । ततो लग्न आधाकर्मपरिभोगजनितकर्मणा बद्ध. । तदेवम्-' आधाकम्मपरिणओ ' इत्यादिकथानकेन भावितम् ।

संप्रति 'सुद्धं गवेसमाणो' इत्यादि कथानकेन भावयति—

मासियपारणगट्ठा, गमणं आसन्नगामगे खमए ।
सड्ढीपायसकरणं, कयाइ अज्जेज्जिही खमओ ॥ २०९ ॥

खेल्लग-मल्लगलेच्छा-रियाणि डिंभगनिब्भच्छणं च रुटंणया।
हंदि समणत्ति पायस-घयगुलजुयजावणट्ठाए ॥ २१० ॥

एगंतमवक्कमणं, जइ साहू इज्ज होज्ज तिन्नोमि ।
तणुकोट्ठंमि अमुच्छा, भुत्तंमि य केवलं नाणं ॥२११॥

पोतनपुरं नाम नगर, तत्र पञ्चभि साधुशतैः परिवृता यथाऽऽगम विहरन्तो रत्नाकरनामानः सूरय. समाययु', तस्याश्च साधुपञ्चशत्या मध्ये प्रियकरो नाम क्षपक , स च मासमासपर्यन्ते पारणक विदधाति. ततो मासक्षपणपर्यन्ते मा कोऽपि मदीय पारणकमवबुद्ध्याऽऽधाकर्मादिकं कार्षीदित्यज्ञात एव प्रत्यासन्ने ग्रामे पारणार्थं व्रजामीति चेतसि विचिन्त्य प्रत्यासन्ने क्वचिद्ग्रामे जगाम । तत्र च यशोमतिर्नामश्राविका तया च तस्य क्षपकस्य मासक्षपणक पारणकदिन च जनपरम्परया श्रुत, ततस्तया तत्क्षणक पारणकदिने कदाचिदद्य स क्षपकोऽत्र पारणकस्मिन् पारणकदिने कदाचिदद्य स क्षपकोऽत्र पारणककरणाय समागच्छेदिति बुद्ध्या परमभक्तिवशतो विशिष्टशालितण्डुलै पायसमपच्यत; घृतगुडादीनि च उपबृंहकद्रव्याणि प्रत्यासन्नीकृतानि ततो मा साधु. पायसमुत्तमं द्रव्यमिति कृत्वा आधाकर्मशङ्का कार्षीदिति मातृस्थानतो वटादिपत्रै कृतेषु शरावाकारेषु भाजनेषु डिम्भयोग्या स्तोका स्तोका वैरेयी प्रक्षिप्ता भगिनाश्च डिम्भा यथा रे बालका । यदा क्षपक साधुरीदृशस्तादृशो वा समायाति तदा यूय भणत-हे अम्ब ! प्रभूताऽस्माक वैरेयी परिवेषिता ततो न शक्नुमो भोक्तुम् , एव च उक्तेऽह युष्माभिर्भ-

दंस्यिष्यामि, ततो यूयं भवन्त किं दिने दिने पायसमुपस्क्रियते । एवं च बालकेषु शिक्षितेषु तस्मिन्नेव प्रस्तावे स क्षपको भिक्षामटन् कथमपि तस्या एव गृहे प्रथमतो जगाम, तदा सा यशोमतिरन्त समुल्लसत्परमभक्तिर्मा साधो काऽपि शङ्का भूदिति बहिरादरम् अकुर्वती यथास्वभावमवतिष्ठते । बालकाश्च यथाशिक्षितं भणितु प्रवृत्ता, तथैव च तया निर्भर्त्सितास्ततः सरूषेवाऽऽदरपरया क्षपकोऽपि तया बभणे, यथा अमी मत्ता बालकाः पायसमपि नैतेभ्यो रोचते, तर्हि ततो यदि युष्मभ्यमपि रोचते गृहीत वैरेर्यो नोचेत् व्रजत इति । तत एवमुक्ते स क्षपकसाधुर्निः शङ्को भूत्वा पायसं प्रतिगृहीतुमुद्यतः, साऽपि परमभक्तिमुद्वहन्ती परिपूर्णभाजनभरण पायसं घृतगुडादिकं च दत्तवती । साधुश्च मनसि निःशङ्को भूत्वा पायसं गृहीत्वा भोजनाय वृक्षस्य कस्यचिदधस्ताद् गतवान्, गत्वा च यथाविधि ईर्यापथिकादि प्रतिक्रम्य स्वाध्याय च कियन्तं कृत्वा चिन्तयामास-अहो लब्धमुत्कृष्ट मया पायसद्रव्यं घृतगुडादि च, ततो यदि कोऽपि साधुरागत्य संविभागयति मा तर्हि भवामि संसारार्णवोत्तीर्णो यतो निरन्तरं ये स्वाध्यायनिमग्नचेतसः प्रतिक्षणं परिभावयन्ति सकलमपि यथाऽवस्थितवस्तुजातम् अत एव च दु खरूपात्ससाराद्विमुखबुद्धयो मोक्षविधावेकतानाः यथार्थाश्च गुर्वादिषु वैयावृत्त्योद्यता ये वा परोपदेशप्रवणा स्वय सम्यक् सयमानुष्ठानविधायिनश्च तेषा संविभागे कृते तद्गत ज्ञानाद्युपष्टम्भ भवति ज्ञानाद्युपष्टम्भे च मम महान् लाभः, शरीरकं पुन रिदमसार प्रायो निरुपयोगि च । ततो येन तेन वोपष्टम्भसुखेन वहतीत्येवं भुञ्जानोऽपि शरीरमूर्च्छारहित प्रवर्द्धमानविशुद्धाध्यवसायो भोजनानन्तर केवलज्ञानमासादितवान्, सूत्रं सुगमम् । नवरम् 'खेल्लगमल्लगलिच्छारियाणि' त्ति-मल्लकं-शरावं तदाकाराणि यानि खेल्लकानि-वटादिपत्रकृतानि भाजनानि-द्रोणा(दूना)नीत्यर्थः, तानि 'लिच्छारियाणि' डिम्भकयोग्यस्तोकस्तोकपायसंप्रक्षेपणेन खरंटितानीव खरंटितानि कृतानि खरंटणया इत्यवज्ञया इन्दीत्यामन्त्रणे, भो श्रमण ! यदि रोचते तर्हि गृहाण विशेषः वत शरीरयापनाय घृतगुडयुत पायस गृहीत्वा एकान्ते अवक्रमणं, शेषं सुगमम् । एवमन्येषामपि भावतः शुद्ध गवेषयतामाधाकर्मण्यपि गृहीते भुक्ते वा न दोषः, भगवदाज्ञाराधनात् ।

तथा च भगवदाज्ञाराधनकृतमेवाऽदोषं भगवदाज्ञाखण्डनकृतमेव च दोषं विभावयितुकाम कथानक रूपकचतुष्केणाऽऽह—

चंदोदयं च सूरो-दयं च रन्नो उ दोन्नि उज्जाणा ।
तेसिं विवरीयगमणे, आणाकोवो तओ दंडो ॥२१२॥
सूरोदयं गच्छमहं पभाए,
चंदोदयं जंतुतणाऽऽइहारा ।
दुहा रवी पच्चुरसन्ति काउं,
रायाऽवि चंदोदयमेव गच्छे ॥ २१३ ॥
पत्तलदुमसालगया, दच्छामु निवगण त्ति दुचिंता ।
उज्जाणपालएहिं, गहिया य हया य बद्धा य ॥२१४॥
सहस पइट्ठा दिट्ठा, इयरेहिँ निवंगण त्ति तो बद्धा ।
निंतस्स य अवरण्हे, दंसणमुभओ वह विसग्गा॥२१५॥

चन्द्रानना नाम पुरी, तत्र चन्द्रावतंसो राजा, तस्य त्रिलोकरेखाप्रभृतयोऽन्त पुरिकाः, राज्ञश्च द्वे उद्याने, तद्यथा-एकं पूर्वस्या दिशि सूर्योदयाभिधानम् । द्वितीयं पश्चिमाया चन्द्रोदयाभिधानम् । तत्र चान्यदा प्राप्ते वसन्तमासे कस्मिंश्चिद्दिने राजा निजान्त पुरक्रीडाकौतुकार्थी जनानां पटह दापितवान्, यथा भोः ! शृणुत जनाः ! प्रभाते राजा सूर्योदयोद्याने निजान्तः पुरिकाभिः सह स्वेच्छं विहरिष्यति ततो मा तत्र कोऽपि यासीत् सर्वेऽपि तृणकाष्ठाऽऽहारादयश्चन्द्रोदय गच्छन्त्विति, एवं च पटहे दापिते तस्य सूर्योदयोद्यानस्य रक्षणाय पदातीन् निरूपितवान्, यथा न तत्र कस्याऽपि प्रवेशो दातव्य इति, राजा च निशि चिन्तयामास सूर्योदयमुद्यान गच्छतामपि प्रभाते सूर्यं प्रत्युरसं भवति, तत प्रतिनिवर्त्तमानानामपि मध्याह्ने, प्रत्युरसं च सूर्यो दु खावहस्तस्माच्चन्द्रोदयं गमिष्यामीति, एव च चिन्तयित्वा प्रातस्तथैव कृतवान्, इतश्च पटहश्रवणानन्तरं केऽपि दुर्वृत्ताश्चिन्तयामासुः यथा न कदाचिदपि वय राजान्त पुरिका दृष्टवन्तः । प्रातश्च राजा सूर्योदये सान्तःपुर समागमिष्यति, अन्त पुरिकाश्च यथेच्छं विहरिष्यन्ति । ततः पत्रबहुलतरुशाखासु लीनाः केनाप्यलक्षिता वय ताः परिभावयाम, एव च चिन्तयित्वा ते तथैव कृतवन्तः, तत उद्यानरक्षकैः कथमपि ते शाखान्तर्लीना दृष्टास्ततो गृहीता लकुडादिभिश्च हता रज्ज्वादिभिश्च बद्धा, ये चान्ये तृणकाष्ठाऽऽहारादयो जनास्ते सर्वेऽपि चन्द्रोदयं गता, तैश्च सहसा प्रविष्टैरग्रे यथेच्छं राजान्त.पुरिकाः क्रीडन्त्यो दृष्टाः, ततस्तेऽपि राजपुरुषैर्बद्धा, ततो नगराभिमुखमुद्यानान्निर्गच्छतो राज्ञ उद्यानपालकैः पुरुषैर्द्वयेऽपि बद्धा दर्शिताः, कथितश्च सर्वोऽपि यथावस्थितो वृत्तान्तः, तत्र ये आज्ञाभङ्गकारिणस्ते विनाशिताः, इतरे मुक्ताः, सूत्र सुगमं, नवर 'तओ दंडो' त्ति-दण्डो मारणम् एवद्भावनार्थं रूपकत्रयम् । 'सूरोदयमि' त्यादि, तत्र 'पच्चुरसं' प्रत्युरसम् उरस संमुख 'निंतस्स य' त्ति-उद्यानादपराह्णे निर्यतो राज्ञ उभयेषा दर्शनं ततो यथाक्रम वध-विसर्गौ, एतेन यदुक्तम्-"अभोज्जे गमणाइ य' इत्यादिगाथायां 'दिट्ठंवा तत्थिमा दोन्नि' त्ति-तद्व्याख्यातम् ।

साम्प्रत दार्ष्टान्तिके योजनामाह-

जह ते दंसणकंखी, अपूरिइच्छा विणासिया रन्ना ।
दिट्ठेऽवि यरे मुक्का, एमेव इहं समोयारो ॥ २१६ ॥

यथा ते दुर्वृत्ता दर्शनकाङ्क्षिण अपूरितेच्छा अपि आज्ञाभङ्गकारिण इति राज्ञा विनाशिता, इतरे च तृणकाष्ठाऽऽहारादयश्चन्द्रोदयोद्यानगता दृष्टेऽपि तैरन्त पुरे आज्ञाकारित्वात् मुक्ताः, एवमेव इहापि आज्ञाकर्मविषये समवतारोयोजना कार्या, सा चैवम्-आधाकर्मभोजनपरिणामपरिणता शुद्धमपि भुञ्जाना आज्ञाभङ्गकारित्वात् कर्मणा

बध्यन्ते, साधुवेषविडम्बकसाधुवत् शुद्धं गवेषयन्त आधाकर्मापि भुञ्जाना भगवदाज्ञाराधनात् न बध्यन्ते 'प्रियंकरा' ऽभिधरूपकसाधुवदिति ।

आधाकर्मभोजिनमेव भूयोऽपि निन्दति-

आहाकम्मं भुंजइ, न पडिक्कमए य तस्स ठाणस्स ।
एमेव अडइ बोडो, लुक्कविलुक्को जह कवोडो ॥२१७॥

य आधाकर्म भुङ्क्ते न च तस्मात् स्थानाद्-आधाकर्मपरिभोगरूपात्प्रतिक्रामति प्रायश्चित्तग्रहणेन निवर्त्तते । स बोड.-मुण्डो जिनाऽऽज्ञाभङ्गे निष्फल तस्य शिरोलुञ्चनादीति 'बोड' इत्येवमधिक्षिपति । एवमेव निष्फलमटति-जगति परिभ्रमति, अधिक्षेपसूचकमेव दृष्टान्तमाह-'लुक्कविलुक्को जह कवोडो' लुञ्चितविलुञ्चितो यथा कपोत -पक्षिविशेष., यथा तस्य लुञ्चनम् अटन च न धर्माय, तथा साधोरप्याधाकर्मभोजिन इत्यर्थः, तत्र सामान्यतो लुञ्चन विच्छित्त्या विशवर वा लुञ्चनं विलुञ्चनम् । पिं० ।

आधाकर्मपरिभोगे दोषमाह—

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिँ गच्छइ ॥ ३ ॥

आधानम् ; आधाकरणमित्यर्थः,तदुपलक्षितानि कर्माणि-यथाधाकर्माणि तै., किमुक्त भवति-स्वयं विहितैरेव सरागसंयममाहारं भासुरभावनादिभिरेव नारकासुरगतिहेतुभि. क्रियाविशेषैर्यथाकर्मभिर्वा तत्तद्गत्यनुरूपचेष्टितैर्गच्छति यातीति सूत्रार्थ. । उत्त० ३ अ० । " आहाकम्मं भुंजमाणे सबले ४ " (सूत्र-२१+ सम०)। आधाकर्म-आधया-साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते अचेतनं वा पच्यते चीयते वा गृहादिक वयते वा वस्त्रादिकं तदाधाकर्मभुञ्जान. शबलः । दशा० २ अ० ।

आधाकर्मपरिभोगे दोषस्सदृष्टान्तो यथा—

जं किंचि उ पूइकडं, सड्ढीमागंतुमीहियं ।
साहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवइ ॥ १ ॥

यत् किञ्चिदिति-आहारजातं स्तोकमपि, आस्ता तावत्प्रभूतं, तदपि पूतिकृतम् आधाकर्मादि सिक्थेनाप्युपसृष्टम्, आस्ता तावदाधाकर्म, तदपि न स्वय कृतम्, अपि तु श्रद्धावता अन्येन भक्तिमताऽपरानागन्तुकानुद्दिश्य ईहितंचेष्टित निष्पादितं, तच्च सहस्रान्तरितमपि यो भुञ्जीतअभ्यवहरेदसौ द्विपक्ष-गृहस्थपक्ष प्रव्रजितपक्षं वा सेवते, एतदुक्तं भवति-एवभूतमपि परकृतमपरागन्तुकमत्यर्थं निष्पादित यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापि योऽभ्यवहरणेनाप्युपसृष्टमाहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवनमापद्यते, किं पुन. य एते शाक्यादय. स्वयमेव सकलमाहारजात निष्पाद्य स्वयमेव चोपभुञ्जते, ते च सुतरा द्विपक्षसेविनो भवन्तीत्यर्थ । यदि वा-द्विपक्षमिति-ईर्यापथ, साम्परायिकं वा । अथ वा-पूर्वबद्धा निकाचिताद्यवस्था. कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्वाश्चादत्ते (सूत्र०) ततश्चैवं शाक्यादय. परतीर्थिका स्वयूथ्या वा आधाकर्म भुञ्जाना द्विपक्षमेव सेवन्त इति सूत्रार्थ. ।

इदानीमेतेषां सुखैषिणामाधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकाविर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया ।
मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥ २ ॥
उदगस्स पभावेणं, सुक्कं सिग्घं तमिंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिँ ते दुही ॥ ३ ॥

तमेव-आधाकर्मोपभोगदोषमजानाना विषम -अष्टप्रकारकर्मबन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोचश्चतुर्गतिसंसारो वा तस्मिन्नकोविदा. कथमेष कर्मबन्धो भवति कथ वा न भवति ? केन चोपायेनाय संसारार्णवस्तीर्यत इत्यत्राकुशलाः, तस्मिन्नेव ससारोदरे कर्मपाशावपाशिता दु.खिनो भवन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा मत्स्या. पृथुरोमाणो विशालः-समुद्रस्तत्र भवा वैशालिका ; विशालाख्यविशिष्टजात्युद्भवा वा वैशालिकाः विशाला एव वैशालिका —बृहच्छरीरास्ते एवंभूता महामत्स्या उदकस्याभ्यागमे समुद्रवेलाया (मागता) सत्या प्रबलमरुद्वेगोद्धूतोत्तुङ्गकल्लोलमालापनुन्नाः सन्त उदकस्य प्रभावेण नदीमुखमागता पुनर्वेलापगमे तस्मिन्नुदके शुष्के वेगेनैवापगते बृहत्वाच्छरीरस्य तस्मिन्नेव धुनीमुखे विलग्ना अवसीदन्त आमिषगृध्नुभिर्ढङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवसार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिर्जीवन्त एव विलुप्यमाना महान्त दु खसमुद्घातमनुभवन्तोऽशरणाघात-विनाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे, त्राणाऽभावाद्विनाशमेव यान्तीति श्लोकद्वयार्थ. ।

एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके योजयितुमाह—

एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संतिऽणंतसो ॥ ४ ॥

यथैते-अनन्तरोक्तमत्स्यास्तथा श्रमणा श्राम्यन्तीति श्रमणा एके शाक्यपाशुपतादय. स्वयूथ्या वा. किंभूतास्ते इति दर्शयति-वर्त्तमानमेव सुखम् आधाकर्मोपभोगजनितमेषितुं शील येषां ते वर्तमानसुखैषिण, समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवाऽऽसक्तचेतसोऽनालोचिताऽऽधाकर्मोपभोगजनितातिकटुकदु खौघानुभवना वैशालिकमत्स्या इव घातंवि(नाश । शमेष्यन्ति-अनुभविष्यन्ति अनन्तशोऽरहट्टघटीन्यायेन भूयो भूय' संसारोदन्वति निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वाणा न ते संसारम्भोधे पारगामिनो भविष्यन्तीत्यर्थ. । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

(१२) आधाकर्मपरिभोगे कर्मबन्ध.-

आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ, किं पकरेइ, किं चिणाइ, किं उवचिणाइ ?। गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ० जाव अणुपरियट्टइ । से केणऽट्ठेणं०जाव आहाकम्मं णं भुंजमाणे ०जाव अणुपरियट्टइ ?, गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइक्कमइ, आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं णावकंखइ० जाव तसकायं णावकंखइ, जेसिं पि

य णं जीवाणं सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे नाऽव-कंखइ, से तेणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ० जाव अणु परियट्टइ । (सूत्र ७८+)

'आहाकम्ममि' त्यादि, आधाय साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतनं क्रियते, अचेतनं वा पच्यते, चीयते वा गृहादिकं, वयते वा वस्त्रादिकं, तदाधाकर्म, 'किं बधइ' त्ति-प्रकृतिबन्धमाश्रित्य स्पृष्टावस्थापेक्षया वा 'किं पकरेइ' त्ति-स्थितिबन्धापेक्षया बद्धावस्थापेक्षया वा, 'किं चिणाइ' त्ति-अनुभागबन्धापेक्षया निधत्तावस्थापेक्षया वा 'किं उवचिणाइ' त्ति-प्रदेशबन्धापेक्षया निकाचनापेक्षया वेति, 'आयाए' त्ति-आत्मना श्रुतधर्मं-चारित्रधर्मं वा, 'पुढविकायं नावकंखइ' त्ति-नापेक्षते, नानुकम्पत इत्यर्थः । भ० ७ श० ६ उ० । 'आयाए' त्ति-आत्मना धर्मं-श्रुतधर्मं चारित्रधर्मं वेति " आयाए धम्मं अइक्कममाणे पुढविकायं नावकंखइ, आउकायं नावकंखइ, तेउकायं नावकंखइ, वाउकायं नावकंखइ, वणस्सइकायं नावकंखइ, तसकायं नावकंखइ, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरयाइं आहारमाहारेइ ते वि नावकंखइ से एएणऽट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आहाकम्मं भुंजमाणे० जाव परियट्टइ, " तथा-" कहं णं भंते ! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?, गोयमा ! पाणे अइवाइत्ता भवइ, मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता भवइ, एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति " त्ति, द्वितीयपदं पुनर्गाढग्लानादिकार्यासंस्तरणादिरूपं गच्छमध्यव्यवस्थितस्य गुर्वाज्ञावर्तिनोऽशठभावस्य साधोः पञ्चकपरिहाणिक्रमेण सर्वथा प्रयतमानस्यातुरदृष्टान्तेनाधाकर्माण्यपि निर्दोषम्, तथा चाऽऽगम -" संथरणम्मि असुद्धं, दुण्ह वि गिण्हंत दितयाण हियं । आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥१॥ " तथा-" जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥१॥ " त्ति । ध० र० ३ अधि० ७ लक्ष० ।

चारित्रमधिकृत्याहारविषयाऽनाचाराऽऽचारौ प्रतिपादयितुकाम आह—

आहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा ।
उवलित्तेति जाणिज्जा, ऽणुवलित्तेति वा पुणो ॥ ८ ॥

किमित्येवं स्याद्वाद प्रतिपादन इत्याह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । (अनयो ८-९ गाथयोर्व्याख्या 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१८ पृष्ठे गता) (वसति विषय आधाकर्मदोष ' वसहि ' शब्दे षष्ठे भागे वक्ष्यते १६५ निशीथचूर्णिगाथया)

आधाकर्मदोषदुष्टत्वात् श्रमणार्थं कृता वल्लिवृक्षादयो न कल्पन्ते—

वल्ली वा रुक्खो वा, कोई रोएज्ज संजयऽट्ठाए ।
तेसिं परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं ॥ ५३ ॥

वल्लीर्वा वृक्षान् वा कश्चित्संयतानामर्थाय रोपयेत्, तत्र तेषां फलानां परिभोगकाले श्रमणानां कथं भणितम् ; किं कल्पते किं वा न कल्पत इत्यर्थः ।

अत्र सूरिराह—

तस्स कडनिट्ठियादी, चउरो भंगे विभाग्इत्ताण ।
विसमेसु जाण विसमं, नियमा उ समो समग्गहणे ॥५४॥

तस्य कृतं तत् तस्य निष्ठितमिति प्रथमः, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति द्वितीयः । अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितमिति तृतीयः । अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति चतुर्थः । तत्र तस्य-संयतस्य निमित्तं कृतम्-आरोपितं वृक्षादि तथा तस्यैव संयतस्य निमित्तं निष्ठित-निष्ठां नीतमचित्तीकृतमित्यर्थः । एष प्रथमभङ्गार्थः । एवं शेषाणामपि भङ्गानामर्थः परिभावनीयः, तत्र तस्य कृतं तस्य निष्ठितमित्यादीन् चतुरो भङ्गान् विभाज्य विषमयोर्भङ्गयोर्गृह्णता विषममसंयमं जानीयात्तन्निमित्तं निष्ठानयनात्, समयोर्द्वितीयचतुर्थयोर्भङ्गयोर्ग्रहणे समं-संयमं जानीयात् । अन्यनिमित्तं निष्ठितत्वात् ।

पर आह—ननु श्रमणार्थं स आरोपितस्ततः कथं द्वितीये भङ्गे कल्पते । सूरिराह—

कामं सो समणऽट्ठा, वुत्तो तह वि य न होइ सो कम्मं ।
जं कम्मलक्खणं खलु, इह इं वुत्तं न पस्सामि ॥५५॥

कामम्-अनुमन्यामहे स वृक्षः श्रमणार्थमारोपितः तथाऽप्यसौ कर्म न भवति । यतो यत्कर्मलक्षणं खलु तीर्थकरगणधरैरुक्तं तदिह ' इं ' पादपूरणे, न पश्यामि ।

किं तत्कर्मलक्षणमत आह—

सचित्तभावविकली-कयम्मि दव्वम्मि मग्गणा होइ ।
का मग्गणा उ दव्वे, सचेयणे फासुभोईण ॥ ५६ ॥

यत्सचित्तभावविकलीकृतमचित्तीकृतम् द्रव्यं तत्र प्रासुकभोजिनां मार्गणा भवति । तत आधाकर्मिकचिन्ताऽपि तत्रैव युक्ता; नान्यत्र । सचेतनं तु द्रव्ये का मार्गणा ?, नैव काचित् सचित्ततया तस्य ग्रहणाऽसम्भवात्ततो न तदपेक्षया आधाकर्मिकत्वमिति । तदेवमारोपितरूपकृतनिष्ठितविषये कल्प्याऽकल्प्यविधिरुक्तः ।

सम्प्रति छिन्नरूपकृतनिष्ठितविषये तमाह—

संजयहेतुं छिन्नं, अत्तऽट्ठोवक्खडं तु तं कप्पे ।
अत्तऽट्ठा छिन्नं पि हु, समणऽट्ठा निट्ठियमकप्पं ॥५७॥

अत्राऽपि भङ्गचतुष्टयम्-तस्य कृतम् तस्य निष्ठितम् १, तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम् २, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितम् ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितम् ४ । अत्र कृतं छिन्नं निष्ठितं-पाकादिकरणतो निष्ठां नीतम् । तत्र प्रथमभङ्गः सर्वथा न कल्पते, चतुर्थस्तु भङ्ग एकान्तशुद्धः, द्वितीयभङ्गमधिकृत्य पूर्वार्द्धमाह—संयतहेतोः—संयतनिमित्तं छिन्नमात्मार्थमुपस्कृतं-निष्ठां नीतं तत्कल्पते । तृतीयभङ्गमधिकृत्याह-आत्मार्थं छिन्नमपि श्रमणार्थं निष्ठितमकल्प्यम् ।

संप्रति बीजानि, उदकं चाऽधिकृत्याह—

बीयाणि य वावेज्जा, अगडं व खणेज्ज संजयऽट्ठाए ।
तेसिं परिभोगकाले, समणाण तहिं कहं भणियं ॥५८॥

बीजानि शाल्यादिसत्कानि वपेत, अवटं च खानयेत्, संयतार्थं; तेषां परिभोगकाले तत्र श्रमणानां कथं भणितं कल्प्यम्, अकल्प्यं वा ।

सूरिराह—

दुच्छडाणियं च उदयं, जइ हेउं निट्ठियं च अत्तट्ठा ।
तं कप्पइ अत्तऽट्ठा, कयं तु जइ निट्ठियमकप्पं ॥ ५६ ॥

अत्रापि प्रागिव भङ्गचतुष्टयम्, तत्राऽऽद्यो भङ्गः एकान्तेनाऽशुद्धः । चरमस्त्वेकान्तशुद्धः । द्वितीयभङ्गमधिकृत्याह-यतिहेतोस्तण्डुला द्विच्छटीकृता उदकं वा संयतहेतोरवटादानीतम् उभयमपि च निष्ठितम्—अचित्तीकृतमात्मार्थं तत्कल्पते । तृतीयभङ्गमधिकृत्याह-कृत द्विच्छटीकृतास्तण्डुला अवटादानीतं पानीयं निष्ठित तु यतिनिमित्तं तदकल्प्यमिति ।

पुनरपि पर आह—

समणाण संजतीण व, दाहामि जो किणेज्ज अट्ठाए ।
गावीमहिसीमादी, समणाण तहिं कहं भणियं ॥६०॥

श्रमणानां संयतीनां दुग्धादि दास्यामीति बुद्ध्या तेषामर्थाय गोमहिष्यादिकं यः क्रीणीयात्तत्र श्रमणानां कथ कल्प्यम् अकल्प्यं वा भणितम् ।

सूरिराह—

संजयहेउं दूढा, न कप्पए कप्पए य सयमट्ठा ।
पामिच्चिय कीया वा, जइ वि समणट्ठ या धेणू ॥६१॥

यद्यपि च धेनु'-गोरूपा महिषीरूपा वा श्रमणार्थमियमित्यात्मीयां धेनु दत्त्वा परकीया याचिता क्रीता वा यदि संयतहेतोर्दुग्धा ततो न कल्पते । अथ स्वयमात्मनोऽर्थाय दुग्धा तर्हि कल्पते ।

पुनरन्यथा परः प्रश्नयति—

चेइयदव्वं विभया, करेज्ज कोई नरो सयट्ठाए ।
समणं वा सोवहियं, विक्केज्जा संजयट्ठाए ॥ ६२ ॥

चैत्यद्रव्य चौराः समुदायेनापहृत्य तन्मध्ये कश्चिन्नर आत्मीयेन भागेन स्वयम्-आत्मनोऽर्थाय मोदकादि कुर्यात्, कृत्वा च संयतेभ्यो दद्यात्, यो वा संयतार्थाय श्रमणं सोपधिक विक्रीणीयात् । विक्रीय च तत्प्रासुकं वस्त्रादि संयतेभ्यो दद्यात् ।

एयारिसम्मि दव्वे, समणाणं किं नु कप्पई घेत्तुं ।
चेइयदव्वेण कयं, मुल्लेण वजं सुविहियाणं ॥ ६३ ॥
तेण पडिच्छा लोए, वि गरहिया उत्तरे किमंग ! पुण ।
चेइय जइ पडिणीए, जो गेण्हइ सो वि हु तहेव ॥६४॥

एतादृशेन द्रव्येण गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, यत् आत्मार्थं कृतं तत् श्रमणानां किं नु ग्रहीतु कल्पते । सूरिराह-यच्चैत्यद्रव्येण यच्च वा सुविहितानां मूल्येनात्मार्थं क्रीतं तद्दीयमानं न कल्पते । किं कारणमिति चेदुच्यते-स्तेनानीतस्य प्रतीच्छा-प्रतिग्रहणं लोकेऽपि गर्हिता किमङ्ग ! पुनरुत्तरे, तत्र सुतरां गर्हिता यतः-चैत्ययतिप्रत्यनीके-चैत्ययतिप्रत्यनीकस्य हस्तात् यो गृह्णाति सोऽपि 'हु' निश्चितं तथैव चैत्ययतिप्रत्यनीक एव ।

कस्मादिति आह—

हरियाहडिया सा खलु, ससत्तितो उग्गए हरा गुरुगा ।
एवं तु कया भत्ती, न वि हाणी जा विणा तेण ॥६५॥

सा खलु स्तेनानीतप्रतीच्छा हृताहृतिका भण्यते स्तेनैर्हृतस्य स्तेनहरण हृताहृतिका यत एवं तस्मात् स्वशक्तितश्चैत्यद्रव्यं सोपधिक वा श्रमणमुद्गमयेत्-उत्पादयेत् इतरथा प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुकाः । एव च सति कृता भक्तिर्भवति । प्रवचनस्य या च तेन विना हानिः, साऽपि न भवति ।

पुन' पृच्छति—

जा तित्थयराण कया, वंदणआवरिसणादि पाहुडिया ।
भत्तीहिँ सुरवरेहिं, समणाण तहिं कहं भणियं ॥६६॥

या तीर्थकराणां सुरवरैर्भक्त्या वन्दनाऽऽवर्षणादिका आदिशब्दात्-पुष्पवृष्टिप्रकारत्रयादिकरणपरिग्रहः प्राभृतिका कृता तत्र श्रमणानां कथ भणित किं तत्र स्थातुं कल्पते न वा ।

अत्र सूरिराह—

जइ समणाण न कप्पइ, एवं एगागिणो जिणवरिंदा ।
गणहरमादी समणा, अकप्पिए न वि य चिट्ठंति ॥६७॥

तस्या प्राभृतिकायां श्रमणानामवस्थातु कल्पते भगवतः प्रवचनातीतत्वात् । अन्यथा यदि श्रमणानां न कल्पते तत एकाकिनो जिनवरेन्द्रा भवेयु' । यतो गणधरादयः श्रमणाः अकल्पिकेनैव तिष्ठन्ति । व्य० ६ उ० । वृ० ।

आधाकर्मोपभोगे प्रायश्चित्तम्—

जे भिक्खू आहाकम्मं, भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

आधाकड आहाकम्मं त जो भुंजनि तस्स चउगुरुं आणादिया य दोसा । नि० चू० १० उ० ।

आधाकर्मप्रायश्चित्तम्—" गुरुगा आह य चरम० " ॥ ५४१ × ॥ ' आह य ' आधाकर्मगृहत' प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ॥ वृ० १ उ० १ प्रक० । ज्ञानवत आधाकर्मादिदोषविचार' ' णाण ' शब्दे चतुर्थभागे १६८० पृष्ठे करिष्यते) (गोचरचर्य्यां गतेनाधाकर्मिकमशनादि न ग्राह्यमिति ' गोयरचरिया ' शब्दे तृतीयभागे ६६१ पृष्ठे वक्ष्यते ।) यदाधाय-निमित्तत्वेनाश्रित्य पूर्वोक्तमष्टप्रकारमपि कर्म बध्यते तदाधाकर्मेति । कर्मभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । (तच्च विस्तरतः ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २४५ पृष्ठे, ६२ सूत्रव्याख्याने वक्ष्यते ।) आधानमाधाकरणमात्मनेति गम्यते तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्माणि । स्वकृतकर्मसु, उत्त० ।

सुया मे णरए ठाणा, (उत्त०)पगाढा जत्थ वेयणा ॥१२॥

तत्थोववाइयं ठाणं, जहा मे तमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिँ गच्छंतो, सो पच्छा परितप्पइ ॥ १३ ॥

तत्रेति-नरकेषु उपपाते भवमौपपातिकं स्थानम्-स्थितिः यथा-येन प्रकारेण भवतीति शेषः । 'मे' मया तत्-इति अनन्तरोक्तपरामर्शेऽनुश्रुतम्--अवधारितं गुरुभिरुच्यमानमिति शेषः (उत्त०) औपपातिकमिति च ब्रुवतोऽस्यायमाशयः, यदि गर्भजत्वं भवेत्-भवेदपि तदपि तदवस्थायां छेदभेदादिनारकदुःखान्तरम्, औपपातिकत्वे त्वन्तर्मुहूर्तानन्तरमेव तथाविधवेदनोदय इति कुतस्तदन्तरसंभवः ?, तथा च-'आहाकम्मेहिँ' ति-आधानम्-आधाकरणमात्मनेति गम्यते, तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्माणि तैराधाकर्मभिः-स्वकृतकर्मभिः, यद्वा-आर्षत्वात्-'आहे' ति-आधाय-कृत्वा कर्माणीति गम्यते, ततस्तैरेव कर्मभिर्गच्छन्-यान्, प्रक्रमात् नरकं, यद्वा-यथा कर्मभिर्गमिष्यमाणगत्यनुरूपैस्तीव्रतीव्रतराद्यनुभावान्वितैर्गच्छंस्तदनुरूपमेव स्थानं 'स' इति-बालः पश्चादिति-आयुषि हीयमाने परितप्यते-यथा-धिग्मामसदनुष्ठायिनं, किमिदानीं मन्दभाग्यः करोमीत्यादि शोचते इति सूत्रार्थः । उत्त० ५ अ० ।

आधा (हा) कम्मिय-आधाकर्मिक-त्रि० । साधूनामेवार्थाय कारिते भक्तादौ, सू० १ उ० ।

आधा(हा)ण-आधान-न० । आ-धा-भावे ल्युट् संस्कारपूर्वकं वह्न्यादेः स्थापने, अग्न्याधानं, गर्भाधाने च । वाच० । स्थाने, आव० । " इय सव्वगुणाऽऽहाण ॥१०५४॥ " सर्वगुणाधानम्-अशेषगुणस्थानम् । आव०४ अ० । स्थापने, षो० । " फलयोग्यादीनामिह, तन्मूलाऽऽधानयुक्तानाम्" मूलाऽऽधान-मूलस्थापन-बीजन्यासस्तद्युक्तानाम् । षो० १३ विव० । व्यवस्थापने, आख्याने, व्याख्याने च । वाच० ।

अविरइं पडुच्च बाले, आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरयाऽविरइं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ ॥३६४॥

आधीयते-व्यवस्थाप्यते, आख्यायते वा, तथा-विरतिं चाश्रित्य-प्रतीत्य पापाद् डीनः पण्डितः-परमार्थज्ञो वेत्येवमाधीयते-व्याख्यायते । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

आधा (हा) य-आधाय-अव्य० । आ-धा-ल्यप् । कृत्वेत्यर्थे, उत्त० ५ अ० । स्थापयित्वेत्यर्थे, आधानं कृत्वेत्यर्थे, भावे-घञ् । आधाने, पु० । वाच० ।

आधा (हा) र-आधार-आ-धृ-आधारे-घञ् । आश्रये, "अपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्" कुमा० । "चराचराणां भूतानां, कुक्षिराधारतां गतः" । कुमा० । "वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः " या० स्मृ० । " व्याकरणप्रसिद्धे औपश्लेषिकवैषयिकाभिव्यापकाख्ये अधिकरणकारके," आधारोऽधिकरणम् " । पाणिनिः । अधिकरणञ्च परम्परया क्रियाश्रयः तच्च त्रिविधम् औपश्लेषिक--वैषयिका-ऽभिव्यापकभेदात् । तत्र औपश्लेषिकं एकदेशसम्बन्धः, यथा-कटे आस्ते । वैषयिकं-मोक्षे इच्छास्ति । अभिव्यापकः-तिलेषु तैलमस्ति । मुग्धबोधकारस्तु "सामीप्या-ऽऽश्लेष-वि-

षयै-र्व्याप्त्याऽऽधारश्चतुर्विधः" इति "सामीप्यसम्बन्धेनाप्याधारतेत्याह " । तच्चिन्त्यम्, गङ्गायां घोषो वसतीत्यादौ विषयलक्षणयैव गङ्गासमीपतीरस्योपस्थितौ न तस्य विभक्त्यर्थत्वमिति पाणिनीयाः । शस्यसंपादनार्थं जलरोधनार्थं बन्धने वृक्षसेकार्थं जलधारणार्थं आलवाले च । "आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः" रघु० । वाच० । आधारस्य भावः तल् आधारता संबन्धविशेषेण पदार्थविशेषस्याऽऽधेयतासम्पादके धर्मविशेषे, तथा च तयोः परस्परनिरूप्यनिरूपकभावः । आधारतायाः अनतिरिक्तवृत्तिधर्म आधारतावच्छेदकः । एवमाधेयतायाः अनतिरिक्तवृत्तिर्धर्म आधेयतावच्छेदकः यथा संयोगेन घटाधारे भूतले भूतलत्वमाधारतावच्छेदकं भूतलाधेये घटे च घटत्वमाधेयतावच्छेदकम् तयोस्तदवच्छेदकत्वात् । ताभ्यामाधारताऽऽधेयता चाऽवच्छिद्यते यथा घटत्वावच्छिन्ना घटनिष्ठाऽऽधेयता तथा भूतलत्वावच्छिन्ना भूतलनिष्ठाऽऽधारता इति नव्यनैयायिकानां रीतिः । आधारत्वासदर्थे, न० । वाच० । ख-घ-थ-ध-भाम् ॥८।१।१८७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण धस्य बाहुल्येन हः । प्रा० । "आहारो०" ॥१४०६४॥ द्रव्यम्-आधारो भवति । विशे० ।

आधि (हि)-आधि-पुं० । आधीयते-अभिनिवेश्यते प्रतीकाराय मनोऽनेन । आ--धा--कि । मानसव्यथाभेदे, वाच० । आधीनाम्-मनःपीडानाम् । अ० १ श्रु० १ उ० १ सूत्रटी० । शरीरमानसे पीडाविशेषे च । " आधीनां परमौषधम् " ॥ ३ ४ ॥ आधीनां-शरीरमानसपीडाविशेषाणां परमौषधं-प्रधानौषधकल्पम् । षो० १५ विव० । ईषत् आधिक्रियते उत्तमर्णोऽत्र । आ-ईषदर्थे, धा-अधिकारार्थे, आधारे कि, आधीयते ऋणशोधनार्थम् आ-धा-कर्मणि-कि-वा । ऋणशोधनार्थे प्रतिभूस्थानीयतया बन्धकत्वेन उत्तमर्णसमीपे अधमर्णेनाऽऽधीयमाने उत्तमर्णस्य ईषत् स्वत्वहेतुभूतव्यापारविशिष्टे, वाच० ।

आहि (हि) क-आधिक्य-न० । अधिकस्य भावः ष्यञ् । अधिकतायाम्, अतिशयितायाम्, " यदावगच्छेदायत्या-माधिक्यं ध्रुवमात्मनः " । मनु० । युग्मायामपि रात्रौ चेत्, शोणितं प्रचुरं तदा । कन्या च पुंवत् भवति, शुक्राधिक्ये पुमान् भवेत् ॥ १ ॥ ज्योतिस्तत्त्वम् । प्रातिपदिकमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये, सि० कौ० " एवमेतद् गुणाधिक्यं, द्रव्ये द्रव्ये व्यवस्थितम् " सुश्रु० । वाच० । " आधिक्यस्थैर्यसिद्ध्यर्थम् " ॥ २१ ४ ॥ आधिक्यं सजातीयपरिणामप्राचुर्यम् । द्वा० १७ द्वा० ।

आधि (हि) गरणिया-आधिकरणिकी-स्त्री० । अधिक्रियते आत्मा नरकादिषु येन तदधिकरणं, तेन निर्वृत्ता आधिकरणिकी, पञ्चक्रिया मध्ये तृतीये क्रियाविशेषे, सा च द्विधा चक्ररथपशुबन्धमन्त्रतन्त्रादिप्रवर्त्तिनी खड्गादिनिर्वर्तिनी चेति । ध० ३ अधि० ।

आधि (हि) देविय-आधिदैविक-त्रि० । अधिदेवं भवः देवान्-वातादीन् अधिकृत्य प्रवृत्ते वा ठञ् । अनुशतिकादित्वाद् द्विपदवृद्धिः । देवाधिकारेण प्रवृत्ते शास्त्रे, वातादिनिबन्धने, दुःखे च । दुःखं हि त्रिविधम्-आध्यात्मिकादिभे-

दात् । वाच० । आधिदैविकम्—यत्तराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम् । स्या० १५ श्लोकटी० ।

आधि (हि) भोइय-आधिभौतिक-त्रि० । भूतानि-व्याघ्रसर्पादीन्यधिकृत्य जातम् । अधिभूत ठञ् द्विपदवृद्धिः । व्याघ्रसर्पादिजनिते दुःखे, वाच० । आधिभौतिक-मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । स्या० १५ श्लोकटी० ।

आधु (हु) णिय-आधुनिक-त्रि० । अधुना भव ठञ् । सांप्रतभवे अर्वाचीने, अप्राचीने च । स्त्रियां ङीप् । वाच० । अष्टाशीतिग्रहाणामन्यतमे स्वनामख्याते ग्रहे, जं० । सू० प्र० २० पाहु० ।

दो आहुणिया । (सूत्र-९०+) स्था० २ ठा ३ उ० ।

आधे (हे) य-आधेय-त्रि० । आ-धा-कर्मणि यत् । १ उत्पाद्ये, "आधेयश्चाक्रियाजश्च, सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः" व्या० का० । यस्य सतो गुणान्तरमुत्पाद्यम् तादृशे उत्पाद्यगुणान्तरे विद्यमान एव यत्र घटादिपदार्थे पाकादिना रक्ततागुणान्तरमाधीयते तादृशे घटादौ, आधानविधिना स्थापनीये वह्नौ, पुं० । अधिकरणेऽभिनिवेशनीये, "अधिक पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्" चन्द्रा० । वाच० ।

आधाराऽऽधेयौ द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन—

आहारो आहेयं, च होइ दव्वं तहेव भावो य ।
खेत्तं पुण आहारो, कालो नियमाउ आहेओ ॥१४०६॥

(अस्या गाथाया व्याख्या 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३४४ पृष्ठे गता ।) विशे० । स्थापनीये द्रव्ये च । भावे यत् । आधाने, न० । वाच० ।

आधे (हे) वच्च-आधिपत्य-न० । अधिपतेर्भावः कर्म्म वा पत्यन्तत्वात् यक् । स्वामित्वे, "अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं, राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्" गीता० । वाच० । "यक्षाणामाधिपत्यं च, राजराजत्वमेव च" । भा० । व० । राजकार्ये प्रजापालनादौ, "दुर्योधन तस्वाहित वै निगृह्य, पाण्डो पुत्र प्रकुरुष्वाधिपत्ये । अजातशत्रुर्हि विमुक्तरागो, धर्मेणेमां पृथिवीं शास्तु राजन् ।" भा० । व० । प० । ६ । अ० । वाच० । "आहेवच्च" (सूत्र-४६ +) । प्रज्ञा० २ पद । अधिपते कर्म्माधिपत्यम् । रक्षायाम् , जी० ३ प्रति० ४ अधि० १ उ० ११७ सूत्रटी० । आ० म० । प्रज्ञा० । भ० । कल्प० । ज्ञा० । विपा० । जं० ।

आधोधि (होहि) य-आधोऽवधिक-पुं० । नियतक्षेत्रविषयाऽवधिज्ञानिनि, भ० ।

आहोहिए णं भंते ! मणुस्से जे भविए अन्नयरेसु देवलोएसु उववज्जइ । (सूत्र-२९१ +)

'आहोहिए ण' ति, आधोऽवधिक —नियतक्षेत्रविषयाऽवधिज्ञानी । भ० ७ श० ७ उ० ।

नमिस्स णं अरहओ एगूणचालीसं आहोहियसया होत्था । (सूत्र-३९ ×)

'आहोहिय' त्ति—नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानिनस्तेषां शतानि । स० ३९ सम० । प्रतिनियतक्षेत्रावऽवधिज्ञाने च । न० ।

केवली णं भंते ! आधोऽधियं जाणइ पासइ । (सूत्र-५३८ +)

'आहोहियं' ति, प्रतिनियतक्षेत्रावधिज्ञानम् । भ० १५ श० १० उ० ।

आप(व)-आप-पुं० । आप्यते । आप्-कर्मणि-घञ्-अष्टसु वसुषु चतुर्थे वसौ, अपां समूह अण् । जलसमूहे, न० । आकाशे, निरुक्त० । तस्य सर्वमूर्त्तसंयोगित्वात्तथात्वम् । वाच० । व्याप्तौ, आप-व्याप्ति । भ० १ श० ६ उ० ५० सूत्रटी० ।

आप (व) इ-आपद्-स्त्री० । आ-पद् । सम्पदा क्विप् । आपद्विपद्सम्पदा दइः ॥ ८।४।४०० ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण आपत् शब्ददकारस्य इकार । "अणउ करन्तहो पुरिसहो, आवइ आवइ" (अनयम्-अन्याय) कुर्वत पुरुषस्य आपत् आयाति । प्रा० ढुं० । पो व. ॥८।१।२३१॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण स्वरात्परस्य पस्य व । विपत्तौ, प्रा० । "दुहओ गइ बालस्स, आवई वहमूलिया" ॥ १७+ ॥ आपदो-विपद । उत्त० ७ अ० । "सभम-भयाऽऽउरा-ऽऽवइ" ॥१३+॥ आवई चउव्विहा-दव्वखेत्त-काल-भावाऽऽवई । दव्वाऽऽवई-दव्वं दुल्लहं । खेत्ताऽऽवई-वोच्छिन्न-मंडयाई । कालाऽऽवई-ओमाई । भावाऽऽवई-गुरुगिलाणाई । (इति तच्चूर्णि) । द्रव्यक्षेत्रकालभावैस्तत्र-द्रव्यापत्-कल्पनीयाशनादिद्रव्यदुर्लभता १, क्षेत्राऽऽपत्-प्रत्यासन्नग्रामनगरादिरहितमल्पं च क्षेत्रम् २, कालाऽऽपद् दुष्कालादि ३, भावाऽऽपद्-ग्लानत्वादि ४ । जीत० । द्रव्याऽऽपत्-प्रासुकादिद्रव्यालाभ, क्षेत्राऽऽपत्-कान्तारक्षेत्रपतितत्वं, कालाऽऽपत्-दुर्भिक्षकालप्राप्ति, भावापत्-ग्लानत्वमिति । प्रतिसेवणाया पञ्चमे भेदे, भ० २५ श० ७ उ० ७९६ सूत्रटी० । "आउरे आवईसु य" (सूत्र-७७३+) तथा आपत्सु द्रव्यादिभेदेन चतुर्विधासु, तत्र द्रव्यत-प्रासुकद्रव्य दुर्लभ, क्षेत्रतो-ऽध्वप्रतिपन्नता, कालतो-दुर्भिक्ष, भावतो-ग्लानत्वमिति । उक्तं च-" दव्वाइअलंभे पुण चउव्विहा आवया होइ " इति । स्था० १० ठा० ३ उ० । व्य० । नि० चू० । आ० चू० । " आवईसु दढधम्मया " (सूत्र-३२ +) । प्रशस्तयोगसंग्रहाय साधुनाऽऽपत्सु-द्रव्यादिभेदासु, दृढधर्मता कार्य्या सुतरा तासु दृढधर्मिणा भाव्यमित्यर्थ । स० ३२ सम० ।

उदाहरणादियोग—

उज्जेणीए धणवसू, अणगारे धम्मघोसचम्पाए ।
अडवीइ सत्थविब्भम-वोसिरणं सिज्झणा चेव १२८१।

अस्या व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदम्-" उज्जेणी नयरी, तत्थ धणवसू वाणियओ, सो चंपं जाउकामो उग्घोसणं कारेइ । जहा (गाद) धम्मो, एय अणुमवेइ धम्मघोसो नाम अणगारो, तेसु दूरं अडवीमइगएसु पुलिन्देहिं विलोलिओ सत्थो इओ तइओ नट्ठो, सो अणगारो अण्णेण लोपए मम अडवि पविट्ठो, ते मूलाणि आयनि

पाणिय च पिएंति, सो निमंतिजइ, नेच्छति, आहारजाए, एगत्थ मिलायले मत्तं पच्चक्खायं, अदीणस्स अहियासे-माणस्स केवलनाणं समुप्पन्नं सिद्धो, दढधम्मयाए योगा संगहिया, एसा दव्वाऽऽवती १, खेत्ताऽऽवती-खेत्ताणं अ-सतीए २, कालाऽऽवती-ओमोदरियादि ३।

भावाऽऽवतीए ४-उदाहरणगाहा—

महुराए जउणराया, जउणावंकेण दंडमणगारे।
वहणं च कालकरणं, सक्काऽऽगमणं च पव्वज्जा ॥१२८२॥

व्याख्या कथानकादवसेया, तच्चेदम्-" महुराए नगरीए जउणो राया, जउणावक्कं उज्जाणं अवरेण, तत्थ जउणाए कोप्परो दिण्णो, तत्थ दण्डो अणगारो आयावेइ नो रायाए णिंतेण दिट्ठो तेण रोसेण असिणा सीसं छिन्नं, अन्ने भ-णन्ति-फलेण आहवो, सव्वेहिं वि मणुस्सेहिं पत्थररासी-कओ कोवोदए पइ तस्स वेयणाउदए भावयनस्स आवती, कालगतो सिद्धो, देवागमणं महिमाकरणं सक्कागमणं पा-लएण विमाणेण तस्स वि य रण्णो अधिती जाया, वज्जेण भेसिओ सक्केण जइ पव्वयसि नो मुञ्चसि पव्वइओ थेराण अन्तिए अभिग्गहं गेण्हइ जइ भिक्खागओ सभरामि तो ण जेमेमि जइ दरजिमिओ ता सेसग विगिंचामि एव किर तेण भगवया एगमवि दिवसं नाऽऽहारियं तस्स दव्वा-ऽऽवती, दण्डस्स भावाऽऽवती ४ " आवईसु दढधम्मत त्ति गयं "। आव० ४ अ०। हलन्तत्वाट्टाप्-आपदाप्यत्र। वाच०।

आप (व) गा-आपगा-स्त्री०। आपेन-जलसमूहेन गच्छ-न्ति-वहन्ति-ड। नद्याम्, दश०।

बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं वियागरे ॥३७॥

बहुसमानि-तीर्थानि आपगाना-नदीना व्यागृणीयात् सा ध्वादिविषय इति। दश० ७ अ० २ उ०।

आवच्चिज्ज-अपत्य-पु०। सन्ताने, कल्प०। " एए ण सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा" एते सर्वे आर्यसु-धर्मण अनगारस्य अपत्यानि शिष्यसन्तानजा इत्यर्थः। कल्प० २ अधि० ८ क्षण।

आप (व) डण-आपतन-न०। आ-पत। भावे ल्युट्। आगमने प्राप्तौ, ज्ञाने (क्वचित्प्राकरणिकार्थादप्राकर-णिकस्यापतनम्) साहि०। दैववशात् पतने च। वाच०। प्रस्फोटने उ० ३ अधि० २४ श्लोकटी०। प्रस्खलने च। ओघ० ३१२ गाथाटी०। " आवडणं विसमखाणुकंटेसु "। (६१० ×)। विषमे वा स्थाणौ वा आपतन-प्रस्खलन भ-वति। बृ० १ उ० ३ प्रक०। आपतनं नाम-यद् भूमिमस-म्प्राप्तस्य संप्राप्तस्य वा जानुकूर्पराभ्यां प्रस्खलनम्। बृ० २ उ० १५१ गाथाटी०। " आवडणे लहुग " ॥ २११ + ॥ आ-वडणं-पक्खलणं त पुण भूमिअसपत्तो संपत्तो वा जाणु-कोप्परेहिं। नि० चू० १ उ०।

आप (व) डिय-आपतित-त्रि०। आ-पत्-क्त। हठादागते, दैवायत्तपतने च। वाच०। आस्फालिते च। " दोऽवि आवडिया कुड्डे " (४२ +)। आपतितौ-भित्तौ आस्फा-लितौ। उत्त० २५ अ०।

आप (व) ण-आपण-पु०। आपण्यन्ते-विक्रीयन्तेऽत्र आ-पण। आधारे घञ्। हट्टे, " पणियाऽऽवणविविह " (सूत्र-१ ×)। पणितानि-भाण्डानि तत्प्रधाना -आपणा - हट्टाः। औ०। भ०। आ० म०। कल्प०। प्रश्न०। द्वा०। विशे०। ज्ञा०। " आवणसिंघाडग " (सूत्र-१३४ +)। अनु०। द्वा०। वीथ्याम्, न०। " कोलच्चुण्णाइ आवणे " ॥ ७१ + ॥ दश० ५ अ० १ उ०। पण्यस्थाने, प्रश्न० ३ संव० द्वार २६ सूत्रटी०। क्रयविक्रयद्रव्यशालायां च। वाच०। " शकटाऽऽपणवेशाश्च, वणिजो वन्दिनस्तथा। नराश्च मृग-याशीला, शतशोऽथसहस्रश "। भा० व० प० अ० २३८। " भव्यमाल्याऽऽपणानाञ्च, ददृशु श्रियमुत्तमाम् " भा० स० प० ४ अ०। (आपण पण्यवीथिका) (आपणो विक्रय-स्थानम्) नेनैवोक्तम्। " पूर्णाऽऽपणा विपणिनो विपणीः विभेजु। माघ०।" वाच०।

आप(व)णगिह-आपणगृह-न०। आपणमध्यवर्तिगृहे, बृ०।

तथा च—

जं आवणमज्झम्मि, ज च गिहं आवणा य दुहओ वि।
तं होइ आवणगिह, रत्थामुहरत्थपासम्मि ॥ १७० ॥

यद् गृहमापणमध्ये समन्तादापणैः परिक्षिप्त तदापणगृहम्, यद्वा-मध्ये गृहम् 'दुहओ वि' त्ति—द्वाभ्यामपि च पार्श्वा-भ्यां यस्याऽऽपणो भवन्ति तदापणगृह भवति। बृ० १ उ० ३ प्रक०।

आप (व) णवीहि-आपणवीथि-स्त्री०। रथ्याविशेषे, आ० म० १ अ० १८३ गाथाटी०। द्वा०। रा०। जी०। हट्टमार्गे, दशा० १० अ०। जी०। ज्ञा०। " संमट्ठरत्थतराऽऽवणवी-हिय "। आपणवीथयश्च हट्टमार्गाः। कल्प० १ अधि० ५ क्षण।

आप (व) ण्ण-आपन्न-त्रि०। आ-पद क्त। आपद्ग्रस्ते, " आपन्न ससृतिं घोरा यन्नाम विवशो गृणन्। नत सद्यो विमुच्येत यद् बिभेति स्वय भयम् "। भाग०। " आप-न्नाभयसत्रेषु दीक्षिता खलु पौरवा "। शकु०। " आ-त्मापराधापन्न-स्तत् किं भीमं जिघांससि " भा० स्त्री० प० १३ अ०। वाच०। आश्रित, " इम दरिसणमावण्णा सव्वदुक्खा विमुच्चइ " ॥ १६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। अनु०। उत्पन्ने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ३६-३७ सूत्रटी०। प्राप्त " जो जाहे आवन्नो " (१२४७)। आव० ४ अ०। आवण्णो प्राप्त उच्यते। नि० चू० १ उ० २५६ गाथाटी०। " आवण्णा दीहमद्धाणं, ससारम्मि अणतए " (१३ ×)। आपन्ना -प्राप्ता। उत्त० ६ अ०। व्यासे, नि०।

आप(व)ण्णपरिहार-आपन्नपरिहार-पुं०। भावपरिहारभेदे, नि० चू०।

(भाष्यम्)—

मासादी आवण्णे, तेण उ पगय न अन्नेहिं ॥ २३ ॥

आवन्नपरिहारो पुण जो मासियं वा जाव छम्मासियं

वा पायच्छित्तं आवण्णो। नि० चू० २० उ०। यत् मासिकं यावत् षाण्मासिकं वा प्रायश्चित्तमापन्नं तत आपन्ने अपरिभोगेऽपि वर्त्तते, परिह्रियते इति परिहारः, कर्म्मणि घञ्, आपन्नमेव परिहारः आपन्नपरिहार इति व्युत्पत्तेः, तथाचाह—'मासादी आवन्ने' इति-मासादिक यत् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नं तत् आपन्ने—आपन्नपरिहारे द्रष्टव्यः मासादिक यत् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नं तत् आपन्न परिहार इति भाव। अथ वा-परिहरणं परिहार इति भावे घञ्, आपन्नेन-प्रायश्चित्तस्थानेन परिहारो वर्जनं साधोरिति गम्यते। आपन्नपरिहार। तथा हि-स प्रायश्चित्ती अविशुद्धत्वात् विशुद्धचरणैः साधुभिर्यावत्प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या न शुद्धो भवति तावत् परिह्रियते, इह तेन आपन्नपरिहारेण प्रकृतमधिकारो; न शेषै. परिहारै.। व्य० १ उ० २६ गाथाटी०।

आप (व) ण्णसत्ता–आपन्नसत्त्वा–स्त्री०। आपन्न.-उत्पन्नः सत्त्वो-जीवो गर्भे यस्याः सा। ज्ञा० १ श्रु०२ अ० ३७ सूत्रटी०। गर्भिण्यां स्त्रियाम्, "सममापन्नसत्त्वा...रेजुरापाण्डुरत्विषः"। रघु०। वाच०।

आप (व) त्ति–आपत्ति–स्त्री०। आ-पद्-क्तिन्। आपदि, आपच्च-रोगाद्यभिभूतावस्था सम्यग् वर्तनोपायानुपलम्भश्च। वाच०। आपादने, व्य०। आपत्तिः-प्रायश्चित्तस्याऽऽपादनम्। व्य० १ उ० १ प्रक० १६७ गाथाटी०। प्रासौ, "संवेगात् समरसापत्त्या। ८×।" आपत्तिश्च प्राप्तिः। षो० ६ विव० ८ श्लोकटी०।

जं जं न भणियमिहयं, तस्सावत्तीए दाणसंखेवं।
भिन्नाइया य वुच्छं, छम्मासं ताय जीएणं॥ ६०॥

'जं जमित्याइ'। इह जीयववहारे जं जं पच्छित्तं न भणियं अवराहमुद्दिसिऊण तस्सावि आवत्तिविसेसेण दाणसंखेवं भणामि। आवत्ती-पायच्छित्तट्ठाणसंपत्ती। सा य-निसीह-कप्प-ववहाराभिहिया। सुत्तओ, अत्थओ य। आणाअणवत्थमिच्छत्तविराहणा सवित्थरा। तवसो यन्नो य तवो पणगादी छम्मासपज्जवसाणो अणेगाऽऽवत्तिदाणविरयणालक्खणो तेसु सव्वेसु गयेसु। इह पुण जीयववहारे संखेवेण आवत्तीदाणं निरूविज्जइ॥ ६०॥

भिन्नो अविसिट्ठो च्चिय,मासो चउरो य छच्च लहु गुरुया।
निव्वियगाई अट्ठम-भत्तऽन्तं दाणमेएसिं॥ ६१॥

'भिन्नो अविसिट्ठ' इच्चाइ। 'भिन्न' इति-ससमयसन्ना, पंचवीस २० दिवसा भिन्नसद्देण घेप्पन्ति। सो य अविसिट्ठो एक्को चेव। अविसिट्ठगहणाओ य सव्वपणगाई भेया घेप्पन्ति। पणगं-लहुगं, गुरुगं च; दसगं-लहुगं गुरुगं च; पन्नरसगं-लहुगं, गुरुगं च, वीसगं-लहुगं, गुरुगं च; पंचवीसगं-लहुगं, गुरुगं च। एवं भिन्नमासो बहुभेओ वि एक्को चेव घेप्पइ। एसो य सुयववहारो जेसु जेसु अवराहेसु भणिओ तेसु तेसु चेव अवराहेसु जीएण सव्वत्थ निव्वियगई। भिन्नो अविसिट्ठो च्चिय एव वक्खाणियं। इयाणिं 'मासो' त्ति-सो य लहुमासो, गुरुमासो य। एत्थ य लहुमासे पुरिमड्ढं। गुरुमासे एक्कासणयं। चउरो य छच्च मासा सम्बज्झन्ति। तत्थ लहुचउमासे आयामं। चउगुरुमासे चउत्थं। छल्लहुमासे छट्ठं। छगुरुमासे अट्ठमं। एव सुत्तनिद्दिट्ठाऽऽवत्तिं जहावराहं जाणिऊण जीएण निव्वियाइ-अट्ठमभत्तन्तं तव देज्जा।

इय सव्वाऽऽवत्तीओ, तवसो नाउं जह-क्कमं समए।
जीएण देज्ज निव्वी-इगाइ दाणं जहाऽभिहियं॥ ६२॥

'इय सव्वाऽऽवत्तीओ' इच्चाइ। 'इय' एवं-एएण पगारेण 'सव्वाऽऽवत्तीओ' सव्वतवट्ठाणाई। 'जहक्कमं'-पायच्छित्ताणुलोमेण। समए-सिद्धंते। 'जीएण देज्जा'। निव्वियगाइय दाणं जहं जहं भणियं तहा तहा 'देज्ज' त्ति-भणियं होइ। (इति चूर्णिः)। जीत०। इह-जीतव्यवहारे अपराधमुद्दिश्य यत्प्रायश्चित्तेन भणितं तस्याऽप्यापत्तिविशेषेण दानसंक्षेप वक्ष्ये आपत्तिश्च-अमुकातिचारेऽमुकस्य तपसः प्राप्तिरिति, सा च निशीथ-कल्प-व्यवहारादिषु विस्तरेणाभिहिता। जीत०। व्याप्तौ, भ० १ श० ६ उ० ५० सूत्रटी०। उद्भूतौ, विशे० ६१ गाथाटी०। अनिष्टप्रसङ्गे च। स च व्याप्यस्याहार्य्यारोपात् व्यापकस्याहार्य्यारोपः यदि निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादित्येवं रूप। वाच०।

आप (व) त्तिसुत्त–आपत्तिसूत्र–न०। शिष्यगतप्रतिसेवनाद्वारेणाऽऽपन्नप्रायश्चित्ताभिधायिनि सूत्रे, नि० चू०। प्रतिसेवनायां सत्यां प्रायश्चित्तापत्तिः स्यात् इत्यापत्तिसूत्राण्युच्यन्ते-जे भिक्खू बहुसो मासियं पडिसेवित्ता आलोइज्जा (१) बहुसो वि, बहुसो, वि बहुसो पंच पडिसेवित्ता आलोइज्जा (२) इति प्रत्येकबहुससूत्रम्, जे भिक्खू मासियं वा दो मासियं, तेमासियं, च (३) इत्यादि सकलसंयोगसूत्रम्, जे भिक्खू बहुसो मासियं बहुसो दो मासियं बहुसो तेमासियम् (४) इत्यादि बहुसंयोगसूत्रम्, एतत्सूत्रचतुष्टयमेतावता ग्रन्थेन सूत्रोपात्त व्याख्यानम्। नि०चू० २० उ०। आवत्तीए अहिगो दिज्जति, नि० चू० २० उ० ५ सूत्र-व्याख्याने।

(संपूर्णसूत्रपाठस्त्वेवम्)—

जे भिक्खू बहुसोमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं॥ ६॥ जे भिक्खू बहुसोवि दोमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासिअं पलिउंचिअं आलोएमाणस्स तिमासियं॥ ७॥ जे भिक्खू बहुसो तिमासिअं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिअं आलोएमाणस्स तिमासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं॥ ८॥ जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं॥ ९॥ जे भिक्खू बहुसोवि पंचमासियं परिहारट्ठाणं परिसेवित्ता आलो-

एज्जा अपलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं पलि-उंचिअं आलोएमाणस्स छम्मासिय तेण परं पलिउंचियं वा अपलिउंचियं वा आलोएमाणस्स ते चेव छम्मासा ॥ १० ॥ नि० चू० २० उ० ।

निसीहस्स पच्छिमे उद्देसगे तिविहमेदा सुत्ता, सव्वे तीस सुत्ता, तत्थ आवत्तिसुत्ता जे दस तेसिं चउरो सुत्तेणेव भणिता, इमे अत्थतो छ आणियव्वा, त जहा-सातिरेगसुत्तं १, बहुससातिरेगसुत्त २, सातिरेगसजोगसुत्तं ३, बहु-ससातिरेगसजोगसुत्त ४, एवमं सगलस्स सातिरेगस्स य संजोगसुत्तं ५, दसम बहुसस्स बहुसलाइरेगस्स सजोगे सुत्तं ६, एव एतेसु दससु आवत्तिसुत्तेसु सगिएसु एते णेव विहिणा दस आलोयणासुत्ता भाणियव्वा । नि० चू० २० उ० ।

'इमे अत्थत' त्ति-अर्थो-व्याख्यानं-भाष्यादिकं तस्मात् षट् बोद्धव्यानि, " तं जहे " इत्यादि, " जे भिक्खू मासाइरेग-दोमासियमि " (१) इत्यादि, सातिरेकसंयोगसूत्रम्-" जे भिक्खू बहुसोसातिरेगमासिय, बहुसोसाइरेगदोमासियं (२) च " इत्यादि । बहुससातिरेकसंयोगसूत्रम्, " जे भिक्खू मासियं सातिरेकमासिय (३) " । " जे भिक्खू दुमासियं सातिरेकदुमासिय वे (४) " इत्यादि, सकलस्य सातिरेकस्य च संयोगसूत्रम्, " जे भिक्खू बहुसो मासियं बहुसो सातिरेकमासियं च " (५) । " जे भिक्खू बहुसो दुमासिय, बहुसो सातिरेकदुमासियं चे " (६) इत्यादि । बहुससातिरेगस्स य सजोगसुत्तं इत्येवमापत्ति-सूत्राणि दश कथितानि । नि० चू० २० उ० ।

आप (व) ण-आपद्-त्रि० । आपद ददातीत्यापद् । रो-गादिके, पुरुपादिके च । आतु० ।

आप (प्पि) लव-आप्लव-पुं० । आ-प्लु-घञ्-भावे । पत्ते-अप् । स्वाने, जलानां सर्व्वतः समुच्छलने, ल्युट्-आप्लवनं तत्रैव । न० । वाच० । लात् ॥ ८ । २ । १०६ ॥ इति हैम-प्राकृतसूत्रेण लकारात् पूर्वं इकार. । प्रा० ।

आप (य) सरीरअणवकंखवत्तिया-आत्मशरीरानवका-ङ्क्षाप्रत्यया-स्त्री० । अनवकाङ्क्षाप्रत्ययक्रियाभेदे, स्था० । त-त्रात्मशरीरानवकाङ्क्षाप्रत्यया सा स्वशरीरक्षतिकारिक-र्माणि कुर्वतः क्रिया भवति । स्था० २ ठा० १ उ० ६० सूत्रटी० ।

आपहल्लिय-आघूर्णित-त्रि० । ' आघुम्मिय ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

आपा (वा) ग (य)-आपाक-पुं० । समन्तात्परिवेष्ट्य पच्यतेऽत्र आ-पच् । आधारे घञ् । कुम्भकारस्य मृण्मय-पात्रपचनस्थाने, वाच० । तथा च-" कुम्भकाराऽऽवाएइ वा कवेल्लुयाऽऽवाएइ वा इट्टाऽऽवाएइ वा " (सूत्र-५६७+) । कुम्भकारस्यापाको-भाण्डपचनस्थानम्, कवेल्लुकानि प्र-तीतानि तेषामापाक. प्रतीत एव । स्था० ८ ठा० ३ उ० । भावे घञ् । ईषत्पाके, सम्यक् पाके, पुटपाके च । वाच० ।

आवाड-आवाड-पुं० । स्वनामख्याते चिलातजातौ, " उ-त्तरड्ढभरहे वासे बहवे आवाडा णाम चिलाता परिवसंति त्ति " । आ० चू० १ अ० । *

आपा (वा) य-आपात-पुं० । हठात्-अविवेकात् कारणा-न्तरसाचिव्याभावेऽपि आगत्य पात. । अनर्कितागमने, " गरुडापातविश्लिष्ट-मेघनादास्त्रबन्धन. " रघु० " तत्रा-पातभयात् पथि " कुमा० । आपतत्यत्राधारे घञ् । उपक्रमे, " आपातरम्या विषया: पर्य्यन्तपरितापिनः " किरा० " आपातरम्या.-तत्कालरमणीया " मल्लि० । उपक्रमे च " मध्वापात इति मनुः । मध्वापातो मधुरोपक्रमः " कुल्लू० । वाच० । " आपातभद्दते " (सूत्र-२५५ ×) । आपतनमापात. । प्रथममीलके, । स्था० ४ ठा० १ उ० । तत्प्रथमतया ससर्गे, भ० ।

तस्स भोयणस्स आवाए भद्दए भवइ तओ पच्छा परि-णममाणे परिणममाणे दुरूवत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा मह-स्सवए ०जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ । (सूत्र-३०६+)

आपातः-तत्प्रथमतया संसर्गे । भ० ७ श० १० उ० । अभिमुख्येन समवाये, " आवाए सव्वदव्वाणं " ॥२६३४॥ सर्वेषामपि जीवादिद्रव्याणामापाते-अभिमुख्येन समवाये निष्पद्यते इति शेषः । विशे० । अभ्यागमे, " अणावाय-मसंलोए " (२६६ ×) । न आपातः-अभ्यागम., स्व-पक्षपरपक्षयोर्यस्मिन् स्थण्डिले तदनापातः । ओघ० । वृ० । " तत्थाऽऽवायं दुविह " (२६७+) । तत्र-आपातं-स्थण्डिलं द्विविधम्-द्विप्रकारम् । ओघ० । वृ० । (अस्य बहुभेदा 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते) " अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा " (सूत्र-२६+) । अनापाते-विजने, असंलोके च सन्तिष्ठेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० । प्राप्तौ, आपातः-विषयप्राप्ति. । आ० चू० १ अ० ।

आपाद-पुं० । आ-पद-घञ् । फललाभे, आगतौ च । पाद-पर्य्यन्तम् । अव्य० । पादपर्यन्ते, अव्य० । वाच० ।

आपा (वा) यभद्दय-आपातभद्रक-पुं० । आपातनमापात.-प्रथममीलकस्तत्र भद्रको-भद्रकारी दर्शनाऽऽलापादिना सु-खकरत्वादापातभद्रक । प्रथमसमीलके दर्शनाऽऽलापादिना सुखकरे, स्था० । " आवायभद्दए णाममेगे, णो सवासभद्दए (सूत्र-२५५×) । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

आपायावच्च-आप्राजापत्य-न० । अहोरात्रभवे एकोनविंश-तितमे स्वनामख्याते मुहूर्त्ते, कल्प० १ अधि० ६ क्षण ।

आपुच्छणा-आप्रच्छना-स्त्री० । आपृच्छायाः करणमाप्र-च्छना । पञ्चा० १२ विव० २६ गाथाटी० । प्रश्नकरणे, पञ्चा० १२ विव० २ गाथाटी० । भ० । " आपुच्छणा उवाइयं दोहला " (सूत्र-२६+) ' आपुच्छण ' त्ति-भर्त्तुरापृच्छा-" इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया " इत्यादिका । विपा० ८ अ० । आ-मर्यादया तथाविधविनयलक्षणया, अभिविधिना वा सर्वप्रयोजनाभिव्याप्तिलक्षणेन प्रच्छनं गुरोः प्रश्नकरणमा प्रच्छना । पञ्चा० १२ विव० २ गाथाटी० । सामाचारीभेदे, प्रव० १०१ द्वार ७६८ गाथाटी० । सा च कर्तुमभीष्टे कार्ये प्र-वर्तमानेन गुरौ कार्य्या-भगवन् ! अहमिदं करोमीति । प्रव०

१०१ द्वार ७७२ गाथाटी०। आ० चू०। जीत०। ग०। अनु०। "आपृच्छा" ध० ३ अधि०। अयं भाव:-यत्कार्यं साक्षादाप्रष्टुं शक्यते विशेषप्रयोजनं च तत्र साक्षादापृच्छा, यत्तु मुहुर्मुहुः सम्भावितया प्रष्टुमशक्यं तत्रापि बहुवेलसंदेशनेनापृच्छाऽऽवश्यकीति। ध० ३ अधि०। "आपुच्छणा य तइया"। (२४)। तृतीया आपृच्छना यतो हि श्वासोच्छ्वासादिकं त्यक्त्वा अपरं सर्वं कार्यं गुरोः पृच्छां विना न कार्यम् तस्मादेषा आप्रच्छना। उत्त० २६ अ०। "आपुच्छणा सयकरणे" (५+)। स्वयम् आत्मना कार्याणां करणे गुरोः आप्रच्छना कर्त्तव्या, न च गुरौ सति स्वबुद्ध्यैव गुरुम् अनापृच्छ्य कार्यं कर्त्तव्यमिति भाव। उत्त० २६ अ०। आङिति-सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना, प्रच्छना-इदमहं कुर्यां न वे त्येवरूपा तां स्वयमित्यात्मनः करणं कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निवर्तनं स्वयकरणम्। तस्मिन्, उत्त० पाई० २६ अ०। उच्छ्वासनिःश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वसबन्धिषु गुरवः पृष्टव्या, अतः सर्वविषयमपि प्रथमतः प्रच्छनमापृच्छेत्युच्यते, तथा च निर्युक्तिकृता सामान्येनैवाभिहितम्-"आपुच्छणा उ कज्जे" ति। उत्त० २६ अ०। आ० म०।

तथा च—

आउच्छणा उ कज्जे, गुरुणो गुरुसम्मयस्स वा णियमा।
एवं खु तयं सेयं, जायति सति णिज्जराहेऊ ॥ २६ ॥

व्याख्या-आपृच्छाया करणम् आपृच्छना, तुशब्दः पुनरर्थे, ततः आपृच्छना पुनः कार्ये-ज्ञानादिसाधने प्रयोजने सति कार्येति शेषः, कस्येत्याह-गुरोः रत्नाधिकस्य तत्संमतस्य वा गुरुबहुमतस्य वा स्थविरादेः वाशब्दो विकल्पार्थो, नियमात्-अवश्यभावेन, अथ कस्मादेषा विधेयेत्याह-एव 'खु' एवमेव; गुर्वाद्यापृच्छापूर्वकमित्यर्थः, तत्कार्यं श्रेयोऽतिशयेन प्रशस्यं जायते-भवति सकृत्सदा निर्जराहेतुकर्मक्षयकारणमिति कृत्वेति गाथार्थः।

अथ कथमापृच्छाविषयभूतं कार्यं श्रेयः स्यादित्यत आह-

सो विहिना या तस्सा-हणम्मि तज्जाणा सुणायंति।
सन्नाणा पडिवत्ती, सुहभावो मगलं तत्थ ॥ २७ ॥

व्याख्या 'सो' त्ति-य-आपृच्छ्यते स गुरुः गुर्वनुमतो वा, विधिज्ञाता चिकीर्षितकार्यस्य वस्त्रधावनादेर्विधानस्य वेदिता भवति, गीतार्थत्वात्, ततश्च तत्साधने अहमिदं कार्यं करोमीत्यवविधिज्ञात्गुरुनिवेदने, अथ वा-विधिप्रतिपादने सति स हि पृच्छ्यमानो विधिज्ञत्वाच्चिकीर्षितकार्यविधिं साधयति, यथा-"अच्छोडपिट्टणासु य न धुवे धोए पयावणं न करे" इत्यादि 'तज्जाण' त्ति-विधिज्ञानं पृच्छकस्य भवति, ततश्च—'सुनाय' ति-"अहो गुरुणा जिनेन वा सुष्ठु ज्ञातं सकलसत्त्वानुपघातकत्वेन मुमुक्षोर्मोक्षप्रापकत्वेन निपुणमिदं दृष्टं, नैव दर्शनान्तरीयैरिति" एवं विधात् सज्ज्ञानात्-स्वगतसद्बोधात् सकाशात् प्रतिपत्तिर्गुरुरेव जिन एवाप्त इत्येवंभूता रुचिर्भवति, सा च शुभभाव-प्रशस्ताध्यवसायो वर्त्तते, स च मङ्गल—विघ्नविघातकं वस्तु तत्र कार्ये प्रवर्तमानस्येति-शेषः। अथ वा-स गुरुः विधिज्ञाता-उपायज्ञः तत्साधने-चि कीर्षितकार्यनिष्पादने ततश्च तज्ज्ञानात् गुरोः सकाशात् यत् ज्ञानं तस्मात् सुज्ञानं कार्यं भवति सुज्ञानाच्च प्रतिपत्तिः-सम्यक् क्रियाभ्युपगमः सा च शुभो भाव शेषं तथैव इति गाथार्थः। पञ्चा० १२ विव०।

आपुच्छा-आपृच्छा-स्त्री०। आ-पृच्छ-अङ्। आलापे, जिज्ञासायाम्, आभाषणे-गतागतकाले, शुभे, प्रश्ने, आनन्दने च। वाच०। "आपुच्छणा य कज्जे" (६६७×) आपृच्छनमापृच्छा। समाचारीभेदे, सा च कर्त्तुमभीष्टे कार्ये प्रवर्तमानेन गुरोः कार्या-अहमिदं करोमीति। आ० म०१ अ०। (एतद्बहुवक्तव्यता 'आपुच्छणा' शब्देऽनुपदमेव गता)।

आपुच्छणिज्ज-आप्रच्छनीय-त्रि०। पृष्टव्ये, भ० १८ श० २ उ० ६१७ सूत्र। सकृत्पृष्टव्ये, "आपुच्छणिज्जे" (सूत्र-७×) आप्रच्छनीयः-सकृद् पृष्टव्यः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

आपुच्छित्ता-आपृच्छ्य-अव्य०। आ-पृच्छ ल्यप्। जिज्ञासित्वेत्यर्थे, वाच०। 'आपुच्छित्ता ण ठाति सट्ठाणे"(४४६+)। आपृच्छ्य-प्रश्नार्हत्वाद्; गुरुमिति गम्यते इति। पं० व० २ द्वार।

आपूविय-आपूपिक-त्रि०। कर्मजबुद्धेर्दशमे उदाहरणभेदे अपूपकर्त्तरि, स चामित्याप्यपूपानां दलस्य मानं जानाति "पूयइ" १० (सूत्र-६८×) न०।

आपूरिय-आपूरित-न०। आ-पूर-क्त-यस्यापूरणं कृतम्। तस्मिन्, "पहयदेवदुदुहिनिनायाऽऽपूरियदिसामंडलं" ति आ० म० १ अ० ३४३ गाथाटी०। अभिव्याप्ते च। वाच०। "आपूरियं" (२५१+)। 'आपूरियं' ति-आपूरित-सव्याप्तं भूतं वासितमित्यर्थः। विशे०।

आपूरिमाण-आपूरयत्-त्रि०। आपूरणं कुर्वति, "सद्देण तप्पएसे सव्वओ समता आपूरेमाणे" (सूत्र ×)। शब्देन तान् प्रत्यासन्नान् सर्वतो-दिक्षु, समन्ततो-विदिक्षु आपूरयति शत्रन्तस्य सावित् रूपम्। रा०। जी०।

आपूर्य्यमाण-त्रि०। आ-पूर-कर्मणि शानच्। सम्यक् पूर्य्यमाणे, वाच०। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ११ सूत्रटी०। समन्तात्प्रसृते, "आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्" गीता०। आधारे शानच्। सूर्य्यकिरणैः पूर्य्यमाणचन्द्रस्याधारे पक्षे, वाच०।

आफोडिय-आस्फोटित-त्रि०। करास्फोटे, प्रश्न०। "आफोडियसीहनाया" (सूत्र-११×)। आस्फोटित-करास्फोटरूपम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

आबबहुल-आपबहुल-न०। रत्नप्रभायाः पृथिव्या अप्बहुले काण्डे. स०।

इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए आप(ब)बहुले कण्डे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते, गोयमा! असीतिजोयणसहस्साइ बाहल्लेणं पण्णत्ते। (सूत्र-७२)। जी० ३ प्रति० १ उ०।

आबाह-आबाध-न०। आ-बाध-भावे अ। पीडायाम्, तापत्रये क्लेशे च। वाच०। मानसपीडायाम्, "आबाहे च

भये वा" (४६६४)। आबाध नाम-मानसी पीडा । बृ० १ उ० ३ प्रक० । स्त्रीत्वे टाप् । तत्र मनःशरीराऽऽबाधकराणि शल्यानि । सुश्रु० । नास्ति बाधा यस्य । पीडाशून्ये, त्रि० । वाच० ।

आभंकर-आभङ्कर-पुं० । स्वनामख्याते महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० ७ गाथा १०७ सूत्र । कल्प० । चं० प्र० ।

दो आभंकरा । (सूत्र-६० +)

स्था० २ ठा० ३ उ० । स्वनामख्याते विमानभेदे च । स० ३ सम० ३ सूत्र ।

आभरण-आभरण-न० । आ-भृ कर्मणि ल्युट् । भूषणे, स्था० ८ ठा० ३ उ० । सू० प्र० । आ० म० । औ० । ' ललियकयाऽऽभरणे ' (सूत्र- +) । ललितानि-शोभमानानि कृतानि न्यस्तान्याभरणानि-सारभूषणानि यस्य स तथा । तं० । " आभरणभूसणविराइयमंगुवंग " (सूत्र +) । आभरणानि-अङ्गपारधेयानि ग्रैवेयककङ्कणादीनि । कल्प० १ अधि० २ क्षण । " आभरणेहिं विभूसिओ " ॥ ६ ॥ आभरणैः —कुण्डलमुकुटहारादिभिः । उत्त० २२ अ० । " धेणूणाऽऽभरणाइं " (७२ +) । आभरणानि-वस्त्राणि । व्य० ५ उ० । "पाण्डवाना सभामध्ये, दुर्योधन उपागत । तस्मै गाश्च हिरण्य च, सर्वाण्याभरणानि च" । १ । वाच० । आभरणप्रधाने च । " आभरणाणि वा " (सूत्र० १४५ +) । आभरणानि-आभरणप्रधानानि । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० । भावे ल्युट् । सम्यक् पोषणे च । वाच० ।

आभरणचित्त-आभरणचित्र-त्रि० । आभरणैश्चित्राणि—विचित्राण्याभरणचित्राणि । आभरणैर्विचित्रे, जी० ३ प्रति० २ उ० १४७ सूत्र ।

आभरणजहट्ठाणविविहपरिहाण--आभरणयथास्थानविविधपरिधान-न० । आभरणाना यथास्थानं विविधरूपेण परिधानलक्षणे द्वाषष्टितमे कलाभेदे, कल्प० १ अ० ७ क्षण २११ सूत्र ।

आभरणप्पिय-आभरणप्रिय-पुं० । पुरुषभेदे, बृ० ।

आभरणपिए जाणसु,अलंकरिंते उ केसमादीणि ।४२५४।

केशादीनि माल्यादिभिरलङ्कारैरलङ्कुर्वतः पुरुषान् आभरणप्रियान् जानीहि । बृ० १ उ० ३ प्रक० ।

आभरणविचित्त-आभरणविचित्र-त्रि० । आभरणविभूषिते, आचा० । "आभरणविचित्ताणि वा" (सूत्र-१४५×) । आभरणविचित्राणि-गिरिविडकादिविभूषितानि । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ० ।

आभरणविहि आभरणविधि-पुं० । आभरण—कटकादि तस्य विधि -भेदा आभरणविधि । आभरणप्रकारेषु, बृ० १ उ० ३ प्रक० ३२६ गाथा । कलाभेदे, नि० चू० ६ उ० ६४ गाथा । स० । ज्ञा० । ज० । " आभरणविहिपरिमाण करेइ " उपा० १ अ० । (सूत्रम्-' आणंद ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे गतम्)

आभरणविभूसिय-आभरणविभूषित-त्रि० । आभरणालङ्कृते, " आभरणविभूसियाणि वा " (सूत्र-१४५ +) । आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

आभव-आभव-अव्य० । आजन्मेत्यर्थे, आसंसारमित्यर्थे, च । " तव्वयणसेवणा आभवमखंडा " ॥ ३४ ॥ तद्वचनसेवना—गुरुवचनसेवा, आभवम्-आसंसारम् । पञ्चा० ४ विव० । आभवमखण्डा-आजन्म, आसंसारं वा सम्पूर्णा । ल० । " विसुज्झमाणे आभवं भावकिरियमाराहेइ " (सूत्र-४ ×) । आभवम्-आजन्म, आसंसार वा भावक्रियं निर्वाणसाधकमाराधयति । पं० सू० ।

आभवंताहिगार-आभवदधिकार-पुं० । व्यवहारभेदे, पं० भा० । " ववहारो होइ दुविहो, पच्छित्ते आभवंते य " पं० भा० १ कल्प । व्यवहर्तव्यभेदे च । व्य० । " आभवंते य पच्छित्ते, ववहारेयव्व समासतो दुविहे " ॥ ५६ + ॥ व्य० १० उ० । (आभवद्व्यवहार क्षेत्रविषय 'उवसंपया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) आभवद्व्यवहाराधिकारे, व्य० ।

आभवंताऽहिगारे उ, वट्टंते तप्पसंगया ।
आभवंता इमे अन्ने, सुहसीलादि आहिआ ॥ ४३७ ॥

आभवदधिकारे वर्तमाने तत्प्रसङ्गाद्-आभवदधिकारप्रसङ्गादिमे-वक्ष्यमाणा अन्ये आभवन्तः—सुखशीलादयस्तु सुखशीलादिप्रयुक्ता आख्याता । व्य० ४ उ० ।

आभव्व-आभाव्य-त्रि० । समंताद्भवितुं योग्ये, व्य० । एते ते-अनन्तरोदिता चिन्ह विमार्गयन्तः सन्तः अभिधारयन्तं यान्ति-अभिधारयत आभाव्या भवन्ति, शेषेषु पुनरनभिधारयत्सु आचार्य -श्रुतगुरुस्वामी भवति । शेषा अनभिधारयन्त श्रुतगुरोराभाव्या भवन्ति इत्यर्थ । उक्त च- " जइ ते अभिधारंती, पडिच्छगे पडिच्छगस्सेव । अह नो अभिधारंती, सुयगुरुणो ते उ आभव्वा " ॥ १ ॥ व्य० ४ उ० । (अस्य बहुवक्तव्यता ' चरियापविट्ठ ' शब्दे तृतीयभागे ११६५ पृष्ठे वक्ष्यते)

आभा-आभा-स्त्री० । आ-भा-अङ् । प्रभायाम् , प्रश्न० ४ आश्र० द्वार १५ सूत्रटी० । दीप्तौ, वाच० । छायायाम् , जी० ३ प्रति० १ उ० २१४-सूत्र । शोभायाम् , कान्तौ, उपमाने, वाच० ।

आभास-आभास-पुं० । आभासते आ-भास अच् । उपाधितुल्यतया भासमाने प्रतिबिम्बे, दुष्टहेत्वादौ, वाच० । " प्रमाणस्य स्वरूपादि चतुष्टयाद्विपरीत तदाभासम् " इति ॥२३॥(रत्ना०) तद्वदाभासते इति । रत्ना० ६ परि० (अस्यसूत्रस्यार्थं 'पमाणाभास' शब्दे पञ्चमभागे विस्तरतो वक्ष्यते) (हेत्वाभासाश्च पञ्चधा) भाषा० " सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासा " गौतमसूत्र० । पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षत्वोपपन्नो हेतुर्गमक स इवाभासत इति हेत्वाभासस्तेन तद्भिन्नत्वे सति तद्धर्मवत्त्वम् पञ्चरूपोपपन्नत्वाभावे सति तद्रूपेणाभासमानत्व हेत्वाभासत्वमिति फलितार्थं " हेत्वाभासाश्च यथोक्ता " गौ० सूत्र० । एव प्रमाणाभासो युक्त्याभास आगमाभास इत्यादावपि प्रामाण्याद्यभाववत्वे सति प्रमाणादिरूपेणाभासमानत्वमर्थः । "एव बहवो विप्रतिपन्ना

युक्तिवाक्यतदाभाससमाश्रयाः सन्तः" ॥ शा० भा० ॥ तथा, च यद्वाचकपदोत्तरमाभासशब्दः प्रयुज्यते तस्य दुष्टत्वं तेन गम्यते । रसाऽऽभासादावपि तिर्यग्योन्यादिगतत्वेन परनायकगतत्वेन च दुष्टत्वाद्रसाऽऽभासत्वम् । पुनरुक्तवदाभासादौ च न दुष्टत्वम्, किन्तु-पुनरुक्तभिन्नत्वेनाऽऽभासमानत्वात् वस्तुतोऽपुनरुक्तत्वमेव गम्यते इत्येव तत्र विशेषः । " रस्यत इति रस इति व्युत्पत्तिदर्शनात् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते" ॥ सा० द० ॥ तत्र रसाऽऽभासः " मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे " इत्यादि । " अत्र हि सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाऽऽभासत्वम् " । सा० द० । " आपाततो यदर्थस्य पुनरुक्तावभासनम् । पुनरुक्तवदाभासः " ॥ सा० द० ॥ भावे घञ् । ३ तुल्यप्रकाशे, आभास्यतेऽनेन आ-भास-णिच् करणे अच् । ग्रन्थावतारणार्थं ग्रन्थाभिप्रायवर्णने व्याख्यानांशभेदे च । वाच० । (प्रत्यक्षाऽऽभासं ' पच्चक्खाऽऽभास ' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते) (प्रत्यभिज्ञाऽऽभासम् 'पच्चभिण्णाऽऽभास' शब्दे पञ्चमभागे दर्शयिष्यामि) (तर्काभासम् 'तक्काऽऽभास' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यामि) (पक्षाऽऽभासम् 'पक्खाऽऽभास' शब्दे पञ्चमभागे निरूपयिष्यामि । अस्य बहवः प्रकारास्तान् तत्रैव दर्शयिष्यामि) (हेत्वाऽऽभासस्वरूपं तद्भेदाश्च 'हेउआभास' शब्दे सप्तमे भागे द्रष्टव्याः) (दृष्टान्ताऽऽभासाः 'दिट्ठन्ताऽऽभास' शब्दे चतुर्थे भागे विस्तरतो विलोकनीयाः) (उपनयाऽऽभासस्वरूपम् ' उवणयाऽऽभास ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे द्रष्टव्यम्) (निगमनाऽऽभासः 'णिगमण' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यमाणः) (आगमाऽऽभासः 'आगमाऽऽ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे दर्शितः)

संप्रति संख्याऽऽभासमाख्यान्ति—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादिसंख्यानं तस्य संख्याऽऽभासमिति ॥ ८५ ॥

प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद्धि प्रमाणस्य द्वैविध्यमुक्तम्; तद्विपरीत्येन प्रत्यक्षमेव, प्रत्यक्षानुमाने एव, प्रत्यक्षानुमानागमा एव प्रमाणमित्यादिकं चार्वाकवैशेषिकसौगतसांख्यादितीर्थान्तरीयाणां सङ्ख्यानं, तस्य प्रमाणस्य सङ्ख्याऽऽभासम् । प्रमाणसङ्ख्याभ्युपगमश्च परेषामितोऽवसेयः—

"चार्वाकोऽध्यक्षमेकं सुगतकणभुजौ सानुमानं सशाब्दं, तद्द्वैतं पारमर्षः सहितमुपमया तत् त्रयं चाऽक्षपादः । अर्थाऽऽपत्त्या प्रभाकृद्वदति च निखिलं मन्यते भट्ट एतत्, साभावं द्वे प्रमाणे जिनपतिसमये स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥१॥ "

अथ विषयाऽऽभासं प्रकाशयन्ति—

सामान्यमेव, विशेष एव, तद् द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादिस्तस्य विषयाऽऽभासः इति ॥ ८६ ॥

सामान्यमात्रं सत्ताद्वैतवादिनो, विशेषमात्रं सौगतस्य, तदुभयं च स्वतन्त्रं नैयायिकादेरित्यादिरेकान्तस्तस्य प्रमाणस्य विषयाऽऽभासः । आदिशब्दान्नित्यमेवाऽनित्यमेव तदुभयं वा परस्परनिरपेक्षमित्याद्येकान्तपरिग्रहः ।

अथ फलाऽऽभासमाह—

अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात्फलं तस्य तदाभासमिति ॥ ८७ ॥

अभिन्नमेव प्रमाणात्फलं बौद्धानां, भिन्नमेव नैयायिकादीनां, तस्य प्रमाणस्य तदाभासं फलाऽऽभासं; यथा फलस्य भेदाभेदैकान्तावकान्तावेव तथा सूत्रत एव प्रागुपपादितमिति । रत्ना० ६ परि० । (नयाऽऽभासस्वरूपभेदा बहवः, ते च ' णयाऽऽभास ' शब्दे चतुर्थभागे दर्शयिष्यन्ते)

आभासिय-आभाषिक-पुं० । म्लेच्छजातिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । प्रश्न० ।

आभाषित-त्रि० । परस्परकथिते, नि० १ श्रु० ३ वर्ग ३ अ० ।

आभासिय-आभाषि (सि) क-पुं० । आभाषि (सि) कद्वीपजे मनुष्ये, जी० ३ प्रति० ३ अधि० १ उ० । स्था० । अन्तरद्वीपिकमनुष्यजातिभेदे च । टाप् । जी० २ प्रति० ।

आभासियदीव-आभाषि (सि) कद्वीप-पुं० । अन्तरद्वीपभेदे, प्रज्ञा० । स च हिमवतः पर्वतस्य पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपूर्वस्यां दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य द्वितीयदंष्ट्राया उपरि एकोरुकद्वीपप्रमाण आभासिकनामा द्वीपो वर्तते । प्रज्ञा० १ पद । कर्म० । स्था० । नं० ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं आभासियमणुयाणं आभासियदीवे नामं दीवे पण्णत्ते ? । सूत्र (१११×) जी० ३ प्रति० ३ अधि० १ उ० । (' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ६५ पृष्ठे संपूर्णं सूत्रं गतम् ।)

आभासी-आभाषी-स्त्री० । आभाषि (सि) कद्वीपजे, मनुष्यस्त्रीभेदे, जी० ३ प्रति० ३ अधि० १ उ० ११२ सूत्र ।

आभिओग-आभियोग्य-पुं० । आ-समन्तात् युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः । ध० ३ अधि० ८१ श्लोक । अभियोग- व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ-समन्तात् आभिमुख्येन युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मसु व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्या आभियोगिकाः । रा० । किंकरे, किंकरस्थानीये देवविशेषे च । स्था० ४ ठा०४ उ० । रा० । " आभियोगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा" (सूत्र— +) रा० । अभिमुखं कर्मणि युज्यते-व्यापार्यते इत्याभियोग्यस्तस्य भावः कर्म वा आभियोग्यम् ।" व्यञ्जनात् पञ्चमान्तस्थायाः सरूपे वा" ॥ १ । ३ । ४७ ॥ इत्येकयकारस्य लोपः । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० १४७ सूत्रटी० । अभियोग आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीत्याभियोगी तद्भावः आभियोग्यम् । दश० ६ अ० २ उ० । कर्मकरभावे, दश० ६ अ० २ उ० १० गाथा । कर्मकरकर्माणि च । जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ० १४७ सूत्रटी० । ' आभिओगमुवट्ठिया ' । आभियोग्यं कर्मकरभावमित्यर्थः, उपस्थिताः-प्राप्ताः । दश० ६ अ० २ उ० ५ गाथाटी० ।

आभियोगता-आभियोग्यता-स्त्री० । अभियोग-व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः -किंकरदेवविशेषास्तद्भावस्तत्ता । किंकरस्थानीयदेवविशेषत्वे, स्था० ।

तत्कारणं दर्शितं यथा—

चउहिं ठाणेहिं जीवा आभिओगत्ताए कम्मं पगरेंति। तं जहा-अणुकोसेणं, परपरिवाएणं, भूइकम्मेणं कोउयकरणेणं। (सूत्र-३४५ +)

आभियोगं-व्यापारणमर्हन्तीत्याभियोग्याः-किङ्करदेवविशेषास्तद्भावस्तत्ता तस्यै तया वेति आत्मोत्कर्षेण-आत्मगुणाभिमानेन, परपरिवादेन-परदोषपरिकीर्तनेन, भूतिकर्मणा-ज्वरितादीनां भूत्यादिभी रक्षादिकरणेन, कौतुककरणेन-सौभाग्यादिनिमित्तं परस्तपनकादिकरणेनेति, इयमप्येषमन्यत्र-" कोउयभूइकम्मे, पसिणपसिणे निमित्तमाजीवी। इड्डिरससायगरुओ, अभिजोगं भावणं कुणइ "॥ १॥ इति। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

आभिओगपण्णत्ति-आभियोगप्रज्ञप्ति-स्त्री०। विद्याधरसम्बन्धिनि विद्याभेदे, " संकामणि(अ)आभिओगपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे " (सूत्र-१२२)। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

आभियोगि (न्)-आभियोगिन्-पुं०। अभियोग-आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीत्याभियोगी। कर्मकरे. दश० ६ अ०।

आभिओगिय-आभियोगिक-पु०। आभिमुख्येन योजनम्-अभियोगः प्रेष्यकर्मसु व्यापार्यमाणत्यम्। अभियोगेन जीवन्तीत्याभियोगिकाः, " वेतनादेर्जीवति "। इकण्प्रत्ययः। कर्मकरे, रा०। " आभिओगियाहि " (सूत्र-१४ +)। आभियोगः-पारवश्यं प्रयोजनं येषां ते आभियोगिकाः। विपा० १ श्रु० २ अ०। अभियोगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकम्। परतन्त्रताफले कर्मणि, पञ्चा० १२ विव० ७ गाथा। विद्यामन्त्रादौ च। " आभिओगेहि य आभिओगिता " (सूत्र-१४ ×)। अभियोगश्च द्वेधा। (स च ' अभिओग ' शब्दे प्रथमभागे विस्तरतः प्रतिपादितः) विपा० १ श्रु० २ अ०। पराभिभवहेतौ, चूर्णादिके च। " आभिओगिए वा " (सूत्र-६६ ×)। ' आभिओगिए ' त्ति-पराभिभवहेतुरिति। ज्ञा० १ श्रु० १४ अ०। अभियोजनमभियोगः प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यमाणत्वमिति भावः। अभियोगे नियुक्ता आभियोगिकाः। देवविशेषे, " आभिओगिए देवे सद्दावेति, आभिओगिए देवे सद्दावेत्ता एवं वयासी " (सूत्र-१४१ +)। आभियोगिकान् देवान् शब्दायन्ते-आकारयन्ति शब्दाययित्वा च तानेवमवादिषु। जी० ३ प्रति० ४ अधि० २ उ०। रा०।

आभिओगिय-आभियोगित-त्रि०। वशीकरणयन्त्रमन्त्राभिसंस्कृते, आव०। " आभिओगिए गहिए "॥ ७३ + ॥ आभियोगिते-वशीकरणाय मन्त्राभिसंस्कृते गृहीते सति। आव० ४ अ०।

आभिओगियक्खय-आभियोगिकक्षय-पु०। अभियोगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकम्—परतन्त्रताफलं कर्म तस्य क्षयो-विनाश आभियोगिकक्षयः। परतन्त्रताफलकर्मणो विनाशे, पञ्चा०।

एवं आणाराहण-जोगाओ आभियोगियक्खओ त्ति ॥ ७ × ॥

एवम्-उक्तविषयेणेच्छाकारप्रयोगविधिना आज्ञाराधनयोगात्-आप्तोपदेशपालनसम्बन्धात्; पराभियोगपरमार्थात् अभियोगः प्रयोजनमस्येत्याभियोगिकं-परतन्त्रताफलं कर्म तस्य क्षयो-विनाश आभियोगिकक्षयो भवति। पञ्चा० १२ विव०।

आभिओगियभावणा-आभियोगिकभावना-स्त्री०। आसमन्तात् युज्यन्ते-प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः, किंकरस्थानीया देवविशेषाः, तेषामियमाभियोगिकी। ध० ३ अधि० ८१ श्लोक। सैव भावना-आभियोगिकभावना। भावनाभेदे, ग०। (अस्याः भावनायाः स्वरूपं ' भावणा ' शब्दे पञ्चमे भागे वक्ष्यते)।

" मंता जोगं काउं, भूइकम्मं च जे पउंजंति।
सायरसइड्डिहेउं, अभिओगं भावणं कुणइ॥ २॥ "

(अस्या व्याख्या)-मन्त्राणामायोगो-व्यापारो मन्त्रयोगस्तम्, यदि वा-मन्त्राश्च योगश्च तथाविधद्रव्यसंयोगाः। सूत्रत्वान्मन्त्रयोगं तत् कृत्वा-विधाय, व्यापार्य वा, भूत्या-भस्मना उपलक्षणत्वान्मृदा सूत्रेण कर्मरक्षार्थं वसत्यादिपरिवेष्टनं भूतिकर्म चशब्दात्-कौतुकादि च यः प्रयुङ्क्ते किमर्थं सातसुखं रसा माधुर्यादय ऋद्धिः-उपकरणादिसंपत् एते हेतवो यस्मिन् प्रयोजने तत्सातरसर्द्धिहेतुको भावः सातादर्थं मन्त्रयोगादि प्रयुङ्क्ते एवमाभियोगीं भावनां करोति, इह च सातादिहेतोरभिधानं निस्पृहस्याऽपवादत एतत् प्रयोग प्रत्युत गुणः इति ज्ञापनार्थम्। ग० २ अधि० ८२ गाथाटी०।

(आभियोगिकीभावनाफलम्)—

एयाणि गारवऽट्ठा, कुणमाणो आभिओगियं बंधइ।
बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहगत्तं च॥ ४८४॥

बृ० १ उ० २ प्रक०।

(अस्या गाथाया व्याख्या ' अभिओगी ' शब्दे प्रथमभागे गता)

आभिग्गहिय-आभिग्रहिक-त्रि०। अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः अभिग्रहेण निर्वृत्त आभिग्रहिकः-कायोत्सर्गस्तत्र्यतिरेकात्तत्कर्त्ताप्याभिग्रहिक। अभिग्रहनिर्वृत्ते कायोत्सर्गादौ, अभिग्रहनिर्वृत्तकायोत्सर्गादिकारिणि च। आव०। " उस्सासं न निरुभइ, आभिग्गहिओ वि किमुअ चिट्ठाओ " ॥ १५१०× ॥ ऊर्ध्वं प्रबलः श्वास उच्छ्वासः तं ' न निरुभइ ' त्ति-न निरुणद्धि, ' आभिग्गहिओ वि ' अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः अभिग्रहेण निर्वृत्त आभिग्रहिकः-कायोत्सर्गस्तद्व्यतिरेकात्कर्त्ताप्यभिग्रहिको भण्यते, असावप्यऽभिग्रहिककायोत्सर्गकार्य्यपीत्यर्थः। ' किमुत चेट्ठाओ ' त्ति-किं पुनश्चेष्टा-कायोत्सर्गकारी स तु सुतरां न निरुणद्धीत्यर्थः। आव० ५ अ०। अभिग्रहः-चैत्यपूजनमकृत्वा मया न भोक्तव्यं न वा स्वपत्तव्यमित्यादिरूपो नियमः-प्रयोजनमस्येत्याभिग्रहिक। अभिग्रहप्रयोजनके च। पञ्चा० ४ विव० ८ गाथाटी०। जिनकल्पिकादौ, पु०। आभिग्रहि-

को जिनकल्पिकादि । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० १४ गाथाटी० ।

आभिग्गहियकाल-आभिग्रहिककाल-पुं० । अभिग्रहश्चैत्यपूजनमकृत्वा मया न भोक्तव्यं; न वा स्वसव्यमित्यादिरूपो नियमः प्रयोजनमस्येत्याभिग्राहिकः स चासौ काल आभिग्रहिककाल' । अभिग्रहप्रयोजनके काले, पञ्चा० ।

तासिं अविरोहेणं, आभिग्गहिओ इहं मओ कालो ।
तत्थावोच्छिण्णो जं, णिच्च तक्करणभावो त्ति ॥ ८ ॥

पञ्चा० ४ विव० । (आभिग्रहिककालस्य व्याख्या 'चेइय' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते ।)

आभिग्गहियमिच्छत्त-आभिग्रहिकमिथ्यात्व-न० । मिथ्यात्वभेदे, ध० । तत्राऽभिग्रहिकं पाषण्डिनां स्वशास्त्रनियन्त्रितविवेकालोकाना परपक्षप्रतिक्षेपदक्षाणां जैनानां च धर्म्माऽधर्म्मवादेन परीक्षापूर्वं तत्त्वमाकलय्य स्वाभ्युपगतार्थं श्रद्दधानानां परपक्षप्रतिक्षेपदक्षत्वेऽपि नाभिग्रहिकत्वम् , स्वशास्त्रनियन्त्रितत्वाद्विवेकालोकस्य । यस्तु नाम्ना जैनोऽपि स्वकुलाचारेणैवागमपरीक्षां बाधते, तस्याभिग्रहिकत्वमेव, सम्यग्दृशोऽपरीक्षितपक्षपातित्वायोगात् , तदुक्तं हरिभद्रसूरिभिः -" पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥ " इति गीतार्थनिश्रितानां माषतुषादिकल्पानां तु प्रज्ञापाटवाभावाद्विवेकरहितानामपि गुणवत्पारतन्त्र्यान्न दोष इति भावः । तच्च नास्त्यात्मेत्यादिपड्विकल्पैः पड्विधम् । ध० २ अधि० २२ श्लोकटी० ।

आभिणिबोहियणाण-आभिनिबोधिकज्ञान-न० । अर्थाभिमुखोऽविपर्ययरूपत्वान्नियतोऽसंशयरूपत्वाद् बोधः -संवेदनमभिनिबोधः स एव स्वार्थिके कप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकम् , ज्ञातिर्ज्ञायते अनेनेति वा ज्ञानम् आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चेत्याभिनिबोधिकज्ञानम् ; इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तो बोध इति । ज्ञानभेदे, भ० ८ श० २ उ० ३१८ सूत्रटी० । स्था० ।

विषयसूचना—

(१) आभिनिबोधिकज्ञानशब्दव्युत्पत्तिः ।
(२) भेदा आभिनिबोधिकज्ञानस्य
(३) अवग्रहेहावाऽ(प)यधारणानां स्वरूपम् ।
(४) अवग्रहप्ररूपणा ।
(५) अवग्रहादीनां क्रमोपन्यासे प्रयोजनम् ।
(६) अवग्रहस्य मल्लकदृष्टान्तेन प्ररूपणा ।
(७) अष्टाविंशतिः २८ विधमाभिनिबोधिकम् ।
(८) बहुतरभेदत्वं मतं ।
(९) अवग्रहादीनां मशयादित्वव्यपोहः ।
(१०) आभिनिबोधिकं चतुर्विधम्-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतः ।
(११) अवग्रहादीनां कालमानम् ।
(१२) ईहादीनां सञ्ज्ञादीनां च आभिनिबोधिकत्वम् ।
(१३) सत्पदप्ररूपणतादिभिराभिनिबोधिकज्ञानस्य प्ररूपणम् ।

(१) आभिनिबोधिकज्ञानशब्दव्युत्पत्तिः —

अभि इति आभिमुख्ये, नीति नैयत्ये, ततश्चाभिमुखो वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी नियत इन्द्रियमनः समाश्रित्य स्वस्वविषयापेक्षी बोधनं बोधः अभिनिबोधः स एवाऽभिनिबोधिकम् । ("विनयादिभ्यः" ॥७।२।१६९॥ इति) विनयादेराकृतिगणत्वादिकण्प्रत्ययः, अभिनिबुध्यत इत्यभिनिबोध इति कर्त्तरि लिहाद्नि (५ । १ । ५०) त्वादच् वा, यद्वा अभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति कर्मणि घञ् , स एवाभिनिबोधिकमिति, तथैव आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम् । कर्म० १ कर्म० । अभिनिबोधे वा भवं तेन निर्वृत्तं तन्मयं वा तत्प्रयोजनं वेत्याभिनिबोधिकम् , अभिनिबुध्यते वा तत् कर्मभूतमित्याभिनिबोधिकम् , अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितरूपत्वात् , भेदोपचारादित्यर्थः , अभिनिबुध्यते वा अनेनास्मादस्मिन्वेत्याभिनिबोधिकम् , तदावरणकर्मक्षयोपशम इति भावार्थः । आत्मैव वा अभिनिबोधोपयोगपरिणामानन्यत्वादभिनिबुध्यत इत्याभिनिबोधिकम् , तच्च तज्ज्ञानं चेत्याभिनिबोधिकज्ञानमिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ४६३ सूत्रटी० । अभिमुखम्-योग्यदेशावस्थितं नियतमर्थमिन्द्रियमनोद्वारेणात्मा येन परिणामविशेषेणावबुध्यते स परिणामविशेषो ज्ञानाऽपरपर्यायः आभिनिबोधिकम् । आ० म० १ अ० १ गाथाटी० । अर्थाभिमुखो नियतः-प्रतिनियतस्वरूपो बोधो—बोधविशेषोऽभिनिबोधः अभिनिबोध एवाऽऽभिनिबोधिकम् , अभिनिबोधशब्दस्य विनयादिपाठाभ्युपगमात् , ' विनयादिभ्य " ॥ ७ । २ । १६९ ॥ इत्यनेन स्वार्थे इकण् प्रत्ययः । " अनिवर्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानि " इति वचनात्तत्र नपुंसकता, यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र, अथ वा-अभिनिबुध्यते अस्मादस्मिन्वेति अभिनिबोधः-तदावरणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिबोधिकम् , तच्च तज्ज्ञानं चाऽऽभिनिबोधिकज्ञानम् , स च इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशावस्थितवस्तुविषयः स्फुटः प्रतिभासो बोधविशेष इत्यर्थः । प्रज्ञा० २९ पद ३१३ सूत्रटी० । अभीत्याभिमुख्ये, नीति नैयत्ये, ततश्चाभिमुखो-वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी नियत-इन्द्रियाण्याश्रित्य स्वस्वविषयापेक्षी बोधोऽभिनिबोध इति भावसाधनः, स्वार्थिकताद्धितोत्पादात्स एवाभिनिबोधिकम् , अभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति कर्मसाधनो वा, अभिनिबुध्यते वस्त्ववसीयते-अभिनिबोध इति कर्तृसाधनो वा, स एवाभिनिबोधिकमिति तथैव, आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानम् , इन्द्रियपञ्चकमनोनिमित्तो बोध इत्यर्थः । अनु० १ सूत्र ।

आभिनिबोधिकज्ञानशब्दार्थं दर्शयन्नाह—

अत्थाभिमुहो नियओ, बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो ।
सो चेवाऽऽभिनिबोहिय-महव जहाजोगमाउज्ज ॥ ८० ॥

बोधनं बोधः ' ऋ ' गतौ, अर्यते-गम्यते, ज्ञायत इत्यर्थः , तस्याभिमुखस्तद्ग्रहणप्रवणः -अर्थबलायातत्वेन तदन्तरीयकोद्भव-इत्यर्थः , अयमभिशब्दस्यार्थो दर्शितः, एवंभूतश्च बोधः क्षयोपशमाद्यपाटवे निश्चयात्मकोऽपि स्याद् ततो

नियतो-निश्चित इति निशब्देन विशिष्यते रसाद्यपोहेन रूपमेवेदम् इत्येव धारणात्मक इत्यर्थः । उक्तं च-" एवम-वग्रहोऽपि निश्चितमवगृह्णाति, कार्यत उपलब्धेः " । अन्य-थावग्रहकार्यभूतोऽपायोऽपि निश्चयात्मको न स्यादिति भावः । आह-ननु नियतोऽर्थाभिमुख एव भवति ततो नियतत्वविशेषणमेवास्तु किमाभिमुखविशेषणेन ? । तद-युक्तं, द्विचन्द्रज्ञानस्य तैमिरिकं प्रति नियतत्वे सत्यप्यर्था-भिमुख्याभावादिति । एवं च सति-अर्थाभिमुखो नियतो यो बोधः स तीर्थकरगणधरादीनामभिनिबोधो मतः-अ-भिप्रेतः । ' सो चेयाभिणिबोहियमिति ' स एवा-आभिनि-बोध एवाभिनिबोधिकं विनयादिपाठादभिनिबोधशब्दस्य " विनयादिभ्यष्ठक् " (पा०—५ । ४ । ३४) इत्यनेन स्वार्थे एव ठक्प्रत्ययः, यथा विनय एव वैनयिकमिति । ' अहव जहाजोग्गमाउज्ज ' त्ति-अथवा-नेह स्वार्थिकप्रत्ययो विधी-यते, किंतु—यथायोगं-यथासम्बन्धमायोजनीयम्, घट-मानसंबन्धानुसारेण स्वयमेव वक्तव्यमित्यर्थः, तद्यथा-अर्थाभिमुखे नियते बोधे भवम् आभिनिबोधिकं, तेन वा निर्वृत्तं, तन्मयं वा, तत्प्रयोजनं वा, आभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानम् । इति गाथार्थः ।

तदेवमाभिनिबोधिकशब्दवाच्यं ज्ञानमुक्तम् । अथ वा-ज्ञानं क्षयोपशमः आत्मा वा तद्वाच्य इति दर्शयन्नाह—

तं तेण तओ तम्मि व, सो वाऽऽभिनिबुज्झए तओ वा तं ॥८१४॥

'तं' ति-आभिमुख्येन निश्चितत्वेन अवबुध्यते-संवेद्यते आत्मा तदित्यभिनिबोधः-अवग्रहादिज्ञानं, स एवाभिनि-बोधिकम्, अथ वा-आत्मा तेन प्रस्तुतज्ञानेन, तदावरण-क्षयोपशमेन वा करणभूतेन घटादिवस्त्वभिनिबुध्यते त-स्माद् वा-प्रकृतज्ञानात्, क्षयोपशमाद् वा अभिनिबुध्यते, तस्मिन्वाऽधिकृतज्ञाने, क्षयोपशमे वा सत्यभिनिबुध्यते अवगच्छतीत्यभिनिबोधः-ज्ञानं क्षयोपशमो वा । ' सो वा ऽभिणिबुज्झए ' त्ति-अथ वा-अभिनिबुध्यते-वस्तु-अवग-च्छतीति अभिनिबोधः । असावात्मैव ज्ञानज्ञानिनोः कथ-ञ्चिदव्यतिरेकादिति । स एवाभिनिबोधिकम् ' तओ वा तम्मि'त्ति—न केवलं 'अत्थाभिमुहो नियओ' इत्यादि-व्युत्पत्त्या आभिनिबोधिकमुक्तं, किन्तु यत -' तं तेण तओ तम्मि ' इत्यादिव्युत्पत्त्यन्तरमस्ति, ततोऽपि कारणात्तदा-भिनिबोधिकमुच्यत इत्यर्थः, नन्वात्मक्षयोपशमयोराभि-निबोधिकशब्दवाच्यत्वे ज्ञानेन सह कथं समानाधिकर-णता स्यात् ? । सत्यं, किं तु ज्ञानस्यात्माश्रयत्वात् क्षयो-पशमस्य च ज्ञानकारणत्वादुपचारतोऽत्रापि पक्षे आभि-निबोधिकशब्दो ज्ञाने वर्तते । ततश्चाभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं चाभिनिबोधिकज्ञानमिति समानाधिकरणसमास इत्यदोषः । विशे० ।

आभिनिबोधिकज्ञानस्य स्वरूपं परोक्षं ज्ञानमधिकृत्य—

पच्चक्खं परोक्खं वा, जं अत्थं ऊहिऊण निद्दिसइ ।
तं होइ अभिणिबोहं, अभिमुहमत्थं न विवरीयं ॥२६॥

प्रत्यक्षम्-इन्द्रियविषयं परोक्षम्-इन्द्रियविषयातिक्रान्तम्, यदर्थमूहित्वा निर्दिशति-निर्णयपुरस्सरं ब्रूते एष एवंभूतो ऽर्थ इति तदर्थं प्रति अभिमुख-यथार्थविषयमाभिनिबोधिकं न विपरीतं नाऽनर्थाभिमुखं तस्य यथार्थतया मिथ्यारूपत्वात् तच्च द्विधा-इन्द्रियनिश्रितम्, अनिन्द्रियनिश्रितं च । सू० १ उ० १ प्रक० ।

(२) आभिनिबोधिकज्ञानभेदाः—

जत्थ आभिणिबोहियणाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुअ-नाणं तत्थाऽऽभिणिबोहियणाणं, दो वि एयाइं अण्णम-ण्णमणुगयाइं, तह वि पुण इत्थ आयरिआ नाणत्तं पण्ण-वयंति-अभिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहिअणाणं, सुणेइ त्ति सुअं । (सूत्र-२४×)

'यत्र पुरुषे आभिनिबोधिकं ज्ञानं तत्रैव श्रुतज्ञानमपि, तथा यत्र श्रुतज्ञानं तत्रैवाभिनिबोधिकज्ञानम् । आह-यत्राभिनिबोधिकज्ञानं तत्र श्रुतज्ञानमित्युक्ते यत्र श्रुतज्ञानं तत्राभिनिबोधिकज्ञानमिति गम्यत एव, ततः किमनेनोक्ते-नेति ?, उच्यते, नियमतो न गम्येत, ततो नियमावधार-णार्थमेतदुच्यते इत्यदोषः । नियमावधारणमेव स्पष्टयति-द्वे अप्येते-आभिनिबोधिकश्रुते अन्योऽन्यानुगते-परस्परप्रति-बद्धे, स्यादेतद्-अनयोर्यदि परस्परमनुगमस्तर्हि अभेद एव प्राप्नोति कथं भेदेन व्यवहारः ? । तत आह-'तह वी' त्यादि, तथापि—परस्परमनुगमेऽपि पुनरत्र-आभिनिबो-धिकश्रुतयोराचार्याः-पूर्वसूरयो नानात्व-भेदं प्ररूपयन्ति, कथमिति चेत् ? उच्यते, लक्षणभेदात् । दृष्टश्च परस्परमनुग-तयोरपि लक्षणभेदाद्भेदो, यथैकाकाशस्थयोर्धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकाययोः, तथाहि—धर्माऽधर्मास्तिकायौ परस्पर लोलीभावेनैकस्मिन्नाकाशदेशे व्यवस्थितौ, तथापि यो ग-तिपरिणामपरिणतयोर्जीवपुद्गलयोर्गत्युपष्टम्भहेतुर्जलमिव म-त्स्यस्य स खलु धर्मास्तिकायो, यः पुनः स्थितिपरिणाम-परिणतयोर्जीवपुद्गलयोरेव स्थित्युपष्टम्भहेतुः क्षितिरिव झषस्य स खलु अधर्मास्तिकाय इति लक्षणभेदाद्भेदो भ-वति, एवमाभिनिबोधिकश्रुतयोरपि लक्षणभेदाद्भेदो वेदि-तव्यः, लक्षणभेदमेव दर्शयति—' अभिनिबुज्झई ' त्यादि, अभिमुखं-योग्यदेशे व्यवस्थितं नियतमर्थमिन्द्रियमनोद्वारेण बुध्यते--परिच्छिनत्ति आत्मा येन परिणामविशेषेण स परिणामविशेषो ज्ञानापरपर्याय आभिनिबोधिकं, तथा शृ-णोति-वाच्यवाचकभावपुरस्सरं श्रवणविषयेन शब्देन सह संस्पृष्टमर्थं परिच्छिनत्त्यात्मा येन परिणामविशेषेण स परि-णामविशेषः श्रुतम् । नं० । (श्रुतज्ञानस्य सर्वा वक्तव्यता ' सुय ' शब्दे सप्तमे भागे करिष्यते)

से किं तं आभिनिबोहियनाणं ?, आभिणिबोहियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा-सुयनिस्सियं च, असुयनिस्सियं च । (सूत्र-२६ +)

' से किं तं ' इत्यादि, अथ किं तद् ? आभिनिबोधिकज्ञानं, सूरिराह-आभिनिबोधिकज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा-श्रुत-निश्रितं च अश्रुतनिश्रितं च । तत्र शास्त्रपरिकर्मितमते-रुत्पादकाले शास्त्रार्थपर्यालोचनमनपेक्ष्यैव यदुपजायते म-

१-" ठस्येकः " ॥ इत्यनेन ठस्य इकाऽऽदेशः ।

तिज्ञानं तत् श्रुतनिश्रितम्-अवग्रहादि, यत्पुनः सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहितस्य तथाविधक्षयोपशमभावत एवमेव यथाऽवस्थितवस्तुसंस्पर्शि मतिज्ञानम् उपजायते तत् अश्रुतनिश्रितम्-औत्पत्तिक्यादि, तथा चाह भाष्यकृत्-

" पुव्वं सुयपरिकम्मिय-मइस्स जं संपयं सुयाईयं।
तं निस्सियमियरं पुण, अणिस्सियं मइचउक्कं तं ॥१६६॥"

(अस्या विशेषावश्यकभाष्यगाथायाः विस्तरतो व्याख्या 'णाण' शब्दे चतुर्थभागे १६५६ पृष्ठे करिष्यते)

आह-औत्पत्तिक्यादिकमप्यवग्रहादिरूपमेव तत कोऽनयोर्विशेषः, उच्यते-अवग्रहादिरूपमेव, परं शास्त्रानुसारमन्तरेणोत्पद्यते इति भेदेनोपन्यस्तम्। तत्राल्पतरवक्तव्यत्वात् प्रथममश्रुतनिश्रितमतिज्ञानप्रतिपादनायाह—

से किं तं असुयनिस्सियं ?, असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा-

" उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मया, पारिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भइ ॥ ५६ ॥"
(सूत्र० २६)

'से किं त' इत्यादि-अथ किं तदश्रुतनिश्रितं ?, सूरिराह-अश्रुतनिश्रितं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-'उप्पत्तिया गाहा'। उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्मपरिशीलनादिकं प्रयोजनं कारणं यस्याः सा औत्पत्तिकी, "तदस्य प्रयोजनम्"। इतीकण्, ननु सर्वस्याः बुद्धेः कारणं क्षयोपशमः तत्कथम् ?, उच्यते-उत्पत्तिरेव प्रयोजनमस्या इति ?, उच्यते-क्षयोपशमः सर्वबुद्धिसाधारणः, ततो नाऽसौ भेदेन प्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति, अथ च बुद्ध्यन्तराद् भेदेन प्रतिपत्त्यर्थं व्यपदेशान्तरं कर्तुमारब्धं, तत्र व्यपदेशान्तरनिमित्तमत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते, केवलमेवमेव तथोत्पत्तिरिति सैव साक्षान्निर्दिष्टा। तथा विनयो-गुरुशुश्रूषा सा प्रयोजनमस्या इति वैनयिकी, तथा अनाचार्यकं कर्म; साचार्यकं शिल्पम्। अथ वा-कादाचित्कं शिल्पं, सर्वकालिकं कर्म। कर्मणो जाता कर्मजा तथा परि-समन्ताद्गमनं परिणामः-सुदीर्घकालपूर्वापरपर्यालोचनजन्य आत्मनो धर्मविशेषः स प्रयोजनमस्याः सा पारिणामिकी। बुध्यतेऽनयेति बुद्धिः, सा चतुर्विधा उक्ता तीर्थकरगणधरैः, किमिति ?, यस्मात्पञ्चमी केवलिनाऽपि नोपलभ्यते, सर्वस्याप्यश्रुतनिश्रितमतिविशेषस्यौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टय एवान्तर्भावात्। नं०। भ०। (औत्पत्तिकीबुद्धिविषयः सदृष्टान्तः 'उप्पत्तिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) (वैनयिक्याः बुद्धेः सर्वं रहस्यं 'वेणइया' शब्दे षष्ठे भागे स्पष्टं भविष्यति) (कर्मजबुद्धेः सर्वो विषयः 'कम्मया' शब्दे तृतीयभागे कथयिष्यते) (पारिणामिक्या बुद्धेः सदृष्टान्तो विषयः ५ भागे वक्ष्यते)

तथा च—

मइसुयनाणविसेसो, भणिओ तल्लक्खणाइभेएणं।
पुव्वं आभिणिबोहिय-मुद्दिट्ठं तं परूविस्सं ॥ १७६ ॥

मतिश्रुतज्ञानयोर्विशेषो भेदो भणितः, केनेत्याह-तयोर्लक्षणादिभिर्भेदः, अथ वा-स चासौ अनन्तरोक्तो लक्षणादिभेदश्च तल्लक्षणादिभेदः तेन। सांप्रतं त्वाभिनिबोधिकज्ञानं प्ररूपयिष्ये-विस्तरतो व्याख्यास्यामि। शेषश्रुतादिपरिहारेण किमित्याभिनिबोधिकं प्रथमं प्ररूप्यते ? इत्याह-यस्माज्ज्ञानपञ्चके पूर्वमादौ तदुपदिष्टमुपन्यस्तं, तस्मात् "यथोद्देशं निर्देशः" इति कृत्वा तत् प्रथमं व्याख्यास्यामि। इति गाथार्थः।

तच्चभेदपर्यायैश्च व्याख्या, तत्र तत्त्वं लक्षणं तच्च प्रागेवोक्तम्। अथ तद्भेदनिरूपणार्थमाह—

इंदियमणोनिमित्तं, तं सुयनिस्सियमहेयरं च पुणो।
तत्थेक्किक्कं च उभे-यमुग्गहोप्पत्तियाईयं ॥ १७७ ॥

इन्द्रियमनोनिमित्तं यत्प्रागुक्तमाभिनिबोधिकज्ञानं, तद् द्विभेदं भवति-श्रुतनिश्रितम्, इतरच्च-अश्रुतनिश्रितम्। 'अथ' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। तत्र श्रुत-संकेतकालभावी परोपदेशः, श्रुतग्रन्थश्च पूर्वं तेन परिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले तदनपेक्षमेव यदुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितं; यत्तु श्रुतापरिकर्मितमतेः सहजमुपजायते तदश्रुतनिश्रितम्। तत्र तयोः-श्रुतनिश्रिताऽश्रुतनिश्रितयोर्मध्ये एकैकं चतुर्विधं, कथम् ? इत्याह-यथासंख्यमवग्रहादिकं, औत्पत्तिक्यादिकं च-अवग्रहेहापायधारणाभेदात् श्रुतनिश्रितं चतुर्विधम्, औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, पारिणामिकी, लक्षणबुद्धिभेदात्तु अश्रुतनिश्रितं चतुर्भेदमित्यर्थः। यद्यप्यौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेऽप्यवग्रहादयो विद्यन्ते तथाऽपि "पुव्वमदिट्ठमसुयमवेइयतक्खणविसुद्धगहियत्था" इत्यादिवक्ष्यमाणवचनात्परोपदेशाद्यनपेक्षत्वात्ते श्रुतनिश्रिता न भवन्ति शेषास्त्ववग्रहादयः पूर्वं श्रुतपरिकर्मणामन्तरेण न सम्भवन्ति, ईहादिगताभिलापस्य परोपदेशाद्यन्तरेणाप्युपपत्तेः; इति ते श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते। औत्पत्तिक्यादिषु त्वीहाद्यभिलापस्य तथाविधकर्मक्षयोपशमजत्वात् परोपदेशाद्यन्तरेणाप्युपपत्तेरिति भावः इति गाथार्थः।

(२) तत्र श्रुतनिश्रितानवग्रहादींस्तावन्निर्युक्तिकारः प्राह—

उग्गहो ईह अवाओ, य धारणा एव होंति चत्तारि।
आभिणिबोहियनाण-स्स भेयवत्थू समासेणं ॥१७८॥

रूपरसादिभेदैरनिर्देश्यस्याव्यक्तस्वरूपस्य सामान्यार्थस्यावग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः। तेनावगृहीतस्यार्थस्य भेदविचारणं वक्ष्यमाणगत्या विशेषान्वेषणमीहा, तया ईहितस्यैवार्थस्य व्यवसायस्तद्विशेषनिश्चयोऽपायः चशब्दोऽवग्रहादीनां पृथक् पृथक् स्वातन्त्र्यप्रदर्शनार्थः, तेनैतदुक्तं भवति-अवग्रहादेरीहादयः पर्याया न भवन्ति, पृथग्भेदवाचकत्वादिति। निश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युत्यादिरूपेण धारणं धारणा। एवकारः क्रमद्योतनपरः, अवग्रहादीनामुपन्यासस्यायमेव क्रमो नान्यः, अवगृहीतस्यैवेहनाद्, ईहितस्यैव निश्चयात् निश्चितस्यैव धारणादिति। एवमेतान्याभिनिबोधिकज्ञानस्य-४ चत्वार्येव भेदवस्तूनि समासेन—संक्षेपेण भवन्ति, विस्तरतस्त्वष्टाविंशत्यादिभेदभिन्नमिदं वक्ष्यत इति भावः। तत्र भिद्यन्ते परस्परमिति भेदा-विशेषास्त एव वस्तूनि भेदवस्तूनीति समासः। इति गाथार्थः।

अथ निर्युक्तिकार एवाऽवग्रहादीन् व्याख्यानयन्नाह—

अत्थाणं उग्गहणं, अवग्गहं तह वियालणं ईहं ।
ववसायं च अवायं, धरणं पुण धारणं विंति ॥ १७९ ॥

अर्थानाम्-रूपादीनां प्रथमं दर्शनानन्तरमेवावग्रहणमवग्रहं ब्रुवत इति सम्बन्ध । तथा विचारण-पर्यालोचनम् अर्थानामिति वर्तते, ईहनमीहा तां ब्रुवते, इदमुक्तं भवति-अवग्रहादुत्तीर्णोऽपायात्पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेषत्यागसंमुखश्च प्राय· काकनिलयनादय स्थाणुधर्मा अत्र घटन्ते, न तु शिर·कण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इति मतिविशेष ईहेति । विशिष्टोऽवसायो व्यवसाय -निश्चयस्तं व्यवसायम् , अर्थानामितीहापि वर्तते, अवायम्-अपायं वा ब्रुवते, एतदुक्तं भवति-स्थाणुरेवायमित्यवधारणात्मक. प्रत्ययः-अवाय , अपायो वेति, चशब्द एवकारार्थः, व्यवसायमेव अवायम् अपायं वा ब्रुवत इत्यर्थ । धृतिर्धरणम् , 'अर्थानाम्' इति वर्तते, अपायेन विनिश्चितस्यैव वस्तुनोऽविच्युति-स्मृति-वासनारूपं धरणमेव धारणां ब्रुवत इत्यर्थ । पुन शब्दस्यावधारणार्थत्वात् ब्रुवत इत्यनेन शास्त्रस्य पारतन्त्र्यमुक्तम् , इत्थ तीर्थकरगणधरा ब्रुवत इति । अन्ये त्वेवं पठन्ति-" अत्थाण उग्गहणम्मि उग्गहो" इत्यादि, तत्र-अर्थानामवग्रहणे सत्यवग्रहो नाम मतिभेद इत्येवं ब्रुवते, एवमीहादिष्वपि योज्यम्, भावार्थस्तु पूर्ववदेव । अथ वा-प्राकृतशैल्यार्थवशाद् विभक्तिविपरिणाम इति सप्तमी द्वितीयार्थे द्रष्टव्या । इति गाथार्थः । विशे० । न० ।

अथैतदेव अवग्रहादिस्वरूपं भाष्यकारो विवृण्वन्नाह—

सामन्नत्थावग्गह-णमुग्गहो भेयमग्गहणमीहा ।
तस्सावगमोवाओ, अविच्चुई धारणा तस्स ॥ १८० ॥

अनिर्भूतार्थविशेषस्य केनाऽपि रूपेणानिर्देश्यस्य सामान्यार्थस्यैकसामयिकमवग्रहणं सामान्यार्थावग्रहणम् , अथ वा-सामान्येन-सामान्यरूपेणार्थस्यावग्रहणं सामान्यार्थाऽवग्रहणमवग्रहो वेदितव्य·। अथाऽनन्तरमीहा प्रवर्तते कथंभूतेऽयम् ? इत्याह-भेदमार्गण-भेदाः-वस्तुनो धर्मास्तेषां मार्गणम्—अन्वेषणं विचारणं प्राय काकनिलयनादयः स्थाणुधर्माः अत्र घटन्ते, न तु शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इत्येवं वस्तु धर्मविचारणमीहेत्यर्थः । तस्यैवेहया ईहितस्य वस्तुनस्तदनन्तरमवगमनमवगमः—स्थाणुरेवायमित्यादिरूपो निश्चय· अवाय· अपायो वेति तस्यैव निश्चितस्य वस्तुनः अविच्युतिस्मृतिवासनारूपं धरण धारणा सूत्रे अविच्युतेरुपलक्षणत्वात् । इति गाथार्थः ।

अत्र चावग्रहादारभ्य परैः सह विप्रतिपत्तयः सन्ति इत्यवग्रहविषया तां तावन्निराकर्तुमाह—

सामन्नविसेसस्स वि, केई उग्गहणमुग्गहं बेंति ।
जं मइरिदंतयंति च, तं नो बहुदोसभावाओ ॥ १८१ ॥

सामान्य चासौ विशेषश्च सामान्यविशेष· तस्यापि न केवलं सामान्यार्थस्य इत्यपिशब्दः, अवग्रहणम्-अवच्छेदनं केचन व्याख्यातारः अवग्रहं ब्रुवते, किं कारणम् ? इत्याह—'जं मइरिदंतयं ति चे' ति यत्-यस्मात्कारणात् अमुतः शब्दादिलक्षणसामान्यविशेषग्राहकावग्रहादनन्तरम् इदं तदिति चेति विमर्शलक्षणा मतिरनुधावति, ईहा प्रवर्तत इत्यर्थ·, यदनन्तर चेहादिप्रवृत्तिः सोऽवग्रह एव, यथा व्यञ्जनावग्रहानन्तरभावी अव्यक्तानिर्देश्यसामान्यमात्रग्राही अवग्रह , प्रवर्तते च शब्दादिसामान्यविशेषग्राहकावग्रहानन्तरमीहादिः, तस्मादवग्रह एवायं, तथाहि-दूराच्छङ्खादिसम्बन्धिनि शब्दे सामान्यविशेषात्मके रूपादिभ्यो भिन्ने गृहीते प्रवर्तते एवायं विमर्शः-किमयं शाङ्खः, शार्ङ्गो, वा शब्दः ? । शाङ्खश्चेत् किं महिषीशृङ्गोद्भवो महिषशृङ्गजो वा ? । महिषीशृङ्गसंभवश्चेत् , किं प्रसूतमहिषीशृङ्गसंभवः, अप्रसूतमहिषीशृङ्गसमुद्भूतो वा ?, इत्यादि, यतश्चानन्तरमित्थं विमर्शेनेहाप्रवृत्तिर्न भवति, अन्त्यप्राप्तेः, क्षयोपशमाभावाद्वा, स पुनरपायः ॥ तदेतत्परोक्तं दूषयितुमाह-"तं नो " इत्यादि, तदेतत्परोक्तं न । कुतः ? इत्याह-बहवश्च ते दोषाश्च तेषां भाव उपनिपातस्तस्मात् , एवं हि सर्वाण्यप्यवायप्रवृत्तिर्न स्यात् , यथोक्तविमर्शप्रवृत्तेरनुच्छिन्नत्वात् । न च पूर्वमनीहिते प्रथमोऽपि शब्दनिश्चयो युक्तः, यतश्च पूर्वमीहा प्रवर्तते नाऽसौ अवग्रहः, किं त्वपाय एवेत्यादि सर्वं पुरस्ताद्वक्ष्यते । इति गाथार्थ· ।

अन्ये त्वीहायां विप्रतिपद्यन्ते, तन्मतमुपन्यस्य दूषयन्नाह—

ईहासंसयमेत्तं, केई न तयं तओ जमन्नाणं ।
मइनाणंऽसा चेहा, कहमन्नाणं तई जुत्तं ? ॥ १८२ ॥

किमयं स्थाणुः, आहोस्वित्पुरुष ? इत्यनिश्चयात्मकं संशयमात्रं यदुत्पद्यते तदीहेति केचित् प्रतिपद्यन्ते तदेतन्न घटते । कुत ? इत्याह-यद्-यस्मात्कारणात् 'तओ' त्तिअसौ संशय·-अज्ञानम् । भवतु तर्ह्यज्ञानमपि ईहेति चेदित्याह-' मइत्यादि ' मतिज्ञानांशश्च-मतिज्ञानभेदश्चेहा वर्तते । न च ज्ञानभेदस्याज्ञानरूपता युज्यते, एतदेवाह—' कहमि ' त्यादि, कथम्-केन प्रकारेण ज्ञानं युक्तं न कथंचिदित्यर्थः । कथमित्याह-' तई ' इति, असौ मतिज्ञानांशरूपा ईहा, संशयस्य वस्त्वप्रतिपत्तिरूपत्वेनाऽज्ञानात्मकत्वादीहायास्तु ज्ञानभेदत्वेन ज्ञानस्वभावत्वात्, ज्ञानाऽज्ञानयोश्च परस्परपरिहारेण स्थितत्वात्अज्ञानरूपस्य संशयस्य ज्ञानांशात्मकेहारूपत्वं युक्तमिति भावः । इति गाथार्थः ।

आह-ननु संशयेहयोः किं कश्चिद्विशेषोऽस्ति येनेहारूपस्य संशयस्य निषिध्यते ? इत्याशङ्क्य तयोः स्वरूपभेदमुपदर्शयन्नाह—

जमणेगत्थालंबण-मपज्जुदासपरिकुंठियं चित्तं ।
सेय इव सव्वपयओ, तं संसयरूवमन्नाणं ॥ १८३ ॥
तं चिय सयत्थहेऊ-ववत्तिवावारतप्परममोहं ।
भूयाऽ-भूयविसेसा-यायाणच्चायाभिमुहमीहा ॥ १८४ ॥

यच्चित्तं—यन्मनः अनेकार्थालम्बनम्-अनेकार्थप्रतिभासालम्बितम्, अत एव पर्युदसन पर्युदासो-निषेधो न तथा अपर्युदासोऽनिषेधस्तेन, तथा उपलक्षणत्वाद्विधिना च

परिकुण्ठित-जडीभूतं सर्वथा अवस्तुनिश्चयरूपतामापन्नं, किं बहुना ? 'सेय इवे'त्यादि, शेत इव-स्वपितीव सर्वात्मना न किंचित् चेतयते वस्त्वप्रतिपत्तिरूपत्वात् तदेवंविधं चित्तं-संशय उच्यते इत्यर्थः, तथाऽज्ञानं सम्यग्बोधरहितत्वादिति। यत्पुनस्तदेव चेतो-वक्ष्यमाणस्वरूपं तदीहेति संबन्धः। कथंभूतं सत् ? इत्याह—'भूयाऽभूये' त्यादि, भूतः क्वचिद् विवक्षितप्रदेशे स्थाण्वादिरर्थः, अभूतस्तत्राविद्यमानः पुरुषादिस्तावेव पदार्थान्तरेभ्यो विशिष्यमाणत्वात् विशेषौ, तयोरादानत्यागाभिमुखं भूतार्थविशेषोपादानस्याभिमुखम्, अभूतार्थत्यागस्याभिमुखमिति यथासंख्येन संबन्धः। यतः कथंभूतम् ? इत्याह-सदर्थहेतूपपत्तिव्यापारतत्परं हेतुद्वारेणेदं विशेषणं—सदर्थहेतूपपत्तिव्यापारतत्परत्वाद् भूताऽभूतविशेषादानत्यागाभिमुखमिति भावः। तत्र हेतुः—साध्यार्थगमकं युक्तिविशेषरूपं साधनम्, उपपत्तिः-संभवघटनं, विवक्षितार्थस्य संभवव्यवस्थापनम्। ततश्च हेतुश्चोपपत्तिश्च हेतूपपत्ती सदर्थस्य विवक्षितप्रदेशे अरण्यादौ विद्यमानस्य स्थाण्वादेरर्थस्य हेतूपपत्ती सदर्थहेतूपपत्ती तद्विषयो व्यापारो घटनं-चेष्टनं सदर्थहेतूपपत्तिव्यापारस्तत्र तत्परं तन्निष्ठमिति समासः। अत एव अमोघम्—अर्थबलायातत्वेन अविफलम्—अमिथ्यास्वरूपं तदेवंभूतं चेत ईहा इति संबन्धः कुत एव; इदमुक्तं भवति-केनचिदरण्यदेशं गतेन सवितुरस्तमयसमये ईषदवकाशभासादयति तमिस्रे दूरवर्त्ती स्थाणुरुपलब्धस्ततोऽस्य विमर्शः समुत्पन्नः-किमयं स्थाणुः पुरुषो वा ? इति। अयं च संशयत्वात् अज्ञानम्। ततोऽनेन तस्मिन् स्थाणौ दृष्ट्वा वल्लयारोहणं, प्रविलोक्य काककारण्डवकादम्बक्रौञ्चकीरशकुन्तकुलनिलयनं, कृतश्चेतसि हेतुव्यापारः, यथा-स्थाणुरयं, वल्लयुत्सर्पणकाकादिनिलयनोपलम्भात्। तथा संभवपर्यालोचनं च व्यधायि, तद्यथा-अस्ताचलान्तरितं सवितरि, प्रसरति चैवतमिस्रे महारण्येऽस्मिन् स्थाणुरयं संभाव्यते; न पुरुषः, शिरःकण्डूयनकरग्रीवाचलनादेस्तद्व्यवस्थापकहेतोरभावाद्, ईदृशे च प्रदेशेऽस्यां वेलायां प्रायस्तस्याऽसंभवात्। तस्मात् स्थाणुनाऽत्र सङ्गतेन भाव्यं न पुरुषेण। तदुक्तम्-" अरण्यमेतत् सवितास्तमागतो, न चाधुना संभवतीह मानवः। प्रायस्तदेतेन खगादिभाजा, भाव्यं स्मरारातिसमाननाम्ना ॥१॥" एतच्चेदृशं चित्तं ईहा इत्युच्यते, निश्चयाभिमुखत्वेन संशयादुत्तीर्णत्वात्, सर्वथा निश्चयेऽप्यायत्यप्रसङ्गेन निश्चयादधोवर्त्तित्वाच्चेति संशयेहयोः प्रतिविशेषः। इति गाथाद्वयार्थः।

अथापायधारणागतविप्रतिपत्तिनिराचिकीर्षया परमतमुपदर्शयन्नाह—

केई तयणणविसेसा-वणयणमेत्तं अवायमिच्छंति।
सब्भूयत्थविसेसाऽ-वधारणं धारणं विंति ॥ १८५ ॥

तच्छब्दस्यानन्तरगाथोऽक्तो भूतोऽर्थः संबध्यते, तस्मात्तत्र भूतात् विद्यमानात् स्थाण्वादेर्योऽन्यः तत्प्रतियोगी तत्राविद्यमानः पुरुषादिस्तद्विशेषाः शिरःकण्डूयनचलनस्पन्दनादयः तेषां पुरोवर्त्तिनि सद्भूतेऽर्थेऽपनयनं—निषेधनं तदन्यविशेषापनयनं तदेव तन्मात्रम्, अपायमिच्छन्ति, केनापि व्याख्यातारः अपायनम्-अपनयनम् अपाय इति व्युत्पत्त्यर्थविभ्रमितमनस्का इति भावः। अवधारणं धारणा इति च व्युत्पत्त्यर्थभ्रमितास्ते धारणां ब्रुवते। किं तत् ?, इत्याह-सद्भूतार्थविशेषावधारणं सद्भूतस्तत्र विवक्षितप्रदेशे विद्यमानः स्थाण्वादिरर्थविशेषस्तस्य स्थाणुरेवायम् इत्यवधारणं सद्भूतार्थविशेषावधारणमिति समासः। इति गाथार्थः।

तदेतद्दूषयितुमाह—

कासइ तयन्नवइरे-गमेत्तओऽवगमणं भवे भूए।
सब्भूयसमण्णयओ, तदुभयओ कासइ न दोसो ॥१८६॥

'भूए' त्ति-तत्र विवक्षितप्रदेशे भूते विद्यमानेऽर्थे स्थाण्वादौ 'कासइ' त्ति-कस्यचित् प्रतिपत्तुस्तदन्यव्यतिरेकमात्रादवगमनं-निश्चयो भवति-तस्मात्स्थाण्वादेर्योऽन्यः पुरुषादिरर्थस्तस्य व्यतिरेकः स एव च तदन्यव्यतिरेकमात्रं तस्मात्स्थाण्वाद्यर्थनिश्चयो भवतीत्यर्थः; तद्यथा-यतो नेह शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा दृश्यन्ते, ततः स्थाणुरेवायमिति। कस्यापि सद्भूतसमन्वयतः सद्भूतस्तत्र प्रदेशे विद्यमानः स्थाण्वादिरर्थस्तस्य समन्वयतः-अन्वयधर्मघटनात् भूतेऽर्थेऽवगमनं निश्चयो भवेत्, यथा स्थाणुरेवायं वल्लयुत्सर्पणवयोनिलयनादिधर्माणामिहान्वयादिति। कस्यचित्पुनस्तदुभयाद्-अन्वयव्यतिरेकोभयात् तत्र भूतेऽर्थेऽवगमनं भवेत्, तद्यथा-यस्मात्पुरुषधर्माः शिरःकण्डूयनादयोऽत्र न दृश्यन्ते, वल्लयुत्सर्पणादयस्तु स्थाणुधर्माः समीक्ष्यन्ते, तस्मात् स्थाणुरेवायमिति। न चैवमन्वयाद् व्यतिरेकात्, उभयाद्वा निश्चये जायमाने कश्चिद् दोषः, परव्याख्याने तु वक्ष्यमाणन्यायेन दोष इति भावः। इति गाथार्थः।

कथं पुनस्तद्व्याख्याने न दोष ? इत्याह—

सव्वो वि य सोऽवाओ, भेए वा होंति पंच वत्थूणि।
आहेवं चिय चउहा, मई तिहा अन्नहा होइ ॥ १८७ ॥

यस्माद् व्यतिरेकाद्, अन्वयाद्, उभयाद्वा भूतार्थविशेषावधारणं कुर्वतो योऽध्यवसायः स सर्वोऽप्यपायः-प्रस्तुतस्थाण्वादिवस्तुनिश्चयः, न तु सद्भूतार्थविशेषावधारणं धारणेति भावः, तस्मान्न दोषः ॥ आह ननु यथा मया व्याख्यायते—सद्भूतार्थविशेषाऽवधारणं धारणा, तथा किं कश्चिद्दोषः समुपजायते, येनाऽऽत्मीयव्याख्यानपक्ष इदमित्थमभिधीयते न दोष इति ? । एतदाशङ्क्याह—'भेए वा' इत्यादि, वाशब्दः पातनायां गतार्थः, व्यतिरेकः-अपायः, अन्वयस्तु धारणा, इत्येवं मतिज्ञानतृतीयभेदस्यापायस्य भेदेऽभ्युपगम्यमाने पञ्च वस्तूनि—पञ्च भेदा भवन्ति; आभिनिबोधिकज्ञानस्येति गम्यते, तथा हि—अवग्रहेहाऽपायधारणालक्षणाश्चत्वारो भेदास्तावत् त्वयैव पूरिताः, पञ्चमस्तु भेदः स्मृतिलक्षणं प्राप्नोति—अविच्युतेः स्वसमानकालभाविन्यपायेऽन्तर्भूतत्वाद्, वासनायास्तु स्मृत्यन्तर्गतत्वेन विवक्षितत्वात् स्मृतेरनन्यशरणत्वात्मते पञ्चमो भेदः प्रसज्यत इति भावः ॥ 'आहे'त्यादि, पुनरप्याह परः-ननु यथैव मया व्या-

अपाये व्यतिरेकमुखेन निश्चयोऽपाय., अन्वयमुखेन तु धारणा इत्येवमेव चतुर्द्धा-चतुर्विधा मतिर्भवति—युक्तिमो घटते। अन्यथा तु-व्याख्यायमाने-अन्वय-व्यतिरेकयोर्द्वयोरप्यपायत्वेऽभ्युपगम्यमाने इत्यर्थ. । किम् ?, इत्याह-त्रिधा-अवग्रह-ईहापायभेदतस्त्रिभेदा मतिर्भवति, न पुनश्चतुर्द्धा, धारणाया अघटमानकत्वादिति भाव' । इति गाथार्थ. ।

कथं पुनर्धारणाभाव ?, इत्याह—

काऽणुवओगम्मि धिई, पुणोवओगे य मा जओऽवाओ ।
तो नऽत्थि धिई भणइ, इदं तदेवेति जा बुद्धी ॥ १८८ ॥
नणु साऽवायब्भहिया, जओ य सा वासणाविसेसाओ ।
जा य अवायाणन्तर-मविच्चुई सा धिई नाम ॥१८९॥

अनुपयोगे-उपयोगोपरमे सति का धृति.-का नाम धारणा ?; न काचिदित्यर्थ. । इदमुक्तं भवति—इह तावन्निश्चयोऽपायमुखेन घटादिके वस्तुनि अवग्रहेहापायरूपतयाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण एवोपयोगो जायते । तत्र चापाये जाते । या उपयोगसातत्यलक्षणा अविच्युतिर्भवताऽभ्युपगम्यते , सा अपाय एवाऽन्तर्भूता । इति न ततो व्यतिरिक्ता । या तु तस्मिन् घटाद्युपयोगे उपरते सति संख्येयमसंख्येय कालं वासनाभ्युपगम्यते, ' इद तदेव ' इति लक्षणा स्मृतिश्चाङ्गीक्रियते, सा मत्यंशरूपा धारणा न भवति, मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात् । पुनरपि कालान्तरोपयोगे धारणा भविष्यतीति चेत्, इत्याह-' पुणो ' इत्यादि, कालाऽन्तरे पुनर्जायमानोपयोगेऽपि या ऽन्वयमुखोपजायमानावधारणरूपा धारणा मयेष्यते, सा यतोऽपाय एव भवताभ्युपगम्यते । ' सव्वो वि य सोवाओ ' इत्यादिवचनात् , ननस्तत्रापि नाऽस्ति धृतिर्धारणा, पुनरप्युपयोगोपरमेऽपि पूर्वोक्तयुक्त्यैव तदभाव , तस्मादुपयोगकालेऽन्वयमुखावधारणरूपाया धारणायास्त्वयाऽनभ्युपगमात् उपयोगोपरमे च मत्युपयोगाभावात्, तदेशरूपाया धारणाया अघटमानकत्वात्त्रिधैव भवदभिप्रायेण मति प्राप्नोति, न चतुर्द्धा, इति पूर्वपक्षाभिप्राय ।

अत्रोत्तरमाह—' भण्णइ ' त्यादि, भण्यतेऽत्र प्रतिविधानम् । किम् ?, इत्याह—'इद वस्तु तदेव यत् प्रागुपलब्ध मया ' इत्येवंभूता कालान्तरे या स्मृतिरूपा बुद्धिरुपजायते ननिवह सा पूर्वप्रवृत्तापायाभिधिवादभ्यधिकैव,पूर्वप्रवृत्ताऽपायकाले; तस्या अभावात् सांप्रतापायस्य तु वस्तुनिश्चयमात्रफलत्वेन पूर्वापरदर्शनानुसन्धानायोगात् । ततश्च साऽनन्यरूपत्वात् धृतिर्धारणा नामेति पर्यन्ते संबन्ध । यतश्च यस्माच्च वासनाविशेषात्-पूर्वोपलब्धवस्त्वाहितसंस्कारलक्षणात्; तद्विज्ञानावरणक्षयोपशमसाचिव्यादित्यर्थ , सा इद तदेवेति लक्षणा स्मृतिर्भवति । साऽपि वासनाऽपायादभ्यधिकेतिकृत्वा धृतिर्नाम इतीहापि सबन्धः। ' आयाऽवाय' इत्यादि, या च अपायादनन्तरमविच्युतिः प्रवर्तते साऽपि धृतिर्नाम । इदमुक्तं भवति-यस्मिन् समये ' स्थाणुरेवाय ' मित्यादिनिश्चयस्वरूपोऽपायः प्रवृत्तः, तत समयादूर्ध्वमपि ' स्थाणुरेवाऽय, स्थाणुरेवायमि' त्यविच्युता याऽन्तर्मुहूर्त्तं क्वचिदपायप्रवृत्तिः साऽप्युपायाऽविच्युति. प्रथमप्रवृत्ताऽपायादभ्यधिकेति धृतिर्धारणा नामेति । एवमविच्युतिवासनास्मृतिरूपा धारणा त्रिधा सिद्धा भवति ॥

अत्राह कश्चित्-नन्वविच्युति-स्मृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतग्राहित्वान्न प्रमाण, द्वितीयादिवाराप्रवृत्तापायसाध्यस्य वस्तुनिश्चयलक्षणस्य कार्यस्य प्रथमवाराप्रवृत्तापायेनैव साधितत्वात् । न च निष्पादितक्रिये कर्मणि तत्साधनायैव प्रवर्तमानं साधन शोभां बिभर्ति, अतिप्रसङ्गात्-कुठारादिभि' कृतच्छेदनादिक्रियेष्वपि वृक्षादिषु पुनस्तत्साधनाय तेषा प्रवृत्त्यापत्ते. । स्मृतेरपि पूर्वोत्तरकालभाविज्ञानद्वयगृहीत एव वस्तुनि प्रवर्तमानतया कुत' प्रामाण्यं, न च यदुक्तं पूर्वोत्तरदर्शनद्वयानधिगतस्य वस्त्वेकत्वस्य ग्रहणात् स्मृति' प्रमाण, पूर्वोत्तरकालदृष्टस्य वस्तुनः कालादिभेदेन भिन्नत्वाद् , एकत्वस्यैवासिद्धत्वादिति । वासना तु किं रूपा ? इति वाच्यम् । संस्काररूपेति चेत् । कोऽयं नाम संस्कार. ?, स्मृतिविज्ञानावरणक्षयोपशमो वा, तद्विज्ञानजननशक्तिर्वा, तद्वस्तुविकल्पो वा ? इति त्रयीगतिः । तत्राद्यपक्षद्वयमयुक्तम् , ज्ञानरूपत्वाभावात् तद्भेदानां चेह विचार्यत्वेन प्रस्तुतत्वात् । तृतीयपक्षोऽप्ययुक्त एव संख्येयमसंख्येय वा कालं वासनाया इष्टत्वात् एतावन्तं च कालं तद्वस्तुविकल्पायोगात् तदेवमविच्युतिस्मृतिवासनारूपायास्त्रिविधाया अपि धारणाया अघटमानत्वात् , त्रिविधैव मति प्राप्नोति, न चतुर्द्धा ॥

अत्रोच्यते-यत्तावद् गृहीतग्राहित्वादविच्युतेरप्रामाण्यमुच्यते, तदयुक्तम् . गृहीतग्राहित्वलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वात् , अन्यकालविशिष्ट हि वस्तु प्रथमप्रवृत्तापायेन गृह्यते , अपरकालविशिष्ट च द्वितीयादिवाराप्रवृत्तापायेन । किं च-स्पष्ट-स्पष्टतर—स्पष्टतमभिन्नधर्मकवासनाजनकत्वादप्यविच्युतिप्रवृत्तद्वितीयाद्यपायविषयं वस्तु भिन्नधर्मकमेवेति कथमविच्युतेर्गृहीतग्राहिता ? । स्मृतिरपि पूर्वोत्तरदर्शनद्वयानधिगतं वस्त्वेकत्व गृह्णाना न गृहीतग्राहिणी। न च यदुक्तं कालादिभेदेन भिन्नत्वात् वस्तुनो नैकत्व, कालादिभिर्भिन्नत्वेऽपि सत्त्व-प्रमेयत्वमस्थानरूपादिभिरेकत्वात् । वासनाऽपि स्मृतिविज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमरूपा तद्विज्ञानजननशक्तिरूपा चेष्यते । सा च यद्यपि स्वयं ज्ञानस्वरूपा न भवति, तथापि पूर्वप्रवृत्ताविच्युतिलक्षणज्ञानकार्यत्वाद् , उत्तरकालभाविस्मृतिरूपज्ञानकारणत्वाच्चोपचारतो ज्ञानरूपाऽभ्युपगम्यते । तद्वस्तुविकल्पपक्षस्त्वनभ्युपगमादेव निरस्त तस्मादविच्युतिस्मृतिवासनारूपाया धारणाया स्थितत्वात् न मतेस्त्रैविध्यं, किं तु चतुर्द्धा सेति स्थितम् । इति गाथाद्वयार्थ ।

अथैतां स्वाभिमता धारणां व्यवस्थाप्य पर प्रत्याह—

तं इच्छंतस्स तुहं वत्थूणि य पंच भेच्छमाणस्स ।
किं होउ सा अभावो, भावो नाणं व तं कयरं ? ॥१९०॥

अस्मदभिमतामनन्तरप्रतिष्ठितस्वरूपां ता धारणामिच्छतस्तव पञ्च वस्तूनि-पञ्चाभिबोधिकज्ञानभेदा प्राप्नुवन्ति, अपायस्यैकस्यापि भेदद्वयरूपताभ्युपगमेन भेदचतुष्टयस्य त्वयाऽपि पूरितत्वात् , पञ्चमस्य तु मदुक्तस्य धारणालक्ष-

णस्य प्रसङ्गादिति भावः । अथाऽस्मदभ्युपगता धारणा त्वया नेष्यते, "तर्हि 'नेच्छमाणस्स किं होउ' इत्यादि, तां मदभ्युपगतां धारणामनिच्छतोऽप्रतिपद्यमानस्य तव सा मदभ्युपगता धारणा किं भवतु अभावः अवस्तु, आहोस्वि-द्भावो, वस्तु ? इति विकल्पद्वयम् । किं चात ?, न ता-वदभावः भावत्वेनानुभूयमानत्वात् । न च तथानुभूयमा-नस्याभावत्वमाधातु शक्यते, अतिप्रसङ्गात्-घटादिष्वपि तथात्वप्राप्तेः; तेऽपि ह्यनुभववशेनैव भावरूपा व्यवस्था-प्यन्ते । यदि च-अनुभवोऽप्यप्रमाणं, तदा घटादिष्वपि भावरूपतायामनाश्वास इति भावः । अथ भावोऽसौ, तर्हि वक्तव्य-ज्ञानम् , अज्ञानं वा ?, न तावदज्ञानं, चि-द्रूपतयाऽनुभूयमानत्वात् । अथ ज्ञान तदपि मतिश्रुतावधि-मनःपर्यायकेवलेभ्यो ज्ञानान्तरस्याभावात्तेषां मध्ये क-तमत् ? इति वाच्यम् । न तावत् श्रुतादिचतुष्टयरूपम् , अनभ्युपगमात् , तल्लक्षणाऽयोगाच्च मतिज्ञानं चेत् , तदपि नावग्रहेहापायरूपं, तल्लक्षणाऽसंभवात् 'नणु सावायब्भ-हिया' इत्यादि, नाऽपायाभ्यधिकत्वेन साधितत्वाच्च । तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयः सर्वोऽप्यपायः, अवि-च्युतिस्मृतिवासनारूपा तु पारिशेष्यद्वारेणैवेति स्थितम् । इति गाथार्थः ।

तदेव निरुत्तरीकृतोऽप्यविलक्षितया ऽन्येन प्रकारेणाह-

तुज्झं बहुयरभेया, भणइ मई होइ धिइबहुत्ताओ ।
भएणइ न जाइ भेओ, इट्ठो मज्झं जहा तुज्झं ॥१६१॥

अत्र प्रेरको भणति । किम् ?, इत्याह-'तुज्झमि' त्यादि, इत्थमाचार्य ! तव बहुतरभेदा मतिर्भवति । कुतः ? इत्याह-धृतेर्धारणाया बहुत्वात्; बहुभेदत्वादित्यर्थः, धारणाया एकस्या अप्यविच्युतिवासनास्मृतिलक्षणभेदत्रययुक्तत्वादव-ग्रहेहाऽपायैः सह षड्भेदा मतिः प्राप्नोतीति भावः । अत्र प्रतिविधानमाह-'भण्णइ' इत्यादि, भण्यतेऽत्रोत्तरम्-जातेर्भेदो जातिभेदोः व्यक्तिपक्ष इत्यर्थः । स इह धारणा-विचारे मम नेष्टो-नाभिमतः । किं तु धारणा सामान्यरूपा जातिरेव ममाभिप्रेता । कस्य यथा ?, इत्याह-यथा तवा-ऽवग्रहविषये इति शेषः । इदमुक्तं भवति-यथाऽवग्रहो व्यञ्जनार्थावग्रहभेदादुभयरूपोऽवग्रहसामान्यादेकस्त्वयाऽ-भीष्टः, अन्यथा मतेः पञ्चविधत्वप्रसङ्गात् तथा त्रिरूपाऽपि धारणा तत्सामान्यादेकरूपैव; इति चतुर्विधैव मतिर्न बहुतरभेदा । इति गाथार्थः ।

एतदेव भावयन्नाह-

सा भिन्नलक्खणा वि हु, धिइसामण्णेण धारणा होइ ।
जह उग्गहो दुरूवो, उग्गहसामण्णओ एक्को ॥ १६२ ॥

सा धारणा, अविच्युति-वासना-स्मृतीनां भिन्नस्वरूप-त्वेन भिन्नलक्षणाऽपि सती धारणा सामान्याव्यतिरेकादेकैव भवति; यथाऽवग्रहो व्यञ्जनार्थावग्रहभेदात् द्विरूपोऽप्यव-ग्रहसामान्याव्यतिरेकादेकः परस्याऽपि सिद्धः, अन्यथा मतेः पञ्चविधत्वापत्तेः । इति गाथार्थः ।

तदेवमवग्रहादिभेदचतुष्टयविषया निराकृताः सर्वा अपि परविप्रतिपत्तयस्तन्निराकरणप्रक्रमे चानन्तरमवग्रहो द्विरूपः प्रोक्तः स च कथं द्विरूपो भवति इत्याशङ्क्य तद्द्विरूप-ताकथनव्याजेन पूर्वं यान्याभिनिबोधिकज्ञानस्याऽवग्र-हादीनि चत्वारि भेदवस्तून्युक्तानि, तेष्वेव मध्येऽवग्रहं तावत् , विशे० । ('उग्गह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते)

तत्र व्यञ्जनं तावत्किमुच्यते ? इत्यादि-

वंजिज्जइ जेणऽत्थो, घडो व्व दीवेण वंजणं तं च ।
उवगरणिंदियसद्दा-इपरिणयदव्वसंबंधो ॥ १६४ ॥

व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थो येन दीपेनेव घटस्तत् व्यञ्जनं, किं पुनस्तदित्याह-'तं चे' त्यादि । तच्च व्यञ्जनम् उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धः । इन्द्रियं द्विविध-म्-द्रव्येन्द्रियम् , भावेन्द्रिय च । विशे०(अत्र विस्तरः 'इंदिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) तत्र निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रिय, लब्ध्यु-पयोगौ भावेन्द्रिय, निर्वृत्तिश्च द्विधा-अङ्गुलासं-ख्येयभागादिमाना कदम्बकुसुमगोलकधान्यमसूरकाहला-क्षुरप्राकारमांसगोलकरूपा, शरीराकारा च । श्रोत्रादी-न्द्रियाणां पञ्चानामपि यथासंख्यमन्तर्निर्वृत्तिः; कर्णश-ष्कुलिकादिरूपा तु बहिर्निर्वृत्तिः । तत्र कदम्बकुसुमगो-लकाकारमांसखण्डादिरूपाया अन्तर्निर्वृत्तेः शब्दादिवि-षयपरिच्छेदहेतुर्यः शक्तिविशेषः स उपकरणेन्द्रियं, शब्दा-दिश्च श्रोत्रादीन्द्रियाणां विषयः, आदिशब्दाद्-रसगन्धस्प-र्शपरिग्रहः, तद्भावेन परिणतानि च तानि भाषावर्गणादिस-म्बन्धीनि द्रव्याणि च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि, उपकरणे-न्द्रिय च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि च तेषां परस्परं संबन्धः उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धः; एष तावद् व्य-ञ्जनमुच्यते । अपर च-इन्द्रियेणाऽप्यर्थस्य व्यज्यमान-त्वात्तदपि व्यञ्जनमुच्यते । तथा शब्दादिपरिणतद्रव्यनि-कुरम्बमपि व्यज्यमानत्वाद् व्यञ्जनमभिधीयते, इति । एवमुपलक्षणव्याख्यानात् त्रितयमपि यथोक्तं व्यञ्जनमव-गन्तव्यम् ततश्चेन्द्रियलक्षणेन व्यञ्जनेन शब्दादिपरिण-तद्रव्यसंबन्धस्वरूपस्य व्यञ्जनस्याऽवग्रहो व्यञ्जनावग्रहः, अथ वा-तेनैव व्यञ्जनेन शब्दादिपरिणतद्रव्यात्मकानां व्य-ञ्जनानामवग्रहो व्यञ्जनावग्रहः, इत्युभयत्राऽप्येकस्य व्य-ञ्जनशब्दस्य लोपं कृत्वा समासः । इति गाथार्थः ।

अथाऽऽक्षेपं, परिहारं चाभिधित्सुराह-

अण्णाणं सो बहिरा-ईणं व तक्कालमणुवलंभाओ ।
न तदंते तत्तो चिय, उवलंभाओ तओ नाणं ॥१६५॥

स व्यञ्जनावग्रहोऽज्ञान, ज्ञानं न भवति, तस्य उपकरणे-न्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसंबन्धस्य कालस्तत्कालस्तस्मिन् ज्ञानस्यानुपलम्भात् स्वसंवेदनेनासंवेद्यमानत्वात् । बधिरा-दीनामिव-यथा हि बधिरादीनामुपकरणेन्द्रियस्य शब्दादि-विषयद्रव्यैः सह संबन्धकालेन किमपि ज्ञानमनुभूयते, अन-नुभूयमानत्वाच्च तन्नाऽस्ति तथेहापीति भावः । अत्रोत्तर-माह-'न तदंते' इत्यादि, नाऽसौ जडरूपतया ज्ञान-रूपेणाननुभूयमानत्वादज्ञान, किं तर्हि स कोऽसौ व्यञ्ज-नावग्रहो-ज्ञानमेव । कुतः ?, तदन्ते-तस्य-व्यञ्जनावग्रह-स्यान्ते तत एव ज्ञानात्मकस्याऽर्थावग्रहोपलम्भस्य भा-वात् , तथाहि-यस्य ज्ञानस्याऽन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानोपात्त

एव ज्ञानमुपजायते, तज्ज्ञानं दृष्टं, यथार्थावग्रहपर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानत ईहासद्भावादर्थावग्रहो ज्ञानं, जायते च व्यञ्जनावग्रहस्य पर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानात्तत एवार्थावग्रहज्ञानं,तस्माद् व्यञ्जनावग्रहो ज्ञानम् । इति गाथार्थः।

तदेवं व्यञ्जनावग्रहे यद्यपि ज्ञानं नाऽनुभूयते, तथाऽपि ज्ञानकारणत्वादसौ ज्ञानम् , इत्येवं व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानाऽभावमभ्युपगम्योक्तम् । सांप्रतं ज्ञानाऽभावोऽपि तत्राऽसिद्ध एवेति दर्शयन्नाह—

तक्कालम्मि वि नाणं, तत्थऽत्थि तणुं ति तो तमव्वत्तं ।
बहिराईणं पुण सो, अन्नाणं तदुभया भावा ॥ १९६ ॥

तत्कालेऽपि-तस्य व्यञ्जनसंबन्धस्य कालेऽपि तत्रानुपहतेन्द्रियसंबन्धिनि व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानमस्ति, केवलमेकतेजोऽवयवप्रकाशवत् तनु अतीवाल्पमिति; अतोऽव्यक्तं स्वसंवेदनेनापि न व्यज्यते । यद्यव्यक्तं, कथं तदस्तीति ज्ञायते ? इति चेत् । मा त्वरिष्ठाः, " जइ चिण्णाणमसंखे-ज्जसमइसद्दाइदव्वसंभावे " इत्यादिनाऽनन्तरमेव तदस्तित्वयुक्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् बधिरादीनां तु ज्ञानाऽभावे अविप्रतिपत्तिरिति दर्शयन्नाह—बधिराऽऽदीनाम् , आदिशब्दादुपहतघ्राणादीन्द्रियाणां पुनः स व्यञ्जनावग्रहोऽज्ञानं-ज्ञानं न भवतीत्यत्राऽविप्रतिपत्तिरेव । कुतः ?, इत्याह—तदुभयं च तदुभयं तस्याभावात्-ज्ञानकारणस्याभावात् अव्यक्तस्यापि च ज्ञानस्याभावात् । इति गाथार्थः ।

अथ पुनरप्याक्षेपं, परिहारं चाऽभिधित्सुराह—

कहमव्वत्तं नाणं, च सुत्तमत्ताइसुहमबोहो व्व ।
सुत्तादओ सयं वि य, विण्णाणं नाऽवबुज्झंति ॥१९७॥

परः साऽसूयमाह-ननु कथं ज्ञानम् 'अव्यक्तं च' इत्युच्यते ? तमःप्रकाशाद्यभिधानवद्विरुद्धत्वादेतद् वक्तुं युज्यत इति भावः । अत्रोत्तरमनन्तरमेवोक्तम्-एकतेजोऽवयवप्रकाशवत्सूक्ष्मत्वादव्यक्तम् । अथ पुनरप्युच्यते-सुप्तमत्तमूर्च्छितादीनां सूक्ष्मबोधवदव्यक्तं ज्ञानमुच्यत इति न दोषः । सुप्तादीनां तदात्मीयज्ञानं स्वसंविदितं भविष्यतीति चेत् न एतदेवमित्याह-सुप्तादयः स्वयमपि तदात्मीयविज्ञानं नाऽवबुध्यन्ते-न संवेदयन्ति अतिसूक्ष्मत्वात् । इति गाथार्थः ।

आह-यदि तैरपि सुप्तादिभिस्तदात्मीयज्ञानं न संवेद्यते, तर्हि तत्तेषामस्तीत्येतत्कथं लक्ष्यते ?, इत्याह—

लक्खिज्जइ तं सिमिणा-यमाणवयणदाणाइचेट्ठाहिं ।
जं नाऽमइपुव्वाओ, विज्जंते वयणचेट्ठाओ ॥ १९८॥

तत्सुप्तादीनां ज्ञानमस्तित्वेन लक्ष्यते । कुतः ?, स्वप्नायमानवचनदानादिचेष्टाभ्यः, सुप्तादयोऽपि हि स्वप्नायमानावस्थायां केचित्किमपि भाषमाणा दृश्यन्ते, शब्दिताश्चावधतो वाचं प्रयच्छन्ति, सङ्कोचविकोचाङ्गभङ्गजृम्भितकूजितकण्डूयनादिचेष्टाश्च कुर्वन्ति, न च तास्ते तदा वेदयन्ते । नापि च प्रबुद्धाः स्मरन्ति, तर्हि कथं तच्चेष्टाभ्यस्तेषां ज्ञानमस्तीति लक्ष्यते ?, इत्याह-' जमि ' त्यादि, यत्-यस्मात्कारणात् नाऽमतिपूर्वास्ता वचनादिचेष्टा विद्यन्ते; किं तु मतिपूर्विका एव, अन्यथा काष्ठादीनामपि तत्प्रसङ्गात्, अतस्ताभ्यस्तत्तेषामस्तीति लक्ष्यत एव धूमादग्निरिव । इति गाथार्थः ।

आह-ननु आत्मीयमपि चेष्टितं किं कश्चिन्न जानाति येन सुप्तादीनां स्वचेष्टितासंवेदनमुच्यते ?, इत्याशङ्क्याह—

जग्गंतो वि न जाणइ, छउमत्थो हिययगोचरं सव्वं ।
जं तज्झवसाणाइं, जमसंखिज्जाइँ दिवसेणं ॥ १९९ ॥

हृदयम्-मनोगोचरस्थानं यस्य तत् हृदयगोचरम् अध्यवसायनिकुरम्बम् इति गम्यते, तज्जाग्रदपि छद्मस्थः सर्वम्-अपरिशेषं न जानाति-न संवेदयते, आस्तां तावत्पुनः सुप्तः-कुतः ?, इत्याह-अध्यवसानानि-अध्यवसायस्थानरूपाणि केवलिगम्यानि सूक्ष्माणि । यत् एकेनाप्यन्तर्मुहूर्तेनासंख्येयानि यान्ति-अतिक्रामन्ति, किं पुनः सर्वेणापि दिवसेन ? । न चैतानि छद्मस्थः सर्वाण्यपि संवेदयते । ततश्च यथैतानि छद्मस्थैरसंवेद्यमानान्यपि केवलिदृष्टत्वात्सत्त्वेनाभ्युपगम्यन्ते, तथा व्यञ्जनावग्रहज्ञानमपि । इति गाथार्थः ।

आह—ननु सुप्तादीनां ज्ञानं वचनादिचेष्टाभ्यो गम्यत इत्युक्तं तत्तावदभ्युपगच्छामः, व्यञ्जनावग्रहे तु ज्ञानरूपतागमकं लिङ्गं न किंचिदुपलभामहे, अतो जडरूपत्वान्नाऽसौ ज्ञानमिति ब्रूमः, इत्याशङ्क्याह—

जइ व ऽन्नाणमसंखे-ज्जसमइसद्दाइदव्वसंभावे ।
किह चरमसमयसद्दा-इदव्वविण्णाणसामत्थं ॥२००॥

वाशब्दः पातनासूचकः, सा च कृतैव । ततश्च हन्त ! यदि-अज्ञानं व्यञ्जनावग्रहः क सति ?, इत्याह-असंख्येयसमयशब्दादिद्रव्यसद्भावेऽपि सति, इत्यपिशब्दो गम्यते । कथं तर्हि चरमसमयशब्दादिद्रव्याणां विज्ञानजननसामर्थ्यं ?, न कथंचिदित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-व्यञ्जनावग्रहे तावत्प्रतिसमयमसंख्येयान् समयान् यावच्छ्रोत्रादीन्द्रियैः सह शब्दादिविषयद्रव्याणि संबध्यन्ते । ततश्च यद्यसंख्येयसमयान् यावच्छ्रोत्रादीन्द्रियैः सह शब्दादिविषयद्रव्यसंबन्धसद्भावेऽपि सति व्यञ्जनावग्रहरूपं ज्ञानं नाऽभ्युपगम्यते, कथं तर्हि चरमसमये श्रोत्रादीन्द्रियैः सह संबद्धानां शब्दादिविषयद्रव्याणां परेणाऽप्यर्थावग्रहलक्षणविज्ञानजननसामर्थ्यमिष्यते ?, तदभ्युपगन्तुं न युज्यते इति भावः । यदि हि शब्दादिविषयद्रव्याणां श्रोत्रादीन्द्रियैः सह संबन्धे आदिसमयादेवारभ्य ज्ञानमात्रा काचिद्प्रतिसमयमाविर्भवन्ती नाऽभ्युपगम्यते, तर्हि चरमसमयेऽप्येकस्मादेवैषा न युज्यते, तथा च सत्यर्थावग्रहादिज्ञानानामप्यनुदयप्रसङ्गः । इति गाथार्थः ।

तथाहि—

जं सव्वहा न वीसुं, सव्वेसु वि तन्न रेणुतिल्लं व ।
पत्तेयमणिच्छंतो, कहमिच्छसि समुदये नाणं ॥२०१॥

यद्वस्तु सर्वथा-सर्वप्रकारैर्विष्वक्-पृथक् नाऽस्ति तत् समुदायेऽपि नाभ्युपगन्तव्यं, यथा रेणुकणनिकरे प्रतिरेणुक(ण)मविद्यमानं तैलम् , एवं चेत्तर्हि त्वमपि प्रत्येकमनिच्छन् कथं समुदाये ज्ञानमिच्छसि ? । इदमुक्तं भवति-यदीन्द्रिय-

विषयसंबन्धस्य प्रथमसमयादारभ्य व्यञ्जनावग्रहसंबन्धिनोऽसंख्येयान् समयान् यावत्प्रतिसमयं पुष्टिमाबिभ्रतीं ज्ञानमात्रां काञ्चिदपि नेच्छसि तर्हि चरमसमयशब्दादिविषयद्रव्यसंबन्धेन संपूर्णे समुदायेऽपि कथं तामिच्छसि ?-चरमसमयशब्दादिविषयद्रव्यसंबन्धे यदर्थावग्रहज्ञानमभ्युपगम्यते, तदपि प्रत्येकमसच्चरमसिकताकणे तैलवत्र प्राप्नोतीति भाव. । तस्मात्तिलेषु तैलवत्सर्वेष्वपि समयेषु प्रत्येकं यच्च यावच्च ज्ञानमस्तीति प्रतिपत्तव्यम् । इति गाथार्थः ।

किं च—

समुदाये जइ णाणं, देसूणे समुदए कहं नऽत्थि ।
समुदाये वाऽभूयं, कह देसे होज्ज तं सयलं ॥ २०२ ॥

समुदायज्ञानवादिन् ? यदि विषयद्रव्यसंबन्धसमयानामसंख्येयानां समुदाये ज्ञानमर्थावग्रहलक्षणमभ्युपगम्यते । तर्हि चरमसमयलक्षणो योऽसौ देशस्तेन न्यूने समुदायेचरमैकसमयो नैष्वसंख्यातेषु समयेष्वित्यर्थः, तत्कथं नास्ति ?, समस्त्येव, प्रमाणोपपन्नत्वात् ?, तथाहि-सर्वेष्वपि शब्दादिद्रव्यसंबन्धसमयेषु ज्ञानमस्तीति प्रतिजानीमहे, ज्ञानोपकारिशब्दादिद्रव्यसंबन्धसमयसमुदायैकदेशत्वादिति हेतु, अर्थावग्रहसमयवदिति दृष्टान्तः । अत्राह-ननु शब्दादिविषयोपादानसमयसमुदाये ज्ञान केनाभ्युपगम्यते, येन समुदायैकदेशत्वात्प्रथमादिसमयेषु सर्वेष्वपि तत् प्रतिज्ञायते । मया ह्येकस्मिन्नेव चरमसमये शब्दादिद्रव्योपादाने ज्ञानप्रसव इष्यते, इत्याशङ्क्याह-'समुदाये वाऽभूयमि' त्यादि. चशब्दो वाशब्दो वा पातनार्थः. सा च कृतैव । तत्र यद्येकस्मिन्नेव चरमसमये ज्ञानमभ्युपगम्यते । तदाऽसौ सर्वसमयसमुदायापेक्षया तावदेकदेश एव । तस्माऽनेनैकदेशेनोने शेषसमयसमुदाये यद्भूतं ज्ञानं तत्कथ हन्त चरमसमयलक्षणे देशे अकस्मादेव सकलमखण्डं भवेद् अप्रमाणोपपन्नत्वात्, तथाहि-नैकस्मिंश्चरमशब्दादिद्रव्योपादानसये ज्ञानमुपजायते, एकसयमात्रशब्दादिद्रव्योपादानात् व्यञ्जनावग्रहाद्यसमयवदिति । स्यादेतत्, चरमसमयेऽर्थावग्रहज्ञानमनुभवप्रत्यक्षेणाऽप्यनुभूयते, तत प्रत्यक्षविरोधिनीय प्रतिज्ञा । तदयुक्तम्, चरमसमय एव समग्र ज्ञानमुत्पद्यते इति भवत्प्रतिज्ञातस्यैव प्रत्यक्षविरोधात्, चरमतन्तौ समस्तपटोत्पादवचनवत् । तथा, सर्वेष्वपि शब्दादिद्रव्यसंबन्धसमयेषु ज्ञानमस्तीत्यादिपूर्वोक्तानुमानविरोधश्च भवत्पक्षस्य । इति गाथार्थ. ।

तस्मात्किमिह स्थितम् ?, इत्याह—

तंतू पडोवगारी, न समत्तपडो य समुदिया ते उ ।
सव्वे सम्मत्तपडओ, तह नाणं सव्वसमयेसु ॥२०३॥

यथा एकस्तन्तु पटोपकारी वर्तते, तमन्तरेणापि समग्रस्य तस्याऽभावात् न चासौ तन्तुरेतावता समस्त पटो भवति, पटैकदेशत्वात् तस्य, समुदिता' पुनस्ते तन्तव सर्वे समस्तपटव्यपदेशभाजो भवन्ति ?। तथाऽत्रापि सर्वेष्वपि समुदितेषु समयेषु ज्ञान भवति, नैकस्मिंश्चरमसमये । ततश्चार्थावग्रहसमयात् पूर्वसमयेषु तदेव ज्ञानमतीवास्फुटं व्यञ्जनावग्रह उच्यते ? । चरमसमये तु तदेव किञ्चित् स्फुटतरावस्थामापन्नमर्थावग्रहः इति व्यपदिश्यते । अतो यद्यपि सुप्तमत्तमूर्छितादिज्ञानस्येव व्यक्तं तथाविधं व्यञ्जनावग्रहज्ञानसाधकं लिङ्ग नास्ति तथाऽपि यथोक्तयुक्तितो व्यञ्जनावग्रहे सिद्धं ज्ञानम् । इति गाथार्थः ।

तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्या, तत्र तत्त्वं व्यञ्जनावग्रहस्य स्वरूपमुक्तम् । अथ तस्य भेदान्निरूपयितुमाह—

नयणमणोवज्जिंदिय-भेआओ वंजणोग्गहो चउहा ।
(२०४+)

स च व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्धा भवति । कुत' ?, इत्याह—नयनमनोवर्जेन्द्रियभेदात् । इदमुक्तं भवति-विषयस्य इन्द्रियस्य च य' परस्पर संबन्ध.-प्रथममुपश्लेषमात्र; तद्व्यञ्जनावग्रहस्य विषय. । स च विषयेण सहोपश्लेषः प्राप्यकारिष्वेव स्पर्शन-रसनघ्राण-श्रोत्रलक्षणेषु चतुर्षिन्द्रियेषु भवति, न तु नयनमनसोः । अतस्ते वर्जयित्वा शेषस्पर्शनादीन्द्रियचतुष्टयभेदात् चतुर्विध एव व्यञ्जनावग्रहो भवति । विशे० । (भेदान् ' इंदिय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यामि । ('मण' शब्दे च षष्ठे भागे) (व्यवस्थितम् अप्राप्यकारित्व नयनमनसोः) ततश्च-स्पर्शन-रसन घ्राणश्रोत्रभेदात् चतुर्विध एव व्यञ्जनावग्रहः । विशे० ।

(४) अवग्रहप्ररूपणामाह । प्रतिबोधक-मल्लक-दृष्टान्ताभ्याञ्च प्ररूपणां सहोपात्तत्वात्प्ररूपणया सहैव व्युत्क्रमेणाह—

तत्थोग्गहो दुभेओ, उग्गहणं जं होइ वंजणऽत्थाणं ।
वंजणओ य जमत्थो, तेणाईए तयं वोच्छं ॥१९३॥

(अस्या गाथाया व्याख्या ' उग्गह ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिज्ञानव्यञ्जनावग्रहस्वरूपप्रतिपादनं चेह प्रकृतम् । तस्य च व्यञ्जनावग्रहस्य स्वरूप नन्द्यध्ययनागमसूत्रे प्रतिबोधकमल्लकोदाहरणाभ्यां प्रतिपादितम्, तद्यथा—

" वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि पडिबोहगदिट्ठंतेणं, मल्लगदिट्ठंतेण य । से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ? पडिबोहगदिट्ठंतेणं से-जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा अमुग ! अमुग ! त्ति । तत्थ चोयगे पण्णवग एवं वयासी-किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ०जाव दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ?, एवं वदन्त चोयगं पण्णवए एवं वयासी-नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति ०जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति नो संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, से (त्तं) तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ॥

से किं त मल्लगदिट्ठंतेणं ? मल्लगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेग उदगबिंदुं पक्खि-

विज्जा, से नट्ठे । अएवे वि पक्खित्ते, सेऽवि नट्ठे । अएवे वि पक्खित्ते, से वि नट्ठे । एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जे णं त मल्लगं रावेहिति । होही से उदगबिंदू जे णं तसि मल्लगंसि ठाइति । होही से उदगबिंदू जे ण तं मल्लगं भरेहिति । होही से उदगबिन्दू जे णं तसि मल्लगंसि न ट्ठाहिहिति । होही से उदगबिंदू जे ण तं मल्लगं पवाहेहिति पवामेव पक्खिप्पमाणेहिं २ अणन्तेहिं पुग्गलेहिं जाहे त वंजणं पूरिय होइ ताहे हुन्ति करेइ, नो चेव णं जाणइ के वि एस सद्दाइ" (सूत्र-३५+) इत्यादि ।

इदं च सूत्रं नन्दिविवरणे एवेत्थ व्याख्यातम्, तद्यथा-प्रतिबोधकमल्लकदृष्टान्ताभ्यां व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा करिष्यामि । तत्र प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधक स एव दृष्टान्तस्तेन, तद्यथानाम कश्चिद्-अनिर्दिष्टस्वरूप पुरुष. कञ्चिद्-अन्यम् अनिर्दिष्टस्वरूपमेव पुरुष सुप्तं सन्तं प्रतिबोधयेत् । कथमित्याह—अमुक ! अमुक ! इति । तत्र प्रेरकः प्रज्ञापकमेवमवादीत्-किमेकसमयप्रविष्टा इत्यादि । एवं यदन्नं प्रेरक प्रज्ञापक एवमुक्तवान्-नो एकसमयप्रविष्टा इत्यादि, प्रकटार्थं, यावदसंख्येयसमयप्रविष्टा पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति । नवरमय प्रतिषेध शब्दविज्ञानग्राह्यतामधिकृत्य वेदितव्य; शब्दविज्ञानजनकत्वेनेत्यर्थ, अन्यथा सबन्धमात्रमधिकृत्य प्रथमसमयादारभ्य पुद्गला ग्रहणमागच्छन्त्येव । 'असंखेज्ज' इत्यादि प्रतिसमयप्रवेशेनादित आरभ्यासंख्येयसमयै प्रविष्टा असंख्येयसमयप्रविष्टा पुद्गला -शब्दद्रव्यविशेषा ग्रहणमागच्छन्ति-अर्थावग्रहज्ञानहेतवो भवन्तीति भाव । इह च चरमसमयप्रविष्टा एव विज्ञानजनकत्वेन ग्रहणमागच्छन्ति, तदन्ये त्विन्द्रियक्षयोपशमोपकारिण इति सर्वेषा सामान्येन ग्रहणमुक्तम् । सेय प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणा इति वाक्यशेष ॥ अथ केय मल्लकदृष्टान्तेन प्ररूपणा ? । तद्यथानाम कश्चित्पुरुष आपाकशिरसो मल्लकशराव गृहीत्वा रूक्षमिद भवतीत्यस्य ग्रहणम् । तत्र मल्लके एकमुदकबिन्दु प्रक्षिपेत्स नष्ट तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थ । शेष सुबोधम् 'जाव जे ण तं मल्लग ' 'रावेहिति' आर्द्रतां नेष्यति । शेष सुबोधम् । नवरम् 'पवाहेहिति ' प्लावयिष्यतीति । 'एवामेव' त्यादि, अनेन बहुत्वात्प्रतिसमयमनन्तै शब्दपुद्गलै. यदा तद्व्यञ्जन पूरितं भवति, तदा 'हुम्' इति करोति तमर्थं गृह्णातीत्युक्त भवति । किं विशिष्ट नाम-जात्यादिकल्पनारहितम्, अत एवाह-' नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ त्ति ' न पुनरेव जानाति क एष शब्दादि इत्यर्थ । एव च सति सामयिकत्वादर्थावग्रहस्य अर्थावग्रहात्पूर्वं सर्वो व्यञ्जनाऽवग्रह ' तदेवमस्य व्यञ्जनाऽवग्रहस्वरूपप्रतिपादकस्य नन्दिसूत्रस्य शेष प्राय सुगममिति मन्यमानो भाष्यकार "जाहे त वंजण पूरिय होइ " इत्येतत् (नन्दिसूत्रांश) व्याचिख्यासुराह—

तोएण मल्लगं पिव, वंजणमापूरियं ति जं भणियं ।
तं दव्वमिंदियं वा, तस्संजोगो व न विरुद्धं ॥ २५० ॥

' ज भणियं ' यदुक्त नन्दिसूत्रकारेण किं तद् ?, इत्याह-व्यञ्जनमापूरितमिति । केन किंवत् ?, इत्याह । तोयेन-जलेन मल्लक-शरावं नवादिति । तस्मिन् सूत्रकारभणिते व्यञ्जने द्रव्यं गृह्यते, इन्द्रियं वा, तयोर्वा द्रव्येन्द्रिययो' सयोगासबन्ध इति सर्वथाऽप्यविरोध' । इदमुक्त भवति-व्यञ्जनशब्देन शब्दादिविषयपरिणतपुद्गलसमूहरूप द्रव्यं श्रोत्रादीन्द्रिय वा द्रव्येन्द्रिययोः सबन्धो वा गृह्यते, न कश्चिद्विरोध, व्यज्यते-प्रकटीक्रियते विवक्षितोऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमित्यस्या व्युत्पत्ते' सर्वत्र घटनादिति गाथार्थ ।

केवल द्रव्यादिषु त्रिष्वपि व्यञ्जनशब्दवाच्येषु प्रत्येकमापूरितत्वे विशेषो द्रष्टव्य क पुनरसौ ? इत्याह—

दव्वं माणं पूरिय-मिंदियमापूरियं तहा दोण्हं ।
अवरोप्परसंसग्गो, जया तया गिण्हइ तमत्थं ॥२५१॥

'दव्व' ति-यदा द्रव्यं व्यञ्जनमधिक्रियते तदा 'जाहे तं वंजण पूरियं होइ' इति-कोऽर्थ ? इत्याह-'माणं पूरियं' ति-मानम् तस्य शब्दादिद्रव्यस्य प्रमाणं प्रतिसमयप्रवेशेन प्रभूतिकृतत्वात्स्वप्रमाणमानीतं-प्रकर्षमुपनीतं स्वग्राहकज्ञानजनने समर्थीकृतमिति यावत् । यदा त्विन्द्रियमिति इन्द्रिय व्यञ्जनमधिक्रियते तदा ' जाहे त वंजण पूरिय होइ ' इति-किमुक्त भवति ?, इत्याह-'आपूरिय' ति-आपूरितव्याप्त--भृत—वासितमित्यर्थ । तथा-' दोण्ह ति '—द्वयो' श्रोत्रादीन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्ययो सबन्धो यदि व्यञ्जनमधिक्रियते तदा ' जाहे तं वजण पूरिय होइ ' इति-किमुक्त भवति ? , इत्याह-' अवरोप्पर संसग्गो ' त्ति-सम्यग् सर्गो-योग' ससर्ग ; सम्यक् सबन्ध इत्यर्थ , इदमत्र हृदयम्—अस्मिन्पक्षे यदा तयोरिन्द्रियद्रव्ययो' परस्परमतीव सयुक्तता—अनुषक्तता अङ्गाङ्गिभावेन परिणामो भवति, तदा प्रस्तुतसबन्धलक्षण व्यञ्जनमापूरित भवतीत्युच्यत इति । 'जया तया गिण्हइ तमत्थ' ति-एवं यदा त्रिविधमपि व्यञ्जनं प्रकारत्रयेणाऽऽपूरित भवति, तदा तं विवक्षित शब्दादिकमर्थमव्यक्त नाम-जात्यादिकल्पना रहित गृह्णाति । एतच्च 'ताहे हुति करेइ' इत्यस्य व्याख्यानम् अर्थावग्रहश्चायमेकसामयिको विज्ञेय , इतरस्तु पूर्वमन्तर्मुहूर्त्तं द्रव्यप्रवेशादिरूपो व्यञ्जनाऽवग्रहोऽवसेयः । इति गाथार्थ ।

किं विशिष्टं पुनस्तमर्थं गृह्णाति ? इत्याशङ्क्य स्वत एव भाष्यकारस्तत्स्वरूपमाह—

सामन्नमणिद्देसं, सरूव-नामाइकप्पणारहियं ।
जइ एवं ज तेणं, गहिए सद्देत्ति तं किहणु ? ॥२५२॥

ग्राह्यस्तुन सामान्यविशेषात्मकत्वे सत्यप्यर्थावग्रहेण सामान्यरूपमेवार्थं गृह्णाति, न विशेषरूपम्, अर्थावग्रहस्यैकसामयिकत्वात्, समयेन च विशेषग्रहणायोगादिति । सामान्यार्थश्च कश्चित् ग्रामनगरवनसेनादिशब्देन निर्देश्योऽपि भवति, तद्व्यवच्छेदार्थमाह-अनिर्देश्यं केनापि शब्देनानभिलप्यम् । कुत. पुनरेतत् ?, इत्याह —यत स्वरूपनामादिकल्पनारहितम्, आदिशब्दात्—जाति-क्रियागुणद्रव्यपरिग्रह' । तत्र रूपरसादीना -य आत्मीयचक्षुरादीन्द्रियगम्य प्रतिनियत स्वभावस्तत्स्वरूपम् । रूपरसादिकस्तु तदभिधायको ध्वाननाम, रूपत्व-रसत्वादिका

तु जातिः प्रीतिकरमिदं रूपं पुष्टिकरोऽयं रस इत्यादिकस्तु शब्दः क्रियाप्रधानत्वात् क्रिया। कृष्णनीलादिकस्तु गुणः। पृथिव्यादिकं पुनर्द्रव्यम्। एतेषां स्वरूप-नाम-जात्यादीनां कल्पना अन्तर्जल्पारूषितज्ञानरूपा तया रहितमेवार्थमर्थावग्रहेण गृह्णाति यतो जीवः, तस्मादनिर्देश्योऽयमर्थः प्रोक्तः, तत्कल्पनारहितत्वेन स्वरूप-नाम-जात्यादिप्रकारेण केनाऽपि निर्देष्टुमशक्यत्वादिति। एवमुक्ते सति परः प्राह-' जइ एवं ' इत्यादि-यदि स्वरूप-नामादिकल्पनारहितोऽर्थोऽर्थावग्रहस्य विषय इत्येवं व्याख्यायते भवद्भिः, तर्हि 'जं' ति-यन्नन्द्यध्ययनसूत्रे प्रोक्तम्। किम् ?, इत्याह-' तेण गहिए सद्दे ' त्ति-उपलक्षणत्वादित्थं तत्सपूर्णं द्रष्टव्यम्-" से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए न उण जाणइ केवेस सद्दे" इति, ' त किहणु ' त्ति-तदेतत्कथमविरोधेन नीयते ?-युष्मद्व्याख्यानेन सह विरुध्यते एवेदमित्यर्थः, तथा हि-अस्मिन्नन्दिसूत्रेऽयमर्थः प्रतीयते-यथा तेन प्रतिपत्त्रार्थावग्रहेण शब्दोऽवगृहीत इति भवन्तस्तु शब्दाद्युल्लेखरहितं सर्वथा अमुं प्रतिपादयन्ति ततः कथं न विरोध इति भावः इति गाथार्थः।

अत्रोत्तरमाह—

सद्दे त्ति भणइ वत्ता, तम्मत्तं वा न सद्दबुद्धीए।
जइ होज्ज सद्दबुद्धी, तोऽवाओ चेव सो होज्जा ॥२५३॥

शब्दस्तेनाऽवगृहीत इति यदुक्तं तत्र-' शब्दः ' इति वक्ता प्रज्ञापकः, सूत्रकारो वा भणति-प्रतिपादयति, अथवा-तन्मात्रं--शब्दमात्रं रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्याऽनवधारितत्वाच्छब्दतया अनिश्चितं गृह्णातीति। एतावतांशेन शब्दस्तेनाऽवगृहीत इत्युच्यते, न पुनः शब्दबुद्ध्या 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायेन तत्-शब्दवस्तु तेनावगृहीतं, शब्दोल्लेखस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वाद् अर्थावग्रहस्य त्वेकसामायिकत्वादसंभव एवायमिति भावः। यदि पुन तत्र—अर्थावग्रहे शब्दबुद्धिः स्यात्तर्हि को दोषः स्याद् ? इत्याशङ्क्य सूत्रकारः स्वयमेव दूषणान्तरमाह-' जई ' त्यादि-यदि पुनरर्थावग्रहे शब्दबुद्धिः-शब्दनिश्चयः स्यात्, तदाऽपाय एवाऽसौ स्यात्, नत्वर्थावग्रहः, निश्चयस्यापायरूपत्वात्। ततश्चार्थावग्रहस्याभाव एव स्यात्, न चैतद् इष्टम्, इष्टं च। इति गाथार्थः।

अत्राह परः-ननु प्रथमसमय एव रूपादिव्यपोहेन 'शब्दोऽयम्' इति प्रत्ययोऽर्थावग्रहत्वेनाभ्युपगम्यतां, शब्दमात्रत्वेन सामान्यत्वात्; उत्तरकालं तु प्रायो माधुर्यादयः शाङ्खशब्दधर्मा इह घटन्ते, ननु शार्ङ्गधर्माः खरकर्कशत्वादय इति विमर्शबुद्धिरीहा तस्माच्छाङ्ख एवाऽयं शब्द इति तद्विशेषस्त्वपायोऽस्तु। तथा च सति "तेण सद्दे त्ति उग्गहिए" इद यथाश्रुतमेव व्याख्यायते-नो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाइ तओ ईह पविसइ " इत्याद्यपि सर्वमविरोधेन गच्छतीति। तदेतत्परोक्तं सूरिः प्रत्यनुभाष्य दूषयति, तद्यथा—

जइ सद्दबुद्धिमेत्तयमवग्गहो तव्विसेसणमवाओ।
णणु सद्दो नासद्दो, न य रूवाइविसेसोयं ॥ २५४ ॥

भो पर ! यदि शब्दबुद्धिमात्रं 'शब्दोऽयम्' इति निश्चयज्ञानमपि भवतार्थाऽवग्रहोऽभ्युपगम्यते, तद्विशेषणं तु तस्य शब्दस्य विशेषणं विशेषः 'शाङ्ख एवायं शब्दः' इत्यादिविशेषज्ञानमित्यर्थः, अपायो मतिज्ञानतृतीयो भेदोऽङ्गीक्रियते हन्त तर्हि अवग्रहलक्षणस्य तदाद्यभेदस्याऽभावप्रसङ्गः, प्रथमत एवावग्रहमतिक्रम्याऽपायाऽभ्युपगमात्। कथं पुनः शब्दज्ञानमपायः ? इति चेद्। उच्यते-तस्यापि विशेषग्राहकत्वात्, विशेषज्ञानस्य च भवताप्यपायत्वेनाभ्युपगतत्वात्। ननु 'शाङ्ख एवाऽयं शब्दः' इत्यादिकमेव तदुत्तरकालभाविज्ञानं विशेषग्राहकं शब्दज्ञाने तु शब्दसामान्यस्यैव प्रतिभासमात्कथं विशेषप्रतिभासः, येनाऽपायप्रसङ्गः स्याद् ?, इत्याह-' णणु ' इत्यादि, नन्वित्यक्षमायां, परामन्त्रणे वा, ननु 'शब्दोऽयं नाशब्दः' इति विशेषोऽयं विशेषप्रतिभास एवाऽयमित्यर्थः; कथं पुनर्नाशब्द इति निश्चीयते ?, इत्याह-न च रूपादिरिति, चशब्दो हिशब्दार्थे, आदिशब्दाद्गन्ध-रस-स्पर्शपरिग्रहः। ततश्चेदमुक्तं भवति-यस्मान्न रूपादिरयं, तेभ्यो व्यावृत्तत्वेन गृहीतत्वाद्, अतो नाऽशब्दोऽयमिति निश्चीयते; यदि तु रूपादिभ्योऽपि व्यावृत्तिर्गृहीता न स्यात्तदा शब्दोऽयमिति निश्चयोऽपि न स्यादिति भावः। तस्माच्छब्दोऽयं नाशब्द इति विशेषप्रतिभास एवाऽयम्। तथा च सत्यस्याप्यपायप्रसक्तेरर्थाऽवग्रहाभावप्रसङ्ग इति स्थितम्। इति गाथार्थः।

अथ परोऽवग्रहाऽपाययोर्विषयविभागं दर्शयन्नाह—

थोवमियं नाऽवाओ, संखाइविसेसणमवाउ त्ति।
तब्भेया वेक्खाए, णणु थोवमियं पि नाऽवाओ ॥२५५॥

इदं शब्दबुद्धिमात्रकं शब्दमात्रस्तोकविशेषावसायित्वात् स्तोकम्-स्तोकविशेषग्राहकम्, अतोऽपायो न भवति, किं त्ववग्रह एवाऽयमिति भावः। क पुनस्तर्ह्यपायः ?, इत्याह-'संखाइ' इत्यादि, शाङ्खोऽयं शब्द इत्यादिविशेषणविशिष्टं यज्ज्ञानं तदपायः बृहद्विशेषावसायित्वादिति हृदयम्। हन्त ! यद्यत् स्तोकं तत्तन्नाऽपायः, तर्हि निवृत्ता सांप्रतमपायज्ञानकथा, उत्तरोत्तरार्थविशेषग्रहणापेक्षया पूर्वपूर्वार्थविशेषावसायस्य स्तोकत्वाद्। एतदेवाह-' तब्भेये ' त्यादि, तस्य-शाङ्खशब्दस्य ये उत्तरोत्तरभेदा मन्द्रमधुरत्वादयः, तरुणमध्यमवृद्धस्त्रीपुरुषसमुत्थत्वादयश्च तदपेक्षाया सत्यामिदमपि ' शाङ्खोऽयं शब्द ' इत्यादि ज्ञानं ननु स्तोक-स्तोकविशेषग्राहकमेव इति नाऽपायः स्याद्। एवमुत्तरोत्तरविशेषग्राहिणामपि ज्ञानानां तदुत्तरोत्तरभेदापेक्षया स्तोकत्वादपायत्वाभावो भावनीयः। इति गाथार्थः।

तमेवाऽपायाभावं स्फुटीकुर्वन्नाह—

इय सुबहुणा वि कालेण, सव्वभेयावहारणमसज्झं।
जम्मि हवेज्ज अवाओ, सव्वो च्चिय उग्गहो नाम ॥२५६॥

इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः, ततश्चेदमुक्तं भवति-यथा 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इत्यस्यां बुद्धौ शब्दगतभेदावधारणं साम्प्रतमसाध्यम्, मन्द्रमधुरत्वादितदुत्तरोत्तरभेदबाहुल्यसम्भवात्। तथा च सति स्तोकत्वादेयं बुद्धिरपायः, किं त्वर्थाऽवग्रहः इत्येवं सुबहुनाऽपि कालेन सर्वेणापि पुरुषायुषेण शब्दगतमन्द्रमधुरत्वाद्युत्तरोत्तरभेदावधारणमसाध्यं तद्ले-

ङ्गानामनन्तत्वादशक्यमित्यर्थः, यस्मिन् भेदाऽवधारणे, किम् ?, इत्याह-यस्मिन्नपायो भवेदन्यभेदाकाङ्क्षानिवृत्तेर्य-स्मिन् भेदाऽवधारणज्ञानेऽपायत्वं व्यवस्थाप्येत, इति भाव । तस्मात्सर्वोऽपि भेदप्रत्यय उत्तरोत्तरापेक्षया त्वदभिप्रायेण स्तोकत्वादर्थावग्रह एव प्राप्नोति, नाऽपायः, शब्दज्ञानवद् । इति गाथार्थः ।

किं च-शब्द एवायमिति ज्ञानं स्तोकत्वाद्यदर्थावग्रहत्वेन भवताऽभिमतम् । तत् पूर्वमीहामन्तरेण न सम्भवति तत्पूर्वकत्वे च तस्याऽर्थावग्रहत्वाऽसंभव इति दर्शयन्नाह—

किंमद्दो किममद्दो-त्तणीहिए सद्दए व किह जुत्तं ? ।
अह पुव्वमीहिऊणं, सद्दो त्ति मयं तई पुव्वं ॥ २५७ ॥

'किं शब्दोऽयम्' आहो(स्वि)श्विद् अशब्दो-रूपादिः इत्येवं पूर्वमनीहिते यत् 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञान तदकस्मादेव जायमानं कथ युक्तम् ?, विमर्शपूर्वकत्वमन्तरेण नैव घटत इत्यर्थ. । इदमुक्तं भवति-शब्दगतान्वयधर्मेषु. रूपादिभ्यो व्यावृत्तौ च गृहीतायां 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञान युज्यते, तद्ग्रहण च विमर्शमन्तरेण नोपपद्यते, विमर्शश्च-ईहा, तस्मादीहामन्तरेणायुक्तमेव 'शब्द एव' इति निश्चयज्ञानम् । अथ निश्चयकालात्पूर्वमीहित्वा भवतोऽपि 'शब्द एवायम्' इति निश्चयज्ञानमभिमतम् । हन्त; तर्हि निश्चयज्ञानात्पूर्वम् 'तई' असौ ईहा भवद्वचनतोऽपि सिद्धा । इति गाथार्थ. ।

यदि नाम निश्चयज्ञानात्पूर्वमीहा सिद्धा,
तत. किम् ?, इत्याह—

किं तं पुव्वं गहियं, जमीहओ सद्दए व विण्णाणं ।
अह पुव्वं सामण्णं, जमीहमाणस्स सद्दो त्ति ॥ २५८ ॥

हन्त ! यदि निश्चयज्ञानमीहापूर्वक त्वयाऽभ्युपगम्यते, तर्हि प्रष्टव्योऽसि ननु ईहायाः पूर्वं किं तद्वस्तु प्रमात्रा गृहीतम्, यदीहमानस्य तस्य 'शब्द एवायम्' इति निश्चयज्ञानमुपजायते ?, न हि कश्चिद्वस्तुन्यगृहीते अकस्मात्प्रथमत एव ईहां कुरुत इति भाव. । क्षुभितस्य परस्योत्तरप्रदानाऽसामर्थ्यमालोक्य स्वयमेव तन्मतमाशङ्कते-अथ ब्रूयात्पर -सामान्य नाम-जात्यादिकल्पनारहित वस्तुमात्रमीहायाः पूर्वं गृहीतं, यदीहमानस्य 'शब्द' इति निश्चयज्ञानमुत्पद्यते । इति गाथार्थः ।

अथ ईहाया पूर्वं सामान्यग्रहणे परेणेष्यमाणे सूरिः स्वसमीहितसिद्धिमुपदर्शयन्नाह—

अत्थोग्गहओ पुव्वं, होयव्वं तस्स गहणकालेणं ।
पुव्वं च तस्स वंजण-कालो सो अत्थपरिसुण्णो ॥ २५९ ॥

ननु ईहाया. पूर्वं यत् सामान्य गृह्यते, तस्य तावद् ग्रहणकालेन भवितव्यम् । स चास्मदभ्युपगतसामायिकार्थाऽवग्रहकालरूपो न भवति, अस्मदभ्युपगताऽङ्गीकारप्रसङ्गात्, किं तर्हि ?, अस्मदभ्युपगतार्थाऽवग्रहात्तत्पूर्वमेव भवदभिप्रायेण तस्य सामान्यस्य ग्रहणकालेन भवितव्य, पूर्वं च तस्याऽस्मदभ्युपगतार्थाऽवग्रहस्य व्यञ्जनकाल एव वर्तते, व्यञ्जनाना-शब्दादिद्रव्याणामिन्द्रियमात्रेणादान-कालो मध्यपदलोपाद्व्यञ्जनकाल" । भवत्वेवं, तथाऽपि तत्र सामान्याऽर्थग्रहण भविष्यति, इत्याशङ्क्याह-स च व्यञ्जनकालोऽर्थपरिशून्य., न हि तत्र सामान्यरूपो, विशेषरूपो वा कश्चनाप्यर्थ. प्रतिभाति, तदा मनोरहितेन्द्रियमात्रव्यापारात्, तत्र चार्थप्रतिभासाऽयोगात् । तस्मात्पारिशेष्यादस्मदभ्युपगतार्थाऽवग्रह एव सामान्यग्रहणमिति गाथायामनुक्तमपि स्वयमेव द्रष्टव्यम् । तदनन्तर चान्वयव्यतिरेकधर्मपर्यालोचनरूपा ईहा, तदनन्तरं च 'शब्द एवाऽयम्' इति निश्चयज्ञानमपायः इति सर्वं सुस्थं भवति । इति गाथार्थ. ।

अथ प्रथममेवाऽर्थाऽवग्रहज्ञानेन शब्दाऽग्रहणे पर. पुनरपि दोषमाह—

जइ सद्दो त्ति न गहियं, न उ जाणइ जं क एस सद्दो त्ति ।
तमजुत्तं सामण्णे, गहिए मग्गिज्जइ विसेसो ॥ २६० ॥

यदर्थाऽवबोधसमये प्रथममेव 'शब्दोऽयम्' इत्येव तद्वस्तु न गृहीत, तर्हि 'न उण जाणइ के वेस सद्दे त्ति' 'जंति', यत्सूत्रे निर्दिष्टं तदयुक्तं प्राप्नोति, यस्माच्छब्दसामान्ये रूपादिव्यावृत्ते गृहीते सति पश्चान्मृग्यते-अन्विष्यते विशेष.- 'किमयं शब्दः शाङ्ख, उत शार्ङ्ग ?' इति । इदमुक्तं भवति- "न उण जाणइ के वेस सद्दे" त्ति, अस्मिन् नन्दिसूत्रे 'न पुनर्जानाति कोऽप्येष शाङ्खशार्ङ्गान्यतरशब्द.' इति विशेषस्यैवाऽपरिज्ञानमुक्तम्, शब्दसामान्यमात्रग्रहणं त्वनुज्ञातमेव, तद्ग्रहणे तु 'क एष शब्द, किं शाङ्ख, शार्ङ्गो वा' इत्येव विशेषमार्गणमसङ्गतमेव स्यात् विशेषजिज्ञासायाः सामान्यज्ञानपूर्वकत्वाच्छब्दसामान्ये गृहीत एव तद्विशेषमार्गणस्य युज्यमानत्वात् । इति गाथार्थ. ।

अत्रोत्तरमाह—

सव्वत्थ देसयंतो, सद्दो सद्दो त्ति भासओ भणइ ।
इहरा न समयमित्ते, सद्दो त्ति विसेसणं जुत्तं ॥ २६१ ॥

सर्वत्र-पूर्वस्मिन्, अत्र च सूत्रावयवे अवग्रहस्वरूपं देशयन्-प्ररूपयन् 'शब्दः शब्दः' इति भाषकः-प्रज्ञापक एव वदति, न तु तत्र ज्ञाने शब्दप्रतिभासोऽस्ति । इत्थ चैतद्, अन्यथा न समयमात्रेऽर्थावग्रहकाले 'शब्द.' इति विशेषणं युक्तम्, आन्तर्मुहूर्तिकत्वाच्छब्दनिश्चयस्येति प्रागेवोक्तम् । सांव्यवहारिकार्थाऽवग्रहापेक्षं वा सूत्रमिदं व्याख्यास्यते इति मा त्वरिष्ठा. । इति गाथार्थः ।

अथ सूत्रावष्टम्भवादिनं पर दृष्ट्वा सौत्रमेव परिहारमाह-

अहव सुए च्चिय भणियं, जह कोइ सुणेज्ज सद्दमव्वत्तं ।
अव्वत्तमणिद्देसं, सामण्णं-कप्पणारहियं ॥ २६२ ॥

अथवा यदि तव गाढः श्रुतावष्टम्भ तदा तत्राप्येतद्भणितं यदुत--प्रथममव्यक्तस्यैव शब्दोल्लेखरहितस्य शब्दमात्रस्य ग्रहणम् । केन पुन सूत्राऽवयवेनेदमुक्तम् ?, इत्याह-' जह कोइ सुणेज्ज सद्दमव्वत्तं ' ति-अयं च सूत्रावयवो नन्द्यध्ययने इत्थं द्रष्टव्यः-" से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्द सुणेज्ज त्ति-(सूत्र +) अत्र-अव्यक्तमिति कोऽर्थ. ?, इत्याह-अनिर्देश्य 'शब्दोऽय' 'रूपादिर्वा' इत्यादिना प्रका-

रेणाऽव्यक्तमित्यर्थः। ननु यदि शब्दादिरूपेणाऽनिर्देश्यं, तर्हि किं तद् ?, इत्याह-सामान्यम्। किमुक्तं भवति ?, इत्याह-नामजात्यादिकल्पनारहितम्। न च वक्तव्यं शाङ्खशार्ङ्गभेदापेक्षया शब्दोल्लेखस्याप्यव्यक्तत्वे घटमाने कुत इदं व्याख्यानं लभ्यते ? इति; अवग्रहस्यानाकारोपयोगरूपतया सूत्रेऽधीनत्वाद् अनाकारोपयोगस्य च सामान्यमात्रविषयत्वात्, प्रथममेवाऽपायप्रसक्त्याऽवग्रहेहाभावप्रसङ्ग इत्याद्युक्तत्वाच्च। इति गाथार्थः।

अथ सूरिरेव पराभिप्रायमाशिशङ्कयिषुराह—

अहव मई पुव्वं चिय, सो गहिओ वंजणोग्गहे तेणं।
जं वंजणोग्गहम्मि वि, भणियं विन्नाणमव्वत्तं ॥२६३॥

अथ परस्य मतिः स्यात्केयम् ? इत्याह-सः-अव्यक्तः, अनिर्देश्यादिस्वरूपः शब्दः अर्थावग्रहात्पूर्वमेव व्यञ्जनावग्रहे नेन श्रोत्रा गृहीतः, तत्किमित्यर्थावग्रहेऽपि तद्ग्रहणमुद्घुष्यते ?, कथमिदं पुनर्ज्ञायते यदुत-असौ व्यञ्जनाऽवग्रहे गृहीतः ? इत्याह-'जमि' त्यादि, यत्-यस्माद् व्यञ्जनाऽवग्रहेऽपि भवद्भिरव्यक्तं विज्ञानमुक्तम्, अव्यक्तविषयग्रहण एव चाऽव्यक्तत्वम् तस्योपपद्यत इति भावः इति। गाथार्थः।

अत्रोत्तरमाह—

अत्थि तयं अव्वत्तं, न उ तं गिण्हइ सयं पि सो भणियं।
न उ अग्गहियम्मि जुज्जइ, सद्दो त्ति विसेसणं बुद्धी॥२६४॥

अस्ति तदव्यक्तं श्रोतुर्व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानं, न तस्यास्माभिरपलापः क्रियते, न पुनरसौ श्रोता अनिसौक्ष्म्यात्तत्स्वयमपि गृह्णाति-संवेदयते। एतच्च प्रागपि भणितम्। "सुत्तमत्ताइसुहुमबोहो व्व" इति वचनात्, तथा "सुत्तादयो सय वि य विण्णाणं णाऽवबुज्झंति" इति वचनाच्च। तस्माद् व्यञ्जनमात्रस्यैव तत्र ग्रहणं, न शब्दस्य, व्यञ्जनावग्रहत्वान्यथाऽनुपपत्तेरेवेति। न च सामान्यरूपतया अव्यक्ते शब्देऽगृहीतेऽकस्मादेव शब्दः इति विशेषणबुद्धिर्युज्यते, अनुस्वारस्याऽलाक्षणिकत्वाद्विशेषबुद्धिरित्यर्थः। अस्यां च विशेषबुद्धौ प्रथममेवेष्यमाणायामादावेवार्थावग्रहकालेऽप्यपायप्रसङ्गः, इत्यसकृदेवोक्तम्। इति गाथार्थः।

ननु यदि व्यञ्जनाऽवग्रहेऽप्यव्यक्तशब्दग्रहणं भवेत्तदा को दोषः स्यात् ?, इत्याह—

अत्थो त्ति विसयगहणं, जइ तम्मि वि सो न वंजणं नाम।
अत्थोग्गहो च्चिय ततो, अविसेसो संकरो वाऽवि ॥२६५॥

अर्थाऽवग्रहे अर्थः इत्यनेन तावद्विषयग्रहणमभिप्रेत-रूपादिभेदेनाऽनिर्द्धारितस्याव्यक्तस्य शब्दादेर्विषयस्य ग्रहणं; तत्राऽभिप्रेतमित्यर्थः। यदि च-तस्मिन्नपि व्यञ्जनाऽवग्रहेऽसावव्यक्तशब्दः प्रतिभासते इत्यभ्युपगम्यते, तदा न व्यञ्जनं नाम; व्यञ्जनाऽवग्रहो न प्राप्नोतीत्यर्थः। ततश्चेदानीं निवृत्ता तत्कथा, व्यञ्जनमात्रसंबन्धस्यैव तत्रोक्तत्वात्, भवता च तदतिक्रान्तस्याऽव्यक्तार्थग्रहणस्यैवाऽभिधीयमानत्वादिति। तर्ह्यव्यक्तार्थग्रहणे किमसौ स्यात् ? इत्याह—अर्थाऽवग्रह एवाऽसौ, अव्यक्ताऽर्थावग्रहणात्। ततश्च नास्ति व्यञ्जनम्-व्यञ्जनाऽवग्रह। अथास्याऽपि सूत्रे प्रोक्तत्वादस्तित्वं न परिहियते, तर्हि द्वयोरप्यविशेषः सोऽप्यर्थावग्रह सोऽपि व्यञ्जनावग्रहः प्राप्नोतीति भावः। मेचकमणिप्रभावत् संकरो वा स्यादित्थम्। इति गाथार्थः।

तदेष व्यञ्जनाऽवग्रहे व्यञ्जनसंबन्धमात्रमेव, अर्थाऽवग्रहे त्वव्यक्तशब्दाद्यर्थग्रहणं, न व्यक्तशब्दाद्यर्थसंवेदनम्, इति प्रतिपादितम्। सांप्रतमुपपत्त्यन्तरेणाप्यर्थाऽवग्रहे व्यक्तशब्दार्थसंवेदनं निराचिकीर्षुराह—

जेणऽत्थोग्गहकाले, गहणेहाऽवायसंभवो नऽत्थि।
तो नऽत्थि सद्दबुद्धी, अहऽत्थि नाऽवग्गहो नाम॥२६६॥

पूर्वं तावदर्थस्य ग्रहणमात्रं ततश्चेहा, तदनन्तरं त्वपायः, इत्येवं मतिज्ञानस्योत्पत्तिक्रमः। न चैतत् त्रितय प्रथममेवशब्दार्थेऽवगृह्यते समस्तीति। एतदेवाह-येनार्थाऽवग्रहकालेऽर्थग्रहणेहाऽपायाना संभवो नाऽस्ति ततोऽर्थाऽवग्रहे नाऽस्ति 'शब्द' इति विशेषबुद्धिः, अर्थग्रहणेहापूर्वकत्वात्तस्याः। अथाऽस्त्यसौ तत्र, तर्हि नाऽयमर्थाऽवग्रहः, किं त्वपाय एव स्यात्, न एतद्युज्यते, तदभ्युपगमेऽर्थाऽवग्रहेहयोरभावप्रसङ्गात्। इति गाथार्थः।

अपि च-अर्थाऽवग्रहे 'शब्दः' इति विशेषबुद्धाविष्यमाणाया दोषान्तरमप्यस्ति। किं तत् ? इत्याह—

सामण्ण-तदण्णविसे-सेहावज्जणपरिग्गहणाओ से।
अत्थोग्गहेगसमओ-वओगबाहुल्लमावण्णं ॥ २६७ ॥

इह येयमर्थाऽवग्रहैकसमये 'शब्दः' इति विशेषबुद्धिर्भवताऽभ्युपगम्यते, सा तावन्निश्चयरूपा निश्चयश्चाकस्मादेव न युज्यते, किंतु क्रमेण, तथाहि-प्रथमं तावद्रूपादिभ्योऽव्यावृत्तमव्यक्तं शब्दसामान्यं ग्रहीतव्यं, ततस्तद्विशेषविषया तदपररूपादिविशेषविषया च। एवैरेतैश्च धर्मैः 'किमयं शब्दः, आहोश्वित् रूपादिः' इत्येवं रूपा ईहा, तदनन्तरं च गृहीतशब्दसामान्यविशेषाणां ग्रहणम्, अन्येषां तु रूपादिविशेषाणां तत्राऽविद्यमानानां परिवर्जनम्, इत्येवंभूतेन क्रमेण निश्चयोत्पत्तिः। तथा च सति श्रोतुरर्थाऽवग्रहैकसमयेऽपि सामान्यग्रहणादिभिः प्रकारैरुपयोगबहुत्वमापद्यते, एकस्मिँश्च समये बहवः उपयोगा सिद्धान्ते निषिद्धाः, इति नाऽर्थावग्रहे शब्दादिविशेषबुद्धिः। इति गाथाभावार्थः।

अक्षरार्थस्तूच्यते-सामान्यमिह-श्रूयमाणशब्दसामान्यं गृह्यते, 'तयण्णविसेसेह' त्ति--तच्छब्देनानन्तरोक्तं शब्दसामान्यमनुकृष्यते, अन्यशब्देन तु तत्राऽविद्यमाना रूपादयः परिगृह्यन्ते ततश्च तच्चान्ये च तदन्ये—शब्दसामान्यं, रूपादयश्चेत्यर्थः, तेषां विशेषा धर्माः श्रोत्रग्राह्यत्वादयः, चक्षुरादिवेद्यत्वादयश्च, तद्विषया ईहा तदन्यविशेषेहा, किमत्र श्रोत्रग्राह्यत्वादयो धर्मा उपलभ्यन्ते, आहोश्वित् चक्षुरादिवेद्यत्वादय ? इत्येवं रूपो विमर्श इत्यर्थः, तदनन्तरं तु वर्जनं च तत्राऽविद्यमानरूपादिगतानां हेयधर्माणां चक्षुर्वेद्यत्वादीनां, परिग्रहणं च तत्र च गृहीतशब्दसामान्यगतानामुपादेयधर्माणां श्रोत्रग्राह्यत्वादीनाम्, इति वर्जन-परिग्रहणे-त्यागाऽऽदाने; सामान्यं च तदन्यविशेषेहा च वर्जनपरिग्रहणे च सामान्य-तदन्यविशेषेहाव-

र्थ-परिग्रहणानि तेभ्यस्ततः 'से' तस्य श्रोतुः । अर्थावग्रहैकसमयेऽप्युपयोगबाहुल्यम्, आपन्नं-प्राप्तम् । तथाहि-प्रथमस्सामान्यग्रहणोपयोगः, यथोक्तेहोपयोगस्तु द्वितीयः, हेयधर्मवर्जनोपयोगस्तृतीयः, उपादेयधर्मपरिग्रहणोपयोगश्चतुर्थः, इत्येवमर्थावग्रहैकसमयमात्रेऽपि बहव उपयोगाः प्राप्नुवन्ति । नचैतद्युक्तं, समयविरुद्धत्वात् । तस्मान्नार्थाऽवग्रहे शब्दविशेषबुद्धिः, किं तु 'सद्दे त्ति भणइ वत्ता' इत्यादि स्थितम् । इति गाथार्थः ।

अथास्मिन्नेवार्थाऽवग्रहेऽपरस्याभिप्रायं निराचिकीर्षुराह-

अण्णे सामण्णग्गहण-बालस्स जायमेत्तस्स ।
समयम्मि चेव परिचिय-विसयस्स विसेसविण्णाणं ॥२६८॥

अन्ये-वादिनः केचिदेवमाहुः-यदेतत्सर्वविशेषविमुक्तस्याऽव्यक्तस्य सामान्यमात्रस्य वस्तुनो ग्रहणमालोचनं, तद् बालस्य-शिशोस्तत्क्षणजातमात्रस्य भवति, नाऽत्र विप्रतिपत्तिः, अव्यक्तो ह्यसौ सङ्केतादिविकलोऽपरिचितविषयः । यस्तर्हि परिचितविषयः, तस्य किम्?, इत्याह-समय एव आद्यशब्दश्रवणसमय एव विशेषविज्ञानं जायते, स्पष्टत्वात्तस्य तन्मतमाश्रित्य 'तेण सद्दे त्ति उग्गहिए' इत्यादि, यथाश्रुतमेव व्याख्यायते, तेन न कश्चिद्दोष इति भावः । इति गाथार्थः ।

अत्रोत्तरमाह—

तदवत्थमेव तं पुव्व-दोसओ तम्मि चेव वा समये ।
संखमहुराइसुबहुय-विसेसगहणं पसज्जेज्जा ॥ २६९ ॥

"जेणऽत्थोग्गहकाले" (२६६ गा०) इत्यादिना ग्रन्थेन "सामण्णतयण्णविसेसेहा" (२६७ गा०) इत्यादिना च ग्रन्थेन यद् दूषितं या तस्यावस्था-यत्तस्य स्वरूपम्-'समयम्मि चेव परिचियविसयस्स विसेसविण्णाणं' इति, तदेतत्परोक्तमपि तदवस्थमेव, न पुनः किञ्चिदूनाधिकावस्थम् । कुतः?, इत्याह-"पुव्वदोसओ" त्ति, "जेणऽत्थोग्गहकाले" (२६६ गा०) इत्यादिना "सामण्णतयण्ण" (२६७ गा०) इत्यादिना च यः पूर्वं दोषोऽभिहितस्तस्मात्पूर्वदोषात् पूर्वदोषानतिवृत्तेः, तदेतत्परोक्तं तदवस्थमेव, इति नास्मदुक्तगाथाभिधानप्रयासो विधीयत इति भावः । अथ वा—पूर्वमपि दूषणमुच्यते । किं तद्?, इत्याह-'तम्मि चेव' इत्यादि, 'वा' इति अथ वा, तस्मिन्नेव शब्दविज्ञानस्य व्यक्तस्य जन्मादिविशेषसाहिते समये 'शाङ्खः शार्ङ्गो वाऽयं शब्दः, स्निग्धो मधुरः, कर्कशः, स्त्री-पुरुषादिसम्बन्धी वा' इत्यादिषु बहुविशेषग्रहणं प्रसज्येत । इदमुक्तं भवति-यदि व्यक्तस्य परिचितविषयस्य जन्तोराद्यशब्दश्रवणसमय एव तस्मिन्नर्थावग्रहैकसमयमात्रे शब्दनिश्चयज्ञानं भवति, तदा अन्यस्य कस्यचित्परिचिततरविषयस्य पटुतरावबोधस्य तस्मिन्नेव समये तदुत्तरविशेषज्ञानमपि भवतु 'शाङ्खोऽयं शब्दः' इत्यादिसमस्तोत्तरविशेषज्ञानमपि प्राप्तम्, दृश्यते च पुरुषशक्तीनां तारतम्यविशेषः । भवत्येव कस्यचित्प्रथमसमयेऽपि सुबहुविशेषग्राहकमपि ज्ञानमिति चेत्, न, "न उण जाणइ के वेस सद्दे" इत्यादि सूत्रावयवव्याघातप्रसङ्गात् । किमव्यक्ता-पुरुषविषयमेतत्सूत्रमिति चेत्, न, अविशेषेणोक्तत्वात्, सर्वविशेषविषयत्वस्य च युक्त्यनुपपन्नत्वात्; न हि प्रकृष्टमतेरपि शब्दधर्मिणमगृहीत्वा उत्तरोत्तर-बहुसुधर्मग्रहणं सम्भवोऽस्ति, निराधारधर्माणामनुपपत्तेः । इति गाथार्थः ।

किंच-समयमात्रेऽपि 'शब्द' इति विशेषविज्ञानमभ्युपगच्छतोऽन्येऽपि समयविरोधादयो दोषाः । के पुनस्ते?, इत्याह—

अत्थोग्गहो न समयं, अहवा समओवओगबाहुल्लं ।
सव्वविसेसग्गहणं, सव्वमईणोग्गहो णिज्झो ॥ २७० ॥
एगो वाऽवाउ च्चिय, अहवा सोऽणाहिगणीहिए पत्तो ।
उप्पक्कम-वइक्कमा वा, पत्ता धुवमोग्गहाईणं ॥ २७१ ॥
सामण्णं च विसेसो, वा सामण्णमुभयमुभयं वा ।
न य जुत्तं सव्वमियं वा,सामण्णाऽऽलंबणं सोत्तुं ॥२७२॥

'उग्गहो एक्कं समयं' इत्यादिवचनादर्थावग्रहः सिद्धान्ते सामयिको निर्दिष्टः, यदि-चाऽर्थाऽवग्रहे विशेषविज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सामयिकोऽसौ न प्राप्नोति, विशेषज्ञानस्याऽसङ्ख्येयसामयिकत्वात् । अथ समयमात्रेऽप्यस्मिन् विशेषज्ञानमिष्यते, तर्हि "सामण्ण-तयण्णविसेसेहा" (२६७ गा०) इत्यादिना प्रागुक्त समयोपयोगबाहुल्यं प्राप्नोति । अथवन्यमनाऽप्यनुवर्तते । ततश्च यथा परिचितविषयस्य विशेषज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने परिचिततरविषयस्य तस्मिन्नेव समये सर्वविशेषग्रहणमनन्तरोक्तं प्राप्नोति । अथवा-समयमात्रादपि विशेषपरिच्छेदेऽङ्गीक्रियमाणे ईहादीनामनुत्थानमेव । ततश्च सर्वापि मतिरवग्रहो प्राप्तः-सर्वस्याऽपि मतेरवग्रहरूपतैव प्राप्नोतीत्यर्थः । अथवा-सर्वोऽपि सोऽवाय एव प्राप्नोति, अर्थावग्रहे विशेषज्ञानस्याश्रयणात्, तस्य च निश्चयरूपत्वात्, निश्चयस्य, चाऽपायत्वादिति समयमात्रं चास्मिन्नपाये सिद्धे "ईहावायामुहुत्तमंत तु" इति विरुध्यते । अथवा-यदोऽवगृहीतं ईहितं च, अपाय सिद्धान्ते निर्दिश्यते "उग्गहो, ईहा, अवाओ य" इति क्रमनिर्देशात्, यदि चाद्यसमयेऽपि विशेषज्ञानाभ्युपगमादपाय इष्यते, तर्हि अनवगृहीत अनीहित च तस्मिन्नसौ प्राप्त । 'वा' इति-अथवा, यदि पूर्वोक्तव्याख्यानानिर्दिष्टोऽप्यपाय "समयम्मि चेव परिचियविसयस्स विसेसविण्णाणं" इति वचनात्प्रथमसमयोपन्यासेन प्रथममभ्युपगम्यते, तर्हि तस्मादेव प्राक्पश्चाद्भावादवग्रह-ईहा-अपाय-धारणानां ध्रुवं निश्चित-मुत्क्रम-व्यतिक्रमौ स्याताम् । तत्र पश्चानुपूर्वीभवनमुत्क्रमः । अनानुपूर्वीभवनं तु व्यतिक्रमः । तथा हि । यथा शक्तिविशेषात्कस्यचित्प्रथमसमयेऽपायो अभ्युपगम्यते, तथा तत एव कस्यापि प्रथमं धारणा स्यात्, ततोऽपायः, ततोऽपि ईहा तदनन्तरं त्ववग्रह इत्युत्क्रमः । कस्यचित्तु प्रथममपायः ... अवग्रह ... प्रथममीहा ... अन्यस्य तु ... इत्यादि व्यतिक्रमः, न चैव दृष्टं युक्तिसङ्गतं वा तदवग्रहादीनां ...

स्यैव पुष्टिहेतोः सद्भावात्। न चैतावुत्क्रमव्यतिक्रमौ युक्तौ "उग्गहो ईहा अवाओ य धारणा एव हौंति चत्तारि" इति परममुनिनिर्दिष्टक्रमस्याऽन्यथाकर्तुमशक्यत्वादिति। तथा, यदि यत्प्रथमसमये गृह्यते स विशेषस्तर्हि "सामण्णं च विसेसो" त्ति-यत्सामान्य तदपि विशेषः प्राप्त, प्रथमसमये हि सर्वस्याऽपि वस्तुनोऽव्यक्तं सामान्यमेव रूपं गृह्यते, ततोऽस्मिन्नप्यर्थाऽवग्रहसमये सामान्यमेव गृह्यत इति परमार्थः। यदि वा-अत्र विशेषबुद्धिर्भवताऽभ्युपगम्यते, तर्हि यदिह वस्तुस्थित्या सामान्य स्थितं तदपि भवदभिप्रायेण विशेष. प्राप्त। 'च' शब्दो दूषणसमुच्चयार्थे। 'सो वा सामण्णं' त्ति-स वा भवदभिप्रेतो विशेषो वस्तु स्थितिसमायातं सामान्य प्राप्नोतीति। 'उभयमुभयं व' त्ति-अथ वा-सामान्य-विशेषलक्षणमुभयमप्येतत्प्रत्येकमुभयं प्राप्नोति-एकैकमुभयरूप स्यादित्यर्थः, तथा हि-अव-ईषत्सामान्यं गृह्णातीत्यवग्रह इति व्युत्पत्त्या वस्तुस्थितिसमायातं यत्सामान्यं तत्स्वरूपेण तावत्सामान्यम्, भवदभ्युपगमेन तु विशेष, इत्येकस्याऽपि सामान्यस्योभयरूपता; तथा योऽपि भवदभ्युपगतो विशेष. सोऽपि त्वदभिप्रायेण विशेष, वस्तुस्थित्या तु सामान्यम्, इति विशेषस्याप्येकस्योभयस्वभावता। भवत्वेवमिति चेत्। इत्याह-न च युक्त सर्वमिदम्। किं कृत्वा?, इत्याह-सामान्यमालम्बनं ग्राह्य मुक्त्वा अर्थाऽवग्रहस्य इति शेष। इदमुक्त भवति-अर्थावग्रहस्याऽव्यक्त सामान्यमात्रमालम्बन परिहृत्य यदन्यद्विशेषरूपमालम्बनमिष्यते, तदभ्युपगमे च 'सामण्ण च विसेसो वा सामण्णं' इत्यादि, यदापतति, तत्सर्वमयुक्तम्, अघटमानकत्वात्। इह च गाथात्रये बहुषु दूषणेषु मध्ये यत् प्रागुक्तमपि किंचित् दूषणमुक्त तत्प्रसङ्गायातत्वात्, इति न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्। इति गाथात्रयार्थ.।

प्रस्तुत एवाऽर्थे परमपि मतान्तरमुपन्यस्य निराकुर्वन्नाह-

केई दीहालोयण-पुव्वमोग्गहं विंति तत्थ सामण्णं।
गहियमहत्थावग्गह-काले सद्दि त्ति निच्छिण्णं॥२७३॥

केचित्—वादिनः इहास्मिन्प्रक्रमेऽवग्रह ब्रुवते-अर्थावग्रहं व्याचक्षते। किं विशिष्टम्?, इत्याह-आलोचनपूर्वम्-सामान्यवस्तुग्राहिज्ञानम्-आलोचनं तत्पूर्वं-प्रथमं यत्र स तथा तं, प्रथममालोचनज्ञान ततोऽर्थावग्रह इत्यर्थ, तथा च तैरुक्तम्-" अस्ति ह्यालोचनाज्ञान, प्रथम निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञान-सदृश शुद्धवस्तुजम्"॥ १॥ इति। किं पुनस्तत्राऽऽलोचनज्ञाने गृह्यते? इत्याह-'तत्थ' इत्यादि, तत्र-आलोचनज्ञाने सामान्यमव्यक्त वस्तु गृहीत, प्रतिपत्त्रा इति गम्यते, अथानन्तरम्-अर्थाऽवग्रहकाले 'तदेव गृहीतम्' इत्यनुवर्त्तते। कथभूतं सद्? इत्याह-निच्छिन्नं-पृथक्कृतं; रूपादिव्यावृत्तेरित्यर्थ, केनोल्लेखेन गृहीतम्?, इत्याह-'सद्दे' त्ति-शब्दविशेषणविशिष्टमित्यर्थ। ततश्च "से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्त सद्द सुणेज्ज" इति-एतदालोचनज्ञानापेक्षया नीयते, "तेण, सद्दे त्ति उग्गहिए" एतत् चार्थाऽवग्रहापेक्षयेति सर्वं सुस्थतामनुभवति। न चात. पर भवतोऽप्याचार्य! किंचिद्दूषणमस्ति; यदि हि युक्त्यनुभवसिद्धेनार्थेन सूत्रे विषयविभागव्यवस्थापितेऽपि वादी अयं न मंस्यति, तदा तूष्णीमाश्रयन्तु विपश्चितो विचारचर्यामार्गस्य स्वाग्रहतत्परेण त्वयैव लुप्तत्वात्। इति गाथार्थः।

तदत्र सूरि. परस्यैवदुर्गर्वानुविद्धामज्ञतामवलोकयन् मार्गोऽवतारणाय विकल्पयन्नाह—

तं वंजणोग्गहाओ, पुव्वं पच्छा स एव वा होज्जा।
पुव्वं तदत्थवंजण-संबंधाऽभावओ नऽत्थि॥ २७४॥

यद्यनुपहतस्मरणवासनासन्तानस्तदर्थावग्रहात्पूर्वं व्यञ्जनावग्रहो भवतीति यदुक्तं प्राक् तद् भवानपि स्मरति। ततः किम्? इति चेद्, उच्यते-यदेतद्भवदुत्प्रेक्षित सामान्यग्राहकमालोचनं तद्-तस्माद्व्यञ्जनाऽवग्रहात्पूर्वं वा भवेत्, पश्चाद्वा भवेत्, स एव वा व्यञ्जनावग्रहोऽप्यालोचनं भवेत्? इति त्रयी गति, अन्यत्र स्थानाऽभावात्। किं चात.?, इत्याह-पूर्वं तन्नास्तीति संबन्ध.। कुत?, इत्याह-अर्थव्यञ्जनसम्बन्धाभावादिति अर्थ.—शब्दादिविषयभावेन परिणतद्रव्यसमूह., व्यञ्जनं तु श्रोत्रादि, अर्थश्च व्यञ्जनं च अर्थव्यञ्जने तयो. संबन्धस्तस्याऽभावात्, सति ह्यर्थव्यञ्जनसंबन्धे सामान्यार्थालोचन स्यात्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा तद्भावप्रसङ्गात्। व्यञ्जनाऽवग्रहाच्च पूर्वमर्थव्यञ्जनसंबन्धो नाऽस्ति, तद्भावे च व्यञ्जनावग्रहस्यैवेष्टत्वात्तत्पूर्वकालता न स्यादिति भाव। इति गाथार्थ.।

द्वितीयविकल्प शोधयन्नाह—

अत्थोग्गहो वि जं वं-जणोग्गहस्सेव चरमसमयम्मि।
पच्छा वि तो न जुत्तं, परिसेसं वंजणं होज्जा॥ २७५॥

तथा-अर्थावग्रहोऽपि यद्-यस्माद्व्यञ्जनाऽवग्रहस्यैव चरमसमये भवति, इति, प्रागिहापि निर्णीतम्। तस्मात्पश्चादपि व्यञ्जनाऽवग्रहादालोचनज्ञान न युक्तं, निरवकाशत्वात्। न हि व्यञ्जनार्थाऽवग्रहयोरन्तरे काल समस्ति, यत्र तत् त्वदीयमालोचनज्ञानं स्यात्, व्यञ्जनाऽवग्रहचरमसमय एवार्थावग्रहसद्भावात्। तस्मात्पूर्वपश्चात्कालयोर्निषिद्धत्वात्पारिशेष्यान्मध्यकालवर्ती तृतीयविकल्पोपन्यस्तो व्यञ्जनं-व्यञ्जनावग्रह एव भवता आलोचनाज्ञानत्वेनाभ्युपगतो भवेत्। एव च न कश्चिद्दोष नाममात्र एव विवादात्। इति गाथार्थः।

क्रियतां तर्हि प्रेरकवर्गेण वर्द्धापनकं, त्वदभिप्रायाविसंवादलाभात्, इति चेत्। नैवं, विकल्पद्वयस्येह सद्भावात्, तथा हि-तद् व्यञ्जनावग्रहकालेऽभ्युपगम्यमानमालोचनं किमर्थस्यालोचनं, व्यञ्जनाना वा? इति विकल्पद्वयम्। तत्र प्रथमविकल्पमनूद्य दूषयन्नाह—

तं च समालोयणम-त्थदरिसणं जइ न वंजणं तो तं।
अह वंजणस्स तो कह-मालोयणमत्थसुण्णस्स?॥२७६॥

तत्समालोचनं यदि सामान्यरूपस्यार्थस्य दर्शनमिष्यते तत तर्हि न व्यञ्जनम्-न व्यञ्जनाऽवग्रहात्मक भवति, व्यञ्जनाऽवग्रहस्य व्यञ्जनसंबन्धमात्ररूपत्वेनाऽर्थशून्यत्वात्, तथा च-प्रागपि "पुव्व च तस्स वंजण—कालो सो अत्थ

परिसुत्तणो " इत्यादिना साधितमेवेदम् । अतोऽर्थदर्शनरूपमालोचनं कथमर्थशून्य-व्यञ्जनावग्रहात्मकं भवितुमर्हति ?, विरोधात् । अथ द्वितीयविकल्पमङ्गीकृत्याह-अथ व्यञ्जनस्य शब्दादिविषयपरिणतद्रव्यसंबन्धमात्रस्य तत्समालोचनमिष्यते, तर्हि कथमालोचनं—कथमालोचकत्वं, तस्य घटते ?, इत्यर्थ । कथंभूतस्य सत. ?, इत्याह—अर्थशून्यस्य व्यञ्जनसंबन्धमात्रान्वितत्वेन सामान्यार्थालोचकत्वानुपपत्तेरित्यर्थ. । इति गाथार्थः ।

ननु शास्त्रान्तरप्रसिद्धस्यालोचनज्ञानस्य वराकस्य तर्हि का गति. ? इत्याह—

आलोयण त्ति नामं, हविज्ज वं वंजणोग्गहस्सेव ।
होज्ज कहं सामन्न-ग्गहणं तन्थऽत्थसुण्णम्मि ? ॥२७७॥

तस्मादालोचनमिति यन्नाम तदन्यत्र निर्गमनिकं सत्पारिशेष्याद्-व्यञ्जनावग्रहस्यैव द्वितीयं नाम भवेत् । न च विवक्षामात्रप्रवृत्तेषु वस्तूना यदृच्छयापि नामसु क्रियमाणेषु कोऽपि विवादमाविष्करोति ? । अत एतदपि नामान्तरमस्तु, को दोष. ? इति । नैतदेवम्, यस्मादिदं सामान्यग्राहकमालोचनज्ञान भविष्यति, अर्थावग्रहस्तु विशेषग्राहक इति, एवमप्यस्माकं समीहितसिद्धिर्भविष्यतीति चेत्, इत्याह-' होज्ज ' इत्यादि । व्यञ्जनावग्रहस्यैव पारिशेष्यादालोचनज्ञानत्वमापन्न तत्र च प्रागुक्तयुक्तिभिरर्थशून्ये कथ सामान्यग्रहण भवेत्, येन भवत. समीहितसिद्धिप्रमोदः ?, इति । तस्मादर्थावग्रह एव सामान्याऽर्थग्राहक., न पुनरेतस्मादपरमालोचनाज्ञानम् । अत एव यदुक्तम्-" अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं, प्रथम निर्विकल्पकम् " इत्यादि, तदप्यर्थावग्रहाश्रयमेव, यदि घटते; नाऽन्यविषयम् । इति गाथार्थ. ।

अथ ' दुर्बल वादिन दृष्ट्वाऽभ्युपगमोऽपि कर्त्तव्यः ' इति न्यायप्रदर्शनार्थमाह—

गहियं व होउ तहियं, सामण्णं कहमणीहिए तम्मि ।
अत्थाऽवग्गहकाले, विसेसणं एस सद्दो त्ति ॥ २७८ ॥

अथवा भवतु तस्मिन् व्यञ्जनाऽवग्रहे सामान्यं गृहीतं, तथाऽपि कथमनीहिते-अविमर्शिते तस्मिन्नकस्मादेवार्थाऽवग्रहकाले ' शब्द एव. ' इति विशेषणं विशेषज्ञानयुक्तं, ' शब्द एवैष ' इत्यय हि निश्चय., न चायमीहामन्तरेण झगित्येव युज्यते, इत्यसकृदेवोक्तप्रायम् । अतो नार्थाऽवग्रहे ' शब्द. ' इत्यादिविशेषबुद्धिर्युज्यते । इति गाथार्थ. ।

अथाऽर्थाऽवग्रहसमये शब्दाद्यवगमेन सहेहा भविष्यतीति मन्यसे, तत्राऽऽह—

अत्थाऽवग्गहसमये, वीसुमसंखिज्जसमइया दो वि ।
तक्काऽवगमसहावा, ईहाऽवाया कहं जुत्ता ? ॥ २७९ ॥

अर्थाऽवग्रहसंबन्धिन्येकस्मिन्समये कथमीहापायौ युक्तौ ?, इति संबन्ध । कथभूतावेतौ ? यत., इत्याह-तर्काऽवगमस्वभावौ, तर्को-विमर्शस्तत्स्वभावा ईहा, अवगमोऽपि-निश्चयस्तत्स्वभावोऽपाय' द्वावपि चैतौ पृथगसंख्येयसमयनिष्पन्नौ । एतदुक्त भवति-यदिदमर्थाऽवग्रहे विशेषज्ञान त्वयेष्यते सोऽपाय., स चाऽवगमस्वभावो निश्चयस्वरूप इत्यर्थ, या च तत्समकालमीहाऽभ्युपेयते सा तर्कस्वभावा; अनिश्चयात्मिका इत्यर्थः । तत एतौ ईहाऽपायौ अनिश्चयेतरस्वभावौ कथमर्थावग्रहे युगपदेव युक्तौ निश्चयाऽनिश्चययो. परस्परपरिहारेण व्यवस्थितत्वादेकत्रैकदाऽवस्थानाभावेन सहोदयानुपपत्तेः ? इति । एषा तावद्विशेषावगमे-द्वयो. सहभावे एकानुपपत्ति. । अपरं च-समयमात्रकालोऽर्थाऽवग्रह ईहाऽपायौ तु " ईहाऽपायामुहुत्तमत तु " इति वचनात्प्रत्येकमसंख्येयसमयनिष्पन्नौ कथमेकस्मिन्नर्थाऽवग्रहसमये स्याताम् । अत्यन्तानुपपन्नत्वात् ? । इति द्वितीयानुपपत्ति' । तस्मादत्यन्ताऽसंबद्धत्वाद्यत्किंचिदेतत्, इत्युपेक्षणीयम् । इति गाथार्थ. ।

तदेवं युक्तिशतैर्निराकृतानामपि प्रेरकाणां नि.संख्यात्वात्कपाचित्प्रेर्यशेषमद्यापि सूरिराशङ्कते—

खिप्पेतराइभेओ, जमुग्गहो तो विसेसविण्णाणं ।
जुज्जइ विगप्पवसओ, सद्दो त्ति सुयम्मि जं केइ ॥२८०॥

' केइ ' त्ति-इहार्थाऽवग्रहे विशेषज्ञानसमर्थनाग्रहमसुसत्योऽद्यापि 'केऽपि' केचिद्वादिनो मन्यन्ते । किम् ? इत्याह-क्षिप्रेतरादिभेदो यस्मादवग्रहो ग्रन्थान्तरे भणित' ' अत्रापि च विस्तरेण भणिष्यते ' इति गम्यते । तत. 'शब्द.' इति विशेषविज्ञानं युज्यते-घटते 'अर्थावग्रहे' इति प्रस्तावादेव लभ्यते । यत्किम् ?, इत्याह-' सुयम्मि जं ' ति-"तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए" इत्यादिवचनात् यत् 'सूत्रे निर्दिष्ट' इति शेष. । कुत. पुनरिदं विशेषविज्ञानं युज्यते ?, इत्याह-विकल्पवशतोऽन्यप्रोक्तनानात्ववशत इत्यक्षरघटना । एतच्चात्र हृदयम् क्षिप्रमवगृह्णाति, चिरेणाऽवगृह्णाति, बह्ववगृह्णाति, अबह्ववगृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति, अबहुविधमवगृह्णाति, एवमनिश्रित, निश्रितम्, असंदिग्ध, संदिग्धं, ध्रुवम्, अध्रुवं गृह्णाति, इत्यादिना ग्रन्थेनाऽवग्रहादय. शास्त्रान्तरे द्वादशभिर्विशेषणैर्विशेषिता । अत्रापि च पुरस्तादयमर्थो वक्ष्यते । तत' ' क्षिप्रं चिरेण चावगृह्णाति ' इति विशेषणाऽन्यथानुपपत्तेर्ज्ञायते-नैकसमयमात्रमान एवार्थाऽवग्रह', किं तु-चिरकालिकोऽपि, नहि समयमात्रमानतया एकरूपे तस्मिन् क्षिप्र-चिरग्रहणविशेषणमुपपद्यत इति भाव' । तस्मादेतद्विशेषणबलादसंख्येयसमयमानोऽप्यर्थावग्रहो युज्यते । तथा-बहूनां श्रोतृणामविशेषेण प्राप्तिविषयस्थे शङ्खभेर्यादिबहुतूर्यनिर्घोषे क्षयोपशमवैचित्र्यात्कोऽप्यबहु अवगृह्णाति, सामान्य समुदिततूर्यशब्दमात्रमवगृह्णातीत्यर्थ. । अन्यस्तु बह्ववगृह्णाति, शङ्ख-भेर्यादिसूर्यशब्दान् भिन्नान् बहून् गृह्णतीत्यर्थ. । अन्यस्तु स्त्रीपुरुषादिवाद्यत्व-स्निग्धमधुरत्वादिबहुविधविशेषविशिष्टत्वेन बहुविधमवगृह्णाति, अपरस्तु—अबहुविधविशेषविशिष्टत्वाद् अबहुविधमवगृह्णाति, अत एतस्माद्-बह्वबहुविधाद्यनेकविकल्पनानात्ववशादवग्रहस्य क्वचित्सामान्यग्रहण, क्वचित्तु—विशेषग्रहणम् , इत्युभयमप्यविरुद्धम् । अतो यत्सूत्रे-" तेण सद्दे त्ति उग्गहिए " इति वचनात्-'शब्द' ' इति विशेषज्ञानमुपदिष्ट, तदप्यर्थाऽवग्रहे युज्यत एव इति केचित् । इति ।। । ।

अत्रोत्तरमाह—

सक्किमुग्गहो त्ति भएइ, गहणेहाऽवायलक्खणत्ते वि ।
अह उवचारो कीरइ, तो सुण जह जुज्जए सोऽवि ॥२८१॥

इह पूर्वमनेकधा प्रतिविहितमप्यर्थं पुन. पुन प्रेरयन्तं प्रेरक वलोकयान्तर्विस्फुरदसूयावशात्साक्षेप काक्वा सूरिः पृच्छति–'किमुग्गहो त्ति भएणइ' त्ति–किंशब्द क्षेपे, यो बहु-बहुधादिविशेषणवशात् विशेषावगम. स किमबुधचक्रवर्तिन् ! अवग्रह.–अर्थाऽवग्रहो भएयते ? क सत्यपि ?, इत्याह–'गहणे–हि ' त्यादि, ग्रहण च सामान्यार्थस्य, ईहा अवगृहीतस्य, अपायश्च ईहिताऽर्थस्य ग्रहणे–हाऽ–पायास्तैर्लक्ष्यते–प्रकटीक्रियते य. स तथा तद्भावस्तत्त्व तस्मिन् सत्यपि बहु–बहुविधादिग्राहको हि विशेषाऽवगमो निश्चयः, स च सामान्याऽर्थग्रहणम् , ईहा च विना न भवति, यश्च तदविनाभावी सोऽपाय एव, कथमर्थावग्रह इति भएयते ?। इति । एतत्पूर्वमसकृदेवोक्तमपि हन्त ! विस्मरणशीलतया, जडतया, बुद्धाभिनिवेशतया वा पुन पुनरस्मान् भाणयसीति किं कुर्म ?, पुनरुक्तमपि ब्रूमो यद्यस्मादायासेनाऽपि कश्चिन्मार्गमासादयतीति । ननु ग्रहणम् , ईहा च विशेषावगमस्य लक्षण भवतु, ताभ्या विना तदभावात् , अपायस्तु कथं तल्लक्षणं, तत्स्वरूपत्वादेवास्य ?। सत्यं, किं तु स्वरूपमपि भेदविवक्षया लक्षण भवत्येव, यदाह—" विषाऽमृते स्वरूपेण लक्ष्यते कलशादिवत्। एवं च स्वस्वभावाभ्यां, व्यज्येते खलसज्जनौ ॥ १ ॥ " आह—यदि बहु–बहुविधादिग्राहकोऽपाय एव भवति, तर्हि कथमन्यत्राऽवग्रहादीनामपि बह्वादिग्रहणमुक्तम् । सत्यं, किंतु अपायस्य कारणमवग्रहादय., कारणे च योग्यतया कार्यस्वरूपमस्ति, इत्युपचारतस्तेऽपि बह्वादिग्राहका प्रोच्यन्ते, इत्यदोष । यद्येवं, तर्हि वयमप्यपायगतं विशेषज्ञानमर्थावग्रहेऽप्युपचरिष्याम इति एतदेवाह–' अह ' त्यादि, अयोक्तन्यायेनोपचार कृत्वा विशेषग्राहकोऽर्थाऽवग्रहः प्रोच्यते । नैतदेवं, यतो मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचार प्रवर्त्तते । न चैवमुपचारे किञ्चित्प्रयोजनमस्ति । " तेणं सद्दे त्ति उग्गहिए " इत्यादिसूत्रस्य यथा श्रुतार्थनिगमनं प्रयोजनमिति चेत् । न " सद्दे त्ति भणइ वत्ता " इत्यादिप्रकारेणाऽपि तस्य निगमितत्वात् । सामर्थ्यव्याख्यानमिद, न यथाश्रुतार्थव्याख्येति चेत् । तर्हि यद्युपचारेणाऽपि श्रौतोऽर्थ सूत्रस्य व्याख्यायते इति तवाभिप्रायः, तर्हि यथा युज्यते उपचारस्तथा कुरु, न चैव क्रियमाणोऽसौ युज्यते, यत. ' सिंहो माणवकः ' ' समुद्रस्तडाग ' इत्यादाविव किंचित्साम्ये सत्यय विधीयमान शोभेत । न चैतत्सामायिकेऽर्थावग्रहेऽसख्येयसामयिक विशेषग्रहण कथमप्युपपद्यते । तर्हि कथमयमुपचार क्रियमाणो घटते ?, इति चेद् । अहो ! सुचिरादुपसन्नोऽसि । तत शृणु समाकर्णयाऽवहितेन मनसा, सोऽपि यथा युज्यते तथा कथयामि–' सद्द त्ति भणइ वत्ता ' इत्यादिप्रकारेण तावद्व्याख्यातं सूत्रम् । यदि चौपचारिकेणाऽप्यर्थेन भवत प्रयोजन, तर्हि सोऽपि यथा घटमानकस्तथा कथ्यत इत्यपिशब्दाभिप्रायः । इति गाथार्थ. ।

यथा प्रतिज्ञातमेव संपादयन्नाह—

सामएणमेत्तग्गहणं, नेच्छइओ समयमुग्गहो पढमो ।
तत्तोऽणंतरमीहिय–वत्थुविसेसस्स जोऽवाओ ॥२८२॥
सो पुणरीहावाया–ऽविक्खाओऽवग्गहो त्ति उवयरिओ ।
एसविसेसाऽऽविक्खं, सामन्नं गिरहए जेणं ॥२८३॥
तत्तोऽऽणंतरमीहा, ततोऽवाओ य तव्विसेसस्स ।
इय सामएणविसेसा–वेक्खा जावंऽतिमो भेओ ॥२८४॥

इहैकसमयमात्रमानो नैश्चयिको निरुपचरित प्रथमोऽर्थावग्रह कथंभूत ?, इत्याह–सामान्यमात्रस्याऽव्यक्तनिर्देशस्य वस्तुनो ग्रहण, सामान्यवस्तुमात्रग्राहक इत्यर्थ, सामयिकानि हि ज्ञानादिवस्तूनि परमयोगिन एव निश्चयवेदिनोऽवगच्छन्तीति नैश्चयिकोऽयमुच्यते । अथ छद्मस्थव्यवहारिभिरपि यो व्यवह्रियते, त व्यावहारिकमुपचरितमर्थाऽवग्रहं दर्शयति–'तत्तो' इत्यादि, ततो नैश्चयिकाऽर्थाऽवग्रहादनन्तरमीहितस्य–वस्तुविशेषस्य योऽपायः स पुनर्भाविनीमीहाम् , अपायं–चाऽपेक्ष्योपचरितोऽवग्रहोऽर्थाऽवग्रह इति द्वितीयगाथाया संबन्ध । उपचारस्यैवास्य निमित्तान्तरमाह—' एसवि ' त्यादि, एष्यो–भावी योऽन्यो विशेषस्तदपेक्षया येन कारणेनायमपायोऽपि सन् सामान्य गृह्णाति, यश्च सामान्य गृह्णाति सोऽर्थावग्रहो यथा प्रथमो नैश्चयिक. । एतदिह तात्पर्य—प्रथम नैश्चयिकेऽर्थावग्रहे रूपादिभ्योऽव्यावृत्तमव्यक्तं शब्दादि वस्तु सामान्य गृहीत, ततस्तस्मिन्नीहिते सति ' शब्द एवायम् ' इत्यादि निश्चयरूपोऽपायो भवति । तदनन्तरं तु ' शब्दोऽय किं शाङ्ख, शार्ङ्गो वा ' इत्यादिशब्दविशेषविषया पुनरीहाप्रवर्तिष्यते ' शाङ्ख एवाऽयं शब्द.' इत्यादिशब्दविशेषविषयोपायश्च यो भविष्यति तदपेक्षया 'शब्द एवायम्' इति निश्चय. प्रथमोऽपायोऽपि सन्नुपचारादर्थावग्रहो भएयते, ईहाऽपायापेक्षया तु इत्यनेन चोपचारस्यैक निमित्त सूचितम्, 'शाङ्खोऽय शब्द.' इत्याद्येष्यविशेषापेक्षया येनाऽसौ सामान्यशब्दरूप सामान्यं गृह्णातीति, अनेन तूपचारस्यैव द्वितीयं निमित्तमावेदित; तथा हि–यदनन्तरमीहा पायौ, प्रवर्त्तेते, यश्च सामान्य गृह्णाति, सोऽर्थावग्रह , यथा आद्यो नैश्चयिक , प्रवर्त्तेते च 'शब्द एवायमि' त्याद्यपायानन्तरमीहापायौ गृह्णाति च ' शाङ्खोऽयमि ' त्यादिभाविविशेषापेक्षयाऽयं सामान्यम् । तस्मादर्थावग्रह एष्यविशेषापेक्षया सामान्य गृह्णातीत्युक्तम् । ततस्तदनन्तरं किं भवति ?, इत्याह–तृतीयगाथायाम्—' तत्तोऽणतरमि ' त्यादि , तत. सामान्येन शब्दनिश्चयरूपात्प्रथमाऽपायादनन्तर किमय 'शब्दः शाङ्ख शार्ङ्गो वा ?' इत्यादिरूपा ईहा प्रवर्त्तते । ततस्तद्विशेषस्य शङ्खप्रभवत्वादे शब्दविशेषस्य 'शाङ्ख एवायमि' त्यादिरूपेणापायश्च निश्चयरूपो भवति । अयमपि च भूयोऽन्यतमविशेषाकाङ्क्षावत प्रमातुर्भाविनीमीहामपाय चापेक्ष्य एष्यविशेषापेक्षया सामान्यालम्बनत्वादर्थावग्रह इत्युपचर्यते । इय च सामान्यविशेषापेक्षा तावत् कर्त्तव्या, यावदन्त्यो वस्तुनो भेदो विशेष । यस्माच्च विशेषात्परतो वस्तुनोऽन्ये विशेषा न सम्भवन्ति सोऽन्त्य. अथवा—

संभवत्स्वपि अन्यविशेषेपु यतो विशेषान्परत. प्रमातुस्तज्जिज्ञासा निवर्त्तते सोऽन्त्य, तमन्त्य विशेष यावद् व्यावहारिकार्थाऽवग्रहेहाऽपायार्थे सामान्यविशेषापेक्षा कर्त्तव्या । इति गाथात्रयाऽर्थ. ।

इह च गाथात्रयेऽपि य. पर्यवसितोऽर्थो भवति, तमाह—

सव्वत्थेहाऽवाया, निच्छयओ मोत्तुमाइमामएणं ।
संववहारत्थं पुण, सव्वत्थाऽवग्गहोऽवाओ ॥ २८५ ॥

सर्वत्र विषयपरिच्छेदे कर्तव्ये निश्चयत.-परमार्थत ईहाऽपायौ भवत, 'ईहा, पुनरपाय, पुनरीहा, पुनरप्यपाय.' इत्येवं क्रमेण यावदन्त्यो विशेषस्तावदीहापायावेव भवत; नाऽर्थावग्रह इत्यर्थ.। किं सर्वत्र एवमेव? न इत्याह—'मोत्तुमाइमामएणं ति' आद्यमव्यक्त सामान्यमात्रालम्बनमेक सामयिकं ज्ञानं मुक्त्वाऽन्यत्रेहापायौ भवत, इह पुनर्नेहा, नाऽप्यपाय, किं त्वर्थावग्रह एवेति भाव. । संव्यवहारार्थे व्यावहारिकजनप्रतीत्यपेक्ष पुन सर्वत्र यो योऽपाय' स स उत्तरोत्तरेहाऽ-पायाऽपेक्षया. एष्यविशेषापेक्षया चोपचारतोऽर्थावग्रह । एव च तावन्नेय, यावत्तारतम्येनोत्तरोत्तरविशेषाकाङ्क्षा प्रवर्तते । इति गाथार्थ. ।

तरतमयोगाभावे तु किं भवतीत्याह—

तरतमजोगाऽभावे, ऽवाउ च्चिय धारणा तदंतम्मि ।
सव्वत्थ वासणा पुण, भणिया कालंतरे वि सई ॥२८६॥

तरतमयोगाऽभावे—ज्ञातुरग्रेतनविशेषाकाङ्क्षानिवृत्तौ अपाय एव भवति; न पुनस्तस्यावग्रहत्वमिति भाव, तन्निमित्तानां पुनरीहादीनामभावादिति । यद्यग्रत ईहादयो न भवन्ति, तर्हि किं भवति ?, इत्याह—तदन्ते-अपायान्ते धारणा-तदर्थोपयोगाप्रच्युतिरूपा भवति । शेषस्य वासनास्मृतिरूपस्य धारणाभेदद्वयस्य क संभव ?, इत्याह—'सव्वत्थ वासणा पुण' इत्यादि, वासना च वक्ष्यमाणरूपा, तथा कालान्तरे स्मृति, सा च सर्वत्र भणिता । अयमर्थ.-अविच्युतिरूपा धारणाऽपायपर्यन्त एव भवति, वासना-स्मृती तु सर्वत्र कालान्तरेऽप्यविरुद्धे । इति गाथार्थ. ।

एव चाभिहितस्वरूपव्यावहारिकार्थावग्रहाऽपेक्षया यथाश्रुतार्थव्याख्यानमपि सूत्रस्याविरुद्धमेव, इति दर्शयन्नाह—

सद्दो त्ति य सुयभणियं, विगप्पओ जइ विसेसविन्नाणं ।
घिप्पेज्ज तं पि जुज्जइ, संववहारोग्गहे सव्वं ॥ २८७ ॥

'वा' शब्दोऽथवार्थे, ततश्चाऽयमभिप्राय -'सद्दे त्ति भणइ वत्ता' इत्यादिप्रकारेण तावद्व्याख्यानं "तेण सद्दे त्ति उग्गहिए" इत्यादिसूत्रम् । अथवा-'शब्द' इति यत्सूत्रे भणितम्—"शब्दस्तेनाऽवगृहीत" इति यत्सूत्रे प्रतिपादितम्, तद्यदि विकल्पतो विवक्षावशतो विशेषविज्ञान गृह्यते, तदपि सर्वं युज्यते । कस्मिन् ?, इत्याह—यथोक्ते औपचारिके साव्यवहारिकार्थावग्रहे गृह्यमाणे सति, अत्र हि 'शब्द' इति विशेषज्ञान युज्यते, सर्वग्रहणात्तदनन्तरमीहादयश्चोपपद्यन्ते, पूर्वोक्तयुक्त । ततश्च "से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्त सद्दं सुणेज्जा, तेण सद्दे त्ति उग्गहिए, न उण जाणइ के वेस सद्दे, तओ ईहं पविसइ, तओ अवाय गच्छइ" इत्यादिसर्वं सुस्थ भवति । यद्येवम्, अयमेवार्थावग्रह कस्मान्न गृह्यते, येन सर्वोऽपि विवादः शाम्यति ? इति चेत् । नैवं 'शब्द एवायम्' इत्याद्यपायरूपोऽयमर्थावग्रहः, अपायश्च सामान्यग्रहणेहाभ्यामन्तरेण न संभवति, इत्याद्यसकृत्पूर्वमभिहितमेव । इति प्राक्तनमेव व्याख्यानं मुख्यम् । इत्यलं विस्तरेण । इति गाथार्थः ।

व्यावहारिकार्थाऽवग्रहाभ्युपगमे यो गुणस्तं सविशेषमुपदर्शयन्नाह—

खिप्पेयराइभेओ, पुव्वोइयदोसजालपरिहारो ।
जुज्जइ संताणेण य, सामन्नविसेसववहारो ॥ २८८ ॥

क्षिप्रेतरादिभेदं यत्पूर्वोदितदोषजाल तस्य परिहारो युज्यते, 'अस्मिन् व्यावहारिकेऽर्थावग्रहे सति' इति प्रक्रमाद् गम्यते । इदमुक्तं भवति-एकसामयिकनैश्चयिकार्थावग्रहव्याख्यातार प्रति प्राग् यदुक्त-यद्यसावेकसामयिकस्तर्हि कथ क्षिप्र-चिरग्रहणविशेषणमस्योपपद्यते; तथा यद्यसौ सामान्यमात्रग्राहक., तर्हि बहु-बहुविधादिविशेषणोक्तं विशेषग्रहणं कथं घटते ?, तथाऽर्थावग्रहस्य विशेषग्राहकत्वे यत्समयोपयोगबाहुल्यमुक्तम् । इत्यादिकस्य दोषजालस्य परिहारो व्यावहारिकेऽर्थावग्रहे सति युज्यते, तथा हि—नैश्चयिकावग्रहवादिना इदानीं शक्यमिद वक्तु यदुत-क्षिप्र-तरादिविशेषणानि व्यावहारिकावग्रहविषयाण्येतानि, असंख्येयसमयनिष्पन्नत्वेनास्य क्षिप्रचिरग्रहणस्य युज्यमानत्वात् विशेषग्राहकत्वेन बहुबहुविधादिग्रहणस्यापि घटमानकत्वादिति । 'सामएणतयएणविसेसेहा' इत्यादिना प्रागभिहितं समयोपयोगबाहुल्यमप्यस्मिन्निरास्पदमेव, सामान्यग्रहणेहापूर्वकत्वेन, असंख्येयसामयिकत्वेन चैकसमयोपयोगबाहुल्यस्याऽत्राऽसंबध्यमानत्वादिति । ननु नैश्चयिकावग्रहे किं क्षिप्रेतरादिविशेषणकलापो, न घटते, येन व्यावहारिकावग्रहापेक्ष प्रोच्यते ? । सत्य, मुख्यतया व्यवहारावग्रहे एव घटते, कारणे कार्यधर्मोपचारात् पुनर्निश्चयावग्रहेऽपि युज्यते, इति प्रागप्युक्तं, वक्ष्यते च, विशिष्टादेव हि कारणात्कार्यस्य वैशिष्ट्य युज्यते, अन्यथा त्रिभुवनस्याप्यैश्वर्यादिप्रसङ्गः, काष्ठखण्डादेरपि रत्नादिनिवहाऽवाप्ते, इत्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतमुच्यते-सन्तानेन च योऽसौ सामान्यविशेषव्यवहारो लोके रूढ, सोऽपि 'व्यवहारावग्रहे सति युज्यते' इतीहापि संबध्यते । लोकेऽपि हि यो विशेष सोऽप्यपेक्षया सामान्य, यत्सामान्य तदप्यपेक्षया विशेष इति व्यवह्रियते, तथाहि—'शब्द एवायम्' इत्येवमध्यवसितोऽर्थ पूर्वसामान्यापेक्षया विशेष, शाङ्खोऽयम्' इत्युत्तरविशेषापेक्षया तु सामान्यम्, इत्येव यावदन्त्यो विशेष. इति प्रागप्युक्तम् । अथ चोपर्युपरिज्ञानप्रवृत्तिरूपेण सन्तानेन लोके रूढ सामान्यविशेषव्यवहार औपचारिकावग्रहे सत्येव घटते; नाऽन्यथा । तदनभ्युपगमे हि प्रथमापायानन्तरमीहानुत्थानम् उत्तरविशेषाग्रहणं चाभ्युपगतं भवति, उत्तरविशेषाऽग्रहणे च प्रथमाऽपायपर्यवसितार्थस्य

विशेषत्वमेव, न सामान्यत्वम्; इति पूर्वोक्तरूपो लोकप्रतीतः सामान्यविशेषव्यवहारः समुच्छिद्येत । अथ प्रथमापायानन्तरमभ्युपगम्यते ईहोत्थानम्, उत्तरविशेषग्रहणं च, तर्हि सिद्धं तदपेक्षया प्रथमापायव्यवसितार्थस्य सामान्यत्व, यश्च सामान्यग्राहकः, यदनन्तरं चेहादि प्रवृत्तिः सोऽर्थावग्रहः, नैश्चयिकार्थावग्रहवत्, इत्युक्तमेव । इति सिद्धो व्यावहारिकार्थावग्रहः, तत्सिद्धौ च सन्तानप्रवृत्त्या अन्त्यविशेषं यावत्सिद्धः सामान्यविशेषव्यवहारः । इति गाथार्थः । इति मतिज्ञानाद्यभेदलक्षणो द्विभेदोऽप्यवग्रहः समाप्त इति ।

अथ तद्द्वितीयभेदलक्षणामीहां व्याचिख्यासुराह—

इय सामण्णगहणा-णंतरमीहा सदत्थवीमंसा ।
किमिदं सद्दोऽसद्दो, को होज्ज व संखसंगाणं ॥ २८९ ॥

इतिशब्द उपदर्शने, इत्येवं प्रागुक्तेन प्रकारेण नैश्चयिकार्थावग्रहे यत्सामान्यग्रहणं रूपाद्यव्यावृत्त्या व्यक्तवस्तुमात्रग्रहणमुक्तं, तथा व्यवहारार्थावग्रहेऽपि यदुत्तरविशेषापेक्षया शब्दादिसामान्यग्रहणमभिहितं तस्मादनन्तरमीहा प्रवर्तते । विशे० । (तस्याः ईहायाः स्वरूपम् 'ईहा' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) अथ मतिज्ञानतृतीयभेदस्याऽपायस्य स्वरूपम् । (विशे० । २९० गाथया 'अवाय' शब्दे प्रथमभागे ८०४ पृष्ठे गतम्) अथ चतुर्थो मतिज्ञानभेदो धारणा, इय चाविच्युतवासनास्मृतिभेदात् त्रिधा भवत्यतः समेदाऽपि । (विशे० ।) सा धारणा 'धारणा' शब्दे चतुर्थभागे २९१ गाथया वक्ष्यते)

नन्वेवं " से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणेज्जा " इत्यादिसूत्राऽनुरोधेन शब्दमाश्रित्यावग्रहादयो भाविताः । अथ सूत्रकारेणैव यदुक्तम्—" एवं एएणं अभिलावेण अव्वत्त रूवं रसं गंधं फासं " इत्यादि, तच्चेतसि निधाय भाष्यकारोऽप्यतिदेशमाह—

सेसेसु वि रूवाइ-सु विसएसु होंति रूवलक्खाइं ।
पायं पच्चासन्न-त्तणेणमीहाइवत्थूणि ॥ २९२ ॥

यथा शब्दे एवं शेषेष्वपि, रूपाऽऽदिविषयेषु साक्षादनुक्तान्यपि रूपलक्षाणि कथितानुसारप्रसृत्तप्रज्ञानां चतुरचेतसां सुज्ञेयानि भवन्ति । कानीत्याह-ईहादीन्याभिनिबोधिकज्ञानस्य भेदवस्तूनि । केन रूपलक्षाणीत्याह—प्रायः प्रत्यासन्नत्वेन चक्षुरादिना गृह्यमाणस्य स्थाण्वादेस्तत्राऽगृह्यमाणेन पुरुषादिना सह प्रायो बहुभिर्धर्मैर्यत्प्रत्यासन्नत्वं या प्रत्यासत्तिः सादृश्यमिति यावत् तेन ईहादीनि ज्ञेयानि; न पुनरत्यन्तवैलक्षण्ये स्थाण्वादेरुष्ट्राविना सहेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—अवग्रहे तावत्सामान्यमात्रग्राहकत्वात् द्वितीयवस्त्वपेक्षाऽपि न विद्यते ।ईहा पुनरन्वयव्यतिरेकलक्षणिनी तत्र पुरोदृश्यमानस्य वस्तुनो यत्प्रतिपक्षभूतं वस्तु तत्प्रायो बहुभिर्धर्मैः प्रत्यासन्नं ग्राह्यं न पुनरत्यन्तविलक्षणं पुरो हि मन्दमन्दप्रकाशे दूरात् दृश्यमानं स्थाण्वादौ 'किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा ?' इत्येवमेवेहा प्रवर्तते, ऊर्ध्वस्थानारोह-परिणाहतुल्यतादिभिः प्रायो बहुभिर्धर्मैः पुरुषस्य स्थाणुप्रत्यासन्नत्वादिति ।

'किमयं स्थाणुः, उष्ट्रो वा ' इत्येव तु न प्रवर्तते । उष्ट्रस्य स्थाण्वपेक्षया प्रायोऽत्यन्तविलक्षणत्वात् । अत एव सामान्यमात्रग्राही अवग्रहोऽत्रादौ न कृतः, किं तु 'ईहादीनि' इत्येवमेवोक्तं उभयवस्त्ववलम्बित्वेनेहाया एव 'पायं पच्चासन्नत्तणेण ' इति विशेषणस्य, सफलत्वात् अपायस्याऽपि 'स्थाणुरेवायं, न पुरुषः ' इत्यादिरूपेण प्रवृत्तेः । किंचिद्विशेषणस्य सफलत्वादादिशब्दोऽप्यविरुद्धः । इति गाथार्थः ।

इह 'किं शब्दः, अशब्दो वा ' ? इति श्रोत्रेन्द्रियस्य प्रत्यासन्नवस्तूपदर्शनं कृतमेव । अथाऽशेषचक्षुरादीन्द्रियाणां विषयभूतानि प्रत्यासन्नवस्तूनि क्रमेण प्रदर्शयति—

थाणुपुरिसाइकुट्ठु-प्पलाइसंभियकरिल्लमंसाइ ।
सप्पुप्पलनालाइ व, समाणरूवाइविसयाइं ॥ २९३ ॥

'ईहादिवस्तूनि रूपलक्षाणि ' इत्युक्तं कथं भूतानि सन्ति पुनस्तानि रूपलक्षाणि ? इत्याह-समानः समानधर्मा रूपरसादिर्विषयो येषामीहादीनां तानि समानरूपादिविषयाणीति पूर्वगाथायां सबन्धः । कः पुनरमीषां समानधर्मा रूपादिविषयः ?, इत्याह—स्थाणुपुरुषादिवदिति पर्यन्ते निर्दिष्टोऽपि विषयोपदर्शनाभिद्योतको वच्छब्दः सर्वत्र योज्यते । ततश्चक्षुरिन्द्रियप्रभवस्येहादेः स्थाणुपुरुषादिवत्समानधर्मा रूपविषयो द्रष्टव्यः; 'आदिशब्दात्-किमियं शुक्तिका रजतखण्डं वा ?,' मृगतृष्णिका, पयःपूरो वा ?, 'रज्जुर्विषधरो वा ' इत्यादिपरिग्रहः । घ्राणेन्द्रियप्रभवस्येहादेः कुष्ठो(ष्ठो)त्पलादिवत्समानगन्धो विषयः, तत्र कुष्ठः (ष्ठ) गन्धिकहट्टविक्रेयो वस्तुविशेषः, उत्पल-पद्मम् अनयोः किल समानगन्धो भवति ।' तत ईदृशेन गन्धेन 'किमिदं कु(ष्ठ)ष्ठम्, उत्पलं वा ?' इत्येवमीहाप्रवृत्तिः, आदिशब्दात् 'किमत्र सप्तच्छदाः, मत्तकरिणो वा ? ' ' कस्तूरिका, वनगजमदो वा ? ' इत्यादिपरिग्रहः, रसनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः संभृतकरीलमांसादिवत्समानरसो विषयः । तत्र संभृतानि संस्कृतानि संधानीकृतान्युपभृतानि यानि वंशाजालसंबन्धीनि करीलानि, तथा मांसम्, अनयोः किलाऽऽस्वादः समानो भवति । ततोऽन्धकारादावभ्यवहरतस्मिन् जिह्वाग्रप्रदत्ते भवत्येवं—' किमिदं संभृतवंशकरीलम्, आमिषं वा ? ' इति; आदिशब्दात्-' गुडः खण्डं वा ?' 'मृद्वीका, शुष्कराजादनं वा ?, इत्यादिपरिग्रहः । स्पर्शनेन्द्रियप्रभवस्येहादेः सर्पोत्पलनालादिवत्समानस्पर्शो विषयः, सर्पो-त्पलयोश्च तुल्यस्पर्शनेहाप्रवृत्तिः सुगमैव, आदिशब्दात्-स्त्रीपुरुषलेप्ट्रपलादिसमानस्पर्शवस्तुपरिग्रहः । इति गाथार्थः ।

अथ यदुक्तं सूत्रे ' से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासेज्जा " इत्यादि, तदनुसृत्य स्वप्ने मनसोऽप्यवग्रहादीन् दर्शयन्नाह—

एवं चिय सिमिणाइसु, मणसो सद्दाइएसु विसएसु ।
होंतिंदियवावारा-भावे वि अवग्गहाईया ॥ २९४ ॥

एवमेव—उक्तानुसारेणेन्द्रियव्यापाराभावेऽपि स्वप्नादिषु, आदिशब्दात्—दत्तकपाटसान्धकारापवरकादीनीन्द्रियव्या-

पाराभाववन्ति स्थानानि गृह्यन्ते, तेषु केवलस्यैव मनसो मन्यमानेषु शब्दादिविषयेष्ववग्रहादयोऽवग्रहेहापायधारणा भवन्तीति स्वयमभ्यूह्या', तथाहि-स्वप्नादौ चिन्तोत्प्रेक्षामात्रेण श्रूयमाणे गीतादिशब्दे प्रथमं सामान्यमात्रोत्प्रेक्षायामवग्रहः, ' किमयं शब्द , अशब्दो वा ' इत्याद्युत्प्रेक्षायां त्वीहा, शब्दनिश्चये पुनरपायः, तदनन्तरं तु धारणा । एवं देवनादिरूपे, कर्पूरादिगन्धे, मोदकादिरसे, कामिनीकुचकलशादिस्पर्शे चोत्प्रेक्ष्यमाणे अवग्रहादयो मनसः केवलस्य भावनीयाः । इति गाथार्थ ।

(५) आह,नन्वेते अवग्रहादय उत्क्रमेण व्यतिक्रमेण वा किमिति न भवन्ति । यद्वा-ईहादयस्त्रयो द्वौ एको वा किं नाऽभ्युपगम्यन्ते यावत्सर्वेऽप्यभ्युपगम्यन्त इत्याशङ्क्याह—

उक्कमओऽइक्कमओ, एगाभावे वि वा न वत्थुस्स ।
ज सब्भावाहिगमो, तो सव्वे नियमियक्कमा य ॥२९५॥

एवामवग्रहादीनामुत्क्रमेण-उत्क्रमत , अतिक्रमेण-अतिक्रमतः,'अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वादेकस्याप्यभावे वा यस्मान्न वस्तुन' सद्भावाधिगम ,तस्मात्सर्वे चत्वारोऽप्येष्टव्या , तथा नियमितक्रमाश्च-सूत्रनिर्दिष्टपरिपाट्यध्वनिनाश्च 'भवन्त्येतेऽवग्रहादयः' इति प्रक्रमाल्लभ्यते । इत्यक्षरयोजना । भावार्थस्तूच्यते-तत्र पश्चानुपूर्वीभवनमुत्क्रम. । अनानुपूर्वीभवन त्वतिक्रमः । कदाचिदवग्रहमतिक्रम्येहा तामप्यतिलङ्घ्यापायस्तमप्यतिवृत्य धारणेति, एवमनानुपूर्वीरूपोऽतिक्रम इत्यर्थ. । एताभ्यामुत्क्रमव्यतिक्रमाभ्यां तावदवग्रहादिभिर्वस्तुस्वरूप नाऽवगम्यते । तथैषां मध्ये एकस्याऽप्यन्यतरस्याऽभावे वैकल्येन वस्तुस्वभावावबोध इत्यलक्षुक्तमायमेव । ततः सर्वेऽप्यमी एष्टव्या', नत्वेक., द्वौ त्रयो वेत्यर्थः । तथा—" उग्गहो ईहाऽवाओ य धारणा एव होन्ति चत्तारि" इत्यस्या गाथायां यथैवकारेण पूर्वमेतेषां नियमितः क्रम', तथैवैते नियमितक्रमा भवन्ति, नोत्क्रमाऽतिक्रमाभ्यामिति भावः । इति 'गाथार्थ' ।

अथोत्क्रमाऽतिक्रमयोरेकादिवैकल्ये चाऽवग्रहादीनां वस्त्वधिगमाऽभावे युक्तिमाह—

ईहिज्जइ नाऽगहियं, नज्जइ नाणीहियं न याऽनायं ।
धारिज्जइ जं वत्थुं, तेण कमोऽवग्गहाई उ ॥ २९६ ॥

यस्मादवग्रहेणागृहीतं वस्तु नेह्यते-न तत्रेहा प्रवर्तते, ईहाया विचाररूपत्वाद् अगृहीते च वस्तुनि निरास्पदत्वेन विचाराऽयोगादिति भावः । तदनेन कारणेनादौ अवग्रह निर्दिश्य पश्चादीहा निर्दिष्टा । न चाऽनीहितम्-अविचारितं ज्ञायते-अपायविषयतां याति, अपायस्य निश्चयरूपत्वात् , निश्चयस्य च विचारपूर्वकत्वादिति हृदयम् । एतदभिप्रायवता चापायस्यादौ ईहा निर्दिष्टेति । न चाज्ञातम्-अपायेनाऽनिश्चितं धार्यते—धारणाविषयीभवति वस्तु-धारणाया अर्थावधारणरूपत्वादवधारणस्य च निश्चयमन्तरेणाऽयोगादित्यभिप्रायः । ततश्च धारणादावपायः । तत किम् ?, इत्याह-तेनाऽवग्रहादिरेव क्रमो न्याय्य', नोत्क्रमातिक्रमौ, यथोक्तन्यायेन वस्त्ववगमाऽभावप्रसङ्गात् । इति गाथार्थ. ।

तदेवं निराकृतौ सयुक्तिकमुत्क्रमाऽतिक्रमौ । अथ यदुक्तम्-' एगाऽभावे वि वा न वत्थुस्स ज सब्भावाहिगमो तो सव्वे ' त्ति, तत्रापीयमेव युक्तिरिति दर्शयन्नाह—

एत्तो च्चिय ते सव्वे, भवंति भिन्ना य नेव समकालं ।
न वइक्कमो य तेसिं, न अन्नहा नेयसब्भावो ॥ २९७ ॥

यत एव ' नाऽगृहीतमीह्यते, ' इत्याद्युक्तम् , एतस्मादेव च तेऽवग्रहादय' सर्वे चत्वारोऽप्येष्टव्या भवन्ति, उक्तन्यायात्रैकवैकल्येऽपि मतिज्ञानं संपद्यते इत्यर्थः । ' पूर्वमवगृहीतमीह्यत ' इत्याद्युक्तेरेव च ते भिन्ना'-परस्परमसंकीर्णा., उत्तरोत्तरापूर्वभिन्नवस्तुपर्यायग्रहणादिति । नागृहीतमीह्यत ' इत्यादियुक्तेरेव च न ते समकालम् , भिन्नाः सिद्धास्तेऽवग्रहादय. समकालमपि नैव भवन्ति; युगपन्न जायन्त इत्यर्थः । ' पूर्वमवगृहीतमेवोत्तरकालमीह्यते, ईहोत्तरकालमेव च निश्चीयते ' -इत्याद्युक्तन्यायेनैवावग्रहादीनामुत्पत्तिकालस्य भिन्नत्वात् न युगपत्संभव इति भाव. । उक्तयुक्तेरेव तेषां न व्यतिक्रमः, उपलक्षणत्वात् ' नाऽप्युत्क्रमः ' इत्यपि द्रष्टव्यम् । एतच्च ' तेण कमोवग्गहाईउ ' इत्यनन्तरगाथाचरमपादेन सामर्थ्यादुक्तमपि प्रस्तावात्पुनरपि साक्षादुक्तम् , इत्यदोष' । तदेव ' ईहिज्जइ नागहियं ' इत्यादियुक्त्यैर्यथोक्तधर्मका एवाऽवग्रहादय', न विपर्ययधर्माण इति साधितम् । अथ ज्ञेयवशेनाऽप्येषां यथोक्तधर्मकत्वं सिसाधयिषुरिदमाह—' न अन्नहा नेयसब्भावो ' त्ति-ज्ञेयस्याप्यवग्रहादिग्राह्यस्य शब्द-रूपादेर्नान्यथा स्वभावोऽस्ति, येनाऽवग्रहादयस्तद्ग्राहका, यथोक्तरूपतां परित्यज्याऽन्यथा भवेयुरित्यर्थ' । इदमुक्त भवति-ज्ञेयस्याऽपि शब्दादेः स स्वभावो नास्ति य एतैरवग्रहादिभिरेकादिविकलैरभिन्नै' समकालभाविभिरुत्क्रमातिक्रमवद्भिश्चावगम्येत । किंतु-शब्दादिज्ञेयस्वभावोऽपि तथैव व्यवस्थितो यथाऽमीभि. सर्वैर्भिन्नै., असमकालैः, उत्क्रमातिक्रमरहितैश्च संपूर्णो यथावस्थितश्चावगम्यते, अतो ज्ञेयवशेनाप्येते यथोक्तरूपा एव भवन्ति । तदेवम्-' उक्कमओ अतिक्कमओ एगाऽभावे वि वा ' इत्यादिगाथोक्तप्रसक्ततोऽन्यदपि भिन्नत्वम् , असमकालत्व च समर्थितम् , इति गाथार्थ. ।

अत्र पर. प्राऽऽह—

अब्भत्थेऽवाओ च्चिय, कत्थइ लक्खिज्जई इमो पुरिसो ।
अन्नत्थ धारण च्चिय, पुरोवलद्धे इमं तंति ॥ २९८ ॥

सभ्यस्तेऽनवरतं दृष्टपूर्वे, विकल्पिते, भाविते च विषये पुन' क्वचित्कदाचिदवलोकिते अवग्रहेहाद्वयमनिक्रम्य प्रथमतोऽप्यपाय एव लक्ष्यते-अनुभूयते निर्विवादमस्मैरपि जन्तुभिः, यथाऽसौ 'पुरुष' इति । अन्यत्र पुनः क्वचित्पूर्वोपलब्धे सुनिश्चिते दृढवासने विषयेऽवग्रहेहापायाननिलक्ष्य स्मृतिरूपा धारणैव लक्ष्यते, यथा ' इदं तद्वस्तु यदस्माभि' पूर्वमुपलब्धम् ' इति तत्कथम् ?, उच्यते-उत्क्रमाऽतिक्रमाभ्याम् , एकादिवैकल्ये च न वस्तुसद्भावाऽधिगम' ?-इद च कथमभिधीयते " ईहिज्जइ नागहिय " इत्यादीतिमेरकाभिप्राय' । इति गाथार्थ. ।

भ्रान्तोऽयमनुभव इति दर्शयन्नाह—

उप्पलदलसयवेहे व्व, दुव्विभावत्तणेण पडिहाइ ।
समयं व सुक्कसक्कुलि-दसणे विसयाणमुवलद्धी ॥२६६॥

'क्वचित्प्रथममेवाऽपायः, क्वचित्तु धारणैव' इति यत्त्वया प्रेर्यते, तत् 'प्रतिभाति' इत्यनन्तरगाथोक्तेन संबन्धः। केनैतत् प्रतिभाति ?, इत्याह—दुःखेन विभाव्यते दुर्विभाव्यो दुर्लक्षस्तद्भावस्तत्त्वं तेन दुर्विभाव्यत्वेन—दुर्लक्षत्वेनाऽवग्रहादिकालस्येति गम्यते । कस्मिन्निव इत्याह—उत्पलं-पद्मं तस्य दलानि-पत्राणि तेषां शतं तस्य सूच्यादिना वेधनं वेधस्तस्मिन्निव । इदमुक्तं भवति-यथा तरुणः-समर्थपुरुषः पद्मपत्रशतस्य सूच्यादिना वेधं कुर्वाण एवं मन्यते, मया एतानि युगपद्विद्धानि, अथ च प्रतिपत्रं तानि कालभेदेनैव भिद्यन्ते, न चाऽसौ तं कालमतिसौक्ष्म्याद्भेदेनावबुद्ध्यते, एवमत्राप्यऽवग्रहादिकालस्यातिसूक्ष्मतया-दुर्विभावनीयत्वेनाऽप्रतिभासः, न पुनरसत्त्वेन, ईहादयो ह्यन्यत्र क्वचित्तावत्स्फुटमेवानुभूयन्ते, यत्राऽपि स्वसंवेदनेन नाऽनुभूयन्ते, तत्राऽपि " ईहिज्जइ नागहियं नज्जइ नाणीहियं " इत्यादि प्रागसकृदभिहितयुक्तिकलापादवसेयाः । तस्मादुत्पलदलशतवेधोदाहरणेन भ्रान्त एवायं प्रथमत एवाऽपायादिप्रतिभासः। अथोदाहरणान्तरेणाप्यऽस्य भ्रान्ततामुपदर्शयति-'समय वे' त्यादि, वा' इति-अथवा, यथा शुष्कशष्कुलीदशने समय-युगपदेव सर्वेन्द्रियविषयाणां-शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानामुपलब्धिः प्रतिभाति, तथैषोऽपि प्राथम्येनाऽपायादिप्रतिभासः । एतदुक्तं भवति—यथा कस्यचित् शुष्कां दीर्घां शष्कुलिकां भक्षयतः, तच्छब्दोत्थानाच्छब्दविज्ञानमुपजायते, अत एव शुष्कत्वविशेषणं, मृदुत्वाभेतस्यां शब्दानुत्थानादिति । शब्दश्रवणसमकालमेव च दीर्घत्वात् तस्या दृष्टया तद्रूपदर्शनं चाऽयमनुभवति, अत एव च दीर्घत्वविशेषणम्, अतिह्रस्वत्वे मुखप्रविष्टायास्तस्याः शब्दश्रवणसमकालं रूपदर्शनानुभवाभावादिति। रूपदर्शनसमकालं च तद्गन्धज्ञानमनुभवति, अत एव शष्कुलीग्रहणं गन्धोत्कटत्वात्तस्याः, इक्षुखण्डादिषु तु दीर्घेष्वऽपि तथाविधगन्धाभावादिति गन्धादिज्ञानसमकालं च तद्रसस्पर्शज्ञानेऽनुभवति । तदेवं पञ्चानामपीन्द्रियविषयाणामुपलब्धिर्युगपदेवास्य प्रतिभाति । न चेयं सत्या इन्द्रियज्ञानानां युगपदुत्पादाऽयोगात्, तथा हि-मनसा सह संयुक्तमेवेन्द्रियं स्वविषयज्ञानमुत्पादयति; नाऽन्यथा, अन्यमनस्कस्य रूपादिज्ञानानुपलम्भात् । न च सर्वेन्द्रियैः सह मनो युगपत्संयुज्यते, तस्यैकोपयोगरूपत्वात्, एकत्र ज्ञातरि एककालेऽनेकैः संयुज्यमानत्वायोगात् । तस्मान्मनसोऽत्यन्ताशुसंचारित्वेन कालभेदस्य दुर्लक्ष्यत्वाद्युगपत्सर्वेन्द्रियविषयोपलब्धिरस्य प्रतिभाति । परमार्थतस्त्वत्रापि कालभेदोऽस्त्येव ततो यथाऽसौ भ्रान्तैर्नोपलक्ष्यते तथाऽवग्रहादिकालेऽपीति प्रकृतम् । दीर्घत्वविशेषणं च शष्कुलिकाया गाथायामनुक्तमप्युपलक्षणत्वादभिहितमिति परिभावनीयम् । तदेवमवग्रहादीनां नैकादिवैकल्यं नाप्युत्क्रमाऽतिक्रमाविति स्थितम् । इति गाथार्थः । विशे०।

(७) आभिनिबोधिकज्ञानस्य अष्टाविंशति २८ भेदाः—

एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स । वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि; पडिबोहगदिट्ठंतेणं, मल्लगदिट्ठंतेण य । से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ?, पडिबोहगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा अमुगा ! अमुग ! त्ति, तत्थ चोयगे पन्नवगं एवं वयासी-किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, ०जाव दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, एवं वदंतं चोयगं पण्णवए एवं वयासी-नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, ०जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, से तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं ॥

से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं ?, मल्लगदिट्ठंतेणं—से जहानामए केइ पुरिसे आपागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खिविज्जा से नट्ठे, अन्ने वि पक्खित्ते से वि नट्ठे; एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं रावेहिइ त्ति, होही से उदगबिंदू जेणं तंसि मल्लगंसि ? ठाहिति, होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं भरिहिति, होही से उदगबिंदू जेणं तं मल्लगं पवाहेहिति, एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं पक्खिप्पमाणेहिं अणंतेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरियं होइ ताहे हुंति करेइ, नो चेव णं जाणइ केवि एस सद्दाइ ?, तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं । से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा तेणं सद्दो त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सद्दे, तओ णं अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा तेणं रूव त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस रूव त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस रूवे त्ति तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं

पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा तेणं गंधे त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस गंधे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुके एस गंधे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा तेणं रसो त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस रसे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस रसे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा तेणं फासे त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस फासे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस फासे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । से जहानाम केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासिज्जा तेणं सुमिणो त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ के वेस सुमिणे त्ति तओ ईहं पविसइ तओ जाणइ अमुगे एस सुमिणे तओ अवायं पविसइ तओ से उवगयं हवइ तओ धारणं पविसइ तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं । सेत्तं मल्लगदिट्ठंतेणं । (सूत्र-३५)

'एवं अट्ठावीसे' इत्यादि । एवम्-उक्तेन प्रकारेण अष्टाविंशतिविधस्य, कथमष्टाविंशविधतेति, उच्यते-चतुर्द्धा व्यञ्जनावग्रह, षोढा अर्थावग्रह, षोढा ईहा, षड्विधोऽपाय, षोढा धारणेत्याद्यष्टाविंशतिविधता एवमष्टाविंशतिविधस्याभिनिबोधिकज्ञानस्य सम्बन्धी यो व्यञ्जनावग्रह तस्य स्पष्टतरस्वरूपपरिज्ञानाय प्ररूपणा करिष्यामि । कथम् ? इत्याह-प्रतिबोधकदृष्टान्तेन, मल्लकदृष्टान्तेन च । तत्र प्रतिबोधयतीति प्रतिबोधक.—सुप्तस्योत्थापक. स एव दृष्टान्त प्रतिबोधकदृष्टान्तः तेन, मल्लक-शरावं तदेव दृष्टान्तो मल्लकदृष्टान्तस्तेन च, 'से किं तमि' त्यादि, अथ केयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन, व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणेति शेष. । आचार्यः प्राह—प्रतिबोधकदृष्टान्तेनेयं व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणा, स यथानामको-यथासंभवनामधेय कोऽपि पुरुष', अत्र सर्वत्राप्येकारो मागधिकभाषालक्षणानुसरणात, तच्च प्रागेवानेकश उक्त च-कञ्चिदनिर्दिष्टनामानं यथासंभवनामक पुरुष सुप्त सन्तं प्रतिबोधयेत्, कथमित्याह-अमुक अमुक इति, तत्र एवमुक्ते सति 'चोदको' ज्ञानावरणकर्मोदयत कथितमपि सूत्रार्थमनवगच्छन् प्रश्नं चोदयतीति चोदक, यथावस्थितं सूत्रार्थं प्रज्ञापयतीति प्रज्ञापको गुरु, तम् एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अवादीत्

भूतकालनिर्देशोऽनादिमानागम इति ख्यापनार्थः, एवन्प्रकारमेव दर्शयति—किमेकसमयप्रविष्टा पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति ?-ग्राह्यतामुपगच्छन्ति, किं वा-द्विसमयप्रविष्टा ?, इत्यादि सुगमम्, एव वदन्तं चोदकं प्रति प्रज्ञापक अवादीत्-उक्तवान् नो एकसमयप्रविष्टा इत्यादि, प्रकटार्थं यावन्नो संख्येयसमयप्रविष्टा पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति नवरमयं प्रतिषेधः स्फुटप्रतिभासरूपार्थावग्रहलक्षणविज्ञानग्राह्यतामधिकृत्य वेदितव्यो, यावता पुन प्रथमसमयादप्यारभ्य किंचित्किञ्चिदव्यक्तं ग्रहणमागच्छन्तीति प्रतिपत्तव्यम्, 'ज वंजणोग्गहणमिति भणियं विन्नाण अव्वत्तं' इतिवचनप्रमाण्यात् 'असंखेज्जे' त्यादि, आदित आरभ्य प्रतिसमयप्रवेशनेनासंख्येयान् समयान् यावत् ये प्रविष्टा. ते असंख्येयसमयप्रविष्टाः पुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति अर्थावग्रहरूपविज्ञानग्राह्यतामुपपद्यन्ते असंख्येयसमयप्रविष्टेषु तेषु चरमसमये प्रविष्टा. पुद्गला अर्थावग्रहविज्ञानमुपजनयन्तीत्यर्थ. । अर्थावग्रहाविज्ञानाच्च प्राक् सर्वोऽपि व्यञ्जनावग्रह. । एषा प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा व्यञ्जनावग्रहस्य च कालो जघन्यत. आवलिकाऽसंख्येयभाग, उत्कर्षत. संख्येयावलिका, ता अपि संख्येया आवलिकाः आनपानपृथक्त्वकालमाना वेदितव्या., यत उक्तम्-' वंजणवग्गहकालो, आवलियासंखभागातुल्लो उ । थोवा उक्कोसा पुण, आणापाणू पहुत्तंति ' ॥ १ ॥ 'सेत्तमि' त्यादि, निगमनम्, सेयं प्रतिबोधकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा ॥ 'से किं तमि' त्यादि, अथ कयं मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा ?, सूरिराह-सः-अनिर्दिष्टस्वरूपो यथानामक कश्चित् पुरुषः आपाकशिरस.-आपाक' प्रतीतः तस्य शिरसो मल्लकं-शराव गृहीत्वा इद हि किल रूक्ष भवति ततोऽस्योपादानं, तत्र मल्लकं एकमुदकबिन्दु प्रक्षिपेत्, स नष्ट', तत्रैव तद्भावपरिणतिमापन्न इत्यर्थ, ततो द्वितीय प्रक्षिपेत् सोऽपि विनष्ट, एवं प्रक्षिप्यमाणेषु प्रक्षिप्यमाणेषु भविष्यति स उदकबिन्दुर्यस्तत् मल्लकं 'रावेहिइ' इति देश्योऽयं शब्द.-आर्द्रता नेष्यति, शेषं सुगमं, यावदेवमित्यादि, एवमेव उदकबिन्दुभिरिव निरन्तरं प्रक्षिप्यमाणै' प्रक्षिप्यमाणैरनन्तै शब्दरूपतापरिणतै पुद्गलैर्यदा तद् व्यञ्जन पूरितं भवति तदा हुं करोति-हुंकारं मुञ्चति-तदा तान् पुद्गलान् अनिर्देश्यरूपतया परिच्छिनत्ति, इति भावार्थः । अत्र व्यञ्जनशब्देन उपकरणेन्द्रियं शब्दादिपरिणत वा द्रव्य तयो संबन्धो गृह्यते, तेन न कश्चिद्विरोध । आह च भाष्यकृत्-" तोएण मल्लग पि व, वंजणमापूरियं ति जं भणियं । त दव्वमिंदियं वा, तस्संबंधो व न विरोहो ॥२५०॥ " तत्र यदा व्यञ्जनमुपकरणेन्द्रियमधिक्रियते तदा पूरितमिति कोऽर्थ —परिपूर्ण भृत-व्याप्तमित्यर्थ, यदा व्यञ्जन द्रव्यमभिगृह्यते तदा पूरितमिति प्रभूतीकृत स्वप्रमाणमानीत स्वव्यक्तौ समर्थीकृतमित्यर्थ', यदा तु व्यञ्जनं द्वयोरपि संबन्धो गृह्यते तदा पूरितमिति । किमुक्तं भवति-तावत् संबन्धोऽभूत् यावति मति ते शब्दादिपुद्गला ग्रहणमागच्छन्ति, आह च चूर्णिकृत्-" यदा पु-

ग्गलदव्वा वंजणं तथा पूरियंति पभूया ते पुग्गलदव्वा जाया-स्वं प्रमाणमानीताः सचिसयपडिबोहसमत्था जाया" इत्यादि, "जया उवगरणिंदिय वंजणं तया पूरियंति कहं उच्यते ?, जाहे तेहिं पुग्गलेहिं तं दव्विंदियं आवूत भरियं" व्यापित तया पूरयंति भएणइ, जया उभयसंबंधो वंजणं तया पूरियंति कह ?, उच्यते, दव्वेंदियस्स । पुग्गला अंगीभावमागता, पोग्गला दव्विंदिए अभिषिक्ता इत्यर्थः, । तया पूरियंति इति भएणइ इति, एवं च यदा पूरितं भवति व्यञ्जनं तदा हुं इति करोति-अर्थावग्रहरूपेण ज्ञानेन तमर्थं गृह्णाति, किं च ?, नामजात्यादिकल्पनारहितं, तथा चाह-"नो चेव ण जाणइ केवेस सद्दाइ त्ति"-न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिरर्थ इति, स्वरूपद्रव्यगुणक्रियाविशेषकल्पनारहितमनिर्देश्यं सामान्यमात्रं गृह्णातीत्यर्थः । एवं रूपसामान्यमात्रकारणत्वादर्थावग्रहस्य एतस्माच्च पूर्वः सर्वोऽपि व्यञ्जनावग्रहः, एषा मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनाऽवग्रहस्य प्ररूपणा, हुंकारकरणं चार्थावग्रहवलप्रवर्तितम्, तत ईहां प्रविशति किमिदं किमिदमिति विमर्शं कर्त्तुमारभते, तत ईहानन्तरं क्षयोपशमविशेषभावाज्जानाति अमुक एष शब्दादिरिति, 'तत' एवं रूपे ज्ञानपरिणामे प्रादुर्भवति सति सोऽपायं प्रविशति, ततोऽपायानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तकालं यावदुपगत भवति-सामीप्येनात्मनि शब्दादिज्ञानं परिणतं भवति, अविच्युतिरन्तर्मुहूर्त्तकालं यावत् प्रवर्तेत इत्यर्थः, ततो धारणां प्रविशति, सा च धारणा वासनारूपा द्रष्टव्या, यत आह-"तत्तो णमि" त्यादि, ततो धारणायां प्रवेशात् 'णमि' तिवाक्यालंकारे, संख्येय वा असंख्येयं वा कालं हृदि धारयन्ति, तत्र संख्येयवर्षायुषः संख्येयं कालम्, असंख्येयवर्षायुषस्तु असंख्येयं कालम्। अत्राह—सुप्तमङ्गीकृत्य पूर्वोक्त प्रकारः सर्वोऽपि घटते, जाग्रतस्तु शब्दश्रवणसमनन्तरमेवाऽवग्रहेहाव्यतिरेकेणावायज्ञानमुपजायते, तथा प्रतिप्राणि संवेदनात्, तन्निषेधार्थमाह-'से जहानामए' इत्यादि, स यथानामकः कश्चित् जाग्रदपि पुरुषोऽव्यक्तं शब्दं शृणुयात्, अव्यक्तमेव प्रथम शब्दं शृणोति, अव्यक्तं नाम—अनिर्देश्यस्वरूपं नामजात्यादिकल्पनारहितम्, अनेनाऽवग्रहमाह, अर्थाऽवग्रहश्च श्रोत्रेन्द्रियस्य सबन्धिव्यञ्जनाऽवग्रहमन्तरेण न भवति ततो व्यञ्जनाऽवग्रहोऽप्युक्तो वेदितव्यः, अत्राह-नन्वेव क्रमो न कोऽप्युपलभ्यते, किंतु प्रथमत एव शब्दाऽपायज्ञानमुपजायते, सूत्रेऽपि चाऽव्यक्तमिति शब्दविशेषणं कृतम्, ततोऽयमर्थो व्याख्येयः-अव्यक्तम्—अनवधारितशाङ्खशार्ङ्गादिविशेष शब्दं शृणुयादिति, इदं च व्याख्यानमुत्तरसूत्रमपि संवादयति-'तेणं सद्दो त्ति उग्गहिए' तेन-प्रमात्रा शब्द इत्यवगृहीतं, 'णो चेव णं जाणइ केवेस सद्दाऽऽइ' न पुनरेव जानाति-क एष शब्दः-शाङ्खः शार्ङ्गः इति वा?, शब्द इत्यत्राऽऽदिशब्दात्-रूपादिग्रहणमथमेव स्यात् इति ज्ञापयति, तत ईहां प्रविशति इत्यादि सर्वं सङ्गतमेव, तदेतदयुक्तम्, सम्यक् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, इह हि यत्किंचिदपि वस्तु निश्चीयते तत्सर्वमीहापूर्वकम्, अनीहितस्य सम्यक् निश्चितत्वाऽयोगात्, न खलु प्रथमाक्षिसंनिपाते स्तम्भधूमदर्शनेऽपि यावत्किमयं धूमः?, किं

वा मशकवर्तिरिति विमृश्य धूमगतकण्ठक्षणनकालीकरणसौष्मतादिधर्मदर्शनात् सम्यक् धूम धूमत्वेन न विनिश्चिनोति तावत्स धूमो निश्चितो भवति, अनियर्तिनशङ्कनया तस्य सम्यक् निश्चितत्वायोगात्, तस्मादवश्यं यो वस्तु विशेषनिश्चयः स ईहापूर्वकः, शब्दोऽयमिति च निश्चयो वस्तुविशेषनिश्चयो, रूपादिव्यवच्छेदात् ततोऽवश्यमितः पूर्वमीहया भवितव्यम्, ईहा च प्रथमतः सामान्यरूपेणाऽवगृहीते भवति, नाऽनवगृहीते, न खलु सर्वथा निरालम्बनमीहनं क्वापि भवदुपलभ्यते, नचाऽनुपलभ्यमानं प्रतिपत्तुं शक्नुमः, सर्वस्या अपि प्रेक्षावता प्रतिपत्तेः प्रमाणमूलत्वाद्, अन्यथा प्रेक्षावत्ताक्षितिप्रसक्तेः, तस्माद्-ईहायाः प्रागवग्रहोऽपि नियमात्प्रतिपत्तव्यः, अमुमेवार्थं भाष्यकारोऽपि द्रढयति-"ईहिज्जइ नाऽगहियं; नज्जइ नाऽणीहियं न याऽनायं । धारिज्जइ त वत्थु, तेण कमोऽवग्गहाई उ" ॥२९६॥ अवग्रहश्च शब्दोऽयमिति ज्ञानात् पूर्वं प्रवर्त्तमानोऽनिर्देश्यसामान्यमात्रग्रहणरूप एवोपपद्यते, नाऽन्यः, अत एवोक्तं सूत्रकृता-'अव्यक्त शब्द शृणुयात्' इति, स हि परमार्थत शब्द एव, ततः प्रज्ञापकस्त शब्दमनूद्य तद्विशेषणमाचष्टे—अव्यक्तमिति तं शब्दमव्यक्तं शृणोति, किमुक्त भवति ?-शब्दव्यक्त्यापि व्यक्तं न शृणोति, किं तु सामान्यमात्रमनिर्देश्यं गृह्णाति इत्यर्थः, यदपि चोक्तम्-तेन प्रमात्रा शब्दः इत्यवगृहीतमिति, तत्र शब्द इति प्रतिपादयति प्रज्ञापकः सूत्रकारो, न पुनस्तेन प्रमात्रा शब्द इति अवगृह्यते, शब्द इति ज्ञानस्याऽपायरूपत्वात्, तथा हि-शब्दोऽयमिति, किमुक्त भवति ?-न शब्दाऽभावो, न च रूपादिः, किं तु शब्द एवाऽयमिति, ततो विशेषनिश्चयरूपत्वादयमवगमोऽपायरूप एव, नाऽवग्रहरूपः, अथ च अवग्रहप्रतिपादनार्थमिदमुच्यमानं वर्त्तते ततः शब्द इति प्रज्ञापकः सूत्रकारो वदति, न पुनस्तेन प्रमात्रा शब्द इत्यवगृहीते इति स्थितं, तथा चाह सूत्रकृत्-"नो चेव णमि" त्यादि, न पुनरेवं जानाति क एष शब्दादिरर्थ इति, शब्दादिरूपतया तमर्थं न जानातीति भावार्थः । अनिर्देश्यसामान्यमात्रप्रतिभासात्मकत्वादर्थाऽवग्रहस्य, अर्थाऽवग्रहश्च श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रियादीनां व्यञ्जनाऽवग्रहपूर्वक इति पूर्वं व्यञ्जनाऽवग्रहोऽपि द्रष्टव्यः, तदेवं सर्वत्राप्यवग्रहेहापूर्वमवायज्ञानमुपजायते, केवलमभ्यासदशामापन्नस्य शीघ्रं शीघ्रतरमवग्रहादयः प्रवर्तन्ते इति कालसौक्ष्म्यात्ते स्पष्टं न संवेद्यन्त इति स्थितम् । तत ईहां प्रविशति, इह केचिदीहा संशयमात्रं मन्यन्ते, तदयुक्तं, संशयो हि नामाऽज्ञानमिति, ज्ञानांऽशरूपा चेहा, तत सा कथमज्ञानरूपा भवितुमर्हति ?, नन्वीहाऽपि किमयं शाङ्खः, किं वा शार्ङ्गः ?, इत्येव रूपतया प्रवर्त्तते, संशयोऽपि चैवमेव, तत कोऽनयो प्रतिविशेष ?, उच्यते-इह यत् ज्ञानं शाङ्खशार्ङ्गादिविशेषानेकानालम्बते न चासद्भूतं विशेषमपासितुं शक्नोति, किं तु सर्वात्मना शयानमिव वर्तते, कुसदीभूत तिष्ठतीत्यर्थः, तदसद्भूतविशेषाऽपर्युदासपरिकुण्ठितं संशयज्ञानमुच्यते, यत्पुनः सद्भूतार्थविशेषविषये हेतूपपत्तिव्यापारपरतया सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखम-

सद्भूतविशेषत्यागाभिमुख च तदीहा, आह च (विशेषाऽऽवश्यक) भाष्यकृत्—

" जमणेगत्थालंबण-मपज्जुदासपरिकुंठियं चित्तं ।
सेय इव सव्वप्पयओ, तं संसयरूवमन्नाणं ॥ १८३ ॥
तं चिय सयत्थहेऊ, वव त्ति वावारतप्परममोहं ।
भूयाऽभूयविसेसा, दाणच्चायाभिमुहमीहा ॥ १८४ ॥"

इह यदि वस्तु सुबोधं भवति—विशिष्टश्च मतिज्ञानावरणक्षयोपशमो वर्त्तते, ततोऽन्तर्मुहूर्तकालेन नियमात्तद्वस्तु निश्चिनोति, यदि पुनर्वस्तु दुर्बोधं न च तथाविधो विशिष्टो मतिज्ञानावरणक्षयोपशमस्तत ईहोपयोगात्च्युत पुनरप्यन्तर्मुहूर्तकालमीहते, एवमीहोपयोगाविच्छेदेन प्रभूतान्यन्तर्मुहूर्त्तानि यावदीहते तत ईहानन्तरं जानाति-अमुक एवोऽर्थ शब्द इति, इद च ज्ञानमवा(पा)यरूपं, ततोऽस्मिन् ज्ञाने प्रादुर्भवति 'एमि' ति वाक्यालङ्कारे, अपाय प्रविशति तत. ' से ' तस्योपगतम्-अविच्युत्या सामीप्येनात्मनि परिणतं भवति, ततो धारणां वासनारूपां प्रविशति, संख्येयमसंख्येय वा कालम् । एवमनेन क्रमप्रकारेण एतेन पूर्वदर्शितेनाभिलापेन शेषेष्वपि चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु अवग्रहादयो वाच्या , नवरमभिलापविषये-" अव्वत्त सद्द सुणेज्जा " इत्यस्य स्थाने " अव्वत्त रूवं पासेज्जा " इति वक्तव्यम् , उपलक्षणमेतत् तेन सर्वत्राऽपि शब्दस्थाने रूपमिति वक्तव्य, तद्यथा-'तेणं रूवि त्ति उग्गहिए नो चेव णं जाणइ केवेस रूवि त्ति ततो ईहं पविसइ, ततो जाणइ अमुगे एस रूवे त्ति, ततो अवायं पविसइ " इत्यादि तदवस्थमेव, नवरमिह व्यञ्जनावग्रहो न व्याख्येय., अप्राप्यकारित्वात् चक्षुष , घ्राणेन्द्रियादिषु तु व्याख्येय , एव तु घ्राणेन्द्रियविषये-" अव्वत्तं गंध अग्घाइज्जा " इत्यादि, वक्तव्यं जिह्वेन्द्रियविषये-" अव्वत्त रसं आसाएज्जा " इत्यादि, स्पर्शनेन्द्रियविषये-"अव्वत्तं फास पडिसंवेदेज्जा" इत्यादि, यथा च शब्द इति निश्चिते तदुत्तरकालमुत्तरधर्मजिज्ञासायां किं शाङ्ख? किं वा शार्ङ्ग ?, इत्येवंरूपा ईहा प्रवर्त्तते तथा रूपमिति निश्चिते तदुत्तरकालमुत्तरधर्मजिज्ञासायां किमयं स्थाणु ? किं वा पुरुष ? इत्यादिरूपा (सा) प्रवर्त्तते । एवं घ्राणेन्द्रियादिष्वपि समागन्धादीनि वस्तूनि ईहाऽऽलम्बनानि वेदितव्यानि, आह च (विशेषावश्यक) भाष्यकृत्—

" सेसेसु वि रूवाइसु विसएसु होंति रूवलक्खाई ।
पाय पच्चासन्न-त्तणेण ईहाइवत्थूणि ॥ २६२ ॥
थाणुपुरिसाइकुट्टु-प्पलाइसंभियकरिल्लमंसाइ ।
सप्पुप्पलनालाइ य, समाणरूवाइँ विसयाइ ॥ २६३ ॥ "

' से जहानामए ' इत्यादि, स यथानामक कोऽपि पुरुषोऽव्यक्तं स्वप्न प्रतिसंवेदयेत्, अव्यक्तं नाम-सकलविशेषविकलमनिर्देश्यमिति यावत् स्वप्नमिति प्रज्ञापक -सूत्रकारो वदति, स तु प्रतिपत्ता स्वप्नादिव्यक्तिविकलं किञ्चिदनिर्देश्यमेव तदानीं गृह्णाति, तथा अनेन प्रतिपत्त्रा "सुविणो त्ति उग्गहिए" इति स्वप्नमिति अवगृहीतम्, अत्राऽपि स्वप्न इति प्रज्ञापकोक्तिः, स तु प्रतिपत्ता अशेषविशेषवियुक्तमेवाऽवगृहीतवान्, तथा चाह— न पुनरेव जानाति-क एष स्वप्न इति ?, स्वप्न इत्यपि तमर्थं न जानातीति भाव , तत ईहां प्रविशतीत्यादि, प्राग्वत् , एवं स्वप्नमधिकृत्य नोइन्द्रियस्याऽर्थाऽवग्रहादयः प्रतिपादिता । अनेन चोल्लेखेनाऽन्यत्राऽपि विषये भावितव्याः, तदेवं मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहप्ररूपणां कुर्वता प्रसङ्गतोऽष्टाविंशतिसंख्या अपि मतिज्ञानस्य भेदा सप्रपञ्चमुक्ता, संप्रति मल्लकदृष्टान्तमुपसंहरति-" सेत्तं मल्लगदिट्ठंतेणं " एव मल्लकदृष्टान्तेन व्यञ्जनावग्रहस्य प्ररूपणा । नं० ।

(७) मतान्तरेणाष्टाविंशति २८ भेदत्वम्-"उग्गह ईह अवाओ य " इत्यादिगाथायाम् ' आभिनिबोधिकज्ञानस्य ' चत्वारि भेदवस्तूनि समासत इत्युक्तं, तत्किं व्यासतो बहुभेदमप्याभिनिबोधिकज्ञानं भवति ?, ' इत्याशङ्क्य तद्भेदबहुविधत्वदर्शनात् ' समासेन ' इति विशेषणस्य सफलत्वमाह-

सोइंदियाइभेएण. छव्विहा ऽवग्गहादओऽभिहिया ।
ते होंति चउव्वीसं, चतुव्विहं वंजणोग्गहणं ॥३००॥
अट्ठावीसइभेयं, एयं सुयनिस्सियं समासेणं ।
केइ तु वंजणोग्गह-वज्जे छोढूणमेयम्मि ॥ ३०१ ॥
अस्सुयनिस्सियमेवं, अट्ठावीसइविहं ति भासंति ।
जमवग्गहो दुभेओ-ऽवग्गहसामन्नओग्गहियो ॥३०२॥

श्रोत्रेन्द्रियादीनां पञ्चानामिन्द्रियाणां मनःषष्ठानां यो भेदस्तेनाऽवग्रहादयः प्रत्येकं षड्विधाश्चत्वारोऽप्यभिहिता. । ततस्ते षड्भिश्चत्वारो गुणिताश्चतुर्विंशतिर्भवन्ति । अन्यच्च-स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियचतुष्टयभेदात् व्यञ्जनाऽवग्रहणम्—व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विधो भवति । एवमेतत् श्रुतनि स्रि(श्रि)तमाभिनिबोधिकज्ञानं सर्वमप्यष्टाविंशतिविध सपद्यते । एतदपि भेदाऽभिधान वक्ष्यमाणबहुतरभेदकलापापेक्षयाऽत्राऽपि समासेन-संक्षेपेण द्रष्टव्यम् ।

अन्ये त्वेतानष्टाविंशतिभेदानन्यथा पूरयन्ति, तन्मतमुपदर्शयति-' केइ तु ' इत्यादि, केचित्पुनराचार्या एतस्मिन्नेव श्रुतनि (श्रि)ते मतिज्ञानभेदसमुदये, व्यञ्जनावग्रहभेदचतुष्टयवर्जे "उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मिया, पारिणामिया" इत्यादिना अन्यत्र, प्रागत्राऽपि च प्रतिपादितस्वरूपमश्रुतनि-स्रृ(श्रि)तमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टय क्षिप्त्वा-मीलयित्वा एवमष्टाविंशतिविधं सर्वमपि मतिज्ञानमिति भाषन्ते । अयं हि तेषामभिप्राय.-मतिज्ञानस्य संपूर्णस्येह भेदा. प्रतिपादयितुं प्रक्रान्ता । यदि च-अश्रुतनि सृ(श्रि)तं बुद्धिचतुष्टयं न गण्यते तदा श्रुतनि सृ(श्रि)तरूपस्य मतिज्ञानदेशस्यैवैतेऽष्टाविंशतिभेदा. प्रोक्ता भवन्ति । न तु सर्वस्याऽपि, यदा तूक्तन्यायेन श्रुतनि सृ(श्रि)तमश्रुतनि सृ(श्रि)तं च मीलयते तदा सर्वस्याऽपि तस्य भेदा सिद्धा भवन्ति । ननु साधूक्तं तैः । केवलमेवं सति व्यञ्जनाऽवग्रहचतुष्टयं क क्रियताम् ?, न ह्येतदपि विक्रीयमाण खलखण्डमात्रेण क्रीतम् , किंत्विदमपि मतिज्ञानान्तर्गतमेव ततोऽस्मान्निष्काश्यमान वराकमिदं काऽवस्थितिं बध्नातु ?, इत्याशङ्क्याह-' जमवग्गहो ' इत्यादि, यत्-यस्माद्व्यञ्जनार्थाऽवग्रहभेदतो योऽयमवग्रहो द्विभेद प्रागुक्त सोऽवग्रहसामान्येन गृहीतोऽवग्रहसामान्येऽन्तर्भावित . भवति न विशेषाणां सामान्येऽन्तर्भाव , यथा सेनायां गजादीनां

वनादी च धवखदिरादीनाम्। अतोऽवग्रहस्य सामान्यरूपतया एकत्वादवग्रहेहाऽपायधारणानामिन्द्रियमनोभेदेन प्रत्येक षड्विधत्वात्। श्रुतनि' सृ(श्रि)तमतिज्ञानस्य चतुर्विंशतिरेवं भेदा', अश्रुतनि सृ(श्रि)तस्य तु बुद्धिचतुष्टयलक्षणाश्चत्वारः, इत्येवं सर्वं मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं सिद्ध्यति। इति केषाचिन्मतम्। इति गाथात्रयार्थ।

एतच्च तन्मतमयुक्तम्। कुत ?, इत्याह—

चउवइरित्ता भावा, जम्हा न तमुग्गहाईओ।
भिन्नं तेणोग्गहाइ-सामन्नउतयं तग्गयं चेव ॥२०३॥

चतुर्भ्य.-अवग्रहेहापायधारणाख्यस्तुभ्यो व्यतिरिक्त चतुर्व्यतिरिक्त तस्य चतुर्व्यतिरिक्तस्याश्रुतनिःसृ(श्रि)तस्याऽभावात्कारणाद्यस्मात्—यतो न तदश्रुतनि सृ(श्रि)तमवग्रहादिभ्यो भिन्नम्। तत' किम्, इत्याह-तेन कारणेनावग्रहादिसामान्याद्-अवग्रहादिसामान्यमाश्रित्य 'तयं तग्गय चेव' त्ति-तेष्ववग्रहादिसयन्धिष्वष्टाविंशतिभेदेष्वन्तर्गतं—प्रविष्टमन्तर्भूतं तदन्तर्गतमेवाऽश्रुतनिःसृ(श्रि)तं बुद्धिचतुष्टयम्। अतः किमिति व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयं पातयित्वा श्रुतनि.सृतं बुद्धिचतुष्टयं पुनरपि प्रक्षिप्यते ?, इत्यभिप्रायः। इदमुक्त भवति-" सोइंदियाइभेएण छव्विहावग्गहादओ" (३००) इत्यादिना प्रतिपादितैरवग्रहादिसयन्धिभिरष्टाविंशतिभेदै· किलाऽसंगृहीतत्वाद्व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयापगमं कृत्वा श्रुतनि.सृतं बुद्धिचतुष्टयं मतान्तरवादिभि· प्रक्षिप्यते एतच्चायुक्तं, यत -' सोइंदियाइभेएणं' इत्यादिनाऽवग्रहादीनामेव अष्टाविंशतिर्भेदा प्रोक्ताः, अवग्रहादयश्च बुद्धिचतुष्टयेऽपि सन्ति, अतोऽवग्रहादिभणनद्वारेण तदप्यश्रुतनि'सृ(श्रि)त बुद्धिचतुष्टयमेतेष्वष्टाविंशतिभेदेषु संगृहीतमेवेति, किमिति तै· पुनरपि प्रक्षिप्यते ?,। इति गाथार्थ.।

नत्रैतस्यात्प्रष्टव्यं परस्य कथमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेऽवग्रहादयः सम्भवन्ति ?। तदत्र यथा ते भवन्ति, तथा दर्शयन्नाह—

किह पडिकुक्कुडहीणो, जुज्झे बिंबेणाऽवग्गहो ईहा।
किं सुमिलिट्ठमवाओ, दप्पणसंकंतबिंबं ति ॥२०४॥

इह किलाऽऽगमे-" भरह-सिल-मिंढकुक्कुड-तिल-वालुयहत्थि-अगड-वणसंडे। पायसअइयापत्ते-खाडहिला पच पियरो य" ॥६१॥ (नन्दीसूत्र-२७) इत्यादिना औत्पत्तिक्याद्विबुद्धीना बह्वन्युदाहरणान्युक्तानि, तन्मध्याच्छेषोपलक्षणार्थं कुक्कुटोदाहरणमाश्रित्यौत्पत्तिक्या बुद्धौ अवग्रहादयो भाव्यन्ते—राज्ञा नटकुमारकस्य भरतस्य किल बुद्धिपरीक्षणार्थमादिष्टं यदुत--अयं मदीयकु (कुं)क्कुटो द्वितीयकु(कुं क्कुटमन्तरेणैकक एव योधनीय। ततस्तेन जिज्ञासित मनसि कथमय प्रतिकु(कुं)क्कुटहीन प्रतिपक्षभूतद्वितीयकु(कुं क्कुटवर्जितो युध्येत। एतच्च जिज्ञासमानस्य तस्य झगित्येव स्फुरितं चेतसि। किम् ? इत्याह-' बिंबेन' त्ति—आत्मीयेन प्रतिबिम्बेन पुरो वीक्षितेन दर्पणाध्मातत्वादय युध्यत इत्यवगृहीतमित्यर्थ। एतच्च किम् ?, इत्याह-अवग्रहसामान्येनैव बिम्बमात्रावग्रहणादवग्रहो, मतिप्रथमभेद इत्यर्थ। ईहा तर्हि का ?, इत्याह-'ईहा किं सुमिलिट्ठ' मिति, किं पुनस्तर्हि प्रतिबिम्बमस्य योधनाय सुश्लिष्टं-सुष्ठु युज्यमानक भवेत्-किं तडागपयःपूरादिगतम्, आहोस्विद्दर्पणगतम् ? इत्यादिर्विमर्शविशेषान्वेषणम् ईहेत्यर्थः। अपायमुपदर्शयति-'अवाओ दप्पणसंकतबिंब' ति-कल्लोलादिभिः प्रतिक्षणमपनीयमानत्वाद्, अस्पष्टत्वाच्च जलादिगतबिम्बमिह न युक्तं; ततः स्थिरत्वेन, स्पष्टादित्वेन च चरणाघातादिविषयत्वाद्दर्पणसंक्रान्तमेव तदत्र युज्यते इत्येव बिम्बविशेषनिश्चय; अपाय इत्यर्थ.। एवमन्येष्वपि बुद्ध्युदाहरणेष्ववग्रहादयो भावनीया., तस्माद् बुद्धिचतुष्टयेऽप्येषां सद्भावात् श्रुतनि.(श्रि,सृतमतिज्ञानमयन्धिष्ववग्रहादिगताऽष्टाविंशतिभेदेष्ववग्रहादिसाम्येन बुद्धिचतुष्टयस्यान्तर्भावो भावनीय.। ततो न युक्त व्यञ्जनावग्रहचतुष्टयापगमेन पुनर्बुद्धिचतुष्टयप्रक्षेपणम्। इति स्थितम्। इति गाथार्थ.।

आह-ननु यद्यवग्रहादिसाम्येनाश्रुतनि.(श्रि)सृतावग्रहादिष्वन्तर्भवति, तर्हि "आभिनिबोहियनाणं दुविहं पन्नत्ते, तं जहा-सुयनिस्सियं, असुयनिस्सियं च" इत्येवमागमे यः श्रुतनि.(श्रि)सृतादश्रुतनि.(श्रि)सृतस्य भेद उक्तः स विशीर्यत एव, इत्याशङ्क्याह—

जह उग्गहाइमाम-ण्णओ वि सोइंदियाइणा भेओ।
तह उग्गहाइमाम-ण्णओ वि तमणिस्सिया भिन्नं॥२०५॥

यथेहावग्रहादीनामवग्रहादिसामान्ये सत्यपि; अवग्रहादित्वे तुल्येऽपि सतीत्यर्थ'। किम् ?, इत्याह-श्रोत्रेन्द्रियादिना भेदः, तथा हि-एके-श्रोत्रेन्द्रियसंबन्धिनोऽवग्रहादय., यावदन्ये स्पर्शनेन्द्रियसंबन्धिन, अपरे तु मन.संबन्धिन; तथा तेनैव प्रकारेणावग्रहादिसामान्ये सत्यपि तदश्रुतनि.सृ(श्रि)तं भिन्नं 'श्रुतनि सृ(श्रि)तादि' ति विशेष। कस्मात् तेनोभिन्नम् ?, इत्याह-' अणिस्सिय' त्ति-भावप्रधानोऽयं निर्देश· अनिःसृ(श्रि)तत्वात्; श्रुतानि सृतत्वादित्यर्थ, एतदुक्त भवति-अष्टाविंशतिभेदविचारप्रक्रमेऽवग्रहादिमत्त्वं सामान्य धर्ममाश्रित्याश्रुतनि सृतस्य श्रुतनि'सृत एवान्तर्भावो विवक्ष्यते, श्रुताऽश्रुतनि सृतविचारप्रस्तावे त्वश्रुतनि सृतत्वं विशिष्ट धर्ममुररीकृत्य श्रुतनि सृतादश्रुतनि सृत पृथगेवेष्यते, इत्यागमोक्तस्तयोर्भेदोऽपि न किञ्चित् विशीर्यते। न च वक्तव्य कथमेकस्यैवैकस्मादेव भेदश्चाऽभेदश्च; विरोधात्, इति यतो यदि तेनैव धर्मेण भेद, अभेदश्चेष्येत, स्यात्तदा विरोध., धर्मान्तरनिबन्धनौ तु भेदाऽभेदौ न विरुध्येते। किं हि नाम तद्वस्त्वस्ति. यस्य वस्त्वन्तराद्भेदाऽभेदौ न स्त ?। घटादयोऽपि हि घटादित्वसामान्येन परस्परमभेदिनोऽपि स्वद्रव्यक्षेत्रकालादिमत्त्वेन भिन्ना इति। अत्र बहु वक्तव्य, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गाद्, अनेकान्तजयपताकादिषु विस्तरेणोक्तत्वाच्च। इति गाथार्थ।

स्यादेतत्, किमेतावता कष्टेन ?, मदीयव्याख्यापक्ष एव सुखावह, श्रुतनि सृताऽश्रुतनि सृतयोरभेदापत्तेरभावात् समस्तमतिज्ञानभेदभणनाच्चेति। तदेतदयुक्त, सिद्धान्ताभिप्रायबहिर्भूतत्वादितदेवोपसंहारपूर्वकमाह—

अट्ठावीसइभेयं, सुयनिस्सियमेव केवलं तम्हा।

१-अनेकान्तजयताकाभिधे ग्रन्थे।

जम्हा तम्मि समत्ते, पुणरस्सुअनिस्सियं भणियं ॥३०६॥

तस्माद्-अवग्रहादिमारभ्याद् श्रुतनिःसृतस्य अश्रुतनिःसृतेऽन्तर्भावं कृत्वा केवलं श्रुतनिःसृतमेव मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं व्याख्यातुमुचितं, न तु परोक्तनीत्या व्यञ्जनावग्रहाऽपगमेन श्रुताऽश्रुतनिःसृतमिति । कुतः ?, इत्याह—'जम्हा' इत्यादि, यतः-"से किं तं सुयनिस्सियं" इत्येवमागमे तस्मिन् श्रुतनिःसृते समाप्ते-निष्ठां नीते सति पुनः पश्चात् "से किं तं असुयनिस्सियं" इत्यादिना ग्रन्थेनाऽश्रुतनिःसृतं भणितम् । अयमभिप्रायः-श्रुतनिःसृतं सभेदमप्यभिधाय पश्चादेवाऽश्रुतनिःसृतमुक्तम् । अतः कथं तत्तत्र प्रक्षिप्यते ?, तस्मात्समयाऽभिप्रायेण श्रुतनिःसृतस्यैवाष्टाविंशतिभेदा इति अतो न भवद्व्याख्यानं श्रेयः इति । तदेवम्-"चउवइरित्ताभावा" इत्यादिगाथा मूलटीकाऽभिप्रायेण व्याख्याताः । अन्ये त्वन्यथाऽपि व्याख्यानयन्ति, तदभिप्रायं त्वतिगम्भीरत्वान्न विद्मः । इति गाथार्थः । विशे० । स्था० । द्वा० । नं० ।

एते चावग्रहादयोऽष्टाविंशतिभेदाः प्रत्येकं बह्वादिभिः सेतरैः सर्वसंख्यया द्वादशसंख्यैर्भेदैर्भिद्यमाना यदा विवक्ष्यन्ते तदा षट्त्रिंशदधिकं भेदानां शतत्रयं (३३६) भवति । तत्र बह्वादयः शब्दमधिकृत्य भाव्यन्ते । शङ्खपटहादिनानाशब्दसमूहं पृथगेकैकं यदा अवगृह्णाति तदा बह्ववग्रहः, यदा त्वेकमेव कञ्चिच्छब्दमवगृह्णाति तदा अबह्ववग्रहः, तथा शङ्खपटहादिनानाशब्दसमूहमध्ये एकैकं शब्दमनेकैः पर्यायैः स्निग्धगाम्भीर्यादिभिर्विशिष्टं यथावस्थितं च यदा अवगृह्णाति, तदा स बहुविधोऽवग्रहः, यदा त्वेकमनेकं वा शब्दमेकपर्यायविशिष्टमवगृह्णाति तदा सोऽबहुविधावग्रहः । यदा तु अचिरेण जानाति तदा स क्षिप्रावग्रहः, यदा तु चिरेण तदा अक्षिप्रोऽवग्रहः, तमेव शब्दं स्वरूपेण यदा जानाति, न लिङ्गपरिग्रहात् तदा अनिश्रितावग्रहः । लिङ्गपरिग्रहेण त्ववगच्छतो निश्रितावग्रहः, अथवा-परधर्मैर्विमिश्रितं यद् ग्रहणं तन्मिश्रितावग्रहः, यत्पुनः-परधर्मैरविमिश्रितस्य ग्रहणं तदमिश्रितावग्रहः । तथा निश्चितमवगृह्णतो निश्चितावग्रहः, संदिग्धमवगृह्णतः संदिग्धावग्रहः, सर्वदैव बह्वादिरूपेणावगृह्णतो ध्रुवोऽवग्रहः, कदाचिदेव पुनर्बह्वादिरूपेणावगृह्णतः अध्रुवावग्रहः, एष च बहुबहुविधादिरूपोऽवग्रहो विशेषसामान्यावग्रहरूपो द्रष्टव्यः, नैश्चयिकस्यावग्रहस्य सकलविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यसामान्यमात्रग्राहिण एकसामयिकस्य बहुविधादिविशेषग्राहकत्वाऽसंभवात्, बह्वादीनां चानन्तरोक्तं व्याख्यानं भाष्यकारोऽपि प्रमाणयति—

"नाणासद्दसमूहं बहुं पिहं मुणइ भिन्नजातीयं ।
बहुविहमणेगभेयं, एक्केक्कं निद्धमहुराइं ॥ ३०८ ॥
खिप्पमचिरेण तं चिय, सरूवओ जमनिस्सियमलिंगं ।
निच्छियमसंसयं जं, धुवमच्चंतं न उ कयाइं ॥ ३०९ ॥
एत्तो च्चिय पडिवक्खं, साहेज्जा निस्सिए विसेसोऽयं ।
परधम्मेहिं विमिस्सं, मिस्सियमविमिस्सियं इयरं ॥ ३१० ॥"

यदा पुनरालोकस्य मन्द-मन्दतर-मन्दतमस्पष्ट-स्पष्टतर-स्पष्टतमत्वादिभेदतो विषयस्याऽल्पत्वमहत्त्वसंनिकर्षादिभेदतः क्षयोपशमस्य च तारतम्यभेदतो भिद्यमानं मतिज्ञानं चिन्त्यते, तदा तदनन्तभेदं प्रतिपत्तव्यम् । न० ३५ सूत्र टी० । आ० म० । कर्म० ।

(८) अष्टाविंशतिविधत्वं मतिज्ञानस्योपदर्श्य, विवक्षान्तरेण बहुतरभेदमप्येतद् भवतीति दर्शयन्नाह—

जं बहु-बहुविह-खिप्पाऽ-निस्सियनिच्छियधुवेयरविभिन्ना ।
पुणरुग्गहादओ तो, तं छत्तीसत्तिसयभेयं ॥ ३०७ ॥

यत्-यस्माद् बहु-बहुविधक्षिप्राऽनिश्रितनिश्चितध्रुवैः सेतरैः-सप्रतिपक्षैरेकैकशो विभिन्ना भेदभाजः पुनरप्यवग्रहादयो दृश्यन्ते । ततस्तदेवाष्टाविंशतिविधमाभिनिबोधिकज्ञानमेतैर्द्वादशभिर्भेदैः प्रत्येकं भिद्यमानत्वात् षट्त्रिंशदधिकत्रिशतं ३३६ भेदं भवति । इदमुक्तं भवति-अनन्तरवक्ष्यमाणन्यायेन संक्षेपतः प्रागभिहितयुक्त्या च श्रोत्रादिभिः कश्चिद्बह्ववगृह्णाति, कश्चित्त्वबहु, अपरस्तु बहुविधम् अन्यस्त्वबहुविधम्, एवं यावदन्यो ध्रुवम्, अपरस्त्वध्रुवमवगृह्णातीति । एवमीहाऽपाय-धारणास्वपि सर्वभेदास्तु प्रत्येकममी द्वादश १२ भेदा योजनीयाः । नवरमीहते, निश्चिनोति, धारयति, इत्याद्यभिलापः कार्यः । ततश्चाष्टाविंशतौ द्वादशभिर्गुणितायां षट्त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि ३३६ भेदाना भवन्तीति गाथार्थः ।

अथ शब्दलक्षणं विषयमाश्रित्य तावद् बह्वादीनामर्थं व्याख्यातुमाह—

नाणासद्दसमूहं, बहुं पिहं मुणइ भिन्नजातीयं ।
बहुविहमणेगभेयं, एक्केक्कं निद्धमहुराइं ॥ ३०८ ॥
खिप्पमचिरेण तं चिय, सरूवओ जं अणिस्सियमलिंगं ।
निच्छियमसंसयं जं, धुवमच्चंत न उ कयाइ ॥ ३०९ ॥

इह श्रवणगोचरदेशस्थे तूर्यसमुदाये युगपद्वाद्यमाने कोऽपि श्रोता तस्य तूर्यसंघातस्य सबन्धिनं पटहढक्काशङ्खभेरिभाणकादिनानाशब्दसमूहमाकर्णितं सन्तं क्षयोपशमविशेषाद् बहुमवग्रहादिना मुणति-जानाति । कोऽर्थः ?, इत्याह-पृथग्-भिन्नजातीयम्, एतावन्तोऽत्र भेरिशब्दाः, एतावन्तो भाणकशब्दाः, एतावन्तस्तु शङ्ख-पटहादिशब्दाः, इत्येवं पृथगेकैकशो, भिन्नजातीयत्वेन तं नानाशब्दसमूहं बुद्ध्यत इत्यर्थः । अन्यस्त्वल्पक्षयोपशमत्वात्तत्समानदेशोऽप्यबहु मुणति सामान्येन 'नानातूर्यशब्दोऽयमि' त्यादिमात्रकमेव जानाति इति प्रतिपत्तिः । एवमुत्तरगाथायामनिर्दिश्यमाणा प्रतिपक्षभावना सर्वत्रापि योजनीया । अन्यस्तु क्षयोपशमवैचित्र्याद् बहुविधं मुणति । कोऽर्थः ?, इत्याह—अनेकभेदम्, इदमपि व्याचष्टे एकैकं शङ्खभेर्यादिशब्दं स्निग्धत्वमधुरत्वतरुणमध्यमवृद्धपुरुषवाद्यत्वादिबहुविधधर्मोपेतं जानातीत्यर्थः । अन्यस्तु-अबहुविधं स्निग्धमधुरत्वादिस्वल्पधर्मान्वितमेव पृथग्भिन्नजातीयं नानाशब्दसमूहं जानाति । अन्यस्तु क्षिप्रम् । कोऽर्थः ?, इत्याह-अचिरेण-शीघ्रमेव परिच्छिनत्ति, न तु चिरेण विमृश्येत्यर्थः । अन्यस्तु-अक्षिप्र-चिरविमर्शिनं जानाति । तथा-"तं चिय सरूवओ जं अणिस्सियमि" ति तमेव नानाशब्दसमूहं कोऽप्यनि(श्रि)सृतं मुणतीति सम्बन्धः । यं किम् इत्याह-य

स्वरूपतो जानाति । कोऽर्थः ? इत्याह—आलिङ्ग, पताकाऽविलिङ्गाऽनिश्रतमित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-तमेव शङ्खसमूहं 'देवकुलमन, तथाविधपताकादर्शनाद्' इत्येव लिङ्गनिश्रामकृत्या स्वरूपत एव यमवगच्छति, तमनिःसृतं 'मुणति' इति-उच्यत इति । तमेव लिङ्गनिश्रया जानानो निःसृतं मुणतीत्युच्यते । तथा—'निच्छियमसंसयं ज' ति—यमशसंयमचच्छिन्नत्ति तं निश्चितं मुणति । निश्चित तावदित्थमेतन्मया, परं न जाने, तथा वा स्याद् अन्यथा वा, इत्येवं संदेहानुविद्धं तु जानन्ननिश्चितं मुणति । 'धुवमि' त्यादि, ध्रुवं कोऽर्थः-अत्यन्त ननु कदाचिदिति । इदमुक्तं भवति—यथैकदा बह्वादिरूपेणावगतं सर्वदैव तथाऽवबुध्यमानो ध्रुवं मुणतीत्युच्यते । यस्तु कदाचिद् बह्वादिरूपेण, कदाचित्त्वबह्वादिरूपेण सोऽध्रुवं मुणति । इति गाथाद्वयार्थः ।

इतरशब्द व्याख्यिख्यासुराह—

एतो चिय पडिवक्खं, साहिज्जा निस्सिए विसेसो वा ।
परधम्मेहिँ विमिस्सं,निस्सियमविणिस्सियं इयरं॥३१०॥

एतस्मादेव-उक्तस्वरूपाद्-बह्वादिषट्पदसमूहात्प्रतिपक्षमेतद्विपर्ययमबह्वबहुविधाऽक्षिप्र-निसृताऽनिश्रिताऽध्रुवपदषट्कलक्षणं साधयेत् स्वयमेव ब्रूयात् मेधावी । स च लाघवार्थं बह्वादिविचार एव साधित तदेवं व्याख्याता द्वादशापि बह्वादयो भेदाः । अथवा-निसृते सम्प्रतिपक्षेऽपि व्याख्यानान्तरलक्षणो विशेषो वक्तव्यः । कः ?, इत्याह-परधर्मैः-अश्वादिवस्तुधर्मैर्विमिश्रं-युक्तं गवादिवस्तु गृह्णाणस्य निसृत भवति-गामश्वादिरूपेण गृह्णतो येय विपर्ययोपलब्धिः, तन्निसृतमित्यर्थः । इतरत्तु यत्परधर्मैर्विमिश्रं वस्तु न गृह्णाति, किं तु-यथावस्थितमेव तत्सद्भूतोपलब्धिरूपमनिसृत गवादिकं वस्तु गवादिरूपेणैव गृह्णतो येयमविपर्ययोपलब्धिस्तदनिसृतमित्यर्थः ।

अत्राह—ननु बहुबहुविधपरिज्ञानादीनि विशेषणानि स्पष्टार्थग्राहकेष्ववायादिषु भवन्तु, व्यञ्जनावग्रहनिश्चयार्थावग्रहयोस्तु कथ तत्सम्भव ?, तथाहि—'सामण्णमणिद्देस सरूवनामाइकप्पणारहियं' इत्यादिवचनान्निश्चयार्थाऽवग्रहे शब्दादिविशेषमात्रग्रहणमपि नाऽस्ति, कुतो यथोक्तबह्वादिपरिभवज्ञानसंभवः ? । अथ व्याख्यानात् व्यवहारार्थावग्रहोऽत्र गृह्यते, तस्मिंश्च विशेषग्राहित्वाद् बहुपरिज्ञानादिविशेषणान्युपपद्यन्त एव भवत्येव, तथाप्यष्टाविंशतिभेदमध्यसगृहीतस्य व्यञ्जनावग्रहस्य कथमेतद् विशेषणसभव ? तत्र हि सामान्यार्थग्रहणमात्रमप्याकृतं बह्वादिपरिज्ञान तु दूरोत्सारितमेवेति । सत्यमेतत्, किं तु-व्यञ्जनावग्रहादयः कारणमपायादीनां, तानन्तरेणापायाद्यभावात् । ततश्चापायादिगत बह्वादिपरिज्ञान तत्कारणभूतेषु व्यञ्जनावग्रहादिष्वपि योग्यतयाऽभ्युपगन्तव्यम् । न हि सर्वथाऽविशिष्टात्कारणात् विशिष्टं कार्यमुत्पत्तुमर्हति, कोद्रवबीजादेरपि शालिफलादिप्रसवप्रसङ्गात् इति प्रागप्युक्तप्रायम् । इत्यलमतिचर्चितेनेति गाथार्थः ।

ननु कथमेकस्यापि मतिज्ञानस्यैतावन्तो भेदा इत्याशङ्क्य निर्दिष्टभेदानां कारणम्, अन्येषामपि बहुतरभेदानां सहेतुकं संभवं चोपसंहारगर्भमाह—

एवं बज्झऽब्भं(ब्भं)तर-निमित्तवइचित्तओ मइबहुत्तं ।
किंचिम्मेत्तविसेसे- ण भिज्जमाणं पुणोऽणंतं ॥ ३११ ॥

एव तावद्बाह्याभ्यन्तरनिमित्तवैचित्र्यान्मतिबहुत्वमुक्तम् । तत्र बाह्यं निमित्त मतिज्ञानस्य कारणम् आलोकविषयादिकम् । तस्य च स्पष्टाऽस्पष्टमध्यमाल्पमहत्त्वसंनिकर्षविप्रकर्षभेदाद्वैचित्र्यम् ? । आभ्यन्तरनिमित्त पुनरावरणक्षयोपशमोपयोगोपकरणेन्द्रियाणि । अस्याऽपि वैचित्र्यं शुद्धाऽशुद्धमध्यमभेदात् । ततश्चैतस्माद् बाह्याभ्यन्तरनिमित्तवैचित्र्यान्मतिज्ञानस्य यथोक्तभेदबहुत्वमभिहितमवगन्तव्यम् । एतदेव च मतिज्ञानं यथोक्तनिमित्तद्वयस्य किंचिन्मात्रभेदाद्भिद्यमानं पुनरनन्तमपि भवतीति प्रतिपत्तव्यम्, सामान्येन मतिज्ञानमात्रवतां जीवानामनन्तत्वात्, तेषां च क्षयोपशमादिभेदेन मतेर्भिन्नत्वादिति भाव । इति गाथार्थः ।

(१) अत्राह कश्चिन्ननु अवग्रहादयो ज्ञानमेव न भवन्ति, स्पष्टार्थनिर्भासाद्यभावात्, संशयादिवत्, कथममी मतिज्ञानभेदाः ?, इत्याशङ्क्यैतेषां ज्ञानत्वसाधनायाऽऽह—

इह संसयादणंतभा-वाओऽवग्गहादयो नाणं ।
अणुमाणमिवाह न सं-सयाइमब्भावओ तेसुं ॥३१२॥

"अवग्रहादयो ज्ञानमि" ति प्रतिज्ञा । "संशयादिष्वनन्तर्भावादि" ति हेतु । आदिशब्दात्-विपर्ययाऽनध्यवसायपरिग्रह ; अनुमानवदिति दृष्टान्त । इह संशयाद्यनन्तर्भूतैर्घटगन्धादिभिः पुद्गलद्रव्यैर्व्यभिचारसंभवात् सूत्रस्य सूचकत्वाद् 'आत्मधर्मत्वे सति संशयाद्यनन्तर्भावात्' इति सविशेषणो हेतुर्द्रष्टव्य । अत्राह पर-ननु सविशेषणे हेतावनैकान्तिकता मा भूद्, असिद्धता त्वनिवार्यैवेति, एतदेवाह-'न संशया' इत्यादि, सूरे ! न तद्भवदीय वच । कुत ?, इत्याह-संशयादिसद्भावात्तेष्ववग्रहादिषु, तेषां संशयादिरूपत्वात् संशयाद्यनन्तर्भावाद्, इत्यसिद्धो हेतुरिति भाव । इति गाथार्थः ।

कथं पुनस्तेषु संशयादिसद्भाव ?, इत्याह—

ननु संदिद्धे संसय-विवज्जया संभवो इ वेहाऽवि ।
वत्थामो वा निस्सिय-मवग्गहोऽणज्झवसियं तु ॥३१३॥

ननु "खिप्पमचिरेण" (३०६) इत्यादिगाथाया यदुक्तम्-'निच्छियमसंसयं जं' ति, तत्प्रतिपक्षे यदुच्यते-"कोऽपि संदिग्धं मुणति" इति, तत्र संदिग्धे ज्ञायमाने संशयस्तावद्व्यक्त एव, यत्र च संशयस्तत्र संदिहानस्य कदाचिद्विपर्ययोऽपि स्याद्, इत्येवं संदिग्धे संशयविपर्ययौ नाद्विपर्ययोऽपि स्याद् ... इत्येव संदिग्धे वक्तुमनिवारितावेव । अथ वा-किमनेनोत्तरभेदरूपे संदिग्धे दूषणप्रदानेन ? हन्त ! येयं मूलभेदरूपा ईहा साऽपि संशय एव, निश्चयत्वे तस्याऽपायत्वप्रसङ्गादिति । अथ वा-" परधम्मे हिं विमिस्स निस्सियं " (३१०) मित्यत्र यन्निसृतमुक्तं तदपि गवादिकमश्वादिरूपेण गृह्णद्विपर्यास एव । न हि तत्त्यान्यविपर्यासो भवति, किं त्वन्यदयाऽन्य-

रूपेण ग्रहणमेवेति भावः । नैश्चयिकाऽर्थाऽवग्रहरूपोऽवग्रहः । पुनरनध्यवसितमनध्यवसाय एव, अनिर्देश्यसामान्यमात्रग्राहित्वात्, नह्यत्र कस्याऽप्यर्थस्य सम्यग्व्यवसायोऽस्तीतिकृत्वा । तदेवं संशयादिरूपत्वात् नाऽवग्रहादयो ज्ञानमिति । अतो न ते मतिज्ञानभेदाः, तद्भेदत्वे वा मतिज्ञानमपि न किञ्चित्, दोषशतजर्जराऽवग्रहाद्यात्मकत्वात् । इति गाथार्थः ।

अत्राऽऽचार्यः प्राऽऽह—

इह सज्झमोग्गहाई-ण संसयाइत्तणं तह वि नाम ।
अब्भुवगंतुं भएणइ, नाणं चिय संसयाऽऽईया ॥३१४॥

इह यदवग्रहादीनां संशयादित्वं त्वयोद्भावितं तद्याऽपि साध्य-साधनीयं वर्तते, त्वदुक्तनिर्युक्तिकवाक्यमात्रेणैव मदुक्तहेतोरसिद्धत्वाभावादिति मन्तव्यं, न पुनरेतावतैव ज्ञानात्वसमीहितसिद्धिः, इति प्रमुदितेन न भाव्यमिति भावः । तथा हि-यदुक्तम् 'संदिग्धे संशयविपर्ययौ' इति तदयुक्तम्, अभिप्रायाऽपरिज्ञानात् नह्यस्माभिस्तथाविधवस्त्वप्रापकं संदिग्धत्वं विवक्षितं, येन वस्त्वप्रापणात्, विपर्ययप्रापणाद्वा तत्र संशयविपर्ययौ स्यातां; किं तु-कृतेऽपि वस्तुप्रापकेऽवितथे निश्चये यत्र तथाविधक्षयोपशमवैचित्र्यान्मनसि किंचिदल्पं शङ्कामात्रं न निवर्तते 'सम्यक् न जाने, तथैव स्यादन्यथा वा' इति, तदेवेह संदिग्धत्वं विवक्षितम् । न चैतावन्मात्रेणैवाऽज्ञानता युक्ता, व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । न खलु धूमवलाकादेः सकाशात्सम्यग्दहनजलादौ निश्चितेऽपि मुखेन तन्निश्चयं ब्रुवतामपि सर्वेषां प्रमातृणां चेतसि शङ्कामात्रं विनिवर्तते । न च ते सर्वेऽपि निश्चितं वस्तु न प्राप्नुवन्ति । न च क्वाऽपि संशयविपर्ययत्वेन अज्ञानता तेषां दृष्टा । यदप्युच्यते-'ईहाऽपि संशय एव' । तदप्यसंगतम्, न हि 'किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा' इत्यादिरूपः संशय ईहाऽभ्युपगम्यते । किं तु-यदनन्तरमेव निश्चयोऽवश्यं भवति स एवाऽन्वयधर्मघटनव्यतिरेकधर्मनिराकरणाभ्यां निश्चयाभिमुखो बोध ईहा, इत्यसकृदेव पूर्वमावेदितम् । न चाऽयं संशयो निश्चयाभिमुखत्वात् । नाऽपि निश्चयस्तत्प्रत्यासत्तिमात्रप्राप्तत्वात् । न च वक्तव्यं निश्चयादन्यस्य सर्वस्य संशयत्वादज्ञानतैवेति; निश्चयोपादानकारणस्यापि सर्वथाऽज्ञानत्वप्रसङ्गात् । तथा च सति निश्चयस्याप्यज्ञानताप्राप्तिः । 'नह्यविशिष्टात्कारणाद्विशिष्टकार्योत्पत्तिः' इत्युक्तत्वादिति । यदप्युक्तम्-'नि सूत्र विपर्यास' इति । तदप्ययुक्तम्, 'लिङ्गासूत्रं नि सूतम्' इत्यस्मिन् व्याख्यानेऽस्य वाक्यस्य सर्वथाऽसंबध्यमानत्वात्, 'परधम्मेहिं विमिस्सं निस्सियं' (३१०) इत्यस्य च व्याख्यानान्तरमात्रत्वात् । भवतु तदपि व्याख्यानं तथाऽपि व्याख्यानात् परधर्मास्तस्मिन्नाशङ्किता एव द्रष्टव्याः; नतु निश्चिता, यथा 'गौरेवायं, केवलमश्व इव प्रतिभाति' इति । एतावन्मात्रेणैव चेयं विपर्ययोपलब्धिरवगन्तव्या, नतु सर्वथा विपर्ययधर्मनिश्चयात् सर्वथा विपर्यये तत्राऽश्वादिसत्त्वप्रसङ्गात् । न च वक्तव्यम्-एवं सतीदं निश्चितान्न भिद्येत, तत्र परधर्मेषु सूतत्वाभावात्, विवक्षितवस्तुस्वभावशङ्कामात्रस्यैव सद्भावादिति । न च विपर्ययधर्मशङ्कामात्रेणाऽप्यज्ञानता, वस्तुप्राप्तिविघाताऽभावादिति । यदप्युक्तम्-'अवग्रहोऽनध्यवसायः' इति । तदप्ययुक्तम् । तत्र ह्यध्यवसायः साक्षादेव नास्ति, योग्यतया पुनरस्त्येव, अन्यथा तत्कार्येषु-अपायादिष्वपि तदभावप्रसङ्गात्, इत्युक्तमेव । अतिमत्तमूर्च्छितानामेव हि ज्ञानमनध्यवसाय उच्यते, तत्र योग्यतयाऽप्यध्यवसायस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तत्कार्यभूतस्याऽपायाद्यध्यवसायस्याप्यलक्षणत्वात् । तदेवमवग्रहादीनामसिद्धं संशयादित्वम् । तथाऽपि 'अभ्युपगन्तुम्' अङ्गीकृत्यापि तेषां संशयादिरूपतां ब्रूमः । ज्ञानमेव संशयादयः । संशयविपर्ययाऽनध्यवसायाः-तत्र तत्त्वे संशयादिरूपत्वेऽपि नावग्रहादीनां मतिज्ञानभेदत्वं विरुध्यत इति भावः । इदमुक्तं भवति—नाऽस्माभिः 'समीहितवस्तुप्रापकं ज्ञानम्, इतरदज्ञानम्' इत्येवं व्यवहारिणां प्रमाणाऽप्रमाणभूते ज्ञानाऽज्ञाने विचारयितुमुपक्रान्ते, किं तु-'ज्ञायते येन किमपि, तत्सम्यग्दृष्टिसंबन्धिज्ञानम्' इत्येतावन्मात्रकमेव व्याख्यातुमभिप्रेतं; वस्तुपरिज्ञानमात्रं तु संशयादिष्वपि विद्यते, इति न तेषामपि सम्यग्दृष्टिसम्बन्धिनां ज्ञानत्वहानिः । इति गाथार्थः ।

कथं पुनः संशयादयो ज्ञानमित्याह—

वत्थुस्स देसगमग-त्तभावओ परमयप्पमाणं व ।
किह वत्थुदेसविण्णा-णहेयवो सुणसु तं वोच्छं ॥३१५॥

ज्ञानमेव संशयादय इति प्राक्तनी प्रतिज्ञा, वस्तुनो-गवादेः स्वपरपर्यायैरनन्तधर्माऽध्यासितस्य यो देशः-एकदेशस्तस्य गमकत्वभावात्, इति हेतुः, पराभिमतं प्रमाणं निश्चयज्ञानरूपं तद्वदिति दृष्टान्तः । इह यद्वस्त्वेकदेशस्य गमकं तज्ज्ञानं दृष्टं, यथा परमतं निश्चयरूपं प्रमाणं, वस्त्वेकदेशगमकाश्च संशयादयः, ततस्ते ज्ञानम्, इति । अत्र हेतोरसिद्धतां मन्यमानः परः पृच्छति-कथं वस्त्वेकदेशविज्ञानहेतवः संशयादयः ?, वस्तुनो निरंशत्वेन देशस्यैवाभावान्न ते एकदेशग्राहिणो घटन्त इति परस्याऽभिप्रायः । आचार्यः प्राह—यत्त्वया पृष्टं तद्वक्ष्ये—भणिष्यामि अहं, शृणु—समवहितः समाकर्णय त्वम् । इति गाथार्थः ।

यथा मतिज्ञानमेवाह—

इह वत्थुमत्थवयणा-इपज्जयाऽणंतसाविमंपण्णं ।
तस्सेगदेसविच्छे-यकारिणो संसयाईया ॥ ३१६ ॥

इह वस्तुनो-घटादेः मृण्मयत्वपृथुबुध्नत्ववृत्तत्वकुण्डलायतग्रीवायुक्तत्वादयोऽर्थरूपाः पर्यायाः-अर्थपर्याया अनन्ता भवन्ति । घटकुटकुम्भकलशादयस्तु वचनरूपाः पर्याया-वचनपर्यायास्तेऽप्यनन्ता भवन्ति, आदिशब्दात्-परव्यावृत्तिकृता अप्यनन्ता गृह्यन्ते । मतशब्दं समासं कर्तव्य-अर्थाश्च वचनानि च आदिशब्दात्-परव्यावृत्तयश्च तद्रूपाः पर्याया अर्थवचनादिपर्यायाः, ते च तेऽनन्ताश्च त एव शक्यः, तामिः संपन्नं-युक्तं यतो वस्तु भवति अतस्तस्यैकदेशविच्छेदकारिणः संशयादयो ज्ञेयाः । इदमुक्तं भवति-न खलु वयं निरंशवस्तुवादिनः, किंतु-यथोक्तानन्तधर्मात्मकवस्तुनोऽनन्ता एव देशाः सन्तीति संशयादयो मन्यामहे । तन्मध्याच्च एकैकदेशग्राहिणः

भवन्त्येव, इति कथं न ते ज्ञानम्?। यदि पुनस्ते किमपि न गृह्णीयुः तदा तेषामनुत्थानमेव स्यात्, सर्वथा निर्विषयज्ञानस्य प्रसवाऽयोगात्, गगननलिनज्ञानवत्। ततश्च ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति व्युत्पत्त्यर्थात्संशयादीनामपि ज्ञानता न विरुध्यते। इति गाथार्थः।

अथ समस्तवस्तुरूपग्राह्येव ज्ञानं, नैकदेशग्राहकम् इत्येतदाशङ्क्य निराकुर्वन्नाह—

अहवा न सव्वधम्मा-ऽवभासया तो न नाणमिट्ठं ते।
णणु निण्णओ वि तद्दे-समेत्तगाहि त्ति अन्नाणं ॥३१७॥

अथवा-अथ चेदेवं ब्रूयात्परः। किम्?, इत्याह-न सर्वधर्माऽवभासकाः-न कार्त्स्न्येन गवादिवस्तुसमग्रग्राहिणः, ततो न ज्ञानमिष्टं ते संशयादयः, संपूर्णवस्तुस्वरूपग्राहिण एव ज्ञानत्वात्। अत्रोत्तरमाह-ननु भवता ज्ञानत्वेनाऽङ्गीकृतस्तर्हि निर्णयोऽप्यज्ञानमेव प्राप्नोति। कुतः?, इत्याह-तस्य गवादिवस्तुन एकदेशमात्रग्राहीति कृत्वा तथा हि-गौरयं, घटोऽयं, पटोऽयमित्यादिभिर्निर्णयैरपि गोत्वघटत्वादिको वस्त्वेकदेश एव गृह्यते, अतस्तेऽपि कथं ज्ञानरूपतां भजेयुः?। अथ देशस्य देशिनमन्तरेण कदाचिदप्यभावात्तद्ग्रहणद्वारेण सर्वमपि वस्तु निर्णयेन गृहीतम् इत्यतो ज्ञानमेवाऽसौ। तदेतत्संशयादिष्वपि समानं, तथा हि-'किमयं स्थाणुः, पुरुषो वा' इत्यादिरूपः संशयोऽपि स्थाणुत्वादिकं वस्त्वेकदेशं जानाति, विपर्यासोऽपि विपर्ययवस्त्वेकदेशमवबुध्यते अनध्यवसायोऽपि सामान्यमात्ररूपं वस्त्वेकदेशमवगृह्णाति। ततश्च संशयादयोऽप्येकदेशपरिज्ञानद्वारेण समग्रमपि वस्तु जानन्त्येव, इति तेषामपि ज्ञानता केन वार्यते?। अथ गृह्यते संशयादिभिर्वस्त्वेकदेशः, केवलं संशयेन संदिग्धः, विपर्यासेन विपर्यस्तः, अनध्यवसायेन त्वविशिष्ट इति, चेत्। ननु प्रतिविहितमप्यदः किं विस्मरसि?, यतः-'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं-मतिरूपं ज्ञानं मतिज्ञानम्' इत्येवं सामान्येनैव सम्यग्दृष्टिसंबन्धि मतिज्ञानमिह विचार्यते। तस्य च संशयादिरूपस्य, निर्णयरूपस्य वा सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनो ज्ञानता न विरुध्यते, 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' इत्यस्याऽर्थस्य सर्वत्रोपपद्यमानत्वादिति। ननु यदि संशयादयोऽपि मतिज्ञानं, तर्हि चतुर्भेदत्वमतिक्रम्य सप्तभेदत्वं तस्य प्रसज्यते, इति चेत्। नैतदेवं, यतोऽनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेनाऽवग्रहे अन्तर्भवति संशयोऽपि पूर्वोक्तस्वरूपेहाप्रकारत्वात्, तत्कारणत्वाच्च तस्यामेवान्तर्विशति, यद्यपि संशयस्य पूर्वमीहात्वमपाकृतं तदपि व्यवहारिजनानुवृत्त्या, न तु सर्वथेति; विपर्यासस्तु निश्चयरूपत्वात्साक्षादपाय एव, इति कुतश्चतुर्भेदाऽतिक्रमः?। इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनः संशयादयो मतिज्ञानाद्व्यतिरिच्यमानाः काऽन्तर्भवेयुः?। अज्ञान इति चेत्। नैव "सम्मद्दिट्ठीणं भंते! किं नाणी, अन्नाणी?, गोयमा! नाणी, नो अन्नाणी" इत्याद्यागमवचनात्सम्यग्दृष्टेः सदैव ज्ञानित्वादिति, भवत्वेवं, तथाऽपि सम्यग्दृष्टिसंबन्ध्येव मतिज्ञानमिह विचार्यत इति कुतो लभ्यते? इति चेद् उच्यते—ज्ञानपञ्चकमेवेह विचारयितुमुपक्रान्तम्। ज्ञानं च सम्यग्दृष्टेरेव भवति अतस्तत् संबन्ध्येव मतिज्ञानमिह विचार्यते, सम्यग्दृष्टिसंबन्धिनां च संशयादीनां ज्ञानता साध्यते इत्यलं विस्तरेण। इति गाथार्थः। विशे०।

(१०) सम्प्रति पुनर्द्रव्यादिभेदतश्चतुष्प्रकारतामाह—

तं समासओ चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा-दव्वओ१, खेत्तओ२, कालओ३, भावओ ४। तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ १। खेत्तओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ, न पासइ २। कालओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वकालं जाणइ, न पासइ ३। भावओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ, न पासइ ४। (सूत्र-३६×)

'तं समासओ' इत्यादि-तन्मतिज्ञानं समासतः-संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा-द्रव्यतः१, क्षेत्रतः२, कालतो ३, भावतश्च ४। तत्र द्रव्यतो णमिति वाक्यालङ्कारे, आभिनिबोधिकज्ञानी, 'आदेसेण' त्ति-आदेशः-प्रकारः, स च द्विधा-सामान्यरूपो, विशेषरूपश्च। तत्रेह सामान्यरूपो ग्राह्यः, ततः आदेशेन द्रव्यजातिरूपसामान्यादेशेन सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति किंचिद्विशेषतोऽपि, यथा-धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः तथा—धर्मास्तिकायो गत्युपष्टम्भहेतुरमूर्त्तो लोकाऽऽकाशप्रमाणः इत्यादि, न पश्यति सर्वात्मना; धर्मास्तिकायादीन् न पश्यति, घटादींस्तु योग्यदेशावस्थितान् पश्यत्यपि, अथ वा-'आदेश' इति—सूत्रादेशस्तस्मात्सूत्रादेशात्सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, न तु साक्षात्सर्वाणि पश्यति, ननु यत्सूत्रादेशतो ज्ञानमुपजायते तत् श्रुतज्ञानं भवति; तस्य शब्दार्थपरिज्ञानरूपत्वात्। अथ च मतिज्ञानमभिधीयमानं वर्तते, तत्कथमादेश इति सूत्रादेशो व्याख्यातः? तदयुक्तम्, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, इह हि श्रुतभावितमतेः श्रुतोपलब्धेष्वप्यर्थेषु सूत्रानुसारमात्रेण येऽवग्रहेहापायादयो बुद्धिविशेषाः प्रादुःष्यन्ति ते मतिज्ञानमेव, न श्रुतज्ञानं, सूत्रानुसारनिरपेक्षत्वात्, आह च भाष्यकृत्-" आदेसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं। पसरइ तब्भावणया, विणा वि सुत्ताणुसारेणं ॥ ४०५ ॥ १, एवं क्षेत्रादिष्वपि नवरं तान् सर्वथा न पश्यति, तत्र क्षेत्रं लोकालोकात्मकम्२, कालः सर्वाऽद्धारूपः, अतीतानागतवर्तमानरूपो वा ३, भावाश्च पञ्चसङ्ख्या औदयिकादयः, तथा चाह भाष्यकृत्—

"आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थिकाइयाइं, जाणइ न उ सव्वभावेणं ॥ ४०३ ॥
खेत्तं लोगालोगं, कालं सव्वऽद्धमहव तिविहं च।
पंचोदइयाईए, भावे ज नेयमेवइयं ॥ ४०४ ॥ ४। नं०।

(११) अथ तेषामेव कालनिरूपणार्थमाह निर्युक्तिकारः—

उग्गहो एकं समयं, ईहाऽवाया मुहुत्तमेत्तं तु।
कालमसंखं संखं, च धारणा होइ नायव्वा ॥ ३३२ ॥

'अवग्रह' इति-व्याख्यानान्नैश्चयिकोऽर्थावग्रहो द्रष्टव्यः। स किम्?, इत्याह-सर्वजघन्यः कालविशेषः समयः, तमेकं समयं भवति, न परतः। ईहाऽपायौ प्राङ्निर्णीतस्वरूपौ 'मुहुत्तमन्तं तु' त्ति-अन्तशब्दो मध्यवचनः, ततश्च जघन्यतः, उत्कृष्टतश्च मुहूर्तान्तर्भिन्नं मुहूर्तं ज्ञातव्यौ भवतः; अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः। तुश्चकारार्थः। चकारश्चानुक्तसमुच्चये। ततश्च व्यञ्जनाऽवग्रह-व्यावहारिकार्थाऽवग्रहौ च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तं भवत इति द्रष्टव्यम्। क्वचित्-"मुहुत्तमद्धं तु" ति-पाठः, तत्राऽपि मुहूर्तार्द्धशब्देनाऽन्तर्मुहूर्तमेव मन्तव्यम्। तुशब्दोऽपि तथैव। कलनं कालः न विद्यते संख्या पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिका यस्याऽसावसङ्ख्यः पल्योपमादिलक्षणः तं कालमसंख्यं, तथा-संख्यायत इति संख्यः-पक्षमासर्त्वयनादिप्रमित इत्यर्थः। तं संख्यं, चशब्दादन्तर्मुहूर्तं च धारणा प्रागभिहितस्वरूपा भवति-ज्ञातव्या। इदमुक्तं भवति-अविच्युतिस्मृतिवासनाभेदाद्धारणा त्रिविधा। तत्राऽविच्युतिरूपा, स्मृतिरूपा च प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तं भवति। या तु तदर्थज्ञानावरणक्षयोपशमरूपा स्मृतिबीजरूपा वासनाख्या धारणा सा संख्येयवर्षायुषां सत्त्वानां संख्येयं कालम्, असंख्येयवर्षायुषां तु-पल्योपमादिजीविनामसंख्येयं कालं भवति। इति निर्युक्तिगाथार्थः।

अथैनां भाष्यकारो व्याख्यानयति—

अत्थोग्गहो जहन्नो, समयं सेसोग्गहादओ वीसुं।
अंतो मुहुत्तमेगं, तु वासना धारणं मोत्तुं ॥ ३३४ ॥

अवग्रह इत्यस्य व्याख्यानमर्थाऽवग्रह इति, अयमपि निश्चय-व्यवहारभेदतो द्विधा, ततो व्यवहारार्थाऽवग्रहव्यवच्छेदार्थमाह-'जहन्न' इति-अतिस्तोककालत्वेन जघन्यो नैश्चयिकोऽर्थावग्रहः; नेतर इत्यर्थः, अयमेकसमयं भवति। शेषास्त्वेकां वासनारूपां धारणां मुक्त्वा ये अवग्रहादयो व्यञ्जनाऽवग्रहा व्यावहारिकार्थाऽवग्रहेहापायाऽविच्युतिस्मृतिरूपा मतिभेदास्ते सर्वेऽपि विष्वक्-पृथक् एकमेवाऽन्तर्मुहूर्तं भवन्ति। वासनाधारणायास्तु निर्युक्तिगाथोक्तमेव कालमानमवगन्तव्यम् इत्यभिप्रायः। इति गाथार्थः। विशे०।

(१२) अथ नानादेशजविनेयाऽनुग्रहार्थं तत्पर्यायान् (आभिनिबोधिकज्ञानपर्यायान्) आभिधित्सुराह—

ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सण्णा सई मई पण्णा, सव्वं आभिनिबोहियं ॥ ३६६ ॥

'ईह' चेष्टायाम् ईहनमीहा-सतामन्वयिनां, व्यतिरेकिणां चार्थानां पर्यालोचना। अपोहनमपोहो निश्चयः। विमर्शनं विमर्शः, अपायात्पूर्वं ईहायाश्चोत्तरः 'प्रायः शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा इह घटन्ते, इति संप्रत्ययः। तथा—मार्गणमन्वयधर्मान्वेषणं मार्गणा। चशब्दः समुच्चयार्थः। गवेषणं व्यतिरेकधर्मालोचनं गवेषणा। तथा-संज्ञानं संज्ञा अवग्रहोत्तरकालभावी मतिविशेष एव। स्मरणं स्मृतिः। पूर्वानुभूतार्थालम्बनः प्रत्ययः। मननं मतिः कथञ्चिदर्थपरिच्छित्तावपि सूक्ष्मधर्मालोचनरूपा बुद्धिः। तथा प्रज्ञानं प्रज्ञा विशिष्टक्षयोपशमजन्या प्रभूतवस्तुगतयथावस्थितधर्मालोचनरूपा मतिः। सर्वमिदमाभिनिबोधिकं कथञ्चित् किञ्चिद्भेददर्शनेऽपि तत्त्वतः सर्वं मतिज्ञानमेवेदमित्यर्थः। इति निर्युक्तिश्लोकार्थः। विशे०। आ० म०१ अ०१२ गाथा।

अत्रैव तद्व्याख्यानाय भाष्यम्—

होइ अपोहोऽवाओ, सई धिई सव्वमेव मइपन्ना।
ईहा सेसा सव्वं, इदमाभिणिबोहियं जाण ॥ ३६७ ॥

अपोहस्तावत्किमुच्यत इत्याह—अपोहो भवति-अपायः योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयभेदोऽपायो; निश्चय उच्यत इत्यर्थः। स्मृतिः पुनर्धृतिर्धारणोच्यते धारणाभेदत्वेनाऽवयवे समुदायोपचारादिति। मतिप्रज्ञे-मतिप्रज्ञाशब्दाभ्यां सर्वमपि मतिज्ञानमुच्यते 'ईहा सेस' त्ति शेषाऽभिधानानि त्वीहा-विमर्श-मार्गणा-गवेषणा-संज्ञालक्षणानि सर्वाण्यऽपि ईहा ईहाऽन्तर्भावीनि द्रष्टव्यानीत्यर्थः। एवं विशेषतः कथंचिद्भेदसद्भावेऽपि सामान्यतः सर्वमिदमाभिनिबोधिकज्ञानमेव जानीहि, यत-ईहाऽपोहादयः सर्वेऽप्यमी आभिनिबोधिकज्ञानस्यैव पर्यायाः, केषाञ्चिद्वचनपर्यायत्वात्, केषाञ्चित्त्वर्थपर्यायत्वादिति।

एतदेव दर्शयति—

मइपन्नाभिनिबोहिय-बुद्धीओ होंति वयणपज्जाया।
जा उग्गहाइसण्णा, ते सव्वे अत्थपज्जाया ॥ ३६८ ॥

इह ये शब्दाः किल सर्वं वस्तु—संपूर्णं प्रतिपादयन्ति ते वचनरूपा वस्तुनः पर्याया वचनपर्याया उच्यन्ते। ये तु तदेकदेशमभिदधति तेऽर्थैकदेशप्रतिपादकाः पर्याया अर्थपर्याया उच्यन्ते, तत्र मतिप्रज्ञाभिनिबोधिकबुद्धयो वचनपर्याया भवन्ति। मति-प्रज्ञा-भिनिबोधिक बुद्धिलक्षणाश्चत्वारः शब्दा आभिनिबोधिकज्ञानस्य ज्ञानपञ्चकाद्यभेदलक्षणस्य, वचनपर्याया द्रष्टव्या इत्यर्थः, संपूर्णस्याऽपि तस्यामीभिः प्रतिपाद्यमानत्वात्। येऽत्ववग्रहेहादिकाः संज्ञाविशेषास्ते सर्वेऽप्यर्थपर्यायाः, तदेकदेशप्रतिपादकत्वात्। ततश्चात्रेहाऽपोहादयः आभिनिबोधिकज्ञानस्यैवार्थपर्यायाः। मतिप्रज्ञाशब्दौ तु तस्यैव वचनपर्यायौ अतः सर्वमेवेदं सामान्येनाऽभिनिबोधिकज्ञानमेवेति स्थितम्। अथ वा-सर्वेषामपि वस्तूनामभिलापवाचकाः शब्दाः वचनरूपापन्ना वचनपर्यायाः, ये तु तेषामेव वाचकशब्दानामभिधेयार्थस्यात्मभूता भेदाः यथा कनकस्य कटककेयूरादयः; ते सर्वेऽप्यर्थपर्यायाः भण्यन्ते। ततश्च प्रस्तुतस्याभिनिबोधिकज्ञानस्य मतिप्रज्ञावग्रहेहादयः सर्वेऽपि वाचका ध्वनयो वचनपर्याया एव, तदभिधेयास्त्वाभिनिबोधिकस्यात्मभूता भेदा अर्थपर्याया इत्यवसेयमिति। इह पूर्वं मतिप्रज्ञादिशब्दानां सर्वमप्याभिनिबोधिकज्ञानं वाच्यम्, अवग्रहेहादिशब्दानां तु तदेकदेशा एवाऽभिधेया इति दर्शितम्।

अथाऽवग्रहेहादिभिरपि शब्दैरन्वर्थवशात्सर्वमप्याभिनिबोधिकमभिधीयते, इति दर्शयति—

सव्वं वाऽऽभिनिबोहिय-मिहोग्गहाइवयणसंगहियं।
केवलमत्थि विसेसं, पइ भिन्ना उग्गहा ईया ॥ ३६९ ॥

'वा' इति-अथवा, इह सर्वमाभिनिबोधिकज्ञानमवग्रहे-

हादिवचनेन संगृह्यते, न पुनस्तदेकदेश एव तर्ह्यवग्रहादिशब्दानां सर्वेषामेकरूपता प्राप्नोति, एकाभिधेयत्वात्, बहुपुरुषोच्चारितघटाद्येकशब्दवत् इत्याशङ्क्याह-' केवलमि' त्यादि, केवलं-नवरम् अर्थविशेषं प्रत्यवग्रहादय शब्दा भिन्नाः । इदमुक्तं भवति-अवग्रहशब्दोऽवग्रहलक्षणेनार्थेन सर्वमाभिनिबोधिकं संगृह्णाति, ईहाशब्दस्तु चेष्टालक्षणेन, अपायस्त्ववगमनलक्षणेन, धारणा तु धरणलक्षणेनेत्यादि । ततोऽमुमवग्रहणादिलक्षणमर्थविशेषमात्रमपेक्ष्याऽवग्रहादिशब्दा भिन्ना., तत्त्वतस्त्वभिधेय सर्वेषामाभिनिबोधिकज्ञानमेव ।

अथवा, आह-ननु यदि सर्वमप्याभिनिबोधिकमवग्रहादिवचनेन सगृह्यते, तर्ह्यवग्रहेहापायधारणानां तद्भेदानां सर्वेषामपि संकर' प्राप्नोति, अनन्तरवक्ष्यमाणव्युत्पत्तित. प्रत्येकमेषां सर्वेषामप्यवग्रहादिरूपत्वात्, इत्याशङ्क्याह— ' केवलमत्थविसेसमि ' त्यादि, केवल-नवरम् अर्थविशेषं प्रति अवग्रहादयो भिन्ना । इदमुक्तं भवति-यद्यप्यर्थाऽवग्रहणेहनावगमनधारणमात्रस्य सामान्यस्य प्रत्येक सर्वेष्वपि विद्यमानत्वादेकैकशोऽप्यवग्रहादिशब्देनोच्यन्तेऽवग्रहादयः, तथाऽप्यर्थविशेषमाश्रित्यैते भिन्ना एव, तथाहि-यथाभूतमवग्रहे सामान्यमात्रार्थस्यावग्रहणं, न तथाभूतमेवेहायां, किं तु-विशिष्ट, विशिष्टतरं, विशिष्टतम, चाऽपायधारणयोः, यथाभूता चेहाया मतिचेष्टा न तथाभूतान्यत्र, किं तु-विशिष्टा, विशिष्टतरा चाऽपायधारणयोः अविशिष्टतरा चाऽवग्रहेऽर्थावगमनमप्यपायात् विशिष्ट धारणायाम् अविशिष्टमविशिष्टतरं चेहावग्रहयो , अर्थधारणमप्यवग्रहेहापायेभ्य. सर्वप्रकृष्टं धारणायाम्, इत्येवमवग्रहणादिमात्रे सर्वेषां सामान्ये सत्यप्यर्थविशेष ग्राह्यमाश्रित्य भिन्ना एवावग्रहादयः । स चार्थविशेषोऽमीषां प्राक् प्राग्विस्तरेण दर्शित एव, इत्येव वा उत्तरार्द्धमिदं व्याख्यायते—इदमेव च व्याख्यान वृद्धसम्मतं लक्ष्यते, युक्त्या तु प्राक्तनमपि घटते । इत्यल विस्तरेणेति ।

कथ पुनरवग्रहादिवचनेन सर्वमप्याभिनिबोधिक सगृह्यते ?, इत्याह—

उग्गहणमोग्गहो त्ति य, अविसिट्ठमवग्गहो तयं सव्वं ।
ईहा जं मइचेट्ठा, मइवावारो तयं सव्वं ॥ ४०० ॥

अवग्रहण तावदवग्रह उच्यते इति कृत्वा अविशिष्ट तत्सर्वमपि ईहादिभेदभिन्नमाभिनिबोधिकज्ञानमवग्रह एव । इदमुक्त भवति-अवग्रहणमवग्रह इति व्युत्पत्तिमाश्रित्य सर्वमप्याभिनिबोधिकज्ञानमवग्रहो भवति. यथाह्यवग्रह. कमप्यर्थमवगृह्णाति, एवमीहाऽपि कमप्यर्थमवगृह्णात्येव, एवमपायधारणे अपि इति । सर्वमप्याभिनिबोधिकज्ञानं सामान्येनावग्रह । तथा यत्-यस्माद्-ईहचेष्टायाम्, ईहनमीहेति व्युत्पत्ते ईहापि मतेश्चेष्टा मतिचेष्टा वर्त्तते तस्मात्सर्वमपि तदाभिनिबोधिकमविशिष्ट मतिव्यापार; ईहेत्यर्थ, अवग्रहापायधारणानामपि सामान्येन मतिचेष्टारूपत्वादितिभाव. ।

तथा—

अवगमणमवाओ त्ति य, अत्थावगमो तयं हवइ सव्वं ।
धरणं च धारणं त्ति य, तं सव्वं धरणमत्थस्स ॥४०१॥

यतश्चाऽवगमनमवा(पा)यो भण्यते, अतोऽनया व्युत्पत्त्या सर्वमपि तदाभिनिबोधिकमर्थस्यापाय' अवग्रहेहाधारणास्वपि सामान्येनार्थावगमनस्य विद्यमानत्वात् । तथा, धरणं धारणा यतो भण्यते-अतोऽनया व्युत्पत्त्या तत्सर्वमप्याभिनिबोधिकमर्थधरणरूपत्वाद्धारणा, अवग्रहेहापायेष्वप्यविशिष्टस्यार्थधरणस्य विद्यमानत्वादिति । सकरप्राप्तिश्चैवमवग्रहादीनां प्राक् " केवलमत्थविसेस पइ " (२६६) इत्यादिना परिहृतैवेति गाथापञ्चकार्थः । विशे० । न० । आ० म० । " ईह त्ति वा १, अपोहा त्ति वा २, वीमंस त्ति वा ३, मग्गण त्ति वा ४, गवेसण त्ति वा ५, सण्ण त्ति वा ६, सइ त्ति वा ७, मति त्ति वा ८, पन्न त्ति वा ९, " सव्वमेय आभिणिबोहिय एतेहिं एगट्ठिएहिं भणितं ति । आ० चू० १ अ० १२ गाथा । (१-ईहाया विचारो विस्तरतः 'ईहा' शब्दे ऽस्मिन्नेव भागेऽग्रे करिष्यते) (२-अपोहशब्दार्थविचार' ' अपोह ' शब्दे प्रथमभागे विस्तरत. समुक्त) (अत्र 'आगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे (११) विषयसूच्यङ्के विस्तर प्रतिपादित । ततोऽवशिष्ट 'सद्द' शब्दे सप्तमे भागे ३२७ पृष्ठादारभ्य दर्शयिष्यते) (३-विमर्शशब्दविचार 'वीमंस' शब्दे षष्ठभागे करिष्यते) (४-मार्गणाशब्दार्थनिरूपणम् दृष्टान्तश्च 'मग्गणा' शब्दे षष्ठभागे, तथा-अस्यैकार्थिकानि ' मग्गण ' शब्दे तस्मिन्नेव भागे दर्शयिष्यन्ते)। ५-गवेषणाविषयो विशेष ' गवेसणा ' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते) (६-संज्ञासर्वस्वविचार 'सण्णा' शब्दे ७ भागे दर्शयिष्यते) (७-स्मृतिस्वरूपम् 'सइ' शब्दे सप्तमे भागे विस्तरतो वक्ष्यते) (मतिस्वरूपं विस्तरत 'मइ' शब्दे षष्ठभागे वक्ष्यते) (८-प्रज्ञाशब्दार्थविचार 'पण्णा' शब्दे पञ्चमे भागे करिष्यते)

तदेवं तत्त्वभेदपर्यायैराभिनिबोधिकज्ञानं व्याख्याय,
साम्प्रतं तद्विषयनिरूपणार्थमाह—

तं पुण चउव्विहं नेयं, भेयओ तेण जं तदुवउत्तो ।
आदेसेणं सव्वं, दव्वाई चउव्विहं मुणइ ॥ ४०२ ॥

तत्पुनराभिनिबोधिकज्ञान चतुर्विध-चतुर्भेदम् । नन्ववग्रहादिभेदेन भेदकथन प्रागस्य कृतमेव किमिह पुनरपि भेदोपन्यास ? । सत्यम्, ज्ञेयभेदेह द्रव्यादिभेदेन चतुर्भेद, ज्ञानस्य तु तद्भेदादेव भेदोऽत्राऽभिधीयते, सूत्रे तथैवोक्तत्वात् । तथा च नन्दिसूत्र—" त समासतो चउव्विह पन्नत्त, तं जहा-दव्वओ १, खेत्तओ २, कालओ ३, भावओ ४ । तदव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आदेसेणं सव्वदव्वाइ जाणइ न पासइ (सूत्र-२६)" इत्यादि । ज्ञेयभेदादपि तत्कथ चतुर्विधमित्याह-'ज तदुवउत्तो' इत्यादि, यत्-यस्मात्कारणात्तेनाभिनिबोधिकज्ञानेन सर्वं द्रव्यादि मुणतीति संबन्ध । कथंभूतम् ?, इत्याह-चतुर्विधं-चतुर्भेदं द्रव्य-क्षेत्रकाल-भावभेदभिन्नमित्यर्थ. । कथभूत सन् । मुणति इत्याह-तस्मिन्-आभिनिबोधिकज्ञाने उपयुक्तस्तदुपयुक्त । केन ?, इत्याह-आदेशेनेति ।

कोऽयमादेश इत्याह—

आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं ।
धम्मत्थिआइयाइं, जाणइ न उ सव्वभेदेणं ॥ ४०३ ॥

विशे० । (अस्या गाथायाः व्याख्या ' आएस ' शब्दे-ऽस्मिन्नेव भागे गता)

क्षेत्रादिस्वरूपं विशेषतः प्राह—

खेत्तं लोगाऽलोगं, कालं सव्वद्धमहव तिविहं ति ।
पंचोदइयाईए, भावे जं नेयमेवइयं ॥ ४०४ ॥

क्षेत्रमपि-लोकाऽलोकस्वरूपं सामान्यादेशेन कियत्पर्याय-विशिष्टं सर्वमपि जानाति, न तु विशेषादेशेन सर्वपर्यायै-र्विशिष्टमिति । एवं कालमपि सर्वाऽद्धारूपम् अतीताऽ-नागतवर्तमानभेदतस्त्रिविधं वा इत्येक एवार्थः । भाव-तस्तु सर्वभावानामनन्तभागं जानाति, औदयिकौपशमि-कक्षायिकक्षायकौपशमिकपारिणामिकाख्या पञ्च भावान् सा-मान्येन जानाति; न परतः । कुत ?, इत्याह-यत्-यस्मा-देतावदेव ज्ञेयमस्ति; नाऽन्यदिति । इह क्षेत्रकालौ सा-मान्येन द्रव्यान्तर्गतावेव केवलं भेदेन रूढत्वात्पृथगुपादान-मवसेयमिति ।

आदेशस्य व्याख्यानान्तरमाह—

आएसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं ।
पसरइ तब्भावणया, विणा वि सुत्ताणुसारेण ॥४०५॥

अथवा-आदेशः-सूत्रमुच्यते, तेन-सूत्रादेशेन सूत्रोप-लब्धेष्वर्थेषु तस्य मतिज्ञानिन सर्वद्रव्यादिविषयं मति-ज्ञान प्रसरति । ननु श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु यज्ज्ञानं तच्छ्रुतमेव भवति, कथं मतिज्ञानम् ?, इत्याह-' तब्भावणये ' त्यादि, तद्भावनया-श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव यद् द्रव्यादिषु प्रवर्तते, तत्सूत्रादेशेन मतिज्ञानमिति भाव. । एतच्च पूर्वमपि ' पुव्व सुयपरिकम्मियमइस्स ज संपय सुयाईय ' इत्यादि प्रोक्तमेव । इति गाथाचतुष्टयार्थ. । विशे० । भ० ।

(१२) तदेवं तत्त्वभेदपर्यायैर्मतिज्ञानं व्याख्याय, विषय च द्रव्यादिकमस्य निरूप्य, साम्प्रतमिदमेव सत्पदप्ररूप-णतादिभिर्नवभिरनुयोगद्वारैर्विचारयितुमाह—

संतपयपरूवणया १,
दव्वपमाणं च २ खेत्त३ फुसणा य ४ ।
कालो य ५ अंतरं ६ भा-
ग७ भाव८ अप्पाबहुं चेव ९ ॥ ४०६ ॥

सच्च तत्पदं च सत्पदं तस्य प्ररूपणं सत्पदप्ररूपणं-गत्यादि द्वारेषु विचारणं तद्भाव. सत्पदप्ररूपणता-' कस्मिन् गत्यादिद्वारे इद सद् ' इत्येव सतो-विद्य-मानस्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानस्यगत्यादिद्वारेषु; प्ररूपणा क-र्त्तव्येत्यर्थः १ । तथा द्रव्यप्रमाणमिति । ' मतिज्ञानि जीवद्रव्याणामेकस्मिन्समये कियन्तो मतिज्ञान प्रतिपद्य-न्ते, सर्वे वा कियन्तस्ते ?, इत्येव प्रमाणं वक्तव्यमि-त्यर्थः । चशब्द समुच्चये २ । तथा-क्षेत्रमिति ' कियति क्षेत्रे तत्संभवति ?' इत्येवं मतिज्ञानस्य क्षेत्रं वक्तव्यम् ३ । तथा-' कियत्क्षेत्रं मतिज्ञानिन. स्पृशन्ति ' इत्येवं स्पर्शना वक्तव्या । यत्राऽवगाढस्तत्क्षेत्रं पार्श्वतोऽपि च स्पर्शना, इत्येवं क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेष , च. समुच्चये ४ । तथा-काल.स्थितिलक्षणो मतिज्ञानस्य वाच्यः, चस्तथैव ५ । 'एकदा प्रतिपद्य वियुक्त. कियता कालेन पुनरपि प्रपद्यते' इत्येवम् अन्तरं च तस्य वक्तव्यम् ६ । तथा ' मतिज्ञानिन' शेषज्ञा-निनां कतिभागे वर्तन्ते' इत्येवं भागोऽस्य वक्तव्यः ७ । तथा-' कस्मिन् भावे मतिज्ञानिनो वर्त्तन्ते ?' इत्येवं भावो भ-णनीय. ८ । तथा अल्पबहुत्वं वक्तव्यम्, भागद्वारादपि तल्लब्धमिति चेत् । नैव, यतोऽत्र मतिज्ञानिना स्वस्थान एव पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकापेक्षयाऽल्पबहुत्वमभिधानीयं, भागस्तु शेषज्ञानापेक्षया चिन्तनीय इति विशेषः ९ । इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थ । विस्तरार्थं तु भाष्यकार एव वक्ष्यति ।

अथ (१) सत्पदप्ररूपणता किमुच्यते ?, इत्याह—

संतं ति विज्जमाणं, एयस्स जा परूवणया ।
गइआइएसु वत्थुसु, संतपयपरूवणा सा उ ॥ ४०७॥
जीवस्स च जं संतं, जम्हा तं तेहि तेसु वा पयति ।
तो संतस्स पयाइं, ताइं तेसुं प्ररूवणया ॥ ४०८ ॥

गत्यादिद्वारेषु सत्त्वेन चिन्त्यमानत्वात्पदं सत् उच्यते । ततश्च सतो-विद्यमानस्य पदस्य या वक्ष्यमाणेषु गत्यादि-द्वारेषु प्ररूपणता सा सत्पदप्ररूपणतोच्यते । अथवा-जीवस्य यत्सज्ज्ञानदर्शनादिक तत्तैश्च कारणभूतै, तेषु वाऽधिकरणभूतेषु यस्मात् 'पर्यात' त्ति-पद्यते-अनुगम्यते; विचार्यते तत -तस्मात्सत. पदानि सत्पदानि तानि ग-त्यादीनि द्वाराण्युच्यन्ते तै, तेषु वा प्ररूपणता 'मत्यादे' इति गम्यते, सत्पदप्ररूपणता । इति गाथाद्वयार्थ. ।

तान्येव सत्पदानि गत्यादिद्वाराणि दर्शयति—

गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायलेसासु ।
सम्मत्त-नाण-दंसण-संजय-उवओग-आहारे ॥४०९॥
भासग-परित्त-पज्ज-त्त-सुहुम-सण्णी य भविय-चरिमे य ।
पुव्वपडिवन्नए वा, पडिवज्जंते य मग्गणया ॥ ४१० ॥

एतेषु गत्यादिषु द्वारेषु मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्नाः, प्रतिपद्य-मानका, तदुभयम्, उभयाभावश्च इत्येतच्चतुष्टयं चिन्त्यते ।

तत्र येषु स्थानेषु मतिज्ञानिनो न प्रतिपद्यमानकाः, नाऽपि पूर्वप्रतिपन्ना , किं तु उभयाभाव, तान्यपोद्धृत्य दर्शयति—

एगिंदियजाईओ, सम्मा मिच्छो य जो य सव्वन्नू ।
अपज्जत्ता य अभव्वा, ऽचरिमा(य)एए सया सुन्ना ॥४११॥

इह सर्वेष्वपि गत्यादिद्वारेषु यावान् कोऽप्येकेन्द्रियजा-तीय.-एकेन्द्रियप्रकार ; एकेन्द्रियभेद इत्यर्थ. । एष सर्वो-ऽपि मतिज्ञानेन शून्य, न तत्र मतिज्ञानस्य प्रतिपद्यमानक., नापि पूर्वं प्रतिपन्नः संभवतीत्यर्थ. । " उभयाभावो एगिं-दिएसु सम्मत्तलद्धीए " इति वचनादिति । क. पुनरेके-न्द्रियजातीय ?, इति चेत् । उच्यते-इन्द्रियद्वारे-तावदे-केन्द्रिय एव, कायद्वारे-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय. । सू-क्ष्मद्वारे तु—सूक्ष्म इत्यादि । तथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपि सम्यक्त्वद्वारे मतिज्ञानशून्यः । " सम्मामिच्छद्दिट्ठी णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? । गोयमा ! नो नाणी, अण्णा-णी " इत्यादिवचनादिति । यश्च कोऽपि द्वारे सर्वज्ञ केवली संभवति, सोऽपि तच्छून्य एव; तद्यथा-गतिद्वारे-

सिद्धिगतौ सिद्ध, इन्द्रियद्वारे-अतीन्द्रिय', कायद्वारे-अकाय, योगद्वारे-अयोग., लेश्याद्वारे-अलेश्यः, ज्ञानद्वारे-केवलज्ञानी, दर्शनद्वारे-केवलदर्शनी, तथा, संयमपरीत्त-पर्याप्त-सूक्ष्म-संज्ञि-भव्यद्वारेषु-यथासङ्ख्यं नोसंयत-नोपरीत्त-नोपर्याप्त-नोसूक्ष्म-नोसंज्ञि-नोभव्या इति । एते सर्वेऽपि सर्वज्ञत्वान्मतिज्ञानशून्याः, छद्मस्थस्यैव तत्संभवादिति भावः। तथा-परीत्त-भव्य-चरमद्वारेषु परीत्ता-ऽभव्याऽचरमा अपि मिथ्यादृष्टित्वान्मतिज्ञानशून्याः । तदेवमेते सर्वे सर्वदैव मतिज्ञानशून्या मन्तव्या उभयाभावात् । इति गाथार्थ. ।

अथ गत्यादिद्वारेष्वेव पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकचिन्तां कुर्वन्नाह—

वियला अविसुद्धलेसा, मणपज्जवणाणिणो अणाहारा ।
असण्णि अणगारोव-ओगिणो पुव्वपडिवन्ना ॥४१२॥
सेसा पुव्वपवन्ना, नियमा पडिवज्जमाणया भइया ।
भयणा पुव्वपवन्ना, अकसायाऽवेयया होंति ॥ ४१३ ॥

विकलाः-द्वित्रिचतुरिन्द्रियलक्षणा विकलेन्द्रियाः, तथा-अविशुद्धलेश्याः भावलेश्यामङ्गीकृत्य कृष्ण-नील-कापोत-लेश्यावृत्तयः, तथा-मनःपर्यायज्ञानिन., अनाहारका., असंज्ञिन', अनाकारोपयुक्ता; एते सर्वेऽपि मतिज्ञानस्य यदि भवन्ति । तदा पूर्वप्रतिपन्ना एव, न तु प्रतिपद्यमानकाः, तथा हि-इन्द्रियद्वारे केचिद्विकलेन्द्रिया ये सास्वादनसम्यक्त्वेन सह पूर्वभवादागच्छन्ति तेषां पूर्वप्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य स्यान्मतिज्ञानं, प्रतिपद्यमानकास्त्वस्य विकलेन्द्रियाः सर्वेऽपि न भवन्त्येव, तथाविधविशुद्ध्यभावात् । तथा-लेश्याद्वारे—अविशुद्धलेश्या अपि पूर्वप्रतिपन्ना. केचिद्भवन्ति, न तु प्रतिपद्यमानका', विशुद्धभावलेश्यानामेव तत्प्रतिपत्ते. ज्ञानद्वारे-मन पर्यायज्ञानिनः सर्वेऽपि पूर्वप्रतिपन्ना. भवन्त्येव. न तु प्रतिपद्यमानका., सम्यक्त्वसहचरितप्राप्तमतिज्ञानस्यैव पश्चादप्रमत्तसंयतावस्थाया मन पर्यायज्ञानोत्पत्ते', सम्यक्त्वसहचरितचारित्रलाभे तु मतिसहचरित मन.पर्यायज्ञानं नोत्पद्यत एव, अत एव वचनाद्, अन्यथा अवधिज्ञानीव मन.पर्यायज्ञान्यपि निश्चयनयमतेन प्रतिपद्यमानक स्यादिति । आहारकद्वारे अनाहारका केचिद्देवादय. पूर्वभावाद् गृहीतसम्यक्त्वा मनुष्यादिषूत्पद्यमाना. मतेः पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानका, तथाविधविशुद्ध्यभावात् । संज्ञाद्वारे असंज्ञिनो विकलेन्द्रियवद्भावनीया. । उपयोगद्वारे अनाकारोपयोगिनः केचित्पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानका, मतिज्ञानस्य लब्धित्वात्तदुत्पत्तेश्चानाकारोपयोगे प्रतिषिद्धत्वादिति । उक्तशेषास्तु-गतिद्वारे नारकादयः, इन्द्रियद्वारे तु-पञ्चेन्द्रिया., कायद्वारे तु त्रसकायिका, इत्येवमादयो जातिमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमत. सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः—कदाचिद्भवन्ति, कदाचिन्नेति । अतिव्याप्तिनिषेधार्थमाह-'भयणा पुव्वपवन्ना' इत्यादि, कषायद्वारे अकषाया., वेदद्वारे त्ववेदकाः, भजनया पूर्वप्रतिपन्नया एव भवन्ति, छद्मस्था. पूर्वप्रतिपन्नाः मतेर्भवन्ति, नतु केवलिन, प्रतिपद्यमानकास्त्वमी न भवन्त्येव, पूर्वप्रतिपन्नमतिज्ञानानामेव क्षपकोपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः । इति गाथाद्वयार्थः ।

तदेवं संक्षेपतो गत्यादिद्वारेषु भाष्यकृता मतिज्ञानस्य कृता सत्पदप्ररूपणा । अथ विनेयाऽनुग्रहार्थं किंचिद्विस्तरतोऽप्यसौ विधीयते-तत्र मतिज्ञान किमस्ति, नवा ? । यद्यस्ति, क ? । तद्गत्यादिस्थानेषु । तत्र नारकतिर्यङ्नरामरभेदाद्गतिश्चतुर्धा । तत्र चतुर्विधायामपि गतौ मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमात्सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्याः-विवक्षितकाले कदाचिद्भवन्ति, कदाचित्तु नेत्यर्थः । आभिनिबोधिकप्रतिपत्तिप्रथमसमये प्रतिपद्यमानका उच्यन्ते, द्वितीयादिसमयेषु तु पूर्वप्रतिपन्ना इत्यनयोर्विशेषः । इन्द्रियद्वारे—एकेन्द्रियेषूभयाभाव. । सैद्धान्तिकमतेन कार्मिकग्रन्थिकास्तु-लब्धिपर्याप्तबादरपृथ्व्यब्वनस्पतीन् करणाऽपर्याप्तान् पूर्वप्रपन्नानिच्छन्ति, सास्वादनस्य तेषूत्पत्तेः । विकलेन्द्रियास्तूभयमतेनाऽपि करणाऽपर्याप्ताः सास्वादनमेव पूर्वभवायातमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्ना लभ्यन्ते, नतु प्रतिपद्यमानकाः, पञ्चेन्द्रियास्तु सामान्येन पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः ।

कायद्वारे-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात्षोढा काय. । तत्राद्यकायपञ्चके उभयाभावः । त्रसकाये तु पञ्चेन्द्रियवद्वाच्यम् । योगद्वारे कायवाङ्मनोभेदात्त्रिधा योगः, स एव त्रिविधोऽपि समुदितो येषामस्ति तेषां पञ्चेन्द्रियवद्वाच्यम्, मनोरहितवाग्योगिनां विकलेन्द्रियवत्, केवलकाययोगिनां त्वेकेन्द्रियवदिति । वेदद्वारे-स्त्रीपुंनपुंसकभेदात् त्रिविधेऽपि वेदे पञ्चेन्द्रियवत् भावनीयम् । कषायद्वारे तु चतुर्ष्वनन्ताऽनुबन्धिषु सास्वादनमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते; न प्रतिपद्यमानकः, शेषेषु द्वादशसु कषायेषु पञ्चेन्द्रियवदेव । लेश्याद्वारे-भावलेश्यामङ्गीकृत्य कृष्णादिकासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यासु पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति. न त्वितरे; प्रशस्ते तु लेश्यात्रये पञ्चेन्द्रियवदेव । सम्यक्त्वद्वारे—निश्चयव्यवहारनयाभ्यां विचार' । तत्र व्यवहारनयो मन्यते—मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञानयो. प्रतिपद्यमानको भवति, न तु सम्यक्त्वज्ञानसहित. । निश्चयनयस्तु ब्रूते—सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते, न तु मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी च । विशे० । (यस्तत् 'कज्जकारणभाव' शब्दे तृतीयभागे (४१४) इत्यादिगमथामि. दर्शयिष्यते)

तस्मात्-'इय न श्रवणादिकाले नाणं' (४१७) इत्यनेन यदि सर्वेष्वपि धर्मश्रवणादिसमयेषु मतिज्ञान निषिध्यते, तदा सिद्धसाध्यता । अथ चरमक्रियासमयेऽपि तन्निवार्यते, तदयुक्तम्, तत्र तस्य प्रसाधितत्वादिति । तस्मिंश्च धर्मश्रवणादिक्रिया चरमसमये सम्यक्त्व ज्ञान च प्रतिपद्यमानं प्रतिपन्नमेवेति । अतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च प्रतिपद्यमानक सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते । इति निश्चयनयमततात्पर्यम् । व्यवहारनयस्तु ब्रूते-तस्मिंश्चरमसमये सम्यक्त्वज्ञानयोरप्यसौ प्रतिपद्यमानक, प्रतिपद्यमान चाप्रतिपन्नमेव । अतो मिथ्यादृष्टि., अज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते । उत्तरत्र क्रियानिष्ठासमये तु सम्यक्त्वज्ञाने युगपदेव स-

भते। अत' प्रस्तुते सम्यक्त्वद्वारे एतन्मतेन सम्यग्दृष्टिराभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्न एव भवति, नतु प्रतिपद्यमानक, सम्यक्त्वज्ञानयोर्युगपल्लाभात्, तत्काले च क्रियाया अभावात्, तदभावे च प्रतिपद्यमानकत्वायोगादिति। निश्चयनयमतेन तु सम्यग्दृष्टेराभिनिबोधकस्य पूर्वप्रतिपन्न, प्रतिपद्यमानकश्च लभ्यते, क्रियायाः कार्यनिष्ठायाश्च युगपद्भावस्य समर्थितत्वात्। इत्यलमतिविस्तरेणेति। विशे०।

ज्ञानद्वारे-मतिश्रुतावधिमन पर्यायकेवलभेदात्पञ्चधा ज्ञानम्। व्यवहारनयमतेन मतिश्रुतावधिमन पर्यायज्ञानिनः आभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्ना भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानका', ज्ञानिनो मतिज्ञानप्रतिपत्त्ययोगस्यैतन्मतेन प्रागुक्तत्वात्। केवलिनां तूभयाभाव, तेषा क्षयोपशमिकज्ञानातीतत्वात्। मत्यज्ञानश्रुताऽज्ञानविभङ्गज्ञानवन्तस्तु प्रतिपद्यमानका कदाचित् भवन्ति, युक्तेर्दर्शितत्वात्, नतु पूर्वप्रतिपन्ना, निश्चयनयमतेन तु मतिश्रुतावधिज्ञानिन पूर्वप्रतिपन्ना नियमत सन्ति, प्रतिपद्यमानका अपि भजनीया, ज्ञानिनो ज्ञानप्रतिपत्ते समर्थितत्वात्। मन पर्यायज्ञानिनस्तु पूर्वप्रतिपन्ना एव भवन्ति, न तु प्रतिपद्यमानका, पूर्वसम्यक्त्वलाभकाले प्रतिपन्नमतिज्ञानस्यैव पश्चादन्त्यावस्थायां मन पर्यायज्ञानसद्भावात्। केवलिनां तूभयाभाव। एवं मत्याद्यज्ञानवतामप्युभयाभाव एव, ज्ञानिन एव ज्ञानप्रतिपत्ते।

दर्शनद्वारे—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात् दर्शनं तु चतुर्द्धा। अत्राद्यदर्शनत्रये लब्धिमङ्गीकृत्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमत प्राप्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीया, तदुपयोगं त्वाश्रित्य पूर्वप्रतिपन्ना एव, नतु प्रतिपद्यमानका, मतिज्ञानस्य लब्धित्वात्, लब्ध्युत्पत्तेश्च दर्शनोपयोगे निषिद्धत्वात्, "सव्वाओ वि लद्धीओ, सागारोवउत्तस्स उववज्जति"- इति वचनादिति। केवलदर्शनिनां तूभयाभावः।

संयतद्वारे-संयतादयस्त्राऽऽभिनिबोधकस्य पूर्वप्रतिपन्ना नियमाल्लभ्यन्ते, प्रतिपद्यमाना अपि भजनया प्राप्यन्ते। ननु सम्यक्त्वलाभावस्थायामेव मतिज्ञानस्य प्रतिपन्नत्वात्संयत कथं प्रतिपद्यमानकोऽवाप्यते? सत्यं, किं तु-योऽतिविशुद्धिवशात्सम्यक्त्वं चारित्रं च युगपत्प्रतिपद्यते स तस्यामवस्थायां प्रतिपद्यमानस्य संयमस्य प्रतिपन्नत्वात्संयतो मते प्रतिपद्यमानको भवति; उक्तं चावश्यकचूर्णौ-"नऽत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दसण तु भयणिज्ज"। भजनामेव आह—" सम्मत्तचरित्ताइ जुगव, पुव्व व सम्मत्तं " उपयोगद्वारे-उपयोगो द्विधा-पञ्च ज्ञानानि, त्रीणि चाज्ञानानि साकारोपयोग; चत्वारि दर्शनानि अनाकारोपयोग तत्र साकारोपयोगे पूर्वप्रतिपन्ना नियमात् सन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीया। अनाकारोपयोगे तु प्रतिपन्ना एव, नतु प्रतिपद्यमानका, अनाकारोपयोगे लब्ध्युत्पत्तेः प्रतिषिद्धत्वादिति। आहारकद्वारेआहारका साकारोपयोगवद्। अनाहारकास्त्वपान्तरालगतौ प्रतिपन्नाः सभवन्ति, प्रतिपद्यमानकास्तु न भवन्त्येव।

भाषकद्वारे भाष्यकार एवाह—

भासासलद्धिओ लभई, भासमाणो अभासमाणो वा।
पुव्वपडिवन्नओ वा,उभयं पि अलद्धिए नऽत्थि॥४२७॥

भाषालब्ध्या सह वर्तते इति भाषासलब्धिक -भाषालब्धिमांश्चिद्भवतीत्यर्थः, तदा भाषमाणोऽभाषमाणो वा लभन्ते-प्रतिपद्यते कश्चिन्मतिज्ञानं, पूर्वप्रतिपन्नो वा भवति—भाषालब्धियुक्तो मनुष्यादिर्जात्यपेक्षया पूर्वप्रतिपन्नो नियमाल्लभते प्रतिपद्यमानकोऽपि भजनयेति तात्पर्यम्। अलब्धिके-भाषालब्धिशून्ये पुनरुभयमपि नास्ति, स ह्येकेन्द्रिय एव, तस्य च प्रागुक्तवदुभयाभाव एवेत्यर्थः। इति गाथार्थ।

परीत्तद्वारे-परीत्ताः प्रत्येकशरीरिण', परीत्तीकृतससारा वा; स्तोकावशेषभवा इत्यर्थः। एते उभयेऽपि पूर्वप्रतिपन्ना नियमाल्लभ्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भजनीयाः। अपरीतास्तु साधारणशरीरिण, अपार्द्धपुद्गलपरावर्त्ताद्प्युपरिवर्तिससारा वा; मिथ्यादृष्टित्वादुभयेऽप्युभयविकलाः। पर्याप्तकद्वारे-षड्पर्याप्तिभि पर्याप्ता परीत्तवद्वाच्यास्तदपर्याप्तास्तु प्रतिपन्ना एव न त्वितरे। सूक्ष्मद्वारे-सूक्ष्मा उभयविकला'। बादरास्तु पर्याप्तकवद्वाच्या। सञ्ज्ञिद्वारे-दीर्घकालिकोपदेशेन सञ्ज्ञिनो गृह्यन्ते, ते च बादरवद्भावनीया। असञ्ज्ञिनस्तु अपर्याप्तवदिति। भवद्वारे-भवसिद्धिका संज्ञिवद्। अभवसिद्धिकास्तूभयशून्याः। चरमद्वारे-चरमो भवो भविष्यति येषां तेऽभेदोपचाराच्चरमा भव्यवद् अचरमास्त्वभव्यवदिति। तदेवं कृता गत्यादिद्वारेषु भाष्ये वृत्तौ च सत्पदप्ररूपणता।

अथ (२) द्रव्यप्रमाणमाह—

किमिहाभिणिबोहियनाणि-जीवदव्वपमाणमिगसमए।
पडिवज्जेज्जं तु न वा, पडिवज्जे जहन्नओ एगो॥४२८॥
खेत्तपलिओवमासं-खभागउक्कोसओ पवज्जेज्जा।
पुव्वपवन्ना दोसु वि, पलियासंखेज्जईभागो॥ ४२९॥

किमिहाऽस्मिन् लोके आभिनिबोधिकज्ञानपरिणामापन्नजीवद्रव्याणां प्रमाणमेकस्मिन् विवक्षितसमये?। एवं शिष्येण पृष्टे सत्याह-प्रतिपद्येरन्, नवेति। इदमुक्त भवति-यदि प्रतिपद्यमानकानां प्रमाण पृच्छसि, तदा प्रतिपद्यमानकास्तस्य विवक्षितसमये प्राप्यन्ते न वा। तत्र प्रतिपद्यमानप्राप्तिपक्षे जघन्यत एक प्रतिपद्येत, उत्कृष्टस्तु सर्वलोके क्षेत्रपल्योपमासख्येयभागः प्रतिपद्येत। अथ पूर्वप्रतिपन्नानां तेषा प्रमाणमिच्छसि ज्ञातु, तर्हि पूर्वप्रतिपन्ना द्वयोरपि पक्षयोर्जघन्योत्कृष्टलक्षणयो क्षेत्रपल्योपमाऽसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणाः प्राप्यन्ते, केवलं जघन्यपदादुत्कृष्ट विशेषाऽधिकम्। इति गाथाद्वयार्थ।

अथ (३) क्षेत्रद्वारमधिकृत्याह—

खेत्तं हवेज्ज चोद्दस-भागा सत्तोवरिं अहे पंच।
इलियागईए विग्गह-गयस्स गमणेऽहवाऽऽगमणे।४३०।

नानाजीवानपेक्ष्य सर्वेऽप्याभिनिबोधिकज्ञानिनः पिण्डिता लोकासंख्येयभागमेव व्याप्नुवन्ति। एकजीवस्य तु क्षेत्रं भवेत्कियद्?, इत्याह-सप्तचतुर्दशभागा -चतुर्दशभागीकृत-

स्य लोकस्य सप्त भागा ; सप्तरज्जव इत्यर्थः, उपरि-ऊर्ध्वम् इलिकागत्या विग्रहगतस्य निरन्तराऽपान्तरालस्पर्शिनोऽनुत्तरविमानेषु गमने, तत आगमने वा । अधस्त्वनयैव गत्या षष्ठनरकपृथिवीगमने आगमने वा पञ्चचतुर्दशभागाः-पञ्च रज्जवः प्राप्यन्ते । इदमुक्तं भवति-यदाऽत्राऽऽभिनिबोधिकज्ञानी मृत्वा इलिकागत्याऽनुत्तरसुरेषूत्पद्यते, तेभ्यो वाऽत्र मनुष्यो जायते, तदाऽस्य जीवप्रदेशो दण्डः सप्तरज्जुप्रमाणक्षेत्रे भवति, अधस्त्वनयैव गत्या षष्ठनरकपृथिव्यां गच्छतः, तत आगच्छतो वा पञ्चरज्जुप्रमाणक्षेत्रेऽसौ लभ्यन इति । विराधितसम्यक्त्वो हि षष्ठपृथ्वीं यावत् गृहीतेनाऽपि सम्यक्त्वेन सैद्धान्तिकमतेन कश्चिदुत्पद्यते, कार्मग्रन्थिकमतेन तु वैमानिकदेवेभ्योऽन्यत्र तिर्यङ्, मनुष्यो वा तेनैव क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेनोत्पद्यते, न गृहीतेन; सप्तमपृथिव्यां पुनरुभयमतेनाऽपि वान्तेनैव तेनोपजायते । आह भवत्वेवं किंतु यः सप्तमपृथिव्या गृहीतसम्यक्त्वोऽत्रागच्छति तस्याऽधः षट्चतुर्दश भागाः किमिति न लभ्यन्ते ? इति (विशे० ।) ('सम्मत्त' शब्दे सप्तमे भागे स्फुटीभविष्यति) (स्पर्शनाद्वारम् । क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेषश्च 'फासणा' शब्दे पञ्चमभागे (४३१) गाथया दर्शयिष्यते)

एकस्याऽऽभिनिबोधिकज्ञानिजीवस्य ये क्षेत्रस्पर्शने, ताभ्यां सकाशान्नानाऽऽभिनिबोधिकजीवानां याः क्षेत्रस्य स्पर्शनास्ता असंख्येयगुणाः नानाऽऽभिनिबोधिकजीवाना सर्वेषामसंख्येयत्वादिति भावः ।

कालद्वारमधिकृत्याह—

एगस्स अभोगाण व, उवओगंतो मुहुत्ताओ ॥४३४॥

द्विधा मतिज्ञानस्य कालश्चिन्तनीयः-उपयोगतो, लब्धितश्च । तत्रैकजीवस्य तदुपयोगो जघन्यत उत्कृष्टतश्चाऽन्तर्मुहूर्त्तमेव भवति, परत उपयोगान्तरगमनादिति । सर्वलोकवर्तिनामनेकाऽऽभिनिबोधिकजीवानामपीदमेवोपयोगकालमानम्, केवलमिदमन्तर्मुहूर्त्तमपि बृहत्तरमवसेयम् ।

लब्धिमङ्गीकृत्य कालमानमाह—

लद्धी वि जहन्नेणं, एगस्सेवं परा इमा होई ।
अह सागरोवमाइं, छावट्ठिं सातिरेगाइं ॥ ४३५ ॥

आभिनिबोधिकज्ञानलब्धिरपि तदावरणक्षयोपशमरूपाऽऽवाप्तसम्यक्त्वस्यैकजीवस्य जघन्यत एवमिति-एवमेव; अन्तर्मुहूर्त्तमेवेत्यर्थः । परतो मिथ्यात्वगमनात्, केवलाऽवाप्तेर्वा । परा तूत्कृष्टा तल्लब्धिरेकजीवस्येयम्-अनन्तरवक्ष्यमाणा भवति । अथ सैवोच्यते-सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरोपमाणि ।

कथं पुनरेतानि भवन्ति, नानाजीवानां च कियान् लब्धिकालः ?, इत्याह—

दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्नच्चुए अहव ताइं ।
अइरेगं नरभवियं, नाणाजीवाण सव्वऽद्धं ॥ ४३६ ॥

इह कश्चित्साधुर्मत्यादिज्ञानान्वितो देशोना पूर्वकोटीं यावत्प्रव्रज्यां परिपाल्य विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितविमानानामन्यतरविमाने उत्कृष्टं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणदेवायुरनुभूय पुनरप्रतिपतितमत्यादिज्ञान एव मनुजेषु उत्पन्नो देशोनां पूर्वकोटीं प्रव्रज्यां विधाय तत्रैव विजयादिषूत्कृष्टमायुः संप्राप्य पुनरप्रतिपतितमत्यादिज्ञान एव मनुष्यो भूत्वा पूर्वकोटीं जीवित्वा सिध्यतीति । एवं विजयादिषु वारद्वयं गतस्य; अथ वा-अच्युतदेवलोके द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकेषु देवेषु त्रीन् वारान् गतस्य तानि षट्षष्टिसागरोपमाणि अधिकानि भवन्ति । अधिकं चेह नरभवसंबन्धिदेशोनं पूर्वकोटित्रयं चतुष्टयं वा द्रष्टव्यम् । नानाजीवानां तु सर्वाऽद्ध-सर्वकालं मतिज्ञानस्य स्थितिः । इति गाथा (विशे० ।)ऽर्थः ।

अथाऽन्तरद्वारमाश्रित्याह—

एगस्स जहन्नेणं, अंतरमंतो मुहुत्तमुक्कोसं ।
पोग्गलपरिअट्टऽद्धं, देसूणं दोसबहुलस्स ॥ ४३७ ॥

इह कश्चिज्जीवः सम्यक्त्वसहितं मतिज्ञानमवाप्य-प्रतिपत्य चान्तर्मुहूर्तं मिथ्यात्वे स्थित्वा यदि पुनरपि सम्यक्त्वसहितं तदेव प्राप्नोति । तदेतन्मतिज्ञानस्य जघन्यमन्तरमुहूर्तमन्तरं प्राप्तिविरहकालरूप भवति । आशातनादिदोषबहुलस्य तु जीवस्य सम्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य देशोनपुद्गलपरावर्ताऽर्द्धरूपमुत्कृष्टमन्तरं भवति, एतावता कालेन पुनरपि सम्यक्त्वाऽऽभिनिबोधिकलाभात् इत्येकजीवस्योक्तमन्तरम् ।

अथ नानाजीवानां तदभिधित्सु, भावद्वारं च विभणिषुराह·

जमसुन्नं तेहिं तओ, नानाजीवाणमंतरं नऽत्थि ।
मइनाणी सेसाणं, जीवाणमणंतभागम्मि ॥ ४३८ ॥

यत्-यस्मात्तै -आभिनिबोधिकज्ञानिभिरशून्यं सर्वदैव नारकादिगतिचतुष्टयाऽन्वितं त्रिभुवनमिद ततस्तस्मान्नानाजीवानाश्रित्य नाऽस्ति मतिज्ञानस्याऽन्तरकालः । तथा मतिज्ञानिन शेषज्ञानवता जीवानामनन्ततमे भागे वर्तन्ते, शेषज्ञानिनो हि केवलिसहितत्वादनन्ता, आभिनिबोधिकज्ञानिनस्तु सर्वलोकेऽप्यसंख्याता एवेति भावः । इति गाथाद्वयार्थः ।

अथ भावद्वारम्, अल्पबहुत्वद्वारं चाऽभिधित्सुराह-

भावे खओवसमिए, मइनाणं नऽत्थि सेसभावेसुं ।
थोवा मइनाणविऊ, सेसा जीवा अणंतगुणा ॥४३९॥

मतिज्ञानावरणे हि कर्मण्युदीर्णे क्षीणे, अनुदीर्णे तूपशान्ते मतिज्ञानमुपजायते, अतः क्षायोपशमिक एव भावे तद्वर्तिने, न तु शेषष्वौदयिकक्षायिकादिभावेष्विति मतिज्ञानेन विदन्तीति मतिज्ञानविदः स्तोकाः शेषज्ञानयुक्तास्तु सिद्धकेवल्यादयो जीवा अनन्तगुणा इति । एवमपि तावदल्पबहुत्वं भवति । केवलमिहैवमुच्यमाने भागाऽल्पबहुत्वद्वारयोरर्थतः परमार्थतो न कश्चिद्विशेषो भेदो दर्शितो भवति । तेन तस्यैवाऽऽभिनिबोधिकस्य पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकानाश्रित्याऽल्पबहुत्व वक्तुमुचितं, पौनरुक्त्याऽभावादिति ।

एतदेवाह—

नेह तओ विसेसो, भागप्पबहूण तेण तस्सेव ।

पडिवज्जमाणपडिवन्नगाणमप्पाबहुं जुत्तं ॥ ४४० ॥

गतार्थेव ।

अथ यदेव युक्तं तदेवाह—

थोवा पवज्जमाणा, असंखगुणिया पवन्नयजहन्ना ।

उक्कोसए पवन्ना, होंति विसेसाऽहिया तत्तो ॥ ४४१ ॥

आभिनिबोधिकस्य "जहन्नेणं, एक्को वा, दो वा, तिन्नि वा, उक्कोसेणं असंखेज्जा" इत्येवं प्रतिपद्यमानकाः प्रोच्यन्ते ते सर्वस्तोकाः । तेभ्यो जघन्यपदवर्तिन पूर्वप्रतिपन्नास्ते असंख्यातगुणा, चिरकालसंकलितत्वात् प्रतिपद्यमानकानां तु विवक्षितैकसमयमात्रभावादिति । उत्कृष्टपदवर्तिनस्तु पूर्वप्रतिपन्नास्तेभ्योऽपि विशेषाधिका इति ।

प्रकारान्तरमप्यल्पबहुत्वं दर्शयति—

अहवा मइनाणीणं, सेसयनाणीहिँ नाणरहिएहिं ।

कज्जं सहो भएहि य, अहवा गयाइभेएणं ॥ ४४२ ॥

अथवा मतिज्ञानिना शेषज्ञानिभिः सहाऽल्पबहुत्वं प्रथम वाच्यम्, यथा-"मइनाणी सेसाणं जीवाणमणंतभागम्मि" इति । ततो द्वितीयस्थाने-" नाणरहिएहिं " ति, ज्ञानानि व्याख्यानादिह मतिज्ञानादन्यानि गृह्यन्ते, तैरहिताः-वियुक्ताः पूर्वप्रतिपद्यमानकमतिज्ञानिनः एव केवला इत्यर्थः, तैः सहित मतिज्ञानिनामल्पबहुत्वं स्वस्थाने एव; वक्तव्यम् । यथा-" थोवा पवज्जमाणा, असंखगुणिया पवण्णयजहन्ना " इत्यादि ततस्तृतीयस्थाने उभयैः शेषज्ञानिभिः समुदितैः सहाऽल्पबहुत्वं तेषां कर्तव्यम् । तद्यथा-" सव्वथोवा मणपज्जवनाणी, ओहिनाणी असंखेज्जगुणा, मइनाणी, सुयनाणी य दोवि सट्ठाणे तुल्ला, मज्झिल्लेहिंतो विसेसाहिया, केवलनाणी अणंतगुणा " एवं पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकविभागेनाऽप्यल्पबहुत्वमिह स्वधियाऽभ्यूह्यमिति । अथवा-गत्यादिभेदेन तत्कार्यम्, यथा-सर्वस्तोका मतिज्ञानिनो मनुष्याः, नारका असंख्यातगुणाः, ततस्तिर्यञ्चः, ततो देवा इति । एवं संभवतः सर्वत्र वाच्यमिति ।

अथोपसंहरन्नाह—

लक्खणविहाणविसया-ऽणुओगदारेहिँ वन्निया बुद्धी ।

तयणंतरमुद्दिट्ठं, सुअनाणमओ परूविस्सं ॥ ४४३ ॥

लक्षणम्-आभिनिबोधिकशब्दव्युत्पत्तिः, विधानं-भेदोऽवग्रहादि, विषयो द्रव्यक्षेत्रादि, अनुयोगद्वाराणि सत्पदप्ररूपणतादीनि, एतैः सर्वैरपि यथोक्तक्रमेणाभिनिबोधिकज्ञानलक्षणा वर्णिता व्याख्याता बुद्धिः । ततस्तदनन्तरोद्दिष्टं श्रुतज्ञानं प्ररूपयिष्ये इति गाथापञ्चकार्थः । तदेवमाभिनिबोधिकज्ञानं समाप्तमिति । विशे० । आ० म० ।

आभिणिबोहियनाणलद्धि—आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि—स्त्री० । आभिनिबोधिकज्ञानम्-मतिज्ञानम्, तस्य लब्धिः-योग्यता । आभिनिबोधिकज्ञानयोग्यतायाम्, "आभिणिबोहियणाणलद्धी ०जाव खओवसमिआ " (सूत्र-२७४) । स्वस्वावरणकर्मक्षयोपशमसाध्यत्वात् क्षायोपशमिकी । अनु० ।

आभिणिबोहियनाणमागरोवओग-आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोग-पुं० । अर्थाभिमुखो नियतः -प्रतिनियतस्वरूपो बोधो-बोधविशेषः अभिनिबोधः अभिनिबोध एवाभिनिबोधिकम् । अभिनिबोधशब्दस्य विनयादिपाठाऽभ्युपगमात् "विनयादिभ्यः" ॥७।२।१६६॥ इत्यनेन स्वार्थे इकण्प्रत्ययः । "निवर्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवचनानि" इति वचनादत्र नपुंसकता, यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र । अथवा-अभिनिबुध्यते अस्मादस्मिन्वेति अभिनिबोधः-तदावरणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिबोधिकम्, तच्च तज्ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानम्, इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशाऽवस्थितवस्तुविषयः स्फुटप्रतिभासो, बोधविशेष इत्यर्थः, स चासौ साकारोपयोगश्च आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोगः । साकारोपयोगविशेषे, प्रज्ञा० २९ पद ३१२ सूत्रटी० ।

आभिसेक्क आभिषेक्य-त्रि० । अभिषेकमर्हतीति आभिषेक्यम् । अभिषेकाऽर्हे, औ० । "आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि" (सूत्र-२९+) । औ० ।

आभीर-आभीर-पुं० । आ-समन्तात् भियं राति । रा-क । वाच० । शूद्रजातिभेदे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० २ गाथाटी० । "आभीराण अहिवई" (४६२ गाथाटी०) । आ० म० १ अ० । गोपे, सङ्कीर्णजातिभेदे, स हि अल्पभीतिहेतोरप्यधिकं बिभेतीति तस्य तथा तदिदं गृहाण । उक्तं स च संकीर्णवर्णः । "ब्राह्मणादुग्रकन्यायाम-आवृत्तो नाम जायते । आभीरोऽम्बष्ठकन्यायाम-आयोगव्यां तु धीवरः ॥ १ ॥" इति मनूक्ते । "श्रीकोङ्कणादधोभागे, तापीतः पश्चिमे तटे । आभीरदेशो देवेशि, विन्ध्यशैले व्यवस्थितः ॥ १ ॥" इति । देशभेदे, तद्देशवासिनि, तद्देशराजे च । वं० व० । "एकादश कलाधारि-कविकुलमानसहारि । इदमाभीरमधेहि, जगणमन्त्यमनुधेहि" ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे ५ मात्रावृत्तभेदे च । वाच० ।

आभीरदेस-आभीरदेश-पुं० । देशभेदे, कल्प० । आभीरदेशे अचलपुरासन्ने कन्ना-वेन्नानद्यार्मध्ये ब्रह्मद्वीपे पञ्चशतं तापसानामभूत् । कल्प० २ अधि० ८ क्षण । ('जोगपिंड' शब्दे चतुर्थभागे १६४१ पृष्ठे ॥ 'बम्भदीविया' शब्दे पञ्चमभागे चाऽत्र विशेषवृत्तं वक्ष्यते)

आभीरविसय-आभीरविषय-पुं० । देशभेदे, " आभीरविसये कण्हावेण्णाणं मज्झे तस्स कूले बंभद्दीवो तत्थ पञ्च तावसा परिवसंति । नि० चू० १३ उ० । पिं० ५०३ गाथा । आ० म० । आ० चू० । " एवं सो भगवं विहरंतो ततो आभीरविसयं गओ " आ० चू० १ अ० । आव० १ अ० ६३४ गाथा ।

आभीरसाहु-आभीरसाधु-पुं० । आभीरपुत्रे स्वनामख्याते साधौ, उत्त० २ अ० । (तत्कथा 'अण्णाण' शब्दे प्रथमभागे ४८८ पृष्ठे गता ।)

आभीरीवंचग-आभीरीवञ्चक-त्रि० । आभीर्या वञ्चनकारके वणिजि, उत्त० । तत्कथा यथा—" काऽपि ग्रामे कोऽपि वणिक् हट्टे क्रयविक्रयं करोति । अन्यदा एका आभीरी तद्धट्टे आगता । तया भणितम्—भोः रूपकद्वयस्य मे रुतं देहि । तेनोक्तम्-अर्पयामि । अर्पितं तया रूपकद्वयम् । तेन वणिजा एकस्यैव रूपकस्य रुतं वारद्वय

तोलयित्वा अर्पितम् । सा जानाति मम रूपकद्वयस्य कृतं दत्तम् । वञ्चिता च सा । तस्यां गतायां स चिन्तयति—एतौ रूपकौ मया मुधा लब्धौ, ततोऽहमेव उपभुञ्जामि । तस्य रूपकस्य घृतखण्डादि लात्वा स्वगृहे विसर्जितं भार्यायाः कथितमिदम्-अद्य घृतपूराः कुर्याः । तया घृतपूराः कृताः । तावता तद्गृहे समित्रो जामाता समायातः । तस्यैव तया घृतपूराः पारवेषिताः । समित्रेण तेन भक्षिताः । गतः समित्रो जामाता । वणिग् गृहे समायातः । स्नानं कृत्वा भोजनार्थमुपविष्टः । तया स्वामाविकमेव भोजनं परिवेषितम् । वणिक् वदति—कथं न कृता घृतपूराः ?, तया उक्तम्—कृताः परमागन्तुकेन समित्रेण जामात्रा भक्षिताः । स चिन्तयति मया सा वराकी आभीरी वञ्चिता । परार्थमेवाऽयमात्मा पापेन सर्योजितः । एवं चिन्तयन्नेवाऽसौ शरीरचिन्तार्थं बहिर्गतः । तदानीं ग्रीष्मो वर्तते । स मध्याह्नवेलायां कृतशरीरचिन्तः एकस्य वृक्षस्याधस्तात् विश्रामार्थमुपविष्टः । तेन मार्गेण गच्छन्तं साधुं दृष्टवान् । वणिगुवाच—भो साधो ! विश्रम्यताम् । साधुनोक्तम्-शीघ्रं मया स्वकार्ये गन्तव्यम् । वणिजा उक्तम्-भगवन् ! कोऽपि परकार्ये गच्छति ?, साधु प्राह—यथा त्वं स्वजनाऽर्थं क्लिश्यसि । अनेन एकेनैव वचनेन स बुद्धः । प्राह-भगवन् ! यूयं क्व तिष्ठथ । साधुना भणितम्-उद्याने । स साधुना समं तत्र गतः । तन्मुखाद्धर्ममाकर्ण्य भणति-भगवन् ! अहं प्रव्रजिष्यामि । नवरं स्वजनमापृच्छ्याऽऽगच्छामि । गतो निजगृहे बान्धवान् भार्यां च भणति—अत्रापणे व्यवहारतो मम तुच्छलाभोऽस्ति देशान्तरं यास्यामि सार्थवाहद्वयमत्रायातमस्ति । एकः सार्थवाहो मूलद्रव्यमर्पयति, इष्टपुरं नयति, न च लाभं गृह्णाति । द्वितीयो मूलद्रव्यमर्पयति सह गमनात् लाभञ्च गृह्णाति, तत्केन सह गमनं युज्यते ? । तैरुक्तं प्रथमेन सह व्रज । अथ स वणिक् स्वजनैः समं वने गत्वा उवाच-अयं मुनिः परलोकसार्थवाहः स्वकीयमूलद्रव्येण व्यवहारं कारयति मोक्षपुरं च नयतीति दृष्टान्तदर्शनपूर्वकं स्वजनानापृच्छ्य स वणिक् तस्य गुरोः समीपे दीक्षां जग्राहेति । दश० ४ अ० ।

आभोइत्ता-आभोगयित्वा-अव्य० । " आभोइत्ताण णीसेसं " (८९ × गाथा) । आभोगयित्वा-ज्ञात्वा निश्शेषमतिचारम् । दश० ५ अ० ।

आभोएउं-आभोज्य-अव्य० । विज्ञायेत्यर्थे, पं० व० १४२० गाथा ।

आभोएमाण-आभोगयत्-त्रि० । अवलोकयति, कल्प० १ अधि० १ क्षण २११ सूत्र ।

आभोग-आभोग-पुं० । आभोगनमाभोगः । उपयोगविशेषे, आव० । " आभोगे तह अणाभोगे " ॥ ४ ॥ आव० ४ अ० । " लोकालोकावलोकनाभोगम् " (१५ +) । आभोगः-उपयोगः । षो० १५ विव० । " अजाए आभोगं, नाए सलई करंति सज्झायं " ॥ ७५ × ॥ जननाऽज्ञानाः स्थितास्ततो रात्रावाऽऽभोगम्-उपयोगं कुर्वते; तूष्णीका आसते इत्यर्थः । बृ० ३ उ० । ज्ञाने, " आभोगणिव्वत्तिए " (सूत्र-२४१ +) । स्था० ४ ठा० १ उ० । संज्ञा-आभोगः । स्था० १० ठा० ७५२ सूत्रटी० । " आभोगे जाणंतेण, जो अइयारो कओ पुणो तस्स " आव० ४ अ० १२४६ गाथाटी० । ज्ञानपूर्वके व्यापारे, आतु० १ सूत्रटी० । परिस्फुटबुद्धौ, " आभोगेण वि तणुएसु " (१२ + गाथा) । " परिस्फुडबुद्धीए त्ति " चूर्णिः । आभोगेनापि-परिस्फुटबुद्ध्यापि; अविस्मृत्याऽपीत्यर्थः । जीत० । " अवृत्य अणाभोगेण " (सूत्र +) । आभोजनमाभोगः-आभोगोऽत्यन्तविस्मृतिरित्यर्थः, तेन अनाभोगं मुक्त्वेत्यर्थः । आव० ६ अ० २५३ भाष्यगाथाटी० । विस्तारे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ० २७ सूत्रटी० । आभोजनमाभोगः 'भुज' पालनाभ्यवहारयोः, मर्यादया अभिविधिना वा भोगनं-पालनमाभोगः । प्रतिलेखनायाम् , ओघ० ।

(अस्यैकार्थिकानि)—

आभोगण मग्गण गवे-सणा य ईहा अपोह पडिलेहा ।
पेक्खण निरिक्खणाऽवि य, आलोय पलोयणेगट्ठा ॥२॥

(अस्या गाथायाः व्याख्या ' पडिलेहणा ' शब्दे पञ्चमभागे करिष्यते) ओघ० । आ भुज् आधारे घञ् । परिपूर्णतायाम् , सम्यक् सुखाद्यनुभवे, वरुणस्य छत्रे च । मेदि० । वाच० ।

आभोगज्झाण-आभोगध्यान-न० । आभोगो-ज्ञानपूर्वको व्यापारस्तस्य ध्यानम् । ज्ञानपूर्वकव्यापारस्य ध्याने, ब्राह्मणनयनाभिप्रायेण फलान्यपि मृद्नतो ब्रह्मदत्तस्येव । आतु० सूत्र-१ × टी० । (अस्य वृत्तान्तं ' बंभदत्त ' शब्दे पञ्चमभागे निरूपयिष्यामि)

आभोगण-आभोगन-न० । आभोग्यतेऽनेनेति आभोगनम् । अर्थावग्रहसमयसमनन्तरमेव । सद्भूतार्थविशेषाऽभिमुखे आलोचने, नं० ३१ सूत्रटी० । उपयोगविशेषे, आव० ४ अ० ११ गाथाटी० ।

आभोगणया-आभोगनता-स्त्री० । आभोग्यतेऽनेनेत्याभोगनम्—अर्थावग्रहसमयसमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनम् तस्य भावः आभोगनता । ईहायाम् , नं० ३१ सूत्रटी० ।

आभोगणिव्वत्तिय-आभोगनिर्वर्तित-त्रि० । आभोगो-ज्ञानम् तेन निर्वर्तितः । ज्ञानेन कृते क्रोधादौ, यज्जानन् कोपविपाकादि रुष्यति । वैमानिकक्रोधविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ०-२४९ सूत्रटी० ।

आभोगबउस-आभोगबकुश-पुं० । आभोगः-साधूनामकृत्यमेतच्छरीरोपकरणविभूषणमित्येवं ज्ञानम्, तत्प्रधानो बकुशः आभोगबकुशः । बकुशभेदे, भ० २५ श० ६ उ० ७५१ सूत्रटी० ।

आभोगिणी-आभोगिनी-स्त्री० । विद्याभेदे, बृ० । "आभोगिणी य" ॥६१२×॥ आभोगिनी नाम विद्या, सा भण्यते-या परिजपिता सती मानसं परिच्छेदमुत्पादयति । बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

आम-आम-अव्य० । अभ्युपगमे, प्रा० । "आम अब्भुपगमे"

॥ ८ । २ । १७७ ॥ आमेत्यभ्युपगमे प्रयोक्तव्यम् । "आम बहला वणोली" प्रा०। "दुविहं च तिविहं च आमं ति"॥१६५॥ आमशब्दोऽनुमतौ, सम्मतमेतदस्माकं सर्वमिति भाव । व्य० १ उ० । "सो भणइ-आमं दिट्ठं" आ० म० १ अ० १३१ गाथाटी० । "आम त्ति अणुमयत्थे" 'आम' इत्यनुमतार्थे इति । 'आमं' ति एतदभ्युपगम्यत एवास्माभिः। नि० चू०१० उ० ११७ गाथाटी० । अपके, विशे० २३५ गाथाटी० । "आमे आममेगे" (सूत्र-२५३×) । आमम्-अपक्वम् । (स्था०) पुरुषस्तु आम -वय श्रुताभ्यामव्यक्त । स्था० ४ ठा० १ उ० । "आमं ओमं च भुंजीया" ॥ २०४ ॥ आमम्-अपक्वम् । आ० म० १ अ० ।

आमनिक्षेपश्च—

नामं ठवणाआमं, दव्वाऽऽमं चेव होइ भावाऽऽमं ।
उस्सेइमसंसेइम-मुवक्खडं चेव पलिआमं ॥ ३२ ॥

आम चतुर्द्धा । तद्यथा-नामाऽऽमम् १, स्थापनाऽऽमम् २, द्रव्याऽऽमम् ३, भावाऽऽमम् ४ । तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्याऽऽम पुनश्चतुर्द्धा, तदेव दर्शयति-'उस्सेइम' इत्यादि, उत्-ऊर्ध्वं निर्गच्छता वाष्पेण य. स्वेद' स उत्स्वेद उत्स्वेदेन निर्वृत्तं उत्स्वेदिमम् । भावादिम. ॥ ६ । ४ । २१ ॥ इति सूत्रेण इम प्रत्ययः । उत्स्वेदिमञ्च तदाम च उत्स्वेदिमाऽऽमं १, 'संसेइम' त्ति एकाकिभावेन स्वेद. संस्वेदस्तेन निर्वृत्त संस्वेदिमं तदेवाऽऽमम् संस्वेदिमाऽऽमम् २, तथोपस्कृता राद्धा ये वल्लचणकादयस्तेषां मध्ये यदामं तदुपस्कृताऽऽमम् ३ । पर्याय स्वाभाविक औपाधिको वा फलानां पाकः परिणामस्तस्मिन् प्राप्तेऽपि यदामं तत्पर्यायाऽऽमम् ४ ।

अथोत्स्वेदिमादिचतुष्टयमेव व्याचष्टे—

उस्सेइम पिट्ठाई, तिलाईं संसेइमं तुऽणेगविहं ।
कंकडुयाइ उवक्खड, अविपक्करसं तु पलियामं ॥३३॥

उत्स्वेदिमम्-पिष्टादिपिष्टम्, सृदमतन्दुलादिचूर्णनिष्पन्न तद्धि वस्त्रान्तरितमध स्थितस्योष्मोदकस्य वाष्पेनोत्स्विद्यमान पच्यते तत्र यदाम तदुत्स्वेदिमाऽऽमम्, आदिग्रहणात्करोलादिपरिग्रह । संस्वेदिमं पुनस्तिलादिकमनेकविधम् । इह क्वचित् पिठरादौ पानीय तापयित्वा पिटिकायां प्रक्षिप्तास्तिलास्तेनोष्णोदकेन सिच्यन्ते ततस्तिलाः संस्विद्यन्ते तेषां संस्विद्यमानां मध्ये ये आमास्तत् संस्वेदिमाऽऽमम्, आदिग्रहणेन-यदन्यदप्येतेन क्रमेण संस्विद्यते तत् संस्वेदिमाऽऽमम्, । तथा चणकमुद्गादीनामुपस्कृतानां ये कङ्कटुकादय आमास्ते उपस्कृताऽऽमम्, पर्यायाऽऽमम् पुनरविपक्वरसफलादिकमुच्यते, तच्चतुर्विधम् ।

तद्यथा—

इन्धणधूमे गंधे, वच्छप्पभियामए अ आमविही ।
एसो खलु आमविही, तप्पच्चो आणुपुव्वीए ॥३४॥

इन्धनपर्यायामम् १, धूमपर्यायामम् २, गन्धपर्यायामम् ३, वृक्षपर्यायाममित्येवं पर्यायामे आमविधिश्चतु प्रकारः ४ । एष खलु आमविधिर्ज्ञातव्य । आनुपूर्व्या यथोक्तयाऽऽत्ता आनुपूर्वीनाम-वक्ष्यमाणलक्षणा पलालवेष्टनगर्त्ताखननकरीषप्रक्षेपणादिका यथायोगमामफलपाचनाय रचना, तया ज्ञातव्य' आमविधिरिति ।

अथेन्धनधूमपर्यायाऽऽमे विवृणोति—

कोद्दवपलालमाई, धूमेणं तिंदुगाइ पच्चंते ।
मज्झगडा मगणि पेरं-ततिंदुया छिद्दधूमेणं ॥ ३५ ॥

कोद्रवपलालादिकमिन्धनमुच्यते, आदिग्रहणेन-शालिपलालपरिग्रह., तेन चाम्रादीनि फलानि वेष्टयित्वा पाच्यन्ते, तत्र यान्यपक्वानि फलानि तदिन्धनपर्यायामम् । तथा धूमेन तिन्दुकादीनि फलानि पाच्यन्ते । कथ पाच्यन्ते?, इत्याह-'मज्झगडा' इति-प्रथमतो गर्त्ताया मध्ये करीषः प्रक्षिप्यते, तस्याश्च गर्त्तायाः पार्श्वेष्वपरा गर्त्ता खन्यन्ते, तासु च गर्तासु तिन्दुकादीनि फलानि प्रक्षिप्य मध्यमायां करीषगर्त्तायाम् 'अगणि' त्ति-अग्निर्दीयते तासां च 'पेरंत' त्ति-पर्यन्तगर्तानां श्रोतांसि मध्यमगर्त्तया सह मीलितानि क्रियन्ते । ततस्तस्या. करीषगर्त्तायाः सकाशाद्धूमस्तै श्रोतोभिः पर्यन्तगर्त्तासु प्रविशति ततस्तच्छिद्रसंचरन्धिना धूमेन प्रसरता तानि फलानि पाच्यन्त इति तेषां मध्ये यद्-आमं तद्धूमपर्यायाऽऽमम् ।

अथ गन्धपर्यायाऽऽमे भावयति—

अंबगचिब्भिडमाई, गंधेणं जं च उवरि रुक्खस्स ।
कालपत्तं न पच्चइ, वत्थपलियाममंतं तु ॥ ३६ ॥

आम्रकचिर्भिटादीनि आदिशब्दात्-बीजपूरकादीनि यान्यपक्वानि फलानि तेषां मध्ये पक्वानि प्रक्षिप्यन्ते । तेषां गन्धेन प्राक्तनान्यामकानि पच्यन्ते । तत्र यदपक्व फल तद्गन्धपर्यायामम् । तथाऽऽचीज चेति । चशब्दस्य पुनरर्थत्वाद्यत्पुनर्वृक्षस्योपरि शाखायां वर्त्तमानं काले वसन्तादिलक्षणे पाकसमये प्राप्तेऽपि परिपक्वेष्वपरफलेषु न पच्यते तद्वृक्षपर्यायाऽऽमम् । व्याख्यात चतुर्विधमपि पर्यायाऽऽमम् । तद्व्याख्याने च समर्थितं द्रव्याऽऽमम् ।

अथवा भावाऽऽमस्य रूपं निरूपयति—

भावाऽऽमं पि अ दुविहं, वयणाऽऽमं चेव णो य वयणाऽऽमं ।
वयणाऽऽमं अणुमयत्थे, आमं ति हि जो वदे वक्कं ॥३७॥

नोवयणाऽऽमं दुविहं, आगमतो चेव नोआगमतो ।
आगमेनाणुवउत्तो, नोआगमओ इमं होई ॥ ३८ ॥

भावाममपि द्विविधम्-वचनाम चैव, नोवचनामम । वचनरूपमाम वचनामम्, अनुमतार्थे, आममिति । यद्वाक्यं वचन वदेत्तद्वचनामम् । यथा कोऽपि साधुर्गुरूणां कार्येण गच्छन्नपरेण पृष्ट -आर्य ! किं गुरुकार्येण गम्यते ?, स प्रत्याह—आमम्, एवमेतदित्यर्थ' । नोवचनाम द्विविधम्-आगमतश्चैव, नोआगमतश्च । तत्राऽऽगमत आमपदार्थज्ञानयुक्त, तत्र चोपयुक्त उपयोगस्य भावरूपत्वात् ज्ञानस्य चागमरूपत्वात् । नोआगमतो-भावाममपीद भवति ।

तदेवाह—

उग्गमदोसाईया, भावतो असंजमो अ आमविही ।

अन्नो वि य आएसो, जो वरिससयं न पूरेइ ॥ ३६ ॥

उद्गमदोषाः-आधाकर्मादयः आदिग्रहणाद्-उत्पादनादोषा, एषणादोषाश्च; एतद् भावामं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चाचाराङ्गसूत्रम्-" सव्वाऽऽमगंधं परिन्नाय, निरामगंधो परिव्वए " (सूत्र-८७+) (आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।) असंयमश्च पृथिव्याद्युपमर्दलक्षणो भावत आमविधिरेव ज्ञानव्यभ्रतिश्राऽपक्वताकारणात् । यद्वाऽन्योऽपि आदेशः-प्रकारो भण्यते-यो वर्षशतायुः पुरुष आयुष्कोपक्रमेण वर्षशतमपूरयित्वा म्रियते सोऽपि भावत आमः; आयुषः परिपाकमन्तरेण मरणात् । अत्र च द्रव्याणामधिकारसूत्रेऽपि वृक्षपर्यायाऽऽमेण शेषाणामुच्चारितसदृशतया विनेयव्युत्पादनार्थं प्रसङ्गतः प्ररूपितत्वात् । व्याख्यातमामपदम् । वृ० १ उ० २ प्रक० । नि० चू० । अपरिशुद्धे, आचा० । " सव्वाऽऽमगंध परिण्णाय " (सूत्र-८७ ×) । आमम्-अपरिशुद्धम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । " णिरामगंधे धिइमं ठितप्पा " (सूत्र-५ +) । निर्गतः-अपगत आमः-अविशोधिकोट्याख्यस्तथा गन्धो-विशोधिकोटिरूपो, यस्मात्स भवति निरामगन्धः; मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अम-करणे घञ् । रोगमात्रे, वैद्यकोक्ते षड्विधे अजीर्णे, रोगभेदे, वाच० । अजीर्णरोगभेदे च । तल्लक्षणम्-" आमे तु द्रवगन्धित्वम् " (ध०) । व्याख्या द्रवस्य-गूथस्य कथितनक्रादेरिव गन्धो यस्यास्ति तत्तथा तद्भावस्तत्त्वमिति । ध० १ अधि० १० श्लोकटी० ।

आमइ (न्)-आमयिन्-पुं० । आमयो-रोगः स येषां विद्यते ते आमयिनः । रोगिणि, व्य० ।

नाउं तिविहामयाणं, देइ लहाओ सह गणं तु ॥२५८॥

त्रिविधतापादिजन्यरोगयोगतस्त्रिप्रकारा आमया-रोगाः स येषां ते आमयिनः त्रिविधाश्च ते आमयितश्च तेषां त्रिविधामयिनाम् । व्य० १ उ० ।

आमंतण-आमन्त्रण-न० । आ मन्त्र ल्युट् । अभिनन्दने, संबोधने, कामचारानुज्ञारूपे, क्रियाभेदेषु प्रवर्त्तनव्यापारे च । व्यापारे च । युच् । आमन्त्रणाप्यत्र । स्त्री० । वाच० । प्रच्छने, आचा० । " अणामं ति या परिट्ठवेति " (सूत्र-५५ +) । अनापृच्छय प्रमादितया परिष्ठापयेत् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ६ उ० । " समणामंतणखमणे " ॥ ११० × ॥ आचार्येण स्वगणस्य-स्वगच्छस्याऽऽमन्त्रणं प्रच्छनं कर्त्तव्यम् । व्य० १ उ० । (स्त्रीपुरुषयोर्वक्तव्यावक्तव्यामन्त्रणवचनानि ' भासा ' शब्दे षष्ठे भागे " तहेव काणं काण " त्ति (१२) इत्यादि दशवैकालिक ७ सप्तमाध्ययनस्थगाथाभिर्वक्ष्यते) । " करेमि भंते ! सामाइयं " (ध०) ' भंते ' इति गुरोरामन्त्रणम् । (ध०) आमन्त्रणं च प्रत्यक्षस्य गुरोः, तदभावे परोक्षस्याऽपि बुद्ध्या प्रत्यक्षीकृतस्य भवति, गुरोश्चाभिमुखीकरणेन सर्वो धर्मः गुरुपादमूले तदभावे स्थापनासमक्षं कृतः फलवानिति । ध० २ अधि० ७ श्लोक । (' भदंत ' शब्दे षष्ठे भागे विस्तरम्)

आमंतणी-आमन्त्रणी-स्त्री० । असत्यामृषाभाषाभेदे, स्था० ७ गाथाटी० । आमन्त्रणी-हे २ देवदत्त इत्यादिरूपा । एषा हि प्रागुक्तभाषात्रयविलक्षणत्वान्न सत्या, न मृषा, नापि सत्यामृषा, केवलव्यवहारमात्रप्रवृत्तिहेतुरित्यसत्यामृषा एव, भाषया कार्या । ध० ३ अधि० ४३ श्लोकटी० । दश० । विभक्तिभेदे च । " अट्ठमाऽऽमंतणीभवे " ॥ २ ॥ (सूत्र-१२६ +) । अष्टमी संबुद्धिः-आमन्त्रणी भवेत्; आमन्त्रणार्थे विधीयत इत्यर्थः । अनु० । स्था० ।

आमंतणी भवे अट्ठ-मी य जह हे २ जुवाण ! त्ति ॥६॥ (सूत्र-६०६ +)

अष्टम्यामन्त्रणी भवेदिति । सु-औ-जसिति प्रथमापीयं विभक्तिरामन्त्रणलक्षणस्यार्थस्य कर्मकरणादिवत् । लिङ्गार्थमात्रातिरिक्तस्य प्रतिपादकत्वेनाष्टम्युक्ता, यथा हे २ युवन् इति । स्था० ८ ठा० ३ उ० । इदं चानुयोगद्वारानुसारेण व्याख्यातम्, आदर्शेषु तु आमन्त्रणेति दृश्यते । स्था० ८ ठा० ३ उ० । " आमंतणी भवे अट्ठ-मी उ जहा हं हे २ जुवाण त्ति " (सूत्र-१२६ +) । आमन्त्रणी भवेदष्टमी, यथा-हे २ युवन्निति वृद्धवैयाकरणदर्शनेन चेयमष्टमी गण्यते, ऐदंयुगीनानां त्वसौ प्रथमैवेति मन्तव्यमिति । अनु० । ' असत्यामृषा-आमन्त्रण्याज्ञापनादिका । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० १ उ० १३४ सूत्रटी । (' भासा ' शब्दे पञ्चमभागे दशवैकालिकसप्तमाऽध्ययनद्वितीयोद्देशक " आमंतणि० " २७६ इत्यादिगाथया बहुविस्तरं कथयिष्यामि)

आमंतित्ता-आमन्त्र्य-अव्य० । आ मन्त्र-ल्यप् । सम्बोध्येत्यर्थे, वाच० ।

अज्जो ! त्ति समणे भगवं महावीरे गोतमादी समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी-किंभया पाणा ? समणाऽऽउसो ! (सूत्र-१६६ +)

' अज्जो ' इत्यादि, सुगमम् । केवलम् ' अज्जो त्ति ' त्ति-आरात्-पापकर्मभ्यो याता आर्याः तदामन्त्रणम्-हे२ आर्या ! ' इति ' एवमभिलापेनाऽऽमन्त्र्येति संबन्धः, श्रमणो भगवान् महावीरः गौतमादीन् श्रमणान् निर्ग्रन्थानेवम्-वक्ष्यमाणन्यायेनाऽवादीदिति, कस्माद् भयं येषां ते किंभयाः, कुतो बिभ्यतीत्यर्थः, प्राणाः-प्राणिनः ' समणाऽऽउसो ' त्ति-हे २ श्रमणाः हे २ आयुष्मन्तः इति गौतमादीनामेवाऽऽमन्त्रणमिति । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

आमंतिय-आमन्त्रित-त्रि० । आ-मन्त्र क्त । अनावश्यके कर्मणि नियोजिते, वाच० । " पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अपडिसुणमाणे णो एवं वदेज्जा " (सूत्र-१३५ +) । आचा० २ श्रु० १ चू० ४ अ० ३ उ० । वाच० । परिभाषितायां सम्बोधनार्थे प्रथमायां विभक्तौ, न० । "सामन्त्रितम्" पाणिनिः । सम्बोधने या प्रथमा साऽऽमन्त्रितसंज्ञा स्यात् । सि० कौ० । " आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् " नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् पा० । निमन्त्रिते, त्रि० । " प्रातरामन्त्रितान् विप्रान् " वाच० ।

आमन्त्र्य-अव्य० । आ-मन्त्र-ल्यप् । सम्बोध्येत्यर्थे, वाच० ।

"आमंतिय उस्सविया, भिक्खु आयसा निमंतति" ॥ ५५ ॥

स्त्रियो हि स्वभावेनैवाऽकर्त्तव्यप्रवणाः, साधुमामन्त्र्य-यथाऽहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामीत्येवं संकेतं ग्राहयित्वा (सूत्र०) भर्तारम् आमन्त्र्य-आपृच्छ्य अहमिहाऽऽयाता । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

आमंतेमाण-आमन्त्रयत्-त्रि० । आपृच्छति, आचा० । "पुमं आमंतेमाणे आमंतिते वा" (सूत्र-१३५+)। आचा०२ श्रु० १ चू० ४ अ० ३ उ० ।

आमंद-आमन्द्र-पुं० । ईषन्मद्र । प्रा० स० । ईषद्गम्भीरशब्दे, "आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालम्" भट्टिः । तद्युक्ते त्रि० । वाच० । सर्गत्र लवरामचन्द्रे ॥ ८।२।७६ ॥ इति रलुक् । प्रा० ।

आमम-आमक-त्रि० । अपक्वे, भ० १५ श० १ उ० ५५४ सूत्रटी० । "आमगमल्लगभूया" (सूत्र-७६+) । आमकमल्लकभूता-अपक्वशरावकल्पा जलसंपर्के क्षणेन विलयनात् । आ० १ श्रु० ६ अ० । अशस्त्रोपहते च । दश० । "आमगं विविहं बीयं" ॥ १० × ॥ आमकम्-अशस्त्रोपहतम् । दश० ८ अ० २ उ० । आचा० । "फले बीए य आमए" ॥७+॥ आमक-सचित्तम् । दश० ३ अ० ।

आमगंध-आमगन्ध-न० । आमं च गन्धश्च आमगन्धम् । समाहारद्वन्द्वः । अविशुद्धकोटयन्तर्गतेषु आधाकर्मादिषु आचा० । "सव्वाऽऽमगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए" (सूत्र-८७+) । सर्वञ्च तदामगन्धञ्च सर्वाऽऽमगन्धं, सर्वशब्दः प्रकारकार्त्स्न्येऽत्र गृह्यते; न द्रव्यकार्त्स्न्ये, आमम्-अपरिशुद्धं, गन्धग्रहणेन तु पूतिर्गृह्यते । ननु च पूतिद्रव्यस्याप्यशुद्धत्वादामशब्देनैवोपादानात्किमर्थं भेदेनोपादानमिति ?, सत्यम् , अशुद्धसामान्याद् गृह्यते, किं तु पूतिग्रहणेनेह आधाकर्माद्यविशुद्धकोटिरुपात्ता , तस्याश्च गुरुतरत्वात्प्राधान्यख्यापनार्थं पुनरुपादानं, ततश्चायमर्थः-गन्धग्रहणेन-आत्मकर्म १ औद्देशिकत्रिकं २ पूतिकर्म३ मिश्रजातं ४ बादरप्राभृतिका ५ अध्यवपूरक ६ श्चेते षडुद्गमदोषा अविशुद्धकोट्यन्तर्गता गृहीताः, शेषास्त्वयो विशुद्धकोट्यन्तर्भूता आमग्रहणेनोपात्ता द्रष्टव्या इति, सर्वशब्दस्य च प्रकारकार्त्स्न्याभिधायकत्वादयमर्थो येन केनचित्प्रकारेण आमम्-अपरिशुद्धं पूतिर्वा भवति तत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निरामगन्धः निर्गतावामगन्धौ यस्मात् स तथा परिव्रजेत्-मोक्षमार्गे ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये परि-समन्ताद् गच्छेत्; संयमानुष्ठानं सम्यगनुपालयेदिति यावत् । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

आमगोरस-आमगोरस-पुं० । आमं च तद् गोरसं च आमगोरसम् । कच्चदुग्धदधितक्रादिके, ध० २ अधि० ३४ श्लोकटी० ।

आमज्जण आमार्जन-न० । सकृत् कर्दमादिशोधने, आचा० । "णो आमज्जेज्ज वा" (सूत्र-२६+) । नैव सकृदामृज्यान्नाऽपि पुनः पुनः प्रमृज्यात् , कर्दमादि शोधयेदित्यर्थः । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ५ उ० । "आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंत वा पमज्जंतं वा साइज्जइ" (सूत्र-१६ +) । नि० चू० १७ उ० । "आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा आमज्जावंत वा पमज्जावंत वा साइज्जइ" (सूत्र-२० ×) नि० चू० १७ उ० । (अनयोः सूत्रांशयोः व्याख्या 'अण्णमण्णकिरिया' शब्दे प्रथमभागे ४८० पृष्ठे गता)

जे भिक्खू अप्पणो अच्छिणी आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥

"अच्छीणि वा आमज्जति णाम अच्छिपत्तरोमे सठवेति पुणो पुणो करेंतस्स पमज्जणा । अहवा-बीयकणगादीणि सकृत् अवणयणे आमज्जणा पुणो २ पमज्जणा । नि० चू० ३ उ० । मृद्गोमयादिना लिम्पने च । व्य० ४ उ० २७ गाथाटी० ।

आमज्जंत-आमज्जमाण-आमार्जयत्-त्रि० । सकृत् हस्तादिना शोधयति, नि०चू० । "आमज्जंत वा पमज्जंतं वा साइज्जइ" (सूत्र-६०×) । नि० चू० ३ उ० । "आमज्जमाणे वा" (सूत्र ३६ ×) । आमार्जयत्-सकृत् हस्तादिना शोधयन् । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ० ।

आमडाग-आमडाग-न० । अर्द्धपक्वे, अपक्वे च । अरणिकतण्डुलीयकादिके, आचा० । "सेज्ज पुण जाणेज्जा आमडाग वा" (सूत्र-४६ ×) । 'आमडागं वा' इति-आमपत्रम्-अरणिकतण्डुलीयकादि तच्चार्द्धपक्वम् , अपक्वं वा । आचा० २ श्रु० १ चू० १ अ० ८ उ० ।

आमतर-आपतर-त्रि० । अतिशयेन आपके, रा० । "मणामतराए चेव" (सूत्र- +) । द्रष्टॄणां मनांसि आप्नुवन्ति-आत्मवशानां नयन्तीति मनआपास्तनः प्रकर्षविवक्षायां तरप्रत्ययः प्राकृतत्वाच्च पकारस्य मकारे मणामतरा इति भवति । रा० ।

आममल्लगरूव-आममल्लकरूप-त्रि० । अपक्वशरावतुल्ये, तं० । "आममल्लगरूवे, निव्वेय वच्चह सरीरे" ॥ ३२ ॥ ११६ (आदित गाथाङ्क) ॥ (सूत्र-१८ +) । अपक्वशरावतुल्ये शरीरे निर्वेदं वैराग्यं व्रजत । तं० ।

आममहुर-आममधुर-न० । आममिव मधुरमाममधुरम् । ईषन्मधुरे फले, "आमे णामं एगे आममहुरे" (सूत्र-२५३ +) । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

आमय-आमय-पुं० । आम-रोगं यात्यनेन करणे घञर्थे कः । आ । मीञ् हिंसायाम् । करणे अच् वा । रोगे अनामयः निरामयः । "समौ हि शिष्टैराम्नातौ, वर्त्स्यन्तावामयः स च" माघ । वाच० । व्य० १ उ० २५८ गाथाटी० ।

आमयकरणी-आमयकरणी-स्त्री० । विद्याभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ३० सूत्रटी० ।

आमयभाव-आमयभाव-पु० । रोगोत्पत्तौ, दश० । "निरामयाऽऽमयभावा" ॥ २२६ × ॥ निरामयामयभावात् निरामयस्य नीरोगस्याऽऽमयभावाद्रोगोत्पत्तेः उपलक्षणं चैतत्साऽऽमयनिरामयभावस्य तथा चैवं वक्तार उपलभ्यन्ते-पूर्वं निरामयोऽहमासं, सम्प्रति साऽऽमयो जातः । दश० ४ अ० ।

आमयि-आमयिन्-त्रि० । रोगिणि, व्य० । "नाउ तिविहामयीणं" ॥ ७५८ + ॥ ज्ञात्वा त्रिविधा वातादिजन्य-

रोगयोगनरिसन्नकारा आमयो—रोग. स येषां विद्यते, ते आमयिनः। व्य० १ उ०। " नाउ तिविहामइणं " ॥१२३४॥ ' आमइणं ' ति-आमती-रोगत्तो, आमती जस्स अत्थि सो आमती मणुस्सो भण्णति। नि० चू० २० उ०।

आमरकुंड- आमरकुण्ड—न०। तैलङ्गजनपदस्थे स्वनामख्याने नगरे, ती०। " आमरकुण्डनगरे, तैलङ्गजनपदविभूषणे रुचिरे ॥ गिरिशिखरभुवनमध्य-स्थिता जयति पद्मिनी देवी॥ १॥ " ती० ५३ कल्प। (अस्मिन् विषये बहुवृत्तम् पउमिणी ' शब्दे पञ्चमभागे वक्ष्यते)

आमरणंत—आमरणान्त—अव्य०। मृत्युलक्षणावसानं यावदित्यर्थे, पञ्चा०। " आमरणंतमजस्सं, संजं परिपालणं विहिणा" ॥ ४६॥ आमरणान्तम् मृत्युलक्षणावसानं यावद्। पञ्चा० ७ विव०। " एअस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं" ॥१३५७॥ एतस्य-गुरो पादमूल-समीपमामरणान्तं न मोक्तव्यं—सर्वकालम्। पं० व०।

आमरणंतदोस—आमरणान्तदोष—पुं०। मरणमेवान्तो मरणान्त. आमरणान्तात्-आमरणान्तमसंजाताऽनुतापस्य कालसौकरिकादेरिव या हिंसादिप्रवृत्तिः सैव दोष आमरणान्तदोष। रौद्रध्यानस्य लक्षणभेदे, भ०। " आमरणंतदोसे " (सूत्र-८०३+)। भ० २५ श० ७ उ०। स्था०। ग०। औ०। "नानाविहाऽऽमरणदोसा ॥२६४॥ " महदापन्नतोऽपि स्वतः महदापन्नेऽपि च परे आमरणादसंजाताऽनुतापः, कालसौकरिकवत्, अपि तु-असमासानुतापानुशयपर इत्यामरणदोष इति। आव० १ अ०। आमरणन्तदोसो जधा पञ्चतराई, परिगिलायमाणस्स वि आगतपच्छादेसस्स थोवो वि पच्छाणुताओ न भवति, अवि मरणकालेऽवि जस्स कालसोयरियस्सेव ण ताओ उवरतो भवति, एस आमरणन्तदोसो। आ० चू० १ अ० १२८५ गाथाचूर्णि.।

आमरिस—आमर्श—पुं०। आ-मृश। स्पर्शे, घञ्। सम्यक् स्पर्शे, ल्युट्। आमर्शनमप्यत्र। न०। वाच०।

आमर्ष—पुं०। आमर्षणमामर्ष.। संस्पर्शने, विशे० ७७६ गाथाटी०। आ० म०। र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ॥ ८। २। १०५॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण र्श-र्षयो. संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारो वा। प्रा०। आ-मृष घञ्। कोपे, असहने, सम्यग् विवेके च। वाच०।

आमलईकीडा—आमलकीक्रीडा—स्त्री०। क्रीडाभेदे, तथा च भगवतो महावीरस्य वर्णकमधिकृत्य-समानवयोभि' कुमारैः सह क्रीडा कुर्वाणः आमलकीक्रीडानिमित्त पुराद् बहिर्जगाम, तत्र च कुमारा वृक्षारोहणादिप्रकारेण क्रीडन्ति स्म। कल्प० १ अधि० ५ क्षण। (आमलकीक्रीडाकरणसमये देवलोके शक्रकृतभगवत्प्रशंसां श्रुत्वा कश्चित् मिथ्यादृष्टिर्देव' भगवद्भापनार्थमिहागत इति ' वीर ' शब्दे षष्ठे भागे १०५ सूत्र विवरणे वक्ष्यते)

आमलकप्पा—आमलकल्पा—स्त्री०। स्वनामख्यातायां नगर्याम्. विशे०। " आमलकप्पा णयरी. मित्तमिरी कूरपिउडाई " ॥२३३४॥ आमलकल्पायां नगर्यां गत. तत्र च मित्रश्रीनाम्ना श्रावकेण कूरपिउडादिना—कूरसित्थादिदानेन प्रतिबोधित इत्यर्थ'। विशे०। आ० क०। आ० चू०। आ० म०। आव०। उत्त०। रा०। " इहेव जबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पानामं नयरी होत्था"। (सूत्र-१४८+)। ज्ञा०२ श्रु० १ अ०।

आमल—आमल—पुं०। बहुबीजके वृक्षभेदे, " आमलपाणगं वा २०, " (सूत्र-४३×)। आचा०२ श्रु० १ चू० १ अ० ७ उ०।

आमलग—आमरक—पुं०। सामस्त्येन मार्याम्, स्था० १० ठा०। (सूत्र-७५५×) तदर्थप्रतिबद्धे कर्मविपाकदशाया नवमेऽध्ययने च। न०। स्था०।

तद्वक्तव्यता यथा—

सहसुद्दाहे आमलए (सूत्र-७५५+)

'आमलए' त्ति-रघुने'लंधुर्स्सिरित्यामरक, सामस्त्येन मारिः; एवमर्थप्रतिबद्धं नवम, तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तस्तद्वचनाद्देवीकोनानि पञ्चशतानि देवीना ता मिमारयिषुरिति ज्ञात्वा कुपितः सन् तन्मातॄणामेकोनपञ्चशतान्युपनिमन्त्र्य महत्यगारे आवास दत्त्वा भक्तादिभिः सम्पूज्य विश्रब्धानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवांस्ततोऽसौ राजा मृत्वा च षष्ठ्यां गत्वा रोहीतके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताभिधानाऽभवत्, सा च पुष्पनन्दिना राज्ञा परिणीता, स च मातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वन्नासामास तया च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुर्ज्वलल्लोहदण्डस्यापानप्रक्षेपात्सहसा दाहेन वधो व्यधायि। राज्ञा चासौ विविधविडम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति विपाकश्रुते देवदत्ताभिधान नवममिति ६। स्था० १० ठा० ३ उ०।

आमलक—त्रि०। आ-मल-क्विन्। स्त्रीत्वे गौरा० ङीष्। बहुबीजके वृक्षभेदे, जी० १ प्रति० २० सूत्र०। प्रज्ञा०। ल० प्र०। आचा०। स्था०। " तत्थ णं आमलगा पक्खित्ता " (सूत्र-१४३ ×)। अनु०। (धात्रीवृक्षे)। वाच०। धात्रीफले च। न०। " आमलगाइं दगाहरण च " (गाथासूत्र १० ×)। आमलकानि—धात्रीफलानि। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

आमलगमहुर—आमलकमधुर—त्रि०। आमलकमिव मधुरं यदन्यत् आमलकमेव वा मधुरमामलकमधुरम्। ईषन्मधुरे, स्था० ४ ठा० ३ उ २३० सूत्रटी०।

आमलगमहुरफलसमाण—आमलकमधुरफलसमान—पुं०। ईषदुपशमादिगुणलक्षणमाधुर्यवति पुरुषभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० २३० सूत्रटी०।

आमलगरस—आमलकरस—पुं०। धात्रीफलरसे, " शिशिरे चामलकरस. " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ६३ गाथाटी०।

आमलगरसिय—आमलकरसित—त्रि०। आमलकरससंसृष्टे, विपा०। " आमलगरसियाणि य " (सूत्र-२६ +)। आमलकरससंसृष्टानीति। विपा० १ श्रु० ८ अ०।

आमाऽभिभूय—आमाऽभिभूत—त्रि०। अपक्वरसेनाभिभूते, विपा०। " आमाभिभूयगत्ता " (सूत्र-+)। आमेन-अपक्वरसेन। विपा०।

आमिस-आमिष-न०। आमिषति स्नेहम्। अम-टिषच्-दीर्घश्च वा-मासे स्नेहातिरेकात्तस्य तथात्वम्। वाच०। "ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहि ते दुही ॥ ३ ॥" ढङ्कैः ढङ्कैश्च पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवशार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। आहारे, "इत्तो च्चिय फुल्ला-ऽऽमिस" ॥ २६+ ॥ पञ्चा० ६ विव०। मासादिके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ३८५ सूत्रटी०। ज्ञा०। अशनादिके च भोग्यवस्तुनि, ध० २ अधि० ६१ श्लोकटी०। "जं इच्छसि घेत्तु जे, पुव्विं तं आमिसण गिरहाहि। आमिसपासनिबद्धो, काहिइ कज्जं अकज्ज वा ॥ १ ॥" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ४ गाथाटी०। उत्कोचे, सुन्दर-रूपादौ, लोभे, लोभनीये विषये च। वाच०। अभिष्वङ्गहेतौ, धनधान्यादिके च। उत्त०। "अकिंचणा उज्जुकडा निरा-मिसा ॥४१+॥" निष्क्रान्ता आमिषात्-विषयादिपदार्थात् इति निरामिषा-विषयाद्यः पदार्था हि विषया जीवानां गृद्धिहेतुत्वादामिषोपमाः एतस्मादहं निर्विषया सती। उत्त० १४ अ०।

सामिसं कुललं दिस्स, वज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो निरामिसा ॥ ४७ ॥

हे राजन् अहं सर्वम् आमिषम्-अभिष्वङ्गहेतुं धनधान्या-दिकम् उज्झित्वा-त्यक्त्वा निरामिषा-त्यक्तसङ्गा सती अ-प्रतिबद्धविहारतया विहरिष्यामि, किं कृत्वा मा ऽऽमिषम् (आमिषेण-पिशितरूपेण)। उत्त० पाई०। आमिषम्-अभि-ष्वङ्गहेतुं धनधान्यादि। उत्त०पाई० १४ अ० ४७ गाथाटी०। आमिषसहितं कुललं-गृद्धम् अपरं पक्षिणं वा परैरिति अन्यैर्बध्यमानं-पीड्यमानं दृष्ट्वा सामिषं पक्षी हि आ-मिषाहारिपक्षिभिः पीड्यते। अथ वा-साऽऽमिषम्-सस्पृहं भोजनार्थं लुब्धं, कुललं-पक्षिणं परैर्बध्यमानं-पीड्यमानं दृष्ट्वा यतो हि पक्षिणो यदा गृह्यन्ते तदा तान् भक्ष्यं दर्श-यित्वा पाशादिना बध्यन्ते, आमिषाहारी शकुनिस्तु आ-मिषदर्शनेनैव लोभयित्वा मीनवत् बध्यते, सह आमिषेण-आमिषरसास्वादलोभेन वर्तते इति साऽऽमिषस्तं साऽऽमि-षम्। उत्त० १४ अ०। पर्वे, जम्बीरफले च। वाच०। पूजादौ निवेदनीयेऽशनादौ च। दर्श०। "पुप्फाऽऽमिसथुइभेआ" ॥३७४॥ पुष्पाऽऽमिषस्तुतिभेदात् त्रिधा पूजा। आमिषम्-चाऽखण्डाऽक्षतनारङ्गनालिकेरबीजपूरकफलविमलगलितज-लदधिघृताऽनेकविधिनैवेद्यस्वभावम्। दर्श०१ तत्त्व। "एत्तो च्चिय फुल्लामिस-थुइपडिवत्तिपूयमज्झम्मि ॥ २६४ ॥" इत एव सम्पूर्णाऽऽज्ञाकरणस्य भावसाधुनाध्यत्वादेव, 'फुल्लामिसथुइ पडिवत्तिपूयमज्झम्मि' त्ति–पुष्पाणि–जात्यादिकुसुमानि, उपलक्षणत्वाद्रक्तत्नादीनामिहैवान्तर्भावो वेदितव्यः। आ-मिषम्-आहार, इहाऽपि तथैव फलादिसकलनैवेद्यपरि-ग्रहो दृश्य। पञ्चा० ६ विव०।

आमिसत्थि (न्)-आमिषार्थिन्-त्रि०। आमिषम्-मांसा-दिकम् अर्थयत-प्रार्थयते। मासादिप्रार्थयितरि, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्रटी०।

आमिसप्पिय-आमिषप्रिय--त्रि०। कङ्कपक्षिणि, मांसाभि-लाषिणि च। वाच०। वल्लभमांसादिके, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्रटी०।

आमिसलोल--आमिषलोल--त्रि०। आमिषलम्पटे, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्रटी०।

आमिसाऽऽवत्त--आमिषाऽऽवर्त-पुं०। आमिष-मांसादि तद-र्थमावर्तः शकुनिकादीनामामिषावर्तः। आवर्तभेदे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ३८५ सूत्रटी०।

आमिसाऽऽहार--आमिषाऽऽहार--त्रि०। मांसादिभोजिनि, ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० ५१ सूत्रटी०।

आमुट्ठ--आमृष्ट--त्रि०। आ-मृष्-क्त। आधर्षिते, आमर्दिते च। "आमृष्टास्तिलकरुचः स्रजो निरस्ताः" माघ। आ-मृज-क्त। परिमार्जिते, विशोधिते च। आ-मृश-क्त। संस्पृष्टे च। वाच०। विपर्यासीकृते च। ओघ०। "हेट्ठा-रिया आम(मु)ट्ठ" (२६७ + भाष्यगा०)। अधस्तादुपरि च यत् 'आमुट्ठ' विपर्यासीकृतं भुङ्क्ते, ओघ०। "ऋतोऽत् ॥ ८ । १ । १२६ ॥ ऋत अत्वम्। आमृष्टम्। आमट्ठ। प्रा०।

आमुम्हिय-आमुष्मिक-त्रि०। अमुष्मिन्-परलोके भवः ठक् सप्तम्या अलुक् टिलोप। वाच०। अमुत्र भवः आमु-ष्मिक। द्वितीयेऽतीचारभेदे, परलोकसम्बन्धिनि स्वर्ग-सुखादौ, ध० ३ अधि० १४८ श्लोक। परभवविपाकप्रद-र्शके, द्वा०। "महानामुष्मिकोऽपि च ॥ १७ ॥" आमु-ष्मिकोऽपि-परभवे विपाकप्रदर्शकोऽपि। द्वा० ७ द्वा०। "शास्त्रमासन्नभव्यस्य, मानमामुष्मिके विधौ" ॥ २० + ॥ आमुष्मिके विधौ-पारलौकिके कर्मणि। शास्त्रं मानम्। धर्माऽधर्मयोरतीन्द्रियत्वेन तदुपायत्वबोधने प्रमाणान्तरा-सामर्थ्यात्। द्वा० १४ द्वा०।

आमुसंत-आमृशत्--त्रि०। सकृदीषद् वा स्पृशति, दश० ४ अ० ११ सूत्रटी०। "सुय मे आउसतेणं" (सूत्र-१ ×)। आमृशता—भगवत्पादारविन्दं करयुगलादिना स्पृशता। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। स्था०।

आमुसमाण-आमृशत्-त्रि०। ईषत् स्पृशति, भ०। "आ-मुसमाणे वा समुसमाणे वा" (सूत्र-३२५ +)। आमृ-शन, ईषत्स्पृशन्नित्यर्थः। भ० ८ श० ३ उ०।

आमूल-आमूल-न०। अभिव्याप्त्या कारणे, षो०। "आ-मूलमिदं परम, सर्वस्य हि योगमार्गस्य" ॥ १६ ॥ आमू-लम्-अभिव्याप्त्या कारणम्। षो० १३ विव०।

आमेट्ठ (गा) घर-आमेष्टकागृह-न०। अपक्वेष्टकागृहे, व्य०। "सेलयकाणिट्ठघर, पक्केऽट्ठाऽऽमेयगिंडदारुघरं" ॥ ५५५+ ॥ आमा-अपक्कास्ताभिरिष्टकाभि कृत गृहम्-आमेष्टकागृहम्। व्य० ४ उ०। गृहस्य घरोऽपतौ ॥ ८।२।१४४ ॥ इति घर। प्रा०।

आमेल (आवेड)-आपीड-पुं०। आ-पीड-अच्। शेख-रके, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० १२४ सूत्रटी०। "एत्पीयूषा-पीडविभीतककीदृशेदृशे" ॥ ८ । १ । १०५ ॥ इति हैमप्रा-कृतसूत्रेणैकारस्यैत्वम्। प्रा०। "नीपापीडे मो वा" ॥ ८ । १ । २३४ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण पस्य वा म.।

आमेलो । प्रा० । " डो ल. " ॥ ८ । १ । २०२ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेर्डस्य प्रायो लः । आमेलो । आवेडो । प्रा० । शिखामाल्ये शिरोभूषणे, वाच० । " वणमालाऽऽमेलमउलकुडलसच्छुद्दविउव्वियाभरणचारुभूसणधरा " (सूत्र-४७ ×) । ' आमेल ' त्ति-आपीडशब्दस्य प्राकृतलक्षणवशात आपीड-शेखरक. । प्रश्न० २ पद । जी० । " आविद्धतिलयामेलाणं " (सूत्र- ×) । आविद्धस्तिलक आमेलश्च शेखरको यकाभिस्ता आविद्धतिलकाऽऽमेलास्तासाम् । रा० ।

आमेलग-आपीडक-पुं० । शेखरके, भ० । " णीलुप्पलकयामेलएहिं " (सूत्र-३८० ×) । ' आमेल ' त्ति-आपीडः शेखर । भ० ८ श० ३३ उ० ज्ञा० । " आमेलगओ " (सूत्र-१२६ +) । आमेलक.-आपीड , शेखरक इत्यर्थः, जी० ३ प्रति० १ उ० । " आमेलग " (सूत्र-२४ ×) । आपीड.-शेखर एव स्तनप्रस्तावात्कञ्चुकस्तत्प्रधानौ आमेलकौ वा परस्परमीषत्सबद्धौ । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गृहबहिर्निस्सृतकाष्ठे च आपीडकमात्रे, त्रि० । भा०मा० ।

आमेलक-त्रि० । परस्परमीषत्सम्बद्धे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० २४ सूत्रटी० ।

आमोडक-पु० । पुष्पोन्मिश्रे वालवन्धविशेषे, आमोडक-पुष्पोन्मिश्रो वालबन्धविशेष. । उत्त० ३ अ० १५२ गाथाटी० ।

आमोक्ख-आमोक्ष-पुं० । आमुच्यतेऽस्मिन्नित्यामोक्षणं वा-आमोक्ष. । परित्यागे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ७ गाथा । अशेषकर्मक्षये, सूत्र० । " आमोक्खाए परिव्वएज्जा " (सूत्र-२१ ×) । आमोक्षाय-अशेषकर्मक्षयप्राप्तिं यावत् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अशेषकर्मक्षयसाधके आचारे, आचा० । तथा चाचारैकार्थिकानधिकृत्य-आमोक्षस्य निक्षेपो नामादिस्तत्र व्यतिरिक्तो निगडादे भावामोक्ष कर्माष्टकोच्छेदनमशेषमेतत् साधकश्चायमेवाचार इति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ७ गाथाटी० । (अस्यैकार्थिकानि ' आयारंग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽग्रे द्रष्टव्यानि)

आमोग-आमोद-पुं० । आ-मुच-घञ्-परिधाने, ल्युट आमोचनमप्यत्र । न० । वाच० । कचवरपुञ्जे, न० । " आमोयाणि वा (सूत्र-१६६+) आमोकानि-कचवरपुञ्जाः । आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

आमोडग (लय)-आमोडक-न० । आतोद्यभेदे, "मुच्छिज्जनाए आमोडगाणं" आ० चू० १ अ० ।

आमोम-आमर्श-पुं० । आमर्शनमामर्श । परामर्शे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ७६ सूत्रटी० । संस्पर्शे, प्रश्न० १ सव० द्वार २२ सूत्र० । प्रव० । ग० ।

आमर्ष-पुं० । आमर्षणमामर्ष । संस्पर्शे, विशे० ७७१ गाथाटी० । आ० म० । अप्रमृज्य करेण स्पर्शने, जाग्रतोऽतिचारभेदे च । आव० । " आमोसे ससरक्खामोसे " अविधिनैव आमर्षणमामर्ष, अप्रमृज्य करेण स्पर्शनमित्यर्थ । तस्मिन् सरजस्कामर्षे सति, सह पृथिव्यादिरजसा यद्वस्तु स्पृष्टं तत्ससपर्श इत्यर्थ , आव० ४ अ० ।

आमोष-आमुष्णाति-आ-मुष-पचाद्यच् । सम्यगपहारके चौरादौ, आमुष्-भावे घञ् । अपहरणे, वाच० ।

आमोसग-आमोषक-पुं० । आमुष्णातीत्यामोषक । चौरे, स्था० ५ ठा०२उ० ४१७ सूत्रटी० । " आमोसगा संपिंडिया गच्छेज्जा " (सूत्र-१३०×) । आमोषकाः-स्तेनाः । आचा० २ श्रु०१ चू०३ अ०३ उ० । "तत्थ खलु विहरंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा " (सूत्र-१५१×) । आमोषका.-चौरा । आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० २ उ० ।

आमोसहि-आमर्शौ(र्षौ)षधि-पुं० । आमर्शो हि-हस्तादिना स्पर्श ओषधिर्यस्य स आमर्शौषधि । ग० २ अधि० ७१ गाथाटी० । प्रव० । आमर्षणमामर्ष -संस्पर्शनमित्यर्थः । स एवौषधिर्यस्यासावामर्षौषधि करादिसंस्पर्शमात्रादेव व्याध्यपनयनसमर्थ., लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात्साधुरेवामर्षौषधिरित्यर्थ । विशे० ७७१ गाथाटी० । आ० म० । लब्धिभेदे, पा० १ सूत्र । औ० । यत्प्रभावात्स्वहस्तपाद्यवयवपरामर्शमात्रेणैवात्मन , परस्य वा सर्वेऽपि रोगा प्रणश्यन्ति स आमर्शौषधि । प्रव० २७० द्वार १५०६ गाथा । आमोसहिणाम रोगाभिभूत अत्ताणं पर वा जवे वि तिगिच्छामि त्ति सचिंतेऊण आमुसति त तक्खणा चेव ववगयरोगातंकं करेति त्ति । सा य आमोसहिलद्धी । सरीरेगदेसे वा सव्वसरीरे वा समुपज्जति त्ति एवमेसा आमोसहि त्ति भण्णति । आ० चू० १ अ० ।

आमोसहिपत्त-आमर्शौ (र्षौ) षधिप्राप्त-त्रि० । आमर्श-संस्पर्श , स एवौषधि —सर्वरोगापहारित्वात् तपश्चरणप्रभावो लब्धिविशेषस्तां प्राप्ता ये ते तथा । आमर्शौ (र्षौ) षधिलब्धिविशेषप्राप्ते, प्रश्न० । "आमोसहिपत्तेहिं" (सूत्र-२२×) प्रश्न० १ संव० द्वार ।

आय-आय-पुं० । आगच्छतीत्याय । द्रव्यादेर्लाभे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० १० गाथाटी० । उत्त० । आ० म० । ज्ञा० । आतु० । प्रव० । दश० । विशे० । धनागमे, वाच० । " आयस्स हेउ पगरेइ संग " ॥ १६ + ॥ आयस्स-लाभस्य हेतो -कारणात् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (आयं दृष्ट्वा कार्यं कुर्यादिति । (' गच्छसारणा ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते) आय -प्राप्तिर्लाभ इत्यनर्थान्तरम् । अनु० १५४ सूत्रटी० । नि० चू० । " गच्छपरिरक्खणट्ठा, अणागतं आउवायकुसलेण " ॥ ८६४ × ॥ आयो-नाम पार्श्वस्थादे. पार्श्वाभिप्रत्यूहसयमपालनादिको लाभ । बृ० ३ उ० । "दानादिक च लाभोचितमेव कार्यम् " " लाहोचियदाणे, लाहोचियभोगे, लाहोचियपरिवारे, लाहोचियनिहिकरे सिआ" (सूत्र-२+) । (अस्य सूत्रांशस्य व्याख्या ' धम्म ' शब्दे चतुर्थभाग ६८२ पृष्ठे वक्ष्यते) उक्तं चात्र लौकिके -" पादमायान्निधिं कुर्या-त्पादं वित्ताय वर्द्धयेत् । धर्मोपभोगयो पाद, पाद भर्तव्यपोषणे " ॥ १ ॥ तथाऽन्यैरप्युक्तम्-" आयाद्र्धं नियुञ्जीत, धर्मे यद्वाऽधिक ततः । शेषेण शेष कुर्वीत, यत्नस्तच्छमैहिकम् ॥ १ ॥ " इत्यादि । प० सू० । आ-

गच्छतीत्यायो--द्रव्यादेर्लाभस्तन्निमित्तापादितेऽष्टप्रकारक-कर्मलाभे च । " आय न कुज्जा इह जीविअट्ठी " ॥ ११+ ॥ आगच्छतीत्यायो-द्रव्यादेर्लाभ तन्निमित्तापादितोऽष्टप्रकारकर्मलाभ तमिहास्मिन् संसारे असंयमजीवितार्थी, भोगप्रधानजीवितार्थीत्यर्थ । यदि वा-आजीविकाभयात् द्रव्यसंचय न कुर्यात् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आवम्-कर्माश्रवलक्षणं न कुर्याद् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ३ गाथाटी० । उपादाने, हेतौ च । विशे० १२२६ गाथाटी० । आयो-लाभ । प्राप्तिर्ज्ञानादीनामस्मादित्यायः । विशे० ६६१ गाथाटी० । ओघनिष्पन्ननिक्षेपेण सामान्यत. अङ्गाध्ययनोद्देशकादिके श्रुतौ. अनु० १५४ सूत्रटी० ।

तथा च—

नाणस्स दंसणस्स वि, चरणस्स य जेण आगमो होइ ।
सो होइ भावणाउ, आओ लाहो त्ति एगऽट्ठा ॥ ३२ ॥

ज्ञानस्य-मत्यादे., दर्शनस्य-चौपशमिकादे , चरणस्य च-सामायिकादेर्येन हेतुभूतेनागमो भवति-प्राप्तिर्भवति स भवति भावाऽऽय'. आयो-लाभ इति निर्दिष्ट । अध्ययनेन च हेतुभूतेन ज्ञानाद्यागमो भवतीति गाथार्थ । दश०१ अ० ।

ओघनिष्पन्ननिक्षेपमधिकृत्य—

ओहो जं सामण्णं, सुयाऽभिहाणं चउव्विहं तं च ।
अज्झयणं अज्झीणं, आयज्झयणा य पत्तेयं ॥६५८॥

इह यच्छ्रुतस्य-जिनवचनरूपस्य सामान्यमङ्गाध्ययनोद्देशकादिक नाम तद् ओघ उच्यते, सामान्य शास्त्रनामेत्यर्थ. । विशे० ।

अथाऽऽयनिक्षेप कर्तुमाह—

से किं तं आए ?, आए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-नामाऽऽए १, ठवणाऽऽए २, दव्वाऽऽए ३, भावाऽऽए ४, नामठवणाओ पुव्वं भणिआओ ।

'आये'त्यादि आय -प्राप्तिर्लाभ-इत्यनर्थान्तरम् , अस्यापि नामादिभेदभिन्नस्य विचार सूत्रसिद्ध एव यावत् ।

से किं तं दव्वाऽऽए ?, दव्वाऽऽए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-आगमओ अ, नो आगमओ अ । से किं तं आगमओ दव्वाऽऽए ? आगमओ दव्वाऽऽए जस्स णं आय-त्ति-पदं सिक्खित ठितं जितं मितं परिजितं०जाव कम्हा ?, अणुवओगो दव्वमिति कट्टु, नेगमस्स णं जावइआ अणुवउत्ता आगमतो तावइआ ते दव्वाऽऽया, ०जाव सेत्तं आगमओ दव्वाए । से किं तं नोआगमओ दव्वाए?, नोआगमओ दव्वाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-जाणगसरीरदव्वाए, भविअसरीरदव्वाए, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए । से किं तं जाणगसरीरदव्वाए ? जाणगसरीरदव्वाए आयपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं जहा दव्वज्झयणे, ०जाव सेत्तं जाणगसरीरदव्वाए । से किं तं भविअशरीरदव्वाए ? भविअशरीरदव्वाए जे जीवे जोणीजम्मणणिक्खंते जहा दव्वज्झयणे०जाव सेत्तं भविअसरीरदव्वाए । से किं त जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए ? जाणगसरीर-भवियसरीरवइरित्ते दव्वाए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-लोइए१, कुप्पावयणिए२, लोगुत्तरिए ३ । से किं तं लोइए ? लोइए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ । से किं तं सचित्ते ?, सचित्ते तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-दुपयाणं, चउप्पयाणं, अपयाणं । दुपयाणं दासाणं, दासीणं । चउप्पयाणं-आसाणं, हत्थीणं । अपयाणं-अंबाणं, अंबाडगाणं, आए से तं सचित्ते । से किं तं अचित्ते ? अचित्ते अणेगविहे पण्णत्ते. तं जहा-सुवण्णरययमणिमोत्तिअसंखसिलप्पवालरयणाणं आए से तं अचित्ते । से किं तं मीसए ?, मीसए अणेगविहे पण्णत्ते. तं जहा-दासाणं, दासीणं, आसाणं, हत्थीणं, समाभरिआउज्जालंकिआणं आए । से तं मीसए । से तं लोइए ॥ से किं तं कुप्पावयणिए ?, कुप्पावयणिए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ । तिण्णि वि जहा लोइए०जाव से तं मीसए । से तं कुप्पावयणिए ॥ से किं त लोगुत्तरिए ?, लोगुत्तरिए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा सचित्ते, अचित्ते, मीसए अ । से किं त सचित्ते ?, सचित्ते दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-सीसाणं, सिस्सणिआणं । सेत्तं सचित्ते । से किं तं अचित्ते ?, अचित्ते अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा-पडिग्गहाणं, वत्थाणं, कंबलाणं, पायपुच्छणाणं आए । सेत्तं अचित्ते । से किं तं मीसए ?, मीसए तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सिस्साणं, सिस्सणिआणं, सभंडोवगरणाणं आए । सेत्त मीसए । सेत्तं लोगुत्तरिए ॥ सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए। से तं नो आगमओ दव्वाए। सेत्तं दव्वाए ।

' से किं तं अचित्ते ? ' ' सुवण्णे ' त्यादि-लौकिकोचितस्य सुवर्णादेरायो मन्तव्य . तत्र सुवर्णादीनि प्रतीतानि 'सिल' त्ति-शिला । मुक्ताशैलराजपट्टादीनां, रक्तवर्णाणि रत्नानि-पद्मरागरत्नानि ' सतसावएज्जस्स' त्ति-सद्-विद्यमान स्वापतेयं द्रव्यं तस्याऽऽय . 'समाभरियाउज्जालंकियाए' त्ति-आभरिताना सुवर्णसंकलिकादिभूषितानामातोद्य -झल्लरीप्रमुखैरलङ्कृतानाम् ।

से किं तं भावाऽऽए ?, भावाऽऽए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-आगमओ अ, नो आगमओ अ । से किं तं आगमओ भावाऽऽए ?, आगमओ भावाऽऽए जाणइ उवउत्ते, सेत्त आगमओ भावाए । से किं तं नोआगमओ भावाए ?, नो आगमओ भावाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पसत्थे अ,

अपसत्थे अ। से किं तं पसत्थे ?, पसत्थे तिविहे पएणत्ते, तं जहा-णाणाऽऽए,दंसणाऽऽए,चरित्ताऽऽए, सेत्तं पसत्थे। से किं तं अपसत्थे?, अपसत्थे चउव्विहे पएणत्ते, तं जहा-कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए। से तं अप्पसत्थे। से तं णो आगमओ भावाए। सेत्तं भावाए। सेत्तं आए। (सूत्र-२५४+) अनु०।

ज्योतिषोक्ते लग्नावधिके, राश्यवधिके च एकादशस्थाने, लग्नावधिकैकादशस्थानस्याऽऽयत्व च। तत्स्थाने आयस्य चिन्तनीयत्वात्। वनितागारपालके च। कर्मणि अच्, घञ् वा। ग्रामादित स्वामिग्राह्यभागे, लभ्ये धनादौ, " तदस्मिन् वृद्धयायलाभशुल्कोपदादीयते " पा०। ग्रामेषु स्वामिग्राह्यो भाग· आय। सि० कौ०। वाच०। कूष्माण्ड भेदे, प्रज्ञा०। " आए, काए, कुहंणा " ॥ ४०+ ॥ (सूत्र-२३×) प्रज्ञा० १ पद। आ चा०। (अत्र विस्तर· ' कुहणा ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)।

आज-त्रि०। आज्यतेऽनेन। आ अज घञर्थे क। घृते, ज-टा०। अजस्येदम् अण्। छागमांसादौ, त्रि०। अलंकृतं कुमारं कुशलीकृतशिरसमहतेन वाससा संवीतमैणेयेन वा अजिनेन ब्राह्मण, रौरवेण क्षत्रियम्, आजेन वैश्यम्। आश्व० गृ०। " गव्यमाजं तथा चौष्ट्र-माविकं माहिष च यत्। अश्वायाश्चैव नार्याश्च, करेणूनां च यत्पय " ॥ २ ॥ सुश्रुत·। अज भावे घञ्। न वीभाव·। विक्षेपे, आजानेय। वाच०।

आयइ (ई)-आयति (ती)-स्त्री०। आ-य-क्ति। वा ङीप्। आगामिकाले, " आयइ जणगो " ॥ ५८+ ॥ पञ्चा० १६ विव०। बृ०। व्य०। " से तत्थ मुच्छिए वाले, आयइ नाऽवबुज्झइ" ॥ १ ॥ दश० १ चू०। तत्र तेषु भोगेषु मूर्च्छि-तो-गृद्धो बाल आयतिम्-आगामिकाल नाऽवबुध्यते-न सम्यगवगच्छति। दश० १ चू०। आगामिकालविषया-या महत्यामास्थायाम्, व्य०।" जुवराजमि उ ठविए, एया-ओ बंधति आयतिं तत्थ " ॥१६६+॥ आयतिम् आगामि-कालविषयां महतीमास्थां बध्नन्ति। व्य० ४ उ०। सन्ततौ, बृ०। राजसुतदीक्षामधिकृत्य-" आयती इड्ढिमनपूया य " ॥८३+॥ आयतिश्च-सन्ततिरमीषामेतेन अविच्छिन्ना भ-विष्यतीति। बृ० ३ उ०। प्रभावे, कोषदण्डजे, तेजसि, फलदानकाले च। आयति-स्त्री०। आ यम क्तिन्। स्नेहे, वशित्वे, सामर्थ्ये, सीम्नि, शयने, प्रभावे, " आगतौ च उपाये च अनास्था च तत्कल्पनम् "। श० भा०। वाच०।

आयइजणग-आयतिजनक-त्रि०। आयतौ-आगामिकाले अभीष्ट फल जनयति-करोति योऽसावायतिजनकः। आ-गामिकालेऽभीष्टफलदायके, पञ्चा०। "आयइजणगो" ॥८८×॥ पञ्चा० १६ विव०।

आयइत्ता-आदाय-अव्य०। गृहीत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ६ गाथाटी०।

आयइफल-आयतिफल-न०। आयतौ आगामिनि काले फलमस्येत्यायतिफलम्। परभवफलके, पञ्चा०। "आय-फलमड्ढुवला-हणं च निउणं मुणेयव्वं ॥४२×॥" आयतौ-आगामिकाले, परभवे इत्यर्थ·। फल साध्यमस्येत्यायति-फलम्। पाठान्तरेण-आयतफल-मोक्षफलम्। पञ्चा० १२ विव०।

आयइविराहग-आयतिविराधक-त्रि०। परलोकपीडाकरे, प० सू०। " आयइविराहग समारंभं न चिंतिज्जा " (सूत्र-२+) ॥ आयतिविराधक-परपीडाकरं समारम्भम्-अङ्गा-रकर्मादिरूप तथा न चिन्तयेद्। पं० सू०।

आयइसंपगासण-आयतिसम्प्रकाशन-न०। चतुर्थे सामभेदे, स्था०। चतुर्थं सामभेदमाधिकृत्य-"आयत्या· सम्प्रकाश-नम् " अस्मिन्नेवङ्कृते इदमावयोर्भविष्यतीत्याशायोजनम्-आयतिसम्प्रकाशनम्। स्था० ३ ठा० ३ उ० १८५ सूत्रटी०।

आयंगुल-आत्माङ्गुल-न०। आत्मनोऽङ्गुलमात्माङ्गुलम्। आ-त्माऽङ्गुलप्रमाणभेदे, प्रव०। ('अङ्गुल' शब्दे प्रथमभागे स-त्त्वमुक्तम्)

जं पुण आयंगुलमे-रिसेण तं भासिअं विहिणा ॥१४०७॥

यत्पुनरात्माऽङ्गुल पूर्वमुद्दिष्ट तदीदृशेन-वक्ष्यमाणस्वरूपेण विधिना-प्रकारेण भाषितं-प्रतिपादित तीर्थकृद्गणधरै·।

तमेव विधिमाह—

जे जम्मि जुगे पुरिसा, अट्ठसयंगुलमूसिआ हुंति।
तेसिं जं जं निअमं-गुलमायंगुलमेत्थ तं होइ ॥१४०८॥

ये पुरुषाश्चक्रवर्तिवासुदेवादयो यस्मिन् युगे सुषमसुष-मादिकाले निजाऽङ्गुलेनैवाऽष्टोत्तरं शतमङ्गुलानामुच्छ्रिता·-उच्चा भवन्ति तेषां च स्वकीयाऽङ्गुलेनाऽष्टोत्तराऽङ्गुलशतो-च्चानां पुरुषाणां यन्निजम्-आत्मीयमङ्गुलं तत्पुनरात्माऽ-ङ्गुल भवति। इह च ये यस्मिन् काले प्रमाणयुक्ता· पुरुषा भवन्ति, तेषां सम्बन्धी आत्मा गृह्यते। तत आत्मनो-ऽङ्गुलमात्माऽङ्गुलम्। इद च पुरुषाणां कालादिभेदेनानव-स्थितमानत्वादनियतप्रमाणं द्रष्टव्यम्।

जे पुण एयपमाणा, ऊणा अहिगा य तेसिमेयं तु।
आयंगुलं न भण्णइ, किं तु तदाभासमेव त्ति ॥१४०९॥

ये पुन·-पुरुषा एतस्मात्-अष्टोत्तराङ्गुलशतलक्षणात्प्रमाणा-न्न्यूना समधिका वा तेषां सबन्धि यदङ्गुलमेतदात्माऽङ्गुल न भण्यते, किं तु-तदाभासमेव-आत्माङ्गुलाभासमेव, पर-मार्थत आत्माङ्गुलं तन्न भवतीत्यर्थ·। लक्षणशास्त्रोक्तस्व-रादिविशेषलक्षणवैकल्यसहायं च यथोक्तप्रमाणाद्धीनाधिक्य-मिह प्रतिषिद्ध न केवलमिति संभाव्यते, भरतचक्रवर्त्या-दीनां स्वाऽङ्गुलतो विंशत्यधिकाऽङ्गुलशतप्रमाणानामप्यत्र निर्णीतत्वान्महावीरादिना च केषांचिन्मतेन चतुरशीत्या-द्यङ्गुलप्रमाणत्वादिति। प्रव० २५४ द्वार।

आत्माङ्गुल सूच्यङ्गुलादिभेदात् त्रिविधम्—

से किं तं आयंगुले ?, आयंगुले (अनु० सूत्र-१३४+) तिविहे पण्णत्ते, तं जहा सूइअंगुले १, पयरंगुले २, घणं-गुले ३, (सूत्र-१३४×) अनु०।

(आत्माङ्गुलेन षडङ्गुलानि पाद· इत्यादि। ये यदा मनुष्या भवन्ति तेषा तदा आत्माङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकाल-

संभवीन्यचटहदादीनि मीयन्ते इत्यादि सर्वम् 'अङ्गुल' शब्दे प्रथमभागे प्रतिपादितम्।) (सूच्यङ्गुलादिप्रदेशानामल्पबहुत्वचिन्ताऽपि 'अगुल' शब्दे प्रथमभागे गता)

आयंत-आचान्त-त्रि०। आ-चम-क्त। आचमनकर्त्तरि, आचान्त. पुनराचामेत्। काशी०। कृतमाचमन यस्य तादृशे जलादौ च। वाच०। गृहीताचमने, रा०। म०। शौचार्थं कृतजलस्पर्शे, नि०१ श्रु०३ वर्ग ३ अ०। औ०। "आयंते चोक्खे परमसुइभूये" (सूत्र-+)। 'आयंते' इति-नवानामपि श्रोतसां शुद्धोदकप्रक्षालनेनाचान्तो गृहीताऽऽचमन। रा०। आचान्तौ-शुद्धोदकेन कृताऽऽचमनौ। कल्प०१ अधि०५ क्षण १०५ सूत्रटी०। ज्ञा०। भ०।

आयंबिल-आचामाम्ल-न०। ल० प्र०१०२ गाथा। आचाम-अवश्रावणम्, अम्लं चतुर्थो रस., त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके, तदाचामाम्लम्। समयभाषयौदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके, ध० २ अधि० ६३ श्लोक।

आयामाऽम्ल-न०। आयामम्-अवश्रावणम्, अवश्रावणम्-काञ्जिकम्। बृ०१ उ०। (अत्रार्थे 'अवस्सावण' शब्द प्रथमभागस्थो द्रष्टव्य) (आयाम-अवशायनम्।) आव० ६ अ० १६०३ गाथाटी) अम्लच-सौवीरक, त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके, तदायामाम्लम्। समयभाषयौदनकुल्माषसक्तुप्रभृतौ, पञ्चा० ५ विव० ७ गाथाटी०। अवस्यामे, (नि, आचा० २ श्रु०१ चू० १ अ० ७ उ० ४१ सूत्रटी०) ग० २ अधि० ७८ गाथाटी०। (आचाम्लभेदादि 'आयंबिलपच्चक्खाण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) तद्गते प्रत्याख्यानभेदे च। पञ्चा० ५ विव० ७ गाथाटी०। (तद्वक्तव्यता 'आयंबिलपच्चक्खाण' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

आयंबिलपच्चक्खाण-आचा (या) माम्लप्रत्याख्यान-न०। प्रत्याख्यानभेदे, ध०।

अत्र सूत्रम्—

आयंबिलं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं, वोसिरइ। आव० ६ अ०।

आचाम.-अवश्रावणम्, अम्लं चतुर्थो रस. त एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके तदाचामाम्लम् समयभाषयोच्यते, तत्प्रत्याख्याति, आचामाम्लप्रत्याख्यानं करोतीत्यर्थ। आद्यावन्त्याश्च त्रय आकारा पूर्ववत्, (लेवालेवेणं) लेपो-भोजनभाजनस्य विकृत्या तीमनादिना वा आचामाम्लप्रत्याख्यातुरकल्पनीयेन लिप्तता, अलेपो-विकृत्यादिना लिप्तपूर्वस्य भोजनभाजनस्यैव हस्तादिना सलेखनतोऽलिप्तता, लेपश्चाऽलेपश्च लेपालेपम्, तस्मादन्यत्र, भाजने विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थ। 'उक्खित्तविवेगेण' शुष्कौदनादिभक्ते पतितपूर्वस्याचामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्याद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्योत्क्षिप्तस्योद्धृतस्य विवेको नि शेषतया त्याग उत्क्षिप्तविवेक, उत्क्षिप्य त्याग इत्यर्थ, तस्मादन्यत्र, भोक्तव्यद्रव्यस्य अभोक्तव्यद्रव्यस्पर्शेनाऽपि न भङ्ग इति भाव, यत्पूत्क्षेप्तुं न शक्यं तस्य भोजने भङ्ग. 'गिहत्थससट्ठेण' गृहस्थस्य—भक्तदायकस्य सबन्धि करोटिकादिभाजनं विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्त गृहस्थसंसृष्टं, ततोऽन्यत्र, विकृत्यादिसंसृष्टभाजनेन हि दीयमानं भक्तमकल्पद्रव्यावयवमिश्र भवति, न च तद्भुञ्जानस्याऽपि भङ्गः, यद्यकल्पद्रव्यरसो बहुर्न ज्ञायते। 'वोसिरइ' इति-आचामाम्ल चतुर्विधाहार च व्युत्सृजति। ध० २ अधि० ७८ श्लोक। "अट्ठेवाऽऽयबिलम्मि आगारा ॥६४॥" अष्टैव, न न्यूनाधिका.। आयाम-अवश्रावणम्, अम्लं च-सौवीरक, ते एव प्रायेण व्यञ्जने यत्र भोजने ओदनकुल्माषसक्तुप्रभृतिके तदायामाम्ल समयभाषयोच्यते, एतद्गत प्रत्याख्यानमपि तदेवेत्यतस्तस्मिन्नायामाम्ले आयामाम्लस्य चाऽऽकारा भवन्ति।

ते चैवम्। पञ्चा० ५ विव०। सूत्रम्—

आयंबिलं पच्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं सहसाकारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं परिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ। आव० ६ अ० १६०५ गाथा।

व्याख्यान सर्वं प्राग्वत्, नवरम्। आयामाम्ल प्रत्याख्याति-तदेव मया भोक्तव्यमिति प्रतिजानीते। लेपो भोजनभाजनस्य विकृत्या तीमदिना वा आयामाम्लप्रत्याख्यातुरकल्पनीयेन लिप्तता, स चालेपश्च विकृत्यादिना लिप्तपूर्वस्य भोजनभाजनस्यैव हस्तादिना संलेखनतो निर्लेपतेति लेपालेप तस्मादन्यत्र भाजने विकृत्याद्यवयवसद्भावेऽपि न भङ्ग इत्यर्थ, तथा उत्क्षिप्तस्य शुष्कौदनादिभक्ते निक्षिप्तपूर्वस्यायामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्याद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य विवेको नि शेषतया पृथक्करणम्-उद्धरणमुत्क्षिप्तविवेकस्तस्मादन्यत्र प्रत्याख्यान भोक्तव्यद्रव्यस्याकल्पनीयद्रव्येण संस्पर्शेऽपि न भङ्ग इति भाव। तथा गृहस्थस्य भक्तदायकस्य सम्बन्धि संसृष्ट-विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्त यत्करोटिकादिभाजन तद्गृहस्थसंसृष्ट ततोऽप्यन्यत्र विकृत्यादिसंसृष्ट भाजनेन हि दीयमानं भक्तमकल्पद्रव्यावयवमिश्र भवति, न च तत् भुञ्जानस्याऽपि भङ्ग इति भाव.। 'वोसिरइ'त्ति—आयामाम्लं व्युत्सृजतीति। पञ्चा० ५ विव० ६ गाथाटी०।

अधुना तदुपन्यस्तमेव चाऽऽचामाम्लऽमुच्यते—

गुणं नाम तिविहं, ओअण १ कुम्मास २ सत्तुआ ३ चेव।
इक्किक्क पि अ तिविहं, जहन्नयं १ मज्झिमुक्कोसं ॥१६०३॥

आयामाम्लमिति गौण नाम, आयाम-अव(शायनम्) श्रावणम् आम्ल-चतुर्थरस ताभ्यां निर्वृत्तम् आयामाम्लम् इद चोपाधिभेदात्त्रिविधं भवति। ओदन कुल्माषा, सक्तवश्चैव। ओदनमधिकृत्य कुल्माषान्सक्तूंश्चेति एकैकमपि चामीषा त्रिविध भवति। जघन्यम्, मध्यमम्, उत्कृष्टं चेति।

कथमित्यत्राह—

दव्वे १ रसे २ गुणे वा ३, जहन्नयं १ मज्झिमं च २ उक्कोसं ३ ।
तस्सेव य पाउग्गं, छलणा पंचेव य कुडंगा ॥ १६०४ ॥

द्रव्ये रसे गुणे चैव-द्रव्यमधिकृत्य १, रसमधिकृत्य २, गुणञ्चाधिकृत्येत्यर्थः ३ । किं ? जघन्यक १, मध्यमं २, चोत्कृष्टं चेति ३, तस्यैवायामाम्लस्य प्रायोग्यं वक्तव्य, तथा आयामाम्लप्रत्याख्यातमिति दध्ना भुञ्जानस्य दोषः प्राणातिपातप्रत्याख्याने तद्वनासेवनवदिति, छलना वक्तव्या, पञ्चैव कुडङ्गा-वक्ष्यमाणा इति ।

तद्यथा—

लोए १ वेये २ समये ३, अन्नाणे ४ खलु तहेव गेलन्ने ५ ।
एए पंच कुडंगा, नायव्वा अंबिलम्मि भवे ॥ १६०५ ॥

लोके वेदे समये अज्ञाने खलु तथैव ग्लानत्वे लोकमङ्गीकृत्य कुडङ्गा, एवं वेदान् समयान् अज्ञानं ग्लानत्वं च एते पञ्च कुडङ्गा ज्ञातव्याः आयामाम्ले भवन्ति; आयामाम्लविषये । इति गाथात्रयसमासार्थः ॥ ५७ ॥ विस्तरार्थस्तु वृद्धसंप्रदायसमधिगम्यः ।

सचाऽयम्—

"एत्थ आयंबिलं च भवति आयंबिलपाउग्गं च, तत्थोदणे आयंबिल च आयंबिलपाउग्गं च आयंबिला सकूरा, जाणियव्वा कूरविहाणाणि आयंबिलपाउग्गं, तंदुलकणियाउ कुडगो पिट्ठं पिहुगा पिट्ठपोयलियाओ रालगा मंडगादि, कुम्मासा पुव्वं पाणिएण कड्ढिज्जंति पच्छा ओक्खलीए पीसंति, ते तिविहा-सण्हा, मज्झिमा, थूला, एए आयंबिल, आयंबिलपाउग्गाणि पुण जे तस्स तुसमीसा कणियाओ ककडुगा य एवमादि, सत्तुगा-जवाण वा, गोधूमाणं वा, वीहियाण वा, पाओग्गं पुण-गोधूमभुंज्जिया पिच्चुगालाया जाव भुंजिज्जा, जे य जहएण न नीरंति पीसिउ, तस्सेव निहारो कणिगादि वा. एयाणि आयंबिलपाओग्गाणि, तं तिविहं पि आयंबिल, तिविहं उक्कोसं मज्झिमं, जहन्नं । दव्वओ-कलमसालिकूरो उक्कोसो, जवा जस्स एत्थ रुच्चइ वा, रालगो सामागो वा जहन्नो, सेसा मज्झिमा, जो सो कलमसालीकूरो सो रसं पडुच्च तिविहो-उक्कोसो, मज्झिमो, जहन्नो य । तं चेव तिविधं पि आयंबिल निज्जरागुणं पडुच्च तिविधं-उक्कोसो निज्जरागुणो, मज्झिमो, जहन्नो त्ति । कलमसालिकूरो-दव्वओ उक्कोसं दव्वं चउत्थं रसिएण समुद्दिसइ, रसओ वि उक्कोसं तस्स वएण वि आयामेण उक्कोसं रसओ गुणओ जहन्न थोवा निज्जर त्ति भणिय होइ, सो चेव कलमोयणो जया अन्नेहिं आयामेहिं तदा दव्वओ उक्कोसो रसओ मज्झिमओ गुणओ वि स मज्झिमो चेव, सो चेव जया उण्होदएण तदा दव्वओ उक्कोसं, रसओ जहन्नं, गुणओ मज्झिमं चेव, जेण दव्वओ उक्कोसं, न रसओ । एयाणि जे मज्झिमा चाउलोदणा ते दव्वओ मज्झिमा, आयंबिलेण रसओ उक्कोसा, गुणओ मज्झिमा, तहेव चउण्होदएण दव्वओ मज्झं रसतो जहन्नं गुणओ मज्झं मज्झिमं दव्वं ति काऊण रालगतणकूरा दव्वओ जहन्नं आयंबिलेण रसओ उक्कोसं गुणओ मज्झं, ते चेव आयामेण दव्वओ जहन्नं रसओ मज्झं गुणओ मज्झं, ते चेव उण्होदएण दव्वओ जहन्नं, रसओ जहन्नं, गुणओ उक्कोसं, बहुनिज्जर त्ति भणियं होइ । अहवा-उक्कोसे तिन्नि विभासा उक्कोसोक्कोसं, उक्कोसमज्झिमं, उक्कोसजहन्नं, कंजियआयामउण्होदएहिं जहन्ना, मज्झिमा, उक्कोसा निज्जरा । एव तिसु विभासियव्वं छलणानाम एगेणाऽऽयंबिल पच्चक्खायं, तेण हिंडतेण सुद्धोदणो गहिओ, अण्णाणेण य खीरेण निमित्तं घेत्तूण आगमओ आलोएउ पजीओ, गुरूहिं भणिओ-अज्ज तुज्झ आयंबिल पच्चक्खायं, भणइ सच्चं, तो किं भुंजसि ? जेण मे पच्चक्खायं, जहा पाणाइवाए पच्चक्खाते ण मारिज्जइ, एवं आयंबिले वि पच्चक्खाते । तं न कीरइ, एसा छलणा" परिहारस्तु प्रत्याख्यानं भोजने तन्निवृत्तौ च भवति, भोजने आयामाम्लप्रायोग्यादन्यत् तत् प्रत्याख्याति आयामाम्ले च वर्त्तते, तन्निवृत्तौ चतुर्विधमप्याहारं प्रत्याचष्टे एव, तथा लोके एवमेव प्रत्याख्यानार्थः । दोसु अत्थेसु वट्टइ भोजने तन्निवृत्तौ च, तेण एसा छलणा निरत्थिया । पच कुडंगा लोए, वेदे, समए, अन्नाणे, गिलाणे कुडंगो त्ति, एगेणाऽऽयंबिलस्स पच्चक्खायं, तेण हिंडतेण सक्कडी सभाविया, अन्न वा उक्कोसं लद्धं, आयरियाण दंसेइ, भणियं-तुब्भं आयंबिलं पच्चक्खायं, सो भणइ—खमासमणा ! अम्हेहिं बहूणि लोइयाणि सत्थाणि परिमिलियाणि, तत्थ आयंबिलस्स सद्दो नऽत्थि, पढमो कुडंगो १ । अहवा-वेदेसु चउसु सगोवंगेसु नऽत्थि आयंबिलं, बितिओ कुडंगो २ । अहवा-समए चरगचीरिगभिक्खुपंडरंगाणं, तत्थ वि नऽत्थि, न जाणामि एस तुब्भ कओ आगओ ? तइओ कुडंगो ३ । अन्नाणेण भणइ न जाणामि खमासमणा ! केरिसयं आयंबिलं भवइ ?, अह जाणामि कुसत्थेहिं वि जिम्मइ त्ति तेण गहियं, "मिच्छा मि दुक्कडं," न पुणो गच्छामि, चउत्थो कुडंगो ४ । गिलाणो भणइ-न तरामि आयंबिलं काउं सूलं मे उट्ठेइ अन्नं वा उद्दिसइ रोगं ताहे न तीरइ करेउं । एस पंचमो कुडंगो ५ । तस्स अट्ठ आगारा—

अण्णत्थणाभोगेणं सहस्सागारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरति ।

अणाभोगसहसक्कारा तहेव, लेवालेवो जइ भायणे पुव्वं लेवाडगगहियं च समुद्दिट्ठं संलिहियं जति तेण आणेति य भुंजति, उक्खित्तविवेगो-जं आयंबिले पडति विगतिमादि उक्खिविता विगिंचतु मा णवरि गलतु अन्न वा आयंबिलस्स अप्पाओग्गं जइ उद्धरितं तीरइ उद्धरिए न उवहम्मइ, गिहत्थसंसट्ठे वि जदि गिहत्थो डोलियं भाणियं वा लेवाडं कुसणादीहिं तेण देसि त्ति लेवाड त भुंजइ, जइ रसो आलिक्खिज्जइ बहुओ ताहे न कप्पइ, पारिट्ठावणियमहत्तरासमाहीओ तहेव । व्याख्यानमतिगम्भीरबुद्धिना भाष्यकारेणोपन्यस्तक्रममायामाम्लम् । आव० ६ अ० । तथा च—"आयंबिलमवि तिविहं" इत्याद्रिगाथा, १०२ आरभ्य-१०६ पर्यन्ताः 'अचित्त' शब्दे प्रथमभागे गताः)

जं तिमियें काउं नो, सकइ तं तं न कप्पइ रयाइ।
पायं हिंगुं न कप्पइ,दुकयदोसप्पसंगओ जयणा।१०७।
दंतवणं तंबोलं, कायव्वं नेव अंबिलंमि नवे।
जलभिन्नमणाहारं, कप्पइ सव्वं पि तत्थ ठिए॥१०८॥
सोवीरमुसिणजलं, कप्पइ नो अण्णमेस विहिपाय।
सोवीरं सिद्धपिट्ठं, निरणेहं वियलमुक्किट्ठे॥ १०९॥
मज्झिमे घुग्घरियाइं, हिंगुप्पमुहा पकप्पए भयणा।
भज्जियधण्णाईयं, सव्वं पि पकप्पइ जहन्ने॥ ११०॥

काठिन्यसहितमण्डकखाखरपर्पटिकादि यतस्तिमितुम्- आर्द्रीकर्तुं न शक्यन्ते तत् आचामाम्ले अकल्प्यम्।

दुन्नि चउअंगुलमाणं, नीरं जइ हवइ सिद्धभत्तुवरि।
आयंबिलं विसुद्धं, हविज्ज तो सव्वकट्ठहरं॥ १११॥
जगराजीरगजुत्तं, ओयणमिह कप्पए जईण पुणो।
सट्ठाणं नो कप्पइ,नूयरि लट्ठाइयं वि पुणो।११२। ल०प्र०।

अत्रोत्तरम्—तथा आचामाम्लमध्ये सुण्ठीमरिचादिक कल्पते तत्किं कारणेन स्वभावेन वेति?॥ ९॥ अत्र कारणं विनापि कल्पते इति॥ ९॥ तथा आचामाम्लमध्ये सुण्ठीमरिचादिक कल्पते, पिप्पलीलवङ्गादिक च न, तत्किं शास्त्राक्षरैः परंपरातो वेति?॥ १०॥ तथा आचामाम्लमध्ये सुण्ठीमरिचादिकं कल्पते, लवङ्गपिप्पलीहरितकीप्रमुखं पुनर्न कल्पते, तत्रैतत्कारणं ज्ञायते-यल्लवङ्गेषु दुग्ध भङ्गं दीयमानमस्ति, तथा हरीतकीपिप्पल्यादिकं नालिकातोऽपक्व सत् शुष्कीक्रियते, यथा युगन्धरीगोधूमादि पृथुको राद्धस्त्वाचामाम्लमध्ये न कल्पते, युगन्धरीगोधूमादिकं तु राद्धं सत् कल्पते इति संभाव्यते॥ १०॥ ही० ४ प्रका०।

संप्रत्याचामाम्लशोध्यान् एतान् (दोषान्) संकलय्य गाथायुगलेनाह—

कम्मुद्देसिय मीसे, धायाइ पगासणाइएसुं च।
पुरपच्छकम्मकुच्छिय-संमत्ताऽऽलित्तकरमत्ते॥ ३७॥
अइरं परित्तनिक्खित-त्तपहियसाहरियमीसियाईसु।
अइमाणधूमकारण, विवज्जए विहियमायामं॥ ३८॥

कर्मौद्देशिक—विभागौद्देशिकम् नवमभेदं, मिश्र च-यावदर्थिकमिश्राख्यो मिश्रजाताद्यभेद कर्मौद्देशिकमिश्रं तस्मिन् धाऽऽद्यादिप्रकाशनादिषु च-धाऽऽद्यादयश्च धात्रीदूतीनिमित्तकथनाऽऽजीवनापिण्डवनीपकत्ववादरचिकित्साकरणक्रोधमानपिण्डा द्विविधसस्तव विद्यामन्त्रं चूर्णयोगपिण्डा प्रकाशनादयश्च प्रकाशकरणं द्विविध द्रव्यक्रीत, द्विविध लौकिक-प्रामित्यपरिवर्त्तेन निष्प्रत्यपायं-परग्रामाऽऽहृतं पिहितो द्भिन्न-कपाटोद्भिन्ने उत्कृष्टमालाऽपहृतं सर्वमाच्छेद्यं-सर्वमनिष्ट चेति धाऽऽद्यादिप्रकाशनादयस्तेषु पुर कर्म -पश्चात्कर्मणो, 'कुच्छियससत्त' त्ति-भीमो-भीमसेनवदिति न्यायाद्गर्हिताचित्तम्रक्षिते अगर्हितससक्ताचित्तम्रक्षिते, आलिप्तकरमात्रलिप्तदोष इत्यर्थ, 'अइर' परित्तेत्यपत्र परित्ताशब्दोपलक्षणत्वात् पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतित्र-

सा ऽऽख्या. षट्काया सचित्ता गृह्यन्ते। पश्चात् व्यवहितपट्कायनिक्षिप्तपिहितसहृनमिश्रादिषु आदिशब्दात्-षट्काया. परिणतषट्कायोपरि छर्दितयो. 'निक्खित्त' त्तिअकर्दमप्रक्षिप्ते बालवृद्धमत्तोन्मत्तव्यपनज्वरितान्धा. निगडितकरचरणा. छिन्नपाणिपादा नपुंसका गुर्विणी बालवत्सा च भुञ्जती विलोडयन्ती भृज्जन्ती खण्डयन्ती पिम्पन्ती दलन्ती पिठरकादिकमपवर्त्य ददती साधारणं चोरितकं वा ददती बलिं स्थापयन्ती परकीयमिदमित्युक्त्वा ददती सप्रत्यपाया च ददती कूलवालकमुनिवत् त्याजयित्री मागधिका वेश्येव शाकिन्यादिश्च एतेभ्यो दायकेभ्यो ग्रहणे च, तथातिमानं च-प्रमाणभूताहाराधिकभोजन धूमश्च सद्वेषभोजन कारणविपर्ययश्च निष्कारणे भोजनम् अतिमानधूमकारणविपर्यय. तस्मिन् एतेषु सर्वेषु विहितम् आचामाम्ल प्रायश्चित्तमित्यर्थ। जीत०।

आयंबिलपाउग्ग-आचामाम्लप्रायोग्य-त्रि०। ओदनादिसत्के कूरादौ, आव० ६ अ०। (तानि च 'आयबिलपच्चक्खाण' शब्देऽनुपदमेव गतानि)

आयंबिलवड्ढमाण-आचा(या)माम्लवर्द्धमान-न०। तपोविशेषे, औ०। "आयंबिलवड्ढमाण तवोकम्मं पडिवण्णा" (सूत्र-१५+)। यत्र चतुर्थं कृत्वा आयामाम्लं क्रियते, पुनश्चतुर्थं, पुनर्द्वे आयामाम्ले, पुनश्चतुर्थं पुनस्त्रीणि आयामाम्लानि, एवं यावच्चतुर्थं शतं चाऽऽयामाम्लानां क्रियते इति, इह च शतं चतुर्थानां तथा पञ्चसहस्राणि पञ्चाशदधिकानि ५०५०, आयामाम्लानां भवन्तीति। औ०। (एतत्तप करणात् महासेनकृष्णा सिद्धिं प्राप्ता इति 'महासेणकण्हा' शब्दे षष्ठे भागे दर्शयिष्यते)

तत्स्वरूप सूत्रत.—

आयंबिलं करेति ०(अन्त०) एवं एगुत्तरियाए बुड्ढीए आयंबिलाइं वड्ढंति चतुत्थंतरियाइं०जाव आयंबिलसयं करेति आयंबिलसयं करेत्ता चउत्थं करेति। अन्त० १ श्रु० ८ वर्ग १० अ०।

आयंबिलिय-आचा(या)माम्लिक-पु०। आचामाम्लं समयप्रसिद्धं तेन चरतीत्याचामाम्लिक। स्था० ५ ठा० १ उ० ३९६ सूत्रटी०। आचामाम्लसहिते, "आयंबिलमणायंबिले, आयबिलगा अणायबिलगा य। अणायबिलगा, आयंबिलगविरहिया" इति। आव० ६ अ०। आचाम्लम्-ओदनकुल्मापादि तेन चरतीत्याचाम्लिक.। साधुभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

आयग-आजक-न०। अजानां समूह। वुञ्। छागसमूहे, वाच०। अजापक्ष्मनिष्पन्ने वस्त्रादौ, 'आयाणि वा' (सूत्र-१४५×)। क्वचिद्देशविशेषे अजा. सूक्ष्मरोमवत्यो भवन्ति तत्पक्ष्मनिष्पन्नान्याजकानि भवन्ति। आचा० २ श्रु० १ चू० ५ अ० १ उ०।

आयचरित्त-आयचरित्र-त्रि०। "आयचरित्तो"॥ ३६+॥ आयभूत निरतिचारतया चारित्रं यस्य स आयचरित्र.। दृढचारित्रे, संथा० ३९ गाथाटी०।

आत्तचरित्र–त्रि० । गृहीतचारित्रे, " आयचरित्तो करेइ, सामण्णं ॥ ३६४ ॥ " आयभूतं—निरतिचारतया चारित्रं यस्य स आयचरित्रो हढचारित्रत्वात् प्राकृतत्वात्-आत्तचारित्रो-गृहीतचारित्रः करोति-पालयति श्रामण्यं-श्रमणभावम् । संथा० ।

आयज्झ-टुवेपृ-धा० कम्पने, भ्वा० । आत्म० सक० सेट् । वेपते । अवेपिष्ट । ऋदित् । चङि न ह्रस्वः । टित् । वेपथु । वेपथुः । " वेपेरायम्बाऽऽयज्झौ " ॥८।४।१४७॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण वेपेः आयम्ब आयज्झ इत्यादेशौ वा । आयम्बइ । आयज्झइ । वेवइ । प्रा० ।

आयट्ठ–आयतार्थ–पुं० । आयतः-अपर्यवसानान्मोक्ष एव, सचासावर्थश्चायतार्थः । मोक्षरूपेऽर्थे, । आयतो-मोक्षः अर्थः-प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा । दर्शनादित्रये च । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ७१ सूत्रटी० ।

आत्मार्थ–पु० । 'आयट्ठं' (सूत्र-७१×) आत्मनोऽर्थ आत्मार्थः, स च ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकः, अन्यस्त्वनर्थ एव, अथवा-आत्मने हित-प्रयोजनमात्मार्थं, तच्च चारित्रानुष्ठानमेव चारित्रानुष्ठाने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

आयण्ण–आकर्णन–न० । श्रवणे, "तत्थाऽऽयण्णणजाणणगिण्हणपडिसेवणेसु उज्जुत्ता " । तत्राऽऽकर्णनं-विनयबहुमानाभ्यां व्रतस्य श्रवणमिति । ध० २ अधि० २२ श्लोक ।

आयत–आयत–आ यम क्त । दीर्घे, औ० १० सूत्रटी० । आ० म० । अनु० । उत्त० । स्था० । आयामवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार १२ सूत्रटी० । " गिरिवरे वा निसहोऽऽयगाणं, रुयए व सेट्ठे वलयाऽऽययाणं" ॥ १५+ ॥ यथा निषधो गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपेऽन्येषु वा द्वीपेषु दैर्घ्येण श्रेष्ठ—प्रधानः तथा वलयाऽऽयतानां मध्ये रुचकः पर्वतोऽन्येभ्यो वलयायतत्वेन । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । साद्यपर्यवसितत्वेन दीर्घत्वात् आयतः—मोक्ष । मोक्षे, पं० सू० ४ सूत्रटी० । पं० व० । आयतो-मोक्षोऽपर्यवसिताऽवस्थानत्वात् । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० १८ गाथाटी० । आयतोऽपर्यवसानान्मोक्ष एव । आचा० १ श्रु० २ अ०१ उ० ७१ सूत्रटी० । आयतो-दीर्घसर्वकालभवनान्मोक्ष । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० १५ गाथाटी० । आत्मनि, सूत्र० । "सव्वे पाणा पियाऽऽयया" (सूत्र-८०×)। आयत -आत्मनोऽनाद्यनन्तत्वात् स प्रियो येषां ते तथा सर्वेऽपि प्राणिन प्रियात्मान । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । आङ् अभिविधौ, सामस्त्येन यत -आयत । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० १६ गाथाटी० । संयते, " आयतजोगताए सेवित्था " ॥ ६ ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । आकृष्टे, यत्नवति च । भ० । " आययकण्णायय उसु आयामेत्ता " (सूत्र-६८×) । कर्णं यावदायत -आकृष्टः कर्णाऽऽयत आयत—प्रयत्नवद् यथा भवतीत्येवं कर्णायत । भ० १ श० ८ उ० । संस्थानभेदे च । स्था० १ ठा० । उत्त० । (नडक्कव्यता 'आयतसंठाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽनुपदमेव वक्ष्यते)

आयत (य) कण्णायय-आयतकर्णायत–त्रि० । कर्णं यावदायत -आकृष्ट कर्णायत , आयत आयतम्(वा)- प्रयत्नवद् यथा भवतीत्येवं कर्णायत' । आयतकर्णायत. । प्रयत्नेन कर्णपर्यन्तमाकृष्टे, " आययकण्णाययं उसु आयामेत्ता चिट्ठइ " (सूत्र-६८+)। भ० १ श० ८ उ० । सामान्येन कर्णपर्यन्तमाकृष्टे च । " आययकण्णाययं उसु करेइ " (सूत्र-३०३×) । आयतः-आकृष्ट सामान्येन स एव कर्णायतः आकर्णमाकृष्टः आयतकर्णायतस्तम् । भ० ७ श० ६ उ० ।

आयत (य) चक्खु–आयतचक्षुष्–त्रि० । आयतं—दीर्घं-मैहिकामुष्मिकाऽपायदर्शि चक्षु -ज्ञानं यस्य स आयतचक्षुः। ऐहिकामुष्मिकाऽपायदर्शिज्ञानोपेते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ९३ सूत्रटी० ।

आयतचरित्त–आयतचरित्र–न० । आयतं—चरित्रं सम्यक् चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकम् । मोक्षमार्गप्रसाधके चरित्रे, सूत्र० । " आदाणीयम्मि आयतचरित्तं " ॥२८×॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

आयत(य)जोग–आयतयोग–पुं० । आयतः-संयतो योगोमनोवाक्कायलक्षणः, आयतश्चासौ योगश्चायतयोगः । ज्ञानचतुष्टयेन सम्यग् योगप्रणिधाने, आचा० । "आयतजोगताए सेवित्था " ॥ ६× ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ. । "सयमेव अभिसमागम्म आयतजोगमायसोहिए " ॥ १६ + ॥ आयतयोगम्—सुप्रणिहितं मनोवाक्कायात्मकं विधाय । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

आयतट्ठ–आयतार्थ–पुं० । आयतः-अपर्यवसानान्मोक्ष एव स चासावर्थश्चायतार्थः । मोक्षरूपेऽर्थे, आयत-मोक्ष अर्थ-प्रयोजन यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा । दर्शनादित्रये, " आयतट्ठं सम समणुवासेज्जा " (सूत्र-७१ +) । आयत -अपर्यवसानान्मोक्ष एव, स चासावर्थश्चायतार्थोऽतस्तं, यदि वा-आयतो-मोक्षः-अर्थः-प्रयोजन यस्य दर्शनादित्रयस्य तत्तथा । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । " आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं " ॥ १८×॥ आयत-मोक्ष अपर्यवसितावस्थानत्वान्मोक्ष स चासावर्थश्च तदर्थो वा तत्प्रयोजनो वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गं स आयतार्थस्तं सुष्ठु आदाय-गृहीत्वा यो धृतिबलेन कामक्रोधादिविजयाय च पराक्रमते एतद्वीरस्य वीर्यमिति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० १८ गाथाटी० ।

आयतट्ठि (न्)-आयतार्थिन्–पुं० । मोक्षार्थिनि, दश० ५ अ० २ उ० १५ गाथाटी० ।

आयतट्ठित (य)-आयतार्थिक–पुं० । आयतो-दीर्घः सर्वकालभवनान्मोक्षस्तेनार्थिकस्तदभिलाषी । मोक्षाभिलाषिणि, सूत्र० । " आयपरे परमायतट्ठिए " ॥ १५ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

आयतण–आयतन–न० । आयतन्तेऽत्र यत् आधारे ल्युट् । गृहे, " सव्वओसहाऽऽयतण " (सूत्र-१७ +) । आयतन-गृहम् । त० । " आयतणे ठाणठवणा य " ॥ १६ ॥ आयतने-भवने । पञ्चा० ८ विव० । गुणाऽऽश्रये, प्रश्न० १ संव० द्वार २३ सूत्रटी० । " इणमेव निम्मोहाऽऽयतण " (सूत्र-२१५×) । निर्गतमोहानामायतनम्-आश्रय । आचा०

१ श्रु० ८ अ० ४ उ० । स्थाने, संथा० । आचा० । नि० चू० । " इम्सुणाऽऽयतणाणि " (सूत्र-११५ ×) । दस्यूनां चौराणामायतनानि-स्थानानि । आचा० २ श्रु० १ चू० ३ अ० १ उ० । " एयाइ आयतणाइ " एतानि स्वयार्थीन्यायतनानि—उपभोगास्पदभूतानि वर्तन्ते । आचा० । देवादिवन्दनस्थाने, वाच० । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ५ " नयरम्म पुव्वेण जक्खस्स आययणं कय " आ० म० । " भगवतो निव्वाए गयस्स आययणं काराविय भरहो अघजमागओ कालेण य अप्पसोगो जाओ " आ० म० १ अ० ४३६ गाथाटी० । देवकुलपार्श्वापवरके च । " आयतणाणि वा " (सूत्र-१ ×) । आयतनानि-देवकुलपार्श्वापवरकाः । दशा० १ श्रु० १० अ० । आचा० । धार्मिकजनमीलनस्थाने, ध० र० । भावश्रावकस्य शीलवत्स्वरूप द्वितीयलक्षणं व्याख्यानयन्नाह—" आययण खु निसेवइ "॥३७+॥ आयतनं-धार्मिकजनमीलनस्थानम् , उक्तं च ।(ओघनि०)। " जत्थ साहम्मिया बहवे, सीलवन्ता बहुस्सुया । चरित्ताऽऽयारसंपण्णा, आयतणं तं वियाणाहि" ॥७८३॥ खुरवधारणे, प्रतिपक्षप्रतिषेधार्थः-ततश्चायतनमेव निषेवते भावश्रावको, न अनायतनमिति योग । ध० र० २ अधि० २ लक्ष० । दर्श० । कर्मोपादानस्थाने, आचा० । " इच्चेयाइ आयतणाइं " (सूत्र-६१ ×) । इत्येतानि-पूर्वोक्तान्यायतनानि कर्मोपादानस्थानानि । आचा० १ श्रु० १ चू० १ अ० ११ उ० । " कम्मायतणेहिं " (सूत्र-१५ +) । कर्मणा ज्ञानावरणादीनाम् आयतनानि—आदानानि वा; बन्धहेतव इत्यर्थ । अन्त० १ श्रु० ६ वर्ग १५ अ० । विश्रामस्थाने यज्ञस्थाने च । वाच० । आङभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्य आत्मा आयस्यते-आनियम्यते तस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नत्वात् क्रियते इत्यायतनम् । ज्ञानादित्रये, आचा० । " इक्कायतणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णऽत्थि मग्गे विरतस्स " (सूत्र-१४८+) । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । आयतनं-द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । तत्र द्रव्यतो-जिनगृहादि, भावतस्तु-ज्ञानदर्शनचारित्रधरा साध्वादय. । प्रव० १४८ द्वार ६४६ गाथाटी० । ओघ० ।

इदानीमायतनप्रतिपादनायाह—

आययणं पि य दुविहं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
दव्वम्मि जिणघराई, भावम्मि होइ तिविहं तु ॥७८२॥

आयतनमपि द्विविधम्—द्रव्यविषये , भावविषये च ज्ञातव्यम् । तत्र द्रव्ये-जिनगृहादि, भावे च भवति त्रिविधम्-ज्ञानदर्शनचारित्ररूपमायतनमिति ।

जत्थ साहम्मिया बहवे, सीलवन्ता बहुस्सुया ।
चरित्ताऽऽयारसंपन्ना, आययणं तं वियाणाहि ॥ ७८३ ॥

' जत्थे ' त्यादि, सुगमा ।

सुंदरजणसंसग्गी, सीलदरिद्दं पि कुणइ सीलड्ढं ।
जह मेरुगिरीजायं, तणं पि कणगत्तणमुवेइ ॥ ७८४ ॥

सुगमा । उक्तमायतनद्वारम् । ओघ० । आविष्करणे, निर्णये च । सूत्र० । " पसिणाऽऽयतणाणि " ॥१६+॥ प्रश्नस्यादर्शप्रश्नादेः आयतनम्—आविष्करणं, कथन यथा विवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि । यद्विषा-प्रश्नायतनानि-लौकिकानां परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथाऽवस्थितार्थकथनद्वारेणाऽऽयतनानि-निर्णयनानीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

आयतणसेवा-आयतनसेवा-स्त्री० । आयतनसेवाशब्द प्रथमे शीलभेदे, दर्श० । शीलत्वभेदानधिकृत्य—नित्यमायतनसेवा, अनायतनपरिहार । तत्र आयतन-पञ्चविधाऽऽचाराऽऽचरणप्रवणाः सुसाधव । दर्श० ३ तत्त्व २४ गाथाटी० ।

(आयतन) प्रतिसेवनाद्वारव्याचिख्यासया संबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

एवं खलु आययणं, निसेवमाणस्स हुज्ज साहुस्स ।
कंटगपहेव छलणा, रागद्दोसे समासज्ज ॥ ७८५ ॥

एवम्-उक्तेन न्यायेन आयतनं सेवमानस्याऽपि साधोः भवेत् कण्टकपथ इव छलना, किमासाद्य ?, अत आह-रागद्वेषौ समाश्रित्य, सा च रागद्वेषेण सेवना द्विविधा भवति ।

एतदेवाह—

पडिसेवणाऽवि दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलगुणे छट्ठाणा, उत्तरगुणे हुंति तिगमाई ॥ ७८६ ॥

ओघ० । ध० र० ।

आयत (य) तर-आयततर-त्रि० । " आयत(त)रे सिया " ॥ १६ × ॥ आङभिविधौ सामस्त्येन यत् आयत. अयमनयोरतिशयेनायत आयततर. । यत्नेनाऽध्यवसिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

आयतसंठाण-आयतसंस्थान-न० । संस्थानभेदे, आयतम्-दीर्घ यथा दण्डस्येति । उत्त० १ अ० ३८ गाथाटी० । (आयतसंस्थाने कतिसंयोगा. इति ' संजोग ' शब्दे उत्त० ॥ ४० ॥ ४१ ॥ गाथाभ्या सप्तमभागे वक्ष्यते)

तथा च—

एगो पिहुले (सूत्र-४७ ×) ।

पृथुलं-विस्तीर्णम् , अन्यत्र, पुन -इह स्थाने आयतमभिधीयते, नदेव चेह दीर्घह्रस्वपृथुलशब्दैर्विभज्योक्तम् आयतधर्मत्वादेषां, तथाऽऽयत प्रतरघनश्रेणिभेदात् त्रिधा, पुनरेकैकं सम-विषम-प्रदेशमिति षोढा, यच्चायतभेदयोरपि ह्रस्वदीर्घयोरादावभिधानं तद्वृत्तादिषु सस्थानेष्वायतस्य प्रायो वृत्तिदर्शनार्थम् । तथा हि-दीर्घायत. स्तम्भो वृत्तस्त्र्यस्रश्चतुरस्रश्चेत्यादि भावनीयम् । विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरेवमुपन्यासः इति । स्था० १ ठा० । प्रज्ञा० । (भेदादिबहुवक्तव्यता ' संठाण ' शब्दे सप्तमे भागे वक्ष्यते)

आयतसंठाणपरिणय-आयतसंस्थानपरिणत-त्रि० । आयतसंस्थानभाजि, प्रज्ञा० । " आयतसंठाणपरिणया " (सूत्र-४ +) । आयतसंस्थानपरिणता दण्डादिवत् । प्रज्ञा० १ पद ।

आयतिस-आत्मतृप्त-त्रि० । आत्मस्वरूपतुष्टे, अष्ट० । " आत्मतृप्तो मुनिर्भवेत् " ॥ ६ × ॥ आत्मतृप्तः-आत्मस्वरूपेऽनन्तगुणात्मके तृप्त -तुष्टो भवेत् । अष्ट० १३ अष्ट० ।

आयत्त-आयत्त-त्रि० । आ यत क्त । अधीने, वशीभूते, वाच० । आयत्तो-वशवर्ती तदुक्तानुयायीति । दर्श० ४ तत्त्व ८० गाथाटी० । कृतप्रयत्ने च । वाच० ।

आयस्त-त्रि० । आ-यस्-क्त । क्षिप्ते, " आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात " किरा० । क्लेशिते, प्रतिहते, तीक्ष्णीकृते, आयासयुक्ते च । वाच० ।

आयपइट्ठिय-आत्मप्रतिष्ठित-त्रि० । स्वरूपप्रतिष्ठिते, " आयपइट्ठिया " (सूत्र-१८६ ×) । स्था० ३ ठा० ३ उ० । क्रोधभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० १०० सूत्रटी० । (व्याख्या 'कोह' शब्दे तृतीयभागे करिष्यते)

आयपण्ण-आगतप्रज्ञ-त्रि० । आगता-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्याऽसावागतप्रज्ञः । संजातकर्त्तव्याऽकर्त्तव्यविवेके, सूत्र० । "समितीसु गुत्तीसु य आयपण्णे" ॥५+॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आयमग्ग-आयतमार्ग-पु० । मोक्षमार्गे, आयतो-मोक्षोऽव्यवच्छेदात्तस्य मार्गो-ज्ञानादिः । पञ्चा० ११ विव० ४२ गाथाटी० ।

आयमण-आचमन-न० । आ चम् । भावे ल्युट् । निर्लेपने, " आयमणत्थं वाऽवि वोसिरइ " ॥२६४×॥ आचमनम्-निर्लेपनम् । बृ० १ उ० ३ प्रक० । आयमणं-णिल्लेवणं । नि० चू० ४ उ० ३०७ गाथाचूर्णि । पुरीषोत्सर्गानन्तरं शौचकरणे च । 'आयमणभाणधुवणं' ॥ २३ × ॥ पिं० । " तिर्हि आयमण अदुरम्मि " । ओघ० ३१७ गाथा । ध० ३ अधि० ४ श्लोक । (उच्चारप्रस्रवणे कृत्वा यो न परिष्ठापयति तस्य प्रायश्चित्तं 'थंडिल' शब्दे चतुर्थभागे २३८१ पृष्ठे वक्ष्यते)

आयममाण-आचमत्-त्रि० । आचमनं कुर्वति, स्था० ५ ठा० २ उ० ४१४ सूत्र ।

आयमिणी-आयमिनी-स्त्री० । विद्याभेदे, सूत्र० । "आयमिणीं एवमाइआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउ पउजंति " (सूत्र-३० +) । सूत्र० २ श्रु० २ उ० ।

आयम्ब-टुवेपृ-धा० । कम्पने, " वेपेरायम्बाऽऽयज्झौ " ॥ ८।४।१४७ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण वेपेरायम्बाऽऽदेश । आयम्बइ । आयज्झइ । वेवइ । प्रा० ।

आयरंत-आचरत्-त्रि० । अङ्गीकुर्वति, उत्त० । " तमायरंतो ववहारं " ॥४२+॥ उत्त० १ अ० । कुर्वति, उत्त० पाई० १ अ० ४२ गाथाटी० । विदधति च । उत्त० । "नायरेज्ज कयाइ वि" ॥१॥ नाचरेत्-नाभिदध्यात् (उत्त० १ अ० ।) न समाचरेत्-न विदध्यादिति सबन्ध । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

आयरक्ख-आत्मरक्ष-पु० । आत्मरक्षके, स्था० ।

सूत्रम्—

तओ आयरक्खा पन्नत्ता । तं जहा-धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ, तुसिणीतो वा सिया, उट्ठित्तु वा आयाए एगंतमन्तमवक्कमेज्जा । (सूत्र-१७२×)

'तओ आय' इत्यादि, सुगमा, नवरम् आत्मानं रागद्वेषाद्यकृत्याद्भवकूपाद्वा रक्षन्तीत्यात्मरक्षा । 'धम्मियाए पडिचोयणाए' त्ति-धार्मिकोपदेशेन-नेदम् भवादृशां विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिता-उपदेष्टा भवति, अनुकूलेतरोपसर्गकारिणः, ततोऽसावुपसर्गकरणान्निवर्तते ततोऽकृत्या सेवा न भवतीत्यत आत्मा रक्षितो भवतीति १, तूष्णीको वा वाचंयम , उपेक्षक इत्यर्थ २, 'स्याद्' इति प्रेरणाया अविषये उपेक्षणासामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय, 'आय' त्ति-आत्मना एकान्तं-विजनम् 'अंतं' भूमिभागमवक्रामेत्-गच्छेत् । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

आयरक्खिय-आत्मरक्षित-त्रि० । आत्मा रक्षितो दुर्गतिहेतोरपध्यानादेरनेनेति आत्मरक्षितः । " आहिताग्न्यादिषु " ॥ ३ । १ । १५३ ॥ दर्शनात् क्तान्तस्य परनिपातः । दुर्गतिहेतोरात्मध्यानादेरात्मनो रक्षके, उत्त० पाई० २ अ० १५ गाथाटी० ।

आयरक्षित-त्रि० । आयो वा-ज्ञानादिलाभो रक्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः । ज्ञानादिलाभस्य रक्षके, उत्त० । " विरओ आयरक्खिए " ॥ १५ × ॥ उत्त० पाई० २ अ० ।

आयरण-आचरण-न० । अनुष्ठाने, स्था० । आचरणमाचारः । स्था० ८ ठा० । विधाने, सूत्र० ।

अस्सि धम्मे अणायारं, नाऽऽयरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

अस्मिन्धर्मे-सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन्ननाचारम्-सावद्यानुष्ठानरूपं न समाचरेत्-न विदध्याद् । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । केनचित्प्रकारेण परिणमने, दश० । " दव्वाऽऽयारं वियाणाहि " ॥ १८० ॥ आचरणम्-आचारो द्रव्यस्याचारो द्रव्याचार । द्रव्यस्य यदाचरणम् ; तेन तेन प्रकारेण परिणमनमित्यर्थ । दश० ३ अ० । परप्रतारणाय विविधक्रियाणामाचरणरूपे मायाविशेषे च । भ० १२ श० ५ उ० ४४६ सूत्रटी० । आचरत्यनेन करणे ल्युट् । रथे, शकटे च । त्रि० । वाच० ।

आदरण-न० । मायाविशेषात्मकस्यापि वस्तुनोऽभ्युपगमे, भ० १२ श० ५ उ० ४४६ सूत्रटी० ।

आयरणकप्प-आचरणकल्प-पु० । उत्सर्गाऽपवादयोः स्वस्थाने सेवनाकर्तव्यतायाम् । नि० चू० ।

इदाणीं इमो आयरणकप्पो "जे भणित्ता गाहा"—

जे भणित्ता उ पकप्पे, पुव्वाऽवरवाहता भवे सुत्ता ।
सो तह समायरंतो, सव्वो आयरणकप्पो उ ॥ ३८६ ॥

जे पकप्पे एगूणवीसतिउद्देसगेहिं पुव्वावरवाहया सुत्ता अत्था वा भणिता तहेव समायारंतस्स आयरणकप्पो भवति । एत्थ पुव्वो उस्सग्गो, अवरोऽववादो । एतं परोप्परवाहता एतेसिं सट्ठाणे सेवणा कर्तव्येत्यर्थः ।

गाहा—

उस्सग्गे अववायं, आयरमाणो विराहओ होति ।
अववाए पुण पत्ते, उस्सग्गनिसेवओ भइओ ॥ ३०७ ॥ दारं

कया भयणाए कह उच्यते । जो धितिसंघयणसंपन्नो सो अववादट्ठाणे पत्ते वि उस्सग्गं करेंतो सुद्धो जो पुण धितिसंघयणहीणो अववादट्ठाणे उस्सग्गं करेति सो विराहगो पावति । एसा भयणा । गतो आयरणकप्पो । नि० चू० २० उ० ।

आयरणया-आद(च)रणता-स्त्री०। यतो मायाविशेषादादरण-म्-अभ्युपगम कस्यापि वस्तुनः करोत्यसावादरणम् , तात्प्रत्ययस्य च स्वार्थिकत्वादादरणता । मायाविशेषे, आचरणताऽप्यत्रैव । भ० १२ श० ५ उ० ४४६ सूत्रटी० ।

आयरिय-आचारिक-पु० । स्वकीयमतोद्भवानुष्ठानसमूहे, उत्त० ।

इह मेगे इइ (उ) मन्नंति, अपच्चक्खाय पावगं ।
आयरियं विदित्ताणं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥ ६ ॥

इह-अस्मिन्संसारे एके-केचित्कापिलिकादयो ज्ञानवादिन इति मन्यन्ते, इतीति किम् ? पापकम्-हिंसादिकम् अप्रत्याख्याय पापम्-अनालोच्याऽपि मनुष्य आचारिक-स्वकीयमतोद्भवानुष्ठानसमूहं विदित्वा-ज्ञात्वा सर्वदुःखात् विमुच्यते, एतावता "तत्त्वज्ञानान्मोक्षावाप्तिः" इति वदन्ति । जैनाना तु ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः, ज्ञानवादिना तु ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गम् । उत्त० ६ अ० । (एतन्मतनिराकरणं ' मोक्ख ' शब्दे षष्ठे भागे करिष्यते)

आचरित-न० । आ-चर-भावे क्त । आचरणे, उत्त० । आचरणमाचरितम् । तत्तत्क्रियाकलापः । उत्त०६ अ० ६ गाथाटी० । आसेवने, औ० ४० सूत्रटी० । "अवजझाणायरिअं" (सूत्र-६+) । आचरित -आसेवित । उपा० १ श्रु० १ अ० । "जं किंचि वितहमायरियं" ॥६८२४॥ यत्किंचिद्वितथम्-अन्यथा आचरितम्-आसेवितं भूतमिति वाक्यशेषः । आ० म० १ अ० । अनुष्ठानमापन्ने "जं किंचि वितहमायरियं" ॥१०४॥ वितथम्-अन्यथाभूतं, सयमानुकूलमित्यर्थः, आचरितम्-अनुष्ठानमापन्नमिति शेषः । पञ्चा० १२ विव० ।

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहाऽऽयरियं सया ।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाऽभिगच्छइ ॥ ४२

धर्मेण-क्षान्त्यादिरूपेणार्जितम्-उपार्जितं धर्मार्जितं, न हि क्षान्त्यादिधर्मविरहित इमं प्राप्नोतीति, च पूरणे, त्रिविधं विधिवद्वा व्यवहरणमनेकार्थत्वात् आचरणं व्यवहारः 'तम्' इति-कर्तव्यतारूपं बुद्धैः—अवगततत्त्वैराचरितं सदा-सर्वकालं, वर्णितं सदाचरिततया प्रतीतमेव शास्त्रम्-व्यवहरन् , यद्वा-यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्सुपव्यत्ययाच्च धर्मार्जितो बुद्धैराचरितश्च यो व्यवहारस्तमाचरन्-कुर्वन् , विशेषेणापहरति पापकर्मेति व्यवहारस्तम् , व्यवहारविशेषणमेतत् । एवं च किमित्याह-गर्हामविनीतोऽयमित्येवंविधा निन्दा नाऽभिगच्छति-न प्राप्नोति यतिरिति गम्यते । उत्त० १ अ० । आचर्यते स्म वृहत्पुरुषैरित्याचरितम् । व्यवहारे, व्यवहारैकार्थिकान्यधिकृत्य (आह भाष्यकारः)-" आयरिए चेव ववहारे " ॥७५॥ व्य० १ उ० ।

आचर्य-त्रि० । आचर्यतेऽत्र । आ-चर-आधारे यत् । अनुष्ठानयोग्ये देशे, वाच० ।

आचार्य-पु० । आचर्यते असावाचार्यः सूत्रार्थावगमार्थं मुमुक्षुभिरासेव्यते इत्यर्थः । आव० ४ अ०-४७ गाथाटी० ।

१-'आयरिय' ति-सम्मत्तं । उत्त०पाई० ६ अ० ।

भ० । दशा० । ' आयरियाणं ' (सूत्र-१ ×) । आ-मर्य्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्य्यन्ते-सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिरित्याचार्याः । उक्तं च—

" सुत्तत्थविऊ लक्खण-जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य ।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ " ॥ १ ॥ इति ।

अथवा-आचारो-ज्ञानाचारादि पञ्चधा, आ-मर्य्यादया वाऽऽचारो-विहारः आचारस्तत्र साधवः स्वयंकरणात्प्रभाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः । आह च-" पंचविहं आयारं, आयरमाणा तहा पयासंता । आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चंति ॥६६४॥ " (आव० नि०) । अथवा-आईषद् ; अपरिपूर्णा इत्यर्थः, चाराः-हेरिका ये ते आचाराः, चारकल्पा इत्यर्थः, युक्ताऽयुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतयेत्याचार्याः । भ० १ श० १ उ० । दशा० । ' चर ' गतिभक्षणयोः, आङ्पूर्वः । आचर्यते कार्यार्थिभिः सेव्यते इत्याचार्यः । " ऋवर्णव्यञ्जनात् घ्यण् " ॥ ५ । १ । १७ ॥ इति घ्यण् । आ० म० १ अ० ६६३ गाथा । आङ् मर्यादाभिविध्योः, चरिर्गत्यर्थः मर्यादया चरन्तीत्याचार्याः । आचारेण वा चरन्तीत्याचार्याः । आ० चू० १ अ० ६६३ गाथाचूर्णि ।

अट्ठारसमीलंगसहस्साहिट्ठियं तणू छत्तीसइविहमायारं जहट्ठियं मे गिलाए महत्ति सागुममयं आयरंति त्ति-वत्तयंति त्ति आयरिया । परमप्पणो य हियमायरंति आयरिया । सव्वसत्तसीसगणाणं च हियमायरंति आयरिया । पाणपरिच्चाए वि उ पुढवादीणं समारंभं नाऽऽयरंति, नारमंति, णाणुजाणंति, आयरिया । सुहुमावरद्धेवि ण कस्सइ मणसाऽवि पावमायरंति त्ति वा आयरिया । महा० ३ अ० ।

" स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात् " ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेण चौर्यशब्देन समेषु शब्देषु संयुक्तस्य यात्पूर्व इत् । प्रा० । " आचार्ये चोऽच्च " ॥ ८ । १ । ७३ ॥ इति हैमप्राकृतसूत्रेणाचार्यशब्दे चस्याऽऽत इत्वमत्व च । प्रा० । गुरौ, पं० व० १३ गाथाटी० । पञ्चस्थविराणां मध्ये प्रथमे स्थविरे, ध० ३ अधि० ५४ श्लोक । आचार्याः -अर्थदातारः । बृ० १ उ० ३ प्रक० ६३६ गाथाटी० । आचार्यस्सूत्रार्थदाता, दिगाचार्यो वा । कल्प० ३ अधि० ६ क्षण ४६ सूत्रटी० । आचार्यस्सूत्रार्थोभयवेत्ता लक्षणादियुक्तश्च । आव० ३ अ० ११६५ गाथाटी० ।

विषयाः—

(१) निक्षेप आचार्यपदस्य ।
(२) भेदाः-कलाचार्यः १, शिल्पाचार्यः २, धर्माचार्यश्चेति ३ । तेषा विनयः ।
(३) स्वरूपमाचार्यस्येह परत्र च ।
(४) प्रव्राजनाचार्या उपस्थापनाचार्याश्च ।
(५) स्वरूपमाचार्यस्य ' सुत्तत्थ ' इत्यादि ।
(६) लक्षणमाचार्यस्य ।
(७) गुणा आचार्यस्य यै रहितो गुरुर्न भवति ।
(८) गुणा आचार्यस्य ' अपरिश्रावी ' त्यादि ।

(९) अप्राचारत्वं दुर्गुणस्सूरे ।
(१०) पराऽहितकारित्व दुर्गुण' ।
(११) सूरं स दुर्गुणो येन कुगुरुर्भवति ।
(१२) प्रमादिनमाचार्य्यं शिष्यो बोधयति ।
(१३) वैरी शिष्यस्य गुरु. ।
(१४) विनय आचार्य्यस्य ।
(१५) गुरुविनये वैद्यदृष्टान्तः ।
(१६) नमस्कार आचार्य्यस्य ।
(१७)-वैयावृत्त्यं गुरो ।
(१८) गच्छाधिपति केन कर्मविपाकेन भवति ।
(१९) अनिशया आचार्य्यस्य ।
(२०) निर्ग्रन्थीनामाचार्य्य. !
(२१) आचार्य्ये कालगते आचार्य्यान्तरस्थापनम् ।
(२२) आचार्य्येऽवधाविते आचार्य्यान्तरस्थापनम् ।
(२३) लक्षण "सुत्तत्थे णिम्माओ" इत्यादि ।
(२४) एकपाक्षिकादेर्दिगाचार्य्य. ।
(२५) लक्षणं मेढीभूत ।
(२६) परीक्षा आचार्य्यस्य
(२७) उद्देश. मैथुनादिप्रतिसेव्याचार्य्यत्वेन ।
(२८) स्थापनाविधिराचार्य्यपदे गुरो' ।
(२९) परिच्छदर्माहतस्यैवाचार्य्यत्वम् ।
(३०) स्थापनायां स्थविरा. प्रष्टव्या ।

(१) निक्षेप आचार्यपदस्य—

आङ् मर्य्यादाऽभिविध्यो., चरिर्गत्यर्थः, मर्य्यादया चरन्तीत्याचार्य्या । आचारेण वा चरन्तीत्याचार्य्याः । " ते चउव्विहा—णामट्ठवणाओ गताओ । द्रव्यभूतो वा द्रव्यनिमित्तं वा द्रव्यमेव वा दव्व आयारवंत भवति, अनायारवत च नाम त प्रति, णिरिण सिलया परडो य, धावणं प्रति, हारिद्दा रागो य वासणं प्रति, कवेल्लुगा वइरं व सिक्खवेण प्रति, मदणसलागा भासादीपकरण प्रति, सुवण्णो घंटा लोहं च अविरोधं प्रति, कीरं स. कराय विरोधं प्रति, तेल्लदाणेधिरार्च एगमादि एत्थ गाथा- "णामण-धावण-वासण-सिक्खावण सुवक्षण अविरोधीणि । दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि । अहवा- दव्वायरिओ तिविहो एगभविओ, बद्धाउओ, अभिमुहणामगोत्तो । एगभविओ वतिरित्ते जो एगेण भवेण उववज्जिहि त्ति । बद्धाउओ जेण आउय बद्धं । अभिमुहणामगोत्तो जेण पदेसा उच्छूढो । अहवा-मूलगुणणिव्वत्तिनो, उत्तरगुणणिव्वत्तिनो य । सरीरं मूलगुणा, विऊकम्मादि उत्तरगुणा । अहवा-जाणओ, भविओ, वतिरित्तो, मंगुत्तायगाणं समुद्दवायगाणं नागहत्थिवायगाण अधामखं आदेसो । आ० चू० १ अ० । " दव्वआयरिओ सयाऽभव्वो " ॥ १३ + ॥ द्रव्याचार्य आचार्यत्वयोग्यताया अभावादप्रधानाऽऽचार्य. । पञ्चा० ६ विव० । भावायरिओ दुविहो-आगमतो, णोआगमतो य । तहेव । णोआगमतो दुविहो—लोइओ, लोउत्तरिओ य । लोइत्तो—सिप्पाणि इंखसकम्मादिसत्थाणि वइसेसियादि जो उपदिसति । उत्तरिओ—जो पचविधं णाणादियं आयार आयरति, पभासति य अएणेसिं आयरियाण आचारित्वयानि दसयति । एवं मन्तव्यं । एवमादि तेण ते भावायरिया तेसिं फल तहेव । आ० चू० २ अ० ।

नामं ठवणा दविए, भावे चउव्विहो य आयरिओ ।
दव्वंमि एगभवियाइ, लोइए सिप्पसत्थाई ॥ ३०५ ॥

आचार्य इति क शब्दार्थ . उच्यते-' चरगतिभक्षणयो' इत्यस्य (चरेः) आङि वा गुरा (पा० ३-१-१०० वार्तिक) विति एयति आचार्य इति भवति, आचर्यतेऽसावित्याचार्यः, कार्यार्थिभिः सेव्यत इत्यर्थः । अय च नामादिभेदाच्चतुर्विधः । आव० १ अ० । इह नामस्थापने सुगमे । विशे० ।

द्रव्यविचारं पुनराह—

आगमदव्वायरिओ, आयारवियाणओ अणुवउत्तो ।
नो आगमओ जाणय-भव्वसरीराइरित्तोऽयं ॥३१६१॥
भविओ बद्धाऊ, अभि-मुहो मूलाइनिम्मिओ वाऽवि ।
अहवा दव्वब्भूओ, दव्वनिमित्तायरणओ वा ॥३१६२॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्त्वाचार्योऽयं कः इत्याह— ' भविओ ' इत्यादि, एकभविको, बद्धायुष्कः, अभिमुखनामगोत्रश्चेत्यर्थ', ' मूलाइनिम्मिओ वाऽवि ' त्ति-तथा मूलगुणनिर्मित , उत्तरगुणनिर्मितश्च तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार्यो मन्तव्य । तत्र मूलगुणनिर्मित आचार्य्यशरीर निवर्त्तनयोग्यानि द्रव्याणि उत्तरगुणनिर्मितस्तु तान्येव तदाकारपरिणतानीति । अथवा—द्रव्यभूतोऽप्रधान आचार्यस्तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार्य. प्रतिपाद्यते । यो वा द्रव्यनिमित्तेनाचरति चेष्टते स द्रव्यनिमित्ताचरणाद् द्रव्याचार्य , स च लौकिको, लौकिकमार्गे शिल्पशास्त्रादिविज्ञेय. । य. शिल्पानि निमित्तादिशास्त्राणि च ग्राहयति स इहोपचारत शिल्पशास्त्रादिरुक्त । अन्ये त्विमं शिल्पशास्त्राचार्य्यं लौकिक भावाचार्य्यं व्याचक्षते । तच्च सुगमामिति। ' पंचविहमि ' त्यादिना लोकोत्तरो भावाऽऽचार्य उक्तः । तत्स्वरूपव्याख्यानार्थमाह—

आ मज्जायावयणो, चरणं चारो त्ति तीए आयारो ।
सो होइ नाणदंसण-चरित्ततवविरियविग्पओ ॥३१६३॥
तस्सायरणपभासण-देसणओ देसिया विमोक्खत्थं ।
जे ते भावाऽऽयरिया, भावायारोवउत्ता य ॥ ३१६४ ॥
अहवाऽऽयरंति जं सय-मायरेंति व जमायरिज्जंति ।
मज्जायया ऽभिगम्मं-ति जमुत्तं तेणमायरिया ॥३१६५॥

गाथसिद्धा एव, नवरं ' तीए ' त्ति-तया—मर्य्यादया चरणमाचार. । ' तस्से ' त्यादि, तस्य—पञ्चविधस्याचारस्य स्वयमाचरणतः परेषा च प्रभाषणत तथा विनेयाना वस्तुप्रत्युपेक्षणादिक्रियाविधेर्दर्शनतो ये परात्मनो मोक्षार्थं ' देसिय ' त्ति-देशितारस्ते भावाचारोपयुक्तत्वाद्भावाचार्य्या इति । अथवा-स्वयं यस्मादाचरन्ति सदनुष्ठानम् , आचरयन्ति चान्यै. । अथवा-आचर्य्यन्ते-मर्य्यादया अभिगम्यन्ते यतो मुमुक्षुभिरिति यदुक्तमेतत्तात्पर्यमित्यर्थ., तेनाऽऽचार्या. । विशे० ।

कस्याऽऽचार्यस्याऽऽज्ञा नाऽतिक्रमणीयेत्यधिकृत्य—

गोयमा ! चउव्विहा आयरिया भवंति, तं जहा–नामाऽऽयरिया १, ठवणायरिया २, दव्वायरिया ३, भावायरिया ४ । तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतियाणं णाइक्कमेज्जा, से भयवं ! कयरे णं ते भावायरिया भवंति, गोयमा ! जे अज्जपव्वइए वि आगमविहीए पयं पए पए आणाणुसंचरंति ते भावायरिया । जओ णं वाससयदिक्खिए वि हुत्ताणं वायामेत्तेणं पि आगमओ बाहिं करेंति ते णामठवणाहिं णिओइयव्वे । से भयवं ! आयरियाणं केवइयं पायच्छित्तं भवेज्जा । जेसिं गच्छस्स साहू णो त आयरियमयहरपविनिग्गीए य मत्तरमगुणं अहाणं सीलखलिए भवंति । तओ तिलक्खगुणं जं अइदुक्करणासज्जं सुकर तम्हा मव्वहा मव्वपयारेहिं णं आयरियमयहरे पवित्तिणिए य अत्ताण पायच्छित्तस्स सरक्खेयव्वं अखलिअसीलेहिं च भवियव्व । महा० ५ अ० ।

(२) आचार्यस्य भेदा —

तओ आयरिया पण्णत्ता । सिप्पायरिया १, कलायरिया २, धम्मायरिया ३ । जे ते धम्मायरिया, परलोगहियट्ठाए, निज्जरट्ठाए, आराहेयव्वा । अण्णे कलायरिया, सिप्पायरियाए, कइएहिं, कित्तबुद्धिए, आराहियव्वे । तत्थेग धम्मायरिया, सोवागकरंडसमा । वइ्डाऽकथरयप्पयगाहाईहिं जे सुद्धगभाए चक्खाणिति ते सोवागकरंडसमा । वेसाकरंडसमा–जो रीरी आहारणमरिसजीहावक्खाणाडंबरेण अतरं सुअसारविरहियाऽवि सुद्धसभाए जण विमोहिंति गेरविंति अप्पाण थुतसि आलुच अत्थेण पाडिंति गोयमगणहराणं उवमाए ते वेसाकरंडसमा । गाहावइकरंडसमा–जे संम ससुवसियसुगुरूहिंतो संपत्त अगोवंगाइ सुत्तत्थेसु परिच्छिय च्छेयगंथा ममसय-परसमयणिच्छया परोवयारकरणिक्कभल्लिच्छया । जणजोगविहीए अणुओगं करिंति ते गाहावइकरंडसमा । रायकरंडसमा–जे गणहरा चउदसपुव्विणो वा घडाओ घडसयं, पडाओ पडसयं, इचाइं विहाइं सयमंसाणिया ते रायकरंडसमा । गाहावइकरंडसमाणे, रायकरंडसमाणे, दोवि आयरिए तित्थयरसमाणे । अंग० ।

(आचार्यस्य यथोचितसत्कार)—

केसीकुमारसमणे पदेसिं रायं एवं वयासी–जाणासि णं तुम्हं पएसी केवइयाऽऽयरिया पण्णत्ता ?, हता ! जाणामि, तओ आयरिया पण्णत्ता । तं जहा कलायरिए १, सिप्पायरिए २, धम्मायरिए ३ । जाणासि णं तुम्हं पएसी तेसिं तिण्हं आयरियाणं कस्स का विणयपडिवत्ती पउंजियव्वा ?, हंता जाणामि–कलायरियस्स, सिप्पायरिअस्स उवलेवणं वा संमज्जणं वा करेज्जा, पुप्फाणि वा आणावेज्जा, मडवेज्जा वा, भोयवेज्जा वा, विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलएज्जा, पुत्ताणं पुत्तियं वावि विकप्पेज्जा ॥ जत्थेव धम्माऽऽयरियं पासेज्जा तत्थेव वंदिज्जा णमंसेज्जा सक्कारेज्जा सम्माणेज्जा कल्लाणं मंगलं चेव पज्जुवासेज्जा फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेज्जा पाडिहारिएणं पीठफलगसेज्जासंथारतेणं उवनिमंतिज्जा ।.सूत्र-+)। रा० ।

आचार्यस्त्रिविधस्तद्यथा—

सीहाऽणुगवसभ-कोट्ठगाणुगे ॥ ४०० + ॥

सिंहाऽनुगो १. वृषभाऽनुग २. क्रोष्टुकाऽनुगश्च ३ । क्रोष्टुक-शृगाल । यत्र यो महत्यां निषद्यायां स्थित सन् सूत्रमर्थं वा वाचयति तिष्ठति वा स सिंहानुग । य १ पुनरेकस्मिन् कल्पे स्थितस्सन् वाचयति तिष्ठति वा स वृषभानुग २। यस्तु रजोहरणनिषद्यायामौपग्रहिकपादप्रोञ्छने वा स्थितो वाचयति तिष्ठति वा स क्रोष्टुकानुग इति ४। व्य० १ उ० । नि० चू० २० उ० ३४३ गाथा । (कस्याचार्यस्य क आचार्ये आलोचना दद्यात् इत्यादिवहुवक्तव्यता 'आलोयणा' शब्देऽस्मिन्नेव भागेऽग्रे वक्ष्यते)

(३) स्वरूपमाचार्यस्येह परत्र च—

आयरिओ केरिसओ, इहलोए केरिसो व परलोए ।
इहलोए असारणिओ, परलोए फुडं भणंतो ॥ ३८१ ॥

य एष उपग्रहकृदाचार्यस्तमेव ज्ञातुमिच्छामि कीदृश खल्वाचार्य इहलोके हितकारी, कीदृश परलोके इति, सूरिराह–चतुर्विधमसामान्येनाऽऽचार्य, तद्यथा–इह लोके हितो नामैको, न परलोके हित १ । परलोकहितो, नेह लोकहित २ । इह लोके हितोऽपि, परलोके हितोऽपि ३ । न इह लोकहितो, नापि परलोकहित ४ । तत्र प्रथमद्वितीयभङ्गव्याख्यानमाह–' इहलोए ' इत्यादि, तत्र यो वस्त्रपात्रभक्तपानादिक समस्तमपि साधूनां पूरयति, न पुन सयमे सीदतस्सारयति स –असारणिक, सारणारहित इह लोके हितो न परलोके, एषा प्रथमभङ्गभावना । य पुनस्सयमयोगेषु प्रमाद्यता सारणा करोति न च वस्त्रपात्रभक्तपानादिक प्रयच्छति, स केवल स्फुट भणन् कुर्वाण परलोके हितो, नेह लोके, इति सामर्थ्याद्गम्यते, एषा द्वितीयभङ्गभावना । तृतीयचतुर्थभङ्गभावना तु स्वय भावनीया । सा चैवम्–यो वस्त्रपात्रभक्तपानादिक समस्तमपि साधूना पूरयति सयमयोगेषु च सीदतस्सारयति स इहलोके हित परलोके च हित चतुर्थ उभयरहित । अत्र पर आह—ननु यो भद्रस्वभावतया न सारयति वस्त्रपात्रभक्तादिक तु समस्तमापूरयति स एव समीचीन, य पुन खरपुरुष कुर्वाण –चण्डरुद्राचार्य इव सारयति स न समीचीन, असमाध्युत्पादकत्वात् ।

तत्राऽऽह—

जीहाएऽभिलिहंतो, न भद्दतो जत्थ सारणा नऽत्थि।
दंडेणऽवि तार्डेतो, स भद्दतो सारणा जत्थ ॥ ३८२ ॥

यत्र नाम संयमयोगेषु सीदतां सारणा नाऽस्ति स आचार्यो जिह्वयाऽभिलिहन्-मधुरवचोभिरानन्दयन्, उपलक्षणमेतत्—वस्त्रपात्रादिकं च पूरयन् न भद्रको—न समीचीनः परलोकाऽपायेषु पातनात्। यत्र पुनस्सीदतां साधूनां सम्यक् सारणा-संयमयोगेषु प्रवर्तना समस्ति स आचार्यो दण्डेनापि ताडयन् भद्रक-एकान्तसमीचीनः सकलसांसारिकाऽपायेभ्यः परित्राणकरणात्।

अथ सारणमकुर्वाणो जिह्वया विलिहन् कस्मान्न समीचीन इत्यत्राऽऽह—

जह सरणमुवगयाणं, जीवियववरोवणं नरो कुणइ।
एवं सारणियाणं, आयरितो असारओ गच्छे ॥ ३८३ ॥

यथा कोऽपि नर एकान्तेनाऽहितकारी शरणमुपागतानां जीवितव्यपरोपणं करोति एवं साधूनामपि शरणमुपागतानां संयमयोगेषु प्रमादव्यावर्तनेन प्रवर्तनीयानामाचार्योऽसारको गच्छे भावनीयः। सोऽपि शरणोपगतशिरोनिकर्त्तक इव एकान्तेनाऽहितकारीति भावः। शरणमुपगतानां संसारापारपारावारे निरनुकम्पं प्रक्षेपणात्, स च तादृश इह परलोकहितार्थिना परित्याज्यः। यस्तु खरपरुषभणनेनापि संयमयोगेषु सीदतः सारयति स संसारनिस्तारकत्वादेकान्तेनाऽऽश्रयणीयः। व्य० १ उ०। नि० चू०।

(४) प्रव्राजनाचार्याः, उपस्थापनाचार्याश्च। सूत्रम्—

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा-पव्वायणायरिए एगे नामं; नो उवट्ठावणा आयरिए १। उवट्ठावणायरिए नामं एगे; नो पव्वावणायरिए २। एगे पव्वावणायरिएऽवि; उवठावणायरिएवि ३। एगे नो पव्वायणायरिए; नो उवठायणायरिए धम्मायरिए ४ ॥१२॥

अस्य (सूत्रस्य) सम्बन्धमाह—

अदढाऽपियधम्माणं, तव्विवरीए करेंति आयरिए।
तेसिं विहाणमि इमं, कमेण सुत्तं समुद्दिट्ठं तु ॥ ३७ ॥

अदृढधर्माणामप्रियधर्माणां चानुशासनाय स्थविरा आचार्याः। व्याख्यानार्थमाह—

पव्वावण उट्ठावण, उभय नोभयमिति चउत्थो।
अत्तऽट्ठपरऽट्ठा वा, पव्वावणा केवला पढमे ॥ ३८ ॥
एवमेव य बितितो वि, केवलमेत्तं उवट्ठवे सो उ।
तइओ पुण उभयं पि, अत्तऽट्ठपरऽट्ठ वा कुणउ ॥ ३९ ॥
जो पुण नोभयकारी, सो कम्हा भवति आयरिगो उ।
भण्णति धम्माऽऽयरितो, सो पुण गहितो व समणो वा ॥४०॥

प्रथमे-प्रव्राजनाऽऽचार्य्ये। द्वितीये-द्वितीयभङ्गेन सूचित उपस्थापनाचार्यः। तृतीयभङ्गसूचित उभयः। प्रव्राजनोपस्थापनाचार्य्यः। तत्र प्रथम —प्रथमस्यात्मार्थस्य परार्थस्य केवला प्रव्राजना। किमुक्तं भवति—आत्मनिमित्तं, परनिमित्तं वा यः केवलं प्रव्राजयति स प्रथमः प्रव्राजनाचार्य्यः। एवमेव-अनेनैव प्रकारेण द्वितीयः स केवलं मात्रम् उपस्थापयति; यः प्रव्राजितस्य सतुपस्थापनामात्रं करोति स द्वितीय इत्यर्थः। तृतीयः पुनरपि प्रव्राजनमुपस्थापनं वाऽऽत्मार्थं परार्थं वा करोति, यः पुनर्नोभयकारी स चतुर्थः। अथ स कस्मादुच्यत्याचार्यः उभयविकलतयात्सूरिराह—भण्यते स धर्माचार्यो धर्मदेशकत्वात् स पुनर्गृही श्रमणो वा वेदितव्यः।

एवं च यत्राऽऽचार्याः तथा चाह—

धम्मायरिपव्वायण, तह य उट्ठावणा गुरू तइओ।
को इ तिहिं संपन्नो, दोहिँ वि एकेकएणं वा ॥ ४१ ॥

प्रथमो धर्माचार्यो यस्तत्प्रथमतया धर्मं ग्राहयति १। द्वितीय प्रव्राजनाचार्यो यः प्रव्राजयति २। तृतीयो गुरुरुपस्थापनाचार्यो यो महाव्रतेषूपस्थापयति ३। तत्र कश्चित्त्रिभिरपि संपन्नो भवति। तथाहि—कदाचित्स एव धर्मं ग्राहयति स एव प्रव्राजयति स एवोपस्थापयति कश्चिद् द्वाभ्याम्, तद्यथा-धर्मग्राहकत्वेन प्रव्राजनेन च, अथवा—धर्मग्राहकत्वेनोपस्थापनेन केनचिदेकैकेन गुणेन तद्यथा। कश्चिद् धर्ममेव ग्राहयति। कश्चित्प्रव्राजयत्येव कश्चिदुपस्थापयत्येव।

सूत्रम्—

चत्तारि आयरिया पन्नत्ता। तं जहा-उद्देसणाऽऽरिए एगे णामं; एगे नो वायणायरिए १, वायणायरिए एगे णामं; एगे णो उद्देसणायरिए २, एगे उद्देसणायरिए वि; वायणायरिए वि ३, एगे नो उद्देसणायरिए, नो वायणायरिए ४ ॥ १३ ॥

अमीषां स्वरूपमाह—

एगो उद्दिसइ सुयं, एगो वाएइ तेण उद्दिट्ठं।
उद्दिसई वाएइ य, धम्माऽऽयरिओ चउत्थो य ॥ ४२ ॥

एकः-प्रथमः श्रुतमुद्दिशति न वाचयति यथा मङ्गलबुद्ध्या प्रथमत आचार्य उद्दिशति तत उपाध्यायः। अथाचार्ये प्रथमभङ्गवर्ती-उपाध्यायो द्वितीयभङ्गे, तथा चाह-एको द्वितीय उपाध्यायस्तेनाऽऽचार्येणोद्दिष्टं वाचयति य एवोद्दिशति स एव वाचयति एष तृतीयः, उभयविकलश्चतुर्थो धर्माचार्यः। व्य० १० उ०। आचार्यते-सेव्यते वा आचार्यः, स च पञ्चधा-प्रव्राजकाचार्य १, सचित्ताचित्तमिश्रानुज्ञायी दिगाचार्यः २, प्रथमत एव श्रुतमुद्दिशति यः स उद्देशाचार्यः ३, उद्देष्टुर्गुर्वभावे तदेव श्रुतं समुद्दिशत्यनुजानीते वा य स समुद्देशानुज्ञाचार्य ४, आम्नायम्-उत्सर्गापवादलक्षणमर्थं वक्ति यः स प्रवचनार्थकथनेनानुग्राहकोऽन्तेवास्यानुज्ञायी आम्नायार्थवाचकाचार्य ५, । ध० ३ अधि० ११६ श्लोक।

(५) स्वरूपमाचार्यस्य। कीदृश आचार्यस्तत्स्वरूपमाह-

सुत्तत्थतदुभएहिं, उवउत्ता णाणदंसणचरित्ते।
गणतत्तिविप्पमुक्का, एरिसया हुंति आयरिया ॥ ३२५ ॥

ये सूत्रार्थतदुभयोपेता इति गम्यते। तथा सततं ज्ञानदर्शनचारित्रे समाहारो द्वन्द्वः। ज्ञानदर्शनचारित्रेषु उपयुक्ताः कृतोपयोगाः। तथा गणस्य गच्छस्य या तप्तिस्सारा * तया विप्रमुक्ताः। गणावच्छेदप्रभृतीनां तस्याः समर्पितत्वादुपलक्षणमेतत्। शुभलक्षणोपेताश्च य एतादृशा भवन्त्याचार्य्याः। ते चार्थमेव केवलं भाषन्ते न तु सूत्रमपि वाचयन्ति। तथा चोक्तं। "सुत्तत्थविऊलक्खण, जुत्तो गच्छस्स मेढिभूतो य॥ गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं भासेइ आयरियो" ॥ अथ किं कारणमाचार्य्यास्स्वयं सूत्रं न वाचयन्तीत्यत आह॥

एगग्गया य झाणे वुड्ढी, तित्थयरअणुगिई गरुया।
आणयेज्जमिति गुरु, कयरिणमुक्खो न वाएई॥

सूत्रवाचनाप्रदानपरिहारेणार्थमेव केवलंव्याख्यानाय आचार्य्यस्य एकाग्रता एकाग्रमनस्कता ध्यानेऽर्थचिन्तनात्मके भवति। यदि पुनस्सूत्रमपि वाचयेत्तदा बहुव्यग्रत्वादर्थचिन्तायामेकाग्रता न स्यात्, एकाग्रतयाऽपि को गुण इत्यत आह। वृद्धिः। एकाग्रस्य हि सतोऽर्थं चिन्तयतस्सूत्रार्थस्य तत्र सूक्ष्मार्थोन्मीलनाद्वृद्धिरुपजायते। तथा तीर्थकरानुकृतिरेव कृता भवति। तथाहि। तीर्थकृतो भगवन्तः किलार्थमेव केवलं भाषन्ते न तु सूत्रं नापि गणतप्तिं कुर्व्वन्ति। एवमाचार्य्या अपि तथा वर्तमानास्तीर्थकरानुकारिणो भवन्ति। सूत्रवाचनां तु प्रयच्छतामाचार्य्याणां लाघवमप्युपजायते। तद्वाचनायास्ततोऽधस्तनपदवृत्तिभिरप्युपाध्यायादिभिः क्रियमाणत्वादेवं च तस्य तथा वर्तमानस्य लोके राज्ञ इव महती गुरुता प्रादुर्भवति। तद्गुरुतायां च प्रवचनप्रभावना तथा आज्ञायां स्थैर्यमाज्ञास्थैर्यं कृत भवति तीर्थकृतामेवमाज्ञा पालिता भवतीत्यर्थः। इय हि तीर्थकृतामाज्ञा यथोक्तप्रकारेण भगवदनुकारिणा आचार्येण भवितव्यमित्यस्मात् हेतुकलापात् गुरुराचार्यः। कृतः ऋणमोक्षोयेन स कृतऋणमोक्षस्तेन हि सामान्यावस्थायामनेके साधवस्तत्र सूत्रमध्यापितास्तत ऋणमोक्षस्य कृतत्वात्सूत्रं न वाचयति॥ उक्तमाचार्यस्वरूपम्॥ व्य० खं १ उ. १॥

(६) लक्षणमाचार्य्यस्य ॥

आवश्यकचूर्णौ॥

किंचि आयरिय आयारकुसलं एवं संजमपवयणसगहउवग्गहणुग्गहकप्पववहारपन्नत्तिदिट्ठिवायससमयपरसमयकुसल ओयंसिं तेयंसिं वच्चंसिं जसंसिं दुद्धरिसं अलहुगचित्त जितकोह पयार जितिंदियं जीवितास समरणभयविप्पमुक्क जियपरिस्सहं पुव्वरयपुव्वकीलियपुव्वसयवाविरहितं णिम्मम निरहंकारं अणाणुतावि सक्कारलाभालाभसुहदुक्खमाणा अवमाणसहं अचवल असवलम् असकिलिट्ठ णिव्वणचरित्त दसविह आलोयणदोसविहिन्नु अट्ठारसआयारट्ठाणजाणगं अट्ठविहालोयणारिहगुणोवदेसगं आलोयणारिह सुतरहस्सं अपरिस्साइ पायच्छित्तकुसल मग्गामग्गवियाणग उग्गहईहअवायधारणापवरबुद्धिकुसलं अणुओगजाणग णयविहिन्नु आहरणहेउकारणणिदरिसणउवमाणिरुत्तलेहट्ठअट्ठुत्तर रिसिहिं बहुविहउपायागारोपदेसणइंगितायारणे गमाभिलासितमूगत्तमणुवदिट्ठ वाहयसच्छदविकप्पविहिविहिन्नु लिविगणितसहत्थाणिमित्तउप्पादपौराणपभिच्चसमावजाणगं वसुहसम सीतघरस माणं पुक्खरपत्तमिव, णिरुवलेव वायुमिव, अप्पभिबद्ध पव्वयमिव, णिप्पकंप सागरमिव, अक्खोभ कुम्मो, इव गुत्तिदिय जव्वकणगमिव, जायतेय चन्दमिव, सोम्मं सूरमिव, दित्ततेय सलिलमिव, सव्वजगणिव्वुइकर गगणमिव, अपरिमितणाणं मतिकेतु सूयकेतुं सुदिट्ठत्थं सुपरिट्ठितत्थं एगं आयतसुहगवेसग दुहोसजढ तिदंडविरत तिगारवरहितं तिसल्लणिसल्ल तिगुत्तिगुत्त तिगणविसुद्ध चउव्विहविकहाविवज्जियमतिं चउक्कसायविजढ चउव्विहविलुद्धबुद्धि चउव्विहाहारणीरालवमतिं पञ्चसमितं पञ्चमहव्वयधारगं पञ्चविधविहारजाणगं पञ्चविहचरित्तजाणग पञ्चविहचरित्तलक्खणसपन्न छव्विहविकहाविवज्जगं छव्विहदव्वविधिवित्थरजाणगं छट्ठाणविसुद्धपच्चक्खाणदेसग छज्जीवकायदयापर सत्तभयविप्पमुक्क सत्तविहसंसारजाणग सत्तविहगुत्तोवदेसग अट्ठविहमाणमहण अट्ठविहबाहिरज्झाणजोगरहिय अट्ठविहब्भंतरज्झाणजुत्तं अट्ठविहकम्मगंठिभेदग नवबंभचेरवावत्तिघातक दसविहसमणधम्मजाणग एक्कारससातियक्खरविहिवियाणग एक्कारसउवासगपडिमोवदेसगं बारस भिक्खुपडिमाफासगं बारसगतवभावणाभावितमतिं बारसंगसुत्तत्थपारगं एवमाइगुणोववेयस्स णिम्मधमहिरिसिस्स सगलं सकम्म कितिकम्म काऊणं भषाति भगवं बहुपुरिसपरंपरागय ससारणित्थरणोपायं आवस्सगाणुओग मिच्छामि तस्सायरिओ गुणमहप्पणया आवस्सयाणुओग परिकहेइ ॥ आ चू ॥

ईदृशि गुरौ गुणमाह॥

भत्तिबहुमाणसद्धा, थिरयाचरणंमि होइ सेहाणं॥
एआरिसम्मि नियमा, गुरुंमि गुणरयणजलहिंमि॥ १५॥

व्याख्या। भक्तिबहुमानाविति भक्तिर्बाह्यविनयरूपा बहुमानो भावप्रतिबन्धः एतौ भवतः॥ शिक्षकाणामभिनवप्रव्रजितानामिति योगः। केत्याह ईदृश्येव स्तुते गुरौ आचार्ये नियमान्नियमेन पुनरपि स एव विशिष्यते। गुणरत्नजलधौ गुणरत्नसमुद्र इति ततः श्रद्धास्थिरताचरणे भवतीति। तथाहि। गुरुभक्तिबहुमानभावत एव चारित्रे श्रद्धा स्थैर्यं च भवति नान्यथेति गाथार्थः॥ गुणान्तरमाह॥

अणुवत्तगो अएसो, हवइ दढं जाणई जओ सत्ता॥
चित्ते चित्त सहावे, अणणुवत्ते तह उवायं च॥ १६॥

व्याख्या। अनुवर्तकश्च एषोऽनन्तरोदितो गुरुर्भवति दृढमत्यर्थं कुत इत्याह। जानाति यतः सत्वान् प्राणिनश्चित्रान् नानारूपांश्चित्रस्वभावाश्चानास्वभावान् अनुवर्त्यानन्नुवर्तनीयान् तथोपायं चानुवर्तनोपायच जानातीति गाथार्थः। प. व०

(७) गुणा आचार्य्यस्य यै रहितो गुरुर्न भवति ॥

गुरुगुणाश्च षट्त्रिंशदनुयोगशब्दे ॥

गुरुगुणरहितस्य गुरोर्विधिना परित्यागः॥

गुरुगुणरहिओ उ गुरू, न गुरू विहिचायमो उ उद्दिट्ठो॥
अच्चत्थसंकमेणं, ण उ एगागित्तणेणं ति॥ २४॥

* तत्तिश्चिन्ता। प्रतिमाशतके श्लोक ६५ तमे॥

व्याख्या। गुरुगुणाः सज्ज्ञान सदनुष्ठानविशेषास्तै रहितोहीनोगुरुगुणरहितः तुशब्दः पुनरर्थः। गुरुर्धर्म्माचार्य्योगुरुर्नधर्म्माचार्य्यो भवति। सुवर्णगुणविकलं सुवर्णमिव। ततश्च (विहिचायमो त्ति) इह मकारो ह्याक्षणिकस्ततश्च विधित्याग एवागमिकन्यायेन परिहार एव तस्य गुरोरिष्टो ऽभिमतो जिनानां। स च न यथा कथ चिदत एवाह। अन्यत्र गुरुकुलान्तरे संक्रमे ग्र प्रवेशेन न पुनरेकाकित्वेन एकाकिविहारितयेति। गुरुकुलान्तरसंक्रमणे विधिश्च" सदिट्ठो सदिट्ठस्स चेव सपज्जइ उपमाइ॥ चउभंगो एत्थ पुण, पढमो भगो हवइ सुद्धो,,॥१॥ इत्यादिरागमप्रसिद्ध इति सर्वथा गुरुरहितेन न भाव्य मिति भावो यदाह"एस अणेसणं वा, कहं तेनार्हिति जिणवरमय वा॥ करिणं मिव पोयाला, जे मुक्का पव्वइय-मेत्ता" इतिशब्दः प्राग्वदिति गाथार्थः॥ पंचा. वृ. ११॥ अथ गुरुगुणरहितस्तु गुरुर्न गुरुरिति विधित्याग एव तस्येष्ट इति यदुक्तं तत्र विशेषाभिधानायाह॥

गुरुगुणरहिओ वि इह, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो॥
जोण उ गुणमेत्तविहीणोत्ति चंडरुद्दो उदाहरणं॥२०॥

व्याख्या। गुरुगुणरहितोऽपि अपि शब्दोऽत्र पुनः शब्दार्थस्ततश्च गुरुगुणरहितो गुरुर्न भवति। गुरुगुणरहितः पुनरिह गुरुकुलवासप्रक्रमे स एव दृष्टव्योज्ञातव्यो मूलगुणवियुक्तो महाव्रतरहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाविरहितोवा यो न तु नपुनर्गुणमात्रविहीनो मूलगुणव्यतिरिक्तप्रतिरूपताविशिष्टोपशमादि गुणविकल इति हेतोर्गुरुगुणरहितोदृष्टव्य इति प्रक्रमः उप प्रदर्शनार्थोवा इति शब्दः उक्तं चेहार्थे "काल परिहाणिदोसा,एत्तो इक्काइगुणविहीणेण॥ अन्नेण विप्पव्वज्जा,-दायव्वा सीलवंतेणं" अत्रार्थे किं ज्ञापकमित्याह। चंडरुद्रश्चंडरुद्राभिधानाचार्य उदाहरण ज्ञापकं तत्प्रयोग श्चैवं॥ गुणमात्रविहीनोऽपि गुरुरेव मूलगुणयुक्तत्वात् चंडरुद्राचार्यवत् तथा ह्यसौ प्रकृतिरोषणोऽपि बहूनां सविग्नगीतार्थशिष्याणाममोचनीयः विशिष्टबहुमानविषयश्चाभूत्। पचा० वृ० ११॥

(८) गुणा आचार्य्यस्य अपरिश्रावीत्यादि॥

पुनरप्याचार्यगुणानाह।

अपरिस्सावी सम्मं, समपासी चेव होइ कज्जेसु।
सोरक्खइ चक्खुपिव सबालवुड्ढाउलं गच्छं॥२२॥

व्याख्या। न परिश्रवति परिकथयितात्मगुह्यजलमित्येवं शीलोऽपरिश्रावी आलोचनामाश्रित्य आचारांगोक्ततृतीयभगतुल्य इत्यर्थः। भगाश्चैते। एको-ह्रदः परिगलत्स्रोताः पर्यागलत् श्रोताश्च शीता शीतोदा प्रवाहह्रदवत्। यतस्तत्र जलं निर्गच्छत्यागच्छति च।१। अपरः सुपरिगलच्छ्रोता नो पर्यागलत् श्रोताः पद्मह्रदवत् पद्मह्रदे तु जलं निर्गच्छति नत्वागच्छति।२। तथा परोनो परिगलत् श्रोता पर्यागलत् श्रोताश्च लवणोदधिवत् लवणे आगच्छति जलं न तु निर्गच्छति।३। अपरस्तु नो परिगलत् श्रोता नो पर्यागलत् श्रोताश्च मनुष्यलोकाद्बहिः समुद्रवत् तत्र नागच्छति न च निर्गच्छति।४। तत्राचार्य॰ श्रुतमंगीकृत्य प्रथमभगपतितः श्रुतस्य दानग्रहण सद्भावात्।१। सांपरायिककर्मापेक्षया तु द्वितीयभगपतितः कषायोदयाभावेन भवणाभावात् तप॰ कायोत्सर्गादिना क्षपणापतेश्च सांपरायिककर्म कषायकर्म्म।२। आलोचनामंगीकृत्य तृतीयभगपतितः आलोचनाया अपरिश्रावित्वात्।३। कुमार्गं प्रति चतुर्थभगपतितः कुमार्गस्यहि प्रवेशानिर्गमाभावात्।४। यदि वा केवलश्रुतमाश्रित्य भगा योज्यते तत्र स्थविरकल्पिकाचार्याः प्रथमभगपतिताः।१। द्वितीयभगपतितास्तु तीर्थकृतः।२। तृतीयभगपतिता यथा छंदिकाः तेषां तुक्वचिदर्थपरिसमाप्तावाचार्यादेर्निर्षेधसद्भावात्।३। प्रत्येकबुद्धास्तूभयाभावाच्चतुर्थभंगस्थाः।४ सम्यक्सर्वथेत्यर्थः। (समपासी चेव होइकज्जेसु त्ति) सममविपरीत पश्यतीत्येवं शीलः समदर्शी"इसो नियच्छ पंचेहे"त्यादिना इशोः पासादेशः। एव विध एव योभवति क्व कार्येषु आगमव्याख्यानादिसकलव्यापारेष्वित्यर्थः। स आचार्यः रक्षति गच्छं गण किंभूत सबालाश्चते वृद्धाश्च सबालवृद्धास्तैराकुलः सकीर्णस्त सबालवृद्धाकुलं किमिव चक्षुरिव॥

यथाचार्यस्वरूपमाह।

सीआवेइ विहारं, सुहसीलगुणेहिं जो अबुद्धीओ॥
सन वरं लिंगधारी, संजमजोएण निस्सारो॥२३॥

व्याख्या (जो अबुद्धी ओत्ति) य आचार्योऽबुद्धिकस्तत्वज्ञानरहितः (सीयावे इत्ति) सीदयति शिथिलीकरोति क विहार नवकल्परूपं गीतार्थादिरूपं वा। कैः सुखशीलगुणैः सुखशीलस्य सातामिलाषिणो गुणाः पार्श्वस्थादिस्थानानि सुखशीलगुणास्तैः (स नवरित्ति) केवल लिंगधारी वेषमात्रधारी संयम आश्रवनिरोधरूपस्तस्य योगः प्रतिलेखनादिव्यापारस्तेन रहितत्वात् निस्सारश्चर्वितताम्बूलवदिति गाथाछंदः॥ २३॥

कुलगामनगररज्जं, पयहियं जो तेसु कुणइ हुममत्तं॥
सोन वरि लिंगधारी संजमजोएण निस्सारो॥२४॥

व्याख्या। कुलं गृहं ग्रामं सकरं नगरमष्टादशकररहितं राज्य सप्तांगमयं उपलक्षणत्वात् धूलीप्राकारपरिक्षिप्तं खेट कुनगरकर्वटं सर्वथार्द्धतृतीयगव्यूतांतरग्रामान्तररहितं मडंबं जलपयोपेतं जलपत्तनं द्वीपमिव स्थलपयोपेत स्थलपत्तनं लोहादिधातुजन्मभूमिरूप आकर जलस्थलपथाभ्यामुपेतं द्रोणमुख वणिक् समूहवासं निगममित्यादि ज्ञेयं (पयहियत्ति) प्रहायत्ति प्रहाय्यं प्रकर्षेण त्यक्त्वा पुनर्यः आचार्यस्तेषु कुलादिषु करोति विधत्ते हु पुनरर्थे ममत्व ममैतदित्यभिप्रायमित्यर्थः। स सूरिः नवरि केवलं वेषधारी सयमयोगेन निस्सार इति गाथा छन्दः॥ २४॥

अथ पुनरपि सुन्दराचार्यप्रशंसामाह॥

विहिणा जो उ चोएइ, सुत्तं अत्थं च गाहइ॥
सो धन्नो सो अपुणो अ, सवन्धू मुक्खदायगो॥२५॥

व्याख्या"विधिणा धर्म्ममइयाहिं अइसुदरेहिं कारणगुणोयणियाहिं पल्हायन्तो श्रमण सीस चोएई आयरिओ" इत्याद्यागमोक्तप्रकारेण (जोचत्ति.) यः पुनराचार्य॰ (चोएत्ति) चोदयति प्रेरयति शिष्यगणं कृत्यकरणादौ तथा सूत्रमाचारांगादिश्रुतविधिनेत्यस्यात्रापि सम्बन्धनात् व्यवहारदशमोद्देशकादयुक्तेन विधिना ग्राहयति पाठयति सूत्रपाठनानन्तरं तस्य

निर्युक्तिभाष्यचूर्णिसंग्रहणीवृत्तिटिप्पनकादिपरंपरोपलब्धमर्थं च विधिनेत्यस्याऽत्राप्यभिसम्बन्धनात् "सुत्तत्थो खलु पढमो बीओ" इत्यादिना श्रीभगवतीसूत्रपञ्चविंशतितमशतकतृतीयोद्देशकश्रीनन्दिसूत्रावश्यकनिर्युक्त्याद्युक्तेन विधिनैव ग्राहयति बोधयति अथवा सूत्रमर्थं च विधिना गाहते निरंतरं स्वयमभ्यस्यतीत्यर्थः से आचार्यो धन्यः पुण्यवान् अतएव (सो अ पुणोयत्ति) स पुण्य एव पवित्रात्मैव यधुरिव बन्धुः । कुमत्यादिनिवारकत्वेन परमहितकर्तृत्वात् अतएव (मुक्ख दायगोत्ति) मोक्षप्राप्तिहेतुज्ञानादिरत्नत्रयसंभकत्वेन मोक्षदायक इति अनुष्टुप्छन्दः ॥२५॥

सएव भव्वसत्ताणं, चक्खुभूए वियाहिए ॥
दंसेइ जो जिणुद्दिट्ठं, अणुट्ठाणं जहट्ठिअं ॥ २६ ॥

व्याख्या । स एवाचार्यो भव्यसत्वानां मोक्षगमनयोग्यजंतूनां चक्षुर्भूतो नयनतुल्यो व्याहृतः कथितो जिनादिभिः । स कोयो जिनोद्दिष्टमाप्तोक्तमनुष्ठानं मोक्षपथप्रापकरत्नत्रयाराधनमित्यर्थः । यथा स्थितमवितथं दर्शयति कुमतिनिराकरणेन प्रकटीकरोतीति अनुष्टुप्छन्दः ॥ २६ ॥

अथ पूर्वार्द्धेन सूरेर्गुणविशेषेण तीर्थकरसाम्यमुत्तरार्द्धेनाऽऽज्ञोल्लंघिनस्तस्य कापुरुषत्वं च दर्शयन्नाह ॥

तित्थयरसमोसूरी, संमं जो जिणमयं पयासेई ॥
आणं अइक्कमन्तो, सोकापुरिसो न सप्पुरिसो ॥२७॥

व्याख्या । स सूरिस्तीर्थंकरसमः सर्वाचार्यगुणयुक्ततया सुधर्मादिवत्तीर्थंकरकल्पो विज्ञेयः । न च वाच्य चतुस्त्रिंशदतिशयादिगुणविराजमानस्य तीर्थंकरस्योपमा सूरेस्तद्विकलस्यानुचिता । यथा तीर्थंकरोऽर्थं भाषते एवमाचार्योऽप्यर्थमेव भाषते तथा । यथा तीर्थंकर उत्पन्नकेवलज्ञानो भिक्षार्थं न हिंडते एवमाचार्योऽपि भिक्षार्थं न हिंडते इत्याद्यनेकप्रकारैस्तीर्थंकरानुकारित्वस्य सर्वातिशयित्वस्य परमोपकारित्वादेश्च ख्यापनार्थं तस्या न्याय्यतरत्वात् । किंच श्रीमहानिशीथे पचमाध्ययनेऽपि भावाचार्यस्य तीर्थंकरसाम्यमुक्तं । यथा "सेभयव किं तित्थयरसंतिअं आणं नाइक्कमिज्जा ? उदाहु आयरिय संतिअं ? गोअमा ! चउव्विहा आयरिया भवन्ति । तं० नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया, तत्थ णं जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा तेसिं सन्तिअं आणं नाइक्कमेज्जत्ति,, स कः यः सम्यग् यथास्थितं जिनमतं जगत्प्रभुदर्शनं नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतरूपनयसप्तकात्मकं प्रकाशयति भव्यानां दर्शयतीत्यर्थः । तथा आज्ञां तीर्थंकरोपदेशवचनरूपां अतिक्रामन् वितथप्ररूपणादिनोल्लंघयन् स सूरिः कापुरुषः पुरुषाधमः नसत्पुरुषो न प्रधानपुरुष इति । इहचाऽऽज्ञोल्लंघिन कापुरुषत्वमात्रमैहलौकिकं फल पारलौकिकं तु तदनेकदुःखसहदुःखसन्ततिसम्वलितमनन्तसंसारित्वं श्रीमहानिशीथपञ्चमाध्ययनोक्तसावद्याचार्यस्येव ज्ञेयं ॥

तस्माद्गच्छाधिपतिना सर्वदा सर्वार्थेषु अप्रमत्तेन भाव्यमिति पूर्वाचार्यसंस्कृतः सावद्याचार्यसम्बन्ध इत्येव विलोक्याऽऽचार्योपाध्यायप्रवर्तकादिना मोक्षार्थिना भगवदाज्ञया आगमार्थो निरूपणीय न स्वमत्या तथात्वेऽनन्तसंसारावाप्ति-रितिगाथाछन्द ॥ २७ ॥ ग अधि १ ॥

(ए) भ्रष्टाचारत्वं दुर्गुणस्सूरेः ॥

अथ के सूरयः आज्ञामतिक्रामन्तीत्याह ॥

भट्ठायारो सूरी भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी ॥
उम्मग्गट्ठिओ सूरी तिण्णिवि मग्गं पणासंति ॥ २८ ॥

व्याख्या । भ्रष्टः सर्वथा विनष्ट आचारो ज्ञानाचारादिर्यस्य स भ्रष्टाचारः सूरिरधर्माचार्यः १ भ्रष्टाचाराणां विनष्टाचाराणां साधूनामुपेक्षकः प्रमादप्रवृत्तसाधूनामनिवारयितेत्यर्थः । सूरिर्मंदधर्माचार्यः । २ । उन्मार्गस्थित उत्सूत्रादिप्ररूपणपरः सूरिरधमाधमाचार्यः । ३ । त्रयोऽप्येते मार्गं ज्ञानादिरूपं मोक्षपथ प्रणाशयन्ति जिनाज्ञामतिक्रामन्तीत्यर्थः । गाथाछन्दः ॥ २८ ॥

अथ तेषां त्रयाणां सेवकस्याशुभफलमाह ।

उम्मग्गनासए जोउ, सेवए सूरी नियेमणं ।
सो गोयम ! अप्पाणं, अप्पं पाडेइ संसारे ॥ २९ ॥

व्याख्या । उन्मार्गस्थितान् सन्मार्गनाशकान् १ (उ) शब्दात् भ्रष्टाचारान् २ भ्रष्टाचारोपेक्षकांश्च ३ सूरीन् यः सेवते पर्युपास्ते नियमेन निश्चयेन स नरो हे गौतम ! आत्मान आत्माना पातयति संसारे चतुर्गत्यात्मके इति गाथा छन्दः ॥ २९ ॥

अथ भंग्यन्तरेण एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह ।

उम्मग्गट्ठिओ एक्को, विनासए भव्वसत्तसंघाए ॥
तं मग्गामणुसरंतं, जह कुत्तारो नरो होइ ॥ ३० ॥

व्या० उन्मार्गस्थितः उत्सूत्रप्ररूपणानिरतः एकोऽपि अधिकारात् सूरिर्नाशयति संसारसमुद्रे अनंतानंतमरणप्रदानेन विनाशयतीत्यर्थः । कान् भव्यसत्वसंघातान् किं कुर्वतस्तान् तन्मार्गस्थितप्रदर्शितपथ अनुसरतः आश्रयतः प्राकृतत्वात् वचनव्यत्ययः । अत्र दृष्टांतमाह । यथा कुतारः कुत्सितस्तारकोनरो भवति स बहून् पृष्ठलग्नान् जंतुसमूहान् नद्यादौ विनाशयति गाथाछन्दः ॥ ३० ॥

अथोन्मार्गगामिनामेवाशुभफलं दर्शयति ।

उम्मग्गमग्गा संपट्ठि, याण साहूणंगोअमा ! नूणं ।
संसारो अ अणंतो, होई सम्मग्गनासीणं ॥ ३१ ॥

व्याख्या । उन्मार्गगाः गोशालकबोटिकनिन्हवादयः तेषां मार्गः परम्परा तस्मिन् अथवा उन्मार्गरूपो यो मार्ग स्तस्मिन् समित्येकीभावेन इति प्रकर्षेण स्थितानां साधूनां साधुलिंगधारकाणां हे गौतम ! नूनं निश्चितं संसारश्चतुर्गत्यात्मक अनंतो ऽपर्यंतो भवति चशब्दस्तद्गतानेकदुःखसूचकः । किंभूतानां तेषां सन्मार्गनाशिनां शुद्धपथोच्छेदकानां महानिशीथोक्तमुनिचन्द्रसाधुवत् इति गाथाछन्दः ३१ ग अधि. १ ॥

(प्रव्रज्यार्हाः पञ्चदशगुरवस्ते च प्रव्रज्याशब्दे)

सद्गुरुस्वरूपं दर्शयति ॥

देश खित्तं उ जाणित्ता, वत्थं पत्तं उवस्सयं ।
संगहे साहुवग्गं च सुत्तत्थं च निहालए ॥ १४ ॥

व्याख्या । आचार्यो देशं मालवकादिकं क्षेत्रं रूक्षारूक्षभाविताभावितादिरूप (उ) शब्दात् श्मशानादियोग्यं द्रव्य दुर्भिक्षादिकाल दातृपरिणामादिरूप भाव च ज्ञात्वा वस्त्र चीवर पात्रं पतद्ग्रहादि उपाश्रय मुनियोग्यालय सग

क्षीत कोऽर्थः । आचार्यः क्षेत्रादिकारणं ज्ञात्वा वस्त्रादिक मेस्यित्वा प्रायोगृहस्थानामदर्शयन् स्वपार्श्व एव संरक्षेत् न तु यथाकथंचिदित्यर्थः। तथा (साहु वग्गन्ति) साधूनां वर्गोवृन्दं साधुवर्गस्तं च साध्वीवर्ग च सगृह्णीत तु हीनाचारवर्गं तथा सुत्तत्थ च (निहालए) इति सूत्रमाचारांगादि अर्थो निर्युक्तिभाष्यचूर्णिसंग्रहिणीवृत्तिटिप्पनादिः । सूत्र चार्थश्चेति समाहारद्वन्द्वे सूत्रार्थं तन्निभालयति चिन्तयतीत्यर्थः । चशब्दात्साधूनामपि सूत्रार्थं ददातीति एव विधोयः स सदाचार्यः स्यादिति शेषः । इत्यनुष्टुप्छन्दः ॥ १४ ॥ ग अधि. १ टी ॥
भ्रष्टाचारस्य सूरेर्निन्दा यथा ॥

भट्ठायारोसूरी, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी ॥
उम्मगट्ठिओ सूरी, तिण्हि वि मग्गं पणासन्ति॥१॥

उम्मग्गट्ठिए सूरिम्मिनिच्छयं भव्वसत्तसंघाए। जम्हा तंमग्गमणुसरन्ति तम्हाणतंजुत्तं। एकंपि जोदुहत्तं सत्तं पडिबोहिं ठवे मग्गे । ससुरासुरंमि विजिगे तेण ह घोसियं आणाघोयं। भूए अत्थि भविस्सति केइ जगवन्दणीयकमजुयले। जेसिं परहियकरणे क्कवद्धलक्खाणवो लिही कालं । भूए अणागए काले ण केइ इहोहिंति गोयमा! सूरी । णामग्गहणेण वि जेसिं होज्जनियमेण पच्छित्तं। एयंगच्छिचवत्थं दुप्पसहाणंतरंतुजोखमे। तं गोयमाजाणगणिं निच्छयओ अणंतसंसारि । जेसयलजीवजगमंगलेक्ककल्लाण परमकल्लाणसिद्धिपए । वा वोच्छिन्ने पच्छित्तं होई तं गणिणो। तम्हा गणिणं समसत्तुमित्तपक्खेण पराहियरएणं कल्लाणकंखुणा अप्पणो विय आणाण लंघेया। एवं मेराण लंघेयव्वत्ति एवं गच्छववच्छ लंघितुनगारवेहिं पडिबद्धे संखाईए गणिणो अज्जवि वोहिं न पावंति। ण लभेहिंति य अन्ने अणंतहुत्तोवि परिभमं तितयं । चउगइभवसंसारोचेट्ठिज्जचिरसुदुक्खत्ते ॥ महा. ५ अ. ।

(१०) पराहितकारित्वं दुर्गुणः ॥
अथ ये नाममात्रग्रहणेनाऽपि पराहितकारिणः सूरयस्तानाह ॥

तीअणागयकाले, केई होहिंति गोयमा ! सूरी ।
जेसिं नामग्गहणे, वि होइ नियमेण पच्छित्तं ॥ ३७॥

व्या० । अतीतकाले ते केचिदनिर्दिष्टनामानोऽभूवन्निति शेषः । अनागतकाले च (होहिंति) भविष्याति आद्यतग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायेन वर्त्तमानकाले च सति। हे गौतम ! सूरयः आचार्यनामधारकाः येषां परिच्यकरणादिक दूरे आस्तां नामग्रहणेऽपि भवति नियमेन निश्चयेन प्रायश्चित। तथाचोक्त। श्रीमहानिशीथपञ्चमाध्ययने "इत्थ चायरियाण, पणपन्नं होंति कोडिलक्खाओ ॥ कोडिसहस्से कोडि, स एय तह एतिएचेव॥ १ ॥ एतेसिं मज्झा एगे, निव्वुओइ गुणगणइण्णो ॥ सव्वुत्तमभंगेणं, तित्थयरस्साणुसारिगुरू" इति गाथाछंदः ॥ ३७ ॥

अथात्र हेतुमाह ॥

जओ सयरी भवंति,अणविक्खयाइ जह भिच्चवाहणा लोए॥
पडिपुच्छेहिं चोयणं, तम्हाउ गुरू सया भयइ ॥ ३८॥

व्याख्या (जओत्ति) भिन्नं पदं यतो भणित (सयरित्ति) स्वेच्छाचारीणि भवति (अणविक्खया इति) अनपेक्षया शिक्षारहितत्वेन यथा लोके (भिच्चवाहणत्ति) भृत्याश्च सेवका श्च वाहनानि च हस्त्यश्ववृषभमहिषादनीति द्वन्द्वे भृत्यवाहनानि । तथा विनेयाः गुरूणां प्रतिपृच्छाभिः कार्यं २ प्रति पृच्छा ताभिः (चोयणत्ति) प्राकृतत्वादिभक्तिलोपः । चोदनाभिश्च विनीति शेषः । स्वेच्छाचारिणो भवंति (तम्हाउत्ति) तस्मादेव कारणात्प्रतिपृच्छाभिश्चोदनादिभिश्चाचार्यो विनेयान् सदा सर्वकालं (भयइत्ति) भजते सत्यापयति शिक्षयतीत्यर्थः । गाथाछन्दः ॥ ३८ ॥ ग० अधि १ ।

(११) सूरेः स दुर्गुणो येन कुगुरुर्भवति ।
कुगुरुश्च कदा भविष्यतीति महानिशीथे अ.८ ।
सेभयवं केवइअेणं कालेणं पहे कुगुरुभावी होंति गोयमा! इओ यमाइउयअध्दतेरसह्नं वाससयाणं साइरेगाणं समइकंताणं परउ भवीसुं से भयवं केणं अट्ठेणं गोयमा ? तक्कालं इड्डि रससायगारवसंगए ममीकारे अहंकारग्गीए अंतो संपज्जलंतवोंदी अहममहंति कयमाणसे अमुणि य समयसब्भावे गणी भवीसु एएणं अट्ठेणं से भगवं किं सव्वेवीएवं विहे तक्कालगणि भवीसुं गोयमा! एगंतेणं नो सव्वे केयपुण दुरन्तपंतलक्खणे अदहट्ठेणं एगाए जणणीए जमगसमगं पसूए निम्मेरे पावसीले दुज्जायजम्मे सुरोद्दपयंमाभिगाहिय दूरमहामिच्छदिट्ठी भविसुं सेयं भयवं कहं ते समुवलक्खेज्जा गोयमा ! उस्सुत्तउस्सगायवत्तणदिस्सणमइपच्चएण वा ॥

(१२) प्रमादिनमाचार्यं शिष्यो बोधयति ॥
अथ कथंचित् प्रमादिनं गुरुं शिष्यो विबोधयतीत्याह ।

तुम्हारिसा वि मुणिवर, ! पमायवसगा हवंति जइ पुरिसा। तेणओ को अहं, आलंवणं हुज्ज संसारे॥ १९ ॥

व्याख्या ॥ युष्मादृशा अपि हे मुनिवर ! श्रमणश्रेष्ठ प्रमादवशगाः प्रमादपरवशा भवंति यदि चेत् पुरुषाः पुमांसस्तेन कारणेनान्यो युष्मद्व्यतिरिक्तः कोऽस्माकं मंदभाग्यानामालंबनमत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। सागरे नैरिव भविष्यति संसारे चतुर्गत्यात्मके पततामिति शेषः। अनेनं विधिना शिष्यः प्रमादिनं गुरु विबोधयतीत्यधिकाराल्लभ्यते। तथाच विबोधनविषये आचार्यगुणानपि शिष्य आचार्यस्य दर्शयति यथा॥

पुढवीविव सव्वसहं, मेरुव्व अकंपिरं ठियं धम्मे ।
चंदुव्व सोमलेसं, तं आयरियं पसंसंति॥ १॥
अप्परिसावि आलोयणा, रिह हेउकारणविहिन्नुं ।
गंभीरं दुद्धरिमं तं आयरियं० ॥ २॥

कालन्नुं देसन्नुं, जावन्नुं अतुरियं असंजंतं ।
अणुवत्तयं अमायं, तं आय० ॥ ३ ॥
लोइयसामाइएसु, सव्वेसु जस्स वक्खेवो ।
ससमयपरसमयंमि अ, तं० ॥ ४ ॥
बारसहिंवि अंगेहिं, सामाइयमाइपुव्वनिव्वद्धे।
लध्धट्ठं गहियट्ठं, तं० ॥ ५ ॥
आयरियसहस्साइं, लहइ अ जीवो जवेहिं बहुएहिं ।
कम्मेसु य सिप्पेसु य, धम्मायरणेसु नो कहवि ॥ ६ ॥
जे पुण जिणोवइट्ठे, निग्गंथे पवयणंमि आयरिया ।
संसारमुक्खमग्गस्स, देसगा ते हु आयरिया ॥ ७ ॥
देवा वि देवलोए, निग्गंथं पवयणं अणुसरंता ।
अच्छरगणमज्झगया, आयरिए वंदयाइंति ॥ ८ ॥
जह दीवो दीवसयं, पइप्पए दिप्पई य ।
सो दीवसमा आयरिया, अप्पं च परं च दीवंति ॥ ९ ॥
देवा वि देवलोए, निच्चं दिव्वोहिणा वियाणंता।
आयरियमणुसरंता, आसणसयणाणि मुंचंति ॥ १० ॥

इत्यादि चंदकवेधकप्रकीर्णकोक्तं वाच्यमिति गाथार्थः ॥ ग. १ अधि० ॥

प्रमादगतस्याचार्य्यस्य श्रमणोपासकेन कथं निवारणा कर्त्तव्येति (समणोपासग) शब्दे ॥

अथ चोदनाया अकर्तुः फलं दर्शयन्नाह ॥

जो उ प्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिया ॥ ३९ ॥

व्याख्या। योगणी चशब्दादुपाध्यायादिश्च प्रमाददोषेण प्रमादरूपो यो दोषस्तेन तथैव च चकारादुक्तशेषैर्मोहादिभिश्च उक्तं च "आलस्स १ मोह २ वन्ना, ३ थंभा ४ कोहा ५ पमाय ६ किविणत्ता ७ ॥ भय ८ सोगा ९ अन्नाणा, १० वक्खेव ११ कुऊहला १२ रमणा १३ (१) " एतैर्हेतुभिः शिष्यवर्गमन्तेवासिवृंदं न प्रेरयति मोक्षानुष्ठाने इति शेषः। तेनाचार्येण उपाध्यायादिना वा आज्ञेति जिनाज्ञा विराधिता खण्डितेत्यर्थः ॥ ग. अधि. १ "आचार्यस्यैव तत् जाड्यं, यच्छिष्यो नाववुध्यते। गावो गोपालकेनेव, कुतीर्थेनावतारिताः (१)" आ. म. १. खं. १ अ. ॥

(१३) वैरी शिष्यस्य गुरुः ॥

अथ यः सूरिर्शिष्यस्य वैरी स्यात्तं वृत्तद्वयेनाह ।

संगहोवग्गहं विहिणा, न करेइ य जो गणी ।
समणं समणिं तु दिक्खित्ता, सामायारीं न गाहए ॥ १५॥
बालाणं जो उ सीसाणं, जीहाए उवलिंपए ।
तं सम्ममग्गं गाहेइ, सो सूरि जाए वेरिउ ॥ १६ ॥

(संगहोवगाहति) सग्रहश्च शिष्यादीनां सग्रहणं उपग्रहश्च तेषामेव प्रकश्रुतादिदानेनोपष्टंभनं तथा तन्न करोति वा न कारयति विधिना आगमोक्तप्रकारेण योगणी आचार्य्यस्तथा यः श्रमणं श्रमणीं दिक्षित्वा तु शब्दात्प्रतिच्छकगणमपि समाचारीं आगमोक्ताहोरात्रक्रियाकलापरूपां सत्स्वगच्छोक्तां वा न ग्राहयेन्निर्जरापेक्षि सन्न शिक्षयेदित्यर्थः ॥ १५ ॥ तथा यः पुनर्बालानां शिष्याणां शिरः प्रभृत्यवयवमिति शेषः। जिव्हया रसनया उपलिंपेत्गौरिव वत्सस्य चुंबेत् अत्यंतबाह्यहितं करोतीत्यर्थः। ननु बालादीनां प्रव्राजने निषेधोऽस्ति तत्कथं बालानां शिष्यत्वमुच्यते। योऽयं प्रव्रजने बालो निषिध्यते स ऊनाष्टवर्षः। अत्र त्वष्टवर्षोपरिवर्त्ती बालो गृह्यते। अपवादपदेन तु ऊनाष्टवर्षोऽपि ॥ तथा सम्यक्मार्गं मोक्षपथं न ग्राहयति दर्शयति न शिक्षयतीत्यर्थः। स आचार्यो वैरीति जानीहि हे गौतम ! त्वमिति विषमाक्षरेतिगाथाऽनुष्टुप्छंदसी ॥ १६ ॥

अथ पूर्वोकार्यलेशं विशेषयन्नाह ॥

जीहाए विलिहंतो, न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि ।
दंडेणवि तालेंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ॥ १७ ॥

व्याख्या. जिव्हया विलिहन् शिष्यं चुंबन्नाचार्यो न भद्रको न श्रेष्ठो यत्राचार्ये सारणा हिते प्रवर्तनलक्षणा स्मारणा वा कृत्यस्मारणलक्षणा उपलक्षणत्वाद्वारणा अहितान्निवारणलक्षणा तोदना संयमयोगेषु स्खलितस्याऽयुक्तमेतद्भवादृशां विधातुमित्यादिवचनेन प्रेरणा प्रतिनोदना तथैव पुनः २ प्रेरणा नास्ति न विद्यते तथा दण्डेनाऽपि यष्ट्याऽपि किं पुनर्दवरकादिना ताडयन् शरीरपीडां कुर्वन् स आचार्यो भद्रकः श्रेष्ठः । यत्र गणिनि सारणा उपलक्षणत्वाद्वारणादिर्वाऽस्तीति गाथाछंदः ॥ ग० १ अधि. ।

(१४) विनय आचार्य्यस्य ॥

आचार्य्ये सापेक्षैः साधुभिर्भवितव्यम्। तेषु च तेनेति दृष्टान्तैः प्रदर्शयति ॥

वच्चीधन्नमुन्नरियं, कोट्ठागारं डज्झते कुटुंबिस्स ।
किं अम्हमुहा देई, केई तहियं न अच्छीणा ॥

एकः कौटुंबिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने वृद्ध्या कालांतररूपया धान्यं ददाति। तथा च वृद्ध्या कौटुंबिकस्य कोष्ठागाराणि धान्यस्य सुभृतानि जातानि। अन्यदा च तस्यैकं कोष्ठागारं वृद्धिधान्यसुभृतं वन्हिना प्रदीप्तेन दह्यते। न च केचित्कर्षका विध्यापननिमित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारमसमागताः। किमेष कौटुंबिकोऽस्माकं मुधा ददाति येन वयं विध्यापनार्थमभ्युद्यता व्रजामः ॥

एयस्स पभावेणं, जीवा अम्हेत्ति एव नाऊणं ।
अण्णे तु समल्लीणा, विज्झाविए तेसिं सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुंबिकस्य प्रभावेण च ये जीवति स्म जीवा अनुप्रत्यया जीविता इत्यर्थः। एवं ज्ञात्वा समालीनास्तत्र समागता विध्यापनाय च प्रवृत्तास्ततो विध्यापिते कोष्ठागारे स कौटुंबिकस्तेषां तुष्टस्ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे ओ सहायगत्तं, करेसु तेसिं अवड्ढियं दिन्नं ॥
दट्ठाति न दिण्णियरे, अकासगा दुक्खजीवीया ॥

ये तु विध्यापने सहायत्वमकार्षुस्तेषामवृद्धिकं कालांतररहितं धान्यं दत्तं। इतरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दत्तमित्युत्तरं विधाय न दत्तं। ततस्ते अकर्षकास्संतो दुःखवृत्तिजीविनो जाता एष दृष्टांतः ॥

सांप्रतमुपनयमभिधित्सुराह ।

आयरियकुटुंबी व, सामाणियथाणिया भवे साहू ॥
वावाहअगणितुल्ला, सुत्ततया जाए धन्नं तु ॥

आचार्यः कुटुंबीव कुटुंबितुल्य इत्यर्थः। सामान्यकर्षकस्थानीया साधवः। आचार्यस्य भिक्षाटने वातादिव्याबाधाऽग्नितुल्या। सूत्रार्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयाणं, करेंति सुत्तत्थसंगहं थेरा ॥
होवेंति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे ॥

(एमेव) कौटुंबिकदृष्टांतप्रकारेण ये विनीतास्तषां स्थविरा आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वंति सूत्रार्थान्प्रयच्छंति। यस्तूदासीनस्तत्र हापयतीति न प्रयच्छतीति भावः। स चोदासीनो वर्त्तमान केवल सूत्रार्थयोग्यो भवेत् क्लेशभागी च संसारे जायते ॥ संप्रति दण्डिकदृष्टांतं विभावयिषुरिदमाह ॥

उप्पण्णकारणे पुण, जइ सयमेव सहसा गुरू हिंमे ।
अप्पाणं गच्छेमुभयं, परिचयती तत्थिमं नायं ॥

उत्पन्ने कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे यदि सहसा स्वयमेव गुरुरात्मान गच्छमुभयं च परित्यजति। तत्र चेदं वक्ष्यमाणज्ञातमुदाहरणं। तदेवाह ॥

सोउं परवलमायं, सहसा एकाणिओ उ जो राया ॥
निग्गच्छति सो वयती, अप्पाणं रज्जमुभयं च ॥

यो निरपेक्षो राज्ये परवलमागत श्रुत्वा वलवाहनान्यमेलयित्वा सहसा एकाकी परवलस्य समुखो निर्गच्छति स आत्मानं राज्य चेत्युभय त्यजति वलवाहनव्यतिरेकेण युद्धारंभे मरणभावात् एवमाचार्योऽपि निरपेक्षः समुत्पन्नेऽपि कारणे सहसा भिक्षामटन्नात्मानं गच्छमुभयं च परित्यजति निरपेक्षदण्डिकदृष्टान्तभावना ॥
संप्रति सापेक्षदण्डिकदृष्टांतभावनामाह ॥

सावेक्खो पुण राया, कुमारमादीहिं परवलं खवियां ।
अजिए सयंपि जुज्झइ, उवमा एसेव गच्छेवि ॥

सापेक्षः पुना राजा प्रथम कुमारादीन् युद्धाय प्रेषयाति। ततः कुमारादिभिः परवलं क्षपयित्वा यदा कुमारैर्न परवल तदा तस्मिन् जिते स्वयमपि राज्ञा युध्यते। एषैवोपमा गच्छेऽपि द्रष्टव्या। आचार्योऽपि पूर्वयतनां करोति तथापि असस्तरणे स्वयमपि हिंडते। एवं चात्मानं गच्छमुभयं च निस्तारयतीति भावः। व्य ६ उ ॥

आचार्यसमीपवर्त्तिना च शिष्येण किं विधेयमित्याह ।

तद्दिट्ठीए तम्मोत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे जयं विहारी चित्ताणिवाई पंथणिज्झाई वलिवाहिरे पासियपाणे गच्छेज्जा से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुसेमाणे पसारेमाणे विणियट्टमाणे संपरिज्जमाणे ॥ आचा० ॥ ४ अ. ४ उ. ॥

(तद्दिट्ठीए) तस्याचार्यस्य दृष्टिस्तद्दृष्टिस्तया सततं वर्तितव्य हेयोपादेयेषु। यदि वा तस्मिन् सयमे दृष्टिस्तद्दृष्टिस्स एव वागमो दृष्टिस्तद्दृष्टिस्तया सर्वकार्येषु व्यवहर्तव्य तया (तम्मोत्तीए) तेनोक्ता सर्वसंगेभ्यो विरतिर्मुक्तिस्तन्मुक्तिस्तया सदा यतितव्यं तया (तप्पुरक्कारे) पुरस्करणं पुरस्कारः सर्वकार्येष्वग्रतः स्थापनं तस्याचार्यस्य पुरस्कारस्तत्पुरस्कारस्तस्मिंस्तद्विषये यतितव्यं तया (तस्सण्णी) तस्य संज्ञा तत्संज्ञा तज्ज्ञानं तद्वांस्तत्संज्ञी सर्वकार्येषु स्यान्न स्वमतिविरचनया- कार्यं विदध्यात्तया (तन्निवेसणे) तस्य गुरोर्निवेशन स्थानं यस्यासौ तन्निवेशनः। सदा गुरुकुलवासी स्यादिति भावस्तत्र च गुरुकुले निवसन् किंभूतः स्यादित्याह (जयविहारी) यतमानो यतनया विहरणशीलो विहारी स्यात्। यतमानः प्राण्युपमर्दनमकुर्वन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रियाः कुर्यादिति। किञ्च (चित्तनिवाती) चित्तमाचार्याभिप्रायस्तेन निपतितुं क्रियायां प्रवर्त्तितु शीलमस्येति चित्तनिपाती सदा स्यादिति। तथा (पंथणिज्झाती) गुरोः क्वचिद्गतस्य पन्थानं निर्ध्यातुं प्रलोकितु शीलमस्येति पथनिर्ध्यायी। उपलक्षणं चैतत्। शिष्यिषोः सस्तारकप्रलोकी वुभुक्षोराहारान्वेषीत्यादिना गुरोराराधक सदा स्यात्किञ्च (पलिवाहिरे) परि समन्ताद्गुरोरवग्रहात् पुरतः पृष्ठतो वा चस्थानात्सदा कार्यमृते वाह्यः स्यादेतस्माच्च सूत्रात् त्रय ईर्योद्देशका निर्गता इति। किञ्च (पासिय इत्यादि) क्वचित्कार्यादौ गुर्वादिना प्रेषितः सन् दृष्ट्वा प्राणिनां युगमात्रदृष्टिस्तदुपघात परिहरन् गच्छेत्किञ्च (सइत्यादि) स भिक्षुः सदा गुर्वादेशविधायी एतद्व्यापारवान् भवति। तद्यथा। अभिक्रामन् गच्छन् प्रतिक्रामन्निवर्तमानः सङ्कुचन् हस्तपादादिसङ्कोचनतः प्रसारयन् हस्तादीनवयवान् विनिवर्तमान समस्ताशुभव्यापारान् सम्यक् परिसमताद्धस्तपादादीनवयवांस्तन्निक्षेपस्थापनानि वा रजोहरणादिना मृजन् परिमृजन् गुरुकुलवासे वसेदिति सर्वत्र सवधनीयम् ॥ आचा० टी. ॥

अस्य बहुव्यक्तव्यता (आसायणा) शब्दे ॥
अथैवमाचार्ये रक्षिते शुश्रूषिते च को गुण इत्यत आह ॥

पुयंति य रक्खंति य, सीसा सव्वे गणीं सया पयया ॥
इह परलोए य गुणा, हवंति तप्पुयणे जम्हा ॥

गणिनमाचार्यं शिष्याः सर्वे सदा प्रयताः प्रयत्नपराः पूजयंति शुश्रूषते च। यस्मात्तत्पूजने आचार्यपूजने इह लोके परलोके च गुणा भवंति इह लोके सूत्रार्थतदुपघाति परलोके सूत्रार्थोभ्यामधीताभ्यां ज्ञानादिमोक्षमार्गप्रसाधन अथवा पारलौकिका गुणाः "आयरिए वेयावच्चं करेमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति" इत्येवमादयः ॥ व्य० द्वि. ख. ६ अ ॥

गुरुशुश्रूषा (विणय) शब्दे ॥ आचार्यस्य चतुर्विधविनयेनान्तेवासी अनृणी भवतीति विनयशब्दे ॥
आचार्यस्याराधने फल यथा ॥ "गुर्वायत्ता यस्मात्, शास्त्रारंभा भवति सर्वेऽपि॥तस्मात् गुर्वाराधन,परेण हितकांक्षिणा भाव्यं"। १ । आवश्यकभाष्यकारेणाऽप्यभ्यधायि।

गुरुचित्तायत्ताइं, वक्खाणंगाइ जेण सव्वाइं ॥ जेण पुण सुप्पसण्णं, होइज्जं आगारिंगियं ॥ १ ॥ कुसलं जइ सेयं, वायसं वए पुज्जा ! तह वियसिं न वि कूडं, विरहमियं कारणं पुव्वे ॥ २ ॥ व्य० १खं० १ उ० ॥

(१५) गुरुविनये वैद्यदृष्टान्तः ॥

आचार्यसेवायां वैद्यदृष्टान्तो यथा ॥
से जहा नाम एकेई महावाहिगहिए अणुहूयतंक्ति अणे विष्णाया सव्वेणं निविष्णे। तत्तओ सुविज्जवयणेण सम्मं तमवगच्छिअ जहा विहाणओ पवण्णे सुद्धकिरिअं निरुध्दजाहिच्छाचारो तुच्छपच्छभोई मुच्चमाणे वाहिणा नि

अत्तमाणवेअणे समुवलब्भआरोग्गं पवड्ढमाणतब्भावे तल्लाभनिव्वुईए तप्पडिबंधाओ सिराखाराइजोगे वि वाहिसमारोग्गविन्नाणेणं इट्ठनिप्फत्तिओ अणाकुलभावयाए किरिओवओगेण अपीडिए अव्वहिए सुहलेस्साए वड्ढइ विज्जं च बहु मन्नइ। एवं कम्मवाहिगहिए अणुहूअजम्माइवेअणे विणाया दुक्खरूवेणं निव्विणे तत्तओ तओ सुगुरुवयणेणं अणुट्ठाणाइणा तमवगच्छिअ पुव्वुत्तविहाणओ पव्वणे सु किरिअं पव्वज्जं निरुद्धपमायायारे असारसुद्धभोई मुच्चमाणे कम्मवाहिणा निअत्तमाणिट्ठविओगाइवेअणे समुवलब्भ चरणारोग्गं पवड्ढमाणसुहभावे तल्लाभनिव्वुईए तप्पडिबंधविसेसओ परिसहोवसग्गभावे वि तत्तसंवेअणाओ कुसलासयवुड्ढीओ थिरासयत्तेण धम्मोवओगाओ सया थिमिए। तेउल्लेसाए वड्ढइ गुरुं च बहुमन्नइ जहोचिअं असंगपडिवत्तीए निसग्गपवित्तिभावेण। एसा गुरुई वि आहिआ भावसारा विसेसओ भगवंतबहुमाणेण। जो मं पडिमन्नइ सो गुरुं ति तदाणा। अन्नहा किरिआ अकिरिआ कुलडा नारी किरिआसमा गरहिआ। तत्तवेईणं अफलजोगओ विसण्णत्तीफलनिन्यनायं आवट्टे खु तप्फलं असुहाणुबंधे आयओ गुरुबहुमाणो अवंझकारणत्तेण अओ परमगुरुसंजोगो। तओ सिद्धी असंसयं एसोह सुहोदए पगिट्ठतयणुबंधे भववाहितिगिच्छ नइओ सुंदरं परं उवमा इत्थ न विज्जइ ॥ पं. सू. ४ सू. ॥

से जहेत्यादि। तद्यथा। कश्चित्सत्त्वः महाव्याधिगृहीत कुष्ठादिग्रस्त इत्यर्थः। अनुभूततद्वेदनोऽनुभूतव्याधिवेदनः। विज्ञाता स्वरूपेण वेदनायाः नरकवृत्तीनरूपवनकाधिच्छिपर्यस्त निर्विण्णस्तत्त्वतस्तद्वेदनयेति प्रक्रमः। ततः किमित्याह। सुवैद्यवचनेन हेतुभूतेन सम्यगविपरीत्येन तं व्याधिमवगम्य यथाविधानतो यथा विधानेन वमनापज्जादिलक्षणेन प्रपन्नः सुक्रियां परिपाचनादिरूपां रुद्धयदृच्छाचार सन् प्रत्यपायभयात्तथा तुच्छपथ्यभोजी व्याध्यनुगुण्यत अनेन प्रकारेण मुच्यमानो व्याधिना यसराग्रपगमेन निवर्त्तमानवेदन कण्ड्वाद्यभावात् समुपलभ्यारोग्यमद्युपलम्भेन प्रवर्द्धमानतद्भावः प्रवर्द्धमानारोग्यभावः। तल्लाभनिर्वृत्या आरोग्यलाभनिर्वृत्या तत्प्रतिबंधात् आरोग्यप्रतिबंधाद्धेतोः शिराक्षारादियोगेऽपि शिराबेधक्षारपातनादावपीत्यर्थः। व्याधिसमारोग्यविज्ञानेन व्याधिशमाद्यारोग्यं तदवबोधेनेत्यर्थः। किमित्याह। इष्टनिष्पत्तेरारोग्यनिष्पत्तेर्हेतोरनाकुलभावतया निबंधनाभावात् ॥ तथा क्रियोपयोगेन इति कर्त्तव्यतायाः बोधेन हेतुना अपीडितो व्यथितो निवातस्थानामनीयपथ्यपानादिना। किमित्याह। शुभलेश्यया प्रशस्तभावरूपया वर्द्धते वृद्धिमाप्नोति। तथा वैद्यं च बहु मन्यते। महापायनिवृत्तिहेतुरयं ममेति सम्यक् ज्ञानात् एव दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः (एवमित्यादि) एवं कर्मव्याधिगृहीत प्राणी किंविशिष्ट इत्याह। अनुभूतजन्मादिवेदन आदिशब्दाज्जरामरणादिग्रहः। विज्ञाता दुःखरूपेण जन्मादिवेदनायाः न तु तत्रैवाशक्त्या विपर्यस्त इति। ततः किमित्याह। निर्विण्णस्तत्त्वतः। ततो जन्मादिवेदनायाः किमित्याह। सुगुरुवचनेन हेतुना अनुष्ठानादिना तमवगम्य सुगुरुकर्मव्याधिं च पूर्वोक्तविधानतस्तृतीयसूत्रोक्ते तद्विधानेन प्रपन्नस्सन् सुक्रियां प्रव्रज्यां विरुद्धप्रमादाचारो यदृच्छया असारशुद्धभोजी संयमानुगुणेन अनेन विधिना मुच्यमानः कर्मव्याधिना निवर्त्तमानेष्टवियोगादिवेदनस्तथा मोहनिवृत्त्या किमित्याह। समुपलभ्य चरणारोग्यं सदुपलम्भेन प्रवर्द्धमानशुभभावः। प्रवर्धमानचरणारोग्यभावबहुतरकर्मव्याधिविकारनिवृत्त्या तल्लाभनिवृत्त्या तत्प्रतिबंधाविशेषात् चरणारोग्यप्रतिबंधविशेषात् स्वाभाविकात् कारणात्परीषहोपसर्गभावेऽपि क्षुद्व्याधिव्यसनभावेऽपि तत्त्वसंवेदनात् सम्यग्ज्ञानाद्धेतोः। तथा कुशलाशयवृद्ध्या क्षायोपशमिकभाववृद्ध्या स्थिराशयत्वेन चित्तस्थैर्येण हेतुना तथा धर्मोपयोगात् इति कर्त्तव्यताबोधात्कारणात् सदास्तिमितः भावद्वंद्वविरहेण प्रशान्तः। किमित्याह तेजोलेश्यया शुभप्रभावरूपया वर्द्धते वृद्धिमनुभवति। गुरुं च बहु मन्यते। भावंवघफल्पकथमित्याह। यथोचितमौचित्येन असंगप्रतिपत्त्या स्नेहरहितस्तद्भावप्रतिपत्त्या। किमस्या उपन्यास इत्याह। निसर्गप्रवृत्तिभावेन सांसिद्धिकप्रवृत्तित्वेन हेतुना एषाऽसंगप्रतिपत्तिर्गुर्वी व्याख्याता भगवद्भिः। किमित्याह। भावसारा तथौदयिकभावविरहेण विशेषतोऽसंगप्रतिपत्तेः। इहैव युक्ततरमाह। भगवद्बहुमानेन अचिन्त्यचिंतामणिकल्पतीर्थकरप्रतिबंधेन कथमयमित्याह। यो मां प्रति मन्यते भावतस्स सुकर्मत्वेव तदाज्ञा भगवदाज्ञा। इत्थं। तत्त्व व्यवस्थित अन्यथेत्यादि। अन्यथा गुरुबहुमानव्यतिरेकेण क्रियाऽप्यशिया प्रत्युपेक्षणादिरूपा अक्रिया सत्क्रिया तान्यां किंविशिष्ट इत्याह। कुलटानारीक्रियासमा दुश्शीलवनितोपवासक्रियातुल्या ततः किमित्याह। गर्हिता तत्त्ववेदिनां विदुषां कस्मादित्याह। अफलयोगतः इष्टफलादन्यत्फल मोक्षात्सांसारिकमित्यर्थः। तद्योगात एतदेव स्पष्टयन्नाह। विषान्न तृप्तिफलमत्र ज्ञातमल्पं विपाकदारुण विराधनासेवनात् एतदेवाह। आवर्त्त एव तत्फलं आवर्त्तंते प्राणिनोऽस्मिन्नित्यावर्त्तः संसारः। स एव तत्त्वतस्तत्फलं विराधनाविषजन्यं। किंविशिष्ट आवर्त्त इत्याह। अशुभानुबंध। तथा विराधनोत्कर्षेण एव सफल गुरुबहुमानमभिधाय तद्बहुमानमाह (आयत इत्यादिना) आयतो गुरुबहुमानः साद्यपर्यवसितत्वेन दीर्घत्वादायतो मोक्षः स गुरुबहुमानः गुरुभावप्रतिबंध एव मोक्ष इत्यर्थः। कथमित्याह। अवन्ध्यकारणत्वेन मोक्षं प्रत्यप्रतिबद्धसामग्रीहेतुत्वेन। एतदेवाह। अतः परमगुरुसंयोगः। इतो गुरुबहुमानात्तीर्थकरसंयोगः। ततः संयोगादुदिततत्त्वबोधत्वात् सिद्धिरसंशयं मुक्तिरेकान्तेन। यतश्चैवमतः एषोऽत्र शुभोदयो गुरुबहुमानः। कारणे कार्योपचारात्। यथाऽऽयुर्घृतमिति। अयमेव विशेष्यते प्रकृष्टतदनुबंधः प्रधानशुभोदयानुबंधस्तथा २ राधनोत्कर्षेण तथा भवव्याधिचिकित्सकगुरुबहुमान एव हेतुफलभावात्। न इतः सुंदरं परं गुरुबहुमानात्। उपमाऽत्र न विद्यते–गुरुबहुमाने सुंदरत्वेन भगवद्बहुमानादित्यभिप्रायः॥ पं. सू. टी.॥

(१६) नमस्कार आचार्यस्य ॥

(णमो आयरियाण) नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयो

पकारित्वादिति ॥ प्र० श० १ उ० १॥

॥ आचार्य्यनमस्कारे फलं यथा ॥

आयरियनमोकारो, जीवं मोएइ जवसहस्साओ ॥
जावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोहिलाजाए ॥ १ ॥
आयरियनमोक्कारो, धन्नाणजवक्खयं करेंताणं ।
हिययं अणुमोयंतो, विसोत्तिया वारओ होई ॥ २ ॥
आयरियनमोकारो, एवं खलु वप्मिओ महत्थोत्ति ।
जो मरणंमिउवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो ॥ ३ ॥
आयरियनमोकारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, तइयं हवइ मंगलं ॥ ४ ॥

आ० म० २ खं १ अ० ॥

(आचार्य्यस्य मङ्गलत्वम्मङ्गलशब्दे)

(१७) वैयावृत्यं गुरोः ॥

आचार्य्यस्य वैयावृत्यमतिशेषशब्दे (वेयावच्च) शब्दे च ॥

आचार्य्यवैयावृत्ते फलं यथा ॥

गुरुवेयावच्चेणं, सदणुट्ठाणसहकारिजावाओ ॥
विउलं फलमिब्जस्स व, विसोवगेणावि ववहारे ॥ २२ ॥

व्या०। गुरुवैयावृत्येन आचार्यविषयेण भक्तादिदानग्लानताप्रतिचरणादिलक्षणे न हेतुना सदनुष्ठाने गुरुगते जिनप्रवचनार्थप्रकाशनगच्छपालनादौ सहकारिभावो यः सहायककरण स तथा तस्मात्सदनुष्ठानसहकारिभावतः। किमित्याह। विपुलं महत्फलं कर्म्मक्षयलक्षणं गुरुकुलवासिनो भवति। कस्मिन्निवेत्याह। इभ्यस्येव सुवर्णलक्षादिमान् महाधनपतेरिव। स केन विशोपकेनाऽपि तदीयद्रव्याविंशतितमभागेनाऽपि। आस्तां सर्वेण व्यवहारे वाणिज्ये क्रियमाणे सति। तथा हि। लक्षपतिसंबंधिना लक्षाविंशतिभागेनाऽपि। आस्तां सर्वेण सहस्रपंचक लक्षणेन व्यवहारतो वणिक्पुत्रस्य महान् लाभो भवत्येव। गुरोर्वैयावृत्यमात्रमपि कुर्वन् महत्फलमासादयति गुरुविषयवैयावृत्यमात्रस्याऽपि महत्वादिति। अन्ये त्वाहुः इभ्यस्य गृहागतस्य विंशोपकेनाऽपि व्यवहारे सत्कार इति गाथार्थः। पंचा० ११ वृ. ।

आचार्य्यस्य च बलाभियोगमन्तरेणैव मोक्षार्थिना स्वयमेव प्रत्युतेच्छाकारं दत्वाऽनन्यार्थितेनैव वैयावृत्यादि कर्त्तव्यमितीच्छाकारशब्दे ॥

(१८) गच्छाधिपतिः केन कर्म्मविपाकेन जवति ॥

केन कर्मविपाकेनाऽऽचार्य्यो भूत्वा ईप्सितं लभत इति महानिशीथे ५ चूलि० यथा ॥

से जयवं ताकयरेणं कम्मविवागेणं तेणं गच्छाहिवइणा होऊण पुण इच्छितं समाच्छियाति गोयमा! मायापच्चएणं से जयवं कयरेणं से मायापच्चए जेणं पयणीकयसंसारे वीसयलपावायपणावीयविबुहजणे णिंदे सुराहिवद्दव्वयखंक्कचुमसूसकरियसमजावपमाणपागनिप्फन्नमोयगमल्लगे इव तस्स जक्खे सयलदुक्खे साणमाइए रुयलसुहासणस्स परमपवित्ततमस्स णं अहिंसालक्खणसमणधम्मस्स विग्घे सम्मग्गला निरयदारजूए सयलअकित्तीकलंकलिकलहवेरायणवनिहाणनिम्मलकुलस्स णं दुप्धरिसअकज्जकज्जलकन्हमसीखपणे तेणं गच्छाहिवइणा इत्थीजावे णिव्वित्तिएत्ति गोयमा! णो तेणं गच्छाहिवइ तेहिएणं अणुमवि माया कया सेणं तहा पुहवइचक्कहरे जावित्ता पयरलोगजीरूए णिव्विषयकामजोगे तणमिव परिविच्चायणं तं तारिसं चोदसरयणनवनिहीतो चोसट्ठीसहस्से वरजुवईणं बत्तीससाहस्सीओ अणादिवरनरिंद छणउईगामकोमीओ जाव ण छखंमजरहवासस्स णं देविंदोवमं महारायलच्छितीयं बहुपुन्नवाईए णीसंगे पव्वइएय थोवकालेणं सयलगुणोहधारी महातवस्सी सुयहरे जाए जोगेणाऊणं गुरुहिं गच्छाहिवई समणुन्नाए तहेव गोयमा! तेणं सुदिट्ठसुग्गइपहेणं जहोवइट्ठसमणट्ठेणं माणेणं उग्गाभिग्गहाविहारत्ताए घोरपरिसहोवसग्गाहियासणेणं रागदोसकसायविवज्जणेणं आगमाणुसारेणं सुविहिए गणं परिचालणेणं आजम्मसमणा कप्पपरिजोगवज्जणेणं छकायसमारंजविवज्जणेणं ईसंपिदि व्वोरालियमेहुणपरिणामविप्पमुक्के णं इह परलोगासंसाइणियाणमायाइसल्लविप्पमुक्केणं णीसल्लालोयणनिंदणगरहणेणं जहोव वइट्ठपायाउत्तकरणेणं सव्वत्था पमिवध्देत्तेणं सव्वपमायालंवणं विप्पमुक्के णइ पइणिहिट्ठअवसेसीकए अणेगजवसंचिए कम्मरासी अन्नेगजवे तेणं माया कया तप्पव्वईणं गोयमा! सविवागे सेजयवं कयरा उ ण अन्नजवे तेणं महाणुजागेणं मायाकया जीएणं एरिसो दारुणविवागो गोयमा! सेणं महाणुजागस्स गच्छाहिवइणो जीवेण णूणाहिएयणा फलं लक्खइमेव जवग्गहणा ॥

आचार्य्यस्य प्रायश्चित्तं महानिशीथे. अ.६ यथा. ॥

से जयवं जेणं गुरुं सहस्साकारेणं अन्नयरे ठाणे चुकेज्ज वा खलेज्ज वा सेणं आराहगेण वा गोयमा! गुरूणं गुरुगुणेसु वट्टमाणो अखलियसीले अपवादी अणालस्सी सव्वालंबणविप्पमुक्के समसत्तुमित्तपक्खे सम्मगपक्खवाए जावणं कहाजाणिरे सध्दम्म जुत्ते जवेज्जा णो णं उम्मग्गदेसए अहमाणुरए जवेज्जा सव्वहा सपयरिहिंयं गुरुणा ताव अप्पमत्तेणं जावियव्वं। णो णं पमत्तेणं जउणपमादी जवेज्जा सेणं दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापाढे जईणं सवीरिए हवेज्जा। तेणं कयदूच्चरियं जहावत्तं सपरसीसगणाणं पक्खाविय जहा दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापावकम्मकारी संमग्गं पणासेउ अहयंतिएवं निंदित्तागरहित्ताणं आलोइत्ताणं च जहा जणियं पायच्छित्तसमणुचेरज्जा। सेणं किं ठहेसेणं आराहगे जवेज्जा।

जइणं नीसट्ठे नियट्टी विप्पमुक्के न पुणो संमग्गाउ परिन्नंसेज्जा । अट्ठाणं परिन्नस्स तओ णाराहेइ ॥

आलोचनाया अप्रदाने आचार्यस्य प्रायश्चित्त (आलोयणा) शब्दे ॥ आचार्यस्यावश्यकप्रमादे प्रायश्चित्त (आवस्सग) शब्दे ।

(१९) अतिशया आचार्यस्य ॥

आचार्यस्य पञ्चातिशया (अइसेस) शब्दे ॥

आचार्यस्य बहिर्गमने दोषः (अइसेस) शब्दे, (निग्गमन) शब्दे च ॥

आचार्यस्य संज्ञाभूमिगमन(अइसेस)शब्दे(पडिरूव)शब्दे च।

गोचरचर्य्यां कारणेऽसत्याचार्येण न गतव्येति (अइसेस) शब्दे (गोयरचरिया) शब्दे च ॥

आचार्यस्य शुरूवक्षकीस्राम (इसेस) शब्दे ॥

उपाश्रयस्याऽन्तर्बहिर्वा निवसन्नाचार्यो न दुष्यतीत्य(इसेस) शब्दे वसतिशब्दे च ॥

आचार्यस्याचारप्रकल्पे पृष्टे कर्तव्यता (आयारपकप्प) शब्दे ।

आचार्यः स्मरन्नस्मरन् वा कल्पाकं उपस्थापयेन्नोपस्थापयेद्वा तत्र कर्त्तव्यता (उवट्ठाण) शब्दे ॥

आचार्योपसम्पत् (उवसंपया) शब्दे ॥

आचार्ये प्रमादिनि शिष्याणां गणान्तरोपसंपत्ति (उवसंपया) शब्दे ॥

आचार्यादौ मृते ऽन्यस्योपसंपत् (उवसंपया) शब्दे ।

संयमसंरक्षणार्थमन्यत्रोपसम्पद्येत तत्र दृष्टान्तादिः (उवसंपया) शब्दे ॥

वर्षास्वाचार्ये कालगतेऽन्यत्रोपसम्पत्ति (उवसंपया) शब्दे ॥

आचार्यस्य कृति (कम्म) शब्दे ॥

आचार्यस्य तीर्थकरसमानत्व (वेयावच्च) शब्दे ॥

निर्गुणा कृतः शिष्य आचार्यस्येति (सीस) शब्दे ॥

आचार्यस्तुतिः (थुइ) शब्दे ॥

(२०) निर्ग्रन्थीनामाचार्यः ॥

श्रमणीनामाचार्यावश्यकता यथा ॥

आयरियउवज्झातो, तइया य पत्तिणीओ समणीणं ॥
आणसि अट्ठाएसी, होइ एणसि-तिएहंपि ॥

श्रमणीनामाचार्य उपाध्यायस्तृतीया प्रवर्त्तिनी च भवति । श्रमणानां त्वाचार्योपाध्यायास्ततोऽन्येषामयमेवेति । यदुक्त सूत्र द्वयेऽपि व्याख्यातम् । व्य० २ खं. ३ उ० ॥

तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

तिवासपरियाए समणे निग्गंथे तीसवासपरियाए समणीए निग्गंथीओ कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए धारित्तए । वा पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवासपरियाए समणीए निग्गंथिए कप्पइ आयरियत्ताए उद्दिसित्तए ॥ १६ ॥

व्याख्या । त्रिवर्षपर्यायश्रमणो निर्ग्रन्थस्त्रिंशद्वर्षपर्यायायाः श्रमण्या कल्पते उपाध्या न उद्देष्टुं । पञ्चवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रंथः षष्टिवर्षपर्यायायाः श्रमण्या निर्ग्रन्थ्याः कल्पते आचार्यतया उपाध्यायतया उद्देष्टुमिति एष सूत्राक्षरार्थः ॥ संप्रति भाष्ये विस्तरः ॥

तइयंमित उद्देसे, दिसासु जा गणहरा समक्खाओ ॥
सो चेव य होइ इहं, परियातो वण्णितो नवरं ॥

तृतीये उद्देशे दिक्षु आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणाय-च्छेदिरूपासु यो गणधर आचार्य उपाध्यायो वा समाख्यात स एव इहाऽपि भवति ज्ञातव्यः । नवरमिह पर्यायोऽधिको वर्णितः तत् स एव प्रवक्ष्यते ॥

तेवरिसो तीसिया, जहएणचत्ताए कप्पइ उवज्झे ॥
वितियाए सट्ठि सयरा, य जम्मणयणवास आयरितो ॥

त्रिवर्षस्त्रिवर्षपर्याय उपाध्यायः कल्पते त्रिंशकायास्त्रिंशद्वर्षपर्यायाया जन्मना जन्मपर्यायेण जघन्यतश्चत्वारिंशकायाश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यायाया उत्कर्षतो देशोनपूर्वकोटिकायाश्चत्वारिंशत्कथं स्यादिति चेदुच्यते । दशवर्षजातायाः प्रव्रज्यायाः प्रतिपत्तिस्त्रिंशद्वर्षाणि व्रतपर्याय एवं चत्वारिंशत्तथा द्वितीयस्या श्रमण्या निर्ग्रन्थ्याः षष्टिवर्षव्रतपर्यायाया जन्मतो जघन्यतःसप्तती सप्ततिवर्षपर्याय आचार्यः कल्पते।उत्कर्षतो देशोनपूर्वकोटिकाया जन्मनः सप्ततिवर्षाणि कथं भवतीति चेदुच्यते । दशवर्षपर्यायायाः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिः प्रव्रजितायाः षष्टिवर्षाणीति ।

गीयागीतावुड्ढा व, अवुड्ढा जाव तीसपरियाया ।
अरिहंति तिदुसंगहं सा, दुसंगहं सा जयपरेणं ॥

गीता वाऽगीतार्था वा भवतु अगीता वा गीतार्था वा तथा वृद्धा च । वाऽभवतु ।अवृद्धा वा यावत्त्रिंशद्वर्षपर्यायाःतावत्त्रिय मात् त्रिसंग्रहं त्रयाणामाचार्योपाध्यायप्रवर्तिनीनां सग्रहमर्हति दुःसंग्रह वा भय परणं त्रिंशद्वर्षपर्यायात्परतोऽभवन्तीता वि कल्पना त्रिसंग्रहमुपाध्यायस्य प्रवर्तिन्या वा अरोधतः । एतदेव भावयति ॥

वयपरिणया य गीया, बहुपरिवारा य निव्वियारा व ।
होज्जउ अणुवज्झाया, अप्पवत्तिणिजाव सट्ठीओ ॥

वयसा परिणता गीतार्था बहुपरिवारा निर्विकारा च सा यावत्षष्टिस्तावदनुपाध्याया वा भवेदप्रवर्त्तिनी वा एव भवति द्विसंग्रहिका ।

एमेव अणायरिया, थेरी गणिणा व होज्ज इयरीय ।
कालगतेसण्णाए व, दिसाए धारेति पुव्वदिसं ॥

षष्टिवर्षेभ्यः परतो गणिनी प्रवर्त्तिनी इतरा वा अप्रवर्त्तिनी स्थविरा अनाचार्या भवेत् । कथमित्याह (कालगतोसण्णाए वेत्यादि) कालगतायामवसन्नायां वा दिशि आचार्यलक्षणायां षष्टिवर्षेभ्य परतो वर्तमाना आर्यिका धारयति पूर्वां दिशमेवमनाचार्या भवति । किंकारण संयतीनामवश्यं सग्रहीष्यते तत आह ॥

बहुपच्चवाय अज्जाउ, नियमा पुण संगहे अपरिभूया ।
संगहिया पुण अज्जा, थिरथावरसंजमा होइ ॥

आर्या पुनर्बहुप्रत्यपाया ततः संग्रहे सति नियमात्परिभूता-भवति । पराभवस्थानमुपजायते सगृहीता पुनरार्या स्थिरस्थावरसंयमा भवति । ततः सग्रह इष्यते । अथ के अपाया इत्याह ।

पेसी अइया दीया, जे पुव्वमुदीहट्ठा अवायाउ ॥
ते सव्वे वत्तव्वा, दुसंगहं वज्जयं तेणय ॥

पूर्वं कल्पाध्ययने द्विसग्रहं वर्णयता पेसीअजिका आदि शब्दात्कुलपुत्रभोजिकादिपरिग्रहः । इत्यादिका उदाहृता अपायास्ते सर्वेऽत्रापि वक्तव्यास्ता बहूपायदर्शनतः सग्रहो मन्यते तदेव दृढयति ॥

अज्जाउविउलखंधा, लता वाएण कंपते जले वा ॥
नावा अबंधणावा, उवमा एस असंगहे होइ ॥

अजातविपुलस्कंधा यथा वातेन लता कंपते जले वा । यथा अबंधना बंधनरहिता नौरेषा असग्रहे उपमयाऽप्यसगृहीता सती बहुप्रत्यवायवातोत्कलिकाभिरितस्ततः सयमात्कम्पते इत्यर्थः ॥

दिहंतो गुव्विणीए, उ कप्पट्ठगवोधिएहि कायव्वो ॥
गब्भत्थे रक्खंती, सामत्थंरवहुए अगरे ॥

अत्र लोके दृष्टान्तो गुर्विण्या कर्तव्यो लोकोत्तरे कल्पस्यकबोधिकैः क्षुल्लकाचौरैः तत्र गच्छे पुत्रे स्वगोत्रराजादयस्तां रक्षंति स एष पुत्रप्रभावः । अवटे गते चौरे क्षुल्लकस्य तन्मारणाय सामर्थ्यपर्यालोचनं सोऽप्येष पुरुषस्य प्रभावस्तत्र प्रथमतो गुर्विणी दृष्टांतं विभावयिषुस्तावदिदमाह ॥

सगोत्तरायमादीसु, गब्भत्थोवि धणं सुतो ॥
रक्खए मायरं चव, किमुता जायवढ्ढितो ॥

गर्भस्थोऽपि यतः स्वगोत्रराजादिषु धनं जिघृक्षुषु धन रक्षति मातरं च किं पुनर्जातः प्रवर्द्धितश्च सुतरां रक्षति । सूत्र यथा गर्भस्थोऽपि रक्षति तथा प्रतिपादयति ॥

वणिएपरायासिध्धे, गब्भिणिधणमच्छ धूपसूयाए ॥
सव्वं सुयस्स दाहं, धूया पवत्तवेवाहे ॥

एको वणिक् तस्य भार्या आपन्नसत्त्वा स वणिक् कालगतस्ततः केनाऽपि राज्ञः शिष्ट देव ! गुर्विण्या धनमस्ति राज्ञोक्तं तिष्ठतु तद्वित्तं । यदि प्रसूतायाः सुतो भविष्यति । ततः सर्वं सुतस्य दास्यामो दुहितरि च जातायां यावता भक्तं यावता च विवाहस्तावन्मात्र दास्यामः । एवं गच्छोऽपि । गर्भस्थोऽपि सुतो राज्ञःस्वगोत्रेभ्यश्च धनं रक्षति मातरं च । अन्यथा स्वगोत्रैराज्ञा चाद्यापि तव पार्श्वे धनमस्तीति बहुधा विलुप्यते ॥ भावितं लौकिकमुदाहरणमधुना लोकोत्तरं भावयति ॥

लोउत्तरिए अज्जा, खुड्डग वोहिहरणं पसरणीयं ॥
चोरो मरणं कूवे, सामत्थण चारणा लेट्ठ ॥

लोकोत्तरिकोऽयं दृष्टांतः । क्वचिद्ग्रामे मालवशबरानीकमापतित । तत्र कैश्चिद्बोधिकैश्चौरैरार्यिकाणामेकस्य क्षुल्लकस्य हरणं कृतं । ते चौरा अन्यस्यैकस्य चौरस्यार्जिकाः क्षुल्लकं समर्प्याऽन्यस्य हरणाय गताः । स चैव चौरस्तृषापीडितः सन् कूपे पानीयायावतीर्णः । ततः क्षुल्लकश्चिंतयति । वयमिति । वयमेतावत्सख्याका बहवोऽयमेकस्ततः किमेकस्यापि न प्रभविष्याम इति विचिंत्य ता आर्यिका भणिताः । पाषाणपुञ्जमेनं कुर्म्मस्ता नेच्छंति नः मारयिष्यतीति कृत्वा ततः क्षुल्लकेन तद्वचः श्रुत्वा महानेकः पाषाणस्तस्योपरि मुक्तस्ततः पश्चात्ताभिः सर्वाभिरेककालं पाषाणा मुक्तास्ततः पाषाणपुञ्जेनाक्रांतश्चौरोमरणमुपागमत् । ततः क्षुल्लकेन तास्ततो निस्ताविता एष क्षुल्लको रक्षति किंपुनर्महान् ततः एतेन कारणेन उपाध्याय आचार्यश्च त्रिवर्षपञ्चवर्षपर्यायस्त्रिशात्षष्टिवर्ष-पर्यायाणामपि गीतार्थानामपि दीयते । व्य. २ ख ७ उ ।

(३१) आचार्ये कालगते आचार्यान्तरस्थापनं ॥

(१) आयरियउवज्झाए गिलायमाणे अन्नत्तरं विवज्ज अज्जो माएणं कालगतंसि समणंसि अयं समुक्कसियवे सेय समुक्कसणारिहि समुक्कसियवे णो समुक्कसिणारिहि णो समुक्कसियवे अत्थि यो अत्थ अन्नेकेइ समुक्कसिणारिहे से समुक्कसियवे णत्थि या अत्थ केइ अन्ने समुक्कसिणारिहे सो चेव समुक्कसियव्वे । तंसि चणं समुक्कट्टंसि परोवएज्जा दुसमुक्कट्ठंति अज्जो णिक्खिवाहितस्स णं णिखिवमाणस्स वा णत्थि केइ अत्थे एवापरिहारे वा जे तं साहम्मियं अहाकप्पाणं णोअब्भुट्ठंतेसिं व सव्वेसिं तप्पाति यं छे एवा परिहारे वा ॥ व्य० सू० उ. ४ ॥

(आयरिय उवज्झाए गिलायमाण) मित्यादि अथास्य सूत्रस्य कः सबंध इत्यत आह ॥

आयरियत्ते पगते, अणुयत्तं तेयकालकारणंमि ।
गच्छे सावेक्खोवा, वुत्तोइ मतो वि सावेक्खो ॥

आचार्यत्व पूर्वसूत्रेषु प्रकृतमनुवर्त्तमान च कालकरण तत आचार्यत्वे प्रकृते अनुवर्तमानमेवाकालकरणे इदमपि सूत्रमापतितमत्राऽप्याचार्यत्वस्य कालकरणस्य चाभिधास्यमानत्वात् यदि वा पूर्वमर्यतः सापेक्ष उक्तोऽयमपि चाधिकृतसूत्रेणाभिधीयमानः सापेक्ष इति सापेक्षत्वप्रकरणादनतरमस्य सूत्रस्योपनिपातः । अनेन सबंधेनायातस्य व्याख्या ॥ आचार्य उपाध्यायो वा धातुक्षोभादिना ग्लायन् अन्यतरमुपाध्यायप्रवर्त्तिगणावच्छेदकगीतार्थभिक्षूणामन्यतम सापेक्षः सन् वदेत् । आर्य ! मयि कालगते सति अयं समुत्कर्षयितव्यः आचार्यपदे स्थापयितव्यः । सचेत्परीक्षया समुत्कर्षणार्हो भवति । ततः समुत्कर्षयितव्यो नोचेत्समुत्कर्षणार्हस्तर्हि नो समुत्कर्षयितव्यः । अथ यो ऽसौ पूर्वमाचार्येण समीक्षितः सोऽभ्युद्यतविहारमभ्युद्यतमरणं वा व्यवासितस्तत्रमाह । अस्ति चात्र गच्छेऽन्यः कश्चित्समुत्कर्षणार्हः स समुत्कर्षयितव्यः अथ नास्ति कश्चिदन्यः समुत्कर्षणार्हस्तर्हि स एवान्यर्थ्यः समुत्कर्षयितव्यः । तस्मिंश्च समुत्कर्षिते परोगच्छे वदेत् दुःसमुत्कृष्टं ते तव हेआर्य ! तस्मान्निक्षिप एवं तस्य निक्षिपतो नास्ति कश्चिच्छेदः परिहारो वा । उपलक्षणमेतदन्यतपो वा ससराआदिक ये पुनः साधर्म्मिका गच्छसाधवो यथा कल्पेन आवश्यकादिषु यथोक्तविनयकरणलक्षणेन नोत्थाय विहरति तेषां सर्वेषां प्रत्येक तत्प्रत्यय यथा कल्पनेऽभ्युत्थानप्रत्ययश्छेदः परिहारः ससरात्र वा तप प्रायश्चित्तमिति सूत्रसक्षेपार्थः । एतमेव भाष्यकृत्प्रपचयन्प्रथमतो गिलायमाण इत्यस्यार्थं भावयति ॥

अतिसयनरिट्ठतो वा, धातुक्खोभेण वा धुवं मरणं ।
नाउं सावेक्खगणी, भणंति सुत्तम्मि जं वुत्तं ॥

अतिशयेन श्रुतज्ञानातिशयाद्विना अरिष्टतो वा अरिष्टदर्शनतो वा धातुक्षोभेण वा ध्रुव मरण ज्ञात्वा सापेक्षा गच्छापेक्षोपेता गणिनो यत्सूत्रे उक्त (मज्झोकालगयमी) त्यादि तद्भणति सांप्रत (मन्नतर वएज्जा) इत्यस्यार्थमाह ॥

अन्नयर उवज्झाया, दिगाउ गीयत्थपंचमा पुरिसा ।
उक्कसणमणणत्तिय, एगट्ठं ठावणा चेव ॥

उपाध्यायादिका उपाध्यायःप्रवर्त्ती गणावच्छेदको गणी गीतार्थश्च भिक्षुरित्येव रूपा गीतार्थपंचमाः पुरुषाः तेषामन्यतमोऽन्यतरः समुत्कर्षणं मननं स्थापना आचार्यत्वस्थापनमित्यर्थः ॥

पुव्वं ठावेति गणे, जीवंतो गणहरं जहा राया ।
कुमरेउ परिच्छित्ता, रज्जरिहं ठावए रज्जे ॥

पूर्वमेव जीवन्नाचार्यो यः शक्तिमान् तं गणधरं गणे स्थापयति। यथा राजा कुमारान्परीक्ष्य यः शक्तिमत्तया राज्यार्हस्तं राज्ये स्थापयति । कथं परीक्षेत्यतः परीक्षाविधिमाह ॥

दहि कुम्भ अमच आणत्ती, कुमारा अतिणएतहिंएको ।
पासे निरिक्खिऊणं, असिमंति पवेसणे रज्जं ॥ १ ॥
एगो राया बहुपुत्तो, सो चिंतेइ जो सत्तिमंतो ।
तं रज्जे ठावेहामि, ततोकुमारे परिच्छिउ माढत्तो ॥ २ ॥
आणत्ता पुरिसा दहि, घडगे एगत्थओगासे ।
ठवेह तेहिं ठवेत्ता, रएणो निवेदियं अमच्चो जाणितो। ३।
विच्छ तुमं दहियघडाणं, पासे अत्था हिंगतोअमच्चो ।
अन्नाते कुमारा सद्दाविता, जाणिया वत्थदहिघडमेक्केक्कं ४
आणेह सेगया अघं, वहंतयं न पासंति ।
ततो ते अप्पासेता सयं चेव दहिघडमेक्केक्कं ॥ ५ ॥
घेत्तुंसंपट्ठियाएकोकुमारो, पासाणि निरिक्खेत्ता अघं च ।
हंतयमपासंतो अमच्चं जणति दहिघडं अमच्चे ॥ ६ ॥
नेच्छइ कुमारेण असिं, उज्जिरिऊण भणइजइनेच्छसि सीसतेपाडेमि अमच्चेणगहितो, दहियघडो कुमारो तं घेत्तुं गतो रायसमीवं ॥ रएणा एस सत्तिमंतोत्ति परिक्खित्ता रज्जेठवितो ॥ ७ ॥

अक्षरयोजनात्वियं । दधिकुटा एकत्र राज्ञा पुरुषैः स्थापितास्तदनतरममात्यस्याज्ञप्तिः प्रदत्ता। यथा घटानां पार्श्वे तिष्ठ। तत कुमारा दधिघटानामानयने निरोपितास्तत्रैकः कुमारः पार्श्वा न् निरीक्ष्याऽन्यमपश्यत् अमात्यस्योपरि असिरुद्गारितस्ततो मन्त्रिणा दाधिघटो गृहीतस्तेन दधिघटस्य प्रवेशने कुमारेण कारिते दृष्टे तस्य कुमारस्य राज्यं दत्तवान् । अत्रोपनयमाह ॥

दसविहवेयावच्चतिउ, कुसलज्जयाणमेवं तु ।
ठावेंति सत्तिमंतं, असत्तिमंते बहूदोसा ।

एवमाचार्योऽपि दशविधेवैयावृत्ये उद्यतानामुद्यतमतीनां मध्ये (कुसलत्ति) यो यत्र कुशलस्तस्य तत्र नियोग करोति त तत्र नियोजयति। यस्त शक्तिमंत गणधरं स्थापयति अशाक्तिमति तु स्थाप्यमाने बहवो दोषाः के ते इतिचेदुच्यते। सोऽशक्तिमत्वेन शक्नोति साधून् यथायोगमनियोक्तुं। तत आहारोपधिपरिहानिर्निर्जरातश्च ते परिभ्रश्यंति। अथाशुकारणतः पूर्वं न स्थापितं स्यात्ततोऽपस्थापिते गणधरे स कालगतो न प्रकाशयितव्य इत्यादि पूर्वोक्तमपि च सातव्यम् ॥
अत्रैव विधिशेषमाह ।

दोमादीगीयत्थे पुव्वुत्त, गमेण सति गणं विज्जए ।
मीसेव अणरिहे वा, अगीयत्थे वा जएज्जाहि ॥

आचार्येण शिष्या निर्मापितास्ते द्वौ त्रयश्चत्वारो वा भवयुस्तेषु द्व्यादिषु गीतार्थेषु सति प्रभवति परिवारे पूर्वोक्तागमेन तृतीयोद्देशकोक्तेन प्रकारेण गणं विभजेत् तेषु सर्वेष्वपि विभज्य पृथक् २ गणोदाऽऽज्य इत्यर्थः ॥ तथा मिश्रानाम तेषामाचार्यशिष्याणां मध्ये केचित् गीतार्थाः केचिदगीतार्थास्तानपि विभजेत् । किमुक्तं भवति। यो गीतार्थास्तान् गणधरपदे स्थाप्य तथा पृथक् कुर्यादितरांस्त्व गीतार्थाननर्हतया अथ वा यैरर्थो देशतो गृहीतो न देशतो गृहीतस्ते मिश्रास्तान् विभजेत् एते मिश्रा अपि योग्या एते त्वयोग्या इति विभागेन स्थापयेत् तथा ये शरीरेण जुंगिकतया* सर्वथा गणधरपदानर्हास्तानापि विभजेत् वाशब्दोऽपि शब्दार्थः ॥ एकांतेनाऽयोग्यतया पृथक् स्थापयेत् अगीतार्थत्वाश्च भजेत् । इयमत्र भावना। योऽगीतार्थानामाचार्यलक्षणोपेतास्ताननर्हतया स्थापयति ये पुनरगीतार्था अपि संजान्य श्रुतसंपदा आचार्यलक्षणोपेतास्तान् योग्यतया पृथक् स्थापयति ॥
सम्प्रति मिश्रपदव्याख्यानार्थमाह ॥

गीयागीया मिस्सा, अहवा अत्थस्स देसो गहितो उ ।
तत्थ अगीया णअरिहा, आयरियं तस्स होतीउ ॥

केचित् गीता गीतार्थाः केचिदगीतार्था एते मिश्रा अथवा अर्थस्य देशो यैर्गृहीतस्ते मिश्रास्तत्र ये अगीता आचार्यलक्षणपरिभ्रष्टाश्च ते आचार्यत्वस्याऽनर्हा भवंति॥ संप्रति " सेय समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वो नासमुक्कसणारिहे णो समुक्कसियव्वे„ इत्यस्य भावार्थमभिधित्सुः प्रथमतः पूर्वपक्षमुत्थापयति ॥

कहमरिहो वि अणरिहो, किंतु हु असमिक्खकारिणो
थेरा । ठवेंति जं अणरिहं, चोयग!सुण कारणमिणं तु ॥

परो ब्रूते । कथ पूर्वमाचार्यविद्यमानवेलायामर्होऽपि सन् पश्चादनर्हो जातो येनोच्यते। स चेत्समुत्कर्षणार्हस्तर्हि समुत्कर्षयितव्यः। किंतु वितर्के वितर्कयामि। हु निश्चितमसमीक्षितकारि स्थविरा आसीरन्। यदनर्हं स्थापयति। यथायं समुत्कर्षयितव्यः अत्र सूरिःप्राह। चोदक ! शृणु कारणमिद येन पूर्वमर्होऽपि पश्चादनर्हो जातः ॥
तदेव कारणमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह ॥

उप्पियणभीतसंदिसए, देसिए चेव फरुससंगहिए।
वायगनिप्फावग, अब्भसीसइच्छाअहाकप्पो ॥

(उप्पियणं) मुहु स्वसन तद्वारं भीतसदेशनद्वारमदेशिक द्वारं परुषद्वारमेतानि चत्वार्यपि प्रस्तुतार्थविषयाणि । संग्रहद्वार वाचकनिष्पादकं द्वारमन्यशिष्यद्वारमिच्छाद्वार यथा कल्पद्वारमित्येतानि सग्रहादीनि द्वाराणि (अत्थियाइं च अत्थे समुक्कसणरिहे) इत्यादि सूत्रविषयाणीति द्वारगाथा सक्षेपार्थः ॥
सम्प्रति उप्पियण द्वार विभावयिषुराह ॥

सन्निसेज्जागयं दिस्सा, सिस्सेहिं परिवारियं ।

---

* हस्तपादादिशरीरविकलतयेत्यर्थः ।

कौमुदी जोगजुत्तं व, तारापरिवुडं ससिं ॥१ ॥
गिहत्थपरतित्थीहिं, संसयत्थीहि निच्चसो ।
सिविज्जंतं विहगेहिं, सरं वा कमलोज्जलं ॥ २ ॥
खज्जडं अणुसासंतं, सब्भावंतं समुज्जए ।
गणस्स गिलाकुव्वंतं, संगहं विसए सए ॥ ३ ॥
इंगियागारदक्खेहिं, सया छंदाणुवत्तिहिं ।
अविकडियानिदेसं, रायाणं च अनायकं ॥ ४ ॥

सती नाम शोभना स्वकीया वा निषद्या सन्निषद्या तस्यां गतमुपविष्टं शिष्यैःपरिवारितमित्यद्भुतमुपमयति। कौमुदी कार्त्तिकी पौर्णमासी तद्योगयुक्तं तारापरिवृतं शशिनमिव।१। तथा गृहस्थैः परतीर्थिभिः संशयार्थिभिश्च साधुभिर्नित्यशः सर्वकालं सेव्यमानं किमिवेत्यत आह (कमलोज्जलं) कमलपरिमंडितं सर इव विहगैः पक्षिभिस्तथा।२।(खजडमान्)कुस्वजावान् अनुशासतं सम्यक् उद्यताः समुद्यतास्तान् श्रद्धापयंतं तेषां महतीं श्रद्धामुत्पादयंतं तथा गणस्य गच्छस्य अगिलया निर्जरार्थमात्मोत्साहेन स्वके विषये आत्मीयया शक्त्या इत्यर्थः। संग्रहं कुर्वंतं।३। तथा इंगिताकारदक्षैश्छंदोऽनुवर्त्तिभिः सदा सर्वकालमविकटितनिर्देशमखंडिताज्ञं राजानमिव अनायकं न विद्यते नायको यस्य स तथा। तं चक्रवर्त्तिनमिवेत्यर्थः। दृष्ट्वा कश्चिदगीतार्थ उत्पन्नगौरवो भवति।

उप्पन्नगारवे एवं, गणित्ति परिकंखिओ ।
उप्पियंतं गणिं दिस्सा, अगीतो भासेइ इमं ॥

उत्पन्नमभिलषणीयतया जातं गौरवं यस्य स तथा । एवमहमपि गणी भवामि गणिपदमवाप्य परिपालयामि। ततः शोभनं भवतीत्येव परिकांक्षितः परिकांक्षावान् गणिनमाचार्यमुप्पियत मुहुर्मुहुः श्वसंत मतेकाममलिंगं दृष्ट्वा कश्चिदगीतोऽगीतार्थः कथमहं गणधरो भविष्यामीति विचिंत्य यथा गच्छवर्त्तिनः साधवः शृण्वन्ति। तथा मातृस्थानत इदं वक्ष्यमाणं भाषते । तदेवाह ॥

अलं मज्झ गणेणंति, तुब्भे जीवह मे चिरं ।
किमयं तेहि पुट्ठोउ, दिज्जए मे गणो किल ॥

अलं पर्याप्तं मम गणेन यूयं मम पुण्योदयेन चिरं प्रभूतं कालं जीवथ । ततस्ते गच्छवर्त्तिनः साधवस्तस्यागीतार्थं ब्रुवते। किमेतत्त्वं ब्रूषे । यथा अलं मम गणेन। एवं तैः पृष्टः सन् सोऽगीतार्थो वक्ति। क्षमाश्रमणैः किल मे गणो दीयते। तत एवमुक्तं मयेति ।

अथवा उप्पियणद्वारस्यायमर्थः ॥

अट्ठावि एत्र पुव्वंतु, गीयत्था उप्पियं तए ॥
आमदाहा मो एयस्स, संमतो एस अम्मावि ॥ १ ॥
गीयत्थो पवयत्थो य, संपुण्णसुहलक्खणो ॥
सम्मतो एस सव्वेसिं, साहू ते ठाविते गणे ॥ २ ॥

वाशब्दः प्रकारांतरद्योतने। पूर्वमस्थापिते गणधरे म्रियमाण आचार्यः किल (उप्पियतित्ति) मुहुर्मुहुः स्वसिति तं च तथाभूतं दृष्ट्वा गीतार्थश्चिन्तयति आचार्यस्य वाङ् नास्ति यया ब्रूते यथा अमुकं साधुं गणधरं स्थापयथ। मा भूत् सा वाणी वयमेव गच्छवर्त्तिनः साधून् भणामो यथाचार्यैरमुको गणधरपदे संदिष्ट इति। तथात्रोपायं करिष्यामो यथा गच्छसाधूनामकंपनीयो भवति। एव चिन्तयित्वा गच्छसाधवः शृण्वन्ति । तथा ब्रुवते " आमदाहामोएयस्सत्ति। इच्छामः क्षमाश्रमणाश्च तस्यामुकस्य दास्यामो गणधरपदमस्माकमप्येष सम्मतो यत एष गीतार्थो वयस्थः संपूर्णानि शुभानि लक्षणानि यस्यासौ स संपूर्णशुभलक्षणस्तथा एष सर्वेषां साधूनां समतस्ततस्ते त्वया गणे स्थापितः। एवमेतौ द्वौ प्रकारा वुप्पियणद्वारेण व्याख्यातौ । एतौ द्वावपि जनौ यदि पूर्वमाचार्येण समीक्षितौ यथानर्हाविति तदा न कश्चिदाचार्याणामसमीक्षितदोषः । गतमुप्पियणद्वारम् ॥

अधुना भीतसदेशद्वारमाह ॥

असमाहियमरणं वे, करेमि जइ मे गणं न देसि ।
इति गीतेउ गीते, संदिसए गुरु तओ भीओ ॥

कश्चिदगीतार्थः पापीयान् प्रत्यासन्नमरणमाचार्यमवगम्य ब्रूते । यदि मे मह्यं गणं न ददासि ततस्तेऽसमाहितमरणतथा करो "भविष्यत्समानसामीप्ये वर्तमानवद्वे"ति वचनात् प्राकृतत्वाद्भविष्यति । वर्त्तमाना ततोऽयमर्थः । करिष्यामि यथा दीर्घकालं संसारे भ्रमसि तत एवमुक्ते तस्य भीत आचार्यो गीतो गीतार्था देशकालपुरुषौचित्यवेदनात् गीतार्थान् स दिशति यथैतस्मै मया गणो दत्त इति गीतार्थाश्च विदितकारणा ब्रुवते।

आमंति वोत्तुं गीयत्था, जाणंताकरणं तमु ।
कयेठ्ठवं तुनिज्जुहे, अतिसीसेय संवसे ॥

आमं इच्छाम इति उक्त्वा गीतार्थास्तत्करणं जानतः कृतार्थे निर्यापिते आचार्ये त दुष्टाभिप्रायं निर्यूहंति निष्काशयति। एवमेषोऽनर्होभवति । अथातिशेषेऽतिशयज्ञानी जानातीति यथा सांप्रतमेष निर्दोषीभूतः स वा तस्मात् स्थानात् गुरुजनसमक्षं प्रतिक्रांतस्ततः संवास्यते ॥ गत भीतसंदिसणद्वारम् ॥

इदानीमदेशिकद्वारमाह ॥

अरिहोवि अणरीहो, होइ जो उ तेसिमदेसितो ॥
तुह्नदेसीव फरुसो, महुरोव असंगहो ॥

एक आचार्यस्तस्य षट् कुडुकाः । तेषां मध्ये एक आचार्येण गणधरपदे समीहितोऽन्ये चाचार्यस्य शिष्याः सिंधुदेशादिषु विहरंति । ते सिन्ध्वादिषु विहृत्याऽऽचार्यसमीपमागताः । एकं कुडुकमाचार्यसमीहित मुक्त्वा अन्ये सर्वे कुडुकाः केचित् कालगताः । केचित्प्रतिभग्ना एवं सकुडुकः कुडुकदेशोद्भवस्तेषां सैन्धवादीनामनर्हो जातो येन ते तस्य भिन्नदेशिकत्वादुल्लापनं परियच्छंति । अकारयोजनात्वेवमर्होऽप्यनर्हो भवति। यस्तेषां तत्कालभाविनां साधूनामदेशिको भिन्नदेशिको यथा सैन्धवादीनां कुडुक इति। गतमदेशिकद्वारम् ॥

अधुना परुषद्वारमाह ॥ (तुह्नदेसीवफरुसो) तुल्यदेशीयः पूर्वंसमीहितो गणधरपदे स पश्चात्परुषभावो जातः परुषत्वाच्च प्रतिचोद्यमान आक्रोशति आक्रोशांश्चासहमानानां मुत्सं लगादिकं कुर्वन् गच्छभेदं करोति। एवमेष पश्चादनर्हः । सम्प्रति (पत्थियाई भवे समुकसपारिहे) इत्यस्यार्थं विभावयिषुः संग्रहद्वारमाह (महुरो व असंगहो) यैः पूर्वं समीहितः स सत्यपि मधुरत्वे असंग्रहो न संग्रहशील अन्यस्तु संग्रहशीलः स समुत्कृष्यते भेदार इति । सांप्रतमस्मिन्नेवार्थे वाचकनिष्पादकद्वारमाह ।

वायंतगनिप्फायग, चउरोभंगाउ पढमो।
गच्छे तइओउ होइ, सुस्सो अस्सेण वा वाएइ ॥

वाचको निष्पादक इति पदद्वयसंयोगतश्चत्वारो भंगास्तद्य था । वाचयत्यपि निष्पादयत्यपीति प्रथमः१वाचयति न निष्पादयति द्वितीयः २ न वाचयति निष्पादयति तृतीयः ३ न वाचयति न निष्पादयति चतुर्थः ४ अत्र सत्यपि पूर्वसमीहिते यः प्रथमभंगवर्ती संस्थाप्यते नेतरो द्वितीयादिभंगवर्ती। तथाचाह। प्रथमको ग्राह्यः द्वितीभङ्गको न स्थाप्योऽनिष्पादकत्वात्। तृतीयस्तु शून्यो वाचनाया अभावे निष्पादकत्वायोगात्। यदि वा आत्मना न वाचयति अन्येन वाचयति। तदासोऽपि योग्यः।चतुर्भंगिकस्तु सर्वथाऽनर्ह एव। सांप्रतमधिकृत एवार्थेऽन्यशिष्यद्वारमाह ॥

असतीव अप्पसीसं, ठवेंति गणम्मि जाव निम्मातो ।
एसो चेव अणरिहो, अहवा विइमो सासिस्सोवि ॥

आचार्याः कालं कर्तुकामा आत्मीयाः शिष्याः सर्वेऽप्यनिर्मीता इति तेषां मध्ये गणधरपदयोग्ये एकस्मिन्नप्यसति अन्यस्य शिष्यं प्रातीच्छिक गणे स्थापयति च यावन्मम शिष्यो निर्मातो निष्पन्नो भवति तावत्त्वं गणधरः। निर्माते सति त्वया गणधरपद निक्षेप्तव्य । यदि न निक्षिपति ततश्छेदःपरिहारः सप्तरात्रं वा तपः प्रायश्चित्तम्। एष समीक्षितोऽप्यनर्हो जातः। अथवाऽयं स्वशिष्योऽप्यनर्हस्तमेवाह ।

जो अणुमतो बहूणं, गणहरअवियतो दुस्समुक्कट्ठो ।
दोसा अणिक्खिवंते, सेसा दोसं च पावेंति ॥

आचार्यैःकालं कुर्वद्भिर्ज्ञातो य एष मम शिष्यः सूत्रतोऽर्थतश्च निर्म्मात एतस्मादयं बहुभिर्जनैर्गणधरगुणैरन्यधिको भविष्यति । केवलमिदानीमनिर्मातस्ततो योऽसौ निर्म्मातः स आचार्यैरुच्यते । यावदेनं त्व निर्मापयसि। तावत्त्वं गणधरःएतस्मिंस्तु निर्म्मापिते त्वया गणधरपद निक्षेप्तव्यम्। यत एष तव पार्श्वाद्बहुभिर्जनैर्गच्छस्य प्रवचनस्य चोपग्रहकारी भविष्यति।तेनतथा प्रतिपन्नम्।आचार्यः कालगत. सच तेन निर्मापितो जातः समस्तस्याऽपि संघस्य प्रीतिकरः ततोयस्तेन निर्मापितो जातोऽनुमतो बहूनां स गणधरः स्थापनीयो यस्त्वबियत्तोऽप्रीतिकरः पूर्वं स्थापितः स दुस्समुत्कृष्ट इति वक्तव्यो निक्षिप गणधरपदमेवमुक्तो यदि न निक्षिपति तत स्तस्मिन्ननिक्षिपति दोषाश्छेदं परिहारं सप्तरात्र वा तपः प्राप्नोतीति भावः।येऽपि च शेषास्त भजते तेऽपि दोषं प्राप्नुवन्ति छेदं परिहारं सप्तरात्रं वा तेऽपि प्राप्नुवतीत्यर्थः। यदेतद्भणितमेतत्प्रसंगागतमयं पुनः स्फुटसूत्रेण निपातः ॥

अब्भुज्जयमेगयरं, ववसियकामंमि होइ सुत्तं तु ।
तेवेंति कुणसुएक्कं, गीयं पच्छा जहिच्छा ते॥

आचार्येण कोऽपि स्वशिष्यः समीहितो यथाऽयमाचार्यपद योग्य इति ततो गीतार्थाः संदिष्टा, एष सुमुत्कर्षयितव्यः सच कालगते आचार्ये ब्रूते । अहमभ्युद्यतविहार जनकल्पादिक मभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्स्ये तस्मिन्नभ्युद्यतमेकतर विहार मरणं । वाच्यवशात्तुमनसि भवति निपतति सूत्रम् । अत्थिया इत्थ अम्हे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे नत्थिया इ च केइ अम्हे समुक्कसणारिहे सेचेव समुक्कसियव्वे । तस्मिन्नभ्युद्यतस्यैकतरं व्यवसातुकामे अस्ति चेदत्र गच्छेऽन्यः कश्चित्समुत्कर्षणार्हस्तर्हि स समुत्कर्षयितव्यो नास्ति चेदत्र कश्चिदन्यः समुत्कर्षणार्हस्ततः स एव समुत्कर्षयितव्यः। कथमिति चेदुच्यते । गीतार्थो अभ्यर्थनपुरस्सरं ब्रुवते । यूय गणधरपद परिपालयत। एकमस्माकं कचन गीतं गीतार्थं कुरुत निर्मापयत ततः पश्चात्तस्मिन्निर्मापिते ते भवतां यदिष्टं यत्प्रतिभासते तत्कुरुतेतिभावः । अत्रेच्छाद्वारावसरः । एवमुक्ते तेन गणधरपदं प्रतिपाद्य कश्चनाप्येको निर्म्मापितः। पश्चात्तस्य चित्तमजायत। यथा अभ्युद्यतविहारात् गच्छपरिपालनं विपुलतरं निर्जराकारम् तस्मात्परिपालयाम्यहमेव गच्छमिति। तथाचाह ॥

निम्माऊण णेगइमंपि, मे निज्जरायदारं तु ।
निक्खिव निक्खिवामी, इत्थं इतरे उ खुब्भंति ॥

स गणधरपदे स्थापित एकं कंचनापि निर्म्माप्येदं चित्तमकार्षीत् इदमपि गच्छपरिपालनं महत् निर्जराया द्वारं।एवं व्यवसिते तस्मिन् गच्छे गीतार्था ब्रुवते निक्षिप गणधरपदं स प्राह। न निक्षिपामि किंत्विच्छामि गच्छं परिपालयितुमेवमुक्ते इतरे गच्छगीतार्थाः क्षुभ्यंति ते च क्षुभ्यंतो यद्ब्रुवते तदाह ।

दुस्समुक्कट्ठं निक्खिव, भणंति गुरुगा अणुट्ठिहिं तेय।
एमेव अप्पे सीसे, निक्खिवणा गाहिते नवरं ॥

पूर्वं तव नेप्सितं गणधारणं पश्चादिदानीं यद्यपि रुचिस्तथापि नत्वस्मभ्यं रोचसे दुःसमुत्कृष्टः खलु तव गणधरपद। तस्मान्निक्षिपति एवं भणति गच्छसाधुवर्गे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः(अणुट्ठिहितेयमेवे)त्यादि योऽसौ प्रातीच्छकः स्थापितः स चेत् यावद्यापि न निर्म्मापयति कमपि शिष्य तावद्यदि गच्छसाधवो भाषते निक्षिप त्वं गणधरपदमिति तदा तेषां तथा भाषमाणानां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। अथ तस्मिन्नन्यशिष्ये निर्मापयितुमिष्यमाणे अनुतिष्ठति अनिर्मापिते गणधरपदनिक्षेपण करोति तदा तस्मिन्नन्यशिष्ये अनुतिष्ठति गणधरत्वं निक्षिपतः प्रतिच्छिकस्य प्रायश्चित्तमेव चत्वारो गुरुका इत्यर्थः।यथा गीतार्थत्वेन गच्छसाधवः सेविष्यते तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्त नवरं केवल तस्मिन्नन्यशिष्ये ग्राहिते निर्म्मापिते गणधरपदनिक्षेपणा कर्तव्या । नच तत्र तां कुर्वतस्तस्य छेदः परिहारः सप्तरात्र वा तपः । गतमिच्छाद्वारम् ॥

सम्प्रति यथा कल्पद्वारावसरस्तत्र ये गच्छसाधवस्ते स्वगच्छसाधुं प्रतिच्छिकं च पूर्वस्थापितं यथा कल्पेनाऽभ्युत्तिष्ठति यथाकल्पानभ्युत्थानमेवाह ॥

आवस्सगसुत्तत्थे, भत्ते आलोयणाउवट्ठाणे ।
पडिलेहा कितिकम्मं, मत्तगसंथारगतिगं च ॥

आवश्यके क्रियमाणो यो विनयस्तस्य आचार्यस्य कर्तव्यस्तं च न कुर्वंति सूत्रमर्थं वा तस्य समीपे न गृह्णते । (भत्तेति) आचार्यप्रायोग्यं तस्य भक्तं न प्रयच्छति। (आलोयणत्ति) तस्य पुरतो नालोचयति (उवट्ठाणत्ति) आचार्यवस्त्रकवलपात्रादिप्रत्युपेक्षणाय नोपतिष्ठंते । नापि कृतिकर्म वंदनकमन्यद्वा कुर्वंति नापि मात्रकत्रिक तस्य ढौकयति तिस्रः संस्तारकभूमयस्ता अपि न प्रयच्छति। तेषामपि यथा कल्पमनभ्युत्तिष्ठतां प्रायश्चित छेद' परिहारः सप्तरात्र वा तप इति। व्य. २ खं. ४ उ. ॥

आचार्ये मृते तत् क्षणमेवान्यः स्थाप्यते।तथाच व्यवहारसूत्रं

णिग्गंथस्स णं णवरूहरतरुणगस्स आयरिय उवज्झाए विसंजेज्जा णो से कप्पइ । अणायरियउवज्झायस्स होंतए कप्पइ । से पुव्व आयरियं उदिसावित्ता ततोपच्छा उवज्झायं सेकिमाहु भंते ! दुसंगहिए समणे णिग्गंथे तंजहा आयरियेणं उवज्झायेणय ॥ ११ ॥ व्य. सू. ३ उ ॥

निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे । नवरूहरतरुणस्य वा आचार्यसाहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायस्तस्याचार्योपाध्यायस्येत्यर्थः । विष्कंभयात् म्रियेत । ततः सेतस्य नवरूहरतरुणस्याचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं न कल्पते वर्तितुं किन्तु पूर्वमाचार्यमुद्देशास्स्थापायित्वा ततः पश्चादुपाध्यायमुद्देशाप्येवमाचार्योपाध्यायस्य सतो भवितुं कल्पते । सेकिमाहु (भन्ते ! इति) से शब्दोऽथ शब्दार्थः । अथ भदन्त ! किं कस्मात्कारणात् भगवन्त एवमाहुः । सूरिराह । आभ्यामाचार्योपाध्यायाभ्यां संगृहीतोऽभिसंग्रहीतः श्रमणो निर्ग्रन्थस्सदा भवति तद्यथा आचार्योपाध्यायेन च एष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥ ११ ॥

(२) आचार्ये मृते निर्ग्रन्थीनामप्यन्य आचार्यः स्थाप्यते ॥ तथा च व्यवहारसूत्रं ॥

निग्गन्थीएणं णवरूहरतरुणियाए आयरियउवज्झाए पवित्तिणियं विसंजेज्जा णो से कप्पइ अणायरिय अणुवज्झाइयताए अपवत्तिणिएय होंतए कप्पइ से पुव्वं आयरियं तु दिसावित्ता तओ पच्छापतिओ उवज्झायं ततोपच्छापवित्तिणियं से किमाहु भंतेति संगाहिया समणी निग्गंथी । तंजहा । आयरिएणं उवज्झाएणं पवित्तिणिएय ॥ १२॥ व्य. सू. ३ उ. ॥

निग्गन्थीएणमिति पूर्ववत् नवरूहरतरुण्याः आचार्योपाध्यायस्समासोऽपूर्ववत् । आचार्योपाध्यायमेतत्प्रवर्तिनीच विष्कंभयात् म्रियेत । ततस्सेतस्या अनाचार्योपाध्यायाया उपलक्षणमेतत् प्रवर्तिनीरहितायाश्च नोकल्पते भवितुं । किन्तु पूर्वमाचार्यमुद्दिश्यते । ततः पश्चादुपाध्यायं । ततः पश्चात् प्रवर्तिनीं । कथाभवितुं कल्पते (से किमाहु) इत्यादि अथ भदन्त ! किंकस्मात् कारणात् भगवन्त एवमाहुः । सूरिराह । त्रिभिः संग्रहिता श्रमणी निर्ग्रन्थी सदा भवति तद्यथा आचार्येणोपाध्यायेन प्रवर्तिन्या च एष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

(२२) आचार्येऽवधाविते आचार्यान्तरस्थापनं॥

पूर्वाचार्योऽवधावेत्तर्हि नवः स्थाप्यः ॥ तथा च व्यवहारसूत्र

आयरिय उवज्झाए उहायमाणे अन्नयरं वएज्जा अज्जो मएणं उदायंसि समणंसि अयं समुक्कसियव्वे । जाव सव्वेसिं तेसिं तप्पातियं छेए वा परिहारे वा ॥ १३ ॥ व्य. सू. ४ उ. ॥

व्याख्या । आचार्य उपाध्यायो वा मोहेन रागेण वा अवधावन (अन्यतर) मुपाध्यायादिकानां गीतार्थपंक्तमानां पुरुषाणामन्यतमं वदेत् यावत्करणादेवं परिपूर्णपाठो द्रष्टव्यः ॥

अज्जो ममं सिणं उहावियंमि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वो सेय समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वेसिया सेयनो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे सिया अत्थियया इत्य अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे नत्थियाइत्य अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे तेसिंचणं समुक्किट्ठंसि परोवएज्जा दुस्समुक्किट्ठंते अज्जोनिक्खिवाहि तस्स णं निक्खिवमाणस्स नात्थि केइ छेदे परिहारे वा ।।

अस्य व्याख्या प्राग्वत् व्य. सू. ४ उ. ॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः । केन पुनः कारणेनाऽसाववधावतीति चेदत आह ॥

मोहेण वा रागेण, ववहाणं भेसयं पयत्तेण ॥
धम्मकहाए निमित्तेणं, अणाहसालागवेसणया ॥

अवधावनं मोहेन वा कामोद्रेकरूपेण रोगेण वा । तत्र मोहविषया यतना प्राक् तृतीयोद्देशकेऽभिहिता । यदि रोगेण ततो नाधावितव्य । किंतु प्रयत्नेन भेषजं दातव्यम् ॥ तत्र धर्मकथानिमित्तेन चोत्पादनीयं । तथाऽप्यलाभे अनाथशालातो गवेषणा भैषजस्य कर्तव्येति निर्युक्तिगाथायाः संक्षेपार्थः ॥ एतामेव संप्रति भाष्यकृद्विवरीषुरिदमाह ।

मोहेण पुव्वभणियं, रोगेण करेंति भाएजयणाए ॥
आयरियकुलगणे वा, संघो व कमेण पुव्वुत्तं ॥

यदि मोहेनावधावनं कर्तुमीहते तदा यत्पूर्वं तृतीयोद्देशके मोहचिकित्सा विषय भणितं तत्कर्तव्यमथ रोगेण तदाऽनयावक्ष्यमाणया प्रथमतः ततःप्रासुकेन तदलाभे वाऽप्रासुकेनापीत्येवरूपया यतनया पूर्वोक्तं भैषज्यं प्रयत्नेन संपादनीयमित्यादिरूपं कुर्वन्ति केते कुर्वंति । तत आचार्यकुलं गणसंघोवा कथमित्याह । क्रमेण परिपाट्या तामेव परिपाटीं कालनियमनपूर्विकामाह ॥

छम्मासे आयरियकुलंतु, संवच्छराणि तिन्नि भवे ॥
संवच्छरं गणो खलु, जावज्जीवं भवे संघो ॥

प्रथमत आचार्यः षण्मासान् यावत् चिकित्सां कारयति तथाप्यप्रगुणीभूतं तं कुलस्य समर्पयति ततः कुलं त्रीन्संवत्सरान् यावत् चिकित्सक भवति । तथाऽप्यप्रगुणीभवतं गणस्य तं समर्पयति । तदनतर संवत्सर यावत् गणः खलु चिकित्सको भवति । एतच्चोक्तं भक्तविवेकं कर्तुमशक्नुवतो यः पुनर्भक्तविवेकं कर्तुं शक्नोति । तेन प्रथमतोऽष्टादशमासान् चिकित्सा कारयितव्या । विरतिसहितस्य पुनः संसारे दुःप्रापकत्वात् तदनंतर चेत्प्रगुणीभवति । तत स्सुन्दरमथ न भवति । तर्हि भक्तविवेकः कर्तव्य. ॥ अत्रैव देशांतरमाह ॥

अहवा बिइयादेसा, गुरुवसभे भिक्खुमादिते गच्छं ॥
जत्थि वारसवासा, तिउक्कमासो अच्छेयं ॥

अथवा द्वितीय आदेशो गुरौ च ते भिक्षादौ यथाक्रमं चिकित्सां कारयंति यावज्जीवं द्वादशवर्षाणि त्रिषट्कमष्टादशमासान् कथमित्याह अशुद्धेनापिशब्दोऽत्र लुप्तोद्रष्टव्यः प्रथमतः शुद्धेन तदभावे चाशुद्धेनापि । तदनन्तरं भिक्षादिना भक्तविवेकः कर्तव्यः । गुरुस्तुगच्छप्रवर्तकइति तस्य यावज्जीवं चिकित्सा तत्र प्रथमोद्देशेन च विवेकं कर्तुं शक्नुवतं प्रत्यष्टादशमासान् ॥ कश्चिकित्साविधिस्तमभिधित्सुराह ॥

पयत्तेण ओसहं से, करेंति सुद्धेण उग्गमादीहिं ।
पहाणीए अलंभे, धम्मकहाहिं निमित्तेहिं ॥

प्रथमतः प्रयत्नेनोद्गमादिभिः शुद्धेन वस्तुजातेन (से) तस्य औषधं कुर्वंति । तदलाभे पंचपरिहान्या यावच्चतुर्गुरुकेनाप्यशुद्धे

नापि तथाऽप्यलाभे धर्मकथाभिस्तदौषधमुत्पादयति तथाऽप्यलाभे निमित्तैरपि ॥

तहवि ण लब्भे असुद्धं, वहिट्ठियसालाहिवाणुसट्ठादि।
नत्थंत वहिदाणं, सलिंगविसणेण उड्डाहे ॥

तथापि निमित्तैरपि चेद्शुद्ध नलभेत ततोनाऽथशाला या आरोग्यशाला तस्यां मध्ये न प्रविशति। किंतु वहिस्थितास्तत आरोग्यशालात औषधं गवेषयित्वा समानयति। अथ ते शाला निवासिनो न प्रयच्छति। तर्हि यस्तस्या आरोग्यशालायाः प्रभुरधिपस्तमनुशास्य याचते। तथाप्यलाभे स धर्मकथया आवर्जनीयस्तथाप्यनावर्जने निमित्तेस्वलिङ्गे नाऽप्यवर्जयितव्यः तथापि वहिःस्थितानामौषधप्रदानमनिच्छति यत्यस्यार्चित लिंग तेन लिंगेन प्रविशंति प्रविश्यौषधमानयति। अथ स्व लिंगेनापि तत्र कस्मान्न प्रविशति तत आह। स्वलिंगव्यसनेन स्वलिंगप्रवेशेन प्रवचनस्योड्डाहः। नामी किमपि जानते स चामीषां धर्मः श्रेयानतः क्वचिदपि किंचिदप्यलभमाना अनाथा इवात्र समागता इति प्रवचनस्योपघातः। एतदेव पणहाणी एमलंभे इत्यादिकं विवरीपुरिदमाह ॥

पणगादिज्जागुरुगा, अलप्भमाणे वहिंतु पायोज्जा ॥
वहिट्ठियसालगवेसण, तत्थ पभुस्साणुसट्ठादि ॥

पञ्चकपरिहान्या पंचकादिप्रायश्चितमौषधोत्पादनाय ताऽवदासेवनीयं यावच्चत्वारोगुरुकास्तथापि वहिः प्रायोग्ये औषधे अलब्धे आरोग्यशालाया वहिः स्थिता औषधस्य गवेषणं कुर्वते तत्र तद्वास्तव्यानामदाने यः प्रभुरारोग्यशालाया अधिपतिस्तस्यानुशास्ति आदिशब्दाद्धर्मकथानिमित्तं च प्रयुंजते असई अन्नियलिंगेनरक्तपटादिरूपेण प्रवेशनं कुर्वति तेषुच प्रविष्टेषु येप्रतिभानवंतः प्रतिवचनदानसमर्था वृषभास्ते स्वलिंगेन गत्वा प्रभुं भाषते यथा कोयुष्माकं सिद्धांत एवमाभाष्य तत्र सिद्धांतविषये प्रभुणागृहीतलिंगैश्चसहपरस्परसुल्लापकुर्वति। यथा उत्तरवादिनो वृषभा भवति। अथ वा यदि प्रतिपत्तिकुशलाः परप्रतिपादनवृषभास्ततस्ते गत्वा से तस्य प्रभोर्निजकत्वमात्मीयत्व भावयंति। तत्रापि सिद्धांतविषये तैर्गृहीतलिंगैः सह परस्परसुल्लाप तथा कुर्वति। यथा ते आचकत इति ॥

अहवा पडिवत्तिकुसला, तेण समं करेंति उल्लावं।
पज्जवंतो विय सोवी, वसभेऊ उत्तरीकुणति ॥

अथवा ये प्रतिपत्तिकुशलाःपरप्रतिवचनदानसमर्थास्तत स्ते गत्वा तेन प्रभुणा सह परस्परसुल्लाप तथा कुर्वति गृहीत लिंगाश्च तथा तं भावयंति तथा सोऽपि आस्तां गृहीतलिंगा इत्यपिशब्दार्थः। प्रभवन्नपि वृषभानुत्तरीकरोति उत्तरवादिनः करोति। ततः स निरुत्तरीकृतः सन् यद्भूते तदाह ॥

तो भणइ कलहमित्ता, मज्झमेव हेज्जह छदंतंति।
तंवियपडिसुणंति, एवं एगाए छम्मासा ॥

ततः सिद्धांतोल्लापे पराजितः सन् भणति यूयं मम कलहमित्राणि कलहानतर यानि जातानि मित्राणि तानि कलहमित्राणि ततोमे ममोदंत वहत एवमुक्ते तेपि वृषभाः प्रतिशृण्वति अभ्युपगच्छंति। तत एवं गत्या गतिभिस्तमतीवावर्ज्य ता षण्मासान् यावत् तत्र चिकित्सां कारयंति। एवमेकस्यामनाथशालायां षण्मासा एवं द्वितीयस्यां तृतीयस्यामपि च तथा चाह ॥

छम्मासा छम्मासा, विइय तइयाए एव सालाए।
काऊ अट्ठारस ऊअ, पउणे ताहे विवेगोउ ॥

एवमुक्तप्रकारेण द्वितीयस्यामनाथशालायां षण्मासा एव तृतीयस्यामपीति सर्वसकलनया अष्टादशमासान् चिकित्सां कारयित्वा प्रगुणीकरोति। अथ प्रगुणा न भवति ततस्तस्य भक्तविवेकं कर्तुमुचितः संप्रति प्रागुक्तं द्वितीयमादेशं स्पष्टयति अहवा।

गुरुणो जावज्जीवं, फासुय अफासुएण ते गित्थं।
वसभे वारसमासा, अट्ठारसभिक्खुणोमासा ॥

गुरोराचार्य्यस्य यावज्जीवं चिकित्सां प्रासुकेनाऽप्रासुकेन वा कुर्वति सर्वस्यापि गच्छस्य तदधीनत्वात् यथाशक्ति निरंतरं सूत्रार्थनिर्णयप्रवृत्तेश्च। वृषभे द्वादशवर्षाणि चिकित्सा ततः परं शक्तौ भक्तविवेकः एतावता कालेनान्यस्यापि समस्तगच्छ भारोद्वहनसमर्थस्य वृषभस्योत्थानात् अष्टादशमासा भिक्षोश्चिकित्सा ततःपरमलाभ्यतया शक्तौ सत्यां भक्त विवेकस्यैव कर्तुमुचितत्वात् ॥ व्य. ४ उ. ॥

(२३) लक्षणं सुत्तत्थे णिम्माओ इत्यादि ॥

सुत्तत्थे णिम्माओ, पिअदढधम्मोणुवत्तणाकुसलो ॥
जाईकुलसंपन्नो, गंभीरोलद्धिमंतोअ ॥ १५ ॥

व्या०। सूत्रार्थे निर्मितो निष्ठितः प्रियदृढधर्मः उभययुक्तोऽनुवर्तनाकुशलः उपायज्ञः। जातिकुलसंपन्नः। एतद्द्वयसमन्वितो गम्भीरो महाशयलब्धिमांश्च उपकरणाद्यधिकृत्येति गाथार्थः ॥

संगहुवग्गहनिरओ, कयकरणो पवयणाणुरागीय ॥
एवं विहोओ भणिओ, गणसामि जिणवरिंदेहिं ॥१६॥

व्या०। सग्रहणोपग्रहनिरतः संग्रह उपदेशादिनोपग्रहश्च वस्त्रादिना व्यत्यय इत्यन्ये। कृतकरणो ऽभ्यस्त क्रियः। प्रवचनानुरागी च प्रकृत्या परार्थप्रवृत्तः। एवंविध एव भणितः प्रतिपादितो गणस्वामी गच्छधरैर्जिनवरेन्द्रै भगवद्भिरिति गाथार्थः ॥ प व ॥

आहारवत्थादिसुलद्धिजुत्तं, आदेज्जवक्कं च अहीणदेहं।
सक्कारभज्जं मइमंमि लोए, पूयंति सेहाय पिहूजणाय ॥

आहारवस्त्रादिलब्धियुक्तमादेयवाक्यमहीनदेहं परिपूर्णदेहावयव तथा मतिमति लोके सत्कारभाजं विद्वज्जनपूज्यमित्यर्थः। शैक्षकाः पूजयति। पाठांतरम् "सक्कारहज्जमि इमं मिलोए" तत्राऽयमर्थः। सत्कारेण ह्रियते आक्षिप्यते इति सत्कारहार्योऽयं यतोलोकस्तत एव भूतेऽस्मिन् लोके आहारवस्त्रादिषु लब्धियुक्तमित्यादिगुणैः शैक्षकाः पूजयंति। पृथक् जनश्च बहुमन्यते। ततः स तादृशो गणधारी कर्तव्यः। व्य. ३ उ.॥

आयरियउवज्झाया, नाणुन्नाया जिणेहिं सिप्पट्ठा ॥
णाणे चरणे जोगा, वहाउ ते अणुण्णाया ॥

आचार्य्या उपाध्यायाश्च जिनैस्तीर्थकृद्भिर्न शिल्पार्थाःशिल्पशिक्षणनिमित्तमनुज्ञाताः कैः कारणैः पुनरनुज्ञातास्तत आह। ज्ञाने चरणे च ये योगास्तेषामावहाः प्रापका यतो भविष्यन्ति ततस्ते अनुज्ञाताः। ज्ञानचरणस्फातिनिमित्तमनुज्ञाता इत्यर्थः। अपि चेदृशा आचार्योपाध्याया अनुज्ञाताः ॥ व्य २ ख ४ उ.।

(२४) एकपाक्षिकादेर्दिगाचार्य्यः ॥

नूतनाचार्य्यस्थापनायामेकपाक्षिकभिन्नपाक्षिकयोर्योग्यता

ऽयोग्यता यथा ॥

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ इतिरियं दिसं वा अणुदिसं वा धारित्तए वा जहा वा तस्स गणस्स परियांसि वा ॥ २४ ॥ व्य. सू. ३ उ. ॥

एकपाक्षिकभिन्नपाक्षिकयोर्योग्याऽयोग्यता (चाउपात्रणाकप्प) शब्दे ॥

(२५) लक्षणं मेढीभूतः ॥

तत्र गणस्य बहुव्रतिनीसमुदायात्मकस्य प्रत्येकं परीक्षा कर्तुं न शक्यते अथाचार्ये च परीक्षिते प्रायोगणोऽपि परीक्षित एव मेढ्यादिसमानत्वेन तत्प्रवर्तकत्वादाचार्यस्य गणस्य च तदनुवर्तित्वादित्यतः प्रथममाचार्यमेव परीक्षेतेत्याह ॥

मेढी आलंबणं खंभं, दिट्ठि जाणसुउत्तमं ॥
सूरी जंहोइ गच्छस्स, तम्हा तं उ परिक्खए ॥ ८ ॥

व्याख्या यद्यस्मात्कारणात् सूरिः सदाचार्यो गच्छस्य गणस्य (मेढित्ति) मेढिः खले गोबधस्थूणा तत्समानो भवति। यथा तया बद्धानि पशुवृंदानि मर्यादया प्रवर्त्तते तथाचार्यो मेढीबद्धो गच्छोऽपि मर्यादया प्रवर्तत इत्यर्थः । तथालबनं हस्ताद्याधारस्तत्समानः यथा हस्ताद्याधारो गर्तादौ पतज्जंतुं धारयति। तथा ऽचार्योपि भवगर्ते पतत गच्छं धारयतीत्यर्थः। तथा (खमंति) स्तम्भः स्थूणा अत्र नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादेव तत्समानः । यथा स्थम्भः प्रासादाधारः स्यात् तथाचार्योपिगच्छप्रासादाधारः तथा (दिट्ठित्ति) दृष्टिर्नेत्र तत्समानः यथाजतोर्नेत्रं शुभाशुभवस्तुप्रदर्शक भवति तथा ऽऽचार्योपि गच्छस्य भाविशुभाशुभप्रदर्शकः स्यात् तथा(जाण सूत्तमति)यान यानपात्र सुत्तममतिप्रधानमच्छिद्रमित्यर्थः तत्समानो यथा अच्छिद्रयानपात्रं समुद्रतीरं नयति जंतून् तथाचार्योपिगच्छे भवति तस्मात् प्रथम तंतुत्तिनोरवकारार्थ त्वात् तमेवाचार्यमेव परीक्षेत गच्छपरिक्षेप्सुः साधुरिति अनुष्टुप्छंदः। एवचात्र ग्रन्थे त्रयोधिकाराः सूचिताः तद्यथा आचार्यस्वरूपाधिकारः १ साधुस्वरूपाधिकारः २ साध्वी स्वरूपाधिकारश्च ३ तत्र प्रथममाचार्यस्वरूपाधिकार निरूपयितुकामः कैश्चिल्लिङ्गैः छद्मस्य उन्मार्गप्रस्थितमाचार्य्यं परीक्षेतेति प्रश्नयन्नाह ॥

भयवं केहिं लिंगेहिं, सूरिं उम्मग्गपट्ठिअं ॥
विआणिजाउ छउमत्थे, मुणि ! तंमे निसामय ॥ ९ ॥

व्याख्या । हे भगवन् ! परमैश्वर्य्यादिसमन्वित ! कैर्लिङ्गैश्चिन्है रुन्मार्गप्रस्थितमसन्मार्गस्थितं सूरिमाचार्यं छद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति छद्म तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थस्तं विजानीयात् परीक्षेतेति परप्रश्ने गुरुराह हे मुने ! यैश्चिन्है राचार्यमुन्मार्गप्रस्थितं छद्मस्थ परीक्षेत तन्मे मम कथय इति शेषः (निसामयत्ति) त्वं निशामयाकर्णयेति अनुष्टुप् छंदः ॥ ९ ॥ अथ वृत्तद्वयेनपूर्वोक्तशिष्यप्रश्नोत्तरमेवाह ॥

सच्छंदयारिं दुस्सीलं, आरंभेसु पवत्तयं ॥
पुढवाइपमिबर्ध्दे, आउकायविहिंसगं ॥ १० ॥
मूलुत्तरगुणब्भट्ठं, सामायारीविराहयं ॥
अदिन्नालोअणं निच्चं, निकहासु परायणं ॥ ११ ॥

अनयोर्व्याख्या ॥ स्वच्छन्देन स्वाभिप्रायेण न तु जिनाज्ञया चरतीति स्वच्छंदचारी त तथा दुष्टं शीलमाचारो यस्य स दुश्शीलस्तं तथारम्भः पृथिव्याद्युपद्रवणानि उपलक्षणत्वात्सरम्भसमारम्भावपि । तत्र संरम्भः सकल्पः समारम्भस्तु परितापकरः। उक्तं च ॥

संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो ॥
आरंभो उद्दवओ, सुध्दनयाणं तु सव्वेसिं ॥ १ ॥

तत्र स्वान्ययोः प्रवर्त्तकस्त तथा पीठकमासन आदिशब्दात् फलकपट्टिकादयस्तत्र प्रतिबद्धः कारणं विनापि ऋतुबद्धकाले तत्परिभोजीत्यर्थः ॥ ग. १ अधि. ॥

(२६) परीक्षा आचार्यस्य ॥

सुध्दस्सय पारिच्छा, खुड्डयथेरेयतरुणखज्जूरे ॥
दोमादिमंकुलीए, सुध्दमसुध्दे ततोपच्छा ॥

शुद्धस्य परीक्षा कर्त्तव्या कस्मिन्विषये इत्यत आह। क्षुल्लके स्थविरे तरुणे खज्जूरः स्वभावाद्धकाचारः तस्मिंस्तथाद्वयोरादिमंकुल्योः एताभिः परीक्षाभिर्यदि निर्वर्तितस्ततः शुद्धः इतरस्त्वशुद्धः शुद्धस्य च गणधरपदानुज्ञा कर्त्तव्या नाशुद्धस्य ततः शुद्धाशुद्धप्रतिपादनानंतर चोदक पृच्छा उपलक्षणमेतदाचार्यस्य प्रतिवचनं च वक्तव्य एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः। सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषु प्रथमतः क्षुल्लकविषय परीक्षाविधिमाह ॥

उच्चफलो अहखुड्डो, सउणिच्छावोपवासिउं दुक्खं ।
पुट्ठोवि होहिति न वा, पछिमंयो सारवंतस्स ॥

तस्य द्रव्यभावपरिच्छेदेपितस्य गणधरपदयोग्यता परीक्षणाय प्रथमतः क्षुल्लको दीयते। एवं द्विविधामपि शिक्षां त्व ग्राहय ततः स एव मुक्तः सन् यदि चिंतयति यथा (अहत्ति) एष क्षुल्लकः उच्च चिरकालभाविफलं यस्मात्स उच्चफलश्चिरकालेनोपकारी तावता कालेन किमपि भविष्यतीति कोवेद ततः केमन शिक्षां ग्राहयिष्यति यदि वा शकुनिशावसिवावत्पोष्यः पोष्यते। पुनः पुनर्बुभुक्षाभावादिति भावः। अपि च पुष्टोऽपिनजेप मम भविष्यति वानवा को न जानाति अन्यच्चाशु धारयतः सारं कुर्वतो मम सूत्रस्य च महान्पलिमथो व्याघातस्ततो नैतस्य मे शिक्षया प्रयोजनमेव चिंतयन् योन ग्राहयति सोऽनर्हस्तद्विपरीतो ऽर्हस्ततो यः स्थविर एष प्रवचनोपग्रहकरो भविष्यति दृढदेहो वा यथा आचार्यरक्षितपितेति कारणतो दीक्षितस्तिष्ठति स शिक्षकस्तद्दय समर्प्यते एव द्विविधामपि शिक्षां ग्राहयति तस्मिंस्तत्समर्पिते यदि स इदं चिंतयति ॥

पुट्ठोवा स मरिसति, दुराणुवुत्तो न वेज्झपमियारो ।
सुत्तत्थे परिहाणी, थेरे बहुयं निरत्थं तु ॥

एष प्रथमभिक्षादिदापनतः शिक्षाग्राहणतश्च पुष्टीकृतोऽप्याशु शीघ्रं मरिष्यति च शब्दः चिंतांतरसमुच्चये। यदिवा वृद्धः स्वभावात् दुरनुवर्त्य दुःखेनानुवर्त्य तेन वा अत्र वृद्धशिक्षापनेकश्चित् प्रतीकारः किमुक्त भवतिनास्मा द्वृद्धात् कश्चित् प्रत्युपकारोऽथवा वृद्धो वृद्धत्वादेव जडप्रज्ञश्च ततोस्य शिक्षणे मम सूत्रार्थपरिहाणिस्तदेव स्थविरशिक्षां ग्राह्यमाणे बहुकनिरर्थकमिति य एनं चिंतयित्वा येन शिक्षां ग्राहयति सोऽनर्हस्तद्विपरीतोऽर्हे इति तदनंतरं योऽसौ तरुणो मेधावी त समर्प्य ग्राहयन् यथा एष मण्डलिपरिपाट्या आलापके दीयमाने सीदति तत स्त्वमेतमप्याक्षेपेण पाठय । ततः स इद चिंतयति ॥

अहियं पुच्छति गिह्नए, बहुं किं गुणो चरगेण ॥
होहिंति य विवड्ढंतो, एसो ममं पडिसपत्ती ॥

एष मेधावित्वादधिकं पृच्छत्यवगृह्णाति वावधारयति बहु प्रभूत तत इत्थमस्यैव सूत्रस्यार्थस्य चरकेण प्रदानत आकणिकतया को गुणो मम निरर्थकः कश्चिदित्यर्थः । केवलं दोषो निजसूत्रार्थपरिगलनादन्यच्च एष हु निश्चित विवर्द्धमानः सूत्रतोऽर्थतश्च वृद्धिं गच्छन् मम प्रतिसपत्नीव प्रतिपक्षी भविष्यति । ततो न कोऽप्येन पाठयिष्यतीति यो न शिक्षयति सोऽनर्हः स्वतः खज्जूरू दत्वा स भण्यते । अमु तया ग्राहय । यत्रा सुरुः समाचारीकुशलश्च भवति ततो यदि ॥

कोही निरुवगारी, फरुसो सव्वस्स वामवट्टो य ।
अविणीतोत्ति व काउं, हंतुं सत्तं व निच्छुभती ॥

क्रोधी यदि वा निरुपकारी अथवा परुषः परुषभाषी तथा सर्वस्य साधुवर्गस्य वामावर्तः प्रतिकूलतया वर्तते यदि वा अविनीत इति कृत्वा शिक्षां ग्राहयति । अथवा आक्रुश्य शत्रुमिव वा हत्वा निष्काशयति तर्हि सोऽनर्हस्तद्विपरीतोऽर्हः ॥

संप्रति चतुर्ष्वपि यो जनेषु तद्विपरीततया यथार्होभवति तथा भावयति ॥

वत्थाहारादीहिं, संगेह्न अणुवत्तए य जो जुयलं ॥
गाहेइ अपरितंतो, गाहण सिक्खावए तरुणं ॥ १ ॥
खलुमउएहि अणुयत्तत्ति, खज्जूरूं जेण पडइ पासेणं ॥
गाढमवहारविजढो, तत्थोट्ठणमप्पणो कुणइ ॥ २ ॥

यो नाम युगल क्षुल्लकवृद्धलक्षणं वस्त्राहारादिभिः संगृह्णाति आत्मवशीकरोत्यनुवर्तयाति च तरुणमपरिश्रांतः परिश्रममगणयन् ग्राहयति । ग्राहणं ग्राह्यते शिष्य एतदिति बाहुलकात् कर्मण्यनट् । ग्राहणमाचारादिसूत्र आसेवनां शिक्षयति तया खज्जूरूं खरमृदुभिर्वाक्यैस्तथानुवर्तयाति । येन स पाशे न पताति अन्यथा गतिं न लभते इति मन्यमानस्तद्वशी भवाति तथाःयःस्थानादपि चलन्नपि सन् खज्जूरूतया विहारविजढो भवति विहारं न करोतीति भावस्तत्र उड्डणमगीकारमात्मना करोति । यथैनमहं खरेण मृदुना चोपायेन विहारक्रमं कारयिष्यामीति एष एवं भूतोयोग्यः ॥

इयमुब्व सुत्तमंडलिं, दाविज्जइ अत्थमंडलिं चेव ।
दोहिं पि अ सीयंते, देइ गणं चोइए पुच्छा ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण चतुर्ष्वपि जनेषु सूत्रोपदेशतः परीक्षितः सन् शुद्धो भवति न मनागपि दोषः । ततस्तस्य सूत्रमंडली दाप्यते अर्थमंडली च एतयोरपि मंडल्योर्यदि न विषीदति किंत्वपरिश्रांततया गच्छवर्तिनां प्रातीच्छकानां च ज्ञानाद्यभिलाषिणां चित्तग्राहको वर्तते ततस्तस्मिन् मूलाचार्यो गणं ददाति एवमुक्ते चोदके चोदकस्य पृच्छा केत्यत आह ।

चोएइ भाणिऊणं, उभयाभिन्नस्स दिज्जइ गणोत्ति ॥
सुत्तेय अणुन्नायं, भयवं चरणं पडिच्छओ ॥ १ ॥
अपरिहाए परिहं, परिछंदं अत्थेण जं पुणो पलवेह ॥
एवं होइ विरोहो, सुत्तत्थेणं दुवेण्हंपि ॥ २ ॥

चोदयति प्रश्नयति परोयया पूर्वमिदमुक्तमुभयच्छिन्नस्य द्रव्यभावपरिच्छेदविशेषात् शास्त्रन्यपरिकलितस्य गणो दीयते । युक्त चैतत् । यतः सूत्रेऽपि चशब्दोऽपि शब्दार्थः । भगवन् धारणगणधारणमनुज्ञात । परिच्छन्ने द्रव्यभावपरिच्छदोपेतमात्रे तत

एवमुक्त्वा यदर्हानर्हपरीक्षामर्थेनार्थमाश्रित्य प्रारूपयथाः । नन्वेव सति द्वयोरपि सूत्रार्थयोर्भवति विरोधः । उक्तस्वरूपस्याऽर्थस्याधिकृतसूत्रेणासूचनात् ॥

अत्र सूरिराह ॥

संति हि आयरिय जगाणि, सत्थाणि चोयग ! सुणाहि ॥
सुत्ताणुन्नातो वि हु, होइ कयाइ अणरिहोउ ॥ १ ॥
तेण परिच्छा कीरइ, सुवण्णगस्सेव तावनिहसादी ॥
तत्थ इमो दिट्ठंतो, रायकुमारेहिं कायव्वो ॥ २ ॥

चोदक ! शृणु मदीय वचः सति हि स्फुट तानि शास्त्राणि यान्याचार्यद्वितीयकानि किमुक्तं भवत्याचार्यपरपराया तत्संप्रदायविशेषपरिकलितानि ततो यद्यप्यर्हानर्हपरीक्षालक्षणोऽर्थः सूत्रे साक्षान्नोपनिबद्धस्तथापि सूचनात् सूत्रमिति सोऽपि सूत्रेण सूचित इति सप्रदायादवगम्यते इति न कश्चिद्दोषः । तथा च सूत्रानुज्ञापि हि निश्चितं कदाचिदनर्हो भवति । नच सूत्रमन्यथा सर्वज्ञप्रणीतत्वात्तेन परीक्षापि सूचितेति । तापनिकषादिभिः सुवर्णस्येव सूत्रानुज्ञानस्याऽपि क्षुल्लकादिभिः परीक्षा क्रियते । तत्राय वक्ष्यमाणलक्षणो दृष्टांतो राजकुमारैः कर्तव्यः ॥

तमेवाह ॥

सूरे वीरे सत्तिए, ववसायियिरे चियायधितिमंते ॥
बुद्धिविणयकरणे, सीसेवि तहा परिच्छाए ॥
निब्भयओरस्सबली, अविसाइ पुणो करेंति संठाणं ॥
नवि संभाते देति अणस्सित्तो उ व उड्ढाणुविचि य ॥

इहाद्यगाथापदानां द्वितीयगाथापदैर्व्याख्यान । तद्यथासूरो नाम निर्भयः । सच कुतश्चिदपि न भयमुपगच्छति । वीरश्चौरसबलवान् तेनाक्लेशेन परबलं जयति । सात्विको नाम योमहत्यभ्युदये गर्वं नोपयाति न च गरिष्ठेऽपि समापतिते व्यसने विषादं । तथाचाह । अविषादि उपलक्षणमेतत् अगर्वी वा व्यवसायी अनलस उद्योगवानित्यर्थः । तथाचाह । पुनः करोति सस्थान । किमुक्तं भवति । प्रमादतः कथंचिद्व्यवसायविकलोऽपि भूत्वा पुनः करोति संस्थां कर्तुमुद्यच्छति स्वोचितव्यवसायमिति भावः । स्थिरोनाम उद्योग कुर्वन्नपि न परिताम्यति तथा चाह । विश्राम्यतीति (वियायत्ति) दानरुचिर्यथौचित्यमाश्रित्य स्वेभ्योऽन्येभ्यश्च ददातीत्यर्थः । धृतिमान् राज्यकार्याणि कुर्वन् परविश्रामनपेक्षमाणःतथाचाह (अणिस्सित्ति) इति (बुद्धित्ति) औत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयोपेतः । विनीतो गुर्वादिषु विनयकारी यथोचित्य गुर्वादीनामनुवर्तक इत्यर्थः । करणे इति यद्राज्ञः कर्तव्य तत्करणे कुशल । एतेषु परीक्षा क्रियते किमेते गुणास्सन्ति न वा । तत्र य एतैर्गुणैरुपेतो भवति । स राज्ञो राज्येऽभिषिच्यते । दानशीलोऽत्रयः स्थिरस्सोऽपरिश्रांतस्सन् कर्तव्यं करोति । कृत्वापि च पश्चादनुपतापी त्यागवान् नाम दानशीलः स च स्तोकादपि स्तोक ददानो गणस्य बहुमानभाग् भवति ॥

उवसग्गो सोढव्वे, झाये किच्चेसु या विदिसंतो ॥
बुद्धिचउक्कविणीतो, अहवा गुरुमादिविणीतोउ ॥

धृतिमान् उपसर्गान् सोढव्यान् ध्यायति । कृत्येष्वपि कार्येष्वविषादं प्रवर्तते । बुद्धिविनीत इत्यत्र इदमपि व्याख्यान । बुद्धिचतुष्टयं नीत प्रापितमात्मनि येन स बुद्धिविनीतः । सुखादिदर्शनात् क्तांतस्य पाक्षिकः परनिपात । अथवा (बुद्धित्ति) बुद्धिचतुष्कोपेतो विनीतो गुर्वादिषु विनीत ॥

दव्वाई जं जत्थ उ,जम्मि विकिव्वं तु जस्स वा जंतु ॥
कव्वइ अहीणकालं, जियकरणविणीयएगत्थ ॥

यद्यत्र द्रव्याद्युपयोगि यस्य वा यत्र यत्कृत्यं तत्सर्वमहीनकालं जितकरणः करोति कारयति । जितकरणो विनीत इति द्वावप्येकार्थौ तात्पर्यं विवक्षया शब्दार्थस्तु परस्परं भिन्नो जित करणो नाम करणदक्ष उच्यते । विनीत इति विनयकरणशीलः ।

एवं जुत्तपरिक्खा, जुत्तो वेतेहिमेहिउ अज्जोग्गो ॥
आहारादिधरेंतो, तिंतिणिमाइहिं दोसेहिं ॥

एवमेतैरनन्तरोदितैः सूरत्वादिभिर्गुणैर्युक्ता उचिता या परीक्षा तया युक्तोऽपि निश्चितः पात्रीभवेदयमायैदोषैरयोग्यः । तानेवाह । आहारादि आहारोपधिपूजानिमित्तं गुणं धारयन् तिंतिणयादिभिश्च दोषैरयोग्य । तिंतिणीनाम यत्र तत्र वा स्तोकेऽपि कारणे करकरायणं । आदिशब्दाच्चलचित्तादिपरिग्रहः ॥ एतदेव व्याख्यानयति ॥

बहुसुत्ते गीयत्थे, धरेइ आहारपूयणट्ठाइ ॥
तिंतिणचलअणवट्ठिय, दुब्बल चरणा अजोग्गो उ ॥

बहुकालोचितं सूत्रमाचारादिकं यस्य स बहुसूत्रो गीतार्थो विदितसूत्रार्थः । एतेन युक्त परीक्षायुक्तोऽप्येतद्व्याख्यानयति एवंभूतोऽपि यो गणं धारयति (आहारपूयणट्ठाई) उत्कृष्टो मे आहारो भविष्यति पूजनं वा स्वपक्षतश्चेत्येवमर्थः आदिशब्दादुपधिरन्यच्चोपकरणमुत्कृष्टं मे भविष्यतीत्येवमर्थपरिग्रहः । सोऽयोग्यस्तथा । योतिंतिणः स्वल्पेऽपि प्रयोजने करकरायमाणः । चलश्चलचित्तोऽनवस्थितः स्वप्रतिपन्नार्थानिर्वाही । दुर्बलश्चरणचारित्रविषये दुर्बल एतेऽप्ययोग्याः ।

एवं परिक्खियम्मि, पत्ते दिज्जई अपत्तिपर्मितेहो ।
दुपरिक्खियपत्ते, पुण वारियहावेंति मामेरा ॥

एवमनंतरोदितेषु गुणेषु च यदि परीक्षया निर्वर्तितो भवति गुणैरुपेतो दोषैश्च विप्रमुक्त इत्यर्थः तदा स पात्रमिति कृत्वा तस्मिन्परीक्षिते पात्रे गणेदीयते । यस्तु प्रागुक्तैर्दोषैरुपेतो गुणैश्च विप्रमुक्तः सोऽपात्रमिति तस्मिन्नपात्रे गणदानस्य प्रतिषेधस्तस्मिन् गणोन दातव्य इति भावः (दुपरिक्खिय) इत्यादि । अथ कदा चित् दुष्परीक्षितः कृतोभवेत् गणश्च तस्मै दत्तः स च गणःसीदति तं दृष्ट्वाऽन्येऽपि गच्छवर्त्तिनः केचित् सामाचारीशिथिला भवितुं प्रवृत्तास्ततः परीक्षिते पात्रे गणे प्रदत्ते सति गणोऽवसीदति । ये तत्र गच्छेऽन्यतमिधर्मका न सीदंति तैरुपायेन प्रतिचोद्य धारयितव्यः । तत्र यदि वारणानतरमाकृत्योद्धच्छति ततस्समीचीनमथ वारितोऽपि किंचित्कालमुषित्वा पुनः समाचारीं हापयति । तत इयं मर्यादा कर्तव्या अयं विधिःप्रयोक्तव्य इत्यर्थः । तमेवाह ।

दिट्ठोवसमोसरणे, अहवा थेरा तहिं तु वच्चन्ति ।
परिसायघट्टमट्ठा, चंदणखोमी करंटणेय ॥

यत्र समवसरणे ज्ञायते आचार्योऽत्र प्रवेक्ष्यति । तत्र गच्छोऽनुलोमवचसा प्रवेशनीयः । प्रविश्य तत्र गत्वाऽऽचार्यस्य कथयंति । त्वं सीदन् तिष्ठसि नैव च तद्युक्तं तस्मात् उद्यगत्या वर्तस्व । अथवा कुलानि हिंडमानाःस्थविरा स्तत्र व्रजंति तत्र दृष्टांतैः पर्षदसाधुपरिवाररूपा । घृष्टाः पादघर्षणात् मृष्टाः शरीरस्य केशादीनां च समारचनात् । तत एतां तथारूपां पर्षदमवलोक्य चन्दनखोमीदृष्टांतेन खरंटना कर्तव्या सा चैवम्

आयरिया दिट्ठंतमेगं सुणंति । एगोइंगालदाहओ इंगालकट्ठाइणं अणेणट्ठाए नदीकूलं गतोतस्स पासइ । तंम ण वुज्झमाणं गोसीसचंदणखोर्मि सो तं घेत्तूण पारंतेतो तमंतरा वणीओ पासई जाणई एसा गोसीसचंदणखोमी । ततोतेण सो भणितो किं एएण कट्ठेण तं करिस्सई । इंगालदाहगो भणइ । दहिऊण इंगाले घेच्छामि । वणिउचिंतिते । जइइत्ता हेयेव मज्झाहामीतो बहुसुकं मोल्लंकाहिति तो जाहे भहिओ माढवेहिति ताहे किणीहामि । एवं चिंतित्ता जाव वणिउ मुल्लस्स कएण घरं गंतु एति । तावत्तेण दिट्ठा गोसीसचंदणखोमी वाणिएण आगंतुं पुच्छितो । कहींतं कट्ठं सोभणइ दड्ढंति । एवं भणिएण खिंसितो महाभाग किमितोसि इसरियत्तणस्स एवं जहा सो इंगालदाहओ सोयवाणियउ ईसरियत्तणस्स बुको । एवं तुमंपि नाणादी दहंतो निव्वाणस्स बुक्किहिसि ॥

एतदेवाह ॥

इंगालदाहखोमी, पवेसे दिट्टाउ वाणिएणं ॥
तुज्झामुल्लं आणएए,इंगालट्ठाए तादिट्ठा ॥ १ ॥
इय चंदणरयणनिभा,पमाय तिक्खेण परसुणा भेत्थं ॥
दुविहपर्मिसेवसिहिणा, तिरियणखोमि तुमे दड्ढा ॥ २ ॥

अंगारान् दहतीति अंगारदाहस्तस्य पार्श्वे गोशीर्षचन्दनखोमी प्रवेशग्रामप्रवेशो च वणिजा दृष्ट्वा । स च यावन्मूल्यमानयति । तावत्तेनांगारदाहकेनांगारार्थं सा खोमीदग्धा इत्यक्षरार्थः भावार्थस्तु प्रागेवोक्तः सांप्रतमुपनयमाह ॥ इयचंदणेत्यादि । इत्येवममुना प्रकारेण चदनरत्ननिभा गोशीर्षचन्दनमूल्यात्रिरत्न रत्नत्रयरूपा खोमीप्रमादरूपेण तीक्ष्णेन परशुना भित्त्वाद्विधा या प्रतिसेवा मूलगुणप्रतिसेवा उत्तरगुणप्रतिसेवाचेत्यर्थः । सैव शिखी वैश्वानरस्तेन त्वया दग्धा एव वारितः सन् यदि निवर्तते ततः प्रायश्चित्तं दत्वा तस्य वर्त्तापकाः स्थविरा दातव्याः । अथ न निवर्तते नर्हि तस्य गणोऽपहरणीयः । न केवलमेतेऽनर्हाः । किंचान्येऽपि तथा चाह ॥

एएण अणरिहेहिं, अन्ने इयसुट्टया अणरिहातो ॥
के पुणे ते इणमोत्त, दीणादिया मुणेयव्वा ॥

एतैरनंतरोदितैरनर्हैरन्येऽपि खलु सूचिता अनर्हाः । के पुनस्ते सूरिराह । इमे ते वक्ष्यमाणा दीनादयो ज्ञातव्यास्तानेवाह ।

दीणजुंगियचउरो, जातीकम्मे यसिप्पसारीरे ॥
पाणाडोंबा किणिया, सोवागा चेव जातीए ॥

दीना अनर्हाः कस्मादिति चेदुच्यते । तेषां नंदनाभावा दुर्कंच ॥

दीणाजातं दीणे, गतिं दीणजं पिउ पुरिसं ।
कं पेच्छसि नंदंतं, दीणाए दिट्ठिए तत्थ ॥

जुंगिका हीनाश्चत्वारोऽनर्हाः । तद्यथा जातौ कर्मणि शिल्पे शरीरे च । तत्रजातौ जुंगिकाश्चत्वारस्तद्यथा । पाणाडोंबाः किंदिकाः श्वपचाश्च । तत्र पाणानाम येग्रामस्य नगरस्य च बहि

राकाशे वसति तेषां गृहागमननाशात् । गौधा येषां गृहाणि सति गीत च गायन्ति । किङ्किका ये वादित्राणि परिणयन्ति । वध्यानां च नगरमध्ये नीयमानानां पुरतो वादयंति । श्वपचा आकाशा ये शुनः पचन्ति । तन्मांसं विक्रीणन्तीति । एतेजातौ जुंगिका उपलक्षणमेतत् । तेनायकल्पिका ये च ये च हरिकेशजातयेमेया ये च वरुडादयस्तेपि जातौ जुंगिका द्रष्टव्याः । सम्प्रति कर्मणि शिल्पे च तानाभिधित्सुराह ॥

पोसगसंवरनडलं,ख वाहमच्छंधरयगवागुरिया ॥
पडगारा य परीसह, सिप्पे सरीरे य वुच्छामि ॥

पोषका ये स्त्रीकुक्कुटमयूरान् पोषयन्ति । सयरास्तानिकाः । शोधका नटाः प्रतीता ये नाटकानि नर्तयन्ति । लङ्खा ये वंशादेरुपरि नृत्तं दर्शयन्ति । व्याधा लुब्धका मत्स्यबंधाः कैवर्त्ता रजका वस्त्रप्रक्षालका वागुरिका मृगजालिकाजीविनः । एते कर्मणि जुंगिका । पटकारा कुविंकादयश्चर्मकारा इत्यपरे परीषहा नापिता एते शिल्पे जुंगिकाः ॥ संप्रति शरीरे तान् वक्ष्यामि प्रतिज्ञातं निर्वाहयति ॥

हत्थे पाए कन्ने, नासाउट्ठेहिं वज्जियं जाण ॥
वामणगमडनकोडिया, काणा तह पंगुला चेव ॥

शरीरे जुंगिकाः जानीहि । हस्ते सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे । एवं सर्वत्र । ततोऽयमर्थः । हस्तेन उपलक्षणमेतत् । हस्ताभ्यां वा वर्जितं एवं पादेन पादाभ्यां वा कर्णेन कर्णाभ्यां वा नासया ओष्ठेन वा वामनका हीनहस्तपादाद्यवयवा । मडभा कुब्जा कुष्ठव्याध्युपहता काणा एकाक्षाः । पंगुलाः पादगमनशक्तिविकला एतानपि शरीरे जुंगिकान् जानीहि ॥

दिक्खेउंपि न कप्पंति, जुंगिया कारणेवि दोसोवि ॥
अन्नादिक्खिएवा, ताउं न करेंति आयरिए ॥

एते अनंतरोदिताश्चान्येऽपि जुंगिका दीक्षितुमपि न कल्पते किंपुनराचार्यपदे स्थापयितुमित्यपि शब्दार्थः । कारणे तथाविधे समुत्पन्ने दोषका निर्दोषा वा दीक्षितुमपि सपद्यते । अज्ञाताश्चेत्कथमपि जुंगिका दीक्षिता भवेयु ततस्तान् अज्ञातदीक्षितानज्ञात्वा कुर्वत्याचार्यगुणोपेतानप्याचार्यान् प्रवचनहेलनाप्रसक्तेः ॥

पच्छावि होंति विकला, आयरियत्तं न कप्पई तेसिं ॥
सीसो ठावेयव्वो, काणगमहिसो व निन्नम्मि ॥

पश्चादपि श्रामण्यस्थिता अक्षिगलनादिना विकला भवंति । तेषामप्याचार्यगुणैर्युक्तानामप्याचार्यत्वं न कल्पते । येऽप्याचार्यपदोपविष्टास्सन्तः पश्चाद्विकला जायते । तेषामपि न कल्पते धारयितुमाचार्यत्वं । किंतु तैस्तथा विकलैः सद्भिरात्मनः पदे शिष्यः स्थापयितव्यः । आत्मत्वे प्रकारेः स्थापयितव्यः । क इवेत्यत आह । काणकमहिष इव । निम्ने । इयमत्र भावना । काणकोनाम चोरितमहिषो माऽकोऽप्येनमद्राक्षीदिति हेतोर्ग्रामस्य नगरस्य वा बहिर्गर्तरूपे निम्ने प्रदेशे उपलक्षणमेतदिति गुपिले वा वनगहने स्थाप्यते । एवमेषोऽप्यन्यथा च प्रवचनहीलनाप्रसक्तेरज्ञादिदोषप्रसंगाश्च । अथ यो वाऽऽत्मीयः शिष्यः पश्चाद्विकलैराचार्यैः स्थाप्यते । स कीदृश इत्यत आह ॥

गणि अगणी वागीतो, जोवि अगीतोवि या गईमन्तो ।
लोगे स पगासिज्जइ, तहावेन्ति नक्खिमियरस्स ॥

गणोऽस्यास्तीति गणी साधुपरिवारवान् यो वर्तते तदभावे अगणी । वा यो गीतो गीतार्थः कालोचितसूत्रार्थपरिनिष्ठितः तस्याऽप्यभावे योवाप्यगीतोऽप्यगीतार्थोऽपि आकृतिमान् रूपेण मकरध्वजतुल्यः स गणधरपदे निवेश्यते । यथाऽयमस्माकमाचार्यो नेतर इति । केवलमितरस्याऽपि जुंगिकाचार्यस्य यत्कृत्यं तत्स्थविरा अन्येऽपि च न हापयंति सर्वमपि कृत्यं कुर्वंतीति भावः । संप्रत्यनर्हान् प्रतिपादयिषुरिदमाह ॥

एयद्दोस विमुक्कावि, अणरिहा होंति सेवअन्नोवि ॥
अव्वाबाधादीया, तेसिं विभागो उ कायव्वो ॥

एतैरनंतरोदितैर्दोषैर्विमुक्ता अपि भवंत्यन्ये इमे अनर्हाः । के ते इत्याह । अत्याबाधादयस्ततस्तेषामत्याबाधानां विभागः पार्थक्येन स्वस्वरूपवर्णनं कर्तव्यं । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

अव्वाबाध अचायन्ते, नेच्छइ अप्पचिंतए ॥
एगपुरिसे कहं निंदू, काकवञ्झा कहं भवे ॥

(अव्वाबाधेत्ति) अत्याबाध (अचाएतेत्ति) अशक्नुवन् (नेच्छत्ति) नेच्छति अनिच्छन् तथा आत्मचिंतकः एते चत्वारोऽपि पुरुषा अनर्हाः न केवलमेतेऽनर्हाः किंत्वेकपुरुषादयोऽपि तत्र शिष्यः प्राह । कथमेकपुरुषो भवति । कथं वा निंदूः कथं वा काकी कथं वा वंध्येति । एवं शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिः सकलविनेयजनाऽनुग्रहप्रवृत्तः सर्वानप्यत्याबाधादीन् व्याख्यानयति ॥

अव्वाबाधो वाहइन, मन्नइवितिधरेडमसमत्थो ॥
तइओन चेव इच्छइ, तिन्नि ए ए अणरिहातो ॥

अतिशयेन आबाधा यस्य सोऽत्याबाधः । स गच्छस्य द्विविधेऽप्युपग्रहे वस्त्रपात्रादिज्ञानाद्युपष्टंभरूपे कर्तव्ये बाधां मन्यते द्वितीयोऽशक्नुवन् गणं धारयितुमसमर्थः द्विविधमप्युपग्रहं गच्छस्य कर्तुमशक्त इत्यर्थः । तृतीयोऽनिच्छन् समर्थोऽप्यालस्येन गणं धारयितुं नेच्छति । एते त्रयोऽप्यनर्हाः ॥

आत्मचिंतकमाह ॥

अन्नुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिस्सांते अत्तचिंतो उ ॥
जोवा गणे वसंतो, न वहति तत्तीतो अन्नेसिं ॥

आत्मानमेव केवलं चिंतयन् मन्यते यथाऽहमभ्युद्यतजिनकल्पं यथा लंदकल्पानामेकतरं प्रतिपत्स्ये इति । आत्मचिंतकः योऽपि गणेऽपि गच्छेऽपि वसन् तिष्ठन् न वहति न करोति तप्तिमन्येषां साधूनां सोऽप्यात्मचिंतकः । एतौ द्वावप्यात्मचिंतकावनर्हौ ॥

एगं मज्जति सिस्सं, पणट्ठे मरंति विद्धंसंते वा ॥
अन्नमयस्स य एवं, नवरं पुणय एए गो पणत्ति ॥

पंचम एकपुरुष एकं शिष्यं मृगयते सहैवं चिंतयंति । किमप्येकमात्मनः सहायं मृगयामि । येन सुखं तिष्ठामीति तथा कष्टं निंदूतुल्याः शिष्या म्रियते विध्वंसते वा प्रतिभज्यंते वेति भावार्थः । इयमत्र भावना । यथा निंदूमहिला यद् यदपत्यं प्रसूते तत्तन्म्रियते । एवं योऽपि यं प्रव्राजयति स स म्रियते अपगच्छति वा ततः स निंदूरिव निंदू । सप्तमस्यापि काकीतुल्यस्य एवमेव द्रष्टव्यं । नवरं पुनरेकं तिष्ठति किमुक्तं भवति । यस्यापि यः शिष्यः स म्रियते विध्वसते वा केवलमेकः तिष्ठति । उपलक्षणमेतत् । न चैतदपि द्रष्टव्यं । यस्यैकस्मिन्

प्रव्राजिते सति द्वितीयविषये वन्ध्यिरेव नास्ति स काकीव काकी काकयपि हि किंचिक वार प्रसूते इति प्रसिद्धिः वंध्यातुल्यः सुप्रतीत इति न व्याख्या तदेवेद व्याख्यान । वंध्या किलाप्रसवधर्मा एव यस्य नैकोऽपि शिष्य उपतिष्ठते। स वन्ध्येव वन्ध्येति । पुनरन्यानन र्हान् प्रतिपादयिषुरिदमाह ॥

अहवा इमे अणरिहा, देसाणं दरिसणं करेंतेण।।
जेपव्वावियतेणं,थेरादि पयच्छति गुरुएणं ।।

अथवेति । अनर्हाणामेव प्रकारांतरतोपदर्शने इमे वक्ष्यमाणा अनर्हास्तानेवाह । देशानां दर्शन कुर्वते । तेन ये प्रव्राजिकाःस्थविरादयस्तान् प्रयच्छंति गुरूणां न तरुणादीन् पूर्वे बहुवचनमनेकस्यक्त्यपेक्षयेत्यदोपः । स्थविरादीनेवाह।

थेरे अणरीहे सीसे, खज्जूहे एगलंभिए ।।
उक्खोवगयत्तिरिए, पये कालगते इय ।।

यःस्थविरान् प्रयच्छति शिष्यान् यो वानर्हान् योवा खज्जूरान् यदि वा एकलंभिकानथवा य एक प्रधानं शिष्यमात्मना लभते गृह्णाति शेषांस्त्वाचार्यस्य समर्पयति । स एकलाभेन चरतीति एकलाभिकः। यो वा शिष्या णामुत्क्षेपको यथाचार्यो नामत्वरिकान् शिष्यान् करोति । योवा गुरुसत्र्यधिन शिष्यान् पथि कालगतान् चशब्दात् प्रतिभग्नान् कथयति । एते सर्वेऽ प्यनर्हास्तत्र स्थविरादीन् व्याख्यानयति ॥

थेराउ अतिमहल्ला, अणरिहा काणकुंटमादीया ।।
खज्जूराय अवसा, एगालंभी पहाणा उ ।। १ ।।
तं एगं न विवतीअ, विसेसे देइ जे गुरुणंतु ।।
अहवा वि एगदव्वे, लभंति जे ते देइ जगुरूणं ।।२।।

स्थविरानाम अतिमहांतो वयसाऽतिगरिष्ठा इत्यर्थः । अनर्हाः काणकुंटादयः खज्जूरा अवश्याः।अयमत्र भावार्थ-योऽसौ पूर्वं परीक्षित स देशदर्शन कार्यते । तेन च देशदर्शन कुर्वता यदि ये स्थविरा प्रव्राजिता ये च जुंगिका ये च खज्जूरा वा ते आचार्यस्य समर्प्यते तद गा न व्यङ्गा विनीताश्चात्मनस्तदा सोऽनर्ह इति।एगलाभिनां यः प्रधान शिष्यस्तमेक योन ददाति अवशेषांस्तु सर्वानपि प्रव्राजितान् गुरूणां प्रयच्छति । अथवा येषा मेकएव ग्रानो यथा यदि भक्त लभते ततो वस्त्रादीनि न अथ वस्त्रादीनि लभते तर्हि न भक्तमपि एकमेव लभते इत्येवं शीला एकलाभिनस्तया चाह।अथवा ये एक द्रव्य लभंते तान् शिष्यान् गुरूणां यः प्रयच्छति।उभयलब्धिकानात्मन सवधयति सोऽप्यनर्हः ॥

उक्खोवणं देतिभि वा, विउवणाति से समप्पणो ।।
आयरिया णित्तीरियं, बंधइ दिसमप्पणो वकहिं ।।

इय किल समाचारी यावत किल देशदर्शन कुर्वता प्रव्राजिताः तावतः सर्वे गुरूणां समर्प्पणीयाः यस्तु प्रव्राजितान् द्विधा कृत्वा उत्क्षेपेण हस्तोत्पाटनेन द्वौ त्रीन् वा शिष्यान् गुरूणामुपनयति शेषान् सर्वानन्यात्मना गृह्णति एषो क्षेपकोऽनर्हः ॥

तया ये के च न देशदर्शनं कुर्वता प्रव्राज्यते ते सर्वेऽप्यात्मन इत्वरिका बध्ननीया।यथा आचार्यसमीप गता यूय सर्वेऽप्याचार्यस्य यत्पुनराचार्याणां दिशामित्वरिकां बध्नाति । आत्मनस्तु यावत्कथिकां यथा यावत् यूयमाचार्यसमीपे तिष्ठत तावदाचार्यस काः शेषकालं ममेत्येवमित्वरिकान् कतिशिष्यान् सोऽप्यनर्हः ॥

पयंमियकालगया, पडिभग्गज्जा वावितुब्भ जे सीसा।
एए सव्वे अणरिहा, तप्पडिवक्खा भवे अरिहा।।

यो देशदर्शनं कृत्वा समागतः सन् ब्रूते युष्माभिर्दत्ताः साधव परिवारतया ते सर्वे युष्माकं शिष्याः पथि कालगता प्रतिभग्ना वा इमे पुनः सर्वे मम शिष्या एते स्थविरादयो ऽनर्हाः तेषां पुनरनर्हाणामाचार्यसमीपगतानां ये तैः प्रव्राजिता शिष्यास्तानाचार्य इच्छापयति वा न वा गुरूणामेवेच्छाप्रमाण॥ व्य. १ ख. ३ उ. ॥

(२७) उद्देशः मैथुनादिप्रतिसेव्याचार्य्यत्वे न ।।

मैथुनप्रतिसेवने त्रिवर्षाभ्यन्तरे आचार्य्यत्वन्न कल्पत इत्यत्र प्रमाण (मुद्देस) शब्दे ।

(२८) स्थापनाविधिराचार्य्यपदे गुरोः ।।

आचार्य्यपदेऽन्यस्थापनाविधिश्च ॥

कइणंभंते!आयरियस्स ठवणाविही वियाहिया जंबू! जे आयरिया विहिपुव्वं ममाउआयरियेणं पट्ठाविया तेवि आयरिया तत्थ एगे नामायरिया दव्वायरिया ठवणायरिया भावायरिया । जंबू ! जे भावायरिया ते तित्थयरसमा। अहवा तऊ आयरिया पण्णत्ता सिप्पायरिया कलायरिया धम्मायरिया जे ते धम्मायरिया परलोगगहियट्ठाए निजरट्ठाए आराहेयव्वा । अण्णे कलायरिया सिप्पायरिया एकइएहिं कित्तबुद्धिए आराहियव्वे। तत्थेगे धम्मायरिया सोवायकरंडसमा वण्णाइकयपप्पयगाहाईहिं जे सुद्धसज्झाए वखाणिंति ते सोवागकरंडसमा । वेसाकरंडसमाजो रीआहारणसरिसजीहावक्खाणंकवरेणं अंतरं सुअसार विरहिया विमुद्धसज्झाए जणं विमोहिंति णेरावंति अप्पा णं सुतंसि आलुच्च अणत्थे पाडिंति गोयमा ! गणहराणं उवमाएतेवेसाकरंडसमा गाहावइकरंडसमा जे समं ससुवसियसुगुरुहितो संपत्त अंगोवंगाइसुत्तये सुपरिच्छिय च्छेयगंथा सयसमयपरसमयणिच्छया परोवयाकरणिक बद्धिच्छया जणजोगाविहीए अणुओगं करिंति । ते गाहावइकरंडसमा रायकरंडसमा जे गणहरा चउदसपुव्विणोवा घडाओ घडसयं पडाओ पडसयं इच्चाइं विहाइं सयसमणिया ते रायकरंडसमा गाहावइकरंडसमाणे रायकरंडमाणे दोविए आयरिए तित्थयरसमाणे तेसिं ठवणविहि गाहाबंधो ।।

जइगुण १ काल २ णिसिज्जा ३ विज्ज ४ चंदु ५ समा ६ नंदि ७ सगच्छोन्ना ८ मंत ९ रक १० णाम ११ वंदण १२ अणुसट्ठिं १३ निरुद्ध १४ गणगुणा १५ संगा १६ संगहणीगाहा ।।

अळनारिसदिक्ख वारसु, सुत्ते अत्थे य वायगत्तेय ।

पणयालीसपरिसगुण, जुत्तोसूरिपयजुग्गो ॥ २ ॥
देसकुलं पसिद्धि, छत्तीसगुणगणालंकिओ दढचरित्ते ।
जयणाजुत्तो संघस्स, सम्मओ मुक्खकंखी य ॥ ३ ॥
फासाइव साइकाइ, गुणविहीणो निगुण्ठगीयत्थो ॥
ठाविज्जइ सूरिपए, उज्जुत्तो सारणाइसु ॥४॥
सुगुणाभावे न पुणो, गुणपरिहीणो ठविज्जए सूरी ॥
अप्पत्ते सूरिपयं, दिंतस्स गुरुस्स गुरुदोसो ॥ ५ ॥
जत्तसंबद्धो गणहरस्स, दोगच्चमाइहिं परिपुरिसेहिं ॥
जो तं ठवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो ॥ ६ ॥
कहं नासेइ अगीअत्थो, चउरंगं सव्वलो असारंगं ॥
नट्ठमि अ चउरंगेण, हु सुलहं होइ चउरंगं ॥ ७ ॥
नासेइ संभोगो, चउरंगं सव्वलो य सारंगं ॥
नट्ठंमिय चउरंगेण, हु सुलहं होइ चउरंगं ॥ ८ ॥

एयाए विहीए मुणीसस्स परिक्खा काऊण दुसमसमयाणुसारेणं पसत्थे तिहिनक्खत्तमुहुत्ते गहिए पाभाइअकाले पढोमए गुरुसीसे निज्जाए कारित्ता पसत्थजिणभवणाइखित्ते अक्खए गुरुजुगे निसिज्जादुगे कायव्वे अणुओगाणुन्नवणत्थं कियलोयस्स सीसस्स सिरे गुरुणा वासं खेति मंतिऊण सीसे खिवति। मुणीसस्स गं तओ पुव्वाविहीए देवे वंदाविउणा अणुओगाणुन्नवणत्थं काउस्सग्गं किज्जइ। सत्तावीसुस्सा संदुरोवि गुरुसीसा तओपयसं चउवीसं थुतं पढित्ता वागरिसं पंचमंगलुवारं करेंति। मुच्छाट्ठिया। गुरू अन्नोन्ना अपरववखिसयाइगुणोपवेय अंदिसुत्तं कड्ढेइ। पुहूसीसो अद्धोणयकायउत्तमोकयकरकमलकुमलोपवड्ढमाणसंवेगो सुणेइ। तओ सीसो वंदित्तो भणेइ इच्छयारिभंते तुम्हे अणुओगं जाणह तओ गुरु भणइ खमासमणस्स हत्थेणं दव्वगुणपज्जवेहिं खमासमणाणं हत्थेणं अणुओगं अणुजाणामि त्ति ए संदिसह किं भणामि। वंदित्ता पवेएह तउए इच्छयारि तुम्हे अम्हं अणुओगो अणुन्नाउं। इच्छामो अणुसट्ठिंति सीसेण भणिए गुरु भणइ। सम्मे अवहारे यव्वं अन्नेसि पवेयइच्च उत्थं तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि पच्चमेय इयाणसुयकारेण समोसरणं च गुरुं च पयक्खिणेइ एवं तिन्नि वारा छट्टेण तुम्हाणं पवेइउं साहूणं पवेइअं संदिसह काउस्सग्गं करेमि। सत्तमं अणुओगाणुजाणावणियं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइणा उवसग्गे कए गुरुसमप्पिय णिसिज्जा जुओ गुरुं तिपयक्खिणीकरिय वंदित्ता गुरुदाहिणओ उच्चआसन्ने निसिज्जाए णिसीअइ। तउ णिसन्नस्स भगवंवज्जाए दाहिणसवणे गुरुपरंपरागयं मंतपयं तिन्निवारं परिकहेइ। तओ वड्ढतिया उ तिन्निअ अक्खमुट्ठिओ देइ करयलपुडे सीसो ताउ उवउत्तो गिण्हइ। तओ गुरू तस्स नामं कारिय णिसिज्जाउ उट्ठेइ। सीसो तत्थ णिसीयइ अहो सन्निहीयसंघसहिओ गुरू तस्स वंदणं देइ। इयं च तुल्यगुणाख्यापनार्थमुभयोरपिन दोषाय। यदाह। आयरियनिसिज्जाए उवविसणं वंदणं च तह गुरुणो तुल्लगुणाक्खायणत्थं ण तया दुट्ठं दुवएहंपितउ वक्खाणं करेहत्ति। गुरुणा वुत्ते तत्थट्ठिओ चेव अहिणवसूरी नंदिमाइयं परिसाणुरूवं वा वक्खाणं करेइ। तस्सम्मतीए य संघो तं वंदइ। तओसोवि णिसिज्जाउ उट्ठेइ गुरुवो तत्थ णिसित्ता उववूहंति। यथा आयणीपुव्वे दसमसिलोगपंथेण सिक्खा दिंति।

नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः।

यथा। धन्यस्त्वं येन विज्ञात, स्संसारगिरिदारकः ॥
वज्रवत्तुंगदुर्गार्थं, महाभाग ! जिनागमः ॥ १ ॥
इदं चारोपितं यत्ते, पदं तत्संपदां पदम् ॥
श्रीगौतमसुधर्म्मादि, मुनिसिंहनिषेवितम् ॥ २ ॥
धन्येभ्यो दीयते भद्र, ! धन्या एवास्य पारगाः ॥
धन्या गत्वाऽस्य पारन्तु, पारं गच्छंति संसृतेः ॥ ३ ॥
भीतं संसारकांतारा, त्साधुवृन्दमिदं मुदा ॥
विमोचने समर्थस्य, भवतश्शरणागतं ॥ ४ ॥
अतो विधेयं यत्नेन, सारणावारणादिना ॥
अपायपरिहारेण, संसारारण्यपारगं ॥ ५ ॥

एवं तं उववूहित्ता विणेयजणोवि अणुसासियव्वो। यथा।

गुणाभिरपि नैवेष, गुरुर्यबोधिस्यसाभिजः ॥
संसारसागरोत्तारी, निमोक्तव्यः कदाचन ॥ १ ॥
प्रतिकूलेन कर्तव्य, मनुकूलरतैः सदा ॥
भाव्यमस्य गृहत्यागो, येनवस्सफलो भवेत् ॥ २ ॥
अन्यथा लोकबंधूना, माज्ञालोपः कृतो भवेत् ॥
ततो विडंबना घोरा, भवेदिह परत्र च ॥ ३ ॥
ततः कुलवधून्यायात्, कार्य्ये निर्भर्त्सितैरपि ॥
यावज्जीवं न मोक्तव्यं, पादमूलममुष्य भोः ॥ ४ ॥
ते ज्ञानभाजनं धन्या, स्तेहि निर्म्मलदर्शनाः ॥
ते निष्पकंपचारित्रा, ये सदा गुरुसेविनः ॥ ५ ॥

इदं अणुसट्ठिं काउं दोवि णिरुद्धं करेंति दोविसज्झायस्स कालस्सय पडिक्कमंति। आयरियं पंचए अइसया ववहारगत्थे अभिहिया ॥

भत्ते पाणे धोवणए, पससणा हत्थपायसोए य ॥
आयरियअइसेसा, णइसेसा होंत णायरिया ॥ १ ॥
उप्पन्ननाणा जहनो अकंती, चुत्ती सबुद्धा इसया जिणिंदा।
एवं गणी अट्ठगुणोववेआ, सत्थावनो हिं मइइक्खिमंतु ॥ २ ॥
गुरुहिं करणंमि गुरुगा, वसभे लहुगा णिवारयंतंमि ॥
गीयाणीयगुरुलहू, आणाइआ बहूदोसा ॥ ३ ॥

पंचविहआयरियाइ,यच्छंति जहक्कए वि संथरणे ॥
एवं पसत्थरंतो, सयमेव गणी अच्छइ गामे ॥ ४ ॥

इच्चाइगुणजुत्तस्स दुच्चेवट्ठावियायरियस्स वा गणानुज्ञां करोति । तत्थय सकरुणो पवयणाणुरागीय एवं वि खमासणपुव्वं सीसो भणइ । इत्थयारि तुम्हे अम्हदिगाइ अणुजाणावणियं नंदिकारावणियं वासणिक्खेवं करेह इच्चाइ पुव्वुत्तविहीए चेइवंदणं चेइवंदणपुव्वं काउसग्ग करणं नंदिसुत्तस्स कट्ठणं गंधदाणं सत्तखमासणदावणं तओ उस्सग्गाणंतरं सूरिसमीवे उवच्चिाट्ठियस्स अजिणवगणहरस्स साहुणीओ वंदणयं दिंति । तओ तस्सायरियस्स सीसे हत्थं दाऊणं सासणं देइ ॥ तंजहा ।

संपारिऊण परमे,नाणाइ दुविहियतायणसमत्थो॥
भवभयभयाणदढं,ताणं जो कुणई सो धम्मो ॥ १ ॥
अत्ताणवाहिगाहिया, जइवि न सम्मं इहातुरा हुंति ॥
तहवि पुण भावविज्जा, तेसिं अवणंति तंवाहिं ॥ २ ॥
तातंसि भावविज्जो, भवदुक्खनिवीरियातुम्हं ॥
एए हंदिसरणं, पवन्ना मोएयव्वा पयत्तेणं ॥ ३ ॥
गच्छस्स सिक्खिदाणं पुण एवं ॥
तुझेहिं पिण एसो, संसारारुविमहाकन्तीरंमि ॥
सिद्धिपुरसत्थवाहो, जत्तेण सया ण मुत्तव्वो ॥ ४ ॥
नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्तेय ॥
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचन्ति ॥ ५ ॥
एवंचिय समणीणं, अणुसट्ठिं कुणइ इत्थ आयरिओ ।
तह अजचन्दणमिगावइ, णासा होइ परमगुणा ॥ ६ ॥
एवं ठवणाविहीए, ठवियाजे हवन्ति आयरिया ॥
विहिवहिया अणायरिया, भणिया सिरिवीरणाहेणम्
॥ ७ ॥ अंग. चू । ध. ३ अधि. ॥

नूतनाचार्य्यस्थापनविधिर्गुरुशिष्ययोरनुशासनं च पंचवस्तुके यथा ॥

एत्याणुजाणणविही, सीसं काऊण वामपासम्मि।
दंवे वन्देइ गुरू, सीसो वन्दिओ तो भणइ ॥ ३६ ॥

व्याख्या ॥ अत्र प्रक्रमे अनुज्ञाविधिरयं शिष्यं कृत्वा वामपार्श्वे आत्मनः देवान्वन्दते । गुरुराचार्य्यस्ततः शिष्यो वन्दित्वा अत्रांतरे ततो भणति वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

इच्छाकारेणम्हं, दिसाइ अणुजाणहत्ति आयरिया ।
इच्छामोत्ति भणिचा, उस्सग्गं कुणइओ तयत्थं ॥ ३७ ॥

व्याख्या । इच्छाकारेण स्वेच्छया क्रिययाऽस्माकं दिगाद्यनुजानीतेति भणति अत्रांतरे आचार्य इच्छामि इति भणित्वा तदनंतरं कायोत्सर्गं करोति तदनन्तरं दिगाद्यनुज्ञार्थमिति गाथार्थः ॥

चउवीसत्थयनवकार,पारणं कड्ढियय्यं ताहे ।
नवकारपुव्वयं चि अ, कड्ढेइ अणुसासणंदित्ति ॥ ३८ ।

व्याख्या । चतुर्विंशतिसूत्रपाठनमस्कारपारणं नमोरिहंताणमिस्येवमाकृष्य पठित्वा स्तवं पूर्वोक्तं ततो नमस्कारपूर्वकमेवाकर्षति । पठत्यनुज्ञानंदीमिति गाथार्थः ॥

सीसो वि भाविअप्पा, सुणेइ जह वंदअं पुणो भणइ ।
इच्छाकारेणम्हं, दिसाइ अणुजाणह तहेव ॥ ३९ ॥

व्याख्या । शिष्योऽपि भावितात्मा सन् शृणोत्युपयुक्तः अथ वंदित्वा पुनर्भणति शिष्यः । इच्छाकारेणास्माकं भगवन् ! दिगाद्यनुजानीत तथैव भणतीति गाथार्थः ॥

आह गुरु खमासमणं, हत्थे णिम्मस्स साहुस्स ।
अणुजाणिअं दिसाई, सीसो वंदित्तुतो भणइ ॥ ४० ॥

व्याख्या । आह गुरुरत्रांतरे क्षमाश्रमणानां हस्तेन स्वमनीषयाऽस्य साधोः प्रस्तुतस्यानुज्ञातं दिगादिप्रस्तुतं शिष्यो वन्दित्वा अत्रांतरे ततो भणति वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥

संदिसह किं भणामो, वन्दितु पवेअह गुरू भणइ ।
वंदितुपवे अयई, भणइ गुरुतत्थ विहिणाओ ॥ ४१ ॥

व्या. ॥ संदिशत किं भणामि अत्र प्रस्तावे वंदित्वा प्रवेदयैवं गुरु र्भणति वंदित्वा प्रवेदयाति शिष्यो भणति गुरुस्तत्र-विधिना तु वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः ॥

वंदितु भणइ तुम्हं, पवेइयं संदिसह साहूणं ।
एवं सीसोभणइ, भणइ गुरू पवेयह तओउ ॥ ४२ ॥

वंदित्वा भणति ततः किमित्याह । युष्माकं प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि एवं भणति शिष्यः । अत्रांतरे गुरुराह प्रवेदय ततस्तु तदनंतरमिति गाथार्थः । किमित्याह वंदित्वा भणति ततः किमित्याह । युष्माक प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि एवं भणति शिष्यः । अत्रान्तरे गुरुराह । प्रवेदय ततस्तु तदनन्तरमिति गाथार्थः ॥ किमित्याह ॥

वन्दितु णमोकारो, कट्टंतो से गुरुं पयक्खिणइ ॥
सो विअ देवाईणं, वासो दाऊण तो पच्छा ॥ ४३ ॥

व्या. ॥ वंदित्वा नमस्कारमाकर्षं सच्छिष्यो गुरुं प्रदक्षिणी करोति सोऽपिच गुरुर्देवादीनां वासान् दत्वा ततस्तदनन्तर पश्चादिति गाथार्थः ॥ किमित्याह ॥

सीसंमि पक्खिवन्तो, भणइ तं गुरु गुणेहिं वड्ढाहिं ।
एवं तु तिन्निवारो, उवविसइ तओ गुरूपच्छा ॥ ४४ ॥

व्याख्या । शिरसि प्रक्षिप्त्वा वान् भणति तं साधुं गुरुगुणैर्वर्धस्वेति एवमेव त्रीन् वारानेतदुपविशति । ततस्तदनंतरं गुरुः पश्चादिति गाथार्थः ॥

सेसं जह सामइए, दिसाइ अणुजाणणाणिमित्तंतु ।
णवरं इह उस्सग्गो,उवविसइ तओ गुरुसमीवे ॥ ४५ ॥

व्या. शेषं प्रादक्षिण्यादि तथा सामायिके तथैव द्रष्टव्यं दिगाद्यनुज्ञानिमित्तं तु नवरमिह कायोत्सर्गो नियमतएव उपविशति ततो गुरुसमीपे स साधुरिति गाथार्थः ॥

दिंति अ नो वंदणयं, सीसाइ तओ गुरू वि अणुसट्ठिं ।
दोण्हवि करेइ तह जह, अण्णोवि अबुइजई कोई ॥ ४६ ॥

व्या. ददति च ततो वंदनं शिष्यादयः सर्व एव ततो गुरुरप्यनुशास्ति मौढ्यं द्वयोरपि गच्छगणधरयोः करोति । तथा संवेगसारं यथाऽन्योपि च सत्वो बुध्यते कश्चिदिति गाथार्थः ॥

गणधरानुशास्तिमाह ॥

उत्तममिअं पयं, जिणवरेहिं लोगुत्तमेहिं पएणत्तं ।
उत्तमफलसंजणयं, उत्तमजणसेविअं लोए ॥ ४७ ॥

व्या. उत्तममिदं गणधरपदं जिनवरैर्लोकोत्तमैर्मगवद्भिः प्रज्ञप्तमुत्तमफलसजनक मोक्षजनकमित्यर्थः । उत्तमजनसेवित गणधराणामुत्तमत्वाल्लोक इति गाथार्थः ॥

धएणाण णिवेसिज्जइ, धएणा गच्छंति पारमेअस्स ।
गन्तुंइमस्स पारं, पारं वच्चंति दुक्खाणं ॥ ४८ ॥

व्या धन्यानां निवेश्यते एतद्धन्या गच्छति पारमेतस्य विधिना परंपारं व्रजति दुःखानां । सिध्यतीति गाथार्थः ॥

संपाविऊण परमे, एणाणाई दुक्खिय तायणसमत्थे ।
जवजयत्ताणे दढं, ताणं जो कुणइ सोधमो ॥४९॥

व्या सम्प्राप्य परमान् प्रधानान् ज्ञानादीन् गुणान् दुःखित त्राणसमर्थान् । किमित्याह । भवभयभीतानां प्राणिनां दृढ त्राण य करोति सधन्यो महासत्व इति गाथार्थः ॥

अएणाणवाहिगहिआ, जइवि न सम्मं इहाउरा होंति ।
तहवि पुणजावविज्जा, तेसिं अवणिंति तंवाहिं ॥ ५० ॥

व्या० ॥ अज्ञानव्याधिगृहीताः सन्तो यद्यपि न सम्यगिहातुरा भवति व्याधिदोषात्तथापि पुनर्भाववैद्यास्तात्विकास्तेषामप नयति व्याधिमज्ञानलक्षणमिति गाथार्थ ॥

तातंसि जावविज्जा, जवदुक्खनिवीडिया तुहंएए ।
हंदिसरणं पवएणा, मोएअव्वा पयत्तेणं ॥ ५१ ॥

व्या० ॥ त्वमसि भाववैद्यो वर्तसे भवदु खनिपीडिताः संत स्तवैते साध्वादयः हृदिसरणं प्रपन्नाः प्रव्रज्यादिप्रतिपत्या मोचयितव्याः प्रयत्नेन सम्यक्त्वकारणेनेति गाथार्थः ॥

मोएइ अप्पमत्तो, परहिअकरणंमि णिच्चमुज्जुत्तो ।
जवसोक्खापडिवच्छो, पडिवच्छो मोक्खसोक्खंमि ॥५२॥

व्या० ॥ मोचयति चाप्रमत्तः सन् परहितकरणे नित्योद्युक्तो य इति । भवसौख्याप्रतिबद्धोनिस्पृहः । प्रतिबद्धो मोक्षसौख्ये नान्यत्रेति गाथार्थः ॥ -

ताएरिसो वि अतुमं, तह वि अ जणिओ सिममयणीईए ।
णिअयावत्थासरिसं, जवयाणिच्चं पि कायव्वं ॥५३ ॥

व्या. । तदीदृश एव त्वं पुण्यवांस्तथापि च भणितोऽसि मया समयनीत्या करणेन निजावस्थासदृशं कुशलमेव भवता नित्यमपि कर्तव्यं नान्यादिति गाथार्थः । गच्छानुशास्तिमाह ।

तुज्जेहिं पि न एमो, संसाराडविमहाकडिल्लंमि ।
सिद्धिपुरसत्थवाहो जत्तेण खणंपि मोत्तव्वो ॥ ५४ ॥

व्या० युष्माभिरपि नैष गुरुः संसाराटवीमहाकडिल्ले गहने सिद्धिपुरसार्थवाहःतत्रानपायनयनादचलेन क्षणमपि मोक्तव्यो नेति गाथार्थः ॥

ण य पडिकूलेअव्वं, वयणं एअस्स नाणरासिस्स ।
एवं गिहवासचागो, जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥ ५५ ॥

व्या. ॥ न च प्रतिकूलयितव्यमशक्त्या वचनमेतस्य ज्ञानराशे र्गुरोरेव गृहवासत्यागः प्रव्रज्यया यत्सफलो भवति युष्माक माज्ञाराधनेनेति गाथार्थः ॥

इहरा परमगुरूणं, आणाजंगो निसेविउ होइ ।
विहला य होंति तं मि, निअमाइहलोअपरलोआ ॥५६॥

व्या. ॥ इतरथा तद्वचनप्रतिकूलत्वेन परमगुरूणां तीर्थकृतामाज्ञाभंगो निषेधितो भवति । निष्फलौ च भवतस्तस्मिन्नाज्ञाभगे सति नियमादिहलोकपरलोकाविति गाथार्थः ॥

ताकुलवहुणाएणं, कज्जे निब्भच्छिएहिं विकाहिं वि ।
एअस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं ॥ ५७ ॥

व्याख्या । तत्कुलवधूज्ञातेनोदाहरणेन कार्ये निर्भर्त्सितैरपि सद्भिः कथंचिदेतस्य गुरोः पादमूलं समीपमामरणांतं न मोक्तव्य सर्वकालमिति गाथार्थः । प. व. ४ द्वा ॥

नूतनाचार्यस्थापने गुरुशिष्ययोरनुशासन (जिनकल्पिक) शब्देऽपि ॥

(१७) परिच्छदसहितस्यैवाचार्यत्वम् ॥

आचार्यस्य गणधारणे परिच्छदावश्यकता । तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

जिक्खू इच्छेज्जा गणं धारित्तए जगवं च से अपलिच्छिएणेएवं सेनो कप्पई गणं धारित्तए जगवं च से पलिच्छन्ने एवं से कप्पइ गणं धारित्तए ॥

व्याख्या ॥ भिक्षुशब्दः आचार्यपदयोग्यानेकगुणसमुच्चयार्थः । इच्छेत् गण धारयितुं । भगवांश्च (से) तस्य भिक्षोरपि परिच्छदः परिच्छदरहितः । परिच्छदश्च द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः परिच्छदः शिष्यादिपरिवारः भावतः सूत्रादिकं । तत्र भगवानाचार्योऽपरिच्छदो द्रव्यतो भावतः पुनर्नियमात्सपरिच्छदोऽन्यथाचार्यत्वायोग्यात् । चशब्दाद्भिक्षुश्च द्रव्यतो परिच्छदो भावतः सपरिच्छदः परिगृह्यते एवं से इत्यादि एवममुनाप्रकारेण(से) तस्य न कल्पते गण धारयितुमेवं शब्दोविशेषद्योतनार्थः । सचामुं विशेषं द्योतयति । आचार्ये द्रव्यतोऽपरिच्छदे भिक्षोः सपरिच्छदस्य । न कल्पते गणं धारयितु मिति । भगवांश्च (से) तस्य द्रव्यतोपि परिच्छन्नः परिच्छदोपेतश्चशब्दात्सो पिच द्रव्यतोपि परिच्छन्नस्तत एवं (से) तस्य कल्पते गणं धारयितुमिति विशेषद्योतनार्थः । भाष्यकारोव्याख्यानयति ॥

थेरे अपलिच्छन्ने, सयंपि वग्गहणा तत्थ ।
छन्नो थेरो पुण वा, इअरो सीसो जवे दोहिं ॥

स्थविरोनाम आचार्यः असावेव पूजावचनेन भगवच्छब्दे नोच्यते । भगवानिति महात्मनः सञ्ज्ञा । सस्थविरोऽपरिछन्नः परिच्छदरहितः चग्रहणाच्चशब्दोपादानात् भिक्षुरपि स्वयमपरिच्छन्नः तत्र स्थविरोऽपरिछन्नो द्रव्यतः परिवाररहितो द्रव्यः । भावतः पुनर्नियमात् । सपरिच्छदः इतरः शिष्यः पुनर्द्वाभ्यामपि द्रव्यभावाभ्यामपरिच्छन्नो भवति । तत्र भावतोऽपरिच्छन्नो नियमादयोग्य एवा इतरस्तु द्रव्यतोऽपरिच्छदो भावतः सपरिच्छदो योग्यः । अथाचार्ये द्रव्यतोऽपरिच्छदे किं सर्वथा भिक्षोर्गणं धारयितुं न कल्पते उतास्ति कश्चित्कल्पनप्रकारः । अस्तीति सूरिस्तथाचाह ॥

नोकारो खलु देसं, पडिसेहयती कयाइ कप्पेज्जा ।
ओसन्नंमिउ थेरे, सोचेव परिच्छओ तस्स ॥ १ ॥

एवं सेनोकप्पइ इत्यत्र नोशब्दो देशवचनत्वात् देश प्रति षेधयति । तेन कदाचित्कल्पेतापि कदा कल्पते इति चेदत आह । अवसन्ने आचार्ये । इयमत्र भावना । यद्याचार्यो भावतः सूत्राद्युपेतस्तपःसयमोद्यतस्तस्मिन् द्रव्यतोऽपरिच्छन्ने न

कल्पतेऽयावसन्नस्तर्हि तस्मिन् द्रव्यतोऽपरिच्छदे वा कल्पते खलु शब्दोविशेषणार्थः । स चैतत् विशिनष्टि । यो भावतः सपरिच्छदस्तस्य कल्पते न शेषस्य परिच्छदे वावसन्ने। आचार्य गण धारयति शिष्ये य आचार्यस्य सपरिच्छदः परिवारः स एव तस्य शिष्यस्य भवति व्यवहारस्तस्या भावनात् इतरस्य न किमप्यामवति शिथिलत्वात् । इह-परिच्छदाविषया चतुर्भङ्गिका । तद्यथा । द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतश्चापरिच्छन्नः १ द्रव्यतोऽपरिच्छन्नोभावतः परिच्छन्नः २ द्रव्यतः सपरिच्छदो भावतोऽपरिच्छन्नः ३ द्रव्यतः सपरिच्छदो भावतश्च सपरिच्छदः ४ तत्र चतुर्थभङ्गवर्ती शुद्धः शेषास्त्वशुद्धाः । एष सूत्रार्थः । अधुना निर्युक्तिविस्तरः ॥

निक्खू इच्छा गणे, धारए अपव्वाविए गणो नत्थि ।

इच्छातिगस्स अट्ठा, महातलागेण ओवम्मं ॥

भिक्षोरिच्छा गणं धारयितुं स च गणः स्वयं प्रव्राजितो नास्ति तस्मात्स्वयं साधवः प्रव्राजनीयाः ॥ अथवा यद्यपि स्वयम प्रव्राजने गणोनास्ति तथा यद्यपि यदा अवसन्न आचार्याजातो भवति तदा योऽसावाचार्यस्य गणः स एव तस्य भवति इच्छा च गणं धारयितु त्रिकस्य ज्ञानादिरत्नत्रयस्यार्थाय नतु पूजासत्कारनिमित्तमत्रार्थे चौपम्यमुपमा महातडागेन । किमुक्तं भवति पद्मसरसा महातडागेन गणपरिवर्द्धस्योपमा कर्तव्या । सा चाग्रे भावयिष्यते । एष निर्युक्तिगाथा सङ्क्षेपार्थः । गणनिक्षेपप्रतिपाद्य ॥

भावगणेण हिगारो, सो उ अपव्वाविए न संभवति ।

इच्छातियगहणं पुण, नियमणहेउं तओ कुणइ॥

भावगणेन नो आगमतो भावगणेनाधिकारः प्रयोजन स च भावगणो यथोक्तरूपः स्वय प्रव्राजितो नास्ति । तस्मात्स्वयं साधवः प्रव्राजनीयाः ते परिवारतया कर्तव्याः । अथवा प्रमादत्याचार्ये यः परिवारः तथा स को निर्युक्तिकारो द्वारगाथायामिच्छात्रिकग्रहण नियमहेतु करोतीत्युक्तं । तत्र किं नियमयति सूरिराह । निर्जरानिमित्तमेव गणं धारयति नतु पूजादिनिमित्तं । स च गण धारयन् यतिप्रभुर्महातडागेन समानो भवति । महातडागेन समानतामेव भावयति ॥

तिमिमगरेहिं न खुब्भइ,जहंबुनाहो वियंभमाणेहिं ॥

सोय महातलागो पप्फुल्लपउमं च जं अन्नं ॥

यथांऽम्बुनाथस्तिमिमकरैर्विजृम्भमाणैर्न क्षुभ्यति न स्वस्थानाच्चलति । स एव चांबुनाथ इह महातडागस्तथा विवक्षणात् अथवा समुद्रात् यदन्यत् प्रफुल्लपद्मं महासरस्तत् महातडागम् ॥

उपनयमाह ॥

परवादीहिं न खुब्भइ, संगिएहंतो गणं च न गिलाइ ।

होंतिय सयाभिगमो, सत्ताण सरोव्व पउमड्डो ॥

तिमिमकरैरंबुनाथ इव परवादिभिराक्षिप्यमाणो न क्षुभ्यति न च गण सगृह्णन् यथौचित्येनानुवर्तमानो ग्लायति । यथा वा सरः पद्माढ्य सत्वानां सदाभिगम भवत्येवं सदा सत्वानाम भिगमसाधुः प्रभुर्भवति ॥

एयगुणसंपउत्तो, वा विज्जो गणहरोउ गच्छंमि ।

पडिव्बोहादीएहि य, जइ होइ गुणेहिं संजुत्तो ॥

एतेन समुद्रतुल्यतारूपेण पद्माढ्यसरः समानत्वेन गुणेन वा संप्रयुक्तो गच्छे गणधरः स्थाप्यते । सचैतद्गुणसम्प्रयुक्तस्तदा भवति यदि प्रतिबोधादिभिर्वक्ष्यमाणगुणैर्युक्तो भवति । प्रतिबोधादयोगुणाः प्रतिबोधकादिदृष्टांतेभ्योभावनीया इति । तानेव प्रतिबोधकादीन् दृष्टांतानुल्लिंगयति ॥

पडिव्बोहगदेसियसिरि, घरेय निज्जामगेय बोधव्वे ॥

तत्तोय महागोवो, एमेया पडिवत्तिओ पंच ॥

प्रतिबोधकः सुप्तोत्थापकः देशको मार्गदेशी श्रीगृहिकोभांडागारनियुक्तो निर्यामकः समुद्रे प्रवहणनेता । तथा महागोपोऽतीवगोरक्षणकुशल एवमेता अनंतरोदिताः पंच प्रतिपत्तयोऽधिकृतार्थे आभिरिति प्रतिपत्तय उपमा । तत्र प्रतिबोधकोपमां भावयति ॥

जह आलित्ते गेहे, कोइ पसुत्तं नरं तु बोहेज्जा ।

जरमरणादिभयत्ते, संसारघरंमि तह उज्जिए ॥

यथा आसमंततो दीप्तगृहे कोऽपि परमबधुः प्रसुप्तं नरं प्रबोधयेत्तथा संसारगृहे जरामरणप्रदीप्ते जीवान् अविबुद्धान् भावसुप्तान् प्रबोधयति । स स्थापनीयो गणधरादेशितस्तीर्थकरैरुक्तः प्रतिबोधकदृष्टांतः । संप्रति देशकादिदृष्टांतमाह ॥

बोहेइ अपडिबुद्धे, देसिय मग्गंविजोएज्जा ॥

एयगुणविप्पहीणो, अपालिच्छन्ने य न धरेज्जा ॥ १ ॥

(बोहेइ अपडिबुद्धे) इति पूर्वगाथाव्याख्यायां व्याख्यातामेव देशकादीनपि दृष्टांतान्योजयेत् । तत्रैव यो प्रमादीनां पथामभृजुकं क्रमेण प्रापयति स देशक इष्यते । एव ज्ञानादीनामविराधनां कुर्वन् यो गच्छं परिवर्द्धयति स गणधरः स्थापनीयो न शेषः । श्रीगृहकदृष्टांतभावना । यथा यो रत्नानि सुनिरीक्षितानि करोति स श्रीगृहे नियुज्यते एव यो ज्ञानादीनामात्मनःपरयोश्चाविराधनया गणं वर्द्धयति स तादृशोगणस्य नेता कर्तव्यः ॥ निर्यामकदृष्टांतभावना । यथा निर्यामकस्तथा कथंचनापि प्रवहणं वाहयति । यथा क्षिप्रमविघ्नेन समुद्रस्य पारमुपगच्छति एष एव च तत्वतोनिर्यामक उच्यते । शेषो नामधारकः । एव य आचार्यस्तथा कथंचनापि गच्छ परिवर्द्धयति तथा क्षिप्रमविघ्नेनात्मान गच्छं च संसारसमुद्रस्य पार नयति । स तत्वतोगणधरः शेषोवै नाममात्रपरितुष्टः । महागोपदृष्टांतभावना यो गाः स्वपदेषु विषमेषु वा प्रदेशेष्वटव्यां वा पततीर्वारयित्वा च क्रमेण स्वस्थानमानयति । स महागोप उच्यते । एवमाचार्योऽपि यो गणमस्थानेषु प्रत्यतदेशादिषु विहारिण धारयति । पूर्वाभ्यासवृत्तानि च प्रमादस्खलिता न्यपनयति स तादृशो गणपरिवर्द्धकः करणीयो न शेषः । अथवा प्रतिबोधको नाम गृहचिंतक उच्यते । यो गृह चिंतयन् यो यत्र योग्यस्त तत्र व्यापारयति । तत्र व्याप्रियमाणे च प्रमादतः स्खलनं निवारयति स गृहचिंतक उच्यते । एव यः स्थापितो यो यत्र योग्यस्त तत्र नियुंक्ते । नियुक्तांश्च प्रमादत स्खलत शिक्षयति । स स्थापनीयो गणधरपदे नेतर इति । यश्चैतद्गुणविप्रहीण प्रतिबोधादिगुणविकलो यश्च द्रव्यतो भावतश्चेत्यर्थः । अन्यः परिच्छदहीनः स गण धारयेत् । न स गणधरपदे स्थापनीय इति भाव ॥

दोहिं वि अपलिच्छन्ने, एक्केकेणं व अपरिच्छओ य ।

आहारणा होंति इमे, निक्खुंमि गणंधरं तंमि ॥

द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतश्चापरिच्छन्न इत्यादिचतुर्भंगी प्रा

घोपदर्शिता। तत्र भिक्षौ गणं धारयति द्वाभ्यामपि द्रव्यतो भावतश्च नेतव्यः। अपरिच्छन्ने परिच्छदरहिते प्रथमभंग उपात्त। एकैकेनवा अपरिच्छन्ने द्वितीयभंगवर्तिनि द्रव्यतोऽपरिच्छन्ने तृतीयभंगवर्तिनि वक्ष्यमाणानि उदाहरणानि भवन्ति तान्येवाह॥

भिक्खू कुमारविरए, झामणपंती सियालरायाणो।
वित्तत्थजुद्ध असती, दमगत्तयगदामगाईया॥

भिक्षौ द्रव्यभावाभ्यामपरिच्छन्ने गणं धारयति कुमारदृष्टांतः। विरयो लघुश्रोतोरूपो ध्मापनवनदवे द्वितीयो दृष्टांतः। तृतीयः पंक्तिदृष्टांतः। चतुर्थः शृगालराजदृष्टांतः। पंचमो वित्रस्तेन सिंहेन सह युद्धस्याभावो दृष्टांतः। एते पञ्चदृष्टांता अप्रशस्ताः। प्रथमभंगवर्तिनि प्रशस्ताश्चतुर्थभंगे द्वितीये द्रमकदृष्टांतस्तृतीयभंगवर्तिनि मृतकस्य सतो दामकादिपरिग्रहो दृष्टांतः। अत्रादिशब्दात् मयूरांगचूलिकादिपरिग्रहः॥ तत्र कुमारदृष्टांतभावनार्थमाह॥

बुद्धीबलपरिहीणो, कुमारपच्चंतकमरकरणं तु।
अप्पेणेव बलेणं, गिण्हो वणमासणा रन्ना॥

एको राजकुमारः बुद्धिबलपरिहीनो हस्त्यादिबलपरिहीनश्चेति भावः। एतेन द्रव्यभावपरिच्छदरहितत्वमस्याख्यातं। स प्रत्यंतदेशे स्थितो डमरं देशविप्लवं करोति। ततो दायादेन राज्ञा तं बुद्धिबलपरिहीनं ज्ञात्वा अल्पेनैव बलेन दण्डप्रेषणेन ग्रहापणं तस्य राज्ञा कृतं। ग्रहणानन्तरं च शासना कृता। ग्राहयित्वा स विनाशित इति भावः॥

अत्रैवोपनयमाह।

सुत्तत्थअणुववेतो, अगीयपरिवारगमणपच्चन्तं।
परतित्थकउं हावण, सेवगसेहादवच्चाउ॥

एवं सूत्रेण अर्थेन चानुपेतोऽसंपन्नोऽनेन भावतोऽपरिच्छन्नतामेवाह। अगीतपरिवारोऽगीतार्थपरिवृतोऽनेन द्रव्यतोऽपरिच्छन्नत्वमुक्तं। स प्रत्यंतं देशं प्रति गमनं विधाय आचार्यत्वं करोति। स च तथा आचार्यत्वं विरूपयन् परतीर्थिकैः परिभूय निःपृष्टव्याकरणः क्रियते। तदनन्तरं श्रावकाणामपभ्राजना। यथा विरोधिता एष न भवदीयो धर्मः शोभनः। तथा च भवदाचार्यः पृष्टः सन् किमप्युत्तरं ददाति। किंत्वसमंजसं प्रलपतीति। तथा शिष्या अपि तैर्विपरिणम्यन्ते। एवं च जायते महाननर्थः शासनस्य। तदेवं यत इमे दोषास्तस्माद्द्रव्यपरिच्छदरहितेन भिक्षुणा न गणो धारयितव्यः। गतं कुमारद्वारम्॥

अधुना वियरयदृष्टांतमाह॥

वणदवसत्तसमागम, विरए सिंहस्स पुंछकेवणया।
तं दिस्सं जंबुएणो, विविरयवूढा मिगाईया॥

वियरयो नाम लघु श्रोतोरूपो जलाशयः। स च पौरुषहस्तविस्तारो नद्या महागर्त्तायां वा तस्याकुंचः त्रिहस्तविस्तारस्तस्य प्रवेशो मध्यो वेंटः॥

अन्नया अडवीए वणदवो जातो सो सव्वतो समंता दहंतो वच्चइ ताहे मिगादयो सत्ता तस्स वणदवस्स भीया परिधावं वेंटं पविट्ठा। तत्थावि सो वणदवो महंतो आगच्छइ। तत्थ य सीहो पविट्ठो। आसितोयमिगादी भाया चिंतिंति। वेंटए स वणदवो पविसइत्ति दन्नियवं-ति। ततो सीहं पायवडिया विन्नवेंति। तुम्हे अम्हं मिगरायाओ नित्थारोहि। सीहेणं भण्णइ। पुंछे मम भणियं लग्गा। ततो सीहेण प्लुतं कयं। सोलसहत्थे विकंतो सह मिगाई हिंसीणं अन्नया पुणो वणदवो जातो। तहेव मिगादयो तत्थ पविट्ठा। ततो एको सियालो सीहेण उत्तारियपुव्वो चिंतेइ। अहं पि सीहो चेव उत्तारेहामित्ति मिगादयो भणंति। मम पुच्छे धणियं लग्गेहते लग्गा तेण सियालेण प्लुतं कयं। वियरए सह मिगाइएहिं पडिओ सव्वे विणट्ठा॥ तेअद्धाणातीआवतीसु गीयत्थेणं वीयपए जयणानिसेवणा भिए गच्छं नित्थारियं पासित्ता अगीयत्थो चिंतेइ। सव्वोवि एवमायत्ति एवं मन्नंतो निक्कारणे वित्तियपदेण गच्छेण समं विहरइ सो तहा विहरंतो नगरगाइत्तववियरए अप्पाणं गच्छं च पाडेइ॥

एष भावार्थः। अधुनाऽक्षरार्थो विव्रियते। वनदवे जाते सत्वानां मृगादीनां वियरयपरिवृत्ते वेंटे समागतः। तेषां सिंहस्य पुच्छे लग्नानां सिंहेन सह व्यपरजसा लघुश्रोतोरूपस्य जलाशयस्य क्षेपेन लघनं ततो दृष्ट्वा जंबुकेनाऽप्यन्यदा तत्कर्तुमारब्धं। तेन च तथाकर्तुमशक्नुवता मृगादयः तस्मिन् व्यपरजसि बुडाः क्षिप्ता एष दृष्टांतः॥

सम्प्रति दार्ष्टांतिकयोजनामाह॥

अद्धाणादिसु एवं, दट्ठुं सव्वत्थ एव मन्नन्तो।
भवविरियं अगीतो, पाडइअन्नेवि पवमन्तो॥

अध्वादिष्वापत्स्वेव द्वितीयपदेन यतनानिषेवणतो गच्छं निस्तारयत दृष्ट्वा अगीतोऽगीतार्थः सर्वत्रैव मारयितव्यमिति मन्यमानो निष्कारणयतनया द्वितीयपदेन गच्छं परिपालयन् भववियरयमिति द्वितीया प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे। नरकादिभवरूपे व्यपरजसि प्रपतन् अन्यानपि स्वगच्छवासिनः पातयति। गतं व्यपरजोद्वारम्॥

अधुना पंक्तिद्वारमाह॥

जम्बुककूवे चन्दे, सीहेणुत्तारणा य पंतिए।
जंबुक सपन्तिपडणं, एमेव अगीयाणं॥

एगया जेट्ठामासे सियाला तिसिया अड्ढरत्ते कूवतडे ठिया। कूवं पलोयंति। तत्थ ते जोण्हाए उदए चंदबिंबं पासंति। चिंतेतिय चंदो कूवे पडितो। तत्थ य सीहो आगतो चेट्ठइ ततो तेहिं सियालेहिं सीहो विण्णवितो तुमं मिगाहिवतीए सवि गहाहिवती कूवे पडितो एयस्स गुणेणं अम्हे दिवसजूयाए रत्तीए सुहं निरुवसग्गा वियरामो ततो जुज्जसि तुमं गहाहिवतिमुत्तारिउ। सीहो भणति। पंतिए समं पुच्छे लग्गित्ता वियरह अंतिल्लस्स चंदो लग्गिहिति ताहे सव्वे प्लुतेनोत्तारेहामिति ततो ते पंतीए सीहपुच्छे लग्गा कूवमज्झे उत्तिण्णा सीहेण प्लुतं काउं सव्वे उत्तारिया। उवरि गगणे चंदं पासेंति। कूव-

तस्से य आलोलिए उदएचंदं अपासमाणा उत्तरियत्ति म ण्णंति । अन्नया तहेव चंदं पासेत्ता सीहेण उत्तारियपुव्वो सियालो एवं चिन्तेइ । अहमवि सीहोइव उत्तारेमि ॥ एवं चिंतित्ता सोसियालो भणइ । पतीए मम पुच्छे ल- गित्ता उयरहते उत्तिन्ना । सीयालेणं उत्तारेहामित्ति एवु- तं कयं । ततो असमत्थोत्ति तह पुच्छे लग्गित्ता सह कूवे पडिता । तत्थेव मतो एवमट्ठाणादीसु आवईसु गीयत्थेणं वितियपदे जयणा निसेवणाए ॥

इत्यादि । उपनयः पूर्ववेदप भावार्थोऽधुना अक्षरार्थः । एक दा जंबुकाः कूपतटे मिलितास्तैः कूपे कूपमध्ये चन्द्रो दृष्टः । तस्मिन् दृष्टे तदुद्धरणाय सिंहपुच्छविलग्नानां पङ्क्त्या प्रवि- ष्टानां शृगालानां सिंहेनोत्तारणा कृता । तत दृष्ट्वा अन्यदा एकेन जंबुकेन सिंहोत्तारितपूर्वेण तथा कर्तुमारब्धं । ततस्तस्य जम्बुकस्य सपङ्क्तिकस्य कूपे पतनमेवमनेनैव दृष्टांतद्वयोक्तेन प्रकारेण गीतागीतयोर्मेवकूपे गच्छेन सह पतन तत उत्तारणं च गच्छस्य परिभावनीयमिति । गत पङ्क्तिद्वारमिदानीं शृगाल- राजद्वारमाह ॥

नीलारागे खसदुम, हत्थीसरजा सियालकच्छभओ ॥
बहुपरिवारअगीते, विच्छूयणो हावणपरेहिं ॥

एको सियालो रत्तिघरं पविट्ठो घरमाणुसेण वेंतितो निच्छु भिउमाढत्तो सो पुण णाईहि पारद्धो नीलीरागरंजणे पडितो किहवि ततो उत्तिन्नो नीलवन्नो जातो तं अन्ने सरजतरक्खु सियालादी पासिउं भणंति । को तुमं एरिसो सो भणइ अहं सव्वाहिं मृगजातीहिं खसदुमो नाम मिगराया क ओ । ततो अहं एत्थमागतो पासामि । ताव कोमन्नति ते जाणंति । अपुव्वो एतस्स एसदेवेहिं अणुग्गहितो ततो भ णंति अम्हे तव किंकरा ।

संदिसह किं करेमा खसदुमो भणइ हत्थिवाहणं देह दिव्वो विलग्गो वियरति । अन्नया सियालेण उव्वुइयं । ताहे खसदुमेणं तं सियालसहावमसहमाणेण उव्वुइयं ततो हत्थिणा सियालोत्ति, नाउं सोंडाएवेतुं मारितो ॥ एवं कोइ अगीयत्थो अगीयत्थपरिवारं लभेत्ता पव्वंत देसं तं गंतुं आयरिउत्ति पकासेइ । सो कहिंहवि विओसेहिंपे याहितो जानड्विकिंविजाणइ एवं तेण अप्पा जहामितो ॥

एप भावार्थोऽधुना अक्षरार्थः । नील्यासंबंधी रागो यस्य स नीलीरागः । शृगाल-खसदुमोनाममृगराजो जातः । तस्यहस्तिनः सरजा' शृगाला उपलक्षणमेतत् । तरक्षादयश्च परिवारः । सोऽ न्यदा कस्यापि शृगालस्यशब्दमाकर्ण्य शृगालोऽशादितमकरोत् । ततश्शृगालोऽयमिति ज्ञात्वा हस्तिना मारित इति शेषः । एव गीतार्थबहुपरिवारे अगीते अगीतार्थे विहरति बहुश्रुतोऽहमा- चार्य इति बहुजनविश्रुत विकुर्वाण' प्रत्युत्याकरणासमर्थतया परेभ्यः पद्धर्षितेभ्यश्चापभ्राजना भवति । अथवा अयमन्य उपनय- ॥

सेहादिकज्जेसुं वा, कुलादिसमितिसु जंपउ अयं तु ।
गीएहिं विसज्जंतो, निहोरणमपच्चओ सेहि ।

वाशब्द उपनयांतरसूचकः । शैक्षकादिकार्येषु कुलादिसमवा ये नियुक्तः कुलगणसंघसमवायेषु श्रावकाः सिद्धपुत्राश्च ब्रुवत अयमेव तेरवकारार्थः । बहुश्रुतो जल्पतु व्यवहारनिर्णयं करोतु ययाकस्य भवतीति । ततस्तेनाव्यवहारमुक्त तत्र गीतार्थैर्वि- श्रुत ततस्तै निहोरण मिति निहेकित यथा अगीतार्थ एप न- जानति व्यवहारमिति । तत' शो के प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थेस प्तमी । एकवचने बहुवचनं । शैक्षकाणामुपलक्षणमेतत् श्रावकाणां सिद्धपुत्राणां च तदन्यस्यप्रत्ययो जातः चिंतयति च एप इय त्काव्यमस्माभिर्गीतार्थः सम्भावित इति । गत शृगा लराजद्वारम् ॥

सम्प्रति (विसत्थजुद्धप्रसातिेत्ति) द्वार व्याचिख्यासुराह ॥

एकेकएगजाती, पतिदिण सममेव गिएहाउ ॥
सीहेण हु जुज्जइत्ति, पाडइ कूवंम्मि बुड्ढससगेण ॥ १ ॥
एयेव जंबुगो, वा कूवे पडिबिंबमप्पणो दिस्स ।
उवणय तस्य मरणं सामायारीगयिअगीयाणं ॥ २ ॥

एगो सीहो सो हरिणजातीणं लुप्यो दिवसे २ हरिणं मारेऊण खाइ । तओ हरिणेहिं विण्णविओ किमंगरायं तुमं हरिणजातीणं एकयाए परिनिव्विट्ठो ता पसायं करेहि । सव्वामिगजातीणं वारएणं पइदिवसमेकेकं मिगं खाहि । सीहेणं चिंतियं जुत्तमेस भणइ ततो सव्वे मिगा मेलित्ता सीहेण भणिया । तुब्भे कुलजुत्ताए आत्मी यकुल्यौचित्येनेत्यर्थः । सव्वामिगजातीणं वारएणं पइदिवसं सट्ठाणट्ठियस्स एगं पेसिज्जाह । तेहिं अब्भुवगयं । ततो ते वि मिगा तहेव पेसंति । अन्नया ससगजातीए वारए । ससगा संपसारेंति मन्त्रयंतीत्यर्थः । कोवच्चउ- अज्ज सीहसगासे एगो बुड्ढससगो भणइ । अहं वच्चामि । जो सव्वेसिं मिगाणं संति काउं एमित्ति सो वाविओ अंतराले मरुयकूवसरिसे कूवं दट्ठु उस्सूरे सीहमगाममागतो । ताहे सीहेण भणियं किं रे तुमं उस्सूरे आगतोसि । ससगो भणइ । अहं पाए आगच्छंतो संतो अन्नेण सीहेण रुद्धो । जहा कहिं वच्चसि । ततो मए सब्भावो कहितो । ताहे सोभणइ अन्नो न होइसो मिगराया ततो मए भणियं । जइ अहं तस्स मिगरायस्स सगासं न जामि तो सो रुट्ठो सव्वे ससगा उच्छादेहितित्ति । तम्हा जामि तस्स सगासं कहेमि । ततो जो तुमं वलितोहोहिंत्ति तस्स अम्हे आणं कहामो । ताहे अहं तेण भणितो वच्चा कहेहि भण आगच्छ मम सगासं जदि ते सत्ती अत्थि ततो सीहे भणति दंसेहि ममं तं सीहं । तनो ससओ सीहेण समा- गम्म दूरं अगरूं दूरत्थोवदंसेति । भणइ य एत्थ पविट्ठो चिट्ठइ । जइ तपत्तियमि नो तुमं अगज्जय लेण

सो वि उग्गज्जइ॥ ततो तेण उग्गज्जियं उग्गज्ज पडिसद्दो उट्ठित्तो ततो मुहुत्तं अच्छइ जाव न पुणो को वि उग्गज्जइ ताहे सीहो चिंतेइ मम भएण वित्तत्थोतो न गज्जइत्ति । निष्फडइ वा तं एत्थेवज्जएविसितामारे मिति पडितो कूवे । अपेक्खमाणो चिंतेइ नूणंनिलुक्को ताहे सीहो गज्जइ रोक्किरइय ततो चिंतेइ न जुज्झिउ-कामो मए समं एवं जुज्झासतीए सीहो प्लुतं काउं उत्तिएणो । एवं गीयत्थस्स विजयविच्छलणा भवति। तहावि सो जाणगतणेण अप्पाणं वि सोहेइ । तहाएगो जंबुगो सो भमंतोकहावि कुवतडे समागतो कूवे पाणियं पादाइयं दिट्ठं अत्तणो पडिबिंबं । तओ उन्नयइ ताहे उच्छलिओ पडिसद्दो । तं सोउ मेहक्कार इतिराया सिया ते पडितो तं मगाणं प्लुतं काउमसमत्थोत्ति तत्थे वमतो एवमगीयत्थो वलिओ वि न सकेइ अप्पाणं पच्छु-द्धरिउमिति तस्स गणो न दायव्वो ॥

एपन्नावार्थोऽक्षुनाक्षरार्थविवरणं। सर्वो मृगजातवो मिलि-त्वा प्रतिदिवसमेकैकमेकस्या जाते· सिंहस्य स्यानस्थितस्य समर्पयंति । अन्यदा शशकस्य वारोजात । सोऽपांतराले दचकूपे प्रतिबिंबं मरुकूपसदृशमतीवोऽरं कूपे दृष्टेत्यर्थ· । चिरात्सिंहसकाशमागत·ततश्शशके सिंहस्य पृच्छा कस्मा च्चिरादागत· । तस्याद्यसिंहकथन तत(पद्मणति)सिंहस्य कूप-समीपागमन तदनतर पूर्वप्रकारेण कूपे क्षेप आत्मन· प्रति-क्षेपः तत· । प्लुवेनोत्तरण । एवमेवेत्यादि एवमेव यथाप्रवृ-त्त्यैवेत्यर्थ· । जंबु कोऽपि कूपे प्रतिबिंबमात्मनोदृष्ट्वा क्षेपनक प्रति क्षेपणकमात्मन कृतवान् तच्च तस्य मरणमेव समवतार उ-पनयो यथाक्रम गीतागीतार्थयो कर्त्तव्य· । स च प्रागेव कृत इति । सांप्रतमेतान्युदाहरणानि य भगमाश्रित्योपदर्शितानि तत्र योजयति ॥

एए उदाहरणा, दव्वे भावे य अपलिच्छन्नंमि ।
दव्वेण अपलिच्छन्ने, हुंति इमे तइय भंगंमि ॥

एतान्यनतरोदितानि पचाप्युदाहरणानि अप्रशस्तानि द्रव्ये भावे च सप्तमी प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे । द्रव्येण भावेन च अपरिच्छन्ने इति प्रथमभगवर्तिनि वेदितव्यानि । प्रशस्ता-नि चतुर्भगे द्रव्यतो भावतश्च परिच्छन्ने इति वाक्यशेष· ॥ द्रव्येण अपरिच्छन्नेऽनेन द्रव्यतोऽपरिच्छन्नो भावतः परि-च्छन्न इति वा तृतीयभंगसूचितसूत्रं । तथा भावे सप्तमी तृतीयार्थे । भावेनापरिच्छन्नो भावतोऽपरिच्छन्न इति तृतीय-भग इति न सूत्र इति न इमे वक्ष्यमाणे उदाहरणे तत्र प्रथमतो द्वितीयभग उपात्त ॥

दमगे वइया खीरघडि,घट्टचिंताय कुकुडिप्पसवो ।
धणपिंडणसमणेरि, ऊसीसगभिंदणघडीए ॥

एगो दमगो गोउलं गतो तत्थ गोउलिएहिं दुध्दं उद्दं पाइतो अन्नया से दुध्दस्स भारिया घडिया दि-ण्णा । सोतं घेत्तूण घरं गतो खट्टाएण ऊसिसमूले ठवेउं निवण्णो चिंतिउमाढत्तो। एयाए दुध्दघडियाए कद्धे कुकु डीतो किणिस्सामि ताहे पसवो होहिति तं पसवं विके-हामि ततो तं मूल्लं वड्ढिए।पउंजेहामि । एवं सुबहुं धणं पिंडित्ता कुलाणं समाणेतरकुलप्पसूयं कण्णा। परिणित्ता आणेमि। ताहे सा कुलमदेण उसीसएणं सेज्जं वडि-हिति ततोहंकिंउस्सीसएणा सज्जं वडिसिति पहाए आहणिस्सामिति पादोउच्छूढो तेण सा घडी भग्गा ।

अक्षरयोजना त्वियं । द्रमकोरंकः स व्रजिकाया गोकुले गतः । तेन दुग्धपानानतर क्षीरभृता घाटका लब्धा सा गृहगतेन खट्वा या मुच्छीर्षकमूले स्थापिता। ततश्चिंताऽभूत् किंविषयेत्यत आह । कुक्कुट्यः केतव्यास्तदनतर तासां प्रबंधेन प्रसवः पुनस्त स्य मूल्येन विक्रयस्ततो वृध्दियोगेन धनपिंडनं कृत्वा(समाणे तर)मितिसमानां समानकुलप्रसूतामिवेतरामसमानकुलप्रसूतां कन्यां परिणीय तां कुलमदेनोच्छीर्षकेन वदंतीं पादेनाहनिष्या मीति दुग्धघटिकाया भेदनमकार्षीत् ॥

अत्रोपनयमाह ॥

पव्वावइत्ताण बहुउ सिस्से, पच्छा करेस्सामि गणाहिवत्तं।
इत्थं विकप्पेहि विसूरमाणो, सज्झायमेवं न करेइ मंदो ॥

बहून् शिष्यान्प्रव्राज्य पश्चात्करिष्यामि गणाधिपत्य एव मिव्याविकल्पैस्स मदो नित्यकाल विस्तरयन् स्वाध्यायं न करोति सूत्रार्थपौरुषीनं करोतीत्यर्थः । ताश्चाकुर्वाणः पूर्व गृहीतान् सूत्रार्थाश्नाशयति । यथा सद्रमको दुग्धघटिकां नाशितवान् ॥

सप्रति तृतीयभगे उदाहरणमाह ॥

गावीगोरक्खंतो, घेत्थं च भत्तिए पट्ठिया तत्तो ।
दिट्ठंतो गोवग्गे, होहिंति य वच्छिगा तत्य ॥ १ ॥
तेसिं तु दामगाइं, करेमि मोरंगचूलितोय ।
एवं तु तइयभंगे, वत्थादीपिंडणमगीतो ॥ २ ॥

एगो घोसो गाविंतो रक्खंतो चिंत्तेति। अहं गोरक्ख-णमोल्लेण पडियातो गाविहिस्सामि ततो मे पवड्ढमाणो गोवग्गो भविस्सत्ति तम्मिय पवड्ढमाणे गोवग्गे वच्छगा ओ बहुयाउ होहिंति ततो करेमि । तासां जोग्गाओ मोरंगचूलियाओ य एवं चिंतिता सो तहाएकरेति एव मगीयथो वि भावेणापलिच्छन्नो तइयं भंगीओ बहगे परिवारे चिंतेतिइति वत्थादीणी बहूणि पिंडेति ॥

अक्षरयोजना त्वियं। गोरक्षणे गोपालोऽचिंतयत् भृत्या मूल्येन पड्डिका अभिनवप्रसूता गा ग्रहिष्यामि ततो मे प्रवर्ध्दमानो गो वर्गोभविष्यति । तत्र तस्मिन्प्रवर्ध्दमाने गोवर्गे वत्सिका भवि-ष्यति । ततोऽतस्तस्यां योग्यानि दामकानि करोमि । मयूरांग चूलिकाश्च मयूरांगचूलिका आभरणविशेषरूपा एवं । चिंत यित्वा स तथा प्राकृतवान्॥

तत्रोपनयमाह। एव तु एवमेव तुरेवकारार्थस्तृतीयभगवर्तमान स्य अगीते अगीतार्थस्य वस्त्रादिपिंडनमवगंतव्यं । अस्य यद्य-पि परिवारो नास्ति तथा वस्त्रादिषु लब्धिरस्तीति द्रव्यत· परिच्छन्नत्वमंगीकृत्य तृतीयभगे इत्युक्त ॥

अस्य दोषानाह ॥

ताइं बहूइं पडिलेहयंतो, अद्धाणमाईसु य संवहंतो।
एमेव वा सम्मतिरित्तगंसे, वातादिखोभेदुभएव हाणी ॥

तानि वस्त्राणि बहूनि प्रतिदिवसमुभयकालं प्रतिलेखयन् अप्रतिलेखने प्रायश्चित्तापत्तेरध्वादिषु अध्वनि मार्गे आदि शब्दात् वसत्यन्तरसंक्रमेणादौ च संवहन् श्राम्यति । श्रमाच्च ग्लानत्वे च संयमविराधना सूत्रहानिश्च एवमेव अनेनैवप्रकारेण वर्षास्वपि दोषा वाच्याः केवलं (से) तस्य उभयकालं तानि प्रतिलेखयतोऽतिरिक्तकर्म अतिरेकेण वातादिक्षोभो भवति। तथा च सति सुदीर्घे भुते सूत्रस्य च शब्दार्थस्य च परिहानिः ॥

अत्र परस्याऽवकाशमाह ॥

चोदेति न पिंडेतिय, कज्जेगिण्हंति यजो सलद्धीओ ॥
तस्स न दिज्जइ किं गणो, भावे उण जो उ संछन्नो ॥

चोदयति पुरो यथा यः स लब्धिको भावेन च योऽसंछन्नो परिच्छदरहितो न पूर्वमेव वस्त्रादीनि पिंडयति । किंतु कार्ये समुत्पन्ने गृह्णाति तस्य किं कस्मात्कारणात् गणो न दीयते प्रागुक्तदोषसंभवात् अत्र सूरिराह ॥

चोयग ! अप्पच्छूयअसी, पूयापडिसेहनिज्जरट्ठा ।
एसंते से अणुजाणसि, पव्वइए तिन्नि इच्छासे ॥

हेचोदक ! स भावतोऽपरिच्छन्नोऽप्रसुरहितोऽतस्तस्मात्तस्मै गणो न दीयते । एतौ तृतीयभगवर्तिन्याक्षेपपरिहारौ (असतित्ति) यस्य तृतीयभगवर्त्तिन आक्षेपपरिहारावभिधातव्याविति वाक्यशेषः । तथा (पूयत्ति) पूजार्थं गणो ध्रियते इति कस्यापि वचन तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । किंतु निर्जरार्थं गणो धारणीय इति वाच्य । निर्जरार्थं व्यवसिताः केचित्पूजामपीच्छति । तत्र निर्जरार्थं गण धारयत' पूजामपि प्रतीच्छतः आचार्यस्य न दोषस्तथा तडाग दृष्टांतत्वेन वक्तव्य । तथा यो भावतः परिच्छन्नशिष्यो लब्धिमांश्च सततपरिवार(से)तस्याऽस्मीयस्य आचार्यस्य अनुजानाति कियतमित्याह । जघन्यतस्त्रीन्प्रव्राजितान् । किमुक्त भवति । जघन्यतस्त्रयः प्रव्राजिताः अवश्यं दातव्याः (इच्छासेत्ति) इच्छावो (से) तस्याऽचार्यस्य । इयमत्र भावना । आचार्य आत्मनो यथेच्छया त्रीन्वा बहुतरान्वा सर्वान्वा प्रव्रजितान् गृह्णातीति एष गाथासंक्षेपार्थः । व्यासार्थं तु भाष्यकृद्विवक्षुः प्रथमतः (चोयग अप्पच्छुत्ति पद) व्याख्यानयति ॥

भण्णइ अविगीयस्स उ, उवगरणेदीहिं जइं विसंपत्ति ।
तह वि न सो पज्जतो, वोढव्वे करीलकाओव्व ॥

चोदकेनाक्षेपे प्रागुक्ते कृते सति प्रतिवचन भण्यते । अविगीतस्य विशिष्टगीतार्थरहितस्य तु निश्चित यद्यपि उपकरणादीनामुपकरणशिष्यादीनां गाथायां वा तृतीया षष्ठ्यर्थे प्राकृतत्वात् । सम्पत्तिस्तथापि न सपर्याप्तः समर्थो वोढव्ये उपेक्षिते गणभारे किमेवेत्यत आह (करीलकाओव्व) करीलो नाम वंशजातिविशेषो दुर्बलस्तन्मया कापोतीव कस्माद्गणभारवहनेन समर्थ इत्यत आह ॥

न य जाणइ वेणइयं, कारावेउं न यावि कुव्वंति ॥
तइयस्स परिभवेणं, सुत्तत्थेणं अप्पडिवद्धा ॥

वा यस्मादर्थे यस्माच्च जानाति विनय एव वैनायिक विनयादिभ्य इति स्वार्थे इकण्प्रत्ययः । "अतिवर्त्तंते स्वार्थप्रत्ययकाः प्रकृतिर्लिंगवचनानि" विनयशब्दे ऽस्यपुस्त्वेऽपि प्रत्यये समानीते नपुंसकलिंगता तत्तशिष्यान् कारायितुमगीतार्थत्वात् । नच तस्य पार्श्वे सूत्रमर्थो वा भावतोऽसछन्नत्वात् । ततः सूत्रार्थाभ्यां गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात् अप्रतिबद्धाः सतः शिष्याः परिभवमेव केवलं मन्यते । जन्मनो निष्फलीभवनात् । तेन च परिभवेत् । तस्य तृतीयभंगवर्तिनो वैनयिकं कारयितुं जानतोऽपि न चापि नचैव ते शिष्या विनय कुर्वंति । तस्माच्च तृतीयभंगवर्ती गणधारणयोग्यः ॥

सांप्रत (मासत्तित्ति) पदं व्याख्यानयन् द्वितीयभंगता-वाक्षेपपरिहारावाह ॥

बियभंगे पडिसेहो; जं पुच्छसि तत्थ कारणं सुणसु ॥
जइसेहोज्ज धरेज्जा, तदभावे किं न कारेउ ॥ १ ॥
तंपि यहु दव्व संगहं, परिहीणं परिहरंति सेहादी ॥
संगहरीए य संगलं, गणधारित्तं कहं होइ ॥ २ ॥

यत्पृच्छसि त्वं यथा द्वितीयभंगे द्वितीयभगवर्त्तिना गणधारणे कस्मात्प्रतिषेधः कृतस्तत्रकारणमिदं शृणु तदेवाह यदि(से) तस्य गणो भवेत्ततो धारयेत् तदभावे गणाभावे किंतु धारयेत्तनैव किंचिदिति भावस्ततो गणाभावादेतस्य गणधारणप्रतिषेधः । अपि च तवहु इत्यादि तमपि च भावयेत् । सच्छन्नमपि च बहु निश्चितमलब्धिकतया द्रव्यसंग्रहपरिहीन वस्त्रपात्राद्युपकरणसंग्रहरहित शैक्षादयः शैक्षक आदिशब्दात् मुनिवृषभादिपरिग्रहः । परिहरति वस्त्राद्यभावात् तेषां सीदनात् ततः संग्रहमृते विना सकल परिपूर्णगणधारित्वं कथ भवति नवै भवतीति भावः तदभावाच्च तस्य तत्प्रतिषेधः । इदमलब्धिकमधिकृत्योक्त । यदि पुनर्द्वितीयभंगवर्त्यपि वक्ष्यमाणगुणोपेतोभवाति ततोऽनुज्ञाप्यतेऽपि गणधारीदोषाभावात्तथाचाह ।
आहारवत्यादि इत्यादि गाथा ३१९ पृष्ठे ३० पंक्तौ द्रष्टव्या॥

सप्रति (पूयापडिसेहे इति) पदे व्याख्यानयन्नाह

पूयत्थं नाम गणो, धरिज्जति एव ववसितो सुणत्ता ॥
आहारोवहिपूया, करणेन गणो धरेयव्वो ॥ १ ॥

पूजां प्राप्नुयामित्येवमर्थं नाम गणो ध्रियते इत्येव कश्चित् व्यवसितो ऽभ्युपगतवान् । एतावता (पूया) इत्यशो व्याख्यातः । अत्राचार्यः प्राह । शृणुत यदर्थं गणोध्रियते । तत्र परोक्तप्रतिषेधमाह । आहारोपधिपूजाकरणेन उत्कृष्ट आहारशोभन उपधिर्महती पूजा स्यादिति कारणतोऽत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् न गणोधारयितव्यः । एतावता प्रतिषेध इति विवृत ॥

किमर्थं तर्हि गणो धारयितव्य इत्यत आह ॥

कम्माणनिज्जरट्ठा, एवंखु गणोभवे धरेयव्वो ॥
निज्जरणहेतुववसिया, पूयंपिव केइ इच्छंति ॥ १ ॥

एवमनेन कारणेन खु निश्चित भवति गणोधारयितव्यो यदुत कर्म्मणां ज्ञानावरणीयादीनां निर्जरार्थं मोक्षार्थंच तत्ववेदिनां प्रवृत्तेराहारादीनां चैहिकत्वात्केवलं केचित्स्थविरकल्पिका निर्जराहेतोर्गणधारणं व्यवसिताः । पूजामपि वक्ष्यमाणलक्षणामिच्छति । किमुक्तमवाति यद्यपि नाम तत्वतः कर्मनिर्जरणनिमित्तं गणो ध्रियते तथापि पूजामप्येष प्राप्नुयादिति पूजानिमित्तमपि तस्य गणधारणमनुज्ञाप्यते ॥

पूजामेवाह ॥

गणधारिस्साहारो, उवकरणं संथवो य उक्कोसो ॥

सक्कारो सीसपडिच्छा, एएहिं गिहिअन्नतित्थेहिं ॥१॥

गणधारिणस्ततः उत्कृष्ट आहार उत्कृष्टस्संस्तवस्सतां गुणानां प्रख्यान तथा शिष्यैः प्रतीच्छकैर्गृहिभिरन्यतीर्थिकैश्चोत्कृष्टः सत्कार उपाध्यायादिभिः पूजनं क्रियते ततः पूजानिमित्तमपि तस्य गणधारणमनुज्ञापन संस्तवन व्याख्यानयति ॥

सुत्तेण अत्थेण य उत्तमोउ, आगाढपन्नेसु य भावियप्पा ।
जच्चन्निओ यावि विसुद्धभावो, संते गुणेवं पविकत्थयंते ॥

सूत्रेण अर्थेन च एष उत्तमः प्रधानः परिपूर्णस्य सूत्रस्यार्थस्य वावदातस्यास्य सम्भवात् । तथा आगाढप्रज्ञानि शास्त्राणि तेषु भावितात्मा तात्पर्यग्राहितया तत्राऽतीव निषण्णमतिरिति भावः । तथा जात्या सकलजनप्रशस्यया‌ऽन्वितो युक्तो जात्यन्वितः । तथा विशुद्धः स्वपरससारनिस्तारणैकतानतयाऽवदातो भावोऽभिप्रायो यस्य स विशुद्धभावः । एव स्तुतो गुणान् गणधारिणः शिष्या अपरे च प्रकर्षतो हर्षातिरेकलक्षणतो विकत्थयते श्लाघते । एव पूज्यमाने आचार्ये पूजकानां यो गणस्तमुपदर्शयति ॥

आगमम एवं बहुमाणितो हु, आणा विरत्तंच अभाविएसु ।
सुणिज्जरावेणइया य निच्चं, माणस्स भंगोवि य हुज्जयंते ॥

पूज्यमाने आचार्ये पूजकैरागमो बहुमानितो बहुमानविषयीकृतो भवति । आगमस्य तत्रस्थत्वात् । तथा भगवतामर्हतामाज्ञा परिपालिता भवति । भगवतां हि तीर्थकृतामियमाज्ञा यदुत गुरोः सदा पूजा कर्तव्या । तथा चोक्त । "जहाहि अग्गी जलन नमसे, नानाहुतीमतपयाभिसित्त ॥ एवायरी य उवचिट्टएज्जा, अणंतनाणो विगतोविसतो,, तथा गुरुविनयकरणेन येनाऽद्यापि भावितास्तेष्वभावितेषु क्रियमाणपूजादर्शनतः स्थिरत्वमुपजायते । यथा वैनयिकैर्विनयनिमित्ता विनिर्जरा कर्मनिर्जरण नित्य सदा सतत भवति । गुरुविनयस्य सदा कर्तव्यत्वात् । तथा मानस्याऽहंकारस्य भंगोऽपि च कृतो भवति । एते पूजकानां गुणाः ॥

सम्प्रति निर्जरार्थमेव गणधारित्वं व्यवसितस्य पूजामपीच्छतः आचार्यस्य दोषाभावे यस्तडागदृष्टांतस्तं भावयति ॥

लोइयधम्मनिमित्तं, तडागखाणावियंमि पउमादी ।
न विगरिहियाणुभोत्तुं, एमेव इमं पि पासामो ॥

केनापि लौकिकीं श्रुतिमाकर्ण्य धर्मनिमित्त तडाग खानित । तस्मिंश्च तडागे पद्मादीनि जातानि । वर्षारात्रे चापगते यत्र यत्र पानीयं शुष्यति । तत्र तत्र धान्यं वापयति । तत्र यथा पद्मादीनि अनुभवितु भोक्तु गृह्यमाणान्यपि न तस्य विगर्हितानि भवति । लोके न तथा सम्मतत्वादेवमेव अनेनैव प्रकारेण इदमपि गणधारण पश्याम । निर्जरार्थमाचार्याणां गणधारणमुक्तप्रकारेण पूजानिमित्तमप्यदोषायेति भावः ॥

सम्प्रति (स तसे) इत्यादि पश्चार्द्धं व्याख्यानयति ॥

संतम्मिउ केवइओ, सिस्सगणो दिज्जतीति ता तस्स ।
पव्वाविते समाणे, तिन्नि जहन्नेण दिज्जत्ति ॥

भावपरिच्छन्नस्य शिष्यस्य सति विद्यमाने परिवारे तेन तस्याऽऽचार्यस्य ततो गणधारणानुज्ञापनानंतर कियान् शिष्यगणो दीयतां । अत्रोत्तर प्रव्राजिते शिष्यगणे सति तत्र त्रयो जघन्येन दीयते । उत्कर्षतो बहुतरका सर्वे वा इति वाक्यशेषः । अथ किं कारण जघन्यतस्त्रयोऽवश्य दातव्या इत्याह ॥

एगो चिट्ठइ पासे, सन्ना आलित्तमादिकज्जत्था ।
भिक्खादिवियारदुवे, पच्चयहेउं व दो हेउं ॥

एक पार्श्वे समीपे संज्ञापुरीषोत्सर्गे आलप्तमालपन कस्याऽप्याचार्यः कारयेदित्यादि कार्यार्थं तिष्ठति ॥ द्वौ च भिक्षायामादिशब्दात् औषधानयनादौ विचारे बहिर्भूमौ गच्छतः यदि वा सूत्रार्थसंवादप्रत्यये हेतु द्वौ भवेतां सम्प्रति प्रागुक्तायामवे चतुर्भङ्ग्यां विशेष वक्तुकाम आह ॥

दव्वे भावे पलिच्छदे, दव्वे तिविहो उ होइ चित्तादी ।
लोइयलोउत्तरिओ, दुविहो वा वारजुत्तियरो ॥

परिच्छदो द्विविधो द्विप्रकारो द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्ये द्रव्य परिच्छदस्त्रिविधोभवति । (चित्तादी) सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च एष त्रिविधोऽपि द्रव्यपरिच्छदो भूयो द्विधा लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिकः सचित्तः त्रिविधो द्विपदचतुष्पदापदभेदात् । अचित्तो हिरण्यादिर्मिश्रः सचित्ताचित्तसमवायेन लोकोत्तरिकः सचित्तो द्रव्यपरिच्छदः शिष्यादिरचित्त उपधिमिश्रः सचित्ताचित्तसमवायतः । तत्र लौकिके लोकोत्तरिके च द्रव्यपरिच्छदे द्विधा । यथा व्यापारयुक्त इतरो व्यापारायुक्तश्च तत्र निदर्शनमाह ॥

दो भाउया विभत्ता, एक्को पुण तत्थ उज्जुतो कम्मे ।
भवि उभतिप्पदाणं, अकालहीणं च परिवड्ढी ॥

द्वौ भ्रातरौ तौ परस्परं विभक्तौ धन विविच्य पृथक्पृथक् जातावित्यर्थः । तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये पुनरेकः कृषिं कुर्वन् कर्म्मणि उद्युक्तः । किमुक्तं भवति । स्वय कर्म्म करोति भृतकांश्च कारयति । भृतकानां वा कालपरिहीनां उचितां परिपूर्णां भृतिं मूल्य ददाति । अकालपरिहीनं च परिपूर्णं भक्तं । एव च तस्य व्याप्रियमाणस्य कृषेः परिवृद्धिरजायत साधुवादश्च ॥

कयमकयं व न जाणइ, न य उज्जमए सयं न वावारो ।
भत्ति भत्तकालहीने, दुग्गहियकिसीए परिहाणी ॥

द्वितीयो व्यापारायुक्तो भृतकैः किं कर्म्म कृत किं वा न कृत मिति नैव जानाति स्वयमपरिभावनादन्यतश्चाऽप्रच्छनाच्च स्वय कर्म्मकारणायोद्यच्छति । न वा मध्ये स्थित्वा भृतकान् व्यापारयति । भृतिभक्ते च भृतकानां कालहीने ददाति । किमुक्त भवति । भृतिमपरिपूर्णां ददाति । कालहीनां च एव भक्तमपि । तत एव दुर्गृहीतायाः कृषेस्तस्य परिहानिरभूदसाधुवादश्च ॥

संप्रति लोकोत्तरिक द्रव्यपरिच्छदे व्यापारयुक्तमाह ॥

जो जाए लध्दीए, उववेओ तत्थ तं निजोएंति ।
उवकरणे सुत्तत्थे, वादे कहणे गिलाणे य ॥

यो यथा लब्ध्या उपपेतो युक्तो वर्तते । तत्र त नियोजयति सूरयस्तद्यथा उपकरणे इति-उपकरणोत्पादने (सुत्ते) इतिसूत्रपाठलब्ध्युपेत सूत्रपाठे अर्थग्रहणे लब्धिसमन्वितं परवादिमथने धर्मकथनलब्धिपरिकलित धर्मकथने ग्लानमिति चरणपटीयांस ग्लान प्रति जागरणे ॥

जह जह वावायरते, जहा य वावारिया न हायंति ।
तह तह गणपरिवड्ढी, निज्जरवड्ढी वि एमेव ॥

यथा यथा तत्तल्लब्ध्युपेतान् तत्कर्म्मणि व्यापारयति यथा यथा च व्यापारा न हीयते । देशकालस्वभावौचित्येन व्यापारणात् तथा तथा गणस्य गच्छस्य परिवृद्धिर्भवति । निर्जरावृद्धि-

रप्येवमेव निर्ज्जराऽपि तथा परिवर्द्धते इतिभावः। तद्व्यतिरिक्तो व्यापारयुक्तस्तस्य गच्छपरिहानिर्भवति निर्ज्जरेति ॥

सम्प्रति भावपरिच्छेदमाह ॥

दंसणनाणचरित्ते, तवेय विणए य होइ भावम्मि ॥
संजोगे चउभागा, बिइए नायं वइरभूतं ।

दर्शन क्षायोपशमिकादिभेदभिन्नं सम्यक्त्वं ज्ञान मतिज्ञानादि चारित्र सामायिकादि, तपोऽनशनादि, एव भावतः परिच्छदः अनयोश्च द्रव्यभावपरिच्छदयो भावतः परिच्छन्नः इत्येव रूप द्वितीये भंगे ज्ञातमुदाहरणं वज्रभूतिस्तदेवाह ॥

भरुयच्छे नहवाहण, देवी पउमावती वइरभूती ।
ओरोहकयगाणय, कोउयनिव पुच्छदे विगमो ॥ १ ॥
कत्थत्ति निवाएसो, सयमासण एसचेव चेभिकहा ॥
परिदारण मदाणं वि, रूवपभिवाररहिएय ॥ २ ॥

भरुयच्छे नयरे नहवाहणो नाम राया तस्स पउमावती देवी। तत्थ नयरे वइरभूती आयरिओ महाकई अपरिवारो रूवेण य मंदरूवो अतीव किसो तस्स कव्वं अंतेउरे गिज्जंति सा य पउमावती देवी तेण कव्वेण हयहियया कया चिंतेइ जस्सेयं कव्वं कहमहंतं पेच्छिज्जा। तओ रायं अणुण्णवित्ता दासी संपरिवुडा महरियपाणागारं औचित्येन ढोकनीयं घेत्तुं वइरभूतिस्स वासिहिं गता। तं वारट्ठियं पासिता वइरभूइमेव जिसियं घेत्तुं निग्गतो । पउमावतीए कहियं कहं वइरभूती आयरितो वइरभूतिणा आयरिएण भाणियं वहिंगतो दासीए सन्नियं एस चेव वइरभूती ताहे विरागं गया चिंतेइ य दिट्ठासिकसेरुमती पीयंतो।पाणियं यं वरं तुह नाम न दंसणयं अत्र कसेरुमती नाम नदी। तस्याः प्रसिद्धिरतीव। नच तत् प्रसिद्ध्यनुरूपं तस्याः पानीयमिति क्षेपः। ताहेतं पण्णागारदिएणं ठवियं। एतं आयरियस्स दिज्जसित्ति गया ॥

संप्रत्यक्षरघटना। भरुकच्छे नभोवाहनो नाम राजा तस्य पद्मावती देवी। तत्र वज्रभूतिराचार्योऽवरोधे अत पुरे तत्काव्यगान कौतुकेन नृप दृष्ट्वा देव्यास्तद्वसतौ गमः तदनंतरं पृच्छा कुत्र वज्रभूतिराचार्यस्तस्य प्रत्युत्तर वहिर्निर्गत. । सचाचार्यः सपरिवाराभावात् स्वयमासनं गृहीत्वा मध्याह्नाद्बहिरागतः चेट्या दास्या. कथानकमेष एव वज्रभूतिस्ततो विपरिणाम विपरिणामाच्च साक्षाद्दर्शनं विरूपे परिवाररहिते च तस्मिन्नाचार्ये एतेनैतदावेदितं यः परिवारवानपि रूपेणाऽविरूपः सोऽपि द्रव्यपरिच्छदेनापरिच्छन्न. ततो यद्यपि तस्य परिवारोऽस्ति । तथापि योऽधस्तात् द्रव्यपरिच्छदो वर्णितस्तस्य मूलमाकृतिस्तदभावे तस्याभावः। तथाचाह ॥

मूलं खलु दव्वपलि, च्छयस्स सुंदेरमोरसवलं च ।
आकितिमतो हि नियमा, सेसानि हवंति लच्छीतो ॥

समस्तस्याऽपि प्रागुक्तस्य द्रव्यपरिच्छदस्य मूलं खलु सौंदर्य मौरसं च वलं हृदयवलिष्ठता सर्वव्यापारेषु दाढ्यमिति भावः। कुत इति चेदत आह । यस्मादाकृतिमत. सतो नियमाच्छेषा अपि लब्धयो घटादिविषया भवंति । न त्वाकृतिविरहितस्य तथा प्रत्यक्षत एव दर्शनात् तत आकृतिरहितोऽपि द्रव्यपरिच्छदरहित इति न तस्यापि गणधारणानुज्ञा ॥

सम्प्रति वक्ष्यमाणग्रंथसंबंधनार्थमाह ॥

जो सो उ पुव्वभणितो, अपभूतो उ अविसेसिओ तहियं ।
सोचेव विसोसिज्जइ, इहइ सुत्ते य अत्थे य ॥

योऽसौ(चोयग अप्पभू)इत्यादिना ग्रंथेन अप्रभुः पूर्वः भणित स्स तत्रापि विशेषत एवोक्तः इह अस्मिन्प्रस्तावे ऽप्रभुःसूत्रेऽर्थे च विशिष्यते । सूत्रतोऽर्थतश्च तस्याऽप्रभुत्व चिंत्यते इति भाव.। तदेवाह ॥

अवहुस्सुए अगीयत्थे, दिट्ठंता सप्पसीसवेजसुए ।
अत्थविहूणो धरंते, मासा चत्तारि भारीय ॥

अत्र बहुश्रुतागीतार्थपदाभ्यां भगचतुष्टय। तद्यथा। अबहुश्रुतोऽगीतार्थ इति प्रथमो भग. १ अबहुश्रुतो गीतार्थ. २ वा बहुश्रुतो ऽगीतार्थः३ बहुश्रुतोगीतार्थः४तत्र यस्य निशीथादिक सूत्रतोऽर्थतो न गत सप्रथमोभंग यस्य पुनर्निशीथादिगतौ सूत्रार्थौ विस्मृतौ स द्वितीयभगः। पुनरेकादशांगधारी अश्रुतार्थः स तृतीयभंगः। सकलकालोचितसूत्रार्थोपेतश्चतुर्थः । अत्र बहुश्रुते अगीतार्थे वा एतेनाद्यभगत्रयमुपात्तं । तस्मिन् गणं धारयति दृष्टांतौ सर्पशीर्षक वैद्यसुतश्च। इयमत्र भावना। आद्यानां त्रयाणां भगानामन्यतरो यदि गणं धारयति। तत स सहगणेन विनश्यति यथा सर्पशीर्षक वैद्यसुतो वा एतद्दृष्टांतद्वय यथा कल्पाध्ययने तथा भावनीयं (अत्थविहूणेत्यादि) अर्थविहीने अगीतार्थे इत्यर्थः । अर्थग्रहणमुपलक्षण सूत्रे इत्यपि द्रष्टव्य। तस्मिन् अर्थविहीने वा गणं धारयति । उपलक्षणमेतत्। निसृजति वा प्रायश्चित्त चत्वारो (भारिया इति) गुरुका मासाः ॥

अवहुस्सुते अगीयत्थे, निसिरए वा धारए गमणं ॥
तद्दिवसियं तस्स उ, मासा चत्तारि भारिया ॥

अबहुश्रुतोऽगीतार्थो वा यदि गण निसृजति धारयति वा स्वय। किमुक्तं भवति। आद्यानां त्रयाणां भगानामन्यतरो यदि गणं गीतार्थस्य वा निसृजति स्वय वाऽद्यानां त्रयाणां भगाना मेकतर सन् यदि गण धारयति एक द्वौ वा दिवसाद्युत्कर्षतः सप्तरात्रिंदिवानि ततस्तद्दिवसिकैस्तेषां सप्तानां दिवसानां निमित्तत्वतस्तस्य गण निसृष्टुर्धारयाति स प्रायश्चित्त चत्वारो मासा गुरुका ॥

सत्तरत्तं तवो होई, ततो छेदो पधावती ।
छेदेण छिन्नपरियाए, ततो मूलं ततो दुगं ॥

अन्यदन्यतः सप्तरात्रं यावद्गणस्य निसर्जने धारणे वा प्रायश्चित्त तपो भवति। तपःप्रायश्चित्तसमाप्त्यनंतरक्रमेण छेदःप्रधावति छेदेन चेच्छिन्नपर्यायो भवति ततो छिन्नपर्याये तस्मिन् मूल दीयते। ततोऽप्यतिक्रमे अतिम द्विकमनवस्थाप्य पारांचितलक्षणं। इयमत्र भावना। प्रथमसप्तदिवसानतरमन्यानि चेत्सप्तदिनानि गण निसृजति धारयति वा स्वय तत प्रायश्चित्तं षड्लघु। ततोऽप्यन्यानि सप्तदिनानि तत षड् गुरु। तदनतरमप्यन्यानि चेत् सप्तदिनानि ततश्चतुर्गुरुका श्छेद ततोऽप्यन्यसप्त दिनानि ततश्चतुर्गुरुकाश्छेदः । ततोऽप्यन्यसप्तदिवसातिक्रमे षड्लघुकश्छेदः । तदनतरमप्यन्यसप्तदिवसातिवाहने षड्गुरुकश्छेदः। एतावता कालेन यदि पर्यायो न छिन्नत्ति ततश्चि-

चत्वारिंशत्तमे दिवसे गणं धारयतो निक्षेपुर्वा प्रायश्चित्तं मूलं चतुश्चत्वारिंशत्तमे दिवसे अनवस्थाप्य पञ्चचत्वारिंशत्तमे पाराञ्चितं तदेव यत इत्थं प्रायश्चित्त ततो न वर्तते। आद्यानां त्रयाणां भङ्गानामेकतरः स्थापयितुं कः पुनर्गणधरः स्थापयितव्य इति चेदुच्यते शुरूः॥

अथ कोऽसौ शुरू इतिशुरूलक्षणमाह ॥

जोसो चउत्थभंगो, दव्वे भावेय होइ संच्छन्नो।
गणधारणंमि अरिहो, सो सुष्को होइ नायव्वो ॥

योऽसौ चतुर्थभङ्गश्चतुर्भङ्गवर्ती कोऽसावित्याह। द्रव्ये भावे च यो भवति। संच्छन्नद्रव्य· परिच्छदविशेषैश्च परिकलित इति भावः॥

(३०)स्थापनायां स्थविराः प्रष्टव्याः ॥

स्थविराननापृच्छ्य गणं न धारयेदाचार्य्यः व्य. सू ३ उ.॥

भिक्खू इच्छेज्जा इत्यादिगाथा ३२७ पृष्ठे १४ पंक्तौ व्याख्याता ॥

भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए। णो कप्पइ से थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारित्तए। कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए। थविरा य सेवयरेज्जा एवं से कप्पइ गणं धारित्तए थेरा य से एगेवियवेज्जा एवं से णो कप्पइ गणं धारित्तए जणं थेरेहिं अविदिन्नं गणं धारेति से संतराए छेए वा परिहारे वा ॥ १ ॥

व्याख्या। भिक्षुरिच्छेत् गणं धारयितुं तत्र (से) तस्य न कल्पते। स्थविरान् गच्छगतान् पुरुषान् अनापृच्छ्य गणं धारयितु कल्पते (से) तस्य स्थविरान् आपृच्छ्य गण धारयितु स्थविराश्च (से) तस्य वितरेयुरनुजानीयुर्गणधारणं पूर्वोक्तैः कारणैरर्हत्वात्। तत एव सति (से) तस्य कल्पते गण धारयितु स्थविराश्च (से) तस्य न वितरेयुर्गणधारणानर्हत्वादेव सति न कल्पते। गण धारयितुं। यः पुनः स्थविरैरवितीर्णमनुज्ञातगण धारयेत् ततः (से) तस्य कृतादनंतरपदपन्यायात्प्रायश्चित्त च्छेदो वा परिहारो वा चशब्दादन्यद्वा तप.। एष सूत्राक्षरार्थ.। भावार्थं भाष्यकृदाह ॥

काउं देसदरिसाणं, आगतउवट्ठियम्मि उवरया थेरा।
असिवादिकारणेहिं, वनठावितो साहगस्स असती ॥
सा कालगतेम्मि उगतो, विदेसं व तत्थ च अपुच्छा ॥
थेरे धारे य गणं, भावनिसिष्ठं अणुग्घाया ॥

देशदर्शननिमित्त गतेन ये प्रव्राजितास्तान् यद्यात्मनोयावत्कथिकान् शिष्यतया बध्नाति ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं। तथा देशदर्शनं कृत्वा तस्मिन्नागते अप्रस्थापिते च तस्मिन्नाचार्य्यपदे स्थविरा यस्याचार्या उपरताः कालगता यदि वा स प्रत्यागतोऽप्याशिवादिभि कारणैर्यद्वासाधकस्य(असतित्ति)अभावेनाचार्यपदे स्थापितोऽभातरवाऽचार्य.। ततस्तस्मिन्कालगते यदि वा गतो विदेशं तत्रैव विदेशे गणं धारयितुमिच्छेत्। एतेषु सर्वेष्वपि कारणेषु समुत्पन्नेषु यदि स्थविरान् गच्छमहांतोऽपृष्ट्वा यद्यपि तस्याचार्येण भावतो गणो निसृष्टोऽनुज्ञातस्तथापि स्थविरा आप्रच्छनीयास्तत आह। भावनि सृष्टमपि गणं धारयति तर्हि तस्य स्थविरानापृष्टाप्रत्यय प्रायश्चित्त अनुद्घाता गुरुकाश्चत्वारो मासाः उपलक्षणमेतत्। आज्ञाऽनवस्था मिथ्यात्वविराधनारूपाश्च तस्य दोषाः ॥

सयमेव दिसाबंधं, अणणुएणाते करे अणापुच्छा।
थेरेहिं य पडिसिध्दो, सुध्दा लग्गा उवेहंता ॥

यो नाम स्वयमेव आत्मच्छंदसा को मम निजमाचार्यं मुक्त्वाऽन्य आपृच्छनीयः समस्तीत्यध्यवसायतः पूर्वाचार्येणाऽननुज्ञात आचार्यपदे तस्याऽस्थापनात्स्थविरान् गच्छमहत्तररूपान् अनापृच्छ्य दिग्बंधं करोति। स्थविरैः प्रतिषेधनीयाः। यथा निवर्तते आर्य! तव तीर्थकराणामाज्ञां लोपयितुं एवं प्रतिवेदितोऽपि यदि न प्रतिनिवर्तते तर्हि स्थविराः शुद्धाः सन्तः चतुर्गुरुके प्रायश्चित्ते लग्नाः। अथ स्थविरा उपेक्षंते तर्हि ते उपेक्षा प्रत्यय चतुर्गुरुके लग्ना यत एवमुपेक्षायामनापृच्छाया च तीर्थकराभिहितं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्तस्मात्स्थविरैरुपेक्षा न कर्तव्या। तेन च स्थविरा आपृच्छनीयाः॥

सगणे थेराणसती· तिगथेरे वा तिगं तु बध्दाति।
सेवःसति इत्तरियं, धारेइ न मेलितो जाव ॥

अथ स्वगच्छे स्थविरा न सति तर्हि गणे स्वकीये गच्छे स्थविराणामसति अभावे ये त्रिककुलगणसंघरूपे स्थविरास्तान् त्रिकस्थविरान् त्रिकं वा समस्तं कुलं वा गणं वा संघो वा इत्यर्थः। उपातिष्ठेत यथा यूयमनुजानीत मह्यं दिशामिति। अथ अशिवादिभिः कारणैर्न पश्ये कुलस्थविरादीनामसत्यभावे इत्वारिकां दिश गणस्य धारयाति. यावत्कुलादिभिः सह गणो न मिलितो भवति ॥

जे उ अहाकप्पेणं, अणुएणायंमि तत्थ साहम्मि।
विरहन्ति अमट्ठाए, न तेसि छेओ न परिहारो ॥

ये तु साधर्मिकाः स्वगच्छवर्तिनः परगच्छवर्तिनो वा यथा कल्पेन श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्राद्यर्थं तत्रोपस्थानात् विषये तदर्थाय सूत्राणामर्थाय आसेवना शिक्षार्थेवेत्यर्थः। अनुज्ञाते गणधारणा तत्र गच्छे विहरंति। ऋतुबद्धे काले मासकल्पेन वर्षासु वर्षाकल्पेन तेषां तत्प्रत्ययोपदेशोऽनुज्ञातो गणं धारयतीति तन्निमित्तमित्यर्थः। प्रायश्चित्तं च्छेदो न परिहार उपलक्षणमेतच्चान्यद्वा तपः श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्राद्यर्थं तप उपस्थानात् विषयलोलता हि तस्यासमीपमुपतिष्ठमानानां दोषोन सूत्राद्यर्थमिति। व्य० ३ उ० ॥

शिल्पिनि, औप० शिल्पोपाध्याये, (छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला) छेकेन निपुणेनाऽऽचार्येण शिल्पोपाध्यायेन रचितो दृढो बलवान् परिघोऽर्गला इन्द्रकीलश्च सम्पाटितकपाटद्वयाधारभूतः प्रवेशमध्यभागो यस्यां सा तथेति ॥ राज० ॥

आ(य)रिय-आर्य-पु० आरात् हेयधर्मेभ्यो याताः प्राप्ता उपादेयधर्मैरित्यार्य्याः। पृषोदरादित्व इति रूपनिष्पत्तिः ॥ प्रज्ञा प॰ १। प्रव. २७५ द्वा. ॥

स्याद्भव्यचैत्यचौर्य्यसमेषु यात्। ८। १०७। इति प्राकृत सूत्रेण स्यादादिषु चौर्य्यशब्देन समेषु च शब्देषु संयुक्तस्य यात्पूर्व इकारो भवति। आराद्दूरे याता गताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्य्याः। सूत्र० १ श्रु. ३ अ.॥

चारित्रार्हे, आचा० अ. २ अ. ५

(अणारियवयणमेयं) आराद्याता सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यास्तद्विपर्य्ययादनार्य्याः क्रूरकर्माण इति। आचा. ४ अ. ५ उ ॥

(मिच्छदिट्ठी अणारिया) आरादयाताः सर्वहेयधर्मेभ्य

इत्यार्याः । सूत्र० १ श्रु. १ अ. ॥
"एसट्ठाणे आरिए" आराद्यात सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यम् सूत्र.२ श्रु. २ अ ।
(एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा) आर्य आराद्यातं पापकर्मभ्य इत्यार्यं अत एव धार्मिकमिति । भ. श. १.उ.७ ।
आर्य्यो देशभाषाचरित्रार्य्या इति आचा. ४ अ. २ उ. ।
विवेकिनि (तमेव पासित्ता आयरिया वयति) आर्य्या विवेकिनः सदाचारवतः एव ब्रुवते । सूत्र. २ श्रु. २ अ. ।
आर्यदेशोत्पन्ने (आयरियमाणायरियाण) आर्य्याणामार्यदेशोत्पन्नानाम्. उपा. २ अ. । स. ३४ स. । औप. ।

आर्यभेदाः ॥

सेकिंतं आयरिया ? आयरिया दुविहा पएणत्ता । तंजहा । इड्ढिपत्तारिया य अणिड्ढिपत्तारिया य । से किंतं इड्ढिपत्तारिया ? २ छव्विहा पएणता, तंजहा अरहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाहरा सेत्तं इड्ढिपत्तारिया ॥ सेकिंतं अणिड्ढिपत्तारिया ? २ नवविहा पएणता, तंजहा खेत्तारिया जातिआरिया कुलारिया कम्मारिया सिप्पारिया भासारिया णाणारिया दंसणारिया चरित्तारिया सेकिंतं खेत्तारिया ? २ अद्धछव्वीसाति विहा पएणता, तंजहा ।

रायगिहमगहचंपा, अंगा तह तामलित्ति वंगा य ।
कंचणपुरं कलिंगा, वाणारसि चेव कासीय ॥ १ ॥
साएयकोसलागय, पुरं च कुरुसोरियं कुसट्ठाय ।
कंपिल्लं पंचाला, अहिछत्ता जंगला चेव ॥ २ ॥
दारवती य सुरट्ठा, मिहिलविदेहा य वच्छकोसंबी ।
नंदि पुरं संडिल्ला, भद्दिलपुरमेव मलयाय ॥३ ॥
वइराडवच्छवरणा, अच्छा तह मातियावईदसएणा ॥
सोत्तियमइयाचेदी, वीइभयं सिंधुसोवीरा ॥ ४ ॥
महुरा यसूरसेणा, पावा भंगी य मासपुरिवट्टा ॥
सावत्थी य कुणाला, कोडीवरिसं चलाढा य ॥ ५ ॥
सेयंविया वियनगरी, केयइ अर्द्धच आरीयं भणियं ॥
एत्थुप्पत्तिजिणाणं, चक्कीणं रामकएहाणं ॥ ६ ॥

सेत्तं खेत्तारिया सेकिंतं जाइ आयरिया ? २ छव्विहा पन्नता तंजहा अंवट्ठा य कलिंदा विदेहा वेदगाइय हरिया चुंचुणा चे व छएया इच्चजाइओ सेत्तं जाइआयरिया य सेकिंतं कुलारिया ? २ छव्विहा पन्नत्ता तंजहा उग्गा भोगा राइएणा इक्खागा नाता कोरव्वा सेत्तं कुलारिया सेकिंतं कम्मारिया ? २ अणेगविहा पन्नत्ता तंजहा ।

दोसिया सुत्तिया कप्पा, सिया मुत्ताविया जीया ॥
भंडविया लिया कोला, लिया नरवाहणिया ॥ १ ॥

जेयावणे तहप्पगारा सेत्तं कम्मारिया सेकिंतं सिप्पारिया ? २ अणेगविहा पन्नत्ता । तंजहा । तुएणागा तंतुवाया पट्टागारा देयडा वरुडा कट्ठयाउयारा मुंजपाउयारा छत्तारा वंझारा पच्छारा पोत्यारा लेप्पारा चित्तारा संखारा दंतारा भंडारा जिब्भगारा सेल्लारा कोडिगारा जेयावन्ने तहप्पगारा सेत्तं सिप्पारिया सेकिंतं भासारिया ? २ जेणं अद्धमागहाए भासाए भासंति जत्थ वियणं बंभी लिवी पवत्तइ बंभीएणं लिवीए अट्ठारस विहे लेक्खविहाणे पएणत्ते । तंजहा बंभी, जवणाणिया, दोसा, पुरिसा, खरुट्ठी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, पहराइया, अंतक्खरिया, अक्खरपुट्ठिया, वेणइया, निएहइया, अंकलिवी गणियलिवी गंधव्वलिवी, आयासलिवी, माहेसरी, दामिली, पोलिंदी । सेत्तं भासारिया सेकिंतं नाणारिया ? २ पंचविहा पणत्ता तंजहा आभिणिवोहियनाणारिया सुयनाणारिया ओहिनाणारिया मणपज्जवनाणारिया केवलनाणारिया ॥ सेत्तं नाणारिया सेकिंतं दंसणारिया ? २ दुविहा पणत्ता । तंजहा सरागदंसणारिया यवियरागदंसणा ० सेकिंतं सरागदंसणारिया ? २ दसविहा पएणता तंजहा ॥

निस्सग्गुवदेसरुई, आणारुइ सुत्तवीयरुइ चेव ।
अभिगमवित्थाररुई, किरिया संखेव धम्मरुई ॥१॥
भूयत्थेणाधिगया, जीवा जीवा य पुएणपावं च ।
सहस्सं मुइयासव, संवरो यवेयऽएस णिस्सग्गो ॥ २ ॥
जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहा सयमेव ।
एमेव णएणहत्ति य, णिसग्गरुइति णाइव्वो ॥ ३ ॥
एए चेव उ भावे, उवदिट्ठे जो परेण सद्दहइ ।
छउमत्थेण जिणेण, व उवएसरुइत्ति णायव्वो ॥ ४ ॥
जोहेउमयाणंतो, आणाएरोयए पवयणं तु ।
एमेवष्णहत्ति य, एसो आणारुई नाम ॥ ५ ॥
जो सुत्तमहिज्जंतो, सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण वाहिरेण, वसो सुत्तरुइत्ति नायव्वो ॥ ६ ॥
एगपएणेगाइं, पदाइं जो पसरइ उ सम्मत्तं ।
उदइव्व तिल्लबिंदू, सो वीयरुइत्ति नायव्वो ॥ ७ ॥
सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जस्स अत्थओदिट्ठं ।
एक्कारसअंगाइं, पइएणगा दिट्ठिवाओय ॥ ८ ॥
दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं णयविहीहिं, वित्थाररुइत्ति नायव्वो ॥९॥
दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सव्वसमिइगुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई, सो खलु किरियारुई नाम ॥१०॥
अणभिग्गहिय कुदिट्ठी, सेखेवरुइत्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु । ११ ।
जो अत्थि कायकम्मं, सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ॥
सद्दहइ जिणाभिहियं, सो धम्मरुइत्ति नायव्वो ॥ १२ ॥
परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ॥
वावन्नकुदंसणव, ज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥ १३ ॥
निस्संकियनिकंखिय, णिव्वितिगिच्छा अमुढदिट्ठीय ।

उववूहथिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ १४ ॥

सेत्तं सरागदंसणारिया ॥ सेकिंतं वीयरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता, तंजहा उवसंतकसायवीयरागदंसणारिया खीणकसायवीयरागदंसणरिया य। सेकिंतं उवसंतकसायवीयरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता. तंजहा पढमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया, अहवा चरिमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयउवसंतकसायवीतरागदंसणारिया य। सेकिंतं खीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता, तंजहा छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेकिंतं छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता। तंजहा। सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेकिंतं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया? सयंबुद्धछउमत्थखीण० दुविहा पएणत्ता। तंजहा पढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। अहवा चरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया सेकिंतं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया?२ दुविहा पएणत्ता, तंजहा पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। अहवा। चरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेत्तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेत्तं छउमत्थखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेकिंतं केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया?२ दुविहा पएणत्ता, तंजहा सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेकिंतं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता। तं जहा पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीरागदंसणारिया य। अहवा। चरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया-य। सेत्तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेकिंतं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। अहवा चरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया अचरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया य। सेत्तंअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया। सेत्तं केवलिखीणकसायवीतरागदंसणारिया सेत्तं खीणकसायवीतरागदंसणारिया सेत्तं वीतरागदंसणारिया सेत्तं दंसणारिया। सेकिंतं चरित्तारिया? २ दुविहा पएणत्ता। तंजहा। सरागचरित्तारिया वीतरागचरित्तारिया य। सेकिंतं सरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया बायरसंपरायसरागचरित्तारिया य। सेकिंतं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा पढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया अपढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया अचरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य अहवा सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पएणत्ता तंजहा संकिलिस्समाणा य विसुज्झमाणा य सेत्तं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया। सेकिंतं बायरसंपरायसरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा पढमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया अपढमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया य। अहवा चरिमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया अचरिमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया य अहवा बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पएणत्ता। तंजहा। पडिवाई य अपडिवाई य सेत्तं बायरसंपरायचरित्तारिया सेत्तं सरागचरित्तारिया सेकिंतं वीतरागचरित्तारिया? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा। उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया खीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा प० तंजहा पढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया। सेकिंतं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया? २ दुविहा पएणत्ता तंजहा सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया बुद्धबोहियछउम-

त्थवीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया? दुविहा पण्णत्ता तं जहा पढमसमयसंबुद्धखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेकिंतं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया सेत्तंछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेकिंतं केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया? २ दुविहापण्णत्ता । तंजहा सजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेकिंतं सजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ?२दुविहापण्णत्ता । तंजहा पढमसमयसजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयसजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अचरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं सजोगिकेवलीखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेकिंतं अजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता । तंजहा पढमसमयअजोगीकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य अहवा चरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । अचरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य सेत्तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया सेत्तं वीतरागचरित्तारिया । अहवा चरित्तारिया पंचविहा पण्णत्ता । तंजहा सामाइयचरित्तारिया, छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया, परिहारविसुद्धिचरित्तारिया, सुहुमसंपरायचरित्तारिया, अहक्खायचरित्तारिया य । सेकिंतं सामाइयचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता । तंजहा । इत्तरियसामाइयचरित्तारिया आवकहियासमाइयचरित्तारिया य । सेत्तं सामाइयचरित्तारिया । से किंतं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तं जहा । साइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया निरइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया । सेत्तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया । सेकिंतं परिहारविसुद्धियचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता । तंजहा निव्विस्समाणपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया निव्विट्ठकाइयपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया य । सेत्तं परिहारविसुद्धियचरित्तारिया । से किंतं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता तं जहा, संकिलिस्समाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया विसुज्झमाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया सेत्तं सुहुमसंपरायचरित्तारिया । से किंतं अहक्खायचरित्तारिया ? २ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा छउमत्थअहक्खायचरित्तारिया केवलिअहक्खायचरित्तारिया य सेत्तं अहक्खायचरित्तारिया । सेत्तं चरित्तारिया । सेत्तं अणड्ढिपत्तारिया । सेत्तं आयरिया ॥ प्रज्ञा० १. प ॥

आराद्यात० सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्य्यः । मोक्षमार्गे, (आरियं उवसंपज्जे.) सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आराद् यात सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्यं तत्वम् । तत्वे, । (आयरियं विदित्ताण, सव्वदुक्खा विमुच्चइ) आयरियति सूत्रत्वात् आराद् यात सर्वकुयुक्तिभ्य इत्यार्य्यं तत्व तद्विदित्वा ज्ञात्वेति । उत्त० अ० ६ । प्रगुणे, न्यायोपपन्ने, आर्यं प्रगुण न्यायोपपन्नमिति । आचा० २ श्रु० ५ उ ॥

आयरियउवज्झाय–आचार्य्योपाध्याय– पु० आचार्य्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्यायः । आचार्य्यसहिते उपाध्याये (आयरियउवज्झाए विसंभेज्जा) व्य० सू० ३ उ० । आचार्य्यसहित उपाध्याय आचार्य्योपाध्यायः । आचार्य्य उपाध्यायश्चेत्यर्थः आचार्य्यश्च स एवोपाध्याय आचार्य्योपाध्यायः आचार्य्यरूपे उपाध्याये, स हि केषांचिदाचार्य्यः केषांचिदुपाध्याय इति । व्य० ३ उ० ॥

आ (य) रियखेत्त–आर्यक्षेत्र–न० अर्द्धषड्विंशतिजनपदोपलक्षिते राजगृहमगधादिके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

सार्द्धपञ्चविंशतिः आर्यक्षेत्राणि (आयरिय) शब्दे पृष्ठे ३३६ पङ्क्तौ २१ उक्तानि ॥

यस्मादत्र एतेषु सार्द्धपञ्चविंशतिसङ्ख्येषु जनपदेषूत्पत्तिर्जिनानां तीर्थकराणां चक्रवर्तिनां रामाणां बलदेवानां कृष्णानां वासुदेवानां तत आर्यमेतेन क्षेत्रस्यार्यानार्यव्यवस्था दर्शिता यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्यं शेषमनार्यमिति । आवश्यकचूर्णौ पुनरित्थमार्यव्यवस्था उक्ता " जेसु केसुवि पएसेसु मिहुणगाणि यइट्ठिएसु हकाराईया नीई परुढा ते आयरिया सेसा अणारिया इति " एते च प्रत्यासत्त्या भरतक्षेत्रवर्तिन एव आर्या उक्ताः । उपलक्षणत्वाच्चैषामन्येऽपि महाविदेहांतर्वर्तिविजयमध्यमखंडादिष्वमी बहवो द्रष्टव्या इति । प्रव० २७६ द्वा० ।

आर्यक्षेत्रसीमा निशीथचूर्णौ यथा १६ अ० ।

मगहा कोसंबीया, थूणाविसओ कुणालविसओ य ॥
एसा विहारभूमी, एत्ता आयरियं खेत्तं ॥ ६३५ ॥

पुव्वेण मगहविसओ दक्खिणेण, कोसंबी अवरेण थूणाविसओ

उत्तरेण कुणालाविसओ एतेसिं मज्झ आयरियं पुरतो अणारिया।

आ(य)रियट्ठाण-आर्यस्थानन० सर्वतो विरत्यादौ, संयमस्थाने "जासा सव्वतोविरई एसट्ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए" तत्र चेयं विरतिः सम्यक्त्वपूर्विका सावद्यारम्भान्निवृत्तिः सावद्यानुष्ठानरहितत्वात् संयमस्थानम् तत्रचैतत्स्थानमार्यस्थानम्। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

आ (य) रियदंसि (न्) आर्यदर्शिन्- पुं० आर्यं प्रगुणं न्यायोपपन्नं पश्यति तच्छीलश्चेत्यार्यदर्शी। न्यायोपपन्नदर्शिनि, (आयरिए आरियपष्णे आरियदंसी) आचा. २ अ ५ उ।

आ (य) रियदिण्ण-आर्यदत्त-पुं० पार्श्वनाथस्य प्रथमे गणधरे प्रव १ द्वा।

आ (य) रियदेस-आर्यदेश-पु मगधाद्यर्द्धपञ्चविंशतिजनपदेषु, (आयरियदेसमि जे समुप्पण्णा) प व १ द्वा। आर्यदेशसमुत्पन्न शुद्धजातिकुलान्वितः ध ३अधि। तत्र आर्यदेशा जिनचक्रवर्त्यर्द्धचक्रधाद्युत्तमपुरुषजन्मभूमयस्ते च संख्यया मगधाद्याः सार्द्धपञ्चविंशतिः आर्याणां वासार्हा देशः। प्रव.। आर्यावर्त्तादौ देशे।

आ (य) रियधम्म-आर्यधर्म- पुं० आर्यस्य धर्मः। सदाचारे श्रुतचारित्ररूपे धर्मे च (वेइज्ज णिज्जगपेही आरियं धम्ममणुत्तरं) आराद्धेयधर्मेभ्यो यात इत्यार्यस्तं धर्मं श्रुतचारित्ररूपमिति उत्त. २ अ.॥

आ (य) रियपएसिय-आर्यप्रदेशित त्रि० तीर्थकरप्रणीते,-(एवं से धम्मे आयरियपएसिए। आचा० ६ अ ४ उ.।

आ (य) रियपण्ण-आर्यप्रज्ञ-पुं आर्या प्रज्ञा यस्य स आर्यप्रज्ञः। श्रुतविशेषितमतौ, आचा० २ अ. ५ उ।

आयरियपरिजावि (न्) आचार्यपरिजाविन् त्रि० आचार्यपरिभवकर्त्तरि।

डहरो अकुलीणोत्ति य, दुम्मेहो दमगमंदबुद्धित्ति।
अवि अप्पलाभलद्धी,सीसो परिभवइ आयरियं॥ १॥

कश्चित्कुशिष्यस्सूचया असूचया वा आचार्य परिभवति। सूचा नाम स्वव्यपदेशेन परस्वरूपसूचनं। यथा कोपचयः परिणत साधुबालकमाचार्यं ब्रवीति। अद्यापि डहरा बालका वय किमस्माकमाचार्यपदस्य योग्यत्वमिति। असूचा स्फुटमेव परदोषोद्घाटनं यथा भो आचार्य ! त्वं तावदद्यापि डहरो मुग्धः क्षीरकण्ठो वर्त्तसे अत कीदृशं भवत आचार्यकत्वमिति। योऽकुलीन आचार्यस्तमुद्दिश्य भणति अहो उत्तमकुलसंभूता अमी योग्या एवाचार्यपदस्य वयं तु हीनकुलोत्पन्नाः कुतोऽस्माक सूरिपदयोग्यता यद्वा धिक्कष्ट यदकुलीनोऽप्ययमाचार्यपदे निवेशित इति। तथा दुर्मेधा मन्दप्रज्ञो द्रमको नाम दरिद्रो भूत्वा यः प्रव्रजितः मंदबुद्धि स्वल्पमतिः अपि संभावनायां समाव्यते कुतोऽपि कारणादेवंविधोऽप्याचार्य इति अल्पा तुच्छा वस्त्रपात्रादिलाभे लब्धिर्यस्य सोऽल्पलाभलब्धिः। एतानप्येवमेव सूचया असूचया च परिभवति॥

अथ शिष्यपदं व्यापदं व्याचष्टे॥

सो वि य सीसो दुविहो, पव्वावियगो अ सिक्खओ चेव।
सो सिक्खओ उ तिविहो, सुत्ते अत्थे तदुभए य॥

यः शिष्यो गुरून् परिभवति सोऽपि च द्विविधः। प्रव्राजितकः शिष्यकश्चैव यस्तेनैव परिभूयमानगुरुणा दीक्षां ग्राहितस्स प्रव्राजितकः। शिष्यकस्तु गच्छान्तरादध्ययनार्थमायातः स च शिष्यकस्त्रिविधः सूत्रेऽर्थे तदुभये च सूत्रग्राहकोऽर्थग्राहकस्तदुभयग्राहकश्चेत्यर्थः। वृ। नि० चू० १० अ०॥

आयरियपायमूल आचार्यपादमूल न० आचार्यान्तिके-(गंतूणायरियपायमूलम्मि,) आचार्यपादमूले आचार्यान्तिक इति पं २ द्वा॥

आयरियभासिय-आचार्यभाषित-न प्रश्नव्याकरणदशायाश्चतुर्थेऽध्ययने, स्था० १० ठा॥

आयरियमग्ग-आर्यमार्ग-पु. आराद् यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो निर्दोषः। पापलेश्याऽसम्पृक्ते मार्गे, (आरियमग्ग असपत्ता) सूत्र० १ श्रु० १ अ० ॥ सदनुष्ठानरूपे मार्गे, जैनेन्द्रशासनप्रतिपादिते मोक्षमार्गे च सूत्र१श्रु.३ अ। (जे तत्थ आरियं मग्ग परम च समाहिए)सूत्र द्वि. ०श्रु० ३ अ०॥

आयरियविज्जा-आचार्यविद्या-स्त्री० द्वाचत्वारिंशत्तमे पुरुषकलाभेदे, कल्प०॥

आयरियविप्पडिवत्ति-आचार्यविप्रतिपत्ति-न० बन्धदशायाः पञ्चमेऽध्ययने, स्था० १०ठा।

आ(य)रियवेय-आर्यवेद-पु०तीर्थकरस्तुतिरूपे, श्रावकधर्मप्रतिपादके च वेदे,(दाण च माहणाण वेआकासीअ पुच्छनिव्वाणं) आर्यान् वेदान् कृतवांश्च स भरत एव तत्स्वाध्यायनिमित्तमिति तीर्थकरस्तुतिरूपान् श्रावकधर्मप्रतिपादकांश्च अनार्यास्तु पश्चात्सुलभा याज्ञवल्क्यादिभिः कृता इति. आव २ अ। आ. म २ अ।

आयरियवेयावच्च-आचार्यवैयावृत्य-न आचार्यस्य वैयावृत्य भक्तपानादिभिरुपष्टम्भः। वैयावृत्यभेदे, औप०॥

आयरियव्व-आचरितव्य-त्रि० आ. चर. तव्य। अनुष्ठेये। (ज जम्मि होइ काले, आयरियव्वं स कालसमायारो)। नि चू १ उ॥

आयारियादेस-आचार्यादेश-पु आचार्यकथने, (आयरियदेसावाहारिएण अत्थेण) आचार्यादेशात् आचार्यकथनात् अवधारितेनेति। व्य० ३ उ।

आयसजायण-आयसभाजन-न. लोहभाजने, (तोयमिव नालियाए, तत्तायसजायणोदरत्थंवा) तत्तं च तदायसभाजन च लोहभाजनमिति॥ आव० ४ अ॥

आयाइ-आजाति-स्त्री०आ जन् क्तिन् आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्मनि, स्था १०ठा। आजायतेऽस्यामित्याजातिः मनुष्यादिजातौ,। तथा चाचाराङ्गे आचारैकार्थकानाधिकृत्य इदानीमाजातिराजायते तस्यामित्याजातिः। साऽपि चतुर्द्धा व्यतिरिक्ता मनुष्यादिजाति भावाजातिस्तु ज्ञानाद्याचारप्रसूतोऽयमेवाचार इति। आचा० १ अ १ उ॥

आयाति- स्त्री आ- या- भावे- क्तिन्-आगमने- स्थानान्तरगमने च(आयातिर्वा गतिरिति) स्था. ठा ३ आयातिर्गर्भान्निष्क्रम इति स्था ठा २ उत्तरकाले च दशा०॥

आयाइट्ठाण- आजातिस्थान न- आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म तस्याः स्थानम्। संसारे, स्था १०ठा

आयातिस्थान-न०उत्तरकालस्य स्थाने (आयातिट्ठाण सम्मत)

आयाइट्ठाणेति आयतिर्नाम उत्तरकालस्तस्य स्थान पदमिति । दशा० ॥

आयाइट्ठाणज्झयण– आजातिस्थानाध्ययन न० आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म तस्याः स्थान संसारस्तत्सनिदानस्य भवतीत्येवमर्थप्रतिपादनपरमाजानिस्थानमुच्यत इति । आचारदशाया नवमेऽध्ययने, । स्था० १० ठा.॥

आयागर–अयआकर–पुं० लोहाकरे। (आयागरेइवा) अयआकरो लोहाकरो यत्र लोहं ध्मायत इति स्था० ८ ठा. ॥

आया(चा)म आचाम न० अवस्रावणे पानकभेदे "आयाममवस्रावणमिति"। वृ. आव ६ अ. । आ. म. पिं नि. स्था३ ठा.उ. त. १५ अ.(आयामवासोवीरवासुद्धवियडघातहप्पगारपाणगजातं पुव्वामेव आलोएज्जा) आयामाम्लमवश्यानमिति आचा० श्रु. १, चू ॥

आयाम–पुं. आ-यम्-भावे घञ् दैर्घ्यें,-स्था० ४ ठा. ॥ नि.चू उ॥ आ म. । राजं जी. "आयामेणं दुवेयणं तीसे वाहाओ अखवट्ठिसाओ भवति"आयामश्चदक्षिणोत्तरायततया प्रतिपत्तव्यो विष्कम्भः पूर्वापरायततयोति । सू प्र ४ प्रा. ॥

आयामग–आचा (या) मक- न० आयाममेवायामकम्-अवस्रावणके पानकभेदे- उत्त (आयामग चेव जवोदग च) आयामक धान्यस्यावस्रावणम् । उत्त० १५ अ. ॥

आयामसित्थभोइ (न्) आचा (या) म सिक्थभोजिन्- त्रि० अवस्रावणगतसिक्थभोक्तरि, तथा चौपपातिके "रसपरित्यागभेदानधिकृत्य-आयामसित्थभोइत्ति" औप० ॥

आयामेत्ता–आचम्य–अव्य० आचमन कृत्वेत्यर्थे, (परमपेणं माहणे आयामेत्था) आमेत्थात्ति, आचामितवान् तद्भोजनदानद्वारेणोच्छिष्टतासम्पादनेन तच्छुद्धयर्थमाचमन कारितवान् भोजितवानिति तात्पर्य्यम् भ०१५ श. १ उ. । माहणे आयामेइ- आयामेइत्ता स उत्तरोट्ठं मुंडं करेइ, भ. १५ श. १ उ. ।

आयार-आचार-पु. आ चर-भावे घञ्.आ. मर्य्यादायां चरणं चारः मर्य्यादया काललनियमादिलक्षणया चार आचारः आ. म ॥ आचारे ज्ञानाचारादिः पञ्चधा आ मर्य्यादया वा चारोविहार आचारः भ १श १उ ॥ दशा.विशे "आमज्जायावयणो, चरण चारोत्तितीए आयारो । सोहोइ नाणदंसण,चरित्ततववीरियवियप्पो" ॥ अनुष्ठाने स्था० ४ ठा. ॥ आचारणमाचारोऽनुष्ठानमिति,सूत्र.२ श्रु५अ. । स्था. । आचारोमोक्षार्थमनुष्ठानविशेष,इति.आचा १श्र ३उ । आचारो ज्ञानादिविषयमनुष्ठानमिति ज्ञा. ॥ आचारः श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादीनि भ० २ श १उ आचरणीये आचारे आव० ॥ आचर्य्यते गुणवृद्धये इत्याचारःअष्ट ॥ आचारः साधुसमाचार इति । स्था २ठा. आचारेलोचाऽस्नानादिसुष्ठुक्रियारूपइतिध.१आधि । स्था४ठा. दशा० ॥ आयारे चेव भावतेणय ॥ आचारे साधुसामाचार्य्याविषये इति । प्रश्न सं ३द्वा । आचारस्तत्परिहरणपरिष्ठापनरूपइति । स्था ७ठा । आचारः शास्त्रविहितो व्यवहार इति । ग० ॥ आतु । आचरणमाचारः । आचर्य्यते इति वाऽऽचारः । पूर्वपुरुषाचरिते ज्ञानाद्यासेवनविधौ, । न. । शिष्टाचारतो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति । पा० ॥ धं० २ ॥ अनु० ॥ साध्वाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थ. । सम. ॥

आचारस्य चतुर्विधो निक्षेपः दश. ३ अ । आचारस्य तुचतुर्धानिक्षेप. ॥ सचाय नामाचार.स्थापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च बोद्धव्य इति गाथाक्षरार्थः भावार्थं तु वक्ष्यति । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे अतो द्रव्याचारमाह ।

नामणधावणवासण, सिक्खावणसुकरणाविरोहीणि ।
दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि ॥ ८६ ॥

व्या०नामनधावनवासनशिक्षापनसुकरणाविरोधीनि द्रव्याणि यानि लोके तानि द्रव्याचार विजानीहि । अयमत्र भावार्थः । आचरणमाचारः द्रव्यस्याऽऽचारो द्रव्याचारः द्रव्यस्य यदाचरणं तेन २ प्रकारेण परिणमनमित्यर्थः । तत्र नामनमवनतिकरणमुच्यते । तत्प्रतिद्विविधं द्रव्य भवति । आचारवदनाचारवच्च तत्परिणामयुक्तमयुक्तं चेत्यर्थः । तत्र तिनिशलतादि आचारवत् एरंडाद्यनाचारवत् । एतदुक्त भवति । तिनिशलतादि आचरितभावं तेन रूपेण परिणमति नत्वेरंडादि । एवं सर्वत्र भावना कार्या । नवरमुदाहरणानि प्रदर्श्यंते । धावन प्रति हरिद्रारक्तवस्त्रमाचारवत् सुखेन प्रक्षालनात् कृमिरागरक्तमनाचारवत्क्षस्मनोऽपि रागानपगमात् वासन प्रति कवेलुकाद्याचारवत् सुखेन पाटलाकुसुमादिभिर्वास्यमानत्वात् । वैडूर्याद्यनाचारवदशक्यत्वात् शिक्षापनां प्रत्याचारवच्छुकसारिकादि सुखेन मानुषमाषायसंपादनात् अनाचारवच्छकुतादि तदनुपपत्तेः । सुकरण प्रत्याचारवत्सुवर्णादि सुखेन तस्य कटकादिकरणात् अनाचारवद्घटालोहादि तत्राऽन्यस्य तथाविधस्य कर्तुमशक्यत्वादिति । अविरोध प्रत्याचारवति गुडदध्यादीनि रसोत्कर्षाद्युपभोगगुणाच्च अनाचारवति तैलक्षीरादीनि विपर्ययादिति । एवम्भूतानि द्रव्याणि यानि लोके तान्येव तस्याचारस्य तद्द्रव्याव्यतिरेकाद्द्रव्याचारस्य च विवक्षितत्वात्तथा चरणपरिणामस्य भावत्वेऽपि गुणाभावाद्द्रव्याचारं विजानीहि अवबुध्यस्वेति गाथार्थः ॥

उक्तो द्रव्याचारः सांप्रतं भावाचारमाह ॥

दंसणनाणचरित्ते, तवआयारे य विरियायारे ।
एसो भावायारो, पंचविहो होइ नायव्वो ॥ ८७ ॥

व्या० दर्शनज्ञानचारित्रादिष्वाचारशब्दः प्रत्येकमभिसबध्यते दर्शनाचारो ज्ञानाचारश्चारित्राचारस्तपाचारश्च वीर्याचारइति । तत्र दर्शन सम्यग्दर्शनमुच्यते न चक्षुरादिदर्शन तच्च क्षायोपशमिकादिरूपत्वात् भाव एव । ततश्च तदाचरण दर्शनाचार इत्येव शेषेष्वापि योजनीयं भावार्थं तु वक्ष्याति एष भावाचार. पंचविधो भवति ज्ञातव्य इति गाथाक्षरार्थः । दश. अ. ३ विस्तरस्तु (णाणायार) शब्दे ॥

तयाच निशीथचूर्णो १ उ निक्षेपोयथा ॥

जं भणियं आयारे, चउव्विहो णिक्खेवो सो इमो ॥
णामंठवणायारो, एसो खलु आयारे णिक्खेवो चउव्विहो
होइ । णामणधोवणवासण, सिक्खावणसुकणाविरोधाणि ।
गाहा ॥

नामठवणाउ गयाउ दव्वायारो दुविहो आगमओ णोआगमओ यआगमओ जाणए अणुवउत्ते णोआगमओ जाणगसरीरभवियसरीर जाणगभवियसरीरवइरित्तो इमो णामणधोवण गाहा णामादिपएसु आयारो भण्णइ । तेण सिद्धिमिच्छतो य सूरी अणायारं पि पण्णवेति दीर्घ-ह्रस्वव्यपदेशवत् णामणं पडुच्च आयारमंतो तिणिसो अणायारमंतो एरंडो धोवण पडुच्च

कुसुमरागो आयारमंतो अणायारमतो किमिरागो। वास णाए कवेल्लुगादीणि आयारमताणि वइर अणायारमत। सुक सारहियादि। सिक्खावण पडुच्च आयारमंताणि वायसगोवगादि मगादि अणायारमताणि सुकरणे सुवण्णं आयारमतं घटाहोह अणायारमत। अविरोह पडुच्च पयसक्कराण आयारो दीहितल्लायविरोधे अणायारमता॥

दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि।

णाणे दंसणचरणे, तए विरिए य भावमायारो। गाहा।

गुणपर्यायान् द्रवतीति द्रव्य जाणत्ति अभिहितरूवाणि अहवा पताणि चेव जाणि भणियाणि लोक्यतेऽसति लोकः दृश्यते इत्यर्थ तस्मिन् लोके आधारभूते दव्वायार वियाणाहि एवमभिहितानभिहितेषु द्रव्येषु द्रव्याचारो विज्ञातव्य इति गतो दव्वायारो॥

इयाणि भावायारो भण्णइ सोऽय पचविहो इमो॥

णाणेदंसणगाहद्दं, पच्छद्धेण एएसिं पजेया गहिया॥

अट्ठट्ठट्ठुवालस, विरिय महाणी तु जातेसिं उ गाहा।

णाणायारो अट्ठविहो दसणायारो अट्ठविहो चरित्तायारो अट्ठविहो, तवायारो वारसविहो, वीरिआरो छत्तीसतिविहाणं, ते अ छत्तीसइ भेया एए चेव णाणादी मेलिया भवति। वीरिअमिति वीरिआयारो गहिओ अहावी भत्तीअण जं तेसिं णाणायाराईण स एव वीरिआयारो भवइ॥

आचारस्य भेदा॥

दुविहे आयारे पण्णत्ते तंजहा णाणायारे चेव नोणाणायारे चेव। नाणायारे दुविहे पएणत्ते तं जहा दंसणायारे चेव नोदंसणायारे चेव नो दंसणायारे दुविहे पएणत्ते तंजहा चरित्तायारे चेव नोचरित्तायारेचेव णो चरित्ताचारे दुविहे पएणत्ते तं जहा तवायारे चेव वीरियायारे चेव॥ स्था. २ ठा॥

सुगमचतुष्टय कण्ठ्यनवरं। आचरणमाचारो व्यवहारो ज्ञान श्रुतज्ञानन्तद्विषय आचारः कालादिरष्टविधो ज्ञानाचार॥

पंचविहे आयारे पएणत्ते तं जहा णाणायारे दसणायारेचरित्तायारे तवायारे वीरियायारे स्था. ठा. ५।

आचारेणैवात्मसंयमो भवति। उक्तंच। तस्याऽत्मा संयतो यो हि सदाचारे रत सदा। स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनो हितः॥१॥ इति॥ दश१ अ। तथा च धर्मसंग्रहे मूलगुणेभ्यःप्रायाणामपि ज्ञानाचाराणां मुख्यत्वख्यापनार्थं तत्पालनस्य स्वातन्त्र्येणाऽभिधित्सयाऽऽह॥

ज्ञानादिपंचाचाराणां, पालनं च यथाक्रमम्।

गच्छवासः कुसंसर्ग, त्यागोऽर्थपदचिंतनम्-ध०अधि ३

आचारशुद्धौ हि सान्वायानामपि कुलाद्युत्पत्तौ पुरुषस्य महात्म्यनुपपद्यते। यश्चोक्तं। न कुलं हीनवृत्तस्य, प्रमाणमिति मे मतिः। अन्त्येष्वपिहि जातानां, वृत्तमेव विशिष्यते, इति॥ध० १ अधि.॥

आचारभावत प्रशंसा यथा॥

आयारमायरंते, एगखेत्तेवि गोयमा! मुणिणो।

बारसमयं पि वसन्ते, गीयत्थाराहगे भणिए॥

आचारातिक्रमे दोषो यथा।

आयारंग अणंतगमपज्जवेहिं पएणविज्जमाणं समवधारियं तत्थ यं उत्तिसआयारे पएणविज्जत्ति तेसिं च णं जे केइ साहू वा साहुणी वा आएणयरमायारमइक्कमेज्जा से णं गारवेहिं उवम्मेयं अहएणहा समणुट्ठे वायरेज्जा पएणविज्जा वा तओ णं अणंतसंसारी जवेज्जा॥ महा. १ अ.।

॥ आचाररहितस्य कर्मोपादानमाचाराङ्गे यथा।

एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा जे आयारेण रमंति।

एतस्मिन्नपि प्रस्तुते वायुकाये अपिशब्दात् पृथिव्यादिषु समाश्रितमारम्भ ये कुर्वंति ते उपादीयन्ते कर्मणावध्यन्ते एकस्मिन् जीवनिकाये वधप्रवृत्ताशेषनिकायवधजनितेन कर्मणा वा वध्यन्ते किमिति येनहि एकजीवनिकायविषय आरंभः शेषजीवनिकायोपमर्दमन्तरेण कर्तुं शक्यते अतः त्वमेवं जानीहि अनेन श्रोतुः परामर्शः पृथिव्याद्यारंभिणः शेषकायारंभकर्मणाउपादीयमाना जानीहि के पुनःकर्मणाउपादीयन्ते इत्याह (जे आयारेत्ति) ये अविदित परमार्थाः पचविधे आचारे न रमन्ते न धृतिं कुर्वन्ति॥

आचा० १ श्रु० ७ उ०।

आचारस्वरूपमहानिशीथे यथा महा। १ अ १ उ.।

सेभयवं १ केरिसे आयारे कयरे वा सेणं अणायारे। गो० आयारे अणायारे णं तप्पडिपक्खा तस्य जेणं आणापडिक्खे वसे णं एगंते ण सव्वपयारेहिं णं सव्वहा। वज्जणिज्जे। जे य णं णो आणापडिक्के। से णं भंतेणं सव्वपयारेहिं णं। सव्वहा आयरणिज्जा। तहा णं गो० जंजाणेज्जा जहा णं एस णं सामन्नं विहारेज्जा से णं सव्वहा विवज्जेज्जा महा०॥

आचारप्रतिपादको ग्रंथोऽप्याचारः॥ सम०॥ न। आचारक्रियाभिधानादाचारः। आ म१ अ.॥ आचार आचारोपदेशहेतुत्वात्। दश ५। अ। आचाराभिधायकत्वादाचारः। स्था-१ ठा। द्वादशाङ्ग्या प्रथमेङ्गे, ध.र॥ अनु साध्वाचारप्रतिपादको ग्रंथ आचार इति। विशे०॥ एतद्वक्तव्यता (आयारंग) शब्दे। नवमपूर्वस्य प्रत्याख्यानस्य स्वनामख्याते विंशतिवस्तुषु तृतीये वस्तुनि च। पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूनो आयारनामधेज्जो। व्य०। १ उ.। उत्पादपूर्वादीनि चतुर्दश पूर्वाणि तत्र नवम पूर्वप्रत्याख्याननामक। तस्मिन् विंशतिर्वस्तूनि। वस्तूनि नाम अर्थाधिकार विशेषा स्तेषुविंशतौ वस्तुषु तृतीयमाचारनामधेय वस्त्विति व्य०। आच० १ आ ईषत् अपरिपूर्णा इत्यर्थस्याचारा हैरिका येते। आचाराआरकल्पा इत्यर्थो युक्तायुक्तविभागनिरूपणनिपुणा विनेया इति प्र १ श १ उ। दशा०॥

आयारउवगच्छण आचारोपगमन न. मायाकरणरूपे योगे, आयारोवगयशब्दे कथा। आव० ४ अ॥

आयारंग आचारंग॥ न द्वादशाङ्ग्याः प्रथमेऽङ्गे सम०।

तद्व्याख्या आचारांगटीकायाम्। इह हि रागद्वेषमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शरीरमानसानेकदुःखोपहतेन तदपनयनाय हेयोपादे यपदार्थपरिज्ञाने यत्नो विधेय। स च न विशिष्टविवेकमृते। विशिष्टविवेकश्च न प्राप्तदोषाति-

शायबलातोपदेशमन्तरेण आसंश्च रागद्वेषमोहादीनां दोषाणा मात्यन्तिकप्रक्षयात् । स च्चार्हत एवातः प्रारभ्यते ऽर्हद्वचनानुयोगः । सच चतुर्धा तद्यथा धर्मकथानुयोगो, गणितानुयोगो, । द्रव्यानुयोगश्चरणकरणानुयोगश्चेति । तत्र धर्मकथानुयोग उत्तराध्ययनादिकः गणितानुयोगः सूर्यप्रज्ञप्त्यादिकः । द्रव्यानुयोग स्सम्मत्यादिकश्चरणकरणानुयोग आचारादिकः स च प्रधानतमः शेषाणां तदर्थत्वात्तदुक्तं चरणपरिवत्तिं हेउं, जे णयरे तिण्णि अणुओगत्ति तया चरणपडिवत्तिहेउं, धम्मकहा कालदिक्खमादीया । दविए दंसणसोही, दंसणशुद्धस्सचरणं तु । गणधरैरप्य त एव तस्यैवादौ प्रणयनमकार्यतस्तत्प्रतिपादक आचारांगस्यानुयोगः समारभ्यते । स च परमपदप्राप्तिहेतुत्वा त्सविघ्नस्तदुक्तं । " श्रेयांसिबहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः तस्मादशेषप्रत्यूहोपशमनायमङ्गलममिधेयं तच्चादिमध्यावसानभेदात्त्रिविध तत्रादिमङ्गल्न सुयमे आउसं तेणं भगवया एवमक्खाय " मित्यादि अत्र च भगवद्वचनानुवादो मङ्गलं मथवा श्रुतमिति श्रुतं ज्ञानं तच्च नन्धतिपातित्वान्मङ्गलमित्येतच्चाविघ्नेनाभिलषितशास्त्रार्थपार गमनकारणं मध्यमङ्गलं लोकसाराध्ययनपञ्चमोद्देशकेसूत्र से जहा के वि हरए पडिपुन्ने तिट्ठइ समं । सि भोम्मे उवसम्म एसा रक्खमाणेत्यादि अत्र चार्हद्गुणैराचार्य गुणोत्कीर्तनमाचार्याश्च पञ्चनमस्कारान्तः पातित्वान्मङ्गलमित्येतच्चाभिलषितशास्त्रार्थस्थिरीकरणार्थं अवसानमङ्गलं नवमाध्ययने ऽवसानसूत्र अभि निव्वुडे अमाई आ वकहाए भयव समियासी अत्राभिनिर्वृतग्रहणं संसारमहातरुकन्दोच्छेदविप्रतिपत्त्या ध्यानकारित्वान्मङ्गलमित्येतच्चशिष्यप्रति शिष्यसन्तानाव्यच्छेदार्थं मित्यध्ययनगतसूत्रं मङ्गलत्वप्रतिपादने नैवाध्ययनानामपि मङ्गलत्वमुक्तमेवेति न प्रतन्यते सर्वमेववा मङ्गल ज्ञानरूपत्वा त्तस्य निर्जरार्थत्वेनच तस्याविप्रतिपत्ति र्यदुक्तं । (जं अन्नाणी कम्म खवे इबहुयाहिं वासकोडीहिं तन्नाणीतिहिं गुत्ता खवेइ ऊसासमित्तेण) मङ्गलत्वनि रुक्त च मां गालयत्यपनयति भवादिति मङ्गलं मासूद्गलो विघ्नो गालो वा नाशः शास्त्रस्येति मङ्गल मित्यादि शेषं त्वाक्षेपपरिहारादिक मन्यतोवसेयमिति । साम्प्रतमाचारानुयोगः प्रारभ्यते आचारस्यानुयोगो ऽर्थकथनमाचारानुयोगः सूत्रादनु पश्चादर्थस्य योगोऽनुयोगः । साम्प्रतमाचाङ्गस्योपक्रमादीनामनुयोगद्वाराणां यथायोग किञ्चिद्विभणिषु रशेषप्रत्यूहोपशमनाय मङ्गलार्थं प्रेक्षापूर्वकारिणां च प्रवृत्त्यर्थं सम्बन्धाभिधेय प्रयो जनप्रति पादिकानि युक्तिकारो गाथामाह ॥

वन्दित्तु सव्व सिद्धे, जिणेय अणु ओगदायएसव्वे ।
आयारस्स भगवओ निज्जुत्तिं कित्तयिस्सामि ॥

तत्रवन्दित्वा सर्वसिद्धान् जिनांश्चेति मङ्गलवचनं अनुयोगदायकानित्येतच्च सम्बन्धवचनमपि आचारस्येत्यभिधेयवचनं निर्युक्तिं करिष्ये इति प्रयोजन कथनमितितात्पर्यार्थः । अवयवार्थस्तु वन्दित्वेति वन्दिअभिवा दनस्तुत्यो रित्यर्थद्वयाभिधायिधातुस्तत्राभि वादन कायेन । स्तुतिर्वाचाऽनयोश्चमनः पूर्वकत्वा त्करणत्रयं णपि नमस्कार आवेदितो भवति । सितं ध्यानमेषामिति सिद्धाः प्रक्षीणाशेषकर्माणः सर्वेच ते सिद्धाश्च सर्वसिद्धाः सर्वग्रहणं तीर्थातीर्थानन्तरपरंपरादिसिद्धप्रतिपादकं तान्वन्दित्वेति सम्बन्धः सर्वत्र योज्यः । रागद्वेषजितो जिनास्तीर्थं कृतस्तानपि सर्वानतीतानागतवर्तमानसर्वक्षेत्र गतानिति अनुयोगदायिनः सुधर्मस्वामि प्रभृतयो यावदस्य भगवतो निर्युक्ति कारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्या चार्योऽत स्तान् सर्वानित्यनेन चाम्नाय कथनेन स्वमनीषिकाव्युदासः कृतो भवति वन्दित्वेतिकृत्वा प्रत्ययस्योत्तरक्रिया सव्यपेक्षत्वा दुत्तरक्रियामाह आचारस्य यथार्थनाम्नः भगवत इति अर्थधर्मप्रयत्नगुणभाजस्तस्यैव विधस्य निश्चये नार्थप्रतिपादिका युक्ति र्निर्युक्ति स्तां कीर्तयिष्ये अभिधास्ये इति अन्तस्तत्वेन निष्पन्नां निर्युक्तिं बहिस्तत्वेन प्रकाश यिष्यामीत्यर्थः यथा प्रतिज्ञातमेव विभणिषु र्निक्षेपार्हाणि पदानि तावत् सुहृद्भूत्वाचार्यः सपीक्ष्य कथयति ।

आयार अंगसुयखंध, बंभचरणे तहेव पसत्थेय ।
परिणाए निक्खेवो, तह दिसाणं च ॥ २ ॥

न० १ अ. १ उ. । आयारेत्यादि आचार अङ्गश्रुतस्कन्ध ब्रह्मचरण शस्त्रपरिज्ञा संज्ञा दिशा मित्येतेषां निक्षेपः । कर्तव्यइति तत्राचार ब्रह्मचरण शस्त्र परिज्ञा शब्दानां निष्पन्ने निक्षेपे उत्पत्ख्या अङ्गश्रुत स्कन्ध शब्दा ओघनिष्पन्नसंज्ञादि सूत्रा लापक निष्पन्ने निक्षेपे उत्पत्स्या इति एतेषां मध्ये कस्य कति विधो निक्षेप इत्यत आह ॥

" चरणदिसावज्जाणं, निक्खेवो चउक्कओय नायव्वो ।
चरणमि छव्विहो खलु, सत्तविहो होइ ओदिसाणं ॥

इ. । आचा० १ श्र.१ ऊ० । चरणादिवर्जानां चतुर्विधो निक्षेपः चरणस्य षड्विधः दिक्शब्दस्य सप्तविधो निक्षेपः अत्र च क्षेत्रकालादिकं यथा सम्भवमायोज्य नामादिचतुष्टय सर्वत्राव्यभिचार्यस्थया दर्शयितुमाह आचा० १ श्र० १ ऊ० ।

जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थवि न जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥

जत्थयजमित्यादि यत्र चरणदिक्शब्दादौ य निक्षेपं क्षेत्रकालादिक जानीयात् तत्र निरवशेष निक्षिपेयत्र तु निरवशेषं न जानीयादाचाराङ्गादौ तत्रापि नामस्थापना द्रव्यभावचतुष्कात्मकं निक्षेपानिक्षिपेदित्युपदेश इति गाथार्थः । प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्यार्थस्य लाघवमिच्छता निर्युक्तिकारेण गाथाभ्यधायि ।

आयारे अंगंमि य, पुव्व दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो ।
नवरं पुण णाणत्तं, भावायारंमि तं वोच्छं ॥ ५ ॥

आयारे इत्यादि क्षुल्लिकाचारकथायामाचारस्यपूर्वोद्दिष्टो निक्षेपोयस्य तु चतुरङ्गाध्ययनं यच्चात्र विशेषः सोऽभिधीयते भावाचारविषय इति ॥

यथा प्रतिज्ञातमाह ॥

तस्सेगट्ठं पवत्तण, पढमंगगणी तहेव परिमाणे ।
समोयारे सारेय, सत्तहिं दारेहिं नाणत्तं ॥

तस्येत्यादि गाथा तस्य भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्या केन प्रकारेण प्रवृत्तिः प्रवर्तनमाचारस्याभूत्तच्च वाच्यं तथा प्रथमाङ्गता च वाच्या तथागणयाचार्यस्तस्य कतिथिं स्थानमिदमिति च वाच्यं परिमाणमियत्ता वाच्या तथा कि क समवतारस्येतीत्येतच्चवाच्य तथा सारश्च वाच्य इत्येभिः द्वारैः पूर्वसाङ्गाचारादस्य भेदो नानात्वमिति पिण्डार्थः । अवयवार्थस्तु निर्युक्तिकृद्देवाभिधातुमाह ।

आयारो आचालो आगालो आगरो य आसंसो ।
आगरिसो अंगं चिय आइन्ना जाइया मोक्खो ॥

आचा० १ श्र० १ चू० । आचर्यते आसेव्यत इत्याचारः स च नामादि श्चतुर्धा तत्र ज्ञशरीर भव्यशरीर तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचारो ऽनया गाथयानुसर्तव्यः "णामणधोयणवासण सिक्खावणसुकरणाविरोहीणि दव्वाणि जाणि लोए दव्वायार वियाणाहि" भावाचारो द्विधा लौकिको लोकोत्तरश्च तत्र लौकिकाः पार्षभिकादयः पञ्चरात्रादिकं येऽकुर्वन्ति ते विज्ञेयाः लोकोत्तरस्तु पञ्चधा ज्ञानादिकः आचारशब्दे दर्शितः एव पञ्चविध आचार एतत्प्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थविशेषो भावाचारः । एवं सर्वत्र योज्यम् । इदानीमाचालः आचाल्यते ऽनेनेति निबिडं कर्मादीत्याचालः सोपि चतुर्धा व्यतिरिक्तो वायुः भावाचालः स्वयमेव ज्ञानादिः पञ्चधा इदानीमागालः आगलनमागालः समप्रदेशावस्थान सोपि चतुर्धाव्यतिरिक्त उदकादेर्निम्नप्रदेशावस्थान भावागालो ज्ञानादिक एकस्यात्मनि रागादिरहिते ऽवस्थानमिति कृत्वा । इदानीमाकारः आगत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकारो नामादि सूत्रव्यतिरिक्तो रजतादि र्भावाकारोऽप्ययमेव ज्ञानादिस्तत्प्रतिपादकश्चायमेवग्रन्थो निर्जरादिरत्नानामत्रप्रभवात् । इदानीमाश्वासः आश्वसत्यस्मिन्निन्त्याश्वासो नामादिसूत्रव्यतिरिक्तो यानपात्रद्वीपादिर्भावाश्वासो ज्ञानादिरेव । इदानीमादर्शः आदृश्यते अस्मिन्नित्यादर्शो नामादिव्यतिरिक्तो दर्पणः भावादर्श उक्तएवं यतोऽस्मिन्निति कर्तव्यता दृश्यते । इदानीमङ्गं अज्यते व्यक्तीक्रियते ऽस्मिन्नित्यङ्ग नामाद्येव सूत्रव्यतिरिक्तं शिरोबाह्वादि भावाङ्गमेवाचारः । इदानीमाचीर्णं मासेवितं तच्च नामादि षोढा तत्र व्यतिरिक्तं द्रव्याचीर्णं सिंहादेस्तृणादिपरिहारेण पिशितभक्षणं क्षेत्राचीर्णं बाल्हीकेषुसक्तवः कोंकणेषुपेयाः कालाचीर्णं त्विदं ।

सरसीचन्दणपंको, अग्घइ सरसा य गन्धकासादी ।
पाडलिसिरीसमल्लिय, पियाइं काले निदाहम्मि ॥

भावाचीर्णन्तु ज्ञानादि पञ्चकं तत्प्रतिपादकश्चाचारग्रन्थः । इदानीमाजातिराजायन्ते तस्यामित्याजाति सापि चतुर्धा व्यतिरिक्ता मनुष्योदिजातिः भावाजातिस्तु ज्ञानाद्याचार प्रसूतिरयमेव ग्रन्थ इति । इदानीमामोक्षः आमुच्यन्ते ऽस्मिन्नित्यामोक्षः स वा मोक्षो नामादि स्तत्र व्यतिरिक्तो निगडादेः भावामोक्षःकर्मनिगडो निःशेषमेतत् साधकश्चायमेवाचार इति एते किञ्चिद्विशेषादेकमेवार्थं विशेषन्तः प्रवर्तन्तइत्येकार्थिकाः शक्रपुरन्दरादिवत् एकार्थाभिधायिनां च बन्ध श्रोति बन्धानुलोम्यादि प्रतिपत्त्यर्थमनुष्टुबद्धं चर्क च ॥

बन्धाणुलोमया खलु, सत्थंमि य लाघवं असम्मोहो ।
सन्तगुणदीवणा वि य, एगहं गुणा हवन्ते ॥

स इदानीं प्रवर्तनाचार कदा पुनर्भगवताचारः प्रणीत इत्यत आह ॥

दारं सव्वेसिं आयारो, तित्थस्स पवत्तणो पढमयाए ।
सेसाइं अंगाइं, एकारसआणुपुव्वीए ॥

आ.१श्र १उ सव्वेसिमित्यादि सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थप्रवृत्त्यादा वाचारार्थ प्रथमतया भूतवति भविष्यति च ततः शेषांगार्थं इति गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया ग्रन्थन्तीति इदानीं प्रथमत्वे हेतुमाह ॥

आयारो अंगाणं, पढमं अंगं दुवालसएहंपि ।
एत्थ य मोक्खोवा ओ, एस य सारो पवयणस्स ॥

अयमाचारो द्वादशानाम प्यङ्गानां प्रथम मङ्गमेतस्य कारण माह । यतोऽत्र मोक्षोपायश्चरण करण निगद्यते एषच प्रवचनस्य सार प्रधान मोक्षहेतुप्रतिपादना दत्र च स्थितस्य शेषांगाध्ययनयोग्यत्वादस्य प्रथमतयोपन्यास इति । इदानीं गणि द्वारसाघुर्वा गणिगुणगणो वा गणः सोऽस्यास्तीति गणी आचारायत्तं च गणित्वमिति प्रदर्शयन्नाह ॥ आ. १ श्र. १ उ. ।

आयारंमि अहीए, जं नाउ होई समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो, वुच्चइ पढमं गणि ट्ठाणं ॥ १० ॥

(आयारम्मीत्यादि) यस्मादाचाराध्ययनात् क्षान्त्यादिक श्चरण करणात्मको वा श्रमण धर्मपरिज्ञातो भवति तस्मात्सर्वेषां गणित्वकारणा नामाचारधरत्व प्रथममाद्य प्रधानं वा गणिस्थान मिति ।

इदानीं परिमाण किं पुनरस्याध्ययनत पदतश्च परिमाण मित्यत आह ।

नव बंभचेरमइओ, अट्ठारस पदसहस्सिओ वेओ ।
हवय स पञ्च चूलो, बहु बहुतर ओ पयग्गेणं ॥

१ । श्र. १ उ. । (णवेत्यादि) तत्राध्ययनतो नवब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मको वेद इति विदन्त्यस्माद्धेयोपादेय पदार्थानिति वेदः क्षायोपशमिकभाववर्त्ययमाचारः सह पञ्च भिश्चूलाभि र्वर्तत इति स पञ्चचूलश्च भवति । उक्त शेषानुवादिनी चूला तत्र प्रथम पिंडे सण सेज्जरिया भासज्जा पायवत्थया पग्गा उग्गह पडिमत्ति । सप्ताध्ययनात्मिका द्वितीया सप्तसप्तिकया तृतीया भावना चतुर्थी विमुक्तिः पञ्चमी निशीथाध्ययन बहुबहुयरो (पदग्गेणत्ति) तत्र चतुश्चूलिकात्मक द्वितीयश्रुतस्कन्धप्रक्षेपाद्बहुः निशीथ पञ्चमचूलिका प्रक्षेपा द्बहुतरोऽनन्तगमं पर्यायात्मकविवक्षया बहुतमश्च पदाग्रेण प्रमाणेन भवतीति इदानी मुपक्रमांतर्गत समवतारद्वारं तत्रतान्चूलानवसु ब्रह्मचर्याध्ययनेष्ववतरन्तीति दर्शयितुमाह ॥

आयारग्गाणत्थो, बंभचेरेसु सो समोयरइ ।
सो वि य सत्थपरिणाए, पिंडियत्थो समोयरइ ॥ १२ ॥
सत्थपरिण्णायत्थो, छस्सु, वि काएसु समोयरइ ॥
छज्जीवणिया अत्थो, पंच, सु विवएसु उ यरइ ॥ १३ ॥
पंचय मइव्वयाइ, समोयरंतेउ सव्व दव्वे सु ॥
सव्वेसिं पज्जवाणं, अणन्तभागंमि उयरंति ॥ १४ ॥

इति । १ अ० उ० १ आयारे इत्यादि । सव्वे इत्यादि । पचेत्यादि । उक्तानामां नवरमाचाराग्राणि चूलिका द्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि पर्याया अगुरुलघ्वादय स्तेषामनन्तभागे महाव्रतानामवतार इति ॥ एव पुनर्महाव्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतार इति नताह ॥

छज्जीवणिया पढमे, बीयमिवमे तिन्नि एय मन्नव्वाइं ।
मे सा महव्वया खलु, ते दिक्केमेण दव्वाणं ॥ १५ ॥

छज्जीवणिया इत्यादि । स्पष्टा कथ पुनर्व्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतारो न सर्वपर्यायेष्विन्युच्यते येनानिमायेद येदितदा म

सर्वाकाशप्रदेशासंख्याया अनन्तगुणं सर्वनभः प्रदेशवर्गीकृतप्रमाणमित्यर्थः । ततोद्वितीयादिस्थानैरसंख्यातगच्छगतै रनन्तभागादिकया वृद्धया षट्स्थानकानामसंख्येयस्थानगता श्रेणिर्भवति एवञ्चैकमपि स्थानं सर्वपर्यायान्वितं न शक्यते परिच्छेत्तुं किं पुनः सर्वाण्यपीत्यतः केऽन्ये पर्याया येषामनन्तभागे व्रतानि वर्तरन्निति स्यान्मतिरन्ये केवलगम्या इतीदमुक्तं भवति केवलगम्या प्रज्ञापनीयपर्यायाणामपि तत्र प्रक्षेपाद्बहुत्वमेवमपि ज्ञानज्ञेयास्तुल्यत्वात्तुल्या एव नानन्तगुणा इति अत्राचार्योऽह । यासौ संयमस्थानश्रेणिर्निरूपिता सा सर्वा चारित्रपर्यायैर्ज्ञाने दर्शनपर्यायसहिते तत्प्रमाणा सर्वाकाशप्रदेशानन्तगुणा इह पुनश्चारित्रमात्रोपयोगित्वा त्पर्याया नन्तभागवृत्तित्व मित्यदोषः

इदानीं सारद्वार कः कस्यसार इत्याह ॥

अंगाणं किं सारो, आयारो तस्स किं हवइ सारो ।
अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणासारो ॥ १६ ॥
सारोपरूवणाए, चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ॥
निव्वाणस्स उ सारो, अव्वाबाहं जिणो वेंति ॥

आ. १ अ. १ उ. ॥ अंगाणमित्यादि स्पष्टा केवलमनुयोगार्थो व्याख्यानभूतोऽर्थस्तस्य प्ररूपणा यथा स्वविनियोग इति । अन्यच्च सारो इत्यादि स्पष्टैव । एतेषांचान्वर्थाभि धानानि दर्शयितुमाह ॥

सत्थपरिण्णा लोग, विजओ य सीउसणिज्जसम्मत्तं ॥
तह लोगसारनामं, वुत्तं तह महापरिण्णा य ॥ ३१ ॥
अट्ठमए य विमोक्खा, उवहाण सुयं च नवमगं जाणियं ।
इच्चेसो आयारो, आयारग्गाणि सेसाणि ॥ ३२ ॥

सत्थ इत्यादि अट्ठमए इत्यादि स्पष्टे केवलमित्येष नवाध्ययनरूप आचारो द्वितीयश्रुतस्कन्धाध्ययनानि शेषाण्याचाराग्राणीति साम्प्रतमुपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च तत्राद्यमाह ॥

जियसंजमो य लोगो, जह बज्झइ जह य तंपजहियव्वं ।
सुहदुक्खतितिक्खा वि य, संमत्तं लोगसारो य ॥ ३३ ॥
निस्संगया य छट्ठे, मोहसमुत्था परीसहोवसग्गा ।
निज्जाणं अट्ठमए नवमेय जिणेण पयंति ॥ ३४ ॥

जिअइत्यादि णिस्सग इत्यादि तत्र शस्त्र परिज्ञाया मयमर्थाधिकारो (जिय संजमोत्ति) जीवेषुसंयमा जीवसंयमास्तेषु हिंसादिपरिहारः स च जीवास्तित्वपरिज्ञाने सति भवत्यतो जीवास्तित्व विरति प्रतिपादनमत्रार्था धिकारस्लोकविजये तु लोको जहवज्झइ जहायत्त पजहियव्वं ति विजितभावलोकेन संयमस्थितेन लोको यथा बध्यते अष्टविधेन कर्मणा यथा च तत्प्रहातव्यं तथा ज्ञातव्य मित्ययमर्थाधिकार स्तृतीये त्वयं संयमस्थितेन जितकषायेणानु कूलप्रतिकूलोपसर्गनिपातेसुखदुःखः तितिक्षावि धेयेति । चतुर्थे त्वयं प्राक्तनाध्य यनार्थसम्पन्नेन तापसादिकष्टतपः सेविनामष्टगुणै श्वर्यमुद्वीक्ष्यापि दृढसम्यक्त्वेन भवितव्यमिति पंचमे त्वयं चतुरध्ययनार्थस्थितेनासारपरित्यागेन लोकसार रत्नत्रयो युक्तेन भाव्यमिति । षष्ठे त्वयं प्रागुक्तगुणयुक्तेन निस्संगता युक्तेनाप्रतिबद्धेन भवितव्य । सप्तमेत्वयं संयमादि गुणयुक्तस्य कदाचिन्मोह समुत्थाः परीषहोपसर्गावा । प्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्याः । अष्टमे त्वयं निर्याणमत क्रिया सा सर्वगुणयुक्तेन सम्यग्विधेयेति । नवमेयं अथाध्ययनप्रतिपादितोऽर्थस्सम्यगेवम् वर्धमानस्वामिना विहित इति तत्प्रदर्शन च शेषसाधूनामुत्साहार्थं । तदुक्तम्

तित्थयरो च उरणाणी, सुरमहिओसि सिज्झियव्वय
धुवंमि । अणिगूहियबलविरिओ, सव्वत्थामे सुउज्जमइ ॥
किं पुण अवसेसे हिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होंति
न उज्जमियव्व स पच्चवायंमि माणुस्से आचा. १ अ० १ उ. ॥

तथा च समवायांगे आचारस्य श्रुतस्कधद्वय रूपस्य प्रथमांगस्य चूलिका सर्वान्तिममध्ययन विमुक्त्यभिधान माचारचूलिका तद्वर्जानां तत्राचारे प्रथम श्रुतस्कधे नवाध्ययनानि द्वितीये षोडशनिशीथाध्ययनस्य प्रस्थानान्तरत्वेनेहानाश्रयणात् । षोडशानां मध्ये एकस्या चार चूलिकेति परिहृतत्वात् शेषाणां पञ्चदश सम० ॥ ५७ स ॥

आयारस्स णं भगवओ सचूलिआयगस्स पणवीसं अज्झयणा प० तं० सत्थपरिण्णा लोगविजओ सीओसणीअसम्मत्तं । आवन्ति धुयविमोहउवहाणसुयं महपरिण्णा ॥ १ ॥ पिंडेसणसिज्जिरिआ, भासज्झयणा य वत्थपएसा । उग्गहपडिमा सत्तिकसत्तया भावणविमुत्ती ॥ २ ॥ निसीहज्झयणं पण वीस इमं ॥

सम० ॥ २५ ॥ आयारस्स णं भगवओ सचूलियागस्स पंचासीइउद्देसणकाला प० टी० तत्राचारस्य प्रथमांगस्य नवाध्ययनात्मकप्रथमश्रुतस्कन्धरूपस्य सचूलियागस्स इति द्वितीये हि तस्य श्रुतस्कन्धे पञ्चचूलिकास्तासु च पञ्चमी निशीथाख्येह न गृह्यते भिन्नप्रस्थानरूपत्वात् तस्यास्तदन्यास्ततस्तासु च प्रथमद्वितीये सप्तसप्ताध्ययनात्मिके तृतीयचतुर्थ्यौ चैकैकाध्ययनात्मिके तदेव सह चूलिकाभिर्वर्तत इति सचूलिकाकस्तस्य पञ्चाशीतिरुद्देशनकाला भवतीति प्रत्यध्ययन उद्देशनकालानामेतावत्सङ्ख्यत्वात्तथाहि प्रथमश्रुतस्कन्धे नवस्वध्ययनेषु क्रमेण सप्तषट् चत्वारश्चत्वारः षट् पञ्च अष्टचत्वारः सप्त चेति द्वितीयश्रुतस्कन्धेषु तु प्रथमचूलिकायां सप्तस्वध्ययनेषु क्रमेण एकादश त्रयस्त्रय· चतुर्षु द्वौ द्वौ द्वितीयायां सप्तैकसराणि अध्यनानि एव तृतीयैकाध्ययनात्मिका एव चतुर्थ्यपीति सर्वमीलने पञ्चाशीतिरिति तथाचनन्द्यध्ययने ॥

सेकिंतं आयारे आयारे णं समणाणं निग्गंथाणं आयारे गोयरविणयविणयइयसिक्खाभासा अभासा चरणकरणजायामायावित्तीओ आघविज्जंति । से समासओ पञ्चविहे पणत्ते तं जहा नाणायारे दंसणायारे चरित्तायारे तवायारे वीरियायारे आयारेणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ स णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुयखंधा पणवीसं अज्झयणा पञ्चासीइं उद्देसणकाला पञ्चासीइं समुद्देसणकाला अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंतागमा अणंतापज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाया जिण

पन्नता नावा आघविज्जंति पन्नविज्जन्ति परूविज्जंति दंसिज्जन्ति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आयासे एवं नायासे एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ सेत्तं आयारे ॥

सेकिंतमित्यादि ।अथ किं तत् आचार इत्यादि अथवा कोऽय माचारः आचार्य आह (आयारेण मित्यादि) आचरणमाचारः आचर्यते इति वा आचारः पूर्वपुरुषाचरितो ज्ञानाद्यासेवन विधिरित्यर्थः । तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्याचार एव उच्यते अनेन चाचारेण करणभूतेनाथवाचारे आचारभूते णमिति वाक्याल कारे श्रमणानां प्राङ्निरूपित शब्दार्थानां निर्ग्रन्थानां बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थरहितानां आह । श्रमणा निर्ग्रन्था एव भवंति । तत्किमर्थं निर्ग्रन्थानामिति विशेषणमुच्यते । शाक्यादिव्यवच्छेदार्थं शाक्यादयोऽपीह लोके श्रमणा व्यपदिश्यते तदुक्तं (निग्गन्थ-सक्कतावसगे रुयआजीवपञ्चहा समणा इति) तेषामाचारा व्याख्यायते । तत्राऽऽचारो ज्ञानाऽऽचाराद्यनेकभेद भिन्नो गोचरो भिक्षाग्रहणविधिलक्षणः विनयो ज्ञानादि विनयः वैनयिक विनयफल कर्मक्षयादि । शिक्षाग्रहण शिक्षा आसेवनाशिक्षा च विनयशिक्षेति चूर्णिकृत् । तत्र विनेयाः शिष्यास्तथा भाषा सत्या असत्या मृषा च अभाषा मृषा सत्यामृषा च चरण व्रतादिकरण पिंडविशुद्ध्यादि उक्तंच (वयसमणधम्मसजम, वेयावच्च च बंभगुत्तिओ ।नाणा इति यतव कोह,निग्गहाई चरणमेयतु ॥ १ ॥ पिंडविसोहि समिई, भावणपडिमा इइंदियनिरोहो । पडिलेहणगुत्तीओ । अभिग्गहो चेव करणं तु ॥ २ ॥ (जाया माया वित्तिओत्ति) यात्रा सयमयात्रा मात्रा तदर्थ मेव परिमिताहारग्रहण वृत्तिर्विविधैरभिग्रहविशेषैर्वर्तनं । आचारश्च गोचरश्चेत्यादि द्वन्द्वान्ता आचारगोचरविनयवैनयिक शिक्षाभाषाणा माचरणकरणयात्रामात्रावृत्तयः आख्यायते इह यत्र क्वचिदन्यतरोपादानेऽन्यतरगतार्थाभिधान तत्सर्वं तत् प्राधान्यख्यापनार्थमवसेयं (से समासओ) इत्यादि स आचारः समासतः संक्षेपतः पंचविधः प्रज्ञप्तः तद्यथा (नाणाचारो इत्यादि तत्र आयारेण मित्यादि आचारे णमिति वाक्यालङ्कारे परित्ता परिमिता ततः प्रज्ञापकं पाठकं चाधिकृत्याद्यन्तोप लब्धेरथवा उत्सर्पिणीमवसर्पिणीं वा प्रतीत्य परित्ता अनन्ता न भवति (आहअन्तो घत्तंमणाओ तणाओ अहवा ओसप्पिणी मुसप्पिणीकालं पडुच्च परित्तातीयाणागयसव्वद्ध च पडुच्च अणता)इति तथा संख्येयानि अनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि तानि ह्यध्ययनमध्ययन प्रति वर्तंते अध्ययनानि च सख्येयानीति कृत्वा तथा सख्येया वेढा वेढो नाम छन्दोविशेषः । तथाच सख्येयाः श्लोकाः प्रतीताः तथा सख्येया निर्युक्तयस्तथा सख्येयाः प्रतिपत्तयः प्रतिपत्तयो नाम द्रव्यादिपदार्थाभ्युपगमाः प्रतिमाद्यभिग्रहविशेषा वा ताः सूत्रनिबद्धाः संख्येयाः ।आह च चूर्णिकृत् । "दव्वाइपयत्थपुव्वगमा, पडिमादभिग्गह विसेसा । पडिवत्ती उत्ते समासतो सुत्तपडिबद्धासखेज्जत्ति " (सेणमित्यादि) स आचारो णमिति वाक्यालङ्कारे अगार्थतया अगार्थत्वेनार्थग्रहण परलोकचिन्तायां सूत्रादर्थस्य गरीयस्त्वख्यापनार्थं अथवा सूत्रार्थोभयरूप आचार इति ख्यापनार्थं प्रथममग एकारांतता सर्वत्र मागधभाषालक्षणानुसरणतो वेदितव्या स्थापनामधिकृत्य प्रथममग मित्यर्थः ॥ तथा द्वौ श्रुतस्कन्धौ अध्ययनसमुदायरूपौ पञ्चविंशतिरध्ययनानि । तद्यथा ॥

सत्थपरिन्ना लोगविजओ, सीओसणिज्जं सम्मत्तं ।
आवंतिधुय विमोहो, महापरिन्नोवहाणसुयं ॥

एतानि नवाध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कन्धे "पिंडेसणासेज्जिरिया, भासज्जाया य वत्थपाएसा।उग्गहपडिमासत्ता,सत्तिक्कया यभावणविमुत्ती ॥ १ ॥ अत्र (सेज्जिरियत्ति) शय्याध्ययनमीर्याध्ययनं च (वत्थपाएसत्ति)वस्त्रैषणाध्ययनं पात्रैषणाध्ययनं च अमूनि षोडशाध्ययनानि द्वितीयश्रुतस्कन्धे एव मेतानि निशीथवर्ज्जानि पञ्चविंशतिरध्ययनानि भवति । तथा पञ्चाशीतिरुद्देशनकालाः कथमिति चेदुच्यते ॥ इहाऽङ्गस्य श्रुतस्कन्धस्याध्ययनस्योद्देशकस्य चैक एवोद्देशनकालः । एवं शस्त्रपरिज्ञायां सप्तोद्देशनकालाः ॥ लोकविजये षट् ॥ शीतोष्णाध्ययने चत्वारः ॥ सम्यक्त्वाध्ययने चत्वारः लोकसाराध्ययने षट् ॥ धूताध्ययने पञ्च ॥ विमोहाध्ययनेऽष्टौ ॥ महापरिज्ञायां सप्त ॥ उपधानश्रुते चत्वारः ॥ पिंडैषणाध्ययने एकादश ॥ शय्यैषणाध्ययने त्रयः ॥ वस्त्रैषणाध्ययने द्वौ ॥ अवग्रहप्रतिमाध्ययने द्वौ ॥ सप्तसप्ततिकाध्ययनेषु भावनायामेको विमुक्तावेकश्च ॥ एवमेते सर्वेऽपि पिंडिताः पञ्चाशीतिर्भवन्ति ॥ अत्र सग्रहगाथा ॥

सत्त य छच्च उ चउरो, पंचअट्ठेवसत्तचउरोय ।
एक्कारसतिन्नि य दो दो, दो दो दो सत्तेक्क एक्को य ॥१ ॥

एव समुद्देशनकाला अपि पञ्चाशीतिर्भावनीयाः । तथा पदाग्रेण पदपरिमाणे नाष्टादश पदसहस्राणि इह यथार्थोपलब्धिः तत्पद अत्र पर आह । यद्याचारे द्वौ श्रुतस्कन्धौ पञ्चविंशतिरध्ययनानि पदाग्रेण चाष्टादश पदसहस्राणि तर्हि यद्भणित " नव बम्भचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओवेओ " इति तद्विरुध्यते । अत्र हि नवब्रह्मचर्याध्ययनमात्र एवाष्टादशपदसहस्रप्रमाण आचार उक्तोऽस्मिस्त्वध्ययने श्रुतस्कन्धद्वयात्मकः पञ्चविंशत्यध्ययनरूपोऽष्टादशपदसहस्रप्रमाण इति । ततः कथ न परस्पर विरोधः तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् इह द्वौ श्रुतस्कन्धौ पञ्चविंशतिरध्ययनानि एतत्समग्रस्याऽऽचारस्य परिमाणं अष्टादशपदसहस्राणि पुनः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नवब्रह्मचर्याध्ययनमयस्य विचित्रार्थनिबद्धानि हि सूत्राणि भवन्ति अतएव चैषां सम्यगर्थावगमो गुरूपदेशतो भवति नान्यथा अत्राह चूर्णिकृत्" दोसुयक्खन्धा पणवीसं अज्झयणाणि एयं आयारगा सहियस्स आयारस्स पमाण भणिय अट्ठारसपयसहस्सा पुण पढमसुयखंधस्स नवबम्भचेरमइयस्स पमाण विचित्त अत्थनिबद्धाणि सुत्ताणि य गुरूवएस ओसि अत्थो जाणियव्वोत्ति,,तथा सख्येयान्यक्षराणि पदानां संख्येयत्वात् तथा (अणता गमा) इति इह गमा अर्थगमा गृह्यते । अर्थगमा नाम अर्थपरिच्छेदाः ते चानन्ताः एकस्मादेव सूत्रादतिशायि मतिमेधादिगुणानां तत्तद्धर्मविशिष्टानां तत्तद्धर्मात्मवस्तुप्रतिपत्तिभावात् ॥ एतच्च टीकाकृतो व्याख्यानं ॥ चूर्णिकृत् पुनराह ॥ अभिधानाभिधेयवशतो गमा भवंति ते चानन्ताः अनेन च प्रकारेण वेदितव्याः । तद्यथा सुयं मे आउसतेणं भगवता एव मक्खायति,, इदञ्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिन प्रत्याह तत्रायमर्थः श्रुतं मया हे आयुष्मन् ! तेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना एवमाख्यातं अथवा श्रुतं मया आयुष्मदंते आयुष्मतो भगवतो वर्द्धमानस्य स्वामिनोऽन्ते समीपे णमिति वाक्यालंकारे तथाच भगवता एवमा-

ख्यातं। अथवा श्रुतं मया आयुष्मतोऽथवा श्रुत मया भगवत्पादारविंदयुगलमामृशता । अथवा श्रुत मया गुरुकुलवासमावसता । अथवा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! (तेणति) प्रथमार्थे तृतीया तत् भगवता एवमाख्यात। अथवा श्रुत मया हे आयुष्मन्! (तेणंति) तदा भगवता एवमाख्यात । अथवा श्रुत मया हे आयुष्मन्! (तेणति) तत्र षट् जीवनिकायविषये तत्र वा विवक्षितेन समवसरणे स्थितेन भगवता एवमाख्यात अथ वा श्रुतं मया हे आयुष्मन्! वर्तते यतस्तेन भगवता एवमाख्यातं एवमादयस्त तमर्थमधिकृत्य गमा भवति । अभिधानवशात्‌ पुनरेव गमाः "सुयं मे आवसं आउस सुयं मे मे सुय,, आउसमित्येवमर्थभेदे तया तथा पदानां सयोजनतोऽभिधानतो गमा भवन्ति एवमादयः किंच अनंता गमा भवति । तथा अनन्ताः पर्यायास्ते च स्वपरभेदाभिन्नाः अक्षरार्थगोचरा वेदितव्याः तथा परीताः परिमितास्त्रसा द्वीन्द्रियादयः स्थावरा अनन्ता वनस्पतिकायादयः (सासयकडनिबद्धनिकाइयत्ति) शास्वता धर्मास्तिकायादयः कृताः प्रयोगविस्रसा जन्याः घटसन्ध्याभ्ररागादयः । एते सर्वेऽपि त्रसादयो निबद्धाः सूत्रे स्वरूपतः उक्ताः । निकाचिता निर्युक्तिसंग्रहणीहेतूदाहरणादिभिरनेकधा व्यवस्थापिता जिनप्रज्ञप्ता भावाः पदार्था आख्यायते सामान्यरूपतया विशेषरूपतया वा कथ्यन्ते प्रज्ञाप्यन्ते नामादिभेदोपन्यासेन प्ररूप्यन्ते प्ररूप्यन्ते नामादीनामेव भेदानांसप्रपञ्चं स्वरूपकथनेन पृथग्विभक्ताः दर्श्यन्ते दर्श्यन्ते उपमाप्रदर्शनेन यथा गौरिव गवय इत्यादि निदर्श्यंते हेतुदृष्टान्तोपदर्शनेनोपदर्श्यन्ते निगमनेन शिष्यबुद्धौ निश्शङ्क व्यवस्थाप्यन्ते साम्प्रतमाचाराङ्गग्रहणे फल प्रतिपादयति स एवमित्यादि स इति आचारांगग्राहकोऽभिसम्बध्यते एवमात्मा एवंरूपो भवति ॥ अयमत्र भावः अस्मिन्नाचारांगे भावतः सम्यगधीते सति तदुक्तक्रियानुष्ठानानुपरिपालनात्साक्षान्मूर्त इवाचारो भवति । आह च टीकाकृत् । तदुक्तक्रियापरिणामाव्यतिरेकात्स एवाचारो भवतीत्यर्थः । इति तदेवं क्रियामधिकृत्योक्त संप्रति ज्ञानमधिकृत्याह (एव नायत्ति) यथाआचारांगे निबद्धा भावास्तथा तेषां भावानां ज्ञाता भवति तथा (एव विन्नायत्ति) यथा निर्युक्तिसंग्रहणीहेतूदाहरणादिभिर्विविधं प्ररूपितास्तथा विविध ज्ञातारो भवंति एवं चरणकरणप्ररूपणा आचार आख्यायते सत्तं आयारोत्ति ॥ नं० ॥ सेकिंत आयारे आयारेणं समणाण निग्गंथाणं आयारगोयरविणयवेणइयठाणगमणचंकमणपमाणजोगजुंजणभासा समितिगुत्तीसेज्जो वहिभत्तपाण उग्गमउप्पायणएसणाविसोहि सुद्धासुद्धग्गहणवयणियमतवोवहाणसुप्पसत्थामाहिज्जइ से समासओ पञ्चविहो पं० तं० णाणायारे, दसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, आयारस्स ण परित्तावायणा संखेज्जा अणुओगदारा संखेज्जाओ पडिवत्तीओ संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे दो सुयक्खंधा पणवीस अज्झयणा पञ्चासीइं उद्देसणकाला पञ्चासी समुद्देसणकाला अट्ठारस पदसहस्साइं पदग्गेणा संखेज्जा अक्खरा अणतागमा अणता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासया कडानिबद्धा णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जति पण्णविज्जति परूविज्जति नदिस्सति उवदंसिज्जा से एवं णाए एवं विणाए एव चरणकरणपरूवणया आघविज्जंति परूविज्जंति नन्दिसिज्जति उवदंसिज्जति सेत्तं आयारो ॥ सम० १२ स । आचाराङ्गस्य व्यवच्छेदकालश्च ॥ विगहमुणिम्मि मरते, हत्तिगोत्तम्मि होतिवीसाए ॥ वरिसाणसहस्सेहिं, आयारंगस्स वोच्छेदो ॥ साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारः शस्त्रपरिज्ञाया अयं जीव इत्यादि तत्र प्रथमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रतिपाद्य शेषेषु तु षट्सु विशेषेण पृथिवीकायाद्यस्तित्वमिति सर्वेषां चावसाने बन्धविरतिप्रतिपादनामिति । एतच्चान्ते उपासवान् प्रत्येकमुद्देशार्थेषु योजनीयं प्रथमोद्देशके जीवस्वपवधे वधो विरतिश्चेति एवमिति तत्र शस्त्रपरिज्ञा ॥ आचा. १ अ० १ उ० साम्प्रतमाचारादिप्रदानस्य सुखप्रतिपत्तये दृष्टान्तोपन्यासेन विधिराख्यायते ॥ यथा कश्चिद्राजाऽभिनवनगरनिवेशेच्छया भूखण्डानि विभज्य समतया प्रकृतिभ्यो दत्तवाँस्तथा कचवरापनयने शल्योद्धारे भूस्थिरीकरणे पक्वेष्टकापीठप्रासादरचने रत्नाद्युपादाने चोपदेशं दत्तवाँस्ताँश्च प्रकृतयस्तदुपदेशानुसारेण तथैव कृत्वा यथाभिप्रेतान् भोगान् बुभुजिरे । अयमर्थोपनयः । राजसदृशेन सूरिणा प्रकृतिसदृशशिष्यगणस्य भूखण्डसदृशः संयमो मिथ्यात्वकचवराद्यपनीय सर्वोपाधिशुद्धस्यारोपणीयस्त च सामायिकसयम स्थिरीकृत्य पक्वेष्टकापीठतुल्यानि व्रतान्यारोपणीयानि ततः प्रासादकल्पोऽयमाचारो विधेयसूत्रस्यश्च शेषशास्त्रादिरन्यान्यादस्ते निर्वाणभाग्भवति ॥ आचा. १ अ. १ उ. ॥

आयारंगचूला आचाराङ्गचूडा स्त्री० आचाराङ्गस्य द्वितीयेऽश्रुतस्कन्धे (एतद्वक्तव्यताऽऽचारचूलिकाशब्दे) प्रयमाचारचूडेति आचा० ।

आयारकुसल आचारकुशल पुं० आचारेण ज्ञानाद्याचारेण कर्मकुशः कर्मोच्छेदकः आचारविषये सम्यक् परिज्ञानवति, आचारे ज्ञातव्ये प्रयोक्तव्ये वा कुशलो दक्ष आचारकुशलः । आचारज्ञाने आचारप्रयोगे वा दक्षे, च । व्य० उ० ३ ।

आचारकुशलशब्दस्य व्याख्यानार्थमाह ॥

अब्भुट्ठाणे आसण, किंकरअब्भासकरणमविभत्ति । पडिरूवजोगजुंजण, नीयोगपूआ जहा कमसो ॥ अफरुस अणवल अचवल, मकुक्कयमरूमगोमसीभरणं। सहित समाहि यठवट्टिय, गुणनिहि आयार कुशलोउ ॥ आचार कुशलो नामयो गुर्वादीनामभ्युत्थान करोति (आसणत्ति) आसनप्रदानं च तेषामेव गुर्वादीनां विधत्ते समागतानां पीठिकाद्युपनयतीति भावः । तथा प्रातरेवागत्य आचार्यान् वदति सादिशत किंकरोमीति स किंकरः तथा (अब्भासकरणमिति) ये अभ्यागतास्तेषामात्मसमीपवर्त्तित्वकरणमभ्यासकरणं अविभक्तिर्विभागाभावः शिष्य प्रातिच्छिकानां विशेषकरणमितिभावः (पडिरूवयोगजुंजणत्ति) प्रतिरूपः खलु विनयः कायिकादिभेदतश्चतुर्धाऽधस्तात् पीठिकायामभिहितस्तदनुगता योगा मनोवाक्कायास्तेषां योजनं व्यापारणमवश्यकरण अविभक्तविभागयोजन (नियोगत्ति) योयत्र वस्त्राद्युत्पादने नियोक्तव्यः तस्य तत्र नियोग करोति (पूजा जहा कमसोत्ति) गुर्वादीनां यथानुरूपं क्रमशो येन पूजा क्रियते अपरुषमनिष्ठुर मन. प्रल्हादकृदित्यर्थः तज्ञापते (अणवलत्ति) तत्र प्राकृतत्वात् यकारलोपः तेन अवलया इति रूपव्यं तस्याऽभावोऽणवलया अकुटिलत्वमित्यर्थः । अचपलः स्थिरस्वभावः अकुकुचो हस्तपादमुखादिविरूपचेष्टारहितः। अदम्भको वंचनानुगतवचनविरहित । सभिरो नाम य उल्लपन् पर लालया सिंचति तत्प्रतिषेधादसभिरः । प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययविधानेन असीभरकः एष सर्वोऽपि

किल विनय इति वीर्याचारः प्रतिपादितो द्रष्टव्यः सम्प्रति शेषाणां ज्ञानाद्याचाराणां प्ररूपणानिमित्त पश्चार्द्धमाह। सहितो नाम स यस्य ज्ञानादेरुचित' कालस्तेनोपेतः। किमुक्तं भवति। काले स्वाध्याय करोति। काले प्रतिलेखनादिकं काले च स्वोचितं तप इति सम्यक् आदितो यत् यस्योपधाने तत्करणे वा स्वाभिप्राय' समाहितः उपशमी ज्ञानादीनां हितं' स्थित औत्पत्तिके ज्ञानाद्यधिक निर्म्मलतर मात्मनोवाञ्छन् सदैव गुरुषु बहुमानपर इति भावः। एवंज्ञानाद्याचारसमन्वितो गुणनिधिर्भवति। तत माह गुणनिधिर्गुणानामाकरः एष आचारकुशलः सांप्रतमेत देव गाथाद्वय विनेयजनानुग्रहाय भाष्यकृद्व्याख्यानयति। अब्भुट्ठाणं गुरुमादियाणं, आसणदाणं च होइ तस्सेव। गोसे वय आयरिये, सदिसह किं करेमिच्ति अत्र (गोसे) इति प्रातरेवेत्यर्थ· " सब्भासकरणधम्म, ठेयाण अविभत्ति सीसपाडिच्छे। पडिरुवजोगो जइ, पीढियाए जुंजण करेमि धुव " अत्र प्रतिरूपयोगो यथा पीठिकायां प्राक् प्रतिरूपविनयाधिकारेऽभिहितस्तथा प्रतिपत्तव्यः (जुंजणं) इत्यस्य व्याख्यान यत् ध्रुवमकालहीन प्रतिरूपयोगात्करोति पारयतीतिभावः। (पूय जहाणुरूव, गुरुमादीणं करेइ कमसोउ। उल्हादिजणणमफलसं, अचवलया होइ कुलुमंतं) अत्रह्लादिजननमिति मनः प्रह्लादजनक " अचवलथिरस्सभावो अप्फंदणयायहोइ अकुयत्तं। उल्लावलालससीभर, सहितो कालेसणाणादि" अत्र स्यदनता भंगोचितहस्तपादादिचेष्टाविकलता सम्म अहियभावो समाहितो समीवम्मि नाणाइयं तु तद्धितो गुणनिहिओआगरो गुणाणं गाथापचकमपि गतार्थम्॥ व्य॥

आयारक्खेवणी-आचाराक्षेपणी स्त्री॰ आचारो लोचाऽस्नानादिस्तत्प्रकाशनेनाक्षेपणी आचाराक्षेपणी। आक्षेपणीकथाभेदे, ॥ स्था॰ ४ ठा.॥

आयारगोयर-आचारगोचर पुं॰ आचारो मोक्षार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो विषय आचारगोचरः आचा॰॥ ७. अ. १ उ॰। आचार' साधुसमाचारस्तस्य गोचरो विषयो व्रतषट्कादिराचारगोचरः साधुसमाचारविषये, व्रतषट्कादिके, आचारश्च ज्ञानादि विषयः पञ्चधा गोचरश्च भिक्षाचर्य्येत्याचारगोचर ज्ञानाचारादिके, भिक्षाचर्य्यायां च, । न॰॥ सेह आयारगोयरं गहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ स्था॰ ८ ठा.

इहविभक्तिविपरिणामादाचारगोचरस्य ग्रहणतायां शिक्षण शैक्षमाचारगोचरं ग्राहयितुमित्यर्थ·॥ स्था॰ ८ ठा.।

आयारगोयर विणयवणइयचरणकरणजायामायावत्ति यं धम्ममाइक्खीयं॥ आचारः श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठान कालाध्ययनादिगोचरो भिक्षाटनम् एतयोः समाहारद्वन्द्वस्ततस्तल्लाभ्यातमिच्छामीति योग इति॥ भ॰ २ श॰ १ उ॰॥

क्रियाकलापे, पु॰ दश॰ ६ अ॰॥

रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छंति निहुअप्पाणो कहं आयारगोयरं॥

व्या॰॥ राजानो नरपतयः राजामात्याश्च मन्त्रिणः ब्राह्मणाः प्रतीता' (अदुवत्ति) तथा क्षत्रिया' श्रेष्ठ्याद्य' पृच्छति निभृतात्मान. असम्भ्रांता रचितांजलयः कथं ते भवतां आचारगोचर' क्रियाकलापः स्थित इति सूत्रार्थः॥

तेसिं सो निहुओदंतो, सव्वभूय सुहावहो।
सिक्खा एसु समाउत्तो आइक्खेज्ज वियक्खरो॥ ३॥

व्या॰॥ तेभ्यो राजादिभ्यः असौ गणी निभृतोऽसम्भ्रांत उचितधर्मः कायस्थित्या दांत इंद्रियमनोदमाभ्यां सर्वभूत सुखावहः सर्वप्राणिहितइत्यर्थः। शिक्षया ग्रहणासेवनरूपया सुसमायुक्तः सुष्ठु एकीभावेन युक्तः आख्याति कथयति विचक्षण· पण्डित इति सूत्रार्थः।

(हंदि धम्मत्थकामाणं, निगथाण सुणेह मे। आयारगोयरं भीम, सयल दुरहिट्ठियं) सूत्रंव्या॰॥ हंदिइत्युपदर्शने तमेनं धर्म्मार्थकामानामिति धर्म्मश्चारित्रधर्म्मादिस्तस्यार्थ' प्रयोजन मोक्षःकामयते इच्छति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धम्मार्थकामा' मुमुक्षवस्तेषां निर्ग्रंथानां बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितानां शृणुत मम समीपात् आचारगोचर क्रियाकलापं भीम कर्मशत्र्वपेक्षया रौद्रं सकल संपूर्ण दुरधिष्ठं क्षुद्रसत्त्वैर्दुराश्रयमिति सूत्रार्थ॥

आयारग्ग-आचाराग्र न॰ आचारांगस्य द्वितीये श्रुतस्कंधे तद्वक्तव्यताऽऽचारांगटीकायाम्॥ (आचारमेरो-र्गदितस्य लेशतः, प्रवच्मितच्छेपिकचूलिकागतां। प्रारिप्सितेऽर्थे गुण वान् कृती सदा, जायेत निः शेषमशेषिताक्रियः १) उक्तो नवब्रह्मचर्योऽध्ययनात्मक आचारश्रुतस्कंधः सांप्रतं द्वितीयोग्रश्रुतस्कंधः समारभ्यते। अस्य चायमभिसंबंधः उक्तम् आचारपरिमाणम् प्रतिपादयता तद्यथा (णववंभचेरमइओअट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ हवइ य स पंचचूलो बहु २ अयरो पयग्गेण) तत्राद्ये श्रुतस्कंधे नवब्रह्मचर्याध्ययनानि प्रतिपादितानि तेषु च न समस्तोऽपिविवक्षितोऽर्थोऽभिहितोऽभिहितोऽपि संक्षेपतोऽतोऽभिहितार्थाभिधानाय संक्षेपोक्तस्य च प्रपंचाय तदग्रभूताश्चतस्रश्चूला उक्ताःअनुक्तसंगृहिका' प्रतिपाद्यते॥ तदात्मकश्च द्वितीयोग्रश्रुतस्कंध इत्यनेन संबंधेनायातस्यास्य व्याख्या प्रतन्यते तथा चाचारांगनिर्युक्तौ अग्रनिक्षेपस्प्रतिपाद्याह॥

थेरेहि अणुग्गहट्ठा, सिस्सहियं होउ पागडत्थं च॥ आयाराओ अत्थो, आयारग्गेसु पविभत्तो गाहा॥

उवयारेण उपगयं, आयारस्सेव उवरि माइं॥
रुक्खस्सपव्वयस्स य, जह अग्गाइं तहे ताइं॥ २॥

उपकाराग्रेणात्र प्रकृतमधिकारः यस्मादेतान्याचारस्यैवोपरि वर्त्तन्ते तदुक्तं शेषवादितया तत्संबद्धानि तद्यथा वृक्षपर्वतादेरग्राणीति शेषाणि त्वग्राणि शिष्यमतिव्युत्पत्यर्थमस्य चोपकाराग्रस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थमिति तदुक्तं (उवारिस्स सरिस, जं केणवित परुवए विहिणा, जेणहि गारो तं मिउ, पर्लिवए होइ सुहगेज्झं) तभेदमिदानीं वाच्यं केनैतानि निर्व्यूढानि किमर्थं कुतो वेत्यतआह॥ थेरेहिं अणुग्गहट्ठा, सिस्सहिय होउ पागडत्थ च॥ आयाराउ अत्थो, आयारग्गेसु पविभत्तो गाहा॥ थेरेहीत्यादि स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिर्निर्व्यूढानीति किमर्थं शिष्यहितं भवत्विति कृत्वा अनुग्रहार्थं तथा अप्रकटोऽर्थः प्रकटोयथास्यादित्येवमर्थं च कुतोनिर्व्यूढाचाराद् सकाशात्समस्तोऽप्यर्थः आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविभक्त इति॥

सांप्रत यद्यस्मान्निर्व्यूढ तद्विभागेनाचष्ट इति॥

बिइ अस्स य पंचमए, अट्ठमगस्स बीयंमि उद्देसो॥
भणिओ पिंडेसणेज्जा, वत्थं पाओग्गहे चेव॥ ४॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया वणिज्जइ समासेणं॥
छट्ठस्सय पंचमए, भासज्जाया वियाणाहि॥ ५॥
सत्तेक्काणि सत्तवि, णिज्जूढाइं महापरिण्णावो॥
सत्थपरिण्णा भावणं, णिज्जूढाउ धुवविमुत्तो॥ ६॥

आयारपकप्पोउ, पच्चखाणस्स तइयवत्थूओ ॥
आयारणामधेज्जा, विसइमा पाहुडच्छेया ॥ ७ ॥

विश्यस्सेत्यादि चतस्रो। गाथाः ब्रह्मचर्याध्ययनाना द्वितीय मध्ययनं लोकविजयाख्यं तत्र पचमोद्देशके इदं सूत्र (सव्वामगं ध परिन्नाय निरामगंधो परिव्वएज्जा) तत्रामग्रहणेन हननाद्यास्तिस्र कोटयो गृहीता गन्धोपादानादपरास्तिस्र पताः षरूप्यविशोधिकोटयस्ताश्चेमा स्वतो हंति घातयति घ्नन्तमनु जानीते तथा पचति पाचयति पचन्समनुजानीत इति तथा तत्रैव सूत्रं (अदिस्समाणो कयविक्कएहिंति) अनेनापि तिस्रो विशोधिकोटयो गृहीतास्ताश्चेमाः क्रीणाति क्रापयति क्रीणंतमन्यमनुजानीते तथाऽष्टमस्य विमोहाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके इदं सूत्रं (भिक्खू परिक्कमेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा णीसिएज्ज वा तुयेट्टज्ज वा सु साणंसि वेत्यादि) यावत् (बहिया विहरेज्जा तं भिक्खु गाहावति उवसंकमित्तु वएज्जा अहमा उसतो समणा तुब्भट्ठाये असणं वा ४ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भसमुदिस्स कीयं पामिच्च) मित्यादि पतानि सर्वाण्यपि सूत्राण्याश्रित्यैकादशपिंडैषणा निर्व्यूढास्तथा तस्मिन्नेव द्वितीयाध्ययने पंचमोद्देशके सूत्रं (से वत्थं परिग्गहं कंबलं पायपुञ्छणं उग्गहं च कडासणमिति) तत्र वस्त्रकव सपादपुंछनग्रहणात् वस्त्रैषणा निर्व्यूढा पतद्ग्रहपदात्पात्रैषणा निर्व्यूढा अवग्रह इत्येतस्मादवग्रहप्रतिमा निर्व्यूढा कडासनमित्येतस्माच्छय्येति तथा पचमाध्ययनावंत्याख्यस्य चतुर्थोद्देशक सूत्रं (गामाणुगाम दुइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परक्कंतमित्यादि नेर्या संक्षेपेण व्यावर्णितेत्यत ईर्याध्ययन निर्व्यूढं तथा षष्ठाध्ययनस्य धुवाख्यस्य पचमोद्देशकसूत्र (आइक्खइ विहयइ किट्टति धम्मकामी)त्येतस्माद्भाषाध्ययनमाकृष्टमित्येवं विजानीयास्त्वमिति तथा महापरिज्ञाध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येक सप्तापि सप्तैकका निर्व्यूढास्तथा शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाद्भावना निर्व्यूढास्तथा धूताध्ययनस्य द्वितीयचतुर्थकोद्देशकाभ्यां विमुक्ताध्ययनं निर्व्यूढमिति तथाचारप्रकल्पो निशीथ स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य यत् तृतीयं वस्तु तस्याऽपि यदाचाराख्य विंशतितमं प्राभृत ततो निर्व्यूढ इति ब्रह्मचर्याध्ययनेभ्य आचाराग्राणि निर्व्यूढान्यतो निर्व्यूहनाधिकारादेव तान्यपि शस्त्रपरिज्ञाध्ययनानि निर्व्यूढानीति दर्शयति ॥

अव्वोगडो उ भणिओ, सत्यपरिण्णाए दंडनिक्खेवो।
सो पुण विभज्जमाणो, तहा तहा होइ णायव्वो ॥ ८ ॥

अव्याकृतोऽव्यक्तोऽपरिस्फुट इति यावत् भणितः प्रतिपादितः कोऽसौ दंडनिक्षेप दंड प्राणिपीडालक्षणस्तस्य निक्षेप परित्याग संयम इत्यर्थ।स च शस्त्रपरिज्ञायामव्यक्तोऽभिहितो यतस्तेन पुनर्विभज्यमानोऽष्टस्वप्यध्ययनेष्वसावेव तथा तथानेकप्रकारो ज्ञातव्यो भवतीति ॥

कथं पुनरयं संयमः संक्षेपोऽभिहितो विस्तार्यत इत्याह ।

एगविहो पुण सो, संजमोत्ति अज्झत्थ बाहिरेय दुहा ।
मणवयणकायतिविहो, चउविहो चाउजामोउ ॥
पंच य महव्वयाइं तु, पंचहाराइ भोयणं छट्ठा ।
सीलंगसहस्साणि य, एसो उ अन्नितरो होइ ॥ १० ॥

(एगविहो) इत्यादि (पचय) इत्यादि अविरतिनिवृत्तिलक्षण एकविध संयमः सएवाऽध्यात्मिकबाह्यभेदात् द्विधा भवति। पुनर्मनोवाक्काययोगभेदात्त्रिविध स एव चतुर्याम भेदाच्चतुर्धा पुनः पञ्चमहाव्रतभेदात्पचधा। रात्रिभोजनविरतिपरिग्रहाच्च षोढेत्यादिकया प्रक्रियया भिद्यमानो यावदष्टादशशीलांगसहस्रपरिमाणो भवतीति किंपुनरसौ सयमस्तत्र तत्र प्रवचने पचमहाव्रतरूपतया भिद्यते इत्याह ॥

आइक्खिउं विभइउं, विण्णाउं चेव सुहुतरं होइ ।
एएण कारणेण, पञ्चमहव्वया पण्णविज्जंति ॥ ११ ॥

संयमः पञ्चमहाव्रतरूपतया व्यवस्थापितः सन्नाख्यातु विभक्तुं विज्ञातुं च सुखेनैव भवतीत्यतःकारणात्पञ्चमहाव्रतानि प्रज्ञाप्यते । पतानि च पञ्चमहाव्रतान्यस्खलितानि फलवन्ति भवंत्यतो रक्षायत्नो विधेयस्तदर्थमाह ॥

तेसिं च रक्खणट्ठा, भावणा पञ्चवए इक्के ।
तासत्यपरिण्णाए, एसो अन्भितरो होइ ॥ १२ ॥

तेषां च महाव्रतानामेकैकस्य तद्ग्रहणकल्पाः पच २ भावना भवति। ताश्च द्वितीयाग्रश्रुतस्कंधे प्रतिपाद्यते अतोऽसौ शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाभ्यंतरो भवतीति ॥

सांप्रतं चूडानां यथा स्वं परिमाणमाह ॥ जावोग्गहपडिमाओ, पढमा सत्ति किगावीय चूडा भावणविमुत्ति आयारपकप्पा तिण्णि इति पच ।१३। पिंडैषणाध्ययनादारभ्य अवग्रहप्रतिमाध्ययन यावत् पतानि सप्ताऽध्ययनानि प्रथमाचूडा सप्तसप्तैकका द्वितीया भावना तृतीया विमुक्ति चतुर्थी आचारविकल्पो निशीथः सा पचमी चूडेति आचा २ श्रु.१ चू.

आयारचूला- आचारचूला- स्त्री० उक्तशेषानुवादिनी चूडा आचारस्य चूडा आचार चूडा। आचाराग्रे आचारांगस्य द्वितीयेऽश्रुतस्कधे, आचा० अ. १ उ. ॥

आचाराग्राणि चूलिका इति आचा० ॥ आचारांगस्यद्वितीये श्रुतस्कंधे पञ्च चूडा स्तत्र प्रथमा(पिंडेसणसेज्जरिया,भासज्जा या य वत्थपाएसा। उग्गहपडिमत्ति)सप्ताध्ययनात्मिका द्वितीया सप्तसप्तिकया तृतीया भावना चतुर्थी विमुक्तिः पञ्चमी निशीथाध्ययनमिति। आचा० अ० १ उ०१॥

पताश्चाचारश्रुतस्कंधस्य नवभ्यो ब्रह्मचर्याध्ययनेभ्यो निर्व्यूढा इति आचाराग्रशब्दे ॥

आयारचूलिया-आचारचूलिका स्त्री०आचारचूलायाम्, आयारस्सणं भगवओ सचूलीयागस्स पञ्चासीइ उद्देसणकाला सम० ८५ स ॥

आचारांगस्य विमुक्त्यभिधाने सर्वांतिमेऽध्ययने, व तिएह गणिपिडगाण, आयारचूलियावज्जाणं सत्तावन्न अज्झयणा प० सम० ५७ स. ॥

आचारस्य श्रुतस्कधद्वयरूपस्य प्रथमाङ्गस्य चूलिका सर्वान्तिममध्ययन विमुक्त्यभिधानमाचारचूलिका तद्वर्जानामिति सम० टी. ॥

आयारटीगा-आचारटीका- स्त्री० शीलगाचार्य्यविरचिताया-माचारांगव्याख्यायाम्, तथाचाचारांगटीकायाम् आचारटीकाकरणे। "आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यथा,जगाद वीरो जगते हिताय यः ॥ तथैव किञ्चिद्वदतः स एव मे, पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः ॥ १ ॥ शस्त्रपरिज्ञाविवरण,मतिबहुगहनञ्च गन्धहस्तिकृत॥तस्मात्सुखबोधार्थं, गृण्हाम्यहमञ्जसा सारम् ॥ २ ॥ "आचा० टी. अ. १ उ. १ ॥

आयारट्ठ-आचारस्थ- त्रि० आचारे स्थित आचारस्थ ज्ञाना-

चारादिपञ्चविधाचारयुक्ते, ॥

"नाणमि दंसणमिय, तवे चरित्तेय समणसारामि । ण च एति जो ठवेउ, अप्पाणं गणे न गणहारी । एसगणहरमेरा, आयारत्थाणवण्णिता सुत्ते,, । पं० भा० ॥

एसा गणधरमेरोमर्य्यादा सीमा इत्यर्थः (आयारट्ठाणंति पंचविहे आयारे जुत्ताणं) आचारे स्थित आचारस्थ. तेषां वर्णिता स्तत्र प्रणीता इत्यर्थः । प० चू० ॥

आयारणिज्जुत्ति-आचारनिर्युक्ति-स्त्री० निर्युक्तानां सूत्रेऽभिधेय तया व्यवस्थापितानामर्थानां युक्तिर्घटना विशिष्टा योजना निर्युक्तियुक्तिरेतस्मिन्न वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरित्युच्यते। सम० स. १ आचारस्य निर्युक्तिराचारनिर्युक्तिः आचार सूत्रार्थानां विशिष्टयोजनायाम्, तथास्य समवायांगे। आचारांग मधिकृत्य "संखेज्जाओ णिज्जुत्तिओ" सम० १ स. ॥ आचारांग निर्युक्तिश्च भद्रबाहुस्वामिना रचिता। तथाचाचारांगटीकायां भद्रबाहुस्वामिनमधिकृत्य । स च पूर्वमावश्यकनिर्युक्तिं विधाय पश्चादाचारांगनिर्युक्तिं चक्रे तथाचोक्तं (आवस्सयस्स दस कालियस्स तह उत्तरज्झयमायारत्ति) आचा. अ. १ उ. १

आयारतेण-आचारस्तेन-त्रि० विशिष्टाचारवत्पुरुषरूपे "आयारभावतेणेय कुव्वइ देवकिव्विसं ४६ " दश० अ. ५ उ. २ ॥

आयारदसा-आचारदशा-स्त्री० आचरणमाचारो ज्ञानादिविषयः पञ्चधा । आचारप्रतिपादनपरा दशा आचारदशा। दशाभेदे, दशाध्ययनात्मिका आचारदशा दशाश्रुतस्कंध इति या रूढेति स्था. ठा. १० ॥ अङ्गदशा । अएहावि हु उ वासगा,दिसु तेसतु विसेसो। आयारदसा तुइमो, जेणेत्थं वणिइया आरो । प० भा० । आचारदशानामध्ययनविभागमाह । स्था.१०ठा. ॥

आयारदसाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता । तंजहा वीस असमाहिट्ठाणा इक्कवीसं सबला तित्तिसं आसायणाओ अट्ठविहा गणिसंपया दस चित्तसमाहिट्ठाणा इक्कारस उवासगपडिमाओ बारस भिक्खुपडिमाओ पज्जोसवणा कप्पे तिस मोहणिज्जठाणा ॥

समाधिस्थानानि यैरासेवितैरात्मपरोभयानामिह परत्र प्रयत्न वा असमाधिरुत्पद्यते तानीति भावस्तानि च विंशतिर्द्रुतचारित्वादीनि। तत एवावगम्यनीति तत्प्रतिपादक मध्ययनमसमाधिस्थानानीति । प्रथमतया एकविंशतिं शबलाः शबलं कर्बूरं चल्यत पटादि भावतः सातिचारं चारित्रमिह च शबलचारित्रयोगात् शबलाः साधवस्ते च करकर्मप्रकारान्तरैर्मैथुनादीन्येकविंशतिपदानि ॥ १ ॥ तत्र वोक्तरूपाणि सेवमाना उपाधित एकविंशतिर्भवति। तदर्थ मध्ययनमेकविंशति शबला इत्यभिधीयते ॥ २ ॥ ते तो समासाश्रयात्रोक्ति ज्ञानादिगुणाः आ समस्त्येन शात्यते अपध्वस्यंते यकाभिस्ता आशातना रत्नाधिकविषयाः अविनयरूपाः पुरतो गमनादिकास्तप्रसिद्धास्त्रयस्त्रिंशद्भेदा यत्राभिधीयन्ते तदध्ययनमपि तथैवोच्यत इति ॥ ३ ॥ (अट्ठेत्यादि) अष्टविधा गणिसंपत् आचारश्रुतशरीरवचनादिका आचार्य्य गुणार्द्धिरष्टस्थानकोकरूपा यत्राभिधीयते तदध्ययनमपि तथैवोच्यत इति ॥ ४ ॥ (दसेत्यादि) दशचित्तसमाधिस्थानानि येषु खलु चित्तस्य प्रशस्तपरिणतिर्जायते तानि तथा असमुत्पन्नपूर्वधर्मचिन्तोत्पादादीनि तत्रैव प्रसिद्धान्यभिधीयन्ते यत्र तत्तथैवोच्यते इति ५ (एक्कारे) त्यादि एकादशोपासकानां श्रावकाणां प्रतिमाः प्रतिपत्तिविशेषाः दर्शनव्रत सामयिकादिविषयाः प्रतिपाद्यंते यत्र तत्तथैवोच्यते ॥ ६ ॥ (बारसेत्यादि) द्वादशभिक्षूणां प्रतिमा अभिग्रहा मासिकी द्विमासिकी प्रभृतयो यत्राभिधीयन्ते तत्तथोच्यत इति ॥ ७ ॥ पज्जोसवत्यादि ॥ पर्यायाः ऋतुबद्धिका द्रव्यक्षेत्रकालभावसंबन्धिन उत्सृज्यन्ते उज्झन्ते यस्यां सा निरुक्तविधिना पर्योसवना अथवा परीति सर्वतः क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना अथवा परिः सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्ततिदिनानि उत्कृष्टतः षण्मासान् वसन निरुकादेव पर्युषणा तस्याः कल्प आचारोमर्यादेत्यर्थः ॥ पर्योसवनाकल्पः पर्युपशमनाकल्प पर्युषणाकल्पोवेति स च (सकोसजोयण विगइनव वयमि) त्यादिकस्तत्रैव प्रसिद्धस्तदर्थमध्ययन स एवोच्यत इति ८ ॥ (तीसमित्यादि) त्रिंशन्मोहनीयकर्मणो बन्धस्थानानि बन्धनकारणानि (वारिमझेवगाहित्ता तसे पाणेविहिंसइ)इत्यादिकानि तत्रैव प्रसिद्धानि मोहनीयस्थानानि तत्प्रतिपादकमध्ययनं तथैवोच्यतइति ॥ ९ ॥ (आयाइट्ठाण) मिति आजननमाजातिः सम्मूर्छनगर्भोपपाततो जन्म तस्याः स्थानं संसारस्तत्तन्निदानस्य भवतीत्येवमर्थप्रतिपादनपरमाजाति स्थानमुच्यते ॥ इति ठा. टी. ठा. १० ॥

आयारपकप्प-आचारप्रकल्प-पु० आचार एवाचार प्रकल्पः क्रिया आचारक्रियायाम्, आव० ४ अ. ॥ आचार आचारांगम् प्रकल्पो निशीथाध्ययनम् तस्यैव पञ्चमचूडा आचारेण सहितः प्रकल्पः आचारप्रकल्प निशीथाध्ययनसहिते आचारांगे, ध० अ ३ ॥

अट्ठावीसइविहे आयारपकप्पे आव ३ अ. ॥

सत्थपरिन्ना लोगविजओ, असिओसणिज्जं संमत्तं ॥
आवंति धुअ विमोहो, उवहाणसुअं महपरिन्ना ॥ ५१ ॥
पिंडेसण सिज्जीरिजा, भासज्जा या य वत्थपाएसा ॥
उग्गहपडिमासत्ति, कसतयं भावणविमुत्ति ॥ ५२ ॥
उग्घायमणुग्घायं, आरोवणतिविहमो निसीहंतु ॥
इति अट्ठाविसविहो, आयारपकप्पनामोयं ॥ ५३ ॥

अष्टाविंशतिविधे आचारप्रकल्पे आचार एवाचारप्रकल्प क्रिया पूर्ववत्। पिंडेसणागाहा १५२ उग्घातगाथात्रयं निगदसिद्धमेव ॥

अष्टाविंशतिविधः आचारप्रकल्पः निशीथांतमाचारांगमित्यर्थः स चैवं ॥

सत्थपरिन्ना १ लोकविजओ २ सीओसणिज्जा ३ संमत्तं ४ आवंति ५ धुत ६ विमोहो ७ उवहाणसुयं ८ महपरिन्ना ९ प्रथमस्य श्रुतस्कंधस्याऽध्ययनानि । द्वितीयस्य तु पिंडेसण १ सेज्ज २ इरिया ३ भासाजाया ४ वत्थ ५ पाएसा ६ उग्गहपडिमा ७ सत्तसत्तिक्कया ८ भावणा ९ विमुत्ति ६ उग्घाइ अणुग्घाइ २ आरुहणा ३ तिविहमोनिसीहं तु इति अट्ठाविसविहो आयारपकप्पनामोत्ति ॥

उद्घातिकं यत्र लघुमासादिकं प्रायश्चित्तं वर्ण्यते। अनुद्घातिकं तु यत्र गुरुमासादि आरोपणा च यस्मिन्प्रायश्चित्तेऽन्य दप्यारोप्यत इति ॥ प्रश्न सं ५ द्वा ॥

अष्टाविंशत्या आचारप्रकल्पैः आचार आचारांगं प्रकल्पो निशीथाध्ययनं तस्यैव पचमचूला । आचारणे सहितः प्रकल्प आचारप्रकल्पस्तैः पंचविंशत्यध्ययनात्मकत्वात्पंचविं शतिविध आचार उद्घातिममनुद्घातिममारोपणेति त्रिधा प्रकल्पोमीलनेऽष्टाविंशतिविधस्तत्र पचविंशतिरध्ययनान्यमूनि॥

सत्यपरिण्णा १ लोगविजओ २ सीओसणीज्जं ३ संमतं ४ आवंतिलोगसारंवा ५ धुयं ६ विमोहो ७ उवहाणसुअं ८ महापरिण्णा ९ पिंडेसणा १० सिज्जा११ इरिया १२ भासाजायं १३ वत्थेसणा १४ पाएसणा१५ उग्गहपडिमा १६ ठाणसत्तिकयं १७ निसीहिआसत्तिकयं १८ उच्चारणसवणसत्तिकयं १९ सद्दसत्तिकयं२० रूवसत्तिकयं २१ परकिरिआसत्तिकयं २२ अन्नोन्नकिरिआसत्तिकयं २३ भावणा २४ विमुत्ति २५. ध.३.अ.

आयरणं आयायारो सो य पंचविहो णाणदंसण चरित्ततववीयारो य तस्स पकरिसेणं कप्पणा पकप्पणा सप्रभेदनिरूपणा आ.चू. ४ अ. । नि. चू. १ उ. ॥

आचारः प्रथमांगस्तस्य प्रकल्पोऽध्ययनविशेषोनिशीथामित्यपराभिधानस्य वाऽऽचारस्य वा साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पोऽध्यवसायामित्याचारप्रकल्पः । सम० स २८ ॥ आचारस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारीलक्षणप्रकृष्टकल्पाभिधायकत्वात् प्रकल्प आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययन आचारांगस्य निशीथाध्ययने, स्था० ५ ठा ।

यस्मात्तत्रदशविध आचारः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्य्याचारश्च प्रकल्पते स्थाप्यते प्रज्ञाप्यते इत्यर्थ इत्यत आचारप्रकल्प इति पं० चू० ॥

आचारप्रकल्पस्य नामधेयानि निशीथचूर्णौ यथा ॥

आयारपकप्पस्स उ, इमाइं गोणाइं णामधिज्जाइं ।
आयारमाइयाइं, पायच्छित्तेणहीगारो ॥ २ ॥ गाहा

आयरणं आयारो सो य पंचविहो णाणदसणचरित्ततववीरियायारोय तस्स पकरिसेणं कप्पणा पकप्पणा सप्रभेदप्ररूपणेत्यर्थः इमाइंति वक्खमाणात्ति गोणग्रहण पारिभासिय उदासत्यं तंजहा अमुद्दोसमुद्दो इदं गोवयतीति इदगोवगो एवं तस्स आयारपकप्पस्स णाम न भवति गुणानिप्फन्नं भवति "गुणनिप्फन्न गोणं, तचेव जहत्थ मत्थवीविंति तं पुण खवणो जलणो, तवणो पवणो पदीवो य ॥ १॥" णामाणि, अभिधेयाणि नामधेज्जाणि अहवा धरणियाणि वा धेज्जाति णामधेज्जाति सार्थकाणीत्यर्थः । आयारो आदीजेसिताणि नामाणि आयारादीणि पंच पायच्छित्ते अहीगारेत्ति भत्थेहं, दारं सीसो पुच्छति णणुं पायच्छित्ते अहिगारोत्ति पुच्छाहि अत्थाहिकार एव भणिओ आयरिओ भणति सव्वं तत्थ भणिओ इह विशेषज्ञापनार्थं भणाति अणत्थवि आयारस्स कणा कया इह तु आयारसरूव पायच्छित्तं परूविज्जति अहवा प्रायश्चित्ते प्रयत्न इत्यर्थः ॥

अहया इहभणिओ तत्थ दट्ठव्वो आयारमाइयानि अ भणियनाणि य इमाणि ॥

आयारो अग्गंति, पकप्पे तह चूलीया णिसीहंति ।
णिसीतं सुत्तत्थ तहा, तह आणु पुव्विअक्खातं ३॥गाहा॥

पसादारगाहा वक्खमाणसरूवा आयारमाईयाणि इमा सामण्णणिक्खेवलक्खणा गाहा ॥

आयारे णिक्खेवो, चउविधो दशविधो य अग्गम्मि ।
छक्कायपकप्पंमि, चूलीयाए निशीथे य।।४।। नि. चू.१उ.

आचारप्रकल्पः पंचविधः तथा च स्थानांगे ॥

पंचविहे आयारपकप्पे पं० तं० । मासिए उग्घाइए १ मासिये अणुग्घाइए २ चउम्मासिए उग्घाइए ३ चउम्मासिये अणुग्घाइये ४ अरोवणा ५। स्था. ५ ठा. ॥

आचारस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारी लक्षणप्रकृष्टकल्पाऽभिधायकत्वात्प्रकल्प आचारप्रकल्प निशीथाध्ययनं स च पचविधः । पंचविधप्रायश्चित्ताभिधायकत्वात्तथाह । तत्र केषुचिदुद्देशकेषु लघुमासप्रायश्चित्तापत्तिरूपवर्ण्यते १ केषुचिच्च गुरुमासापत्तिः२ एवं लघुचतुर्मास ३ गुरुचतुर्मासा४ रोपणाश्चेति ५तत्र मासेन निष्पन्नं मासिक तपस्तच्च उद्घातो भोगपातो यत्रास्ति तदुद्घातिक लघ्वित्यर्थः। यत उक्तं "अद्धेण छिन्न सेसं, पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं । देज्जाहि लहु य दाण, गुरुदाणं तत्तिय चेवत्ति ॥ १ ॥ पंचेवात्ति ।एतद्भावना मासिकतपोऽधिकृत्योपदर्श्यते । मासस्याऽर्द्धंच्छिन्नस्य शेष दिनानां पंचदशक तन्मासापेक्षया च पूर्वस्य पचविंशतिकस्याऽर्द्धेन सार्द्धद्वादशकेन सयुतं कृत सार्द्धा सप्तविंशतिर्भवतीति । आरोपणा तु (चढावणित्ति भणिय होइ) योहि यथा प्रतिसेवित मालोचयति तस्य प्रतिसेवानिष्पन्नमेव मासलघुमासगुरुप्रभृतिकं दीयते । यस्तु न तथा तत्तावद्दीयते एवमायासनिष्पन्नं चान्यदारोप्यत इत्यारोपणेति ॥ ठा० टी० ठा० ५ ॥

अस्याष्टाविंशतिभेदाः समवायाङ्गे यथा ॥

अट्ठाविसविहे आयारपकप्पे प० तं० ॥ मासिया आरोवणा सपंचराइमासीया आरोवणा सदसराइमासिया-आरोवणा सपन्नरसराइमासिया आरोवणा। सवीसइराइमासिया आरोवणा । सपंचवीसराइमासिया आरोवणा। एवं चेव दोमासीया आरोवणा सपंचराइदोमासीया आरोवणा एवं तिमासीया आरोवणा चउमासीयाआरोवणा उवघाइयाआरोवणा अणुघाइया आरोवणा कसिणा आरोवणा अकसिणा आरोवणा। एतावता आयारकप्पे एतावताय आयरियव्वे । सम. २८ स.॥

अत्रैव निगमनमाह ।

एतावांस्तावदाचारप्रकल्प इह स्थानके आरोपणामाश्रित्य विवक्षितोऽन्यथा तद्व्यतिरेकेणाऽपि तस्यैतद्धातिकरूपस्य भावात् अथ चैतावानेवाय तावदाचारप्रकल्पः शेषस्यात्रैवांतर्भावात् स. स. २८॥

आचारप्रकल्पो महानिशीथः । स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य य तृतीय वस्तु तस्यापि यदाचाराख्यं विंशतितम प्राभृतं ततो निर्यूढ इति आचा० द्वि. श्रु. अ. १ ॥

तथा च निशीथचूर्णौ ॥

निसीयं णवमा पुव्वा, पच्चक्खाणस्स ततियवत्थुउ ।

आयारनामधेज्जा, वासनिज्जापाहुडच्छेदा ॥ २१८ ॥
पुव्वगतेहिं तो पच्चक्खाणपुव्वंणाम णवमपुव्वात्तिस्स वीस वत्थु वत्थुत्ति वत्थुभूत वीस अत्थाधिकारात्तेसु ततिय आयारणामधिज्जं ज वत्थुं तस्स वत्थुस्स वीस पाहुडच्छेदो परिमाणपरिच्छिन्नप्राभृतवत् अर्थच्छेदपाहुडछेदा भणति। तेसु विजं वीसतिम पाहुडच्छेद ततो णिसीहं सिरू ॥
तथाच व्यवहारकल्पे ॥
आयारपकप्पो ऊ, नवमे पुव्वंमि आसि सोधीय ।
तत्तोव्वि य निज्जूढो, इहाणियतो किं न सुध्दिन्नवे ॥
आचारप्रकल्पः पूर्वं नवमे पूर्वे आसीत् शोधितश्च ततोऽभवत् इदानीं पुनरिहाचारांगे तत एव नवमात्पूर्वान्निर्यूढाऽऽनीतः । ततः किमेष आचारप्रकल्पो न भवति किं वा ततः शोधिर्नोपजायते । एषोऽप्याचारप्रकल्पः शोधिश्चास्मादवशिष्टा भवतीति भावः ॥ व्य० ३ उ० ॥
तथाच पचकल्पभाष्ये ॥
आयरदसाकप्पो ववहारो नवमपुव्वा णिसं दोचारित्तरक्खणट्ठा सुयकमस्सुवरिठविताइं अंगदसा अएहा वि हु उव्वासगादीण तेणतु विसेसो आयारदसा उइमो जेणेत्यं वण्हियायारो, दसकप्पववहारा एगसुतखंधे कइ इच्छंति । केइं च दसाएकं कप्पववहारवीयं तु रयणागरयाणीयं णवमं पुव्वं तु तस्स नीसदो परिगालपरिस्सावो ॥
(जम्हा तेण भगवता आयरपकप्पा दसाकप्पव्यवहाराय नवमपुव्वनिसदभूता निज्जूढा) तेनाऽसौपूजार्हः आयारपकप्प इति विधि यस्मात्तत्र दशविध आचारो ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारश्च प्रकल्पते ॥ व्याप्यते प्रज्ञाप्यत इत्यर्थः ॥ इत्यत आचारप्रकल्पः दशाकल्पव्यवहाराणां पूर्वोक्त निरुक्त ॥ पं. चू. ॥ एते दशाकप्पववहाराः किं कारण ॥
निज्जूढाचरित्तसारिस्स,रक्खणट्ठाए खळियस्स।
तेहिं सोहिं क्रिरति, तहो होति निरुपहतं । पं. भा ॥
चारित्र इति चारित्तरक्खणट्ठा गाहा पचप्रकार चारित्रं सामायिकाद्यमथाख्यातपर्यवसान तस्य रक्षणार्थं भूतिः रक्षायाः परिपालनार्थमित्यर्थः । प चू ॥
सूयकडुवरिठविता, जह्मा त पंचवासपरियायो ॥
सुयकममहज्जातितुत्तो, ज्जोग्गो होतिसो तेसिं ॥
सूत्रकृतांगस्योपरि व्यवस्थापित आह । किमर्थं सूत्रकृतांगस्योपरि व्यवस्थापित अथोवा न व्यवस्थापितः । उच्यते ।सूत्रोपदेशादिति यस्माद् व्यवहारसूत्रे तृतीयोदेशकेऽप्युक्तं त्रिवर्षपर्यायस्य कल्पते आचारप्रकल्प इति तया व्यवहारस्सेव दशमोदेशके सूत्रमस्ति त्रिवर्षपर्यायस्य कल्पते सूत्रकृतांगमुद्देष्टुं एतदर्थं सूत्रकृतांगस्योपरि कृता इति किं कारणं तेण भगवता नवमाओ पुव्वाओ नीणीओ उच्यते पं चू० ॥ पं० भा० ॥
अणुकंप्पा वोच्छेदो, कुसुमाभेरी तिगिच्छपरिच्छा ।
कप्पे परिसा य तहा, दिद्वंता आदिसुत्तंमि ॥ १ ॥

ओसप्पिणीसवणाणं, हाणिं एाउण आउगबलाणं।
होहिं तु वगधं, करा पुव्वगतं मि पहीणंमी ॥ २॥
खेतस्स य कालस्स य, परिहाणिं गहणधारणाणं च।
बलाविरिए संघयणे, सध्दाउच्छाहतो चे व ॥ ३ ॥
किं खेत्त कालो वा, संकुयति जेण तेण परिहाणी ।
भण्णइ न संकुयंति, परिहाणी तेसि तु गुणेहिं॥४॥
जणियव्वडुसमाए, गामा होहंति भमसाणसामाइय ।
खेत्तगुणहाणि काले, विउहोतिमाहाणि समये ॥५॥
समयेणंता परिहा, यंते उवएहमादीया ।
दव्वादीपज्जाया, अहोरत्तं तत्तीयं चेव ॥ ६ ॥
दुसमअम अएणुभावणं, साहुज्जोग्गा तु दुल्लभा खेत्ता
कालोवि य दुन्नक्खा, अन्निक्खणं होंतिरूमरायं ।७।
दूसमअणुभावेण यपरिहाणीहोति ओ सहबलाणं ।
तेएमणुआए पि, तु आउगमे हादि परिहाणि ॥ ८ ॥
दारा संघयणं पि य हिय इतत्तोय हाणीय धितिबलस्स भवो विरियं सारिरबलं तंपिय परिहातिसत्तं च हायंति यसद्धाओ गहणे परियट्टणे यमणुयाएं उच्छाहो उज्जोगो अणालमत्तं च एगट्ठाइयणा उं परिहाणि अणुग्गहट्ठाए एस साहुणं णिज्जूढणुकंपाए दिट्ठंतेहिं इमेहिं तु पगरणे चेरुणुकंपादट्ट विदेहेहिं होयगारीणं जहउमेवी यजत्त राएहा दिएहं जहएणवयस्स एवं अप्पतच्चिय पुव्वगतं केइ मा हु मरिहिं तिन्नाउयरिऊण ततो हेट्ठाओ तारियं तेहिं । दारं । मायहु वोच्छिज्जीहिती चरणणुउगोत्ति तेण णिज्जूढं। वोच्छीएहे बहुयं भी चरणाभावोभ विज्जाहि कहं पुण तेण गेहं तु दिएहाइं तत्थीमो तु दिट्ठतो जहकोई दुरारोहो समुरभिकुसुमो तु कप्पदुमो पुरिसा केइ असत्ता तं आरोहुण कुसुमगहणट्ठा तेसिं अणुकंपणट्ठा कोइ ससत्तो समारुह्य घेत्तुं कुसुमा सुहमहणहतुगं गाधिउं दल्ले तेसिं तह चोदसपुव्वतरु आरुढो। भदवाहू तु अणुकंपट्ठा गुंथितुं सुयगमस्सुप्पिरं ववेवीरो । दारं । तं पुणतो वयेसेण वेव गाहितं एसेच्छाये अह गाहिए दोसो असाह गाहेंति नाणमाईणं केसवभेरीणि तं वक्खातं पुव्वसामइए अहवा तिगीच्छ उ तुज णाहियं वावी उसहं देज्जा तेहिं तुण कज्जसिध्दि विवरीयए भवाति दाणं पारिच्छपरिच्छीतु यकप्पमादि दबं ति जोग्गस्स परिणामादीणं तुदारुगमादेहीं णात्तेहिं पारिच्छा आदिसुत्ते पुव्वं भणियातु जाउ विहिसुत्ते सेण घणादि परिसा पूरंताइ यभासिहिं परिसा । दारं । भणितं कप्पदारं ॥ कमेण हु इदाणिं किं पुण उक्कमकरणं बहुत्तव्वात्ते नाउणं किंपुण कप्पज्झयणे वं निज्जइ

भवति पुण सुतावजे अभिविदिता तु अच्छा तहियंतेऊ-समाणं । पं० भा० ॥

उसप्पिणी समणाण । गाहा । जम्हा उसप्पिणी दोसेणं । परिहायंति साहूणं आउयं बलं बुध्दियपतन्नि-मित्तं उवग्गहकरा भविस्संति पुव्वगये परिहीणे किंच खे त्तस्स य कालस्सय । गाहा ॥

खेत्ते ताव उसप्पिणिं, चेव पमिच्चपरिहाणी ।
महणधारणाणं, च तहा बलाविरियं ॥

बलं सारीरं वीरियं वीर्यं व्यवसायो वा तहा संघयण सध्दा मेधा उयं च खेत्तदोसणयं परिहायंति । गाहा ।
अणुकंपा वोच्छेए उक्तं च सिध्दसेनक्षमाश्रमणगुरुभिः ।

पालाइणणुकंपा, संखम्मिकरणंमि गाहवोच्छेयं ।
मि पङ्खाओ मेय पीय, भतंरं षीदिणंजणवयस्स कुसुमो ॥

इति तवनियमनाणरुक्खंगाहा भेरीचंदणकंयाते इच्छि त्ति पालगिलाण गाहा । तेण भगवता अणुकंपिएण भावो च्छिज्जीस्संतीति कातंदुरारोहमिवयादवं आरुह अप्पणा मालिताणि कुसुमाणि अवेसिं च दत्ताणि तवोदुवा-लसविहो णियमा इंदियनो इन्द्रियनियमनिग्रहः।निरोध इत्यर्थः ।इंदियनियमोसो इंदियविसयपयारनिरोहो वा सो इंदियपत्तेसुवा अत्थेसुरागदोसनिग्गहो जाव फासिंदियं नो इंदिय अकुसल मणनिरोहो । वा कुसलमणओ ईरणं वा मणसो वा एगत्तिभावकरणं । कोहस्स उदय निरोहो वा उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं जाव लोभस्स ।
तपसा नियमेन ज्ञानेन चसम्प्रयुक्तो वृक्षः किंच सम्यगदर्शनचारित्रतपोनियमसंयमस्तं समवृक्षादेव तत्पुरुषः समासः। ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मक एव वृक्षः । ततस्तेन भगवता भद्र-बाहुना पूर्वरत्नाकरश्रुतसमुद्रात्प्रयत्नेनाहृतः उद्धृतमित्यर्थे न तु स्वेच्छयातेनाऽसौश्रुतकर्त्ता ऋषिरित्यपदिश्येत ऋषिरित्यय-स्यानार्जवेति ऋषिः यस्मादसौ भगवतामार्ज्जवे सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रात्मके निर्वाणमार्गे व्यवस्थित. ।
इर्यादिभिश्च भमितिभिर्युक्त इत्युक्तो ऋषिः ।

सेपुण अप्पणो इच्छाए सुत्तं अत्थंवा करेइ तस्स सुत्ते चउलहु अत्थे चओ गुरू । आणाइ य विराहणादि हंतो वंदणभेरीय वासुदेवस्स असिवप्पसमणे सा कृता कंथा पच्छा अहया नप्प समेइ एव सच्छंदविगप्पिए सुत्तं मोक्खस्स असावकं भवाति पितिया पासत्याउप्पत्ति वंने यथा दोएह विभेरिणं कप्पव्ववहारा पुणपुरिसंपरिक्खि ऊण दिज्जंति जहा आइसुए पुरिसा परिसा परियासे लघणं कुम्ग गहा एवं सुसिस्सदिज्जंति ॥
तत्रशैलघनभिन्नकुटचालनीमसकमार्जारदय अनर्हा हसमे पजशूकजाहकादयो योग्याः । प चू ॥
आचारप्रकल्पश्च कस्मै उद्दिश्यते कस्मै नेति(उद्देस)शब्दे ॥

आयार पकप्पोत्तिवा सपरियागस्स आरेण तंदिज्जति निवास परियागस्स वि अपरिणामगस्स अतिपरिणा मगस्स वा न दिज्जति आयारपकप्पो पुण परिणामगस्स दिज्जति नी चू० १ उ. ।

एगविहकुसुमपुज्जो, वया रसरिसा उकेइ अहिगा ।
सस्सवतिं भूमिभावित, गुणसति वप्पे पकप्पंमि । ४१६॥

अणेगजातियाहिं अणेगवण्णेहिं पुप्फावयारोकओविय ती दीसत्ति एवं सुतत्य विकप्पिया अणेगविहा अधिकारा दट्ठव्वा कहं उच्यते प कप्पो सो केरिसो गुणस इव प्रतुल्ले वप्परुपक इमंसस्संयस्यां भूमौविज्जते सासस्यवती सस्ययुक्ता कचिच्छा-लि कचिदिक्षुः कचिज्जवा काचिद्गोह्यः भावितो गुणेहिं ओ सो भावितगुण. गुणगत इत्यर्थः । तवगुणा सतिमादि सती णामविशिष्ट समृध्दिनिरुपहतत्वं इतिवर्जितत्ववहुफलं च पभि गुणैरुपपेतोवप्र. । इदाणिं उवण उवप्पो इव पकप्पो षालि-मादीणि वा उद्देसत्थाधिका सस्यवृध्दिरिव अनेकार्थे निरुपहत-मिवदोषविवर्जित इति वर्जितमिव पासत्थचरगादि संक्षेप वर्जिता बहुत्यमिति पदि कल्पतिर्सभवात् ॥ इहशैकप्रकल्पे अनेकार्थाधिकारा इत्यर्थः ॥
एव पुण कप्पज्झयणं कस्स ण दायव्वं केरीसगुणयुतस्स वा देयव्वं अतो भणति गाहा ।

भिएणरहस्सवतार, निस्साकर एव मुक्कयोगी वा ।
छव्विहगति गुविलं मी, सो संसारे भगविदीहे । ४१७।

भिएणरहस्सो णाम जो अववादपदे अयोसिं कप्पियाण सीहति णिस्साकरणाम यो किंचि अववादपद लभित मुसल पडिव-वइ । मुक्कयोगीणाम जेण मुक्को योगो णाणदसणचरित्त तवणियमसयमादिसु सो एस मुक्कयोगी । परिसस्स जोदेति सो ससारे चउप्पगारे वा पचप्पगारे वा छप्पगारे वा एव मादिगति गुविले गुविलोत्ति गहणो दुष्पा वयतीति घोरा परिसे ससारे भामिहिति दिह काल परिसे सुण दायव्वा एएसिं पडिवक्खा जे ते सुदायव्वा ॥
ते य इमे गाहा ॥

अरहस्स दारए पारय,य असट्ठकरणे तुल्लोवमे समिते ।
कप्पाणु पालणादीवणा, य आराहणछिण्णसंसारो ।४१८

अतीवरहस्स तंजो धरेति सो अरहस्स धारगो जो त अरहस्स एक दो तिषि वादिणा धरेति ण तेण अहिगारो जात रहस्सधरण जीवियकाल पार णेति तेण अहिकारो असढकारणो णाम सव्वत्यादान जो अप्पाण माया पढाति असढो हेऊण कसिण करेति तुलसमो णाम सममट्ठिता तुला जहा ण मम्मतो पुरओ वा णमाति एव जो रागदोसविमुक्को सो तुल्लासमो भणति । समितो णाम पचहिं समितिहिं समिता ए गुणसंपओवेते परेतो एयं गुणसपउत्ते यादि विणयकप्पाणु पालणा कया भवति । अहवा पकप्पे ज जहा भणित तस्स अणुपालना जो करेति तस्स देयो यकप्पाणुपालणा एय दीवणे कअयोसिं दिविय दरिसिय गमिय एव कायव्वमिति अह वा दीवणा जो अरिहाण अणालस्से घक्खाण ण करेति तस्सेय देयति दीवणाए य मोक्खमग्गस्स आराहणा कता भवति । आराहणायेय चउगति गुविलो दीहसण-वयग्गो छिण्णमिय ससारे जं त सिवमयलयमरुयमक्खयम-व्वाबाहमपुणरावत्तयठाण न पावति त च पतो कम्मविमुक्को

सिद्धो भवति ॥ नि० चू० २० उ० ॥

अथाचारप्रकल्पाया निर्ग्रन्थ्याः प्रवर्तिनीत्व गणावच्छेदिकात्व च नोद्दिश्यते । तथा च व्यवहारसूत्रम् ॥

णिग्गंथिस्स णवडहरतरुणगस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया से य पुच्छियव्वे केण केण कारणेणं अज्जो आयारकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया किं आवाहेणं उदाहु पमायेणं सेवएज्जा णो आवाहेणं पमायेणं जाव जीवाए तस्स तप्पतियं णो कप्पति आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तएवा धारितए वासेयवएज्जा आवाहेणं णो पमाएणं से य संठ विस्सामिति संठवेज्जा । एवं से कप्पति आयरित्तं वा जाव गणावच्छेय्यत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तं सेयसवच्छेसा म्मिति णो संठवेज्जा एवं से णो कप्पति आयरियत्तं वा जावगणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तएवा ॥ १४ ॥ णिग्गंथिएणं णवडहरस्स तरुणियाए आयारकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया साय पुच्छियव्वा केण कारणेणं अज्जे आयारकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया किं आवाहेणं पमाएणं सायवएज्जा णो आवाहेणं पमाएणं जावजीवाए तीगसे तप्पतियं णोकप्पति यं पवित्तिणं वा गणावच्छेइणितं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तएण वा सायवदेज्जा आवाहेणं णो पमाएणं सायसंठवेस्सामिति संठवेज्जा । एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा स यं संठं विस्सामिति णो संठवेज्जा । एवं सेनो कप्पति पवित्तिणित्तं वा गणावच्छेइणियत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा- ॥ १५ ॥ व्य ५ उ. ॥

(निग्गंथिएणवडहरतरुणाए) इत्यादिसूत्रार्थक अस्य व्याख्या । निर्ग्रन्थ्या नवडहरतरुणया वक्ष्यमाणस्वरूपाया आचार प्रकल्पो नामाध्ययन परिभ्रष्टं स्यात् सा च प्रष्टव्या केन कारणेन आचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टमभवत् किमाबाधेन प्रमादेन वा एवं प्रष्टा सती सा यदीति गम्यते वदेत् नो आबाधेन किं तु प्रमादेन तर्हि यावज्जीव तस्यास्तत्प्रत्यय प्रमादतोऽध्ययननाशनप्रत्यय नो कल्पते प्रवर्तिनीत्व वा गणावच्छेदिकात्वं उद्देष्टु नापि तस्याः स्वय धारयितु अथ सा वदेत् आबाधेन नष्टं न तु प्रमादेन सा च नष्टमध्ययन सस्थापयामीत्युक्त्वा सस्थापयेत् एव तर्हि (से) तस्याः कल्पते प्रवर्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिकात्वं वा उद्देष्टुमनुज्ञातु स्वय धारयितुमथ नष्टमध्ययनं संस्थापयिष्यामीत्युक्त्वाऽपि न सस्थापयेत् एवं तर्हि (से) तस्याः न कल्पते प्रवर्तनीत्वं वा गणावच्छेदिकात्वं वा उद्देष्टुं वा स्वयं वा धारयितुमिति एव निर्ग्रन्थसूत्रमपि भावनीय ॥

(नवडहरतरुण) व्याख्यानं च प्रागुक्तमवसेय (तेवरिसो होइ नवो) व्रतपर्यायेणेतिवाक्यशेषः । आसोळसगं तु जन्मपर्यायेणेति गम्यते । डहरगं चेति (तरुणोवत्तासत्तरुणमज्झिमो थेरमो सेसो) आचार्यत्वं वा यावत्करणादुपाध्यायत्वं प्रवर्तित्वं स्थविरत्व चेति परिग्रहः शेषं तथैव । अत्राह शिष्यः । पुरुषोत्तमो धर्म्म इति पूर्वं निर्ग्रन्थसूत्रंवक्तव्यं पश्चान्निर्ग्रन्थीसूत्रं । पूर्वत्र वाऽध्ययनदूये पूर्वं निर्ग्रन्थसूत्राण्युक्तानि पश्चान्निर्ग्रन्थीसूत्राणि अत्र विपर्ययः कृतः । सूरिराह ॥

जइवि य पुरिसादेसो, पुव्वंतहवियविव्वज्जओ जुत्तो ।
जिण समणि उपगया य, पमायबहुला य अथिरा य ॥

यद्यपि च पुरुषोत्तमो धर्म्मः पूर्वत्रऽध्ययनदूये पूर्वं पुरुषादेशास्तथाप्यत्र विपर्ययो युक्तः केन कारणेनेत्याह । येन कारणेन श्रमण्यः प्रकृत्या तथा प्रायः श्रमण्यः प्रमादबहुला अस्थिराश्च न तु श्रमणा अध्ययनस्य च नाशः प्रायः प्रमादस्ततः श्रमण्यधिकाराद् धिकृतसूत्रार्थस्थामत्वात् पूर्वं निर्ग्र सूत्रमुक्त पश्चान्निर्ग्रन्थसूत्रं ।

नवडहरतरुणीनां व्याख्यानमाह ।

तेवरिसा होइ न वा, अट्ठारसिया डहरिया होइ ।
तरुणी खलु जा जुवइ, चउरो दसगा ववुत्तासा ॥

व्रतपर्यायेण यावत्त्रिवर्षा तावन्नवतिन वा जन्मपर्यायेण याव दष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा तावन्नवति । डहरिका तरुणी खलु तावद् डहरिका यावत् युवतिः । अथवा पूर्वोक्तास्तृतीयोद्देशके नवडहरतरुणिसूत्रे ये अभिहितास्तरुणचत्वारो दशकाश्चत्वारिंशद्वर्षाणीत्यर्थः । तेऽत्रापि तरुण्या द्रष्टव्याः । १४ । १५ ॥

सा एव गुणोवेया, सुत्तत्थेहिं पकप्पमज्झयणं ।
सयाहिं ज्जिया इतो आ, वि आगया न वय अया ॥

सा नवडहरा तरुणी एतावद्गुणोपेता सूत्रार्थान्यां प्रकल्पनामकमध्ययनमधीता अधीतिनी । ततः सा प्रवर्तिनित्वस्य योग्या सूरिभिः संसाधिता । अथ च तस्याः सूत्रतोऽर्थतश्चाचारप्रकल्प परिभ्रष्ट स कथं ज्ञात इत्याह । इतश्चापि आगता अन्यगच्छादन्या साध्वी उपसंपन्ना । सा विज्ञापयति ॥ कथमित्याह ॥

अत्थेण मेधाकप्पो, समाणितो न य जिनो महं भंते ।
अमुगा मे संघाडं, ददंतु वुत्ता तसा गुरुणा ॥

हे भदन्त ! भगवन् अर्थेनार्थतो मम आचारप्रकल्पः समानीतो समाप्तिं नीतः । परं न च न वै मम स जिनः परिचितोऽभूत् । ततोऽमुकायाः प्रवर्तिनीत्वेन संभाविताः सघाट पूज्या ददतु । एव तया विज्ञप्तं गणिना आचार्येण सा उक्ता । आर्ये ! देहि (से) तस्याः सघाटं ॥

सा दाउं आढत्ता, नवरं पणट्ठं न किंचि आगच्छे ।
एमेव मुणंति चिट्ठति, मुणिया य सा तीये ॥

संघाटं दातुं प्रवृत्ता परावर्तयितु व्याख्यातु च प्रवृत्ता इत्यर्थः । न वरिष्ठं तत्रध्ययन न किमप्यागच्छति केवलमेव मुणमुणन्ती अव्यक्ताक्षर किमपि ब्रुवती तिष्ठति । ततः सा तया मुणिता यथा न किमप्येतस्या आगच्छति ॥

पुनरवि साहती गणिणो, सा नट्ठसुया दवाहमे अन्नं ।
अब्भकखाणंपि सिया, वाहितुं होइमा पुच्छा ॥

ततः सा पुनरपि गणिन आचार्यस्य कथयति । यथा नष्टश्रुता तस्मान्ममान्यां सहायां ददतु । एवमुक्ते आचार्येण विचारयितव्य । सत्य । किं परिभ्रष्टं तस्या अध्ययनं किं वा

न को जानाति अन्याख्यामपि काचित्केनापि कारणेन प्रष्टि ष्टा सती दद्यात्ततस्तां व्याहृत्य तस्या इयं वक्ष्यमाणा पृच्छा कर्तव्या ॥

तामेवाह ॥

दंरुकगहनिक्खेवे, आवसियाए निसीहिया ।
गुरुणं च अप्पणामे य जणसु आरोवणा काउ ॥

दंरुकस्य प्रत्युपेक्षा प्रवर्जना व्यतिरेकेण ग्रहणे निक्षेपणे च तथा आवशिक्या नैषेधिक्याश्चाकरणे बहिः प्रदेशादागच्छ ता बसतेः प्रवेशे नमः क्षमाश्रमणेभ्य इत्येवं गुरूणामप्रणा मा च प्रणामाकरणे च का आरोपणा प्रायश्चित्तं भवति ॥

पुट्ठा अनिव्वहंती, किर्हि नट्ठं वाहतो पमाएणं ।
साहेइ पमाएणं, सोय पमादो इमो होइ ॥

सा एव पृष्टा सती यदि न निर्वहति न यथावस्थितमुत्तरं ददाति । तदा सा अनिर्वहंती भूयः प्रष्टव्या । कथ केन कारणेन ते नष्टमाचारप्रकल्पनामकमध्ययनं किमाबाधेन, उत प्रमादेन । तत्र यदि सा कथयति प्रमादेन । स च प्रमादोऽयं वक्ष्यमाणो भवति ॥ तमेवाह ॥

धम्मकहनिमित्तादि, उपमातो तत्थ होइ नायव्वो ।
मलयवइगणसेणा, तरंगवइयाओ धम्मकहा ॥

तत्र तस्यां संयत्यां धर्मकथानिमित्तादिक आदिशब्दात् ग्रहचरित्तादिपरिग्रहप्रमादो भवति ज्ञातव्यस्तत्र धर्मकथा मलयवतीमगधसेनातरंगवती । आदिशब्दात् वसुदेवहिंरुधा- दिपरिग्रहः । एतां कथामधीयानाया विस्मृतिगतं प्रकल्पनाम- कमध्ययनं ॥

गहचारियविज्जमन्ता, चुसानिमित्तादिणा पमाएणं ।
नट्ठंमि संधयंती, असंधयंतीवमानल्लत्तो ॥

गहचरित्तं ज्योतिष्कं । ससाधना विद्या । साधनरहितोमंत्र- श्चूर्णो योगचूर्णः । निमित्तमतीतादिभावकथनमादिशब्दात् कुहुकशास्त्रादिपरिग्रह इत्यादिना प्रमाणेन इत्याद्यध्ययनलक्ष- णेन प्रमादेन नष्टे प्रकल्पे नाम्नि अध्ययने यदि भूयः सा तत्संदधाति । यदि वा न संदधाति तथापि सा सदधति वा यावज्जीवं गणं न लभते ॥

जावजीवं तु गणं, इमेहि नाएहि लोगसिद्धेहिं ॥
अतिवालवेज्ज जोहे, धणुगाइजणफलगेण ॥ १ ॥

यावज्जीवं गणं न लभते । एभिरजापालकवैद्ययोधैर्लोकासि- द्धैर्ज्ञातैस्तत्र योधे प्रमादाचरित सम्यग्विदित धनुरादिनिर्धनु- र्भग विमर्म्म इह जीवाञ्छिद्यविच्छिन्नाकांक्षान्यसाक्षितानि । न केवलमेतैर्ज्ञातैः । किन्तु भग्नफलकेन सहितपतितमलय- नवज्ञातेन ॥

तत्र प्रथममजापालकदृष्टान्तमाह ॥

खेल्लंतेण उ अइया, पणासिया जेण सो पुणो न लभे ॥
सूआधिरूपा नट्ठा, विलहति एमेव उत्तरिए ॥ १ ॥
कोइ अयवा लोवे, एण आयातो रक्खेइ तेण ॥
तणता वहगादि, खेल्लणादिहि पमाएहिं ॥ २ ॥
नासियातोसो अच्छा, तो दवावितो जणइ पुणो ॥
रक्खामि न परिसंकहामि, सो एवं जणंतो त्ति ॥ ३ ॥
जावज्जीवं अन्नस्य, निलहति अहमुलं सेलाट्ठियं जरोवा ॥
अतिआ जरो आगतो, तेनानट्ठा ततोहो सो पुणा
विलभते रक्खिउं ॥ ४ ॥

अकरगमनिका । येन खेलनाभूतादिना क्रीडता अजिका प्रणाशिता स पुनर्न लभते यावज्जीवमन्यत्राऽप्यजा यद्वितु भय शूलादिरुजा अत्रादिशब्दादत्यातुरज्वरादिपरिग्रहस्ता अजा नष्टास्ततः पुनरपि लभते ॥

अधुना वैद्यज्ञातं भावयति ॥

जति से सत्थं नट्ठं, पेच्छइ पेसच्छ कोसगं गंतु ॥
हीरति कट्ठंकिएसुं, जोगो जूयादिदप्पेणं ॥
कोइ वेजोरच्चे कयं विचीतोतेणं जूयपमादेण विसयपमा- देण विज्जसत्थं नासियं सत्थकोसगाणि पच्छणगादी- णि किढकट्ठंकियाणि न निसीयइ । अएणया रएणं कज्जं जायं सद्दावितोविज्जोसो किछवदेसं न किंचि सकेइ बोतुं ततो रएणा जाणियं किमियं ततो सो जणइ मेपोत्थगा- चोरेहि हिया पारिपुच्छगं पि नत्थितो मम नट्ठं वेज्जस- त्थं नात्थि पुण मम अप्पोपमातो जेण वेज्जसत्थं नासियं ताहे रच्चा पुरिसा पेसिया ॥

यदि (से) तस्य शास्त्रं नष्टं तर्हि (से) तस्य यूयं गत्वा शास्त्रकौ- तुकं प्रेक्षध्व ह्रियते राज्ञः समर्प्यते । इष्टानि राज्ञा समस्तानि प्रतक्षणकप्रभृतीनि शास्त्राणि किढकलकितानि ततस्तेषु कलकितेषु दृष्टेषु ज्ञातं यथा द्यूतादिदर्प्पेण द्यूतादिना प्रमादेन विनाशितं वैद्यशास्त्रं ततो भोगाच्छिन्न पश्चादन्यत्र गत्वा वैद्यशास्त्रं पुनरप्युज्ज्वाल्य समागतो भूयोऽपि राज्ञः समीपे भोगान् याचते स च याचमानोऽपि न लभते एवं लोकोत्तरेऽ प्युपनयभावना प्राग्वत्कर्तव्या ।

योधदृष्टांतमावनार्थमाह ॥

वुक्को जइ सरवेही, तहा विपल्लोएह से सरे गंतुं ॥
अकलंककलंकं वा, जग्गमजग्गाणि य धणूणि ॥ १ ॥
कोइ जोहो धणुव्वेयं, अहिज्जितो गुरुवएसेण ॥
अब्भासेण य सो, अपासंतो विसहेणं ॥ २ ॥
विधंति रच्चा कयए भूय, वितिनो कतो अजया तेण ॥
विसयपमाएण तं, धणुव्वेय सत्थं तं च ॥ ३ ॥
अब्भासकरणं नासियं, अच्चया युद्धकज्जेसमावडिए ॥
एन किंचि सकेइ, विंधिउं पराजिणिउं ॥ ४ ॥
वारसा पुच्छितो, किमेयंति सो जणइ ॥
नत्थि मे पमादो ताहे रएणाजणियं ॥

यदिनाम प्रथमादाकरणत एकस्वरवेधी चुक्कोऽलस्तथापि (से) तस्य शरान् गत्वा प्रलोकयत् कितव शरजालमलकं वा ध- नूंष्यपि नभान्यजग्नानि वा दृष्ट शरजालकं कलकित धनूंषि च भग्नानि ततो ज्ञातं प्रमादतः सर्वं नष्टं इतो वृत्तिच्यवच्छेदः सोऽन्यत्र गत्वा धनुर्वेदमभ्युज्वाल्य इतान्यास पुनरागतो वृत्तिं याचमानोऽपि यावज्जीवं न लभते एवं लोकोत्तरेऽप्युप- नयः प्राग्वत्कर्तव्यः । फलकज्ञातमाह ॥

फलाहियस्सवि एवं, जइफलतो जग लुग्गोतो ॥

जोगोहीरति सव्वेसिं. पि य नजोगहारो नवेकज्जे ॥१॥
कोई अणेगवनप्पाति, पत्तसागादिकलिए ॥
फलए केणावि, निउत्तो सोवि सयपमाएणं ॥ २ ॥
जयपमाएण वा, न रक्खइ न य पालिएणं ॥
पालेंति सोय फलहो, लोगे णाणरूवे हि य ॥ ३ ॥
उक्खुम्मितो सुक्को, य न किंचि ततो वणफलादि ॥
आगच्छइ, फलह सामिणा नाणियं ॥ ४ ॥
किमियं सो जणइ, किं करोमि रक्खेमि तानअहं ।
नत्थि मे पमादो, वतो फलहगामिणा फलहो
गवेसावितो ॥ ५ ॥

तयाचाह (फालकिकस्य) फलकस्वामिन एवं पूर्वदृष्टान्तेषु राज्ञ इव फलगवेषणा चिन्ता जाता । यदि फलको नममुम्रो भविष्यति ततोऽस्य भोगो न्हियेत गाथायां "वर्तमानसामीप्ये व र्तमानवद्"तिवचनतो भविष्यति वर्तमानता कस्मात् हरिष्यते इत्याह कार्ये प्रयोजने समापतिते सर्वेषामपि कुटुंबजनानां भोगहारो न स्यादिति हेतो. सम्यगवेषणे कृते फलको नममुम्रो ऽथ नम्रो गोरूपादिर्निर्विघ्यसनात् लुभो जलसेवनाकरणतस्त-तस्तस्य वृत्तिश्छिन्ना ततो नाहं भूय एवं करिष्यामीति याचमा नोऽपि यावज्जीव न लभते वृत्तिमेवं लोकोत्तरेऽप्युपनयः कर्त-व्यस्तमेवाह ॥

एवं दप्पपणासिते, ण विदिति गणं पकप्पमज्झयणे ॥
आवाहेणं नासिए, गेलण्णादिण दलयंति ॥ १ ॥

एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तप्रकारेण दर्पतो धर्मकथाध्ययनतो व्याक-रणाध्ययनतो निमित्तशास्त्राद्यध्ययनतो वा इत्यर्थः ।प्रणाशिते प्र-कल्पनाम्न्यध्ययने यावज्जीवमाचार्यास्तस्या गणनदद ति आबा-धितग्लानत्वादिना पुनर्नाशितो भूयः प्रज्वालित दलयंति प्रयच्छंति ।एतदेव सप्रपञ्च भावयति ॥

गेलण्णे असिवे वाओ, मोयरिया य रायदुट्ठे वा ॥
एएहिं नासियं मी, सन्धे माणिए दिंति गणं ॥ १ ॥

ग्लानत्वे वा जाते ग्लानप्रतिजागरणे वा कृते अशिवे वा समुपस्थिते अवमौदर्ये वा दुर्भिक्षे जाते भिक्षापरिभ्रमणतो राजद्विष्टे वा पलायनतो वा यदि नष्टं प्रकल्पनामकमध्ययनं तत एतै. कारणैर्नाशितेऽपि पुन सम्यग्धंतया गण ददाति प्रय-च्छंति ।

तदेवं निर्ग्रंथीसूत्रं भावितमथधुना निर्ग्रन्थसूत्रं विभाव-यिषुराह ॥

एवमेव य साहूणं, वागरणनिमित्तछन्दकहमादी ।
वीइयं गिलाणतो मे, अद्वाणो चेव थूभेय ॥

एवमेव अनेन प्रकारेण साधूनामपि सूत्रं भावनीय नवरं तत्र प्रमादो व्याकरणनिमित्तच्छदः कथा वधीयानस्य प्रतिपत्त-व्यः ॥द्वितीयमावाधलक्षण कारणं सूते। ग्लाने ग्लानप्रतिजागरणे वा अवमौदर्ये अशिवादिकारणतोऽध्वनि वा गमने स्तूपे वा-रूपस्यमियमत्र भावना । यदि व्याकरणाध्ययनतो निमित्त शास्त्राध्ययनतश्छन्दः शास्त्राध्ययनतो धर्मकथाध्ययनत आदि-शब्दाद्विद्यामन्त्रादिव्याक्षेपतो यदि प्रकल्पाध्ययनं नाशित तदा पश्चादुज्ज्वालितेऽपि यावज्जीव तस्मै गणं सूरयो न प्रयच्छंति अथ ग्लानत्वाद्याबाधतो नाशितं तदा तस्मिन्पुनरु-ज्ज्वालिते प्रयच्छंति प्रमाददोषाभावात् तत्र ग्लानत्वाविषय आ-बाधः प्रतीतः ॥

सम्प्रति स्तूपविषयमाह ॥

महुरा खमगाया, वणदेवयआउट्टआणवेज्जत्ति । किं मम असंजतीए, अप्पत्तिय होहिती कज्जं। थूभत्ति तत्थ भणिव्वुवि वा य छम्मास सघो को ॥ सत्तोखमगस्सग्गा, कंपणखिंस-णमुक्का कयपभगा ॥

मथुरायां नगर्यां कोऽपि क्षपणक आतापयति यस्यातापनां दृष्ट्वा देवता आवृता तमागतमागत्य वन्दित्वा ब्रूते यन्मयाकर्तव्यंतन्म-माज्ञापयेद्भवानिति । एवमुक्ते स क्षपकेण भण्यते । किं मम कार्यमसंयत्या भविष्यति । ततस्तस्या देवताया अप्रीतिकम-भूत्। अप्रीतिवत्यचेतनयोक्तमवश्यं तव मया कार्यं भविष्यति। ततो देवतया सर्वरत्नमयः स्तूपो निर्मितस्तत्र भिक्षवो रक्तपटा उपस्थिताः अयमस्मदीय. स्तूपस्तैः समं संघस्य षण्मासान् विवादो जातस्ततः संघो ब्रूते । को नामात्राऽर्थे शक्त: केनापि कथितं यथा अमुक क्षपकस्ततः सघेन स भण्यते क्षपक ! कायोत्सर्गेण देवतामाकंपय । तत. क्षपकस्य कायोत्सर्गकरणं देवताया आकम्पनम् । सा आगता ब्रूते । संदिशत किंकरो-मि क्षपकेण भणिता तया कुरुत यथा सघस्य जयो भवति ततो देवतया क्षपकस्य खिंसना कृता । यथा एतन्मया असयत्या अपि कार्यं जातं एव खिंसित्वा सा ब्रूते । यूयं राज्ञः समीप गत्वा ब्रूत । यदि रक्तपटानां स्तूपः । ततः कल्ये रक्ता पताका दृश्यतां अथाऽस्माकं तर्हि शुक्ला पताका । राज्ञा प्रतिपन्नमेवं भवतु ततो राज्ञा प्रत्ययिकपुरुषैः स्तूपो रक्षापितो रात्रौ देव तया शुक्लपताका कृता । प्रभाते दृष्टा स्तूपे शुक्ला पताका जितं सघेन व्य० सू० ५ उ. ॥

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयारपकप्पे णाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया कप्पति तेसिं ठवेत्ताएं वा आयरियत्ते वा जावगणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तएवा धारेत्त एवा ॥
व्य. ५ उ. ॥

व्या०स्थविराणांऽस्थविरभूमिं प्राप्तानामाचार्यपद प्राप्तानामा-चारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात्कल्पते । तेषां सूत्रं सं स्थापयतामसंस्थापयतां वाचार्यत्वं वा यावत्करणादुपाध्या-यत्व वा इति परिग्रहः । गणावच्छेदकत्वमुद्देष्टुमनुज्ञातुं-जीर्णमहत्त्वकरणतः सूत्रधरणशकनात् । एष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥

सम्प्रति भाष्यविस्तरः ।

सुत्ते अणिते लहुगा, अत्थे अणिते धरेंति चउगुरुगा ।
सुत्तेण वायणा, अत्थे सोही तो दोह णुण्णाया ॥

इद सूत्रमापवादिकमुत्सर्गतः पुनः सूत्रे अनागच्छति यदि गणं धारयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । अर्थेऽ-नागच्छति यदि गण धारयति चत्वारो गुरुकाः । आज्ञादयश्च दोषास्तस्मादुभयधारणगणोधारयितव्यः। किंकारणमत आह सूत्रेणगच्छता वाचनां ददाति । अर्थेनागच्छता प्रायश्चित्त-स्थानमापन्नानां शोधिं करोति । तस्मात् द्वाभ्यामपि संपन्नो गणधारणेऽनुज्ञातः ॥

अवियविणासुत्तेणं, ववहारे उअपच्चतो होइ ॥
तेण उभयधरो ऊ, गणधारि सो अणुण्णातो ॥ १ ॥

अपि च विना सूत्रेण व्यवहारे क्रियमाणे अप्रत्ययो भवति।

तस्माद् व्यवहारे अर्थनिर्देशं कुर्वता सूत्रमवश्यमुच्चारणीयं। यथा इदं सूत्र तस्मादयमेवाथ व्यवहारस्ततः प्रत्ययो भवति तेन स गणधारी उभयपरोऽनुज्ञातः॥

असती कज्जोगी पुण, अत्थेयं तं किमप्पतिधारेउं ॥
जुम्ममहल्लो सुत्तं, न तरति पच्चुक्कयारेउं ॥ १ ॥

उभयधरस्य असत्यभावे यः कृतयोगी नाम यः पूर्वमुभयधर आसीत्। तदानीं सोऽर्थे समागच्छति गणं धारयितुं कल्पते। अथ केन कारणेन तस्य सूत्रमानशात् अत आह॥ (जुषं महल्लो) इत्यादि जीर्णो नामैको नो महान् यस्तरुणक एव सन् जरसा परिणतो जातः नो जीर्णो महानिति द्वितीयः। यो वृद्धोऽपि सन् दृढशरीरः जीर्णोऽपिच तृतीयः। नो जीर्णो नो महानिति चतुर्थः। एष शून्यशेषाणां तु त्रयाणामेकतरो न शक्नोति प्रत्युज्ज्वालयितुमतः सूत्रं तस्य नश्यति॥

उभयधरंमि उ सीसे, विज्जंते धारणा उ इच्छाए ॥
मा परिभवनयाणं वा, गच्छेवअणिच्छमाणंमि ॥ १ ॥

उभयधरे सूत्रार्थधरे शिष्ये विद्यमाने स्वयं गणस्य धारणा इच्छया स्वयं वा गण धारयति तस्य वा शिष्यस्योभयधरस्य ददाति सह गणस्य शिष्यस्य वा भावं जानाति। यदि शिष्यस्य गणं दास्यामि तत एते मम परिभवं करिष्यन्ति। अथवा मां त्यक्त्वा गच्छमादाय गमिष्यन्ति। यदि वा तमुभयधरं गणधरे स्थाप्यमानं गणो नेच्छति। ततो मा परिभवमेतेऽकार्षुर्नयनं वा मां त्यक्त्वाऽन्यत्र गच्छस्याकार्षुरिति हेतोरनिच्छति वा गणे तस्य गण न ददाति। किन्तु स्वयं धारयति तत्र सूत्रं तेनोभयधरेण शिष्येण वाचयत्यर्थमात्मना ददाति। प्रागुक्तदोषाभावे तस्य गण समर्पयति॥

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आचारपकप्पे णाम अज्झयणे परिभवे सिया कप्पत्ति तेसिं सण्णिसण्णाण का यासे ल्लियाण वा उत्ताणेण वा तुयट्टाण वा आयारपकप्पे णाम अज्झयणे दोच्चंपि तच्चंपि पामिच्छित्तए वा परिसारेत्तए वा ॥ १८ ॥ व्य सू. ५ उ. ॥

(थेराणं थेरभूमिपत्ताण) मित्यादि स्थविराणां स्थविरभूमिप्राप्तानामाचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् कल्पते तेषां सन्निषण्णानां वा निषद्यागतानां (सतुयट्टणे वेति) सम्यकृत्ववर्तनेन स्थितानां उत्तानानां वा (पासिल्लयाणवत्ति) पार्श्वतः तिष्ठतां वा आचारप्रकल्पनामकमध्ययनं द्वितीयमपि तृतीयमपि अपिशब्दात् चतुर्थमपि वारं प्रत्येष्टुं वा प्रतिसारयितुं वा अवमरत्नाधिकः प्रतिसारयति स्थविराः प्रतीच्छंति एष सूत्रसंक्षेपार्थः॥

अधुना भाष्यविस्तरः।

एमेव विइयसुत्तं, कारणियं सति बलेन हावेत्ति।
जं जत्थउ कितिकम्म, निहाणसमओ मराइणिए ॥

यथा प्राक्तनं सूत्रं कारणिकमेवमेवेदमपि सूत्र कारणिक सूत्रं प्रत्युज्ज्वालयन् सति बले विनय न हापयति। अथ कोऽसो विनयो यस्तेन सूत्रं प्रत्युज्ज्वालयता सति बलेन हातव्य इत्यत आह (जजत्थउ) इत्यादि यत्कृतिकर्म वन्दनकं यत्र सूत्रे अर्थे वाऽधिकृत तत्रावमरत्नाधिके निधानसमे सूत्रमर्थं च प्रत्युज्ज्वालयता तत् न हापयितव्यं। निधानसमे इति वदता निधाने दृष्टान्तः सूचितः। स चैवं। यथा महति कुम्भके वा निधाने उत्खानितव्ये तस्य तदनुरूपमुपचारमुत्खानको यदि करोति ततस्तमुत्खानितुं शक्नोति अथ न करोति तदनुरूपमुपचारं तर्हि वृश्चिकाद्युपद्रवतो न शक्नोति एव यदि स रत्नाधिकेऽवमरत्नाधिके वा सूत्रमर्थं वा प्रत्युज्ज्वालयन् अपूर्वं वा पठन् तदनुरूप विनय न करोति तदा निर्जराबामस्तस्य नोपजायते। नच शास्त्र स्थिरपरिचितं भवति विभंग वा तस्य ज्ञान विभ्रंशितया प्रान्तदेवता कुर्यात्कलहं।

एतदेवाभिधित्सु प्रथमतः प्रायश्चित्तमाह॥

सुत्तंमिय चउलहुगा, अत्थंमि यचउगुरुं च गच्छेणा।
कितिकम्ममकुव्वंतो, पावति थेरोस विवद्धंमि ॥

स्थविरः प्रत्युज्ज्वालयन्नपूर्वं पठन् वा सति बले यदि गर्वेण कृतिकर्म न करोति तर्हि तदकुर्वन् सूत्रे सूत्रविषये चतुरो लघुकान्प्राप्नोति अर्थे चतुर्गुरुक॥

उवयारहीणमफलं, होइ निहाणं करेइ वाणत्थं।
इयनिज्जरा य लाभो, न होइ विन्भंगफ लहो वा ॥

यथा उपचारहीनं निधानमफलं भवति नोत्खनितुं शक्यते इति भावः। अनर्थं वा करोति वृश्चिकाद्युपद्रवकारणात् इति एवमनेनैव दृष्टान्तप्रकारेण कृतिकर्माकरणे निर्जराया लाभो न भवति प्रान्तदेवताकोपवशाद्विभागो वा तस्योपजायेत कलहो वा॥

दूरत्थो वा पुच्छइ, अहुवनिसज्जाय सन्निसन्नो उ।
अच्चासन्ननिविट्ठो, ट्ठिए य चउभंगो वोचत्थो ॥
अंजलिपणाम अकरणं, विप्पक्खंते दिसाहो उड्ढमुहे।
भासंतणुवउत्ते, वहसंते पुच्छमाणो उ ॥
एएसु सत्तेसु वि, सुत्ते लहुतो उ अत्थे गुरुमासो।
नाभीतोवरिलहुगा, गुरुगमहो कोय कन्दुयाण ॥

दूरस्थितो वा पृच्छति अथवा निषद्यायां सन्निषण्णः पृच्छति शृणोतीति भावार्थः। यदि वा अत्यासन्न करुणा करुं संपृच्छ्य शृणोति निविष्टेस्थितै चतुर्भंगी बोद्धव्या। सा चैवं निविष्टेवा निविष्ट पृच्छति १ निविष्ट उत्थित पृच्छति २ उत्थितो निविष्ट पृच्छति ३ उत्थित उत्थितं पृच्छति ४ यथा अजंलेरकरणमर्धपरिसमाप्तौ प्रणामस्याऽकरण तथा दिशो विप्रेक्षमाणः पृच्छति १ यदिवाऽधोमुख ऊर्ध्वमुखो वा शृणोति न गुर्वभिमुखः २ अथवा येन तेन वा सह भाषमाणः शृणोति अनुप्रयुक्तो ३ वा शृणोति हसन्वा पृच्छति ४ एतेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु सूत्रे श्रूयमाणे प्रायश्चित्त लघुको मासः अर्थे गुरुमासः तथानाभित उपरि सूत्रं शृण्वतः कायकण्डूयने चत्वारो लघुकाः। अर्थे शृण्वतश्चत्वारो गुरुकाः। नाभितोऽधस्तात् सूत्रश्रवणे कायकण्डूयने चत्वारो गुरुका। नवर तपःकालयोरन्यतरेण गुरुका।

तह्मा वज्जं तेणं, ठाणाणे याणि पंजलुक्कुडुया।
सोप्पव्वए यत्तेणं कित्तिकम्मं नावि कायव्वं ॥

यस्मादेवमविनयकरणे प्रायश्चित्तविधिस्तस्मादेतानिप्रागनन्तरमुपदर्शितानि वर्जयित्वा प्रांजलिना प्रकृतांजलिनाबकुरुकेन प्रयत्नेनादरपरतया श्रोतव्यं। कृतिकर्म वापि वंदनकं कर्तव्य। यद्यपि वंदनकेनोपास्थितं वाचनाचार्योऽनुजानाति तथापि क्षमाश्रमण दत्वा कृतप्रांजलिना श्रोतव्यं।

तेणविधारेयव्वं, पच्छाविय ओहिएण संकलितो ।
वेदुह निरासस्स य, सारेयव्वं हवति जत्तो ॥
तेनापि स्थविरेण व्याख्यानसंकल्पा या श्रुत तत् सङ्गृहीत उच्छिन्नेन पश्चादपि धारयितव्यम् । तस्य च धारयत उपयोगस्य रूपं स्थितस्य निष्पन्नस्य वा इच्छित स्थाने तेनापि याचनाचार्येण पृष्टो सर्वंत स्मारयितव्य शमयितव्यम्
अह से रागो न होज्ज, नाहे जासन एगपागंमि ।
सचिनसो नु परो वा, अत्थइ अणुन्ना हवइत्तो ।
अथ (से) तस्य स्थविरस्य रागो न जायते तर्हि व्याख्यानसंकल्पा उच्छिन्नेः जायमानस्य अनुभाषमाणस्य चिन्तापयन कृत्यं । एकपार्श्वे तस्य संपुटका सहितस्य समस्तिष्यागतस्वर्णगो वा जायमानस्याऽनुप्रश्नसाक्षिणेनि । पर आह ।
थेरस्स किंतुपदं, होणं किलेसकरणेण ।
जताइ एगनुरयोग, गच्छंण णा न तरुणाणं ।
अथ तस्य स्थविरस्य जीर्णस्य चिन्तापयता क्लेशकारणेन । सूरिराह । जानंन दृष्टान्त दीपेन । यथा नाम तस्य स्वयमर्थान् तथा सर्वं यथा योगोपयुक्तस्य तु सूत्रार्थो सम्यक् ग्रहणाति । यथा तरुणानां च प्रत्ययनं एव भवति । तथाहि । व्याख्यानसंकल्पा ह्यद्यपि निजमाचार्यं जीर्णं महान्तमपि निर्दयं दुर्बलं वृद्धा कितयंति । यदुपयोगमाचार्यों जीर्णो महान्तमेव धृतस्य विनय करोति तरुणस्यापि तत्तः सुगमं करोत्य आह शिष्य । यथा जीर्णवृद्धस्य आचार्यस्याऽनुमह क्रियते । यथाऽनुजानमानस्य एकपार्श्वे सहितसूत्रागमार्थिनो वा किंतु यदन्यत्रापि दिवसे इति प्रश्नगाथा माह ।
सो ह गणी अगणी वा, अणुन्नासं तस्स सुणति पासंमि ।
न वइ जुवंदरो, होइ पच्छागणो सुचिरम् ॥
स जीर्णो महान् गणी आचार्य उपाध्यायो वा गणावच्छेदको वा अगणी वा भवेद् व, व्याख्यानियुक्त स्थोऽनुजानमानस्य चिन्तापयतु यदभिप्रायेयं सहितसूत्रागमार्थिनो या शृणोति यतो न हापति जीर्णस्य गच्छतो भवितुं सुचिरं काल मिति ॥ व्य. उ. ५. ॥

आयारपकप्पधर- आचारप्रकल्पधर पुं० निशीथाध्ययनधारिणि, नि १ चूर्णि । निशीथाध्ययनसूत्रार्थधरे, च व्य उ ३ । प चू ॥
निविदाय पकप्पधरा सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव ।
आयारपकप्पधरो, कप्पववहारधारओ अज्जो ॥ व्य० ।
णयसुत्तवंज्जओविहु, गवण परियदि आणुगहातो । पं चू ।
आयारपकप्पधरो गाहा । आचरणमाचार क्रिया इत्यर्थः सचाष्टप्रकार पञ्चसमितयो गुप्तिश्रय एव चारित्राचार आचारप्रकल्पधरो नाम निशीथेषु सूत्रार्थधर इत्यर्थ । किञ्च कल्पव्यवहारधरश्च (अज्जोत्ति) आमन्त्रणे निर्देशो वा (नययंजिउँचि)नयन्तीति नया हृपादपूरणे
दुव्वयस्सयअर ओ जम्हा एणए गणपरियदि आणुग्गहाओ आह कहमनुज्ञातः ।
पच्छित्तकरण आणुपालणा, य जाणिता ओ कप्पववहारे ।
एतेण अत्थधारी, गणधारी जो चरणधारी ।
अज्जोतिआमंतणणिद्देसे, वा णयस्स सुत्ताइं ।
जातिं तु दिट्टिवाते, पीच्छत्तं दिज्जते तह तु ।
तहिं विणा विजाणति, आयारपकप्पधारओ जम्हा ।
तम्हा तु अणुग्गहातो, गणपरियट्टि तु सो णियमा ।
पायच्छित्तं जम्हा, पायच्छित्तकरणं अणुपालयंति तदा गणे अणुपालिज्जइ तं पकप्प पकप्पववारेसु भणियं एएण सत्यधारी जो सो गणपरियदी अणुएहाओ चरणकुत्तो जइ जवइ गाहा पं० भा. चू. ॥
करणाणुपालयाणं तु, पज्जवकसिणं समासतो णाणं
करणाणुपालणट्ठ, पज्जवकासिणं भवे तिविहं ।
दुविहपण पच्छाकरणयं, तेरस सोलस हवंति ठाणाइं ।
करणट्ठाणपसत्था, करणट्ठाणाओऽपसत्था ॥
एयाइं ठाणाइं, दोहि विगाहाहि जाइं भणिताइं ।
तेसिं पच्चवणभिणमो, समासतो होति योधव्वा ।
करणं तु किया होति, पडिलेहण माडिसामायारी तु ॥
तं पालेन्तु णाणे, ण तं च दुविहं मुणेयव्वं । दारं ।
पज्जवकासिणसमासो, पज्जवकसणं तु चोद्दसपुव्वा ।
साधाइयं पकप्पे, होति समासो मुणेयव्वो ॥
पज्जवकासिणंतिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव । पं.भा. ॥
करणानुपालनयोस्तु द्विविध पर्यवकृत्स्न समासतश्च पर्यवकृत्स्नं नाम चोद्दसपुव्वाणि समासतो आयारपकप्पोसमास. संक्षेप इत्यर्थः । यथा समुद्रनन्तरमाग चन्द्रसुरवीद्वैषा । निर्देश माण एक. एकदेशेनाप्यंशस्य गिरते । चतुर्दशपूर्वधर सर्वपर्यायेषु सूत्रार्थेषु चरणकरणादय. पदार्था सर्व पर्यायेषु सूत्रार्थेषु चरणकरणादय पदार्था. प्रज्ञापयितुं समर्था । आचारप्रकल्पधरस्त्वेकदेशात । (दोषदापिचरणकरणं अणुपाले उ समत्था) नेनैकदेशाभिहत्यं प्रतीत्य यथा समासतोऽप्यर्थधर कल्पव्यवहारधरो गणपरिपालन समर्थः त्रयंतिपज्जवकसिण तिविहं सुत्ते अत्थे तदुभए य ॥ पं० चू० ॥

आयारपकप्पिय- आचारप्रकल्पिक पुं० आचारप्रकल्पाऽभिधानाध्ययनधारिणि, (आयारपकप्पितो जोग्गो) व्य उ. ५ ।

आयारपढमसुत्त- आचारप्रथमसूत्र न० "सुयमि आउस तेण भगवया एवमक्खायं" मित्येवं रूपे आचाराभिधानप्रथमाग द्वितीयाख्ये, पञ्चा सू. ११ ।
एसा य परा आणा, पयडा जं गुरुकुलं ण मोत्तव्वं ।
आयारपढमसुत्ते, एतोच्चिय दंसियं पयं ॥ १ ॥

आयारपकप्पितिधर- आचारप्रकल्पितिधर पुं० आचारधरे, प्रज्ञप्तिधरे, च ।
आयारपणत्तिधरं, दिट्ठीवाय महिज्जगं ।
वइविक्खलियं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ॥ ५० ॥ सूत्रं
व्या० । आचारप्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवं भूतमिति दश० अ. ८ ।

आयारपणिहि- आचारप्रणिधि पुं० आचारप्रणिधाने तत्प्रतिपादके दशवैकालिकस्य स्वनामख्यातेऽष्टमेऽध्ययने, च ।

तथा च दशवैकालिके ॥

व्याख्यात वाक्यशुद्ध्यध्ययनमिदानीमाचारप्रणिधानाख्य मारभते । अस्य चाऽयमभिसम्बन्ध । इहानन्तराध्ययने साधुना वचनदोषगुणाभिज्ञेन निरवद्यवचसा वक्तव्यमित्ये तदुक्तं इह तु तं निरवद्य वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति। तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुच्यते । उक्तंच ॥

पणिहाणरहिअस्सेह, निरवज्जं पि नासियं ।
सावज्जतुल्लं विन्नेयं, अज्झत्थेणेहसम्भुरं ॥

इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातमिदमध्ययनं अस्य चाऽनुयोग द्वारोपन्यासः पूर्ववत्तावद्यावन्नाम निप्पन्नो निक्षेपस्तत्र चा चारप्रणिधिरिति द्विपद नाम ॥

साम्प्रतं सूत्राऽऽलापकनिष्पन्नस्याऽवसर इत्यादि वचः पूर्वव त्तावद्यावत्सूत्राऽनुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीय. तच्चेद ।

आयारपणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खुणा ।
तम्भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

अस्य व्याख्या । आचारप्रणिधिमुक्तलक्षणं लब्ध्वा प्राप्य येन प्रकारेण कर्तव्य विहिताऽनुष्ठान भिक्षुणा साधुना त प्रकार तेन भवद्भ्य उदाहरिष्यामि कथयिष्यामि । आनुपूर्व्या परिपाट्या शृणुत ममेति गौतमादय. स्वशिष्यानाहुरिति सूत्रार्थः ॥

त प्रकारमाह ॥

पुढविदगअगणिमारुय, तणरुक्खस्स वीयगा ।
तसा य पाणा जीवंति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ २ ॥

व्याख्या । पृथिव्युदकाग्निवायवस्तृणवृक्षसबीजा एते पञ्च केन्द्रियकायाः पूर्ववत् त्रसाश्च प्राणिनो द्वीन्द्रियादयो जीवा इत्युक्त महर्षिणा वर्द्धमानेन गौतमेन वेति सूत्रार्थ. ॥

तेसिं अत्यणजोएणं, निचं हो अव्वयं सिया ।
मणसा कायवक्केणं, एवं हवइ संजए ॥ ३ ॥

यतश्चैवमतस्तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेनाहिंसाव्यापारेण नित्य भवितव्यं वर्तितव्य स्याद्भिक्षुणा मनसा कायेन वाक्ये न त्रिभिः कारणैरित्यर्थ. । एवं वर्तमानोऽहिंसकः सन् भवति सयतो नान्यथेति सूत्रार्थः ॥

एव सामान्येन षड्जीवनिकायहिंसया संयतत्वमभिधाया- धुना तद्गतविधिविधानतो विशेषेणाऽऽह ॥

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेवभिंदे न संलिहे ॥
तिविहेण करणजोएण, संजए सुसमाहिए ॥ ४ ॥

व्या० ॥ पृथिवीं शुद्धां भित्तिं तटीं शिलां पाषाणात्मिकां लेष्टु, मिट्टाखरूप नैव भिंद्यात् न सलिखेत् । तत्र भेदन द्वैधीभावो- त्पादनं सलेखनमीषल्लेखनं त्रिविधेन त्रिकरणयोगेन न करोति मनसेत्यादिना संयतस्साधुस्सुसमाहितः शुद्धभाव इति गाथार्थ. ॥

सुद्धपुढविं न निसीए, ससरक्खंमिअ आसणे ॥
पमज्जितु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥ ५ ॥

शुद्धपृथिव्यामशस्त्रोपहतायामनन्तरितायां न निषीदेत् । तथा रजस्के वा पृथिवीरजोवगुण्ठिते वा आसने पीठिकादौ न निषी- देत् । निषीदनग्रहणात्स्थानत्वग्वर्तनपरिग्रह. । अचेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणे न निषीदेत् ज्ञात्वेत्यचेतनां ज्ञात्वा याच- यित्वाऽवग्रहमिति यस्य सम्बन्धिनी पृथिवी तमनुग्रहमनुज्ञा- प्येति सूत्रार्थः ॥

उक्तः पृथिवीकायविधिरप्कायविधिमाह ।

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि अ ॥
उसिणोदगं तत्तफासुअं, पडिगाहिज्ज संजए ॥ ६ ॥

शीतोदक पृथिव्युद्भवसचित्तोदक न सेवेत । तथा शिला वृष्ट हिमानि च न सेवेत । तत्र शिलाग्रहणेन करका परिगृह्य- न्ते । वृष्ट वर्षण । हिम प्रतीत प्राय उत्तरापथे भवति यथैव कथमय वर्तेतेत्याह उष्णोदकं क्वथितोदकं तप्तप्रासुकं तप्त सत्प्रासुक त्रिदण्डोद्वृत्तमुष्णोदकमात्र प्रतिगृह्णीयाद्वृत्यर्थं सयतस्साधुः । एतच्च सौवीराद्युपलक्षणमिति सूत्रार्थः ॥ तथा ॥

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे ॥
समुप्पेह तहा भूअं, नो णं संघट्टए मुणी ॥ ७ ॥

नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहत उदकार्द्रमुदकार्द्रबिन्दु- चितमात्मनः काय शरीर स्निग्धं वा नैव पुञ्छयेत् । वस्त्रतृणा दिभिर्नैव सलिखेत् । पाणिना अपि तु सम्प्रेक्ष्य निरीक्ष्य तथा- भूतमुदकार्द्रादिरूपं नैवं काय सघट्टयेत् मुनिर्मनागपि न स्पृशेदिति सूत्रार्थः ॥

उक्तो ऽप्कायविधिस्तेजस्कायविधिमाह ॥

अंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइअं ॥
उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥ ८ ॥

अंगार ज्वालारहितं अग्निमय पिण्डानुगतमर्चिश्छिन्नज्वाल- अलातमोल्मुक वा सज्योतिस्साग्निकमित्यर्थ । किमित्याह । नोत्सिंचेत् न घट्टयेत् तत्रोञ्जनमुत्सेचन प्रदीपादेर्घट्टन मि- थश्चालन तथा नैनमग्निं निर्वापयेत् अभावमापादयेन्मुनिस्सा- धुरिति सूत्रार्थ. ॥

प्रतिपादितस्तेजस्कायविधिर्वायुकायविधिमाह ॥

तालविंटेण पत्तेण, साहाए विहुणेण वा ।
न वीइज्ज अप्पणोकायं, वाहिरं वावि पुग्गलं ॥ ९ ॥

तालवृन्तेन व्यजनविशेषेण पत्रेण पद्मिनीपत्रादिना शाखया वृक्षडालरूपया विधूननेन वा । किमित्याह । न वीजयेत् आ- त्मनः काय स्वशरीरमित्यर्थः । बाह्य वाऽपि पुद्गलमुष्णोदका- दीति सूत्रार्थः ॥

प्रतिपादितो वायुकायविधिर्वनस्पतिकायविधिमाह ॥

तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई ।
आमगं विविहं बीअं, मणसावि ण पत्थए ॥ १० ॥

तृणवृक्षमित्येकवद्भावः तृणानि दर्भादीनि वृक्षा कदम्बा- दयः एताञ्च छिंद्यात् । फल मूलं वा कस्यचिद्वृक्षादेर्नैछिंद्यात् । तथा आमगशस्त्रोपहत विविधमनेकप्रकार बीजं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् किमुताश्नीयादिति सूत्रार्थ. ॥

तथा ।

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा ।
उदगंमि तहा निच्चं, उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ११ ॥

गहनेषु वननिकुञ्जेषु न तिष्ठेत् सघट्टनादि दोषप्रसङ्गात्तथा बीजेषु प्रसारितशाल्यादिषु हरितेषु वा दूर्वादिषु न तिष्ठेत् । तथा उदके तथा नित्य अत्रोदक मनन्तवनस्पतिविशेष' । यथोक्त "उ- दए अवए पणए" इत्यादि । उदकमेवान्ये । तत्र नियमतो

वनस्पतिभावात् । वत्तिङ्गपनकयोर्वा न तिष्ठेत् । तत्रोत्तिङ्ग· सर्पच्छत्रादि· । पनक उल्लिवनस्पतिरिति सूत्रार्थ· ॥

उक्तो वनस्पतिकायविधिस्त्रसकायविधिमाह ॥

तसे पाणे न हिंसेज्जा, वाया अदुव कम्मुणा ॥
उवरओ सव्व भूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥ १२ ॥

त्रसप्राणिनो द्वीन्द्रियादीन् न हिंस्यात् । कथमित्याह । वाचा ऽथवा कर्म्मणा कायेन मनसस्तदन्तर्गतत्वाद्ग्रहण । अपि चोपरत सर्वभूतेषु निक्षिप्तदण्डस्सन् पश्येद्विविध जगत्कर्म्मपरतन्त्र नरकादिगतिरूपं निर्वेदायेति सूत्रार्थं ॥

उक्त· स्थूलविधिस्सूक्ष्माविधि माह ॥

अट्ठ सुहुमाइ पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु, आसचिट्ठ सएहिवा ॥ १३ ॥

अष्टौ सूक्ष्माणि वक्ष्यमाणानि प्रेक्षोपयोगत आसीत । तिष्ठेच्छयीत चेतियोग· । किं विशिष्टानीत्याह । यानि ज्ञात्वा सयतो ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च दयाधिकारी भूतेषु भवत्यन्यथा दयाधि कार्य्येव नेति तानि प्रेक्ष्य तद्रहित एवाऽऽसनादीनि कुर्य्यादन्यथा तेषां सातिचारतेति सूत्रार्थं ॥ दश· ८ अ ॥

आचारप्रणिधिफलमाह ॥

तवं चिमं संजमजोगय च, सज्झायजोगं च सया अहिट्ठिए ।
सूरव सेणा एसमत्तमाउहे, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ६२

सूत्रव्याख्या । तपश्चेदमशनादिरूप साधुलोके प्रतीत सयम योग च पृथिव्यादिविषय सयमव्यापारं च स्वाध्याय योग च वाचनादिव्यापारं सदा सर्वकाल अधिष्ठाता तप प्रभृतीनां कर्त्तेत्यर्थं । इह च तपोऽभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदाभिधान मिति । स एवंभूत· शूर इव विक्रान्त· भट इव सेनया चतुरंगरूपया इन्द्रियकषायादिरूपया निरुद्ध सन् समाप्तायुध संपूर्णतप प्रभृतिखड्गाद्यायुध अलमित्यर्थं मात्मनो भवति संरक्ष णाय अलञ्च परेषां निराकरणायेति सूत्रार्थ. ॥

तदेव स्पष्टयन्नाह ॥

सज्झाय सज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स । विसुज्झइ जंसिमलं पुरे कडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥ ६३ ॥

सूत्र व्याख्या स्वाध्याय एव सद्ध्यानं स्वाध्यायसद्ध्यान तत्र रतस्य सक्तस्य त्रातु स्वपरोभयत्राणशीलस्य अपापभावस्य लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्धचित्तस्य तपस्यनशनादौ यथाशक्तिरतस्य विशुद्ध्यते अपैति यदस्य साधोर्मल कर्ममल पुराकृत जन्मांतरोपात्त दृष्टान्तमाह । समीरित प्रेरित रुप्यमलमिव ज्योतिषा अग्निनेति सूत्रार्थं ॥ ततश्च ।

सेत्तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए, सुएणजुत्ते अममे अकिंचणे ॥ विरायई कम्मघणंमि अवगए, कसिणब्भपुडावगमेवचंदिमि त्तिवेमि ॥ ६४ ॥

सूत्रव्याख्या स तादृशोऽनन्तरगुणपरिग्रहयुक्त साधु दु· खसह - परीषहजेता जितेन्द्रिय पराजितश्रोत्रेन्द्रियादि· श्रुतेन युक्तो विद्यावानित्यर्थं । अमम सर्वत्रममत्वरहित· । अकिञ्चनो द्रव्यभाववकिञ्चनरहितो विराजते शोभते । कर्मघने ज्ञानावरणीयादिकर्ममेघे अपगते सति । निदर्शनमाह । कृत्स्नाभ्रपुटापगम इव चन्द्रमा इति । यथा कृत्स्ने वाभ्रपुटे गेत सति चन्द्रो विराजते शरदि तद्वदसावपेतकर्मघनः समासादितकेवलालोको विराजते इति सूत्रार्थः । दश० ८ अ. ॥

आयारपत्त – आचारप्राप्त – त्रि० ब्रह्मव्रताद्याचाराऽऽपन्ने, तथाच तएकुलवैकालिके । स्त्रियोऽधिकृत्य (दूषणं आयारपत्ताण) दूषणं कलङ्कः केषां आचारप्राप्तानां ब्रह्मव्रताद्याचारापन्नाना मिति । त० ॥

आयारपरक्कम – आचारपराक्रम – पुं० आचारे ज्ञानादौ पराक्रम· प्रवृत्तिबलं यस्य स आचारपराक्रमः । ज्ञानाद्याचारप्रवृत्तिबलोपेते, दश० चू. २ ॥

तम्हत्ति सूत्रं ॥

तम्हा आयारपरक्कमेणं, संवरसमाहि बहुलेणं ॥
चरिया गुणा य निअमा, होंति साहुणदट्ठव्वा ॥ ४ ॥

व्या· यस्मादेतदेवमनन्तरोदित तस्मादाचारपराक्रमेणत्याचारे ज्ञानादौपराक्रम· प्रवृत्तिबल यस्य स तथा विध इति गमकत्वाद्बहुव्रीहि । तेनैवभूतेन साधुना संवरसमाधिबहुलेनेति संवर इंद्रियविषये समाधिरनाकुलत्व बहुल प्रभूत यस्य स तथाविध इति समास· पूर्ववत् तेनैवं विधेन सता अप्रतिपाताय विशुद्धये च किमित्याह । चर्या भिक्षुभावनसाधनी बाह्या अनियतवासादिरूपा गुणाश्च मूलगुणोत्तरगुणरूपा नियमाश्चोत्तरगुणानामेवपिण्डविशुद्ध्यादीनांस्वकालासेवननियोगा भवति । साधूनां द्रष्टव्या इत्येते चर्यादय· साधूनां द्रष्टव्या भवंति । सम्यग्ज्ञानासेवनप्ररूपणारूपेणेति सूत्रार्थ· ।

आयारभंडग – आचारभाण्डक – न० पात्रपटलरजोहरणादिके, । सव्वोवगरणमाया य साहू आयारभंडगेण समं आचारभाण्डकपात्रम् ओघ ॥

आयारभंडसेवि (न्) आचारभाण्डसेविन् – पुं० आचारः शास्त्रविहितो व्यवहारस्तेन भाण्डमुपकरणमाचारभाण्डम् तत्सेवितुं शील यस्य स आचारभाण्डसेवी । शास्त्रविहितव्यवहारेणोपकरणसेविनि, अणायारभंडसेवी जन्ममरणाणुबन्धाणि आतु० ॥

आयरमन्तर – आचारान्तर – न० ज्ञानादिके आचारविशेषे, आचारव्यवधाने, च (आयारमन्तरेण विषयमन्तरे सेहिओ) पा० ॥

आयारमन्तरेति आचारान्तरे कचित् ज्ञानाचारविशेषे विषयभूते आचारव्यवधाने वा सति ज्ञानादिक्रियाया अकरणे सतीति भाव । पा० टी०

आयारमट्ठ – आचारार्थ – त्रि० ज्ञानाद्याचारनिमित्ते, (आयार मट्ठाविण य पउंजे) दश० अ० ९ उ० ३ आचारार्थं ज्ञानाद्याचारनिमित्त विनयमुक्तलक्षण प्रयुक्ते करोतीति । दश०टी०

आयार (मंत) वं – आचारवत् – त्रि० ज्ञानाऽऽसेवनाद्यां पञ्चप्रकाराऽऽचारवति, स्था०ठा० ८ ज्ञानासेवनाद्यां ज्ञानादिपञ्चप्रकाराचारयुक्ते, अय हि गुणत्वेन श्रद्धेयवाक्यो भवति पञ्चा० वृ० १५ । भ० श २५ उ. ७ । ध० अ० २ (आयारमतागुण सुट्ठियप्पा) आचारवतो ज्ञानाद्याचारसमन्विता इति दश० । अ० ९ उ ३ आचार· शास्त्रोक्तानुष्ठान कर्तव्यतयाऽस्त्यस्य मतुप् मस्य व· शास्त्रोक्ताऽनुष्ठानयुक्ते स्त्रियां ङीप् वाच० ।

अयारवज्जिय – आचारवर्जित त्रि० आचारेण वर्जित· शास्त्रो-

काचारहीने, आचारहीनादयोऽप्यत्र वाच ॥

आयारविणय—आचारविनय पुं० आचारो व्रतिनां समाचारः स एव विनीयते अपनीयते कर्म्मोऽनेनेतिविनय आचारविनयः विनयभेदे ।

सचतुर्द्धा यथा संयमसामाचारी १ तपःसामाचारी २ गणसामाचारी ३ एकाकिविहारसामाचारी ४ च । तत्र संयमं स्वयमाचरति परं च ग्राहयति तत्र च सीदत स्थिरीकरोति तत्रोद्यतं चोपबृंहतीति संयमसामाचारी । १ । पाक्षिकादिषु तपः कर्म स्वयं करोति परंच कारयति भिक्षाचर्यां स्वयमनुतिष्ठति परं च तस्यांनियुङ्क्ते इति तपःसामाचारी । २ । प्रत्युपेक्षणा बालवृद्धादिवैयावृत्यादिकार्येषु स्वयमुद्यतोऽन्यानपिगणं प्रेरयतीतिगणसामाचारी । ३ । एकाकिविहारप्रतिमां स्वयं प्रतिपद्यते परं च ग्राहयतीति एकाकिविहारसामाचारी ॥ । ४ । प्रव० द्वा० ६४ दशा० ॥

सेकिं तं आयारविणए? २ चउव्विहे पन्नत्ते । तं जहा । संजमसामायारीयावि जवति तवसामायारी यावि जवति (महासामायारीयावि जवति) गणसामाहारीयावि जवति एगल्लविहारसामायारीयावि जवति से त्तं आयारविणए ए दशा०

अथ कथं आचारविनयेन शिक्षयति इति पृच्छयाह (सेकिंतमित्यादि) कण्ठ्य गुरुराह आयारविणएणमित्यादि आचारविनयेनेत्यत्र तृतीयान्तता शिक्षयति। अनेन सम्बन्धेनोक्ता अथवा-कोऽसावाचारविनयो णं वाक्यालंकारे चतुर्विधः प्रज्ञप्त । तद्यथा । संयमसमाचारी चापि भवति १ एवं तपः २ गणं ३ एकल्लविहारसमाचार्यपि भवति ४ तत्र संयमः सप्तदशप्रकारस्तस्य समाचारीति समाचरणं समाचारीति समाचरण समाचारस्तस्य भावे गुणवचनब्राह्मणादिभ्य इति ष्यञ् तस्य च पित्करणसामर्थ्यात् स्त्रियामपि वृत्तिरिति पिद्गौरादिभ्य ङीषिति ङीपि सामाचारीशिक्षयिता इति शेषः । भवतिकोऽर्थः । पृथिव्यादिषु संघट्टनपरितापनोपद्रवादि परिहर्तव्यं इति शिक्षयिता भवति । चापि शब्दौ पञ्चाश्रवाद्विरमणाद्यनुक्तार्थसंग्राहकौ द्रष्टव्यौ १ एव तपः सामाचार्य्यपि तपः पाक्षिकपौषधिकैः कारयति परैः स्वयं च करोति पाक्षिकादिषु तपश्चतुर्थादिरूप द्वादशविधो वात्र तपः प्रकारो यथावसर द्रष्टव्यः २ एवं गणसामाचार्यपि गणशब्देन समुदायः साधूनामिति द्रष्टव्यं तं शिक्षयति यथा प्रतिलेखना प्रस्फोटनादि च प्रवर्तमानात् ॥ १ ॥ नोदयति बालदुर्बलग्लानवृद्धादि वैयावृत्यादिषु आप्रवर्तमानान् दृष्ट्वा तान् तथा जयति । स्वयं वा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा तत्र प्रवर्तते एकल्लविहारप्रतिमामन्यान् अंगीकारयति । तथा विधानश्रुतसहननादिसमुचितान् दृष्ट्वा स्वयं च कृतकृत्यो गणे तथाविधमाचार्यादिकं स्थापयित्वा विशिष्टानुष्ठानतुलनोपयोगीत्यर्थः । स न तां प्रतिपद्यते । अनेनाऽऽचारेणाऽऽत्मानं परं च विनयति शिक्षयति ॥

व्यवहारकल्पे । आचारविनयमाह ॥

आयारे विणओ, खलु च उव्विहोहोइ आणुपुव्वीए ।
संयमसामायारी, तवे या गणविहरणा चेव ॥ १ ॥
एगल्लविहारे य, सामायारीयए च उन्नेया ।
एयासिंतुविन्नागं । वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ २ ॥

आचारे आचारविषयः खलु विनयश्चतुर्विधो भवति । आनुपूर्व्या परिपाट्या । तद्यथा । संयमसामाचारी १ तपःसामाचारी २ गणविहरणसामाचारी ३ एकाकिविहारसामाचारी ४ एवमेषा चतुर्भेदा सामाचारी । एतासांसामाचारीणां विभाग यथानुपूर्व्या वक्ष्यामि ते च तच्छब्दे द्रष्टव्याः

आयारवेई—आचारवेदी—स्त्री० आचारस्य वेदीव पुण्यभूमौ-हेम० वाच० ।

आयारसंवया—आचारसंपत्—स्त्री० आचरणमाचारोऽनुष्ठानम् तद्विषया स एव वा सम्पद्विभूतिस्तस्य वा सम्पत् सम्पत्तिः प्राप्तिराचारसम्पत् प्रव० द्वा० ६४ ग० ग० ८ आचारो नाम प्रथममङ्ग तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्मो ज्ञातो भवति तस्मादाचाराङ्गं यो भणति सूत्रतोऽर्थतः सम्प्रयुक्तो भवति यः स आचारसम्पत् दशा० अ० १ उत्त० अ० १ गणिसम्पद्भेदे ।

आचारसम्पच्चतुर्धा । संयमध्रुवयोगयुक्तता १ असंप्रग्रहः २ अनियतवृत्तिः ३ वृद्धशीलता ४ चेति । तत्र संयमश्चरणं तस्मिन् ध्रुवोनित्यो योगः समाधिस्तद्युक्तता कोऽर्थः समतोपयुक्तता १ असंप्रग्रहः समंतात् प्रकर्षेण जात्यादि प्रकृतलक्षणेन ग्रहणमात्मनोऽवधारण सम्प्रग्रहस्तदभावोऽसंप्रग्रहो जात्याद्यनुत्सिक्ततेत्यर्थः २ अनियतवृत्तिरनियतविहाररूपाऽत्र वृद्धशीलता वपुषि मनसि च निभृतस्वभावता निर्विकारतेति यावत् स्था० ८ ग० ध० दशा० ।

आयारसम्पदा चउव्विहा पं० तं० संजमधुवजोगजुत्ते यावि जवति १ असंपग्गहियप्पा २ अणियतवित्ती ३ वुड्ढसीले यावि ४ जवति दशा० ॥

टी० संयमध्रुवयोगयुक्तश्चापि भवति १ असंप्रतिगृहीतात्मा २ अनियवृत्तिः ३ वृद्धशीलः ४ आपि भवति तत्राचाराचारेनाम प्रथममङ्ग तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्म्मोज्ञातो भवति तस्मादाचारांगं यो भणति सूत्रतोऽर्थतः सम्प्रयुक्तो भवति । यस्साचारसम्पत् । स च संयमेत्यादि । संयमो नाम चरणं । तस्य ये ध्रुवा अवश्य कर्तव्यत्वात् योगाः प्रतिलेखनास्वाध्यायादयः । तैर्युक्तो भवति । अथवा संयमः सप्तदशप्रकारः पञ्चाश्रवाद्विरमणमित्यादिक तस्मिन् ध्रुवो नित्योयोगो व्यापारो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः । अथवा संयमेध्रुवोनित्योयोगोव्यापारोयस्यस संयमध्रुवयोग युक्तः । च शब्दात् ज्ञानादिष्वपि नित्योपयोगः । अपिशब्दग्रहणात्परमपि योजयति । इत्येका १ असप्रगृहीत. अनुत्सेकवानात्मा यस्य सोऽसम्प्रगृहीतात्मा निरभिमान इत्यर्थः । यथा अहमाचार्यो बहुश्रुतस्तपस्वी सामाचारीकुशलो जात्यादिमान्वा इत्यादिमदरहित. २ अनियता अनिश्चितावृत्तिर्व्यवहरण विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिर्यथा ग्रामे एगराई नगरे पचराइ इत्यादिका । अथवा निकेतन नाम गृह तत्र वृत्तिर्वर्तनयस्य सनिकेतवृत्ति न निकेतवृत्तिरनिकेतवृत्ति अथवा चतुर्थादि तपोविशेषैरेषणा समितियोगेन च निकेतवृत्तिः परिचितगृहेष्वगता इतिवृद्धशीलो निभृतशील. अचञ्चलशील इतियावत् । अर्थग्रहणात् वृद्धेषु ज्ञानादिषु सम्यग्वैयावृत्यादिकरणकारापणयोरुद्युक्तो भवति एव विध अथवा वृद्धशीलता वपुषि मनसि च निभृतस्वभावता निर्विकारतेतियावत् ॥ प्रव० द्वा० ॥

आचरणमाचारोऽनुष्ठानं तद्विषया स एव वा सम्पद्विभूति-स्तस्य वा सम्पत्सम्पत्तिप्राप्तिराचारसम्पत् । एवमग्रेऽपि व्युत्पत्त्यर्थो भावनीयः।

सा चतुर्धा यथा॥

चरणजुओ मयरहिओ, अनिययवित्ती अचंचलोचेव त्ति

चरणयुतो मदरहितोनियतवृत्तिरचञ्चलश्चेति तत्र चरणं चारित्रं व्रतश्रमणधर्मेत्यादि सप्ततिस्थानरूपं तेनयुतो युक्तश्च-रणयुत । अन्यत्र तु संयमध्रुवयोगयुक्ततेत्येवमिदं पठ्यते। तत्राप्ययमेव परमार्थो यतः संयमश्चारित्रं तस्मिन् ध्रुवोनित्यो योगः समाधिस्तेन युक्तता तत्र सततोपयुक्ततेत्यर्थः। तथा मदैर्जातिकुलतपः श्रुताद्युद्भवैरहितो मदरहितो ग्रन्थान्तरे तु असम्प्रग्रह इति पठ्यते। तत्राऽपि सएवार्थो यतः समन्ता-त्प्रकर्षेण जातिः श्रुततपोरूपादिप्रकृष्टतालक्षणेनाऽऽत्मनो ग्रह-णमहमेवं जातिमानित्यादिरूपेणावधारणं सम्प्रग्रहो न तथाऽ सम्प्रग्रहो जात्याद्यनुत्सिक्तत्वमित्यर्थः। अनियतवृत्ति र्ग्रामादि-ष्वनियतविहारस्वरूपता। तयाऽचञ्चलो वशीकृतेन्द्रियोऽन्यत्र तु वृद्धशीलतेत्येयं पठ्यते। तत्र वृद्धशीलता वपुषि मनसि च कामिनीमनोमोहने वयसि वर्तमानस्याऽपि निभृतस्वभावता निर्विकारतेति यावत् यतो॥

मनसि रजसाभिभूता जायते यौवनेऽपि विद्वांसः॥

मूढधियः पुनरितरे भवति वृद्धत्वभावेऽपि प्रव० ६४ द्वा० ॥१॥

तथाचारश्चतुर्विध स्तद्यथा चरणकरणयुक्तता १ मदोहकार-स्तद्रहितता २ द्रव्यक्षेत्रकालादिष्वनियतवृत्तिता ३ गत्याद्य-चपलता दशा० ॥४॥

आयारसत्थ आचारशास्त्र-न० आचाराङ्गे आचा० अ० १॥

आचारशास्त्र सु विनिश्चित यथा, जगाद वीरो जगते हिताय यः ॥ तथाच किञ्चिद्वदत समेऽधुना, पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः ॥१॥

आयारसमाहि-आचारसमाधि-पु० समाधि भेदे आचारस-माधिमाह। दश वैकालिके अ० ९ उ० ४

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ तंजहा। नो इह लोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा १ नो परलोगट्ठयाए आ-यारमहिट्ठिज्जा २ नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयार-महिट्ठिज्जा ३ नन्नत्थ आरिहंतेहिं हेऊहिं आयारमहि-ट्ठिज्जा ४ चउत्थं पयं भवइ,भवइ इत्थ सिलोगो ॥ १० ॥

चतुर्विध खल्वाचारसमाधिर्भवति तद्यथेत्युदाहरणोपन्या-सार्थ । नेह लोकार्थमित्यादि आचाराभिधानभेदेन पूर्ववत् यावन्नान्यत्रार्हतै रर्हत्सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिरा-चार मूलगुणोत्तरगुणमयमधितिष्ठेत्। निरीहस्सन् यथामोक्ष एव भवतीति चतुर्थपदं भवतीति। भवति चात्र श्लोक इति पूर्ववत् सचायं॥

जिणवयणरए अतिंतणो, पडिपुन्नाययमाययट्ठिए।

आयारसमाहिसंवुडे, भवइ य दंते भावसन्धए ॥

व्या० जिनवचनरतः आगमे सक्तः (अतिंतिनः) न सकृत्कि-ञ्चिदुक्तः सन् असूयया भूयो २ वक्ता। प्रतिपूर्णः सूत्रादिना। आयतमायतार्थिक इत्यत्यन्तं मोक्षार्थी। आचारसमाधि सवृ-त्तः इत्याचारे यः समाधिः तेन स्थगिताश्रवद्वारः स भवति। दांत इन्द्रियनो इन्द्रियदमाभ्यां। भावसन्धकोभावो-मोक्षस्तत्सन्धकः। आत्मनो मोक्षासन्नकारीति सूत्रार्थः

आयारसुय-आचारश्रुत-न० आचारश्च श्रुतं च आचारश्रुत द्वन्द्वैकभावः। आचारश्रुतसमाहारे । सूत्रकृतांगद्वितीयश्रुत-स्कन्धस्य पञ्चमेऽध्ययने च सूत्र० २ श्रु ५ अ. ॥

साम्प्रतं पञ्चममध्ययनमारभ्यते। अस्य चायमभिसम्बन्धः। इहानन्तराध्ययने प्रत्याख्यानक्रियोक्ता साचाचारसव्यवस्थित स्य सतोभवतीत्यतस्तदनन्तरमाचारश्रुताध्ययनमभिधीयते। यदि वा नाचारपरिवर्जनेन सम्यक्प्रत्याख्यानमस्खलित भवतीत्यतोनाचारश्रुताध्ययनमभिधीयते । यदिवा प्रत्याख्या नयुक्तः सन्नाचारवान् भवतीत्यतः प्रत्याख्यानक्रियानन्तरमो-चारश्रुताध्ययनं । तत्प्रतिपक्षभूतमनाचारश्रुताध्ययन वा प्रतिपाद्यत इत्यनेनसम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्याऽध्ययनस्योपक्र-मादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवति। तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्था धिकारोऽय तद्यथा अनाचारं प्रतिषिध्य साधूनामाचारः प्रतिपा-द्यते। नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे आचारश्रुतमिति द्विपदं नाम तद्नयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह॥

णामं ठवणा दविए, दव्वे भावे य होंति नायव्वा ॥

एमेव य सुत्तस्स, णिक्खेवो चउव्विहो होत्ति॥१॥

णामंठवणेत्यादि। तत्राचारो नाम स्थापना द्रव्यभावभेदभि-न्नश्चतुर्धा द्रष्टव्यः। एव श्रुतमपीति। तत्राचारश्रुतयोरन्यत्रा-भिहितयोर्लाघवार्थमातिदेश कुर्वन्नाह ॥

आयारसुयं भणियं, वज्जेयव्वा सया अणायारा ॥

अबहुस्सुयस्स होज्जा, विराहणा इत्थ जइयव्वे ॥२॥

आचारसुयमित्यादि। आचारश्च श्रुत च आचारश्रुत। द्वन्द्वै-कवद्भावस्तद्व्यमपि भणितमुक्त। तत्राचारः क्षुल्लिकाचार-कथायामभिहितः। श्रुत तु विनयश्रुते। भावार्थस्तु वर्जयि-तव्याः परिहार्याः सदा सर्वकाल यावज्जीव साधुरनाचारा-स्तॉश्चाबहुश्रुतोऽगीतार्थो न सम्यक् जानातीत्यतस्तस्य विराधना भवेत्। बहुशब्दोऽवधारणे बहुश्रुतस्यैव विराधना न गीतार्थस्येत्यतोऽत्र सदाचारे तत्परिज्ञाने च यतितव्य। तथाहि। मार्गज्ञः पथिकः कुमार्गवर्जनेन नापथगामी भवति न चोन्मार्गदोषैर्युज्यते। एवमनाचारवर्जयन्नाचारवान् भवति नचानाचारदोषैर्युज्यत इत्यतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह ॥

एयस्स पडिसेहो, इहमज्झयणंमि होति नायव्वा ॥

तोअणगारयं इयं, होई नामं तु एयस्स ॥ ३ ॥

(एयस्स इत्यादि) एतस्याऽनाचारस्य सर्वदोषास्पदस्य दुर्गतिगमनैकहेतोः प्रतिषेधो निराकरण सदाचारप्रतिपत्य-र्थमिहाध्ययने ज्ञातव्यः स च परमार्थतोऽनगारकारणमिति। ततः । केषांचिन्मतेनैतस्याध्ययनस्यानगारश्रुतमित्येतन्नाम भवतीति ॥

आयारसुयखंध-आचारश्रुतस्कंध-पु० आचारांगस्य नवब्रह्म-चर्याध्ययननामक आचारश्रुतस्कन्ध इति । आचाराङ्गर्दे आचा० श्रु द्वि० अ. १।

आयाराणुओग-आचारानुयोग-पु० आचारस्यानुयोगो ऽनुयोगः सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थ कथनम्। आचाराङ्गस्या-र्थकथने आचाराङ्गस्य सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथने च आचा० । द्वि० श्रु० अ० १।

(आचाराणुयोगे) अणोर्वा लघीयस· सूत्रस्य महता थेन योगोऽनुयोगः । आचाराङ्गस्य महतार्थेन योगे च आचा०

आयारोवगय–आचारोपगत त्रि० चतुर्दशे योगसङ्ग्रहे । (आयार विणयोवगए) आचारोपगतत्वं विनयोपगतत्वं चेत्यर्थ· इतिप्रश्नः । द्वा० ५ सं० ।

आयार विणययोवगयत्ति द्वाररूयम् । आचारोपगतः स्याग्रमायां कुर्या दित्यर्थः । विनयोपगतः स्याग्रमान कुर्यादित्यर्थ । सम ० स० ३३ ।

आचारो पगत माह । आ ० क ० ।

पाडलिपुत्त हुआसण जलणसहाचेव जलणदहणे।
असोहम्मपलिअ पयणए आमलकप्पाइनट्ठविही ॥ १ ॥

नगरे पाटली पुत्रे, श्रावकोऽभूद्धुताशनः । तद्भार्याज्वलनशिखा, दहन ज्वलनौ सुतौ ॥ १ ॥ व्रतचतुर्भिरप्याप्त, ज्वलनात्सर त्वात्मनः । मायावी दहनोऽन्त्येही,त्युक्तोऽगाद्याहिचागमत् । ॥ २ ॥ मृतोऽसोतदनालोच्य, सौधर्मेऽवापयीयतुः । पञ्चपल्य स्थितौ जातौ, शक्रान्यन्तर पर्षदि ॥ ३ ॥ पुर्यामामलकल्यायां श्रीवीरः समवासरत् । तौचाप्यागतौदेवौ, नाट्य दर्शयतस्तदा ॥ ४ ॥ ऋजून्येकस्यरूपाणि, वक्राण्यन्यस्य चाभवन् । तद्दृष्ट्वागौतमः स्वामी पप्रच्छ स्वामिन तत· ॥ ५ ॥ तत्राग्भव प्रभु· प्राह, मायादोषाद्भवत्यद· । आचारोपगतैकस्य, क्षिती यस्य च ना भवत् ॥ ६ ॥ आ० चू० ॥ आव· ॥

आयास–आयास–पु०आ–यस–घञ खेदे । चिन्तायास निचि विपुलसालो चिन्ताश्च चिन्तनानि आयासाश्चमनः प्रभृतीनां खेदास्तएव पागान्तरेण चिन्ताशतान्येव निचिता निरन्तरा विपुला विस्तीर्णा शाखा शाखायस्य सतथेति प्रश्न० द्वा०५। (आयास विसूरणा कलह कम्पियमासिहरो) आयास शरीरखेदः विसूरणा चित्तखेद· कलहोवचनरणम् पत देव प्रकम्पित कम्पमानमग्रशिखरं शिखाराग्र यस्य स तथा। प्रश्न० ॥ द्वा० ॥ ५ ॥

आयास हेतुत्वात्परिग्रहेच परिग्रहस्य गौणनामान्यधिकृत्य आयासो आयास· खेदः तद्धेतुत्वात्परिग्रहोऽप्यायास उक्त आहच । शरीरमनसोर्व्यायामेच (आयासविसूरणां) आ यास विस्तरण स्वदार गमने शरीरमनसोर्व्यायाम कुर्वतीति प्रकृतम् । परदार सेवनायांच विस्तरणमप्राप्तो मन खेद परस्य वा मनः पीमां कुर्वन्तीति । प्रश्न०श्रा० ॥ ५ ॥

आयसद्रिवि–आयामाद्रिपि– स्त्री० आदम्यार्शिपेरष्टादशासु लेख्यविधाने गुपञ्चदशो लेख्यविधाने प्रज्ञा० पद १

आर–आर–पु० परभावापेक्षया इहजन्मेवप्रव्रज्यापेक्षया गृहस्थत्वे मोक्षापेक्षया ससारेच (णाहिसि आरकओ परवेहासे कम्मेहि किच्चती) सूत्र० श्रु० अ० २ तत्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथङ्गास्यसि आरमिहभव कुतोवा परं परलोकं यदि वा आरमिति गृहस्थत्व परमिति प्रवृज्या पर्यायम् । अथवा आरमिति ससार । परमिति मोक्षं पत्र भूतश्चान्यो ऽप्युभयभ्रष्ट· (वेहसित्ति) अन्तराल उभयाभावतः स्वकृतः कर्मभि कृत्यते पीड्यतइति । परलोकापेक्षयाइहलोके नरकाद्यपेक्षया मनुष्यलोके च(लोग विदिता आर पारं च सव्व पलूवारिय सन्नवार) सूत्र० श्रु० १ अ० ६

लोकविदित्वा आरमिह लोकाख्यं पारं परलोकाख्यं यदि वा आर मनुष्यलोक पारमिति नरकादिकंस्वरूपतस्तत्प्राप्तिहेतु ततश्चविदित्वा सर्वमेतत्प्रभुर्भगवान् सर्ववारं बहुशो निवारितवान् इति सूत्र० टी० ।

चतुर्थ्यो· पङ्कप्रभायाः पृथिव्याः स्वनामख्याते महानिरये च स्या० ठा० ४ आ ऋ कर्तरि संज्ञायां कन् दण्डान्तर्वर्तिन्यां शलाकायां स्त्री० टाप्० (कसकुसाराणि वाय दमणाणि आराच प्रवणी पयायणदण्डान्तर्वर्तिनी शलाकेति प्रश्न० ।

आरओ–आरतस्–अव्य० इहलोके, (इहलोके आरओ या विउहा वियमसजया) सूत्र० श्रु० १ अ० ८

आरतः परश्चेति इहलोक परलोकयोरिति, सूत्र० टी० आरतः परतश्चेति लौकिकी वा युक्तिरितिएवं पर्यालोच्यमाना ऐहिकामुष्मिकयोर्द्विधापि स्वयकरणेन परकरणेन वा संयता जीवोपघातकारिण इत्यर्थः सूत्र० श्रु० १ अ० ८

अर्वागित्यर्थेच आरेण पव्वाए व्य० उ० ४

त्रयाणां वर्षाणामारतोऽर्वाक् यानि प्रव्राजयतीति व्य० ॥

आरम्भ–आरंभ–पु० आरभ घञ मुम् वर्गेन्त्योवा इति प्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य वर्गेपरे प्रत्यासत्तेस्तस्यैव वर्गस्यान्त्यो वा भवति आरंभो आरम्भो इति प्रा० उपक्रमे प्रथमकृतौ वाच० प्रथमोत्पत्तौ (ओहिन्नाणारम्भो परिनिट्ठाण च तं जेसु) येष्ववधि ज्ञानस्याऽरम्भः प्रथमोत्पत्तिलक्षण इति । विशे० (काऊण पञ्चमगइमारमोहोई हुत्तरस) आ० म० । हिंसादिकेसावद्यानुष्ठाने— सूत्र० श्रु० १ अ० २ आचा० अ० १३ उ० ७ ॥

आरंभतिरियंकट्टु आत्तताए परिव्वये–आरभ सावद्यानुष्ठानारूपं तिर्यक्कृत्वेति सूत्र । श्रु० १ अ० ३ । आरंभेसु अणिस्सिए आरंभेषु सावद्यानुष्ठानरूपे ष्वनिश्रितोऽसबन्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थ इतिसूत्रश्रु० १ अ० ए ॥

आरंभगंचेवपरिग्गहंचअ विउस्सियाणिस्सियआयदंग

आरभ सावद्यानुष्ठानच तथा परिग्रह वा व्युत्सृज्य परित्यज्य तस्मिन्नेवारमेक्रयविक्रय पचनपाचनादिके तत्रा परिग्रहे धनधान्यहिरण्यसुवर्णं चतुष्पदादिके निश्चयेन श्रितावश्रानिश्रिता इति सूत्रे० श्रु० २ अ० ६ ॥

आरम्भः सावद्योयोगइति आचा० अ० ५ उ० ५ ॥

आरम्भणमारम्भः शरीरधारणायान्नपानाद्यन्वेषणात्मक इति । आचा० ॥

आरम्भः कृष्यादिव्यापार इति प्रश्न० द्वा० २ ॥

आरंभश्चस्वय कृष्यादि करण मिति । पञ्च० ॥

आरम्भो हलदतोलूखलादिखननसूना प्रकार इति । आव० ॥

आरम्भ· परोपद्रव इति । आतु० ॥

आरम्भो जीवानांमुपद्रवण मिति । प्रश्न० । द्वा० १ ॥

आरंभा प्रथिव्याद्युपद्रवलक्षणानि । ग० । अ० १ ॥

संकप्पो संरंभो, परितावकरोभवे समारंभो ।
आरंभो उद्दवओ, सव्वनयाणं वि सुद्धाणं ॥

प्राणातिपातंकरोमीति य· सकल्पोऽध्यवसायः स सरम्भ· यस्तु परस्य परितापकरो व्यापार स समारम्भ· अपद्रावयतो जीवितात्परं व्यपारोपयतो व्यापार आरम्भः । आहच । चूर्णिकृत् ॥

पाणइवायं करोमिति जोसंकप्पंकरे इति ॥

चिंतयतीत्यर्थः ॥

सरमे वट्टइ परितावण करेइ समारमे वट्टइ । एतच्च समारम्नादि त्रितय सर्वनयानामपि शुद्धानां सम्मत अथवा शुद्धाणमित्यत्र प्राकृतत्वात्पूर्वस्याकारस्य लोपो द्रष्टव्यः ततोऽयमर्थः सर्वनयानामप्यशुद्धानामेतत्समारम्भादित्रितय सम्मत नत्वशुद्धानामिति— व्य० उ १ प्रज्ञा० २२ पद धर्म० अधि० ३ ग० अ० १ आचा० श्रु० २ चू० १ ॥

सव्वंपाणारम्नं पच्चक्खामिति प्राणानामारम्भं विनाशादिरूपं प्रारम्नमिति मातु० ॥

मन कायमनोवाक्कायव्यापारानधिकृत्य तदेतत्त्रयव्यापारापादितचिकीर्षितप्राणातिपातादिक्रिया निर्वृत्तिरारम्भ इति आचा० अ० १ ॥

आरम्भं भूतोपमर्दनमिति । दश० ॥

आरंभणमारंभः पृथिव्याद्युपमर्द इति० उत० अ० ७ ॥

प्राण्युपमर्दकारिणि व्यापार इतिसूत्र० श्रु० १ अ० ॥ १ ॥

प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे व्यापारे, सू श्रु. १ अ. १ आरम्भेण जीवोपमर्दकारिणा व्यापारेणेति सूत्र श्रु १ अ १ आरम्भः पृथिव्यादिजीवोपमर्दः कृष्यादि विषय इति औप । आरम्भा' कृष्यादिद्वारेण पृथिव्याद्युपमर्द इति स्था ग. २ । जेयआरम्भणिस्सिया सूत्र० । ये चान्ये वर्णापसदा नानारूपसावद्यारम्भनिश्रिता यत्रपीमन निर्लाञ्छन कर्मागारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिण इति सूत्रः श्रु १ अ. ए । (पुढवा इसु आरम्भ) पृथिव्यादिकार्येषु विषयभूतेषु आरम्भ इत्यारम्भणमारंभः संघट्टनादिरूप इति पं व । प्रमत्तयोगे च । आरम्भ' सावद्यानुष्ठानम् प्रमत्तयोगो वा उक्तञ्च ।

आयाणे णिक्खेवे, भासुस्सग्गे य ठाणगमणादी ।
सव्वोपमत्तजोगो, समणस्सउ होइ आरम्भो ॥१॥

आचा० अ ५ उ २ । स्था० ग ए । प्राणवधे, च । संघट्टनादिरूप इति प्राणवधस्य गौणनामान्यधिकृत्य आरम्भ समारम्भोऽथवेहारम्भसमारम्भयोरेकतर एव गणनीयो बहुसमरूपत्वादिति प्रश्न ० द्वा १ ।

आरम्भसमारम्भयो स्त्रैविध्यम् दशाश्रुतस्कन्धे । तत्रेमौ द्वावपित्रिप्रकारौ तद्यथा मानसिकवाचि ककायिक भेदात् । तत्र मानसिको मन्त्रादिध्यान परमारणे हेतो प्रथम. तथा समारम्भः परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्यान वाचिको यथा आरम्भः परव्यापादनक्षमक्षुद्रविद्यादे परावर्तन, सकलपसूचको ध्वनिरेव समारम्भ परपरितापकरमन्त्रादे परावर्तन कायिको यथा आरम्भोऽभिघाताय यष्टिमुष्ट्यादिकरण समारम्भः परितापकरो मुष्ट्या अभिघात तथा चोत्तराध्ययने (आरम्भे य तहे वय मण य वत्तमाण तु नियतेज्ज जय जई) उत अ. २४ । आरम्भ परप्राणापहारक्षमोऽशुभ परिणामस्तस्मिन् परिणामे प्रवर्तमान मनो निवर्तयेत् । आरम्भ परेषां क्लेशोच्चाटनमारणादिमन्त्रजापकरण तत्रापि प्रवर्त्तमान वचो निवारयेत् उत० टी' (आरम्भय तहेव य कायं पवत्तमाण तु नियतेज्ज जय जई) उत्त० अ २४ । आरम्भे तथैव पुन प्राणवधाकरे यष्ट्यादि प्रयोगे काय प्रवर्तमान निवर्तयेत् इति उत्त० अ २४ । आरम्भस्य भेदाः स्थानाङ्गे यथा स्था० ग. ७ ।

सत्तविहे आरम्भे पं० तं. पुढवीकाय आरम्भे जाव अजीवकाय आरम्भे एवमणारम्भे वि एव सारम्भे वि एवमसारम्भे वि एवं समारम्भे वि एव मसारम्भे वि ।

टी० पुढवीत्यादि । सुगम नवरं । प्रागभिहितं ।

आरम्भो उद्दवओ परितावकरो भवे समारम्भो ।
संरम्भो संकप्पो सुद्धणयाणं तु सव्वेसिं ॥

भत्वारम्भादयोऽपद्रावण परितापादिरूपा स्था० ग. ७ । नैरयिकादीनां सारम्भानारम्भकत्वं चतुर्विंशतिदण्डकेन प्ररूपयन्नाह ।

नेरइयाणं भंते ? किं सारंभा सपरिग्गहा उदाहु अणारम्भा अपरिग्गहा ? गोयमा ? नेरइया सारम्भा सपरिग्गहा नो अणारम्भा अपरिग्गहा से केणट्ठेणं जाव अपरिग्गहा गोयमा ? नेरइयाणं पुढविकायं समारम्भंति, जाव तसकायं समारंभंति सरीरा परिग्गहिया भवंति, सचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति से तेणं तं चेव असुरकुमाराणं भन्ते ? किं सारम्भा पुच्छा गोयमा ? असुरकुमारा सारम्भा सपरिग्गहा नो अणारम्भा अपरिग्गहा से केणट्ठेणं गोयमा ? असुरकुमाराणं पुढविकायं समारम्भंति जावतसकायं समारंभंति सरीरा परिग्गहिया भवंति कम्मा परिग्गहिया भवंति भवणा परिग्गहिया भवंति देवा देवीओ मणूसा मणूसीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ परिग्गहियाओ भवंति, आसणसयणभंडमत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति ? सचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति ? से तेणट्ठेणं तहेव एवं जाव थणियकुमारा ॥

भंडमत्तोवगरणात्ति ॥ इह भाण्डानि मृण्मयभाजनानि पात्राणि कांस्यभाजनानि उपकरणानि लौहीकटाहकडुच्छुकादीनि एकेन्द्रियाणां परिग्रहो प्रत्याख्यानादवसेयः ॥

बेइन्दिया णं भंते ? किं सारंभा सपरिग्गहा तं चेव जाव सरीरा परिग्गहियाभवंति बाहिरिया भंडमत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति, सचित्ताचित्त जाव भवंति एवं जाव चउरिंदिया बाहिरया भंडे मत्तोवगरणात्ति ।

उपकारसाधर्म्याद्वीन्द्रियाणां शरीररक्षार्थं तत्कृतगृहकादीन्यवसेयानि ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते !' तं चेव जाव कम्मा परिग्गहिया भवंति । टंका कूडा सेला सिहरी पब्भारा परिग्गहिया भवंति । जलथलबिलगुहलेणा परिग्गहिया भवंति उज्झरनिज्झरचिल्लल पल्लल चिप्पिणा परिग्गहिया भवंति । अगडतडागदहनदीओ वावीपुक्खरिणी दीहिया गुंजालिया सरासरपंतियाओ सरसरपंतियाओ बिलपंतियाओ परिग्गहियाओ भवंति । आरामुज्जाणकाणणावणा वणसंडा वणराईओ परिग्गहियाओ भवंति ।

देव उलसज्जपव्वयथूभखाइय परिखाओपरिग्गाहियाओ भवंति । पागारट्टालगचरियदारगोपुरपरिग्गाहिया भवंति पासायघरसरणलेण आवण परिग्गाहिया भवंति । सिंघाडगतिग चउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहापह पहापरिग्गहिया भवंति सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयसंदमाणियाओ परिग्गहिओ भवति लोहीलोहकडाहकडुच्छुयापरिग्गहिया भवंति भवणा परिग्गहिया भवंति । देवादेवीओ मणुस्सा मणुस्सीओतिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ आसणसयण खंभभंडसचित्ताचित्तमीसयाई दव्वाई परिग्गहियाई भवंति । से तेणट्ठेणं जहा तिरिक्खजोणिया तहा मणुस्सा वि भाणियव्वा वाणमन्तरजोइसियवेमाणिया जहा भवणवासी तहा नेयव्वा भ० श० ५ उ० ७.

जीवा णं भंते किं आयारम्भा परारम्भा तदुभयारंभा अणारम्भा गोयमा ? अत्थेगइया जीवाआयारम्भा वि परारम्भा वि तदुभयारम्भा वि णो अणारम्भा अत्थेगइया जीवा णो आयारम्भा णो परारम्भा णो तदुभयारम्भा अणारम्भा से केणट्ठेणं भन्ते एवंवुच्चइ अत्थेगइया जीवा आयारम्भा वि एवंपडिउच्चारेयव्वं गोयमा जीवा दुविहा पण्णत्ता तंजहा संसारसमावण्णगा य असंसारसमावण्णगा य तत्थणं जे ते असंसारसमावण्णगाय तेणं सिद्धा सिद्धाणं णो आयारम्भा जाव अणारम्भा तत्थणं जे ते संसारसमावण्णगा ते दुविहा पं० तं० संजया य असंजया य तत्थणं जे ते सजया ते दुविहा पं० तं० पमत्तसंजया य अपमत्तसंजयाय तत्थ णं जे ते अपमत्तसंजया ते णं णो आयारम्भा णोपरारम्भा जावअणारम्भा तत्थणं जेते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च णो आयारंभा णो परारंभा जाव अणारंभा असुहजोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव णो अणारम्भा तत्थ णं जे ते असंजया ते अविरतिं पडुच्च आयारंभावि जाव णो अणारम्भा से तेणट्ठेणंगोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थे गइया जीवा जाव अणारंभा ॥

टी० ॥ जीवा ण भते १ किं आयारम्भेत्यादि । आरम्भो जीवोपघात उपद्रवणमित्यर्थ' सामान्येन वाश्रवद्वारप्रवृत्तिस्तत्र आत्मानमारभते आत्मना वा स्वयमारभते इत्यात्मारम्भस्तथा परमारभते परं णवारम्भयन्तीतिपरारम्भास्तदुभयमात्मरूप तदुभयेनवारभंत इति तदुभयारम्भः आत्मपरोभयारम्भवर्जितास्त्वनारम्भा इति प्रश्न । अत्रोत्तर स्फुटमेव नवर अस्तिशब्दस्याव्ययत्वेन बहुत्वार्थत्वादस्ति विद्यन्ते सन्तीत्यर्थ । अथवा अस्ति अय पक्षो यदुत । एगयत्ति । एकका एके केचनेत्यर्थ. । जीवा आत्मारम्भा अपीत्यादावपिशब्द उत्तरपदापेक्षया समुच्चये सचात्मारम्भत्वादिधर्म्माणामेकाश्रयता प्रतिपादनार्थ. भिन्नाश्रयताप्रतिपादनार्थो वा एकाश्रयत्वं च कालभेदेनावगन्तव्यं तथाहि कदाचिदात्मारम्भाः कदाचित् परारंभाः कदाचित्तदुभयारम्भाः अत एव नो अनारम्भाः भिन्नाश्रयत्वं तु एवं एके जीवा असंयता इत्यर्थः आत्मारम्भा वापरारम्भा वेत्यादि अथैकस्वभावत्वात जीवानां भेदमसम्भावयन्नाहा से केणट्ठेणन्ति अथ केन प्रकारेण नेत्यर्थः॥ दुविहापण्णत्तत्ति । मया चान्यैश्च केवलिभिरनेन समस्तसर्वविदांमतभेदमाह मतभेदे तु मतवि रोधिवचनतया तेषामसत्यवचनतापत्तिः । पाटलिपुत्रस्वरूपाभिधायकविरुद्धवचनपुरुषकदम्बकवदिति प्रमत्तसयतस्य हि शुभोऽशुभश्च योगः स्यात्संयतत्वात् प्रमादपरत्वाच्चेत्यत आह शुभयोग पडुच्चति । शुभयोग उपयुक्ततया प्रत्युपेक्षणादिकरण अशुभयोगस्तु तदेवानुपयुक्ततया आह च (पुढवी आ उक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाण । पडिलेहणापमत्तो छण्ह पि विराहओ होइ । तथा सव्वो पमत्तयोगो समणस्स उ होइ आरम्भोत्ति) अतः शुभाशुभौ योगावात्मारम्भादिकारणामिति अविरइपडुच्चत्ति इहायम्भावो यद्यप्यसयतानां सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां नात्मारम्भकादित्वं साक्षादस्तितथाप्यविरतिम्प्रतीत्येतदस्ति तेषां ते न हि ते ततो निवृत्ता अतोऽस यतानामविरतिस्तत्र कारणमिति । निवृतानां तुकथं चिदात्माद्यारम्भकत्वेऽप्यनारम्भकत्व यदाह " जाजयाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होई णिज्जरफला अज्झत्थविसोहि जुत्तस्सत्ति " ॥ १ ॥ भ० श० १ उ० १

णेरइया णं भंते किं आयारम्भा परारम्भा तदुभयारम्भा अणारंभा गोयमा णेरइया आयारम्भाविजाव णो अणारम्भा से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ गोयमा? अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेण जाव णो अणारंभा एवं जाव पंचिदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा जहा जीवा णवरं सिद्धविरहिता भाणियव्वा वाणमन्तरा जाववेमाणिया जहा णेरइया सलेस्सा जहा ओहिया किण्हलेसस्स नीललेसस्स काउलेसस्स जहा ओहियाजीवा णवरं पमत्त अपमत्ताण भाणियव्वा तेउलेसस्स सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धाण भाणियव्वा ॥

टी० णेरइयाण मित्यादि व्यक्त नवर मणुस्सेत्यादौ अयमर्थः मनुष्येषु सयता सयत प्रमत्ताप्रमत्तभेदाः पूर्वोक्ता. सन्ति ततस्ते यथा जीवास्तथाऽध्येतव्याः किं तु ससारसमापन्ना इतरे च तेन वाच्या भववर्तित्वादेव तेषामित्येतदेवाह सिद्धविरहियेत्यादि व्यन्तरादयो यथा नारकास्तथाध्येया.असयतत्वसाधर्म्यादिति, आत्मारम्भकत्वादि भिर्धर्म्मैर्जीवा निरूपितास्ते च सलेश्याश्चालेश्याश्च भवन्तीति सलेश्यांस्तांस्तैरेव निरूपयन्नाह सलेसा जहा ओहियात्ति लेश्या कृष्णादि द्रव्य सान्निध्यजनितो जीवपरिणामो यदाह।कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मन'। स्फटिकस्येव तत्राय लेश्या शब्दः प्रयुज्यते ।१। तत्र लेश्यावन्तो जीवाः जहा ओहियत्ति यथा नारकादि विशेषणवर्जिता जीवा अधीता जीवाण भते किं आयारम्भा परारम्भे त्यादिना दण्डकेन तथा सलेश्या जीवा अपि वाच्या सलेश्या नाम ससारसमापन्नत्वस्यासभवे नाससारसमापन्नेत्यादि विशेषण वर्जितानां शेषाणां सयतादि विशेषणानां तेष्वपि युज्यमानत्वात्तत्र चाय पाठक्रम. सलेसाण भते १ जीवा किं

आयारंजेत्यादि तदेव सर्वं नवरं जीवस्थाने सलेश्या इति वाच्यमिति अयमेको दण्डक कृष्णादि लेश्याभेदात् तदन्ये पट तदेव मेते सप्त तत्र किण्ह लेसस्सेत्यादि। कृष्ण लेश्यस्य नीललेश्यस्य कापोतलेश्यस्य च जीवराशे र्दण्डको यथौघिकजीवदण्डकस्तथा ध्येतव्य प्रमत्ताप्रमत्त विशेषण वर्ज्यं कृष्णादिषु हि अप्रशस्त भावलेश्यासु संयतत्वं नास्ति यच्चोच्यते पुव्व पडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाएत्ति तत् द्रव्यलेश्यां प्रतीत्येति मन्तव्यं ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावस्तत्र सूत्रो च्चारण मेव।

किण्हलेसाणं भंते जीवा किं आयारंभा ? ४ गोयमा ? आयारंभा वि जाव णो अणारम्भा से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ गोयमा ? अविरइं पडुच्च।

एव नीलकापोतलेश्या दण्डकावपीति तथा तेजोलेश्यादे र्जीवराशेर्दण्डका यथौघिका जीवास्तथावाच्या नवरं तेषु सिद्धा न वाच्याः सिद्धानामलेश्यत्वात्तेवैवं।

तेउलेसाणं भंते जीवा किं आयारम्भा ? ४ गोयमा ? अत्थेगइया आयारम्भा वि जाव नो अणारम्भा अत्थे गइया नो अणारम्भा अत्थे गइया नो आयारंभा जाव अणारंभा से केण ट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ ? गोयमा ? दुविहा तेउलेस्सा पं. तं० संजया य, असंजया इत्यादि भ. श. १ उ. १।

आरम्भ वक्तव्यताऽऽचाराङ्गे लोकविजयाध्ययनस्य पञ्चमोद्देशके यथा तस्य चायमभिसम्बन्ध इह भोगात् परित्यज्य लोकनिश्रया संयमदेहप्रतिपालनार्थं विहर्त्तव्यमित्युक्त तदत्र प्रतिपाद्यते। इह हि संसारोद्वेगवता परित्य क्तभोगाभिलाषेण मुमुक्षुणोद्धृतपञ्चमहाव्रतभारेण निरवद्यानुष्ठानविधायिना दीर्घसंयमयात्रार्थं देहप्रतिपालनाय लोकनिश्रया विहर्त्तव्य निराश्रयस्य हि कुतो देहसाधर्म्य चेति उक्त हि धर्मञ्चरत साधोर्लोके निश्रयपदानि पञ्चापि राजगृहपतिरपरः षट्कायगणसरीरेच॥१॥ वस्त्रपात्रासन, शयनादीनि तत्रापि प्राय प्रतिदिनमुपयोगित्वादाहारो गरीयानिति॥ २॥ स च लोकादन्वेष्टव्यो लोकश्च नानाविधैरुपायैरात्मीयपुत्रकलत्राद्यर्थमारम्भप्रवृत्तस्तत्र साधुना स यमदेहार्थं प्रवृत्तिरन्वेषणीयेति दर्शयति आचा० २अ ४उ.

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति तंजहा अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं णाईणं धाईणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाए पुढोपहेणाए सामासाए पायरासाए सण्णिहिसंणिचओ कज्जइ इह मेगेसिं माणवाणं भोयणाए समुट्ठिये अणगारे आयरिये आयरियपन्ने आयरियदंसी अयसंधिति अदक्खु से णाइये णाइयावये णं समणुजाणाति सव्वामगंधंपरिण्णाय णिरामगन्धो परिव्वये अदिस्समाणे कयविक्कयेसु से किणकिणेण किणावये किणन्तं ण अणुजाणेज्जा से भिक्खू कालण्णे बालण्णे मायण्णे खेयण्णे खणयण्णे विणयण्णे ससमयण्णे परसमयण्णे भावण्णे परिग्गहं अममायमाणे काले अणुट्ठाई अपडिण्णे दुहा तोच्छित्ताणियाइ वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंच्छणं उग्गहं च कडासणं एएसु चेव जाणेज्जा लद्धे आहारे अणगारे मायं जाणेज्जा से जहेयं भगवया पवेइयं लाभोत्ति ण मज्जेज्जा अलाभोत्ति ण सो एज्जा बहुंपिल द्धुं ण णिहे परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा अन्नहाणं पासए परिहरेज्जा एस मग्गे आरिएहिं पवेदिंते जहेत्थ कुसलेणोव लिंपिज्जा॥ त्तिबेमि॥

टी० जमिण मित्यादि। यैरविदितवैद्यैरिदमिति दुःखदुःखप्राप्ति परिहारक्रियाणां कायिकाधिकरणिकाप्राद्वेषिकापारितापनिका प्राणातिपातरूपाणां वा समारम्भा इति मध्यग्रहणाद्बहुवचन निर्देशाच्च समारम्भारम्भयोरप्युपादान भावनीयमित्यर्थः। शरीरकलत्राद्यर्थं सरम्भसमारम्भा क्रियतेऽनुष्ठीयते तत्र सरम्भ इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाराय प्राणातिपातादिक्रियानिवृत्तिसंरंसिकल्पावेशस्तत्साधनसन्निपातकायवाग्व्यापारजनितपरितापनादिलक्षण समारम्भ तदत्र व्यापारापादितचिकीर्षितप्राणातिपातादिक्रियानिवृत्तिरारम्भः कर्मणोवाऽष्टप्रकारस्यसमारम्भा उपार्जनोपाया। क्रियन्त इति लोकस्येतिचतुर्थ्यर्थेषष्ठी सापि तादर्थ्ये। क पुनरसौ लोको यदर्थं सरम्भसमारम्भाः क्रियन्त इत्याह त जहा अप्पणो से इत्यादि यदि वा लोकस्य तृतीयार्थे षष्ठी यदिति हेतौ यस्माल्लोकेन नानाविधै शस्त्रैः कर्मसमारम्भाः क्रियन्त इत्येतस्मिन् लोके साधुवृत्तिमन्वेष्य यदर्थं च लोकेन कर्मसमारम्भा क्रियन्ते तदर्थेत्यादिना दर्शयति तं जहा अप्पणो इत्यादि तदर्थेत्युपप्रदर्शनार्थं नोक्तमाआभेवान्यदाप्येवं जातीयकाभिदादिक "एष्व से तस्यारम्भा रिप्सार्यमात्मा शरीर तस्मै अर्थं तदर्थं कर्म समारम्भा पाकादय क्रियते ननु च लोकार्थं समारम्भाः क्रियत इति प्रागभिहितं नच शरीरं लोको भवति नैतदस्ति यत परमार्थदृष्टच ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकमात्मतत्व विहायाऽन्यत्सर्वंशरीरा द्यपि पारक्यमेव तथाहि द्याहारयापौ इहिकस्याच तनस्य कर्मणो विपाकभूतानि पञ्चापि शरीराणीत्यत शरीरात्मापि लोकशब्दाभिधेय इति तदित्य कश्चिच्छरीरनिमित्त कर्मारजते परस्तु पुत्रेभ्यो दुहितृभ्य स्नुषा वध्वस्ताभ्यो ज्ञातय पूर्वापरसम्बन्धा स्वजनाः तेभ्यो धात्रीभ्यो राजभ्यो दासेभ्यो दासीभ्य कर्मकरेभ्य कर्मकरीभ्य आदिश्यते परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय निरामगंध सन् परिव्रजेत् संयमानुष्ठानं सम्यक् पालयेत् जनो यस्मिन्नागते तदातिथेयमित्यादेश प्राघूर्णक स्तदर्थं कर्मसमारम्भा क्रियन्त इति सम्बन्धस्तया पुढोपहेणायेत्यादि पृथक् पृथक् पुत्रादिभ्य प्रहेणकार्यं तथा समासाएत्ति श्यामा रजनीतः श्यामाश, नदा तदर्थं तया(पायरासयेति) प्रातरशनं प्रातराशस्तस्मै कर्म समारम्भा क्रियन्त इति सामान्येनो क्त्वापि विशेषार्थं माह सन्निहीत्यादि सम्यग्निधीय इति संनिधि विनाशिद्रव्याणां दध्यो दनादीनां संस्थापन तथा सम्यग्निधयेन धीयते इति संनिचयो विनाशिद्रव्याणामन्यथा सितामृद्वीकादीनां सग्रह सन्निधिश्च संनिचयश्च सन्निधिसंनिचय प्राकृतशैल्या पुल्लिङ्गता अथवा सन्निधे सन्निचय सन्निधिसन्निचयः स च परिग्रह संज्ञोदया दाजीविकाभयाद्वा धनधान्यहिरण्यकादिन क्रियत इति स य किमर्थ-

मित्याह । इहेत्यादि इहेति मनुष्यलोके एकेषामिह लोकगु- त परमार्थि बुद्धीनां मानवानां मनुष्याणां भोजनायोप भोगा- र्थमिति तदेव विरूपरूपैः शस्त्रैरात्मपत्राद्यर्थं कर्म समारम्भ प्रवृत्ते लोके पृथक् प्रहेणकाय श्यामाशाय प्रातराशाय केषां- चिन्मानवानां भोजनार्थं सन्निधिसन्निचय करणोद्यते सति साधुना किं कर्तव्यमित्याह(समुट्ठिए)इत्यादि यावत् निराम- गन्धोपरिव्वए सम्यक् सन्तत सगत वा संयमानुष्ठानेनोत्थितो नानाविधशस्त्र कर्मसमारम्भोपरत इत्यर्थ नविद्यतेऽगार गृह मस्येत्यनगारः पुत्रदुहितृस्नुषाज्ञाति धात्र्यादिरहित इत्यर्थः सोऽनगार आराद्यात सर्वहेयधर्मभ्य इत्यार्यश्चारित्रार्हं आर्या प्रज्ञा यस्यासावार्यप्रज्ञः श्रुतविशेषता सुमुखीक इत्यर्थः आर्यं प्रगुणन्यायोपपन्न पश्यति तच्छीलश्चेत्यार्यदर्शी पृथक् प्रहेणकस्य प्रमादिसकलपरहितइत्यर्थः अय सन्धीति सन्धानं सन्धीयते वासाविति सन्धिर्यस्य साधोरसावय स- न्धिश्छान्दसत्वाद्विभक्तेरलुगित्यय सन्धिर्यथाकालमनुष्ठानवि- धायी यो यस्य वर्तमानः कालः कर्तव्यतयोपस्थितस्तत्कर- णतया तमेव सन्धत इति एतदुक्त भवति सर्वा क्रिया प्रत्युपे- क्षणोपयोगस्वाध्यायाभिक्षाचर्याप्रतिक्रमणादिका असम्पन्ना अ- न्योन्याबाधयात्मीयकर्तव्यकाले करोतीत्यर्थ इति हेतौ यस्मा द्यथाकालानुष्ठानविधायी तस्मादसावेव परमार्थं पश्यतीत्याहुः। (अदक्खुत्तिति) व्यत्ययेनैकवचनावसरे बहुवचनमकारि तत- श्चायमर्थो योऽस्मार्थेआर्यप्रज्ञ आर्यदर्शी कालज्ञश्च सएव प- रमार्थमद्राक्षीन्नापर इति पाठान्तरम्वा अय सन्धि अदक्खु अयमनन्तरोक्तविशेषेण विशिष्ट साधुः सन्धि कर्तव्यकाल अद्राक्षीदृष्टवानेतदुक्तमवति यः परस्पराबाधया हितप्राप्ति- परिहाररूपतया विधेया विधयावस वेत्ति विधत्तर च सपर मार्थं ज्ञातवानिति अथवासंधिर्ज्ञानदर्शनचारित्राणामाभिवृद्धि स च शरीरमृते न भवति तदपि नोपष्टमकारणांतरेण तस्य- च सावद्यस्य परिहारः कर्तव्य इत्यत आह(सेणाइए)इत्या- दि स भिक्षुस्तद्वा कल्पं नाददीत न गृह्णीयान्नाप्यपरमादा पये उद्ग्राहये नाप्यपरमनेषणीयमाददान समनुजानीयादथवा सश्गाढं सधूमं वा नाश्नान्न भक्षये नापरमादापयेत् ददन्तं वा नसमनुजानीयादित्याह सव्वामगन्धमित्यादि आमच गन्ध चामगन्ध समाहारद्वन्द्वस्सर्वं चैतदामगन्धंसर्वामगन्ध सर्वश- ब्दःप्रकारकात्स्न्र्येऽत्रगृह्यते न द्रव्यकात्स्न्र्ये आममपरिशुद्ध गन्ध ग्रहणेन तु पूतिर्गृह्यते ननु च पूतिद्रव्यस्याप्यशुद्धत्वादामशब्देनै वोपादानात्किमर्थं भेदेनोपादानमिति सत्यमशुद्धसामान्यात् गृह्यत किन्द्रव्यकात्स्न्र्ये ऽत्रगृह्यते किन्तु पूतिग्रहणेनेह आधाकर्मा द्यविशुद्ध कोटिरूपता तस्याश्चगुरुतरत्वात्प्राधान्य- ख्यापनार्थं पुनरुपादान ततश्चायमर्थ गन्धग्रहणेनात्मक- र्मोद्देशिकात्रिकं पूतिकर्ममिश्रजात बादरप्राभृतिकाध्यवपूर काश्चेतपदुद्गमदोषा अविशुद्धकोट्यन्तर्गता गृहीताः शेषा स्तयोविशुद्ध कोट्यन्तर्गता आमग्रहणेनोपात्ता द्रष्टव्या इति सर्वशब्दस्य च प्रकारकात्स्न्र्याभिधायकत्वाद्येन केन चित् प्रकारेण आममपरिशुद्ध पूति वा भवति तत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निरामगन्धः निर्गतो वामगन्धो यस्मात् स तथा परिव्रजेत् मोक्षमार्गे ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये परिसमन्तात् व्रजेत् संयमानुष्ठान सम्यगनुपालयेदित्यावत् आमग्रहणेन प्रतिषिद्धेअपि क्रीतकृते तथाप्यल्पसत्वानां विशु- द्धकोट्यावस्थानतया मानूत्तत्र प्रवृत्तिरतस्तदेवा नामग्राह प्रतिषे

धयितुमाह । आदिस्स । इत्यादि क्रयश्चश्च विक्रयश्च क्रय- विक्रयौ । तयोः क्रयविक्रययोरदृश्यमानः कीदृश श्चतयोरदृश्य- मानो भवति यतस्तयोर्निमित्तभूतद्रव्याभावादकिञ्चनोऽथवा क्रयाविक्रययोरदिश्यमानोऽनुपदिश्यमानःकश्च तयोरनपदि- श्यमानो भवति यः क्रीतकृतापरिभोगी भवतीत्याह चसनकिणे इत्यादि स मुमुक्षुरकिञ्चनो धर्मोपकरणमपि न क्रीणीयात् स्वतो वा नाप्यपरेण क्रापयेत् क्रीणन्तमपि न समनुजानी यादथवा निरामगन्ध परिव्रजेदित्यत्रामग्रहणेन हनन को टित्रिक गन्धग्रहणेन पाचनकोटित्रिक क्रयणकोत्रिक तुप्त- स्वरूपेणैवोपात्तमतो नवकोटीः परिशुद्धमाहार विगतांगारधू- म भुजीत एतद्गुण विशिष्टश्च किंभूतो भवतीत्याह से भिक्खु(कालन्ने)काल कर्तव्यावसरस्तजानातीति कालज्ञो धि- दि तवेदयस्तया बालज्ञो बलजानातीति बालज्ञ छन्दसत्वाद्दीर्घ त्वमात्मबलसामर्थ्यं जानातीति यथाशक्त्यनुष्ठानविधाय्य निगूहितबलवीर्य इत्यर्थस्तया(मायन्ने) यावत् द्रव्योपयोगिता मात्रा तां जानातीति मात्रज्ञ स्तथा (खेयन्ने)खेदोऽभ्यासस्तेन जानातीति खेदज्ञो यथा खेदः श्रमः ससार पर्यटन जनितस्त जानातीत्युक्त च " जरामरणदौर्गत्य व्याधयस्तावदासतां।मन्ये जन्मैव वीरस्य भूयोभूयस्त्रपाकरमिति ॥१॥ अथ क्षेत्रज्ञ ससक्त विरुद्ध द्रव्य परिहार्य कुलादि क्षेत्र स्वरूपपरिच्छेदकरतथा,(खण यणे)क्षण एव क्षणकोऽवसरो भिक्षार्थ मप सर्पणादि यस्तजा नातीति तया(विणयण्णे)विनयो ज्ञानदर्शनचारित्रौपचारिकरू पस्त जानातीति तथा(ससमयण्णे)स्वसमय जानातीति स्वस मयज्ञो गोचर प्रदेशादौ दृष्ट सन् सुखेनैव भिक्षादोषा नाचष्टे तद्यथा षोडशोद्गमदोषास्ते चामी आधाकर्म्म उद्देशिक पूतिकर्म मिश्रजात स्थापना प्राभृतिका प्रकाशकरण क्रीत उद्दतक परिव र्तित अभ्याहत उद्भिन्न मालाहत, आच्छेद्य अनिसृष्ट अध्यव- पूरक श्चेति षोडशोत्पादनादोषास्ते चामी धात्रीपिण्डः दूति पिण्ड निमित्तपिण्ड आजीवपिण्डः वनीमकपिण्डः चिकित्सापिण्डः क्रोधपिण्ड मानपिण्ड मायापिण्डः लोभपिण्ड पूर्वसंस्तवपिण्डः पश्चात्संस्तवपिण्ड विद्यापिण्ड मन्त्रपिण्डः चूर्णयोगपिण्डः मूल- कर्मपिण्ड श्चेति तथा दशैषणादोषास्ते चामी शकित म्रक्षित निक्षिप्तपिहितस हृतदायकोन्मिश्रापरिणत लिप्तोज्झितदोषाएषां चोद्गमदोषा दातृकृता एव भवन्ति उत्पादनादोषास्तु साधु- जनिता एषणादोषा श्चोभयापादिता इति तथा परसमयज्ञो ग्रीष्ममध्याह्नतीव्रतरतरणिकरनिकरावलीढगात्र वेदाविद्धु कः क्वचिदपुष्करसाधु केनचिद्द्विजातिदेशनाभिहितं कि मिति भवतां सर्वजनाचीर्ण स्नान नसम्मतमिति स आह प्राय सर्वेषामेवयतीनां कामांगत्वात् जलस्नान प्रतिषिद्ध (स्नान मदर्पकरं कामाङ्ग प्रथम स्मृत । तस्मात्कामं परित्यज्य नैवस्नांति दमेरता इत्यादि तदेव समुभयज्ञस्त द्विषये प्रश्ने उत्तर दानकुशलो भवति तथा(भावण्णे) भावश्चित्ताभिप्रायो दातु श्रोतुर्वा तजानातीति भावज्ञः किञ्च (परिग्गह) अममा- यमाणे)परिगृह्यत इति परिग्रह संयमातिरिक्तमुपकरणादि तम- ममीकुर्वन् अस्वीकुर्वन्मनसाऽप्यनाददान इति यावत्स एवं विधो भिक्षु कालज्ञो मात्रज्ञ क्षेत्रज्ञ क्षणज्ञो विनयज्ञः समय- ज्ञो भावज्ञ परिग्रह ममभी कुर्वाणश्च किं भूतो भवतीत्याह (कालानुट्ठाइ)यद्यस्मिन् काले,कर्तव्य तस्मिन्नेवानुष्ठातुं शीलम- स्येति कालानुष्ठायी कालानतिपातकर्तव्योद्यतो ननु चास्यार्थस्य से भिक्खू कालाणु इत्यनेनैव गतार्थत्वात्किमर्थं पुनरभिधीयत इति नैषदोषस्तत्र हि ज्ञपरिज्ञैव केवलाभिहिता कर्तव्यकाल

जानतोऽह पुनरासेवना परिज्ञा कर्त्तव्यकाले कार्यं विधत्त इति किञ्च (अपरिज्ञे) नास्य प्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः प्रतिज्ञा च कषायोदयाद् भवति । तद्यथा श्रीवर्द्धमान स्कन्दकाचार्येण स्वशिष्यवर्गपीडनव्यतिकरस्य क्रोधस्य संयतपालकराजधानी-समन्वितपुरोहित लोपादि विनाशप्रतिज्ञा कृतेति । तथा मानोदयाद्वा बाहुबलिना प्रतिज्ञा व्यधायि । यथा कथमहं शिशून् स्वभ्रातृनु-त्पन्नज्ञानान् अवस्थ मन्ये प्रयामीति तथा मायोदया-न्मल्लिस्वामिजीवेन तथा(ऽन्यस्य) प्रियतमेन भवति तथा ग्रन्थत्यागपरिज्ञा अपूर्वा तथा लोभोत्पत्त्याऽऽन्वितपरमार्थ-मन्त्वतेऽपि लोभावृता मासा मासक्षपणादिना अपि प्रतिज्ञा कुर्वन्ते सकषाया प्रतिज्ञा । विद्वान् यत्किंचनस्वयमनुष्ठानं कुर्वन् विद्वान् न करोति अन्यथा गोचराचौ प्रविष्ट स्याहाराविक समर्थन इत्यत्रोक्तेव प्रतिज्ञा यदि वा स्याद्वादप्रधानवात्मत्-नीन्द्रागमस्यैकपक्षावधारणं प्रतिज्ञा नाद्विनो प्रतिज्ञा स्यादि नैवमनित्यं विहायान्यत्र न क्वचित् नियमवती प्रतिज्ञा विध-या यतउक्तं ।

ण य किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं । मोत्तु मेहुणभावं, न विणा तं रागदोसेहिं तया इमा जेण निरुज्झंति, जेणा निज्झंति पुव्वकम्माइं, सो सो मो-क्खो वा उ, रोगावत्थासु समणं वा । जंस्स जिया उ हु उवहस्स नस्सेव ताविर गोरवं । गणुणानीला जोया होएइ वि पुला जंते तुल्ला

इत्यादि अत्र सन्न्यास्य पत्ते गृह्णा इति यावदनेन नृपस्य एकादशार्थविशेषा निर्यूढा इत्येव तत्प्रतिज्ञ इत्यनेन सूत्रे अ-मारम्भ न क्वचित् कर्मोऽप्रतिज्ञा विधेया प्रतिपादिताश्चागमे नानाविधा अभिग्रहविशेषा स्यान्नत्व एतावन्मात्राभिधाय सङ्ग्रह तदुच्यत आह ।

(छिद्यत्तिछिन्नाणियानि) छिन्नं रागेण द्वेषेण या या प्रतिज्ञा तां छित्त्वा निश्चयेन नियतं च यानि ज्ञानदर्शनचारित्रार्थं मोक्ष-मार्गे संयमानुष्ठाने वा भिक्षार्थमन्यच्च अनुक्तं भवति रागद्वेषौ छित्त्वा प्रतिज्ञा गुणयतश्चात्यय इति स एव कृतो निश्चयं कामदेहो पापको यावत् छित्वोदनक कुर्यात् इत्याह (यस्य परिग्राह इत्यादि) यावत् पयस्तु यतना गवेषणा यत्नेषु गृहस्थ आरम्भप्रवृ-त्तेषु सन्निधिसन्निचयकरणं त्येतेषु जानीयाद् शाश्वकतया प-रिज्ञानतस्त्रिविधेन त्याज्यमतः कृतकृत्यगृह्णीयान्मुक्त परिहरेदिति यावत् किं न जानीयाद्वस्त्र वस्त्रग्रहणेन वस्त्रैषणा सूचिता तथा पतद्ग्रहं पात्रमेतद्ग्रहणेन च पात्रैषणा सूचिता । कम्ब-लमित्यनेनापि पात्रनियोग कस्य च गृह्णीते पादपुञ्छनक-मित्यनेन च रजोहरणमित्यभिधाय सूत्रोरोघोपधिरौपग्रहिकश्च सूचितम्येतेष्वेव वस्त्रैषणा पात्रैषणा च निर्यूढा तथा अवगृह्णाति इत्यवग्रहः स च पञ्चधा देवेन्द्रावग्रहः राजावग्रहः गृहपत्यवग्रहः शय्यातरावग्रहः साधर्मिकावग्रहश्चेत्यनेनावग्र-हप्रतिमा सर्वा सूचिता यतश्चासौ निर्यूढा अवग्रहकल्प-कश्चास्मिन्नेव क्रियते तथा कटासन कटग्रहणेन संस्तारको गृह्यते आसनग्रहणेन वासन्दकादिविष्टरमिति आस्यते स्थी-यते अस्मिन्निति वा आसनं शय्या ततश्चासनग्रहणेन शय्या सूचिता अतएव निर्यूढेति एतानि च समस्तान्यपि वस्त्रा दीन्याहारादीनि चैतेषु स्वारम्भप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु जानीयात् सर्वामगन्धं परिज्ञाय निरामगन्धो यथा भवति तथा परिव्रजे-दिति तात्पर्यं एतेषु चारम्भप्रवृत्तेषु परिग्रहतया ज्ञातव्यं वस्त्रादी

याद्युक्तकश्चिन्नियमोऽप्यस्तीत्याह सन्धइत्यादि लब्धे प्राप्ते सत्याहारे आहारग्रहणं चोपलक्षणार्थमन्यस्मिन्नपि वस्त्रा-पात्रादिके अनगारो निकामं शंजानीयाद्यावन्मात्रेण गृहीतेन गृहस्थः पुनरारम्भे न प्रवर्तते यावन्मात्रेण चात्मनो विवक्षितकार्यनिष्पत्तिर्भवति तथाभूतां मात्रामवगच्छेदिति भावः एतच्च समनीशिक्षया नोक्तम इत्याह से जहेय इत्यादि तदेवमुद्देशकादारभ्यानन्तरसूत्रं यावद्भगवता ऐश्वर्यादि-गुणसमन्वितेनार्हमागध्या भाषया सर्वस्वभाषानुगतया सद्देवमनुजाद्यया पर्षदि केवलज्ञानचक्षुषा कथालोक्य प्रवेदित प्रतिपादितं सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिने इदमाचष्टे किञ्चान्यत् लाभोऽस्ति इत्यादि लाभोऽस्त्याहारादेर्मम सद्भूत इत्यतोऽ-लाभमात्र इत्येव मदं न विदध्यात् च तदभावे लोकाभिभूतो विमनस्कोभूयादित्याह च (अलाभोत्ति) इत्यादि अलाभे सति शोकं न कुर्यात् कथमहमभाग्योऽह येन सर्वदा दानोद्यते-नापि गृहिणा न लभेऽहमिति अपि तु तयोर्लाभालाभयोर्माध्यस्थ्य मालम्बनीयमित्युक्तं च लब्धेति साधुः साधुरेव न लभ्यते । अलब्धे तपोवृद्धिरेवं तु प्राणधारणमित्यादि तदेव विदस्य अन्यस्मात् अनशनमेवणा प्रतिपादिता सम्प्रति सन्निधि प्रतिषेध कुर्वन्नाह बहुम दिक्ष्वेत्यादि बहुपिलब्धाहारं निरंगिति तस्यापर्याप्त सन्निधि कुर्यात् स्तोकं नारम्भ तिधोषेत एवं यद्यपि न सन्निवृत्या दिन्यपि शब्दार्थे न केवलमाहारसन्निधिं न कुर्यात्तथा अन्यदपि वस्त्रपात्रादिकं संय-मोपकरणातिरिक्तं न विदध्यादित्याह परीत्यादि परिगृह्यत इति परिग्रहो धर्मोपकरणातिरिक्तमुपकरण तस्मादात्मा न मन्यत इत्येवं दर्शयेत् संयमोपकरणमपि मूर्च्छया परिग्रहो भवति मूर्च्छा परिग्रह इति वचनात्तत आत्मानं परि-ग्रहादपसर्पयन्नुपकरणे तु ममत्वमपि न कुर्यात् ननु च य कश्चित्कर्मोपकरणं यदि परिग्रहो न सचित्त कामुष्य मुनं भवति तथात्मीयोपकारिणि उपघातकारिणि च द्वेषस्त परिग्रहे सति रागद्वेषौ तेनिष्टौ तेभ्यश्च कर्मबन्ध तत्कथं परि-ग्रहो धर्मोपकरणे उक्तं च (ममाहमिति) चैव यावन्निमान-रागज्यर एतान्तमुपशमेव तावदिति न प्रशान्त्युदय । यदा मुक्तिपिपासितैस्यमसत्यनर्थोत्तरे परिग्रहमद कृतोऽपि कथम-प्यपारप्यते ॥ १ ॥ नैव दोष नहि धर्मोपकरणे ममेदमित्येव साधूनां परिग्रहयोगोऽस्ति । तथाह्यागमः । अवियप्पणो वि देहम्मि णायरंति ममाइयं । यदिह परिगृहीत कर्मबन्धायो-पकल्पते स परिग्रहो यत्तु पुनः कर्मनिर्जरणार्थं प्रभवति तत्परिग्रह एव न भवतीत्याह च । धम्मकारणइत्यादि यमिति-वाक्यप्रकारे अन्यथा अन्येन प्रकारेण पश्यक स्वन् परिग्रहं परिहरेद्यथाविदितपरमार्था गृहस्थाः सुखसाधनाय परिगृह पश्यन्ति न तथा साधुः यथाऽयमस्याशय आचार्यसत्कमिदमुप करणं न ममेति रागद्वेषमूलत्वात्परिग्रहाग्रहयोगोऽस्य निरे-ध्यो न धर्मोपकरणं तेन विना संसारार्णवपारगमनादि उक्तं च (साध्यं नयाकथचित् स्वल्प कार्यं महच्च न तयेति । प्रवच-मेतं नहि शक्यं पारं गतु समुद्रस्य ॥ १ ॥) अत्र चाहताभा-सैर्बोटिकैः सह महानविवादोऽस्तीत्यतो विवक्षितमर्थं तीर्थक-राभिप्रायेणापि सिसाधयिषुराह । एसमग्गेइत्यादि । धर्मोप-करणं न परिग्रहायेत्यनंतरोक्तो मार्गः । आरियाला सर्वहेयध-र्मेभ्य इत्यार्यास्तीर्थकृतस्ते प्रवेदितः कथितो ननु यथा-वं त्रिके कुत्रिकापणप्राप्तिकापणिकाभ्याम् अधियाश्चादि

स्वरुचिविरचितो मार्ग इति ननु वा यथा मौद्गलिस्वातिपुत्राभ्यां शौद्धोदनिं ध्वजीकृत्य प्रकाशितः इत्यनया दिशा अन्येऽपि परिहार्या इति । इह तु स्वशास्त्रगौरवमुत्पादयितुमार्यैः प्रवेदित इत्युक्तमस्मिन्नार्थे प्रवेदिते मार्गे प्रयत्नवता भाव्यमित्याह । जहेत्थेत्यादि लब्धकर्मभूमिं मोक्षपादपबीजभूताश्च बोधिं सर्वसचारित्रं च प्राप्य तया विधेय यथा कुशलो विदितवेद्योऽत्रास्मिन्नार्यप्रवेदितमार्गे आत्मानं पापेन कर्मणा नोपलिंपयेदिति एवचोपलेपन भवति यदि यथोक्तानुष्ठानविधायित्व न भवति सतां चाय पन्थाः यदुत यत् स्वयं प्रतिज्ञातं तदंत्योच्छ्वास यावद्विधेयमित्युक्तं च (लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्यामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमाना· तेजस्विन सुखमसूनपि संत्यजन्ति सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुन· प्रतिज्ञां १) इति शब्दोऽधिकारसमाप्त्यर्थो ब्रवीमीति ॥ आरम्भप्रशंसकस्य निन्दा दर्शनशुद्धौ यथा ।

जे मय आरंभयाते,जीवा होंति अप्पदोसय रा, तउ महापावयए, जे आरम्भं पसंसंति

दर्श० ॥ आरम्भ प्रसक्तानां निन्दा गच्छाचारे अ. २ यथा॥

आरंभेसु पसत्ता, सिद्धंतपरंमुहा विसयगिद्धा मुत्तुमुणिणो गोयम, वसिज्ज, मज्झेसु हियाणम्? ७४ ॥

व्या० आरंभेषु पृथिव्या द्युपमर्दनेषु प्रसक्ता स्ततपराः सिद्धांतपराङ्मुखा आगमोक्ता नुष्ठानशून्या विषयेषु शब्दरूपरसगंध स्पर्शेषु गृद्धा लम्पटा हे गौतम ! ये एवविधास्तान् मुनीन् मुक्त्वा परित्यज्य सुविहितानां सदनुष्ठानो द्यतानां मध्ये वसन्मुनिरिति ॥ आरम्भजीविनो ऽप्रशसा ऽनारम्भजीविनश्च प्रशसा ऽऽचारांगे लोकसाराध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके यथा ॥ ० ॥ अस्य चायमभिसम्बध इह प्रागुद्देशके एक चर्याप्रातिपन्नेऽपि सावद्यानुष्ठाना द्विरतेरभावाच्च न मुनिरित्युक्तमिह तु तद्विपर्ययेण यथा मुनिभावः स्यात्तथोच्यत इत्यनेन सम्बन्धेना यातस्यास्यो द्देशकस्यादिसूत्र ॥ आचा ० ॥

आवंत्ती केयावंती लोगंसि अणारंभजीवी ते सु चेव अणारंभजीवी एत्थो वरए तं झोसमाणे धम्म अतासयं चयोवजउ यं विपरिणाम पासह एवं रूव य संधिं समुवेह माणस्स एकायतणरयस्स इयस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरतस्सत्ति तिबेमि ॥

टी० आ ० ॥ आवत्तीत्यादि यावत् केचन लोके ऽनारंभजीविनि आरंभः सावद्यानुष्ठान प्रमत्तयोगो वा तदुक्त्वं ।

" आयाणे णिक्खेवे भासुस्सग्गे य ठाणगमणादी सव्वो पमत्त जोगो समणस्सत्रो होइ आरम्भो "

तद्विपर्ययण त्वनारंभस्तेन जीवितु शीलमेषामित्यनारंभजीविनो यतयः समस्तारम्भनिवृत्तास्तेष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीरार्थयमारंभ भावनो भवन्ति एतदुक्त भवति सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थ मनवद्यारंभजी विनस्साध्वपकाधारपकजवान्न लेपा एव भवति । यद्येव तत किमित्याह । एत्थोवरए इत्यादि अत्रास्मिन् सावद्यारंभे कर्त्तव्ये उपरतः सकुचितगात्र· अत्र चाहत धर्म्मो व्यवस्थित उपरत पापारम्भात् किं कुर्वन्स्तत्सावद्यानुष्ठानायातं । कर्म्म जोषयन् क्षपयन् मानभाव भजत इति किमभिसंध्य अत्रोपरत स्यादित्याह अय सधीति ।

अदक्खु जे इमस्स विगहस्स अयं खणेत्ति अणेसीए समगे आयरिएहिं पवेदिते उद्विते णो पमायए जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं मायं पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेदिनं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे पुट्ठो फासे विपणोल्लए एस समिया परियाए वियाहिए जे असत्तापावेहिं कम्मेहिं उपा हुत्ते आयं का फुसंति इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठोहियासए से पुव्वं पेय पच्छापेयं भिउरधम्मं विद्धं सणधम्मं अधुवं अणितियं ॥

अय सधीत्यादि अविवक्षितकर्मका अप्यकर्मका धातवो यथा पश्य मृगोधावत्येवमत्राप्यद्राक्षीदित्येतत् क्रियायोगेऽप्यय सन्धिरिति प्रथमा कृतेति अयमिति प्रत्यक्षगोचरापन्न आर्यक्षेत्रे सुकुलोत्पत्ती इन्द्रियनिर्वृत्ति श्रद्धा संवेगलक्षणः सन्धिरवसरो मिथ्यात्व क्षयाद्यु दयलक्षणो वा सम्यक्त्वावाप्तिहेतुभूतः कर्मविवर लक्षण· सन्धिः शुभाध्यवसायसन्धानकृतो वा सन्धिरित्येन स्वात्मन्यवस्थित मद्राक्षी ज्ञानित्यतः क्षणमप्येक न प्रमाद्येत विपयादिप्रमादवशगो न्यूयात्कश्च न प्रमत्तः स्यादित्याह।(जे इमस्स इत्यादि) । इत्युपलब्धतत्वे ऽस्याप्यक्तस्य विशेषेण गृह्यते अनेनाष्टप्रकार कर्म तदेतर शारीरविशिष्ट बाह्यो विग्रहणे गृह्यत इति विग्रह· औदारिक शरीरं तस्यायं वार्त्तमानिक· क्षण एवं भूत इत्यद्यु खान्यतरद्रूपश्च गत एवं भूतश्च भावीत्येव यः क्षणान्वेषणशील· सोऽन्वेषी सदा अप्रमत्त· स्यादिति स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह । (एसमग्गो) इत्यादि एषो ऽनतरोक्तो मार्गो मोक्षपथ आर्यै· सर्व हेयधर्मांरातीयवर्तिभिस्तीर्थकरगणधरै· प्रकर्षेणदौ वा वेदित कथितः प्रवेदिति इति न केवलमनन्तरो वक्ष्यमाणश्च तीर्थकरै· प्रवेदित इत्याह (उट्ठिएइत्यादि,)संधिम धिगम्यो स्थितो धर्मचरणाय क्षणमप्येक न प्रमाद्येत् किं वा (परमधिगम्येत्याह) जाणित्ति इत्यादि ज्ञात्वा प्राणिनां प्रत्येक दु खं तदुपादान वा कर्म तथा प्रत्येक सात च मन आह्लादि ज्ञात्वा समुत्थितो न प्रमादन् न केवलदु ख कर्म वा प्रत्येक तदुपादानरूपोऽध्यवसायो ऽपि प्राणिनां भिन्न एवेति दर्शयितुमाह (पुढो इत्यादि) पृथग्भिन्नश्छन्दो ऽभिप्रायो येषा ते पृथक् छन्दा नानाकृतबन्धाध्यवसायस्थाना इत्यर्थ· इहेति ससारे संज्ञिलोके वा के ते मानवा मनुष्या उपलक्षणार्थत्वादन्ये ऽपि संज्ञिनां पृथक् सकारत्वाच्च तत्कार्यमपि कर्म पृथगेव तत्कारणामपि दुःख नानारूपमिति कारणभेदे कार्यभेदस्यावश्यम्भावित्वादित्यत· पूर्वोक्त स्मारयन्नाह (पुढो इत्यादि,) दुःखोपादान भेदात् दुःखमपि प्राणिनां पृथक् प्रवेदित सर्वस्य स्वकृतकर्मफलोपभोक्तृत्वान्नान्यकृतमन्यउपभुङ्क्त इत्यतमत्वा किं कुर्यादित्याह से इत्यादि सोऽनारंभजीवी प्रत्येकंसुखदुःखाध्यवसायो प्राणिनो विविधैरुपायैर्हिंसत्सस्तथानपवदन् अन्यथैव व्यवस्थित वस्त्वन्यथा वदन्नपवदन् मृषावादमब्रुवन्नित्यर्थे यस्य च भूतस्यापि प्राकृतत्वादर्थत्वाद्वालोप एव परस्वमगृह्णन्नित्याद्यप्यत्र एतद्धायी च किमपरं कुर्यादित्याह (पुढो इत्यादि) सपञ्चमहाव्रतव्यवस्थितः सन् यथा गृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणोद्यतः स्पृष्टः परीषहोपसर्गैस्तैः तत्कृतान् शीतोष्णादिस्पर्शान् दुःखस्पर्शान् वा तान्मदृग्णः तया अनाकुलो विविधे प्रकारे मसार

भावनादिभिः प्रेरयन् तत्प्रेरणे च सम्यक् सहन न तत्कृतया दुःखासिकयाऽऽत्मानं भावयेदिति यावत् योऽपि सम्यक्करणतया परीषहान् सहेत स किंगुणः स्यादित्याह एस इत्यादि एषोऽनन्तरोक्तो यः परीषहाणां प्रणोदकः समियाः सम्यक्शमिता वा शमोऽस्यास्तीति शमी तद्भावः शमिता पर्यायः प्रव्रज्या सम्यक्शमितया वा पर्यायः प्रव्रज्याऽस्येति विगृह्य बहुव्रीहिः स सम्यक् पर्यायः शमिता पर्यायो वा व्याख्यातो नापर इति तदेव परीषहोपसर्गाऽऽन्यतां प्रतिपाद्य व्याधिसहिष्णुतां प्रतिपादयन्नाह जे इत्यादि, ये केचन भावतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चनाः सन्नद्धाः पापेषु कर्मस्वसन्नाः पापोपादानानुष्ठानरता अस्मात् एवंविधास्तथा भूतान् साधून् आतङ्काः आशुजीवितापहारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः स्पृशन्त्यभिभवन्ति पीडयन्ति यदि नाम ततः किमित्याह इति उदाहु इत्यादि इत्येतद्वक्ष्यमाणमुदाहृतवान् व्याहृतवान् कोऽसौ धीरो धातुरिवास्थया राजते स च तीर्थकृत् गणधरो वा किमुदाहृतवांस्ते आतङ्कैः स्पृष्टाः सन्तः तान् स्पर्शान् दुःखानुभवान् व्याधिविशेषापादितानध्यासयेत् सहेत किमभिसन्धायेत्याह से पुव्वं इत्यादि स स्पृष्टः पीडितः आशु जीवितापहारिभिरातङ्कैरेवं ज्ञापयेद्यथा पूर्वमप्येतदसातावेदनीयविपाकजनितं दुःखं मया सोढव्यं पश्चादप्येतन्मयैव सहनीयं यतः संसारोदरविवरवर्तिना विरतेन कर्मणा यस्मादसातवेदनीयविपाकापादितातङ्कैर्न स्पृष्टो भवेदुक्तं च हि केवली सोऽपि मोहनीयघातिचतुष्टयाद्युपशमात्तस्य वेदनीयसद्भावेन तदुदयात्तदनुभवः इति पतद्धि तीर्थकृतोऽप्येतदवश्यं सुनिधत्तनिकाचिततया कर्म वेदयितव्यमेव नान्यथा तन्मोक्षोऽनेनासातावेदनीयेऽवश्यं समनुभवितव्यमतोऽतेन मयैवैतत्सोढव्यमित्यालोच्य नोद्विजितव्यमित्युक्तं च "स्वकृतपरिणतानां दुर्नयानां विपाकः पुनरपि सहनीयोऽत्र ते निर्गुणस्य॥ स्वयमनुभवताऽस्मा दुःखमोक्षाय सद्यो भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते" अपि चैतदौदारिकं शरीरं सुचिरमप्युपधरसायनाद्युपबृंहितं मृण्मयामभाजनवदपि निःसारतरं सर्वदा भिदुरविशरारुभिति दर्शयन्नाह । भिउरधम्मं इत्यादि यदि वा पूर्वं पश्चादप्येतदौदारिकं शरीरं वक्ष्यमाणधर्मस्वभावमित्याह । भिउरधम्मामित्यादि स्वयमेव भिद्यत इति भिदुरं स धर्मोऽस्य शरीरस्येति भिदुरधर्म्म तथौदारिकं शरीरं सुपोषितमपि वेदनीयोदयाच्छिरोऽक्षशूलादिपु स्वत एव भिद्यत इति भिदुरं तथा विध्वंसनधर्मं पाणिपादाद्यवयवविध्वंसनात् तथाऽवश्यं भावित क्रियामातं सूर्योदयवत् ध्रुवं न तथाऽध्रुवं तथा प्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन व्यवस्थितं सत्त्वं नैव यत्तदनित्यमिति तथा तेन तेन रूपेणोदकधारावत् शश्वद्भवतीति शाश्वतं ततोऽन्यदशाश्वतं तथेष्टाहारोपभोगतया धृत्युपष्टम्भादौदारिकशरीरवर्गणापरमाणूपचयाच्चयस्तदभावे न तद्विघटनादपचय चयापचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिकं मतप्र विविधपरिणामोऽन्यथाभावात्मको धर्मः स्वभावो यस्य तद्विपरिणामधर्मं यतश्चैवं कृतमिदं शरीरकमतोऽस्योपरि कोऽनुबन्धः का मूर्च्छाऽस्य कुशलानुष्ठानमृतेऽन्यथा साफल्यमित्येतदेवाह पासह इत्यादि पश्यतैनं यथोक्तरूपं सन्धिविदुरधर्माद्याघातीदारिकं पञ्चेन्द्रियनिर्वृत्तिकाभायसरात्मकं दृष्ट्वा च विविधातङ्कजनितानस्पर्शानध्यासयेदिति एतत्पश्यतश्च यस्यास्तदाह । समुवेह इत्यादि सम्यगुत्प्रेक्ष्यमाणस्य पश्यतोऽनित्यताघ्रातमिदं शरीरकमित्येवमवधारयतो नास्ति मार्ग इति सम्बन्धः । किञ्च आङ् अभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्य आत्मा आयत्यते अनियम्यतेऽस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत इत्यायतनं ज्ञानादित्रयमेकमद्वितीयमायतनमेकायतनं तत्र रतस्य किञ्च इह शरीरे जन्मनि वा विविधं परमार्थभावनया शरीरानुषङ्गात्प्रमुक्तो विप्रमुक्तस्तस्य नास्ति न विद्यते कोऽसौ मार्गो नरकतिर्यङ्मनुष्यगमनपद्धतिः वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा भविष्यतीति नास्तीत्युक्तं यदि वा तस्मिन्नेव जन्मनि समस्तकर्मक्षयोपपत्तेर्नास्ति नरकादिमार्गः कस्येति दर्शयति विरतस्य हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवृत्तस्य इत्यधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति सुधर्मस्वाम्यात्मानमाह ॥ यद्भगवता वीरवर्द्धमानस्वामिना दिव्यज्ञानेनार्थानुपलभ्य वाग्योगेनोक्तं तदहं भणता ब्रवीमि न स्वमतिविरचनेनेति ॥

आरम्भोपरमणं च शोभनं तथा चाचाराङ्गे ॥

जस्स णत्थि पुरे पच्छा मज्झे तस्स कुतो सिया ।
से हु पण्णाणमंते बुद्धे, आरंभोवरए सममेयं ति ॥
पासह जेण बंधं वहं घोरं परितावं च दारुणं ।
पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं ॥

जस्स नत्थि इत्यादि, यस्य भोगविपाकवेदिनः पूर्वभुक्तानुस्मृतिर्नास्ति नापि पाश्चात्यकालभोगाभिलाषिता विद्यते तस्य व्याधिचिकित्सारूपान् भोगान् भावयतो मध्ये वर्तमानकाले कुतो भोगेच्छा स्यात् मोहनीयस्योपशमान्नैव स्यादित्यर्थः यस्य तु त्रिकालविषया भोगेच्छा निवृत्ता स किंभूतः स्यादित्याह ॥ से इत्यादि हु यस्मादर्थे य स्माद्विदूरितभोगाभिलाषस्तस्मात्स प्रज्ञानवान् प्रकृष्टं ज्ञानं जीवाजीवादिपरिच्छेदृ तद्विद्यते यस्यासौ प्रज्ञानवान् यत एव प्रज्ञानवानत एव बुद्धोऽवगततत्त्वः यत एवम्भूतोऽत एवाह आरंभोवरए सावद्यानुष्ठानमारम्भस्तस्मादुपरत आरम्भोपरतः एतच्चारम्भोपरमणं शोभनमिति दर्शयन्नाह सममित्यादि यदिदं सावद्यारम्भोपरमणं सम्यगेतदनुष्ठानमेतत्सम्यक्त्वकायत्वाद्वा सम्यक्त्वमेतदित्येवं पश्यत एवं गृहीत यूयमिति किमित्यारम्भोपरमणं सम्यगिति चेदाह जेण इत्यादि येन कारणेन सावद्यारम्भप्रवृत्तो बन्धं निगडादिभिर्वधं कशादिभिर्घोरं प्राणसंशयरूपं परितापं शारीरमानसं दारुणमसह्यमवाप्नोत्यतः आरम्भोपरमणं सम्यक्कृतं कुर्यात् किंभूतस्त्वेत्याह पलिछिंदिय इत्यादि परिच्छिद्यापनीय किं तद्भवति पापोपादानं तच्च बाह्यं धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिरूपं हिंसाद्याश्रवद्वारात्मकं च शब्दान्तरं च रागद्वेषात्मकं विषयपिपासारूपं चेति ॥ तथा च महानिशीथे ३ अ०

अत्थेगे गोयमा ? पाणी जेणो वयइ परिग्गहं जावइयं गोयमा तस्स सचित्ताचित्तवत्थगं, पत्तयं वाणुजीवस्स नवेज्जा उपरिग्गहं । तावइएणं तु सोपाणि ससंगो मुक्खसाहणं णाणाईगं ण आराहे तम्हा वज्जेपरिग्गहं अत्थेगे गोयमा पाणि जे पयहे ताए परिग्गहं आरंभं न विवज्जेज्जा जं पियं भवपरंपरा आरंभे पत्थियस्सेगवियलजीवस्स वड्डयरे संघट्टणा इयं कम्मं बद्धं गोयमा ? मु ण एगे वेइंदिए जीवे एगं समयं अणिच्छमाणे

वल्लाग्गिओगेणं हत्थेणं वा पाएणं वा अन्नयरेण वा सल्लागाइ ओवगरणं जाएणं जे केइ पाणि आगाढं संघट्टेज्ज वा संघट्टावेज्जा वा संघट्टिज्जमाणं वा आगाढं परेहि समणुजाणेज्जा सेणं गोयमा ? जाया तं कम्म उदयं गच्छेज्जा तया णं महया केसेणं छम्मासेणं विदिज्जा गाढं दुवालसाहिं संवच्छरेहिं तमेव आगाढं परिआवेज्जा वाससहस्सेणं गाढं दसाहिं वाससहस्सेहिं तमेव आगाढं किलामेज्जा वासलक्खेणं गाढं दसहिंवा तलक्खेहिं अहा णं उद्दाविज्जा तउ वासकोडीए एवं ती चउपंचिंदिएसु दहव्वं सुहमस्स पुढविजीवस्स जत्थेगस्सवि अप्पारंभं तयं चिंते गोयमा ? सव्वकेवली सुहुमस्स पुढविजीवस्स वावि ती जत्थसंभवे महारंभं तयं वेति गोयमा ? सव्वकेवली एवं तु समिलं तेहिं कम्मकुरुमेहिं गोयमा ? सेसो जहो अणंतेहिं जे आरंभे पवतए आरंभे वट्टमाणस्स बध्दपुट्ठनिकाइयं, कम्मं वध्दं भवे तम्हा, तम्हारंभं विवज्जए ? पुढवि इ अजीवकायंता सव्व भावे हि सव्वहा। आरंभे जे निअट्टेज्जा से अइए जम्मजरामरणसव्वदारिद्दडुक्खाण विमुच्च इति अ० २ । तयाचबृहत्कल्पे वस्त्रच्छेदनमधिकृत्य विन्नाय आरंभमिणं सदोसं तम्हा जहालध्दमधिट्ठिहिज्जा, वुत्तं स ए उ खलु जावदेही ण होति सो अंतकरी तु भावे ।

इयमनतरोक्त सर्वलोकपूरणात्मकमारम्भ सदोष सूक्ष्मजीवविराधनया सावद्य विज्ञाय तस्मात्कारणाद्यथालब्धं वस्त्रम धितिष्ठेत् न च्छेदनादिक कुर्यात् यतश्च भणित व्याख्याप्रज्ञप्तौ यावदय देही जीव· सैजः सकपचेष्टावानित्यर्थः । तावदसौ कर्मणो भवस्य वा अतकारी न भवति तथा च तदालापक·

जाव णए सजीवं सयास·मियं एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुभइ ओदीरइ ॥

त त भाव परिणमइ ताव ण तस्स जीवस्स अते किरिया न भवति । आरम्भाच्चावश्य विरमेत् वृ० उ० ३ ॥

तथा च सूत्र कृताङ्गे श्रु १ अ. २ ॥

मायाहि पियाहिं लुप्पइ नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।
एयाइ भयाइं पेहिया आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥

टी० तथा मायाहीं इत्यादि कश्चिन्मातापितृभ्यां मोहेन स्वजनस्नेहेन च न धर्मं प्रत्युद्यम विधत्ते स च तैरेव मातापित्रादिभिर्लुप्यते संसारे भ्राम्यते । तथाहि । विहितमळोहमहोमदन्मातापितृपुत्रदारबधुसङ्क । स्नेहमयमसुमतामत किं बधन अयत्रं खयेन धात्रा ॥ १ ॥ तस्य च स्नेहाकुलितमानसस्य मन्दसद्विवेकविकलस्य स्वजनपोषणार्थं यत्किंचनकारिण इहैव सद्भिर्निंदितस्य सुगतिरपिप्रेत्य जन्मांतरे नो सुलभाऽपि नु मातापितृभ्यामोहितमनजस्तदर्यं क्रियतो विपय सुखेप्सात श्च दुर्गतिरेव भवतीत्युक्त भवति । तदेवमेतानि भयानि भयकारणानि दुर्गतिगमनादीनि (पेहियांत्त) प्रेक्ष्य आरंभात्सावद्याऽनुष्ठानरूपाद्विरमेत् । सुव्रत· शोभनव्रत· सन् दुरियतो वेति पाठान्तरं ॥ ३ ॥ अनिवृत्तस्य दोषमाह (जमिणमित्यादि)

" जमिण जगति पुढो जगा कम्मेहि लुप्पति पाणिणो । सयमेव कडेहिं गाहइ णोतस्स मुच्चेज्ज पुट्ठय ॥ ४ ॥ टी० ॥ (जमिणमित्यादि) यद्यस्मादनिवृता नामिदं भवति किं तत् जगति पृथिव्यां (पुढोत्ति) पृथग्भूता व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानोपचितैः कर्मभिर्विलुप्यते नरकादिषु यातनास्थानेषु भ्राम्यते । स्वयमेव च कृतैः कर्मभि नेश्वराद्यापादितैर्गाहते नरकादिस्थानानि यानि तानि वा कर्माणि दुःखहेतूनि गाहते उपचिनोति । अनेन च हेतुसद्भाव· कर्मणामुपदर्शितो भवति न च तस्याऽशुभाचरितस्य कर्मणो विपाकेनास्पृष्टोऽस्पृष्टो मुच्यते जतुः कर्मणामुदय मननुभूय तपोविशेषमतरेण दीक्षाप्रवेशादिना न तदपगमवि धत्त इति भावः॥ आरम्भ रहितएव च मुनिर्भवति तथाच सूत्रकृताङ्गे धम्मस्स य पारए मुणि आरंभस्स य अंतए ठिए सोयंति य ण ममाइणो णो लब्भति णिय परिग्गहं॥ए॥ धर्मस्य श्रुतचारित्रभेदाभिन्नस्य पार गच्छतीति पारगः सिद्धांतपारगामी स म्यक् चारित्रानुष्ठायी वेति । चारित्रमधिकृत्याह । आरम्भस्य सावद्यानुष्ठानरूपस्यांते पर्यंते तदभावरूपे स्थितो मुनिर्भवति ये पु न नैवं भवति ते अकृतधर्म्मा· मरणे दुःखे वा समुपस्थिते आत्मान शोचति । णमिति वाक्यालङ्कारे । यदि चेष्टमरणाद्यऽवर्थनाशे वा (ममाइणोत्ति) ममेदमहमस्य स्वामीत्यवमध्यवसायिनः शोचति । शोचमाना अप्येते निजमात्मीय परि समतात् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति । परिग्रहो हिरण्यादिरिष्टस्वजनादिर्वा । नष्टामृतं वा न लभते न प्राप्नुवतीति । यदि वा धर्मस्य पारग मुनिमारम्भस्यांते व्यवस्थित मेनमागत्य स्वजना मातापित्रादय· शोचति ममत्वयुक्ताः स्नेहालव· न च ते लभंते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति । आरम्भस्य दुःखविपाकत्व सूत्रकृताङ्गे यथा ॥

वेराई कुव्वई वेरी, तओवेरेहिं रज्जती ।
पावोवग·य आरंभा दुक्खफासाय अंतसो ॥

सांप्रत जीवोपघातविपाकदर्शनार्थमाह । (वेराइं इत्यादि) वैरमस्यास्तीति वैरी स जीवोपमर्दकारी जन्मशतानुबंधीनि वै राणि करोति । ततोऽपि च वैरा दप रैवैरैरनुरुध्यते । वैरपरपरानुषगी भवतीत्यथः । किमिति । यत· पाप उपसामीप्येन गच्छतीति पापोपगा क पते आरम्भाः सावद्यानुष्ठान रूपा· । अन्तशो विपाककाले दुःख स्पृशतीति दुःखस्पर्शा असातोदयविपाकिनो भवतीति ॥ सूत्र० श्रु० १ अ० ८ (सारम्भस्य सपरिग्रहस्य च मोक्षमार्गो नास्ति) तथा सूत्रकृताङ्गे ॥

सपरिग्गहा य सारंभा इह मेगेसिमाहियं । अपरिग्गहा अणारंभा भिक्ख ताणं परिव्वए ॥ ३ ॥

सपरिग्गहा इत्यादि सह परिग्रहेण धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिना वर्त्तते तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावतसपरिग्रहाः । तथा सहारंभेण जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्त्तत इति तदभावेऽप्योद्देशिकादि भोजित्वात्सारम्भाः । तीर्थिकादय· सपरिग्रहारंभकत्वेनैव च मोक्षमार्गं प्रसाधयतीति दर्शयति । इह परलोकचिंतायामेकेषां केषांचिदाख्यात भावित यथा किमनया शिरस्तुण्डमुण्डनादिकया क्रियया पर गुरोरनुग्रहात्परमक्षरावाप्तिस्तद्दीक्षावाप्तिर्वा यदि भवति ततो

मोक्षो भवतीत्येवं भाषमाणास्ते न त्राणाय भवन्तीति । ये तु त्रातु समर्थास्तान्पश्चार्द्धेन दर्शयति । अपरिग्रहाः । न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो येषां ते अपरिग्रहाः । तथा न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां तेऽनारम्भास्ते चैव भूताः कर्मलघवः स्वयं यत्नपात्रकल्पाः संसारमहोदधेर्जन्तूत्तारणसमर्थास्तान् भिक्षुर्भिक्षणशील उद्देशिकाद्यपरिभोजी त्राणं शरणं परिसमन्तात् व्रजेद्गच्छेदिति ॥ ३ ॥ कथं पुनः पुनस्तेनापरिग्रहेणाऽनारम्भेण च वर्तनीयमित्येतद्दर्शयितुमाह ॥

कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को, अ ओमाणं परिवज्जए ॥ ४ ॥

टी० ॥ कडेसु इत्यादि गृहस्थैः परिग्रहारम्भद्वारेणाऽऽत्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते । तेषु कृतेषु परकृतेषु परनिष्ठितेष्वित्यर्थः । अनेन च षोडशोद्गमपरिहारः सूचितः । तदेवमुद्गमदोषरहितं ग्रस्यत इति ग्रास आहारस्तमेवम्भूतमन्वेषयेन्मृगयेत् याचेतेत्यर्थः । तथा । विद्वान् संयमकरणैकनिपुणः परैराशंसादोषरहितैः यत्रिविधयस्तद्गृहो दत्तामित्यनेन षोडशोत्पादनदोषाः परिगृहीता द्रष्टव्याः ॥ तदेवम्भूते दीयमानीनिमित्तादिदोषरहिते आहारे स भिक्षुः एषणां ग्रहणैषणां चरेदनुतिष्ठेदित्यनेनाऽपि दर्शैषणा दोषाः परिगृहीता इति मन्तव्यं । तथा । अगृद्धोऽनुध्युपपन्नोऽमूर्च्छितस्तस्मिन्नाहारे रागद्वेषविप्रमुक्तः । अनेनाऽपि च ग्रासैषणा दोषाः पञ्च निरस्ता अवसेयाः स एवम्भूतो भिक्षुः परेषामपमानं परावमं दर्शितत्वं परिवर्जयेत् परित्यजेत् । न तपोमदं ज्ञानमदं च कुर्यादिति भावः सूत्र० श्रु० १ अ० १ ॥

आरम्भेण च विद्याचरणं न लभते तथा च स्थानाङ्गे विद्याचरणेन कथमात्मा न लभत इत्याह ॥ स्था० ठा० २ ॥

दोठ्ठाणाइं अपरियाणित्ता आयाणो केवली पन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव दोठ्ठाणाइं अपरियाइत्ता आयाणो केवलं बोधिं बुज्झेज्जा तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव ॥

दो ट्ठाणाइत्यादि सूत्राण्येकादश द्वे स्थाने द्वे वस्तुनी । (अपरियाणित्तति)। अपरिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया यथैतावारम्भपरिग्रहा वनर्थाय तथा अत्र ममान्याभिमिति परिहाराभिमुख्यद्वारेण प्रत्याख्यानपरिज्ञया अप्रत्याख्याय च अहद् तवतयोरनिर्विस इत्यर्थः ॥

अपरियाइत्ताति । क्वचित्पाठस्तत्र स्वरूपतस्तावदपर्यादाय अगृहीत्वेत्यर्थं आत्मनो नैव केवलिप्रज्ञप्तं जिनोक्तंधर्मं लभेत श्रवणतया श्रवणभावेन श्रोतुमित्यर्थः तथया आरम्भाः कृष्यादिद्वारेण पृथिव्याद्युपमर्दास्तान्परिग्रहा धर्मसाधनव्यतिरेकेण धनधान्यादयस्तानिह चैकवचनप्रक्रमेऽपि व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनमवधारणसमुच्चयौ त्वनुत्पाद्येयावीति केवलां शुद्धां बोधि दर्शनमम्यक्त्वमित्यर्थो बुध्येत अनुभवेत् अथवा केवलया बोध्येति विभक्ति परिणामात् बोध्य जीवादीति गम्यते बुध्येत श्रद्धधीतेति ॥ स्था० २ ठा.

दोठाणाइं अन्नो केवलं मुंडं भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वेज्जा तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव एवं णो केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा णो केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा नो केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा नो केवलमाभिणिबोहियणाणं उप्पाडेज्जा एवं सुअणाणं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं केवलनाणं दो ठाणाइं परियाइत्ता आया केवलीपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए तंजहा आरंभे चेव परिग्गहे चेव एवं जाव केवलनाणमुप्पाडेज्जा ॥

टी० ॥ मुण्डो द्रव्यतः शिरोलोचनं भावतः कषायाद्यपनयनेन भूत्वा सपद्य अगारान्निष्क्रम्येति गम्यते केवलामित्यत्रेह सम्बन्धात्केवलां सम्परिपूर्णां विशुद्धां वा अनगारितां प्रवज्यां प्रव्रजेत् यायादिति । एवमिति । यथा प्राक् तथोत्तरवाक्येऽपि ॥ दोठाणाइत्यादि ॥ वाक्य पठनीयमित्यर्थः ब्रह्मचर्येणाब्रह्मविरमणेन वासो रात्रौ स्वापः तत्रैव वा वासो निवासो ब्रह्मचर्यवासः तमावसेत्कुर्यादिति संयमेन पृथिव्यादिरक्षणलक्षणेन संयमयेदात्मानमिति संवरेणाश्रवनिरोधलक्षणेन संवृणुयादाश्रवद्वाराणीति गम्यते केवलं परिपूर्णं सर्वं स्वविषयग्राहकं । आभिणिबोहियणाणं ॥ अर्थाभिमुखो विपर्ययरूपत्वान्नियतोऽसंशयस्वभावत्वाद्बोधोवेदनमाभिनिबोधः स एवाभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञानञ्चेत्याभिनिबोधिकज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं ओघतः सर्वद्रव्यसर्वपर्यायविषयं उत्पादयेदिति तथा एवमित्यनेनोत्तरपदेषु नो केवलं उप्पाडेज्जाति द्रष्टव्यं 'सुयणाणत्ति) श्रूयते तदिति श्रुतं शब्द एव स च भावश्रुतकारणत्वात्सज्ज्ञानं श्रुतज्ञानं श्रुतग्रन्थानुसारिओघतःसर्वं द्रव्यसर्वपर्यायविषयमङ्गश्रुतादिभेदमिति । तथा ओहिणाणत्ति । अवधीयते अनेनास्मादस्मिन्त्वेत्यवधिः अवधीयत इत्यधोऽधो विस्तृतं परिच्छिद्यते मर्यादया वेति अवधिज्ञानावरणक्षयोपशम एव तदुपयोगहेतुत्वादिति अवधानमवाऽवधि विषयपरिच्छेदनमिति अवधिश्चासौ ज्ञानञ्चेत्यवधिज्ञानं इन्द्रियमनोनिरपेक्षमात्मनोरूपिद्रव्यसाक्षात्कारणमिति तथा मणपज्जवनाणत्ति ॥ मनसि मनसो वा पर्यवः परिच्छेदः स एव ज्ञानमथवा मानसः पर्यवाः पर्याया वा विशेषावस्था मनःपर्यवादयः तेषान्तेषु वा ज्ञानम्मनः पर्यवज्ञानमेवमितरत्रापि समयक्षेत्रगतसंज्ञिमन्यमानमनोद्रव्यसाक्षात्कारीति । (केवलनाणत्ति)केवलमसहाय मत्यादिनिरपेक्षत्वादकलङ्कावरणमलाभावात् सकलं वा तत्प्रथमतयैवाशेषतदावरणाभावतः सम्पूर्णोत्पत्तेरसाधारणं वाऽनन्यसदृशत्वादनन्तं वा ज्ञेयानंतत्वात्तच्च तज्ज्ञानञ्च केवलज्ञानमिति ठा. २ ॥

कुशलारम्भमेव चारब्धव्यम् तथा चाचाराङ्गे अ. ३ उ. १ ॥

कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के सेज्जं च आरंभे ॥
जं च णारंभे अणारद्धं च ण आरभे ॥

टी०॥ कुशलेत्यादि कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्म्मांशो विवक्षितः स च तीर्थकृत्सामान्यकेवली वा छद्मस्थो हि कर्म्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषकः केवली तु पुनर्घातिकर्म्मक्षयाभ्रो बद्धो भवोपग्राहिकर्म्मसद्भावान्नो मुक्तो यदि वा छद्मस्थ एवाभिधीयते कुशलोऽवाप्तज्ञानदर्शनचारित्रो मिथ्यात्वद्वादशकषायोपशमसद्भावात्तदुदयवानिव न बद्धोऽद्यापि तत्सत्कर्म्मतासद्भावान्नो मुक्त इत्यादि एवम्भूतश्च कुशलः केवली छद्मस्थो वा यदाचीर्णवानाचरितवान् तदपरेणापि मुमुक्षुणा विधेयमिति दर्शयति । सेजच इत्यादि सकुशलो यदारभते आरब्ध

वान्वा शेषकर्मक्षपणोपायं संयमानुष्ठानं यद्य नारभते मिथ्यात्वाविरत्यादिकं संसारकारणं तदारब्धव्यमनारम्भणीय चेति संसारकारणस्य च मिथ्यात्वाविरत्यादेः प्राणातिपाताद्यष्टादशरूपस्य चैकांतेन निराकार्यत्वात्तन्निषेध च विधेयस्य संयमानुष्ठानस्य सामर्थ्यायातत्वात्तन्निषेधमाह । अणारद्ध चेत्यादि अनारब्धमनाचीर्णं केवलिभिर्विशिष्टमुनिभिर्वा तन्मुमुक्षु नोऽज्जेत नोकुर्यादित्युपदेशो यद्य मोक्षांगमाचीर्णं तत्कुर्यात् प्रस्तावने वधे दर्प्ये च द्रव्याणां द्रव्यान्तरेण गुणानां गुणान्तरेणोत्पादे वैशेषिकोक्ते व्यापारे- द्रव्यारम्भश्चतुर्षु स्यात् कर्मणि घञ् आरभ्यमाणे । फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तनाइव- रघुः चित्रार्पितारम्भइवावतस्थे ॥ कुमा० वाच० ॥ आरभ्यत इत्यारम्भः जीवे- आरभ्यते विनाश्यन्ते इत्यारंभा जीवा इति ॥ प्रश्न० द्वा० १ ॥

आरंभकड-आरंभकृत् त्रि० (आरम्भेण कृते) आरंभकडेति वा सावज्जकडेत्ति वा पयत्तकडेत्ति वा (आरम्भकृतमेतत् सावद्यकृतमेतत्) प्रयत्नकृतमेतदित्ति ॥ आचा० अ० ४ उ० १

आरंभकरण-आरम्भकरण-न० व्यापारकरणे (हिंसालीयअदत्तादाणमेहुणपरिग्गहारंभकरणकारावणाणुमोदणअट्ठविहअणिट्ठकम्मपिंडितगुरुभारक्कन्तदुग्गजलोघदूरनिवोलिज्जमाणउम्मग्गनिमग्गदुल्लहतलं) हिंसालीकादत्तादानमैथुनपरिग्रहलक्षणा ये आरम्भा व्यापारास्तेषां यानि करणकारणानुमोदनानीति ॥ प्रश्न० द्वा० ३ ॥ आरम्भणमारम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनन्तस्य कृतिः करणम् स एव वा करणमित्यारम्भकरणम् करणभेदे स्था० ठा० ३ ॥

आरंभकहा-आरंभकथा- स्त्री० तित्तिरादीनामियन्तां तत्रोपयोग इत्यारंभकथा विकथाभेदे सा च भक्तकथायास्तृतीयो भेद इति ॥ स्था० ठा० ४ ॥

आरंभकिरिया-आरंभक्रिया- स्त्री० क्रियाभेदे आरम्भक्रिया द्विविधा जीवारम्भक्रिया अजीवारंभक्रिया तत्र जीवारम्भक्रिया जीवानारभते अजीवारम्भक्रिया अजीवानारभत इति ॥ आ० चू० ॥ एतद्वक्तव्यताऽऽरम्भिकीशब्देऽपि ॥

आरंभज्झाण-आरंभध्यान- न० आरम्भ परोपद्रवस्तस्यध्यानम् परोपद्रवध्याने (आरंभज्झाणे) आरम्भ परोपद्रवस्तस्यध्यानम् कुरुकोकुरुकयोरिव द्वीपायनस्येव वा तस्मिन् इति ॥ आतु० ॥

आरंभग-आरम्भक- त्रि० आरभ ण्वुल् मुम् आरम्भकारके ॥ वाच० ॥ सावद्यारम्भप्रवृत्ते आचाराङ्गस्य पञ्चमाध्ययनप्रथमोद्देशकस्योद्देशार्थं मधिकृत्य निर्युक्तौ, हिंसगविसयारंभो एगचरोत्ति न मुणि पढमगंमि ॥आचा० ५ उ १ अ हिनस्तीति हिंसक आरम्भणमारम्भो विषयाणामारम्भोऽस्येति विषयारम्भक व्यधिकरणस्याऽपि गमकत्वात्समासः एवंभूतस्य वा याजकादिदर्शी नात्समासो विषयाणामारम्भको विषयारम्भक इति हिंसकश्च विषयारम्भश्चेति विगृह्य समाहारद्वंद्वः प्राकृतत्वात् पुल्लिङ्गता अयमर्थो हिंसकः प्राणिनां विषयारम्भकश्च विषयार्थं सावद्यारम्भप्रवृत्तश्च न मुनिस्तथा विषयार्थमेक एव चरत्येकचर म च न मुनिरित्येतदधिकारत्रय प्रथमोद्देशके ॥ आचा० ॥ अ० ५ उ० १ ॥ (सावद्यानुष्ठाने पुं० आरम्भग चेव परिग्गहं च अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा आरम्भं सावद्यानुष्ठानमिति) ॥ सूत्र० ॥ श्रु० २ अ० १ ॥

वैशेषिकादिमतसिद्धे महत्वाद्युपचयाय ह्यवयवानां विजातीयसंयोगे च, तत आरम्भसंयोगनाशः ॥ मुक्ता० ॥ आरम्भवादशब्दे ॥ शा० भा० उदा० ॥

आरम्भजीविन्-आरम्भजीविन् पुं० आरम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा तेन जीवितु शीलमेषामित्यारम्भजीविनः। सावद्यानुष्ठानप्रवृत्ते (होगंसि अणारंभजीवी) आ० श्रा० अ ५ उ १ ॥

आरम्भ सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा उक्तञ्च 'आयाणे णिक्खेवे, भासुस्सग्गे य ठाणगमणादी, सव्वो पमत्तजोगो समणस्स उ होइ आरम्भो ॥ तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितु शीलमेषामित्यनारम्भजीविनो यतय समस्तारम्भानिवृत्तास्तेष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीराद्यर्थमारम्भजीविनो भवन्ति एतदुक्तं भवति सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थमनवद्यारम्भजीविनस्साधव पंकाधारपङ्कजवन्निर्लेपा एव भवन्ति आरम्भेण जीवितु शीलमस्येत्यारम्भजीवी महारम्भपरिग्रहप्रकल्पितजीवनोपाये ॥ आ- चा० अ५ उ २ ॥ आरम्भजीवी उ भयाणुपस्सी ॥ आचा० अ उ १ सावद्यानुष्ठानस्थितिके सावद्यानुष्ठानवृत्तिके च ॥

आरम्भट्ठाण- आरम्भस्थान न० सावद्यारम्भाश्रये सूत्र० (तत्थण जासा सव्वतो अविरइ एसट्ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे) असाधु तत्र पूर्वोक्तेषु येय सर्वात्मना सर्वस्मात् अविरतिविरति परिणामाभाव । एतत्स्थान सावद्यारम्भस्थानमाश्रयस्तदाश्रित्य सर्वाण्यपि कार्याणि क्रियते यत एवमत एतदनार्यस्थान निःशूकतया यत्किंचनकारित्वाद्यावदसर्वदुःखप्रक्षीणमार्गोऽयं तथैकांतमिथ्यारूपो साधुरिति आरम्भ एव स्थानम् वस्तु आरम्भस्थानम् प्रमत्तयोगलक्षणे वस्तुनि तथा च स्थानाङ्गे॥ स्था. ठा. १० ॥ अथ महापद्मस्यात्मनश्च सर्वज्ञत्वात्स र्वज्ञपेक्ष मतामेदात् भेदे चैकस्यायथावत्तदर्शनेनाऽसर्वज्ञता प्रसंगादित्युभयोभगवान् समां वस्तुप्ररूपणां दर्शयन्नाह ॥

'से जहा नामए अज्जोमए समणाणं निग्गंथाणं एगे आरंभट्ठाणे प० एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं निग्गंथाणं एगं आरंभट्ठाणं पन्नवेहिंति ॥

टी० ॥ सेजहेत्यादि सदृत्यथार्थोऽथशद्वश्च वाक्योपन्यासार्थो यथेत्युपमार्थं । नामएत्ति ॥ वाक्यालंकारे ॥ अज्जोत्ति ॥ शिष्यामन्त्रण ॥ एगे आरंभट्ठाणेत्ति ॥ आरम्भएव स्थान वस्तु आरम्भस्थान मेकमेव तत्तत् प्रमत्तयोगलक्षणत्वात्तस्य यदाह सव्वो पमत्तजोगो समणस्सउ होइ आरंभोत्ति ठा० ७

आरम्भट्ठि (न्) आरम्भार्थिन् पु० सावद्यारम्भप्रवृत्ते, आरंभट्ठी अणुवयमाणे हण पाणे धायमाणे हणओ यावि समणुजाणमाणे ॥ आचा० अ०६ उ० ४

आरम्भार्थी सावद्यारम्भप्रवृत्त कृत आरम्भार्थी यत प्राणिनोपरि एवं एयुपमर्दवादानुवदन्ति तद् ब्रूते तद्यथा जाहि प्राणिनोपरि एव घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासीति, ॥ टी० (तेहइ आरंभट्ठी) ते अनधीताचारगोचर निकाचर्यास्ते न स्वेदमलपरीषह तर्जिता सुखविहारिभि शाक्यादिभिरारम्भसाफल्यरिणामिना इह मनुष्यलोके आरम्भार्थिनो भवन्ति ते वा शाक्यादयोऽन्ये वा कुशीला सावद्यारम्भार्थिन ॥ इति

आचा० श्र. ७ उ १ ॥

आरम्भणिस्सिय-आरम्भनिश्रित त्रि० आरम्भे हिंसादिके सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिताः सम्बद्धा अभ्युपपन्ना आरम्भनिश्रिताः हिंसादिकसावद्यानुष्ठानेऽभ्युपपन्ने (जे इह आरम्भणिस्सिया सूत्र० श्रु- १ श्र २ ॥ जे य आरम्भणिस्सिया,) ये चान्ये वर्णापसदानानारूपसावद्यारम्भनिश्रिता यत्रपीडन निर्लाञ्छनकर्माङ्गारदाहादिभिः क्रियाविशेषै र्जीवोपमर्दकारिणि इति, ॥ सूत्र० श्रु० १ अ० ए ॥

(भदा आरम्भणिस्सिया) ॥

आरम्भे प्राण्युपमर्दकारिणि व्यापारे निश्रिता आसक्ताः सम्बद्धा अभ्युपपन्ना इति ॥ प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे व्यापारे निश्चयेन नितरां चाश्रिताः सम्बद्धाः पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षयाऽऽरम्भनिश्रिता इति ॥ सूत्र० ॥ श्रु० १ अ० १ ॥

आरंभदोस-आरम्भदोष- पु० क्रियाफले (पागोवजीविणो त्तिय श्लिप्पंतारम्भदोसेण) पाकोपजीविन इति कृत्वा लिप्यंते आरम्भदोषेणाहारक्रियाकरणफलेनेत्यर्थ इति ॥ दश० अ० १ ॥

आरंभपडिमा आरम्भप्रतिमा स्त्री० अष्टम्यां प्रतिमायाम् अष्टौ मासान् स्वयमारम्भं न करोतीत्यष्टमी ॥ ध० अधि २ ॥

आरंभपरिग्गहच्चाय-आरम्भपरिग्रहत्याग- पु० आरम्भपरिग्रहवर्जने (नावेण जिणमयमि उ आरंभपरिग्गहच्चाओ) प० व० ॥ भावेनेति भावतः परमार्थत· जिनमत एव रागादिजेतृत्वाज्जिन । तन्मतं एव वीतरागशासन एवेत्यर्थ· आरम्भपरिग्रहत्यागः । वक्ष्यमाणारम्भपरिग्रहवर्जन जिनशासन एवान्यशासनेष्वारम्भपरिग्रहस्वरूपानवगमात्सम्यक्त्यागानुभ व इति गाथार्थ ।

आरम्भपरिग्रहस्वरूप प्रतिपादनायाह

पुढवाइसु आरंभो परिग्गहो धम्मसाहणं मुत्तुं,
मुच्छय तत्थवाहो इयरो मित्थत्तमाईओ ॥ ७ ॥

व्याख्या । पृथिव्यादिषु कायेषु विषयभूतेषु आरम्भ इत्यारम्भणमारम्भ सघट्टनादिरूपः परिग्रहणं परिग्रहः असौ द्विविधः बाह्याभ्यन्तरश्च तत्र धर्मसाधन मुखवस्त्रिकादि मुक्त्वा बाह्य इति सबध· । अन्यपरिग्रहणमिति गम्यते, मूर्च्छा च तत्र धर्मोपकरणबाह्या एव परिग्रह इति इतरस्त्वांतरपरिग्रहो मिथ्यात्वादिरेव आदिशब्दादविरति दुष्प्रयोगा गृह्यंते परिगृह्यंते न कारणभूतेन कर्मणा जीव इति गाथार्थः ।

त्यागशब्दार्थ व्याचिख्यासुराह ॥

चाउइमेसि संगं मणवयकाएहिं अप्पवित्तिओ ।
एसा खलु पव्वज्जा मुक्खफला होइ नियमेणं ॥

व्याख्या । त्यागः प्रोज्झनमनयो रारम्भपरिग्रहयोः सम्यक्प्रवचनोक्तेन विधिना मनोवाक्कायैः त्रिभिरप्यप्रवृत्तिरेव । आरम्भेपरिग्रहे च मनसा वाचा कायेनाप्रवर्त्तनमिति भाव· एषा खल्विति एषैव प्रव्रज्या यथोक्त स्वरूपा मोक्षफला भवतीति- मोक्ष फल यस्याः सा मोक्षफला भवति नियमेनावश्य तया भावमतरे णारम्भादौ मनोऽप्रवृत्यसभवादिति गाथार्थ ॥

आरम्भपरिसाय आरम्भपरिज्ञात पुं० आरम्भ पृथिव्याद्युपमर्दन लक्षण· परिज्ञातस्तथैव प्रत्याख्यातो येनसावारम्भपरिज्ञातः श्राद्धः अष्टम्या उपासकप्रतिमयोपेते श्राद्धे तथा च समवायाङ्गे। अष्टमी मुपासकप्रतिमामधिकृत्य(आरंभपरिणाए) ॥ सम० ११॥ आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनलक्षणः परिज्ञातस्तथैव- प्रत्याख्यातो येनासावारम्भपरिज्ञातः श्राद्धोऽष्टमीप्रतिमेति ॥

आरम्भपसत- आरंभप्रसक्त त्रि० आरम्भेषु पृथिव्याद्युपमर्दनेषु प्रसक्तास्तत्परः आरम्भतत्परे ग० श्र. २ ॥

आरंभय आरम्भज त्रि० आरम्भः सावद्यक्रियानुष्ठानं तस्माज्जातमारम्भजं सावद्यक्रियानुष्ठानेन जाते॥ आचा ० श्र ३उ१ (आरभज दुक्खमिणति णच्चा) ॥ आचा० श्र २ उ १ ॥ आरम्भ· सावद्यक्रियानुष्ठानम् तस्माज्जातमारम्भजं किंतत् दुःख तत्कारणं वा कर्म इदमिति प्रत्यक्ष गोचरापन्न मशेषारम्भप्रवृत्त प्राणिगणानुभूयमानमित्येतत् ज्ञात्वा परिच्छिद्य निरारम्भो भूत्वाऽऽत्महिते जागृहि सावद्यक्रियानुष्ठानमारम्भज किंतत् दुःखमिदमिति स्वकप्राणिप्रत्यक्षं तथा हि कृषिसेवा वाणिज्याद्यारम्भप्रवृत्तो यच्छारीरमानसदुःख मनुभवति तन्न वाग्गोचर इत्यतः प्रत्यक्षाभिधायिनेदमुक्तमितिरूपप्रदर्शने इत्येतदनुभवसिद्ध दुःखं ज्ञात्वा मृताचार्य्यधर्म्म विद् ऋजवश्च भवन्तीति (पाणाइवाए दुविहे पन्नते तंजहा सकप्पओ १ आरंभओ २) आव० ॥ आरंभाज्जातस्तत्रारम्भो हलदतोलूखलादिखनन सूनाप्रकार स्तस्माद्गलखदनक पिपिलिकाधान्यगृहकारिकादि संघट्टन परितापा पद्रावण लक्षण इति । आव० ।

आरंभपेसउदिट्ठवज्जय-आरंभपेसोद्दिष्टवर्जक- पु० अष्टम्या मुपासक प्रतिमायां तथाच पञ्चाशके ।

आरंभ पेसउद्दिट्ठ वज्जए, समणभूएय ।

प० वृ० १ तथा आरंभश्च स्वय कृष्यादिकरणं प्रेषश्चप्रेषणं परेषां कृष्यादिषु प्रवर्तन उद्दिष्ट चाधिकृतश्रावक मुद्दिश्य स चेतनं सदचेतनीकृत पक्वा यो वर्जयति परिहरते असावारंभ प्रेषोद्दिष्टवर्जकः प्रतिमेति प्रकृतमेव इह च प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदादेवमुपन्यासः ॥ १५ ॥

आरंभरय-आरंभरत- त्रि० सावद्यानुष्ठानरते ।

जेमयआरंभ रया,तेजीवा होंति अप्पह दोसयए,
तओमहापावयरा, जे आरंभपसंसंति । दश० ।

आरंभवंत-आरंभवत्- त्रि० आरम्भप्रवृत्ते षो० विव० ९

आरंभवज्जय-आरंभवर्जक- त्रि० आरम्भपरिहारके० यत्रैका दशसूपासक प्रतिमास्वष्टमी प्रतिमेति प्रश्न द्वा ५ अष्टौमासान् स्वयमारभ न करोतीत्यष्टमीति । ध० अ० २ ।

आरंभविणय-आरंभविनय- पु० आरम्भाभावे. आ० श्र ४उ २।

आरंभविणयि (न्) आरंभविनयिन्- पु० आरंभविनय आरम्भाभावः सविद्यते येषामिति मत्वर्थीयः आरम्भाभाववति। आचा० । अ० ४ उ० २ ।

आरंभसंभिय-आरंभसंभृत- त्रि० आरंभैः संभृता आरम्भसभृता आरम्भपुष्टे ।आरभ सभिया कामा नते दुःखविमोयगा । आरंभैः सम्यक्भृता आरम्भपुष्टा आरंभाश्च जीवोपमर्दकारिणोऽतो नते काम सभृताः आरम्भनिश्रिताः परगृहानिविष्ट दुःखयतीति दुःखमष्टप्रकार कर्म तद्विमोचकाभवति तस्याऽपनेतारो भवंतीत्यर्थः । सू० श्रु० १ अ० ए ।

आरंजसच्च- आरंजसत्य-त्रि० आरम्भोजीवोपघातस्तद्विषयं सत्य मारम्भसत्य आरम्भविषये सत्ये भ० श० ८ उ० १ ।

आरंजसच्चमणप्पओग-आरंजसत्यमनः प्रयोग-पु० आरम्भो जीवोपघातस्तद्विषय सत्यमारम्भसत्यं तद्विषयो यो मनः प्रयोगः आरम्भ सत्यविषयक मनः प्रयोगे भ० श० ८ उ० १।

आरंजसच्चमणप्पओगपरिणय-आरंजसत्यमनः प्रयोगपरिणत-त्रि० आरंभो जीवोपघातस्तद्विषय सत्यमारम्भसत्य तद्विषयो यो मनः प्रयोगस्तेनपरिणत यस्ततया आरंजसत्य-विषयक मनः प्रयोगपरिणते द्रव्यादौ (जइसच्चमणप्पओग परिणए किं आरंजसच्चमणप्पओग परिणए अणा रम्भसच्चम-णप्पओग परिणए) भ० श० ८ उ० १ ॥

आरंजसत्त-आरंजसक्त-त्रि० आरंभे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो लग्नः आरंभलग्ने । सू० श्रु० १ अ १

वेराणुगिद्धे (पाठान्तरे आरंजसत्तो) णिचयंकरेति,
इओ चुते सुदुहमट्ठदुग्गं । तम्हाउमेधावि समिक्ख ध-
म्मं चरेमुणी सव्वओविप्पमुक्के ॥ ८ ॥ त० टी० ।

व्या० । येन केन कर्म णा परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते ज-न्मान्तरशतानुयायि भवति तत्र गृद्धो वैरानुगृद्धः पाठान्तरं वा (आरंजसत्तोत्ति) आरम्भे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो ल-ग्नो निरनुकम्पो निचयं द्रव्योपचय तन्निमित्तापादितकर्मनि-चय स्थाना च्युतो जन्मान्तरं गत सन् वा करोति उपादत्ते स एव हत उपात्त वैरः कृतकर्मोपचय इत्यतोऽस्मात्स्थानाच्युतो-जन्मांतर गत सन् दुःखयतीति दुःखनरकादिकयातनास्था-न मर्थत परमार्थतो दुर्ग विषमां दुरुत्तरमुपैति यत एवं तत्त-स्मात्मेधावो विवेकी मर्यादावान् वा संपूर्णसमाधिगुण जाना-नो धर्म श्रुत चारित्राख्यसमो क्ष्या ह्रोच्यांगोकृत्य मुनिः साधुः सर्वत सबाह्यान्यतरात्सगाद्वि प्रमुक्तोऽपगतः । सयमानुष्ठान मुक्तिगमनकहेतुभूत चरेदनुतिष्ठेत् कुधारंभादिसगाद्विप्रमुक्तो निःश्रितभावेन विहरेदिति यावत् ॥(आरभसत्तापकरतिसग) आरंभण मारम्भ सावद्यानुष्ठानम् तस्मिन् सक्तास्तत्परा इति । आ० अ० १ उ ७

आरंजसमारंज- आरंजसमारंज पु० आरभ्यते विनाश्यते इ-त्यारंभाः जीवा स्तेषां समारम्भ उपमर्दः अथवा आरंभः कृष्यादि व्यापारस्तेन समारंभो जीवोपमर्दः अथवाऽरंभो जीवाना मुपद्रवणं तेन सह आरम्भः परितापन मित्यारंभः समारम्भ- जीवोपमर्दः कृष्यादिव्यापारेण जीवोपमर्द परिताप-सहित जीवाना मुपद्रवेण च प्राणवधे च तथा च प्रश्नव्याकरणे प्राणवधस्य गौणनामान्यधिकृत्य आरंभ- समारंभः प्राणवधस्य पर्यायः इति प्रश्न० । द्वा० १ ।

आरंभि (न्) आरंभिन्- पु० पापारमान्वेषिणि ॥

वएणादेसीणारंभे कंचण सव्वलोए ।
कप्पमुह णिदिसप्पातिम्मे ॥ आ० अ० ५ उ० ॥

सर्वैवभूतः समारम्भी स्यात् कुमार्ग परित्यागेन न पापा-रम्भान्वेषी भवतीत्यर्थः आचा० सूत्र० श्रु० १ अ० ७ ।

एतेहिं छहिं कापहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।
मणसा काय वक्कण, णारंभी ण परिग्गही ॥

व्या० । एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिरपि कायैरूस स्थावररूपैः सूक्ष्मबादर पर्याप्तका पर्याप्तक भेदभिन्नैनोरंभी नाऽपिपरिग्रही स्यादिति संबन्धः । तदेतद्विद्वान् सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान परिज्ञया मनोवाक्काय कर्मभिर्जीवोपमर्द-कारिणामारंभं परिग्रहंच परिहरेदिति ॥

आरंभिया-आरंभिकी-स्त्री० आरंभः पृथिव्याद्युपमर्दः स प्र-योजनं कारण यस्याः साऽऽरंभिकी । स्था० ठा० २ क्रिया-भेदे-भ० श० १ उ० २ ॥

आरंभिया किरिया दुविहा पं० तं० जीवआरंभिया
चेव अजीव आरंभिया चेव ॥ स्था० ठा० ५ ।

जीवआरंभियाचेवत्ति-यज्जीवानारभ माणस्योपमृद्गतः कर्म बन्धन सा जीवारम्भिकी अजीवारम्भिया चेवत्ति यच्चाजीवान् जीवकलेवराणि पिष्टादिमयजीवाकृतीश्च वस्त्रा-दीन्वा रभमाणस्य सा अजीवारम्भिकीति स्था० आव०चूर्ण।

आरंभियाणं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ गोयमा !
अण्णयरस्स वि पमत्तसंजतस्स, प्रज्ञा० ॥ पद २२ ॥

अन्नयरस्स वि पमत्त सजतस्स इति ॥ अत्रापि शब्दो भिन्न-क्रमः प्रमत्त सयतस्याप्यन्यतरस्य एकतरस्य कस्यचित्प्रमादे सति कायदुःप्रयोग भावतः पृथिव्यादेरुपमर्दसम्भवात् अपिशब्दोऽन्येषामधस्तन गुणस्था न वर्तिनां नियम प्रदर्श नार्थः प्रमत्तस यतस्याप्यारंभिकी क्रिया भवति किं पुनः शेषाणां देशविरति प्रभृतीनामिति एव मुत्तरत्रापि यथायोग-मपिशब्दभावना कर्तव्या ॥

आरंभोवरय-आरम्भोपरत-त्रि० सावद्यानुष्ठानादुपरते ॥

जे य पत्ताणमंतो पबुच्चा आरंभोवरता सम्ममेयंति
पासह । आचा० अ० ५ उ० ५ ।

आरम्भः सावद्ययोगस्तस्मादुपरता आरंभोपरता इति । आचा० ।

सेहु पण्णाणमंते बुद्धे आरंभोवरए सम्ममेयंति पासह
आचा० अ० ४ उ० ३ ।

सावद्यानुष्ठानमारंभस्तस्मादुपरता आरंभोपरता इति ।

आरक्ख-आरक्ष-पु० आ-रक्ष-अच्-हस्तिकुम्भाधः स्थले, आर कुम्भप्रमवमत्य सृणिं शितायां । माघ० । हस्तिमस्तकचर्मणि, सैन्येच रक्षके, त्रि० (सहसाहस्र मारक्ष मध्यगं रक्षसां कपिः प्रक्षिः (तेषामारक्षभूतन्तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् । मनुः वाच० ॥

चोरो य णगररक्खेण परिभंसमाणो तत्थेवआतिगतो
नि० चू० १ उ० । आ० म० ।

राज्ञामातरक्षक-स्था० ठा० ३ अभ्रे. उपरवंश्ये, च आरक्षकाउव प्रदण्डक रित्वाउग्रा इति । आ. म उग्रा आदिराजेनारक्षक त्वेन व्यवस्थापितास्तद्वंश्याइत्येति स्था० ६ ठा० । भावे घञ् रक्षायां-पु० वाच० ॥

आरक्खिय-आरक्षिक- पु० कोट्टपाले । बृ० ।

आरक्खिय पुरिसेहिय अहोरात्रं रक्खिज्जइ नि०चू०१उ०।
आरक्खिओ पुव्वजणिओ आरक्खिगोत्ति ।
दंडवासिगो ॥ नि० चू० १६ उ० ।

आरक्खियपुत्तेण हिमंतेण चोरोत्ति काऊण जहाणाहया आव० म० ॥

आरग–आरक– पु० आक्षेपे व्य० १ उ० ।

आरगय–आरगत– त्रि० आराद्भागस्थिते (आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ णो परगयाइं) आराद्भागस्थितानिन्द्रियगोचराणि-त्यर्थः । भ० ५ श० ४ उ० ॥

आरण–आरण–पु० सकलविमान प्रधानारणायतसकाभिधान विमान विशेषोपलक्षित आरणः । अनु० । कल्पभेदे, सम० १०५। कल्पोपग वैमानिक देवलोकभेदे,च० विशे० (आरणाअच्चु यावेवइ इकप्पो यमांसुरा) उत्त० अ० ३२ । प्रज्ञा० पद०२।

आरनाल–आरनाल–न० सौवीरे पानकभेदे ॥

सेज्जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा तंजहा तिलोदगं वा-तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा सुद्ध वियडंवा अन्नतरं वा तहप्पगारं पाणगजायं पुव्वामेव आलोएज्जा । आचा० अ १ उ० ७ ।

व्या० । यत्पुन पानकजातमेव जानीयात् तद्यथा तिलोदक तिलैः केनचित्प्रकारेण प्रासुकीकृतमुदकमेव तुषैर्यवैर्वा तथा आचाम्ल मवश्रयान सौवीरमारनाल शुद्धविकट प्रासुकमुदक मन्यद्वा तथा प्रकार द्राक्षापानकादि पानकजातं पानीयसा-मान्य पूर्व मेवावलोकयेत्प्र,यत् ।

आरण्णय–आरण्यक– न० आवश्यके लौकिक श्रुतमधिकृत्य लौकिकत्वारण्यकादि रूप्यमिति । आ०म०उ०१६।(आरण्णग) त्रि० आरण्यं गच्छतीत्यारण्यगाः आरण्यगतादि । नि० चू०

आरण्णरासि–आरण्यराशि पु० नि० कर्म० आरण्यशब्दोक्ते-सिहे मकरादिमार्ढे दिवसे मेष वृषेचराशौ । वाच० ।

आरण्णय—आरण्यक पु० अरण्ये वसत्यारण्यकः कंदमूल फलाहारे तापसे । दशा०अ० १० अरण्ये वसंत्यारण्यकास्तेच कन्दमूलफलाहारास्तत. केचन वृक्षमूले वसन्तीति सूत्र. । श्रु० २ अ० २ । अरण्येभवाआरण्यका' तीर्थिकविशेषे ।

आरण्णिक पु० अरण्ये चरत्यारण्यका कदमूलफलाशिनि ता-पसादौ सूत्र० श्रु० २ अ० २ ।

आरत—आरक्त पु० देवरक्तवर्णे, वाच० । आरक्त मीषद्रक्त मिति आचा० । अ २ उ ० ३ । तद्वतिसम्यगनुरक्तेच त्रि० भावे. क्त. अनुरागे. न वाचा० ॥

आरात्तिय–आरात्रिक– न० । दीपार्तिक्ये, (आरात्रिकं जिना-र्चायां , कृत आर्के ज्वलच्चिखं । दीप्यमानैर्पधीचक्रं शीघ्रम-गवि नंयकम् । ध० अधि० २ ॥

आरद्ध–आराद्ध– त्रि० । आ० राघृ० क्त० संसिद्धे० तिकाo किञ्० आरब्धायनि. तदपत्ये. पु० स्त्री० । वाच० । आरब्ध० त्रि० आ०रभ्० क० कृतारम्भणे, (आरब्धादन्यकार्याणां कार-ण परिवर्तकः) अनारब्ध कार्यं यवतु इत्यादि ॥ यस्य कियदशकर्तुमारंभे तादृशः पदार्थे आर-ब्धः । वाच० कच्छिरमारब्भो-नि० चू० उ० भावे. क्तः ॥ आरंभे न० । वाच० ।

आरभ (म्भ)–आरभ– आङ् रभ्० ख्वा ० आ० आरंभे सक० अनिट्यजादौ आर्द्धधातुके मुम् आरंभः आरम्भणं क्षिति-तु आरेभे. । वाच० । आङो रभे रभढवौ ५४ इतिप्राकृतसूत्रेणा-ङः परस्य रभे रंभ ढव इत्यादशौ वा भवतः । आरभइ आढ-वइ । आरभइ ॥ प्रा० व्या० ॥

आरभ(म्भ)इत्ता–आरभ्य–अव्य० । आ० रभ०ल्यप् । उपक्र-मेत्यर्थे. ॥

आरभंत–आरभमाण–त्रि० । आरंभं कुर्वंति प्राश्रमिह आर-भता. आरभमाणा इति । स्या. ठा० ७ । विनाशयति च स्त्रिया ङीप् । सघट्टंता रभन्तीय आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयतीति. । पिं० वृत्ति० ॥

आरभड–आरभट–न० । नाट्यभेदे स्या. ठ०४ अष्टाविंशतिमे नाट्यविधिभेदे च आरभटं नाम अष्टाविंशतितममिति । राज० । स्वनामख्याते ४ दिवसभवे । मुहूर्ते पु० ज्योतिषआरभडो सो-मित्तो पंच अंगुलो होइ । व० प० ७ । आर सामर्थ्येन गामीभटः शूरे वीरे० पु० । हेम० । वाच०

आरभडभसोल– आरभटभसोल– न० ३० नाट्यविधि-भेदेआरभट भसोलं नाम त्रिंशत्तममिति । राज० । आ० म० ॥

आरभडा– आरभटा– स्त्री० प्रमादप्रतिलेखनाभेदे (आरभ-डासम्मद्दा वज्जेयव्वाय मोसली तइया) आरभटा विधेर्वि-परीतकरण १ त्वरित २ पृथक् ३ नवीनवस्त्रग्रहण पया प्रथ-मा प्रमाद प्रतिलेखनेति । स्या० । ठा० ६॥

आरभटा वितथ करण रूपा अथवा त्वरितं सर्वमारभमाण-स्याथवा मध्युपेक्षिता एवैकत्र यदन्यान्यवस्त्रग्रहणं सा आर-भटा साच वर्जनीया सदोषत्वात् इति (वितहकरणे च तुरिय अन्नं अन्नंच गिण्हआरभडा) ध० अ० ३ ॥ वितथं विपरीतं यत्करणं तदारभटाशब्दे नोच्यते साचारभ-टा प्रत्युपेक्षणा न कार्या इत्यर्थ । वा विकल्पेनेय चारभटो-च्यते यद्रुत त्वरितमाकुल यदन्यान्यवस्त्रग्रहण तदारभटा शब्देनोच्यते । पंच० औ०

आरभडी–आरभटी– स्त्री०आरभ्यतेऽनया आ० रभ०अट-ट ङीप० नाट्ये. । रचनाभेदे— वाच० ॥

आरभिय– आरभित– न० नाट्यविधिभेदे (अप्पेगइयादे-वा आरभियं णट्टविहिं उवदंसेइ) राज० ॥

आरमण– आरमण– न ० आ० रम० भावे० ल्युट् आरामे विश्रामे. आरम्यतेऽनेन करणे ल्युट् आरति साधने । वाच० ।

आरय– आरत– त्रि० आ. रम्. क्त, उपरते विरतेचः । सूत्र० । श्रु० १ अ० ४ । अपगते । सूत्र. श्रु० १ अ० १५ ॥

आरयमेहुण– आरतमैथुन– त्रि० आरतमुपरत मैथुन कामा-भिलाषो यस्यासा वा रतमैथुनः । सूत्र० श्रु० १ अ० ४ ॥ (दढे आरय मेहुणे) आरतमुपरतमपगत मैथुनं यस्यस-आरत मैथुनोऽपगतेच्छामदनकामामायाच्संयमे दृढोसौ भव-तीति । सूत्र० श्रु० १ अ० १५ ॥

आरव– आरव– पु० म्लेच्छदेशभेदे- जं० ॥
तत्र भवेम्ले च्छजाति भेदे । प्रश्न० ।द्वा० ॥ १ ॥
स्त्रियां ङीप् आरवीहिं । भ० । श० ए । उ० ३३ ॥

आरवग– आरवक– पु० आरवदेशोद्भवे म्लेच्छविशेषे

आरवके रोमके अलसंदविसयवासीअपिक्खु रे काल-

मुहे जेणेए अ उत्तरेवेअट्ठ संसिआअ मेच्छा जाईवहुप्पगारा ॥

व्या० आरवकान् आरवदेशोद्भवान् रोमकांश्च रोमकदेशोद्भवान् कालमुखान् जोनकांश्च म्लेच्छविशेषानिति । ज० ॥

आरसंत–आरसत्– त्रि० विलपति आरसंतेसु भेरवमतिभीपण शब्दं रसन् विलपन्निति उ० अ० १९ ॥

आरसिय–ओरसित– न० आरटिते (इमेणदारएण जायमेत्तेणं चेव महया २ सद्देण विघुट्ठे विसरे आरसिए तएण पयस्स दारगस्स आरसिय सद्दं सोच्चा णिसम्म हत्थिणाउरे वहवे णयरे गोरूवा जाव भीया । विपा० अ० २ । महया २ चिच्चि आरसिन्ति महता चिच्ची त्येव चीत्कारेणेत्यर्थः आरसित मारटित छिज्जति सुभगवया आरसियन्ति । आ० म० । अ० १ ॥

आरा–आरा–स्त्री० आ० ऋ० अच्० चर्मभेदकास्त्रभेदे । लौहास्त्रे प्रतोदेच । वाच० । (तत्ताहिं आराहिं नियोजयन्ति) सू० श्रु० १ । अ १ । तप्ताभिरत्राभि· पीड्यमानास्तत्त प्रपुपानादिके कर्मणि नियोज्यन्ते व्यापार्यन्त इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ०

आराम–आराम–पु० आरम्यतेऽत्र आ रम् आधारे घञ् आगत्य गत्य भोगपुरुषा । वरतरुणीभिः सहयत्र रमन्ते क्रीडन्ति स आरामो नगरासन्नातिदूरवर्ती क्रीडाश्रयस्तरुखण्डः । राज० । माधवी लताद्युपेते दम्पति रमणाश्रये वनविशेषे प्रश्न० ४ द्वा० ॥ (आरामुज्जाणमणाभिरामपरिमण्डियस्स) आरामै दंपति रतिस्थानलता गृहोपेतवनविशेषै रिति प्रश्न ३ द्वा० आरामाः पुष्पजातिप्रधाना वनखण्डा इति ज० प्र० ।ए श ३३ उ० । स्था० । ठा० ५ । औप० । आरमन्ति येषु माधवी लतागृहादिषु दंपत्यादीनि ते आरामा' । ज्ञा० १अ० । दशा० प्र० ५ श० ७ उ० । औप० । (आरामाच्च) आरामा विविध वृक्षलतोपशोभिताः कदल्यादिप्रच्छन्नगृहेषु स्त्रीहितानां पुसा रमण स्थानभूता इति । स्था० २ ठा० । (आरामेसुवा) आरामेषु कदल्याद्याच्छादितेषु स्त्रीपुंसयोः क्रीडास्थानेषु । कल्प० । रमणीयता ऽतिशयेन स्त्रीपुरुषमिथुनानि यत्रारमन्ति स विविधपुष्प जात्युपशोभित आराम' । अनु० । माधवी लतासु दंपत्यादीनि येष्वारमन्ति क्रीडन्ति ते आरामाः पुष्पफलादिसमृद्धानेकवृक्षसङ्कुलानीति । अनु० । (आगमेसुय) आगत्य रमन्तेऽत्र माधवीलतागृहादिषु दंपत्य इति स आरामपुष्पादिमद्वृक्ष सङ्कुलमिति० । जी० ३ प्रति० । ज्ञा० १ अ० । राज० । आरामा वनोद्यानभूमय इतिकृत्रिमवने वाटिकायांच स्त्रियोऽधिकृत्य तन्दुलवैकालिके (आरामोकम्मरयस) आराम· कृत्रिमवनं कस्य कर्मरजसः कर्मपरागस्य यद्वा कर्मच निविडं मोहनीयादि रश्चकाम' चश्चचौर' कर्मरच्च तस्यारामोवाटिकेति । त० । आरामयतीत्याराम आराम कारके त्रि० । स्त्रियोऽधिकृत्याचाराङ्गे (एससे परमारामो जाओलोगमि इत्थिओ) आचा० अ० ५ उ० ४ आरामयतीत्याराम परमश्चासावारामश्चपरमारामः ज्ञाततत्वमपिजन हास विलासापाङ्गे निरीक्षणादिभिर्विब्वोकैर्मोहयतीत्यर्थः । आ० अ० ५ उ० ४ वृत्तरत्नाकरटीकोक्ते षोडशमिश्रगणे राराम इत्युक्ते दण्डकभेदेच आ-रम् भावे घञ् आरत्तौ । अन्तःसुखोन्तराराम । गीता० अन्तरात्मनि आरामो यस्येति विग्रहः । शाघायुरिन्द्रियारामो मोघपार्थ स जीवति गीता वाच० इहारामं परिज्ञाय अल्लीणगुत्तो परिव्वए आचा० अ ५ उ० ६ इहास्मिन् मनुष्यलोके आरमणमारामो रतिरित्यर्थः । सच्चारामः परमार्थचिन्तायामात्यन्तिकैकान्तिक रतिरूपः सयम तमासेवनपरिज्ञया परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् आचा० अ० १ उ० २

आरामगय–आरामगत–त्रि० आरामो विविधपुष्पजात्युपशोभितस्तत्रगते आरामगयं वा स्था० ठा० ५ ।

आरामागार–आरामागार–न० आरामेऽगार गृह मारामागार आराममध्यगृहे (आरामागारेसुवा) आराममध्यगृहाण्यारामागाराणीति आचा० आगतगारे आरामगारे समणेऽन्नीतिण उवेतिवास आरामेगारमागारमिति सूत्र० श्रु० २ अ० ६

आरामिय–आरामिक–त्रि० आरामे तद्रक्षणे नियुक्तः तद्रक्षउद्यान पाले, मालिके, (आरामिए पढइ) आ० म० । सायआमया आरामियेण गहिया नि० चू० उ० १ । स्था० ठा० ४ ॥

आराहग (य) आराधक–पु० निष्पादके, औप० । आराधयति सम्यक् पालयति बोधिमित्याराधकः । राज० । ज्ञानाद्याराधनवति. । पचा० वृ० ८ । आराधकोज्ञानादीनामाराधयितेति भ० श० ३ उ० १ । (आराहए विराहए ज्ञानादीनाराधयतेनि) प्रति० मोक्षमार्गस्याराधक इत्युद्धृत्यर्थं भ० श० ८ ६ उ० । सद्दृष्टिराराधकः आराधको ज्ञाना द्याराधनकर्तेति प्रति० (नहुते आराहगा भणिया) आराधका उत्तमार्थ साधकाः । आतु० । आराधको ज्ञानाद्याराधनकर्तेति ॥ आराधकस्यफल पचाशके. यथा. ॥

आराहगो य जीवो, सत्तट्ठभवेहिं पावतीणिय मां, ।
जम्मादि दोस विरहा, सासय मोक्खतुं णिव्वाणम् ॥५०॥

व्या० । आराधकश्च ज्ञानाद्याराधनावान् च शब्द पुनरर्थे जीव प्राणी सप्ताष्टभवैः सप्तभि रष्टाभिरित्यर्थः इदच जघन्याराधनामाश्रित्योक्तम् अन्यथा तद्भव एव कश्चित् सिध्यतीति एतेच सप्ताष्टौभवा आराधनायुक्ता दृष्टव्याः इतरथातुसप्तैव प्राप्नुवन्ति लभते नियमादवश्य तया कुत किंविध किमित्याह जन्मादिदोषविरहा ज्ञातिजरामरणप्रभृति दूषणावियोगादेतत्पदशास्वत सौख्यमित्यनेन प्राप्नोतीत्यनेन वासवन्धनीय शास्वत सौख्यतु नित्यसुखमेव नतु स्वास्थ्यमात्र निर्वाण निवृत्तिमितिगाथार्थ' । अथ आराधकस्य कथंभवति औघ०

सेसेसुजागेसुअ, वट्टंतोविदेसमाराहो ।
जहिपुणसव्वाराहण, मिच्छसितंणं निसामेहिं

व्या० । शेषेषुयोगेषु अवर्तमान सम्यक्शास्त्रोक्तेन न्यायेन प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नपिदेशक आराधकएवअसौ नतु सर्व माराधित भवति तेन यदि पुन सम्पूर्णाराधनामिच्छतीत्यादि सुगम। कथच सर्वाराधको भवत्यतआह ।

पचिंदिएहिं गुत्तो, मणमाई तिविह करण मा उत्तो ॥
तवणियम सयमंमि, जुत्तो आराहगो होई ॥ ४६ ॥

व्या० । पचभिरिन्द्रियै र्गुप्तिः मानसादिना त्रिविधेन करणेन युक्तो यत्नवान् तपसा द्वादशविधेनयुक्तः नियम इन्द्रिय नियमो नो इन्द्रिय नियमश्च तेन युक्त सयमः सप्तदशप्रकार पुढ विकाओ आउकाओ वाउकाओ वणस्सइकाओ वे इंदिय ते इंदिय चउरिंदिय अजीवकाय संजमो पेहे ।

उपेहो पमज्जणं परिठावणं मणवइकाए ॥
अत्र संयतः सन् मोक्षस्य आराधको भवति प्रव्रज्याया वा आराधक ।
"सिद्धेउवसं पम्रो, अरहंते केवलिचिन्नावेणं ।
इत्तो एगयरेणं वि, एएण आराहेउ होई ॥ ३० ॥
"लज्जाइं गारवेणं य, बहु सुयमयेण वावि दुच्चरियं ।
जेन कहंति गुरूणं, नहुते आराहगा हुंति ॥ ३४ ॥
पंच महव्वय सव्वय, संपुन्न चरित्त सीलसंजुत्ता ।
जइतइ मया महेसि, हवंति आराहग समाणं ॥३७॥
पमिमासुसीह निकीलियासु, गोरे अभिगाहा ईसु ।
उव्वीह अब्भंतर एवं, भयतवे समणु रत्ता ॥ ४० ॥
अवि हलशीला पारा, पभिवन्ना जेय उत्तमं अहं ।
पुव्विलाणयमाणय भाणिया आराहणा चेव ॥ ४१ ॥
जइ पुव्वुट्ठ अगमाणा, करण विहिणावि सागरो पोओ ।
तीरासन्नं पावइ, रहिउं अवलगाइहिं ॥ ४२ ॥
तहसुकरणो महेसी, ति करण आराहउ धुवं होई ।
अहल्लइइं उत्तमं हुंतं, अइलात्तं नूणं जाण ॥ ४३ ॥
आराधकत्वं विराधकत्वं च ज्ञाताऽध्ययने-यथा.

एक्कारस मस्स के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जम्बू तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे सामी समोसढे गोयमा ? । एवं वयासी कहणं भंते ! जीवा आराहगा विराहगा वा भवंति सेजहा नाम ए एगंसि समुद्दकुलंसि दाव दवानामा रुक्खा पण्णत्ता किएहा जाव निउरंब भूया पत्तिया पुप्फिया फालिया हरियग रिरिज्झमाणा सिरीए अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति जयाणं दीविच्चगाइसिं पुरे वाया पच्छा वाया मंदं मंदं वायं वायंति तदाणं बहवे दावद्दवा रुक्खा पत्तिया जाव चिट्ठंति अप्पे गतिया दावद्दवरुक्खा जुन्नाजोभा परिमाडिय पंडुर पत्त पुप्फफलासुक रुक्ख निव मिलायमाणा २ चिट्ठंति एवामेव समणाउसो जे अम्हाणं निग्गंथोवा २ जाव पव्वत्तिएसमाणे बहूणं समणाणं ४ सम्मं संहति जाव अहिया सेति बहूणं अण उत्थियाणं बहूणं गिहत्थाण णोसम्मं सहति जावनो अहिया सेति एसणं मए पुरिसे देस विराहए पण्णत्ते समणाउसो जयाणं समुद्दगाइसिं पुरे वाया पच्छा वाया मंदवाया महावाया वायंति तत्तेणं बहवे दावद्दवा रुक्खा जुन्नाजोभा जावमिलायमाणा चिट्ठंति ! अप्पे दावद्दवा रुक्खा पत्तिया पुप्फिया फालिया जाव उवसोभेमाणा चिट्ठंति एवामेव समणाउसो जे अम्हं निग्गंथोवा २ पव्वति समाणे बहूणं अन्नउत्थि गिहत्थाणं सम्मं सहइ निवहूणं समणाणं समणीणं नो सम्मं सहति ४ एसणं मए पुरिसे देस आराहए पण्णत्ते समणाउसो जयाणं तो दिविव्वगातो समुद्दग विइसिं पुरेवाया जाव महावाया वायंति तयाणं सव्वे दीवद्दवा पत्तिया जाव चिट्ठंति एवामेवसमणाउसो जो जाव अम्हं पव्वत्तिए समाणे बहूणं समणाणं बहूणं अणउत्थिय गिहत्थाणं नो सम्मं सहति एगणं मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते समणाउसो जयाणं दिव्विगावि समुद्दगावि इसिं पुव्वपुरओ वायंति तयाणं सव्वे दावद्दवा पत्तिया जाव चिट्ठंति एवामेव समणाउसो जे अम्हे पव्वइए समाणे बहूण समणाणं ४ बहूणं अन्न उत्थियगिहत्थाणं सम्मं सहइ एसणं मए पुरिसे सव्वाराहे पण्णत्ते एवं खलुगोयमा ! जीवा आराहगा विराहगा वा भवंति एवं खलु जम्बू समणेणं भगवया महावीरेणं एकारसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्तिबेमि ।
ज्ञाता० । अ० ११ ।

व्या० । अथैकादशं विवियते अस्य च पूर्वेण सहायं संबन्ध. पूर्वंच प्रमाद प्रमादिनोर्गुणहानिवृद्धिलक्षणावनर्थार्थावुक्ता विहतु मार्गाराधनविराधनाभ्यां तावुच्येते इति संबन्धमिदं सर्वं सुगमं नवर । आराधका ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य विराधका अपितस्यैव (जयाणमित्यादि) दीविच्चगा द्वैप्यादीपसम्भवा ईषत्पुरेवानाः मनाक् सचेह वाताइत्यर्थ. पूर्वदिक्संबंधिनो वा पथ्यावाता वनस्पतीनां सामान्येनहिता वायव. पश्चाद्वातावा मद्वा शनैस्सञ्चारिण' महावाता उद्दण्डवाता यांति । तदा (अप्पेगइयत्ति) अप्येकेकेचनाऽपिस्तोका इत्यर्थ' । (जुन्नत्ति) जीर्णा इव जीर्णा झोडपत्रादि शाटन तद्योगात्तेपिझोड् । अतएव परिशाटितानि कानिचिच्च पांडूनि पत्राणि पुष्पफलानिच येषाते तथाशुष्क वृक्षकद्दवम्लायत स्तिष्ठति इत्येष दृष्टांतो । योजनात्वस्यैव । एवामेवेत्यादि (अन्नउत्थियाणन्ति) अन्ययूथिकानां तीर्थान्तरीयाणां कपिलादीनामित्यर्थः दुरवचनादीनुपसर्गान् नो सम्यक् सहत इति (एसणाति) एवच भूत एषपुरुषो देशविराधको ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य। इयमत्र विकल्प चतुष्टयेपि भावना यथा । दावद्रववृक्षसमूहः स्वभावतो द्वीपवायुभि बहुतरदेशै. स्वसंपदासमृद्धिमनुभवति देशेनचा समृद्धिं समुद्रवायुभिश्च देशैरसमृद्धिं देशेनच समृद्धि मुभयेषांच वायूनामभावे समृध्यभावमुभय सद्भावेच सर्वतस्समृद्धि मेव क्रमेण साधु कुतीर्थिकगृहस्थाना दुर्वचनादीन्यसहमान' क्षांतिप्रधानस्य ज्ञानादिमोक्षमार्गस्य देशतोविराधनां करोति श्रमणादीनां बहुमान विषयाणां दुर्वचनादि क्षमणेन बहुतरदेशानामाराधनात् श्रमणादिदुर्वचनानात्यसहने कुतीर्थिकादीनां सहने देशानां विराधनेन देशत एव आराधनां करोति । उभयेषामसहमानो विराधनायां सर्वथातस्यवर्तते । सहमानश्चसर्वथाराधनायामिति ॥
इहपुनर्विशेषयोजनामेव वर्णयति ॥
(जह दावद्दवतरुणमेवं, साहू जहेह दीविच्चा वाया तहसमणा इयसपक्खवयणाइं दुस्सहाइं ।१। जहा समुद्दयवाया तहण तित्थाइ कडुयवयणाइं । कुसुमाइ संपयाजहसिवमग्गा राहणातहओ ॥२॥ जहकुसुमाण विणासोसिवमग्ग विराहणातहंनेया। जहदीववायुजोगे बहुइड्ढी ईसियअणिड्ढी ॥ ३ ॥ तहसाहम्मिय

वयणा,णसहण माराहणभवे बहुया। इयपणमसहणेदुण सिधमग्ग विराहणार्थोवा।४ ।जहजलहिवायजोगे थेचि बहुयरा भणिट्ठीओ।तहयपरपक्खखमणे आराहणमी सिवद्धुहयर॥५॥ जह उभयवाय विरहे सव्वातरुसपया विणट्ठत्ति। अनिमित्तो भयमच्छर रूवेह विराहणा तहय ॥६॥ जहउभय वायजोगे सव्वसमिद्धि वणस्स सजाया। तह उजयण सहणे सिवमग्गा पहणापुणा ॥ ७ ॥ तापुन्नसमणधम्मा पहणचित्तो सयामहा सत्तो। सव्वेण विकीरतं सहेज्जसव्व विपमिकूल मिति॥८॥

मायीमायांकृत्वा नाराधकोभवतीति मायीशब्दे।स्था०ठा०८। आराधका अनाराधका औपपातिके विस्तरेण।

यथा--जीवेणं भंते ?। असंजये आवरए अपडिहय पच्चक्खाण पावकम्मेइओचुए पेचा देवेसिआ गोयमा? अत्थे गइया देवेसिआ अत्थेगइआ णोदेवेसिआ सेकेणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ अत्थे गइआ देवेसिआ अत्थे गइआ णोदेवेसिआ गोयमा?। जे इमेजीवा गामागर णगर निगमरायहाणि खेड कव्वड मडव दोणमुहवट्टणा समसंवाह सन्निवेसेसु अकाम तण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेर वासण अकाम आराहाण कसियाय वदंस मसग स अजल्लमल्ल पंक परितावेणं अप्पतरोवा भुज्जतरोवा कालं अप्पाण परिकिलेसंति अप्पतरोवाकालं अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे कालंकिचा अन्नतरेसु व णमंतरेसु देवलोएस देवताए उववत्तारो भवंति तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पन्नत्ते सेणंभंते? देवाणं केवतिअं कालं ठिती पएणत्ता। गोयमा ? दसवाससहस्साइं ठिती पएएत्ता तत्थणंभंते?। तेसिं देवाणं इड्डीवाजईवा जसेतिवा बलेतिवा वीरिएइवा पुरिसकार परिकमे इवाहंता अत्थितेणं भंते ? । देवा परलोगस्साराहगा णोति णट्ठे समट्ठे। औप०॥

व्या० । (जीवेणमित्यादि) व्यक्तनवरं (उस्सणति) बाहुल्यत' कालमासे (कालकिच्चति) मरणाऽवसरे मरणं विधायेत्यर्थ.। (इओव्चुए पच्चान्ति) इत स्थानान्मृर्त्यलोकल क्षणाच्युतो भ्रष्टः प्रेत्य जन्मान्तरे देव. स्यात् (से केणट्ठेणंति) अथ केन कारण नेत्यर्थ.। (जेइमेजीवत्ति) यइमे प्रत्यक्षासन्नाः जीवा' पञ्चन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यलक्षणा ग्रामागरादय. प्राग्वत् अकामतः (तण्हाएत्ति) अकामानांनिर्जरा द्यन भिलाषिणां सतां तृष्णा तृट् अकाम तृष्णा तया एवमन्यत्पदद्वयम्। अप्पतरोवा भुज्जतरोवा कालति प्राकृतत्वेन विभक्ति परिणामा दल्पतर वा भूयस्तर वा कालयावत् (अण्णतरेसुत्ति) बहूनांमध्ये एकतरेषु (वाणमंतरेसुत्ति)व्यन्तरेषु देवलोकेषुदेवजनेषुमध्ये (तेहिंतेसिंगइति) तस्मिन्वाणमंतर देवलोके तेषामसयतादिविशेषणजीवानां । पुनः (ते णंदेवापरलोगस्स आराहगत्ति) तेऽकामनिर्जरालब्धदेवभवाव्यन्तरा परलोकस्य जन्मान्तरस्य निर्वाणसाधनाऽनुकूलस्य आराधका निष्पादका इतिप्रश्न (णोइणट्ठेत्ति) नायमर्थ. (समट्ठेत्ति) समर्थ सगत इत्युत्तर अयमभिप्रायो येहि सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकाऽनुष्ठानतोदेवा स्यु स्तएवावश्यं तया आनतर्ये ण पारंपर्येणवा निर्वाणाऽनुकूलं भवान्तरमावर्जयंति तदन्येतुभाज्याः।

सेजे इमेगामागर णगर निगम रायहाणि खेड कव्वडम मंडदोणमुह पट्टणा सम संवाह सन्निवेसेसु मणुआभवंति तंजहा अण्डुबद्धकाणि अल्लबद्धका हडिबद्धका चारगबद्धका हत्थच्छिन्नकापायच्छिन्नका कण्णच्छिन्नकाणक्क च्छिन्नका उठ्ठच्छिन्नका जिब्भच्छिन्नका सीसच्छिन्नका मुखच्छिन्नका मज्झच्छिन्नका वेकच्छच्छिन्नका हियउपाडियगा णयणुपाडियगा दसणुपाडियगा वसणुपाडियगा गोवच्छिन्नका तंडुलच्छिन्नका कागणिमंसं खाइयया उलंबि आलंबियआ घंसिअया घोलिअया फाडिअया पीलिअया सूलभिन्नका खारवत्तिया वज्झवत्तिया सीहपुच्छियया दव ग्गिदड्डिया पंकोसन्नका पंकेखुत्तका वलयमयका वसट्टमयका णियाणमयका अंतोसल्लमयका गिरिपडिअका तरुपडिअ का मरुपडिअका गिरिपक्खंदोलिया तरुपक्खंदोलिया मरुपक्खंदोलिया जलपवेसिका जलणपवेसिका विसभक्खितका सत्थोवाडितका वेहाणसिया गिद्धपिट्ठका कंतारमंतका दुब्भिक्खमंतका असंकिलिट्ठ परिणामा तंकालमासे कालंकिचा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पएणत्ते तेमिणं भंते। देवाणं केवतिअ कालंठिती पएणत्ता गोयमा ? वारसवास सहस्साइं ठिती पन्नता अत्थिणं भंते। तेसिं देवाणं इड्डिवा जुइवा ज सेतिवा बलेतिवा वीरीएतिवा पुरिसकार परिकमेतिवा हं ताअत्थी तेणं भंते ? देवा परलोगस्साराराहणेति णट्ठे समट्ठे। औप०।

(उल्लंबियगत्ति)अवलम्बितकाः रज्वा बद्धा गर्त्तादाववतारिता उल्लम्बितपर्यायास्तु नैते भवन्ति उल्लम्बितानां वैहायसिकशब्देन वक्ष्यमाणत्वात् (सीहपुच्छियत्ति)। इह पुच्छशब्देन मेहनं विवक्षित मुपचारात् ततः सीहपुच्छ कृत सजातं वा येषां ते सिंहपुच्छितास्तएवसिंहपुच्छितकाः सिंहस्य हि मैथुनान्निवृत्तस्यात्याकर्षणात् कदाचित्मेहनं त्रुट्यति। एव ये कचिदपराधे राजपुरुषैस्त्रोटितमेहना. क्रियन्ते ते सिंह पुच्छितकाव्यपदिश्यन्ते। (असंकिलिट्ठपरिणामत्ति) सक्लिष्टप.रिणामा हि महार्तरौद्रध्यानावेशेन देवत्वं न लभन्त इति भावः॥ ६॥

से जे इमे गामागर णगरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंबाहसंनिवेसेसु मणु, आ भवंति तंजहा पगतिभद्दका पगति उवसंता पगतिपतणुकोहमाणमायालोहा मिउमदवसंपन्ना अल्लीणा विणीआ अम्मापिउ सुस्सूसका अम्मापिईणं अणतिक्कमणिज्जवयणा अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपारिग्गहा अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारंभेणं अप्पाणं आरंभे समारंभेणं वित्तिं क-

पेमा णं बहुइं वासाइं आउअं पालंति पालित्ता कालमासे कालंकिच्चा अएणतरेसु वाणमंतरेसुदेवलोएसु देवताए उववत्तारोजवंति तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसिं उववाए पएणते तेसिणं जंते। देवाणं केवइअं कालं ठिती पएणता गोअमा चउद्दसवाससहस्सा॥ औप०

टी०॥ अम्बापित्रोः शुश्रूषकाः सेवकाः अत एव (अमापिउसुस्सूसकामणिज्झयणा) इहैव सम्बन्धः अम्बापित्रोः सत्कमनतिक्रमणीय वचनं येषां ते तथा तथा (अप्पिच्छा अमहेच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहत्ति) इहारम्भः पृथिव्यादि जीवोपमर्दः कृष्यादिरूपः परिग्रहस्तु धनधान्यादिस्वीकारः एतदेव वाक्यान्तरेणाह। (अप्पेणं आरम्नेण मित्यादि) इहारम्भो जीवानां विनाशः समारम्भस्तेषामेव परितापकरणमारम्भसमारम्भस्त्वेतद्वय(विचित्ति)वृत्तिं जीविकां (कप्पमाणत्ति) कल्पयन्तः कुर्वाणाः ॥ ५ ॥

से जाउ इमाउ गामागरणगरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसंनिवेसेसु इत्थिआओ जवंति। तंजहा अंतोअंतेउरिआओ गयपत्तिआओ मयपत्तिआओ बालविहवाओ छंमितल्लिआ इमाउ रक्खिआओ पिअरक्खिआओ जायरक्खिआओ कुलघररक्खिआओ ससुरकुलरक्खिआओ परूढणहमंसकेसकक्खरोमाओ ववगयपुप्फगंधमल्लालंकाराओअण्हाणए से अजल्लमलपंकपरितावि आओ ववगयखीरदहिणवणीअसप्पितेल्लगुलोणमहुमज्जमंस परिचत्तकयाहाराओ अप्पिच्छिआओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गहाओ अप्पेणं हा आरम्नेणं अप्पेणं समारम्नेणं अप्पेणं आरम्नेणं समारम्नेणं वित्तिं कप्पमाणीओ अकामबम्भचेरवासेणं तामेव पतिं सेज्जं णातिक्कमाति ताउणं इत्थिआओ एयारूवेण विहारेणं विहरमाणीओ बहूइं वासाइं सेसं तं चेव जाव चउसट्ठिं वाससहस्साइं ठित्ती पण्णता ॥ ८ ॥

से जाओ (इमाओत्ति) अयया एता यतो (अंतेपुरिया ओत्ति) अन्तर्मध्ये अंत पुरस्यति गम्यं (कुलघररक्खियाओत्ति) कुलगृह पितृगृह (मित्तवाइनिययसबन्धिरक्खियाओत्ति कचित् तत्र मित्राणि पितृपत्यादिनां तासामेव वा सुहृदः एव ज्ञातयो मातुलादिस्वजनानिजका गोत्रिया सम्बन्धिनो देवरादिरूपा। (परूढहणकेसकक्खरोमाओत्ति)प्ररूढा वृद्धिमुपगता विशिष्टसंस्कारानावान्नखादयो यासां तास्तथा पाठान्तरे (प्ररूढनहकेसमंसुरोमाओत्ति) इह श्मश्रूणि कूर्चरोमाणि तानि च यद्यपि स्त्रीणां न भवन्ति तथाऽपि कासाचिदल्पानि भवन्ति अपीति तद्ग्रहणं (अणहाणगसेयजल्लमलपंकपरितावाओ) अस्नानकेन हेतुना स्वेदादिभिः परितापो यासां तास्तथा तत्र स्वेदः प्रस्वेदः जल्लो रजोमात्रं मलः काठिनीभूत तदेव (ववगयखीरदहिणवणीयसप्पितेल्लगुलोणमहुमज्जमंसपरिचत्तकयाहाराओत्ति ॥ व्यपगतानि क्षीरादीनि यतस्तथा परित्यक्तानि मद्यादीनियेन स एव विध कृतोऽभ्यवहृत आहारो यकाभिस्तास्तथ। तामेव (पइसेज्जं नाइक्कमंति) यानिधुवनार्थमाश्रीयते तामेव पतिशय्यां भर्तृशयनं नातिक्रामति उपपतिना सह नाऽऽश्रयन्तीति ॥ ८ ॥

से जे इमे गामागर णगरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसंनिवेसेसु मणुआ जवंति तंजहा दगविइत्तिया दगतइआ दगसत्तमा दगएक्कारसमा गोअमा ? गोव्वइआ गिहिधम्माधम्मचिंतका अविरुद्धविरुद्धवुड्ढसावकप्पभितित्तिया तेसिं मणुआ णं णोकप्पइ इमाओ नवरसविगईओ आहारित्तए तं जहा खीरं दहिं णवनीयं सप्पिं तेल्लं फाणितं महुं मज्जं मंसं णणत्य एक्काए सरसवविगइ एतेणं मणुआ अप्पिच्छा तं चेव सव्वं णवरं चउरासीइवाससहस्साइं ठित्ती पण्णता ॥ ९॥

से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा जवंति तंजहा होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जण्णई सड्ढई थालई हुंपउट्ठा दंतुक्खलिया उम्मज्जका संम्मज्जका निमज्जका संपक्खाला दक्खिणकूलका उत्तरकूलका संखधमका कूलधम्मका मिगलुद्धका हत्थितावसा उदंडका दिसापोक्खिणो वाकवासिणो अम्बुवासिणो जलवासिणो बिलवासिणो रुक्खमूलिआ अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा कंदाहारा तयाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा बीयाहारा परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहारा जलाभिसेअ कढिणगायभूया आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इंगालसोल्लियं कंडुसोल्लियं कंठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणंति बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो जवंति पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहिअं ठित्ती आराहगा णो तिणट्ठे समट्ठे समणो जवंति ॥ १० ॥

॥ टी० ॥ जलाभिषेककठिन गात्र भूतः प्राप्ता ये ते तथा (इंगालसोल्लियंति) अङ्गारैरिव पक्वं(कंडुसोल्लियंति)कन्दुपक्वमिवेत्ति पलिओवम(वाससयसहस्समब्भहियंति)मकारस्य प्राकृतप्रभवत्वा वर्षशतसहस्राभ्यधिकमित्यर्थः अथवा पल्योपम वर्षशतसहस्रमभ्यधिकं च पल्योपमादित्येव गमनिका ॥

समणोजवंति तंजहा कंदप्पिया कुक्कुइया मोहरिया गीयरइप्पिया नच्चणसीला तेणं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहुइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणंति बहुइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स आणालोइअ अप्पडिक्कंता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं सोहम्मेकप्पे कंदप्पिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो जवंति तहिं तेसिं गति तहिं तेसिं ठिती सेसं तंचेव णवरं पलिओवमं वाससहस्समब्भहिअं ठिति॥११॥ औ०॥

सन्निवेसेसु परिव्वायगा जवंति तंजहा संखजोई काविलाभि

उच्चा हंसा परमहंसा बहुउदया कुडिव्वया कण्हप-
रिव्वायगा। तत्थ खलु इमे अट्ठमाहणपरिव्वायगा भवं-
ति तंजहा कण्हे अ करकंडू अ अंबडे अ परासरे। कण्हे
दीवायणे चेव देवगुत्ते अ णारये। तत्थ खलु
इमे अट्ठ खत्तिअपरिव्वायगा भवंति तं सीलई सासिह
णग्गई भग्गई तिअ विदेहे राया रामे बले तिअ। तेणं परि-
व्वायगा रिउव्वेदजजुव्वेदसामवेदअहव्वणवेदइतिहास
पंचमाणं णिग्घंटुछट्ठाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं
वेदाणं सारका पारगा धारका वारगा सडंगवीसट्ठि-
तंतविसारदा संखाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे णिरुत्ते
जोतिसामयणे अन्नेसु बंभण्णएसु अ सत्थेसु सुपा-
रिणिट्ठातावि हुत्था तेणं परिव्वायगा दाणधम्मं च सो
अधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणा पन्नवेमाणा
परूवेमाणा विहरंति। जन्नं अम्हं किंचि असुई
भवति तन्नं उदएणय मट्टिआएअं अपक्खालिअं सुई
भवाति एवं खलु अम्हे चोक्खा चोक्खापारा सुइ सुइस
मायाराभवेत्ता अभिसेअजलपूअप्पाणो अविग्घेण सग्गं
गमिस्सामो तेसिणं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अगडं वा
तलायं वा णई वा वाविं वा पुक्खरिणीं वा दीहियं वा
गुंजालिअं वा सरं वा सागरं वा ओगाहित्तए णन्नत्थ
अध्दाणगमणं णो कप्पइ सगडं वा॰ जाव संदमाणिअं
वा दूरुहित्ताणं गच्छित्तए तेसिणं परिव्वायगाणं णो
कप्पइ आसंवा हत्थियंवा उट्टंवा गोणिंवा महिसं वा खरंवा-
दुरुहित्ताणगमित्तए तेसिणं परिव्वाय गाणंणोकप्पइ नडपे-
च्छाइ वा जाव मागहयेच्छाइ वा पिच्छित्तए तेसिं
परिव्वायाणं णो कप्पइ हरिआणं लेसणत्ता वा घ-
हणत्ता वा थंभणता वा लूसणत्ता वा उप्पाडणत्ता वा
करित्तए तेसिं परिव्वायाणं णो कप्पइ इत्थि कहाइ वा
भत्तकहाइ वा देसकहाइ वा रायकहाइ वा चोरकहाइ
वा जणवयकहाइ वा अणत्थादंडं करित्तए तेसिणं
परिव्वायाणं णो कप्पइ अयपायाइ वा तउअपायाणि
वा तंबपायाणि वा जसदपायाणि वा सीसगपायाणि वा
रुप्पपायाणि वा सुवन्नपायाणि वा अन्नयराणि वा बहु-
मुल्लाणि वा धारित्तए णणत्थ ला उपाएण वा दारुपा-
सण वा मट्टिआ पाएण वा तेसिणं परिव्वयाणं णो
कप्पइ अयबंधणाणि वा तउअबंधणाणि वा तंबबंधणा-
णि जाव बहुमुल्लाणि धारित्तए तेसिणं परिव्वायाणं णो
कप्पइ णाणाविहवण्णरागरत्ताइं वत्थाइं धारित्तए णण्ण-
त्थ एकाए धाउत्ताए तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ
हारं वा अद्ध हारं वा एकावलिं वा मुत्तावलिं वा कण-
गावलिं वा रयणावलिं वा मुरविं वा कंठ मुरविं वा पालंबं
वा तिसरयं वा कडिसुत्तं वा समुदियाणंतकं वा कडवाणि
वा तुडियाणं वा अंगयाणि वा केऊराणि वा कुंडलाणि
वा मउडं वा चुलामणिं वा पिणद्धित्तए णन्नत्थ एकेणं
तंविएण पवित्तएणं तेसिणं परिव्वायाणं णो कप्पइ गंथि
मवेढिमपूरिम संघातिम चउव्विहे मल्ले धारित्तए णन्नत्थ
एकेणं कण्णपुरेणं तेसिणं परिव्वायाणंणो कप्पइ अगलु
एणा वा चंदणेण वा कुंकुमेण वा गायं अणुलिंपित्तए णण्ण
एण त्थ एकाए गंगामट्टिआए तेसिणं परिव्वायाण कप्पइ
मागह ए पत्थए जलस्सपडिगाहित्तए सेविवहमाणे णो
चेवणं अवहमाणे सेवियाथिमे ओदए णो चेव णं कद्दमोए
सेविअ बहुं पसन्ने णो चेवणं अबहुपसन्ने सिविअप-
रिपूत्ते णो चेव णं अपारिपूत्ते सेवि अणंदिए णो चेव
णं आदिएणे सेवि अपिवित्तएणो चेव णं हत्थपायचरुच-
मसंपक्खालणट्ठाए सिणाइताए वा तेसिणं परिव्वायाणं
कप्पइ मागहए अध्दाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए सेविय
वहमाणे णो चेवणं अवहमाणे जावणो चेवणं अदि-
एणे सेविय हत्थपायचरुचं मासं पक्खालणट्ठयाइए
णोचेवणं पिवइ वा तेणं परिव्वाया एया रूवेणं विहा-
रेणं विहरमाणा बहुइ वासाइ परियाइं पाउणंत्ति बहूइ
वासाइं पाउणित्ताकालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं बंभ-
लोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गई
दससागरावमाये ठिई पण्णत्ता सेसं तंचेव ॥ १२ ॥ ६ ॥
तेणं कालेणं तेणं समएणं अम्मडस्स परिव्वायगस्स
सत्तअंतेवासिसयाइ गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलं मासंसि
गंगाए महानईएओ उभउकूले कंपिल्लपुराओणगराओ
पुरिमतालं णगारं संपट्ठिआ विहाराए तयणं तेसिं परिव्वा
यगाणं तासिं अगामियाए छिन्नो वायाए दीहट्ठाए अडवीए
॥ टी० ॥ कण्डवादय. षोडश परिव्राजका लोकतोवऽसया
(ऋउवेदजजुव्वेदसामवेय अहव्ववेदत्ति) इह षष्ठिबहुवच-
नलोपदर्शनात् ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदानामिति दृश्य
(इतिहासपञ्चमाणंति) इतिहास. पुराणमुच्यते (निग्घंटुछट्ठा
णाति) निघण्टो नाम कोश (संगोवंगाणंति) अङ्गानि
शिक्षादीनि उपाङ्गानि तदुक्त प्रपञ्चनपर प्रबन्धा (सरह
स्साणंति) ऐदम्पर्ययुक्तानामित्यर्थ (चउण्हवेयाणंति)
व्यक्त सारयति अध्यापन द्वारेण प्रवर्त्तका स्मारका वा अन्ये-
षांविस्मृतस्य स्मरणात्पारयति पर्यन्तगामिन धारयन्ति धा-
रयितुक्षमा [षडङ्गवीत्ति] षडङ्गविद शिक्षादि विचारका
[सट्ठितंत विसारयति] कापिलीय तन्त्रपण्डिता [सखाणेत्ति]
सख्याने गणित स्कन्धे सुपरि निष्ठिता इति योग
अथ षडङ्गानि दर्शयन्नाह । [सिक्खाकप्पेत्ति] शिक्षाक्षर-
स्वरूप निरूपकशास्त्र कल्पश्च तथाविध समाचार निरूपक
शास्त्रमेवेति शिक्षाकल्पस्तत्र (वागरणेत्ति] शब्दलक्षणशास्त्रे
(छन्देत्ति) पद्यवचन लक्षणशास्त्रे (निरुत्तेत्ति] शब्दनिरु
क्तिप्रतिपादके (जोइसामयणेत्ति) ज्योतिषामयने ज्योति-

इशास्ते अन्येपुच बहुपु (धंभप्प एसुयत्ति) ब्राह्मणकपुच वेद व्याख्यानरूपेपु शास्त्रेपु आगमेपु वाचाचनान्तरे (परिव्वाय-सुयनएसुत्ति) परिव्राजकसमयन्धिपु च नयेपु न्यायेपु (सुप-रिनिष्ठियायावि होत्थात्ति) सुनिष्णाताश्चाप्य तूवन्निति (आ-घवेमाणत्ति) आख्यान्त' कथयन्त' (पएणवेमाणत्ति) बोध-यत' (परूवेमाणत्ति) उपपत्तिभि' स्थापयंत' (चोक्खा-चोक्खायारत्ति) चोक्षा विमलदेहनेपथ्याः चोक्षाचाराः । निरवद्यःयवहारा' किमुक्तंभवतीत्याह । (सुईसुई समायर-त्ति) अभिस्सेयजलपुयप्पाणोत्ति) अभिषेकतो जलेन पूयत्ति पविभित आत्मायैस्त तया अविघ्नेण विघ्नाभावेन (अघडगत्ती अवटकूप (वाविंचत्ति) वापीचतुरस्रजलाशयविशेषः (पुक्क-रिणीयत्ति) पुष्करिणीवर्तुलः स एव पुष्करयुक्तोवा (दीहि-यत्ति) दीर्घिकासारणी (गुंजालियत्ति) गुंजालिकावक्र-सारणो (सरसिवत्ति) क्वचिद्दृश्यते । तत्र महत्सरः सरसी त्युच्यते (णण्णत्थ अद्धाण गमणे णाति) न इतियानिषेध-सोऽन्यत्राध्वगमनादित्यर्थ' सगड इत्यत्र यावत्करणादिद दृश्यं (रह वा जाण वा जुग वा गिल्लिं वा थोल्लिं वा पवहण वा सियवेत्ति) एतानिच प्रागिवव्याख्येयानीति (हरियाण-लेसण यावत्ति) सन्नेहणता (घट्टणयावत्ति) संघट्टन (थंभणयावत्ति) स्तंभनमूर्ध्वीकरण (लूसणया वात्ति) क्वचित्तत्र लूषण हस्तादिनापनयादेः समार्जन (उप्पाडणयाया) उन्मूलनं अयपात्राणिवेत्यादिसूत्रं यावत् करणात् त्रपुकसीसकरजतजातरूप काच (घंगतिय) वृत्त लोह कंसलोह हारपुटक रीतिका मणि शङ्ख दन्त चर्म चेल शैल शब्दविशेषितानि पात्राणि दृश्यानि (अएणयरा-णिवा तहप्पगाराणि महद्धण मोल्लाई) इति च दृश्यम्–तत्रा यो लोह-रजत रूप्य जातरूप सुवर्णं काचः पाषाणविकार (घंगतियत्ति) क्वचिद्गम्य वृत्त लोह त्रिकुटीति यदुच्यते कां स्यलोह कांस्यमेवहारपुटकं मुक्ताशुक्तिपुटक रीतिका पित्तला अन्यतराणिवा येषांमध्ये एकतराणि एतद्व्यतिरिक्तानि वा तथा प्रकाराणि भोजनादिकार्यकरणसमर्थानि महत्प्रभूत धन रूप्यं मूल्यं प्रतीत येषांतानि तथा (अलावुपायंणत्ति) अला-वुपात्रात् तुवकभाजनादित्यर्थ' तथाभयबधणानि चेत्यत्र यावत् करणात् त्रपुकबधनादीनि शैलबधनान्तानि दृश्यानि (अन्नयराइं तहप्पगाराइं महद्धणसल्लाइं) इत्येतच्च दृश्यमिति पुस्तकांतरे समग्रमिदं सूत्रद्वयमस्त्येवेति (णणत्थएगाए धा-उरत्ताएत्ति) इह युगलिकयेति शेषो दृश्य हारादीनि प्राग्वत् । औप० ।

से इमे गामागरजाएसान्निवेसेसु पव्वइया समाणा नवंति तं जहा आयरियपमिणीया उवज्जायपमिणीया कुल-पमिणीया गणपमिणीया आयरियउवज्जायाणं अय-सकारगा अवएणकारगा अकित्तिकारगा वहूहिं असब्भा-वुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयंच वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता वहूइं वासाइं सामएणपरियागं पाउणंति वहुतस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पमिकंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो नवंति तेहिं तेसिं गतौ तेरससागरोवमाइं ठिती अणा-राहका सेसं तं चेव ॥ १५ ॥

टी० असद्भावोद्भावनाभिः (मिच्छत्ताभिनिवेसेहियत्ति) मिथ्यात्वे वस्तुविपर्यासे मिथ्यात्वाद्वा मिथ्यादर्शनाख्यकर्मण सकाशादभिनिवेशाश्चित्तावष्टम्भा मिथ्यात्वाभिनिवेशास्तै (वुग्गाहेमाणत्ति) व्युद्ग्राहयमाणा' कुग्रहे योजयन्तः (वु-प्पाएमाणत्ति) व्युत्पादयमाना असद्भावोद्भावनासु समर्थी-कुर्वन्त इत्यर्थः (तस्सठाणस्सअणालोइयअपमिक्कंतत्ति) गुरूणां समीपे अकृतालोचनास्ततो दोषादनिवृत्ताश्चेत्यर्थः एतेषां च विशिष्ट-श्रामण्यजन्य देवत्वं प्रत्यनीकतया जन्यं च किल्बिषिकत्वं ते हि चएडालप्राया एव देवमध्ये भवन्तीति १५ । औप० ।

सेज्जेइमे सम्पिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया नवंति तं जहा जलयरा खहयरा थलयरा तेसि णं अत्थेगइयाणं सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसा-णेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणाहिं तहावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा वह मग्गणगवेसणं करमाणाणं सएणीपुव्वे जाईसरणे समुप्पज्जति तएणं ते समुप्पण्ण-जाइसरणसमाणा सयमेव पंचाणुव्वयाइं पमिवज्जंति पमिवज्जित्ता वहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपो-सहोववासाहिं अप्पाणं नावेमाणे वहूइं वासाइं आउयं पालेति पालित्ता नत्तं पच्चक्खंति वहूइं नत्ताइं अणसणाए छेयंति २ ता आलोइय पमिक्कंता समाहिं पत्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववत्तारो नवंति तेहिं तेसिं गती अट्ठारस सागरोवमाइं ठिती पएणत्ता परलोगस्स आराहगा सेसं तंचेव ॥ १६ ॥

टी० (सएणी पुव्वजाईसरणेति) संज्ञिनां सतां या पूर्वजा-ति' प्राक्तनो भवस्तस्या यत्स्मरणं तत्तथा ॥

सेजे इमे गामागरजावसन्निवेसेसु अजीवकम् नवंति तंज-हा डुघरंतरिया तिघरंतरिया सत्तघरंतरिया उप्पलवे-टिया घरसमुदाणिया विज्जुअन्तारिया उट्टिया समणा तेण एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे वहुइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो नवंति तेहिं तेसिं गती वावीसं सागरोवमाइं ठिती अणाराहका सेसं तं चेव ॥ १७ ॥ से जे इमे गामागरजावसान्निवेसेसु पव्वइया समाणा नवंति तं अत्तुक्कोसिया परपरिवाइया नूइकम्मि-या नुज्जो २ कोउयकारका तेणं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणा वहूइं वासाइं सामएणपरियागं पाउणंति पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअपमिक्कंता काल-मासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे अभिओगिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो नवंति तेहिं तेसिं गई वावीसं सागरोवमाइं ठिती परलोगस्स अणाराहगा सेसं तं चेव ॥ १८ ॥

टी० (नुज्जो नुज्जो(कोउयकारगात्ति) भूयो भूयः पुनः पुनः

कौतुक सोभाग्यादिनिमित्तं परेषां स्नपनादि तत्कर्त्तारः कौतुककारकाः (आभिओगिएसुत्ति) अभियोगे आदेशकर्म्मणि नियुक्ता॰ आभियोगिका आदेशकारिण इत्यर्थः एतेषां च देवत्वं चारित्राद् आभियोगिकत्वं चात्मोत्कर्षादेरिति ॥ १८ ॥ औ०॥

सेजे इमे गामागरजावसंणिवेसेसु णिण्हगा भवंति तंजहा बहुरया १ जीवपदेसिया २ अव्वत्तिया ३ सामुच्छेइया ४ दोकिरिया ५ तेरासिया ६ अबद्धिया ७ इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा केवलचरियालिंगसामण्णा मिच्छद्दिट्ठी बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिय अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गती एक्कत्तीसं सागरोमाइं ठिती परलोगस्स अणाराहगा सेसं तं चेव ॥ १९ ॥

॥ टी० ॥ उपलक्षणञ्च तत् सक्रियावर्तिन्यापन्नदर्शनानामन्येषामपीति (पवयणनिण्हयत्ति) प्रवचनं जिनागमं निन्हुवते अपलपन्त्यन्यथा तदेकदेशस्याभ्युपगमात्ते प्रवचननिन्हवकाः केवल (चरियालिंगसामण्णा मिच्छादिट्ठीति) मिथ्यादृष्टयस्ते विपरीतबोधा॰ नवरं चर्यया भिक्षाटनादिक्रियया लिङ्गेन च रजोहरणादिना सामान्यः साधुतुल्य इति ॥ १९ ॥

से जे इमे गामागरजावसंणिवेसेसु मणुया भवंति तं जहा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा धम्मक्खाइ धम्मप्पलोइ धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहूहिंति एकच्चाओ पाणाइवा ताओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहातो २ एकच्चाओ कोहाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवादाओ अरतिरतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया एकच्चाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरआ यावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरआ एकच्चाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ पयणपयावणाओ पडिविरआ जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरआ एकच्चाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ पयणपयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए चेव वित्तिं कप्पेमाणा सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहूहिंति एकच्चाओ पाणाइवा ताओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहातो २ एकच्चाओ कोहाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ कलहाओ एकच्चाओ पयणपयावणाओ अपडिविरया एकच्चाओ कुट्टण पिट्टण तज्जण तालण वहबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया एकच्चाओ राहाए मद्दण वण्णग विलेवण सद्द फरिस रस रूव गंध मल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए एकच्चाओ अपडिविरया जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगा वहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति ततोजावए कच्चाओ अपडिविरया तं समणोवासका भवंति अभिगयजीवाजीवाओ वलद्धपुण्णपावाओ आसव संवर निज्जरकिरिया अधिकरण बंधमोक्खकुसला असहेज्जाओ देवासुरणागजक्खरक्खसकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगादिएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा णिग्गंथे पावयणे णिस्संकिया णिक्कंखिया निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता अयमाउसो णिग्गंथे पावयणा अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा चियत्तंतेउरपरघरदारप्पवेसा चउद्दसट्ठमुदिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणणिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहं कंवलपायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पडिहारएणयपीढफलहगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा विहरंति विहरित्ता भत्तं पचक्खंति तंवहूइंभत्ताइं अणसणए च्छेदिंति च्छेदित्ता आलोइयपडिकंता समाहिपत्ता कालमासे कालंकिच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति तेहिं तेसिं गती बावीसं सागरोवमाइं ठिती आराहया सेसं तहेव ॥ २० ॥

टी० ॥ (धम्मियत्ति) धर्म्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्ति येते धार्मिकाः कुत एतदेवमित्यत आह (धम्मिट्ठत्ति) धर्म्मेश्रुतरूप एवेष्टो वल्लभ॰ पूजितो वा येषान्ते धर्म्मेष्टा॰ धार्म्मिणाचेष्टाः धर्म्मीष्टाः अथवा धर्म्मोऽस्ति येषान्ते धार्म्मिणः त एवान्येभ्योऽतिशयवन्तो धर्म्मिष्ठा अत एव (धम्मक्खाइत्ति) धर्म्ममाख्यान्ति भव्यानां प्रतिपादयन्तीति धर्म्माख्यायिन धर्म्माद्वा ख्यातिः प्रसिद्धिर्येषान्ते धर्म्मख्यातय॰ (धम्मपलोइयत्ति) धर्म्मं प्रलोकयन्ति उपादेयतया प्रेक्षन्ते पाषण्डिषु वा गवेषयन्तीति धर्म्मप्रलोकिनः धम्मगवेषणानन्तरं वा (धम्मपलज्जणत्ति) धर्म्मे प्ररज्यन्ते आसज्यन्ते ये ते धर्म्मप्ररञ्जनाः ततश्च (धम्मसमुदाचारत्ति) धर्म्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारः सदाचारः सप्रमोदोवाऽऽचारो येषान्ते धर्म्मसमुदाचारा॰ अत एव (धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणत्ति) धर्म्मेणवचारित्राविरोधेन श्रुताविरोधेन वा वृत्तिं जीविकां कल्पयन्तः कुर्व्वाणा विहरन्तीति योगः (सुव्वयत्ति) सदूव्रताः शोभनचित्तवृत्तिवितरणा वा (सुप्पडियाणंदा साहूहिंति) दुष्प्रत्यानन्द॰ चित्ताह्लादो येषान्ते दुष्प्रत्यानन्दाः साधुषु विषयभूतेषु अथवा (-साहूहिंत्ति) उत्तरवाक्ये सम्बध्यते ततश्च साधुभ्यः सकाशात् साध्वन्तिके इत्यर्थः (एगच्चाओ पाणा-

इयत्या भ्रोत्ति) एकस्मात् न सर्वस्मात् पाठान्तरे (एगइया-भ्रोत्ति) तत्र एकक एव एककिक तस्मादेकाकिकात् इत इद सूत्र प्राय प्रागुक्तार्थं नवरं मिच्छादंसणसल्लाओत्ति इह मिथ्यादर्शन तज्जन्यान्य यूथिकवन्दनादिका क्रिया ततो भावतो विरता राजाभियोगादिभिस्त्वाकारैरविरता इति ॥२०॥

एव सामान्येनोक्तानां मनुष्याणा विशेपनिर्देशार्थमाह । (तजहत्ति) एते इत्यर्थ (सेजहानामएत्ति) क्वचित्तत्राप्य-यमेवार्थः ॥

से जे इमे गामागरजावसंणिवेसेसु मणुआ जवंति तंजहा अणारंजा अपरिग्गहा धाम्मिया जाव कप्पेमाणा सुसीला सुव्वता सुपडियाणंदा साहू सव्वाओ पाणाइवा-याओ पडिविरया जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया सव्वाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोजाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया सव्वाओ आरंजसमा रंजाओ पडिविरया सव्वाओ करणकारावणाओ पडिवि रया सव्वाओ पयणपयावणाओ पडिविरया सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणतालणवहबंधपरिकिलेसाओ पडिवि रया सव्वाओ एहाण मद्दण वएणक विलेवण सद्दफरिस रस रूव गंध मल्लालंकाराओ पडिविरया जेतावएणे तह प्पगारा सावज्जजोगे वहिया कम्मंता परपाणपरियावण करा कज्जंति ततो विपडिविरया जावज्जीवाए से जहाणा मए अणगारा जवंति । इरियासमिया जासासमिया जावइ-णमेव णिग्गथं पावयणं पुरओ काउ विहरंति तेसिणंजगवं ताणं एतेणं विहारेणं विहरमाणाणं अत्थेगइयाणं अणंते जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जति । ते बहूइं वासा इं केवलिपरियागं पाउणंति । पाउणित्ता जत्तपच्चक्खाति जत्तं २ बहूइं जत्ताइं अणसणाइं छेदइ२ त्ता जस्सट्टाए कीरइ णग्गजावे जाव अंतं करंति जेसिं पियणं एगइया णं णो केवलवरदंसणे समुप्पज्जइ ते बहूइं वासाइं छउ मत्यपरियागं पाउ २ आवाहे उप्पएणे वा अणुप्पएणे वा जत्तं पच्चक्खंति ते बहूइं जत्ताइं अणसणाए छेदेइ २ त्ता जस्सट्ठीए कीरए णग्गजावे जाव अंतं करेइ जेसिं पियणं एगइयाणं णो केवलवरदंसणे समुप्पज्जइ । ते बहूइ वासाइं छउमत्यपरियागं पाओ २ आवाहे उप्प एणे वा अणुप्पएणे वा जत्तं पच्चक्खंति । ते बहूइं जत्ताइं अणसणाए छेदेइ २ त्ता जस्सट्टिए करिए णग्गजावो जाव तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सासणीसासाहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुएणं केवलवरणाणदंसणं उप्पाडिंति तओपच्छा सिज्झइ जाव अंतंकरेहिंत्ति एकच्चा पुण एकेजयं तारो पुव्वकम्मावसे सेणं कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवताए उववत्तारो जवंति तेहिंतेसिं गई तेती सं सागरोवमाइ ठिई आराहका सेसं तं चेव ॥

टी० आवाहेति रोगादिबाधायां एगच्चा पुण एगे भयं तारोत्ति एगा असाधारणगुणत्वात् द्वितीया मनुजभवभाविनी वा अर्चा पूजायेषान्ते एकार्चाः पुन' शब्दः पूर्वोक्तार्था-ऽपेक्षया उत्तरवाक्यार्थस्य विशेषद्योतनार्थ । एके केवलज्ञान भाजनेज्यो अपरे (भयन्तारोत्ति) भकारो भगवद्गानविशेपस्य सेवयितारो भयत्रातारो वा अनुस्वारस्त्वलाक्षणिक' (पुव्वक-म्मावसेसेण) क्षीणावशेपकर्म्माणो देवतयोत्पत्तारो भवन्तीति योगः ॥

आराहण—आराधन—आ राध-ल्युट्-आ सामस्त्येन राध्यते साध्यते पर्य्यन्तक्रियाऽनेनेत्याराधनमन शनम् अनशने,सस्ता.

आराहणपडागा—आराधनपताका— स्त्री० आराधनरूपपता कायाम् द० प० ॥

ससाररगमज्झे, धिइवल वच्चसाय बद्धकच्छाओ ॥ हंतूण मोहमल्लं, हराहि आराहणपडाग ॥ २७ ॥ द० प० । चतारियि कसाए,तिन्निगारवे पच इंदियग्गामे॥ हता परीसहस म्हे, राहि आराहणपडाग ॥ ३४ ॥

आराहणय—आराधनक— पु० सस्तारके, सस्ता० ॥

आराहणया—आराधनता स्त्री० सस्तारके, एस किं आराहणया आ सामस्त्येन राध्यते साध्यते पर्य्यन्तक्रियाऽनेनेत्याराधनमन-शनम् तस्य भाव आराधनता आराधनमेव वा आराधनका स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादाराधनका अयमर्थ एप सस्तारक आराधनता आराधनका वा चारित्रधर्मोत्थापनकल्पा इति संस्ता० ॥

आराहणा—आराधना—स्त्री० आ राध णिच् युच् स्त्रीत्वाट्टाए सेवायाम्, वाच० । पालनायाम्, पचा० वृ ७ ॥ मोक्षसुख-साधनोपाये, दर्श० ॥ आराधनमाराधना ज्ञानादिवस्तुनोऽनु-कूलवर्तित्वम् निरतिचारज्ञानाद्यासेवायाम् स्था० ठा २ आराधना ज्ञानादिगुणानां विशेपत पालनेति औप० (आरा-हणागुणाण) आराधनाऽखण्डनिष्पादना गुणानामिति ध० अधि. ३ (अपच्छिममारणतिय सलेहणा जोसणाराहणाय) आराधनाऽस्याकालस्य करणमित्यर्थ' । आव० । उत्तमार्थ प्रतिपत्तौ आतु० ॥ चरमकाले निर्यापणे, च आराधना चरम-काले निर्यापणरूपेति । दा० । दश ० अ. १० ॥ सा च द्विविधा तथा च स्थानाङ्गे २ ठा ।

दुविहा आराहणा प० तं० । धम्मियाराहणा चेव केवलिआराहणा चेव धाम्मियाराहणा दुविहा प० तंजहा सुयधम्माराहणा चेव चरित्तधम्माराहणा चेव केवलिआराहणा दुविहा पन्नता । तंजहा अंतकिरिया चेव कप्पविमाणोववत्तिया चेव ॥

टी० दुविहेत्यादि ॥ सूत्र कण्ठ्य नवर । आराधनमाराधना ज्ञानादिवस्तुनोऽनुकूलवर्त्तित्व निरतिचारज्ञानाद्यासेवेति या-वत् धर्म्मेण श्रुतचारित्ररूपेण चरन्तीति धार्म्मिका साधवस्ते पामिय धार्म्मिकी सा चासावाराधना चेति निरतिचारज्ञाना-दिपालना धार्म्मिकाराधना केवलिनां श्रुतावधि मनःपर्याय केवलज्ञानिना मियं कैवलिकी सा चासावाराधना चेति कैव-लिकाराधनेति । सुयधम्मेत्यादौ विषयभेदेनाराधनाभेद उक्त' केवलिआराहणेत्यादौ तु फलभेदेनेति तत्र अंतो भवांत स्तस्य

क्रिया अंत क्रिया भवच्छेद इत्यर्थस्तद्धेतुर्याऽऽराधना शैलेशि रूपा सा अंतक्रियेत्युपचारात् एषा च क्षायिकज्ञानिकेवलिनामेव भवति । तथा कल्पेषु देवलोकेषु न तु ज्योतिष्कादौ विमानानि देवा वासविशेषा अथवा कल्पाश्च सौधर्मादयो विमानानि च तदुपरिवर्त्तीनि ग्रैवेयकादीनि कल्पविमानानि तेषु उपपत्तिरुपपातो जन्म यस्याः सकाशात् सा कल्पविमानापपातिका ज्ञानाद्याराधना एषा च श्रुतकेवल्यादीनां भवतीति एव फला चेयमनन्तरफलद्वारेणोक्ता परंपरया तु भवांतक्रियानुपातिन्येवेति ॥

त्रिविधापि भगवत्याम् यथा भ० श० ८ उ० १०

कइविहाणं भंते ! आराहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! तिविहा आराहणा पएणत्ता तंजहा नाणाराहणा १ दंसणाराहणा २ चरित्ताराहणा ३ नाणाराहणाणं भंते ! कइविहा पन्नता ? तिविहा पन्नत्ता तंजहा- उक्कोसिया मज्झिमा जहएणा दंसणाराहणाणं भंते ! कइविहा ? एवं चेव तिविहावि एवं चरित्ताराहणावि ॥

टी० आराधना निरतिचारतयानुपालना तत्र ज्ञानं पञ्चप्रकार श्रुतं वा तस्याऽऽराधना कालाद्युपचारकरण दर्शनं सम्यक्त्व तस्याऽऽराधना निःशंकितत्वादि तदाचारानुपालनं चारित्र सामायिकादि तदाराधना निरतिचारता (उक्कोसियत्ति । उत्कर्षो ज्ञानाराधना ज्ञानकृत्यानुष्ठानेषु प्रकृष्टप्रयत्नता मज्झिमत्ति तेष्वेव मध्यमप्रयत्नता जहन्नत्ति । तेष्वेवाल्पतमप्रयत्नता । एव दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति ॥ स्था० ठा० ३ ॥ ज्ञानस्य श्रुतस्याराधना कालाध्ययनादिष्वष्टसु आचारेषु प्रवृत्त्या निरतिचारपरिपालना ज्ञानाराधना एव दर्शनस्य निःशङ्कितादिषु चारित्रस्य समितिगुप्तिषु सा चोत्कृष्टादिभेदाभाव भेदात्का भेदा देति ज्ञानादिप्रतिपत्तलक्षणः ॥

अथोक्ताराधनाभेदानामेव परस्परोपनिबन्धमभिधातुमाह । भ० श० ८ उ० १०

जस्सणं भंते ! उक्कोसिया नाणाराहणा तस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स उक्कोसिया नाणाराहणा गोयमा ! जस्स उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स दंसणाराहणा उक्कोसा वा अजहन्नुक्कोसा वा जस्स पुण उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स नाणाराहणा उक्कोसा वा जहएणा वा अजहएण मणुक्कोसा वा ॥

॥ टी० ॥ जस्स णमित्यादि ॥ अजहण्णुक्कोसावत्ति ॥ जघन्या चासावुत्कर्षा चोत्कृष्टा जघन्योत्कर्षा तन्निषेधादजघन्योत्कर्षा मध्यमेत्यर्थः । उत्कृष्टज्ञानाराधनावतोऽद्याद्ये द्वे दर्शनाराधने भवतो न पुनस्तृतीया तथा स्वभावत्वात्तस्येति ॥ जस्स पुणेत्यादि ॥ उत्कृष्टदर्शनाराधनावतो हि ज्ञान प्रति त्रिप्रकारस्यापि प्रयत्नस्य सम्भवोऽस्तीति त्रिप्रकारापि तदाराधना भजनया भवतीति ॥

जस्सणं भंते । उक्कोसिया नाणाराहणा तस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा जस्स उक्कोसिया चारित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया नाणाराहणा ? जहा उक्कोसिया नाणाराहणा य दंसणाराहणा य भणिया तहा उक्कोसिया नाणाराहणा य चरित्ताराहणा य भाणियव्वा ॥

टी० ॥ उत्कृष्टज्ञानचारित्राराधना सयागसूत्रे तूत्तरं यस्योत्कृष्टा ज्ञानाराधना तस्य चारित्राराधना उत्कृष्टा मध्यमा वा स्यात् उत्कृष्टज्ञानाराधनावतो हि चारित्र प्रति नाऽल्पतमप्रयत्नता स्यात्तत्स्वभावत्वात्तस्येति । उत्कृष्टचारित्राराधनावतस्तु ज्ञान प्रति प्रयत्नत्रयमपि भजनया स्यात्, एतदेवातिदेशत आह जहा उक्कोसिए इत्यादि ॥

जस्सणं भंते ! उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा जस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया दंसणाराहणा गोयमा ! जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स चरित्ताराहणा उक्कोसा वा जहएणा वा अजहएणमणुक्कोसा वा जस्स पुण उक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्स दंसणाराहणा नियमं उक्कोसा ॥

॥ टी० ॥ उत्कृष्टदर्शनचारित्राराधना संयोगसूत्रेऽदूत्तरं ॥ (जस्सुक्कोसियादसणाराहणेत्यादि) ॥ यस्योत्कृष्टा दर्शनाराधना तस्य चारित्राराधना त्रिविधापि भजनया स्यादुत्कृष्टदर्शनाराधनावतो हि चारित्रं प्रति प्रयत्नस्य त्रिविधस्याप्यविरुद्धत्वादिति ॥ उत्कृष्टायां तु चारित्राराधनायामुत्कृष्टैव दर्शनाराधना प्रकृष्टचारित्रस्य प्रकृष्टदर्शनानुगतत्वादिति॥

अथाराधनाभेदानां फलदर्शनायाह- भ० श० ८ उ० १०

उक्कोसियं णं भंते । नाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ अत्थेगइए दोच्चे णं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ अत्थेगइए कप्पोवएसु वा कप्पातीतएसु वा उववज्जइ, उक्कोसिया णं भंते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं एवं चेव ॥ उक्कोसियं णं भंते ! चरित्ताराहणं आराहेत्ता एवं चेव, णवरं अत्थेगइए कप्पातीत एसु उववज्जइ॥

टी० ॥ तेणेव भवग्गहणेण सिज्झइति ॥ उत्कृष्टां ज्ञानाराधनामाराध्य तेनैव भवग्रहणेन सिद्ध्यत्युत्कृष्टचारित्राराधनाया सद्भाव कप्पोवएसुवत्ति ॥ कल्पोपगेषु सौधर्मादिदेवलोकोपगेषु देवेषु मध्ये उपपद्यते मध्यमचारित्राराधनासद्भावे ॥ कप्प तीएसुवत्ति ॥ ग्रैवेयकादिदेवेषूपपद्यते मध्यमोत्कृष्टचारित्राराधनासद्भाव इति ॥ तथा उक्कोसिय ण भंते ! दसणाराहणमित्यादौ एवचेवत्ति करणात्तेणव भवग्गहणेणं सिज्झइत्यादि दृश्य तद्धचसिद्धयादि च तस्या स्याच्चारित्राराधनायास्तत्रोत्कृष्टाया मध्यमायाश्चोक्तत्वादिति ॥ तथा उक्कोसिय णं भंते ! चारित्ताराहणमित्यादि एवचेव तिकरणातेणेव भवग्गहणेणमित्यादि दृश्य केवलं तत्र अत्थगइए कप्पोवगेसु वेत्यभिहितमिह तु तन्नवाच्यमुत्कृष्टचारित्राराधनावतः सौधर्मादिकल्पेष्वगमनाद्वाच्यं पुनः अत्थेगइए कप्पातीतएसु उववज्जइति, सिद्धिगमनाभावे तस्यानुत्तरादेषु गमनादेतदेव दर्शयतोक्तं ॥

मज्झिमियं णं भंते ! नाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ २ गोयमा ! अत्थेगइए दोच्चे णं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ तच्चं पुण भवग्गहणं णाइक्कमइ । मज्झिमियं णं भंते । दंसणा-

राहणं आराहेत्ता एवं चेव एवं मज्झिमियं चरित्ता-राहणं पि ॥

टी० ॥ नवरमित्यादि ॥ मध्यमज्ञानाराधना सूत्रे मध्यमत्व ज्ञानाराधनाया अधिकृत नव एव निर्वाण नवेपुनरुत्कृष्टत्वमवश्य भावीत्यवसेय निर्वाणाऽन्यथानुपपत्तेरिति । दोच्चेणंति ॥ अधिकृतमनुष्यभवापेक्षया द्वितीयेन मनुष्यनवेन ॥ तच्च पुण नवग्गहणेति ॥ अधिकृतमनुष्यभवग्रहणापेक्षया तृतीय मनुष्यनवग्रहण ॥

जहाणियं णं भंते ! नाणाराहणं आराहेत्ता कइहिं नवगगहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ गोयमा ! अत्थेगइए तच्चे णं नवगहणेणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ सत्तट्ठनवग्गहणाइं पुण नाइकमइ एवं दंसणाराहणं पि । एवं चरित्ताराहणं पि ॥

एताश्च चारित्राराधना सयलिता ज्ञानाराधना इह विवक्षिता कथमन्यथा जघन्यज्ञानाराधनामाश्रित्य वक्ष्यति सत्तट्ठनवग्गहणाइं पुण णाइक्कमइत्ति ॥ यतश्चारित्राराधनाया एवेद फलमुक्तं यदाह अट्ठनवा अचरित्तेत्ति ॥ श्रुतसम्य क्त्वदेश विरतिभवास्त्वसङ्ख्येया उक्तास्ततश्चरणाराधनारहिता ज्ञानदर्शनाराधना असङ्ख्येयनविका अपि नवन्ति नत्वष्टनविका एवेति ॥ तथाच व्यवहारकल्पे (आराहणा उ तिविहा उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा उ ॥ पगडुगतिगजहण्णा दुतीयट्ठभवा उक्कोसा) आराधना त्रिविधा उत्कृष्टा मध्यमा जघन्या च । तत्रोत्कृष्टाराधनाया फलमेको भवः मध्यमाया द्वौ नवौ जघन्यायास्त्रयो नवा यदि त त्रयैर्मीज्ञानावस्तदा उत्कृष्टाराधनाया कथं जघन्य संसरण द्वौ भवौ मध्यमतयास्त्रयो नवा जघन्याया सप्तौ नवा. ॥ द० प० म प ए । दसणनाणचरित्ते तव य आराहणा चउक्खंधा । सव्वे च होइ तिविहा उक्कोसा मज्झिम जहन्ना ३७ आराहे ऊणविक उक्कोसाराहण चउक्खंध । कम्मरयविप्प मुक्को तेणेव भावेण सिज्झिज्जा ३८ आराहेऊणविक जहन्नमाराहणाचउक्खंधा । सत्तट्ठभवग्गहणे परिणामेऊण सिज्झिज्जा ३९ ॥

नणइ य तिविहा नणिया, सुविहिय आराहणा जिणिंदेहिं । सम्मत्तंमिय पढमा, नाणचरित्तेहिं दोन्नएणा ॥१५॥

सद्दहगा पत्तियगा, रोयगा जस्स वीरवयणस्स । समसआणुसरता, दंसणआराहणा हुन्ति ॥ १६ ॥ नमकारसमावन्ने य नविहे दुहे मस्सिएचेव । एएदुविहे जीवे, आणाए सद्दहे निच्चं १७ धम्माधम्मागास, पुग्गा जे जीवमच्छिकायंच । आणाइ सद्दहंतो, सम्मत्ताराहगा नणिया १८

आराधनामधिकृत्य महाप्रत्याख्याने द० प० हृदियलहसोक्खउ, घोरपरीसहपराईयपराजा । अफयपरिकम्मकीवो, मुज्झइ आराहणाकाले ॥ ९३ ॥ मुज्झइ दुक्करकारी, जाणई सम्पति पावए किंचि । विणिगूहितो निदर्के, तम्हा आराहणा सेया ॥ ९५ ॥ द० प० चइऊण कसाए चहिए य सावयगार थेहंतु तोसलिय रागदोसो करेह आराहदणा सुद्धि ॥ ४४ ॥

आराधनोपयुक्तस्य फलम् यथा आतु०।

एगंपि सिलोग जो, पुरिसा मरणदसकालंमि । आराहणोवउत्ता, वितंतो आराहगो होइ ॥ ७४ ॥

टी० ॥ तस्मादेकमपि श्लोक पंचपरमेष्ठि नमस्कारादिरूपं यः पुमान् मरणदेशकाले आराधनोपयुक्तः सन् चिंतयति स तं चिंतयन् स्मरन्नाराधको भवति ॥ ७४ ॥

अथाराधकस्य किम्फलमित्याह आतु० ।

आराहणोवउत्तो, सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ॥ उक्कोसं तिन्निभवे, गंतूणं लहइ निव्वाणं ॥ ७५ ॥

टी० ॥ आराधनाया उत्तमार्थप्रतिपत्त्या आराधनायां वा उपयुक्त उद्यतः सावधान इत्यर्थः काल मरणं कृत्वा सुविहितः सुसाधु सम्यग् श्रद्धलावेनोत्कृष्टत उत्कृष्टाराधनावशात्त्रीन् भवान् गत्वा लभते निर्वाणं मोक्षमित्यर्थः । यदि परमसमाधिना कालं करोति ततस्तृतीये भवेऽवश्य सिद्धतीति भावः । अत्राह शिष्य । ग्रथांतरे उत्कृष्टतो निरतरमष्टभवाराधनया जघन्यतस्त्रिकनवाराधनयापि सिध्यतीत्युक्त अत्र तु तृतीयनवे सिध्यतीति तद्वेतन्नाप्युत्कृष्ट नापि जघन्य नतश्च कथ न विरोधः उच्यते यदेकेन नवे न सिद्ध्यतीत्युक्त तद्वज्रऋषभनाराच सहननमाश्रित्य एतच्च सेवार्त्तसहनन मगीकृत्योच्यते सेवार्त्तसहननोऽहि यद्युत्कृष्टाराधनं करोति ततस्तृतीये नवे सिद्धयति उत्कृष्टशब्दश्चात्रातिशयार्थः । आराधनाविशेषण च द्रष्टव्यः । ननु भवानगीकृत्य त्र्यांगीकरणे पुनरुत्कृष्टतोऽष्टभिरेव नवैः सेवार्त्तसहननः सिध्यतीति न विरोधः ॥ ७५ ॥

आराधनाभिमुखस्य फलम् । पा० ॥

ज य इमं गुणरयण, सायरमविराहिऊण तिएणसंसारा । ते मंगलं करित्ता, अहमवि आराहणाभिमुहो ॥ २ ॥

टी० ॥ तया (जेय इम इति) ये महामुनयश्चशब्दो मगलांतरसमुच्चयार्थः । इम जैनशासनप्रसिद्ध (गुणरयणसायरति) गुणा महाव्रतादयस्त एवरत्नानि विशिष्टफलहेतुत्वात्सर्ववस्तुसारत्वाच्च गुणरत्नानि तान्येव बहुत्वात्सागर इव सागरः समुद्रो गुणरत्नसागरः तं किमित्याह । अविराध्य अखण्डमनुपाल्य तीर्णससाराब्धितनवोदधयो जातास्तान्परमात्मनो मगल कृत्वा शुभमनोवाक्कायगोचरं समानीयेत्यर्थः । अहमपि न केवलमुक्तन्यायेनाराधकत्वात्ते तीर्णनवाब्धवः । किंत्वहमपि ससारार्णवलङ्घनार्थमेवाराधनायास्तत्पूर्वमोक्षमार्गानुपालनाया अभिमुखः समुद्यतः कृतः उद्यतइत्यर्थः ॥ आराधनाभिमुखः सजातइति ॥

आधाकर्मादिभुञ्जानस्य नालोचयतोऽप्रतिक्रामतश्च नास्त्याराधना ॥

तथाच दर्शनशुद्धौ दर्श० ॥

भुंजइ आहाकम्मं, सम्मं नय जो पडिक्कमइ लुद्धो ॥ सव्वजिणाणाविमुहस्स तस्स आराहणा नत्थि ॥

भुक्तेऽभ्यवहरति लोल्याद्वापन्निपतितो वा आधाकर्म उपलक्षणत्वात् क्रीताद्याहृताद्यपि सम्यक्नच नैव प्रतिक्रामति मयेदमनुचितमाचरितमिति सम्यग्भावेनेत्यर्थः यः लुब्धो लोलवान् तस्य किं नास्ति न विद्यते साऽऽराधना मोक्षसुखसाधनोपायो यदर्थं गेहादिष्क्रांत इत्यर्थः । कथभूतस्य सर्वजिनाज्ञाविमुखस्य ॥ १० ॥

आलोअणमालुंचण, विअमीकरणं च जावसोहीअ ॥ आलोइअम्मि, आराहणा अणालोइए नयणा ॥ १९ ॥

अवलोकन आलुंचन विकटीकरण चभावशुद्धिश्च यद्वेदकाश्चित् गुणमालाकार स्वस्यात्मस्य सदाऽऽस्यमवलोकन करोति कि

कुसुमानि संत्युत नेति दृष्ट्वा तेषामालुंचनं करोति ग्रहणमित्यर्थः ततोविकटीकरणं विकसितमुकुलितार्द्धमुकुलितानां भेदनं विभजनमित्यर्थः च शब्दात् पश्चात् ग्रथनं करोति ततो माहका गृह्णंति ततोऽस्याभिलषितार्थलाभो भवति भावशुद्धिश्च चित्तप्रसादलक्षणा अस्या एव विवक्षितत्वात् अन्यस्तु विपरीतकारी मालाकारस्तस्य न भवति एवं साधुरपि कृतोपधिप्रत्युपेक्षणादिव्यापारा उच्चारादिभूमिप्रत्युपेक्ष्या घातविरहितः कायोत्सर्गस्थोऽनुप्रेक्षते सूत्रं गुरौ तु स्थिते दैवसिकावश्यकस्य मुखवस्त्रिकाप्रत्युप्रेक्षणादेः कायोत्सर्गे तस्यावलोकनं करोति पश्चादालुंचनं स्पष्टबुद्ध्याऽपराधग्रहणं ततो विकटीकरणं गुरुलघूनामपराधानां विभंजन च शब्दादालोचन प्रतिसेवनानुलोमेन ग्रंथनं ततो यथाक्रमं गुरोर्निवेदन करोति एवं कुर्वतः भावशुद्धिरुपजायते। औदयिकभावात् क्षायोपशमिकप्राप्तिरित्यर्थः। इत्थमुक्तेन प्रकारेणालोचिते गुरोरपराध जाले निवेदिते आराधना मोक्षमार्गलक्षणा भवति अनालोचिते अनिवेदिते भजना विकल्पना कदाचिद्भवति, कदाचिन्न भवति तत्रेत्थं भवति ।

आलोयणापरिणओ, सम्मं समुवट्ठिओ गुरुसगासं ।
जइ अंतराओ कालं, करेज्ज आराहओ तहवि ।।१।।
एव तु न भवति इट्ठी, एगारवेणं भवाइसुयमएणावाि दुच्चरियं । जो न कहेइ गुरूण नहु सो आराहओ भणिओति ।। गाथार्थः । आव० ।।

आहाकम्मं अणवज्जेत्ति मणं पहारेता भवइ सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ नात्थ तस्स आराहणा सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा एएणं गमेण नेयव्वं कीयकडं ठवियं रइयं कंतारभत्तं दुब्भिक्खभत्तं वद्दलियाभत्तं गिलाणभत्तं सेज्जायरपिंडं रायपिंडं आहाकम्मं अणवज्जेति बहुजणमज्झे भासित्ता सयमेव परिभुंजित्ता भवइ सेणं तस्स ठाणस्स जाव अत्थि तस्स आराहणा एयंपि तह चेव जाव रायपिंडं आहाकम्मं अणवज्जेत्ति अन्नमन्नस्स अणुप्पदावेइत्ता भवइ सेणं तस्स एयं तह चेव जाव रायपिंडं आहाकम्मं णं अणवज्जेति बहुजणमज्झे पन्नवइत्ता भवइ सेणं तस्स जाव अत्थि आराहणा जाव रायपिंडं । भ० ५ श० ६ उ० ।।

(अणवज्जेत्ति) अनवद्यमिति निर्दोषमिति ॥ मण पहारेत्तित्ति ॥ मानस प्रधारयिता स्थापयिता भवति । रइयगति । मोदकचूर्णादि पुनर्मोदकादितया रचितमौद्देशिकभेदरूपं (कंतारभत्तंति) । कान्तारमरण्य तत्र भिक्षुकाणां निर्वाहार्थ यद्विहित भक्तं तत्कान्तारभक्तं एवमन्यान्यपि नवरं, वर्दलिका मेघदुर्दिनं । (गिलाणभत्तंति) ग्लानस्य नीरोगतार्थं भिक्षुकदानाय यत्कृत भक्त तत् ग्लानभक्तं आधाकर्मादीनां मदोपत्वेनागमेऽभिहितानां निर्दोपताकल्पनं तत एव स्वयं भोजनमन्यसाधुभ्योऽनुप्रदापन सभायां निर्दोपताभणनञ्च विपरीतश्रद्धानादिरूपत्वन्मिथ्यात्वादि,ततश्च ज्ञानादीनां विराधना स्फुटेवेति ॥

निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठेणं अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव अहं एयस्स ट्ठाणस्स आलोएमि पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि विउट्टामि विसोहामि अकरणयाए अब्भुट्ठेमि अहारिहं पायच्छित्त तवोकम्मं पडिवज्जामि तओपच्छा थेराणं अंतियं आलोएस्सामि । जाव तवोकम्मं पडिवज्जिस्सामि से य संपट्ठिए असंपत्ते थेराय पुव्वामेव अमुहा सिया । से ण भंते ! किं आराहए विराहए ? गोयमा ! आराहए नोविराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणाय पुव्वामेव अमुहे सिया से णंभंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते थेराय कालं करेज्जा से णं भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नोविराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते य अप्पणाय पुव्वामेव कालं करेज्जा सेणं भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए संपत्ते थेराय अमुहा सिया से ण भंते ! किं आराहए विराहए गोयमा ! आराहए नो विराहए से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणाय एवं संपत्तेण वि चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ।। जहेव असंपत्तेणं निग्गंथेण य वहियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतेणं अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव अहं एवं एत्थवि ते चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा जाव नो विराहए। निग्गंथेण य गामाणुगामं दूइज्जमाणेणं अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तस्स णं एवं भवइ इहेव ताव एत्थवि ते चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा जाव नो विराहए। निग्गंथीए य गाहावइकुलं । पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अन्नयरे । अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए तीसेणं एवं भवइ इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि जाव तवोकम्मं पडिवज्जामि तओ पच्छा पवित्तणीए अंतिए आलोएस्सामि जाव पडिवज्जिस्सामि सा य संपट्ठिया असंपत्ता पवित्तणीय अमुहा सिया साणं भंते ! किं आराहिया विराहिया? गोयमा ! आराहिया णो विराहिया। सा य संपट्ठिया जहा णिग्गंथस्स तिण्णि गमा भणिया एवं निग्गंथीए वि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा जाव आराहिया नो विराहिया। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ आराहए नो विराहए ? गोयमा ! से जहा नाम ए केइ पुरिसे एग महं उण्णालोमं वा गयलोमं वा सणलोमं वा कप्पासलोमं वा तणसूयं वा दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिंदित्ता अगणिकायंसि पक्खिविज्जा से णूणं गोयमा ! छिज्जमाणे छिन्ने पक्खिप्पमाणे

पक्खिवत्ते पक्खिप्पमाणे दड्ढेत्ति वत्तव्वं सिया हंता भगवं ! छिज्जमाणे छिन्ने जाव दड्ढेत्ति वत्तव्वं सिया से जहानामए केइ पुरिसे वत्थं अहतं धोयं वा तंतुग्गयं वा मंजिट्ठदोणीए पक्खिवेज्जा से णूणं गोयमा ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते पक्खिप्पमाणे पक्खित्ते रज्जमाणे रत्तेत्ति वत्तव्वं सिया हंता भगवं ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते जाव रत्तेत्ति वत्तव्वं सिया से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ आराहए नो विराहए ॥ भ० ८ श० ६ उ० ।

निर्ग्रन्थप्रस्तावादिदमाह ॥

निग्गंथ चण मित्यादि ॥ इह चशब्दः पुनरर्थस्तस्य घटना चैव निर्ग्रन्थं कश्चित्पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टं पिण्डमादिनेत्यनिम न्त्रयेत् तेन च निर्ग्रन्थेन पुन ॥ अकिच्चट्ठाणेति ॥ कृत्यस्य करणस्य स्थानमाश्रय कृत्यस्थान तन्निषेधोऽकृत्यस्थान मूलगुणादिप्रतिसेवारूपोऽकायविशेष (तस्स णति) तस्य निग्रन्थस्य सजातानुतापस्यैव जयति एव प्रकार मनोभवति एवस्स ठाणस्स त्ति) विज्ञप्तिपरिणामादेतत् स्थानमनन्तरासेवितमालोचयामि स्थापनाचार्यनिवेदनेन प्रतिक्रमामि मिथ्यादुष्कृतदानेन निन्दामि स्वसमक्षं स्वस्याकृत्यस्थानस्य वा जुगुप्सनेन गर्हे गुरुसमक्षं कुत्सनेन (विउट्टामिति) विवर्त्तयामि तदनुबन्धं छिनद्मि विशोधयामि प्रायश्चित्ताभ्युपगमेन अकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठाम्यभ्युत्थितो भवामीति (अहारिहंति) यथार्हं यथोचितमेतच्च गीतार्थतायामेव जयति नान्यथा (अंतियत्ति) समीप गत इति शेष (थेराय अमुहा सियत्ति) स्थविरा पुनरमुखा निर्वाच स्युर्वातादिदोषात्ततश्च तस्यालोचनादिपरिणामे सत्यपि नालोचनादिसम्पद्यत इत्यत प्रश्नयति ॥ (सेणमित्यादि)(आराहएत्ति)मोक्षमार्गस्याराधक शुद्ध इत्यर्थं भावस्य शुद्धत्वाद्भवति चालोचनापरिणता सत्यां कथञ्चित्तदप्राप्तावप्याराधकत्वं यत उक्तं । मरणमाश्रित्य आलोयणापरिणओसम्म संपट्ठिओ गुरुसगासे ॥ जइ मरइ अतराविय तहा विसुद्धोत्ति भावाओत्ति ॥ १ ॥ स्थविरालाभेदे न चेह द्वे प्रमुखसूत्रे द्वे कालगतसूत्रे इत्येवं चत्वारि असम्प्राप्तसूत्राणि सम्प्राप्तसूत्राण्येवं चत्वार्येव एवमेतान्यष्टौ पिण्डपातार्थं गृहपतिकुले प्रविष्टस्य एव विचारभूम्यादावष्टा एव ग्रामानुग्रामगमनेऽप्यष्टावेवमेतानि चतुर्विंशतिसूत्राणि । एवं निर्ग्रन्थिकाया अपि चतुर्विंशतिसूत्राणीति अथानालोचित एव कथमाराधक इत्याशङ्कामुत्तर च्याह ॥ सेकेणामित्यादि ॥ तणसूयवत्ति तृणाग्रं वा ॥ छिज्जमाणे छिन्नेत्ति ॥ क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदेन प्रतिक्षण कार्यस्य निष्पत्तेश्छिद्यमान छिन्नमित्युच्यते एवमसावालोचनपरिणतौ सत्यामाराधनाप्रवृत्त आराधक एवेति ॥ अहय यत्ति ॥ अहत नव (धोयति) प्रक्षालित ॥ ततुग्गयति तन्त्रोद्गत तुरीवेमादेरुत्तीर्णमात्र ॥ मजिट्ठदोणीयत्ति ॥ मांजिष्ठरागभाजने ॥ भ. टी ॥

आराधकत्वविराधकत्ववक्तव्यताऽऽराधकशब्दे १ मार्येनोना स्याराधनेति आलोयणाशब्दे २ शीलसम्पन्नश्रुतसम्पन्नादीनां देशाराधकत्वसर्वाराधकत्वादि पुरुषजालशब्दे ॥३॥

तदात्मके द्वात्रिंशत्तमे योगसंग्रहे च (आराहणा य मरणते) मरणरूपोऽन्तो मरणान्तस्तत्रेत्यतो द्वात्रिंशद्योगसंग्रह इति सम० स० ३२ । प्रश्न० द्वा० ५ । आव० (इयाणि आराहणाय मरणंतित्ति आराहणाए) मरणकाले योगा संगृह्यन्ते तत्रोदाहरण प्रति गाथापश्चार्द्धमाह आराहणाइ मरुदेवा ओसप्पिणिए पढमसिद्धा ॥

आसीत्पुर्यां विनीतायां, भूपतिर्भरतेश्वरः ॥
श्रुत्वा विभूषित त च, मरुदेवाऽन्यथादिद ॥ १ ॥
त्वत्पितापीदृशीं त्यक्त्वा, विभूषामेककोऽभ्रमत् ॥
तथाच भरत कासौ, धृतिम तस्य यादृशी ॥ २ ॥
चेन्न प्रत्येषि तद्यामो, निर्ययौ भरतेश्वरः ॥
मरुदेवीं करिस्कंधे, ऽधिरोप्य प्रभुसन्निधौ ॥ ३ ॥
श्रुत्वा समवसरणे, देवेन्द्योस्याः स्तव प्रभोः ॥
आनन्दाश्रुदृशा नीत्रे, गतोऽपश्यत्प्रभोः श्रियं ॥ ४ ॥
अयाचे भरतो मातः! पुत्रभूषा विलोकिता ॥
कुतो ममेदृशी साय, चिंतयंतीप्रमोदतः ॥ ५ ॥
विवेशाऽपूर्वकरण, जातिस्मृतिरजृम्भत ॥
वनस्पते र्यदुद्वृत्ता, करिस्कन्धजुषोऽप्यथ ॥ ६ ॥
उत्पन्न केवल मध्य, प्राप प्रथमसिद्धतां ॥
ईदृगाराधनायोगा, ज्ञायते योगसंग्रहः ॥ ७ ॥ आ ० कथा ।

मोक्षाराधनहेतुत्वादाराधना. आवश्यके. आवश्यकस्यैकार्थिकान्यधिकृत्य (नाओ आराहणामग्गो) अनु० ॥

आराहणाभिमुह—आराधनाभिमुख— त्रि० आराधनाया सम्पूर्णमोक्षमार्गानुपालनाया अभिमुखः सम्मुखः कृतोद्यम इत्यर्थं आराधनायां कृतोद्यमे. पा० ॥

आराहणी—आराधनी- स्त्री०आराध्यतेपरलोकापीत्या यथावदभिधीयते वस्त्वनयत्याराधनी. द्रव्यभावभाषाभेदे (आराहणीभेदस्त्रे सच्चे मोसाविराहणी होइ) दश० अ० ७ ॥

आराहणोवउत्त—आराधनोपयुक्त— त्रि० आराधनया उत्तमार्थप्रतिपत्त्या आराधनायां वा उपयुक्त उद्यतः सावधान आराधनोपयुक्तः आराधनयोपयुक्ते. आराधनायामुपयुक्ते च (आराहणोवउत्ते वितितो आराहगो होइ) आतु० ॥

आराहित्ता—आराध्य अव्य ० सेवन कृत्वेत्यर्थे, (आराहिता आणाए अनुपालइत्ता) आराध्य यथोक्तोत्सर्गापवादनयविज्ञानेन सेवन कृत्वेति- उत्त ० अ २७ सम्पाद्येत्यर्थे, प व ॥ कल्प ० ॥

आराहिय—आराधित — आ.राध-णिच् क सेविते, संपादिते, पं. व० सम्यक्पालितति । आतु ० । सम ० ॥ परितोष प्रापिते—(आराहिजो रज्जसपट्ठ्यथ कासीयरायाउदुवक्खरस्स)आराधित केनाऽपि गुणविशेषेण परितोष प्रापित इति— वृ ० (हरिणगमेसिं देवं भत्ति बहुमाणेण आराहिया) आ. म अखण्डिते, (जह चेव उ मोक्खफला आणा आराहिआ जिणिंदाण) प. व. ॥ निष्ठां नीते,—अहिंसालक्षण प्रथम संवरद्वारमधिकृत्य (आराहिय आणाए,) आराधितमेभिरेव प्रकारैर्निष्ठांनीतमिति — प्रश्न० स द्वा ।(आराहिया विभवइ) एभिरेव प्रकारे सम्पूर्णैर्निष्ठां नीता भवतीति. स्था० ठा ७ (आराहिय पयारेहिं सम्ममेयहिं निउविय) आराधितश्चैव एभिरेव प्रकारैर्निष्ठां नीतमिति प्रव ० । उपा ० अ. १ आराहियनाणदंसणचारित्तजोगनिस्सल्लसुद्धसिद्धालयमग्गमभिमुहाण, सम ० । नि. चू १ आचा०—

आराहियसंजम आराधितसंयम—त्रि०परिपालितसंयमे (आराहियसंजमाय सुरलोग पडिनियत्ता—सम ० ।

आरि (य) आरित–त्रि॰सेविते–आरितो आयरितो सेवितो वा पगट्ठ ति–आ चू । आकारिते आरिओ आगारिओ स्सारिओ वा पगट्ठंति आव ० ॥

आरित आर्ष–त्रि॰ विवाहभेदे, गोमिथुनदानपूर्वमार्ष इति. ध॰ स॰ ॥

आरु (रो) ग्ग–आरोग्य–न॰ अरोगस्य भावः ष्यञ् रोगशून्यत्वे, रोगाभावे, उत्त॰ अ.२७ ॥

आरोग्ये सति यद्व्याधि, विकारा भवंति नो पुंसां ।
तद्धर्म्मारोग्ये, पापविकारा अपि ज्ञेया ॥ ८ ॥

टी॰ ॥ आरोग्ये रोगाभावे सति ज्ञायमाने यद्वदिति यथा व्याधिविकारा रोगविकारा भवति नो पुसामारोग्यवतां तद्वदिति तथा धर्म्मारोग्ये धर्म्मरूपमारोग्य तस्मिन्सति पापविकारा अपि वक्ष्यमाणा न भवतीति विज्ञेया पो॰वि.२॥ नीरोगतायाम् उत्त॰ अ. ३ ॥ आरोग्य नीरुजत्व प्राक्तनसहजौत्पातिकरोगविरहणम् । पो॰ विव ३ स्था॰ ठा. १० । आरोगसारिय माणुसत्तण सच्चसारिओ धम्मो विज्जानिच्छियसारा सुहाइ संतोससारादति १। दोषाणां समत्व चारोग्यम् "तेषां समत्वमारोग्य क्षयवृद्धीविपर्य्यय" इतिवचनात् न॰ । भावतः सम्यक्त्वे मोक्षे च लोकोत्तरतत्वप्राप्तिमधिकृत्य आद्य भावारोग्य बीज चैषां परस्य तस्यैव । आदौ भवमाद्य भावारोग्यं भावरूपमारोग्य तच्चेह सम्यक्त्व तद्रूपत्वाल्लोकोत्तरतत्वतत्प्राप्तेर्बीज चैषां लोकोत्तरत्वसम्प्राप्तिः परस्य प्रधानस्य तस्यैव भावारोग्यस्य मोक्षलक्षणस्य रागद्वेपमोहानां तन्निमित्तानां च जातिजरामरणादीनां भावरोगरूपत्वादिति. पो॰वि. ४ । अरोगस्य भाव आरोग्य सिद्धत्वे ध॰ अधि. ।२ आव॰ ॥ आवाधारहिते त्रि. कल्प । ज्वरादिवर्जित, आरोग्गा अरोगा ज्वरादिवर्जिता इति स्था॰ ठा ४ (आरोग्गारोग्गं दारय पाया) आरोग्या आबाधारहिता सा त्रिशला आरोग्य आवाधारहितम् ०। कल्प। जण्ण रयणिं तिसला खत्तियाणी समणं भगवं महावीर आरोग्गारोग्ग पसूया । आचा॰ अ. ४ ।

आरुग्गदिय–आरोग्यद्विज पु॰ उज्जयिनीवास्तव्ये द्विजे।

तत्कथाच ध॰ र ॥

अत्थि पुरी उज्जेणी, सकाविसूसिया हरितणुव्व ।
किंतु गयेलक्खकलिया, वहसंखसिरीइ उवगूढा ॥१॥
तत्थत्थि देवगुत्तो, विप्पो गुत्तिंदिओ पवरगुत्तो ।
सुविहिअसदाणंदा, नंदानामेण तस्स पिया ॥ २ ॥
जाउतलाणसुओ जंमए, भिइरोगेहिं मुच्चए नव ।
अवहियनामो रोगुत्ति, चेव सो विस्सुओ जाओ ॥३ ॥
कइया वि तस्स गेहे, भिक्खत्थं कोवि वरमुणीपुत्तो ।
पारित्त सुयं पाएसु, माहणेणं इमो भणिओ ॥ ४ ॥
रोगोवसमोवायं, इमस्स पहुकहसुकारुन्नं ।
सेससुया एतेहिं, कहा न कहिज्जइ इयमुणी आह ॥५॥
तो तेणं मज्झएहे, सह नियपुत्तेण गंतुउज्जाण ।
नमिऊण तयं पुट्ठो, एवं सो महरिसी आह ॥६॥
पावाओ होइ दुक्खं, तं पुण धम्मो नासए खिप्पं ।
जलणपलित्तं गेहं, मंझिलपवाहेण विज्जाइ ॥ ७॥
धम्मेण सुयमेणं, सिग्धं नासति सयलदुक्खाइ ।
एया रिसाइ नियमा, नयमा न य हुंति पुणो परजवे वि ॥८॥
इय सुणिऊंते बुध्दा, गिहत्थधम्मं दुवे वि गिण्हंति।
दढधम्मो सो माहण, पुत्तो जाओ विसेसेण ॥ ९ ॥
धारिजइ इतो सायरो, कल्लोलभिन्नकुलसेलो ।
न हु अन्नं जंमनिम्मि, य सुहासुहो दिव्वपरिणामो ॥१०॥
इच्चाइ विलयंतो, रोगायंके सहेइ संयमिमो ।
सावज्जंच तिगिच्छं, मणसा वि न पच्छइ कयावि ॥११॥
अहहरणा दढधमुत्ति, संसिउ सो कयावि तो इच्छा ।
पत्ता असद्दहंता दुवे सुराविज्जरूवधरा ॥ १२ ॥
जंपंति इमं वायं, पउणे मोजई णो किरियं ।
तस्स पयाणहि पुट्ठं, सोकेरिसया इमो विंति ॥१३॥
महुअवलेहो पढमे, पहरे चरिमे ओजनमसुरपाणं ।
नवणीयं जयं कूर, निसि सहपियएण भुत्तव्वं ॥१४॥
तो दियपुत्तेणुत्तं, इमेसि एगंपि नेव पकरेमि ।
वकसंगजीरूचित्तो, जीवबद्दो तह पुणो चेव ॥१५॥
उक्तंच ॥ मद्ये मांसे तथा क्षौद्रे तक्रान्नीतेनवोद्धृते ।
उत्पद्यंते विलीयंते, तद्वर्णाः सूक्ष्मजंतवः ॥ १६ ॥
विज्जेहि तओ भणिओ, देहसिणं धम्मसाहणं भद्दं ।
जह वा तह वा मउणिय, पत्थापत्थन्नमायरसु ॥१७॥
तयाचोक्तं।सव्वत्थसंजमसंजमागो, अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ, पुणोविसोही नया विरई ॥१८॥
सो आह न इ वत्तंहि, पञ्चावी करिस्स पत्तओएयं ।
किंकीरइ पढमं पि हु, भद्दा कद्दमफरिसणं च ॥ १९ ॥
इय स याण हितित्तेण, वि भणिओ वि न जाव मणए एसो ।
ताते पमुइयचित्ता, अमरा पइरूतिनियसरूवं ॥ २० ॥
काहिओ सक्कपसंस, नीरोगओ कओ इमो तेहिं ।
तुट्ठो से सयणगुणो, राया पुलयकिओ जाओ ॥२१ ॥
त दट्ठुपाहट्ठमणा, जयपयमं जइणधम्ममाहप्पं ।
बुधा वहवे जीवा, दयपालणुज्जुया जाया ॥ २२ ॥
तप्पजइ इमो लोए, आरुग्गदिओति विसुओ जाओ ।
पालियवयाइ ज ओ, कमेण सुहभायणं एसो ॥ २३ ॥

एवमारोग्यविप्रस्य वृत्तंवरं। धीरधर्म्मा त् श्रुत्वैतच्चमत्कृतपरं भव्यलोका निशम्य मकंपां सदा पालयध्वंव्रतानि स्फुरत्संपदाः ॥

आरु (रो) ग्गफल –आरोग्यफल –त्रि॰ आरोग्य साधके (अवितहमारोग्गफलं, धम्मो इह जोणिमं नायं) पचा वृ १५ ।

आरु (रो) ग्गबोहिलाभ–आरोग्यबोधिलाभ –पु आरोग्याय बोधिलाभ आरोग्यबोधिलाभ. आव ० । अरोग-

स्य भाव आरोग्य सिद्धत्वं तदर्थं बोधिलाभः अर्हत्प्रणीतधर्मप्राप्तिरारोग्यबोधिलाभः । सो हायार्हत्प्रणीतधर्मप्राप्ती,

किच्चिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरोग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ध. २ अ.।

आरोग्गस्य भाव आरोग्यं सिद्धत्वं तदर्थं बोधिलाभ आरोग्यबोधिलाभः प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिलाभस्तथाऽर्जीयते सच्चाऽनिदानो मोक्षायैव प्रशस्यते इति । ध्य. २ अ. (आरोग्गबोहिलाभ समाहिवरमुत्तमं दिंतु) इत्यारोग्यबोधिलाभस्य प्रार्थनमुक्तस्य (लिंगस्स) शब्दे व्याख्यास्यते ॥

आरु (रो) ग्गबोहिलाभाऽपत्थणाचित्तनुल्ल–आरोग्यबोधिलाभादिप्रार्थनाचित्ततुल्य –त्रि० आरोग्यबोधिलाभादीनां आरोग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतित्येवरूपा या प्रार्थना तत्प्रधानं यच्चित्तं मनस्तेन तुल्य समानम् । तथा च पञ्चाशके – तदभिधृत्य आरोग्गबोहिलाभाइ पत्थणाचित्ततुल्लिं, पञ्चा० गृ. १९.

आरु (रो) ग्गसाहग–आरोग्यसाधक– त्रि० आरोग्यनिष्पादके, प म. १

आरुम–आरुम–अव्य० कोप इत्यनर्थे. (आगम्म विचाति नु देसर्वाइ) सूत्र श्रु. १ अ ॥ (आरुम्म सिर्चति पत्ताणमो सो) आरुम्य पतो इत्यर्थे इति सूत्र० श्रु १ अ ५ ।

आरुह–आरुह–धा सद स्या० प० अनिट्–स्व० आरोहणे। आरुहन्न रुहप्राणौ ८ अ ४ पा इति प्राकृतसूत्रेणारुहेरुत्तरस्यादेशो या स्य स्यावः आरुहइ प्रा० । चडति वा अग्गाणि आरुहंति पत्तं नि० चू ३. १८ ॥

आरुहमाण–आरोहत्–त्रि० आरोहणं कुर्वति आरुहमाणे वा ओरुहमाणे वा आचा० श्रु. ८

आरु–आरु–पु० ऋ. उ. पिङ्ग पिङ्गलवर्णे शूकराख्यार्थे फलेऽपि पुं च तत्र महार्घा फल (आरु) हिमाश्वत्प्रसिद्धवृक्षभेदे वाच० ॥

आरुढ–आरुढ–त्रि० आ० रुह, कर्तरि क्त–वाच० । आश्रिते (नरनियलनाणमस्सं आरुढो पच्चहा अमियनाणी) विशे०॥ आरूढ आश्रित इति आ. चू प्रा॰, (आरुढा पृष्ठभूमिका) आरुढा प्राप्ता बृह० (आरूढाऽऽयपादिय) पिं० । मत्त च गंध हत्थि च, वासुदेवस्स जेठ्ठग । आरूढो सोहइ अहिय, सिरे चूडामणी जहा । (नियया रयण तयो समारूढो) उत्त० अ २२.

आरुढहत्थारोह–आरूढहस्त्यारोह–पु० आरूढमहामात्रे (आरूढहत्थारोहे) आरूढा हस्त्यारोहा महामात्रा येषु ते तथा । विपा० श्रु० २.

आरेग–आरेक– पु० आ-रिच-घञ- आकुञ्चने- अतिरेके च. वाच० ॥

आरेगा–आरेका–स्त्री० शङ्कायाम- (विजाहिसु विसोत्तिय) आचा० विहाय परित्यज्य विस्रोतसिका शङ्कां सा च द्विधा सर्वशङ्का देशशङ्का च तत्र सर्वशङ्का किमस्त्यार्हतो मार्गो नेति । देशशङ्का तु किं विद्यन्तेऽप्कायादयो जीवा विशेष्य प्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनात्मलिङ्गाभावाच्च विद्यन्ते इति सैवंप्रमादिकामारेका विहाय सम्पूर्णाननगारगुणाननुपालयेन आचा०॥ अ० १ उ० २ ॥

आरेण. अव्ययं आरादित्यर्थे वृ० ॥

आरोअ–उल्लस– धा० पर०सेट० उल्लासे उल्लसेरूसलोसुम्भणिल्लसपुलआअगुञ्जोल्लारोआः ॥ ४ ॥ २०१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेणोल्लसतरारोअ इत्यादेश. । आरोअइ उल्लसइ प्रा०॥

आरोव–आरोप–पुं० आरुह् णिच् करणे ल्युट् अन्यपदार्थेऽन्यधर्मस्यावभासरूपे मिथ्याज्ञाने–वाच०

अनारोपसुखः मोह, त्यागादनुभवन्नपि । आरोपप्रियलोकेषु वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥ ७ ॥ अष्ट० ॥ ४ ॥

आरोवण–आरोपण– न० आरुह्-णिच् ल्युट्-आरोपशब्दार्थे, आरोहणासम्पादने च. आर्द्रीकृतारोपणमन्वभूताम् कुमा० रघु. वाच० ॥

आरोवणा–आरोपणा– स्त्री० आरोप्यतइत्यारोपणा । प्रायश्चित्तभेदे, व्य० । आरोप्यतेऽइति आरोपणा । प्रायश्चित्तानामुपर्युपर्यारोपण यावत् षण्मासा. परतो वर्द्धमानस्वामितीर्थे आरोपणाया प्रतिषेधात् ॥ व्य० उ० १ ॥

साम्प्रतमारोपणाप्रायश्चित्तमाह ॥

पंचाढी आरोवणा, ने यव्वा जावहुंति छम्मासा ।
ते पणगादीयाणं, वएहु वरिसो ज्झोसणं कुज्जा ॥

रात्रिंदिवपञ्चकादारभ्यारोपणापंचादि. । रात्रिंदिवपञ्चकादिका आदिशब्दाद्दशपञ्चदशविंशति रात्रिं दिवसामित्कादिपरिग्रहः ज्ञातव्या । तावद्यावत्षण्मासा भवंति नाधिकाः यत एव तेन प्रकारेण तेषां षण्णां मासानामुपरि (पणगादया णति) रात्रिं दिवपञ्चका दीनां झोषणामपनयन कुर्यात् । षण्मासानामुपरि य दापयते प्रायश्चित्त तत्सर्वं त्यज्यते इति भाव । उक्त च चूर्णौ (छम्मासाणपर ज आवज्जइ त सव्वत्थ छिज्जइति) अत्र चोदक आह । किं कारण न दिज्जइ छम्मासाण परतो व आरुवणा । भणइ ण मोजं कारणाज्झोसिया सेसा । षण्मासानां परत आरोपणा प्रायश्चित्त न दीयते । अत्र किंकारणमाचार्य. प्रतिवचनमाह ज कारणति निमित्तकारणहेतुषु सर्वा विभक्तय इति वचनात् अत्र हेतौ प्रथमा। ततोऽयमर्थ. । येन कारणेन षण्मासानां परतः शेषाणि रात्रिंदिवपञ्चकादीनि प्रायश्चित्तानि झोषितानि त्यक्तानि तत्कारणं पुनरिद वक्ष्यमाणमिति गुरुर्भणति ।

तदेव कारण दर्शयति ॥

आरोवणानिप्पन्नं, छउमत्थे जाजिणेहिमुक्कोसा ।
ततस्स उतित्थं, ववहरणं धन्नापिठ्ठगं च ॥

छद्मस्थे छद्मस्थकाले यत् जिनै स्वस्वकालापेक्षया उत्कृष्टतप कर्म्म कृतं तस्य तीर्थे तुरेवकारार्थो भिन्नक्रमश्च सचैव योजनीयस्तदेव तावत्प्रमाणमेवारोपणानिष्पन्न तप. कर्म्म व्यवह्रियत इति व्यवहरण बहुलवचनात्कर्म्मण्यनट् व्यवहरणीयमिति भाव । किमिवेत्यत आह। धान्यपिटकमिव धान्यप्रस्थक इव। किमुक्त भवति । येन राज्ञा यो धान्यप्रस्थक स्थापितस्तत्काले स एव व्यवहर्तव्यो न पुरातनो नाप्यन्य स्वमतिपरिकल्पितस्तथा भगवताऽपि तीर्थकरेण येन छद्मस्थकाले यावत्प्रमाणमुत्कृष्ट तप. कर्म्म कृत तस्य तीर्थे आरोपणानिष्पन्न प्रायश्चित्तमपि तावत्प्रमाणमेव व्यवहरणीय नाधिकमन्यथा

राजाज्ञाखण्डनतो राजप्रयुक्तदण्डस्येव भगवदाज्ञाखण्डनतः संसारदण्डस्य प्रवृत्तेः ॥

एनमेव धान्यपिटकदृष्टान्तं भावयति ॥

जो जया पत्थिवो होइ, सो तया धन्नपच्छगं ।
ठावेअन्नं पुरिल्लेणं, ववहारी य दंडए ॥

यो यदा पार्थिवः पृथिवीपतिर्भवति। स तदा स्वकाले धान्यप्रस्थकमन्यं स्थापयति । तस्मिंश्च स्थापिते ये(पुरिल्लेणंति) पुरातनेनोपलक्षणमेतत् स्वमतिपरिकल्पितेन व्यवहरन्ति तान् तथा व्यवहरतो दण्डयति । एवं तीर्थकृदपि भगवान् यो यावत्प्रमाणमुत्कृष्टं तपः कर्म छद्मस्थकाले कुर्वन् तपःकर्मपरिमाणं स्थापयति। स स्वतीर्थे तावत्प्रमाणादधिकं तपः कर्म व्यवहरतः संसारदण्डेन दण्डयति । तस्मात्तस्य तीर्थे तावत्प्रमाणमेव व्यवहर्तव्यमिति ॥

अथ कस्य तीर्थे कियत्प्रमाणं तपः कर्मेत्यत आह ॥

संवच्छरं तु पढमे, मज्झिमगाणऽट्ठ मासियं होइ ।
छम्मासपच्छिमस्स उ, माणं भणियं तु उक्कोसं ॥

प्रथमे प्रथमतीर्थकरकाले मानं तपःकर्मपरिमाणमुत्कृष्टं भणितं संवत्सरमेव तुरेवकारार्थः मध्यमकानां द्वाविंशतितीर्थकृतां तपःकर्म परिमाणमुत्कृष्टं भवत्यष्टमासप्रमाणं पश्चिमस्य तु भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः तपःकर्म परिमाणमुत्कृष्टं भणितमिति । षण्मासाः । अत्रैव भूयः शिष्यः शङ्कामाह ॥

पुण एवि चाएइ ततो,पुरिमा चरिमा विसमसोहीया।किह सुज्झंती तेउ, चोयगइण मो सुण सुवोत्थ ॥

एवमनन्तरोदिते सूरिणाऽभिहिते पुनरपि शिष्यश्चोदयति ॥ प्रश्नयति यदि नामैवं ततः पूर्वा आदितीर्थकरतीर्थवर्तिनश्चरमाः पश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्तिनो विषमशोधिका विषमप्रायश्चित्ता अभवन् । ततः कथं ते विषमशोधिका अविशेषेण शुध्यन्ति । सर्वात्मना शुद्धिमासादयन्ति न खलु कारणवैषम्ये कार्यवैषम्यं दृष्टमत्र तु विषमं प्रायश्चित्तं विशोधिस्तु सर्वेषामप्यविशेषेण तुल्या ततो दुर्घटमेतदिति भावः। अत्र सूरिर्यत्प्रायश्चित्तवैषम्ये कारणं यथा च कारणविषमतायामपि तुल्या विशोधिस्तदेतत्प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतः प्रायश्चित्तवैषम्ये कारणमभिधित्सुरिदमाह । चोयगेत्यादि हे चोदक ! उपपन्नप्रश्नकारिन् प्रायश्चित्तवैषम्ये इदं वक्ष्यमाणं कारणं वक्ष्ये तच्च वक्ष्यमाणमवहितमनाः शृणु । प्रतिज्ञातमवहितमनाः शृणु । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ।

कालस्स निद्धयाए, देहबलं धिइबलं च जं पुरिमे ।
तदणंतभागहीणं, कमेण जा पच्छिमो अरिहा ॥

पुरिमे पूर्वे आदितीर्थकरतीर्थे कालस्य स्निग्धतया हेतुभूतया प्राणिनां देहबलं शरीरबलं तदुपदिष्टं ततो धृतिबलं च यत् आसीत् तत् अवसर्पिणीकालस्य तथा स्वभावतया क्रमेण प्रतिक्षणमनन्तभागहीनं तत् तावदायातं यावत्पश्चिमो भगवानर्हद्वर्द्धमानस्वामी ततः शारीरबलस्य धृतिबलस्य च विषमत्वात् विषमं प्रायश्चित्तं । तथा चाह ।

संवच्छरेणावि न तासि आसि, जोगाण हाणी दुविहे बलंमि । जेया विधिज्जादिअणोववेया, तच्छम्मया सोहय एतए वि ॥

तेषामादितीर्थकरतीर्थवर्तिनां साधूनां द्विविधे बले शारीरे बले धृतिबले च अत्यन्तमुपचयं प्राप्ते सति संवत्सरेणाऽपि संवत्सरप्रमाणमपि तपः कुर्वतां न योगानां संयमव्यापाररूपाणां हानिरासीत् ॥ मध्यतीर्थवर्तिनां द्विविधमप्येव क्रमेणानन्तभागहीनं पश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्तिनामत्यन्तहीनमतो मध्यमकानां संवत्सरप्रमाणं तपः कुर्वतां महती योगहानिरिति तेषामष्टमासिकमुत्कृष्टं तपःकर्म व्यवस्थापितमपश्चिमतीर्थकरतीर्थवर्तिनां तदपि कुर्वतां योगहानिः षाण्मासिकमुत्कृष्टं तपः कर्म तेषां प्रवर्तितं ।तदेवमुक्तं प्रायश्चित्तवैषम्ये कारणं ।सम्प्रति तुल्यां विशोधिं प्रतिपादयति । ये चापि मध्यमतीर्थकरतीर्थवर्तिनश्चधैर्याद्यनुपेता धैर्येण धृतिबलेन आदिशब्दात् संहननबलेन च कालदोषतोऽनुपपेताः । तएवित्ति तकानपि तद्धर्मता तेषामिव आदितीर्थकरतीर्थवर्तिनामिव धर्मोऽशठत्वादिकस्वभावो येषां ते तद्धर्माणस्तद्भावस्तद्धर्मता सा शोधयति । इयमत्र भावना । इह अशठभावेनानिगूहितबलवीर्यतया यथाशक्ति तपः कर्मणि प्रवृत्तिर्विशोधिरान्तरकारणं तच्च बाह्यतपः कर्मणो वैषम्येऽपि सर्वेषामप्यविशिष्टमतः सर्वेषां तुल्या विशोधिः । युक्तं चैतत् । तथाहि प्रथमतीर्थकरतीर्थेऽपि न सर्वेषां देहबलं च समानमथ च सर्वेषामप्यशठभावतया प्रवृत्तेस्तुल्या विशोधिरेवमत्रापि भावनीयामित्यदोषः । अत्रैव निदर्शनमाह ॥

पत्थगा जे पुरा आसी, हीणमाणाउ ते धुणा ।
माणभंडाणि धन्नाणि, सोहिं जाणि तहेव य ॥

ये पुरा पूर्वं काले प्रस्थका आसन् । ते कालदोषतः क्रमेण हीना हीनतरा जायमाना अत्यन्तहीनमाना जातास्तथापि धान्यानि मानभाण्डानि प्रस्थकादिपरिमाणपरिच्छेद्यानि तथैव सख्यात्व्यवहारस्य सर्वदाऽप्यविशिष्टत्वात् । एवमिहापि प्रायश्चित्तानां वैषम्येऽपि अशठभावेन तपः कर्मणि प्रवृत्तिरान्तरकारणं सर्वेषामप्यविशिष्टामिति शोधिमपि तुशब्दस्यापि शब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् । तथैव धान्यानां प्रस्थकपरिच्छेद्यतामिव तुल्यां जानीहि ।प्रस्थकदृष्टान्तेन सर्वत्र तुल्यां विशोधिमवबुध्यस्वेति भावः । उक्तमारोपणाप्रायश्चित्तम् ॥ व्य. उ. १ ॥

आरोपणा पञ्चविधा । स्था० ठा० ५ ।

आरोवणा पंचविहा पन्नत्ता तंजहा पट्ठविया
ठविया कसिणा अकसिणा हाडहडा ॥

आरोपणोक्तस्वरूपा तत्र (पट्ठवियत्ति) यदुच्चारोपितं षण्मासगुर्वादिप्रायश्चित्तं प्रस्थापयति वोढुमारभते तदपेक्षयाऽसौ प्रस्थापितेत्युक्ता ॥ १ ॥ (ठवियत्ति) यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य स्थापितं कृतं न वाहयितुमारब्धमित्यर्थः ॥ आचार्यादिवैयावृत्यकरणार्थं तद्धि वहन्न शक्नोति वैयावृत्यं कर्तुं वैयावृत्यसमाप्तौ तु तत्कारिष्यतीति स्थापितोच्यत इति२॥ कृत्स्नापुनर्यत्र झोषो न क्रियते झोषस्त्वयमिह तीर्थे षण्मासान्तमेव तपस्ततः षण्मासानामुपरि यान् मासानापन्नोऽपराधी तेषां क्षपणमनारोपणं प्रस्थे चतु सेतिकातिरिक्तधान्यस्येव। झाटनामित्यर्थः । झोषाभावेन सा परिपूर्णेति कृत्स्नेत्युच्यते इति भावः ३ अकृत्स्ना तु यस्यां षण्मासाधिकं झोष्यते तस्या हि तदतिरिक्तझाटनेनापरिपूर्णत्वादिति ॥ ४ ॥ (हाडहडेति) यल्लघुगुरुमासादिकमापन्नस्तत्सद्य एव यस्यां दीयते सा हाडहडोक्तेति एतत्स्वरूपं च विशेषतो निशीथविंशतितमोद्देशकादवगन्तव्यमिति ॥

कति भेदा आरोपणाया उच्यते पञ्च तथा चाह भा० १ उ० ॥
(पट्ठविया) पञ्चविया कसिणाऽकसिणा तहेव हाडहडा
आरोपणा पञ्चविधा पञ्चप्रकारा तद्यथा प्रस्थापितिका स्था-
पिता कृत्स्ना हाडहडा च । एषा पञ्चप्रकाराऽप्यारोपणा प्राय-
श्चित्तस्य । तत्र प्रायश्चित्त पुरुषजाते कृतकरणादौ यथायोग्य
मवसेयमेष गाथासंक्षेपार्थः ।
इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन्प्रथमतः प्रस्थापितिकादि
भेदचतुष्टयं व्याख्यानयति ॥

पट्ठविया वहंते, वेयावच्चट्ठिया ठविविया उ ।
कसिणाऽऽझोसविरहिया, जहिज्झोसो सा अकसिणाओ ॥

यदारोपितं प्रायश्चित्तं वहति एषा प्रस्थापितिका आरोपणा यो वैयावृत्यकरणलब्धिसंपन्न आचार्यप्रभृतीनां वैयावृत्यं कुर्वन् यत्प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्यारोपितमपि स्थापितं क्रियते । यावत् वैयावृत्यपरिसमाप्तिर्भवति । द्वौ योगावेककालं कर्तुमसमर्थ इति कृत्वा सा आरोपणा स्थापितिका । कृत्स्ना नाम यत्र झोषो न क्रियते । अकृत्स्ना यत्र किंचित् झोष्यते । हाडहडा त्रिविधा तद्यथा सद्योरूपा स्थापिता प्रस्थापिता च तत्रेय सद्योरूपा ॥

उग्घायमणुग्घायं, मासादितवो उदिज्जए सव्वं ।
मासादी निक्खित्तं, ज सेसं दिज्जए तं तु ॥

उद्घात लघु अनुद्घातं गुरु यत् मासादिमासिकमादिशब्दात् द्वैमासिकं त्रैमासिकं वा इत्यादि तप आपन्नस्तपदि सद्यस्तत्काल दीयते न कालक्षेपेण तदा सा हाडहडा आरोपणा स द्योरूपा यदि पुनर्यन्मासादिकमापन्नस्तत् वैयावृत्यमाचार्यादीनां करोतीति स्थापितं क्रियते । तस्मिश्च स्थापिते यदन्यत् झोषमुद्घातमनुद्घातं वा पद्यते तत्सर्वमपि प्रमादनिवारणायमनुद्घातं दीयते सा हाडहडा आरोपणा ॥
स्थापिता प्रस्थापिताया स्वरूपमाह ॥

छम्मासादि वहंते, अंतरे आवण्णे जा उ आरुवणा ।
सा होति अणुग्घाया, तिण्णि विगप्पा उ चरिमा य ॥

पाण्मासिकं तपो वहन् आदिग्रहणात् पांचमासिकं चातुर्मासिकं त्रैमासिकं द्वैमासिकं वा वहन् अंतरा यदन्यदापद्यते उद्घातमनुद्घातं वा तस्याप्यतिप्रमादनिवारणार्थमनुग्रहकृत्स्नेन चानुद्घातं यत् आरोप्यते एषा हाडहडा आरोपणा प्रस्थापिता । एते त्रयो विकल्पाश्चरमाया हाडहडायाः अथवा इमे त्रयो विकल्पाः ॥

सा पुण जहन्न उक्कोसा, मज्झिमा तिन्नि वि विगप्पा ।
मासो छम्मासा वा, जहन्नमुक्कोसजे मज्झे ॥

सा हाडहडा आरोपणा त्रिविधा । तद्यथा जघन्या उत्कृष्टा मध्यमा च एते त्रयो विकल्पा हाडहडाया भवति । तत्र गुरुको मासो जघन्या पण्मासा गुरुक उत्कृष्टा एतयोर्द्वयो र्द्वयोर्मध्ये गुरु द्विमासादयो गुरुमासपंचकपर्यंता एषा जघन्योत्कृष्टा हाडहडा सा चतुर्विकल्पा तद्यथा द्वैमासिकगुरुक त्रैमासिक गुरुकं चातुर्मासिकं गुरुकं पांचमासिकं गुरुकमिति ॥
आयारपकप्पशब्दे आचारप्रकल्पस्याष्टाविंशतिभेदप्रतिपाद कसूत्रमुक्तम् । तट्टीकायामारोपणाभेदा इत्थं ॥
तत्र कश्चित् ज्ञानाद्याचारविषये अपराधमापन्नस्य कस्यचित् प्रायश्चित्तं दत्तं पुनरन्यमपराधविशेषमापन्नस्ततस्तत्रैव प्राक्तने प्रायश्चित्ते मासवहनयोग्य मासिकं प्रायश्चित्तमारोपितमित्येवं मासिक्यारोपणा भवतीतथा पञ्चरात्रिकशुद्धियोग्य मासिकश्च शुद्धियोग्य चापराधद्वयमापन्नस्तत पूर्वदत्तप्रायश्चित्ते सपञ्चरात्रिमासिकप्रायश्चित्तारोपणात्सपञ्चरात्रमासिक्यारोपणाऽष्ट ६ एव द्विमासिक्यः ६ त्रिमासिक्यः ६ चतुर्मासिक्यः ६ चतुर्विंशतिरारोपणाः तथा सार्द्धदिनद्वयस्य पक्षस्य चोपघातेन लघूनां मासादीनां प्राचीनप्रायश्चित्ते आरोपणा उपघातिकारोपणा यदाह ॥

अद्धेण छिन्नसेसं, पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं ।
देज्जाय लहुसदाणं, गुरुदाणं तत्तियं चेवत्ति ॥

यथा मासार्द्ध १५ पञ्चविंशतिकार्द्धं च सार्द्धद्वादशाख्यं सर्वं मीलने सार्द्धसप्तविंशतिरिति लघुमासा । तथा मासरूपार्द्धं मासो मासिकस्यार्द्धं पक्ष उभयमीलने सार्द्धमास इति लघुद्विमासिकं २५ तथा तेषामेव सार्द्धदिनद्वयाद्यनुघातेनेन गुरूणामारोपणा आनुघातिकारोपणा २६ तथा यावतो ऽपराधानापन्नस्तावतीनां तच्छुद्धीनामारोपणा कृत्स्नारोपणा तथा बहूनपराधानापन्नस्य षण्मासांतं तेषु इति षण्मासाधिकतप कर्म तेष्वेवांतर्भाव्य । शेषांतर्भाव्यशेषमारोप्यते यत्र सा अकृत्स्नारोपणेत्यष्टाविंशतिरेतच्च सम्यग्निशीथाविशतितमोद्देशकादवगम्यम् ॥ सम. २८ स० ॥
आरोपणाया स्थापनासंचयः पायच्छित्तशब्दे ।
तत्प्रतिपादके निशीथाध्ययनभेदे, च आरोपणा यत्रैकस्मिन् प्रायश्चित्तेऽन्यदारोप्यत इति प्रश्न० छा० ५ ॥ आव० ॥
पक्षमोचने, प्रतिलेखने, च (पडिलेहा आरोवणा) कल्प० - पडिलेहा आरोवणत्ति कोऽर्थः पक्षे २ संस्तारकद्वयरकाणाम यथा मोक्तव्या प्रतिलेखितव्याश्चेत्यर्थ । अथवाऽऽरोपणा प्रायश्चित्तम् पक्षे २ ग्राह्यं सर्वकाल पर्वासु विशेषत । कल्प० प्ररूपणाभेदे, च विशे० ।
तत्रारोपणा इयं केत्याह ॥

किं जीवो होज्ज नमो, नमो जीवोत्ति जं परोपरओ ।
अज्झारोवणमेसो, पच्चणुजोगो मयारूवणा ॥

किं जीव एव भवेन्नमस्कारः नमस्कार एव वा जीवो भवति यत्परस्परावधारणाद्यारोपणं पर्यनुयोजनं एष पर्यनुयोग आरोपणा मता सम्मतेति ॥ आ० म० ॥ आ. चू. ॥

आरोवणापायच्छित्त—आरोपणाप्रायश्चित्त—न० आरोपणमेकापराधप्रायश्चित्ते पुन पुनरासेवनेन विजातीयप्रायश्चित्ताध्यारोपणमारोपणा यथा पञ्चरात्रिन्दिवं प्रायश्चित्तमापन्नः पुनस्तत्सेवने दशरात्रिन्दिव पुन पञ्चदशरात्रिदिवमेवं यावत् षण्मासान् ततस्तस्याधिकं तपो देयं न भवत्यपि तु शेषतपांसि तु तत्रैवान्तर्भवनीयानि इह तीर्थे षण्मासान्तत्वात्तपस इति उक्तञ्च ॥

पंचाईयारोवणे, नेयव्वा जाव होंति छम्मासा ।
तेण परमासियाणं, छण्हुवरिं झोसणं कुज्जत्ति ॥

आरोपणाया प्रायश्चित्तमारोपणाप्रायश्चित्तं । प्रायश्चित्तभेदे । स्था० ठा ४ ।

आरोवणिज्ज—आरोपणीय—त्रि० आरुह्—णिच्—अनीयर्- आरोपार्हे, आरोप्ये वस्तुनि—वाच० ॥

आरोवप्पिय—आरोपप्रिय—त्रि० आरोपो मिथ्योपचारः प्रियो यस्य स आरोपप्रिय मिथ्योपचारप्रिये, ॥

अनारोपसुखं मोह, त्यागादनुभवन्नपि ॥ आरोपप्रियलोकेषु, वक्तुमाश्चर्यवान्भवेत् ॥ १ ॥ अष्ट० ॥

आरोवसुह–आरोपसुख – न० आरोपजे सुखे–अष्ट० ।

आरोविज्ज–आरोप्य–त्रि० आ–रुह– णिच् कर्मणि यत्–आरोपणीये, यथा मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखे चन्द्रत्वमारोप्य॥ वाच० ॥

आरोलइ–पुञ्जिधा.–पुञ्जीकरणे–पुंजेरारोलवमालौ॥ ॥ १०२॥ इति प्राकृतसूत्रेण पुंजेरेतावादेशौवा, आरोलइ.वमालइ.पुजइ पुंजयति प्रा० ॥

आरोस–आरोष–पु.म्लेच्छजातिभेदे–प्रश्न द्वा. १ ॥

आरोह–आरोह–पु० आरुह. घञ्–आक्रमणे, नीचस्थानादूर्ध्वदेशगमने, अङ्कु.रादिप्रादुर्भावे–शब्दे च० गजवार्जनामुपरि गमने दीर्घत्वे वाच. (आरोहो दिग्घत्तं) व्य० उ.५ ॥ उत्त० अ. १ दशा ० ॥ उचितदैर्घ्ये–स्था ठा७ । उच्छ्रये आरोहो नाम शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिन्हस्वता अथवा आरोहः शरीरोच्छ्राय इति–वृ. । उच्चत्वे च नितम्बे वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनीअमर. । सारमान वरारोहा, चकृतः। आरोहेनिविडवृहन्नितम्बविम्बे' माघः वाच ० ।

आरोहतीत्यारोहः हस्त्यारोहादौ, नि. चू. उ. ए ॥

आसाणय हत्थीणय, दमगा जे पढमताए विणयंति ॥
परियट्टमणुपच्छा, आरोहा जुध्दकालंमि ॥ १०२ ॥

जे पढमं विणय गाहेति ते दमगा जे जवजोगासणेहिं वावार वा वहेंति तो मेंदा जुध्दकाले जे आरुहति ते आरोहा ॥

आरोहइयव्व–आरोहयितव्य–त्रि० आरोपणीये, व्य० उ.१

आरोहग–आरोहक–त्रि० आरुह एवुल्. आरोहणकर्त्तरि. वाच० । हस्तिपके (वरपुरिसारोहगसपरिवुत्ताण अब्भुरूय गयाण) तत्रारोहका हस्तिपकाः औ० ॥

आरोहण–आरोहण–न० आ० रुह ल्युट्नीचस्थानादूर्ध्वस्थानगमने वाच० ॥ आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् कुमा० अङ्कुरादिप्रादुर्भावे च. आरुह्यतेऽनेन–करणे ल्युट् सोपाने च. । आरोहण स्यात् सोपानम्. । अमर वाच ० ॥

आरोहणिज्ज–आरोहणीय–त्रि आरोहणं प्रयोजनमस्य अनु प्र० आरोहणसाधने पदार्थे, आरुह. कर्मणि. अनीयर्. आरोढुं योग्य हयादौ वाच ० ।

आरोहपरिणाह–आरोहपरिणाह–पुं शरीरस्यारोहसमः परिणाह' । शरीरोपसम्पद्भेदे. व्य० उ ५। आरोहपरीणाहो, आरोहो नाम शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिन्हस्वता परिणाहो नातिस्थौल्य नाति कृशता अथवा आरोहः शरीरोच्छ्रय' परिणाहो वाहोर्विष्कम्भ एतौ द्वावपि तुल्यौ न हीनाधिकप्रमाणाविति। वृ० ।

आरोहो दीर्घत्व परिणाहो विष्कम्भो विशालता तत्र यावतारोहस्तावान् यदि विष्कम्भो भवति तदा एषा उपसपत आरोहपरिणाहे ज्ञातव्या ॥ व्य. उ० ५ ॥

आरोहपरिणाहजुत्तता–आरोहपरिणाहयुक्तता–स्त्री० आरोहो दैर्घ्यं परिणाहो विस्तर ताभ्यां तुल्याभ्यां युक्तता आरोहपरिणाहयुक्तता । शरीरसम्पद्भेदे, उत्त० अ० १ ॥

आरोहपरिणाहयुक्तता उचितदैर्घ्यविस्तारता इत्यर्थः स्था० ठा० ४ ॥

आरोहपरिणाहसंपण्ण–आरोहपरिणाहसम्पन्न–पु० शरीरसम्पद्भेदे । आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवइ, इह चारोहो दैर्घ्यं परिणाहो विस्तारस्ताभ्या सम्पन्नो चापि शब्दावन्यांगसुन्दरत्वख्यापकाविति यत उच्यते लौकिकैरपि यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्तीति। दशा० ॥

आरोहु–आरुह्य–अव्य० आरोहण कृत्वेत्यर्थे (आरोहमुणिवणियामइग्घसालग्गरयणपभिपुत्रं) आरोहुमिति समारुह्य के मुनिवणिज' दर्श० ।

आल–आल–न० आ–अल्. पर्याप्तो. अच्–अनल्पे श्रेष्ठे च त्रि० वाच० । प्राकृतोक्ते मत्वर्थके प्रत्ययभेदे च। आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः ॥ २ ॥ १५९ ॥ प्रा. सु सद्दालो जडालो फडालो रसालो प्रा. व्या० । उक्त्च मतुयअमिमुणे अह आले इल्ल मण च मतुय चेति–आव० ।

आलइय–आलिंगित–त्रि० आरोपिते–उपा. अ० २ । आविद्धे जी० प्र ४ ॥ परिहिते,कल्प० ।

आलइयमालमउड–आल(लिं)गितमाल(ला)मुकुट–त्रि० आलगितमालमारोपितस्रक् मुकुटो यस्य स तथा तस्मिन् उपा० अ. २ आलगितो यथास्थान परिहितौ मालामुकुटौ येन स तथा तस्मिन् कल्प. ॥ मालाच मुकुटश्च मालामुकुट आलगितमाविद्धं मालामुकुट येन स आलगितमालामुकुट । आविद्धमालामुकुटे जो. प्र ४ (आलइयमालमउडे) आलगितमालामुकुटः कृतकपठे मालः आविद्धशिरसि मुकुट इति भाव॥ आ. म. । भ. श. ३ उ. २ ॥

आलंकारियसभा–आलंकारिकसभा–स्त्री० चमरचचाराजधानीस्थे सभाविशेषे, आलंकारिका यस्यामलङ्क्रियत इति स्था० ठा. ५ ॥

आलंद–आलन्द–न० कालविशेषे, तत्रोदकार्द्र. करो यावता शुष्यति तत आरभ्योत्कृष्टत' पचरात्रिंदिवानि यावत्कालोऽत्र समयपरिभाषय लदमित्युच्यते । विशे० ॥

आलंदिय–आलंदिक–त्रि० आलदस्यानतिक्रमेण चरतीति। आलन्दचारिणि, विशे० ॥

आलंबण–आलम्बन–न० आलम्ब्यतेऽवष्टभ्यते दुर्गपर्वतादि स्थानमधिरोढुकामैरित्यालम्बनं दर्श० । आश्रये (आलंबण च मे आया अवसेसं च वोसिरे) आलम्बन चाश्रयोऽवष्टम्भ आधार इत्यर्थ. । आतु. । (आलंबणेण केणइ) आलम्बन इत्यालम्बनम् प्रपतनाधारणस्थानम् तेनालम्बनेनकेनचिदिति आव० । (जो मरणदेशकालेन होई आलंबण किंचि) (आल वनमाधारभूत । त० । (मोढिआलम्बण खभ) आलम्बनं हस्ताद्याधार' । ग० अधि० १ (जमणेगत्थालंबणमपज्जवासपारक्कचिय चित्त)यच्चित यन्मनोऽनेकार्थालम्बनमनेकार्थप्रतिभासादोलितमिति विशे० ॥ आलम्बनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रति मादिनेति । घो० ॥ आलंबन द्विधा उच्यते गर्तादौ निमज्जतो रज्वादि । भावत. संसारगर्तायां निपततां ज्ञानादि । वृ० । घ अधि. ३ नि चू० उ १ आलंबिज्जति जं तमालंबण दुविह दव्वे वढ्ढि वियाणाह भावे य णाणादि । नि चू० । आ लंबि

कर्मणि ल्युट्। आलम्ब्यन्ते आश्रीयन्ते तान्यालम्बनानि। औ. आश्रयणीये,। आलम्बनादाश्रयणीयादिति॥ स्था०ठा. ३ आलम्ब्यन्ते तान्यालम्बनानि प्र०श. २५ श. ७ कारणे प्रव. ७१ १०४॥ नि चू ५ उ। कारणमालवण मोत्त, कारण नामा लंबनम् आ.म प्र.अ. १॥ (सपञ्चवायण निरालंवणेणं) निष्कारणे न प्रत्यपायसम्भवे वा ज्ञानाद्यालम्बनीयवस्तुवर्जितेनेति ज्ञा० अ. ९॥ आलंब्यत इत्यालम्बनम्। प्रवृत्तिनिमित्ते, आव०। आलम्ब्यते निश्चयङ्क्रियते मनो येनेत्यालम्बनम् उत्त०अ २४॥ प्रयोजने, (आलंबणे य काले मग्गे जयणाए चेव परिसुद्धं) आचा० श्रु. २ उ. ३ नि० उ. १० आलंबणेत्यादितः प्रवचन संघगच्छाचार्यादिप्रयोजनम् आचा०। पुष्टालम्बनस्य मूलगुणप्रतिसेवने न दोष घृ०। अथापुष्टालंबनोनिरालंबनो वा प्रतिसेवते। तत संसारेऽपनिपातमासादयति॥

तथाचात्र दृष्टांतमाह।

तुच्छमवलंबमाणो, पेडति निरालंबतो य दुग्गंमि।
सालंबनिरालंबे, अह दिट्ठंतो णिसेवंतो॥

इहालम्बन द्रव्यभावभेदाद्द्विधा तत्र गर्त्तादौ पतन्निर्यद्द्रव्यमालम्ब्यते तत् द्रव्यालंबनं तच्च द्विधा पुष्टमपुष्ट च। अपुष्ट दुर्बल कुशवल्वकादि पुष्ट बलिष्ठ तथाविधकठोरवल्ल्यादि भावालंबनमपिपुष्टापुष्टभेदाद्द्विधा पुष्ट तीर्थाव्यवच्छित्तिप्रयाण्ययनादि अपुष्ट शठतया स्वमतिमात्रोत्प्रेक्षितमालंबनमात्र। तनश्च द्रव्यालंबन पुष्टमपुष्टमवलम्बमानो निरालंबनो वा यथा दुर्गे गर्त्तादौ पतति यस्तु पुष्टालंबनमवलम्बते स सुखेनैवात्मान गर्त्तादौ पतन्त धारयति। एव साधोरपि मूलगुणाद्यपराधाश्रिपेवमाणस्य सालंबनिरालंबविषयोऽध्याय दृष्टांतो मन्तव्यः॥ किमुक्त भवति। योनिरालंबनोऽपुष्टालंबनो वा प्रतिसेवते स आत्मानं संसारगर्त्तायां पतत न सधारयितु शक्नोति। यस्तु पुष्टालंबन स तदवष्टंभादेव संसारगर्त्त सुखेनैवातिलंघयति॥ अथ कस्मादालम्बनमन्वेषणीयमित्याह॥

सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमे विधारेइ।
इअसालंबणसेवा, धारेइ जइं असढभावं॥ ६॥

कानि पुनस्तान्यालम्बनानीत्याह॥

काहं अच्छित्तिअदुवा अहीहं, तवोवहाणेसु व उज्जमिस्सं।
गणं वनिइए नहुसारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं॥

व्या० काहमित्यादिवृत्त यः कश्चिदेव चिंतयति यथा करिष्याम्यहमत्र स्थितोऽच्छित्तिमव्यवच्छित्तिं जिनधर्मस्येति शेषो राजादेर्जिनशासनावतारणादिभि (अदुवेति) अथवा अहमध्येष्ये सूत्रतोऽर्थतश्च द्वादशाग दर्शनप्रभावकाणि वा शास्त्राणि यदि वा तपोलब्धिसमन्वितत्वात्तपोविधानेषु नानाप्रकारेषु तपस्सु उद्यमिस्सइति उद्यस्यामि उद्यम करिष्यामि गणं वा गच्छं वा (नीईसुयत्ति) सप्तम्यास्तृतीयार्थत्वान्नीतिभिः सूत्रोक्तैर्निः सारयिष्यामि गुणैः प्रवृद्धिं करिष्यामि स एव सालंबनसेवी। एतैरनन्तरोदितैरालंबनैर्यतनया नित्यवासमपि प्रतिसेवमानो जिनाज्ञानुपालनात्समुपैति प्राप्नोति मोक्ष सिद्धिं तस्मात्तीर्थाव्यवच्छेदादिकमेव यथोक्तज्ञानदर्शनचारित्राणां समुदितानामन्यतरस्य वा यदृद्धिजनक तदालंबन जिनाज्ञावशादुपादेयं नान्यत्॥ १४॥

सम्प्रति सिसाधयिषितार्थव्यतिरेकदर्शनायाह॥

आलंवणहीणो पुण, निवडइ खलिओ अहे दुरुत्तारे।
इअनिक्कारणसेवी, पडइ भवोहे अगाहंमि॥ ७॥

टी०॥ आलंबनहीनः पुनर्निपतितः स्खलितः क्व अाह दुरुत्तारे गर्त्तायां दुरुत्तारायां इय एवनिःकारणसेवी साधु पुष्टालंबनरहित इत्यर्थः। पतति भवौधे अगाधे पतति भवगर्त्तायां अगाधायां अगाधता पुनरस्यादुःखेनोत्तरणसंभवादिति गाथार्थः॥ यथा चरणविकला असहायज्ञानदर्शनपक्षमालम्ब्यत्येवं नित्यवासाद्याह॥

जेजत्थ जया जग्गा, ओगासं ते परं अविंदंता॥
गंतु तत्थ चयत्ता, इमं पहाणंति घोसंति॥ ९॥

टी०॥ ये साधवः शीतलविहारिणः यत्र नित्यवासादौ यदा यस्मिन्काले भग्नानिर्विण्णा अवकाशं स्थान ते परं अन्यत (अविंदंतित्ति) अलभमाना गतु तत्र शोभने स्थाने अशक्नुवत किंकुर्वंति इद पहाणंति घोसंति यदस्माभिरंगीकृत सांप्रतं कालमाश्रित्येदमेव प्रधानमित्येव नाघोषयति॥ ९॥ आव० ३ अ०। आ. क० घा० १४ अत्र सार्थेन दृष्टांतः॥

स्वल्पोदकतरुच्छायं, सार्थः कश्चिद्यथापथं॥
प्रपन्नस्तत्रकेऽप्यस्युः, परिश्रमजुषोऽलसाः॥ १॥
तिप्रंतस्तुलिकमाया, स्त्वपि ढायासु निर्वृताः॥
तैस्तैर्जल्पैश्च गच्छंत, शब्दयत्यपरानापि॥ २॥
प्रधानामिदमेवात्र, स्थानामित्यर्थके च न॥
ये तद्वचः प्रपद्यास्यु, स्ते क्षुत्तृड्दुःखिनोऽभवन्॥ ३॥
स्वीचक्रे तद्वचोयैर्न, तमध्वानं विलंघ्यते॥
शीघ्रं शीतोदकच्छायं, सुखभाजोऽयतेऽभवन्॥ ४॥
यथा ते पुरुषास्तस्युः, पार्श्वस्थाद्यास्तथालसाः॥
ये तूद्यमात्त निस्तीर्णाः सुखिनस्ते सुसाधवः॥ ५॥

साम्प्रत यदुक्तमिद प्रधानमिति घोषयंति तद्दर्शयति॥

निअयावासविहारं १, चेइअभत्तिंच २ अज्जिआ लाभं
३ विगईसु अपडिबंधं, निद्दोसं चोइअं विंति। १०।

पडिद्दारगाहा २॥ टी०॥ नित्यवासेन विहरतानित्यवासकल्पमित्यर्थः चैत्येषु भक्तिस्तां च चशब्दात्कुलकार्यादिपरिग्रह.। आर्यिकाभ्योलाभस्तत्क्षीराद्या विगतयो अभिधीयंते॥ तासु विगतिषु प्रतिबधं आसग निर्दोष चोदिता अन्येनोद्यतविहारिणेऽ्लवते भणतीति गाथार्थ.॥

अधुना चेइयदार गाहा॥

चेइ अकुलगणसंघे, अन्नं वा किं चि काउ निस्साएं।
अहवा वि अज्जवइरं, तो सेवती अकरणिज्जं॥

चैत्यकुलगणसघ अन्यद्वा किंचित्पुष्टमव्यवस्थित्यादिकृत्वालंबनमित्यर्थः। कथ नास्ति कश्चिदिह चैत्यादि प्रतिजागरूकः अतोऽस्मान्निरसयमोऽङ्गीकृतः। मा च्छूचैत्यादिव्यवच्छेद इति अथवाचार्यवैरं कृत्वा निश्चांततः सेवते अकृत्यं असयमं मदधर्मा इति गाथार्थः ११४ आव० अ० ३॥

चेइअपूआ किं, वइरसामिणो मुअपुव्वसारेणं।
न कया पुरिआइ तया, मुक्खंगं सा वि साहूणं॥ ११५॥

टीका॥ अक्षरार्थः सुगमः। भावार्थस्तु कथानका-

क्वसेयस्तच्च कथितमेव तत्र वैरस्वामिनमालंबनं कुर्वाणा इद नेकृते मदधियः । किमित्याह ॥

ओहावणं परेसिं, सतित्थ उब्भावणंच वच्छल्लं ।
न गणंति गणे माणो, पुव्विचिअ पुप्फमहिमं च ॥ १६॥

टी० ॥ अपभ्राजनं लांछनं परेषां शाक्यानां स्वतीर्थोद्भावनं च दिव्यकरणेन तथा वात्सल्य श्रावकाणां एतन्न गणयंत्यालंबनानि गणयत सतः तथा पुव्वोच्चिय पुप्फमहिम च गणयतीति पूर्वाचितैः आग्रगृहीतैः पुष्पैः कुसुमैर्महिमा यात्रा तामिति गाथार्थः १६ ॥ चैत्यद्वारं गतं ॥

अधुनार्यिकालाभद्वारम् । तत्रेय गाथा ॥

अज्जियआजे भिक्खा, सएणलाजेणजे असंतुट्ठा ।
भिक्खायरिया भग्गा, अन्नि पुत्तं ववइसंति ॥
ओमअपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए ।
उवणीअं भुंजंतो,ते एवभावे अंतगडो ॥

टी० अक्षरार्थो निगदसिद्धः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्च अन्निकापुत्राचार्यशब्दे । तेन मदमतय इदमालंबन कुर्वतः इदमपर नेकृते ॥ किमत आह ॥

गयसीसगणं ओमे, भिक्खायरिआ अपच्चलं थेरं ।
न गणंति सहो विसढो, अज्जिअलाभं गवेसेज्जा ॥

टी० गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्त ओमे दुर्भिक्षे भिक्षाचर्यायां अप्रत्ययलो असमर्थ. भिक्षाचर्यायां अपचल असमर्थस्त स्थविरं वृद्धं एवं गुणयुक्त न गणयति नालोचयति सहा विसढा समर्थाः अपि शब्दात सहायादिगुणयुक्तवे ऽपि शठा मायाविन आर्यिकालाभं गवेषयतीति अन्विषत इति गाथार्थः ११८ ॥

गतमार्यिकालाभद्वार विकृतिद्वारमधुना तत्रेयं गाथा.।

भत्तं वा पाणं वा, भुत्तूणं लावलसिअमि विउलं ।
तोवज्जपडिच्छन्ना, उदायणरिसिव्व वइसंती ॥ २० ॥

टी० ॥ भक्त वा ओदनादि पानं वा द्राक्षपानादि भुक्त्वा उपभुज्य(लावलसिविय ति)लोपेस्स अग्राद्यं विगतिसपर्कदोषात् तथाच निः कारणे प्रतिषिद्ध एव विगतिपरिभोगः ॥ उक्तंच ॥

विगतिं विगति भीया, विगतिमयं जो उ भुंजति साहू ।
विगाति विगतिसहावा, विगति विगतिं वलानेति ॥

ततः केनचित्साधुना चोदिता. सतोऽवद्यप्रतिच्छन्नाः पापप्रच्छादिता उदायनर्षेर्व्यवदिशत्यालंबनतयेति गाथार्थः ।१८। आव. ३ अ.॥

कथाचेयम् ।

आसीदुदायनो नाम, राजा वीतभयाधिपः ।
राज्ये निवेश्य जामेयं, प्रव्रज्यां स्वयमग्रहीत् ॥१॥
भिक्षाशरस्य तस्याभूद्, व्याधिर्वैद्यैरभाणि सः ।
केवलं दधि भुंजीथा, येन व्याधिर्न वर्द्धते ॥ २ ॥
राजर्षिस्तु व्रजेत्स्वस्था, तत्रयत्सुलभं दधि ।
सोऽगाद्वीतभयेऽन्येद्यु, स्तत्र तज्जामिसूर्नृपः ॥ ३ ॥
ऊचेऽमात्यैः स्वराज्यार्थी, जितसर्वपरीषहैः ।
राजर्षिराजगामात्र, राज्यं दास्यामि सोऽब्रवत् ॥४॥
उक्तस्तैर्नार्प्यते राज्यं, चिराद्व्युदग्राहितोऽथ सः ।
पशुपाल्यैकया साधोः, सविषं दध्यदापयत् ॥५ ॥
दुष्टाः पुनरमात्यास्ते, सर्वत्राऽप्यादिशन् पुरे।
राजर्षेरस्य युष्माभिः, र्दातव्यं सविषं दधि ॥६॥
हृत्वा तद्देवताऽभाणी, न्महर्षे ! सविषं दधि ।
त्यजैतत्क्रमेतेन, पुनर्व्याधिरवर्द्धत ॥७॥
पुनर्दध्याददे सोऽथ, पुनर्देव्यहरद्विषं ।
एवं तत्पृष्ठतो लग्ना, देवता संचचार सा ॥८॥
तस्याः प्रमादतोऽन्येद्यु, र्बुभुजे सविषं दधि ।
तत्पापातः शुभध्यानः, केवलं प्राप्य निर्वृतः ॥९॥
तस्य शय्यातरः कुंभ, कारो देवतया तदा ।
सिनपल्ल्यां कृतो राजा, राजर्षेर्भक्तिमानिति ॥१०॥
कुंभकारकृतामि ते, तन्नाम्नाऽजनि तत्पुरं ।
पांशुवृष्ट्या पुनर्वीति, भयं सर्वं स्थलीकृतं ॥११॥
ऋषिहत्याकरामिति, कोपाद्देवतया तदा ।
कारणाद्दधिभुग्युक्तः, कर्तुमालंबनं न सः ।।१२।।आ.क. ॥

सीअलछुक्खाणुचिअं, वएसु विगईगएण जावंतं ॥
हट्टा वि भणंति सढा, किमासि उदायणो न मुणी ।२१।

टी० । शीतलं च तद्रूक्ष च शीतलरुक्षं अन्नमिति गम्यते।तस्याऽननुचितः अननुरूपः नरेंद्रप्रव्रजितत्वाद्भोगाभिभूतत्वाच्च शीतलरुक्षानानुचितस्त व्रजेषु गोकुलेषु विगतिंगतेन विगतिं यातेन यापयंतं (हट्टाविति) समर्था अपि भणति शठाः किमासीत् (उदायणो न मुनिः) मुनिरिव विगति परिभोगे सत्यपि तस्मान्निर्दोष एवायमिति गाथार्थः ॥ ७ ॥ एवं नित्यवासादिषु मदधर्माः संगमस्थविरादीन्यालंबनान्याश्रित्य सीदति । अन्ये पुनः सूत्रादीन्येवाधिकृत्य तथाचाह ॥ आघ० ॥

सुत्तत्थबालवुड्ढे, असहूदव्वाइआवईओ अ ।
निस्साणपयं काउं, सत्थरमाणा विसीअंति ॥२२॥

सूत्रश्चार्थश्च बालश्च वृद्धश्च सूत्रार्थबालवृद्धाः । तान् तथा असहश्च द्रव्याद्यापदश्च असहद्रव्याद्यापदस्तांश्च निश्राणां आलंबनानां पद कृत्वा संस्तरंतोऽपि संयमानुपरोधने वर्तमाना अपिसतः सीदति । एतदुक्त भवति । सूत्रं निश्रापदं कृत्वा यथार्ह पठामि तावर्तिक ममाऽन्येन एवमर्थं निश्रापदं कृत्वा शृणोमि तावत् एवं बालत्व वृद्धत्व असहत्व असमर्थत्वमित्यर्थः । एव द्रव्यापदं दुर्लभमिद द्रव्य, तथा क्षेत्रापद क्षुल्लकमिद क्षेत्र, कालापदं दुर्भिक्षं वर्त्तते, तथा भावापद ग्लानोऽहमित्यादि, निश्रापदं कृत्वा सस्तरतोपि विषीदत्यस्यसत्वा इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

आलंबणाण लोगो, भरिओ जीवस्स अजउकामस्स ॥
जं जं पिच्छइ लोए, तं तं आलंबणं कुणइ ॥ २३ ॥

टी० ॥ आलंबनानां प्राद्निरूपितशब्दार्थानां लोको मनुष्यलोको भूत. पूर्णो जीवस्य (अजतुकामस्सति) अयतितुकामस्य तथा चायतितुकामो यद्यत्पश्यात लोके नित्यवासादि

तत्तदालंबन करोतीति गाथार्थः ॥ २३ ॥

किंच त्रिविधा भवति प्राणिनो मंदश्रद्धास्तीव्रश्रद्धाश्च तत्रान्यत् मंदश्रद्धानामालम्बनमन्यच्च तीव्रश्रद्धानामित्याह च ॥

जे जत्थ जयाजइया, बहुस्सुआ चरणकरणपब्भट्ठा ॥

जहा जं ते समायरंती, आलंबणं मंदसड्ढाणं ॥ २४ ॥

टी० ॥ ये केचन साधवो यत्र ग्रामनगरादौ यदा यस्मिन् काले सुखमदुःखमादौ (यद्यपि) यदा दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताश्चरणकरणप्रभ्रष्टाः सतः यत्ते समाचरंति । पार्श्वस्थादिरूप तदालंबन मदश्रद्धाना भवतीति वाक्यशेषः । तथा ह्याचार्या मथुरामंगुः सुभिक्षेऽप्याहारादिप्रतिबद्धापरित्यागात्पार्श्वस्थता-मनजत्तद्वमपि नून जिनैर्धर्मो दृष्ट एवेति गाथाभिप्रायः ॥ २४ ॥

जे जत्थ जया जेइया, बहुस्सुआ चरणकरणसंपत्ता ॥

जं ते समायरंती, आलंबणं तिव्वसड्ढाणं ॥ २५ ॥

ये केचन यत्र ग्रामनगरादौ यदा सुखमदुःखमादौ (अद्यपि) यदा च दुर्भिक्षादौ बहुश्रुताश्चरणकरणसंपन्ना यत्ते स्मा चरति निष्प्रतिमा तदालम्बन तीव्रश्रद्धानां भवतीति गाथार्थः ॥ आव. ३ अ० ॥

आलंबनं रज्ज्वादि तद्वदापत्तर्तादिनिस्तारकत्वादालम्बनम् आलम्बनसदृशे, च भ० श. १८ उ० २ (आहारजुए आलंबणे) आलंबन वस्त्रादिकमिव । ज्ञा०अ० ७ ॥ (मेढीआलम्बणं) खंभं) आलंबनं हस्ताद्याधार ततसमान यथा हस्ताद्याधारो गर्तादौ पतंत जंतु धारयति तथाचार्योऽपि भवगर्ते पतत गच्छ धारयतीत्यर्थः ग० अधि० १ (मेढीयपमाणं आहारे आलंबणे) आलंबन रज्ज्वादि तद्वदापत्तर्तादिनिस्तारकत्वादालम्बनम्. राज. । आलम्ब्यत इत्यालम्बनम् भावेऽनट्प्रत्यय कर्म० ॥ अवष्टम्भे यथा मदशक्तिः कश्चित् नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते ततस्तदवष्टम्भते । जातसामर्थ्यविशेषः सन् तान् प्राणापानादिपुद्गलान् विसृजतीति. कर्म प्र. ॥ गृहणशब्दे निर्ग्रन्थीना ग्रहण वक्ष्यते ॥

आलंबणजोग-आलंबनयोग- पु० आलम्बनवाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकतानत्वम् । एतस्य बहुवक्तव्यता योगशब्दे अष्ट० ॥ सालम्बनो निरालम्बनश्च योग परो द्विधा हेयः । सह आलंबनेन चक्षुरादिज्ञानविषयेण प्रतिमादिना वर्तत इति सालम्बनम् षो० वृ० १३ । योगभेदेच अष्ट० ।

आलंबणभूय- आलम्बनभूत त्रि० आलम्बनसदृशे, (आलंबणभूए) आलंबन रज्ज्वादि तद्वदापत्तर्तादिनिस्तारकत्वादालंबनम् । ज्ञा० अ १ ।

आलंबमाण- आलम्बमान त्रि० बाह्वादौ गृहीत्वा धारयति, देशत करेण गृह्णाति च । वृ० ।

आलंबि (न्) आलम्बिन् त्रि० आ लबि णिनि आश्रयिणि, " गजाजिनालम्बिदुकूलधारिणा " । कुमा । वाच० ॥

आलंबिय-आलम्बित त्रि० लबि क्तः धृते, गृहीते, च वाच० ।

आलंभ-आलम्भ पु० आलभ् घञ् नुम् स्पर्शे १ हिंसने २ च वाच० ॥

आलंभिय-आलम्भिक-न० स्वनामख्याते नगरे, यत्र चुल्लशतको गृहपतिरासीत् स्थानांगे चुल्लशतकमधिकृत्य (सवाद्भिकाभिधाननगरनिवासी) स्था० ठा. १ । (आलभियणयरं मज्झं मज्झेण णिग्गच्छइ) भ० श. ११ उ. १२ ॥ आलम्भिकायां नगर्यां यत्प्ररूपित तत्प्रतिपादक उद्देशकोऽप्यालंभिक इत्युच्यते । ततोऽसौ द्वादशः भगवत्या एकादशशतकस्य द्वादशे उद्देशे च ॥

आलंभिया-आलम्भिका-स्त्री० स्वनामख्यातायां नगर्याम् भ० श. ११ उ. १ (ततोनयवं आलभिय नयरीं गतो) आ० म. । कल्प० ॥ आ० चू० ॥

अस्या वर्णको भगवत्याम् यथा ॥

ते णं कालेणं ते णं समएणं आलंभिया णामं णयरी होत्था वण्णओ संखवणे चेइए वण्णओ तत्थणं आलंभियाए णयरीए बहवे इसिभद्दपुत्तप्पामोक्खा समणोवासगा परिवसंति । अड्ढे जाव अपरिभूए अभिगयजीवाजीवा- जाव विहरंति ॥ भ० श. ११ उ. ११ ।

आलच- आलप्त- त्रि० आभाषिते, (आलत्ते वाहिते,) धाशतोनाम आर्य ! किं तव वर्तत इत्येवमाभाषित इति. वृह । (सेवगपुरीसो ड कोइ आलत्तो) आलप्तः समाभाषित इति । व्य० उ. २ ॥ शब्दिते. ततश्चालप्ताः शब्दिता वा तूष्णिभाव भजन्ते. । आचा. अ. ६ उ. ४ । आलपने. न. (आलत्तमादिकद्धत्वा) आलप्तमालपनम्. व्य. उ. १० ।

आलद्ध. आलब्ध त्रि० आ लभ क्त स्पृष्टे, संयुक्ते, स्पृष्टे, हिंसित, च.

आलप्प-आलाप्य-त्रि० आ. लप. कर्मणि. ण्यत्. कथनीये. णिच् यत् आभाष्ये. वाच० ।

आलवंत-आलपत्-त्रि० ईषद्वदति, (आलंचते लवते वा) आलपति सति ईषद् वदति साति. उत्त अ. १ सकृल्लपति, च. (आलवित्तएवा) आलपितुवा सकृत् प्रति० । आलपन कुर्वति, च (आलवंताण मुरयाण नदिमुइंगाण) मुरजमृदङ्गनदिमृदङ्गानामालपनम्, । राज० । आ. चू ।

आलय-आलय-पु. आलीयतेऽस्मिन्. आ. ली. आधारे अच्. आधारे वाच० आश्रये, स्था० ठा. ३ स्था. ठा. २ ॥ जं० ॥ आवासे ओघ० ॥ गृहे, त. ॥ स्थाने. विशे. (हिमालयो नाम नगाधिराज) कुमा० तत्रामरालय मरालसमरालकेशी नैष० नहि दुष्टात्मना मार्या निवसन्त्यालये चिरम्, रामा० (आलयं देव शत्रूणां सुघोर आरुध धमम्) भा.आ० प० । आलीयते साधवोऽत्रेत्यालयः वृ० । वसती, स्था० ठा. ॥ आ चू. । (आलयण विहारेण) आलयो वसतिः आव. । अणुत्तरेण. आलएण, आलयेन स्त्रीपश्वादिरहितवसतिसेवनेन कल्प० ॥ उपाश्रये, ॥

बृहत्कल्पे उपाश्रयस्यैकार्थिकानधिकृत्य (उवस्सगपरिस्सगसिज्जा आलयवसधीनिसीहिया ठाणे, बृह० । शरीरे, च. निसीहिगा सरीरगं वसही थंडिलं च भणति । यतेनिसीहिया नाम आलयो वसही थंडिलं च सरीरस्स आलओ सरीरं जीवस्स आलयोत्ति ॥ आ. चू. ॥

॥ आलयवर्तिनि, च (आलयविहारसमिओ) आलयः सूचकत्वादालयवर्ती सकलबाधकविकलनिषेधीत्यर्थः ध. अधि. ३

भावे घञ् संश्लेषे, मर्य्यादायामव्ययी० लयपर्य्यन्ते. अव्य० वाच० ॥

आलयगुण–आलयगुण–पु० वहिर्श्रेयादौ, प्रतिलेखनादौ,उपशमगुणे च वृ० ॥

आलयविन्नाण–आलयविज्ञान–बौद्धपरिभाषितेक्षणिकविज्ञाने, आच० ॥

आलयसामि (न्) आलयस्वामिन् पुं० साध्वाश्रयप्रभौ, (सेज्जायरोत्ति भण्णति आलयस्वामी उ तस्स जो पिंडो) आलयस्वामी तु साध्वाश्रयप्रभुरेव–पचा० वृ० १७

आलयसुद्धाइलिंगपरिसुद्ध– आलयशुद्धादिलिंगपरिशुद्ध– पुं० आलयशुद्धादीनि वसतिनिर्दोषताप्रभृतीनि यानि लिङ्गानि सुविहितचिन्हानितै'परिशुद्धोनिश्चितसुविहितभावोयः स आलयशुद्धादिलिङ्गपरिशुद्ध'तस्मिन् (तम्हा जहोदयगुणो आलयसुद्धाइलिंगपरिसुद्धो) पचा० वृ० ११॥

आलवण–आलवण्य–न० न लवण० न० त० अलवणस्यभावः ष्यञ् लवणरसाभिव्यक्ते नास्तिलवण यत्र बहु० तद्भावे वा ष्य. ञ्-अलवणता-स्त्री० अलवणत्वतु न० लवणशून्यत्वे वाच० ।

आलस–आलस–त्रि० आलसति, ईषत्व्याप्रियते-अच् क्रियामान्द्ये अलसस्यापत्यम् विदा० अञ्-आलसापत्ये-पुं० स्त्री० यून्यपत्ये हरिता० फञ् आलसायनः तस्य यून्यपत्ये-पु० स्त्री० वाच० ।

आलस्स– आलस्य– न० अलसस्य भावः ष्यञ् अनुद्यमने उत्त० १ अ० ॥

औदासीन्ये प्रमादो यत्र आलस्यमौदासीन्य च हेतुषु आलस्यं च हेतुषु समाधिसाधनेष्वादौसीन्य माध्यस्थ्य न तु पक्षपात' द्वा० १६ ॥ आ० म० ॥

आलाव–आलाप–पु० आलप्-करणे घञ्-वाच० आङ् ईषदर्थेत्वादीषल्लपनमालाप. स्था० ठा० ५ ईषद्भाषणे,ध० अधि० २ असकृत्समापण, च (आलाव वा संलाव वा) आलाप. सम्भाषण सलापस्तदेव पुन' पुनः भ० श० ३ उ० १ ॥

आलावत्ति सकृज्जल्प सलावर्त्तिमुहुर्मुहुर्जल्पं भ० श० ५ उ० ४ ॥ ध० अधि० २ ॥ ईषत्प्रथमतया वा जल्पने, चतुर्भिश्च स्थानैर्निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या समामालापे न दोष. ॥ तथाच स्थानाङ्गे स्था० ठा० ४ ॥

चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गंथिं आलवमाणे वा संलवमाणे वा णाइक्कमइ तं० पंथं पुच्छमाणे पंथं देसमाणे असणं वा पाणं खाइमं वा साइमं वा दलयमाणे दवावेमाणे वा ॥

स्था० टी० (चउहीत्यादि) स्फुट किंतु आलपन्नीषत्प्रथमत. था वा जल्पन् सलपन् मिथो भाषणेन नातिक्रामति न लघ. याति निर्ग्रंथाचार (एगो एगत्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न सलवे) विशेषत' साध्व्या इत्येव रूप मार्गप्रश्नादीनां पुष्टालम्बनत्वादिति तत्र मार्गं पृच्छन् प्रश्नीयसाधर्म्मिकगृहस्थपुरुषादीनामभावे हे आर्ये ! कोऽस्माकमितो गच्छतां मार्ग इत्यादिना क्रमेण मार्गं वा तस्यादेशयन् धर्मशीलेऽयं मार्गस्ते इत्यादिना क्रमेण अशनादि चाददद्धर्मशीले ! गृहाणेद अशनादीत्येव तथा अशनादि दापयन् आर्ये ! दापयाम्येतत्पुरुष आगच्छेह गृहा

दावित्यादिविधिनेति ॥ प्रवादे–उच्चारणविधौ च– (एसाल वेमसव्वत्तं-) एष ईदृश आलाप उच्चारणविधिः वृह० (आलावोदेवदत्तादि किं भोत्ति किं देवदत्तत्ति.) (अत्थयावं भो आलावसद्दो सुओ) नि० चू० ॥

आलावग–आलापक–पु. आ लाप क उच्चारणविधौ (एवमिक्केक्के आलावगा भणियव्वा) चत्तारि आलावगा, स्था० ठा ६ ॥

आलावण–आलापन–न आ लप णिच्. भावे ल्युट्. परस्पर कथोपकथने, आलापणे, आलापशब्देऽस्य प्रवृत्तिहेतुत्वमुक्तम् स्यादाभाषणमालाप इत्यमर. । स्वस्तिवाचने,च (मङ्गलालापनैर्हेमैः) रामा ० वाच ० । सभाषणे वृ० । सकृद्भाषणे आव ॥ भाणने (जो लावेज्जा असणस्स हेऊ) आलापयेद् भाणयेत्. सूत्र श्रु. अ. ७ ॥ आ लाप्यते आलीपनं क्रियते एभिरित्यालापनानि रज्ज्वादौ. प्र ० श ८ उ.९

आलावणबंध–आलापनबन्ध–पु.आलाप्यते आलीन क्रियते-एभिरिति आलापनानि रज्ज्वादीनि तैर्बन्धस्तृणादीनामालापनबन्धः । बन्धभेदे प्र- श. ८ उ. ९ ।

तथाच भगवत्याम्

सेकिंतं आलावणबंधे २ जण्णं तणभाराण वा कट्ठभाराण वा पत्तभाराण वा पलालभाराण वा वेल्लभाराण वा वेत्तलया वा गवरतरज्जुवल्लिकुशदब्भमाइएहिं आलावणबंधे समुप्पज्जइ। जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं । सेत्तं आलावणबंधे ॥

आलि–आलि–पु वनस्पतिविशेषे,। जी प्र ३ ॥

आलीकदल्यौ वनस्पतिविशेषौ. ज्ञा०२ अ० ॥

आलिंग–आलिङ्ग– पु० मुरजनामके, वाद्यविशेषे, राज०प्र ३ आलिंगोमृ (?) मयो मुरज जी० ३ प्र उत्ताभिजताण आलिंगाण, राज ० आ चू ॥ (आलिंग पुक्खरेइ वा) आलिङ्ग वाद्यत इत्यालिंगो मुरजवाद्यविशेषस्तस्य पुष्कर चर्मपुट तत् किलात्यतसममिति तेनोपमा क्रियते इति. श्रा म प्र १ अ ज. ॥

आलिङ्ग्य त्रि आ लिग यत् आलिंगनीये प्रियादौ, वा च० ॥ मुरजनामके वाद्यविशेषे, पु (आलिंगपुक्खरे च्च) आलिङ्ग्यो नाम यो वादकेन मुरज आलिङ्ग्य वाद्यते हृदि धृत्वा वाद्यत इत्यर्थ ॥ आलिङ्ग्यो मुरजोवाद्यविशेषः ॥ एष यकारान्त शब्द. । जी० प्र ३

आलिंगण–आलिङ्गन–न० आ लिगि ल्युट्-आश्लेषे-अर्थ । ईषत्स्पर्शने० प्रव० द्वा १७७ नि. चू. उ १ दश० अध्य. ६

आलिंगनवट्टि–आलिङ्गनवर्त्ति–स्त्री० शरीरप्रमाणे उपधाने (तारिसगसि सयणिज्जंसि सालिंगणवट्टिए) सहालिंगनवर्त्या शरीरप्रमाणेनोपधानेन यत्तत्तया-सू. प्र. अ. २०। जी० प्र ३ । भ० श ११ उ ११ । ज्ञा० अ. १

आलिंगणवट्टिया–आलिङ्गनवर्त्तिका–स्त्री० शरीरप्रमाणे दीर्घे,गण्डोपधाने, आलिंगनवर्त्तिका नाम शरीरप्रमाणं दीर्घ गण्डोपधानम् । कल्प० ॥

आलिंगणिया–आलिंगनिका– स्त्री० पुरुषप्रमाणे उपधाने, आलिंगनिकायां पुरुषप्रमाणायां राजेति सुखा समालिङ्ग्य

राजान्तः पुर्य्यः शेरते जी० प्र० १

आलिंगपुक्खर–आलिंगपुष्कर–न० मुरजमुखे,भ० श. २ उ. ८ मुरजमुखपुटे, च भ० श. ६ उ ७ जं० । आ म प्र० १ अ. । राज० ॥

आलिंपत–आलिंपत्–त्रि० आलेप कुर्वति(आलिंपतं वा विलिंपत वा साइज्जइ) नि. चू. उ० ३

आलिंपावंत–आलेपयत्–त्रि० आलेपं कारयति(अन्नयरेण वा आलेवणजाएणं आलिंपावंतं वा) नि० चू. उ. १७

आलिघरग–आलिगृहक–न० आलिर्वनस्पतिविशेषस्तन्मयानि गृहकाणि । आलिमये गृहे, राज० ।

आलित्त–आदीप्त–त्रि० समततो दीप्ते. " जह आलित्ते गेहे, कोइ पसुत्त नर तु बोहेज्जा " आसमन्ततो दीप्ते गृहे, व्य० उ. ३ अंत० अ ५ अभिविधिना ज्वलिते, भ० श २ उ १ प्रदीपने, न० कोट्टिमघरे वसंते आलित्तमि वि न रुज्झई त्तेणे आदीप्तेऽपिप्रदीपनकऽपि न दह्यते इति-व्य. उ. ४

आलिप्त-त्रि. आ लिप क्त कृतालेपने,दत्तादीपने, च वाच० ॥

आलिद्ध–आदिग्ध–त्रि० लग्ने, (अत्थेगइया पुढवीकाइया आलिद्धा) आदिग्धाः शिलायां शिलापुत्रके च लग्ना इति भ० श. १९ उ ३

आश्लिष्ट-त्रि० । आ. श्लिष् क्त आश्लिष्टे, लधौ ॥ ४९ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण आश्लिष्टे सयुक्तयोर्यथासंख्य लध इत्येतौ भवत' प्रा० । आलिंगिते सवर्ह (शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधि । आश्लिष्टनमिं रसितारमुच्चै·) इति माघ· वाच० ।

आलिद्धमणालिद्धवंदण-आश्लिष्टानाश्लिष्टवन्दन–न० सत्त विंशे वन्दनकदोषे, तच्च(आलिद्धमणालिद्धे रयहरसीसे य होइ चउभंगो) वृ० । अश्लिष्टमनाश्लिष्ट चेति पदद्वयमाश्रित्य रजोहरणशिरसो विषये चतुर्भंगिका भवति।सा च अहो काय काय इत्याद्यावर्तकान्ते संभवति । रजोहरण करान्यामाश्लिष्यति शिरश्चेत्येको १ रजोहरण श्लिष्यति न शिर इति द्वितीयः २ शिर श्लिष्यतिन रजोहरणमिति तृतीयो ३ न रजोहरणं न शिरः श्लिष्यति ४ इति चतुर्थो भग इति अत्राऽऽद्योभगः शुद्धः । शेषभगत्रये आश्लिष्टदोषदुष्टप्रकृतवदनमवतरति । प्रव द्वा १ ध० अधि २ । आव० । आ. चू २ अ ॥

आलि (ली) वग–आदीपक–त्रि० आदीपयत्यन्यगृहमाग्निना । आ. दीप णिच् एवुल् परगृहस्य दाहके, गृहादिदीपनककारिषु प्रश्न० द्वा० ३ । अग्निदानरि ज्ञा० अ. २ उद्दीपके, च वाच० ॥

आलि (ली) वण–आदीपन–न० आ. दीप णिच् ल्युट् तण्डुलादिचूर्णमिश्रितजलेन गृहादौ चित्राकारलेपनभेदे, उद्दीपने, च वाच० ॥ग्रामादिप्रदीपने (आलीवणेहि य) व्याकुललोकानां मोषणार्थं ग्रामादिप्रदीपनै । विपा० अ १ ।

आलि (ली) विय–आदीपित-त्रि० आ दीप णिच् क्त दत्तादीपने गृहाङ्गनादौ, उद्दीपिते, च वाच ॥

आलिसं (सिं) दग–आलिस (सि) न्दक–पु धान्यविशेषे दशा (आलिसंदगत्ति)चपलकाःज टी०(आलिसदगत्ति) चवलकप्रकारा' चवलका एवान्ये । भ. श. ६ उ ७

आलिह–स्पृश् स्पर्शे तु. पर. सक. अनिट् । स्पृश' फासफसफरिसछिवछिहालुखालिहाः ॥ ८१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्पृशतेरालिहादेशः आलिहइ प्रा ॥ स्पृशति अस्प्राक्षीत् अस्पार्क्षीत् अस्पृक्षत् पस्पर्श । वाच. ॥

आलिहमाण- आलिखत् त्रि० विन्यस्यति, (आलिहमाणे २ अणुप्पविसइ) आलिखन् २ विन्यस्यन् २ अनुप्रविशति ॥ जं० ॥

आलिहिज्जमाण- आलिख्यमान त्रि० विन्यस्यमाने,(मंगलेहिं आलिहिज्जमाणेहिं) जं० ॥

आली- आली–स्त्री० सख्याम् ॥ प्रा० ॥

आलीढ–आलीढ त्रि० आ- लिह- क्त-युद्धासनविशेषे॥ वाचा.॥

तत्र दक्षिणमूरुमग्रतो मुखं कृत्वा वाममूरुं पश्चान्मुखं प्रसारयति । अतरावद्वयोरपि पादयोः पंचपदो ततो वामहस्तेन धनुर्गृहीत्वा दक्षिणहस्तेन प्रत्यचामाकर्षति तत् आलिढम् ॥ व्य० उ- १ आ० म- अ- १ ॥ आ- चू- ॥ उत्त० १ अ । नि ० चू- उ ११

आलीण–आलीन–त्रि आ ली कर्तरि क्त आश्लिष्टे, वाच० आलिंगिते, कल्प० सुश्लिष्टे, ज्ञा० अ २

किंचिल्लग्ने, च ॥ जं० ॥ प्राकृते (आलिङोऽल्ली ॥ ५४ ॥) इति सूत्रेणालियतेः अल्ली इत्यादेशो भवति । अल्लिअइ अल्लीणो ॥ प्रा० ॥ (अल्लीणपमाणजुत्तसवणा) आलीनौ मस्तकभित्तौ किंचिल्लग्नौ नतु दूरपरौ प्रमाणयुक्तौ स्वप्रमाणोपेतौ श्रवणौ कर्णौ येषां ते ॥ जं० ॥ (आलीणे महप विसेसे) आलीन. सर्वगुणैरालिंगित' ॥ कल्प० ॥(आलीणगुत्तो परिव्वए) आचा० अ ३ उ २ ॥ भावे क्त' संश्लेषे, न० तत्र साधु अण् वर्गे धातुभेदे तस्य धात्वन्तरसश्लेषकारकत्वात् तथात्वं । वाच० ॥

आलीणगुत्त–आलीनगुप्त– त्रि० आङ् मर्यादयेन्द्रियरोधादिकया लीन आलीनो गुप्तो मनोवाक्कायकर्मभिः कूर्मवत्संवृतगात्र. ।आलीनश्चासौ गुप्तश्चालीनगुप्तः । इन्द्रियरोधादियुते मनोवाक्कायकर्मभिर्गुप्ते, कूर्मवत्संवृतगात्रे, च आचा० अ.३उ.२ (आलीणगुत्तो परिव्वए) आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् ॥आचा.॥

आलु–आलु–पु०आ लाति–ला–मितद्रु अचणिच्च रस्य लः वा पेचके, भेलके, । शब्दरत्ना० स्वल्पवारिधानिकायाम् सनाले जलपात्रभेदे, स्त्री० कन्दभेदे राजनि० तस्य भेदा नानाविधा "कदो बहुविधो लोके आलुशब्देन भण्यते ॥ कष्ठालुश्चैव घटालु, पिण्डालुश्शर्करादिकम् ॥ काष्ठालुश्चैव माद्यं स्याद् तस्य भेदा अनेकश." । वाच० ॥

आचाराङ्गदीपिकायाम् । द्वात्रिंशदनतकाय वनस्पति जीवानधिकृत्य- (आलू तह पिंडालू बत्तीस जाणिउं अणताइ) आचा० अ १ उ ३॥

आलू तह पिंडालू हवन्ति एए अणन्तनामेण । ध० अ० २ । आलू इति दीर्घान्तोप्यत्र ॥

आलुई–आलुकी—स्त्री० वल्लीभेदे, । आचा ० अ १ उ ५ ॥ प्रव द्वा १ ० ॥

आलुंख—दह्-दाहे-भस्मीकरणेच सक ० भ्वा० प० अनिट्- दहेरहिऊ लुखौ ॥ २०७ ॥ इति प्राकृत सूत्रेण दहेरालुखादेश· आलुखइ डहइ प्रा०

आलुंख-स्पृश-स्पर्शे-तु० पर० सक० अनिट्(स्पृशः फासफसफ

रिसहिथिद्वाहालुखालिहा. ७१ ॥ इति प्राकृतसूत्रेण स्पृशे-रालुखादेशः आलुखइ ॥ प्रा० ॥

आलुंचण—आलुंचन-न० आ० लुचि. ल्युट् उत्पाटने, केशादेर्बन्धराहित्ये, च ॥ वाच ० ॥ ग्रहणे, ॥ आव ० ॥

आलुंटण—आलुंठन-न० आ लुटि. ल्युट् बलादपहरणे,-वाच ० ॥

आलुंप-आलुम्प–त्रि० आसमताल्लुपतीत्यालुंपः धनापहारके, आलुपे सहसाकारे । स हि लोभाभिभतान्तः करणोऽपगतकर्तव्याकर्तव्यविवेकोऽर्थग्रो नैकद्त्तदृष्टैरैहिकामुष्मिकविपाक - कारिणोर्निर्ताग्नगक्रर्तनचौर्य्यादिका क्रियाः करोति ॥ आचा-श्र. २ उ. १ ० ॥ (आलुपइ विलुंपइ) आलुंपतवस्त्रादिक विलुपत् सर्वस्वापहारेण ॥

आलुग (य) आलुक पु० आ. लाति पृथ्वीं कासरोग वा आ-ला. मित् कु सञ्ज्ञायां कन् शेषनागे, कासालौ, च आलु. स्वार्थे कन् कन्दभेदे, न० वाच० ॥ (तरुणगपवालुयत्ति वा) आलुक कन्दविशेषः । तच्चानेकप्रकार मिति विशेषपरिग्रहार्थं पलालुकमित्युक्तम् ॥ अणु० श्र. १ ॥ साधारणशरीरत्वाद् स्वनस्पतिकायिकानधिकृत्य (साहारणसरीरा अणेगहा ते पकित्तिया आलु ए मूलए चेव सिंगबरे तहेव य) उत्त० अ ३६ ॥ भ० श. ७ उ. ३ ॥ प्रज्ञा० पद १० ॥ जी० प्र. १ ॥

आलूण—आलून—त्रि० लू० क० ईषच्छिन्ने, सम्यक्छिन्ने, च तेनामरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः कुमार० ॥ वाच० ॥ विशीर्णे, ॥ आ० म० ॥

आलेट्ठुयं—आलेठुम्—अव्य० आश्लेषं कर्तुमित्यर्थे,स्वार्थेकश्च वा इति प्राकृतसूत्रेण स्वार्थे क' ॥ प्रा० ॥

आलेव—आलेप—पु० आ-लिप् घञ्-उपलेपे, आलिम्पने, च आलिप्यते कर्मणि ल्युट् आलिप्यमाने, च ॥ वाच० ॥

आलेवण—आलेपन—न० आ-लिप् ल्युट् उपलेपे, आलिम्पने, च वाच० ॥ सकृल्लेपने, नि० चू० उ १२ ईषल्लेपने,॥ वृ० ॥ दिवा गृहीतगोमयै रात्रौ व्रणाद्यालेपननिषेधो ॥ नि ० चू० ॥

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गहेत्ता । दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंत वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥ जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गहेत्ता रत्तिं कायं सि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमय पडिग्गहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गहेत्ता रत्ति कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ॥ ४२ ॥ चउकभंगसुत्त उच्चारेयव्वं । कायः शरीरं व्रणः क्षतं तेण गोमयेण आलिंपइ सकृत् विलिंपइ अनेकशो ऽपरिवासिते मासलहुं। परिवासिते चउभंगे चउलहुं तवकालविसिट्ठा आणादिया दोसा । गाहा ।

दियगतो गोमत्तेणं चउकभयणा तु जाव णेवुत्ता॥ एतो एगतरेणं पक्खेत्ताणाहिणो दोसा ॥२१६ ॥ चउकभयण चउभंगो तत्तिउद्देसए जाव णेवुत्ता इहंपि सच्चेव। गाहा। ततुप्पतित्तं दुक्खं अभिभूतो वेयणा एत्तिव्वाए । अच्छाणे अव्वहितो तं दुक्खहिया सते सम्मं ॥२१७॥ अव्वोच्छित्तिणिमित्तं जीयट्ठाए समाहिहेउं वा। एतेहि कारणेहिं जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥२१८॥ पूर्ववत् गोमय गहणा इमा विधी गाहा । अभिणवगोसट्ठासत्ति इतरे उवयोगं काउगहणं तु माहिसअसत्तीगव्वं अस्सातवच्छं व वितघाता ॥२१९॥ वोसिरियमोत्तं घेत्तव्वं तं बहुणं तस्सासविइयंर चिरकाल वोसिरियं तं पि उवकरे तु गहणं दिणसंसत्तं पि मादिसं घेत्तव्वं मोहिसासतिगव्वं तं पि अणायवेत्तियं छायायामित्यर्थः । तं असुसितं वितघाती भवति आयवत्थं पुण सुसियरं सव्वगुणकारी सुत्तं जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥ जेभिक्खू दिया आलिंपणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४४॥ जे भिक्खु रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायं सि वणं आलिं पेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहित्ता रत्तिकायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥ आलेवण जातं आलेवणप्पगारा ॥ गाहा ॥

दियरातो लेवेणं, चउकभयणाउ जाव णेवुत्ता ॥
एतो एगतरेणं,भक्खेत्ताणादिणा दोसा नि चू. उ १२

पर्य्युषितेनालेपनजातेनालेपननिषेधो । बृहत्कल्पे ॥

णो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा पारि यसिएणं आलेवणजाएण आलिंपित्तए वा विलिंपित्तए वानन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं ॥

एव म्रक्षणसूत्रमप्युच्चारणीय॥ व्याख्यात' कल्पते निर्ग्रन्थानां वा २ परिवासिते नालेपनजातेनालेपयितुं वा ईषल्लेपयितु विलेपयितु विशेषेण लेपयितुं नान्यत्र आगाढेभ्यो रोगातकेभ्य इति सूत्रार्थ' ॥

अथ भाष्य ॥

मक्खेऊणं लिंपइ, एस कमो होइ वणतिगिच्छाए ।
जइ तेण तप्पमाणं, माकुण किरियं सरीरस्स ॥

पर प्राह ॥ ननु व्रणचिकित्सायां पूर्वं व्रणो म्रक्षित्वा ततः पिश्री आलानेन आलिप्यते एप क्रमस्तत प्रथम म्रक्षणसूत्रमुक्त्वा पश्चादालेपनसूत्र भणितुमुचितमिति भाव । यदि चैतत्तव न प्रमाण ततोमा शरीरस्य क्रियामकार्षीरिति सूरिराह ।

आलेवणेण पउणइ, जो उवणो मक्खणेण किं तत्थ।
होहिइ वणो वमासे, आलेवो दिज्जइ समणं॥
नायमेकान्तो यदवश्यं व्रणे म्रक्षणमालेपन च भवति। किन्तु कुत्रचिदेकतरं कुत्राऽप्युभयं ततो यः किल व्रण आलेपेन प्रगुणीभवति तत्र किं म्रक्षणेन कार्यं किंचिदित्यर्थः। यद्वा। मा मे व्रणो भविष्यतीति कृत्वा प्रथममेवालेपः शमनमौषधं दीयते किंच॥
चाउरे उकज्जे करिंति, जह लाभकज्जपडिवामी।
अणुपुव्विसंतावितजवे, जुज्जइ न उ सव्वजाईसु॥
अत्यातुरे आगाढे कार्ये यथा लाभ आलापो भूत्रेण वा य. प्रथमं लभ्यते तेनैव चिकित्सां कुर्वन्ति। कुत्र नाम परिपाटिः क्रमो विद्यते इदमेव व्यनक्ति यः स द्विभावा विद्यमानविकृति सूत्रचिकित्सायां क्रियमाणायामानुपूर्वी चिकित्साशास्त्रेण भणिता परिपाटिर्युज्यते घटते न पुन. सर्वजातिषु अत किमत्र क्रमनिरीक्षणेनेति॥
सुत्तंमि कड्डियंमि, आलेवउवत्ति चउलहू हुंति॥
आणाइणाइदोसा, विणा इमेहिं तु गुणेहिं॥
सूत्रार्थकथनेन सूत्रे आकृष्टे सति निर्युक्तिविस्तर उच्यते। यथा लेपं रात्रौ स्थापयति। तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः विराधना च अमीभिः स्यान्निर्भवति॥
निद्धे दवे पणीए, आवज्जणपाणतक्खणक्खरणा।
आयंके विविज्जा. सो मासलहुगा य॥
स्निग्धे द्रवे प्रणीते आलेपे स्थापिते प्राणिनामायततत्क्षणक्षरण तस्य द्रवादेः स्यन्दनं भवति। अत्र दोषभावना प्राग्वत्॥ आतके च रोगे विपर्यासेन क्रियाकरणे वक्ष्यमाण प्रायश्चित्तं मासेत्ति॥ आगाढानागाढकारणमन्तरेण पदे परिवासयत्ति। तत प्राशुकादौ स्थाप्यमाने चतुर्लघु। अप्राशुकादौ चतुर्गुरु। इदमेव व्याचष्टे॥
तिविय संचयदोसा, तयावि से लालविणलिहणं वा।
अंबीभूयं विहए, उक्कमाणुक्कंति जे दोसा॥
त एव सचयादयो दोषा मन्तव्या॥ त्वग्विष सर्पः स्पृशेत् लालाविषो वा जिह्वया वा लेहन कुर्यात्। द्वितीये च दिने अम्लीभूत तदुच्यते। अनुज्झितो वा ये दोषास्तान् प्राप्तान् यत एते दोषास्तत॥
दिवसे २ गहणं, पिट्ठमपिट्ठे य होय जयणाए।
आगाढे निक्खिवणं, अपिट्ठ पिट्ठे य जयणाए॥
यदा ग्लानार्थमालेपो न प्रयोजन भवति तदा दिवसे २ ग्रहणं विधेयं। तत्र प्रथम पिष्टस्य पश्चादपि पिष्टस्यापि यतनया कर्त्तव्यं भवति। आगाढे च ग्लानत्वे आलेपस्य निक्षेपण परिवासनमपि कुर्य्यात्। तदप्यपिष्टस्य पिष्टस्य वा यतनया कर्तव्यम्
अथा ऽऽतंकाव्यत्यास व्याख्यातिं॥
आगाढे अणागाढं, अणागाढे वा वि कुणइ आगाढं।
एवं तु विवज्जासं, कुणइ ववाए कफतिगिच्छं॥
आगाढे ग्लानत्वे अनागाढां क्रियां करोति चतुर्लघु। अनागाढे वा आगाढं करोति चतुर्लघु यद्वा वाते चिकित्सनीये कफचिकित्सां करोति। एव विपर्यासो मंतव्यः।

अथ सेसे लहुगायत्ति पदं व्याचष्टे।
अगिलाणो खलु सेसो, दव्वाई ति विह आवइ जढो वा।
पाच्छेत्ते मग्गणया, परिवासित्तं तस्सिमा तस्स॥
शेषो नाम य आगाढोऽनागाढो वा ग्लानो न भवति यो वा द्रव्यक्षेत्रकालापदेदात् त्रिविधया आपदा जढो मुक्तः स शेष उच्यते तस्य परिवासयत इयं प्रायश्चित्तमार्गणा।
फासुगमफासुगे वा, अचित्तचित्ते परित्तणंतेवा।
असिणे हसिणे हसए, अणाहारा हारलहुगुरुगा।
प्राशुकं स्थापयति चतुर्लघु। अप्राशुक स्थापयति चतुर्गुरु अचित्ते स्थाप्यमाने चतुर्लघु सचित्ते चतुर्गुरु परित्ते चतुर्लघु अनन्ते चतुर्गुरु स्नेहगते स्नेहावगाढे चतुर्गुरु अनाहारे चतुर्लघु आहारे चतुर्गुरु॥ वृ०॥
आलिप्यते अनेनेत्यालेपन आलेपनसाधने द्रव्ये, आलेवो तिविधो वेदनप्रशमकारी पाककारी व्रणादिणीहरणकारी। नि० चू० उ० ३॥
आलेवणजाय—आलेपनजात— न० आलेपनप्रकारे, (आलेवणजाएण आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा) नि० चू० उ० ३॥
आलेह—आलेख— पुं० आ-लिख्-घञ् सम्यक्लेखने, आधारे घञ् लेखपत्रे, च॥ वाच०॥ चित्रे,॥ आ० म० प्र०॥
आलेक्ख—आलेख्य— त्रि० आ- लिख्- ण्यत्- चित्रादौ लेख्यदेवादिप्रतिबिम्बे, विधातुमालेख्यमशक्नुवतः। माघः। इति सरभिणो वाणीवत्स्यालेख्यदेवताः। माघः। अहो रूपमालेख्यस्य शकु० लेखनीये- त्रि० आधारे ण्यत् चित्रे॥ वाच०॥
आलोइऊण—आलोक्य— अव्य० विमृश्येत्यर्थे (आलोइऊणा एव) आलोच्य विमृश्येति॥ पचा. वृ. १४ वृ. ३॥
आलोइय—आलोकित— त्रि. आ- लोक्- क्त दृष्टे॥ वाच॥ (आलोइय इंगियमेव नच्चा) आलोकित निरीक्षितमिति॥ दश अ. ए उ. ३॥ आलोइयपाणभोयणभोई से णिग्गंथे) आलोकितं प्रत्युपेक्षितमशनादिभोक्तव्य तदकरणे दोषसम्भवात्॥ आचा० अ० ७ उ० २॥
आलोचित- त्रि० आ— लुचु. णिच्. क्त आलोचनाविषयीभूते विशेषदर्शनादिना कृतालोचने, (आलोचितमिन्द्रियेणेति)सां० कौ० इति कर्त्तव्यतयावधारिते च॥ वाच०॥ निवेदिते॥ भ श २ उ १॥ (आलोइयंमि आराहणाअणालोइए भयणा) आलोचिते गुरोरपराधजाले निवेदिते,॥ आव०॥ आलोचनावति, च॥ भ०॥ श ७ उ २॥
आलोइयणिंदिय—आलोचितनिन्दित— त्रि० सम्यक् कृता लोचननिन्दाविधौ,॥
कयपावो वि मणुस्सो, आलोइयनिंदियगुरु सगासे।
होइ अइरेगलहुओ, हरियभरुव्व भारवहो॥
आलोइयनिंदिओत्ति० आलोचितनिन्दित सम्यक् कृतालोचननिन्दाविधिरित्यर्थ॥ ध० अधि. २॥
आलोइयपडिक्कंत—आलोचितप्रतिक्रान्त— त्रि० आलोचित गुरूणां निवेदित यदतिचारजात तत् प्रतिक्रान्तमकरणविषयीकृत येनासावालोचितप्रतिक्रान्तः तास्मिन् आलोचितश्चासावालोचनादानात्प्रतिक्रान्तश्च मिथ्या दुष्कृतदानादालोचितप्रति-

क्रांतः ॥ भ० श. २ उ. १ । आलोचनाप्रदानपूर्वं प्रदत्तमिथ्या दुष्कृते, (आलोइयपडिक्कंता गवयति तओगणे) वृ० ॥

आलोएमाण-आलोकयत्- त्रि० पश्यति आचा० अ. ५ ॥

आलोएयव्व-आलोचितव्य-त्रि० प्रकाशनीये, पंचा० वृ. १५ निवेदनीये अपराधादौ, च. ॥ पंचा० वृ. १७ ॥

आलोय-आलोक- पु० आलोक्यतेऽनेन आ लुक् लोक वा करणे घञ् प्रकाशे । दश० अ. २ ॥ आव० ॥ (आलोओ उज्जोओ दित्तीभासापहा पयासो य) प्रा० को० ॥ ज्ञा० १० अ. आलोकस्थाने गवाक्षादौ, च वाच० ॥

णो गाहावइकुलस्स, आलोयं वा थिग्गलं वा संधि वा दगभवणं वा हाओपगाज्झिय २ अंगुलियाए वा उद्दिसिय उद्दिसिय उण्णमिय उन्नमिय २ णिज्झाएज्जा ॥

आलोकस्थानं गवाक्षादिकम् आचा. अ. १ उ. ५ आलोय थिग्गलं द्वार आलोक निर्यूहकादिरूपं दश० अ. ५ ॥ आलोक्यत इत्यालोकः लोके, तथा चावश्यके लोकपर्यायशब्दानधिकृत्य (आलोकइपलोकइ संलोकईय एकट्ठा) आ० म० ॥ आचारांगे (लोयालोयपवंचाओ पमुच्चति) आलोक्यत इत्यालोकः कर्मणि घञ् । लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके आलोको लोकालोकस्तस्य प्रपंचः पर्याप्तापर्याप्तकसुभगादिरूपं धिकल्पस्तद्यथा । नारको नारकत्वेनालोक्यते एकेन्द्रियादिरेकेन्द्रियादित्वेनैव पर्याप्तापर्याप्तकाद्यपि वाच्यम् । तदेव भूतात्मप्रपंचान्मुच्यते। चतुर्दशजीवस्थानान्यतरव्यपदेशार्हो न भवति शति यावद् ॥ आचा० ॥ दृष्टिविषये गेहादौ ॥ ज्ञा० अ० १ ॥ दृष्टिविपये ॥ औप० ॥ आलोकनमालोकः भावे घञ् दर्शने, । आव० ॥ ज्ञा० अ. २ ॥ (आलोए समणस्स भगवओ महावीरस्स पणाम करेइ) आलोके दर्शनमात्रे, ॥ कल्प० ॥ आलोकनमालोकः मर्यादयाऽभिविधिना वालोचनम् निरीक्षणे,(पिक्खणनिरिक्खणावि य आलोयपलोयणेगट्ठा) ओघ० ॥

आलोयग-आलोचक- त्रि० आ-लुच्-णिच्-ण्वुल् आलोचनाकारके, ॥ वाच० ॥ आलोचनाया योग्या आलोचका आलोचनाशब्दे ॥ व्य० उ. १ ॥

आलोयचल-आलोकचल-त्रि० आलोकनमालोकस्तस्मिन्नालोके चलमालोकचलं दर्शनलालसे, आलोअचलं चक्खुं मणुव्वतं दुक्करं थिरं काउं । आव० टी० ।

आलोयण-आलोकन- न० आ. लुक लोक वा भावे ल्युट दर्शने, ॥ आचा० अ. ३ उ. ५ दश० अ. ४ ॥ ततस्तदालोकनतत्पराणाम् । भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते ॥ कुमार० । "व्रजति हि सफलत्व वल्लभालोकनेन,, माघः ॥ वाच० ॥

निरीक्षणे, ॥ आव० ॥ निरूपणे, ॥ ओघ० ॥ प्रकाशे, प्रश्न० द्वा १ सं. ॥

आलोचन- न० आ-लुच् णिच् भावे ल्युट् विशेषधर्मादिना विवेचने नैया० । वाच० ॥ विचारणे, (पुव्वामेव आलोएज्जा) आलोचयेद्विचारयेत् ॥ आचा० अ. ३ उ. ५ । आलोचयेद् सावधानो भवेदित्यर्थः ॥ आचा० श्रु. २ अ १ उ ६ ॥ सामान्यवस्तु ग्राहिज्ञानविशेषे, च सामान्यवस्तुग्राहिज्ञानमालोचनम् । तद्वक्तव्यताऽर्थावग्रहवक्तव्यताऽवसरेऽवग्रहशब्दे ॥ आङ्मर्यादायां लोचृदर्शने मर्यादयाऽलोचन दर्शनमालोचनम् ॥ नि० चू० उ. २० ।निवेदने, उपदर्शने, च आलोयणदायण च दाऊणं आलोचन यथा गृहीतभक्तपाननिवेदनं तयोरेवोपदर्शनञ्च प्रश्न० सं. द्वा. १ । आलोएहि गुरूणो निवेदयेति ॥ उपा० अ. ३ ॥ स्था० ठा. ३ ॥ आलोइत्तए आलोचयितुं गुरवे अपराधान्निवेदयितुम् ॥ स्था० २ ठा. ॥ आलोचनं गुरोः पुरतः स्वापराधस्य प्रकटनम् ॥ध० ॥ आङ्मर्यादायाम् सा च मर्य्यादा इयं ।

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥

अनया मर्यादया लोचृदर्शने चुरादित्वाण्णिच् लोचनं लोचना प्रकटीकरण आलोचना गुरोः पुरतो वचसा प्रकाशनमिति भावः । यत्प्रायश्चित्तमालोचनमात्रेण शुद्ध्यति तदाऽऽलोचनाहेतया कारणे कार्योपचारादालोचनम् । प्रायश्चित्तभेदे ॥ प्रव० ॥ द्वा. ९८ ॥ व्य० उ. १ ॥

अस्याशेषवक्तव्यताऽऽलोचनाशब्दे आलोचनार्हशब्दे च ॥ सामाचारीभेदे च तच्च पिंडादिनिवेदन, ॥ ग० अधि २ ॥ लोचनपर्य्यन्ते, अव्य० । " आलोचनान्तं श्रवणं वितत्य " रघुः । वाच० ॥

आलोयणभायण-आलोकनभाजन-न०प्रकाशमुखे भाजने ॥ प्रश्न ० सं. १ द्वा. ॥

अह कोइ न इच्छेज्जा, तओ भुंजेज्ज एकओ ।
आलोयभायणे साहू, जयं अपरिसाडियं ॥

आलोकभाजनं मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजने इत्यर्थः ॥ दश ० अ. ५ उ ॥

आलोयणा-आलोचना-स्त्री० आङ्मर्य्यादायाम् सा च मर्यादा इयम् ॥

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ ॥

अनया मर्यादया लोचृदर्शने चुरादित्वाण्णिच् लोचनालोचन प्रकटीकरणम् आलोचना गुरोः पुरतो वचसा प्रकाशनम् प्रव० द्वा० ९८ । व्य उ. १० ॥ जीत ० ॥

विषयाः

(१) आलोचनाया व्युत्पत्तिरर्थः स्वरूपंच।
(२) द्रव्यादिनिक्षेप आलोचनायाः ।
(३) आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणेन भेदाः ।
(४) विहारादिभेदेनालोचना त्रिविधा तद्भेदाश्च।
(५) शल्योद्धरणार्थमालोचनकरणविधिः ।
(६) आलोचनीये विषये यथाक्रममालोचनाप्रकारः ।
(७) आलोचनायां शिष्याचार्य्यपरीक्षणे-आवश्यकादिद्वाराणि।
(८) का लोचना गृहीतव्या तानि स्थानानि ।
(९) द्रव्यादि चतुर्विधमालोचनीयम् ।
(१०) अपराधालोचनायां प्रशस्ताऽप्रशस्तद्रव्यादयः ।
(११) यथाभूतेषु द्रव्यादिष्वालोचना तादृशानां प्रतिपादनम् ।

(१२) आलोचनासमयवर्णनम् ।
(१३) कस्य समीपे आलोचना कर्तव्या ।
(१४) गीतार्थमवाप्य शक्त्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयत्वम् ।
(१५) मरणाभिमुखेनाप्यालोचना करणीयात्र ब्राह्मणदृष्टान्तः ।
(१६) अदत्तालोचने व्याधदृष्टान्तभावना ।
(१७) स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना ।
(१८) आलोचनाया अष्टौ स्थानकाः दशस्थानकाश्च ।
(१९) सामुदानिकाऽतिचारालोचना ।
(२०) आलोचयितुः एतानि वर्जनीयानि ।
(२१) सम्यगालोचनादाने किं लिङ्गम् ।
(२२) कृतानां कर्मणां क्रमत आलोचना ।
(२३) आलोचनायां दत्तायां न विरतिभंगः सदृष्टान्तः ।
(२४) आलोचनायामकृतायां मृत्वाऽनाराधको भवति।
(२५) आलोचनायाः फलम् ।

(१) आलोचनाया व्युत्पत्तिरर्थस्वरूपं च ॥

आ अभिविधिना सकलदोषाणां लोचना गुरुपुरतः प्रकाशना आलोचना भ० श. १७ उ ३ ।

आसामस्त्येन स्वगताऽकरणीयस्य वागादियोगत्रयेण गुरोः पुरो भावशुद्ध्या प्रकटनमालोचना ध० अधि. २ गुरुभ्यो निजदोषकथने, ध० अधि. २ ॥ आमर्यादायां लोचृदर्शने आलोचना नाम आलोचना प्रकटना ऋजुभावनेति ॥ पं० चू०॥ आलोचनमालोचना मर्यादयाऽऽलोचनं दर्शनमाचार्यादेरालोचनेत्यभिधीयते । ओघ० ॥

आलोयणा णाम जहा अप्पणो जाणति तहा परस्स पागडं करेइ । नि० चू० उ० २० ॥

आ अपराधमर्यादया लोचनं दर्शनमाचार्यादेः पुरत इत्यालोचना ध० अधि ३ ।

गुरोः स्वचरितप्रकाशनात्मके, प्रायश्चित्तभेदे,॥ पंचा चू १६ " व्यवहारो आलोयणा सोही पच्छित्तमेव एगट्ठा " व्यवहार आलोचना शोधि प्रायश्चित्तमित्येकार्थः ॥ व्य० उ. २ आलोचनाया एकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह ॥

आलोयणा वियडणा, सोही सब्भावदायणा चेव ।
निंदागरहविउट्टा, सल्लुद्धरणेय एगट्ठा ॥ १३ ॥

आलोचना विकटना शुद्धिः सद्भावदापना णिंदणगरहण विउट्टण सल्लुद्धरण चेति एकार्थिकानि इति ॥ ओघ ॥

आलोचना प्रयोजनतो हस्तशताद्बहिर्गमनादौ गुरोर्विकटना ॥ आव० ॥ स्था० ठा. ४ ॥

जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा । व्य० उ० १ ॥

आलोचयेत् लोचृदर्शने चुरादित्वाणिच् आङ्मर्यादायाम आ मर्यादया (जह बालोजंपतो) इत्यादि रूपया आलोचयेत् यथात्मनस्तथा गुरोः प्रकटीकुर्यात् ॥ व्य० उ १ ।

अथालोचनाशब्दार्थमाह ॥

आलोयणं अकिच्च, अभिविहिणा दंसणं तिलिंगेहिं ।
वइमादिएहिं सम्मं, गुरुणो आलोयणेया ॥ २ ॥

व्याख्या ।आलोचनमालोचना ज्ञेयेति योगः । आलोचनमेव किमित्याह । अकृत्ये अकरणीयविषये स्वगतस्याकृत्यस्येत्यर्थः । अभिविधिना सामस्त्येनेत्याङर्थः दर्शन प्रकाशनमिति लोचृधातोः कारितां तस्यार्थ इतिशब्दोऽग्रे योक्ष्यते । कथमकृत्यदर्शनमित्याह । त्रिभिः परोक्षाकृत्यगमकैर्हेतुभिर्वागादिभिर्वचनकायविकारविशेषैः। सम्यक्भावशुध्या कस्य तद्दर्शनमित्याह । गुरोरालोचनाचार्यस्येति । एषा आलोचना प्रकरणाद्विज्ञेया ज्ञातव्या तच्छब्दज्ञानार्थिभिरिति गाथार्थः ॥ पंचा वृ. १५

आलोचनास्वरूप व्यवहारकल्पे यथा ॥

"आलोचना नाम अवश्यकरणीयस्य कार्यस्य पूर्वं कार्यसमाप्तेरूर्ध्वं वा यदि वा पूर्वमपि पश्चादपि गुरोः पुरतो वचसा प्रकटीकरणम् ॥ २ ॥ व्य १ उ. ॥

(२) द्रव्यादिनिक्षेप आलोचनायाः ॥

आलोचनानिक्षेपश्चतुर्धा तथाच महानिशीथे अ. ७ ॥

तंजहा नामालोयणं ठवणालोयणं दव्वालोयणं भावालोयणं एते चउरो वि पए अणेगहा वि [१) उपोइज्जंति तत्थ ताव समासेणं णामालोयणं नाममेतेणं ठवणालोयणं पोत्थयाइसुमालिहियं दव्वालोयणं नाम जं आलोएत्ताणं असढभावत्ताए जहोवइट्ठं पायच्छित्तं नाणुचिट्ठे एते तओवि पए एगंतेणं गोयमा ! अपसत्थे जे यणं से चउत्थपए भावालोयणं नाम तेणं तु गोयमा ! । आलोएत्ताणं निंदित्ताणं गरहित्ताणं पायच्छित्तमणुचरित्ताणं जाव णं आयहियट्ठाए संपज्जित्ताणं संकं. ज्जुत्तमट्ठं आराहेज्जा से भयवं कयरेणं से चउत्थे यए गोयमा ! भावालोयणं से भयवं! भावालोयणं जेणं भिक्खू परिसे संवेगगगए सीलतवदाणभावण चउक्खंधसुसमणधम्ममाराहणाक्कंतरसिए मयभयगारवादीहिं अच्चंतविप्पमुक्के सव्वभावनाभावंतरेहिं नीसल्ले आलोइत्ताणं विसोहिए य पडिगाहित्ताणं तहत्ति समणुट्ठिया सव्वुत्तमं संजमकिरियमणुपालिज्जा ॥ तं जहा ॥

कयाइं पावाइं, इमाइं जेहिं अट्ठाणवज्जए ।
तेसिं तित्थयरवयणेहिं, सुध्दी अम्हाणकीरउ ॥ १ ॥
परिनिव्वाणं तयं कम्मं, घोरं संसारदुक्खदं ।
मणोवयकायकिरियाहिं, सीअभारं धरेमि हं ॥ २ ॥
जह जाणइ सव्वन्नू, केवली तित्थंकरे ।
आयरिए चरित्तड्ढे, उवज्झाए य सुसाहुणो ॥ ३ ॥
जह पंचलोयपाले, य सताधम्मे य जाणए ।
तहालोएमिहं, सव्वं तिलमित्तं पि न निन्हवं ॥ ४ ॥
तत्थ जं पायच्छित्तं, गिरिवरगुरुयं पि आवए ।
तमणुचरेमि हं, सुध्दीं जह पावं विविज्जए ॥ ५ ॥

मरिऊणं नरयतिरिएसु, कुंभीपाएसु कत्थई ।
कत्थय करवत्तजंतेहिं, कत्थइ भिन्नो उ सूलिए ॥ ६ ॥
घंसणं घोलणं कहविमि, कत्थइ च्छेयणं भेयणं ।
बंधणं ण कहविमि, कत्थई दमणमंकणं ॥ ७ ॥
णत्थणं वाहणं कहिमि, कत्थइ वहणत्तालणं ।
गुरुक्कमणं कहिं, विकत्थइ जमलाराविधणं ॥ ८ ॥
उरपट्टिअट्ठिकडिभंगं, परवसो तण्हं छुहं ।
संतावुव्वेवदारिद्दं, विसहिहासि पुणो विहं ॥ ९ ॥
भारहं चेव सव्वंपि, नियदुचरियं जहट्ठियं ।
आलोएत्ता निंदित्ता, गरहित्ता पायच्छित्तं चरित्तुणं॥१०॥
निद्दहेमि पावयं कम्मं, अतिसंसारदुक्खयं ।
अब्भुट्ठित्तातवं घोरं, धीरं वीरपरक्कमं ॥ ११ ॥
अबंतकडुयरं कट्ठं, दुक्खरं दुरणुच्चरं ।
उग्गयरं जिणाभिहियं, सयलकल्लाणकारणं ॥ १२ ॥
पायच्छित्तनिमित्तेणं, पाणसंथारकारयं ।
आयरेण तवंचरिमो, जेणुब्भेसोक्खइं तणुं ॥ १३ ॥
कसाए विहलीकट्टुं, इंदिए पंचनिग्गहं ।
मणोवइकायदंडाणं, निग्गहं धणियमारंभं ॥ १४ ॥
आसवदारे भेरुंभित्ता, चत्तमयमच्छरअमरिसो ॥
गयरागदोसमोहोहं, निस्संगो निपरिग्गहो ॥ १५ ॥
निम्ममो निरहंकारं, सरीरअबंतनिप्पिहो ॥
महव्वयाइं पालेमि, निरइयाराइ निच्छिओ ॥ १६ ॥
हद्दीहा अहभोइं, पावोपावमती अहं ॥
पाविट्ठो पावकम्मोणं, वाहमोहमायारो ॥ १७ ॥
अहं कुसीलोद्वचरित्ती, भिन्नसूणोवमो अहं ॥
चिलातो निक्किवो पावी, कूरकम्माहं निग्घिणो ॥ १८ ॥
इणमो डुल्लहं लभिऊं, सामन्नं नाणदंसणं ॥
चारित्तं वा विराहित्ता, अणालोइयनिंदिय ॥ १९ ॥
गरहियअकयपच्छित्तो, वावज्जंतो जई अह ॥
ता निच्छयं अणुत्तारे, घोरे संसारसायरे ॥ २० ॥
निब्बुमोजवकोडीहिं, समुत्तारं ताण वा पुणो ॥
जरा जाव ण पीडेइ, वाही जाव न केइ मे ॥ २१ ॥
जाविंदिया ण हाइंति, ताव धम्मं चरित्तु हं ॥
निद्दहमपरेण, पावाइं निंदिउं गरहिउं चिरं ॥ २२ ॥
पायच्छित्तं चरित्ताणं, निक्कलंको भवामि हं ।
निकलुसनिकलंकाणं, सुद्धभावाण गोयमा !॥२३॥
पन्नो नहं जयं गहिया, सुहराम विपरिवलिचुणं ।
कलिकलुसकम्ममलमुक्कं, जइणो सिज्झिज्जतक्खणं ।२४।
तान यं देवलोगम्मि, निबुओ एसयंपहे ।
देवडुंदुहिनिग्घोसे, अच्छरासयसंकुले ॥२५॥
तओ चुया इहागंतुं, सुकुलुप्पत्तिं लभित्तुणं ।
निव्विन्नकामभोगाय, तवं काउं मया पुणो ॥२६॥
अणुत्तरविमाणेसुं, निव्वसित्तूण इमागया ।
हवंति धम्मतित्थयरा, सयलतेलोकबंधवा ॥२७॥
एस गोयम ! विन्नेए, सुपसत्थे पए भावालोयणं ।
नाम अक्खयंसिवसोक्खदायगो ॥२८॥ त्तिबेमि ॥

(३) आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणेन भेदाः ।

आलोचनाया मूलगुणोत्तरगुणभेदेन भेदा यथा ओघ० ॥

आलोयणा दुविहा, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
एक्केका चउकन्ना, दुवग्गसिद्धावसाणा य ॥१२॥

आलोचना च द्विविधा मूलगुणालोचना । उत्तरगुणालोचना चेति । सा च द्विविधाप्येकैकमूलगुणालोचना उत्तरगुणालोचना च (चउकण्णाडुवग्गत्ति) द्वयोरपि साधुसाध्वीवर्गयोरेकैकस्य चतुष्कर्णा भवति । एक आचार्यः द्वितीयश्चालोचकः साधुरेवं साधुवर्गे चतुष्कर्णा भवति साध्वीवर्गेऽपि चतुष्कर्णा भवति । एका प्रवर्त्तिनी द्वितीया तस्या एव या आलोचयतीति साध्वी एव साध्वीवर्गे चतुष्कर्णा भवतीति । अथवा एकैका मूलगुणे उत्तरगुणे च चतुष्कर्णा भवति । द्वयोश्च साधुसाध्वीवर्गयोर्मिलितयोरष्टकर्णा भवति । कथमात्मद्वितीयः प्रवर्त्तिनी चात्मद्वितीया आलोचयति यदा तदाऽष्टकर्णा भवति । सामान्यसाध्वी वा यद्यालोचयति तदाष्टकर्णाश्चेति अथवा ॥

छक्कण्णा होज्जा, यदा वुड्ढो आयरिओ हवइ ।
तदा एगागिस्सवि, साहुणीदुगं आलोएइ ।
एवं छक्कण्णा हवइ, सव्वहा साहुणी उ अज्ज ।
बिइयाए आलोयव्वं, न तु एगागिणी एत्ति ॥

एवं तावदुत्सर्गतः आचार्ये आलोचयति शल्यं तदभावे सर्वदेशेषु निरूपयित्वा आलोचयितव्य एव तावद् यावत् सिद्धानामप्यालोचते साधूनामभावे ततश्चैव सिद्धावसाना आलोचना दातव्येति ॥

तथाच बृहत्कल्पे राहस्यिकीं पर्षदमधिकृत्याह ॥ सू० ॥

सल्लुद्धरणे समणस्स, चाउकण्णा रहसिया परिसा ।
अज्जाणं चाउकण्णा, छक्कन्ना अट्ठकन्ना वा ॥

द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यं च द्रव्यशल्यं कण्टकादि भावशल्यं मायानिदानमिथ्यात्वादि अथवा भावशल्यं मूलोत्तरगुणातिचारस्ततः श्रमणस्य भावशल्योद्धरणे आचार्यसमीपे आलोचयत इत्यर्थः । राहस्यिकी पर्षद् भवति । कथंभूतेत्यत आह । चतुष्कर्णा द्वावाचार्यस्य द्वौ साधोरिति चत्वारः कर्णा यत्र सा तथा । आचार्याणां चतुष्कर्णा षट्कर्णा वा तत्र यदा निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ्याः पुरत आलोचयति तदा चतुष्कर्णा । यथा निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थपार्श्वे आलोचयतः यदा च द्वितीयस्थविरगुरुसमीपे आलोचयति सद्वितीया भिक्षुकी तदा षट्कर्णा । स द्वितीयतरुणगुरुसमीपे सद्वितीयाया सभिक्षुक्या आलोचयन्त्या अष्टकर्णा तत्र प्रथमतः संयतस्य चतुष्कर्णा भावयति ।

आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जितो गुरुसगासे ।
एगंतमणावाए, एगो एगस्स निस्साए ॥

एकान्ते अनापाते एकोऽद्वितीय एकस्याद्वितीयस्याऽऽचार्य-

स्य निश्रया तत्पुरत इत्यर्थः । गौरवपरिवर्जित· ऋद्धिरसातगौरवपरित्यक्तो गौरवादि सम्यगालोचयितव्यं न भवतीति तत्प्रतिषेध गुरुसमीपे आलोचनाऽऽचार्यसमीपे आलोचना प्रयुक्ते। कथमित्याह ।

विरहंमि दिसाभिग्गह, उत्कुडुतो पंजलीनिसेज्जा वा।
एस सपक्खे परपक्खे, मोतु चउपंति सिज्जा वा ॥

एकाते यत्र कोऽपि न तिष्ठति तत्र विरहे प्रदेशे पूर्वे गुरोर्निषद्यां कृत्वा पूर्वामुत्तरां चरति । कां वा दिशमभिगृह्य वदनक दत्वा उत्कुटक· प्रबद्धांजलिः अथासौ व्याधिमान् प्रभूत वा लोचनीय ततो निषद्यामनुज्ञाप्याऽऽलोचयति । एष सपक्षे आलोचनाविधि·। परपक्षे नाम संयती तत्र तत्र मुक्त्वा आलोचना दातव्या निषद्या च न कार्यते । इयमत्र भावना। यदा संयती संयतस्य पुरत आलोचयति तदा तत्र वर्जयति किं तु यत्र लोकस्य सलोकस्तत्रालोचयति निषद्यां चाचार्यस्य न करोति ॥ आत्मनाऽभ्युत्थिता आलोचयति । श्रमणीमधिकृत्याऽऽलोचनाविधिश्चतुष्कर्णत्वमाह ॥

आलोयणं पउंजइ, गारवपरिवज्जिया उ गणिणिए।
एगंतमणावाए, एगा एगाए निस्साए ॥

या श्रमणी गौरवपरिवर्जिता गणिन्या· पुरत आलोचनां प्रयुक्ते। केत्याह । एकाते अनापाते एका अद्वितीया एकस्या अद्वितीयाया गणिन्या निश्रया ततो गुरुसमीपे श्रमणस्येव श्रमण्या अपि गणिन्याः पुरत· आलोचयत्याश्चतुष्कर्णा पर्षद् भवति ॥

षट्कर्णामाह ॥

आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजनस्स संलोए।
अबितियथेरगुणो, सबियईया भिक्खुणि निहुया ॥

अद्वितीयस्यस्थविरगुरुसमीपे सद्वितीया भिक्षुकी निभृता निर्व्यापारा न दिशो नापि विदिश· आलोकयति नापि यत्किंचिदुल्लापयति इत्यर्थः । एवं भूता सती एकांते बहुजनस्य सलोके आलोचनां प्रयुक्ते॥

अथ कीदृशी तस्या द्वितीया भवतीत्यत आह ॥

नाणदंसणसंपन्ना, पोढा वयसपरिणया ।
इंगियागारसंपन्ना, भणिया तीसेवि इज्जिया ॥

ज्ञानदर्शनसंपन्ना प्रौढा समर्था या संयतस्य तस्या वाभाव विज्ञाय न मंत्रण कर्तुं ददाति किंतु वदति यद्यालोचित तर्हि व्रजामो नोचेदालोचनयापि न प्रयोजनमिति । यथा वयसा परिणता परिणतवयास्तथा इंगिताकारसंपन्ना इंगितेनाकारेण च यस्य यादृशो भावस्तस्य त जानातीत्यर्थ एव भूता सा तस्या द्वितीया गणिन्या सा पुन· कियद्दूरे तिष्ठति । उच्यते। एके सूरयो वदति यत्रोनयोराकारा दृश्यते तावन्मात्रे परे ब्रुवते यत्र श्रवण शब्दस्येति ॥

अष्टकर्णामाह ॥

आलोयणं पउंजइ, एगंते बहुजणस्स संलोए।
सबितियतरुणगुरुणो, सबिइया भिक्खुणि निहुया ॥

एकाते बहुजनस्य सलोके सद्वितीयस्य तरुणगुरो समीपे सद्वितीया तादृशी प्रागुक्ता ॥

सम्प्रति यादृशस्य आचार्यस्य द्वितीयस्तादृशमाह ॥

नाणेण दंसणेण य, चरित्ततवविणयआलयगुणेहिं ।
वयपरिणामेण य, अभिगमेण इयरो हवइ जुत्तो ॥

ज्ञानेन दर्शनेन चारित्रेण तपसा विनयेन आलयगुणैर्बहिर्भूमिप्रत्युपेक्षणादिभि प्रतिलेखनादिभिरुपशमगुणेन च यथा वय·परिणामेन अभिगमेन सम्यक् शास्त्रार्थकौशलेन युक्तो भवत्याचार्यस्येतरो द्वितीयः ॥ वृ. ॥

सशल्यमालोचयितव्यम् । ओघनिर्युक्तौ ॥

गंतूण गुरुसगासं, काऊण य अंजलिं विनयमूलं ।
पव्वेण अत्तसोही, कायव्वा एसओ उवएसो ॥१९॥

सुगमा ॥

न हु सुज्झइ ससल्लो, जह भणियं सासणे धुवरयाणं।
उद्धरिय सव्वसल्लो, सुज्झइ जीवो धुअकिलेसो ॥२०॥

न हु चैव शुद्धयति सशल्यः पुरुषः कथ पुनः शुध्यते ।यथा भणित धुतरजसां शासने तथा शुद्धयते। कथं पुनः शुध्यति अत आह । उद्धृत· सर्वशल्यो जीव· शुध्यति धुतक्लेश इति। तस्माद्यद्यपि कथमपि किंचिदकार्यं कृत ततस्तदालोचयितव्यं ॥

कथ पुनस्तत्कृत भवतीत्यत आह ॥

सहसा अन्नाणेण व, भीएण व पेल्लिएण व ।
कप्पंवसणे णायं, केण व मूढेण वा रागदोसेहिं ॥२१॥

सहसा अप्रतर्कितमेव प्राणिवधादिकर्म्म कार्यं यदि कृतं ततस्तस्मात्प्रतिक्रमितव्यमित्येतद्द्वितीयगाथायां वक्ष्यते । अज्ञानेन च कृत न तत्र प्राणिज्ञातां व्यापादितस्य भीतेन तेन आत्मभयात् माभूदय मां मारयिष्यतीत्यत आह । प्राणिव्यपरोपण यदि कृतं प्रेरितेन वा परेण यदि कृत व्यसनेन वा आपदा यदि कृत आतकेन ज्वराद्युपसर्गेण यदि कृतं मूढेन वा राग द्वेषैर्यदि कृत किंचिदकार्यं ततः ॥

जं किंचि कयमकज्जं, न हु तं लब्भापुणो समायरियं।
तस्स परिकमियव्वं, न हु तं हियएण वोढव्वं ॥२२॥

यत्किंचित्कृतमकार्यं तत्पुनर्न हु नैव समाचरितुं लब्ध उपलभ्यते। यथा तथा प्रतिक्रमितव्य। एतदुक्तं भवति। किंचिदकार्यं कृत्वा पुनर्यथा तन्नैव भवति नैव क्रियते तथा तस्य प्रतिक्रमितव्य न तु तदकार्यं हृदयेन वोढव्यं सर्वमालोचयितव्यमित्यर्थ· ॥

कथ पुनस्तदालोचयितव्यमित्यत आह ॥

जह बालोजंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुकोओ ॥२३॥

सुगमा ॥

तस्स य पायच्छित्तं, जं मग्गविऊ गुरु उवइसंति ।
तं तह आयरियव्वं, अणवत्थपसंगभीएणं ॥ २४ ॥

तस्य च साधोर्यत्प्रायश्चित्त मार्गविदो गुरव उपदिशति। तत्प्रायश्चित्त तेनैव विधिना आचरितव्य कथमनवस्थाप्रसंगभीतेन सता आचरितव्य अनवस्था नाम यद्यकार्यसमाचरणात्प्रायश्चित्त न कृत तदा अन्येऽपि न समाचरिष्यन्ति ॥

न वि तं सत्थं व विसं, वदुप्पउत्तो य कुणइ वेयालो ।
जंतं व दुप्पउत्तं, सप्पो य पमाइणो कुद्धो ॥ २५ ॥

न तत्करोति दु·खं शस्त्र नापि विष नाऽपि दु प्रयुक्तो दुःसाधितवेताल यत्र वा दु प्रयुक्त सर्प्पो वा क्रुद्ध· प्रमादिन पुरुषस्य दु·ख करोति ॥

जं कुणइ जावसल्लं, अणुद्धियं उत्तिमठ्ठकालंमि ।
दुल्लजबोहीयंतं, अणंतसंसारियत्तं च ॥ २६ ॥

यत्करोति भावशल्यं अनुद्धृत शस्त्रादिदुःखानि पुनरेकमेव एव जनयति अतः सयतेन सर्वमालोचयितव्य ।

ता उद्धरंति गार व, रहियासूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणं च ॥ २७ ॥

ततः एवमालोच्य गौरवरहिता मुनयः उद्धरंति उत्पाटयति शूलं पुनर्भवलतानां यत् मिथ्यादर्शनशल्य मायाशल्यं निदानशल्यं च उद्धरंतीति ततः ॥

उद्धरियं सव्वसल्लो, आलोइय निंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, उद्धरियजरुव्वजारवहो ॥ २८ ॥

सुगमा न वर अतिरेकप्रत्यर्थे लघुर्भवति उत्सीयमेरो उत्तारितभारो भारवहो गर्दभादिः स यथा लघुर्भवति । एवमालोचिते सति कर्मलघुत्वं भवतीति । यतश्चैवविधः सः ॥

उद्धरिय सव्वसल्लो, भत्तपरिणाए धणियमाउत्तो ।
मरणाराहणजुत्तो, चंदगविज्झं समाणेइ ॥ २९ ॥

उद्धृतसर्वशल्यो भक्तपरिज्ञाए भक्तप्रत्याख्याने धनिकमत्यर्थं आयुक्तप्रयत्नपरः मरणाराधनयुक्तः स एवंविधश्चन्द्रवेध समानयति करोतीत्यर्थः । अत्र च कथानकं राधावेधमंगीकृत्य आवश्यकादवसेयमिति ॥ ओघ. ॥

(४) विहारादिभेदेनालोचना त्रिविधा तद्भेदाश्च ॥

आलोचना त्रिविधा । तद्यथा । विहारालोचना उपसंपदालोचनाऽपराधालोचना च व्य० उ० १

तत्रप्रथमां विहारालोचनां तावदाह ॥

तं पुण ओहविभागे, दरभुत्ते ओह जाव भिन्नोउ ॥
तेण परेण विभागो, संजमसच्छाइभयणाओ ॥ १ ॥

तत्पुनर्विहारालोचनं द्विधा तद्यथा (ओहविभागे) इति प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे सप्तमी । ओघेन विभागेन वा ओघः समान्य विभागो विस्तरः । तत्र ये साधवः समाना (ओदरभुत्ते) इति ईषद्भुक्ते वास्तव्यसाधुभिरिति गम्यते । भोक्तुमारब्धवतां वास्तव्यसाधूनामित्यर्थः । प्राघूर्णकाः समागताः (तच्छक्ति) ओघेनालोचयति । यथा अल्पा विराधना मूलगुणेष्वल्पा पार्श्वस्थादिषु दानग्रहणतश्चेत्येवमालोच्य मण्डल्यां भुंजते तत्र यदि मूलगुणापराधनिमित्त वा प्रायश्चित्तं पंचकादि यावत् । भिन्नो भिन्नमासः भिन्नमासपर्यंतमापन्ना भवति तदा ओघालोचनामालोच्य साधुभिः प्रशस्तस्य प्रशस्तो विपक्षः ततोऽयमर्थः । प्रशस्ते वा दिवसे रात्रौ वा न स्यातामिति " विवक्खातो होउ तइयाउ " इति तृतीया पुनरपराधालोचना विभागतो दीयमाना विपक्षेन सर्वस्यवाक्यस्य विपक्षव्यवच्छेदफलतया साधारणत्वाद्विपक्षेत एव प्रशस्त एव दिवसे रात्रौ वा भवतीति भाव ॥

सांप्रतमोघालोचनायाः प्रकारमाह ॥

अप्पा मूलगुणेसुं, उत्तरगुणतो विराहणा अप्पा ।
अप्पापासत्थादिसु, दाणुग्गहसंपयो गाहा ॥ २ ॥

अल्पा स्तोका विराधना मूलगुणेषु प्राणातिपातनिवृत्यादिषु रात्रिभोजनविरमणपर्यंतेषु अल्पा विराधना । उत्तरगुणेषु पिंडविशुद्ध्यादिषु अल्पा विराधना । पार्श्वस्थायसन्नकुशीलसंसक्तेषु दानग्रहसप्रयोगत दानसप्रयोगतो ग्रहणसप्रयोगतश्च । एवं ओघात ओघेनालोचना एवमालोच्य मण्डल्यामेकत्र समुद्दिशति ॥ व्य० उ० १ ॥

विहारविभागालोचनाया विधिमाह ॥

भिक्खादिनिग्गयेसुं, रहिए विकरेंति फड्डगपईओ ।
सव्वसमक्खं केई, ते बीसारयं तु सारेंति ॥

भिक्षादिनिर्गतेषु भिक्षादि आदि शब्दाद्विचारभूमिगमनार्थमन्यप्रयोजनार्थे वा बहिर्विनिर्गतेषु शेषेषु साधुषु । किमुक्त भवति । यस्यां वेलायां शिष्याः प्रतीच्छकाश्च बहिर्विनिर्गता भवति । तदानीं रहिते रहितस्य एकाकिन आचार्यस्य समीपे स्पर्द्धकपतिकाः स्पर्द्धकस्वामिनो विकटयति । आलोचयंति । केचित्पुनराचार्या एतत् ब्रुवते । ये स्पर्द्धकपतिना सह समागताः साधवस्तेषां समक्षं स्पर्द्धकपतयो विकटयति । किं कारणमिति चेत् आह । ते वीसारिय तु सारेंति । यस्मात्ते यत्किमपि विस्मृत तत् स्मारयति कथयंति ॥ व्य० १ उ० ॥

(५) शल्योद्धरणार्थमालोचनाकरणविधिः ॥

शल्योद्धरणायाऽऽलोचना विधेया तत्फलं च केवलज्ञानम् तथाच महानिशीथे १ अ. ॥

एवरं सुहासुहं, सव्वं सुविणंगं समवधारए ॥
जं तत्थ सुविणगे, पासे तारिसगतं तहा जवे ॥ ५१ ॥
जईणं सुंदरगं पासे, सुमिणगंतो इमं महा ॥
परमत्थतत्तसारत्थं, सल्लुद्धरणं सुणेतु णं ॥ ५२ ॥
देज्जा आलोयणं सुद्धं, अठ्ठमयठ्ठाणविराहिओ ॥
रंजंतो धम्मातित्थयरे, सिद्धे लोगगासहिए ॥ ५३ ॥
आलोएत्ता ण णीसल्लं, सामण्णेण पुणो विय ॥
वंदित्ता चेइए साहू, विहिपुव्वेण खमावए ॥ ५४ ॥
खामित्ता पावसल्लस्स, निम्मूलुद्धरणं पुणो ॥
करेज्जा विहिपुव्वेणं, रंजंतो ससुरासुरं जगं ॥ ५५ ॥
एवं होऊण निस्सल्लो, सव्वजावे पुणोरवि ॥
विहिपुव्वं चेइए वंदे, खामे साहम्मिए तहा ॥ ५६ ॥
नवरं । जेण समं वुत्थो, जेहिं सद्धिं पविहरिओ ॥
खरफरिसं चोइओ, जेहिं जेहिं सयं चाइओ ॥ ५७ ॥
जे वियकज्जमकज्जे वा, जाणिओ खरफरुसानिट्ठुरं ॥
जाणियं जेण वा किंचि, सोजइ जीवई जई मुओ ॥ ५८ ॥
खामेयव्वो सव्वजावेण, जीवंतो जत्थ चिठ्ठई ॥
तत्थ गंतूण विणएण, मउवी साहुसक्खियंम् ॥ ५९ ॥
एवं खामणमरिमामणं, काउं तिहुअणस्सवि जावओ ॥
सुद्धो मणवइकाएहिं, एयं घोसेज्ज निच्छिओ ॥ ६० ॥
खमावेमि अहं सव्वे, सव्वे जीवा खमंतु मे ॥
मित्ती मे सव्वजूएसु, वेरं मज्झ ण केण वि ॥ ६१ ॥
खमामि अहं पि सव्वेसिं, सव्वजावेण सव्वहा ॥
जवे जवेसु वि जंतूणं, वाया मणसा य कम्मुणा ॥ ६२ ॥
एवं घोसे तु वंदिज्जा, चेइय साहू विहियओ ॥

गुरुस्सावि विहीपुव्वं, खामणमरिसामणं करे ॥ ६३ ॥
खमावेंतु गुरुं सम्मं, नाणमाहिमं स सात्तिओ ॥
काऊण वंदिऊणं च, विहिपुव्वेण पुणोवि य ॥ ६४ ॥
परमऋतत्तसारद्धं, सल्लुध्दरणमिमं सुणे ॥
सुणेज्जा तहमालोए, जह आलोयतोचेव ॥ ६५ ॥
उप्पाए केवलं नाण, दिन्ने रिसऋावत्थहि निसल्ला ॥
आलोयणा जेण, आलोयमाणाणं चेव उप्पन्नं तत्थ-
केवलं ॥ ६६ ॥
केसिं विसोदिमो नामे, महासत्ताण गोयम ! । जेहिं ना-
वणा लोययं, तेहिं केवल नाणमुप्पाइय ॥ ६७ ॥
हाहा दुद्दु कम्मे साहू,हाहा दुद्दु विचिंतिरे ।
हाहा दुद्दुत्राणिरे साहु, हाहा दुट्ठुमणुमंते ॥ ६८ ॥
संवगालोयगे तह य, नावालोयणकेवली ॥
पयखेव केवली चेव, मुहणंतगकेवली ॥ ६९ ॥
तहा पच्छित्तकेवली, सम्मं महावेरग्गकेवली ॥
आलोयणकेवली तहय, हा हं पाविचित्तकेवली ॥ ७० ॥
उसुत्तमग्ग पन्नवए, हाहा अणायारकेवली ॥
सावज्जं न करेमित्ति, अक्खंडिय सीलकेवली ॥ ७१ ॥
तवसंजमवयसं, रक्खे निंदणगरहणे तहा ।
सव्वतो सीलसंरक्खे, कोमीपच्छित्ते वि य ॥ ७२ ॥
निप्परिकम्मे अ कंकुपणे, अणिमिसत्थी य केवली ।
एगपासित्तदोपहरे, मूणव्वयकेवली तहा ॥ ७३ ॥
न सक्कोकाउ सामन्नं, अणसणे वामि केवली ।
नवकारकेवली तहय, य निच्चालोयणकेवली ॥ ७४ ॥
नीसल्लकेवली तह य, सल्लुध्दरणकेवली ।
धन्नोमितिसंपुन्नो, स ताहंपी किन्न केवली ॥ ७५ ॥
मसल्लो हं न पारेमि, वलकदृयकेवली ।
परखसुध्द। विहाणे य, चाउम्मासी य केवली ॥ ७६ ॥
संवच्छरमहपच्छित्ते, जहा चलजीविते तहा ।
अणिव्वे खणविध्दंसी, मणुपत्ते केवली तहा ॥ ७७ ॥
आलोयं निंदरं दियए, घोरपच्छित्तदुक्करे ।
लखोवज्जगपच्छित्ते, संमाहिया सण केवली ॥ ७८ ॥
हत्थोसरणनिवासे य, अद्धकवल्लासि केवली ।
एगसिध्दगपच्छित्ते, दसवासो केवली तहा ॥ ७९ ॥
पच्छित्ताढवगोवेसु, पच्छित्तध्दकयकेवली ।
पच्छित्तपरिसमत्ती, य अह स उक्कोसकेवली ॥ ८० ॥
न सुध्दिवि न पच्छित्ता, नावरं खिप्पकेवली ।
एगं काऊण पच्छित्तं, वीयं न जवे जह चेव केवली ॥ ८१ ॥
तं वा यराम पच्छित्तं, जेण गच्छइ केवली ॥
तं वा यराम जेण तमं, सफली होइ केवली ॥ ८२ ॥
किं पच्छित्त चरंतोहं, चिट्ठणो तवलीजिणा ॥
ण माणंण लंघेयं पाण, परिच्चयणकेवली ॥ ८३ ॥
अन्नं होही सरीरं मे, नो वोही चेव केवली ॥
सुलध्दमिणं सरीरेणं, पाविणीदुहणकेवली ॥ ८४ ॥
अणाइपावकम्ममलं, निध्दोवेमीह केवली ।
वीयंतं न समायरियं, पमाया केवली तहा ॥ ८५ ॥
देहे खवउ सरीरं मे, निज्जराजावउ केवली ।
सरीरस्स संजमं सारं निकलंकं तु केवली ॥ ८६ ॥
मणसा विखंभिए सीले, पाणेण धरामि केवली ।
एवं वइकायजोगेणं, सीलं रक्खे अहं केवली ॥ ८७ ॥
एवमाई अणादीया, कालाउ णंते मुणी ।
केइयालोयणासिध्दे, पच्छित्ता जाइ गोयमा ! ॥ ८८ ॥
खंता दंता विमुत्ता य, जिइंदी सच्चजासिणो ।
छकायसमारंजाओ, विरत्ते तिविहे णओ ॥ ८९ ॥
तिदंमा सवसंवरिया, इत्थिकहासंगवज्जिया ।
इत्थिण लावभिरयाय, अंगोवंगणिरक्खणा ॥ ९० ॥
निम्ममत्ता सरीरेवि, अप्पमित्तध्दा महायसा ।
जीयाइत्थियिगब्जवसहीणं, बहुदुक्खाओ जावओ ॥ ९१ ॥
तहा तोपरिसेणं, जावणं दायव्वा आलोयणा ।
पच्छित्तं पि व कायव्वं, तहा जहा चेव एहिं कयं ॥ ९२ ॥
न पुणो तहा आलोएयव्व, मायाडंजेण केणइ ।
जह आलोयणं चेव, संसार वुड्ढिजवे ॥ ९३ ॥
अणंतेणाइकालाओ, अत्तकम्मेहिं दुम्मइ ।
बहुविकप्पकल्लोले, आलोए तेवि अहोगए ॥ ९४ ॥
द० प० ॥ नहु सिज्झई स स सल्लो, जह जणियं सा-
सण धुयरयणा ।'
उध्दरियसव्वसल्लो, सिज्झइ जीवो धुअकिलेसो ॥ २४ ॥
सुबहुंपि जावसल्लं, जे नालोयति गुरुसगासंमि ।
निसल्लासंथारग, सुचितिआराहगा हुंति ॥ २५ ॥
अप्पंपि जावसल्लं, जे नालोयंति गुरुसगासंमि ।
वंतपि सुयसमिध्दा, नहु ते आराहगा हुंति ॥ २६ ॥
नवि ते सत्थ च विसं, च दुप्पउत्तो वि कुणइ वेयालो ।
जंतं च दुप्पउत्तं, सप्पुव्वपमाइओ कुध्दो ॥ २७ ॥
जं कुणइ जावसल्लं, अणुद्धियं उत्तमट्ठकालंमि ॥
दुल्लजव्वोहियत्तं, अणंतसंसारियंतं च ॥ २८ ॥
तत्पुध्दरंति गौरव, रहिया मूलं पुणज्भवलयाणं ॥
मिच्छादंसणसल्लं, मायासल्लं नियाणसल्लं च ॥ २९ ॥
मरिऊं ससल्लमरणं, संसाराडविमहाकडिल्लम्मि ॥
सुचिरं जमंति जीवा, अणोरपारंमि ओइन्ता ॥ ४२ ॥

व्याख्या । मृत्वा आसेव्य सशल्यमरण प्रतीत तत किमि-
त्याह । ससाराऽविमहाकडिल्ले भवारण्यगुरुगहने सुचि-
रमतिदीर्घकाल भ्रमति पर्यटति जीवा देहिन. अनर्वाक् पारे

अर्वाक्भागपरभागवर्जिते अवतीर्णा अवगाढा इति संवेग कृत्वेति योगः ॥

तथा ॥

उद्धरियसव्वसल्ला, तित्थगराणाए सुत्थिया जीवा ।
भवसयकयाइं खविओ, पावाइं गया सिवं थामं ॥ ४३ ॥

व्याख्या ॥ उद्धृत सर्वशल्याः कृतालोचनास्तीर्थकराज्ञायां जिनोपदेशे सुस्थिताः सुष्ठु व्यवस्थिताः सतो जीवा देहिनः भवशतकृतानि जन्मशत विहितानि क्षपयित्वा प्रकृपप्यशस्योद्धारसामर्थ्यात् पापानि कर्माणि गताः प्राप्ताः शिव निरुपद्रवं (थामंति) स्थानं सिद्धालयमित्यर्थः ॥

सल्लुद्धरणं च इमं, तिलोगबंधूहिं दंसियं सम्मं ।
अवितहमारोग्गफलं, धण्णोहं जेणिमं णायं ॥ ४४ ॥

व्याख्या । शल्योद्धरणमालोचना च शब्दः पूर्वगाथाद्वयोक्तार्थापेक्षया समुच्चयार्थः । इदमनतरोक्त विधान त्रिलोकबंधुभिर्जिनैरित्यर्थः दर्शितमुक्त । सम्यक् सोपपत्तिकं अवितथमव्यभिचारि आरोग्यफलं भावारोग्यसाधक ततश्च धन्योऽहं पुण्यवानहं येन मया इदमेतच्छल्योद्धरणं ज्ञातमवगतं ॥

ता उद्धरेमि सम्मं, एय एयस्स णाणरासिस्स ।
आवेदिय असेसं, अणियाणो दारुणविवागं ॥ ४५ ॥

व्याख्या । ता इति यस्मादिदं मया ज्ञात तत्तस्मादुद्धराम्यपनयामि सम्यग् न्यायेन एतत् भावशल्य एतस्य गुरोर्ज्ञानराशेः अग्रे सद्बोधनिकरस्यावेद्य कथयित्वाऽशेषं सकलमनिदानो निर्निदानः सन् दारुणविपाक रौद्रफलं शल्यमिति प्रक्रमः ॥

इय संवेगं काउं, मरुगाहरणादिएहिँ विधेहिँ ॥
दढपुणकरणाजुत्तो, सामायारिं पउंजेज्जा ॥ ४६ ॥

॥ व्या० ॥ इति एवमनतरगाथाचतुष्कोक्तप्रकारं संवेग शुभाध्यवसायविशेषं कृत्वा विधाय कैरित्याह । मरुकाहरणादिभिर्ब्राह्मणोदाहरणाद्यैः समयप्रसिद्धैश्चिन्हैर्विभिर्मरणाभ्युपगमेनाऽपि शुद्धिः कार्येत्येवभूतार्थगमकैः ॥ पचा-वृ-१५.

नवि सुज्झंतिससल्ला, जहभणिय सव्वभावदसीहिं ।
मरणापुणब्भवरहिआ, आलोअणनिंदणा साहू ।५५।द प ४॥

(६) आलोचनीये विषये यथाक्रममालोचनाप्रकारः ॥

संप्रति यदालोचनीय तदालोचनाविषयं तस्य विधिमाह ।

मूलगुणपढमकाया, तत्थवि पढमं तु पंथमादीसु ।
पायअपमज्जणादी, विइए उल्लाइपंथे वा ॥

इह द्विधा अपराधा (मूलगुणापराधा उत्तरगुणापराधाश्च तत्र उभयसंभवे प्रथम) मूलगुणापराधालोचना । तेष्वपि मूलगुणापराधेषु मध्ये प्रथम मूलगुणापराधः प्राणातिपात इति स प्रथममालोचनीय' । स च षड्जीवकायविषय इति काया प्रथमत आलोचयितव्यास्ते च काया' पृथिव्यादिक्रमेण तत्र सूत्रे उपन्यस्ता इति (तत्थवि) तेष्वपि कायेषु पृथिव्यादिषु मध्ये प्रथम पृथिवीकायमेवमालोचयेत् ।" पथमादीसु पादअपमज्जणादी,, पथादिषु यत् पादप्रमार्जनादि कृत । किमुक्त भवति । पथि व्रजिता स्थण्डिलादस्थण्डिलाद्वा स्थंडिल कृष्णमृत्तिकातो वा नीलमृत्तिका नीलमृत्तिकातो वा कृष्णमृत्तिकामेव शेषवर्णेष्वपि भावनीयं । संक्रामता पादयोर्यत्प्रमार्जनं न कृत । तथा वातोद्धूतेन सचित्तेन रजसा सचित्तया वा मृत्तिकया ससृष्टेन हस्तेन ससृष्टेन मात्रकेण वा यत् भिक्षाग्रहणं कृत । तदेव मयाऽऽलोचीति सर्वत्रापि सामर्थ्यात् योजनीयम् "बिइय उल्लाइ पथेवा,, इति पृथिवीकायविराधनालोचनानंतर द्वितीये अप्कायविषये यदुदकार्द्रादि आदिशब्दात्सस्निग्धादि परिग्रहः । एतदुक्त भवति । उदकार्द्रेण सस्निग्धेन वा हस्तेन मात्रेण भिक्षाग्रहणं कृत पथि वा मार्गे वा अयतनया उदकमुत्तीर्णे वा एवमादि तयालोचयेत् ।

तइए पइट्ठियादी, अभिधारणवीयणादिवाउंमि ।
वीयाइघट्टपंचमे, इंदिये आणुवायतो छट्ठे ॥

अप्कायविराधनालोचनानतर तृतीये तेजस्काये यत् प्रतिष्ठितादितेजसि परंपरादिप्रतिष्ठित भक्तं पान वा गृहीतं ॥ आदिशब्दात् सज्योतिषि वा वसतावस्थानं कृतमित्येवमादीतिभावः । तदालोचयेत् । तदनंतरं वायौ वातकाये यत् अभिधारणवीजनादि कृत । घर्मार्तेन बहिर्वातोऽभिसधारितो भक्त पान शरीर वा वीजनिकादि वा जीवित एवमादि तदालोचयेत् । तत पंचमे वनस्पतिकाये "वीयाइघट्टत्ति,, । यत् बीजादिघट्टन आदिशब्दात् हरितकायादिपरिग्रहः उपलक्षणमेतत् । तेन यदि वा बीजादिक भिक्षासु पतित गृहीतमित्येवमादि तदालोचयेत् । तदनंतरं षष्ठेऽत्र त्रसकाये इंद्रियानुपातत इंद्रियवृद्धिक्रमेणालोचना दातव्या ॥ तद्यथा । प्रथमतो । द्वींद्रियाणां सघट्टनपरितापनाद्यालोचयेत् । तदनतर त्रींद्रियाणां चतुरिंद्रियाणां तत पंचेंद्रियाणामिति । एव प्रथममूलगुणापराधेषु क्रमेणालोचितेषु सत्सु ॥

दुब्भासियहासयादी, बिए तइए य जाविययगहणं ।
सघट्टणपुव्वरयादी, इंदियआलोगमहुम्मे ॥

द्वितीये मूलगुणापराधिमृषावादे मृषावादविषये यत् दुर्भाषितहासितादियत्किमपि दुर्भाषितं हासेन वा मृषावादो भणितः आदिशब्दात् । क्रोधेन वा मानेन मायया वा लोभेन वा यत्किमपि मृषा भणित मिति परिग्रहस्तदालोचयेत् । तदनतर तृतीयेन मूलगुणापराधे अदत्तादानलक्षणे यत् अयाचितस्य तृणडगलकादेर्ग्रहण उपलक्षणमेतत् । तेन अननुज्ञाप्य वा अवग्रहं कायिकादिव्युत्सृष्टं भवेदित्यादि परिग्रहः । तदालोचयेत् । मैथुनविषये ततोमैथुने यत् घट्टने पूर्वरतादि । किमुक्त भवति । चैत्यवन्दनम हिमादिषु प्रभूतजनसमर्दे स्त्रीशरीरसघट्टने स्पर्श आस्वादितो भवेत् । पूर्वरतक्रीडित वा अनुस्मृत स्यात् (इंदियत्ति) इंद्रियाणि वा मनोहरणानि उपलक्षणमेतत् । वदनस्तनादिमतिसुमनोहरमवेक्ष्य मनाक् राग गतो भवेत् । इत्यादि तदालोचयेत् ॥

मुच्छातिरित्तपंचमे, छट्ठे लेवाडअगयसुंठादी ।
गुत्तिसमिईविवक्खा, एामि गहणुत्तरगुणेसु ॥

चतुर्थमूलगुणापराधालोचनानतरं पचमे मूलगुणापराधे परिग्रहे विषयभूते यत् उपकरणेषु मूर्च्छा कृता भवेत् । (अइरित्तित्ति) अतिरिक्तो वा उपधिः परिगृहीत एतदालोचयेत् । तदनतर षष्ठे मूलगुणापराधे रात्रिभोजने (लेवाडेत्ति) लेपकृद्दवयव' कथमपि पर्युषितो भवेत् । अगद वा शुण्ठ्यादिक किंचित्सन्निहित परिभुक्त भवेत् । एवमादि आलोचयेत् एव क्रमेण मूलगुणापराधालोचनां दत्वा तदनतरमुत्तरगुणेषु विषयेषु गुप्तिसमितिविपक्षा कृता । अनेषणीयग्रहण धात्र कारि । किमुक्त भवति । गुप्तिषु कदाचिद्गुप्तः स्यात् । समि-

तिषु कदाचिदसमितोऽनेषणीय वा भक्त वा पान वा गृहीत स्यादित्यादि आलोचयेत् तथा ॥

संतंमि विज्जविरिए, तवोवहाणे यं जं न उज्जमियं ।
एसा विहारवियडणा, वोत्थं उवसंपणाणंतं ॥

सत्यपि विद्यमानेऽपि बलं शारीरप्राणः वीर्यमांतरीशक्तिर्ये- रूशात्तपः कुर्वन् शरीरस्यातिकृशतायामपि न सयमयोगेषु सीदति बलं च वीर्यं च बलवीर्यं समाहारे द्वन्द्वस्तस्मिन् तपसो द्विभेदस्याऽपि उपधान तस्मिन्नोद्यत नोद्यमः कृत- पतंदपि आलोचयेत् । एषा विहारावकटना विहारालो चना । उपसंपदालोचनाऽपि प्राय एवरूपा केवलं यन्नानात्व तत् वक्ष्ये ॥ व्य० ।

तत्रप्रथमत उपसंपदालोचनाया अपराधालोचनायाश्च वि- हारालोचनया सह नानात्व दर्शयति ॥

एगमणेगा दिवसेसु, होइ ओहे य पदविभागे य ।
उवसंपयावराहे, नायमनायं परिच्छंति ॥

उपसपच्चापराधश्च उपसपदपराधस्तस्मिन् आलोचनेति प्रस्तावात् गम्यते उपसपदालोचना अपराधालोचना चेत्यर्थः। प्रत्येक द्विधा (ओघे य) इत्यादि तृतीयार्थे सप्तमी। ओघेन पदविभागेन च तथा एकैकापि दिवसेषु चिंत्यमाना (एगमणेगा) इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । एक दिवसिकी अनेकदिवसिकी च भवति । ओघालोचना एक- दिवसिकी । विभागालोचना एकदिवसिकी अनेकदिवसिकी चेत्यर्थः ॥

तत्रैवमुक्तमनानानात्वमधुनानात्वमुपदर्शयति । (नायमनाय परिच्छति) उपसपद्यमानो द्विविधो भवति । ज्ञातोऽज्ञातो वा। तत्र यदि ज्ञातस्तत स न परीक्ष्यते तस्याग्रेऽपि ज्ञातत्वात् अथाज्ञातस्तर्हि स आवश्यकादिभिः पदैः परीक्षणीय इति ॥

सम्प्रति यदुक्तं विभागेन (अप्पसत्ये दिण) मित्यादि । तद्व्याख्यातुकाम आह ॥

दियरातो उवसंपय, अवराहे दिवसतोपसत्थंमि ।
उग्घातो दिवसं, तिण्हंतु अतिक्कमे गुरुगा ॥

विहारालोचनावत् । उपसपदालोचनाऽपि विभागेन प्रशस्ते वा दिवसे रात्रौ वा दातव्या दोषाभावात् । तथा पूर्वसूरिभि रनुज्ञानात् । अपराधे अपराधविषये पुनरालोचनादिवसतो इति सप्तम्यन्तात् तद्दिवसे उपलक्षणमेतत् । रजन्यां वा प्रशस्ते विष्टि व्यतीपातादिदोषवर्जिते " व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिरिति " न्यायात् रूव्यादिषु प्रशस्तेषु दातव्या नाऽ प्रशस्तेषु एषा जिनाज्ञा । तथा उग्घातो तद्दिवसमिति यस्मिन् दिवसे उपसंपद्यमान आगत । तस्मिन् दिवसे यदि उद्घात- परिश्रांत इति कृत्वा न पृष्ट आचार्येण ततः स आचार्यः शुद्ध । त्रयाणां तु दिवसानामतिक्रमे । किमुक्त भवति । त्रिषु दिव- सेषु मध्ये यदि न पृष्टस्ततश्चतुर्थे दिवसे तस्याऽपृच्छत: परिहारस्थान गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासा । एतच्च उपरि व्या- ख्यास्यते ॥

समणुन्नऽणुगनिमित्तं, उवसंपज्जेत्ते य होइ एमेव ।
अप्पमणुन्नेन वरं, विभागतो कारणे भइयं ॥

उपसपद्यमानो द्विधा तद्यथा । समनोज्ञो ऽसमनोज्ञश्च- तत्र समनोज्ञस्य समीपे समनोज्ञ उपसपद्यमानो द्विकनि मित्त उपसंपद्यते । तद्यथा ज्ञानार्थं दर्शनार्थंच न चारित्रार्थं येन चरणं प्रति ससदृश एव समनुज्ञे द्विकनिमित्त मुपसप- द्यमाने एवमत्र विहारालोचनेव भवत्यालोचना । इयमत्र भावना। समनोज्ञो द्विकनिमित्त मुपसपद्यमान आलोचनां विहा रालोचना मिव ओघेन ददाति । पदविभागेन च पदविभागे- नालोचना । एकदिवसेन वा भवत्यनेकदिवसैर्वा । एव सम नोज्ञस्य उपसपदालोचना (अण्णमणुण्णे) त्यादि । अन्यो नाम भिन्न सभोगिकः समनोज्ञो ऽसंविग्नः सो ज्ञोऽ समनो ज्ञश्च उपसपद्यमान स्त्रिक निमित्त मुपसपद्यते । तद्यथा ज्ञाना र्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं वा तस्मिंश्च तथोपसपद्यमाने पूर्ववद् दालोचनां विधिः । अत्रा ऽपीय भावना अन्यो ऽसमनोज्ञो वा आलोचनां ददाति । ओघेन पदविभागेन च ददान एकदिव- सेन वा ददाति । अनेक दिवसै र्वा नवरमिति विशेष- एष पुनरत्र विशेषः । तस्याऽज्ञस्यासमनोज्ञस्य वा आलोच- ना उत्सर्गतो विभागतः सर्ववाक्यं साधारणमिति विभागत एव कारण पुनर्निर्जितं विकल्पित वेलाप्राप्तौ विभागालोचना भवति सम्भ्रम सार्थादिषु पुनः कारणेषु तदप्राप्तावोघे नालो- चनेतिभावः । एषा भजना अपराधालोचनाया अपि द्रष्ट- व्या तथाहि । अपराधालोचना उत्सर्गत पद विभागेन दात- व्या अपवादकारणे पुन सम्भ्रम सार्थादिलक्षणा ओघेनापीति । सम्प्रति उच्यते । तद्दिव समिति व्याख्यातुकाम आह ।

पढमदिणमविफाले, लहु बिइए गुरुतइए लहुया ।
तेच्चिय तम्हाकहणे, सुद्धमसुद्धोविमेहिंतु ॥

य स मनोज्ञ उपसपदनार्थमागतस्तं यद्याचार्य प्रथमदिवस- मिति सप्तम्यर्थे द्वितीया प्रथमदिवसेन (विप्फालेइ) देशी- वचनमेतत् पृच्छतीत्यर्थः । उक्तंच" विप्फालनत्ति पुच्छणत्ति वा एगट्ठमिति „ यथा कुत आगत कुत्र वा गमिष्यसि । किं निमित्त वा समागत इति । ततस्तस्य दिवसे एव मविप्फा- लने परिहारस्थान (लहुयत्ति) मासलघु द्वितीयेऽपि दिवसे यदि न पृच्छति ततो (गुरुत्ति) मास गुरु (तइयत्ति- तृतीये दिवसेऽप्यपृच्छने (लहुया) इति चत्वारो लघुमासा- चतुर्थेऽपि दिवसे यदि न पृच्छति । ततः (तिण्ह तु अइक्क- मे गुरुगा) इति वचनाच्चतुर्गुरु पचमादिषुदिवसेष्वप्रच्छने तदेव चतुर्गुरु (तिण्हतु अइक्कमे) गुरुगा इति निरवधितया वचनप्रवृत्तेः । "तच्चियतस्साकहणे" इति ते च प्रायश्चित्तवि- शेषाः क्रमेण तस्याकथने । तद्यथा । स पृष्ट सन् यदि ब्रूते कथयिष्यामि न तु कथयति । तस्मिन् प्रथमदिवसे अकथने मासलघु । द्वितीयदिवसेऽप्य कथयतो मासगुरु । तृतीयद्दिवसे चतुर्लघु चतुर्थदिवसेऽप्यकथयतश्चत्वारो गुरुमासाः । तत परं पचमादिष्वापिदिवसेष्व कथने तदेव चतुर्गुरु ।

इदानीं उद्घातो तद्दिवसमिति व्याख्याया अवसरः । तद्दिवसे प्रथमदिवसे उद्घात इति कृत्वा न पृच्छति । तत आचार्यः प्रथमदिवसे अविस्फालेऽपृच्छने (लहुयत्ति) लघु न दोष- गुरुः शुद्ध इत्यर्थः । कारणवशेनापृच्छनात् द्वितीयदिवसे न पृच्छति मासगुरु तृतीयदिवसेऽप्यप्रश्ने चतुर्गुरु । एवं तेनोप- संपद्यमानेन पृष्टेन वा यदव्याख्यात भवति । तथाचाह ॥ ननु केन कारणेन वा समागत इति । तत आगतश्चिंतनीयः (सु- द्धमसुद्धोवत्ति) शुद्धोऽशुद्धो वा अत्र चत्वारो भंगास्तद्यथा निर्ग मनमप्यशुद्धमागमनमप्यशुद्ध १ निर्गमनमशुद्धमागमनं शुद्ध २ निर्गमन शुद्धमागमनमशुद्ध ३ निर्गमनमपि शुद्धमागमनमपि

गुरू ४ तत्र प्रथमभंगेननिर्गमन (इमेहिंतुत्ति) एभिर्वक्ष्यमाणैर्द्वारैश्चितितान्येव द्वाराणि दर्शयति ॥

अहिगरणविगतिजोगे, पडिणीए थद्धलुद्धनिद्धम्मे ।
अलसअणुवद्धवेरे, सच्छंदमतीपयहियव्वो ॥

यदि स उपसपद्यमानोऽधिकरणतः स्वस्थानान्निर्गत, (विगतित्ति) विकृतेरप्रीपथ्यात् (योगत्ति) योगोद्वहनभीरुतया (पडिणीएत्ति) प्रत्यनीकोऽत्र मे साधुरिति बुद्ध्या तथा "थद्धलुद्ध" इत्यादिस्तब्ध इति वा लुब्ध इति वा निर्द्धर्म्म इति वा अलस इति वा स्वच्छदमतिरिति वा विनिर्गतस्तत स्तस्य निर्गमनमशुद्धमिति कृत्वा (पय.हियव्वोत्ति) परिहर्तव्यः । तदपरिहरणे प्रायश्चित्त तत्राधिकरणविषये प्रायश्चित्तमाह ।

गिहिसंजय अहिगरणे, लहु गुरुगा तस्स अप्पणोच्छेदो ।
विगई न देइ घेत्तुं, उत्तुरयं व गहिये वि ॥

गृहिभिः संयतैश्च सहाधिकरणे विनिर्गत यद्याचार्य्यः स्वीकरोति ततो यथाक्रम प्रायश्चित्त लघुगुरुकं । इयमत्र भावना । यदि गृहस्थेन सहाधिकरण कृत्वा विनिर्गतस्त यद्याचार्यःसंगृह्णाति ततस्तस्याचार्यस्य परिहारस्थान चत्वारो लघुमासाः अथ संयतेन सममधिकरण कृत्वा समागतं संगृह्णाति ततश्चत्वारो गुरुकाः । तस्य पुनरागतुकस्य (पणत्ति) रात्रिंदिवपञ्चकप्रमाणा पर्यायस्य च्छेदः । इहाऽधिकरणादिदोषतो विनिर्गतास्ते प्रश्ने वा सति तदुक्तिवशादवसीयते । तत्र विकृतिदोषविनिर्गतपृष्टस्य वा य उक्तिविशेषस्त दर्शयति (विगइमित्यादि) आचार्यो विकृतिं घृतादि कांग्रहणां य न ददाति तथा योगवाहिभिर्योगोत्तीर्णैः कायोत्सर्गकरणतो गृहीतोऽपि परिपूर्णे विकृतिजातेऽन्यैर्भुक्ते या उद्धरिता विकृतिस्तामपि नानुजानाति किंच ।

नववज्जिया वि देहो, पगईए दुब्बलोअहं भंते ! ।
तब्भावियस्स इण्हिं, नयगहणं धारणं कत्तो ॥

वज्जिवावोनाम देशीवचनत्वादिक्षुः । उक्तं च "वज्जियावगोउच्छ" इति नववज्जियावत्वत् देहो यस्य स तथा । इयमत्र भावना । स ब्रूते अहं भगवन् ! नवेक्षुतुल्यो मम देहो यथा स इक्षुः पानीयेन विना शुष्यति तथा ममापि देहो विकृतिं विना सीदति । अन्यच्चाऽहं स्वभावेन दुर्बलो न विकृतिमतरेण बलिको भवामि । तथा सर्वदैव विकृत्याचितदेहस्ततस्तद्भावितस्य सतो ममेदानीं तस्याऽभावेन बल न च सूत्रार्थस्य वा ग्रहणमशक्तत्वात् । पूर्वं गृहीतस्य सूत्रस्यावधारण कुत. तत् अशक्त्या सर्वं दूरत एव विस्मृतं । ततोऽहं विनिर्गतः ॥

संप्रति योगविषये प्रत्यनीकविषये चोक्तिविशेषं दर्शयति ॥

एगंतरनिव्विगती, जोगोपव्वतियगोत्रमे अत्थि ।
वुक्कूखलिएसु गेण्हइ, छिद्दाणि कहेइय गुरूणं ॥

तस्मिन् गच्छेयोग एकान्तरनिर्विकृतिक. । किमुक्तं भवति । संपृष्टोवा ब्रूते । तस्याऽऽचार्यस्य गच्छे योग एकान्तरोपवासेनोह्यते । एकांतरा चाम्लेन वा तथा योगवाहिनो योगोत्तीर्णस्याऽपि ते आचार्या विकृतिं न विसृजन्ति । तत कर्कशा सूत्रयोगा इति विनिर्गत. ॥ न तथा तत्र गच्छे मे मम प्रत्यार्थिक' । प्रत्यनीकोऽस्ति स कथं विसामाचारीयोगेषु "वुक्कखलिएसुत्ति" धुके विस्मृते सामाचारीविशेषे स्खलिते दुःप्रत्युपेक्षणादिके मां गृह्णाति अत्यर्थं खरण्टयति । अथवा धुक्कस्खलितेषु जातेषु तानि धुक्कस्खलितानि अपराधपदे छिद्राणीवाछिद्राणि गृह्णाति गृहीत्वा गुरूणां कथयति । पश्चात् गुरवो मां खरण्टयति ततो विनिर्गतः ॥

संप्रति लुब्धस्य स्तब्धस्य चोक्तिविशेष दर्शयति ॥

चंकमणादिउट्ठाणे, कडिगहणं काउ नत्थि वाहि एवं ॥
भुंजइ सयमुक्कोसं, तयदेति नेमिलुद्धेवं ॥ १ ॥

स्तब्ध एव भाषते चक्रमणादावुत्थाने कटिग्रहण स्वाध्यायश्च नास्ति । एतदुक्त भवति । यद्याचार्याश्चक्रमण कुर्वंति । आदिशब्दात् यदि वा कायिक्यादिभूमिं गच्छंत्यागच्छंति वा तदा तथाऽप्यभ्युत्थातव्याः । तेषां नायकत्वात् । तत. एव चक्रमणादावभ्युत्तिष्ठतामस्माकं कटी वा तेन गृह्यते भूयोभूय उत्थाने पलिमथभावात् सूत्ररूपस्याऽर्थरूपस्य वा स्वाध्यायस्य हानिः । अथ नाभ्युत्थीयतेऽतः आचार्यः प्रायश्चित्त ददाति खरण्टयति च । ततोऽहं विनिर्गतः लुब्धः पुनरेव ब्रूते यत्किमप्युत्कृष्ट शिखरिणीमोदकादि तदाचार्यः स्वय भुंक्ते न त्वस्मादृशेभ्यो ददाति । अन्येभ्यो वा बालदुर्बलप्राघुर्णकेभ्यो ददाति ततः एवमसहमानोऽहं निर्गतः ॥

अथवा निर्द्धर्म्मालसयोरुक्तिविशेषं प्रकटयति ॥

आवासियापमज्जण, अकरणे उज्जदंडनिद्धम्मो ॥
बालावद्धादीहा, भिक्खायरिया य उब्भामा ॥ १ ॥

योनिर्द्धर्म्मो स पृष्टः सन्नेव वक्ति आवश्यक प्रमार्जनीकरणे उद्यदंडा आचार्याः । इयमत्र भावना । यदि कथमपि निर्गच्छन् प्रविशन् वा आवश्यकीं नैषधिकीं च न करोति दंडादिक वा गृह्णन् निक्षिपन्वा न प्रमार्जयति । तत आचार्या निरनुकम्पास्ततः उग्रं प्रायश्चित्तरूप दण्ड प्रयच्छति ततोऽहं दण्डभयाद्विनिर्गतः । यः पुनरलसः स एव ब्रूते । यावादयर्याय बालवृद्धादीनामर्थाय । तस्मिन् गच्छे दीर्घभिक्षाचार्या अथवा कुत्सितं कर्कश वा तत् क्षेत्रं ततो दिने दिने उद्भ्रामा भिक्षाचर्या प्रतिदिवसमन्यत्र ग्रामान्तरे गत्वा भिक्षा नीयते इति भावस्तथा यदिकथमप्यपर्याप्तेन समागम्येत ततो गुरु. खरण्टयति किं वसतौ न महानसमस्ति येनापर्य्याप्तः समागत. । तस्मा द्भूयोऽपि व्रज भिक्षार्थं यतः कालोऽद्यापि बहू प्राप्य इति ततोऽहं निर्गतः ॥

साम्प्रतमनुबद्धवैरस्वच्छंदमत्योरुक्तिविशेष दर्शयति ॥

पाणसुणगा व भुंजंति, एगत्तो भंडिउंपि अणुबद्धो ॥
एगागिस्स न लब्भा, वलिउं घेवंपि मच्छंदो ॥

अनुबद्धोऽनुबद्धवैरो भवति भण्डित्वाऽपि भण्डन कलहस्तमपि कृत्वा पाणशुनका इव एकत्र भुञ्जते ॥ इयमत्र भावना ॥ यथा पाणाश्चण्डाला' शुनका. कुर्कुरा परस्पर भण्डित्वा तत्क्षणादेवैकत्र भुञ्जते । एव तत्र संयता अपि नवर मिथ्यादुष्कृत परस्पर दाप्य इति विशेष । अहं पुनर्न शक्नोमि हृदयस्थेन शल्येन तै सह एकत्र समुद्देष्टुमिति विनिर्गतः । स्वच्छन्दमति. पुनरेव भाषते एकाकिन' सत स्तोकमपि न लभ्यं चलितु । किमुक्त भवति । संज्ञाभूमावप्येकाकिन सता न गन्तु प्रयच्छति किंत्वेव ब्रुवते नियमात्संघाटक रूपतया केनापि सहितेन गन्तव्य । ततस्तमसहमानोऽहमत्रागत' । एतान्यधिकरणादीनि पदान्याचार्य' श्रुत्वा तं परित्यजति । एतं अधिकरणादिपदैरागतस्य तस्योपसंपद्यमानस्य चाप्रतीच्छतश्चाचार्यस्यैव प्रायश्चित्त ।

अइ संगणपमिणीए, लुद्धे अणुबद्धरोस चउगुरुगा ॥
सेसा ण हुंति लहुगा, एमेव पमिच्छमाणस्स ॥

यो यतिभिः सह भण्डनं कृत्वा समागतः । यश्च तत्र मे प्रत्यनीकः साधुरिति कृत्वा समागच्छेत् । यश्च लुब्धो यश्चानुबद्धरोषः । एतेषामुपसंपदं प्रतिपद्यमानानां प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः चत्वारो गुरुमासाः । शेषाणां भण्डनकारिविकृतिक्षपटयोगनीरस्तत्वनिर्द्धर्मस्वच्छन्दमतीनां लघुका इति चत्वारो लघुकाः । यः पुनराचार्यस्तदाचार्यमननुज्ञया प्रायश्चित्तदानमन्तरेण च प्रतीच्छति तस्यापि प्रायश्चित्तमेवमेव । तद्यथा । यतिभण्डनकारिप्रत्यनीकलुब्धानुबद्धवैरान्प्रतीच्छतश्चत्वारोमासाः शेषान् च प्रतीच्छतश्चत्वारो लघुमासाः । अथवा ये एते दोषा उक्तास्तेषां मध्ये एकेनापि दोषेण नागतो भवेत् किंत्वे निर्वहणमात्रैस्तानेवाह ।

एगे अपरिणए वा, अप्पाधारे य थेरए ।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥

यदि एक एकाकी पश्चादाचार्यः ।

यदिवा अपरिणए वा, अप्पाधारे य थेरए ।
गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥

यदि एकतः । अकल्पिकयत्यादिसहितः स च कल्पिकयत्याद्युत्पादने अभिमानतया तदाचार्योऽल्पाधारः सूत्रार्थेनैकविकलः स च वृद्धः सन् सूत्रार्थकथने निपुणः शक्तिमान् यदि वा तदाचार्यः परिवारो वा स्थविरो जरसा वृद्धशरीरः । स च तेषां प्रतिजागरुकः अथवा पश्चादेकोग्लानः । स च तस्य चिंताकारी यदि वा पश्चात्तत्रैको बहुरोगी नाम बहुभिः साधारणैरोगैर्जाप्यशरीरः स च तस्य वर्त्तापकः । यदि वा पश्चात्तनाचार्यपरिवारः सर्वोऽपि निर्द्धर्मा न गुर्वाज्ञां करोति केवलं तद्भयात् किमपि करोति । तथा तत्र पश्चात् गुरोः केनापि सह प्राभृतं वर्त्तमानमस्ति । प्राभृतं नाम अधिकरणं । स च गुरोः क्रमेण अपनतः साहाय्यकारी एव प्राग्वर्त्तमाने यदि समागतो भवति । तदा तस्य निर्गमनमशुद्धत्वाच्च परित्याज्यमिति ॥

एतामेव गाथां व्याख्यातुकाम प्रथमत एका परिणताऽल्पाधारद्वाराणि व्याख्यानयति ॥

एगाणियं पमोत्तुं, इत्यादि अकप्पएहिं वा सहियं ।
अप्पाधारावायणं, तं चेव य पुच्छिओ देइ ॥

एकमेकाकिनं पश्चादाचार्यं मुक्त्वा यदि समागतः । अथवा यत्अकल्पिकैः प्रथममपि अहीतैरकल्पिकैर्वत्सादिभिः सहितं मुक्त्वा एतेनापरिणत इति व्याख्यातं । यदि वा अल्पसूत्रस्याऽर्थस्य वा आधार इति स आचार्यस्तमेवपृष्ट्वा शेषसाधुभ्यो वाचनां ददाति तादृशं मुक्त्वा एतेनाऽल्पाधार इति विवृत ॥

थेरं अतिमहल्लं, अजंगमं मोत्तु आगतो गुरुं तु ॥
सो व परिसाव थेरा, अहं तु अट्टावगोतेसिं ॥ १ ॥

स्थविरमेव व्याचष्टे अतीव महान्तमजगम गमनशक्तिविकलं गुरुं उपलक्षणमेतत् परिवारं वा स्थविरमुक्तरूपमुक्त्वा यदि समागत. स च प्रतिजागरुक स्तथा च तस्य पृष्टस्य सतोऽमुमेवोक्तिविशेषं दर्शयति । स च आचार्यः स्थविरः पर्षद्वा परिवारो वा आसीत् अहं तु तेषां गुर्वादीनां वर्त्तापकः प्रतिजागरुक एतेन स्थविर इति पदं व्याख्यात ॥

ग्लानबहुरोगानिर्द्धर्मपदानि व्याख्यानयति ॥

तत्थ गिलाणोएगो, जप्पसरीरो य होइ बहुरोगी ॥
निद्धम्मा गुरुआणं, न करेंति समं पमोत्तूणं ॥ १ ॥

तत्र गच्छे ग्लान एकोऽस्ति यदि वा बहुरोगी यो जाप्यशरीरो भवति । स बहुरोगी तग्लानं बहुरोगिणं वा विमुच्य यदि स समागतस्तथा निर्द्धर्मपरिवारविषये तस्य पृष्टस्य सत उक्तिविशेष दर्शयति । निर्द्धर्माधर्मवासनारहितस्तस्य ममाचार्यस्य शिष्याः सर्वथा गुर्वाज्ञां कुर्वंति । मां प्रमुच्य मम पुनराज्ञां न कुर्वंति । तादृशं वा निर्द्धर्मं परिवारं मुक्त्वा यदि समागतस्तर्हि स न प्रतिग्राह्यः । केवलमयमुपदेशस्तेऽस्मै दातव्यः ॥

तमेवाह ॥

एयारिसं विओसज्ज, विप्पवासो न कप्पई ॥
सीसायरियपमिच्छे, पायच्छित्तं विहिज्जइ ॥ १ ॥

एतादृशमेकाक्यादिस्वरूपं गुरुमन्यं वा ग्लानादिकं व्युत्सृज्य परित्यज्य विशेषेण प्रवासोऽन्यत्र गमनं विप्रवासो भद्र तव न कल्पते । बहुगुणाधारो भवान् कथमीदृश कृतवान् । तस्मात् अद्याऽपि प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य पश्चात् गच्छ । स च समागतस्तस्य प्राक्तनाचार्यस्य शिष्यो वा स्यात् प्रतीच्छको वा एवमागतमुपसंपद्यमानं योऽप्याचार्यः प्रतीच्छति सोऽपि प्रायश्चित्तभाक् । ततः शिष्यप्रतीच्छकाचार्याणा प्रायश्चित्त विवक्षुरिदमाह ॥

(सीसायरिपत्यादि) शिष्ये आचार्ये प्रतीच्छके च प्रायश्चित्तं विधीयते । प्रायश्चित्तदानविधिरुच्यते इति भावः ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

एगे गिलाणगे वा, तिण्हवि गुरुगा उ सीसमादीणं ॥
सेसे सिस्से गुरुगा, पमिच्छलहुगा गुरुसरिसं ॥

एकस्मिन् एकाकिनि गुरौ ग्लाने वा तत्र गच्छे तिष्ठति यदि समागतः । शिष्यः प्रतीच्छको वा आचार्येण वा तथा समागतः सन् यदि प्रतीच्छितस्तदा शिष्यादीनां शिष्यप्रतीच्छकाचार्याणां त्रयाणामपि प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । यः पुनरन्यः शेषोऽपरिणताऽल्पाधारस्थविरबहुरोगमंदधर्मपरिचारलक्षणस्तस्मिन् शेषे यदि समागतः शिष्यः ततस्तस्य प्रायश्चित्त गुरुकाश्चत्वारः गुरुमासाः । अथ प्रतीच्छकः समागतस्तर्हि तस्य लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः (गुरुसरिसमिति) गुरोरपि प्रतीच्छकसदृशं प्रायश्चित्तं । किमुक्तं भवति यदि शिष्यं प्रतीच्छति ततः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुमासाः । अथ प्रतीच्छक तर्हि चत्वारो लघुका इति ॥

सीसपमिच्छे पाहुड, च्छेदो राइंदियाणि पंचेव ।
आयरियस्स उ गुरुगा, दोवेए पमिच्छमाणस्स ॥

यदि प्राभृते गुरोः केनापि सहाधिकरणावर्त्तमानः शिष्यः प्रतीच्छको वा समागत. । तदा तस्य प्रतीच्छकस्य वा प्रायश्चित्तं पंचरात्रिंदिवानि पर्यायस्य छेदः । आचार्यस्य पुनर्द्वावप्येतौ प्रतीच्छतः प्रतिगृह्णतः प्रायश्चित्त । गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासा. । तदेव प्रथमभंगे निर्गमनदोषा उक्ता. आगमनमशुद्ध तदा भवति यदा अजिकाद्विषुप्रतिबध्यमानःसमागतस्तत्रापि प्रतिबन्धनिमित्तं प्रायश्चित्तं सूत्रानुसारतो वक्तव्यं । गतः प्रथमो भंगः द्वितीयभंगोऽप्येवमादृश एव न वर । तत्रा-

गमन शुद्ध क्वचिदपि व्रजिकादौ प्रतिबधकरणात् तृतीयचतुर्थभङ्गावनुक्रमेणाऽह ॥

एतद्दोसविमुक्कं, वइयादी अपडिबद्धमायातं ॥
दाऊणं पच्छित्तं, पडिबद्धं पडिच्छेज्जा ॥ १ ॥

एतैरनन्तरोदितैरधिकरणकारित्वविकृतिवांपत्यादिदोषैर्विमुक्तमेतेन निर्गमनं शुद्धमुक्तं । तथा व्रजिकादौ अप्रतिबद्ध क्वचिदपि प्रतिबन्धमकुर्वतमायातमनेनाऽऽगमन शुद्धमपि दर्शित एष चतुर्थो भङ्गः । एष एवोत्सर्गत श्रेयानिति ज्ञापनार्थं तृतीयभङ्गात्पूर्वमुक्तः । एव भूतं प्रतीच्छेत् । तृतीयभङ्गमाह (दाऊणे) त्यादि यस्त्वधिकरणकारित्वादिदोषैर्विनिर्मुक्तो निर्गतः केवल व्रजिकादिषु प्रतिबद्धमप्यपवादपदेन व्रजिकादिषु प्रतिबन्धकारणमभूत्तन्निमित्त प्रायश्चित्त दत्वा प्रतीच्छेत् ॥

(७) आलोचनायां शिष्याऽऽचार्यपरीक्षणे आवश्यकादिद्वाराणि ॥

सुद्धं पडिच्छिऊणं, अपरिच्छणा लहुय तिन्निदिवसाणं ।
सिस्से आयरिए वा, पारिच्छा तत्थिमा होइ ॥

शुद्ध निर्गमनागमनादिदोषरहित प्रतीच्छ्य प्रतिगृह्य त्रीन् दिवसान्यावत् परीक्षेत । किमेष धर्मश्रद्धावान् किं वा नेति यदि पुनर्न परीक्षते । ततोऽपरीक्षणे परीक्षणाकरणे (लहुयत्ति) मासलघु प्रायश्चित्तं आचार्यान्तराभिप्रायेण चतुर्मासलघु । सा च परीक्षा उभययाऽपि शिष्य आचार्य परीक्षते आचार्य शिष्य उभययापि च परीक्षा आवश्यकादिपदैस्तथाचाह ॥ (सिस्सित्यादि) तत्र तस्मिन् उपसपद्यमाने प्रतीच्छिते सति शिष्ये आचार्ये च परस्परमियमावश्यकादिपदैर्वक्ष्यमाणा परीक्षा भवति ॥

तामेवाह ॥

आवस्सयपडिलेहण, सज्झाए भुंजणा य भासाय ।
वीयारे गेलन्ने, भिक्खग्गहणे पडिच्छंति ॥

आवश्यके, प्रतिलेखने, स्वाध्याये, भोजने, भाषायां, विचारे, बहिर्भूमौ, ग्लाने, भिक्षाग्रहणे, च परस्परमाचार्यशिष्यौ परीक्ष्येते ॥

तत्राऽऽवश्यकादिपदान्यधिकृत्य यथाचार्य शिष्य परीक्षते तथोपदर्शयति॥

केई पुव्वनिसिद्धा, केई सारेइ तन्न सारेइ ।
संविग्गोसिक्खवमग्गई, सुत्तावलिमो अणाहो हं ॥

केचित्साधवोऽपमादय तस्योपसपत्कालात् पूर्वमेव आवश्यकादिपदेषु ये दोषास्तेभ्यो निषिद्धा यथा आचार्या इदमिदं च माकार्षुरिति । ते तथैव वर्त्तमानास्तिष्ठति । ये पुनः केचित् अभिनवदीक्षितत्वादिना कारणेन प्रमाद्यति तान् गुरु सारयति । सम्यग् यथोक्तानुष्ठाने वर्तयाति । त पुनरुपसपन्नं प्रमादस्थाने वर्त्तमानमपि न सारयति । तत्र यदि स उपसपद्यमान सविग्नो भवति । ततः सोऽप्रतिनोद्यमानः सन्नेव चिन्तयति । येषु स्थानेष्वन्यान्प्रमाद्यत आचार्य सारयति अहो अहमनाथ परित्यक्त एतैरिति चिंतयित्वा सविग्नविहारमिच्छन् आचार्यपादमूले गत्वा (सुत्तावलिमो) इति निपात पादप्रणाभिन्नमुक्तावलीप्रकाशान्यश्रूणि विमुचन् पादयो पतित्वा शिक्षांमार्गयते याचते यथा मामप्यत्यादरेण भगवंतः शिक्षयन्तां मां शरणमुपागत परित्यजत एव परीक्षानिर्वर्तितः परिग्राह्यः । इतरस्तु परित्याज्यः ॥

तत्राऽऽवश्यके यथा परीक्षा कर्त्तव्या तथोपदर्शयति ॥

हीणाहियविवरिए, सतिविवले पुव्वहूंत चोएइ ॥
अप्पणवो देती नममंति इहं सुहं वसिउं ॥

हीन नाम यत्कायोत्सर्गसूत्राणि मदमंदमुच्चार्य शेषेषु साधुषु चिरकालं कायोत्सर्गे स्थितेषुपश्चात्स कायोत्सर्गे तिष्ठति । इत्यादि । अधिक नाम कायोत्सर्गसूत्राण्यति त्वरितमुच्चार्यात्प्रेक्षाकरणार्थं पूर्वमेव कायोत्सर्गे तिष्ठति रत्नाधिके घोत्सारितेकायोत्सर्गेपश्चाच्चिरेण स्व कायोत्सर्गमुत्सारयति इत्यादि । विपरीत नाम प्रादोषिकान्कायोत्सर्गान् प्राभातिकानिव करोति । प्राभातिकान् प्रादोषिकानिव इत्यादि । हीनाधिकं च विपरीतं समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन्प्रमादतोवर्तमानात् अथवा सूर्ये किल अस्तमितमात्रे एव निर्व्याघाते सर्वैरपि साधुभिराचार्येण सह प्रतिक्रमितव्य । यदि पुनराचार्यस्य श्राद्धादिधर्मकथादिभिर्व्याघातस्ततो बालवृद्धग्लानासहान् निषद्याधर च मुक्त्वाशेषैः सूत्रार्थस्मरणार्थं कायोत्सर्गेण स्थातव्यं । ये सत्यपि बले पूर्वं कायोत्सर्गे न तिष्ठति तान्पूर्वमतिष्ठतश्चोदयति यः पुनः परीक्ष्यते त प्रमाद्यतमपि न शिक्षयति । ततो यदि स एवं व्यवस्यति । यथा आत्मीयान् प्रमाद्यतश्चोदयति । न मामिति सुखमिह वसितुमिति । स इत्थ भूतः पजरभग्नो ज्ञातव्यो न प्रतीच्छनीय ॥

जो पुण चोइज्जंते, दट्ठूण नियत्तए ततो ठाणा ।
भणइ अहं भेवत्तो, चोएह ममंपि सीयंत ॥

यः पुनश्चोद्यमाना न् शिक्ष्यमाणान् शेषसाधून् दृष्ट्वा ततः स्थानात् निवर्त्तितैर्भणति । गुरुपादमूले गत्वा मन्युभराक्रांतो गद्गदस्वरेण अहं युष्मच्चरणमागतोऽपि भगवन् युष्माभिः शिक्षाया अप्रदानतस्त्यक्तः । न चैतत् भगवता परमकरुणापरीतचेतसामुचित । तस्मात्प्रमादमाध्माय मामपि सीदंत शिक्षयस्वमिति एष इत्थभूत प्रतिग्राह्यः कृता आवश्यकमधिकृत्य परीक्षा ॥

संप्रतिप्रतिलेखनस्वाध्याय भोजनभाषाद्वाराणि अधिकृत्य तामाह ॥

पडिलेहणसज्झाए, एमेव य हीणअहियविवरीयं ।
दोसेहि वा वि भुंजइ, गारत्थियढहुएभासा ॥

एवमेवावश्यकोक्तेनैव प्रकारेण प्रतिलेखने, स्वाध्याये, च हीनमधिक विपरीत च कुर्वत आत्मीयान् शिक्षयते न तु त परीक्ष्यमाणमित्यादि पूर्ववत् तत्र प्रतिलेखनाया हीनाधिकता नाम यत् कालतो हीनामधिकां वा प्रतिलेखना करोति । खोटकादिभिर्वा हीनामधिका वा । विपरीतता नाम प्रभातं यत् मुखपोतिकादि क्रमेण न प्रत्युपेक्षते । किं तु स्वेच्छया यदि वा पूर्वाह्णेरण निःपश्चिम प्रत्युपेक्षते । अपराह्णे तु सर्व प्रथममित्यादि । स्वाध्याये हीनता नाम यदिप्राभातिकामपिकाल वेलायां कालप्रतिक्रमण करोति अधिकता यदनिक्रांतायामपि कालवेलायां काल प्रतिक्रामति । वचनादिक्रियायां वा तदनुगतां हीनाधिकां करोति विपरीतता पौरुषीपाठमतिक्रांतायां पौरुष्यां पठति । उत्कालिकं पौरुष्यामिति तथा भोजनद्वार आलोकादिविधानसूत्रोक्तेन न भुक्ते दोषैर्वा ऽपि (असुरसुर अचवचव अदुयमवलंबियमि) त्यादि विपरीतरूपैर्भुंक्ते ।

तत्रात्मीयानतथा भुञ्जानान् शिक्षयते न तु परीक्ष्यमाणमित्यादि पूर्ववत् भाषाद्वारे या अगारस्थित भाषा गृहस्थभाषा च ढड्डरभाषा स्थूलस्वरभाषा तां भाषते । तत्रात्मीयान् तथारूपया भाषया भाषमाणान् शिक्षयते न पुनः परीक्ष्यमाणमित्यादि विभाषा पूर्ववत् ॥

शेषाणि त्रीणि द्वाराण्येकगाथया प्रतिपादयति ॥

थंभिज्जसामायारीहिं, हवेइ अतरंतगं न पडिजग्गे ।।
अभणितो भिक्खं, न हिंडइ अणेसणाइ च पेल्लेइ ।।

स्थण्डिले सामाचारीं पादप्रमार्जनदण्डकग्रहण दिनावलोकनादिरूपां हापयति परिभवति विलुपतीत्यर्थः । तत्र तथा सामाचारी विलुपत आत्मीयान् साधून् शिक्षयते न परीक्ष्यमाणमित्यादि प्राग्वत् । गत विचारद्वारम् ॥

ग्लानद्वारमाह । अतरतग असमर्थं ग्लानमित्यर्थः । न प्रतिजागर्त्ति नापि तस्य ग्लानस्य खेलमल्लकादि कसमर्प्पयति । अत्रापि ग्लानमप्रतिजाग्रत आत्मीयान् साधून् शिक्षयते । न तु परीक्ष्यमाणमित्यादि भाषा पूर्ववत् । गत ग्लानद्वार ।

भिक्षाग्रहणद्वारमाह । अभणित सन् भिक्षा न हिण्डते भणितोऽपि च इपदाहिण्डने सति प्रतिनिवर्तते अनेषणीयां भिक्षां गृह्णाति । आदिशब्दात् कौटिल्ये न चोत्पादयति इत्यादि परिगह । त तथा भिक्षाग्रहणे प्रवर्त्तमानमपि न शिक्षयति । किं त्वात्मीयान् साधून इत्यादि प्राग्वत् । तस्य चागमो द्वाभ्यां स्थानाभ्यां भवति । ततस्ते एव द्वे स्थाने प्रतिपादयति ॥

जयमाणपरिहवंते, आगमणं तस्स दोहिं ठाणेहिं ।
पंजरभग्ग अभिमुहे, आवस्सगमादि आयरिए ।।

तस्योपसपद्यमानस्यागमन द्वाभ्या स्थानाभ्यां भवेत् । तद्यथा । यतमानेभ्य परिभवद्भ्यश्च यतमाना नाम संविग्नाः परिभवत पार्श्वस्थादय । उक्त च ।

सो पुण जयमाणगाण, वा साहूण मूलातो । आगतोहुज्जा
परिभवंताण मूला उ, आगतो हुज्जा परिभवंता नाम पासत्थ ।

इति । तत्र यो यतमानसाधूनां मूलादागत सज्ञानदर्शनार्थं पजरभग्नो वा समागतो भवेत् । य पुन परिभवता मूलादागत स चारित्रार्थमुद्यतकाम समागतो भवेत् । अनुद्यतुकामो वा ज्ञानदर्शनार्थमिति । अथ वा यो यतमानेभ्य समागत स पजरभग्न य पुन परिभवद्भ्य उद्यतकामश्चारित्रार्थं समागत । सोऽभिमुख पजराभिमुख एतयोर्द्वयोरपि समागतयोरावश्यकादिभि पदैराचार्येण परीक्ष्यमाणानपि सीदतः पश्यति तत आचार्येभ्य कथयति । तेन कथिते सति यद्याचार्या सम्यक् प्रतिपद्य तान्प्रमादिन प्रति नोदयंति । प्रायश्चित्त च प्रयच्छन्ति । ततस्तत्रोपसपत्तव्य । अथ कथितेऽपि ते आचार्यास्तूष्णींतिष्ठति । भणति वा किं तव यद्येतेन सम्यग्वर्त्तते । तर्हि अन्यत्र गच्छांतरे उपसपत्तव्यं । न तत्रेति अथ यतमानेभ्य समागत पजरभग्न इत्युक्त तत्र पजरे इति किमुच्यते । तत आह ॥

पणगाइसंगहो होइ, पंजरो जायसारणाणोसं ।
पच्छित्तं चढमणाहिं, तिवारणं, सउणिदिट्ठंतो ।।

पंचक नाम आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदकरूप आदिशब्दात् भिक्षवो वृषभा क्षुल्लकवृद्धाश्च परिगृह्यते । तेषां सग्रह पञ्चकादिसग्रहो भवति । पजर अथवा आचार्यादीनामन्योन्य परस्पर यत् । मृदुमधुरभाषया सोपालम्भं वा शिक्षयति एष वा पजर । यदि वा यत् प्रायश्चित्त चमढनाभिरसमाचार्यां निवारणपूर्वं खरपुरुषै स्तर्जयित्वा पश्चात्प्रायश्चित्तप्रदानेन यदा सामाचारीतो निवर्त्तन तत् पजर अत्रार्थे शकुनिदृष्टांतः । यथा पंजरे शकुनेः शलाकादिभि स्वच्छन्दगमनं निवार्यते । तथा आचार्यादिपुरुषगच्छपञ्जरे सारणाशलाकया सामाचारीरूपोन्मार्गगमन निषार्यते इति । अत्र ये यतमानानां मूलात् ज्ञानदर्शनार्थमागता ये च परिभवतां मूलात् चारित्रार्थमागच्छन् ते सग्रहीतव्याः । ये पुनः पजरभग्ना ज्ञानदर्शनार्थमागता ये च परिभवतां मूलात् ज्ञानदर्शनार्थमागमन् ते न सग्रहीतव्या । तत्र ये सग्रहीतव्यास्ते एको वास्मादनेको वा यत आह ॥

ते पुण एगमणेगाणं, गाणं सारणा जहा पुव्वं ।।
उवसंपयआउट्टे, अणाउट्टे अन्नहिं गच्छे ॥ १ ॥

ते पुनरुपसपद्यमाना कदाचिदेको वा स्यादनेको वा तत्रानेकेषा या सारणा सा यथापूर्वं कल्पाध्ययने " उवएसो सारणा चेव तइया पडिसारणा " इत्यादिना ग्रथेन भणिता तयाऽत्रापि द्रष्टव्या य पुनरेकोऽसमीचीनं कुर्वन् शिक्ष्यमाणश्च यद् व्यावृत्त शिक्षां प्रत्यभिमुखोभवति । ततस्तस्मिन् आवृत्ते षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्तस्यावृत्तस्य उपसपद्भवति यदि पुनर्निवर्त्तते । तदा तस्मिन् अनावृत्ते इद भण्यते । अन्यत्र गच्छमात्र स्था इति । अथवा इदमुत्तरार्द्धम् (आवस्सगमाइआयरिए) इति यदुक्त तस्य व्याख्यान आवश्यकादिषु गच्छवासिनः प्रमादिनो दृष्ट्वा आचार्याय कथयेत् । कथिते च सति यदि आचार्य सम्यगावर्तते निजसाधून् सम्यक् शिक्षयते प्रायश्चित्त च तेभ्यः प्रयच्छति ततस्तस्मिन्नावृत्ते तस्य तत्रोपसपद्भवति । अथ कथिते नावर्त्तते तूष्णीं करोति न भणति किं तवैते स्वय सम्यग्वर्त्तया इति । तदाऽन्यत्र गच्छेदिति । यदुक्त प्राक् ॥

दाऊणं पच्छित्तवज्जंतंपी पडिच्छेज्जा

इति ॥ तत् व्याख्यानयति । (निग्गमणे अपरिसुद्धे, इमाए जयणाए वारेति) तृतीये भगे निर्गमने परिशुद्धे प्रागुक्तदोषवर्जिते आगमने अशुद्धे व्रजिकादिषु प्रतिबधकरणादिषु प्रतिबधकरणात् द्वितीये पदे अल्पदोषतयाप्रतीच्छाबुद्धौ सत्यां प्रायश्चित्त प्रतिबधमात्रनिष्पन्नं ददाति । दत्वा च प्रतीच्छति निर्गमने पुन प्रथमभगे द्वितीयभगे वा अधिकरणमेव अधिकरणादिभि । एगेऽपरिणए वा इत्यादिभिर्वा दोषैरपरिशुद्ध न प्रतीच्छनीयः किंतु वारणीय । त वाऽनया वक्ष्यमाणयाऽयतनया वारयति ॥

तामेवाह ॥

नत्थियसंकियसंघाडए, मंडली भिक्खवाहिराणयणं ।
पच्छित्ताविउस्सग्ग, निगममुत्तस्स उगणेण ।।

य पजरभग्नो ज्ञानदर्शनार्थमागत त प्रतीय वाग्यतना यत्त्व श्रुतमाभिलषसि । तन्मम पार्श्वे नास्ति अथ स ब्रूयात् मया श्रुत यथाऽमुकोऽयोऽमुकस्यपार्श्वे युष्माभि श्रुत इति तत् इद वक्तव्य श्रुत स अथ केवलमिदानीं बहुषु स्थानेषु शकित जात न च शकित श्रुतमन्यस्मै दीयते प्रवचने निषेधात् तस्मादन्यत्र नि शकितश्रुतात् गवेषयस्व । यस्तु स्वच्छन्दमति सघाटको भिन्न सज्ञाभूमिमप्येकाकिना गतु न लभ्यमिति

मामागतस्तं प्रतीदं वक्तव्यं । अस्माकमाचार्यपरंपरात इय सामाचारी सच्चाभूमिमात्रमपि न गतव्यमेतच्च तव दुष्करमतोऽन्यत्र गच्छ तावदिति । यः पुनरनुबद्धवैरत्वेनागतस्त प्रतीदं वक्तव्यं । मंरूलीति । अस्माकमीदृशी सामाचारी यदवश्यं मंरूल्यांसमुद्देष्टव्यं । यद्यपि च न पठति न शृणोति वा तथापि सूत्रपौरुष्यां मंरूल्यामुपविश्यार्थः श्रोतव्यः न कदाचनापि साधूनां स्वच्छंदत्वमेतच्च भवतोऽप्रीतिकरं तस्मादन्यत्र गम्यतां । यस्त्वलसत्वेनागतस्त प्रतीद वाच्य । (भिक्खवाहिरणं) । भिक्षाया बहिः प्रदेशादानयनं । किमुक्तं भवति ॥ अस्माकमत्र क्षेत्रे बहवो बालवृद्धाः स ग्लानाः साधवः ते च भिक्षां न हिंरूते । ततो यदि प्रतिदिवसं भिक्षां बहिः प्रदेशादानयसि ततस्तिष्ठ परमेतत् दुष्करं तव तस्मात् यत्र सुखेन तिष्ठसि तत्र याहि किमत्र क्लेशसहनेन यस्तु निर्द्धर्म्मा उपद्रुता आचार्या इति विनिर्गतस्तंप्रतीदमुत्तर (पच्छित्तत्ति) अस्माकमिय सामाचारीयदिदुः प्रमार्जनाद्यभावमात्रमपिक्रियेति । तदातत्कालमेवप्रायश्चित्तं यथोक्तं दीयते न कालक्षेपेण नापि पक्षपातादिना स्तोकन्हासेन यस्तु विकृतिलम्पटो न मह्य विकृतिमनुजानातीति विनिर्गतस्त प्रतीय वाच्यतना (अविउस्सग्गत्ति) अस्माकमप्यय समाचार्यागमः ॥ अन्युत्सर्गोनुत्कलन विकृतेरिति व्याख्यानतो गम्यते । योगवाहिना अयोगवाहिना वा विकृतिर्न ग्राह्या इत्यर्थ । अत्राधिकरण प्रत्यनीकस्तच्च लुब्धविषये यतनानोक्ता विचित्रत्वात् सूत्रभाष्यगते सूत्राधिकरणं यतना यथा कल्पाध्ययने तथा द्रष्टव्या । शेषविषया तु विनेयजनानुग्रहायाभिधीयते तत्र य प्रत्यनीकस्तत्र मे प्रत्यनीकोऽस्तीत्यागतः स भएयते ममापि शिष्याः प्रतीच्छकाश्च ईषदपि प्रमादं न क्षमते मह्य कथयाति । अहं च दोषानुरूपं दंरू प्रयच्छामि । अन्यथैकतरपक्षपातकरणतोगच्छमुद्राभग । सर्वज्ञाज्ञाविलोपश्च । तस्मादत्राऽपि तवदुष्करमिति नस्थातुमुचितं लुब्धः पुनरेव भएयते । अस्माकमिय सामाचारीचक्रमणादिकुर्वति गुराव भ्युत्थानं अनभ्युत्तिष्ठतः प्रायश्चित्तदानमिति लुब्ध प्रत्येषा वाच्यतनाउत्कृष्टद्रव्याणिमोदकादीनि अस्माक बालवृद्धग्लानप्राघूर्णिकेभ्यो दीयते । तदेव स्वच्छंदचारित्रप्रभृतीनां निवारणे वाच्यतनोक्ता यदि पुनरेते मया निवारिता अपि न वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रत्यावर्त्तंते नापि निर्गच्छंति येऽपि च विशुद्धनिर्गमाः प्रतीच्छिता सत सीदति तेषां परिस्थापने यतनामाह (निग्गमसुद्धस्स उवेण) यदा परिस्थापयितुमिष्यमाणस्य स्वय भिक्षादिनिमित्त निर्गमो भवति । यदा रात्रौ निर्गच्छया सुप्तस्तदा त त्यक्त्वा नष्टव्य ॥

कथमित्याह ॥

छन्नेनाप्रकटमलपसागारिक किमुक्त भवति । ये अपरिणता बालादयो वा तत्र गच्छे तेषां न कथ्यते यथाऽमुमेव त्यक्त्वा नष्टव्य मिति । मा रहस्यभेदं कार्षुरिति कृत्वेति एष गाथार्थ ॥

सांप्रतमेनामेव गाथां विनेयजनानुग्रहाय विवृणोति ॥

नत्थेयंमिज मिच्छसि, सुयं मया आमसंकियं तं तु ।
न य संकियं तु दिज्जइ, निस्संकसुए गवेस्साहि ॥

यदिच्छसि शास्त्रं श्रोतु तदेतत् मे मम पार्श्वे नास्ति । अथ ब्रूयात् । मयेदं श्रुत यथाऽमुकं शास्त्रं भवद्भिः श्रुतमिति । तत्राह । आम तत् शास्त्रं केवलमिदानीं शंकितं जातं नच शंकित दीयते । तस्माद्भि शंकश्रुतान् गवेषय ॥

(सघाभत्ति) मंरुलीति च द्वारद्वयं व्याचिख्यासुराह ॥

एगागिस्स न लब्भा, वियारादी विजयणसच्छंदे ।
भोयणसुत्ते मंमरूली, पढमंते वा निओयंति ॥

स्वच्छंदे स्वच्छंदमतौ निवारणार्थमिय वाच्यतना अस्माकमेकाकिनः सतोविचारादावपि बहिर्भूम्यादावपि तत्र लभ्य गन्तुमिति । अनुबद्धवैरे । इय वाच्यतना । अस्मदीया मुनिभृत भोजने सूत्रे उपलक्षणमेतत् अर्थे वा पठतोऽपि मरुल्यां नियोजयंति । एतच्च तवदुष्करमिति ॥

अधुना " भिक्खवाहिरणयणं पच्छित्तविउस्सग्गे " इति त्रीणि द्वाराणि व्याख्यानयति ॥

अलसं भणंति वाहिं, भिक्खंतरहिंरुसि अम्हएत्थबालादी ।
पच्छित्तं हारुहरु, अविउस्सग्गो तहा विगई ॥

अलसं प्रति भणत्याचार्याः । अस्माकमत्र क्षेत्रे बहवो बालादयस्ते च भिक्षां न हिंरूत ततो यदि बहिर्भिक्षां हिंरसे । तर्हि तिष्ठ अन्यथा व्रज स्थानांतरमिति । निद्धर्म्माणं प्रति पुनरिद वदति अस्माकं केऽपि दुःप्रमार्जनादौ कृते प्रायश्चित्त हारुहरं देशीपदमेतत् तत्कालमित्यर्थः । दीयते अन्यथा मूलत एव सामाचारीविलोपप्रसक्तेः विकृतिलम्पट प्रति पुनरिय वाच्यतना योगवाहिनो वाऽस्माकं गच्छे विकृतेरव्युत्सर्गोऽनुत्कलन भवांश्च दुर्बलशरीरोनवेक्षुरिव पानीयैर्विकृत्याऽल्पस्वभावास्तस्मादन्यत्र प्रयाहीति ॥

अत्र चोदक आह ॥

तित्थ भवे मायमोसो, एवं तु भवे अणुज्ज मं तस्स ।
वुत्तं च उज्जुभूते, सोही तेल्लोकदंसीहिं ॥

यदेतत् निर्गमनाशुद्धे उपायेन प्रतिषेधनमुक्त तत्र कस्यचित् मतिः स्यात् । एव प्रतिषेधतो माया भवति । मृषावादश्च । तत्र यत् परिचिंतन तन्माया विद्यमानमपि श्रुत नास्ति शंकितं वा तिष्ठतीत्यादि कुर्वाणस्य मृषावादः । एव तु अमुना प्रकारेण पुनर्माया मृषा कुर्वते भवेत् । तस्याऽनार्जवमनृजुता मायातः कुटिलभावभावात् उक्त पुनस्त्रैलोक्यदर्शिभिरिदं शोधिकल्पे ऋजुभूते सोही उज्जुयस्सेत्यादि प्रदेशांते श्रवणात् ततो नेत्र माया मृषा भाषणमुचितमिति ॥

अत्र सूरिः प्रत्युत्तरमाह ॥

एसअगिते जयणा, गीते वि करेंति जुज्जई जं तु ॥
विदेसकरं इह ए, मच्छरिव दोव फुरुलरुखो ॥ १ ॥

एषा अनंतरोदिता वाच्यतना अगीते अगीतार्थे गीतेऽपि गीतार्थेऽपि निर्गमनाशुद्धे निवारणा क्रियते । स्फुटाक्षरैर्यथा एवभूतदोषात् त्वमत्रागत एव भूतदोषश्च न सुविहितैः प्रतीच्छ्यते इति न चैव भणितगीतार्थो हि सर्वामपि सामाचारीमवबुध्यते । अवबुध्यमानाश्च कथमप्रीतिं विक्षेपं वा कुर्वंतीति ॥

तथाचाह ॥ (करेंति जुज्जई जतु) यत् अत्र युज्यते युक्तिमापतति तत् गीतार्था कुर्वंति । ना प्रीत्यादिकमिति । इहरत्ति । इतरथा यद्यगीतार्थेऽपि स्फुटरुक्षाभिधारणा क्रियते । तत स्फुटरुक्षं भाषिते सति स्फुट नाम सद्भूतदोषोच्चारण रुक्ष स्नेहापद्दर्शनरहित यदि वा स्फुटमेव परस्य रुक्षतोत्पादनाल रुक्ष स्फुटरुक्ष तस्मिन् भाषिते तत भाष्यमाण वचसोपा विक्षेपकर विरूपोत्पादक भवति । अगीतार्थत्वात् चिंतयति च मत्सरभावेनैते सूत्रमर्थं वा न प्रयच्छंति । ततो मत्सरिण

एत इति एवं च चिंतयित्वा स्वपक्षे परपक्षे च मत्सरिण एते इति प्रकाशयति । ततो लोके मत्सरिप्रवादो विरूपकर च तद्वचस्तेषां मा भूदिति प्रागुक्तयतनया निवारणा क्रियते वचनेमायामृपादोषसनव' । यतः परप्रीत्यनुवादकतया परिणाममसुदरतया चोभयोरपि गुणकारित्वमवेद्य तत्रा घायतना क्रियते । न विप्रतारणबुद्धेति ॥

एतेषामेव प्रतीच्छने अपवादमाह ॥

निग्गमसुद्धमुवागएए, वारिया गेएहए समाउट्टं ॥

अहिगरणमिणिश्रणुवन्ध, मेगागिजढं न साएज्जा ॥

निर्गमोऽशुद्धो यस्य स निर्गमाशुद्धस्त उपायनप्रागुक्तयतनालक्षणेन वारित समावृत्तं सतं गृएहाति । किमुक्तं भवति । यदि स तथा प्रतिपिद्धः सन् ब्रूते भगवन्मिथ्या मे दुष्कृतं न पुनरेव करिष्यामि । किन्तु यथा यूयं भणिष्यथ तथा करिष्यामि । मुक्तो मया पापस्वभावो दुर्गतिवर्द्धन इति । तत एव त समावृत्त गृएहाति किं सर्वमपि नेत्याह ॥ (अहिगरणेत्यादि) योऽधिकरणं कृत्वा समागतस्त यश्च मे तत्र प्रत्यनीकोऽस्तीत्युक्तवान् तं तथा अनुबद्धरोपं येन च पश्चादेकाकी आचार्यस्त्यक्तस्त च न (साएज्जा) न सात्मयेत् न सात्मीकुर्यादिति भावः ॥

केवल प्रत्यनीके अपवादोऽस्ति तमेवाभिधित्सुराह ॥

पमिणीयंमि उ जयणा, गिहंमि आयरियमादिदुट्ठंमि ॥

संजयपमिणीए पुण, न होंति उवसामिए जयणा ॥

प्रत्यनीके भजना तामेवाह । गृहिणी गृहस्थे आचार्यादिदुष्टे । किमुक्तं भवति । यदि कोऽपिनाम गृहस्थ आचार्यस्य आदिशब्दादुपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदानां शेषभिक्षूणां च प्रद्विष्ट स चानेकधा उपशम्यमानोऽपि नोपशांतस्ततस्तस्मिन् आचार्यादिप्रदुष्टे गृहिण्यनुपशांते तद्भयादागत· सन् प्रतिगृह्यते । यदि पुन स ब्रूयात् सयतोमे तत्र प्रत्यनीकोऽस्ति ततस्तस्मिन् सयतप्रत्यनीके न भवत्युपसंपत् न स प्रतिगृह्यते इत्यर्थः । अथवा स भण्यते । गच्छ त्व क्षमयित्वा समागच्छ । एवमुक्तो यदि तत्र गत्वा तं न क्षमयति ततो न स प्रतिगृह्यते अथ तेन गत्वाऽसौ क्षामित· केवलं स एव न क्षमते तर्हि पश्चादागत· प्रतिग्राह्यः । अथ स वक्ति मया स तदानीमेवागच्छता क्षामित· । तदा तस्मिन्नुपशांते स नियमात् प्रतिगृह्य एव न भवति भजनानिर्दोषत्वात् ॥

सो पुण उवसंपज्जे, नाणट्ठा दंसणे, चरित्ते, य ।

एएसिं नाणत्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

स पुनरुक्तप्रकारेण सगृह्यमाण उपसपद्यते ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं दर्शने दर्शननिमित्त सप्तम्या निमित्ते विधानात् । दर्शनप्रभावकशास्त्रनिमित्तमित्यर्थः । चारित्रार्थं चरित्रनिमित्त एतेषां ज्ञानाद्यर्थमुपसपद्यमानानां नानात्वभेदं यथोपन्यास या आनुपूर्वी तया वक्ष्यामि ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

वत्तणा संघणा चेव, गहणे सुत्तत्थ तदुभए ।

वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाएय ॥

ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चोपसपत्प्रत्येकं त्रिधा । तद्यथा सूत्र चार्थश्च तदुभय च सूत्रार्थतदुभय तस्मिन् सूत्रेऽर्थे तदुभयस्मिन्चेत्यर्थः । निमित्तसप्तमी चेय । ततोऽय भावार्थः । ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चोपसपद्यमानः प्रत्येक सूत्रार्थे वा उपसपद्यते । अर्थार्थे वा तदुभयार्थे चेति । पुनरेकैका प्रत्येकं भवति त्रिधा । तद्यथा । वर्तनेति अत्र सप्तमीलोपः प्राकृतत्वात् । वर्त्तनायां वर्तनानिमित्तमेवमेव सधनायां सधनानिमित्तं ग्रहणे ग्रहणानिमित्तं तत्र पूर्वगृहीतस्य सूत्रार्थस्य तदुभयस्य वा पुनःपुन· रभ्यसन वर्तना । पूर्वगृहीतस्य विस्मृतस्य पुनः संस्थापन सधना । तया ग्रहणे तत्प्रथमतया अपूर्वस्य सूत्रार्थस्य तदुभयस्य वा ग्रहणनिमित्त एव ज्ञाने दर्शने च प्रत्येक भवति त्रिधा उपसंपत् चरणोपसपद्यमानोद्विधोपसपद्यते । तद्यथा । वैयावृत्ये क्षपणे च वैयावृत्यनिमित्त क्षपणानिमित्त च । ते द्विधा उपसपद्यमानाः कालतो यावज्जीव भवेयुश्च शब्दादित्वराश्च ॥

एतामेव गाथां व्याख्यानयति ॥

दंसणनाणे सुत्तत्थ, तदुभए वत्तणा य एक्केके ॥

उवसंपया य चरित्ते, वेयावच्चे य खमणे य ॥ १ ॥

दर्शनविशोधकानि यानि सूत्राणि शास्त्राणि वा तानि दर्शन ज्ञेयाणि सूत्राणि शास्त्राणि वा ज्ञानं । तत्र दर्शनज्ञाने च प्रत्येकमुपसपत्त्रिधा । सूत्रनिमित्तमर्थनिमित्त यदुभयनिमित्तं च । एकैकस्मिन् सूत्रादौ प्रत्येकं वर्त्तना सधना ग्रहणं च । किमुक्तं भवति । सूत्रेऽपि वर्त्तनानिमित्तमुपसपद्यते । सधनानिमित्तमुपसपद्यते । अपूर्वग्रहणनिमित्तं वा उपसपद्यते । एवमर्थेऽपि त्रितयमुभयेऽपि त्रितयमिति दर्शनेऽपि नवविधोपसपद् ज्ञानेऽपि नवविधेति । चारित्रे चारित्रविषया उपसंपत् वैयावृत्ये, क्षपणे च ॥

शुच्छअपमिच्छणे, लहुगा अकरेंते सारणा अणापुच्छा ।

तेसु विभासो लहुतो, वत्तणादिसुत्थाणेसु ॥ १ ॥

यदेतद्गुरुसकाशे सूत्रं तत् सर्वमधीत । ततोगुरुभिरनुज्ञातो विधिना आपृच्छ्य व्रजकादिष्वप्रतिबध्यमान आगतः । आगतश्च सन् त्रीन् दिवसान् यावत् परीक्षितः शुद्ध' । इत्थंभूतं यो न प्रतीच्छत्याचार्यस्तस्य प्रायश्चित्त लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः । योऽपि उपसंपन्नो वर्त्तनानिमित्तं संधनानिमित्तं ग्रहणनिमित्त वा स यदि वर्त्तनां सधनां ग्रहण वान करोति तदा तस्मिन् वर्तनादिकमकुर्वति प्रत्येक त्रिष्वपि स्थानेषु वर्तनादिषु मासोलघुकः प्रायश्चित्तं । आचार्योऽपि यद्युपसपन्नं प्रमाद्यंत न सारयति तदा तस्मिन्नपि सारणा । अत्र विभक्तिलोप आर्षत्वात् । अकुर्वति त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु मासलघु । एतच्च प्रायश्चित्तविधान सूत्रविषयम् । अर्थे पुनर्वर्तनादिमकुर्वति शिष्ये अर्थनिमित्तमुपसपन्न प्रमाद्यंत वर्त्तनादिष्वसारयति गुरौ च प्रत्येकं त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु प्रायश्चित्त मासगुरु । उभयविषये च द्वयोरपि प्रत्येकं वर्त्तनादि त्रिष्वपि स्थानेषु पृथक् उभय प्रायश्चित्त मासगुरु मासलघु चेति । एतच्च गाथायामनुक्तमपि सप्रदायादवसित । यथा (अणापुच्छा) इति । अनापृच्छयायामननुज्ञायामित्यर्थ· । अत्र चत्वारो भगास्तद्यथा । अननुज्ञातोऽननुज्ञातेन सह वर्तनां करोत्येकोभगः १ अनुज्ञातो अननुज्ञातेन सहेति द्वितीय· २ अननुज्ञातोऽनुज्ञातेनेति तृतीयः ३ अनुज्ञातो ऽनुज्ञातेनेति चतुर्थ· ४ एवं सधनायां ग्रहणेऽपि च प्रत्येकं चत्वारो भंगा' । एवमर्थेऽपि तदुभयस्मिन्नपि च प्रत्येक वर्त्तनादिषु चत्वारो भंगाः । तत्र सूत्रविषये त्रिष्वपि वर्त्तनादिषु स्थानेषु प्रत्येकमाद्येषु भगेषु ददानस्य गृएहानस्य च प्रायश्चित्तं मासलघु । तपःकालविशेषितं । तद्यथा । वर्त्तनायामाद्येषु

त्रिषु भंगेषु मासलघु संघनायां मासलघु । तपो गुरुकाललघु । ग्रहणे मासलघु चान्त्यां गुरुस्तद्यथा तपसा कालेन च । एव मर्थे तपःकालविशेषितं मासगुरु । तदुभयप्रायश्चित्तसमर्थविषयं च प्रायश्चित्तं गाथानुपात्तमपि व्याख्यानादवगतं । चतुर्थभंगःपुनः सर्वत्राऽपिशुद्ध इति न तत्र कस्याऽपि प्रायश्चित्त मिति । इहाचार्यस्याऽपि प्रमादतः सूत्रादिषु वर्त्तनादिकमकुर्वंतमुपसंपन्नमसारयतः प्रायश्चित्तमतो नियमात्स आचार्येण सारयितव्यस्तथा च एतदेवाह ॥

सारेयव्वो नियमा, उवसंपन्नोसि जं निमित्तं तु ।
तं कुण सु तुमं भंते !, अकरेमाणे विवेगोउ ॥

स उपसंपन्नो नियमात्सारयितव्यः कथमित्याह । अहोभदंत ! ज्ञानाद्यभ्यासकारितया परमकल्याणयोगिन् ! इह शिष्यस्याऽप्याचार्येण प्रोत्साहनार्थं तथाविधयोग्यतासंभवमधिकृत्यैवाविधमप्यामंत्रणं कर्त्तव्यमिति ज्ञापनार्थं । अन्यथा भदंतेति गुर्वामंत्रणे रूढत्वात्तत्रैव न्याय्यं न शिष्ये इति । यन्निमित्तमुपसंपन्नस्त्वं तत्कुरु । एवमेकद्वित्रिवारं सारितोऽपि यदि न करोति वर्त्तनादिकं ततस्तस्मिन्नकुर्वति विवेक एव परित्याग एव कर्त्तव्यः । तुरेवकारार्थः ॥

(यदुक्तमणापुच्छा) इति तत् व्याख्यानयति ॥

अणणुन्नमणुण्णाए, दिंत पडिच्छंतभंगचउरो उ ।
भंगतियंमि वि मासो, दुहतोणुण्णाए सुद्धो उ ॥

अननुज्ञातो मकारोऽलाक्षणिकः । अननुज्ञातो ददाति इतरस्तु प्रतीच्छतीत्येवं ददानप्रतीच्छतां चत्वारो भंगास्तत्र भंगत्रिकेऽपि आद्येऽपि त्रिष्वपि वर्तनादिषु स्थानेषु प्रत्येक प्रायश्चित्तं मासो लघुमासः । अर्थे गुरुमासस्तदुभयास्मिन् तदुभयं प्रायश्चित्तमिति व्याख्यानात् ॥ (दुहतोणुण्णाए) इति उभयतो ददानतया प्रतीच्छकतया चाऽनुज्ञाते भंगश्चतुर्थः शुद्ध एव । तुरेवकारार्थः एषोऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु प्रागेवोपदर्शितः ।

एष प्रायश्चित्तविधिर्ज्ञानार्थमुपसंपद्युक्त एव दर्शनार्थमुपसंपदि द्रष्टव्यस्तथा चाह ॥

एमेव दंसणम्मी, वत्तणमादी पया उ जह नाणे ।
वेयावच्चकरो पुण, इत्तरिओ आवकहितो य ॥

यथा ज्ञाने वर्तनादिपदान्यधिकृत्य प्रायश्चित्तविधिरुक्त एवमेव अनेनैव प्रकारेण दर्शनेऽपि वर्त्तमानादीनि पदान्यधिकृत्य वेदितव्यः । एता ज्ञानदर्शनोपसंपत् ॥

इदानीं चारित्रोपसंपत् भावनाया ॥

तत्र काले (आवकहाए य) इति पदं व्याख्यानयति । (वेयावच्चे) त्यादि वैयावृत्यकरो वैयावृत्यार्थमुपसंपन्नः पुनर्द्विधा इत्वरः स्वल्पकालभावी यावत्कथिको यावज्जीवभावी । अस्य च द्विविधस्याऽपि वैयावृत्यकरापणविधिरयं एको गच्छवासी वैयावृत्यकरोऽपरः प्राघूर्णकः स च वक्ति अहं वैयावृत्यं करोमि ॥

तत्र विधिमाह ।

तुल्लेसु जो सलद्धी, अन्नस्स व वारएण निच्छंते ।
तुल्लेसु व आवकही, तस्स भण्णं च इत्तरिओ ॥

यदि द्वावपि कालतस्तुल्यावित्वरौ च तत्र यद्येकोलब्धिमान् अपरोऽलब्धिकस्तर्हि तयोस्तुल्ययोर्यः स लब्धिक स कार्यते इतरस्तु उपाध्यायादिभ्यो दीयते । अथ द्वावपि यावत्कथिकौ तत्रापि यो लब्धिमान् स कार्यते इतरोऽन्येभ्यो दीयते । यदि पुनर्द्वावपि सलब्धिकौ यावत्कथिकौ च तत्र अन्यतर उपाध्यायादेः कार्यते । अथैकोऽपि तस्य नेच्छति तत आगंतुको विमुच्यते । अथ द्वावपि सलब्धिकावित्वरौ च तत आगतुक उपाध्यायादीनां वैयावृत्य कार्यते सूत्रालापकश्च उपाध्यायादिवैयावृत्यफलप्रदर्शकस्ततः प्रोत्साहनार्थं पठनीयः ॥

उवज्झायवेयावच्चं, करेमाणे समणे ॥
निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे होइं ॥ १ ॥

इत्यादि । अथ नेच्छति तर्हि तस्मिन्नन्यस्य उपाध्यायादिवैयावृत्यमनिच्छति वा शब्दोऽभिन्नक्रमत्वात् । वारएण चेत्येव योजनीयः । द्वावपि वारकेण कार्यते कियत्कालमेकः कियत्कालमपर इति । यदि वास्तव्यो वैयावृत्यकरोऽनुमन्यते । अथ नाऽनुमन्यते तत आगतुकस्तावंत काल प्रतीक्षाप्यते । यावत् वास्तव्यस्य वैयावृत्यस्य इत्वरकालसमाप्तिमुपयाति ॥ अथ न प्रतीक्षते तर्हि विसृज्यते अथ द्वयोरपि तयोर्वैयावृत्यकरापणविधिः ॥

अथ एक इत्वर एको यावत्कथिकस्तत्राह (तुल्लेसु व) इत्यादि । तुल्ययोर्लब्ध्यासमानयोर्यावत्कथिकः स कार्यते । इतरोऽन्यस्योपाध्यायादेः सन्नियोजनीयः । अथ वास्तव्यो यावत्कथिकस्तर्हि स भण्यते विश्राम्य त्वं तावत् यावदित्वरः करोति तथा चाह । तस्य वास्तव्यस्य वैयावृत्यकरस्य मतेन इच्छया इत्वरो वा कार्यते वैयावृत्यकरस्तथा प्रज्ञापितोऽपि नेच्छति तर्हि न कार्यते । स हि पश्चादपि यास्यति । तत इतरो वास्तव्यो न करिष्यतीति । अथ इत्वरो यावत्कथिकश्च द्वावपि सलब्धिकौ तत्र यावत्कथिकः कार्यते । इतरोऽन्यस्य नियुज्यते विसृज्यते वा । अथवा इत्वरः स लब्धिकस्तत्र यावत्कथिको भण्यते । विश्रम्य तावत् वर्त्तितव्यम् । यावदेष इत्वरः सलब्धिकः करोति । पश्चात्त्वमेव करिष्यसि । अथ नेच्छति तर्हि स एव कार्यते । इतरस्त्वन्यस्मै दीयते । तस्य तत्रानिच्छायां स विसृज्यते अथेत्वरोऽलब्धिको लब्धिमान् तत्र यावत्कथिकः कार्यते । इतर उपाध्यायादेः समर्प्यते । अथ तस्य तत्रानिच्छा तर्हि विसृज्यते । इह यदि वास्तव्यवैयावृत्यकरेणाननुज्ञातो वैयावृत्य कारयति । यदि वा नापृच्छया अन्यवैयावृत्यकरं स्थापयति तदा तस्याऽऽचार्यस्य बहवो दोषास्तानेवाह ॥

अणणुण्णाए लहुगा, अचियत्तमसाहजोग्ग दाणादी ।
निज्जरं महती हु भवे, तवस्सिमाई ण करणे वी ॥

वास्तव्यवैयावृत्यकरेणाननुज्ञायामुपलक्षणमेतत्तस्यानापृच्छायां वा यद्यागतुकमित्वरं वैयावृत्ये स्थापयति । ततस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारोलघुमासाः । अन्ये ब्रुवते अनापृच्छायां मासलघु । अननुज्ञायां चतुर्लघु । अन्यच्चाननुज्ञायामनापृच्छायां वा वैयावृत्यपदे अन्यस्येत्वरस्य स्थापने वास्तव्यस्य अचियत्तमप्रीतिरुपजायते । अप्रीत्या च कलह कुर्यात् (असाहजोग्गादी) इति यानि दानादीनि दानश्राद्धादीनि कुलानि योग्यानि तान्यागतुकवैयावृत्यकरस्य न साधयति । न कथयति तस्मात्स इत्वर आगंतुको वैयावृत्यकर प्रज्ञाप्यते । त्व तपस्यादीनां क्षपकादीनां वैयावृत्त्यं कुरु तेषामपि क्रियमाणे वैयावृत्ये महती निर्जरा ॥ तदेव वैयावृत्यद्वार गतम् ॥

इदानीं क्षपणद्वारावसरः ॥

आवकही इत्तरिए, इत्तरियविगिट्ठ तह विगिट्ठे य ।
समणामंतणखमणे, अणिच्छमाणं न ओ नियोगो ॥

क्षपक उपसंपद्यमानो द्विधा यावत्कथिक इत्वरश्च तत्रेत्वरो द्विधा विकृष्टतपःकारी अविकृष्टतपःकारी च । तत्र चतुर्थषष्ठाष्टमकारी अविकृष्टतपःकृत् । दशमादितपःकारी विकृष्टतपःकृत् तयोर्द्वयोरप्युपसंपद्यमानयोः (समणामंतणत्ति) आचार्येण स्वगच्छस्यामन्त्रणं प्रच्छनं कर्त्तव्यं । यथा आचार्या एष विकृष्टतपःकरणार्थं समागतः किं प्रतीक्ष्यतामुत प्रतिषिध्यतामिति । तत्र यदि तेषामनुमतं भवति । तदा प्रतीष्यते अनिच्छायां प्रतिषिध्यते यदि पुनः केचिन्न मन्यंते तर्हि यः कश्चिदिष्टवान् तमनिच्छन्तं तस्य क्षपकस्य वैयावृत्ये बलान्न नियोजयेत् । बलान्नियोगस्य सूत्रे निषेधात् । यस्तु प्रतीच्छितः । स प्रष्टव्यः किं त्वविकृष्टं तपः करोषि अविकृष्टं वा यदि ब्रूते अविकृष्टं ततो भूयोऽपि प्रष्टव्यः त्वं पारणकदिने कीदृशो भवसि । यदि प्राह ग्लानोपमः तत्राह ॥

आरोगहकिलम्म तं, जणंति मा खम करोहि सज्झायं ।
सक्काकिलामिउं जेवि, विगिट्ठेणं तहिं विसरे ॥

अविकृष्टे तपसि क्लाम्यन्तं भणन्ति सूरयो माक्षपय माक्षपणं कुरु न युक्तं तव क्षपणं कर्तुमशक्यभावादित्यर्थः । तस्मात्कुरु स्वाध्यायं तपःकरणात्स्वाध्यायकरणस्य बहुगुणत्वात् । अपि च । स्वाध्यायोऽपि परमं तपः । यत उक्तं ॥

बारसविहम्मि वि तवे सब्भिं तरबाहिरे कुसलदिट्ठे ॥
न वि अत्थि न वियहोहिइ, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥

अग्लानोपमस्त्वविकृष्टतपःकारी तपः कार्यते यस्तु विकृष्टं तपः करोति स यद्यपि पारणकदिने ग्लानोपमो जायते तथापि स कार्यते । यत आह (सक्का) इत्यादि अपि शब्दः पुनरर्थे ये पुनस्तपस्विनो विकृष्टेन तपसा पारणकदिने क्लमयितुं शक्या क्लाम्यते इति भावः तत्र तेषु तपस्विषु वितरेत् दद्यात् तपःकरणं तेषां तथा रूपाणामपि समनुजानीयात् । न तु वारणीयं विकृष्टतपःकरणस्य महागुणत्वात् केवलं भक्तपानं भैषजादिकमानाय्य दातव्यं । अथ ग्लानोपमो न भवति । किंतु स्वयमेव संस्तारकप्रतिलेखनादीन् व्यापारान् सर्वानप्यहीनातिरिक्तान् करोति प्रतीच्छते एव च तत्र यो विकृष्टेन तपसा ग्लानोपमो भवति । तत्रेयं सामाचारी ॥

अन्नपडिच्छणे लहुगा, असति गिलाणोवमे अभंते य ।
पडिलेहणसंथारग, पाणग तह मत्तगातिगं च ॥ १ ॥

तस्मिन्गच्छे यद्यन्यः कोऽपि विकृष्टतपःकारी क्षपको विद्यते स च पारणकदिने ग्लानोपमो वा भवेद् ग्लानोपमो वा तथाऽपि तस्मिन्विद्यमाने क्षपके अन्यं क्षपकमाचार्यो न प्रतीच्छेत प्राक्तनस्य हि क्षपकस्य पारणकदिने ग्लानोपमस्याग्लानोपमस्य वा सतोऽवश्यं कर्त्तव्यं । न च द्वयोर्वैयावृत्यकरणे साधवः प्रभवति तस्मान्न प्रत्येषणीयः । यदि पुनः साधवोऽनुमन्यते सोऽपि प्रतीष्यतां तस्यापि वैयावृत्यकरणेन समाधिमुत्पादयिष्याम इति तदा प्रतीच्छनीयः यदि पुनर्गच्छे विद्यमानेऽपि विकृष्टतपः कारिणि क्षपके गच्छाननुमतावाचार्योऽन्यं प्रतीच्छति तदा तस्यान्यप्रतीच्छने प्रायश्चित्तम् ।
लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः (असतित्ति) तथा असति प्रायोग्यद्रव्ये ये दोषास्ते च वक्तव्याः । ते चामी । द्वयो क्षपकयोर्युगपत्पारणकादिने समापतिते पर्याप्त्या पारणकद्रव्ये अलाभतोऽसति असंस्तरणं भवेत् । असंस्तरणाच्च यदेषणादि प्रेरयति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचार्यस्यापतति आज्ञाभंगादयश्च दोषा जायते । तथा पारणकप्रायोग्यद्रव्यसंपादनेन संस्तरणमकुर्वत्सु साधुषु विषये सोऽप्रीतिं कुर्यात् । अप्रीत्या च अनागाढामागाढां वा परितापनां प्राप्नुयात् । तथा च सति तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तमाचार्यस्य अन्यच्च शिष्याः प्रतीच्छकाश्च द्वयोरपि क्षपकयोर्वैयावृत्यकरणतो भग्ना एवं चिंतयेयुर्यथा अन्यान्यक्षपकवैयावृत्यकरणेन नाऽस्माकं सूत्रमर्थो वा तस्मादन्यत्र व्रजाम इति । तथा (गिलाणोवम) इति तेषु गच्छवासिषु साधुषु वास्तव्यक्षपकवैयावृत्यकरणेन व्यापृतेषु ग्लानोपमो जायते । तदा तस्याऽऽचार्यस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः । (अडन्तेयत्ति) तथा गच्छे वास्तव्यक्षपककरणव्यापृततया भक्तपानं आगतुकस्याददाने स भक्तार्थं पानार्थं वा स्वयं हिंडते प्रतिलेखनादिक्रियां च स्वयमेव कुर्यात् । हिंडमानश्च क्षुधा पिपासया शीतोष्णेन वा पीडितो यद्यनागाढां परितापनां प्राप्नोति तदा प्रायश्चित्तमाचार्यस्य चतुर्लघु अथागाढं तदा चतुर्गुरु । अथ मूर्छति तदा षड्लघु ॥ तथा परिताप्यमानो यद्येषणां प्रेरयति तदा तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं अथ न प्रेरयति । तदा अननुमतोऽयदानागाढादिपरितापनां प्राप्नोति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं । अथ तत्र गच्छेऽन्यो वास्तव्यः क्षपको न विद्यते । तदा नियमतः प्रतीच्छनीयः । केवलं सोऽपि गच्छानुमत्या । अन्यथा न किमपि तस्य गच्छः करिष्यति । तत्र यदि प्रमादतो वैयावृत्यभीरुतया गच्छो नानुमन्यते । तदा स प्रज्ञापनीयः । अथ कारणवशतस्तदा न प्रतीच्छनीयः । यदि पुनर्गच्छाननुमत्याऽपि प्रतीच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तथा गच्छानुमतौ यो यतः प्रतीष्यते ततः क्षपकप्रायोग्यमानयति । अननुमतौ च नकोऽपि किमप्यानयतीत्यसति पारणकदिने पर्याप्त्याप्रायोग्यद्रव्ये असंस्तरणमसंस्तरणाच्च परितापनादयो दोषाः । तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचार्यस्य तथा पारणकदिने ग्लानोपमो जायते तथा शेषसाधुप्रयोजनांतरव्यापृततया भक्तपानं वा ददानेषु स्वयं हिंडमाने ये दोषास्तेऽपि वक्तव्याः ॥ संप्रति तस्य क्षपकस्य वास्तव्यस्याऽऽगतुकस्य वा कृतप्रत्याख्यानस्यापि यत् प्रतिदिवसं कर्त्तव्यं तदाह । (पडिलेहणे) त्यादि । तस्योपकरणं कल्पादि यथायोगमुभयकालं प्रतिलेखनीयं संस्तारकश्च तस्य कर्त्तव्यः । तथा पानकं पानीयं तस्योचितमानीय दातव्यं तथा मात्रकत्रिकं च उच्चारमात्रकं प्रस्रवणमात्रकं खेलमात्रकं च यथाकालं समर्पणीयं परिस्थापनीयं वा ॥
सांप्रतमेनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो (अन्नपडिच्छणे लहुगा) इति च व्याख्यानयति ॥

दुण्णेगतरे खमणे, अन्नपडिच्छंतसंथरे आणा ।
अप्पत्तियपरितावण, सुत्ते हाणि अन्नहिं च इमे ॥

वास्तव्ये क्षपणे क्षपके द्वयोः ग्लानोपमयोरन्यतरस्मिन्विद्यमाने यदि गच्छानापृच्छया अन्यं प्रतीच्छति । तदा तस्मिन्नन्यं प्रतीच्छति प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वार इति वाक्यशेषः । तथा युगपत् द्वयोः पारणकदिने युगपत्समापतिते प्रायोग्यद्रव्यं अलाभतोऽसति यदि वास्तव्यक्षपकवैयावृत्यकरणव्यापृतानामागतुकस्य वैयावृत्यकरणे वेलातिक्रमतोऽसंस्तरणं भवेत् तस्मिंश्चासंस्तरणे यद्येषणादि प्रेरयति तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचा

र्यस्य तथा (आणत्ति) आज्ञापदैकदेशेपदसमुदायोपचारात् आज्ञाभङ्गानवस्थामिथ्याविराधनादोषाः प्राप्नुयुः । तस्य वा सस्तरणे अप्रीतिरप्रीत्या च परितापननिमित्तमपि प्रायश्चित्त तथा शिष्याः प्रतीच्छकाश्चैव चितर्ययुरसाक द्वयोः क्षपकयोः वैयावृत्यकरणव्यापृतानां सूत्रे हानि रूपलक्षणमेतत् अर्थे च तस्मादन्यत्र व्रजामः । सम्प्रति (गिलाणो थामअरूतेयत्ति) व्याख्यानयति (गेलएण तुल्ल गुरुगा अरूते परितावणा य सयकरणे । णेसणगहणागहणे- डुगहुहिं रूतमुच्चाय) साधुषु वास्तव्यक्षपक वैयावृत्यकरणतः प्रयोजनान्तर व्यापृततया वा वैयावृत्यमकुर्वत्सु यथागतुकः क्षपको ग्लानतुल्यो ग्लानोपमो जायते । तदा सूत्रे प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकाः । तथा भक्त पानच अददत्सु स्वय (दुगहुहिरूतात्ति) द्विकार्थं च हिण्डमाने स्वय वा उपकरणस्य प्रत्युपेक्षणादेः करणे वा परितापना अनागाढा वा(मूर्च्छायति) मूर्च्छा च तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमाचार्यस्य तत्रागाढपरि तापनानिमित्तचतुर्लघु । आगाढपरि तापनानिमित्त चतुर्गुरु मूर्च्छानिमित्त षट लघु । णेसणगहणागहणे । इति स स्वय हिण्डमानः क्षुधापिपासया वा शीतेन वा उष्णेनवा परितापितः सन् यदि नेषणीयमपि गृह्णाति तन्निमित्त प्रायश्चित्तमग्रहणे ऽनेषणीयस्य प्रभूतं हिण्डमानो यद्वाप्नोति । आगाढपरि तापनादिकं तन्निमित्त मपि यत एवमादयो दोषाः । तस्मात्प्रच्छतमापृच्छय तदनुमत्या प्रतीच्छेत् । प्रतीच्छितस्य च सर्वप्रयत्नेन निर्जरार्थतया कर्तव्यमिति । इह आगतः सन्प्रथमदिवसेऽपि प्रष्टव्यो यथा केन कारणेन त्वमिहागतो ऽसीति अन्यथा यदि तमपृष्ट्वैव आलोचना मदापयित्वा च सवासयति । तदा प्रायश्चित्त तदेवाह ॥

पढमदिणंमि न पुच्छे, लहुओ मासो उ बाइगुरुओ य ।
तइयंमि हुंति लहुगा तिएहं तु अतिक्कमे गुरुगा ॥

यदि प्रथमे दिने न पृच्छेत् तर्हि तस्या ऽऽचार्य स्य प्रायश्चित्त लघुमासः द्वितीये दिने पृच्छतो मासगुरु तृतीये भवति चत्वारो लघुमासाः । त्रयाण तु दिनानामतिक्रमे चतुर्था दिषु दिवसे प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासा । अधुना अपवादो भण्यते यदि कार्यादिप्रयोजन वशात्समेकं द्वे त्रीणि दिनानि षण्मासानपि यावन्न पृच्छति तथापि न प्रायश्चित्त भाक् तथाचाह ॥

कज्जे भत्तपरिएणा, गिलाणराया य धम्मकहवादी ।
छम्मासा उक्कोसा, तेसिं तु वइक्कमे गुरुगा ॥

कार्ये कुलगणस घविषये व्यापृतो भवेदाचार्यः । तथाकेनाऽपि साधुना भक्तपरिज्ञा कृता तस्य समीपे लोकोऽभूयानागच्छति । तत्राचार्यो धम्मकथने व्यापृत । ग्लानप्रयोजने वा व्यापृत ॥

(रायाएधम्मकहीति)

राजाचधर्मार्थी प्रतिदिवसमेति ततस्तस्य धर्मं कथायेतव्य इति धर्मकथिक त्वेन व्यापृतः । वादीवा कश्च न प्रबल समुत्थित स निग्रही तव्य स्तत एतै कारणैर्व्यापृत सन् आचार्यो जघन्यत एक द्वे त्रीणि वा दिनानि उत्कर्षतो यावत् षण्मासास्ता वदाग तुक प्रष्टुमालोचनां वा प्रदापयितु न प्रपारयेत् । इत्थमप्रपारणे च दोषाभाव तेषा षण्णा मासानां पूर्व तिक्रमे किमुक्त भवति । षण्मासेभ्य परतोऽपि यदि न पृच्छति ना ऽपि दायमत्यालोचन तत प्रायश्चित्तमाचार्यस्य गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः ।

अन्येतु ब्रुवते । षण्मासानां परतो यदि न प्रतीच्छत्यालोचनां तत प्रायश्चित्तमाचार्यस्य गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अन्ये तु ब्रुवते षण्मासानां परतो यदि न प्रतीच्छत्यालोचनां तत्र लघुमास । द्वितीयदिनेऽप्यप्रतीच्छने मासगुरु । तृतीयदिने चतुर्लघु । दिनत्रयातिक्रमे चतुर्थादिषुदिनेष्वप्रतीच्छने चतुर्गुरुका इति कार्यादिप्रयोजनवशतो व्यापृत इमां यतनां कुर्यात् ॥

अन्नेण पडिच्छावे, तस्सासति सयं पडिच्छए रत्तिं ।
उत्तरवीमंसाए, खिन्नो य निसिंपि न पडिच्छे ॥

यद्यन्यो गीतार्थस्तस्याचार्यस्य समीपेऽस्त्यालोचनार्हस्तर्हि स सदेशनीयो यथा ऽयमापृच्छता । मालोचनाचास्य प्रतीच्छतामिति । अथ नास्त्यन्यो गीतार्थस्तदा तस्य गीतार्थस्याऽसति भावप्रधानोऽय निर्देशोऽभावे स्वयमेव रात्रौप्रतीच्छित्यालोचनां अथ यथा श्रीगुप्तेन षडुलूकः षण्मासान् यावत् वाद दत्वा निर्जित एव दीर्घकालावलाविनिविवादे रात्रावप्युक्त रविमर्शेन प्रत्युत्तरचिंतया खिन्नपरिश्रांतो निशायामपि न प्रतीच्छत्यालोचनां दत्तामिति अथवा अत्राप्यपवादस्त मेवाह ॥

दोहिंतिहिं वा दिणेहिं, जइच्छिज्जइ तेनहोइ पच्छित्तं ।
तेणपरमणुएणवणा, कुलादिरत्तो व दीवंति ॥

यदि षण्णां मासानां परतो द्वाभ्यां दिनाभ्यां त्रिभिर्वा दिनैः परप्रवादी नियमात् पराजेष्यते कुलादिकार्यं वा समाप्तिमुपयास्यतीत्येव निश्चीयते । ततस्तेष्वपि दिनेष्वप्रच्छने आलोचनाया अप्रतीच्छने वा न प्रायश्चित्त भवति । अथ ज्ञायते तेष्वप्येकद्वित्रादिषु दिवसेषु न कुलादिकार्यसमाप्ति र्भविष्यति । न च परवादी जेष्यते तदा षण्मासाऽसमाप्ता चेव राज्ञः समीपे गत्वा ज्ञापनीयम् । यथाहं दिनमेकमक्षणिको भविष्यामि नान्यथा प्रग्रहीया इति कुलादिकार्येष्वपि कुलादीन्यनुज्ञापयति तथाचाह (तेण परमित्यादि ।) तेनेत्यव्यय तत इत्यर्थे तत षण्मासेभ्य परं कार्यापरिच्छितौ सत्यान्यमा नायामनुज्ञापना कुलादेर्दिनमेकयावत्कर्तव्या राज्ञश्च वादिविनयमे कारण दीपयत्याचार्यो यथाऽह कारणवशेन दिनमेकमक्षणिकोभविष्यामीति । एव चेन्न कुर्वंति तदा प्रायश्चित्त चतुर्गुरुका । तदेवमुक्त क्षपणोपसपद्विधिरिदानीं ज्ञानार्थ दर्शनार्थं प्रतीच्छितो नियमादालोचनां दापयितव्यस्सच दाप्यमान कथमालोचनां ददाति उच्यते ॥

आलोयणा तह चेव य, मूलुत्तरे न वरि विगडियम्मि तु ।
इत्थं सारणवायणा, निवेयणं तेवि ए मेव ॥

यथा सांभोगिकानां विहारालोचनाया मूलगुणातिचारविषये उत्तरगुणातिचारविषये च भणित । तथात्राऽपि भणितव्य । किमुक्त भवति । उपसंपद्यमानोऽप्यालोचना ददान पूर्व मूल गुणातिचारान्प्रागुक्तक्रमेणालोचयति पश्चादुत्तरगुणानिति । नवरमय विशेषः । विकटिते आलोचिते एकत्र स्थितान् जिनस्थितान्वा प्रत्येक वन्दित्वा इद भणति ॥

आलोयणमे दिएणा, इच्छामि सारणवारणचोयणं ।
ते ऽप्येवमेव प्रतिभणन्तो निवेदनकुर्व्वन्ति (अज्जो अम्हे वि सारेज्जा वारेयज्जा) इति गता उपसपदालोचना साम्प्रतम-पराधालोचनयाऽऽ प्रक्रम ॥

एमेव य अवराहे, किं तेन कया तहिं वियविसोही ।
अहिगरणादीमाहति, गीयत्थोवा तहिं नत्थि ॥

यथा विहारालोचना यामुपसंपदालोचनायां चाविधिर्भणित एवमेव तथैव अपराधे अपराधालोचनायामपि द्रष्टव्यो यावत्पृष्टो वा अपृष्टो वा ब्रूते अहमपराधालोचकः समागतः। ततः आचार्यैर्वक्तव्यः । केनकारणेन ते त्वया तत्रैव स्वगच्छे एव नकृता विशोधिः प्रायश्चित्तांगीकरणेन एवमुक्ते यदि साधयति कथयति अधिकरणादीनि । अधिकरणं तैः सह आदिशब्दात् प्रागुक्तविकृतियोग प्रत्यनीकादि कारणपरिग्रहः। अथवा यादि तत्र गीतार्थो नास्ति । तत्राऽधिकरणादिष्वविरुद्धकारणेषु समागत एव प्रतिज्ञणनीयः ॥

नत्थि इहं पमियरगा, खुल्लखेत्तं उग्गमवि य पच्छित्तं।
संकीयमादीव एदे, जहक्कम्मं ते तहवि नासे ॥

अस्तीति निपातो बहुवचनार्थः प्रतिचारका नाम अपराधापन्नस्य प्रायश्चित्ते दत्ते तपः कुर्वतो ग्लानायमानस्य वैयावृत्यकरास्ते इह मे पार्श्वे न सति खलक्षेत्रं नाम मदभिक यत्र वा प्रभूतमुपकारि घृतादिद्रव्य न लभ्यते तादृशमिद क्षेत्र तथाविधदानश्रद्धश्रावकाभावात् वयमपि च स्तोकेऽप्यपराधे उग्र प्रायश्चित्तं दद्मः तथा गुरुपारंपर्य समागमात् तथा यानि (नत्थी संकिय सघाके) त्यादि प्रागुक्तगाथोपन्यस्तानि शकितादीनि पदानि तानि समवेन यथाक्रम तथेति समुच्चये विज्ञापत ब्रूयात् यथा प्रायश्चित्तसूत्रमनुसृत्य प्रायश्चित्त दीयते तदिदानीं विस्मृत शंकित वा जात नचार्थ स्मरामि । ततः कथ प्रायश्चित्त प्रयच्छामि अथवा प्रायश्चित्ते प्रतिपन्ने सति तत्तपः त्वयेह कर्तव्य । तत्रचेयमस्माक सामाचारी बहिर्भूमिमात्रमपि संघाटक विना न गतव्यं यदि पुनः कोऽपि गच्छति ततस्तस्मै प्रायश्चित्तमत्युग्र ददामि इत्येव यथासंभव शकितादीनि ब्रूयात् न तु दद्यादालोचनामिति यस्तु निर्गमन शुद्ध आगमनेन शुद्धो वा प्रतीच्छते तस्यालोचनायां विधिर्वक्तव्यः ॥ व्य उ १ ।

नन्वकृत्येऽसमासेविते यत्कर्मबद्धं तदनुभवनीय मेवेत्यालोचनायां को गुण इत्या शङ्कायाम् ॥

आसेविते वकिच्चेणा, जोगादिहिं होंति संवागा ।
अणुतावो तत्तो खलु, एसा सफला मुणेयव्वा ॥ ३ ॥

(पचा) वृ १५ आसेवितेऽप्याचरितेऽपि अनासेविते कर्म्माभावात् फलैर्वाज्ञाऽनुपालनादित्यापि शब्दार्थः । अकृत्ये साधूनामविधेये कथमित्याह अनाभोगादिभिरज्ञान प्रभृतिभिस्तद्यथा ॥

सहसाणाजोगेण व, भीएण व पेल्लिएणव परे ण व ।
सणेणायं केण व, मूढेण व रागदोसेहिं ॥

भवति जायते कुतः इत्याह संवगा ससारभयादनुताप पश्चात्तापः प्राक्कृताकृत्य विषयस्तज्जन्यकर्म्म क्षपणहेतुभूतः आलोचनायामिति गम्यते ततः किमित्याह । ततो ऽनुतापात् खलुर्वाक्यालङ्कारे एषाआलोचना स फला सार्थिका (मुणेयव्वति) ज्ञातव्येति गाथार्थः ॥

अथ कथमनुतापादालोचना सफला भवतीत्यत आह ॥

जहसंकिलेसओ इह, बंधो वोदारणओ तहा विगमो ।
तं पुण इमीए णियमा, विहिणा सइ मुप्पउत्ताए ॥

व्याख्या । यथा यद्वत् सक्लेशाद्रागादिलक्षण चित्तमालिन्यादिहा कृत्यासेवने बंधो ऽशुभकर्म्मोपादन जीवस्य भवति व्यवदान दैप् शोधन इति वचनात् शुद्धिः ततो व्यवदानात्पश्चात्तापरूप चित्तविशुद्धे सकाशात्तथा तद्वद्विगमो निर्जरणमकृत्यकरणजन्याशुभकर्मणो भवति यद्येव ततः किमित्याह (तपुणत्ति) तत्पुनर्व्यवदानमनया नियमादवश्यतया भवति विधिना विधानेन वक्ष्यमाणेन सकृत्सदासुप्रयुक्तया भावसारं प्रवर्तितयेत्यतः सफलेयमिति गाथार्थः विधिना प्रयुक्तालोचनाव्यवदानतः सफला स्यादित्युक्तमथोक्तस्यैव विपर्ययमाह ।

इहरहा विवज्जओ वि हु, कुवेज्ज किरिया दिणायतोणेओ।
अवि होज्ज तत्थ सिद्धीआणाभंगा न तणएत्थ।

व्याख्या । इतरथाऽविधिप्रयोगे आलोचना या विपर्ययोऽपि व्यवदानाभावेन आलोचना निष्फलत्वमपि अनर्थफलत्व वा स्यात् न केवल विधिना सफलत्वमविधिना विपर्ययोऽपि स्यादित्यपिशब्दार्थः हुर्वाक्यालङ्कारे । कुत एवमिदमित्याह । कुवैद्यक्रियादिज्ञाततः कुभिषक प्रवर्तितरोगोचिकित्साप्रभृत्युदाहरणेनादिशब्दादविधिविद्यासाधनादि परिग्रहः क्रेयो ज्ञातव्यः । अविध्यालोचनायां विशेषमाह । अपीति सभाव्यत एतत् यदुत भवेज्जायेत पुण्यानु भावात् तत्र कुवैद्य चिकित्सायां सिद्धिः प्रयोजननिष्पत्तिरारोग्यमित्यर्थः न पुनरत्र नत्वविध्यालोचनायामिष्टसिद्धिःकुत इत्याह आज्ञाभंगादाप्तोपदेशाननुपालनादिति गाथार्थः एतदेवस्पष्टयन्नाह ॥

तित्थगराणं आणा, सम्मं विहिणा उ होइ कायव्वा ।
तस्सअहा उकरण, मोहादतिसंकिलेसोत्ति ॥
बंधो य संकिले सा, तत्तोण सेवेति तिव्वतरगाओ ॥
ईसिमलिणं ण वत्थ सुज्झइनीलीरसादीहिं ॥ ७ ॥

व्याख्या । तीर्थकराणा जिनाना माज्ञोपदेशः सम्यक् भावत विधिना नुवक्ष्यमाणविधानेनैव भवति स्यात् कर्तव्या विधि विपर्यये दोषमाह तस्या जिनाज्ञाया अन्यथा तु करणे अविधिविधाने पुनः कुत इत्याह। मोहादज्ञानात् किमित्याह अतिसक्लेश आत्यतिक चित्तमालिन्य भवति इति शब्दः समाप्ताविति बधश्चा शुभकर्मबधः पुनः सक्लेशादुक्तरूपाद्भवति । किंचेतस्ततः सक्लेशाच्च सः नैवासौ कर्मबधोऽपैत्यपगच्छति किंभूतात् सक्लेशादित्याह । तीव्रतरकादकृत्यासेवाहेतुभूतसक्लेशापेक्षयाऽतिशयोत्कटात् अविध्यालोचना कृताज्ञाभगजन्यादित्यर्थः ॥

इहार्थे दृष्टांतमाह ॥

ईषन्मलिन मनाग्मलयुक्त न नैव वस्त्रवासः शुद्ध्यति निर्मलं भवति नीलीरसादिभिर्गुलिकाद्रव्यप्रभृतिभिर्बहुतरमालिन्यहेतुभिरादिशब्दात् रुधिरादिपरिग्रहः । यथाहीषन्मलिन प्रचुरमालिन्यहेतुना शुध्यत्येवमकृत्यासेवाकृतोबधोअतिगाढतरबधहेतुना आज्ञाभगहेतुभूतसक्लेशेनापैतीति गाथाद्वयार्थः पचा वृ.१५॥

व्यवहारे आलोचनायामिमे गुणाः ॥

लहुयी ल्हादीजणणं, अप्पपर नियत्ति अज्जवं सोही ।
दुक्करकरणं विणओ, निसल्लत्तं च सोहि गुणालधोजीवो॥

लघुता यथा भारवाही अपहृतभारोलघुर्भवति तथा आलोचको प्युध्दृतशल्यो लघुर्भवति इति लघुता तथा ल्हादन ल्हादिणा

दिक इ प्रत्ययः प्रल्हत्ति स्तस्याजननमुत्पत्ति र्ह्लादिजनन-प्रमोदोत्पाद इति यावत् तथा ह्यतीचार धर्म्मतस्य चित्तस्य मल्रयगिरि पवनसपर्क्केणेव आलोचना प्रदानेनाती चार धर्म्मा पगमतो भवति सविग्नानां परम मुनीनां महान्प्रमोद इति । तथा (अप्पपर नियत्तित्ति) आलोचना प्रदानतः स्वयमात्मनो दोषेभ्योनिवृत्ति कृता तांचदृष्ट्वाऽप्यन्ये आलोचना भिमुखा प्रवर्ततीत्यन्येषामपि दोषेभ्यो निवर्तनमिति । तथा यदतीचारजात प्रति सेवित तत्परस्मे प्रकटनामात्मन आर्जव सम्यग्विज्ञावित भवति । आर्जव नाम अमायाविता तथा अतीचारपकमल्लिनस्यात्मनश्चरणस्य वा प्रायश्चित्तजलेन अतीचार पकप्रक्षालनतो निर्म्मलता शोधिः । तथा दुष्करकरण दुष्करकारिता तथाहि यत्प्रतिसेवन तन्नदुष्करं अनादिभवा भ्यस्तत्वात् यत्पुनरालोचयति तत् दुष्करं प्रबलमोक्षा नुयायि वीर्योल्लास विशेषेणैव तस्य कर्तुमशक्यत्वात् । तथा (विणउत्ति) आलोचयता चारित्रविनय सम्यगुपपादितो भवति (नेस्सल्लत्त) मिति सशल्य आत्मा निः शल्य कृतो भवतीति निःशल्यता एते शोधिगुणा आलोचनागुणाः आलोचनाशोधिरित्यनर्थान्तरत्वात् । व्य उ. १ ।

आलोचनायांदत्तायां ये गुणा भवन्ति ते भक्तप्रत्याख्यान शब्दे वक्ष्यन्ते ।

(८) कालोचना ग्रहीतव्या तानि स्थानानि ॥

आलोचना येषु कार्येषु कर्तव्या तानि व्यवहारकल्पे यथा (आलोयणत्ति का पुणकस्स सगासे व होइ कायव्वा । केसु व कज्जेसु भवे गमणा गमणाद्दि एसु तु) का किंस्वरूपालोचनेति प्रथमत प्रतिपाद्य तत स्तदनतर कस्य सकाशे समीपे भवति कर्तव्यालोचनेति वाच्य तथा केषु कार्य्येषु भवत्यालोचना तत्र प्रतिपत्ति लाघवाय सक्षेपतो ऽत्रैव निर्वचनमाह । गमनागमनादिकेषु गमने आगमने आदिशब्दात् शय्यासंस्तारकवस्त्र पात्रपादप्रोञ्छनकग्रहणादिपरिग्रहः । तुशब्दो विशेषणे । सचैतद्विशिनष्टि गमनागमनादिष्ववश्यकर्तव्येषु सम्यगुपयुक्तस्याऽदुष्टभावतया निरतिचारस्य छद्मस्थस्याप्रमत्तस्य यते रालोचना भवतीति आह यानि नामावश्यकर्तव्यानि गमनादीनि तेषु सम्यगुपयुक्तस्याऽदुष्टभावतया निरतिचारस्याऽप्रमत्तस्य किमालोचनया तामन्तरेणाऽपि तस्य शुद्धत्वात् यथासूत्र प्रवृत्ते सत्यमेतत्केवल याचेष्टानिमित्ता सूक्ष्मप्रमादनिमित्ता वा सूक्ष्मा आश्रवक्रियास्ता आलोचना मात्रेण शुद्ध्यतीति तच्छुद्धिनिमित्तमालोचना उक्त च ॥

जया उवउत्तो नेरइयारो ये करेइ ये करणिज्जायत्त जोगा तत्थ को विसोही आलोइए आणालोइए वा गुरु भणइ तत्थ जाविह्नि निमित्ता सुहुमां आसवकिरिया ता उसुज्झंउति आलोयणामेत्तएणंति ॥

तत्र का नामालोचनेति यत्प्रथम द्वार तत्सुप्रसिद्धत्वादन्यत्र वा कल्पाध्ययनादिषुव्याख्यात तथापि स्थानाशून्यार्थकिचिदुच्यते । आलोचना नाम अवश्यकरणीयस्य कार्यस्य पूर्वं कार्यसमाप्ते रूर्द्ध वा यदि वा पूर्व मपि पश्चादपि गुरोः पुरतो वचसा प्रकटीकरण सालोचना उपरितनेषु प्रायश्चित्तेषु केषु चित्सम्भवति केषुचिन्न सम्भवति । तत्र येषु सम्भवति तत्प्रतिसिद्धयर्थमिदमाह ॥

बिइए नत्थि वियरणावा उ विवेगे तहा वि उस्सग्गो आलोयणाउ य नियमा गीयसगीए व केसिं वि ॥

द्वितीये सूत्रक्रमः प्रामाण्यानुसरणात् प्रतिक्रमणं तस्मिन् द्वितीये प्रतिक्रमणलक्षणे प्रायश्चित्ते नास्ति विकटना आलोचना तथाहि सहसाऽनाभोगतो वा यदा किंचिदाचरित भवति यथा मनोज्ञेषु शब्दादिष्विन्द्रिय गोचरमागतेषु एव मनोज्ञेषु द्वेषगमन तदा तदनतरमेव मिथ्यादुष्कृतमिति श्रूते तच्च तेनैव शुद्धिं यातीति नालोचयति (वा चविवेगंमि) वा शब्दो विभाषायां विवेके विवेकार्हे प्रायश्चित्ते आलोचनाया विभाषा कदाचित् भवति कदाचिन्नभवतीतिभावः । तथाहि तत् विवेकार्हे नाम प्रायश्चित्त यत्परिस्थापनया शुध्यति यत्र यदकल्पिकमाधाकर्म्मिकादि पूर्वमविदितत्वेन गृहीत पश्चात्क-थमपि ज्ञात तत्यदा परिस्थापयतः शुभभावनाध्यारोहे केवलज्ञानमुत्पद्यते । तदाऽसौ कृतकृत्यो जात इति नालोचयति अनुत्पन्नेतुज्ञानातिशये नियमादागत्य गुरुसमीपमालोचयतीति । (तदाविउस्सग्गेइति) यथा विवेके आलोचना विभाषा तथा व्युत्सर्गेऽपि किमुक्तं भवति । व्युत्सर्गेऽपि कदाचिदालोचना भवति । कदाचिन्नभवति । यथा स्वप्ने हिंसादिकमासेवितं तच्छुद्धिनिमित्तं च कायोत्सर्ग कृतस्तदनन्तर च शुभभावनाप्रकर्षित केवलज्ञानमुत्पादि । मरण वा तस्याऽकस्मिकमुपजातमिति नास्त्यालोचना अनुत्पन्ने तु ज्ञाने जीवित यावत्नियमादवश्यविकटना यत् आलोचयति ॥ यथा ॥

स्वप्ने मयाहिंसादिकमासेवित कार्योत्सर्गेण च विशोधितमिति ॥

तत्रालोचनार्हम्प्रायश्चित्तमेतेषु स्थानेषु भवति । व्य० उ० १

करणिज्जेसु उजोगेसु, छउमत्थस्स भिक्खुणो ॥
आलोयणपाच्छित्तं, गुरूणं अंतिएसिया ॥

करणीया नाम अवश्य कर्तव्या योगाःश्रुतोपदिष्टाःसयमहेतवः क्रिया अथवा योगामनोवाक्कायव्यापाराः (जोगो विरिय थामो उच्छाहपरक्कमो तहा चेट्ठा सत्ती सामत्थ चिय जोगस्स हवति पज्जाया) इति वचनात्तेचाऽवश्यकर्तव्य इमे कूर्म इव वसतौ संलीनगात्र सुप्रणिहितपाणिपादाऽवतिष्ठते वचनमपि सत्यमसत्या मृषां वा इते न मृषां वेति मनसोऽप्यकुशलस्य निरोधन कुशलस्योदीरणमेव रूपेषु करणीयेषुसम्यगुपयुक्तस्य निरतिचारस्येति वाक्यशेष सातिचारस्योपरितनप्रायश्चितसम्भवात् छद्मस्थस्य परोक्षज्ञानिनो नतु केवलज्ञानिन स्तस्य कृतकृत्यत्वेनालोचनाया अयोगात् उक्तच (छउमत्थस्स हवइ आलोयणा न केवलिणो) इति तच्च तत्रोक्तेन प्रकारेण भिक्षत इत्येवशीलो भिक्षुस्तस्य यतेरालोचनाप्रायश्चित स्यात्तदपि च गुरूणामतिके समीपे नान्येषामिति ॥ प्रव० द्वा० ९८ धर्म अ० ३ ॥

इह करणीया योगा इति सामान्येनोक्तम् ।

अधुनानामग्राह करणीययोगप्रतिपादनार्थमाह व्य उ. १ ।

भिक्खवियार विहारे, अण्णसुय एवमाइकज्जेसु ।
अविगडियंमि अविण तो, होज्जअसुद्धे व परिभोगो ॥

भिक्षाया विचारे विहारे अन्येष्वपि चैवमादिकेषु कार्येषु आलोचना प्रायश्चित्त भवतीति वर्तते इयमत्र भावना गुरुमापृच्छ्य गुरुणाऽनुज्ञात सन् श्रुतोपदेशेनोपयुक्त स्वयोग्यभिक्षावस्त्रपात्रशय्यासंस्तारकपादप्रोञ्छनादि यदि वा आचार्योपाध्याय स्थविरबालग्लानशैक्षकक्षपकासमर्थप्रायोग्यवस्त्रपात्रभक्तपानौषधादि गृहीत्वा समागतो विचार उच्चार भूमि-

स्तस्माद्वा समागतो विहारो वसतावस्वाध्यायिक तमकृत्वा-वसते रन्यत्र गमन तत एवमादिग्रहणश्चैत्यवदननिमित्त पूर्वगृहीतपीठफलकशय्यासस्तारकप्रत्यर्पणनिमित्त यदृश्रुतापूर्वसविविम्नानां वदनप्रत्यय वा सशयव्यवच्छेदाय वा श्राद्धस्वज्ञात्यवषएणविहाराणामवबोधाय वा साधर्मिकाणां वा सयमोत्साहनिमित्त हस्तशतात्परतरमासन्न वा गत्वा समागतो यद्यपि नास्ति कश्चिदतीचारस्तथापि यन्नापि यन्ना विधिगुरुसमक्षमालोचयितव्यम् अन्यथा सूक्ष्मचेष्टा निमित्तानां सूक्ष्म प्रमादनिमित्तानां वा क्रियाणां शुद्ध्यभावात् अन्यच्चनिरतिचारोऽपि यदि गुरोः समक्ष नालोचयति ततोऽविनयो भवति । अशुद्धपरिभोगो वा । तथाचाह । अविकटितेऽनालोचितेऽविनयोऽशुद्धे वा परिभोगो भवेदनालोचिते तूभयदोषाभाव नत्वविनयदोषाभावःस्यादशुद्धपरिभोगाभाव.कथमुच्यते कनाऽपि साधुना भिक्षा प्रचुरासत्कारपुरस्सरा लब्धा तस्य शकितमुपजात किंनामेय भिक्षा शुद्धा वा तत्र यद्यनालोच्य भुक्ते ततोऽशुद्धपरिभोगो भवति तेनालोचित आचार्येण पृष्टमन्यादिवसेषु तस्मिन् गृहे कीदृशी भिक्षा मलन्यत कियतो वा भोजनकारिण. प्राघूर्णका वा केऽप्यागता. सखडी वा जाता इत्यादि विभाषा एव च पृष्टे तेन यथावस्थित कथितत्वत. आचार्येण ज्ञाता शुद्धा अशुद्धा वा तस्मादालोचयितव्य॥ अन्यच्च ॥

छउमत्थो तदुभहा वा हवेज्ज उवओगो ॥
आलोएंतोउहइ सो उं वावियाणईसोया ॥

अन्यच्च किंचान्यदित्यर्थः । छाद्मस्थिक. सामान्यसाधुगत उपयोगस्तथा यथावस्थितवस्त्वनुसारी अन्यथावा विपरीतो भवेत् । आचार्यस्तु मतिमेधाधारणादिगुणसमन्विततया बहुश्रुततया वातिशयज्ञानी ततः शकितमालोचिते अशकितमालोचितो निःशकित करोति तथा यद्यपि गृह्णत. शकितमुपजात । तथापि । कदाचिदालोचयन् स्वप्रज्ञयाऽप्यूहेत तत शुद्धमशुद्ध वा स्वयमेव जानाति यदि वा तदीयामालोचनां श्रुत्वा श्रोताऽप्याचार्यादिकःपूर्वोक्तेनप्रकारेणयादिवा आचार्यादिकस्य पार्श्वे बहवो लोका. समागच्छन्तिबहुन्यश्चबहु शृण्वन् कदाचित्तमपि विषय लोकत. श्रुत्वा जानाति शुद्धमशुद्ध वा तस्मादालोचयितव्य । यदुक्त ।(गुरुण अंतिपे सिया)इति तत्र स्यादित्यस्य व्याख्यानमाह ॥

आसंकमवहियंमि य होइ सिया अवहिए तयं पगयं ॥
गणतत्तिविप्पमुक्के तिक्खवे वावि आसंका ॥

स्यातशब्द आशकामिति प्राक् तत्वादाशकायामवधृते चार्थे आशका नाम विभाषा यथा स्यादिति कोऽर्थः ॥ कदाचिद्भवेत् कदाचिन्न भवेत् । अवधृत नाम अवधारण तत्र तयोर्द्वयोरर्थयोर्मध्येऽवधृतेऽवधारणे प्रकृतमधिकार. । अवधारणार्थोऽत्रस्याच्छब्द इतिभावः । ततोऽयमर्थ. ॥ गुरूणामन्तिकेनियमादालोचना यदि वा आशकायामपि कृत तत्रायमर्थ ॥ गुरूणामतिके स्यात्तावदालोचना यदि पुनराचार्यो गणतप्तिविप्रमुक्तो भवति तत स्तस्मिन्गणतप्तिविप्रमुक्तेनुपाध्यायस्य समीपे आलोचना अथोपाध्यायस्याऽपि कुलादिकार्ये श्राद्धादिकथनैर्वा व्याक्षेपस्तस्तोऽन्यस्य गीतार्थस्य तदभावे गीतार्थस्याऽपि समीपे आलोचयितव्य गतमालोचनाप्रायश्चितम् आलोचनीयाऽतिचारा. व्यवहारशब्दे ।

तिएहमइक्कमाणं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा णिंदेज्जा गरहिज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं जहा णाणाइक्कमस्स दंसणाइक्कमस्स चरित्ता इक्कमस्स एवं वइक्कमाणं अइयाराणं अणायारा एणं स्था ठा ३ ॥

अतिक्रमाणांत्रयाणां गुरवे निवेदनम् ॥

तिएह अइक्कमाणति । षष्ठ्या द्वितीयार्थत्वा त्त्रीनतिक्रमानालोचयेत् । गुरवे निवेदयेदित्यादि । प्राग्वत् नवर यावत्करणात विसोहेज्जा विउट्टेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवो कम्म पायच्छित्तमित्यध्येतव्यमिति ॥ स्था टी ।

अथालोचयितव्यापराधदर्शनार्थ माह पञ्चाशके वृ. १५ ।

आलोएयव्वा पुण अइयारा सुहुमबायरासमं ।
णाणा यारादिगया पंचविहो सोय विएणेओ ९९।

व्याख्या । आलोचना विधिस्तावदय मालोचयितव्याः पुनः प्रकाशनीयास्तु अतीचारा अपराधाः सूक्ष्मबादराः लघुगुरुका न तु लघवएव बादरा एववा सम्यग् भावशुद्ध्याज्ञानाचारादिगता ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारविषयाः पचविधः पचप्रकारः स च आचार. पुनर्विज्ञेयो ज्ञातव्य इति गाथार्थः ।

१ कः पुनस्सोऽतिचारः कुतोवा प्रभृत्यालोचयितव्यमिति भत्तपच्चक्खाण शब्दे ॥

(ए) द्रव्यादिचतुर्विधमालोचनीयं ॥

किंपुनस्तदालोचनीयं । उच्यते । चतुर्विधं । द्रव्यादि तथा चाह ।

(वेयणमचित्तदव्व जणवयसद्धाणे होइ खेत्तम्मि ।
दिण निसि सुभिक्ख दुभिक्खकाले भावम्मि हेट्ठियरे) ॥

द्रव्यतश्चेतन सचित्तमुपलक्षणमेतत् । मिश्र वा अचित्तमचेतन वा अकल्पिक यत्किंचित्सेवित क्षेत्रतो जनपदे वा अध्वनि वा कालतो दिने निशिवा यदि वा सुभिक्षे वा दुर्भिक्षे वा भावे हेट्ठेयरे सप्तमी तृतीयार्थे । हृष्टेन इतरेण वा ग्लानेन सता यतनया वा दर्पतः कल्पतो वा लोचयति । कथमित्याह (जह बालो जपंतो कज्जमकज्जं चउज्जुय भणई । त तहा आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्कोउ) ।

यथा बालो मातुःपितुर्वा पुरतो जल्पन् कार्य्याकार्य्यञ्च ऋजुकमकुटिल भणतितथा आलोचकोऽपिमायामदाविप्रमुक्तः सन् तदालोचनीय । यथा ऋजुभावेनालोचयेत् व्य उ. ४ ॥

गोचरचर्य्यात प्रतिनिवृत्तस्यालोचना पञ्च वस्तुके । यथा ।

(चिंतितु जोगमखिल नवकारेणं त ओ उ आरित्ता ।
पढिऊण थयताहे साहू आलोअए विहिणा ॥ ३ ॥)

पुनः चिंतयित्वा योगमखिलसामुदानिकं नमस्कारेण ततश्च तदनतर पारयित्वा णमोअरहताण मित्यनेन । तत. पठित्वा स्तवमितिश्चतुर्विंशतिस्तवपाठानन्तर गुरुसमीप गत्वा साधुर्भावतश्चारित्रपरिणामापन्नः सन्नालोचने तद्भिक्षानिवेदनं कुर्य्याद्विधिना प्रवचनोक्तेनेति गाथार्थ. । प व. ॥

गोचरचर्य्याया आगत्य गुरोरग्रेधालोचन गोचरचर्य्याशब्दे॥

गोचरचर्य्यायामकृत्य प्रतिपेन्यालोचयतो मोक्षमार्गाराधकत्वमाराधना शब्दे ॥ भ० ॥ श. ८ उ. ६ ॥ व्यवहारकल्पे ॥

(१०) अपराधालोचनायां प्रशस्ताऽप्रशस्तद्रव्यादयः ॥

अपराधालोचनामधिकृत्य प्रशस्ताप्रशस्तद्रव्यादयो यथा व्य० ॥ १ ॥

दव्वादिचउरभिग्गह, पसत्थमपसत्थए ते दुहेक्केके ।
अपसत्थेवज्जेउं पसत्थएहिं तु आलोए ॥

अपराधालोचनायां दीयमानायां द्रव्यादयो द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्चत्वारश्चतुःसंख्याका अपेक्षणीया भवति । तथा (अभिग्गहत्ति दिशामभिग्रहः कर्तव्यः । ते च द्रव्यादयो दिशश्च एकैकं प्रत्येकं द्विधा द्विप्रकारास्तद्यथा । प्रशस्ता अप्रशस्ताश्च तत्र प्रशस्तान् द्रव्यादीन् अप्रशस्तांश्च दिशो वर्जयित्वा प्रशस्तैर्द्रव्यादिभिर्दिग्विशेषैश्च । किमुक्तं भवति । प्रशस्तेषु द्रव्यादिषु प्रशस्ताश्च दिशोऽभिगृह्य आलोचनां दद्यात् ॥

तत्राप्रशस्तद्रव्यादिप्रतिपादनार्थमाह ॥

भग्गघरे कुडेसु य, रासीसुय जे दुमा य अमणुन्ना ।
तत्थ न आलोएज्जा, तप्पडिवक्खदिसा तिन्नि ॥

यत्र स्तंभकुड्या कुड्यादीनामन्यतमत्किमपि पतितं तत् भग्नगृहं तत्र तथा (कुडेसुइति) कुड्यग्रहणात् कुड्यमात्रा विशेषे यत्र पागंतरं (रुद्देसुय) इति तत्र रुद्देषु रुद्रगृहेषु तथा राशिषु अमनोज्ञतिलमाषकोद्रवादिधान्यराशिषु ये च द्रुमा अमनोज्ञा निष्कंटकादिप्रभृतयोऽमनोज्ञा अप्रशस्ता सूचिते तेष्वप्याश्रयभूतेषु उपलक्षणमेतत् अप्रशस्तासु तिथिषु अप्रशस्तेषु च सन्ध्यागतादिषु नक्षत्रेषु अप्रशस्ताश्च याम्यादिदिशोऽभिगृह्य नालोचयेत् । किंतु तत्प्रतिपक्षे प्रशस्तद्रव्यादिरूपे आलोचयेत् तथा प्रशस्ताश्च तिस्रो दिशः पूर्वामुत्तरां प्रतीचींचाभिगृह्य आलोचयेत् । इदानीममनोज्ञधान्यराश्यादिषु द्रव्यादित्वयोजनामाह ॥

अमणुन्नधणरासी, अमणुन्नदुमायहोंति दव्वंमि ।
भग्गघररुद्दऊसर, पवायदड्ढा इखित्तंमि ॥

अमनोज्ञधान्यराशयो ऽमनोज्ञद्रुमाश्च भवन्ति द्रव्ये द्रष्टव्याः । भग्नगृह प्रागुक्तस्वरूप (रुद्दत्ति) रुद्रग्रह (ऊसरत्ति) ऊषर यत्र तृणादि नो गच्छति । छिन्नटंका तटीप्रपात. भृगुप्रपातादिक वा दग्धं दवदग्धमादिशब्दाद्विषुरुतादिपरिग्रहः इत्यादि सर्वं क्षेत्रं द्रष्टव्यं तत्र यत् अमणुन्न दुमाय होंति दव्वमीत्युक्त तदेतत् व्याख्यानयति ॥

निष्पत्तकंटइल्ले, विज्जुहते खारकडुय दड्ढे य ।
अयत्तउयतंब सीस, गदव्वे धन्नाय अमणुन्ना ॥

निष्पत्राः स्वभावतः पत्ररहिताः करीरादयः । कंटकिनो बदरीबब्बूलप्रभृतय. । विद्युद्धता विद्युत्पातभग्नाः क्षाररसा मोरहप्रभृतयः । कटुका कटुकरसा रोहिणी कुटजनिंबादयः । दग्धादावदग्धा. एतान् द्रुमान् अमनोज्ञान् जानीहीति वाक्यशेषः नकेवलममनोज्ञधान्यराशयो मनोज्ञा द्रुमाश्च द्रव्ये वर्जनीया. । किंतु अयस्त्रपुताम्रसीसकराशयो द्रव्ये वर्जयितव्या (अमणुन्नाधन्नराशी) इति व्याख्यानयाति । अमनोज्ञानि धान्यानि चशब्द । पुनरर्थेऽमनोज्ञधान्यराशयः ॥

संप्रति कालतो यद्यि सा वर्जनीयास्तानाह ॥

पडिकुट्ठिल्लगदिवसे, वज्जेज्जा अट्ठमि च नवमिं च ।
छट्ठिं व चउत्थिं बारसिंच, दोण्हंपि पक्खाणं ॥

इह इल्लप्रत्ययः प्राकृतेस्वार्थे प्रतिकुष्टा एव प्रतिकुष्टेल्लकाः । ते च ते दिवसाश्च प्रतिकुष्टेल्लकदिवसाः । प्रतिषिद्धा दिवसास्तान्वर्जयेत् । तानेव नामत आह द्वयोरपि शुक्लकृष्णरूपयोः पक्षयोरष्टमीं नवमीं षष्ठीं चतुर्थीं द्वादशीं च । एता हि तिथय. शुभप्रयोजनेषु सर्वेष्वपि स्वभावत एव प्रतिकूलास्ततो वर्जनीयाः इदं कालतोऽप्रशस्त वर्ज्यं सन्ध्यागतादिक नक्षत्र तदेवाह ॥

संझागयं रविगयं, विड्डेरं, सग्गहं विलंबिं च ।
राहुहयं गहभिन्नं, वज्जए सत्तनक्खत्ते ॥

सन्ध्यागत नाम यत्र नक्षत्रे सूर्योऽनतर स्थास्यति । तत आदित्यपृष्ठस्थितमन्येपुनराहुर्यस्मिन्नुदिते सूर्ये उदेति तत सन्ध्यागतमपरे त्वेव ब्रूवते यत्र रविस्तिष्ठति । तस्माच्चतुर्दश पंचदशं वा नक्षत्र संगत यत्र रविस्तिष्ठति । पूर्वद्वारिके नक्षत्रे पूर्वदिशा गतव्ये यदा अपरयादिशा गच्छति । तदा तत विद्वार विगतद्वारमित्यर्थः । यत्क्रूरग्रहेणाक्रांत तत् सग्रह विलंबि यत् सूर्येण परिभुज्य मुक्तं अन्ये त्वाहुः । सूरगतात् नक्षत्रात् पृष्ठतस्तृतीय तत् पृष्ठतस्तृतीय विलंबि इति । राहुहत यत्र सूर्यस्य चन्द्रस्य वा ग्रहण यस्य मध्ये नग्रहोऽगमत् ग्रहभिन्नं । एतानि सप्तनक्षत्राणि चन्द्रयोगयुक्तानि वर्जयेत् । यत एतेष्विमे दोषा ॥

संझागयंमि कलहो, होइ कुभत्तं विलंबिनक्खते ।
विड्डेरपरविजयो, आदिच्चगए अनिव्वाणी ॥
जं सग्गहंमि कीरइ, नक्खत्तेतत्थवुग्गहोहाइ ।
राहुह यंमि यमरणं, गहभिन्ने सोणिउग्गालो ॥

सन्ध्यागते नक्षत्रे शुभप्रयोजनेषु प्रारभ्यमाणेषु कलहो राटिर्भवति । विलंबनक्षत्रे कुभक्त विद्वारे परेषां शत्रूणां विजयः । आदित्यगते रविगते अनिर्वाणिरसुख सग्रहे पुनर्नक्षत्रे यत्क्रियते तत्र व्युद्ग्रहः सग्रामो भवाति । राहुहते मरण ग्रहभिन्ने शोणितोद्गारः शोणितविनिर्गमः । एव भूतेष्वप्रशस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावेषु नालोचयेत् किंतु प्रशस्तेषु तत्र प्रशस्ते द्रव्ये शाल्यादिप्रशस्तधान्यराशिषु मणिकनकमौक्तिकवज्रवैडूर्यपद्मरागादिराशिषु च प्रशस्त क्षेत्र साक्षादाह ॥

तप्पडिवक्खेखेत्ते, उच्छुवणा सालिवेइयघरेवा ।
गंभीरसाणुणाए, पयाहिणावत्तउदयएय ॥

तस्य प्रागुक्तस्याप्रशस्तस्य क्षेत्रस्य प्रतिपक्षे प्रशस्तेक्षेत्र इक्षुवने उपलक्षणमेतत् । आरामे वा पत्रपुष्पफलोपेते (सालित्ति) वन शब्दोऽत्रापि संबध्यते । शालिवने चैत्यगृहे वा शब्दो विकल्पो न तथा गभीरे गभीर नाम प्रभत्यादिदोष वर्जित शेषजनेन च प्रायेणालक्षणीयमध्यमभाग स्थान गभीरमस्याधमिति वचनात् सानुनादे यत्रोच्चारिते शब्दे प्रतिशब्द समंतात् उत्तिष्ठति । तत्सानुनादं तथा प्रदक्षिणावर्त्तमुदक यत्र नद्यां पद्मसरसि वा तत् प्रदक्षिणावर्त्तोदकं तस्मिन्वा वशब्दो वा शब्दार्थः क्वचिद्वा शब्दस्यैव पाठ । प्रशस्त कालमाह ॥

उत्तदिणसेसकाले, उच्चट्ठाणा गहाय जावंमि ।
पुव्वदिसउत्तरा वा, चारंति य जाव नवपुव्वी ॥

उक्तानि यानि दिनानि अष्टम्यादीनि तेभ्यो ये शेषा द्वितीयादयो दिवसास्ते च स कालश्च उक्तदिनशेषकालस्तस्मिन्प्रशस्ते व्यतीपातादिदोषवर्जिते उपलक्षणमेतत् । प्रशस्ते च करणे प्रशस्ते च मुहूर्ते एतत् कालतः प्रशस्तमुक्तं भावतः प्रशस्तमाह । उच्च स्थानं येषान्ते उच्चस्थाना ग्रहा । भावे भावविषयं प्रशस्तं । किमुक्त भवति । भावत उच्चस्थाने गतेषु तत्र ग्रहाणामुच्च स्थानमेव (सूर्यस्य मेष उच्चः स्थानं । सोमस्य वृषः । मङ्गलस्य मकरः । बुधस्य कन्या बृहस्पतेः कर्कटकः । शुक्रस्य मीनः । शनैश्चरस्य तुला । सर्वेषामपि च ग्रहाणामात्मीयादुच्चः स्थानात् यत्सप्तम स्थान तत् नीचः स्थानं । अथवा भावतः प्रशस्ता ये सौम्यग्रहा बुधशुक्रबृहस्पतिशशिन एतेषा सबधिषु राशिषु एतैरवलोकितेषु च लग्नेषु आलोचयेत् । तथा तिस्रो दिशः प्रशस्ता ग्राह्याः । तद्यथा पूर्वा उत्तरा वरती च वरती नाम यस्यां भगवानर्हद्विहरति समान्यतः केवलज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी अवधिज्ञानी चतुर्दशपूर्वी त्रयोदशपूर्वी यावन्नवपूर्वी यदि वा योयस्मिन् युगे प्रधान आचार्यः स प्रातिहारिकान् यया विहरति । एतासां तिसृणां दिशामन्यतमस्या दिशोऽभिमुख आलोचनार्होऽवतिष्ठते तस्येय सामाचारी ॥

निसज्जासति पग्हिारी य,किइकम्मं काउयं जलुकडुओ।
बहुपडिसेवरिसां, भुयअणुण्णवेउं निसज्जमातो ॥

आत्मीयकल्पैरपरिभुक्तैराचार्यस्य निषद्यां करोति । असति आत्मीयकल्पानामभावे अन्यस्य सत्कान् या कल्पान् गृहीत्वा करोति । कृत्वा च यद्याचार्यः पूर्वाभिमुखो निषीदति तत आलोचकोदक्षिणत उत्तराभिमुखोऽवतिष्ठते । अथाचार्य उत्तराभिमुखो निषण्णः । तत आलोचको वामपार्श्वे पूर्वाभिमुख स्तिष्ठति । वरती च दिश प्रत्याभिमुखो भवति । ततः कृतिकर्म द्वादशावर्तवदनकं कृत्वा प्रवृद्धोऽञ्जलियेन स प्रांजलिः । उत्सर्गत उत्कटुकस्थितः सन् आलोचयेत् । यदि पुनर्वहुप्रतिसेवितमस्तीति चिरेणालोचनापरिसमाप्तिमुपयास्यति तावंत च कालमुत्कुटुकः स्थातु न शक्नोति । यदि वा अर्शोरोगवत उत्कुटुकस्य सतोऽर्शांसि क्षोभमुपयाति ततो बहुप्रतिसेवी । अर्शः सुबहुसु गुरुमनुज्ञाप्य निषद्यायामौपग्रहिकपादप्रोञ्छने वा अन्यस्मिवा यथार्हे आसने स्थितः आलोचयति किंपुनस्त दालोचनीय उच्यते । चतुर्विध द्रव्यादि । तथा चाह ॥

चेयणमचित्तदव्वं, जणवयसट्टाणे होइ खेत्तंमि ।
दिणनिसिसुभिक्ख, दुभिक्खकाले भावंमिहेट्ठियरे ॥

द्रव्यतश्चेतनं सचित्तमुपलक्षणमेतत् । मिश्र वा अचित्तमचेतनं वा अकल्पिकं यत्किंचित्सेवित क्षेत्रतो जनपदे वा अध्वनि वा कालतो दिने निशि वा यदि वा सुभिक्षे वा भावे हेट्ठियरे सप्तमी तृतीयार्थे हृष्टेन इतरेण वा ग्लानेन सता यतनया वा दर्पतः कल्पतो वा तत् आलोचयति ॥

(११) यथाभूतेषु–द्रव्यादिष्वालोचना–तादृशानां प्रतिपादनम् ॥

सम्प्रति यथाभूतेषु द्रव्यादिष्वालोचना तथाभूतद्रव्यादि प्रतिपादनार्थमाह ॥ १ व्य० १ उ ॥

आलोयणा विहाणं,तं चेव जं दिव्वखित्तकाले य ।
भावे सुद्धमसुद्धो, ससणिद्धे सातिरेगाइं ॥ १ ॥

आलोचनाविधान तदेवात्राऽपि सविस्तरमभिधानव्य यदुक्तं प्रथमसूत्रे (दव्वादिचउरभिग्गहे) त्यादिना ग्रथेन ततः प्रागुक्तदोषवर्जिता आलोचना प्रशस्ते द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च प्रागुक्तस्वरूपे दातव्या नाऽप्रशस्ते । इह प्रतिसेवितं द्विधा भवति । शुद्धमशुद्ध च । तत्र यत् शुद्धेन भावेन प्रतिसेवित यतनया च तत् शुद्धं । तच्च शुद्धत्वादेते न प्रायश्चित्तविषयाः । यत्त्वशुद्धेन भावेन प्रतिसेवितमयतनया च तदशुद्धं । तच्च प्रायश्चित्तविषये शुद्धत्वात् तस्मि श्चाशुद्धे प्रायश्चित्तानि केवलानि मासिकादीनि सातिरेकाणि च तत्र सातिरेकाणि (ससिणिद्धे) इति सस्निग्धे हस्ते मात्रके वा सति तेन भिक्षाग्रहणत उपलक्षणमेतत् तेन बीजकासंघट्टनादिनाऽपि सातिरेकाणि द्रव्याणि तत्र सातिरेकाणि द्रव्याणि ॥ व्य०१०उ० ॥

(१२) आलोचनासमयवर्णनम् ॥

कालो पुण एताए, पक्खादी वण्णितो जिणिंदेहिं ॥
पायं विसिट्ठिगाए, पुव्वायरिया तहा चाहु ॥ ९ ॥

व्या० । कालोऽवसरः पुनः शब्दे ष्वेवं योज्य । आलोचनाया विधिस्तावदय । कालः पुनरेतस्या आलोचनायाः पक्षादिरर्द्धमासप्रभृतिरादिशब्दाच्चतुर्मासादिग्रहः वर्णितः उक्तोजिनेन्द्रैरर्हद्भिः प्रायो बाहुल्येन । प्रायोग्रहणं यदेव विशिष्टमपराधमापन्नस्तदैवालोचनां कदाचित्करोति ग्लानत्वोत्थितोदीर्घाध्वगतादिर्वा न पक्षादिकमपेक्षत इत्येतदर्थसूचनार्थं किं सर्वस्यालोचनायाः पक्षादिकाल इत्याह । विशिष्टकाया विशेषवत्याः सामान्या पुनरावश्यकद्वये प्रतिदिनं विधीयत एवेति पक्षादिकमालोचनाकाल पूज्यवचनेन दर्शयितुमाह । पूर्वाचार्या भद्रबाहुस्वामिमिश्रास्तथा च तेनैव प्रकारेण पक्षादिप्रतिपादनपरतया आहुर्बुवत इति गाथार्थः यदाहुस्ते ।

तदेवाह ॥

पक्खियचाउम्मासे, आलोयणणियमसो उ दायव्वा ॥
गहणं अभिग्गहाण य, पुव्वगाहिए णिवेएउं ॥१०॥

व्या० ॥ पक्षेऽर्द्धमासे भवं पाक्षिकं पर्व चतुर्दशी पंचदशी वा । चतुर्षु मासेषु भवं चातुर्मासं पर्व च ततो द्वद्वैकत्वात्पाक्षिकचातुर्मासे किमित्याह ॥ आलोचना उक्तार्था ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात् (नियमसोउत्ति) सकारस्य प्राकृतत्वान्नियमेन वावश्यतयैवान्यनियमा दातव्या देया । तथा ग्रहणं चोपादानं विधेयमभिग्रहाणां नियमानां चः समुच्चयार्थो योजितश्च पूर्वगृहीतान् प्रागुपात्तान् निवेद्य गुरोराख्यायेति गाथार्थः ॥ किंपुनःपक्षादावभिमतेयमित्याह ॥

जीयमिणं आणाओ, जयमाणस्सवियादोससब्भावा ॥
पम्हसणपमायाओ, जलकुंभमलादिणाएण ॥ ११ ॥

व्या० ॥ जितमाचरितं पूर्वमुनीनामिदं पक्षादावनतिचारणामप्योघत आलोचनादान तथा आज्ञातः आप्तोपदेशात्पक्षादावालोचनेति प्रकृत तथा यतमानस्याऽपि च संयमे घटमानस्याऽपि चास्तामितरस्य दोषसद्भावादतिचारसंभवादालोचनेति प्रकृतमथकथ यतमानस्यातिचार इत्याह । (पम्हसणति) विस्मरण प्रमादश्च प्रमत्तता ताभ्यामत्रोदाहरणमाह । जलकुम्भमलादि ज्ञातेन नीराधारघटमालिन्यहेतुप्रभृत्युदाहरणेन यथाहि जलकुंभे नित्यं प्रक्षाल्यमानेऽपि मलसंचयो भवतीत्येवं यतमानस्याप्यतिचारभाव आदिशब्दात् गृहकचवरादिग्रहः । आह ।

जहगेहं पतिदियहंपि, सोहियं तहय पक्खसंधीसु ।

सोहियज्जइ सविसेसं, एवमिहयंपि नायव्वम् ॥
इति गाथार्थः ॥
आलोचना परसाक्षिकी कर्तव्या पञ्चा० वृ. १५
आलोयणं अदाउं, सति अम्मंमिवि तहप्पणो दाउं ।
जे विहु करेंति सोहिं, ते विससला विणिद्दिट्ठा ॥
आलोचनां विकटनामदत्वाऽविधाय शुद्धिं कुर्वंति । स्वकल्पनया तथा (सइअन्नमि विति) अन्यस्मिन् परस्मिन् गीतार्थे सत्यपि विद्यमानेऽपि तथेति समुच्चये आत्मनः स्वस्यैव दत्वा विधाय आउज्जादे· कारणात् अनेन च परसद्भावे परस्यैव तां यच्छन् शुद्ध्यतीत्युक्त भवति यदाह ।
छत्तीसगुणसंपन्ना, गएणते णावि अवस्सकायव्वा ।
परसक्खिया विसोही, सुट्ठवि ववहारकुसलेण ॥
पराभावे त्वात्मनोऽपि यच्छन् शुद्ध्यति केवलसिद्धान् साक्षीकृत्य यदाह । (सिद्धा च साणायतया) गीतार्थप्राप्तौ निवेदयिष्यामीत्यध्यवसायान् स्वयमेव प्रायश्चित्त प्रतिपद्य तद्विदधानो गीतार्थ· शुद्ध्यतीत्युक्तं भवतीति। येऽपि आपिशब्दाद्ये न कुर्वत्येव । हुशब्दोऽलङ्कृतौ । कुर्वंति शोधिं विशुद्धिं प्रायश्चित्तप्रतिपत्यादिना ते तदन्येऽपि सशल्याभावशल्योपेता विनिर्दिष्टाः उक्ता जिनैरिति गाथार्थः । स्वयं शल्योद्धारे सशल्यतैवेति दृष्टांतेनाह ।
किरियएणुणा्वसंमंपि, रोहिउ जह वणो ससल्लोउ ।
ओहोइ अपच्छो, एवं अवराहवणो विचिनो ॥ ४० ॥
क्रियाहीनेनापि व्रणचिकित्सावेदिनाप्यास्तां तदन्येन सम्यगपि सर्वथाऽप्यास्तामसम्यक् रोहितो रूढतां नीतः यथा यरूढव्रणो देहकृत सशल्यो दुष्टगर्तोपातः तानुतुशब्दोऽवधारणे त्रिशक्रमश्च भवति जायते अपथ्य एवाहित एव परिणतौ मरणकारणत्वात् एव तदन्यस्मै अनिवेदितशल्यस्यापथ्या एवानतमरणादिकारणत्वात्कोऽसावित्याह अपराधाव्रणोऽपि चरणरूपशरीराश्रयातिचारजातमपि न केवल देहव्रण एव विज्ञेयो ज्ञातव्यस्तत्वतस्तस्यानुद्धृतत्वादन्यविनिवेदनमेव हि शल्योद्धार इति गाथार्थः ।
इदानीं यस्मै आलोचना दीयते तेनाऽप्यालोचायितव्यम इत्येतदेव प्रदर्शयन्नाह ओघ० ।
(छत्तीसेत्यादि) जातिकुलबलरूपादिषट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनाऽपि अवश्य पर साक्षिका विशुद्धिः कर्तव्या सुष्ठ्वपि ज्ञानक्रियाव्यवहारकुशलो न सुविहितेनेति ॥ व्य० उ १० ।
जह कुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणोवादि
विज्जरस य सोयंतो, पडिकम्मं समारभतो ॥
जाणं तेणविएवं, पायच्छित्तविहिमप्पणो विउणं ।
तहवि य पागमतरयं, आलोएयव्वयं होइ ॥
यथा सुकुशलोऽपि वैद्योऽन्यस्याऽत्मनो व्याधिं कथयति । सोऽपि वैद्यस्य श्रुत्वा व्याधिकथन तत· प्रतिकर्म्म समारभते । एव प्रायश्चित्तविधिनात्मनो निपुण जानताऽपि तथापि प्रकटतरमालोचयितव्य भवतीति कृत्वा अन्यस्य समीपे आलोचयितव्यम ॥ ओघ० ॥ ग० अधि० १ ॥
(१३) कस्य समीपे आलोचना कर्त्तव्या ॥
आलोयणाउपनियमा गीयसमीए व केसिवि । (आलोयणाउ) इत्यादि । सा आलोचना नियमादवश्य तथा गीतामिति आकृतत्वात् । षष्ठ्यर्थे प्रथमा तस्य गीतार्थस्य सकाशे कर्तव्या नाऽगीतार्थस्य अत्रैव मतांतरमाह । (अगीयकेसिवि) केषांचिदाचार्यणामिदं मत उत्सर्गतस्तावदाचार्यस्य समीपे आलोचयितव्य । यदा पुनराचार्यःसंज्ञादिप्रयोजनगतो भवति । गीतार्थस्यापि समीपे तदा भिक्षाद्यालोचनीयमिति ॥
गीतार्थस्यालोचना देयेत्युक्तमथ दुर्लभत्वे तस्य यद्विधेयन्तदाह ॥ पंचा० वृ० १५ ॥
सल्लुद्धरणनिमित्तं, गीयस्सन्ने सणाउउक्कोसा ॥
जोयणसयाइं सत्त, उवारसवरिसाइ कायव्वा ॥४१ ॥
व्या० । शल्योद्धरणानिमित्तमालोचनार्थगीतस्यगीतार्थस्यगुरोरन्वेषणा तु गवेषणा पुनरुत्कर्षाऽुत्कृष्टतः कियात् क्षेत्रकालविपयेत्याह ।
योजनशतानि प्रतीतानि सप्त तु सप्तैव यावत् तथा द्वादशवर्षाणि संवत्सरान् यावत् कर्तव्या विधेयेति । इह च । शेषविशेषणानुपादानेन यद्गीतार्थग्रहण कृत तत्सकलोक्तगुणयुक्ताचार्यालाभे संविग्नगीतार्थमात्रस्याऽप्यालोचनाऽचार्यत्वज्ञापनार्थ यतः श्रूयतेऽपवदतो गीतार्थसविग्नपाक्षिकसिद्धपुत्रप्रवचनदेवतानामलाभसिद्धानामथालोचना देया सशल्यमरणस्य ससारकारणत्वादित्याह च ॥
(सविग्गे गीयत्थेससई पासत्थमाई सा रूवीति) गाथार्थः॥ प्रवच० द्वा० १२७ ॥
(तथा च व्यवहारकल्पे विहारालोचनामधिकृत्य—) १ व्य० उ० १ ॥
पक्खियचउवसंवच्छर, उक्कोसं वच्छरउक्कोसं बारसएहवरिसाणं । समणुन्ना आयरिया, फड्डुगपतितायविर्गेंति ॥
समनोज्ञा एकसंभोगिका आचार्याः परस्पर तथा स्पर्द्धकपतयश्च स्वमूलाचार्यस्य समीपे पाक्षिके तत्राभावे चातुर्मासिके तत्राप्यभावे सांवत्सरिके तत्राप्यसत्यन्यदा (उक्कोस) मित्यादि ॥ उत्कर्षतो द्वादशभिर्वर्षैः सूत्रे षष्ठी तृतीयार्थे प्राकृतत्वाद्दूरादप्यागत्य विहार विकटयति प्रकटयति। आलोयंतीत्यर्थः। एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थो वृद्धसम्प्रदायादवसातव्यः ॥
सव्वायं संभोइया आयरिया पक्खिए आलोएंति अमोयएयणीयस्स आलोएइ । रायणितोविओ मरायणियस्स आलोएइ जइसेरायणिओ नाच्छि । जइ पुण ओमराइणितोविओगो वा गीयत्थो न भवइ । तो वा चउम्मासिए आलोएइ तथा वि असंवच्छरिए तथा वि अतसीए जत्थ मिलइ रायणियस्सओ मगीयत्थस्स वा तत्थ उक्कोसेणं वारसहिं वरिसेहिं दूरतोवि आगंतु आलोएयव्वं । फडुगयईहिं वि आगंतु आलोएयव्वं फडुगयइयावि आगंतुं पक्खियाइ अमूलायरियस्स समीवे आलोएंति इति ॥
तथा च व्यवहारसूत्रम ॥
जे भिक्खू अन्नयरं अकिच्चगणं पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोइत्तए जत्थेव अप्पणो आयरियं उवज्झाए पासिज्जा कप्पइ तेसिं तिए आलोइत्तएवा पडिक्कमित्तए वा निंदित्तए वा सोहित्तए वा अकरणाए अब्भुट्ठित्तएवा

अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए वा णो चेव णं अप्पणो आयरियं उवज्झाए पासेज्जा जत्थेव संभोइयं बहुस्सुयं बहु आगमं पासेज्जा कप्पइ से तस्स- त्तिए आलोइत्तए वा जाव पडिकमित्तए वा णो चेवणं संभोइयं साहम्मियं बहुस्सुयं बहुआगमं पासे जाव जत्थे व असंभोइयं साहम्मियं बहुस्सुय बहुआगमं पासेज्जा कप्पइसेवं संतिएआलोइत्तए वा जाव पडिवज्जित्तए वा णो चेवणं असंभोइयं साहम्मियं बहुस्सुयं आगामियं पासे- ज्जा वा सारूवियं बहुस्सुय बहुआगमं पासेज्जा कप्प- इ तंसंतिए आलोइत्तए वा पडिक्कमित्ति वा जाव पडिव ज्जित्तए वा नो चेवणं सारूवीयं बहुस्सुयं बज्झागमं पासे ज्जा जत्थेव समणो वासगंपच्छा कडंबहुस्सुयं बज्झाग म पासेज्जा कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए वा जावपडि वज्जित्तए वा णो चेवणंसमणो वासगं पच्छाकडं बहु- स्सुयं बज्झागमं पासिज्जा जत्थेव दसमं जावियाइं चेइया इ पासेज्जा कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए वा जावपडि वज्जित्तए वा णो चेव समजावियाइं चेइयाइं पासेज्जा बहियागामस्स वा जाव सन्निवेसस्स वा पाइणाभिमुहे वा उदिणाभिमुहेवा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिकट्टु कप्पई सेएएवं ववइत्तए एवइयामे अवराहा एवं तिक्खु त्ता य अहं अवरद्धे अरिहंताणं सिद्धाणं अंतिए आ लोएज्जा पडिकमेज्जा निंदेज्जा जाव पाय- च्छित्तं पडिवेज्जेज्जासित्तिबेमि ॥ ३३ ॥

व्याख्या । भिक्षुरन्यतरत् अकृत्यस्थान सेवित्वा प्रतिसेव्य इच्छेत् । आलोचयितुं स चालोचयितुमिच्छुर्यत्रैवात्मन आचा र्योपाध्यायान्पश्येत्तत्रैव गत्वा तेषामंतिके समीपे आलोचयेद तीचार जात वचसा प्रकटीकुर्यात् प्रतिक्रामेन्मिथ्यादुष्कृत तद्विषये दद्यात्यावत्कारणात् निंदे ज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा । अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवो- कम्म पायच्छित्त पडिवज्जेज्जा) इति परिग्रह तत्र निंदाद्यात्मसाक्षिक जुगुप्सेत् गर्हेत् गुरुसाक्षिकं निंद्यात् इह निंदनगर्हणमपि तात्त्विक तदा भवति यदा तत्करणत- प्रतिनिवर्तते ॥ तत आह (वयट्टेज्जा) इति तस्माद- कृत्यप्रतिसेवनात् व्यावर्तेत निवर्तेत । व्यावृतावपि कृतात् पापात्तदा मुच्यते यदात्मनो विशोधिर्भवति । तत आह । आत्मान विशोधयेत् । पापमलस्फोटनतो निर्मलीकुर्यात् । सा च विशुद्धिरपुनः करणतायामुपपद्यते । ततस्तामेव । पुनः करणतमाह । अकरणतया पुनरभ्युत्तिष्ठेत् पुनरकरणतया अभ्युत्थानेऽपि विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिर्भवति । तत आह यथार्हं यथायोग्यं तपः कर्म्म तपोग्रहणमुपलक्षणं छेदादिकं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत । यदि पुनरात्मीयेष्वाचार्योपाध्यायेषु सत्सु अन्येषामंतिके आलोचयति । ततः प्रायश्चित्त तस्य चतु र्गुरु यदि पुनरात्मन आचार्योपाध्यायान्न पश्येत् अभावाद्दूर- व्यवधानतो वा ततो यत्रैव सांभोगिक साधर्मिक विशिष्टसा- माचारीनिष्पन्न बहुश्रुतं छेदग्रन्थादिकुशल उद्भ्रामकमुद्धतादि- हारिणं पाठांतर बह्वागममर्थतः प्रभूतागम पश्येत्तस्यांऽतिके आलोचयेदत्रापि यावत्करणात्पडिक्कमेज्जा इत्यादि पदकदम्ब- कपरिग्रहः । यदि पुनस्तस्य भावे अन्यस्य सकाशे आलो- चयति । तदा चतुर्लघु वक्तव्य । सांभोगिकसाधर्म्मिकबहुश्रु- तस्यांतिके तस्याऽप्यभावे सारूपिकस्य बहुश्रुतस्यांऽतिके समानांतरं सरूप तत्र भवः सारूपिको वक्ष्यमाणस्वरूप तस्याऽप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि जिनवचनवासितांतः करणानि दैवतानि पश्यति तत्र गत्वा तेषामंतिके आलोच- येत् तेषामप्यभावे बहिर्ग्रामस्य यावत्करणात् ॥

नगरस्स वा निगमस्स वा रायहाणिए वा खेडस्स वा ।
पट्टणस्स वा दोणमुहस्स वा आसमस्स वा संवाहस्स
वा संनिवेसस्स वा ॥

इतिपरिग्रहः प्राचीनाभिमुखोवा उदीचीनाभिमुखो वा सूर्य- दिगभिमुख उत्तरदिगभिमुखो वा इत्यर्थः ॥ इह चिरंतनव्या करणेषु दिश्यपिक्रियामभिधेयामामीनूप्रत्ययः स्वार्थे भवति । तत एव निर्देशः । पूर्वोत्तरादिग्रहणमालोचनायामेतयोरेव दिशयोरर्हत्वात् । करतलाभ्यां प्रकर्षेण गृहीतः करतलप्र- गृहीतः । त तथा शिरस्यावर्तो यस्य स शिरस्यावर्तः कंठे कालवदलुकसमासः । त मस्तके अंजलिं कृत्वा एव वक्ष्यमा- णरीत्या वदेत् ॥

तामेव रीतिं दर्शयति । एतावंतो मे ममापराधाः ए- तावत्कृत्व एतावतो वारान् यावदहमपराद्ध एवमपराध ए- वमर्हतां तीर्थकृत कथंभूतानामित्याह । सिद्धानामुपगतम- लकल्पकानामंतिके आलोचयेदित्यादि पूर्ववदेष सूत्रसंक्षेपार्थः ॥

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः । तत्र यदुक्तमकृत्यं स्थान से- वित्वेति तद्विषयमुपदर्शयति ।

अन्नयरं तु अकिच्चं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलं व सव्वदेसं, ए मेव य उत्तरगुणेसु ॥

अन्यतरदकृत्य पुनः सूत्रोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तरगुणे वा उत्तरगुणविषय वा तत्र मूलं मूलगुणविषय सर्वदेश वा सर्व्वथामूलगुणस्योच्छेदे देशतो वा इत्यर्थः । एवमेवाननैव प्र- कारेण उत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्य भावनीय । तद्यथा । उत्तरगु- णस्याऽपि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्यानांतर- माह ॥

अहवा पणगादीयं, मासादीयं वावि जाव छम्मासा
एवं तयारिहं खलु, छेदादि चउएहवेगयरं ॥

अथवेति अकृतस्य स्थानस्य प्रकारांतरतोपदर्शने पंचकादि- क रात्रिंदिवपंचकप्रभृतिप्रायश्चित्तस्थानमकृत्य स्थान यदि वा मासादि तच्च तावद्यावत्षण्मासाः । एतत् खलु अकृत्यस्थानं तपार्हं तपोरूपप्रायश्चित्तार्हं यादि वा छेदादीनां चतुर्णां प्राय- श्चित्तस्थानमकृत्यस्थान तदेवमधिकृत्य स्थानं व्याख्याय यथा- स्वकीयाचार्योपाध्यायादीनामदर्शनं संभवति । तथाप्रति- पादयति ॥

आउयवाघायं, वाहुल्लहगीयं चपत्तकालं तु ।
अपरक्कममासज्ज व,सुत्तमिणंतादिसा जाव ॥

स्वकीयानामाचार्योपाध्यायानामायुषो व्याघातोऽभवत् । जी वितस्य बहुघातसंकुलत्वात् यदि वा तस्यैवाऽलोचकस्यायु- र्यावदाचार्योपाध्यायादिसमीपे गच्छति तावत् न प्रभवति स्तोकावशेषत्वात् । तत आयुषो व्याघातं वा आश्रित्य तथा

भविष्यति कालो यत्र दुर्लभो गीतार्थ आलोचनार्हस्तत एष्यन्त कालमधिकृत्य दुर्लभ गीतार्थं चाश्रित्य तथा जंघाबलपरिहान्या रोगातङ्केण वा जातोऽपराक्रम आलोचकस्ततस्तं वा प्रतीत्य सूत्रमधिकृत प्रवृत्त यावद्दिशादिसूत्र। अत्र पर आह । ननुपूर्वमेकाकिविहारप्रतिमासूत्राणि व्याख्यातानि । यथा एकाकिविहारे दोषाः। तदनतर पार्श्वस्थादिविहारोऽपि प्रतिषिद्धः। ततो नियमाद्गच्छे वस्तव्यमिति नियमितं। एवं च नियमिते कथमेकाकी जातो येनोच्यते यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायान्पश्येत्तत्रैव गत्वा तेषामतिके आलोचयेदित्यादि।

अत्र सूरिराह ॥

सुत्तमिणं कारणियं, आयरियादीण जत्थ गच्छंमि।
पंचएहं हो असती, एगो व जहिं न वासियव्वं ॥

सूत्रमिदमधिकृतं कारणिक कारणे भवं कारणिकं कारणे सत्येकाकिविहारविषयमित्यर्थः। इयमत्र भावना। बहूनि खल्वशिवादीनि एकाकित्वकारणानि ततः कारणवशतोयो जात एकाकी तद्विषयमिद सूत्रमिति न कश्चिद्दोषः अशिवादीनि तु कारणानि मुक्त्वा आचार्यादिविरहितस्य न वर्त्तते वस्तुं तथा चाह। यत्र गच्छे पंचानामाचार्योपाध्यायगणावच्छेदिप्रवृत्तिस्थविररूपाणामसद्भावो यदि वा यत्र पचानामन्यतमोऽप्येकोन विद्यते। तत्र न वस्तव्यमनेकदोषसम्भवात्तानेव दोषानाह।

एवं असुत्तगिलाणे परिएणकुलकज्जमादिवग्गउ।
अप्पसत्तिसल्लस्सा जीवियघाते चरणघातो ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण एकादिहीने गच्छे एकोऽशुभकार्ये मृतकस्थापनादौ अपरो ग्लानप्रयोजनेष्वन्यः परिज्ञायां कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य देशनादौ अपरः कुलकार्यादौ व्यग्र इति। अन्यस्य पचमस्याऽप्यंत्यावस्थाप्राप्तस्य आलोचनाया असंभवेन सन्यस्य सतो जीवनाशे चरणव्याघातश्चरणगात्रभ्रंशश्चरणभ्रंशे च शुभगतिविनाशः। अत्र पर आह ॥

एवं होइ विरोहो आलोयणापरिणतोउ सुज्झेज।
एगंतेए पमाणं परिणामो वीन खलु अम्हं ॥

नत्वेवं सति परस्परविरोधस्तथाहि भवद्भिरिदानीमेवमुच्यते। सशल्यस्य सतो जीवितनाशे चरणभ्रंशः। प्राकृत्वेवमुक्तमदत्तालोचनेऽप्यालोचनापरिणामपरिणतः शुद्ध इति ततो भवति परस्परविरोधः। अत्र सूरिराह (एगंते णेत्यादि) न खल्वस्माकं स्वशक्त्यनिगूहनेन यथाशक्तिप्रवृत्तिविरहितः केवलपरिणाम एकांतेन प्रमाणं तस्य परिणामामासत्वात्किंतु सूत्रं प्रमाणीकुर्वंतो यथाशक्तिप्रवृत्तिसमन्वितः। नचैकाद्यभावं गच्छे वसन् सूत्रमनुवर्त्तते। ततस्तस्य तात्विकपरिणाम एव नेति सशल्यस्य जीवितनाशे चरणनाशः। पुनरपि वक्तव्यांतर विवक्षुः प्रश्नमुत्थापयति।

चोयग किं वा कारए, पवएह सती तहिं न वासियव्वं ॥
दिट्ठंता वाणियए, पिंडियअत्थे वसिउकामो ॥ १ ॥

चोदक आह ॥ यत्रपंचानां परिपूर्णानामसद्भावः तत्र न वस्तव्यमित्यत्र किंवाकारण को नाम दोषः ॥ सूरिराह ॥ अत्र अधिकृतार्थे वाणिजोपीकितार्थेन वस्तुकामेन दृष्टान्तः ॥ उपमागाथायां सप्तमी तृतीयार्थे ॥ इयमत्र भावना ॥ कोऽपि वणिक् तेन प्रभूतार्थे पोकितस्ततः सोऽचिंतयत् कुत्र मया वस्तव्य यत्रैनमर्थं परिभुञ्जेऽहमिति ततस्तेन परिचिंतयद निश्चिक्ये ॥

तत्थ न कप्पइ वासो आहारो जत्थ नत्थि पंच इमे।
राया वेज्जाधणिमं नेवइया रूवजक्खा य ॥

तत्र गमन कल्पते वासो यत्रेमे वक्ष्यमाणाः पच नाधाराः। केते इत्याह । राजा नृपति वैद्यो भिषक् अन्ये च धनवन्तो नैतिका नीतिकारिणो रूपयक्षाः धर्मपाठकाः कस्मादिति चेदत आह ॥

दविणस्स जीवियस्स व,वाघातो होज्ज जत्थ नत्थेतो।
वाघाए एगतरस्स, दव्वसंघारुणा अफला ॥

यत्र नसत्येते राजादयः परिपूर्णाः पञ्च नियमतो द्रविणस्य धनस्य जीवितस्य वा व्याघातो भवेद् वैद्येन विना जीवितस्य राजादिभिर्विना धनस्य व्याघातो चैकस्य धनस्य जीवितस्य वा द्रव्यसघाटना द्रव्योपार्जना विफला परिभोगस्यासम्भवादथवा ॥

रग्गा जुवरग्गा वा, महत्तरय अमच्चतहकुमारेहिं।
एएहिं परिग्गहियं, वसेज्ज रज्जं गुणविसालं ॥

राज्ञा युवराजेन महत्तरकेनामात्येन तथाकुमारैरेभिः पंच परिगृहीत राज्य गुणविशालं भवति गुणविशालत्वात् तद्वसेत् आचार्योपाध्यायप्रवर्तिस्थविरगीतार्थान् प्रतिपाद्य १ व्य० ऊ १ एवमाचार्यपचकसमेते गच्छे वस्तव्यं। यदि पुनः किंचिदपवादं प्राप्तो भवति गच्छश्च पचकपरिहीनस्तदार्थं दृष्टांतः।

जह पंचकपरिहीणं, रज्जंमरजयवोरुउव्विग्गं।
उग्गहियसगरूविमग्गं, परंपरवक्खए सामिं ॥

यथा राज्य राजादिपचकपरिहीन सत रुमर स्वदेशोत्थो विप्लवः भयं परचक्रसमुत्थ तस्कराश्चौरास्तैरुद्विग्नमुपगत परित्यज्य आत्मीय चशाकटपिटकमुद्गृह्य परंपरस्वामिन प्राप् व्रजति यत्र स्वास्थ्य लभते।

इयपंचकपरिहीने, गच्छे आसन्नकारणे साहू।
आलोयणमलहंतो, परंयाव वसिज्जे ॥

इत्येवमनेन दृष्टांतप्रकारेण पचकपरिहीने आचार्यादिपचक विरहिते गच्छेप्रायश्चित्तस्थानमापन्नः साधुः कारणेन प्रागुक्तेन आयुर्व्याघातादिरूपेण निजाचार्यादीनामतिके आलोचना अलभमानः सूत्रोक्तया नीत्या परपरमन्यसांभोगिकादिक तावद्व्रजति यावत्सिद्धान् गच्छति। एतदेव सविशेषमाह।

आयरिए आलोयण, पंचएहं असति गच्छे वहियाजो।
वोच्चत्थेचउलहुगा, गीयत्थे होंति चउगुरुगा

आचार्यैमाचार्यसमीपे आलोचनादातव्या। गच्छे पचानामाचार्यादीनामसति गच्छाद्बहिर्गंतव्य इयमत्र भावना। प्रायश्चित्तस्थानमापन्नेन साधुना नियमतः स्वकीयानामाचार्याणा समीपे आलोचयितव्यं तेषामभावे उपाध्यायस्य तस्याऽप्यभावे प्रवर्तिनस्तस्याऽभावे स्थविरस्य तस्याऽप्यभावे गणावच्छेदिनः अथ स्वगच्छे पचानामप्यभावस्ततो बहिरन्यस्मिन्सांभोगिके गतव्यं। तत्राप्याचार्यादिक्रमेण आलोचयितव्य। सांभोगिकानामाचार्यादीनामभावे सविज्ञानामसांभोगिकानां समीपे गतव्य। तत्राप्याचार्यादिक्रमेणालोचना प्रदातव्या। यदा पुनरुत्क्रमोल्लंघनेनालोचना प्रयच्छति तदा प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। तथा चाह (वावुच्छे चउलहुगा) इति व्यत्यस्ते विपर्यासे उत्क्रमोल्लंघने इत्यर्थः। चत्वारो लघुकाः लघुमासा यदि पुनरुत्क्रममुल्लंघयन् अगीतार्थसमीपे आलोचयति। तद

प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु । एतदेवाह (गीयत्थे होंति चउगुरुगा) तदेवं संविग्नानां समोगिकात् यावत् विधिरुक्तः । साम्प्रति शेषानपि विधिमाह ॥

संविग्गे गीयत्थे, सरूविपच्छाकडे य गीयत्थे ।
पडिक्कंते अब्भुट्ठिय, असती अन्नत्थ तत्थेव ॥

संविग्ने अन्यसांभोगिकलक्षणे असति अविद्यमाने पार्श्वस्थस्य गीतार्थस्य समीपे आलोचयितव्यं तस्मिन्नपि गीतार्थे पार्श्वस्थे असति सारूपिकस्य वक्ष्यमाणस्वरूपस्य गीतार्थसमीपे तस्मिन्नपि सारूपिके असति पश्चात्कृतस्य गीतार्थसमीपे आलोचयितव्यं। एतेषां च मध्ये यस्य पुरत आलोचना दातुमिष्यते । तमभ्युत्थाप्य तदनन्तरस्य पुरत आलोचयितव्यं। अभ्युत्थानं नाम वन्दनकप्रतीच्छनादिकं प्रत्यभ्युपगमकारोपणा ॥ तथा चाह । (पडिक्कंते अब्भुट्ठिए त्ति) अभ्युत्थिते वन्दनाप्रतीच्छनादिकं प्रति कृताभ्युपगमेऽतिक्रान्तो ब्रूयात् नान्यथा अथ ते पार्श्वस्थादय आत्मानं हीनगुणं पश्यतो नाभ्युत्तिष्ठति तत आह (असतित्ति) असति अविद्यमाने अभ्युत्थाने पार्श्वस्थादीनां निषद्यामारचय्य प्रणाममात्रं कृत्वा लोचयनीयमितरस्य तु पश्चात्कृतस्य इत्वरसामायिकारोपणं लिङ्गप्रदानं च कृत्वा यथाविधि तदतिकमालोचनीयं (अन्नत्थ तत्थवत्ति) यदि पार्श्वस्थादिकोऽभ्युत्तिष्ठति । तदा तेनान्यत्र गतव्यं येन प्रवचनलाघवं न भवति । तत्र च गत्वा तमापन्नप्रायश्चित्तं शुद्धतपो वहति मासादिमुत्कर्षतः षण्मासपर्यवसानं यदि वा प्रागुक्तस्वरूपं परिहारतपः । अथ स नाऽभ्युत्तिष्ठति शुद्धं च तपः । तेन प्रायश्चित्तं दत्तं ततस्तत्रैव तपो वहति । एतदेव असति इत्यादिकं व्याख्यानयति ॥

असतीए लिंगकरणं, सामाइय इत्तरं च किंतिकम्मं ।
तत्थेवय सुद्धतवो, गवेसणा जाव सुद्धदुक्खे ॥

असति अविद्यमाने पश्चात्कृतस्याऽभ्युत्थाने गृहस्थत्वात् लिङ्गकरणं इत्वरकालं लिङ्गसमर्पणं तथा इत्वरमित्वरकालं सामायिकमारोपणीयं । ततस्तस्यापि निषद्यामारचय्य कृतिकर्म वन्दनकं कृत्वा तत्पुरत आलोचयितव्यं । तदेवमसतीति व्याख्यातमधुना तत्थेवत्ति व्याख्या । यदि पार्श्वस्थादिको नाभ्युत्तिष्ठति शुद्धं च तपस्तेन प्रायश्चित्तं तथा दत्तं ततस्तत्रैव तत् शुद्धं तपो वहति यावत्तपो वहति । तावत्तस्यालोचनाप्रदायिनः सुखदुःखे गवेषयति । सर्वमुदन्तं वहतीत्यर्थः । पश्चात्कृतमेव विधिमाह ॥

लिंगकरणं निसिज्जा, किंतिकम्ममणिच्छतो पणामो य ।
एमेव देवयाए, न वरं सामाइयं मुत्तुं ॥

पश्चात्कृतस्येत्वरकालसामायिकारोपणपुरस्सरमित्वरकाललिङ्गकारणं रजोहरणसमर्पणं तदनन्तरं निषद्याकरणं ततः कृतिकर्म वन्दनकं दातव्यं । अथ स वंदनकं नेच्छति । ततस्तस्य कृतिकर्ममनिच्छतः प्रणामो वाचा कायेन प्रणाममात्रं कर्तव्यं पार्श्वस्थादेरपि कृतिकर्मानिच्छायां प्रणामः कर्तव्यः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण देवताया अपि सम्यक्त्वभाविताया: पुरत आलोचयति ते वरसामायिकारोपणालिङ्गसमर्पणं न च कर्तव्यमविरतत्वेन तस्यास्तद्योग्यताया अभावात् । यदुक्तं (गवेषणा जाव सुहदुक्ख) इति तद्व्याख्यानयति ॥

आहारउवहिसिज्जा, एएसणमादीसु होइ जइयव्वं ।
अणुमोयणकारावण, सिक्खत्तिपयम्मितो सुद्धो ॥

आहारः पिण्डः उपधिपात्रनिर्योगादिः शय्या वसतिरेषणाशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । आहारैषणायामुपध्येषणायां शय्यैषणायामादिशब्दात् वैयावृत्त्यादिषु च भवति । तेन यतितव्यं कथमित्याह । अनुमोदनेन कारापणेन च । किमुक्तं भवति । यदि तस्यालोचनार्हस्य कश्चिदाहारादीनुत्पादयति । ततस्तस्यानुमोदनाकरणतः प्रोत्साहने यतते । अन्यथाऽन्यः कश्चिन्नोत्पादयति ततः स्वयमालोचक आहारादीन् शुद्धानुत्पादयति । अथ शुद्धं नोत्पद्यते । ततः श्राद्धान् प्रोत्साह्याकल्पिकानप्याहारादीन् यतनया उत्पादयतीति । अथाकल्पिकानाहारादीनुत्पादयतः तस्य महती मलिनतोपजायते । अथ चस शुद्धिकरणार्थं तदतिकमागतस्तत परस्परविरोधः । अत्राह (सिक्खत्तिपयम्मितो सुद्धो) यद्यपि नाम तस्यालोचनार्हस्यायायाकल्पिकानप्याहारादीनुत्पादयति । तथाप्यासेवनाशिक्षा तस्यान्तिके क्रियते । वितिपदे अपवादपदे स तथा वर्तमानः शुद्ध एव एतदेव भावयति ॥

चोइयते परिवारं, अकरेमाणे भणाइ वा सड्ढे ।
अव्वोच्छित्तिकरस्स उ, सुयभत्तीए कुणह पूयं ॥

प्रथमतः । से तस्यालोचनार्हस्य परिवारं वैयावृत्त्यादिकमकुर्वतं चोदयति शिक्षयति । तथा ग्रहणासेवना शिक्षानिष्णात एष ततः एतस्य विनयवैयावृत्त्यादिकं क्रियमाणं महानिर्जराहेतुरिति । एवमपि शिक्षमाणो यदि न करोति । ततस्तस्मिन्नकुर्वाणे स्वयमाहारादीनुत्पादयति । अथ स्वयं शुद्धं प्रायोग्यमाहारादिकं न लभते । ततः श्राद्धान् भणति प्रज्ञापयति प्रज्ञाप्य च तेभ्योऽकल्पिकमपि यतनया संपादयति नच वाच्यं तस्यैवं कुर्वतः कथं न दोषो यत आह (अव्वोच्छित्तीत्यादि) अव्यवच्छित्तिकरणस्य पार्श्वस्थादेः श्रुतभक्त्या हेतुभूतया अकल्पिकस्याप्याहारादेः श्रुतभक्त्या पूजां कुरुत यूयं नच तत्र दोषः एवमपि । इयमत्र भावना ॥ यथा कारणे पार्श्वस्थादीनां समीपे सूत्रमर्थं च गृह्णानोऽकल्पिकमप्याहारादिकं यतनया तदर्थं प्रतिसेवमानः शुद्धो ग्रहणाशिक्षायाः क्रियमाणत्वादेवमालोचनार्हस्याऽपि निमित्तं प्रतिसेवमानः शुद्ध एव आसेवनाशिक्षायास्ततत्समीपे क्रियमाणत्वादिति । एतदेव स्पष्टतरं भावयति ॥

दुविहा सती एतेसिं, आहारादी करेइ सव्वेसिं ।
पणहाणी य जयंतो, अत्तट्ठाए वि एमेव ॥

इह परिवाराभावे तस्यालोचनार्हस्य कर्तव्यमिति सामाचारी तेषां च पार्श्वस्थादीनां द्विविधा असती इति परिवाराभावो द्विविधः । विद्यमानाभावोऽविद्यमानाभावश्च । विद्यमानः सन् अभावाऽसन् वैयावृत्यादेरकरणात् विद्यमानाभावः । अविद्यमानः सन्नभावोऽविद्यमानाभावः । तत्र द्विविधेऽप्यभावे (स)तस्यालोचनस्याऽऽहारादिकं सर्वकल्पमकल्पिकं वा यतनया करोति उत्पादयति । यतनया कथमकल्पिकमुत्पादयति इति चेदत आह । पञ्चकहान्या यतमानः । किमुक्तं भवति । अपरिपूर्णमासिकप्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनापत्तौ गुरुलाघवपर्यालोचनया पञ्चकादिपञ्चकहीनमासिकप्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनां करोति । तामपि यतनया पञ्चकग्रहणमुपलक्षणं तेन दशादिहान्यापि यतमान इति द्रष्टव्यं । एवं सर्वत्र न केवलमालोचनार्हार्थमेव यतते किं तु कारणे समुत्पन्ने आत्मार्थमप्येवमेवं पञ्चकहान्या यतते इति । यदुक्तं सम्यक्त्वभाविताया: पुरत आलोचयितव्यमेतदेतद्भावयति ॥

कोरंटगं जहा भावि, यच्चम्मं पुच्छिऊण वा अम्मं ॥
असाति अरहं सिद्धे, जाणंतो सुद्धो जावेव ॥ १ ॥

कोरंटक नाम भरुकच्छे उद्यान तत्र भगवान्मुनिसुव्रतस्वामीअर्हन्समीरुण समवसृतस्तत्र तीर्थकरेण गणधरैश्च बहूनि प्रायश्चित्तानि च दीयमानानि तत्रत्यया देवतया दृष्टानि ततः कोरंटकं गत्वा तत्र सम्यक्त्वभावितदेवताराधनार्थमष्टमं कृत्वा तत्र च सम्यक्त्वकंपितायादेवताया पुरतो यथोचितप्रतिपत्तिपुरस्सरमालोचयति । सा च प्रयच्छति यथार्हं प्रायश्चित्तं । अथ सा देवता कदाचित् च्युता भवेत् पश्चादन्या समुत्पन्ना तया च न दृष्टस्तीर्थकरस्तत साऽष्टमेनाकंपिता ब्रूते महाविदेहे तीर्थकरमापृच्छ्य समागच्छामि ततः सा तेनाऽनुज्ञाता महाविदेहे गत्वा तीर्थकर पृच्छति पृष्ट्वा च समागच्छत्यसाधवे प्रायश्चित्त कथयति । यथा च कोरंटकमुद्यानमुक्तमेव गुणशिलादिकमपि द्रष्टव्यम् अत्राऽप्यन्त्रीरुण वर्द्धमानस्वाम्यादीनां समवसरणात् । तासामपिदेवतानामभावे अर्हत्प्रतिमानां पुरत स्वमायश्चित्तदानपरिज्ञानकुशल आलोचयति । तत स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्त तामप्यसत्यभावे प्राचोनादिदिगभिमुखोऽर्हतः सिद्धान्सिमीक्ष्य जानन् प्रायश्चित्तदानविधि विद्वान् आलोचयति । आलोच्य च स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्त सचतथा प्रतिपद्यमान शुद्ध एव सूत्रोक्तविधिना प्रवृत्तेः । यदपि विराधित तत्रापि शुद्धप्रायश्चितप्रतिपत्तेरिति । कोरंटक जहेत्यत्र यथाशब्दोपादानात्कोरटकसमुद्दिशताऽन्यान्यऽप्युद्यानानि सूचितानीति प्रकटयिषुराह ।

सोहीकरणा दिट्ठा, गुणसिलमादीसु जह य साहूणं ।
नोदेंति विसोहीतो, पच्छुप्पएणा व पुच्छंति ॥

गुणशीलादिषूद्यानेषु याभिर्देवताभिः साधूनां तीर्थकरैगणधरैश्चानेकशो विधीयमानानि शोधिकरणानि दृष्टानि ताः स्वय ददति प्रयच्छति । विशोधी प्रायश्चित्तानि या पुन प्रत्युत्पन्नाः देवतास्ता महाविदेहेषु गत्वा तीर्थकरान् पृच्छंति । पृष्ट्वा च साधुभ्य कथयति ॥ आ. म. १ अ० ग.आधि. १ प्रतिमा. श्लो. ६४ ॥

(१४) गीतार्थमवाप्य शल्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयतत्वम् ॥

अथ गीतार्थमवाप्य शल्यानुद्धरणादौ दोषगुणादिकं भावयता यद्विधेयं तदाह । पचा० । वृ. १५ ॥

मरिउं ससल्लमरणं, संसाराडविमहाकडिल्लंमि ।
सुचिरं भमंति जीवा, अणोरपारंमि ओइन्ना ॥ ४२ ॥

व्या. । मृत्वा आसेव्य सशल्यमरण प्रतीत ततः किमित्याह । ससाराऽटविमहाकडिल्ले प्रधानारण्यगुरुगहने सुचिरमति दीर्घकालं भ्रमति पर्यटति जीवा देहिन अनर्वाकपारे अर्वाक्भागपरभागवर्जिते अवतीर्णा अवगाढा इति संवंग कृत्वाति-योग तथा ॥

उद्धरियसव्वसल्ला, तित्थगराणाए मुच्छिया जीवा ।
भवसयकयाइं खविओ, पावाइं गया सिवं थामं । ४३ ।

व्या० । उद्धृतसर्वशल्याः कृतालोचनास्तीर्थकराज्ञायां जिनोपदेशे सुस्थिता सुष्ठु व्यवस्थिताः सतो जीवा देहिन भवशतकृतानि जन्मगतविहितानि क्षपयित्वा प्रकम्प्य शल्योद्धारसामर्थ्यात् यानि यानि कर्माणि गताः प्राप्ताः शिव निरुपद्रव धामति स्थान सिद्धाख्यमित्यर्थः ।

सल्लुद्धरणं चइमंति, लोगवंधूहि दंसियं सम्मं ।
अवितहमारोग्गफलं, धणोहं जेणिमं णायं । ४४ ।

व्या ० । शल्योद्धरणमालोचना चशब्दः पूर्वगाथाद्योकार्थापेक्षया समुच्चयार्थः । इदमनतरोक्तविधानं त्रिलोकबन्धुभिर्जिनैरित्यर्थः दर्शितमुक्तं सम्यक् सोपपत्तिकं अवितथमव्यभिचारि आरोग्यफल भावारोग्यसाधक ततश्च धन्योऽहं पुण्यवानह येन मया इदमेतच्छल्योद्धरण ज्ञातमवगतम् ॥

ताउद्धरोमि सम्मए, य एयस्स णाणरासिस्स ।
आवेदियं असेसं, अणियाणो दारुणविवागं । ४५ ।

व्या०तार्हति यस्मादिद मया ज्ञातं तत्तस्मादुद्धराम्यपनया मिसम्यग् न्यायेन एतत् भावशल्य एतस्य गुरोर्ज्ञानराशेः अग्रे सद्बोधानिकरस्याऽवेद्य कथयित्वाऽशेष सकल अनिदानो निर्निदानः सन् दारुणविपाकं रौद्रफलं शल्यमिति प्रक्रमः ।

इयसंवेगं काउं मरुगाहरणादिएहिं विधेहिं ।
दढ पुण करणजुत्तो, सामायारिं पउंजेज्जा ॥

व्या० । इति एवमनतरगाथाचतुष्कोक्तप्रकारसंवेग शुभाध्यवसायविशेषं कृत्वा विधाय करित्याह मरुकाहरणादिभिब्राह्मणोदाहरणाद्यैः समयप्रसिद्धैश्चिन्हैर्लिंगमरणाद्युपगमेनापि शूरैः कार्यत्येव भूतार्थगमकैः सशल्यतादोषज्ञापकैर्वा आदिशब्दात्पीठमहापीठादिग्रहः दृढमत्यर्थमपुन करणयुक्त पुनरमुमपराधं न करिष्यामीत्यभिप्रायवान् सन् सामाचारीमालोचनागतसमाचार वदनकदाननिषद्यादानादिक प्रयुञ्जीत विदध्यादालोचनाकारीति ॥

(१५) मरणाऽभिमुखेनाऽप्यालोचना करणीयाऽत्र ब्राह्मणदृष्टान्तः ॥

मरुकज्ञात चैतत् ॥

नगरे पाटलीपुत्रे, विप्र आसीत् त्रिलोचनः ।
वेदवेदांगतत्त्वार्थे, विशारदशिरोमणिः ॥ १ ॥
तस्य पार्श्वे बटुः कोऽपि समायातः प्रणम्य तम् ॥
उवाच मयका मोहा, त्परदाररतिः कृता ॥ २ ॥
तस्यपापस्य मे शुद्धिः क्रियतां सोऽप्यभाषत ।
तद्भावस्य परीक्षार्थं, यथा भो विप्रपुत्रक ! ॥ ३ ॥
तप्तां लोहमयीं नारीं, फुल्लकिंशुकसन्निभाम् ।
आलिंगय यतो नान्य, त्प्रायश्चित्तमिहास्ति ॥ ४ ॥
तेनापि पापभीतेन, प्रतिपन्नमिदं ततः ।
सोपि विज्ञाय तद्भावं, शुद्धिमन्यां न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

अथवा मरुकोदाहरणमेवं ॥

बभूव ब्राह्मणः कोऽपि वेदाङ्गेषु विशारदः ।
स्वागमाहितबोधेन, धर्मार्थोऽभूत्स तापसः ॥ १ ॥
ततस्तपस्यतस्तस्य, वसतस्तापसाश्रमे ।
कंदमूलाशिनोऽत्यर्थं, कष्टानुष्ठानकारिणः ॥ २ ॥
स्नानाद्यर्थं नदीतीरे, प्रयातस्यैकदा किल ।
पश्यतो मत्स्यबंधानां, मत्स्यमांसस्य भक्षणम् ॥ ३ ॥
तत्र जाताभिलाषस्य, जेमितस्य प्रयाच्य तत् ।
तस्यैवाऽजीर्णदोषेण, समुत्पन्नो महाज्वरः ॥ ४ ॥

तच्चिकित्सार्थमानीतो, वैद्यः सोऽपि च पृष्टवान् ।
किंनो त्वं भुक्तवान् ब्रूहि, सोऽप्यजल्पत लज्जया ॥ ५ ॥
कंदमूलफलाहारा, रतापता यत्नभुंजते ।
तद्भक्तं न पुनस्तेन, कथितं मत्स्यभक्षणम् ॥ ६ ॥
वैद्योऽपि तस्य वाक्येन, ज्ञात्वा तं वातिकंज्वरं ।
तथाविधां क्रियां चक्रे, नचाभूत्तज्ज्वरमुक्तता ॥ ७ ॥
पुनः पृष्टोऽथ वैद्येन, तदेव ख्यातवानसौ ।
चक्रे क्रियां मतामेव, विशेषान्तत्त्वरोद्गुणः ॥ ८ ॥
अन्यदा वेदनाक्रान्तो भीतोऽसौ मृत्युराक्षसात् ।
लज्जां विहाय वैद्याय, न्यगादीन्मत्स्यभोजनं ॥ ९ ॥
ततो वैद्योऽन्यगादीत्तं, दुष्टु दुष्टु त्वया कृतं ।
यदीयंति दिनानीदं नाख्यातं रोगकारणं ॥ १० ॥
अधुनापि कृतं साधु सापां यत्साधितं त्वया ॥
निदानं ज्वररोगस्य, करोमीतो रुजः क्षयम् ॥ ११ ॥
तस्योचितं ततो वैद्यः, क्रियां कृत्वा तकं व्यधात् ॥
व्याधिबाधाव्यपेतागं, पुष्टदेहं महोजसमिति ॥ १२ ॥

(१६) अदत्तालोचने व्याधदृष्टान्तभावना.

कंटगमाईए वट्टे, नोद्धरइ सयं नहोइ एकहए ।
कमठीभूयवणगए, आगलणं खोत्तियामरण ॥

इह किल व्याधा वने सञ्चरंत उपानहौ पादेषु नोपनह्यंति मा हस्तिन उपानहौ दृष्ट्वा धोवन्तीति । तत्रैकस्य व्याधस्याऽन्यदा वने उपानहौ विना परिभ्रमतो द्वयोरपि पादयोः कण्टकादयः प्रविष्टा आदिशब्दात् स्थाणु किलिंचादिपरिग्रह ॥ तान्प्रविष्टान् कंटकादीन्स्वयं नोद्धरति । नापि भोजिकायै निजभार्यायै व्याधिं कथयति । ततः स तैः पादतलप्रविष्टैः कण्टकादिभिः पीडितः सन् वनगतो हस्तिना दृष्टो धावता प्रेर्यमाणो धावन् कमठीभूतः स्थले कमठ इव मंदगतिरभूत् ततः प्राप्तो हस्ती प्रत्यासन्न देशमिति जानन् क्षुधार्तो गत्वा (आगलण) मितिवैकल्यं प्राप्त । ततो मरणमेव गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयं ।

एगो वाहो उवाहणातो विणावणे गतो तस्स पाय
तला कंटगाईणं भरिया ते कंटगाइयातो सयमुद्धरियातो
विय वाहीए उद्धराविया अन्नया वणे संचरंतो हत्थिणा
दिट्ठो तो तस्स धावंतस्स कंटगाइया दूरतरमंसे पविट्ठा ।
ताहे अतिदुक्खेण अद्दितो महापायवो इवाच्छिन्नमूलो
हत्थिभएणं पवेयणभूतो पडितो हत्थिणा विणासितो ॥
वितिए सयमुद्धरती अणुद्धिए भोइयाए नीहरइ ।
परिमद्दणदंतमलादि पूरणं वणगयपलातो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याध उपानही विना वने गतः । तस्य वने सञ्चरतः कण्टकादयः पादतले प्रविष्टा स्तान्स्वयमुद्धरति ये च स्वयमुद्धर्तुं न शक्तान् अनुद्धृतान् भोजिकया निजभार्यया व्याधा नीहारयति निष्काशयति तदनंतरं तेषां कण्टकादिवेधस्थानानामंगुष्ठादिना परिमर्दनं तदनंतरं दंतमलादिना आदिशब्दात् । कर्णमलादिपरिग्रहः । पूरणं कण्टकादिवेधानां ततोऽन्यदा वनगतः सन् हस्तिना दृष्टोऽपि पलायितो जातो जीवि-

तव्यसुखानामाभागी एष दृष्टांतः । सांप्रतं दार्ष्टांतिकयोजनामाह ॥

वाहत्थाणी साहू, वाहिगुरुकंटकादिअवराहा ।
सोही य ओसहाइ, पसत्थनाएण वणतो उ ॥

व्याधस्थानीयाः साधवः व्याधिस्थानीयो गुरुः कण्टकादिस्थानीया अपराधा औषधानि दंतमलादीनि तत्स्थानीया शोधिः अत्र द्वौ व्याधदृष्टांतौ प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च आद्योऽप्रशस्तो द्वितीयः प्रशस्तः । तत्र प्रशस्तेन ज्ञातेन दृष्टांतेनोपनयः कर्त्तव्यः । आचार्योऽपि यदि तान् उपेक्षते ततः कण्टकादीनामुपेक्षको व्याध इव सोऽपि दुस्तरामापदमाप्नोति । तथा चाह ॥

पडिसेवंते उवेक्खइ नयणं ओवीलए अकत्यंतो ।
संसारहत्थिहत्थं पावति विवरीयामियरोत्ति ॥

इतरोऽपि आचार्योऽपि तुशब्दोऽपिशब्दार्थः । यः प्रतिसेवमानात् उपेक्षते ननु निषेधति न वा कुर्वतोऽकुर्वाणात् प्रायश्चित्तमुपपीडयति । न भूयः प्रायश्चित्तदानदमेन ताडयन् कारयति सविपरीतमाचार्यपदस्य हि यथोक्तनीत्या परिपालनफलमचिरात् मोक्षगमनं तद्विपरीत संसार एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति । दुस्तरं संसारमागच्छतीति भावः । उपसंहारमाह ॥

आलोयमणालोयणदोसा य, गुणा य वण्णिया एए ॥

एते अनन्तरोदिता आलोचनाया गुणा अनालोचनायां दोषा वर्णिताः व्य० १ आगमव्यवहारिणां सकाशे आलोचना (आगमनववहारि) शब्दे ॥

इदानीमागमव्यवहारिणामभावे समयानुसारेणोत्कृष्टश्रुतानां श्रुतव्यवहारिणां सन्निधावालोच्यत इति । जीत. ।

(१७) स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना.

स्वगणपरगणवासिकानां समीपे आलोचना ऽङ्गचूलिकायाम्. ॥

कहणं भंते सहुरूवे आयरिय उवज्झाए पमायवंते । सगण परगण वासियाणं समीवे पावं आलोइज्जा तएणं अज्जसुहम्मे जंबू एवं वयासी । जंबू जिणसासणे ववहारो बलवंतो रिय भिक्खू अणागढकम्मं अन्नतरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा तत्थ पासेज्ज पुणो आयरियउवज्झायं बहुस्सुयं बहुआगमं कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए पडिक्कमित्तए णिंदए गरिहारत्तिए विउट्टित्तए अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए जत्थेवणो आयरियउवज्झायं पासेज्ज बहुस्सुयं बहुआगमं तत्थेव संभोइय उवज्झाय आयरियपासेज्ज बहुस्सुयं बहुआगमं कप्पइ से तस्संतिए जाव पावं वज्जित्ता । १ । जत्थेणो संभोय आयरियउवज्झायं पासेज्ज तत्थेव अण संभोइय आयरिय उवज्झायं पासेज्ज तत्थेव बहुस्सुय आगमं तस्संतियं जाव पडिवज्जित्तए । ६ । जत्थेव णो अन्नसंभोइय आयरिय उवज्झायं पासेज्ज तत्थेव सावयं पासेज्ज बहुस्सुयं तस्संतिए आलोयत्तए ॥ ४ ॥ जत्थेव णो सावयं जत्थेव सारविहं जत्थेव णयेतत्थेव पच्छा कम्मं जाव आलो० । ५ ।

जत्थेव णो पच्छा० । तत्थे समत्ताविवाइं चेइयाइं पासिज्ज जाव कप्पइ जत्थेवणो समत्ताविवाइं पासिज्ज तत्थेव गमेणगरस्स वाहिं पाइणाभिमुहस्स वा उदीणाभिमुहस्स वा ट्टिवा अलोइज्जा जाव पडिवज्जिज्जा एवं जंबू जहाविवएहारुदेसएपच्छत्तं तहा कारिज्जा णोय रपालंमि एसु रांजेज्जा ।

निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च स्वपक्षपरपक्षयोरालोचना व्यवहारकल्पे तथा च व्यवहारसूत्रम् उ. ५ ।

जे निग्गंथानिग्गंथीतयंसंभोइया सियाणे एहं कप्पइ अन्नमन्नं कप्पई अणमणहस्स अंतिए आलोइत्तए अ त्थिय इत्थ केइ आलोयणा रिहे कप्पति से तस्संतिए— आलोए तएणज्जिया इत्थं के इ अणो आलोयणारिहे एवएहं कप्पइ अणमन्नसंतिए आलोएत्तए ॥ १९ ॥

व्य० ५ उ० अस्य सूत्रस्य सबंधप्रतिपादनार्थमाह ॥

थेरो अरिहो आलोयणाए आयारकप्पितोजोग्गो ।
साय न होइ विवक्खे नेव सपरके अगीएसु

स्थविरः पूर्व सूत्रे ऽभिहित. स च आलोचनाया अर्ह' सोऽपि च योग्य आलोचनाया जवत्याचार काल्पिक आचारप्रकल्पा निधानाध्ययन धारी । तत एवसाति सा आलोचना न विपक्षे नाऽपि सपक्षे अगीतेष्वगीतार्थेषु भवति । तत्र सयता सयतीनां विपक्ष. संयत्य सयतानां । सपक्ष सयता सयतीना सयत्य' सयतीना तत्र विपक्षे सपक्षे वा गीतार्थेष्वालोचनाप्रतिषेधार्थमधिकृत सूत्रं व्याख्याय निर्ग्रन्थानिर्ग्रन्थ्यो वा संभोगिका स्युस्तेषा (नोएहमिति) वाक्यालंकारे कल्पते अन्योन्यस्य परस्परस्यांतिके आलोचयितुमगीतार्थत्वात् अस्तिवेदत्र कश्चिदालोचनार्ह एव सति न कल्पतोऽन्यान्यस्यांतिके आलोचयितुमेष सूत्रसक्षेपार्थ. ॥ सम्भोगविनाग सप्रपचम्प्रतिपाद्य ॥

सांप्रतमालोचनाविधिमाह ॥

आलोयणा सपक्खे, परपक्खे चउगुरुं च ।
आणादी भिन्नकह दि, विराहणं दट्ठूण व भावसंबंधो ॥

आलोचना सपक्षे दातव्या । तद्यथा ।

निर्ग्रंथो निर्ग्रंथस्य पुरत आलोचयति । निर्ग्रंथो निर्ग्रन्थ्या' पुरतो यदि पुनर्विपक्षआलोचयति । यथा निर्ग्रंथे निर्ग्रन्थ्याः पुरतो निर्ग्रन्थी वा निर्ग्रन्थस्य तदा प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकं किंत्वाज्ञादयश्च दोषा चशब्दै भिन्नक्रम : सचतथैवयोजित' कस्मादेवमत आह भिन्नकहादि इत्यादि च चतुर्थव्रतातिचारमालोचयत्याः सयत्या भिन्न कथादोषो भवति चतुर्थव्रतातिचारकथनतस्तस्या. कदाचि दालोचनाधारस्य भावभेदो भवतीत्यर्थ । आदिशब्दात् पश्चा चूता सा यांचामिति कुर्यादिति परिग्रह. एव सति शील विराहणं दट्टुणं भावसबधो दृष्टिविकारेण मुखविकारेण वा स वा सा वा भावं दृष्ट्वा मामिच्छतीत्यभिप्राय ज्ञात्वा सबंधो घटना स्यात् एतदेव व्याख्यानयति ॥

मूलगुणेसु चउत्थे, विगम्भिज्जंते विराहणा हुज्जा ।
नित्थक्कचिट्ठिमहुरा, गतो य भावं वियाणंति ॥

महागुणेष मध्ये चतुर्थे मूलगुणातिचारे विकथ्यमाने आलोच्यमाने विराधना शीलस्य भिन्नकथादिना प्रागुक्तस्वरूपेण भवति तथा निच्छक्का धृष्टा सती यांचां या कुर्यात् तथा दृष्टिरागतो मुखरागतोवा परस्य भावं विजानीते यथा मामेष एषा वा इच्छतीति ततो घटना स्यात् न केवलमेते विपक्षे आलोचनायां दोष. किंत्विमेऽपि तानचाह ॥

अप्पच्चयनिब्भयया, पिल्लणया जईपगासणे दोसा ।
वयणी वि होइ गुम्मा, निया दोसे पगासिंति ।
वंदत्ते वा उट्ठे वा, गच्छो तह लहुमगत्तणाण गणे ।
विगमिंतपि जम्रिउदुं, ददूणुदाहकुवियन्नू ॥

यते संयत्याः पुरत. प्रकाशने आलोचनायामिमे दोषाः तद्यथा अप्रत्ययः किमेषा वराकी जानातीति तदाज्ञातो यत्किमपि सा प्रायश्चित्तं ददाति तत्र विश्वासाभाव । तथा भूयोऽपराधकरणे गुर्वगरीयांस दंड दास्यतीति महत्याशका सयती नां तु पुरुषस्य न भयमिति निर्भयता तद्भावाच्च भूयोभूयोऽपराधकारण प्रवृत्तिस्तथा (पेल्लणयेति) यदि महत्प्रायश्चित्त ददाति तत' सयतो ब्रूते न भवत्येतत्प्रायश्चित्त किंचिदिमित्येव प्रायश्चित्तस्य प्रेरणा । तथा व्रतिन्यपि यदि सयतस्य पुरत आलोचयति तत सा निजकान् दोषान् प्रकाशयती गम्या भवति यथा एकवारं तावदिदमाचरितं भूयोऽपि सम्प्रति मया सह स समाचर्यतां पश्चात्प्रायश्चित्त दास्यते इति द्वितीयगाथा संप्रदायात् व्याख्येया । यद्येवं तर्हि कथ पूर्वमार्यिका' छेदश्रुतमधीयरन् कथं चालोचनां दद्युस्तत्रुत्तरमाह ।

ततो जाव अज्जरक्खिय, आगमववहारिणो वियाणचा ।
न भविस्साति दोसो, त्तितो वायंतो छेदसुयं ॥

यावदार्यरक्षितास्तावदागमव्यवहारिणोऽभूवन्ते चागमव्यवहारबलेन विज्ञाय यथा एतस्याश्छेदश्रुतवाचनायां दोषो न भविष्यतीति सयतीमपि छेदश्रुतं वाचयतिस्म ।

आरेणागमरहिया, मा विहाहिं तितो नवाएंति ।
तेण कहं कुव्वंत, सोहितु अपाणमाणीतो ॥

आर्यरक्षितादारत आगमरहितास्ततस्ते माछेदश्रुताध्ययनतः संयत्यो विज्ञास्यति विनङ्क्ष्यतीति हेतोश्छेदश्रुतानि सयतीनं वाचयतीति । अत्राह । तेन छेदश्रुताध्ययनाभावेन कथ ता' सयत्योऽजानाना' शोधिं कुर्वंतु । अत्राचार्य आह (ततो जाव अज्जरक्खियसगणे पगास र सुवणीता । असतीय विवक्खंमि वि एमेव य होति समणावि) यत पूर्वमागमव्यवहारिणः स्युच्छेदश्रुत च सयत्योऽधीयेरन् ततो यावदार्यरक्षितास्तावत् व्रतिन्या' स्वस्थाने स्वपक्षे सयतीनां प्रकाशने प्रकाशनामकार्षु स्वपक्षाभावे विपक्षेऽप्यालोचितवत्यः श्रमण्य' । एवमेव श्रमणा अपि भवति ज्ञातव्याः । किमुक्त भवति । श्रमणा अपि सपक्षे आलोचितवतस्तदभावे विपक्षेऽपि श्रमणी नां पार्श्वे इत्यर्थ. दोषाभावात् । आगमव्यवहारिभिर्हि दोषाभावमवबुध्य छेदश्रुतवाचना सयताना दत्ता नान्यथेति । आर्यरक्षितादारत. पुन श्रमणानामेव समीपे आलोचयति श्रमण्योऽपि श्रमणानामागमव्यवहारच्छेदादत्रैव परमतमाशंक्य दूषयति ॥

मेहुणवज्जं आरेण, केइ समणेसु ता पगासंति ॥
तंनु न जुज्जइ जम्हा, लहुसगदोसा सपक्खेवि ॥

आर्यरक्षितादारत. श्रमणेषु श्रमणानां पार्श्वे ता' श्रमण्यः प्रकाशयत्यालोचयति मैथुनवर्ज्यं मैथुन पुनः श्रमण्यः श्रमणं,

नामेव सकाश आलोचयंति इति केचिद् व्याचक्षते तन्नु न युज्यते यस्मात् लघुस्वकदोषाः सपक्षेऽपि । किमुक्तं भवति । श्रमण्योऽपि स्वकल्पदोषतस्तुच्छत्वरूपस्वकदोषतः परिस्राविता कुर्युः परिभवं वा समुत्पादयेयुस्तस्मान्मैथुनमपि श्रमणानामेवांतिके विकटनीयं ।

असती कडजोगी, पुण मुत्तूणं संकियाइं ठाणाइं ॥
आइल्ले धुवकम्मिय. तरुणी थेरस्स दिट्ठिपहे ॥ १ ॥

आर्यापक्षितकालेऽपि यदि संयत्या मूलगुणापराधमालोचयितव्यस्तर्हि संयत्याः सकाशे आलोच्यते । तस्याऽसति अनार्यः कृतयोगी कृत. सूत्रतोऽर्थतश्च छेदग्रंथधरः स्थविरस्तस्य समीपे आलोचयति नवरं शंकितानि स्थानानि वक्ष्यमाणानि शून्यगृहादीनि मुक्त्वा किंत्वाचीर्णे अचिते प्रदेशे आलोचयितव्य यत्र ध्रुवकर्म्मिको दृष्टिपथे वर्तते दृष्ट्या पश्यति न तु शृणोति । तत्र जवनिकांतरिता आलोचयति । तरुणी थेरस्येत्येष तृतीयभंग उपात्त. । स च शेषभंगानां त्रयाणामप्युपलक्षण । ते चेमे । स्थविरा स्थविरस्यालोचयति १ स्थविरा तरुणस्यालोचयति २ तरुणी स्थविरस्यालोचयति ३ तरुणी तरुणस्य ४ यदुक्तं मुक्त्वा शंकितानि स्थानानि ॥

संप्रति तान्येवोपदर्शयति ॥

सुन्नघरदेउलउज्जाण, रन्नपच्छन्नमुलस्सयस्संतो ॥
एयंविवज्जे ठायंति, तिन्निचउरोहवा पंच ॥ १ ॥

शून्यगृहं देवकुलं उद्यानमरण्य प्रच्छन्नं च स्थानम् तथा उपाश्रयस्यांतर्मध्ये एतद्विवर्जे एतद्विरहिते प्रदेशे आलोचनानिमित्त तिष्ठति । ते च जघन्यतस्त्रयो यदि वा चत्वारोऽथवा पंच ते च त्रिप्रभृतयो वक्ष्यमाणभंगकानुसारेण प्रतिपत्तव्या. भंगकानेवाह ॥

थेरतरुणेसु भंगा, चउरो सव्वत्थपरिहरे दिट्ठिं ॥
दोण्हंपुण तरुणाणं, थेरे थेरी यमचउरसं ॥ १ ॥

स्थविरतरुणेषु भंगाश्चत्वारस्ते च प्रागेवोपदर्शिता । स्थविरा स्थविरस्यालोचयतीत्यादि ॥ तत्र यदि जवनिकाया अवकाशो नास्ति तत सर्वत्र चतुर्ष्वपि भंगेषु दृष्टिं परिहरेत् । भूमिगतदृष्टिका सती आलोचयेत् यथा आलोचनार्हः शृणोति तत्र चतुर्भंगे द्वयोः स्थविरः स्थविरा च प्रत्युरसामिति । प्रत्यासन्नौ सहायौ दीयेते । येन परस्परं तौ दृष्टि न वध्नीतो नापि मुखविकारं कुरुत । एवमस्मिन् चतुर्थे भंगे चत्वारो भवति ॥

थेरो पुण असहाओ, निग्गंथी थेरिया वि ससहाया ।
सरिसव्वयं च विवज्जे, असती पंचमं कुज्जा ॥ १ ॥

तृतीयभंगे पुन स्थविरोऽसहायोऽपि भवतु । तरुण्य पुनः स्थविरासहाया दीयते । द्वितीयभंगे निर्ग्रंथी स्थविराऽपि ससहाया कर्तव्या । तरुणस्याऽऽलोचनार्हस्य सहायोऽस्तु वा न वा कश्चिद्दोष. । एवं तृतीये द्वितीये च भंगे त्रयो जना भवति । तथा सदृशवयो नियमत. सहायानां विवर्जयेत् तदसद्भावे सदृशवया अपि भवेत् । तत्र प्रथमभंगे चतुर्थभंगे वा सदृशवय सहायसंभवे पंचमकुल्लककुल्लकां वा पट्टका कुर्यात् ॥

ईसिं अणोयताविया, उ आलोचयए विवक्खंमि ।
सारिपक्खे उक्कुडु, पंजालेचिट्ठोवणुण्णातो ॥

विपक्षे श्रमणस्य समीपे श्रमणी आलोचयति ईषत् अवनता ऊर्ध्वस्थिता सदृशपक्षे पुनः श्रमणः श्रमणस्य पार्श्वे पुनरुत्कुडुका । कृतप्रांजलिरालोचयति । अथ सोऽर्शोव्याधिपीडितस्ततोऽनुज्ञापनां कृत्वा अनुज्ञात. सन् निषद्यामुपविष्टमालोचयति ॥

दिट्ठीए होंति गुरुगा, सविकाराओ सरात्तिसा भणिया ।
तस्स विवड्ढितरागे, तिगिच्छजयणाए कायव्वा ॥

यो दृष्ट्या दृष्टिं बध्नाति तस्य दृष्टौ सविकारायां भवति प्रायश्चित्ततया चत्वारो गुरुकास्तत्र ये ते द्वितीयका दृशास्ते यदि एकतर पश्यति तत आलोचनातोऽपसारयति यथा अपसरतापसरत युष्य न किमप्यालोचनया प्रयोजनमिति । अथ सा निर्ग्रंथी स्वभावत एवावक्षशरीरा सविकारा दृष्ट्वा अपसरेति भणिता सती अपसृता तथापि तस्याऽऽलोचनाचार्यस्य यदि तस्या उपरि विवर्द्धितो रागस्तर्हि तस्मिन् सति यतनया चिकित्सा कर्तव्या ॥

तामेवयतनामाह ॥

अन्नेहिं पगारेएहि, जाहो नियतेउं से न तीरति अ ॥
घेत्तूणाभरणाइति, गच्छजयणाए कायव्वा ॥

यदा अन्यैः प्रकारैस्त भाव निवर्तयितुं न शक्नोति तदा तस्या संयत्या आभरणानि वस्त्राणि गृहीत्वा यतनया चिकित्सा कर्तव्या ॥

एतामेवाह ॥

जारिसवएहि उिया, तारेसएहि तमस्सती चरिया ॥
संनाझिविणोयकेयण, वेल्लवणं चिहुरगंमोहिं ॥

यादृशैः सचित्रैर्वस्त्रैः प्रावृतः सा संयती उपविष्टा दृष्टा तादृशैर्वस्त्रैस्तमोऽधकारमस्यास्तीति तमस्वती रात्रिस्तस्यां तरुणसाधुर्वेरितः प्रावृत. क्रियते ततः संज्ञीति दूती प्रेष्यते ततो विनाविलृको नरविहीनो य ओको निवासो गृहमित्यर्थः । तत्र केतनं संकेतो दीयते दत्वा च स तत्र स्थितस्तावत्तिष्ठति यावत्स तरुणसाधुः संयतीनेपथ्योपेत आगच्छति । तस्मिंश्चागते चिकुरेषु केशेषु गरुयोश्च विलेपन क्रीडन करोति तत्र यद्येतावता शुक्रनिपाततास्तिष्ठति तत सुंदर । अथ नोतर्हि संयत नेपथ्योऽपसार्यते प्रकारांतरमारभ्यते ॥

तदेव प्रकारांतरमाह ॥

अहवा वि सिज्झपुत्तिं, पुव्विं गमेऊण तीए सिवएहिं
आवरियकाळियाए, सुन्नागरादिसंमेलो ॥

अथवेति प्रकारांतरद्योतने पूर्वं सिरूपुत्रीं गमयित्वा तस्याः संयत्याः शिवायैरावृत्य कालिकायां कृष्णायां रात्रौ शून्यगृहादिषु तया सह तस्य मेलः संगमः कर्तव्य । व्य. ॥

सा चोलोचनाऽऽचार्य्याशिष्यभावे भवति तत्र च शिष्या आर्य्याणामिव मर्य्यादा सामाचारि पच्छित्तशब्दे ॥

सम्प्रति यादृशा उत्सर्गत आलोचनार्हास्तानभिधित्सुराह ॥ व्य० ५ उ० ॥

गीयत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा ।
चिरदिक्खिया य वुड्ढा, जईणं आलोयणा जोगा ॥

गीतार्थः सूत्रार्थतदुभयनिष्णातत्वात् कृतकरणा अनेकवारमालोचनायां सहायीभवनात् प्रौढाः समर्थाः सूत्रतोऽर्थतश्च प्रायश्चित्तदाने पश्चात्कर्तुमशक्यत्वात् परिणामिकावाऽपरिणामिका वा गंभीरामहत्यप्यालोचकस्य दोषे श्रुते अपरिश्राविणश्चिरं दीक्षिताः प्रभूतक प्रव्रजिता वृद्धाः श्रुतेन

पर्यायेण वयसा च महांत एवभूता यतीनां साधूनामुपलक्षणमेतत् सयतीनां चालोचनायोग्याः ॥ व्य. उ. ५ ॥
तथाच महानिशीथे

जयवं कस्सा लोएज्जा, पच्छित्तं को वदिज्ज वा ।
कस्स व पच्छित्तं देज्जा, आलोवेज्जा वा कहंगो ॥

लोयणं ताकेवलीएवहूसुदि ! जोयणसएहिं गंतुणं सुफ्फजावेहिं दिज्जए । चलनाणीणं तथा जावे एवं । ओहिमईसुजस्स विमलयरे तस्स तारतम्मेण दिज्जई । उमग्गपन्नवितस्स उस्सग्गोपठियस्स य । उस्सग्गरयणोचेव सव्वजावं तरेहिणं । १ । उवसंतस्स दंतस्स संजयस्स तवस्सिणो । सुमिती गुत्तीपहाणस्स दढवीरितस्स असढजाविणो ।२। आलोएज्जा पमिच्छेज्जादेज्जादाविज्जवा परं । अह मिसंत दुदिट्ठं पायच्छित्तं अणुचरो ॥ ३ ॥

पंचा० वृ. १५ आचारवान् ज्ञानासेवनयां ज्ञानादिपचप्रकाराचारयुक्तोऽय हि गुणत्वेन श्रद्धेयवाक्यो भवति । तथा (आहारवत्ति) अवधारः आलोचकोक्तापराधानामवधारणा तद्वान्सद्धिसर्वापराधेषु यथावत् शुद्धिदानसमर्थो जवति तथा (ववहारवत्ति) मतुब्लोपादृव्यवहारवान् आगमश्रुताऽऽज्ञाधारणाजीतलक्षणपंचप्रकारव्यवहाराऽन्यतरयुक्तः व्यवहारवांश्च यथावत् शुद्धिकरणसमर्थो जवतीति तथा (ओवील एत्ति) लज्जया अतिचारान् गोपायतमुपदेशविशेषैरप ब्रीडयति विमतलज्जां करोतीत्यपव्रीडकः अय ह्यालोचकस्याऽत्यतमुपकारको भवतीति अवधारादिपदत्रयस्य च कर्मधारय कार्यः तथा (पकुव्वीति) आलोचिताऽतिचाराणां प्रायश्चित्तदानेन शुद्धिं प्रकर्षेण कारयतीत्येवशील इत्येतदर्थस्य सामायिकस्य कुर्वंधातोर्दर्शनात् प्रकुर्वी आचारवत्वादिगुणयुक्तोऽपि कश्चित् शुद्धिदान नानुपग च्छतीत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं प्रकुर्वीत्युक्त । च समुच्चये । तथा (निज्जवत्ति) प्राकृतत्वान्निर्यापकोपपत्तेः प्रायश्चित्तस्य निर्वापकोऽय हि तथा विधत्ते यथा साधुर्महदपि प्रायश्चित्त वोदु शक्नोत्यत एवायमिहमहोपकारीति तत्तथा अपायान् दुर्भिक्षदुर्बलत्वादिकानैहलौकिकानर्थान् पश्यति । अथवा दुर्लभबोधिकत्वादिकान् पारलौकिकान् सातिचाराणां तान् दर्शयतीत्येव शीलोऽपायदर्शी अय चात एवाऽलोचकस्योपकारी तथा न परिश्रवति आलोचकोक्तमकृत्यमन्यस्मै न निवेदयतीत्येव शीलोऽपरिश्रावी तदन्यो ह्यालोचकाणां लाघवकारी स्याच्च समुच्चये । बोद्धव्यो ज्ञेय इति आलोचनाचार्य इति योग ॥ प. वृ. ।

तहपरहियम्मि जुत्तो, विसेसओ सुहुमजावकुसलमती ।
जावाणुमाणवं तह, जोग्गो आलोयणापरिओ १५

तथेति समुच्चये । परहिते परोपकारे युक्त उद्युक्त उद्यत इत्यर्थः । तदन्यो हि परेपामवधारको जवति । तथा विशेषत आचार्यान्तरापेक्षया विशेषेण सूक्ष्मभावकुशलमतिः लोकशास्त्रगताऽस्पूल्पार्थनिपुणबुद्धिः अत एव जावानुमानवान् परचेतसामिंगितादिभिर्निश्चायकः । अय हि परभावानुसारेण शुद्धिदाने शक्तो भवति । तथेति समुच्चय योग्य उचित आलोचनाचार्यो विकटना गुरुकगुणकलाप शून्यो हि न शुद्धिकरणक्षम इति गाथार्थः ॥ पचा.वृ. १५।

तथा च स्थानांगे—स्था० ॥ ठा. ८

(१८) आलोचनाया अष्टौ स्थानकाः दशस्थानकाश्च ॥

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणा पमिच्छित्तए । तं जहा । आयारवं आहारवं ववहारवं उव्वीलए पकुव्वए अपरिस्सावी णिज्जवए अवायदंसी ॥

अट्ठहीत्यादि । सुगमं । नवरं । आयारवंति। ज्ञानादिपचप्रकाराचारवान् ज्ञानादिवलान्यामाहारवाति अवधारणावान् आलोचकेनालोच्यमानानामतीचाराणामिति आह च ।

आयारवमायारं, पंचवि मुणाई जोय आयरइ ।
आहारवमहारे, आलोइं तस्स तं सव्वंति ॥

ववहारवति आगमश्रुताज्ञाधारणजीतलक्षणानां पंचानामुक्तरूपाणां व्यवहाराणां ज्ञातेति (उव्वीलएति) अपव्रीडतिति विलज्जीकरोति यो लज्जया सम्यगनालोचयन्त सर्वे यथा सम्यगालोचयति तथाकरोतीत्यपव्रीडकः अभिहितं च ॥

ववहारववहरं, आगममाइ उ मुणइ पंचविहं ।
ओवीलुवगूहंतु, जह आलोए इत्तसव्वंति । १ ।

(पकुव्वएत्ति ।) आलोचिते सति य शुद्धिं प्रकर्षेण कारयति सप्रकारीति भणित च (आलोयइयंमि सोहिं जो कारावे इ सो पकुव्वीओत्ति । अपरिस्साविति) न परिश्रवति नालोचकदोषानुपश्रुत्याऽन्यस्मै प्रतिपादयति य एवशीलः सोऽपरिश्रावीति यदाह (जो अन्नस्स उ दोसे न कहेइ अपरिसाइ सो होइति ।) (निज्जवएति) निर्यापयति तथा करोति यथा गुर्वपि प्रायश्चित्त शिष्यो निर्वाहयतीति निर्यापक इति न्यगादि च (निज्जवमो तह कुणइ निव्वहेई जेण पच्छित्ति ।) (अवायदसिति ।) अपायाननर्थान् चित्तभगानिर्वाहादीन् दुर्भिक्षदौर्बल्यादिकृतान् पश्यतीत्येवशीलः सम्यगनालोचनायां च दुर्लभबोधिकत्वादीनपायान् शिष्यस्य दर्शयतीत्यपायदर्शीति भणितं च ॥

दुब्भिक्खदुब्बलाइ, इहलोएजाणए अवाएउ ।
उदंतेइय परलोए, दुल्लहन्वोहित्तसंसारोत्ति ॥ १ ॥

भ० १५ श० ७ उ० । स्था ० ठा० ८ ।

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसं आलोयणं पमिच्छित्तए तंजहा आयारवं आहारवं जाव अवायदंसी पियधम्मे दढधम्मे । ठा. १०

अधिकमिह प्रियधर्माधर्मे प्रियो दृढधर्माय आपद्यपि धर्माकचलतीति । आलोचितदोषाय प्रायश्चित्त देयम् ।

अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरहइ अत्तदोसं आलोएत्तए । तंजहा । जाइसंपन्ने कुलसंपन्ने विणयसंपन्ने नाणसंपन्ने दंसणसंपन्ने चारित्तसंपन्ने खंते दंते ।

टी० (अत्तदोसत्ति) आत्मापराधमिति जातिकुले मातापितृपक्षौ तत्सम्पन्नः प्रायोऽकृत्यन्न करोति कृत्वाऽपि पश्चातापादालोचयतीति तद्ग्रहण यदाह ॥

जाइकुलसंपन्नो, पायमकिच्चं न सेवइ किंचि ।
आसेविउंचपच्छा, तग्गुणओसम्ममालोएत्ति ॥

विज्ञानसंपन्न सुखेनैवालोचयति तथा ज्ञानसंपन्नो दोषविपाकं प्रायश्चित्तं चावगच्छति यतो ॥

वा विन्नाणेउ संपन्नो, दोसविवागं वियाणिओ घोरं ।
आलोएइ सुहं चिय, पावच्छित्तं च अवगच्छेत्ति ॥ १ ॥

दर्शनसंपन्न शुद्धोऽहमिति एव श्रद्धत्ते चरित्रसंपन्नो भूयस्तमपराधं न करोति सम्यगालोचयति प्रायश्चित्तं च निर्वाहयति इति उक्तं च ॥

सुद्धो तहत्ति सम्मं, सद्दहई दंसणेण संपन्नो ।
चरणेण उ संपन्नो, न कुणइ भुज्जो तमवराहंति ॥१॥

क्षान्तः परुषं भणितोऽप्याचार्यैर्न रुष्यतीति । आह च ॥

खंतो आयरिएहिं, फरुसं भणिओ वि न विल्लसेति ॥

दान्तः प्रायश्चित्तं दत्तं वोढुं समर्थो भवतीति । आह च ॥

दंतो समत्थो वोढुं पच्छित्तं जमिह दिज्जए तस्सात्ति ॥
॥ स्था० ७ ठा० ॥

दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोसं आलोइत्तए । तं जहा । जाइसंपन्ने कुलसंपन्ने एवंजहा अट्ठठाणे खंते दंते अमाई अपच्छाणुतावी ॥ ठा० १०

(एवंति) अनेन क्रमेण यथा अष्टस्थानके तथेदं सूत्रं पठनीयमित्यर्थः कियद्दूरं यावत् (खंतेदंतेत्ति) पदे तथाहि ॥

विणयसंपन्ने नाणसंपन्ने दंसणसंपन्ने चरणसंपन्नेत्ति ।
अमाई अ पच्छाणुतावीति ॥

पदद्वयमिहाधिकं प्रकटं च नवरं ग्रन्थान्तरोक्तं तत्स्वरूपमिदम् ॥

नोपच्छिन्नं चेमाई, अपच्छयावो न परितप्पेति ॥

(१७) सामुदानिकाऽतिचारालोचना ।

ओघनिर्युक्तौ सामुदानिकानतिचारानधिकृत्य इदानीं सामुदानिकानतिचारान् आलोचयति यदि व्याक्षेपादिरहितो गुरुर्भवति अथ व्याक्षिप्तो भवति । तदा नालोचयतीत्येतदेवाह ।

विक्खित्तपराहुत्ते, विप्पमत्ते माकयाइ आलोए ।
आहारं च करेंतो, णीहारं वा जइ करेइ ॥ ७०२ ॥

व्याक्षिप्तो धर्मकथादिना स्वाध्यायेनापराङ्मुखो पराङ्मुखः अन्यतोऽभिमुखः प्रमत्तः विकथयति एवं विधे गुरून् कदाचिदालोचयेत् तथा आहारं कुर्वति सति तथा नीहारं वा यदि करोति ततो नालोचयति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह ।

दारगाहा ।

कहणाइवक्खित्ते, विगहाए पमत्ते अन्नओ ।
वमुहो अंतरमकाए, वाणीहारे सकमरणं वा ॥७०३ ॥

धर्मकथादिना वा प्रमत्तः अन्यतोऽभिमुखो वा भवति भुञ्जतेऽपि वा नालोचनीयं किं कारणं (अंतरति) अंतरायं भवति यावदालोचनां शृणोति अकारकं वा शीतलं भवति यावदालोचनां वा शृणोति तथा नीहारमपि कुर्वतो नालोचनीयं किं कारणं यत् आशङ्कया साधुजनितया कायिकादि निर्गच्छति अथ धारयति ततो वा मरणं भवति यस्मादेते दोषास्तस्मात् ।

अव्वक्खित्ताउत्त, उवसंतमुवट्ठियं च नाऊणं ।
अणुन्नवेत्तमहावी, आलोएत्ता सुसंजए ॥ ७०४ ॥

धर्मकथादिना व्याक्षिप्ते गुरौ आलोचयेत् आयुक्तमुपयोगतत्परं उपशांतमनाकुलं गुरुं दृष्ट्वा उपस्थितमुद्यतं च ज्ञात्वा एवंविधं अनुज्ञाप्य मेधावी आलोचयेत् सुसंयुतः साधुः । इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन् भाष्यकृदाह ॥

कहणाई अवक्खित्ते, कोहाइ अणाउले तदुवउत्ते ।
संदिसहत्ति अणुन्ना, काउण विदिन्न मालोए ॥ ७५ ॥

धर्मकथादिना व्याक्षिप्ते क्रोधादिभिरनाकुले तदुपयुक्ते भिक्षालोचनोपयुक्ते (संदिसहत्ति) अनुज्ञां काऊण संदिसत आलोचयामीत्येव अनुज्ञां कृत्वा मार्गयित्वेत्यर्थः (विदिन्नत्ति) आचार्येण दत्तायामनुज्ञायां प्रणत इत्येव लक्षणायां तत आलोचयेत ।

तथा च पञ्चाशके ऽर्हद्वारविवरणायाह पंचा० वृ० १५

संविग्गोउव माई, मइमं कप्पट्ठिओ अणासंसी ।
पन्नवणिज्जो सड्ढो आणाइत्तो दुक्कडतावी ॥१२॥
तव्विहिसमूसुगो खलु, अभिगाहासेवणाइलिंगजुत्तो ।
आलोयणापयाणे, जोगो भणितो जिणिंदेहिं ॥१३॥

व्या० संविग्नस्तु संसारभीरुरेवाऽऽलोचनाप्रदाने योग्यः इति योगः । तस्यैव दुष्करकरणाध्यवसायित्वात् दुष्करं चालोचनादानं यदाह (अविरायाचराअन्नयदुच्चरिय कहे) तथा अमायी अशठः यदीहि न यथा यावत् दुष्कृतं कथयितुं शक्नोति तथा मतिमान् विद्वांस्तदन्या ह्यालोचनीयादिस्वरूपमेव नजानाति । तथा कल्पस्थितः स्थविरजातसमाप्तकल्पादि व्यवस्थितादन्यस्य ह्यतीचारविषया शुशुप्सैव न स्यात् यथा अनाशंसी आचार्याद्याराधनापारहितः सांसारिकफलानपेक्षो वा । आशंसिनो हि न सम्यगतिचारालोचना संभवत्याशंसाया एवातिचारत्वात् । तथा प्रज्ञापनीयः सुखावबोध्यस्तदन्यो हि स्वाग्रहादकृत्यविषयान्निवर्तयितुं न शक्यते तथा श्राद्धः श्रद्धालुः स हि गुरूक्तां शुद्धिं श्रद्धत्ते । तथा आज्ञावान् आप्तोपदेशवर्त्ती सहि प्रायोऽकृत्यं न करोत्येव तथा दुष्कृतेनातिचारासेवनेन तप्यते । अनुतापं करोत्येव शीलः दुष्कृततापी स एव तदालोचयितुं शक्नोतीति । तथा तद्विधिसमुत्सुकः अल्पालोचनाकल्पनालस एव स हि तद्विधिं प्रयत्नेन परिहरति । तथा अभिग्रहासेवनादिभिर्लिङ्ग्यादिनियमविधानविधायनानुमोदनप्रभृतिर्लिङ्गैरालोचनायोग्यतालक्षणैर्युतो युक्तो यः स तथा । आलोचनाप्रदाने प्रतीते योग्योऽर्हो भणितः उक्तो जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैरिति गाथाद्वयार्थः । ओघ ॥

किमेतावन्त एव करणीययोगा आहोस्विदन्येऽपि सन्तीत्याह ।

जं चन्नं करणिज्जं, जेयणो हत्थसयबाहिरयारियं ।
अविगडयम्मि असुद्धो, आलोयंतो तयं सुद्धो ॥७॥

यच्च पूर्वोक्तकरणीयव्यापारेभ्योऽन्यदुक्तकरणीयं क्षेत्रप्रतिलेखनार्थगुरुग्लानान्वेषणशैक्षनिष्क्रमणाचार्यसंलेखना हस्तशतान्बहिराचरितं तस्मिन्पूर्वोक्ते च करणीययोगनिवहे अविकटिते गुरोरप्रकाशितेऽनालोचिते अशुद्धः समित्याद्यतिचारलेशवान् आलोचयस्त करणीययोगनिवहं शुद्धः आलोचनाख्यप्रायश्चित्तेन समित्याद्यतिचारलेशस्य निवर्त्तनरूपस्तशताभ्यन्तराचरितं किञ्चिच्छ्रवणादिकमालोच्यते । किंचिच्च श्लेष्मसंधानजल्लनिवसनोत्थानविजृम्भणाकुञ्चनप्रसारणोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टादिकमालोच्यते ॥ अत्राह शिष्यः । करणीययोगेष्वाहारादिग्रहणादिषु यथोक्तविधिना कृतेष्वपि यथा-

लोचनाप्रायश्चित्तयोग्यता न भाति । तर्हि न किमपि कर्तव्य व्रतमादाय प्रथममेव सर्वैरप्यनशनङ्कार्य्यं । गुरुराह । तन्न । एव सति तीर्थोच्छेदः स्यात् । कः केन प्रतिबोध इष्यते । किञ्च न खलु मालिन्याऽशङ्कया वस्त्राणि न परिधीयन्ते । अपरिधानेहि विग्रहस्तथा सर्वेषांप्रबलरूपतापश्चिस्ततःपरिधीयंत एव । जातमालिन्यानि च जलेन प्रक्षाल्य निर्मलीक्रियन्ते । एव चारित्रमपि करणीययोगकरणे संजातातिचारलेशमल आलोचनाप्रायश्चित्तजलेन विशोध्य निर्मलीकार्य्यं ॥

अतिचारलेशवशतोऽपि तच्छुद्धये भवत्यालोचना पर निरतिचारस्य किमित्याह ।

कारणविणिग्गयस्सय, सगणाउपरगणागयस्स विय ।
उवसंपयाविहारे अ, आलोयणानिरयारस्स ॥ ए ॥

टीका । कारणेनाऽशिवद्भिक्षराजादिप्रत्यनीकत्व अध्वन्, समार्थिविराधनागुर्व्वादेशादिविनिर्गतस्य निरतिचारस्याऽथ विराधितसमितिगुप्तिकस्याऽप्यालोचना भवति । सा च द्विधा । ओघतो विभागतश्च । तत्र यः कारणविनिर्गतः पक्षाभ्यन्तरे समागच्छति । आगतमात्रश्चैर्य्यापथिकीमतिक्रम्य समुद्देशवेलाया अर्वागेवाऽऽलोचयति । तस्याऽप्योघालोचनामात्र भवति ॥ यथा ॥

अप्पा मूलगुणा सुविराहणा, अप्पा उत्तरगुणेसु ।
अप्पा पासत्थाइसु, दाणगह संपउगोहा ॥

अल्पशब्दोऽभाववाचीति न मूलगुणेषु विराधना अल्पा न कदाचिदुत्तरगुणेष्वप्यल्पा न काचित्पार्श्वस्थावसन्नादिषु दानग्रहाभ्यां सम्प्रयोगः सम्पर्कः सोऽप्यल्पः । सोऽपिनास्तीत्यर्थः इयमोघालोचना । यस्तु पक्षाभ्यन्तरागतोऽपि समुद्देशानन्तरमालोचयति । यावत्पक्षात्परतः समागतः समुद्देशादर्वागप्यालोचयति । तयोर्निरतिचारयोरपि विभागालोचना विशेषालोचना सुव्यक्ता । निःशेषनिजाऽनुष्ठितनिवेदनरूपा । वस्तुतक्षशिलायां धर्म्मचक्रस्य मथुरायां स्तूपस्य पुरिकायां जीवत्स्वामिप्रतिमायाः तीर्थकृज्जन्मनिःक्रमणज्ञाननिर्वाणभूमीनामयोध्यादीनां दर्शनार्थं स्वजनगोकुलविवाहादि संखडिकाप्रेक्षार्थं यत्र विशिष्टाहारोपधी लभ्येतेति । तत्र लिप्सया रम्यदेशदिदृक्षयादिना चागुर्वनादेशाद्विनिर्गतोऽकारणविनिर्गतस्तस्य साऽतिचारत्वेन बृहत्तरप्रायश्चित्तशोध्यत्वाभावालोचनामात्रेण शुद्धिः । तथा स्वगणात्सांभोगिकरूपादेकमण्डलीभोजिनः उभयतोऽपि संविग्ना सविग्नरूपाद्गणागतस्याऽपि च निरतिचारस्य उपसंपयत्ति उपसपद्यमानस्य सा चोपसंपत्पञ्चधा । श्रुतग्रहणायान्यमाचार्य्यमुपसम्पद्यमानस्य श्रुतोपसपत् १ मार्गेव्रजतोममयोष्माकी निश्रेतिमार्गोपसपत् ४ विनयं कर्तुं गच्छांतरमुपसपद्यमानस्य विनयोपसपद् ५ भाष्यकृताऽप्युक्तं ॥

उपसंपयपंचविहा, सुय सुहदुक्खे यखित्तमग्गे य ।
विणउपसंपयाविविय, पंचविहा होइ नायव्वा ॥

एतासामन्यतरामुपसपदं प्रथममाददानस्य विभागालोचना भवति । विहारत्ति । विहारे कृते निरतिचारस्याऽप्यालोचना भवति । अयभावः । एकाहात्पक्षाद्वर्षाद्वा यदा सांभोगिकाः स्पर्द्धकपतयो गीतार्थाचार्य्या मिलन्ति । तदा निरतिचारेऽप्यन्योन्यस्य विहारालोचनां स्वस्वविहारक्रमानुष्ठितप्रकाशरूपां ददतीति ॥ जीत. ॥

(१०) आलोचयित्रा एतानि वर्जनीयानि ॥

णट्टं चलं भासं मूयं तह ढड्डर च वज्जेज्जा ॥

आलोएज्जा सुविहिओ, हत्थं मत्तं च वावारं ॥७६॥

नृत्यन्नाऽऽलोचयति । चलंश्च नाऽऽलोचयति । अङ्गानि चालयन्नालोचयति । तथा गृहस्थभाषया नालोचयति । किं तर्हि संयतभाषया आलोचनीयमिति । तद्यथा । " मुयारियाओ " इत्येवमादि, तथा आलोचयन् केन स्वरेण नालोचयति मिणिमिणेः । तथा ढड्डरेण च स्वरेण उच्चैर्नालोचयति । एवं विध स्वरं वर्जयेत् । किम्पुनरसावालोचयतीत्येतदाह ॥

आलोचयेत्सुविहितःहस्तमुदकस्निग्ध तथामात्रक गृहस्थसत्कं कटच्छुकादि उदकार्द्रादि तथा गृहस्थया कृतमव्यापारकुर्वता तदेतमालोचयति । इदानीमेनामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह ॥

करपायस्समुह, सीसत्थि उट्ठमाईहिण हिएणाम ॥
चलणं हत्थसरीरे, वलणं काए भूयजावे य ॥ ७७ ॥

करस्य तथा पादस्य भ्रूवशिरसः अक्ष्णः ओष्ठस्य चैवमादीनामङ्गानां साविकार चलनं नर्तितं नाम तच्च नर्तितं कुर्वन्नालोचयति । चलन हस्तस्य शरीरस्य कुर्वन्नालोचयति । तथा वलनं कायस्य करोति मोटनं कुर्वन्नालोचयति तथा भावतश्चलन अन्यथा गृहीतमन्यथा आलोचयति ॥

अरुवियहुज्ज गारत्थिय, भासा उवज्जए मूयढड्डरं च सरं ।
आलोएवावारं, संसट्ठियकरमत्तो ॥ ७८ ॥

आलोचयेत्गृहस्थभाषया न आलोचयति यदुत (लगणीउ लट्ठाउ मम्मलका लट्ठा) इत्येवमादि किन्तु संयतभाषया आलोचनीय (मुयारियाउ) इत्येवमादि मूकस्वरं मनाक् ढड्डर च महान्तं स्वर वर्जयित्वाऽऽलोचयति । व्यापार गृहस्थाः संबन्धि न तया संसृष्ट उदकार्द्रादि इतर असंसृष्टं किं तत्करं संसृष्टं असंसृष्ट च उदकेन तथा मात्रक गृहस्थसत्क केलिकादि उदकसंसृष्टंचेति । एतदालोचयति ॥ ओघ. । पं. व. ॥

तथाच स्थानाङ्गे ठा. १. ।

दस आलोयणादोसा पण्णत्ता ।
आकंपइत्तु अणुमाणइत्तु, जं दिट्ठबायरं च सुहुमं वा ॥
छन्नं सदाउलगं, बहुजण अव्वत्ततस्सेवि ॥ १ ॥

टीका । आकम्प्य आवर्ज्येत्यर्थः । यदुक्त ॥

वेयावच्चाईहिं पुव्वं, आकंपइत्तु आयरिए ॥
आलोएइ कहं मे, थोवं वियरेज्ज पच्छित्तंति ॥ १ ॥

(अणुमाणइत्ता) अनुमानं कृत्वा किमय मृदुदण्ड उतोग्रदण्ड इति ज्ञात्वेत्यर्थोऽयमभिप्रायोऽस्य । यद्ययं मृदुदण्डस्ततो दास्याम्यालोचनामन्यथा नेति उक्तञ्च ॥

किं एस उग्गदंडो, मिउदंडो वात्तिएवमणुमाणो ॥
अप्पेयरंवितिक्कोवं, पच्छित्तं मज्झदेज्जाहिति ॥ १ ॥

(जंदिट्ठति) यदेव दृष्टमाचार्य्यादिना दोषजात तदेवालोचयति । नान्यद्दोषजातमाचार्य्यं रञ्जनमात्रपरत्वेनासाविमृत्वा दृस्येति । उक्तञ्च ॥

दिट्ठाव जेपरेणं, दोसावियडेयं तेच्चियए एएणे ॥
सोहिज्जया जाणंतु, वएसो पयावदोसोउत्ति ॥ १ ॥

(बायरवति) बादरमेवातिचारजातमालोचयति न सूक्ष्ममिति (सुहुमवत्ति) सूक्ष्ममेव वातिचारमालोचयति । य किल सूक्ष्ममालोचयति स कथ बादर संत नालोचयत्येव रूप भावसम्पादनायाचार्य्यस्येति । आह च ।

बायरवड्डुवएहे, जो आलोएइ सुहुमनालोए ॥

अहवा सुहुमालोए, वरमणतोडएवं तु ॥ १ ॥
जो सुहुमे आलोए, सो किह नालोय बायरे दोसेति ॥
(छन्नत्ति) प्रच्छन्नमालोचयति यथात्मनैव शृणोति नाचार्य्य भणित (छएणतह आलोए जह नवर अप्पणा सुण त्ति) (सद्दाउलयत्ति) शब्देनाऽऽकुल शब्दाकुलं बृहच्छब्देनालोचयति। यथान्येऽप्यगीतार्थास्तच्छृण्वन्तीत्यन्नाणि च । (सद्दाउलवट्टेण सद्देणालोय जह अगीयाविबोहेत्ति बहुजणंति) बहवो जना आलोचनाचार्य्या यस्मिन्नालोचने तद्बहुजनं । अयमभिप्रायः॥
एगस्सालोइत्ता जो, आलोएसणोवि अएणस्स ।
ते चेवय अवराहे, तं होई बहुजणं नामेत्ति ॥ १ ॥
(अव्वत्तेति) अव्यक्तस्यागीतार्थस्य गुरोः सकाशे यदालोचनं तत्तत्सबन्धादव्यक्तमुच्यते । उक्तञ्च । (जो य अगीयत्थस्स आलोए त तु होइ अव्वत्तमिति तस्स वित्ति) ये दोषा आलोचयितव्यास्तत्सेवी यो गुरुस्तस्य पुरतो यदालोचनं स तत्सेविलक्षणमालोचनादोषस्तत्र चाऽयमभिप्रायः आलोचयितु ॥
जह एसो सत्तुल्लो, नो दाही गुरुगमेव पच्छित्त ॥
इय-जो किलिट्ठचित्ता, दिएणा आलोयणा तेणति ॥
भ. श. २५ उ ७ । ध अ ध २ । पं. चू. ॥
दस दोसविप्पमुक्क, तम्हा सव्व अगहमाणेणं ।
किंपि कयमकज्जं, तं जहवत्तं कहेयव्व ॥ ३२ ॥
द० प० ॥
आलोचनायामपरुषवचने दोषा (ववहार) शब्दे ॥
कथम्पुनरप्रमत्त- दोषजातमप्यालोचयेदित्याह ॥
जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जयं जणति ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्कोउ ॥ ४७ ॥
व्याख्या । यथा यद्बालः शिशुर्जल्पन्भाषमाणः विवक्षितमिति गम्यते । कार्यमकार्यं वा विधेयमविधेय वा निर्विशेष मृजुकं अवक्रमयन् गोपयन्नित्यर्थ । भणत्यभिधत्ते मात्रादिक प्रतीनमित्यालोचनीयाऽपराध तथा तद्बालवदकल्यमवक्तव्यं वाऽऽलोचयेत् गुरोर्निवेदयेत् । मायामदविप्रमुक्तस्तु शठता गर्व्वरहित एव मायामदयुक्तो हि न सम्यगालोचयितु शक्नोतीत्यतस्तद्रहिते त्युक्तम् । व्य० उ० ४ । १० । पचा० वृ० १५ आलोचनाविधि ॥
एत्थं पुण एसविही, अरिहो अरिहम्मि दलयति कमेण ।
आसेवणादिणा खलु, सम्मं दव्वादि सुध्दीए ॥ ८ ॥
व्याख्या । अत्रालोचनायां पुनः शब्दस्य चैव सबंधो विधिमाऽऽलोचना देया । अत्र पुन एषोऽय वक्ष्यमाणो विधिः कल्पस्तद्यथा । अर्हे आलोचनादानोचित । तथा अर्हे आलोचनादानयोग्य गुरौ विषयभूते (दलय इत्ति) ददाति प्रयच्छति तथा क्रमेणाऽऽनुपूर्व्येण किं विधेनेत्याह । आसेवनादिना खलु प्रतिषेवप्रभृतिनैव आदिशब्दादालोचनाक्रमग्रहः । तथा सम्यग्यथावत् आकुट्टिकादिभावप्रकाशनत ॥
तथा द्रव्यादिशुद्धौ द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धौ सत्यां प्रशस्तेषु द्रव्यादिष्वित्यर्थ ॥
अथ सम्यगिति यदुक्तन्तत्राह ॥
तह आउट्टियदप्पओ, कप्पमायप्पलवजयणाए ॥
कज्जे वा जयणाए, जहट्ठियं सव्वमालोए ॥ १० ॥
व्याख्या । तथेति शब्द समुच्चये । यथाक्रममालोचनाङ्गमेव माकुट्टयाऽऽकृतत्वमपीत्येतदर्थ । आकुट्टिकोपेत्यकरणं दर्पो वल्गनादि । प्रमादो मद्यादिस्मृतिभ्रंशादिर्वा एषां द्वन्द्वोऽतस्तेभ्यस्तत आकुट्टिकादर्पप्रमादतस्तथा कल्पतो वाऽशिवादिपुष्टालम्बनतो वा कल्पश्च यतनादिविषय इत्यत आह । यतनया यथाशक्तिसंयमरक्षारूपया कार्ये वा प्रयोजने वा संभ्रमहेतोः प्रदीपनकादावयतनयाऽनापेक्षितसारेतरविभाग तया यद्यासेवित तदिति गम्य यथास्थित यथावृत्त सर्वं समस्तमकृत्यमालोचयेत् । गुरुभ्यो निवेदयेच्छुद्धिकाम इतिगाथार्थः ॥ १० ॥ पचा० १५ वृ० ॥
(११) सम्यगालोचनादाने किं लिङ्गम् ॥
सम्यगालोचनादाने किम्पुनर्लिङ्गमित्याह ॥ पंचा० वृ० १५
आलोयणासुदाणे, लिंगमिणे विंति मुणियसमयत्था ।
पच्छित्तकरणमुचित, अकरणयं चेव दोसाणं ॥ ४८ ॥
व्याख्या । आलोचनासु दाने सम्यगालोचनायां लिंगं चिह्नमिदं वक्ष्यमाणं ब्रुवते आहुः। मुणियसमयत्था ज्ञातसिद्धांतार्थाः प्रायश्चित्तकरणं विशुद्धिविशेषासेवनमुचितं योग्य गुरूपदेशानुसारि तथा अकरणकमेवाविधानकमव चैवेत्यवधारणे दोषाणामालोचितापराधानामिति गाथार्थः ॥
कथम्पुनरालोचनादानं शुद्धिकरणं भवतीत्याह ।
इयभावपहाणाणं, आणाए सुट्ठियाण होंति इमं ॥
गुणठाणसुद्धिजनगं, सेसं तु विवज्जय फलंति ॥४९॥
व्याख्या । इत्येवमुक्तनीत्या भावप्रधानानां संवेगसाराणा तथा आज्ञायामाप्तोपदेशे सुस्थितानां सुष्ठु व्यवस्थितानां भवति स्यात् इदमालोचनादानं गुणस्थानशुद्धिजनकं प्रमत्तादिगुणविशेषनिर्मलताधायक शेष तु कादन्यत्पुनर्विपर्य्ययफलं गुणस्थानकाशुद्धिजनकमिति शब्द समाप्ताविति गाथार्थः ॥
तथाच महानिशीथे अ० १ ॥
खंता दंता विमुत्ता य, जिइंदी सव्वभासिणो ॥
छक्कायसमारंभाओ, विरत्ते तिविहेणओ ॥ ८९ ॥
तिदंडा सव्वसंवरिया, इत्थिकहासंगवज्जिया ॥
इत्थिसंलावविरया जीय, अंगोवंगनिरक्खणा ॥ ९० ॥
निम्ममत्ता सरीरेवि, अप्पमित्ता महायसा ॥
जीया इत्थियगब्भ,सहीणं बहुदुक्खाओभावओ ९१
तहाती परिसेण, भावेणं दायव्वा आलोयणा ॥
पच्छित्तं पिव कायव्वं, तहा जहा चेव एहिंकयं ॥९२॥
न पुणो तहा आलोएयव्व, मायादंभेण केणई ॥
जह आलोयणं चेव, ससारं वुड्ढीभवे ॥ ९३ ॥
अणंतणाइकालाओ, अत्तकम्मेहिं दुम्मइ ॥
बहुविकप्पकल्लोले, आलोए तेवी अहोगए ॥ ९४ ॥
गोयम ! केसिं विना माई, साहिमोतं निबोधय ॥
जेमालोयणपच्छित्ते, भावदोसिक्ककलुसिए ॥ ९५ ॥
ससल्ले घोरमहं दुक्खं, दुरहियासंमुच्चसह ॥
अणुहवति चिट्ठति, पावकम्मं नराहमे ॥ ९६ ॥
गुरुगा सजम नाम, साहू निद्दंदसे तहा ॥
दिट्ठवायाकुसीले य, मणकुसीले तहेव य ॥ ९७॥
सुहुमालोयगे तहय, परववयसा लोयगे तह ॥

किं वा लोयगा तहयण, किंवा लोयगे तहा ॥ ९८ ॥
अकयालोयणे चेव, जणरंजवणे तहा ॥
नाहं काहामि पच्छित्तं, उम्मासा लोयणमेव य । ९९ ।
मायाडंभपवंचीय, पुरंकडतववरणकहो ॥
पच्छित्तं मे किंचि, न कायालोयणुच्चरे ॥ १०० ॥
आसणालोयणक्खाइं, लहुं पच्छित्तजायगे ॥
अम्हाणा लोइयं चेट्ठे, मुहवंधालोयगे तहा ॥ १०१ ॥
गुरुपच्छित्ताहमसकेय, गिलाणालंबणं कहे ॥
अएमालोयगे साहू, सुणालुएण तहेवय ॥ १०२ ॥
निच्छिन्ने वियपच्छित्ते, न काहं सुद्धिसायगे ॥
रंजवणमेत्तलोगाणं, वाया पच्छित्ते तहा ॥ १०३ ॥
पडिवज्जणपच्छित्ते, चिरयालए वेसगे तहा ।
अणुणिद्धियपायच्छित्ते, अण्णजणियमहायरे तहा । १०४।
आउट्टीयमहापावे, कंदप्पादप्पे तहा ।
अजयणसेवणे तहय, सया अणुयपच्छित्ते तहा । १०५।
दिट्ठयोच्छयपायच्छित्ते, सयं पच्छित्तकप्पगे ।
एव इयं इच्छयपच्छित्तं, पुव्वालोइयमणुस्सरे । १०६
जाइमयसंकिए चेव, कुलमदसंकिए तहा ।
जाइकुलोभयमयासंके, सुत्तआजिस्सिरि सकियाए तंही । ७।
तवोमया संकिएचेव, पडिवासयसंकिए तहा ।
सक्कारमयलुद्धे य, गारवसंदूसिए तहा । १०८ ।
अपुज्जो वा विहंजंमे, एगजंमेव चिंतगे ।
पाविणपि पावतरे, सकलुसचित्तालोयगे । १०९।
परकहावगे चेव, अविणयालोयगे तहा ।
अदिट्ठीयालोयगे साहू, एवमादी दुरप्पणो । ११० ।
अणंतेणाइकालेणं, गोयमा ! अत्तदुक्खिया ।
अहो अहो जावसत्त, मियं जावदोसेक ओगए । १११।
गोयम ! णंते चिट्ठंति, जे अणादिए ससल्लिए ।
नियन्नासदोससल्लाणं, भुज्जंते विरसं फलं । ११२ ।
चिट्ठइस्संति अज्जवि, तेणं सल्लेण सल्लिए ।
अणंतंपि अणागयं, कालं तम्हा सल्लं न धारएमं मु-
णित्ति ॥११३॥

(२२) कृतानां कर्मणां क्रमत आलोचना ॥

आलोचनाक्रमश्च ।

ते य पडिसेवणाए, अणुलोमा होंति वियडणाएय ।
पडिसेववियडणाए, एत्थ चउरो भवे भंगा ॥८१॥

तांश्चातिचारान्प्रतिसेवनानुलोमेन यथैव प्रतिसेवितास्तनै-
वानुक्रमेण कदाचिच्चिन्तयति । तथा (वियडणाएत्ति) विक-
टना आलोचना तस्य च अनुलोमा एव चिंतयति एतदुक्त-
म्भवति । पढम लहुओ दोसो पडिसेविउ पुणोवड्डो वहुतरो
चिंतेइ । एवमेव ततश्च प्रतिसेवनायां अनुकूलमालोचनायामपि
अनुकूलमेव । यत प्रथमं लघुको दोष आलोच्यते पुनर्बृहत्तरः
पुनर्बृहत्तम' इति एष प्रथमो भङ्गकः । अन्नोपडिसेवणा अनु-
कूलो न उणवियडणा एतदुक्तम्भवति ।

आसिवियं पढमं वड्ढं पुणो लहुयं पुणोवड्ढं ।
पुणो वहुयरं चिंतेइ ॥

एवमेव ततश्च प्रतिसेवनायाः । अनुकूल । प्रतिकूलं मत्वालो-
चनाया यतस्तत्र प्रथम लघुरालोच्यते । पुनर्बृहत्तरः पुन
र्बृहत्तम इति एष द्वितीयो भगः । " अन्नो पडिसेवणाएवि
अणणुकूलो आलोयणाए पुण अणुकूलो,, । एतदुक्त भवति ।
अहावियट्ठापडिसेवणाएवि अणणुकूलो आलोयणाएवि अण-
णुकूलो । एतदुक्तम्भवति पढमं वड्डो पडिसेविओपुणो वड्डु-
यरो चिंतेत्ति पुण ज जहा संभरइ पढमं वड्डो पुणो लहुओ
पुणो वड्डो पुणो वहुयारो एव अपडिवियड्डु चिंते तस्स ण
पडिसेवणाणुकूलो यणाणुकूलो एस चउत्थो एसो वज्जेयव्वो॥

इदानीममुमेवार्थं गाथार्द्धेनोपसंहरन्नाह ।
(पडिसेववियडणा एय होइ इत्यपि चउभगो) इदं व्या-
ख्यातमेवेति ॥ ओघ. ॥

तथा च पञ्चाशके वृ. १५ ॥

दुविहेण णुलोमेण, आसेवणावियडणाभिहाणेणं ।
आसेवणाणुलोमं जं जह आसेवियं वियडे ॥ १६ ॥
आलोयणाणुलोमं, गुरुगवराहे उपच्छओ वियडे ।
पणगादिणा कमेण, जहजह पच्छित्तवुड्ढी ॥ १७ ॥

व्याख्या । द्विविधेन द्विप्रकारेणानुलोम्येन क्रमेण ऐ विध्य-
मेवाह । आसेवना यदानुलोम्य तदासेवनमेव विकटनेन च
यत्ताद्विकटनमेवानस्ते एवाभिधाने यस्य तत्तया तेनासेवन
विकटनाभिधानेनालोचनां ददातीति द्वारगाथासवधिपद-
सवधनीय । तत्राद्य स्वरूपत आह । आसेवनानुलोम्यमुक्त
शद्धार्थं तदिति शेषः। यत्कि येन क्रमेणासेवित यथा सिचितं
विकटयत्यालोचयत्यालोचनाकारीति । आलोचनानुलोम्य पुन
र्व्यक्तशब्दार्थं तद्यदिति शेष । गुरुकापराधान्महातिचारान्
तु शब्दः पुनरर्थे । स च योजित एव पच्छत्ति प्राकृतत्वात्प-
श्चाद्यथापराधानतर विकटयत्यालोचयति । कथमित्याह । पण
गाइणत्ति । समयभाषत्वात्पचकादिना पचदशकप्रभृतिना
क्रमेणानुपूर्व्या किमित्याह ।

यथा ययायेनयेन प्रकारेण प्रायश्चित्तवृद्धिर्विशुद्धिर्यदेन तथा-
तथायद्विकटयतीति प्रकृतमिह च लघावचोरपचकनाम प्राय-
श्चित्त गुरुके तु दशक गुरुतरे तु पचदशकमित्येवमादीति
तुशब्द पूरणार्थः । अत्र च गीतार्थ आलोचनानुलोम्येनैवालो-
चयति कारण तु गीतार्थगम्यमितरस्त्वासेवनानुलोम्यनालोच
ना तु लोम्यानभिज्ञत्वा त्तस्य च कारणमतिचाराणां सुस्सर
त्वमिति गाथारूयार्थः ॥

सयतीनामालोचना । महानिशीथे अ० १ ॥

गोयम ! समणीणणोसंखा जा उनिकलुसनीसल्लवीसु-
द्धशुनिम्मलवमणमाणसाउ अज्जप्पाविसोहीए आलो-
यत्ताणसुपरिफुडं । नीरुकं निखिलं निरारं नियवं निय-
दुच्चरियमाइयं सव्वंपिन्नावसल्लं अहारिहं तवो कम्मं पाय-
च्छित्तं मणुचरित्ताणं निद्धोपपावकम्ममलसेवकलंकाओ-
उप्पन्नदिव्वपरकेवलनाणाओ महाणुभावाओ महाय ।
साओ महासत्तसंपन्नाओ सुगणहियनामधेयाओ अणं-
तमसोक्खं मोक्खं पत्ताओ ॥

कासिंच गोयमा नामे, पुनन्नागाए स.हिमो ॥
जेसिंमालोयमाणीणं, उप्पणंसमणीणकेवलं ॥ १॥
हाहाहापाकम्माणं, पावापावमतीउहं ॥
पावं गणं वि पावयए, हाहाहाउहिचिंतिमे ॥ २ ॥
हाहा हाइच्छे जावं, मे ताविहजं भेउवाहियं ॥
तन्हावीणघोर वीरग्गं, कट्टंतवसंजमं धरं ॥ ३ ॥
अणंतपावरासीओ, संमिलियाओ जयाजवे ॥
तइयाइच्छित्तणं लच्छे, सुच्छं पावाण कम्मणा ॥ ४ ॥
एगदिंमी जूताणं, समुदयंतणुतो तह ॥
करेमि जह न पुणो, इत्थीहं होमि केवली ॥ ५ ॥
दिट्ठीए वि न खंमामि, सीलं हंसमाणि केवली ॥
हाहामणेणमे किंपि, अट्टदुहट्टचिंतियं । ६ ॥
तमालोइत्ताहं, सुध्दिगिएहंहं समणिकेवली ॥
दिव्वूणमकलावएण, रूवं कातिदितिसिरिं ॥ ७ ॥
माणरपयं गाहमाजं तु, खयमणम्मणीय केवली ॥
वातमोत्तूण नो अन्नो, निच्छयं मह तणुच्छिवे ॥ ८ ॥
छक्कायं समारन्नं, न करेहंसमाणि केवली ॥
पोग्गलकरे कारुणुज्ज तं णाहे जहणं तरे तहा । ए ।
जणाणा एवि ण दंसेमि, सुसगुत्तं गोवं गासमणी य
केवली ॥ वहुजवंतरकोमीओ, घोरं गब्भपरंपरं ॥ १०॥
पम्यिट्टंतीए सुन्नच्छमे, णाणचारित्तसजुअं । माणुस्स
जम्मं सुसंमत्तं, पावकम्म क्खयं करं ॥११॥ तासव्वन्ना
वणीसद्धा, आलोएमी खणेखणे ॥ पायच्छित्तमणुट्ठामि,
वीयंतं न समारन्नं ॥ १२ ॥ जेणागब्भइपाछित्तं, वायामणु
साय कम्मुणा । पुढविदगागणिवाऊ, हरियकायं तहे
वय ॥ १३ ॥ वीयकायसमारंभं, विति चउपंचिंदिया
णया ॥ मुसाणंपि न जासामि, समरक्खंपि आदिन्नयं
॥ १४ ॥ न गिएहंसि मणंतंवि, णपच्चं मणसावि
मेहुणं ॥ परिग्गहं न काहामि, मूलुत्तरगुणरवलणं तहा
॥ १५ ॥ मयजयकसायदमेसु, गुत्तिसुमितिं दिएसु य ।
अगारसीलं गसहस्साहि छियहीतणु ॥ १६ ॥ सज्जाय-
ज्झाणयोगेसु, अभिरम समणीकेवली ॥ तेलोकत्तक्खण-
क्खंज धम्मातित्थंकरेण जं ॥ १७ ॥ तमहंलिंगधारेण,
जाणिज्जइ विजंते निप्फिलियं ॥ मज्जोमजीय दोरंभा,
फासिज्जामि तहेवय ॥१८ ॥ अहपाक्खिप्यामि दिवाग्गिं,
अहवा छिजे जइसिरं ॥ तावीहं नियमवयजंगं, सील
चारित्तखंरुणं ॥ १९ ॥ मणसा वी एकजं, मकएए
कुणए समणिकेवली ॥ खरुटगोणजाइसुं, सरागाहिंनिया
अहं ॥ २० ॥ विक्कमं पि समायरियं, अणंते जवजवंतरे
तमेव खरकम्ममह, पवज्जाए छियाकुणं ॥ २१॥ घोरंध
यारपायाला. जेणणोणिहरं पुणो ॥ जंभियाणमाणुसं
जंम्मं तवं च वहु दुक्ख जायणं ॥ २२ ॥ अणिचं
रवणविध्दंसी, वहुदंमं दोषसंकरं । तत्थवि इत्थीसं-
जाया, सयन्नत्तेलोकनिंदिया ॥ २३ ॥
तहावि पावियं धम्मं, णिविग्घमणं तराइयं । ताहं त नं
विराहेमि, पावदोसेण केणई । २४ । सिंगाररागसवि-
गारं, साहिलासं न विहिमो । पसंताए विदिहीण, मा
तु धम्मोवएसगं ।२५। अन्नं पुरिसं न निज्का य,णालंवं
समणिकेवली । तं तारिसं महापावं, काओ अकहणीय
तं ।२६। सव्वमविउपन्नं जह, दत्तालोयसमणिकेवली ।
पमादि अणंतसमणी ज, दाउसुच्छीलोयणं । नीसल्लोके-
वलं यप्पा,सिध्दा उ अणादीकालेण गोयमा ! खंता दंता
व मुत्ताउ जिइंदिया उ सव्वजाणिए उ । छकायस-
मारंजा विरया तिविहेण उ । तिदंमा सव्वसंवुमा पुरि-
सकहासंगवज्जिया पुरिससंलवविरया उ पुरिसंगोवंगानि
रक्खणा निममत्ताउ सरीरे अप्पमिवध्दा उ महायसा
भीयत्थिगब्भवसहीणं वहुदुक्खाओ जवमरणओ तहा
ताएरिसेणं जावेणं दायव्वा आलोयणा पायच्छित्तं पि
कायव्वं ॥
तह जह एयाहिं समणिहिं कयं णवणं तह आलोए-
यव्वं । मायामंजेण केणइ जह आलोयमाणी णं पावक-
म्मवुड्ढिं जवे अणंतेणा इकालेणंमायाउं तस्य कम्मदोसेणं
कन्नमालोयपकाउसमणी उ सव्वीउ आतिउ गयस्सरेणं
छवियं पुढविंग या । ३३ । छकासिवगोयमा ! नामेसा-
हिमा तंति वाधयजाउ आलोयमाणि उ जावदोसेसु च्छु-
त्तरगपावकम्ममव्वपचलिया जवसंजमसीलगाण णीसल्लत-
पमंहित्थियं तं परमजावविसोहिए विणाखणच्छंपि नाजवे
तो गोयम ! कोसिमित्थियाणं चिसविसोहिं सुनिम्मलाजवंतारं
विमो होही जेण नीसल्लयाजावे छट्टट्ठमदसमदुवालसेहिं
सुक्खंतिकेवि समणि उत हवि यसंरागजावं गाणालोयं-
तीणं चउगतिवहुविहवि कप्पकल्लोलमालाओ किलगाहणं
वियरं तंतेण लविखज्जा २५ दुखगाहमणसागरं ते कह-
मालोयणं दि तुं जासि चित्तं पि नोवसे सल्लंजो ताणमु-
च्छरए ।२६। स वंदणीओखणे खणे । असणेहिं पीय-
पुन्नेणं धम्मसुच्छलसावियं । सीलंगगुणट्ठाणेसु उत्तमेसुं
धरेइ जो । ६ डीवहुंवंधणमुकंगिहकलत्ता विचारगा ।
सुविसुध्दसुनिम्मलचित्त णीसल्लं सोमहायशो दट्ठव्वो
वंदणीओ य देविंदाणं सउत्तमो दीणत्थी सव्वपरिजूयं
त्तिरइछाए जा उत्तमे वरेणा लोएमि अहं समणी देक
हं किंचि सा हुणि वहुदोसं न कहं समणी जं दिट्ठं
समणिहिंतं कहं असायज्ज कहासमणि बहु आलंवणा
कहा पमा ।

या खावगा समणि पाविट्ठा बज्झमाणो कहा लोगाविरुद्ध-कहा तह य परवएसा लोयणीसुयपच्छित्ता तहया जायादीमयसंकिया । सूसगारजीरुया चेव गारव.त्त-पवूसिया तहा । एवमादि अणेगजवादोसवसट्टेहिं पुरि-यानिरंतरा अणतेणं कालसमएणं गोयमा ! अइकंतेणं अणंताउ समाणीओ बहुरवावसईगया गोयमा ! अणं ताउ चिट्ठंति जाअणादी सल्लसल्लीया । जावदोसे कसे-ल्लेहिं जुजमाणीओ कडुविरसं घोर गतरं फलं चिट्ठइसमं-ति अज्जावि तेहिं सल्लेहिं सल्लिया अणंतं पि अणागयं कालं तम्हा सल्लं सुसुहुमंपि समणी णो धारेज्ज खणं त्तिबेमि

(२३) आलोचनायां दत्तायां न विरतिजंगः सह-ष्टान्तः ॥

आलोचनायां दत्तायामपि विरतिभंगो न करणीयः । महानि-शीथे । अ. ७ ॥

पाणाइवाय विरइ, सेवफलया गिण्हिऊण ताधीमं मरणावयं मिपत्ते मरेज्जाविरइ न खंभिज्जा १ अलियव-णस्स विरइ, सावज्जं सव्वमवि न जासिज्जा परदव्वह-रण विरई, करेज्ज दिन्ने वि माल्लोयं २ घरणं तुव्हरवं जव्वयस्सकाउं परिग्गहवायं ॥ राइजोयणविरइ, पं-चिंदियनिग्गहं विहिणा ३ अन्ने य कोह माणा, एग दोसे य आलोयणं दाउं । पमाहारअहंकारे, गायट्ठे सव्वं पव्वतणो । जइ तव संजमसज्जा यम, गाणमाइसु-सुद्धि जावेहिं उज्जमियव्वं गोयम ! विज्जुलयाचंच ले जीवे किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं पुढविकायं विराहिज्जा कत्थगंतुं समुज्जिहही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं आलोयणं वाहिणंपाणिं तहिं जम्मे जो पिए-कत्थ । कउमुजिहही किं बहुणा गोयमा ! एत्थं दाउणं आलोयणं उन्हववइ जालय जाइ फुसिउत्ता कत्थसुज्जिहही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाऊण आलोयणं वाउकायं उदिरिज्जा कत्थगेनु समुज्जिहिइ किं बहुणा णं गोय-मा! एत्थम्दाउणम् आलोयण जोहरियतणं कप्पांवाफरिसे कत्थमसु जिहिइ किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाऊणं आलोयणं अक्कमइ बीजकायं जो कत्थगंतो समुज्जिहही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउणं आलोयं वियल्लं दीवेति चउपंचि-दियपरिठावं जो कत्थ समुत्थही किं बहुणा गोयमा इत्थं दाउणं आलोयणं छकाए जो तं न रक्खेज्जा । सुहुमे कत्तुसमुचिहही किं बहुणा गोयमा ! इत्थं दाउण आलोयणं तमथावरो जो न रक्खे कत्थगंतु समुचिहही आलोइयनींदियगरहियओविकयपायच्छित्त निमल्लो उत्तम ठाणंमि ठिउपुढवारंजं परिहरिज्जा । आलोइयनिंदिउगर-हियविकयपायच्छित्तनीसल्लो उत्तमठाणंमि ठिओ-जोइ ए मा फुसावेज्जा । आलोइयनिंदियगरहिओविकयपा यच्छित्तसंविग्गो उत्तमठाणमि ठिओमाविराहिज्जा अत्ता णं आलोइयनिंदियगरहिउमकयपायच्छित्तसंविग्गेच्छिन्नं पि तणं हरियं असइमणगं मा फरिसे आलोइयनिंदियगर हियो विकयपायच्छित्तं संविग्गो उत्तमठाणंमि ठिउ जाव-ज्जीवं एतेसिं बेइंदियतेंदियचउरो पंचिदियाणं जीवाणं संघट्टणपरियावण किलावणोद्दवणमाकासी आलोइयनिंदि यगरहिओविकयपायच्छित्तसंविग्गो उत्तमठाणंमि ठिओ सावज्जं मानागिज्जा आलोइयनिंदियगरहिओ विकय पायच्छित्तसंविग्गो लोयतेण विन्दुई गहियागहिओ लिवि उदिन्ना आलोइयनिंदियगरहिओ विकयपायच्छित्तनिजो-सल्लोजोइत्थि संल्लेविज्जा गोयमा ! कत्थमुज्जिहिआलोइय निंदियगरहियओविकयपायच्छित्तसंविग्गोचउदसधम्मसुव गरणे उद्दमापरिहगं कुज्जा तेसुंपि वि ममतो अमुच्छिओ अगढिओ दढंहविया अहवा कुज्जाउ ममत्तं तासुन्धी गोयमा ! नत्थि किं बहुणा गोयमा ! नत्थइत्थंदाउणं आ-लोयणं रयाणिए आविए पाणम्कत्थगम् तु समुज्जिही आलोइयनिंदियगरहिओ विकयपायच्छित्तनीसल्लो छ-क्करेमेणरक्खे जो कत्थसुद्धिं लभेज्ज से । महा. अ ७ ॥

आलोचनायां दत्तायां विरतिभङ्गो न करणीयस्तथा तप-श्चारास्तत्कारणभूतप्रमादक्रियायाञ्च । ध. २ अ ।

आलोचनाया: प्रायश्चित्तस्य प्रशस्तयोगसङ्ग्रहनिमित्तत्वा-त्तदात्मके प्रथमे योगसङ्ग्रहे, च । " प्रशस्तयोगसङ्ग्रहनिमि-त्तत्वादालोचनादय एव तथोच्यन्ते „ सम. ३१ स. । मोक्ष-साधनयोगसङ्ग्रहाय शिष्येणाऽऽचार्याया लोचना दत्तेति । अत्रोदाहरणम् ।

उज्जेणि अट्टणे खलु, सिंहगिरि सोपारए पुह हवई । मच्छिअमल्ले फुरुल्ला, खवविओ फलिहमल्ले अ ॥ १ ॥

फुरुल्लखलिया ग्रामाः फलहीशब्दो देश्यो वल्लणीवाची ।

उज्जयिन्यामुज्जयिन्यां, समस्तनगरावली: ।
जितशत्रुर्नृपस्तत्र, मल्लस्तस्याट्टनाभिधः ॥ १ ॥ इत्यादि, (अट्टन) शब्दे तत्कथा ।

यथाट्टनस्तथाचार्य्यः, पताकानिर्वृत्तिः पुनः ।
सार्धुमल्लोऽपराधास्तु, महारास्तान् गुरोर्हि यः १०
आलोचयति निःशल्य, स निर्व्वाणपताकिकां ११
त्रैलोक्यरंगे गृह्णाति, त्युक्ताः शिष्यगुण इमे ।

आव क. । आ चू. । आव. ॥

(२४) आलोचनायामकृतायां मृत्वाऽनाराधको जवति ।

जिक्खू य अमायरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता सेणं तस्स गणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ । णत्थि तस्स

आराहणा। सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंतं कालं करेइ। अत्थि तस्स आराहणा। भिक्खू अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता तस्स णं एवं भवइ पच्छाविण अहं-चरिमकालसमयंसि एयस्स ठाणस्स आलोइस्सामि जाव पडिक्कमिस्सामि। सेणं तस्स ठाणस्स आणालोइयपडिक्कंते जाव णत्थि तस्स आराहणा। सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ। अत्थि तस्स आराहणा भिक्खू अण्णतरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता तस्स णं एवं भवइ जइ ताव समणोवासयावि कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। किमंग पुण अणवण्णियदेवत्तणं पि णो लभिस्सामित्ति कट्टु सेणं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ नत्थि तस्स आराहणा। सेणं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा सेवं भंते! भंतेत्ति॥ भ. १० श. २ उ.।

टीका। इह च शब्द एवेदित्येतस्यार्थे वर्त्तते। स च भिक्षोरकृत्यस्थानासेवनस्य प्रायेणासम्भवप्रदर्शनपरः (पडिसेवित्ता त्ति) अकृत्यस्थानं प्रतिसेविता भवतीति गम्यं। वाचनान्तरे त्वस्य स्थाने (पडिसेविज्जत्ति) दृश्यते। सेणमिति। स भिक्षुः तस्स ठाणस्सेति तत्स्थानम् अणपन्नियदेवत्तणं पि नो लभिस्सामिति अणपन्निका व्यन्तरनिकायविशेषास्तत्सम्बन्धिदेवत्वमणपन्निकदेवत्वं तदपि नो लप्स्ये इति भ.॥ टी.।

(२५) आलोचनाफलम्॥

आलोयणाएणं भंते! जीवे किं जणयइ आलोयणाएणं मायानियाण मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवंधणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवण्णे वियणं जीवे अमाई इत्थिवेयं नपुंसगवेयं च न बंधइ पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ॥ ५ उत्त० अ० २९॥

गुरुशुश्रूषां कुर्वतोऽप्यतीचारसम्भवे आलोचना तया मायाशाठ्यं निदानं ममाऽतस्तपःप्रभृत्यादेरिदं स्यादिति प्रार्थनात्मकं मिथ्यादर्शनं सांशयिकादि एतानि शल्यानीव शल्यानि तेषां ततः कर्मधारये मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानि तथाहि तोमरादिशल्यानि तत्कालदुःखदानेऽप्यायते दुःखदायीन्येव मायादीन्यपीत्येवमुच्यते तेषां मोक्षविघ्नानां पापानुबन्धित्वेन मुक्त्यन्तरायाणां तथानन्तसंसारं वर्द्धयति वृद्धिं नयतीत्यनन्तसंसारवर्द्धनानि तेषामुद्धरणमपनयनं करोति तदुद्धरणतश्च ऋजुभावं चार्जवं जनयति॥ (उज्जुभावपडिवण्णेयत्ति) प्रतिपन्नऋजुभावश्च जीवोऽमायी मायारहितस्ततः पुंस्त्वनिबन्धनत्वादमायित्वस्य (इत्थिवेयत्ति) प्राग्वद्विद्धलोपस्त्रीवेदं नपुंसकवेदं च न बध्नाति पूर्वबद्धं च तद्वेदद्वयं यद्वा सकलमपि कर्म्म निर्ज्जरयति क्षपयति तथा च मुक्तिपदमाप्नोतीत्यभिप्रायः। उक्तं हि। "उद्धरियसव्वसल्लो साहू अचिरेण खवेति सासयं ठाणं। सोच्चिय गुणट्ठियप्पा संसारपकड्ढओ होत्ति॥२५॥" उत्त० टी०॥

आलोचनापरिणतस्य म्रियमाणस्यापि आराधकत्वमाराधनाशब्दे॥

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा णोपडिक्कमेज्जा णो णिंदेज्जा णो गरहेज्जा णो विउट्टेज्जा णो विसोहेज्जा णो अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा णो अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा। तं०। अकरिंसु वाहं करेमि वाहं करिस्सामि वाहं। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा णो पडिक्कमेज्जा जाव नो पडिवज्जेज्जा। तं जहा। अकित्ती वा मे सिया अवन्ने वा मे सिया अविणये वा मे सिया तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा जाव णो पडिवज्जेज्जा तं० कित्तिवा मे परिहाइस्सइ जसो वा मे परिहाइस्सइ पूयसक्कारे वा मे परिहाइस्सइ। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा जाव पडिवज्जेज्जा। तं०। मायी स्सणं अस्सिं लोगे गरहिए भवइ उववाए गरहिए भवइ आयाई गरहिया भवइ। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं अमाइस्सणं अस्सिं लोगे पसत्थे भवइ उववाए पसत्थे भवइ आयाई पसत्थे भवइ। तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा तं०। णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए चरित्तट्ठयाए स्था. ठा. ३.॥

तिहिं ठाणेहिमित्यादि व्याख्या। मायी मायावान् मायं। मायाविषयं गोपनीयं प्रच्छन्नमकार्यं कृत्वा नो आलोचयेत् मायामेवेति शेषं सुगमं नवरमालोचनं गुरुनिवेदनं प्रतिक्रमणं मिथ्यादुष्कृतदानं निंदाऽऽत्मसाक्षिका गर्हा गुरुसाक्षिका वित्रोटनं तदध्यवसायविच्छेदनं। आत्मनश्चारित्रस्यातिचारमलक्षालनमकरणतया ऽभ्युत्थानं पुनर्नैतत्करिष्यामीत्यभ्युपगमः। अहारिहं। यथोचितं पायच्छित्तं पापच्छेदकं प्रायश्चित्तविशोधकं वा तपः कर्म्म निर्विकृतिकादि प्रतिपद्येत तद्यथा अकार्षमहमिदमतः कथं निन्द्यमित्यालोचयिष्यामि स्वस्य महात्म्यहानिप्रसक्तेरित्येवमभिमानात्। तथा करोमि चाहमिदानीमेव कथं साक्षिति भणामि करिष्यामीति चाहमेतदकृत्यमनागतकालेऽपीति कथं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यत इति कीर्तिः काद्दिग्गामिनी प्रसिद्धिः। सर्वदिग्गामिनी सैव वर्णो यशः। पर्यायत्वादस्य अथवा "दानपुण्यफला कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः" तच्च वर्णयति तयोः प्रतिषेधोऽकीर्तिरवर्णश्चेति। अविनयः साधुकृतो स्यादिति। इह च सूत्रमप्राप्तप्रसिद्धिपुरुषापेक्षं मायं कट्टुत्ति मायां कृत्वा मायां पुरस्कृत्य मायेत्यर्थः। परिहास्यति हीना भविष्यति पूजा पुष्पादिभिः। सत्कारो वस्त्रादिभिरिदमेव विवक्षितमकरूपत्वादिति। इह तु प्राप्तप्रसिद्धिपुरुषापेक्षं शेषं सुगमं। उक्तविपर्य्ययमाह।

(तिहिं) मित्यादि सूत्रत्रयं स्फुटं किन्तु मायी (मायंकट्टु आलोएज्जत्ति) इह मायी अकृत्यकरणकाल एव आलोचनादिकालेऽमाय्येवालोचनाद्यन्यथानुपपत्तेरिति (अस्सिंति) अयं यतो मायिनः इह लोकाद्या गर्हिता भवन्ति। यतश्चामायिन इहलोकाद्याः प्रशस्ता भवंति यतश्चामायिनः आलोचनादिना निरतीचारीभूतस्य ज्ञानादीनि स्वस्वभावं लभन्ते। ज्ञानादि

मायी भूत्वा आलोचनादि करे।मी.त नाथः ॥

आलोयणाणय-आलोचनानय-पुं० आभिमुख्येन गुरोरा त्मदोषप्रकाशनमालोचना स एव नय। आलोचनायाः नयभेदे, तद्वक्तव्यता (सामाइय) शब्दे विशे० आ. चू. २ अ.।

आलोयणारिह-आलोचनार्ह-न. आ मर्यादया " जह बालो जंपतो, कज्जमकज्जं च उज्जुओ भणइ । तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को य " इत्येवरूपयाऽऽलोचन गुरोः पुरतः प्रकाशनं तावन्मात्रेणैव यस्य पापस्य शुद्धिस्तदालोचनार्हं तद्विशोधिक प्रायश्चित्तमप्युपचारादालोचनार्हम् । जीत. व्य. उ. १ आलोचनां गुरुनिवेदनां विशुद्धये यदर्हत्यतिचार- जातं तदाऽऽलोचनार्हं तद्विशोधकमालोचनालक्षण प्रायश्चित्त- मप्युपचारादालोचनार्हम् ग. अ. १।२ औप. प्रायश्चित्तभेदे । आलोचनार्हं यद्गुरुनिवेदनया शुद्ध्यतीति ग, ३ ग. भग. श. २५ उ. ७ आलोचना गुरुनिवेदनम् । तथैव यच्छुद्धयत्य तिचारजात तत्र तदर्हत्वादालोचनार्हम् । तच्छुद्धयर्थं यत्प्राय श्चित्त तदप्यालोचनार्हन्तच्चालोचनैव स्था० ठा० १० ।६॥

एतस्याशेषवक्तव्यताऽऽलोचनाशब्दे आलोचनायोग्ये आचा र्यादिके. पु, ते चालोचनाशब्दे व्य० उ. १० ध. अधि.२ नि. चू. उ. २० ॥

आलोयणायरिय-आलोचनाचार्य्य-पुं० विकटनागुरौ (जोगो आलोयणायरिओ) आलोचनाचार्यो विकटनागुरुस्स च कीदृशो येत्य इत्यालोचनाशब्दे । पचा० १५ वृ. ध. अधि. २॥

आलोयणाविहिमुत्त-आलोचनाविधिसूत्र-न० शिष्यनिवेदि तप्रायश्चित्तपर्य्यालोचनविषयप्रायश्चित्ताभिधायिनि सूत्रे आ- लोचनाविधिसुत्ता नाम गुरुं शिष्येण गुरोर्निवेदिते गुरुणा प्रायश्चित्तपर्य्यालोचनविषयाणि प्रायश्चित्ताभिधायिनि नि० चू. उ. २ ॥

आलोयदरिसणिज्ज-आलोकदर्शनीय-त्रि० आलोकं दृष्टिगोचर यावद् दृश्यतेऽत्युच्चत्वेन यः स आलोकदर्शनीयः।न.श.९ उ.३३ आलोके दृष्टिविषये क्षेत्रे स्थितोऽत्युच्चतया दृश्यते यः स आ- लोकदर्शनीयः अत्युच्चतया यावदृष्टिगोचरं दृश्यमाने ज्ञा० अ०१ (दसणरइयआलोयदरिसणिज्जा) आलोकं दृष्टिपथं या- वद्दृश्यते अत्युच्चैस्त्वेन या सा आलोकदर्शनीयेति औप० नात्युच्चतया आलोकमात्र एव दर्शनीये मङ्गल्यत्वात् प्रस्थान- समये दृष्टुं योग्ये, च ॥

दरिसणरइयआलोयदरिसणिज्जा ॥

आलोके बहिः प्रस्थानसमयभाविनि दर्शनीया द्रष्टुं योग्या मंगल्यत्वात् अन्ये त्वा हुरालोके दर्शनीया न पुनरत्युच्चा आलो कदर्शनीयेति राज० ॥

आलोल-आलोल-त्रि० ईषत् लोलः प्रा० स० ईषच्चञ्चले, । “आलोलपुष्करमुखोल्लसितैरभीक्ष्णम् माघ.”वाच.॥

आलोलिय-आलोलित-त्रि० आ लुड् णिच् क्त ईषच्चञ्च- लीकृते ॥

आवंत-आवन्त-पुं० अवन्तेरयं राजा अण् अवन्तिदेशाधिपे चन्द्रवंश्ये नृपभेदे, वाच० ॥

आवन्तिअज्झयण-आवन्त्यध्ययन-न० आचाराङ्गस्य नवब्रह्म चर्य्याध्ययनान्तर्गते लोकसाराख्ये पञ्चमेऽध्ययने । आवतीत्या चारस्य पञ्चमाध्ययनम् तत्र ह्यादावेवाधतीत्यालापका विद्यते इत्यादानपदेनैतन्नाम । अनु० । आवतीति आद्यपदेन नामान्त- रण तु लोकसार इति स्था० ठा. ए। सम० । आव० (आयाण पयणावंत। गोणनामेण लोगसारोत्ति) आदौयते प्रथममेव गृह्यत इत्यादानम् तच्च तत्पद चादानपदम् तेन करणभूतेनावतीत्येत आमाध्ययनादावावतीशब्दस्योच्चारणात् आचा० श्र. ५ उ. १ ॥

आव-(जाव) यावत्-त्रि० आदेर्योजः ॥४५॥ इति प्राकृत- सूत्रेण यादेर्यस्य जो वा भवति आर्षे लोपोऽपि । प्रा० । यत्परिमाणमस्य मतुप् । यत्परिमाणे स्त्रियां ङीप् यावति साकल्ये अवधौ, व्याप्तौ, माने, अवधारणे च । अव्य० अमरः । एतद्योगे द्वितीया । वाच० ॥

आवकह-यावत्कथ-अव्य० यावज्जीवमित्यर्थे, । आवकह प्र- गर्वं समित्तासि ॥ १६ ॥ यावत्कथमिति यावज्जीवम् आचा० श्र. ए उ.४॥

आवकहा-यावत्कथा-स्त्री० यावती यत्परिमाणा कथा मनु- ष्योऽय देवदत्तादिर्वाऽयमिति व्यपदेशलक्षणा यावत्कथा यावज्जीवे जत्थवियणं आवकहाए चिट्ठइ स्था० ठा ४ से पा रए आवकहाए यावत्कथ यावज्जीवमित्यर्थः । आचा० श्र. ९ उ. ४ जे आवकहा समाहिए कियत कालं यावत् कथा देव दत्तो यज्ञदत्त इति कथा यावदिति सूत्र० श्रु. १ अ. २ धम्मा आवकहाए गुरुकुलवास ण मुचति ॥१६॥ यावत्कथ यावज्जी- वम् । पंचा १० वृ. ११ ॥

आवकहिय-यावत्काथिक-त्रि० यावज्जीविके । पचा० वृ ११ एत्थ उसावय धम्म,पायमणुव्वयगुणव्वयाइ च। आवकहियाइं सिक्खा, वयाइं पुण इत्तरां— ॥

इति पंचा० १ वृ. । यावत्कथिकानि यावती यत्परिमाणा कथा मनुष्योऽयमित्यादिव्यपदेशरूपा यावत्कथा तस्यां भवानि यावत्कथिकानि यावज्जीवानीत्यर्थं । पचा ॥

यावत्कथिकानीति सकृद्गृहीतानि यावज्जीवमपि भावनी यानीति । आव. । सामायिकभेदे-तच्च मध्यमद्वाविंशतितीर्थंकर तीर्थान्तर्गतसाधूनामवसेयम् । तेषामुपस्थापनाया अभावात् । पंचा वृ. ११ । आत्मनः कथां यावद्यावदास्ते तद्यावत्कथ यावज्जीवमित्यर्थः । यावत्कथमेव यावत्कथिकम् । सामा यिकचरित्रगुणप्रमाणभेदे, । एतच्च भरतैरवतेष्वाद्यचरम- वर्जमध्यमतीर्थंकरसाधूनां महाविदेहयतीनां च सम्भवति । अनु. । यावत्कथस्य भाविव्यपदेशान्तराभावात् यावज्जीवि- कस्य समायिकस्याऽस्तित्वात् यावत्कथिकः । सामायिक संयतभेदे,। स च मध्यमजिनमहाविदेहजिनसम्बन्धिसाधुः । भ० श.२५ उ. ७ । प्रतिक्रमणभेदे, च स्था ठा. ॥ यावत्काथि- कं यावज्जीविक महाव्रतभक्तपरिहानादिरूपं प्रतिक्रमणत्वं चाऽस्य निवृत्तिलक्षणाऽन्वर्थयोगादिति । आव० ॥

पंच य महव्वयाइं, राई च्छट्ठाई चाउजा मोअं ।

भत्तपरिन्ना य तहा, दुन्हंपि अ आवकहिआइ ॥

पंच महाव्रतानि प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि राइ- भोयणछट्टंइति । उपलक्षणत्वात् रात्रिभोजननिवृत्तिषष्ठा- नि पुरिमपश्चिमतीर्थंकरयोस्तीर्थे इति । चतुर्यामश्च निवृत्ति- धर्म एव भक्तपरिज्ञा च तथा चशब्दादिङ्गितमरणादिपरिग्रह' द्वयोरपि पुरिमपश्चिमयोः चशब्दान्मध्यमानां च यावत्कथि- कान्येतानीति गाथार्थ ॥

अशनभेदे, च-भ० श. २५ उ. ७॥

सेकिंतं आवकहिए आव २ दुविहे प० तं पा

ओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य ॥ प्रव० द्वा.६ दश० .अ १।

आवग–आवक–त्रि० अवति, अव ण्वुल्–रक्षके, वाच०

आवज्ज–आतोद्य न०(ओतोऽद्वाऽन्योऽन्यप्रकोष्ठातोद्यशिरोवेद नामनोहरसरोरुहे क्तो इच वः ॥ १ । ५६ इति प्राकृतसूत्रेणौत्वोतोऽत्वं वा भवति तत्सन्नियोगे च यथा सम्भव ककारतकारयोर्वादेश. । प्रा० । वीणादौ वाद्ये, अन्नत्याषद्युत्तध्यता (आउज्ज) शब्दे ।

आवज्जण–आवर्जन–न० उपयोगे व्यापारे, च केवलिसमुद्घातगन्तुमनसा केवलिना कर्तव्यमावर्जीकरणमधिकृत्य (आवज्जणमुवओगो वावारो वा तदत्थमाइए) तदर्थं समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो मया अधुनेदं कर्तव्यमित्येवरूप उदयावलिकायां कर्मप्रक्षेपरूपो व्यापारोवाऽऽवर्जनमुच्यते । इति विशे० । अभिमुखीकरण, आ० चू० ॥

आवज्जिय–आवर्जित–त्रि–वृज–णिच्–क्त० अभिमुखे,आ. चू०

आवज्जियकरण–आवर्जितकरण–न० अभिमुखीकरणे, । केवलिसमुद्घातात्पूर्वं कर्तव्ये केवलिनोव्यापारविशेषे च आ. चू० केचिदावर्जितकरणमिति वर्णयन्ति ।

तेषामप्यावर्जितशब्दस्याऽभिमुखपर्यायवाचित्वात् आवर्जितकरणसिद्धिः कथमावर्जितमुच्यते यथा लोके एषमेतदावर्जितो मनुष्योऽभिमुखीकृत इति तथा च सिद्धान्त. ।।सरूपर्यायपरिणामाभिमुखीकरणं यच्चदावर्जितकरण येन कारणन परिणत आत्मा नियमात् सिद्धतत्पर्यायपरिणामाभिमुखो भवतीत्यर्थः ॥

आवज्जीकरण–आवर्जीकरण–न० समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो मया अधुनेदं कर्तव्यमित्येव उदयावलिकायां कर्मप्रक्षेपरूपो व्यापारो वा आवर्जनमुच्यते । तथाभूतस्य करणमावर्जीकरणम् केवलिसमुद्घातात्पूर्वं केवलिना कर्तव्ये व्यापारभेदे, विशे. ।

आव (ट्ट) (त्त) (त्त) त- आवर्त पु० आवर्तनमावर्तः सचसमुद्रादेश्चक्रविशेषाणचेति । स्था० ठा. ४ । इ. अ १ । आ म प्र । आवर्तयति प्राणिनं भ्रामयतीत्यावर्तः । सूत्र० श्रु. १ अ ३ । आ. वृत भावादौ घञ् चक्राकारेण जलस्यपरिभ्रमणे । वाच० ॥ र्तस्याधूर्तादौ ॥ २ । ३० ॥ इति प्राकृतसूत्रेण तस्य भवति धूर्तादीन् वर्जयित्वा बाहुलकाधिकाराद् धूर्तादावपि प्रा० । जलादीनां परिभ्रमणे आचा० अ० १ उ. ५ आवर्त आवर्तन परिभ्रमणमिति ज्ञा० अ० १ मोहावत्त महाभीम । मोहोमोहनीय कर्म तदेव तत्र विशिष्टभ्रमिजनकत्वादावर्तो यस्मिन्स तथा विभ्रस्तमिति आव । स्था० ठा ४ ॥

चत्तारि आवत्ता पन्नत्ता । त खरावत्ते उन्नयावत्ते गूढावत्ते आमिसावत्ते ग । आवर्तन्तेपरिभ्रमति प्राणिनो यत्र स आवर्तः संसारे आचा० अ. १ । ५ (आवट्ट सो परिणमभिजाणति) आचा० अ ३३ । १ ।आवट्ट इत्यादि भावावर्तो जन्मजरामरणरोगशोकव्यसनोपनिपातात्म संसार इत्युक्त हि "रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तर ॥ जन्मावर्ते जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृश ॥ १ ॥ भावश्रोतोऽपि शब्दादिकामगुणविषयाभिलाष आवर्तश्च श्रोतश्च आवर्तश्रोतसी तयोरागद्वेषाभ्यां सम्बन्धः सगस्तमभिजानत्याभिमुख्येन परिच्छिनत्ति यथा यं सग आवर्तश्रोतसो कारण जानानोऽपरमार्थतः कोऽभिधीयतेयोऽनर्थं ज्ञात्वा परिहरति यश्चायमर्थ. । संसारश्रोतः सग रागद्वेषात्मक ज्ञात्वा य. परिहरति स एव चावर्तःश्रोतसोः सगस्याभिज्ञाता (आवट्टमेवमणुपरियट्टति भावावर्तः संसारस्तमरहट्टघटीयन्त्रन्यायेनानुपरिवर्तन्ते । तास्वेव नरकादिगतिषुभूयो २ भवन्तीति आचा० अ. ५ उ. १ ॥

(विषये आवट्टमेय तु पेहाए एत्थ विरमेज्जवेदवी) आवट्टं तु इत्यादि रागद्वेषकषायविषयावर्तं कर्मबन्धावर्तं वा तुशब्दात्तु न शब्दार्थे भावावर्तं पुनरुत्प्रेक्षात्राऽस्मिन् भावावर्ते विषय रूपे । वेदविदागमविद्विरमेदाश्रवद्वारनिरोधं विदध्यात् । आचा० अ. ५ उ. ६ संसारकारणे, शब्दादिगुणे, च (जेगुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे) आचा० अ. १ उ. ४ आवर्तो नामादिभेदाच्चतुर्धा । नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यावर्तः स्वामित्वकरणाधिकरणेषु यथा सम्भव योज्यः । स्वामित्वेनद्यादीनां क्वचित्प्रविभागे जलपरिभ्रमणं द्रव्यावर्तः द्रव्याणां वा हंसकारण्डवचक्रवाकादीनां व्योम्नि क्रीडत आवर्तो नादावर्तः । करणे तु तेनैव जलद्रव्येण भ्रमता यदन्यदावर्तते तृणकाष्ठादि स द्रव्येणावर्तः । तथा त्रपुसीसकलोहरजतसुवर्णैरावर्तमानैर्यदन्यत्सदन्त. पात्या वर्तते । स द्रव्यैरावर्तत इति । अधिकरणत्वविवक्षायामेकस्मिन् जलद्रव्ये आवर्तः ॥ तथा रजतसुवर्णरीतिकात्रपुसीसकेष्वेकस्थीकृतेषु बहुषु द्रव्येष्वावर्त. । भावावर्तो नामान्यो भावसङ्क्रान्ति औदयिकभावोदयाद्वा नरकादिगतिचतुष्टयेषु भावावर्तः । आचा. १ अ. ५ उ ॥

उत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेषे, सूत्र० श्रु० १ अ० ३ ॥

अह मे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया ।

बुद्धाजत्थ वसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ॥१४॥

टीका । अथत्यधिकारांतरदर्शनार्थ. । पाठांतर वा अहो इति । तच्च विस्मये इमे इति प्रत्यक्षासन्नाः सर्वजनविदितत्वात् सति विद्यते वक्ष्यमाणा आवर्तयति प्राणिनं भ्रामयतीत्यावर्तास्तत्र द्रव्यावर्ता नद्यादेर्भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादित.विषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेष एते चावर्ताः काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनाऽनुत्पन्नदिव्यज्ञानेनावेदिता. कथिताः प्रतिपादिताः । यत्र येषु सत्सु बुद्धा अवगततत्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्योऽवसर्पन्ते प्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्त्यबुद्धास्तु निर्विवेकतया ये ह्यवसीदन्त्यासक्तिं कुर्वन्तीति । आवर्तने, वाच द्वादशावर्तादिवन्दनकगते सूत्राभिधानगर्भे कायव्यापारविशेषे । आवर्तोवारसेवय आवर्तः पुन्यभवने ।

दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ आचा० अ. २ उ ३

दुक्खाणमित्यादि । दुःखानां शरीरमानसानामावर्तः पौनःपुन्यभवनमनुपरिवर्तते दुःखावर्तावमग्नो बंभ्रम्यत इत्यर्थ ॥ णिच् भावे अच् पुनः पुनश्चालने परिघट्टने । धातूनां द्रावणे । चिन्तायाञ्च । चिन्तयाहि चित्त स्वविषयेषु पुनः पुनश्चाल्यते इति तस्यास्तथात्वम् । ध्रुवाख्यघोटकचिन्हे रोमसस्थानभेदे । आवर्तिन दशावर्तयुक्ताः प्रशंसायाम् इनि. ते च । द्वावुरस्यौ शिरस्यौ द्वौ, द्वौ द्वौ रन्ध्रोपरन्ध्रयो. । एको भाले वपाने च, दशावर्ता ध्रुवाः स्मृताः ॥ १ ॥ पयोधिपक्षे जलभ्रमः मल्लि वाच० ।

आवर्तो देवमणिनामहयानां महालक्षणतया प्रसिद्ध इति जं आवर्ताकारे, देहिनां रोमसस्थानभेदे, च वाच० आदर्तो दाक्षि-

णे भागे, दक्षिणः शुभकृन्नृणाम् । वामो वामेऽतिनिन्द्य स्यात्, दिगन्यत्व तु मध्यमः ॥ १ ॥ कल्प० । राजावर्तनामके मणौ पु. वाच० । मणेर्लक्षणभेदे आवर्तादीनि मणीनां लक्षणानीति ॥ आ. म. प्र. जी. प्र. ३ राज. । मेघाधिपभेदे, वाच० । स्तनितकुमारेन्द्रस्य घोषस्य स्वनामख्याते लोकपाले स्तनितकुमारेन्द्रस्य महाघोषस्य स्वनामख्याते लोकपाले, च स्था ठा. ४ ठा. श. ३ उ. ८ स्वनामख्याते जंबूद्वीपस्थे दीर्घवैताढ्यपर्वते, स्था० ठा. ए एकखुरे चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियातिर्यग्योनिकभेदे, प्रज्ञा. पद १ अहोरात्रभवे स्वनामख्याते पंचविंशतितमे मुहूर्ते, सम० स. ३४ । स्वनामख्याते ग्रामे (आवते, मुहत्तासे) ततो भगवान् आवर्ते ग्रामे बलदेवगृहे प्रतिमां प्रतिपन्न इति आ. म. द्वि. । आ. चू. माक्षिकधातौ, न० वाच० स्वनामख्याते विमानभेदे, सम० स १७ । जंबूमंदरपौरस्त्ये सीताया महानद्या उत्तरस्थे स्वनामख्याते चक्रवर्तिविजयक्षेत्रे, स्था ठा. ८ । दो आवत्ता स्था० ठा. २ महाविदेहस्थे चक्रवर्तिविजयक्षेत्रे, च । जं ॥

कहिणं भंते महाविदेहे वासे आवत्तणामं विजए पणत्ते गोयमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं णलिणे कूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चिमेणं दहावतीए महाणइए पुरच्छिमेणं एत्थणं महाविदेहे वासे आवते णामं विजए पणत्ते सेसं जहा कच्छस्स विजयस्स ॥ जं. ।

आव (ट्ट) पञ्चावत्तसेढियसोत्थियसोवत्थियपूसमाणवद्धमाणगमच्छंडगमकरंडगजारामारफुल्लावलियपउमपत्तसागरतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्तं ॥

आवर्तप्रत्यावर्तश्रेणिप्रश्रेणिस्वस्तिकपुष्यमाणवर्द्धमानकमत्स्याण्डकमकराण्डकजारमारपुष्पावलिपद्मपत्रसागरतरंगवासन्तीलतापद्मलताभक्तिचित्रनसनामख्याते नाट्यविधिभेदे, राज० ॥

आव (ट्ट) णकूड-आवर्तकूट-न० महाविदेहस्थनलिनकूटवक्खारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, । जं. ॥

आव (ट्ट) त्तण-आवर्तन-आवृत आधारे ल्युट् सूर्यस्य पश्चिमादिगवस्थितच्छायायाः पूर्वदिग्गमनसमये मध्याह्नकाले "आवर्तना तु पूर्वाह्णेऽपराह्णस्तु ततः परम्" स्मृतिः वाच० विलयने, (आवट्टती तस्य असाहुकम्मा) आवर्तते विलीयंते इति ॥ सूत्र० १ श्रु. ५ अ. ॥

पीडने, (आवट्टतीकम्मसु पावएसु) आवर्त्यते पीड्यते दुःखभाग् भवतीति सूत्र० १ श्रु. १ अ. ॥

आकंपने (कहणाछट्टणआगमणपुच्छणा दीवणा य कज्जस्स) आवर्तनमाकंपनं राज्ञो भक्तीभवनम् व्य० ए उ. ।

आ. वृत भावे ल्युट् आलोडने, गुणने, च धातूनां द्रावणे आवर्तयेति संसारचक्रम् आ. वृत णिच् कर्तरि ल्यु विष्णौ, (आवर्तनो निवृत्तात्मा विष्णुसह०) जम्बुद्वीपोपद्वीपभेदे च । आवर्त्यतेऽनया ल्युट् ङीप् दर्व्याम् स्त्री आधारे ल्युट् ङीप् धातुद्रव्यद्रावणाधा मूषायाम्, करणे, ल्युट् वेष्टने, प्राचीरादौ न० । वाच० ॥

आव(ट्ट)त्तणपेढिया-आवर्तनपीठिका-स्त्री० इंद्रकीलिकानिवेशस्थाने, आवर्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलके निवेश्यत इति जी. ३ प्र. (वइरामयीतो आवत्तणपेढिआओ) आवर्तनपीठिका नाम यत्रेन्द्रकीलका उक्त च दिजयद्वारांचन्तायाम् जीवाभिगममूलटीकाकारेण " आवर्तनपीठिका यत्रेन्द्रकीलको भवतीति " ॥ राज० । जी. ३० ॥

आव (ट्ट) त णि ज्ज-आवर्तनीय-त्रि० आ. वृत-णिच्-अनीयर् द्रावणीये धात्वादौ, वाच० ॥

आव (ट्ट) तय-आवर्तक-पुं० आवर्त एव स्वार्थे कन् आवर्तशब्दार्थे आ. ॥

आव (ट्टा) यंत-आवर्तायमान-त्रि० आवर्तं कुर्वाणे भ० श. ११ उ. ॥ प्रदक्षिणं भ्रमति, च कल्प० ॥

आवत्तायंतवट्टतामियविमलसरिसनयणं ।

(आवत्तायत्ति) आवर्तं कुर्वाण तद्वद् ये वृत्ते च तडिदिव विमले च सदृशे च परस्परेण ते लोचने यस्य स तथा तं । भ. ११ श. ११ उ. ॥

(आवत्तायति) आवर्तायमानं प्रदक्षिणं भ्रमत्पूर्वविर्य यत (भवरकगगति) भवरकनक तद्वत् वृत्ते (तडियविमलपि) विमला या तडित् विद्युत् तत्सदृशे नयने लोचने यस्य स तथा तम् । कल्प० ॥

आवडिय-आपतित-त्रि० समन्तात्पतिते, ॥

आवण आपण-पुं० हट्टे, कल्प० ॥

आवरग-आवरक-न०-आ वृ-करणे अप् संज्ञायां कन् अपवरके, आच्छादके वस्त्रादौ, ॥

आवरण-आवरण-न० आव्रियते देहोऽनेन आ वृ करणे ल्युट् वाच. । आ मर्यादया वृणोतीत्यावरणम् । स्था. ४ ठा. । अगरकादिके, ज्ञा० ८ अ. । कवचादिके उत्त० ३ अ. ।

(णाणावरणपहरणे) आवरण कवचादि ज्ञा. क० आवरणे कवचादि । सूत्र० १ श्रु. ८ अ. ।

(ओहाणयं उप्पती आवरणाण पहरणाणं च) आवरणानां सन्नाहानाम् स्था० ए ठा. ॥

आवरणानां कंकटानाम् ज्ञा० १६ अ. ।

स्फुरकादिके (सच्छत्तसरपहरणावरणभरियजुद्धसज्जाणं) आवरणानि च स्फुरकादीनि । औप. । फलादिके, आचा १ श्रु. ५ उ. ।

आव्रियते आकाशमनेनेत्यावरणम् प्रसादनगरादिके, स्था० ए ठा. ॥

आच्छादनसाधनमात्रे, वाच. स्थगने, बृ. १ उ. ।

ईंधहरणे आवरिज्जइ वा णिवारिज्जइ वा आवरिज्जइति इव. वृणियत । व्य० ए श. ३३ उ. ।

आव्रियते चैतन्यमनेन वेदान्तिमतसिद्धे चैतन्यावारके अज्ञाने, वाच० ।

आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणम् यद्वा आवृणोत्याच्छादयति अन्यादिभ्यः कर्तर्यनट्प्रत्यये आवरणम् । मिथ्यात्वादिके कर्मभेदे, स च जीवव्यापारहृतकर्मवर्गणान्तः पाती विशिष्टपुद्गलसमूहः । कर्म० । प्रव० २१५ द्वा. ।

तच्चाभ्रावधम् ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च(नाणस्स दसणस्स आवरणं वेयणीय य) पं. स. ३ द्वा० ।

(पढम णाणावरणं वीयं पुणदसणस्स आवरणं) ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञान । सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोधः । आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्या-

वरणं मिथ्यात्वादि, सचित्तजीवव्यापाराहृतकर्म्मवर्गणा तत्पाती विशिष्टः पुद्गलसमूहः ज्ञानस्य मत्यादेरावरणं ज्ञानावरणं तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधस्तस्यावरणं दर्शनावरणं प्रव. ११५ द्वा. ॥ कर्म्म. । पंचप्रकारं ज्ञानावरणं चतुष्प्रकारं दर्शनावरणम् क. प्र. । आवरणानि मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यायज्ञानावरणकेवलज्ञानावरणचक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणावधिदर्शनावरणाकेवलदर्शनावरणलक्षणानि नव । पञ्चविधं ज्ञानावरणं नवविधं दर्शनावरणं आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकस्वरूपाणि ॥ कर्म्म. ॥

पंचविहं नाणावरणं, नव नेया दंसणस्स ।

ते च भेदा ज्ञानावरणस्य (नाणावरण) शब्दे । दर्शनावरणस्य (दंसणावरण) शब्दे ।

आवरणस्य द्विविधानि स्पर्द्धकानि भवन्ति । सर्व्वोपघातीनि देशोपघातीनि च । सर्व्वं स्वावार्य्यं गुणमुपघ्नन्तीत्येवं शीलानि सर्व्वोपघातीनि । स्वावार्य्यस्य गुणस्य देशमुपघ्नन्तीत्येवं शीलानि देशोपघातीनि । आह च भाष्यकृत् ।

मइसुयनाणावरणं, दंसणमोहं च तदुवघातीणि ।
तप्फड्डगाइं दुविहाइं, सव्वदेसोवघाईणि ॥ आ. म. द्वि. १ अ. ॥ पं. सं. ३ द्वा. ।

मिथ्यात्वादिकं च किंरूपस्याऽऽवारकमित्याह ।

अहुणो जस्सोदयओ, न लब्भइ दंसणाईसामइयं ॥
लद्धं पुणो व भस्सइ, तदिहावरणं कसायाई ॥

सुगमा । नवरं तदिह कषायादिकर्म्मावरणमुच्यते । तत्राऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयं मिथ्यात्वञ्च सम्यक्त्वस्याऽऽवरणं । श्रुतस्य श्रुतज्ञानाऽऽवरणं । चारित्रस्य चारित्रमोहनीयमिति ॥

वक्ष्याह ॥ पढमिल्लुयाण उदयत्यादि ॥

अथवा पातनान्तरमाह ।

अहवा खयाइओ, केवलाइं जं जेसिं ते कई कसाया
को वा कस्सावरणं, को वक्खयाइ कमो कस्स ॥ २२६ ॥

अथवा यत्केवलादिकमादिशब्दाद्दर्शनचारित्रपरिग्रहः एषां कषायाणां क्षयादितो भवत्यादिशब्दात्क्षायोपशमादि परिग्रहः । ते कति कषायाः को वा कस्य सामायिकस्याऽऽवरणं को वा क्षयादिक्रमः । कस्येति गाथार्थः ॥

अथ क्रमेणोत्तरमाह ॥

पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं ।
सम्मदंसणलंभं, भवसिद्धी या वि न लहंति ॥ २२ ॥

तत्र प्रथमिल्लुकानां संयोजनाकषायाणामुदये नियमात्सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते । किमुताऽभव्याः । इत्यक्षरयोजना । भावार्थस्त्वयं । प्रथमा एव देशीवचनतः प्रथमिल्लुकास्तेषां प्रथमिल्लुकानामनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानामित्यर्थः । प्राथम्यञ्चैषां सम्यक्त्वाख्यप्रथमगुणविघातित्वात् क्षपणक्रमाच्चेति । उदये विपाकाऽनुभवे सति नियमान्नियमेन अस्य व्यवहितसम्बन्धस्य च दर्शित एव । किं विशिष्टानां प्रथमिल्लुकानामित्याह । कर्म्मणा तत्फलभूतसंसारेण संयोजनाहेतवः कषायाः संयोजनाकषायास्तेषामुदये नियमात्सम्यगविपरीतं दर्शनं सम्यग्दर्शनं । सम्यक्त्वं

तस्य लाभः तं भवे सिद्धिर्येषान्ते भवसिद्धिकाः ॥ ननु सर्व्वेषामपि सिद्धिर्भव एव कस्मिंश्चिद्भवति । किमनेन व्यवच्छिद्यते । सत्यम् । किन्त्विह व्याख्यानाद्भव एव भवा गृह्यन्ते । तद्भवसिद्धिका इत्यर्थः । तेऽपि न लभन्ते किमुताऽभव्याः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥

भाष्यम् ॥

खवणं पडुच्च पढमा, पढमगुणविगाइणोत्ति वा जम्हा ।
संयोयणा कसाया, भवादिसंजोयणा उत्ति ॥

गतार्थैव ॥ विशे० ॥

आओ बउवादाणं, तेण कसाया जओ कमस्साया ।
चत्तारि बहुव्वयणओ, एवं बीआदओ वी भया ॥

ते च बहुवचननिर्देशाच्चत्वारः क्रोधादयो गम्यन्ते । एवं देशविरत्याद्युत्तरोत्तरगुणघातित्वाद् द्वितीयतृतीयचतुर्थत्वेन कषायशब्दाभिधाच्यत्वेन च द्वितीयादयोऽपि मताः सम्मता इति ॥ भवसिद्धियावीत्येतद् व्याख्यानयति ॥

भवसिद्धियावि भणिए, नियमा न लभंति तहमभव्वावि ।
अविसेहणवगहिया, परित्तसंसारिया ईया ॥

भवसिद्धिका अपीत्युक्तेऽपि शब्दादभव्यास्तं नैव लभन्त इत्यवगम्यत एव । अथवाऽपि शब्दात्परित्तसंसारादयोऽपि न लभन्त इति गम्यत इति गाथार्थः ॥ २२१ ॥

उक्ताः सम्यक्त्वस्याऽऽवरणभूताः कषायाः अथ देशविरत्यावरणभूतास्तानाह ॥

बिअ कसायाणुदये, अप्पच्चक्खाणणामधेज्जाणं ।
सम्मदंसणलंभं, विरया विरइं न उ लहंति ॥

सर्व्वप्रत्याख्यानं देशप्रत्याख्यानञ्च न येषामुदये लभ्यतेऽप्रत्याख्यानाः । अकारस्य सर्व्वप्रतिषेधवचनत्वादप्रत्याख्यान इति नामधेयं येषामप्रत्याख्याननामधेयानां द्वितीयस्य देशविरतिगुणस्याऽऽवारकत्वात् । द्वितीयास्ते च ते कषायास्तेषां द्वितीयकषायाणामुदये भव्याः सम्यग्दर्शनलाभं लभन्त इति वाक्यशेषः ॥ अयं च वाक्यशेषः (विरयाविरई न उ लहंति) इत्यत्र तु शब्दोपादानात् लभ्यते । एषामुदये भव्याः सम्यग्दर्शनलाभं लभन्ते ते विरताविरतिं देशविरतिम्पुनर्लभन्त इति वाक्यसङ्गतेर्विरति विरतिं वा । विरतिश्च यस्यां निवृत्तौ सा विरताविरतिस्तामिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥

भाष्यम् ॥

सव्वं देसो वजओ, पच्चक्खाणं न जेसिमुदएणं ।
ते अप्पच्चक्खाणा, सव्वनिसेहे मओकारो ॥१॥
सम्मदंसणलंभं, लभंति भवियत्ति वक्कसेसोयं ।
विरयाविरइविसेसे,णं तुसद्दंसलक्खिओयंच ॥२३४॥

गतार्थैव ।

अथ तृतीयस्य सर्वविरतिगुणस्याऽऽवारकांस्तृतीयकषायानाह ॥

तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं ।
देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति ॥

सर्वविरतिलक्षणतृतीयगुणघातित्वात्क्षपणक्रमाच्च तृतीयास्ते च ते कषायाश्च तृतीयकषायाः क्रोधादयः चत्वारः तेषामुदये कथम्भूतानामावृणवन्त्यावरणाः प्रत्याख्यानं सर्वविरतिलक्षणं तस्यावरणा एतदेव नामधेयं येषां ते प्रत्याख्यानावरण

नामधेयास्तेषां । आह न त्वप्रत्याख्याननामधेयानामुदये सर्वथा प्रत्याख्यानं नास्तीत्युक्तं । तत्राप्रतिविरुद्धत्वादिहापि आवरणशब्देन प्रत्याख्यानस्य सर्वस्यापि निषेधो गम्यत इति। क एषां प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते । तत्र नञ्सर्वनिषेधे उक्तः । इह त्वाङीमर्यादावचनत्वादासर्वविरतिप्रत्याख्यानमर्यादया अथवा ईषदर्थस्य प्रयोगानुमतिमात्रविरतिरूपं प्रत्याख्यानमावृण्वं तीति प्रत्याख्यानावरणा इति व्युत्पत्तेः सर्वविरतिरूपप्रत्याख्याननिषेधार्थं एवायं वर्तते न देशविरतिप्रत्याख्याननिषेधे । आवरणशब्दस्तथा चाह देशश्च देशैकदेशौ तत्र देशः स्थूलप्राणातिपातादि, एकदेशस्तु तस्यैव हस्यगतप्राणातिपाताद्यतिपातस्तयोर्विरतिः निवृत्तिस्तां लभत इति वाक्यशेषः (चरित्तलंभं न उ लहंति) इत्यत्र तुशब्दोपादानादेव मन्यते । चर्यतेऽनिंदितमनेनेति चारित्रं । अष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाद्वा चारित्रं । सर्वविरतिक्रियेत्यर्थः । तस्य लाभस्तमेषामुदये लभते देशैकदेशविरतिं पुनर्न लभत इति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे. ॥

प्रत्याख्यानावरणवक्तव्यता (पच्चक्खाणावरण) शब्दे ॥

अथोक्तमेवार्थं संगृह्य विभणिषुस्तथा चतुर्थकषायाणां यथाख्यातचरित्रादिविघातित्वं च दिदर्शयिषुराह ॥

मूलगुणाणं लंभं, न लहइ मूलगुणघाइणो उदये ।
संजलणाणं उदए, न लहइ चरणं अहक्खायं ॥

इह सम्यक्त्व महाव्रताणुव्रतानि च मूलभूता गुणा मूलगुणाः उत्तरगुणानामाधारभूतत्वात्तेषां मूलगुणानां लाभं न लभते । कदेत्याह । यथोक्तान् मूलगुणान् हन्तुं शीलमेषां ते मूलगुणघातिनस्तेषां मूलगुणघातिनामनंतानुबंधि अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणानां द्वादशानां कषायाणामुदये एतच्च (पढमिल्लुयाण उदए) इत्यादिना सर्वं भावितमेव तथा ईषज्ज्वलनात्संज्वलनाः सपदि ज्वलनाद्वा संज्वलनाः परीषहादिसंपाते चारित्रिणमपि ज्वलयन्तीति वा संज्वलना. क्रोधादय एव चत्वारः कषायास्तेषामुदये न लभते लब्धं वा त्यजति चरणं चारित्रं किंसर्वमपि नेत्याह । यथैव तीर्थंकरगणधरैराख्यातं । अकषायमित्यर्थः । सकषायं तु लभते । ननु यथाख्यातचारित्रमात्रमेवोपघ्नन्ति संज्वलनाः किं तु विशेषचारित्राणामपि देशोपघातिनो भवंति । तदुदये शेषचारित्रदेशाभिचारसिद्धेरितिनिर्युक्तिगाथार्थः । विशे० आव म. ।

आवरणसत्थ—आवरणशास्त्र—न० आव्रियते आकाशमनेनेत्यावरणम् । भवनप्रासादनगरादि तल्लक्षणं शास्त्रमपि तथा वास्तुविद्यात्मके पापश्रुतभेदे, स्था० ए ठा. ।

आवरणावरणपविभत्ति —आवरणावरणप्रविभक्ति—न० नाट्यविधिभेदे, ॥

चंदावरणपविभत्तिं च सूरावरणपविभत्तिं च आवरणावरणपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेइ ॥

चन्द्रावरणप्रविभक्तिसूर्यावरणप्रविभक्तियुक्तमावरणावरणप्रविभक्तिसूर्यावरणप्रविभक्तिनामकमष्टमं नाट्यविधिमुपदर्शयन्ति । राज० ॥

आवरणी—आवरणी— स्त्री० आवरणकारिण्याम् विद्यायाम्, ज्ञा० १६ अ० ॥

आवरिज्जमाण—आव्रियमाण— त्रि० खल्पमाने, (आवरिज्जमाणावा । आवरिज्जमाणाणि) स्वल्पमानानि ज० १।। श०१उ०।

आवरित्ता—आवृत्य— अव्य० आवरणं कृत्वेत्यर्थे (आवरित्ता चिट्ठइ) स्था० ॥

आवरिय—आवृत्त— त्रि० आ० वृ क कृतावरणे, अप्रकाशीकृते, आच्छादिते, वाच० (आवरिओ कम्मेहिं) आवृत्तः प्रच्छादितः नि० चू० १ उ० । आवारिया विरणमुहे) आवृता अपि सन्धक्तसमाहा । अपि व्य० १ उ० ॥

आवरिसण—आवर्षण— न० उदकादिना उदकप्रदाने, ॥

समज्जणआवरिसणउवलेवणसुहुमदीएवए चेव ।

आवर्षणमुदकेन उदकप्रदानमिति बृ० उ० १ ॥ आवरिसणं पाणिएण उच्छालण नि० चू० ३ उ० । (उवलेवणसम्मज्जणा वरिसण) आवर्षणं गन्धोदकादिनेति ग० २ अधि० अनु. । उदगादि आवरिसणं उदकेनाविरुभ्याह पूतेन तैलेन वाऽऽवर्षणं करोति बृ० ४ उ. ॥

समन्तादर्षण (आवरिसिज्जा) आसमन्तादर्षेत् राज० ॥

आवरिहिय—आवर्हित— त्रि० आ० वृह उद्यमने णिच् क्त आबर्हा हिंसायाम् क्तः । उत्पाटिते, उन्मूलिते. वाच० ॥

आवलण—आवलन—न० मोटन (गलगवलावलणमारणाणि) गलस्य कण्ठस्य गवलस्य शृङ्गस्याऽऽवलनं च मोटनम् प्रश्न० १ द्वा० ॥

आव (लि) ली—आव (लि) ली स्त्री० आ वल वा ङीप् पङ्क्तौ विशे० अनु० १ अ० (काँचावलीइ वा हारावलीइ वा वलयावलीइ वा)आवलिपदोपादानं वर्णोत्कर्षप्रतिपादनार्थम् । ज० । अस्यार्थो जीवाजीवशब्दे दृष्टव्यः ॥

आवालेय—आवलित— त्रि० आ वल चलने क्त ईषच्चलिते, सम्यक्चलिते, च । वाच० । आमोटिते, ॥

(अणचाविंयंओवाविंयं) अवलित यथात्मनो वलस्य ववलितमिति मोटनं न भवतीति । उत्त० २६ अ० ॥

आवलिय (या) णिवाय—आवलिकानिपात—पुं० आवलिकया क्रमेण निपात. संपात आवलिकानिपातः क्रमेण संपाते,॥

ताजोगेति वत्थुस्स आवलि (त) याणिवाते आहितेति वदेज्जा ताइति ॥

आस्तां तावदन्यकथनीयं संप्रत्येतावत्कथ्यते । योग इति । वस्तुनो नक्षत्रजातस्य(आवलिकानिपाय)आवलिकया क्रमेण निपातश्चन्द्रसूर्यैः सह संपात आख्यातो भवति वदेत् सू० प्र. प्रा. १० । चं. प्र. प्रा. १० ।

आवलिय (या) पविट्ठ—आवलिकाप्रविष्ट—त्रि० आवलिकासु श्रेणिषु प्रविष्टा व्यवस्थिता आवलिकाप्रविष्टाः श्रेण्या व्यवस्थिते, जी. ३ प्र. ॥

इमे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए णरगा किं संठिता प० गो० दुविहा प० तं आवलियपविट्ठा य आवालियबाहिराय तत्थणं जे ते आवलियपविट्ठा ते तिविहा पं. तं. वट्टा १ तंसा २ चउरंसा ३ जी. प्र. ३ ।

आवलिकास्तेन संस्थानमधिकृत्य त्रिविधा प्रज्ञप्तास्तद्यथा । वृत्तास्त्र्यस्राश्चतुरस्राः । जी टी. ।

सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु विमाणे किं संठिता प० गो० दुविहा० पं० तं० आवलियाए बाहिराय ॥

तत्रावलिकाप्रविष्टानि नाम यानि पूर्वादिषु चतसृषु दिक्षु श्रेण्योपस्थितानि यानि पुनरावलिकाप्रविष्टानां प्रांगणप्रदेशे

कुसुमप्रकर इव यतस्ततो विप्रकीर्णानि तान्यावलिकाबाह्यानि। तानि च पुष्पावकीर्णानीत्युच्यन्ते । पुष्पाणीव इतस्ततो-ऽवकीर्णानि विप्रकीर्णानि पुष्पावकीर्णानि इति व्युत्पत्तेः जी.० टी. ४ प्र ॥

आवलिय (या) पविभत्ति–आवलिकाप्रविभक्ति–न० दिव्ये नाट्यविधिभेदे, ॥

चंदावलिपविभत्तिं च सूरावलिपविभत्तिं च हंसावलि-पविभत्तिं च एगावलिपविभत्तिं च तारावलिपविभत्तिं च मुत्तावलिपविभत्तिं च आवलियपविभत्तिं णामं दिव्वं णट्टविहं उवदंसेइ ॥

चन्द्रावलिप्रविभक्तिसूर्यावलिप्रविभक्ति, हंसावलिप्रविभक्ति हंसावलिप्रविभक्त्येकावलिप्रविभक्ति, तारावलिप्रविभक्ति, मुक्तावलिप्रविभक्ति, कनकावलिप्रविभक्ति, रत्नावलिप्रविभक्त्या नितयात्मकमावलिप्रविभक्ति नाम पञ्चम नाट्यविधिमुपदर्श-यन्ति राज० टी० ॥

आवलिय (या) बाहिर–आवलिकाबाह्य–त्रि० इतस्ततो विप्रकीर्णे, अत्र यद्वक्तव्यं तद् (आवलियापविट्ठ) शब्दे उक्तम् जी० ४ प्र० ॥

आवलिया–आवलिका–स्त्री० पङ्क्तौ बृ० ३ उ. । आवलिका पङ्क्तिरभिधीयते। आलीश्रेण्यावली पङ्क्तिरिति वचनात् प० सं० (भ्रमरावलियत्ति वा) भ्रमरावली भ्रमरपङ्क्ति । राज० एकान्ते स्थितायां विच्छिन्नायाम्मण्डल्यां च । या विच्छिन्ना एकान्ते भवति मण्डली सा आवलिका या पुनः स्वस्थान एव सा मण्डली । व्य० ४ उ. ।

अथावलिकाया मण्डल्याश्च कः प्रतिविशेष इत्यत आह ॥
छिण्णाछिण्णविसेसो, आवलियाए उ अंतएगत्ति ।
मंडलीए सट्ठाणं, सचित्ताएसु संकमति ॥

आवलिकामण्डल्योः परस्परं छिन्नाछिन्नरूपो विशेषः आवलिका छिन्ना विविक्त एकान्ते भवति । मण्डलिका त्वच्छिन्ना (आव-लियतत्थ छिन्ना मण्डलिया होइ अच्छिन्ना उ) इति वचनात् । एतदेव सुव्यक्तमाह । आवलिकायामुपाध्यायकोऽन्तर्मध्ये वि-विक्ते प्रदेशे तिष्ठति । मण्डल्या पुनः स्वस्थानमाभवन च पात यितरिसक्रामतिसच्चित्तानिषु तत्त्वे भगतसचित्तादिविषय(आव लियमण्डलिकमो पुणुतो छिन्नछिन्नभेदेण) व्य० १० उ. । क्रमे,

सूर. प्र० १० प्रा च प्र १० प्रा. कालविशेषे, असख्येयसम-यसंघातात्मकः कालविशेष आवलिका । विशे० । असख्याताः समयेरावलिका जघन्ययुक्ता सख्येयसमयराशिमानेति । त० । अनु० । असख्यातसमयसमुदायात्मिका आवलिकाः क्षुल्ल-कभवग्रहणकालस्य षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशततमभागभूता इति। ज्यो० ग २ च० प्र प्रा २० आ०अ० ।

असंखेज्जाणं समयाणं समुदयं समइ समागमेणं सा एगा आवलियत्ति पवुच्चइ । ज० ।

टी० असङ्ख्यातानां सम्बन्धिनो ये समुदया वृन्दानि तेषा या समितयो मीलनानि तासां यः समागम सयोगः इत्समु-दयसमितिसमागमस्तेन यत्कालमान भवतीति गम्यते स कालविशेष प्राच्यत (संखेज्जा आवलियत्ति) किम षट् प-ञ्चाशदधिकशतद्वयावलिकानां क्षुल्लकभवग्रहण भवति भ ६ श. ७ उ ॥ अनु० विशे० न० प० स. दर्श० कर्म०ज्योत. ॥

आवसंत–आवसत्–त्रि० आवासं कुर्वति ॥

(सुयमे आउसतेणं भगवया एवमक्खायं)सुयमे आवसंतणति मयेत्यस्य विशेषणात्तत आङिति गुरुदर्शितमर्यादया वसता अनेन तत्वतो गुरुमर्यादावर्तित्वरूपत्वाद् गुरुकुलवासस्य तद्विधा नमथत उक्त ज्ञानादिहेतुत्वात् स्था. १ ठा. (गारमावसंताहि) आगारमावसद्भिः सेवमानैः आचा० ५ अ. ३ उ. ॥

आवसह–आवसथ–पु० आवसत्यत्र आ वस अथच्. गृहे, सूत्र० २ श्रु. २ अ. ॥

प्रति० (आवसहं च जाणमत च) आवसथ गृहमिति सूत्र० १ श्रु. ४ अ. । आश्रये, (आवसह वासमुस्सिणामि) आवस-थं वा युष्मदाश्रय समुच्छृणोमि आचा० ७ अ. २ उ. । परि व्राजकाश्रये उटजाकारे गृहे, आवसथ. परिव्राजकाश्रय इति प्रश्न० १द्वा. । आवसथास्तापसाश्रया उटजादयः । दशा. (जेणेवपरिव्वायगावसहे तेणव उवागच्छइ परिव्वायावस हेत्ति) परिव्राजकमठः ज्ञ० २ श १ उ. केचनावसथेषूटजा कारेषु गृहेषु वसतीति सूत्र० २ श्रु. २ अ. आर्य्याच्छन्दोरचिते कोषभेदे, वाच० ॥

आवसहिय–आवसथिक –पुं० आवसथो गृहं तेन च रतीत्यावसथिकः । प्रति० सूत्र० १ श्रु. १ अ. आवसथे गृहे व-सति ठञ् स्त्रिया ङीप् गृहस्थे, वाच० आवसथास्तापसाश्रया उटजादयस्तत्रवसन्तीत्यावसथिकाः ॥ दशा० तीर्थिकविशेषे सूत्र० २ श्रु ७ अ आवसथिकाः केचनावसथेषूटजाकारेषु गृहेषु वसतीति सूत्र० २ श्रु. २ अ. ॥

आवसहि–आवसति–स्त्री० वसत्यत्र गृहे वसतिः रात्रि. सम्यक् वसतिः प्रा० स० निशीथे, वसते सम्यकत्वश्चावश्य गृहवासयोग्यत्वं तदाऽरात्रेऽवश्य भवतीति तस्य तथात्वम् वाच० ॥

आवस्सय–आपाश्रय–पु० आङ्मर्यादाभिविधिवाची। आमर्या-दयाऽभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इवमित्यापा श्रयः । सामायिकादिके आवश्यके,॥

विशेषावश्यके आवश्यकपर्यायनामान्यधिकृत्य ।
आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुवनिग्गहो विसोही य ।

आमर्यादयाऽभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इव मित्यापाश्रयं गुणाधार इत्यर्थः । नन्वाधारवाचक आपाश्रय शब्दः पुंल्लिङ्गे वर्तते । तत्कथमापाश्रयमिति नपुंसकत्वमिति-चेत् । प्राकृतशैलीवशतोऽदोषादिति । विशे० ।

आवश्यक–न० अवश्य भाव आवश्यक वुञ्मनोज्ञादि-त्वञ्चेति मनोज्ञादेराकृतिगणत्वाद्वुञ् । आ० चू २ अ. ।

अवश्यंभावे नैयत्ये,वाच० अवश्यं कर्म्म आवश्यकं अवश्य-कर्तव्यक्रियानुष्ठाने, । न ०

आवस्सगपरिसुद्धीय, होंति जिणवुत्त लिङ्गाइं ।

आवश्यकपरिशुद्धिश्चावश्य करणीययोगमतिचारतेति । दशा० अ. १० । द्वा । आव. । धर्म. । अनु । पचा. । स्था. १० ठा. । नियमात्कर्तव्ये, आवश्यकानि नियमत एव करणी-यानीति आव० ४ अ. । अवश्यञ्जावित्वाद्वाच्यत्वादावश्यकं स्था०४ठा अनु । अवश्यकर्त्तव्यमावश्यकम् श्रमणादिभिरवश्य मुभयकालं क्रियते इति भाव । कर्मणिराविकर्मणि बाहुलकाडु प्रत्यय । पृषोदरादय इति निपातनात् शेषरूपसिद्धिः । अथवा ज्ञानादिगुणानामासमन्तात् वश्यमात्मानं करोति । यदि वा आ-समन्ताद्वश्या इन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात्तदाव-

श्यक । शेषादेतिकप् प्रत्ययः यदि वा ज्ञानादिगुणकदम्बक मोक्षो वा आसमन्ताद्वश्यः क्रियतेऽनेनेत्यावश्यक । आ० म० प्र० १ अ. । प्रव० । स्था. । ग. । विशे० । ओघ० ।

दंसणविणए आवस्सए असीलव्वए निरइआरो ।

आवश्यकं अवश्यकर्त्तव्यं संयमव्यापारनिष्पन्नं तस्मिन्निष्प विशुद्धाद्युत्तरगुणकलापे, इति । आ० क० । ज्ञा. ।

तत्प्रतिपादके सामायिकादिषडध्ययनकलापात्मके अङ्गबाह्ये श्रुतविशेषे च अनु० । विशे० । स्था० । नदी० ।

समणेणं सावएण य, अवस्सकायव्वं हवई जम्हा ।
अंतो अहो निसस्सय, तम्हा आवस्सय नाम २ सेत्तं आवसयं ॥

टी० श्रमणादिना अहोरात्रस्य मध्ये यस्मादवश्यं क्रियते । तस्मादावश्यक । एवमवश्यकरणीयादिपदानामपि व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । उपलक्षणत्वादस्य इति गाथार्थः । अलं ॥

तत्राच विशेषावश्यक । आवश्यकस्य पर्य्यायनामान्यभिधित्सुराह ।

पर्य्यायाः ॥

तस्साभिन्नत्थाइं, सुपसत्थाइं जहंतु निययाइं ।
अव्वामोहाई, निमित्तमाहपज्जाय नामाइं ॥

तस्याऽवश्यकस्य पर्य्यायनामान्याह इति सबन्धः । कथंचूतान्यभिन्नार्थानि सुप्रशस्तानि यथार्थो व्यवस्थितस्तथैव नियतानि निश्चितानि । किमित्याह ॥ अव्यामोहादिनिमित्त एकार्थिकैर्हि पर्यायनामभिर्हीतैरन्योन्यस्थानेष्वन्यान्यनामश्रवणतः शिष्यो नमुह्यति । आदिशब्दान्नानादेशजविनेयानां सुखेनैवार्थ प्रतिपत्तिर्भवति इत्यादि वाच्यमिति ॥

कानि पुनस्तानि पर्यायनामानीत्याह ।

आवस्सयं १ अवस्सकरणिज्जं २ धुव ३ निग्गहो ४ विसोहिय ५ अज्झयण ६ छक्कवग्गो ७ णाउ ८ आराहणा ९ मग्गो १० ।

एतानि दश पर्यायनामानि ॥

अत्राऽवश्यकमिति कः शब्दार्थः इत्याह ।

समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वयं हवई जम्हा ।
अंतो अहोनिसिस्सा, तम्हा आवस्सयं नाम ॥

श्रमणादिभिरहोरात्रिमध्येऽवश्यंकरणादावश्यकमितीह तात्पर्यमिति ॥

एतदेव सविशेषमाह ॥

जदवस्सं कायव्वं, तेणावस्सयमिदंगुणाणं वा ।
आवस्सयमाहारो, आमज्जायाभिविहिवाइ ॥
अवस्सं वा जीवं, करेइ जं नाणदंसणगुणाणं ।
संनिज्झभावणत्थयणेहिं, वा वासयं गुणेत्रो ॥

यद्यस्मादवश्यं कर्त्तव्यं तेन तस्मादावश्यकमिदमित्येतत्तत्कालगाद्यायाः पर्यवसितार्थकथनमेव । अथवा आङ्मर्य्यादाभिविधिवाची । आमर्यादया अभिविधिना वा गुणानामापाश्रय आधार इदमित्यापाश्रय गुणाधारमित्यर्थः । नन्वाऽधार वाचक आपाश्रयशब्दः पुंल्लिङ्गे वर्त्तते । तत्कथमापाश्रयमिति नपुंसकत्वमितिचेन्न । प्राकृतशैलीवशातोऽदोषादिति । अथवा ज्ञानादिगुणानामासमंताद्वश्यमात्मानकरोतीत्यावश्यकं । यथा । अन्त करोतीत्यंतकः । सान्निध्यमावच्छादनैर्वा आवासकगुणत इत्यावासकमुच्यते । इदमुक्तं भवति ।

वसनिवास इति गुणशून्यमात्मानं गुणैरासमन्ताद्वासयति गुणसान्निध्यमात्मनः करोतीत्यावासक । अथवा यथावस् वासधूपादिभिस्तथा गुणैरासमन्तादात्मानं वासयति भावयति रञ्जयत्यावासक । यदि वा वस आच्छादने गुणैरासमतादात्मानं छादयति । छद षष्ठ संवरणे । दोषेभ्यः संवृणोत्यावश्यकमिति तदेतदेवमावस्सयत्याद्यं पर्य्यायनाम व्याख्यात ।

शेषाण्यतिदिशन्नाह ॥

एवं चित्र सेसाइं, विउसामुय लक्खणाणुसारेण ।
कमसो वत्तव्वाइं, तहा सुयक्खंधनामाइं ॥

एवमेव शेषाण्यपि अवश्यकरणीयादिनामानि सिद्धान्तलक्षणाऽनुसारेण क्रमशो विदुषा वक्तव्यानि । तद्यथा । मुमुक्षुभिरवश्य क्रियत इति अवश्यकरणीयमिदमुच्यते । तथा अर्थतो ध्रुवत्वाच्छाश्वतत्वात्ध्रुव । निग्रहणे इन्द्रियकषायादयो भावशत्रवोऽनेनेति निग्रहः । अन्ये तु प्रवाहतोऽनादिकालीनध्रुवं कर्म्म तन्निग्रहते अनेनेति ध्रुवनिग्रह इत्येकमेवेद पर्य्यायनाम व्याचक्षते । कर्म्ममलिनस्याऽऽत्मनोविशुद्धिहेतुत्वाद्विशुद्धिः । सामायिकादिषडध्ययनात्मकत्वादध्ययनषट्क । वृजी वर्जने वृज्यन्ते दूरतः परिह्रियन्ते रागादयो दोषा अनेनेति वर्गः । अन्येतुषडध्ययनकलापात्मकत्वादध्ययनषट्कवर्ग इतीदमप्येकमेव पर्यायं नाम ब्रुवते । अभिप्रेतार्थसिद्धेः सम्यगुपायत्वान्न्यायः अथवा जीवकर्मसबन्धापनयनान्न्याय । अयमभिप्रायो यथा कारणिकैर्द्वयो न्यायो द्वयोरर्थिप्रत्यर्थिनोर्गृहीतद्रव्यादिर्मबन्धे चिरकालीनमप्यपनयत्येव जीवकर्मणोरनादिकालीनमप्यानाद्यावश्यक ... नावसम्बन्धमपनयतीत्यावश्यकमपिन्याय उच्यते । मोक्षाराधनहेतुत्वादाराधना मोक्षपुरप्रापकत्वान्मार्ग इव मार्ग इति ॥ विशे० ॥ अनु० ॥ आ० ॥ चू० ॥ आ० म० प्र० ॥

आवश्यकस्य चतुर्धा निक्षेपो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात

सेकिंतं आवस्सयं २ चउव्विहं पन्नत्तं । तंजहा ।
नामावस्सयं १ ठवणावस्सयं २ दव्वावस्सयं ३ भावावस्सयं ४ ॥

(सेकिंत आवस्सय) मित्यादि अत्र से शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धोऽथ शब्दार्थे वर्तते । अथ शब्दस्तु वाक्योपन्यासार्थः । स्तथा चोक्तम् ॥

अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्य्यमंगलोपन्यासनिर्वचनसमुच्चयेष्विति किमिति परप्रश्ने । तदिति सर्वनामपूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थे । ततश्चायं समुदायार्थोऽथ किं स्वरूप तदावश्यक । एवं प्रश्निते सत्याचार्यः शिष्यवचनाऽनुरोधेन समाधानार्थं प्रत्युच्चार्य निर्दिशति ॥

(आवस्सय चउविह) इत्यादि अवश्य कर्त्तव्यमावश्यकम् । अथवा गुणानामासमताद्वश्यमात्मानं करोति इत्यावश्यकम् । यथांऽतं करोतीति अन्तक । अथवा आवस्सयति प्राकृतशैल्या आवासक । अत्र वस निवासे इति गुण शून्यमात्मानं वा समंताद्वासयति गुणैरित्यावश्यक (चउविह पण्णत्ति) चतस्रो विधा भेदा अस्येति चतुर्विधम् प्रज्ञप्त प्ररूपितमर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतो गणधरैस्तद्यथा (नामावस्सय) मित्यादि नामा नामाभिधानतद्रूपमावश्यकं नामावश्यकं आवश्यका भिधानमेवेत्यर्थः । अथवा नाम्ना नाममात्रेणाऽवश्यकं जीवादीनमेवेत्यर्थः । यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा बिनेयाऽनुत्यर्थस्तल्लक्षणञ्चेदम् ।

प्रहार्यमेतद्व्याख्या यद्वस्तुन इन्द्रादिरभिधानमिन्द्र इत्यादि वर्णावलिमात्रमिदमेव आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावलीमात्र मिदमेव ।

आवश्यकलक्षणवर्णचतुष्टयावलिमात्रं । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्तन्नामेति संटङ्कः ॥

अथ प्रकारान्तरेण नाम्नो लक्षणमाह । स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्ष पर्यायानभिधेयञ्चेति तदपि नाम यत्कथंभूतमित्याह । अन्यश्चासावर्थश्च अन्यार्थो गोपालदारकादिलक्षणस्तत्र स्थितमन्यत्रेन्द्रादावर्थे यथार्थत्वेन प्रसिद्ध तदन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपितमित्यर्थः । अतएवाह । तदर्थनिरपेक्षमिति । तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थः परमैश्वर्यादिरूपस्तदर्थः । स चासावर्थश्चेति वा तदर्थस्तस्य निरपेक्ष गोपालदारकादौ तथा तदर्थस्याऽभावात्पुनः किम्भूतं तदित्याह । पर्यायानभिधेयमिति । पर्यायाणां शक्रपुरन्दरादीनामनभिधेयमवाच्य गोपालदारकादयो हीन्द्रादिशब्दैरुच्यमाना अपि शचीपत्यादिरिव शक्रपुरन्दरादिशब्दैर्नाभिधीयन्ते । अतस्तन्नामाऽपि नाम तद्वतोरभेदोपचारात्पर्यायानभिधेयमित्युच्यते च । शब्दा नाम्न एव लक्षणान्तरसूचक शचीपत्यादौ प्रसिद्ध । तन्नाम वाच्यार्थशून्ये अन्यत्र गोपालदारकादौ यदारोपित तदपि नामेति तात्पर्यम् । तृतीयप्रकारेणाऽपि लक्षणमाह । याद्दच्छिकं च तथेति । तथाविधव्युत्पत्तिशून्य मित्यकापित्यादिरूप याद्दच्छिकं स्वेच्छया नाम क्रियते तदपि नामेत्यार्यार्थ ॥ अनु० ॥

अथ नामावश्यकस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रकार एवाह ॥

सेकिंतं नामावस्सयं २ जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सएत्ति नामं कज्जइ सेत्तं नामावस्सयं ॥

अथ किं तन्नामावश्यकमिति प्रश्ने सत्याह । (नामावस्सय जस्स ण) मित्यादि । अत्र द्विकलक्षणेनाऽङ्केन सूचित द्वितीयमपि (नामावस्सय) ति पदं द्रष्टव्यं । एवमन्यत्राऽपि यथासम्भवमभ्यूह्यम् । णमिति वाक्यालङ्कारे । यस्य वस्तुनो जीवस्य वा अजीवस्य वा जीवानामजीवानां वा (तदुभयस्स वा) तदुभयानां वा आवश्यकमिति यन्नाम क्रियते तन्नामावश्यकमित्यादिपदेन सम्बन्धः ॥ नाम च तदावश्यक चेति व्युत्पत्तिरथवा यस्य जीवादिवस्तुन आवश्यकमिति नाम क्रियते । तदेव जीवादिवस्तु नामावश्यक । नाम्ना नाममात्रेणाऽवश्यकं नामावश्यकमिति व्युत्पत्तिर्वाशब्दाः पक्षान्तरे सूचका इति समुदायार्थस्तत्र जीवस्य कथमावश्यकमिति नाम सम्भवतीत्युच्यते । यथा लोके जीवस्य स्वपुत्रादेः कश्चित्सीहको देवदत्त इत्यादि नाम करोति । तथा कश्चित्स्वाभिप्रायवशादावश्यकमित्यपि नाम करोति । अजीवस्य कथमिति चेदुच्यते । इहावश्यकावासकशब्दयोरेकार्थता प्रागुक्ता । ततश्चोर्द्धशुष्कोऽचित्तो बहुकोटराकीर्णो वृक्षोऽन्यो वा तथाविध कश्चित्पदार्थविशेषस्सर्पादेरावासोऽयमिति लौकिकैर्व्यपदिश्यत एव । स च वृक्षादिर्यद्यप्यनन्तैः परमाणुलक्षणैरजीवद्रव्यैर्निष्पन्नस्तथाप्येकस्कन्धपरिणातिमाश्रित्यकाजीवत्वेन विवक्षित इति स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेकाजीवस्यावासकनाम सिद्धम् । जीवानामपि बहूनामावासकनाम सन्दृश्यते । यथा इष्टकापाकाद्यग्निर्मूषिकावास इत्युच्यते । तत्र ह्यग्नौ किल मूषिकाः सम्मूर्च्छन्त्यतस्तेषामसङ्ख्येयानामग्निजीवानां पूर्ववदावासकन्नाम सिद्धम् । अजीवानान्तु यथा नीड पक्षिणामावास इत्युच्यते । तन्नीडं बहुभिस्तृणाद्यजीवैर्निष्पद्यते । इति बहूनां जीवानामावासकंनाम भवति । इदानीमुभयस्यावासकसंज्ञा भाव्यते । तत्र गृहदीर्घिका अशोकवनिकाद्युपशोभितः प्रासादादिप्रदेशो राजादेरावास उच्यते । सौधर्म्मादि विमानं वा देवानामावासोऽभिधीयते । अत्र च जलवृक्षादयस्सचेतनरत्नादयश्च जीवा इष्टकाः काष्ठादयो चेतनरत्नादयश्चाजीवास्तन्निष्पन्नमुभय तस्य कप्रत्ययोपादाने आवासक संज्ञा सिद्धा । उभयानां त्वावासकसंज्ञा यथा सम्पूर्णनगरादिक राजादीनामावास उच्यते । सम्पूर्णः सौधर्म्मादिकल्पो वा इन्द्रादीनामावासोऽभिधीयते । अत्र च पूर्वोक्तप्रासादविमानयोरल्पत्वादेकमेव जीवाजीवोभय विवक्षितमत्र तु नगरादीनां सौधर्म्मादिकल्पानां च महत्वाद्बहूनि जीवाजीवोभयानि विवक्षितानीति विवक्षयाभेदो द्रष्टव्यः एवमन्यत्राऽपि जीवादीनामावासकसंज्ञा यथा सम्भव भावनीया ॥

दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थत्वादस्य निगमयन्नाह । (सेतमित्यादि) (सेत्त)मित्यादि वा क्वचित्पाठः तदेतन्नामावश्यकमित्यर्थः ॥

इदानीं स्थापनाऽऽवश्यकनिरूपणार्थमाह ।

सेकिंतं ठवणावस्सयं २ जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लिप्पकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खेवा वराडए वा एगोवा अणेगोवा सब्भावठवणा वा असब्भावठवणा वा असब्भाय ठवणा वा आवस्सएत्ति ठवणा ठविज्जइ सेत्तं ठवणावस्सयं । नाम ठवणाणं कोपइविसेसो णामं आवस्सकहिअं ठवणा इत्तरिआ वा होज्जा आवकहिआ वा ॥

टीका । सेकितमित्यादि अथ किंतत् स्थापनावश्यकमिति प्रश्ने सत्याह । (ठवणा आवस्सय जण्ण) मित्यादि । तत्र स्थाप्यत शुष्कोऽयमित्यभिप्रायेण क्रियते निर्वर्त्यत इति स्थापना । काष्ठकर्म्मादिगतावश्यकवत् साध्वादिरूपा । सा चासौ आवश्यकतद्वतोरभेदोपचारादावश्यक च स्थापनावश्यके स्थापनालक्षण च सामान्यत इदमुक्त । यत्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि लेप्यादिकर्म्म तत्स्थापनेति क्रियते अल्पकाल च ॥ १ ॥ इति विनेयाऽनुग्रहार्थमत्रापि व्याख्यातुश्शब्दो नामलक्षणस्य स्थापनालक्षणस्य भेदसूचकः । स चासावर्थश्च तदर्थो भावेन्द्रभावावश्यकादिलक्षणस्तेनवियुक्तं रहित यद्वस्तु तदभिप्रायेण भावेन्द्राद्यभिप्रायण क्रियते स्थाप्यते तत् स्थापनेति सम्बधः किंविशिष्ट यादित्याह । यच्च तत्करणि तेन भावेन्द्रादिना सहकारणि सादृश्यं तस्य तत्करणि तत्सदृशमित्यर्थः । चशब्दात्तदकरणि चाक्षादिवस्तु गृह्यते । अवसदृशमित्यर्थ । किंपुनस्तदेवंभूतं वस्त्वित्याह । लेप्यादिकर्म्मेति लेप्यपुत्तलिकादीत्यर्थः । आदिशब्दात् काष्ठपुत्तलिकादि गृह्यते अक्षादि अनाकार कियंतं काल तत् क्रियते इत्याह । अल्पः कालो यस्य तदल्पकाल मित्वरकालमित्यर्थः । च शब्दाद्यावत्कायिकं शाश्वतप्रतिमादि यत्पुनर्भावेन्द्राद्यर्थरहितं साकारमनाकारं वा तदर्थाभिप्रायण क्रियते तद् स्थापनेति तात्पर्यमित्यार्यार्थ ॥

इदानीं प्रकृतमुच्यते (जण्णति) णमिति वाक्यालङ्कारे यत्काष्ठकर्म्मणि वा चित्रकर्म्मणि वा वराटके वा एको वा अनेको वा सद्भावस्थापनायां वा असद्भावस्थापनाय वा । आवस्सएति । आवश्यकतद्वतोरभेदोपचारात्तद्वानिह गृह्यतेऽतश्चैको वा अनेको वो कथं भूतां अत उच्यते । आवश्यकक्रिया वाश्चावश्यक

क्रियावन्तो वा (`ठवणा ठविज्जइत्ति) स्थापनारूप स्थाप्यते क्रियते आवृत्या बहुवचनांतत्वे स्थापनारूपा· स्थाप्यते तत् स्थापनावश्यकमित्यादिपदन सयन्ध इति समुदायार्थ·। काष्ठकर्मादिष्वावश्यकक्रियां कुर्वंतो ये स्थापनारूपा साध्वादयः स्थाप्यते तत् स्थापनावश्यकमिति तात्पर्यम्। अधुना अवयवार्थमुच्यते । तत्र क्रियत इति कर्म काष्ठकर्म काष्ठनिष्कुट्टित रूपकमित्यर्थ· । चित्रकर्म्म चित्रलिखित रूपक (पोत्थकम्मवेत्ति) अत्र पोत्थ पोत वस्त्रमित्यर्थः तत्र कर्म्म तत्पल्लवनिष्पन्न वा उल्लिकारूपकमित्यर्थ· । अथवा पोत्य पुस्तक तच्चेह सपुटकरूप गृह्यते । तत्र कर्म्म तन्मध्ये वर्तिकालिखितं रूपकमित्यर्थः । अथवा पोत्थ तालपत्रादि तत्र कर्म्म तच्छेदनिष्पन्नं रूपकं लेप्यकर्म लेप्यरूपक ग्रन्थिम कौशलातिशयाद् ग्रन्थिसमुदायनिष्पादितं रूपक वेष्टिमं पुष्पवेष्टनक्रमेण निष्पन्नमानन्दपुरादि प्रतीत्य रूपमथवा एक द्वे त्रीणि वस्त्राणि वेष्टयित्वा यत् किंचित् रूपक तत्स्थापयाति तद्वेष्टिम । पूरिम भरिम पित्तलादिमयप्रतिमावत् । सघातिम बहुवस्त्रादिखण्डसघातनिष्पन्न कञ्चुकवत् । अक्षश्चन्दनको वराटकः कपर्दक । अत्र वाचनान्तरे अन्यान्यपि दन्तकर्मादिपदानि दृश्यंते । तान्यप्युक्तानुसारतो भावनीयानि । वा शब्दाः पक्षान्तरसूचकाः । यथासम्भवमेवमन्यत्रापि एतेषु काष्ठकर्मादि आवश्यक्रियां कुर्वत· एकादि साध्वादय· सद्भावस्थापनया असद्भावस्थापनया वा स्थापनावश्यकं । तत्र काष्ठकर्म्मादिष्वाकारवती सद्भावस्थापना साध्वाद्याकारस्य तत्र सद्भावात् । अक्षादिषु तु नाऽकारवती असद्भावस्थापना साध्वाकारस्य तत्रासद्भावादिति निगमयन्नाह । (सेत्त मित्यादितदेतत् स्थापनावश्यकमित्यर्थ· । अत्र नामस्थापनयोर भेद पश्यन्निदमाह (नाम ठवणाण कोपइविसेसोत्ति) नामस्थापनयो कः प्रतिविशेषो न कश्चिदित्यभिप्रायः । तथाह्यावश्यकादिभावार्थशून्ये गोपालदारकादौ द्रव्यमात्रे यथावश्यकादि नाम क्रियते तत् स्थापनापि तथैव । तच्छून्ये काष्ठकर्मादौ द्रव्यमात्रे क्रियतेऽतो भावशून्य द्रव्यमात्रे क्रियमाणत्वात् विशेषाभावनयो· कश्चिद्विशेष· । अत्रोत्तरमाह । (नाम आवकहिय) मित्यादि नाम यावत्कथिकं स्वाश्रयद्रव्यस्यास्तित्वकथां यावदनुवर्तते न पुनरन्तराऽप्युपरमते । स्थापना पुनरित्वरा स्वल्पकालभाविनी वा स्याद्यावत् कथिका वा स्वाश्रयद्रव्ये अवतिष्ठमानेऽपि काचिदितराऽपि निवर्तते । काचित्तु तत्सतां यावदवतिष्ठत इति भावस्तथाहि । नाम आवश्यकादिक मेरुजम्बूद्वीपकलिङ्गमगधसुराष्ट्रादिक चाद्यात् स्वाश्रयो गोपालदारकदेहादि· शिलासमुच्चयादिर्वासमस्ति· तावदवतिष्ठति इति । तद्यावत् कथिकमेव । स्थापनात्वावश्यकत्वेन योग्यः स्थापित स क्षणांतरे पुनरपि तथाविधप्रयोजनसम्भवे इन्द्रत्वेन स्थाप्यते । पुनरपि च राजादित्वेनेत्यल्पकालवर्तिन· शाश्वतप्रतिमादिरूपा तु यावत्कथिकात्वर्तते तस्मात्तु अर्हदादिरूपेण सर्वदा तिष्ठतीति स्थापनेति व्युत्पत्ते· । स्थापनात्वमवसेय नतुस्थाप्यत इति स्थापना शाश्वतत्वेन केनापि स्थाप्यमानत्वाभावादिति । तस्माद्भावशून्यद्रव्याधारसाम्येऽप्यस्त्यनयोः कालकृतो विशेष । अत्राह । ननु यथा स्थापना। काचिदल्पकालीना तथा नामापि किञ्चिदल्पकालीनमेव । गोपालदारकादौ विद्यमानेऽपि कदाचिदनेकनामपरावृत्तिदर्शनमुच्यते ।

सत्य । किन्तु प्रायो नाम यावत् कथिकमेव । यस्तु क्वचिदन्यथोपलम्भ । सोऽल्पत्वान्नेह विवक्षित इत्यदोषः । उपलक्षणमात्र चेद । कालभेदेनैतयोर्भेद कथनमपरस्यापि बहुप्रकारभेदस्य सम्भवात्तथाहि । यथेन्द्रादिप्रतिमास्थापनायां कुण्डलांगदादि भूषित· सन्निहितशचीवज्रादिराकार उपलभ्यते । न तथा नामेन्द्रादौ । एव यथा स्थापनादर्शनाद्भाव । समुल्लसति नैव मिन्द्रादिश्रवणमात्राद् । यथाच तत् स्थापनायां लोकस्योपयाचितत्वापूजाप्रवृत्ति समीहितलाभादयो दृश्यन्ते नैव । नामेन्द्रादावित्येव मन्यदपि वाच्यमिति ।

उक्त स्थापनावश्यकम् ।

अत्र नाम इदानीं द्रव्यावश्यकनिरूपणाय प्रश्न कारयाति ।

सेकिंतं दव्वावस्सयं दव्वावसयं दुविहं पण्णत्तं । तंजहा । आगमओ अ नो आगमओ अ ॥

टी० अथ किंतत् द्रव्यावश्यकमिति पृष्टे सत्याह । (दव्वावस्सयं दुविह) मित्यादि तत्र द्रवति गच्छति तॉस्तान् पर्यायानिति द्रव्य विवक्षितयोरतीतभविष्यद्भावयो· कारणम् अनुभूत विवक्षितभाव अनुभाविष्यद्विवक्षितभावं चास्ति इति द्रव्यभूतस्य भाविनो वा भावस्य हिकारण तु यल्लोके तत् द्रव्य तत्वज्ञै· सचेतनचेतन कथितम् ।

व्या० । तद्द्रव्यं तत्वज्ञैः कथितं तत्कथमूत द्रव्यं यत्कारणं हेतुः कस्येत्याह । भावस्य पर्यायस्य कथमूतस्येत्याह ।

भूतस्या तीतस्य भाविनो वा भविष्यतो वा लोके आधारभूते तत्र सचेतन पुरुषादि अचेतनं च काष्ठादि भवति ।

एतदुक्तं भवति ।

यः पूर्वं स्वर्गादिष्विन्द्रादित्वेन भूत्वा इदानीं मनुष्यादित्वेन परिणत अतीतस्येन्द्रादिपर्यायस्य कारणत्वात्सांप्रतमपि द्रव्यमिन्द्रादिरभिधीयते । अमात्यादिपदपरिभ्रष्टामात्यादिवत् तथा अग्रेऽपि य इन्द्रादित्वेनोत्पस्यते स इदानीमपि भविष्यदिन्द्रादिपदपर्यायकारणत्वात् द्रव्यत इन्द्रादिरभिधीयते । भविष्यद्राजकुमारराजवत् । एवमचेतनस्यापि काष्ठादे· तत् भविष्यत्पर्यायकारणत्वेन द्रव्यता भावनीयेत् इति तात्पर्यार्थः । इत प्रकृतमुच्यते । तच्चेह द्रव्यरूपमावश्यक प्रकृतं तत्रावश्यकोपयोगाधिष्ठितः साध्वादिदेहावन्दनकादिसूत्रोच्चारणलक्षणश्चागम· । आवर्तादिका क्रिया चावश्यकमुच्यते । आवश्यकोपयोगशून्यस्तु ता एवं देहागमक्रिया द्रव्यावश्यक । तच्च द्विविधं प्रज्ञप्तमिति । तद्यथा । आगमत आगममाश्रित्य । नो आगमतो नो आगममाश्रित्य नो आगमशब्दार्थं यथावसरमेव वक्ष्याम । चशब्दो द्वयोरपि स्वस्वविषये तुल्यप्राधान्यख्यापनार्थ· ।

अत्राद्यभेदं जिज्ञासुराह ।

सेकिंतं आगम ओ दव्वावस्सयं २ जस्सणं आवस्सएत्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं नाम समघोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलिअं अमिलिअं अवच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं सेणं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए नो अणुपहाए कम्हा अणुवओगे दव्वमिति कट्टु ।

टी० । से किंत मित्यादि—अथ किं तदागमतो द्रव्यावश्यकमिति आह । (आगमतो दव्वावसयं जस्सण) मित्यादि·

णमिति पूर्ववत् । जस्सत्ति यस्य आवस्सएपति पयाति । आव श्यकपदाभिधेय शास्त्रमित्यर्थः । ततश्च यस्य कस्यचिदा वश्यकशास्त्रं शिक्षित जित यावत् । वाचनोपगत भवति (सेण तत्थेति । सजन्तुस्तत्रावश्यकशास्त्रे वाचनाप्रच्छना परिवर्तनाधर्मकथमिवर्तमानोऽप्यावश्यकोपयोगे अवर्तमान आगमत आगममाश्रित्य द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः । अत्राह । नन्वागममाश्रित्य द्रव्यावश्यकमित्यागमरूपमिद आवश्यकमित्युक्तम् भवति । एतच्चायुक्तं । यत आगमो ज्ञान ज्ञान च भाव एवेति । कथमस्य द्रव्यत्वमुपपद्यते । सत्य. मेत त्किंत्वागमस्य कारणमात्मा तदधिष्ठितो देहशब्दश्चोपयोग शून्यसूत्रोच्चारणरूप इहास्ति नतु साक्षादागम । एतच्च त्रितयमागमकारणत्वात्कारणे कार्योपचारादागम उच्यते । कारण च विवक्षितभावस्य द्रव्यमेव भवतीत्युक्तमेवेत्यदोष. । अनु० ॥

शिक्षितादिपदानां व्याख्या शिक्षितादि शब्दे ॥

उदात्तादिघोषैरविकल प्रतिपूर्णघोष । अत्राह । घोष सममित्युक्तमेव तत्क इह विशेष इत्युच्यते । घोषसम. मिति । शिक्षाकाश्रमधिकृत्योक्त । प्रतिपूर्ण घोषं तु परावर्तना- दि कालमधिकृत्येति विशेषः ॥

तदेवं यस्य जन्तोरावश्यकशास्त्र शिक्षितादिगुणोपेत भव- ति । स जन्तुस्तत्रावश्यकशास्त्रे वाचनया शिष्याध्यापनलक्ष- णया प्रच्छनयार्थादेर्गुरु प्रति प्रश्नलक्षणयापरावर्तनया पुन पुन- स्सूत्रार्थोऽभ्यासलक्षणया धर्मकथयाहिंसादिधर्मप्ररूप णस्व- रूपया । वर्तमानोऽप्यनुपयुक्तत्वादिति साध्याहारमाग. मतो द्रव्यावश्यकमित्यनेन सम्बंध । ननु यथा वाचनादि भिस्तत्र वर्तमानोऽपिद्रव्यावश्यक भवति । तथानुप्रेक्षयाऽपि तत्र वर्तमानस्तद्भवति नेत्याह । (नो अणुप्पेहाएत्ति) अनुप्रे- क्षया ग्रन्थार्थानुचिंतनरूपया तत्र वर्तमानो न द्रव्यावश्यक- मित्यर्थः । अनुप्रेक्षायामुपयोगमन्तरेणाऽभावादुपयुक्तस्य च द्रव्यावश्यकत्वायोग्यादितिभाव । अत्राह पर । (कम्हति) ननु कस्माद्वावाचनादिभिस्तत्र वर्तमानोऽपि द्रव्यावश्यक क- स्माच्चानुप्रेक्षया तत्र वर्तमानो न तथेति प्रच्छकाभिप्राय । एव प्रष्टेसत्याह । (अणुवओगोदव्व) मिति कृत्वा उपयोजन- उपयोगोपि जीवस्य बोधरूपोव्यापारः । सचेह विवक्षितार्थे चि त्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते । न विद्यते सो यत्र सोऽनुप- योग. पदार्थ । सविवक्षितो पयोगस्य कारणमात्रत्वात् द्र- व्यमेव भवतीति कृत्वाऽस्मात्कारणादनन्तरोक्तमुपपद्यत इति. शेष' । एतदुक्तम् । भवत्युपयोगपूर्विका अनुपयोगपूर्विकाश्च वाचना प्रच्छनादय' संभवन्त्येव तत्रेह द्रव्यावश्यकचिन्ता प्र. स्तावादनुपयोगपूर्विका गृह्यते । अतएव सूत्रेणाऽभिहितस्य, ऽप्यनुपयुक्तस्याध्याहारस्तत्रकृतोऽनुपयोगस्तुभावशून्यता तच्छू. न्य वस्तु द्रव्यमेव भवतीत्यतोवाचनादिभिस्तत्रवर्तमानोऽपि द्रव्यावश्यकम् । अनुप्रेक्षा तूपयोगपूर्विकैव सभवत्यतस्तत्र वर्तमानो न तथेति भावार्थ. । अत्राह ।

नन्वागममतोऽप्युक्तो वक्ता द्रव्यावश्यकमित्येतावच्चेष्टसिद्धे. शिक्षितादिश्रुतगुणकीर्तनमनर्थकम् । अत्रोच्यते । शिक्षिता गुणोत्कीर्तन कुर्वन्निदं ज्ञापयति । यद्भुतैव भूतमपि निर्दोष श्रुतमुच्चारयतोऽनुपयुक्तस्य द्रव्यश्रुत द्रव्यावश्यकमेव भवति किंपुन सदोषमुपयुक्तस्यतु स्खलितादिदोषदुष्टमपि निर्जरत' श्रुतमेव भवति । एवमन्यत्रापि प्रत्युपेक्षणादिक्रियाविशेषा सर्वे निर्दोषा अप्यनुपयुक्तस्य तथाविधफलशून्या एव सपद्यन्ते

उपयुक्तस्य तु मतिवैकल्यादित सदोषा अप्यमी कर्ममलापगमा यैवेत्यल विस्तरेण ॥

इह जिनमते सर्वमपि सूत्रमर्थश्च श्रोतृजनमुपेक्ष्य (नत्थिन- एहिं विहुण सुत्त अत्थो व जिणमए किंचि आसज्जउसोयार नए नयविसारओपूया) इति वचनात् इदमपि द्रव्यावश्यक न येश्चिन्त्यते ते च मूलभेदानाश्रित्य नैगमादयः सप्त तदुक्त ॥

निगमसंगहववहा, उज्जसुए चेव होई बोधव्वे ॥
सद्दयसमभिरूढे, एवं भूते य मूलनया ॥ १ ॥

तत्रनैगमस्तावत्कियति द्रव्यावश्यकानीच्छतीत्याह ॥

नैगमस्सुणं एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वाव- स्सयं दोण्णि अणुवउत्ता आगमओ दोण्णि दव्वावस्सयाइं तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं एवं जावइआ अणुवउत्ता आगमओ तावइआइं दव्वावस्सयाइं एवमेव वहारस्सवि संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्तावा । आगमओ दव्वावस्सयं दव्वावस्सयाणि वा उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्तो आग- मतो एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ तिण्हं सद्दानयाणं- जाणए अणुवउत्ते अवत्थु कम्हा जइ जाणए अणु वउत्ते न भवसि सेत्तं । आगमओ दव्वावस्सयं ।

टी० निगमस्सेत्यादि । सामान्यविशेषादि प्रकारेण नैकोऽपि तु बहवो गमा वस्तुपरिच्छेदो यस्यासौ निरुक्तविधिना कका- रस्य लोपाद् नैगमसामान्यविशेषादिप्रकारैः बहुरूपवस्त्वभ्यु- गमपर इत्यर्थ. । तस्य नैगमस्यको देवदत्तादिरनुपयुक्त आग- मत एक द्रव्यावश्यक द्वौ देवदत्तयज्ञदत्तावनुपयुक्तौ आगमतो द्रव्यावश्यके त्रयो देवदत्तयज्ञदत्तसोमदत्ता अनुपयुक्ता आ- गमतस्त्रीणि द्रव्यावश्यकानि । किं बहुना । एवं यावन्तो देव दत्तादयोऽनुपयुक्ता. तान्यतीतादि कालत्रयवर्तीनि नैगमस्या- ऽगमतो द्रव्यावश्यकानि एतदुक्त भवति । नैगमो हि सामा- न्यरूप विशेषरूप च वस्त्वभ्युपगच्छत्येव न पुनर्वक्ष्यमाणस- ग्रहवत्सामान्यरूपमेव । ततो विशेषत्वादित्यस्येह प्राधान्येन विवक्षितत्वाद्यावन्त' के चन देवदत्तादिविशेषा अनुपयुक्ता स्तावन्तिसर्वाण्यप्यसौ द्रव्यावश्यकानि न पुन.संग्रहवत्सामान्य वादित्वादेकमेव च (ववहारस्सतिच्ति) व्यवहरण व्यवहारो लौकिकप्रवृत्तिरूपस्तत्प्रधानो नयोऽपि व्यवहारस्तन्मप्येव- मेव । नैगमवदेको देवदत्तादिरनुपयुक्तोऽथागमत एकं द्रव्या वश्यकमित्यादि सर्ववाच्यमिदमुक्त भवति । व्यवहारनयो लोकव्यवहारोपकारिण एव पदार्थानभ्युपगच्छति न शेषान् । लोकव्यवहारे च जलाहरणप्रणपिंडीप्रदानादिकेघटनिंब्वादि विशेषा एवोपकुर्वाणा दृश्यन्ते न पुनस्तदतिरिक्त तत्सामान्य मिति विशेषानेव वस्तुत्वेन प्रतिपद्यतेऽसौ न सामान्य व्यव- हारानु पकारित्वाद्विशेष व्यतिरेकेणाऽनुपलभ्यमानत्वाच्चेत्यतो विशेषादिनैगममतसाम्येनातिदिष्ट' । अत्र चातिदेशेन चेष्टार्थ सिद्धेरथलाघवार्थ संग्रहमतिक्रम्य व्यवहारोपन्यास. कृत इति भावनीय (संग्रहस्सेत्यादि) सर्वमपि भुवनत्रयाऽन्तर्वर्तिव स्तूनि कुक्ष्य संगृह्णाति सामान्यरूपतयाऽध्यवस्यतीति संग्रह- स्तस्य मते एको वा अनेको वा अनुपयुक्तोऽनुपयुक्ता वा यदा गमतो द्रव्यावश्यक द्रव्यावश्यकानि वा तत्किमित्याह (स पंगत्ति) तदेक द्रव्यावश्यकम् इदमत्र हृदय । संग्रहनय. सा-

मान्यमेवाभ्युपगच्छति न विशेषानभिदधाति च सामान्याद्विशेषाद्व्यतिरिक्ताःस्युः। अव्यतिरिक्ताःस्युः अव्यतिरिक्ता वा यद्याद्यः पक्षः । तर्हि न सन्त्यमी निःसामान्यत्वात् खरविषाणवत् । अथापरः पक्षस्तर्हि सामान्यमेव तेतद्व्यतिरिक्तत्वात्सामान्यस्वरूपवत्तस्मात्सामान्यव्यतिरेकेण विशेषासिद्धेर्यानि कानिचिद्द्रव्यावश्यकानि तानि तत्सामान्याव्यतिरिक्तत्वादेकमेवं संग्रहस्य द्रव्यावश्यकमिति (उज्जुसुयस्से) त्यादि । ऋज्वतीतानागतपरकीयपरिहारेणर्जुं वस्तु सूत्रयत्यभ्युपगच्छतीति । ऋजुसूत्रः । अयं हि वर्त्तमानकालभाव्येव वस्तु अभ्युपगच्छति नातीत विनष्टत्वान्नाप्यनागत मनुत्पन्नत्वाद्वर्त्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्परकीयन्तु नेच्छति स्वकार्याप्रसाधकत्वात् । परधनवत्तस्मादेको देवदत्तादिरनुपयुक्तोऽस्यमते आगमत एकं द्रव्यावश्यकमिति (पुहत्तं त्ति) पुहत्तंनिच्छति । अतीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ किं तर्हि वर्त्तमानकालीनं स्वत्वमेवचाभ्युपैति तच्चैकमेवति (तिण्ह सद्दनयाण) मित्यादि शब्दप्रधाना नयाः शब्दनयाः शब्दसमभिरूढैवंभूतास्ते हि शब्दमेव प्रधानमिच्छतीत्यर्थन्तु गौणं शब्दवासनैवार्थप्रतीतिस्त्रयाणां शब्दनयानां ज्ञापकोऽथवानुपयुक्त इत्येतदेव तु न सम्भवतीदमित्यर्थः। (कम्हेति) कस्मादेवमुच्यते इत्याह । यदि ज्ञापकस्तर्ह्यनुपयुक्तो न भवति ज्ञानस्योपयोगरूपत्वादिदमत्र हृदयं। आवश्यकशास्त्रज्ञस्तत्र चानुपयुक्त आगमतो द्रव्यावश्यकमिति प्रागिर्णीतमेव स्वामी न प्रतिपद्यते यद्यावश्यकशास्त्रं जानाति कथमनुपयुक्तोऽनुपयुक्तश्चेत् कथं जानाति ज्ञानस्योपयोगरूपत्वात् यदप्यागमकारणात्मदेहादिकमागमत्वेनोक्तं तदप्यौपचारिकत्वादमी न मन्यन्ते । शुद्धनयत्वेन मुख्यवस्त्वभ्युपगमपरत्वात्तस्मादेतन्मते द्रव्यावश्यकस्यासम्भव इति निगमयन्नाह (सेत्तमित्यादि) तदेतदागमतो द्रव्यावश्यकन्तेनवक्तम् आगमतो द्रव्यावश्यकमिदानीम् ॥

इदानीं नो आगमतस्तदुच्यते ॥ से किं तं नो आगमओ दव्वावस्सयं २ तिविहं पण्णत्तं तजाणयं सरीर दव्वावस्सयं॥ टी० अथ कितन्नो आगमतोद्रव्यावश्यकमिति प्रश्नः । उत्तरमाह नो आगमओ दव्वावस्सयं तिविहं पण्णत्तमित्यादि नो आगमत इत्यत्र नो शब्द आगमस्य सर्वनिषेधे देशनिषेधे वा वर्त्तते यत उक्तं पूर्वमुनिभिः ॥

आगमसव्वनिसेहे नोसद्दोअहंवदेसपडिसेहे ।
सव्वे जहसरीरं भव्वस्स य आगमाभावा ॥

व्याख्या । आगमस्यावश्यकादिज्ञानस्य सर्वनिषेधे वर्त्तते नोशब्दोऽथवा तस्यैव देशप्रतिषेधे वर्त्तते । तत्र (सव्वेत्ति) सर्वनिषेधउदाहरणमुच्यते यथेत्युपदर्शने (सरीरति) तस्य जानतःशरीरं ज्ञशरीरं नो आगमत इह द्रव्यावश्यकं भव्यस्य च योग्यस्य यच्छरीरं तदपि नो आगमत इह द्रव्यावश्यकं कुत इत्याह । आगमस्यावश्यकादिज्ञानलक्षणस्य सर्वथा अभावादिदमुक्तं
भवति । ज्ञशरीरं भव्यशरीरं चानन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपं नो आगमतःसर्वथा आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यावश्यकमुच्यते। नोशब्दस्याऽत्र पक्षे सर्वनिषेधवचनत्वादिति गाथार्थः।

देशप्रतिषेधवचनेऽपि नोशब्दे उदाहरणम् । यथा ॥

किरियागमुच्चरंतो, आवासं कुणइ भावसुन्नो उ ।
किरियागमा न होई, तस्स निसेहो भवेदेसे ॥

व्या० । क्रियामावर्त्तादिकं कुर्वन्नित्यध्याहार आगमं च वंदनकसूत्रादिकमुच्चारयन् भावशून्यो य आवश्यकं करोति सोऽपि नो आगमत इह द्रव्यावश्यकमितिशेषः । अत्र च क्रियावर्त्तादिकागमो न भवति अतस्त्वागमस्य च ज्ञानरूपत्वादतस्तस्यागमस्य देशे क्रियालक्षणे निषेधो भवति । क्रियाआगमो न भवतीत्यर्थः अतोनो आगमतइतीह । किमुक्तं भवति। देशे क्रियालक्षणे आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यावश्यकमिति गाथार्थः॥

तदेव नो आगमतः । आगमाभावमाश्रित्य द्रव्यावश्यकं त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं १ भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं २ ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यावश्यकम्।३ तत्राद्यमेदं विवरीषुराह ॥

सेकिंतं जाणयसरीरदव्वावस्सयं २ आवस्सयस्स पयत्थाहिगारं जाणयस्स जं सरीरयं ववगतचुतचावितचत्तदेहं जीवविप्पजढं सिज्जागतं वा संथारयगतं वा निसीहिआगतं वा सिद्धिसिलातलगतंवापासित्ताणं कोइ भणेज्जा अहोणंइमे णं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं आवस्सएत्ति पयं आघविअं पण्णविअं परूविअं दंसिअं निदंसिअं उवदंसिअं जहा को दिट्ठंतो अयं घयकुंभे आसी अयं महुकुंभे आसीसेत्तं जाणयसरीरदव्वावस्सयं ॥

टी० । अथ किं तत्ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकमिति प्रश्ने निर्वचनमाह। (जाणयसरीरदव्वावस्सयं आवस्सएत्तीत्यादि) ज्ञातवानिति ज्ञःप्रतिक्षणं शीर्यत इति शरीरं ज्ञस्यशरीरं ज्ञशरीरं तदेव भनुभूतभावत्वाद् द्रव्यावश्यकं किं तदित्याह । यच्छरीरकं सक्षपकं च वपुरित्यर्थः । कस्य संबन्धीत्याह । आवस्सएत्तीत्यादि आवश्यकमिति यत्पदं आवश्यकपदाभिधेयं शास्त्रमित्यर्थः। तस्यार्थः पदार्थोऽधिकारोऽनेके वा तद्गतार्था अधिकारा गृह्यन्ते तस्य तेषांवा या ज्ञातृ संबन्धि कथं भूतं तदिदं ॥ ज्ञशरीरं द्रव्यावश्यकं भवतीत्याह व्यपगतच्युत त्यक्तदेहं जीवविप्रमुक्तमित्यक्षरयोजना । इदानीं भावार्थः कश्चिदुच्यते तत्र। व्यपगतचैतन्यपर्यायादचैतन्यलक्षणं पर्यायान्तरं प्राप्तमत एव च्युतं उच्छ्वासनिःश्वासजीवितादिदशविधप्राणेभ्यः परिभ्रष्टम्। अचैतन्यं श्वासाद्ययोग्यत्वादन्यथा लेष्ट्वादीनामपि तत्प्रसंगात्तन्यच्च परिभ्रशस्वभावादिभिः कैश्चित् स्वभावत एवाभ्युपगम्यते । तदपोहार्थमाह। च्यावितं आयुःक्षयेण तेभ्यःपरिभ्रंसितं। ननु स्वभावतस्तस्य सदावस्थितत्वेन सर्वदा तत्प्रसंगादेव च सति कथं च्युतं तदित्याह । त्यक्तदेहं विह उपचये त्यक्तो देहः आहारपरिणामजनितोपचयो येन तत्त्यक्तदेहं। अचेतनस्याहारग्रहणपरिणत्योरभावात् । एवमुक्तेन विधिना जीवेनात्मना विधमनेकधा प्रकर्षेण मुक्तं जीवविप्रमुक्तं किं तदेतदावश्यकं । ज्ञस्य शरीरमतीतावश्यकभावस्य कारणत्वाद्द्रव्यावश्यकम् । अस्य च नो आगमत्वमागमस्य तदनीं सर्वथा भावात्नो शब्दस्य चात्र पक्षे सर्वनिषेधवचनत्वादिति भावः। ननु यदि जीवविप्रमुक्तमिदं कथं तदस्य द्रव्यावश्यकत्वं लेष्ट्वादीनामपि तत्प्रसंगात्तत्पुद्गलानामपि कदाचिदावश्यकवेत्तृभिर्गृहीत्वा मुक्तत्वसंभवादित्याशङ्क्याह । (सेज्जागत) मित्यादि यस्मादिदं शय्यागतं वा संस्तारगतं वा नैषेधिकीगतं वा सिद्धशिलातलगतं वा दृष्ट्वा कोऽपि ब्रूयादहोभने न शरीरसमुच्छ्रायेण जिनदर्शितभावेन आवश्यकमित्येतत्पदं गृहीतमित्यादि यावदुपदर्शितमिति तस्मादतीतवर्त्तमान

कालभावि वस्त्वेकत्वमाहिनयानुसारिणामेवं वादिनां सम्मवाद्यथोक्तशरीरस्य द्रव्यावश्यकत्वं न विरुध्यते लेष्ट्वादिदर्शने पुनर्नेत्थंभूतः प्रत्ययः कस्याऽपि समुत्पद्यत इति । न तेषां तत्प्रसंगस्तेनैव करचरणोरुग्रीवादिपरिणामेनानन्तरमेवावश्यककारणत्वेन व्यापृतत्वात्तदेव तथाविधप्रत्ययजनकं द्रव्यावश्यकं लेष्ट्वादय इतिभाव इति समुदायार्थः । इदानीमवयवार्थ उच्यते । तत्र शय्या महती सर्वांगप्रमाणा तां गतं शय्यास्थितमित्यर्थः । संस्तारो लघुकोऽर्द्धतृतीयहस्तमानस्तंगतं तत्रस्थमित्यर्थः । यत्र साधवस्तपःपरिकर्म्मितशरीराः स्वयमेव गत्वा भक्तपरिज्ञानशनं प्रतिपन्नपूर्वाः प्रतिपद्यंते प्रतिपत्स्यन्ते च तत्सिद्धशिलातलमुच्यते । क्षेत्रगुणतो यथा भद्रकदेवतागुणतो वा साधूनामाराधनाः सिध्यंति । १। तत्रेति क्वचित्स्वा अन्येऽप्याचक्षते । यत्र महर्षिः कश्चित्सिद्धस्तत् सिद्धशिलातलं तद्गतं तत्र स्थित सिद्धशिलातलगतम् । इह निसीहियागतं चेत्यादीन्यपि पदानि वाचनान्तरे दृश्यंते तानि च सुगमत्वात् स्वयमेव भावनीयानि । नवरं नैषेधिकी शवपरिस्थापनभूमिः अपर वाचनान्तरे (पासित्ताण कोइ भणिज्जेति) ग्रंथः । क्वचिद्दृश्यते स च समुदायार्थकथनावसरणे जित एव यत्र तु न दृश्यते तत्राध्याहारो द्रष्टव्यः । अहो शब्दो दैन्यविस्मयामन्त्रणेषु वर्त्तते । स चेह त्रिष्वपि घटते तथाह्यनित्यशरीरमिति दैन्ये आवश्यक ज्ञातमिति विस्मयेऽन्यं विपार्श्वस्थितमामंत्रयमाणस्यामन्त्रणे अनेन प्रत्यक्षतया दृश्यमानेन शरीरमेव पुद्गलसंघातत्वात् समुच्छ्रयस्तेन जिनदृष्टेन तीर्थकराभिमतेन भावेन कर्मनिर्जरणाभिप्रायेण अथवा भावेन तदावरणकर्म्मक्षयोपशमलक्षणेन आवश्यकपदाभिधेयं शास्त्रम् (आघवियंति) प्राकृतशैल्या छांदसत्वाच्च गुरोः सकाशाद्गृहीतं प्रज्ञापित सामान्यतो विनेयेभ्यः कथितं प्ररूपितं तेभ्य एव प्रतिसूत्रमर्थकथनतः । दर्शितं प्रत्युपेक्षणादिक्रियादर्शनतः । इदं क्रिया एभिरक्षरैरुपात्ता । इत्थं च क्रियते इत्येवं विनेयेभ्यः प्रकटितमितिभावः । निदर्शितं कश्चिदगृह्णतः परयाऽनुकम्पया निश्चयेन पुनर्दर्शितं । उपदर्शितं सर्वनययुक्तिभिः आह । नन्वनेन शरीरसमुच्छ्रयेणाऽऽवश्यकमागृहीतमित्यादि नोपपद्यते गृहणप्ररूपणादीनां जीवधर्म्मत्वेन शरीरस्याऽघटमानकत्वात् सत्यं । किन्तु भूतपूर्वगत्या जीवशरीरयोरभेदोपचारादित्थमुपन्यास इत्यदोषः । पुनरप्याह । ननु यद्यपि तच्छरीरकं शय्यादिगतं दृष्ट्वा पूर्वोक्तप्रकारो भवंति तथापि कथं तस्य द्रव्यावश्यकता यत् आवश्यकस्य कारणमेव द्रव्यावश्यकं भवितुमर्हति भूतस्य भाविनो वेत्यादि पूर्वोक्तवचनात् । कारणं चागमस्य चेतनाधिष्ठितमेव शरीरं नत्विदं चेतनारहितत्वात्तस्यापि तत्कारणत्वेऽतिप्रसंगात्सत्यं । किंत्वतीतपर्यायानुवृत्यभ्युपगमपरतयानुवृत्यातीतमावश्यककारणत्वपर्यायमपेक्ष्य द्रव्यावश्यकताऽस्योच्यत इत्यदोषः । स्यादेवं । यद्यत्रार्थे कश्चिद्दृष्टान्तः स्यादिति विकल्पात् प्रच्छति यथा कोऽत्र दृष्टांत इति प्रेरितस्त्याह । यथा अयं घृतकुम्भ आसीत् । अयं मधुकुम्भ आसीदित्यादि । एतदुक्तं भवति । यथा मधुनि घृते वा प्रक्षिप्यापनीते तदाधारपर्यायातिक्रांतेऽप्ययं मधुकुम्भोऽयं च घृतकुम्भ इति व्यपदेशो लोके प्रवर्त्तते । तथा आवश्यककारणत्वपर्यायेऽतिक्रांतेऽपि पर्यायानुवृत्या द्रव्यावश्यकमिदमुच्यत इति भावः । निगमयन्नाह । (सेत्तमित्यादि) तदेतत् ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकम् ॥ उक्तो नो आगमतो द्रव्यावश्यकप्रथमभेदः । ॥

द्वितीयभेदनिरूपणायमाह ।

से किंतं भविअसरीरदव्वावस्सयं २ जे जीवे जोणिजम्मणनिक्खंते इमेणं चेव अत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं आवस्सयंति पयं सेअकाले सिक्खिस्सति न ताव सिक्खति जहा को दिट्ठंतो अयं महुकुम्भे भविस्सइ अयं घयकुंभे भविस्सइ सेत्तं भविअसरीरदव्वावस्सयं ॥

अथ किं तद्भव्यशरीरद्रव्यावश्यकमिति प्रश्ने सत्याह (भवियसरीर दव्वावस्सयं जे जीवे) इत्यादि । विवक्षितपर्यायेण भविष्यतीति भव्यो विवक्षितपर्यायार्हस्तद्योग्य इत्यर्थः । तस्य शरीरं तदेव भाविभावावश्यककारणत्वात् द्रव्यावश्यकं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं किं पुनस्तदित्यत्रोच्यते । यो जीवो योनिजन्मनिनिष्क्रांतोऽनेन च शरीरसमुच्छ्रयेण जिनोपदिष्टेन भावेन आवश्यकमित्येतत्पदं आगामिनि काले शिक्षिष्यते न तावच्छिक्षते यज्जीवाधिष्ठितं शरीरं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः सांप्रतमवयवार्थ उच्यते । तत्र यः कश्चिज्जीवो जंतुर्योन्या योनिद्वारव्यदेशलक्षणायाः परिपूर्णसमस्तदेहो जन्मत्वेन जन्मसमयेन निष्क्रांतो न पुनर्गर्भावस्थ एव पतितो योनिजन्मत्वनिष्क्रांतः । अनेन च शरीरमेव पुद्गलसंघातत्वादुत्पत्तिसमयादारभ्य प्रतिसमयं समुत्सर्पणाद्वा समुच्छ्रयस्तेन । आत्तेनआदत्तेन वा गृहीतेन प्राकृतशैलीवशादात्मीयेन वा जिनोपदिष्टेनेत्यादि पूर्ववत् (सेयकालित्ति) छांदसत्वादागामिनि काले शिक्षिष्यते अध्येष्यते । सांप्रतन्तु न तावदद्यापि शिक्षते तज्जीवाधिष्ठितशरीरं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं नो आगमत्वं चात्र्यागमाभावमाश्रित्य मन्तव्यं । तदानीं तत्र वपुष्यागमाभावान्नो शब्दस्य चात्राऽपि सर्वनिषेधवचनत्वात् । अत्राह । नन्वावश्यकस्य कारणं द्रव्यावश्यकमुच्यते । यदि त्वत्र वपुष्यागमाभावः । कथं तर्हि तस्य तं प्रतिकारणत्वं न हि कार्याभावे वस्तु कारणत्वं युज्यते अतिप्रसंगात् । ततः कथमस्य द्रव्यावश्यकता । सत्यं । किन्तु भविष्यत्पर्यायस्येदानीमपि योऽस्तित्वमुपचरितनयस्तदनुवृत्यास्य द्रव्यावश्यकत्वमुच्यते । तथा च तदनुसारिणः पठंति भाविनि भूतवदुपचार इति अत्रार्थे दृष्टांतं दिदर्शयिषुः प्रश्नं कारयति । यथा कोऽत्र दृष्टांत इति निर्वचनमाह । यथायं मधुकुम्भो भविष्यतीत्यादि । एतदुक्तं भवति यथा मधुनि घृते वा प्रक्षेप्तुमिष्टे तदाधारत्वपर्याये भविष्यत्यपि लोकेऽयं मधुकुम्भो घृतकुम्भो वेत्यादिव्यपदेशो दृश्यंते । तथाऽस्याप्यावश्यक कारणत्व पर्याये भविष्यत्यपि तदस्तित्वपरनयानुवृत्या द्रव्यावश्यकत्वमुच्यते इति भावः । निगमयन्नाह । सेत्तमित्यादि तदेतद्भव्यशरीरद्रव्यावश्यकमिति । उक्तो नो आगमतः द्रव्यावश्यकद्वितीयभेदः ॥

तृतीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं जाणयसरीरभविअसरीरवइरित्तं दव्वावस्सयं २ तिविहं पण्णत्तं । लोइअं १ कुप्पावयणिअं २ लोउत्तरिअं ३

अथ किं तत् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यावश्यक निर्वचनमाह ॥ (जाणगशरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वावस्सए तिविहे) इत्यादि यत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरयोः संबंधि

पूर्वोक्तलक्षणं न घटते । तदुभाभ्यां व्यतिरिक्तं भिन्नं द्रव्यावश्यकमुच्यते । तच्च त्रिविधं प्रज्ञप्तं । तद्यथा । लौकिककुप्रावचनिकं । लोकोत्तरिकम् ॥

तत्र प्रथमभेदं जिज्ञासुराह ॥

से किं तं लोइअं दव्वावस्सयं ? जे इमे राईसरतलवरमाडंबिअकोडुंबिअइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहप्पभितओ कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए सुविमलाए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलिअंमि अह पंडुरए पभाए रत्तासोगपगासकिंसुअसुअमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागरनलिणिसंडबोहए उट्ठिअंमि सूरे सहस्सरस्सिंमि दिणयरे तेअसा जलंते मुहधोअणदंतपक्खालणतेल्लफणिहसिद्धत्थयहरिआलिअअद्दागधूवपुप्फगंधमल्लतंबोलवत्थाइं आइं दव्वावस्सयाइं काउं ततो पच्छा रायकुलं वा देवकुलं वा आरामं वा उज्जाणं वा सभं वा पवं वा गच्छंति से तं लोइअं दव्वावस्सयं ॥

लोइयमित्यादि ॥ लोके भवं लौकिकं शेषं तथैव अत्र राजेश्वरतलवरादयः प्रभातसमये मुखधावनादि कृत्वा ततः पश्चाद्राजकुलादौ गच्छन्ति । तदेषां सम्बन्धि मुखधावनादि लौकिकं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः ॥

(कल्लं पाउप्पभायाए) इत्यादि कल्यमिति विभक्तिव्यत्ययेन सामान्येन प्रभाते प्रभातस्यैव विशेषावस्था । प्राह इत्यादि । प्रादुः प्राकाश्ये ततश्च प्रकाशप्रभातायां रजन्यां किंचिदुपलभ्यमानप्रकाशायामिति भावः । तदनन्तरं सुविमलायां तस्यामेव किंचित्परिस्फुटतरप्रकाशायाम् । अथशब्द आनन्तर्ये तदनन्तरं पांडुरे प्रभाते कथंभूते इत्याह । फुल्लोत्पलकमलकोमलोन्मीलिते फुल्लं विकसितं तच्च तदुत्पलं च फुल्लोत्पलं कमलो हरिणविशेषः फुल्लोत्पलं च कमलश्च फुल्लोत्पलकमलौ तयोः कोमलमकठोरं दलानां नयनयोश्चोन्मीलितमुन्मीलनं यत्र प्रभाते । तद्यथा । अनेन च प्राक्कालायाः सुविमलतायाः वक्ष्यमाणसूर्योदयस्य चांतरालवर्तिनी पूर्वं त्वा । वश्यरुणप्रभावस्थामाह । तदनंतरम् (उट्ठिए सूरिए त्ति) अभ्युद्गते आदित्ये कथं भूते इत्याह । रक्ताशोकप्रकाशकिंशुकशुकमुखगुंजार्द्धरागसदृशे । रक्ताशोकप्रकाशस्य पुष्पितं पलाशस्य शुकमुखस्य गुंजार्द्धस्य च रागेण सदृशो यः सतथा तस्मिन् आरक्ते इत्यर्थः । तथा कमलाकरनलिनिखण्डबोधके कमलानामाकरा उत्पत्तिभूमयो ह्रदादिजलाशयविशेषास्तेषु यानि नलिनीखंडानि तेषां बोधको यः स तथा तस्मिन् पुनः किंभूते तस्मिन्नित्याह ॥ सहस्ररश्मौ दिनं करोतीति दिनकरस्तस्मिन् तेजसा ज्वलति । तत्रैवैते भावाः सर्वेऽपि सन्तीति ज्ञापनार्थं सूर्यस्य विशेषणबहुत्वं अनेन चोत्तरोत्तरकालभाविना आवश्यककरणकालविशेषणकलापेन प्रकृष्टमध्यमजघन्योद्यमवतां सत्वानामभिमतमावश्यकरणसमयमाह । तथाहि । केचित्प्रकृष्टोद्यमिनः किंचित्प्रकाशमानायां रजन्यां मुखधावनाद्यावश्यकं कुर्वंति । मध्यमोद्यमिनस्तु तस्यामेव सुविमलायामरुणप्रभावसरे वा । जघन्योद्यमिनस्तु समुद्गते सवितरीति (मुहधोवणेत्यादि) मुखधावनं च दन्तप्रक्षालनं च तैलं च फणिहश्च सिद्धार्थश्च हरितालिका च आदर्शश्च पुष्पाणि च माल्यं च गंधाश्च तांबूलं च वस्त्राणि च तान्यादिर्येषां स्नानाभरणपरिधानादीनां तानि फणिहः कंकतकस्तं मस्तकादौ व्यापारयति । सिद्धार्थाः सर्षपाः । हरितालिका दूर्वा एतद्वयं मंगलार्थं शिरसि प्रक्षिपति । आदर्शेषु मुखादि निरीक्षते वस्त्रादि धूपयति अग्रथितानि पुष्पाणि तान्येव ग्रथितानि माल्यम् अथवा विकसितानि पुष्पाणि वा तान्येवाविकसितानि माल्यमेतेषां च मस्तकादिषूपयोगः । शेषस्वरूपतश्चप्रतीतमप्रतीतमेवमेतानि द्रव्यावश्यकानि कृत्वा ततः पश्चाद्राजकुलादौ गच्छंति तत्र रमणीयतातिशयेन स्त्रीपुरुषमिथुनानि यत्रारमंति स विविधपुष्पजात्युपशोभित आरामः । वस्त्राभरणादिसमलंकृतविग्रहाः सति हिताशनाद्याहारा मदनोत्सवादिषु क्रीडार्थं लोका उद्यान्ति यत्रतच्चंपकादिलतागृहमणिकमुद्यानं भारतादिकथाविनोदेन यत्र लोकस्तिष्ठति सा सभा शेषं प्रतीतम् । अत्राह । ननु राजादिभिः प्रभाते अवश्यं क्रियत इति व्युत्पत्तिमात्रेणावश्यकत्वं भवतु मुखधावनादीनि नावावश्यककारणं न भवन्ति । सत्यं । किंतु भूतस्य भाविनो वेत्याद्येव द्रव्यलक्षणं मतव्यं । किं तर्हि (अप्पाहण्णे वि दव्वसद्दो) तीतिवचनादाह । अप्रधानवाचकोऽपि द्रव्यशब्दोऽवगतव्यः । अप्रधानानि च मोक्षकारणभावावश्यकापेक्षया संसारकारणानि राजादिमुखधावनादीनि ततश्च द्रव्यभूतान्यावश्यकानि द्रव्यावश्यकानि एतानीत्यदोषः नो आगमत्वं चेहाप्यागमाभावः नोशब्दस्य च सर्वनिषेधवचनत्वादित्यलं विस्तरेण निगमयन्नाह ॥

(सेत्तं लोइय) मित्यादि । तदेतज्ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं लौकिकं द्रव्यावश्यकमित्यर्थः । उक्तो नो आगमतो द्रव्यावश्यकांतर्गतज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः द्रव्यावश्यकप्रथमभेदः द्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह ।

से किं तं कुप्पावयणिअं दव्वावस्सयं ? जे इमे चरगचीरिगचम्मखंडिअभिक्खोंडपंडुरंगगोअमगोवतिअगिहिधम्मधम्मचिंतगअविरुद्धवेनयिकवुड्ढसावगपभितओ पासंडत्था कल्लं पाउप्पभाए जाए जाव तेअसा जलंते इंदस्स वा खंदस्स वा रुद्दस्स वा सिवस्स वा वेसमणस्स वा देवस्स वा नागस्स वा जूअस्स वा मुगुंदस्स वा अज्जाए वा कोट्टकिरिआए वा उवलेवणसंमज्जणआवरिसणधूवपुप्फगंधमल्लादिआइं दव्वावस्सयाइं करेंति से तं कुप्पावयणिअं दव्वावस्सयं ॥

से किं तं कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकमत्र निर्वचनं (कुप्पावयणिय दव्वावस्सयंति) इमे इत्यादि कुत्सितं प्रवचनं येषां ते कुप्रवचनास्तेषामिदं कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकं किं पुनस्तदित्याह । जे इमे इत्यादि ॥ एते चरकचीरिकादयः प्रभातसमये इन्द्रस्कंदादेरुपलेपनादि कुर्वंति तत् कुप्रावचनिकं द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थः ॥

देवताक्षितीशमातापितृगुरुणामविशेषेण विनयकारित्वाद्विरुद्धा वैनयिकाः पुण्यपापपरलोकाद्यनभ्युपगमपरा अक्रियावादिनो विरुद्धाः सर्वपार्षद्भिः सह विरुद्धवादित्वादत्राह ननु यद्येते पुण्याद्यनभ्युपगमपराः कथं तर्हीषां वक्ष्यमाणमिन्द्राद्युपलेपनं संभवति पुण्यादिनिमित्तमेव तस्य संभवात्सत्यं

किं तु जीविकादिहेतोस्तेषामपि तत्संभवतीत्यदोषः ॥

प्रभृतिमहणात् परिव्राजकादिपरिग्रह पार्षदं व्रतं तत्र तिष्ठतीति पाषण्डस्थाः । (कल्लं पाउप्पभायाए) इत्यादिपूर्ववत्

वत्तजसा ज्वलतीति । इंदस्स वेत्यादि । तत्रेन्द्रः प्रतीतः स्कन्दः कार्तिकेय रुद्रो हरः शिवस्त्वाकारविशेषधर स एव व्यतरविशेषो वा वैश्रवणो यक्षनायक देवः सन्मान्यः नागो भवनपतिविशेष यक्षभूतो व्यंतरविशेषो मुकुंदो बलदेवः आर्या प्रशांतरूपा दुर्गाऽस्यैव महिषारूढा । तत्कुट्टनपरा कोट्टक्रिया अत्रोपचारादिंद्रादिशब्देन तदायतनमप्युच्यते । अतः तस्येंद्रादिरूपोपक्षेपनसम्मार्जनवर्षणपुष्पधूपगंधमाल्यादीनि द्रव्यावश्यकानि कुर्वंति । तत्र लेपन छगणादिना प्रतीतमेव । सम्मार्जन दण्डपुञ्जनादिना । वर्षण गन्धोदकादिना । शेष गतार्थम् ॥ तदेव य एते चरकादय इंद्रादेरुपलेपनादि कुर्वंति तत कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यकम् । अत्र द्रव्यत्वमावश्यकत्व नो आगमत्व च लौकिकद्रव्यावश्यकोक्तमिव भावनीय निगमयन्नाह (सेत्तमित्यादि) तदेतत् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यकमित्यर्थः । उक्तो नो आगमतो द्रव्यावश्यकान्तर्गतज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यावश्यकद्वितीयभेदः ॥

अथातृतीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं लोगुत्तारेअं दव्वावस्सयं जं इमे समणगुणमुक्कजोगी छक्कायनिरणुकंपा हयाइव उद्दमा गया इव निरंकुशा घट्टा मट्टा तु प्पोट्ठा पंडुरपडपाउरणा जिणाणमणाणाए सच्छंदविहरिऊणं उभउकालं आवस्सयस्स उवट्ठावंति सेत्तं लोगुत्तरिअं दव्वावस्सयं सेत्तं जाणय सरीरभविअसरीरवतिरित्तं दव्वावस्सयं सेत्तं नो आगमतो दव्वावस्सयं । सेत्तं दव्वावस्सयं ॥

अथ किं तल्लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यकमत्र निर्वचनमाह । लोकस्योत्तराः साधवः अथवा लोकस्योत्तर प्रधान लोकोत्तर जिनशासन तेषु तस्मिन्वा भवति लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यकमिति व्याख्यातमेव किं पुनस्तदित्याह । जे इमेत्यादि । य एते श्रमणगुणमुक्तयोगित्वादिविशेषणविशिष्टाः साध्वाभासा जिनानामनाज्ञया स्वच्छन्दविहृत्योभयकालमावश्यकाय प्रतिक्रमणायोपतिष्ठते तत्तेषां प्रतिक्रमणानुष्ठान लोकोत्तरक द्रव्यावश्यकमिति समुदायार्थ । इदानीमवयवार्थ उच्यते । तत्र श्रमणाः साधवस्तेषां गुणा मूलोत्तरगुणरूपास्तत्र जीववधविरत्यादयो मूलगुणा पिण्डविशुद्ध्यादयस्तूत्तरगुणास्तेषु मुक्तो योगो व्यापारो यैस्ते सर्वधनादेराकृतिगणत्वात् श्रमणगुणमुक्तयोगिन एते च जीववधादिविरतिमुक्ता व्यापारा अपि मनसा कदाचित्सानुकम्पा अपि स्युरित्याह । षट्सु कायेषु पृथिव्यादिषु विषये निर्गता अपगता अनुकम्पा मनसा दया येभ्यस्ते तथा निरनुकम्पा तीव्रत्तमव हया इव तुरगा इव उद्दामाश्चरणनिपातजीवोपमर्दनिरपेक्षत्वात्तद्वारिण इत्यर्थ ॥ किमपीत्थंच भूतास्ते इत्याह । यतो गजा इव दुर्धरिद्वा इव निरंकुशा गुर्वाज्ञाव्यतिक्रमचारिण इत्यर्थ । अत एव घट्टत्ति, येषा जंघे श्लक्ष्णीकरणार्थं फेनादिना घृष्टेति भावतस्तेऽवयवावयविनोरभेदोपचारात् घृष्टस्तथा मट्ठेति । तैलोदकादिना येषा केशा शरीर वा मृष्ट ते तथैव मृष्टा अथवा केशादिषु मृष्ट विद्यते येषाते मृष्टवन्तो वत्प्रत्ययलोपान्मृष्टा तथा । (तुप्पोट्ठति) तुप्रामक्षिता वदनेन वा येष्टिना शीतरक्षादि निमित्तमोष्ठा येषा ते तुप्रौष्ठा तथा मलपरीषहासहिष्णुतादूरीकृतत्या पाण्डुरे धौतपटः प्रावरण येषा ते तथा जिनानामनाज्ञया स्वच्छन्द विरुद्धतीर्थकराज्ञा बाह्या स्वस्वरुच्याविविधचेष्टाः कृत्वा तत्रोभयकाल प्रभातसमयेऽस्तमयसमये च चतुर्थ्यर्थे षष्ठीति कृत्वा आवश्यकाय प्रतिक्रमणायोपतिष्ठते तत्तेषामावश्यकम् अत्र द्रव्यावश्यकत्व भावशून्यत्वात् फलाभावत्वाद्प्रधानतया अवसेय । नो आगमतो देशे क्रियालक्षण आगमानावान्नोशब्दस्य चात्र देशप्रतिषेधवचनत्वादिति अत्र च लोकोत्तरिके द्रव्यावश्यके उदाहरण। वसतपुरे नगरे अगीतार्थासंविग्ने गच्छे एकोविचरति तत्र श्रमणगुणमुक्तयोगीसंविग्नाभासः साधुरेकः प्रतिदिन पुरः कर्मादिदोषदुष्टमनेषणीय भक्तादि गृहीत्वा महता संवेगेन प्रतिक्रमणकाले आलोचयति । तस्य गच्छाचार्ये गीतार्थत्वात्प्रायश्चित्त प्रयच्छन् भणति पश्यत अहोकथमसौ भावमगोपयन् अशठतया सर्व समालोचयति । सुखं हि आसेवना क्रियते दुःखं चेत्थमालोचयितुं तस्मादेव अशठतयेव शुद्धोऽसौ तथा च त प्रशस्यमान दृष्ट्वा अन्येऽप्य गीतार्थश्रमणा प्रशसति चिंतयाति च गुरोश्चादिच्छया भाव्यस्तर्हि दोषासेवनायामसकृत्पातितायामपि न कश्चिद्दोषः । आलोचनाया एव साध्यत्वादित्थ चान्यदा तत्र संविग्नगीतार्थ कश्चिदायातस्तेन च प्रतिदिन तमेव व्यतिकरमालोक्य सूरिरुक्तस्त्वमित्थमस्य प्रशसा कुर्वन् विवक्षितक्षितीश इव लक्ष्यसे । तथाहि गिरिनगरवासी कश्चिदग्निभक्तो वणिक् पद्मरागरत्नानां गृह भृत्वा प्रतिवर्षं वह्निना प्रदीपयति तथा विवेकतया तत्र नरपतिर्लोके श्लाघमाण अहो धन्योऽय वणिग् भगवत हुतभुजामित्थमौदार्यभक्त्यतिशयाद्रत्नैस्तर्पयति । अन्यदा च प्रबलपवनपटलप्रेरितस्त प्रदीपितदहनः सराजप्रासाद समस्तमपि तन्नगर दहतिस्म । असाच राज्ञा दण्डितो नगराच्च निष्कासित स्तदेव राज्ञा तस्य प्रशसां कुर्वता आत्मा नगरं लोकश्च नाशित स्तथा त्वमपि अस्यागविधिप्रवृत्तस्य प्रशसां कुर्वन्नात्मान समस्तगच्छ चोच्छेदयसि यदि पुनरेनमेक शिक्षयसि तदा तथाविध न पश्व त्वपरिकारा निरपायतामनुभवसि । तथा ह्यन्येन केनचिद्राज्ञा तथैव कुर्वन् कश्चिद्वणिगाकर्णितस्तेभ्यो नगरदाहापायदर्शनात् क्षितीशेन अरण्य गत्वा किमित्थ न करोषीत्यादि वचोभिस्तिरस्कृत्य दण्डितो निष्कासितश्च एव त्वमपीत्याद्युपनयोगतार्थ । इत्यादि बहुप्रकार भणितो यावदसौ तत्प्रशसातो न निवर्तते तावत्तेन गीतार्थसाधुना शेषसाधवोऽभिहिता एष गणाधिपो महानिर्द्धर्म्मेतास्पदमगीतार्थो यदि न परित्यज्यते तदा भवतां महते अनर्थाय प्रभवतीति तदेव तत्साध्वावश्यकप्रकार सर्वं लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यकमिति निगमयन्नाह (सेतमित्यादि) तदेतल्लोकोत्तरिकं द्रव्यावश्यक एतद्भणने ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं त्रिविधमपि द्रव्यावश्यक समर्थित भवत्यतस्तदपि निगमयति । सेत्तमित्यादि । एतत्समर्थेन नो आगमतो द्रव्यावश्यकस्य प्रभेदस्य समर्थितत्वात्तदपि निगमयति । सेत्त नो आगमतो इत्यादि एतत्समर्थने च यत्प्रक्रांत । द्रव्यावश्यक तस्योत्तरः भेदमप्यवसितमतो निगमयति सत्त दव्वावस्सयमिति तदेतत् द्रव्यावश्यक समर्थितमित्यर्थः ।

उक्त सप्रपच द्रव्यावश्यकम् ॥

साम्प्रतमवसरायातभावावश्यकनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं भावावस्सयं २ दुविहं पण्णत्तं तंजहा आगमतो अ नो आगमतो अ ॥

टी० ॥ अथ किंतद् भावावश्यकमित्यत्र निर्वचनमाह ॥ भावावस्सय दुविहमित्यादि वक्तृ विवक्षितपरिणामस्य भवनभाव

उक्तं च भावो विवक्षितक्रियानुभूतियुक्तो हि वै समाख्यात सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियानुभावात् व्याख्यावक्तुर्वैवक्षितक्रियया विवक्षितपरिणामस्य इन्दनादेरनुभवनमनुभूतिस्तया युक्तोऽर्थः सन्नवस्तयोरभेदोपचारः सर्वज्ञैः समाख्यातो निर्देशनमाह । इन्द्रादिवदित्यादि यथा इन्दनादिक्रियानुभावात् परमैश्वर्यादिपरिणामेन परिणतत्वादिन्द्रादिभाव उच्यते इत्यर्थः । भावश्चासावावश्यकं च भावमाश्रित्य वा ।

तत्राद्यभेदनिरूपणार्थमाह ।

से किं तं आगमतो भावावस्सयं २ जाणए उवउत्ते सेत्तं आगमतो भावावस्सयं ॥

अथ किं तदागमतो भावावश्यकमत्राह (आगमओभावावस्सयं जाणए) इत्यादि ज्ञायकोपयुक्त आगमतो भावावश्यकं इदमुक्तं भवत्यावश्यकपदार्थज्ञस्तज्जनितसंवेगविशुद्ध्यमानपरिमाणामस्तत्रचोपयुक्त साध्वादिरागममते भावावश्यकम् आवश्यकार्थोपयोगलक्षणस्याऽत्र सद्भावात् भावावश्यकता चात्रावश्यकोपयोगपरिणामस्य सद्भावात् । भावमाश्रित्यभावश्यकम् इति व्युत्पत्तेः अथवा आवश्यकोपयोगपरिणामानन्यत्वात्साध्वादिरपि भावस्ततश्च भावश्चासावावश्यकं चेति व्युत्पत्तेरप्यसौ मंतव्यइति (सेत्तमित्यादि) निगमनं ।

अथ भावावश्यकद्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं नो आगमओ भावावस्सयं २ तिविहं पण्णत्तं । तं जहा । लोइअं कुप्पावणिअं लोगुत्तरिअं ॥

अथ किं तन्नो आगमतो भावावश्यकमत्राह नो आगमतो भावावश्यकंत्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा लौकिकं कुप्रावचनिकं लोकोत्तरिकं च ॥

तत्र प्रथमभेदनिर्णयार्थमाह ॥

से किं तं लोइअं भावावस्सयं २ पुव्वण्हे भारहं अवरण्हे रामायणं से त्तं लोइअं भावावस्सयं ॥

अथ किं तल्लौकिकं भावावश्यकमित्याह (लोइयं भावावस्सयं पुव्वण्हे) इत्यादि लोके भवं लौकिकं यदिदं लोकः पूर्वाह्णे भारतमपराह्णे रामायणं वाचयति शृणोति वा तल्लौकिकं भावावश्यकं हि भारतरामायणयोर्वाचनं श्रवणं वा पूर्वाह्णापराह्णयोरेव रूढं विपर्ययेदोषदर्शनात्ततः स्वच्छमनयोर्लोकेऽवश्यकरणीयत्वादावश्यकत्वं तद्वाचकस्य श्रोतॄणां च तदर्थोपयोगपरिणामसद्भावात् वा चेत्थं नद्वाचक-श्रोतारश्च पत्रकपरावर्त्तनहस्तामिनयगात्रसंयमनकाकुम्भश्रमीलनादिक्रियायुक्ता भवंति क्रिया वा नागमत्वेन प्रागेवोक्ता किरियागमो न होइ इति वचनात् । ततश्च क्रियालक्षणे देशेऽऽगमस्याऽभावात् आगमत्वमपि भावनीय नो शब्दस्यात्र देशनिषेधवचनत्वाद्देशे त्वागमोऽस्तिलौकिकाभिप्रायेण भारतादेरागमत्वात्तया निर्दिष्टसमये लौकिकास्तदुपयुक्ता यदवश्यं भारतादि वाचयति शृणोति वा तल्लौकिकं भावावश्यकमितिभावमाश्रित्यावश्यकं भावश्चासावावश्यकं चेति वा भावावश्यकमित्यलं विस्तरेण से त्तमित्यादि गमनम् । उक्तो नो आगमतो भावावश्यकप्रथमभेदोऽयं ॥ तद्द्वितीयभेदनिरूपणार्थमाह ॥

से किं तं कुप्पावणिअं भावावस्सयं २ जे इमे चरगचीरिगजावपासंडत्थायं २ इज्जांजलिहोमजपमन्दरुकनमोकारमादि आइभावावस्सयाइं करेंति सेत्तं कुप्पावयणिअं भावावस्सयं ॥

टी० (से किं तं कुप्पावणीय) मित्यादि अत्र च निर्वचनमाह । कुप्पावयणिय भावावस्सय जे इमे त्यादि कुत्सितं प्रवचनं भावावश्यकं कितदुच्यते । य एते चरकचीरकादयः पाषंडस्था यथावसरे इज्यांजलिहोमादीनि भावतपान्यावश्यकानि कुर्वंति । तत्कुप्रावचनिकं भावावश्यकमिति संबंधः । तत्र चरकादिस्वरूपं प्रागेवोक्तम् । इज्यांजल्यादिस्वरूपमुच्यते । तत्र यजनमिति याग इत्यर्थस्तद्विषयोऽजलस्यांजलिरिज्यांजलिः । यागदेवतापूजावसरभावीति हृदय अथवा यजनमिज्या पूजा । गायत्र्यादि पाठपूर्वकं विप्राणां सन्ध्यार्चनमित्यर्थः । सूत्रांजलिरिज्याञलि अथवा देशी भाषाया मिज्येति माता तस्या नमस्कारविधौ तद्भक्तैः क्रियमाणः करकुड्मलमीलनलक्षणोऽञ्जलिरिज्यांजलिः होमोऽग्निहोत्रिकैः क्रियमाणमग्निहवने जापो मंत्राभ्यासः । मंदुरुकाक्ति । देशीवचनं मंडु मुखं तेन रुकं वृषभादिशब्दकरणं मंडुरुकं । देवतादिपुरतो वृषभगर्जितादिकरणमित्यर्थः । नमस्कारोनमो भगवते दिवसनाथायेत्यादिक एतेषां द्वंद्वे इज्यांजलिहोमजापमंदरुकनमस्कारास्ते आदिर्येषां तानि । । तथा आदिशब्दात् स्तवादिपरिग्रहः एतेषां चरकादिभिरवश्यं क्रियमाणत्वादावश्यकत्वमेतत्कर्तॄणां च तदर्थोपयोगश्रद्धादिपरिणामसद्भावात् भावत्वं । अन्यच्च चरकादयस्तदर्थोपयोगलक्षणो देश आगमो देशस्तु करशिरोन्यासादिक्रिया लक्षणो नागमस्ततो देश आगमो भावमाश्रित्य नो आगमत्वमव गंतव्यं । नोशब्दस्येहापि देशनिषेधपरत्वात्तस्माच्चरकादयस्तदुपयुक्ता यथावसरं यदवश्यमिज्यांजल्यादि कुर्वंति । ततः कुप्रावचनिकं । भावावश्यकं भावावश्यकशब्दस्य च व्युत्पत्तिरत्यं तथैव सेत्तमित्यादि निगमनं । उक्तो नो आगमतो भावावश्यकद्वितीयभेदः । अथ तृतीयभेदनिरूपणार्थमाह ।

से किं तं लोगोत्तरिअं भावावस्सअं जण्णं इमे समणे वा समणी वा सावओ वा साविआ वा तच्चित्ते तंमणे तल्लेसे तदज्झवसिते तदज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पिअकरणे तब्भावणाभाविते अण्णत्थकत्थइ मणं अकुव्वमाणे उवउत्ते जिणवयणधम्माणुरागरत्तमणे मत्तंतरे उभयोकालं आवस्सयं करेंति सेत्तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं ॥

सेत्तं नो आगमतो भावावस्सयं सेत्तं भावावस्सयं ।

से किं तं लोउत्तरियमित्यादि । अत्र निर्वचन लोउत्तरिय भावावस्सयं जण्णमित्यादि । जण्णमिति वाक्यालंकारे । यदिदं श्रमणादयस्तच्चित्तादिविशेषणविशिष्टा उभयकाले प्रतिक्रमणाद्यावश्यकं कुर्वंति । तल्लोकोत्तरिकं भावावश्यकमिति । तत्रकस्तत्र आम्यतीति श्रमणः साधुः । श्रमणी साध्वी । शृणोति साधुसमीपे जिनप्रणीतां समाचारीमिति श्रावकः श्रमणोपासकः । श्राविका श्रमणोपासिका । वाशब्दाः समुच्चयार्थाः । तस्मिन्नावश्यके चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्येति तच्चित्तः । तस्मिन्नेव मनो विशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः तत्रैव लेश्या शुभपरिणामरूपा यस्येति सतल्लेश्यस्तथा तदध्यवसितं इहाध्यवसायोऽध्यवसितं ततश्च तच्चित्तादिभावयुक्तस्य सतस्तस्मिन्नावश्यके ऽध्यवसितं क्रियासम्पादनं विषयस्येति तदध्यवसितं । तथा । तत्तीव्रमध्यवसायस्तस्मिन्नेवावश्यके तीव्र प्रारंभकालादारभ्य प्रतिक्षणं प्रकर्षयायिप्रयत्नविशेषल-

क्षणमध्यवसानं यस्य स तथा । तदर्थोऽपयुक्तस्तस्यावश्यकस्यार्थस्तदर्थस्तस्मिन्नुपयुक्तस्तदर्थोपयुक्त । प्रशस्ततरसंवेगविशुद्ध्यमानस्तस्मिन्नेव प्रतिसूत्रं प्रतिक्रियं चार्थोपयुक्त इत्यर्थः । तथा तदर्पितकरण करणानि तत्साधकतमानि देहरजोहरणमुखवस्त्रिकादीनि तस्मिन्नावश्यके तथोचित व्यापारनियोगेनाऽर्पितानि नियुक्तानि तानि येन स तथा । सम्यग् यथास्थानं न्यस्तोपकरण इत्यर्थः । तथा तद्भावनाभावित तस्याऽऽवश्यकस्य भावना अव्यवच्छिन्नपूर्वपूर्वतरसंस्कारस्य पुनः पुनस्तदनुष्ठानरूपा तया भावितोऽद्भावेन परिणतावश्यकानुष्ठानपरिणामस्तद्भावनाभावित । तदेव यथोक्तप्रकारेण प्रस्तुतव्यतिरेकतोऽन्यत्र कुत्रचिन्मनोऽकुर्वन्नु पलक्षणत्वाद्वाचं कायं चान्यत्राकुर्वन्नेकार्थिकानि वा विशेषणान्येतानि प्रस्तुतोपयोगप्रकर्षप्रतिपादनपराणि अमूनि च लिङ्गपरिणामतः श्रमणीश्राविकयोरपि योज्यन्ते । तस्मात्तच्चित्तादिविशेषणविशिष्टाः श्रमणादयः उभयकालमुभयसन्ध्यं यदावश्यकं कुर्वन्ति तल्लोकोत्तरिकं भावमाश्रित्य भावश्रावकावश्यकं चेति वा भावावश्यकम् । अत्राऽऽवश्यक करणादावश्यकत्वं तदुपयोगपरिणामस्य च सद्भावात् भावत्व । मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणरजोहरणव्यापारादिक्रियालक्षणदेशस्याऽनागमत्वात् नो आगमत्वं भावनीय । सेत्तमित्यादि । अनु० ॥

निगमनं तदेवं स्वरूपत उक्तं भावावश्यकमनेन चात्राधिकार, एतदेव संगृह्य गाथयोपनिबध्नन् चतुर्विधं निक्षेपमाह । विशे० ॥

तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वान्नोच्यते । द्रव्याऽऽवश्यकं तु द्विधा आगमतो नो आगमतश्च । तत्राऽऽगमत आह ॥

आगमओ दव्वावस्सय, तमावस्सयं पयं जस्स ।
सिक्खियमिच्चाइतयं, तदणुवउत्तो निगदमाणो ॥

आगमतो द्रव्यावश्यकं भवति क इत्याह ॥ तदावश्यकं निगदन्नधीयानोऽध्येता कथंभूतस्तस्मिन्नावश्यकेऽनुपयुक्तस्तदनुपयुक्तः यस्याऽध्येतु । किमित्याह । यस्य तदावश्यकपदं प्रथम शिक्षितं जितमित्यादिविशेषणविशिष्टं भवति । अथ तान्येवाऽनुयोगद्वारादिसूत्रोक्तानि शिक्षितादिविशेषणानि व्याख्यानयन्नाह ॥

सिक्खिय मंतं नीयं ठियं मियं जियं रुयं । एइस क्खियवयमाइमियं परिजियमेरुक्कमेणंमि । जहसिक्खिओयं समानामंतहंतंपि तहाठियाइ नामसमं गुरुजणियं घोससरिसं संगाहियमुहत्तातओतेय नाविहीणक्खमाहियक्खरं च वोच्चत्थरयणमालव्व वाइद्धक्खरकमेयं वच्चा इयव्वासं न खलियमुवलहणं पिव अमिलियमसरूवधन्नमेलोव्ववोसत्तगन्थमहवा अमिलियपयवक्कविच्छेयं । नय विविहसत्थपल्लवाविमिस्समत्ताण विक्कमाहियं वा निव्वामेलियकोलियपायसामिव सेरिकयं वा मत्ताइनियमाणं पडिपुन्नं च्छेदसाहवत्थेणं नाकंखायरुवोच्छं पुणरुदत्ताइ घोसेहिं ॥ कंठोट्ठविप्पमुक्कं नाठत्तं बालसुयजाणियं वा गुरुवायणो वयातं न चोरियं पुच्छयाउ वा ॥

इहानुयोगद्वारेऽप्युक्तं ॥

सेकिंतं आगमओ दव्वावस्सयं २ जस्स णं आवस्सएत्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियपरिजियं नामसमं घोससमं अहीणक्खरं अच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलियं अमिलियं अविच्चामेलियं पडिपुन्नं घोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं सेणं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए । वर्तत इत्यध्याहारः ॥

नो अणुपेहाए इहापि वर्तत इति शेषः इदं च सूत्रं आगमओदव्वावस्सयमित्यादि प्रागुक्तगाथायाः प्रायो व्याख्यातं शिक्षितादिपदानि विद्वाना व्याख्यायंते तत्र शिक्षितमिति कोऽर्थः अंतं नीतं सर्वमधीमिति स्थितं हृदि व्यवस्थितमप्रच्युतमित्यर्थः । जितं इतमागच्छति च्च्युत वर्णादिभि. संख्यातमित यद्गुतक्रमेणाऽप्येत्याऽऽगच्छतितत्सर्वतो जितं स्वकीयेन नाम्नासमं नामसमं यथा स्वनाम,शिक्षितं तथा तदप्यावश्यकं तथा यथैव स्वनामस्थितादिविशेषणविशिष्टं घटते । स्थितजितं मितं परिमितमित्यर्थः । एवंतदप्यावश्यकमतः स्वनामसममुच्यते । यद्वाचनाचार्याभिहितोदात्ताऽनुदात्तस्वरितलक्षणैर्घोषैः सदृशमेव गृहीतं तत् घोषसमं न हीनाक्षरं नाप्यधिकाक्षरं (वोच्चत्थे) त्यादि यथा मालातीविश्रोतरत्नमालाविपर्ययन्यस्तरत्नानिचया भवत्येवं यद्यत्पासितवर्णविन्यासं विपर्ययोपन्यस्तवर्णसंतानमित्यर्थः । तद्वाक्षरं न तथावा विद्धाक्षर इव वर्णमात्रापेक्षं विवक्ष्यते ननु वाक्यापेक्ष पदवाक्यविपर्ययस्तस्य वक्ष्यमाणमीक्षितविषयत्वादिति उपलशकलाऽऽकुलभूतले हलमिव यन्न स्खलति तदस्खलितं । विसदृशानेकधान्यमेलकवद्यन्न मिलति तदमिलितं । अथवा विपर्यस्तपदवाक्यग्रन्थ मिलितमेव यत्तदमिलितं (अमिलियपयवक्कविच्छेयति) अथवेत्यत्रापि तृतीयव्याख्यांतरसूचकः संबध्यते । अमिलितोऽसंसक्तः पदवाक्यविच्छेदो यत्रत दाऽमिलितमुच्यते । अव्यत्यामेडितं व्याख्यातुमाह । नयविविहेत्यादि विविधानि नानाप्रकाराण्यनेकानि शास्त्राणि तेषां पदवाक्यावयवरूपा बहवाः पल्लवास्तैर्विमिश्रं व्यत्यामेडितं अथवा स्थानाच्छिन्नग्रथितं व्यत्याम्रेडितं यथा । प्राप्तराज्यस्य रामस्य राक्षसा निधनं गताः । कोलिकपायसवद्वेरीकयावद्वा यथोक्तरूपं यन्न भवति तदव्यत्याम्रेडितं । परिपूर्णं द्विधा । सूत्रतोऽर्थतश्च । तत्र छंदसा वृद्धः समाश्रित्य मात्रादिनियतमानं सूत्रतःपरिपूर्णं । यत्त्वनाकांक्षादिदोषस्तदर्थतोऽपरिपूर्णं यत्क्रियाऽध्याहारं नाऽपेक्षते । अध्यापकश्च तंत्र च भवति तदर्थतः परिपूर्णमिति भावः । परिपूर्णघोषमिति व्याख्यातुमाह (पुन-) मित्यादि । उदात्तादिघोषैः परावर्तनादिकाले उच्चारयति । तत्परिपूर्णघोषं । इह च शिक्षाकालेऽध्यापकनिगदितोदात्तादिघोषैःसमं शिक्षमाणस्य घोषसमं । शेषकाले तु परावर्तनादि कुर्वन्यदुदात्तादिघोषैः परिपूर्णमुच्चारयति तत्परिपूर्णघोषमित्यनयोर्विशेषः । कण्ठोष्ठविप्रमुक्तं न तु बालमूकभाषितवदव्यक्तं गुरोः सकाशाद्वाचनया उपयातमायातं न पुनः पुस्तकादेव चोरितः स्वतंत्रेणैवाऽधीतं वाशब्दात्कर्णाघाटकेन वा गृहीतमिति । अत्र प्रेरकः प्राह ।

आगमओऽणुवउत्तो, वत्ता दव्वंति सिद्धमावासं ।
किं सिक्खियाइ सुयगुण, विसेसणो फलमिहत्तहियं ।

नन्वागमतोऽनुपयुक्तो वक्ता द्रव्यावश्यकमित्येतावतैव सिद्धमागतो द्रव्यावश्यकं ,किं शिक्षित स्थित जितमित्याद्यावश्यकश्रुतगुणविशेषणैरिह ऽभ्यधिकं फलमिति ॥ अत्रोत्तरमाह ॥

जइ सव्वदोसरहियं पि, निगदओ सुतमणुवउत्तस्स ॥
दव्वसुयं दव्वावासयं, च तह स वक्किरिया उवओ ॥१॥
उवउत्तस्स य खलियाइ, यं पि सुद्धस्स भाव ओसुत्तं ॥
साहइ तइकिरियाओ, सव्वाओ निज्जरफलाओ ॥२॥

इहाशिक्षितादिविशेषणकलापं कुर्वन्नाचार्य इति साधयते-ततः कथयतीति द्वितीयगाथायां क्रिया किंसाधयतीत्याह-यथा शिक्षितादिगुणेपेतत्वात्सर्वदोषरहितं सूत्रमनुपयुक्तस्य निगदतो द्रव्यश्रुतं वक्ष्यमाणद्रव्यावश्यक चोक्तस्वरूपं भवति । तथा प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनेत्यादि क्रिया ऽपि सर्वा अनुपयुक्तस्य कुर्वतो ऽतःप्रणिधानशून्यत्वाद्व्यक्रियास्तत्फलाधवला भवति । तथा यथैव सामर्थ्यादिद लभ्यते उपयुक्तस्य त्वतः प्रणिधानयुक्तस्य कारणवैकल्यादिकारणात्कथमपि स्खलितादिदोषदुष्टमपि सूत्रं निगदतो भावतः शुद्धस्य तस्य भावसूत्रमेव भवति । तथा सर्वाऽपि प्रत्युपेक्षादिक्रिया उपयुक्तस्य कुर्वतः कर्मनिर्जराफला एव भवंत्यतः सर्वव्यापि भगवदुक्तानुष्ठानेष्वत्र प्रणिधाने ऽतिशयतः प्रयत्नः कार्य इति ॥ विशे. ॥

अथ नो आगमतोऽभिधित्सुराह ॥

नो आगमओ जाणय, भव्वसरीराइरित्तमावासं ।
लोइयलोउत्तरियं, कुप्पावयणं जहा सुत्ते ॥

नो आगमतो द्रव्यावश्यकत्रिविधं ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं तदुभयद्रव्यावश्यकव्यतिरिक्तं च तत्र सम्यक्पूर्वोऽधीतावश्यक सिद्धशिलातलगतं जीवविप्रमुक्तं मुनिशरीरमनुभूतभावत्वात् ज्ञशरीरद्रव्यावश्यकं । यत्पुनरावश्यकार्थं ज्ञास्यति । न पुनरिदानीं जानाति तत्सचेतनं देवदत्तादिशरीरं योग्यत्वा भव्यशरीरद्रव्यावश्यकं । एतदुभयव्यतिरिक्तं तु नो आगमतो द्रव्यावश्यकं त्रिविधम् । लौकिकं लोकोत्तरं कुप्रावचनिकं च । तत्र लौकिकं राजादीनां मुखप्रक्षालनाद्यावश्यकं लोकोत्तरं तु येइमे श्रमणगुणविप्रमुक्ता लिंगमात्रधारिणः साध्वाभासाः प्रतिपदमनेकान्यसयमस्थानान्यासेव्योभयकाल प्रतिक्रमणाद्यावश्यकं कुर्वंति तद्विज्ञेयं । कुप्रावचनिकं तु यत्पाखंडिनश्चामुण्डायतनोपलेपनाद्यावश्यकं कुर्वति तद्बोद्धव्यं नोशब्दश्चेह सर्वत्रागमं सर्वनिषेध द्रष्टव्य । एतच्च सर्वमपि नो आगमतो द्रव्यावश्यकं सप्रभेदं यथा सूत्रे । अनुयोगद्वाराख्ये प्रोक्तं तथा विज्ञेयमिति । इह लोकोत्तर यन्नो आगमतो द्रव्यावश्यकमुक्तं तत्रोदाहरणमाह ॥

लोउत्तरे अभिक्खण, मासेवाजोयओ उदाहरणं ।
सरयणदाहगवाणिय, नाए जइ उवालब्भे ॥

लोकोत्तर नो आगमतो द्रव्यावश्यकेऽभीक्ष्णमासेवकालोचकसाध्वाभास उदाहरणं । आसेवकश्चासावालोचकश्चेति समासः । आसेवकालोचकस्य च योऽगीतार्थोगुरुः स खलु रत्नदाहकवणिग् ज्ञानेन गीतार्थयतिनिरुपालंभः इत्यक्षरार्थो भावार्थस्तु कथानकगम्यस्तच्च कथ्यते ।

वसंतपुरं नाम नगरं तत्र चाऽगीतार्थः संविग्नाभास एको गच्छः सूरिसहितो विचरति । तन्मध्ये चैक साध्वाभासस्तिष्ठति । स च प्रतिदिनमुदकार्द्रहस्तादिदोषदुष्टान्यनेषणीयभक्तपानकादीनि गृहीत्वावश्यककाले महांतं संवेगमिवोद्वहन् सर्वं गुर्वतिके ऽभ्यवहमालोचयति गुरुरपितस्यैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छति । तत्र प्रच्छन्नगीतार्थत्वेन नित्यमेव वक्ति अहो धर्मश्रद्धालुरयं महाभागः सुखेनासेव्यते दुष्करं च यदित्थमालोच्यते । अतोऽगीतत्वादेव शुद्धोऽयमेतच्च दृष्ट्वाऽन्यमुग्धसाधवश्चिंतयत्यहो आसेव्य चालोचयितव्यमेवेत साध्यं । तत्रैवंत्रियते तदीकृत्याऽसेवनेऽपि न कश्चिद्दोषइत्येवं सर्वस्मिन् गच्छे प्रायः प्रवृत्तमसमंजसमिति । इत्थं च व्रजति काले अन्यदा गीतार्थः साधुः कश्चित्तत्र गच्छे प्राघूर्णकः समायातस्तेन चासौ विधिः सर्वोऽपि दृष्टस्तोऽचिंतितमहो ऽनेनागीतार्थगुरुणा सर्वोऽप्ययं नाशितो गच्छ इत्ततस्तेन भणितो गुरुराह ।

त्वममुं नित्यमकृत्यासेवकं साधुमित्थं प्रशंसन् प्रचासिनगरनृपतेस्तन्नगरवासिलोकस्य च सदृश कथमित्यत्रोच्यते ।

गिरिनगरं नाम नगरं तत्र चैको वाणिक कोटीश्वरो निवसति । स च वैश्वानरभक्तत्वात्प्रतिवर्षं रत्नानामपवरकं भृत्वा वह्निना प्रदीपयति । तं च तथा कुर्वंतं राजा नगरलोकश्च सर्वदा प्रशंसति । यथा अहो वैश्वानरे भक्तिरस्य यदमुं भगवंतं प्रतिवर्षमित्थं रत्नैस्तर्पयत्यसौ । एवं च प्रशस्यमानोऽयमादततरं प्रतिसंवत्सरं तथाऽनुतिष्ठति । ततोऽन्यदा प्रचण्डपवनोद्धूतस्तेन प्रदीपितो वन्हिः सराजगृहं समस्तमपि नगरं भस्मसात्करोतिस्म । ततः सनगरेण राज्ञा किमस्माभिरित्थं कुर्वन्नसौ पूर्वं निषिद्धः किंवा प्रशंसित इत्यादि बहु पश्चात्ताप कृत्वा दण्डितो निर्वासितश्च नगरादसौ वणिगिति । एवमाचार्य ! त्वमपि अविधिप्रवृत्तस्याऽस्यसाधोर्नित्यमित्थंप्रशंसां कुर्वन्नमुमात्मानं गच्छं च नाशयसि । तस्मान्मथुरापुरीनरपतेस्तन्निवासिलोकस्य च सदृशोभव यतोऽनर्थभाग् भवसि । कथमित्यत्राऽभिधीयते ॥

मथुरानगर्यामपि वैश्वानरभक्तेन केनापीश्वरवणिजा इत्थमेव रत्नभृतं गृहं प्रदीपयितुमारब्धम् ततः स नगरलोकेन राज्ञा-दण्डित्वा तिरस्कृतश्चासौ वणिगरण्ये गृहं कृत्वा किमित्थं न प्रदीपयसीति निष्कासितो नगरादिति त्वमपीत्थं कुर्वन्तमुमात्मानं गच्छं चानर्थेभ्यो रक्षसि तादित्थं युक्तिभिः शिक्ष्यमाणोऽप्यसौ गुरुरगीतार्थत्वेन साग्रहतया निर्धर्मतया च स्वप्रवृत्तेर्ननिवर्तते । ततस्तेन प्राघूर्णकसाधुना गच्छसाधवोऽभिहिताः । अत्रैव नूतस्य गुरोर्वशवर्तित्वेन परिन्दियतामयमन्यथा सर्वे पामनर्थाय सपत्स्यते । ततस्तैस्तथाऽनुष्ठितं तैरिति । तदेवंभूतस्य गच्छस्य सत्कं नो आगमतो लोकोत्तरं द्रव्यावश्यकमभिधीयत इति तदेवं सोदाहरणमुक्तं द्रव्यावश्यकं ॥

अधुना भावावश्यकमभिधीयते । तच्च द्विधा आगमतो नो आगमतश्च । तदेतदुभयमप्याह ॥

आगमओ भावावस्सयं, तदत्थोवओगपरिणामो ।
नो आगमओ भावे, परिणामो नाणकिरियासु ॥

आगमतो भावावश्यकमावश्यकार्थोपयोगपरिणाम नो आगमतस्तु ज्ञानक्रियोभयपरिणामो मिश्रवचनत्वान्नोशब्दस्येति । इदं च त्रिविधमपि दर्शयन्नाह ॥

लोइयलोउत्तरियं, कुप्पावयणं च तं समासेणं ।
लोउत्तरं पसत्थं, सत्थे तेणाहिगारोयं ॥

तन्नो आगमतो भावावश्यकं त्रिविधं । लौकिकं लोकोत्तरं कुप्रावचनिकं । एवं चोपन्यासः पूर्वं व्यतिरिक्तद्रव्यावश्यकेऽत्र च भावावश्यके वधानुलोम्यादिना केनापि हेतुना कृतो यावता ऽनुयोगद्वारसूत्रेण इत्थमुक्तं । लौकिकं कुप्रावचनिकं लोकोत्तरं चेति । तत्र लौकिकं नो आगमतो भावावश्यकं । पूर्वाह्णे भारतं अपराह्णे रामायण वाचनीयमित्यादि कुप्रावचनिकं । मन्त्रादि

पाठपूर्वकमिज्यांजलिहोमादि लोकोत्तर पुनरुपयुक्तस्य श्रमणा देर्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणावर्त्तादि क्रियामिश्रमुभयक आवश्यकसूत्रोच्चारण एवं सर्वत्र ज्ञानक्रियामिश्रता भावनीया। इह च त्रिविधेऽपि नोआगमतो भावावश्यके पारमार्थिकाऽनुपमाऽपवर्गसुखप्राप्तिहेतुत्वाल्लोकोत्तरमेव प्रशस्त । तदेव चेह शास्त्रेऽधिक्रियत इति । विशे० । आ० म० प्र० १ अ । आ० चू० १ अ ॥

आवश्यकं च गुरुसाक्षिकमेव कर्त्तव्यम् ।

तथा च विशेषावश्यके ॥

आवस्सयंमि निच्चं, गुरूपादमूलंमि देसियं सव्वं होइ ।
वीसुंपि हुसंवसओ, कारणओ जंदन्निसेज्जाए ॥

अनेन गुर्वामन्त्रणवचनेन आवश्यक प्रतिक्रमण गुरुपादमूल एव नित्य कर्तव्य इति दर्शित भवति । यद्यप्यस्मादन्निशय्यायां द्वितीयवसतावित्यर्थः । कारणत कारणवशाद्विष्वगपि संवसत साधो कल्पग्रथे इय सामाचारी प्रोक्तेति शेष का पुनरियं कल्पसमाचारीत्युच्यते ।

जइ खुड्डुलगा वसही तो, अन्नगंतूणा कपयया साहूणो ।

वसति तत्राचार्यसमीपे (पडिक्कमिउ पाउसिय) कालग्रहणोत्तर कालं सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अन्यस्यां गच्छतो अथांतरा श्वापदादिभय ततोऽर्थपौरुषी हापयंति तथा सूत्रपौरुषीमपि कालमपि तथा चरमं कायोत्सर्गं तृतीयमाद्य यावत्तिस्रोऽप्येपि सहस्ररस्मौ तत्र यांतीति न केवल प्रतिक्रमण किंत्वेवमेव शेषाण्यपि सर्वाणि साधुभिरवश्य कर्त्तव्यान्यावश्यकानि । गुरुनापृच्छ्य कर्तव्यानीत्येतद्ज्ञापितमामन्त्रणवचनाद्येन सर्वेषामप्यावश्यकानां सामायिकमेवादौ मत भदतशब्दश्च य स्मात्तदादौ निर्दिष्टस्तेनानुवर्तते तत्कोऽसो सर्वेष्वप्यावश्यकेषु कथमित्याह ॥ इदमिद च करोमि भवता इति। एतदेवाह ॥

एवं चिय सव्वावस्सयाइ आपुच्छिऊण कज्जाइं जाएा वियमामंतणवयणा । जेण सव्वेसिं सामाइयमाइयं ओ यं जदंत ! तहोयजंतउदाइ एतंगासुवत्तइ तओकरोमि ! जंते ति सव्वेसु ॥

गतार्थं । किमिति गुरूनापृच्छ्यैव सर्वावश्यकानि कर्तव्यानीत्याह । किच्चाकिच्च गुरवो, विदंति विणयपडिवत्तिहेऊ च । उस्सासाइए मोत्तुं, तदापुच्छाए पडिसिद्धं ॥१॥ पाठसिद्धा। यत्र तर्हि गुरुर्न भवति तत्र किं विधेयमित्याह ॥

गुरुविरहम्मि य ठवणा, गुरूवसेवोवदंसणत्थं च ।
जिणविरहम्मि वि जिण, विंवसेवणमंतणं सफलं १
रन्नोवपरोक्खस्स वि, जह सेवामंतदेवया एव ।
तह य परोक्खस्स वि, गुरुणो सेवा विणयहेऊ २
अहवा गुरुगुणनाणो, चउगनभाव गुरुसमा एसो ।
इह विणयमूल धम्मो, वएसणत्थं चऊजियं विणयसासाण-मूलं । विणीअसंजाऊ जवा, विणयाविप्पमुक्कस्स कउधम्मो ३ कउतवो विणउवयारं, माणस्स जंजणापूयणा गुरुजणस्स । तित्थयराणय आणा, सुयधम्माराहणा किरिया ॥

पागसिद्धा एवेति ॥

आवश्यकाकरणेऽसमाचारी दोषः ॥

न करेंती आवस्सं, हिणाहियनिविद्ध पाउयनिविम्रा ।
दंमगहणादिविणयं, राइणियादी ण न करेंति ॥

आवश्यक मूलत एव न कुर्वंति । यदि वा हीन अधिकं वा कायोत्सर्गाणां हीनकरणतोऽधिक वाऽनुप्रेक्षार्थं कायोत्सर्गाणामेव चिरकालकरणतः कुर्वंति । यदि वा निषण्णा उपविष्टा प्रावृत्ताः शीताः शीतादिभयतः कल्पादिप्राचरणप्रावृत्ता निषण्णास्त्वग्वर्तनेन निपतिताः प्रकुर्वंति । व्य. १ उ. ।

आवश्यकाकरणे प्रायश्चितम् । महा. ७ अ. ॥

से जयवं केवइयाइं पायच्छित्तस्स णं पयाइं खाइयाइं गोपायत्यिस्स पयाइं संखाइयाइं से जयवं तेसिणं संखा इयणं पायच्छित्त पयाणं किंतं पढमं पायच्छित्तस्स णं गोयमा ! पइदिणकिरियं सेजयवं किंति पइदेणकिरियं गोयमा ! जं मणुं समयाअहन्निसा-यणोवरमंजावणुट्ठेयव्वाणि संखेज्जाणि आवस्सगाणि । से जयवं केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ । जहा ण आवस्सगाणि गोयमा ! असेसकसिणट्ठकम्मक्खयकारि उत्तमसम्मदंसणं चारित्तंअवंतघोरवीरुग्गकट्ठसुदुकरं तव-साहणट्ठाए परूविज्जंति । नियमियविभत्तुद्दिट्ठं परिमिएणं कालसमएणं पयं पयेणाहं निसाणुसमयमाजम्मं अव-स्समेव तित्थयराइसु कीरंति अणुट्ठिज्जयंति उवइसिज्जंति परुविज्जंति पन्नविज्जंति सययं पराएं अट्ठेणं एवं वुच्चइ । गोयमा ! जहा णं आवस्सगाणि तेसिं चणं गोयमा ! जे भिक्कू कालाइक्कमेणं वेलाइक्कमेणं समयाइक्कम्माणं आलसायमाणे अणोवओपमत्ते अविहीए अन्नेसिं व असद्धं उप्पायमाणो अन्नयरमावस्सगं पमाइयसं तेणं बलवीरिएणं सातलेहरूताए आलंबणं वा किंचिघेत्तूणं विराइयं पउरियाणाणं जहुत्तयालं समणुट्ठेज्जासेणं गोयमा ! महा पायच्छित्ती जवेज्जा ॥

अकएसु य पुरिमा, सणमायायं सव्वसो चउत्थं तु ।
पुव्वमपेहिय थंडिल्ल, निसिवो सिरिणे दिवासुवणे ५३॥

अकृतेषु पुन कार्योत्सर्गेषु वदनकेषु च एकादिषु एकादित्रिषु पुरिमैकाशनाचामाम्लानि (सव्वसो चउत्थतु) सर्वस्मिंस्तु प्रतिक्रमणे अकृते चतुर्थन्तु । तथा पुर्व्वं सन्ध्यायामप्रेक्षितस्थण्डिले निशि सल्लोत्सर्गे कृते चतुर्थं । तथा दिवसे निद्राकृते चतुर्थं ॥ ५३ ॥ जीत टी. ॥

निव्वीतियपुरिमड्ढोअंबिलखपणा य आवासे ॥

आवासे आवश्यके एकादिकायोत्सर्गाऽकरणे सर्वावश्यकाकरणे यथासख्यं निर्विकृतिपूर्वार्धाचाम्लक्षपणानि । इयमत्र भावना । आवश्यके यद्येकं कायोत्सर्गं न करोति ततः प्रायश्चित्त । निर्विकृतिक कायोत्सर्गद्वयाकरणे पूर्वार्द्धं त्रयाणामपि कायोत्सर्गकरणानामकरणे आचाम्ल सर्वस्याऽपि चावश्यकस्याकरणे अभक्तार्थो इति । व्य. १ उ. ॥

देशत सर्वतो वाऽऽवश्यकाकरणकारणान्याभिशय्यागमनवेलामधिकृत्य व्यवहारकल्पे ॥

आवस्सयं तु काउं, निव्वाघाएण होइ गंतव्वं ।
वाघाएण उ जयणा, देसं सव्वं अ काउणं ॥

व्याघातस्य स्तेनादिप्रतिबन्धस्याऽभावोनिर्व्याघातेन भवति । गंतव्य वसतिराचार्यैः सममावश्यक कृत्वा व्याघातो न पुनर्हेतु सूत्रेन प्रजनाविकल्पेन का भजनेत्यत आह । देशं वा आवश्य कंकृत्वा सर्वं वावश्यकमकृत्वा समाप्ते यैःकारणैः प्रतिबन्धस्ता-न्युपदर्शयति ।

तेणासावयवाला, गुम्मिय आरक्खिठवणपडिणीए ।
इत्थिनपुंसगसंसत्त, वासचिरकल्लकंटे य ॥

स्तेनाश्चौरास्ते सन्ध्यासमयेऽन्धकारकलुषिते सचरंति । श्वाप दानि चाऽत्युग्राणि भूयांसि तदा उद्धतानि हिंडते व्याला वा भु-जंगमादयो वातादिपानाय भूयांसः सचरंति तथा गुल्मेन स समुदायेन सचरतीति गौल्मिका आरक्षिकाणामभ्युपरिस्था-यिनो हिंडिकाः पुररक्षकास्ते अकाले हिंडमानान् गृह्णंति । तथा-ठवणत्ति । कचिद्देशे पर्व कृत्वा स्थापना क्रियते । तथा अस्तमिते सूर्ये रथ्यादिषु सर्वथा न संचरणीयमिति प्रत्यनीको वा कोऽप्यं तरायविघातकरणार्थं तिष्ठन् वर्त्तते स्त्रियो नपुंसका वा कामव-शुलास्तत्र उपसर्गयेयुः । ससक्तो वा प्राणजातिनिरयांतरासे मार्गः । ततोऽन्धकारेणेर्यापथिकी न शुद्ध्यति । वर्षं वा यस्तत् संजायते (वासचिरचल्लोत्ति) कर्दमो वा पथि भूयानस्ति । ततो रात्रौ पादलग्नः कर्दमः कथं क्रियते (कंटत्ति) कटका वा मार्गेऽतिबहवस्ते रात्रौ परिहर्तुं न शक्यंते । एतैर्व्याघातकार-णैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वा वश्यकमकृत्वा गच्छंति त-त्र देशतः कथमकृत्वेत्यत आह ॥

थुतिमंगलकितिकम्मे, उस्सग्गो य तिविहकियकम्मे ।
तत्तो य पडिक्कमणे, आलोयणायाए किति कम्मो ॥

स्तुतिमंगलमकृत्वा स्तुतिमंगलाकरणे चायं विधिः । आवश्य-के समाप्ते द्वे स्तुती उच्चार्य तृतीयांस्तु तिमकृत्वा अभिशय्यां ग-च्छंति तत्र च ग त्वाचेर्यापथिकिं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददाति अथ वा आवश्यके समाप्ते एकां स्तुतिं कृत्वा द्वेस्तुती अभिश-य्यां गत्वा पूर्वविधिनोच्चारयति । अथ वा समाप्ते आवश्यके अभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीर्ददाति । अथवा स्तुतिभ्यो यद्वक्तिकृतकृतिकर्म्मे तस्मिन्नकृतेऽभिशय्यां गत्वा तत्रेर्याप-थिकीं प्रतिक्रम्य मुखवस्त्रिकां च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्म्मकृत्वास्तुती ददाति (काउस्सग्गो य तिविहत्ति) त्रिविधे कार्योत्सर्गे क्रमेण कृते तद्यथा चरमकार्योत्सर्गमकृत्वा अभिशय्यांगत्वा तत्र चर-मकायोत्सर्गादिकं कुर्वंति । अन्यथा द्वौकायोत्सर्गौ चरमावकृ-त्वा यदि वा त्रीनपि कार्योत्सर्गान् अकृत्वा अथ वा कार्योत्स-र्गेभ्योऽर्वाक्तनं यत् कृतिकर्म्मे तस्मिन्नकृते चपश्चक्रणमेतत् । ततो अर्वाक्तने क्षामणेयदि वा ततोऽप्यर्वाक्तने कृतिकर्म्मणि अकृते अथ वा ततोऽप्यर्वाक्तने प्रतिक्रमणे अकृते यदि वा ततोऽप्य-र्वाक्तने आलोचने अकृते अथवा ततोऽप्यर्वाक्तने कृतिकर्म्मणि अकृते अभिशय्यामुपगम्य तत्र तदावश्यक कर्तव्यमिति । एवमावश्यकस्य देशतोऽकरणमुक्तमिदानीं सर्वस्याकरणमाह ।

काउस्सग्गमकाउं, कितिकम्मालोयणं जहन्नेणं ।
गमणम्मी एसविही, आगमणम्मीविहीं वोच्छं ॥

यो दैवसिकातिचारानुप्रेक्षार्थं प्रथमः कार्योत्सर्गस्तमप्यकृ-त्वा किमुक्तं भवति । सर्वमावश्यकमकृत्वा ऽभिशय्यां गच्छ-न्ति । किमगमय गच्छन्ति । उतास्ति कश्चन विधिरुच्यते । अस्तीति ब्रूम । तथा चाह । (कितिकम्मालोयण जहन्नेणत्ति) । जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्वा सर्वे गुरुवन्दनं कृत्वा यश्च सर्वेषांसमोज्येष्ठः स आलोच्य तदनतरमभिशय्यां त्या सर्वमावश्यकमहीनं कुर्वंति । एषोऽभिसय्यायां गमने ऽभिसज्जात प्रत्यागमने पुनर्योविधिस्तमिदानीं वक्ष्ये ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

आवस्सगं अकाउं, निव्वाघाएण होइ आगमणं ।
आघायम्मि उ जयणा, देसं सव्वं च काउणं ॥

यदि कश्चनापि व्याघातो न भवति ततोनिर्व्याघातेन व्याघा-ताभावेनावश्यकमकृत्वाऽभिशय्यातो वसतावागमनं भवति । आगत्य च गुरुभिः सहावश्यकं कुर्वंति व्याघाते भजना काउ-नभजनेत्यत आह । देशमावश्यकस्य कृत्वा सर्वं वाऽऽवश्यकं कृत्वा तत्र देशत आवश्यकस्य करणमाह ॥

काउस्सग्गं काउं, कितिकम्मालोयणं पडिक्कमणं ।
किइकम्मं तिविहं वा, काउस्सग्गं परिन्नाय ॥

कार्योत्सर्गमाद्यं कृत्वा वसतावागत्य शेषं गुरुभिः सह कुर्वं-ति । अथ वा द्वौ कार्योत्सर्गौ कृत्वा यदिवा त्रीनकार्योत्सर्गान् कृत्वा अथ वा कार्योत्सर्गत्रयानतरं यत् कृतिकर्म्मं तत्कृत्वा अ-थवा तदनतरमालोचनमपि कृत्वा यदि वा तत्परं यत्प्रतिक्रम-णं तदपि कृत्वा अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकर्म्मे द्विभेदं क्षा-मणादर्वाक्तनं परश्चेत्यर्थः ॥ तदपि कृत्वा पाठांतरं तिविहं ते विमूलकृतिकर्म्मपेक्षया त्रिविधं वा कृतिकर्म्म कृत्वा अथवा कार्योत्सर्गं चरमं पाण्मासिकं कृत्वा पविक्षामप्रत्याख्यानं तामपि वा कृत्वा । अत्रायं विधिः । सर्वे साधवश्चरमकार्योत्सर्गं वसता-वागत्य गुरुसमीपे वदनकं कृत्वा सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठः आलोच्य सर्वे प्रत्याख्यानं गृह्णंति । अथवा सर्वमावश्यकं कृत्वा एकां स्तुतिं दत्त्वा शेषे द्वे स्तुती कृत्वा शेषं गुरुसकाशे कुर्वंति ॥ तदेवमुक्तं देशतः आवश्यकस्य करणमधुना सर्वतः कारणमाह ॥

थुति मंगलं च काउं, आगमणं होति अभिनिसिज्जातो ।
वितियपदे जयणाऊ, गिलाणमादी उ कायव्वा ॥

अथवा प्रत्याख्यानं तदनतरं स्तुतिमंगलं च स्तुतित्रया कर्षणरूपं तत्र कृत्वा अभिशय्यात आगमनं भवति । तत्रेयं समाचारी गुरुसमीपे ज्येष्ठ एक आलोचयति आलोच्य प्रत्या-ख्यानं गृह्णातीति शेषः ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना प्रत्याख्यानं च कृत वदनकं च सर्वे ददति क्षामणं च । द्वितीयपदे अपवा-दपदे ग्लानादिषु प्रयोजनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति ग्लानादिकं प्रयोजनमुद्दिश्य वसतौ नागच्छेयुरपीति ग्लाना दीन्येव प्रयोजनान्याह ॥

गेलन्नवासमहिता, पउट्ठ अंते उरे निवे अगणी ॥
अहिगरणहत्थिसंजम ए, गेलन्ननिवेयणा नवरिं ॥

ग्लानत्वमेकस्य बहूनां साधूनां तत्राऽजनवत् ततः सर्वेऽपि साधवस्तत्र व्यापृतीभूता इति न वसतावागमनं अथवा वर्षं पतितुमारब्धं मिहिका वा पतितुं लग्ना यद्वा (पउट्ठत्ति) प्रविष्टाः कोऽप्यतरायविरूपकरणाय तिष्ठति । अत पुर वा तदा मीं निर्गतुमारब्धं । तत्र च राज्ञा उद्घोषितं यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यासु सचरितव्यं । राजा वा तदा निर्गच्छति । तत्र हयगजपुरुषादीनां समर्दः अग्निकायोत्थानतागामे महान् उत्थि तोऽधिकरणं वा गृहस्थेन समं कश्मापि जातं दुष्टहस्ती वा तत्स्पशमयितुं तत्र तस्मिन्भ्रमो वा जातं । किमुक्तं भवति ।

हस्ती कथमप्याऽऽलानस्तंभं भङ्क्त्वा शून्यासनः स्वेच्छया तत्र परिभ्रमति । एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिं नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये ग्लानत्वे विशेषः यदि ग्लानत्वमागाढमुपजातमेकस्य बहूनां वा तदा गुरूणां निवेदना कर्त्तव्या ॥ व्य. १ उ. ॥

कालाद्यतिक्रमेणाऽऽवश्यके प्रायश्चित्तम् । तथा च महानिशीथे ७ अ. ॥

एवं जेणं भिक्खू सुत्ताइक्कमेणं कालाइक्कमेणं आवस्सगं कुव्वीया । तस्स णं कारणिगस्स भिक्खुकरूं गोयमा ! पायच्छित्त वइसेज्जा जइ णं आकारणिगतेसिं तूणं जहाजोगं चउत्थाइं ॥

आवश्यके च प्रमादो न कार्य्यः । पं० भा० ।

माकुणह प्पमायं, आवस्सएहिं संजमतवोतहाणेहिं ।

णिस्सारं माणुस्सं, दुक्खजलावं वियाणेत्ता ।'

(माकुण हप्पमायं,) ध्यानेनाः प्रतिषेधे माकुरुत कषाययोगादिभिः प्रमाद आवश्यकरणीयमावश्यकं । किंचित् तदावश्यकं संयमतपोध्यानादिभिः । एष आवश्यकः तप एव उपधानं तपो पधान किमर्थं । यस्मान्निः सार मानुष्यं जलबुद्बुदसमानं कुशाग्रजलबिन्दुसन्निभ चेत्यादि ततश्चैवं गुणं जातीयं दुर्लभं दुःप्राप्यमित्यर्थः । विविधमनेकप्रकारं वा ज्ञात्वा विदुतो ॥ पं. चू. ॥

आवश्यकप्रमादे प्रायश्चित्तम् ॥

सेऽजयवं जेणं गणी किंचि आवस्सगं पमाएज्जा गोयमा ! जेणंगणा अकारणिगे किंची खणमेगमवि पमाएसेणं अवदंउवइसेज्जा जओणं तुम महाकारणिगे वि संते गणी खणमेगमविणकिंचि णियमावस्सगं पमाए सेणं वंदे पूएदट्ठव्वे जावणं सिद्धे बुद्धे पारगए खीणट्ठकम्ममले नीरए उवइसेज्जा सेसं तु महयाए बंधेणं सत्याणे चेव जाणिहिइ एवं पच्छित्ते विहिं सोऊणाणुट्ठती अदीणमणो जं जइय जहा थामं जे से आराहगे जाणिए । महा० ७ अ० ॥

सम्प्रति श्रावकस्य बहारंभरतस्याऽप्यावश्यके न दुःखांतो भवतीति दर्शयितुमाह ।

आवस्सएण एएण, सावओ जइवि बहुरओ होइ ।

दुक्खाणमंतकिरियं, काही अचिरेण कालेणं

आवश्यकेनैतेनेति षड्विधभावावश्यकरूपेण नतु वंतधावनादिना द्रव्यावश्यकेण श्रावको यद्यपि बहुरजा बहुबध्यमानकर्मा बहुरतो वाविविधसावद्यारंभासक्तो भवति तथापीत्यस्मात् दु:खानां शारीरमानसानां (अंतकिरियं) अंतक्रियां विनाशं करिष्यत्यचिरेण स्तोकेनैव कालेन-अत्र चांतक्रियायां अनंतरहेतुर्यथाख्यातचारित्रं तथापि परंपराहेतुरिदमपि जायते सुदर्शनादेरिवेति । ध० २ अधि. ॥

श्रावकस्याऽवश्यकम् ॥

अविरुद्धो ववहारो, काले तह भोयणं च संवरणं ।

चे इहरागमसवणं, सकारो वंदणाईय ॥ पंचा०

मत्वावश्यककरणमित्यसंगतं श्रावकं प्रति व्रतादिवत्तस्याऽऽगमे विधेयतया उपदिष्टत्वात्तथा ह्यसौ उपासकदशादौ मूलागमेनोपदेशोकापक चोपलभ्यते तद्व्यवहाररूपे श्रावकप्रज्ञप्त्यादौ च तथैव च श्रावकप्रतिदिनक्रियां प्रतिपादयताऽऽचार्येण चिइवंदणमो इत्येतावदेवोक्तमथ सूत्रे ।

समणेण सावएणय, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा ।

अंतो अहो निसिस्सय, तम्हा आवस्सयं नाम ॥

इत्यस्यामनुयोगद्वारगाथायां श्रावकस्य तदुपदिष्टमिष्टमिति हेतुः नैवं तत्र चैत्यवदनादिनैवावश्यकस्य गतार्थत्वादतोयदावश्य कर्त्तव्य तदेवावश्यकमवश्यकर्त्तव्यं च चैत्यपूजावन्दनादिश्रावकस्य यदि पुनरिदं षड्विधावश्यकमवश्यकर्त्तव्यतया श्रावकस्योपदिष्टमभविष्यत्तदा य एवषड्विधावश्यककारी स एव श्रावकोऽभविष्यन्नचैवमविरतानामपि सामायिककारिणां श्रावकत्वाभ्युपगमादिति । अत्रोच्यते । यदुक्तमुपासकदशादावनुक्तत्वात् श्रावकाणामावश्यकमयुक्तमिति । तदयुक्तमनुपदिष्टत्वस्यासिद्धत्वात्तथाहि । यद्यप्युपासकदशादौ नोपदिष्टं । तथेदं तथाप्यनुयोगद्वारेषु तदुपदिष्टं तथाहि ॥

जं इमंसमणे समणीवा सावए वा साविया वा तच्चित्ते तम्मणे जाव उभओकालं छव्विहं आवस्सयं करेंति सेत्तं लोउत्तरियं भावावस्सयंति ॥

यच्चोक्तं । चैत्यवन्दनादि श्रावकस्याऽवश्यकमिति तदप्यसंगतं (मज्झयणछक्कवग्गो) इत्यादि तदेकार्थिकपदोपन्यासेन तस्य षड्विधत्वेन निश्चितत्वाद्गुमास्वातिवाचकेनाऽप्यस्य समर्थितत्वात्तथाहि । तेनोक्तं । सम्यग् दर्शनसंपन्नः षड्विधावश्यकनिरतश्च श्रावको भवतीति गम्यते । तथा अशठसमाचरितत्वादिजीतप्रकल्पाभिधापपद्यमानत्वेन जीताभिधानपंचमव्यवहारसमर्थितत्वात्तथा । यदुक्तं । (समणेण सावएण य) इत्यत्र गाथायां यदि षड्विधावश्यक विवक्षितमभविष्यत्तदा तत्कारिण एव श्रावका अभविष्यन्नान्ये इति । तदप्यसंगतं । श्रमणपक्षेऽप्यस्य दूषणस्य समानत्वात्तथाहि । य एव षड्विधमावश्यक कुर्वन्ति त एव श्रमणाः स्युस्ततश्च कारणजाते प्रतिक्रमणकारिणां मध्यमतीर्थसाधूनामश्रमणता स्यान्न चैवमथ चरमतीर्थसाधूनाश्रित्येयं गाथोक्ता । सत्यं । केवलं यदि श्रावकाणां षड्विधाऽवश्यकप्रज्ञापनार्थापि स्यात्तदा किं दूषणमिति । अथ सूत्रे षड्विधावश्यकमतिचारशुद्धिरूपं वर्तते । न च श्रावकाणामालोचनादि दशप्रकारशुद्धेर्मध्यादेकापि प्रकल्पादिग्रंथेषूपलभ्यते । न च तेषामतिचारा घटंते । संज्वलनोदय एव तेषामुक्तत्वादित्यत्रोच्यते । यद्यपि श्रावकाणां प्रकल्पादिग्रंथेषु शुद्धिर्न दृश्यते । तथाऽप्यसौ श्रावकजीतकल्पादेः सकाशादवश्याभ्युपगंतव्या । अन्यथोपासकदशासु यदुक्तं किल भगवान् गौतममुनिरानन्दश्रावकं प्रत्यवादीत् ॥

तु मएणं आणंदाएयस्स अट्ठस्स आलोयाहि पडिक्कमाहि निंदाहि गरिहाहि अहारिहं तवोकम्मंपायच्छित्तं पडिवज्जाहीति ॥

तत्कथं घटेताऽतएव ज्ञापकादतिचारा अपि तेषां भवतीति सिद्धं यच्चाचारा असज्वलनोदयेऽपि भवन्ति । तथा प्रागुक्तं किंच यदीदं चैत्यवदनादिकमावश्यकं स्यात्तदाऽतो अहोनिसस्सय इति मुनिवचनेन सन्ध्याद्वय एव श्रावकस्य तद्विधेयं स्यात् श्रूयते । पुनरेव ॥

दंसणसुद्धिनिमित्तं, तिकालं देववंदणाइयंति

अतः सन्ध्याद्वयकरणनियमः षड्विधावश्यकस्यैवोपपद्यते साधूनामिवेति किंच ॥

सव्वंति भाणिऊणं, विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि ।
सोसव्वविरइवाइ, चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥

इत्यनया गाथया सामयिकसूत्रं सर्वशब्दवर्ज श्रावकस्योक्तं । चतुर्विंशतिस्तवस्तु सम्यग्दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वात् सम्यग्दर्शनस्य च श्रावकस्याऽपि शोधनीयत्वात्कर्तृविशेषस्य चानभिहितत्वादाचरितत्वाच्चोपपन्न एवास्येति । किंचेर्यापथिकाप्रतिक्रमणस्य गमनागमनमात्रेण शब्देन भगवत्यां शंखोपाख्यानकेषु पुष्कलिश्रावककृतत्वेन दर्शितत्वाद्गमनागमनशब्दस्य चेर्यापथिकापर्यायतया भगवत्यामेव तद्वृत्तिव्याख्यानकेषु ओघनिर्युक्तिचूर्ण्यां च प्रसिद्धत्वादीर्यापथिकाकायोत्सर्गे च चतुर्विंशतिस्तवस्य प्रायश्चिन्तनीयत्वाच्चाऽसौ सिद्ध इति वन्दनकमपि गुणवत्प्रतिपत्तिरूपत्वात् गुणवत्प्रतिपत्तेश्च श्रावकस्याऽप्यविरुद्धत्वात् कृष्णादिभिश्च तस्य प्रवर्त्तितत्वात्संगतमेवास्य ननु ॥

पंचमहव्वयजुत्तो, अनलससमानपरिवज्जियमती य ।
संविग्गनिज्जरट्ठी, किइ कम्मकरो, हवइ साहुत्ति ॥

अनया निर्युक्तिगाथया साधुग्रहणेन श्रावकस्य व्यवच्छेदान्न संगत । तस्य वन्दनकं नैव तत साधुग्रहणं तत्र तदन्यवन्दनकोपलक्षणार्थं ननु श्रावकव्यवच्छेदार्थं । यदि तु व्यवच्छेदार्थमभविष्यत्तदा साध्व्या अपि व्यवच्छेदो भविष्यन्न चासौ संगतो मातुर्विशेषेण वन्दनकनिषेधाद्यदाह ।

मायरं पियरं वा वि, जेट्ठगं वा वि भायरं ।
किइकम्मं न कारेज्जा, सव्वेराइं णिए तहा ॥

तथा(पंचमहव्वयजुत्तो) अनेन यथा महाव्रतग्रहणादणुव्रतयुक्तस्य व्यवच्छेदस्तथा पंचग्रहणाच्चतुर्महाव्रतयुक्तस्य मध्यतीर्थसाधोरपि व्यवच्छेदः स्यान्नचैतदिष्टमित्यतो निर्विशेषं वन्दनकमपीति प्रतिक्रमणं तु सामान्यत ईर्यापथप्रतिक्रमणभणनेनैव सिद्धमथ विचित्राभिग्रहवतां श्रावकाणां कथमेकेन प्रतिक्रमणसूत्रेण तदुपपद्यते । यतो प्रतिपन्नान्यतरव्रतस्य तदतिचारासंभवस्तदसंभवे च तदुच्चारणमसंगतमेवान्यथा महाव्रतातिचाराणामप्युच्चारणप्रसंग इति । नैवमप्रतिपन्नान्यतरव्रतस्यापि तदतिचारोच्चारतो श्रद्धानादिविषयस्य प्रतिक्रमणस्यानुमतत्वाद्यत उक्तं ॥

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणं अकरणे पडिक्कमणं ।
असद्दहणेय तहा, विवरीयपरूवणाए य ॥

अत एव साधुप्रतिपन्नाख्युपासकभिक्षुप्रतिमासु (एगारस एहिं उवासगपडिमाहिं बारसेहिं भिक्खुपडिमाही) त्येवं प्रतिक्रामति । ननु यद्येवं तदा साधुप्रतिक्रमणसूत्रेणैव ते प्रतिक्रामतु को वा किमाह केवलं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमणुव्रतादिविषयस्य प्रतिसिद्धाचरणस्य प्रपंचाभिधायकत्वात् सोपयोगतरमिति तेन ते प्रतिक्रामति ननु साधुप्रतिक्रमणाद्भिन्नं श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमयुक्तं । निर्युक्तिभाष्यचूर्ण्यादिभिरतानितत्वेनानार्षत्वान्नैवमावश्यकाद्दिदशशास्त्रीव्यतिरेकेण निर्युक्तीनामभावे औपपातिकाद्युपांगानां च चूर्ण्यभावेनानार्षत्वप्रसंगात्तत प्रतिक्रमणमप्यस्ति । तेषां कायोत्सर्गस्तु ईर्यापथप्रतिक्रमणात् पंचमप्रतिमाकरणात् सुभद्राश्राविकादिनिदर्शनतश्च श्रावकस्य विधेयतया प्रतिपत्तव्यो यदि हि साधवोऽपि भंगभयात्साकारं कायोत्सर्गं प्रतिपद्यन्ते तदा गृहिभिः सुतरामसौ तथा प्रतिपत्तव्यः साकारपेक्षया तेषामनैष्ठिकत्वादिति । एवं प्रत्याख्यानकमपि ननु परिष्ठापनिकादय आकाराः साधूनामेव घटते । ततो गृहिणामयुक्तमेतन्नैव यतो यथा गुर्वादयः परिष्ठापनिकस्याऽनधिकारिणोऽपि यथा वा भगवतीयोगवाहिनो गृहस्थ सद्गृहाद्यनधिकारिणोऽपि परिष्ठापनिकाद्याकारोच्चारणेन प्रत्याख्याति अखंडं सूत्रमुच्चारणीयमिति न्यायादेव गृहस्था अपीति न दोषस्तस्मात्षड्विधमप्यावश्यकं श्रावकस्यास्तीति प्रतिपत्तव्यमित्यलं प्रसंगेन विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ पञ्चा० १ वृ० ॥ ज्ञाता० १ अ० । ध० २ अधि० ॥

आवस्सय–आवश्यक– न० समग्रस्याऽपि गुणग्रामस्याऽऽवासकमित्यावश्यकम् । अनु० । सामायिकादिके, । स्था० २ ठा० ॥

आवासक–न० गुणशून्यमात्मानमासमन्ताद्वासयति गुणैरित्यावासकम्–सामायिकादिके, ॥ ग० २ अधि० अथवा आऽऽवस्सयति प्राकृतशैल्याऽऽवासकम् ॥ गुणशून्यमात्मानं गुणैरावासयतीत्यावासकम् । गुणसान्निध्यमात्मनः करोतीति ॥ आ० म० प्र० १ अ० । अनु० ॥

सन्निज्झमावत्थापणेहिं वावसयं गुणओ ।

सान्निध्यभावस्थापनैर्वा आवसकं गुणत इत्यावासकमुच्यते । इदमुक्तं भवति । वस निवासे इति गुणशून्यमात्मानं गुणैरासमन्ताद्वासयति गुणसान्निध्यमात्मनः करोतीत्यावासकम् । अथ वा यथा वस्त्रं वासधूपादिभिस्तथा गुणैरासमन्तादात्मानं वासयति भावयति रञ्जयत्यावासकम् । यदि वा वस आच्छादने गुणैरासमन्तादात्मानं छादयति वद संवरणे दोषेभ्यः संवृणोत्यावासकमिति विशे० ॥

आवस्सयकरण–आवश्यककरण–न० केवलिसमुद्घातात्पूर्वं केवलिना क्रियमाणे व्यापारभेदे, शब्दा ते स्वोपात्तमनुष्यायुषोत प्रक्रयवशादुपकस्याऽन्तर्मुहूर्ते शेषे सिद्ध्यत्पर्यायाभिमुखा अवश्यकरणमिति प्रश्ने प्रदर्श्यते । अन्वर्थत्वादवश्यकारणसंज्ञाया भास्करवत् अवश्यकरणीयत्वादवश्यकरणं कुर्वन्तीति । कथमिदमावश्यककरणमिति कथमिदमन्वर्थेति दर्श्यते । अर्थमनुगता या संज्ञा सान्वर्था । अर्थमंगीकृत्य प्रवर्तेत इत्यर्थः । कथमिह यथा भास्करसंज्ञा अन्वर्था । कथमन्वर्था भासं करोतीति भास्कर इति यो भासनार्थमंगीकृत्य प्रवर्तेत इत्यर्थः । तथावश्यककरणमिति इयं संज्ञा अन्वर्था कथमिति चेत् ब्रूमहे । अवश्यं क्रियत इत्यावश्यककरणं इति । यो अवश्यकरणार्थोऽवश्यकर्तव्यतार्थमंगीकृत्य प्रवर्तेत यस्मात्तस्मात्सर्वकेवलिभिः सिद्धभिरवश्य क्रियमाणत्वादवश्यकरण मित्यर्थसंज्ञासिद्धिरथवावश्य भाव आवश्यकं इह मनोज्ञादिभ्यश्चेति मनोज्ञादिराधिकृतत्वात् वुञ्सत्यावश्यकसिद्धिः । आवश्यकं करणं आवश्यककरणं । कुतः लोके दृष्टत्वात् मल्लस्य कक्षाबन्धकरणवत् यथा मल्लो युयुत्सुनाबध्वा शाटकं युध्यते । स हि प्रथममेव शाटकेन कक्षां बध्वा अतः परं कृतावश्यकं कक्षाबन्धकरणं योद्धुमारभेत । तथान्तर्मुहूर्तायुः शेषेण केवलिभावसिद्धता प्रथममेव करणं अवश्यं कर्तव्यमित्यावश्यककरणमिति आ. चू २ अ. ।

आवस्सयकिइ–आवश्यककृत्ति–स्त्री० प्रतिक्रमणकरणे ध० ३ अधि० ॥

आवस्सयटीगा–आवश्यकटीका] स्त्री० हरिभद्रस्वामिविरचितायामावश्यकवृत्तौ, आव० ६ अ. ॥

यदर्जितं विरचयता सुबोधां पुण्यं मयाऽवश्यक

शास्त्रटीकां। नवे नवे तेन ममैवमेव, भूयाज्जिनोक्ते ऽनुमतेः प्रयासः॥ २॥

इयञ्च द्वाविंशतिसहस्रात्मिका "द्वाविंशतिसहस्राणि, ग्रन्थाग्रन्थनिसंख्यया। अनुष्टुप्छंदसां मान, मस्या उद्देशात. कृतम्" १ आव.॥

आवस्सयणिज्जुत्ति—आवश्यकनिर्युक्ति स्त्री. भद्रबाहुस्वामिविरचितेआवश्यक व्याख्याने, । तथाचाऽऽवश्यकनिर्युक्ति विवृण्वन् मलयगिरिराह। आम. प्र. १ अ.।

नत्वा गुरुपदकमलं, प्रभावतस्तस्य मन्दशक्तिरपि॥
आवश्यकनिर्युक्तिं, विवृणोमि यथागमं स्पष्टम्॥ ३॥
यद्यपि च विवृतयोऽस्या, स्सन्ति विचित्रास्तथापि विषमास्ताः। संप्रति च जनो जडधी, र्भूयानिति विवृत्तिसंरम्भः॥ ४॥

तत्र प्रेक्षावतामप्रवृत्त्यर्थममदो प्रयोजनादिकमुपन्यसनीयम न्यथा न युक्तोऽयमावश्यकप्रारम्भप्रयासो निष्प्रयोजनत्वात्कण्टकशाखामर्दनवत् निरभिधेयत्वात्काकदन्तपरीक्षावत् असंबद्धत्वाद्दश दाडिमानि षडपूपा इत्यादि वाक्यवत्। स्वेच्छाविरचितशास्त्रप्रवृत्त्याशङ्कात प्रेक्षावन्तो न प्रवर्तेरन्। तथा मङ्गलमप्यादौ वक्तव्यमन्यथा।

कर्तुः श्रोतॄणां चाविघ्नेनेष्टफलसिद्धियोगात्॥
प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं फलादित्रितयंस्फुटं॥
मंगलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये॥ १॥

आवश्यकनिर्युक्तौ काश्चन निर्युक्तिगाथा अन्यकर्तृकाः प्राक्षिप्तास्ताश्च टीकाकृता तत्र व्याख्यानावसरे तथा सूचितास्ता-स्त्वपि काश्चिट्टीकाकारेण निर्युक्तिकृत्कृतत्वेन मता अपि अन्यकर्तृका इति क्षेपकशब्देऽशब्दे॥ मलयगिरिवचसा दर्शयिष्यामि करणशब्देऽपि करणशब्दे॥

आवस्सयपरिसुद्धि—आवश्यकपरिशुद्धि—स्त्री० अवश्यकरणीययोगनिरतिचारतायाम्॥

आवश्ययपरिसुद्धीय, होंति भिक्खुस्स लिंगाइं॥

आवश्यकपरिशुद्धिरवश्यकरणीययोगनिरतिचारता च भवति भिक्षोर्भावसाधोर्लिंगानीति दश० १० अ.।द्वा.२७ द्वा॥

आवस्सयवइरित्त—आवश्यकव्यतिरिक्त— न० अंगबाह्ये श्रुतभेदे,॥

तथाचोगबाह्यं श्रुतमधिकृत्य प्रश्नसूत्रमाह।

सेकिंतं आवस्सयं २ छव्विहं पण्णत्तं। तंजहा। सामाइयं १ चउवीसत्थओ २ वंदणयं ३ पडिक्कमणं ४ काउसग्गो ५ पच्चक्खाणं ६। सेत्तआवस्सयं। सेकिं तं आवस्सयवइरित्तं। आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं। तंजहा। कालियं उक्कालियंच। नं०॥

टी०॥ अथकिं तदङ्गबाह्यं सूरिराह।

अंगबाह्यश्रुत द्विविधं प्रज्ञप्तं। तद्यथा। आवश्यकं च आवश्यकव्यतिरिक्तं च। तत्रावश्यकमवश्यं आवश्यकं अवश्यकर्त्तव्यक्रियानुष्ठानमित्यर्थ। अथवा गुणानामभिविधिना वश्य मात्मानं करोतीत्यावश्यकं। अवश्यकर्त्तव्यसामायिकादिक्रियानुष्ठान तत्प्रतिपादकं श्रुतमपि आवश्यकं। च शब्द स्वगतानेकभेदसूचकः। (से किं तं) मित्यादि अथकिंतदावश्यकं। सूरिराह॥

आवश्यक षड्विधं प्रज्ञप्तं। तद्यथा। सामायिकमित्यादि निगदसिद्धं सेत्तमित्यादि तदेतदावश्यक सेकिंतमित्यादि। अथ किंतदावश्यक व्यतिरिक्तं वा आचार्य आह। आवश्यक व्यतिरिक्तं द्विविधं प्रज्ञप्तं। तद्यथा। कालिकमुत्कालिकं च। तत्र यद्दिवसनिशा प्रथमपश्चिम पौरुषीद्वये एव पठ्यते तत्कालिकं। कालेन निर्वृत्तं कालिकमिति व्युत्पत्तेः। यत्पुनः कालवेलावर्जं सर्वकालेषु पठ्यते तदुत्कालिकं। आह च चूर्णिकृत् तत्थकालियं दिणराइण पढमचरमपोरसी सुपढिज्जइ। जं पुणकालवेलावज्जं पढिज्जइ तं उक्कालियंति। तत्राऽल्प वक्तव्यकत्वात् न. टी०॥

आवस्सयवइरित्तेत्यादि। यदिह दिवसनिशा प्रथमपश्चिम पौरुषीद्वये एव पठ्यते तत्कालेननिर्वृत्तं कालिकमुत्तराध्ययनादियत्पुनः कालवेलावर्जं पठ्यते तदुत्कं कालिकादित्युत्कालिकं दशवैकालिकादीनि। ग. २ ग॥

आवस्सयवित्ति—आवश्यकवृत्ति स्त्री० आवश्यकविवरणे आ. म. प्र. १ अ.॥

आवस्सयविसुद्धि—आवश्यकविशुद्धि स्त्री० आवश्यकरणीय योगनिरतिचारतायाम्,॥

आवश्यकविशुद्धिश्चभिक्षोर्लिंगान्यकीर्त्तयन्। आवश्यकविशुद्धिरावश्यकरणीययोगनिरतिचारता। एतानि भिक्षोर्लिंगान्य कीर्तयन् गौतमादयो महर्षय। द्वा० २७ द्वा०॥

आवस्सयसुयक्खंध—आवश्यकश्रुतस्कंध—पु० पर्यायांश्रुतविशेषाणांस्कधः श्रुतस्कंधः। आवश्यकं च तत् श्रुतस्कंधश्चावश्यक श्रुतस्कध.। अथवाऽऽवश्यक च तत् श्रुतचावश्यक श्रुत। तस्यषडध्ययनसमुदायात्मक आवश्यक श्रुत स्कधः। स्वनाम ख्याते श्रुतविशेषे,। विशे.। द्वा.॥

आवस्सयस्स जइसो, तत्थं गाइण अट्ठपुच्छी ओ।
ते होइ सुय क्खंधो, अज्झयणा इं च नउ सेसा॥

यद्यावश्यकस्याऽनुयोगस्तद्यावश्यक श्रुतविशेषस्तर्हि अंगादीन्याश्रित्याष्टौ पृच्छा संजायते। तद्यथा।

आवस्स यन किं अंगं, अंगाइ सुयक्खंधो सुयक्खंधाअज्झयणं अज्झयणाइं उद्देसो

उद्देसा इति अत्रोत्तरमाह॥ इह तदा वश्यकं षडध्ययनसमुदायलक्षण. श्रुतस्कधः प्रत्येकमध्ययनानिच षमिति। शेषा षट्प्रकाराः प्रतिषेद्धव्याः असम्भवित्वादिति। अत्रप्रेरकः प्राह।

ननु नंदिवरकाणे, भणियमणं गे इहं कओ संका।
भन्नइ अक ओ संका, तम्स नियमं वदाए इ।

ननु नंद्यध्ययने व्याख्यायमाने। (इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च, अंगबाहिरस्स उद्देसोसमुद्देसो अणुण्णाणुओगो पवत्त) इत्यादिवचनादावश्यकमङ्गबाह्यत्वादंगं न भवतीति भणितमेवेति। कुतोऽत्राशङ्का येन प्रश्न क्रियते। अत्र निर्वचनमाह। भण्यतेऽत्रोत्तर। श्रुतस्कंधादि विषये तावदस्त्येवा शङ्का। तत्राऽध्ययनस्याऽनिर्णीतत्वात् अतस्तद्विषयास्तावत्कर्त्तव्या एव पृच्छा। अंगानंगरूपतायामपि यदा नंद्यध्ययनमश्रुत्वा विनेयः प्रथमत एवेदं शृणोति। तदा तस्य नंदिव्याख्यानेऽप्यस्त्येव स शङ्का। किमावश्यकमगं तद्बाह्यं वेति। आह। ननु तदा-

ध्ययनं श्रुत्वा ततः आवश्यकं श्रोतव्यमितीत्थं क्रमोऽतः कथं नंद्यध्ययनस्य प्रथमव्याख्यानाकरणं येन प्रस्तुतशङ्का स्यादित्याशंक्याह । (तस्से) इत्यादि तस्य प्रथमं नन्दिव्याख्यानाकरणस्याऽत एवांगाऽनङ्गप्रविष्टनिर्णयवचनादाचार्योऽनियमं दर्शयति । पुरुषाद्यपेक्षयाऽन्यथापि नंद्यादिव्याख्यानकरणादिति । आह । ननुमंगलार्थं सर्वेषामपि शास्त्राणामादौ नंदिव्याख्यानम् कर्तव्यमेवेति कथं तदनियम इत्याह ।

नाणाभिहाणमित्तं, मंगलमिट्ठं नतीं एवरकाणं ।
इह सव्वत्थाणे जुज्जइ, जं सावीसुं सुयक्खंधो ॥

ज्ञानपंचकाभिधानमात्रमेव शास्त्रादौ मंगलमिष्टं न तु तस्या नंद्याः सर्वस्या अपि शास्त्ररूपाया इहास्थाने व्याख्यानं युज्यते तथाहि पथि प्रस्थितैर्मंगलभूतं दधिदूर्वाक्षतादिवस्तूनामभिधानदर्शनादीन्येव मंगलतया गृह्यन्ते न तु तद्भक्षणतद्गुणवर्णादीन्यपि क्रियंते । तथेहापि ज्ञानोत्कीर्तनमात्रमेव मंगलं युज्यते न तु नंदिव्याख्यानमिह तस्य स्थानत्वाभावादावश्यकशास्त्रादौ शास्त्रांतरभूताया नंद्या व्याख्यानं युज्यते अतिप्रसंगाच्च वक्तव्यं सर्वशास्त्रांतरभूतैव नंदी यद्यस्मात्साविष्वक्पृथगेव श्रुतस्कंधतया सिद्धान्ते प्रसिद्धा श्रुतस्कंधत्वं चास्याः पदवाक्यसमूहात्मकत्वेनैव द्रष्टव्यं नत्वध्ययनकलापात्मकं पारिभाषितमेकाध्ययनरूपत्वेन रूढत्वादिति । ननु यदि नंदिव्याख्यानस्य स्थानमिदं तर्हि किमितीत्थमादावेव भवद्भिर्ज्ञानपंचकं विस्तरेण व्याख्यातमिति पौर्वापर्येण स्ववचनविरोध इत्याशंक्याह ।

इहसाणुग्गहमुइयं न उ नियमोयमहवा पवादोयं ।
दाइज्जइ कहणा, एकयाइ पुरिसादवि क्खाय ।

इहावश्यकारंभे यद्विस्तरेण ज्ञानपंचकमस्यादौ व्याख्यातं तत्सानुग्रहं शिष्यानुग्रहमास्थायोदितमस्माभिर्नपुनरयं नियम एव ज्ञानोत्कीर्तनमात्रस्यैव नियमेन मंगलतयाऽभीष्टत्वादथवा कथनया कथनविधेरपवादोऽयं दृश्यते यथेह पुरुषाद्यपेक्षया क्वचित् क्रमेणापि शास्त्राणि व्याख्यायन्ते अन्यारंभेऽन्यथा व्याख्यायत इति तस्मादावश्यकश्रुतस्कंधस्याऽनुयोग इति स्थिते किमिदानीं कर्तव्यमित्याह ।

आवस्सयसुयक्खंधो, नामं सत्थस्स तस्स जे भेया ।
ताइं अज्झयणाइं, नासो आवस्सयाईणं ॥ १ ॥
कप्पोपिहाविहाणं, जहत्थ मजहत्थअत्थसुण्णाति ।
नामे चेव परिक्खाग, चं जइ होहि इ जहत्थं ॥ २ ॥

इह प्रस्तुतशास्त्रस्यावश्यकश्रुतस्कंध इति नाम तस्यचावश्यकस्य ये सामायिकादयः षड्भेदाः स्तान्यध्ययनान्यभिधीयंते तत आवश्यकादिपदानामावश्यकं श्रुतस्कंधोऽध्ययनमित्येषां पदानां न्यासो निक्षेपः पृथक्कार्यःकुत इत्यस्मत्केतोर्यतः काचिन्नाम तावद्यथार्थं भवति यथा दीपो दहन इत्यादि । किंचित् त्वयथार्थं भवति यथापलाशो मरुप इत्यादि अपरं त्वर्थशून्यं भवति यथा डित्थकपित्थ इत्यादि यथार्थे च शास्त्राभिधानमिष्यते तत्रैव समुदायार्थावगतेस्ततो नाम्न्येव परीक्षाविचारणाक्रियते ततोऽप्यागमिदं यदि यथार्थं स्यादिति । विशे० ॥

अथ सामायिकाद्यध्ययनानामर्थाधिकारदर्शनार्थं प्रस्तावनामाह ।

किंपुण अज्झयणं, जेणअत्था हिगारावीणित्तं ।
सामाइयाइयाणं, ते य इमे तज्जहासंखं ॥

आह किं पुनरिह कारणं येन षडध्ययनमिदमावश्यकं षडध्ययनानि तत्र तेभ्यः षडध्ययनमिति समासः अत्रोच्यते । येन षड्भिरर्थाधिकारैर्विनिर्युक्तं नियुक्तं ।
निबद्धं ते च षडर्थाधिकाराःसामायिकादीनां षण्णामध्ययनानां यथासंख्यमेव द्रष्टव्या इति । विशे. ॥

नन्वावश्यके किमिति षडध्ययनान्युच्यन्ते षडर्थाधिकारयोगात् के पुनस्ते इत्याशंक्य तदुपदर्शनार्थमाह ।

आवास्सगस्स णं इमे अत्याहिगारा भवंति । तंजहा ।
सावज्जजोगविरइ, उक्कित्तणगुणवओयपडिवत्ती । खलिअस्सय निंदणा, वणातिगिच्छं गुणधारणं चेव ॥

आवश्यकषडध्ययनस्य वक्ष्यमाणा अर्थाधिकारा भवंति । तद्यथा । सावज्जजोगगाहा व्याख्या । प्रथमे सामायिकलक्षणे अध्ययने प्राणातिपातादिसर्वसावद्ययोगविरतिरर्थाधिकारः (उक्कितणत्ति) द्वितीये चतुर्विंशतिस्तवाध्ययने प्रधानकर्मकारणत्वाद्बोधिविशुद्धिहेतुत्वात्पुनर्बोधिलाभफलत्वात्सावद्ययोगविरत्युपदेशकत्वेनोपकारित्वाच्च तीर्थकराणं गुणोत्कीर्तनार्थाधिकार ॥ (गुणओयपडिवत्ति) गुणा मूलोत्तरगुणरूपा अतएव विशुद्ध्यादयो विद्यते यस्य स गुणवांस्तस्य प्रतिपत्तिर्वंदनादिकं कर्तव्येति तृतीये वंदनाध्ययनेऽर्थाधिकारश्चशब्दात्पुमासमाने गुणवतोऽपि प्रतिपत्तिकर्तव्येति द्रष्टव्यं । उक्तं च ॥

परियायपरिसपुरिसं, खेत्तं कालं च आगमं नाउं ।
कारणजाए ताए, जाहारिहं जस्स संजोगं ॥

(खलियस्स य निंदणत्ति) स्खलितस्य मूलोत्तरगुणेषुप्रमादाचीर्णस्य प्रत्यागमसंवेगस्य अतोविशुद्ध्यमानाध्यवसायस्याकार्यमिदमिति भावयतो निंदाप्रतिक्रमणे अर्थाधिकारः । व्रणमिति गच्छतीति व्रणः । व्रणचिकित्सा कायोत्सर्गाध्ययनेऽर्थाधिकारः । इदमत्र हृदयं भवति । चारित्रपुरुषस्य योऽतिचाररूपो भावव्रणस्तस्य दशविधप्रायश्चित्तभेषजेन कायोत्सर्गाध्ययने चिकित्सा प्रतिपाद्यते (गुणधारणा चेवत्ति) गुणधारणा प्रत्याख्यानाध्ययने अर्थाधिकारः । अयमत्र भावार्थः । मूलगुणोत्तरगुणप्रतिपत्तिस्तस्याश्च निरतिचारं सधारणं यथा भवति तथा प्रत्याख्यानाध्ययने प्ररूपणा करिष्यते च शब्दादन्येऽर्थाधिकारा विज्ञेयाः । एवकारोऽवधारण इति गाथार्थः । तदेव यदादौ प्रतिज्ञातमावश्यकं निक्षेप्स्यामीति इत्यादि । तत्रावश्यकश्रुतस्कंधलक्षणानि त्रीणि पदानि निक्षिप्तानि । सांप्रत त्वध्ययनपदमवसरायात मपि निक्षेप्स्यते वक्ष्यमाणनिक्षेपानुयोगद्वारओघनिष्पन्ननिक्षेपे तस्य निक्षेप्स्यमानत्वादत्रापि भणने च ग्रंथगौरवापत्तेरिति ॥

इदानीमावश्यकस्य यद्व्याख्यानं यच्च व्याख्येयं तदुपदर्शयन्नाह ।

आवस्सयस्स एसो, पिंडत्थो वण्णिओ समासेणं ।
एत्तो एकेक्कं पुण, अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥
तं जहा । समाइयं १ चउवीसत्थओ २ वंदणय ३
पडिक्कमणं ४ काउसग्गो ५ पच्चक्खाणं ॥

व्या० आवश्यकस्यावश्यकपदाभिधेयस्य शास्त्रस्य एष पूर्वोक्तप्रकारपिंडार्थः समुदायार्थो वर्णितः कथितः । समासेन संक्षेपेण । इदमत्र हृदय । आवश्यकश्रुतस्कंध इति शास्त्र नाम पूर्वं व्याख्यातं । तत्र सामर्थ्यं ततश्च यथा सातत्यार्थ

चारादीनामत एव तद्व्याख्यशास्त्रस्य चारित्राद्याचारोऽत्राभिधास्यते इत्यादिलक्षणः समुदायार्थः प्रतिपादितो भवत्येवमत्राप्यावश्यकश्रुतस्कंध इति सान्वर्थनामकथनादेवावश्यं करणीयं सावद्ययोगविरत्यादिकं वस्त्वत्राभिधास्यत इति समुदायार्थः प्रतिपादितो भवति अत ऊर्ध्वं पुनरेकैकमध्ययनं कीर्त्तयिष्यामीति गाथार्थः । तत्कीर्तनार्थमेवाह तद्यथा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदनं प्रतिक्रमणं कायोत्सर्गप्रत्याख्यानं । विशे० । आ० म० प्र. १ अ. ॥

आवस्सयाणुओग–आवश्यकानुयोग–पुं० आवश्यकव्याख्याने, अनु० । आ० चू० १ अ. । विशे० ॥

कयपवयणप्पणामो, वोच्छं चरणगुणसंगहं सयलं ।
आवस्सयाणुओगं, गुरुवएसाणुसारेणं ॥

व्याख्या । वोच्छमिति- क्रिया वक्ष्येऽभिधास्येत्यर्थः । किमित्याह (आवस्सयाणुओगति) अवश्यकर्तव्यमावश्यकं सामायिकादिरूपं । क्वचिदावासयाणुयोगमितिपाठस्तत्राप्यासमंतात् ज्ञानादिगुणैः शून्यं जीवं वासयति तैर्युक्तं करोतीत्यावासकं सामायिकादिरूपमेव तस्य वक्ष्यमाणशब्दार्थोऽनुयोगो व्याख्यानं विधिप्रतिषेधाभ्यामर्थप्ररूपणमित्यर्थः किंविशिष्टः सन्नित्याह (कयपवयणप्पणामोत्ति) प्रोच्यते ऽनेनास्मादस्मिन्वा जीवादयः पदार्था इति प्रवचनं । अथ वा प्रशब्दस्याव्ययत्वेनाऽनेकार्थद्योतकत्वात्प्रगतं जीवादिपदार्थव्यापकं प्रशस्तमादौ वा वचनं द्वादशांगं गणिपिटकं आदित्वं चास्य विवक्षिततीर्थकरापेक्षया द्रष्टव्यं । नमस्तीर्थायेति वचनात्तीर्थकरेणापि तन्नमस्करणादिति । अथवा जीवादितत्वं प्रवक्तीति प्रवचनमिति व्युत्पत्तेर्द्वादशांगं गणिपिटकोपयोगानन्यत्वाद्वा चतुर्विधश्रीश्रमणसंघोऽपि प्रवचनमुच्यते । कृतो विहितो यथोक्तप्रवचनस्य प्रणामो नमस्कारो येन मया सोऽहं कृतप्रवचनप्रणामः किंस्वरूपमावश्यकानुयोगमित्याह (चरणगुणसंगहंति) चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते इति चरणं । अथवा चर्यते गम्यते प्राप्यते भवोदधेः परकूलमनेनेति चरणं । व्रतश्रमणधर्मादयो मूलगुणाः गुण्यंते संख्यायत इति गुणाः पिंडविशुद्ध्याद्युत्तरगुणरूपाः चरणंच गुणाश्च चरणगुणाः अथवा चरणशब्देन सर्वतो देशतश्च चारित्रमिह विवक्षितं । गुणशब्देन तु दर्शनज्ञाने ततश्च चरणं च गुणौच चरणगुणास्तेषां संगृहीतिः संग्रहश्चरणगुणसंग्रहस्तं स च देशतोऽपि भवतीत्याह । सकलं परिपूर्णं आह । नत्वावश्यकानुयोगस्तावदावश्यकव्याख्यानं । चरणगुणसंग्रहस्तु ज्ञानदर्शनचारित्रसंगृहीतिरूपस्ततोऽत्यतभिन्नाधिकरणत्वात्कथमनयोः सामानाधिकरण्यं सत्यं किंतु (सामाइयं च तिविहं सम्मत्तसुयं तहा चरित्तं चेत्यादि) वक्ष्यमाणवचनादेकोऽपि सामायिकानुयोगस्तावत्संपूर्णं चरणगुणसंग्राहकः । किं पुनः सकलावश्यकानुयोगस्ततश्च संपूर्णचरणगुणसंग्रहयुक्तत्वादावश्यकानुयोगोऽपि संपूर्णचरणगुणसंग्रहत्वेनोक्तो यथा दंडयोगाद्दण्डः पुरुष इत्यदोषः अथ वा चरणगुणानां संग्रहो यत्राऽवश्यकानुयोगेऽसौ चरणगुणसंग्रह इति बहुव्रीहिपक्षे प्रेर्यमेव नास्ति केवलमस्मिन् पक्षे सकलमिति विशेषणमावश्यकानुयोगस्य चरणगुणसंग्रहसंपूर्णत्वापेक्षयैव द्रष्टव्यमित्येतच्च कष्टगम्यमित्युपेक्षते । आह । ननु यदि (सामाइयं च तिविहं) मित्यादि वक्ष्यमाणवचनात्सामायिकस्य संपूर्णचरणगुणसंग्राहकत्वं तर्हि तदनुयोगस्य तद्रूपत्वे किमायातं नैतदेव सामायिकं हि व्याख्येयं अनुयोगस्तु व्याख्यानं व्याख्येयव्याख्यानयोश्चैकाभिप्रायत्वादिहाभेदेन विवक्षितत्वाददोषः इत्यलमितिचर्चयेति अनेन च संपूर्णचरणगुणसंग्रहलक्षणेन स्वरूपविशेषणेनावश्यकानुयोगस्य महार्थतां दर्शयति भाष्यकारः । आह । ननु यदि त्वया आवश्यकानुयोगः स्वमनीषिकया वक्ष्यते तदाऽनादेय एवायं प्रेक्षावतां छद्मस्थत्वे सति स्वतंत्रतयाभिधीयमानत्वाद्रथ्यापुरुषवाक्यवदिति परवचनमाशंक्य तदुपन्यस्तहेतोरसिद्धतां उपदर्शयन्नाह (गुरुवएसाणुसारेणंति) गृणाति तत्वमितिगुरवस्तीर्थकरगणधरादयस्तेषामुपदेशो भणनं तदनुसारेण तत्पारतंत्र्येणावश्यकानुयोगमहं वक्ष्ये नतु स्वमनीषिकया अतः स्वतंत्रयाऽभिधीयमानत्वादित्यसिद्धो हेतुरिति भावः । यो हि छद्मस्थः सन्परमगुरूपदेशानपेक्षं स्वतंत्रमेव वक्ति रथ्यापुरुषस्येव तस्य वचोऽनादेयमिति ॥

वयमपि मन्यामहे केवलं तदिह नास्ति परमगुरूपदेशानुसारेणैवावश्यकानुयोगस्य मयाऽभिधीयमानत्वादिति । तदेवं कृतप्रवचनप्रणामो गुरूपदेशनिश्चयसकलं चरणगुणसंग्रहरूपमावश्यकानुयोगमहं वक्ष्ये इति पिंडार्थः ॥

आह । ननु श्रीमद्भद्रबाहुप्रणीता सामायिकनिर्युक्तिरिह भाष्ये व्याख्यास्यते । तत्कथमिदमावश्यकानुयोगोऽभिधीयते तदेवमभिप्रायापरिज्ञानात्तथाहि । सामायिकस्य षड्विधावश्यकैकदेशत्वादावश्यकरूपता तावन्न विरुध्यते । तन्निर्युक्तिस्तु तद्व्याख्यानरूपैव व्याख्यानयोश्चैकाभिप्रायत्वादेकत्वमित्यनंतरमेवोक्तं । तस्मात्सामायिकस्य तन्निर्युक्तेश्च सर्वस्यावश्यकत्वात्तस्य चेह व्याख्यायमानत्वादावश्यकानुयोगरूपता भाष्यस्य न विहन्यत इत्यलंविस्तरेण । अस्याश्च गाथायाः प्रथमपादेन विघ्नसंघातार्थं मंगलहेतुत्वादिष्टदेवतानमस्कारः कृतः । शेषपादत्रयेण त्वभिधेयप्रयोजनसंबंधाभिधानमकारि । तत्रावश्यकानुयोगं वक्ष्य इति ब्रुवता आवश्यकानुयोगोऽस्य शास्त्रस्याऽभिधेय इति साक्षादेवोक्तं प्रयोजनसंबंधौ तु सामर्थ्यादुक्तौ तथाहि संपूर्णचरणगुणसंग्राहकत्वं दर्शयता ज्ञानदर्शनचारित्राधारताऽस्य शास्त्रस्य दर्शिता भवति । तद्रूपाणि शास्त्राणि पाठनश्रवणादिभिरनुशील्यमानानि स्वर्गापवर्गप्राप्तिनिबंधनानि भवंतीति प्रतीतमेव । अतः स्वर्गमोक्षफलावाप्तिरस्य शास्त्रस्य प्रयोजनमिति सामर्थ्यादुक्तं भवति । अभिधेयाऽभिधायकयोश्च वाच्यवाचकलक्षणः संबंधोऽप्यर्थादभिहितो भवति । अस्यां च संबंधप्रयोजनाभिधानादिचर्चायां बह्वपि वक्तव्यमस्ति केवलं बहुषु शास्त्रेष्वतिचर्चितत्वेन सुप्रतीतत्वात्तथाविधसाध्यशून्यत्वाच्च नेहोच्यते । अनेन चाऽभिधेयाभिधानेन शास्त्रस्य श्रवणादौ शिष्यप्रवृत्तिःसाधिता भवति । अन्यथा हि न श्रवणादियोग्यमिदं निरभिधेयत्वात्काकदंतपरीक्षावदित्याशंक्य नेह कश्चित्प्रवर्त्तेत । उक्तंच ॥

सीसपवित्तिनिमित्तं, अभिधेयपओ अणाइ संबन्धो ।
ओवत्तयाइं सत्थे, तस्सुभत्तं मुणिज्जिहरा ॥

एवं मंगलाद्यभिधाने व्यवस्थापिते कश्चिदाह । नन्वर्हदादय एवेष्टदेवतात्वेन प्रसिद्धास्तत्किमिति तान्विहाय प्रथमतः प्रवचनस्य नमस्कारः कृतः । इत्यत्रोच्यते । नमस्तीर्थायेति वचनादर्हदादीनामपि वचनमेव नमस्करणीयं अपरं चार्हदादयोऽप्यस्मदादिभिः प्रवचनोपदेशेनैव ज्ञायंते तीर्थमपि च चिरकालं प्रवचनादवष्टंभेनैव प्रवर्त्तत इत्यादिविवक्षयाऽर्हदादिभ्योऽपि प्रवचनस्य प्रधानत्वात्तज्ज्ञानादिगुणात्मकत्वाच्चेष्टदेवतात्वं न विरुध्यत

प्रवचननमस्कार च कुर्वद्भिः पूज्यैः सिद्धांततत्वावगमरसाऽनुरंजितहृदयत्वादात्मनःप्रवचनभक्त्यतिशयःप्रख्यापितो भवति इत्यलमितिविस्तरेण । मंगलादिविचारविषयाक्षेपपरिहारादिकमिहैव ग्रंथकारोऽपि सक्षेपेण वक्ष्यतीति तदेवमिय गाथा सर्वोऽपि चायं ग्रंथो महामतिभिः पूर्वसूरिभिर्गंभीरवाक्यप्रबंधैः व्युत्पन्नभणितिप्रकारेण व्याख्यातः तच्च व्याख्यानमित्थ युक्तमपि गौरत्व पांडुरोगन्यायेन मतिमांद्यात्सांप्रतकालीनशिष्याणां न तथाविधार्थावगमहेतुतां प्रतिपद्यत इत्याकलय्य मन्दमतिनापि मया तेषां मदतरमतीनां शिष्याणां अर्थावगमनिमित्तममुना ऋजुभणितिप्रकारेणेय गाथा व्याख्याता । सर्वोपि च ग्रंथोऽयमनेनोल्लेखेन व्याख्यास्यत इति प्रतिपत्तव्यं । न च वक्तव्यं येषां महामतिपूर्वपुरुषवचनैरर्थावबोधो न सपद्यते तेषां मंदबुद्धेर्भवतो वचनेन कुतोऽयंसपत्स्यते इति यतोजायत एव समानशीलवचनैः समानशीलानामर्थप्रतिपत्तिर्यदाह ।

गामिल्लुयाण गामिल्लु, एहिं मिच्छाण हुति मिच्छेहिं ।
सम्मं पडिवत्ती ओ, अत्थस्स नविबुहज्जणिएहिं ॥
नियज्भासायेज्जणंति, समाणसीलंमि अपडिवत्ती ।
जायइ मंदस्स वि, न उण विविह सक्कयपबंधेहिं ॥

इत्यलबहुभाषितेनेति गाथार्थः । आवश्यकानुयोगोऽत्राऽभिधास्यत इत्युक्तं किंपुनरस्य फलादिक यदवगम्य वय तच्छ्रवणादौ प्रवर्त्तामह इति प्रेक्षावच्छिष्यवचनमाशक्यावश्यकानुयोगस्य फलादीन्यभिधित्सुस्तत्संग्रहपरां द्वारगाथामाह ॥

तस्सफलजोगमंगल, समुदायत्था तहेवदाराइं ।
तब्भेयनिरुत्तकम, पओयणाइं चवच्चाइं ॥

व्याख्या । तस्येत्यावश्यकानुयोगस्य प्रेक्षावतांप्रवृत्तिनिमित्त फल मोक्षप्राप्तिलक्षणं तावदत्रप्रथेवक्तव्य ततोऽस्यप्रयोग.शिष्यप्रदाने सबंधोऽवसरः प्रस्तावो वाच्य । आवश्यकानुयोगे च क्रियमाणे किं मगलमित्येतदपि निरूपणीयं सामायिकाद्यध्ययनानां (सावज्जजोगविरइ ओ, कित्तणगुणवओ अपडिवत्ती) त्यादिगाथया समुदायार्थश्च सावद्ययोगविरत्यादिकोऽभिधानीयः । फल च योगश्च मंगलं च समुदायार्थश्चेति समासः (तहेवदारांइति) तथा द्वाराणि चोपक्रमनिक्षेपादीनि कथनीयानि तेषांद्वाराणां भेदोवक्तव्यः । तद्यथा आनुपूर्वी । नामप्रमाणवक्तव्यतार्थाधिकारसमवतारभेदादुपक्रम' षोढा । ओघनिष्पन्ननामनिष्पन्नसूत्रालापकनिष्पन्नभेदान्निक्षेपस्त्रिधा । सूत्रनिर्युक्तिभेदादनुगमो द्विधा । नैगमादिभेदान्नयाःसप्तविधा इत्यादि । उपक्रमणमुपक्रमो निक्षेपण निक्षेप इत्यादि निरुक्तं च शब्दव्युत्पत्तिरूप भणनीय । तथा (कमत्ति) तेषामुपक्रमादि द्वाराणांप्रथममुपक्रम एव ततो यथाक्रम निक्षेपादय एवेत्येवरूपो योऽसौ नियतःक्रम सयुक्त्याभिधानतोनिर्देष्टव्यो युक्तिं चात्रैव वक्ष्यति । तद्यथा नानुपक्रांत निक्षिप्यतेना निक्षिप्तमनुगम्यत इत्यादि तथोपक्रमादिद्वाराणां एव प्रयोजन शास्त्रोपकाररूपं नगरदृष्टांतेन वाच्य । यथा सप्राकार महानगर किमप्यकृतद्वार लोकस्य नाश्रयणीय भवत्येकादिद्वारोपतमपि दुःखनिर्गमप्रवेश जायते चतुर्द्वारोपेत तु सर्वजनाभिगमनीयं सुखनिर्गमप्रवेशं च संपद्यते । एव शास्त्रमप्युपक्रमादिचतुर्द्वारयुक्तं सुबोधं सुखचिंतनधारणादिसपन्नं भवतीत्येवमुपक्रमादि द्वाराणां सुखावबोधादिरूप शास्त्रोपकार. प्रयोजन महवक्ष्यत इति भाव. । भेदश्च निरुक्तंच क्रमश्च प्रयोजनं चेति द्वंद्वंकृत्वा पश्चात्तेषामुपक्रमादिद्वाराणां भेदनिरुक्तक्रमप्रयोजनानीत्येव षष्ठीतत्पुरुषसमासोविधेयः । च. समुच्चये वाच्यानीति यथा योगमर्थतः सर्वत्र योजितमेवेति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ॥ २ ॥ विस्तरार्थंतु भाष्यकार एव दिदर्शयिषुर्यथोद्देशं निर्देश इति कृत्वा प्रेक्षावतां प्रवृत्यर्थमावश्यकानुयोगफलप्रतिपादितां तावद्गाथामाह ।

नाणकिरियाहिं मुक्खो, तम्मयमावस्सयं जओतेणं ।
तव्वक्खाणारंभो, कारणओकज्जसिद्धित्ति ॥

व्याख्या । ज्ञानं च सम्यगऽवबोधरूपं क्रियाच तत्पूर्वकसावद्याऽवद्ययोगनिवृत्तिप्रवृत्तिरूपा ज्ञानाक्रिये ताभ्यां तावन्मोक्षोऽशेषकर्ममलकलंकाभावरूपः साध्यत इति सर्वेषामपि शिष्टानां प्रमाणसिद्धमेव दर्शनस्य ज्ञान एवांतर्निहितत्वादिति । यदि नाम ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षस्तर्ह्यावश्यकानुयोगस्य किमायात येन फलवत्तया प्रेक्षावतां तत्र प्रवृत्तिः स्यादित्याह तन्मयमावश्यकं ताभ्यां ज्ञानक्रियाभ्यां निर्वृत्ततन्मयं ज्ञानक्रियास्वरूपमावश्यकं तत्कारणत्वादिति भावः । यथा ह्यायुर्वृद्धिकारणत्वेनोपचारा ल्लोके घृतमायुरुच्यते नडवलोदकं वा पादरोगकारणत्वात्तथैवा भिधीयते एवमस्तुतानुयोगविषयीकृत सामायिकादिषडध्ययनसूत्रात्मकमावश्यकमपि सम्यग्ज्ञानक्रियाकारणत्वात्तत्स्वरूप मेव तदध्ययनश्रवणचिंतनतदुक्ताचरणप्रवृत्तानामवश्यं सम्यग्ज्ञानक्रियाप्राप्तेस्तस्मादुक्तन्यायेन ज्ञानक्रियात्मक यत आवश्यकमतस्तस्यावश्यकस्य व्याख्यान अनुयोगस्तद्व्याख्यानं तस्यारम्भप्रेक्षावता क्रियमाणो न विरुध्यते । आवश्यकात्सम्यग्ज्ञानक्रियाप्राप्तिद्वारेण मोक्षलक्षणफलसिद्धेः । नान्वित्यत आवश्यकात्सम्यग्ज्ञानक्रियाप्राप्तिस्ताभ्यां च मोक्षलक्षणफलसिद्धिरित्येव मावश्यकस्यैव पारंपर्येणमोक्षात्मक फलं स्यात् नपुनस्त्वदनुयोगस्य फलचिंता त्वस्यैवेह प्रस्तुतेतिचेत्सत्य कित्वावश्यक व्याख्येयं तद्व्याख्यानं चानुयोगो व्याख्यानेचव्याख्येयगत एव सर्वोऽभिप्रायः प्रकटीक्रियतेऽतोव्याख्येयस्ययत्फलं व्याख्यानस्य तत्सुतरामवसेय तयोरेकाऽभिप्रायत्वात् तस्मात् मोक्षलक्षणं फलमभिवाञ्छता आवश्यकानुयोगेऽवश्य प्रवर्तितव्यमेव ततोऽपि ज्ञानक्रियाप्राप्ते स्ताभ्यां च मोक्षफलसिद्धिरिति ।

यदि नामावश्यकानुयोगतो ज्ञानक्रियावाऽप्तिस्ताभ्यां च मोक्षसिद्धिस्तथापि किमिति तत्र प्रवृत्तितव्य न पुनर्यत्र कुत्रचित्प्रवृत्ति तत्राद्रावित्याह । कारणात्कार्यसिद्धिर्नोकारणादिति कृत्वा कारणे हि सुविवेचितेप्रवर्तमानाः प्रेक्षावंतः समीहितमप्रतिहत कार्यमासादयंति नाकारणे अन्यथा तृणादपि हिरण्यमणिमौक्तिकावाप्ते. सर्वविभ्रमदरिद्रं स्यात्कारणं च पारपर्येणावश्यकानुयोग एव मोक्षस्य न पष्ठि तन्नादिकं ज्ञानक्रियाजननद्वारेण तस्य मोक्षससाधकत्वादितरस्य तु पारपर्येणापि तदसाधकत्वादिति गाथार्थ. ।

उक्तं फलद्वारमधुना योगद्वारमभिधित्सुराह ।

भव्वस्स मोक्खमग्गाहि, लासिणो ठिअगुरूवएससस ।
आइए जोगमिणं, वालगिलाणस्स वाहारं ॥

व्याख्या । यदादौ प्रतिज्ञात शिष्यप्रदानेऽस्य योग्योऽवसरो वाच्यइति । तत्राह । समस्तद्वादशांगाऽध्ययनकालस्यादौ प्रथममिदं षड्विधमावश्यक योग्यमुपदिशति मुनयः शेषसमस्तश्रुतप्रदानकालस्यादौ प्रथममेवावश्यकप्रदानस्याऽवसरइतिभावः कस्य पुनरिदमावश्यकं योग्यमादिशंति मुनयःइत्याह । भव्यस्यमुक्तिगमनयोग्यस्य जंतो' स च कश्चिद्दूरभव्योऽसंजात.

मोक्षमार्गाभिलापोऽपि भवति । तद्व्यवच्छेदार्थमाह । मोक्षमार्गः सम्यक् ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्तमुत्तरोत्तरविशुद्धिरूपम भिलपितुं शीलमस्य स तस्य अथ चैवंविधोऽपरिणतगुरूपदेशोऽपि स्यात्तन्निरासार्थमाह । स्थितः कर्तव्यतया परिणतो गुरूपदेशो यस्यासौ स्थितगुरूपदेशस्तस्य किं यथायोग्यमुपदिशतीत्याह । बालग्लानयोरिवाहारं यथोपदिशंति भिषजोति गम्यते, । इदमुक्तं भवति। यथा आदौ बालस्य कोमलमधुरादिकं ग्लानस्य च पेयमुद्गयूपादिकं तत्कालोचितं उत्तरोत्तरबलपुष्ट्यादिहेतुमाहारयोग्यं भेषजं समुपदिशति तथेहापि भव्यादिविशेषण विशिष्टस्य जंतोरादावेवमेवावश्यकमुत्तरोत्तरगुणवृद्धिहेतुभूतयोग्यमुपदिशंति तीर्थकरगणधरा इति आवश्यकस्य चादौ शिष्यप्रदानाऽवसरे प्रतिपादिते तदनुयोगस्याऽसौ प्रतिपादित एव द्रष्टव्यस्तयोरेकत्वस्यानंतरमेवाख्यातत्वादिति गाथार्थः ॥ ४ ॥

आह ननु यस्य भव्यादिविशेषणविशिष्टस्यादौ योग्यमिदमावश्यकं तस्मै योग्यमित्येतावन्मात्रमेव ज्ञात्वा तद्दत्याचार्यो आहो स्विदन्योऽपि तत्र कश्चिद्विधिरपेक्षणीय इति शिष्यवचनमाशक्यास्मिन्नेवानुयोगद्वारे तद्दानविधानादि किंचिल्लेशतः प्रासंगिकमभिधित्सुराह ।

कयपंचनमुक्कारस्स, दिंतिसामाइयायं विहिणा ।
आवस्सयमायरिया, कमेण तो सेसयसुअं पि ॥

व्याख्या । भव्यादिविशेषणविशिष्टस्यापि शिष्यस्य कृतपचनमस्कारस्य चतुर्थ्यर्थे षष्ठी कृतपचनमस्काराय मंगलार्थमुच्चारितपंचनमस्कृतिमंगलायेत्यर्थः ॥
सामायिकादिकमावासकं विधिना प्रशस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण प्रशस्तदिगभिमुखन्यवस्थापनारूपेण च समयोक्तेन ददत्याचार्या नपुन योग्यमित्येतावन्मात्रकमेव ज्ञात्वेति भावः (तत ऊर्ध्वमस्मै किं न किंचित् ददतीत्याह) क्रमेण ततः शेषमप्याचारादिश्रुतं प्रयच्छंति यावद्दृष्टिवादपारमिति गाथार्थः
आवश्यकानुयोगप्रदानेऽप्ययमेव विधिरित्यावेदयितुमाह ॥

तेणेवयाणुओगं, कमेण तेणेव याऽहिगारोयं ॥
जेणविणेयहियत्था, यत्थेरकप्पे कमो एसो ॥ १ ॥

चकारोऽपि शब्दार्थोभिन्नक्रमश्च । ततस्तेनैव पचनमस्कारकरणादिना क्रमेणानुयोगमपि सूत्रव्याख्यानरूपं ददत्याचार्या इति वर्तते अनयोश्च सूत्रप्रदानक्रमानुयोगप्रदानक्रमयोर्मध्ये तेनैव प्रस्तुतगाथाप्रक्रांतेनानुयोगप्रदानक्रमेणायमस्मदभिमतोऽधिकारः अनुयोगस्यैवेह प्रस्तुतत्वादितिभावः । कुतः पुनरिहानुयोगप्रदानक्रमेणैवाऽधिकारः इत्याह । येन कारणेन विनेयहितार्थं शिष्यवर्गस्योत्तरोत्तरगुणप्राप्तिमपेक्ष्येत्यर्थः । स्थविराणां गच्छवासिनां साधूनां योऽसौ विकल्पः सामाचारविशेषस्तस्यैषोऽनंतरगाथावक्ष्यमाणलक्षणः क्रमः परिपाटीरूपस्तेन कारणेनाऽनुयोगप्रदानक्रमेणैवेहाधिकारोऽयमिति. विशे० ॥

आवस्सिया–आवश्यिकी–स्त्री० अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम् तत्र भवाऽऽवश्यिकी अनु०। अवश्यकर्तव्यैर्योगैर्निष्पन्नाऽऽवश्यकी स्था० ग १० । अवश्यं कर्तव्यैश्चरणकरणयोगैर्निर्वृत्ताऽऽवश्यकी जीत । आव. ३ अ. । अप्रमत्तत्वेनावश्यकर्त्तव्यव्यापारे भवाऽऽवश्यकी उत्त० २६ अ ।आवश्यकेषु अप्रमत्ततयाऽवश्यकर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यिकी ग० २ अ. सामाचारीभेदे, (पढमा आवस्सिया नाम) उत्त. २६ अ । प्रथमा सामाचारी आवश्यकी नाम्नी यतः उपाश्रयात् निर्गच्छन् साधुरावश्यकीति वदति उपाश्रयात् बहिर्निःसरणं चावश्यकीं विना न स्यात् तेन आवश्यकीति प्रथमा सामाचारी ज्ञानाद्यालम्बनेनोपाश्रयात् बाहिरवश्यं गमने समुपस्थितेऽवश्यकर्तव्यमिदमतोगच्छाम्यहमित्येव गुरु प्रतिनिवेदनाऽऽवश्यकीति हृदयम् । अनु० । सू० १ उ. । स्था० । प्रव० ।
(गमणे आवस्सियं कुज्जा) उत्त० गमने स्वस्थानादन्यत्रगमने अप्रमत्तत्वेन अवश्यकर्त्तव्यव्यापारे भवा आवश्यिकी तां आवश्यिकीं कुर्य्यात् यतोहि साधोर्गमननिष्प्रयोजनं नास्ति यदि अवश्यं किंचित्कार्य्यं समुत्पन्नं वर्त्तते तदैव साधुः स्वस्थानादुत्थितोस्ति इति भावः ।

अथाऽऽवश्यकीस्वरूपमाह ।

कज्जेणं गच्छंतस्स, गुरुणिओएणसुत्तणीइए ।
आवस्सियत्तिणेया, सुध्दा अणत्थजोगाओ ॥

व्याख्या० । कार्येण ज्ञानादिप्रयोजनेनानेन निष्कारणगमननिषेध उक्तो गच्छतो वसतेर्निर्गच्छतः साधोः किंस्वच्छंदेन नेत्याह । गुरुनियोगेन गुर्वनुज्ञया तत्रापि सूत्रनीत्यागमन्यायेन (इयास) मित्यादिलक्षणेन किमित्याह ।
आवश्यिकी अवश्यंकृत्यनिर्वृत्ता निर्गमक्रियात्सूचिका वाक् इति एवमुक्तन्यायेन ज्ञेयाऽवसेया किंभूतशुद्धाऽनवद्याकुतइत्याह । अन्वर्थयोगान् अनुगतशब्दार्थसंबंधान् अन्वर्थश्चोक एव प्रकारांतरेण पुनरशुद्धेति गाथार्थः ॥

कार्येण गच्छत इत्युक्तं किंपुनस्तदित्याह ॥

कज्जंविणाण दंसण, चरित्तजोगाण साहगं जंतु ।
जइणो सेसमकज्जं, तत्थ आवास्सियासुध्दा ॥ १७ ॥

व्याख्या । इहापि शब्द : पुनरर्थः ततश्चावश्यिकी कार्येणगच्छतोभवति कार्यं पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्रयोगादित्रयगतव्यापाराणां साधक हेतुभूत भिक्षाटनादि यत् इह तदिति शेषोऽवधस्तुशब्दश्चैवकारार्थस्ततश्च तदेव नान्यत् कस्येत्याह । यतेः साधोः शेषं ज्ञानादिसाधनादन्यत्कार्यमप्रयोजनमुमुक्षुत्वात्साधोरिति किं वातइत्याह नैव तत्र ज्ञानाद्यसाधनप्रयोजनेगच्छत इति गम्यते आवश्यिकी पूर्वोक्तनिर्वचनाशुद्धानिर्दोषान्वर्थाभावादिति गाथार्थः ।

यद्यसौ न शुद्धा तर्हि किंविधा सेत्याह ॥

वइमेत्तं णिव्विसयं, दोसायमुसत्तिएव विण्णेयं ।
कुसलेहिं वयणाओ, वइरेगेणंजओभणियं ॥ २ ॥

व्याख्या।वागेव वचनमेव वाङ्मात्रं सावश्यिकीति प्रकृत वाङ्मात्रमित्यत्रावधारणार्थमात्रशब्दस्य व्यवच्छेद्य यदाह निर्विषयं निर्गोचरमनर्थकमित्यर्थः किंफलंच तदित्याह दोषाय कर्मबन्धलक्षणदूषणार्थं कस्मादेवमित्याह मृषेति अनृतामिति कृत्वा प्रतीत चानृतस्य दोषार्थत्वमिति (एवत्ति) इहानुस्वारस्याऽश्रवणं गयोवशात् एवमुक्तस्वरूप विज्ञेयं ज्ञातव्य कुशलैर्निपुणैरन्येषां ज्ञानासत्यावचननादागमाद्विवक्षितवचनस्यैव प्रस्तावनार्थमाह। व्यतिरेकेण प्रक्रमाविपर्ययेण यतोयस्माद्भणितमुक्तं सामायिकनिर्युक्ताविति गाथार्थः ॥

यदुक्तं तदाह ॥

आवास्सियाउ आवस्स, एहिं सव्वेजुत्तं जोगस्स ॥
एयस्सेसो उचिओ, इयरस्स णचेव णस्थित्ति ॥

व्याख्या । आवश्यिकी तु प्रागुक्तनिर्वचना तु पुनः शब्दार्थः आवश्यकैः प्रतिक्रमणादिभिः सर्वैः समस्तैर्युक्तयोगस्य सयुक्तकायादिचेष्टस्य युक्ता भवतीति शेषः । तादिव्यतिरेकभणित

तं नैवंविधस्य वाङ्मात्रत्वात्तस्या इति कथमेव विधस्येयं शुद्धा भवतीत्याह एतस्यावश्यकयुक्तस्य एष इति पूर्वतमगाथोक्तोऽन्वर्थयोगः आवश्यिकीशब्दोच्चाररूपे उचितः सगतो विद्यमानत्वात् व्यतिरेकमाह (इयरस्सत्ति) इहोत्तरस्य पुनरर्थस्य चशब्दस्य संबधयितरस्य पुनरनावश्यकयुक्तस्य नैव उचितएष इति प्रकृतं कुतइत्याह नास्तीति इत्वाभविद्यमानत्वादन्वर्थाञावादित्यर्थः । अतस्तस्य वाङ्मात्रमेवासाविति गाथार्थः ।

उक्ताऽवश्यिकी पंचा० १२ वृ० ॥ ध० ३ अधि० ॥

साम्प्रतमावश्यिकी नैषेधिकी द्वारद्वयावयवार्थमभिधित्सुः पातनिका गाथामाह ।

आवस्सियं च निंतो, जं चायं तो निसीहियं कुणइ ॥
एयं इच्छंनाउं, गणिवरतुज्झंतिए निउणं ॥

आवश्यिकी पूर्वोक्तशब्दार्थां तां आवश्यिकीं(निंतो)निर्गच्छन् प्रविशन् इत्यर्थः। नैषेधिकीं करोति एतत् आवश्यिकीं (निंतो) निर्गच्छन् यां च(आयतो)आगच्छन् प्रविशन् इत्यर्थः नैषेधिकीं करोति एतत् आवश्यिकी रूपद्वयमपि स्वरूपादिनेदभिन्नं इच्छामि ज्ञातुं हेगणिवर ? युष्मदंतिके निपुणं सूक्ष्मं एतत् ज्ञातुमिच्छामीति क्रिया विशेषणं एवं शिष्येणोक्ते सत्याह आचार्यः ॥

आवस्सियं चनिंतो, जं चायंतो निसीहियं कुणइ ।
वंजणमेयं तु दुहा, अत्थो पुणहोइसो चे व ॥

आवश्यिकीं निर्गच्छन् यां च प्रविशन्नैषेधिकीं करोति एतद् व्यंजनं शब्दरूपं द्विधा किमुक्तं नवति आवश्यकीं नैषेधिकीं चेति द्वयं शब्द एव भिन्नमर्थः पुनर्भवत्यावश्यकीनैषेधिक्योः स एव एकएव यस्मादवश्यकर्तव्ययोगक्रिया आवश्यकी ॥ निषिद्धात्मनआरंभेभ्यः क्रिया नैषेधिकी नह्यसाववश्यकर्तव्य मं व्यापारमुल्लंघ्य वर्तते आह । यद्येव नेदोपन्यासः किमर्थः उच्यते गमनस्थिति क्रियाभेदात् आह । आवश्यकीं निर्गच्छितयुक्तं तत्र साधो किमवस्थानं कथं यत आह ।

एगागस्स पसंतस्स, नहोंति इरियादयो गुणा होंति।
गंतव्वमवस्सं, कारणंमि आवस्सिया होइ॥

एकमग्रमालंबनं यस्येत्यस्यावेकाग्रस्तस्य स च प्रशस्तालंबनोऽपि भवति तत आह । प्रशांतस्य क्रोधरहितस्य सतस्तिष्ठतः किं न भवति इर्यादयः ईरणमीर्या गमनमित्यर्थः । इह ईर्या कार्ये कर्म्म ईर्याशब्देन गृह्यते । कारणे कार्योपचारात् ईर्या आदिर्येषांमात्मसंयमविराधनादीनां दोषाणां ते ईर्यादय, न नवंति । तथा गुणाश्च स्वाध्यायध्यानादयो नवंति । प्राप्त तर्हि संयतस्य आगमनमेव श्रेय इत्यपवादमाह । नचावस्थाने सकलुक्तगुणसनवाजगंतव्यमवश्य नियोगतः कारणे गुरुग्लानादिसंबंधिनियतस्तत्रागच्छतो दोषास्ततः कारणे गच्छन आवश्यकी भवति आह कारणेन गच्छतः किं सर्व्वस्यै वावश्यकी भवति उत नेति उच्यते नेति कस्य तर्हि तद्रुच्यते।

आवस्सिया उ आवस्स, एहिं सव्वेहिं जुत्तजोगिस्स ।
मणवयणकायगुत्तिं, दियस्स आवस्सिया होइ ॥

आवश्यकी आवश्यकैः प्रतिक्रमणादिभिः सर्वैर्युक्ता योगिनो भवति शेषकालमपि निरतिचारस्य क्रिया स्यास्यति भावार्थः । तस्य च गुरुनियोगादिना प्रवृत्तिकालेऽपि(मण)इत्यादिमनोवाक्कायार्येन्द्रियैर्गुप्तस्य किमावश्यकी नवति । सूत्रे इंदियशब्दस्य गाथाभंगभयाद्व्यवहित उपन्यासः कार्यात् पृथगींद्रियग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थं अस्ति चाय न्यायःसामान्यग्रहणे सत्यपि प्राधान्यख्यापनार्थं नेदेनोपन्यासो यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति उक्ता आवश्यकी । आ. म द्वि. १ अ. ॥

आवह—आवह—पुं० आवहति आभिमुख्येन गच्छति आ-वह अच्-सप्तस्कंधापरवायोः प्रथमे स्कंधे भूवायौ भूवायुरावहइह प्रवहस्तदूर्ध्वम्-सि० शि० (आवहः प्रवहश्चैव विवहश्च समीरणः । परावहः संवहश्च उद्वहश्च महाबलः । तथा परिवहः श्रीमान्) दृरि वं० आवहति प्रापयति आ-वह-अच् प्रापके त्रि० वाच०। (णो पूयणं तवसा आवहेज्जा)नापि तपसा पूजनं सत्कारमावहेत् न पूजनसत्कारनिमित्तं तपःकुर्य्यादित्यर्थः सूत्र. ७ अ०

आवहमाण—आवहमान— त्रि-आ-वह-शानच्-क्रमागते-वाच. ।

अवाव-आवाप-पुं-आ-वप्-आधारे वा घञ् वाच० ।

आवावकहा—आवापकथा-स्त्री० विकथाभेदे व्याख्या भत्तकहा शब्दे स्या० ॥

आवास—आवश्य न० आवश्यके व्य० १ उ० ॥

आवास—पुं० आवसन्ति येषु ते आवासाः भ. १ श.४ उ. आ-वस्-आधारे-घञ् आश्रये-स्था० वासस्थाने गृहादौ वाच० जेसिं ते आवासा-येषां देवानां ते निधय आवासा आश्रया इति स्था० ७ ठा. आवसंत्यस्मिन्नित्यावासः मनुष्यादिनवे मनुष्यादिशरीरे च (अणिच्चमावासमुवेतिजंतुणा आवसंत्यस्मिन्नित्यावासो मनुष्यादिनवस्तच्छरीर वा तमनित्यं उपसामीप्येन यंति गच्छंति जतवः प्राणिन इति आचा० । नरका वासाःनरकावासशब्दे । अथासुरादावासविषयमभिलाप दर्शयति । सम० ।

केवइयाणं नंते असुरकुमारवासा प० गोयमा० इमीसेणं रयणप्पनाए पुढवीए असी उत्तरजोयणं सयसहस्स बाहल्लाए उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता अट्ठहत्तरिंजोयणसहस्से एत्यणं रयणप्पनाए पुढवीए चउसर्ट्ठिं असुरकुमारावास सयसहस्सा प० तेणं नवणावाहिं वट्टा अंतो चउरंसा अहो पोक्खर कण्णिआ संठाण संठिया उक्किण्णंतर विउल गंनीर खाय फलिहा अट्टालय चरिय दार गोउर कवाड तोरण पडिदुवार देस नागा जत मुसल मुसंढि सयग्घि परिवारिया अओज्झा अडयाल कोट्ठरइया अडयालकय वण माला लाउल्लोइय महिया गोसीस सरस रत्तचंदण दद्दरविन्न पंचंगुलितला कालागुरु पवर कुंदुरुक्क तुरुक्कडज्झंत धूममघमघेंत गंधुद्धुयाभिरामा सुगंध वरगंधिया गंधवट्टि नूया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया णिम्मला वितिमिरा विसुद्धा सप्पन्ना समरीया सउज्जोआ पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा एवं जंजस्स कमातीतं तस्स जंजं गाहाहिं नणियं तहचेव वणओ ॥

टी० वृत्तप्राकारावृत्तनगरवत् अंतः समचतुरस्राणि तदवकाशादेतस्य चतुरस्रत्वात् अधः पुष्करकर्णिकासंस्थानसंस्थितानि पुष्करकर्णिकापद्ममध्यभागः सचोन्नतसमचित्रबिंदुकिलिनवतीति तथा उत्कीर्णोतरविपुलगम्भीरखातपरिखाणि उत्कीर्णं

त्वनमुत्कीर्य पालीरूपं कृतमतरमंतरालं ययोस्ते उत्कीर्णांतरे ते विपुलगम्भीरे खातपरिखे येषां तानि तत्र खातमध उपरि च समम्परिखा उपरि विशाला अधः सकुचिता तयोरंतरेषु पाली अस्तीति भाव । तथा अट्टालका प्राकारस्योपर्याश्रयविशेषाः चरिका नगरप्राकारयोरंतरमष्टहस्तो मार्गः पागन्तरेण (चतुरयति) चतुरका सभाविशेषा ग्रामप्रसिद्धाः (दारगोउरत्ति) गोपुरद्वाराणि प्रतोल्यो नगरस्येव कपाटानि प्रतीतानि तोरणान्यपि तथैव प्रतिद्वाराणि अवांतरद्वाराणि तत एतेषां रूढ एतानि देशलक्षणेषु भागेषु येषां तानि तथा इह देशो भागश्चानेकार्थस्ततोन्योन्यमनयोर्विशेष्यविशेषणभावो दृश्यत इति तथा यंत्राणि पाषाणक्षेपणयंत्राणि मुशलानि प्रतीतानि भुशुण्ड्य प्रहरणविशेषाः शतघ्न्य शतानामुपघातकारिण्यो महाकाया काष्ठशैलस्तम्भमय्य ताभि (परियारियत्ति) परिवारितानि परिकरितानीत्यर्थ । तथा आयोधानि योधयितु संग्रामयितुदुर्गतत्वान्न शक्यते परबलैर्यानि तान्ययोधानि अविद्यमाना वा योधा परबलसुभटा यानि प्रतीतान्ययोधानि तथा (अरूयालकोठगरइयत्ति) अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नविचित्रछंदोगेपुररचितानि अन्ये भणति अरूयालशब्द किल प्रशंसावाचक तथा (अरूयालकयवणमालत्ति) अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्ना प्रशंसार्हा कृता वनमाला वनस्पतिपल्लवस्रजो येषु तानि तथा (लाइयति) यद्भूमेश्छगणादिनोपलेपन (उल्लोइयंति) कुड्यमालानां सेटिकादिभि सम्मृष्टीकरण ततस्ताभ्यामिवमहितानि पूजितानि (लाउल्लोइय) महितानि तथा गोशीर्षचन्दनविशेष सरसंच रसोपेतं यद्रक्तचदन चदनविशेष ताभ्या दर्दराभ्यां घनाभ्यां दत्ता पचागुलयस्तलाहस्तका कुड्येषु येषु अथवा गोशीर्षसरसस्य रक्तचन्दनस्य सत्का दर्दरेण चपेटाभिघातेन दर्दरेषु वा सोपानवीथीषु दत्ता पचांगुलयस्तला येषु तानि गोशीर्षसरसरक्तचन्दनदर्दरदत्तपचागुलितलानि तथा कालागुरु कृष्णागुरुर्गंधद्रव्यविशेषः प्रवर प्रधानः कुन्दुरुक्कश्चीडा तुरुष्क सिल्हक गधद्रव्यमेव एतानि च तानि (डज्झतित्ति) दह्यमानानि चेति विग्रह तेषा योधूमो (मघमघंतत्ति) अनुकरणशब्दोऽय मघमघायमानो बहलगध इत्यर्थ । तेनोद्धुराणि उत्कटानि तानि तथा तानि च तान्यभिरामाणि रमणीयानीति समासः । तथा सुगन्धय सुरभयो ये वरगधाः प्रधानवासास्तेषा गन्ध आमोदो येष्वस्ति तानि सुगन्धि वरगंधिकानि तथा गधवर्ति गधद्रव्याणां गधयुक्तिशास्त्रोपदेशेन निर्वर्तितगुटिकातद्भूतानि तत्कल्पानीनि गन्धवर्तिभूतानि प्रवरगन्धगुणानीत्यर्थ । तथा अच्छानि आकाशस्फटिकवत् । (सण्हत्ति) श्लक्ष्णानि सूक्ष्मस्कधदलनिष्पन्नत्वात् श्लक्ष्णदलनिष्पन्नपटवत् (लण्हत्ति) मसृणानीत्यर्थः । घुटितपटवत् (घट्ठत्ति) घृष्टानि खरशाणया पाषाणप्रतिमावत् (मट्ठत्ति) मृष्टानीव मृष्टानि सुकुमारशाणया पाषाणप्रतिमेव शोधितानि वा प्रमार्जनिकयेव अतएव (नीरयत्ति) नीरजांसि रजोरहितत्वात् (निम्मलत्ति) निर्मलानि कठिनमलाभावात् (वितिमिराणि) निरधकारत्वात् (विसुद्धत्ति) विशुद्धानि निष्कलकत्वाच्चन्द्रवत् सकलङ्कानीत्यर्थ तथा (सप्पहत्ति) सप्रभाणि स प्रभावाणि अथवा स्वेनात्मना प्रभांतिशोभते प्रकाशते चेति स्वप्रभाणि यत (समरीयत्ति) समरीचीनि सकिरणानि अतएव (सउज्जोयति) सहउद्योतेन वस्त्वंतरप्रकाशनेन वर्तत इति सोद्योतानि (पासाईयत्ति) प्रासादीयानि मन प्रह्लादिकराणि (दरिसणिज्जत्ति) दर्शनीयानि तानि हि पश्यंश्चक्षुषा न श्रम गच्छतीति भावः (अभिरूवत्ति) अभिरूपाणि कमनीयानि (पडिरूवत्ति) प्रतिरूपाणि द्रष्टार प्रतिरमणीयानि नैकस्य कस्यचिदेवेत्यर्थः । एवमित्यादि यथासुरकुमारावाससूत्रे तत्परिमाणमभिहितमेवमेवमिति यथा यद्भवनादिपरिमाण यस्य नागकुमारादिनिकायस्य क्रमते घटते तस्य वाच्यमिति किंविध तत्परिमाणमतआह ।" जजगाहाहिंभणिय" यद्यत्रगाथाभि चउसट्ठिअसुराणमित्यादिकाभिरभिहितं किम्परिमाणमेव तथावाच्य (तहेत्याह) । (तहचेववन्नाओत्ति) यथा असुरकुमारभवनानां वर्णक उक्तस्तथा सर्वेषामसौ वाच्य इति तथाहि ।

केवइयाणं भंते नागकुमारावासा पन्नत्ता गोयमा इमीसेणं रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तर जोयण सयसहस्स पमाणाए उप्पिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता । हेट्ठावेगं जोयण सहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरेजोयण सहस्से एत्थणं रयणप्पभाए चुलसीइ नागकुमारावाससयसहस्सा पन्नत्ता तेणं भवणा इत्यादीनि सम. ॥

तथाच भगवत्याम् ॥

केवइयाणं भंते असुरकुमारा भवणावास सयसहस्सा पं. गोयमा ! चउसट्ठिं असुर कुमार भवणावाससय सहस्सा प० तेणं भन्ते ! किंमया पं० गोयमा ! सव्वरयणामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा तत्थणं बहवे जीवाय पोग्गलाय वक्कमति विउक्कमंतिचयंति उववज्जंति सासयाणं ते भवणा दव्वट्ठयाए वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासया एवं जावथणियकुमारावासा भ. श. १७ उ.७ ॥

आवासपरिमाण चासुरादीनामपि दशानां गाथया सगृह्णाति ॥

चउसट्ठि असुराणं, चउरासीइं च होइ नागाणं ॥
वावत्तरि सुवन्नाणं, वाउकुमाराण वण्णओइ ॥ ३ ॥
दीवादिसाउद हीणं, विज्जकुमारिदथणियमग्गीणं ॥
छण्हंपि जुवलयाणं, वावत्तरिओ य सयसहस्सा ॥२॥ सम०

(छण्हंपि जुयलयाणति) दक्षिणोत्तरभेदेनासुरादिनिकायोद्विभेदो भवतीति युगलान्युक्तानि तत्र षट्सु युगलेषु प्रत्येक षट्सप्ततिर्भवनलक्षाणामिति एषा चासुरादिनिकाययुगलानां दक्षिणोत्तरादिशोरय विभाग (चउतीसा चउछत्ता, अट्ठत्तीसं च सयसहस्साउ । पण्णाचत्तालीसा, दाहिणओ होति भवणाइ ॥ १ ॥ चत्तालीसत्ति ॥ द्वीपकुमारादीनांपण्णाप्रत्येक चत्वारिंशद्भवनलक्षाणि तीसा चत्तालीसा, चोत्तीसं चेव सयसहस्साइं । छयाला छत्तिसा उत्तरओहोंति भवणाइ ॥१॥ (छत्तीसत्ति) द्वीपकुमारादीना षण्णां प्रत्येक षट्त्रिंशद्भवनलक्षाणीति ॥ भ० १ श० ५ उ. ।

केवइयाणभंते ! पुढविकाइयावासा प० गोयमा ! असंखेज्जा पुढविकाइयावासा प० एव जाव मणुस्सत्ति ।

॥ टी० ॥ केवइयाणभते पुढवीत्यादि गतार्थ । नवर मनुष्याणा गर्भव्युत्क्रान्तिकानां असख्यातानामभावात् संख्याता एवाऽऽवासा. सम्मूर्छिमानां त्वसख्येयत्वेन प्रतिशरीरमावासाभावादसख्याता इति भावनीयमिति ॥ भ० श० ५ उ० १

केवइयाणम्भंते ! वाणमंतरावासा पं० गोयमा ! इमीसेणं रयणप्पभाए पुढवीए रयणामयस्स कंडस्स जोयणसहस्स वाहल्लस्स उवरि एगं जोयणसयं ओगाहेत्ता हेट्ठाचेगं जोयणसयं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठसु जोयणसएसु एत्थणं वाणमंतराणं देवाणं तिरियमसंखेज्जा भोमेज्जा नगरावाससयसहस्सा पं० तेणं भोमेज्जा नगरा बाहिं वट्टा अंतो चउरंसा एवं जहा भवणवासीणं तहेव णेयव्वा । णवरं । पमागमालाउला सुरम्मा पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा केवइयाणं भंते वाणमंतर भोमेज्जणयरावाससयसहस्सा पं० गोयमा ! असंखेज्जा वाणमंतरा भोमेज्जा णयरावासासयसहस्सा प० तेणं भंते ! किंसठिया पं० ३ सेसं तं चेव ॥ भ० १७ श० ७ उ० १ ॥

॥ टी० ॥ भोमेज्जनगरत्ति । भूमेरंतर्भवानि भौमेयकानि तानि च तानि नगराणि चेति विग्रहः ॥ भ० टी० ॥

अरुणोदगे समुद्दे गंतूणं पंच आवासा । द्वी० ॥

निरयावासा निरयावासशब्दे । भावेल्युट् सम्यगृवासे वाच० ॥ निवासे, प्रश्न० ४ द्वा० ॥ औप० ॥ अवस्थाने, सम० ॥ स० ७० ॥ स्था० ४ ठा० ॥ (आगारमावसता वि) अगारं गृहं तदावसन्तस्तस्मिंस्तिष्ठतो गृहस्था इत्यर्थः सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ॥ (त जोइन्नूयं च सया वसेज्जा) आवसेत सेवेत गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत् सूत्र० १ श्रु १४ अ० । (कम्मोवगाकुणिमे आवसंति–) आ समन्ताद्वसति तिष्ठतीति ॥ सूत्र० नीके, व्य० १ उ० ॥

आवासपव्वय – आवासपर्वत– पु० निवासभूते पर्वते, (गोथूभस्स ण आवासपव्वयस्स) स० ॥

आवासय–आवश्यक– न० सुसयरवशपसां दीर्घः १ । ४३ इति प्राकृतसूत्रेण प्राकृतलक्षणवशाल्लुप्ता याद्या यपर्यधोवा येषां शकारवकारसकाराणां तेषामादेः स्वरस्य दीर्घो भवति प्रा० ॥ अवश्यकर्त्तव्ये सामायिकादिके, विशे० ॥

आवासक न० आसमन्तात् ज्ञानादिगुणैः शून्य जीवं वासयति तैर्युक्त करोतीत्यावासकम् सामायिकादिके, विशे० । आवासो नीडमावास एवावासकः नीडे, पु० वासगगय तु वोसति वासगगयंति प्राकृतत्वाद्धाकारस्य लोपः आवासो नीडमावास एवावासकः । व्य० १ उ० (सावासगापविच्च मज्जमाण) स्वकीयादावासकात्स्वनीडात् सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ॥

आवासयाणुओग–आवासकानुयोग– पु० । आवश्यकव्याख्याने, " आवासयाणुओगं " आ समताद्ज्ञानादिगुणैः शून्य जीव वासयति तैर्युक्त करोतीत्यावासक सामायिकादिरूपमेव तस्य वक्ष्यमाणशब्दार्थोऽनुयोगो व्याख्यान विधिप्रतिषेधाभ्यामर्थप्ररूपणमित्यर्थः विशे० ॥

आवाह–आवाह–पु० आहूयते स्वजनास्ताम्बूलदानाय यत्र स आवाहः । विवाहात् पूर्वं ताम्बूलदानोत्सवे, जी ३ प्र० । अभिनवपरिणीतस्य वधूवरस्यानयने । प्रश्न० स० ४ द्वा० ॥ वध्वा वरगृहानयने, च प्रश्न० ४ द्वा० ॥

आवाहण–आवाहन–न० आ वह–णिच्–ल्युट्–सान्निध्याय देवानामाह्वाने–वाच० ॥

आवाहविवाहवरकहा–आवाहविवाहवरकथा–स्त्री० आवाहविवाहप्रधानायां परिणेतृकथायां, (आवाहविवाहवरकहावि) आवाहोऽभिनवपरिणीतस्य वधूवरस्याऽनयन विवाहश्च पाणिग्रहण तत्प्रधाना या वरकथा परिणेतृकथाआवाहविवाहवरा वा या कथा सा तथा सापि न कथयित व्येतिप्रक्रमः । प्रश्न स० ४ द्वा० ॥

आविइ–आविची–स्त्री० । अविचदेशेोऽवायाम्–राज० ॥

आविंधइत्ता–आविध्य–अव्य० परिधायेत्यर्थे (पालव वा सुवणसुत्त वा आविंधेज्ज वा पिणिंधेज्ज वा) आचा० ६ अ० ३ उ० ॥

आवीक (वीक) म्म (न्)–आविष्कर्मन्–न० प्रगटक्रियायाम्–स्था० ए ठा० कल्प० ॥

आविट्ठ–आविष्ट–त्रि० आ–विष–क्त–भूतादिग्रस्ते, आवेशयुक्ते, निविष्टे, व्याप्ते, च–वाच० ॥ अधिष्ठिते, स्था ५ ठा० ॥ प्रविष्टे, (भ च्छाविट्ठाव कयणे) केतने मत्स्यबन्धने प्रविष्टा निर्गतिकाः । सूत्र १ श्रु० ३ अ० । युक्ते, च सम० ३ स० ॥

आविद्ध–आविद्ध–त्रि० आ व्यध्–क्त–तामिते ऽविद्धे, छिद्रिते, क्षिप्ते, च (नश्यतीषुर्यथाऽऽविद्धः) मनु–वाच० परिहिते, कल्प औप० ॥ (आविद्धमणिसुवण्णे) आविद्धानि परिहितानि मणिसुवर्णानि येन सः । तं ॥ औप० ॥ आविद्धानि परिहितानि मणिसुवर्णानि लक्षणया मणिसुवर्णानि सुवर्णमयादिभूषणानि येन स तथा तस्मिन् । कल्प० ॥ (आविद्धवग्घारियमल्लदामकलाव) परिहितप्रलम्बपुष्पमालासमूहे, । ज्ञा० ३ अ० ।

आविद्धवीरवलय–आविद्धवीरवलय–त्रि० आविद्धानि वीरवलयानि वीरत्वगर्वसूचकानि वलयानि येन तथा तस्मिन् सुभटोहि यदि कश्चिदन्योऽप्यस्ति वीरव्रतधारी तदाऽसौ मां विजित्य मोचयत्वेतानि वलयानीति स्पर्द्धयन् यानि कटकानि परिदधाति तानि वीरवलयानीत्युच्यन्ते । औप० ॥ कल्प० ॥ ज्ञा० १ अ० ॥

आविब्भाव–आविर्भाव–पु० आविस्–भू–घञ् प्रकाशे, वाच० । (आविब्भावतिरोभावमेत्तपरिणामिदव्वमेवाय) आविर्भावअकुण्डलादिरूपेण तिरोभावश्च मुद्रिकादिभावेन आविर्भावतिरोभावौ । तावेव तन्मात्रम् तेन परिणंतु प्रवर्तितु शील यस्य तदाविर्भावतिरोभावमात्रपरिणामि सुवर्णादिकं द्रव्यमेवैवं नतु तदतिरिक्ता गुणाः । विशे० ।

आविब्भूय–आविर्भूत–त्रि० आ–विस्–भू–कर्त्तरि–क्त–प्रकटिते, अभिव्यक्ते, । वाच० ॥

आविल–आविल–त्रि० आकुले, (कलुसाविलचेयसे) सम० सूत्र० ॥ अस्वच्छे, आविलमाविमलमस्वच्छमिति जी० ३. प्र० । आविलाति दृष्टिं स्तृणाति–विल स्तृतौ–क–कलुषे, अयं विल भेदने विलप्रकृतिकत्वात् वर्ग्यवमध्य इति रायमु० वाच० ॥ " भिक्खसोए अणाविले–" अनाविलोऽकलुषो रागद्वेषासम्पृक्तया मत्सररहितोऽनाकुलो वा विषयाप्रवृत्तेः स्वच्छचेता इति सूत्र० १ श्रु १५ अ० ।

आविलप्पा–आविलात्मन्–पुं० । आकुलात्मनि, (अभय करे भिक्खु अणाविलप्पा) अनाविलो विषयकषायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनाविलात्मा ॥ सूत्र० १ श्रु० १७ अ० ।

आविह–आविध–पु० आविध्यतेऽनेनआ–व्यध–घञर्थे क० वा काष्ठादि

वेष्टनसाधने सूत्याकारापि भस्ने, वाच. ॥

आवी आवी-स्त्री० अविरेव स्वार्थे अण्-ङीप्-रजस्वलायां ना स्त्रीम. गर्भगत्यां, च । गर्भस्थेदनमावीनां,प्रजाता इत्यापपामरु ता-स्तुश्र० ॥ वाच. ॥

आवीइमरण-आवीचिमरण-न० आसमन्तादवीचय इव वीचय आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन्नवीचिमरणम् अथवा वीचिर्विच्छेदस्तदभावादवीचिः दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात्तदेव मृतं मरणमावीचिमरणम् । प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणे मरण-भेदे, सम० १७ स. ।

" अणुसमयं निरंतर, मावीइसंज्ञियं तं जाणंति ।
पंचविहं दव्वे खेत्ते, काले भवे भावे य संसारे, ॥

अनुसमयं समयमाश्रित्य इह च व्यपदिशत्समयादन्यत्रा-ऽपि भवतीति मा भूदित्याह । निरंतरं न व्यन्तरायसमंत-गतानामपि तदेवविधमावीचिमरणमिति आसमन्ताद्वीचय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरापरायुर्दलिको-दयात्पूर्वपूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन्मरणे तदा-वीचि तत्र आवीचीति संज्ञा संजाता यस्मिन् तदावीचिसं-ज्ञितं नारकादिभवापेक्षयापि स्यादिदं । अथवा वीचिर्विच्छेदस्तद-भावादवीचिः दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात् तदेवं प्रसमानमरण तदेव कृतं प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणमावीचिमरणं पञ्चविधं भवति । तद्भेदमाह द्रव्यादिभेदात् संसारे जगति पञ्चविधमस्याह, (दव्वे खेत्ते काले भवे भावे य) द्रव्या-वीचिमरणं क्षेत्रावीचिमरणं कालावीचिमरणं भवावीचिमरणं भावावीचिमरणं चेत्यर्थः ॥ तत्र द्रव्यावीचिमरणं नाम नारा-कतिर्यङ्मनुष्यदेवानामायुर्दलिकसमयानन्तरानन्तरं ज्ञायु कर्मग-लितानामनुभवनमुदयापर्यायपर्यन्तं तु तत्र नारकादिभेदाच्च-तुर्विधमपि नारकादिगतिचतुर्विधापेक्षया तदेव क्षेत्रादि-चतुर्विधं नरकाद्याश्रयापेक्षया क्षेत्रावीचिमरणमपि चतु-र्विधम् । काल इति यथाऽनुभवकाला गृह्यते तत्रापि नारका-द्यायुर्दलिकानामनुभवकालादिभेदाच्चतुर्विधत्वं-नरकाद्यपेक्षया कालावीचिमरणमपि चतुर्विधमेव । चतुर्वि-धनरकाद्यपेक्षया भवावीचिमरणमपि चतुर्विधं । तथैव च नारकादीनां चतुर्विधमायुः भवस्य तद्भावभवापेक्षया भा-वावीचिमरणमपि चतुर्विधमिति ॥ प्रव० १५७ द्वा. ।

आसमन्ताद्वीचय प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरापरायुर्दलि-कोदयात्पूर्वं पूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिंस्तदा-वीचिकम् । अथवा अविद्यमाना वीचिर्विच्छेदो यत्र तदवी-चिकम् । अवीचिकमेवावीचिकम् तच्च तन्मरणं चेत्यावीचि-कमरणम् । मरणभेदे, । भ० १३ श. ७ उ. ॥

आवीइमरणिय-आवीचिमरणिक-न० । आ समन्ताद्वीचय इव वीचयः प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरायुर्दलिकोदया-त्पूर्वं पूर्वायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन्मरणे तदा-वीचि तत्र आवीचीति संज्ञा संजाता यस्मिन् तदावीचिसंज्ञितं नारकादिभवादिलक्षणं आवीचिमरणं मरणभेदे, प्रव.१५७ द्वा. ॥

आवीकम्म-आविष्कर्मन्-न० प्रकटकर्मणि, कल्प० ॥

आवुकण-विज्ञापन-न० वि ज्ञा. णिच्-पुक्-ल्युट् विशेषेण बो-धनं, वाच० ॥

(विज्ञपेर्वोक्कावुक्कौ । ४ । ३८) इति प्राकृतसूत्रेण विपर्ययस्य ज्ञानातेर्यन्तस्य वोक्कआवुक्क इत्येतावादेशौ वा वोक्कइ आवु क्कइ-विण्णवइ । प्रा व्या. ॥

आवुट्टि-आवृष्टि-स्त्री० आ-वृष-क्तिन्. सम्यग् वर्षणे, वाच० ।

आवेढिय-आवेष्टित-त्रि० मध्यभागवेष्टिते, -स्था० १० ॥ ठा० । सर्वतोवेष्टिते, भ. श० १९ उ० ६ उ. । सामन्तात् आवेढिय परिवेढिय-आवेष्टयति मध्यभागवेष्टितम् परिवेढिय ति समन्तादिति-स्था० ॥ आवेढियाति अभिविधिना वेष्टितं समंतं सर्वतः परिवेढियाति पुनः पुनरित्यर्थः ॥ भ० ॥

आवेढियपरिवेढिय-आवेष्टितपरिवेष्टित- त्रि० गाढतरं संवेष्टि ते, ॥ प्रश्न० पत्र १५ ॥

आवेग-आवेग-पुं०आ-विज-घञ्-त्वरायाम,शब्द० ॥

आवेस-पि० उभे प्रवेशे पुरुषेऽप्यस्य इत्यभिहिते,। व्य० ७० ॥

आवेयग आवेदक-त्रि० आ-विद्-णिच्-ण्वुल् विज्ञापके ।

आव्योम-आव्योम-अव्य. व्योम मर्यादीकृत्येत्यर्थे,- (आङीष-दर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थे धातुयोगजे) आव्योम व्योममर्यादीकृत्येतिस्या० ५ श्लो.

आस-अश्व पुं. अश्नुते व्याप्नोति मार्गम्-अश-क्वन् घोटके ज्ञा. १७ अ ॥ अनु ॥ अश्वस्तुरंग इति कोष. ॥ आसो सत्तीघाडो-पक्षा० पादलिप्ताचार्यकृतोपवनं आयमं वृत्ता.६ अ.॥ आस्या आसुगम नत्वीता अश्वा -उपा घोटका जी. ३ प्र. ।

अश्वानां वर्णको ज्ञाताध्ययने यथा ।

बहवे तत्थ आसे पासंति । किं ते हरिरेणुसोणिसुत्तग-आडग्गपवे-ज्ञा० १७ अ० ॥

बहूनश्वानश्वान्, घोटकान् पश्यंति स्म किंभूतान् इ-त्याह-ते । हरीत्यादि ॥ आइं खपेदासि । आसीणां आस्या अश्वा-नामं वंदासि वर्णनायां वाच्यपद्धतिरावर्तनीयेच्छया । स चायं

हरिरेणुसोणिसुत्तगसविलमज्जारपायकुक्कुडवोंडसमुग्ग-यसामवण्णा। गोहुमगोरंगगोरपाडलगोरा पवालवण्णा य धूमवण्णा य केइ ॥ १ ॥ तलपत्तरिट्ठवण्णा सालिवण्णा य भासवण्णाय । केई जंपिय तिलकीडगाय सालोयरि-द्दगाय पुंडपइयाय कणगपीठाय केई ॥ २ ॥ चक्काग-पट्ठवण्णा सारसवण्णाय हंसवण्णाय केई । केई अब्भवण्णा पक्कतलमेहवण्णाय बाहुवण्णाय केई ॥ ३ ॥ संज्झाणुरागसरिसा सुयमुहगुंजद्धरागसरिसच्छकेई । ए-लापाडलगोरा सामलयागवलसामला पुणोकेई ॥ ४ ॥ बहवे अण्णे अणिद्दे सा सामा का सीसरत्तपीया। अच्चं-तविसुद्धा वियणं आइण्ण जाइकुलविणीयागमच्छरा हयवरा जहोवए सक्कमग्गाहिणोवि य णं सिक्खाविणीय विणया लंघणवग्गणधावणधोवणतिवईजईणसिक्खियगई किं ते मणसा विउव्विहिंताई अणेगाई आससयाइं पासंतित्ति ॥

तत्र हरिरेणुवत् नीलवर्णपांशवः श्रोणिसूत्रकं च बालकानां चर्मा दिमयदवरककरूपं कटिसूत्र तद्वि भाष.कालकं भवति सह कपिलेन पक्षिविशेषेण यो मार्जारो बिडालः स च तथा पादकुक्कुटविशेषः स च तथा बोंडं कार्पासफलं तस्य समुद्गकः संपुटमभिप्रायस्त्वं

कार्प्पासीफलमित्यर्थः तथेति दृष्टस्तत पत्तामिव श्यामो वर्णो येषांते तथा । इह च सर्वत्र द्वितीयार्थे प्रथमाऽतस्तानिति तथा गोधूमो धान्यविशेषः तद्वद्गौरमंगं येषां ते तथा । तथा गौरी या पाटला पुष्पजातिविशेषस्तद्वद्ये गौरास्ते तथा ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । गोधूमगौरांगगौरपाटलागौरास्तान् तथा प्रवालवर्णांश्च विद्रुमवर्णान् अभिनवपल्लववर्णान् वा रक्तानित्यर्थः (धूमवएणायत्ति) धूम्रवर्णांश्चधूम्रवर्णान्वा पांडुरानित्यर्थः (केइत्ति) कांश्चिन्न सर्वानित्यर्थः । इदं च हरीत्यत आरभ्य पांडुशब्दे कल्पितार्के रूपक भवति । तालपत्राणि तालाभिधानवृक्षपर्णानि रिष्टा च मदिरा तद्वद्वर्णो येषां ते तालपत्ररिष्टवर्णास्तां स्तथा शालिवर्णान् शुक्लानित्यर्थः । (भासावएणायत्ति) भस्मवर्णांश्च भासो वा पक्षिविशेषस्तद्वर्णांश्च कांश्चिदित्यर्थः (जवियतिलकीडगायत्ति) यापिताः कालांतरं प्रापा ये तिलकीटा धान्यविशेषास्तद्वद्ये वर्णसाधर्म्यात्ते तथा तान् यापिततिलकीटकांश्च (सालोयरिट्ठगायत्ति) सावलोकं सोद्योत यद्रिष्टक रत्नविशेषस्तद्वद्ये वर्णसाधर्म्यात्ते सावलोकरिष्टकास्तांश्च (पुग्गपययायत्ति) पुंड्राणि धवलानि पदानि पादा येषां ते तथा त एव पुण्ड्रपदिकास्तांश्च तथा कनकपृष्ठान् कांश्चिदिति रूपकं ॥ २ ॥ (चक्काग पट्ठवएणात्ति) चक्रवाकः पक्षिविशेषस्तत्पृष्ठस्येव वर्णो येषां ते तथा तान् सारसवर्णांश्च । हंसवर्णान् कांश्चित् इति पद्यार्द्धे (केइ अब्भवएणेति) कांश्चिदेवाभ्रवर्णान् (पक्कतलमेहवएणायत्ति) पक्वः पक्वफलो यस्तलस्तालवृक्षः स च मेघश्चेति विग्रहस्तस्येव वर्णो येषां ते तथा तान् (पविरलमेहवएणत्ति) क्वचित्पाठः तथा (बाहुवसाके इति बभ्रुवर्णान् कांश्चित्पिंगलानित्यर्थः । बहुवर्णानिति क्वचित् दृश्यते रूपकमिदं ॥ ३ ॥ तथा (संज्झाणुरागसरिसत्ति) सन्ध्यानुरागेण सदृशा वर्णत इत्यर्थः (सुयमुहगुंजद्धरागसरिसत्थेत्ति) शुकमुखस्य गुंजार्द्धस्य च प्रतीतस्य रागेण सदृशो रागो येषां तथा तान् । अत्र इह कांश्चिदित्यर्द्धं (एलापाडलगोरत्ति) एला पाटला पाटलाविशेषोऽथवा एला च पाटला चेत्येलापाटले । तद्वद्गौरा ये ते तथा तान् (सामलयागवलसामला पुणो केइत्ति) श्यामलता प्रियंगुलता गवलं च महिषशृंगं तद्वत् श्यामलान् पुनः कांश्चिदिति रूपकं ॥ ४ ॥ (बहवे अएणे अणिद्देसत्ति) एकवर्णेनाव्यपदिश्यानित्यर्थः । अतएवाह ॥ (सामाकासीसरत्तपीयत्ति) श्यामाकाश्च कासीसं रागद्रव्यं तद्वद्ये ते कासीसास्ते च रक्ताश्च पीताश्च ये ते तथा तान् शबलानित्यर्थः (अच्चंतविसुद्धावियणत्ति) निर्दोषांश्चेत्यर्थः । णामित्यलंकारे (आइएण जाइकुलविणीयगयमच्छरत्ति) आकीर्णानां यवादिगुणयुक्तानां सबाधिनी जातिकुले येषां ते तथा ते च ते विनीताश्च गतमत्सराश्च परस्परासहनवर्जिता निर्मत्सराश्चेति । ते तथा तान् (हयवरत्ति) हयानामश्वानां मध्ये वरान् प्रधानानित्यर्थः (जहोवदेसकमवाहिणो वियणाति) यथोपदेशक्रममिव उपदिष्टपरिपाट्यनतिक्रमेणैव वोढुं शील येषां ते तथा तानपि च णामित्यलंकारे (सिक्खाविणयत्ति) । शिक्षयेवाश्वदमकपुरुषशिक्षाकरणादिव विनीतोवासो विनयो यैस्ते तथा तान् (लंघणवग्गणधावणधोरणतिपईजईणसिक्खियगईत्ति) लंघन गर्तादीनां वल्गनं कूर्दन धावनं वेगवत्गमन धोरण चतुरत्वं गतिविषयं त्रिपदीमल्लस्येव रंगभूम्यां गतिविशेष । एतद्रूपा जविनी वेगवती शिक्षितेव शिक्षितागतिर्यैस्ते तथा तान् किं ते इति किमपर (मणसा वि उव्विहिं ताइंत्ति) मनसाऽपि चेतसाऽपि न केवल वपुषा (उव्विहिंताइंति) उत्पतति (अणेगाइं आससयाइंति) न केवलमश्वानेकैकशोऽपि तु अश्वशतानि पश्यंति स्मेति गमनिकामात्रमेतदस्य वर्णकस्य । भावार्थस्तु बहुश्रुतबोध्यइति ॥ धावमानस्याश्वस्योदरवर्त्तिशब्दविचारो भगवत्याम् ।

आसस्सणं भंते ! कखु धावमाणस्स किं खुखुखुत्ति करेइ गोयमा ! आसस्स णं धावमाणस्स हिययस्स य जगयस्स य अंतरा एत्थं कक्कडए नाम वाए समुच्छिए जेणं आसस्स धावमाणस्स खुखुखुत्ति करेइ ॥ भ० १ श० ३ उ० ॥

॥ टी० ॥ हृदयस्य यकृतस्य दक्षिणकुक्षिगतोदरावयवविशेष स्यान्तरान्तराले । भ० टी० ॥

अश्विनीनक्षत्राधिष्ठातरि देवे, तदधिष्ठातृके अश्विनीनक्षत्रे, च अश्वनामको देवविशेष इति ज० ॥ अश्वोऽश्वदेवतोपलक्षिताऽश्विनीति च० २० प्रा. ॥ आशुगमनादश्वः मनसि, जी. ३ प्र. ॥ प्रज्ञा. २ पद ॥

आश-पुं०-अशनमाशः । अश्भोजने-घञ्-भोजने-आ. म. प्र०१ अ ॥ (सामासाए पायरासाए) प्रातरशनं प्रातराशःप्रत्यूषस्येव भोजनमिति सूत्र. २ श्रु. १ अ ॥

कर्मणि उपपदे कर्त्तरि अण्-उपपदस० तत्तद्वस्तुभक्षके । यथा हुताशः आश्रयाशः मांसाशः पलाशः हविष्याशः ॥ वाच० ॥

आसइ-(न्) आश्रयिन्-आ-श्रि-इनि-आश्रयकारके, आश्रिते, "मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन" रघुः । पर्य्यन्ताश्रयिभिः निजस्य सदृश नाम्नः किरातैः कृतम् रत्ना. । वाच. ॥

आसइत्ता—आश्रित्य—अ० आ. श्रि—ल्यप्—अवलम्ब्येत्यर्थे, वाच० ॥

आसंकणिज्ज—आशंकनीय-त्रि- । आ—शकि—अनीयर् शंकयाविषयीकार्य्ये—अनिष्टतया चिन्तनीये, वाच ॥

आसंग-आसंग-पुं० । अभिष्वङ्गे, । षो० ॥ स्वरूपम ॥

आसंगेऽप्यविधाना, दसंगसत्युचितामित्यफलमेतत् ॥
भवतीष्टफलदमुच्चैः, स्तदप्यसंगं यतः परमं ॥ ११ ॥

आसंगेपीत्यादि ॥ आसंगेऽपि चित्तदोषे सति विधीयमानानुष्ठाने इदमेव सुन्दरमित्येवरूपे अविधान शास्त्रोक्तविधेराधात् शक्तिरनवरतप्रवृत्ति न विद्यते संगो यस्यां सेयमसगामिष्वंगो भावयती असगा चासौ शक्तिश्च तस्या उचित योग्यमिति कृत्वा फलमेतदिष्टफलरहितमेतदनुष्ठानं भवति जायते । इष्टफलदमिष्टफलसंपादकमुच्चैरत्यर्थं तदपि शास्त्रोक्तमनुष्ठानमसगमभिष्वगरहित यतो यस्मात्परमप्रधानं आसंगयुक्तानुष्ठान तन्मात्रगुणस्थानकस्थितिकार्यं च न मोहोन्मूलनद्वारेण केवलज्ञानोत्पत्तये प्रभवति तस्मात्तदर्थिना आसंगस्य दोषरूपता विज्ञेयेति । षो. १४ वि. । द्वा० । गार्ग्ये, सूत्र. १ श्रु. ३ अ. रोगे आचा० अ. ५३. उ. ४ ॥

आसंग—पुं० वासगेहे, " आसगो आसवणं आसयण वासगे हम्मि " देशी. व. १ श्लो. ६६ ॥

आसंदय-आसन्दक-न०-आसनविशेषे, (आसनमासनकातीत्ति) आचा. १ श्र. ५ उ. ॥

आसंदिया—आसंदिका—स्त्री०-मञ्चिकायाम्- (आसंदियं च न

बन्धुत्त) आसन्दिकां मंचिकाम् सूत्र १ श्रु ४ अ. ॥

आसंदी–आसन्दी–स्त्री–आसद्यतेऽस्याम्–आ–सद्–अन्द्रादित्वात् गौरा. ङीष्–उपवेशनयोग्ये आसनपत्रे क्षुद्रखट्वायाम्, वाच. ॥ मंचके, सूत्र० २ श्रु. १ अ (आसन्दी पलियंके य) आसन्दी-त्यासनविशेष इति । सूत्र० १ श्रु. ९ अ ॥

आसंबर–आशाम्बर–पुं० दिगंबरे जैनसाधुभेदे,–एतेन यदाहु राशाम्बरा न स्त्रीणां निर्वाणमिति तदपास्तम् इति । सं ॥

आसंसप्पओग–आशंसाप्रयोग–पुं० आशंसनमाशंसाऽभिला-षस्तस्याः प्रयोगो व्यापारणम् करणमाशंसाप्रयोगः । आशं-सैव वा प्रयोगो व्यापार आशंसाप्रयोगः । आशंसाया व्यापारे, च आशंसारूपे व्यापारे, । प्रव० १ द्वा ॥ आशंसप्पओगो नाम निन्दनकारणम् इति ॥ नि. चू. १ उ ॥

दसविहे आसंसप्पओगे प० तं जहा १ इहलोगासंस-प्पओगे २ परलोगासंसप्पओगे ३ दुहओलोगासंसप्प-ओगे ४ जीवियासंसप्पओगे ५ मरणासंसप्पओगे ६ कामासंसप्पओगे ७ भोगासंसप्पओगे ८ लाभासंसप्प-ओगे ९ पूयासंसप्पओगे १० सक्कारासंसप्पओगे । स्था. १० ठा. ॥

दसविहेत्यादि । आशंसनमाशंसा इच्छा तस्याः प्रयोगो व्या-पारणं करणमाशंसैव प्रयोगो व्यापार आशंसाप्रयोगः सूत्रे च प्राकृतत्वात् (आसंसप्पओगेत्ति) भणितं तत्र इहास्मिन् प्रज्ञापकमनुष्यापेक्षया मानुषत्वपर्याये यो वर्तते लोकःप्राणि-वर्गः स इहलोकस्तद्व्यतिरिक्तस्तु परलोकस्तत्रेहलोके प्रति आशंसाप्रयोगः यथा जन्मेदममितस्तपश्चरणाच्चक्रवर्त्यादि-रितीहलोकाशंसाप्रयोगः १ एवमन्यत्रापि विग्रहः कार्यः । परलो-काशंसाप्रयोगो यथा अनेनैव तपश्चरणादिन्द्रः समानि-को वा २ द्विधा लोकाशंसाप्रयोगो यथा अनेनैवमिन्द्रस्तत्रश्च-क्रवर्ती ३ अथवा इह लोके इह जन्मनि किंचिदाशास्ति एव परजन्मन्युभयत्र चेति एतत्त्रयं सामान्यमतोऽन्ये तद्विशेषाः । यदाहितं च सामान्यविशेषयोर्विवक्षापेक्षो भेद इत्याशंसाप्रयो-गाणां दशत्वं न विरुध्यते । तथा जीवितं प्रत्याशंसा चिरमहं जीवितः भवेयमिति जीविताशंसाप्रयोगः ॥४॥ तथा मरणं प्रत्या-शंसा शीघ्रं मे मरणमस्त्विति मरणाशंसाप्रयोगः ॥ ५ ॥ तथा कामौ शब्दरूपे तौ मनोज्ञौ मे भूयास्तामिति कामाशंसाप्रयो-गः ॥६॥ तथा भोगा गन्धरसस्पर्शास्ते मनोज्ञा मे भूयासुरिति भोगाशंसाप्रयोगः ॥७॥ तथा कीर्ति श्रुतादिलाभो भूयादिति लाभाऽशंसाप्रयोगः ॥ ८ ॥ तथा पूजा पुष्पादिपूजनं मे स्यादिति पूजाशंसाप्रयोगः ॥९॥ सत्कारः प्रवरवस्त्रादिभिः पूजनं तन्मे स्यादिति सत्काराशंसाप्रयोगः ॥१०॥ स्था. टी ॥ आव. ६ अ ॥

आसवण–थासगेहे, देशी १ व ६६ श्लो ।

आसक्ख–पक्षिविशेषे, " आसक्खओ सिरिवए " श्रीरिति व दतीति श्रीवदः प्रशस्तः पक्षिविशेषः । देशी. १ व ६७श्लो ।

आसक्खंध–अश्वस्कंध–पुं हयग्रीवायाम्, स्था २ ठा ।

आसंसा–आशंसा–स्त्री–आशासनमाशंसा–अभिलाषे, प्रव ५ द्वा ॥ आव ६ अ ॥ आशासनमाशंसा–इच्छायाम्, स्था. आशासनमाशंसा–अप्राप्तप्रापणाभिलाषे,–आचा० । २ अ. उ २.

अहवा आसंसा एतं परिण्णाय मेहावीणे नेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभेज्जा–आचा. २ अ० २ उ. ॥

टी. ॥ अथवा आशासनमाशंसा अप्राप्तप्रापणाभिलाषः तदर्थं दण्डसमादानमावर्त्तते तथाहि ममैतःपदपरारि वा प्रेत्य परलोके चोपस्थास्यत इत्याशंसया क्रियासु प्रवर्त्तते राजानं वा ऽर्थाशाविमोहितमना विलगति–आचा. ॥ विशेषावश्यके आशंसादूषितं प्रत्याख्यानमधिकृत्य ॥

आसंसाजा पुब्बे, सेविस्सामिति दूसियं तीए ।

या पर्यवधरपरिणामरूपा कथंभूत परिणाम इत्याह । पूर्वं प्रत्याख्याने देवलोकादौ सुरांगनासंभोगादिभोगानहं सेविष्ये इत्येवं भूतपरिणामरूपा च या आशंसा तया प्रत्याख्यानं दूषितं भवति । विशे० ॥ आ. म. द्वि १ अ. ।

तथा च सूत्रकृतांगे–

से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोहे उवसंते परिनिव्वुडे णो आसंसं पुरतो कुज्जा इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मुएण वा णाएण वा विन्ना-एण वा इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेरवासेण इमेण वा जायामायावुत्तिएणं धम्मेणं इओ चुए पेच्चा देवे सिया कामभोगा वसवत्ति सिद्धे वा अदुक्खमसुभे एत्थ वि सिया वि णो सिया ॥ २ श्रु १ अ. ॥

सेभिक्खू इत्यादि ॥ समूलोत्तरगुणव्यवस्थितो भिक्षुर्नास्य क्रिया सावद्या विद्यते इत्यक्रियः संवृतात्मकतया सांपरायिक-कर्माबन्धक इत्यर्थः । तथा न लूषकोऽहिंस-कोऽनुपमर्दक इत्यर्थः । तथा न विद्यते क्रोधोऽस्येत्यक्रोध ए-वममानोऽमायोऽलोभः कषायोपशमाच्चोपशान्तः शीतीभूतस्त-दुपशमाच्च परिनिर्वृत इव परिनिर्वृतः । एष तावदैहिकेभ्यः कामभोगेभ्यो विरतः पारलौकिकेभ्योऽपि विरत इति दर्शय-ति । णो आसंसं इत्यादि । नो नैवाशंसां पुरस्कृत्य ममानेन विशिष्टतपसा जन्मान्तरे कामभोगावाप्तिर्भविष्यतीति । एवंभू-तामाशंसां न पुरस्कुर्यादित्येतदेव दर्शयितुमाह । इमेण मे इत्यादि । अस्मिन्नेव जन्मन्यमुना विशिष्टतपश्चरणफलेन दृष्टेन सर्वौषध्यादिना पारलौकिकेन च श्रुतेनाऽकथम्मिहब्रह्मदत्ता-दीनां तथा (मुएणवत्ति) मननं ज्ञानं जातिस्मरणादिना ज्ञानेन तथाचार्यादेः सकाशाद्विज्ञानेनाऽवगतेन ममापि विशिष्टं भविष्यतीत्येवं नाशंसां विदध्यात् । तथाऽमुना सुचरिततपो नियमब्रह्मचर्यवासेन तथाऽमुना वा यात्रामात्रावृत्तिना धर्मेणा-नुष्ठितेनाऽतोऽस्मात्कायात्प्रच्युतस्य प्रेत्य जन्मान्तरे स्यामहं देवस्तत्रस्थस्य च मे वशवर्त्तिनः कामभोगा भवेयुः अशेषकर्मक्षयेण वा सिद्धो-ऽदुःखः अशुभाशुभकर्मप्रकृत्यपगमरूपभूतोऽहं स्यामागामिकाले इत्येवमाशंसां न विदध्यादिति । यदि वा विशिष्टतपश्चरणा-दिनाऽऽगामिनि काले अणिमाद्यष्टमहद्धिरूपा सिद्धि-र्भविष्यतीत्यनया च सिद्ध्या सिद्धोऽहमदुःखोऽशुभो वाऽभवम् इत्येवं रूपामाशंसां न कुर्यात् । तदकरणे च कारणमाह । एत्थ वित्यादि । अत्रापि विशिष्टतपश्चरणे सत्यपि कुतश्चिन्निमि-त्ताद्दुष्प्रणिधानसद्भावे सति कदाचित्सिद्धिः स्यात्कदाचि नैवाशेषकर्मक्षयलक्षणा सिद्धिः स्यात् । तथा चोक्तं (जजत्तिया उद्देओ, अवित्थरते चेव तत्तिया मोक्खे) इत्यादि । यदि वाऽणिमाद्यष्टगुणकारणे तपश्चरणादौ सिद्धिः स्यात्कदा-चिच्च न स्यात् तद्विपर्ययोऽपि वा स्यादित्येवं व्यवस्थिते प्रेक्षापू र्वकारिणा कथमाशंसा कर्त्तुं युज्यते इति । सिद्धिश्चाष्टप्रकारेय

अणिमा १ गरिमा २ लघिमा ३ महिमा ४ प्राप्तिः ५ प्राकाम्यं-६ ईशित्वं ७ वशित्व ८ यत्र कामावसायित्वमिति । तदेवमैहिकार्थमामुष्मिकार्थं च कीर्त्तिवर्णश्लोकाद्यर्थं च तपो न विधेयमिति स्थित ॥ ५ ॥ सूत्र० टी० २ श्रु० १ अ० ॥

आसंसाविप्पमुक्क–**आशंसाविप्रमुक्त**– त्रि० इहलोकाद्यपेक्षया विप्रमुक्ते, पं० सू० ॥ ४ ॥ आशंसया विनिर्मुक्तोऽनुष्ठानं सर्वमाचरेत् । मोक्षे भवे च सर्वत्र, निःस्पृहो मुनिसत्तमः प्रव० ५ द्वा० ॥

आसंसि(न्)–**आशंसिन्**– त्रि० आ–शन्स–णिनि–आशंसी आशंसाकर्त्तरि, स्त्रीयां ङीप्–वाच. ॥ (विउज्जुत्तो अणासंसी) अनाशंसी श्रोतृभ्यो न वस्त्राद्याकाङ्क्षति–आचा. १ उ० ॥

आसंसित्ता–**आशंसितृ**– त्रि० आ–शंस्–तृच्–आशिषमेष्यति, स्त्रियां ङीप्–वा० ॥

आसंसिय–**आशंसित**– त्रि० आ–शन्स्–क्त–कथिते,–इच्छाविषयीभूते, भावे क्त आशंसायाम् न० वाच० ॥

आसकण्ण–**अश्वकर्ण**–पुं० अश्वमुखद्वीपात्परतोऽन्तरद्वीपभेदे, (अंतरदीव) शब्दे विवृतिः । स्था ४ ठा० । प्रव. २६२ द्वा. ॥

आसण–**आसन**–न० आस्यते उपविश्यतेऽस्मिन्नित्यासनम् । आतापनास्थाने, उत्त. २ अ. । वसत्यादौ, सूत्र. १ श्रु. २अ । स्थाने, उत्त. १ अ. १उ. । वृ. ५ उ. । आस्यते स्थीयतेऽस्मिन्निति शय्यायां आचा. २ श्र. ५ उ. । पीठफलकादौ, आव. ४ अ. । स्था. ए ठा. । नि. चू. १ उ. । सम. स. २० । आव. ५ अ. । आधारलक्षणे धर्मास्तिकायादीनां लोकाकाशादिके, आ. १ अ. उपवेशन योग्यनिषद्यादिके, वृ. ३ अ. । विष्टरे, प्रश्न १ द्वा० । हंसासनादिके, जी. ३ प्र. । भग. १ श. ११ उ. । उपवेशने, स्था. ए ठा. ॥

निर्ग्रन्थ्या यादृशानि आसनानि कल्पन्ते तान्याह ।

नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाइयाए हुं तए नो कप्पइ निग्गंथिए पडिमट्ठियाए हुं तए एवं नेसज्जियाए उक्कुडुगासणियाए दंडासणियाए लगंडसाइयाए पउमन्नियाए उत्ताणियाए अन्तरकुज्जियाए एगपासियाए ॥

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानाय तया भवितु एवं प्रतिमास्थायिन्या नैषेधिकाया उत्कुटिकासनिकाया वीरासनिकाया दण्डासनिकाया लगण्डशायिन्या अवाङ्मुखाया उत्तानिकाया अन्ते कुब्जिकाया एकपार्श्वशायिन्या इति सूत्राक्षरसंस्कारः ॥

अत्र भाष्यकारो विषमपदानि व्याख्यानयति ॥

उड्ढठाणं ठाणे, यंतु पडिमाउ हुंति जासाई ॥
पंचवणिसिज्जाउ, तासि विजासाउ कायव्वा ॥ १ ॥

व्या० । स्थानायत नामोर्ध्वस्थानरूपमायतं स्थानं तदस्यामस्ति सा स्थानायतिका । केचित्तु (ठाणाइग) मितिपठन्ति तत्रायमर्थः । सर्वेषां निषदनादीनां स्थानानामादिभूतमूर्ध्वस्थानमतः स्थानानामादौ गच्छतीति स्थानादिग तदुच्यते तद्योगादार्यिकापि स्थानदिगेति व्यपदिश्यते । प्रतिमा मासिक्यादिका तासु तिष्ठतीति प्रतिमास्थायिनी (नेसज्जियायत्ति) निषद्याः पञ्चविध भवन्ति तासां विभाषा कर्तव्या साचेयम् निषद्यानामोपवेशनविशेषास्ताः पञ्चविधास्तद्यथा ॥

समपादयुता गोनिषद्यिका हस्तिशुण्डिका पर्यङ्का अर्द्धपर्यङ्का चेति तत्र यस्यां समौ पादौयुतौ च स्पृशतः सा समपादयुता यस्यान्तु गौरिवोपवेशनं सा गोनिषद्यिका यत्र तु ताभ्यामुपविश्यैकं पादमुत्पाटयति सा हस्तिशुण्डिका पर्यङ्का प्रतीता अर्द्धपर्यङ्का यस्यामेकं जानुमुत्पाटयति एव विधया निषद्यया चरतीति नैषद्यिकी उत्कुटिकासनन्तु सुगमत्वाद्भाष्यकृता न व्याख्यातम् ॥

वीरासनन्तु सीहासणेव जहमुक्कजाणु कणिविट्ठो ॥
दंडे लगंडउवमा, आयतखुज्जायदुण्हंपि ॥ १ ॥

वीरासनं नाम यथा सिंहासने उपविष्टोभूम्यस्तपादमस्ते तथा तस्यापनयने कृतेऽपि सिंहासनइवनिविष्टे मुक्तजानुकइव निराश्रयेऽपि यदतिदुष्करं चैतदतएव वीरस्य साहसिकस्यासन वीरासनमित्युच्यते तदस्यास्तीति वीरासनिका । दण्डासनिका लगण्डशायिका पदद्वये यथाक्रमं दण्डस्य लगण्डस्य चायतकुब्जताभ्यामुपमा कर्तव्या तद्यथा । दण्डस्येवायतं पादप्रसारणेन दीर्घं यदासन तद्दण्डासनं तदस्यास्तीति दण्डासनिका । लगण्डं किल दुस्संस्थित काष्ठं तद्वदुत्कुब्जतया मस्तकपार्ष्णिकानां भुवि लगनेन पृष्ठस्य चालग्नेत्यर्थः । या तु यथाविध्यभिग्रहविशेषेण शेते सा लगण्डशायिनी । अवाङ्मुखादीनितुपदानि सुगमत्वान्न व्याख्यातानीति द्रष्टव्यम् । एते सर्वेऽप्यभिग्रहविशेषाः संयतीनांप्रतिषिद्धाः एतान्प्रतिपद्यमानानां दोषानाह ॥

जोणी खुब्भणपिल्लण, गुरुगा पत्ताणहोइ सइकरण ।
गुरुगासवेभगम्मी, कारणे गहनं वग्घरणंच ॥

व्या० । ऊर्ध्वस्थानादौ स्थानविशेषस्थिताया आर्यिकाया योनेः क्षोभो भवेत् तरुणा वा यथास्थितां दृष्ट्वा प्रेरयेयुः प्रतिसेवरन् अतएवैतानभिग्रहान् प्रतिपद्यमानायास्तस्याश्चतुर्गुरु भुक्तभोगिनीनां च येन कारणेन स्मृतिकरण इतरासां कौतुकं च जायते तथा वक्ष्यमाणसूत्रे प्रतिषेधयिष्यमाण सवृन्तकं तुम्बकं यदि निर्ग्रन्थी गृह्णाति तदा चतुर्गुरु स्मृतिकरणादयश्च त एव दोषाः कारणेतु तस्यापि गृहणं धारणं चानुज्ञातम् । एतच्चाप्रस्तुतमपि लाघवार्थं स्मृतिकरणादिदोषसाम्यादत्र भाष्ये भाष्यकृताऽभिहितमिति सम्भावयामः । अन्यथा वा सुधिया परिभाव्यम् ॥

वीरासणगोदोही, मुत्तं सव्वे विताणकप्पन्ति ।
ते पुण पडुच्च चेट्ठं, सुत्ताओ अभिग्गहं पप्प ॥

अन्तरोक्तासनानां मध्यात् वीरासन गोदोहिकासनं च मुक्त्वा शेषाण्यूर्ध्वस्थानादीनि सर्वाण्यपि तासां कल्पन्ते आह सूत्रे तान्यपि प्रतिषिद्धानि तत्कथमनुज्ञायन्त इत्याह । तानि पुनः शेषाणि स्थानानि चेष्टां प्रतीत्य कल्पते न पुनरभिग्रहविशेषं सूत्राणि पुनरभिग्रह प्राप्य प्रतीत्य प्रवृत्तानि तत इदमुक्तं भवति । अभिग्रहविशेषास्तूर्ध्वस्थानानि संयतीनां न कल्पते । सामान्यतः पुनरावश्यकादिवेलायां यानि क्रियन्ते तानि कल्पन्ते एवापरःप्राह । ननु चाभिग्रहादिरूपं तपः कर्म निर्जरणार्थमुक्तं ततः किमेवं संयतीनां तत्प्रतिषिध्यते उच्यते ।

तत्रो सोउ अणुणा ओ, जेण सेसं न लुप्पइ ।
अकामियं पि पेल्लेज्जा, वारिजत्तेण निग्गहो ॥

व्या० । तपस्तदेव भगवद्भिरनुज्ञातं येन शेष ब्रह्मचर्यादिकं गुणकदम्बकं न लुप्यते कथपुनः शेष लुप्यत इत्याह अकामियमित्यादि । दण्डायतादिस्थानस्थितामार्यिकां दृष्ट्वा कश्चिदुदीर्णकर्म्मा नाम कामी काममनिच्छन्तीमपि प्रेरयेत् प्रतिसेवेत

तेन कारणेन वारित एतादृशास्तासामभिग्रहाः । किन्तु ॥

जे य दंसादओपाए, जेय संसप्पगा जुवि ।
विरुत्तुस्स अट्ठियाताविं, सहन्ति जह संजया ॥

व्या० । इह द्विधा कायोत्सर्गोऽभिग्रहायामभिग्रहे तत्राभिग्रहकायोत्सर्गस्तासां प्रतिषिद्ध इति कृत्वाऽभिधीयते ये च दंशमशकादयः प्राणिनो ये च भुवि संसर्पकाः सञ्चरणशीला उत्तिरकीटकादयस्ते कृतानुपद्रवान् यथासंयता सहन्ते तथा ता अप्यार्यिकाश्चेष्टाकायोत्सर्गस्थिता आवश्यकादिवेलायां सम्यक् सहन्ते तत एवं ता अपि कर्मनिर्जरां कुर्वन्ति आह यदुदीर्णकर्मणा तरुणादिना प्रेर्यमाणापि सा संयतीभावमुत्पादयति तत किमिति येनाभिग्रहाविदोषेण बहुतरा कर्मनिर्जरा भवति सर्वा एत उच्यते ॥

वसिज्जा बंभचेरंसि, भुज्जमाणी तु कीहितु ।
तहाविसं तणइंति, थेरा आयवसज्जीरुणो ॥

व्या० । यद्यपि काचिदार्यिका धृतिबलसंयुक्ता युज्यमाना प्रति सेव्यमानापि भावतो ब्रह्मचर्ये वसेत तथापि स्थविरा गौतमादयः सूरयः प्रवचनापयशः प्रमादभीरवस्तां न पूजयन्ति न प्रशंसन्तीत्यर्थः किञ्च ॥

निव्वाणिमग्गहसंजुत्ता, ठाणमोणासणे रता ।
जहा मुज्झन्ति जयउ, एगाणेग विहारिणो ॥
भज्जं च बलवज्जं च, रक्खंतीढतवोरता ।
गच्छे चेव विमुञ्जन्ति, तहा अणसणादिहिं ॥

व्या० । तीव्रैश्च्यादिविपर्ययैरभिग्रहैः संयुक्ताः स्थानमौनासनविशेषेषु रता एकानेकविहारिणः कश्चिदेकाकिविहारिणो जिनकल्पिकादय इत्यर्थः केचिदनेकविहारिणः स्थविरकल्पिका इत्यर्थः एवंविधा यतयो यथा मुच्यन्ति तथा निर्ग्रन्थ्योऽपि लज्जां ब्रह्मचर्यं च सूत्रोक्तविधिना रक्षन्त्यस्तपोरता स्वाध्यायादितपःकर्मपरायणा गच्छ एव वसन्त्योऽनशनादिभिर्यथोचितैस्तपोभिः शुद्ध्यन्ति न तीव्रैरभिग्रहैः । अपिच ॥

जोविदिद्धधणोहुज्जा, इत्थियिधोनुकेवल्ली ।
वसते सोवि गच्छंती, किमुच्छ्वीवंदमिथणा ॥

व्या० । योपि दग्धेन्धनो भस्मीकृतवेदमोहनीयकर्मा क्षीणेन्द्रो वहिः क्षीणकषाय केवली भवति सोऽपि गच्छवासे वसति किंपुनर्या संयती क्षीणवेदेन संस्थनासासुतरां गच्छे वसेदिति भाव । यदप्युक्तं यदि न स्यात्ततः कोनाम तस्याभिग्रहग्रहणदोष तदप्ययुक्तं प्रतिसेव्यमानाया आस्यासनस्य याहच्छिकत्वात्कथमिति चेदुच्यते ॥

अल्लायं घट्टिय जाइ, फुंफुगा सहसायइ ।
कोवितो वहती वाहा, इत्थी वेदेवि सोगमो ॥

व्या । अलात उल्मुकं घट्टितं चालितं सत् यथा ज्वलति प्रज्वलति यथा फुफुकाघट्टितं मादृमायाति भृशं दीप्यते यथा व्याधिरपथ्यासेवनादिना कोपितो वर्द्धते । स्त्रीवेदस्याऽपि समयगमो मन्तव्यः सोपि घट्टितः प्रज्वलतीत्यर्थः । अतोयाहच्छिकर्मास्यासनमिति आह । संयतीनां प्रतिषिद्धा अमी अभिग्रहाः परं संयतानां का वार्ता अत्रोच्यते ।

कारणमकारणेथिय, गीयत्थंमिय तहा अगीयंमि ।
एए सव्वे विपए, संजयपक्खे वियाणिज्जा ॥

व्या । यान्येतानि व्युत्सृष्टकायिकत्वादीनि पदान्युक्तानि तानि कारणे सिंहादिभिरभिद्रुतस्य देवताकंपननिमित्तं वा गीतार्थस्याऽगीतार्थस्य वा कल्पन्ते अकारणे पुनरगीतार्थस्य न कल्पन्ते गीतार्थस्य निष्कारणे निर्जरानिमित्तं कल्पन्ते अचेलत्वादिकमपि गीतार्थस्य जिनकल्पं प्रतिपद्यमानस्य कल्पते एवं संयतपक्षे एतान्यचेलतादीनि सर्वाण्यपि पदानि विभाषयेत । सावश्रयके आसने निर्ग्रन्थीनां ॥

नो कप्पइ निग्गन्थीणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तए वा तु अहित्तएवा कप्पइ निग्गन्थाणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तएवा तु यहित्तएवा ।

सावश्रयं नाम यस्य पृष्ठतोऽवष्टंभो भवति । एवंविधे आसने निर्ग्रन्थीनां नोकल्पते निर्ग्रन्थानां सावश्रये आसने आसितुं वा कल्पते निर्ग्रन्थ्य एतादृशे आसने यद्युपविशति शेरते वा तदा तएव गर्वादयो दोषाश्चतुर्गुरु च प्रायश्चित्तं द्वितीयपदे अल्पसागारिकस्यपरिभोगस्थाने वा उपविशेत । निर्ग्रन्थानामपि न कल्पते यद्युपविशन्ति तदा चतुर्लघु सूत्रं तु कारणिकं तदेव कारणमाह ॥

सावस्सय इत्यादि पश्चार्द्धं योवृद्ध आचार्य स पूर्वकृते वृद्धस्थैरसार्द्धं निष्पादिते सावश्रयेऽप्यासने उपविष्टोऽसागारिके एकान्ततया यस्तिनपानां वाचनां दद्यात् सूत्रम् ॥

नोकप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीठंसि वा फलगंसि वा आसइत्तएवा तुयट्टि एवा कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीठंसिवा फलगंसि वा आसइत्तएवा तुयट्टित्तएवा ॥

सविषाण नाम यथा कपाटस्योभयतः शृङ्गे भवतः । एवं यत्र भिसिकादौ पीठे फलके वा विषाणं शृङ्गं भवति तत्र निर्ग्रन्थीनामासितुंवा न कल्पते निर्ग्रन्थानान्तु कल्पते । निर्ग्रन्थ्यास्तु सविषाणे पीठे फलके वा यद्युपविशन्ति शेरते च तदा चतुर्गुरुकं आज्ञादयश्च दोषा । तथा ॥

सविसाणे उड्डाहो, पावमादीयते परिक्कुहम् ।
वितियपए वासासु, कप्पइ छिण्णे विसाणम्मि ॥

सविषाणे आसने उपविशन्त्यामार्यिकायामुड्डाहो भवति । पापकर्मादयश्च दोषास्संभवन्ति । ततः प्रतिकुष्टं तत्रोपवेशनमितिगम्यते द्वितीयपदे वर्षासु पीठफलकदुर्लभतायां सविषाणमपि गृह्यते तस्य च विषाणच्छिन्ना परिभुज्यते एवं छिन्नविषाणे स्थविराया अन्यस्या वा कल्पते ॥

जंतु लज्जइ छिन्नुं तं, थेरीणं दलंति सविसाणं ।
इंति वसे दंसपाउं, छणघणपट्टिया एवा ।

यत्र पुनः स्थातु न कल्पते ततः सविषाणमपि तदासनं स्थविरसाध्वीनां साधवः प्रयच्छन्ति । तद्विय च दरूपावप्रोंछनं घनं गाढयन्ति । तेनच वेष्टयित्वा स्थूलतरं कुर्वन्तीत्यर्थः । मृत्तिकया परिवेष्टयन्ति निर्ग्रन्थानां सविषाणमपि कल्पते । कुत इत्याह ।

समणाणउ ते दोसा, न हुंति तेण तदुपणुण्णा य ।
पीठं आसणहेउं, फलगं पुण होइ सेज्जट्ठा ।

श्रमणानां पुनस्ते पापकर्मादयो दोषा न भवन्ति ततो द्वे अपि पीठकफलके सविषाणेऽप्यनुज्ञाते । तत्र पीठमासनहेतो फलकं पुनः शय्यार्थं शयननिमित्तं वर्षासु गृह्यते । अथ किमर्थं वर्षासु तत्रोपवेशनं शयनं वा क्रियते इत्याह ॥

कुत्थण आयदयट्ठा, उज्झायग अरिसवायरक्खट्ठा।
पाणा सीतन्न दीहा, रक्खट्ठा होइ फलगंतु।

आर्द्रायां भूमौ स्थाप्यमानाया निषद्यायाः कथन भवति शीतलायां च भूमावुपविशतां धान्य न जीर्यति ततो ग्लानत्वेनात्म विराधनोदयार्थे च जीवदयानिमित्तं वर्षाभूमौ नोपवेष्टव्य। (उज्झायगति) भूमेरार्द्रीभावेन मलिनीभूतस्योपधे र्जुगुप्सनीय ता स्यात् अर्शांसि वाकुप्येयु र्वातोवाऽधिकतरं प्रकुप्येत् तत पतेषां रक्षार्थे पीठक गृहीतव्य। तथा शीतलायां भूमौवहवः पनकप्रभृतयः प्राणिनः समूर्च्छेयुः ततो भूमौ च योनीनां तेषां विराधनाभवति दीर्घजाताया वा भूमेर्निर्गत्य दशेयुरुपलक्षणमिद। ततोपधिको न जीर्णतादयोऽपिदोषा भवन्ति। पतेषां रक्षार्थ वर्षासु फलक गृह्यते। बृ. ५ उ० ॥

गुरोः पुरतः आसन विधिं (विणय) शब्दे वक्ष्यामि।

सुखस्थिरासनोपेतं-स्थिरसुखमासनमिति पतञ्जलि" द्वा. २२द्वा.

आसणअभिग्गह-आसनाभिग्रह-पु० यत्र यत्रोपवेष्टुमिच्छन्ति तत्र तत्रासननयने, पचा० २ वृ. ॥

तिष्ठत एव गुरोरादरेणासनानयनपूर्वकं अत्रोपविशत इति भणने दर्शनविनयभेदे, प्रव०। सम ९१ स.। नि चू ? उ.। ध ३ अधि ॥

आसणगय-आसनगत-त्रि० स्वस्थाने स्थिते, उत्त०। आसनासीने (आसणग कोण पुच्छे जाणिवसेज्जाग ओकयाइवि) उत्त।

आसणचाग-आसनत्याग-पु० आसनत्यागे, पीठकाद्युपनयने द्वा० २९ द्वा. ॥

आसणत्थ-आसनस्थ- त्रि० उत्कुटकागोदोहिकावीरासना द्यवस्थे, आचा १ श्रु ए अ.। (आसणत्थो पढिकमारवाहेति) नि चू १ उ.।

आसणदाण-आसनदान-न० पीठकाद्युपनयने, ध. १ अधि.।

आसणपयाण-आसनप्रदान-न० आसनदानमात्रे दर्शनविनय रूपे विनयभेदे, ग। नि. चू ॥

आसणाणुप्पयाण-आसनानुप्रदान-न० गौरवमाश्रित्यासनस्य स्थानान्तरसञ्चारणे, भ. १४ श. ३ उ.। पचा १० वृ स्था. ७ ठा ॥

आसन्न-आसन्न-त्रि० निकटवर्तिनि, उत्त० १ अ.। स्था. आ म. पंचा ३वृ। ध ३अधि.। आव.। प्रत्यासत्तिमति, षो. "उज्जेणीए नयरीए आसन्नोणऊाण गामा" आ. म ॥

आसन्नपन्नपइन्न-आसन्नप्रज्ञप्रतिज्ञ-त्रि० परतीर्थीकादीनामुत्तरदानसमर्थे, ग १ अधि। सूरी. प्रव ॥

आसन्नसिद्धिय-आसन्नसिद्धिक-त्रि० समासन्नीभूतनिवृत्तिके, पं० ॥

आसतर-अश्वतर-पु० वेसरे, ध० नि. चू० ॥

आसत्त-आसक्त-त्रि० भूमिलग्ने ज्ञा भूमौ सवासे न० ॥

आसत्ति-आसक्ति-स्त्री० योगिपरिभाषितेऽर्थे ज्ञा भेदे स्था.

याधिर्ध्यकुंठताधत्वजऊताजिघ्रतामूकताकौण्यपङ्गुत्वक्लैव्योदा - वर्तमत्ततारूपैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्यष्टकविप र्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिभेदादष्टाविंशतिधासक्तिः ॥

आसत्तोसत्त-आसक्तोत्सक्त-त्रि० आ अवाक् अधोभूमौ सक्त आसक्तो भूमौ लग्न इत्यर्थ ऊर्ध्वे सक्तउत्सक्तः भूमौ उल्लोचने उपरि च सबद्धे, जी०। कल्प०।

आसत्थ-अश्वत्थ-० पु० न० पिप्पले नि० चू० स० ॥

आश्वस्त-त्रि० मार्गजनितश्रमापनयनेनाश्वस्थतामुपगते, कल्प० भ०११ श उ. ११ मनागाश्वसिते ओ० (आसत्था मजाव करपह समोसरह) ज्ञा०।

आसदेत्ता-अस्वाद्य-अव्य० आस्वादन कृत्वेत्यर्थे (सहफरिस रसरूवगन्धे आसदेत्ताभवइ) स्था. ७ ठा.।

आसधर-अश्वधर-पु अश्वधारकपुरुषे, औ. येऽश्वान् धारयन्ति।

आसपुरा- अश्वपुरा-स्त्री पद्मविजये पुरीयुगले, स्था(. दो आसपुराओ) स्था. ८ ठा०

आसम-आश्रम-पु० तापसावसथोपलक्षिते आश्रयविशेषे, ध० दर्श. जी. प्रथमस्तापसाश्रिमिरावासितः पश्चादपरोऽपिलोकस्तत्र गत्वा वसति बृ नि. चू प्रज्ञा. औ. आचा. अनु. तीर्थस्थाने, उ. स्था. ॥

(ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोयति स्तया) इति चतुर्षु, लोक प्रसिद्धेषु अवस्थाविशेषभाक्षु मनुष्येषु।

आसमद्दग-अश्वमर्दक-त्रि घोटकानां मर्दनाधिकारिणि पुरुषे.ज्ञा।

आसमपय-आश्रमपद-न तापसाश्रमोपलक्षिते स्थाने उत्त (कणखल नाम आसमपद) आ. म द्वि.।

आसमभेय-आश्रमभेद-पु० " ब्रह्मचारी गृहस्थ श्चवानप्रस्थोयतिस्तेथत्यादिनोक्तस्वरूपे भूमिकाविशेषे, पंचा० १० वृ।

आसमाण-आसीन-त्रि०निषण्णे,(अजय आसमाणोय पाण भूयाहिंहिसइ) आसीनो निषण्णतयाऽनुपयुक्त आकुंचनादि भावेन. । द० ४ अ.।

आसमि-आश्रमिन्-पु० लिङ्गिनि, प. व १ द्वा।

आसमित-अश्वमित्र-पु० सामुच्छेदानां निन्हवानां धर्माचार्ये,

योहि महागिरिशिष्यस्य कौण्डिन्याभिधानस्य शिष्यो मिथिलायां नगर्यां लक्ष्मीगृहेचैत्ये अनुप्रवादाभिधाने पूर्वे नैपुणि के वस्तुनि छिन्नच्छेदनाय वक्तव्यतायां (पडुप्पन्नसमया नेरइया वोच्छिज्जिस्सन्ति एव जाव वैमाणियात्ति एवं वितिथाइ समए सुवत्तव्व) मित्येव रूपमालापकमधीयानो मि थ्यात्वमुपगत सामुच्छेदिकनिन्हावान् प्रावर्तयत् इति समुच्छेदिकशब्दे(विभूत्यार्विनाऽन्वेष्टव्य' ॥ स्था० ७ ठा । उत्त. १ अ. विशे. ॥

आसमुह-अश्वमुख-पु० आदर्शमुखस्योपस्य परतोऽतरद्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च अन्तरद्वीपशब्दे विवृत्तिः उत्त. ३६. अ.। प्रव। २६२ द्वा.। स्था. ४ ठा ॥

आसय-आशक-त्रि० भोजिनि, आचा० ५ अ ४ उ । आशय स्वकीयदर्शनाभ्युपगमे, सूत्र० १श्रु १ अ.। परिणामे, द्वा-२७ द्वा०। अभिप्राये, सूत्र, १ श्रु. १५ अध्यवसायविशेषे, षो० ३ विव.।

प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजय, सिद्धिविनियोगभेदतः प्रायः।
धर्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पञ्चधात्र विधौ ॥६॥

प्रणिधानादिराशिरुक्तस्तमेव सख्याविशिष्ट नामग्राहमाह। (प्रणिधीत्यादि) प्रणिधिश्च प्रवृत्तिश्च विघ्नजयश्च सिद्धिश्च विनियोगश्च एतएव भेदास्तानाश्रित्य कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी। प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयासिद्धिविनियोगभेदत प्राय इति

प्राचुर्येण शास्त्रेषु धर्मेऽधर्म्मवेदिनिरास्यातः कथितः शुभाशयः शुभपरिणामः पंचधा पंचप्रकारः। अत्र प्रक्रमे विधौ कर्तव्योपदेशे । प्रतिपादिताशयपंचकव्यतिरेकेण पुण्ट्युद्धिद्वय लक्षणद्वयमनुबंधि न भवतीति प्रणिधानादिना स्वरूपमन्यत्र दृष्टादृष्टजन्मवेदनीये कर्माशये क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः षो० टी० छा० ॥

आश्रय- पु० आश्रयतीत्याश्रयः धूमबलाकादौ हेतौ, अनु० । प्रत्यये, आचा. १ श्र. । आधारे, अष्ट. । आसये, स्था. ३ ठा. । भजनीये, ज्ञा० १० अ. ॥

आस्यक- न० मुखे, ज्ञा० ए अ. ।जी.।आचा.(आसेणनाति कुरो) आस्येन मुखेन द० ५ अ. ॥

आसयंत-आश्रयत्-त्रि० गृह्णति, विशेषे ईषदूभजमाने भ १३ श ६ उ. आश्रयणीयं वस्तु. भ. ११ श. ११ उ. ॥

आसयच्छेय-आशयच्छेद-पु० अध्यवसायविशेषे, कथमयं परलोकधर्मकान्तारोत्तरणेन निखिलसुखविरहभाजनं भविष्यतीत्यादिरूपे, प्रति० ॥

आसयमहत्त-आशयमहत्त्व- न० आशयस्य विपुलत्वे, षो० १ वि० ॥

आसयविसेस-आशयविशेष- पु० चित्तोत्साहातिशये, षा० २१ षा० ॥

आसरयण-अश्वरत्न- न० चक्रवर्तिनोऽश्वोत्कृष्टे, यक्षसहस्राधिष्ठितेऽश्वे, स० १४ स० ॥

भरतस्य कमलामेलं णामेणं आसरयणं सेणावईयमेणं समभिरूढे । जं० भा० वृ० १ स० ॥ स्था० ७ ठा० ॥ प्रश्न० १९ पद. ॥

अश्ववर्णक

तएणं तं असीइमंगलमूसिअं णवणउइमंगुलपरिणाहं अट्ठसयमंगुलमायतं बत्तीस मंगुलमूसिअसिरं चउरंगुलकण्णगं वीसइ अंगुल बाहागं चउरंगुलजाणूकं सोलस अंगुल जंघागं चउरंगुलमूसिअखुरं मुत्तोलीसंवत्त वलिअमज्झं ईसिं अंगुलपणयपट्ठं संगयपट्ठं सन्नयपट्ठं सजायपट्ठं पसत्थपट्ठं विसिट्ठपट्ठं एणी जण्णुणय वित्थयथद्धपट्ठं वित्तलयकसणिवायअंकेल्लणापहारपरिवज्जिअंगं तवणीजआसगमहिलाणं वक्खण सुफुल्लथासगविचित्तरयणरज्जुपासं कंचण मणि कणग पयर णाणाविह घटिआ जालमुत्तिआ जालएहिं परिमंडिएण पट्ठेण सोभमाणेण सोभमाणकट्ठेयण इंदनीलमरगयमसारगल्लमुहमंडणरइअ आविद्धमाणिक्कसुत्तग विभूसिअं कणगमय पउम सुकयतिलकं देवमइविकप्पिअं सुरवरिंदवाहणजोग्गं वयं सुरूवं दुइज्जमाण पंचवाह चामरा मेलगं धरेंतं अणब्भवाहं अभेलणेयण कोकासी अबहलपत्तलच्छसेया वरणवकणगतविअतवणिज्ज तालुज्जी हासयंसि आजिसेअघोणं पोक्खरपत्तामिव, सलिलबिन्दु अचंचलं चंचल सरीरं चोक्खचरगपरिव्वायगो विवहिलीयमाणं २ खुरचलणचंचु पुडेहिं धरणिअलं अभिहणमाणं २ दोवि अचलणेजमगसमगं मुहाओ विणिग्गमंतं व सिग्घयाए मुणालतंतुउदगमाविणिस्साए पक्कमंतं जाइकुलरूवपच्चयपसत्थबारसावत्तकविसुद्धलक्खणं सुकुलप्पसूअं मेहाविं भद्दयं विणीयं अणु असुकुमाललोमनिद्धच्छविं सुजायं अमरमणपवणगरुलजइणं चवलसिग्घगामिं इसिमिव,खंतिखमाए सुसीसमिव, पचक्खया विणीयं उदगहुतवहपासाणं कद्दमसकर सतालुइल तडकडगविसमपब्भार गिरिदरीत्यासु जघण पिल्लणणित्थरणासमत्थं अचंडपाडिअं दंडपातिअणं सुपाति अकालतालु च कालहेसिं जिअनिद्दं गवेसं जिअपरिसहं जच्चजातीयमल्लिहाणिं सुगपत्तसुवण्णकोमलं मणाभिरामं कमलामेलं णामेणं आसरयणं॥

टीका ॥ तएणं त असीइमगुलमुसिअ इत आरभ्य सिणापदक्रमेण समभिरूढे इत्येतदन्तेन सूत्रेण पदयोजना । तत इतिक्रियाक्रम सूचकं वचनं तं प्रसिद्धगुणं नाम्ना कमलामेलं अश्वरत्न सेनापतिक्रमेण सन्नाहादिपरिधानविधिना समभिरूढ आरूढ. किंविशिष्टमित्याह । अशीत्यंगुलानि उच्छ्रितं अंगुलं चात्र मानविशेष. । नव नवत्यंगुलानि एकोनशतांगुलानि एकोनशतांगुलप्रमाणः परिणाहो मध्यपरिधिर्यस्य तत्तथा । अष्टोत्तरशतांगुलानि आयत दीर्घं सर्वत्र मकारोऽलाक्षणिकः । तुरङ्गाणा मुत्पत्य खुरत आरभ्य कर्णावधि परिणाहः पृष्ठपार्श्वोदरातरावधि । आयामो मुखादिपुच्छमूलं । यदाह पराशर । मुखादापुच्छकं दैर्घ्यं, पृष्टपार्श्वोदरांतरात । आनाह उच्छ्रय पादा, द्विहेयो यावदासनम् ॥ १ ॥ तत्रोच्चत्वसंख्यामेलनायसाक्षादेव सूत्रदाह ॥ सोचितशिरस्क चतुरंगुल (अशीसमित्यादि) । द्वात्रिंशदगुलप्रमाण कर्णकं ह्रस्वकर्णत्वस्य जात्यतुरगलक्षणत्वात् । अनेन कर्णयोरुच्चत्वेमास्थिरयौवनत्वमभिहितं शङ्कुकर्णत्वात् हयानां यौवनपाते वनितास्तनयोरिव अनयो. पातः स्यात । दीर्घत्वात् अत्र योजनीयाः क्रमप्राप्त धाम्येन पूर्वकर्णविशेषण ज्ञेयं पश्चाच्छिरसः अश्वअवयोरूर्ध्वं मुखतः त्वात् विंशत्यंगुलप्रमाणा बाहाः शिरोभागाधोवर्ती जानुनोकपरिवर्ती प्राक् चरणभागो यस्य तत्तथा । चतुरंगुलप्रमाण जानु चाहुजंघासंधिरूपोऽवयवो यस्य तत्तथा । षोडशांगुलप्रमाणा जघा या च संख्या पूर्वोक्ता अशीतौ खुरावधिरवयवी यस्य त तथा चतुरंगुलोच्छ्रिताः खुरा पादतलरूपा अवयवा यस्य त त्तथा । एषामवयवानामुच्चत्वमीलने सर्वसंख्या पूर्वोक्ता अशीत्यंगुलरूपा मकार. सर्वत्रालाक्षणिकः । यतु श्रेष्ठाश्वमानमाश्रित्यालौकिकपराशरग्रंथे " जघन्यमध्यश्रेष्ठानामश्वानामायतिर्भवेत । अंगुलानां शतं हीनं विंशत्या दशभिस्त्रिभिः १ परिणाहाङ्गुलानि स्यात् सप्ततिः ससप्ततिः । एकाशीतिः समासेन त्रिविधस्याप्ययाक्रमम् २ तथा षष्टिश्चतुष्षष्टिरष्टषष्टिः समुच्छ्रयः । त्रिपंचसप्तकयुताः विंशतिः स्यान्मुखायतिः ३ इत्यत्र सप्तनवत्यंगुलान्यायति एकाशीत्यगुलानि परिणाहः अष्टषष्ट्य गुलानि समुच्छ्रय सप्तविंशत्यङ्गुलानि मुखायतिरित्युक्तमस्ति तदपरश्रेष्ठहयानाश्रित्य । ननु चक्रवर्तिरत्नमाश्रित्य इष्टश्चाय विशेष । पुरुषोत्सेधे सामुद्रिके उत्तमपुरुषाणामष्टोत्तरशतांगुलात्युत्सेधः । उत्तमोत्तमाना तु विंशत्युत्तरशताङ्गुलानि अनेनास्य प्रमाणोपेतत्व सूचित । सप्रत्यवयवेषु लक्षणोपेतत्वं सूचयति । मुक्तोली नाम अध उपरि च सङ्कीर्णा मध्ये-

त्वीषद्दिशाला कोष्ठिका तद्वत्सवृत्त सम्यग्वर्तुलं वलित नमनस्वभावं न तु स्तब्धमध्यं यस्य तत्तथा । परिणाहस्यमध्यपरिधिरूपस्य चैव चिंत्यमानत्वाद्धुचितेयमुपमा । ईषदगुल यावत्प्रणतं न तु प्रारब्धं अतिप्रणतस्योपवेष्टुर्दुःखावहत्वात् पृष्ठे पर्यायस्थानं यस्य तत्तथा आरोहकसुखावहपृष्ठकमित्यर्थः । सम्यग् यथा क्रमेण नतं पृष्ठ यस्य तत्तथा । सुजातं जन्मदोषरहित पृष्ठं यस्य तत्तथा । प्रशस्तशालिहोत्रलक्षणानुसारि पृष्ठं यस्य तत्तथा । किंबहुना विशिष्टपृष्ठ प्रधानपृष्ठमिति यावत् । उक्त पृष्ठे पर्याणस्थानवर्णनं । अथ तत्रैवावशिष्टभागं विशिनष्टि । एणी हरिणी तस्या जानुवदुन्नत उभयपार्श्वयोर्विस्तृतश्च चरमभागे स्तब्ध सुदृढं पृष्ठं यस्य तत्तथा । वेत्रो जलवंशलता वा कशा चर्मदण्डस्तेषां निपातास्तैस्तथा अंकेल्लणप्रहारैस्तर्जकविशेषाघातैश्च परिवर्जित अश्ववारमनोऽनुकूलचारित्वात् अंग यस्य तत्तथा । तपनीयमयाः स्थासका दर्प्पणाकारा अश्वालंकारविशेषा यत्र तदेवविध अहिलाणं मुखलयमनविशेषो यस्य तत्तथा । वरकनकमयानि सुष्ठु शोभनानि पुष्पाणि स्थासकाश्च तैर्विचित्रा रत्नमयी रज्जुः पार्श्वयोः पृष्ठोदरान्तवर्त्यवयवविशेषयोर्यस्य तत्तथा । बध्यते पट्टिका पर्याणदृढीकरणार्यमश्वानामुभयोः पार्श्वयोरिति कांचनयुतमणिमयानि केवलकनकमयानि च प्रतरकाणि पत्रिकाभिधानभूषणानि अन्तरान्तरीयेषु तानि तथाभूतानि नानाविधानि घटिकाजालानि मौक्तिकजालकानि च तैः परिमंडितेन पृष्ठेन शोभमानकर्केतनादिरत्नमय मुखमण्डनार्थं रचितं आविद्धमाणिक्यं प्रोतमाणिक्यसूत्रक हयमुखभूषणविशेषणविशेषस्तेन विभूषित कनकमयपद्मेन सुष्ठु कृतं तिलक यस्य तत्तथा देवमये न स्वर्गिचातुर्येण विविधप्रकारेण कल्पित सज्जितं । सुरवरेन्द्रवाहनमुच्चैःश्रवा हयस्तस्य योग्य मण्डलकरणाभ्यासस्तस्या प्रजगतादित्यस्य ल्युप्रत्यये प्रजन प्रापक । ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्था इतिवचनात् । अयभावः । यादृश खुरलीं अयमुच्चैःश्रवाः करोति तादृशोऽयमपि । अत्र षष्ठ्यर्थे द्वितीया प्राकृतत्वात् । यथासरूपं सुदरं द्रवति इतस्ततो दोलायमानानि सहजचचलाङ्गत्वाल्ललाटमौलिकर्णमूलमूत्रविनिवेशिनत्वेन पचसंख्याकानि यानि चारूणि चामराणि तेषां मेलक एकस्मिन् मूर्द्धनि सगमस्तधरन्तहत्चामरा इत्यत्र स्त्रीनिर्देशःसमयसिद्ध एव । गौडमतेन वा चामरा इत्यादन्तः शब्दः । अत्रापीदृशब्दे व्याख्यायमाने मूर्द्धालङ्कारएवोक्तोभवति नतु कर्णाद्यलंकार दृश्यतेलोके एकचामर मूर्धालकारभूत चामर एकच कर्णालकारभूतं एकचमालालकारभूत एक च कगालकारभूतानीति तेनयथोक्तव्याख्यानमेव सुन्दर । अथ देवमतिविकल्पिताक्षिविशेषविशिष्ट उच्चैःश्रवानामशक्रहयोऽपिस्यादित्याह । अनभ्राचारीवाहोऽश्वःउच्चैःश्रवास्तदन्य (अवभ्रवाहमिति) पाठे तु अदभ्र भूरि वहतीति अदभ्रवाहस्तत् अत्रेलेदोषादिना असकुचिते नयने यस्य तत्तथा । अतएव कोकासिते विकसिते बहले दृढे अनश्रुपातित्वात् पत्रले पक्ष्मवती नतु पैद्रलुप्तिकरोगवशाल्लोमरहिते अक्षिणी यस्य तत्तथा । सदाचरणे शोभार्थ दंशमशकादिरक्षार्थ वा प्रच्छादनपटेन च कनकानि नव्यवस्तुवर्णानि यस्य तत्तथा । स्वर्णतंतु स्यूतप्रच्छादनपटमित्यर्थः । तत्र तपनीय तलवद्रक्ते तालुजिव्हे यत्र तदेव विधमास्य यस्यतत्तथा । ततः पूर्वविशेषणेन कर्मधारयः । श्रीकाया लक्ष्म्या अभिषेकोऽभिषेचन नाम शारीरलक्षण घोणायां नासिकायां यस्य तत्तथा । क्वचित्पाठान्तरेतु (सिरिसाभिसेअ घोण)मिति दृश्यते तत्र शिरीषं शिरीषपुष्पं तद्वदतिश्लक्ष्णाघोणायस्येति तथा पुष्करपत्रमिव कमलदलमिव सलिलस्य बिन्दवोयत्र तदेवं विधं कोऽर्थः यथा पुष्करपत्रं जलान्तस्थं वाताहतजलबिन्दुयुत भवति । तथैतदपि सलिलं पानीय लावण्यमित्यर्थः । तस्य बिन्दवः छटास्तैर्युत बिन्दुग्रहणेनाऽत्र प्रत्यगं लावण्य सूचितं लोकेऽपि प्रसिद्धमेतत् । मुखेऽस्य पानीयमिति अचंचल स्वामिकार्यकरणे स्थिर साधुवाहित्वात् चचल शरीरं जातिस्वभावात् । अथ यदि चचलाङ्गस्तदायुर्मध्यवस्तुस्वापिस्याङ्गप्रवर्तको भविष्यतीत्याह । चोक्षः कृतस्नानश्चरको धाटिभिक्षाचर परिव्राजको मस्करी ततश्चरकसहितः परिव्राजकश्चरकपरिव्राजकः प्रथमा द्वितीयार्थे । नचोक्षपरिव्राजकमिव प्राकृतशैल्याभकारप्रश्लेषादभिलीयमान २ अभ्युल्लिः ससर्गशङ्कया आत्मान सवृण्वान्ति आभीक्ष्ण्ये चात्र द्विर्वचनम् ।

एवमग्रेऽपिभाव्य । अथाऽस्य क्रियाविशेषैर्जात्यत्व लक्षयति । खुरप्रधानाश्चरणाखुरचरणास्तेषां चचुपुटा आघातविशेषास्तैर्धरणीतलमभिघ्नदनभूतविलेखन सामान्यतः पुलइयाऽश्वस्योपलक्षणमिति एतस्य लक्षणत्वेन शालिहोत्रे प्रतिपादनाद्यतः "खुरैःखनेद्यः पृथिवी मश्वोलोकोत्तरः स्मृतः" इति । अश्वावप्रयोगनर्तितोहिहयोग्रपादावुदस्यति तत्रास्यशक्तिविशेषणद्वारेण दर्शयति द्वावपि च चरणौ यमकसमक युगपन्मुखाद्विनिर्गमदिव निस्सारयदिव कोऽर्थः । इत्थमग्रपादावूर्ध्व नयत्तथा मुखान्तिकं प्रापयति यथा जन उत्प्रेक्षते इमौ मुखाद्विनिर्गमयाति पुनः क्रियांतरदर्शनेनैतद्विशिनष्टि । शीघ्र तथा लाघवविशेषेण मृणालं पद्मनालं तस्य तन्तुः सूत्राकारोऽवयवविशेषः सच उदक च ते अपि निश्रयावलम्ब्य आस्तामन्य दुर्गादिक प्रक्रामत् सचरत् । अयमर्थः । यथा अन्येषां सचरिष्णूनां मृणालतंतूदकादावष्टम्भकेन भवत. तथा नास्येति दूने चैकवचनमार्षत्वात् तथा जातिर्मातृपक्षः कुल पितृपक्षः रूपं सदाकारसस्थान तेषां प्रत्ययो विश्वासो येन्यस्ते च ते प्रशस्ताः प्रदक्षिणावहत्वात् शुभस्थानास्थितत्वाच्च ॥ येद्वादशावर्तास्ते यत्र तत्तथा बहुव्रीहिलक्षणः कः प्रत्ययः । विशुद्धा निर्दोषा मिश्रितानि लक्षणानि अश्वशास्त्रप्रसिद्धानि यस्य तत्तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । द्वादशावर्ता श्च इमे वराहोक्ताः । "ये पाणि गलकर्णसस्थिताः पृष्ठ मध्यनयनोपरि स्थिता. । ओष्ठसक्थिभुजकुक्षिपार्श्वगास्ते ललाटसहिताः सुशोभना. ॥ १ ॥ अत्रवृत्तिलेश । प्रपाणमुत्तरोष्ठतल गल. कंठ यत्र स्थित आवर्तो देवमणिनाम हयानां महालक्षणतया प्रसिद्धः । कर्णौ प्रतीतौ एतेषु स्थानेषु सस्थितास्तथोष्ठपर्याणस्थानं मध्य प्रतीत । नयने अपि तथैव तदुपरि स्थिता. तथा ओष्ठौ प्रतीतौ । सक्थिनी पाश्चात्यपादयोर्जानूपरिभागभुजौ प्राक्पादयोर्जानूपरिगःकुक्षि रत्नवामो दक्षिणकुक्ष्यावर्तस्य गर्हितत्वात् ॥ पार्श्वौ प्रसिद्धौ तद्गताः ललाटं प्रतीतं तदावर्तनासहिताः अत्र कर्णं नयनादिस्थानानां द्विसंख्याकत्वेऽपि जात्यपेक्षतया द्वादशैव स्थानानि स्थानभेदाऽनुसारेण स्थानिभेदा अपि द्वादशैवेति ॥ तथा सुकुलप्रसूत हयशास्त्रोक्त क्षत्रियाश्च पितृक मेधावी स्वामी पदलक्षादि प्राप्तार्थ्रा धारक अदुष्ट विनीत स्वामीष्टकारित्वात् । अणुकतनुकानामतिसूक्ष्माणां सुकुमालानां लोम्नां स्निग्धा छवि यत्र तत् तथा । सुष्ठु यान गमनं यस्य तत्तथा । अमरमन पवनगरुडा.प्रतीता.तान् वेगाधिक्ये न जयतीति अमरमनः

पवनगरुडजयि अतएव चपलं शीघ्रगतिकं पश्चात्पदद्वयस्य कर्मधारयः । क्षान्त्या क्रोधाभावेन नत्वसामर्थ्येन या क्षमा तया ऋषिमिवानगारमिव क्षमाप्रधानत्वात्तस्य न चरणयोर्लत्ताप्रदायकं । न तु मुखेन दशकं न च पुच्छाघातकरमिति । सुशिष्यमिव प्रत्यक्षतो विनीतं । अत्र ताकारः प्राकृतशैली भवस्तेन प्रत्यक्षविनीतं । उदकं हुतवहोऽग्निः पाषाणः पांशुः रेणुः कर्दमः शर्करं सवालुकं स्थानं सवालुकं । अत्रार्थे इल्लप्रत्ययः । बहुलसिकताकणं स्थानं तटं नदीतटं कटको गिरिनितम्बविषमप्राग्भारो प्राग्वत् । गिरिदर्यः प्रतीताः । तासु लंघनमतिक्रमणं प्रेरणं आरूढस्य पुंसोऽभिमुखे दर्शनधावना विना सहाकरणपूर्वकं प्रवर्तनं निस्तारणा तत्पारप्रापणा तत्र समर्थना चक्रैरूपे सुभटैः रणापातितवद्रूपवत् पततीत्येवंशील रूपाति अतर्कितमेव प्रतिपक्ष स्कन्धावारे पतनशीलं अनेनाऽस्योत्पतनस्वभावोऽपि सूचितः । मार्गादिखेदेभ्योऽपि नाश्रुपातयतीत्येवं शीलमनश्रुपाति तद्वा सकालतालु अश्यामतालु पूर्वे रक्तताववर्णितेऽपि यत्पुनरकालतालु इति विशेषणं तत्तालुनः श्यामत्वमतीतरामपलक्षणमिति तन्निषेधख्यापनार्थं च समुच्चये । कालेऽपजकानां राजनिर्णयार्थकाधिवासनादिके समये न्हेषते शब्दायत्येव शीलं कालन्हेषि जितनिद्राभ्यासस्ययेन तत् जितनिद्रं । स्यक्ततालस्यमित्यर्थः । कार्येष्वप्रमादित्वात् यथा श्रुतार्थे व्याख्यायमाने ह्यशास्त्रविरोधस्तथाहि । "सदैव निद्रा वशगा, निद्रा चैतस्य सनय । जायते सगरे प्राप्ते, कर्मारस्य च भक्षणे " इति । यद्वा जितनिद्रत्व समायसप्रामन्यादश्वरत्नत्वेनाल्पनिद्राकत्वाच्च । तथा गवेषकं मूत्रपुरीषोत्सर्गादौ उचितानुचितस्थानान्वेषकं । जितपरिषह शीतातपाद्यातुर्येऽपि अखिन्नं जात्यं प्राधान्या जातिर्मातृपक्षस्तत्र भव जात्यं जातीयं निर्दोषकमित्यर्थः । निर्दोषपितृकत्वं तु प्रागुक्तं । ईदृग्गुणयुक्तो हि समये स्वामिने न द्रुह्यति मातृमुग्धावगतस्यकारणत्वात् व्यतिकर प्रकुपितचिन्तितस्वामिद्रोहकपिः शोरवत् मल्लिर्विचाकिलकुसुम तद्वतद्वृन्दं अश्लेष्मत्वेनानाविलसपूतिगन्धिच घ्राणं पाथो यस्यतत्तथा । इकारः प्राकृतशैली भव । ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः । शुकपत्रवत् शुकपिच्छवत् सुष्टुवर्णो यस्य तत्तथा । कोमलत्व कायेन ततः पदद्वयस्य कर्मधारयसमासः मनोभिराममम । जं. टी. ॥

आसरह-अश्वरथ-पु० अश्वप्रधानो रथोऽश्वरथः ज्ञा० १ अ. अश्वयुक्तो रथोऽश्वरथः । अश्वेन युक्ते रथे, (चाउग्घंटं आसरयण दुरूढे) नि० चू० १३ अ ।

आसराय-अश्वराज-पु० अणहिल्लपट्टननगरे जाते पौरपाटकुलमण्डने गुर्जरधराधिपतौ, । अणहिल्लवाडयपट्टणे य पोरवालकुलमण्णा आसराय कुमरदेवीक्खणया गुज्जरधराहिवई । प्रधानेऽश्वे, स्था० ५ ठा० ।

आसव-आस्रव-पु० अपकायतेजस्कायपवनवनस्पतिकायादिपिण्डरूपे । पिं० । मूलद्राक्षाखर्जूरसारनिष्पन्ने, प्रज्ञा० पत्रादिधामकद्रव्यभेदादनेकप्रकारे निर्यासरसे, जी० मात्रकरसे अथ कुसुमोत्पन्नं मद्य उत्त० । चन्द्रहासादिके, रा० ।

आश्रव-आ-श्रवति यत् क्षरति जलं यैस्ते आश्रवाः सूक्ष्मरन्ध्रेषु भ० । अश्रोत्याद्रन्ते कर्म यैस्ते आश्रवाः । धर्म० । आश्रवति प्रविशति कर्म येन स आश्रव । सूत्र० । आश्रवति अष्टप्रकारकं कर्म येन स । आ० । सम्म० । आश्रीयते उपादीयते कर्म एभिः इत्याश्रवा । प्रश्न० । उत्त० । प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनमिथ्यात्वादिषु । आव । परिग्रहग्रहणेषु वा । आचा० । रा० । विषयकषायादिकेषु वा । आचा० । ओ० । सू० । कर्मप्रदेशग्रहरूपेषु० । सू० पापोपादानकारणेषु । ग० । औ० । रागे-आसवे । आश्रवंति प्रविशन्ति येन कर्माण्यात्मनीति आश्रवाः कर्महेतुरिति भावः । स्था० । ठा० । (एगे आसवे) आश्रवति प्रविशति येन कर्माण्यात्मनीति आश्रवः कर्मबन्धहेतुरितिभावः । सर्वेन्द्रियकषाया व्रतक्रियायोगरूपक्रमेण पञ्चचतुः पञ्चपञ्चविंशतिभेदः । उक्तञ्च । इन्द्रिय ५ कसाय ४ अव्वय ५ किरिया २५ पण चउ अपंच पणवीसा । जोगातिएणेव भवे आसो भेयाउ वाया लासि । तदेवमय द्विचत्वारिंशतिविधोऽथवा द्विविधो द्रव्यभावभेदात्तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तरगतनावादौ तथाविधपरिणामेन छिद्रैर्जलप्रवेशनाभावा आश्रवस्तु यज्जीवानाम्यन्त्रेन्द्रियादिछिद्रैः कर्मजलसंचय इति भावाश्रव सामान्यादेक एवेति । सम० । स्था० ॥ आचा० । कर्म० प्रव० ।

जे आसवाते परिस्सवा । आचा० ।

य इति सामान्य निर्देश आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म यैरारंभैस्ते आश्रवाः परिसमन्तात्श्रवाति गलाति यैरनुष्ठानविशेषैस्ते परिश्रवाः यएवाश्रवाः कर्मबन्धस्थानानि तएवपरिश्रवाः ॥ कर्मनिर्जरास्पदानीदमुक्तं भवति । यानीतरजनाचरितानि स्रगंगनादीनि सुखकारणतया तानि कर्मबन्धहेतुत्वादाश्रवा पुनस्तान्येव तत्वविदां विषय सुखपराङ्मुखानां निःसारतया संसारसरणिदेश्यानीति कृत्वा वैराग्यजनकान्यतः परिश्रवा निर्जरास्थानानि आश्रवतीत्याश्रवः कर्मबन्धके आचा० ४ अ० ६ उ. । आश्रवति तान् शोभनत्वेनाशोभनत्वे वा गृह्णातीत्याश्रवा । सूत्र० १ श्रु० १४ अ. आ समन्तात् श्रृणवति गृण्हतौ । गुरुवचनमाकर्णयतीत्याश्रवा उत० १ अ गुरुवचने स्थिते । आश्रवो वचने स्थिम इति हैम उत० १ अ. ।

आसवणिरोहभाव-आश्रवनिरोधभाव-पु० आश्रवस्य कर्मोदानहेतोरविरतलक्षणस्यान्तरार्थस्य निरोधो निषेधो यस्तस्य यो भावः सत्ता स तथा संवरत्वे, पचा० । वृ० ।

आसवदार-आश्रवद्वार-न० । आस्रवण जीवतडागे कर्मजलस्य समासनमाश्रव कर्मबन्धनमित्यर्थः । तस्य द्वाराणीव द्वाराणि उपाया आश्रवद्वाराणि स्था० ५ ठा० । कर्मोपादानोपायेषु मिथ्यात्वादिषु, । स १ स. ।

पंच आसवदारा । प० मिच्छत्तं अविरई पमाया कसाया जोगा ॥ आव० १ अ० ॥

आ० चू० । प्राणातिपातादिषु । स्था० । भाव । आचा० ।

अत्येगे गोयमा पाणी, जेए यं मणुए विसं ।
आसवदारे णिरोहादि, इयरंहे पसोक्खंचरे । महा० ॥

आसवभावणा-आश्रवभावना-स्त्री० । आसवतत्वालोचने, -ध० अ० आश्रवभावना चैव ।

मनोवाक्कायकर्माणि, योगाः कर्म शुभाशुभं ।
यदाश्रवंति जंतूना, माश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥ १ ॥
मैत्र्यादिवासितं चेतः, कर्म स्यूते शुभात्मकं ।
कषायविषयाक्रांतं, वितनात्यशुभं मनः ॥ २ ॥
यतोऽन्यत्र-मैत्र्या सर्वेषु सत्वेषु, प्रमोदेन गुणाधिके ।
माध्यस्थ्येनाविनीतेषु, कृपया दुःखितेषु वा ॥३॥

सततं वासितं स्वान्तं, कस्यचित्पुण्यशालिनः ।
वितनोति शुभं कर्म, द्विचत्वारिंशदात्मकमिति ॥ ४ ॥
तथा–शुभार्जनाय निर्मिथ्यं, श्रुतज्ञानाश्रितं वचः ।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयं, मशुभार्जनहेतवे ॥ ५ ॥
शरीरेण च सुप्तेन, शरीरी चिनुते शुभं ।
सततारंभिणा जंतु, घातकेनाशुभं पुनः ॥ ६ ॥
कषायविषया योगाः, प्रमादाचरती तथा ।
मिथ्यात्वमार्तरौद्रं चे, त्यशुभं प्रति हेतवः ॥ ७ ॥

नन्वेते बंधं प्रति हेतुत्वेनोक्ताः । यदाह वाचकमुख्यः । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव इति तत्किमाश्रवभावनायां बंधहेतूनामेतेषामभिधानं सत्य आश्रवभावबंधभावनापि महर्षिभिर्भावनात्वेनोक्ता । आश्रवभावनयैव गतार्थत्वात् आश्रवेण कषायान्ताः कर्मपुद्गला आत्मना सबद्ध्यमाना बंध इत्यभिधीयत यदाह सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते सबन्धः स्यात् इत्यतोऽपि कर्म पुद्गलादानहेतावाश्रवे बंधहेतूनामभिधानमदुष्टं । ननु तथापिबंधहेतूनां पाठो निरर्थकः नैव बंधाश्रवयोरेकत्वेनोक्तत्वादाश्रवहेतूनामेवाय पाव इति सर्वमवदातमिति ।

आसवमाण–आस्रवत्–त्रि० शनैः प्रस्रवति-(उदयं आसवमाण पेहाए) आचा० ४ अ. १ उ. ।

आसवर–अश्ववर–पुं० अश्वानां मध्ये प्रधाने–औ० । भ० ९ श ३३ उ. ।

आसवसक्कि–(ण्) आस्रवसक्तिन्– त्रि० आस्रवा हिंसादयस्तेषु सक्त सग आस्रवसक्तं तद्विद्यते यस्य आस्रवसक्ती हिंसाद्यनुषंगवाति, आचा० । ५ अ. १ उ. ।

आसवार–अश्ववार–पुं० अश्वारूढपुरुषे-भ० । ९ श. ३३ उ. । ततो आसवारेण दिट्ठो-आ० म० ॥

आसवोदगा–आसवोदका–स्त्री० आसवमिव चंद्रहासादिपरमासवमिवोदकं यासां ताः आसवोदकाः । आसवमिवोदकासु वापीषु । जी० ३ प्र. । रा० ।

आससेण–अश्वसेन–पुं० चतुर्दशे महाग्रहे ज-कल्प० । पार्श्वजिनपितरि, स० । कल्प० भरतक्षेत्रेऽवसर्पिण्यां जातस्य चतुर्थचक्रिणः पितरि, स० । आव० ।

आसा–आशा–स्त्री० वांछायाम् ज्ञा० १ अ त० । इच्छाविशेषे प्रश्न० । भोगाकांक्षायाम् । आस च छद च गिण्ह धीरे आचा० । आहारोपकरणगणस्वजनशरीराद्यनाभिष्वंगरूपायामिच्छायाम् । अनु० । अप्राप्तार्थानां प्राप्तिसंभावनायाम् औ० । परसत्ववस्तुप्राप्त्यभिलाषे । आतु ।

आसाइ जो पहुत्तं, देइ सदा सत्तमप्पणो वस्स ।
इय सव्वत्थमुद्धा, परिहरियव्वा सया आसा ॥ संथा. ॥

उत्तररुचकपर्वतस्य विजयकूटवासिन्यां दिक्कुमार्य्याम् । स्था ८ ठा द्वी० । दिशि, च वाच० ।

आसाई–आश्वयुजी–स्त्री० अश्वयुगश्विनी तस्यां भवाऽश्वायुजो । आश्विनेयमासभाविन्याममायां पूर्णिमायां । जं० ।

आसाएमाण–आशातयत्–त्रि० आशातनां कुर्वति । स्था० ४ ठा ।

आस्वादयत्–त्रि० इक्ष्वादेरिव ईषत्स्वादयति बहु त्यजाति च आचा० कल्प० । वि० ।

आसागह–आशाग्रह–पुं० चित्तव्याक्षेपकारित्वात् ग्रहतुल्यवांछायाम्, ।

आराध्य भूपतिमवाप्य ततो धनानि, भोक्ष्यामहे किल वयं सततं सुखानि । इत्याशया बत विमोहितमानसानां, कालः प्रयाति मरणावधिरेव पुंसाम् ॥ १ ॥ एहिगच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर । इत्याद्याशाग्रहग्रस्तैः क्रीडंति धनिनोऽर्थिभिः २ आचा० ॥

आसाढ–आषाढ–पुं० । आषाढी पूर्णिमा यत्र मासे स आषाढ । आषाढीपूर्णिमा घटिते मासे,। आषाढे मासे सकृत् कर्कसंक्रांतौ उत्कर्षतोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति । स० १८ स. ।

आसाढेणं मासे एगूणतीसं राइंदिआइं राइंदियग्गेणं प० । स. २९ स. ॥

आषाढपुण्णिमाएण उक्कोसपए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवइ भ० ११ श. ११ उ. । उत्त० । २६ अ. ॥

आव्यक्तिकनिन्हवानां धर्माचार्ये, । विशे० । ठा. । आषाढो येन हि श्वेतांव्यां नगर्यां पोलासा उद्याने च शिष्याणां प्रतिपन्नागाढयोगानां रात्रौ हृदयशूलेन मरणमासाद्य दिवेन मृत्वातदनुकंपया स्वकीयमेव कलेवरमधिष्ठाय सर्वां समाचारीमनुप्रवर्तयता योगसमाप्तिं शीघ्रं कृत्वा वंदित्वा तानभिहितं च क्षमणीय भवता ! यन् मया यूयं वंदनकारिता. यस्य च शिष्या इयच्चिरमसंयतो वन्दितोऽस्माभिरिति विचिंत्या व्यक्तमताश्रिताः । स्था. ठा. ७ । उज्जयिन्यामवधाविते स्वनामख्याते आचार्ये च । स्थिरीकरणशब्दे कथा० । नि० चू० ।

आसाढपाडिवया–आषाढप्रतिपत्–स्त्री० । आषाढपूर्णमास्यामनन्तरा प्रतिपदाषाढप्रतिपत् । श्रावणकृष्णप्रतिपदि, स्था० । ४ ठा. ॥

आसाढभूइ–आषाढभूति-पुं० धर्मरुचिसूरिशिष्ये, पिण्ड० ।

विश्वकर्मा नाम नटः तस्य द्वे दुहितरौ ते च द्वे अप्यतिसुरूपे अतिशयाते यनवदन कांत्या दिनकरकरोद्भासितकमलमिव नयनयुगलेन चकोरीकद्वयवलययुगलं पीनोन्नतनिरंतरेण पयोधरयुगलेन संहततालफलयुगलं बाहुयुगलेन सपल्लवलताः त्रिवलितरंगुरेण मध्यभागेनेंद्रायुधमस्यं अघनविस्तरेण आम्रवीपुलिनदेशं ऊरुयुगलेन गजकलभनासाभोगं अधायुगलेन कुरुविंदवृत्तसस्थितिश्चरणयुगलेन कूर्मदेहाकृतिं सुकुमारतया शिरीषकुसुमसञ्चयं वचनमधुरतया वसन्तमासोन्मत्त कोकिलारवं अन्यदा च तत्र यथाविहारक्रम समाययु । धर्मरुचयो नाम सूरयः । तथान्तेवासी प्रज्ञानिधिराषाढभूतिः स भिक्षार्थमटन् कथमपि विश्वकर्मणो नटस्य गृहे प्राविशत् । तत्र च लब्धः प्रधानो मोदकः द्वारे च विनिर्गत्य तेन चिंतितमेष सूरीणां भविष्यति तत आत्मार्थं रूपपरावर्त्तमाधायान्यं मोदकं मार्गयामि ततः काणरूप कृत्वा पुनः प्रविष्टो लब्धो द्वितीयो मोदकः । ततो भूयोपि चिंतित एष उपाध्यायस्य भविष्यति । ततः कुब्जरूपमभिनिर्वर्त्य पुनरपि प्रविष्टः लब्धः

तृतीयो मोदकः। एष द्वितीयसंघाटकसाधोर्भविष्यतीति विचिन्त्य कुष्ठिरूपं कृत्वा चतुर्थवेलायां प्रविष्टः लब्धश्चतुर्थो मोदकः एतानि च रूपाणि कुर्वन् मालोपरिस्थितेन विश्वकर्मणा नटेन ददृशे । चिंतितं चानेन सम्यगेषोऽस्माकं मध्ये नटो भवति । परं केनोपायेन स यतितव्य इति। एवं च चिंतयतः समुत्पन्ना तस्य शेमुषी दुहितृभ्यां क्षोभयित्वा ग्रहीतव्य इति। ततो मालादुत्तीर्य सादरमाकार्याषाढभूतिः पात्रभरणप्रमाणैर्मोदकैः प्रलोभितः भणितश्चासावहो भगवन् ! प्रतिदिवसमस्माकं भक्तदानग्रहणेनानुग्रहोऽनुविधातव्यः ततो गतस्वोपाश्रयमाषाढभूतिरकथयच्चांते रूपपरावर्त्तनवृत्तांतं विश्वकर्मा निजकुटुम्बस्य भणिते च दुहितरौ यथा सादरं दानस्नेहदर्शनादिना तथाकर्तव्यं । यथा युष्माकमायत्तोभवति प्रतिदिवसमायाति च भिक्षार्थमाषाढभूतिर्दुहितरावपि तथैवोपचरतः ततोऽत्यंतमनुरक्तमवगम्य रहसि भणितो यथायमत्यंतं तवानुरक्तस्ततोऽस्मान् परिणीय त्वं परिभुङ्क्ष्वेति अत्रांतरे च तस्योदयमियाय चारित्रावरणकर्म गलितो गुरूपदेशः प्राणे सति विवेको दूरीभूतः कुलजात्यभिमानस्ततस्तेनोक्तमेवं भवतु परमहं गुरुपादांतिके लिंगं विमुच्य समागच्छामि गतो गुरुसमीपं प्रणतस्तेषां पादयुगलं प्रकटितो निजाभिप्रायः। ततो गुरुभिरवादि वत्स ! नेदं युष्मादृशां विवेकरत्नैकशरणानामवगाहितसकलशास्त्रार्थानामुभयलोकजुगुप्सनीयं समाचरितुमुचितं । तथा(दीहरसीलपरिपालि, ऊण विसएसु वच्छ मा रमसु । को गोपयमि बुरूइ उपहिंत रिऊण बाहाहिं)इत्यादि । तत उवाचाषाढभूतिर्भगवन् ! यथा यूयमादिशथ तथैव केवलप्रतिकूलकर्मणोदयः । प्रतिपक्षभावनारूपकवचदुर्बलतया मदनशबरेण निरंतरं समुत्रस्यमृगनयनरमणीकटाक्षविशेषोपनिपातमादधता शतशो मे जर्जरीकृतहृदय एव चोक्त्वा गुरुपादान् प्रणम्य तदंतिके रजोहरणं मुक्तवान् । ततः कथमहममीषामनुपकृतोपकारिणामपारसंसारोदधिनिमग्नजंतुसमुद्धरणैकचेतसां सकलजगत्परमबंधुकल्पानां गुरूणां पृष्ठं ददामीति पश्चात्कृतपादप्रचारो हा कथमहं भूयोऽप्येवंविधगुरूणां चरणकमलं प्राप्स्यामीति विचिन्तयन् वसतेर्विनिर्गत्य विश्वकर्मणो भवनमायातः । परिभावितमस्य सादरमनिमेषदृष्ट्या नटदुहितृभ्यां वपुः प्रत्यभासत । सकलजगदाश्चर्यमस्य रूपं ततोऽप्यचिंतयतामिमे अहो कौमुदीशशांकमण्डलमिवास्य मनोहरकांतिवदनं, कमलदलयुगलमिव नयनयुगलं गरुत्मत इव तुंगमायतं नासानालं कुंदमुकुलश्रेणिरिव सुस्निग्धा दशनपंक्तिः, महापुरकपाटमिव विशालमस्य मांसलं, वक्षःस्थलं मृगरिपोरिव संवर्तितः कटिप्रदेशो निगूढजानुप्रदेशं जंघायुगलं सुप्रतिष्ठितकूर्मयुगलमिव चरणयुगलं ॥ ततो विश्वकर्मा अवोचत् महाभाग तवायत्ते द्वे अप्यमू कन्यके ततः स्वीक्रियतामिति । ततः परिणीते ते द्वे अपि तेन कन्यके भणिते च विश्वकर्मणा यो नामैतादृशीमप्यवस्थां गतो गुरुपादान् स्मरति सनियमादुत्तमप्रकृतिः । तत एव भिक्षावर्जनार्थं सर्वदैव मद्यपानविरहिताभिर्युष्माभिः स्थातव्यं । अन्यथैष विरक्तो यास्यति । आषाढभूतिश्च सकलकलाकलापपरिज्ञानकुशलो नानाविधैर्विज्ञानातिशयैः सर्वेषामपि नटानामग्रणीर्बभूव ततस्ते च सर्वेऽपि नटाः स्वां स्वां युवतिं स्वस्वगृहे विमुच्य च राजकुलंगताः । आषाढभूतिभार्याभ्यामपि चिंतितमद्य राजकुले गतो ऽस्माकं भर्त्ता सकलामपि च रात्रिं गमयिष्यति। ततः पिबामो यथेच्छमासवमिति तथैव कृतं । मदवशाद्व्यपगतचेतने विगतवस्त्रे द्वितीयभूमिकाया उपरि सुप्ते तिष्ठतः । राजकुले परराष्ट्रदूतः समायात इति राज्ञो व्याक्षेपो बभूव । ततो नयसर इति कृत्वा प्रतीहारेण मुत्कलिताः सर्वेऽपिनटाः समागताः स्वं स्वं भवनं आषाढभूतिश्च निजावासे समागत्य यावत् द्वितीयभूमिकामारोहति । तावत्ते द्वे अपि निजभार्ये विगतवस्त्रे बीभत्स्ये पश्यति ततः स महात्मा चिंतयत् अहो मे मूढता अहो मे निर्विवेकता, । अहो मे दुर्विलसितं यदेतादृशामप्यशुचिकरंडकभूतानामधो गतिनिबंधनानां कृते परमशुचिभूतमिह परलोककल्याणपरंपराजनकमाक्षेपेण मुक्तिपदनिबंधनं संयममुज्झाम्बभूव ततोऽद्यापि न मे किमपि विनष्टमपि, गच्छामि गुरुपादांतिकं, प्रतिपद्ये चारित्रं, प्रक्षालयामि पापपंकमिति, विचिंत्य गतो गृहात् । दृष्टः कथमपि विश्वकर्मणा लक्षित इंगिताकारैर्यथा विरक्त एष यातीति ततः सत्वरं निजदुहितरावुत्थाप्य निर्भर्त्सयति । हा दुरात्मिके ! हीनपुण्यचतुर्दशीके ! युष्मद्विलसितमेतादृशमवलोक्य सकलनिधानभूतो युष्मद्भर्त्ता विरक्तो यातीति तद्यदि निवर्त्तयितुं शक्नुथस्तर्हि निवर्त्तयथो नो चेत् प्रजीवनं याचध्वमिति ।ततस्ताः ससंभ्रमं परिहितवसनाः पृष्ठतः प्रधाव्य गच्छतः पादयोर्लग्ना वदति च। हा स्वामिन् ! क्षमस्वैकमपराधं निवर्त्तस्व मास्माननुरक्ताः परिहर एवमुक्तोपि स मनागपि चेतसि न रज्यते ततस्ताभ्यामवाचि । स्वामिन् ! यद्येवं तर्हि प्रजीवनं देहि येन पश्चादपि युष्मत्प्रसादेन जीवामस्ततः एवं भवत्विति दाक्षिण्यवशादनुमत्य प्रतिनिवृत्तः । ततः कृतं भरतचक्रवर्त्तिचरितप्रकाशकं राष्ट्रपालं नाम नाटकं । ततो विज्ञप्तो विश्वकर्मणा सिंहरथो राजा । देव ! आषाढभूतिना राष्ट्रपालं नाम नाटकं विरचितं । तत्सम्प्रति नर्त्यतामिति । परं तत्र राजपुत्रपञ्चशतैराभरणविभूषितैः प्रयोजनं । ततो राज्ञा दत्तानि राजपुत्राणां पञ्चशतानि तानि यथातथमाषाढभूतिना शिक्षितानि ततः प्रारब्धं नाटकं नर्त्तितुं तत्र आषाढभूतिना शिक्षितं इक्ष्वाकुवंशसम्भूतो भरतश्चक्रवर्तिपदस्थितो । राजपुत्राश्च यथायोगं कृताः सामंतादयः । तत्र च नाटके यथा भरतेन भारतं षट्खंडं प्रसाधितं । यथा चतुर्दशरत्नानि नव महानिधयः प्राप्ता यथा वा दर्शगृहावस्थितस्य केवलालोकप्रादुर्भावो, यथा च पञ्चशतपरिवारेण सह प्रव्रज्या प्रतिपन्ना तत्सर्वमप्यभिनीयते ततो राज्ञा लोकेन च परितुष्टेन सर्वेणापि यथाशक्ति हारकुंडलादीन्याभरणानि सुवर्णवस्त्राणि च प्रदत्तानि। ततः सर्वजनानां धर्मलाभं प्रदाय पञ्चशतपरिवारः आषाढभूतिर्गंतुं प्रावर्तत । ततः किमेतदिति राज्ञा निवारितस्तेनोक्तं किं भरतश्चक्रवर्ती प्रव्रज्यामादाय निवृत्तो येनाहं निवर्ते। इति गतः सपरिवारो गुरुसमीपं वस्त्राभरणादिकं च समस्तं निजभार्याभ्यां दत्तवान् तच्च प्रजीवनकं किल तयोर्जातं । गृहीता दीक्षा तदपि च नाटकं विश्वकर्मणा कुसुमपुरे नर्तितुमारब्धं । तत्रापि पंचशतसंख्याः क्षत्रियाः प्रव्रजंतो निःक्षत्रियां पृथिवीं करिष्यतीति नाटकपुस्तकमग्नौ प्रवेशितं । पिं० । मायापिंडे दृष्टमुदाहरणम् ॥

आषाढा—आषाढा—स्त्री० नक्षत्रभेदे (दो आसाढा) स्था० २ ठा० । द्वे आषाढे पूर्वाषाढा उत्तराषाढा च-वाच० । ०

आसाढायरिय—आषाढाचार्य पुं०आव्यक्तिकनिन्हवाचार्येऔ० ।

आसाढी—आषाढी—स्त्री०आषाढानक्षत्रयुक्ता पूर्णमासी आषाढी। आषाढमाससम्भाविन्यां पौर्णमायाम्–सू० च० आव० ।

आसापास—आशापाश—पुं० । इच्छाविशेषरूपे बन्धने आसापासपडिबद्धपाणा. । आशा इच्छाविशेषः सैव पाशो बन्धनं तेन प्रतिबद्धाः सम्बद्धा नियन्त्रिता इति गम्यं प्राणा येषां ते तथा । प्रश्न० ३ द्वा०(किं किन कुणइ जीवो आसापासेण वा बद्धो),-सघा० ।

आसावल्ली—आशावल्ली—स्त्री० सोमनाथभंगसमये यवनैर्नाशितस्य कर्णदेवस्य मातरि, ती० ।

आसाय—आस्वाद—पुं० आ ईषदपि अ इति न स्वादः आस्वाद मनागस्वादे रसनेन्द्रियजन्ये ज्ञाने । आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा यत्प्रकर्षाद्दिव्यरसस्य विप्रुषपजायते तस्मिश्च । द्वा० ज्ञा० । विशे० । अभिलाषे २ आचा. ८ अ० ।

आसायण—आशातन—न० आ समन्ताच्छातयति मुक्तिमार्गाद् भ्रंशयति इत्याशातनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदने । विशे० ।

आसायणा—आशातना—स्त्री० ज्ञानादिगुणा आ सामस्त्येन शात्यन्ते अपध्वस्यन्ते याभिस्ता आशातनाः स्था० । प्रतीपवर्तनेषु । अधिक्षेपेषु । सम्म० विनयभ्रंशेषु आव । प्रतिषिद्धकरणेषु । आ० चू० । लघुतापादनेषु । द० । आतु० । आशातना ज्ञानदेवगुर्वादीनां जघन्यादिभेदाः त्रिविधाः तत्र ज्ञानस्य, तत्र जघन्या ज्ञानाशातना ज्ञानोपकरणस्य निष्ठीवनस्पर्शोऽतिकस्थे, च । तस्मिन्नधोवातनिसर्गोहीनाधिकाक्षरोच्चार इत्यादिका १ मध्यमा आकालिक निरुपधानतपो वा ऽध्ययन भ्रांत्यान्यथार्थकल्पन ज्ञानोपकरणस्य प्रमादात्पादादिस्पर्शो भूपातन चेत्यादिरूपा २ उत्कृष्टेनाक्षरमार्जन उपर्युपवेशनशयनादिज्ञानोपकरणेऽतिकस्थे उच्चारादिकरण ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा निंदा प्रत्यनीकतोपघातकरणमुत्सूत्रभाषणं चेत्यादिस्वरूपा ३ जघन्या देवाशातना नासकुपिकाद्यास्फालनश्रांमवस्त्रांचलादिस्पर्शाद्या १ मध्यमा शरीराद्यशुद्ध्या पूजन प्रतिमाभूनिपातन चेत्याद्या २ उत्कृष्टा प्रतिमायाश्चरणश्लेष्मस्वेदादिस्पर्शनभंगजननावहेलनाद्या च ॥ श्रुताशातना फलमुवहाणशब्दे महा० । प्रवचनाशातक आचार्य' । महा० ५ अध्य० ॥

से भयवं जेणं केई कहिं कयाई पमायदोसओ पवयणं मासाएज्जा । से णं किं आयरियं पावेज्जा । गोयमा ! जेणं केई कहिं वि कयाई पमायदोसओ असई कोहेण वा माणेण वा मायाए वा लोभेण वा रागेण वा दोसेण वा भएण वा हासेण वा मोहेण वा अन्नाणदोसेण वा पवयणस्स अन्नयरट्ठाणे वइमेत्तेणं पि अणगारं असमायारीपरूवमाणे वा अणुमन्नेमाणे वा पवयणमासाएज्जा से णं बोहिं पि णो पावे किमंग ! आयरियपयलंभं । से भयवं ! किं अभव्वे मिच्छादिट्ठी । आयरिये भवेज्जा । गोयमा ! भवेज्जा । एत्थं च णं इंगालमद्दगाईन एसे भयवं ! किं मिच्छदिट्ठी निक्खमेज्जा । गोयमा ! निक्खमेज्जा देवस्य ॥

अथवा देवाशातना जघन्या दश मध्यमाश्चत्वारिंशदुत्कृष्टाश्चतुरशीतिस्ताश्च क्रमेणैवमाहुः ॥

तंबोल १ पाण २ भोअण, ३ वाहणह ४ त्थीभोग ५ सुवण ६ निट्ठवणं ७ ॥ मुत्त ८ च्चारं ९ जूअं, १० वज्जे जिणमंदिरस्संतं ॥ १ ॥

इति जघन्यतो दश देवाशातनाः । प्रव० ३८ द्वा तंबोलेत्यादिगाथायां तांबूलपानभोजनोपानत्स्त्रीभोगस्वपननिष्ठीवनानि मूत्र प्रस्रवणं उच्चार पुरीष द्यूतमयकादि वर्जयेत् । तीर्थकृदाशातनाहेतुत्वाज्जिनमन्दिरस्यांऽतर्विवेकी जन इति ।

मुत्त १ पुरीसं २ पाणं ३ जाणा ४ सण ५ सयण ६ इत्थि ७ तंबोलं ८ निट्ठीवणं च ९ जूअं १० जूआइपलोयणं ११ विगहा १२ ॥ १ ॥ पल्हत्थीकरणं १३ पिट्ठपासायपसारण १४ परुप्परविवाओ १५ परिहासो १६ मच्छरिआ १७ सीहासणमाइपरिभोगो १८ ॥ २ ॥ केससरीरविभूसण १९ छत्ता २० सि २१ किरीड २२ चमरधरणं च २३ धरणं २४ जुवईहिं सविब्भमहास २५ खिड्डप्पसंगाय २६ ॥ ३ ॥ अकयमुहकोस २७ मलिणंगवत्थ २८ जिणपूअणामणसो अणेगयत्तं २९ सचित्तदव्विआणविमुआणं ३० ॥ ४ ॥ अचित्तदव्विअअणुस्सणंच ३१ तहणेगसाडिअत्तंचि ३२ जिणदंसणेअणंजलि ३३ जिणंमि दिट्ठंमि अ अपूआ ३४ ॥ ५ ॥ अहवा अणिट्ठकुसुमाइपूअणं ३५ तह अणायरपवित्ती ३६ जिणपडिणीअनिवारण ३७ चेइअदव्वस्सुवेहणमो ३८ ॥ ६ ॥ सइसामत्थिअवाणह ३९ पुव्वं चिइवंदणाइपढणंच ४० जिणभवणाइत्तिआणं चालीसायणा एए ॥ ७ ॥

इति मध्यमतश्चत्वारिंशदाशातना ॥ उत्कृष्टाः ८४ । प्र० ।

खेलं १ केलि २ कलिं ३ कला ४ कुललयं ५ तंबोल ६ मुग्गालयं, ७ गाली ८ कंगुलिआ ९ सरीरधुवणं १० केसे ११ नहे १२ लोहिअं १३ । भत्तोसं १४ तय १५ पित्त १६ वंत १७ दसणा १८ विस्सामणा १९ दामणं, २० दंत २१ च्छी २२ नह २३ गल्ल २४ नासिअ २५ सिरो २६ सोत्त २७ छवीणंमलं २८ ॥ १ ॥ मुत्तं २९ मीलण ३० लिक्खयं ३१ विभजणं ३२ भंडार ३३ दुट्ठासणं ३४ छाणी ३५ कप्पड ३६ दालि ३७ पप्पड ३८ वडी विस्सारणं ३९ नासणं ४० अक्कंदं ४१ विकहं ४२ सरुच्छुघडणं ४३ तेरिच्छसंठावणं ४४ अग्गीसेवण ४५ रंधणं ४६ परिक्खणं ४७ निस्सीहिआभंजणं ४८ ॥ २ ॥ छत्तो ४९ वाणह ५० सत्थ ५१ चामर ५२ मणोणेगत्त ५३ मब्भंगणं ५४ सच्चित्ताण ५५ मचाय ५६ चायमजिए ५७ दिट्ठीइनो अंजली ५८ साडेगुत्तरसंगभंग ५९ मउड ६० मोलिं ६१ सिरोसेहरं ६२ हुड्डा ६३ जिंडुहगेडिआइरमणं ६४ जोहार ६५ भंडक्किअं ६६ ॥ ३ ॥ रेकारं ६७ धरणं ६८ रणं ६९ विचरणं वालाण ७० पल्हत्थिअं ७१ पाऊ ७२ पायपसारणं ७३ पुडपुडी ७४ पंकं ७५ रओ ७६ मेहुणं

७७ जूअं ७८ जेमणं ७९ गुज्झं ८० विज्जं ८१ वणिज्जं ८२ सिज्जं ८३ जलं ८४ मज्जणं । एमाईओ अमज्जकज्जमुज्जुओवज्जे जिणिंदालए ॥

विषमपदार्थो यथा ॥ आसायणाओ चुलसी इति । अथाशीतिशातनाद्वारमाह ॥ खेलं केलिकलिमित्यादि शार्दूलवृत्तचतुष्टयमिदं व्याख्यायते । तत्र जिनभवने इदमिदं च कुर्वन्नाशातनां करोतीति तात्पर्यार्थः । आयं लाभं ज्ञानादीनां निःशेषकल्याणसंपल्लतावितानाविकलबीजानां शातयंति विनाशयत्याशातना । तत्र खेलं मुखश्लेष्माणं जिनमंदिरे त्यजति । तथा केलिं क्रीडां करोति । तथा कलिं वा कलहं विधत्ते तथा कलाः धनुर्वेदादिकाः खलूरिकायामिव तत्र शिक्षते । तथा कुललयं गंडूषं विधत्ते तांबूलं तत्र चर्वयति तथा तांबूलसंबंधिनमुद्गालं भाखीलं तत्र मुंचति । तथा गालीः ककारमकारादिकास्तत्र ददाति । तथा कंगुलिकाः लघ्वीं महतीं च विधत्ते । तथा शरीरस्य धावनं प्रक्षालनं कुरुते । तथा केशान् मस्तकादिभ्यः स्तत्रोत्तारयति । तथा नखान् हस्तपादसंबंधिनः किरति । तथा लोहितं शरीरान्निर्गतं तत्र विसृजति तथा भक्तोपं सुखादिकां तत्र खादति तथा त्वचं व्रणादिसंबंधिनीं पातयति । तथा पित्तधातुविशेषमौषधादिना तत्र पातयति । तथा वांतं वमनं करोति । तथा दशनान् दंतान् क्षिपति तत्संस्कारं वा कुरुते । तथा विश्रामणमंगसंबाधनं कारयति तथा दामनं बंधनमजादितिरश्चां विधत्ते तथा दंताक्षिनखगंडनासिकाशिरश्श्रोत्रच्छवीनां संबंधिनं मलं जिनगृहे त्यजति तत्र छविः शरीरं शेषाश्च तदवयवा इति प्रथमवृत्तं । तथा मंत्रं भूतादिनिग्रहलक्षणं राजादिकार्यपर्यालोचनरूपं वा कुरुते । तथा मीलनं क्वापि स्वकीयविवाहादिकृत्ये निर्णयाय वृद्धपुरुषाणां तत्रोपवेशनं । तथा लेख्यकं व्यवहारादिसंबंधि तत्र कुरुते तथा विभजनं विभागं दायादादीनां तत्र विधत्ते । तथा भांडागारं निजद्रव्यादेर्विधत्ते तथा दुष्टासनं पादोपरि पादस्थापनादिकमनौचित्योपवेशनं कुरुते । तथा छगणीं गोमयपिंडं कर्पटं वस्त्रं दालिमुद्गादिर्द्विदलरूपा पर्पटवटिके प्रसिद्धे । तत एतेषां विसारणं च उत्थापनकृते विस्तारणं । तथा नाशनं नृपदायादादिभयेन चैत्यस्य गर्भगृहादिष्वंतर्द्धानं तथा आक्रंदं रुदितविशेषं पुत्रकलत्रादिवियोगं तत्र विधत्ते तथा विविधाः कथा रमणीयरमण्यादिसंबंधिनीः कुरुते तथा शराणां बाणानामिक्षूणां च घटनं सरच्छति पाठे तु शराणां अस्त्राणां च धनुः शराणां घटनं । तथा तिरश्चाम-श्वगवादीनां संस्थापनं तथा अग्निसेवनं शीतादौ सति तथा रंधनं पाचनमन्नादीनां तथा परीक्षणं द्रव्यादीनां तथा नैषेधिकीभंजनमवश्यमेव हि चैत्यादौ प्रविशद्भिः सामाचारीचतुरैर्नैषेधिकी करणीया । ततस्तस्य अकरणं भंजनमाशातनेति द्वितीयवृत्तार्थः । तथा छत्रस्य तथा उपानहोस्तथा शस्त्राणां खड्गादीनां चामरयोश्च देवगृहाद्बहिरमोचनं मध्ये वा धरणं तथा मनसोऽनेकाग्रता नैकाग्र्यं नानाविकल्पकल्पनमित्यर्थः अभ्यंजनं तैलादिना तथा सचित्तानां पुष्पतांबूलपत्रादीनामत्यागो बहिरमोक्षणं तथा त्यागः परिहरणमजीवे इति अजीवानां हाररत्नमुद्रिकादीनां बहिस्तन्मोचनो हि अहो भिक्षाचराणामयं धर्म इत्यवर्णवादो दुष्टलोकैर्विधीयते । तथा सर्वज्ञप्रतिमायां दृष्टौ दृग्गोचरतायां नो नैवांजलिकरणमंजलिविरचनं तथा एकशाटकेन एकोपरितनवस्त्रेण उत्तरासंगभंग उत्तरासंगस्याकरणं तथा मुकुटं किरीटं मस्तके धराति तथा मौलिं शिरोवेष्टनाविशेषरूपां करोति तथा शिरःशेखरं कुसुमादिमयं धत्ते । तथा हुड्डा पारापतनालिकेरादिसंबंधिनीं विधत्ते तथा जिंदुहचि कंदुकः गिंडुका तत्क्षेपिणी चक्रयष्टिका ताभ्यामादिशब्दाद्गोलिका कपर्दिकादिभिश्च रमणं क्रीडनं तथा तथा ज्याकारेण पित्रादीनां । तथा भांडानां विटानां क्रिया कक्षा चोवनादिका इति तृतीयवृत्तार्थः । तथा रेकारं तिरस्कारप्रकाशकं रेरे रुद्रदत्तेत्यादि वक्ति । तथा धरणकरोधनमपकारिणामधमर्णादीनां च तथा रणं संग्रामकरणं । तथा विचरणं वालानां विजटीकरणं तथा पर्यस्तिकाकरणं । तथा पादुका काष्ठादिमयं चरणरक्षणोपकरणं तथा पादयोः प्रसारणं स्वैरं निराकुलतायां । तथा पुटपुटिकादापनं तथा पंकं कर्दमं करोति निजदेहावयवक्षालनादिना तथा रजो धूलीं तत्र पादादिलग्नां । झाटयति । तथा मैथुनं मिथुनस्य कर्म । तथा यूकां मस्तकादिभ्यः क्षिपति वीक्षयति वा तथा जेमनं भोजनं तथा गुह्यं लिंगं तस्यासंवृतस्य करणं जुज्झमिति तु पाठे युद्धं दृग्युद्धबाहुयुद्धादि । तथा विज्जात्ति वैद्यकं तथा वाणिज्यं क्रयविक्रयणं तथा शय्यां कृत्वा तत्र स्वपिति तथा जलं पर्यस्तत्पानार्थं तत्र मुंचति पिबति वा तथा मज्जनं स्नानं तत्र करोति । एवमादिकमवद्यं सदोषं कार्यं ऋजुकः प्रांजलचेता उद्यतो वा वर्जयेज्जिनेंद्रालये जिनमंदिरे एवमादिकमित्यनेनेदमाह न केवलमेतावत्य एवाशातनाः किंत्वन्यदपि यदनोदितहसनचलनादिकं जिनालये तदप्याशातनास्वरूपं ज्ञेयं नन्वेवं तवोलपाणेत्यादिगाथयैवाशातनादशकस्य प्रतिपादितत्वाच्चैवाशातनानांचैतद्दशकोपलक्षितत्वेनैव ज्ञास्यमानत्वादयुक्तमिदं द्वारांतरमिति चेन्न सामान्याभिधानेऽपि बालादिबोधनार्थं विभिन्नविशेषाभिधानं किं यत एव यथा ब्राह्मणाः समागता वसिष्ठोऽपि समागत इति सर्वमनवद्यं नन्वेता आशातना जिनालये क्रियमाणा गृहिणां कचन दोषमावहति । उतैवमेव न करणीयास्तत्र ब्रूमो न केवलगृहिणां सर्वसावद्यकरणोद्यतानां भवभ्रमणादिकदोषमावहति किं तु निरवद्याचाररतानां मुनीनामपि दोषमावहतीत्याह । आसायणा उ इत्यादि एता आशातनाः परिस्फुरद्विविधदुःखपरंपराप्रभवभवभ्रमणकारणमिति विभाव्य परिभाव्य यतयोऽस्नानकारित्वेन मलमलिनदेहत्वात् न जिनमंदिरे निवसति । इति समयसिद्धांतस्तमेव समयं व्यवहारभाष्योक्तं दर्शयति दुब्भिगंधेत्यादि । एषा तनुः स्नापितापि दुरभिगंधमलप्रस्वेदस्राविणी तथा द्विधा वायुपथोऽधोवायुनिर्गम उच्छ्वास निश्वासनिर्गमश्च यद्वा द्विधा मुखेन अपानेन च वायुवहो वापि वातवहनं च तेन कारणेन न तिष्ठति यतयश्चैत्ये जिनमंदिरे यद्वेवं मतिर्भिश्चैत्ये ह्याशातनाभीरुभिः कदाचिदपि न गंतव्यं । तत्राह तिन्नि वा कड्ढइत्यादि तिस्रः स्तुतयः कायोत्सर्गादनंतरं या दीयते ता यावत्कर्षति भणतीत्यर्थः किंविशिष्टास्तत्राह त्रिश्लोकिकाः । त्रय श्लोकाः छंदोविशेषरूपा आधिक्येन यासु तास्तथा सिद्धाणं बुद्धाणमित्येकश्लोको जो देवाणवि इति द्वितीय एकोवि नमोक्कारो इति तृतीय इति अग्रेतनगाथाद्वयं स्तुतिश्चतुर्थी गीतार्थाचरणेनैव क्रियते गीतार्थाचरणं तु मूलगणधरभणितमिव सर्वं विधेयमेव सर्वैरपि मुमुक्षुभिरिति तावत्कालमेव तत्र जिनमंदिरेऽनुज्ञातमवस्थानं यतीनां कारणेन पुनर्धर्मश्रवणार्थमुपस्थितभविकजनोपकारादिना परतोऽपि चैत्यवंदनाय अग्रतोऽपि यतीनामवस्थानमनुज्ञातं । शेषकाले तु साधूनां जिनाशातनादिभयान्नानुज्ञातमत्रस्थानं तीर्थंकरगणधरादिभिस्ततो यतिभिरप्येवमाशातनाः परिह्रियते । गृहस्थैस्तु सुतरां परिहरणीया इति त्र्य तीर्थकृन्नामाद्या आज्ञाभंगश्च महतेऽनर्थाय-

सपद्यते यदाहुः (अणाढ बियचरणमित्यादि) दर्श० । तीर्थ-
कराशातनाः । वृ० । तत्र तीर्थकर यथा शातयति तथा-
भिधीयते ॥

पाहुडियं अणुमण्णति, जाणंतो किं च भुंजती भोगे ।
थीतित्थपि य वयति, अतिकरकसदेसणायावि ॥

प्राभृतिकां सुरविरचितसमवसरणमहार्यादिपूजालक्षणाम
र्हन् यदनुमन्यते तन्न सुंदरं । ज्ञानत्रयप्रमाणेन च भवस्व-
रूपं जानन् विपाकदारुणान् भोगानिमिसे भुंक्ते मल्लिनाथस्य
स्त्रिया अपि यत्तीर्थमुच्यते । तदतीवासमीचीना अतीव
कर्कशा अतीवदुरनुचरा तीर्थकरैः सर्वोपायकुशलैरपि यदि
क्षमाकृता साप्ययुक्ता ॥

अण्णं च एवमादी, अविणिमिसासुविति लोगमहिताणं ।
पडिरूवमकुव्वंतो, पावति पारंचियं ठाणं ॥

अन्येप्येवमादिक तीर्थकृतामवर्णं भाषते तथा अपीत्यन्न्युच्च
यं । त्रिलोकमहितानां भगवतां याः प्रतिमास्तास्वपि यदवर्णं
भाषते एतासां पाषाणादिमयीनां माल्यालंकारादिपूजा
क्रियते एव कथमप्रतिरूपं वा विनयं वदनस्तुतिस्तवादिकता-
सामेव बुद्ध्या अकुर्वन्पारांचिकं स्थानं प्राप्नोति अग्रमहिषी श-
ब्दे ताभिः सहैताः भोक्तुमनीशाः प्रत्याशातनाभयादित्युक्तम
गुरोः १० वृ० ॥ जेभिक्खु भदत अग्घयरीए अण्णयरीए
अच्चासायणाए अच्चासाइए अच्चासायतवा साइज्जइ ४
दसासु तेत्तीस आसायणा भणिता तासिं अण्णतराए आसा
दणाए आसादेति आङ्ल्युपसर्गो वाचकः षद्लृविसरणगत्य
वसादनेषु । गुरु पडुच्च विणयारणे ज फलतमाय सादेतीति
आसादणा य सो य आसादणा चउव्विहा गाहा ।

दव्वे खेत्ते कालेभावे आसायणा मुणेयव्वा ॥
एतेसिं णाणत्तं वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥ ३६ ॥

चउण्ह दव्वादियाण इमावक्खागाहा ॥

दव्वेआहारादिसु खेत्ते गमणादिएसु नायव्वा ॥ ३७ ॥

दव्वे आहारादिएसु सेहेराइणिएण सद्धिं असण बाह आहा-
रेमाणे तत्थ सेहतराए खद्धखद्ध आहारेति सेहराणिएण सद्धिं
असण बाहुपडिगाहेत्ता तरातिणिय अणापुच्छित्ता जस्स इ-
च्छेति तस्स खद्ध खद्ध दलति आदिग्गहणाओ वच्छादिया
गुरुणो अदासिया परिभुंजंति खेत्ते पुरतो पासतो मग्गओ वा
आसण गमण करेति आदिग्गहणातो चिट्ठणणिसीयणाई
आसण करेति कालम्मि विवच्चासाणमसद्दे पडिसियस्स रातो
वा वि याले वा वाहरणमाणस्स अपडिसुणेत्ता भवति तिएण
पडिसुणेयव्व तस्स पुण विणए अपडिसुणेमाणस्स भस्सत्त
भवति तेण वि वच्चासो भवति भावे ज गुरू भणति तेण प-
डिवजति अपडिवज्जंतेय मिच्छा भवति गाहा ॥

कालंमि विवच्चासे मिच्छा पडिवज्जणा भावे, काले तु
मुणेमाणे अपडिसुणेतस्स होति आसायणा, हितादि-
फरुसाभावे अतरभासा य कहणाया ॥ ३८ ॥

कालेत्ति रातो वावियाले वा गुरुणा वाहरेंतं तस्स सुणेंतो वि
असुणेता वि य अच्छति एस कालासादणा इयाणिं भावा-
सादणा । मिच्छामि पडिवत्तितो भावेत्ति हि सिक्ति वत्ता कि
तुम ति वा फरुसं भणाति गुरुणोवा धम्मकह तस्स अतरभा-
सए मा भायासायणा दव्वादिएसु चउसुवि इमो अविणय-
दोसो गाहा ॥

गुरुपव्वइया आसा-यणा तु धम्मस्स मूलछेदो य ॥
चउपदहोसा एते एत्तो वेसेसियं वोच्छं ॥ ३९ ॥

गुरुविनयकरणे कम्मक्खए जो आतोत सादेति अहवा गुरु-
पव्वतितो णाणाओ आढत अविणयदोस्सो ण सादेति न भव-
तीत्यर्थः । विणओ धम्मस्स मूलं सो य अविणयजुत्तो तस्स छेद
करेति । अहवा धम्मस्स मूलं सम्मत्त गुरुआसायणा य
तस्स छेदं करेति दव्वादिएसु चउसु वि एते सामण्णतो दो-
सा भणियाएत्तो पत्ते, क्कस्स वि वेसेसेण भणामि ॥

सचित्तखट्टकारग, अविकरूणमदंसणे भवे दोसो ॥
इंगाल अविविते णि, गलगुत्तूढातिसेसे तु ॥ ४० ॥

गुरुणो अणालोतिय अपडिदेसियं वा जइ भुजति ता इमे
दोसा सचित्त फलकदादी भुजेज्ज अतिप्पमाणे वा भुजेज्ज त
अजीर त हादेज्ज व मारेज्जसरीरस्स वा अकारग भुंजेज्ज
तेण से वाही भुजेज्ज अतिप्पमाणे वा भुंजेज्ज त अजीरत
महादेज्ज व मारेज्ज व सरीरस्स वा अकारग भुजेज्ज तेण
सेवा ही भजेज्ज इगालसधूम वा भुजेअविधीए वा भुजे सुक
सुर चेव चव अविहिविति स परिसाडिमणवयणकाएसु वा
गुत्तो भुजे सचित्तविहालोयवज्जिते तणीय भवति । गाणाधि-
सयणा सणयावणा य गुरुभावे सत्तविहो आलोगो, सत्ता वि
जयण सुविहियाण सेसु सिराहणिएण सद्धिं खरू ताय ए?
रसिय ३ मसुम इत्यादिगलएलजेज्या तुरिए अतिप्पमाणेण
वा कवले छढे आयराहणा । दिया दोसा सव्वासायणा गता ।
इदाणिं खेत्तासादणा दोसा गाहा ॥

घट्टणरेणुविणासे, तिपास भावणभव पुरतो ।
खेत्ते कालगविते गिलाण अमुणेत अधिकरणं ॥ ४१ ॥

आसन्न गच्छतस्स गुरुणा संघट्टणा भवति पादुद्दियरेणुणा
य वत्थुविभासो भवति सो जति पासतो वामतो दाहिणतो
मग्गतो य पुरतो गच्छतओ भावणा आयरियस्स एस खेत्तासा
दणा गता इमे कालगतो वियालेवा पिलिआति आयरियस्स
वहरतस्स अपडिसुणेमाणस्स सीसस्सा गिलाणविराहणा
हवे तवकरणदाहो वा अजगमो वा आयरिओऊँ अपडि
सुणेमाणो वा अणेण । साहुणा भणितो कीस । अकमासुएण
अच्छसित्ति उत्तराउत्तरेण अधिकरणसभवो कालासादणा
गता ॥

इदाणिं भावासायणा गाहा

साहादीण अवन्ना, परउत्थियगमपरिभवो लोए ।
भावासायणएसा, संभमणाउदणा चेव ॥ ४२ ॥

सेहादिणो विचितेज्ज जहा एते अम्ह जेट्ठगा आयरियस्स
वन्नं करोति तहा णज्जति णूण एसपतितो ते विसेहा अवन्ना
करेज्ज एव सतिस्सेहे परिभूतो परितित्थियाण तिगम्मो भवति
लोगो य परिभूतो भवति एते भावासादणा दोसा गुरुणो
उपदेसपदाणे समणा उट्ठतस्स भावास्वादणा चेव मिच्छा पडि
वज्जणा भवति । अस्य व्याख्या । गाहा ।

मिच्छापडिवत्तीए जे भावा जत्थ होंति सब्भूया ।
तेसु व तहं पडिवज्जणा य आसायणा य तम्हा ॥ ४३ ॥

मिहा अढत प्रतिपादन प्रतिपत्ति अत्थेत्ति दव्वादिएसु जे भा-
विपदेसु हा सुत्तअत्थणसुयक्खंधेसु वा सब्भूया जे जिण-
प्पसत्था भावा ते गुरु अयाणंतो परिसामज्झे पन्नवेति तत्थ

उपदेसा सीसो तुरियं वा गच्छति जाहे उट्ठियवक्खाणाओ ताहे सीसे एगते गुरुणो सब्भावं सद्दति अह सीसो तेसु पदत्थेसु परिसामज्झे चेव वितहपडिवज्जणा एत्थ वक्खाण करिज्जा ताहे अविणओ भवति । अविणयपडिवत्तीए य तम्हा आसायणा भवति । अहवा परिसामज्झे गुरु चोदितो वितहपडिवज्जणं करेति न सम्यक् प्रतिपद्यत इत्यर्थः । तम्हा सीसस्स आसायणा भवति अहवा गुरु जाणतो चेव भणाहा अत्थपण्णवेति मा परप्पवादी दोसं गेण्हेज्ज जहा सव्वस्स चेयणिहणाउण-यंदो णत्थि उवओगा एगो प्रयोगप्रतिपादनमित्यर्थः । तहसेह-तराए तो जाणति जहा सयमिकतं पच्चयेन आतिवितहपडिवज्जतिसामादणा सेहस्स चोदगाह जमत्थं आयरिओ ण याणाति तमत्थ सीसो कहं जाणति भण्णति । गाहा ॥

जंगारणगारत्ते छुतंनु, सहसंमुतं तजं किंचि ।
तं गुरुअं णह कहणं, णेव पिदं उपाडिवत्ती ॥ ४४ ॥

भंतेण सेहतराएण गिहत्थत्तणे सुयक्खय अणगारत्ते वा आणतो सुयं अप्पणो पाढितं स गुरुस्स अण्णदा कहितस्स सो भणेज्जा ण एवं भवमिच्छापडिवत्तिओ आसादणा भवति । गाहा ॥

एवं जणतो दोसा, इमं सुतं वाणं हियए एवं ।
सब्भूयमसब्भूए, एवं मिच्छाउ पडिवत्ती ॥ ४५ ॥

एवं गुरुपडिकूलं भणतो आसादणा दोसो भवति अहवा सीसो गुरु भणइ तुज्झ एए पलाविणस्स समयविराहणा दोसो भवति मम एयं सुयं वणायरियसमीवे एए पणायिज्जंते समयविराहणा दोसो भवति एवं सीसस्स सब्भूयमसब्भूय एयापरिसामज्झे मिच्छा पडिवत्तिओ आसायणा भवति । गाहा ।

वितियं पढमे तनिए, य होंति गेलाणकज्जमादीसु ।
अच्छाणादी वितिए, ओमाणादी चउत्थंमि ॥ ४६ ॥

वितियपदि अववायपद पढमेत्ति दव्वासायणा ततियत्ति-कालासायणा वितियत्ति भ ठाणादिसु सेहासादणा चउत्थित्ति उस प्रादिसु छियस्स तत्थ पढमततियत्ति मेसणं पदुच्च वितियपदं भणति । गाहा ।

होज्ज गुरु गिलाणो, अपत्थदव्वं च मे इहं ।
अवगमसंदंसिनं वा, भुंजे खद्धं चगेहेज्ज ॥ ४७ ॥

गुरु गिलाणो तस्स य जं अपत्थदव्वं त सर्व ताहे ण आविवहितं अदंसिय वा भुंजे आणस्स वा अणापुच्छाए गहू दसयत्ति मासेना निणिओ भय तुजिहित्ति एवं गुरुरक्खणट्ठा अविणयं पि करेंतो सुद्धो ॥ गाहा ॥

कंठाइ माहणट्ठा अय, पंजघावलीणो अट्ठाणे ।
मंगाधुवसए वा, विस्सामगिलाणहेदसुए ॥ ४८ ॥

सेहासादणं पडुच्च भण्णतो भणति अट्ठाणे कहासादणट्ठा पुरओ गच्छति विसमे वा पयस्स पट्ठापासतो अल्लीणो गच्छति गिलाणस्स वा अयट्ठजणट्ठा अल्लीणो अच्छति वाउस्सणया आसणट्ठिओ अच्छति गच्छति वा आयरियस्स वा विस्सामण कारेतो आसण्णं चिट्ठति सघट्टेति वा गिलाणस्स उव्वत्तणादी करेंतो सघट्टणादी करेति आसण्णा चिट्ठति । वसुय वा वक्खाणंतो अप्पसद्द वक्खाणंति मा अपरिणया सुणेहिंति ताहे संतारा आसणं ठविज्जंति इमको ठाणठ्ठायादं । गाहा ॥

कालेगिलाणवावडसेहस्स वमारिय जंच वाहिं ।
संबाधुवस्सए वा आहिकरणादी इमा दोसा ॥ ४९ ॥

रातो वा दिया वा गिलाणपायओ गुरुस्स वाहरंतस्स ण देज्ज सद्दं सेहस्स वा सागारिय पोहिं अतोहितो सुणेंता वि सहणादिज्ज भासगायगासरं पव्वज्जिजाणिस्ता उप्पयाहिति भा तुट्टे वा ओतप्रोतं सपाउस्स पयासज्जं असज्जंतो उल्लप्पित पयंतस्स वा अधिकरणादी दोसा भविस्सति तम्हा आयरिओ सणियं वा हवति त च असुणतो तुसिणीओ सुद्धो अधिकरणदोसभया वा तुसिणीओ अच्छति तहावि सुद्धो गाहा ।

उच्चारं तु असत्तो दाउं गिलाणो तहेव उट्ठेउं ।
तुसिणी तत्थगओ वा सुणेज्ज सो वाहरंतस्स ॥५०॥

वायाहरंतस्स गुरुस्स गिलाणो उच्चार दाउमसत्तो गिलाणो तुसिणीओ । आयेज्जउ वा आसत्तो तत्थ गतो पडिसुणेज्ज शब्द ददातीत्यर्थः ।

इदाणीं भावस्स अववादो भणति गाहा ।

पणुतिरिदे जइ एवं हवेज्ज णिद्दोसमिहरहा दोसा ।
तुज्झे नि ताव ऊहह जाणति पगासे विदढमूढे ॥५१॥

सेहतराएण आयरिओ परि सामज्झेण वत्तव्वो जहा तुमं पण्णवेसि एयं ण भवतित्ति तो कहिं तेण भाणियव्वं उच्यते जहा इं पण्णवेति जति एव भवति तो णिद्दोस इहरहा जहा तुमं पण्णवेह एवं समयविराहणा दोसो भवति तुब्भेवि भया-भिहितं अत्थं ऊहह किं घडमाणं घडनीति तावशब्दः परिमाणवाचकः जहा इमेण जं पदेण गतव्वं जाणंति त एव्वं एय इणमत्थ पुव्वावरेण ताव ऊहह जा भवे अभिगमो अहवा पादपूरणे वा इह जो मूढो भूतत्थ पडिवज्जतो पगासं परिसामज्झेवि भणति ओसरणादी चउत्थंमि ॥ अस्य व्याख्या गाहा ।

णिरुद्धुत्तमट्ठायंतं उमएणं जणति परिसमज्झेवि ।
णेवि जाणसि हित्ता वरूपडियं किं जवे तेणं ॥५२॥

ओसरणे आयरिओ णिरुद्धे पयंत पढु भणितो सागारवधिक्का-हित्ति अट्ठायतो अविरमतेत्यर्थः । परिसामज्झे वि भणति ण याणसि तुमं हि तया अहियवारणपडितेण वा किं तुज्झे पगा पावेहिं वा संघट्टिज्जति जेण सो अयमाणितो चिंतन पने मन्ने पयमिव पच्चरता इयाणिं म उस्सण्णदोसेण दोसमिव पासति । तण एतेसिं पोसो नामज्झदोसो उज्जमामि । नि० चू० उ. १० । द. अ. ९ उ. १

तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ता तंजहा सेहे राइणिअस्स पुरओ गंता जवइ आसायणा सेहस्स ॥ १ ॥ सेहे राइणियस्स सपक्खं गंता जवइ आसायणा सेहस्स ॥ २ ॥ सेहे राइणियस्स आसायणा सेहस्स ३ एवं एएणं आभिलावेणं सेहे राइणियस्स पुरओ । चिट्ठित्ता जवइ आसायणा सेहस्स ४ सेहे राइणियस्स सपक्खं चिट्ठित्ता जवइ आसायणा सेहस्स ५ सेहे राइणियस्स आसण्णं चिट्ठित्ता जवइ आसायणा सेहस्स ६ सेहे राइणियस्स पुरओ निसीइत्ता जवइ आसायणा सेहस्स ७ सेहे राइणियस्स सपक्खं निसीइत्ता जवइ आसायणा सेहस्स ८ सेहे राइणियस्स आसण्णं निसीइत्ता जवइ आसायणा सेहस्स ९ एवं एएणं आभिलावेणं सेहे

राइणिएणं सद्धिं बहिया विहारजूमिं निक्खंते समाणे तत्थ पुव्वामेव सीहतराए आयामइ पच्छाराइणिए आसायणा सेहस्स १० सेहे राइणिएणं सद्धिं बाहिया विहारजूमिं वा निक्खंते समाणे तत्थ पुव्वामेव सीहतराए आलोएइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स ११ सेहे राइणियस्स राओ वा विआले वा गहरमाणस्स अज्जो के सुत्ते के जागरे तत्थ सेहे जागरमाणे राइणियस्स अप्पमिसुणेत्ता जवइ आसायणा सेहस्स १२ सेहे राइणियस्स पुव्वं संलावित्तए तं पुव्वामेव सीहतराए आलवइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १३ सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पमिगाहित्ता तं पुव्वामेव सीहतराए गिहस्स आलोएइ पच्छा राइणियस्स आसायणा सेहस्स १४ सेहे असणं वा ० ४ ॥ पमिगाहित्ता पुव्वामेव सीहतराए गिहस्स पमिदंसेइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १५ सेहे असणं वा० ४ पमिगाहित्ता पुव्वामेव सीहतराए असस्स उवणिमंतेइ पच्छा राइणिए आसायणा सेहस्स १६ सेहे राइणिएणं सद्धिं असणं वा ४ पमिगाहित्ता तं राइणियं अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं २ दलयइ आसायणा सेहस्स १७ सेहे राइणिएणं सद्धिं असणं वा ४ आहारेमाणे तत्थ सेहे खद्धं खद्धं मायं मायं रसियं रसियं उसढं उसढं मणुण्णं मणुण्णं मणामं मणामं निद्धं निद्धं लुक्खं लुक्खं आहारेत्ता जवइ आसायणा सेहस्स १८ सेहे राइणियस्स बाहरमाणस्स अप्पमिसुणित्ता जवइ आसायणा सेहस्स १९ सेहे रायणियं खद्धं खद्धं वत्ता जवइ आसायणा सेहस्स २० सेहे राइणियं किं वइत्ता जवइ आसायणा सेहस्स २१ सेहे राइणियं तुमं इइवत्ता जवइ आसायणा सेहस्स २२ सेहे रायणियं तज्जाएणं तज्जायं पमिजाणित्ता जवइ आसायणा० २३ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स नो सुमिणे जवइ आसायणा सेहस्स २४ सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स नो सरसि एवं वत्ता जवइ आसायणा० २५ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं आछिंदित्ता जवइ आसायणा सेहस्स २६ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसंजित्ता जवइ आसायणा सेहस्स २७ सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे य परिसाए अणुट्ठिआए अजिन्नाए अवोच्छिन्नाए अवोगमाए दोच्चं पि तच्चं पि तामेव कहं कहेत्ता जवइ आसायणा सेहस्स २८ सेहे राइणियस्स सेज्जासंथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेणं अणुणुवेत्ता गच्छइ आस।० २९ सेहे राइणियस्स सेज्जासंथारए चिट्ठित्ता वा निसीइत्ता तुयट्टित्ता वा जवइ आसायणा सेहस्स ३० सेहे रायणियस्स उच्चासणं सिवा ३१ समासणं सिवा चिट्ठित्ता वा निसीइत्ता वा तुयट्टित्ता वा जवइ आसायणा सेहस्स ३२ सेहे राइणियस्स वाहरमाणस्स तत्थ गए चेव पमिसुणित्ता जवइ आसायणा सेहस्स॥ ३३॥

टी० ॥ अथ त्रयस्त्रिंशत्तमस्थानक तत्र आयः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्य शातनाः खण्मना निरुक्तादाशातनास्तत्र शैक्षोऽल्पपर्यायो रात्निकस्य बहुपर्यायस्य आसन्नमासन्नं यथा रजोवस्त्रादिस्तस्य लगति तथा गन्ता भवतीत्येवमाशातना शैक्षस्येत्येवं सर्वत्र (पुरओत्ति) अग्रतो गंता भवति (सपक्खत्ति) समानपक्ष समपार्श्वे यथा भवति समश्रेण्या गच्छतीत्यर्थः । (चिट्ठत्ति) स्थाता आसिता भवति यावत्करणाद्दशाश्रुतस्कन्धानुसारेणान्या इह द्रष्टव्यास्ताश्चैवमर्थत आसन्नगुरुः पार्श्वतः स्थानेन तिस्रोऽत्र निषीदनेन च तिस्रः तथा विचारजूमौ गतयोः पूर्वतरमाचमतः शैक्षस्याशातना १० एव पूर्वं गमनागमनमालोचयतः ११ तथा रात्रौ को जागर्तीति पृष्टे रात्निकेन तद्वचनमप्रतिशृण्वतः १२ रात्निकस्यापूर्वमालपनीयं कंचन अवमस्य पूर्वतरमालपतः । १३ अशनादिलब्धमपरस्य पूर्वमालोचयतः ।१४। एवमन्यस्योपदर्शयतः ।१५। एव निमन्त्रयतः ।१६। रात्निकमनापृच्छ्याऽन्यस्मै भक्तादि ददतः । १७। स्वयं प्रधानतरं भुञ्जानस्य ।१८। क्वचित् प्रयोजने व्याहरतो रात्निकस्य च वा प्रतिशृण्वतः ।१९। रात्निकम्प्रति तत्समक्षता बृहता शब्देन बहुधा भाषमाणस्य ।२०। व्याहृतेन मस्तकेन वन्दे इति वक्तव्ये किम्भणसीति ब्रुवाणस्य ।२१। प्रेरयति रात्निके कस्त्वं प्रेरणायामिति वदतः ।२२। आचार्यग्लानं किं न प्रतिचरसीत्याद्युक्ते त्वं किं न त प्रतिचरसीत्यादि भणत ।२३। धर्मं अर्थयति गुरावन्यमनस्कतां भजतोऽनुमोदयति इत्यर्थः । ।२४। कथयति गुरौ न स्मरसीति वदतः ।२५ । धर्मकथामाच्छिन्दतः । २६। भिक्षावेला वर्तते इत्यादि वचनत पर्षदं भिन्दानस्य ।२७। गुरुपर्षदोऽनुत्थितायास्तथैव व्यवस्थिताया धर्मं कथयतः ।२८। गुरो संस्तारकं पादेन घट्टयतः । २९। गुरोः संस्तारके निषीदतः ।३०। उच्चासने निषीदतः ।३१। समासनेऽप्येव ।३२। त्रयस्त्रिंशत्तमा सूत्रोक्ता च रात्निकस्यालपतस्तत्र गत एवासनादिस्थित एव प्रतिशृणोति आगत्य हि प्रत्युत्तरं देयमिति शैक्षस्याशातनेति । सम० ३३ स० । दशा० ।

अहवा अरिहंताणं आसायणाइ सज्जाए किंचि । नाहीअं जा कंठसमुद्दिट्ठा तितीसासायणाओ गाथाद्वयं सं० व्या० । आसायणा समत्ता समत्ता व सा पमिक्कमणसंगहणी । अत्रपदं । अरिहंताणं आसायणाए सिद्धाणं आसायणाए आयरियाणं आसायणाए उवज्झायाणं आसायणाए साहूणं आसायणाए साहुणीणं आसायणाए सावयाणं आसायणाए साविआणं आसायणाए देवाणं आसायणाए इह लोगस्स आसायणाए परलोगस्स आसायणाए केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणाए सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स आसायणाए सव्वपाणजूअजीवसत्ताणं आसायणाए कालस्स य

आसायणाए सुअस्स आसायणाए सुअदेवआए आसायणाए वायणायरिअस्स आसायणाए जंवाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरं अच्चक्खरं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठु दिन्नं दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओ सिज्झाओ काले न कओ सिज्झाओ असज्झाइयं ॥

सांप्रत सूत्रोक्ता एव त्रयस्त्रिंशदूव्याख्यायते । तत्र अरहंताणं आसायणाए अर्हतां प्राङ्निरूपितशब्दार्थानां सबधिन्या आशातनया यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति क्रिया एव सिद्धादिपदेष्वपि योज्येति इत्थं चमिदधता-मर्हतामाशातना भवति ॥

नत्थि अरहंतत्ति जाणंतो कीस भुंजई भोगे । पाहुमियं भवजीयं एव वदं उत्तरं इणमो ॥१॥ भोगफलनिवत्तिय पुन्नपगरीए मुदयवाहल्ला । भुंजइ भोए एवं पाहुरियाए इम सुणसु ॥२॥ णाणादिकुरोधकअघातिसुहपायवरस वेदाए । तित्थंकरनामाए उदया तह वीयरागत्ता ॥ ३ ॥ सिद्धाणं आसायणाए (सिद्धानामाशातनया क्रियापूर्ववत्) सिद्धाणं आसायणा एवं भणतस्स होइ मुद्धस्स । णत्थिणि चेट्ठा वासइ वावी अहव उवओगे ॥४॥ रागदोसा धुवत्ति तहेव अन्नभकालमुवओगे । दंसणनाणाणं तु होइ अमव्वन्नुया चेव ॥५॥ अन्नोन्नावरणाहव एगत्तव्वं वा वि नाणदंसणओ । भवति न वा एएसिं दोसो एगो वि संभवइ ॥ ६ ॥ अत्थित्ति नियमासिद्धा सद्दाओ चेव गम्मए एवं । नचेट्ठा वि भवंति विरियक्खयओ न दोसो हु ॥ ७ ॥ रागदोसा न भवे सव्वकसायाण निरवसेसखया । जियसा भव्वाण जुगवमुवओगो ण य मया ओय ॥ ८ ॥ न पि हू आवरणाओ दव्वट्ठिय वा मएणं पु-रागचं ता भवति दंसणनाणाणदोसं पि ॥९॥ णाणउदंसणणए पडुच णाणं तु सव्वमेव । दंसव्वं उदंसणं तीएम सव्व भुया का हु ॥१०॥ सणयं व पडुच्चागवायं वओगो दोसं पि । एवमसव्वन्नुत्ता दोसो एसो न संभवइ ११ आयरियाणं आसायणाए आचार्याणामाशातनया क्रिया पूर्ववत् आसातना तु । महरो अकुलीणोत्ति य दुम्मोहो दमगमंदबुद्धिया । अवियप्पलाभलद्धिसीसो परिभवइ आयरियं १२ अहवा वित्तए एवं भवएसपरस्स देंति एवं तु । दसविहवेयावच्चे कायव्वं सयं न कुव्वंति १३ महरो विन्नाणबुद्धो आकुलिणो त्ति य गुणालिओ किहणु । दुम्मेहादीणि वि ते जणंत मंताइ दुम्मेहा १४ जाणंति न वि य न एवं निद्धम्मा मोक्खकारणं णाणं । निच्चंपच्चासयता वेयावच्चादि कुव्वंति १५ उवज्झायाणमासायणाए उपाध्यायानामाशातनया क्रिया पूर्ववत् आशातनापि साक्षेपपरिहारा यथाचार्याणां नवरं सूत्रप्रदा उपाध्याया इति । साहूणं आसायणाएत्ति साधूनामाशातनया क्रिया पूर्ववत् । जो मुणियसमयसारो साहु समुद्दिस्स भासए एवं । अविसहणा तुरियगा ते भंरुणं कालं च तह चेव १६ पाणमुणया व भुंजंति एगत्तो तह वि रूवनेवत्था । एमादिवयदवन्नं मूढो न मुणेइ एयं तु १७ अविसहणादिसमेया संसारसहावजाणणा नेव । साहू थोवकसाया जओ य भुंजंति एगओ तह वि १८ रूवए वत्थं एवंमादिवयदुत्तयं मुट्ठणेति एयं तु । आविसहणादिसमया संसारसहावजाणणा णेव साधुथोवकसाया जओ य भुंजंति ते तहवि १९ साहुणीणं आसायणाए ।

साध्वीनामाशातनया क्रिया पूर्ववत् । आशातना ।

कलहिणिया वहुउवही अह वा वीसमणुवदवा समणी गयाणियापुत्तभंडा दुमवालिजसम सेवालो । २० ।

अत्रोतर ।

कलहेत्ति णेवणाउण कसाए कम्मबंधए पएति । संजलणाण मुदयु ईसिं कलहे वि को दोसो २१ उवही धडुविकप्पो बंभव्वयरक्खणत्थमत्तासि । भणिओ जिणेहि जम्हा तम्हा उवहंमिणो दोसो २२ समणाए णेयएया उवद्दाथदो सम्ममापुसरंताए । आगेमचिहिमहत्याजिणवयणममाहिअप्पाणं २३

सावगाण आसायणाए । श्रावकाणामाशातनया क्रिया तथैव जिनशासनभक्ता गृहस्था श्रावका भण्यन्ते । आशातना तु लद्धूण मणुस्सत्तं णाऊण वि जिणमयं ण जे विरतियमिवजंति कहते धणोलुब्भति लोगम्मि । सावगसुत्तासायणमिच्छुत्तरकम्मपरिणइथत्तेण जइ वि पवज्जाति णति तह वि वक्सति मग्गट्टिया । सम्यग्दर्शनादिमार्गस्थितत्वेन गुणयुक्तत्वादित्यर्थः । साविगाणं आसायणाए श्राविकाणामाशातनया क्रियाक्षेपपरिहारौ च पूर्ववत् देवाण आसायणाए देवानामासातनया क्रिया तथैव आशातना ॥

कामपसत्ता विरतीए, वज्जिया अणमिसा य णिच्चेट्ठा ।
देवा सामत्थं मिविणय, तित्थस्सुण्णतिकरा य ॥
एत्थ पासिद्धी मोहणि, यसायवेयकम्मउदयाओ ।
कामपमत्तविरति, कंमोदयउन्निणयत्तोसिं ॥
अणमिसदेवसहावा णिच्चेट्ठा अणुत्तरा कियकिच्चा ।
कालणुभावाति सुमापिअण्णत्थ कुव्वंति ॥

देवीण आसायणाए देवीनामशातनया क्रियाक्षेपपरिहारौ च प्राग्वत् इह लोकस्याशातनया क्रिया पूर्ववत् इहलोको मनुष्यलोकः आशातना तस्य वितथप्ररूपणादिति । परलोगस्स आसायणाए परलोकस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् । परलोको मनुष्यस्य नारकतिर्यगमराः आशातना त्वस्य वितथप्ररूपणादिनैव द्विनयेप्याक्षेपपरिहारौ च स्वमत्या कार्यौ केवलिपन्नत्तस्स धम्मस्स आसायणा केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् स च धर्मो द्विविधः । श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च आशातना तु ॥

पागयभासा निबद्धं को वा जाणइ पणीयं केणेयं ।

किं वा चरणेणं तु दाणेण विणाउ जव इति ॥
उत्तर।
बालस्त्रीमूढमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणां ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः कृतः ॥
निपुणधर्मप्रतिपादकत्वाच्च सर्वज्ञप्रणीतत्त्वमिति चरणमाश्रित्याह।
दानमौरविकेणापि चंमालेनापि दीयते।
येन वा तेन वा शीलं न शक्यमभिरक्षितुं ॥
दानेन जोगानाप्नोति यत्र तत्रोपपद्यते ।
शीलेन जोगान् वर्गं च निर्वाणं चाधिगच्छति ॥
तथाभयदानं दाता चारित्रवानिश्चयमत एवेति। सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स आसायणाए सदेवमनुष्यासुरस्य लोकस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् । आशातना तु वितथप्ररूपणादिना आह च भाष्यकारः ।
देवादीयं लोयं विवरीयं जणइ सत्तदीवुदहिं ।
तह कयपयावदीणं पगतिपुरिसाण जोगे वा ॥
अत्रोत्तर।
सत्तसु परमियसत्ता मोक्खसुहत्तणं पयावइणा ।
केण कओ तणपच्छा पयईए कहं पवत्तित्ति ॥ १ ॥
जेय चेयणेति पुरिसत्थनिमित्तं किल पयपवत्तत्ती सा य तीसे चिय अपत्तिपरोत्ति सव्वचिय विरुद्ध सव्वपाणभूयजीवसत्ताण । आसायणाए सर्वप्राणिभूतजीवसत्त्वानामाशातनया क्रिया प्राग्वत् । तत्र प्राणिनो द्वीन्द्रियादय व्यक्तोच्छ्वासनिश्वासा अपि भूयो भवति भविष्यति चेति भूतानि पृथिव्यादयः जीवतीति जीवा आयुष्कर्मा तु तव युक्ताः सर्व एवेत्यर्थः सत्त्वा सांसारिकससारातीतभेदाः एकार्थिका वा ध्वनय इति आशातना तु विपरीतप्ररूपणादिनैव तथा अंगुष्ठपर्वमात्रो द्वीन्द्रियाद्यात्मेति पृथिव्यादयस्त्वजीवा एव स्पन्दनादिचैतन्यकार्यानुपलब्धेर्जीवा क्षणिका इति सत्त्वा संसारिणः अंगुष्ठपर्वमात्रा एव भवति संसारतीता नश्यत्येवापि तु प्रध्यातदीपकल्पोपमो मोक्ष इति । उत्तर देहमात्रेणैव सुखदुःखादि तत्कार्य्योपलब्धेः पृथिव्यादीनां त्वल्पचैतन्यत्वात्तत्कार्य्यानुपलब्धिर्नाजीवत्वादिति जीवा अप्येकांतक्षणिका न भवति निरन्वयनाशे उत्तरक्षणस्यानुपपत्तेः निर्हेतुकत्वादेकांतनएस्यासद्विशेषात् सत्वा संसारिणः प्रत्यक्षा एव संसारातीता अपि विद्यत एवेति जीवस्य सर्वथा विनाशाभावात्तथा तैरप्युक्त । नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः" इत्यादि । कालस्स य आसायणाए " कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।" इत्यादि कालोऽस्ति तमंतरेण बकुलचम्पकादीनां नियत पुष्पादिप्रदानभावो न स्यात् न च तत्परिणतिर्विश्व एकांतनित्यस्य परिणामानुपपत्ते । "सुयस्स आसायणाए " । श्रुतस्याशातनया क्रिया पूर्ववत् आशातना तु ॥
को आउरस्स कालो, मइलंबरधोव्वणे व कालो अ ।
जइ मोक्खहेतुनाणं, को कालो तस्स कालो वा ॥
इत्यादि उत्तर ॥
जोगो २ जिणमासणंमि दुक्खक्खयो पउंजंता ।
अन्नोन्नमवाहंतो अव्वत्तो होइ कायव्वो ॥
प्राग्धर्मद्वारेण श्रुताशातनोक्ता इह तु स्वतंत्रश्रुतविषयेति न पौनरुक्त्य । सुयदेवयाए आसायणाए श्रुतदेवताया आशातनया क्रिया प्राग्वत् आशातना तु श्रुतदेवता सा न विद्यते अकिंचित्करी वा नह्यनधिष्ठितो मौनींद्र खल्वागमः अतोऽसावस्ति न वा किंचित्करी तामालम्ब्य प्रसस्तमनसः कर्मक्षयदर्शनात् (वायणायरियस्स आसायणाए) वाचनाचार्य्यस्याशातनया क्रिया प्राग्वत् । तत्र वाचनाचार्य्य उपाध्यायसंदिष्टो य उद्देशादिकं करोति अशातना त्वियं निर्दुःखसुखप्रभूतं वा वंदन । दापयति उत्तर तु श्रुतोपचारः एष क इव तस्यात्र दोष इति । "जवाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीण घोसहीण जोगहीण सुट्ठुदिन्न दुट्ठुपमिच्छियं अकाले कओ सज्झाओ काले न कओ सज्झाओ असज्झाय सज्झाइय सज्झाए न सज्झायति एए चउद्दसआसुत्ता पुविल्लयाय एगूणवीसतिएते तेत्तीसमासायणत्थवन्ति " एतानि चतुर्दश सूत्राणि श्रुतकमापकगोचरत्वान्न पौनरुक्तमाजीनीति तथा दोषदुष्टं श्रुतं यत्पठितं तद्यथा आविद्धं विपर्यस्तरत्नमालावदनेकप्रकारेण या आशातना तया हेतुभूतया योऽतिचारः कृतस्तस्य मिथ्यादुष्कृतमिति क्रिया एवमन्यत्रापि योज्या व्यत्याम्रेडित कोलिकपायसवत् हीनाक्षरं अक्षरन्यून अत्यक्षर अधिकाक्षरं पदहीन पादेनैव हीन अकृतोचितविनय घोषहीन उदात्तादिघोषरहित योगहीन सम्यक्कृतयोपचार सुष्ठु दत्तं गुरुणा दुष्टु प्रतीत कलुषितान्तरात्मनि अकाले कृतस्वाध्यायो यो यस्य श्रुतस्य कालिकादेरकाल इति कालेन कृत स्वाध्यायः यो यस्याकालोऽनध्यनकाल उक्त इति अस्वाध्यायिके स्वाध्यायित । आव० ४ अध्य ॥ आत्मानं परवानाशातयेदिति । २ । आचा० ॥
अणुवीइभिक्खुधम्ममाइक्खमाणे णो
अत्ताणं आसाइज्जा णो परं आसाएज्ज णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा से अणासायए अणासायमाणे व उज्झमाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताण जहा से दीवे असंदीवे एवं से सरणं भवति महामुणी ।
टी० ॥ अतस्तेषां क्षांत्यादिकं दशविधं धर्मं यथायोग प्रागुपन्यस्त शांत्यादिपदाभिहितमनुविचिंत्य स्वपरोपकारकरणशीलो भिक्षुर्धर्मकथालब्धिमानाचक्षीत प्रतिपादयेदिति तथा च धर्मं कथयेत्तदा (अणुवीइ भिक्खुमा) इत्यादि यावत् भवति सरण (महामुणित्ति) स भिक्षुर्मुमुक्षुरनुविचिंत्य पूर्वापरेण धर्मं पुरुषं चालोच्य यो यस्य कथनयोग्यस्तं धर्ममाचक्षाण आक्षिति मर्यादया यथानुष्ठान सम्यग्दर्शनादेः शातना आशातना तयात्मानं नो आशातयेत्तथा धर्ममाचक्षीत यथात्मन आशातना न प्रवर्तयेदिवात्मन आशातना द्विधा द्रव्यतो भावतश्च द्रव्यतो यथाहारोपकरणादेर्द्रव्यस्य कालातिपातादिकृताशातना बाधा न भवति तथा कथयेदाहारादिद्रव्यबाधया च शरीरस्यापि पीडा भावाशातनारूपा स्यात् कथयतो वा यथा गात्रभंगरूपा भावाशातना न तस्य स्यात्तथा कथयेदिति । तथा नापरं शुश्रूषु आशातयेत् यतः परो हीलनया कुपित सन्नाहारोपकरणशरीरान्यतरपीडायै प्रवर्त्तेत अतस्तदाशातनावर्जयन् धर्मं ब्रूयादिति ।
तथा नान्यान्सामान्येन प्राणिनो भूतान् जीवान् नो आशातयेदाशयेत एव स मुनिः स्वतोऽनाशातकैरनाशातयन् तथा परानाशातयतोऽननुमन्यमानोऽपरेषां बध्यमानानां प्राणिनां भूतानां सत्त्वानां जीवानां यथा पीडा नोत्पद्यते तथा धर्म

कथयेदिति तद्यथा यदि लौकिककुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिदाना नि प्रशंसत्यवटतडागादीनि वा तत पृथिवीकायादयो व्यापा दिता भवेयुरथ दूषयति ततोऽपरेषामन्तरायापादनेन तत्कृतो बन्धविपाकानुभव स्यादुक्तं च ।

जे उ दाणं पसंसन्ति वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे उ णं पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करंति ते ॥

तस्मात्तदवटतडागादिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथावस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेदसावद्यानुष्ठानं चैत्येव च कुर्वन्नुभयदोषपरिहारी जतनामाश्वासमनुजनयतीत्येतत् दृष्टान्तद्वारेण दर्शयति यथा सन्दीपो द्वीपः शरणं भवत्येवमसावपि महामुनिः तद्लक्षणोपायोपदेशेन वध्यमानानां वधकानां च तदध्यवसायाभिवर्त्तने न विहितगुणस्थानापादनाच्छरण्यो भवति तथा हि यथोद्दिष्टेन कथाविधानेन धर्मकथां कथयन् कांश्चन प्रव्राजयति कांश्चन श्रावकान्विधत्ते कांश्चन सम्यग्दर्शनयुजः करोति केषाञ्चित्प्रकृतिभद्रतामापादयति । आचा० ३०अ० ५उ०

आसायणिज्ज–आस्वादनीय–त्रि० आ. स्वद णिच् कृत्यदुसमिति कर्मर्यनीय । प्रज्ञा० जी० ईषत्स्वादयोग्ये, दशा० ज० ।

आसायवडिया–आस्वादप्रतिज्ञा–स्त्री०विषयभोगप्रतिज्ञायाम आचा० ।

आसारेंत–आसारयत्–त्रि० ईषत्स्वस्थानत्याजनेनासारयति,ज्ञा०

आसालिय–आशालिक–पु० उर परिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, प्रज्ञा० ।

सेकिंतं आसालिया ? कहि णं भंते ! आसालिया समुच्छंति गोयमा ! अंतो मणुस्सखेत्ते अड्ढाइज्जेसु दीवेसु णिव्वाघाएण पण्णरससु कम्मभूमीसु वाघातं पडुच्च पंचसु महाविदेहेसु चक्कवट्टी खंधावारेसु वासुदेवखंधावारेसु बलदेवखंधावारेसु मंडलियखंधावारेसु महामंडलियखंधावारेसु गामनिवेसेसु नगरनिवेसेसु निगमनिवेसेसु खेडनिवेसेसु कब्बडनिवेसेसु मडंबनिवेसेसु दोणमुहनिवेसेसु पट्टणनिवेसेसु आगरनिवेसेसु आसमनिवेसेसु संबाहनिवेसेसु रायहाणीनिवेसेसु एएसिणं चेव विणासेसु एत्थ णं आसालिया समुच्छंति । जहन्नेणं अंगुलस्स असंखिज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए, उक्कोसेणं बारसजोयणाइं । तदाणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं भूमि दालित्ताणं समुट्ठेति । असन्नी मिच्छादिट्ठी अन्नाणी अंतोमुहुत्तद्धाउया चेव कालं करेइ । सेत्तं आसालिया ॥ जी० ॥

आसावग–अश्रावक–त्रि० वन्धके विशे० ।

आसाविणी–आस्राविणी–स्त्री०शतच्छिद्रायाम् ।

जहा आसाविणि णाउं जाइअंधे दुरूहिया, इच्छन्ति पारमागं तु अंतराय विसीयति । सूत्र. श्रु० १ । अ० ११ ॥

आसास–आश्वास–पु० आश्वासनयस्मिन्क्रियाऽश्वासो नामादिसूत्रव्यतिरिक्तो द्रव्यतो यानपात्रद्वीपादौ भावतो ज्ञानादौ आचारांगे आचा० धीरो भव अह ते सर्वमपि वैयावृत्त्य करिष्ये–इत्यादिरूपे प्राणिनामाश्वासने, वृ० प्रश्न. विश्रामे, भारं वहन् आश्वासा स्था०।

भारणं वहमाणस्स चत्तारि आसासा पण्णत्ता तंजहा जत्थ णं अंसाओ अंसं साहरइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठावेति तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं णागकुमारावासंसि वा सुवण्णकुमारावासंसि वा वासं उवेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं आवकहाए चिट्ठइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते । एवमेव समणोवासगस्स चत्तारि आसासा प० तं० जहा सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं सामाइयं देसावगासियमणुपालेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं चाउद्दसिए मुद्दिट्ठपुण्णिमासीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते जत्थ वि य णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरइ तत्थ वि य से एगे आसासे पण्णत्ते ॥

भारं धान्यमुक्तादिकं वहमानस्य देशान्तरं नयतः पुरुषस्य आश्वासा विश्रामा । भेदश्च तेषामवसरभेदेनेति यत्रावसरे अंशादेकस्मात् स्कन्धादंशमिति स्कन्धान्तरं संहरति नयति भागमिति प्रक्रमः तत्रावसरेऽपि चेति उत्तराश्वासापेक्षया समुच्चये स तस्य वोढुरिति परिष्ठापयति व्युत्सृजति नागकुमारावासादिकमुपलक्षणमतोऽन्यत्र वा यतने वा समुपैतीति गत्वा वसति यावती यत्परिमाणा कथा मनुष्योऽयं देवदत्तादिर्वायमिति व्यपदेशलक्षणा यावत्कथा तया यावज्जीवमित्यर्थः । तिष्ठति वसतीत्ययं दृष्टान्तः एवमेवेत्यादिदार्ष्टान्तिकः श्रमणान् साधूनुपास्ते इति श्रमणोपासकः श्रावकस्तस्य सावद्यव्यापारभाराक्रान्तस्याश्वासास्तद्विमोचनेन विश्रामाश्रितस्याश्वासनानि स्वास्थ्यानि इदं मे परलोकभीतस्य त्राणमित्येवंरूपाणीति स हि जिनागमसंगमावदाततबुद्धितया आरम्भपरिग्रहौ दुरपरंपराकारिसंसारकान्तारकारणभूततया परित्याज्यावित्यवकलयन् करणभटवशतया तयोः प्रवर्त्तमानो महान्तं खेदं संतापं भयं चोद्वहति भावयति चैवं हि ।

एयं जिणाण आणा–चारियं मह पारिसं अउण्णस्स ।
एयं आलप्पालं अव्वादूरं वि सव्वयइ ॥ १ ॥
हयमम्हाणं नाणं हयमम्हाणं मणुस्समाहप्प ॥
जे किल लद्धविवेया विचिट्ठिमो बालवा लुव्वात्ति ॥ २ ॥

यत्रावसरे शीलानि समाधानविशेषा ब्रह्मचर्यविशेषा वा व्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि अन्यत्र तु शीलान्यणुव्रतानि सप्तशिक्षाव्रतानि तदिह न व्याख्यातं गुणव्रतादीनां साक्षादेवोपादानादिति गुणव्रते दिग्व्रतोपभोगपरिभोगव्रतलक्षणे विरमणान्यनर्थदण्डविरतिप्रकारा रागादिविरतयो वा प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि पौषधं पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोपवसनं भक्तार्थः पौषधोपवास एतेषां द्वन्द्वस्तान् प्रतिपद्यतेऽभ्युपगच्छति तत्रापि च स तस्यैक आश्वासः प्रज्ञप्तो यत्रापि च सामायिकं सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगप्रतिसे

वनलक्षण यत्रावस्थितः श्राद्धः श्रमणभूतो भवति तथा देशे दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोवकाशोऽवस्थानमवतारो विषयो यस्य तद्देशावकाशं तदेव देशावकाशिकं दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिन संक्षेपकरणलक्षणं सर्वव्रतसंक्षेपकरणलक्षणं वानुपालयति प्रतिपत्स्यनन्तरमवाणमासेवत इति तत्रापि च तस्यैव आश्वासः प्रक्रान्त इति उद्दिष्टेत्यमावास्यापरिपूर्णमित्यहोरात्र यावत् आहारशरीरसत्कारत्यागब्रह्मचर्यव्यापारलक्षणभेदोपेतमिति यत्रापि च पश्चिमैवामङ्गलपरिहारार्थमपश्चिमा चासौ मरणमेवान्तो मरणान्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी सा चेत्पश्चिममारणान्तिकी सा चासौ संलिख्यते अनया शरीरकषायादीनि संलेखनात्तपोविशेषः सा चेति अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनात् तस्याः (झुसणत्ति) जोषणा सेवनालक्षणो यो धर्मस्तया (झूसियत्ति) जुष्टः सेवितोऽथवा क्षितः क्षपितदेहो यस्स तथा । तथा भक्तपाने प्रत्याख्याते येन सः पादपवत् उपगतो निश्चेष्टतया स्थितः पादपोपगतः अनशनविशेष प्रतिपन्न इत्यर्थः । कालं मरणकालं अनवकांक्षन् तत्राऽनुत्सुक इत्यर्थः विहरति तिष्ठति । स्था० ४ ठा० ॥

आसासंकरसमुब्भव—आश्वासांकुरसमुद्भव— न० आश्वास एवांकुरप्ररोहस्तस्य समुद्भव उत्पत्तिर्यस्मात्तदाश्वासांकुरसमुद्भवम् ग्लानस्याश्वासप्ररोहबीजे, । बृ० १ उ० ॥

आसासदीव—आश्वासद्वीप—पु० आश्वास्यतेऽस्मिन्निति आश्वासः स चासौ द्वीपश्चाश्वासद्वीपः यदिवा आश्वसनमाश्वासः आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपः । नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशो, भिन्नबोधिस्थादयो यमवाप्याश्वासति तस्मिन्नव्यद्वीपविशेषे, स च द्विधा सन्दीनोऽसन्दीनश्च-आचा० ६ अ० ३ उ० प० सू०—

आसित्त—आसिक्त—पु० स्त्रीशरीरावसक्ते, " नपुंसकविशेषे „ स च मोहोत्कटतया मेहनं योनावनुप्रवेश्य नित्यमास्ते बृ० ४ उ० प० भा० पं० चू० ॥

जो विग्गहं आणुप्पवेसिअ अतीसा गारिअं स आसित्तो
भयसे भावोवसमं अलजंतो सो वि अपुमं भवे पं० भा०।

सुगधजलच्छटादानेन कल्प० उदकच्छटने दशा० । कृतासेके जी० १ प्र० ३ प्र० । ज्ञा० १ अ० आ० म० प्र० ६ अ० । ईषत्सिके. भ० ए श० ३३ उ० ।

(आसित्तसित्तसुईअ सम्मट्टरत्थतरावणवीहिय) आसिक्तानीपत्सिक्तानि च तदन्यथा अत एव सुचिकानि पवित्राणि सम्मृष्टानि कचवरापनयनेन रथ्यामध्यानि आपणवीथयश्च हट्टमार्गा यत्र तत्तथा भ० ए श० ३३ उ० ।

आसिम—आशिमन्—पु० आशोर्भाव इमनिच् क्रिल्च । शीघ्रत्वे वाच० ।

आसिय—आश्रित—त्रि० प्रतिष्ठिते स्था० ६ ठा० आश्रय प्राप्ते शरणागते वाच० ।

आश्विक—त्रि० अश्वान् भारभूतान् हरति वहति आवहति वा ठञ् भारभूतस्याऽश्वस्य हारके वाहके आवाहके । अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा ठक् अश्वलाभसूचके संयोगे उत्पाते निमित्ते च । वाच० ॥ अश्वस्वामिनि, ४ व्य ॥

जो णाम सारहीणं, सच्छेजो भद्दवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि अ जो आसे, दमेइ तं आसियंविंति ।
पं० व० १ द्वा० ॥

आसियावण—आश्रितापन-न० अपहरणे बृ० १ उ० । निष्काशयितुमासादने । व्य० १० व्य० स्तैन्ये, बृ० ४ उ० ।

आसियावाय—आशीर्वाद— पु० बहुपुत्रो बहुधनो बहुधर्मो दीर्घायुस्त्व भूया इत्यज्ञीष्टोक्तौ, आसियावायवियागरेज्जा-सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

आसी—आशी— स्त्री० सर्पदंष्ट्रायाम्-विशे० । स्था० ४ ठा० ।

आसीण—आसीन— त्रि० उपविष्टे । प्रश्न० १ स० द्वा० ।

आसिते । आव० ४ अ० ।

आसीविस-आशीविष-पु० आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं यस्य सः ।

आसीदाढातगय महाविसा आसीविसा इति ।

दंष्ट्राविषे दर्वीकरसर्पभेदे, । प्रज्ञा० १ पद । जी० १प्र० नागे प्रश्न० १ द्वा० । स्था० ४ठा० आशीविष इवाशीविषः यथा हि तमत्यन्तमवजानानो मृत्युमेवाप्नोति एवमेतमपि मुनिमवजानानानामवश्यमत्रावि मरणम् । आशीविषलब्धिमति शापानुग्रहसमर्थे । उत्त० १२ अ० ।

(आशीविषाणां भेदाः)

कइविहा णं भंते ! आसीविसा पण्णत्ता २ गोयमा ! दुविहा आसीविसा पण्णत्ता । तंजहा । जाइ आसीविसा य कम्मआसीविसा य ॥

कइइत्यादि । आसीविसत्ति ॥ आशीविषा दंष्ट्राविषाः । जाइ आसीविसत्ति । जात्या जन्मना आशीविषा जात्याशीविषा कम्मआशीविसत्ति ॥ कर्म्मणा क्रियया शापादिनोपघातकरणे नाशीविषाः कर्म्माशीविषास्तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च कर्म्माशीविषाः पर्याप्तका एव एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वगुणतः खल्वाशीविषा भवन्ति शापप्रदानेनैव व्यापादयन्तीत्यर्थः । एते चाशीविषलब्धिस्वभावात्सहस्रारान्तदेवेष्वेवोपपद्यन्ते । देवास्त्वेत एव ये देवत्वेनोत्पन्नास्तेऽपर्याप्तकावस्थायामनुभूतभावतया कर्म्माशीविषा इति । उक्त । शब्दार्थभेदसंवादिगाथ्यकारेण । आसीदाढातगय, महाविसासीविसाडुविहभेया । ते कम्मजाइभेएण, णेगहा चउविहविगप्पा ॥ ॥ १ ॥ भ० टी० ए श० २ उ० ॥

जात्याशीविषाः ।

जाइआसीविसाणं भंते ! । कइविहा २ पण्णत्ता गोयमा ? चउव्विहा पण्णत्ता । तंजहा । विच्छुयजाइआसीविसे १ मंडुकजाइआसीविसे २ उरगजाइआसीविसे ३ मणुस्सजाइआसीविसे ४ । स्था० ४ ठा० । भ० ॥

विच्छुयजाइआसीविसस्सणं भंते । केवइए विसए पण्णत्ते २ गोयमा ! । पभूणं विच्छुयजाइआसीविसे अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोदिं विसेणं विसट्टमाणं पकरेत्तए एवइए विसए नो चेवणं संपत्तीए करिंसु वा करंति वा करिस्सतिवा मंडुकजाइआसीविसपुच्छा गोयमा ! पभूणं मंडुकजाइआसीविसे भरहप्पमाणमेत्तं बोदिं विसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा । एवं उरगजाइआसीविसस्सावि । नवरं ।

जंबुद्दीवप्पमाणमेत्तं वोंदिं विसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा। मणुस्सजाइआसीविसस्स वि एवं चेव। नवरं। समयखेत्तप्पमाणमेत्तं वोंदिं विसेणं विसपरिगयं सेसं तं चेव जाव करिस्संति वा॥

(केवइयत्ति) कियान्। विसएत्ति। गोचरो विषस्येति गम्य। अद्धभरहप्पमाणमेत्तंति। अर्द्धभरतस्य यत्प्रमाण सातिरेकत्रिषष्ट्यधिकयोजनशतद्वयलक्षण तदेव मात्रा प्रमाण यस्याः तथा तां (॥ वोंदिंति ॥) तनु (विसेणत्ति।) विषेण स्वकीयाशीप्रभवेण करणभूतेन (विसपरिगयति) विष भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य विषतां परिगता प्राप्ता विषपरिगताऽतस्तामत एव। विसट्टमाणत्ति। विकस्वन्तीं विदलन्तीम् (करेत्तएत्ति) कर्तुम् (विसएसंति) गोचरोऽसौ अथवा (से) तस्य वृश्चिकस्य (विसट्ठयाएत्ति) विषमेवार्थो विषार्थस्तद्भावस्तत्ता तस्या विषार्थताया विषत्वस्य तस्यां वा (नो चेवत्ति।) नैवेत्यर्थः (सपत्तीएत्ति) सपत्त्या एवंविधवोधिसम्प्राप्तिद्वारेण (करिंसुत्ति) अकार्षुर्वृश्चिका इति गम्यत इह चैकवचनप्रक्रमेपि बहुवचननिर्देशो वृश्चिकाशीविषाणां बहुत्वज्ञापनार्थमेव कुर्वंति करिष्यंति त्रिकालनिर्देशश्चामीषां त्रैकालिकत्वज्ञापनार्थं। समयखेत्तत्ति। समयक्षेत्र मनुष्यक्षेत्र॥

कर्माशीविषाः भ०

जइ कम्मआसीविसे किं नेरइयकम्मआसीविसे तिरिक्खजोणियकम्मआसीविसे मणुस्सकम्मआसीविसे देवकम्मासीविसे। गोयमा! नो नेरइयकम्मासीविसे तिरिक्खजोणियकम्मासीविसे वि मणुस्सकम्मासीविसे देवकम्मासीविसे वि। जइ तिरिक्खजोणियकम्मासीविसे किं एगिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गोयमा! नो एगिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जाव। नो चउरिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे पंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे जइ पंचिंदियजावकम्मासीविसे किं सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गब्भवकंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे। एवं जहा वेउव्वियसरीरस्स भेओ जाव पज्जत्ता संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियकम्मभूमियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे नो अपज्जत्ता संखेज्जवासाउ य जावकम्मासीविसे। जइ मणुस्सकम्मासीविसे किं समुच्छिममणुस्सकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे २ गोयमा! नो संमुच्छिममणुस्सकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे। एव जहा वेउव्वियसरीरं जाव पज्जत्ता संखेज्जवासाउ य कम्मभूमियगब्भवक्कंतियमणुस्सकम्मासीविसे नो अपज्जत्ता जावकम्मासीविसे। जइ देवकम्मासीविसे किं भवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव वेमाणियदेवकम्मासीविसे गोयमा! भवणवासीदेवकम्मासीविसे वि वाणमंतरदेवजोइसियवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि। जइ भवणवासीदेवकम्मासीविसे किं असुरकुमारभवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव थणियकुमारजावकम्मासीविसे २ गोयमा! असुरकुमारभवणवासीदेवकम्मासीविसे जाव थणियकुमारजावकम्मासीविसे जइ असुरकुमारजावकम्मासीविसे किं पज्जत्ता असुरकुमारभवणवासीदेवकम्मासीविसे किं अपज्जत्ता असुरकुमारजावकम्मासीविसे गोयमा! नो पज्जत्ता असुरकुमारजावकम्मासीविसे अपज्जत्ता असुरकुमारभवणवासीजावकम्मासीविसे। एवं थणियकुमाराणं। जइ वाणमंतरदेवकम्मासीविसे किं पिसायवाणमंतरदेवकम्मासीविसे एवं सव्वेसिं अपज्जत्तगाणं जोइसियाणं सव्वेसिं अपज्जत्तगाणं। जइ वेमाणियदेवकम्मासीविसे किं कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे कप्पातीयवेमाणियदेवकम्मासीविसे गोयमा? कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे नो कप्पातीयवेमाणियदेवकम्मासीविसे। जइ कप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे किं सोहम्मकप्पोवगजावकम्मासीविसे जाव अच्चुयकप्पोवगजावकम्मासीविसे गोयमा! सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि जाव सहस्सारकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे वि, नो आणयकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे जाव नो अच्चुयकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे। जइ सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे किं पज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगजावकम्मासीविसे अपज्जत्ता सोहम्मजावकम्मासीविसे गोयमा! नो पज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे अपज्जत्ता सोहम्मकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे एवं जाव नो पज्जत्ता सहस्सारकप्पोवगवेमाणियदेवकम्मासीविसे अपज्जत्ता सहस्सारकप्पोवगजावकम्मासीविसे॥

टी० एव (जहा वेउव्वियसरीरस्स भेओत्ति) यथा वैक्रियं भणत जीवभेदो भणितः तथेहापि वाच्योसावित्यर्थः। स चाय-गोयमा नो समुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकम्मासीविसे असंखेज्जवासाउ य जाव कम्मासीविसे गोयमा संखेज्जवासाउ य जाव कम्मासीविसे नो असंखेज्जवासाउ य जाव कम्मासीविसे जइ संखेज्जजावकम्मासीविसे किं पज्जत्तसंखेज्जजावकम्मासीविसे अपज्जत्तसंखेज्जजावकम्मासीविसे? गोयमा। शेष लिखितमेवास्ते। भ. टी। ८ श. १ उ.॥

एतदेवसंक्षिप्याह।

(आसीविस इति) आश्यो दंष्ट्रास्तासु विष येषां ते आशीविषा ते द्विविधा जातितः कर्मतश्च तत्र जातितो वृश्चिकमण्डूकोरगमनुष्यजातय क्रमेण बहुबहुतरबहुतमाविषाः वृश्चिकविषं हि उत्कर्षतोऽर्धभरतक्षेत्रप्रमाण शरीर व्याप्नोति। मण्डूकविष भरतक्षेत्रप्रमाण। भुजगमविष जम्बूद्वीपप्रमाणं। मनुष्यविषं समयक्षेत्रप्रमाण। कर्मतश्च पंचेन्द्रियतिर्यञ्चो

नयो मनुष्या देवाश्चासहस्रारात् । एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत आशीविषवृश्चिकभुजगादिसाध्यां क्रियां कुर्वन्ति । शापप्रदानादिना परं व्यापादयन्तीति भाव. । देवास्त्वपर्याप्तावस्थायां तच्छक्तिमतोऽवसातव्या । ते हि पूर्वं म नुष्यभवे समुपार्जिताशीविषलब्धयः सहस्रारान्तदेवेष्वभिनिवोत्पन्ना अपर्याप्तावस्थायां प्राग्भविकाशीविषलब्धिसंस्काराद्राशीविषलब्धिमन्तो व्यवह्रियन्ते । ततः परं तु पर्याप्तावस्थायां संस्कारस्यापि निवृत्तिरिति न तद्व्यपदेशभाजः । यद्यपि च नाम पर्याप्ता अपि देवाः शापादिना परं व्यापादयन्ति । तथापि न लब्धिव्यपदेशो भवप्रत्ययतस्तथा रूपसामर्थ्यस्य सर्वसाधारणत्वात् गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिरिति प्रसिद्धिः ॥ आ. म. प्र. १ अ. । विशे० प्रव० द्वा० १३७ जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वक्षस्कारपर्वतविशेषे, स्था० ४ । ७ । ठा. । (दो आसीविसा) स्था० २ ठा० ।

आसीविसत्त–आशीविषत्व–न०शापानुग्रहसामर्थ्ये-स्था.४ठा.।

आसीविसभावणा-आशीविषभावना-स्त्री०आशीविषत्व पूर्वोक्तस्वरूपं भाव्यते प्रतिपाद्यते यासु ग्रन्थपद्धतिषु ता आशीविषभावना अंगबाह्यकालिकश्रुतभेदे । पा० आशीविषभावनायां पिटिकायामाशीविषत्वलब्धेर्यथा समाचरणैराशीविषतया कर्म बध्यते व्य० १ उ सा च चतुर्दशवर्षपर्यायस्य दीयते प० व० २ द्वा. ॥

आसीविसलद्धि–आशीविषलब्धि–स्त्री० (तपश्चरणमाहात्म्याद्, गुणादितरतोपि वा ॥ आशीविषसमर्थाः स्युर्निग्रहेऽनुग्रहेऽपि च ॥ १ ॥ ग० अधि० । इत्युक्तस्वरूपे निग्रहानुग्रहसामर्थ्ये. ग अ । आ० चू० १

आसीस–आशिष्–स्त्री० आ शास क्विप्–आङ्पूर्वकत्वात् अत इत्वम् गोणादित्वादस्यस्यात्वम् । इष्टार्थाविष्करणे प्रार्थने, च । वाच० ।

आसु–आशु–अव्य. शीघ्रे,-वि० । नि० आव. । सूत्र० क्षिप्रे सूत्र० १ श्रु. ४ अ. ॥ स्वल्पकाले-आव. ।

आसुकार–आशुकार–पु० करण कारः आचिरीकरणं गृह्यते आशु शीघ्रं कार आशुकारः । मारणे, । तद्धेतुत्वाद्विषविषूचिकादौ, आव० मरणावसरे, च । आतु० ॥

आसुकारोवगय–आशुकारोपगत–त्रि० आशुकारेण शूलादिनो परतः कालगत आशुकारोपगत । शूलादिना मृते । व्य. ४ उ. ।

आसुग–आशुग–पु० आशु-गम् ड-वायौ, । सूर्ये बाणे । वाच०

आसुपन्न–आशुप्रज्ञ–पु० आशु शीघ्रं कार्याकार्येषु प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपा प्रज्ञा मतिर्यस्य स आशुप्रज्ञः उत्त० क्षिप्रप्रज्ञे । सूत्र० १ श्रु. १४ अ. पटुबुद्धौ । सदसदविवेकविकले । सूत्र. २ श्रु १ अ. निरावरणत्वात् आव० सर्वत्र सदोपयोगाच्छद्मस्थे० सूत्र १ श्रु ६ अ । मनसाऽपर्यालोच्यैव पदार्थपरिच्छित्तिविधायके सूत्र० १ श्रु ६ अ । केवलज्ञानिनि उत्पन्नदिव्यज्ञाने (णेआसुणीकासव आसुपन्ने) सूत्र १ श्रु. ६ अ. ॥

आसुयर–आशुचर–त्रि० शीघ्रसंचरणशीले-विशे० ।

आसुर–आसुर–न० असुरकुमारभावे, उत्त० । असुरभावनाजनितेऽनुष्ठाने, । स्था. पणबन्धेन कन्याप्रदाने - विवाहभेदे-ध०

आसुरता–आसुरता–स्त्री० आसुरभावे स्था० ।

आसुरा-री–आसुरी–स्त्री० असुरा भवनपतिदेवविशेषास्तेषामियमासुरी येष्वनुष्ठानेषु वर्तमानोऽसुरत्वं जनयति तैरात्मनो वासने वृ. उप स्था० ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताए कम्मं पकरेति तंजहा कोवसीलयाए पाहुडसीलयाए संसत्ततवोकम्मेणं निमित्ताजीवयाए । स्था. ४ ठा.

व्या० चउहिं ठाणेहिमित्यादि कण्ठ्य नवरं असुरेषु भव आसुर असुरविशेषस्तद्भाव आसुरत्वं तस्मै आसुरत्वाय तदर्थमित्यर्थः अथवा असुरतायै असुरताया वा कर्म तदायुष्कादि प्रकुर्वन्ति कर्तुमारभन्ते तद्यथा क्रोधनशीलतया कोपस्वभावत्वेन प्राभृतशीलतया कलहनस्वभावतया संसक्ततप कर्मणा आहारोपधिशय्यादि प्रतिबद्धभावतपश्चरणेन निमित्ता जीवनतया त्रैकालिकलाभालाभादिविषयनिमित्तोपाजाहाराद्युपजीवनेनेति । स्था. ४ ठा. ।

अथासुरीमाह ।

अणुबद्धविग्गहो वि य संसत्ततवोनिमित्तमाएसी ।
निक्कित्रनिराणुकंपो आसुरियं भावणं कुणइ ॥

अनुबद्धविग्रहसंसक्ततया निमित्तादेशी निष्कृपो निरनुकंपस्तस्यासुरीं भावनां करोतीति निर्युक्तिसमासार्थः । बृ. उ १ प्रव० ध० । प० व० । आसुर्यपि सदा विग्रहशीलत्व १ संसक्ततपः २ निमित्तकथन ३ निष्कृपता ४ निरनुकम्पता ५ भेदेन पञ्चविधा उक्तं च सदाविग्गहेत्यादि १ असुराणामियमासुरी सूत्र० । रौद्राणां रुद्रकर्मकारिणां भावदिशि, उत्त० ।

आसुरि–आसुरि–पु० सांख्याचार्यकपिलप्रथमशिष्ये, यदाह आसुरिः विविक्ते दृकपरिणतौ भोगोऽस्य कथ्यते । स्था० । आ० म० प्र. आ. चू. ।

आसुरिय–आसुरिक–पु० असुराणां चाण्डकोपेन चरन्तीति आसुरिकाः । प्राक्संयतभवे कृतचाण्डकोपेषु, असुरत्वेनोत्पन्नेषु । आतु० ।

आसुर्य–न० असुरभावे, प्रश्न० ।

आसुरुत्त–आसुरुप्त–त्रि० आशु शीघ्रं रुप्तः कोपोदयाद्विमूढो रुप् लुप् विमोहने इति वचनात् भ श ७ उ ९ । शीघ्रं कोपाविमूढबुद्धौ. भ० । ज्ञा. ६ उ. १ । स्फुरितकोपलिंगे । ज्ञा. । अ. २ । अ. ।

आसुरोक्त–त्रि० आसुरमसुरसत्ककोपेन दारुणत्वात उक्त भणित यस्य स आसुरोक्तः । असुरसदृशकोपेन दीर्घशब्दकारिणि, नि० ।

आशुरुष्ट–त्रि. आशु शीघ्रं रुष्टः क्रोधेन विमोहितो यः स नि०कोपेन विमोहिते, विपा अ- ९ वि० । कुपिते विपा० । कुद्धे-ज्ञा० । अ १६

आसूणि–आशूनि–न०येनाशूनः सन् आ समन्ताच्छूनीभवति बलवानुपजायते तदाशूनीत्युच्यते । घृतपानादौ आहारविशेषे रसायनक्रियायां, च सूत्र० १ श्र ६ । आसूणिमक्खिराग च गिद्धुवघायकम्मग-सूत्र० ।

आसूणिय–आशूनित –त्रि०ईषच्छूनीकृते-प्रश्न० ।

आसेय–आसेक–पु० । आ सिच्–घञ्–जलादिना वृक्षादेरीषत्सेचने, आ सम्यक् सिच्यते येन । करणे ल्युट् आसेचनसाधने पात्रे, वाच० ।

आसेवण–आसेवन –न०सम्यक्सेवने, सततसेवने पौन.पुन्ये, च वाच० । सम्यक्पालने– । मैथुनक्रियायाम्, । द० ।

आसेवणा–आसेवना–स्त्री० प्रतिसेवायाम्, पचा. । संयमस्य विपरीताचरणे,–ध० अधि० ३ । प्रव । अभ्यासे, आ० चू० यथावस्थितसूत्रानुष्ठाने । सूत्र० श्रु० १ अ० १४ ।

आसेवणाकुसील–आसेवनाकुशील–पु० संयमस्य विपरीताराधनया कुशीले, प्रव० । स्वरूपमस्य कुसीलशब्दे ॥

आसेवणासिक्खा–आसेवनाशिक्षा.–स्त्री०" औधिकी दशधाऽऽख्या च तथा पदविभागयुक् । सामाचारी त्रिधेत्युक्ता तस्याः सम्यक् प्रपालनम्" इत्युक्तलक्षणे शिक्षाभेदे–ध. अधि. ३ ।

आसेविय–आसेवित–त्रि०सकृत्करणात् (ज्ञा० आचा० पचा०) प्रतिसेविते, सम्यक् सेविते, पौनः पुन्येन सेविते, च भावे. क्त आसेवनायाम्, । वाच. ।

आसोअ–अश्वयुज्–पु० । आश्विनमासे,–जो० (आसोअमासाए नेमिजिणिंदस्स) । आ. म. प्र० ।

आसोत्थ–अश्वत्थ–पु-बहुबीजकवृक्षविशेषे, प्रश्न० ।

आहंसु–आख्यातवति, प्रश्न० ।

आहच्च–आहत्य–अव्य० सहसा इत्यस्य (आचा०) कदाचिदित्यस्य वार्थे प्र० नि चू. ४ व्य । आचा० । उत्त० आहत्य अव्य० ढौकित्वा आचा० । उपेत्य । आचा० ॥ व्यवस्थाप्य । सूत्र० श्रु २ अ० १ । सूत्र । परिज्ञाज्य । परिभागीकृत्यइत्यस्य वार्थे, आचा०"आहपुदिज्जमाण भुंजमाणे"सबले आहत्य दीयमान स्वस्थानात्साध्वर्थमभिमुखदानमानीय, दशा. ।

आहच्चा–आहत्या–स्त्री०आहनने,- प्रहारे, । नि० ।

आहट्ट–आहत्त–पुं-प्रेहलिकायां, वृ० ॥

आहट्टु–आहृत्य–अव्य. व्यवस्थाप्य अपाहृत्य वेत्यर्थे । सूत्र० अभिहरूं आहट्ट देसिय । सूत्र० श्रु० २ अ० १ ।

आहड–आहृत–त्रि० मत्यादौरूः ८ । १ । ६ । इति तस्य डः प्रा० साध्वर्थं यद् गृहस्थेन नीयते तदाहृतम्. सूत्र० श्रु०१ अ०५ आनीते,–आव० आचा० दर्श० । प्राहुणके– वृ० उ. २ । आहृत द्विधा स्वग्रामाहृत परग्रामाहृतं । सप्रत्यपायमप्रत्यपाय चेत्याद्यन्याहृतशब्दे । जीत० नि. चू० व्य० ।

आहडिया–आहृतिका–स्त्री० प्राहुणके–वृ० उ० २ ।

आहत्तहिय–याथात्म्य–न० यथातथाभावो याथातथ्यम् धर्ममार्गसमवसरणाख्याध्ययने तत्रोक्तार्थे-तत्त्वे सत्तानुगतसम्यक्त्वे–चारित्रे, च-सूत्र० यथावस्थितेऽर्थे । सूत्र० श्रु०१ अ० १ परमार्थेन परमार्थचिंतायां सम्यग्ज्ञानादिके–सूत्र० श्रु १ अ० १३ । तत्प्रतिपादके त्रयोदशे सूत्रकृताध्ययने । सम०२ ३ स ।

आहम्म–आहम्म–धा. हम्म गतौ. आपूर्वः । आहम्मई आहम्माति–प्रा० ।

आहम्मत्–आहन्यमान–त्रि० वाद्यमानेषु पणवादिषु, आहम्मताण पणवाण पडिहार्ण । प्रा० ।

आहय–आहत–त्रि० अननुबद्धे–स्था० प्रेरिते–आव० रा० आवश्यकर्त्तव्ये–गमनागमनादौ । प्रव० । चूर्णिते, । प्रति० ।

आहृत–त्रि० उपदर्शिते–प्रति० ।

आख्यात–न आख्यानकप्रतिबद्धे–प्रज्ञा० । जी० स्था० । आ० म. प्र० । प्र० ।

आहरत्त–आनयत्– त्रि० आनयति,–द० ।

आहरण–आहरण–न० व्यवस्थापने, आचा० । स्वीकरणे आचा० । आनयने,–सूत्र० श्रु० २ अ० २ । आचा० आदाने, ग्रहणे, सूत्र० श्रु० १ अ० ८ ।

उदाहरण–न० उदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेनदार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणम् द० साध्यसाधनान्वयप्रदर्शने दृष्टान्ते, आ. म. प्र. । विशे० ।

आहरणं दुविहं चउव्विहं होइ इक्कमेकं तु ।

आ अभिविधिना ह्रियते प्रतीतौ नीयते अप्रतीतोऽर्थोऽनेनेत्याहरण यत्र समुदित एव दार्ष्टांतिकोऽर्थ उपनीयते यथा पापं दुःखाय अस्वदत्तस्यैवेति । द० अ० १ स्था० ।

आहरणे चउव्विहे पन्नत्ते । तंजहा आवाए ।
उवाए ठवणाकम्मे पडुप्पन्नविणासीआ ॥

सांप्रतमुदाहरणमभिधातुकाम आह ॥

चउहा खलु आहरणे होइ अवाउ उवाय ठवणा य ।
तह य पडुपन्नविणासमेव पढमं चउविगप्पं ॥ ५४ ॥

व्या० चतुर्धा खलूदाहरण भवति अथ चतुर्धा खलूदाहरणे विचार्यमाणे भेदो भवति । तद्यथा । अपायः उपायः स्थापना च तथा च प्रत्युत्पन्नविनाशमेवेति स्वरूपमेव प्रपचेन भेदतो निर्युक्तिकार एव वक्ष्यति द० अ० १ अपायादीनां व्याख्याऽन्यत्र स्वस्वस्थाने ।

आहरणतद्देश–आहरणतद्देश–पु० तस्य देशस्तद्देशः स चासावुपचारादाहरण चेति प्राकृतत्वादाहरणशब्दस्यपूर्वनिपाते । आहरणतद्देशः । दृष्टान्तार्थदेशेनैव दार्ष्टान्तिकस्यार्थस्योपनयन क्रियते तत्तद्देशोदाहरणमिति-यथा चन्द्र इवमुखमस्या इति । इह हि चन्द्रे सौम्यत्वलक्षणेनैव देशेन मुखस्योपनयननाभिष्टेन नयननासावर्जितत्वं कलंकादिना । स्था० ठा । ४। आहरणतद्देसे चउव्विहे पन्नते तजहा अणुसाट्ठि उवालंभे पुच्छाणिस्सावयणे । अनुशास्त्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने ।

आहरणतद्दोस–आहरणतद्दोष–पु० तथा तस्यैवाहरण तद्देशस्यैवाहरणस्य सबन्धी साक्षात्प्रसंगसंपन्नो वा दोषस्तद्दोषः स चासौ धर्मे धर्मिण उपचारादाहरण चेति प्राकृतत्वेन पूर्वनिपातादाहरणतद्दोषः । अथवा तस्याऽऽहरणस्य दोषो यस्मिंस्तत्तथा । दुर्हेतुभेदे,–स्था० ठा. ४ इह साध्य साधन वैकल्य नाम दृष्टांतदोषो यथासत्यादिवचनरूपं तद्दोषाहरणं यथा सर्वथाहमसत्य परिहरामि गुरुमस्तककर्त्तनवदिति । यद्वा साध्यासिद्धिं कुर्वदपि दोषान्तरमुपनयति तदपि तदेव यथा सत्य धर्म्ममिच्छाति लौकिकमुनयोऽपि " वर कूपशताद्वापी वर वापीशतात् क्रतुः । वर क्रतुशतात्पुत्रः सत्यं पुत्रशतादूरमिति " । १ । वचनवद्वृनारदवदिति अनेन च श्रोतुः पुत्रक्रतुप्रभृतिषु प्रायः संसारकारणेषु धर्म्मप्रतीतिराहितेति आहरणतद्दोषतेति यथा वा बुद्धिमता केनापि कृतमिदं जगत्सन्निवेशविशेषवत्वात् घटवत् स चेश्वर इति अनेन हि स बुद्धिमान् कुंभकारतुल्योपीश्वर. सिध्यतीति ईश्वरश्च स विवक्षित इति स्था० । ४ ठा.

तद्यथा ।

आहरणतद्दोसे चउव्विहे पन्नत्ते । तं जहा । अधम्मजुत्ते पडिलोमे आत्तोवणीए दुरोवणीए ॥

स्था० ठा. ४ दशा० अ. २ ।

आहरिज्जमाण–आह्रियमाण–त्रि० सायमाने पुद्गले आहारं अभ्यवह्रियमाणे, स्था० ठा. १० । आहारतया जीवेन गृह्यमाणे, । स्था० ठा. ३ ।

आहरित्तए–आहर्तुम्–अव्य० अदनं कर्तुमित्यर्थे, । ठा० ।

आहरिसिय–आधर्षित–त्रि० धर्षिते, आ० म. प्र० ।

आहवण–आह्वान–न० सशब्दने, पञ्चा० १ वृ. (अग्निकुमाराह्वाने धृव एगं इहं चेति) । पञ्चा० ।

आहव्वणी–आथर्वणी–स्त्री० स्वाभिधानायां मनोऽनर्थकारिण्यां विद्यायाम्, सूत्र० श्रु २ अ. २ ।

आहा–कांक्ष–धा० आकांक्षायाम्, कांक्षेराहाहिलंघाहिलंघवंचकमहसिहविलुपा' । ८।४।१९२ । इति कांक्षेराहादेशः । आहाइ । कांक्षति । प्रा० ।

आहार–आधार–पुं० अधिकरणे, विशे० आ. चू. अ. १ अनु० ।

दोण्हं गब्भत्थाणं आहारे पं. तं. मणुस्साणं चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव ॥

टी० द्वयोरेव गर्भस्थयोराहारोऽन्येषां गर्भस्थैवाभावादिति । स्था० ठा. २ । स चतुर्भेदस्तद्यथा वैषयिको व्यापक औपश्लेषिकः सामीप्यकश्च आ. म. द्वि. यथा ।

आहारोऽऽहेयं च होइ दव्वं तहेव भावा य ।

द्रव्यं आधारो भवति पर्यायाणाम् । विशे० । आश्रये, ज्ञा० अ. २ आलम्बने, तथा० आधेयस्यैव सर्वप्राणानामुपकारित्वात् (ज्ञा० अ.१) आधार इवाधार आश्रय इति यावत् । सम्यक्त्वं यथा धरातलमन्तरेण निराश्रयं जगदिदं न तिष्ठति एवं धर्मजगदपि सम्यक्त्वलक्षणाधारव्यतिरेकेण नावतिष्ठत इति तथा भावनीयम् । प्रव. ध० । आधारणादाधारः । आकाशे, भ० श. २ उ. २ ।

आहार–पुं०–आहरणमाहारः । ग्रहणे, कर्म० प्र० । भोजने, प्रश्न० अभ्यवहरणे प्रव० ।

आहारनिक्षेप ।

णामं ठवणा दविए खेत्ते भावे य होंति बोधव्वो ।

एसो खलु आहारे निक्खेवो होइ पंचविहो ॥

(नाम ठवणेत्यादि) नामस्थापना द्रव्यक्षेत्रभावरूप पञ्चप्रकारो भवति निक्षेप आहारपदाश्रय इति । तत्र नामस्थापनेऽनादृत्य द्रव्याहारं प्रतिपादयितुमाह ।

दव्वे सचित्तादी खेत्ते नगरस्स जणवओ होइ ।

भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेवे ॥

(दव्वे इत्यादि) द्रव्याहारे चिन्त्यमाने सचित्तादिराहारस्त्रिविधो भवति । तद्यथा सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च तत्रापि सचित्तः षड्विधः पृथिवीकायादिकः । तत्र सचित्तस्य पृथिवीकायस्य लवणादिरूपापन्नस्याहारो द्रष्टव्यः तथाप्कायादेरपीति एवं मिश्रोऽचित्तश्चायोज्यः नवरमग्निकायमचित्तं प्रायशो मनुष्या आहारयन्ति ओदनादेस्तद्रूपत्वादिति । क्षेत्राहारस्तु यस्मिन्क्षेत्रे आहारः क्रियते वर्ण्यते व्याख्यायते । यदि वा नगरस्य यो देशो धान्यधनादिनोपजीव्यः स क्षेत्राहारः । तद्यथा । मथुरायाः समासन्नो देशः परिभोग्यो मथुराहारो नागरकाहारः खेटाहार इत्यादिर्भावाहारस्त्वयं । क्षुधादयाऽङ्कपर्यायोपपन्नं वस्तु यदाहारयति स भावाहार इति तत्रापि प्रायश आहारस्य जिह्वेन्द्रियविषयत्वात्तिक्तकटुककषायाम्लमधुरलवणमधुररसा गृह्यन्ते । तथा चोक्तं "राईभत्ते प्रायशो तित्तं वा जाव महुरं लवणं वा" इत्यादि प्रसंगेन गृह्यन्ते । तद्यथा । स्वयविशदमत्यन्तवर्जितं मधुरं तथापि पुण्याश्च ओदनं प्रशस्यते न शीतं । उदकं तु शीतमेव तथा चोक्तं शीतमपां प्रधानो गुणः । एवं तावद्भव्यत्वादाय द्रव्यमाश्रित्य भावाहारः प्रतिपादितः । सांप्रतमाहारकमाश्रित्य भावाहारं निर्युक्तिकृदाह । भावाहारश्चैव त्रिविधस्त्रिप्रकारो भवति । आहारकाणां जीवानां त्रिभिः प्रकारैराहारोपादानादिति । प्रकारानाह (ओएति) तैजसेन शरीरेण तत्सहचरितेन च कर्मणा कार्मणेनानयोर्द्वाभ्यामप्याहारयन्ति यावदपरमौदारिकं शरीरं न निष्पद्यते । तथा चोक्तं "तेयएण कम्मएण आहारेइ अणंतरं जीवो । तेण परं मिस्सेणं जाव शरीरस्स निप्पत्ती ॥ तथा । ओआहारा जीवा सव्वे आहारगा अपज्जत्ता " । लोमाहारस्तु शरीरपर्याप्त्युत्तरकालं बाह्यया त्वचा लोमभिराहारो लोमाहारस्तथा-प्रक्षेपेण कवलादेराहारः प्रक्षेपाहारः स च वेदनीयोदयेन चतुर्भिः स्थानैराहारसंज्ञायाऽऽयाति । तथाचोक्तं" चउहिं ठाणेहिं आहारसन्ना समुप्पज्जइ तं जहा ओमोदरियाए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मई एवमट्ठोवओगेणं गणति ॥

सांप्रतमेतेषां त्रयाणामप्येकस्या गाथया व्याख्यानं कर्तुमाह ।

सरीरेणोयाहारो तयायफासेण लोमआहारो ।

पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥

सरीरेणेत्यादि ॥ तैजसेन कार्मणेन च शरीरेणौदारिकादिशरीरानिष्पत्तेर्मिश्रेण च य आहारः स सर्वोऽप्योजाहार इति केचिद् व्याचक्षते । औदारिकादिशरीरपर्याप्तापर्याप्तकोऽपि क्रिया नापानभाषामनःपर्याप्तिभिरपर्याप्तकः शरीरेणाहारयन्नोजाहार इति गृह्यते तदुत्तरकालं त्वचा स्पर्शेन्द्रियेण आहारः स लोमाहार इति । प्रक्षेपाहारस्तु कावलिकः कवलप्रक्षेपनिष्पादित इति ज्ञातव्यो भवति के ओआहारा के लोमाहारा के प्रक्षेपाहारा पुनरस्यैवार्थस्य स्वामिविशेषेण विशेषमाविर्भावयन्नाह ॥

ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा ।

पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होइ नायव्वा ॥ ४ ॥

ओयाहार इत्यादि । य प्रागुक्तः शरीरेणौजसाहारस्तेनाहारेण हारका जीवाः सर्वेऽप्यपर्याप्तका ज्ञातव्याः । सर्वाभिः पर्याप्तिभिरपर्याप्तास्ते वेदितव्याः । तत्र प्रथमोत्पत्तौ जीवः पूर्वशरीरपरित्यागे विग्रहेणाविग्रहेण चोत्पत्तिदेशे तैजसेन कार्मणेन शरीरेण तप्तकटाहपतिततैलसपानकवत्प्रदेशस्थानात्पुद्गलानादत्ते तदुत्तरकालमपि यावदपर्याप्तकावस्था तावदोज आहार इति पर्याप्तकास्त्विन्द्रियादिभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ता केषांचिन्मतेन शरीरपर्याप्तका या गृह्यते तदेव ते लोमाहारा भवति तत्र स्पर्शेन्द्रियेणोष्मादिना तप्तच्छायया शीतवायुनोदकेन प्रीयते प्राणी गर्भस्थोऽपि पर्याप्त्युत्तरकालं लोमाहार एवेति प्रक्षेपाहारे तु भजनीया यदैव प्रक्षेपं कुर्वन्ति तदैव प्रक्षेपाहारो नान्यदा लोमाहारता तु वाय्वादिस्पर्शेनं सर्वदैवेति स च लोमाहारश्चक्षुष्मतामर्वाग्दृशिमतां न दृष्टिपथमवतरत्यतोऽसौ प्रतिसमयवर्ती प्रायशः प्रक्षेपाहारस्तूपलभ्यते प्रायः स च नियतकालीयः । तद्यथा । देवकुरूत्तरकुरूद्भवा अष्टमभक्ताहाराः सख्येयवर्षायुषामनियतकालीयः प्रक्षेपाहार इति ॥

सांप्रतं प्रक्षेपाहारं स्वामिविभागेन दर्शयितुमाह ॥

एगिंदियदेवाणं नेरइयाणं च नत्थि पक्खेवो ।
सेसाणं पक्खेवो संसारत्थाण जीवाणं ॥

(एगिंदिय इत्यादि) एकमेव स्पर्शेन्द्रियं येषां भवति ते एकेन्द्रिया पृथिवीकायादयस्तेषां देवनारकाणां च नास्ति प्रक्षेपस्ते हि पर्याप्त्युत्तरकाले स्पर्शेन्द्रियेणैवाहारयंतीति कृत्वा लोमाहारा तत्र देवानां मनसा परिकल्पिताः शुभाः पुद्गलाः सर्वेणैव कायेन परिणमंति नारकाणामशुभा इति । शेषास्त्वौदारिकशरीरा द्वीन्द्रियादयस्तिर्यङ्मनुष्यास्तेषां प्रक्षेपाहार इति । तेषां संसारस्थितानां कायस्थितेरभावात्प्रक्षेपमंतरेण कावलिक आहारो जिह्वेन्द्रियसद्भावादिति अन्ये त्वाचार्या अन्यथा व्याचक्षते तत्र यो जिह्वेन्द्रियेण स्थूलशरीरे प्रक्षिप्यते स प्रक्षेपाहारः यस्तु घ्राणदर्शनश्रवणैरुपलभ्यते धातुभावेन परिणमति स ओजाहारः । यः पुनः स्पर्शेन्द्रियेणैवोपलभ्यते धातुभावेन प्रयाति स लोमाहार इति । सूत्र० श्रु० २ अ० ३ अ० २०५

सांप्रतं कालविशेषमधिकृत्याऽनाहारकानभिधित्सुराह ।

एक्कं च दोव समए तिन्नि वसमए मुहुत्तमद्धं वा ।
सादीयमनिहणं पुण कालमणाहारगा जीवा ॥

एकं चेत्यादि । तत्र "विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समोहया अयोगीया । सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा" इत्यस्येदानीमयमर्थः उत्पत्तिदेशे विग्रहगतौ यानगतिमापन्ना केवलिनो लोकपूरणकाले समुद्घातावस्थिता अयोगिनः शैलेश्यवस्थाः सिद्धाश्चानाहारकाः शेषास्तु जीवाहारकाः इत्यवगंतव्यं तत्र भवाद्भवान्तरं यदा समश्रेण्या याति तदानाहारको न लभ्यते यदापि विश्रेण्यामेकेन वक्रेणोत्पद्यते तदापि प्रथमसमये पूर्वशरीरस्थेनाहारितं द्वितीये त्वपरसमये समाश्रितशरीरस्थेनेति यदा द्वये तु त्रिसमयोपपत्तौ मध्यसमयेनाहारक इति । इतरयोस्त्वाहारक इति यदा त्र्ये तु वक्रे तु चतुःसमयोत्पत्तिके मध्यवर्तिनो समययोरनाहारकस्तु समयोत्पत्तिरेव नयति । त्रसनाड्या बहिरधस्तादूर्ध्वमुत्पद्यमानो दिशो विदिशि विदिशो वा दिशि यदोत्पद्यते तदा लभ्यते । तत्रैकेन समयेन त्रसनाडीं प्रवेशो द्वितीयेनोपर्यधो वा गमनं तृतीयेन च बहिर्निःसरणं चतुर्थेन तु विदिग्व्यवस्थितोत्पत्तिदेशप्राप्तिरिति । पञ्चसमयस्तु त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो विदिग्युत्पत्तौ लभ्यते । तत्र च मध्यवर्तिषु अनाहारक इत्यवगन्तव्यं । आद्यन्तसमययोस्त्वाहारक इति । केवलिसमुद्घातेपि कार्मणशरीरवर्तित्वात्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेष्वनाहारको द्रष्टव्य । शेषेषु त्वौदारिकतन्मिश्रवर्तित्वादाहारक इति (मुहुत्तमद्धंत्ति) अंतर्मुहूर्तं गृह्यते । तथ केवली स्वायुषः क्षये सर्वयोगनिरोधे सति ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालम् यावदनाहारक इत्येवमवगंतव्य सिद्धजीवास्तु शैलेश्यवस्थाया आदिसमयादारभ्यानंतमपि कालमनाहारका इति । साम्प्रतमेतदेव स्वामिविशेषविशेषिततरमाह ।

एक्कं च दोव समए केवलिपरिवज्जिया अणाहारा ।
पचमि दोण्णि लोए य पूरिए तिन्नि समयाओ ॥

एकंचेत्यादि ॥ केवलिपरिवर्जिता ससारस्था जीवा एकं द्वौ वा अनाहारका भवंति ते च द्विविग्रहत्रिविग्रहोत्पत्तौ त्रिचतुःसामयिकायां द्रष्टव्याः चतुर्विग्रहपचसमयोत्पत्तिस्तु स्वल्पसत्त्वाश्रितेपि न साक्षादुपात्ता । तथा चान्यत्राप्यभिहितं एकं द्वौ वानाहारक । वाशब्दात् त्रीन् वा आनुपूर्व्या अभ्युदय चतुरुष्को विग्रहगतौ चतुरः समयानागमेऽभिहिताः तच्च । पंचमसमयोत्पत्तौ लभ्यते नान्यत्रेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्घाते मंथे तत्करणोपसंहारावसरे तृतीयपंचमसमयौ द्वौ लोकपूरणाच्चतुर्थसमयेन सहितास्त्रयः समया भवतीति ।

पुनरपि निर्युक्तिकारः सादिकमपर्यवसानं कालमनाहारकत्वं दर्शयितुमाह ॥

अंतो मुहुत्तमद्धं सेलेसीए भवे अणाहारा ।
सादीयमनिहणं पुण सिद्धा य अणाहारगा होंति ॥

(अंतोमुहुत्तमित्यादि) शैलेश्यवस्थाया आरभ्य सर्वथानाहारकः सिद्धावस्थायामानंतमपि कालं यावदिति पूर्वं तु कावलिकाव्यतिरेकेण प्रतिसमयमनाहारकः कावलिकेन तु कादाचित्क इति । सूत्र श्रु. २ अ ३ ॥ सयोगिकेवली अनाहारक इति वदतां दिगम्बराणां तस्याऽऽहारकत्वसाधनेन प्रतिक्षेपः स्था० । सूत्र० । सम्म० । तदेवं संसारस्था जीवा विग्रहगतौ जघन्येनैकं समयं उत्कृष्टतः समयत्रयं भवस्थकेवली च समुद्घातावस्थायां समयत्रयमनाहारकः शैलेश्यवस्थायां त्वन्तर्मुहूर्तं सिद्धास्तु सादिकमपर्यंतं कालमनाहारका इति स्थितं ॥

सांप्रतं प्रथममाहारग्रहणं येन शरीरेण करोति तद्दर्शयति ॥

जोएण कम्मएणं आहारेई अणंतरं जीवा ।
तेण परं मीसेणं जीवसरीरस्स पज्जत्ती ॥

जोएणेत्यादि । ज्योतिस्तेजस्तदेव तत्र वा भव तैजसं कार्मणेन वाऽऽहारयति । तैजसकार्मणे हि शरीरे आसंसारभाविनि ताभ्यामेवोत्पत्तिदेशं गता जीवाः प्रथममाहारं कुर्वंति ततः परमौदारिकमिश्रेण वैक्रियमिश्रेण वा यावच्छरीरं निष्पद्यते तावदाहारयति । शरीरनिष्पत्तौ त्वौदारिकेण वैक्रियेण वाऽऽहारयतीति स्थितं । सूत्र० श्रु० २ अ० ३ । स्था० ।

केवलिनां प्रक्षेपाहाराहारनिर्हारौ ॥ स० ॥

पृथ्वीकायिकादीनामाहारनिरूपणम्—कथं किं वा ते आहरन्ति ॥

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु आहारपरिण्णा णामज्झयणे तस्स णं अयमट्ठे इह खलु पाईणं वा सव्वत्तो सव्वावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एवमाहिज्जंति । तं जहा अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया ते सिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इहेगतिया सत्ता पुढवीजोणिया पुढविसंभवा पुढवीवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति ॥ १ ॥

॥ टी० ॥ सुधर्मस्वामी जंबूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह । तद्यथा श्रुतं मयाऽऽयुष्मता तु भगवतेदमाख्यातं । तद्यथा । आहारपरिज्ञेदमध्ययनं तस्य चायमर्थः । प्राच्यादिषु दिक्षु सर्वत इत्यूर्ध्वाधो विदिक्षु च (सव्वावंतित्ति) सर्वस्मिन्नपि लोके क्षेत्रे प्रज्ञापकभावदिगाधारभूतेऽस्मिन् चत्वारो बीजकाया बीजमेव कायो येषां ते तथा बीजं वक्ष्यमाण चत्वारो बीजप्रकारा समुत्पत्तिभेदा भवति तद्यथा अग्रे बीजं येषामुत्पद्यते ते तखता लिरादयकारादयः शाल्यादयो वा । यदिवाग्रएवेबोत्पत्तौ

कारणतां प्रतिपद्यते येषां कोरण्टादीनां ते अग्रबीजास्तथा मूलबीजा आर्द्रकादयः पर्वबीजास्त्विक्ष्वादयः स्कंधबीजाः सल्लक्यादयः। नागार्जुनीयास्तु पठति (वणस्सइकाइयाण पचविहा बीजवक्कती एवमाहिज्जइ त जहा अग्गमूलपोरुयखंधबीयरुहा छट्ठापि एगेंदिया समुच्छिमा बीया जायते) यथा दग्धवनस्थलीषु नानाविधानि हारितान्युद्भवति पद्मिन्यो वाऽभिनवतडागादाविति तेषां च चतुर्विधानामपि वनस्पतिकायानां यद्यस्य बीजमुत्पत्तिकारण तद्यथा बीज। तेन यथाबीजेनेति। इदमुक्त भवानि। शाल्यंकुरस्य शालिबीजमुत्पत्तिकारण। एवमन्यदपि द्रष्टव्य। यथावकाशेति यो यस्यावकाशः यद्यस्योत्पत्तिस्थानमथवा भूम्यंबुकालाकाशबीजसयोगा यथावकाशो गृह्यते तेनेति। तदेवं यथाबीज यथावकाशेन चेहास्मिन् जगत्येके केचन सत्त्वा ये तथाविधकर्मोदया वनस्पतिपूत्पित्सवस्ते हि वनस्पतावुत्पद्यमाना अपि पृथिवीयोनिका भवंति यथा तेषां वनस्पतिबीजं कारणमेवमाधारमन्तरेणोत्पत्तेरभावात्पृथिव्यपि शैवालजलादेरुदकवदिति। तथा पृथिव्यां सम्भवः सदा भवन येषां वनस्पतीनां तथा। इदमुक्त भवति। न केवल ते सद्योनिकायाः स्थितिकाश्चेति। तथा पृथिव्यामेव विविधमुत्प्राबल्येन क्रमः क्रमण येषां ते पृथिव्युत्क्रमाः। इदमुक्त भवति। पृथिव्यामेव तेषामूर्ध्वक्रमणलक्षणा वृद्धिर्भवति। एव च ते तद्योनिकास्तत्सम्भवास्तदुद्व्युत्क्रमा इत्येतदनूद्याप्यपर विधातुकाम आह॥

कम्मोवगा इत्यादि। ते हि तथाविधेन वनस्पतिकायसंभवेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव वनस्पतिपूपसामीप्येन तस्यामेव च पृथिव्यां गच्छंतीति कर्मोपगा भण्यंते तेहि कर्मवशगा वनस्पतिकायादागत्य तेष्वेव पुनरपि वनस्पतिषूत्पद्यते। न चान्य ओला अन्यत्र भविष्यतीति उक्तं च। "कुसुमपुरोप्ते बीजे मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति। यत्रैव तस्य बीज तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः" तथा ते जीवा कर्मनिदानेन कारणेन समाकृष्यमाणास्तत्र वनस्पतिकाये वा व्युत्क्रमा समागताः संतो नानाविधयोनिकासु पृथिवीष्वित्यन्येषामपि पञ्चानां कायानामुत्पत्तिस्थानभूतासु सचित्ताऽचित्तमिश्रासु वा श्वेतकृष्णादिवर्णतिक्तादिरसगुरुलघ्वादिगंधमृदुकर्कशादिस्पर्शादिकैर्विकल्पैर्बहुप्रकारासु भूमिषु वृक्षतया विविधा वर्तंते ते च तत्रोत्पन्नास्तासां पृथिवीनां स्नेह स्निग्धभावमाददते स एव च तेषामाहार इति। नच ते पृथवीशरीरमाहारयत पृथिव्या पीडामुत्पादयांति॥ सूत्र० श्रु २ अ० ६।

ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं शरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूवियकडं संतं अवरेवियणं तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणा विहसरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं॥

टी० एवमप्कायतेजोवायुवनस्पतीनामायोज्य। अत्र च पीडानुत्पादनेऽय दृष्टान्तः। तद्यथा। अण्डोद्भवाद्या जीवा मातुरूष्मणा विवर्धमाना गर्भस्था एवोदरगतमाहारयतो नातीव पीडामुत्पादयत्त्येवमसावपि वनस्पतिकायिक पृथिवीस्नेहमाहारयन्नातीव तस्याः पीडामुत्पादयति उत्पद्यमान समुत्पन्नश्च वृद्धिमुपगतोऽसदृशवर्णरसाद्युपेतत्वात् बाधां विदध्यादपीति। एवमप्कायस्य भौमस्यांतरिक्षस्य वा शरीरमाहारयति तथा तेजसो भस्मादिक शरीरमाददति। एव वाय्वादेरपीति द्रष्टव्य। किंबहुनोक्तेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां यच्छरीरं तत्र समुत्पद्यमाना अचित्तमपि स्वकायेनावष्टभ्य प्रासुकीकुर्वंति। यदि वा परियिध्वस्त पृथिवीकायादिशरीरं किंचित्परितापितं कुर्वंति ते वनस्पतिजीवा एतेषां पृथिवीकायादीनां तच्छरीर पूर्वमाहारितमिति तैरेव पृथिवीकायादिभिरुत्पत्तिसमये आहारितमासीत् स्वकायत्वेन परिणामितमासीत्। तदधुना वनस्पतिजीवस्तत्रोत्पद्यमान उत्पन्नो वा त्वचा स्पर्शेनाहारयत्याहार्य च स्वकायत्वेन विपरिणामयति विपरिणामित च तच्छरीरं स्वकायेन सह स्वरूपतां नीतं सत्तन्मयतां प्रतिपद्यते। अपराण्यपि मूलशाखाप्रतिशाखापत्रपुष्पफलादीनि तेषां पृथिवीकायिकानां वृक्षाणां नानावर्णानि। तथाहि। स्कन्धस्यान्ययाभूतो वर्णो मूलस्य चान्यादृश इति। एव यावन्नानाविधशरीरेषु पुद्गलविकुर्वितास्ते भवतीति। तथाहि। नानारसवीर्यविपाका नानाविधपुद्गलोपचयात्सुरूपकुरूपसंस्थानास्ते भवतीति। तथा दृढाल्पसंहननाः कृशस्थूलस्कन्धाश्च भवत्येवमादिका नानाविधस्वरूपाणि विकुर्वंतीति स्थितम्। केषांचिच्छाक्यादीनां वनस्पत्याद्या स्थावरजीवा एव न भवतीति अतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह। ते जीवा इत्यादि। ते वनस्पतिगृत्पन्ना जीवा उपयोगलक्षणत्वाज्जीवानां तेषामप्याश्रयोत्सर्पणादिकया क्रिययोपयोगो लक्ष्यते। तथा विशिष्टाहारोपचयापचयाभ्यां शरीरोपचयापचयसद्भावादङ्गनाजीवाः स्थावरास्तथाच्छिन्नप्ररोहणात्स्वापात्सर्वत्वगपहरणे मरणादित्येवमादयो हेतवोऽत्र द्रष्टव्याः यदत्र केश्चित्पृष्टेपि वनस्पतीना चैतन्ये सिद्धानैकांतिकत्वादिकमुक्तं स्वदर्शनानुरागात्तदपकर्णनीयं न हि सम्यगार्हतमताभिज्ञोऽसिद्धविरुद्धानैकांतिकोपन्यासेन व्यामोह्यते सर्वस्य कथाचिदभ्युपगतत्वात्प्रतिषिद्धत्वाच्चेति ते जीवास्तत्र वनस्पतिषु तथाविधेन कर्मणा उपपन्नगाः। तथैव एकेंद्रियजातिस्थावरनामवनस्पतियोग्यायुष्कादिकमिति तत्कर्मोदयेन तत्रोत्पन्ना उच्यते न पुनः कालेश्वरादिना तत्रोत्पाद्यते इत्येवमाख्यात तीर्थकरादिभिरिति। एव तावत्पृथिवीयोनिका वृक्षा अभिहिता सूत्र० श्रु० २ अ० ३।

सांप्रत तद्योनिकेष्वेव वनस्पतिषु अपरे समुत्पद्यत इत्येतद्दर्शयितुमाह। सूत्र०

आहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं। तत्थ वुक्कमा पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विप्परिणामियं सारूविकडं संतं अवरेवियणं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविह-

सरीरपुग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीतिमक्खायं ॥ ३ ॥

टी० । सुधर्मस्वामी शिष्योद्देशेनेदमाह ॥ अथापरमेतदाख्यात पुरा तीर्थकरेण यदि वा तस्यैव वनस्पतेः पुनरपर वक्ष्यमाणमाख्यात यदथेहास्मिन् जगत्येके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः सत्वाः प्राणिनो वृक्षा एव योनिरुत्पत्तिस्थानमाश्रयो येषां ते वृक्षयोनिकाः । इह च यत्पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेष्वभिहितं तदेतेष्वपि वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिषु तदुपचयकर्तृसर्वमायोज्य यावदाख्यातमिति । सूत्र. श्रु० २ अ० ३।

साम्प्रत वनस्पत्यवयवानधिकृत्याऽऽह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूविकडं संतं अवरेवियणं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावन्ना जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ ४ ॥

अथापरमेतदाख्यातं तद्दर्शयति । इहास्मिन् जगत्येके न सर्वे तथाविधकर्मोदयवर्तिनो वृक्षयोनिकाः सत्वा भवंति तदवयवाश्रिताश्च परे वनस्पतिरूपा एव प्राणिनो भवति तथा यो ह्येको वनस्पतिजीव सर्ववृक्षावयवव्यापी भवति तस्य चापरे तदवयवेषु मूलकंदस्कंधत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजभूतेषु दशसु स्थानेषु जीवाः समुत्पद्यंते ते च तत्रोत्पद्यमाना वृक्षयोनिका वृक्षव्युत्क्रमाश्चोच्यंते इति । शेषं पूर्ववत् इह च प्राक् चतुर्विधार्थप्रतिपादकानि सूत्राण्यभिहितानि । तद्यथा वनस्पतयः पृथिव्याश्रिता भवन्तीत्येक १ तच्छरीर अप्कायादिशरीर वाऽऽहारयतीति द्वितीय २ तथा विवृक्षास्तदाहारितं शरीरमचित्तं विध्वस्तं च कृत्वात्मसात्कुर्वंतीति तृतीयं ३ अन्यान्यपि तेषां पृथिवीयोनिकाना वनस्पतीनां शरीराणि मूलस्कंधकंदादीनि नानावर्णानि भवतीति चतुर्थं ॥ ४ ॥ एवमत्रापि वनस्पतियोनिकानां वनस्पतीनामेवं विधार्थप्रतिपादकानि चतुष्प्रकाराणि सूत्राणि द्रष्टव्यानीति यावत्ते जीवा वनस्पत्यवयवमूलस्कंधादिरूपा कर्मोपपन्नगा भवत्येवमाख्यातं । सूत्र-श्रु २-अ ३ ॥

अथ वृक्षोपर्युत्पन्नान् वृक्षानाश्रित्याह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव णाणाविहसरीरं पुग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥५॥

अथापरमेतत्पुराऽऽख्यातं यद्वक्ष्यमाणमिहैके सत्वा वृक्षयोनिका भवति तत्र ये ते पृथिवीयोनिका वृक्षास्तेष्वेव प्रतिप्रदेशतया ये परे समुत्पद्यंते तस्यैकस्य वनस्पतेर्मूलारंभकस्योपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिका इत्यभिधीयते । यदि वा ये ते मूलकंदस्कंधशाखादिकाः पूर्वोक्तदशस्थानवर्तिनस्त एवमभिधीयते तेषु च वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु कर्मोपपादननिष्पादितेषु उपर्युपरि अध्यारोहतीत्यध्यारुहा वृक्षोपरि जाता वृक्षाभिधानाः कामवृक्षाभिधाना वा द्रष्टव्यास्तदभावे वाऽपरे वनस्पतिकायाः समुत्पद्यते वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिष्विति । इहापि प्राग्वच्चत्वारि सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोववन्नगा कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारोहत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ६ ॥

तद्यथा योनिकेषु वृक्षेष्वपरेऽध्यारुहाः समुत्पद्यंते ते च तत्रोत्पन्नाः स्वयोनिभूतं वनस्पतिशरीरमाहारयति तथा पृथिव्यप्तेजोवाय्वादीनां शरीरकमाहारयति तथा तच्छरीरमाहारितं सदचित्तं विध्वस्तं परिणामितमात्मसात्कृतं स्वकायावयवतया व्यवस्थापयंत्यपराणि च तेषामध्यारुहाणां नानाविधरूपरसगंधस्पर्शोपेतानि नानासंस्थानानि शरीराणि भवंति ते जीवास्तत्र स्वकृतकर्मोपपन्ना भवन्तीत्येतदाख्यातमिति प्रथमं सूत्रम् । सूत्र० श्रु० २ अ० ३ ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झारोहेसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति ते जीवा पुढवीसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि यणं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ७ ॥

द्वितीय त्विदमथापरं पुराख्यातं । ये ते प्राग्वृक्षयोनिषु वृक्षेषु अध्यारुहाः प्रतिपादितास्तेष्वेवोपरि प्रतिप्रदेशोपचयकर्तारोऽध्यारुहवनस्पतित्वेनोपपद्यते ते च जीवा अध्यारुहप्रदेशोत्पन्ना अध्यारुहजीवास्तेषां स्वयोनिभूतानि शरीराण्याहारयति । तथाऽपराण्यपि पृथिव्यादीनि शरीराणि आहारयति अपराणि चाध्यारोहसंभवानामध्यारुहजीवानां नानाविधवर्णादिकानि शरीराणि भवन्तीत्येवमाख्यातं ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरा आउसरीरा जावसारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ८ ॥

तृतीयं त्विद ॥ अहावरमित्यादि । अथापरं पुराख्यातं तद्यथा इहैके सत्वा अध्यारुहसंभवेष्वध्यारुहत्वेनोपपद्यंते ये चैवमुत्पद्यंते तेऽध्यारुहजीवा आहारयति तृतीये त्वध्यारुहयोनिकानामध्यारुहजीवानां शरीराणि द्रष्टव्यानीति विशेषः ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारोहजोणिया अज्झारोहसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा अज्झारोहजोणिएसु अज्झारोहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं अज्झारोहजोणियाणं अज्झारोहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरेवि य णं तेसिं अज्झारोहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावन्ना जाव मक्खायं ॥ ९ ॥

इदं तु चतुर्थक तद्यथा (अहावरमित्यादि) अथापरमिदमाख्यात । तद्यथा इहैके सत्वा अध्यारुहयोनिकेष्वध्यारुहेषु मूलकंदस्कंधत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजभावेनोत्पद्यते ते च तथाविधकर्मोपगा भवतीत्येतदाख्यातमिति शेष तदेवेति । साम्प्रतं वृक्षव्यतिरिक्तशेषवनस्पतिकायमाश्रित्याह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णाणाविहजोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं १० एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं ११ एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति तणजोणीयं तणसरीरं च आहारेंति जाव मक्खायं १२ एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा जाव एवमक्खायं १३ एवं ओसहीणं वि चत्तारि आलावगा १४ एवं हरियाणं वि चत्तारि आलावगा ॥ १५ ॥

साम्प्रत वृक्षव्यतिरिक्त शेषवनस्पतिकायमाश्रित्याह । (अहावरमित्यादि) अथापरमिदमाख्यात यदुत्तरत्र वक्ष्यते । तद्यथा इहैके सत्त्वाः पृथिवीयोनिकाः पृथिवीसंभवाः पृथिवीव्युत्क्रमा इत्यादयो यथा वृक्षेषु चत्वार आलापका एव तृणान्यप्याश्रित्य द्रष्टव्याः । ते चामी नानाविधासु पृथिवीयोनिषु तृणत्वेनोपपद्यते पृथिवीशरीर चाहरयन्ति १० द्वितीय तु पृथिवीयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यन्ते तृणशरीर चाहारयतीति ११ तृतीय तु तृणयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यते तृणयोनिक शरीर चाहारयतीति १२ चतुर्थं तृणयोनिकेषु तृणावयवेषु मूलादिदशप्रकारेषूत्पद्यंते तृणशरीर चाहारयत्येव यावदाख्यातमिति १३ एव मौषध्याश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः १४ नवरमौषधिग्रहण कर्तव्यमेव हरिताश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः । कुहणेषु त्वेक एवालापको द्रष्टव्यस्तद्योनिकानामपरेषाम भावादिति भावः ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए कंदुकत्ताए उव्वेहणियत्ताए निव्वेहणियत्ताए सछत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति ते वि जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं एगो चेव आलावगो सेसा तिण्णि णत्थि ॥ १६ ॥

इह चामी वनस्पतिविशेषा लोकव्यवहारतोऽनुगतव्याः प्रज्ञापनातो वावसेया इति । अत्रार्थे सर्वेषामेव पृथिवीयोनिकत्वात्पृथिवीसमाश्रयत्वेनाभिहिताः इह च स्थावराणां वनस्पतेरेव प्रस्पष्टचैतन्यलक्षणत्वात्तस्यैव प्राक्प्रदर्शित चैतन्य ।

सांप्रतमप्काययोनिकस्य वनस्पतेः स्वरूप दर्शयितुमाह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तेसिं णाणाजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं । जहा पुढविजोणियाणं चत्तारि गमा अज्झारुहाणं वि तहेव तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा । एक्केके तहा उदगजोणियाणं रुक्खाणं इक्कके ॥ १७ ॥ अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्माणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदयेसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए सोगंधियत्ताए पोंडरियत्ताए महापोंडरियत्ताए सयपत्ताए सहस्सपत्ताए एवं कल्हारकोकणपत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणालपुक्खलत्ताए पुक्खलत्थिभगत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं एगो चेव आलावगो ॥ १८ ॥

(अहावरमित्यादि) अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणमाख्यातं तद्यथा

इहैके सत्त्वास्तथाविधकर्मोपचयादुदक योनिरुत्पत्तिस्थान येषां ते तथा। तथोदके सम्भवो येषां ते तथा। यावत्कर्मनिदानेन सदानितास्तदुपक्रमा भवतीति ते च तत्कर्मवशगा नानाविधयोनिवृदकेषु वृक्षत्वेन व्युत्क्रामत्युत्पद्यते। ये च जीवा उदकयोनिका वृक्षत्वेनोत्पन्नास्ते तच्छरीरमुदक शरीरमाहारयंति न केवलं तदेवान्यदपि पृथिवीकायादिशरीरमाहारयतीति शेष पूर्ववत् यथा पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां चत्वार आलापका एवमुदकयोनिकानामपि वृक्षाणां भवंतीत्येव द्रष्टव्यं अपरस्य प्रागुक्तस्य विकल्पाभावादिति किं तर्हि एक एवा लापको भवति १७ एतेषां हि उदकाकृतीनां वनस्पतिकायाना तथावयवपनकशैवलादीनामपरस्य प्रागुक्तस्य विकल्पस्याऽभावादिति। एते च उदकाश्रया वनस्पतिविशेषाः कसेरुका हृदादयो लोकव्यवहारतोऽवसेया इति॥ १८॥

साम्प्रतमन्येन प्रकारेण वनस्पत्याश्रयमालापकत्रयं दर्शयितुमाह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता तेसिं चेव पुढवीजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं रुक्खजोणिएहिं अज्झारोहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं अज्झारुहेहिं अज्झारोहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं पुढविजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं तणेहिं तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं ओसहीहिं वि तिन्नि आलावगा एवं हरिएहिं वि तिन्नि आलावगा पुढविजोणिएहिं वि आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं एवं अज्झारुहेहिं वि तिन्नि तणेहिं वि तिन्नि आलावगा ओसहीहिं वि तिन्नि हरिएहिं वि तिन्नि उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलत्थिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति॥ १९॥

टीतद्यथा। पृथिवीयोनिकैर्वृक्षैर्वृक्षयोनिकैर्वृक्षैस्तथा वृक्षयोनिकैर्मूलादिभिरिति एव वृक्षयोनिकैरध्यारुहैस्तथाऽध्यारुहयोनिकैर्मूलादिभिरिति एवमन्येपि तृणादयो द्रष्टव्याः एवमुदकयोनिकेष्वपि वृक्षेषु योजनीय॥ १९॥

तदेव पृथिवीयोनिकवनस्पतेरुदकयोनिकवनस्पतेश्च भेदानुपदर्श्याऽधुना तदनुवादेनोपसंजिघृक्षुराह॥

ते जीवा तेसिं पुढवीजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहीजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव करवाणं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारोहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलत्थिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं॥ २०॥

(तेजीवा इत्यादि) ते वनस्पतिपूत्पन्ना जीवा पृथिवीयोनिकानां तथोदकवृक्षाध्यारुहतृणौषधिहरितयोनिकानां वृक्षाणां यावत्स्नेहमाहरयंतीत्येतदाख्यातमिति। तथा त्रसानां प्राणिनां शरीर महारयन्त्येतदवसाने द्रष्टव्यमिति। तदेव वनस्पतिकायिकानां सुप्रतिपाद्यचैतन्यानां स्वरूपमभिहितं शेषाः पृथ्वीकायादयश्चत्वार एकेन्द्रिया उत्तरत्र प्रतिपादयिष्यते। सूत्र. श्रु. २ अ. ३।

उत्पन्नादिजीवानामाहारो वनस्पतिशब्दे।

मनुष्याणाम्॥

सांप्रतं त्रसकायस्याऽवसरः स च नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदभिन्न तत्र नारका अप्रत्यक्षत्वेनानुमानग्राह्या दुष्कृतकर्मफलभुज केचन सतीत्येव ते ग्राह्या तदाहारोऽप्येकान्तेनाशुभपुद्गलनिवर्त्तित ओजसा प्रक्षेपेणेति। देवा अप्यधुना बाहुल्येनानुमानगम्या एव तेषामप्याहारः शुभ एकांतेनौजोनिवर्त्तितो न प्रक्षेपकृत इति। सचाभोगनिवर्त्तितो नाभोगकृतश्च। तत्र नाभोगकृतः प्रतिसमयभावी आभोगकृतश्च जघन्येन चतुर्भक्तकृत उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्रनिष्पादित इति शेषास्तु तिर्यङ्मनुष्यास्तेषां च मध्ये मनुष्याणामभ्यर्हितत्वात्तानेव प्राग्दर्शयितुमाह॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं मणुस्साणं तं जहा कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खुयाणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावकासेणं इत्थीए पुरिस्ससयं कम्मकडाए जोणिए एत्थणं मेहुणवत्तियाए वणामं संजोगे समुप्पज्जइ ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति तत्थणं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति ते जीवा माओओयं पिउसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तं पढमत्ताए आहारमाहारेंति ततो पच्छा जं से माया णाणाविहाउ रसविईउ आहारमाहारेंति ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति आणुपुव्वेण वुड्ढा पलिपागमणुपिन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति ते जीवा डहरा समाणा माउक्खीरं सप्पिं आहारेंति आणुपुव्वेण वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरेय पाणे ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्सगाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाण अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा भवंतीति मक्खायं॥ २१॥

(अथावर पुरक्खाय) मित्यादि। अथानन्तरमेव तु पुरा पूर्वमाख्यातं तद्यथा आर्याणामनार्याणा च कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां नानाविधयोनिकानां स्वरूप वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यात तेषां च स्त्रीनपुंसकभेदभिन्नानां। यथावीजेनेति। यद्यस्य बीज तत्र स्त्रिया सबधि शोणितं पुरुषस्य च शुक्र एतदुभयमप्यविध्वस्त शुक्राधिक सन्मनुष्यस्य शोणिताधिक स्त्रियास्तत्स-

मता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते । तथा यथावकाशनेति । योऽर्थस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकस्तत्रापि किल वामा स्त्रिया दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्योभयाश्रितः षढ इति। अत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजमिति चत्वारो भङ्गाः तत्राप्याद्य एव भंगक उत्पत्तेरवकाशो न शेषेषु त्रिष्विति।अत्र च स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिर्वर्तितायां योनौ मैथुनप्रत्ययिको रताभिधानोदयजनितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जन्तवस्तैजसकार्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरज्जुसंदानितास्तत्रोत्पद्यन्ते ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वंत्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति। विध्वस्यते तु योनिः "पंचपंचाशिका नारी सप्तसप्ततिः पुरुष इति" तथा द्वादश मुहूर्त्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतस्तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति । तत्र जीवा उभयोरपि स्नेहमाहार्य्य स्वकर्मविपाकेन यथा स्व स्त्रीपुन्नपुंसकभावेन । (विउट्टंतित्ति) वर्तंते समुत्पद्यंत इति यावत् । तदुत्तरकालं च स्त्रीकुक्षौ प्रक्षिप्ताः सन्तः स्त्रिया हारितस्याहारस्य निर्यास स्नेहमाददति तत्स्नेहेन च तेषां जन्तूनां क्रमोपचयादनेन क्रमेण निष्पत्तिरुपजायते (सत्ताहं कललं होइ सत्ताहं होइ बुब्बुय) इत्यादि तदेवमनेन क्रमेण तदेकदेशेन वा मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वाऽनुपूर्व्येणाहारयति यथाक्रममानुपूर्व्येण वृद्धिमुपागताः सतो गर्भपरिपाकं गर्भनिष्पत्तिमनुप्रपन्नास्ततो मातुः कायादभिनिवर्त्तमानाः पृथग्भवंतः संतस्तद्योनेर्निर्गच्छंति । ते च तथाविधकर्मोदयादात्मनः स्त्रीभावमप्येकदा जनयंत्युत्पादयत्यपरे केचन पुंभावं नपुंसकभावं च । इदमुक्तं भवति । स्त्रीपुन्नपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिर्वर्तितो भवति न पुनर्यो यादृगिह भवे सोऽमुष्मिन्नेव तादृगेवेति । ते च तदहर्जातबालकाः संतः पूर्वभवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो भवंति मातुः स्तन्यमाहारयंति तदाहारेण चानुपूर्व्येण च वृद्धास्तदुत्तरकालं नवनीतदध्योदनादिकं यावत्कुल्माषान् भुंजते तथाहारत्वेनोपगतान्त्रसान् स्थावरांश्च प्राणिनस्ते जीवा आहारयंति तथा नानाविधपृथिवीशरीरं लवणादिकं सचेतनं चाहारयंति तच्चाहारितमात्मसात्कृत सारूप्यमापादितं सत् रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव इति सप्तधा व्यवस्थापयत्यपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां शरीराणि नानावर्णान्याविर्भवंति । ते च तद्योनिकत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयतीत्येवमाख्यात मिति ॥ २१ ॥ सूत्र० श्रु २ अ. ३ ।

तिर्यग्जलचराणाम् ।

एवं तावद्गर्भव्युत्क्रांतजमनुष्याः प्रतिपादितास्तदनंतरं संमूर्च्छनजानामवसरस्तांश्चोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामि ।

साप्रतं तिर्यग्योनिकास्तत्रापि जलचरानुद्दिश्याह ।

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं । तंजहा । मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडा तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुविन्ना ततो कायाओ अभिनिवट्टमाणा अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति। पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे विय णं तेसिं नानाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं सुंसुमाराणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ २२ ॥

अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणं पूर्वमाख्यात । तद्यथा । नानाविधजलचरपंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां स्वबीजैः कांश्चित्स्वनामग्राहमाह । तद्यथा । (मच्छाण जाव सुसुमाराण) मित्यादि तेषां मत्स्यकच्छपमकरग्राहसुंसुमारादीनां यस्य यथा यद्बीज तेन तथा यथावकाशेन यो यस्योदरादावकाशस्तेन स्त्रियाः पुरुषस्य च स्वकर्मनिर्वर्तितायां योनावुत्पद्यंते ते च तत्राभिव्यक्ता मातुराहारेण वृद्धिमुपगताः स्त्रीपुन्नपुंसकानामन्यतमेनोत्पद्यंते । ते च जीवा जलचरा गर्भाद्व्युत्क्रांताः सतस्तदनंतरं यावड्डहरंति लघवस्तावदप्स्नेहमप्कायमेवाहारयंति आनुपूर्व्येण च वृद्धाः सतो वनस्पतिकाय तथापरांश्च त्रसांस्थावरांश्चाहारयति यावत्पचेंद्रियानप्याहारयंति तथा-चोक्त" अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः । तिमिंगिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः" तथा ते जीवाः पृथिवीशरीरं कर्दमस्वरूपं क्रमेण वृद्धिमुपगताः सत आहारयंति तच्चाहारितं समानरूपीकृतमात्मसात्परिणामयंति शेषं सुगमं यावत्कर्मोपगता भवतीत्येवमाख्यातं ॥ २२ ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणप्फयाणं ते सिं चणं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थिपुरिसस्स यकम्म जाव मेहुणवत्तिए णामं संजोगे समुप्पज्जइ तेदुहओसिणेहं संचिणंति तत्थणं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति ते जीवा माउओयं पिउसुक्कं एवं जहा मणुस्साणं इत्थि वि वेगया जणयंति पुरिसंपिनपुंसगं पि ते जीवा डहरा समाणा माउ क्खीरं सप्पिं आहारेंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरेय पाणे ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि यणं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ २३ ॥

टी० अथापरमेतदाख्यात नानाविधानां चतुष्पदानां तद्यथा । एकखुराणामित्यश्वखुरादीनां,तथा द्विखुराणां,गोमहिष्यादीनां तथा गंडीपदानां हस्तिगण्डकादीनां, तथा सनखानां सिंहव्याघ्रादीनां, यथाबीजेन यथावकाशेन सकलपर्याप्तिमवाप्योत्पद्यंते तयोत्पन्ना सतस्तदनन्तरं मातु स्तन्यमाहारयंतीति । क्रमेण च वृद्धिमुपगता संतोऽपरेषामपि शरीरमाहारयंति । शेषं सुगमं यावत्कर्मोपगता भवंतीति ॥ २३ ॥

साम्प्रतमुरःपरिसर्पानुद्दिश्याह ।

अहावरंपुरक्खायं णाणाविहाणंउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तेसिं चणं तं जहा अहीणं अयगराणं आसालियाणं महोरगाणंतेसिंचणं अहाबीएणं अहागासे णं

इत्थीए पुरिस जाव एत्थ णं मेहुणं एवं तं चेव नाणत्तं तेसिं च णे अंडं वेगइया जणयंति पोयं वेगइया जणयंति से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगइया जणयंति पुरिसं पि णपुंसगं पि ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति आणुपुब्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरपाणे ते जीवा आहारेंति पुढवि सरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलयरतिरिक्खा पंचिंदियअहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा जाव मक्खायं ॥ २४ ॥

टी.नानाविधानां बहुप्रकाराणामुरसा ये प्रसर्पंति तेषां । तद्यथा अहीनामजगराणामाशालिकानां महोरगाणां यथावकाशेन यथाबीजत्वेन चोत्पत्त्यांऽऽण्डजत्वेन पोतजत्वेन वा गर्भान्निर्गच्छन्तीति ते च निर्गता मातुरूष्माणं वायु चाहारयंति तेषां जाति प्रत्ययेन तेनैवाहारेण क्षीरादिनैव वृद्धिरुपजायते। शेषं सुगमं यावदाख्यातमिति ॥

सांप्रतं भुजपरिसर्पानुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तं जहा । गोहाणं नउलाणं सिहाणं सरडाणं सल्लाणं सरघाणं खराणं घरकोइलियाणं विस्सभराणं मुसगाणं मंगुसाणं पयलाइयाणं विरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं गाहाणं जाव मक्खायं ॥ २५ ॥

टी० नानाविधान्यां भुजाभ्यां ये परिसर्पंति तेषां । तद्यथा । गोधानकुलादीनां स्वकर्मोपात्तेन यथाबीजेन यथावकाशेन चोत्पत्तिर्भवति। ते चाण्डजत्वेन पोतजत्वेन चोत्पन्नास्तदनन्तरं मातुरूष्मणा वायुना वाहारितेन वृद्धिमुपयांति शेषं सुगमं यावदाख्यातमिति ॥

सांप्रतं खेचरानुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तं जहा चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं नाणत्तं ते जीवा डहरा समाणा माउगात्तसिणेहमाहारेंति आणुपुब्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जावमक्खायं ॥ २६ ॥

नानाविधानां खेचराणामुत्पत्तिरेव दृश्या यथा चर्मपक्षिणां चर्मकीटवल्गुलीप्रभृतीनां तथा लोमपक्षिणां सारसराजहंसकाकबकादीनां समुद्गपक्षिविततपक्षिणां बहिर्द्वीपवर्तिनामेतेषां यथाबीजेन यथावकाशेन चोत्पन्नानामाहारक्रियैवमुपजायते । तद्यथा । सा पक्षिणी तदण्डकं पक्षाभ्यामावृत्य तावत्तिष्ठति यावत्तदण्डकं तदूष्मणा हारितेन वृद्धिमुपगतं सत् कललावस्थां परित्यज्य चञ्च्वादिकानवयवान् परिसमाप्य भेदमुपयाति तदुत्तरकालमपि मात्रोपनीतेनाहारेण वृद्धिमुपयाति शेषं प्राग्वत् ॥ २६ ॥

विकलेन्द्रियाणाम् ।

व्याख्याताः पंचेन्द्रिया मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च तेषां चाहारो द्वेधा । आभोगनिवर्तितोऽनाभोगनिवर्तितश्च तत्रानाभोगनिवर्तितः । प्रतिक्षणमन्यत्वाभोगनिवर्तितस्तु यथास्वं क्षुद्वेदनीयोदयभावीति ।

सांप्रतं विकलेन्द्रियानुद्दिश्याह ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवुक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयमाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ २७ ॥

(अहावरमित्यादि) अथानन्तरमेतदाख्यातमिहास्मिन् संसारे एके केचन तथाविधकर्मोदयवर्तिनः सत्वाः प्राणिनो नानाविधयोनिकाः कर्मनिदानेन स्वकृतकर्मणा उपादानभूतेन तत्रोत्पत्तिस्थाने उपक्रम्यागत्य नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु अचित्तेषु सचित्तेषु वा (अणुसुयत्ताएत्ति) अपरशरीराश्रिततया परनिश्रया विवर्तंते समुत्पद्यते इति यावत् ते च जीवा विकलेन्द्रियाः सचित्तेषु मनुष्यादिशरीरेषु यूकालिक्षादिकत्वेनोत्पद्यते। तथा तत्परिभुज्यमानेषु मंचकादिष्वचित्तेषु मत्कुणत्वेनाविर्भवंति तथाऽचित्तीभूतेषु मनुष्यादिशरीरकेषु विकलेन्द्रियशरीरेषु वा ते जीवा अनुस्यूतत्वेन परनिश्रयाः कृम्यादित्वेनोत्पद्यते। अपरे तु सचित्ते तेजःकायादौ मूषिकादित्वेनोत्पद्यते यत्र चाग्निस्तत्र वायुरित्यतस्तदुद्भवा अपि द्रष्टव्याः तथा पृथिवीमनुश्रित्य कुंथुपिपीलिकादयो वर्षादावूष्मणा संस्वेदजा जायते तथोदके पूतरका छोल्लणकभ्रमरिकाच्छेदनकादयः समुत्पद्यते तथा वनस्पतिकाये पनकभ्रमरादयो जायते तदेव ते जीवास्तानि स्वयोनिशरीराण्याहारयंति इत्येवमाख्यातमिति।

सांप्रतं पंचेन्द्रियमूत्रपुरीषोद्भवानमुमतः प्रतिपादयितुमाह

एवं दुरूवसंभवत्ताए ॥ २८ ॥

एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः। यथा सचित्ताचित्तशरीरनिश्रया विकलेन्द्रियाः समुत्पद्यंते तथा तत्संभवेषु मूत्रपुरीषवांतादिषु अपरे जंतवो दुष्ट विरूप रूप येषां कृम्यादीनां ते दुरूपास्तत्संभवत्वेन तद्भावेनोत्पद्यते ते च तत्र विष्ठादौ देहान्निर्गतेऽनिर्गते वा समुत्पद्यमाना उत्पन्नाश्च तदेव विष्ठादिकं स्वयोनिभूतमाहारयंति। शेषं प्राग्वत् ॥ २८ ॥

एवं खुरदुगत्ताए ॥ २९ ॥

साम्प्रतं सचित्तशरीराश्रयान् जंतून् प्रतिपादयितुमाह (एवं खुरडुगत्ताएइत्यादि) एवमिति यथा मूत्रपुरीषादावुत्पादस्तथा तिर्यक्शरीरेषु । खुरदुगत्ताएत्ति । चर्मकीटतया समुत्पद्यंते ।

इदमुक्तं भवति जीवतामेव गोमहिष्यादीनां चर्मणोंतः प्राणिनः संमूर्च्छंते ते च तन्मांसचर्मणी भक्षयंति भक्षयंतश्च चर्मणो विवराणि विदधति गलच्छोणितेषु विवरेषु तिष्ठतस्तदेव शोणितमाहारयति। तथा अचित्तगवादिशरीरेऽपि तथा सचित्ताचित्तवनस्पतिशरीरेऽपि घुणकीटकाः समूर्च्छंते ते च तत्र समूर्छितास्तच्छरीरमाहारयतीति ॥ २९ ॥

साम्प्रतमप्कायं प्रतिपादयिषुस्तत्कारणभूतवातप्रतिपादनपूर्वकं प्रतिपादयतीत्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वायमं सिद्धं वा वायसंगहियं वा वायं परिगहियं उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति अहेवाएसु अहेभागी भवति तिरियंवाएसु तिरियंभागी भवति तं जहा ओसा हिमए महियाकरए हरतणुए सुद्धोदए ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ ३० ॥

(अहावरमित्यादि) अथानंतरमेतद्वक्ष्यमाणं पुरा पूर्वमाख्यात इहास्मिन् जगत्येके सत्वास्तथाविधकर्मोदया नानाविधयोनिकाः सतो यावत्कर्मनिदानेन तत्र तस्मिन्वातयोनिकेऽप्काये व्युत्क्रम्यागत्य नानाविधानां बहुप्रकाराणां त्रसानां दर्दुरप्रभृतीनां स्थावराणांच हरितलवणादीनां प्राणिनां सचित्ताचित्तभेदभिन्नेषु शरीरेषु तदप्कायशरीर वातयोनिकत्वादप्कायस्य वायुनोपादानकारणभूतेन सम्यक् संसिद्धं निष्पादितं तथा वातेनैव सम्यग्गृहीतमभ्रपटलांतरानिर्धूतं तथा वातेनान्योन्यानुगतत्वात्परिगत तथोर्ध्वंगतेषु वातेषूर्ध्वभागी भवत्यप्कायो गगनगतवातवशाद्दिवि समूर्च्छते जलं तथाधस्तात्कृतेषु तद्वशाद्भवत्यधोभागीत्यप्काय एव तिर्यग्गतेषु तिर्यग्भागी भवत्यप्कायः। इदमुक्त भवति। वातयोनिकत्वादप्कायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणामपरिणतो भवति तत्र तत्र तत्कार्यभूत जलमपि समूर्च्छते। तस्य चाभिधानपूर्वकं भेदं दर्शयितुमाह। तद्यथा(ओसत्ति) अवश्यायः (हिमयेति) शिशिरादौ वातेरिता हिमकणा। मिहिका धूमिकाः। करकाःप्रतीताः(हरतणुयत्ति) तृणाग्रव्यवस्थिता जलबिंदवः शुद्धोदकं प्रतीतमिति। इहास्मिन्नुदकप्रस्तावे एके सत्वास्तत्रोत्पद्यते स्वकर्मवशगास्तत्रोत्पन्नास्ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्वोत्पत्त्याधारभूतानां स्नेहमाहारयंति ते जीवास्तच्छरीरमाहारयंति अनाहारका न भवंतीत्यर्थः शेषं सुगमं यावदेतदाख्यातमिति ३०॥

तदेवं वातयोनिकमप्कायं प्रदर्श्याधुनाऽप्कायसंभवमेवाप्काय दर्शयितुमाह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थ वुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टन्ति ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ ३१ ॥

अथापरमाख्यातमिहास्मिन् जगति उदकाधिकारे वा एके सत्वास्तथाविधकर्मोदया तद्वशोत्पन्नत्रसस्थावरशरीराधारमुदक योनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते तथा तथोदकसंभवा यावत्कर्मनिदानेन तत्रोत्पित्सवस्त्रसस्थावरयोनिकेषूदकेष्वपरोदकतया विवर्तंते समुत्पद्यंते ते चोदकजीवास्तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयंत्यन्यान्यपि पृथिव्यादिशरीराण्याहारयंति। तच्च पृथिव्यादिशरीरमाहारितं सत् सारूप्यमानीयात्मसात्कुर्वंत्यपराण्यपि तत्र त्रसस्थावरशरीराणि निवर्तंते तेषां चोदकयोनिकानामुदकानां नानाविधानि शरीराणि निवर्तन्ते इत्येतदाख्यातम् ॥ ३१ ॥

तदेव त्रसस्थावरसंभवमुदकयोनित्वेन प्रदर्श्याऽधुना निर्विशेषणमप्कायसंभवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह ।

अहावरं पुरक्खायं इहे गतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं जीवाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं जीवाणं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ ३२ ॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमाख्यातमिहास्मिन् जगत्युदकाधिकारे वा एके सत्वाःस्वकृतकर्मोदयादुदकयोनिषूदकेषूत्पद्यते ते च तेषामुदकसंभवानामुदकजीवानामात्माधारभूतानां शरीरमाहारयति शेषं सुगमं। यावदाख्यातमिति ॥ ३२ ॥

सांप्रतमुदकाधारानपरान् पूतरकादिकांस्त्रसान् दर्शयितुमाह।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं ॥ ३३ ॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमेतदाख्यातमिहैके सत्वा उदकयोनिषु चोदकेषु त्रसप्राणितया पूतरकादित्वेन विवर्तन्ते समुत्पद्यंते ते चोत्पद्यमानाः समुत्पन्नाश्च तेषामुदकयोनीनामुदकानां स्नेहमाहारयंति शेषं सुगमं यावदाख्यातमिति ॥ ३३॥

साम्प्रतं तेजस्कायमुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं सेसा तिण्णि आलावगा उदगाणं ॥ ३४ ॥

(अहावरमित्यादि) अथैतदपरमाख्यात इहास्मिन् संसारे एके केचन सत्वाः प्राणिनस्तथाविधकर्मोदयवर्तिनो नानाविधयोनयः प्राक् सन्त पूर्वजन्मानि तथाविधं कर्मोपादाय तत्कर्मनिदानेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां सचित्तेष्वचित्तेषु शरीरेषु चाग्नित्वेन विवर्त्तन्ते प्रादुर्भवति। तथाहि। पञ्चेन्द्रियतिरश्चां हस्तिमहिषादीनां परस्पर युद्धावसरे विषाणसंघर्षे सति अग्निरुत्तिष्ठते एवमचित्तेष्वपि तदस्थिसंघर्षादग्नेरुत्थानं तथा द्वीन्द्रियादिशरीरेष्वपि यथासंभवमायोजनीयं तथा स्थावरेष्वपि वनस्पत्युपलादिषु सचित्ताचित्तेष्वग्निजीवाः समुत्पद्यते ते चाग्निजीवास्तत्रोत्पन्नास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्नेहमाहारयति। शेषं सुगमं यावद्भवतीत्येवमाख्यातं। अपरे त्रयोऽप्यालापकाः प्राग्वद्द्रष्टव्या इति।

साम्प्रतं वायुकायमुद्दिश्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउकायत्ताए विउट्टंति जहा अगणीणं तहा जाणियव्वा चत्तारि गमा ॥ ३५ ॥

अथापरमेतदाख्यातमित्याद्यग्निकायागमेन व्याख्येयम्। साम्प्रतमशेषजीवाधारं पृथिवीकायमधिकृत्याह ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया णं। जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ पुढवी य सक्करा वा लुयाय उवले सिला य लोणूसे। अयत उय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरेय १ हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजणपवाले। अब्भपडल प्पवालु य वायरकाए मणिविहाणा २ गोमेज्जए य रूयए अंके फलिहेय लोहियक्खे य। मरगयमसारगल्ले भूयमोयग इंदणीले य ३ चंदण गेरुयहंसगब्भे पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे। चंदप्पभवेरुलिए जलकंते सूरकंते य ४ एयाओ एएसु भाणियव्वा एओ गाहाओ जाव सूरकंताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं सेसं तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ॥ ३६ ॥

अथापरमेतत्पूर्वमाख्यातं इहैके सत्वाः पूर्वं नानाविधयोनिकाः स्वकृतकर्मवशा नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु पृथिवीत्वेनोत्पद्यन्ते। तद्यथा। सर्पशिरस्सु मणयः, करिदन्तेषु मौक्तिकानि, स्थावरेष्वपि वेण्वादिषु तान्येवेति। एवमचित्ते षूपलादिषु लवणभावेनोत्पद्यन्ते। तदेव पृथिवीकायिका नानाविधासु पृथिवीषु शर्करावालुकोपलशिलालवणादिभावेन तथा गोमेदकादिरत्नभावेन च बादरमणिविधानतया समुत्पद्यन्ते। शेषं सुगमं। यावच्चत्वारोऽप्यालापका उदकागमेन नतव्या इति ॥ ३६ ॥

साम्प्रतं सर्वोपसंहारद्वारेण सर्वजीवान् सामान्यतो बिभणिषुराह।

अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया कम्मट्ठिइया कम्मणा चेव विप्परिया समुवेंति ॥ ३७ ॥

(अहावरमित्यादि) अथापरमेतदाख्यातं। तद्यथा। सर्वे प्राणाः प्राणिनोऽत्र च प्राणिभूतजीवसत्वशब्दाः पर्यायत्वेन द्रष्टव्याः। कथंचिद्भेदं चाश्रित्य व्याख्येयाः। ते च नानाविधयोनिका अतो नानाविधासु योनिषूत्पद्यन्ते नारकतिर्यग्नरामराणां परस्परगमनसंभवात्ते च यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्तच्छरीराण्याहारयन्ति तदाहारवन्तश्च तत्रागुप्ताश्चवद्वारतया कर्मवशगा नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितयो भवति। अनेनेदमुक्तं भवति। यो यादृगिह भवे स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्येतन्निरस्तं भवति। अपितु कर्मोपगाः कर्मनिदाना कर्मायत्तगतयो भवन्ति। तथा तेनैव कर्मणा सुखार्थिनोऽपि तद्विपर्यासं दुःखमुपगच्छतीति ॥ ३७ ॥

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह ॥

से एवमायाणह से एवमायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सयाजए त्तिवेमि ॥ वियसुय क्खंधस्स आहारपरिण्णा णाम तईयमज्झयणं सम्मत्तम् ॥

यदेतन्मयादितः प्रभृत्युक्तं। तद्यथा। यो यत्रोत्पद्यते स तच्छरीराहारको भवति आहारगुप्तश्च कर्मोदत्ते कर्मणा च नानाविधासु योनिषु अरहट्टघटीन्यायेन पौनःपुन्येन पर्यटतीत्येवमाजानीत यूय एतद्विपर्यासं दुःखमुपगच्छतीति। एतत्परिज्ञाय च सदसद्विवेक्याहारगुप्तः पञ्चभिस्समितिभिस्समितो यदि वा सम्यक् ज्ञानादिके मार्गे इतो गतः समितस्तथा सह हितेन वर्त्तते सहितः सन् सदा सर्वकालं यावदुच्छ्वासस्तावद्यतेत तत्संयमानुष्ठाने प्रयत्नवान् भवेदिति। इति परिसमाप्त्यर्थे ब्रवीमीति पूर्ववत्। गतोऽनुगमः साम्प्रतं नयास्ते च प्राग्वद्द्रष्टव्या ॥ ३७ ॥ समाप्तमाहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनम् ॥ ३ ॥

आहारस्य दिक् ॥

छहिं दिसाहिं जीवाणं आहारे पवत्तइ।
तंजहा पाईणाए जाव अहाए ॥ स्था० ठा० ६।

आहारः प्रतीतः सोऽपि षट्स्वेव दिक्षु एतद्व्यवस्थितप्रदेशावगाढपुद्गलानामेव जीवेन स्पर्शनात्स्पृष्टानामेवाहरणात्। स्था० टी० ॥ जीवा० प्र० १ ॥ स च देशतः सर्वतश्च।

दोहिं ठाणेहिं आया आहारेइ देसेण वि सव्वेण वि।

आहारयति देशेन मुखमात्रेण सर्वेण ओज आहारापेक्षया आहारमेव परिणमयति परिणामनयाति खलरसविभागेन भक्ताद्यवयवदेशस्य प्लीहादिना रुद्धत्वात् देशतोऽन्यथा सर्वत। स्था० ठा० २ टी० ॥

चतुर्गतिषु आहारः ॥

णेरइयाणं चउव्विहे आहारे पन्नत्ते तंजहा।
इंगालोवमे मुम्मुरोवमे सीयले हिमसीयले ॥

नारकानाहारतो निरूपयन्नाह । नेरइयाणमित्यादि । व्यक्तं केवलं अंगारोपमः अल्पकालदाहत्वान्मुर्मुरोपमः स्थिरतरदाहत्वाच्छीतलः शीतवेदनोत्पादकत्वात् हिमशीतलो ऽत्यन्तशीतलोऽत्यंतशीतवेदनोत्पादकत्वात् अधोऽध इति क्रम इति ॥ स्था० ठा० ४।

तिरिक्खजोणियाणं चउव्विहे आहारे पं. तं. कंकोवमे बिलोवमे पाणमंसोवमे पुत्तमंसोवमे । मणुस्साणं चउव्विहे आहारे पं. तं. असणे जाव साइमे। देवाणं चउव्विहे आहारे पं. तं. वन्नमंते गंधमंते रसमंते फासमंते ॥

तिरिक्खजोणियाणमित्यादि । व्यक्तमथवरं कङ्कः पक्षिविशेषस्तस्याहारेणोपमा यत्र स मध्यमपदलोपात्कङ्कोपमः । अयमर्थो यथा हि कंकस्य दुर्जरोऽपि स्वरूपेणाहारः सुखभक्ष्यः-सुखपरिणामश्च भवति एवं यस्तिरश्चां सुखभक्ष्यस्सुखपरिणामश्च स कङ्कोपम इति। तथा बिले प्रवेशाद्रव्यं बिलमेव तेनोपमा यत्र स तथा। बिले हि अलब्धरसास्वादं झटिति यथा किल किंचित्प्रविशति एवं यस्तेषां गलबिले प्रविशति स तथोच्यते । पाणो मातङ्गस्तन्मांसमस्पृश्यत्वेन जुगुप्सया दुःखाद्यं स्यादेवं यस्तेषां दुःखाद्यस्स पाणमांसोपमः। पुत्रमांसन्तु स्नेहपरतया दुःखाद्यतरं स्यादेवं यो दुःखाद्यतरः स पुत्रमांसोपमः क्रमेण चैते शुभसमा शुभाशुभतरा वेदितव्याः वर्णवानित्यादौ प्रशंसायामतिशायने वा मतुबिति । स्था ठा० ॥ ४ ॥ टी० ॥

आहारमधिकृत्य वक्तव्यार्थाः ।

सचित्ताहारट्ठी केवति किंवा वि सव्वतो चेव ।
कतिभागं सव्वे खलु परिणामे चेव बोधव्वे ॥ १ ॥
एगिंदियसरीरादि लोमाहारे तहेवमणभक्खी ।
एतेसिं तु पदाणं विभावणा होइ कायव्वा ॥ २ ॥

प्रथमोऽधिकारस्सचित्तपदोपलक्षितस्स चैवं (नेरइयाणं भंते ! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा) इत्यादि १ द्वितीय आहारार्थिन इति २ तृतीयः । (केवइयत्ति) कियता कालेन आहारार्थः समुत्पद्यते इत्यादिरूपः ३ । चतुर्थः किमाहारमाहारयन्तीति पदोपलक्षितः ४ । पञ्चमः सर्वत इति पदोपलक्षितस्स चैव-(नेरइयाण सव्वतो परिणामन्तीत्यादि) । ५ । चेव शब्दस्समुच्चये (कइभागंति) गृहीतानां पुद्गलानां कतिभागमाहारयन्तीत्येवमादि षष्ठोऽधिकारः ६ तथा (सव्व इति) यान्पुद्गलानाहारतया गृह्णन्ति तान्किं सर्वानपरिशेषान् आहारयन्ते उत सर्वानित्येवमुपलक्षितः सप्तमोऽधिकारः ७ तथा अष्टमोऽधिकारः परिणामः परिणामरूपो बोद्धव्यः स चैवं (नेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति तेणं तेसिं पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो २ परिणामन्तीत्यादि-) रूपः ८ नवमोऽर्थाधिकारः एकेन्द्रियादीनि शरीराणि सचैवं- (नेरइयाण भंते ! किं एगिंदियसरीराइं । आहारेंति जाव पंचिंदियशरीराइ आहारेंति) इत्यादि ९ दशमोऽधिकारो लोमाहारो लोमाहारवक्तव्यतारूपः । १० । एकादशो मनोभक्षिवक्तव्यतारूप । ११ । एएसिं तु इत्यादि । एतेषां सामान्यतोऽनन्तरमुद्दिष्टानां पदानामर्थाधिकाराणां विभावना विस्तरत प्रकाशना नाम भवति कर्तव्या। सूत्रकारवचनमेतत्प्रतिज्ञातमेव निर्व्वाहयितुकामो यथोद्देशनिर्देश इति न्यायात्प्रथमाधिकार विभावयति । प्रज्ञा० पद० २८ । भ० श०१ उ १ ॥ सचित्ताहाराः ॥

नेरइयाणं भंते ! किं सचित्ताहारा अचित्ताहारा मीसाहारा ? गोयमा ! नो सचित्ताहारा अचित्ताहारा नो मीसाहारा एवं असुरकुमारा जाव वेमाणिया । उरालिय सरीरा जाव मणूसा सचित्ताहारा वि अचित्ताहारा वि मीसाहारा वि ॥

नैरयिका भदन्त ! किं सचित्ताहाराः सचित्तमाहारयन्तीति सचित्ताहाराः एवमचित्ताहारा मिश्राहारा इत्यादि भावनीयं भगवानाह- (गोयमेत्यादि) इह वैक्रियशरीरिणो वैक्रियशरीरपरिपोषयोग्यान् पुद्गलानाहारयन्ति ते चाचित्ता एव संभवंति न जीवपरिगृहीता इत्यचित्ताहारा नापि मिश्राहारा एवमसुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्य्यवसाना भवनपतयो व्यन्तरज्योतिष्का वैमानिकाश्च वेदितव्याः । औदारिकशरीरिण. पुनरौदारिकशरीरपरिपोषयोग्यान्पुद्गलानाहारयन्ति ते च पृथिवीकायिकादिपरिणामपरिणता इति ।

सचित्ताहारा मिश्राहारा अपि भवन्ते । तथाचाह । (उरालियसरीरी जाव मणूसा इत्यादि) औदारिकशरीरिण पृथिवीकायिकेभ्यः आरभ्य यावन्मनुष्याः । किमुक्तम्भवति पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपा एकेन्द्रिया द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च एते प्रत्येकं सचित्ताहारा अपि अचित्ताहारा अपि मिश्राहारा अपि वक्तव्याः ॥ उक्तः प्रथमोऽधिकारः ॥

सम्प्रति द्वितीयानष्टपर्य्यन्तान्सप्ताधिकारान् चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण युगपदभिधित्सुः प्रथमतो नैरयिकाणामभिदधाति ।

नेरइया णं भंते ! आहारट्ठी ? हंता आहारट्ठी णेरइयाणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! णेरइयाणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तं० आभोगनिवत्तिए य अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से णं अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थ णं जे से. आभोगनिव्वत्तिए से णं असंखेज्जसमइए अंतो मुहुत्तिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ ॥

(नेरयाणमित्यादि) नैरयिका णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! आहारार्थिनो नैरयिका इति यदि आहारार्थिनस्ततो भगवानाह (हंतेत्यादि) हंतेत्यनुमतौ अनुमतमेतत् गौतम ! आहारार्थिनो नैरयिका इति यदि आहारार्थिनस्ततो भदन्त ! नैरयिका णमिति पूर्ववत् (केवइ कालस्सत्ति) प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी । कियता कालेन आहारार्थं आहारलक्षणं प्रयोजनं आहाराभिलाष इति यावत्समुत्पद्यते-भगवानाह (गोयमेत्यादि) नैरयिकाणां द्विविधो द्विप्रकार आहारस्तद्यथा । आभोगनिर्वर्तित आहारयामीति इच्छापूर्वनिर्मापित इति यावत् । तद्विपरीतोऽनाभोगनिर्वर्तित. । आहारयामीति विशिष्टेच्छामन्तरेण यो निष्पाद्यते प्रावृट्काले प्रचुरतरमूत्राद्यभिव्यंगशीतपुद्गला द्याहारवत्सोऽनाभोगनिर्वर्तित इति भाव । (तत्थणमित्यादि) तत्राभोगानाभोगनिर्वर्तितयोर्मध्ये योऽनाभोगनिर्वर्तितः आहारः (सेणमिति) पूर्ववत् अनुसमय प्रतिसमय २ समय २ इत्यर्थ. । इत्यदीर्घकालोपयोगस्याहारस्यैकवारमपि ग्रहणे तावंत कालमनुसमयम्भवति । तत आजवपर्य्यन्तं सातत्यग्रहणप्रतिपादनार्थमाह । अविरहित आहारार्थस्समुत्पद्यते । अथवा सततप्रवृत्त आहारार्थेऽपांतराळे

चुकस्खलितन्यायेन कथञ्चिद्विरहे भावेऽपि लोके तद्गणनया अनुसमयमिति व्यवहार प्रवर्तते । ततोऽपान्तराले विरहाभावप्रतिपादनार्थमित्युक्त । अनुसमयविरहितोऽनाभोगनिर्वर्तित आहारार्थः समुत्पद्यमान ओज आहारादिना प्रकारेण चलेय' । (तत्थणमित्यादि) तत्राभोगानाभोगनिर्वर्तितयोर्मध्ये योऽसावनाभोगनिर्वर्तित आहारार्थ' सोऽसङ्ख्येयसामायिकोऽसङ्ख्येयैः समयैर्निर्वर्तितम । यथासङ्ख्येयसमयनिर्वर्तित तद् जघन्यपदेऽप्यन्तर्मुहूर्तिकम्भवति । न हीनमत आन्तर्मुहूर्तिक आहारार्थ' समुत्पद्यते । किमुक्त भवति । अन्तर्मुहूर्तकाल यावत्प्रवर्तते न परतो नैरयिकाणां हि योऽसावाहारयामीत्यभिप्राय' स परिगृहीताहारद्रव्यपरिणामेन यज्जनितमतितीव्रतर दुःख तद्भावादन्तर्मुहूर्तान्निर्वर्तते । तत आन्तर्मुहूर्तिको नैरयिकाणामाहारार्थ' (नेरइयाणमित्यादि) नैरयिकाणामिति पूर्ववत् किंस्वरूपमाहारयन्ति भगवान्द्रव्यादिभेदतस्तमाहारयन्तीति निरूपयितुकाम आह (गोयमेत्यादि) ॥

किमाहारमाहारयन्ति ॥

णेरइया णं भंते ! किमाहारमाहारेंति ? गोयमा ! दव्वओ अणंतपदेसियाइं खेत्तओ असंखेज्जपदेसोगाढाइं कालओ अन्नतरकालट्ठितियाइं भावतो वन्नमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं जाइं भावओ वन्नमंताइं आहारंति ताइं किं एगवन्नाइं आहारंति जाव किं पंचवन्नाइं आहारंति ? गोयमा ! ठाणमग्गणं पडुच्च एगवन्नाइं पि आहारंति । जाव पंचवन्नाइं पि आहारंति विहाणमग्गणं पडुच्च कालवन्नाइं पि आहारंति जाव सुक्किल्लाइं पि आहारंति । जाइं वन्नओ कालवन्नाइं आहारंति ताइं किं एगगुणकालाइं आहारंति जाव दसगुणकालाइं आहारंति संखिज्ज असंखिज्ज अणंतगुणकालाइं आहारंति। गोयमा ! एगगुणकालाइं पि आहारंति जाव अणंतगुणकालाइं पि आहारंति एवं जाव सुक्किल्लाइं। एवं गंधतो वि रसतो वि । जाइं भावओ फासमंताइं ताइं नो एगफासाइं आहारंति नो दुफासाइं आहारंति । नो तिफासाइं आहारंति चउफासाइं पि आहारंति । जाव अट्ठफासाइं पि आहारंति । विहाणमग्गणं पडुच्च कक्खडाइं पि आहारंति जाव लुक्खाइं पि आहारंति । जाइं फासओ कक्खडाइं आहारंति ताइं किं एगगुणकक्खडाइं आहारंति । जाव अणंतगुणकक्खडाइं आहारंति गोयमा ! एगगुणकक्खडाइं पि आहारंति जाव अणंतगुणकक्खडाइं पि आहारंति एवं अट्ठविहफासा भाणियव्वा । जाव अणंतगुणलुक्खाइं पि आहारंति । जाइं भंते ! अणंतगुणलुक्खाइं आहारंति ताइं किं पुट्ठाइं आहारंति अपुट्ठाइं ? गोयमा ! पुट्ठाइं आहारंति नो अपुट्ठाइं आहारंति जहा भासुद्देसए जाव नियमा छद्दिसिं आहारंति ओसन्नं कारणं पडुच्च वन्नओ कालनीलाइं गंधओ दुब्भिगंधाइं रसओ तित्तरसकडुयाइं फासओ कक्खडगरुयसीतलुक्खाइं तेसिं पोराणा वन्नगुणे गंधगुणे रसगुणे फासगुणे विपरिणामइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता अन्ने अपुव्वे वन्नगुणे गंधगुणे फासगुणे उप्पाएत्ता आयसरीरखित्तोगाढे पोग्गले सव्वप्पणयाए आहारमाहारेंइ ॥

टी० गौतम ! द्रव्यतो द्रव्यस्वरूपपर्यालोचनायां अनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याणि । अन्यथा ग्रहणासम्भवात् न हि सङ्ख्यातप्रदेशात्मका असङ्ख्यातप्रदेशात्मका वा स्कन्धा जीवस्य ग्रहणयोग्या भवन्ति । क्षेत्रतोऽसङ्ख्येयप्रदेशावगाढानि । कालतोऽन्यतरस्थितिकानि जघन्यस्थितिकानि मध्यमस्थितिकानि उत्कृष्टस्थितिकानि चेति भावार्थः । स्थितिरिति चाहारयोग्यस्कंधपरिणामत्वेनावस्थानमवसेय । भावतो वर्णवंति गंधवति रसवति स्पर्शवति च । प्रतिपरमाण्वेकैकवर्णगंधरसद्विस्पर्शभावात् । (जाइ भावओ वन्नमंताइ) इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । (गोयमा ! ठाणमग्गण पडुच्चेत्यादि) तिष्ठति विशेषा अस्मिन्निति स्थान सामान्यमेकवर्णं द्विवर्णं त्रिवर्णमित्यादिरूप तस्य मार्गणमन्वेषणं तत्प्रतीत्य सामान्यचिन्तामाश्रित्येति भावार्थः । एकवर्णान्यपि द्विवर्णान्यपि इत्यादि सुगम । नवर तेषामनन्तप्रादेशिकानां स्कन्धानामेकवर्णत्व द्विवर्णत्वमित्यादि व्यवहारनयमतापेक्षया । निश्चयनयमतापेक्षया तु अनन्तप्रादेशकस्कंधीयानापि पञ्चवर्ण एव प्रतिपत्तव्यः । (विहाणमग्गण पडुच्चेत्यादि) ॥ विधानमितरव्यवच्छिन्न धान पोषण स्वरूपस्य यत्तद्विधान विशेष' कृष्णो नील इत्यादिविशेष इति यावत्तस्य मार्गण तत्प्रतीत्य त्यक्त्वा सवर्णान्यप्याहारयतीत्यादि सुगमं । नवरमेतदपि व्यवहारत' प्रतिपत्तव्य । निश्चयतः पुनरवश्यं तानि पञ्चवर्णान्येव ॥ जाइ वन्नओ कालवन्नाइ पीत्यादि ॥ सुगम । यावदनन्तगुणसुक्किल्लाइ पि आहारति । एव गंधरसस्पर्शविषयाणि सूत्राण्यपि भावनीयानि (जाइ भंते ! अनन्तगुणलुक्खाइ इत्यादि) यानि भवन्त ! अनन्तगुणरूक्षाणि उपलक्षणमेतत् । एव गुणकालादीन्यप्याहारयन्तीति तानि च भदन्त ! किं स्पृष्टान्यात्मप्रदेशस्पर्शविषयाण्याहारयन्ति उतास्पृष्टानि । भगवानाह । स्पृष्टानि नो अस्पृष्टानि (जहा भासुद्देसए जाव नियमा । छद्दिसिंत्ति) अत ऊर्ध्वं यथा भाषोद्देशके प्राक्सूत्रमभिहित तथात्रापि द्रष्टव्य । तत्र तावत् यावन्नियमा' (छद्दिसिति) पद तथैव ।

जाइं पुट्ठाइं आहारंति ताइं भंते ! किं ओगाढाइं आहारंति गोयमा ! ओगाढाइं आहारंति णो अणोगाढाइं आहारंति । जाइं भंते ओगाढाइं आहारंति ताइं किं अणंतरोगाढाइं आहारंति परंपरोगाढाइं आहारंति गो० अणंतरोगाढाइं आहारंति नो परंपरोगाढाइं आहारंति जाइं अणंतरोवगाढाइं आहारंति ताइं भंते ! किं अणूइं आहारंति बादराइं आहारंति ? गोयमा ! अणुं पि आहारंति बायराइंपि आहारंति । जाइं भंते ! अणूं पि आहारंति बायराइं पि आहारंति ताइं किं उड्ढं आहारंति अहे आहारंति तिरियं आहारंति ? गोयमा ! उड्ढं पि आहारंति अहे वि आहारेंति तिरियं पि आहारंति जाइं भंते ! उड्ढं पि आहारंति अहे पि आहारंति तिरियं पि आहारंति

ताइं आइं पि आहारंति मज्झे आहारंति पज्जवसाणे आहारंति ? गोयमा ! आइं पि आहारंति मज्झे वि आहारंति पज्जवसाणे वि आ० । जाइं भंते ! आइं पि आहारंति मज्झे वि आहारंति पज्जवसाणेवि आहारंति ताइं भंते ! किं सविसए आहारंति अविसए आहारंति ? गोयमा ! सविसए आहारंति नो अविसए आहारंति । जाइं भंते ! सविसए आहारंति ताइं किं आणुपुव्विए आहारंति । अणाणुपुव्विए । गो० ! आणुपुव्विं आहारंति नो अणाणुपुव्विं आहारेंति । जाइं भंते ! आणुपुव्विं आहारंति ताइं किं तिदिसिं आहारंति । चउदिसिं आहारंति पंचदिसिं आहारंति छदिसिं आहारंति ?

अस्य व्याख्या । इहात्मप्रदेशैः संस्पर्शनेनात्मनः प्रदेशावगाढात्क्षेत्राद्बहिरपि सम्भवति ततः प्रश्नयति । (जाइं भंते ! इत्यादि) यानि भदन्त ! स्पृष्टान्याहारयति तानि किं अवगाढानि आत्मप्रदेशैः सह एकक्षेत्रावस्थायीनि उत अनवगाढानि आत्मप्रदेशावगाढक्षेत्राद्बहिरवस्थितानि । भगवानाह । गौतम ! अवगाढान्याहारयति नानवगाढानि । उत अवगाढानि आत्मप्रदेशावगाढक्षेत्रे किमनन्तरावगाढानि । किमुक्तं भवति । यथात्मप्रदेशेषु यान्यव्यवधानेनावगाढानि तैरात्मप्रदेशैस्तान्येवाहारयति उत, परम्परावगाढानि एकद्व्याद्यात्मप्रदेशव्यवहितानि । भगवानाह । गौतम ! अनन्तरावगाढानि आहारयति नो परम्परावगाढानि । यानि भदन्त ! अनन्तरावगाढान्याहारयति तानि किमणूनि स्तोकान्याहारयन्ति उत बादराणि प्रभूतप्रदेशोपचितानि । भगवानाह । अणून्यप्याहारयन्ति बादराण्यप्याहारयन्ति । इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेवाहारयोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशस्तोकत्वबाहुल्यापेक्षया वेदितव्ये इति । यानि भदन्त ! अणून्यप्याहारयन्ति तानि भदन्त ! किमूर्ध्वमूर्ध्वप्रदेशस्थितान्याहारयन्ति अधस्तिर्यग्वा । इह ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं यावति क्षेत्रे नैरयिको ऽवगाढस्तावत्येव क्षेत्रे तदपेक्षया परिभावनीयं । भगवानाह । ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति ऊर्ध्वप्रदेशावगाढान्यप्याहारयति एवमधोऽपि तिर्यगपि । यानि भदन्त ! ऊर्ध्वमप्याहारयन्ति अधोऽप्याहारयन्ति तिर्यगप्याहारयन्ति तानि किमादावाहारयन्ति मध्ये आहारयन्ति पर्य्यवसाने आहारयन्ति । अयमत्राभिप्रायो नैरयिका ह्यनन्तप्रादेशिकानि द्रव्याण्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदुपभोगोचितानि गृह्णन्ति ततः संशयः किमुपभोगोचितस्य कालस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्यादौ प्रथमसमये आहारयन्ति उत मध्ये मध्येषु समयेषु आहोस्वित्पर्य्यवसाने पर्य्यवसानसमये ? भगवानाह । गौतम ! आदावपि मध्येऽपि पर्य्यवसानेऽप्याहारयन्ति । किमुक्तं भवति । उपभोगोचितस्य कालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणस्यादिमध्यावसानेषु समयेषु आहारयन्ति उत अविषयाणि स्वोचिताहारयोग्यान्याहारयन्ति । भगवानाह । गौतम ! स्वविषयानाहारयन्ति नो अविषयान् । यानि भदन्त ! स्वविषयानाहारयन्ति तानि भदन्त ! किमानुपूर्व्या आहारयन्ति अनानुपूर्व्या ? । आनुपूर्वी नाम यथासन्नं । तद्विपरीता अनानुपूर्वी । भगवानाह । गौतम ! आनुपूर्व्या सूत्रे द्वितीया तृतीयार्थे वेदितव्या प्राकृतत्वात् यथा आचाराङ्गे-(अगणिपुट्ठा) इत्यत्र आहारयन्ति नो अनानुपूर्व्या ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्वा यथासन्नं नातिक्रम्याहारयन्तीति भावनीयानि । भदन्त ! आनुपूर्व्या आहारयन्ति तानि किं (तिदिसिंति) । तिस्रो दिशः समाहृतास्त्रिदिक् तस्मिन् व्यवस्थितान्याहारयन्ति चतुर्दिशि पञ्चदिशि षड्दिशि वा इह लोकनिष्कुटपर्य्यन्ते जघन्यपदे त्रिदिग्व्यवस्थितमेकादिग्व्यवस्थित वा अतस्त्रिदिशारभ्य प्रश्नः कृतः । भगवानाह । गौतम ! नियमात् षड्दिशि व्यवस्थितान्याहारयन्ति । नैरयिका हि त्रसनाड्यां मध्ये व्यवस्थितास्तत्र चावश्यं षड्दिक्संभव इति । (ओसन्नकारण पडुच्चेत्यादि) ओसन्नशब्दो बाहुल्यवाची । यथा ओसन्न देवा साय वेयण वेयतीत्यत्र । तत ओसन्नकारण बाहुल्यकारण प्रतीत्य किंतद्बाहुल्यकारणमिति चेदुच्यते । अशुभानुभाव एव । तथापि प्रायो मिथ्यादृष्टयः कृष्णादीन्याहारयन्ति न तु भविष्यत्तीर्थकरादय । तत ओसन्नेत्युक्तं । वर्णतः कालनीलादि । गन्धतो दुरभिगन्धादि । रसतस्तिक्तकटुकानि । स्पर्शत० कर्कशगुरुशीतरूक्षादि इत्यादि तेषामाहार्य्यमाणानां पुद्गलानां पुराणान् अभेतनान् वर्णगुणान् गन्धगुणान् स्पर्शगुणान् (विपरिणामइत्ता परिपीलइत्ता परिसाडइत्ता परिविद्धंसइत्ता) एतानि चत्वार्यपि एकान्येकार्थिकानि विनाशार्थप्रतिपादकानि नाना देशजविनेयानुग्रहार्थमुपात्तानि विनाश्य किमिति आह । अन्यानपूर्वान्वर्णगुणान् रसगुणान् स्पर्शगुणानुत्पाद्य आत्मशरीरक्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् (सव्वप्पणयाए) सर्व्वात्मना सर्व्वैरेवात्मप्रदेशैराहारमाहाररूपानाहारयन्ति ॥ प्रज्ञा. पद २८ । जी. प्र १ । भ श. ६ उ० ४ ।

नेरइया णं भंते ! जे पोग्गला अत्तमायाए आहारंति ते किं आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमाए आहारंति अणंतरखेत्तोगाढेपोग्गले अत्तमायाए आहारंति परं पर खेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारंति ? गोयमा ! आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमाया एआहारंति नो अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारंति नो परंपर खेत्तोगाढे जहा नेरइया तहा जाव वेमाणियाणं दंडओ ॥

टी० नेरइयाणमित्यादि । (अत्तमायाएत्ति) आत्मना आदाय गृहीत्वेत्यर्थ । जीवाधिकारादेवेदमाह । (आयसरीरे खेत्तोगाढेत्ति) स्वशरीरक्षेत्रे अवस्थितानीत्यर्थ । (अणंतरखेत्तोगाढेत्ति) । आत्मशरीरावगाढक्षेत्रापेक्षया यदनन्तरं क्षेत्रं तत्रावगाढानीत्यर्थः (परंपरखेत्तोगाढेत्ति) आत्मक्षेत्रानन्तरक्षेत्रात्परं क्षेत्रं तत्रावगाढानीत्यर्थ) ॥ भ. श ६ । उ० १० ।

नेरइयाणं भंते सव्वओ आहारंति सव्वओ परिणामंति सव्वओ ऊससन्ति सव्वओ नीससंति अभिक्खणं २ आहारंति अभिक्खणं २ परिणामन्ति अभिक्खणं ऊससंति अभिक्खणं नीससंति आहच्च आहारंति आहच्च परिणामंति आहच्च ऊससंति आहच्च नीससंति । हंता गोयमा ! णेरइया सव्वओ आहारंति एवं चेव जाव आहच्च नीससंति णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं पोग्गलाणं सेयालंसि कतिभागं आहारंति कइभागं आसायंति ? गोयमा ! असंखेज्जइ भागं आहा

रंति अणंतभागं आस्साएंति णेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते किं सव्वे आहारंति नो सव्वे आहारंति ? गोयमा ! ते सव्वे अपरिसेसिए आहारंति ॥

(नेरइया णं भंते इत्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमं । (नेरइयाणं भंते ! जे पोग्गला इत्यादि) नैरयिका णमिति पूर्ववत् भदन्त ! यान् पुद्गलानाहारतया गृण्हन्ति नैरयिकास्तेषां गृहीतानां पुद्गलानां (सेकालंसि) एष्यत्काले ग्रहणकालोत्तरकालग्रहणकालमित्यर्थः (कइभागं ति) कतिथ भागमाहारयन्ति आहारतयोपभुंजते । तथा । कतिभाग कतिथं भागमामाहार्य्यमाणपुद्गलानामास्वाद गृण्हंति । न हि सर्वे पुद्गला आहार्यमाणान्यास्वादमायान्ति इति पृथक् प्रश्नः । भगवानाह । गौतम ! असंख्येयं भागमाहारयन्ति । अन्ये तु गवादिपृयमवृहद्ग्रासग्रहण इव परिसटनि । आहार्य्यमाणानां च पुद्गलानामनन्तभागमास्वादयन्ति । शेषास्त्वनास्वादिता एव शरीरपरिणाममापद्यन्ते इति ॥

णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते णं तेसिं पोग्गला कोसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! सो इंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अणिट्ठत्ताए अकंतत्ताए अप्पियत्ताए अमणुन्नाए अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए अहत्ताए नो उड्ढत्ताए दुक्खात्तए नो सुहत्ताए एतेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति असुरकुमाराणं भंते ! आहारट्ठी ? हंता ! आहारट्ठी । एवं जहा णेरइयाण तहा असुरकुमाराणं विभाणियव्वम् जाव तेसिं भुज्जो २ परिणमन्ति । तत्थ णं जेसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स उक्कोसेणं सातिरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ओसन्नकारणं पडुच्च वन्नओ हालिद्दसुक्किल्लाइं गंधओ सुब्भिगंधाइं रसओ अंबिलमहुराइं फासओ मउलहुयणिद्धुण्हाइं तेसिं पोराणं वन्नगुणे जाव फासिंदियत्ताए जाव मणामत्ताए इच्छियत्ताए भिज्झियत्ताए उड्ढत्ताए नो अहत्ताए सुहत्ताए नो दुहत्ताए तेसिं भुज्जो २ परिणमंति सेसं जहा णेरइयाणं एवं जाव थणियकुमाराणं । नवरं आभोगनिव्वत्तिए उक्कोसेणं दिवसपहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ॥

नैरयिका णमिति पूर्ववत् यान्पुद्गलानाहारतया गृण्हाति इह ग्रहण विशिष्टमवसेय । ततो ये उज्झितशेषाः केवलाहारपरिणामयोग्या एवावतिष्ठन्ते ते ऽप्याहारतया गृह्यमाणाः पृष्ट इष्टव्याः । अन्यथा निर्व्वचनसूत्रमपेक्ष्य पूर्व्वापरविरोधप्रसङ्गो नच भगवद्वचने विरोधसम्भावनाऽप्यस्ति तत इदमेव व्याख्यानं सम्यक् । अत एवंविधपूर्व्वापरे विरोधाशङ्काव्युदासार्थं पूर्वसूरिभिः कालिकसूत्रस्यानुयोगः कृतः उक्तञ्च । "जं जह सुत्ते भणियं तहेव त जइ वियालणा नत्थि । किं कालियाणुजोगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं" ॥ १ तान् किं सर्व्वानाहारयन्ति उत नो सर्व्वान् सर्वैकदेशभूतान् । भगवानाह । तान्सर्व्वानविशेषेणाहारयन्ति उज्झितशेषाणामेव केवलानामाहारपरिणामयोग्यानां गृहीत स्यात् (नेरइयाणमित्यादि) नैरयिका णमिति पूर्ववत् । यान्पुद्गलानाहारतया गृण्हन्ति ते पुद्गला णमिति पूर्ववदेव । नैरयिकाणां कीदृक्तया किं स्वरूपतया भूयः २ परिणमन्ते । भगवानाह । गौतम ! श्रोत्रेन्द्रियतया यावत्करणाच्चक्षुरिन्द्रियतया घ्राणेन्द्रियतया जिह्वेन्द्रियतयेति परिग्रहः । स्पर्शनेन्द्रियतया इन्द्रियरूपतयापि परिणममाणाः शुभरूपाः किंत्वेकांताशुभरूपाः । एत आह । (अणिट्ठत्ताए इत्यादि) इष्टा मनसा इच्छाविषयी कृता यथा "शोभनमिदं जातं यदित्थमिमे परिणता इति" । तद्विपरीता अनिष्टास्तद्भावस्तत्ता तया इह किंचित्परमार्थतः शुभमपि केषाञ्चिदनिष्टं भवति । यथा माक्षिकाणां चन्दनकर्पूरादिस्तत आह (अकंतत्ताए) कांता कमनीयाः अकांता अत्यताशुभवर्णोपेतत्वात् अत एवाऽप्रियतया न प्रिया अप्रिया दर्शनापातकालेऽपि तत्प्रियबुद्धिमात्मन्युत्पादयंतीति भावः । तद्भावोऽप्रियता तया (असुभत्ताए इति) न शुभा अशुभा अशुभगन्धरसस्पर्शात्मकत्वात् तद्भावस्तत्ता तया (अमणुन्नत्ताए इति) न मनोज्ञा अमनोज्ञा विपाककाले दुःखजनकतया न मनःप्रह्लादहेतव इति भावः । तद्भावस्तत्ता तया (अमणामत्ताए) भोज्यतया मन आप्नुवतीति मन आपा प्राकृतत्वात्पकारस्य मकारत्वे मणाम इति सूत्रनिर्देशः । न मन आपा अमन आपा न जातुचिदपि भोज्यतया जन्तूनमनोज्ञान् कुर्वन्तीति भावः । तद्भावस्तत्ता तया अत एव । (अणिच्छियत्ताए इति) अनीप्सिततया भोज्यतया स्वादितुमिष्टा ईप्सिता न ईप्सिता अनीप्सितास्तद्भावस्तत्ता तया । (अभिज्झियत्ताए ।) अभिध्यानमभिध्या अभिलाष इत्यर्थः । अभिध्या सञ्जाता येष्विति आभिध्यितास्तारकादिदर्शनादितच् प्रत्ययः । तद्भावस्तत्ता तया । किमुक्तं भवति । ये गृहीताहारतया पुद्गला न ते तृप्तिहेतवोऽभूवन्निति न पुनरभिलषणीयत्वेन परिणमन्ते तथा । (अहत्ताए इति) अधस्तया गुरुपरिणामतयेति भावः । नो ऊर्ध्वतया लघुपरिणामतया अत एव दुःखतया गुरुपरिणामपरिणतत्वात् न सुखतया लघुपरिणामपरिणतत्वाभावात् । ते पुद्गलास्तेषां नैरयिकाणां भूय परिणमन्ते एतान्येव आहारार्थिन इत्यादीनि सप्त द्वाराणि । असुरकुमारादिषु भवनपतिषु विवर्चयिषुरिदमाह (जहा नेरइयाणमित्यादि) यथा नैरयिकाणां तथा असुरकुमाराणामपि भणितव्य । यावत् तेसिं भुज्जो २ परिणमन्तीति पर्य्यन्तपद । तत्र नैरयिकसूत्रस्य विशेषमुपदर्शयति (तत्थ णं जेसे इत्यादि) एवं चोपदर्शितं सूत्रं मन्दमतीनां यथास्थितं प्रतीतिमागच्छति ततस्तदनुग्रहाय सूत्रमुपदर्श्यते (असुरकुमाराणं भंते ! आहारट्ठी ? हंता आहारट्ठी असुरकुमाराणं भंते ! केवइ कालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।) अत्र सप्तम्यर्थे षष्ठी कियति कालेऽतिक्रान्ते सति भूय आहारार्थः समुत्पद्यत इत्यर्थः । (असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पन्नत्ते । तंजहा । आभोगनिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिए य । तत्थ णं जेसे अणाभोगनिव्वत्तिए से णं अणुसमयमविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । तत्थ णं जेसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स उक्कोसेणं साइरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ।) अत्र तु चउत्थभत्तस्सेति सप्तम्यर्थे षष्ठी । चतुर्थभक्त आगमिकीय संज्ञा एकस्मि-

न्दिवसेऽतिकान्ते इत्यर्थः । भूयो जघन्येनाहारार्थः । समुत्पद्यते । एतच्च दशवर्षसहस्रायुषां प्रतिपत्तव्यमुत्कर्षतः सातिरेके अभ्यधिके वर्षसहस्रेऽतिक्रांते । एतच्च सागरोपमायुषामवसेयं ॥

असुरकुमाराणं भंते ! किमाहारमाहारयंति ? गोयमा ! दव्वओ अणंतप्पएसियाइं खेत्तओ असंखेज्जपएसोगाढाइं कालओ अन्नयरठियाइं भावओ वन्नमंताइं गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं जावनियमा । छद्दिसिं आहारंति ओसन्नं कारणं पडुच वन्नओ हालिद्दसुक्किल्लाइं गंधओ सुरभिगंधाइं, रसओ अंबिलमधुराइं, फासओ मउयलहुणिधुएहाइं, तेसिं पोराणं वन्नगुणं गंधगुणे फासगुणे जाव इच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए उड्डत्ताए नो अहत्ताए सुहत्ताए नो दुहत्ताए एतेसिं भुज्जो २ परिणमंति * यथा चासुरकुमाराणां सूत्रमुक्तं। तथा नाग कुमारादीनामपि स्तनितकुमारपर्यवसानानांवक्तव्यम्भवरमाजोगनिवर्त्तिताहारार्थे चिन्तायामुत्कर्षाभिधानानुसारेण * "उक्कोसेणं दिवसपुहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ" * इति वक्तव्यं । एतच्च पल्योपमासंख्येयभागायुषां तदधिकायुषां चावसेयं । शेषं तथैव । तथा चाह । एवं जाव थणियकुमाराणमित्यादि * ॥

सम्प्रति पृथिवीकायिकानामेतान्लसाधिकारान् चिंतयितुकाम आह । पृथ्वीकायिकानाम् ॥

पुढवीकाइयाणं भंते ! आहारट्ठी हंता आहारट्ठी । पुढविकाइयाणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । गोयमा ! अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ । पुढविकाइयाणं भंते ! किमाहारमाहारंति । एवं जहा । णेरइयाणं जाव ताइं भंते ! कइदिसिं आहारेइ निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं नवरं उसन्नकारणं न भण्णइ । वन्नओ कालनीललोहियहालिद्दसुक्किल्लाइं, गंधओ सुब्भिगंध दुब्भिगंधाइं, रसओ तित्तरसकडुयकसायअंबिलमहुराइं, फासओ करकडफासगरुयलहुयसीतउसिणणिद्धलुक्खाइं, तेसिं पोराणा वन्नगुणा । सेसं जहा । नेरइयाणं जाव आहच्च नीससंति पुढविकाइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हति । तेसिं णं भंते ! पोग्गलेणं सेयालंसि कतिभागं आहारंति । कातिभागं आसायंति ? गोयमा ! असंखेज्जाइभागं आहारंति अणंतभागं आसायन्ति पुढविकाइयाणं भंते ! जे पुग्गले आहारत्ताए गेण्हति तेकिं सव्वे आहारंति नो सव्वे आहारंति जहेव णेरया तहेव । पुढविकाइयाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति तेणं तेसिं पोग्गलाणं कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा ! फासिंदियवेमाणियत्ताए तेसिं भुज्जो २ परिणमंति । एवं जाव वणस्सइकाइया । बेइंदियाणं भंते ! आहारट्ठी ? हंता गोयमा ! आहारट्ठी । बेइंदियाणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ जहा णेरइयाणं नवरं तत्थणं जसे आभोगनिव्वत्तिए सेणं असंखेज्जसमए अंतो मुहुत्तिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ सेसं जहा पुढविकाइयाणं जाव आहच्च नीससंति नवरं नियमा छदिसिं बेइंदियाणं पुच्छा जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गेण्हंति तेणं तेसिं पोग्गलाणं कइभागं आहारंति । कइभागं आसायंति । एवं जहा नेरइयाणं । बेइंदियाणं भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति । तेसिं किं सव्वे आहारंति । बेइंदियाणं दुविहे आहारे पण्णत्ते । तंजहा । लोम आहारे य पक्खेवाहारे य । जे पोग्गले लोमआहारत्ताए गिण्हंति ते सव्वे अपरिसेसे आहारंति । जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गेण्हंति तेसिं असंखेज्जइभागमाहारंति अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अफासाइज्जमाणाणं अणास्साइज्जमाणाणं विद्धंसमागच्छंति ॥ प्रज्ञा० पद २८ ॥

टी० (पुढविकाइयाणं भंते ! इत्यादि) सर्वं पूर्ववदसुरकुमारवद्भावनीय नवरं (निव्वाघाएण छद्दिसिमित्यादि) व्याघातो नाम अलोकाकाशेन प्रतिस्खलनं व्याघातस्तस्याभावो निर्व्याघातः । "शब्दे यथावदव्ययपूर्वपदार्थनित्यमव्ययीभाव" इत्यव्ययीभावस्तेन वा तृतीयायामिति विकल्पेन आभिधानात्पक्षेऽयाम् भावः । नियमादवश्यतया षड्दिशि व्यवस्थितानि षड्भ्यो दिग्भ्य आगतानि द्रव्याण्याहारयतीति भावः । व्याघातम्पुनः प्रतीत्य लोकनिष्कुटादौ स्यात्कदाचित् । त्रिदिशि तिसृभ्यो दिग्भ्य आगतानि कदाचिच्चतुर्दिग्भ्यः कदाचित्पञ्चदिग्भ्य. । कास्म भावनेति चेदुच्यते । इह लोकनिष्कुटे पर्यंताधस्त्यप्रतराग्निकोणावस्थितो यदा पृथिवीकायिको वर्तते तदा तस्याधस्तादलोकेन व्याप्तत्वादधोदिक् पुद्गलाभावः । आग्नेयकोणावस्थितत्वात्पूर्वदिक् पुद्गलाभावो दक्षिणदिक्पुद्गलाभावश्च । एवमधः पूर्वदक्षिणरूपाणां तिसृणां दिशामलोकेन व्यापन्नता अपास्य याः परिशिष्टा ऊर्ध्वा अपरा उत्तरा च दिग् व्याहता वर्तते तत आगतान्पुद्गलानाहारयन्ति यदा पुनरसौ एव पृथिवीकायिकः पश्चिमां दिशमनुसृत्य वर्तते तदा पूर्वा दिगभ्यधिका जाता । द्वे च दिशौ दक्षिणाधस्त्यरूपे अलोकेन व्याहते इति स चतुर्दिगागतान्पुद्गलानाहारयति । यदा-पुनरूर्ध्वं द्वितीयादिप्रतरगतपश्चिमदिगवलम्ब्य तिष्ठति तदा अधस्त्याऽपि दिगभ्यधिका लभते केवलदक्षिणैवैका पर्यन्तवर्तिनी अलोकेन व्याहतेति पञ्चदिगागतान्पुद्गलानाहारयन्तीति शेष सूत्रं समस्तमपि पूर्ववद्भावनीयं वस्तुविशेषस्तमुपदर्शयति (न वरसुलन्नकारण न हवइ इत्यादि) सुगम (फासिंदियवेमायत्ताए इति) विषममात्रा विमात्रा तस्याभावो विमात्रता तया इष्टानिष्टा नानाभेदतयेति भावो न तु यथा नारकाणामेकान्ताशुभतया सुराणां च शुभतयैवेति । एव जाव वणस्सइकाइयाणंति । यथा पृथिवीकायिकानां सूत्रमुक्तमेवमतेजोवायुवनस्पतीनामपि भणनीयं । सर्वेषामपि सकललोकव्यापितया विशेषाभावात् (बेइंदियाणं भंते ! इत्यादि) सुगमं नवर । (लोमाहारे पक्खेवाहारेयत्ति) लोमम आहारा

लोमाहारः । पक्षिप्यतेऽर्थान्मुखे इति प्रक्षेपः स चासावाहारश्च प्रक्षेपाहारः तत्र यः खल्वोघतो वर्षादिषु पुद्गलप्रवेशो मूत्रादिगम्यस्स लोमाहारः । कावलिकस्तु प्रक्षेपाहारः । तत्र यान्पुद्गलान् लोमाहारतया गृह्णाति तान्सर्वानपरिशेषानाहारयन्ति तेषां तथा २ स्वभावत्वात् । यान्पुद्गलान्प्रक्षेपाहारतया गृह्णति तेषामसंख्येयतमं भागमाहारयन्ति । अनेकानि पुनर्भागसहस्राणि बहवो ऽसंख्येया भागा इति अस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानानां विध्वंसमागच्छति । किमुक्तं भवति । बहूनि रूप्याण्यतर्थहिश्च अस्पृष्टान्येवाऽनास्वादितान्येव विध्वंसमायान्ति नवरं यथायोग केचिदतिस्थौल्यतः केचिदतिसौक्ष्म्यतः इति । प्रज्ञा० । पद् ॥ २८ ॥

सम्प्रत्यस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानानाञ्च परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह ॥

एएसिणं भंते ! पोग्गलाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पोग्गला अणासाइज्जमाणा अफासाइज्जमाणा पोग्गला अणंतगुणा ॥

(एएसिण भंते ! इत्यादि) इह एकैकस्मिन्स्पर्शयोग्ये भागे अनन्ततमो भाग आस्वाद्यो भवति ततो येनास्वाद्यमानाः पुद्गलास्ते स्तोका एवाऽस्पृश्यमानपुद्गलापेक्षया तेषामनन्तभागवर्तित्वात् । अस्पृश्यमानास्तु पुद्गला अनन्तगुणाः ॥

बेइंदियाणं भंते जे पोग्गले आहारत्ताए पु० ! गोयमा ! जिब्भिंदिय फासिंदियवेमायत्ताए तेसिं भुज्जो प,० एवं जाव चउरिंदिया नवरं अणेगाइं च णं भागसहस्साइं अणग्घाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसमागच्छंति ॥

टी० ॥ (जिब्भिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए इति ।) विमात्रताऽपि प्राग्वद्भावनीया । एवं जाव चउरिंदिया । एवं द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण । सूत्र तावद्वक्तव्य यावच्चतुरिन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियगत सूत्र प्रायः समानवक्तव्यत्वात् । यस्तु विशेषस्स उपदर्श्यते नवरमित्यादि यान्पुद्गलान्प्रक्षेपाहारतया गृह्णति तेषां पुद्गलानामेकमसंख्येयतम भागमाहारयन्ति । अनेकानि पुनर्भागसहस्राणि संख्यातीता असंख्येयभागा इत्यर्थः । अनाघ्रायमाणानि अस्पृश्यमानानि अनास्वाद्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति तानि च यथायोगमतिस्थौल्यतोऽतिसौक्ष्म्यतश्च वेदितव्यानि । अत्रैवाल्पबहुत्वमाह ।

एतेसिणं भंते पोग्गलाणं अणग्घाइज्जमाणाणं अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पोग्गला अणग्घाइज्जमाणा अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा तेइंदियाणं भंते ! जे पोग्गले पुच्छा गोयमा ! घाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति । चउरिंदियाणं चक्खिंदिय जिब्भिंदिय घाणिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति सेसं जहा तेइंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा तेइंदिया नवरं तत्थणं जेसे आभोगनिव्वत्तिए से जहन्नेणं अंतो मुहुत्तस्स उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! जे पोग्गलाणं पुच्छा, गोयमा ! सोइंदिय चक्खिंदिय घाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदिय वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति । मणूसा एवं चेव नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहन्नं अंतोमुहुत्तस्स उक्को० अट्ठमभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । वाणमंतरा जहा नागकुमारा एवं जोइसिया वि नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहन्नं दिवसपु० उक्कोसेण वि दिवसपहुत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । एवं वेमाणिया वि नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहण्णेणं दिवसपु० उक्को० तेतीसाए वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ । सेसं जहा असुरकुमाराणं जाव तेसिं भुज्जो भुज्जो परिणमंति सोहम्मे आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेणं दिवसपु० उक्कोसेणं दोण्हं वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ । ईसाणे पुच्छा गोयमा ! जहन्नं दिवसपु० सातिरेगस्स उक्कोसेणं सातिरेगाणं दोण्हं वाससहस्सा । सणंदकुमाराणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दोण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं । माहिंदे पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दोण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणेणं उक्कोसेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं सातिरेगाणं । बंभलोए पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं दसण्हं वाससहस्साणं । लंतए पुच्छा । गोयमा ! जहन्नं दसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं चोदसण्हं वाससहस्साणं । महासुक्केणं पुच्छा । गोयमा ! जहण्हं चोद्दसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं सत्तदसण्हं वाससहस्साणं । सहस्सारे पुच्छा गोयमा ! जहन्नं सत्तदसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं अट्ठारसण्हं वाससहस्साणं आणतेणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं अट्ठारसण्हं वाससहस्साणं उक्कोसेणं एगूणवीसाए वाससहस्साणं । पाणएणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं एगूणवीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं वीसाए वाससहस्साणं । आरणेणं पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं वीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं एक्कवीसाए वाससहस्साणं । अच्चुएणं । पुच्छा ! गोयमा ! जहन्नेणं एक्कवीसाए वाससहस्साणं । उक्कोसेणं बावीसाए वाससहस्साणं । हेट्ठिम २ गेविज्जगाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं बावीसाए वाससहस्साणं उक्कोसेणं तेवीसाए वाससहस्साणं । एवं सव्वत्थ सहस्साणि भाणियव्वाणि । हेट्ठिममज्झिमाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नं तेवीसाए उक्कोसं चउवीसाए हेट्ठिमउवरिमाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं चउवीसाए उक्कोसेणं पणवीसा । मज्झिमहेट्ठिमाणं पुच्छा । जहन्नं पणवीसाए उक्कोसेणं छव्वीसाए ।

मज्झिममज्झिमाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नं छव्वीसाए उक्कोसेणं सत्तावीसाए । मज्झिम उवरिमाणं पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं सत्तावीसाए । उक्कोसेणं अट्ठावीसाए । उवरिमहेट्ठिमाणं पुच्छा । गोयमा ! जहण्णं अट्ठावीसाए उक्कोसेणं एगूणतीसाए । उवरिममज्झिमाणं पुच्छा, गोयमा ! जहण्णं एगूणतीसाए उक्कोसेणं तीसाए उवरिमउवरिमगेविज्जगाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं तीसाए उक्कोसेणं एक्कतीसाए वाससहस्साणं । विजयवेजयंतजयंतअपराजियाणं पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेणं एक्कतीसाए उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं । सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पुच्छा, । गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं आहारट्ठे समुप्पज्जइ ॥

टी० । एएसिणं भंते ! इत्यादि । इह एकैकस्मिन् भागे स्पर्शयोग्येऽनन्ततमो भाग आस्वादयोग्यो भवति । तस्याप्यनन्ततमो भाग आघ्रायमाणयोग्यः । ततो यथोक्तमल्पबहुत्वं भवति शेषं सर्वं सुगम । पञ्चेन्द्रियसूत्रे–जहन्नेण अतो मुहुत्तस्सेति । षष्ठ्याः सप्तम्यर्थत्वादन्तर्मुहूर्त्ते गते सति भूय आहारार्थः समुत्पद्यते उत्कर्षतः षष्ठभक्तेऽतिक्रान्ते एतच्च देवकुरूत्तरकुरुतिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियापेक्षया द्रष्टव्य । मनुष्यसूत्रे उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्सत्ति । उत्कर्षतोऽष्टमभक्तेऽतिक्रान्ते । एतच्च तास्वेव देवकुरूत्तरकुरुषु द्रष्टव्यं व्यंतरसूत्रे नागकुमारसूत्रवत् । ज्योतिष्कसूत्रमपि तथैव यस्तु विशेषस्तमुपदर्शयति । नवरं (जहन्नेण वि दिवसपुहुत्तस्स उक्कोसेण वि दिवसपुहुत्तस्सत्ति) ज्योतिष्का हि जघन्यतोऽपि पल्योपमाष्टमभागप्रमाणायुषस्ततस्तेषां जघन्यपदेऽप्युत्कृष्टपदेऽपि दिवसपृथक्त्वेऽतिक्रांते भूय आहारार्थः समुत्पद्यते । पल्योपमासंख्येयभागायुषां च स्वरूपत एव दिवसपृथक्त्वातिक्रमे भूय आहारार्थस्समुत्पद्यते । वैमानिकसूत्रे–नवर (आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेण दिवसपुहुत्तस्स इति) एतत्पल्योपमाद्यायुषामवसेय । उक्कोसेण तेत्तीसाए वाससहस्साण ति । एतदनुत्तरसुराणामवसेय । इह यस्या यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्यास्तावत्सु वर्षेतश्च स्थितिपरिमाणं परिभाव्य वैमानिकसूत्र सकलमपि स्वयं विज्ञेयमिति ॥ प्रज्ञा. पद. ॥ २८ ॥

संयतशब्दे तदाहारः ॥

नैरयिकाः किंवीचिद्रव्याण्यवीचिद्रव्याणि वाहारयति ।

णेरइयाणं भंते ! किं वीचिं दव्वाइं आहारेंति अवीचिं दव्वाइं आहारेंति ? गोयमा ! णेरइया वीचिदव्वाइं पि आहारेंति अवीचिदव्वाइं पि आहारेंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ । णेरइया वीचीं तं चेव आहारेंति ! गोयमा ! जेणं णेरइया एकपदे सूणाइं पि दव्वाइं आहारेंति तेणं णेरइया वीचिदव्वाइं आहारेंति जेणं णेरइया पडिपुण्णाइं दव्वाइं आहारेंति तेणं णेरइया अवीचिदव्वाइं आहारेंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव आहारेंति एवं जाव वेमाणिया आहारेंति ॥

टी. । वीइ दव्वाइंति ॥ वीचिर्विवक्षितद्रव्याणां तदवयवानां च परस्परेण पृथग्भावो "विचिर पृथग्भाव" इति वचनात् तत्र वीचिप्रधानानि द्रव्याणि वीचिद्रव्याणि एकादिप्रदेशन्यूनानीत्यर्थः । एतन्निषेधादवीचिद्रव्याणि । अयमत्र भावो- यावता द्रव्यसमुदायेनाहारः पूर्य्यते स एकादिप्रदेशोनो वीचिद्रव्याण्युच्यते । परिपूर्णस्त्ववीचिद्रव्याणीति टीकाकार. । चूर्णिकारस्त्वाहारद्रव्यवर्गणा अधिकृत्येदं व्याख्यातवान् तत्र च याः सर्व्वोत्कृष्टा आहारद्रव्यवर्गणास्ता अवीचिद्रव्याणि । यास्तु ताभ्य एकादिना प्रदेशेन हीनास्ता वीचिद्रव्याणीति (एगपएसूणाइं पि दव्वाइति) एकप्रदेशोनान्यपि अपि शब्दादनेकप्रदेशोनान्यपीति ॥ भ. १४ श. ६ उ. ॥

अनन्तराहाराः परम्पराहाराः ।

णेरइयाणं भंते ! अणंतराहारा तत्तो निव्वत्तणया तत्तो परियाइणया तत्तो परिणामणया तत्तो परियारणया तत्तो पच्छा विउव्वणया ? हंता गोयमा ! णेरइया अणंतराहारा तत्तो निव्वत्तणया तत्तो परियाइणया तत्तो परिणामणया तओ परियारणया तओ पच्छा विउव्वणया असुरकुमाराणं भंते ! अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया तओ परियाइणता तओ परिणामणता तओ विउव्वणया तओ पच्छा परियारणया ? हंता गोयमा ! असुरकुमारा अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया जाव तओ पच्छा परियारणया । एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं भंते ! अणंतराहारा तओ निव्वत्तणया तओ परियाइणता तओ परिणामणता तओ परियारणता तओ विउव्वणया ? हंता गोयमा ! तं चेव जाव परियारणता नो चेव णं विउव्वणता एवं जाव चउरिंदिया नवरं वाउकाइया पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा जहा णेरइया वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा ॥

टी० । नैरयिका णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! परमसुखयोगिन् ! वा अनन्तरमुपपातक्षेत्रप्राप्तिसमयमेव आहारयन्तीत्यनन्तराहाराः । ततो निव्वत्तणया इति । ततोऽनन्तराहारग्रहणादारभ्य क्रमेण शरीरस्येति निर्वार्तिता निष्पत्तिर्भवति । तओ परियाइणया इति । ततश्शरीरनिष्पत्तेरारभ्य पर्यादान यथायोगमङ्गप्रत्यङ्गैर्लोमाहारादिना समन्ततः पुद्गलादान । तओ परिणामणया इति । ततः पुद्गलादानादनन्तर तेषां पुद्गलानामपरिणामनमिन्द्रियादिरूपतया परिणमत्यापादन । ततो परियारणया इति । तत इन्द्रियादिरूपतया परिणमत्यापादनादूर्ध्वं परिचारणा यथायोग शब्दादिविषयोपभोगः तत पश्चात् विकुर्वणा वैक्रियलब्धिवशात् विक्रिया नानारूपा एवमुक्ते भगवानाह–हता गोयमेत्यादि । हंतेत्यभ्यनुज्ञायां हंता गौतम ! नैरयिका अनंतराहारा इत्यादि । तदेव यथा नैरयिकाणामनतराहारादिवक्तव्यतोक्ता तथा असुरकुमारादीनामपि स्तनितकुमारपर्य्यवसानानां वक्तव्या नवरं पूर्व्वं विकुर्व्वणं पश्चात्परिचारणा ते हि विशिष्टशब्दाद्युपभोगवाञ्छायां पूर्वमिष्ट वैक्रियरूप कुर्व्वन्ति पश्चात् शब्दाद्युपभोगमित्येष नियम । शेषास्तु शब्दाद्युपभोगसंपत्तौ सत्यां हर्षवशाद्विशिष्टतरशब्दाद्युपभोगवाञ्छातो ऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणाद्विकुर्व्वते । ततस्तेषां पूर्व्वं प्रविचारणा पश्चाद्विकुर्वणेति पृथिवीकायविषये प्रश्नसूत्रे तथैव उत्तरसूत्रे तावद्वक्तव्य यावत्परिचारणा तेषामपि स्पर्शोपभोगसद्भावात् । नो चेव ण

विउव्वणयत्ति । न चैव तेषां विकुर्वणा वाच्या वैक्रियलब्धेर-सम्भवात् । एवमित्यादि । एव पृथिवीकायवदप्कायादयो वातकायवर्जास्तावदध्येतव्या यावच्चतुरिन्द्रियाः सर्वेषामपि वैक्रियलब्धेरसम्भवेन सूत्रस्य समानत्वात् वातकायान् प्रति वि शेषमभिधित्सुः समानगमत्वात्पञ्चेन्द्रियतिर्य्यङ्मनुष्याणामपि वातकायैः सहातिदेशमाह । नवरमित्यादि । जहा नेरइया इति । यथा नैरयिकास्तथा वक्तव्याः । किमुक्त भवति । नैर-यिकवद्विकुर्व्वणाप्येतेषां वक्तव्या वैक्रियलब्धिसम्भवात् । सा च प्रविचारणायाः पश्चादिति । वाणमतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा इति । असुरकुमाराणामिव व्यन्तरादीना-मपि पूर्वं विकुव्वणा पश्चात्परिचारणा वक्तव्येति भावः । सुर-गणानां सर्वेषामपि तथा स्वाभाव्यात् । उक्तञ्च मूलटीकायां "पुव्वं विउव्वणा खलु पच्छा परिचारणा सुरगणाणं । सेसाण पुव्वं परियारणाओ पच्छा विउव्वणया,, इति । प्रज्ञा ३४ पद ।

सम्प्रत्याहारविषयमाभोग चिचिन्तयिपुरिदमाह ।

णेरइया णं भंते ! आहारे किं आभोगनिव्वत्तिए अ-णाभोगनिव्वत्तिए ? गोयमा ! आभोगनिव्वत्तिए वि अणाभोगनिव्वत्तिए वि । एवं असुरकुमाराणं जाव वेमाणियाणं नवरं एगिंदिया णं नो आभोगनिव्वत्तिए अनाभोगनिव्वत्तिए । णेरइया णं भंते ! जे पोग्गले आ-हारत्ताए गेण्हंति ते किं जाणंति पासंति आहारंति उ-दाहु न जाणंति न पासंति आहारंति गोयमा ! न जाणंति न पासंति आहारंति । एवं जाव तेइंदिया । चउरिंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! अत्थेगइया न जाणंति पासंति आहारंति, अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । पंचिंदियातिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! अत्थेगतिया जाणंति पासंति आहारंति अत्थेगतिया जाणंति न पासंति आहारंति अत्थेगतिया न जाणंति पासंति आहारंति, अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । एवं मणुस्सावि । वाणमंतरजोइसिया जहा णेरइया । वेमाणियाणं पुच्छा । गोयामा ! अत्थे गतिया जाणंति पासंति आहारंति अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–वेमाणिया अत्थेगतिया जाणंति पासंति आहा-रंति । अत्थेगतिया न जाणंति न पासंति आहारंति ? गोयमा ! वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा माई मिच्छद्दिट्ठी उववन्नगा य अमाई सम्मद्दिट्ठी उववन्नगा य । एवं जहा इंदियउद्देसे पढमे भणिए तहा भाणि-यव्वं जाव से तेणट्ठेण गो. एवं वुच्चइ ॥

टी० आभोगनिर्वर्त्तितो यदा मन प्रणिधानपूर्व्वमाहार गृ-ण्हाति शेषकालमनाभोगनिर्वर्तित स च लोमाहारोऽवसा-तव्यः । एव शेषाणामपि जीवानामाभोगनिर्वर्तितोऽनाभोग निर्वर्तितश्चाहारो भावनीयः । नवरमेकेन्द्रियाणामतिस्तोका पटुमनोद्रव्यलब्धिसपन्नत्वात् । पटुतर आभोगो नोपजायते । इति तेषां सर्वदानाभोगनिर्वर्तित एवाहारो न पुनः कदाचिद-प्याभोगनिर्वर्तितः । अधुनाहार्य्यमाणपुद्गलविषये ज्ञानदर्शने चिन्तयति । नेरइयाण इत्यादि । नैरयिका णमिति वाक्यालं-ङ्कारे । भदन्त ! यान्पुद्गलानाहारतया गृण्हन्ति ।

भगवानाह गौतम ! जानन्त्यवधिज्ञानेन लोमाहारतया तेषामतिसूक्ष्मत्वेन नारकावधेरविषयत्वात् ॥ न च पश्यंति चक्षुरिन्द्रियाभावात् । द्वीन्द्रिया न जानन्ति । मिथ्याज्ञानतया तेषां सम्यक्परिज्ञानाभावात् । द्वीन्द्रियाणां हि मत्यज्ञान तदपि चास्पष्टमनःप्रक्षेपाहारमपि न ते स्वयं गृह्यमाणमपि सम्यक् जानन्ति न च पश्यन्ति चक्षुरिन्द्रिया-भावात् । एव त्रीन्द्रिया अपि ज्ञानदर्शनविकला भावनीयाः । चतुरिन्द्रियाः । अत्थेगइयत्ति । सन्त्येकके स्वय गृह्यमाणम-प्याहारप्रक्षेपकत्वरूपमपि न जानति । मिथ्याज्ञानित्वात् । तेषामपि हि द्वीन्द्रियाणामिव मत्यज्ञान तदपि चाविस्पष्टमिति चक्षुषा पुनः पश्यति चक्षुरिन्द्रियसद्भावात् । तथाहि । पश्य न्ति मक्षिकादयो गुडादिकमिति एवमाहारयन्ति तथा सन्त्ये कके चतुरिन्द्रिया ये न जानन्ति मिथ्यात्वान्न च पश्यन्ति अन्ध कारादिना चक्षुर्दर्शनस्य व्याहतत्वात् अनाभोगसंभवाद्वा । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिरश्चां चतुर्भंगी प्रक्षेपाहार लोमाहारञ्चाधि कृत्य भावनीया । तत्र प्रक्षेपाहारमधिकृत्यैव भावना । सन्त्ये-कके तिर्यक्पचेन्द्रिया ये प्रक्षेपमाहारं जानन्ति सम्यग्ज्ञानि-तया तेषां यथावस्थितपरिज्ञानात् । पश्यन्ति चक्षुरिन्द्रियभा-वात् । एवमाहारयन्ति । सन्त्येकके ये जानन्ति पूर्ववन्न च पश्यन्ति दर्शनस्यान्धकारादिना अनाभोगेन वा व्याहत त्वात् । तथा सन्त्येकके ये न जानन्ति मिथ्याज्ञानतया सम्यक् परिज्ञानाभावात् । पश्यन्ति पुनश्चक्षुरिन्द्रिययोगात् । तथा सन्त्येकके ये न जानन्ति । मिथ्याज्ञानित्वान्न च पश्यति पूर्व-वत् । एवमाहारयन्ति लोमाहारापेक्षया त्वेवं भावना सन्त्ये कके तिर्यक् पचेन्द्रिया ये लोमाहारमपि जानन्ति विशिष्टा वधिज्ञानपरिकलितत्वात् । पश्यन्ति । तथाविधक्षयोपशम-भावत इन्द्रियपाटवस्यातिविशुद्धत्वात् । एवमाहारयन्ति । यथा सन्त्येकके ये जानन्ति पूर्ववद । न च पश्यन्ति तथा विधस्येन्द्रियपाटवस्याभावात् । तथा सन्त्येकके न जानन्ति पश्यन्ति तथारूपपाटवाभावादिति एव मनुष्याणामपि लोमा-हारप्रक्षेपाहारौ प्रतीत्य चतुर्भंगी भावनीया । वाणमंतरजो-इसिया जहा नेरइया । नैरयिकावधिरिव व्यन्तरज्योति-ष्कावधिरपि मनोभक्षित्वेऽप्याहारपुद्गलानामविषयत्वात् । वेमाणियाणं पुच्छति । वैमानिकानाम्पृथक् सूत्रं वक्तव्य । वेमाणियाण भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हंति ते किं जाणंति पासंति उदाहु न जाणंति न पासंति आहरंति इति । भगवानाह गोयमेत्यादि । माया पूर्वभवकृता विद्यते येषान्ते मायिनो मायया हि यथा तथा बादररूपकल्पनया कलुषकर्म प्रादुर्भाव । कलुषे च कर्मण्युदयमागते भवप्रत्युदयादप्युप-जायमानो ऽवधिर्नातिसमीचीनो भवति । एते च मम्यग्दृशो वेदितव्या ।तथामिथ्याविपर्य्यस्ता दृष्टिर्जि नप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्येषान्ते मिथ्यादृष्टयः । मायि-नश्च मिथ्यादृष्टयश्च मायिमिथ्यादृष्टयस्ते च ते उपपन्नाश्च मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नास्त एव स्वार्थिककप्रत्ययविधानान्

मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकास्ते चोपरितनोपरितनग्रैवेयकपर्यवसाना विज्ञेयाः ॥ तेषां यथायोगमवश्यं मिथ्यादृष्टित्वस्य मायित्वस्य च भावात् । तद्विपरीता अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकास्ते चानुत्तरविमानवासिनस्तेषामवश्य सम्यग्दृष्टित्व पूर्व्वानतर भवे नितरां प्रतनुक्रोधमानमायालोजत्वस्योपशान्तकषायत्वस्य च भावात् । आह च मूलटीकाकारः (वेमाणिया माइमिच्छदिट्ठी उववन्नगा जाव उवरिमगेवेज्जा अमायिसम्मादिट्ठी उववन्नगा) अनुत्तरा एव गृह्यन्ते इति । एव जहेत्यादि । एव मुक्तेन प्रकारेण प्राक् यथा इन्द्रियसत्के प्रथमोद्देशके भणित तथा भणितव्यं । तच्च तावत् यावत्सर्वान्तिमं । से एणमित्यादिना निगमनवाक्य तच्चैवं—

तत्थ णं जे ते मायिमिच्छदिट्ठिउववन्नगा तेणं न याणंति न पासंति आहारंति तत्थ णं जे ते अमायिसम्मादिट्ठि उववन्नगा तेणं दुविहा पण्णत्ता । तं अणंतरोववन्नगा परंपरोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते अणंतरोववन्नगा ते न याणंति न पासंति आहारंति । तत्थ णं जे ते परंपरोववन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता । तं० पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य तत्थ णं जे ते अपज्जत्तगा ते न याणंति न पासंति आहारंति । जे ते पज्जत्तगा ते दुविहा पण्णत्ता। तं० उवउत्ता य अणुवउत्ता य । तत्थ णं जे ते अणुवउत्ता ते न याणंति न पासंति आहारंति। तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति आहारंति से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ । अत्थेगइया न जाणंति न पासंति आहारंति । अत्थेगइया जाणंति पासंति आहारंति इति ।

अस्यायमर्थः । सूत्रे ये ते मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नका उपरितनोपरितनग्रैवेयकपर्य्यवसाना इत्यर्थः । ते मनोभक्ष्याहारयोग्यान्पुद्गलान् न जानति अवधिज्ञानेन तदेवावधेस्तेषामविषयत्वात् । न पश्यन्ति चक्षुषा तथाविधपाटवाभावात् । येऽप्यमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नका अनुत्तरविमानवासिन इत्यर्थः । ते द्विधा अनन्तरोपपन्नकाः परम्परोपपन्नकाश्च । प्रथमसमयोत्पन्ना अप्रथमसमयोत्पन्नाश्चेत्यर्थः । अत्र ये ते अनन्तरोपपन्नकास्ते न जानन्ति न पश्यन्ति प्रथमसमयोत्पन्नतयाऽवधिज्ञानोपयोगस्य चक्षुरिन्द्रियस्याभावात् । किन्त्वेवमेवाहारयति । तत्र ये ते परम्परोपपन्नकास्ते द्विविधास्तद्यथा पर्य्याप्ता अपर्य्याप्ताश्च । तत्र ये ते अपर्य्याप्तकास्ते न जानन्ति न च पश्यन्ति पर्य्याप्तानामसपूर्णत्वेनावध्याद्युपयोगाभावात् । ये ऽपि पर्य्याप्तास्ते ऽपि द्विविधास्तद्यथा उपयुक्ता अनुपयुक्ताश्च । तत्र ये ते उपयुक्तास्ते जानन्ति अवधावनशतो यथाशक्तिनियमेन ज्ञानस्य स्वविषयपरिच्छेदाय प्रवृत्तिसम्भवात् । पश्यन्ति चक्षुषा इन्द्रियपाटवस्य तेषामतिविशिष्टत्वात् । ये त्वनुपयुक्तास्ते न जानन्ति न च पश्यन्ति अनुपयुक्तत्वादेव । उपयुक्ता अपि कथं मनोभक्ष्याहारयोग्यान्पुद्गलान् जानन्ति इति चेदुच्यते । इहावश्यकप्रथमपीठिकायामवधिज्ञानाधिकारेऽभिहितं "संखेज्जकम्मदव्वे लोए थोवूणय पलिय" ॥ अस्यायमर्थः । कार्म्मणशरीरद्रव्याणि पश्यन् क्षेत्रतो लोकस्य सङ्ख्येयान् भागान्पश्यन्ति । कालतः स्तोकाः पल्योपम यावत् अनुत्तरास्तु सम्पूर्णां लोकनाडीम्पश्यन्ति । "सम्भिन्नलोगनालीं पासन्ति अनुत्तरधे वा" इति वचनात् । ततस्ते मनोभक्ष्याहारयोग्यानपि पुद्गलान् जानन्ति । आह च मूलटीकाकारः । ते जानन्ति आहारयाति च विशुद्धत्वादवधेरिन्द्रियविषयस्य चातिविशुद्धत्वात्पश्यन्त्यपि इति । अत्रेन्द्रियविषयस्येति इन्द्रियपाटवस्येतिभावः । उपसंहारवाक्य प्रतीतार्थं ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियशरीरादीनामधिकारमभिधित्सुराह ॥

नेरइयाणं भंते ! किं एगिंदियसरीराइं आहारंति जाव पंचिंदियसरीराइं आहारंति ? गोयमा ! पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एगिंदियसरीराइं पि आहारंति जाव पंचिंदियसरीराइं पि आहारंति । पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा पंचिंदियसरीराइं पि एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं चेव पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा एगिंदियसरीराइं आहारंति । बेइंदिया पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं चेव पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियया बेइंदियसरीराइं आहारंति । एवं जाव चउरिंदिया जाव पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च एवं पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्च नियमा जस्स जइ इंदिया तस्स इंदियसरीराइं ते आहारंति। सेसं जहा नेरइया जाव वेमाणिया ॥

टी. ॥ नेरइयाण भंते ! इत्यादिप्रश्नसूत्र सुगम निर्वचनसूत्रमाह । गोयमेत्यादि । पूर्वोऽतीतो भावस्तस्य प्रज्ञापना प्ररूपणा तामतीत्य एकेन्द्रियशरीराण्यपि यावत्करणात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियशरीरपरिग्रहः । पञ्चेन्द्रियशरीराण्यप्याहारयन्ति । इयमत्र भावना । यदा तेषामाहार्य्यमाणानां पुद्गलानामतीतो भावः परिभाव्यते तदा ते किंचित्कदाचित् एकेन्द्रियशरीरतया परिणता आसीरन् । कदाचित् द्वीन्द्रियशरीरतया परिणता आसीरन् । कदाचित् त्रीन्द्रियशरीरतया कदाचिच्चतुरिन्द्रियशरीरतया कदाचित्पञ्चेन्द्रियशरीरतया ततो यदि पूर्व्वभाव इदानीमप्यारोप्य विवक्ष्यते तदा नैरयिका एकेन्द्रियशरीराण्यपि यावत्पञ्चेन्द्रियशरीराण्यप्याहारयन्तीति भवति । पडुप्पन्नभावपन्नवणं पडुच्चेत्यादि । प्रत्युत्पन्नो वार्तमानिकः स चासौ भावश्च प्रत्युत्पन्नभावस्तस्य प्रज्ञापना तां प्रतीत्य नियमादवश्यतया पंचेन्द्रियशरीराण्याहारयन्ति । कथमिति चेदुच्यते । इह प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनां करोति नय ऋजुसूत्रो न शेषा नैगमादयः । ऋजुसूत्रश्च क्रियमाण कृतमभ्यवह्रियमाणमभ्यवहृतं परिणम्यमाणं परिणतमभ्युपगच्छति । अभ्यवह्रियमाणाश्च पुद्गलास्ते उच्यन्ते ये स्वशरीरतया परिणम्यमाना वर्तन्ते । अभ्यवह्रियमाण चाभ्यवहृत परिणम्यमानञ्च परिणतमिति तन्मतेन शरीरमेवाभ्यवह्रियते । स्वशरीरञ्च तेषां पंचेन्द्रियशरीरान्तेषामत उक्त नियमात्पञ्चेन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति । एवमसुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्य्यवसाना भवनपतयो वक्तव्याः । पृथिवीकायिकसूत्रे प्रत्युत्पन्नभावप्ररूपणाचिन्तायां नियमादेकेन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति वक्तव्यं । तेषामेकेन्द्रियतया तच्छरीराणामेकेन्द्रियशरीरत्वात् । एवं द्वीन्द्रियसूत्रे नियमाद् द्वीन्द्रियशरीराण्याहारयन्तीति वक्तव्यं त्रीन्द्रियसूत्रे नियमात्त्रीन्द्रियशरीराणि चतुरिन्द्रियसूत्रे नियमाच्चतुरिन्द्रियशरीराणीति । तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाश्च नैरयिकवद्वक्तव्याः तथाचाह (पुढवीकायाणं पुच्छा) इत्यादि ॥ प्रज्ञा० प० २८ ॥

अधुना लोमाहाराधिकारं विभावयिषुरिदमाह ॥

नेरइया णं भंते ! किं लोमाहारा पक्खेवाहारा? गोयमा ! लोमाहारा नो पक्खेवाहारा । एवं एगिंदिया सव्वे देवा य भाणियव्वा जाव वेमाणिया । बेइंदिया जाव मणुस्सा लोमाहारा वि पक्खेवाहारा वि ॥

(नेरइयाणमित्यादि) सुगमं नवरं नैरयिकाणां प्रक्षेपाहारो न भवतीति वैक्रियशरीराणां तथा स्वभावत्वात् लोमाहारोऽपि च पर्याप्तानामवसेयो नापर्याप्तानामिति ॥ (एवमेगिंदिया इत्यादि) एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेण एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सर्वे देवाश्चासुरकुमारादयो यावद्वैमानिका भणितव्यास्तत्रैकेन्द्रियाणां प्रक्षेपाहाराभावो मुखाभावात् । असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरितया तथा स्वभावात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च लोमाहारा अपि वक्तव्याः। प्रक्षेपाहारा अपि उभयरूपस्याप्याहारस्य तेषां संभवात्

चरममर्थाधिकारमभिधित्सुराह ॥

नेरइया णं भंते ! किं ओयाहारा मणभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा णो मणभक्खी एवं सव्वे उरालियसरीरा वि देवा सव्वे जाव वेमाणिया ओयाहारा वि मणभक्खी वि। तत्थ णं जे ते मणभक्खी देवा तेसि णं इच्छामणे समुप्पज्जइ इच्छामो णं मणभक्खणं करित्तए तए णं तेहिं देवेहिं एवं मणसीकए समाणे खिप्पामेव जे पोग्गला इट्ठा कंता जाव मणामा तेसिं मणभक्खत्ताए परिणमंति से जहा नामए सीता पोग्गला सीतं पप्पसीतं चेव अतिवइत्ताणं चिट्ठंति उसिणा वा पोग्गला उसिणं पप्पउसिणं चेव अतिवइत्ताणं चिट्ठंति एवामेव तेहिं मणभक्खणे कए समाणे से इच्छामणे खिप्पामेव अवेति ॥

(नेरइया ण भंते ! इत्यादि) ओज उत्पत्तिदेशे आहारयोग्यपुद्गलसमूहः । ओज आहारो येषान्ते ओजआहारा मनसा भक्षयन्तीत्येवं शीला मनोभक्षिणः। तत्र नैरयिका ओज आहारा भवन्ति । अपर्याप्तावस्थायामोजस एवाहारस्य संभवात् मनोभक्षिणस्त्वेते न भवन्ति मनोभक्षणलक्षणो ह्याहारस्स उच्यते । ये तथाविधशक्तिवशान्मनसा स्वशरीरपुष्टिजनकाः पुद्गला अभ्यवह्रियन्ते । यदभ्यवहरणानन्तरञ्च दृप्तपूर्वकः परमसन्तोष उपजायते नचैतन्नैरयिकाणामस्ति । प्रतिकूलकर्मोदयवशतस्तथारूपशक्त्यभावादेव(सव्वे उरालियसरीरा वि) इति । एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेणौदारिकशरीरिणोऽपि सर्वे पृथिवीकायिकादयो मनुष्यपर्यवसाना वक्तव्याः । तद्यथा । (पुढविकाइया णं भंते ! किं ओयाहारा मणभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा नो मणभक्खी त्यादि) देवा इत्यादि देवास्सर्वे यावद्वैमानिका ओजआहारा अपि मनोभक्षिणोऽपि वक्तव्याः। तद्यथा—

असुरकुमारा णं भंते ! किं ओयाहारा मणोभक्खी ? गोयमा ! ओयाहारा वि मणभक्खी वि जाव वेमाणियाणं पुच्छा गोयमा ! ओयाहारा वि मणभक्खी वि ॥

सम्प्रति मनोभक्षित्वं देवानां यथा भवति तथोपदर्शयति । तत्र तेषु संसारिषु जीवेषु मध्ये णमिति वाक्यालंकारे । ये मनोभक्षिणो देवास्तेषां णमिति प्राग्वत्। मन प्रस्तावादाहारविषयं समुत्पद्यते । केनोल्लेखेनेत्यत आह इच्छामो अभिलषामो णमिति पूर्ववत् मनोभक्षिणमिति मनसा भक्षणं मनोभक्षणं कर्तुमिति तत एव तैर्मनसि कृते व्यवस्थापिते मनोभक्षणे सति तथा विधशुभकर्मोदयवशात् क्षिप्रमेव तत्कालमेवेति भावः। ये इष्टाः कान्ताः प्रिया मनोज्ञाः मन आपा पुद्गलास्तेषां व्याख्यानं प्राग्वत् । तेषां देवानां मनोभक्षतया परिणमन्ति कथमित्यत्रैव दृष्टान्तमाह (से जहा नामए)से शब्दोऽथशब्दार्थः सचात्र वाक्योपन्यासे यथा नामेति विवक्षिताः शीताः पुद्गलाः शीतं शीतयोनिकं प्राणिनं प्राप्य ते शीतत्वमेवातित्र ज्यातिशयेन गत्वा तिष्ठन्ति किमुक्तं भवति । विशेषतश्शीतीभूय शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्त इति । उष्णा वा पुद्गला उष्णम् उष्णयोनिकं प्राप्य उष्णमेव उष्णत्वमेवातिव्रज्यातिशयेनगत्वा तिष्ठन्ति विशेषतस्स्वरूपलाभसम्पत्त्या तस्य सुखित्वायोपतिष्ठन्त इति भावः। एवमेव अनेनैव प्रकारेण तैर्देवैः प्रागुक्तरीत्या मनोभक्षणे कृते सति स तेषां देवानामिच्छा मन आहारविषयेच्छा प्रधानमनः क्षिप्रमेवापैति तृप्तिभावान्निवर्तत इति भावः। इयमत्र भावना यथा शीतपुद्गलाः शीतयोनिकस्य प्राणिनः सुखित्वायोपकल्पन्ते उष्णपुद्गला वा उष्णयोनिकस्य तथा देवैरपि मनसाऽभ्यवह्रियमाणाः पुद्गलास्तेषां तृप्तये परमसंतोषाय चोपकल्पन्ते तत आहारे विषयाभिलाषनिवृत्तिर्भवतीति । अत्र च ओज आहारादिविभागप्रतिपादिका इमास्सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिगाथाः ।

सरीरेणोयाहारो तयादिफासेण लोम आहारो ।
पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥ १ ॥
ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तगा मुणेयव्वा ।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खेवे होंति भइयव्वा ॥ २ ॥
एगिंदियदेवाणं णेरइयाणं च णत्थि पक्खेवो ।
सेसाणं जीवाणं संसारत्थाणपक्खेवो ॥ ३ ॥
लोमाहार एगिंदियाओ णेरइयसुरगणा चेव ।
सेसाणं आहारो लोमे पक्खेवओ चेव ॥ ४ ॥
ओयाहार मणभक्खिणो य सव्वे वि सुरगणा होंति ।
सेसा हवंति जीवा लोमे पक्खेवओ चेव ॥ ५ ॥

अथ क आहार आभोगनिर्वर्तितः को वाऽनाभोगनिर्वर्तितः इति चेदुच्यते । देवानामाभोगनिर्वर्तित ओज आहारः स चापर्याप्तावस्थायां लोम आहारोऽपि अनाभोगनिर्वर्तितस्स च पर्याप्तावस्थायां आभोगनिर्वर्तितो मनोभक्षणलक्षणः स च पर्याप्तावस्थायामाभोगनिर्वर्तितो मनोभक्षणलक्षणनिर्वर्तित आहारोऽपर्याप्तावस्थायां लोमाहारः पर्याप्तावस्थायां नैरयिकवर्जानां लोमाहारो नैरयिकाणां लोमाहार आभोगनिर्वर्तितोऽपि द्वीन्द्रियादीनां मनुष्यपर्यवसानानां यः प्रक्षेपाहारस्स आभोगनिर्वर्तित एवेति ॥

नैरयिकादिषु आहारपुद्गलानां चयोपचयादिजीवशब्दे ।
आहारपदस्य द्वितीये उद्देशोऽर्थाधिकाराः ।

आहारभवियसन्नी लेस्सादिट्ठी य संजयकसाए ।
णाणजोगुवओगे वेदेयसरीरपज्जत्ति ॥ १ ॥

प्रथम सामान्यत आहाराधिकारो, द्वितीयो भव्याधिकारो भव्यविशेषिताहाराधिकारः । एव तृतीयः संज्ञाधिकारः, चतुर्थो लेश्याधिकारः, पञ्चमो दृष्ट्यधिकारः, षष्ठ संयताधिकारः, सप्तम-

कषायाधिकारो, ऽष्टमो ज्ञानाधिकारो, नवमो योगाधिकारो, दशम उपयोगाधिकार, एकादशो वेदाधिकारो, द्वादश शरीराधिकार, त्रयोदशः पर्य्याप्त्यधिकार । इह भव्यादिग्रहणेन तत्प्रतिपक्षभूता अभव्यादयोऽपि सूचिता द्रष्टव्याः । तथैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वात् ॥

तत्र प्रथमं सामान्यत आहाराधिकार विभावयिषुरिदमाह ।

जीवे णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए । एवं नेरइए जाव असुरकुमारे जाव वेमाणिए । सिद्धे णं भंते ! किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! णोआहारए अणाहारए ।

जीवेण भन्ते ! इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगम भगवानाह । गोयमे त्यादि गौतम ! स्यात्कदाचिदाहारक कदाचिदनाहारकः कथमिति चेदुच्यते । विग्रहगतौ केवलसमुद्घाते शैलेश्य वस्थायां सिद्धत्वे चानाहारकः शेषास्ववस्थास्वाहारक उक्त च । " विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समोहया अजोगी य । सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा "॥१॥ तदेव सामान्यतो जीवचिन्तां कृत्वेदानीं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डक क्रमेणाहारानाहारकचिन्तां करोति (सिद्धेणं भन्ते ! किं आहारेत्यादि) सुगम तदेवं सामान्यतो जीवपदे नैरयिकादिषु चैकवचनेन आहारकानाहारकत्वचिन्ता कृता ॥

सम्प्रति बहुवचनेन तां चिकीर्षुराह ॥

जीवाणं भंते ! किं आहारया अणाहारया ? गोयमा ! आहारया वि अणाहारया वि । नेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा । आहारगा । १ । अहवा आहारगा य अणाहारगे य । २ । अहवा आहारगा य अणाहारगा य । ३ । एवं जाव वेमाणिया । नवरं । एगिंदिया जहा जीवा । सिद्धाणं पुच्छा । गोयमा ! नो आहारगा अणाहारगा ॥

प्रश्नसूत्रं सुगम । भगवानाह । गौतम ! आहारका अपि अनाहारका अपि सदैव बहुवचनविशिष्टा उभये ऽपि लभ्यन्ते इति भाव । तथाहि । विग्रहगतिव्यतिरेकेण शेषकाल सर्व्वेऽपि ससारिणो जीवा आहारका विग्रहगतिस्तु कस्यचित्कदाचित्क स्यचित्तु भवतीति सर्वकालमपि लभ्यमाना सम्प्रति नियतानामेव लभ्यते तत आहारकेषु बहुवचन अनाहारका अपि सिद्धास्सदैव लभ्यन्ते ते चाभव्येभ्यो ऽनन्तगुणा । अन्यच्च सर्वकालमेकैकस्य निगोदस्य प्रतिसमयसख्येयभागो विग्रहगत्यापन्नो लभ्यते ततो ऽनाहारकेष्वपि बहुवचनं नैरयिकसूत्रे सर्वे ऽपि तावद्भवेयुराहारकाः । किमुक्त भवति । कदाचिन्नैरयिकाः सर्व्वे ऽप्याहारका एव भवन्ति न त्वेको ऽप्यनाहारक कथमिति चेदुच्यते । उपपातविरहात्तथाहि । नैरयिकाणामुपपातविरहो द्वादश मुहूर्त्ता एतावति चान्तरे पूर्वोत्पन्नविग्रहगत्यापन्ना अपि आहारका जाता अन्यस्त्वनुत्पद्यमानत्वात् । अथवा आहारका अनाहारकपदे बहुवचनमनाहारकपदे एकवचनमिति भावः । कथमेष भङ्गो घटामियर्तीति चेदुच्यते इह नरकेषु जन्तु कदाचिदेक उत्पद्यते कदाचिद् द्वौ कदाचित्त्रयश्चत्वारो यावत्सख्याता असंख्याता वा । तत्र यदा एक उत्पद्यते सोऽपि विग्रहगत्यापन्नः प्रतिसमयमसंख्यातानां वनस्पतिषु प्रतिसमयमनंतानां विग्रहगत्योत्पद्यमानानां लभ्यमानतया अनाहारकपदे ऽपि सदैव तेषु बहुवचनस्य सम्भवात् । तथाचाह (एवं जाव वेमाणिया नवरं एगिंदिया जहा जीवा इति) ॥ एव नैरयिकोक्तभङ्गप्रकारेण शेषा अप्यसुरकुमारादयस्तावद्वक्तव्या यावद्वैमानिकाः । नवरमेकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपाः प्रत्येक यथा उभयत्रापि बहुवचनेन जीवा उक्तास्तथा वक्तव्याः॥ सिद्धेष्वेक एव भगो अनाहारका इति सकलशरीरप्रहाणितस्तेषामाहारासंभवात् । बहूनाञ्च सदाभावादिति । गत प्रथमद्वारम् ।

द्वितीयं भव्यद्वारमभिधित्सुराह ।

भवसिद्धिएणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं जाव वेमाणिए ।

भवसिद्धिएणं भंते ! इत्यादि ॥ भवैः संख्यातैरनन्तैर्वा सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिको भव्यस्स कदाचिदनाहारकः । विग्रहगत्याद्यवस्थायां भवति अन्ये च पूर्वोत्पन्नतया आहारका अभवन् । तदा एष भङ्गो लभ्यते । तृतीयभङ्गमाह-अहवा आहारगा य अणाहारगा य । अत उभयत्रापि बहुवचन एष च भंगो यदा बहवो विग्रहगत्योत्पद्यन्ते तदा द्रष्टव्यः । शेषभंगकास्तु न सम्भवन्ति आहारकपदस्य नैरयिकाणां सर्वदैव बहुवचनविषयतया लभ्यमानत्वात् । एवमसुरकुमारादिषु स्तनितकुमारपर्य्यवसानेषु द्वीन्द्रियादिषु च वैमानिकपर्य्यन्तेषु प्रत्येक भङ्गत्रिकं भावनीयम् । उपपातविरहभावात् । प्रथम भङ्गस्य एकादिसख्यतयोत्पत्ते । शेषस्य च भङ्गद्वयस्य सर्वत्रापि लभ्यमानत्वात् । एकेन्द्रियेषु पुन पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपेषु प्रत्येकमेकशेष एवैको भंग । आहारका अपि अनाहारका अपि पृथिव्यप्तेजोवायुषु प्रत्येक जायमाना अनाहारका शेषकाल त्वाहारका एवं चतुर्विंशति दण्डकेऽपि प्रत्येक वाच्यं । तथाचाह-एवं जाव वेमाणिए । अत्र च सिद्धिविषय सूत्रं न वक्तव्यं मोक्षपदप्राप्ततया तस्य भवसिद्धिकत्वायोगात ॥

अत्रैव बहुवचनेनाहारकानाहारकत्वचिन्तां चिकीर्षुराह ॥

भवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा । जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो अभवसिद्धिए वि । एवं चेव नो भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिएणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! नो आहारए अणाहारए एवं सिद्धे वि । नो भवसिद्धिया नो अभवसिद्धिया णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! नो आहारगा अणाहारगा एवं सिद्धा वि ॥

(भवसिद्धिएण भंते ! इत्यादि) अत्राप्याहारद्वार इव जीवपदे एकेन्द्रियेषु च प्रत्येकमुभयत्र च बहुवचनमेक एव भगो यथा आहारका अपि अनाहारका अपि शेषेषु नैरयिकादिषु स्थानेषु भगत्रिकं कदाचित्केवला आहारका न त्वेकोऽप्यनाहारक । अथवा कदाहारक एकोऽनाहारकः । अथवा । आहारका अपि अथवा ऽनाहारका अपि । उभयत्रापि बहुवचन । तथाचाह । " जीवे गिंदियवज्जो तियभंगो " इति । यथाच भवसिद्धिके एकस्मिन् बहुषु आहारकानाहारकत्वचिन्ता

कृता तथा अभवसिद्धिकेऽपि कर्तव्या। उभयत्रापि एकवचने न भंगसंख्यायास्सर्वत्रापि समानत्वात्। तथा चाह। अभवसिद्धिए एव चेव। अभवसिद्धिकोऽपि भवसिद्धिक इव एकवचने बहुवचनेन वक्तव्यमिति। यस्तु न भवसिद्धिको नाप्यभवसिद्धिकः स सिद्धः स हि भवसिद्धिको न भवति भवातीतत्वात् अभवसिद्धिकस्तु रूढ्या यस्सिद्धिगमनयोग्यो न भवति स उच्यते ततो भवसिद्धिकोऽपि न भवति सिद्धिप्राप्तत्वात्। तथाच सति नोभवसिद्धिकानोअभवसिद्धिकत्वचिंतायां द्वे एव पदे। तद्यथा। जीवपद सिद्धपदञ्च उभयत्राप्येकवचने एक एव भंगो ऽनाहारक इति बहुवचनेऽप्येक एवानाहारक इति ॥ * संज्ञिद्वारम् * ॥

सन्नीणं भंते! जीवे किं आहारए अणाहारए? गोयमा! सिय आहारए सिय अणाहारए। एवं जाव वेमाणिए नवरं। एगिंदियविगलिंदिया न पुच्छिज्जंति। सन्नीणं भंते! जीवा किं आहारगा अणाहारगा गोयमा! जीवादिओ तिगभंगो जाव वेमाणिया ॥

(सन्नीणं भंते!) इत्यादि ॥ प्रश्नसूत्र सुगमं निर्वचनसूत्रमाह। गोयमेत्यादि। विग्रहगत्या ऽनाहारकः शेषकालमाहारकः। ननु संज्ञी समनस्तु उच्यते विग्रहगतौ च मनो नास्ति ततः कथ सञ्ज्ञी सन्ननाहारको लभ्यते उच्यते इह विग्रहगत्यापन्नोऽपि सञ्ज्ञ्यायुष्कवेदनात्संज्ञी व्यवह्रियते यथा नारकायुष्कवेदनान्नारको न कश्चिद्दोषः। एवमित्यादि। एवमुपदर्शनेन प्रकारेण ताव वक्तव्य यावद्वैमानिका ऽवैमानिकसूत्र, न वरं मेकेन्द्रियाविकलेन्द्रिया न प्रष्टव्या। किमुक्त भवति तद्विषयसूत्रं सर्वथा न वक्तव्य तेषाममनस्कतया सञ्ज्ञित्वायोगात्। बहुवचनचिंतायां जीवपदे नैरयिकादिपदेषु च प्रत्येकं सर्वत्र भङ्गत्रयं तद्यथा–सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवाऽऽहारकाश्च अनाहारकश्च २ अथवाऽऽहारकाश्च अनाहारकाश्च ३ तथाचाह। " जीवाइओ तियभङ्गो जाव वेमाणिया" इति ॥ तत्र सामान्यतो जीवपदे प्रथमभंगे सकललोकापेक्षया सञ्ज्ञित्वेनोत्पातविरहाभावात्। द्वितीयभंगे एकस्मिन् संज्ञिनि विग्रहगत्यापन्ने तृतीयभंगे बहुषु सञ्ज्ञिषु विग्रहगत्यापन्नेषु, एवं नैरयिकादिपदेष्वपि भंगभावना कार्यो ॥

असंज्ञिद्वारम् ॥

असन्नी णं भंते! जीवे किं आहारए अणाहारए? गोयमा! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं णेरइए जाव वाणमंतरे नवरं जोइसियवेमाणिया न पुच्छिज्जंति। असन्नीणं भंते! जीवा किं आहारगा अणाहारगा? गोयमा! आहारगा वि अणाहारगा वि एगो भंगो। असन्नीणं भंते! णेरइया किं आहारगा अणाहारगा? गोयमा! आहारगा वा अणाहारगा वा अहवा अहारए य आणाहारए य अहवा आहारए य अणाहारगा य। अहवा आहारगा य अणाहारए य। अहवा आहारगा य अणाहारगा य एवं एते छब्भंगा। एवं जाव थणियकुमारा, एगिंदियेसु अभंगकं बेइंदिय जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु तियभंगो मणुस्सवाणमंतरेसु छब्भंगा नो सन्नी नो असन्नीणं भंते! जीवे किं आहारए अणाहारए? गोयमा! सिय आहारए सिय अणाहारए। एवं मणुस्से वि। सिद्धे अणाहारए पुहुत्तेणं नो सन्नी नो असन्नी जीवा आहारगा वि अणाहारगावि मणुस्सेसु तियभंगो सिद्धा अणाहारगा ॥

(असन्नीण भंते! इत्यादि) अत्रापि विग्रहगतावनाहारकः शेषकालमाहारकः (एवं जाव वाणमंतरे इति) एवं सामान्यतो जीवपद इव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्य। यावद्वानव्यन्तरो वानव्यतरविषयसूत्र। अथ नैरयिका भवनपतयो वानव्यन्तराश्च कथमसंज्ञिनो येनासञ्ज्ञिसूत्रे तेऽपि पठ्यंत इति उच्यते। इह नैरयिका भवनपतयो व्यन्तराश्च सञ्ज्ञिभ्योऽप्युत्पद्यन्ते। सञ्ज्ञिभ्योऽपि असञ्ज्ञिभ्यश्चोत्पद्यमाना असञ्ज्ञिन इति व्यवह्रियन्ते। संज्ञिभ्य उत्पद्यमानाः संज्ञिनस्ततो सञ्ज्ञिसूत्रेऽपि ते उक्तप्रकारेण पठ्यन्ते। ज्योतिष्कवैमानिकास्तु संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते। नासञ्ज्ञिभ्यः असञ्ज्ञित्वव्यवहाराभावादिह ते न पठ्यन्ते। तथाचाह। " जोइसियवेमाणिया न पुच्छिज्जति" किमुक्तं भवति। तद्विषयसूत्र न वक्तव्य तेषामसञ्ज्ञित्वाभावादिति। बहुवचनचिन्तायां सामान्यतो जीवपदे एक एव भंगस्तद्यथा आहारका अपि अनाहारका अपि प्रतिसमयमेकेन्द्रियाणामनन्तानां विग्रहगत्यापन्नानामत एवानाहारकाणां सदैव लभ्यमानतयाहारकपदेऽपि सर्वदा बहुवचनभावात्। नैरयिकपदे षड्भंगाः। तत्र प्रथमो भग आहारका इति अयं च भंगो यदाऽन्यो संज्ञी नारक उत्पद्यमानो विग्रहगत्यापन्नो न लभ्यते। पूर्वोत्पन्नास्त्वसञ्ज्ञिनः। सर्वेऽप्याहारका जातास्तदा लभ्यन्ते। द्वितीयोऽनाहारक इति एष यदा पूर्वोत्पन्नोऽसञ्ज्ञी नारक एकोऽपि न विद्यते। उत्पद्यमानास्तु विग्रहगत्यापन्ना बहवो लभ्यंते तदा विज्ञेयः। तृतीय आहारकश्च अनाहारकश्च द्वित्वेऽपि प्राकृते बहुवचनचिन्तायामेषोऽपि भंगस्समीचीन इत्युपन्यस्तः। तत्र यदा चिरकालोत्पन्न एको सञ्ज्ञी नारको विद्यते। अधुनोत्पद्यमानोऽपि विग्रहगत्यापन्न एकस्तदायं भंगः चतुर्थः आहारकश्चानाहारकाश्च एकश्चिरकालोत्पन्ने एकस्मिन्नसञ्ज्ञिनि नारके विद्यमाने बहुष्वधुनोत्पद्यमानेषु असञ्ज्ञिषु विग्रहगत्यापन्नेषु द्रष्टव्यः पञ्चमः आहारकाश्चानाहारकश्चाय चिरकालोत्पन्नेषु बहुषु असञ्ज्ञिषु नारकेषु अधुनोत्पद्यमाने विग्रहगत्यापन्ने एकस्मिन्नसंज्ञिनि विज्ञेयः। षष्ठः आहारकाश्चानाहारकाश्चैषु बहुषु चिरकालोत्पन्नेषूत्पद्यमानेषु चासञ्ज्ञिषु वेदितव्यः। एवमेते षड्भगा एवमुपदर्शितेन प्रकारेण एते षड्भंगास्तद्यथा। आहारकपदस्य केवलस्य बहुवचनेनैकः।१। अनाहारकपदस्य केवलस्य बहुवचनेन द्वितीयः।२। आहारकपदस्यानाहारकपदस्य च युगपत्प्रत्येकमेकवचनेन तृतीयः।३। आहारकपदस्यैकवचनेन अनाहारकपदस्य बहुवचनेन चतुर्थः ॥ ४ ॥ आहारकपदस्य बहुवचनेन अनाहारकपदस्यैकवचनेन पञ्चमः ॥ ५ ॥ उभयत्रापि बहुवचनेन षष्ठः ॥ ६ ॥ शेषास्तु भगा न सम्भवन्ति। बहुवचनचिन्तायाः प्रक्रान्तत्वात्। एते च षड्भगा असुरकुमारादिष्वपि स्तनितकुमारपर्य्यवसानेषु वेदितव्यास्तथा चाह " एव जाव थणियकुमारा एगिंदिएसु अभंगमिति " एकेन्द्रियेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिरूपेष्वभगक भंगकाभावः। एक एव भंग इत्यर्थः। सचाऽय आहारका अपि अनाहारका अपि। तत्राहारका बहवः सुप्रसिद्धा अनाहारका अपि प्रतिसमय पृथिव्यप्तेजो-

वायवः प्रत्येकमसंख्येयाः । प्रतिसमयं वनस्पतयो ऽनन्ताः सर्व्वकालं लभ्यन्ते इति तेऽपि बहवः सिद्धाः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । तद्यथा । आहारका अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च । अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च तत्र द्वीन्द्रियान् प्रतिभावना यदा द्वीन्द्रिय एकोऽपि विग्रहगत्यापन्नो लभ्यते तदा पूर्वोत्पन्नाः सर्व्वेऽप्याहारका इति प्रथमो भंगः । यदा पुनरेको विग्रहगत्यापन्न स्तदा पूर्व्वे सर्व्वेऽप्याहारका उत्पद्यमानस्त्वेकोऽनाहारक इति । यदा तूत्पद्यमाना अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयः । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वपि भावना कार्य्या । मनुष्यव्यन्तरेषु षड्भंगाः । ते च नैरयिकेषु च भावनीयास्तथाचाह । " बेइंदियजावपंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु । तियभंगो मणूसवाणमंतरेसु छभंगा ॥ १ ॥ " इति । नो संज्ञी नो असंज्ञी च केवली सिद्धश्च । ततो नोसंज्ञिनोअसंज्ञित्वचिन्तायां त्रीणि पदानि तद्यथा । जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदञ्च । तत्र जीवपदे सूत्रमाह "नो सन्नी नोअसन्नीणं भंते ! जीवे " इत्यादि । स्यात्कदाचिदाहारकः केवलिनः समुद्घाताद्यवस्थाविरहे आहारकः । स्यात्कदाचिदनाहारकः । समुद्घातावस्थायां सिद्धत्वावस्थायां वा भावनीयं । सिद्धे अणाहारए इति । सिद्धे सिद्धविषये सूत्रे । अणाहारए इति वक्तव्यं (पुहुत्तणति) पृथक्त्वेन बहुत्वेन चिन्तायामिति प्रथमः (आहारगा वि अणाहारगा वि इति) तत्राहारका अपि बहूनां केवलिनां समुद्घाताद्यवस्थारहितानां सदैव लभ्यमानत्वात् । अनाहारका अपि सिद्धानां सदैव भावात्तेषां चानाहारकत्वादिति (मणुस्सेसु तियभंगो इति) मनुष्यविषयं भंगत्रिकं तद्यथा । आहारका एव भंगो यदा न कोऽपि केवली समुद्घाताद्यवस्थागतो भवति । अथवा । आहारकाश्चानाहारकश्च । एष भंगो एकस्मिन्केवलिनि समुद्घाताद्यवस्थागते सति लभ्यते अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च । एषु बहुषु केवलिषु समुद्घाताद्यवस्थागतेषु सत्सु वेदितव्यः ॥ प्रज्ञा० ॥ लेश्याद्वारम् ।

सलेसेणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं जाव वेमाणिए सलेस्सा णं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । एवं कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्साए वि । जीवेगिंदिय तियभंगो तेउलेस्साए पुढविआउवणस्सइकाइयाणं छ भंगा सेसाणं जीवादिओ तियभंगो जेसिं अत्थितेउलेसा पम्हलेसाए सुक्कलेसाए य जीवादिओ तियभंगो अलेस्सा जीवा मणुस्सा सिद्धा एगत्तेण वि पुहुत्तेण वि नो आहारगा ॥

टीका । सामान्यतः सलेश्यसूत्रमाह । (सलेसेणं भंते ! जीवे इत्यादि) इदं सामान्यतो जीवसूत्रमिव भावनीयं । अत्रापि सिद्धसूत्रं वक्तव्यं सिद्धानामलेश्यत्वात् । बहुवचनचिन्तायां जीवपदे एकेन्द्रियेषु च पृथिव्यादिषु प्रत्येकमेक एव भंगस्तद्यथा । आहारका अपि अनाहारका अपि उभयेषामपि सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषेषु तु नैरयिकादिषु प्रत्येकं भंगत्रिकं । तद्यथा । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवाऽऽहारकाश्चानाहारकश्च२ अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च ३ अमीषाञ्च भावना प्राग्वत् । तथाचाह । " जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो इति " एवमित्यादि । एवं यथा सामान्यतः सलेश्यसूत्रमुक्तं तथा कृष्णलेश्याविषयमपि नीललेश्याविषयमपि कापोतलेश्याविषयमपि सूत्रं च वक्तव्यं । सर्वत्र सामान्यतो जीवपदे एकेन्द्रियेषु च प्रत्येकमभङ्गक शेषपदेषु भङ्गत्रिकं । तेजोलेश्याविषयमपि सूत्रमेकत्वं प्राग्वत् बहुत्वं पृथिव्यब्वनस्पतिषु षड्भङ्गाः तेषु कथं तेजोलेश्यासम्भव इति चेदुच्यते । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्म्मेशानादीनां तेजोलेश्यावतां तत्रोत्पादभावात् । उक्तञ्चास्या एव भगवत्याः प्रज्ञापनायाश्चूर्णौ "जेणं तेसु भवणवइ वाणमंतरजोइसियसोहम्मीसाणया देवा ॥ उववज्जन्ति तेण तेउलेस्सा लब्भइ १ " इति । ते षड् भङ्गा इमे सर्व्वे आहारकाः ॥ १ ॥ अथवा सर्वेऽनाहारकाः २ अथवा आहारकश्चानाहारकः ३ अथवा आहारकाश्चाहारकाश्च ४ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च ५ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च । ६ । शेषाणां जीवपदादारभ्य सर्वत्रापि भङ्गत्रिकं । तथाचाह (तेउलेस्साएपुढवी आउवणस्सइकाइयाणं छभंगा सेसाणं जीवाइओ तियभंगो इति) आह किं सर्वेषामविशेषेण जीवपदादारभ्य भङ्गत्रिकमुत केषां चिदुत आह (जेसिं अत्थि तेउलेसा इति) येषामस्ति तेजोलेश्या तेषामेव भङ्गत्रिकं वक्तव्यं न शेषाणां । एतेन किमावेदितं भवति । नैरयिकविषयं तेजोवायुविषयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियविषयञ्च तेजोलेश्यासूत्रं वक्तव्यमिति तथा पद्मलेश्यासूत्रं वक्तव्यमिति तथा पद्मलेश्या च येषां सम्भवति तद्विषयं तयोः सूत्रं वक्तव्यं तत्र पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च । तिर्य्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वैमानिकेषु च लभ्यते न शेषेष्विति । तयोः प्रत्येकं चत्वारि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियपदं मनुष्यपदं वैमानिकपदञ्च सर्वत्राप्येकवचनचिन्तायां स्यादाहारक इति भंगो बहुवचनचिन्तायां भङ्गत्रिकं । तद्यथा । सर्वे ऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च ३ । तथाचाह (पम्हलेसाए सुक्कलेसाए जीवाईओ तियभंगोत्ति) अलेश्या जीवास्ते चायोगिकेवलिनः सिद्धाश्च ततः स्यात्त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं मनुष्याः सिद्धाश्च । सर्वत्राप्येकवचनेन बहुवचनेन चानाहारगा इति ॥

सम्प्रति सम्यग्दृष्टि द्वारम् ॥

सम्मादिट्ठीणं भंते ! जीवा किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! सियआहारगा सिय अणाहारगा । बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदियछब्भंगा । सिद्धा अणाहारगा अवसेसाणं तियभंगा । मिच्छदिट्ठीसु जीवेगिंदियवज्जो तिय भंगो । सम्मा मिच्छदिट्ठीणं भंते ! जीवे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! आहारए नो अणाहारए एवमेगिंदियविगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिए एवं पुहुत्ते वि ॥

सम्यग्दृष्टिश्चेहौपशमिकसम्यक्त्वेन सास्वादनसम्यक्त्वेन क्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन क्षायिकसम्यक्त्वेन वा प्रतिपत्तव्यः सामान्यतउपादानात्तथैव चाग्रे भङ्गचिन्तायामपि करिष्यमाणत्वात् । तत्रोपशमिकसम्यग्दृष्ट्यादय शुभमतीताः वेदकसम्यग्दृष्टिः पुन क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन् चरमग्रासमनुभवन्वर्तते यः । एकत्वे सर्व्वेष्वपि जीवादिपदेषु प्रत्येकमेष भंग. स्यादाहा-

रकः स्यादनाहारक इति नवरमत्र पृथिव्यादिविषयसूत्रं न वक्तव्यं तेषां सम्यग्दृष्टित्वायोगात् उभयाभावो (पुढवाइएसु) इति वचनाद्बहुवचनविषयसूत्र । सामान्यतो जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपीत्येष एव भंगः उभयेषामपि सदा सम्यग्दृष्टीनां बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । नैरयिकभवनपतितिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रत्येकं भंगत्रिक । तद्यथा कदाचित्सर्वेऽप्याहारका एव १ कदाचिदाहारका एकश्चानाहारकः २ कदाचिदाहारका अनाहारकाश्च ३ द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु नो षड्भंगाः । ते च प्राग्वद्भावनीयाः । द्वीन्द्रियादीनां च सम्यग्दृष्टित्वमपर्य्याप्तावस्थायां सम्भवति । सास्वादनसम्यक्त्वापेक्षया द्रष्टव्यं । सिद्धास्त्वनाहारकाः । एतेषां क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तत्वात् । तथा चाह (बेइंदियतेइंदियचतुरिंदिएसु छ भंगा सिद्धा अणाहारगा अवसेसाण तियभंगो) मिथ्यादृष्टिष्वपि एकवचने सर्वत्र स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येकमाहारका अपीति उभयेषामपि सर्वदैव तेषु पदेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वेन शेषेषु तु सर्वेषु स्थानेषु भगत्रिक सिद्धसूत्रं चात्र न वक्तव्यं । सिद्धानां मिथ्यात्वापगमादेतदेवाह ॥ " मिच्छादिट्ठिसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो सम्मामिच्छदिट्ठीणं भंते ! जीवे " ॥ इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम भगवानाह । गौतम ! आहारको नो अनाहारकः कस्मादिति चेदुच्यते-इह संसारिणामनाहारकत्वं विग्रहगतौ न सम्यग् मिथ्यादृष्टिर्विग्रहगत्यभावतोऽनाहारकत्वाभावः । एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण सर्वत्रापि वक्तव्य । नवरमेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्यास्तेषां सम्यग् मिथ्यादृष्टित्वासंभवात् । एव बहुवचनेऽपि वक्तव्य । तद्यथा ॥

* सम्मा मिच्छ दिट्ठीणं भंते ! जीवा किं आहारगा ! गोयमा ! आहारगा नो आणाहारगा सम्मामिच्छदिट्ठीणं भन्ते ! नेरइया किं आहारगा अणाहारगा ? गोयमा ! आहारगा नो अणाहारगा । एवमेगिंदियविगलिंदियवज्जा जाव वेमाणिया ॥ *

इति ॥ गतं दृष्टिद्वारम् ॥

सम्प्रति संयतद्वारम् ॥

संजएणं भंते ! किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए एवं मणुस्से वि । पुहुत्तेणं तियभंगो असंजए पुच्छा, गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए पुहुत्तेणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो संजतासंजते जीवे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए मणुसे एते एगत्तेण वि पुहत्तेण वि आहारगा नो अणाहारगा नो संजते नो असंजए नो संजयासंजए जीवे सिद्धे य एते एगत्तपुहत्तेण वि नो अहारगा अणाहारगा ॥

संयतत्व मनुष्याणामेव तत्र द्वे पदे । तद्यथा । जीवपदं मनुष्यपदञ्च । तत्र जीवपदे सूत्रमाह (संजएण भंते ! जीवे इत्यादि) सुगम नवरं । अनाहारकत्व केवलिसमुद्घातावस्थायामयोगित्वावस्थायां वेदितव्य शेषकालमाहारकत्वं । एव । (मणुस्सेविति) एव मनुष्यविषयं सूत्र वक्तव्य । तद्यथा । (संजएणं भंते ! मणूसे किं आहारए अणाहारए ? गोयमा ! सिय आहारए सिय अणाहारए) भावनान्तरमेवोक्ता (पुहुत्तेणं तियभंगोत्ति) पृथक्त्वेन बहुवचनेन जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येक भगत्रिकं । तथैव । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारका एष भगो यदा न कोऽपि केवलिसमुद्घातमयोगित्व वा प्रतिपन्नो भवति वेदितव्यः । अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च एष एकस्मिन् केवलिनि समवहते शैलेशीगते वा प्राप्यते अथवा आहारकाश्च अनाहारकाश्च एषु बहुषु केवलिषु समवहतेषु शैलेशीगतेषु वा लभ्यते । असयतसूत्रे एकवचने सर्वत्र स्यादाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिषु च पदेषु प्रत्येकमाहारकाअनाहारका अपि इत्येष भङ्गः । शेषेषु तु नैरयिकादिषु स्थानेषु प्रत्येक भगत्रिक सयतासयतदेशविरतास्ते च तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या वा न शेषाः शेषाणां स्वभावत एव देशविरतिपरिणामाभावादेव चैतेषां त्रीणि पदानि । तद्यथा । सामान्यतो जीवपदं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियपद मनुष्यपदञ्चैतेषु त्रिष्वपि स्थानेषु एकवचने बहुवचने च आहारका भवन्ति । भवान्तरगतः केवलिसमुद्घाताद्यवस्थासु च देशविरतिपरिणामाभावात् नो संयतो नो ऽसयतो नो सयतासयतो । गत सयतद्वारम् । तद्वितायां द्वे पदे । तद्यथा । जीवपदं सिद्धपदञ्च । उभयत्रा ऽप्येकवचने बहुवचने चानाहारकत्वमेववक्तव्य नत्वाहारकत्वम् । सिद्धानामनाहारकत्वात् ॥

सम्प्रति कषायद्वारम् ॥

सकसाईणं भंते ! जीवे किं आहा० अणा० सिय आहा० सिय अणाहा० एवं जाव वेमाणिए पुहत्तेणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । कोहकसाईसु जीवाईसु एवं चेव नवरं देवेसु छब्भंगा माणकसाईसु मायाकसाईसु देवणेरइएसु छब्भंगा अवसेसाणं जीवेगिंदियवज्जो-तियभंगो । लोभकसाईसु नेरइएसु छब्भंगा । अवसेसेसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो अकसाई जहा नो सन्नी नो असन्नी ।

(सकसाईणं भंते ! जीवे) इत्यादि ॥ एकवचनविषय सूत्र सुगमं । बहुवचने (जीवेगिंदियवज्जो तियभंगोत्ति) जीवपदे पृथिव्यादिषु च पञ्चसु पदेषु प्रत्येक आहारका अपि अनाहारका अपि वक्तव्य । उभयेषामपि सकषायाणां सर्वैव तेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषेषु तु स्थानेषु भंगत्रिकं । कोहकसाए एवचेवत्ति क्रोधकषाय्यपि एवमेव सामान्यतः सकषायवदवसेय । तत्रापि जीवपदे पृथिव्यादि पदेषु चाभङ्गक शेषेषु तु स्थानेषु भगत्रिकमिति भाव । किं सर्वेष्वपि शेषेषु स्थानेषु भगत्रिक नेत्याह । (नवरं देवेसु छ भंगा) देवा हि स्वभावत एव लोभबहुला भवन्ति । न क्रोधादिबहुलाः । ततः क्रोधकषायिण एकादयोऽपि लभ्यन्ते । इति षड्भङ्गास्तद्यथा । कदाचित्सर्वे ऽप्याहारका एव क्रोधकषायिण एकस्यापि विग्रहगत्यापन्नस्यालभ्यमानत्वात् १ कदाचित्सर्वे ऽप्यनाहारका एकस्यापि क्रोधकषायिणस्तत आहारकस्याप्राप्यमाणत्वात् क्रोधोदयो हि मानाद्युदयविविक्त एवेह विवक्ष्यते । न मानाद्युदयसहितोऽपि तेन क्रोधकषायिण तत कदाचिदाहारकस्य सर्वथाऽप्यभाव ॥ २ ॥ तथा कदाचिदेक आहारक एकोऽनाहारक ॥ ३ ॥ कदाचिदेक आहारको बहवोऽनाहारका ॥ ४ ॥ कदाचिद्बहव आहारका एकोऽनाहारक ॥ ५ ॥ कदाचिद्ब-

इव आहारका बहवोऽनाहारकाः ॥ ६ ॥ इति मानकषायसूत्रं मायाकषायसूत्रं चैकवचने प्राग्वत्। बहुवचने विशेषमाह। (माणकसाईसु) इत्यादि। मानकषायिषु मायाकषायिषु बहुवचने चिन्त्यमानेषु देवेषु नैरयिकेषु च प्रत्येकं षड्भङ्गाः। नैरयिका हि भवस्वभावतः क्रोधबहुला देवास्तु लोभबहुलास्ततो देवानां नैरयिकाणाञ्च मानकषायो मायाकषायश्च प्रविरल इति प्रागुक्तप्रकारेण षड्भंगाः। जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येकमभंगकमाहारकाणामनाहारकाणां च मानकषायिणां मायाकषायिणाञ्च प्रत्येकं सर्वेष्वेतेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। शेषेषु तु स्थानेषु भंगत्रिकं। लोभकषायसूत्रमप्येकवचने तथैव बहुवचने विशेषमाह (लोभकसाईसु इत्यादि) लोभकषायिषु नैरयिकेषु षड् भंगास्तेषां लोभबहुलतया षड्संभवसम्भवात्। जीवेष्वेकेन्द्रियेषु च प्राग्वदेव एव भंगः। आहारका अप्यनाहारका अपीति (अकसाई जहा नो सन्नी नो असन्नीति) अकषायिणो नोसंज्ञिनो नोऽसंज्ञिनो उक्तास्तथा वक्तव्याः किमुक्तं भवति। अकषायिणोऽपि मनुष्याः सिद्धाश्च। मनुष्या उपशांतकषायादयो वेदितव्याः ॥ अन्येषां सकषायित्वात्। तत एतेषामपि त्रीणि पदानि। तद्यथा। सामान्यतो जीवपदं मनुष्यपदं सिद्धपदञ्च तत्र सामान्यतो जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकमेकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति वक्तव्यं। सिद्धपदेष्वनाहारक एवेति। बहुवचने जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपीति। केवलिनामाहारकाणां सिद्धानामनाहारकाणां सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। मनुष्यपदे भंगत्रिकं। सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहारकाश्चनाहारकाश्च ३ भावना प्रागेवानेकशः कृता सिद्ध पदे त्वनाहारक एक एव ॥

सम्प्रति ज्ञानद्वारम् ॥

नाणी जहा सम्मदिट्ठी। आभिणिबोहियनाणी सुयनाणीसु बेइंदियतेइंदियचउरिंदिएसु छब्भंगा। अवसेसु जीवादिओ तियभंगो। जेसिं अत्थि ओहिनाणी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा य आहारगा नो अणाहारगा अवसेसेसु जीवादिओ तियभंगो जेसिं ओहिनाणं मणपज्जवनाणं जीवा मणूसा य एगत्तेण वि पुहत्तेण वि आहारगा नो अणाहारगा केवलनाणी जहा नो सन्नी नो असन्नी अन्नाणीमति अन्नाणी सुयअन्नाणी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो विभंगनाणी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा य आहारगा नो अणाहारगा अवसेसेसु जीवादिओ तियभंगो ॥

(तत्र नाणी जहा सम्मदिट्ठीति) ज्ञानी यथा प्राक् सम्यग्दृष्टिरुक्तस्तथा वक्तव्यस्तद्यथा ॥

* नाणीणं भंते! जीवे किं आहारए अणाहारए? गो० सिय आहारए सिय अणाहारए नाणीणं भंते! नेरईए किं आहारए अणाहारए? गो० सिय आहारए सिय अणाहारए एवमेगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए नाणीणं भंते! जीवा किं आहारगा अणाहारगा? गो० आहारगावि अणाहारगावि नाणीणं भंते! णेरइया किं आहारगा अणाहारगा गो० सव्वे वि ताव होज्जा आहारगा? अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य अणाहारगा य एवं जाव थणियकुमारा। बेइंदियाणं पुच्छा गो० सव्वे वि ताव होज्ज १ आहारगा अहवा अणाहारगा य २ अहवा आहारगेय ३ अहवा आहारगे य अणाहारगा य ४ अहवा आहारगा य अणाहारगे य ५ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ६ एवं तेइंदियचउरिंदिया वि जाणियव्वा अवसेसा जाव वेमाणिया जहा नेरइयाणं सिद्धाणं पुच्छा गो० ॥ *

(अणाहारगा इति) आभिनिबोधिकज्ञानसूत्रे चैकवचने प्राग्वदवसेयं। बहुवचने द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु भङ्गाः। अथ शेषेषु जीवादिस्थानेष्वेकेन्द्रियवर्जेषु भङ्गत्रिकं तथैव ॥

* आभिनिबोहियनाणी णं भंते! जीवा किं आहारगा अणाहारगा? गोयमा! सव्वेवि ताव होज्ज आहारगा १ अहवा आहारगा य अणाहारगे य २ अहवा आहारगा य अणाहारगा य ३ इत्यादि। तथा चाह। आभिनिबोहियनाणी सुयनाणी सुयबेइंदियचउरिंदियेसु छभंगा अवसेसेसु जीवाइओ तियभंगो तेसिं अत्थि इति *

सुगमं। नवरं जेसिं अत्थि येषां जीवानामाभिनिबोधिकज्ञानश्रुतज्ञानेस्तः। तेषु भंगत्रिकं वक्तव्यं न शेषपृथिव्यादिष्विति। अवधिज्ञानसूत्रमेकवचने तथैव बहुवचनचिंतायां पचेन्द्रियतिर्यग्योनिका आहारका एव नत्वनाहारकाः। कस्मादिति चेदुच्यते। इह पचेन्द्रियतिरश्चामनाहारकत्वं विग्रहगतौ। न च तदानीं तेषां गुणप्रत्ययतोऽवधिसंभवो गुणानामेवासंभवात्प्राप्यप्रतिपतितावधिर्देवोमनुष्यो वा तिर्यक्षूत्पद्यते। ततोऽवधिज्ञानिनः सन्तः पंचेन्द्रियतिरश्चोऽनाहारकत्वायोगः। शेषेषु तु स्थानेष्वेकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जेषु प्रत्येकं भंगत्रिकं। एतदेवाह।

"ओहिनाणीणं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया आहारगा अवसेसेसु जीवाइ ओ तियभंगो। जेसिंअत्थि ओहिनाण मिति॥"

मनः पर्य्यायज्ञान मनुष्याणामेव ततो द्वे पदे। तद्यथा। जीवपद मनुष्यपदमपि चैकवचने बहुवचने च मनः पर्य्यायज्ञानिन आहारका एव वक्तव्याः नत्वनाहारका विग्रहगत्याद्यवस्थायां मनः पर्य्यायज्ञानासम्भवात्। केवलज्ञानी यथा प्राक् नो सञ्ज्ञी नो ऽसंज्ञी उक्तस्तथा वक्तव्यः। किमुक्तं भवति केवलज्ञानाचिन्तायामपि त्रीणि पदानि। तद्यथा। सामान्यतो जीवपदं मनुष्यपद सिद्धपदञ्च तत्र सामान्यतो जीवपदे मनुष्यपदे चैकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारकः इति वक्तव्य सिद्धपदे त्वनाहारक इति बहुवचने सामान्यतो जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपि मनुष्यपदे भंगत्रिकं। तच्च प्रागेवोपदर्शितं सिद्धपदे त्वनाहारका अपि अज्ञानिसूत्र मत्यज्ञानिसूत्रं श्रुताज्ञानिसूत्रं च एकवचने प्रागेव बहुवचनचिन्तायां जीवपदे एकेन्द्रियेषु पृथिव्यादिषु प्रत्येकमाहारका अनाहारका अपि इति वक्तव्यं शेषेषु भंगत्रिकं। विभङ्गज्ञानिसूत्रमप्येकवचने तथैव बहुवचनचिन्तायां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्योनिका मनुष्या आहारका एव वक्तव्याः। नत्वनाहारका विभङ्गज्ञानसहितस्य विग्रहगत्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु

मनुष्येषु चोत्पत्तिसम्भवात्। अवशेषेषु स्थानेषु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जेषु प्रत्येक भगत्रिकं। गत ज्ञानद्वारम् ॥

सम्प्रति योगद्वारम् ॥

सजोगीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो मणजोगी वइजोगी य जहा सम्मामिच्छादिट्ठी । नवरं वइजोगी विगलिंदियाण वि कायजोगीसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। अजोगी जीवमणूससिद्धा अणाहारगा। दारम् ॥

तत्र सामान्यत सयोगिसूत्रमेकवचने तथैव बहुवचने जीवैकेन्द्रियपदानि वर्जयित्वा शेषेषु स्थानेषु भङ्गत्रिक, जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च पुन. प्रत्येकमाहारका अपि अनाहारका अपीति भङ्ग उभयेषामपि सदैवतेषु स्थानेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। मणजोगी वइजोगी जहा सम्मामिच्छादिट्ठीयत्ति। मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च। यथा प्राक् सम्यग्मिथ्यादृष्टय उक्तास्तथा वक्तव्याः। एकवचने बहुवचने चाऽऽहारका एव वक्तव्या नत्वनाहारका इति भावः(नवरं वइजोगी विगलिंदियाणवित्ति) नवरमिति। सम्यग्मिथ्यादृष्टिसूत्राद्त्रायं विशेष। सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वं विकलेन्द्रियाणां नास्तीति तत्सूत्रं तत्रोक्त। वाग्योग पुनर्विकलेन्द्रियाणामप्यस्ति तत्सूत्रमपि वाग्योगे वक्तव्य। तथैव ॥

* मणजोगीणं भंते! जीवे किं आहारए अणाहारए? गोयमा! आहारए नो अणाहारए एवमेगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए एवं पुहुत्तेण वि॥ *

काययोगिसूत्रमप्येकवचने बहुवचने च सामान्यतः सयोगिसूत्रमिव (अजोगीण भंते! जीवे किं आहारए) तेनात्र त्रीणि पदानि। तद्यथा जीवपद मनुष्यपदं सिद्धपद च त्रिष्वपि स्थानेष्वेकवचने बहुवचनेनाहारकत्वमेव ॥

अधुना उपयोगद्वारम् ॥

सागाराणागारोवउत्तेसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो सिद्धा अणाहारगा। दारम् ॥

तत्र साकारोपयोगसूत्रे च प्रत्येकमेकवचने सर्वत्र स्यादनाहारक इति वक्तव्य सिद्धपदे त्वनाहारक इति बहुवचने जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु चाहारका अपि अनाहारका अपीति भङ्गः। शेषेषु भङ्गत्रिकं। सिद्धास्त्वनाहारका इति सूत्रोल्लेखस्त्वयं ॥

* सागारोवओगोवउत्तेणं भंते! जीवे किं आहारए अणाहारए? गोयमा! सिय आहारए सिय अणाहारए॥ *

गतमुपयोगद्वारं ॥

वेदद्वारम् ॥

सवेदजीवेगिंदियवज्जो तियभंगो । इत्थिवेयपुरिसवेएसु जीवाइओ तियभंगो। नपुंसगवेदए जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। अवेयए जहा केवलनाणी॥

सामान्यत. सवेदसूत्रमेकवचने स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति बहुवचने जीवपदे एकेन्द्रियाश्च वर्जयित्वा शेषेषु स्थानेषु भङ्गत्रिक जीवपदे एकेन्द्रियेषु च पुन प्रत्येकमभंगक आहारका अनाहारका अपीति स्त्रीवेदसूत्र पुरुषवेदसूत्र च एकवचने तथैव नवरमत्र नैरयिकैकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्यास्तेषां नपुंसकत्वात् बहुवचने जीवादिषु प्रत्येकं भगत्रिक। नपुंसकवेदेऽपि सूत्रमेकवचने तथैव नवरमत्र भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्क वैमानिका न वक्तव्याः। तेषां न नपुंसकत्वाद्बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु भंगत्रिकं। जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पृथिव्यादिषु पुनरभगकं प्रागुक्तस्वरूपमिति। अवेदो यथा केवली तथा एकवचने बहुवचने च वक्तव्याः। जीवपदे मनुष्यपदे च एकवचने स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति बहुवचने जीवपदे आहारका अपि अनाहारका अपि मनुष्येषु भंगत्रिकं सिद्धे त्वनाहारका इति वक्तव्यमिति भाव॰॥ गत वेदद्वारम् ॥

शरीरद्वारम् ॥

ससरीरे जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। ओरालियसरीरिसु जीवमणूसेसु तियभंगो। अवसेसा आहारगा नो अणाहारगा जेसिं अत्थि ओरालियसरीरं वेउव्वियसरीरी आहारगसरीरी य अणाहारगा जेसिं अत्थि तेयगकम्मगसरीरी जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। असरीरी जीव सिद्धा य नो आहारगा अणाहारगा॥

शरीरद्वारे सामान्यत॰ शरीरसूत्रे सर्वत्रैकवचने स्यादाहारकः स्यादनाहारक इति। बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु स्थानेषु प्रत्येक भगत्रिक। जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च प्रत्येक मभङ्गक प्रागुक्तमिति। औदारिकसूत्रमेकवचने तथैव नवरमत्र नैरयिकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका न वक्तव्यास्तेषामौदारिकशरीराभावात्। बहुवचने जीवपदे मनुष्यपदेषु च प्रत्येकं भगत्रिकं। तद्यथा। सर्वेऽपि तावद्भवेयु राहारका एष भंगो यदा न कोऽपि केवली समुद्घातगतयोगी वा। अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च एष एकस्मिन्केवलिनि समुद्घातगते ऽयोगिनि वासति प्राप्यते। अथवा आहारका अनाहारकाश्च एष भगो बहुषु केवलिषु समुद्घातगतेषु ऽयोगिषु वा सत्सु वेदितव्यः। शेषास्त्वेकेन्द्रियद्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियातिर्यक् पचेन्द्रिया आहारका एव वक्तव्या॰ नत्वनाहारकाः। विग्रहगत्युत्तीर्णानामेवौदारिक शरीरसम्भवात्। वैक्रियाहारकशरीरिणश्च सर्वे ऽप्येकवचने बहुवचने चाहारका एव नत्वनाहारका नवरं येषां वैक्रियमाहारकं वा संभवति त एव वक्तव्या नान्ये। तत्र नैरयिक भवनपतिवायुकायिकतिर्यक्पचेन्द्रियमनुष्यव्यंतरज्योतिष्कवैमानिकेषु आहारक मनुष्येष्वेव। सूत्रोल्लेखश्चायं।

* वेउव्वियसरीरिएणं भंते जीवे किं आहारए अणाहारए? गोयमा! आहारए नो अणाहारए वेउव्वियसरीरेणं भंते! नेरइए किं आहारए अणाहारए? गोयमा! आहारए नो अणाहारए॥ *

इत्यादि। तैजसकार्म्मणशरीरसूत्रे चैकवचने सर्वत्र स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति। बहुवचने जीवैकेन्द्रियवर्जेषु स्थानेषु भंगत्रिक जीवपदे एकेन्द्रियेषु पुनरभंगक। अशरीरिणस्सिद्धास्तेन तत्र द्वे एव पदे। तद्यथा। जीवास्सिद्धाश्च। तत्रैकवचने बहुवचने चोभयत्राप्यनाहारक एव॥ गत शरीरद्वारम् ॥

सम्प्रति पर्याप्तिद्वारम् ॥

आहारपज्जत्तिपज्जत्तए सरीरपज्जत्तीपज्जत्तए इंदिय पज्जत्तिपज्जत्तए आणापाणूपज्जत्तीपज्जत्तए एतासु चउसु वि पज्जत्तीसु जीवेसु मणूसेसु य तियभंगो अवसेसा

आहारगा नो अणाहारगा जासामणपज्जत्तिपंचिंदियाणं अवसेसाणं नत्थि आहारपज्जत्ती अपज्जत्तए नो आहारए अणाहारए एगत्तेण वि पुहत्तेणवि । सरीरपज्जत्तिअपज्जत्तिए सिय आहारए सिय अणाहारए । उवरिल्लियासु चउसु अपज्जत्तीसु णेरइयदेवमणूसेसु छ जंगा । अवसेसाणं जीवेगिंदियवज्जो तियजंगो । जासामणपज्जत्तीए जीवेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणीएसु य तियजंगो । णेरइयत्ते देवमणूसेसु छ जंगा । सव्व पदेसु एते एगत्तपुहत्तेणं जीवादिओ दंरुगोपुच्छाए जाणियव्वो जस्स जं अत्थि तस्स तं पुच्छिज्जइ जं नत्थि तं न पुच्छिज्जइ जाव जासामणपज्जत्तीएसु अपज्जत्तएसु णेरइयदेवमणूसएसु छज्जंगा सेसेसु य तियजंगा ॥

तत्रागमे पर्य्याप्तय पञ्च भाषामनः पर्याप्त्योरेकत्वेन विवक्षणात् । तथाहारपर्य्याप्तया पर्य्याप्ते शरीरपर्य्याप्त्या पर्य्याप्ते इन्द्रियपर्य्याप्त्या पर्य्याप्ते प्राणापानपर्य्याप्त्या पर्य्याप्ते भाषामनःपर्य्याप्त्या पर्य्याप्ते चिन्त्यमानेऽत्रैव सर्वसंकलनामाह । एतासु पञ्चस्वपि पर्य्याप्तिषु समर्थितासु चिन्त्यमानास्विति शेषः । प्रत्येकमेकवचने जीवपदे मनुष्यपदे च स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति । शेषेषु तु स्थानेषु आहारका इति बहुवचने (जीवेसु मणूसेसु य तियभंगो त्ति) जीवपदे मनुष्यपदे च भङ्गत्रिकञ्च वक्तव्य । तथैदारिकशरीरसूत्रमिव भावनीयं । अवशेषास्सर्वेऽप्याहारका वक्तव्याः नवरं भाषामनः पर्य्याप्तिपञ्चेन्द्रियाणामेवेति । तत्सूत्रे एकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न वक्तव्याः किन्तु शेषाः । तदेवाह । भासामणपज्जत्ती पंचिंदियाणं नत्थि इति । आहारपर्य्याप्त्यपर्य्याप्तसूत्रे एकवचने सर्वत्राप्यनाहारको वक्तव्यो नो आहारक आहारपर्य्याप्त्या ह्यपर्य्याप्तो विग्रहगतावेव लभ्यते उपपातक्षेत्रप्राप्तस्य प्रथम समय एवाहारकपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तत्वभावादन्यथा तस्मिन्समये आहारकत्वानुपपत्तेर्बहुवचने त्वनाहारका इति । शरीरपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे एकवचने सर्वत्र स्यादाहारक इति । तत्र विग्रहगतावनाहारक उपपातक्षेत्रप्राप्तस्तु शरीरपर्य्याप्तिपरिसमाप्तिं यावदाहारक इति । एवमिन्द्रियपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे प्राणापानपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तसूत्रे भाषामनः पर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे च प्रत्येकमेकवचने स्यादाहारकस्स्यादनाहारक इति वक्तव्यं । बहुवचने (उवरिल्लिया) इत्यादि । उपरितनीषु शरीरपर्य्याप्तिप्रभृतिषु चतसृषु अपर्य्याप्तिषु चिन्त्यमानासु प्रत्येकं नैरयिकदेवमनुष्येषु षड्भङ्गा वक्तव्यास्तद्यथा । कदाचित्सर्वेऽप्याहारका एव १ कदाचित्सर्वेऽप्यनाहारका एव २ कदाचिदेक आहारक एकोऽनाहारकः ३ कदाचिदेक आहारको बहवोऽनाहारकाः ४ कदाचिद्बहव आहारका एकश्चानाहारकः ५ कदाचिद्बहव आहारका बहवश्चानाहारकाः ६ अवशेषाणां नैरयिकदेवमनुष्यव्यतिरिक्तानां जीवैकेन्द्रियवर्जं भङ्गत्रिक वक्तव्यं । तद्यथा । सर्वेऽपि तावद्भवेयुराहारकाः १ अथवा आहारकाश्चानाहारकश्च २ अथवा आहारकाश्चानाहारकाश्च ३ जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पुनश्शरीरपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे इन्द्रियपर्य्याप्त्या पर्य्याप्तिसूत्रे प्राणापानपर्य्याप्तिसूत्रे च प्रत्येकमभङ्गकं आहारका अपि अनाहारका अपि । उभयेषामपि च सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । भाषामनः पर्य्याप्त्यपर्य्याप्तकास्त्वेकेन्द्रियविकलेन्द्रिया न भवन्ति किन्तु पञ्चेन्द्रिया एव । येषां हि भाषामनः पर्य्याप्तिसंभवोऽस्ति त एव तत्पर्य्याप्ताः प्रोच्यन्ते न शेषा इति । ततस्तत्सूत्रे बहुवचने जीवपदेऽपि पञ्चेन्द्रियतिर्य्यग्योनिपदे च भङ्गत्रिकं । पंचेन्द्रियतिर्य्यञ्चो हि सम्मूर्च्छिमाः सदैव बहवो लभ्यन्ते । ततो यावदद्याप्यन्यो विग्रहगत्यापन्नो लभ्यमाने द्वितीयो भङ्गः आहारकाश्चानाहारकश्च इति । यदा तु विग्रहगत्यापन्ना अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयो भङ्गः । आहारकाश्चानाहारकाश्चेति जीवपदेऽपि भङ्गत्रिकमेतदपेक्षया । (णेरइयत्ति) नैरयिकदेवमनुष्येषु प्रत्येक षड्भङ्गाः । ते च प्रागेवोक्ताः । इह भव्यपदादारभ्य प्राय एकत्वेन बहुत्वेन च विवक्षितानि सूत्राणि जीवादिदण्डकक्रमेण नोक्तानि ततो माभून्मन्दमतीनां सम्मोह इति तद्विषयमतिदेशमाह (न सव्वपएसु एगत्ते) इत्यादि । एते जीवादयो दण्डकास्सर्वपदेषु सर्वेष्वपि पदेषु एकत्वेन बहुत्वेन च पृच्छया उपलक्षणमेतन्निर्वचने च भणितव्याः । किं सर्वत्राप्यविशेषेण कर्तव्या । नेत्याह । यस्येत्यादि । यस्य यदस्ति तस्य तत्पृच्छति तद्विषयं सूत्र भण्यते यस्य पुनः यन्नास्ति न तस्य तत्पृच्छ्य न तद्विषयं तस्य सूत्रं वक्तव्यमिति भावः । कियद्दूरं यदेव कर्तव्यमिति शङ्कायां चरमदण्डकवक्तव्यतामुपदिशति (जाव भासामणपज्जत्तीएसु) इत्यादि भावितार्थं इहाधिकृतार्थभावनार्थमिमाः पूर्व्वाचार्य्यप्रतिपादिता गाथाः ।

सिद्धेगिंदियसहिया, जहिं तु जीवा अजंगयं तत्थ ।
सिद्धेगिंदियवज्जे-हिं होइ जीवेहिं तियजंगो ॥ १ ॥
असण्णीसु य नेरइय, देवमणुएसु होंति छज्जंगा ।
पुढविदगतरुगणेसु य, छज्जंगा तेउलेसाए ॥ २ ॥
कोहे माणे माया, छज्जंगा सुरगणेसु सव्वेसु ।
माणे मायालोभे, नेरइएहिं पि छज्जंगा ॥ ३ ॥
आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे खलु तहेव सम्मत्ते ।
छज्जंगा खलु नियमा, बियतियचउरिंदियेसु भवे ॥ ४ ॥
उवरिल्लउपज्जत्ती-सु चउसु नेरइयदेवमणुएसु ।
छज्जंगा खलु नियमा, वज्जे पढमा उपज्जत्ती ॥ ५ ॥
सण्णी तिसुरुल्लेस्सा, संजयाहिट्ठिल्लातिसुयनाणेसु ।
इत्थीपुरिसाणयवेदेवि, छज्जंगा खलु तियजंगो ॥ ६ ॥
सम्मामिच्छमणवइ, मणनाणे बालपंडियवेउव्वी ।
आहारसरीरंमि य, नियमा आहारया होंति ॥ ७ ॥
ओहिम्मिवि जंगंमि, नियमा आहार याउ नायव्वा ।
पंचिंदिया तिरिच्छा, मणुया पुण होंति विजंगा ॥ ८ ॥
ओरालसरीरम्मि य, पज्जत्तीणं च पंचसु तहेव ॥
तियजंगो जियमणुए-सु होंति आहारगा सेसा ॥ ९ ॥
णो जव अरूवलेस्सा, अजोगियो तहय होंति असरीरी ।
पढमाए अपज्जातिए, तउ नियमा अणाहारा ॥ १० ॥
सव्वासव्वविरत्ता, वेयकसाइणो य केवलिणो ।
तियजंग एकवयणं सिद्धाणाहारया होंति ॥ ११ ॥
एताश्च सर्वा अपि गाथा उक्तार्थप्रतिपादकत्वाद्भावितार्थाः

इति न भूयो भाव्यन्ते । ग्रन्थगौरवभयात् । न परं । (एकप्रयणे सिद्धाणाहारया होंति इति ।) एकप्रयणे इत्यत्र तृतीयार्थे सप्तमी । एकवचनेन एकार्थेनेति भावः । सर्वत्र सिद्धा अनाहारका भवन्तीति विज्ञेयम् ॥ प्रज्ञा० २८ पद ॥

जीवः कं समयमनाहारकः ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं-वयासी जीवेणं भंते ! कं समयमणाहारए भवइ ? गोयमा ! पढमे समये सिय आहारए सिय अणाहारए, बितिए समये सिय आहारए सिय अणाहारए, तइए समये सिय आहारए सिय अणाहारए, चउत्थे समए नियमा आहारए, एवं दंडओ जीवा य एगिंदिया य चउत्थे समए सेसा तइए समए ॥ भ०-७ श. १ उ. ॥

(कं समयमणाहारएत्ति) परभवं गच्छन् कस्मिन्समयेऽनाहारको भवतीति प्रश्नः । उत्तरन्तु यदा जीव ऋजुगत्योत्पादस्थाने गच्छति तदा परभवायुषः प्रथम एव समय आहारको भवति । यदा तु विग्रहगत्या गच्छति तदा प्रथमसमये वक्रेऽनाहारको भवति, उत्पत्तिस्थानाऽनवाप्तौ तदाहरणीयपुद्गलानामभावादत आह (पढमे समए सिय आहारए सिय अणाहारएत्ति) तथा यदा एकेन वक्रेण द्वाभ्यां समयाभ्यामुत्पद्यते तदा प्रथमेऽनाहारको द्वितीयेत्वाहारको यदा तु वक्रद्वयेन त्रिभिः समयैरुत्पद्यते तदा प्रथमे द्वितीये चानाहारक इत्यत आह (बीयसमये सिय आहारए सिय अणाहारएत्ति) तथा यदा वक्रत्रयेण त्रिभिस्समयैरुत्पद्यते तदा द्वयोरनाहारकस्तृतीये त्वाहारको यदा तु वक्रत्रये च चतुर्भिस्समयैरुत्पद्यते तदाद्ये समयत्रयेऽनाहारकश्चतुर्थे तु नियमादाहारक इति कृत्वा (तइए समए सिय०) इत्याद्युक्तं वक्रत्रयं चैवं भवति । नाड्या बहिर्विदिग्व्यवस्थितस्य सतो यस्याधोलोकादूर्ध्वलोके उत्पादो नाड्या बहिरेव दिशि भवति सोऽवश्यमेकेन समयेन विश्रेणितस्समश्रेणीं प्रतिपद्यते द्वितीयेन नाडीम्प्रविशति तृतीयेनोर्द्ध्वलोकं गच्छति चतुर्थेन लोकनाडीतो निर्गत्योत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति । इह चाद्ये समयत्रये वक्रत्रयमवगन्तव्यं । समश्रेण्यैव गमनात् ।

अन्ये त्वाहुः । वक्रचतुष्टयमपि सम्भवति । यदाहि विदिशो विदिश्येवोत्पद्यते तत्र समयत्रय प्राग्वत् । चतुर्थसमये तु नाडीतो निर्गत्य समश्रेणीं प्रतिपद्यते पञ्चमेन तूत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति । तत्र चाद्ये समयचतुष्टये वक्रचतुष्क स्यात्तत्र चानाहारक इति । इदञ्च सूत्रे न दर्शितं प्रायेणेत्थमनुत्पत्तेरिति (एवं दंडओत्ति) अमुनाऽभिलापेन चतुर्विंशतिदण्डको वाच्यस्तत्र च जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पूर्वोक्तभावनयैव चतुर्थे समये नियमादाहारक इति वाच्यं । शेषेषु तु परेषु तृतीयसमये नियमादाहारक इति । तत्र यो नारकादिस्त्रसस्त्रसेष्वेवोत्पद्यते । तस्य नाड्या बहिस्तादागमनं गमनञ्च नास्तीति तृतीयसमये नियमादाहारकत्वम् । तथाहि यो मत्स्यादिर्भरतस्य पूर्वभागादैरवत-पश्चिमभागस्याऽधो नरकेपूत्पद्यते । स एकेन समयेन भरतस्य पूर्वभागात्पश्चिम भागं याति द्वितीयेन तु ततः ऐरवतपश्चिम भागं ततस्तृतीयेन नरकमिति । अत्र चाद्ययोरनाहारकस्तृतीयेत्वाहारक एतदेव दर्शयति (जीवाय एगिंदिया य चउत्थे समये सेसा तइयसमएत्ति ॥

कस्मिन् समये सर्वाल्पाहारकः ।

जीवेणं भंते ! कं समयं सव्वप्पाहारए भवइ ? गोयमा ! पढमसमयोववन्नए वा चरिमसमयभवत्थे वा एत्थ णं जीवे सव्वप्पाहारए भवइ दंडओ भाणियव्वो जाव वेमाणियाणं । भ०-७ श. १ उ ॥

कस्मिन् समये सर्वाल्पः सर्वथा स्तोको न यस्मादन्यः स्तोकतरोऽस्ति स आहारो यस्य सः सर्वाल्पाहारः स एव सर्वाल्पाहारकः (पढमसमयोववण्णएत्ति) प्रथमसमय उत्पन्नस्य यस्य प्रथमो वा समयो यत्र तत्प्रथमसमयं । तदुत्पन्नमुत्पत्तिर्यस्य स तथा उत्पत्तेः प्रथमसमय इत्यर्थः । तदाहारग्रहणहेतो शरीरस्याऽल्पत्वात्सर्वाल्पाहारता भवतीति । (चरमसमयभवत्थेवत्ति) । चरमसमये भवस्य जीवितस्य तिष्ठति यः स तथा आयुषश्चरमसमय इत्यर्थः । तदानीं प्रदेशानां संहृतत्वेनाऽल्पेषु शरीरावयवेषु स्थितत्वात्सर्वाल्पाहारतेति ।

वनस्पतिः सर्वाल्पाहारकः ।

वणस्सइकाइया णं भंते ! कं कालं सव्वप्पाहारगा वा सव्वमहाहारगा वा भवंति ? गोयमा ! पाउसवरिसा रत्तेसु णं एत्थणं वणस्सइकाइया सव्वमहाहारगा भवंति। तयाणंतरं च णं सरए, तयाणंतरं च णं हेमंते, तयाणंतरं च णं वसंते, तयाणंतरं च णं गिम्हासु, णं वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति। जइ णं भंते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्वप्पाहारगा भवंति । कम्हाणं भंते ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया पुप्फिया फलिया हरिय गेरेरिज्जमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवचिट्ठंति ? गोयमा ! गिम्हासु णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य वणस्सइकाइयत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति । एवं खलु गोयमा ! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया पुप्फिया जाव चिट्ठंति । से नूणं भंते ! मूला मूलजीवफुडा कंदा कंदजीवफुडा जाव बीया बीयजीवफुडा ? हंता गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा जाव बीया बीयजीवफुडा । जइणं भंते ! मूला मूलजीवफुडा जाव बीया बीयजीवफुडा कम्हाणं भंते ! वणस्सइकाइया आहारंति परिणामंति ? गोयमा ! मूला मूलजीवफुडा पुढवीजीवपडिबद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति कंदा कंदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति एवं जाव बीया बीयजीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आहारंति तम्हा परिणामंति ।

(वणस्सइ) इत्यादि । (कं कालंति) कस्मिन्काले । (पाउसेत्यादि ।) प्रावृडादौ बहुत्वाज्जलस्नेहस्य महाहारतोक्ता प्रावृट् श्रावणादिर्वर्षारात्रोऽश्वयुजादिः । (सरएत्ति) शरत् मार्गशीर्षादिस्तत्र चाल्पाहारा भवन्तीति ज्ञेयं । ग्रीष्मे सर्वाल्पाहारतोक्ता । अत एव च शेषेष्वप्यल्पाहारता क्रमेण द्रष्टव्येति । (हरितगरेरिज्जमाणत्ति ।) हरितकाश्च ते नीलकाः रेरिज्यमानाश्च देदीप्यमाना हरितकरेरिज्यमानाः ।

(सिरीपत्ति ।) घनस्कन्धा । (तसिणजोणियत्ति ।) तष्ण मेव योनिर्येषान्ते तष्णयोनिकाः । (मूलामूलजीवफुडत्ति)। मूलानि मूलजीवैः स्पृष्टानि व्याप्तानीत्यर्थः । यावत्करणात् (खंधाखंधजीवफुडा) एव (तया साला पवाला पत्ता पुप्फा फलत्ति) दृश्यं । (जइण) मित्यादि । यदि भदन्त ? मूलादीन्येव मूलादिजीवैः स्पृष्टानि तदा (कम्हत्ति) । कस्मात्केन हेतुना कथमित्यर्थः । वनस्पतय आहारयति । आहारस्य भूमिगतत्वान्मूलादिजीवानां च मूलादिव्याप्त्यै वावस्थितत्वात्केषाञ्चिच्च परस्परव्यवधानेन भूमेर्दूरवर्तित्वादिति । अत्रोत्तर । मूलानि मूलजीवस्पृष्टानि केवलं पृथिवी जीवप्रतिबद्धानि । (तम्हात्ति) । तस्मात्तत्प्रतिबन्धाद्धेतोः पृथिवीरसं मूलजीवा आहारयन्ति कन्दाः कन्दजीवस्पृष्टाः केवलं मूलजीव प्रतिबद्धा स्तस्मात्तत्प्रतिबंधान्मूलजीवोपात्तं पृथिवीरसमाहारयंतीत्येवं स्कंधादिष्वपि वाच्य ॥ भ. श. ७ उ. ३ ॥

आहारकाणां कायस्थितिः (कायट्ठिइ) शब्दे उक्ता ॥ अदत्तमाहारमाहारयंति ॥

जे भिक्खू आयरिय उवज्झाएहिं अदिन्नं आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खु आयरियउवज्झाएहिं अविदिन्नं विगयं आहारेति आहारंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

आचार्य उपाध्यायः । असहीणेवायरिए उवज्झाओ पुच्छिज्जइ । अथवा उवज्झायगहणेण जो ज पुरतो काउ विहरति सो तेण पुच्छियव्वो अविदिन्न अदत्त अणुण्णा ये अन्नायं अन्नतर गहणतोणवविगत्तीओ जो आहारेइ तस्स मासलहु एस सुत्तत्थो ॥ नि० चू० ४ ॥

ओषधीराहारयति ।

जे भिक्खू कसिणाओ ओसहीओ आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

कसिणा, सपुण्णा दव्वतो अभिन्ना ओसहीओ सालिमातियाओ आहारेति भुंजति तस्स मासलहुं कसिणत्ते ओसहीए दव्वभावेहिं चउभंगो कायव्वो दव्वतो ॥

कसिणत्तमोसहीणं, दव्वे भावे व उक्कमयणाउ ।
दव्वेण जातु सकला, जीवजुता भावितो कसिणा ॥ २५ ॥

कसिणा सम्पुण्णा अखंडिता अप्फुडिता भावकसिणा जा सचेयणा ॥

सतुसा सचेयणा वि य, पढम भंगोउ ओसधीणीउं ।
वितिओ सचेतणा अतुसा ओखाडिता अतिच्छडिता ॥

जा सतुसा दव्वतो अभिन्ना सचेयणा य एस पढमभंगो जा सचेयणा अतुसा चेयणा तंदुला सउसा वा खंडिता अतिच्छडा एगडुच्छडा वा कता एस वितियभंगो ॥

णियगाठितिमतिकंता सतुसा वीयाउ ततियओभंगो ।
पढमभातिविवरीओ चउत्थभंगोमुणे तव्वो ॥ २७ ॥

णियगा आत्मीयस्थिति मतिकान्ता अचेतना इत्यर्थः । दव्वतो पुण सतुसा अखंडिता अप्फुडिता एरिसा जा ओसहीओ एस ततियभंगो भावतो णियगट्ठितिमातिक्कन्ता दव्वतो भिन्नो एस पढमभंगविवरीतो चतुर्थभंगो भवतीति ।

एतेसु चउभंगेसु इमपच्छित्त ।

दोसु लहुया दोसु लहुओ, तवकालाविसेसिता जधा कमसे
परित्तोसधीणसोधी, एसे व गुरुअणंताणं ॥ २८ ॥

आइल्लेसु दोसु भंगेसु चउलहुं । पच्छिमेसु दोसु भंगेसु मासलहुं जहाकम आतिल्लातो समारब्भ तवकालविसेसिया कायव्वा । पढमे दोहिं वि गुरु वितिए तव गुरु ततिए कालगुरु चउत्थे दोहिं वि लहु एव परित्ते भणिय अणंतवीएसु एव पच्छित्तं गुरुगं दत्तव्वं ।

चोदगआह ।

अण्णोण्णेण विरुद्धं तु, सोविसुत्तंव मा भणसा ।
संघट्टणे तुसोही, पंचाहा भुंजतो सुत्तं ॥ २९ ॥

सुत्तगहणतो इहसुत्ते वितिएसु मासलहुं सो वि भहणाउ इहेव पढिगाए अत्थेवीएसु पाणगं दत्तं एए दो वि अण्णोण्ण विरुद्धा एवं मा भणाहि आचार्योआह लातु संघट्टणे पञ्चकं पच राइन्दिया अत्थेण जे वीएसु भणिता ते संघट्टणा इम पुण भुजओ सुत्ते मासलहुं अंतो भणियं तम्हातो अण्णोण्णविरुद्ध अण्णे आयरिया वक्खाणेंति । अत्यतो चोइए आचार्य उत्तरमाह अण्णोण्णेण गाहा शेष पूर्ववत् ।

पुणरवि चोयगआह ।

गा०-जं च वीएसु पंचावो, कुंकुरोट्टेसु मासियं ।
तत्थपाती तु सो वीयं, कुंकुरोट्टतुणिव्वसाउ ॥ ३० ॥

प्रचोदको भणति वीएसु संघट्टिएसु पणगकुंकुरोट्टेसु संघट्टितेसु मासलहुं एत्थ किं कारण तुसमुहीकाणिया कुक्कसमीसा कुरुग भणाति असत्थो वहतो आमो चेयण च तडुले ढोट्ठो भणति आयरिओ भण्णति तत्थे पाती तु पच्छक चोइते तत्थेव उत्तर भणाति पाति रक्खति सो तुसो त वीय तेणं तत्थपणग कुंकुरोट्टे पुण णितुसा तेण वत्थमहततवरी पीडा अतो तत्थ मासित ।

गा०-एते सामण्णतरं, कसिणं जोऊ आधिउ आधारे ।
सा आणा अणवत्थं, मिच्छत्त विराधणं पावे ॥ ३१ ॥

तिलमुग्गमासचवलगा गोधूम चणयसालिकगुमातीयाण अण्णतरं कसिणं भुंजति सो आणाती दोसे पावति इमे दोसा ।

गा०-पलिमंथोअणाइण्णं, जो णिग्घातो असंजमे ।
अतिभुत्ते य आयाए, पत्थारंमि पसज्जणा ॥ ३२ ॥

चमण्णयमातियासु सगासु सचित्तासु अचित्तासु वा पलिमंथो पगरि सिण संजमो मथिज्जति जेण सो पलिमंथो साहूण वा तओ अणाइण्णा जोणीभूते बीए जोणी घातो भवतीति सचित्ते असंजमो भवति रसाले वा अतिभुत्ते विसूइयत्ति आयविराहणा अण्णतरं वा दीहे रोगायंक भवति तत्थपत्थारपसंगो प्रसूरणं प्रस्तारप्रसंग उत्तरोत्तरवृ लसभव इत्यर्थः ।

तत्थ परितावमहादुक्खे ॥

गा०-वितियपदे गेलाणे, अद्धाणे चेव तह य उमंमि ॥
कसिणोसहीणगहणो, जतणाए कप्पती काउं ॥ ३३ ॥

वेज्जुवदेसा गिलाणो भुंजति भत्तालभे अद्धाणे अकच्च ता वा उमेकसिणो वा उमेकसिणोसही गहण करेज्ज न पि सयणाए पणगातिमासपत्तो पच्छाचरिमभंगेण ततो ततियभंगे, ततो वितियभंगे, ततो पढमेण पत्र गहण काउ कप्पति ॥

यावज्जीव कियद्भुंक्ते ॥

चत्तारि य उसासकोडिसए जाव चत्तालीसं च

ऊसास सहस्साइं जीवंतो अध्दतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ । कहमाउसो अध्दतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ । गोयमा ! दुब्बलाए खंमियाणं वलियाए छड्डियाणं खयरमुसलपच्चाहयाणं ववगयतुसकणियाणं अखण्डाणं अफुडियाणं फलगसरीयाणं एक्किक्कं वीयाणं अध्दतेरसपलियाणं पत्थयणं सेवियणं पत्थ ए मागहए कल्लंपत्थो १ सायंपत्थो २ चउसट्ठितंदुलसाहस्सीओ मागहओ पत्थो विसाहस्सिएणं कवलेणं वतीसं कवला पुरिसस्स आहारो १ अट्ठावितं इत्थीयाए २ चउवीसं पंडगस्स ३ एवमेवआउसो एयाए गणणाए दो असईओ पसई १ दो पसईउ सेइया होइ २ चउवीसं पंडगस्स ३ एव मेव आउसो चत्तारी सेइयाकुलउ चत्तारिकुलया पत्थो ४ चत्वारि पत्था आढगं ५ सट्ठीए आढगाणं जहन्नए य कुंभे ६ असीए आढगाणं मज्झिमेकुंभे ७ आढगसयं उक्कोसए कुम्भे ८ अट्ठेव आढगसयाणि वाहो एएणं वाहपमाणेणं अध्दतेवीसं तंदुलवाहे भुंजइ ते य गणिय निद्दिट्ठा "चत्तारि य कोडिसया, सट्ठिं चेव य हवंति कोडियो । असीइं च तंदुलसय–सहस्सा हवंतित्ति वि क्खायं" ४६०८०००००० तं एवं अध्दतेवीसं तंदुलवाहे भुंजंतो अध्दछट्ठे मुगाकुंभे भुंजइ । अध्दछट्ठे मुगाकुम्भे भुंजंतो चउवीस नेहाढगसयाइं भुंजइ चउवीसं नेहाढगसयाइं भुंजंतोवत्तीसं लवणपलसहस्साइं भुंजइ वत्तीसं लवणपलसहस्साइं भुंजंतो छप्पडगसाडगसयाइं नियंसेइ दोमासीएण परियट्टएणं मासिएण वा परियट्टेणं वारसपडसाडगसयाइं नियंसेइ एवमेव आउसो वाससयाउयस्स सव्वं गणियं तुलियमवियं नेहलवणभोयणच्छायणंपि एय गणियप्पमाणं दुविहं भणियं महरिसीहिं जस्सत्थि तस्स गुणिज्जइ जस्स नत्थि तस्स किं गणिज्जइ ॥

'ववहारगणियदिट्ठं, सुहुमं निच्छयगयं मुणेयव्वं ॥
जइ एयं नविएयं, विसमा गण णा मुणेयव्वा' ॥ १ ॥

चत्वारि उच्छ्वासकोटिशतानि यावच्चत्वारिंशदुच्छ्वाससहस्राणि जीवन्सार्द्धं द्वाविंशति तंदुलवाहान् वक्ष्यमाणस्वरूपान् भुनक्ति। कथ हे आयुष्मन् ! हे सिद्धार्थनंदन' सार्द्धद्वाविंशतितंदुलवाहान् भुनक्ति ससारीति–हे गौतम ! दुर्बलिकया स्त्रिया कण्डितानां बलवत्या यमया वृटितानांशूर्पादिना खदिरमुशलप्रत्याहतानां व्यपगततुषकणिकाणां अखण्डानां सम्पूर्णवयवानां अस्फुटितानां राजिरहितानां (फलगसरियाण) फलक वीनितानां कर्करादिकर्षणेन एकैकवीजानां वीननार्थं पृथक् २ कृतानामित्यर्थः । एव विधानां सार्द्धद्वादशपलानां तंदुलानां प्रस्थकोभवति एं वाक्यालङ्कारे ॥ पलमान यथा पंचभिर्गुंजाभिर्मासः षोडशमाषा कर्ष अशीति–गुंजाप्रमाण इत्यर्थ । स यदि कनकस्य तदासुवर्ण संज्ञ नान्य स्यरजतादेरितिचतुर्भि कर्षै पलमिति विंशत्यधिकशतत्रय–गुंजाप्रमाणमित्यर्थः (३२०) सेपि च प्रस्थक मगधे भवो मागध इत्युच्यते कल्लन्ति श्वः प्रात कालइत्यर्थः प्रस्थो भवति भोजनायेति सायमिति सन्ध्यायां प्रस्थो भोजनायेति १ एकस्मिन्मागधप्रस्थके कति तंदुला भवन्ति इत्याह । चउसट्ठि १ चतु' षष्ठि तंदुलसाहस्त्रिको मागधप्रस्थोभवत्येक' एव कवलं कतिभि' तंदुलैः स्यादित्याह (विसाहस्सिएणं कवलेणंति) द्विसाहस्त्रीकेण तंदुलेन कवलो भवति तत्र गुंजा कति भवन्ति यथा एकविंशत्यधिकशतप्रमाण' किंचिन्न्यूना एका गुंजाचेति अनेन कवलप्रमानेन पुरुषस्य द्वात्रिंशत् कवलरूप आहारो भवति १ स्त्रिया अष्टाविंशतिकवलरूप आहारः २ पंडकस्य नपुंसकस्य चतुर्विंशतिकवलरूप आहार ३ (एवमेवेति) उक्तप्रकारेण वक्ष्यमाणप्रकारेण च हे आयुष्मन् एतया गणनया एतन्मानं भवति । अथासत्यादिमानपूर्वक अष्टाविंशतिसहस्राधिकलक्ष तंदुलमानं चतु' षष्ठीकवलप्रमाण प्रस्थद्वय प्रतिदिन भुंजन्–प्रतिवर्षेण कति तंदुलवाहान् कतितंदुलांश्च भुनक्तीत्याह (दो असईओ पसई इत्यादि) धान्यभृतोऽवाङ्मुखीकृतो हस्तोऽसतीत्युच्यते द्वाभ्यामसतीभ्यां प्रसृतिः १ द्वाभ्यां प्रसृतिभ्यां सेतिका भवति २ चतसृभिः सेतिकाभिः कुडवः ३ चतुर्भि' कुडवैः प्रस्थ. ४ चतुर्भि प्रस्थैराढकः ५ षष्ठ्याआढकैर्जघन्यकुम्भः ६ अशीत्याढकैर्मध्यमकुम्भ. ७ आढकशतेनो त्कृष्ट कुम्भ. ८ अष्टभिराढकशतैः वाहोभवति ९ अनेनवाह प्रमाणेन सार्द्धद्वाविंशति तंदुलवाहान् भुनक्ति वर्षशतेनेति ते च वाहोक्त तंदुला गणयित्वा सख्यां कृत्वा निर्दिष्टा' कथिताः यथा चत्वारिकोटिशतानि षष्टिश्चैवकोटयः अशीतिस्तंदुलशतसहस्राणि भवतीत्याख्यात कथित एकेनप्रस्थेन चतु. षष्टिस्तंदुलसहस्राणि भवन्ति प्रस्थद्वयेनाष्टाविंशतिसहस्राधिक लक्ष भवति प्रतिदिन द्विर्भोजनेन एतावत्तंदुलान् भुनक्ति अतोष्टाविंशतिसहस्राधिकलक्षं वर्षशतेन षट्त्रिंशद्दिनसहस्रमानत्वात् षट्त्रिंशत्सहस्रैर्गुण्यन्ते । शून्यानि पच भवन्ति चत्वारिकोटिशतानि षष्टिकोटय अशीतिलक्षाणि । ४६०८०००००० तंदुलानामिति (तं एवति) तदेवंसार्द्धद्वाविंशति तंदुलवाहान् भुजन् सार्द्धपंचमुद्गकुंभान् भुनक्ति सार्द्धपंचमुद्गकुंभान् भुंजन् चतुर्विंशति स्नेहाढकशतानि भुनक्ति चतुर्विंशति स्नेहाढकशतानिभुंजन् षट्त्रिंशल्लवणपलसहस्राणि भुनक्ति षट्त्रिंशल्लवणपलसहस्राणिभुंजन् षट्पटकशाटकशतानि (नियंसेइ ति)परिदधाति । द्वाभ्यां मासाभ्यां (परियट्टएणन्ति) परावर्त्तमानत्वेनेति वा अथवा मासिकेन परावर्तित्वेन द्वादशशतशाटक शतानि नियसे इति परिदधाति (एवमेवत्ति) उक्तप्रकारेण हे आयुष्मन् वर्षशतायुष पुरुषस्य सर्वगुणितं तंदुलप्रमाणादिना तुलित पलप्रमाणादिनामविलमसत्वीप्रसृत्यादिना प्रमाणेन तत्किमित्याह । स्नेहलवणभोजनाच्छादनमिति एतत्पूर्वोक्तं गणितप्रमाण द्विधाभणितं महर्षिभि' यस्य जन्तोरस्ति तंदुलादिकं तस्य गुण्यते यस्य तु नास्ति तस्य किं गुण्यते न किमपीति व्यवहारगणितदृष्टं स्थूलन्यायमंगीकृत्य कथित सूक्ष्म निश्चयगतं ज्ञातव्य यदि एतन्निश्चयगत भवती तदा एन दृव्यवहारगणितं नास्त्येव भतो विषमा गणना ज्ञातव्येति १ आहारकारणानि ॥

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गन्थे आहारमाहारेमाणे णाइक्कमइ तंजहा "वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए" ॥

॥टी०॥ कपल्यघ्यर माहारमहानादिक माहारयन्नन्य वह–

न्न नातिक्रामत्याज्ञां पुष्टिकारणत्वादन्यथात्वतिक्रामत्येव रागा दिभावा यद्यथा वेदनेत्यादिगाथा वेदना च क्षुद्वेदनावैयावृत्यं चाचार्यादिकृत्यकरण वेदना वैयावृत्य तत्र विषये भुञ्जीत वेद नोपशमनार्थं वैयावृत्यकरणार्थंचेति भावः ईर्या गमनं तस्याः विशुद्धिर्युगमात्रनिहितदृष्टित्वमीर्याविशुद्धिस्तस्यै इदमीर्यावि- शुध्यर्थं इह च विशुद्धिशब्दलोपादीर्यार्थमित्युक्तं बुभुक्षितो हीर्या शुद्ध्यावशक्तः स्यादिति तदर्थमिति च समुच्चये सय- मः प्रेक्षोत्प्रेक्षाप्रमार्जनादिलक्षणस्तदर्थं तथेति कारणान्तरस मुच्चये प्राणा उच्छ्वासादयोबलवा प्राणास्तेषां तस्य वा वृत्तिः पालनं तदर्थं प्राणसधारणार्थमित्यर्थः षष्ठं पुनः कारण धर्मचि- न्तायै गुणनानुप्रेक्षार्थमित्यर्थः इत्येतानि षट् कारणानीति स्था० ६ ठाणा० ।

अभुञ्जाकारणे द्वारमाह ।

छहिं कारणेहिं साहू, आहारेन्तो य आयरइ धम्मं ।
छहिं चेव कारणेहिं, नज्जूहिन्तो वि यायरइ ॥

षड्भिर्वक्ष्यमाणस्वरूपैः साधुराहारयन्नप्याहारमाचरति धर्मं षड्भिरेवकारणे वक्ष्यमाण स्वरूपै भोजनकारणनिबन्धनैः (निज्जूहिन्तो विन्ति) परित्यजन्नप्याचरति धर्मं तत्र यैः षड्भिः कारणैराहारमाहारयति तानि निर्दिशति " वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्म चिन्ताए " इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् (वेय०त्ति) क्षुद्वेदनोपशमनाय तथा आचार्यादीनां वैयावृत्तिकरणाय तथा ईर्यापथि संशोधनार्थं तथा प्रेक्षादिसयमनिमित्त तथा प्राण- प्रत्ययार्थं प्राणसधारणार्थं षष्ठं पुनः कारण धर्म्मचिन्तानिमि- त्तार्थं भुञ्जीतेति क्रियासबन्धः ।

एतामेव गाथां विवृण्वन्नाह ।

नत्थि छुहाए सरिसा, वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणट्ठा ।
छामो वेयावच्चं, न तरइ काउं अत्रो भुंजे ॥
इरियं न विसोहेई, पेहाईयं च संजमं काउं ।
थामो वा परिहायई, गुणनमणुप्पेहासु य असत्तो ॥

नास्ति क्षुधाया बुभुक्षाया सदृशी वेदना उक्तं च " पयसमा नत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि । मरणसम नत्थि भय, छुहासमा वेयणा नत्थि॥ त नत्थि जन्न वाहइ, तिलतुसमि- त्तंपि एए कायस्स। सन्निज्झ सव्वदुहाइ,देंति आहाररहियस्स" ततस्तत्प्रशमनार्थं भुंजीत तथा क्षामो बुभुक्षितः सन् वैयावृत्य न शक्नोति कर्तुं । तथाचोक्तं।" गलइ बलं उच्छाहो, अवेइ सिढिले इ सयलवावारे । नासइ सत्तं अरई, विवड्ढ असणरहियस्स " अतो वैयावृत्यकरणाय भुंजीत । तथा बुभुक्षितःसन्नीर्यापथं न शोधयत्यशक्तत्वादतस्तच्छोधननिमित्त वा अश्नीयात् तथा क्षु- धार्तः सन् न प्रेक्षादिकं सयमं विधातुमक्षमतः सयमाभिवृ- द्ध्यर्थं भुंजीत तथा स्थाम बलं प्राण इत्येकार्थः तत बुभुक्षितस्य परिहीयते परिहानिं याति। ततोऽश्नीयात् तथा गुणनं ग्रन्थ- परावर्तनमनुप्रेक्षा चिन्ता तयोरुपलक्षणमेतत् वाचनादिष्वपि बुभुक्षितः सन् असक्तो ऽसमर्थो भवति ततो ऽश्नीयात् इत्थंभू- तैश्च षड्भिः कारणैः समस्तैरन्यतमेन वा कारणेनाहारयन्नाति क्रामति ।

सप्रत्यभोजनकारणप्रतिपादनार्थं संबंधगाथामाह ।

अहवं न कुज्जाहारं, छहिं ठाणेहिं संजओ ।
पच्छा पच्छिमकालम्मि, कारं अप्पक्खमं खमं ॥

अथवा षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैः संयतः आहारं न कु र्यात् तत्र विचित्रा सूत्रगतिरिति षष्ठं शरीरव्यवच्छेदलक्षण कारण व्याख्यानयति (पच्छा इत्यादि) पश्चात् शिष्यनिष्पा दनादि सकलकर्तव्यतानंतरं पश्चिमे काले पाश्चात्ये वयसि (अप्पक्खमंति) सल्लेखनाकरणेनात्मानं क्षपयित्वा यावज्जीव मशनप्रत्याख्यानकरणस्य क्षम योग्यमात्मानं कृत्वा भोजनं परिहरेन्नान्यथा । एतेन शिष्यनिष्पत्त्यभावे प्रथमे वा द्वितीये वा वयसि सल्लेखनामन्तरेण वा शरीरपरित्यागार्थमशनप्रत्या ख्यानकरणे जिनाज्ञाभङ्गमुपदर्शयति । पिं० ॥

(भावत एवाहरेदिति अस्मिन्नेव शब्दे ।)

आहारत्यागकारणानि ।

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे आहारं वोच्छिंदमाणे णाइक्कमइ तंजहा " आतंके उवसग्गे, तितिक्खणे बंभ चेरगुत्तीए । पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्ठाए "

(वोच्छिंदमाणेत्ति) परित्यजन् आतके ज्वरादावुत्पन्ने राजस्वजनादिजनिते प्रतिकूलस्वभावे तितिक्षणे अधिसहने कस्याः ब्रह्मचर्यगुप्तेः मैथुनव्रतसरक्षणस्याहारत्यागिनो हि ब्रह्मचर्यं सुरक्षं स्यादिति। प्राणिदया च संपातिमत्रसादिसंर- क्षण तपश्चतुर्थादि षण्मासान्त प्राणिदया तपस्तच्च तद्धे- तुश्च प्राणिदया तपो हेतुस्तस्मात् प्राणिदया तपो हेतोरित्यादि निमित्तमित्यर्थस्तथा शरीरव्यवच्छेदार्थं देहत्यागाय आहार व्यवच्छिन्दन्नातिक्रामत्याज्ञामिति प्रक्रम इह गाथे। " आयंको जरमाई, रायासन्नाइगाय उवसग्गो। बंभवयपालणट्ठा, पाणिदया वासमहियाई ॥ १ ॥ तवहेउ चउत्थाइ, जाव य छम्मासिओ तवो होइ । छट्ठ सरीरवोच्छेयण-ट्टयाहोति अणाहारोत्ति॥२॥" स्था० ६ ठा० ॥

संप्रत्यभोजनकारणानि निर्दिशति ।

आयंके उवसग्गे, तितिक्खए बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउ, शरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥

आतंके ज्वरादावुत्पन्ने सति न भुञ्जीत । तथा उपसर्गे राज स्वजनादिकृते देवमनुष्यतिर्यक्कृते वा सजाते सति तितिक्षार्थ मुपसर्गसहनार्थं तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिस्विति । अत्र षष्ठ्यर्थे सप्तमी । ततोऽयमर्थः ब्रह्मचर्यगुप्तीनां परिपालनाय तथा प्राणि- दयार्थं तथा तपोहेतोस्तपः करणनिमित्त तथा चरमकाले शरीरव्यवच्छेदार्थं सर्वत्र न भुंजीतेति क्रियासंबन्धः ।

एतामेव गाथां विवृण्वन्नाह ॥

आयंको जरमाई, रायासन्नाइ गय उवसग्गे ।
बंभवयपालणट्ठा, पाणिदया वासमहियाई ॥

आतंको ज्वरादिस्तस्मिन्नुत्पन्ने सति न भुंजीत यत उक्तं"वला- बलोविनिर्दिष्ट ज्वरादौ लंघन हितं । ऋतेऽनिलश्रमक्रोध-शोक कामक्षतज्वरान्,, राजस्वजनादिकृते उपसर्गे यद्वा देवमनुष्य- तिर्यक्कृते उपसर्गे जाते सति तदुपशमनार्थं नाऽश्नीयात् । तथा मोहोदये सति ब्रह्मव्रतपालनार्थं न भुञ्जीत भोजननिषेधे हि भावो मोहोदयोविनिवर्तते । तथा चोक्तम् ॥ " विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य, पर दृष्ट्वा निवर्तते "। तथा । वर्षे वर्षति मिहिकायां वा निपतन्त्यां प्राणिदयार्थं नाश्नीयात् । आदिशब्दात् सूक्ष्ममण्डूकादिसं- सक्तायां भूमौ प्राणिदयार्थमटन परिहरन् न भुञ्जीत ।

तवहेउ चउत्थाई, जाव छम्मासिओ तवो होई ।
छटुं शरीरवोच्छे-यणट्ठया होइ अणाहारो ।

तपोहेतोस्तपःकरणनिमित्तं न भुञ्जीत तपश्चतुर्थादिकं चतुर्थादारभ्य तावद्भवति यावत्षाण्मासिकं षण्मासप्रमाणं परतो भगवद्वर्द्धमानस्वामितीर्थे तपसः प्रतिषेधात् षष्ठं पुनः प्रागुक्तविधिना चरमकाले शरीरव्यवच्छेदनार्थं भवत्यनाहारः । तदेवमुक्तं कारणद्वारं । पिं० । पञ्च० । ध. ३० ॥

जह कारणं तु तंतू, पडस्स तेसिं च होंति पम्हाइं ।
नाणाइतिगस्सेवं, आहारो मोक्खनेमस्स ॥

यथा पटस्य तन्तवः कारणं तेषामपि च कारणं पक्ष्माणि भवन्ति । एवमेव प्रकारेण ज्ञानादित्रिकस्य (मोक्खनेमस्स-त्ति) । नेमशब्दो देश्यः कार्याभिधाने रूढः ततो मोक्षो नेमः कार्यं यस्य तस्य कारणं भवत्याहारः । पिं० । नि० चू० १ उ. ॥

आहारप्रमाणद्वारम्

बत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ ।
पुरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीसं भवे कवला ॥

पुरुषस्य कुक्षिपूरक आहारो मध्यमप्रमाणो द्वात्रिंशत्कवलः किलेत्याहारस्य मध्यमप्रमाणतासूचकः । महिलायाः कुक्षिपूरक आहारो मध्यमप्रमाणोऽष्टाविंशतिकवलः । नपुंसकस्य चतुर्विंशतिः स चात्र न गृहीतो नपुंसकस्य प्रायः प्रव्रज्यानर्हत्वात् कवलानाञ्च प्रमाणं कुक्कुट्यण्डकम् । कुक्कुटी च द्विधा द्रव्यकुक्कुटी भावकुक्कुटी च । द्रव्यकुक्कुट्यपि द्विधा । उदरकुक्कुटी गलकुक्कुटी च । तत्र साधोरुदरं यावन्मात्रेणाहारेण न न्यूनं नाऽप्याध्मातं भवति स आहार उदरकुक्कुटी । उदरपूरक आहारः कुक्कुटी च उदरकुक्कुटीति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणात् । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं तत्प्रमाणः कवलः स्यात्तथा गलः कुक्कुटीव गलकुक्कुटी गल एव कुक्कुटीत्यर्थः । तस्यान्तरालमण्डकम् । किमुक्तं भवति । अविकृतस्य पुंसो गलान्तराले यः कवलोऽविश्रमः प्रविशति तावत्प्रमाणं कवलमभीयात् । अथवा शरीरमेव कुक्कुटी तन्मुखमण्डकं तत्राक्षिकपोलभ्रुवां विकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणम् । अथवा कुक्कुटी पक्षिणी तस्या अण्डकं प्रमाणं कवलस्य । भावकुक्कुटी येन आहारेण भुक्तेन न न्यूनं नाऽप्यत्याध्मातमुदरं भवति । धृतिश्च समुद्वहति । ज्ञानदर्शनचारित्राणाञ्च वृद्धिरुपजायते । तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी । अत्र भावस्य प्राधान्यविवक्षणादेव प्राग् द्रव्यकुक्कुट्यप्युक्तः । इह भावकुक्कुटी उक्तः । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागो अण्डकप्रमाणः तत्कवलस्य ।

एत्तो किणाईहीणं, अद्धं अवड्ढगं च आहारं ।
साहुस्स बेंति धीरा, जायामायं च ओमं च ॥

एतस्मात् द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादाहारात् (किणाई इति) किञ्चिन्मात्रया एकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा कवलैः साधोर्हीनं हीनतरं यावदर्द्धमर्द्धस्याऽप्यर्द्धमाहारं यात्रामात्रमाहारं धीरास्तीर्थकृदादयो ब्रुवते न्यूनश्च एव यात्राहार एव एव वाऽवमाहार इति भाव. । पिं० ॥

सम्प्रति प्रमाणदोषानाह ॥

पगामं च निगामं च, पाणीयं भत्तपाणमाहारे ।
अइबहुयं अइबहुसो, पमाणदोसो मुणेयव्वो ॥

यः कामं निकामं प्रणीतं वा भक्तपानमाहारयति तथाऽतिबहुकमतिबहुशश्च तस्य प्रमाणदोषा ज्ञातव्याः ॥

संप्रति प्रकामादिस्वरूपमाह ॥

बत्तीसाइपरेणं, पगाम निच्चंतमेव उ निकामं ।
जं पुण गलितसिणेहं, पणीयमिति तं बुहा बिंति ॥

द्वात्रिंशदादिकवलेभ्यः परेण परतो भुञ्जानस्य यद्भोजनं तत्प्रकामभोजनं तदेव तत्प्रमाणातीतमाहारं नित्यन्तं प्रतिदिवसमश्नतो निकामभोजनम् । यत्पुनर्गलितस्नेहं भोजनं तत्प्रणीतं बुधास्तीर्थकृदादयः ब्रुवते ॥ तथा–

अइबहुयं अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं ।
हाएज्ज व वामेज्ज व, मारेज्ज व तं अजीरंतं ॥

अतिबहुकं वक्ष्यमाणस्वरूपमतिबहुशोऽनेकशोऽतृप्यता सता भोजनं भुक्तं सत् हादयेत् अतीसारं कुर्यात् तथा वामयेत् यद्वा तदजीर्यन्मारयेत् । तस्मान्न प्रमाणातिक्रमः कर्तव्य इति ।

सम्प्रति अतिबह्वादिस्वरूपमाह ।

बहुयातीयमइबहुं, अइबहुसो तिन्निसिन्नि परेणं ।
तं चिय अइप्पमाणं, भुंजेज्जइ वा अतिप्पंतो ॥

बहुकातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणादभ्यधिकमित्यर्थः । तथा दिवसमध्ये यस्त्रीन् वारान् भुङ्क्ते त्रिभ्यो वा वारेभ्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुश. । तदेव च वारत्रयातीतमतिप्रमाणमुच्यते अइप्पमाणे त्ययवयवो व्याख्यातः । अस्यैव प्रकारान्तरेण व्याख्यानमाह ॥ भुङ्क्ते यद्वा अतृप्यन् एव अइप्पमाण इत्यस्य शब्दस्यार्थः । अइप्पमाण इत्यत्र च शानच् प्रत्ययस्ताच्छील्यविवक्षायां यद्वा प्राकृतलक्षणवशादिति ।

सम्प्रति प्रमाणयुक्तहीनतरादिभोजने गुणानाह ।

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा ।
न ते विज्जा चिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥

हितं द्विधा द्रव्यतो भावतश्च द्रव्यतोऽविरुद्धानि द्रव्याणि भावत एषणीय तदाहारयंति ये ते हिताहाराः । मितं प्रमाणोपेतमाहारयन्तीति मिताहाराः । द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादप्यल्पमल्पतरं वा आहाराः । सर्वत्र वा बहुव्रीहिः हित आहारो येषां ते हिताहारा इत्यादि एवंविधा ये नरास्तान् वैद्या न चिकित्संति हितमितादिभोजनेन तेषां रोगस्यैवासंभवात् किं त्वेते स्वत एव रोगोत्थानप्रतिषेधकरणेनाऽऽत्मनैवात्मनस्ते चिकित्सकाः ।

सांप्रतमहितहितस्वरूपमाह ॥

तेल्लदहिसमा जोगा, अहितं उ खीरदहिकंजियाणं च ।
पत्थं पुण रोगहरं, विनासगं होइ रोगस्स ।

दधितैलयोस्तथा क्षीरदधिकांजिकानां च यः समायोगः सोऽहितो विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तं शाकमूलफलपिण्याककपित्थलवणैः सह करीरदधिमत्स्यैश्च प्रायः क्षीरं विरुध्यते इत्यादि अविरुद्धद्रव्यमेलनं पुनः पथ्यं तच्च रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरं न च भाविनो रोगस्य हेतुः कारणम् । उक्तञ्च "अहिताशनसम्पर्कात्, बहुरोगोद्भवो यतः । तस्मात्तदहितं पथ्य, न्याय्यं पथ्यनिषेवणम्" ।

सांप्रतं मितं व्याचिख्यासुराह ।

अद्धमसणस्स सव्वं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे ।
वाउपवियारणट्ठा, छब्भायउ ऊणयं कुज्जा ॥

इह किल सर्वसुन्दरं षड्भिर्भागैर्विभज्यते तत्रार्द्धं भागत्रय-

रूपमशनस्य सव्यञ्जनस्य तक्रशाकादिसहितस्याधारं कुर्यात् तथा द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य षष्ठं तु भाग वायु प्रविचरणार्थं न्यून कुर्यात् इह कालापेक्षया तथा तथा आहारस्य प्रमाण भवति। कालश्च त्रिधा तथा चाह-

सिओ उसिणो साहारणो य, कालो तिहा मुणेयव्वो।
साहारणंमि काले, तत्थाहारे इमा मत्ता ॥

त्रिधा कालो ज्ञातव्यस्तद्यथा शीत उष्णः साधारणश्च तत्र तेषु कालेषु मध्ये साधारणे काले आहारविषया इयमनन्तरोक्ता मात्रा प्रमाणम् ॥

सीए दवस्स एगो, भत्ते चत्तारि अहव दो पाणी।
उसिणे दवस्स दोन्नि उ, तिन्नि व सेसा उ भत्तस्स ॥

शीते अतिशयेन शीतकाले द्रव्यस्य पानीयस्यैको भागः कल्पनीयश्चत्वारि भक्तस्य। मध्यमे तु शीतकाले द्वौ भागौ पानीयस्य कल्पनीयौ त्रयस्तु भागा भक्तस्य । वा शब्दो मध्यमशीतकालसमूचनार्थः । तथा उष्णे मध्यमोष्णकाले द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य कल्पनीयौ शेषास्तु त्रयो भागाः भक्तस्य। अत्युष्णे च काले त्रयो भागा द्रव्यस्य शेषौ द्वौ भागौ भक्तस्य। वा शब्दोऽत्युष्णकालसमूचनार्थः सर्वत्र च षष्ठो भागो वायुप्रविचरणार्थमुक्तोऽतो मोक्तव्यः।

सम्प्रति भागानां स्थिरचरविभागप्रदर्शनार्थमाह।

एगो दवस्स भागो, अवट्ठिओ भोयणं दो भागा॥
वड्ढंति व हाइंति व,दो दो भागा उ एक्केक्के ॥ १ ॥

एको द्रव्यस्य भागोऽवस्थितो द्वौ भागौ भोजनस्य शेषौ तौ द्वौ भागौ एकैकस्मिन् भक्ते पाने चेत्यर्थः। वर्द्धेते वा हीयेते वृद्धिं वा व्रजेते हानिं वा व्रजेते इत्यर्थः । तथा हि । अतिशीतकाले द्वौ भागौ भोजनस्य वर्धेते अत्युष्णकाले च पानीयस्य। अत्युष्णकाले च द्वौ भागौ भोजनस्य हीयेते अतिशीतकाले पानीयस्य।

एतदेव स्पष्टं भावयति॥

एत्थ उ तइयचउत्था, दोन्नि य अणवट्ठिया भवे भागा।
पंचमछट्ठो पढमो, बिइओ विअवट्ठिया भागा ॥ १ ॥

आहारविषयौ तृतीयचतुर्थौ भागावनवस्थितौ तौ ह्यतिशीतकाले भवतोऽत्युष्णकाले च न भवतः। तथा यः पानविषयः पञ्चमो भागो यश्च वायुप्रविचरणार्थं षष्ठो भागो यौ च प्रथमद्वितीयावाहारविषयावेते सर्वेऽपि भागा अवस्थिता न कदाचिदपि भवतीति भावः। तदेवमुक्तं प्रमाणद्वयम्। पिं०। सूत्र १। श्रु०७ अ०।
"आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं, स्यादाहारः प्राणसधारणार्थं ॥ प्राणा धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं, तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात्" ॥ ॥ १ ॥ आचा० अ० ३ उ० १ ॥

प्रणीताहारभोजन न युक्तं ब्रह्मचारिण इति (बम्भचेरसमाहि) शब्दे ॥

स्तोकाहारफलं (पडिक्कमण) शब्दे ॥

आहारस्यांगारधूमादिदोषाः (अंगारधूमादि) शब्देषु उक्ता-अपि सग्रहेणाह ॥

अह भंते ! सइंगालस्स सधूमस्स संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ? गोयमा ! जेणं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणपाण ४ पडिग्गहेत्ता संमुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने आहारं आहारेइ एसणं गोयमा ! सइंगाले पाणभोयणे जेणं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण ४ पडिग्गहेत्ता महया अप्पत्तियकोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! सधूमे पाणभोयणे जेणं निग्गंथे वा जाव पडिग्गहेत्ता गुणुप्पायणहेउं अन्नदव्वेणं सद्धिं संजोएत्ता आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! संजोयणादोसदुट्ठे पाणभोयणे एएणं गोयमा ! सइंगालस्स सधूमस्स संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स अट्ठे पन्नत्ते ॥

(सइंगालस्सत्ति) चारित्रेन्धनमङ्गारमिव यः करोति भोजनविषयरागाग्निः सोऽङ्गार एवोच्यते तेन सह यद्वर्तते पानकादि तत्साङ्गार तस्य (सधूमस्सत्ति) चारित्रेन्धनधूमहेतुत्वाद्धूमो द्वेषस्तेन सह यत्पानकादि तत्सधूम तस्य (संजोयणादोसदुट्ठस्सत्ति) संयोजना द्रव्यस्य गुणविशेषार्थं द्रव्यान्तरेण योजन स एव दोषस्तेन दुष्ट यत्तत्तथा तस्य (जेणंति) विभक्तिपरिणामाद्यमाहारमाहारयन्तीति सम्बन्धः (मुच्छिएत्ति) मोहवान् दोषानभिज्ञत्वात् (गिद्धेत्ति) तद्विशेषाकांक्षावान् (गढिएत्ति) तद्गतस्नेहतन्तुभिः सदर्भितः (अज्झोववन्नत्ति) तदेकाग्रतां गतः (आहारमाहारेत्ति) भोजन करोति (एसणंति) एष आहारः साङ्गारं पानभोजनम् (महयाअप्पत्तियति) महदप्रीतिकमप्रेम (कोहकिलामति) क्रोधात्क्लमः शरीरायासः क्रोधक्लमोऽतस्त (गुणुप्पायणहेउति) रसविशेषोत्पादनायेत्यर्थः ॥ भ० ७ श० १ उ०।

उत्तरगुणानधिकृत्याह ॥

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा ।
अमुच्छिए ण य अज्झोववन्ने ॥
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी।
न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ॥ २३ ॥
निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी ।
कायं विउस्सेज्ज नियाणछिन्ने ॥
णो जीवियं णो मरणावकंखी ।
चरेज्ज भिक्खू वलयाविमुक्के त्तिबेमि ॥ २४ ॥

(सुद्धेसिया इत्यादि) उद्गमोत्पादनैषणाभिः शुद्धे निर्दोषे स्यात् कदाचिद्याते प्राप्ते पिण्डे सति साधु रागद्वेषाभ्यां न दूषयेत्। उक्तं च " बायालीसेसणसं, कडमि गहणमि जीव न हु छलिओ। इण्हि जह न छलिज्जसि, भुंजंतो रागदोसेहिं " तत्रापि रागस्य प्राधान्यख्यापनायाह । न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः सकृदपि शोभनाहारलाभे सति गृद्धिमकुर्वन्नाहारयति । तथा नाऽध्युपपन्नस्तमेवाहार पौनःपुन्येनाभिलषमाणः केवलं संयमयात्रापालनार्थमाहारमाहारयेत् प्रायो विवितवेद्यस्यापि विशिष्टाहारसन्निधावभिलाषातिरेको जायत इत्यतोऽमूर्च्छितोऽनध्युपपन्न इति च प्रतिषेधद्वयमुक्तम्। उक्तं च ' भुत्तभोगी पुरा जो वि, गीयत्थो वि य भाविओ। सते साहारमाईसु, सोवि खिप्प तु खुब्भइ " ॥ सूत्र श्रु १ अ० १० ॥

शस्त्रातिक्रान्त आहारः ॥

अह भंते ! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्स, वेसियस्स, समुदाणियस्स, पाणभोयणस्स, के अट्ठे पण्णत्ते ? गोयमा ! जेणं निग्गंथे वा २ निक्खित्तसत्थमुसले ववगयमालावण्णगविलेवणे ववगयचुयचइयचत्तदेहं जीवविप्पजढं अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकियकडमणुद्दिट्ठं नवकोडिपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमउप्पायणेसणासु परिसुद्धं वीइंगालं वीइधूमं संजोयणा-दोसविप्पमुक्कं असुरसुरं अचवचवं अदुयमविलंबियं अपरिसाडिं अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं संजमभारवहणट्ठयाए बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेइ एसणं गोयमा ! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, जाव-पाणभोयणस्स, अयमट्ठे पण्णत्ते तं चेव सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

(सत्थातीतस्सत्ति) शस्त्रादग्न्यादेरतीतमुत्तीर्णं शस्त्रातीतम् एव भूतं च तथाविधमयुक्तादिवदपरिणतमपि स्यादत आह (सत्थपरिणामियस्सत्ति) वर्णादीनामन्यथा करणेनाचित्तीकृतस्येत्यर्थः । अनेन प्रासुकत्वमुक्तम् (एसियस्सत्ति) एषणीयस्य गवेषणाविशुद्ध्या गवेषितस्य (वेसियस्सत्ति) विशेषेण विविधैर्वा प्रकारैरेषितं व्येषित ग्रहणैषणाग्रासैषणाविशोधित तस्य अथवा वेषो मुनिनेपथ्य स हेतुर्लाभे यस्य तद्वैषिकं आकारमात्रदर्शनादवाप्त नत्वावर्जन या अनेन पुनरुत्पादनादोषापोहमाह । (समुदाणियस्सत्ति) ततस्ततो भिक्षारूपस्य किं भूतो निर्ग्रन्थ इत्याह । (निक्खित्त सत्थमुसलेत्ति) त्यक्तखड्गादिशस्त्रमुसलः (ववगयमालावण्णगविलेवणेत्ति) व्यपगतपुष्पमालाचन्दनानुलेपनः स्वरूपविशेषणे चेमे न तु व्यवच्छेदार्थे निर्ग्रन्थानामेव रूपत्वादेवेति (ववगयचुयचइयचत्तदेहति) व्यपगता स्वय पृथग्भूता भोज्यवस्तुसम्भवा आगंतुका वा कृत्यादयश्च्युता मृताः स्वत एव परतो वा ऽभ्यवहार्यवरत्वात्मकाः पृथिवीकायिकादयः । (चइयत्ति) त्याजिता भोज्यद्रव्यात् पृथक्कारिता दायकेन (चत्तत्ति) स्वयमेव दायकेन त्यक्ता भक्ष्य द्रव्यात् पृथक् कृता देहाभेदाविवक्षया देहिनो यस्मात् स तथा तमाहारम् । वृद्धव्याख्या तु व्यपगत ओघतश्चेतनापर्यायादपेतश्च्युतो जीवनक्रियातो भ्रष्टश्च्यावितस्तत एवाऽऽयुष्कक्षयेण भ्रंशितस्त्यक्तदेहः परित्यक्तजीवसंसर्गजनिताहारभवोपचयस्तत एषा कर्मधारयोऽतस्त किमुक्त भवतीत्याह (जीवविप्पजढंति) प्रासुकमित्यर्थ. (अकयमकारियमसकप्पियमणाहूयमकीयकडमणुद्दिट्ठं) अकृत साध्वर्थमनिर्वर्तित दायकेन एवमकारितं दायकेनैव अनेन विशेषणद्वयेनानाधाकर्मिक उपात्त असकल्पित स्वार्थं संस्कुर्वता साध्वर्थतया न सकल्पित अनेनाप्यनाधाकर्मिक एव गृहीत स्वार्थ मारब्धस्य साध्वर्थं निष्ठा गतस्याऽपि आधाकर्मिकत्वात् । न विद्यते आहूतमाह्वानमामन्त्रणं नित्य मद्गृहे पोषमात्रमन्न ग्राह्यमित्येव रूप कर्मकराद्याकरणं वा साध्वर्थं स्थानान्तरादन्नाद्यानयनाय यत्र सोऽनाहूतोऽनित्यपिण्डो ऽनभ्याहृतो वेत्यर्थ । स्पर्धया वाऽऽहूत तन्निषेधादनाहूतो दायकेनास्पर्धया दीयमान इत्यर्थ । अनेन भावतोऽपरिणताभिधान एषणादोषनिषेध उक्तोऽतस्तमक्रीतकृतं क्रयेण साधुदेय न कृत मनुद्दिष्टमनौद्देशिकं (नवकोडीपरिसुद्धंति) इह कोटयो विभागास्ताश्चेमा बीजादिकं जीवं न हन्ति न घातयति घ्नन्तं नानुमन्यते । ३ । एव न पचति । ३ । न क्रीणाति । ३ । इत्येव रूपा (दसदोसविप्पमुक्कंति) दोषाः शङ्कितम्रक्षितादयः । (उग्गमउप्पायणेसणासुपरिसुद्धंति) उद्गमश्च आधाकर्मादि. षोडशविधः । उत्पादना च धात्रीदूत्यादिका षोडशविधैव उद्गमोत्पादने एनाद्वि्षया या एषणा पिण्ड विशुद्धिस्त या सुष्ठु परिशुद्धो यः स उद्गमोत्पादनैषणासु परिशुद्धो ऽतस्तम् अनेन चोक्तानुक्तसंग्रहः कृतः. । वीताङ्गारादीनि क्रियाविशेषणान्यपि भवन्ति । प्रायोऽनेन च ग्रासैषणा विशुद्धिरुक्ता (असुरसुरंति) अनुकरणशब्दोऽयम् एव (अचवचवमित्यपि) (अदुयति) अशीघ्रं (अविलंबियंति) नातिमन्थरम् (अपरिसाडिंति) अनवयवोज्झित (अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयति) अक्षोपांजनं च शकटधूम्रक्षण व्रणानुलेपनं च क्षतस्यौषधेन विलेपन अक्षोपांजनव्रणानुलेपने ते इव विवक्षितार्थसिद्धिरसादिनिरभिष्वङ्गता साधर्म्याद्यः सोऽक्षोपांजनव्रणानुलेपनभूतोऽतस्तं क्रियाविशेषणं वा ॥ ५ ॥ (सजमजायामायावित्तियत्ति) संयमयात्रा सयमानुपालन सैव मात्रा आलम्बनसमूहांशः संयमयात्रा मात्रा तदर्थं वृत्तिः प्रवृत्तिर्यत्राहारे स सयमयात्रामात्रावृत्तिको ऽतस्त संयमयात्रामात्रावृत्तिक वा यथा भवति सयमयात्रामात्रा वा प्रत्ययो यत्र स तथाऽतस्तं संयमयात्रा मात्राप्रत्ययं वा यथा भवति । एतदेव वाक्यान्तरेणाह । (संजमभारवहणट्ठयाएत्ति) सयम एव भारस्तस्य वहनं पालनं स एवार्थः सयमभारवहनार्थस्तद्भावस्तत्ता तस्यै (बिलमिव पण्णगभूएण अप्पाणेणंति) बिले इव रन्ध्रे इव पन्नगभूतेन सर्पकल्पेनात्मना करणभूतेन आहारमुक्त विशेषण आहारयति शरीरकोष्ठके प्रक्षिपति । यथा किल बिले सर्प आत्मानं प्रवेशयति पार्श्वानसंस्पृशन्नेवं साधुर्व दनकंदरपार्श्वानसंस्पृशन्नाहारेण तदसंचारणतो जठरबिले आहार प्रवेशयतीति । (एसणति) एषोऽनन्तरोक्तविशेषण आहारः शस्त्रातीतादिविशेषणस्य पानभोजनस्यार्थोऽभिधेयः प्रज्ञप्त । भ०-७ श १ उ० ॥ अनु ० । पि० ।

आहारपरिष्ठापना (परिट्ठावणा) शब्दे ॥

भक्तपरिज्ञा तु समाध्यर्थमाहारो दीयते । (इति भत्तपरिण्णा) शब्दे । युगलिनः कन्दाद्याहारा आसन् ऋषभस्वामिनाऽऽहारिणः कृताः ।

सूत्रं । जे भिक्खू पिउमंदपल्लासयं वा पडोलपल्लासयं वा बिल्लपल्लासयं वा सीउदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा संफाणिय संफाणिय आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

पिचुमंदो निंबो पलासं पत्त सफाणियति धोविउं अहवा सफोडिउं मेलितुमित्यर्थ ।

गा०-आहारमणाहारस्स, मग्गणा णिमसा कता होति ।
निंबपडोलादीहिं, दियराओ चउक्कभयणाओ । ३८ ।

को आहारो को वा अणाहारो एतेहिं लिंबपडोलाइएहिं मग्गणा कता भवति आहार अणाहारे दियरे वा रातिं चउभंगो दियागहिय दियाभुत्त एवं च भगो ॥

गा०-जा हट्ठस्साहारो, चउव्विहो परियासियं तं तु ।

णिबपमोआदीयं सति लाजे जं व परिवसति ॥ ३७ ॥
हट्ठो णिरोगो णिव्वाधितो समत्तो तस्स जो आहारो असणा-इचउव्विहो तं परियासितं जो भुंजति चउगुरुगेण तस्स पच्छित्तं । इमं ।

गा०-आहारे चउभंगे, चउगुरुगेतरे य चउलहुगा ॥
सुत्तं पुण तद्दिवसं जो धुवति अचेतणा पलासो ॥ ४० ॥
आहारे परियासिते चउसु चउगुरुगा इतरे अणाहारिमेसु चउसु विभंगेसु चउलहु इमे पुण सुत्तं जो तद्देवसिय अचित्त सुविओ भुंजति तस्स भवति अणाहारियं परियासिय पडुच्च भणति ॥

गा०-नयणपदाण चउण्हं, अण्णतराएण जो तु आहारे।
णिबपमोआदीयं, सो पावति आणमादीणि ॥ ४१ ॥
चउरो भंगा नयणापदारोहिं जो आहारेति तस्स आणा-दिदोसा संफाणंति सुत्तपदं तेसिं भावत्था ॥

गा०-सतिणव उसिणेणव, वियमेणं धोत्रणानुफंसणा ।
अहवा जायं धोवति, संफाहो एगट्ठाणेगाहं ॥ ४२ ॥
एगाहाणेगाहं एगाणेगदिवसपिमितााणि धोवति इमा विराहणा।

गा०-उहवतविराधणता, पाणादीया समुच्छंति ।
तद्दिवसधोवणट्ठा, तं णिस्सितघाती भुंजंतो ॥ ४३ ॥
उहं रातीभोयणवय त विराहिजाति मच्छियातिपाणा तत्थ-तिस्सिति ते गिहिकोइलिया तिणंति किच्चतेसु वा पिपिएसु कुंथुमाती संमुच्छति । आद्य शब्दः तर्कणाविदोपादिप्रति-पादनः यथा गवाद्यां ब्राह्मणान् परिभोजयेत् एते परिवासिते दोसा इमे तद्देवसिते वि ।खिंबपत्ताति अणट्ठा घेत्तुं धोविउं भुंजंतस्स तक्खिस्सियपाणिघातो भवति धावंतस्स य प्ला-वणदोसो अतो तद्देवसियंपि ण कप्पति भुंजितुं कारणा कप्पति ॥

वितियपदं गेलण्णो, वेज्जुवएसे य दुल्लभंदव्वं ।
तद्दिवसंजत्तणाए, वीसं गीयत्यसंविग्गे ॥ ४४ ॥
गिलाणकारणे वेज्जुवदेसेण संफाणे दुल्लभं दव्वं वा अणेग-दिवसे संफाणेतितद्देवसियं पुण परसंफाणियं गेण्हति असति अप्पणा वि सफाणेति तद्देवसियमि अ अलभंते वितिय-मिति आगाढे पओयणे गीतत्थे सविग्गे सधिगरण पि करे-ज्ज त पुण पित्तादिरोगाण पसमणट्ठा इम गेण्हे ॥

पउमप्पलमाउलुंगे, एरंडे चेव णिंबुपत्ते य ।
वेज्जुवदेसे गहणं, मीतत्थे विकरणं कुज्जा ॥ ४५ ॥
पित्तुदए अ पउमप्पलाण सखि वाए निंवाए मालुभुग वा एरंडो संभेणि च पत्ता तद्दिवस अयणापत्ति । अस्य व्याख्या। वेज्जु-वएसे गहणति । वितिय सावेग्गेत्ति । अस्य व्याख्या । गीयत्थे विकरणं कुज्जाएतदेवार्थं स्फुटतर करोति ॥

संफाणितस्स गहणं, असती घेत्तूण अप्पणा धोवे ।
तद्दिवसिगिलंजासति, णेगा विणिसा तु संफाणो ।४५ ।
तद्देवसियस्स असाभे अणेगदिवसे वि करेति ॥ नि. चू. २ उ.।
(सचित्तवृक्ष मधिष्ठायनाहार· कार्य इति सचित्तरुक्खशब्दे ॥)
(आहारग्रहणविधि.-गोयरचरिया,शब्दे ॥)

संसार चक्कवाले, सव्वे ते पुग्गलामए बहुसो ।
आहारिया य परिणा-मियाय न यहं गओ तत्तिं ॥७२॥
आहारनिमित्तेणं, अह यं सव्वेसु नरयमोएसु ।
उववन्नोमिय बहुसो, सव्वासु य मिच्छजाईसु ७३ ॥
आहारनिमित्तेणं, मिच्छा गच्छंति दारुणे नरए ।
साविसो आहारो,न खमइ मणसा वि पत्थेउं ॥ ७४ ॥
महा० प० ॥

आन्हियते इत्याहारः । ओदनादौ, ॥ सूत्र० ॥ १ श्रु.७अ.।
चउविहे आहारे प० तं० असणे पाणे खाइमे साइमे ॥
स्था० ४ ठा० ॥ अट्ठविहे आहारे पन्नत्ते तं० ॥
मणुण्णे असणे पाणे खाइमे साइमे अमणुण्णे असणे पाणे खाइमे साइमे । स्था० ८ ठा० ॥

असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा ।
एसो आहारविही, चउविहो होइ नायव्वो ॥ ३६ ॥
अशन मंडकौदनादि पानं चैव काञ्जिकापानादि खादिम फलादि स्वादिमं गुडादि एव आहारविधिश्चतुर्विधो भवति ज्ञातव्य इति गाथार्थः । श्राव० । ६ अ० ।

सांप्रतं समयपरिभाषया शब्दार्थनिरूपणायाह ॥

आसुं खुहं समेई, असणं पाणाणुवग्गहे पाणं ।
खे माइ खाइमंति, साएइ गुणे तओ साइ ॥ ३७ ॥
सव्वो वि अ आहारो, असणं सव्वो वि वुच्चई पाणं ।
सव्वो वि खाइमंति अ, सव्वो वि अ साइमं होई ॥३८॥
जइ असणं चि अ सव्वं, पाणगमविवज्जणंमि सेसाणं ।
हवइ असेसविवेगो,तेण विभत्ताणि चउरो वि ।३९ ।
असणं पाणगं चेव, खाइमं साइमं तहा ।
एवं परूविअं मीस-दिट्ठि ओ जे सुही होइ ॥ ४० ॥

(आसुत्ति) आशु शीघ्रं क्षुधां बुभुक्षां समयतीति अशनम् । तथा प्राणानामिन्द्रियादिलक्षणानामुपग्रहे उपकारे यद्वर्तते इति गम्यते तत्पानमिति । खमित्याकाश तच्च मु-खविवरमेव तस्मिन्मातीति खादिमम् । स्वादयति गुणान् रसादीन् संयमगुणान्वा यतस्ततः स्वादिमं । हेतुत्वेन तदेवा-स्वादयतीत्यर्थः।।विचित्रनिरुक्तिपाठात्भ्रमति रौति तद्भ्रमर-इत्यादिप्रयोगदर्शनात् साधुरेवाऽयमन्वर्थः इति गाथार्थ ॥ ३७ ॥ उक्तः पदार्थं पदविग्रहस्तु समासभाक् पदविषय इति नोक्तः अधुना चालनामाह ॥ (सव्वो वि यत्ति) यद्वनं-तरोदितपदार्थापेक्षया अशनादीनीति । यतः सर्वोऽपि चाहारश्चतुर्विधोऽपि तथा । अशनं सर्वोऽपि चोच्यते । पानकं सर्वोऽपि च खादिमं सर्व एव च स्वादिम प्रवति अन्वर्थाविशेषात् । तथा हि यथैवाशनमोदनमंडकादि क्षुधं शमयति एव पानमपि तक्रसैव द्राक्षाक्षीरपानादि । खादिममपि फलादि, स्वादिममपि गुडादि । यथा च पानं प्रा-णानामुपग्रहे वर्तते एवमशनादीन्यपि तथा चत्वार्यपि खे मान्ति चत्वार्यपि वा स्वादयन्ति अस्वाद्यंते चेति न कश्चिद्विशेषस्त-स्मादयुक्त एव भेद इति गाथार्थः ॥३८॥ इय चालना । प्रत्यव-स्थान तु यद्यपि एतदेव तथापि तुल्यत्वार्थप्राप्तावपि रूढितो नीति-प्रयोजनं च सयमोपकारकमस्त्येव कल्पनया अन्यथा दोषस्त या चाह (जइ असणत्ति) यद्यशनमेव सर्वमाहा-रजात गृह्यते ततः शेषापरिभोगेऽपि पानकाद्यवर्जने तत्का-परित्यागे शेषाणामाहारभेदानां निवृत्तिर्न कृता भवतीति

वाक्यशेष' ततः का नो हानिरिति चेत् भवति विशेषविवेक: भक्ति च शेषाहारभेदपरित्यागः न्यायोपपन्नत्वात् प्रेक्षापूर्वं नेत्यर्द्धं कुक्कुट्या पठ्यते अर्द्धं प्रसवाय कल्पत इत्यपरिणतानां श्रद्धा च न जायते एव सामान्यविशेषभेदनिरूपणया सुखाव सेय सुखश्रद्धेय च भवतीति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

तथा चाह-असणगाहा, असनं पानक चैव खादिमं स्वादिमं तथा । एवं प्ररूपिते सामान्यविशेषभावनाख्याते तथ्यावबो धात् श्रद्धा प्रवर्तते उपलक्षणार्थत्वाद्धीयते पाल्यते च सुख मिति गाथार्थः । ४० ॥

उपस्कृतसंपन्नादिना आहारचातुर्विध्यम्

चउव्विहे आहारे पं० तं० उवक्खरसंपन्ने उवक्खरु संपन्ने सन्नावसंपन्ने परिजुसिय संपन्ने ॥

उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करो हिंग्वादिस्तेन सपन्नो युक्त उपस्क रसंपन्नस्तथा उपस्करणमुपस्कृत पाक इत्यर्थस्तेन सपन्न ओद- नकमण्डकादिः उपस्कृतसपन्नः पाठान्तरेण नो उपस्कारसंप- न्नो हिंग्वादिभिरसंस्कृत ओदनादिः । स्वभावेन पाक विना सपन्नः सिद्धः द्राक्षादिः स्वभावसंपन्नः (परिजुसियत्ति) पर्युषितं रात्रिपरिवसनं तेन सपन्नः इड्डरिकादिः यतस्ता पर्यु- षिताकलनीकृता आम्लरसा भवंति ।

आहारस्य लौकिकालौकिकोत्तरिकाश्च भेदाः (पिंडशब्दे वक्ष्यते) पिंडरूपत्वात् तस्य ।

आहारपरिश्रावणम् ।

॥ सूत्रं-जे भिक्खू असणं वा ४ अणागाढे परिसा- वेइ परिसावंतं वा साइज्जइ ॥ १०४ ॥

जे भिक्खू परिसावियस्स असणं वा ४ तया पमाणं वा भुंजप्पमाणं वा विंदुप्पमाणं वा आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ १०५ ॥

अश् भोजने । खाद भक्षणे । पा पाने । स्वद आस्वादने- एते चतुरो तिषि दो अखयर वा जे रातो अणागाढेण आगा ढ अणागाढ तमि जो परिवसावेति तस्स चउगुरु आणाति विराहणा य भवति इमा निज्जुत्तिगाहा ।

जे भिक्खू असणादि, रातो अणागाढणिक्खवेज्जाहि सो आणा अणवत्थं मिच्छत्तविराहणं पावे ।१७९ ।

(आगाढचातुर्विध्यमागाढशब्दे)

अणागाढे इम सुत्त अणागाढ परिवसावेति तस्स य सोहि सजमो य विराहणादोसा य तत्थ संजमे इमा विराधणा ॥

समुच्छंति तहिं वा, असे आगंतुगावलग्गंति ।

परतोपरगलमाणा, विसएमेव असणादि ॥ १८० ॥

असणादिए परिवेसाविते किमिरसगादीपाणा समुच्छति अन्ने वा मुच्छियमसगमक्कोडपिवीलिगादी पडति तक्केति परपरतो वा भवंति त परिवासितदव्व मच्छियगपयंगमुसगा दि तक्केति, मच्छियातो गिहिकोइलिया तक्केति, गिहकोइलग मज्जारो तक्केति, मज्जार साणो तक्केति, एस तक्केता परपरओ अह च भायण परिगलितेति तत्थ वि परिगलित एव चेव तक्केत्त परपरओ, अत्र मधुबिंदोपाख्यान द्रष्टव्य एसा सजमविराहणा

लाला तया विसो वा, उंदरपिंमी व पडणसुक्कं वा ।

घरकोइलमुत्तेज्जा पिवीलगा मरणतो णाणं ॥ १८१ ॥

भत्ते पाणे वा परिवासियऽवधिते सप्पादिणा जंघासवेण ला- लाविससमिस्सा मुक्को हवेज्जा तया विसेण वा फंसितं हवे- ज्जा तेहिं वासगतेहिं वीयं निसठं तं पडेज्जा । घरकोइलो वा मुत्तेज्जा गिहकोकिल अवयवसंमिस्सेण मुत्तेण पोट्टे किल गिहकोइला संमुच्छंति मुइंगा संमुदि वा पमिपायत्थ मुइंगासु मेहा परिहायति । मेहापरिहाणीए णाणं विराहणा सेसेसु आय- विराहणा परियावणा परियावणादि जाव चरिमं पावती वितियपदे आगाढो कारणे निक्खिवतो अदोसो त च इम ॥

वितियपदं गेलझो, अद्धाणो मे य उत्तमट्ठेय ।

एतेहिं कारणेहिं, जयणाए णिक्खमे भिक्खू ॥१८३ ॥

गिलाणस्स पदं दिवं अलभते अट्ठाण पावं नाण असयरणे दुब्भिक्खे य असयेरंते उत्तमट्ठपडिवन्नस्स असमाहाणे तक्खणमझंते एवमादिकारणेहिं जयणा ते परिवासेज्जा इमा जयणागाहा ॥

सवट्टपमुहे वा, दद्दरमतणातीअपरि-भुंजंते ।

उंदररजए सरावं, कंटियउवरिं अहेभूत्ति ॥ १८४ ॥

लाउए सवोढ उज्झति अप्पमुहे वा कुडमुहादिसु तत्थ बोढुं चम्मेण घणेण वा चीरेण दद्दरेति दद्दरासति सरावादीपिधाणं दातु सधिमयणेण लिंपति उगणेण मट्टियाए वा ततो अव्वा बाहे एगत ठवेंति, जत्थ उंदरजय तत्थ सिक्के एकातुं चेहासे ठवेंति, जदि रज्जए उंदरा अवतरति तत्थंतरा सराव ठवेंति, कंटकाउ काउ वा कद्दमे उड्डमुहा करेंति । एसा उवरिरिक्खा भूमिठियस्स वा अहोभूती करेंति परिगलणभया चेहा स- ठ्ठियस्स अहोभूती करिज्जति जत्थ पिवीलिगभय तत्तगाय- णत्थि रज्जवा मूलगेहिं छिंदेण भय तत्थिमा आलयविही ।

ईसिं भूमिमपत्तं, असणं वा विच्छिणरक्खट्ठा ॥

पमिलेहउभयकाले, अगीय अंतरं न अखंतु ।१८५।

भूमिए ईसिं अपत्त रज्जूए उसारेंति आसन्न बाहेट्ठा अण- च्छिडत उवत्ति किमेव उविज्जति जदि मूलगेण रज्जच्छिज्जति तो सपाणभोयण पडित पिण भिज्जति रक्खियं भवति पुव्वा वरासु य सज्झासु पडिलेहपमज्जणा करेंति अगीतगिलाणा जत्थ वसहीए, तत्थ ठवेंति ते वा अगीय-गिलाणा अप्पस्थ ठवेत्ति । नि०चू० ११ उ ॥

आहारप्रतिपादकत्वात् प्रज्ञापनाया अष्टाविंशे पदे, च । प्रज्ञा० १ पद ॥

आहारएसणा-आहारैषणा-स्त्री०-आहारस्य एषणा ग्रहणाद् गवेषणाविग्रहणस्तदर्थसूचकत्वादाहारैषणा । द्रुमपुष्पिका नाम नि दशवैकालिकस्य प्रथमे अध्ययने, दश० १ अ० ॥

आहारओ-आहारतस्- अव्य० ल्यप् लोपे कर्मणि पचमी । आहारमाश्रित्येत्यर्थे, "आहारओ पचकवज्जणेण" आहार माश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति । "लसण पलांडु. करञ्जक्षीर गोमा स मद्य चेत्येतत्पचकवर्जनेन मोक्ष वदन्ति।" सूत्र० १श्रु०७अ०॥

आहारग-आहारक- न०-चतुर्दशपूर्वविदाऽऽह्रियते गृह्यते इत्याहारकमथवा ऽऽह्रियन्ते गृह्यन्ते केवलिन समीपे सूक्ष्म जीवादय पदार्था अनेनेत्याहारकम् । अनु० । विशे० । स्था० । ठा० २ । शरीर भेदे, स० ।

अणाहारगशब्दे इदरुकसुकम् ॥

ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतमाहारमाहारयतीति आहा- रक । अनाहारकविलक्षणे जीवे, कर्म० ॥ चतुर्दशपूर्वविदा

तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निवर्त्यते इत्याहारकं। अथवाऽऽह्रियंते गृह्यंते तीर्थकरादि समीपे सूक्ष्मजीवादयः पदार्था अनेनेत्याहारक। कृद्बहुलमिति कर्मणि करणे वा णकः। यदवादि "कज्जमि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए। जं इत्थ आहरिज्जइ, भणंति आहारगं त तु ॥१॥" कार्य्यं चेद। पाणिदय-रिद्धिदरिसण, छुमत्थो वग्गहण हेऊ वा* संसयवुच्छेयत्थ, गमणं जिणपायमूलम्मि २। कर्म०। एतच्चाहारक कदाचनापि, लोके सर्वथा पि न भवति तथा ऽन्तरं जघन्यत एक समयमुत्कर्षत. षण्मासान् यावत्। उक्तच "आहारगाई लोके छम्मासा जा न होंति विकयाई। उक्कोसेणं नियमा, एक्कं समय जहन्नेण,, जी० १ प्र.। प्रज्ञा० २० पद। पं० स०। द्वा.। आव०। सूत्र०।

आहारकशरीर चतु कृत्वा मोक्ष इति न सर्वस्य चतुर्दशपूर्विण इति (समुग्घाय) शब्दे॥ ओगाहणशब्दे तदवगाहना॥ आहारका· सदैवानाहारका विग्रह गतौ सदैवानाहारकाः भवन्ति, स्था० २ ठा० ॥ आहारकशरीर वति, विशे० ॥ आहारकशरीरलब्धिसपन्ने कल्प ०॥

आहारगंगोवंगणाम–आहारकाङ्गोपाङ्गनामन्– न०–अङ्गोपाङ्गनामकर्मभेदे, यदुदयादाहारकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गला नामङ्गोपाङ्ग विभागपरिणतिरुपजायते, कर्म०॥

आहारगजुगल–आहारकयुगल– न०–आहारशरीराहारकाङ्गोपांङ्गलक्षणे आहारकद्विके, कर्म०।

आहारगणाम–आहारकनामन्– न०–आहारकनिबधने नाम्नि कर्म०॥

आहारगदुग–आहारकद्विक– न० आहारकशरीराहारकांगोपागलक्षणे नामकर्मोत्तरप्रकृतिद्वयेऽर्थे, प० सं.॥

आहरगलद्धि–आहारकलब्धि– स्त्री० आहारकशरीरकरण शक्तौ, आहारकशरीरं च हस्तप्रमाणमेकस्मिन् भवे, द्वि ससारे च चतु कृत्वस्तीर्थंकरस्फीतिदर्शनार्थं चतुर्मासा·। ग० २ अधि। प्रव०॥

आहारगवग्गणा–आहारकवर्गणा– स्त्री० आहार एवाहारक स्तत्प्रायोग्यवर्गणा आहारकवर्गणा आहारकशरीरग्रहणप्रायोग्यवर्गणायाम् कर्म० प्र०। वग्गणाशब्दे स्वरूप।

आहारगसमुग्घाय–आहारकसमुद्घात–पु० आहारके प्रारभ्य माणे समुद्घात आहारकसमुद्घात'। प्रव०॥ आहारकर्मविपके, प० स ॥ चतुर्दशपूर्वविद आहारकलब्धिमंत कश्चित्सदेहापगमाय तीर्थकरांतिकगमनार्थमाहारकशरीर समुपादा तु बहिरात्मप्रदेशप्रवेशो, आचा०॥ आहारकसमुद्घातस्तु जीवप्रदेशान् शरीराद्देर्बहिर्निष्क्रम्य बाहल्यमात्रमायामतश्च सख्येयानि योजनानि दण्ड निसृजति निसृज्य च यथा स्थूलानाहारकशरीरनामकर्मपुद्गलान् शातयति ॥ स्था० ठा ७। प्रज्ञा०॥

आहारगसरीरकायप्पओग–आहारकशरीरकायप्रयोग–पु० आहारकशरीरनिवृत्ते प्रधानेऽङ्गे। भ० ८ श० १ उ०।

आहारगुत्त–आहारगुप्त –त्रि० अनतिमात्राऽस्निग्धाहारभोजिनि, आव० ४ अ। सूत्र०॥

आहारजतित्ति–आहारजतृप्ति–स्त्री० भोजनजनितबुभुक्षोपशमे, पचा० ६ वृ.॥

आहारजाइ–आहारजाति–स्त्री० अभ्यवहार्यसामान्ये, पंचा.५वृ.

आहारजात–आहारजात–न० अभ्यवहार्यसामान्ये पचा०१०वृ.

आहारणीइ–आहारनीति–स्त्री० संस्कृताहारग्रहणप्रकारे, ऋषभस्वामिनो गृहावासात् पूर्वमसंस्कृताहारेण आसन् ते च तदा ऋषभस्वामिनाऽऽहारिणः कृता' इति उसभशब्दे उक्त। आ० चू०॥

आहारणीहार–आहारनिहार–पु० विसर्जने, विड्विसर्जने, नि० चू० २ उ०॥

आहारपइण्णा–आहारपरिज्ञा–स्त्री० आहारस्य परिज्ञाप्ररूपके सूत्रकृतांगस्य २ श्रु० द्वितीयेऽध्ययने, स्था०७ ठा.। आव०। प्रश्न० ५ अ०। द्वा०॥

आहारपच्चक्खाण–आहारप्रत्याख्यान–न०सदोषाहारपरिहारे, तत्फलं यथा॥

आहारपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ जीविया संसप्पओगं वोच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेण न संकिलिस्सइ॥ ३५॥ उत्त. २९ अ.॥

हे भदन्त! आहारस्य प्रत्याख्यानेन सदोषाहारत्यागेन उपवासादिना जीव किं फल जनयति गुरुराह हे शिष्य! आहारप्रत्याख्यानेन जीवो जीविताशासप्रयोग व्यवच्छिनत्ति। जीविते प्राणधारणे आशंसा अभिलाषस्तस्या' प्रयोगो व्यापारो जीविताशासंसप्रयोगस्त व्यवच्छिनत्ति निवारयति जीविताशंसा रहितो मुनिर्न क्लेशभाक् स्यात् इति भाव.॥

दु–ति–चउविहारेसु कप्पम् लघुप्रवचने यथा–

जई धन्नं सव्वं, वदाम अक्खोडउच्छुगंडुलिया॥
फलपक्कं सव्वं, बहुविहं खाइमं मेयं॥ ४८॥
दंतवणं तंबोलं, चित्तं तुलसी कुहेडगाईयं॥
महु पिप्पलि सुंठि मरी, पच्चगं जाइफलाणं च॥४९॥
एलवुगं लविंगं अजमोयतियं तियं च अजयाणं॥
स कप्पुर–कविट्ठाइं, हिंगुलवणयाण असणगं च॥५०॥
विमलवण बब्बिंगव्वुल, कंटकरुक्खाणच्छल्लिया सव्वा।
फोफलकसेल्लपुक्खा, रजवासपम्मकूलगयच्छल्ली॥
तिव्वुय सुगंधि धम्मय, पत्तजमी पप्परी वरट्टा य॥
रसजाई नेमज्जपमुहं साइमं अणेगविहं॥ ५२॥
दुविहारे कप्पिज्जइ, पाणं साइ मणेगहाभव्वं॥
तिविहारे पाणं, पुण चउहारे किमवि नो कप्पं॥५३॥
साइमगयासिमाम, न कप्पए तह पसंग दोसाओ॥
गुरुलवणहिंगुमधिव, जीरय धरणा वरट्टा य॥ ५४॥
अजमो अतियं कविट्ठं, आमलगं च तह कपूरकंदा य॥
अंबोलगं च सूया, एमाइं असणववहारो॥ ५५॥
चउहारे रयणीए, कप्पिज्जइ जाणिमाणि वत्थूणि॥

---
* सुहुमपच्छन्नवगहणहेउं, इति पाठो जीवाभिगम टीकायाम्।

समन्नागकया तिहला, चूर्निबोसीर चंदणयं ॥ ५६ ॥
गोमुत्तं कडुरोहिणी, वग्घी अमया य रोहिणी तुग्गा ॥
गुग्गुलवया करीरय, लिंबपंचग जासगणो ॥ ५७ ॥
तह आसगंधि वंजी, चीरहलिद्दा य कुंदरुकुट्ठा ॥
विसनाइ य धमासो, बोलय बीया अरिट्ठा य ॥ ५८ ॥
मीमिल्ल मजिट्ठकंकेल्लि, कुमारि कंथेरं बेरकट्ठा य ॥
कप्पारुबीय पत्तय, अगुरु तुरुक्का य तंतु वक्का ॥ ५९ ॥
धवखयरपलासाइं, कंटकरुक्खाणबुल्लियासाणा ॥
जं कडुयरसपरिगयं, आहारं पिच्छ अणाहारं ॥ ६० ॥
इचाइ जं अणिट्ठं, पंकुवमंतं जवे अणाहारं ॥
जं इच्छाए भुंजइ, तं सव्वं हवइ आहारं ॥ ६१ ॥

आहारपज्जत्ति–आहारपर्याप्ति– स्त्री० आहारपुद्गलग्रहणप-रिणमनहेतावात्मनः शक्तिविशेषे,–प० सं० ॥ यथा बाह्यमा हारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति साऽऽहारपर्याप्तिः । । कर्म० । दर्श० । जी० १ प्र । न० । प्रज्ञा० १ पद ॥ प्रव०॥ पर्याप्तिर्नाम शक्तिस्तत्र यया शक्त्या करणभूतया भुक्तमा हार खलरसरूप च या करोति सा ॥ वृ० १ उ. ।

आहारपूइ–आहारपूति–स्त्री० (असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठ भए व गेलन्ने। अद्धाण रोहए वा, गहणं आहारपूइए ३०७) इत्युक्तलक्षणायामाहारशुद्धौ, नि० चू० १ उ ।

आहारपोसह–आहारपोषध– पु० आहारः प्रतीतस्तद्विषय स्तन्निमित्तं पोषधश्चाहारपोषध । आहारविशेषत्यागे, "आहा रपोसहो दुविहो,देसे सव्वे य देसे अ असुगाविगतिआयविल एक्कसि वा दो वा १ सव्वे चउविहोत्ति आहारो अहोरत्तं पच्च क्खा" आव० ६ अ । आहारपोषधो देशतो विवक्षिते विकृतेरवि कृते एवाऽऽम्लस्य वा सकृदेव द्विरेव वा भोजनमिति सर्वतस्तु चतुर्विधस्याहारस्याहोरात्रं यावत्प्रत्याख्यान। ध० २ अधि ।

आहारसन्ना–आहारसंज्ञा– स्त्री० क्षुद्वेदनीयोदयात्कावलि काद्याहारार्थं पुद्गलोपादानक्रियैव सज्ञायतेऽनया तस्या नित्या-हारसंज्ञा॥ भ०७ श ८ उ । स्था० १० ठा ॥ आहाराभिलाषरूपे क्षुद्वेदनीयप्रभवे आत्मपरिणामविशेषे, कर्म० ॥ अभिलाषश्च ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि तद्यदीदमवाप्यते तत समीचीनं भ-वतीत्येव शब्दार्थोल्लेखानुविद्ध स्वपुष्टिनिमित्तभूतप्रतिनियत वस्तु प्राप्त्यध्यवसायरूप । जी० १प्र । प्रज्ञा० ७ उ ।
सञ्ज्ञाशब्दवक्तव्यता (सण्णा) शब्दे ।

चउहिं ठाणेहिं आहारसन्ना समुप्पज्जइ । तं जहा ओमकोट्ठयाए छुहावेयणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मईए तदट्ठोवओगेणं ॥ स्था. ४ ठा ॥

टी०–अवमकोष्ठतया रिक्तोदरतया मत्या आहारकथाश्रवणा दिजनितया तदर्थोपयोगेन सततमाहारचिन्तयेति ॥
आहारतृष्णाख्ये कर्मणि,मोहाभिव्यक्तचैतन्यस्य,द्वा ३० द्वा ।

आहारादिचागणुट्ठाण–आहारादित्यागानुष्ठान न० भोजन देहसत्काराब्रह्मव्यापारपरिहारकरणे । पञ्चा० १० वृ ॥

आहारिज्जमाण–आह्रियमाण त्रि० सगृह्यमाणे, अभ्यवह्रि यमाणे च, भ० १ श. १ उ ॥ खाद्यमाने,स्था० १० ठा ।

आहारिज्जस्समाण–आहरिष्यमाण त्रि०–अनागते काले आ-हार करिष्यमाणे भ १ श । १ उ० ।

आहारित्तए–आहर्तुम् अव्य०–अभ्यवहर्तुमित्यर्थे आचा० ।

आहारित–आहारित– त्रि० भुक्ते, तं० ॥ आहारत्वेन गृहीते, अनु० ॥

आहारेयव्व–आहर्तव्य– त्रि० अभ्यवहार्ये स्था० ३ ठा ॥

आहारेमाण–आहारयत्, त्रि०अभ्यवहरति,स्था०६ठा आचा० ॥

आहारेसणा–आहारैषणा–स्त्री०अभ्यवहार गवेषणायांदश०१अ ।

आहारोवचय–आहारोपचय– त्रि० आहारेणोपचयोऽस्य । आहारोपचिते, " आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा " आचा० ७ अ. ४ उ. ।

आहारोवचिय–आहारोपचित–त्रि० आहाररूपतया सचितेषु, भ० १६ श ४ उ. ।

आहावणा–आजावना–स्त्री०उद्देशमात्रे अपरिगणनायाम् पिं०॥

आहि–आधि–पुं०शारीरमानसपीडाविशेषे, पो० १५ विव. । मनः पीडायां, । प्र० १ श. १ उ ।

आहिंडग–आहिण्डक–पु० भ्रमणशीले गच्छनिर्गतसाधौ,औ०।
इदानीमाहिंडकान् प्रतिपादयन्नाह ॥

उवएस अणुवएसा, दुविहा आहिंडगा समासेणं ।
उवएसदेसदंसण, थूभाई हुंति णुवएसा ॥ ८७ ॥

तत्र एके उपदेशाहिंडका अपरे अनुपदेशाहिंडका एवमेतत् द्विधा अहिंडका मुणितव्यास्तत्र उवदेसत्ति । द्वारपरा मर्शः (देसदंसणत्ति) देशदर्शनार्थं द्वादशवर्षाणि य पर्यटतिस्त सूत्रार्थौ गृहीत्वा एति उपदेशाहिंडका अनुपदेशोऽत्वमी भवति (थूभाई हौंति णुवएसा) स्तूपादिगमनशीला अनुपदेशा हिंडका औ ० । व्य० ।

आहिंडिऊण–आहिण्ड्य– अव्य० परिभ्रम्येत्यर्थे, । स्था० ।

आहिक्क–आधिक्य– न० सजातीयपरिणामप्राचुर्ये । द्वा० ॥

आहिदेविय–आधिदैविक– न० यक्षराक्षसग्रहाद्यावेश हेतुके दु खादौ, स्था ठा०॥

आहिज्जोतिय–आधिभौतिक– न० मनुष्यपशुपक्षिमृगसरी सृपस्थावरनिमित्ते दु खादौ, स्था० ठा० ॥

आहिय–आख्यात–त्रि० प्रतिपादिते, कथिते, । सूत्र० १ श्रु १ । स्था० अनु० । आख्यानकप्रतिबद्धे, सू० प्र । आविर्भाविते, भावे क्त अभिप्राये, इहमेगेसि आहियं । सूत्र० ॥ श्रु० अ

आहित–त्रि० प्रवचन ऋषिभाषितादौ आत्मनि वा व्यवस्थिते सूत्र. । व्यवस्थापिते, स्था ४ ठा । निवेशिते, ज० । ढौकि ते, अनुष्ठिते, । सूत्र० । प्रयोगविश्रसाभ्यां स्वकर्मपरिणत्या वा जनिते । आचा० । समताढिते च, सूत्र० ॥

आहियग्गि–आहिताग्नि–पु०कृतावसथादिब्राह्मणे, दश अ ७ उ १ । अग्निं गृहीत्वा ऋषभाचितायां स्थापितवन्तस्तेन कार-णेनाहिताग्नय. । आ० म० प्र ॥

आहियविसेसत्त–आहितविशेषत्व–न० शेषपुरुषवचनापेक्षया शिष्टोत्पादनमतिविशेषतायां ।रा०। सत्यवचनातिशये, ।सम०।

आहीर – आभीर – पु० गोचारिप्रधाने देशभेदे । कल्प (आभीरदेशे अचलपुरासन्ने कृष्णवेणानद्योर्मध्येत्रह्म

द्वीपः। कल्प.। अहिर इति ख्याते शूद्रजातीये, सूत्र. १ श्रु १ अ ॥
आहु–आहोतृ–त्रि० दातरि, । ज्ञा १ अ । औ० ॥
आहुणिज्ज–आहवनीय–त्रि० सम्प्रदानभूते ज्ञा० १ अ.। औ०॥
आहुणिज्जमाण–आधूयमान–त्रि० कम्पमाने विद्रवमुपागते, । ज्ञा० ए अ । औ० ॥
आहुणिय–आधुनिक–पु० अष्टाशीतेर्महाग्रहाणां पचमे, । दो आहुणिया, स्था० २ ठा.। कल्प०। जं० । सू० प्र० ॥
आहूय–आहूत–त्रि० कृताह्वाने, वाच० । अ. ७ ।
आहूय–अव्य० उपादायेत्यर्थे, (कम्मआहूय उच्चएं) कर्माहूय ॥ आचा०
आहेउ–आधातुं–अव्य० आधानं कर्तुमित्यर्थे।सूत्र०, १ श्रु ए अ.।
आहेण– न० विवाहोत्तरं वधूप्रवेशे वरगृहे क्रियमाणे भोजने । । आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ॥
आहेवच्च–आधिपत्य– न० । अधिपतेः कर्माधिपत्यम्-रक्षार्थम् जं० । कल्प० । स० । प्र० । प्रज्ञा० । आ० म० प्र० । ज्ञा० । वि० । स्वामितायाम् । स्था० ए ठा. । तदाश्रितलोकेभ्यः आधिक्येन तेष्ववस्थायित्वे, औ० ॥
आहेवण–आक्षेपण–न० पुरःक्षोभादिकरणे, प्रश्न० २ द्वा. ॥
आहोहिय–आधोऽवधिकः– पु०–नियतक्षेत्रयित्वेविषयाव धिज्ञानिनि ॥ प्र. ७ श. ७ उ. । स. प्रज्ञा. ।
आभोगिकः– पु०–आभोग उपयोगः स प्रयोजन यस्य तदा भोगिकम् उपयोगप्रधाने,। कल्प० ॥

इति श्रीमद्बृहत्सौधर्म्मतपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ

श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य्य १००८ श्री

श्रीविजय—राजेन्द्रसूरिविरचिते

अभिधानराजेन्द्रे "आकारादि

शब्दसङ्कलनम्"

॥ समाप्तम् ॥

अर्हम् ।

अभिधानराजेन्द्रः ।

(इकार)

इ-इ-पु अस्य विष्णोरपत्यम् अ इञ् कामदेवे, गायत्री। एका०। स हि रुक्मिण्यां विष्णोरंशात् कृष्णात् जातः। तत्कथा च यथा–रुक्मिण्यां वासुदेवाच्च, लक्ष्म्यां कामो धृतव्रतः। शम्बरान्तकरो जज्ञे, प्रद्युम्न कामदर्शनः। हरि० १६३ अ.। एवं व्युत्पत्तिमत्त्वेन कामदेवस्यैव इशब्दार्थता नाभिलाषस्येति बहवः। कामदेवदैवत्याच्च अभिलाषे औपचारिक इत्यन्ये। वाच०। कम्पे, सायके, सर्पे, सरसीरुहकेसरे, । शक्रचापे, बाणे कमलायाम्, रचनायाम्, क्षोणीभृत्कुहरे, पद्मदले, ज्ञाने, गतौ च। एका०। नञर्थकस्य अ इत्यस्येदम् अ इञ्। भेदे ३ सरोषोक्तौ, ४ निराकरणे, ५ अनुकम्पायाम्, ६ खेदे, ७ विस्मये, ८ निन्दायाम् ९ सम्बोधने, च। अव्य० चादि। निपातैकाच्कत्वात् अस्य प्रगृह्यसंज्ञा तेन इ इन्द्र इत्यादौ न सन्धिः। वाच० वाक्यालंकारे, च। सहि निपातः पादपूरणाय प्रयुज्यते "इत्थी वा जुई वा" इ शब्दो निपातो वाक्यालङ्कारार्थ इति। औप०। ज्ञा० १ अ०। "उसभे इ वा पढमराया इ वा, पढमभिक्खायरे इ वा, पढमजिणे इ वा पढमतित्थंकरे इ [illegible]" क सू०। इकारः सर्वत्र वाक्यालङ्कारे इति वृत्तिः। कल्प.। (सुत्तमि अणुसाइं इह इ पुण अत्थतो निसेहेइ) व्य०। इ पादपूरणे इति वृत्तिः व्य ५ उ ॥ तथा चाह वररुचिः स्वप्राकृतलक्षणे। "इजेरापादपूरणे इति" आ. म द्वि.। "इह इ भणिया पुरिसजाया"। व्य सू । इ इति पादपूरणे इति वचनात् सानुस्वारता प्राकृतत्वात् । प्राकृते हि पदान्ते सानुस्वारता भवतीति। व्य०१ उ ।

इ–इ गतौ–भ्वादि० सकर्म० अनिट् अयाति ऐषीत् इयाय ईयतु ईयुः इययिथ इयेथ आयन्। इ ई इति प्रश्लेषात् अय च धातु कट्टी गतौ इत्यत्र लब्धः। सि० कौ०। वाच० ॥

इ (क्)। इक् स्मरणे इति वचनादिति भ० १ श० ३ उ०। अधिपूर्वक एव कित्। कित्करणमधीगर्थेत्यादौ विशेषार्थम्। अदादि० पर० सक० अनिट् अध्येति अध्यैषीत्। वाच० ॥

इ (ङ्) इङ्–अध्ययने "इङ् अध्ययने इति वचनादिति" भ० १ श०१ उ० ॥ अध्ययने अधिपूर्व एव ङित् अदा० आत्म० सक० अनिट् अधीते अधीयीत अध्यैष्ट। वाच०।

इ (ण्) इण् गतौ "इण् गताविति वचनादिति भ० १ श. १ उ ॥ णित् इङो भेदार्थम् अदा० पर सक अनिट् एति इत यन्ति इयात् इहि ऐत् आयत् अगात्। वाच० ॥

इ (त्)–इत्–त्रि० एति गच्छति इ क्विप् गत्वरे, व्याकरणोक्ते प्रक्रियाकालोच्चारिते अस्थायिनि वर्णभेदे, यथा तिप् सिप् इत्यादौ पकारादि ॥ वाच०।

इ(स्)–इष्–त्रि० इष् इच्छायां क्विप्। इच्छायुक्ते १ कर्मणि क्विप् इष्यमाणे, २ त्रि०३ अन्ने, इष्यते इष् अन्तर्भूतण्यर्थे कर्मणि क्विप् ४ एषणीये, इष्–गतौ भावे क्विप्। ५ यात्रायाम्, स्त्री० वाच०

इइ (ति) इति–अव्य० इण् क्तिन् १ आद्यर्थे "गई इय" इति शब्दाद्यर्थस्ततश्च "गइइंदियकाए" इत्यादि द्वारकलापेऽवधिर्वक्तव्य इति। विशे०। इयत्ताप्रदर्शने, माने, वाच० (सम्मत्तंति) इति शब्दः इयत्ताप्रदर्शनार्थः एते क्षुधादयः सम्यक्त्वान्ता द्वाविंशतिरिति न न्यूनाधिकाः परिषहा भवन्तीति। प्रव० ८४ द्वा.। उपप्रदर्शने, "महया जयसद्देइ वा" इह संधिप्रयोगादितिशब्दो दृष्टव्यः स चोपप्रदर्शने इति वृत्तिः। ज्ञा० १ अ०। "इति चोदकदिट्ठंतं परिहतुं कधिज्जते -ससब्भावो उवदसणे इति,,। नि. चू. ३ उ. ॥ औप । स्था० ठा० ३। सूत्र० २ श्रु० ४ अ । विशे.। "इवेव संवच्छरियं थेरकप्पं" इतिः रूपप्रदर्शने त पूर्वोपदर्शित सांवत्सरिकं स्थविरकल्पमिति वृत्तिः। कल्प०। नि० चू ४ उ.। "असोगवणेइ वा" इति शब्द उपप्रदर्शने अनुस्वारलोपः सधिश्च प्राकृतत्वादिति भ० १ श. १ उ.। औप०। प्रश्न०। गच्छा० ।" इति भो इति जोऽसि ते अच्चमच्चस्स किच्चाइं। करणिज्जाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरति " (इति भोत्ति) एतत् कार्यमस्ति भोशब्दश्चामन्त्रणे इति। भ० ३ श १ उ. ॥ "उल्लेखे" इतिशब्द उल्लेखार्थ इति। र०। "तए ण से पालए देवे तस्स ण दीवस्स जाणविमाणस्स अतो बहुसमरमणिज्ज भूमिभाग विउव्वइ से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा" इत्यादि इति। शब्द उपमाभूतवस्तुपरिसमाप्तिद्योतक इति आ. म प्र०। इति शब्दाः सर्वेऽपिस्वस्वोपमाभूतवस्तुसमाप्तिद्योतका इति, ज० । राय०॥ "तत्थ णं जे ते किण्हा मणीतणा य तेसि णं अयमेया रूवेवण्णावासे पण्णत्ते तजहा से जहा णामए जीमूतेइ वा" इत्यादि सूत्रे इतिशब्द उपमाभूतवस्तुनामपरिसमाप्तिद्योतक इति। ज० ॥ एवकारार्थे, अहवा इतिशब्द एवकारार्थे दट्ठव्व इति नि०चू०२अ० ॥ "अहवा इतिसद्दो एवार्थे" नि० चू० अ१"। एवं प्रकारार्थे, उक्तप्रकारेणेत्यर्थे, पो० प्र० १०। "भइन्भयं दुक्ख त्ति बेमि" ॥ इतिशब्द एवमर्थे, एवमहं ब्रवीमीत्यर्थः। आचा ६ अ०। अमुना प्रकारेणेत्यर्थे,। सूत्र २ श्रु० ४ अ०। "भिच्छा णावयणेति य इत्येव प्रकारे" स्था० ठा० ९ ॥ पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शे, ॥ " इतिकम्मं परिण्णाय,, इति पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शक इति। आचा० २ अ० ६ उ० ॥

उचितं खलु कायव्वं, सन्नत्य सया णरेण बुद्धिमना।

इइ फलसिद्धी णियमा, एस च्चिय होइ आणत्ति ॥

इत्यनेनोचितकरणेन फलसिद्धिरिति वृत्तिः । पंचा० ६ वृ० इइ विज्जामणुसंचरे" इतीत्येवंरूपां विद्यां सम्यग् ज्ञानपालन रूपामन्विति लक्षीकृत्य संचरेत् सम्यक् संयमाऽध्वनि यायादि ति सूत्रार्थ इति ॥ उत्त०२३अ० ॥ इति संखाए" इतिःरूपप्रद र्शने, इत्येतत्पूर्वोक्तनीत्योच्चावचस्थानोत्पादादिकामिति वृत्तिः आचा०१श्रु०३ चू०। "थिरसंघयणं तिकट्टु अणुप्पविसामि" इति कृत्वा इति हेतोस्तदनु प्रविशामीति वृत्तिः। भ० १५ श. १ उ० " अधारणिज्जमितिकट्टु तुरए निगिण्हइ " इति कृत्वा इति हेतोरित्यर्थः । भ० १३श०७उ० । समाप्तौ, द्वा०२ अ० । परिसमाप्तिप्रदर्शने, " से हु मुणी परिण्णाय कम्मोति बेमि " इतिशब्द एतावानयमात्मपदार्थविचारः कर्मबन्ध हेतुविचारश्च सकलोद्देशकेन परिसमापित इति प्रदर्शकः आचा० १ श्रु० १ उ० सूत्र० । सम० । विपा० । वाक्यस माप्तौ, इति शब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थ इति । विशे० । यथा- " गिहत्थधम्मामो चुक्कंति " ग० । दर्श० । वाक्यार्थसमाप्तौ पंचा० । यथा-" से अट्ठी संजयोत्ति" इति शब्दो व्यव स्थितवाक्यार्थपरिसमाप्तौ, प्रश्न० सं० द्वा० ४ ॥ अधिका रपरिसमाप्तिद्योतके, यथा" से केणट्ठेण भंते। एवं इह भरहे वासे " । २ । इति सूत्रेण नामार्थे प्रच्छतो गौतमस्य प्रति वचनाय "तएणं विणीआए रायहाणीए भरहे णाम राया चाउरंतचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था" इत्यादिसूत्रैर्भरतचरित्रं प्रप ञ्चित तच्च परिसमाप्तमित्यर्थः। जं० । स्वरूपपरामर्शे, अस्माद्धे तोरित्यर्थे,-उत्त० ।

जाणाहि मे जायण जीविणोत्ति, सेसावसेसं लभउ तवस्सी।

जानीतावगच्छत (मेत्ति) सुप्त्वात् मां (जायजीविणोत्ति) याचनेन जीवनं प्राणधारणमस्येति याचनजीवन आर्षत्वादि- कारः पठ्यते च " जायणजीविणोत्ति" इतिशब्दः स्वरूप परामर्शकस्ततः एवं स्वरूपं यतश्चैवमतो मह्यमपि दयस्व- मिति भावः । कदाचिदुत्कृष्टमेवासौ वावद इति तेषामाशयः स्यादत आह । अथवा जानीत मा याचनजीवित याचनेन जीवनशीलत्वात् द्वितीयार्थे षष्ठी । पाठान्तरे तु प्रथमा । इतीत्यस्माद्धेतोः किमित्याह-शेषा विशेषमुद्धरितस्याप्युद्ध- रितमन्तः प्रान्तमित्यर्थः। लभतां प्राप्नोतु तपस्वी यतिर्वराको वा । उत्त० १२ अ० ॥

जामिएगे इत्यादिषु इतिशब्दो हेत्वर्थे,स्था० ३ ठा०॥ प्रकाशने , निदर्शने , प्रकारे , अनुकर्षे , प्रकरणे, स्वरूपे , सान्निध्ये, विवक्षानियमे, मते, प्रत्यक्षे,व्यवस्थायाम,परामर्शे, माने, प्रकर्षे, उपक्रमे च । तत्र स्वरूपद्योतकता त्रिधा ॥ " शब्दस्वरूपद्योतकता प्रातिपदिकार्थे द्योतकता वाक्यार्थ- द्योतकताचेति तत्र शब्दस्वरूपद्योतकत्वे तद्योगेन प्रथमा " वीरेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते " ॥ " अत एव गवित्याह , भूसत्तायामितीदृशमिति " भर्तृहरि. ॥ प्रातिप- दिकार्थद्योतकत्वे प्रथमा । "क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः "। (इत्यादौ) माघ० । वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः । कुमारसम्भ० । वाक्यार्थद्योतकत्वेन प्रथमा । निपातेना- भिहिते प्रातिपदिकार्थे एव प्रथमाविधानात् । वाक्यस्य च शक्त्या लक्षणया वा एकार्थबोधकत्वाभावेन प्रातिपदि- कत्वाभावात् ॥ भूसत्तायामितीदृश " भर्तृ० । " श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थस्य कल्पनात् । प्राप्तस्य बाधादित्येव परि- संख्या त्रिदोषिका ,, मीमांसकाः । तत्र हेतौ इतीव धारामव- धीर्य्य ,, । नैष० । "इति स्म सा कारुतरेण लेखित " नैष०। प्रकारे, "इति मदमदनाभ्यां रागिणः स्पष्टरागाः " माघ० प्र काशार्थे, "इतिहरि" इत्यादौ अव्ययी० । इदमर्थे, धिगेभिरि त्थमितिकर्तुमुद्यत । प्रकरणे , इति कृत्यमिति कर्तव्यम् इति वृत्तम् । वाच० ॥ इण् गतौ भावे क्तिन् । भाव० । गतौ; संघा० । चेष्टायाम् । भाव० । ज्ञाने, वाच० । प्रवृत्तौ, च स्त्री० । स्था० ठा० ८।

इइ (ति) कह-इतिकथ-त्रि० इति इत्थं कथा यस्य । अर्थ- शून्यवाक्यप्रयोक्तरि, अश्रद्धेयवचने, । वाच० ।

इइ (ति) कायव्वया-इतिकर्तव्यता-स्त्री० इत्येवं रूपा कर्त- व्यानां भावः कर्तव्यता ।

सर्वत्रानाकुलता, यतिजावाव्ययपरा समासेन ।
कालादिग्रहणविधौ, क्रियेति कर्तव्यता भवति ॥

इत्युक्तलक्षणायां क्रियायाम्, इति कर्तव्यता माह (सर्वत्रे- त्यादि) सर्वत्र सर्वस्मिन्ननाकुलता निराकुलता भवत्वा यते र्भावः सामायिकरूपस्तस्याऽव्ययपराव्ययाभावनिष्ठाऽनाकु लता वा यतिजावाव्ययपरा न किंचिदतिभावाद् व्येत्यपगच्छ तीति कृत्वा तथोच्यते विशेष्यत्वात् क्रियाभिसंबध्यते समासेन संक्षेपेण कालादिग्रहणविधौ कालस्वाध्यायादिग्रहणविधिवि षया क्रिया चेष्टा स्वशास्त्रप्रसिद्धा इतिकर्तव्यता भवति इत्येव रूपा कर्तव्यानां भावः कर्तव्यतोच्यते षो० ३ विव० ।

इइ (ति) ह-इतिह-अव्य० इति एव ह किल द्व०द्व०। उप देशपरंपरायाम्, यथाऽत्र वटे यक्ष इत्युपदेशपरपरैव न तु केनापि दृष्ट्वा तथा कथितमिति तस्य प्रसिद्धिमात्रता इति होचर्वृत्ता ! सि० कौ. । वाच.

इइ (ति) हास-इतिहास-पु. इतिह पारम्पर्योपदेश आस्ते ऽस्मिन् । आस् आधारे घञ्-६ त. वाच पुराणे,- (इतिहास पञ्चमाणं) इतिहास. पुराणं पञ्चमो येषां ते तथेति । कल्प० । इतिहास. पुराणमुच्यते इति । औप० । पुरुषस्य द्वासप्ततिक- लान्तर्गते कलाविशेषे, कल्प० " धर्मार्थकाममोक्षाणामुप- देशसमन्वितम् ॥ पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहास प्रचक्षते "॥ उक्तलक्षणे पुरावृत्तप्रकाशके भारतादिग्रन्थे, ॥ वाच० ।

इ ओ(त्तो)(दो) (एत्तो) इतस्-अव्य० इदम्-तसिल् इत्यादेशः "तो दो तसो वा" प्रा० ८ । २ । १६० इति प्राकृतसूत्रेण तो दो इत्यादेशौ वैकल्पिकौ । पञ्चाशके । एत्तो इति । अस्मादित्यर्थे, वाच० (इओ चुतेसु दुहमट्ठदुग्गं) इत. स्थानाच्युतो अन्या न्तरं गत इति। सूत्र. १ श्रु. १० अ० ॥ (इअ आउक्खए चुया) इतो मनुष्यजन्मनः सकाशादायुः क्षये मरणे सति च्युता इति प्रश्न. १ द्वा० । (एत्तोऽणाभोगम्मि विपक्खणिओ इओ होइ) एतोच्चि इतोऽस्मादाज्ञारूचित्वात् प्रज्ञापनीयो प्रभवतीति योगः । पंचा० ३ वृ. ॥ इतः स दैत्य. प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्। " इतो निषीदेति विसृष्टभूमिः " ॥ कुमा. । प्रयुक्तमप्य स्त्रमितो वृथा स्यात् " रघुः । वाच० ।

इंखिणिया-इंखिणिका-स्त्री० परनिन्दायाम् । " अदु इंखिणिया उपाविया " इंखिणिया परनिंदा तु शब्दस्यैवकारार्थत्वात पापिकैव दोषवत्येव अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिकेति वृत्तिः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

इखिणिका हि कर्णमूले घटिकां चालयन्ति ततो यक्षाः खल्वागम्य तासां कर्णेषु किमपि प्रष्टुर्विवक्षितं कथयतीत्युक्तलक्षणे नैमित्तिकविशेषे, च (इंखिणियाख्य वा पुच्छा) इति आ० म० प्र० । नि चू ॥

इंखिणी–इङ्खिणी–स्त्री० अन्यनिन्दायाम्, (अह सेयकरी अन्नेसि इखिणी) अथाऽन्यतरमसौ अश्रेयस्करी पापकारिणी इखिणीति निन्दा अन्येषामतो न कार्येति वृत्तिः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ॥

इंग–इङ्ग–पु० इगि भावे घञ् । १ चलने, २ कम्पने, ३ इङ्गिते, च कर्तरि अच् । जङ्गमे, त्वया सृष्टमिदं सर्वं, यच्चेङ्ग यच्च नेङ्गति भा. व० अद्भुते, च । वाच० ॥

इंगाल–अङ्गार–पु विगतधूमज्वाले दह्यमाने इन्धनादिके, उत्त ३६ अ. । अगार इत्येतत् प्रकरणे एवंविधाः शब्दाः ।

इंगालकम्म–अङ्गारकर्मन्–न० अंगारकरणपूर्वकस्तद्विक्रय एवं यदन्यदपि वह्निसमारम्भपूर्वकं जीवानामिष्टकादिपाकरूपं तदङ्गारकर्म तस्मिन्, ॥ उपा अ १ ॥

इंगिअ (य) इङ्गित–न० प्रा० । इगि भावे क्तः । चलने, । हृद्गतभावावेदके, वाच. । निपुणमतिगम्ये प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचके ईषद्भ्रूशिरः कंपादिके आकारे चेष्टाविशेषे, उत्त १अ. । "इंगियागारसंपन्ने" उत्त अ० १ । इङ्गितेन नयनादिचेष्टाविशेषेण चिन्तितं परेण हृदि स्थापितं प्रार्थितं चाऽभिप्रेतं च जानन्ति यास्तथा ताभिरिति वृत्तिः । दशा. । "आलोइय इंगियमेव णच्चा, जो छंदमाराहइ पस पुज्जो" । दश ९अ३ उ अंगोपांगादिमोटनात्मके स्वचित्तविकारसूचके चेष्टाविशेषे, च (न ज पिय इंगियपेहिय वा—इंगितमङ्गोपाङ्गादिमोटनं स्वचित्तविकारसूचकं तच्च स्त्रीणां न साधुना रागेण द्रष्टव्यमिति । उत्त ।

इंगिअज्ज–इंगितज्ञ–पु० "ज्ञोञः" पाद. २–सू ८३ इति सूत्रेण अस्य लुक्वा । नयनादिचेष्टाविशेषज्ञे, प्रा० व्या० ।

इंगिअण्णु–इंगितज्ञ–पु० नयनादिचेष्टाविशेषज्ञे, प्रा० व्या० ।

इंगिअ (य) मरण–इंगितमरण–न० इगिते प्रदेशे मरणमिंगितमरणम्, मरणविशेषे, तद्वक्तव्यता इंगिणीमरणशब्दे । ग । पचा । दश ।

इंगिणी–इंगिनी–स्त्री० इग्यते प्रतिनियतदेश एव चेष्टयतेऽस्यामनशनक्रियायामितीङ्गिनी श्रुतविहिते क्रियाविशेषे, तद्विशिष्ट यावत्कथिकानशनतपोभेदे, च । ध ३ अधि । उत्त । सम ।

इंगिणीमरण–इंगिनीमरण–न० इग्यते प्रतिनियतदेश एव चेष्टयतेऽस्यामनशनक्रियायामिति इंगिनी श्रुतविहित क्रिया विशेषस्तद्विशिष्टमनशनमिंगिनी तया मरणमिङ्गिनीमरणम् । सम. १७ स. । तदुपलक्षितं वा मरणमिङ्गिनीमरणम् ॥ ध ३ अधि. । उत्त. ५ अ० । प्रव । पण्डितमरणविशेषे, । तद्धि चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्यातुर्निष्प्रतिकर्मशरीरस्येङ्गितदेशाभ्यन्तरवर्तिन एवेति । सम १७ स. । तल्लक्षणं चेदम् ॥ " इंगियदेसम्मि सयं, चउव्विहाहारचायनिप्फन्नं । उव्वत्तणाइजुत्तं, नन्नेण उ इंगिणीमरण " ॥ २१ ॥ स्था २ ठा० ॥ अत्र नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः परपरिकर्मविवर्जनं च भवति । स्वयं पुनरिंगितदेशाऽभ्यंतरे उद्वर्तनादिचेष्टात्मकं परिकर्म यथासमाधि विदधाति । प्रव. द्वा० । दश. । संथा० ॥

धर्मसंग्रहेऽपि " इंगिनीमरणं चेष्टा, वतामाहारवर्जनात् ॥ " आहारवर्जनात्सर्वाहारपरित्यागात् चतुर्विधाहारपरित्यागेनेत्यर्थः । इंगिनीमरणमुक्तलक्षणं चेष्टावतां परिमितचेष्टासहितानां सर्वाहारत्यागाद्भवति । अथ भावः । अस्य प्रतिपत्ता तेनैव क्रमेणायुषः परिहाणिमवबुध्य तादृशसंहननाभावात्पादपोपगमनकर्तुमशक्तः स्तोककालजीवितानुसारेण संलेखनां कृत्वा प्रव्रज्याकालादारभ्य च विकटनां दत्वा चतुर्विधाहारं नियमात्प्रत्याख्याति । तथाविधे एव च स्थण्डिले एकाकी छायात उष्ण उष्णतश्च छायां संक्रामन्निर्तीगितदेशे सचेष्टः सम्यग्ध्यानपरायणः प्राणान् जहाति । अयं च परकृतपरिकर्मरहितः स्वय तत् करोति । ध. ३ अधि. ।

अथ भक्तपरिज्ञातोऽस्याः को विशेष इत्याह ।

आयप्परपडिकम्मं, भत्तपरिन्ना य अणुण्णाता ।
परवज्जिया य इंगिणि, चउव्विहाहारविरई या ॥

भक्तपरिज्ञायां द्वे अपरिज्ञाते तद्यथा आत्मना स्वयं परिकर्म परेण च इंगिनी पुनः परवर्जिता परस्तत्र परिकर्म न कार्यते । तथा भक्तपरिज्ञायां चतुर्विधस्य त्रिविधस्याहारस्य विरतिर्भवति इंगिन्यां तु नियमाच्चतुर्विधाहारविरतिः ।

परपरिकर्मविवर्जनमेव भावयति ।

ठाणं निसीय तुयट्टण, इत्तरियाइं जहा समाहीए ।
सयमेव य सो कुणति, उवसग्गपरीसहा य अहियासे ॥
संघयणधितीजुत्तो, नवदसपुव्वा सुएण अंगा वा ।
इंगिणियातोवगमं, नीहारी वा अनीहारी ॥

स्थान उर्ध्वस्थान निषीदनमुपवेशन च त्वग्वर्तन शयनं एतानि इत्वरकाणि स यथासमाधि स्वयमेव करोति न तु परतः कारयति । तथा दिव्यादीन् उपसर्गान् क्षुधादिपरिसहांश्च सम्यगध्यास्ते सहते । तथाहि चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानात्तस्य पानकमपि भवति । नाप्यपवादतश्चरमाहारदानमिति । तथा संहननेन प्रथमाणामाद्यानामन्यतमेन धृत्या च युक्तस्तथा श्रुतेन सूत्रतो यस्य पूर्वाणि नवदश वा केवलानि अंगानि । स इङ्गिनीमरणं प्रतिपद्यते । व्य० द्वि० १० उ० ।

निशीथचूर्णौ तु ।

जाव अज्जो णिव्विट्ठं ताव णेयव्वं पच्चाणं लेहण इंगिणिमरणं । परणओ इंगिणीए आय वेयावच्चं परो न करेइ णियमा चउव्विहाहारविरई जइ वहिं पडिवज्जइ तो अणीहारिम अह गच्छे तो णीहारिम पढमविइयसंघयणी पडिवज्जइ जेण अहीय एवमपुव्वस्स तइयं आयारवत्थु एक्कारसंगी वा पडिवज्जइ धितियवज्जकुड्डसामाण सव्वाणि उवसग्गाणि अहियासेइ । नि० चू० ११ उ० ।

इंगिनीमरणमाह ।

पव्वज्जादी काउं, नेयव्वं जाव होइवोच्छित्ती ।
पंच तुलेऊण तवो, इंगिणिमरणं परिणओ उ ॥

प्रव्रज्यादिकं प्रव्रज्या शिष्या ग्रहणं व्रतारोह अर्थग्रहणमानियत या संगच्छस्य परिपूर्णस्य निवृत्ति गच्छनिवृत्तिकरणेन च तीर्थस्याव्यवच्छेदः कृतः तत आह । तावद्नेतव्य यावद्भवति अव्यवच्छित्तिः तत्पर्यंतं क्रमशः पञ्चतपः तत्र सत्त्वैकत्ववलसक्षणानि तोलयित्वा स इंगिनीमरणं परिणतः प्रतिपन्नो भवति । व्य० १० उ० ॥

(अस्य सविचाराविचारत्वसपरिकर्माऽपरिकर्मत्वनिर्हारित्वानिर्हारित्वानि मरणशब्दे ।)

(अस्य परिकृतमरणेषु मध्यमत्वं पण्डियमरण शब्दे) ।

इगिनी मरणं विशिष्टतरधृति संहननवतामेव भवतीति पण्डियमरणशब्दे ।

इंगिनीमरण चाणक्यः प्रतिपन्नस्तद्यथा ॥

पाडलिपुत्तंमि पुरे, चाणक्को नाम विस्सुओ आसी ।
सव्वारंभनियत्तो, इंगिनीमरणं अह निवत्तो ॥

पाटलीपुत्रे पुरे चाणक्यनामा मन्त्री विश्रुतः ख्यात आसीत् सर्वारम्भनिवृत्तः त्यक्तसर्वराज्यव्यापारः इंगिणीमरणं इंगितप्रदेशाद्बहिर्निर्गमरूपं मरणमथ निवृत्तः सुतः आस्त ततः गोवाटके इगिनीमरण प्रतिपद्य तस्मिन्करीषे सुतः इंगिनीमरणेन व्यवस्थितः । इदम् ।

इंगियदेसंमि सयं चउव्विहाहारचाय निप्पन्नं ।
अप्पडिकम्मे नियमा अन्नेण य इंगिणीमरणं ॥

इह यच्चाणक्यस्य इगिनीमरणं भणितं न पुनरिंगनीमरणमेव यतः श्रावकाणां पादपोपगमेंगिनीमरणनिषेधः । यदाह । " सव्वावि य अज्जाउ, सव्वे वि य पढमसंघयणवज्जा। सव्वे वि देसविरया, पच्चक्खाणेणो मरंति " इति । संथा० ।

इंगिनीमरणविधानम् यथा ।

इंगिणिमरणविहाणं, आपवज्जं तु वियडणं दाओ
संलेहणं च काओ, जहासमाही जहाकालं ॥

इंगितमरणविधानमेतदाप्रव्रज्यमेव प्रव्रज्याकालादारभ्य विकटनां कृत्वा संलेखनां च कृत्वा यथासमाधि अन्यतो भाव तच्च यथा कालमिति गाथार्थः ।

पच्चक्खइ आहारं, चउव्विहं णियमओ गुरुसमीवे ।
इंगिअदेसंमि तहा, चिट्ठं पि हु इंगिअं कुणइ ॥

प्रत्याख्यात्याहारमशनादिचतुर्विधं नियमात्तान् त्रिविधं गुरुसमीपे इंगितदेशे तथा परिमिते चेष्टामपींगितं करोतीति गाथार्थः ।

उव्वत्तइ परिअत्तइ, काइअमाईसु होइ विभासाउ ।
किच्चंपि अप्प णच्चि, अज्जं जइ नियमेण धिइबलेउ ॥

उद्वर्तते परावर्तते कायिकादिषु भवति विभाषा प्रकृतिमात्मसात्करोति वा न वा कृत्यमप्यात्मनैव युंक्ते । उपाधिमत्युपेक्षणादिनियमेन धृतिबली स भगवानिति गाथार्थः । पं. व० २ द्वा ।

(इङ्गितमरणवक्तव्यता मरणशब्दे वक्ष्यते ।)

इंगियागारसंपण्ण–इंगिताकारसंप्रज्ञ–पु० इगितं निपुणमतिगम्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसूचक मिषद् भ्रूशिरःकंपादि आकारः स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावाभिव्यंजको दिगवलोकनादिः अनयोर्द्वन्द्वे इंगिताकारौ सम्यक् प्रकर्षेण जानातीति इङ्गिताकारसंप्रज्ञः । इङ्गिताकारयोः प्रकर्षेण ज्ञातरि, । उत्त. १ अ० ।

इंगिताकारसंपन्न–पु० इंगिताकाराभ्यां संपन्नो युक्तः इगिताकारसंपन्नः । इंगिताकाराभ्यां युक्ते. उत्त १ अ० ।

इगियागारसंपण्णो, से वीणीए त्ति वुच्चइ" इगिताकारौ तावदर्थात् गुरुगतौ सम्यक् प्रकर्षेणजानाति इगिताकारसंप्रज्ञः । यद्वा इगिताकाराभ्यां गुरुभावपरिज्ञानमेव कारणे कार्योपचारादिंगिताकारशब्देनोक्तं तेन संपन्नो युक्तः स इत्युक्तविशेषणान्वितो विनीतो विनयान्वित इति सूत्रपरामर्शेनोच्यते । तीर्थकृद्गणधरादिभिरिति गम्यते । उत्त. १ अ० ।

इंगुई–इंगुदी–स्त्री, वनस्पतिविशेषे, तत्फलेन तैलविधान भवतीति । आचा० श्रु० उ० ॥

इंत– यत्–त्रि. आगच्छति, (इंतस्स पच्चुगच्छणया) आगच्छतो गौरव्यस्याऽभिमुखं गमनमिति भ० । श. १४ उ. ३ ॥

इंद–इन्द्र–पु० इन्दतीतीन्द्रः । अनु० । इदि परमैश्वर्ये इति धात्वनुसारादिन्दनादिन्द्र आत्मा । सर्वद्रव्योपलब्धिसर्वोपभोगरूपपरमैश्वर्ययोगात् । आत्मनि, (जीवे) नं. १ द्वा. । आ० म० । स्था. ।

इन्दो जीवो सव्वोवलद्धिभोगपरमेसरत्तणओ ।

इदिपरमैश्वर्ये इन्दनात्परमैश्वर्ययोगादिन्द्रो जीवः । परमैश्वर्यमस्य कुत इत्याह (सव्वो) इत्यादि आवरणाभावे सर्वस्यापि वस्तुन उपलम्भाभावात्सर्वेषु सर्वस्यापि त्रिजगद्गतस्य वस्तुनः परिभोगाच्च परमेश्वरो जीव इति तस्य परमैश्वर्यम् विशे० ।

इन्दनादिन्द्रः परमैश्वर्ययुक्त इत्यर्थः एव भूतेन चार्थेन युक्तमिदं नाम । परमार्थतस्त्रिदशाधिपे एव वर्तते तस्य तात्त्विकपरमैश्वर्ययुक्तत्वात् । आ० म० प्र० । अनु० ॥ इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । प्रश्न० । राज० सहस्राक्षः । प्रति । इति पर्यायाः । परमैश्वर्ययोगादिन्द्रः अग्नौ, (परमेश्वरे,) स्था. ठा० ४ । महति, च । स्था. ४ ठा० । ऐश्वर्यान्विते त्रि: नृपमात्रे, उपमितसमासे उत्तरपदस्थः श्रेष्ठत्वद्योतकमनुजेन्द्रः वारणेन्द्र इत्यादि । वाच० ।

इन्द्रशब्दस्य निक्षेपः स्थानाङ्गे दर्शितो यथा.

तओ इन्दा पण्णत्ता तंजहा नामिन्दे ठवणिंदे दव्विंदे ॥

(तओ इन्देत्यादि) व्याख्या सा च सुकरैव न वरं ।

नामेन्द्रः ।

इन्दनादैश्वर्यादिन्द्र नाम सज्ञा तदेव यथार्थमिन्द्रेत्यक्षरात्मकमिन्द्रो नामेन्द्रः । अथवा सचेतनस्याचेतनस्य वा यस्येन्द्र इत्ययथार्थं नाम क्रियते स नामनामवतोरभेदोपचारात् नाम चासाविन्द्रश्चेति नामेन्द्रः । अथवा नाम्नैवेन्द्र इति इन्द्रार्थशून्यत्वान्नामेन्द्र इति ।

नामलक्षणं पुनरिदम् ।

" यद्वस्तुनोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षं ॥
पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं च तथा" ॥ १ ॥ इति

अयमर्थः यद्वस्त्वित्यादिना यथार्थमिन्द्रइत्याद्युक्तं स्थितमित्यादिना त्वयथार्थं गोपालदारकादिन्द्रेत्यादि यादृच्छिकमनर्थक मित्यादीति । अथवा यदिन्दनाद्यर्थनिरपेक्षं गोपालादिवस्तुन इन्द्र इत्यादिकमभिधानमयथार्थतया शक्रादावन्यार्थे स्थितं तन्नामेति । इन्द्रादिवस्तुनोवाऽभिधानमिन्दनार्थनिरपेक्षं सञ्ज्ञोपालादावन्यत्रार्थे स्थितं तन्नामेति । स्था. ३ ठा० ॥

अत्ताभिप्पायकया, सत्ता चेयणमचेयणे वावि ।
ठवणादीनिरविक्खा, केवलसत्ताउ नामिंदो ॥

चेतनेऽचेतने वा द्रव्ये या आत्माभिप्रायेण स्वेच्छया इन्द्रप्रभृतिसञ्ज्ञा कृता साऽपि स्थापनादिसापेक्षा स्यादत आह । स्थापनादीनां स्थापनाद्रव्यभावादीनां निरपेक्षा । किमुक्त

भवति । यत्र स्थापनादीनामेकमपि नास्ति किन्तु केवला एका संज्ञा तदर्थनिरपेक्षा स नामेन्द्रः । उक्तं नामेन्द्रलक्षणम् । वृ. १ उ. ॥

स्थापनेन्द्रमाह ॥

तथा इन्द्राद्यभिप्रायेण स्थाप्यत इति स्थापना लेप्यादिकर्म सैवेन्द्रः स्थापनेन्द्रः । इन्द्रप्रतिमा साकारस्थापनेन्द्रः अक्षादिन्यासस्त्वितर इति । स्थापनालक्षणमिदम् । यत्तु तदर्थवियुक्तं, तदभिप्रायेण यच्च तत्करणम् । लेप्यादिकर्म्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालञ्चेति ॥ १ ॥ तथा "लेपगहत्थी हत्थित्ति एस, सब्भाविआ भवे ठवणा । होइ असब्भावो पुण, हत्थित्ति निरागिई अक्खोत्ति" ॥ २ ॥ ॥ स्था. ३ ठा० ।

अधुना स्थापनेन्द्रलक्षणमाह ॥

सब्भावमसब्भावे, ठवणा पुण इंदकेउ माईया ।

इत्तरमणित्तरा वा, ठवणा नामं तु आवकहं ॥

स्थापना स्थापनेन्द्रः पुनरसद्भावेऽसद्भावे च इन्द्रकेत्वादिका इन्द्रकेतुप्रभृतिको द्रष्टव्यः । आदिशब्दादिन्द्रप्रतिमाक्षवराटकादिपरिग्रहः । इयमत्र भावना । या इन्द्र इति स्थापना अक्षवराटकादिष्वसद्भावेन या चेन्द्रकेत्विन्द्रप्रतिमादिषु सद्भावत स स्थापनेन्द्रः । इह नामस्थापनयोः कः प्रतिविशेष उच्यते (इतर इत्यादि) स्थापना इत्वरा च भवति यावद्द्रव्यभाविनी अयावद्द्रव्यभाविनी चेत्यर्थः । नाम पुनर्नियमात् यावत्कथिक यावद्द्रव्य भावी एष प्रतिविशेषः । वृ.१उ.॥

सम्प्रति नामेन्द्रस्थापनेन्द्रयोः प्रकारान्तरेण प्रतिविशेष-मभिधित्सुराह ।

जह ठवणिंदो वुच्चइ, अणुग्गहत्थी हि तह न नामिन्दो ।

एसे व दव्वभावे, पूयाथुतिलद्धिनाणत्तं । १ ।

यथा स्थापनेन्द्रः अनुग्रहः एवार्थोऽनुग्रहार्थः स येषामस्ति अनुग्रहार्थिनस्तैर्योगिभिः स्तूयते पुष्पादिभिरर्च्यते च न तथा नामेन्द्रो माणवकस्ततो महान् नामेन्द्रस्थापनेन्द्रयोः प्रतिविशेष । एवमेव अनेनैव प्रकारेण द्रव्येन्द्रे भावेन्द्रे च पूजास्तुतिलब्धिभिर्नानात्वमवसातव्यम् तद्यथा । द्रव्येन्द्रोऽपि नामेन्द्रवदनुग्रहार्थिभि न स्तूयते नापि पूज्यते यस्तु भावेन्द्रः स स्थापनेन्द्र इव स्तूयते पूज्यते च ततो द्रव्येन्द्रभावेन्द्रयोरपि महान् प्रतिविशेषः । अन्यच्च द्रव्येन्द्रः इन्द्रलब्धिहीनो यस्तु भावेन्द्रः स तल्लब्धिसंपन्नस्तथाहि स सामानिकत्रायस्त्रिंशकादिपरिवृतो विशिष्टद्युतिमान् स्फीतं राज्यमनुभवति उपयोगचिन्तायामपि भावेन्द्र उपयोगलब्धिमान् द्रव्येन्द्र उपयोगलब्ध्या परित्यक्त इति वृ. १ उ. ॥

द्रव्येन्द्रमाह ।

तथा द्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायान्द्रूयते वा तैस्तैः पर्यायैर्द्रोर्वा सत्ताया अवयवो विकारो वा वर्णादिगुणानां द्राव स्समूह इति द्रव्यम् । तच्च भूतभावं भाविभावं चेति आह च " दवए दूयते दोरव, ययो विगारो गुणाणसद्दावो ॥ दव्वं भव्वं भावस्स भूयभावं च जं जोग्गत्ति ॥ तथा " भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं गदितम्" ॥ १ ॥ तथा अनुपयोगो द्रव्यमप्रधानञ्चेति तत्र द्रव्यं चासाविन्द्रश्चेति द्रव्येन्द्रः ॥ स्था० ३ ठा०॥

स च द्विधा । आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतः खल्वागममधिकृत्य ज्ञातापेक्षयेत्यर्थः । नो आगमतस्तु तद्विपर्ययमाश्रित्य तत्रागमत इन्द्रशब्दोऽध्येताऽनुपयुक्तो द्रव्येन्द्रोऽनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् । अयमेवार्थो मङ्गलमाश्रित्य भाष्ये उक्तस्तथाहि "आगमओ णुवउत्तो, मंगलसद्दाणुवासिओवत्ता । तन्नाणलद्धिजुत्तो, विणोव उत्तोत्ति नो दव्वत्ति" तथा नो आगमतस्त्रिविधो द्रव्येन्द्रस्तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रो भव्यशरीरद्रव्येन्द्रो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्येन्द्रश्चेति ॥ तत्र ज्ञस्य शरीरं ज्ञशरीरं ज्ञशरीरमेव द्रव्येन्द्रः ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रः एतदुक्तं भवति । इन्द्रपदार्थज्ञस्य यच्छरीरमात्मरहितं तदतीतकालानुभूततद्भावानुवृत्त्या सिद्धशिलातलादिगतमपि घृतघटादिन्यायेन नो आगमतो द्रव्येन्द्र इति । इन्द्रज्ञानशून्यत्वाच्च तस्येह सर्वनिषेध एव नोशब्दार्थः । तथा भव्यो योग्य इन्द्रशब्दार्थं ज्ञास्यति यो न तावद्विजानाति स भव्यः इति तस्य शरीरं भव्यशरीरं तदेव भव्येन्द्रो भव्यशरीरद्रव्येन्द्रः अयमत्र भावार्थो भाविनीं वृत्तिमङ्गीकृत्येन्द्रोपयोगाधारत्वान्मधुघटादिन्यायेनैव तल्लाभादिशरीरं भव्यशरीरद्रव्येन्द्र इति नो शब्दः पूर्ववत् । उक्तञ्च मङ्गलमधिकृत्य "भवइपयत्थजाणय, देहोभव्वस्स वा स जीवो वि । नो आगमओ दव्वं, आगमरहिओत्ति ज भणियति " ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्येन्द्रो भावेन्द्रकार्येष्वव्यापृत आगमतोऽनुपयुक्तद्रव्येन्द्रवत् । तथा यच्छरीरमात्मद्रव्य वातीतभावेन्द्रपरिणामन्तच्चोभयातिरिक्तद्रव्येन्द्रो ज्ञशरीरद्रव्येन्द्रवत् । तथा यो भावेन्द्रपर्यायशरीरयोग्यः पुद्गलराशिर्यच्च भावीन्द्रपर्यायमात्मद्रव्य तदप्युभयातिरिक्तो द्रव्येन्द्रः भव्य रद्रव्येन्द्रवत् । स चावस्थाभेदेन त्रिविधस्तद्यथा एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति । तत्रैकस्मिन् भवे तस्मिन्नेवातिक्रान्ते भावी एकभाविको योऽनन्तरं एव भावेन्द्रतयोत्पत्स्यते इति स चोत्कर्षतस्त्रीणिपल्योपमानि भवन्ति देवकुर्वादिमिथुनकस्य भवनपत्यादीन्द्रतयोत्पत्तिसम्भवादिति । तथा स एवेन्द्रायुर्बन्धानन्तरं बद्धमायुरनेनेति बद्धायुरुच्यते । स चोत्कर्षतः पूर्वकोटित्रिभाग यावदस्मात्परत आयुष्कबन्धाभावात् । तथा अभिमुखे सम्मुखे जघन्योत्कर्षाभ्यां समयान्तर्मुहूर्तानन्तरं भावितया नामगोत्रे इन्द्रसम्बन्धिनी यस्य स तथा । तथा भावैश्वर्ययुक्ततीर्थकरादिभावेन्द्रापेक्षयाऽप्रधानत्वाच्छक्रादिरपि द्रव्येन्द्र एव द्रव्यशब्दस्याप्रधानार्थेऽपि प्रवृत्तेः ॥ स्था० ठा० ३ ॥

॥ द्रव्येन्द्रलक्षणमाह ।

दव्वं पुण तल्लद्धी, जस्सातीता भविस्सते वा वि ।

जीवो वि अणुवउत्तो, इंदस्स गुणे परिकहेइ ॥

द्रव्य द्रव्यविषयः पुनरिन्द्रोयस्य तल्लब्धिरिन्द्रलब्धिरतीता भविष्यति स च प्रतिपत्तव्यः । किमुक्तं भवति । यस्सञ्चेमिन्द्रत्वं प्राप्तो यश्च प्राप्स्यति स यथाक्रमं भूतभावत्वाद्भाविभावत्वाच्च द्रव्येन्द्रः । उक्तं च । "भूतस्य भाविनो वा, भावस्य हि कारणं तु यल्लोके । तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम्" यो वापि इन्द्रस्य गुणान् परस्मै परिकथयति परमनुपयुक्तः सोऽपि द्रव्येन्द्रः अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् वृ० १ उ० ॥ उक्तो द्रव्येन्द्रः ॥

भावेन्द्रमाह ।

भावेन्द्रस्त्विह त्रिस्थानकानुरोधाभ्योक्तस्तल्लक्षणं चेदम्भावमिन्द्रनक्रियानुभवनलक्षणपरिणाममाश्रित्येन्द्रः इन्दनपरिणामेन भवतीति वा स चासाविन्द्रश्चेति भावेन्द्रो यदाह " भावो विवक्षितक्रिया-नुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः । सर्वज्ञैरिन्द्रादिव-दिहेन्दनादिक्रियानुभवात् ॥ १ ॥ सच द्विधा आगमतो नो आगमतश्च तत्रागमत इन्द्रज्ञानोपयुक्तो जीवोभावेन्द्रः कथ

मिहेन्द्रोपयोगमात्रात्तन्मयतावगम्यते । नह्यग्निज्ञानोपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव दहनपचनप्रकाशनाद्यर्थक्रियाप्रसाधकत्वा भावादिति चेन्नाभिप्रायापरिज्ञानात् । संविद्ज्ञानमवगमो भाव इत्यनर्थान्तरं । तत्रार्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इति सर्ववादिनामविसंवादस्थानं यथा कोऽयघट· किमयमाह घट-शब्द किमस्य ज्ञान घट इति अग्निरिति च यज्ज्ञान तदव्य-तिरिक्तो ज्ञाता तल्लक्षणो गृह्यते । अन्यथा तज्ज्ञानेसत्यपि नोपलभ्येताऽनन्मयत्वात् प्रदीपहस्तान्धवत् पुरुषान्तरवद्वा । न चानाकार तत्पदार्थान्तरवद्विवक्षितं पदार्थापरिच्छेदप्रसगात् बन्धाद्यभावश्च ज्ञानाऽज्ञानसुखदुः खपरिणामान्यत्वादाकाशव च्चानग्निः सर्वएव दहनाद्यर्थक्रियाप्रसाधको भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारादिति कृत प्रसगेन । नो आगमतो भावेन्द्र इन्द्र-नामगोत्रे कर्मणी वेदयन् परमैश्वर्यभाजन सर्वनिषेधवचन-त्वान्नोशब्दस्य यतस्तत्र नेन्द्रपदार्थज्ञानमिन्द्रव्यपदेशनिबन्ध-नतया विवक्षितमिन्दनक्रियाया एव च विवक्षितत्वात् । अथवा तथाविधज्ञानक्रियारूपो य· परिणामः स नागम एव केवलो न चानागम इत्यतो मिश्रवचनत्वान्नोशब्दस्य नो आगमत इ त्याख्यायत इति । ननु नामस्थापनाद्रव्येष्विन्द्राभिधान विव-क्षितभावशून्यत्वात् द्रव्यत्वं च समानं वर्तते अतश्च क एषां विशेषः आहच " अभिहाण दव्वत्त, तयत्थसुन्नत्तणं च तुल्लाइं । को भाववज्जियाणं नामाईणं पइविसेसोत्ति " ॥ १ ॥ अत्रोच्यते यथा हि स्थापनेन्द्रः खलु इन्द्राकारो लक्ष्यते तथा कर्तुः सद्भूतेन्द्राभिप्रायो भवति तथा द्रष्टुस्तदाकारदर्शना दिन्द्रप्रत्ययस्तथा प्रणतिकृतधियश्च फलार्थिन· स्तोतुं प्रवर्तन्ते, फलं च प्राप्नुवन्ति । केचिद्देवतानुग्रहात्र तथा नामद्रव्येन्द्र-योरिति तस्मात्स्थापनायास्तावदित्थ भेद इति । आह च " आगाराभिप्पाओ, बुद्धिक्कीया फलं च पायण । जह दीसइ ठवणिन्दे, न तहा नामिन्द दव्विन्दे त्ति,, । यथा च द्रव्येन्द्रो-भावेन्द्रकारणतां प्रतिपद्यते तथोपयोगापेक्षायामपि तदुपयो-गतामाद्यत्यवाप्तवांश्च न तथा नामस्थापनेन्द्रावित्यय वि-शेष इति । आह च " भावस्स कारणं जह, दव्वं भावो य तस्स पज्जाओ । उवओगपरिणमइओ, न तहा नामं न वा ठवणंत्ति " ॥ स्था० ३ ठा० ॥

अत्र पर आह ॥

न हि जो घडं वियाणइ, सो उ घडी भवइ नो य वा अग्गी ॥
नाणात्तिय भावोत्ति य, एगट्ठमतो अदोसोत्ति ॥ १ ॥

न हि यो घट विजानाति स घटी भवति यस्य वा-ग्निविज्ञान सोऽग्नि· प्रत्यक्षे विरोधात् ततो यदुक्तमिन्दस्स वाहिगारं वि-जाणमाणो तदुवउत्तो इति, तन्मिथ्या । अत्र सूरिराह । ज्ञान मिति भाव इति वा च शब्दाद्ध्यवसाय इति उपयोग इति वा एकार्थमतोऽदोषः । इयमत्र भावना । अर्थाभिधानप्रत्ययास्तु-ल्यनामधेयास्तथाहि घटोऽपि बाह्यो घट इत्युच्यते घटशब्दो-ऽपि घट इति घटज्ञानमपि घट इति । ज्ञान च ज्ञानिनोऽपृथक् घटज्ञान्यपि घट इत्युच्यते अग्निज्ञान्यपि अग्निरित्यदोषः ॥

एतदेव भावयति ॥

जमिदं नाणं इन्दो, तव्वतिरिच्चति ततोय तन्नाणी ॥
तम्हा खलु तब्भावं, वयंति जो जत्थ उवउत्तो ॥ १ ॥

यदिदमिन्द्र इति ज्ञान तस्मात्तज्ज्ञानी इन्द्रज्ञानी व्यतिरि-च्यते तस्माद्यो यत्रेन्द्रादावुपयुक्त· तस्य तद्भावमिन्द्रादिभावं तत्त्वविदस्सूरयो वदन्ति । ज्ञानज्ञानिनोरभेद एव कथ सिद्ध इति चेदुच्यते विपक्षेऽनेकदोषप्रसगात् ॥

तमेवाह ॥

चेयणस्स उ जीवा, जीवस्स उ चेयणा उ अण्णत्ति ।
दवियं अलक्खणं खलु, हविज्ज न य बन्धमोक्खाउ ॥

चैतन्यस्य जीवा जीवस्य चेतनाया अन्यत्वे द्रव्य जीवद्रव्य मलक्षण चेतनालक्षणो जीव इति लक्षणरहितं भवेत् । चेत-नाया घटादिवज्जीवादप्येकान्तव्यतिरिक्तत्वाल्लक्षणाभावे च लक्ष्यस्याऽप्यभाव इति खरशृङ्गवदत्यन्तमसन् जीवोऽप्यत्य-न्तमसन् स न बध्यते बन्धस्य वस्तुधर्मत्वान्नापि मुच्यते बन्धा-भावादिति बन्धमोक्षावपि न स्यातामथ मन्येथा अचेतनोऽपि सबध्यते मुच्यते चेति तदप्ययुक्तमचेतनानामप्येवंधर्मास्ति-कायादीनां बन्धमोक्षप्रसक्तेस्तस्मात्साधूक्तमिन्द्रशब्दार्थं जा-नन् तदुपयुक्तोभावेन्द्र इति । वृ० १ उ० ॥ उक्ता नामस्थाप नाद्रव्येन्द्रा· ।

इदानीं भावेन्द्रं त्रिस्थानकावतारेणाह ।

तओ इंदा पण्णत्ता तंजहा णाणिन्दे दंसणिंदे चरित्तेन्दे ।

(तओइंदेत्यादि-) कण्ठ्य नवर ज्ञानेन ज्ञानस्य ज्ञाने वा इन्द्रः परमेश्वरो ज्ञानेन्द्रोऽतिशयवत् श्रुता यन्यतरज्ञानवशविवे-चितवस्तुविशर· केवली वा एव दर्शनेन्द्रः क्षायिकसम्यग्द-र्शनी चारित्रेन्द्रो यथाख्यातचारित्रः एतेषां च भावेन लक्ष-सद्भावप्रधानक्षायिकलक्षणेन विवक्षितक्षायोपशमिकलक्षणेन वा भावतः परमार्थतो वेन्द्रत्वात् सकलसंसार्यप्राप्तपूर्वगुण-लक्ष्मीलक्षणपरमैश्वर्ययुक्तत्वात् भावेन्द्रतावसेयेति ।

भावेन्द्रलक्षणमाह ।

जो पुण जहत्थ जुत्तो, सुद्धणयाणं तु एस भाविन्दो ।
इन्दस्स व अहिगारं, वियाणमाणो तदुवउत्तो ॥ १ ॥

यः पुनर्यथार्थेन यथावस्थितेन अर्थेन परमैश्वर्यलक्षणेन इदि परमैश्वर्ये इति वचनात् साक्षादिन्द्रनामगोत्राणि कर्माणि वेदयमान इत्यर्थः स भावेन्द्र· । एष शुद्धनयानां शब्दादीनां यथावस्थितार्थग्राहकाणां वर्तमानविषयिकाणां संमतो न शेषाणामेन्द्रादिः । अथवा इन्द्रस्य इन्द्रशब्दस्याधिकारमर्थं जानन् तदुपयुक्तस्तस्मिन्निन्द्रशब्दार्थे उपयुक्तो भावेन्द्रः उप योगो भावनिक्षेप इति वचनात् ॥ उक्तमाध्यात्मिकैश्वर्यापे-क्षया भावेन्द्रत्रैविध्यम् ।

अथवा बैश्वर्यापेक्षया तदेवाह ।

तओ इन्दा पण्णत्ता तं जहा—देविंदे असुरिंदे मणुस्सिंदे ।

तओ इंदेत्यादि भावितार्थं नवर देवा वैमानिका ज्योतिष्क वैमानिका वा रूढेः । असुरा भवनपतिविशेषा भवनपतिव्यं-न्तरा वा सुरपर्युदासात् मनुजेन्द्रश्चक्रवर्त्यादिरिति ॥ स्था० ३ ठा० ॥

तेवेन्द्रा स्थानाङ्गे चतु·षष्टिर्दर्शितास्तत्र देवेन्द्रा यथा ।

दो असुरकुमारिंदा पण्णत्ता तंजहा चमरे चेव बली चेव । दो नागकुमारिंदा पण्णत्ता तंजहा धरणे चेव भूयाणंदे चेव । दो सुवण्णकुमारिंदा पण्णत्ता तंजहा वेणुदेवे चेव वेणुदाली चेव । दो विज्जुकुमारिंदा पं० तं० हरिच्चेव हरिस्सहे चेव । दो अग्गिकुमारिंदा पं० तं० अग्गिसिहे चेव अग्गि माणवे चेव । दो दीवकुमारिंदा पं० तं० पुन्ने चेव वसि-

द्दे चेव । दो उदहिकुमारिंदा पं० तं० जलकंते चेव जलप्पभे चेव । दो दिसाकुमारिंदा पं० तं० अमियगई चेव अमियवाहणे चेव । दो वाउकुमारिंदा पं० तं० वेलंबे चेव पभंजणे चेव । दो थणियकुमारिंदा पं० तं० घोसे चेव महाघोसे चेव ।

(दोअसुरेत्यादि) अच्चुए चेवेत्येतदन्तं सूत्रं सुगमम् । नवरं असुरादीनां दशानां भवनपतिनिकायानां मेर्वपेक्षया दक्षिणोत्तरदिग्द्वयाश्रितत्वेन द्विविधत्वाद्विंशतिरिन्द्रास्तत्र चमरो दाक्षिणात्यो बली त्वौदीच्य इत्येवं सर्वत्र स्था० ॥ २ ठा० ॥

एतेषां सङ्ग्रहो यथा ॥

"चमरे १ धरणे २ तह वेणुदेव ३ हरिकंत ४ अग्गिसीहे य ५ । पुन्ने ६ जलकंते वि य, ७ अमिय ८ विलंबे य ९ घोसे य"॥ १० ॥ एते दक्षिणनिकायेन्द्रा इतरे तु "बलि १ भूयाणंदे २ वेणुदालि ३ हरिस्सहे ४ अग्गिमाणव ५ वसिट्ठे ६ जलप्पभे ७ अमियवाहणे ८ पभंजणे ९ महाघोसे" ॥ भ० टी. । ३ श० १ उ० ।

व्यन्तरेन्द्रा यथा ।

दो पिसाइंदा पं० तं० काले चेव महाकाले चेव । दो भूइंदा पं० तं० सुरूवे चेव पडिरूवे चेव । दो जक्खिंदा पं० तं० पुण्णभद्दे चेव माणिभद्दे चेव । दो रक्खसिंदा पं० तं० भीमे चेव महाभीमे चेव । दो किंनरिंदा पं० तं० किंनरे चेव किंपुरिसे चेव । दो किंपुरिसिंदा पं० तं० सप्पुरिसे चेव महापुरिसे चेव । दो महोरगिंदा पं० तं० अइकाये चेव महाकाये चेव । दो गंधव्विंदा पं० तं० । गीयरई चेव गीयजसे चेव । स्था० ॥

एवं व्यंतराणामष्टनिकायानां द्विगुणत्वात् षोडशेन्द्रा० । स्था० । २ ठा० ॥ एतेषु च प्रतिनिकायं दक्षिणोत्तरभेदेन द्वौ द्वाविन्द्रौ स्याताम् ।

अणपन्निकायादीनां व्यन्तरविशेष वाणव्यन्तरनिकायाना मिन्द्रा यथा ।

दो अणपन्निंदा पं० तं० संनिहिए चेव समाणे चेव । दो पणपन्निंदा पं० तं० धाए चेव विधाये चेव । दो इसिवाइंदा पं० तं० इसि चेव इसिवाले चेव । दो भूयवाइंदा पं० तं० ईसरे चेव महेसरे चेव । दो कंदिंदा पं० तं० सुवत्थे चेव विसाले चेव दो महाकंदिंदा पं० तं० हासे चेव हासरई चेव । दो कुंभंडइंदा पं० तं० सेए चेव महासेए चेव ॥ दो पयगिंदा पं० तं० पए चेव पयगवई चेव ॥

अणपन्निकायादीनामप्यष्टानामेव व्यंतरविशेषनिकायानां द्विगुणत्वात् षोडशेति । स्था० २ ठा० ॥

ज्योतिष्कदेवानामिन्द्रा यथा ॥

जोइसियाणं देवाणं दो इंदा पं० तं० चंदे चेव सूरे चेव ॥

ज्योतिष्काणां त्वसंख्यातचन्द्र सूर्यत्वे ऽपि जातिमात्राश्रयणाद्वेव चन्द्रसूर्य्याख्याविन्द्रावुक्तौ ॥ स्था० २ ठा० ॥

सौधर्मादिकल्पेन्द्रा यथा ॥

सोहम्मीसाणेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० सक्के चेव ईसाणे चेव एवं सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु दो इंदा पं० तं० सणंकुमारे चेव माहिंदे चेव । बंभलो य लंतगे दो इंदा पं० तं० बंभे चेव लंतए चेव महासुक्क सहस्सारेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० महासुक्के चेव सहस्सारे चेव आणय-पाणया-रण-च्चुतेसु णं कप्पेसु दो इंदा पं० तं० पाणए चेव अच्चुए चेव ॥

सौधर्मादि कल्पानान्तु दशेन्द्राः स्था० २ ठा० ॥ अतिम देवलोक चतुष्टय इन्द्रद्वय सद्भावादिति भ० ३ श० १ उ० ॥ इत्येवं सर्वेऽपिचतु. षष्टिरिति 'देवेन्द्रस्तव'प्रकीर्णके च सर्वे इन्द्रा गाथया प्रशंसिता स्तद्यथा ॥

बत्तीसा देविंदा, जस्स गुणेहिं उवहम्मिया ठायं ।
नो तस्स वि यच्छेयं, पायच्छायं नु वेहामो ॥ ६ ॥
बत्तीसं देविंदत्ति, भणियमित्तं निसापि यं भणइ ।
अंतरभासं ताहे, को होमा को वहल्लेणं ॥ ७ ॥
कयरे ते बत्तीसं, देविंदा को व कत्थ परिवसइ ।
केवइया कस्स ठिई, को भवणपरिग्गहो तस्स ॥ ८ ॥
केवइया च विमाणा, भवणा नगरा च हुंति केवइया ।
पुढवीए य बाहुल्लं, उच्चत्तविमाणवन्नो वा ॥ ९ ॥
कारंति व कालेण, उक्कोसं मज्झिमजहन्नं ।
उस्सासो निस्सासो, ओही विसओ व को केसिं ॥ १० ॥
विणय उवयार उवहंमि,या इहा स व समुव्वहंतीए ।
पडिपुच्छिउ उ पियाए, भणसु अणु तं निसामेह ॥ ११ ॥
सुअणाणसागराओ,सुविणं उ पडिपुच्छणाइ यं सर्व्वं ।
पुण वागरणावलिअं, नामा वलियाइ इंदाणं ॥ १२ ॥
सुणु वागरणावलिअं, रयणं वयणं सियं च वीरेहिं ।
तारावलिव्व धवलं, हियएण पसन्नचित्तेणं ॥ १३ ॥
रयणप्पभाइ कुम निकुम, वासीसु तणु तेउलेसागा ।
वीसं विकसियणयणा, भवणवई मे निसामेह ॥ १४ ॥
दो भवणवई इंदा, चमरे वइरोअण असुराणं ।
दो नाग कुमारिंदा, भूयाणंदे य धरणे य ॥ १५ ॥
दो सुवण्ण सुवणिंदा, वेणुदेवे य वेणुदालिंदा ।
दो दीवकुमारिंदा, पुन्ने य तहा वसिट्ठे य ॥ १६ ॥
दो उदहिकुमारिंदा, जलकंते जलप्पभे य नामेणं ।
अमियगइ अमियवाहण, दिसाकुमाराण दो इंदा ॥ १७ ॥
दो वा उ कुमारिंदा, वेलंब पभंजणा य नामेणं ।
दो थणिय कुमारिंदा, घोसे य तहा महाघोसे ॥ १८ ॥
दो विज्जुकुमारिंदा, हरिकंत हरिस्सहे य नामेणं ।
अग्गिसिह अग्गिमाणव, हूयासणवइ वि दो इंदा ॥ १९ ॥
एए विकासियनयणे दस, दिसी विय सिय जसा मए कहिया ।

सुण वाणमंतराणं नवणवई आणुपुव्वीए ॥ ६७ ॥
पिसाय भूअ जक्खा य, रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमंतरा ॥ ६८ ॥
एए ठ्ठिउ समासेणं, कहिया जे वाणमंतरा देवा ।
पत्तेयं पियवुच्छं सोलस इंदे माहिड्ढिए ॥ ६९ ॥
काले य महाकाले, सुरूव पडिरूव पुन्न नद्देय ।
अमरवई माणभद्दे, भीमे य तहा महाभीमे ॥ ७० ॥
किन्नर किंपुरिसे खलु, सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे ।
अईकाय महाकाए, गीयरई चेव गीयजसे ॥ ७१ ॥
सन्निहि ए सामाणे, धाए विधाये इसीय इसिवाए ।
इस्सर महिस्सरेया हवइ सुवत्थे विसालेय ॥ ७२ ॥
हासे हासरई वि अ सेए अ तहा नवे महासेए ।
पयए पययवई, वि य नेयव्वा आणुपुव्विए ॥ ७३ ॥
अप्पड्ढिया उ तारा, नक्खत्ता खलु तओ महड्ढिए ।
नक्खते हिं तु गहा गहेहिं सूरा तउ चंदा ॥ ७६ ॥
कप्पवई त्रिय वुच्छं, बारस इंदे महिड्ढिए ॥ ६४ ॥
पढमो सोहम्मवई, ईमाणवइए सवाधिओ बीओ ।
तत्तो सणंकुमारो, हवइ चउत्थोउ माहिंदो ॥ ६५ ॥
पंचमए बंभिंदो, छट्ठो पुण लंत उद्धदेविंदो ।
सत्तम ओ महसुक्को, अट्ठमउ नवे सहस्सारो ॥ ६६ ॥
नवमो अ आणतिंदो, दसमो पुणपाणतेंददे विंदो।
आरण इकारसमो, बारसमो अच्चुए इंदो ॥ ६७ ॥
एए बारस इंदा, कप्पवई कप्पसामिया भणिया ॥
आणाईसरियं. वा तेण परं नत्थि देवाणं ।६८। दे०प०
इन्द्राणां भवनस्थित्यादिवक्तव्यता तत्तच्छब्दे ॥
अनीकानि तदधिपतयश्चाऽणीक शब्दे ॥
अग्रमहिष्यो ऽग्गमहिसी शब्दे ॥
उत्पातपर्वता उप्पायपव्वय शब्दे कल्पेन्द्रा कप्प शब्देऽपि॥
परिषदः परिसद–शब्दे विमानानि विमाण शब्दे॥
लोकपाला लोकपाल शब्दे ॥
सामानिकाः सामाणिय शब्दे ॥

इंद्राणामेकाऽवतारित्वानेकावतारित्वादि-प्रश्नोत्तरमुखेन प्रतिपादितं यथा । सम्प्रति ये इन्द्रा. सांति ते सर्व्वेऽप्येकातवारिणो भवंति प्रश्नः।संप्रति ये इन्द्राः सांति तेषां मध्ये केचनैकावतारिणो न सर्वे इत्युत्तरमिति । हीर० । इन्द्रायतने, च

इंदस्स वा जावकोट्टकिरियाए वा उवल्लेवण संमज्जण आवरिसण धूवपुप्फगंधमल्लादिआइं दव्वावस्सयाइं करेंति ॥

अत्रोपचारादिन्द्रादिशब्देन तदायतनमप्युच्यत इति -अनु० टी० इन्द्र देवताके ज्येष्ठा नक्षत्रे, अधिष्ठातरि अधिष्ठेयस्योपचारात्।जं ७ व०।स्था०२ ठा.। अनु ।जेठा इंददेवयाए।इति ज्यो०, । विष्कुम्भादिषु योगेषु षड्विंशे योगे, वाच० ॥

कृष्णस्य शुक्लस्य च पक्षस्य पञ्चदशदिवसेषु स्वनामख्याते सप्तमे दिवसे, कल्प०। सूर०।जी०।पुरस्थे स्वनामख्याते अधिष्ठारके,(तत्कथा सामाइय शब्दे) अष्टव्याकरणान्तर्गते व्याकरण विशेषे, आव. २ अ. ॥ कुटजवृक्षे राज्ञी, च धरणिः । भारतवर्षीय द्वीपभेदे, शब्द मा०। छदो ग्रन्थ प्रसिद्धे, षण्मात्रा प्रस्तावे, आद्यन्तगुरुद्वयेन लघुद्वयमध्येन युते चतुर्थे भेदे, इन्द्रवारुण्याम् स्त्री० टाप् ॥ वाच० ॥

ऐन्द्र–त्रि० इन्द्रस्येदम् इन्द्रसम्बन्धिनि, (ऐन्द्रं धाम हृदि स्मृत्वा) ऐन्द्र मिति । इदिपरमैश्वर्य्ये इति धात्वनुसारादिन्द्र आत्मा तस्य सम्बन्धि ऐन्द्र धामेति । नयो० ।

इंदकंत–इन्द्रकान्त– न० विमानविशेषे सम० १९ स० ॥

इंदका (गा) इय–इन्द्रकायिक– पु० त्रीन्द्रियसंसारसमापन्नजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद०। जी० । (बोधव्वा इंदगाईका) उत्त० ३६ अ०। कायिका इत्यपिकुत्रचिल्लोकप्रसिद्धा त्रीन्द्रियाः । उत्त० टी० ॥

इंदकील–इन्द्रकील–पुं० गोपुरावयवविशेषे ।औप०। (गोमेज्जमयाइंदकीला) संपाटितकपाटद्वयाधारभूतः प्रवेशमध्यभाग इति । राज० । गोपुरकपाटयुगलनिवेशस्थानमिति । भ० ३ श० २ उ०।अं० । इन्द्रस्य कील इव अत्युच्चत्वात् मन्दरपर्व्वते इन्द्रस्य कील इव इन्द्रध्वजे । न० । वाच० ॥

इंदकुंजर–इन्द्रकुञ्जर– पु० ६ त० ऐरावते, तस्यामृतमन्थन काले इन्द्रेण गृहीतत्वात् तथात्वम् यथाह "श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु, महाकायस्तत. परम् । ऐरावतो महानागोऽभवद्वज्रभृता धृतः ॥ भा०भा० । इन्द्रगजराजादयोऽप्यत्र० । वाच० ॥

इंदकुंभ–इन्द्रकुम्भ–पु० कुम्भानामिन्द्रः इन्द्रकुम्भो राजदन्तादिदर्शनादिन्द्रशब्दस्य पूर्वनिपातः । महाकलशे, राज० । महिंदकुंभसवाणा) कुम्भाना मिन्द्र इन्द्रकुंभो महांश्चासाविन्द्रकुंभश्च तस्य समाना महेन्द्रकुम्भसमाना महाकलशप्रमाणा इति जं० १प्र०।जी०राज० । वीतशोकाया राजधान्या उत्तर पूर्वे दिग्भागस्थिते उद्याने,(वीसेण वीयसोगाए रायहाणीए उत्तर पुरच्छिम दिसीभाए इंदकुंभणाम उज्जाणे इति, ज्ञा० ९ अ. । नेमिजिनस्य प्रथम शिष्ये, च ।सम० २४ स. ।

इंदकुमारिया–इन्द्रकुमारिका–स्त्री. स्वनाम ख्यातायां योषिति । आ. म १ अ. ।

इंदकेउ–इन्द्रकेतु–पु० इन्द्रयष्ट्याम, प्रश्न० ४ द्वा० (सोइंदकेउपासेत्ति लोकेण महिज्जंतं) इति आ० चू० ॥

इंदगोवग–इन्द्रगोपक–पुं०इन्द्रं गोपायतीति । नि० चू० । गोपो रक्तकोऽस्य वर्षाभवत्वात्तस्य । वाच० । प्रथमप्रावृट्काल भाविनि कीटविशेषे, स हि प्रवृद्ध.सन्नीषत्पाण्डुरक्तो भवतीति।राज.।आ–म–प्र०।प्रज्ञा०।ज्ञा.।आचा०।जी. (इंदगोवगसमप्पन्नेसु ॥) इन्द्रगोपको वर्षासु कीटकविशेषस्तेन च समा प्रभा येषां ते तथा तेषु रक्तेष्वित्यर्थः। ज्ञा.।अयञ्च विकलेन्द्रियजीवविशेष इति–अनु. । स च संसारसमापन्नत्रीन्द्रियजीवविशेष इति–प्रज्ञा० पद. १ । जी. । (इंदगोवमाइया णेगहा पवमाइओ) इन्द्रगोपादिकाःइन्द्रगोपको (ममोला) इति प्रसिद्ध पवमादिकास्त्रीन्द्रिया अनेकधा जीवा इति. उत्त ३ अ. ।

चउरिंदिय इंदगोवादि। नि० चू० १ उ० ।

इंदगह–इन्द्रग्रह–पुं० ग्रहविशेषे । जी० ३ प्र. ।

इंदग्गि–इन्द्राग्नि–पुं० द्वि० व० इन्द्रश्चाग्निश्च देवताद्वन्द्व० । शक्राग्न्योर्मिलितयोर्देवतयो.। वाच० । विशाखानक्षत्राधिष्ठातरि

देवे, अनु० । "दो इंदग्गी" अष्टाशीतिमहाग्रहान्तर्गते सप्तविंशतितमे महाग्रहे च । स्था० २ ठा० । विसाहा इंदग्गिदेवयाए इति । ज्यो० । तदधिष्ठातृके विशाखानक्षत्रे च । अधिष्ठातर्यधिष्ठ यस्योपचारादिति । जं० ७ वक्ष० । कल्प० ।

इंदचंदण–इन्द्रचन्दन–न०–इन्द्रप्रियं चन्दनम् शा० त० हरिचन्दने, वाच० ।

इंदचिब्भिडी–इन्द्रचिर्भिटी–स्त्री०–इन्द्रस्यात्मन प्रिया चिर्भिटी शा०त० लताभेदे, सा च इन्द्रतुल्यवर्णकुसुमा पुष्पान्वित मञ्जरीका दीर्घवृन्ता गुच्छफलान्विता कटुः शीतवीर्या पित्त श्लेष्मकासव्रणरोगकृमिनाशिनी चक्षुष्या च । राजनि० । वाच० ।

इंदजव–इन्द्रयव–न०–पुं०–इन्द्रस्य कुटजवृक्षस्य यवाकृतिबीजत्वात् यव इव बीजम् । कुटजवृक्षस्य यवाकारे तिक्तरसे स्वनामख्याते बीजे, " ऐन्द्रो यवस्त्रिदोषघ्नः, संग्राही कटुशीतलः । ज्वरातिसाररक्तार्शो–वमिवीसर्पकुष्ठनुत् ॥ दीपनो गुदकीलास्त्रवातास्त्रश्लेष्मशूलजित् । भाव० प्र० । वाच० ।

इंदजसा–इन्द्रयशस्–स्त्री०–पाञ्चालदेशस्य काम्पिल्यनगरस्य ब्रह्मनामकराजस्य भार्यायाम्, तस्य च चतस्रो भार्या । "इंदवसु १ इंदजसा २ इंदसिरी ३ चुलणीदेवी ४ य" । उत्त. १३ अ० ॥

इंदजाल–इन्द्रजाल–न०–द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाविशेषे, कल्प. । इन्द्रेण कौशल्यादैश्वर्येण जालं चक्षुर्भ्रमावरणं यथास्थितवस्तुदर्शनाक्षमत्वसाधनात् । इन्द्रस्य परमेश्वरस्य जालं मायेव वा मन्त्रौषधादिना अन्यथास्थितस्य वस्तुनोऽन्यथात्वेन दर्शनसाधने (कुहक) (बाजी) १ पदार्थे, २ मायारूपे जाले च । इन्द्रेण इन्द्रत्वेन योगविशेषेण जालं कृतोपायभेदे च । इन्द्रजालं च द्रव्यविशेषसंयोगेन अद्भुतवस्तुदर्शकव्यापारः (क्यामेहरि) इति भाषायां प्रसिद्धः । मन्त्रद्रव्य विशेषेण वस्तुनोऽन्यथाकरणञ्च । वाच० ।

इंदजालि (न्) इन्द्रजालिन्– त्रि०–चेचरत्वादिस्वपरदर्शनोत्पादके विस्मापके, स्था० ४ ठा० ॥

इंदजालिय–इन्द्रजालिक–त्रि०–इन्द्रजालं शिल्पतयास्त्यस्य ठन् । इन्द्रजालकारके, । इन्द्रजालिकीत्यप्यत्र स्त्रियां ङीप् वाच० । आ० म० । विशे० ।

इंदज्झय–इन्द्रध्वज–पुं०–इन्द्रत्वसूचको वा ध्वज इन्द्रध्वज इति । अतिमहति ध्वजे, । प्रव० ४० द्वा० ॥

" आगासगओ कुडभिन्नी सहस्स परिमंडियाभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ" ॥

(आगासगओत्ति) आकाशगतोऽत्यर्थं तुङ्गमित्यर्थः (कुडभित्ति) लघुपताका. सज्जाव्यते । तासहस्रैः परिमण्डितश्चासावभिरामश्चातिरमणीय इति विग्रहः । (इंदज्झओत्ति) शेषध्वजापेक्षयातिमहत्वात् इन्द्रश्चासौ ध्वजश्च इन्द्रध्वज इति । (पुरओत्ति) जिनस्याग्रतो गच्छतीति द्वात्रिंशोऽतिशयः । सम० ३४ स० ॥

इंदज्झया–इन्द्रध्वजा–स्त्री०–इन्द्रसम्बन्धिन्यां तत्संतोषाय स्थापितायां ध्वजायाम्, वाच० । तदुत्पत्तिराचश्यकचूर्णौ भरतकथामधिकृत्योक्ता यथा—

ताहे सो सक्कं भणति तुज्झेहिं केरिसेण रूवेण तत्थ अत्थ हाति ताहे सक्को भणति ण सक्का तं माणुसेणं दट्ठुं । ताहे सो भणति । तस्स आकितिं पेच्छामि । ताहे सक्को भणति जेण तुमं उत्तमपुरिसो तेण ते अहं दामि एग पदेसं ताहे एगं अंगुलिं सव्वालंकारविभूसितं काऊण दाएति सो तं दट्ठूणं अतीव हरिसं गतो । ताहे तस्स अट्ठाहियं महिमं करेति ताए अंगुलीए आकितिं काऊण पच्छा स इंदज्झया एवं वरिसे वरिसे इंदमहो पवत्तो । पढम उसभवो भरहो भणति तुमं सि देविंदो अहं मणुस्सिंदो भित्तामो एवं होउत्ति । आ. चू २० अ. ॥

इंदट्ठाण–इन्द्रस्थान–न०–भवननगरविमानरूपे चमरादिसम्बन्ध्याश्रये, स्था० ६ ठा० ॥ तत्रेन्द्रोपपातविरहितकालो यथा–

इंदट्ठाणे णं भंते ! केवतियं कालं विरहिते उववाते णं पन्नते ? गो० ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासा (इंदट्ठाणेणमित्यादि) इन्द्रस्थान भदन्त ! कियन्त कालमुपपातेन विरहितं प्रज्ञप्तम् ! भगवानाह गौतम ! जघन्येनैकं समयं यावत् उत्कर्षतः षण्मासान् । जी० ३ प्र० ॥ भ० ॥

स्थानाङ्गेऽपि ।

एगमेगे णं इंदट्ठाणे उक्कोसेणं छम्मासे विरहिए उववाएणं (एगेत्यादि) एकैकमिन्द्रस्थानं चमरादिसम्बन्ध्याश्रयो भवननगरविमानरूपस्तदुत्कर्षेण षण्मासान् यावद्विरहितमुपपाते नेन्द्रापेक्षयेति । स्था. ६ ठा. ॥ इन्द्रोपपातविरहिते इन्द्रस्थाने किं भवतीति जीवाभिगमे प्रतिपादितम् । तद्यथा–

तेसिं णं भंते ! जया देवाणं इंदे चयति से कहमिदाणीं पकरेंति ? गो० ! चत्तारि पंच सामाणिया तट्ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाव तत्थ अण्णे इंदे उववण्णे भवति ॥

पुन प्रश्नयति (तेसिणं भंते इत्यादि) तेषां भदन्त ! ज्योतिष्कदेवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा इदानीं इन्द्रविरहकाले कथं प्रकुर्वंति । भगवानाह । गौतम ! यावच्चत्वारः पंच वा सामानिका देवाः समुदितीभूय तत्स्थानमुपसंपद्य विहरंति तदिन्द्रस्थानं परिपालयन्तीति चेदतआह यावदन्यस्तत्र इन्द्र उपपन्नो भवति । जी० ३ प्र० ॥

एव बाह्यज्योतिष्कदेवेन्द्रस्थानेऽपि तथाच सूर्यप्रज्ञप्तौ ।

ता तेसिणं देवाणं जाव इंदे चयति से कथमिदाणिं पकरेंति ता चत्तारि पंच सामाणियदेवा तट्ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति जाविंदा तत्थोववण्णगा इत्थं इंदे उववण्णे भवति ता इंदट्ठाणे केवतियं कालं विरहिते उववाते पण्णत्ते ता जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं छम्मासे ॥

(ता तेसिणंत्ति) ता इतिपूर्ववत् तेषां ज्योतिष्काणां देवानां यदा इन्द्रश्च्यवते तदा ते देवा इदानीं इन्द्रविरहकाले कथं प्रकुर्वन्ति भगवानाह ता इत्यादि पूर्ववत् चत्वारि पञ्च वा सामानिका देवाः समुदितीभूय तच्छून्यमिन्द्रमुपसम्पद्य विहरति तदिन्द्रस्थान परिपालयन्तीति चेदत आह । यावदिन्द्रः तत्रेन्द्र उपपन्नो भवति (ता इंद ट्ठाणेणंत्ति) ता इति पूर्ववत् इन्द्रस्थानं कियत्कालमुपपातेन विरहितं प्रज्ञप्तं ? भगवानाह (ता इत्यादि) जघन्येन एकं समय यावत् उत्कर्षेण षण्मासान् ॥ सूर्य० १८ पा. ॥ इन्द्राणां प्रत्येकं स्थानानि तत्तद्देवस्थाननिरूप

णावसरे (गण) शब्दे । इन्द्रयष्टिस्थापनाय कृते स्थाने च ॥

जेणेव इन्दट्ठाणे तेणेव उवागए ।

(इंदट्ठाणेत्ति) यत्रेन्द्रयष्टिरूर्ध्वी क्रियत इति। अन्त० ।

इंदणक्खत्त–इन्द्रनक्षत्र–न०–इन्द्रस्वामिकं नक्षत्रम् । ज्येष्ठानक्षत्रे, तस्य तत्स्वामिकत्वात्तथात्वम् । इन्द्रनामक नक्षत्रम् । फाल्गुनीनक्षत्रे च । वाच० ।

इंदणाग–इन्द्रनाग– पुं०–वसन्तपुरस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिकुमारे, तेन च बालतपसा सामायिकं लब्धमिति (सामाइय) शब्दे । आ० म० द्वि० ॥

इंदणील–इन्द्रनील–पुं०–इन्द्र इव नीलः श्यामः । वाच० । खर बादरपृथिवीकायात्मके नीलरत्नविशेषरूपे मणिविशेषे, उत्त० सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । राज० । जी० । प्रज्ञा० । कल्प० । औप० । (नीलम) इति ख्याते मरकतमणौ, तल्लक्षणमुक्तं रत्नपरीक्षायाम् । " क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरञ्चेन्नीलतां व्रजेत् । इन्द्रनील इति ख्यातं सर्व्वरत्नोत्तमोत्तमम् " वाच० ।

इंदतोया–इन्द्रतोया–स्त्री० इन्द्रमैश्वर्यान्वित तोयमस्याः, इन्द्रेण पूरित तोयमस्या वा । गन्धमादनसमीपस्थे नदीभेदे ॥ इन्द्रतोयां समासाद्य गंधमादनसन्निधौ । भा. प० ८४ वाच. ॥

इंददत्त–इन्द्रदत्त–पुं० स्वनामख्यातेऽभिनन्दनजिनस्य प्रथमभिक्षादातरि, सम० २४स०। आ.म. । वासुपूज्यजिनस्य पूर्वभवके एतन्नामधेये च। सम.२४स.॥ इन्द्रपुरनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, तत्कथा मानुष्यदुर्लभत्वे । तितिक्षायाम् धीले च सन्नवाति आ. म. । आ. क. । आ. चू० । उत्त. । प० व० । आव. । व्य । विपा. । नि०चू. । इन्द्रपुरे नगरं इंददत्तो राया । इति । आ. चू.१अ०। इन्दपुरे इंददत्ते य । व्य. २ ख० ६ उ०।

इंदपुरइंददत्ते, वावीसस्रुआ सुरिंददत्ते अ ।

महुराए जिअसत्तू सयंवरो निव्वुई एव ॥ ए० ॥

अस्य व्याख्या ॥ कथानकादवसेया । तच्चेद । इंदपुरं नगरं इंददत्तो राया तस्स इट्ठाणं देवी से यावीसं पुत्ता अन्ने भणंति एगाए देवीए ते सव्वे रन्नो पाणसमा अन्ना एक्का धूया अमच्चस्स सा जं परिणिय तेण दिट्ठा सा अन्नया कयाइ ण्हाया स माणी अत्थइ ताहे रायाए दिट्ठा का एसा तेहिं भणियं तुज्झ देवी ताहे सो ताए समं एकरत्तिवुत्थो सेसा जं च रायाए उल्लवियं सव्वंकारो तेण तं पत्तए लिहियं सो य सार वेइ नवण्ह मासाण दारओ जाओ तस्स दारच्चेडाणि तद्दिवस जायाणि तं अग्गियओ पव्वयओ बहुलिया सागरग ताणि सह जायाणि तेण कलायरियस्स उवणीओ तेण लेहाइयाओ बावत्तरिकलाओ गहियाउ जाहे ताओ गाहेइ आयरिओ ताहे ताणि कड्ढंति किं ठिय पुव्वपरिच्चएण ताणि रोवेंति सो वि ताणि न गणेइ गहियाओ कलाओ ते अन्ने गाहिज्जंति बावीसं पि कुमारा जस्स ते अप्पिज्जंति आयरियस्स त पिट्टंति मत्थएहिं य हणंति अह उवज्झाओ ते पिट्टेइ अपढंते ताहे सहेंति माइमिस्सिगाणं ताहे ताओ भणंति । किं सुलभाणि पुत्तजम्माणि ताहे न सिक्खियाइ इय महुराय जितसत्तुराया तस्स सुया निव्वुइनाम कन्नगा सा अलंकियपत्ता उवणीया राया भणइ जो ते रोयइ सो ते भत्ता ताहे ताए भाय जो सूरो वीरो वक्कंतो सा पुण रज्जं देज्जा ताहे सा त बलवाहणं गहाय गया इंदपुरं नगरं रायसपुत्ता बहवे अहवा पूओ पयट्टिओ ताहे आवाहिया सव्वे रायाणो ताहे तेण रायाणएण सुयं जहाठाए हट्ठतुट्ठा

ऊसियपडागं नगरं कयं रंगो कओ तत्थ चक्कं तत्थ एगंमि अक्खे अट्ठ चक्काणि तेसिं पुरओ धूया ठविया सा पुण पुच्छिमि विंधेयव्वा राया सन्नद्धो निग्गतो सहपुत्तेहिं ताहे सा कन्ना सव्वालंकारभूसियाए अंगिया से अत्थइ सो रंगो रायाणय ते पत्तेयदंरूजडओयणा आरिसो दोवती ए य तत्थ रन्नो जेट्ठपुत्तो सिरिमालीनामकुमारो भणिओ एस दारिया रज्जं च भोत्तव्वं सो वि तुट्ठो अहं नूणं अन्नेहिंतो रातीहिं अब्भहिओ ताहे सो भणति विंधेहिंत्ति ताहे सो अकयकरणो तस्स समूहस्स मज्झे तं धणुं घेत्तुं चेव न चाएइ किहवि णेण गहियं तेण जंतो मुक्कइत्तो वच्चउत्ति कन्नं मुंरु तं भग्गं एव कासइ एगा अरयवो सीणं कासइ दो तिन्नि अन्नेसिं बाहिरेण चेवणिति तेण वि अमच्चेण सो णत्तगो णत्तासिओ तद्दिवसमाणिओ तत्थ अत्थइ ताहे राया ओहयमणसंकप्पो करयलपल्हत्थमुहो अहो अयं लोयमज्झे पुत्तेहिं धरिसिओत्ति अत्थइ ताहे सो अमच्चो पुच्छइ किं तुज्झ देवाणुप्पिया ओहया जाव ज्झायइ ताहे सो भणइ एएहिं अप्पहाणो कओ ताहे भणइ अत्थि पुत्तो अन्नो वि तुब्भं कहिं सुरिंददत्तो नाम कुमारो तं सो वि ताव विन्नासेउ ताहे त राया पुच्छइ कह मम एसो पुत्तो ताहे ताणि सिट्ठाणि रहस्साणि ताहे राया तुट्ठो भणइ सेयं तव पुत्ता एते अट्ठचक्के भेत्तूण रज्जसोक्खं निव्वुतिदारियं पाविहिए ताहे सो कुमारो ठाणं आलीढं गहेऊण गेण्हइ धणुं लक्खाभिमुहं सर सधेइ ताणि तस्स रूवाणि ते य कुमारा सव्व ओरोरावेंति अन्ने य दो वि पुरिसा असिवग्गहत्थो ताहे सो पणम रन्नो उवज्झायस्स य करेइ सो वि से उवज्झाओ भयं दाएइ एए दोन्नि पुरिसा जइ फिडसि सीसं ते फिडइ तेसिं दोण्ह वि पुरिसाणं तेण चत्तारि ते य बावीसं अगणेंतो ताण अट्ठण्ह रहचक्काण छिद्दाणि जाणिऊण एगम्मि छिद्दे नाऊण अविकलयाए दिट्ठिए ताम लक्खत्तेण अण्णमियमण आऊणमाणेण साधीतीया अच्छिंमि विद्धा तत्थ उक्कुट्ठसीहनायसाधुक्कारो दिन्नो एसा दव्वतितिक्खा एस चेव विभासा भावे वि उवसंहारो । जहा कुमारो तहा साहू, जहा ते चत्तारि तहा चत्तारि कसाया, जहा ते बावीसं कुमारा तहा बावीसं परीसहा, जहा ते दुवे मणूसा तहा रागदोसा, जहा पुत्तलिगा विंधेयव्वा तहा आराहणा, जहा निव्वुतिदारिया तहा सिद्धितितिक्खत्ति गयं ॥ आव० ४ अ० ।

" आसीदिन्द्रपुरं नाम, नगरं गुरुकं गुणैः ।

तत्राभवच्छ्रियामिन्द्र, इन्द्रदत्तो महीपतिः ॥ १ ॥

प्रीतिपात्रः कलत्राणां, तस्य द्वाविंशतिः सुताः ॥

बभूवुर्भूमिपालस्य, प्राणेभ्योऽप्यतिवल्लभाः ॥ २ ॥

अन्या भार्या भवत्तस्य, भूपस्यामात्यपुत्रिका ॥

सा च तेन परं दृष्ट्वा, पाणिग्राह प्रकुर्वता ॥ ३ ॥

अथान्यदा कदाचित्सा, ऋतौ स्नाता विलोकिता ॥

राज्ञा पृष्टाश्च पार्श्वस्था, यथैषा कस्य का च भोः ॥ ४ ॥

ते ऊचुर्देव देवी ते, ततो राजा तया सह ॥

रात्रिमेकामुवासाथ, तस्या गर्भोऽभवत्तदा ॥ ५ ॥

सा च पूर्वममात्येन, भणिताऽऽसीद्यदा तव ॥

गर्भो भूतो भवेद्भद्रे, तदा त्वं मे निवेदयेः ॥ ६ ॥

ततः सा गर्भसम्भूतिं, राजसंवासवासरं ॥

मुहूर्तं राजजल्पं च पितुः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

सत्यंकाराय तत्सर्वं, व्यलिखत्सोऽपि पत्रके ॥

सम्यक् तां पालयामास, काले जज्ञे दारकः ॥ ८ ॥

तद्दिने दासरूपाणि, चत्वारि तद्गृहे ॥

अग्निक' पर्वतश्चाथ, बहुलीसागरस्तथा ॥ ९ ॥
सुरेन्द्रदत्त इत्येषा, राजसूनोः कृताभिधा ॥
कलाचार्यस्य पार्श्वे, कला' काले गृहीतवान् ॥ १० ॥
गृह्णतश्च कलास्तस्य, चक्रिरे तानुपद्रवान् ॥
न चासौ भाविभद्रत्वान्नृपस्तत्तु व्यजीगणत् ॥ ११ ॥
ते च द्वाविंशति' पुत्रा ग्राह्यमाणाः कला' किल ॥
निघ्नन्तिस्म कलाचार्यं, गालीस्तस्य तथा ददुः ॥ १२ ॥
सूरिणा ताडितास्ते तु, स्वमातृभ्यो न्यवेदयन् ॥
तं च ता कुपिता' शापै-श्चक्रुरुद्वेगभाजनम् ॥ १३ ॥
एवं ते ययुरज्ञाना, सूरिणा समुपेक्षिता' ॥
इतश्च मथुरानाथ, आसीत्पर्वतको नृप ॥ १४ ॥
तत्सुता निर्वृतिर्नाम, यौवनोद्भेद सुन्दरा ॥
वरार्थं तेन सावाचि, भर्त्तारं वृणु वाञ्छितम् ॥ १५ ॥
सा पुनस्तमनुज्ञाप्य चलदिन्द्रपुरं प्रति ॥
राजपुत्रा यतस्तत्र भूयांस' सन्तिसद्गुणा' ॥ १६ ॥
तत' सेन्द्रपुरं प्राप-दाप्तलोकसमन्विता ॥
तुष्टेन चेन्द्रदत्तेन राज्ञाऽकारि पुरे महः ॥ १७ ॥
निर्वृत्या भणितं राज्ञो, राधावेधं करिष्यति ॥
य' कुमारः स मे भर्ता भविष्यत्यपरो न तु ॥ १८ ॥
तदाकर्ण्य नृपो रंग कारयामास तत्र च ॥
एकत्राक्षेऽष्ट चक्राणि तत्पुर' पुत्रिका तथा ॥ १९ ॥
सा च चक्षुषि वामेन, भेत्तव्याधो विवर्तिना ॥
तत' सैन्ययुतो राजा, रंगे तस्थौ सपुत्रक ॥ २० ॥
निर्वृतिश्चैकदेशेऽस्य, स्थितालङ्कृतविग्रहा ॥
यथास्व च निविष्टेषु, सामन्तनागरादिषु ॥ २१ ॥
आदिष्टो ज्येष्ठपुत्रोऽथ, राज्ञा श्रीमालिनामक' ।
भित्वा राधां गृहाणेमां, कन्यां राज्य च पुत्रक ॥ २२ ॥
तत सोऽशिक्षितत्वेन, साध्वसोत्कंपिविग्रह' ।
शशाक नैव तां भेत्तु-मेव ते शेषका अपि ॥ २३ ॥
ततो राजा स्वपुत्राणां, मूर्खता वीक्ष्य तत्क्षणात् ।
शुशोच हस्तविन्यस्तगण्डो मून्यस्तदष्टिक ॥ २४ ॥
ततोऽमात्यस्तमापृच्छत्, देव किं दैन्यवान् भवान् ।
सोऽवोचत्सु सुतैरेतैरहं भो धर्षितो जने ॥ २५ ॥
ततोऽमात्योऽवदद्भूप ययान्योपि च ते सुत ।
विद्यते सोऽपि देवेन राधावेधे नियुज्यतां ॥ २६ ॥
राजाऽवोचत्कुतो मेऽन्य , सुतोऽमात्योऽप्युवाच तम् ।
मद्दौहित्रस्तत' पत्रं दर्शयामास तस्य तत् ॥ २७ ॥
सजातप्रत्ययो राजा संतुष्टस्त धनाण च ।
आनयाऽमात्य तत्पुत्रं, तस्य तं सोऽप्यदर्शयत् ॥ २८ ॥
आलिङ्गय मूर्ध्नि चाघ्राय, त धमाचे सुतोत्तमम् ।
कन्यां गृहाण राज्यञ्च जित्वा राधां त्वमद्भुतां ॥ २९ ॥
यदादिशति तातस्तत्करोमीत्यभिधाय स' ।
धनुर्वेदोपदेशेन राधां भेत्तुमुपस्थित ॥ ३० ॥
तान्यस्य चेटरूपाणि ते च द्वाविंशतिः सुता ।
चक्रुतासीनरी द्वौ च नाना चक्रुरुपद्रवान् ॥ ३१ ॥
कलाचार्योऽप्यऽवोचत्त न चेद्राधां विभेत्स्यति ॥
तदेतौ च शिरो वत्स छेत्स्येते दारुणौ नरौ ॥ ३२ ॥
ततोसाववगण्यैतान् लब्धलक्षोऽप्रमादवान् ।
चक्राणामंतर ज्ञात्वा राधां वामाक्षिणि विव्यधान् ॥ ३३ ॥
ततश्चास्फालित तूर्यं साधुकार' कृतो जनैः ।
राजादिस्तोषितो लोक' कन्याकन्या च तेन सा ॥ ३४ ॥ पञ्चा०

श्रावस्तीवास्तव्ये कपिलपितुः काश्यपस्य मित्रे, कपिलस्योपाध्याये स्वनामख्याते ब्राह्मणे, उत्त० ८ अ० । तथा च कपिलकथायाम् "सावत्थीए णयरीए पिउमित्तो इन्ददत्तो नाम माहणो इति" उत्त० । तत्कथा कपिलशब्दे । मथुरानगरस्थे स्वनामख्याते पुरोहिते च । तत्कथा यथा-मथुरायां इन्द्रदत्तः पुरोहितोऽस्ति स जिनशासनप्रत्यनीकः स्वगवाक्षस्थ' सन् अधोलिगच्छतो जैनयतेर्मस्तकोपरि निजचरणं वितत करोति । एवं निरन्तर कुर्वाणं तं दृष्ट्वा साधुर्न कोपि कुप्यति परमेकः श्रावकः कुपित' तत्पादच्छेदप्रतिज्ञामकरोत् अन्यानि तच्छिद्राणि अन्नप्रमानेन, तेन श्रावकेण तत्स्वरूपं गुरोः पुरः कथितम् । गुरुणोक्त सहते सत्कारपुरस्कारपरीषह' साधुनेति । तेन स्वप्रतिज्ञा कथिता । गुरुभिरुक्तम् । अस्य गृहे किं जायमानमस्ति तेनोक्त नवीनप्रासादे राजा निमन्त्र्यमाणोऽस्ति पुरोहितेन । गुरुभिरुक्त तर्हि त्वं तत्प्रासादे प्रविशन्तं राजानं करे धृत्वा प्रासादोऽय पतिष्यतीति कथय । अहं च प्रासादं विद्यया पातयिष्यामि । ततस्तेन तथाकृते प्रासाद पतितो राज्ञोक्तं किमिदजात । श्रेष्ठिनोक्त महाराज ! अनेन तव मारणाय कपट मपिरुतमभूत् ततो रुष्टेन राज्ञा स पुरोहितस्तस्य श्रेष्ठिनोऽर्पित' स च श्रेष्ठी इन्द्रकीलके तस्य पादं क्षिप्त्वा प्रतिज्ञापूरणार्थं च पिष्टमय पादं कृत्वा च्छिन्नवान् उक्तवांश्च सर्वं तत्स्वरूपं पुरोहितेनोक्तमतः परं नैवेदृशं करिष्यामीति । जानुकंपेन श्रावकेण स मुक्त । उत्त० २ अ० ॥

इत्थमिंददत्तो पुरोहिओ गवक्खट्ठिओ मिच्छदिट्ठी अहोवच्च तस्स साहुस्स मत्थए उवरि पाय कुणंतो सेट्ठेण गुरुभत्तिए पायहीणो कओ" ती० ॥

इंददारु-इन्द्रदारु- पुं० इन्द्रस्य तद्ध्वजस्य साधनं दारु देवदारु वृक्षे इन्द्रद्रुमादयोप्यत्र । वाच० ॥

इंददिन्न-इन्द्रदिन्न-पुं० कौटिकगच्छस्थे सुस्थितसुप्रतिबुद्धा परनामधेययो कौटिककाकन्दकयो' शिष्ये स्वनामख्याते आचार्ये, " सुट्ठियसुप्पडिबुद्धाणं कोडियकाकदगाण वग्घावच्च सगुत्ताण अन्तेवासी थेरे अज्जइंददिन्ने कोसियगुत्ते ॥ इति "—कल्प० । " तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकद कावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ, कौटिकगच्छस्ततः सम भूत् ॥ तत्रेन्द्रदिन्नसूरि-र्भगवान् श्रीदिन्नसहसूरीन्द्रः ॥ इति गच्छा० ॥

अयं च खरतरगच्छपट्टावल्यनुसारेण वीरजिनात्त्रयोदश' ॥ तपोगच्छपट्टावलीप्रमाणतो दशम' ।

इंदपव्वय-इन्द्रपर्वत- पुं० इन्द्रनामकपर्वत' । महेन्द्रपर्वते, इन्द्रवर्ण' पर्वतः । नीलवर्णे गिरिभेदे, वाच० ॥

इंदपाडिवया-इन्द्रप्रतिपत्- स्त्री० अश्वयुक्पूर्णिमायां अनन्तरभाविन्याममहाप्रातिपदि तस्यां चास्वाध्याय इति— । स्था० ४ ठा० ।

इंदपुर-इन्द्रपुर-न० इन्द्रदत्तनृपस्य भारतवर्षस्थे स्वनामख्याते नगरे, आव० ४ अ० ९ ठा० ॥ आ० चू० । आ म । स्था० । इहेव जंबूदीवे भारहेवासे इंदपुरणामणयरे, ॥ इति विपा० १० अ० । व्य० । "पुरमिन्द्रपुर नाम साक्षादिन्द्रपुर किल"॥ आ० क० ॥ माणीपुरस्थे स्वनामख्याते नगरे च ॥ " माणीपुर णयर णागदत्ते गाहावई इंदपुरे अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे इति ' विपा० ७ अ० ॥

इंदपुरग–इन्द्रपुरक–न० (वेसवाडिय) गणस्य चतुर्षु कुलेषु चतुर्थे कुले, । तह होइ इंदपुरगं च । कल्प०–

इंदपुरोहित–इन्द्रपुरोहित– पुं०–६ त० । सुराचार्य्यबृहस्पतौ–वाच० ।

इंदभूइ–इन्द्रभूति–पुं०–स्वनामख्याते महावीरस्य प्रथमगणधरे प्रथमगणनायके प्रथमशिष्ये, प्रव० ८ द्वा० । सम० । सूत्र० । "समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई अणगारे गोयमसगोत्तेणं इति । कल्प० । अन्त० । विपा० । "जिणवीरस्सेक्कारस पढमो से इंदभूइयत्ति णामेण इंदभूइत्ति गोयमो वादिऊण विविहेण" । चं०प्र० १पा०॥

तत्कथा च –" इंदभूईणामो पंचखंडियसयपरिवारो सव्वप्पहाणो मगहा विसए सो य जण्णट्ठिक्खितो मज्झितो य मज्झिमा य अच्छति इय भज्जाणो देवुज्जायं पासित्ता हरिसियमणो चिंतेऊणं भासति तेसिं पुरओ अहो मया मंतेहिं सुरा आहूया जे अन्ने समुवट्ठिता एव वोत्तूणं अच्छिजेहिसइ निग्गतो उज्जाणे अ पासमाणो उत्तरपुरच्छिमे दिसि भाए देवसन्निवाय पासति भासति किमेतावि । अन्नेहिं से कहितं जहा एस सिद्धत्थरायपुत्तो महावीरवद्धमाणो तयं कालं केवली जाओ किञ्च सवण्णू सव्वभावदरिसी तं वयणं सोऊणं भासति अमरसिओ को अन्नो ममाहिंतो अन्नहितो अस्स देवा एति ताहे वच्चामो जइ पराजिणमि किं सो जाणति एति ण पणिहाणेण पहावितो पंचखंडियसतपरिवारो वेदपदाणय अत्थो भगवता से कहितो एत्य समतो सवुद्धो य भणइ पंचखंडियसते एस सव्वण्णु अहं पव्वयामि तुब्भे जाहिच्छितं करेहि ते भणति जहि तुब्भे परिसगा होंता पव्वयह तो अहं का अन्ना गमित्ति एव सो पंचसयपरिवारो पव्वत्तितो । आ० चू० १ अ० ॥

ते हि देवाः स्वं यज्ञवाटं परिहृत्य समवसरणभुवि निपातितवन्तः तांश्च तथा दृष्ट्वा लोकोऽपि तत्रैव जगाम भगवन्तं त्रिदशालोकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा अतीव हर्षं चक्रे प्रवादश्च सञ्जातः । सर्वज्ञो ऽत्र समवसृतस्तं देवाः पूजयन्तीति। अत्रान्तरे स्वत्वाकर्णितसर्वज्ञप्रवादो ऽमर्षाध्मातइन्द्रभूतिर्भगवन्तं प्रतिप्रस्थितः

"सोऊण कीरमाणिं, महिमं देवेहिं जिणवरिंदस्स ॥
अह अह माणीय, अमरिसिओ इंदभूइत्ति" ॥ १ ॥

श्रुत्वा जनपरंपरात् आकर्ण्य पाठान्तरतो दृष्ट्वा वा महिमां पूजां देवैः क्रियमाणां जिनवीरेन्द्रस्य भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः अथास्मिन् प्रस्तावे एति आगच्छति भगवत्समीपं अहमेव विद्वानिति मानोऽस्येति अहं मानी अमर्षो मत्सरविशेषः स सजातोऽस्य सोऽमर्षितः मयि सति कोऽन्यः सर्वज्ञ इत्यपनयामध्य सर्वज्ञवादमित्यादिसंकल्पकलुषितान्तरात्मा कोऽसावित्याह । इन्द्रभूतिरितिनाम्ना प्रथितः स च भगवत्समीपं प्राप्य भगवन्तञ्च चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितं देवासुरनरेश्वरपरिवृतं दृष्ट्वा साशङ्कस्तदग्रतस्तस्थौ ॥

एतदेव सविस्तरं भाष्यकार आह ।

मोत्तूण ममं लोगा, किं वच्चइ तस्स पायमूलंमि ।
अन्नो वि जाणइ मए, ठियंमि कत्तो सियं एयं ॥

मां सकलशास्त्रपारगं मुक्त्वा किमेष लोकस्तस्य पादमूलं व्रजति न चासौ मदपेक्षया किमपि जानाति तथाहि मयि प्रतिवादिनि स्थिते अन्योऽपि किमपि जानातीति कौतस्त्यमेतत् । नैवैतत् संभवतीति भावः ॥

पुनरप्याह ॥

वंचेज्ज व मुक्खजणो, देवा उ कहमणेण विम्हयं नीया ।
वंदंति संथुणंति य, जेण सव्वण्णुबुद्धीए ॥

वञ्चेद्वा तत्तावन्मूर्खं मूर्खजनो मूर्खतया युक्तायुक्तविवेकविकलत्वात् देवास्तु कथमनेन विस्मयं नीता येन विस्मयनयनेन सर्वज्ञबुद्ध्या तं वन्दन्ते संस्तुवन्ति च ।

अहवा जारिसतोच्चिय, सो णाणी तारिसा सुरा ते वि ।
अणुसरिसो संजोगो, गामनडाणं च मुक्खाणं ॥

अथवा यादृश एव स ज्ञानी तेऽपि सुरास्तादृशा एव मूर्खा इत्यर्थः । ततोऽनुसदृशोऽनुरूपः संयोगस्तस्य ज्ञानिनः एतेषां च देवानाम् । कयोरिवेत्याह– ग्रामनटयोरिव मूर्खयोर्यथा ग्रामे मूर्खो नटोऽपि तथाविधविद्याविकलत्वात् मूर्ख इति परस्परं तयोः संयोगोऽनुरूपमेवमेषोऽपीति ॥

काउं हयप्पयावं, पुरतो देवाण दाणवाणं च ।
नासेहं नीसेसं, खणेण सव्वन्नुवायं से ॥

देवानां च दानवानां च पुरतोऽग्रे तथाविधप्रभआलैर्हतप्रतापं कृत्वा क्षणमात्रेण (से) तस्य सर्वज्ञवादं निःशेषमहं नाशयामि ॥

इय वोत्तूणं पत्तो, दट्ठूणतिलोकपरिवुडं वीरं ।
चोत्तिसातिसएहिं, स संकितो वट्ठितो पुरतो ॥

इति पूर्वोक्तमुक्त्वा प्राप्तो भगवत्समीपं दृष्ट्वा च भगवन्तं वीरं त्रैलोक्यपरिवृतं चतुस्त्रिंशदतिशयनिधिं स शङ्कितः पुरतोऽवस्थितः ॥

अत्रान्तरे ।

आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गुत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ॥

आभाषितः संलपितो जिनेन भगवता महावीरेण जातिः प्रसूतिर्जरा वयोहानिलक्षणा मरणञ्च दशविधप्राणविप्रयोगरूपमेभिर्विप्रमुक्तस्तेन कथमाभाषित इत्याह नाम्ना हेइन्द्रभूते इत्येवंरूपेण तथा गोत्रेण च यथा हेगौतमगोत्र ! किं विशिष्टेन जिनेनेत्याह । सर्वज्ञेन सर्व्वदर्शिना, आह- यो जरामरणविप्रमुक्तः स सर्वज्ञ एवेति गतार्थमिदं विशेषणमितिचेन्न नयवादपरिकल्पितजात्यादिविप्रमुक्तनिरासार्थत्वात् । तथाहि–कैश्चित् गुणविप्रमुक्तमोक्षवादिभिरचेतना मुक्त इष्यते ततस्तन्निरासार्थमुक्ते । सर्व्वज्ञेन सर्व्वदर्शिनेति इत्थं नामगोत्राभ्यां संलपितस्य तस्य चिन्ताऽभवत् तथा चाह—

हे इंदभूइ गोयम ! सागयमुत्ते जिणेण चिंतेइ ।
सो मं पि मे वियाणइ अहवा को मं न याणाइ ॥

हेइन्द्रभूते ! गोतम ! स्वागतमिति जिनेनोक्ते स चिन्तयति अहो नामापि मे विजानाति अथवा सर्वत्र प्रसिद्धोऽहं को मां न जानाति ।

जइ वा हिययगयं मे, संसयं मनेज्ज अहव छिंदेज्जा ।
ततो होज्ज विम्हतो मे, इय चिंततो पुणो भणिओ ॥

यदि मे हृद्गतं संशयं मन्येत जानीयात् अथवा छिन्द्यादपनयेत् ततो मे विस्मयो भवेत् भविष्यति इति चिन्तयन् पुनरपि भगवता भणितः । किं भणित इत्याह—

किमन्ने अत्थि जीवो, उयाहु नत्थित्ति संसओ तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ॥

हे गौतम ! किं मन्यसे अस्ति जीव उत नास्तीति नन्वयमनुचित एव संशयो यतोऽयं संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबंधन इति । तान्यमूनि वेदपदानि " विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय पुनस्तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीत्यादि " तथा स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादीनि च एतेषां च वेदपदानामयमर्थो भवतश्चेतसि विपरिवर्तते । विज्ञानमेव घनानन्दादिरूपत्वात् विज्ञानघनः स एव एतेभ्योऽध्यक्षतः परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्यः पृथिव्यादिलक्षणेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय उत्पद्य पुनस्तान्येवानुविनश्यति तान्येव भूतानि अनुसृत्य विनश्यति तत्रैवाव्यक्तरूपतया संलीनो भवतीति भाव· न प्रेत्यसंज्ञास्ति मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्येत्युच्यते तत्संज्ञास्ति न परलोकसंज्ञाऽस्तीति भावः । ततः कुतो जीव· पुरयोपपन्नश्चायमर्थ इति ते मति· यतो नासौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते अतीन्द्रियत्वात् नाप्यनुमानेन यतस्तल्लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धपूर्वकञ्च । न चात्र लिङ्गिना सह सम्बन्ध· प्रत्यक्षगम्यो लिङ्गिनोऽतीन्द्रियत्वात् । नाप्यनुमानगम्योऽनवस्थाप्रसक्तेस्तदपि हि लिङ्गलिङ्गिसंम्बन्धग्रहणपूर्वकं तत्रापि चैवमेव वार्ता, इत्यनवस्थानुषङ्ग· । नाप्यागमगम्यः परस्परविरुद्धार्थतया तथागमाना प्रमाणत्वाभावात् । तथाहि केचिदेवमाहुः ' एतावानेव लोकोऽयं, यावदिन्द्रियगोचरः। भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्त्य बहुश्रुता " इत्यादि । अपरे प्राहुर्नैरूपमीक्षय· पुरुषा इत्यादि पुरुषे रूप निषेधयन्ति अन्तर्भूत आत्मेत्यर्थः अन्ये पुनरेवम " अकर्ता निर्गुणो भोक्ता " इत्यादि । अपरे एवम " स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादि, नचैते सर्व एव प्रमाणम् परस्परविरोधात् व्यर्थाभिधायकपरस्परविरुद्धवाक्यपुरुषवातवत् आत्मान विद्म· किमस्ति नास्तीत्ययं तवाभिप्राय । तत्र वेदपदानां चार्थं न जानासि च शब्दात् युक्तिहृयं च । तथाहि वेदपदानामयमर्थः विज्ञानघन एवेति ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगरूप विज्ञानं ततोऽनन्यत्वात् आत्मा विज्ञानघनः प्रतिप्रदेशमनन्तविज्ञानपर्याय सघातात्मकत्वात् वा विज्ञानघन एव शब्दोऽवधारणे विज्ञानघनादनन्यघनत्वात् विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः क्षित्युदकादिभ्य· समुत्थाय कथंचिदुत्पद्येति घटविज्ञानपरिणतो हि आत्मा घटाद्भवति तद्विज्ञानक्षयोपशमनस्य तत्रापेक्षत्वात् अन्यथा निरालम्बनतया तस्य मिथ्यात्वप्रसक्तेरेव सर्वत्र भावनीयम् । तत उक्तं तेभ्यः समुत्थाय कथंचिदुत्पद्येति पुनस्तानेव भूतानि अनु विनश्यति ते विध्वस्तेषु भूतेषु व्यवहितेषु वा आत्मापि तद्विज्ञानघनात्मना उपरमते अन्यविज्ञानात्मना उत्पद्यते यदि वा सामान्यचैतन्यरूपतयाऽवतिष्ठत इति न प्रेत्यसंज्ञास्ति न प्राक्तनिकघटादिविज्ञानसंज्ञाऽवतिष्ठते । सांप्रतविज्ञानोपयोगनिष्ठितत्वात् अथवा एवं व्याख्या विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानुविनश्यतीत्येतस्म यतः प्रेत्यसंज्ञास्ति परलोकसंज्ञास्ति । यदप्युक्त नासौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते इति तदप्यसमीचीनमात्मनः प्रत्यक्षसिद्धात्तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धत्वात्तथाहि स्वसंविदिता एवावग्रहेहापायादय उदयन्ते लीयन्ते वा ततस्तद्गुणस्य स्वसंविदितत्वात् सिद्धमात्मन· प्रत्यक्षत्वम् । अथ अवोच भूतगुणश्चैतन्य तथा वेदेप्युक्तम् "एतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थायेत्यादि"तत· कथ ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे ते आत्मनः प्रत्यक्षत्वं ज्ञानस्यात्मभाणत्वाभावात्–तदयुक्तम् भूतगुणत्वे सति पृथिव्याः काठिन्यस्येव सर्वत्र सर्वदा चोपलंभप्रसंगात् । न च सर्वत्र सर्वदा चोपलभ्यते चैतन्य लोष्ठादौ मृतावस्थायां चानुपलम्भात् । अथ तत्रापि चैतन्यमस्ति केवल शक्तिरूपेण ततो नोपलभ्यते तदसम्यग्विकल्पद्वयानतिक्रमात् सा-हि शक्तिश्चैतन्याद्विलक्षणा उत चैतन्यमेव यदि विलक्षणा ततः कथमुच्यते शक्तिरूपेण चैतन्यमस्ति न हि पटे विद्यमाने पटरूपेण घटस्तिष्ठतीति वक्तुं शक्यं तथाचाहान्योऽपि "रूपान्तरेण यदि तत्तदेवास्तीति मा रटीः । चैतन्यादन्यरूपस्य भावे तद्विद्यते कथम् " । अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि चैतन्यमेव तत्कथमनुपलभ्यः आवृतत्वादनुपलम्भ इतिचेत्तस्यावृत्तिरावरण तच्चावरणं किं भूतानां विचलितपरिणामाना-मुत परिणामान्तर-माहोस्विदन्यदेव भूतातिरिक्त किञ्चित् । तत्र न तावद्विचलितपरिणामाभावः एकान्ततुच्छरूपतया तस्यावारकत्वायोगात् अन्यथा तस्याप्यतुच्छरूपतया भावरूपतापत्तिर्भावत्वे पृथिव्यादीनामन्यतमो भावो भवेत्"पृथिव्यादीन्येव भूतानि तत्त्वामिति वचनात्"पृथिव्यादीनि च भूतानि चैतन्यस्य व्यञ्जकानि नावारकाणीति कथमावारकत्वं तस्योपपत्तिमत्-अथपरिणामान्तरं तदयुक्तं परिणामान्तरस्यापि भूतस्वभावतया भूतवद्व्यञ्जकत्वस्योपपत्तेर्नावारकत्वस्य, अथान्यदेव भूतातिरिक्तं किञ्चित्–तदतीवासमीचीनम् । भूतातिरिक्ताऽभ्युपगमे चत्वार्येव पृथिव्यादीनि भूतानि तत्त्वामिति तत्त्वसंख्याव्याघातप्रसंगात् अपि चेद् चैतन्य प्रत्येकं वा भूतानां धर्म्मः समुदायस्य वा न तावत्प्रत्येकमनुपलम्भात् नहि प्रतिपरमाणुसंवेदनमुपलभ्यते । अपि च यदि प्रतिपरमाणुसंवेदनं भवेत्तर्हि पुरुषसहस्रचैतन्यवृन्दमिव परस्परं भिन्नस्वभावमिति नैकरूपं भवेत् । अथ चैकरूपमुपलभ्यते अहं पश्यामि अहं करोमीत्येवं सकलशरीराधिष्ठितानेकस्वरूपतयानुभवात् अथ समुदायस्य धर्म्मस्तदप्यसत्प्रत्येकमसत्समुदायेऽपि न भवति यथा रेणुषु तैल स्यादेतन्मद्याङ्गेषु प्रत्येकं मदशक्तिरदृष्टापि समुदायेऽपि भवन्ती दृश्यते तद्वच्चैतन्यमपि भविष्यति को दोषः तदसम्यक् प्रत्येकमपि मद्याङ्गेषु मदशक्त्यनुयायिमाधुर्यादिगुणदर्शनात् तथाहि दृश्यते माधुर्यमिक्षुरसे धातकीपुष्पे च मनाक् विकलतोत्पादि, न चैवं चैतन्य सामान्यतोऽपि भूतेषु प्रत्येकमुपलभ्यते ततः कथं समुदाये तद्भवितुमर्हति मा प्रापत्सर्वस्य सर्वत्राभावप्रसक्तातिप्रसङ्गात् । किंच यदि चैतन्यं भूतधर्म्मत्वेन प्रतिपन्नं ततोऽवश्यमस्यानुरूपो धर्म्मः प्रतिपत्तव्यः आनुरूप्याभावे जलकाठिन्ययोरिव परस्परधर्मधर्म्मिभावोऽनुपपत्तः नच भूतानामनुरूपो धर्म्मी वैलक्षण्यात् तथाहि चैतन्यं बोधस्वरूपममूर्तं च भूतानि तद्विलक्षणानि ततः कथमेषा परस्पर धर्मधर्मिभावः । नापि चैतन्यमिदं भूतानां कार्यमत्यतविलक्षणतया कारणभावस्याप्ययोगात् तथा चोक्तम् " काठिन्याबोधरूपाणि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः । चेतनाभगतद्रूपा सा कथं तत्फलं भवेत्" अपिच यदि भूतकार्यं चैतन्यं तर्हि किं न सकलमपि जगत् प्राणिमयं भवति परिणतिविशेषसद्भावाभावादिति चेन्नतु सोऽपि परिणतिविशेषसद्भावः सर्वत्रापि कस्मान्न भवति सोऽपि हि भूतमात्रनिमित्तक एव ततः कथ तस्यापि क्वचित् कदाचिद्भावः । अन्यच्च स किंरूपः परिणतिविशेष इति वाच्य कठिनत्वादिरूप इति चेत्तथाहि काष्ठादिषु दृश्यन्ते घूणादिजन्तवो जायमानास्ततो यत्र कठिनत्वा-

दिविशेषवस्तत्प्राणिमयं न शेषमिति तदप्यसत् व्यभिचारदर्शनात्तथाह्यविशिष्टेऽपि कठिनत्वादिविशेषे कश्चिन्नवन्ति काश्चित्कठिनत्वादिविशेषमन्तरेणापि संस्वेदजा नभसि च मूर्च्छिता जायन्ते किञ्च समानयोनिका अपि विचित्रवर्णसंस्थानाः प्राणिनो दृश्यन्ते। तथाहि–गोमयाद्येकयोनिसम्भविनोऽपि केचिन्नीलजन्मयोऽपरे पीतकायाःअन्ये विचित्रवर्णाःसंस्थानमप्येतेषां परस्परं विभिन्नतद्यदि भूतमात्रनिमित्तं चैतन्य ततएकयोनिकाः सर्वेऽप्येकवर्णसंस्थाना भवेयुर्नभवन्ति तस्मादात्मन एव तत्तत्कर्मवशात्तथा तथोत्पद्यन्ते इति। स्यादेतत् आगच्छन् गच्छन् वा आत्मा नोपलभ्यते केवलं देहे सति संवेदनमुपलभामहे देहाभावे च तस्यामेवावस्थायां न, तस्मान्नात्मा किंतु संवेदनमात्रमेवैकं तच्च देहकार्यं देहे एव च समाश्रितं कुड्ये चित्रवत् नहि चित्रं कुड्यविरहिणमवतिष्ठते नापि कुड्यांतरं संक्रामति आगमनं वा कुड्यांतरात् किंतु कुड्य एवोत्पन्नं कुड्य एव च विलीयते एवं संवेदनमपि तदप्यसत् आत्मा हि स्वरूपेणामूर्त आन्तरमपि शरीरमतिसूक्ष्मत्वान्न चक्षुर्विषयस्तदुक्तमन्यैरपि "अन्तरा भवदेहे पि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते। निष्क्रामन् प्रविशन्वात्मानाभावो नीक्षणादपि" ततआन्तरशरीरयुक्तोऽप्यात्मा आगच्छन्नगच्छन्वा नोपलभ्यते लिङ्गतस्तूपलभ्यते। तथाहि कृमेरपि जन्तोस्तत्कालोत्पन्नस्याप्यस्ति निजशरीरविषयः प्रतिबन्धः उपघातमुपलभ्य पलायनदर्शनात् यश्च यद्विषयप्रतिबन्धः स तद्विषयपरिशीलनाभ्यासपूर्वकस्तथादर्शनात् न खल्वत्यन्तापरिज्ञातगुणदोषवस्तुविषये कस्याप्याग्रह उपजायते ततो जन्मादौ शरीराग्रहः शरीरपरिशीलनाभ्यासजनितसंस्कारनिबन्धन इति। सिद्धमात्मनो जन्मान्तरादागमनं तथा च केचित्पठन्ति "शरीराग्रहरूपस्य नभसः सम्भवो यदा। जन्मादौ देहिनो दृष्टः किं न जन्मान्तरा गतिः"॥ अथागतिः प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते ततः। कथमनुमानादवसीयते नैष दोषः अनुमेयविषये प्रत्यक्षवृत्तेरनभ्युपगमात् परस्परविषयपरिहारेण हि प्रत्यक्षानुमानयोः प्रवृत्तिरिष्यते ततः कथं स एव दोषः। आह च "अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्षमिति कैवात्र दुष्टता। अध्यक्षस्यानुमानस्य विषयो विषयो न हि" अथ तज्जातीयेऽपि प्रत्यक्षवृत्तिमन्तरेण कथमनुमानमुदयितुमुत्सहते न खलु यस्याग्निविषया प्रत्यक्षवृत्तिर्महानसेऽपि नासीत्तस्यायत्र क्षितिधरादौ धूमाद्धूमध्वजानुमानं भवति तदन्यसम्यक् अत्रापि तज्जातीये प्रत्यक्षवृत्तिभावात् तथा ह्याग्रहोऽन्यत्र परिशीलनाभ्यासप्रवृत्तः प्रत्यक्षत एवोपलब्धस्ततस्तदुपलम्भेनेहाप्यनुमानं प्रवर्तते उक्तंच "आग्रहस्तावदभ्यासात् प्रवृत्त मुपलभ्यते। अन्यत्राध्यक्षतः साक्षात्ततो देहेऽनुमा न किम्" यो पि च दृष्टान्तः। प्रागुपन्यस्तः सोऽप्ययुक्तो वैषम्यात् तथाहि चित्रमचेतनं गमनस्वभावरहितश्च आत्मा च चेतनः कर्मवशाद्गत्यागती च कुरुते ततः कथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यं ततो यथा कश्चिद्देवदत्तो विवक्षिते ग्रामे कतिपयदिनानि गृहारंभं कृत्वा ग्रामान्तरे गृहान्तरमास्थायावतिष्ठते तद्वदात्मापि विवक्षिते भवे देहं परिहाय भवान्तरे देहान्तरमारच्य्यावतिष्ठते। यच्चोक्तम् तच्च संवेदनं देहकार्यमिति चाक्षुषादिकं संवेदनं देहाश्रितमपि कथंचित् भवतु चक्षुरादीन्द्रियद्वारेण तस्योत्पत्तिसम्भवात् यत्तु मानसं तत्कथं न हि तद्देहकार्यमुपपत्तिमत् युक्तद्वयोगात्। तथाहि तन्मानसं ज्ञानं देहादुत्पद्यमानमिन्द्रियरूपाद्वा समुद्घातानीन्द्रियरूपाद्वा केशनखादिलक्षणा

त्तत्र न तावदाद्यः पक्षः इन्द्रियरूपादुत्पत्ताविन्द्रियबुद्धिवद्वर्तमानार्थग्रहणप्रसक्तेः इन्द्रियं हि वार्तमानिके पदार्थे व्याप्रियते तत्सामर्थ्यादुपजायमानं मानसमपि ज्ञानं इन्द्रियज्ञानमिव वर्तमानार्थग्रहणपर्यवसितसत्ताकमेव भवेत् अथ यदा चक्षूरूपविषये व्याप्रियते तदा रूपे विज्ञानमुत्पादयति न शेषकालं ततस्तदपिविज्ञानं वर्तमानार्थविषयं वर्तमाने पदार्थे चक्षुषो व्यापारात्। रूपं विषयव्यापारीयभावे च मनोज्ञानं ततो न तत्प्रतिनियतकालविषयम् एवं शेषेष्वपि इन्द्रियेषु वाच्यम् ततः कथमिव मनोज्ञानस्य वर्तमानार्थग्रहणप्रसक्तिस्तदसाधीयो यत इन्द्रियाश्रितं तदुच्यते यदिन्द्रियव्यापारमनुसृत्योपजायते इन्द्रियाणां च व्यापारः प्रतिनियते एव वार्तमानिके स्वस्वविषये मनोज्ञानमपि यदीन्द्रियव्यापाराश्रितं तत इन्द्रियज्ञानमिव वार्तमानिकार्थग्राहकमेव भवेत् अन्यथा इन्द्रियाश्रितमेव तन्न स्यात् तथा च केचित्पठन्ति "अक्षव्यापारमाश्रित्य भवदक्षजमिष्यते। तद्व्यापारो न तत्रेति कथमक्षजवं भवेत्।" अथानीन्द्रियरूपादिति पक्षस्तदप्ययुक्तस्तस्याचेतनत्वात् नन्वचेतनत्वादिति कोर्थः यदीन्द्रियविज्ञानरहितत्वादिति तदिष्यते एव यदि नामेन्द्रियविज्ञानं ततो न भवति मनोविज्ञानं तु कस्मान्न भवति। अथ मनोविज्ञानं नोत्पादयतीत्यचेतनत्वं तदा तदेव विचार्यमाणमिति प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः तदप्यसत् अचेतनत्वादिति किमुक्तं भवति स्वनिमित्तविज्ञानैःस्फुरद्विरूपतयानुपलब्धेः स्पर्शादयो हि स्वस्वनिमित्तविज्ञानैः स्फुरद्विरूपानुपलभ्यन्ते ततस्तेभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते इति युक्तं केशनखादयस्तु न मनोज्ञानेन तथा स्फुरद्विरूपा उपलभ्यन्ते कथं तेभ्यो मनोज्ञानं भवतीति प्रतिध्यायन्तु सुधियः आह च "चेतयन्तो न दृश्यन्ते केशश्मश्रुनखादयः। ततस्तेभ्यो मनोज्ञानं भवतीत्यतिसाहसम्" अपि च यदि केशनखादिप्रतिबद्धं मनोज्ञानं ततस्तच्छेदे मूलत एव न स्यात् तदुपघाते चोपहतं भवेन्न च भवति तस्मान्नाय पक्षः क्षोदक्षमः। किंच मनोज्ञानस्य सूक्ष्मार्थनेतृत्वस्मृतिपाटवादयो विशेषा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां अभ्यासपूर्वका दृष्टाः तथाहि तदेव शास्त्रमीहापोहादिप्रकारेण यदि पुनः पुनः परिभाव्यते ततः सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थावबोधे उल्लसति स्मृतिपाटवं चापूर्वमुज्जृम्भते एवं चैकशास्त्रे अभ्यासतः सूक्ष्मार्थनेतृत्वशक्तौ पाटवशक्तौ चोपजातायामन्येष्वपि शास्त्रांतरेषु अनायासेनैव सूक्ष्मार्थावबोधः स्मृतिपाटवं चोल्लसति तदेवमभ्यासहेतुकाः सूक्ष्मार्थनेतृत्वादयो मनोज्ञानस्य विशेषदृष्टाः। अथच कस्यचिदिह जन्माभ्यासव्यतिरेकेणापि दृश्यन्ते ततोऽवश्यं पारलौकिकाभ्यासहेतुका इति प्रतिपत्तव्यं कारणेन सह कार्यस्यान्यथानुपपन्नत्वप्रतिबन्धेन दृष्टतत्कारणस्यापि तत्कार्यत्वविनिश्चितेः। ततः सिद्धः परलोकयायी जीवः। सिद्धे च तस्मिन् परलोकयायिनि यदि कथंचिदुपकारी चाक्षुषादेर्विज्ञानस्य देहो भवेत् न कश्चिद्दोषः क्षयोपशमहेतुतया देहस्यापि कथंचिदुपकारित्वाभ्युपगमात्. नचैतावता तन्निवृत्तौ सर्वथा तन्निवृत्तिः नहि वह्निरासादितविशेषो घटो वह्निनिवृत्तौ समूलोच्छेदं निवर्तते केवलं विशेष एव कश्चनापि यथा सुवर्णस्य द्रवता एवमिहापि देहनिवृत्तौ ज्ञानविशेष एव कोऽपि तत्प्रतिबद्धो निवर्तते न पुनः समूलं ज्ञानमपि यदि पुनर्देहमात्रनिमित्तकमेव विज्ञानमिष्यते देहनिवृत्तौ च निवृत्तिमत् तर्हि देहस्य तस्य भस्मावस्थायां मा भूत्तद्देहे तु तथाभूते एवावतिष्ठमाने मृतावस्थायां कस्मान्न भवति प्राणापानयोरपि हेतुत्वात्तद

प्रायेन भवतीति चेन्न प्राणापानयोर्ज्ञानहेतुत्वायोगात् ज्ञानादेव च तयोरपि प्रवृत्तिस्तथाहि यदि मन्दौ प्राणापानौ विस्तुमिष्यते ततो मन्दौ भवत दीर्घो चेत्तर्हि दीर्घाविति यदि पुनर्देहमात्रनिमित्तौ प्राणापानौ प्राणापाननिमित्त च विज्ञान तर्हि नेत्यमिच्छावशात् प्राणापानप्रवर्त्तमाना दृष्टप्राणापाननिमित्त च यदि विज्ञान तत प्राणापाननिर्हासातिशयसभविज्ञानस्यापि निर्हासातिशयौ स्याताम् अवश्य हि कारणे परिहीयमाने अभिवर्द्धमाने च कार्यस्यापि हानिरुपचयश्च भवति यथाम·हति मृत्पिण्डे महान् घटोऽल्पे चाल्पीयान् अन्यथा कारणमेव तत्र स्यात् भवत प्राणापाननिर्हासातिशयसभवे विज्ञानस्यापि विनिर्हासाविशयौ, विपर्ययस्यापि भावात् मरणावस्थायां प्राणापानातिशयसमवेऽपि विज्ञानस्य र्हासदर्शनात् । स्यादेतत् तस्तदानीं वातपित्तादिभिर्दोषैर्देहस्य विगुणीकृतत्वात् प्राणापानातिशयसभवे ऽपि चैतन्यस्यातिशयसंभवो ऽत एव मृतावस्थायामपि चैतन्यदेहस्य विगुणीकृतत्वात् तदसमीचीनतरमेवस्ति मृतस्यापि पुनरुज्जीवनप्रसक्ते । तथाहि मृतस्य दोषा समीभवन्ति समीभवन च दोषाणामवसीयते ज्वरादिविकाराद्दर्शनात् समत्व चारोग्य तथाचाहुर्वृद्धा "तेषां समत्वमारोग्य क्षयवृद्धी विपर्यय" इति । आरोग्यसद्भावाद्देहस्य पुनरुज्जीवनं भवेत् अन्यथा चेह कारणमेव चेतसो न स्यात् तद्विकाराभावाभावान्नतु विधानात् एवं हि देहकारणता विकारस्यापेक्षया स्यात् यदि पुनरुज्जीवन भवेत् स्यादेतदयुक्तमिद पुनरुज्जीवनप्रसगोपादान यतो यद्यपि दोषा देहस्यावैगुण्यमाधाय निवृत्तास्तथापि न तत्कृतस्य वैगुण्यस्य निवृत्ति न हि दहनकृतो विकार· काष्ठे दहननिवृत्तौ निवर्त्तमानो दृष्ट· तदयुक्तमिह हि कश्चित्किंचिदनिवर्त्य विकारारम्भकम् । यथा वह्नि काष्ठे श्यामतामात्रमपि वह्निना कृत काष्ठे वह्निनिवृत्तौ निवर्त्तते किंचित्पुन· कश्चिन्निवर्त्यविकारारम्भक यथा स एवाग्नि· सुवर्णे तथाहि अग्निना क्रमात्सुवर्णे भवति अग्निनिवृत्तौ निवर्त्तते तत्र वातादयो दोषा निवर्त्य विकारारम्भकाश्चिकित्साप्रयोगदर्शनात् । यदि पुनरनिवर्त्य विकारारम्भका भवेयुस्तर्हि नतद्विकारनिवर्त्तनाय चिकित्सा विधीयेत वैफल्यप्रसगात् न च वाच्य मरणात् प्राग्दोषा अनिव र्त्यविकारारम्भका मरणकाले च निवर्त्यविकारा इति एकस्य एकत्रैव निवर्त्यानिवर्त्यविकारारम्भकत्वायोगात् । न ह्येकमेव तत्रैव निवर्त्यविकारारम्भकचानुभवितुमर्हति तथा दर्शनात् । ननु द्विविधो हि व्याधि साध्योऽसाध्यश्च । तत्र साध्यो निवर्त्यस्तस्तमेव चाधिकृत्य चिकित्सा फलवती असाध्यो ऽनिवर्त्तनीय नच साध्यासाध्यभेदो न वा व्याधिर्द्वैविध्यमप्रतीत सकललोकप्रसिद्धत्वात् व्याधिश्च दोषेण कृतस्तत कथ दोषाणां निवर्त्यानिवर्त्यविकारारम्भकत्वमनुपपन्नमिति तदप्यसत् भवन्मते साध्यासाध्यव्याध्युपपत्तस्तथाह्यसाध्यता व्याधे कचिदायु·क्षया च तथाहि तस्मिन्नव्याधौ समाने स्त्यौषधवैद्यसपर्के कश्चिन्म्रियते कश्चिन्नकचित्पुन प्रतिकूलकर्मोदयात् प्रतिकूलकर्मोदयजनितो हि व्याधिर्व्यार्त्तौषधसहस्रैरपि कश्चिदसाध्यो भवति एतच्च द्विविधमपि व्याधेरसाध्यत्वमर्हतामेव मते सगच्छते न भवतो भूतमात्रतत्त्ववादिन कचित्पुनरसाध्यो व्याधिर्दोषकृतविकारनिवर्त्तनसमर्थौषधस्याभावात् वैद्यस्य वा वैद्यौषधसपर्काभावे हि व्याधि· प्रसर्पन् सकलमप्यायुरुपक्रमते न तु नैद्यौषधसपर्काभावादेवास्माकमपि पुनरुज्जीवन भविष्यति न हि तदस्ति किञ्चिदौषध वैद्यो वा यत्पुनरुज्जीवयति तदप्ययुक्त वैद्यौषधौ हि दोषविकारनिवर्त्तनार्थमिष्येते न पुनरत्यन्तासत श्चैतन्यस्योत्पादनार्थं तयाऽभ्युपगमात् दोषकृताश्च विकारा मृतावस्थायां स्वयमेव निवृत्ता ज्वरादेरदर्शनात्तत· किं वैद्यौषधान्वेषणेनेति तदवस्थ एव पुनरुज्जीवनप्रसग । अपि कश्चिद्दोषाणामुपशमेऽप्यकस्मान्म्रियते कश्चिद्यातिदोषदुष्टत्वेऽपि जीवति तदेतद्भवन्मते कथमुपपत्तिमर्हति तया च केचिदूचुरवते "दोषस्योपशमेऽप्यस्ति मरण कस्यचित्पु-नर्जीवन दोषदुष्टत्वेऽप्येतन्न स्याद्भवन्मते" अर्हतां तु शासने यावदायु कर्म विजृम्भते तावद्दोषैरतिपीडितोऽपि जीवति आयु कर्मक्षये च दोषाणामधिकृतावपि म्रियते तन्न देहमात्रकारणं सवेदनम् । अन्यच्च देह कारण संवेदनस्य सहकारिभूत वा भवेदुपादानभूतं वा यदि सहकारिभूत तदिष्यत एव देहस्यापि क्षयोपशमहेतुतया कथंचिद्विज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमात् । अथोपादानभूत तदयुक्तमुपादानं हि तत्तस्य यद्विकारेणैव यस्य विकारो यथा मृद्घटस्य नच देहविकारेणैव विकार· सवेदस्य देहाविकाराभावेऽपि भयशोकादिना तद्विकारदर्शनात् तत्र देदःपादान सवेदनस्य तथा च पठन्त्युपादानलक्षणमपरे अधिकृत्य हि यद्वस्तुना य· पदार्थो विकार्यते उपादान तत्तस्य युक्त गोगवयादिवत् एतेन यदुच्यते मातापितृचैतन्यमेतच्चेतनस्योपादानमिति तदपि प्रतिक्षिप्तं तत्रापि तद्विकारे विकारित्वे तदविकारे वा विकारित्वमिति नियमादर्शनात् । अन्यच्च यत् यस्योपादान तत्तस्मादभेदेन व्यवस्थितं यथा मृदो घट· मातापितृचैतन्यं सुतचैतन्यस्योपादान तत·सुतचैतन्य मातापितृचैतन्यादभेदेन व्यवतिष्ठेत न व्यवतिष्ठते तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् तत्र भूतधर्मो भूतकार्यं वा चैतन्य किंचात्मनो गुण इति तद्गुणस्य प्रत्यक्षसिद्ध आत्मा अनुमानसिद्धश्च तच्चानुमानमिद रूपादीन्द्रियाणि विद्यमानप्रयोजकानि कर्मकरणत्वे सति ग्राह्यग्राहकरूपत्वात् य· कर्मकरणे सति ग्राह्यग्राहकरूपस्तद्विद्यमानप्रयोजको यथा शदंशोय पिण्डे कर्मकरणरूपाणि च सन्ति ग्राह्यग्राहकरूपाणि रूपादीन्द्रियाणि ततो विद्यमानप्रयोजकानीति नचेन्द्रियाणां स्वत उपलम्भकत्व येन रूपादिग्रहण प्रति तेषां कर्तृत्वमेवोपगम्येत न करणत्वमचेतनत्वेन स्वत उपलम्भकत्वायोजनात् तथा चात्र प्रयोग यदचेतन तन्नोपलब्ध यथा घटोऽचेतनानि च द्रव्येन्द्रियाणि न चायमसिद्धो हेतु· यत· खलु द्रव्येन्द्रियाणि निर्वृत्त्युपकरणरूपाणि निर्वृत्त्युपकरणे च पुद्गलमय पुद्गलमय च सर्वमचेतन पुद्गलाना काठिन्यावबोधरूपतया चैतन्य प्रति धर्मित्वायोगात् धर्मानुरूपो हि सर्वत्रापि धर्मी यथा काठिन्य प्रति पृथिवी यदि पुनरननुरूपत्वाभावेपि धर्मधर्मिभावो भवेत् तत· काठिन्यजलयोरपि स भवेत् तन्न भवति तस्मादचेतना पुद्गला तथाचोक्त "वाहसनावमसुत्त, विसयपरिच्छेयग च चेयन्न । विवरीयसहावाणि य, भूयाणि जगप्पसिद्धाणि ॥ १ ॥ ता धम्मधम्मिभावो, कहमेर्पास अणुरूवगामेय । अणुरूवत्ताभावे, काठिन्नजलाण किं न भवे ॥२॥ नन स्वत उपलम्भकत्वाभावात् रूपादिग्रहण प्रतीन्द्रियाणां करणभाव एव न कर्तृभाव इति स्थितम् । अथ चेदमनुमान स भोक्तृकमिद शरीरं भोग्यत्वात् स्यालस्थितौदनवत् भोग्यता च शरीरस्य जीवेन तया निवसता भुज्यमानत्वात् द्वयोरपि च प्रयोगयो साध्यसाधनप्रतिबन्धसिद्धदृष्टान्ते प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धेति नोक्तदृष्टान्ती सन्यग्प्रत्यक्षरूपदोषाभावप्रकाश । आगमगम्योऽप्येष जीव· तथा चागम· "अणादियगुण जीव, भुन्तेय मसन्धपत्थुणा । सिद्ध कम्मत्ति

सव्वन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो" अत्र ज्ञानसिद्धाः साधवो भवस्थकेवलिन इति युगपम् नचागमाना परस्परविरुद्धार्थे तया सर्वेषामप्यप्रामाण्यमभ्युपेयं सर्वज्ञमूलस्यावश्यं प्रमाणत्वेनाभ्युपगमार्हत्वादथाप्यसम्यक् प्रमाणाप्रमाणविभागापरिज्ञतेः प्रेक्षावतां क्षितिप्रसंगात् । अथ कथमेतत् प्रत्येयं यथायमागमः सर्वज्ञमूल इति उच्यते–यदुक्तोऽर्थः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा न बाध्यते नापि पूर्वापरव्याहतः सोवसीय सर्वज्ञप्रणीतोऽन्यस्य तथारूपत्वासंम्भवात् ततस्तस्माद्धसिद्ध तत्सर्वं सुसिद्धम् । उक्तञ्च " दिट्ठेण इट्ठेण य, जंमि विरोहो न हुज्जइ कहिं वि । सो आगमतत्तो ज, नाणं त सम्मनाणं ति ॥ ततः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणसिद्धत्वाद्देदपदप्रतिष्ठितत्वाच्च सौम्य! अस्ति जीव इति प्रतिपत्तव्यम् ॥ आ० म० द्वि० ॥ (इह वेद पदोपन्यासस्तेन वेदानां प्रमाणत्वेनाङ्गीकृतत्वात्) । आह च–

छिन्नंमि संसयंमि, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइओ पंचहिँ सह खंडियसएहिं ॥

उक्त प्रमाणेन जिनेन भगवता वर्द्धमानस्वामिना जरामरणाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां विप्रमुक्त इव विप्रमुक्तः तेन छिन्ने निराकृते संशये स इन्द्रभूतिः पञ्चभिः खण्डिकशतैः छात्रशतैः सह श्रमणः प्रव्रजितः सन् साधुः संवृत्त इत्यर्थः । आ० म० द्वि. । आव० ॥ आ० चू० ।

कल्पसुबोधिन्यामिन्द्रभूतेः कथा विस्तरेण एवं प्रतिपादिता यदा भगवान् महावीरो विहरन् अपापापुर्यां महसेनवने जगाम तत्र च यज्ञ कारयतः सोमिलविप्रस्य गृहे बहवो ब्राह्मणा मिलिताः (कल्प०) अन्येऽपि उपाध्याय शङ्कर ईश्वर शिवजी जानी गङ्गाधर महीधर भूधर लक्ष्मीधर श्रीधर विष्णु मुकुन्द गोविन्द पुरुषोत्तम नारायण दुबे श्रीपति उमापति विद्यापति गणपति जयदेव व्यास महादेव शिवदेव गङ्गापति गौरीपति त्रिवाडी श्रीकण्ठ नीलकण्ठ हरिहर रामजी रावल मधुसूदन नरसिंह कमलाकर जोसी पुनो रामजी शिवराम इत्यादयो मिलिताः सन्ति अत्रान्तरे च भगवन्नमस्यार्थं मागच्छतः सुरासुरान् विलोक्य ते अचिन्तयन् अहो यज्ञस्य महिमा यदेते सुराः साक्षात्समागताः अथ तान् यज्ञमण्डप विहाय प्रभुपार्श्वे गच्छतो विलोक्य द्विजाः विषण्णास्ततोऽमी सर्वज्ञं वन्दितुं यान्ति इति जनश्रुत्या श्रुत्वा इन्द्रभूतिः सामर्षश्चिन्तयामास । अहो मयि सर्वज्ञे सत्यपि अपरोऽपि स्व सर्वज्ञं ख्यापयति दुःश्रवमेतत् कर्णकटु कथ नाम श्रूयते । किं च कश्चित्कोऽपि मूर्खः केनापिद्धूर्तेन वञ्च्यते अनेन सुरा अपि वञ्चिताः यदेव यज्ञमण्डप विहाय तत्समीप गच्छन्ति । अथवा यादृशोऽय सर्वज्ञस्तादृशा एवैते सुरा अनुरूप एव संयोगः यत.—

" पश्यानुरूपमिन्दि–न्दिरेण माकन्दशेखरो मुखरः ।
अपि च पिचुमन्दमुकुले-मौकुलिकुलमाकुलं मिलति "॥१॥
(तथापि नाहमेतस्य सर्वज्ञाटोप सहे)
यतः । व्योम्नि सूर्यद्वयं किं स्या-द्गुहायां केसरिद्वयम् ।
प्रत्याकारे च खड्गौ द्वौ, किं सर्वज्ञावहं स च ॥ २ ॥

ततो भगवन्तं वन्दित्वा प्रतिनिवर्तमानान् सोपहासं जनान् पप्रच्छ भो भो दृष्टः स सर्वज्ञः कीदृशः किंस्वरूप इति जनैस्तु " यदि त्रिलोकी गणनापरः स्या–त्तस्यासमाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ॥ पारेपरार्ध्यं गणितं यदि स्यात्, गुणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥ १ ॥

इत्याद्युक्ते सति स दध्यौ ॥

नूनमेष महाधूर्तो मायायाः कुलमंदिरम् ॥
कथ लोकसमस्तोऽपि विभ्रमे पातितोऽमुना " ॥२॥
न क्षमे क्षणमात्र तु त सर्वज्ञं कदाचन ॥
तमस्तोममपाकर्तुं सूर्यो नैव प्रतीक्षते ॥ ३ ॥
वैश्वानरः करस्पर्शं केशरोल्लुञ्चनं हरिः ॥
क्षत्रियश्च रिपुक्षेत्र न सहन्ते कदाचन ॥ ४ ॥

गता गौडदेशोद्भवा दूरदेशं जयाज्जर्जरा गौर्जरास्तासमीयुः । मृता मालवीयास्तिलाङ्गास्तिलंगोद्भवा जाह्निरे पण्डिता भ–ञ्जयेन ॥ ॥५॥ अरे लाटजाताः क्व याताः प्रणष्टा प्रविष्टा अपि द्राविडा व्रीडयार्ताः ॥ अहो वादिलिप्सातुरे मय्यमुस्मिन्, जगत्युत्कटे वादिदुर्भिक्षमेतत् ॥ ६ ॥ " तस्य ममाग्रे कोऽसौ, वादी सर्वज्ञमानमुद्वहति ॥ इति तत्र गन्तुमुक्त, तमग्निभूतिर्जगादेवम् ॥ ७ ॥ " किं तत्र वादिकीटे, तव प्रयासेन यामि बन्धोऽहम् ॥ कमलोन्मूलनहेतो–र्नैतव्यः किं सुरेन्द्रगजः ॥ ॥ ८ ॥ अकथयदथेन्द्रभूतिर्यद्यपि मद्वातुच्छ्य एवासौ । तदपि प्रवादिनाम श्रुत्वा स्थातुं न शक्नोमि ॥ ९ ॥ चित्रं चैव त्रिजगति सहस्रशो निर्जिते मया वादैः ॥ क्षिप्रभक्तस्थाल्यामिव कङ्कटुकोऽसौ स्थितो वादी ॥ १० ॥

अस्मिन्नजिते सर्वं जगज्जयोद्भूतमपि यशो नश्येत् ।
अल्पमपि शरीरस्य शल्यं प्राणान् वियोजयति ॥ ११ ॥
छिद्रे स्वल्पेऽपि पोतः किं, पाथोधौ न निमज्जति ।
एकस्मिन्निष्टके कृष्टे, दुर्गः सर्वोऽपि पात्यते ॥ १२ ॥

इत्यादि विचिन्त्य विरचितद्वादशतिलकः स्वर्णयज्ञोपवीतभूषितः स्फारपीताम्बराडम्बरः कैश्चित्पुस्तकपाणिभिः कैश्चित् कमण्डलुपाणिभिः कैश्चिद्दर्भपाणिभिः सरस्वतीकण्ठाभरण वादिविजयलक्ष्मीशरण–वादिमदगञ्जनवादिमुखभञ्जन–वादिगजसिंह–वादीश्वरसिंह–वादिसिंहाष्टापद–वादिविजयविशद–वादिवृन्दभूमिपाल–वादिशिरःकाल–वादिकदलीकृपाण–वादितमभान–वादिगोधूमघरट्टमर्दित–वादिमदट्टवादिघटमुद्गर–वादिघूकभास्कर–वादिसमुद्रागस्ति–वादितरून्मूलनहस्ति–वादिसुरेन्द्र–वादिगरुडगोविन्द–वादिजनराज–वादिकंसकृष्ण–वादिहरिणहरि–वादियूथमल्ल–वादिहृदयशल्य–वादिगणजीवक–वादिशलभप्रदीपक–वादिचक्रचूडामणि–पण्डितशिरोमणि–विजितानेकवादिसरस्वती लब्धप्रसाद इत्यादिविरुदवृन्दमुखरितदिक्चक्रैः पञ्चभिश्छात्रशतैः परिवृत इन्द्रभूतिर्वीरसमपि गच्छंश्चिन्तयामास । अहो धृष्टेनानेन किमेतत् कृतम् । यदहं सर्वज्ञाटोपेन प्रकोपित यतः " समीराभिमुखस्थेन, दवाग्निर्ज्वालितोऽमुना ।

कपिकच्छूलता देह–सौख्यायालिङ्गिता ननु ॥ १ ॥ "
(किं मेतेन अधुना निरुत्तरीकरोमि यतः)
तावद्गर्जति खद्योतस्तावद्भाति चन्द्रमाः ।
उदिते तु सहस्रांशौ न, खद्योतो न चन्द्रमाः ॥ २ ॥
सारङ्गमातङ्गतुरङ्गपूगाः पलायमानाश्च वनादमुष्मात् ॥
साटोपकोपस्फुटकेशरश्रीर्मृगाधिराजोऽयमुपैतवान् यत् ३
मम भाग्यभरायत्ता, वाद्ययं समुपस्थित ॥
अद्य तां रसनाकण्डू–मपनेष्ये विनिश्चितम् ॥४॥
लक्षणे मम दक्षत्व साहित्ये सहिता मतिः ॥
तर्के कर्कशतात्यर्थं क्व शास्त्रे नास्ति मे श्रमः ॥ ५ ॥
अभेद्य किमु वज्रस्य, किमसाध्य महात्मनां ॥
क्षुधितस्य न किं खाद्यं किं न वाच्यं खलस्य च ॥ ६ ॥

तथा ममापि त्रैलोक्य-जित्वरस्य महौजसः ॥
अजेयं किमिवास्तीह तद्गच्छामि जयाम्यमुम् ॥ ७ ॥
इत्यादि चिन्तयन् प्रभु-मवेक्ष्य सोपानसंस्थितो दध्यौ ।
किं ब्रह्मा किं विष्णुः सदाशिवः शङ्करः किं वा ॥ ८ ॥
चन्द्रः किं स न यत्कलङ्ककलितः सूर्योऽपि नो तीव्रगुः
मेरुः किं न स यन्नितान्तकठिनो विष्णुर्न यत् सोऽसितः ॥
ब्रह्मा किं न जरातुरः स च जराभीरुर्न यत्सोऽननु-
ज्ञातं दोषविवर्जिताखिलगुणाकीर्णोऽन्तिमस्तीर्थकृत् ॥ ९ ॥
हेमसिंहासनासीनं सुरराजनिषेवितम् ॥
दृष्ट्वा वीरं जगत्पूज्यं चिन्तयामास चेतसि ॥ १० ॥
कथं मया महत्त्वं हा, रक्षणीयं पुरार्जितम् ॥
प्रासादं कीलिकाहेतो-र्भङ्क्तुं को नाम वाञ्छति ॥ ४ ॥
एकेन चाजितेनापि मानहानिस्तु का मम ॥
जगज्जैत्रस्य किं नाम करिष्यामि च सांप्रतम् ॥ ५ ॥
अविचारितकारित्वं महो मे मन्दबुद्धिता ॥
जगदीशावतारं य-ज्जेतुमेन समागतः ॥ ६ ॥
अस्याग्रेऽहं कथं वक्ष्ये पार्श्वे यास्यामि वा कथम् ॥
सङ्कटे पतितोऽस्मीति शिवा रक्षतु मे यशः ॥ ७ ॥
कथञ्चिदपि भाग्येन चेद्भवेदत्र मे जयः ॥
तदा पण्डितमूर्द्धन्यो भवामि भुवनत्रये ॥ ८ ॥
इत्यादि चिन्तयन्नेष सुधा मधुरया गिरा ॥
आभाषितो जिनेन्द्रेण नामगोत्रोक्तिपूर्वकम् ॥ ९ ॥
हे गौतमेन्द्रभूते त्वं सुखेनागतवानसि ॥
इत्युक्ते ऽचिन्तयद्वेत्ति नामापि किमसौ मम ॥ १० ॥
जगत्त्रितयविख्यातं को वा नाम न वेत्ति माम् ॥
जनस्याबालगोपालं प्रच्छन्नः किं दिवाकरः ॥ ११ ॥
प्रकाशयति गुप्तं चेत्संदेहं मे मनःस्थितम् ॥
तदा जानामि सर्वज्ञ-मन्यथा तु न किंचन ॥ १२ ॥
चिन्तयन्तमिति प्रोचे प्रभुः को जीवसंशयः ॥
विभावयसि नो वेद पदार्थं शृणु तान्यथ ॥ १३ ॥
समुद्रो मथ्यमानः किं गङ्गापूरोऽथवा किमु ॥
आदिब्रह्मध्वनिः किं वा वीरे वेदध्वनिर्बभौ ॥ १४ ॥

वेदपदानि च "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीति" त्वं तावदेतेषां पदानामर्थमेवं करोषि यत् विज्ञानघनो गमनागमनादिचेष्टावान् आत्मा एतेभ्यो भूतेभ्यः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेभ्यः समुत्थाय प्रकटीभूय मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिरिव ततस्तानि भूतान्येव अनुविनश्यति तत्रैव विलयं याति जले बुद्बुद इव ततो भूतातिरिक्तस्य आत्मनोऽभावात् न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति मृत्वा पुनर्जन्म नास्तीति । परमयुक्तोऽयमर्थः शृणु तावदेतेषामर्थम् । विज्ञानघन इति कोऽर्थः विज्ञानघनो ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकं विज्ञानं तन्मयत्वादात्माऽपि विज्ञानघनः प्रतिप्रदेशमनन्तज्ञानपर्यायात्मकत्वात् स च विज्ञानघन उपयोगात्मक आत्मा कथञ्चिद्भूतेभ्यस्तद्विकारेभ्यो वा घटादिभ्यः समुत्तिष्ठते उत्पद्यत इत्यर्थः । घटादिज्ञानपरिणतो हि जीवो घटादिभ्य एव हेतुभूतेभ्यः भवति घटादिज्ञानपरिणामस्य घटादिवस्तुसापेक्षत्वात् । एवं च एतेभ्यो भूतेभ्यो घटादिवस्तुभ्यस्तत्तदुपयोगरूपतया जीवः समुत्थाय समुत्पद्य तान्येव अनुविनश्यति कोऽर्थः तस्मिन् घटादौ वस्तुनि नष्टे व्यवहिते वा जीवोऽपि तदुपयोगरूपतया नश्यति अन्योपयोगरूपतया उत्पद्यते सामान्यरूपतया चावतिष्ठते ततश्च न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति कोऽर्थः न प्राक्तनी घटाद्युपयोगरूपा संज्ञा अवतिष्ठते वर्तमानोपयोगेन तस्या नाशितत्वादिति । अपरं च स एष अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादि, तथा दकारत्रयं दमो दानं दया इति दकारत्रयं यो वेत्ति स जीवः किंच विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वात् ओदनादिवत् इत्याद्यनुमानेनापि । तथा "क्षीरे घृतं तिले तैलं काष्ठेऽग्निः सौरभं सुमे । चन्द्रकान्ते सुधा यद्व-त्तथात्माप्यङ्गतः पृथक्" ॥ एवं च प्रभुवचनैश्छिन्नसंदेहः श्रीइन्द्रभूतिः पञ्चशतपरिवारैः प्रव्रजितः । ततः प्रभोः "उप्पन्नेइ वा १ विगमेइ वा २ धुवेइ वा ३ इति" प्रभुवदनात्त्रिपदीं प्राप्य द्वादशाङ्गीं रचितवान् । कल्प० ॥

इन्द्रभूतिवर्णको यथा—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे । संखित्तविउलतेउलेस्से चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसण्णिवाती समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

(तेणमित्यादि) तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य (जेट्ठेत्ति) प्रथमः (अंतेवासित्ति) शिष्य अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसंघनायकत्वमाह (इंदभूइत्ति) इन्द्रभूतिरिति मातृपितृकृतं नामधेयं (नामंति) विभक्तिविपरिणामात् नाम्नेत्यर्थः अन्तेवासी किल विपक्षीयः श्रावकोऽपि स्यादित्यत आह । (अणगारत्ति) नास्त्यगारं विद्यते यस्य सोऽनगारः अयञ्चावगीतगोत्रोऽपि स्यादित्यत आह (गोतमगोत्तेणंति) गौतमसगोत्र इत्यर्थः । अयञ्च तत्कालोचितदेहमानापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादित्यत आह (सत्तुस्सेहेत्ति) सप्तहस्तोच्छ्रयः अयं च लक्षणहीनोऽपि स्यादित्यत आह (समचउरंससंठाणसंठिएत्ति) समं मानदपरि अधश्च सकलपुरुषलक्षणोपेतावयवतया तुल्यं तच्च तच्चतुरस्रं च प्रधानं समचतुरस्रमथवा समाः शरीरलक्षणोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽश्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम् । अश्रयस्त्विह चतुर्दिग्भागोपलक्षिताः शरीरावयवा इति । अन्ये त्वाहुः—समा अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यश्रयो यत्र तत् समचतुरस्रम् अश्रयश्च पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम् आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरं दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुनश्चान्तरं वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति अन्ये त्वाहुर्विस्तारोत्सेधयोः समत्वात् समं चतुरस्रं तच्च तत्संस्थानं चाकारः समचतुरस्रसंस्थानं तेन संस्थितो व्यवस्थितो यः स तथा । अयं च हीनसंहननोऽपि स्यादित्यत आह (वज्जरिसहनारायसंघयणेत्ति) इह संहननमस्थिसञ्चयविशेषः वज्रादीनां लक्षणमिदम्— "रिसहो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलियं वियाणाहि । उभओमक्कडबंधो नाराय तं वियाणाहि ॥" तत्र वज्रं कीलिकाकारं अस्थिद्वयमभिव्याप्य पुनरन्यत्तदस्थि ।... [illegible] ...

सामर्थ्योपेतत्वात् वज्रर्षभनाराच तत्रांहननमस्थिसंचयाविशेषोऽनुत्तमसामर्थ्यायोगाद्यस्यासौ वज्रर्षभनाराचसंहननः । अन्ये तु कीलिकादिमत्त्वमस्थ्नामेव वर्णयन्ति अयञ्च निन्द्यवर्णोऽपि स्यादित्यत आह (कणयपुलयनिघसपम्हगोरे) कनकस्य सुवर्णस्य (पुलगत्ति) यः पुलको लवस्तस्य यो निकषः कषपट्टके रेखालक्षणः तथा (पम्हत्ति) पद्मपक्ष्माणि केसराणि तद्वद् गौरो यःस तथा । वृद्धव्याख्या तु–कनकस्य न लोहादेर्यः पुलकः सारो वर्णातिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्म बहुलत्वं तद्वद् गौरो यः स तथा अथवा कनकस्य य पुलकोद्धूतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृशो यः स तथा (पम्हत्ति) पद्मं तस्य चेह प्रस्तावात्केसराणि गृह्यन्ते तत पद्मवद्गौरो यः स तथा । तत पदद्वयस्य कर्मधारयः अयञ्च विशिष्टचरणरहितोऽपि स्यादित्यत आह (उग्गतवेत्ति) उग्रमप्रधृष्यं तपोऽनशनादि यस्य स उग्रतपाः यदन्येन प्राकृतपुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्त इत्यर्थः (दित्ततवेत्ति) दीप्त जाज्वल्यमानदहन इव कर्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलितं तपो धर्मध्यानादि यस्य स तथा (तत्ततवेत्ति) तप्तं तपो येनासौ तप्ततपाः एवं हि तेन तप्तपस्तप्तं येन कर्माणि सन्ताप्यन्ते न तपसा स्वात्माऽपि तपोरूपः सन्तापितो यतोऽन्यस्यास्पृश्यमिव जातमिति (महातवेत्ति) आसंशादोषरहितत्वात् प्रशस्ततपाः (उरालेत्ति) भीम उग्रादिविशेषणविशिष्टतपःकरणात्पार्श्वस्था नामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः ॥ (उरालेत्ति) उदारः प्रधानः (घोरेति) घोरो निर्घृणः परिषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः ॥ अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहुः (घोरगुणेत्ति) घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा (घोरतवस्सित्ति)घोरैस्तपोभिः स्तपस्वीत्यर्थः (घोरबंभचेरवासित्ति) घोरं दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद्ब्रह्मचर्यं तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा (उच्छूढसरीरेत्ति) उच्छूढ उज्झितमिवोज्झितं शरीरं येन तत्संस्कारत्यागात्स तथा (संखित्तविउलतेयलेसेत्ति) संक्षिप्त शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । मूलटीकाकृता तु (उच्छूढसरीरसंखित्तविउलतेयलेसेत्ति) कर्मधारयं कृत्वा व्याख्यातमिति (चउद्दसपुव्वित्ति) चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव तेषां रचितत्वादसौ चतुर्दशपूर्वी अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह (चउनाणोवगएत्ति) केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समयश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानकपतितत्वेन श्रवणादित्यत आह– (सव्वक्खरसन्निवाइत्ति) सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च तत्संयोगाः सर्वेषां वाक्षराणां सन्निपाताः सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेयतया सन्ति स सर्वाक्षरसन्निपाती । श्राव्याणि वा श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साङ्गत्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति श्राव्याक्षरसन्निवादी स च एवं गुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादिति कृत्वा शिष्याचारत्वाच्च (समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते विहरतीति) योगस्तत्र दूरं च विप्रकृष्टं सामन्तञ्च सन्निकृष्टं तन्निषेधाददूरसामन्तं तत्र नातिदूरे नातिनिकट इत्यर्थः । किंविधः संस्तत्र विहरती-

त्यत आह (उड्ढंजाणुत्ति) ऊर्ध्वं जानुनी यस्यासावूर्ध्वजानुः शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थः (अहोसिरेत्ति) अधोमुखो नोर्द्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भावः ॥ (झाणकोट्ठोवगएत्ति) ध्यानं धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः कुसूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगतो यथाहि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तमविप्रसृतं भवत्येवं स भगवान् ध्यानतो विप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिरिति (संजमेणंति) संवरेण (तवसात्ति) अनशनादिना चशब्दः समुच्चयार्थो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थं प्रधानत्वं च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति ॥ (अप्पाणं भावेमाणे विहरइ इति) आत्मानं वासयंस्तिष्ठतीत्यर्थः । भ० १ श० १ उ० । चंद्र० ॥ पद्मग्रहणेन पद्मकेसराण्युच्यन्ते अवयवे समुदायोपचारात् यथा देवदत्तस्य हस्ताग्ररूपोऽवयवोऽपि देवदत्तः तथा च देवदत्तस्य हस्ताग्रं स्पृष्ट्वा लोको वदति देवदत्तो मया स्पृष्ट इति । सू० प्र० पा० चन्द्र० (गणधर शब्देऽस्य मातापितृपुरादीनि)

इंदभेसज्ज–इन्द्रभेषज– न० इन्द्रेण प्रकाशित भेषजम् । शुण्ठ्याम् । शब्दरत्न० । वाच० ।

इंदमह–इन्द्रमह– पु० इन्द्रः शक्रस्तस्य मह प्रतिनियतदिवसभावी उत्सव इन्द्रमहः । प्रतिनियतदिवसभाविनि इन्द्रसन्तोषार्थे महोत्सवरूपे महामहभेदे, । जी० ३ प्र० । ज० । ज्ञा० आचा० । रा० । "इंदमहेइ वा" । भ० श० ९ उ० ३३ । विपा० । इंदमहो आसोयपुण्णिमाए भवतीति । आ० चू० अ० ४ ॥ आव० । स्था० । प्रव० । नि० चू० । " इंदाइमहापायं पइनियया ऊसवा होंति" ॥ उत्सवाः प्रायः प्रतिनियता वर्षमध्ये प्रतिनियतभाविन इन्द्रादिमहा इति । आ० म० प्र० । अयच भरतकालादेव प्रवृत्त इति । आ० म० प्र० (प्रवृत्तिकारणमिंदज्झया शब्दे) ।

इंदमहकामुग–इन्द्रमहकामुक–पु० इन्द्रमहे वर्षादिकाले कामुकः कामयिता । कुक्कुरे, वर्षादावेव तेषां व्यवायधर्मो लोकप्रसिद्धः । वाच० ॥

इंदमुद्धाभिसित्त–इन्द्रमूर्द्धाभिषिक्त–पु० एकैकपक्षस्य पञ्चदशदिवसेषु स्वनामख्याते सप्तमे दिवसे, "इंदमुद्धाभिसित्तेय" च० १० पाहु० । ज्यो० । ज० ॥

इंदय–इन्द्रक–पु० इन्द्रशब्दार्थे, स्था. ६ ठा० ।

इंदयणिरय–इंद्रकनिरय–पु० निरयेन्द्रकमहानिरये, स्था ६ ठा० ।

इंदराय–इन्द्रराज–पुं इन्द्रे, । "घणसमए इंदरायस्स" ति० ॥

इंदलट्ठि–इन्द्रयष्टि–स्त्री० इन्द्रकेतौ, निव्वत्तमहेव्व इंदलट्ठी विमुक्कसंधिबंधणा ॥ ज्ञा० १ अ० ॥

इंदवइरा–इन्द्रवज्रा–स्त्री० स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः उक्ते द्वादशाक्षरपादके वर्णवृत्तभेदे, वाच० । वृत्तर० ॥

इंदवंसा–इन्द्रवंशा–स्त्री० स्यादिन्द्रवंशा ततजैरसंयुतैः वृत्तर० उक्ते द्वादशाक्षरपादके वर्णवृत्तभेदे, वाच० ॥

इंदवसु–इन्द्रवसु–स्त्री० पांचालदेशस्थकांपिल्यनगरनिवासिब्रह्मदत्तस्य भार्यायाम् । उत्त० १३ अ० ॥

इंदवागरण—इन्द्रव्याकरण—न० शब्दशास्त्रभेदे, कल्प० ।
तच्च भगवत ऋषभदेवस्य समये संजातम् ॥
अह तं अम्मा पियरो, जाणित्ता अहियअट्ठवासं तु ।
कयकोउयलंकारं, लेहायरियस्स उवणेंति ॥
अथ श्रीवर्धमानस्वामिनं किञ्चित्कालातिक्रमे भगवन्तमधिकाष्टवर्षं मातापितरौ ज्ञात्वा शुभानि कौतुकानि रक्षादीनि अलङ्काराश्च केयूरादयो यस्य स तथा तं प्रवरहस्तिस्कन्धगतं तु परितो-मुक्ताजालमालाद्यवाप्त्या छत्रेण ध्रियमाणेन चामराभ्यां वीज्यमानं मित्रज्ञातिपरिजनसमेतं लेखाचार्यांय उपाध्यायाय उपनयतः । पाठान्तरे वा " उवणीसु " उपनीतवन्तौ उपाध्यायस्य महासिंहासनं रचितं अत्रान्तरे देवराजस्य शक्रस्यासनकम्पो बभूव । अवधिना च प्रयोजनमिति विज्ञाय अहो अस्य भगवतस्त्रैलोक्यस्य प्रभुं प्रति मातापित्रोर्मोहेन भगवन्तमपि लेखाचार्यायाध्यापनेतुमुद्यतामिति संप्रधार्यागत्य च उपाध्यायपरिकल्पिते वरासने भगवन्तं निवेश्य शब्दलक्षणं पृष्टवान् । कल्प० ॥
अमुमेवार्थं प्रतिपादयति ।
सक्को य तस्समक्खं, जयवंतं आसणे निवेसित्ता ।
सद्दस्स लक्खणं पुच्छे, वागरणं अवयवा इंदं ॥
शक्रो देवराजस्तत्समक्षं लेखाचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थकरमासने निवेश्य शब्दलक्षणं पृच्छति भगवता च व्याकरणमभ्यधायि । " व्याक्रियन्ते लौकिकाः सामयिकाश्च शब्दा अनेनेति व्याकरणं " शब्दशास्त्रं तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीतास्ते च संदर्भितास्ततः ऐन्द्रं व्याकरणं संजातम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ॥

इंदसत्तु—इन्द्रशत्रु—पुं० इन्द्रः शत्रुः घातयिता यस्य । वृत्रासुरे, वाच० ॥

इंदसम्म (न्) इन्द्रशर्म्मन्—पुं० आदित्यनामकस्य शुक्लपाणिमहस्यार्चके ब्राह्मणे , " इन्द्रशर्मा भूतिभूत्या प्राप्तवेदस्यार्थकः कृतः " इति ॥ आ०क० । आ०चू० । " तत्थ इंदसम्मो नाम पडियारगो कओ " ॥ आ० म० द्वि० । मोराकसन्निवेशस्थे स्वनामख्याते गृहपतौ च (तत्कथा महावीरस्य मोराकसन्निवेशगतस्य विहारसमये-महावीरशब्दे वक्ष्यते)

इंदसग्गह—इन्द्रगोप—पुं० इन्द्रजाताः सर्वाकाशजातासः । इन्द्रगोपे, वाच० ॥

इंदसिरि—इन्द्रश्री—स्त्री० पञ्चालदेशस्थकाम्पिल्यनगरनिवासिनो ब्रह्म (राज) दत्तस्य भार्यायाम्, उत्त० १३ अ० ।
ऐन्द्रश्री-स्त्री० इन्द्रो जीवस्तस्येयमैन्द्री सा चासौ श्रीश्चैन्द्रश्रीः॥ आत्मगुणसम्पद्याम्, "ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन, लीलालग्नमिवाखिलम् सच्चिदानन्दपूर्णेन, पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥१॥" अष्ट० १ अ० ।

इंदसेढि—ऐन्द्रश्रेणि—स्त्री० इन्द्राणामियमैन्द्री सा चासौ श्रेणिश्चेति ऐन्द्रश्रेणी । इन्द्रपंक्तौ, " ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवनं भव्याङ्गिनेत्रामृतं सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः प्रीत्या प्रमाणीकृता । मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुरन्मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता " ॥ १ ॥ प्रति० ।

इंदसेणा—इन्द्रसेना—स्त्री० ६ त० । इन्द्रस्य कटके, " गंधव्वनट्ट हयगय-रहभडअणियाणसव्वइंदाणं । वेमाणियाणि वसहा, महिसा य अहोनिवासीणं " ॥ ४४ ॥ संथा० सू० । (स्वरूपमनिप-

तयस्य अणिय शब्दे) जम्बूमन्दरोत्तरदिशि गङ्गायां रक्तवतीमहानद्यां समुपयान्त्यां महानद्याम्, । स्था० १० ठा० ।

इंदा—इन्द्रा—स्त्री० इदि रन् इन्द्रयात्यनया । राजनि० । शाक्याम्, शब्दर० । वाच० ॥ जम्बूमन्दरोत्तरदिशि या रक्तवती महानदी समुपयान्त्यां महानद्याम्, स्था० १० ठा० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य स्वनामख्यातायामग्रमहिष्याम्, स्था. ६ ठा० ।
ऐन्द्री—स्त्री. इन्द्रो देवता यस्याः सा ऐन्द्री । पूर्वस्यां दिशि स्था० १० ठा० । भ० । विशे० । " इंदा विजयद्दाराणुसा रओ " ॥ ऐन्द्री दिक् विजयद्वारानुसारतः प्रतिपत्तव्या यत्र विजयद्वारं सा ऐन्द्रीति भावार्थः । आ०म० द्वि० ॥ या च भगवान् विजयद्वारानुसारेण विनिर्गता दिक् सा ऐन्द्री । ऐन्द्री नामपूर्वेत्यर्थः ॥ आ० म० द्वि० ॥

इंदाणी—इन्द्राणी—स्त्री०इन्द्रस्य पत्नी । ङीप् आनुक् च । इन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, । स्था० ४ ठा. ।

इंदायरिय—इन्द्राचार्य—पुं० योगविधिकारके स्वनामख्याते आचार्ये, जैनइ० ॥

इंदासण—इन्द्रासन—पुं० इन्द्र आत्मा अस्यते विक्षिप्यतेऽनेन असु क्षेपे करणे ल्युट् । (सिद्धि) सविदादयुक्ते सतनैयने हि आत्मनो विक्षितत्वात्तस्य तथात्वम् । पञ्चमाक्षिकस्य प्रस्तावे मात्रिकयुक्ते द्वैगुरुकत्वात्मके प्रथमे भेदे, वाच० ॥

इंदाहिट्ठिय—इन्द्राधिष्ठित—त्रि० इन्द्रयुते, " इंदाहिट्ठिया " इति । इन्द्राधिष्ठिता तद्युक्तत्वादिति । भ० ३ श० १ उ० । " इच्चाकप्पा इंदहिट्ठिया पण्णत्ता " । सौधर्मादीनामिन्द्राधिष्ठितत्वमेवेत्यिन्द्राणां निवासादिति वृत्तिः । स्था० १० ठा० ।

इंदाहीण—इन्द्राधीन—त्रि० इन्द्रवश्ये, भ० ३ श० १ उ० ।

इंदाहीणकज्ज—इन्द्राधीनकार्य—त्रि० इन्द्रवश्यकार्ये, भ० ३ श० १ उ० ॥

इंदिय—इन्द्रिय—न० इदि परमैश्वर्ये इदितो नुम् इन्दनादिन्द्र आत्मा (जीव) सर्व विषयोपलब्धि (ज्ञान) भोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात् तस्य लिङ्गं चिन्हमविनाभाविलिङ्गसत्तासूचनात् प्रदर्शनादुपलम्भाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियलिङ्गमिन्द्रियविषयोपलम्भात् ज्ञापकत्वसिद्धिः तत्सिद्धौ उपयोगलक्षणो जीव इति जीवत्वसिद्धिः । अनु० । आ० म० द्वि० । तेन सृष्टं सृष्टं जुष्टं दत्तमिति वा इन्द्रियम् । स्था० ५ ठा० । इन्द्रियमिति निपातनसूत्राद्रूपनिष्पत्तिः । न० । जी० । विशे० । पा० । पं०सं० । इन्द्रशब्दादियप्रत्यय इति । प्रज्ञा०१५पद । आ०चू०॥ श्रोत्रादौ, । उत्त० १६ अ० । सूत्र० । नयनगगनमयमन्धकस्य समानिकभावे, उत्त०१६अ० "नो निग्गंथे इत्थीणं इंदियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवति " उत्त०
इंदो जीवो सव्वो-वलद्धिभोगपरमेसरत्तणओ ।
सोत्ताइभेयमिंदिय-मिह तल्लिंगाइ भावाओ ॥
इदि परमैश्वर्ये इन्दनात्परमैश्वर्ययोगादिन्द्रो जीवः परमैश्वर्यमस्य कुत इत्याह (सव्वो इत्यादि) आवरणाभावे सर्वस्यापि वस्तुन उपलम्भालाभावेषु सर्वस्यापि त्रिजगद्गतस्य वस्तुनः परिज्ञानात्च परमेश्वरो जीव इति तस्य परमैश्वर्यं तदयमिन्द्रस्य जीवस्य लिङ्गं चिन्हं तेन सृष्टं वा निपातनादिन्द्रियमुच्यते

तल्लिङ्गादिभावादिति । तच्च श्रोत्रादिभेदं श्रोत्रनयनघ्राणरसनस्पर्शनभेदात्पञ्चविधमित्यर्थः । विशे० ॥
स्था० । प्रव० । सूत्र० । पञ्च स्पर्शादीनि बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादश मन इति सांख्याः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

तस्य च नोइन्द्रियत्व स्थानाङ्गे उक्तम् । तद्यथा—

छहिं इन्द्रियत्था पण्णत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे नो इंदियत्थे ।

तत्र श्रोत्रेन्द्रियादीनामर्था विषयाः शब्दादयः मनस आन्तर करणत्वेन करणत्वात्करणस्य चेन्द्रियत्वात्तत्रान्तररूढ्या वा मनस इन्द्रियत्वात्तद्विषयस्येन्द्रियार्थत्वेन षष्ठेन्द्रियार्थो इत्युक्तम् । औदारिकादित्वार्थपरिच्छेदकत्वलक्षणधर्मे द्वयोपेतमिन्द्रियं तस्यौदारिकादित्वधर्मलक्षणदेशनिषेधात्-नोइन्द्रियमन सादृश्यार्थत्वाद्वा नोशब्दस्यार्थपरिच्छेदकत्वे नेन्द्रियाणां सदृशमिति तत्सहचरमिति वा नोइन्द्रियं मनस्तस्यार्थो विषयो जीवादि नो इन्द्रियार्थ इति । स्था० ६ ठा० ।

१—इन्द्रियाणां पञ्चत्वेऽपि नामादितश्चातुर्विध्य द्रव्यादितो द्वैविध्य तत्संस्थानञ्च ।
२—इन्द्रियाणां बाहुल्यपृथक्त्वप्रदेशावगाहनास्तदुद्घात वेदना च ।
३—इन्द्रियाणां पृथुत्वं तदवगाहना च ।
४—इन्द्रियाणामल्पबहुत्व तद्गुणाश्च ।
५—नैरयिकादिषु संस्थानाद्यल्पबहुत्वचिन्तनम् ।
६—इन्द्रियाणा वर्त्तमानार्थग्राहकत्वम् ।
७—इन्द्रियाणां स्पृष्टास्पृष्टविषयता तद्ग्रहणप्रकारश्च ।
८—इन्द्रियाणां प्रविष्टाप्रविष्टविषयचिन्तनम् ।
९—श्रोत्रलक्षणादीन्द्रियाणां प्राप्यकारित्व नयनमनसोरप्राप्यकारित्वम् ।
१०—इन्द्रियाणां विषयनिरूपणम् ।
११—इन्द्रियासंभृतत्वरूपस्येन्द्रियासम्बरदोषस्य चाभिधानम् ।
१२—इन्द्रियाणां गुप्तागुप्तदोषाभिधानम् ।
१३—अनामितानि चेन्द्रियाणि दु खाय भवन्ति इत्यत्रोदाहरणानि ।
१४—इन्द्रियाश्रितत्वे जीवानां भेदाः ।

(१) इन्द्रियाणां पञ्चत्वेऽपि नामादितश्चातुर्विध्य द्रव्यादितोद्वैविध्य तत्संस्थानञ्च ।

कइणं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचिंदिया पण्णत्ता तंजहा सोइंदिए चक्खिंदिए घाणिंदिए जिब्भिंदिए फासिंदिए ।

कति कियत्संख्याकानि णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! इन्द्रियाणि प्राग्वन्निपतितशब्दार्थानि वक्तव्यानि भगवानाह । गौतम ! पञ्चेन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि तान्येव नामत आह " सोइंदियए " इत्यादि । प्रज्ञा० १५ पद ।

एतानि च पञ्चापि इन्द्रियाणि नामादिभेदाच्चतुर्विधानि

तं नामाइ चउद्धा, दव्वं निव्वित्ति उवगरणं च ।
आगासे निव्वित्ति, चिंतावज्जाय माअओ ॥

तन्नामेन्द्रियस्थापनेन्द्रियमित्यादि भेदाच्चतुर्धा तत्र ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्य द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्तिरुपकरण चेति द्विभेदम् । विशे० ।
भावतो लब्ध्युपयोगात्मकानि आह च तत्त्वार्थसूत्रकृत् निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियमिति । तत्र निर्वृत्तिर्नाम प्रतिविशिष्टः संस्थानविशेषः साऽपि द्विविधा बाह्याभ्यन्तरा च तत्र बाह्या पर्पटिकादिरूपा सा च विचित्रा न प्रतिरूप नियतरूपतयोपदेष्टुं शक्यते ॥ तथाहि । मनुष्यश्रोत्रे नेत्रयोरुभयपार्श्वतो भाविनी भ्रवौ चोपरितनश्रवणबन्धापेक्षया समे वाजिनीनेत्रयोरुपरि तीक्ष्णे चाग्रभागे इत्यादि जातिभेदान्नानाविधा आभ्यन्तरा तु निर्वृत्तिः सर्वेषामपि जन्तूनां समानता मेववाधिकृत्य वक्ष्यमाणानि संस्थानादिविषयाणि सूत्राणि केवल स्पर्शनेन्द्रियस्य निर्वृत्तेर्बाह्याभ्यन्तरभेदा न प्रतिपत्तव्याः पूर्वसूरिभिर्निषेधात् । प्रज्ञा० १५ पद । आ० म० द्वि० । तत्त्वार्थमूलटीकायामनभ्युपगमात् । जी० १ प्र० ।

इन्द्रियाणां संस्थानान्याह ।

पुप्फं कलंबुयाए, धन्न-मसूराऽतिमुत्तचंदो य ।
होई खुरुप्पनाणा, किई य सोइंदियाईणं ॥

श्रोत्रस्यान्तर्निर्वृत्तिः कदम्बपुष्पाकारमांसगोलकरूपा दृष्टव्या । चक्षुषस्तु धान्यमसूराकारा, घ्राणस्य अतिमुक्तककुसुमचन्द्रकाकारा, रसनस्य क्षुरप्राकारा, स्पर्शन तु नानाकृतिर्द्रव्यमित्येष श्रोत्रादीनां तन्निर्वृत्तेराकार इति । विशे० ।

तथाच प्रज्ञापनायां पञ्चदशे पदे ।

सोइंदिए णं भन्ते ! किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! कलंबुयापुप्फसंठाणसंठिए पण्णत्ते चक्खिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! मसूरा चंदसंठाणसंठिये पण्णत्ते, घाणिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! अइमुत्तगचंदसंठाणसंठिए पण्णत्ते, जिब्भिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! खुरुप्पसंठाणसंठिए पण्णत्ते फासिंदिएणं पुच्छा गोयमा ! नाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते,

तत्रान्तः श्रोत्रेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये नेत्रगोचरोऽतीता केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति शब्दग्रहणोपकारे वर्तते चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या धान्यमसूराकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या रूपग्रहणोपकारे वर्तते । घ्राणेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या गन्धग्रहणोपकारे वर्त्तते । रसनेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये जिनगम्या क्षुरप्रहरणाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या रसग्रहणोपकारे वर्तते । स्पर्शनेन्द्रियस्यान्तः केवलिदृष्टा देहाकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या स्पर्शग्रहणोपकारे वर्त्तते ॥ तं० ॥

उपकरण खड्गस्थानीया बाह्या निर्वृतिर्या खड्गधारासमाना स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिस्तस्याः शक्तिविशेषः इदञ्चोपकरणरूप द्रव्येन्द्रियमन्तरनिर्वृत्तेः कथं चिदर्थान्तर शक्तिशक्तिमतोः कथचिद्भेदात्कथञ्चिद्भेदश्च सत्यामपि तस्यामान्तरनिर्वृत्तौ द्रव्यादिनापकरणस्य विघातसम्भवात् तथाहि-सत्यामपि कदम्बपुष्पाद्याकृतिरूपायामान्तरनिर्वृत्तौ वतिकठोरतरघनगर्जितादिना शक्त्युपघाते सति नपरिच्छेत्तुमीशते जन्तवः शब्दादिकमिति । प्रज्ञा० १५ पद ।

विसयग्गहणसमत्थं, उवगरणिंदिय तर तं पि ।
भंते ह तदुवघाए गिण्हइ निव्वत्तिभावे वि ॥

तस्य एव कदम्बपुष्पाकृतिमांसगोलकरूपायाः श्रोत्रान्तर्नि-

र्वृत्तेर्यद्विषयग्रहणसमर्थं शक्तिरूपमुपकरण द्रव्येन्द्रियमुच्यते इति शेषः । यथा खड्गस्य छेत्री शक्तिर्वह्नेर्वा दाहादिका- शक्तिस्तथेदमपि श्रोत्राद्यन्तर्निर्वृत्तेर्विषयग्रहणसमर्थंशक्तिरूप द्रष्टव्यम् । तर्ह्यन्तर्निर्वृत्तिरेव तत्तच्छक्तिरूपत्वान्न पुनर्भेदान्तर- मित्याशङ्क्याह । तदपीन्द्रियान्तर द्रव्येन्द्रियस्य भेदान्तरमि- त्यर्थ कुत इत्याह (जमित्यादि) यस्मादिह कदम्बपुष्पाद्याकृ- तेर्मांसगोलकाकारायाः श्रोत्राद्यन्तर्निर्वृत्तेर्या शब्दादेर्विषयच्छे त्री शक्तिस्तस्या वातपित्तादिना उपघाते विनाशे सति यथो- क्तान्तर्निर्वृत्तिसद्भावेपि न शब्दादिविषय गृह्णाति जीव इत्यतो ज्ञायते अस्त्यन्तर्निर्वृत्तिशक्तिरूपमुपकरणेन्द्रिय द्र- व्येन्द्रियस्य द्वितीयो भेद इति। विशे० "इंदियाणि दुविहाणि दव्विंदियाणि भाविंदियाणि अ दव्विंदियं दुविह णिव्वत्तणाए उवकारणे य णिव्वत्तणाए जहा लोहकारो भणितो एतेण लोहेण परसुं वासिं थोभणय च णिवत्तेहिति तेण त गहाय ततोहिं पमाणेहिं खडियाणि जाव कम्मस्स समत्थाणि सा णिव्वत्तणा कज्जसमत्थाणि जायाणि उवगरणाइ" ॥ आ० चू० २ अ० ॥ भावेन्द्रियमपि द्विधा लब्धिरुपयोगश्च तत्र लब्धिः श्रोत्रेन्द्रियादि विषयस्तदावरणक्षयोपशमः उपयोगः स्वस्वविषये ल- ब्ध्यनुसारेणात्मनः परिच्छेदव्यापारः। जी० १ प्र० । "भाविंदियं दुविह लद्धिए उवओगेणे य जाणि जेण जीवेण लद्धाइ इंदियाणि सा लद्धा एगिंदियाणं एगा फासिंदियलद्धि बेंदिया- णं तेइंदियाण चउरिंदियाण पंचेंदियाण पचविहो उवओगो- जाहे जेण इंदिएण उवउज्जति सव्वजीवा य किर उवओग पडु- च्च एगिंदिया"आ०-चू० २ अ०॥

तदाह ॥

लद्धुवओगो भावि-दियं तु लद्धित्ति जो खओवसमो ।
होइ तदावरणाणं, तल्लाभे चेव सेसं पि ॥ १ ॥

लब्ध्युपयोगो भावेन्द्रिय तत्र यदावरणाना तेषामिन्द्रियाणा- मावारककर्मणां क्षयोपशमो भवति जीवस्य सा लब्धिः शेष मपि द्रव्येन्द्रिय तल्लाभ एव लब्धिमात्रावेव भवतीति द्रष्ट- व्यमिति ॥

उपयोग क इत्याह ॥

जो सविसयवावारो, सो उवओगो स चेगकालम्मि ॥
एगेण होइ तम्हा, उवओगाओ उ सव्वो वि ॥१ ॥

यः श्रोत्रादीन्द्रियस्य स्वविषये शब्दादौ परिच्छेद्य व्यापा- रः स उपयोगः स चैकस्मिन्काले एकेनैव श्रोत्राद्यन्यतरेण इन्द्रियेण भवति न युद्धादिभिः तस्मादुपयोगमाश्रित्य सर्वो पि जीव एकेन्द्रिय एव सर्वस्मिन्काले देवादीनामप्येकस्यै व श्रोत्राद्यन्यतरेन्द्रियोपयोगस्य सद्भावादिति । यद्युपयोगत सर्वोपि जीव एकेन्द्रियस्तर्ह्येकेन्द्रियो द्वीन्द्रिय इत्यादिर्भेद कथमागमनिर्दिष्ट इत्याह—

एगेंदियाइभेया, पडुच्च सेसेंदियाणि जीवाणं ॥
अहवा पडुच्च लद्धि-दियं पि पंचेंदिया सव्वे ॥ १ ॥

अतो जीवानामेकेन्द्रियादयो भेदाः शेषाणि निर्वृत्त्युपकरण लब्धीन्द्रियाणि प्रतीत्य द्रष्टव्य तानि यस्य यावन्ति तावद्भि- र्व्यपदेश इति न तूपयोगत अथवा लब्धीन्द्रियमप्याश्रित्य वक्ष्यमाणयुक्तित सर्वे पृथिव्यादयोऽपि जीवाः पञ्चेन्द्रिया ए वेति कुत सर्वे पञ्चेन्द्रिया इत्याह ॥

जं किर बउलाईणं, दीसइ सेसेंदिओवलंभो वि ॥
तेण त्थि तदावरण-क्खओवसमसंभवो तेसिं ॥१॥

यस्मात् किल बकुलचंपकतिलकविरहकादीनां वनस्पति विशेषाणां स्पर्शनाच्छेषाणि यानि रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणा नीन्द्रियाणि तत्सबन्ध्युपलम्भो दृश्यते तेन ज्ञायते तेषामपि बकुलादीनां तदावरणक्षयोपशमसंभवो रसनादीन्द्रियावार ककर्मक्षयोपशमस्य या च यावती मात्रा अस्तीति अन्यथा हि बकुलस्य शृंगारितकामिनीवदनार्पितचारुमदिरागण्डूषेण चं- पकस्यातिसुरभिगन्धोदकसेचनेन तिलकस्य कामिनीकटाक्ष- विक्षेपेण विरहकस्य पञ्चमोद्गारश्रवणेन पुष्पपल्लवादि संभवो न घटेत। विशे० ॥ यद्यपि द्रव्यरूपं भावरूप चेत्यमि- न्द्रियमनेकप्रकार तथापीह बाह्यनिर्वृत्तिरूपमिन्द्रियं पृष्टमव गन्तव्य तदेवाधिकृत्य व्यवहारप्रवृत्तेः तथाहि बकुलादयः पञ्चेन्द्रिया इव भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानसमन्विता अनुमानत- प्रतीयन्ते तथापि न ते पञ्चेन्द्रिया इति व्यवह्रियते बाह्येन्द्रि यपञ्चकासंभवात् । जी० १ प्र० ॥

पंचिंदियव्व बउलो, नरोव्व सव्वविसयोवलंभाउ ॥
तह वि न भण्णइ पंचें-दिओत्ति बज्झिंदियाभावा ॥ १ ॥

पंचेन्द्रिय इव बकुल इति प्रतिज्ञा सर्वेषामपि शब्दरूपादिवि शेषाणामुपलम्भादिति हेतुः नरवदिति दृष्टान्तः । ननु बकुलस्य रसनेन्द्रियोपलम्भ एवोक्तस्तत्कथमस्य सर्वविषयोपलम्भसं- भव इति सत्यम् मुख्यस्तावत्स एव संभवति गौणवृत्त्या तु शेषेन्द्रियविषयोपलम्भोऽप्यस्य संभाव्यते शृङ्गारितस्वरूप तरुणीमदिरागंडूषार्पणात् तस्यां च तनुलतास्पर्शाधरस्स- चदनादिगन्धशोभनरूपमधुरोल्लापलक्षणानां पञ्चानामपीन्द्रि यविषयाणां संभवादिति अन्यथा वा पञ्चेन्द्रियत्वमस्य सुधि- या भावनीय तर्ह्येकेन्द्रियो बकुलः कथ प्रसिद्ध पञ्चेन्द्रियोऽपि कस्मान्न व्यपदिश्यत इत्याह ॥ तथापि पञ्चेन्द्रियोऽसौ न भण्यते बाह्यानां निर्वृत्त्यादि द्रव्येन्द्रियाणामभावादिति ॥

अमुमेवार्थं कुम्भकारव्यपदेशदृष्टांतेन समर्थयन्नाह ॥

सुत्तो वि कुंभनिव्वत्ति, सत्तिजुत्तोत्ति जह सघडकारो ।
लद्धेंदिएण पंचें-दिओ तहावज्झिरहिओ वि ॥

सुबोधार्थमिन्द्रियाणां लाभक्रम उच्यते। तत्र यदा द्रव्ये न्द्रियसामान्य भावेन्द्रियसामान्यं वाश्रित्य पृच्छ्यते तदा तल्ला भे चैव "सेसंपित्ति" प्रागुक्तवचनाल्लब्धिमाश्रित्य प्रथम भा- वेन्द्रियलाभस्ततो द्रव्येन्द्रियलाभ इति द्रष्टव्यम् । यत्तु द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियसामान्याद्भिन्न कृतो लाभ पृच्छ्यते विशेषरूपतया पृच्छ्यते इत्यर्थ तदित्थ द्रष्टव्यं प्रथममि न्द्रियावरणक्षयोपशमरूपा लब्धिर्भवति ततो बाह्यान्तरभेद भिन्न निर्वृत्ते शक्तिरूपमुपकरण तदनन्तरं चेन्द्रियार्थोप योग इत्येतदेवाह ॥

लाभक्कमे उ लद्धी, निव्वउवगरणउवओगो ।
या दव्वेंदिय भावें-दिय सामन्नओ कम्रो भिन्नो ॥

व्याख्यातार्थो तदेव व्याख्यातमिन्द्रियस्वरूपम् । विशे० न० । त० । आ० म० द्वि० । प्रज्ञा० । जी० । स्था० । पा० । अष्ट० । आचा० ।

द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियभेदा यथा--

कतिविहा णं भंते! इंदिया पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा दव्विंदिया य भाविंदिया य । कइणं भंते!

दव्विंदिया पणत्ते ? गोयमा ! अट्ठदव्विंदिया पण्णत्ते, तंजहा दो सोत्ता दो नेत्ता दो घाणा जीहा फासे । नेरइयाणं भंते ! कइ दव्विंदिया पणत्ता ? गोयमा ! अट्ठ एते चेव एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराण वि । पुढविकाइयाणं भंते ! कइ दव्विंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! एगे फासिंदिए पण्णत्ते । एवं जाव वणस्सइकाइयाणं । बेइंदियाणं भंते ! कइ दव्विंदिए पण्णत्ते ? गोयमा ! दो दव्विंदिया पण्णत्ता, तं जहा फासिंदिए य जिब्भिंदिए य । तेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! चत्तारि दव्विंदिया पण्णत्ता दो घाणा जीहा फासिंदिए । चउरिंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! छ दव्विंदिया पण्णत्ता, तं जहा–दो नेत्ता दो घाणा जीहा फासे सेसाणं जहा नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया दव्विंदिया अईया ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! अट्ठ वा सोलस वा सत्तरस वा संखेज्ज वा असंखेज्ज वा अणंता वा । एगमेगस्स णं भंते ! असुरकुमारस्स केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? अट्ठ वा नव वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमाराणं ताव भाणियव्वं । एवं पुढविकाइयआउकाइयवणस्सइकाइयस्स वि नवरं केवइया बद्धेल्लगत्ति पुच्छा, एवं उत्तरं एके फासिंदिए दव्विंदिए एवं तेउकाइय । वाउकाइयस्स वि नवरं पुरक्खडा नव वा दस वा । एवं बेइंदियाण वि नवरं बद्धेल्लगपुच्छाए, दोण्णि । एवं तेइंदियस्स वि बद्धेल्लगा चत्तारि । एवं चउरिंदियस्स वि नवरं बद्धेल्लगा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिय सोहम्मीसाणगदेवस्स जहा असुरकुमारस्स । नवरं मणुस्सस्स पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा नव वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । सणंकुमारमाहिंदबंभलंतगसुक्कसहस्सार आणयपाणयआरणअच्चुयगेविज्जगदेवस्स जहा नेरइयस्स । एगमेगस्स णं भंते ! विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवस्स केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खडा ? अट्ठ वा सोलस वा चउवीसा वा संखेज्जा वा । सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स अतीता अणंता बद्धेल्लगा अट्ठ पुरक्खडा अट्ठ । नेरइया णं भंते ! केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! असंखिज्जा । केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! अणंता । एवं जाव गेवेज्जगदेवाणं नवरं मणुस्साणं बद्धेल्लगा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा । विजयवेजयंतजयंत अपराजियदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! अतीता अणंता बद्धेल्लगा असंखिज्जा पुरक्खडा असंखिज्जा सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! अतीता अणंता बद्धेल्लगा संखिज्जा पुरक्खडा संखेज्जा ॥

(कइविहाणं भंते इंदिया पण्णत्ता इति) द्रव्येन्द्रियं सुगम प्राग्भावितत्वात् । (कइविहेण भंते ! दव्विंदिया पण्णत्ता इति) द्रव्येन्द्रियसंख्याविषयं दण्डकसूत्रञ्च पाठसिद्धम् । एकैकजीवविषयातीतबद्धपुरस्कृतद्रव्येन्द्रियचिन्तायाम्–यो नैरयिको ऽनन्तरमनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य मानुषभवसम्बन्धीन्यष्टौ, यः पुनरन्यतरभवे तिर्यक् पञ्चेन्द्रियत्वमवाप्य तत उद्वृत्तो मनुष्येषु गत्वा सेत्स्यति तस्याष्टौ तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवसम्बन्धीन्यष्टौ मनुष्यभवसम्बन्धीनीति षोडश । यः पुनरनन्तरं नरकादुद्वृत्तस्तिर्यक् पञ्चेन्द्रियत्वमवाप्य तदनन्तरमेकभवे पृथिवीकायादिको भूत्वा मनुष्येषु समागत्य सेत्स्यति तस्याष्टौ तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवसम्बन्धीनि एकं पृथिवीकायादिभवसम्बन्धि अष्टौ च मनुष्यभवसम्बन्धीनि इति सप्तदश संख्येयकाल संसारावस्थायिनः सङ्ख्येयानि असंख्येयकालमसंख्येयानि अनन्तकालमनन्तानि, असुरकुमारसूत्रे–पुरक्खडा अट्ठ वा नव वा इत्यादि । तत्रासुरभवादुद्वृत्त्यानन्तरभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यत्यतोऽष्टौ, असुरकुमारादयस्त्वीशानपर्यन्ताः पृथिव्यब्वनस्पतिषूत्पद्यन्ते ततो योऽनन्तरभवे पृथिव्यादिषु गत्वा तदनन्तरं मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य नव सङ्ख्येयादिभावना प्राग्वत् पृथिव्यब्वनस्पतिसूत्रे पुरक्खडा अट्ठ वा नव वेति ॥ पृथिव्यादयो ह्यनन्तरमुद्वृत्य मनुष्येषूत्पद्यन्ते सिद्ध्यति च तत्र योऽनन्तरभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य मनुष्यभवसम्बन्धीन्यष्टौ यस्त्वनन्तरमेकं पृथिव्या भवमवाप्य तदनन्तरं मनुष्यो भूत्वा सेत्स्यति तस्य नव तेजोवायवोऽनन्तरमुद्वृत्ता मनुष्यत्वमेव न प्राप्नुवन्ति द्वित्रिचतुरिन्द्रियास्त्वनन्तरं मनुष्यत्वमवाप्नुवन्ति परं न सिद्ध्यन्ति, ततस्तेषां सूत्रेषु जघन्यपदे नव नवेति वक्तव्य शेषभावना प्रागुक्तानुसारेण कर्त्तव्या, मनुष्यसूत्रे पुरस्कृतानि द्रव्येन्द्रियाणि कस्यापि सन्ति कस्यापि न सन्तीति तद्भव एव सिद्ध्यतो न सन्ति शेषस्य सन्तीति भावः यस्यापि सन्ति सोऽपि यद्यनन्तरभवे भूयोऽपि मनुष्यो भूत्वा सेत्स्यति तस्याष्टौ यः पुनः पृथिव्याद्येकभवान्तरितो भूत्वा सिद्धिगामी तस्य नव शेषभावना प्राग्वत् । सनत्कुमारादयो देवा अनन्तरमुद्वृत्ताः न पृथिव्यादिष्वायान्ति किन्तु पञ्चेन्द्रियेषु ततस्ते नैरयिकवद्वक्तव्याः तथाचाह–" सणंकुमारमाहिंद बंभलोयलंतगसुक्कसहस्सार आणय पाणय आरण अच्चुय गेवेज्जगदेवस्सय जहा नेरइयस्स " विजयादिदेवचतुष्टयसूत्रेषु योऽनन्तरभवे मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्याष्टौ यः पुनरेकवार मनुष्यो भूत्वा भूयोपि मनुष्यत्वमवाप्य सेत्स्यति तस्य षोडश यस्त्वपान्तराले देवत्वमनुभूय मनुष्यो भूत्वा सिद्धिगामी तस्य चतुर्विंशतिर्मनुष्यभवे ऽष्टौ देवभवेऽष्टौ भूयोपि मनुष्यभवे अष्टाविति सङ्ख्येयानि संख्येयं कालं संसारावस्थायिन इह विजयादिषु चतुर्षु गताः प्रभूतमसंख्येयमनन्तं वा कालं संसारे नावतिष्ठन्ते ततः संखेज्जा वा इत्येवोक्तं " मा संखेज्जा अणंता वा " इति सर्वार्थे सिद्धस्त्वनन्तरभवे नियमतः सिद्ध्यति ततस्तस्याऽजघन्योत्कृष्टपुरस्कृता अष्टाविति । बहुवचनचिन्तायां नैरयिकसूत्रे बद्धानि द्रव्येन्द्रियाणि असंख्येयानि नैरयिका

णामसंख्यातत्वात् एवं शेषसूत्रेष्वप्युपयुज्य वक्तव्य नवरं मनुष्यसूत्रे " सियसंखेज्जा " इह सम्मूर्च्छिममनुष्याः कदाचित्सर्वथा न सन्ति तदन्तरस्य चतुर्विंशतिमुहूर्त्तप्रमाणस्य प्रागभिधानात्, तत्र यदा पृच्छासमये सर्वथा न सन्ति तदा संख्येयानि गर्भजमनुष्याणा सङ्ख्येयत्वात्। यदा तु सम्मूर्च्छिमा अपि सन्ति तदा असंख्येयानि। सर्वार्थसिद्धमहाविमानदेवाः सङ्ख्येया बादरत्वे महाशरीरत्वे च सन्ति परिमितक्षेत्रवर्तित्वात् ततो बद्धानि पुरस्कृतानि वा तेषां द्रव्येन्द्रियाणि सङ्ख्येयानि ॥

एगमेगस्स णं भंते! नेरइयस्स नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता। केवइया बद्धेल्लगा ? अट्ठ। केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि। जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स असुरकुमारत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता। केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! नत्थि। केवइया पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि। जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। एवं जाव थणियकुमारत्ते। एगमेगस्सणं भंते! नेरइगस्स पुढविकाइयस्स केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता। केवइया बद्धेल्लगा ? गोयमा ! णत्थि। केवइ या पुरक्खडा ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि एक्को वा दो वा तिन्नि वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। एवं जाव वणस्सइकाइयत्ते। एगमेगस्सणं भंते ! नेरइयस्स बेइंदियत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता? गोयमा ! अणंता। केवइया बद्धेल्लगा? गोयमा ! णत्थि, केवइया पुरक्खडा? गोयमा ! कस्स अत्थि कस्स नत्थि। जस्स अत्थि दो वा चत्तारि वा छ वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। एवं तेइंदियत्तेवि नवरं पुरक्खडा चत्तारि वा अट्ठ वा वारस वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। एवं चउरिंदियत्तेवि नवरं पुरक्खडा छ वा वारस वा अट्ठारस वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते जहा असुरकुमारत्ते। मणुस्सत्ते वि एवं चेव नवरं केवइया पुरक्खडा अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा, सव्वेसिं मणुस्सवज्जाणं पुरक्खडा मणुस्सत्ते कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थित्ति एवं न वुच्चइ। वाणमंतरजोइसियसोहम्मग जाव गेवेज्जगदेवत्ते अतीता अणंता। बद्धेल्लगा नत्थि। पुरक्खडा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? नत्थि केवइया बद्धेल्लगा ? नत्थि। केवइया पुरक्खडा ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा। सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते अतीता नत्थि, बद्धेल्लगा नत्थि, पुरक्खडा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ। एवं जहा नेरइए दंडओ नीतो तहा असुरकुमारेणवि नेयव्वो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं नवरं जस्स सट्ठाणे जइ बद्धेल्लगा तस्स तइ जाणियव्वा। एगमेगस्सणं भंते ! मणुस्सस्स नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता केवइया बद्धेल्लगा नत्थि केवइया पुरक्खडा ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा चउवीसं वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। जाव एवं पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते नवरं एगिंदिय विगलिंदियएसु जस्स जत्ति पुरक्खडा तस्स तत्तिया जाणियव्वा। एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स मणुस्सत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता। केवइया बद्धेल्लगा ! गोयमा ! अट्ठ, केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा चउवीसं वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा। वाणमंतरजोइसिय जाव गेवेज्जगदेवत्ते जहा नेरइयत्ते। एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स विजयवेजयतजयंतअपराजियदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा। केवइया बद्धेल्लगा णत्थि। केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठं वा सोलसं वा। एगमेगस्स णं भंते ! मणुस्सस्स सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ, केवइया बद्धेल्लगा णत्थि, केवइया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ। वाणमंतरजोइसिया जहा नेरइए। सोहम्मगदेवेवि जहा नेरइए नवरं सोहम्मगदेवस्स विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवत्ते केवइया अतीता ? कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ केवतिया बद्धेल्लगा णत्थि, केवतिया पुरक्खडा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा। सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते जहा नेरइयस्स एवं जाव गेवेज्जगदेवस्स सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते ताव नेयव्वं। एगमेगस्सणं भंते ! विजयवेजयतजयंतअपराजियदेवस्स नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा? णत्थि, केवतिया पुरक्खडा ? नत्थि। एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियत्ते। मणुस्सत्ते अणंता

अतीता वच्छेल्लगा णत्थि, पुरक्खमा अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा । वाणमंतरजोइसियत्ते जहा नेरइयत्ते । सोहम्मदेवत्ते अतीता अणंता वच्छेल्लगा अत्थि पुरक्खमा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ वा सोलस वा चउवीसं वा संखेज्जा वा । एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते विजयवेजयंतजयंत अपराजितत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । केवतिया वच्छेल्लगा अट्ठ, केवतिया पुरक्खमा कस्स अत्थि कस्स नत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । एगमेस्स णं भंते ! विजयवेजयंतजयंतअपराजियदेवस्स सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते । केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! णत्थि । केवतिया वच्छेल्लगा णत्थि, केवतिया पुरक्खमा कस्सइ अत्थि कस्सइ णत्थि जस्स अत्थि अट्ठ । एगमेगस्स णं भंते ! सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स नेरइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया वच्छेल्लगा नत्थि, पुरक्खमा नत्थि । एवं मणुस्सवज्जं जाव गेवेज्जगदेवत्ते मणुस्सत्ते अतीता अणंता, केवइया वच्छेल्लगा नत्थि । केवइया पुरक्खमा अट्ठ । विजयवेजयंतापराजियदेवत्ते अतीता कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि, जस्स अत्थि अट्ठ । केवइया वच्छेल्लगा ? णत्थि । केवइया पुरक्खमा ? णत्थि । एगमेगस्स णं भंते ! सव्वट्ठसिद्ध देवस्स सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! णत्थि, केवइया वच्छेल्लगा ? अट्ठ । केवइया पुरक्खमा, नत्थि । नेरइयाणं भंते ! नेरइयत्ते केवइया दव्विंदिया– अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया वच्छेल्लगा ? असंखेज्जा । केवइया पुरक्खमा ? अणंता । नेरइयाणं भंते ! असुरकुमारत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया वच्छेल्लगा ? नत्थि, केवइया पुरक्खमा ? अणंता । एवं जाव गेविज्जगदेवत्ते । नेरइयाणं भंते ! विजयवेजयंतजंयतापराजियदेवत्ते केवइया दव्विंदिया अतीता ? नत्थि । केवतिया वच्छेल्लगा ? नत्थि, केवइया पुरक्खमा? असंखेज्जा । एवं सव्वट्ठसिद्धदेवत्तेवि एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं सव्वट्ठसिद्ध देवत्ते भाणियव्वं । नवरं वणस्सइकाइयाणं विजयवेजयंतजयंतापराजियदेवत्ते सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते य पुरक्खमा अणंता । सव्वेसिं मणुस्ससव्वट्ठसिद्धगवज्जाणं सट्ठाणं वच्छेल्लगा असंखेज्जा परट्ठाणे वच्छेल्लगा नत्थि । मणुस्सा णं भंते ! नेरइयत्ते अतीता अणंता । वच्छेल्लगा नत्थि । पुरक्खमा अणंता । एवं जाव गेविज्जदेवत्ते नवरं सट्ठाणे अतीता अणंता । वच्छेल्लगा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा । पुरक्खमा अणंता । मणुस्सा णं भंते ! विजयवेजयंतजयंतापराजियदेवत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! संखिज्जा दव्विंदिया अतीता केवतिया वच्छेल्लगा नत्थि, केवतिया पुरक्खमा सिय संखिज्जा सिय असंखिज्जा । एवं सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते वि वाणमंतरजोइसियाणं देवाणं एवं चेव सोहम्मदेवाणं एवं चेव नवरं विजयवेजयंतजयंतापराजियदेवत्ते अतीता असंखेज्जा वच्छेल्लगा नत्थि, पुरक्खमा असंखिज्जा । सव्वट्ठसिद्धदेवत्ते अतीता नत्थि वच्छेल्लगा नत्थि पुरक्खमा असंखिज्जा । एवं जाव गेविज्जदेवाणं । विजयवेजयंतजयंतापराजियाणं देवाणं भंते !

नेरइयत्ते केवतिया दव्विंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता । केवइया वच्छेल्लगा नत्थि । केवइया पुरक्खमा णत्थि । एवं जाव जोइसियत्ते नवरं एसिं मणुस्सत्ते अतीता अणंता केवइया वच्छेल्लगा नत्थि, पुरक्खमा असंखेज्जा । एवं जाव गेवेज्जगदेवत्ते सट्ठाणे अतीता असंखेज्जा । केवइया वच्छेल्लगा असंखेज्जा । केवइया पुरक्खमा असंखेज्जा । सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते अतीता णत्थि, वच्छेल्लगा णत्थि, पुरक्खमा असंखेज्जा । सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते ! नेरइयत्ते केवइया अतीता ? गोयमा ! अणंता, केवइया वच्छेल्लगा णत्थि । केवइया पुरक्खमा नत्थि । दारं । कतिणं भंते ! भाविंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचभाविंदिया पण्णत्ता तंजहा–सोइंदिए जाव फासिंदिए । नेरइयाणं भंते ! कइ भाविंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंच भाविंदिया पण्णत्ता, तंजहा-सोइंदिए जाव फासिंदिए । एवं जस्स इंदिया तस्स तात्तिया भाणियव्वा । जाव वेमाणियाणं ॥ एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स केवइया भाविंदिया अतीता गोयमा ! अणंता । केवइया वच्छेल्लगा पंच । केवइया पुरक्खमा पंच वा दस वा एकारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं असुरकुमारस्स वि नवरं पुरक्खमा पंच वा दस वा छ वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा । एवं जाव थणियकुमारस्स । एवं पुढविकाइया आउकाइया वणस्सइकाइस्स वि । वेइंदिय-तेइंदिय चउरिंदियस्सवि । तेउकाइय-वाउकाइयस्स वि । एवं चेव नवरं पुरक्खमा छ वा सत्त वा संखिज्जा वा असंखिज्जा वा अणंता वा । पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स जाव ईसाणस्स जहा असुरकुमारस्स । नवरं मणुस्सस्स पुरक्खमा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि त्ति भाणियव्वं । सणंकुमार जाव गेवेज्जगस्स जहा नेरइयस्स । विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवस्स अतीता । अणंता वच्छेल्लगा पंच, पुरक्खमा पंच वा दस वा पण्णरस वा संखिज्जा वा । सव्वट्ठसिद्धगदेवस्स अतीता अणंता, वच्छेल्लगा पंच, केवइया पुरक्खमा पंच । नेरइयाणं भंते ! केवइया भाविंदिया अतीता ?

गोयमा ! अणंता, केवइया बद्धेल्लगा असंखेज्जा, केव-इया पुरक्खमा अणंता। एवं जहा दव्विंदियासु पोह-त्तेणं दंमओ नणिओ तहा नाविंदिएसु पोहत्तेणं दंम-ओ नाणियव्वो। नवरं वणस्सइकाइयाणं बद्धेल्लगावि अणंता॥ एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स नेरइयत्ते केव-इया नाविंदिया अतीता ? गोयमा ! अणंता, बद्धेल्लगा पंच, पुरक्खमा कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि जस्स अत्थि पंच वा दस वा पन्नरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। एवं असुरकुमाराणं जाव थणियकुमाराणं। नवरं बद्धेल्लगा नत्थि। पुढविकाइयत्ते जाव बेइंदियत्ते जहा दव्विंदिया, तेइंदियत्ते तहेव नवरं पुरक्खमा तिण्णि वा छ वा नव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। एवं चउरिंदियत्ते वि नवरं पुरक्खमा चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा। एवं ते चेव गमो चत्तारि नेयव्वो, जे चेव दव्विंदिएसु नवरं त-तिय-गमो जाणियव्वो, जस्स जइ जे इंदिया ते पुरक्खमेसु मुणेयव्वा। चउत्थगमो जहेव दव्विंदिया जाव। सव्वट्ठ सिद्धगदेवाणं सव्वट्ठसिद्धगदेवत्ते केवतिया नाविंदिया अतीता नत्थि। बद्धेल्लगा संखेज्जा पुरक्खमा नत्थित्ति

(एगमेगस्स ण भंते नेरइयस्स नेरइयत्ते इत्यादि कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थित्ति) यो नरकादुद्वृत्तो भूयोऽपि नैर-यिकत्व नावाप्स्यति तस्य न नवन्ति यस्त्ववाप्स्यति तस्य स-न्ति सोपि यद्येकवारमागामी ततोऽष्टौ द्वौ वारौ चेत्तर्हि षोडश यदि वा त्रीन् वारान ततश्चतुर्विंशतिसख्येयानि वारान् आगामी न संख्येयानीत्यादि मनुष्यत्वचिन्तायां कस्सइ अत्थि कस्सइ नत्थि इति न वक्तव्य मनुष्यागमनस्यावश्यभावित्वात् ततो जघन्यपदेऽष्टौ। उत्कर्षतोऽनन्तानीति वक्तव्यं विजयवेजयत-जयंतापराजितचिन्तायामतीतानि द्रव्येन्द्रियाणि न सन्ति क-स्मादिति चेदुच्यते इह विजयादिषु चतुर्षु गतो जीवो निय-मात्तन उद्वृत्तो न जातुचिदपि नैरयिकादिपञ्चेन्द्रियतिर्यक् पर्यवसानेषु तथा व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु मध्ये समागमि-ष्यति तथा स्वाभाव्यान्मनुष्येषु सौधर्मादिषु वा गमि-ष्यति तत्रापि जघन्यत एक द्वौ वा भवानुत्कर्षत सख्ये यान् न पुनरसख्येयाननन्तान्वा ततो नैरयिकस्य विजयादित्वे अतीतानि द्रव्येन्द्रियाणि न सन्तीत्युक्त पुरस्कृतान्यष्टौ षो डश वा विजयादिषु द्विरुत्पन्नस्यानन्तरभवे नियमतो मोक्ष गमनात्। एव यथा नैरयिकत्वादिषु चतुर्विंशतौ स्थानेषु चिन्ता कृता तथा असुरकुमारादीनामपि प्रत्येक कर्त्तव्या। पूर्वोक्तभावनानुसारेण स्वयमुपयुज्य परिभावनीया भावे-न्द्रियसूत्राण्यपि सुगमान्येव केवल द्रव्येन्द्रियगतभावना-नुसारेण तत्र भावना भावयितव्या इति। प्रज्ञा० १५ पद।

तत्र यानि द्रव्येन्द्रियाणि तानि जीवाना पर्याप्तौ सत्यां भव-न्ति यानि च भावेन्द्रियाणि तानि संसारिणा सर्वावस्थाभावी-नीति-त०

(२) इन्द्रियाणा बाहुल्य-पृथकुत्वप्रदेशावगाहना-स्पृष्टा तवेदना च ॥

तत्र बाहुल्यादि यथा—

सोइंदिए णं भंते ! केवइयं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइभागे बाहल्लेणं पण्णत्ते एवं फासिंदिए

(सो इंदिए ण भंते ! केवइय बाहल्लेण पण्णत्ते इत्यादि) इदमपि पाठसिद्धं उक्तश्चायमर्थोऽन्यत्रापि " बाहल्लतो य सव्वाइ अ-गुलअसखेज्जभागमिति"अत्राह-यद्यङ्गुलस्यासख्येयभागो बाहु-ल्य स्पर्शनेन्द्रियस्य तत कथ खड्गक्षुरिकाद्यभिघाते अन्तःशरी-रस्य वेदनानुभव. तदेतदसमीचीन सम्यग् वस्तुतत्त्वापरिज्ञा-नात्त्वगिन्द्रियस्य विषय शीतादय' स्पर्शा यथा चक्षुषो रूप गन्धो घ्राणस्य स्पर्शन च खड्गक्षुरिकाद्यभिघाते अन्त. शरी-रस्य शीतादिस्पर्शवेदनमस्ति किन्तु केवलं दुःख वेदन तच्च दुःखरूपवेदनामात्मा सकलेनापि शरीरेणानुभवति न केवले न त्वगिन्द्रियेण ज्वरादिवेदनावत् ततो न कश्चिद्दोषः अथ शीतलपानकादिपाने अन्त. स्पर्शवेदनाप्यनुभूयते तत.कथमि-त्थमवसीयते इति उच्यते-इहत्वगिन्द्रिय सर्वत्रापि प्रदेशपर्य-न्तवर्त्ति विद्यते तथा पूर्वसूरिभिः व्याख्यानात्तथा चाह मूलटी-काकारः सर्वप्रदेशपर्यन्तवर्त्तित्वाच्च त्वचोऽन्यतरोऽपि शुषिर-स्योपरि त्वगिन्द्रियस्य भावादुपपद्यते तत शीतस्पर्शवेदना-नुभव.॥ प्रज्ञा० १५ पद (तदुद्घातवेदनापिलेशतोव्याख्याता)

(३) इन्द्रियाणां पृथुत्व तदवगाहना च।

पृथुत्वविषयं सूत्रमाह॥

सोइंदिए णं भंते ! केवइयं पोहत्तेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइभागे पोहत्तेणं पण्णत्ते एवं चक्खि-दिए घाणिंदिए वि जिब्भिंदिएणं पुच्छा, गोयमा ! अंगुल-पुहत्तेणं पण्णत्ते फासिंदिएणं पुच्छा, गोयमा ! सरीरपमाण मेत्तेणं पण्णत्ते।

(पोहत्तेण पण्णत्ते इत्यादि) इह पृथुत्व स्पर्शनेन्द्रियव्यति रेकेण शेषाणामिन्द्रियाणामात्माङ्गुलेन प्रतिपत्तव्य स्पर्शने-न्द्रियस्य उच्छ्रयांगुलेन। ननु देहाश्रितानीन्द्रियाणि देह-श्चोच्छ्रयाङ्गुलेन प्रमीयते " उस्सेहपमाणतो मिणसु देहमि-तिवचनात् " तत इन्द्रियाण्यप्युच्छ्रयाङ्गुलेन मातु युज्यन्ते। नात्माङ्गुलेनेति। तदयुक्तम् जिह्वादीनामुच्छ्रयांगुलेन पृथुत्व प्रमितावभ्युपगमे त्रिगव्यूतीनां मनुष्याणां रसाद्यव्यवहारोच्छेद प्रसक्तेस्तथाहि-त्रिगव्यूतादीनां मनुष्याणा षड्गव्यूतादीनां च हस्त्यादीनां स्वस्वशरीरानुसारितया अतिविशालानि मुखानि जिह्वाश्च ततो यद्युच्छ्रयाङ्गुलेन तेषां क्षुरप्राकारतयो कस्याभ्यन्तरनिर्वृत्यात्मकस्य जिह्वेन्द्रियस्याङ्गुलपृथुत्वलक्ष णो विस्तार' परिगृह्यते तदा अल्पतया न तत्सर्व जिह्वां व्याप्नु यात् सर्वव्यापित्वाभावे च योऽसौ बाहुल्येन सर्वात्मना जिह्वाया रसवेदनलक्षणप्रतिप्राणप्रसिद्धो व्यवहार स व्यवच्छेदमाप्नु-यादेव घ्राणादिविषयेऽपि यथायोगं गन्धादिव्यवहारोच्छेदो भावनीय' तस्मादात्माङ्गुलेन जिह्वादीनां पृथुत्वमवसेय नोच्छ्र याङ्गुलेनेति। आह च भाष्यकृत् "इन्द्रियमाणे विणय,भणियब्भ जति गाथयार्द्धेन। जिब्भिंदियाइमाण,संववहार विरुज्झेज्जा ' अस्या अक्षरगमनिका तत उच्छ्रयाङ्गुलमिन्द्रियमानेऽपि आ-स्तामिन्द्रियविषयपरिमाण चिन्तायामित्यपिशब्दार्थ। भजनीय विकल्पनीय क्वापि गृह्यते इत्यर्थ किमुक्त भवति स्पर्शनेन्द्रिय पृथुत्वपरिमाणचिन्ताया ग्राह्यमन्येन्द्रियपृथुत्वपरिमाणचिन्ता-यां न ग्राह्य तेषामात्माङ्गुलेन परिमाणकारणादिति कथ

मेतदवसेयमिति चेदत आह यद्यस्मात्सर्वेषामपीन्द्रियाणा मुत्कृष्टयाङ्गुलेन परिणामकारणम् त्रिगव्यूतादीनामादिशब्दात् द्विगव्यूतादि परिग्रहो जिह्वेन्द्रियादिमान सूत्रोक्तमल्पबहुत्वं विरुध्येत । यथानन्तरमेव भावितमिति ।

सम्प्रति कतिप्रदेशावगाहनोत्ते प्रतिपादयति ।

सोइंदिए णं भंते ! कइ पदेसिए पप्पत्ते ? गोयमा ! अणंतपदेसिए पप्पत्ते एवं जाव फासिंदिए सोइंदिए णं भंते ! कइ पदेसोगाढे पएणत्ते ? गोयमा ! असंखेज्ज पदेसोगाढे एवं जाव फासिंदिए । (टीका न गृहीता)

(४) इन्द्रियाणामल्पबहुत्वं तद्गुणाश्च ।

एतेसि णं भंते ! सोइंदिय चक्खुइंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाणं ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए ओगाहणपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ गोयमा ! सव्वत्थोवे चक्खिंदिए ओगाहणट्ठयाए । सोइंदिय ओगाहणट्ठयाए संखिज्जगुणे । घाणिंदिय ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे । जिब्भिंदियओगाहणट्ठयाए संखिज्जगुणे । फासिंदियओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे । पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे । चक्खिंदिएपदेसट्ठयाए सोइंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे । घाणिंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे । जिब्भिंदिएपदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे ।फासिंदियपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे । ओगाहणपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे । चक्खिंदिए ओगाहणपदेसट्ठयाए सोइंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे । घाणिंदिए ओगाहणट्ठयाए, संखेज्जगुणे । जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए संखेज्जगुणे फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे । फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाएहिंतो चक्खिंदिएपदेसट्ठयाए अणंतगुणे । सोइंदिए पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणे । घाणिंदिए पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणे । जिब्भिंदिए पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणे फासिंदिए पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणे ।

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोकं चक्षुरिन्द्रियमवगाहनार्थतया किमुक्तं भवति सर्वस्तोकप्रदेशावगाढं चक्षुरिन्द्रियं ततः श्रोत्रेन्द्रियमवगाहनार्थतया सङ्ख्येयगुणमतिप्रभूतेषु प्रदेशेषु तस्यावगाहनाभावात्ततोऽपि घ्राणेन्द्रियमवगाहनार्थतया सङ्ख्येयगुणमतिप्रभूतेषु प्रदेशेषु तस्यावगाहनोपपत्तेस्ततोऽपि जिह्वेन्द्रियमवगाहनार्थतया असङ्ख्येयगुणं तस्याङ्गुलपृथक्त्वपरिमाणविस्तारात्मकत्वात् यत्तु दृश्यते पुस्तकेषु पाठ सङ्ख्येयगुण इति सोऽपि पाठो युक्तथुपपन्नत्वात्तथाहि–चक्षुरादीनि त्रीण्यपीन्द्रियाणि प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागविस्तारात्मकानि जिह्वेन्द्रियं त्वङ्गुलासंख्येयपृथक्त्वविस्तारमतोऽसङ्ख्येयगुणमेव तदुपपद्यते न तु सङ्ख्येयगुणमिति ततः स्पर्शनेन्द्रियमसंख्येयगुणम् । तथा ह्यङ्गुलपृथक्त्वप्रमाणविस्तारं जिह्वेन्द्रियप्रथक्त्वं क्षिप्रभूत्या नवत्यः स्पर्शनेन्द्रियं तु शरीरप्रमाणमिति सुमहदपि तदुपपद्यते सङ्ख्येयगुणमिति । यत्तु बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते पाठोऽसङ्ख्येयगुणमिति सोऽपपाठो युक्तिविकलत्वात् । तथा ह्यात्माङ्गुलप्रथक्त्वपरिमाणं जिह्वेन्द्रियं शरीरपरिमाणं तु स्पर्शनेन्द्रियशरीरमुत्कर्षतोऽपि लक्षयोजनप्रमाणं ततः कथमसङ्ख्येयगुणमुपपद्यत इति । अनेनैव क्रमेण प्रदेशार्थतयापि सूत्रम् भावनीयम् । उक्तप्रकारेणैव चोभयसूत्रमपि ।

इदानीमिन्द्रियगुणविषयकं सूत्रमाह ।

सोइंदियस्स णं भंते ! केवतिया कक्खडगरुयगुणा पणत्ता ? गोयमा ! अणंता कक्खडगरुयगुणा प० एवं जाव फासिंदियस्स सोइंदियस्स णं भंते ! केवइया मउयलहुयगुणा पणत्ता ? गोयमा ! अणंता । एवं जाव फासिंदियस्स, एतेसि णं भंते ! सोइंदिय–चक्खिंदिय–घाणिंदिय –जिब्भिंदिय फासिंदियाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कक्खडगरुयगुणमउयलहुगुणाणय कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा चक्खिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा । सोइंदियस्स कक्खड गरुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । मउयलहुयगुणाणं सव्वत्थोवा फासिंदियस्स मउयलहुयगुणा जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । सोइंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । चक्खिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंत गुणा । कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुय गुणाण य सव्वत्थोवा चक्खिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा । सोइंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा । फासिंदियस्स कक्खडगरुयहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । घाणिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । सोइंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा । चक्खिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंत गुणा ।

यानि कर्कशगुरुगुणादिसूत्राणि तानि पाठसिद्धानि नवरं अल्पबहुत्वे चक्षुः श्रोत्रघ्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियाणां यथोत्तरं कर्कशगुरुगुणा अमीषामेव च पश्चानुपूर्व्या यथापूर्वं मृदुलघुगुणा अनन्तगुणास्तथैव यथोत्तरं कर्कशतया यथापूर्वं चातिकोमलतयोपलभ्यमानत्वात् युगपदुभयाल्पबहुत्वसूत्रे फासिंदिय–कक्खडगरुयगुणेहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा इति सरीरेहिं कति पया एव, प्रदेशा उपरि वर्तिनः शीतातपादिसम्पर्कतः कर्कशा वर्तन्ते । अन्ये तु बहवः तदन्तर्गता अपि मृदव इति वर्तन्ते । स्पर्शनेन्द्रियस्य कर्कशगुणेभ्यो मृदुलघुगुणा अनन्तगुणा इति । प्रज्ञा० १५ पद० ॥

(५) अमून्येव संस्थानादीन्यल्पबहुत्वपर्यन्तानि द्वाराणि नैरयिकादिकेषु चिन्तयति ॥

नेरइयाणं भंते ! कइ इंदिया पणत्ता ? गोयमा ! पंच इंदिया पणत्ता तंजहा सोइंदिए जाव फासिंदिए । नेरइया-

एणं भंते ! सोइंदिए किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! कलंबुयासंठाणसंठिए पण्णत्ते । एवं जहा ओहिया वत्तव्वया भणिया तहेव नेरइयाणं पि अप्पा वा बहुया वा दोण्णि वि नवरं नेरइयाणं भंते ! फासिंदियस्स किं संठिए पण्णत्ते गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा भवधारणिज्जे य उत्तरवेउव्विए य तत्थ णं जेसे भवधारणिज्जे सेणं हुंडगसंठाणसंठिए तत्थ णं जे से उत्तरवेउव्विए ते चेव सेसं तं चेव । असुरकुमाराणं भंते ! कइ इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचिंदिया पण्णत्ता एवं जहा ओहियाणं जाव अप्पाबहुगाणि दोण्णि वि नवरं फासिंदिए दुविहे पण्णत्ते तं जहा भवधारणिज्जे उत्तरवेउव्विए य तत्थणं जे ते भवधारणिज्जे से णं समचउरंससंठाणसंठिए पण्णत्ते तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विए से णं नाणासंठाणसंठिए सेसं तं चेव एवं जाव थणियकुमाराणं । पुढविकाइयाणं भंते ! कइ इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! एगे फासिंदिए पण्णत्ते पुढविकाइयाण भंते ! फासिंदिए किं संठाणसंठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! मसूरचंदसंठाणसंठिए पण्णत्ते पुढविकाइयाणं फासिंदिए केवइय बाहल्लेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! अंगुलस्स असंखेज्जइभाग बाहल्लेणं पण्णत्ते पुढविकाइयाण फासिंदिए केवइय पोहत्तेणं पण्णत्ते ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्तेणं पण्णत्ते पुढविकाइयाण फासिंदिए कतिपदेसे पण्णत्ते ? गोयमा ! अणंतपदेसिए पण्णत्ते पुढविकाइयाण भंते ! फासिंदिए कइ पदेसोगाढे पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जपदेसोगाढे पण्णत्ते एतेसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! । सव्वत्थो वा पुढविकाइयाणं फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए ते चेव पदेसट्ठयाए अणन्तगुणे । पुढविकायियाणं भंते ! फासिंदियस्स केवइया कक्खडगरुयगुणा पण्णत्ता ? गोयमा ! अणंता एवं मउयलहुयगुणा वि एतेसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणाण मउयलहुयगुणाण कयर कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पुढविकाइयाणं फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा एवं आउकाइयाणं वि जाव वणस्सइकाइयाणं नवरं संठाणे इमो विसेसो दट्ठव्वो आउकाइयाण वि थुगबिंदुसंठाणसंठिए पण्णत्ते । तेउकाइयाणं सूइकलापसंठाणसंठिए पण्णत्ते । वाउकाइयाणं पडागारसंठाण संठिए पण्णत्ते । वणस्सइकाइयाणं णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते, बेइंदियाणं भंते ! कइइंदियां पण्णत्ता ? गोयमा ! दो इंदिया पण्णत्ता तंजहा जिब्भिंदिए य फासिंदिए य दोण्हं पि इंदियाणं संठाणं बाहल्लं पोहत्तं पदेस ओगाहणा य जहा ओहियाणं भणिया तहा भाणियव्वा नवरं फासिंदिए हुंडसंठाणसंठिए पण्णत्ते इमो विसेसो एतेसि णं भंते ! बेइंदियाणं जिब्भिंदियफासिंदियाणं ओगाहणट्ठयाए पदेसट्ठयाए ओगाहणपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवे बेइंदियाणं जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए फासिंदिए ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे बेइंदियाणं जिब्भिंदिए पदेसट्ठयाए फासिंदियपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे ओगाहणपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे बेइंदियस्स जिब्भिंदिए ओगाहणट्ठयाए फासिंदिय ओगाहणट्ठयाए असंखेज्जगुणे फासिंदियस्स ओगाहणट्ठयाएहिंतो जिब्भिंदियपदेसट्ठयाए अणंतगुणे फासिंदियपदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणे बेइंदियाणं भंते ! जिब्भिंदियस्स केवइया कक्खडगरुयगुणा प० ? गोयमा ! अणंता एवं फासिंदियस्स वि एवं मउयलहुयगुणा वि एतेसि णं बेइंदियाणं जिब्भिंदियफासिंदियाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाणं कक्खडगरुयगुणाणं मउयलहुयगुणाण य कयरे कयरे हिंतो अप्पा वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थो वा बेइंदियाणं जिब्भिंदियस कक्खडगरुयगुणा फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणा अणंतगुणा फासिंदियस्स कक्खडगरुयगुणेहिंतो तस्स चेव मउयलहुयगुणा अणंतगुणा जिब्भिंदियस्स मउयलहुयगुणा अणंतगुणा एवं जाव चउरिंदियत्ति नवरं इंदियपरिवुड्ढिकायव्वा तेइंदियाणं घाणिंदिए थोवे चउरिंदियाणं चक्खिंदिए थोवे सेसं तं चेव । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साण य जहा नेरइयाणं नवरं फासिंदिए छव्विहसंठाणसंठिए पण्णत्ते तंजहा समचउरंसे णिग्गोहपरिमंडले सादिखुज्जे वामणे हुंडे वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं ॥

नेरइयाण भंते ! इत्यादि । सुगमं नवर नेरइयाण भंते फासिंदिए किंसंठिए पण्णत्त इत्यादि । द्विविधं हि नैरयिकाणां शरीरं भवधारणीयमुत्तरवैक्रियं च तत्र भवधारणीय तेषां भवस्वभावत एव निर्मूलं विलुप्तपक्षोत्पाटितसकलरोमादिरोमपक्षशरीरवदतिबीभत्ससंस्थानोपेत यदप्युत्तरवैक्रिय तदपि हुण्डसंस्थानमेव तथाहि यद्यपि ते वयमतिसुन्दरशरीर विकुर्विष्याम इत्यभिसन्धिना वैक्रियशरीरमारभन्ते तथा पि तेषां अत्यन्ताशुभ तथाविधनामकर्मोदयादतीवाशुभतरमेवोपजायते इति-असुरकुमारसूत्रे भवधारणीय समचतुरस्रसंस्थान तथा स्वाभाव्यात्-उत्तरवैक्रियन्तु नानासंस्थितं स्वेच्छया तस्य निष्पत्तिभावात् पृथिव्यादिविषयाणि तु सूत्राणि सुप्रतीतान्येव प्रज्ञा० १५ पद० ॥

(६) इन्द्रियाणां च वर्तमानार्थग्राहकत्वम्
अत्थे य पडुप्पण्णे, विणियोगे इंदियं लहइ ॥

इन्द्रियं पुनश्चक्षुरादिक विनियोगं व्यापारं लभते प्रत्युत्पन्ने वर्त्तमानार्थविषयं नातीतानागतार्थविषयमिति भाव॰ ॥ वृ॰ १ उ॰। इन्द्रिय हि वार्त्तमानिक एवार्थे व्याप्रियते तत स्तत्सामर्थ्योदुपजायमानं मानसमपि ज्ञानमिन्द्रियज्ञानमिव वर्त्तमानार्थग्रहणपर्यवसितसत्ताकमेव भवेत् ॥ अथ यदा चक्षूरूपविषये व्याप्रियते तदा रूपविज्ञानमुत्पादयति न शेष काल ततस्तद्रूपविज्ञान वर्त्तमानार्थविषयं वर्तमान एवार्थे चक्षुषो व्यापारात् स्वरूपविषयव्यावृत्त्यभावे च मनोज्ञान तनो न तत् प्रतिनियतकालविषयमेव शेषेष्वपीन्द्रियेषु वाच्यमानं॥

(७) श्रोत्रेन्द्रियादीनां प्राप्ताप्राप्तविषयतां प्रतिपादयितुरादौ विषयांस्तद्ग्रहणप्रकारञ्चाह ॥

*दोहिं ठाणेहिं आया सद्दाइं सुणेइ तं देसेण वि आया सद्दाइं सुणेइ सव्वेण वि आया सद्दाइं सुणेइ एवं रूवाइं पासइ गंधाइं आघायइ रसाइं आसाएइ फासाइं पडि संवेएइ ॥ *

(देसेणविति)। देशेन शृणोत्येकेन श्रोत्रेणैकश्रोत्रोपघाते सति सर्वेण वा ऽनुपहतश्रोत्रेन्द्रियो यो वा सम्भिन्नश्रोत्राभिधानलब्धियुक्त स सर्वैरिन्द्रियैः शृणोतीति सर्वेणेति व्यपदिश्यते एवमिति यथा शब्दान् देशसर्वाभ्यां एव रूपादीनपि नवरं जिह्वादेशस्य प्रसुप्त्यादिनोपघाताद्देशेनास्वादयतीत्यवसेयमिति। देशसर्वाभ्यां सामान्यतः श्रवणादुक्त विशेषविवक्षायां प्रधानत्वात् देवाना तानाश्रित्य तदाह।

दोहिं ठाणेहिं देवे सद्दाइं सुणेइ तंजहा देसेण वि देवे सद्दाइं सुणेइ सव्वेण वि सद्दाइं सुणेइ जाव णिज्जरेइ ॥

(दोहीत्यादि) एतदपि विवक्षितशब्दादिविशेषापेक्षया सूत्रचतुर्दशक नेयमिति देशत सर्वतो वेति अनन्तरोक्ता भावा शरीर एव सति सम्भवन्तीति देवाना च प्रधानत्वात्तेषामेव। स्था॰ २ ठा॰।

पुट्ठाइं भंते ! सद्दाइं सुणेइ अपुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ? गोयमा ! पुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ नो अपुट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ पुट्ठाइं भंते ! रूवाइं पासंति अपुट्ठाइं रूवाइं पासंति ? गोयमा ! नो पुट्ठाइं रूवाइं पासंति अपुट्ठाइं रूवाइं पासंति पुट्ठाइं भंते ! गंधाइं अग्घाति अपुट्ठाइं गंधाइं अग्घाति ? गोयमा ! पुट्ठाइं अग्घाइ नो अपुट्ठाइं अग्घाइ। एवं रसाण वि फासाण वि नवरं रसाइं आस्साइ फासाइं पडिसंवेदेति अभिलाओ कायव्वो ॥

(सद्दाइ सुणेइ इत्यादि) प्राकृतत्वात्सूत्रे शब्दशब्दस्य न पुंसकत्वमन्यथा पुंस्त्व प्रतिपत्तव्य। स्पृष्टान् भदन्त ! श्रोत्रेन्द्रियमिति कर्तृपद सामर्थ्याल्लभ्यते। शब्दान् शृणोति तत्र स्पृश्यन्ते इति स्पृष्टास्तान् तनौ रेणुमिवालिङ्गितमात्रानित्यर्थ. " पुट्ठ रेणुं व तणुमि " इति वचनात् शब्द्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते अर्था एभिरिति शब्दा तान् शृणोति गृह्णाति उपलभ्यते इति यावत्। विमुक्त भवति। स्पृष्टमात्राण्यत्र च शब्द द्रव्याणि श्रोत्रेन्द्रियमुपलभन्ते। न तु घ्राणेन्द्रियादिवत् बद्ध स्पृष्टानीति कस्मादिति चेदुच्यते इह शब्दद्रव्याणि घ्राणेन्द्रियादिविषयभूतेभ्यो द्रव्येभ्य सूक्ष्माणि। तथा नितथा तत्क्षेत्रभाविशब्दयोग्यद्रव्यवासकानि च तत सूक्ष्मत्वादतिप्रभूतत्वात् तदाऽन्यद्रव्यवासकत्वाच्चात्मप्रदेशै. स्पृष्टमात्राण्यपि निर्वृत्तेन्द्रियमध्ये प्रविश्य झटित्युपकरणेन्द्रियमभिव्यञ्जयन्ति। श्रोत्रेन्द्रिय च घ्राणेन्द्रियाद्यपेक्षया स्वविषयपरिच्छेदे पटुतर तत स्पृष्टमात्राण्यपि तानि श्रोत्रेन्द्रियमुपलभन्ते नास्पृष्टान् सर्वथात्मप्रदेशै सम्बन्धमप्राप्तान् श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्तविषयपरिच्छेदस्वभावात् यथा च श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्तकारितया नन्द्यध्ययनटीकादौ चर्चितमिति ततोऽवधार्यम् (पुट्ठा इ भंते ! रूवाइ इत्यादि) ॥ सुगम निर्वचनमाह। गौतम ! न स्पृष्टानि रूपाणि पश्यति चक्षु किन्त्वस्पृष्टानि चक्षुषोऽप्राप्तिकारित्वाच्च तच्चाप्राप्तिकारित्व तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोवधारणार्थं गन्धादिविषयाणि सूत्राणि सुप्रसिद्धानि नवरं स्पृष्टान् गन्धानाजिघ्रतीत्यादियद्यप्युक्त तथापि बद्धस्पृष्टानीति द्रष्टव्यम यत उक्तमावश्यकनिर्युक्तौ (पुट्ठ सुणेईत्यादि) तत्र स्पृष्टानीति-पूर्ववत् बद्धानिति-आत्मप्रदेशैरात्मीकृतान् " बद्धमप्पीकय पएसेहिं " इति वचनात् विशेषणसमासश्च बद्धाश्च ते स्पृष्टाश्च बद्धस्पृष्टास्तान् इहस्पृष्टास्पर्शमात्रेणापि भवन्ति। तथा शब्दस्तत स्पर्शमात्रव्यवच्छेदेन स्पर्शविशेषप्रतिपत्तिरव्याहता स्यादिति बद्धग्रहण बद्धरूपा ये स्पृष्टास्तान् परिच्छिनत्ति नान्यानि कस्मादेवमितिचेदुच्यते गन्धादिद्रव्याणां बादरत्वादल्पत्वादभावकत्वाच्च घ्राणादीन्द्रियाणामपि श्रोत्रेन्द्रियापेक्षया मन्दशक्तिकत्वादिति। प्रज्ञा॰ पद॰ १५।

इन्द्रियाणां प्राप्याऽप्राप्यकारित्वम्।

चत्तारि इंदियत्था पुट्ठा वेदेंति। तंजहा। सोइंदियत्थे १ घाणिंदियत्थे २ जिब्भिंदियत्थे ३ फासिंदियत्थे ४

(पुट्ठत्ति) स्पृष्टा इन्द्रियसम्बद्धा (वेएतित्ति) वेद्यन्ते आत्मना ज्ञायन्ते नयनमनोवर्जानां श्रोत्रादीनां प्राप्तार्थपरिच्छेदस्वभावत्वादिति ॥ स्था॰ ४ ठा॰।

आह च ॥

पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु ॥
गंध रसं च फासं च, बद्धपुट्ठं वियागरे ॥ १ ॥

श्रोत्रेन्द्रिय कर्तृशब्द कर्मतापन्न शृणोति। कथंभूतमित्याह ॥ स्पृश्यत इति स्पृष्टस्त स्पृष्ट तनौ रेणुवदालिङ्गितमात्रमित्यर्थ.। इदमुक्त भवति स्पृष्टमात्राण्येव शब्दद्रव्याणि श्रोत्रमुपलभन्ते यतो घ्राणादीन्द्रियविषयभूतद्रव्येभ्यस्तानि सूक्ष्माणि बहूनि भावुकानि च पटुतर च श्रोत्रेन्द्रिय-विषयपरिच्छेदे घ्राणेन्द्रियादिगणादिति श्रोत्रेन्द्रियस्य च कर्तृत्व शब्दश्रवणान्यथानुपपत्तेर्लभ्यते। एव घ्राणेन्द्रियादिष्वपि वाच्यम् तानि पुन कथ गन्धादिक गृह्णन्तीत्याह ॥ गन्ध्यत इति गन्धस्तमुपलभते घ्राणेन्द्रियम्। रस्यत इति रसस्त च गृह्णाति रसनेन्द्रियम् स्पृश्यत इति स्पर्शस्त च जानाति स्पर्शनेन्द्रियम्। कथंभूत गन्धादिकमित्याह। बद्धस्पृष्ट तत्र स्पृष्टमितिपूर्वम् । कथंभूत गन्धादिकमित्याह। बद्धस्पृष्ट तत्र स्पृष्टमितिपूर्ववदेव बद्ध तु गाढतरमाश्लिष्टमात्मप्रदेशैस्तोयवदात्मीकृतमित्यर्थ। ततश्च गंधादिद्रव्यसमूह प्रथम स्पृष्टमालिङ्गित ततश्च स्पर्शनानन्तर बद्धमात्मप्रदेशैर्गाढतरमागृहीतमेगोपलभते घ्राणेन्द्रियादिकमित्येव व्यागृणीयात् प्ररूपयेत् प्रज्ञापक। यतो घ्राणेन्द्रियादिविषयभूतानि गन्धादि द्रव्याणि शब्दद्रव्यापेक्षया स्तोकानि बादराण्यभावुकानि च विषयपरिच्छेदे श्रोत्रापेक्षया पटूनि च घ्राणादीन्यतो बद्धस्पृष्टमेव गन्धादिद्रव्यसमूह गृह्णन्ति न पुन. स्पृष्टमात्रमितिभाव नतु यदि स्पर्शनान्तर बद्ध गृह्णन्ति तर्हि 'पुट्ठबद्ध' मिति

पाठो युक्त इति चेदुच्यते । विचित्रत्वात्सूत्रगतेरित्थं निर्देशो ऽर्थतस्तु यथा त्वयोक्त तथैव द्रष्टव्यम् । अपरस्त्वाह । यद्बद्धं तत्स्पृष्टं भवत्येव विशेषबन्धे सामान्यबन्धस्यान्तर्भावात् तत किं स्पृष्टग्रहणेनेति तदयुक्त सकलश्रोतृसाधारणत्वाच्छास्त्रारम्भस्य प्रपञ्चितज्ञानग्रहार्थमर्थापत्तिगम्यार्थाभिधाने ऽप्यदोषादिति चतुरिन्द्रिय त्वप्राप्तमेव विषयं गृह्णातीत्याह "रूव पुण पासइ अपुट्टं त्विति" रूप कर्मतापन्न च चक्षुरस्पृष्टमप्राप्तमेव पश्यति पुन शब्दस्य विशेषणार्थत्वादस्पृष्टमपि योग्यदेशस्थमेव पश्यति नायोग्यदेशस्थसौधर्मादिकटकुड्यादिव्यवहित वा घटादीति निर्युक्तिगाथार्थ. ॥

अथ तद्व्याख्यानाय भाष्यम् ।

पुट्टं रेणुं व तणुम्मि, बद्धमप्पीकय पएसेहिं ।
भिक्काइं चिय गिण्हइ, सद्ददव्वाइजुत्ताइं ॥
बहुसुहुमभावुगाई, ज पडुयरय व सोत्तविण्णाण ।
गधाइ दव्वाइ, विवरीयाइ जओ ताइ ॥
फरिसाणत्तरमत्तर, मत्तप्पए समीसीकयाइ ।
घेप्पति पडुयरविणाई ज च न घाणाइकरणाइ ॥
स्पृष्टमित्यस्य व्याख्यानम् ॥

(पुट्टरेणु व तणुम्मित्ति) । यथा रेणोस्तनौ सबन्ध' इत्येतावन्मात्रेण यद्वस्तु सबद्ध तदिह स्पृष्टमुच्यत इति भाव ॥ (बद्धमित्यादि) यदात्मीकृतमात्मना गाढतरमागृहीतमात्मप्रदेशैस्तनुलग्नतोयवन्मिश्रीकृत तद्बद्धमुच्यत इत्यर्थ. ॥ तत्र (भिक्काइ चि) अतिस्पृष्टान्येव शब्दद्रव्याणि गृह्णाति श्रोत्र यतस्तानि बहूनि सूक्ष्माणि भावुकानि च वासकानि चेत्यर्थ. । पटुतर च श्रोत्रविज्ञान गन्धादिद्रव्याणि तु विपरीतानि स्तोकबादराभावुकानि यतोऽतस्तानि स्पर्शानन्तरमात्मप्रदेशैर्मिश्रीकृतानि स्पृष्टबद्धानि गृह्यन्ते । घ्राणादिभि पटुतरविज्ञानानि च न भवन्ति यतो घ्राणादिकारणानीतिगाथात्रयार्थ । अथ रूव पुण पासइ अप्पुट्टत्विम्यत्रोपपत्तिमाह ।

" अप्पत्तकारिनयणं, णेय नयणस्स विसयपरिमाण । आयगुत्तेण लक्ख, अइरित्त जो अणाणतु " प्रागुक्तयुक्त्या अप्राप्तकारि अप्राप्तस्यैव वस्तुन परिच्छेदकारि यतो नयन मनश्च ततो ऽस्पृष्टमेव रूप पश्यति नयनेन्द्रियम् । विशे० (अधिक तु विस्तरभयान्न प्रपञ्च्यते तत्तुतत्रैव दृष्टव्यम्)

(८) सम्प्रतीन्द्रियाणाम्प्रविष्टाप्रविष्टविषयचिन्ता कुर्वन्नाह ॥

पविट्ठाइं भंते ! सद्दाइं सुणेइ अपविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ ? गोयमा ! पविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ नो अपविट्ठाइं सुणेइ एवं जहा पुट्ठाणि तहा पविट्ठाणि ॥

(सद्दाइं इत्यादि) पाठसिद्ध नवर स्पर्शस्तनौ रेणोरिवाऽपि भवति । प्रवेशो मुखे कवलस्येवेति शब्दार्थस्य भिन्नत्वात् भिन्नविषयता स्पृष्टप्रविष्टसूत्राणामिति–प्रज्ञा० १५ पद० ।

(९) श्रोत्रलक्षणादिचतुरिन्द्रियाणां प्राप्यकारित्व नयनमनसोस्त्वप्राप्यकारित्वम् ।

प्राप्यकारीणीन्द्रियाण्यप्राप्यकारीणिवेति तत्र प्राप्यकारीण्येवेति कणभक्षाक्षपादमीमांसकसाङ्ख्या समाख्यान्ति । चक्षुःश्रोत्रेतराणि तानि तथेति ताथागता । चक्षुर्वर्जानीति तु तथा स्याद्वादावदातहृदया. । तत्र प्रथमे प्रमाणयन्ति ।

चक्षु प्राप्य मतिं करोति विषये बाह्येन्द्रियत्वादितो ।
यद्बाह्येन्द्रियतादिना परिगत तत्प्राप्यकारीक्षित ॥
जिह्वावत् प्रकृत तथा च विदित तस्मात्तथा स्वीयता ।
नाऽत्रासिद्धिमुखश्च दूषणकणस्तल्लक्षणानीक्षणात् ॥ १॥

अद्रिचन्द्रकलनेषु या पुनर्योगपद्यधिषणा मनीषिणाम् ।
पद्मपत्रपटलीविलोपवत्सत्वरोदयनिबन्धनैव सा ॥२॥
प्रथमत परिसृत्य शिलोच्चय निकटतः क्षणमीक्षणमीक्षते ।
तदनु दूरतराम्बरमण्डली तिलककान्तमुपेत्य सितत्विषम् ३
कुर्म्महेऽत्र वयमुत्तरकेलीं कीदृशी इगिह धर्म्मितयोक्ता ।
किन्तु मांसमयगोलकरूपा सूक्ष्मताभृदपरा किमु काऽपि ॥४॥
आदिमा यदि तदापि किमर्थो लोचनानुसरणव्यसनी स्यात् ।
लोचन किमुत वस्तुनि गत्वा सत्रुजो त्रिय इव प्रणयिन्याम् ।५।
प्रत्यक्षबाध' प्रथमप्रकारे प्राकारपृथ्वीधरसिन्धुरादि. ।
सलक्ष्यते पक्ष्मपुटोपटक्षी प्रत्यक्षकाले कलयाऽपि नो यत् ॥६॥
पक्षेऽपरत्राऽपि स एव दोषः सर्प्पन्न वस्तु प्रतिवीक्ष्यतेऽक्षि ।
ससर्प्पणे वाऽस्य सकोटरत्वप्राप्त्यापुमान् किंन जरद्रुम'स्यात् ।

चक्षुष' सूक्ष्मतापक्षे सूक्ष्मता स्यादमूर्तता ।
यद्वाल्पपरिमाणत्व-मित्येषा कल्पनाद्वयी ॥ ८ ॥

स्याद्व्योमवद्व्यापकता प्रसक्तथा सर्वोपलम्भः प्रथमप्रकारे । प्राकारकान्तारविहारहार मुख्योपलम्भो न भवेद्द्वितीये ।९। न खलु न खलु शास्त्रस्वप्रमाणात्प्रथिष्ठे पटकटशकटादौ भेदकारि प्रसिद्धम् । अथ निगदसि तस्मिन् रस्मिचक्रं क्रमेण, प्रसरति नत एतत्स्यादनल्पप्रकाशम् ॥ १० ॥ तथाहि-प्रोद्दाममाणिक्यकणानुकारी दीपाङ्कुरस्त्विट्पटलीप्रभावात् । किं नैव कश्मीरजकज्जलादीन्प्रथीयसोऽपि प्रथयत्यशेषान् ॥ ११ ॥ नन्वेवमध्यक्षनिराक्रिया स्यात्पक्षे पुरस्तादुपलक्षितेऽस्मिन् । प्रौढप्रभामण्डलमण्डितोऽर्थो नाभासते यत्प्रतिभासमान ॥ १२ ॥ अथाप्यनुद्भूततया प्रभाया. पदार्थसंपर्कजुषोऽप्यनीक्षा । सिद्धिस्तदानीं कथमस्तु तस्या ब्रवीषि चेत्तैजसताख्यहेतो. ॥ १३ ॥ रूपादिमध्ये नियमेन रूपप्रकाशकत्वेन च तैजसत्वम् । प्रभाषसे चक्षुसि सुप्रसिद्ध यथा प्रदीपाङ्कुरविद्युदादौ ॥ १४ ॥ तदिद घुसृणविमिश्रणभ्रपुरन्ध्रीकपोलपालीनाम् । अनुहरते व्यभिचाराद्दूपक्षणसनिकर्षेण १५ ॥ द्रव्यत्वरूपेऽपि विशेषणे स्या–द्धेतोरनैकान्तिकताञ्जनेन । तस्यापि चेत्तैजसता तनोषि, तन्वादिना किन्तु तदाऽपराद्धम् ॥ १६ ॥ सौवीरसौवर्चलसैंधवादि निश्चिन्वते पार्थिवमेव धीरा. कृशानुभावोपगमोऽस्य तस्मा–दयुक्त एव प्रतिभात्यमीषाम् ॥ १७ ॥ तथाच–सौवीरसौवर्चलसैन्धवादिक स्यादाकरोद्भूतिवशेन पार्थिवम् । मृदादिवन्न व्यभिचारचेतन चामीकरेणानुगुण निरीक्ष्यते ॥ १८ ॥ चामीकरादेरपि पार्थिवत्वं लिङ्गेन तेनैव निवेदनीयम् । शाब्दप्रमाणेन न चाऽत्रबाधा पक्षस्य यन्नास्ति तदत्र सिद्धम् ॥ १९ ॥ अञ्जन मरिचरोचनादिक पार्थिव ननु तवापि सम्मतम् । अञ्जनेऽपि तदसौ प्रवृत्तिमा–नप्रयोजकविडम्बडम्बरी ॥ २० ॥ हनूमल्लोललांगूल–लम्बात्त साधनादतः । न सिद्धिस्तैजसत्वस्य दृष्टसुस्पष्टदूषणात् ॥ २१ ॥ चक्षुर्न तैजसमभास्वरतिग्मभावादम्भोवदित्यनुमितिप्रतिषेधनाच्च । सिद्धिं दधाति नयनस्य न तैजसत्व तस्मादमुष्य घटते किमु रश्मिवत्ता ॥ २२ ॥ अपिच । प्रत्यक्षबाध ममलाक्षि पक्षे न रश्मयो यद्दृशि दृष्टपूर्वा । तथा च शास्त्रेण तवैव काला–तीतत्वदोषोऽप्युदपादि हेतो ॥ २३ ॥ अनुद्भवद्रूपजुषो भवेयुश्चेद्रश्मयस्तत्र ततो न दोष । नन्वेवमेतस्य पदार्थसार्थप्रकाशकत्व न सुवर्णवत् स्यात् ॥ २४ ॥ आलोकसान्निध्यवशाद्यथास्य प्रकाशकत्व घटनामियर्ति । नन्वेवमेतत्साचिवस्य किं स्यात्प्रकाशकत्व न कुटीकुटादे २५ ।

अथास्तु कामं ननु तैजसत्व-मुत्तेजितं किं न भवेत्तथास्य । तथा च नव्यस्त्वदुरु एषो-ऽद्भुतप्रवादोऽजनि तैजसत्वे २६ उत्पद्यन्ते तरणिकिरणश्रेणिसपर्कतश्च-त्तत्रोद्भूताः सपदि रुचयो लोचने रोचमानाः । यद्गृह्यन्ते न खलु तपनालोकसंपत्प्रतान-स्तस्मिन्हेतुर्भवति हि दिवा दीपभासामभासः ।२७। अत्रेयं प्रतिक्रिया-मुपिग्राह्यो कुवलयदलश्यामलिम्नाऽविलिप्ते स्फीते ध्वान्ते स्फुरति चरतो घूककाकोदरादेः । किं लक्ष्यते क्षणमपि रुचो लोचनेनैव यस्मादालोकस्य प्रसरणकथा काचिदप्यत्र नास्ति ॥२८॥ उत्पत्तिरुद्भूततयाथ तासां तत्रैव यत्रास्ति रवि प्रकाशः । काकोदरादेरपि तर्हि नैताः कीट-प्रकाशे कुशला भवेयुः ॥ २९ ॥ अविवरतिमिरव्यतिकर-परिकरितापवरकोदरे क्वचन । वृषदंश दृशि न दृष्टा मरीचयः किमु कदाचिदथ ॥ ३० ॥ अत एव विलोकयन्ति सम्य-क्तिमिराङ्कुरकर्बितेऽपि कोणे । मूषकपरिपन्थिनः पदार्थान् ज्वलनालोकविजृम्भणं विनैव ॥ ३१ ॥ अत्रोत्तरम-चाकचिक्यप्रतीभास-मात्रमत्रास्ति वज्रवत् । नांशवःप्रसरन्तस्तु, प्रेक्ष्यन्ते सूक्ष्मका अपि ॥ ३२ ॥ मार्जारस्य यदीक्षणप्रणयिनः केचिन्मयूखा सखे विद्येरन् न तदा कथं निशि भृशं तच्चक्षुषा प्रेक्षिते । प्रोन्मीलत्करपुञ्जपिञ्जरतनौ सजातवत्सुन्दरे प्रोज्जृम्भेत तथापि हन्त धिषणा दीपप्रदीपाद्यथा ॥ ३३ ॥ क्रूरतरतया तेषां नोचेदुदेति मतिस्तव प्रभवति कथं तस्याप्यस्मिन्नसौ निरुपप्लवा । घटनां गुणा साक्षात्प्रेक्षाविधौ हि ततिस्त्विषां न खलु न समा धीमन् । सा चोभयत्र विभाव्यते ॥ ३४ ॥ असूक्ष्मरूपिकारीणा तस्मादस्ति स्वयोग्यता । यथा तमस्यपीक्षन्ते, न चक्षूरश्मिवत्पुनः ॥३५॥ इत्थ न चक्षुषि कथंचिदपि प्रयाति ससिद्धिपद्धतिमियं खलु रश्मिवत्ता । तस्मात्कथं कथय तार्किकचक्षुषः स्यात् प्राप्यैव वस्तुनि मतिः प्रतिबोधकत्वम् ॥ ३६ ॥ बहिरर्थग्रहोन्मुख्य बहिः कारणजन्यता । स्थायित्व वा बहिर्देशे किं बाह्येन्द्रियता भवेत् ॥ ३७ ॥ तत्रादिमायां भिदि चेतसा स्या-देतस्य हेतोर्व्यभिचारचिह्नम् अप्राप्यकारि प्रकरोति यस्मान्मन्दाकिनी मन्दरबुद्धिमेतत् ॥ ३८ ॥ दोषः स एवोत्तरकल्पनायां यदात्मनः पुद्गल एव बाह्यः । चेतश्च तस्मादुपजायमानमेतद्बहिःकारणजन्यताभृत् ॥ ३९ ॥ चेतः सनातनतया कलितस्वरूपं सर्वोपकृष्टपरिमाणपवित्रितं च । प्रायः प्रियप्रणयिनीप्रणयातिरेका-देतत्करोति हृदये ननु तर्कतज्ज्ञा ॥४०॥ एतदत्र विततीक्रियमाणं प्रस्तुतेतरदिव प्रतिभाति । विस्तराय च भवेदिति चिन्त्यं तद्विलोक्य गुरुगुम्फितवृत्तिम् ॥ ४१ ॥ पक्षे तृतीये विषयप्रदेशः शरीरदेशो यदि वा बहिः स्यात् । स्थायित्वमाद्ये विषयाश्रितत्वं यद्वा प्रवृत्तिर्विषयोमुखी स्यात् ॥ ४२ ॥ प्राचीनपक्षे प्रतिवाद्यसिद्धिःकलङ्कपङ्कः समुपैति हेतोः । स्याद्वादिना यत्प्रतिवादिनास्य नाङ्गीकृतं मेयसमाश्रितत्वम् ॥ ४३ ॥ पक्षे तथा साधनशून्यतास्मिन् दृष्टान्तदोषः प्रकटः पटूनाम् । जिह्वेन्द्रियं नार्थसमाश्रितं य-द्विलोकयामासुरमी कदाचित् ॥ ४४ ॥ द्वितीयकल्पे किमसौ प्रवृत्ति-रर्थाभिमुख्येन विसर्पणं स्यात् ॥ आश्रित्य किं वा विषयप्रपञ्च-प्रतीतिसपत्प्रतिबोधकत्वम् ॥ ४५ ॥ पक्षे पुरश्चारिणि सिद्धिवन्ध्य स्यात्साधनं जैनमतानुगानाम् । यस्मान्न तैर्लोचनरश्मिचक्र-मङ्गीकृतं वस्तुमुख प्रसर्पत् ॥ ४६ ॥ निदर्शनस्य स्फुटमेव दृष्ट वैकल्यमत्रैव हि साधनेन । पदार्थसार्थं प्रति यत्प्रसर्पज्जिह्वेन्द्रियं केनचिदिष्टपूर्व्वम् ॥ ४७ ॥ पक्षान्तरे तु व्यभिचारमुद्रा किं चेतसा नैव समुज्जजृम्भे । यस्मात्तदप्राप्यसुपर्वशैलस्वर्गे समुत्पादयति प्रतीतिम् ॥४८॥ शरीरस्य बहिर्देशे स्थायित्व यदि जल्प्यते । बाह्येन्द्रियत्वमत्र स्यात्सदिग्धव्यभिचारिता ॥ ॥४९ ॥ अप्राप्तार्थपरिच्छेदे नापि सार्द्धं न विद्यते । हेतोर्बाह्येन्द्रियत्वस्य विरोधो बत कश्चन ॥ ५० ॥ क्वचित्साध्यनिवृत्त्या तु हेतुव्यावृत्तिदर्शनात् प्रतिबन्धप्रसिद्धिश्चेत्तदात्रापि कथं न सा ॥ ५१ ॥ रसन-स्पर्शन-घ्राणश्रोत्रान्येन्द्रियता बलात् । चक्षुरप्राप्यविज्ञातृ-मनोवत् प्रतिपाद्यताम् ॥ ५२ ॥ साध्यव्यावृत्तितोऽत्रापि हेतुव्यावृत्तिरीक्षिता । न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येनैकत्रैव सा मता ॥ ५३ ॥ बाह्येन्द्रियत्व सकलङ्कमेव न तार्किकान् प्रीणयितुं तदीशे । अपि भ्रमो दुर्भगभामिनीनां वैदग्ध्यभाजो भजते न चेतः ॥ ५४ ॥ किंचात्र ससूचितमादिशब्दाद् वृत्ते पुरश्चारिणि कारकत्व । यत्प्राप्यकारित्वसमर्थनाय नेत्रस्य तत्काणदगञ्जनाभम् ॥५५॥ यस्मादिदं मन्त्रजपोपसर्प-त्प्रोद्दामरामाव्यभिचारदोषात् । उत्तालवेतालकरालकेलि-कलङ्कितश्रीकमिवावभाति ॥५६॥ तथाहि । कनकनिकषस्निग्धां मुग्धां मुहुर्म्मधुरस्मितां वकुलकुटिलभ्रूविभ्रान्ति कटाक्षपटुच्छटाम् । त्रिजगति गतां कश्चिन्मन्त्री समानयति क्षणात्तरुणरमणीमारान्मन्त्रान्मनोभुवि संस्मरन् ॥५७॥ कश्चिदत्र गदति स्म यत्पुनर्मन्त्रमन्त्रणगवीसमानयेत् । युक्तमेव मदिरेक्षणादिक नेन नाभिहितदूषणोदय ॥ ५८ ॥ मन्त्रस्य साक्षाद्घटना प्रियादिना परपरातो यदि वा निगद्यते । साक्षान्न तावद्यदयं विहायसो ध्वनिस्वरूपस्तव सम्मतो गुणः ॥ ५९ ॥ ततोऽस्य तेनैव समं समस्ति ससक्तिवार्ता न तु पद्मलाक्ष्या । अथाक्षराक्षम्यनवेदनं स्या, न्मन्त्रस्तथाप्यास्त्वियमात्मनैव ॥ ६० ॥ अथापि मन्त्रस्य निवेद्यते त्वया संसक्तिरेतत्पतिदेवतात्मना । सतोषपोषप्रगुणा च सा प्रियां प्रियं प्रति प्रेरयति स्वयोगिनीम् ॥ ६१ ॥ ब्रूमहेऽत्र ननु देवतात्मनां मन्त्रवर्णविसरस्य का घटा । अम्बरस्य गुण एव तत्कथ देवतात्मनि भजेत सगतिम् ॥ ६२ ॥ आश्रयद्वारतोऽप्यस्य ससर्गो नास्ति सर्वथा । व्यापकद्व्ययोर्यस्मा-त्ससर्गो नामुना मत ॥ ६३ ॥ व्यापकेषु वदति व्यतिषङ्ग-यस्तु तेन मनसा ध्वनिना वा-ऽनीतवस्तुविपर्ययेण विमृश्य स्पष्ट एव विलसन्-व्यभिचारः ॥ ६४ ॥ अयस्कान्तादनेकान्त-स्तथाऽत्र परिभाव्यताम् । आक्षेपश्च समाधिश्च ज्ञेयो रत्नाकरादिह ॥ ६५ ॥ कारकत्वमपि तत्र शोभते प्राप्यकारिणि यदीक्षणे मतम् । प्राप्य वस्तु वितनोति तन्मतिं नैव चक्षुरिति तत्त्वनिर्णयः ॥ ६६ ॥ अद्रिचन्द्रकलनेषु येत्यद प्राक् प्ररूपितमुपैति नो घटाम् । रश्मिसचयविपञ्चित हि तत्ते च तत्र नितरां व्यपाकृता ॥ ६७ ॥ किंच । चक्षुरप्राप्यधीकृत्, व्यवधिमतोऽपि प्रकाशक यस्मात् । अन्तःकरणं यद्वद्व्यतिरेके स्यात् पुना रसना ॥ ६८ ॥ अथ कुमादिव्यवधानभाज प्रकाशकत्व ददृशे न दृष्टौ । ततोऽव्यय हेतुरसिद्धतायां धौरेयभाव विभराबभूव ॥ ६९ ॥ एतद्युक्त शतकोटिकाच्च स्वच्छोदकस्फाटिकभित्तिमुख्ये । पदार्थपुञ्जे व्यवधानभाजि सजायते किं नयनान्न सवित् ॥ ७० ॥ दम्भोलिप्रभृतिप्रभिद्यभिदुराश्चेद्रोचिषश्चक्षुषः सर्गोपगता पदार्थपटलीं पश्यन्ति तत्र स्थिताम् । एव तर्हि समुच्छलन्मलभरं भित्वा जलं तत्क्षणा-त्तेनाप्यन्तरितास्थितीर्न्ननिमिषा नालोकयेयुर्न किम् ॥ ७१ ॥ विख्याता-

स्तेन तेचेद्धिमजलजलनरार्ति भजन्ते न शांतिं, किं चाम्नःक्षाचकूपोदरनिवरगत निष्पतेत्तत्त्वदानीम् । दोपक्षेन्नैप तूर्णं यदयमुदयते नूतनव्यूहरूप सर्पेयुस्तर्हि नैताः कथमपि रुचयो लोचनस्यापि तस्मिन् ॥ ७२ ॥ भवति परिगमक्षेछेगवस्वादमेपा कतिपयकलयास्तु क्षीरपातस्तदानीम् । न च भवति कदाचिद्वुद्बुदस्यापि तस्मान्तमपतनमिति युक्तस्तस्य नाशः किमाशु ॥ ७३ ॥ किंच ॥ कलशकुलिशप्राकाराद्यभिविष्टपकन्दरा-कुहरकलित विश्वं वस्तु प्रतीक्षणन-गुरम् । ज्वलनकलिकावर्त्तित्वस्मिन्निरन्तरनाक्रम प्रभवति वदपितय शाक्यः कथ प्रतिहन्यते ॥ ७४ ॥ तस्थो स्थेमा तदस्मिन् व्यवधिमदमुना प्रेक्ष्यते येन सर्वम् तत्सिद्धा नेत्रबुद्धिर्व्यवधिपरिगतस्यापि भावस्य सम्यक् । कुड्याद्यवष्टब्धबुद्धिर्नवाति किमु न चेन्नेदशी योग्यतास्य प्राप्तस्यापि प्रकाशे प्रभवति न कथ लोचनाक्रन्धबुद्धिः ॥ ७५ ॥ किं वा न प्रतिभासते शशधरं फर्मापि तद्रूपवत् दूराच्चेद्विलसत्वदस्य चदये लक्ष्येत किं लाञ्छनम् । तस्माच्चक्षुपि योग्यतैव शरणं साक्षी च न प्रत्यय-स्तत्तर्कप्रगुणं प्रतीहि नयनेष्वप्राप्यधीः कर्तृताम् ॥ ७६ ॥ रत्ना० २ परि० ५ सूत्रे ।

तथा । च विशेषावश्यकेऽपि नान्विन्द्रियत्वे तुल्येऽपि केयम्मुखपरीक्षिका यच्चतुर्षु स्पर्शनादीन्द्रियेषु प्राप्यकारिताऽभ्युपगम्य नतु नत्रः सोरित्याह-

उवघाया णुग्गहओ, जंताइं पत्तकारीणि ।

तत्र विषयभूत शब्दादिक वस्तुप्राप्त सश्लेषद्वारेणासादित कुर्वन्ति परिच्छिन्दन्तीति प्राप्तकारीणि प्राप्यकारीणि स्पृष्टार्थग्राहीणीत्यर्थः । कुत पुनरेतान्येव प्राप्यकारीणीत्याह । उपघातश्चानुग्रहश्चोपघातानुग्रहौ तयोर्दर्शनात्कर्कशकम्बलादिस्पर्शने, त्रिकटुकाद्यास्वादने, अशुच्यादिपुद्गलाघ्राणे, भेर्यादिशब्दश्रवणे, त्वक्क्षणनाद्युपघातदर्शनाच्चन्दनादिस्पर्शने, क्षीरशर्कराद्यास्वादने, कर्पूरपुद्गलाघ्राणे, मृदुमन्दशब्दाद्याकर्णने तु शैत्याद्यनुग्रहदर्शनादित्यर्थः । नयनस्य तु निशितकरपत्रप्रोल्लसत्खड्गादिवीक्षणेऽपि पाटनाद्युपघातानवलोकनाच्चन्दनागरुकर्पूराद्यवलोकनेऽपि शैत्याद्यनुग्राहानुभवात् । मनसस्तु वह्न्यादिचिन्तनेपि दाहाद्युपघातादर्शनाज्जलचन्दनादिचिन्तायामपि च पिपासोपशमानुग्रहाऽसम्भवाच्चेति ।

अत्र पर आह ।

जुज्जइ पत्तविसयया, फरिसणरसणेन सोत्तघाणेसु ।
गिरहति सविसयं चिउ, जुत्ताई निम्नदेशं पि ॥ २०५ ॥

प्राप्तः स्पृष्टो विषयो ग्राह्यवस्तुरूपो ययोस्ते प्राप्तविषये तयोर्भावः प्राप्तविषयता सा युज्यते घटते । कस्मिन्नित्याह । स्पर्शनं रसनं चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् स्पर्शनरसनेन्द्रिय इत्यर्थः । अनभिमतप्रतिषेधमाह । न श्रोत्रघ्राणयोः प्राप्तविषयता युज्यते । यत्तस्मात्कारणादितो विवक्षितात्स्वदेशाद्भिन्नदेशमपि स्वविषयमेव गृह्णीतोऽस्यार्थस्यानुभवसिद्धत्वात् न हि शब्दः कश्चिच्छ्रोत्रेन्द्रियप्रदेशानुपलभ्यते नापि श्रोत्रेन्द्रिय शब्ददेशे गच्छत् समीक्ष्यते न चान्यामन्येनापि प्रकारेण विषयस्पर्शनं घटते । दूरे एष कस्यापि शब्दः श्रूयते इत्यादि जनोक्तिश्च श्रूयते कर्पूरकुङ्कुमकुसुमादीनां दूरस्थानामपि गन्धो निर्विवादमनुभूयते च तस्मात् श्रोत्रघ्राणयोः प्राप्तविषयता न युज्यत एवेति गाथार्थः । अत्रोच्यते-

पावंति सद्दगंधा, ताइं गंतुं सयं न गिण्हंति ।
जं ते पोग्गलमइया, सकिरिया वाउवहणाउ ॥ २०६ ॥
धूमो व्व संहरण उ, दाराणु विहाणओ विसेसेणं ।
तोयं व्व नियंबाइसु, पडिघायाओ पवाउ व्व ॥ २०७ ॥

(पावंति सद्दगंधा ताइति) शब्दगन्धौ कर्तृभूतौ ते श्रोत्रघ्राणेन्द्रिये कर्मतापन्ने अन्यत आगत्य प्राप्नुत स्पृशत इति प्रतिज्ञा । अनभिमतप्रकारप्रतिषेधमाह । गंतुं सयं न गिण्ह तित्ति) ताइति-सबध्यते अत्रापि । ततश्च ते श्रोत्रघ्राणे कर्तृभूते पुन स्वयं शब्दगन्धदेशं गत्वा न गृह्णीतः शब्दगन्धाविति विभक्तिव्यत्ययेन सबध्यते आत्मनोऽग्राह्यकरणत्वाच्छ्रोत्रघ्राणयोः स्पर्शनरसनवादिति । ननु शब्दगन्धावपि श्रोत्रघ्राणे कुत प्राप्नुत इत्याह । (ज ते पोग्गलमइया सकिरियत्ति) यस्मात्कारणात्तौ शब्दगन्धौ सक्रियौ गत्यादिक्रियावन्तौ तस्मादन्यत आगत्य श्रोत्रघ्राणे प्राप्नुतः कथंभूतौ सन्तौ सक्रियौ तावित्याह । पुन पुद्गलमयौ यदि पुनरपौद्गलिकत्वादमूर्तौ स्यातां तदा यथा जैनमतेन सक्रियेष्वाकाशादिषु गतिक्रिया नास्ति तथैव तयोरपि न स्यादित्यालोच्य पुद्गलमयत्वविशेषणमकारि पुद्गलमयत्वे सति सक्रियाविति भावः ॥ यच्चैवंभूत तत्र गतिक्रियास्त्येव यथा पुद्गलस्कन्धेष्वित्याह-ननु पुद्गलमयत्वेऽपि सति शब्दगन्धयोर्गतिक्रियाऽस्तीति कुतो निश्चीयत इत्याह (वाउवहणाउ धूमोव्वत्ति) वायुना वहन नयन वायुवहनं तस्मादिदमुक्तं भवति यथा पवनाद् धूम इव गतिक्रियाभाजौ तौ तथाविशेषणद्वारानुविधानतस्तोयवत्तद्वन्तावेनौ तथा पर्वतनितम्बादिषु प्रतिघातात्प्रतिस्खलनात्वायुवदेतौ गतिक्रियाश्रयाविति गाथाद्वयार्थः । हेत्वन्तरेणापि शब्दगन्धयोः सुयुक्तिक गतिक्रियावत्त्व समर्थयन्नाह—

गेण्हंति पत्तमत्थं, उवघायाणुग्गहोवलम्भाओ ॥
वाहिज्जपूइनासा-रिसाइओ कहमसंबद्धे ॥ २०८ ॥

प्राप्तमन्यत आगत्यात्मना सह सबद्ध शब्दगन्धलक्षणमर्थं गृह्णीत श्रोत्रघ्राणेन्द्रिये इति गम्यते । एतेन शब्दगन्धयोरागमनक्रिया प्रतिज्ञाता भवति कुत प्राप्तमेव गृह्णीत इत्याह उपघातश्चानुग्रहश्चोपघातानुग्रहौ तयोरुपलब्धेः तथाहि भेर्यादिमहाशब्दप्रवेशे श्रोत्रस्य बाधिर्यरूप उपघातो दृश्यते कोमलशब्दश्रवणे त्वनुग्रहः घ्राणस्याप्यशुच्यादिगन्धप्रवेशे पूतिरोगाऽर्शोव्याधिरूप उपघातोऽवलोक्यते कर्पूरादिगन्धप्रवेशे त्वनुग्रहः शब्दगन्धासंबन्धेऽपि श्रोत्रघ्राणयोरेतावनुग्रहोपघातौ भविष्यत इति चेदित्याह (वाहिज्जेत्यादि) बाधिर्यं च पूतिश्च नासाक्लेदलक्षणो रोगविशेष नासार्शांसि च तानि आदिर्येषां शेषोपघाताऽनुग्रहाणां ते यथाभूता कथमुपगच्छेयु क सति इत्याह (असबद्धेत्ति) स्वहेतुभूते शब्दगन्धलक्षणवस्तुनीति गम्यते । इदमुक्तं भवति । श्रोत्रघ्राणाभ्यां सह सबद्धा एव शब्दगन्धाः स्वकार्यभूत बाधिर्योपघातमनुग्रह वा जनयितुमलं नान्यथा सर्वस्यापि तज्जननप्राप्तेरतिप्रसङ्गादिति गाथार्थः । तदेव स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्राणां प्राप्यकारित्व समर्थितम् ॥ विशे० ॥ आ० चू० ॥

सांप्रत नयनमनसोरप्राप्यकारित्वसमर्थनायाह ।

कथमप्राप्यकारित्व तयोरवसीयते उच्यते विषयकृतानुग्रहोपघाताभावात् तथाहि यदि प्राप्तमर्थं चक्षुर्मनो वा गृह्णीयात् तर्हि यथा स्पर्शनेन्द्रिय स्रक्चन्दनादिकमङ्गारादिक च प्राप्तमर्थं

परिछिन्द्यात्तत्कृतानुग्रहोपघातभाग् भवति तथा चक्षुर्मनसी अपि भवेतां विशेषाभावात् न च भवतस्तस्मादप्राप्तकारिणी। ननु दृश्यते एव चक्षुषो विषयकृतावनुग्रहोपघातौ। तथाहि-घनपटल-विनिर्मुक्ते नभसि सर्वतो निविडतरतमोऽपेतकरप्रसरमभि सर्प्पयन्तमशुमालिनमनवरतमवलोकमानस्य भवति चक्षुषा विघातः शशाङ्ककरकदम्बकं यदि वा तरङ्गमालोपशोभितं जल तरुमाकुलं च शाड्वलं निरन्तरं निरीक्ष्यमाणस्य चानुग्रह । तदेतदपरिभावितभाषितं यतो न ब्रूमः सर्वथा विषयकृतावनु-ग्रहोपघातौ न भवतः किं त्वेतावदेव वदामो यदा विषयं विष-यतया चक्षुरवलम्बते तदा तत्कृतावनुग्रहोपघातौ तस्य न भवत इति तदप्राप्यकारि । शेषकाले तु प्रमेतोप (?)कालकेनोप-घातो भविष्यत्यनुग्राहकेण चानुग्रहस्तथाशुमालिनो रश्मय सर्वत्रापि प्रसरमुपाददाना यदांशुमालिनः सन्मुखमीक्ष्यते तदा ते चक्षुर्देशमपि प्राप्नुवन्ति ततश्चक्षु सम्प्राप्तास्ते स्पर्शने-न्द्रियमिव चक्षुरुपघ्नन्ति शीतांशुरश्मयश्च स्वभावत एव शीतलत्वादनुग्राहकास्ततस्ते चक्षु सम्प्राप्तास्सन्तस्तत्स्पर्शने-न्द्रियमिव चक्षुरनुगृह्णन्ति तरङ्गमालाकुलजलावलोकने च जलकणसंपृक्तसमीरणावयवसंस्पर्शतोऽनुग्रहो भवति शाड्व-लतरुमण्डलावलोकनेपि शाड्वलतरुच्छायासम्पर्कशीतभूतसमी रणसंस्पर्शात् शेषकाले तु जलाद्यवलोकने अनुग्रहाभिमान उपघाताभावादवसेयो भवति । चोपघाताभावेऽनुग्रहाभि-मानो यथातिसूक्ष्माक्षरनिरीक्षणाद्विनिवर्त्य यथा सुख नील-रत्नवस्त्राद्यवलोकने इत्य चैतदङ्गीकर्तव्यमन्यथा समासेन सम्पर्के यथा सूर्यमीक्षमाणस्य सूर्येणोपघातो भवति तथा हुतवहजलशूलाद्यालोकने दाहक्लेदपाटनादयोऽपि कस्मान्न भवन्ति अपिच यदि चक्षु प्राप्यकारि तर्हि स्वदेशगतरजो-मलाञ्जनशलाकादिकं किं न पश्यति तस्मादप्राप्यकार्येव चक्षु । ननु यदि चक्षुरप्राप्यकारि तर्हि मनोवत् कस्मा-दविशेषेण सर्वानपि दूरं व्यवहितानर्थान्न गृह्णाति यदि हि प्राप्त परिच्छिन्द्यात्तर्हि यदेवानावृतमदूरदेशं वा तदेव गृह्णी-यात् नावृतं दूरदेशं वा तत्र चक्षूरश्मीनां गमनासंभवे सम्पर्कासम्भवात् ततो युज्यते चक्षुषो ग्रहणाग्रहणेनान्यथा तथाचोक्तम् " प्राप्यकारि चक्षुरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योरनावरणे-तरापेक्षणाच्च " । यदि हि चक्षुरप्राप्यकारि भवेत् तदा-वरणाभावादनुपलब्धिरन्ययोपलब्धिरिति न स्यात् । नहि तदावरणमुपघातकरणसमर्थं प्राप्यकारित्वे तु मूर्तद्रव्यप्रति-घातादुपपत्तिमानव्याघातात् अतिदूरे च गमनाभावादिति प्रयोगश्चात्र न चक्षुषो विषयपरिमाणमप्राप्यकारित्वान्मनोवत् तदेतदयुक्ततरं दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् न खलु मनो प्यशेषान् विषयान् गृह्णाति तस्यापि सूक्ष्मेष्वागमगमादि ष्वर्थेषु मोहदर्शनात् तस्माद्यथा मनो प्राप्यकार्यपि स्वावरण क्षयोपशमापेक्षत्वान्नियतविषयं तथा चक्षुरपि स्वावरणक्षयो पशमसापेक्षत्वादप्राप्यकार्यपि योग्यदेशावस्थितनियतविष-यमिति न व्यवहितानुपलम्भप्रसङ्गो नापि दूरदेशस्थिताना-मिति । अपिच दृष्टमप्राप्यकारित्वेऽपि तथा स्वभावविशेषा-द्योग्यदेशापेक्षण यथा ऽयस्कान्तस्य न खल्वयस्कान्तोऽयसो ऽप्राप्यकर्षणे प्रवर्तमानः सर्वस्याप्ययसो जगद्वर्तिन आकर्षको भवति किंतु प्रतिनियतस्यैव । शङ्करस्वामी प्राह अयस्का-न्तोऽपि प्राप्यकारी अयस्कान्तच्छायाणुभि समाकृष्यमाण वस्तुन संबन्धभावात् केवलं ते छायाणवः सूक्ष्मत्वान्नोपल-भ्यन्ते इति तदेतदुन्मत्तप्रलपितं तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् नहि तत्र छायाणुसम्भवग्राहकं प्रमाणमस्ति न चाप्रमाणकं प्रतिपत्तु क्षमं नथास्ति तद्ग्राहकं प्रमाणमनुमानम्-इह यदाकर्षणं तत्संसर्गपूर्वकं यथाऽयोगोलकस्य सन्दंशेनाकर्षणं चाय-सोऽयस्कान्तेन तत्र साक्षादयस्कान्तं संसर्गं प्रत्यक्षबाधि त इति अर्थात् छायाणुभि सह द्रष्टव्य इति तदपि नाभि धानवत् हेतोरनैकान्तिकत्वात् मन्त्रेण व्यभिचारात् । तथा हि-मन्त्र स्मर्यमाणोऽपि विवक्षितं वस्तु आकर्षति न च कोऽपि तत्र संसर्ग इति । अपिच यथा छायाणवः प्राप्तमय समाकर्षन्ति तथा काष्ठादिकमपि प्राप्तं कस्मान्न कर्षन्ति शक्ति प्रतिनियमादिति चेत् मनसः शक्तिप्रतिनियमोऽप्राप्तावपि तुल्य एवेति व्यर्थं छायाणुपरिकल्पनम् अन्यस्त्वाह अस्ति चक्षुषः प्राप्यकारित्वे व्यवहितार्थानुपलम्भेनानुमानं प्रमाणं तदयुक्तम् अपि हेतोरनैकान्तिकत्वात् । काचाभ्रपटलस्फटिकैरन्तरित-स्याप्युपलब्धेः अथैवमाचक्षीथा नयनरश्मयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्ति नायनाश्च रश्मयस्तैजसत्वान्न तेजोद्रव्यैः प्रति-स्खल्यन्ते ततो न कश्चिद्दोषः तदपि न मनोरम महाज्वालादौ स्खलनोपलब्धेस्तस्मादप्राप्यकारि चक्षुरिति स्थितम् नं० आ० म० (मनसो ऽप्राप्यकारिता मनः शब्देपि) तथाच विशेषावश्यके—

नयनमनसोरप्राप्यकारित्वमभिधित्सुर्नयनस्य तावदाह-

लोयणमपत्तविसयं, मणो व्व जमणुग्गहाइ सुण्णंति ।
जलसूरालोयाइसु, दीसंति अणुग्गहोवघाया ॥

अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंश्लिष्टो विषयो ग्राह्यवस्तुरूपो यस्य तद प्राप्तविषयं लोचनमप्राप्यकारीत्यर्थ इति प्रतिज्ञा । कुत इ त्याह-यद्यस्मादनुग्रहादिशून्यमादिशब्दादुपघातपरिग्रहः बा ह्यवस्तुकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वादित्यर्थ अयं च हेतु मनो वदिति दृष्टान्त । यदि हि लोचन ग्राह्यवस्तुना सह संबद्ध्य तत्परिच्छेदं कुर्यात् तदाग्न्यादिदर्शने स्पर्शनस्येव दाहाद्युप घातः स्यात् कोमलतल्पाद्यवलोकने त्वनुग्रहो भवेत् न चैव तस्मादप्राप्यकारि लोचनमिति भाव मनस्यप्राप्यकारित्व परस्यासिद्धमिति कथं तस्य दृष्टान्तत्वेनोन्यास इति चेत्सत्य किन्तु वक्ष्यमाणयुक्तिभिस्तत्र तत्सिद्धमिति निश्चित्य तस्येह दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शनमित्यदोषः । अथ परो हेतोरसिद्धतामुद्भा वयन्नाह (जलसूरेत्यादि) आदिशब्द आलोकशब्दश्च प्रत्ये कमभिसम्बध्यते ततश्च जलादीनामालोके लोचनस्यानुग्रहो दृश्यते सूरादीनां त्वालोके उपघात इत्यतोऽनुग्रहादिशून्य त्वादित्यसिद्धो हेतुरित्यर्थ । इदमुक्तं भवति जलघृतनीलव सनवनस्पतीन्दुमण्डलाद्यवलोकने नयनस्य परमाश्वासलक्ष णोऽनुग्रहः समीक्ष्यते सूरसितभित्त्यादिदर्शने तु जलविगलना दिरूप उपघातः संदृश्यत इत्यतः किमुच्यते (जमणुग्गहा इसुण्णतीति) गाथार्थः ॥ अत्रोत्तरमाह—

कज्जेज्ज पाविउं रवि-कराइणा फरसणं व को दोसो ॥
मणिज्जाणुग्गहं पि व उवघायाभावओ सोम्मे ॥ २१० ॥

अयमत्र भावार्थ अस्मदभिप्रायानभिज्ञोऽप्रस्तुताभिधायी परो न हि वयमेतद्ब्रूमो यच्चक्षुषः कुतोऽपि वस्तुन सकाशात्कदापि सर्वथैवानुग्रहोपघातौ न भवतस्ततो रविकरादिना दाहात्मक-तोपघातवस्तुना परिच्छेदानन्तर पश्चाच्चिरमवलोकयत प्रतिप-त्तुश्चक्षुः प्राप्य समासाद्य स्पर्शनेन्द्रियमिव दह्येत दाहादिल-क्षणस्तस्योपघात क्रियत इत्यर्थः एतावता चाप्राप्यकारित्व-क्षत्यादिनामस्माकं को दोषो न कश्चिद् दृष्टस्य बाधितुमशक्य-

त्वादितिभाव । तथा यत्स्वरूपेणैव सौम्य शीतल शीतरश्मि-जलघृतचन्द्रादिक वस्तु तस्मिंश्चिरमवलोकिते उपघाताभावादनुग्रहमिव मन्येत चक्षु को दोष' इत्यत्रापि सवध्यते न कश्चिदित्यर्थ. इति गाथार्थ आह यद्युक्तन्यायेनोपघातकानुग्राहकवस्तुन्य उपघातानुग्रहाभाव चक्षुषो न स्तृषे तर्हि यद्रूपे तत्कयय इत्यासङ्क्याह ॥

गंतुं न रूवदेसं, पासइ पत्तं सयं च नियमो यं ।
एत्तेण उ मुत्तिमया उवघायाणुग्गहो होज्जा ॥

अयं नियम' इदमेवाऽस्माभिर्नियम्यत इत्यर्थ किं तदित्याह रूपस्य देशो रूपदेश' आदित्यमण्डलादिसमाक्रान्तप्रदेशरूप स्त गत्वा तल्लवनतस्त समाश्लिष्य चक्षुर्न पश्यति नपरिच्छिनत्त्यन्यस्याश्रुतत्वाद्रूपमिति गम्यते (पत्तसयचत्ति) स्वयं वा अन्यत आगत्य चक्षुर्देश प्राप्त समागत रूप चक्षुर्न पश्यति किंत्वप्राप्तमेव योग्यदेशस्य विषय तत्पश्यति अत्राह परो नन्वनेन नियमेनाप्राप्यकारित्व चक्षुष प्रतिज्ञात भवति नच प्रतिज्ञामात्रेणैव हेतुपन्या समन्तरेण समीहितवस्तु सिद्धिरतोहेतुरिहवक्तव्यः (जमणुग्गहाइ सुण्णती) त्यनेन पुर्वोक्ता गाथावयवेन विषयकृतानुग्र होपघातशून्यत्वलक्षणोयमभिहित एवेति चेदहो जराविधुरितस्येव सूरेर्विस्मरणशीलता यतो (जमणुग्गहाइसुण्णतील्यनेन) विषयादनुग्रहोपघातौ चक्षुषो निषेधयति (रूज्जेज्ज पाविज्ज रविकराइणा फरिसणव्वे) त्यादिना तु पुनरपि ततस्तौ तस्य समनुजानीत अतो न विद्म कोप्येव वचन क्रम इति नैतदेवमभिप्रायापरिज्ञानाद्यत प्रथमत एव विषय परिच्छेदमात्रकालेऽनुग्रहोपघातशून्यताहेतुत्वेनोक्ता पश्चात्तु चिरमवलोकयत प्रतिपत्तु प्राप्तेन रविकिरणादिना चन्द्रमरीचिनीरादिना वा मूर्तिमता सगंत एव केनाप्युपघातकेनानुग्राहकेन च विषयेणोपघातानुग्रहौ भवेताम् । अपीत्येतदेवाह । (एत्तेण उ मुत्तिमया इत्यादि) अनेनाभिप्रायेण तौ पुनरपि समनुज्ञायेते न विस्मरणशीलतया यदि पुनर्विषयपरिच्छित्तिमात्रमपि तमप्राप्यचक्षुर्न करोतीति नियम्यते तदा वह्निविषजलाधिकण्टक-करवाल-करपत्र-सौवीराञ्जनादि परिच्छित्तावपि तस्य दाहस्फोटक्लेदपाटनमीरोगतादिलक्षणोपघातानुग्रहप्रसङ्ग. नहि समानायामपि प्राप्तौ रविकरादिना तस्य भवन्ति दाहादयो न वन्ह्यादिभिः । तस्माद्व्यवस्थितमिद विषयमप्राप्यैव चक्षु परिच्छिनत्ति अंजनदहनादिकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वान्मनोवत् । परिच्छेदानन्तर तु पश्चात्प्राप्तेन केनाप्युपघातकेन अनुग्राहकेण वा मूर्तिमता द्रव्येण तस्योपघातानुग्रहौ न निषिध्येते विषशर्करादिभक्षणे मूर्च्छास्वास्थ्यादय इव मनस इति । अत्राऽपर' प्राह-नयनान्नायना रश्मयो निर्गत्य प्राप्य च रविबिम्बरश्मय इव वस्तुप्रकाशयन्तीति नयनस्य प्राप्यकारिता प्रोच्यते सूक्ष्मत्वेन च तेषां वन्ह्यादिभिर्दाहादयो न भवन्ति रविरश्मिषु तथा दर्शनासदेतदयुक्ततर तेषां प्रत्यक्षादिप्रमाणाग्राह्यत्वेन अत्यन्तमसत्त्वत्वात्तथाविधानामप्यस्तित्वकल्पनेऽति प्रसङ्गाद्वस्तुपरिच्छेदान्यथानुपपत्तेस्ते सन्तीति कल्प्यत इति चेन्न तानन्तरेणापि तत्परिच्छेदोपपत्ते. नहि मनसोरश्मयः सन्ति न च तदप्राप्तं । वस्तु परिच्छिनत्ति वक्ष्यमाणयुक्तिभ्यस्तस्य तत्सिद्धेः न च रविरश्म्युदाहरणमात्रेणाचेतनानां नयनरश्मीनां वस्तुपरिच्छेदो युज्यते नखदन्तप्राप्तलादिगतशरीररश्मीनामपि स्पर्शविषयवस्तुपरिच्छेदप्रसङ्गादित्यल विस्तरेणेति गाथार्थः । तदेवमञ्जनज्वलनादिविषयविहितानुग्रहोपघातशून्यत्वलक्षणहेतोरप्राप्यकारितां चक्षुषः प्रसाध्य हेत्वन्तरेणापि तस्य तां प्रसाधयितुमाह-

जइ पत्तं गिण्हिज्जउ तगयमंजणरओमलाइयं ॥
पिच्छेज्ज यं न पासइ अपत्तकारि तओ चक्खु ॥ १७॥

यदि तु प्राप्त विषय चक्षुर्गृह्णीयादित्युच्यते तदा तद्गतमात्मसवद्धमञ्जनरजोमलशलाकादिक पश्येदयगच्छेत् तस्य निर्विवादमेव तत्प्राप्तत्वेनोपलब्धे. यस्माच्च न पश्यति ततोऽप्राप्तकारि चक्षुरिति स्थितम् । यद्यप्राप्यकारि चक्षुस्तर्ह्यप्राप्तत्वाविशेषात्सर्वस्याऽप्यर्थस्याविशेषेणग्राहक स्यान्न प्रतिनियतस्येति चेन्न ज्ञानदर्शनावरणादेस्तत्प्रतिबन्धकस्य सद्भावान्मनसा व्यभिचाराच्च तथा ह्यप्राप्यकारित्वे सत्यपि नाविशेषेण सर्वार्थेषु मन' प्रवर्तते इन्द्रियाद्यप्रकाशितेषु सर्वथा अदृष्टाश्रुतार्थेषु तत्प्रवृत्त्यदर्शनादित्यलं प्रसंगेनेति गाथार्थ. । तदेवं व्यवस्थापिता चक्षुषोऽप्राप्यकारिता-विशे० ॥

तदेव नयनमनसोर्निस्तरेणाप्राप्यकारितायां साधितायां नयन पक्षेऽद्यापि दूषणशेषमुत्पश्यन् परःप्राह-

जइ नयणिंदि य पत्तकारि सव्वत्थ गिण्हए कम्हा ॥
गहणागहणं किंकयमपत्त विसयत्त सामन्ने ॥ १ ॥

यदुक्तं युक्तिभ्यो नयनेन्द्रियमप्राप्तकारि तर्हि सर्वमपि त्रिभुवनान्तर्वर्ति वस्तुनि कुतस्य कस्मान्न गृह्णाति अप्राप्तित्वाविशेषादेतद्व्यक्तीकरोति अप्राप्तो विषयो यस्य तदप्राप्तिविषय तद्भावोऽप्राप्तविषयत्व तस्मिन् सामान्येऽविशिष्टेऽपि सति यदिद कस्यचिदर्थस्य ग्रहण कस्यचिदग्रहण तत्किंकृतं किं निबन्धन नेह किंचिन्निबन्धनमुत्पश्याम इतिभाव. इतिगाथार्थ' । तस्मादहो आचार्य ? तस्य चक्षुषा विषयपरिमाणोऽनैयत्यमाप्नोतीत्येतदेवाह—

विसयपरिमाणमनियममपत्त विसयति तस्स मणसोव्व ।
मणसो वि विसय नियमो नक्कमइ जओ ममवत्थ ।

विषयस्य ग्राहकस्य परिमाणमनियतमपरिमितं प्राप्नोति तस्य चक्षुष इति ज्ञानहेतुमाह अप्राप्तविषय इति कृत्वा मनसहावेति दृष्टान्तप्रयोग यदप्राप्तमपि विषय परिच्छिनत्ति न तस्य तत्परिमाण युक्त यथा मनसः । अप्राप्त विषयमनुगच्छति चक्षुस्तस्मान्न तस्य तत्परिमाण युक्तमिति । अथेह प्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्ये सूरिरुपदर्शयति मनसो दृष्टान्तीकृतस्याप्राप्यकारिणो विषयनियमोऽस्त्येवेति शेष । कुत इत्याह । (मनसत्ति) तदपिमत. सर्वेष्वर्थेषु न क्रामति न प्रसरति इति गाथार्थः । तथाहि—

अत्थगहणेसु मुज्झइ सत्तेसु वि केवलाई गम्मेसु ।
तं किं कयमगहणं अपत्तकारित्तसामण्णे ॥

अर्थाः एव मतेर्दु प्रवेशत्वाद्गहनानि नेष्वनन्तेषु सत्स्वपि विद्यमानेष्वपि कथंभूतेष्वित्याह । केवल केवलज्ञानमादिर्येषामवधिज्ञानागमादीनां तानि केवलादीनि तैर्गम्यन्ते ज्ञायन्ते केवलादिगम्यानि तेष्वेव भूतेष्वर्थगहनेषु सत्स्वापि कस्यचिन्मन्दमतेर्जन्तोर्मनो मुह्यति कुण्ठी भवति । तदवगमनाय न प्रभवति तान् गहनभूतान् केवलादिगम्यान् सतोऽप्यर्थान्न गृह्णाति तात्पर्य तत्र तदत्राहमपि भवन्त पृच्छामि तदेतन्मनसोऽगृहणमर्थानां किं कृत किं निबन्धनमप्राप्तकारित्वसामान्येऽप्राप्तकारित्वे

तुल्येहीत्यर्थः । तस्मान्मनसोऽपि विषयपरिमाणसद्भावादनन्तरगाथोक्तसाध्यविकलो दृष्टान्त इति स्थितमिति गाथार्थः ॥ तर्हि कृतमग्रहणमर्थानामपीत्यन्यपराऽभिप्रायं आशङ्कमानः प्राह

कम्मोदय उवसाहा चउव्व नणु लोयणे वि तं तुल्लं ।
तुल्लो व उवालंभो एसो संपत्त विसए वि ॥

यत्केषांचिदर्थानां मनसो ग्रहणं तत्सदावरणकर्मोदयाद्वा स्वभावाद्वा इति परो ब्रूयात्तत्वेतल्लोचनेपि तुल्यं यतस्तदप्यप्राप्यकारित्वे तुल्योऽपि कर्मोदयात् तत्स्वभावाद्वा कांश्चिदेवार्थान् गृह्णाति न सर्वानिति तदेव नयनस्य प्राप्यकारित्वेऽतिप्रसङ्गलक्षणं प्राप्तकारित्वादिना यद्दूषणमुक्तं तत्परिहृतम् अथवा यो नयनमनसोः प्राप्यकारित्वमभ्युपगच्छति तस्याप्येतद्दूषणमापतत्येव यच्च द्वयोर्दूषणं न तदेकस्य दातुमुचितमित्येतच्चेतसि निधाय आह 'तुल्लोवेत्यादि' वा इत्यथवा एषोऽतिप्रसंगलक्षणउपालम्भस्तुल्यः समानः केत्याह संप्राप्तविषयत्वेपि नयनमनसोरभ्युपगम्यमाने तथाह्यत्रापि शक्यते वक्तुं यदि प्राप्तमर्थं गृह्णाति चक्षुस्तर्ह्यक्षिसंप्राप्तनयनाञ्जनरजोमलशलाकादीन् कस्मान्न गृह्णाति। मनोऽपि प्राप्तान् सर्वानपि किमिति न गृह्णाति घटप्राप्तिकाले पटादयो न प्राप्ता एवेति चेन्न तदप्राप्तौ हेत्वभावात्तथाहि न तावत्कटकुड्यादयस्तेषामावारकास्तैरन्तरितानामपि मेर्वादीनां मनसोऽपरिच्छेदानुभवात्कर्मोदयात्स्वभावाद्वा प्रतिनियतमेव मनः प्राप्नोतीति चेत्तन्न्वेतदप्राप्यकारिणो नयनस्यापि समानमिति गाथार्थ । तस्मात्किमिह स्थितमित्याह ॥

सामत्थाभावाओ मणोव्व विसयपरउ पगिएहेइ ॥
कम्मक्खओवसमओ सागुग्गहओ य सामत्थं ॥ १ ॥

चक्षुः सिद्धान्तनिर्दिष्टे नियतविषयपरिमाणात्परतो न गृह्णातीति प्रतिज्ञा चक्षुरवग्रहे कर्तृत्वं प्रक्रमाद्गम्यते सामर्थ्याभावादिति हेतुर्मनोवदिति दृष्टान्तः सामर्थ्याभावो नयनस्य कुत इत्याह (कम्मक्खओ इत्यादि) तदावरणकर्मक्षयोपशमात् स्वानुग्रहतश्चाऽप्राप्तेष्वपि केषुचिद्योग्यदेशावस्थितेष्वर्थेषु परिच्छेदे कर्तव्ये लोचनस्य सामर्थ्यं भवति इदमुक्तं भवति अप्राप्तत्वे समानेऽपि येष्वर्थेषु ग्रहणविषये कर्मक्षयोपशमो भवति तथा स्वस्यात्मनो रूपाल्लोके नमस्कारादिसामर्थ्यात् । सकाशादनुग्रहो भवति तेष्वर्थेषु कर्मक्षयोपशमसद्भावाच्छेषसामग्र्यनुग्रहाच्चक्षुषो ग्रहणसामर्थ्यं भवति येषु त्वर्थेषु ग्रहणविषये कर्मक्षयोपशमः शेषसामग्र्यनुग्रहश्च नास्ति तेषु तस्य सामर्थ्याभाव इत्यर्थापत्तित एव गम्यते तस्माद्व्यवस्थितमप्राप्यकारित्वं नयनस्य । विशे० ॥

इहसुगतमतानुसारिणः श्रोत्रमप्राप्यकारि प्रतिपद्यन्ते तथा च तद्ग्रन्थः चक्षुः श्रोत्रं मनोऽप्राप्यकारीति तदयुक्तमिहाप्राप्यकारि तत्प्रतिपत्तुं शक्यते यस्य विषयकृतानुग्रहोपघाताभावो यथा चक्षुर्मनसो । श्रोत्रेन्द्रियस्य च शब्दकृत उपघातो दृश्यते सद्यो जातबालकस्य समीपे महाप्रयत्नताडितझल्लरीरणत्कारश्रवणतो यद्वा विद्युत्प्रपाते तत्प्रत्यासन्नदेशवर्तिनां निर्घोषश्रवणतो बधिरीभावदर्शनात् । शब्दपरमाणवो हि उत्पत्तिदेशादारभ्य सर्वतो जलतरंगन्यायेन प्रसरमभिगृह्णानाः श्रोत्रेन्द्रियदेशमागच्छन्ति ततः संभवत्युपघात । ननु यदि श्रोत्रेन्द्रियं प्राप्तमेव शब्दं गृह्णाति नाप्राप्तं तर्हि यथा गन्धादौ गृह्यमाणे न तत्र दूरासन्नादिभेदप्रतीतिरेवं शब्दोऽपि न स्यात् प्राप्तो हि विषयः परिच्छिद्यमानः सर्वोपि सन्निहित एव तत्कथं तत्र दूरासन्नादिभेदप्रतीतिर्भवितुमर्हति अथ च प्रतीयते शब्दो दूरासन्नादितया तथा च लोके वक्तारः श्रूयते कस्यापि दूरे शब्द इति । अन्यच्च यदि प्राप्तः शब्दो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तर्हि चाण्डालोकोऽपि शब्दः श्रोत्रेन्द्रियेण श्रोत्रेन्द्रियसंस्पृष्टो गृह्यते इति श्रोत्रेन्द्रियस्य चाण्डालस्पर्शदोषप्रसंगः तत्र श्रेयः पदवीप्रतिष्ठामभितिष्ठति श्रोत्रेन्द्रियस्य प्राप्यकारित्वं तदेतदिति महामोहमलीमसजल्पितं यतो यद्यपि शब्दोऽप्राप्तो गृह्यते श्रोत्रेन्द्रियेण तथा ऽपि यत उदितः शब्दस्तस्य दूरासन्नत्वे शब्देऽपि स्वभाववैचित्र्यसम्भवात् दूरासन्नादिभेदप्रतीतिर्भवति । तथा हि-दूरोदास्त शब्दः क्षीणशक्तित्वात् क्लिष्ट उपलभ्यते स्पष्टरूपो वा ततो लोके लोको वदति दूरे शब्दः श्रूयते यस्य च वाक्यस्याय प्रावार्यो दूरादागत शब्द श्रूयते इति स्यादेतदेवमतिप्रसङ्गः प्राप्नोति तथाह्येतदपि वक्तुं शक्यते दूरे रूपमुपलभ्यते किमुक्तं भवति दूरादागतं रूपमुपलभ्यते ततश्चक्षुरपि प्राप्यकारि प्राप्नोति न चेष्यते तस्मान्नैतत्समीचीनमिति तदयुक्तं यत इह चक्षुषो रूपकृतावनुग्रहोपघातौ नोपलभ्येते श्रोत्रेन्द्रियस्य तु शब्दकृत उपघातोऽस्ति एतच्च प्रागेवोक्तं ततो नातिप्रसङ्गादनुपपत्तिमत् । अन्यच्च प्रत्यासन्नोऽपि जनः पवनस्य प्रतिकूलमवतिष्ठमानः शब्दं न शृणोति पवनवर्त्मनि तु वर्तमानो दूरदेशस्थितोऽपि शृणोति तथा च लोके वक्तारो न वय प्रत्यासन्ना अपि त्वदीयं वचः शृणुमः पवनस्य प्रतिकूलमवस्थानात् यदि पुनरप्राप्तमेव शब्द रूपमिव जनाः शृणुयुस्तर्हि वातस्य प्रतिकूलमप्यवतिष्ठमाना रूपमिव शब्द यथावस्थितं प्रत्यासन्ना शृणुयुर्न च शृण्वन्ति तस्मात्प्राप्ता एव परमाणवः श्रोत्रेन्द्रियेण परिगृह्यन्ते इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यं तथा च सति पवनस्य प्रतिकूलमप्यवतिष्ठमानानां श्रोत्रेन्द्रियं न शब्दपरिमाणवो वैपुल्येन प्राप्नुवन्ति तेषामन्यथा वातेन नीयमानत्वात् ततो न ते शृण्वन्तीति न काचित् क्षतिः । यदपि चोक्तं चाण्डालस्पर्शदोषः प्राप्नोतीति तदपि चेतनाविकलपुरुषजल्पितमिवासमीचीन स्पर्शास्पर्शव्यवस्था या लोके काल्पनिकत्वात् तथाहि न स्पर्शस्य व्यवस्था लोके पारमार्थिकी तथाहि यामेव भुवमग्रे चाण्डालः स्पृशन् प्रयाति तामेवपृष्ठतः श्रोत्रियोऽपि, तथा यामेव नावमधिरोहतिस्म चाण्डालस्तामेवारोहति श्रोत्रियोऽपि, तथा स एव मारुतश्चाण्डालमपि स्पृष्ट्वा श्रोत्रियमपि स्पृशति, न च तत्र लोके स्पर्शदोषव्यवस्था तथा शब्दपुद्गलसंस्पर्शेऽपि न भवतीति न कश्चिद्दोषः । अपि च यदा लोके केतकीदलनिचयं शतपत्रादिपुष्पनिचयं वा शिरसि निबध्य वपुषि वा मृगमदचन्दनाद्यवलेपनमारचय्य विपणि वीथ्यामागत्य चाण्डालोऽवतिष्ठते तदा तत्र तकेतकीदलादिगन्धपुद्गला श्रोत्रियादिनासिकास्वपि प्रविशन्ति ततस्तत्रापि चाण्डालस्पर्शदोष प्राप्नोतीति तद्दोषभयान्नासिकेन्द्रियमप्राप्यकारि प्रतिपत्तव्य नचैतद्भवतोऽप्यागमे प्रतिपाद्यते ततो बालिशजल्पितमेतदितिकृत प्रसंगेनेति।नं०।आ म।

तथा रत्नावतारिकायाम् "बौद्धाः पुनरिदमाहुः श्रोत्र न प्राप्य वृत्तिमाश्रुते । दिग्देशव्यपदेशान् करोति शब्दे यतो ह्यवत् ॥ ७७ ॥ तथाहि । प्राच्यामयं विजृम्भते जलमुचां मत्यूर्जित गर्जितं प्रोन्मीलत्ययमेष चातकरवो वामकर्णे दक्षिण । केकाः केकिकुटुम्बकस्य विलसन्त्येताः कलाः काननादित्येशव्यपदेशवानिति न किं शब्देऽस्ति सप्रत्ययः ॥ ७८ ॥ प्राप्यकारि यदि तु श्रवणं स्यात्तर्हि तत्र न कथञ्च न सैषः । प्रस्तुतः समुदयाद्यपदेशः शर्करारसपृशि यथा रसनायाम् ॥ ७९ ॥ वेद्यानुरागप्रतिमं तदेतत् सुस्पृष्टव्यभिचारदोषात् । प्राणं यदेतद्

व्यपदेशभाज प्राप्तप्रकाशं कुरुते मनीषाम् ॥८०॥ तथाच "मन्दमन्दमुदेत्यय परिमलप्राग्भाधवीमण्डपात्र सौरभमुद्गमन्त्युपवने फुल्ला स्फुटं मल्लिका । गन्धो बन्धुर एष दक्षिणगिरेः श्रीचन्दनात्प्रासवानित्येतत्तनु विद्यते तनुभृतां घ्राणात्तथा प्रत्ययः ॥ ८१ ॥ अस्ति स्पर्शेन्द्रियेणापि व्यभिचारविनिश्चय । शेमुषीमादधानेन दिग्देशव्यपदेशिनी ॥८२॥ तथाहि । सेयं समीरलहरी हरिचन्दनेन्दु-संवादिनी वनभुव प्रसभं प्रवृत्ता । स्फीतस्फुरत्पुलककम्पविलितांगयष्टिमाततनोति तरुणी करपल्लवस्य ॥८३ अथानुमानादधिगम्य तेषां हेतूस्ततस्तद्व्यपदेशिनी धी । न घ्राणत स्पर्शनतश्च तादृक् प्रत्यक्षरूपा प्रथते मनीषा ॥ ८४ ॥ श्रोत्रेपि सर्वं तदिदं समानमालोकमानोऽपि न मन्यसे किम् । दृष्ट्वा यशीकामपि कामिनीं य-स्तमन्यते कामुक एव साक्षीम् ८५ स्मृत्वा यथैव प्रतिबन्धमाशु शखादिशब्दोऽयमिति प्रतीति । प्राच्यादिदूरादिगतेऽपि शब्दे तथैव युक्ता प्रतिपत्तिरेषा ॥ ॥ ८६ ॥ दिग्देशाना श्रुतिविषयता किञ्च नो युक्तियुक्ता युक्तत्वे वा भवति न कथं ध्यानरूपत्वमेषाम् । तस्माद्भिन्नमिति धिषणास्ते विशिषन्ति शब्द सिद्धे चैव भवतु सुतरां साधने माध्य सिद्धि ॥८७॥ अपिच । गृह्यते यदि विनैव सगतिं किं तदानुगुणमारुते ध्वनौ । दूरतोऽपि धिषणा समुन्मिषेदन्यथा तु निकटेऽपि नेत्र सा ॥ ८८ ॥ मुहुर्मरुति मन्थर स्फुरति सानुलोमागमे समुल्लसितवल्लकीक्वणकलाकलापश्रुता । सकामतनकामिनी काञ्चितयोजनान्तरा न किं निशि निशम्यते सपदि दूरत काकली ॥ ८९ ॥ पटुघटितकपाटसंपुटौघे भवति कथ सदनेऽपि शब्दबुद्धि । पटुघटितकपाटसंपुटौघे भवति कथ सदनेऽपि गन्धबुद्धि ॥ ९० ॥ तथाहि । कर्पूरपारीपरिरम्भभाजी श्रीखण्डखण्डे मृगनाभिमिश्रे । धूमायमाने गृहिणेऽप्यगारे गन्धप्रबन्धो बहिरभ्युपैति ॥ ९१ ॥ द्वारावृतेऽपि सदने प्रणयप्रकर्षान्देव प्रिये स्फुरदपत्रपया रुदन्ती । द्वारि स्थितस्य सरसाकुलबालिकाया कर्णातिथीभवति मन्मथसूक्तिमुद्रा ॥९२॥ एव च प्राप्त एवैष शब्द श्रोत्रेण गृह्यते । श्रोत्रस्यापि तत सिद्धा निर्बाधा प्राप्यकारिता ॥९३॥ रत्ना० २ प० ॥

(१०) सम्प्रति इन्द्रियाणा विषयपरिमाणनिरूपणार्थमाह–

सोइंदियस्स ण भंते! केवतिए विसए पण्णत्ते ? गोयमा! जहन्नेण अंगुलस्स असंखेज्जइभागे उक्कोसेणं बारसहिं जोयणेहिंतो छिन्ने पुग्गले पुट्ठे पविट्ठाइं सद्दाइं सुणेइ । चक्खिंदियस्स णं भंते! केवतिए विसए पण्णत्ते ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागो उक्कोसेणं सातिरेगाओ जोयणसयसहस्साओ अच्छिन्ने पुग्गले अपुट्ठे अपविट्ठाइं रूवाइं पासति । घाणिंदियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं नवहिं जोयणेहिं छिन्ने पोग्गले पुट्ठे पविट्ठाइं गंधाइं अग्घाइं ।
एवं जिब्भिंदियस्स वि । फासिंदियस्स वि ॥

इह श्रोत्रादीनि प्राप्तविषयपरिच्छेदत्वात् अङ्गुलासंख्येयभागादप्यागत शब्दादिद्रव्य परिच्छिन्दन्ति नयन वा प्राप्यकारीति तज्जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागादव्यवहित परिच्छिनत्ति किमुक्तम्भवति जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमात्रे व्यवस्थित पश्यन्ति नतु ततोऽतिरिक्त-मिति प्राणिप्रसिद्धश्चायमर्थः । तथाच नातिसन्निकृष्टमञ्जनरजोमलादिक चक्षु पश्यति । उक्तञ्च– "अवरमसंखेज्जगुणं भागातो नयणवज्जाण । संखेज्जगुलभागा नयणस्स इत्ति" उत्कर्षतस्तु श्रोत्रेन्द्रिय द्वादशभ्यो योजनेभ्य आगतान् अच्छिन्नान् अव्यवहितान् नान्यैः शब्दान्तरैर्वातादिकैर्वा प्रतिहतशक्तिकानित्यर्थः पुद्गलान् अनेन पौद्गलिकशब्दो नाम्बरगुण इति प्रतिपादितम् । यथाच शब्दस्य पौद्गलिकता तथा तत्त्वार्थटीकायाम् प्रपञ्चितमिति न भूयः प्रपञ्च्यते स्पृष्टान् स्पृष्टमात्रान् शब्दान् प्रविष्टान् निर्वृतीन्द्रियमध्यप्रविष्टान् शृणोति न परतोऽप्यागतान् कस्मादिति चेदुच्यते परत आगतानां तेषां मन्दपरिणामत्वभावात् तथाहि परत आगताः खलु ते शब्दपुद्गलास्तथा स्वाभाव्यात् मन्दपरिणामास्तथोपजायन्ते येन स्वविषय श्रोत्रविज्ञान नोत्पादयितुमीश्वरा । श्रोत्रेन्द्रियस्यापि तत्तथाविधमद्भुततर बलं न विद्यते येन परतोऽपि आगतान् शब्दान् शृणुयादिति चक्षुरिन्द्रियमुत्कर्षत सातिरेकान् योजनशतसहस्रादारभ्याच्छिन्नान् कटकुड्यादिभिरव्यवहितान् पुद्गलान् अस्पृष्टान् दूरस्थितान् अत एवाप्रविष्टान् (रूवाइत्ति) रूपात्मकान् पश्यति परतोऽव्यवहितस्यापि परिच्छेदे चक्षुष शक्त्यभावात् नन्वङ्गुलमिह त्रिधा तद्यथा आत्माङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुल प्रमाणाङ्गुलञ्च तत्र "जेण जयामणासा तेसिं ज होइ माणरूव त । तं भणियमिहायांगुलमणियपमाण पुण इमन्तु" इत्येव रूपमात्माङ्गुल "परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गय च वालस्स । लिक्खा जूया य जवा अट्ठगुणा विवड्ढिया कमसो । तत्रेन्द्रियविषयपरिमाण किमात्माङ्गुलेनाहोस्वित् उच्छ्रयाङ्गुलेन उच्यते आत्माङ्गुलेन तथा चाह चक्षुरिन्द्रियविषयपरिमाणचिंतायां भाष्यकृत् " अप्पत्तकारि नयण मणो य नयणस्स विसयपरिमाण । आयांगुलेण लक्खं अयरित्त जोयणाण तु " । प्रज्ञा १५ पद ।

अगुलजोयणलक्खो समहिओ नव बार मुक्कसो विसओ ।
चक्खू तिय-सोयाणं अंगुल असंखभागियते ॥

अस्या व्याख्या-स्व च तदगुल च स्वाङ्गुल भगवदुपन्यादेरारभ्य यस्ययद्भवति तेनांगुलेन योजनलक्ष समधिक किंचिद्विषयोत्थपरिच्छित्तेश्चक्षुष नव द्वादशयोजनानि सांगुलेनेत्यत्रापि द्रष्टव्य । उत्कर्षत उत्कृष्ट ततस्त्रिश्रोत्राणां यथाक्रम योज्यं तत्र त्रयाणां स्पर्शनरसनघ्राणानां नव योजनानि श्रोत्रेन्द्रियस्य पुनर्द्वादश जघन्यत पुनरगुलासंख्येयभागिति गाथार्थ । दर्श० । ननु देहप्रमाणमुच्छ्रयांगुलेन क्रियते देहाश्रितानि चेन्द्रियाणि ततस्तेषां विषयपरिमाणमपि उच्छ्रयांगुलेन कर्तुमुचित कथमुच्यते आत्मांगुलेनेति नैष दोष यद्यपि हि नाम देहाश्रितानीन्द्रियाणि तथापि तेषा विषयपरिमाणमात्मांगुलेनैव देहानन्यत्वाद्विषयपरिमाणस्य तथा चामुमेवार्थमाक्षेपपुरस्सर भाष्य कृदप्याह । "ननु भणियमुस्सयगुल, पमाणतो जीवदेहमाणाइ । देहपमाण त चियन उ इंदियविसयपरिमाण" ॥ १ ॥ अत्र देहपमाणन्त चिय इति यत्र उच्छ्रयांगुलमेयत्व नोक्त तद्देहप्रमाणमात्रमेव नत्विन्द्रियविषयपरिमाण तस्यात्माङ्गुलप्रमेयत्वादिति अथ यदि विषयपरिमाणमिन्द्रियाणामुच्छ्रयाङ्गुलेन स्यात्तत को दोष आपद्येत पञ्चधनु शतानि मनुष्याणा विषयव्यवहारविच्छेदस्तथाहि यद्भरतस्यात्माङ्गुल तत्किल प्रमाणाङ्गुल तच्च प्रमाणाङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलसहस्रेण भवति– "उस्सेहगुलमेग हवइ पमाणांगुलसहसगुणमितिवचनात्" । ततो भरतसगरादिचक्रवर्तिनां या अयोध्याद्यो नगर्यो ये तु स्कन्धावारा आत्माङ्गुलेन द्वादशयोजनायामतया सिद्धान्ते प्रसिद्धास्ते उच्छ्रयाङ्गुलप्रमित्या अनेकानि योजनसहस्राणि स्यु तथा च सति तत्रायुधशालादिषु ताडितभेर्यादिशब्दश्रवणेनम्सर्वेषामा

पश्येत "बारसहिंजोयणेहिं आनिगिएहपसद्द"इतिवचनात् । अथ च समग्रनगरव्यापी समस्तस्कन्धावारव्यापी च विजयढक्कादि शब्द आगमे च प्रतिपाद्यते तथैव च जनव्यवहारस्तत एवमा गमे प्रसिद्ध: पञ्चधनु शतादिमनुष्याणां विषयव्यवहारो व्यव च्छेदं माप्रापदित्यात्माङ्गुलेनेन्द्रियाणां विषयपरिमाणमवसात व्यं नोच्छ्रयांगुलेन तथाऽप्युक्त–"जं तेण पंचधणुसय, नरादि विसयविवहारवोच्छेओ। पावइ सहस्सगुणियं जेण पमाणगुल तत्तो" ॥ १ ॥ अत्र तस्मादात्माङ्गुलेनैवेन्द्रियाणां विषयपरिमा णं नोच्छ्रेधाङ्गुलेनेति । उपसंहारवाक्य स्वतः परिज्ञावनी यम् ॥ प्रज्ञा० १५ पद ॥ अपिच यानि देहस्यात्मभूतान्येवे न्द्रियाणि तान्यपि तावत्सर्वाण्युच्छ्रयांगुलेन मीयन्ते किंपुनरि न्द्रियविषयपरिमाणमिति दर्शयति ॥

इंदियमाणे वि तयं, भयणिज्जं जंति गाउआइणि ।
जिब्भिंदियाइमाणं, संववहारे वि रुज्झेज्जा ॥

इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि तानि चेह "कायम्ब पुप्फगोल य म- सूरअइमुत्तयस्स कुसुम" चेत्यादिना प्रोक्तानि द्रव्येन्द्रियाणि गृह्यन्ते तेषां मानं प्रमाणमङ्गुलासख्येयभागादिकं तत्रापि- कर्तव्ये गृहीतव्ये बोधव्य वा तदुच्छ्रयांगुल भजनीय क्वापि व्या- पार्यते क्वापि नेत्यर्थ स्पर्शनेन्द्रियमेकं तेन मीयते शेषाणि त्वात्मांगुलेनैवेति भाव: कुत इत्याह (जमित्यादि) यद्यस्मा- त्रिगव्यूतीत्यादिमानानां युगलधर्मिणां जिह्वेन्द्रियादिमान य- द्युच्छ्रयांगुलेन गृह्यते तदा सव्यवहारे कल्पद्रुमरसादिपरिज्ञान लक्षणे विरुध्येत न घटेतेत्यर्थः । इदमुक्त भवति " बाहल्लओ य सव्वाइ अगुल असखभाग एमेव पुहुत्तओ नवर अगुल पुहत्तस्स ण इत्यादि वचनात् अंगुलपृथक्त्वविस्तरं जिह्वे न्द्रिय निर्णीतं त्रिगव्यूतादिमानानां च जन्तूनां च तदनुसा रितया विशालानि तुण्डानि जिह्वा च ततो यद्युच्छ्रयांगुलेन तेषा क्षुरप्राकारतयोक्तस्य जिह्वेन्द्रियस्यांगुलपृथक्त्वलक्षणो विस्तरो गृह्येत तदाऽत्यल्पतया सर्वामपि जिह्वां न व्याप्नुयात् ततश्च सर्वव्यापितया रसवेदनलक्षणो व्यवहारो न घटते तस्मादा त्मांगुलेनैव जिह्वादिमान घटते ततश्च देहात्मभूतानीन्द्रिया ण्यपि सर्वाण्युच्छ्रयांगुलेन यदा न मीयन्ते तदा इन्द्रिय विषयपरिमाणस्य दूरे वार्ता इति गाथार्थ: । तदेव " उस्से हपमाणओ मिणे देहं " इत्यत्र पारिशेष्याद्देहशब्देन यद्लभ्यते तद्दर्शयन्नाह—

तणुमाणं चिय तेणं, इविज्ज भणियं सुए वि तं चेव।
एएण देहमाणाइ, नारयाईण भिज्जन्ति ।

तस्मादिन्द्रियपरिमाणे इन्द्रियविषयपरिमाणे चैकान्तेनो- च्छ्रयांगुलेनेप्यमाणे दोषस्य दर्शितत्वात्पारिशेष्यात्त्वनुमानमेव तेनोत्सेधांगुलेन भवेन्न पुनरिन्द्रियपरिमाण विषयपरिमाणं वेति भाव: ॥ युगलधर्मिणां रसवेदनव्यवहारस्य चक्रव तिंभरतनगर्यादिषु भेर्य्यादिशब्दश्रवणव्यवहारस्य चाऽना वप्रसङ्गस्य दर्शितत्वादिति । किंचेन्द्रियपरिमाण तद्विषय परिमाणं चोच्छ्रयांगुलेन परः स्वमनीषिकयाऽर्थो पत्त्यैव ब्रूते- न पुन: श्रुते साक्षादेतत् क्वाप्यभिहित किं पुनस्तर्हि साक्षा च्छ्रुतेऽभिहितमित्याह (भणिअ सुए वि त चेवेत्यादि) श्रुतेपि तदेव देहमानमेवोच्छ्रयांगुलेन भणित नान्यदिति केन पुनर्निग्रन्थे नैतच्छ्रुतेऽभिहितमित्याह (एएणेत्यादि) अर्थनिर्देश एवाय सूत्रालापकस्त्वेष दृश्यस्तद्यथा"इच्चएण उस्सेहंगुलपमाणेण नेरइय तिरिक्खजोणिय मणुस्सदेवाण सरीरोवगाहणा उ मिज्जन्ति" ॥ तदस्मिन् सूत्रे शरीरावगाहनैवोच्छ्रयांगुलमेय त्वेनोक्तो नत्विन्द्रियपरिमाणाद्यतस्तदात्मांगुलेनैव द्रष्टव्य मिति गाथार्थः ॥ विशे० ॥

तस्मात्सर्वमिन्द्रियविषयपरिमाणमात्माङ्गुलेनैवेति स्थित ननुभवत्वात्मांगुलेन विषयपरिमाण तथाधिकृतसूत्रोक्तं चक्षु- रिन्द्रिय विषयपरिमाण न घटते अधिकस्यापि तद्विषय परिमाणस्यागमान्तरे प्रतिपादनात् तथाहि–पुष्करद्वीपार्द्धे मानुषोत्तर पर्वतसमीपवर्तिनो मनुष्या: कर्कसङ्क्रान्तौ प्रमा णांगुलनिष्पन्नै: सातिरेकै: एकविंशति योजनलक्षैर्व्यवस्थित मादित्यमवलोकमानाः प्रतिपाद्यन्ते ॥ शास्त्रान्तरे च तथा तद्- ग्रन्था: "इगवीस खलु लक्खा, चउतीस चेव तह सहस्साइ- तह पंचसया भणिया, सत्ततीसाए अतिरित्ता॥ १॥ इइ नयण विसयमाण, पुक्खरवरदीवद्धवासमणुयाण।पुव्वेण य अवरेण य पिहिं पिहिं होइ मणुयाण॥२॥ इत्यादि ॥ तत: कथमधिकृत सूत्रात्मांगुलेनापि घटते प्रमाणांगुलेनापि व्यभिचारिभावात्। उक्तञ्च–" लक्खेहिं एक्कवीसाए, सायरे गेहिं पुक्खरद्धंमि ॥ उदए पेच्छन्ति नरा, सूर उक्कोसए दिवस ॥३॥ ण य णिंदियस्स तम्हा, विसयप्पमाण जहा सुए भणिय ॥ आउस्सेहपमाण गुलाणएक्केण वि न जुत्त ॥ ४ ॥ " प्रज्ञा० १५ पद ।

ननु पुष्करवरद्वीपस्य मानुषोत्तरपर्वतद्विधाकृतस्यार्व्वाग्भा गवर्तिन्यर्द्धे मानुषोत्तरसन्निधावुत्कृष्टे दिवसे कर्कटकस कान्त्यामुदये उपलक्षणत्वादस्तसमये च नरा मनुष्याः सूरमा दित्य पश्यन्ति अवलोकयति, कियद्दूरं व्यवस्थितमित्याह

सातिरेकैरेकविंशतिलक्षैर्योजनानां । एतदुक्त भवति " सिया लीससहस्सा,दोयसया जोयणाण ते वक्का। एगवीससट्ठिभागा कक्कडमाइम्मिपेच्छनरा " इति वचनाद्यथादत्र कर्कसक्रातावु त्कृष्टे दिवसे एतावति दूरे व्यवस्थितं सूर्य मनुष्या पश्यन्ति यथा–पुष्करार्द्धमानुषोत्तरसमीपे प्रमाणगुलनिष्पन्नै: साति रेकैरेकविंशतियोजनलक्षैर्व्यवस्थितमादित्य तत्र दिने तन्नि वासिनो लोकाः समवलोकयन्ति तत्र भ्रमति बाहुल्यात्सूर्या णा च शीघ्रतरगतित्वादुक्त च " इगवीसमित्यादि " तस्मा न्नयनेन्द्रियस्य सातिरेकयोजनलक्षस्वरूप विषयपरिमाण यथा श्रुते प्रज्ञापनादिकेऽभिहित तथा तेन प्रकारेणात्मांगु लोत्सेधांगुलप्रमाणांगुलानामेकेनापि गृह्यमाण न युक्त प्रमाणा गुले निष्पन्नस्यापि योजनलक्षस्य च निष्पन्नसातिरेकैक विंशतियोजनलक्षेभ्यः एकविंशतितमभागवर्तित्वेन बृहद न्तरत्वात्तस्मादेकत्र सातिरेक लक्षमन्यत्र सातिरेकैकवि शतिलक्षाणि योजनानां नयनस्य विषयप्रमाणमुक्तः श्रुत स्य पूर्वापरविरोध इति परस्योक्तमिति गाथाद्वयार्थ ॥ विशे० ॥ तथा–नयनस्य विषयोप्रकाशकवस्तुपर्वतायाश्रित्या त्मांगुलेन सातिरेक योजनलक्ष स्यात् प्रकाशकेत्वादि त्यचन्द्रादिवदधिकमपिविषयपरिमाणं स्यात् नात्र विषय नियम: कोपि निर्दिष्टोऽस्ति सिद्धान्ते यतः पुष्करवरद्वीपादि मानुषोत्तरपर्वतसमीपे कर्कसङ्क्रान्तौ मनुष्या: प्रमाणांगुलत्वं सातिरेकैरेकविंशति योजनलक्षैर्व्यवस्थित रविं पश्यन्त: प्रोच्यन्ते शास्त्रान्तरे इति तद्० ।

सत्यमेतत् । केवलमिदं सूत्र प्रकाश्यविषयं द्रष्टव्यं न तु प्रकाशकविषय तत –प्रकाशकोधिकरणमपि विषयपरिमाणं न विरुध्यते-इति न कश्चिद्दोष: । कथमेव विधोऽर्थोऽवसीयत

इति चेदुच्यते पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात् सकलमपि हि कालिकश्रुत पूर्वसूरिकृतव्याख्यानानुसारेणैव व्याख्यानयन्ति महाधियो न यथाक्षरमात्रसन्निवेशं पूर्वगतसूत्रार्थसङ्ग्रहपरम्परा, कालिकस्तु तस्य क्वचित्सङ्क्षिप्तस्याप्यर्थस्य महता विस्तरेण क्वचिद्विस्तारवतोप्यतिसङ्क्षेपणाभिधाने अर्वाक्तनैः स्वमति यथावस्थितार्थतया ज्ञातुमशक्यत्वादत एवोक्तमिदमन्यत्र– " ज जह भणियमित्यादि" तस्मात् पूर्वसूरिकृतव्याख्यानान्नाधिकृत ग्रन्थविरोध ॥ आह च भाष्यकृत् " सुत्ताभिप्पाओ य पयासयणिज्जे तय न उ पयासए । वक्खाणओ विसेसो न हि संदेहादिलक्खणया । प्रज्ञा० १५ पद ॥

सातिरेकयोजनलक्षं नयनविषयप्रमाणं ब्रुवतः सूत्रस्यायमभिप्राय इय विवक्षा यदुत स्वयं तेजोरूपप्रकाशराहितत्वात्परप्रकाशनीयं यद्वस्तु पर्वतगर्तादिकं तत्रैव तत्सातिरेकयोजनलक्षं नयनविषयप्रमाणतया द्रष्टव्य । ननु स्वयमेव तेजोयुक्तत्वेन प्रकाशे चन्द्रार्कादिकं प्रकाशके वस्तुनि, एतदुक्तं भवति कश्चिन्निर्मलचक्षुर्जीव सातिरेकयोजनलक्षे स्थित पर्वतादिक वीक्ष्यत इति प्रकाशनीयपर्वतगर्तादिके वस्तुनि नयनस्य तद्विषयप्रमाणमुक्तं प्रकाशकत्वादित्यादिकेऽनियम. । कुत. पुनरयं सूत्राभिप्रायो गम्यत, इत्याह–व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः कर्तव्या ननु संदेहादुभयपक्षोक्तिलक्षणत्वात्सूत्रस्य सर्वज्ञप्रणीतस्यालकताऽसमञ्जसाभिधायिता व्यवस्थापनीया व्याख्यानात्सूत्र विषयविभागेन धारणीय न तूभयपक्षोक्तिमानप्रमितेस्तद्विरोध उद्भावनीय इत्यर्थ. । उक्तञ्च । "ज जह सुत्ते भणिय तहेव जइ तं वियालणा नत्थि । किं कालियाऽणुओगो दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ।" तदेवमप्राप्तकारिता विचारप्रक्रमेण नयनस्य विषयप्रमाणमुक्तम् ॥ विशे० ॥

तथा घ्राणेन्द्रियजिह्वेन्द्रियस्पर्शनेन्द्रियाणि गन्धादीनुत्कर्षतो नवयोजनेभ्य आगतान् अविच्छिन्नान् द्रव्यान्तरैरप्रतिहतशक्तिकान् परिच्छिन्दन्ति न परत आगतान् परत आगतानां मन्दपरिणामत्वाभावात् घ्राणादीन्द्रियाणां च तथारूपाणामपि तेषां परिच्छेदं कर्तुमवशक्यत्वात्–आह च भाष्यकृत् । "बारसहिंतो सुत्त, सेसाण नवहि जोयणेहिंतो । गिण्हंति पत्तमत्थं एतो परतो न गिण्हंति " (प्रज्ञा० १५ पद) मेघगर्जितादिशब्दमुत्कृष्टतो द्वादशयोजनेभ्यः समायात गृह्णाति श्रोत्रम्, उक्तशेषाणि त्विन्द्रियाणि घ्राणरसनस्पर्शनलक्षणानि गन्धरसस्पर्शलक्षणमर्थमुत्कर्षतो नवयोजनेभ्य प्राप्त गृह्णन्ति ॥ इतः परतोऽप्यायात शब्दादिकमेतानि न गृह्णन्ति । ननु मेघगर्जितादि विषय. शब्द. प्रथमप्रावृषि दूरे प्रथममेघवृष्टौ सत्यां मृत्तिकादिगन्धश्च दूरादप्यायातो गृह्यमाणः समनुभूयते रसस्पर्शौ तु कथमिति चेदुच्यते–दूरादागतानां गन्धद्रव्याणां रसोपि तावत्कश्चिद्भवत्येव स च तेषां जिह्वासबन्धे सति यथासम्भवं कदाचित् केनचित् गृह्यत एव । तथा च वक्तारो भवन्ति "कटुकस्य तीक्ष्णादेर्वा वस्तुन. सबंधी अय गन्ध" इति । यदिह कटुकत्वं तीक्ष्णादित्वं चोच्यते तद्रसस्यैव धर्मस्ततश्च ज्ञायते जिह्वासंबन्धि तेषां कटुकादिरसोऽपि गृहीत इति स्पर्शोऽपि शीतादिदूरादपि शिशिरः पद्मसर सरित्समुद्रादेर्मध्येनायातस्य वातादेरनुभूयत एवेति । यद्येव तर्हि द्वादशनवयोजनेभ्यः परतोप्यायाताः शब्दगन्धादयः किमिति न गृह्यन्त इत्याह–

दव्वाणं मंदपरिणा–मत्ता परओ न इंदियबलं पि ।
अवरमसंखिज्जंगुल–भागओ नयणवज्जाणं ॥

द्वादशनवयोजनेभ्यः परत समायातानां शब्दादिगन्धादिद्रव्याणां मन्दपरिणामत्वान्न खलु परत. समायातानां तेषां तथाविधपरिणामो भवति येन श्रोत्रघ्राणादि विज्ञान जनयेयु. । श्रोत्रादीन्द्रियाणामपि च तथाविध बल न भवति येन परतः समायातानि शब्दादिद्रव्याणि गृहीत्वा स्वविज्ञान जनयन्तु तदेवमुक्तमिन्द्रियाणां उत्कृष्ट विषयपरिमाणम् । अथ जघन्य तद्विभणिषुराह (अवरमित्यादि) अवर जघन्य विषयप्रमाण मुच्यते किमित्याह । असख्याततमादङ्गुलादसख्येयभागादागत गन्धादिक घ्राणादीनि गृह्णन्ति किमेतत्सर्वेषामपीन्द्रियाणां जघन्यविषयप्रमाण नेत्याह नयनवर्जानां नयनस्य तर्हि का वार्ता इत्याह–

संखिज्जइ भागाओ, नयणस्स मणस्स न विसयपमाणं ।
पोग्गलमित्तनिबंधा, भावाओ केवलस्सेवा ॥

अङ्गुलासख्येयभागादङ्गुलसंख्येयभागमवधीकृत्वा नयनस्य जघन्य विषयपरिमाणमतिसन्निकृष्टस्याञ्जनशलाकारजोमलादेस्तेनानुपलम्भादिति भाव. । मनसस्तु क्षेत्रतो नास्त्येव विषयप्रमाण नियमेन दूरे आसन्ने च तत्प्रवर्तत इत्यर्थः कुत इत्याह । पुद्गलमात्रस्य निबन्धो नियमस्तस्याः भावान्मूर्तामूर्तसमस्तवस्तुविषयत्वेन पुद्गलेष्वेवेद प्रवर्तत इत्येव भूतस्य नियमस्याभावात्केवलस्येवेत्यर्थ. । इह यत्पुद्गलमात्रनिबन्धं नियतं न भवति न तस्य विषयपरिमाणमस्ति यथा केवलस्य, पुद्गलमात्रनिबधाऽनियत च मनस्ततो नास्य विषयपरिमाण यस्य तु विषयपरिमाणं तत्पुद्गलमात्रनिबधरहितमपि न भवति यथाऽवधिमन पर्यायज्ञाने इति । अत्राह–नन्वऽनैकान्तिकोऽय हेतुर्मतिश्रुतज्ञानाभ्यां व्यभिचारात्तथाहि मूर्तामूर्तसमस्तवस्तुविषयत्वेन तावन्नैते पुद्गलमात्रनिबन्धनियताऽथ च दृश्यते श्रोत्रादीन्द्रियप्रभवयोस्तयोर्द्वादशयोजनादिक क्षेत्रतो विषयप्रमाणमिति तदेतदसमीक्षिताभिधानमेव यतः इन्द्रियप्रभवयोरेवतयोरिद विषयपरिमाण इन्द्रियाणि च पुद्गलमात्रनिबन्धनियतान्येवेति कुतो व्यभिचार । मनःप्रभवयोस्तु तयोरस्ति पुद्गलमात्रनिबन्धाभाव. केवलं तयोः क्षेत्रतो विषयपरिमाणमपि नास्त्यतः कुतोऽनैकान्तिकतेत्यलविस्तरेणेति । विशे० । आ० म० प्र० । तद्वृ० । आ० चू० । इन्द्रियाणि च रक्षणीयानि । उक्तंच–

"इन्द्रियाणि न गुप्तानि लालितानि न चेच्छया । मानुष्यं दुर्लभ प्राप्य न मुक्तम विशेषितम्" इति । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

(११) अथेन्द्रियासम्भृतानां स्वरूपस्येन्द्रियासवरदोषस्य चाभिधायक गाथाकद्वयक ज्ञाताधर्मकथाया. सप्तदशेऽध्ययने यथा–

कलरिभिय महुरतंती–तल ताल वंसककुदाभिरामेसु ।
सद्देसु रज्जमाणा रमंति सोइंदियवसट्टा ॥ १ ॥
सोइंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
दिवगरूवमसहंतो, वहबंधं तित्तिरो पत्तो ॥ २ ॥
थण-जहण-वयण-कर-चरण-णयण-गव्विय विलासियगइसु
रूवेसु रज्जमाणा, रमंति चक्खिदियवसट्टा ॥ ३ ॥
चक्खिदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एइओ हवइ दोसो ॥
जं जलणंमि जलंते, पयइ पयंगो अबुद्धीओ ॥ ४ ॥
अगुरुवरपवरधूवण–उयमल्लाणुलेवण विहीसु ॥

गंधेसु रज्जमाणा, रमंति घाणिंदियवसट्टा ॥ ५ ॥
घाणिंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं ओसहिगंधेणं, विलाओ णिद्धावई उरगो ॥ ६ ॥
तित्त-कडुय-कसायं, महुरं-बहु खज्ज-पेज्ज-लेज्जेसु ॥
आसायंमि उ गिद्धा, रमंति जिब्भिंदियवसट्टा ॥ ७ ॥
जिब्भिंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं गललग्गक्खित्तो, फुरइ थलविरेल्लिओ मच्छो ॥८॥
उउज्जमयमाणसुहेसु य, सविभवहिययगमणणिव्वुइकरेसु ।
फासेसु रज्जमाणा, रमंति फासिंदियवसट्टा ॥ ९ ॥
फासिंदियदुद्दंत-त्तणस्स अह एत्तिओ हवइ दोसो ॥
जं खणइ मत्थयं कुं-जरस्स लोहंकुसो तिक्खो ॥१०॥
कलरिभियमहुरतंती-तलतालवंसककुहाभिरामेसु ॥
सद्देसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥ ११ ॥
थणजहण वयण कर चरण णयणगव्विय विलासियगइसु ॥
रूवेसु जेण रत्ता, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥ १२ ॥
अगुरुवर पवर धूवण, उउयमल्लाणु सेवणविहीसु ॥
गंधेसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१३ ॥
तित्तं कडुयकसायं, महुरं बहु खज्ज पेज्ज लेज्जेसु ॥
सादेसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१४॥
उउज्जमयमाणसुहेसु य, सविभवहिययमाणणिव्वुइकरेसु ।
फासेसु जेण गिद्धा, वसट्टमरणं ण ते मरए ॥१५ ॥
सद्देसु य भद्देसु य, पावएसु सोय विसयमुवगएसु ॥
तुट्टेण व रुट्टेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ १६॥
रूवेसु य भद्दगेसु, पावएसु चक्खुविसयमुवगएसु ॥
तुट्टेण व रुट्टेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥१७ ॥
गंधेसु य भद्देसुय, पावएसु घाणविसयमुवगएसु ॥
तुट्टेण व रुट्टेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ १८ ॥
रसेसु य भद्दएसु य, पावएसु जिब्भविसयमुवगएसु ॥
तुट्टेण व रुट्टेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ १९॥
फासेसु य भद्देसुय, पावएसु कायविसयमुवगएसु ॥
तुट्टेण व रुट्टेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥२० ॥

(कलरिभियमहुरततीत्ति) कला अत्यन्तश्रवणहृदयहरा अव्यक्तध्वनिरूपा· अथवा कलावन्त· परिमाणवन्त इत्यर्थ·। रिभिता स्वरघोलनाप्रकारवन्तः मधुरा· श्रवणसुखकरा ये तन्त्रीतलताल-वंशास्ते तथा । तत्र तन्त्री वीणा तलताला हस्तताला अथवा-तला हस्तास्ताला कंसिका· वंशा वेणव· इह च तन्त्र्यादय· कलादिभि शब्दधर्मैर्विशेषिता· शब्दकारणत्वात्ते च ते ककुदाः प्रधाना· स्वरूपेणाभिरामाश्च मनोज्ञा इति कर्मधारयोऽतस्तेपु रमन्ते रतिं कुर्वन्तीति योग·। (सद्देसु रज्जमाणा रमंति सोयदियवसट्टेत्ति) शब्देषु मनोज्ञध्वनिपु श्रोत्रविषयेपु रज्यमाना रागवन्तः श्रोत्रेन्द्रियस्य वशेन वशेन ऋताः पीडिता इति विग्रह· ये शब्देपु रज्यन्ते तत्कारणेपु तन्त्र्यादिपु श्रोत्रेन्द्रियवशा रमन्ते इति वाक्यार्थ ।अनेन च कार्यत· श्रोत्रेन्द्रियस्वरूपमुक्तम् ॥ १॥ (सोइंदियदुद्दंतेत्ति) कण्ठ्या ॥ नवरं शाकुनिकपुरुषसम्बन्धी पंजरस्थतित्तिरिर्दीपिक उच्यते ॥ तस्य यो र वस्तमसहमान· स्वनिलयान्निर्गतो वन्धममरण बन्धं च पंजरबधनं प्राप्त इति ॥ २॥ (थणजघणवयणेत्ति) स्तनादिपु तथा गर्वितानां सौभाग्यमानवतीनां स्त्रीणां या विलासिता जातविलासाः सविकारा गतय· तासु चेत्यर्थः (रूवेसु रज्जमाणा रमन्ति) ॥ प्रतीतमेव ॥ ३ ॥ (चक्खिंदियत्ति) ॥ ४ ॥ कंठ्या ॥ (अगरुवरपवणेत्ति) कंठ्या नवरम् अगरुवरः कृष्णागरुः प्रवरधूपनानि गन्धयुक्त्युपदेशाद्विरचिता धूपविशेषाः (उउयत्ति) ऋतौ २ यान्युचितानि तानि आर्तवानि माल्यानि जात्यादिकुसुमानि अनुलेपनानि च श्रीखण्डकुंकुमादीनि विधय एतत्प्रकारा इति ॥ ५ ॥ (घाणिंदियदुहेत्ति ॥ ६ ॥ कंठ्या । (तित्तकडुयत्ति) पूर्ववन्नवर तिक्तानि निम्बवटकादीनि कटुकानि शृङ्गवेरादीनि कषायाणि मुद्गादीनि अम्लानि तक्रादिसंस्कृतानि मधुराणि खण्डादीनि खाद्यानि कूरमोदकादीनि पेयानि जलमद्यदुग्धादीनि लेह्यानि मधुशिखरिणीप्रभृतीनि आस्वादे रसे॥७॥ (जिब्भिदियत्ति)कण्ठ्या।नवर गलं बडिश तत्र लग्नः कण्ठे विद्धत्वात् उत्क्षिप्तो जलाडुद्धृतस्ततः कर्मधारयः स्फुरति स्पन्दते स्थले भूतले (विरल्लिओत्ति) प्रसारित· क्षिप्त इत्यर्थः यः स तथा । उउमयमाणे-कंठ्या ॥ नवरं ऋतुषु हेमतादिषु भजमानानि सेव्यमानानि यानि सुखानि सुखकराणि तानि तथा तेपु सविभवानि समृद्धियुक्तानि महावचनानीत्यर्थः । हितकानि प्रकृत्यनुकूलानि सविभावानां वा श्रीमतां हितकानि यानि तानि तथा मनसो निर्वृत्तिकराणि यानि तानि तथा ततः पदत्रयस्य तद्द्वयस्य वा कर्मधारयस्तत्र स्रक्चन्दनाङ्गनावसनतुल्यादिषु द्रव्येष्विति गम्यते ॥ ९ ॥ फासिंदियदुद्दंतेत्ति-भावनाप्रतीतैव ॥१०॥ अथेन्द्रियाणां संवरे गुणमाह-(कलरिभियमुहुरेत्ति) पूर्ववन्नवरमिह तन्त्र्यादयः शब्दकारणत्वेनोपचाराच्छब्दा एव व्यवस्थिता· अत· शब्देष्वित्येव तस्य विशेषणतया व्याख्येयास्तथावशेनेन्द्रियपारतन्त्र्येण ऋताः पीडिता वशार्ताः वशा वा विषयपारतन्त्र्यऋताः प्राप्ताः वशार्ता· तेषां मरणं वशार्तमरण वशार्त्तमरण (वा नतेमरएत्ति) म्रियन्ते छान्दसत्वादेकवचनप्रयोगेपि बहुवचन व्याख्यात· मिति ॥ ११ ॥ (थणजघणेत्ति) ॥ १२ ॥ एवमन्यास्तिस्रो· गाथा पूर्वोक्ता वाच्या ॥ १५ ॥ उपदेशमिन्द्रियाश्रितमाह (सद्देसुयभद्दत्ति) कण्ठ्यम् । नवरं । भद्रकेषु मनोज्ञेषु पापकेष्वमनोज्ञेषु क्रमेण तुष्टेन रागवता रुष्टेन रोषवतेति ॥ १६ ॥ एवमन्या अपि चतस्रोऽध्येतव्या·। इहविशेषोपनयमेवमाचक्षते "जह सो कालियदीवो, अणुवमसोक्खो तहेव आइधम्मो य । जह आसा तह साहु, वणियव्वणुकूलकारि जणो ॥ १ ॥ जह सद्दाइअगिद्धो, पत्ता नो पासबंधणं आसा । तह विसएसु अगिद्धा, वज्झंति न कम्मणो साहू ॥ २ ॥ तह सच्छंदविहारो, आसाण तह इह वरमुणीणं । जरामरणाइवज्जिय-सायत्ताआणंदनिव्वाणं ॥३॥ जह सद्दाइसु गिद्धा, बद्धा आसा तहेह विसयरया । पावेंति कम्मबंधं परमा सुहकारणं घोरं ॥४॥ जह ते कालियदीवा णीया अण्णत्थ दुहगणं पत्ता । तह धम्मपरिब्भट्ठा, अधम्मपत्ता इह जीवा ॥ ५ ॥ पावंति कम्मनरवइवसया ससार वाहियालीए । आसप्पमद्दएहि य नेरइयाईहिं दुक्खाइं ॥ ६ ॥" इति । ज्ञा० १७ अ० ।

(१२) पञ्चेन्द्रियेषु गुप्तागुप्तयोर्गुणदोषौ ज्ञाताधर्मकथायां कूर्मोभिधाने चतुर्थेऽध्ययने यथा—

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी नाम नयरी होत्था वष्णओ तीसेणं वाणारसीए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गंगाए महानईए मयगतीरद्दहे णाम दहे होत्था अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजले अच्छविमलसलिलपलिच्छिन्ने संछन्नपत्तपुप्फपलासे बहुउप्पलपउमकुमुयनलिनसुभगसोगंधियपुंडरियमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तकेसरपुप्फोवचिए पासादिए ॥ ४ ॥ तत्थ णं बहूणं मच्छाण य कच्छभाण य गाहाण य मगराण य सुसुमाराण य सयाणि य साहस्सियाणि य जूहा य निब्भयाइं निरुव्विग्गाइं सुहं सुहेणं अभिरममाणाइं विहरंति तस्स णं मयंगतीरद्दहस्स अदूरसामंते एत्थणमहं एगं मालुया कच्छए होत्था वण्णओ तत्थणं दुवे पावसियालगा परिवसंति पावा चंडा रुद्दा तल्लिच्छा साहसिया लोहितपाणि आमिसत्थी आमिसाहारा आमिसप्पिया आमिसलोला आमिसं गवेसमाणा रत्तिवियालचारिणो दिया पच्छिण्णया वि चिट्ठंति तएणं ताओ मयंगतीरद्दहातो अन्नया कयाइं सूरियंसि चिरत्थमयंसि लिसियासज्झाए य विरलमाणुसं सिणिसंतं पडिनिसंतंसि दुवे कुम्मगा आहारत्थी आहारंति गवेसमाणा सणियं २ उत्तरंति तस्स य मयंगतीरद्दहस्स परिपेरे तेणं सव्वतो सम्मंता परिघोलेमाणे २ वित्तिं कप्पेमाणे विहरंति तयाणंतरं च णं ते पावसियालगा आहारत्थी आहारं जाव गवेसमाणा मालुया कच्छयातो पडिणिक्खमंति जेणेव मयगतीरद्दहे तेणेव उवागच्छंति तस्सेव मयंगतीरद्दहस्स परिपेरे तेणं सव्वओ समंता परिघोलेमाणा २ वित्तिं कप्पेमाणे विहरंति तएणं ते पावसियाला ते कुम्मए पासंति जेणेव कुम्मए तेणेव पहारेत्थगमणा ते तएण ते कुम्मगा ते पावसियाले एज्जमाणे २ पासंति २ त्ता भीया तत्था तसिया उव्विग्गा संजायभया हत्थे य पाए य गीवाओ सएहिं काएहिं संहरत्ति २त्ता निच्चला णिप्फंदा तुसणिया संचिट्ठंति तएण ते पावसियाला जेणेव ते कुम्मगा तेणेव उवागच्छंति २ त्ता ते कुम्मगा सव्वतो सम्मंता उव्वत्तेत्ति आसारेत्ति चालेत्ति घट्टेत्ति फंदेत्ति खोभेंति नेहेहिं आलुपंति दंतेहि य आखोडेंति नो चेव णं संचाएत्ति तेसिं कुम्मगाणं सरीरस्स आबाहं वा उप्पात्तित्तए अविच्छेयं वा करित्तए तए णं ते पावसियालगा ते कुम्मए दोच्चं पि तच्चं पि सव्वतो समंता उव्वत्तेत्ति जाव नो चेव णं संचाएत्ति करित्तए ताहे संता तंता परितंता णिव्विण्णा समाणा सणियं २ पच्चोसक्कंत्ति एगंतमवक्कमंति णिच्चला णिप्फंदा तुसिणिया संचिट्ठति तए ण एगे कुम्मए ते पावसियालए चिरगते दूरं गए जाणेत्ता सणियं २ एगं पायं निच्छुभंति तत्थ णं ते पावसियाला तेणं कुम्मएण सणियं २ एगं पायं निणियं पासति २त्ता सिग्घं चवलं तुरियं चंडं जइणवेगासियं जेणेव से कुम्मए तेणेव उवागच्छइ २त्ता तस्स णं कुम्मस्स तं पायं नखेहिं आलुपंति दंतेहिं आखोडेति ततो पच्छा मंसं च सोणियं च आहारेत्ति २त्ता ते कुम्मगं सव्वतो समंतं उव्वत्तेत्ति नो चेव णं संचाएत्ति करेत्तए ताए दोच्चं पि तच्चं पि अवक्कमंति एवं चत्तारिपाया जाव सणीयं २ गीवं णिणेइ २ त्ता तएणं ते पावसियालगा तेणं कुम्मएणं गीवता य पासंति २ त्ता सिग्घं चवलं नहेहिं दंतेहिं कवालं विहाडेंति २त्ता तं कुम्मगं जीवियाउ ववरोवेंति मंसं च सोणियं च आहारेंति एवामेव समणाउसो जो अम्हं णिग्गंथो वा निग्गंथीवा आयरियउवज्झायाणं वा अंतिते पव्वए समाणे पंच य से इन्दिया अगुत्ता भवंति सेणं इह भवे चेव बहूणं समणाणं समणीणं सावयाणं साविया णं हीलणीज्जे परलोगे वि य णं आगच्छइ बहूणं दंडणाणि य जाव अणुपरियट्टइ जहा व से कुम्मए अगुत्तिंदिए तएणं ते पावसियालगा जेणेव से दोच्चे कुम्मए तेणेव उवागच्छइ २ त्ता तं कुम्मए सव्वतो समंता उव्वत्तिंति जाव दंतेहिं निखोडेंत्ति जाव करित्तए तएणं ते पावसियालगा दोच्च पि जाव नो संचाएत्ति तस्स कुम्मस्स किंचि आबाहं वा जाव छविच्छेयं वा करित्तए ताहे संता परितंता णिव्विणा समाणा जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया तएणं से कुम्मए तेणेव पावसियालए चिरए दूरगए जाणित्ता सणियं२ गीवंतिणेत्ति २ दिसालोयं करेंति जमगसमगं चत्तारि पाए नीणेइ२त्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए कुम्मगतीए वतीवयमाणे२ जेणेव मयंगतीरद्दहे तेणेव उवागच्छइ २त्ता मित्तणाइनियगसयण सबंधि परियणेणं सद्धिं अभिसमण्णागए यावि होत्था एवामेव समणाउसो जो अम्हं समणो वा २ पंच य से इंदिया तिगुत्ताइं भवति जाव जहा से कुम्मए गुत्तिंदिए ।

(टीका सुगमत्वाद्व्याख्यातापि न गृहीता) नवरं "विसएसु इंदियाइ, रुम्भता रागदोसनिम्मुक्का । पावन्ति निव्वुइ सुहं कुम्मुव्व मयगदहसोक्खं ॥ १ ॥ इयरे उ अणत्थ, परपराउ पावति पावकम्मवसा । संसारसागरगया, गोमाउ गसियकुम्मोव्व । ज्ञा० ४ अ० ॥

(१२) तानि चानाभिनानि दुःखाय भवन्तीत्यत्र घ्राणेन्द्रिये उदाहरणम्—

कुमारो गंधप्पिओ सो अणुवत्य नावकडएण खेल्लइ । माइ सवत्तीए पयस्स मंजूसाए विस भद्दण नदीए पवाहिय तेण दिट्ठा उत्तारिया उग्घाडेऊण पलोइत्त पवत्ता पडिमंजूसाइए दिओ समुग्गओ दिट्ठो सो अणेण उग्घाडेऊण जधित्तो मत्तो य एव दुक्खाय घाणिंदिय । आ० म० द्वि० ॥ फासिंदिए उदाहरणम्—

वसनपुर नयरे जियसत्तूराया सुकुमालिया से भज्जा नामं

अतीव सुकुमालो फासो राया रत्तिदिनं चिंतेइ सो ताए निच्च मेव परिभुज्जमाणो अत्थई एवं कालोवच्चई निग्घेहिं समं मंतिऊण तीए सह निच्छूढो पुत्तो ज्जेट्ठरविनो ते अरुवीए वच्चति सातिसाइया जल्ल मग्गई । अच्छीणि से बद्धाणि माबीहेहिसि । सिरारुहिरं पज्जिया रुहिरे मूलिया बूल्हा जेण न थिज्जइ । खुहाइया उरूमंसं दिन्न उरूग सो रोहिणीए रोढियांजणवय पत्ताणि आभरणगाणि सावविंयाणि एत्थ वाणियत्तं करेइ पंगुय से वीहाए सो वग्गो घटितो सो भणई न सक्कुणोमि एगागिणी गिहे वि चिट्ठिउ विइज्जय लामाहिं चिंतिय वणेण निव्वाकपगू सोभणो य ततो नेणसो नेइवालो निउत्तो तेण गीयच्छलियकहाईहिं आवज्जिया पच्छा सा तत्थेव लग्गा भत्तारस्स छिद्दाणि मग्गई जाहे न लहइ ताहे उज्जाणिया पगतो सुविछवो वहुमज्ज पाएत्ता गगाए पक्खित्तो सा वि त दुक्खाइऊण तं वहइ गायति घरेघरे पुच्छिया भणइ मायापिएहिं एरिसो दिन्नो किं करेमि सो य रायाए कच्छनगरे उच्छलितो रुक्खच्छायाए पसुत्तो न परावत्तइ छाया तत्थ राया अपुत्तो मतो आसो अहिवासितो तत्थ गतो जयजयसद्देण परिवोहिनो राया जातो ताणि वितत्थगयाणि रण्णो कहियं अण्णो वि याणिसा पुच्छियासाकहइ । अम्मापिएहिं दिन्नो राया भणइ "वाहुभ्यां शोणितं पीत उरुमांसं च भक्षितम् । गगायां वाहिता भर्तो साधु साधु पतिव्रते " निव्विसयाणि आणत्ताणि एवं फासिंदिय दोएह वि दुक्खाय विसेसिता सुकुमालियाए किं च "शब्दाःसङ्गे यतो दोषा मृगादीनां शरीरजाः । सुखार्थी सतत विद्वान् शब्दे किमिव सगवान् १ पतगानां क्षय दृष्ट्वा सद्यो रूप प्रसगत. । स्वच्छ चित्तस्य रूपेषु किं व्यर्थ. सगसभवः ॥ २ ॥ उरगान् गधदोषेण परतन्त्रान् समीक्ष्य कः । गधासक्तो भवेत्कोयं स्वभाव वा न चिन्तयेत् ॥ ३ ॥ रसास्वादप्रसगेन मत्स्या उत्सादिता यतः । ततो दु.खादिजनने रसे कः सगमाप्नुयात् ॥ ४ ॥ स्पर्शातिरिक्तचित्तानां हस्त्यादीनां समीक्ष्य अस्वातन्त्र्यं समीक्ष्यापि कःस्यात्स्पर्शनसगत. ॥ ५ ॥ एवं विधानीन्द्रियाणि ससारवर्द्धकानि विषयलालसानि दुर्जयानि दुरन्तानि । आ० म० द्वि० । आ० चू० (अथान्यान्युदाहरणानि ' सोइंदियादि ' शब्दे)

(१४) इन्द्रियमाश्रित्य जीवानां भेदा यथा–

दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा सेंदिया चेव अणिंदिया चेव ॥

दुविहेत्यादि । कण्ठ्या चेय नवर सेन्द्रियाः ससारिणोऽनिन्द्रिया अपर्याप्तकेवलीसिद्धाः । स्था० २ ठा० ।

अहवा छव्विहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा एगिंदिया जाव पचिंदिया अणिंदिया । स्था० ६ ठा० ।

एकेन्द्रिया. द्वीन्द्रिया. त्रीन्द्रिया. चतुरिन्द्रिया असंज्ञिसंज्ञिभेदभिन्नाश्च पचेन्द्रिया. एते च सर्वेपि प्रत्येकमपर्याप्ताश्च । तत्र एक स्पर्शनलक्षणमिन्द्रिय येषां ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय. ते प्रत्येक द्विधा सूक्ष्मा बादराश्च तत्र सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मा. सकललोकव्यापिन. बादरनामकर्मोदयात् बादरा लोकप्रतिनियतदेशवर्त्तिनः । तथा द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे इन्द्रिये येषां ते द्वीन्द्रिया. शंखश्च शुक्तिका–चदनक कपर्दक जलूकी कृमि गण्डोलक पूत्तरकादय । तथा त्रीणि स्पर्शन–रसन–घ्राणलक्षणानि इन्द्रियाणि येषा–ते त्रीन्द्रिया यूका-मत्कुण-गर्दभेन्द्रगोप-कुंथु-मक्कोट-पिपीलि-उद्देहिका कर्पासास्थिक-त्रपुस-बीजक-तुम्बुरुकादयः । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः । भ्रमर–मक्षिका दंश-मशक-वृश्चिक-कीट-पतगादय. । पच स्पर्शनरसन घ्राणचक्षुः श्रोत्रलक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः । मत्स्य–मकर मनुजादय. ते च । द्विभेदाः । संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च तत्र संज्ञान संज्ञा चेतनत्वाविनावश्यंभावपर्यालोचन सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इत्यर्थ । यथोक्त । मनो विज्ञान विकला असंज्ञिनः एते च सर्वोपि प्रत्येकं सपर्याप्ताश्च । पं०सं०१ द्वा । अनिन्द्रिया अपर्याप्ता 'केवलिन' सिद्धाश्चेति । स्था० ६ ठा० । एकेन्द्रियादीनाम्यहवो भेदास्तत्तच्छब्देऽपि द्रष्टव्याः (इन्द्रियमाश्रित्य बन्धोदयसत्तासंबन्धानां विचारः ' कम्म ' शब्दे) रेतसि, वीर्ये, च । वाच० ।

ऐन्द्रिय–त्रि० इन्द्रियेण प्रकाश्यते अण् । इन्द्रियप्रकाश्ये प्रत्यक्षात्मके ज्ञानभेदे, तस्येद अण् इन्द्रियसबंधिनि, वाच० ।

इंदियअवाय–इन्द्रियापाय–पुं० इन्द्रियैरपाय ईहितस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायः इन्द्रियापाय' । ईहित शार्ङ्ग एवायम् । शार्ङ्ग एवायमित्यादिरूपेन्द्रियै. कृतेऽवधारणात्मके निर्णये, । " कइविहेण भंते ! इंदियअवाए पण्णत्ते सोइंदिए अवाए जाव फासिंदिय अवाए एव नेरइयाण जाव वेमाणियाण जस्स जइ इंदिया अत्थि " । प्रज्ञा० १५ पद० ।

इंदियउग्गहणा–इन्द्रियावग्रहणा–स्त्री० इन्द्रियैः परिच्छेदे, स च परिच्छेदोऽपायादिभेदादनेकधेति । तद्भेदादि प्रज्ञापनायाम् यथा–

कइविहाणं भंते ! इंदियओगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियओगाहणा पण्णत्ता तंजहा-सोइंदिय ओगाहणा जाव फासिंदिय ओगाहणा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं,जस्स जइ इंदिया तस्सतइ अत्थि ।

(कतिविहेत्ति) । कतिविध कतिप्रकार भदन्त ! इन्द्रियैरवग्रहण परिच्छेदे प्रज्ञप्तः । प्रज्ञा १५ पद । (अपायेहा वग्रहादयस्तत्तच्छब्दे द्रष्टव्या.) ।

इंदियउवओगद्धा–इन्द्रियोपयोगाद्धा–स्त्री० इन्द्रियोपयोगस्याद्धाकाले, स च यावन्तं कालमिन्द्रियैरुपयुक्त आस्ते तावत् काल इति । प्रज्ञा० १५ पद ।

कति विहाणं भंते ! इन्दियउवओगद्धा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियउवओगद्धा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियउवओगद्धा जाव फासिंदियउवओगद्धा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि । एतेसि णं भंते ! सोइंदिय–चक्खिंदिय–घाणिंदिय जिब्भिंदिय फासिंदियाणं जहण्णियाए उवओगद्धाए उक्कोसियाए उवओगद्धाए जहन्नुक्कोसियाए उवओगद्धाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ गोयमा ! सव्वत्थो वा चक्खिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा सोइंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स जहण्णिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स

जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, उक्कोसियाए उवओगद्धाए सव्वत्थो वा चक्खिदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा, सोइंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जहन्नुक्कोसियाए उवओगद्धाए सव्वत्थो वा । चक्खिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा सोइंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स जहन्निया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स जहन्नियाहिंतो उवओगद्धाहिंतो, चक्खिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, सोइंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, घाणिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, जिब्भिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया, फासिंदियस्स उक्कोसिया उवओगद्धा विसेसाहिया । प्रज्ञा० १५ पद । (टीका सुगमत्वान्न व्याख्यातेति न गृहीता)

इंदियउवचय-इन्द्रियोपचय-पुं० उपचीयते उपचयमीयते इन्द्रियमनेनेत्युपचयः प्रायोग्यपुद्गलग्रहणसम्पत्, इन्द्रियाणामुपचयः इन्द्रियोपचयः इन्द्रियोपचयलक्षणे परिणामे (भ० २० श० ३ उ०) इन्द्रियपर्याप्तौ, प्रज्ञा० । तद्भेदाः यथा-

कइविहे णं भंते ! इंदियउवचए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे इंदियउवचए पण्णत्ते तंजहा-सोइंदियउवचए चक्खिंदियउवचए घाणिंदियउवचए जिब्भिंदियउवचए फासिंदियउवचए नेरइयाणं भंते ! कतिविहे इंदियउवचए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे इंदियउवचए पण्णत्ते तंजहा सोइंदियउवचए जाव फासिंदियउवचए एवं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया तस्स तइविहो चेव इंदियउवचओ भणियव्वो ॥

(इंदियोवचए पण्णत्ते इत्यादि) सुगमं (जस्स जइ इंदिया इत्यादि) यस्य नैरयिकादेर्यानि यावन्ति इन्द्रियाणि सम्भवन्ति तस्य ततिविधस्तावत्प्रकार इन्द्रियोपचयो वक्तव्यः तत्र नैरयिकादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां पञ्चविधः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनामेकविधो द्वीन्द्रियाणां द्विविधः त्रीन्द्रियाणां त्रिविधश्चतुरिन्द्रियाणां चतुर्विधः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां पञ्चविधः । क्रमश्चैवं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीति ॥ प्रज्ञा १५ पद ॥ ।

इंदियगोयर-इन्द्रियगोचर-पुं० इन्द्रियस्य गोचरः विषयः । शब्दादिषु विषयेषु, ते हि प्रतिनियतमेकैकस्येन्द्रियस्य ग्राह्या यथा श्रोत्रस्य ग्राह्यः शब्दः, त्वगिन्द्रियस्य स्पर्शस्तद्विशिष्टद्रव्यञ्च, चक्षुषो रूपं तदाश्रयद्रव्यञ्च, रसनाया रसः, घ्राणस्य गन्ध इत्यादि । एवमन्यान्यपि न्यायादिमते तत्तदिन्द्रियग्राह्याण्युक्तानि यथा "घ्राणस्य गोचरो गन्धो गन्धत्वादिरपि स्मृतः । तथा रसो रसज्ञायास्तथा शब्दोऽपि च श्रुतेः" । आदिपदात् सुरभित्वासुरभित्वयोर्ग्रहणं तथा रसत्वं माधुर्यादिसहितं एवं शब्दत्वं तारत्वमन्दत्वादि सहितं "उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये । विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम्" चाच ॥

इंदियगाम-इन्द्रियग्राम-पुं० ६त० इन्द्रियसमुदाये, "बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति" आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

इंदियचोर-इन्द्रियचौर-इन्द्रियरूपे चोरे, "जिणवयणे अणुरत्ता मे, होंत मईज्झाणजोगमल्लीणा । तेहिं इंदियचोरा, करेंति तवसंजमविलोमं ॥ ७३ ॥" महा० प० ॥

इंदियजय-इन्द्रियजय-पुं० इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां जयः । इन्द्रियजय । इन्द्रियाणामत्यन्ताशक्तिपरिहारेण स्वस्वविकारनिरोधे, ध० १ अधि० । "अजिइंदिएहिं चरणं, कट्ठं व घुणेहिं कीरइ असारं । तो धम्मत्थिहिं दढं, जइयव्वं इंदियजयम्मि ॥४॥" इन्द्रियपराजयग्रन्थे, तत्स्वरूपचाष्टके यथा—

विभेषि यदि संसारा-न्मोक्षप्राप्तिं च काङ्क्षसि ।
तदेन्द्रियजयं कर्त्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥ १ ॥
वृद्धास्तृष्णाजलापूर्णै-रालवालैः किलेन्द्रियैः ।
मूर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति विकारविषपादपाः ॥ २ ॥
सरित्सहस्रदुष्पूरस्समुद्रोदरसोदरः ।
तृप्तिमान्नेन्द्रियग्रामो भव तृप्तोऽन्तरात्मना ॥ ३ ॥
आत्मानं विषयैः पाशै-र्भववासपराङ्मुखैः ।
इन्द्रियाणि निबध्नन्ति मोहराजस्य किङ्कराः ॥ ४ ॥
गिरिमृत्स्नां धनं पश्य-न्धावतीन्द्रियमोहितः ।
अनादिनिधनं पार्श्वे ज्ञानधनं न पश्यति ॥ ५ ॥
पुरःपुरस्स्फुरत्तृष्णा मृगतृष्णानुकारिषु ।
इन्द्रियार्थेषु धावन्ति त्यक्त्वा ज्ञानामृतं जडाः ॥ ६ ॥
पतङ्गमीनभृङ्ग-सारङ्गा यान्ति दुर्दशाम् ।
एकैकेन्द्रियदोषाच्च दुष्टैस्तैः किं न पञ्चभिः ॥ ७ ॥
विवेकद्विपहर्यक्षैः समाधिधनतस्करैः ।
इन्द्रियैर्न जितो योऽसौ धीराणां धुरि गण्यते ॥८॥ अष्ट०॥

" संयमाद् ग्रहणादीनामीन्द्रियाणां जयस्ततः " ।

टी०-संयमादिग्रहणादयो ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वानि तत्र ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखीवृत्तिः, स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्, अस्मिता अहङ्कारानुगमः, अन्वयार्थवत्त्वे प्राग्गुक्तलक्षणे । तेषां यथाक्रमं संयमादिन्द्रियाणां जयो भवति । तदुक्तं ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजय इति । द्वा० २६ द्वा० ।" आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः । तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् १॥ इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ । निगृहीतानि सृष्टानि स्वर्गाय नरकाय चेति " सर्वथेन्द्रियजयस्तु यतीनामेव इह तु सामान्यतो गृहस्थधर्म एवाधिकृतस्तेनैवमुक्तं युक्तमिति । ध० १ अ० । पञ्चानामपि स्पर्शादीनामिन्द्रियाणां जयो दमनं यस्मादसाविन्द्रियजयः इन्द्रियजयहेतुत्वादिन्द्रियजयः । तपोविशेषे,-तल्लक्षणादि यथा " पुरिमड्ढेक्कासण निव्विगईओ आयंबिलोववासेहिं । एगलयाइ य पर्हि होइ तवो इंदियजओत्ति" तपति निर्दहति दुष्कर्माणीति तपः तच्च नानाविधोपाधिनिबन्धनत्वादनेकप्रकारं तत्वेन्द्रियजयमूलत्वाज्जिनधर्मस्य प्रथममिन्द्रियजयाह्वं यत्तप तत्माह प्रथमदिने पूर्वार्द्धं

द्वितीयदिने एकाशनकं तृतीयदिने निर्विकृतिकं चतुर्थदिने आचाम्लं पञ्चमदिने उपवासः इत्येवं पञ्चभिस्तपोदिनैरेकाऽऽवलता-श्रेणिः परिपाटी चेत्येकार्थाः । एकैकं चेन्द्रियमाश्रित्यैव स्वरूपा एकैका लता क्रियते ततः पञ्चभिर्लताभिः पञ्चविंशत्या दिवसैरिन्द्रियजयाख्यस्तपोविशेषो भवति इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां पञ्चानामपि जयो दमनं यस्मादसाविन्द्रियजयः । इन्द्रियजयहेतुत्वादिन्द्रियजयः । यद्यपि सर्वाण्यपि तपांसीन्द्रियजये प्रभविष्णूनि तथापीन्द्रियजयमालम्ब्य क्रियमाणत्वादस्यैव तपसस्तद्धेतुत्वं पूर्वसूरिभिरभिहितमेवमुत्तरत्रापि वाच्यम् । प्रव० २७० द्वा० ॥

इंदियट्ठाण–इन्द्रियस्थान– न० स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानान्यवकाशाः । श्रोत्रादीन्द्रियाणामुपादानकारणेषु आकाशादिषु, । (पंचिंदियठाणाणि) इन्द्रियाणां चामूनि स्थानानि तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात् । घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात् । चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात् । रसनेन्द्रियस्यापः । स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ०॥

इंदियणिग्गह–इन्द्रियनिग्रह–पुं० इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां निग्रहो नियन्त्रणं स्पर्शादिविषयेषु लाम्पट्यपरिहारेण वर्त्तनम् । तदात्मके संयमभेदे, ध० ३ अधि० । इष्टेतरेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणे च । " इंदियाण च निग्गहो " इन्द्रियाणां च श्रोत्रादीनां निग्रह इष्टेतरेषु शब्दादिषु रागद्वेषाकरणमनगारगुणः । आव० ४ अ० ॥

इंदियणिरोह–इन्द्रियनिरोध– पुं० इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणां निरोधः स्वस्वविषयेभ्यो निवर्त्तनम् । इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाभावे. । ध० २ अधि० ॥ चक्षुरादिकरणपञ्चकसंयमे; सम्म० । तदात्मके करणभेदे च । ध० ३ अधि० । ओघ० ।

इंदियणिव्वत्तणा–इन्द्रियनिर्वर्त्तना– स्त्री० इन्द्रियाणां निर्वर्त्तना बाह्याभ्यन्तररूपा या निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनम् । इन्द्रियाकारमात्रस्य निष्पादने, तद्भेदादि यथा–

कतिविहे णं भंते ! इंदियनिव्वत्तणा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियनिव्वत्तणा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियनिव्वत्तणा जाव फासिंदिय निव्वत्तणा एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि तस्स तइया चेव सोइंदियनिव्वत्तणा णं भंते ! कइ समइया पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा समया अंतो मुहुत्तिया पण्णत्ता । एवं जाव फासिंदियनिव्वत्तणा । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं ।

निर्वर्तना नाम बाह्याभ्यन्तररूपा या निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनं तदनन्तरं सा निर्वर्तना कति समया भवतीति प्रश्ने ऽसंख्येयाः समयास्तस्या भवेयुरिति निर्वचनं वाच्यम् । प्रज्ञा० १५ पद ।

इंदियणाण–इन्द्रियज्ञान–न० इन्द्रियेण जनितं ज्ञानम् । प्रत्यक्षे ज्ञाने, वाच० ।

इंदियणाणावरण–इन्द्रियज्ञानावरण–न० इन्द्रियशब्दादिसामान्योपयोगावरणे, व्य० १० उ० । (एतद्भेदादिदृष्टान्ताः परिणामय-शब्दे)

इंदियत्थ–इन्द्रियार्थ– पुं० इन्द्रियैरर्थ्यन्ते अधिगम्यन्त इतीन्द्रियार्थाः । ग० ४ । अर्थ्यन्ते ऽभिलष्यन्ते क्रियार्थिभिरित्यर्थाः इन्द्रियाणामर्था इन्द्रियार्थाः । स्था० ५ ठा० । प्रव० । नि० चू० । "चत्तारि इंदियत्था पुट्ठा वेदेंति तंजहा सोइंदियत्थे, घाणिंदियत्थे, जिब्भिंदियत्थे, फासिंदियत्थे" टी० (पुट्ठत्ति) इन्द्रियसम्बद्धा वेद्यन्ते आत्मना ज्ञायन्ते नयनमनोवर्जानां श्रोत्रादीनां प्राप्तार्थपरिच्छेदस्वभावादिति । उक्तञ्च । " पुट्ठं सुणेइ सद्दमित्यादि" ॥ स्था० ४ । "पंच इंदियत्था पण्णत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे " श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रं तच्च तदिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियं तस्यार्थो ग्राह्यः श्रोत्रेन्द्रियार्थः शब्दः एवं क्रमेण रूपरसगन्धस्पर्शाश्चक्षुराद्यर्था इति । स्था० ५ ठा० । अस्य षड्विधत्वमपि " छ इंदियत्था पण्णत्ता तंजहा सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे नो इंदियत्थे" स्था० ६ ठा० ॥

इन्द्रियार्थानामतीतप्रत्युत्पन्नानागतभेदा यथा–

दस इंदियत्थातीता पण्णत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणिंसु सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणिंसु । देसेण वि एगे रूवाइं पासिंसु सव्वेण वि एगे रूवाइं पासिंसु । एवं गंधाइं रसाइं फासाइं जाव सव्वेण वि एगे फासाइं पडिसंवेदेंसु । दस इंदियत्था पडुप्पन्ना पण्णत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणेंति सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणेंति । एवं जाव फासाइं । दस इंदियत्था अणागया पण्णत्ता तंजहा देसेण वि एगे सद्दाइं सुणिस्सइ सव्वेण वि एगे सद्दाइं सुणिस्सइ । एवं जाव सव्वेणवि एगे फासाइं पडिसंवेदिस्सइ ।

(दस इंदियेत्यादि) कण्ठ्या नवरं (देसेणविति) विवक्षितशब्दसमूहापेक्षया देशेन देशतः कांश्चिदित्यर्थः एकः कश्चित् श्रुतवानिति (सव्वेणविति) सर्वतया सर्वानित्यर्थः । इन्द्रियापेक्षया वा श्रोत्रेन्द्रियेण देशतः संभिन्नश्रोतोलब्धियुक्तावस्थायां सर्वेन्द्रियैः सर्वतोऽथवैककर्णेन देशत उभाभ्यां सर्वत एवं सर्वत्र । स्था० १० ठा० ।

तुल्ले वि इंदियत्थे, एगो सज्जइ विरज्जई एगो ।
अज्झत्थं तु पमाणं, न इंदियत्था जिणा बेंति ॥

तुल्येऽपि समानेऽपि इन्द्रियार्थे इन्द्रियविषये रूपादौ रागद्वेषवतामेको रज्यते रागमुपगच्छति । द्वितीयो विरज्यते विषयपरिणामस्य दारुणतां परिभावयन् विरक्तो भवति । तस्मात्प्रायश्चित्तापत्त्यनापत्तिविषये अध्यात्मनान्तरपरिणामस्य प्रमाणं न इन्द्रियार्था इति जिना भगवन्तः सर्वज्ञा ब्रुवते । व्य० प्र० २ उ० ॥

(इन्द्रियार्थेषु रागकरणे प्रायश्चित्त–विसय-शब्दे) (इन्द्रियार्थसंवेदनप्रकार–इंदिय–शब्दे)

इंदियत्थ (वि) कोवण–इन्द्रियार्थ (वि) कोपन– न० इन्द्रियार्थानां शब्दादिविषयाणां विकोपनं विकोपः इन्द्रियार्थविकोपनम् । कामविकारे, स्था० ९ ठा० । (एतस्य रोगोत्पत्तिकारणता रोगुप्पत्ति–शब्दे) ॥

इंदियपज्जत्ति–इन्द्रियपर्याप्ति– स्त्री० यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणामयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । तथा चायमर्थोऽन्यत्रापि भग्यन्तरेणोक्तः पञ्चानामिन्द्रियाणां प्रायोग्यान्पुद्गलान् गृहीत्वाऽनाभोगनिर्वर्त्तितेन वीर्येण

तदाश्रयनयनशक्तिरिन्द्रियपर्याप्तिरिति, पर्याप्तिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । कर्म० । न० । पं० स० ॥

इंदियपय-इन्द्रियपद- न० इन्द्रियवक्तव्यताप्रतिबद्धे प्रज्ञापनाया पञ्चदशे पदे, । प्र०२श०४उ० । अत्र च द्वावुद्देशकौ तत्र च प्रथमोद्देशके ये ऽर्थाधिकारास्तत्संग्राहकमिदं गाथाद्वयम्

संठाणं बाहल्लं, पोहत्तं कइ पदेस ओगाढे ।
अप्पा बहुपुट्ठपविट्ठ वि. विसय परिमाण अणगारे ॥ १ ॥
अदाय आसियमणी, पुट्टपणे तेल्लफाणियवसा य ।
कम्बलथूणाथिग्गल, दीवोदहि लोगलोगे य ॥ २ ॥

(संठाण बाहल्लमित्यादि) प्रथममिन्द्रियाणां संस्थानं वक्तव्यम् । संस्थानं नाम आकारविशेषः ततो बाहुल्यं वक्तव्यं बाहुल्यं नाम बहुलता पिण्डरूपत्वमिति भावः । तदनन्तरं पृथुत्वं विस्तारः । तदनन्तरं (कति पदेसत्ति) कतिप्रदेशमिन्द्रियमिति वक्तव्यम् । ततः (ओगाढमिति) कति प्रदेशावगाढमिन्द्रियमिति वाच्यम् । तदनन्तरमवगाहनादिविषयं कर्कशादिगुणविषये चाल्पबहुत्वं ततः (पुट्ठत्ति) स्पृष्टग्रहणमुपलक्षणं तेन स्पृष्टास्पृष्टविषयं सूत्रं वक्तव्यं तदनन्तरं (पविट्ठत्ति) प्रविष्टाप्रविष्टविषयचिन्ताविषयं ततो विषयपरिमाणं ततो ऽनगारविषयं तदनन्तरं यद्विषयं ततः कम्बलविषयं ततः स्थूणाविषयं तदनन्तरं (थिग्गलत्ति) आकाशथिग्गलविषयं ततो द्वीपोदधिविषयं ततो लोकविषयं तदनन्तरमलोकविषयमिति । प्रज्ञा० १५ पद १ उ० ।

अथ द्वितीये त्वर्थाधिकारसंग्राहकं गाथाद्वयम् ।

इंदिय उवचयनिव्व-त्तणा य समया भवे असंखेज्जा ।
लद्धी उवओगद्धा, अप्पा बहुए विसेसहिया ॥ १ ॥
ओगाहणा अवाए, ईहा तह वंजणा वग्गहे य ।
दव्विंदिय भाविंदिय, तीया बद्धा पुरेक्खडाया य ॥ २ ॥

(इंदिय उवचय इत्यादि) प्रथमत इन्द्रियाणामुपचयो वक्तव्य उपचीयते उपचयमानीयते इन्द्रियमनेनेत्युपचयः प्रायो ऽथ पुद्गलसंग्रहणसम्पत् इन्द्रियपर्याप्तिरित्यर्थः । तदनन्तरं निर्वर्तना वक्तव्या । निर्वर्तना नाम बाह्याभ्यन्तररूपाया निर्वृत्तिराकारमात्रस्य निष्पादनं तदनन्तरं सा निर्वर्तना कति समया भवतीति प्रश्ने ऽसंख्येयाः समयास्तस्या भवेयुरिति निर्वचनं वाच्यं ततः इन्द्रियाणां लब्धिस्तदावरणकर्मक्षयोपशमरूपा वक्तव्या । तत उपयोगाद्धा तदनन्तरमल्पबहुत्वे चिन्त्यमाने पूर्वस्याः २ उत्तरोत्तरा उपयोगाद्धा विशेषाधिका वक्तव्या ततः (ओगाहणा इति) अवग्रहणं परिच्छेदो वक्तव्यः स च परिच्छेदोऽपायादिभेदादनेकधेति तदनन्तरमपायो वक्तव्यस्तत ईहा तदनन्तरं व्यञ्जनावग्रहश्चशब्दस्यानुक्तार्थसमुदायकत्वादर्थावग्रहश्च वक्तव्यः । तदनन्तरं द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियसूत्रं ततो ऽतीतबद्धपुरस्कृतानि द्रव्येन्द्रियाणि तदनन्तरं भावेन्द्रियाणि विचिन्तनीयानि । प्रज्ञा १५ पद० २ उ० ।

इंदियपरिणाम-इन्द्रियपरिणाम- पुं० इन्दनादिन्द्र आत्मा ज्ञानलक्षणपरमैश्वर्ययोगात्तस्येदमिन्द्रियमिति । निपातनादिन्द्रशब्दादियप्रत्ययः । इन्द्रियाणामेव परिणामः इन्द्रियपरिणामः । इन्द्रियरूपे जीवस्य परिणामभेदे, प्रज्ञा० १२ पद ।

इंदियबल-इन्द्रियबल- न० इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां बलं स्वस्वविषयग्रहणपाटवमिन्द्रियबलम् । इन्द्रियाणां स्वविषयग्रहणपाटवे, (इंदियबलपुट्ठिवद्धणा) इन्द्रियबलस्य पुष्टिरतिशायी पोषः इन्द्रियबलपुष्टिस्तां वर्द्धयन्ति नन्द्यादित्वादन । इन्द्रियबलपुष्टिवर्द्धना । जी० ३ प्रति० (अस्य बहु भेदा वीरिय-शब्दे द्रष्टव्याः)

इंदियमोहिय-इन्द्रियमोहित- त्रि० विषयासक्ते, अष्ट० ॥

इंदियलद्धि-इन्द्रियलब्धि- स्त्री० इन्द्रियाणां लब्धिः । तदावरणकर्मक्षयोपशमरूपाया पञ्चेन्द्रियत्वप्राप्तौ, । प्रज्ञा० १५ पद । तद्भेदा यथा "कति विहा णं भंते ! इंदियलद्धि पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इंदियलद्धि पण्णत्ता तंजहा-सोइंदियलद्धी जाव फासिंदियलद्धी । एवं नेरइयाणं नवरं जस्स जइ इंदिया अत्थि तस्स तावइया भाणियव्वा" प्रज्ञा० १५ पद ॥

इंदियवसट्ट-इन्द्रियवशार्त्त- त्रि० इन्द्रियवशेन तत्पारतन्त्र्येण ऋतः । पीडित इन्द्रियवशार्त्तः इन्द्रियवशं वा ऋतो गतः इन्द्रियवशार्त्तः । इन्द्रियपारतन्त्र्येण पीडिते, इन्द्रियपारतन्त्र्यं गते च । भ० १२ श० २ उ० ॥

इंदियविजय-इन्द्रियविजय- पुं० तपोविशेषे, पञ्चा० १७ वि० । (एतद्वक्तव्यता इंदियजय शब्दे) ॥

इंदियविभत्ति-इन्द्रियविभक्ति- स्त्री० इन्द्रियविभागे, सा च पञ्चधा-एकेन्द्रियाविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ०

इंदियविसय-इन्द्रियविषय- पुं० इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां विषया मनोज्ञरूपादय इन्द्रियविषयाः । चक्षुरादीनां विषयेषु रूपादिषु, उत्त० ५ अ० । इन्द्रियविषयभेदा इन्द्रियविषयपुद्गलपरिणामभेदाश्च भगवत्यास्तृतीयशतकदशमोद्देशके जीवाभिगमस्य ज्योतिष्कोद्देशके च प्रतिपादिता (विसय शब्दे द्रष्टव्या)

इंदियविसयवसगय-इन्द्रियविषयवशगत- त्रि० इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां विषया मनोज्ञरूपादयस्तद्वशं गताः प्राप्ता इन्द्रियवशगताः । रूपादिविषयवशगते, । उत्त० ५ अ० ॥

इंदियवीरिय-इन्द्रियवीर्य- न० श्रोत्रेन्द्रियादीनां स्वस्वविषयग्रहणसामर्थ्ये, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । (तद्भेदा निक्षेपावसरे वीरियशब्दे, बलशब्दे च) ॥

इंदियसंवरण-इन्द्रियसंवरण- न० पञ्चेन्द्रियाणि तेषां संवरणं इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषाभ्यां प्रवर्तमानानां निग्रहणमिन्द्रियसंवरणम् । इन्द्रियाणां निग्रहणे, । पा० सू० ॥

इंदियसण्णिगरिस-इन्द्रियसन्निकर्ष- पुं० इन्द्रियस्य स्वस्वविषयैः सह सन्निकर्षे सम्बन्धभेदे । प्रत्यक्षसाधने इन्द्रियस्य स्वस्वविषये सम्बन्धभेदरूपे-प्रत्यक्षजनकव्यापारे, । वाच० ।

इंदियावरण-इन्द्रियावरण- न० इन्द्रियविषयेष्वेव शब्दादिषु विशेषोपयोगावरणे, व्य० द्वि० १० उ० । (एतद्भेदादिवक्तव्यता दृष्टान्त-परिणामक शब्दे)

इंदीवर-इन्दीवर- न० हरितभेदे वनस्पतिविशेषे, । प्रज्ञा० १ पद । नीलोत्पले उत्पलमात्रे च । वाच० । निलुप्पल वियाणइ कुवलय मिंदीवरं च ॥ प्रा० ना० ॥

इंदु-इन्दु- पुं० उनत्ति चन्द्रिकया भुवं क्लिन्नां करोति उन्द्-उ आदेरिश्च । चन्द्रे, प्रा० ना० ॥

इंदुत्तरावडिंसग-इन्द्रोत्तरावतंसक- न० विमानविशेषे, सम० १९ स० ।

इंधण-इन्धन- न० इध्यतेऽनेन इन्ध् करणे ल्युट् । काष्ठतृणकरी

षादौ, " जह चिरसचियमिंधण मन ल्लोयवण सहिओ डुहं डहइ" इन्धनं काष्ठादीनि । आव० ५ अ० । कोद्दवपलालमादी इंधणेण फलाइ पच्चति । नि० चू० १५ उ० । दाह्ये, काष्ठादौ च । " ओसारिए धणभरो जह परिहाइ कमसो हुआसो वा" अपसारितेंधनभरो ऽपनीतदाह्यसंघात इति । आव० ५ अ० । इन्धयति इन्ध णिच्-ल्यु० दीपनकर्त्तरि, त्रि० भावे ल्युट् । उज्ज्वलने, न । वाच० । उद्दीपने, उत्त० १४ अध्य० ।

इंधणधूम–इन्धनधूम–पु० दारुधूमे, नि० चू० १ उ० ।

इंधणपलियाम–इन्धनपर्य्याम–न-इन्धनपक्के आम्रफले, कोद्दव पलालमादी इंधणेण फलाइ पच्चंति ॥ जहा कोद्दव पलालेणं अंबगादि फलाणि वेढे ता पाविज्ज आदिग्गहणेण सालिपलालेण वि तत्थ जेण पक्का फला ते इंधण पलियाम भणति । नि० चू० १५ उ० ।

इंधणसाला–इन्धनशाला–स्त्री–यत्र तृणकरीषकचवरास्तिष्ठन्त्येवम्भूते गृहे, वृ० २ उ० । इंधणसाला जत्थ तणा करिसतारा अत्थंति" । नि० चू० १६ उ० ।

इंधिय–इन्धित– त्रि–प्रज्वालिते, "सद्देहिं रूवेहि य गंधिते वु मोहग्गि संदिप्पत्ति हीणसत्ते " स्त्रिया' शब्दे यैश्च इन्धित प्रज्वलितो मोहाग्निः कस्यापि हीनसत्त्वस्य भुक्तभोगिनो ऽभुक्तभोगिनो वा संदीप्यत इति । वृ० ४ उ० ।

इक–इक– न०देशी–क्वापि प्रवेशने, तथा च विशेषावश्यके सामयिकनिरुक्तिमधिकृत्योक्तम् " इकमप्पए पवेसण मेय सा सामाइय नेय" इकशब्दो देशीवचनः क्वापि प्रवेशार्थे प्रवर्तते इति । विशे० ॥

इक्कड-इक्कड-न-ढढणसदृशे तृणविशेषे, । प्रश्न० । ३ स० द्वा० पर्व्वक (ग) जातीये वनस्पतिविशेषे, । प्रज्ञा० १ पद सूत्र० । वणस्सइभेआ इक्कडा लाडाण पसिद्धा इति । नि०चू०२उ० । आचा० । वृ० ।

इक्कडमय–इक्कडमय–त्रि० इक्कडो वनस्पतिभेद· (नि०चू०२उ०) तन्मये संस्तारकादौ,–वृ० ३ उ० ।

इक्खण–ईक्षण–न०–ईक्ष् भावे ल्युट् । पर्यालोचने, "तम्हादवि इक्खपडिए" ईक्षस्व तद्विपाक आलोचयेति सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । दर्शने, करणे, नेत्रे, वाच० ।

इक्खाग (गु) इक्ष्वाकु–न०–आर्यकुलभेदे, अनु० । प्रज्ञा० । तच्च प्रथमप्रजापतेर्नाभेयस्य भगवत ऋषभदेवस्य कुलमिति । स्था० ६ ठा० । कुलार्येषु ऋषभदेवस्वामिवंशोद्भवेषु, । औप० कल्प० । भ० । आचा० । कोशलजनपदे च । यत्रायोध्या नगरीति, ज्ञा० ८ अ० ।

ऐक्ष्वाक–पु०–इक्ष्वाकुवंशोद्भवे, आ० क० । ऋषभदेवस्वामिनो वंशस्य तद्वंशजानां चैक्ष्वाकुनामकरणं यथा " देसूणग च वरिसं सक्कागमणं च वंसठवणा य " आ० म० प्र० । सक्को वंसठवणे इक्खु अगू तेण होंति इक्खागा" ति० । कथानकशेष " जीयमेव तीय पच्चुप्पन्नमणागयाण देवाण पढमतित्थयराणं वंसट्ठवणं करेत्तए ततो तियसगण सपरिवुडो सक्को आगतो पच्छा किहरिक्के हत्थतो पविसामित्ति महंत इक्खु लट्ठिं गहाय आगतो इतो य नाभिकुलगरो उसभसामिणा अंकगएण अत्थइ सक्केण य उवागएण इक्खुलट्ठिहत्थगएण जएणं विजएणं भयवं वद्धाविओ । भयवया लट्ठीसु दिट्ठी पाडिया ताहे सक्केण भणियं भयवं इक्खू अगू अक्कू भक्खणे भक्खयसि ताहे सामिणा पसत्थ लक्खणधरो अलंकियविभू-

सिओ दाहिणहत्थो पसारितो अतीव भगवयस्स तासु हरिसो जातो तएण सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अयमेयारूवे संकप्पे समुप्पज्जित्ता जम्हा भयवं तित्थयरो इक्खुं अभिलसइ तम्हा इक्खागुवंसो भवउ । आ० म० प्र० । गाथाक्षरगमनिका अथ सञ्जातकिञ्चिदूनवर्षे भगवति प्रथमजिनवंशस्थापनं । शक्रः स्वजातमिति विचिन्त्य कथं रिक्तपाणिः स्वामिसमीपं यास्यामीति महतीमिक्षुयष्टिमादाय नाभिकुलकराङ्कस्थस्य भगवतोऽग्रे तस्थौ दृष्ट्वा चेक्षुयष्टिं हृष्टवदनेन स्वामिना करे प्रसारिते इक्षु भक्षयसीति भणित्वा तां दत्वा इक्ष्वभिलाषात्स्वामिनो वंश इक्ष्वाकुनामा भवतु । कल्प० । आ० चू० । शक्रः सौधर्मेन्द्रो वंशस्थापने प्रस्तुते इक्षु गृहीत्वा आगतः अक अग कुटिलायां गतौ अनेकार्थत्वाद्धातूनां अक धातोरौणादिके उण् प्रत्यये अकुशब्दो ऽभिलाषार्थः ततः स्वामी इक्षौ आकुनाभिलाषेण करं प्रासारयत् शक्र आर्पयत् तेन कारणेन भवति । इक्ष्वाकुवंशभवाः ऐक्ष्वाकाः । आ० क० । " आसी य इक्खु भोई इक्खागा तेण खत्तिया होंति " क्षत्रियाः येन कारणेन बाहुल्येनेक्षुभोजिन आसन् तेन कारणेन ते क्षत्रिया इक्ष्वाकवो लोके ख्याताः । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

इक्खाग (गु) कुल–इक्ष्वाकुकुल–न०–इक्ष्वाकूणां कुलं इक्ष्वाकुकुलम् । ऋषभदेवस्वामिवंशे, । आ० म० प्र० ।

इक्खाग (गु) भूमि–इक्ष्वाकुभूमि– स्त्री०–अयोध्यायाम्, तीर्थ० " इक्खागभूमिउज्झा, सावत्थि विणीय कोसलपुरं च" आव० २ अ० ।

इक्खाग (गु) राय–इक्ष्वाकुराज– पु०–इक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंशजानामथवा इक्ष्वाकुजनपदस्य राजा । इक्ष्वाकुवंशीयानां कोशलजनपदस्य वा नृपे, । ज्ञा० ८ अ० । उत्त० । पडिबुद्धी इक्खागराया" स्था० ७ ठा० ।

इक्खाग (गु) वंस–इक्ष्वाकुवंश–पु–ऋषभदेवस्य वंशे, "आसीइक्खाग वंस सभूओ नाभिनामकुलगरो" इति० ति० । (वक्तव्यता इक्खाग (गु) शब्दे)

इक्खु (उच्छु)–इक्षु– पु०– इष्यते ऽसौ माधुर्यात् " इक्खु प्रवासीक्षौ " इति प्राकृत सूत्रेणादेरत उत्वम् प्रा० व्या १ पाद ८ अध्या० आर्षे इक्खु इति च भवति प्रा० व्या० । मधुररसोपेते असिपत्रे स्वनामख्याते, वाच० । पर्वकवनस्पतिकायभेदे, उत्त० । प्रज्ञा० । चतुर्विंशतिधान्यान्तर्गते धान्यभेदे, प्रव० १५६ द्वा० । इक्षुवराटिका सम्भाव्यते इति । धर्म० १ अधि० "उच्छुजवसालिकाऽलिया इति " औप० " इक्षुग्रहणाग्रहणे यथा– "से भिक्खु वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि अह भिक्खू इच्छेज्जा उच्छुभोत्तए वा पायए वा सेज्जं उच्छू जाणेज्जा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिन्नं तहेव तिरिच्छच्छिन्नं तहेव से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अभिकंखेज्जा अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा अप्पंडं जाव पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिन्नं तहेव पडिगाहेज्जा । इक्षुसूत्रत्रयमप्याम्रवज्ज्ञेयमिति नवरं अंतरुच्छूयति पर्वमध्यमिति आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

जे भिक्खू वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा उच्छुं वा काणगं अंगारियं संमिस्सं विगदूसितं वा वेत्तगंवा कंदलिऊसइउच्छुयगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणय जाव । आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

सचित्ताचित्तेक्षुभक्षणाभक्षणे प्रायश्चित्तम् यथा—

जे भिक्खू वा सचित्तं उच्छुं भुंजइ भुंजतं वा साइज्जइ ।४। जे भिक्खू सचित्तं उच्छुं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ।५। जे भिक्खू सचित्तं उच्छुं वा, उच्छुपेसियं वा, उच्छुभित्तिं वा, उच्छुसालगं वा, उच्छुडालगंवा उच्छु चोयगंवा विडंसइ विडंसंत वा साइज्जइ ।६। जे भि० सचित्तं उच्छुं वा उच्छुपे० वा उच्छुभित्तिंवा उच्छु चोयगंवा विडंसइ०७जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठिय उच्छुंभुंजइ भुंजंतंवा साइज्जइ ।८। जेभिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं विडंसइ विडंसंत वा साइज्जइ ।९। जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं वा उच्छुपेसियं वा उच्छुभित्तिं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा उच्छुचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ । १० । जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं उच्छुं वा उच्छुपेसियं वा उच्छुभित्तिं वा उच्छुसालगं वा उच्छुचोयगं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ । ११ ।

अग्गे दो सचित्तपइट्ठिते सुत्ता ।

भुंजंति जे भिक्खू तो भिन्ना पुण विडंसति णायव्वा जीवजुयं सचित्तं अचित्त मवेयणपतिट्ठ ।

एतेसिं चेव चउण्हं सुत्ताण इमो अतिदेसो ।

सचित्त च फलेहिं, पगरमे जोग सो समक्खातो ।

सो चेव णिक्खमेसो, मोक्खसमे होति उक्खमि ।३१८।

कव्या अणादियाय दोसा चउगहू पच्छित्त इमे तत्थ विभा गसुत्ता जे भिक्खू सचित्त अतरुच्छुगं वा भुजति इत्यादि जे सचित्त अतरुच्छुग वा विडंसइ इत्यादि अग्गे सचित्त पतिट्ठिते दो सुत्त ।

पव्वसहितं तु खंडं, तत्थ वि य अंतरुच्छुयं होइ ।

डगलसवक्किच्छेदो, सा य पुण छल्लिपल्लिपरिहीणं । ३१९।

पर उभयो पव्वदेसरहित खंडं पुव्व उभयो पेरुरहियं अन रुच्छुय चक्कलिच्छेदछिण्णं डगलं भण्णत्ति सोय अन्नतरं गिरा।

चोयं तु होइ हीरो, सगले पुण तस्स बाहिरा छल्ली ।

कोणं पुण मक्कं मा, इतरजुतं तप्पइट्ठं तु । ३२० ।

धम्मरहीरसहितो चोयय भणति सालग वा हरिच्छल्ली भण्णति पुण काणिय अगारच्चं वा जुत्तय सियालादीहिं वा अव्व उवरि मुक्क च्चरति सचित्तस्स अहो सचित्तत्तमि सचि त्तविभागे पतिट्ठिय भणति । नि० चू० १६ उ० ।

(गोचरचर्य्यायां सचित्तेक्षुग्रहणाग्रहणे–गोयरचरिय–शब्दे)

इक्खु (उच्छु) करण–इक्षुकरण–न० क्षेत्रकरणभेदे, तच्च लाङ्गलादिना सस्कारयति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । इक्षव क्रियन्ते यत्र तदिक्षुकरणम् । इक्षुवाटं, चू० १ उ० ।

इक्खु (उच्छु) खंड–इक्षुखण्ड–न० पर्वसहितेक्षुच्छेदे, । नि० चू० १६ उ० । इक्षुखण्डं चापरिणत तद्धि पर्वतो यद्दनंते तदनाचरितमिति । दश० ३ अ० ।

इक्खु (उच्छु) गंडिया–इक्षुगण्डिका–स्त्री० सपर्वेक्षुशकले, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० ।

इक्खु (उच्छु) घर–इक्षुगृह–न० दशपुरनगरस्थे उद्याने, यत्रार्यरक्षितस्तोशलिपुत्रादाचार्य्याद्दीक्षां जग्राहेति । विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

इक्खु (उच्छु) चोयग–इक्षुचोदक–न० पीलितेक्षुक्षोदिकायाम्, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० ।

इक्खु (उच्छु) जंत–इक्षुयंत्र–न० इक्षोर्निष्पीडन यन्त्र शा०त० । इक्षुनिष्पीडके यन्त्रे, वाच० ।

इक्खु (उच्छु) डालग–इक्षुडालक–न० इक्षुशाखैकदेशे, आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० । अवऽकाले इक्षुच्छेदे च । डालगम पक्षितच्छेदो इति । नि० चू० १ उ० ।

इक्खु (उच्छु) पेसिया–इक्षुपेशिका– स्त्री० इक्षुगण्डिकायाम् नि० चू० १६ उ० ।

इक्खु (उच्छु) भित्ति–इक्षुभित्ति–स्त्री० इक्षुखण्डे, नि० चू० १६।

इक्खु (उच्छु) मेरग–इक्षुमेरक–न०अपनीतत्वचीक्षुगण्डिकायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० ।

इक्खु (उच्छु) लट्ठि–इक्षुयष्टि– स्त्री०इक्षुदण्डे, आ० चू० २ अ० । आ० म० प्र० । प्रा० व्या० ।

इक्खु (उच्छु) वण–इक्षुवन–न– इक्षो पर्व (ग) कवनस्पति विशेषस्य वने, आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० ।

इक्खु (उच्छु) वाड–इक्षुवाट– पु०इक्षो पर्वगवनस्पतिविशेष स्य वाटे, " सुचिर पियत्यमाणो नलथम्भो उच्छुवाडमज्झमि " आव० ३ अ० ।

इक्खु (उच्छु) वाडिया–इक्षुवाटिका– स्त्री० पर्वगवनस्पतिका यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

इक्खु (उच्छु) सालग–इक्षुसालग–न०इक्षोर्दीर्घशाखायाम्, । आचा० १ श्रु० १ अ० १० उ० । चाराढल्यां च " सालगं पुण तस्स बाहिरा छल्ली " नि० चू० १६ उ० ।

इच्चा–इत्वा–अ०ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

इच्चेवं–इत्येवम्– अ०पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शे, " इच्चेव पडिलेहति " सू० १ श्रु० ३ अ० । "इच्चेवमाहु से वीरे" सूत्र० १श्रु० ४अ० ।

इच्छ–इष्–धा०वाञ्छायाम्, तुदा० पर० सेट् वेट् क "गमिष्यमासां छः" इति प्राकृतसूत्रेण छकार इच्छइ–इच्छति । प्रा०व्या० ८ अध्या० ४ पाद । "इच्छामि खमासमणो वंदिउं" इषु इच्छायामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनम् । आव० ३ अ० । अनु+ अन्वेषणे, प्रति×प्रतिग्रहे, प्राप्तौ च । परि× अन्वेषणे च । अभि+ सम्यगिच्छायाम्, । वाच० ॥

इच्छज्झाण–इच्छाध्यान–न०इच्छा सम्भाव्यमानलाभस्यार्थस्याभिलाषातिरेकस्तस्या ध्यानमिच्छाध्यानम् । छिन्नापत्यर्थिन कोटिसुवर्णलाभेऽपि प्रवर्द्धमानलोभस्य कपिलस्येव सम्भाव्यमानलाभार्याभिलाषातिरेकध्याने, । आतुर० ॥

इच्छंत–इच्छत्–त्रि० वाञ्छति, "इच्छतो हियमप्पणो" उत्त० १ अ० ।

इच्छक्का (च्छाका) र–इच्छाकार–पु०एषणमिच्छा स्वाभिप्राय स्तया करणं तत्कार्यनिर्वर्त्तनमिच्छाकार । गच्छा० २ अधि० । चिकीर्षितक्रियाप्रवृत्त्यभ्युपगम । अनु० । इच्छया बलाभियोगमन्तरेण

कारः इच्छाकारः इच्छाक्रियेत्यर्थ इति । स्था० १० ठा० । प्रव० । आ० म० प्र० । इच्छाया करणमिच्छाकार इति । वृ० १ उ० । स्वकीयाभिप्राये, । "इच्छाकारेण सदिसह भगवन् देवसिअं आलोएमि" इच्छाकारेण निजेच्छयेति । आत्मीयेच्छयेति । स्वकीयाभिप्रायेण न पुनर्बलाभियोगेनेति च । ध० २ अधि० । तदात्मके षष्ठे सामाचारीभेदे च । इच्छाकारो अ छट्ठो इति । उत्त० २६ अ० । इच्छाकारेण ममेदं कुरु इच्छाप्रधानया क्रियया न बलाभियोगपूर्विकयेति । स्था० १० ठा० । इच्छाकारेण ममेदं कुरु तत्र चाहं करोमीति निर्देशोऽभ्युपगमो वा इच्छाकार इति । ध० ३ अधि० । प्रव० । आ० म० प्र० । वृ० । "इच्छाकारो य सारेण" इति । उत्त० २६ अ० । सारेण इति औचित्येनात्मनः परस्य वा कृत्यप्रतिप्रवर्त्तते । तत्रात्मसारेण यथेच्छाकारेण युष्मच्चिकीर्षितं कार्यमिदमहं करोमीति । अन्यसारेण च मम पात्रलेपनादि इच्छाकारेण कुरुतेति ग० २ अधि० । अस्य च प्रयोगः स्वार्थं परार्थं वा चिकीर्षन् यदा परमभ्यर्थयते इति । स्था० १० ठा० "इच्छाकारपओगो णाम ज इच्छया करण त बलाभियोगादिणा इच्छेयस्स अत्थस्स सपयत्य इच्छकार सद्द पउज्जति । आ० चू० ३ अ० । उत्सर्गतः साधूनां सति सामर्थ्ये कार्यार्थपरो नाभ्यर्थयितव्यः अनिगूहितबलवीर्येण भाव्य तत्कार्यस्य असामर्थ्ये अप्रावीण्ये वा रत्नाधिकं विहायान्येषामभ्यर्थनाविषयमिच्छाकारं करोति । यदि वा नाभ्यर्थितोऽपि कोऽप्यन्यस्तत्प्रयोजनकरणशक्तो निर्जरार्थी साधुः कंचन साधुं चिकीर्षितकार्यं विनाशयन्तं गुरुतरकार्यकरणासमर्थमविनाशयन्तमप्यभ्यर्थयन्तं वाभिलषितकार्यकरणायान्यतरं साधुं दृष्ट्वा तत्कार्यं कर्तुकामस्तत्रापि इच्छाकारं प्रयुञ्जीत । इच्छाकारेण युष्मदीयमिदं कार्यं करोमीति युष्माकमिच्छाक्रियया करोमि न बलादित्यर्थः । ध० ३ अधि० ।

तत्रेच्छाकारो येष्वर्थेषु क्रियते तत्प्रदर्शनार्थमाह ।

जइ अब्भत्थेज्ज परं, कारणजाते करेज्ज से को वि ।
तत्थ वि इच्छाकारो, न कप्पइ बलाभिओगो उ ॥

यदि इत्यभ्युपगमे अन्यथा साधूनामकारणे अभ्यर्थना नैव कल्पते । ततश्च यदि अभ्यर्थयेत् परमन्यं साधुं ग्लानादौ कारणजाते समुत्पन्ने सति ततस्तेनाभ्यर्थयमानेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः । यदि वा अनभ्यर्थितोऽपि कोऽप्यन्यः साधुः (से) तस्य कर्तुकामस्य कस्यचित् साधोः कारणजातं कुर्यात् । तत्रापि तेनानभ्यर्थितेन साधुना तस्य चिकीर्षितं कर्तुकामेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः । इह विरला केचिदनभ्यर्थिता एव परकार्यकर्तार इति कोपातिग्रहणम् । अथ कस्मादिच्छाकारप्रयोगः क्रियते । उच्यते—बलाभियोगो मा भूदिति हेतोस्तथा चाह अतो न कल्पते बलाभियोगः साधूनाम् ततः इच्छाकारप्रयोगः कर्तव्यः । तु शब्दः क्वचिद्बलाभियोगो मा भूदिति कल्पते इति सूचनार्थः ।

उक्तगाथावयवार्थप्रतिपादनार्थमाह ।

अब्भुवगमंमि निज्जइ, अब्भत्थेउं न वट्टइ परो उ ।
अणिगूहियबलविरिएण, साहुणा ताव होयव्वं ॥

यदि अभ्यर्थयेत्परमित्यस्मिन् यदिशब्दप्रदर्शिते अभ्युपगमे सति ज्ञायते किमित्याह । अभ्यर्थयितुं न वर्तते न युज्यते परः । किमित्यत आह—न निगूहिते बलवीर्ये येनासावनिगूहितबलवीर्यस्तेन । बलं शारीरं, वीर्यं मानसशक्तिविशेषः तावच्छब्दः प्रस्तुतार्थप्रदर्शकः । एवमनिगूहितबलवीर्येण तावत्साधुना भवितव्यम् । पाठान्तरं वा " अणिगूहियबलवीरिएण जेण साहुणा होयव्व " अस्यायमर्थो येन कारणेन अनिगूहितबलवीर्येण साधुना भवितव्यमिति युक्तिः अतोऽभ्यर्थयितुं न युज्यते परः इति आहेत्थं तर्ह्यभ्यर्थनाविषयेच्छाकारोपन्यासोऽनर्थकः । उच्यते —

जइ होज्ज तस्स अनलो, कज्जस्स वियाणओ न तं वाणं ।
गिलाणाइ विहिपहोज्जा, वावडो कारणेहिं सो ॥

यदि भवेत्तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्यानलो समर्थः यदि वा न विजानाति तत्कार्यं कर्तुं वाणमिति निपातः पादपूरणार्थः ग्लानादिर्वा भवेत् व्यापृतः कारणैरसौ तदा संजातद्वितीयपदाभ्यर्थनागोचरमिच्छाकारं रत्नाधिकं विहायान्येषां करोति । तथा चाह

रायणियं वज्जेत्ता, इच्छाकारं करेइ सेसाणं ।
एयं मज्जं कज्जं, तुब्भेह करेह इच्छाए ॥

रत्नानि द्विविधानि द्रव्यरत्नानि भावरत्नानि च । तत्र मरकतेन्द्रनीलवैडूर्यादीनि द्रव्यरत्नानि सुखमधिकृत्य तेषामनैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च । भावरत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सुखनिबन्धनतामङ्गीकृत्य तेषामैकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च भावरत्नमधिको रत्नाधिकस्तं वर्जयित्वा इच्छाकारं करोति । शेषाणां कथमित्याह । एतन्मम कार्यं वस्त्रसीवनिकादिरूपं कुरुत इच्छया न बलाभियोगेनेति । तत्र यदुक्तम् । (जइ अब्भत्थेज्ज पर कारण जाते इति) तत्र प्रथमगाथया यदीत्यस्य भावार्थ उपदर्शित । द्वितीयगाथया कारणजातानि कथितानि । अनया तु पूर्वार्द्धेनाभ्यर्थनाविषयो दर्शितः । उत्तरार्द्धेन त्वभ्यर्थनायाः स्वरूपम् । सम्प्रति "करेज्जवासे कोई" इति अस्य गाथावयवस्यावयवार्थः प्रतिपादनीयस्तत्रान्यकरणसम्भवकारप्रतिपादनायाह ॥

अहवा वि विणासंतं, अब्भत्थं तं च अण्णदट्ठूणं ।
अन्नो कोइ भणिज्जा, तं साहुनिज्जरट्ठाउ ॥

अथवाऽपि "जइ अब्भत्थेज्ज परं कारणजाए" इत्यपेक्षया प्रकाश ततो द्योतनार्थं विनाशयन्तं चिकीर्षितं कार्यमपिशब्दात् सोऽन्यस्मिन् गुरुतरे कार्ये समर्थस्ततो यदि स तत्र व्यापृतो भवति तर्हि तेन गुरुतरप्रयोजनं सीदतीति परिभाव्य विनाशयन्तमपि, यदि वा स्वयमसमर्थतया अभिलषितकार्यकरणाय साधुमन्यमभ्यर्थयन्तं दृष्ट्वा निर्जरार्थी कोऽप्यन्यः साधुः साधुं भणेत् । किं भणेदित्याह—

अहयं तुज्झमेयं, करेमि कज्जं तु इच्छकारेण ।
तत्थ वि से इच्छइ से, करेइ मज्जायमूलीयं ॥

अहमित्यात्मनिर्देशे युष्माकमेतत् कर्तुमभीष्टं कार्यं करोमि इच्छाकारेण युष्माकमिच्छाक्रियया न बलादित्यर्थः तत्रापि स कारापकः साधुः इच्छति इच्छाकारं (स) तस्य स्वयमिच्छाकारेण कर्तुमभ्युद्यतस्य करोति नत्वसौ तेनेच्छाकारेण याचितस्तत किमर्थमिच्छाकारं करोतीत्यत आह-मर्यादामूलीयम् । मर्यादा साधूनां व्यवस्था तस्या मूलं मर्यादामूलं तत्र भवो मर्यादामूलीय इच्छाकारस्तं निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति हेतौ द्वितीया । ततोऽयमर्थः मर्यादामूलभूत इच्छाकारस्तथाहि—साधूनामिय मर्यादा न किंचिद्व्यवस्थाव्यतिरेकेण कश्चित्कारयितव्यः । तदेव व्याख्यातोऽधिकृतो गाथावयवः ॥

सम्प्रति तत्थवि इच्छाकार इत्यत्र योऽपिशब्दस्तस्य विषय प्रदर्शति—

अहवा सगं करेतं, किं वा अन्नस्स वा वि दट्टूणं ।
तस्स वि करेइ इत्थं, मज्जं पि इमं करेहेत्ति ॥

अथवा स्वकमात्मीय पात्रलेपनादि किं कुर्वते अन्यस्य वा किंचित् कुर्वन्त दृष्ट्वा तस्यापि आस्तां प्रागुक्तस्येत्यपि शब्दार्थे आपन्नप्रयोजन. सन् इच्छाकार कुर्यात्—कथमित्याह—ममापीद पात्रलेपनादि इच्छाकारेण कुरुतेति ॥

इदानीमभ्यर्थितसाधुविषय विधिं प्रदर्शयति॥

तत्थ वि सो इच्छं से, करेइ दीवेइ कारणं वा वि ।
इहरो अणुग्गहत्थं, कायव्वं साहुणा किच्चं ॥

तत्रापि एवमभ्यर्थनेऽपि साधोरभ्यर्थितसाधुरिच्छाकारं करोति इच्छाम्यह तव करोमि। अथ तेन गुर्वादिसत्क कार्यान्तर कर्तव्य तर्हि दीपयति कारण चापि इतरथा गुर्वादिकार्यकर्तव्याभावे सत्यनुग्रहार्थमवश्य साधोः कृत्य कर्तव्यमिति । अपिशब्दात् किंचिच्छाकारविषयविशेषप्रदर्शनायैवाह—

अहवा नाणाईणं, अट्ठाए जइ करेज्ज किचाणं ॥
वेयावच्चं किंची, तत्थवि तेसिं भवे इच्छा ॥ १ ॥

अथवा ज्ञानादीनामादिशब्दाद्दर्शनचारित्रपरिग्रह. । अर्थाय यदि कुर्यात् कृत्यानामाचार्यादीनां वैयावृत्य कश्चित्साधु पात्रान्तर च किंचीति किंचिद्धि श्रावणादि तत्रापि तेषां कृत्यानां–तं साधु वैयावृत्ये नियोजयतां भाव इच्छति भवेदिच्छाकार इच्छाकारपुरसर योजनीय इत्यर्थः किमित्यत आह यस्मात्—

आणा बलाभियोगो, निग्गंथाणं न कप्पए काउं ।
इच्छा पउंजियव्वा, सेहए रयणिए तह ॥

आज्ञापि ममाज्ञा भवतेद् कार्यमेवरूपा तथा विवक्षित कार्यमाज्ञापि तस्याप्यकुर्वतो बलात्कारेण नियोजन बलाभियोग एतौद्वावपि निर्ग्रन्थानां न कल्पते कर्तुं किन्तु इच्छेति इच्छाकार. प्रयोक्तव्य. प्रयोजनेऽनुत्पन्ने सति शैक्षके तया रत्नाधिके च आज्ञापादिप्रयुक्तामेन आद्यन्तग्रहणान्मध्यस्यापि ग्रहणमिति व्याख्यायान्येषु च एषु तावत्स उक्त. । अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ तेन चेहोत्सर्गेन सवास एव न कल्पते बहुजनादिकारणप्रतिबद्धतया त्वपरित्याज्य अय विधिं प्रथममिच्छाकारेण योज्यते कुर्वन्नाज्ञया पुन बलाभियोगेनेति आहच ॥

जह जच्चवाहलाणं, आसाणं जणवएसु जायाणं ।
सयमेव खलिणगहणं, अहवावी बलाभियोगेणं ॥
पुरिसज्जाए वि तहा, विणीय विणयंमि नत्थि अभियोगो॥
सेसंमि उ अभिओगो, जणवयजाए जहा आसो ॥

यथा जात्यवाह्लिकानामश्वाना जनपदेषु मगधादिषु जातानां च शब्दलोपोत्र दृष्टव्य स्वयमेव खलीनग्रहण भवति। अथवाऽपि बलाभियोगेन खलीन कविक किमुक्त भवति । यथा जात्यवाह्लीकानामश्वाना स्वयमेव खलीनग्रहण भवति जनपदजाताना च बलाभियोगेन एव पुरुषजातेपि जातशब्द प्रकारवचन. पुरुष प्रकारेऽपि कथंभूते इत्याह (विनीय विणय इति) विविधप्रकार नीत. प्रापितो विनयो येन स विनीतविनयस्तास्मिन्नास्याभियोग स्वयमेव विनये प्रवर्तनात् खलीनग्रहणे जात्यवाह्लीकस्येवात. (सेससि उ अभियोगोत्ति) शेषे विनयरहिते अभियोगो बलाभियोगः प्रवर्तते कथानकाजनपदजाते यथा चैव गाथाद्वयसमुदायार्थ. । अवयवार्थस्तु दवसेयस्तच्चेद । " वाह्लविसए एगो आसकिसोगे सो दमिज्जिउकामो वेयाभियवेलाए,अहियासजाणि ए माए । अत्येऊण वाहियालिए नीओ खलिण से ढोइय सयमेव तेणगहिय विणीय इत्ति राया सयमेवारूढो मोयहियइच्छिय वूढो रन्ना चयरिऊण आहारसयणादिणा सम्म पडियरेन परिदियह च मुरूत्तण तो एव वहति न तस्स बलाभिओगो पवत्तइ। अवरो पुण मगहादिजणवयजाओ आसो सो दमिज्जिउकामो वियालवेलाए हिओ वासित्तो मायर पुच्छत्ति किमेयति ताए भणिय पुत्त ! विणयगुणफल ते एय कल्ल पुण मा खलीण पडिच्छिहिसि मा वा वहिसि तेण तहेव कयं रन्ना चिर कोरकरेउ पिट्टितो बलाविकवियं दारूण वाहिओ पुणो अवससे निरुद्धे तेण माऊए कहिए सा भणइ पुत्त ! दुव्वे दिट्ठियफलमिण त दिट्ठं भयमग्गो जो मग्गो त रुचइ त करेहिसि एस दिट्ठतो अयमुवणतो जो सय न करेइ वेयावच्चादि तत्थ बलाभिओगो विषयट्ठा विज्जइ जणवयजाए जहा आसो इति " तस्माद्बलाभियोगमन्तरेणैव मोक्षार्थिना स्वयमेव प्रत्युतेच्छाकार दत्वा अनभ्यर्थितेनैव वैयावृत्यादिकर्तव्यम् । तथापि अनभ्यर्थितस्य स्वयमिच्छाकारकरण न युक्तमित्याशङ्क्याह—

अब्भत्थणाए मरुओ, वानरओ चेव होइ दिट्ठंतो ।
गुरुकरणे सयमेव य, वाणियगा दोन्नि दिट्ठंता ॥

अभ्यर्थनायां मरुको दृष्टान्त. पुन शिष्यनोदनायां वानरकश्चैव भवति दृष्टान्तः गुरुकरणे स्वयमेव तु द्वौ वणिजौ दृष्टान्त एष गाथा समासार्थो व्यासार्थ कथानकेभ्योऽवसातव्यस्तानि चामूनि " एगस्स साहुस्स लद्धी अत्थि सो न करेइ वेयावच्च बालवुड्ढाण आयरिएण चोइओ भणइ को मं अब्भत्थेइ आयरिएण भणितो तुम अब्भत्थण मग्गतो चुक्किहिसि जहा सो मरुगो नागमयमत्तो कत्तियपुन्निमाए नरिंदजणवएसु दाण देउमब्भुट्ठिएसु न तत्थ वच्चइ भज्जाए भणितो जाहे सो भणइ एग ताव सुदाण परिग्गह करेमि विय घर तेसिं गच्छामि जस्स आसत्तमस्स कुलस्स कज्ज सो मम अणेत्ता देउ एव सो जाव जीवाए दरिद्दो जातो एव तुम पि अत्थण मग्गमाणो चुक्किहिसि निधए एतेसिं बालवुड्ढाणं जाणे चेव अह अप्पणो वेयावच्च करेमि अन्ने अथियवरतगा तुज्झ चिए सद्धि एव चेव विराहिति ततो सो एव भणिओ एव सुदर जाणता अप्पणा कीस न करेह । आयरिया भणंति सरिसो तुम तस्स वानरस्स जहा एगो वानरो रुक्खे अत्यइ वासासु सीतवातेहिं कज्जिज्जतो ताहे सुघराए सउणिगाए भणिओ वानर ! पुरसोसि तुम निव्वयं वहसि बाहुदडाइजे. पायवस्स सिहरेण करसि कुडिएमासि वासो एव विभणिओ तुन्नि को अत्थइ ताहे सो दोधपि तच्चपि भणइ ततो सो रुट्ठो त रुक्ख दुरिहिउ माहतो सा नट्ठा तेण तीसे त घर सुर विपिखन्न भणइ न विसिसम महतरिआ न विसिसम सोहि वावणिट्ठा वा सुवरे भत्यसु विघरा आ वसहि होग तिचिसु सुह इदाणि अत्थ एव तुमं पि मम चेव उवरिएण जाओ किंच मम अस्स पि निजदार अत्थि तेण मम बहुतारियाणि घरा तं लाह चुक्किहामि जहा सो वाणियगो दो घाणि जाव ववहरति एगो पढमपाउसो मल्लु दायत्त होहितित्ति सयमेव उगसादपुसिमा

ए घरपुच्छा इतो वीराण अट्ठ वा तिभागं वा दाऊण वा विसत्थ ववहरइ तण तद्दिवस विकुणो लाइलद्धो इयरो चुक्को एव तो अचिंतणेण सुत्तत्था नासति ते हियते नट्ठेहिं गच्छसारवणा भावेण गच्छस्स अपरिपेयणणो बहुतरं मे नासइ इति तथाचाह * सुत्तत्थेसु अचिंतण, आदेसे वुड्ढसेहगेलन्ने । वाले खमगे वाइ, इड्ढीमायी अणिड्ढिया १ एएहिं कारणेहिं–तु वप्पूतो उ होइ आयरिओ । वेयावच्चे करण, कायव्व तस्स सेहेहिं २ जेण कुलं आयत्त, त पुरिस आयरेण रक्खेज्जा । नहि तुबमि विणट्ठे, अरया साहरया होंति ३ * आदेशे प्राघूर्णके वृद्धे शैक्षके ग्लाने तथा वाले लघुवयसि क्षपके च यद्याचार्य स्वय वैयावृत्त्य करोति तर्हि सूत्रार्थयोरचिन्तन भवति तथा वादिनि आगते ऋद्धिमति च नगरश्रेष्ठ्यादौ आदिशब्दाद्राजादिपरिग्रहः । आचार्ये वैयावृत्त्याय पानकादिगते प्रवचनलाघव भवति अनर्द्धिका एते अनीश्वरप्रव्रजिता एते इत्यर्थ । तत एतैः कारणैराचार्यः शेषसाधूनामरकप्रायाणां तुम्बभूतो भवति ततो वैयावृत्त्यविषये यत् करण करणीय तत्तस्य शेषैः कर्त्तव्य न पुन स स्वविषये परविषये वा वैयावृत्त्ये प्रवर्तमान उपेक्षणीय एतदेवाह (जेणेत्यादि) येन पुरुषेण कुलमायत्त त पुरुषमादरेण रक्षेत् यतो नहु नैव तुम्बे विनष्टे अरका साधारका साधारा भवन्ति आह इच्छाकारेणाहं तत्र प्रथमालिकादिकमानयामीत्याद्यभिधाय यदा द्रव्याभावान्न संपादयति तदा निर्जरालाभविकलस्तस्येच्छाकारस्ततः किं तेनेत्याशङ्क्याह * वेयावच्चे अब्भु–ट्ठियस्स सद्धाए काउकामस्स । लाभो चेव तवसिस्स होइ यद्दीणमणसस्स * वैयावृत्त्ये सयमव्यापारे अभ्युत्थितस्य, तथा श्रद्धया प्रसन्नेन मनसा इह लोकपरलोकाशासाविप्रमुक्तेन कर्तुकामस्य (लाभो चेव तवस्सिस्सत्ति) प्रकारणान्निर्जराया लाभ एव तपस्विने भवति अलब्ध्यादौ अदीन मनो यस्यासावदीनमनास्तस्यादीनमनसः ॥ आ० म० द्वि० । पचा० । आ० चू० ।

इच्छमाण–इच्छत्–त्रि० अभिलष्यति, पचा० ५ विव० ॥

इच्छा–इच्छा–स्त्री० एषणमिच्छा—इषु इच्छायाम् । इष–भावे श प्रत्ययः स्था० १० ठा० । आ० म० प्र० । मायाकषायभेदे, सम० ५२ स० । अभिलापे, प्रश्न ५ द्वा० । पंचा० । आव० । सूत्र० । दश० । स्था० । बृ० । " इच्छामि खमि (इत्तं) का उस्सग्ग " इषु इच्छायामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनस्य " इषुगमयमां छ "इति छत्वे इच्छामीति भवति इच्छाम्यभिलषामि स्थातुमिति । आव० ५ अ० । सम्भाव्यमानलाभस्यार्थस्याभिलापातिरेके, आतु० । आगतानागतान्यतरार्थप्रार्थनायाम् , ध० ३ अधि० । अभिप्राये, न० । ग० । विशे० । चेतःप्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अभ्युपगमे, ध० २ अधि० प्रीतौ, द्वा० २० द्वा० । प्रीतिसाधकभावाभिलापे, अष्ट० २७ । स्पृहायाम्, अष्ट० ११ । परिग्राह्यवस्तुविषयकवाञ्छाकरणे, सथा० । पचा० । अन्त करणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । इन्द्रियमनोनुकूलायाम्प्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । विवक्षितक्रियाप्रवृत्त्यभ्युपगमे, अनु० ॥

एतस्य निक्षेपो यथा—

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे अ ।
एसो खलु इच्छाए, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १ ॥

नामस्थापने गतार्थे द्रव्येच्छा सचित्तादिद्रव्याभिलाष । अनुपयुक्तस्य वेच्छामीत्येवं भणत क्षेत्रेच्छा मगधादिक्षेत्राभिलाष । कालेच्छा रजन्यादिकालाभिलाषः " रयणिमहिसारियाउ, चोरा परदारिया य इच्छति । तालायरा सुभिक्खं, बहुधन्ना केइ दुब्भिक्खं " भावेच्छा प्रशस्तेतरभेदा प्रशस्तज्ञानाद्यभिलाषः । आव० ३ अ० । आ० चू० ॥

विस्तरेणेच्छानिक्षेपमाह ॥

जाई इच्छइ अत्थं, नामादि तस्स सा हवई इच्छा ।
नाममि जंतु नामं, इच्छसि नामं व जं जस्स ॥ २ ॥

यो नाम यमर्थ नामादिलक्षणमिच्छति तस्य सा भवति इच्छा यो नामेच्छसि तस्य नामेच्छा । स्थापनामिच्छतः स्थापनेच्छा । एव द्रव्येच्छादिकमपि भावनीयम् । इच्छायाश्च निक्षेपः षोढा । तद्यथा—नामेच्छा स्थापनेच्छा द्रव्येच्छा क्षेत्रेच्छा कालेच्छा भावेच्छा । तत्र नामेच्छामभिधित्सुराह– नाममित्यादिना तु नामविषया इच्छा इय नाम देवदत्तादिकस्य नाम इच्छा नामेच्छेति भावः । अथवा यस्येति नाम स नामनामवतोरभेदोपचारात् नाम चासौ इच्छा च नामेच्छा ।

स्थापनेच्छामाह ।

एमेव होइ ठवणा, निक्खिप्पइ इच्छ एव जं ठवणं ।
सो भित्ताई जह सं—भवतु दव्वादिसुं जाणसु ॥ ३ ॥

एवमेवानेनैव नामगतेन प्रकारेण भवति स्थापनेच्छा अतिदेशोक्तमेव यदिच्छेति निक्षिप्यते सा स्थापना बासाविच्छा च स्थापनेच्छेति व्युत्पत्तेः । अथवा यतः स्थापनामिच्छति सा स्थापनेच्छा स्थापनीया इच्छा स्थापनेच्छेति व्युत्पत्तेः । द्रव्येच्छा द्विधा आगमतो नोआगमतश्च । तत्र आगमत इच्छापदार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तो नोआगमतस्त्रिधा—ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत् तद्व्यतिरिक्ता च यद्द्रव्यमिति सा च त्रिधा सचित्तद्रव्येच्छा अचित्तद्रव्येच्छा मिश्रद्रव्येच्छा । तत्र सचित्तद्रव्येच्छा त्रिधा-द्विपदचतुष्पदापदभेदात् । तत्र द्विपदा सचित्तद्रव्येच्छा यत् स्त्रियमिच्छति पुरुषमिच्छति इत्येवमादि । चतुष्पदसचित्तद्रव्येच्छा यदश्वमिच्छति गावमिच्छतीति । अपदसचित्तद्रव्येच्छा आम्रस्येच्छा मातुलिङ्गस्येच्छेत्यादि । अचित्तद्रव्येच्छा सुवर्णद्रव्येच्छा हिरण्येच्छादि । मिश्रद्रव्येच्छा सुवर्णाद्यलङ्कारविभूषितस्य द्विपदादेरिच्छा । अथवा द्रव्यादिषु क्षेत्रकालेषु यथासम्भवं स्वामित्वादि । स्वामित्व स्वकरण करणानि भणत स्वामित्वादिभिः प्रकारैः द्रव्यक्षेत्रकालेच्छा वक्तव्येति भावः । तत्र स्वामित्वेन द्रव्येच्छा यथा आत्मनः पुत्रमिच्छति इत्यादि करणेन यथा मद्याद्यन्यवहतेन तैरिच्छा कामेच्छा वा जायते इत्यादि । अधिकरणे यथा सुप्रतारितायां शय्यायां स्थितस्य कामेच्छा समुत्पद्यते क्षेत्रकालावचेतनौ ततो न तयोः स्वय स्वामित्वेनेच्छा भवति तत करणाधिकरणाभ्यां तत्र योजना तत्र क्षेत्रेण सब्धेन स्त्रीरूपेच्छा वपनेच्छा जायते । अधिकरणेन यथा गृहे स्थितस्य भोगेच्छा कामेच्छा वा, सद्गुरुकुलवासे सम्यगनुष्ठानेच्छा वा समुपजायते इत्यादि । काले करणे यथा यौवनकालेन धनेच्छा कामेच्छा वा जायते इत्यादि । अधिकरणे यथा हेमन्ते रात्रौ शीतेन पीडित सूर्योद्गमकालमिच्छति । भावत इच्छा द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च तत्रागमतः इच्छेति पदार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्त "उपयोगो भावनिक्षेप " इति वचनात् नो आगमत आह–

भावे पसत्थमपस—त्थिया य अपसत्थियत इच्छामो ।
इच्छामो य पसत्थं, नाणादीयं तिविहमित्थं ॥ ४ ॥

आगमतो भावत इच्छा द्विधा प्रशस्ताऽप्रशस्ता च । मकारो लाक्षणिकः । तत्राज्ञानादिविषया इच्छा अप्रशस्ता, प्रशस्ता ज्ञानादिविषया । व्य० प्र० ३ उ० ।

इच्छाविनिवृत्तेः फलं यथा-

कंखिज्जइ जो अत्थो, संपत्तीए न तं सुहं तस्स ॥

इच्छाविणिवित्तीए, जं खलु सुहप्पवाओ श्रं ॥ ९६ ॥

कांक्ष्यतेऽभिलष्यते योऽर्थः प्राप्तिसंप्राप्त्या न तत्सुखं तस्यार्थस्य इच्छाविनिवृत्त्या यत्खलु सुखप्रवादोऽयमात्मप्रवादोयमिति गाथार्थः ।

मुत्तीए वभिचारो, तत्तो जं सा जिणेहिं पन्नत्ता ॥

इच्छा विणिवित्तीए, चेव फलं एगरिसं पत्तं ॥ ९७ ॥

मुक्त्या व्यभिचारस्तत्काङ्क्षणे तत्प्राप्त्यैव सुखभावादित्याशङ्क्याह । तत्र यदस्मादसौ मुक्तिर्जिनैः प्रज्ञप्ता तीर्थकरैः उक्त इच्छाविनिवृत्तेश्च फलं न पुनरीप्सापूर्वकमिति प्रकर्षं प्रकामामायिकं सकलादराद्योत्कर्षेण निष्ठाप्राप्तमिति गाथार्थः । किञ्च-

जाइच्छाए जायइ, संपत्ती तं पहुविसं भणिअं ।

मुत्ती पुण तदभावे, जमाणिच्छा केवली भणिया ॥ ९८ ॥

यस्यार्थस्येच्छया प्रवृत्तिनिमित्तभूत यज्ञायते संप्राप्तिस्तमर्थं विषयादिकं प्रतीत्येदं भणितं कादृश्यते इति । मुक्तिः पुनस्तदभावे इच्छाऽभावे जायते । कुत इत्याह-यतस्मादनिच्छाः केवलिनो भणिता । "समनस्काः केवलिन" इति वचनादिति गाथार्थः । पं० व० १ द्वा० । षष्ठ्यां पञ्चदशसु दशिषु स्वनामख्यातायामेकादश्यां तिथौ च । ज्यो० ४ पा० ॥ ज० ॥ न० ।

ईप्सा-स्त्री० आप्तुमिच्छा आप्-सन्-अ । आप्तुमिच्छायाम्, इच्छायां च । वाच० ।

इच्छाकाय-इच्छाकाम-पुं०-वरणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्काम इच्छाकाम । इच्छारूपे कामे, "इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य" । इच्छा प्रशस्ताऽप्रशस्ता च । अनुस्वारो ऽलाक्षणिक सुखमुखोच्चारणार्थं । तत्र प्रशस्ता धर्मेच्छा मोक्षेच्छा । अप्रशस्ता युद्धेच्छा राज्येच्छा । स्यका इच्छाकामा इति । दश० २ अ० ।

इच्छागहण-इच्छाग्रहण-न०अभिप्रायपरीक्षणे, वृ०१ उ० ।

इच्छाणंद-इच्छानन्द-पुं० यथानन्दे, "एसो उ अहा छंदो इच्छाछंदि एगट्ठा" २७ इति । व्यव० ३ अ० ।

इच्छाजम-इच्छायम-पुं० यमभेदे,-" इच्छायमो यमेष्विच्छा, युता तद्वत्कथामुदा"-इच्छेति तद्वता यमवता कथानो या मुत् प्रीतिस्तया युता सहिता यमेष्विच्छा इच्छायम उच्यते इति । द्वा० २० द्वा० ।

इच्छाजोग-इच्छायोग-पुं० इच्छाप्रधानो योगो व्यापार इच्छायोग । योगभेदे, तल्लक्षण यथा—

चिकीर्षोः श्रुतशास्त्रस्य, ज्ञानिनोऽपि प्रमादिनः ।

कालादिविकलो योग इच्छायोग उदाहृतः ॥ २ ॥

चिकीर्षो तथाविधक्षयोपशमाभावेऽपि निर्व्याजमेव कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य श्रुतागमस्य अर्थ्यते ऽनेन तत्त्वमिति कृत्वाऽर्थशब्दस्यागमवचनत्वात् । ज्ञानिनोऽपि अवगतानुष्ठेयतत्त्वार्थस्यापि प्रमादिनो विकथादिप्रमादवतः कालादिना विकलोऽसम्पूर्णो योगश्चैत्यवन्दनादिव्यापार इच्छायोग उदाहृतः प्रतिपादित । ।

प्रधानस्येच्छायोगत्वे तदङ्गस्यापि तथात्वमिति दर्शयन्नाह ।

साङ्गमप्येककं कर्म, प्रतिपन्ने प्रमादिनः ॥

न त्विच्छायोगत इति श्रवणादत्र मज्जति ॥ ३ ॥

साङ्गमपि अङ्गसाकल्येनान्वितमपि एककं स्वल्पं किञ्चित्कर्म प्रतिपन्ने यद्गुण्याश्च व्यापिनि प्रधाने कर्मण्यादृते प्रमादिन प्रमाद्यत न त्विच्छायोगत इति श्रवणादत्र इच्छायोगे निमज्जति निमग्नो भवति । अन्यथा इच्छायोगाधिकारी भगवान् हरिभद्रसूरिर्योगदृष्टिसमुच्चयप्रकरणारम्भे मृषावादपरिहारेण सर्वनैश्चित्यारम्भप्रदर्शनार्थं न त्विच्छायोगतो योगमित्यादिनाविवक्षत् । वादनमस्कारमात्रस्याल्पस्य विधिशुद्धस्यापि सम्भवात् । प्रतिपत्तस्वपर्यायान्तर्नेतव्येन च प्रकृतनमस्कारस्यापीच्छायोगसत्वस्यमङ्गणमिति विभावनीयम् । द्वा० १९ द्वा० ।

इच्छाणुलोम-इच्छानुलोम-त्रि० इच्छाऽनुकूले, प्रतिपादयितुर्या इच्छा तदनुलोमा तदनुकूला इच्छा इच्छानुलोमा । भाषाभेदे, स्त्री० । प्र०१०श०३ उ० । इच्छानुलोमा नाम यथा कश्चित् किञ्चित् कार्यमारभमाण कंचन पृच्छति स प्राह-करोतु भवान् ममाप्येतदभिप्रेतमिति । प्रज्ञा० ११ पद ॥

इच्छाणुलोमिय-ऐच्छानुलोमिक-त्रि० इच्छा चेत प्रवृत्तेरभिप्रायस्तस्यानुलोममनुकूलम तत्र भवमैच्छानुलोमिकम् । इच्छाभावानुकूलपताभाजि, । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ॥

इच्छापणीय-इच्छाप्रणीत-त्रि० । इन्द्रियमनोविषयानुकूला प्रवृत्तिरिहेच्छा तया विषयाभिमुखमभिकर्मबन्धसंसाराभिमुख वा प्रकर्षेण नीत इच्छाप्रणीत । इच्छया विषयाभिमुख कर्मबन्धाभिमुखं संसाराभिमुख वा नीते, " इच्छापणीता वंका णिकया" य चैयं भूतास्ते वङ्का निकेता वङ्कस्यासंयमस्याऽऽमर्यादया संयमावधिभूतया निकेतभूता आश्रया इति । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ॥

इच्छापरिमाण-इच्छापरिमाण- न० इच्छाया धनादिविषयस्याभिलाषस्य परिमाणं नियमनमिच्छापरिमाणम् । देशत परिग्रहविरतिरित्यर्थः । स्था० ५ ठा० । इच्छा परिग्राह्यवस्तुविषया वाञ्छा तस्यास्तया परिग्राह्यवस्तूनाम्परिमाणमियत्ता इच्छापरिमाणम् । पंचा० १ विव० । धनधान्यादिनवविधपरिग्रहप्रमाणलक्षणलक्षणे पञ्चम अणुमते, । तल्लक्षण यथा—

परिग्रहस्य कृत्स्नस्याऽमितस्य परिवर्जनात् ॥

इच्छापरिमाणकृतिं जगदुः पञ्चमं व्रतम् ॥ १९ ॥

परिगृह्णत इति परिग्रहस्तस्य कीदृशस्य कृत्स्नस्य नवविधस्येत्यर्थं चतुःषष्टिभेदोऽप्येष नवविधपरिग्रहे अन्तर्भवतीति न कोपि विरोध । पुन कीदृशस्य तस्य अमितस्य परिमाणरहितस्य परिवर्जनात्त्यागात् त्यागनिमित्तभूतेनेत्यर्थं इच्छाया अभिलाषस्य यत्परिमाणमियत्ता तस्य कृति करणं तां पञ्चम व्रत अधिकारादणुव्रत जगद्गुरव ऋचुर्जिना इति संटङ्क । इदमत्र तात्पर्यम् परिग्रहविरतिर्द्विधा सर्वतो देशतश्च । तत्र सर्वथा सर्वभावेषु मूर्च्छात्याग सर्वत । तदेव देशतस्तत्र श्रावकाणां सर्वत तत्प्रतिपत्तेरशक्तौ देशतस्त्वामिच्छापरिमाणरूपांप्रतिपद्यतेयत । "अपरिमिअपरिग्गह समणोवासओ पचक्खाइ । इच्छापरिमाण उवसपज्जइ से अ परिग्गहे दुविहे पण्णत्ते तजहा सचित्त परिग्गहे अचित्तपरिग्गहे अ त्ति । ध० २ अधि० । परिग्रहण परिग्रहः अपरिमितश्चासौ परिग्रहश्चेति समास । अपरिमितप-

रिमाणस्तत्र श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति सचित्तादेः परिमाणात् परिग्रहाद्विरमतीति भावना । इच्छायाः परिमाणं तदुपसपद्यते सचित्तादिगोचरेच्छापरिमाणं करोतीत्यर्थः । स च परिग्रहः द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथेति प्राग्वत् । सह चित्तेन सचित्तं द्विपदचतुष्पदादि तदेव परिग्रहस्सचित्तपरिग्रहः । अचित्तं वस्तु रत्नकुप्यादि तदेवाचित्तपरिग्रहः । आव० ६ अ० ॥

ननु गृहे स्वल्पद्रव्येऽपि सति परिग्रहपरिमाणे तु द्रव्यसहस्रलक्षादिप्रतिपत्त्या इच्छावृद्धिसम्भवात् को नाम गुण इति चेन्नैवम् इच्छावृद्धिस्तु संसारिणां सर्वदा विद्यमानैव यतो नमिराजर्षिवचनमिन्द्रं प्रति-" सुवस रूप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया । नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतया " एवं चेच्छाया अनन्तत्वे तन्नियन्त्रणाकरणं महते गुणाय यत. "जह २ अप्पो लेहो, जह २ अप्पो परिग्गहारंभो । तह २ सुहं पवड्ढइ, धम्मस्स य होइ संसिद्धी " तस्मादिच्छाप्रसरं निरुध्य सन्तोषे यतितव्यं सुखस्य संतोषमूलत्वात् । यदाह-आरोग्गसारिअं माणुसत्तणं सच्चसारिओ धम्मो । विज्जा निच्छयसारा, सुहाइँ संतोससाराइ " । तदेवमेतद्व्रतस्याऽत्रापि सन्तोषसौख्यलक्ष्मीस्थैर्यजनप्रशंसादिफलं परत्र तु नरामरसमृद्धिसिद्ध्यादि । अतिलोभाभिभूततया चैतद्व्रतस्यास्वीकृतौ विराधनायां दारिद्र्यदास्यदौर्भाग्यदौर्गत्यादि । यतः " महारंभयाए महापरिग्गहाए कुणिमाहारेणं पंचिंदिअवहेणं जीवा नरयाउअं अज्जेइत्ति " । मूर्छावान् हि उत्तरोत्तराशाकदर्थितो दुःखमेवानुभवति । यदाह-" उक्खणइ खणइ निहणइ, रत्तिं न सुअइ दिआ विअ ससंको । लिंपइ ठएइ सययं, लंछिअ पडिलंछिअं कुणइ" । ९ । परिग्रहत्वमपि मूर्छयैव मूर्छामन्तरेण धनधान्यादेरपरिग्रहत्वात् । यदाह " अपरिग्रह एव भवे-द्वस्त्राभरणाद्यलंकृतोऽपि पुमान् । ममकारविरहिते सति, ममकारे सङ्गवान्नग्नः " ॥ १ ॥ तथा "जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । तं पि संजमलज्जट्ठा, धारिंती परिहरंती अ १ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा । मुच्छापरिग्गहो वुत्तो, इइवुत्तं महेसिणत्ति" । तेन मूर्छानियमनार्थं सर्वमूर्छात्यागाशक्तस्यैतत् पञ्चममणुव्रतम् ॥ ध० २ अधि० । तथाच पञ्चाशके-

इच्छापरिमाणं खलु, असयारंभाविणिवित्तिसंजणगं ।
खेत्ताइवत्थुविसयं, चित्तादविरोहओ चित्तं ॥ १७ ॥

इच्छा परिग्राह्यवस्तुविषया वाञ्छा तस्यास्तया परिग्राह्यवस्तुनः परिमाणमियत्ता इच्छापरिमाणं खलु वाक्यालंकारे पञ्चमाणुव्रतं भवतीति प्रक्रमः । तच्चेच्छापरिमाणं किंफलमित्याह । असदारम्भविनिवृत्तिसंजनकमसुन्दरारम्भप्रवृत्तिनिबन्धनम् । भवति हीच्छापरिमाणे कृते इच्छाविषयीकृतकतिपयपदार्थानां किंचिन्न शुभव्यापारैरपि प्राप्तेरसुन्दरतरव्यापारेभ्यो विनिवृत्तिर्यत -प्रभूतार्थप्राप्त्यर्थमेव भूतघाताद्यसुन्दरव्यापारेषु प्राय प्राणिनः प्रवर्तन्ते इति । तच्च क्षेत्रादिवस्तुविषयं क्षेत्रादीनि भूविशेषप्रभृतीनि वस्त्वन्यर्थो विषयो गोचरोऽस्येति विग्रहस्तदुक्तम् ॥ "धण धन्न खेत्तं वत्थु रूप्प सुवर्ण कुवय दुपय चउप्पय चेत्यादि " अत्रचादिशब्दः प्रकारवचने क्षेत्रादयः क्षेत्रप्रकारा धनादय इत्यर्थः । चित्तं मन आदिर्येषां चित्तदेशवशादीनां ते तथा तेषामविरोध आनुकूल्यमनुरूप चित्ताद्यविरोधस्तस्या चित्ताद्यविरोधतः(चित्तादविरोहओत्ति) पाठान्तरं तत्र च वित्ताद्यविरोधतो वृत्ताद्यविरोधतो वेति

व्याख्येयम् । किमित्याह ॥ चित्तं बहुप्रकारमेतत्तथाहि कश्चिन्निःस्वोऽपि विपुलचित्तो भवति अन्यस्त्वन्यथा । तथा कस्यचिद्भूरिवित्तमन्यस्य स्तोकम् । तथा कश्चिद्देशोऽत्यन्तं धान्यचतुष्पदादिसंग्रहो विधीयते अन्यत्र तु न तथा । कोऽपि राजवश्योऽन्यो ब्राह्मणवणिग्वंश्यादिस्तस्य च प्रायो राज्यादिसम्भवासम्भवौ स्त इत्येवं स्वाचित्तवित्तादीनामविरोधेनानेकविधपुंभिस्तद्विधीयमानमनेकधा भवतीति गाथार्थः ॥ पञ्चा १ विव० ।

(इच्छापरिमाणव्रतस्योदाहरणम्, विस्तरत. स्वरूपञ्चानन्दकथायामाणंदशब्दे) " तत्थय पंचमाणुव्वए अनियतस्स दोसाणि य तस्स गुणा तत्थोदाहरणं । "लुद्धनंदो कुसीमूलिय लुद्धनंदो छिण्णट्ठो सावगो पुइओ भंडागारवई यविओ ॥ आव० ६ अ० । परिग्गहे असंतुट्ठस्स दोसा संतुट्ठस्स गुणा तत्थ उदाहरणम् ॥ लुद्धणंदो कुसीसा तो उड्ढीहिं भिक्खियातो णमंतणए गमणं । पुत्तेहिं णिक्खियातो अट्ठुक्खिज्जंती भंगा लोएण दिट्ठा णो कहिंत सुरूणंदेण पाया भग्गा सावगो पूजितो । एवं जधा णामोक्कारे । आ० चू० ६ अ० ।

अहवा वाणिगिणी रयणाणि विकिणइ लुद्धाए मरंति सेट्ठेण भणिया पतिओ पडिक्कओ नत्थि अन्नस्स नियाणि ताए भणइ जं जोगं तं देहिं सो तत्थ देइ सुभिक्खे तीए भत्तारो आगओ पुच्छइ रयणाणि केहिं भणई वत्तियाणि मे कहिं दिन्नाणि सा भणइ गोहुम सेइयाए एक्केक दिन्न अमुगस्स वाणियगस्स सो वाणियगो तेण भणिओ रयणाणि अप्पेहि पूरं वा मोल्ल देहि सो नेच्छइ तओ रन्नो मूलं गओ एरिसे अग्घे वट्टमाणे एयस्स मणिरयणस्स एएण पत्तिय दिन्न सो विक्खासिओ पढमं पुण ताणि रयताणि रयणाणि सावगस्स विक्केण याणि गइयाणि तेण परिग्गहपयाणातिरित्ता इति काऊ न गहियाणि सावगेण नेच्छइ सो पुइओ, । आव० ६ अ० । एवमादि दोसा गुणो इमा भावेज्ज संतोस गहियमादीणि आयामणमाणेण एव गेण्हिस्सामो ण चिंतेजा । आ० चू०६ अ० ।

इद चातिचाररहितमनुपालनीयं तथाचाह ।

इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणिअव्वा न समायरिअव्वा तंजहा खित्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे । १ । हिरन्नसुवन्नप्पमाणाइक्कमे । २ । धणधन्नप्पमाणाइक्कमे । ३ । दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे । ४ । कुविअप्पमाणाइक्कमे । ५ ।

इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेनामी पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः । तद्यथा । क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम तत्र सस्योत्पत्तिभूमिः क्षेत्रं तच्च सेतुकेतुभेदाद्द्विविधं तत्र सेतुक्षेत्रमरघट्टादिसेक्यं केतुक्षेत्रं पुनराकाशपतितोदकनिष्पाद्यं वास्त्वगारं तदपि त्रिविधं खातमुत्सृतं खातोत्सृतं तत्र खातं भूमिगृहकादि उत्सृतं प्रासादादि खातोत्सृतं भूमिगृहकस्योपरि प्रासादादि एतेषां क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः । प्रत्याख्यानकाले गृहीतप्रमाणोल्लङ्घनमित्यर्थ इति । तथा हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमस्तत्र हिरण्यं रजतमघटितं घटितं चानेकप्रकारं द्रव्यादि सुवर्णप्रतीतमेव तदपि घटिताघटितमेव तद्ग्रहणाच्चेन्द्रनीलमरकताद्युपलग्रहः अक्षरगमनिका पूर्ववत् । तथा धनधान्यप्रमाणातिक्रमः तत्र धनं गुडखण्डशर्करादिगोमहिष्यजाविकारं मतुगादि, धान्यं व्रीहिकोद्रवमुद्गमाषतिलगोधूमयवादि अक्षरगमनिका प्राग्वदेव । तथा द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः । तत्र द्विपदानि दासीदासमयूरहंसादीनि

चतुष्पदादि हस्त्यश्वमहिष्यादीनि अङ्करगमनिका प्राग्वदेव। तथा द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः। तत्र कुप्यमासनशयनप्ररूकरोट्टकलोहाद्युपस्करजातमुच्यते एतद्ग्रहणाच्च चक्र कथञ्चपरिग्रहः। अङ्करगमनिकापूर्ववत्। एतान् क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमादीन् समाचरन्नतिचरति पञ्चमाणुव्रतमिति। "एत्य दोसा जीवघायाइया भाणियव्वा"। आव०६अ०।श्राव०। तत्थ खेत्तवत्थुपमाणादिसु जं पमाणं गहितं तं णातिकामिज्ञव्वं। अहवा जं पण गहीत तो अहीत चारेविओ अडुवेज्ञा पेमिमूले वा देज्ञा असमन्थो त घणादिकाव ताहे खेत्त वत्थुं धा देज्ञा एव पविरञ्जा विरलवित्थरो विभासियव्वो सो य सा घणो चिंतेज्ञा जहा मए दव्वपमाणं जं गहितं त अज्ञावि न पूरेति। एसा य धारणितो तस्स हाथे इम देति तिमिसापि किन दव्वत्रेक्खणो चेव इमं देति ते ममापि किन दव्वत्रेक्खणे चेव इमं। एव खेत्तवत्थुप्पमाणातिक्कमए कुणंतो अतियरति। पयमादि विजासा सव्वत्थ एसो विभागे ववसपुणो सयसहस्से वा कोडिए वा सव्वगणेिज्ञमाए। तस्स एसेव एक्को अतियारो विभागे पदे पदे अतियारो विजासियव्वो पयाण थूलप्पमाणे गहिते सववहारेतेपि वा सया ण कयविक्कयस्स दिवे २ परिमाण करेंति जं घरत्तिण न करेंति। तस्स य एव चक्वातित्ति आरजपरिग्गहदमणवाहणादि एएसु पदेसु विभासियव्वं। जधाविहं एत्थ भावणा "जह २ अप्पो लोभो, जध जध ४ अप्पो परिग्गहारंभो। तह २ सुहं पवड्ढति, धम्मस्स य होति ससिद्धी" धन्ना परिग्गहं उज्झि-ऊण मूढमिह सव्व पावाण। धम्मचरणंपवन्नो, मलेण एवमविचिंतेज्जा" आ० चू० ६अ०।

धनधान्यक्षेत्रवास्तु, रूप्यं स्वर्णं च पञ्चमे ॥
गोमनुष्यादिकुप्यं चे, त्येषां संख्या व्यतिक्रमः ॥ ४७॥

धनं धान्य क्षेत्र वास्तु रूप्यं सुवर्णं गोमहिष्यादिकुप्यं चेति पञ्चानां संख्या यावज्जीवं चतुर्मासादिकालावधियत्परिमाणं गृहीतं तस्य ये अतिक्रमा उल्लङ्घनानि ते पञ्चमे पञ्चमाणुव्रतेऽतिचारा ज्ञेयास्तत्र धनं गणिमधरिममेयपरिच्छेद्यभेदाच्चतुर्धा यदाह "गणिमं पुगफलाइ, धरिमं तु कुंकुमगुडाइ। मेज्जं चोप्पडलोणाइ, रयणवत्थाइपरिच्छेज्जं ॥ १॥ धान्यं चतुर्विंशतिधा व्रताधिकारे प्रवोक्तं सप्तदशधापि यत्. "साली १ जव २ वीहि ३ कुद्दव, ४ रालय ५ तिल ६ मुग्ग ७ मास ८ चवल ९ चणा १० तुवरि ११ मसूर १२ कुलत्था, १३ गोधूम १४ निप्पाव १५ अयसि १६ सिणा ॥ १७॥ धनं च धान्यं चेति समाहारः। अत्राग्रे च समाहारनिर्देशात्परिग्रहस्य पञ्चधात्वेनातिचारपञ्चकं सुयोज्यं भवति। क्षेत्रं च वास्तु चेति समाहारद्वन्द्वः तथा रूप्यं रजतं घटितमघटितं चानेकप्रकारमेव सुवर्णमपि रूप्यं च स्वर्णं चेति समाहारः गावश्च मनुष्याश्चेति गोमनुष्यं तदादि यस्येति समासः गवादिमनुष्यादि चेत्यर्थः। तत्र गवादि गोमहिषमेषाविककरभसरभहस्त्यश्वादि मनुष्यादि पुत्रकलत्रदासदासीकर्मकरशुकसारिकादि, तथा कुप्यं रूप्यस्वर्णव्यतिरिक्तं कांस्यलोहताम्रसीसकत्रपुमृद्भाण्डत्वचिसारविकारोदकिकाष्ठमञ्चकमञ्चिकामसूरकरथशकटहलादिगृहोपस्काररूपमिति यद्यत्र क्षेत्रादिपरिग्रहस्य नवविधत्वेन नव सङ्ख्यातिचारप्राप्तौ पञ्चसङ्ख्यात्वमुक्तं तत्सजातीयत्वेन शेषभेदानामत्रैवान्तर्भावात्। शिष्यहितत्वेन च प्राय सर्वत्र मध्यमगतेर्विवक्षितत्वात् पञ्चकसङ्ख्यैवातिचारपरिगणनमनुचितमतो धनधान्यादिसङ्ख्यातिचाराणा गुणनमुपपन्नमिति धर्मबिन्दुवृत्तौ। ननु प्रतिपन्नसङ्ख्यातिक्रमा भङ्गा एव स्यु कथमतिचारा इत्यत आह ॥

बन्धनाद्योजनात् दाना-द्गर्भतो भावतस्तथा ॥
कृतेच्छापरिमाणस्य, न्याय्याः पञ्चापि न ह्यमी

बन्धनात् योजनात् दानात् गर्भतो भावत इत्यमी गृहीतसङ्ख्यातिक्रमाः पञ्चापि पञ्चसङ्ख्याका अपि कृतेच्छापरिमाणस्य प्रतिपन्नपञ्चमव्रतस्य श्रावकस्य न न्याय्या न घटमाना व्रतमालिन्यहेतुत्वात्। अयं भावः। न साक्षात्सङ्ख्यातिक्रमः किन्तु व्रतसापेक्षस्य बन्धनादिभिः पञ्चभिर्हेतुभिः स्वबुद्ध्या व्रतभङ्गमकुर्वत एवातिचारा भवन्ति बन्धनादयश्च यथासङ्ख्येन धनधान्यादीनां परिग्रहविषयाणां सबध्यन्ते तत्र धनधान्यस्य बन्धनात् सङ्ख्यातिक्रमो यथा कृतधनधान्यपरिमाणस्य कोऽपि क्वन्यमन्यद्धनं धान्यं च ददाति तच्च व्रतभङ्गभयाच्चतुर्मासादिपरतो गृहगतधनादिविक्रये वा कृते ग्रहीष्यामीति भावनया बन्धनात् नियन्त्रणात् रज्ज्वादिसंयमनात्सत्यकारदानादिरूपाद्वा स्वीकृत्य तद्गृहे एव स्थापयतोऽतिचारः ॥ १॥ तथा क्षेत्रवास्तुनो योजनात् क्षेत्रवास्त्वन्तरमीलनात् गृहीतसङ्ख्यातिक्रमोऽतिचारो भवति तथाहि किलैकमेव क्षेत्रं वास्तु चेत्यभिग्रहवतोऽधिकतरतदभिलाषे सति व्रतभङ्गभयात् प्राक्तनक्षेत्रादिप्रत्यासन्नं तद्गृहीत्वा पूर्वेण सह तस्यैकत्वकरणार्थं वृत्तिभित्त्याद्यपनयने च तत्तत्र योजयतो व्रतसापेक्षत्वात्कथञ्चिद्विरतिबाधनाच्चातिचारः ॥ २॥ तथा रूप्यस्वर्णस्य दानाद्वितरणाद्गृहीतसङ्ख्यायाः अतिक्रमः। यथा केनापि चतुर्मासाद्यवधिना रूप्यादिसङ्ख्या विहिता तेन च तुष्टराजादेः सकाशादधिकं तल्लब्धं तच्चान्यस्मै व्रतभङ्गभयात् ददानि पूर्णेऽवधौ ग्रहीष्यामीति भावनयेति व्रतसापेक्षत्वात्कथञ्चिद्विरतिबाधाच्चातिचार इति ॥ ३॥ गोमनुष्यादेर्गर्भतः सङ्ख्यातिक्रमो यथा किल केनापि संवत्सराद्यवधिना द्विपदचतुष्पदाना परिमाणं कृतं तेषां च संवत्सराद्यवधिमध्य एव प्रसवेऽधिकद्विपदादिभावाद्व्रतभङ्गः स्यादिति तद्भयात्कियत्यपि काले गते गर्भग्रहणं कारयतो गर्भस्थद्विपदादिभावेन बहिर्गततदभावेन च कथञ्चिद् व्रतभङ्गादतिचारः ॥ ४॥ कुप्यस्य भावतः सङ्ख्यातिक्रमो यथा कुप्यस्य या सङ्ख्या कृता तस्या कथञ्चिद्द्विगुणत्वे भूते सति व्रतभङ्गभयात्तेषां द्वयेनैकैकं महत्तरं कारयतः पर्यायान्तरकरणेन सङ्ख्यापूरणात् स्वाभाविकसङ्ख्याबाधनाच्चातिचारः। अन्ये त्वाहु तदर्थित्वेन विवक्षितकालावधेः परतोऽहमेतत् करोटिकादिकुप्यं ग्रहीष्याम्यतो नान्यस्मै देयमिति पराप्रदेयतया व्यवस्थापयतोऽतिचारः। नामत उक्ता पञ्चातिचाराः॥ ध०२अधि।

इच्छापरिमाणकिइ-इच्छापरिमाणकृति-स्त्री० इच्छाया अभिलाषस्य यत्परिमाणमियत्ता तस्य कृतिः करण इच्छापरिमाणकृतिः। पञ्चमेऽणुव्रते, ध० २ अधि०। (तद्वक्तव्यता इच्छापरिमाण शब्दे)

इच्छामि (मे) त्त-इच्छामात्र-न० अभिप्रायमात्रे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

इच्छामुच्छा-इच्छामूर्छा-स्त्री० इच्छा च परधन प्रत्यभिलाषः मूर्छा तत्रैव गाढाभिष्वङ्गरूपा तद्धेतुकत्वाददत्तग्रहणस्येति। इच्छामूर्छा त्रिंशत्स्वधर्मेषु सप्तविंशेऽधर्मद्वारभेदे,प्रश्न०५द्वा०।

इच्छालोभ-इच्छालोभ-पु० इच्छा अभिलाषः सा चासौ लोभश्च इच्छालोभः। सूक्ष्मलोभोऽतिसूक्ष्मो यथा। महालोभे,

" इच्छालोभो उ उवहिमइरेगोत्ति " स्था० ६ ठा० । " इच्छालोभं न सेवेज्जा"। इच्छारूपो लोभः इच्छालोभश्चक्रवर्त्यादिभोगाभिलाषादिको निदानविशेषस्तमसौ निर्जरापेक्षी न सेवेत सुरर्द्धिदर्शनमोहितो ब्रह्मदत्तवन्निदानं न कुर्यादित्यर्थः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । "इच्छालोभे मोत्तिमग्गस्स पलिमथू आहारोवहिदेहेसु इच्छालोभे उ सज्जई" । स्था० ६ ठा० ।

इच्छालोभिय– इच्छालोभिक–त्रि० इच्छालोभो यस्यास्ति स इच्छालोभिकः । महेच्छे, अधिकोपधौ, स्था० ६ ठा० (अस्य मुक्तिमार्गपरिमन्थुत्वं पलिमथशब्दे)

इच्छालोल–इच्छालोल–पुं० इच्छा अभिलाषः सा चासौ लोलश्चेच्छालोलो महालोल इत्यर्थः यथा निद्रानिद्रा महानिद्रेति । अधिकोपकरणादिमेलनलक्षणे महालोभे, "इच्छालोले य उवहि मतिरागात्" इच्छालोलस्तु स उच्यते यल्लोभाभिभूतत्वेनोपधिमतिरिक्तं गृह्णाति इति । " इच्छालोले मोक्खमग्गस्स पलिमन्थू " इच्छालोलो मोक्षमार्गस्य प्रतिमन्थुः स च "इच्छालोलेयउवहिमतिरेगा लहुओ तिवि हं च तहिं अतिरेगे जे भणिय दोसा " बृ० ६ उ० ।

इच्छिय–इच्छित–त्रि० इच्छा सजाता ऽस्येति इच्छितः तारकादित्वादितच् । स्पृहायुक्ते, । वाच०

ईप्सित– त्रि० आप सन् क्त० । मनोवाञ्छिते, त० । प० चू० । ज० । प० सं० । ज्यो० । ज्ञा० । " इच्छियमेय देवाणुप्पिया" इति–कल्प० । क्रियाफलेन प्राप्तुमिष्टे, कर्तुरीप्सिततम कर्म्म । पा० । " निर्वृत्यञ्च विकार्यं च प्राप्यञ्चेति त्रिधा मतम् । तच्चेप्सिततम कर्म्म, चतुर्धान्यत्तु कल्पितम्" भर्तृ० इच्छाविषये,–वाच०

इच्छियकामकामि (न्)–ईप्सितकामकामिन्–त्रि० ईप्सितान् मनोवाञ्छितान् कामान् शब्दादीन् कामयन्ते अर्थात् भुज्यन्ते इत्येव शीला ये ते तथा ईप्सितकामकामिनः । मनोवाञ्छितशब्दादिविषयभोक्तरि,। "इच्छिय कामकामिणो त्ति" । ज० २ वक्ष

इच्छियत्थ–ईप्सितार्थ– पुं० मनोवाञ्छितेऽर्थे, प० सं० "सुचत्थ णिज्जरा मोक्खो वा इच्छियत्थोत्तु"– प० सं० । एव गुणजुत्तो विशेष्य ईप्सितानर्थाननुप्राप्नोति लभत इत्यर्थः । प० चू० ।

इच्छियपडिच्छिय–इच्छितप्रतीच्छित–त्रि० इच्छासञ्जाताऽस्येति इच्छित प्रतीच्छा सजाताऽस्येति प्रतीच्छितम् इच्छित च तत् प्रतीच्छित च इच्छितप्रतीच्छितम् । इच्छाप्रतीच्छोभयधर्म्मे, । " इच्छियपडिच्छियाएण " इच्छाया अवग्रह इच्छितप्रतीच्छितेन इच्छितप्रतीच्छितम् आभवनव्यवहारस्थापना यथा यत्पथि तन्यते तदस्माक यद्ग्रामे तत् युष्माकम् यद्विा यत्सचित्त तदस्माक यदचित्त तद्युष्माकम् । अथ वा या स्त्रीव्रतग्रहणार्थमुपतिष्ठति सा अस्माक पुरुषो युष्माकम् । यद्वा बालो युष्माक वृद्धोऽस्माकम् । अथवा यः सार्थेन सह व्रजता लाभः सोऽस्माक अस्माक सार्थे युष्माकम् । यदि वा–यो यल्लभते तत्तस्यैव एव भूतेनेच्छितप्रतीच्छितेन य आभवनव्यवहार स इच्छाया अवग्रहः । व्य० द्वि० ४ उ० ।

ईप्सितप्रतीप्सित–त्रि० ईप्साप्रतीप्सोभयधर्मोपेते, । ज्ञा० १ अ.

इष्टप्रतीष्ट–त्रि० इच्छाप्रतीच्छोभयधर्मोपेते, " इच्छियमेयं पडिच्छियमेय इच्छियपडिच्छियमेय " इच्छियति–इष्टं ईप्सित वा पडिच्छियन्ति प्रतीष्ट प्रतीप्सित वा अभ्युपगतमित्यर्थः इष्टप्रतीष्टमीप्सितप्रतीप्सित वा । धर्मद्वययोगात्–अत्यन्तादरख्यापनाय चैवं निर्देशः । ज्ञा० १ अ० । "इच्छियमेय देवाणुप्पिया पडिच्छियमेय देवाणुप्पिया इच्छियपडिच्छियमेय देवाणुप्पिया" इच्छियमेयति ईप्सित तत् पडिच्छियमेयति प्रतीष्टं युष्मन्मुखादूयत्तदेव गृहीतमिच्छियपडिच्छियति उभयधर्मोपेतम् । कल्प० ।

इच्छियव्व–ईप्सितव्य–त्रि० सर्वैरपि मुमुक्षुभिरीप्स्यते प्राप्तुमर्थ्यंत इतीप्सितव्यः । व्यवहारे, । "तत्तो य इच्छियव्वे, आयारे चेव ववहारे " व्यवहारस्यैतान्येकार्थिकानि । व्य० १ उ० ।

एष्टव्य–त्रि० इषुवाञ्छायाम् तव्य । प्रार्थनीये, । आव० ४ अ०

इज्जंजलि–इज्याञ्जलि–पुं० यजनमिज्या इत्यर्थः तद्विषयो जलस्याञ्जलिः इज्याञ्जलिः यागदेवतापूजावसरभावीति हृदयम् । अथवा यजनमिज्या पूजा गायत्र्यादिपाठपूर्वक विप्राणां सन्ध्यार्चनमित्यर्थस्तत्राञ्जलिः इज्याञ्जलिः अथवा देशीयभाषया इज्येति माता तस्या नमस्कारविधौ तद्भक्तैः क्रियमाणः करकुड्मलमीलनलक्षणोऽञ्जलिरिज्याञ्जलिः । यागदेवतापूजावसरभाविनि जलाञ्जलौ, विप्राणां गायत्र्यादिपाठपूर्वकसन्ध्यार्चनविषयके जलाञ्जलौ,–मातुर्नमस्कारार्थंतद्भक्तैः क्रियमाणे करकुड्मलमीलने च । अनु० । (कुप्रावचनिकभावावश्यकमधिकृत्य व्याख्यातम्)

इज्जंति–इयन्ती–स्त्री० आगच्छन्त्याम्–" दिव्वसो सिरिमिज्जति, दएन पडिसेहए"–दश० ८ अ० २ उ० ।

इज्जा–इज्या– स्त्री० यजनमीज्या यज्–भावे क्यप् स्त्रीत्वादाप् । यागे, (देवपूजायाम्) अनु० पूजायाम्, स्था० १० ठा । भ० । औप० । यजनमिज्या पूजा गायत्र्यादिपाठपूर्वके विप्राणां सन्ध्यार्चने, देशीभाषया मातरि च । अनु० । यजेर्दानार्थत्वात् २ दाने, सङ्गमे च । कर्मणि क्यप् ४ प्रतिमायाम्, ५ कुट्टिमन्याञ्च । जूके, अमर० । वाच० ।

इज्जिस–इज्यैष–त्रि० इज्यां पूजामिच्छत्येषयति वा यः स इज्यैषः । पूजाभिलाषिणि,–भ० ९ श० ३३ उ० । इज्यां पूजां इच्छन्त्येषयन्ति वा ये ते इज्यैषास्त एव । स्वार्थे इकप्रत्ययविधानादिज्यैषिकाः । पूजाभिलाषिणः,–भ० ।

इज्झ–इन्ध–दीप्तौ–रुधा०–आ० अक०–सेट्–निष्ठायामनिट् वर्तमाने चातो निष्ठा । वाच० इन्धौ झा–इति–प्रा–सूत्रेण संयुक्तस्य झा इत्यादेशः । इज्झइ–इन्धे—प्रा० व्या० २ पा० ८ अ० ।

इज्झमाण–इध्यमान–त्रि० दीप्यमाने, पुव्वावरदाहिणुत्तराग एहिं वा पाईं मदाय मदा इमे इज्झमाणा, इति । राज० ॥

इट्टगा–इष्टका–स्त्री० इष् तकन् टाप् । इष्टिका पितृदैवत्ये इति नियमात्सत्वम् । (ईंट) मृदादिनिर्मिते मृतखण्डभेदे,–दारसिद्धवार भक्षति त पुव्वकयमिट्टगाहिं उड्ढय मुग्घाडेति । नि० चू० १ उ० । पि० । "पयावेह इट्टकाओ ममघरट्ठयाए" पाचयत चेष्टका गृहार्थमिति । प्रश्न० २ द्वा० ॥

इट्टगापाग–इष्टकापाक–पुं० इष्टकापचने, पिं० ॥

इट्टा–इष्टा–स्त्री० ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे ८ अ० २ पा० । इति प्रा० सूत्रेण इष्टा शब्दस्य निषेधाल ठ. । प्रा० । इष्टकायाम्, स्था० ८ ठा० ॥

इट्टाल–इट्टाल–न० इष्टकायाम्, " होज्ज कट्ठसिल वा वि इट्टालं वा वि एगया ठवियस कमट्ठाए, त च होज्ज चलाचल ६५"

भवेत् काष्ठ शिला वापि इष्टाल वाप्येकदा एकस्मिन् काले प्रा-
भृताद्दौ स्थापित सकमार्थ तथ भवेद्यशाचलमप्रतिष्ठित ननु
स्थिरमेवेति सूत्रार्थ । दशा० ५ अ० ॥

इट्ठावाय–इष्टापाक–पु० इष्टकायाः पचनस्थाने,–'इट्ठा वाएइ वा'।
स्था० ८ ठा० ॥

इट्ठ–इष्ट– त्रि० इष्यते स्म प्रयोजनवशात् अर्थे क्रियार्थिभिरिती-
ष्ट । स्था० २ ठा० । विपा० । औप० । भ० । ज०। इष् कर्मणि
क्त । एस्यानुप्रेष्टसदृष्टे ८ अ० २ पा० । इति–प्रा० सूत्रेण ठ
प्रा० व्या० । अभिप्रेते, " आरम्भ मिट्ठोऽज्जति आसवाय "–यथा
ऽऽरम्भस्तयाऽऽस्रवाय कर्मोपादानायेष्टोऽभिप्रेत इति । सू० २
उ० । अभिमते, । प्रश्न० ३ द्वा० । विशे० । पंचा० । पो० । अभिला-
षणीये, आव० ४ अ० । अभिलाषाविषयभूते, ज्ञा० ८ अ० । अभी-
प्सिते, जी० ३ प्रति० । अविरोधिनि,–ध० । इच्छाविषये, त० ।
राज० । मनस इच्छामापन्ने, जी० १ प्र० । इन्द्रियमन प्रमोद-
दायिनि,–ज्ञा० १८ ज्ञा० । ईप्सिते, पञ्चा० १२ विव० । योग्ये, ।
विशे० । वल्लभे, प्रिये, औप० । भ्रष्ट० । ज्ञा० । नि० । पञ्चा० ।
" इट्ठेहिं कंतेहिं य विप्पहूणा—" सूत्र० १ श्रु ५ अ० १
उ० । विहिते,–उत्त० १६ अ० । इष्टञ्च इच्छाविषय. तच्च
द्विविध गौण मुख्य च । तत्र इतरेच्छानधीनेच्छा विषयो मुख्य त
त्साधन गौणम् । तत्र मुख्यमिष्ट सुख दु खाभावश्च । तदिच्छाया
इतरेच्छानधीनत्वात् । तत्साधन पाकभोजनादि गौण सुख
दु खाभावेच्छयैव तदिच्छाया समुन्मेषात् । अनिष्टमिष्टमिश्र-
ञ्च त्रिविध कर्म चोच्यते । इच्छया कल्पिते,–"इष्टकृतिरष्टगुणि-
ता व्येकाहिता विभाजितेष्टेन" लीला– । वाच० । यज् भावे क्त-
यज्ञादौ,–न० आव० १ अ० । आ० म० प्र० । कर्मणि क्त–पूजि-
ते,–औप० । पदार्थवृ० कै०, पु० संस्कारे, न० । वाच० । ऋत्वि-
ग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षत । अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्त-
मिष्ट तदभिधीयते । १ । द्वा० १ द्वा० । प्रति० । "एकाग्नि-
कर्महवन त्रेतायां यच्च हूयते । अन्तर्वेद्याञ्च यद्दत्तमिष्ट तद-
भिधीयते" जातुकर्णोक्ते धर्मकार्ये, न– । "इष्ट दत्तमधीत वा
विनश्यत्यनुकीर्तनात्"—देवल । ज्ञानेनेप्सिते, । वाच० ।

इट्ठगंध–इष्टगंध– पु० कर्मधारय० । सुगन्धौ, इष्टो गन्धो ऽस्य ।
सुगन्धिद्रव्ये, त्रि० वालुकायाम्, न० मेदि० । ज्ञा० । पञ्चा० ।
श्रो० । वाञ्छिते, । पंचा,० १२ विव० । औ० ।

इट्ठतत्तदंसणवाइ [न्]–इष्टतत्त्वदर्शनवादिन्–पु० बौद्धभेदे, ध० ।

इट्ठतर–इष्टतर–त्रि० अतीवेप्सिततरे, । " तेण किण्हमणी पत्तो
इट्ठयए चेव " । ते कृष्णमणय इति जीमूतादेरिष्टतरका
एव कृष्णेन वर्णेन अतीवेप्सिततरका एवेति । राज० । जी० ।

इट्ठपुर–इष्टपुर–न० इष्ट पुर पत्तनमिष्टपुरम् ॥ इष्टपत्तने,–"अम
विसपहगाय, वोत्तेत्ता देसओवदेसेण । पावति जहिट्ठपुरं भवा-
डविं पि तहा जीवा" अटवी प्रतीता सप्रत्यपायां व्याघ्रादिप्रत्य-
पायबहुलाम् (अटवीं) उल्लङ्घ्य देशकोपदेशेन निपुणमा-
र्गज्ञोपदेशेन प्राप्नुवन्ति यथा इष्टपुरमिष्टपत्तनम् । आ० म० द्वि० ।

इट्ठफल–इष्टफल–त्रि० इष्ट वाञ्छित फलं साध्य यस्य तदिष्ट-
फलम् । वाञ्छितसाधके, अभिमतेऽर्थे, ईप्सितेऽर्थे च । पञ्चा०
विव० । ४ अविरोधिनि फले, ध० ।

इट्ठफलसाहग–इष्टफलसाधक–त्रि० ईप्सितार्थ निष्पादके, पंचा०
४ विव० ।

इट्ठफलसिद्धि–इष्टफलसिद्धि– स्त्री० अभिमतार्थनिष्पत्तौ, प-
ञ्चा० ४ विव० । अविरोधिफलनिष्पत्तौ, ध० ॥

इट्ठरूव–इष्टरूप– त्रि० इष्टस्वरूपे, "सुबाहुकुमारे इट्ठे इट्ठरूवे" ।
विपा० २ अ० १ श्रु० ॥

इट्ठवं–इष्टवत्– त्रि० यज्–इष् क्त–वतु–स्त्रीयां ङीप् । यजनकर्तरि,
इच्छायुक्ते च । इष्टकर्मकर्तरि, त्रि० स्त्रियां ङीप् । वाच० ॥

इट्ठसद्द–इष्टशब्द–पु० वीणादिसंबन्धिनि शब्दे, वीणादिसंबन्धा-
द्भवन्तीष्टा. शब्दादय. इति । प्रज्ञा० २३ पद ॥

इट्ठसिद्धि–इष्टसिद्धि–स्त्री० अभिमतार्थनिष्पत्तौ, "सो उ मंगलसद्द
सुणमि जहा उ इट्ठसिद्धित्ति" श्रुत्वा आकर्ण्य मङ्गलमित्येवरूपो
मङ्गलभूतो वा विजयसिद्ध्यादिशब्दो मङ्गलशब्दस्त शकुने
शकुनविषये यथा तु यद्वदेव इष्टसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिर्भव-
ति । पञ्चा० ४ विव० ॥

इट्ठसुय–इष्टसुत–पु० वल्लभे पुत्रे,–"इट्ठसुयं पेच्छिऊण कीलंतं" प-
ञ्चा० ७ विव० ॥

इट्ठस्सर–इष्टस्वर– पु० वल्लभस्वरे,–प्रज्ञा० २३ पद ॥

इट्ठापुत्त–इष्टापूर्त–न० इष्ट च पूर्तं च तयो. समाहारद्वन्द्व । पृषो-
दरादित्वात् पूर्वपदस्य दीर्घ । इष्टशब्दोक्ते ऋत्विग्भिरिति
लक्षिते दाने, " वापीकूपतडागादि–देवतायतनानि च । अन्न-
प्रदानमारामः–पूर्तमित्यभिधीयते " इति । पूर्ते च । प्रति०
वाच० । इष्टापूर्तैर्दक्षिणपुरुषत्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामो-
पहतमना वञ्च्यते–इति " इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठ नान्य–
च्छ्रेयो येभिनन्दन्ति मूढा. । " नाकस्य पृष्ठे तेन सुकृतेन भूत्वा
इम लोकं हीनतर वा विशन्तीति वचनात्, स्या० १५ श्लो० ।
" स्तोकानामुपकार. स्यादारम्भाद्यत्र भूयसां तत्रानुकम्पा
न मता यथेष्टापूर्तकर्मसु ।" द्वा० १ द्वा० । इष्टापूर्तं न मोक्षाङ्ग
सकामस्योपवर्णितम् । प्रति० ।

इट्ठावत्ति–इष्टापत्ति–स्त्री० ६ त० कर्मधा० वा । इष्टस्यापत्तौ,
इष्टायामापत्तौ च । वादिना दर्शितापत्ते. प्रतिवादिन इष्ट-
त्वे हि सा भवति इष्टापत्तौ दोषान्तरमाह । वाच० ।

इडिक्क–इडिक्क–पु० वनभवे छागे, हेम० । अपूर्वे, चालनीछा-
दितशिरा इडिक्केऽथाधिरूढवान् । आ० क० ।

इड्ढि (ड्ढि) (रिद्धि) ऋद्धि–स्त्री० ऋध् भावे–क्तिन् । इत्कृ-
पादौ ८ अ० २ पा० । इति प्राकृतसूत्रेणेत्वम्–प्रा० ॥ रि. केव
लस्य ८ अ० १ पा० । इति सूत्रेण रि इत्यादेशः प्रा० । श्रद्धर्द्धि
मुर्द्धर्द्धेऽन्ते वा । ८ अ० २ पा० । इति सूत्रेण वा ढः । तपोमाहा-
त्म्यरूपायामामर्षौषध्यादिकायां लब्धौ, (सम्पदि) उत्त० ३ अ०
दशा० । स्या० । न० । विशे० । आचा० । आ० चू० । पो०
(ऋद्धिभेदा. लब्धिशब्दे व्याख्यास्यन्ते–अस्य विस्तरत. सर्व
भेदाः लब्धिशब्दे ऋद्धेर्बहुवक्तता समिद्धि शब्देऽपि) " नात्थ
णूण परे लोए, इड्ढी वा वि तवस्सिणो । अदुवा वंचिओ मित्ति,
इइ भिक्खू न चिंतए " । उत्त० ३ अ० ।

ऋद्धिर्वा तपो माहात्म्यरूपा अपि. पुरणे कस्य तपस्विन सा
च आमर्षौषध्यादि. पादरजसा प्रशमन सर्वरुजां साधव. क्षणा
त्कुर्यु त्रिभुवनविस्मय जनान् द्रष्टु कामास्तृणाग्राद्या "धर्मो
त्कलाग्निमिश्रित–काञ्चनवर्षात्रिसर्गसामर्थ्यम् । अद्भुतमनोरु-
शिलासहकासपातशक्ति" रित्यादिका च तस्या अप्यनुपलभ्य-
मानत्वादिति भाव । उत्त० ३ अ० । ईश्वरत्वे, "गेगविहा इड्ढीओ

णेगविहत्ति णाणप्पगारा का ता इड्ढीओ इड्ढित्ति इस्सरियत्त त पुण विज्जामत तवोमत वा विउव्वणागासगमथविभंगणाणादि ऐश्वर्यमिति- नि० चू० १ उ० । स्था० ॥ नरेन्द्रपूजाचार्यत्वादिके, स्था० ३ ठा० । शक्तौ, । भ० १० श० ३ उ० । आत्मशक्तौ प्रव०२१४द्वा०। चक्रवर्त्तिमप्यधो नयेदित्यादिकायां विकरणशक्तौ, " अप्पएए महड्ढिए " ऋद्धिर्विकुर्वाणा तया सहित इति । उत्त० १ अ० ॥ सम्पत्तौ, पञ्चा० ७ । " इड्ढीण मूलमेसो " ऋद्धीनां सम्पदां मूलमिव मूलं कारणमेष धर्म इति । पञ्चा० ७ विव० । परिवारादिके, प्रज्ञा०२ पद० । तं० । औ० स्था० । वस्त्रसुवर्णादिसम्पत्तौ, । विपा० २ अ० । दशा० । सम० । स्था० । प्रभूतवस्त्रपात्रादिके, स्था० ५ ठा० । राज्यैश्वर्यादिके, आतु० । विभूतौ, आव० ४ अ० । स्था० । विमानवस्त्रभूषणादिकायां समृद्धौ, स्था० ३ ठा० । उप० । तृणाग्रादपि हिरण्यकोटिरित्यादिरूपायां समृद्धौ, उत्त० १ अ० । ऋद्धेर्भेदा यथा-धम्मिड्ढी भोगिड्ढी पाविड्ढी इअ तिहा भवे इड्ढी ध० २ अधि ॥

तिविहा इड्ढी पन्नत्ता तंजहा देविड्ढी राइइड्ढी गणिड्ढी । देविड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा विमाणिड्ढी विगुव्विणिड्ढी परियारणिड्ढी । अहवा देविड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया । राइड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा रण्णो अइयाणिड्ढी रण्णो णिज्जाणिड्ढी रण्णो बलवाहणकोस कोट्ठागारिड्ढी । अहवा राइड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया । गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा णाणिड्ढी दंसणिड्ढी चरित्तिड्ढी अहवा गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता तंजहा सचित्ता अचित्ता मीसिया ॥

(तिविहा इड्ढीत्यादि) सूत्राणि सप्त सुगमानि नवरं देवस्येन्द्रादेः ऋद्धिरैश्वर्यं देवर्द्धिरेव राज्ञश्चक्रवर्त्यादेर्गणिनो गणाधिपतेराचार्यस्येति विमानानां विमानलक्षणा वा ऋद्धिः समृद्धिर्द्वात्रिंशल्लक्षादिक बाहुल्य महत्व रत्नादिरमणीयत्व चेति—विमानर्द्धिर्भवति च द्वात्रिंशल्लक्षादिक सौधर्मादिषु विमानबाहुल्य यथोक्तम् । बत्तीसट्ठावीसा, बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा । आरणे बंभलोगे, विमाणसखाभवे एसा ॥ १ ॥ पञ्चासचत्तछच्चेव, सहस्सालतसुक्क सहस्सारे ॥ सय चउरो आणय, पाणएसु तिन्नारणच्चुयए ॥ २ ॥ एक्कारसुत्तर हेट्ठी-मेसु सत्तुत्तर च मज्झिमए । सयमेग उवरिमए, पंचेव अणुत्तर विमाणत्ति ॥३ ॥ उपलक्षण चैतत् भवननगराणामिति वैक्रियकरणलक्षणा ऋद्धिर्वैक्रियऋद्धिः । वैक्रियशरीरैर्हि जम्बूद्वीपद्वयमसंख्यातान्वा द्वीपसमुद्रान् पूरयन्तीत्युक्तञ्च भगवत्यां चमरेण भंते ! के महिड्ढिए इत्यादि । परिचारणा कामसेवा तदृद्धिः अन्यान् देवान् अन्यसत्का देवी स्वकीया देवीरभियुज्यात्मान च विकृत्य परिचारयति इत्येवमुक्तलक्षणेति ॥ १ ॥ सचित्ता स्वशरीराग्रमहिष्यादिविषया सचेतनवस्तुसपद चेतना वस्त्राभरणादिविषया । मिश्रा अलंकृतदेव्यादिरूपा ॥२॥ अतियान नगरप्रवेशस्तत्र ऋद्धिस्तोरणहट्टशोभाजनसमर्द्दादिलक्षणा निर्याण नगरान्निर्गमस्तत्रऋद्धिः हस्तिकल्पनसामन्तपरिवारादिका ॥३ ॥ बलञ्चतुरङ्गवाहनानि वेगसरादीनि कोशो भाण्डागार कोष्ठा धान्यभाजनानि तेषामगार गृह गेह कोष्ठागार धान्यगृहमित्यर्थः तेषां तान्येव वा ऋद्धिर्या सा तथा ॥४॥ सचित्तादिका पूर्ववद्भावनीयेति ॥५॥ ज्ञानर्द्धिर्विशिष्टश्रुतसपत् —दर्शनर्द्धिः प्रवचने निश्शङ्कितादित्व प्रवचनप्रभावकशास्त्रसम्पच्च । चारित्रर्द्धिः निरतिचारता । ६ ॥ सचित्ता शिष्यादिका अचित्ता वस्त्रादिका मिश्रा तथैवेति इह च विकुर्वाणादि ऋद्धयोऽन्येषामपि भवन्ति केवल देवादीनां विशेषवत्यस्ता इति तेषामेवोक्त इति । स्था० ३ ठा.

देवानामृद्धयो यथा ॥

सोहम्मीसाणं देवाणं केरिसगा इड्ढी पण्णत्ता ? गोयमा ! महिड्ढिया महज्जुइया जाव महाणुभागा इड्ढी पण्णत्ता जाव अच्चुओ गेवेज्जअणुत्तरा य सव्वे महिड्ढिया जाव सव्वे महाणुभावा अणिंदा जाव अहमिंदाणाम ते देवगणा पण्णत्ता समणाउसो ॥

(सोहम्मीत्यादि) सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवाः कीदृशा ऋद्ध्या प्रज्ञप्ता भगवानाह—गौतम ! महर्द्धिका यावन्महानुभागा अमीषां पदानां व्याख्यान पूर्ववत् एव तावद्वक्तव्य यावदनुत्तरोपपातिका देवाः । जीवा० ४ प्र० २ उ० ॥

सर्वजीवानां येषु यथा शक्तिर्नास्ति तथा आह ॥

छहिं ठाणेहिं सव्वजीवाणं णत्थि इड्ढीति वा जाव परक्कमेति वा—तं० जीवं वा अजीवं करणयाए अजीवं वा जीवं करणयाए एगसमएणं वा दो भासाओ भासित्तए सयं कडं वा कम्मं वेएमि वा मा वा वेएमि । परमाणुपोग्गलं वा छिंदित्तए वा भिंदित्तए वा अगणिकाएण समोदहित्तए बहिया वा लोगंता गमणयाए ।

(छहीत्यादि) । षट्सु स्थानेषु सर्वजीवानां ससारिमुक्तस्वरूपाणां नास्ति ऋद्धिर्विभूतिरिति इत्येव प्रकारा यथा जीवादिरजीवादिः क्रियते वा विकल्पे एव द्युति प्रभा माहात्म्यमित्यर्थः । यावत्करणात् । "जसेइ वा बलेइ वा वीरिए वा पुरिसक्कारपरक्कमेइ वात्ति" इदञ्च व्याख्यातमनेकश इति न व्याख्यायते तद्यथा— ॥ जीव वेत्यादि—जीवस्याजीवस्य करणतायां जीवमजीव कर्तुमित्यर्थः १ अजीवस्य वा जीवस्य करणताया २ (एगसमएणवत्ति) युगपद्वा द्वे भाषे सत्यासत्यादिके भाषितुमिति ३ स्वय कृत वा कर्मवेदयामि वा मा वा वेदयामि इत्यत्रेच्छावशेवेदनेऽवेदने वा नास्ति बलमिति प्रक्रमोऽयं अभिप्रायो नहीच्छावशात् प्राणिनां कर्मणः क्षपाक्षपणौ स्तो बाहुबलिन इवापि त्वनाभोगनिवर्तित ते भवतोऽन्यत्र केवलिसमुद्घातादिति ४ परमाणुपुद्गल वा छेत्तु खड्गादिना द्विधीकृत्य भेत्तुं वा सूच्यादिना विदुध्वा छेदादौ परमाणुत्वहानेरग्निकायेन वा समवदग्धमतिसूक्ष्मत्वेनादाहत्वात्तस्येति ५ बहिस्ताद्वा लोकात् गमनतायाम् ६ अलोकस्यापि लोकतापत्तेरितिजीवमजीव कर्तुमित्युक्तम् । स्था० ६ ठा० । गोचरचर्याभूमिभेदे, यस्यामेकां दिशमभिगृह्यायाश्रयान्निर्गतः प्राञ्जलेनैव यथा समश्रेणिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षां परिभ्रमन् तावद्याति यावत्पङ्क्तौ चरमगृह ततो भिक्षां गृह्णन्नेवापर्यन्तेऽपि प्राञ्जलयैव गत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋद्धिरिति । वृ० १ उ० । वृद्धौ, सम्पत्तौ, सिद्धौ च । (ऋद्धिदर्शनेन सामायिकलभ्यते तत्कथाच दसारणभद्दशब्दे)

इड्ढि [द्धि] अप्पवट्टण—ऋद्ध्यप्रवर्तन—न० ऋद्धीनामामर्षौषध्यादीनामनुपजीवनेनाप्रवर्तनमव्यापारणम् । आमर्षौषध्यादीनामप्रवर्तने, द्वा० १७ द्वा०

इड्ढीगारव-ऋद्धिगौरव-न० ऋद्ध्या नरेन्द्रादिपूजालक्षणया आचार्यत्वादिलक्षणया वाऽभिमानादिद्वारेण गौरवम् । ऋद्धेर्वा गौरवमृद्धिगौरवम् । भावगौरवभेदे,-तच्च ऋद्धिप्रत्यभिमानप्राप्तिप्रार्थनाद्वारेणात्मनोऽशुभो भावो भावगौरवमित्यर्थः । स्था० ३ ठा० ॥

इड्ढिगारवझाण-ऋद्धिगौरवध्यान-न० राज्यैश्वर्यादिरूपा ऋद्धिस्तया गौरवमात्मोत्कर्षरूपं तस्य ध्यानं दशार्णभद्रस्येव ऋद्धिगौरवध्यानम् । दुर्ध्यानभेदे,-आतु० ॥

इड्ढिपत्त-ऋद्धिप्राप्त- पु० ऋद्धिरामर्षौषध्यादिलक्षणा ता प्राप्त ऋद्धिप्राप्तः आमर्षौषध्यादिलक्षणामृद्धिम्प्राप्ते, । न० । ऋद्धिञ्च प्राप्नोति प्रथमतो विशिष्टमुत्तरोत्तरमपूर्वार्थप्रतिपादकं श्रुतमवगाहमानः श्रुतसामर्थ्यतस्तीव्रतीव्रतरशुभभावनामाधिरोहन्नप्रमत्तः सन् । उक्तञ्च "अवगाहते च स श्रुतजलधिं प्राप्नोति चावधिज्ञानम् । मनसः पर्याय वा ज्ञानं कोष्ठादिबुद्धिर्वा" इति । प्रज्ञा० २१ पद ॥

प्राप्तर्द्धि- पु० आमर्षौषध्यादिका ऋद्धिः प्राप्ता यैस्ते प्राप्तर्द्धयः प्राप्तामर्षौषध्यादिके, "इड्ढीपत्ते य वोच्छामि" इह गाथाभङ्गभयाद्व्यत्ययोऽन्यथा निष्ठान्तस्य बहुव्रीहौ पूर्वनिपात एव भवतीति । विशे० ॥

इड्ढिपत्ताणुओग-ऋद्धिप्राप्त्यनुयोग-पु० प्राप्तामर्षौषध्यादिकस्य व्याख्याने, विशे० । (तच्च विस्तरतो लद्धिशब्दे द्रष्टव्यम्)

इड्ढिपत्तारिय-ऋद्धिप्राप्तार्य्य-पु० आर्यभेदे,-"से किंत इड्ढिपत्तारिया छव्विहा पण्णत्ता तंजहा अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा चारणा विज्जाहरा" प्रज्ञा० १ पद । स्था० ॥

इड्ढिमं (त)-ऋद्धिमत्- त्रि० ऋद्धिरामर्षौषध्यादिका सम्पत्तदेव रूपा प्रचुरा प्रशस्ताऽतिशायिनी वा ऋद्धिर्विद्यते येषान्ते ऋद्धिमन्तः । प्राप्तामर्षौषध्यादिऋद्धिके, । स्था० ५ ठा० । "इड्ढिमं णाम ईसरोत्ति" नि० चू० १९ उ० । महर्द्धिके, "एगेण इड्ढिमतेण वाणिएण" ऋद्धिमत्त्वे महर्द्धिकतायामिति, । वृ० ३ उ० ॥ सम्पदुपेते, । दश० ७ अ० । तद्भेदा यथा । "पचविहा इड्ढिमता मणुस्सा पण्णत्ता तंजहा अरहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा भावियप्पाणो अणगारा" । भावित सद्वासनया वासित आत्मा यैस्ते भावितात्मानोऽनगारा इति एतेषां च ऋद्धिमत्त्वमामर्षौषध्यादिभिः अर्हदादीनां तु चतुर्णां यथासम्भवमामर्षौषध्यादिनाऽर्हत्वादिना चेति । स्था० ५ ठा० २ उ० ॥ "इड्ढिमंत नरिंदस्स, इड्ढिमंत तु आलवे" । ऋद्धिमन्तं सम्पदुपेतं नरं दृष्ट्वा किमित्याह । ऋद्धिमन्तमिति ऋद्धिमानयमित्येवमालपेत् । व्यवहारतो मृषावादादिदोषपरिहारार्थमिति सूत्रार्थः । दश० ७ अ० ॥

इड्ढिमपुत्त-ऋद्धिमत्पुत्र-पु० राजादौ, -इड्ढिमपुत्तो वा राजादीत्यर्थ इति ॥ नि० चू० १ उ० ॥

इड्ढिरससायगारवपर-ऋद्धिरससातगौरवपर-त्रि० ऋद्ध्यादिषु गौरवमादरस्तत्प्रधाना ऋद्धिरससातगौरवपरा । ऋद्धिरससातादरप्रधाने, ऋद्धिरससायगारवपरा बहवे करणालसा परूवेंति । प्रश्न० २ द्वा० ॥

इड्ढिरससायगुरुय-ऋद्धिरससातगुरुक-त्रि० ऋद्धिराचार्यत्वादौ नरेन्द्रादिपूजा रसा मधुरादयो मनोज्ञाः सातं सुखमेतानि गुरूण्यादरविषया यस्य सोऽयमृद्धिरससातगुरुकः । अथवा एभिर्गुरुकस्तेषां प्राप्तावभिमानतोऽप्राप्तौ च प्रार्थनातोऽशुभभावोपात्तकर्म्मभारतया लघुः । ऋद्धिरससातानामादरकारके,-ऋद्धिरससातैरलघौ च । स्था० ३ ठा० ॥

इड्ढिरससायगुरुया छज्जीवनिकायघायनिरयाए ।
जे उवदिसंति मग्गं कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥ १५ ॥

(इड्ढिरसेत्यादि ।) ये केचन अपुष्टधर्माणः शीतलविहारिण ऋद्धिरससातगौरवेण गुरुका गुरुकर्माण आधाकर्माद्युपभोगेन षड्जीवनिकायव्यापादनरताश्चापरे तेभ्यो मार्गं मोक्षमार्गमात्मानुचीर्णमुपदिशन्ति तथाहि शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्वा कालसंहननादिहानेश्चाधाकर्माद्युपभोगोऽपि न दोषायेत्येवं प्रतिपादयन्ति । तच्चैव प्रतिपादयन्तः कुत्सितमार्गास्तीर्थकरास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति तु शब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुपदिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्तीति किं पुनस्तीर्थिका इति । सूत्र० नि० १ श्रु० ११ अ० ॥

इड्ढिविभूसा-ऋद्धिविभूषा-स्त्री० ऋद्ध्या सत्कारेण निर्यामितायां विभूषायाम्, "इड्ढिविभूसा य परिकम्मे" इड्ढिसक्कारेणं निज्जामिया विभूसेति । आव० ५ अ० ॥

इड्ढिसंजुत्त-ऋद्धिसंयुक्त- त्रि० ऋद्धयो नानाप्रकारा आमर्षौषध्यादयो लब्धयस्ताभिः संयुक्तः समन्वितः । आमर्षौषध्यादिलब्धिसमन्विते, । पो० १५ विव० ॥

इड्ढिसक्कारसमुदय-ऋद्धिसत्कारसमुदय- पु० ऋद्धिसत्कारसमुदाये, "इड्ढीसक्कारसमुदएणं मम सरीरगस्स णीहरणं करेह" ऋद्ध्या ये सत्काराः पूजाविशेषास्तेषां यः समुदायः स तथा तेन अथवा ऋद्धिसत्कारसमुदयैरित्यर्थः । समुदयश्च जनानां सङ्घ इति । भ० १५ श० १ उ० । ऋद्ध्या वस्त्रसुवर्णादिसम्पदा सत्कारः पूजाविशेषस्तस्य समुदायो यः स तथेति । विपा० ३ अ० ॥

इड्ढिसिय-इड्ढिमिय- इड्ढीसियत्ति रूढिगम्या इति भ० ९ श० ३३ उ० ॥

इणं-एतत्-त्रि० विप्रकृष्टवर्तिनि, दे० ना० ॥

इणमो-एतत्-त्रि० अदूरवर्त्तिनि, दे० ना० ॥

इण्हिं-इदानीम्-अ० एतत्कालेऽर्थे, दे० ना० ॥

इत्त-मत्-अ० अस्त्यर्थे, आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः ५९ इति मतोरित्तेत्यादेशः यथा-कव्वइत्तो माणइत्तो ' प्रा० ८ अ० २ पा० ।

इत्तर-इत्वर-त्रि० इण करप् १ पथिके २ नीचे ३ क्रूरकर्मणि च ४ खरभे-पु० स्त्रियां करबन्तत्वात् ङीप् सा चाभिसारिकायां स्त्रियाञ्च । वाच० । स्तोके (अल्पे) अनु० । उत्त० । नि० चू० अल्पकाले, अल्पकालीने, ध० २ अधि० । पञ्चा० । परिमितकाले, । प्रव० ६ द्वा० । दश० । अल्पावस्थायिनि, । "इयमित्तरा णिवित्ती" विषयोपभोगकालपर्यन्तभाविनी इत्वराऽल्पावस्थायिनी निवृत्तिरिति । आ० । इत्वरमल्पकालं यावच्चतुर्मासादिकालावधित्वेनेत्यर्थ इति । पञ्चा । (इत्वरानशनस्य वक्तव्यता ' अणसण ' शब्दे । चिराकालिगतस्थापनाया इत्वरत्वं ' ठवणा ' शब्दे । इत्वर व्रतानि 'वय' शब्दे । इत्वरचारित्राणि ' चरित्त ' शब्दे । स्थविरकल्पस्येत्वरत्वं ' कप्प ' शब्दे) प्रतिक्रमणविशेषे च । तच्च स्वल्पकालिकं दैवसिकरात्रिकादि । स्था०

६ ग०। पडिक्कमण देवसिअं राइअं च इत्तरिअं " इत्वरं स्वल्पकालिक दैवसिकादि इति। आव० ४ अ०।

इत्तरकाल–इत्वरकाल–त्रि०। स्वल्पकाले, अनु०।

इत्तरपरिग्गहा–इत्वरपरिग्रहा–स्त्री०इत्वरमल्पमुच्यते तत इत्वरमल्प परिग्रहो यस्या. सा इत्वरपरिग्रहा इत्वरकाल परिग्रहो यस्याः सा तथा कालशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्य. । अथवा इत्वरी–प्रतिपुरुषमयनशीला वेश्येत्यर्थः परिगृह्यत इति परिग्रहा काचित्कालं भाटीप्रदानादिना सगृहीता इत्वरी चाऽसौ परिग्रहा च सा तथा पुवद्भावश्चात्र कार्यः। प्रव० ७ द्वा०। भाटीप्रदानेन कियन्तमपि कालं दिवसमासादिकं स्ववशीकृतायां वेश्याया म्. आव० ६ अ०। (तां चासेवमानरूपस्य चतुर्थाणुव्रतस्य स्वदारसन्तोषस्यातिचार इति ' सदारसतोस ' शब्दे)

इत्तरपरिग्गहिया–इत्वरपरिगृहीता–स्त्री० इत्वरकाल परिगृहीता कालशब्दलोपादित्वरपरिगृहीता, कियन्तमपि काल दिवसमासादिक भाटीप्रदानेन स्ववशीकृतायाम् वेश्यायाम् आव ६ अ०। ध०।

इत्तरपरिग्गहियागमण–इत्वरपरिगृहीतागमन–न०इत्वरमल्पकाल भाटीप्रदानत. केनचित्स्ववशीकृता वेश्या तस्यां गमनम्। ध० २ अधि०। भाटीप्रदानेन कियन्तमपि काल दिवसमासादिक स्ववशीकृतायां मैथुनासेवने,। आव० ६ अ० ॥ (चतुर्थाणुव्रतरूपस्वदारसतोषस्यायमतिचार इति ' सदारसतोस' शब्दे)

इत्तरवास–इत्वरवास–पु० स्तोकनिवासे, "इह जीवियमेव पासहा, तरुणे पव वाससयस्स तुट्टत्ती। इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया" ॥ ८ ॥ साम्प्रत सुबह्वप्यायुर्वर्षशत तच्च तदन्ते त्रुट्यति। तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेष प्रायत्वात् इत्वर वासकल्प वर्त्तते स्तोकनिवासकल्पमित्येव बुध्यध्वं यूयमिति। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ॥

इत्तरिय–इत्वरिक–त्रि० इत्वरे स्तोके काले भवमित्वरिकम् नियतकालावधिके, उत्त० ३० अ०। इत्वर. स्तोक. कालो यत्रास्ति तदित्वरिकम्। मुहूर्त्तादिप्रमाण। पचा० १० विव०। इत्वरोऽल्प. कालो वत्सर. दिर्यस्यास्ति वैयावृत्त्यादेरसावित्वरिकः, पचा० १२ विव०। स्वल्पकालीने, "इत्तरिय णाम थोव इति" नि० चू० २ उ०। (इत्वरिकाऽनशनस्य वक्तव्यता " अणसण " शब्द। इत्वरिकमरणवक्तव्यता ' मरण ' शब्दे। इत्वरिकोपधिप्रतिलेखना 'पडिलेहणा' शब्दे। इत्वरिकसामायिक वक्तव्यता ' सामाइय ' शब्दे इत्वरिक वैयावृत्त्यवक्तव्यता वेयावच्च शब्दे) ॥

इत्तरी–इत्वरी–स्त्री०इत्वरी प्रतिपुरुषमयनशीला। भाटीप्रदानेन स्तोककाल परिगृहीताया वेश्यायाम्। पचा० १ विव०॥

इत्तिअ–एतावत्–त्रि० एतत्परिमाणे,। एतदः परिमाणे डावत् प्रत्यय। ' यत्तदेतदोऽतोरित्तिअ एतल्लुक् च'। ८। २। १५६ इति प्राकृतसूत्रेण–एतद भड्क्त्वा डावत् स्थाने इत्तिअ आदेश'। प्रा० व्या०।

इत्तो (इदो)–(इओ) इतस्–अव्य० इदम्–तसिल् अस्मादित्यर्थे ' त्तो दो तसो वा'। ८। २। १६०। इति प्राकृतसूत्रेण तस स्थाने त्तो दो इत्यादेशौ वा। प्रा० व्या०। अस्मिन्नित्यर्थे च।' वाच० ॥

इत्थम्–इत्थम्–अव्य० इदम् -थमु–इदम्प्रकारेण इत्थ भाव' इत्थं भूत.। वाच'०। इदं प्रकारमापन्ने,। प्रज्ञा० २ पद। अनेन प्रकारेणेत्यर्थे च। विशे०। उक्तप्रकारेणेत्यर्थे,। द्वा० २१ द्वा०॥ पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थे,। उ० ॥

इत्थंथ–इत्थंस्थ त्रि० इत्थ तिष्ठतीति इत्थस्थः। आ० म० द्वि०। प्रज्ञा०। अनेन प्रकारेण स्थिते, विशे०। " इत्थथ च चयइ सव्वसो सिद्धे वा हवइ सासए " दश० ९ अ० ४ उ० ॥

इत्थि (त्थी) आणमणी–स्त्र्याज्ञापनी–स्त्री० आज्ञाप्यतेऽआज्ञासम्पादने प्रयुज्यतेऽनया सा आज्ञापनी। स्त्रिया आज्ञापनी स्त्र्याज्ञापनी। स्त्रिया आदेशदायिन्याम्भाषायाम्। प्रज्ञा० २ पद।

इत्थि (त्थी) कम्म–स्त्रीकर्मन्–न० स्त्रियो नरतिरश्च स्तासा कर्म वशीकरणादिकर्म। स्त्रीणां वशीकरणादिकर्मणि, "परिग्गाहित्थिकम्मं च त विज्ज परिजाणिया " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ॥

इत्थि– (त्थी) कला–स्त्रीकला–स्त्री० महिलागुणे, ते च चतुष्षष्टिसख्याका'। " चोसट्ठि महिलागुणे " जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ तु चतुष्षष्टि. स्त्रीकलाश्चेमा.। नृत्यम् १ औचित्य २ चित्र ३ वादित्र ४ मन्त्रम् ५ ज्ञान ६ विज्ञानं ७ दम्भ' ८ जलस्तम्भ ९ गीतगान १० तालमान ११ मेघवृष्टि.१२फलाकृष्टि १३ तन्त्रम् १४ आरामगोपनम्१५आकारगोपन१६धर्मविचार १७ शकुनसारः १८ क्रियाकल्प' १९ सस्कृतजल्प. २० प्रासादनीतिः२१ धर्मरीति. २२ वर्णिकावृद्धिः २३ स्वर्णसिद्धिः २४ सुरभितैलकरण २५ लीलासचरण २६ हयगजपरीक्षण २७ पुरुषस्त्रीलक्षणं २८ हेमरत्नभेदः २९ अष्टादशलिपिपरिच्छेद. ३० तत्कालबुद्धिः ३१ वस्तुसिद्धिः ३२ कामविक्रिया ३३ वैद्यकक्रिया ३४ कुम्भभ्रम. ३५ सारिश्रम ३६ अञ्जनयोग. ३७ चूर्णयोग. ३८ हस्तलाघव ३९ वचनपाटवम् ४० भोज्यविधि' ४१ वाणिज्यविधि. ४२ मुखमण्डन ४३ शालिखण्डन ४४ कथाकथन ४५ पुष्पग्रन्थन ४६ वक्रोक्तिः ४७ काव्यशक्ति ४८ सर्वभाषाविशेष ४९ अभिधानज्ञान५०भूषणपरिधान ५१ भृत्योपचार.५२गृहाचार'५३ वेशरचन ५४व्याकरण ५५परनिराकरण ५६ रन्धन ५७ केशबन्धनं'५८ वीणानादः ५९ वितण्डावादः६० अङ्कविचार. ६१ लोकव्यवहार ६२ अन्त्याक्षरिका ६३ प्रश्नप्रहेलिका ६४ इति। अत्रोपलक्षणाद्युक्तातिरिक्ता. स्त्रीपुरुषकला अन्यान्तरे लोके च प्रसिद्धा ज्ञेयाः। अत्र च पुरुषकलासु स्त्रीकलानां स्त्रीकलासु च पुरुषकलानां सङ्कर्यं तज्ज्ञयोपयोगित्वात्। ननु तर्हि ' चोसट्ठि महिलागुणे इति ' ग्रन्थ विरोध उच्यते न ह्यय ग्रन्थ. स्त्रीमात्रगुणख्यापनपर किंतु स्त्रीस्वरूपप्रतिपादकस्तेन क्वचित् पुरुषगुणत्वेऽपि न विरोध। कलाद्वयस्यो त सख्याकत्व तु प्रायो बहूपयोगित्वादित्यऽलं विस्तरेण। ज० २ वक्ष०।

इत्थि (त्थी) कलेवर–स्त्रीकलेवर–न० योषिच्छरीरे,

अब्बंभे पुण विरई, मोहदुगंछा स तत्तचिन्ता य।
इत्थीकलेवराणं, तव्विरएसुं च बहुमाणो ४६॥

अब्रह्मणि स्त्रीपरिभोगलक्षणे पुन शब्दो विशेषणे तद्भावना चैव गुर्वादिषु सत्य कर्त्तव्यमब्रह्मणि पुनर्विरतिर्निवृत्ति. कार्या तया मोहजुगुप्सा स्त्रीपरिभोगहेतुवेदादिमोहनीयनिन्दा यथा यल्लज्जनीयमतिगोप्यमदर्शनीय बीभत्समुल्बण मलाविलपूतिगन्धि तथाप्यते कामिकमिस्तदेवम्। किंवा कुनोति न मनाग्व वा मनसा इत्यादि। तया स्वतत्त्वचिन्तास्वरूपचिन्तन कथं वा इत्यादि स्त्रीकलेवराणां योषिद्देहाना यथा शुक्रशोणितसम्भूत नवच्छिद्र मलोल्वणमस्थिशृङ्खलिकामात्र इत्त योषिच्छरीरक तच्छि-

तेष्वब्रह्मनिवृत्तेषु मुनिषु । चशब्दः समुच्चये बहुमानोत्तरङ्ग-प्रीतिरूपो विधेयो यथा-धन्यास्ते वन्दनीयास्ते तैस्त्रैलोक्यं पवित्रितं। यैरेष भुवनक्लेशी काममल्लो निपातितः। पचा० १ विव०॥

इत्थि (त्थी) कहा-स्त्रीकथा-स्त्री० स्त्रीणां स्त्रीषु वा कथा स्त्रीकथा । स्त्रीकथाविकथाभेदे, इयं च कथेत्युक्तापि स्त्रीविषयत्वेन संयमविरुद्धत्वाद्विकथेति भावनीयेति । स्त्रीकथाया भेदा यथा—

इत्थी कहा चउव्विहा पन्नत्ता तंजहा इत्थीणं जाइकहा इत्थीणं कुलकहा इत्थीणं रूवकहा इत्थीणं नेवत्थकहा ।

ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमाया या प्रशंसा निन्दा वा सा जात्या जातेर्वा कथेति जातिकथा । यथा-धिक् ब्राह्मणी धवाभावे, या जीवन्ति मृता इव। धन्या मन्ये जनैः शूद्री• पतिलक्षेऽप्यनिन्दिता ॥ १ ॥ एवं मुग्राद्दिकुलोत्पन्नानामन्यतमायाः यत्प्रशंसादि सा कुलकथा । यथा-अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोधिकं । पत्युर्मृत्यौ विशत्यग्नौ, या प्रेमरहिता अपि ॥ २ ॥ आन्ध्रीप्रभृतीनामन्यतमायाः रूपस्य यत् प्रशंसादि सा रूपकथा । यथा-चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्गी• पीनघनस्तनी । किं लाटी नामतः सा स्या—देवानामपि दुर्लभा ॥ ३ ॥ तासामेवान्यतमायाः कच्छबन्धादि नेपथ्यस्य यत्प्रशंसादि सा नेपथ्यकथेति । यथा—धिङ्नारीरौदीच्या, बहुवसनाच्छादिताङ्गलतिकत्वात् । यद्यौवनं न यूनां, चक्षुर्मोदाय भवति सदा ॥ स्था० ४ ठा० ॥

तत्र जातिकथा-ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमां प्रशंसति द्वेष्टि वा कुलप्रसूतानामन्यतमां, रूपकथा आन्ध्रीप्रभृतीनामन्यतमाया रूपं प्रशंसति "आन्ध्रीणां च भ्रुव लीला चलितं भूतले मुखे। आसज्य राज्यभारं स्वं, सुखं स्वपिति मन्मथ-इत्यादिना द्वेष्टि वा तथा नेपथ्यकथान्ध्रीप्रभृतीनामेवान्यतमायाः कथादिनेपथ्यं प्रशंसति द्वेष्टि वा । आव ४ अ० । जाति कथायां ब्राह्मणीप्रभृतीनामन्यतमां प्रशंसति द्वेष्टि वा, कुलकथायां पुनरुग्रादिकुलप्रसूतां वा। रूपकथा या रूपोद्देशेन विधीयते यथा। "आन्ध्रीणां रूपसौन्दर्यं, कालिङ्ग्या जघनं वरम्। लाट्या विलासितं चारु कर्णाट्यास्तुरतिप्रदा"॥ अथवा निन्दाति । मालविकी त्वनालाप्या, वराकी रूपवर्जिता । सौराष्ट्री कच्छजातापि, त्याज्या दुर्भगदेःस्वरा ॥ नेपथ्य केशचीवरसमारचनरूपं तद्रूपकथा नेपथ्यकथा—यथा । लाट्यास्तु कञ्चुकश्चरुरांस्पासीमन्तको नघ• । वेणिबन्धस्तु सौराष्ट्र्या, कालिङ्ग्या नीविबन्धनम् । दर्श० ॥ इत्थिकहा-पसंसा निंदा सरूवा जहा सा तणुय तणू सुभगा सोममुही पउमपत्तनयणिल्ला गुरुयनियंवा उन्नयपओहरा ललियगयगमणा॥तहा करहगई कागसरा य दुब्भगा लवजरा पिंगच्छी दुस्सीला दुब्भासा धिव्विकोनिय इति ग० १ अधि० । आ० चू० । स्त्रीकथा दूरतस्त्याज्या तथा च-"सा तन्वी सुभगा मनोहररुचि• कान्तेक्षणा भोगिनी, तस्या हारि नितम्बविम्बमथवा विप्रेक्षितं सुभ्रुवः । धिक्तामुष्ट्रगतिं मलीमसतनुं काकस्वरां दुर्भगा-मित्थं स्त्रीजनवर्णनिन्दनकथा दूरेस्तु धर्मार्थिनाम्" ॥ इति ॥ ध० २० । (स्त्रीकथापरित्यागस्य ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानत्व 'बंभचेरसमाहिट्ठाण' शब्दे 'बंभचेरगुत्ति' शब्दे च)

आयपरमोहुदीरण उड्डाहो सुत्तमाइपरिहाणी ।
बंभवए य अगुत्ती, पसंगदोसा य गमणाइ ॥१२१॥

इत्थिकहं करेंतस्स अप्पणो मोहोदीरणं भवति-जस्स वा करेंति परस्स तस्स मोहोदीरणं भवति-इत्थिकहं करेंतो सुओ लोएण उड्डाहो अहो ज्झाणोवउत्ता तवस्सिणो जाव इत्थिकहं करेंति ताव सुत्तपरिहाणी आदिसद्दातो अत्थस्स अण्णेसिं च सजमो गाणं बंभव्वए अगुत्ती भवति भणियं च "वसहिकहणिसेज्जिंदिय, कुड्डंतरपुव्वकीलियपणीते । अतिमायाहारविभूसणा यणं च बंभगुत्तीओ"॥एवं अगुत्ती भवति पसंगं एव दोसो पसंगदोसो कहापसंगाओ वा दोसा भवति ते य गमणादी गमणं उणिक्खमई आदिसद्दाओ वा कुलिंगी भवति स लिंगत्तिो वा आगारिं पडिसेवति सजतिं वा हत्थकम्मं वा करेति स्त्रीकथायां प्रायश्चित्तम् । इत्थीण कहा-इत्थिकहा सा चउव्विहा इमा—

जातीकथं कुलकथं, रूवकथं बहुविहं च सिंगारं ।
एता कधा कधिंते, चतुजमला कालगा चतुरो ॥११९॥

जातिमादिया उ (चउजमलत्ति) चत्तारि जमला मासलहविज्जाति माससामन्ने किं गुरुगा लहुगा भणति (कालगा) कालगतिगुरुगा मासा तेहिं चउहिं मासेहिं चउगुरुगत्ति भणियं भवति परिलिंगा चउगुरुगा चउरो भणति भवति जाइकहाए चउगुरुं, कुलकहाए चउगुरु, रूवकहाए चउगुरुं, सिंगारकहाए चउगुरुं एवं चउरो जातिए तवकालेहिं लहुगं कुलेकालगुरु तवे लहुगं रूवे तवगुरुं काललहुं सिंगारे दोहिं वि गुरुं अहवा चत्तारि जमला जातिमातिसु भवति के ते कालगा चउरो चउगुरुगंति भणियं भवति तवकालविसेसो तहेव अहवा चउरोत्ति सव्वा जमल दो ते य तवकाला ताणि तव काला जुयलाणि चउरत्ति भणियं भवति कालगा इति बहुवयणा चउगुरु ताणि चउगुरुगाणि चउरो अमाउस्स धक्खाणगाहा इमा ॥

मातिं समुत्थातिपितिं, वंसकुलं अहव ओगादी ।
वण्णाकिंत्तियरूवं, गतिपेहितिं जास सिंगारे ॥१२०॥

माउप्पसादा रूवं भवति जहा सोमलेपणं एवं जा कहा सा जाइकहा । पिउपसादा रूवं भवति जहा एगो सुवण्णगारो अव्वत्थ रूवस्सी गणिगाहिं मारिदाउं णिज्जाति रिउकाले जातेण जाया सा रूवस्सिणी भवति एवं कुलकहा सेसं कठं। नि० चू० १ उ० ॥

इत्थि (त्थी) काम-स्त्रीकाम-पु० स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामा• । स्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामा स्त्रीकामाः रूपादिविषयेषु मदनकामविषयभूतासु स्त्रीषु कामेषु, शब्दादिषु च । स्त्रीकामेषु प्रसक्तानामनरकयातना भवतीति यथा—

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइ वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तुं भोगभोगाइं पविसुत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उसन्नाइं संभारकडेण कम्मणा से जहा णामए अयगोलइ वा सेलगोलइ वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ताइ अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले आपत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उसन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा

धरणितलमइवत्ताइ अहे णरगतलपइट्ठाणे भवइ ॥६०॥

ते च विषयासक्ततया एतत्कुर्वन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह (एव मेव इत्यादि) एवमेव पूर्वोक्तस्वभावा एव ते निष्कृपा निरनुक्रोशा बाह्याभ्यन्तरपर्षदोऽपि कर्णनासाविकर्त्तनादिना दण्डपातनस्वभावा । स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः यदि वा स्त्रीषु मदनकामाविषयभूतासु कामेषु च शब्दादिषु इच्छाकामेषु मूर्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः एते च शक्रपुरंदरादिवत् पर्यायाः कथञ्चिद्भेदं चाश्रित्य व्याख्येयाः । ते च भोगासक्ता व्यपगतपरलोकाध्यवसाया यावद्वर्षाणि चतुः पञ्च षट् सप्त वा दश वाल्पतरं वा कालं भुक्त्वा भोगासक्ततया च परपीडोत्पादनतो वैरायतनानि वैरानुबन्धानप्रसूयोत्पाद्य विधाय तथा सञ्चयित्वा सञ्चित्योपचित्य बहूनि प्रभूततरकालस्थितिकानि क्रूराणि क्रूरविपाकानि नरकादिषु यातनास्थानेषु क्रकचपाटनशाल्मल्यवरोहणतप्तत्रपुपानात्मकानि कर्माण्यष्टप्रकाराणि बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थानि विधाय तेन च संभारकृतेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तत्कर्मगुरवो वा नरकतलप्रतिष्ठाना भवन्तीत्युत्तरक्रिययापादितबहुवचनरूपयेति सबन्धः । अस्मिन्नेवार्थे सर्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह (से जहा णामए त्ति) तद्यथा नामायोगोलकोऽयस्पिण्डः शिलागोलको वृत्ताश्मशकलं वा उदके प्रक्षिप्तः समानसलिलतलमतिवर्त्यातिलङ्घ्याधो धरणीतले प्रतिष्ठानो भवति । अधुना दार्ष्टान्तिकमाह (एवमेवेत्यादि) यथासावयोगोलको वृत्तत्वाच्छीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथा प्रकारः पुरुषजातः तमेव लेशतो दर्शयति । वज्रवद्वज्रं गुरुत्वात्कर्म तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथा बध्यमानकर्म गुरुरित्यर्थः । तथा धूयत इति धूतं प्राग्बद्धं कर्म तत्प्रचुरः । पुनः सामान्येनाह पङ्कयतीति पङ्कं पापं तद्बहुलस्तथा । तदेव कारणतो दर्शयितुमाह । वैरबहुलो वैरानुबन्धप्रचुरस्तथा (पत्तियति) मनसो दुष्प्रणिधानं तत्प्रधानस्तथा दम्भो मायया परवञ्चनं तदुत्कटस्तथा निकृतिर्मायावेषभाषापरावृत्तिच्छद्मना परद्रोहबुद्धिस्तन्मयस्तथा सातिबहुल इति सातिशयेन द्रव्येणापरस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य संयोगः सातिस्तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथाऽयशो ऽश्लाघा सद्वृत्ततया निन्दा यानि यानि परापकारभूतानि कर्मानुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु कर्मसु करचरणच्छेदनादिषु अयशोभाग्भवतीति स एवभूतः पुरुषः कालमासे स्वायुषः क्षये कालं कृत्वा पृथिव्या रत्नप्रभादिकायास्तलमतिवर्त्य योजनसहस्रपरिमाणमतिलङ्घ्यनरकतलप्रतिष्ठानोऽसौ भवति ॥ ६० ॥

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया गरहिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किव्विसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एल मूयत्ताए तमूयत्ताए जाइ मूयत्ताए पच्चायंति ॥ २१ ।

एवमेव पूर्वोक्तेनैव कारणत्वेनातिमूढत्वादिना परमार्थमजानानास्ते तीर्थिका स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामाः । यदि वा स्त्रीषु कामेषु च शब्दादिषु मूर्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः । अत्र चात्यादरख्यापनार्थं प्रभूतपर्यायग्रहणं एतच्च स्त्रीषु शब्दादिषु च प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिनां प्रधानं संसारकारणं तथाचोक्तं " मूलमेयं महम्मस्स महादोससमुस्सयमित्यादि" स्त्रीसङ्गसक्तस्यावश्यभाविनी शब्दादिविषयासक्तिरित्यतः स्त्रीकामग्रहणं तत्र चासक्ताः यावन्तं कालमासते तत्सूत्रेणैव दर्शयति । यावद्वर्षाणि चतुः पञ्चषड्दशकानि । अयं च मध्यमकालो गृहीतः । एतावत्कालोपादानं च साभिप्रायं प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयस एव प्रव्रजन्ति तेषां चैतावानेव कालः सम्भाव्यते यदि वा मध्यग्रहणात्तत ऊर्ध्वमधश्च गृह्यते इति दर्शयति । तस्माच्चोपात्ताद्ल्पतरप्रभूततरो वापि कालो भवति । तत्र च ते त्यक्त्वापि गृहवासं भुक्त्वा भोगभोगान् इति स्त्रीभोगे सति अवश्यं शब्दादयो भोगा भोगभोगास्तान् भुक्त्वा ते च किल वयं प्रव्रजिता इति न च भोगेभ्यो विनिवृत्ताः यतो मिथ्यादृष्टि तया ज्ञानान्धत्वात्सम्यग्विरतिपरिणामरहितास्ते चैवंभूतपरिणामाः स्वायुषः कालमासे कालं कृत्वा निकृष्टतपसोऽपि सन्तो ऽन्यतरेष्वासुरिकेषु किल्विषिकेषु स्थानेषूत्पादयितारो भवन्ति । ते ह्यज्ञानतपसा मृता अपि किल्विषिकेषु स्थानेषूत्पत्स्यन्ते तस्मादपि स्थानादायुष्कक्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्विषिकयहुलास्तत्कर्मशेषेणैलवन्मूका एलमूकास्तद्भावेनोत्पद्यन्ते । किल्विषिकस्थानाच्च्युतः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैलमूको ऽव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति । तथा (तमूयत्ताए त्ति) तमस्त्वेन जात्यन्धतया अत्यन्ताज्ञानावृततया वा तथा जातिमूकत्वेनापगतवाच इह प्रत्यागच्छन्तीति।सूत्र०२श्रु० २अ०।द्श०॥

इत्थि (त्थी) कामभोग—स्त्रीकामभोग— पु० स्त्रीप्रधाना स्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति भोगाः स्त्रीकामभोगाः । स्त्र्यादिकामभोगेषु, स्त्रीकामभोगासक्तानां परिणाममाह—

एवमेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, ते णो परं समुच्छेदेंति, णो अन्नाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदेंति, पहीणा पुव्वसंजोगं आयरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना ॥ १९ ॥

एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीप्रधानाःस्त्रियोपलक्षिता वा काम्यन्त इति कामा भुज्यन्त इति भोगास्तेषु सातबहुलतयाऽजितेन्द्रियाः सन्तस्तेषु कामभोगेषु मूर्छिता एकीभावतामापन्ना गृद्धाः काङ्क्षावन्तो ग्रथिता अवबद्धा अध्युपपन्ना आधिक्येन भोगेषु लुब्धा रागद्वेषार्त्ता रागद्वेषवशगा कामभोगान्धा या त एव कामभोगेषु आश्रववद्धा सन्तो नात्मानं संसारात्कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति मोचयन्ति नापि परं सदुपदेशदानतः कर्मपाशावपाशितं समुच्छेदयन्ति कर्मबन्धात्त्रोटयन्ति नाप्यन्यान् दशविधप्राणवर्तिनः प्राणान् प्राणिनस्तथा वाभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च भूतानि तथा वा आयुष्कधारणाज्जीवास्तांस्तथासत्वास्तयाविधवीर्यान्तरायक्षयोपशमापादितवीर्यगुणोपेता स्ताश्च समुच्छेदयन्ति । असदभिप्रायप्रवृत्तत्वात् । ते चैवंविधास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो लोकायतिका अजितेन्द्रियतया कामभोगावसक्ताः पूर्वसंयोगात्पुत्रदारादिकात्प्रहीणा प्रभ्रष्टा आरा याता सर्वहेयधर्मेभ्यः इत्यार्यो मार्गः सदनुष्ठानरूपस्तमसंप्राप्ता इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या ऐहिकामुष्मिकलोकद्वयसदनुष्ठानभ्रष्टा अन्तराल एव भोगेषु विषण्णास्तिष्ठन्तीति।सूत्र०२श्रु० १ अ०।

इत्थि (त्थी) गण—स्त्रीगण—पु० स्त्रीसमूहे, । "नो इत्थिगणाण सेविता भवइ" नो स्त्रीगणानां पर्युपासको भवेदिति। स्था०९ठा०।

इत्थि (त्थी) गब्भ—स्त्रीगर्भ— पु० स्त्रिया सम्बन्धी गर्भ स-

जीवपुद्गलपिण्डक' स्त्रीगर्भे । स्त्रीसम्बन्धिनि सजीवपुद्गलपिण्डके, भ० ५ श० ४ उ० । (तद्वक्तव्यता 'गब्भ' शब्दे)

इत्थि (त्थी) गुम्म–स्त्रीगुल्म– न० युवतिजने, । "इत्थिगुम्म परिनिवुडे"– ॥ स्त्रीगुल्मेन युवतिजनेन सार्द्धमपरपरिवारेण स परिवृतो वेष्टित इति । दशा० १० अ० ॥

इत्थि (त्थी) चिंध–स्त्रीचिन्ह–न० स्त्रिया असाधारणं चिह्नम् । योनौ, स्त्रिया असाधारणे चिह्ने, स्तनादौ,–स्त्रीलक्षणे, वाच० ।

इत्थि (त्थी) चोर–स्त्रीचौर–पु० स्त्रिया सकाशात् स्त्रीमेव चोरयन्ति स्त्रीरूपा वा ये चौरास्ते स्त्रीचौराः । चौरविशेषे, प्रश्न० ३ द्वा० ॥

इत्थि (त्थी) जण–स्त्रीजन–पु० योषिज्जने आचा० १श्रु० ४अ

इत्थि (त्थी) जिय–स्त्रीजित–त्रि० स्त्रिया जित जि-क्त स्त्रीवश्ये, । स्त्रीजितस्पर्शमात्रेण सर्वं पुण्यं प्रणश्यति । न भूमौ पातकी पापात् पापिनां स्त्रीजितात्पर । वाच० ।

इत्थि (त्थी) ठाण–स्त्रीस्थान–न० स्त्रिय· तिष्ठन्ति येषु तानि स्थानानि निपद्या' स्त्रीस्थानानि । स्त्रीणा निषद्यायाम्, " नो इत्थिट्ठाणाइं सेवित्ता भवइ " स्था० ९ ठा० ॥

इत्थि (त्थी) णपुंसग–स्त्रीनपुंसक–न० नपुंसकभेदे, " इत्थि णपुंसगा अपव्वावणिज्जत्ति " नि० चू० १ उ० ॥

इत्थि (त्थी) णाम–स्त्रीनामन्–न० कर्म्मविशेषे, स्त्रीपरिणामः स्त्रीत्व यदुदयाद् भवति । ज्ञा० ८ अ० ॥

इत्थि (त्थी) णामगोयकम्म–स्त्रीनामगोत्रकर्म्मन्–न० स्त्री नाम–स्त्रीपरिणाम' स्त्रीत्व यदुदयाद्भवति तत्स्त्रीनाममिति गोत्रमभिधान यस्य तत् स्त्रीनामगोत्रम् । अथवा यत्स्त्रीप्रायोग्य नाम कर्मगोत्र च तत् स्त्रीनामगोत्रकर्म्म । स्त्रीप्रायोग्ये नाम कर्म्मणि, गोत्रकर्मणि च । ज्ञा० ८ अ० ।

इत्थि (त्थी) तित्थ–स्त्रीतीर्थ–न० स्त्री योषित्तस्यास्तीर्थकरत्वेनोत्पन्नायास्तीर्थं द्वादशाङ्ग सघो वा स्त्रीतीर्थम् । मल्लितीर्थंकरप्रणीते द्वादशाङ्गे, तत्सम्बन्धिनि सङ्घे च । स्था० १० ठा० (स्त्रीतीर्थस्याश्चर्यत्वम् 'अच्छेर' शब्दे)

इत्थि (त्थी) दोस–स्त्रीदोष–पु० स्त्रीणा दोषे, " इत्थिदोस सङ्किणो होंति " स्त्रिया सह जल्पन्तं दृष्ट्वा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्तीति । सूत्र० १श्रु० ४ अ० १ उ० (ते च स्त्रीदोषा 'इत्थी' शब्दे द्रष्टव्या)

इत्थि (त्थी) पच्छाकड–स्त्रीपश्चात्कृत–पु० पश्चात्कृतस्त्रीत्वे, (इत्थिपच्छा कडो वधइ) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य स्त्रीत्व पश्चात्कृतं भूततां नीतं येनावेदकेनासौ स्त्रीपश्चात्कृत इति । भ० ८ श० ८ उ० ॥

इत्थि (त्थी) पण्णवणी–स्त्रीप्रज्ञापनी–स्त्री० स्त्रीलक्षणप्रतिपादिकायाम् योनिर्मृदुत्वमस्थैर्य्य मुग्धतेत्यादिरूपायाम्भापायाम्, प्रज्ञा० ११ पद । (तद्वक्तव्यता 'भासा' शब्दे)

इत्थि (त्थी) परिण्णज्झयण–स्त्रीपरिज्ञाध्ययन–न० सूत्रकृताङ्गस्य चतुर्थेऽध्ययन, तत्र द्वावुद्देशकौ तदर्थसङ्ग्रहसूत्रकृताङ्ग निर्युक्तौ यथा—

पढमे संथवसंलव, माइहि खलणाउ होंति सीलस्स ॥
बितिए इहेव खलिय–स्स अवत्था कम्मबंधोयं ॥५८॥

प्रथमे उद्देशके अध्ययनार्थाधिकारः तद्यथा स्त्रीभि· सार्द्ध संस्तवेन परिचयेन यथा संलापेन भिन्नकथाद्यालापेनादिग्रहणादङ्गप्रत्यङ्गनिरीक्षणादिना कामोत्कान्तकारिणो भवेदल्पसत्वस्य शीलस्य चारित्रस्य स्खलनाचुशब्दात्तत्परित्यागो वेति । द्वितीये त्वयमर्थाधिकारस्तद्यथा शीलस्खलितस्य साधोरिहैवास्मिन्नेव जन्मनि स्वपक्षपरपक्षकृता तिरस्कारादिका विडम्बना तत्प्रत्ययश्च कर्मबन्धस्ततश्च संसारसागरपर्यटनामिति किंस्त्रीभि· कश्चित् शीलात् प्रच्याव्यात्मवशकृतो येनैव मुच्यते कुत इति दर्शयितुमाह—

सूरा मो मन्नंता, कति वविवाहि उवहिप्पहाणाहिं ।
गहियाहुं अभय पज्जोय–कूलवालादिणो वहवे ॥५९॥

बहव· पुरुषा अभयप्रद्योतकूलवालादय· शूरा वयमित्येव मन्यमाना मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थे' कृत्रिमाभिः सद्भावरहिताभिः स्त्रीभिस्तयोपधिर्माया तत्प्रधानाभि· कृतकपटशताभिर्गृहीत्वा आत्मवशतां नीताः केचन राज्यादपरे शीलात् प्रच्याव्येहैव विडम्बनां प्रापिता· । अभयकुमारादिकथानकानि च मूलादावश्यकादवगन्तव्यानि कथानकत्रयोपन्यासस्तु यथाक्रम मर्त्यबुद्धिविक्रमात्यन्तबुद्धिविक्रमतपस्वित्वख्यापनार्थं इति । यत एव ततो यत्कर्तव्य तदाह ॥

तम्हा ण उ वीसंभो, गंतव्वो णिच्चमेव इत्थीसु ॥
पढमुद्देसे भणिया, जे दोसा ते गणंतेणं ॥ ६० ॥

(तम्हेत्ति) यस्मात् स्त्रिय सुगतिमार्गार्गला माया प्रधाना वञ्चना निपुणास्तस्मादेतदवगम्य नैव विश्रम्भो विश्वासस्तासा विवेकिना नित्य सदा गन्तव्यो यातव्य· कर्तव्य इत्यर्थः । ये दोषा प्रथमोद्देशके अस्योपलक्षणार्थत्वात् द्वितीये च तान् गणयता पर्यालोचयता तासां मूर्त्तिमत्कपटराशिभूतानामात्महितमिच्छता न विश्वसनीयमिति । सूत्र० १श्रु० ४ अ० १ उ० । (विस्तरत एतदध्ययनार्थः 'इत्थी'-शब्दे)

इत्थि (त्थी) परिण्णा–स्त्रीपरिज्ञा–स्त्री० सूत्रकृताङ्गस्य चतुर्थेऽध्ययने, सम० २३ स० ।

इत्थि (त्थी) परिसह–स्त्रीपरिषह–पु० स्त्रीयाः परिषहणंच तन्निरपेक्षत्वम् ब्रह्मचर्य्यमित्यर्थे' । भ० ८ श० ८ उ० । रुयायते' स्तृणातेर्वा कृटि टिल्वानूडीपि स्त्री सैव तद्गतरागहेतुगतिविभ्रमेङ्गिताकारविलोकनेऽपि " त्वग्रुधिरमांसमेदस्नाय्वस्थिशिरावर्णे सुदुर्गन्ध· । कुचनयनजघनवदनोरुमूर्च्छितो मन्यते रूपम् ।१। तया"निष्ठीवन जुगुप्सत्यधरस्थ पिपति मोहित· प्रसभम् । कुचजघनपरिश्राव नेच्छति तन्मोहितो भजते । २ । इत्यादि भावनातोऽभिधास्यमाननीतितश्च परिषह्यमाणत्वात्परिषह· स्त्रीपरिषह' । उत्त० २ अ० । प्रव० । परिषहभेदे, अस्यायमर्थो न स्त्री तस्यायमङ्गप्रत्यङ्गस्थानहसितललितविभ्रमाद्याक्षिप्ताक्षेपकारिणीश्चेष्टाश्चिन्तयेन्न जातुचिच्चक्षुरपि निक्षिपेन्मोक्षमार्गार्गलासु ललनासु कामबुद्ध्येति । प्रव० ८६ द्वा० । आव० । उक्त च "दुर्वोचसङ्कपङ्का हि मोक्षद्वारार्गला· स्त्रिय । चिन्तिता धर्म्मनाशाय चिन्तयेदिति नैव ता· " । ध० ।

संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगंमि इत्थिओ ॥
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामण ॥१६॥
एवमादाय मेहावी, पंकभूया उ इत्थिओ ॥
नो ताहिं विहन्नेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ॥ १७ ॥

सजन्ति आसक्तिमनुभवन्ति रागादिवशगा जन्तवोऽस्मिन्निति सङ्गः, एषोऽनन्तर वक्ष्यमाणो मनुष्याणां पुरुषाणाम् । तमेवाह । जा·

भोतीत्यविशेषाभिधानं ततो याः काश्चन मानुष्यो देव्यस्तिरश्च्यो वा (लोगंमित्ति) लोके तिर्यग्लोकादौ स्त्रियो नार्या एताश्च हावभावादिभिरत्यन्तमासक्तिहेतवो मनुष्याणामित्येवमुक्तमन्यथा हि गीतादिष्वपि सजति एव मनुष्याः मनुष्योपादान च तेषामेव मैथुनसंज्ञातिरेकः प्रज्ञापनादौ प्ररूपित इति अतः किमित्याह । (जस्सेत्ति) यस्य यतेः एता स्त्रियः (परिन्नायेत्ति) सर्व्वप्रकारं ज्ञाताः परिज्ञातास्तत्र ज्ञपरिज्ञयेह परत्र च महानर्थहेतुतया विदिताः तथाचागमः " विभूसा इत्थि ससग्गी, पणीय रसभोयणं । णरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा " ॥ १ ॥ प्रत्याख्यानकपरिज्ञया च तत एव च प्रत्याख्याताः (सुकडंति) सुकृतं सुष्ठ्वनुष्ठित पाठान्तर सुकरं वा सुखेनैवानुष्ठातुं शक्य(तस्सत्ति)मुक्तप्रत्ययस्तेन (सामणंति) श्रामण्यं व्रतं किमुक्तं भवत्यवद्यहेतुत्यागो हि व्रतरागद्वेषावेव तत्वतस्तद्धेतू उक्तानीतितश्च न स्त्रीभ्यः परं तन्मूलमिति तत्प्रत्याख्यानतयासुकृतत्वं श्रामण्यस्य यद्वोक्तानीतितः स्त्रिय एव दुस्त्यजास्ततस्तत्त्यागे सकमेवापरमिति तत्प्रत्याख्यानतः सुकृतत्व श्रामण्यस्योच्यते । वक्ष्यति हि "एए उ सगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ॥ जहा महासागरमुत्तरित्ता, णई भवेज्जा वि गंगा समाणा" ॥ १ ॥ अत. किंविधेयमित्याह । (एवमादाय) एवमित्यन्तरोक्तप्रकारेणात्यन्तासक्तिहेतुत्वलक्षणेनाज्ञाय स्वरूपाभिव्याख्या अवगम्य मेधाव्यवधारणशक्तिमान् पङ्कः कर्दमस्तद्भूता मुक्तिपथप्रवृत्तानां विवन्धकत्वेन मालिन्यहेतुत्वेन च तदुपमास्तुरवधारणार्थः । ततः पङ्कभूता एव स्त्रियः । पठ्यते च "एवमादाय मेहावी जहा एया लहुस्सिगत्ति " । एवमनन्तरमेव वक्ष्यमाणमर्थमादाय बुद्ध्वा गृहीत्वा मेधावी तमेवाह यथेत्युपदर्शने एताः स्त्रियः (लहुस्सिगत्ति) तुच्छाशयत्वादिना लघ्वास्तनः किमित्याह । नो नैव ताभिः स्त्रीभिर्विनिहन्यात् विशेषणसंजमजीवितव्यव्यपरोपणात्मकेनातिशयेन च सामस्त्यतदुच्छेदरूपेणातिपातयेदात्मानमिति गम्यते । कृत्यमाह चरेत् धर्म्मानुष्ठानमासेवेत । आत्मानं गवेषयेत् कथं मयात्मा भवाब्धिस्तारणीय इत्यन्वेषयेत " आत्मगवेषकः सिद्धिस्वरूपाप्ति " रिति वचनात् । सिद्धिर्वात्मा ततः कथ ममासौ स्यादित्यन्वेषकः आत्मगवेषको यद्वात्मानमेव गवेषयते इत्यात्मगवेषक. किमुक्तं भवति चित्रासंकारशालिनीरपि स्त्रियोऽवलोक्य तद्दृष्टिन्यासस्य दुष्टतावगमात् झगिति ताभ्यो दृगुपसंहारत आत्मान्वेषैव भवति उक्तंहि-"चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं । भक्खरं पिव दट्ठूण, दिट्ठिं पडिसमाहरे" ॥

सम्प्रति प्रतिमाद्वार विवृण्वन् यस्यैताः परिज्ञाता इत्यादि सूत्रसूचित चैदयुगीनजनदार्ढ्योत्पादकं दृष्टान्तमाह ॥

उसभपुरं रायगिहं, पाडलिपुत्तस्स होइ उप्पत्ती ।
णंदे सगडालथूल-भद्दसिरीयेगा बररुई य ॥ ३६ ॥
तिण्हं अणगाराणं, अभिग्गहो आसि चउण्हमासाणं ।
वसहीमित्तनिमित्तं, को हिं उसिओ णिसामेह ॥ ३७
गणियाघरम्मि एक्को, वितितो उसितो उ वग्घवसहीए ।
ततितो सप्पवसहिए, को दुक्करकारओ एत्थ ॥ ३८ ॥
वग्घो वा सप्पो वा, सरीरपीडाकरो उ वत्तव्वो ।
णाणं च दंसणं वा, चारित्तं वा ण पच्चलो नेतुं ॥ ३९ ॥
भगवं पि थूलभद्दो, तिक्खेचंकमिओ ण पुण छिन्नो ।
अग्गिसिहाए वत्थो, चाउम्मासे ण पुण दड्ढो ॥ ४० ॥
अन्नो वि य अणगारो, जणमाणो इंपि थूलभद्दसमो ।
कंबलओ य चंदणियाए मईलितो एगराईए ॥ ४१ ॥

(उसभ गाथापट्कं) वृषभपुर राजगृहं पाटलिपुत्रस्य भवत्युत्पत्तिः नन्दः शकटालः स्थूलभद्रश्रीयकौ वररुचिश्चयाणामनगाराणामभिग्रह आसीत् (चउण्हमासाणं) सुब्व्यत्ययाच्चतुर्षु मासेषु वसतिमात्रनिमित्तं कः कुत्रोषितो निशामयत । गणिकागृहे एको, द्वितीय उषितस्तु व्याघ्रवसतौ, सर्पवसतौ तृतीयः, को दुष्करकारकोऽत्र तेषु मध्ये व्याघ्रो वा सर्पो वा शरीरपीडाकरस्तु वक्तव्यो ज्ञानं वा दर्शनं वा चारित्रं वा न प्रत्यलो नेतुं भगवानपि स्थूलभद्रस्तीक्ष्णे निशितासिधारादौ चङ्क्रमितो न पुनः छिन्नो अग्निशिखायामुषितश्चातुर्मास्यां न पुनः दग्धः अन्यो पि चानगारो प्रणमन्नहमपि स्थूलभद्रसमः कम्बलकः चंदनिकायामुच्चारभूमौ मलिनित इति निर्युक्ति गाथाषट्काक्षरार्थः । एतदर्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः । उत्त० ३ अ० ॥ स च थूलभद्द-शब्दे) " जहा थूलभद्दे णित्थिपरिसहो अहियासितो तहाहियासियव्वा ण जण जहा तेण णाहियासिओत्ति ,, उत्त० ३ अ० (स्थूलभद्रकथा ' थूलभद्द शब्दे)

स्त्रीपरिषहोपपत्तौ किंविदध्यादित्याह—

से पभूतदंसी प भूतपरिण्णाणे उवसंते समिते सहिते सया जए दट्ठु विप्पडिवेदेति अप्पाणं किमेस जणो करिस्सति एस से परमारामो जाओ लोगंमि इत्थिओ मुणिणा हु एयं पवेदितं उवाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवेणीव्व लासए अविओमोदरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दूइज्जा अवि आहारं वोच्छिंदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा इच्चे ते कलहा संगकरा भवंति पडिलेहाए आगमेत्ता आणविज्जा अणासेवणाएत्ति बेमि ।

(सेइत्यादि) स साधु प्रभूतं प्रमादविपाकादिकमतीतानागतवर्तमान वा कर्म्म विपाक दृष्टु शीलमस्येति प्रभूतदर्शी सांप्रतेक्षितया न यत्किञ्चनकारीत्यर्थः तथा प्रभूतं सत्वरक्षणोपायपरिज्ञानं ससारमोक्षकारणं परिज्ञानं वा यस्य स प्रभूतपरिज्ञान. यथावस्थितससारस्वरूपदर्शीत्यर्थः । किञ्च उपशान्तः कषायानुदयादिन्द्रियनोइन्द्रियोपशमाच्च तथा पञ्चभि समितिभिः समितः सम्यग् वा मोक्षमार्गमितस्समितस्तथा ज्ञानादिभिः सहित समन्वित सह हितेन वा सहितः । सदा सर्वकाल यत. सदायतः । स एवभूतो अप्रमत्तो गुरोरन्तिकमावसन् प्रमादजनितस्य कर्म्मणोन्त विधत्ते स च कयाद्यनुकूलपरीषहोपपत्तौ किं विदध्यादित्याह (दट्ठु इत्यादि) दृष्ट्वा अवलोक्य स्त्रीजनमुपसर्गकरणायोद्यतमात्मान विप्रतिवेदयति पर्य्यालोचयति तद्यथा सम्यग्दृष्टिरस्मि तथा त्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारश्चन्द्रशाकनिर्मलकुलसम्भवजन्माकार्याकारणतयोत्थित इत्येवमात्मानं पर्य्यालोचयति त च स्त्रीजन किमेष स्त्रीजनो मम त्यक्तजीविताशस्योज्झितैहिकसुखाभिलाषस्योपसर्गादिकं कुर्यादथवा वैषयिकसुखस्य दुःखप्रतीकाररूपत्वात्किमेष स्त्रीजनः सुख विदध्यात् यो वा पुत्रकलत्रादिको जनो मम मृत्युना जिघृक्षितस्य व्याधिना वा क्लिश्यतस्य

किं तत् प्रतीकारादिकं कुर्यादिति यद्दिवैन स्त्रीजनस्य स्वभाव चिन्तयेदिति सूत्रेणैव दर्शयति (एससे इत्यादि) स एव स्त्रीजन आरामयतीत्याराम परमश्वासावारामश्च परमाराम ज्ञाततत्त्वमपि जन हासविभ्रासोपाङ्गनिरीक्षणादिभिर्बिव्वोकैर्म्मोहयनीत्यर्थ या कश्चनास्मिँल्लोके स्त्रियस्ता मोहरूपा विज्ञाय यावन्न परित्यजन्ति तावत् स्वत एव परित्यजेत् एतच्च तीर्थकरेण प्रवेदितमिति दर्शयितुमाह (मुणिणा इत्यादि) मुनिना श्रीवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नज्ञानेनैतत् पूर्वोक्त यथा स्त्रियो भावबन्धनरूपा प्रवेदित प्रकर्षेणादौ व्याख्यातमिति एतच्च वक्ष्यमाण प्रवेदितमित्याह (उब्बाहिज्ज इत्यादि) उत्प्राबल्येन मोहोदयाद्बाध्यमान पीड्यमान कैर्ग्रामधर्मैर्ग्रामा इन्द्रियग्रामास्तेषा धर्म्मा स्वभावा यथा स्वविषयेषु वर्त्तन तैरुद्बाध्यमानो गच्छान्तर्गत सन् गुर्वादिनानुशास्यते कथमनुशास्यत इत्यत आह (अवि इत्यादि) अपि सभावनायां निर्बल निस्सारमन्त प्रान्तादिक यद्द्रव्य तदाशकस्तद्भोजी स्याद्यदि वा निर्गत यत्र सामर्थ्यमस्येति निर्बल एवभूत सन्नाशीतवज्ञानवे च ग्रामधर्म्मोपशमदर्शनाद्बलहानिश्चाहारहान्या स्यादिति दर्शयति अप्यवमौदर्यं कुर्याद्यदि हान्तप्रान्तासिनोपि न मोहोपशम स्याच्चतस्तदपि चल्लचनकादिना द्वात्रिंशत् कवलमात्र गृह्णीयात्तेनाप्यनुपशमे कायोत्सर्गादिना कायक्लेश कुर्यादित्येतद्दर्शयति अप्यूर्ध्वस्थानं तिष्ठेच्छीतोष्णादौ कायोत्सर्गेणातापना कुर्याच्चेनाप्यनुपशमे ग्रामानुग्राममपि विहरेन्निष्कारणे विहारो निषिद्धो मोहोपशमनार्थन्तु कुर्यात् किम्बहुना येन येनोपायेन विषयेच्छा निवर्तते तत्तत्कुर्यात्पर्यन्ते आहारमपि व्यवच्छिन्द्यादपि पातमपि विदध्यात् अप्युद्बन्धन कुर्यान्न च स्त्रीषु मन कुर्यादित्याह (अवी इत्यादि) अपि समुच्चये स्त्रीषु यन्मन प्रवृत्त तत्परित्यजेत तत्परित्यागे हि कामाभिरूपा अपि दूरत एव परित्यक्ता भवन्त्युक्तञ्च "काम ! जानामि ते रूप, सङ्कल्पात्किल जायसे। न त्वा सकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि " किं पुन कारण स्त्रीषु मनो न विधेयमित्याह (पुव्व इत्यादि) स्त्रीसङ्गप्रसक्तानामपरमार्थदृशा पूर्वप्रथममेव तत्सङ्गाविच्छेदार्थमर्थोपार्जनप्रवृत्तस्य कृषिवाणिज्यादिक्रिया· कुर्वतोऽगणितक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिपरीषहस्यैहिकरूपाश्च दुःखे आगतास्ते च स्त्रीसंभोगात्प्रथममेव क्रियन्त इति पूर्वमित्युक्त पश्चाच्च विषयनिमित्तजनितकर्म्मविपाकापादितनरकादिषु स्वविशेषाः स्पर्शा भवन्ति यदि वा स्त्र्याद्यकार्यप्रवृत्तस्य पूर्वं दण्डपाता पश्चाद्धस्तपादच्छेदादिका· स्पर्शा भवन्ति यदि वा पूर्वं स्पर्शा पश्चाद्दण्डपाता इति अथवा पूर्वं दण्डास्ताडनादिका· पश्चात् स्पर्शा सबाधनालिङ्गनचुम्बनादिकास्तद्यथा वन्यानीतावरुद्धराजकुमारीगवाक्षक्षिप्तपतद्राचीग्रहणाद्राजपुरुषावलोकनतारुनेन मूर्च्छिता राजकुमारी, तद्दर्शनतो वाणिगिन्द्रदत्तस्याग्रतो दण्डा पश्चात् स्पर्शा इति । पूर्वं वा सुखादिस्पर्शा पश्चाद्दण्डो श्लिताङ्गकस्येवान्येषाञ्चोपपतीनामिति । किञ्च (इच्चेए इत्यादि) इत्येते स्त्रीसबन्धाः कलह सग्रामस्तत्रासङ्ग सबन्ध कलहासङ्गस्तत्करा भवन्ति यदि वा कलह क्रोध आसङ्गो राग इत्यतो रागद्वेषकारिणो भवन्ति यद्येव तत किं कुर्यादित्याह (पडिलेहाए इत्यादि) ऐहिकामुष्मिकापायन स्त्रीनङ्गमप्युपेक्षया (आगमिनेत्ति) ज्ञात्वा आज्ञापयदात्मानमनासेवनयेति इति अधिकार परिसमाप्तौ ब्रवीम्यहं तीर्थकरवचनानुसारेण ।

दुःख च ता परिहर्त्तुमिति पुनरपि तत्परिहरणोपायमाह—

से णो काहिए णो पासणीए णो संपसारए णो ममाए णो कयकिरिए वयगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सदा पावं एयं मोणं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि ॥

(से णो काहिएत्ति) स स्त्रीसङ्गपरित्यागी स्त्रीनेपथ्यकथां शृङ्गारकथां वा न कुर्यादेव च तास्त्यक्ता भवन्ति तथा (णो पासणीए) तासां नरकवीथीनां स्वर्गापवर्गमार्गार्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिके न पश्येद्यतस्तन्निरीक्ष्यमाण महतेऽनर्थाय भवतीत्युक्तं च " सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव । भ्रूचापाकृष्टमुक्ता· श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीना न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति " । तथा (णो सपसारए) ताभिर्नरकविश्रम्भभूमिभि· सार्द्धं न सप्रसारण पर्यालोचनमेकान्ते निजस्वस्रादिभिरपि कुर्यादित्युक्तञ्च "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्राम· पण्डितोप्यत्र मुह्यति" त्येवमादि । तथा (णो ममाए) न तासु स्वार्थपरासु ममत्व कुर्यात्तथा (णो कयकिरिए) कृतानुष्ठिता तदुपकारिणी मण्डनादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्यनभूतो न भूयान्न स्त्रीणा वैयावृत्त्यं कुर्यात्काययोग निरोध इति भावस्तथा (वयगुत्ते) तथैता· शुभानुष्ठानपरिपन्थिनीर्न वाग्मात्रेणाप्यालापयेदिति वाग्योगनिरोधस्तथा (अज्झप्पसवुडे) आत्मन्यध्यध्यात्म मनस्तेन सवृतोऽध्यात्मसवृत स्त्रीभोगादत्तमना सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोग एवभूतश्च किमपर कुर्यादित्याह (परि इत्यादि) परि· समन्ताद्वर्जयेत् परिहरेत् सदा सर्वकाल पाप किल्बिषं तदुपादान वा कर्म्म उपसहरणार्थमाह (एय इत्यादि) एतदुद्देशकादेरारभ्योक्त मुनेरिद मौन मुनिभावो वा तदात्मनि समनुवासयेदात्मनि विदध्यात् । आचा० १ श्रु० अ० ४ उ० २ ।

इत्थि (स्त्री) परिसहविजय—स्त्रीपरिषहविजय— पु० एकान्तेष्वारामभवनादिप्रदेशेषु नवयौवनमदप्रमत्तासु शुभमन·—सङ्कल्पमपहरन्तीषु प्रमदास्वत्यन्तसंवृतेन्द्रियान्त करणस्याप्युचिकुणपपिण्ड एव इत्येवमशुभभावनावशतो यत्त ललितहसितमृदुभाषणसविलासनिरीक्षणचङ्क्रमणादिरूपाणां मन्मथशराणा विफलताकरणमेव स्त्रीपरिषहविजय· । स्त्रीपरिषहविफलताकरणे, । प० स० ४ द्वा० ॥

इत्थि (स्त्री) पोसय—स्त्रीपोषक—पु० स्त्रिय पोषयन्तीति स्त्रीपोषक । स्त्रीपोषकेऽनुष्ठानविशेषे, " ओसियाओ वि इत्थिपोसे " स्त्रिय पोषयन्तीति स्त्रीपोषका· अनुष्ठानविशेषास्तेषूषिता अपि व्यवस्थिता अपि पुरुषा मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपि स्त्रीणां वश व्रजन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ॥

इत्थि (स्त्री) पुमलक्खणा—स्त्रीपुंसलक्षणा—स्त्री० स्त्रीपुंसयोः लक्षणमस्याम् । स्तनश्मश्रुप्रभृतिस्त्रीपुरुषचिह्नधारिण्यां स्त्रियाम् पोटायाम्, । अमरः ॥

इत्थि (स्त्री) भाव—स्त्रीभाव—पु० स्त्रीणां कटाक्षसदर्शनादिके भावे, " सिंगारियाइ इत्थिभावाइ उवदंसेमाणि " शृङ्गाररसवत स्त्रीस्वभावान् कटाक्षसंदर्शनादीनीति। उपा ७ अ०

इत्थि (स्त्री) भोग—स्त्रीभोग—पु० स्त्रिया सह हास्यादिकरणे, तच्च जिनमन्दिरस्यान्तर्निषिद्धमिति । दर्श० ॥

इत्थि (स्त्री) मज्झगय—स्त्रीमध्यगत—त्रि० " इत्थीसु उभ-

योद्धियात्तु मज्झं भवति " तत्र गते, मज्झ दोएहतगत इति । नि० चू० ८ उ० ॥

इत्थि (त्थी) रज्ज–स्त्रीराज्य–न० स्त्रीस्वातन्त्र्ये,तच्चनिषिद्धमेव, स्त्रीराज्यस्यातिनिन्दनीयत्वमाह ॥

घणगज्जियहयकुहए, विज्जुदुग्गिज्झ गूढहिययाओ ।
अज्जा अवारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥ ८५ ॥

यत्र गच्छे आर्या (अवारियाओत्ति) अनिवारिताः अकृत्यं कुर्वन्त्य. तत्परिवर्तकेनानिषिद्धा निरङ्कुशा इत्यर्थः वर्तन्ते । कथंभूताः आर्याः (घण गज्जिए इत्यादि) अत्र कुहकशब्देन धावतोऽश्वस्य उदरप्रदेशसमीपे सम्मूर्छितवायुविशेष उत्पद्यते स प्रोच्यते यत उक्तं परिशिष्टपर्वणि श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः। "दध्यौ न स्वर्णकारोपि, चरितं योषितामहो । अश्वानां कुहकाराव–मिव को वेत्तुमीश्वरः ॥ १ ॥ तथैकारोऽन्यत्रयानिर्देशश्चार्षत्वात्ततोऽयमर्थः । घनगर्जितहयकुहकवाद्विद्युद्धक्रमेण गूढ मायाकरणत्वेनाऽकथनीयाशयं दुर्ग्राह्यं चास्थिरत्वेन गृहीतुमशक्यमाशयं हृदयं यासां तास्तथा संभवति चार्याणामपि कासांचित् स्त्रीजातित्वेन एवंविधत्वे यत उच्यते स्त्रीमधिकृत्य लोकेपि-"अश्वप्लुतं माधवगर्जितं च स्त्रीणां चरित्रं भवितव्यतां च । अवर्षणञ्चाप्यतिवर्षणं च देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ॥ १ ॥ तथा" जलमज्झे मच्छपए, आगासे पक्खियाण पयपंती । महिलाण हियमग्गो, तिण्णवि लोए न दीसति ॥ २ ॥ तथा । यदि स्थिरा भवेत् विद्युत्, तिष्ठन्ति यदि वायवः । दैवात्तथापि नारीणां, न स्थेम्ना स्थीयते मनः ॥३॥ तत्स्त्रीराज्यमुच्यते न स गच्छ आर्याणां हि स्त्रीजातित्वेन सर्वेकालं तथाविधपरिवर्तकपारतन्त्र्येणैवावस्थानं समुचितं न तु स्वातन्त्र्येण कदाचिदपि यतो लोकेऽप्युच्यते-पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने । पुत्रस्तु स्थविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति । ग० २ अधि० (आर्य्याणां स्वातन्त्र्यनिषेधः अज्जा शब्दे विस्तरेण द्रष्टव्यः) ॥

इत्थि (त्थी) रयण–स्त्रीरत्न–न० पञ्चेन्द्रियरत्नविशेषे,स्था०, ७ ठा० । स्त्रीरत्नमत्यद्भुतकामसुखनिधानमिति । प्रव० २१४ द्वा०स्त्रीरत्नस्पर्शे लोहपुरुषस्य गलनं यदा स्त्रीरत्नं लोहपुरुषं स्पृशति तदा स गलति तत्कथमिति प्रश्नः । स्त्रीरत्नस्पर्शाल्लोहपुरुषगलनमुत्कृष्टातिशयितकामविकारजनितप्रबलोष्ण–तापविशेषादित्युत्तरम् । ही० ।

इत्थि(त्थी)राग–स्त्रीराग–पु० भामिन्यभिलाषे, । द्वा० २६ द्वा० ।

इत्थि (त्थी) रूव–स्त्रीरूप–स्त्र्याकारे, । तं० ।

इत्थि (त्थी) लक्खण–स्त्रीलक्षण–न० सामुद्रिकप्रसिद्धे- (ज०) द्वासप्ततिकलान्तर्गते कलाविशेषे, । ज्ञा० १ अ० । ओघ० । कल्प० । स्त्रीलक्षणं रक्तकरचरणादिकम् । इति । तत्प्रतिपादके पापश्रुताध्ययने च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

इत्थि (त्थी) लिंग–स्त्रीलिङ्ग–न० स्त्रीया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गम् । स्त्रीत्वे, तच्च त्रिधा वेद. शरीरनिर्वृत्तिः नेपथ्यं च । प्रज्ञा० १ पद । आ० म० प्र० । न० । स्त्रिया इव लिङ्गं तत्कार्य्यं यस्य तत् स्त्रीलिङ्गविहितव्याकरणोक्तसंस्कारयुक्ते शब्दभेदे,-पु० ६ त स्त्री० स च नदी महीत्यादिरिति–अनु० । चिह्नेन स्तनादौ न० । वाच० ।

इत्थि (त्थी) लिंगसिद्ध–स्त्रीलिङ्गसिद्ध–पु० स्त्रिया लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं स्त्रीत्वस्योपलक्षणमित्यर्थः । तच्च त्रिधा । वेदः शरीरनिर्वृत्तिर्नेपथ्यं च । तत इह शरीरनिर्वृत्त्या प्रयोजनं न वेदनेपथ्याभ्यां वेदे सति सिद्धत्वाभावात् नेपथ्यस्य चाप्रमाणत्वात्। आह च नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत्" इत्थीए लिंगं इत्थिलिंगं इत्थि उवलक्खणं ति वुत्तं भवइ तं च तिविहं वेदो सरीरनिव्वत्तीए नेवत्थे च इह सरीरनिव्वत्तीए अहिगारो न वेयनेवत्थेहिं ति" । ततस्तस्मिन् लिङ्गे वर्तमानाः सन्तो ये सिद्धास्ते स्त्रीलिङ्गसिद्धाः । प्रज्ञा० १ पद० । आ० म० प्र० । न० । सिद्धभेदे, तथा च ललितविस्तरायाम् (तीर्थसिद्धातीर्थसिद्धतीर्थकरसिद्धा ऽतीर्थकरसिद्धाः स्वयंबुद्धसिद्धप्रत्येकबुद्धसिद्धबुद्धबोधितसिद्धान्प्रतिपाद्योक्तम्) एते च सर्वेपि स्त्रीलिङ्गसिद्धाः केचित् २ पुंल्लिङ्गसिद्धाः केचिन्नपुंसकलिङ्गसिद्धाः इति आह तीर्थकरा अपि स्त्रीलिङ्गसिद्धा भवन्तीत्याह यत उक्तं सिद्धप्राभृते " सव्वत्थो वा तित्थयरी सिद्धा तित्थगरितित्थणो तित्थगरसिद्धा सखेज्जगुणा इति " द्र० ॥

स्त्रीणां सिद्धिर्यथा ।

एगोवि णमुक्कारो, वीरवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारइ नरं व नारिं वा ॥

इति महावीरस्तुतिमभिप्रतिपाद्योक्तम् । स्त्रीग्रहणं तासामपि तद्भव एव संसारक्षयो भवतीति ज्ञापनार्थं वचः । यथोक्तं यापनीयतन्त्रे "णो खलु इत्थि अजीवो, ण यावि अभव्वा णया वि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असंखेज्जाउया, णो अइकूरमई, णोण उवसंतमोहा, णो ण सुद्धाचारा णो असुद्धबोंदी ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो ऽणवगुणठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धिए, णो अकल्लाणभायणं ति, कहं न उत्तमधम्मसाहिगत्ति" तत्र न खल्विति । नैव स्त्री अजीवो वर्तते । किन्तु जीव एव जीवस्य चोत्तमधर्मसाधकत्वाविरोधस्तथादर्शनात् । न जीवोऽपि सर्वउत्तमधर्मसाधको भवत्यभव्येन व्यभिचारात् । तद्व्यपोहायाह न चाभव्यजातिप्रतिषेधोऽयं । यद्यपि काचिदभव्या तथापि सर्वैवाभव्या न भवति संसारनिर्वेदनिर्वाणधर्म्माद्वेषशुश्रूषादिदर्शनात् । भव्योऽपि कश्चिद्दर्शनविरोधी यो न सेत्स्यति तन्निरासायाह । नो दर्शनविरोधिनी । दर्शनमिह सम्यग्दर्शनं परिगृह्यते तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं न तद्विरोधिन्येवास्तिक्यादिदर्शनात् । दर्शनाविरोधिन्यपि अमानुषी नेष्यत एव तत्प्रतिषेधायाह । नो अमानुषी । मानुष्यजातौ भावात् । विशिष्टकरचरणोरुग्रीवाद्यवयवसन्निवेशदर्शनात् । मानुष्यप्यनार्योत्पत्तिरनिष्टा तदपनोदायाह ॥ नो अनार्योत्पत्तिः अनार्येष्वप्युत्पत्तेः तथा तास्वदर्शनात् । आर्योत्पत्तिरप्यसङ्ख्येयायुर्नाधिकृतसाधनायेत्येतदधिकृत्याह । नो असङ्ख्येयायुः । सर्वैव संख्येयायुर्युक्ताया अपि भावात् तथा दर्शनात् । सङ्ख्येयायुरपि क्रूरमतिः प्रतिषिद्धा नभिरावकीर्षयाह । नातिक्रूरमतिः । सप्तमनरकायुर्निबन्धनरौद्रध्यानाभावात् ॥ तद्वत्प्रकृष्टशुभध्यानाभाव इतिवत् । न तेन तस्य प्रतिबन्धाभावात् तत्फलवदितरफलभावेनानिष्टप्रसङ्गात् । अक्रूरमतिरपि रतिलालसाऽनुद्रवैव तदपोहायाह । नो न उपशान्तमोहा काचिदुपशान्तमोहापि सम्भवति तथा दर्शनात् । उपशान्तमोहाप्यशुद्धाचारा गर्हिता तत्प्रतिक्षेपायाह । नो नशुद्धाचारा काचित् शुद्धाचारापि भयत्यौचित्येन पराकरणवर्जनाद्याचारदर्शनात् । शुद्धाचाराप्यशुद्धबो-

दिरसाध्वी तदपनोदायाह । नो अशुद्धवेदिः । काचित् शुद्धा तनुरपि भवति । प्राक्कर्मा तु वेद्यतः संसर्जनाद्यशुद्धदर्शनात् । कक्षास्तनादिदेशेषु शुद्धवेदिरपि व्यवसायवर्जिता निन्दितैव तन्निरासायाह । नो व्यवसायवर्जिता काचित्परलोकव्यवसायिनी शास्त्रात्तत्प्रवृत्तिदर्शनात् सव्यवसायाप्यपूर्वकरणविरोधिन्येव तत्प्रतिषेधमाह । नो अपूर्वकरणविरोधिनी । अपूर्वकरणासम्भवस्य । स्त्रीजातावपि प्रतिपादितत्वात् । अपूर्वकरणवत्यपि नवगुणस्थानरहिता नेष्टसिद्ध्यै इष्टसिद्ध्यर्थमाह । नो नवगुणस्थानरहिता तत्सम्भवस्य तस्याः प्रतिपादितत्वात् । नवगुणस्थानसङ्गतापि लब्ध्ययोग्या अकारणमाधिक्यविधिरित्येतत्प्रतिक्षेपायाह । नायोग्या लब्धेः । आमर्षौषध्यादिरूपाया काश्चौचित्येनेदानीमपि दर्शनात् कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः तथाविधविग्रहे ततो दोषात् । श्रेणिपरिणतौ तु कालगम्यवक्षावतो भावो विरुद्ध एव । लब्धियोग्याप्यकल्याणभाजनोपघातान्नाभिलषितार्थसाधनायालमित्यत आह नाकल्याणभाजनं तीर्थकरजननात् नातः परं कल्याणमस्ति यत् एवमतः कथं नोत्तमधर्मसाधिकेत्युत्तमधर्मसाधिकैव अनेनतत्त्वकाऽपेक्ष्यैतावद्गुणसंयमान्वितैवोत्तमधर्मसाधिकेति विश्वासः । कथं साधककथाय सति च केवले नियमान्मोक्ष इति । ल० ।

एतेन यदाहुराशाम्बराः-न स्त्रीणां निर्वाणमिति तदपास्तं द्रष्टव्यम् । स्त्रीनिर्वाणस्य साक्षादनेन सूत्रेणाभिधानात् । तत्प्रतिषेधस्य युक्त्यनुपपन्नत्वात् । तथाहि-मुक्तिपथो ज्ञानदर्शनचारित्राणि । "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति वचनात्" सम्यग्दर्शनादीनि पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यविकलानि दृश्यन्ते । तथाहि दृश्यन्ते स्त्रियोऽपि सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानाः जानते च षडावश्यककालिकोत्कालिकादिभेदभिन्नं श्रुतं, परिपालयन्ति सप्तदशप्रकारमकलङ्कं संयमं, धारयन्ति च देवासुराणामपि दुर्धरं ब्रह्मचर्यं, तप्यन्ते च तपांसि मासक्षपणादीनि, ततः कथमिव न तासां मोक्षसम्भवः ।

(नग्नः)-एतदस्ति स्त्रीणां सम्यग्दर्शनं ज्ञानं वा न पुनश्चारित्रं संयमाभावात् तथाहि स्त्रीणामवश्यं वस्त्रपरिभोगेन भवितव्यमन्यथा विवृताङ्ग्यस्तास्तिर्यक्स्त्रिय इव पुरुषाणामभिभावनीया भवेयुः । लोके च गर्होपजायेत ततोऽवश्यं ताभिर्वस्त्रं परिभोक्तव्यम् । वस्त्रपरिभोगे च सपरिग्रहता सपरिग्रहत्वे च संयमाभाव इति ॥

(सैद्धान्तिकः)तदसमीचीनं सम्यक्सिद्धान्तापरिज्ञानात्परिग्रहो हि परमार्थतो मूर्च्छाऽभिधीयते "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" इति वचनात् । तथाहि मूर्च्छारहितो भरतश्चक्रवर्ती सान्तःपुरोऽप्यादर्शकगृहेऽवतिष्ठमानो निष्परिग्रहो गीयते । अन्यथा केवलोत्पादो न सम्भवेत् । अपि च-यदि मूर्च्छाया अभावेऽपि वस्त्रसंसर्गमात्रं परिग्रहो भवेत्ततो जिनकल्पप्रतिपन्नस्य कस्यचित्साधोस्तुषारकणानुषक्ते प्रपतति शीते केनाप्यविपश्चोपनिपातमद्य शीतमिति विभाव्य धर्मार्थिना शिरसि वस्त्रे प्रक्षिप्ते तस्य सपरिग्रहता भवेत् । न चैतदिष्टं तस्मान्न वस्त्रसंसर्गमात्रं परिग्रहः किन्तु मूर्च्छा । सा च स्त्रीणां वस्त्रादिषु न विद्यते धर्मोपकरणमात्रतया तस्योपादानात् । न खलु ता वस्त्रमन्तरेणात्मानं रक्षयितुमीशते नापि शीतकालादिषु वान्दशायां स्वाध्यायादिकं कर्तुं ततो दीर्घतरसंयमपरिपालनाय यतनया वस्त्रं परिभुञ्जाना न ताः परिग्रहवत्यः । अथोच्येत सम्भवतिनाम स्त्रीणामपि सम्यग्दर्शनादिकं रत्नत्रयं परं न तत्सम्भवमात्रेण मुक्तिपदप्रापकं भवति किन्तु प्रकर्षप्राप्तमन्यथा दीक्षानन्तरमेव सर्वेषामप्यविशेषेण मुक्तिपदप्राप्तिप्रसक्तिः सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयप्रकर्षश्च स्त्रीणामसम्भवी ततो न निर्वाणमिति । तदप्ययुक्तं स्त्रीषु रत्नत्रयप्रकर्षस्सम्भवति सम्भवग्राहकं प्रमाणं विजृम्भते देशकालविप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्तौ चानुमानस्याप्यसम्भवात् । नापि तासु रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवप्रतिपादकः कोऽप्यागमो विद्यते प्रत्युत सम्भवप्रतिपादकं स्थाने २ ऽस्ति यथा इदमेव प्रस्तुतं सूत्रं ततो न तासां रत्नत्रयप्रकर्षासम्भवोऽथ मन्येथाः स्वभावत एवातपेनेवच्छाया विरुध्यते स्त्रीत्वेन सह रत्नत्रयप्रकर्षस्ततस्तदसम्भवोऽनुमीयते तदयुक्तमुक्तं युक्तिविरोधात् तथाहि रत्नत्रयप्रकर्षः स उच्यते ततोऽनन्तरमुक्तिपदप्राप्तिः स चायोग्यवस्था चरमसमयभावी अयोग्यवस्था चास्मादृगप्रत्यक्षा ततः कथं विरोधगतिः नहि अदृष्टेन सह विरोधः प्रतिपत्तुं शक्यते मा प्रापत् पुरुषेष्वपि प्रसङ्गः ॥

(नग्नः) ननु जगति सर्वोत्कृष्टपदप्राप्तिः सर्वोत्कृष्टेनाध्यवसायेनावाप्यते नान्यथा एतच्चोभयोरप्यावयोरागमप्रामाण्यबलतः सिद्धम् । सर्वोत्कृष्टदुःखस्थानं सर्वोत्कृष्टसुखस्थानं च । तत्र सर्वोत्कृष्टदुःखस्थानं सप्तमनरकपृथ्वी अतः परं परमदुःखस्थानस्याभावात् । सर्वोत्कृष्टसुखस्थानं तु निःश्रेयसम् । तत्र स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनमागमे निषिद्धं निषेधस्य च कारणं तद्गमनयोग्यतथाविधसर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावः । ततः सप्तमपृथिवीगमनवत्त्वाभावात् सम्मूर्च्छिमादिवत् । अपि च यासां वादलब्धौ विकुर्वणत्वादिलब्धौ पूर्वगतश्रुताधिगतौ च न सामर्थ्यगतिस्तासां मोक्षगमनसामर्थ्यमित्यतिदुःश्रद्धेयम् ॥

(सैद्धान्तिकः)नैतदयुक्तं यतो यदि नाम स्त्रीणां सप्तमनरकपृथिवीगमनं प्रति सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावस्ततः एतावता कथमवसीयते निःश्रेयसमपि प्रति तासां सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावः ? नहि यो भूमिकर्षणादिकं कर्म कर्तुं न शक्नोति स शास्त्राण्यप्यवगाढुं न शक्नोतीति प्रत्येतुं शक्यं प्रत्यक्षविरोधात् । अथ सम्मूर्च्छिमादिषूभयत्रापि सर्वोत्कृष्टमनोवीर्यपरिणत्यभावो दृष्टस्ततोऽत्रावसीयते । ननु यदि तत्र दृष्टस्तर्हि कथमत्रावसीयते न खलु बहिर्व्याप्तिमात्रेण हेतुर्गमको भवति किन्त्वन्तर्व्याप्त्या, अन्तर्व्याप्तिश्च प्रतिबन्धबलेन । न चात्र प्रतिबन्धो विद्यते न खलु सप्तमपृथिवीगमनं निर्वाणगमनस्य कारणम् नापि सप्तमपृथिवीगमनाविनाभावि निर्वाणगमनम् चरमशरीरिणां सप्तमपृथिवीगमनमन्तरेणैव निर्वाणगमनाभावात् । न च प्रतिबन्धमन्तरेण एकस्याभावेऽन्यस्यावश्यमभावो मा प्रापत् यस्य तस्य वा कस्यचिदभावे सर्वस्याभावप्रसङ्गः । यद्येवं तर्हि कथं सम्मूर्च्छिमादिषु निर्वाणगमनाभाव इति । उच्यते-तथा भवस्वाभाव्यात् । तथाहि सम्मूर्च्छिमादयो भवस्वभावत एव न सम्यग्दर्शनादिकं यथावत्प्रतिपत्तुं शक्यन्ते ततो न तेषां निर्वाणसंभवः । स्त्रियस्तु प्रागुक्तप्रकारेण यथावत्सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसम्पद्योग्यास्ततस्तासां न निर्वाणगमनाभावः । अपि च भुजपरिसर्पाः द्वितीयामेव पृथिवीं यावद्गच्छन्ति न परतः परपृथिवीगमनहेतुस्तथारूपमनोवीर्यपरिणत्यभावात् तृतीयां यावत् पक्षिणश्चतुर्थीं चतुष्पदाः पञ्चमीमुरगाः । अथ च सर्वेऽप्यूर्ध्वमुत्कर्षतः सहस्रारं यावद्गच्छन्ति तत्राधोगतिविषये मनोवीर्यपरिणतिवैषम्यादर्शनादूर्ध्वगतावपि च न तद्वैषम्यम् । आह च "विषमगतयोऽप्यधस्तादुपरिष्टात्तुल्यमा-

सहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यञ्च-स्तदधोगत्यूनता हेतु' ॥१॥ तथाच सति सिद्ध स्त्रीपुंसामधोगतिवैषम्येऽपि निर्वाणं समम् । यदप्युक्तमपि च यासां वादलब्ध्यावित्यादि तदप्यश्लीलं वादविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहेपि विशिष्टपूर्वगतश्रुताभावेऽपि मानुषादीनां निःश्रेयसपदाधिगमश्रवणादाहच वादविकुर्वणत्वादिलब्धिविरहश्रुते कनीयसि च जिनकल्पमनःपर्यवविरहेऽपि न सिद्धिविरहोऽस्ति । अपिच यदि वादादिलब्धिमावत् निःश्रेयसाभावोऽपि स्त्रीणामभविष्यत् ततस्तथैव सिद्धान्ते प्रत्यपादयिष्यत् यथा जंबुयुगद्वारात् केवलज्ञानाभावो, न च प्रतिपाद्यते तस्माडुपपद्यते स्त्रीणां निर्वाणमिति कृत प्रसङ्गेन । प्रज्ञा० १ पद । नं० ॥

रत्नावतारिकायामपि अथ दिक्पटाः प्रकटयन्ति भवत्वेतादृशस्वरूपो मोक्षः स उपात्तस्त्रीशरीरस्यात्मनः इति न मृष्यामहे । न खलु स्त्रियो मुक्तिभाजो भवन्ति । तथाच प्रमाचन्द्रः । स्त्रीणां न मोक्षः पुरुषेभ्यो हीनत्वात्पुंसकादिवदिति। अत्र ब्रूमः सामान्येनात्र धर्मित्वेनोपात्ताः स्त्रियो विवादास्पदीभूता वा प्राच्ये पक्षे पक्षैकदेशसिद्धसाध्यता असंख्यातवर्षायुष्कडुःषमादिकालोत्पन्नतिरश्चीदेव्यभव्यादिस्त्रीणां भूयसीनामस्माभिरपि मोक्षाभावस्याभिधानात्, द्वितीये तु न्यूनता पक्षस्य विवादास्पदीभूतेति विशेषणं विना नियतस्त्रीलाभाभावात् । प्रकरणादेव तल्लाभे पक्षोपादनमपि तत एव कार्य न स्यात् तथाप्युपादाने नियतस्यैव तस्योपादानमघटात यथा धातुष्कस्य नियतस्यैव लक्षस्योपदर्शनमिति हेतूकृतः पुरुषापकर्षोऽपि योषितां कुतस्त्यः किं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयाभावेन विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन पुरुषानभिवन्द्यत्वेन स्मारणाद्यकर्तृत्वेनामहर्द्धिकत्वेन मायादिप्रकर्षवत्त्वेन वा । प्राचि प्रकारे कुतः स्त्रीणां रत्नत्रयाभावः सचीवरपरिग्रहत्वेन चारित्राभावादिति चेत्तदचतुरस्रम् । यतः परिग्रहरूपता चीवरस्य शरीरसंपर्कमात्रेण परिभुज्यमानत्वेन मूर्च्छाहेतुत्वेन वा भवेत् । प्रथमपक्षे क्षित्यादिना शरीरसंपर्किणाप्यपरिग्रहेण व्यभिचारः । द्वितीयप्रकारे चीवरपरिभोगस्तासामशक्यत्यागतया गुरूपदेशाद्वा । नाद्यः पक्षो यतः सत्यपि प्राणानपि त्यजन्त्यो याः सदृश्यन्ते तासामेकान्तिकात्यन्तिकानन्दसंपदर्थिनीनां बाह्यचीवरं प्रति का नामाशक्यत्यागता । नग्नयोगिन्यश्च काश्चिदिदानीमपि प्रेक्ष्यन्त एव द्वितीयपक्षोऽपि न सूक्ष्मः यतो विश्वजनीनेन विश्वदर्शिना परमगुरुणा भगवता मुमुक्षुपक्ष्मलाक्षीणां यदेव संयमोपकारि तदेव चीवरोपकरणं " नो कप्पइ निग्गंथीए अवेलाए होत्तएत्यादिनो" पदिष्ट प्रतिलेखनकमण्डलुप्रमुखवदिति कथं तस्य परिभोगात्परिग्रहरूपता प्रतिलेखनादिधर्मोपकरणस्यापि तत्प्रसङ्गात् । तथा च यत्संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरण धर्मस्य हि तत्साधनमतोऽन्यदधिकरणं महार्हन् उपकारक हि करणमुपकरणम् अधिक्रियन्ते घाताय प्राणिनोऽस्मिन्निति त्वधिकरणम् अथ प्रतिलेखन तावत्संयमप्रतिपालनार्थं भगवतोपदिष्टं वस्त्रं तु किमर्थमिति तदपि संयमप्रतिपालनार्थमेवेति ब्रूमः । अभिभूयन्ते हि प्रायेणाल्पसत्त्वतया विवृताङ्गोपाङ्गसदर्शनजनितचित्तभेदैः पुरुषैरङ्गना अकृतप्रावरणा घोटिका इव घोटकैः । ननु यासामतितुच्छसत्त्वानां प्राणिमात्रेणाप्यभिभवस्ताः कथं सकलत्रैलोक्याभिभावककर्मराशिप्रक्षयलक्षणं मोक्ष महासत्त्वप्रसाध्यं प्रसाधयन्तीति चेत्तदयुक्तम् यतो नात्र शरीरसामर्थ्यमतिरिक्तं यस्य भवति तस्यैव निर्वाणोपार्जनगोचरेण सत्त्वेन भवितव्यमिति नियमः समस्त्यन्यथा पङ्गुवामनात्यन्तरोगिणः पुमांसोपि स्त्रीभिरभिभूयमाना दृश्यन्त इति तेऽपि तुच्छशरीरसत्त्वाः कथं तथाविधसिद्धिनिबन्धनसत्त्वभाजो भवेयुः । यथा तु तेषां शरीरसामर्थ्यासत्त्वेऽपि मोक्षसाधनसामर्थ्यमविरुद्ध तथा स्त्रीणामपि । सत्यपि वस्त्रे मोक्षाभ्युपगमे गृहिणः कुतो न मोक्ष इति चेन्न मत्वसद्भावान्नहि गृही वस्त्रे ममत्वरहितो, ममत्वमेव परिग्रहः । सति हि ममत्वे नग्नोऽपि परिग्रहवान् भवति शरीरेपि तद्भावात् । आर्यिकायाश्च ममत्वाभावादुपसर्गादावासक्तगिवाम्बरमपरिग्रहः । न हि यतेरपि ग्रामं गृहं वनं वा प्रतिवसतो ममत्वादन्यच्छरणमस्ति नच निगृहीतात्मनां महात्मनां कासांचित्काचिदपि मूर्च्छाऽस्ति । तथाहि "निर्वाणस्त्रीप्रमदपरमप्रीतितीव्रस्पृहाणां, मूर्च्छा तासां कथमिव भवेत्क्वापि संसारभागे। भोगे रागे रहसि सजने सज्जने दुर्जने वा, यासां स्वान्तं किमपि भजते नैव वैषम्यमुद्राम् । उक्तञ्च " अवि अप्पणो वि देहमि, नायरंति ममाइयंति" एतेन मूर्च्छा हेतुत्वेनेत्यपि पक्षः प्रतिक्षिप्तः शरीरवच्चीवरस्यापि काश्चित्प्रतिमूर्च्छाहेतुत्वाभावेन परिग्रहरूपत्वाभावात् । तन्न सम्यग् रत्नत्रयाभावेन स्त्रीणां पुरुषेभ्योपकर्षः नापि विशिष्टसामर्थ्यासत्वेन, यतस्तदपि तासां किं सप्तमपृथ्वीगमनाभावेन वादादिलब्धिरहितत्वेनाल्पश्रुतत्वेनानुपस्थाप्यता पाराञ्चितकशून्यत्वेन वा भवेत् । न तावदाद्यः पक्षो यतोऽत्र सप्तमपृथ्वीगमनाभावो यत्रैव जन्मनि तासां मुक्तिगामित्व तत्रैवोच्यते सामान्येन वा प्राचि पक्षे चरमशरीरिभिरनेकान्तः । द्वितीयेत्वयमाशयो यथैव स्त्रीणां सप्तमपृथ्वीगमनसमर्थतीव्रतराशुभपरिणामे सामर्थ्याभावादपकर्षस्तथा मुक्तिगमनयोग्योत्कृष्टशुभपरिणामेऽपि चरमशरीरिणान्तु प्रसन्नचन्द्रराजर्षिप्रमुखाणामुभयत्रापि सामर्थ्यात्सैकत्राप्यपकर्षस्तदयुक्त यतो नायमविनाभावः प्रामाणिको यदुत्कृष्टाशुभगत्युपार्जनसामर्थ्याभावे सत्युत्कृष्टशुभगत्युपार्जनसामर्थ्येनापि न भवितव्यम् । अन्यथा प्रकृष्टशुभगत्युपार्जनसामर्थ्याभावे प्रकृष्टाशुभगत्युपार्जनसामर्थ्यं नास्तीत्यपि किं न स्यात्तथा चाभव्यानां सप्तमपृथिवीगमनं न भवेत्। अथ वादादिलब्धिरहितत्वेन स्त्रीणां विशिष्टसामर्थ्यासत्व तत्र लब्धैहिकवादिविक्रिया चारणादिलब्धीनामपि हेतुः संयमविशेषरूपं सामर्थ्यं नास्ति तत्र मोक्षहेतुस्तद्भविष्यतीति कः सुधीः श्रद्दधीत तदचारु व्यभिचारात् । मासतुषादीनां तदभावेपि विशिष्टसामर्थ्योपलब्धेः । नच लब्धीनां संयमविशेषहेतुकत्वमागमिकं कर्मोदयक्षयक्षयोपशमोपशमहेतुकतया तासां तत्रोदितत्वात्तथा चावाचि "उदयखयखओवसमोवसमसमुत्था बहुप्पगाराउ । एव परिणामवसा, लद्धीओ हवंति जीवाण" चक्रवर्तित्वबलदेववासुदेवत्वादिभस्तयोऽपि हि लब्धयो नच संयम सद्भावनिबन्धनास्तत्प्राप्तिः सन्तु वा तन्निबन्धनालब्धयस्तथापि स्त्रीषु तासां सर्वासामभावोऽभिधीयते नियतानामेव वा । नाद्यः पक्षश्चक्रवर्त्यादिलब्धीनां कासांचिदेव तासु प्रतिषेधात्, आमर्षौषध्यादीनां तु भूयसीनां भावात् । द्वितीयपक्षे तु व्यभिचारः पुरुषाणां सर्ववादादिलब्ध्यभावेऽपि विशिष्टसामर्थ्यस्वीकारात् । अकेशवानामेवातीर्थकरचक्रवर्त्यादीनामपि च मोक्षसंभवात् अल्पश्रुतत्वमपि मुक्त्यवाप्त्यानुमितविशिष्टसामर्थ्यैर्माषतुषादिभिरेवानैकान्तिकमित्ययुक्तं पक्षमेव । अनुपस्थाप्यता पाराञ्चितकशून्यत्वेनेत्यप्ययुक्तं, यतो न तच्छून्यत्वाद्विशिष्टसामर्थ्याभावः प्रतीयते योग्यतापेक्षं हि चित्रं शास्त्रे वि-

मुष्युपदेशः उक्तंच। 'संवरनिर्जररूपो बहुप्रकारस्तपोविधिः शास्त्रे रोगचिकित्साविधिव-त्कस्यापि कथंचिदुपकारी" पुरुषानभिवन्द्यत्वमपि योषितां नापकर्षाय। यतस्तदपि सामान्येन गुणाधिकपुरुषापेक्षं वा। आद्ये असिद्धतादोषः तीर्थकरजनन्यादयो हि पुरन्दरादिभिरपि प्रणता किमङ्ग ! शेषपुरुषैः। द्वितीये तु शिष्या अपि आचार्यैर्नाभिवन्द्यन्त एवेति ते पि ततोऽपकृष्यमाणत्वेन निर्वृत्तिभाजो न भवेयुः। नचैव धनरुद्रादिशिष्याणां शास्त्रे तच्छ्रवणादिति मूलहेतोर्व्यभिचारः। एतेन स्मरणाद्यकर्तृकत्वमपि प्रतिक्षिप्तम्। अथ पुरुषविषय स्मारणाद्यकर्तृत्वमत्र विवक्षितं नतु स्मारणाद्यकर्तृत्वमात्रम्। न च स्त्रियः कदाचन पुंसां स्मारणादीन् कुर्वन्तीति न व्यभिचार इति चेत्तर्हि पुरुषेति विशेषणं करणीय करणेऽप्यसिद्धतादोषः स्त्रीणामपि कासांचित्पारगतागमरहस्यवासितसप्तधातूनां क्वापि तथाविधावसरे समुच्छृंखलप्रवृत्तिपराधीनसाधुस्मारणादेरविरोधात्। अथामहर्द्धिकत्वेन स्त्रीणां पुरुषेभ्योऽपकर्षः सोऽपि किमाध्यात्मिकीं समृद्धिमाश्रित्य बाह्यां वा। नाध्यात्मिकीं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयादेस्तासामपि सद्भावात्। नापि बाह्यामेव हि महत्यास्तीर्थकरलक्ष्म्या गणधराद्यश्चक्रधरादिलक्ष्म्याश्चेतरक्षत्रियादयो न भाजनमिति तेषामप्यमहर्द्धिकत्वेनापकृष्यमाणत्वान्मुक्त्यभावो भवेत्। अथ यासौ पुरुषवर्गस्य महती समृद्धिस्तीर्थकरत्वलक्षणा सा स्त्रीषु नास्तीत्यमहर्द्धिकत्वमासां विवक्ष्यते तदानीमप्यसिद्धता स्त्रीणामपि परमपुण्यपात्रभूतानां कासांचित्तीर्थकृत्वाविरोधात्तद्विरोधसाधकप्रमाणस्य कस्याप्यभावादेतस्याद्यापि विवादास्पदत्वादनुमानान्तरस्य चाभावात्। मायादिप्रकर्षवत्त्वेनत्यप्यप्रशस्य तस्य स्त्रीपुंसयोस्तुल्यत्वदर्शनादागमे च श्रवणात् श्रूयते हि चरमशरीरिणामपि नारदादीना मायादिप्रकर्षवत्त्व तत्र पुरुषेभ्यो हीनत्वं स्त्रीनिर्वाणनिषेधे साधीयान् हेतुः यत्पुनर्निर्वाणकारणं ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति, परमप्रकर्षत्वात्सप्तमपृथ्वीगमनकारणपुण्यपरमप्रकर्षवदिति तेनैवोक्तं तत्र मोहनीयस्थितिपरमप्रकर्षेण स्त्रीवेदादिपरमप्रकर्षेण च व्यभिचारः। नास्ति स्त्रीणां मोक्षः परिग्रहवत्त्वात् गृहस्थवदित्यपि न पेशलं धर्मोपकरणचीवरस्यापरिग्रहत्वेन प्रसाधितत्वादिति स्त्रीनिर्वाणे संक्षेपेण बाधकोद्धारः। साधकोपन्यासस्तु मनुष्यस्त्री काचिन्निर्वात्यविकलतत्कारणत्वात्पुरुषवत्। निर्वाणस्य हि कारणमविकलं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयं तच्च तासु विद्यत एवेत्यादित एवोक्तमिति। नासिद्धमेतन्निपक्षान्नपुंसकादेरत्यन्तव्यावृत्तत्वान्न विरुद्धमनैकान्तिकं वा तथा मनुष्यस्त्रीजातिः कयाचिद्व्यक्त्या मुक्त्यविकलकारणवत्या तद्वती प्रव्रज्याधिकारित्वात्पुरुषवत्। न चैतदसिद्धं साधनं "गुव्वणी बालवच्छा य पव्वावेउं न कप्पइ इति" सिद्धान्तेन तासां तदधिकारित्वप्रतिपादनाद्विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानान्तरीयकत्वात् दृश्यन्ते च सांप्रतमप्येताः कृतशिरोलुञ्चना उपात्तपिच्छिका कमण्डलुप्रमुखयतिलिङ्गाश्चेति कुतो नैतासां प्रव्रज्याधिकारित्वसिद्धिर्यतो न मुक्तिः स्यादिति। रत्ना० ७ परि० ॥

इत्थि (त्थी) लिंगसिद्धकेवलनाण-स्त्रीलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान-न० स्त्रीलिंगे वर्तमाना ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं स्त्रीलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानम्। केवलज्ञानभेदे, । आ० म० प्र० । इत्थिलिंगेण सिद्धाणं ज नाणं तं इत्थिलिंगसिद्धकेवलनाणंति। आ० चू० १ अ० ॥

इत्थि (त्थी) वउ-स्त्रीवाक्-स्त्री० यद्वालतेत्यादिलक्षणायां स्त्रीलिङ्गप्रतिपादिकायाम्भाषायाम्,-प्रज्ञा० ११ पद० ॥

इत्थि (त्थी) वयण-स्त्रीवचन-न० वचनभेदे,-स्त्रीवचनं वीणा कन्यादीति। आचा०२ श्रु० १ अ० ३ उ०। प्रज्ञा० ॥

इत्थि (त्थी) वस-स्त्रीवश-पु० ६ त० स्त्रीवशीभूते, स्त्र्यायत्ततायां च। वाच०। व्य०। "इत्थी वसगया बाला" स्त्रीवशङ्गता यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते बाला अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

स्त्रीवशङ्गतानामधमत्वञ्च यथा-

समंगुलि वगुड्डावे, किंकरे तित्थएहायए चेव।
गच्छावरं खिइदत्ता-एएपुरिसाधमाउत्त ॥

जदा इत्थी भणितो रंधेहि तदा भणति अह उट्ठेमि ताव तुम अधिकरणीति त्थारं अवणेहिति तस्स त्थारे अवणीते समंगुलीतो भणति इत्थीवयणाओ दग माणेति सो य लोगस्स कितो अप्पभाए व सुहसुत्ते पगे रोवंतो आणेतित्ति वग्गुकावो किंकरो पभाते उत्थितो इत्थी भणति किंकरेमि त्ति जं भणति तं करेतित्ति तित्थएहाय तो जयासि णं मग्गति च तदा इत्थी भणाति गच्छ तलाग तत्थ पहातो कलसं भरेतुमा गच्छाहिहित्ति गच्छावरखी भोयणकाले परिवेसणाए इतो वाहित्ति भणिताहे गिद्धो इवरिक्खतो भोयण उट्ठेत्ति इत्थी भणितो कम्मं करेहित्ति ताहे पभिभणति दद अम्हय इंदत्ति गेण्ह अत्तयं पुत्तभम्मं पय गेण्ह जा कम्म करेमीत्यर्थः। एते त्थ पुरिसा अधमा। नि० चू० १५ उ०।

धिं तेसिं गामनगराणं, जेसिं इत्थी पणायिगा।
ते य धिक्कया पुरिसा, जे इत्थीण वसंगया ॥

धिग्निन्द्यायां तेषां ग्रामनगराणां येषां स्त्रीप्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया नायिका अत्र धिग्योगे द्वितीयाप्राप्तावपि षष्ठी प्राकृतत्वात्तथा ते ऽपि पुरुषा धिकृता धिक्कारं प्राप्तवन्तो ये स्त्रीणां वशमायत्ततां गताः। तथा।

इत्थीओ बलवं जत्थ, गामेसु नगरेसु वा।
सो गामो नगरं वावी, खिप्पमेव विणिस्सइ ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रीयो बलवत्यः स ग्रामो नगर वा क्षिप्रमेव विनश्यति। बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकवचनं भवतीति ज्ञापनार्थः॥ व्य० प्र० १उ०।

इत्थि (त्थी) विग्गह-स्त्रीविग्रह पु-स्त्रीशरीरे,। व्य-प्र० ४ उ०। आचा०।

इत्थि(त्थी) विण्णवणा-स्त्रीविज्ञापना-स्त्री० युवतिप्रार्थनायाम्, (रमणीसम्बन्धे) सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० (अत्र दोषादोषविचारः इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) विप्पजह-स्त्रीविप्रजह-पु० स्त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजतीति स्त्रीविप्रजहः तणादयो बहुलमिति बहुलवचनाच्चः। स्त्रीपरित्यागवति, "नारीसु नो पगिज्झिज्जा इत्थीविप्पजहे अणगारे" इति-उत्त० ८ अ०।

इत्थि (त्थी) विप्परियासिया-स्त्रीविपर्यासिका-स्त्री० स्वामान्तिकक्रियाविशेषे, "इत्थिए विप्परियासो इत्थीविपरियासो। स्वामे स्त्रिया ब्रह्मचर्यविनाश इत्यर्थः विपर्यासो नाम अधमकरेमिति" आ० चू० ४ अ० ॥

इत्थि (त्थी) विलोयण—स्त्रीविलोचन—न० तैतिलापरनामधेये चलसंज्ञके करणभेदे, विशे० (तदानयनादिकरणशब्दे वक्ष्यते)

इत्थि(त्थी)वेय—स्त्रीवेद—पु० स्त्रिय यथावस्थितस्वभावतस्तत्सम्बन्धविपाकतश्च वेदयति ज्ञापयतीति स्त्रीवेदः । वैषयिकादिके स्त्रीस्वभावाविर्भावके कामशास्त्रे, । "सुपुरिसा इत्थिवेय खेयष्मा" स्त्रीवेदे खेदज्ञाः स्त्रीवेदो मायाबहुल इति निपुणा अपि स्त्रीणांवशं भजन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । वेद्यत इति वेदः स्त्रिया. वेदः स्त्रीवेद' स्त्रियाः पुमांसं प्रत्यभिलाषः । तद्विपाकवेद्य कर्म्मोऽपि स्त्रीवेद' । स्त्रियाः पुमांसं प्रत्यभिलाषे, तद्विपाकवेद्ये नोकषायवेदनीयकर्म्मविशेषे च । प्रज्ञा० २३ पद० । यद्वशात्स्त्रियाः पुरुषंप्रत्याभिलाषो भवति । यथा पित्तवशान्मधुरद्रव्यं प्रति स फुंफुमादाहसमः यथा २ ज्वाल्यते तथा २ ज्वलति दहति च एवमबलापि यथा २ सस्पृश्यते पुरुषेण तथा २ अस्या अधिकतरोऽभिलाषो जायते भुज्यमानायान्तु भस्मकारीषदाहतुल्योऽभिलाषो मन्द इति स्त्रीवेदोदयः । कर्म० । स्था० । पं० सं० । सम्प्रातः स्त्रीवेदकर्मोदयजनितो यः स्त्रीवेदःसकिंस्वरूप इत्यावेदयन्नाह ।

इत्थिवेदेणं भंते ! किंपकारे पं० गो० फुंफअग्गिसमाणे पन्नत्ते सेत्तं इत्थियाओ ॥

(इत्थीवेदे ण भंते इत्यादि) स्त्रीवेदणमिति पूर्ववत् भदन्त-किंप्रकारः किंस्वरूपः प्रज्ञप्त. । भगवानाह गौतम ! फुंफुकाग्नि समानः फुंफुका शब्दो देशीरूपत्वात् कारिषवाचकस्ततः कारिषाग्निसमानः परिमलनमदनदाहरूप इत्यर्थः प्रज्ञप्तः । जी० २ प्रति० ॥ (स्त्रीवेदस्य स्थिति· ठिई शब्दे । स्त्रीणां स्वभावादि इत्थी शब्दे) ॥

इत्थि (त्थी) वेयण्ण—स्त्रीवेदज्ञ—पु० स्त्रीवेदो मायाप्रधान इत्येव निपुणे, । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ॥

इत्थि(त्थी) संकिलिट्ठ—स्त्रीसंक्लिष्ट—त्रि० स्त्रीप्रतिषेविनि, प्रव० ।

इत्थि (त्थी) संग—स्त्रीसङ्ग—पु० स्त्रीषु प्रवर्तने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ॥ (तच्च प्रधान संसारकारणमिति इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) संपक्क—स्त्रीसम्पर्क—पु० स्त्रीभिः सह संवासे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । (सच साधुभिर्न विधेय इति इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) संपरिवुम—स्त्रीसंपरिवृत—त्रि० स्त्रीभि· समन्तात्परिवेष्टिते, "समंता परिवेढिओ परिवुडो भण्णति परिमाण जाव तिण्णि चउरो पंच वा वागरणाणि परतो उड्ढादि अपरिमाणं कहं कहेंतस्स चउगुरुगं आणादिया य दोसा एस सुत्तत्थो इमा णिज्जुत्तीगाहा—

मज्झं दोण्हंत गतो, समंति उसगादि वट्टेंतो ॥
चउदिसिठिताहिंतुवरुो, पास गताहिव अप्फुसंतो ॥ ए० ॥

अहवा एगदिसि वियाहिं वि अफुसतीहिं परिवुडो भण्णति । नि० चू० २ उ० ॥

इत्थि (त्थी) संवास—स्त्रीसंवास—पु० स्त्रीभिः सार्द्धं परिभोगे,

जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुाभि तत्तेणासमुवयाइ ॥
एवि त्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

(जतुकुंभेत्यादि) यथा जातुष कुम्भो ज्योतिषाग्निनोपगूढ· समालिङ्गितोऽभितप्तोग्निनाभिमुख्येन सन्तापितः क्षिप्रं नाशमुपैति द्रवीभूय विनश्यत्येव स्त्रीभिः सार्धं संवसनेन परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति सर्वथा जातुष कुम्भवत् व्रतकाठिन्यं परित्यज्य सयमशरीराद्भ्रश्यन्ति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । स्त्रीभिः सार्द्धमेकत्र वसतौ, ॥

एवं विवेगमादाय, संवासो न विकप्पए दविए ॥

तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या विपाक स्वानुष्ठानमादाय प्राप्य विवेकमिति वा क्वचित्पाठस्तद्विपाक विवेकमादाय गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं सवासो वसतिरेकत्र न कल्पते न युज्यते कस्मिन्द्रव्यभूते मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ यतस्ताभिः सार्धं सवासोऽवश्य विवेकिनामपि सदनुष्ठानविघातकारीति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

इत्थि (त्थी) संसत्त—स्त्रीसंसक्त—त्रि० स्त्रीभिः सगते, " ऊरु कोप्परमादीहिं स घट्टंतो ससत्तो भवति दिट्ठीए वा परोप्पर संसत्तो संगतो इति " तथा च निर्युक्तिः समत्त ऊरुगादि घट्टंतो इति ॥

दुविधं च होति मज्झं, संसत्ता दिट्ठिदिट्ठिअंतो वा ॥
भावो व तासु णिहितो, एमे वि त्थीण पुरिसेसु ॥ ए१ ॥

च सद्दाओ संसत्तं पि दुविध ऊरुगादि घट्टेत्तो संसत्तो दिट्ठिए वा इत्थीण वा मज्झे अहवा ससत्तस्स इम वक्खाण तेण तासु भावो णिहितो णिवेसितो ताहिं वा तमिणि सेवितो परस्पर गृह्णानीत्यर्थः । नि० चू० । स्त्रीभि· समाकीर्णे (सेविते) स्थानादौ च । स्था. १० ठा. (तच्च साधुभिर्वर्जनीयमिति बम्भचेरगुत्ति शब्दे)

इत्थि (त्थी) सद्धा—स्त्रीश्रद्धा—स्त्री० स्त्रीश्रद्धाने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । (तत्कथादिकं इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) सहाव—स्त्रीस्वभाव—पु० स्त्रीया इव स्वभावो यस्य । अन्त·पुररक्षके महल्लके, ६ त० स्त्रीणां शीले च । वाच० । सूत्र० । (स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानक इत्थी शब्दे)

इत्थि (त्थी) सेवा—स्त्रीसेवा—स्त्री-६ त० स्त्रीसम्भोगे, व्यवायसधर्मेण नारीसेवने, । वाच० । स्त्रीसेवाद्वय इह परत्र वा अकल्याणकारिणि इति । व्य० । " अन्नपानैर्हरेद्बालां यौवनस्थां विभूषया । वेश्यां स्त्रीमुपचारेण वृद्धां कर्कशसेवया " इति—आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

इत्थी—स्त्री—स्त्रीण्स्त्यायतेस्तृणातेर्वा ड्रट् टित्वाद्ङीपि स्त्रीति प्रव० ८६ द्वा० । उत्त० । " स्त्रिया इत्थी " १३० इति सूत्रेण स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा—पक्षे—थीति । प्रा० ८ अ० २ पा० योषिति,—अनु० । पञ्चा० । त० ।

(१) स्त्रीलक्षणं तच्छब्दनिक्षेपश्च ।
(२) स्त्रीवक्तव्यता तद्भेदवर्णनञ्च ।
(३) स्त्रीणां स्वभावादिपरिज्ञानस्यावश्यकता । तद्वर्णनञ्च ।
(४) स्त्रीसम्बन्धे दोषाः ।
(५) कतमाभि· स्त्रीभिस्सार्द्धं न विहर्त्तव्यम् ।
(६) इह लोके एव स्त्रीसम्बन्धविपाकः ।
(७) स्त्रीसंस्पर्शे दोषाः ।
(८) भोगीनां विडम्बना ।
(९) स्त्रियो विश्वास्याकार्यं कुर्वन्ति ।
(१०) स्त्रीणां स्वरूपस्य शरीरस्य चातिनिन्दनीयत्वम् ।
(११) स्त्रीचरित्रं वैराग्योत्पादनाय ऊह्यम् ।
(१२) स्त्रीणामशुचित्वं सर्वस्यापकर्षकत्वञ्च ।
(१३) स्त्रीणां बन्धनकारणत्वं तत्क्रोडानुगतस्य दुःखानि च ।
(१४) स्त्रीसंसर्गस्य सर्वथा परित्याज्यत्वं तत्त्यागे कारणानि च ।

(१५) स्त्रीषु शक्तस्य परिग्रहित्व तासु सर्वेन्द्रियगुप्तेन भाव्यम्।
(१६) स्त्रीकरस्पर्शादिनिषेध।
(१७) स्त्रिया सार्द्ध विहारस्वाध्यायाहारोच्चारप्रस्रवणपरिष्ठापनिका धर्मकथादिनिषेध।
(१८) स्त्रीणां निर्ग्रन्थनादिनिषेधः।
(१९) स्त्रीस्थानदूषण तत्प्रसङ्गत्यागस्तत्सङ्गातिक्रमे गुणाश्च।
(२०) मतान्तरीयपूर्वपक्षदूषणानि।

(१) स्त्रीलक्षणं तच्छब्दनिक्षेपो यथा।

"योनेर्मृदुत्वमस्थैर्य्य-मुग्धता क्लीवता तनौ। पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते इति। तथान्यत्राप्युक्तम्। "स्तनकेशवती स्त्री स्यादिति"। स्था० ३ ठा०। जी०। स्त्रीशब्दस्य निक्षेपो यथा-तत्र नाम स्थापने कुण्ठत्वादनादृत्य स्त्रीशब्दस्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह—

दव्वाभिलाव चिंधे, दव्वे भावे य इत्थियाणिक्खेवो।
अहिलावे तह सिद्धी, भावे वेयंमि उवउत्तो॥ ५६॥

तत्र द्रव्यस्त्री द्वेधा। आगमतो नो आगमतश्च। आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तो ऽनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा नो आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्रिधा। एकभविका बद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रा चेति। चिह्न्यते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्न स्तनादिकं पथ्यादिक चिह्नमात्रेण स्त्रीचिह्न स्त्री। अपगतस्त्रीवेदछद्मस्थ केवली वा अन्यो वा स्त्रीवेषधारी यः कश्चिदिति। वेद स्त्री तु पुरुषाभिलाषरूप. स्त्रीवेदोदय.। अभिलापभावौ तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धेनाह। अभिलाप्यते इत्यभिलाप. स्त्रीलिङ्गाभिधानशब्द। तद्यथा। शाला माला सिद्धिरिति। भावस्त्री तु द्वेधा। आगमतो नो आगमतश्च। आगमत स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्त उपयोगो भाव इति कृत्वा नो आगमतस्तु भावविषये निक्षेप वेदे स्त्रीवेदरूपे वस्तुन्युपयुक्ता तदुपयोगानन्यत्वाद्भावस्त्री भवति। यथा अग्नावुपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव भवत्येवमत्रापि। यदि वा स्त्रीवेदनिर्वर्तकान्युदयप्राप्तानि यानि कर्माणि तेषूपयुक्तेति तान्यनुभवन्ति भावस्त्रीति एतावानेव स्त्रियो निक्षेप इति। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

(२) स्त्रीवक्तव्यता तद्भेदवर्णनञ्च।

से किं तं इत्थीओ २ तिविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा तिरिक्खजोणित्थीओ मणुस्सत्थीओ देवित्थीओ से किं तं तिरिक्खजोणित्थीओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा जलयरीओ थलयरीओ खहयरीओ। से किं तं जलयरीओ २ पंचविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा मच्छीओ जाव सुसुमारीओ से त्तं जलयरीओ। से किं तं थलयरीओ २ दुविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा चउप्पदीओ य परिसप्पिणीओ य। से किं तं चउप्पदीओ २ चउव्विहाओ पण्णत्ता तंजहा एगखुरीओ जाव सणप्फईओ। सेकिंतं परिसप्पिणीओ २ दुविहा पण्णत्ता तंजहा उरगपरिसप्पिणीओ य भुयगपरिसप्पिणीओ य। से किं तं उरगपरिसप्पिणीओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा अहीओ अयगरीओ महोरगीओ सेत्तं उरगपरिसप्पिणी। से किं तं भुयपरिसप्पिणी २ अणेगविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा गोहीओ णउलीओ सेधाओ सेल्लाओ सेरडीओ सेरिंधीओ सावाओ खराओ पंचलोइयाओ चउप्पइयाओ मूसियाओ मुसुंसियाओ घरोलियाओ गोहियाओ जोहियाओ थिरावलियाओ सेत्तं भुयपरिसप्पिणीओ। से किं तं खहयरीओ २ चउव्विहा पण्णत्ताओ तंजहा चम्मपंखीओ जाव सेत्तं खहयरीओ सेत्तं तिरिक्खजोणित्थियाओ। से किं तं मणुस्सित्थियाओ २ तिविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा कम्मभूमियाओ अकम्मभूमियाओ अंतरदीवियाओ। से किं तं अंतरदीवियाओ २ अट्ठावीसतिविधाओ पण्णत्ता तंजहा एगुरुईओ आभासिआओ जाव सुद्धदंताओ सेत्तं अंतरदीवे। से किं तं अकम्मभूमियाओ २ तीसतिविधाओ पण्णत्ता तंजहा पंचसु हेमवएसु पंचसु एरण्णवएसु पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरुसु पंचसु उत्तरकुरुसु सेत्तं अकम्मभूमगमणुस्सीओ। से किं तं कम्मभूमियाओ २ पण्णरसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पंचसु भरहेसु पंचसु एरवएसु पंचसु महाविदेहेसु सेत्तं कम्मभूमगमणुस्सीओ ३।

(सेकिंतमित्यादि) अथ कास्ता स्त्रियः सूरिराह स्त्रियस्त्रिविधा प्रज्ञप्तास्तिर्यग्योनिस्त्रियो मनुष्यस्त्रियो देवस्त्रियश्च (सेकिंतमित्यादि) तिर्यग्योनिस्त्रियस्त्रिविधास्तद्यथा जलचर्य. स्थलचर्य खचर्यश्च (सेकिंतमित्यादि) मनुष्यस्त्रियोऽपि त्रिविधास्तद्यथा कर्मभूमिका अकर्मभूमिका अन्तरद्वीपिकाश्च। कृष्यादिकर्मप्रधाना भूमि कर्मभूमि. भरतादिका पञ्चदशधा तत्र जाताः कर्मभूमिजा एवमकर्मभूमिजा नवरमकर्मभूमिर्भोगभूमिरित्यर्थ.। देवकुर्वादिका त्रिंशद्विधा अन्तरे मध्ये समुद्रस्य द्वीपा ये ते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपास्त एवान्तरद्वीपिकाः। स्था० ३ ठा०॥

से किं तं देवित्थियाओ २ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ तंजहा भवणवासिदेवित्थियाओ वाणमंतरदेवित्थियाओ जोतिसियदेवित्थियाओ वेमाणियदेवित्थियाओ से किंतं भवणवासिदेवित्थियाओ २ दसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा असुरकुमारभवणवासिदेवित्थियाओ जाव थणितकुमारभवणवासिदेवित्थियाओ सेत्तं भवणवासिदेवित्थियाओ। से किं तं वाणमंतरदेवित्थियाओ २ अट्ठविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पिसायवाणमंतरदेवित्थियाओ जाव सेत्तं वाणमंतरदेवित्थियाओ। से किं तं जोतिसियदेवित्थियाओ २ पंचविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा चंदविमाणजोतिसियदेवित्थियाओ सूरविमाणदेवित्थियाओ गहविमाणदेवित्थियाओ णक्खत्तविमाणदेवित्थियाओ ताराविमाणजोतिसियदेवित्थियाओ सेत्तं जोतिसियदेवित्थियाओ। से किं तं वेमाणियदेवित्थियाओ २ दुविहाओ पण्णत्ताओ तंजहा सोहम्मकप्पवेमाणियदेवित्थियाओ ईसाणकप्पवेमाणियदेवित्थियाओ सेत्तं वेमाणित्थियाओ। जी० २ प्रति०। (सुगमत्वाट्टीका न व्याख्याता)

स्त्रियो देवमानुषभेदाद्द्विविधा एताश्च सचित्ता अचित्तास्तु प्रस्तरलेप्यचित्रादिनिर्मिता.। ध० २ अधि०। शब्देन वयसा च स्त्री त्रिविधा मन्दशब्दा मध्यमशब्दा तीव्रशब्दा चेति। वय-

सा तु स्थविरा मध्यमा तरुणी चेति। पुनरेकैका त्रिविधा अपद्राणभर्तृका प्रोषितभर्तृका स्वाधीनभर्तृका चेति । बृ० १ उ० । मुग्धा मध्या प्रौढा चेति। उत्त० १६ अ० । "इत्थीओ दुविधा अवुगुङ्गिता य समणखत्तियवेसिसुद्दियङ्गुंगिता समोईय अक्खरिया ओ अहवा णरुवरूमादियाओ असन्नोइअरत्थियाओ एताओ वि दुविधा सपरिग्गहा अपरिग्गहाओ य। नि० चू० १६ उ० ॥

चत्तारि धूमसिहाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता ।४। एवामेव चत्तारित्थियाओ पण्णत्ता तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता । ४ । चत्तारि अग्गिसिहाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामाणाममेगा वामावत्ता । ४ । एवामेव चत्तारि त्थियाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता । ४ । चत्तारि वायमंडलिया पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता । ४ । एवामेव चत्तारि त्थियाओ पण्णत्ताओ तंजहा वामा णाममेगा वामावत्ता ॥ ४ ॥

धूमशिखा वामा वामपार्श्ववर्त्तितयाऽनुकूलस्वभावतया वा वामत एवावर्तते या तथा चलनात्सा वामावर्त्ता १० स्त्रीपुरुषवद् व्याख्येया कम्बुदृष्टान्ते सत्यपि धुमशिखादिदृष्टान्तानां स्त्रीदार्ष्टान्तिके शब्दसाधर्म्येणोपपन्नतरत्वाद्भेदेनोपादानमिति ११ एवमग्निशिखापि १२ वातमण्डलिका मण्डलेनोर्ध्वप्रवृत्तो वायुरिति इह च स्त्रियो मालिन्योपतापचापल्यस्वभावा भवन्तीत्याभिप्रायेण तासु धूमशिखादृष्टान्ततयोपन्यास इति । उक्तञ्च " चवला मइलणसीला, सिणेहपरिपूरिया वियावेइ । दीवयसिहि व्व महिला, लरूपसरा भयं देइ त्ति" ॥

चत्तारि कूडागारसालाओ पण्णत्ताओ तंजहा गुत्ता णामेगा गुत्तदुवारा, गुत्ता णामेगा अगुत्तदुवारा, अगुत्ता णामेगा गुत्तदुवारा, अगुत्ता णामेगा अगुत्तदुवारा । एवामेव चत्तारि त्थीओ पण्णत्ताओ तंजहा गुत्ता णामेगा गुत्तिंदिया गुत्ताणामेगा अगुत्तिंदिया ४ ॥

तथा कूटस्येव आकारो यस्याः शालायाः गृहविशेषस्य सा तथा । अय च स्त्रीलिङ्गदृष्टान्तः स्त्रीलक्षणदार्ष्टान्तिकार्थसाधर्म्यवशात्तत्र गुप्ता परिवारा वृता गृहान्तर्गता वस्त्राच्छादिताङ्गा गूढस्वभावा वा। गुप्तेन्द्रिया तु निगृहीतानौचित्यप्रवृत्तन्द्रिया एव शेषा भङ्गा ऊह्याः । स्था० ४ ठा० । पद्मिनी चित्रिणी हस्तिनी शङ्खिनीति चतुर्विधाः स्त्रिय इति । उत्त० । १६ अ० ।

एतासां लक्षणादिकम्-"पद्मिनी चित्रिणी चैव शङ्खिनी हस्तिनी तथा । शशो मृगो वृषोऽश्वश्च स्त्रीपुंसोर्जाति लक्षणम् । भवति कमलनेत्रा नासिकाक्षुद्ररन्ध्रा अविरलकुचयुग्मा चारुकेशी कृशाङ्गी । मृदुवचनसुशीला गीतवाद्यानुरक्ता सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा १ भवति रतिरसज्ञा नातिखर्वा न दीर्घा तिलकुसुमसुनासा स्निग्धनीलोत्पलाक्षी। घनकठिनकुचाढ्या सुन्दरी बद्धशीला सकलगुणसमेता चित्रिणी चित्रवक्त्रा २ । दीर्घातिदीर्घनयना वरसुन्दरी या कामोपभोगरसिका गुणशीलयुक्ता । रेखात्रयेण च विभूषितकण्ठदेशा सम्भोगकेलिरसिका किल शङ्खिनी सा। ३। स्थूलाधरा स्थूलनितम्बभागा स्थूलाङ्गुली स्थूलकुचा सुशीला । कामोत्सुका गाढरतिप्रिया या नितम्बखर्वा करिणी मता सा ४ शशके पद्मिनी तुष्टा चित्रिणी रमते मृगे । वृषभे शङ्खिनी तुष्टा हस्तिनी रमते हये । ५ पद्मिनी पद्मगन्धा च मीनगन्धा च चित्रिणी । शङ्खिनी क्षारगन्धा च मदगन्धा च हस्तिनी । ६ थाच० स्त्रीणामुष्णस्वभावत्व "गिम्हो इत्थियत्ति" ग्रीष्मास्त्री भवतीति । औप० ॥

(३) स्त्रीणां स्वभावादि परिज्ञानस्यावश्यकता तत्कृत्यवर्णञ्च तत्र स्वभावपरिज्ञानं यथा ॥

जस्सित्थिओ परिण्णाया सव्वकम्मावहाओ से दक्खू ॥

यस्य स्त्रियः स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाता भवन्ति । सर्वं कर्म्मावहन्तीति सर्वकर्म्मावहाः सर्वपापोपादानभूताः स एवाद्राक्षीत्स एव यथावस्थितं संसारस्वभाव ज्ञातवानिति। एतदुक्त भवति स्त्रीस्वभावपरिज्ञानेन तत्परिहारेण च स भगवान् परमार्थदर्श्यभूदिति । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

स्त्रीणां स्वभावादिपरिज्ञानञ्च निर्युक्तौ यथा ॥

सुसमत्थावसमत्था, कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा ॥
दीसंती सूरवादी, णारीवसगा ण ते सूरा ॥ ६१ ॥

परानीकविजयादौ सुष्ठु समर्था अपि सन्तः पुरुषाः स्त्रीभिरात्मवशीकृता असमर्था भ्रूक्षेपमात्रभीरवः क्रियन्तेऽल्पसात्विकाः स्त्रीणामपि पादपतनादिचाटुकरणेन निःसाराः क्रियन्ते । तथा दृश्यन्ते प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते । शूरमात्मानं वदितुं शीलं येषां ते शूरवादिनोऽपि नारीवशगाःसन्तो दीनतां गताः एवंभूताश्च न ते शूरा इति । तस्मात् स्थितमेतदविश्वास्याः स्त्रिय इति । उक्तं च । को वीससेज्ज तासिं, कतिवय भरियाण दुब्बियड्डाणे । खणरत्त विरत्तेण, धिरत्थु इत्थीण हिययाणं ॥ १ ॥ अन्न भणंति पुरओ, अन्न पासेइ विज्भमाणीओ । अन्नं च तासि हियए, ज च खमं तं करिंति पुणो ॥ २ ॥ को एयाणं णाहिइ, वेत्तलया गुम्मगुविलहिययाणं । भावं भग्गासाणं, तत्तुप्पन्न भणंतीणं ॥ ३ ॥ महिलायरत्तमेत्ता, उच्छुखंडं च सक्करा चेव। सा पुण विरत्तमित्ता, णिबकूरे विसेसेति ॥४॥ महिला दिज्ज करेज्ज व, मारिज्ज वसं ठविज्जवमणुस्सातुट्ठा जीवाविज्जा, अहवरणर के च पावेज्जा ॥५॥ ण वि रक्ख तेसु कयं, ण वि णेहं ण वि य दाण सम्माणं ॥ ण कुलं ण पुव्वयं आय-णं च शीलं महिलियाओ । ६ मा वीसम्भह ताण, महिलाहिययाण कवडभरियाण । णिण्णेह निद्दयाण, अलियवयणजपणरयाणं ॥७॥ मारेइ जियंतं पि हु मय पि अणुसरइ काइ भत्तारं ॥ विसहरगइचरियं, वंकविवंकं महेलाणं ॥ ८ ॥ गंगाए वालुयं सा-गरे जलं हिमवओ य परिमाणं ॥ जाणंति बुद्धिमंता, महिला हियय ण जाणति ॥ ९ ॥ रोवावति रुयंति य, अलिय जंपंति पत्तियावति ॥ कवडेणय खंति विसं, मरंति ण य जाति सब्भाव ॥ १०॥ चिंतिंति कज्जमन्नं, अन्नं सठवइ भासई अन्न ॥ आढवइ कुणइ अन्नं, माइणिं सूणियरूि सारो ॥ ११ ॥ असयारंभाण तहा, सव्वेसिं लोग गरहणिज्जाण ॥ परलोगवेरियाण, कारणय चेव इत्थीओ । ॥ १२ ॥ अहवा को जुवईण, जाणइ चरिय सहावकुडिलाण । दोसाण आगरो च्चिय, जणे सरीरे वसइ का सा ॥ १३ ॥ मूलं दुच्चरियाण, हवइ उ णरयस्स वत्तिणी विउला। मोक्खस्स महाविग्घ, वज्जेयव्वा सया नारी ॥१४॥ धन्ना ते वरपुरिसा, जे च्चिय मोत्तूण णिययजुवईओ । पव्वइया कयानियमा, सिवमयलमणुत्तरं पत्ता ॥ १५ ॥"

अधुना यादृकःशूरो भवति तादृशं दर्शयितुमाह ॥

धम्मम्मि जो दढमई, सो सूरो सत्तिओ य वीरो य ॥
णहु धम्मणिरुस्साहो, पुरिसो सूरो सुवलिओ य ॥ ६२ ॥

धर्मे श्रुतचारित्राख्ये दृढा निश्चला मतिर्यस्य स तथा एवंभूतः स इन्द्रियनोइन्द्रियारिजयाच्छूरस्तथा सात्विको महासत्त्वोऽपि-तोऽसावेव वीरः स्वकर्मदारणसमर्थोऽसावेवेति किमिति यतो नैव धर्मनिरुत्साह' सदनुष्ठाननिरुद्यमः सत्पुरुषाचीर्णमार्गप-रिभ्रष्ट' पुरुष' सुष्ठु यद्यवानपि शूरो भवतीति ॥

एतानेव दोषान् पुरुषसबन्धेन स्त्रीणामपि दर्शयितुमाह ।

एते चेव य दोसा, पुरिससमाए विइत्थियाणं पि ।
तम्हाण अप्पमाओ, विरागमग्गंमि तासिं तु ॥६३॥

ये प्राक् शीलप्रच्यवसादयः स्त्रीपरिचयादिभ्यः पुरुषाणामभि-हिता एत एव न न्यूनाधिका· पुरुषेण सह य' समयः सबन्धस्त-स्मिन् स्त्रीणामपि यस्माद्दोषा भवन्ति तस्मात्तासामपि विरा-गमार्गे प्रवृत्तानां पुरुषपरिचयादिपरिहारलक्षणोऽप्रमाद एव श्रेयानिति । स्त्रीपरिज्ञाध्ययने च विस्तरेण स्वापरिज्ञानमप्रति-पादितम् तद्यथा—

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसंजोगं ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु ॥१॥

यः कश्चिदुत्तमसत्त्वो मातरं पितरं जननीं जनयितारमेतद्ग्रह-णादन्यदपि भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्वशुरादिकं पश्चात्संयोगञ्च विप्रहाय त्यक्त्वा चकारौ समुच्चयार्थौ एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा तथा सहितो ज्ञा-नदर्शनचारित्रैः स्वस्मै वा हितः स्वहितः परमार्थानुष्ठानविधा-यी चरिष्यामि संयमं करिष्यामीत्येवं कृतप्रतिज्ञ' । तामेव प्रतिज्ञां सर्वप्रधानभूतां लेशतो दर्शयति आरतमुपरतं मैथुनं कामाभिलाषो यस्यासावारतमैथुनस्तदेवभूतो विविक्तेषु स्त्री-पशुपण्डकवर्जितेषु स्थानेषु चरिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनो-त्थाय विहरतीति क्वचित्पाठो (विविचेसिच्ति) विविक्तं स्त्रीप-ण्डकादिरहितं स्थानं सयमानुपरोध्येषितुं शीलमस्य तथेति ।

तस्यैव कृतप्रतिज्ञस्य साधोर्यद्भवत्यविवेकिस्त्रीजना-त्तद्दर्शयितुमाह—

सुहुमेणं तं परक्कम्म, छन्नपएण इत्थिओ मंदा ।
उवायं पि ता उ जाणंसु, जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥२॥

तं महापुरुषं साधुं सूक्ष्मेणापरकार्यव्यपदेशभूतेन छन्नप-देनेति छद्मना कपटजालेन पराक्रम्य तत्समीपमागत्य यदि वा पराक्रम्येति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय का स्त्रियः कूलवालकादीनामिव मागधगणिकाद्या नानाविधकपटशतक-रणदक्षा विविधविब्वोकवत्यो भावमन्दाः कामोद्रेकविधायि-तया सदसद्विवेकविकला· समीपमागत्य शीलात् ध्वंसयन्ति । एतदुक्तं भवति भ्रातृपुत्रव्यपदेशेन साधुसमीपमागत्य संयमा-द्भ्रंशयन्ति तथा चोक्तम् । " पियपुत्त भाइकिडगा, णत्तू च किडगा य सयणकिडगा य ॥ एते जोव्वणकिडगा, पच्छन्नपइ-महिलियाणं " यदि वा छन्नपदेनेति गुप्ताभिमानेन । तद्यथा । "काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु । मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु" इत्यादि ॥ ता स्त्रियो मायाप्रधाना प्रतारणोपायमपि जानन्त्युत्पन्नप्रति-भतया विदन्ति । पाठान्तरं वा ज्ञातवन्त्यः यथा श्लिष्यन्ते विवे-किनोऽपि साधव एके तथाविधकर्मोदयात्तासु सङ्गमुपयान्ति ॥

तानेव सूक्ष्मप्रतारणोपायान् दर्शयितुमाह—

पासे भिसं णिसीयंति, अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति ।
कायं अहे वि दंसंति, बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ॥३॥

पार्श्वे समीपे भृशमत्यर्थमुरु' पीनमतिस्नेहमाविष्कुर्वत्यो निषी-दन्ति विश्रम्भमापादयितुमुपविशन्तीति । तथा काम पुष्णा-तीति पोषं कामोत्काचकारि शोभनमित्यर्थः । तच्च तद्वस्त्रं तदभीक्ष्णमनवरतं तेन शिथिलादिव्यपदेशेन परिदधति स्वा-भिलाषमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधानं शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्तीति । तथाऽधःकायमूर्वादिकमनङ्गोद्दीपनाय दर्श-यन्ति प्रकटयन्ति तथा बाहुमुद्धृत्य कक्षामादर्श्यानुकूल सा-ध्वभिमुखं व्रजेत् गच्छेत् संभावनायां लिङ् सम्भाव्यते एतदन-ङ्गप्रत्यङ्गसंदर्शकत्वं स्त्रीणामिति ॥ ३ ॥ अपिच—

सयणासणेहिं जोगेहिं, इत्थिओ एगता णिमंतंति ॥
एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं पर्यङ्कादि तथाऽऽस्यतेऽस्मिन्नित्यास-नमासन्दकादीत्येवमादिना योग्येनोपभोगार्हेण कालोचितेन स्त्रि-यो योषित एकदेति विविक्तदेशकालादौ निमन्त्रयन्त्यभ्युप-गमं ग्राहयन्ति । इदमुक्तं भवति । शयनासनाद्युपभोगं प्रति साधुं प्रार्थयन्ति । एतानेव शयनासननिमन्त्रणरूपान् स साधुर्विदि-तवेद्यः परमार्थदर्शी जानीयादवबुध्येत । स्त्रीसंबन्धिकारिणः पाशयन्ति बध्नन्तीति पाशा स्तान्विरूपरूपान् नानाप्रकारा-निति । इदमुक्तं भवति । स्त्रियो ह्यासन्नगामिन्यो भवन्ति । तथाचोक्तं । "अवं वा निंबं वा, अब्भासगुणेन आरुहइ वल्ली । एवं इत्थी तो वि, जं आसन्नं तमिच्छति " । १ । तदेवं भूताः स्त्रियो ज्ञात्वा न ताभिः सार्धं साधुः सङ्गं कुर्याद्यतस्तदुपचारा-दिकः सङ्गो दुष्परिहार्यो भवति । तदुक्तं । " जं इच्छसि घेत्तुं जे, पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि । आमिसपासनिबद्धो, काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥ २ ॥ ४ ॥ किञ्च—

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे ॥
णो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥५॥

नो नैव तासु शयनासनोपमन्त्रणपाशावपाशिकासु स्त्रीषु चक्षुर्नेत्रं सदध्यात्सन्धयेद्वा न तद्दृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत् । सति च प्रयोजने ईषदवज्ञया निरीक्षेत । तथाचोक्तं । " कार्ये पीष-न्मतिमान्निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया । अस्निग्धया दृशाऽव-ज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥ १ ॥ तथा नापि च साहसम-कार्यकरणं तत्प्रार्थनया समनुजानीयात्प्रतिपद्येत । तथा ह्या-सति साहसमेतत्संग्रामावतरणवच्छकपातादिविपाकवेदि-नोऽपि साधोर्योषिदासञ्जनमिति । तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रा-मादौ विहरेत् गच्छेत् । अपि शब्दान्न ताभिः सार्धं विविक्ता-सनो भवेद्यतो महापापस्थानमेतद्यतीनां यत् स्त्रीभिः सहसा-ङ्गत्यमिति ॥ तथाचोक्तम् "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विवि-क्तासनो भवेत् ॥ बलवानिन्द्रियग्राम' पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥ १ ॥ एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेभ्यो रक्षितो भवति । यतः सर्वापायानां स्त्रीसबन्धः कारणमतः स्व-हितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति ॥ ५ ॥

कथं चैता· पाशा इव पाशिका इत्याह ।

आमंतिय उस्सविय, भिक्खुआयसा निमंतंति ॥
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥ ६ ॥

स्त्रियो हि स्वभावेनैवाकर्तव्यप्रवणा' साधुमामन्त्र्य यथाहम-मुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामीत्येवं संकेतं ग्राहयि-त्वा तथा (उस्सवियत्ति) संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरा-लापैर्विश्रम्भे पातयित्वा पुनरकार्यकरणायात्मना निमन्त्रयन्त्या-

त्मनोपभोगेन साधुमभ्युपगमं कारयन्ति। यदि वा साधोर्भया-पहरणार्थं ता एव योषितः प्रोचुस्तद्यथा भर्तारमामन्त्र्यापृच्छ्या-हमिहायाता तथा संस्थाप्य भोजनपदधावनशयनादिकया क्रिययोपचर्य ततस्तवान्तिकमागतेत्यतो भवता सर्वा मद्भर्तृ-जनितामाशङ्कां परित्यज्य निर्भयेन भाव्यमित्येवमादिकैर्वचोभि-र्विश्रम्भमुत्पाद्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ते। युष्मदीयमिदं शरी-रकं यादृकस्य क्षोदीयसो गरीयसो वा कार्यस्य क्षमं तत्रैव निमज्जतामित्येवमुपप्रलोभयन्ति । स च भिक्षुरवगतपरमार्थ एतानेव विरूपरूपाननानाप्रकारान् शब्दादीन् विषयान् तत्स्वरू-पनिरूपणतो ज्ञपरिज्ञया जानीयाद्यथैते स्त्रीसंसर्गापादिताः शब्दादयो विषयादुर्गतिगमनैकहेतवः सन्मार्गार्गलारूपा इत्ये-वमवबुध्येत । यथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्विपाकागमेन परिहरेदिति। ६।

(४) स्त्रीसम्बन्धे दोषा यथा—

मणबंधणेहिं णेगेहिं, कलुण विणीय मुवगसिताणं ॥
अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

मनो बध्येत यैस्तानि मनोबन्धनानि मञ्जुलालापस्निग्धाव-लोकनाङ्गप्रत्यङ्गप्रकटनादीनि । तथाचोक्तं । "णाहपियकं तसामियदइयजियाओ तुमं मह पिओ त्ति । जीए जीयामि अहं पहवसितं मे शरीरस्स ॥ १ ॥ इत्यादिभिरनेकैः प्रप-ञ्चैः करुणालापविनयपूर्वकम् (उवगसिताणति) उपसं-श्लिष्य समीपमागत्याऽथ तदनन्तरं मञ्जुलानि पेशलानि विश्रम्भजनकानि कामोत्काचकानि वा भाषन्ते । तदुक्तं "मितमहुररिभिय जपुल्ल एहि इसीकमक्खहसिएहिं । सवि गारेहि व राग हियय पिहिय मयत्थीए॥१॥ तथा भिन्नकथा-भी रहस्यालापैर्मैथुनसंबद्धैर्वचोभिः साधोश्चित्तमादाय तम-कार्यकरणे प्रत्याज्ञापयन्ति प्रवर्तयन्ति स्ववशं वा ज्ञात्वा कर्म-करवदाज्ञां कारयन्तीति ॥ ७ ॥ अपिच-

सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगचरंति पासेणं ॥
एवं थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥ ८ ॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थे। यथा बन्धनविधिज्ञा सिंहं पिशि-तादिना मिषेणोपप्रलोभ्य निर्भयं गतभीकं निर्भयत्वादेवै-कचरं पाशेन गलयन्त्रादिना बध्नन्ति बध्वा च बहुप्रकारं कदर्थयन्त्येवं स्त्रियो नानाविधैरुपायैः पेशलभाषणादिभिः (एगतियति) कंचन तथाविधमनगारं साधुं संवृतमपि मनोवाक्कायगुप्तमपि बध्नन्ति स्ववशं कुर्वन्तीति । संवृतग्रहणं च स्त्रीणां सामर्थ्योपदर्शनार्थम् यथाहि । संवृतोऽपि ताभि-र्बध्यते किंपुनरपरोऽसंवृत इति ॥ ८ ॥ किञ्च ।

अह तत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमि आणुपुव्वी ॥
बद्धे मिए व पासेणं, फंदेते वि ण मुच्चए ताहे ॥९॥

अथेति स्ववशीकरणादनन्तरं पुनस्तत्र स्वाभिप्रेते वस्तुनि नमयन्ति प्रह्वं कुर्वन्ति । यथा रथकारो वार्धकिर्नेमिकाष्ठं चक्र-बाह्यभ्रमिरूपमानुपूर्व्या नमयत्येवं ता अपि साधुं स्वका-र्यानुकूल्ये प्रवर्तयन्ति । स च साधुर्मृगवत् पाशेन बद्धो मोक्षा-र्थं स्पन्दमानोपि ततः पाशान्न मुच्यत इति ॥ ९ ॥ किञ्च ।

अह सेणु तप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं च विसमिस्सं ॥
एवं विवेगमादाय, संवासो न विकप्पए दविए ॥ १० ॥

अथासौ साधुः स्त्रीपाशावबद्धो मृगवत् कूटके पतितः सन् कुटुम्बकृते अहर्निशं क्लिश्यमानः पश्चादनुतप्यते । तथाहि । गृहान्तर्गतानामेतदवश्यं सम्भाव्यते । तद्यथा । "कोथाय ओको समविसु कोहो वणाहिं काहो थिअन्न विसको अ-ग्घाअन्न पहियन्न परिणीयन्न कोवकुमारओ पम्यितो जीवन्न रूप्परूहि परवधर पवेह भारओ "। तथा "यन्मया परिजन स्यार्थे—कृतं कर्म सुदारुणम् ॥ एकाकी तेन दह्येहं गतास्ते फल-भागिनः " ॥ १ ॥ इत्येवं बहुप्रकारं महामोहात्मके कुटुम्ब-कूटके पतिता अनुतप्यन्ते । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथा कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं भुक्त्वा पश्चात्तत्र कृतार्तेगाकुलि-तोऽनुतप्यते । तद्यथा । किमेतन्मया पापेन साम्प्रतेक्षिणा सुखरसिकतया विपाककटुकमेवंभूतं भोजनमास्वादित-मिति । एवमसावपि पुत्रपौत्रदुहितृजामातृस्वसृभ्रातृव्य भागिनेयादीनां भोजनपरिधानपरिणयनालङ्कारजातमृतक-र्मतद्व्याधिचिकित्साचिन्ताकुलोपगतस्वशरीरकर्तव्यः प्रन-ष्टैहिकामुष्मिकानुष्ठानोऽहर्निशं । तद्व्यापारव्याकुलितमतिः। परितप्यते । तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठान-स्यादाय प्राप्य विवेकमिति वा कचित्पाठस्तद्विपाकं विवेक चादाय गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं संवासो वसतिरेकत्र न कल्प्यते न युज्यते कस्मिन्नप्यभूते मुक्तिग-मनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ । यतस्ताभिः सार्धं संवा-सोऽवश्यं विवेकिनामपि सदनुष्ठानविघातकारीति ॥ १० ॥

स्त्रीसंबन्धदोषानुपदर्श्योपसंहरन्नाह ।

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा ॥
उए कुलाणि वसवत्ती, आघाते ण से वि णिग्गंथे॥११॥

यस्माद्विपाककटु स्त्रीभिः सह संपर्कस्तस्मात्कारणात् स्त्रियो वर्जयेत्। तुशब्दात्तदालापमपि न कुर्यात् । किंवदित्याह। विषोपलिप्तं कण्टकमिव ज्ञात्वाऽवगम्य स्त्रियं वर्जयेदिति । अपिच। विषदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननर्थमापा-दयेत् स्त्रियस्तु स्मरणादपि । तदुक्तं। "विषस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तमन्तरम्। उपयुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि" ॥१॥ तथा "वरिविसखइयं विसय, सुहइक्कसुविसिणमरति॥ विसयामिसपुणघाहिया, णरणरएहिं पडंति "॥१॥ तथौजए कोऽसहायः सन् कुलानि गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशवर्ती तन्निर्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्यं भजमानो धर्ममा-ख्याति योऽसावपि न निर्ग्रन्थो न सम्यक् प्रव्रजितो निषिद्धाच-रणसेवनादवश्यं तत्रापायसंभवादिति। यदा पुनः काचित्कुत-श्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदा परिसहाय-सा-ध्वभावे एकाक्यपि गत्वाऽपरस्त्रीवृन्दमध्यगतायाः पुरुषसम-न्विताया वा स्त्रीनिन्दा विषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं वि-धिना धर्मं कथयेदपीति ॥ ११ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवानाह।

जे एय उंछमणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ॥
सुतवस्सिए वि से भिक्खू नो विहरे सहाणमित्थीसु॥१२॥

ये मन्दमतयः पश्चात्कृतसदनुष्ठानाः सांप्रतेक्षिण एतदनन्त-रोक्तम् (उछंति) जुगुप्सनीयं गर्ह्यं तदत्र स्त्रीसंबन्धादिकमे-काकी स्त्रीधर्मकथनादिकं वा रूढ्य। तदनु तत्प्राते ये गृद्धा अध्युपपन्ना मूर्च्छितास्ते हि कुशीलानां पार्श्वस्थावसन्नकुशील-संसक्तयथाच्छन्दरूपाणामन्यतरा भवन्ति यदि वा काथिकप-श्यकसंप्रसारकमामकरूपाणां वा कुशीलानामन्यतरा भवन्ति तन्मध्यवर्तिनस्तेपि कुशीला भवन्तीत्यर्थः । यत एवमतः सुतप-स्व्यपि विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहोपि भिक्षुः साधुरात्महितमिच्छ-

न स्त्रीभिः समाधिपरिपन्थिनीभिः सह न विहरेत्र कचिद्दच्छेयापि सतिष्ठेत तृतीयार्थे सप्तमी । णमिति वाक्यालङ्कारे । ज्वलिताङ्गारपुञ्जवद्दूरत स्त्रियो वर्जयेदिति भावः ॥ १ ॥
(५) कतमाभिः पुन स्त्रीभिः सार्धं न विहर्तव्य— मित्येतदाशङ्क्याह ॥

अविधूयराहिँ सुण्हाहिँ, धातीहिँ अदुव दासीहिँ ॥
महतीहि वा कुमारीहिँ, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥१३॥

अपि शब्द. प्रत्येकमभिसबध्यते। (धूयराहिंति) दुहितृभिरपि सार्धं न विहरेत्तथा स्नुषा सुतभार्यास्ताभिरपि सार्धं न विविक्तासनादौ स्थातव्यम् । तथा धात्र्यः पञ्चप्रकाराः स्तन्यदायिन्यो जननीकल्पास्ताभिश्च साकं न स्थेयम् । अथवा सतां तावदपरा योषितो या अप्येता दास्यो घटयोषित सर्वापसदास्ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत् । तथा महतीभि कुमारीभिर्वाशब्दाल्लघ्वीभिश्च सार्धं संस्तव परिचय प्रत्यासत्तिरूपसोऽनगारो न कुर्यादिति । यद्यपि तस्यानगारस्य तस्यां दुहितरि स्नुषादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य शङ्कोत्पद्यते अतस्तच्छङ्कानिरासार्थं स्त्री सम्पर्क परिहर्तव्य इति ॥ १३ ॥

अपरस्य शङ्का यथोत्पद्यते तथा दर्शयितुमाह ॥

अदुणा इणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्टु एगता होंति ॥
गिद्धा सत्ता कामेहिँ, रक्खण पोसणे मणुस्सोसि ॥ १४ ॥

विविक्तयोषिता सार्धमनगारमथैकदा दृष्ट्वा योषिज्जातीनां सुहृदां वा अप्रिय चित्तदुःखासिका भवत्येव च ते समाशङ्केरन् यथा सत्वा प्राणिन इच्छामदनकामैर्गृद्धा अध्युपपन्नास्तथाह्येवंभूतोऽप्ययं श्रमण स्त्रीवदनावलोकनासक्तचेताः परित्यक्तनिजव्यापारोऽनया सार्धं निर्ह्रीकास्तिष्ठति । तदुक्तम् । मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धि, भिक्षाटनेन भरणं च हतोदरस्य । गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथापि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥ १ ॥ तथातिक्रोधाध्मातमानसाश्चैवमूचुर्यथा रक्षण पोषण चेति विग्रह्य समाहारद्वन्द्वः तस्मिन् रक्षणपोषणे सदादर कुरु । यतस्त्वमस्या मनुष्योऽसि मनुष्यो वर्तसे यदि वा परं वयमस्या रक्षणपोषणव्यापृतास्त्वमेव मनुष्यो वर्तसे यतस्त्वयैव सार्धमियमेकाकिन्यहर्निशं परित्यक्तनिजव्यापारा तिष्ठतीति ॥ १४ ॥
किंचान्यत् ॥

समणं पि दट्टु दासी-णं तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ॥
अदु भोयणेहि णत्थेहि, इत्थिदोससंकिणो होंति ॥१५॥

श्राम्यतीति श्रमणः साधुः अपिशब्दो भिन्नक्रम । तमुदासीनमपि रागद्वेषविरहान्मध्यस्थमपि दृष्ट्वा श्रमणग्रहण तपःखिन्नदेहोपलक्षणार्थं तदेवंभूतेऽपि विषयद्वेषिण्यपि साधौ तावदेके केचन रहस्यस्त्रीजल्पनकृतदोषत्वात्कुप्यन्ति । यदि वा पाठान्तरं " समण दट्ठूणुदासीणं " श्रमण प्रव्रजन्त उदासीन परित्यक्तनिजव्यापार स्त्रिया सह जल्पन्त दृष्ट्वोपलभ्य तत्राप्येके केचन तावत् कुप्यन्ति किंपुन कृतविकारमिति भावः । अथवा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्ति ते चामी स्त्रीदोषा भोजनैर्नानाविधैराहारैर्न्यस्तैः साध्वर्थमुपकल्पितैरेतदर्थमेव सत्कृतैरियमेनमुपचरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति । यदि वा भोजनैः श्वशुरादीनां न्यस्तैरर्धदत्तैः सद्भि सा वधू साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्यास्मिन् दातव्येऽन्यद्दधा-

त्ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवेयुर्यथेय दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति । निदर्शनमत्र यथा कयाचिद्वध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तण्डुला इति कृत्वा राइकाः संस्कृत्य दत्तास्ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता निजपतिना कुद्धेन ताडिता अन्यपुरुषगतचित्तेत्याशङ्क्य स्वगृहान्निर्धाटितेति ॥ १५ ॥

कुव्वंति संथवं ताहिँ, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिँ ॥
तम्हा समणा ण समें–ति आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ॥१६॥

ताभिः स्त्रीभि सन्मार्गाग्र्गलाभिः सह संस्तवं तद्गृहगमनालापदानसंप्रेक्षणादिरूप परिचय तथाविधमोहोदयात्कुर्वन्ति विदधति । किंभूताः प्रकर्षेण भ्रष्टाः स्खलिताः समाधियोगेभ्य समाधिर्धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगाः मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युताः शीतलविहारिण इति । यस्मात् स्त्रीसंस्तवात्समाधियोगपरिभ्रंशो भवति तस्मात्कारणात् श्रमणा सत्साधवो (णसमेंति) न गच्छन्ति । सद्भोभना सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषद्या स्त्रीभिः कृता माया यदि वा स्त्रीवसतिरिति आत्महिताय स्वहित मन्यमाना एतच्च स्त्रीसंबन्धपरिहरणं तासामप्यैहिकामुष्मिकापायपरिहारात्हितमिति । क्वचित्पश्चार्द्धमेव पठ्यते ॥ तत्राह " समणाउ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ " अयमस्यार्थ यस्मात्स्त्रीसंबन्धोऽनर्थाय भवति तस्मात् हे श्रमण साधो तु शब्दो विशेषणार्थः विशेषेण सन्निषद्या स्त्रीवसतिस्तत्कृतोपचाररूपा वा माया आत्महिताद्धेतोर्जहाहि परित्यजेति ॥१६॥ किं केचनाभ्युपगम्यापि प्रव्रज्यायां स्त्रीसम्बन्ध । कुर्युर्येनैवमुच्यते ओमित्याह ॥

बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुया य एगे ।
धुवमग्गमेव पवयं–ति वाया वीरियं कुसीलाणं ॥ १७ ॥

बहवः केचन गृहाण्यपहृत्य परित्यज्य पुनस्तथाविधमोहोदयान्मिश्रीभाव इति द्रव्यलिङ्गमात्रसद्भावाद्भावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवंभूता मिश्रीभाव प्रस्तुताः समनुप्राप्ता न गृहस्था एकान्ततो नापि प्रव्रजितास्तदेवंभूता अपि सन्तो ध्रुवो मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति तथाहि ते वक्तारो भवन्ति यथाऽयमेवास्मदारब्धो मध्यमः पन्थाः श्रेयान् तथा ह्यनेन प्रवृत्तानां प्रव्रज्यानिर्वहण भवतीति तदेतत्कुशीलानां वाचाकृत वीर्यं नानुष्ठानकृतम् । तथाहि–ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वय प्रव्रजिता इति ब्रुवते नतु तेषां सातगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठानकृत वीर्यमस्तीति ॥ १७ ॥ अपिच ॥

सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्सम्मि दुक्कडं करेंति ।
जाणंति य णं तहाविया, माइल्ले महासढेयंति ॥१८॥

स कुशीलो वाङ्मात्रेणाविष्कृतवीर्यः पर्षदि व्यवस्थितो धर्मदेशनावसरे सत्यात्मान शुद्धमपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठान वा रौति भाषते । अथाऽनन्तर रहस्येकान्ते दुष्कृत पाप तत्कारण वा ऽसदनुष्ठान करोति विदधाति तच्च तस्यासदनुष्ठान गोपायतोपि जानन्ति विदन्ति के तथारूपमनुष्ठान विदन्तीति तथाविद इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः । यदि वा सर्वज्ञा एतदुक्त भवति । यद्यप्यपरः कश्चिदकर्त्तव्य तेषां न वेत्ति तथापि सर्वज्ञा विदन्ति तत्परिज्ञानेनैव

किं न पर्याप्तं यदि वा मायावी महासत्त्वोऽयमित्येव तथाविदस्तद्विदो जानन्ति । तथाहि प्रच्छन्नकार्यकारी न मां कश्चिज्जानातीत्येव रागान्धो मन्यते अथ च तं तद्विदो वदन्ति । तथाचोक्तं । "न य लोणं लोणिज्जइ णय ओपिज्जइ घयं च तेल्लं वा । किह सक्का वंचेउ अप्पा अणहूय कल्लाणो" ॥ १ ॥ १८ ॥ किंचान्यत् ॥

सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठो वि पकत्थति बाले ।
वेयाणु वीइमाकासी, चोइज्जंतो गिलाइसे भुज्जो ॥१९॥

स्वयमात्मना प्रच्छन्नं यद्दुष्कृतं कृतं तदपरेणाचार्यादिना पृष्टो न वदति न कथयति यथाहमस्याऽकार्यस्य कारीति स च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वयमवदन् यदा परेणादिष्टश्चोदितोपि सन् बालोऽज्ञो रागद्वेषकलितो वा प्रकत्थते आत्मानं श्लाघमानोऽकार्यमपलपति वदति च यथाहमेवंभूतमकार्यं कथं करिष्ये इत्येवं धाष्टर्यात्प्रकत्थते । तथा वेदः पुंवेदोदयस्तस्यानुवीच्याऽऽनुकूल्यं मैथुनाभिलाष तन्माकार्षीरित्येवं भूयः पुनश्चोद्यमानोऽसौ ग्लायति ग्लानिमुपयात्यकर्णश्रुतं विधत्ते मर्मविद्धो वा सखेदमिव भाषते । तथा चोक्तम् । "संभाव्यमानपापोहमपापेनापि किं मया । निर्विषस्यापि सर्पस्य, भृशमुद्विजते जन" इति अपिच ।

उसिया वि इत्थिपोसेसु पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना ।
पन्ना समन्निताविगे, नारीण वसं उवकसंति ॥ २० ॥

स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषका अनुष्ठानविशेषास्तेषूषिता व्यवस्थिता अपि पुरुषा मनुष्या भुक्तभोगिनोपीत्यर्थः स्त्रीवेदज्ञाः स्त्रीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निपुणा अपि तथा प्रज्ञया औत्पत्तिक्यादिबुध्या समन्विता युक्ता अप्येके महामोहान्धचेतसो नारीणां सम्यक् स्त्रीणां संसारावतरणवीथीनां वशं तदायत्ततामुपसामीप्येन कषन्ति व्रजन्ति यदत्ताः स्वप्नायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वते न पुनरेतज्जानन्ति यथैता एवंभूता भवन्तीति । तद्यथा "एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-र्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति । तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीया ॥ १ ॥ तथा "समुद्रवीचीव चलस्वभावाः संध्याभ्ररेखेव मुहूर्त्तरागाः । स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ २ ॥" अत्र च स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानकमिदम् । तद्यथैको युवा स्वगृहान्निर्गत्य वैशिकं कामशास्त्रमध्येतु पाटलिपुत्रं प्रस्थितः । तदन्तरालेऽन्यतरग्रामवर्तिन्यैकया योषिताऽभिहितस्तद्यथा सुकुमारपाणिपादः शोभनाकृतिस्त्वं क्व प्रस्थितोऽसि तेनापि यथास्थितमेव तस्य कथितम् । तया चोक्तं वैशिकं पठित्वा मम मध्येनागन्तव्यं तेनापि तथैवाभ्युपगतम् । अधीत्य चासौ मध्येनायातस्तया च स्नानभोजनादिना सम्यगुपचरितो विविधहावभावैश्चापहृतहृदयः संस्तां हस्तेन गृह्णाति ततस्तया महता शब्देन फूत्कृत्य जनागमनावसरे मस्तके वारिवर्द्धनिका प्रक्षिप्ता । ततो लोकस्य समाकुले एवमाचष्टे यथायं गले लग्नेनोदकेन मनाक् मृतः ततो मयोदकेन सिक्त इति गते च लोके किं त्वया वैशिकशास्त्रोपदेशेन स्त्रीस्वभावानां किं परिज्ञातमित्येव स्त्रीचरित्रं दुर्विज्ञेयमिति नात्रास्था कर्तव्येति तथाचोक्तम् । "हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोथ पृष्ठेऽन्यत् ॥ अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत् " ॥ २० ॥

साम्प्रतमिहलोक एव स्त्रीसम्बन्धविपाकं दर्शयितुमाह ॥

अवि हत्थपादच्छेदाए, अदुवा वद्धमंस उक्कंते ।
अवि तेय साभितावणाणि, तच्छियखारसिंचणाइं च ॥

स्त्रीसम्पर्को हि संसर्गिणां हस्तपादच्छेदाय भवति । अपि सम्भावने संभाव्यते एतन्मोहातुराणां स्वकृतदुश्चरितपादच्छेदादिकम् । अथवा वर्ध्रमांसोत्कर्तनमपि तेजसाग्निनाऽभितापनानि स्त्रीसंबन्धिभिरुत्तेजितैराजपुरुषैर्भ्रष्टेनकायेऽपि क्रियन्ते या दारिकास्तया वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि च प्रापयन्तीति ॥ २१ ॥ अपिच—

अदु कण्णणासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंति ॥
इत्थ पावसंतत्ता, न य विंति पुणो न काहिंति ॥२२॥

अथ कर्णनासिकाच्छेदं तथा कण्ठच्छेदनं च तितिक्षन्ते स्वकृतदोषात्सहन्ते इत्येवं बहुविधां विडम्बनामस्मिन्नेव मानुषे च जन्मनि पापेन पापकर्मणा संतप्ता नरकातिरिक्तां वेदनामनुभवन्तीति । न च पुनरेतदेवं भूतमनुष्ठानं करिष्याम इति ब्रुवत इत्यवधारयन्तीति यावत् । तदेवमैहिकामुष्मिका दुःखविडम्बना अप्यङ्गीकुर्वन्ति न पुनस्तत्करणतया निवृत्तिं प्रतिपद्यन्त इति भाव. ॥ २२ ॥ किंचान्यत्—

सुतमेतमेवमेगेसिं, इत्थि वेदेति हु सुयक्खायं ॥
एवं पि तावदित्ताणं, अदुवा कम्मणा अवकरेंति ॥२३॥

श्रुतमुपलब्धं गुर्वादेः सकाशाल्लोकतो वा एतदिति यत्पूर्वमाख्यातम् । तद्यथा । दुर्विज्ञेयं स्त्रीणां चित्तं दारुणः स्त्रीसंबन्धविपाकस्तथा चलस्वभावाः । स्त्रियो दुष्परिचारा अदीर्घप्रेक्षिण्यः प्रकृत्या लघ्व्या भवन्त्यात्मगर्विताश्चेत्येवमेकेषां स्याख्यातं भवति लोकश्रुतिपरंपरया चिरंतनाख्यासु वा परिज्ञातं भवति । तथा स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्संबन्धविपाकतश्च वेदयति ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो वैशिकादिकं स्त्रीस्वभावाविर्भावक शास्त्रमिति । तदुक्तम् । "दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं, भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते ॥ चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र संतिष्ठते नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिता ॥ १ ॥ अपिच । "सुट्ठ विजयासु सुट्ठु वि, पियासु सुट्ठु लद्धपसरासु । अडईसु माहिं लियासु य, वीसंभो नेव कायव्वो ॥ १ ॥ उज्झेत अंगुलीसो, पुरिसो सयलंमि जीवलोयम्मि । कामे तएण नारी, जेण न पत्ताइ दुक्खाइं ॥ २ ॥ अह एयाणं पगई सव्वस्स करेंति वेमणस्साइं । तस्स ण करेंति णवरं, जस्स अलं चेव कामेहिं ॥ ३ ॥ किंच कार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा (अदुवाति) तथा पि कर्मणापि क्रियया ऽपकुर्वन्तीति विरूपमाचरन्ति । यदिवा ऽग्रतः प्रतिपाद्यापि शास्तुरेवापकुर्वन्तीति ॥ २३ ॥

सूत्रकार एव तत्स्वरूपाविष्करणायाह ॥

अन्नं मणेण चिंतेति वाया अन्नं च कम्मणा अन्नं ॥
तम्हा णसद्दहे भिक्खू बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥२४॥

पातालोदरगम्भीरेण मनसाऽन्यच्चिन्तयन्ति तथा श्रुतमात्रपेशलया विपाकदारुणया वाचा अन्यद्भाषन्ते । तथा कर्मणानुष्ठानमन्यन्निष्पादयन्ति यत एव बहुमायाः स्त्रिय इति एवं ज्ञात्वा तस्मात्तासां भिक्षुः साधुर्न श्रद्दधीत तत्कृतया मायया ऽऽत्मानं न प्रतारयेत् । दत्तावैशिकवत् । अत्र चैतत्कथानकम् । दत्ताख्यं वैशिकं एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैः प्रतार्यमाणोपि तां नेष्टवान् ततस्तयोक्तं किं मया दौर्भाग्यकलङ्काङ्कितया जीवन्त्या

प्रयोजनमहं त्वत्परित्यक्ताऽग्निं विशामि ततोऽसावेवोचत् मायया इदमप्यस्ति वैशिके तदाऽसौ पूर्वं सुरङ्गामुखे काष्ठसमुदायं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रविश्य सुरङ्गया गृहमागता । दत्तकोऽपि इदमपि चास्ति वैशिके इत्येवमसौ विलपन्नपि वातिकैश्चितायां प्रक्षिप्तस्तथापि नासौ तासु श्रद्धानं कृतवानेवमन्येनापि न श्रद्धातव्यमिति ॥ २४ ॥ किंचान्यत् ॥

जुवती समणं बूया विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहित्ता ॥
विरता चरिस्सहं रुक्खं धम्ममाइक्खणे भयंतारो ॥२५॥

युवतिरभिनवयौवना स्त्री विचित्रवस्त्रालङ्कारविभूषितशरीरा मायया श्रमणं ब्रूयात् । तद्यथा । विरताऽहं गृहपाशान्न ममानुकूलो भर्त्ता मह्यं चासौ न रोचते परित्यक्ता चाहं तेनेत्यतश्चरिष्यामि धर्ममाचक्षाणेति अस्माकं हे भयत्रातर्यथाहमेवं दुःखानां भाजनं न भवामि तथा धर्ममावेदयति ॥

किंचान्यत्–

अदु साविया पवाएणं, अहमासि साहम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुंभे जहा उवज्जोइ, संवासे वि दु विसीएज्जा ॥२६॥

अथवाऽनेन प्रवादेन व्याजेन साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत् । यथाऽहं श्राविकेति कृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येवं प्रपञ्चेन नेदीयसी भूत्वा कूलवालुकमिव साधुं धर्माद् भ्रंशयति एतदुक्तं भवति योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणां महते ऽनर्थाय तथा चोक्तम् "तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं तत्तपः स च संयमः । सर्वमेकपदे भ्रष्टं सर्वथा किमपि स्त्रियः ॥ १ ॥" अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह यथा जातुषः कुम्भो ज्योतिषोऽग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिर्वर्ती विलीयते द्रवत्येवं योषितां संवासे सान्निध्ये विद्वानपि आस्तां तावदितरो योऽपि विदितवेद्योऽसावपि धर्मानुष्ठानं प्रति विषीदेत् शीतलविहारी भवेदिति । २६ ।

(७) एवं तावत्स्त्रीसान्निध्ये विपाकान् प्रदर्श्य तत्संस्पर्शजं दोषं दर्शयितुमाह—

जतुकुंभे जोइ उवगूढे, आसुभितत्तेण समुवयाइ ।
एवि त्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

यथा जातुषः कुम्भो ज्योतिषाऽग्निनोपगूढः समालिङ्गितोऽग्नितप्तोऽग्निनाऽभिमुख्येन संतापितः क्षिप्रं नाशमुपैति द्रवीभूय विनश्यत्येवं स्त्रीभिः सार्द्धं संवसनेन परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति सर्वथा जातुषकुम्भवत् । व्रतकाठिन्यं परित्यज्य संयमशरीराद् भ्रश्यन्ति । २७ ।

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगे व माहिंसु ॥
नोहं करेमि पावंति, अंके साइणी ममे सत्ति ॥ २८ ॥

तासु संसाराभिष्वङ्गिणीष्वभिसक्ता अवधीरितैहिकामुष्मिकापायाः पापं कर्म मैथुनासेवनादिकं कुर्वन्ति विदधाति । परिभ्रष्टाः सदनुष्ठानादेके केचनोत्कटमोहा आचार्यादिना चोद्यमाना एवमाहुर्वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः । तद्यथा नाहमेवंभूतकुलप्रसूतः एतदकार्यं पापोपादानभूतं करिष्यामि ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वमङ्कशायिनी आसीत् तदेषा पूर्वाभ्यासेनैव मय्येवमाचरति न पुनरहं विदितसंसारस्वभावः प्राणात्ययेऽपि व्रतभङ्गं विधास्य इति ॥ किंच–

बालस्स मंदयं बीजं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ॥
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥ २९ ॥

बालस्याज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृश एतद् द्वितीयं मान्द्यमज्ञत्वमेकं तावदकार्यकरणेन चतुर्थव्रतभङ्गो द्वितीयं तदपलपनेन मृषावादः । तदेव दर्शयति यत्कृतमसदाचरणं भूयः पुनरपरेण चोद्यमानोऽपजानीतेऽपलपति नैतन्मया कृतमिति स एवंभूतोऽसदनुष्ठानेन तदपलपनेन च द्विगुणं पापं करोति । किमर्थमपलपतीत्याह । पूजनं सत्कारपुरस्कारस्तत्कामस्तदभिलाषी न मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति । विषण्णोऽसंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति विषण्णैषी । किंचान्यत् ॥

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ॥
वत्थं च ताय पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गहे ॥ ३० ॥

संलोकनीयं संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कंचनानगारं साधुमात्मनि गतमात्मगतमात्मज्ञमित्यर्थः । तदेवंभूतं काश्चन स्वैरिण्यो निमन्त्रणेन निमन्त्रणपुरःसरमाहुरुक्तवत्यः । तद्यथा हे तायिन् ! साधो ! वस्त्रं पात्रमन्यद्वा पानादिकं येन केनचिद्भवतः प्रयोजनं तदहं भवते सर्वं ददामीति मद्गृहमागत्य प्रतिगृहाण त्वमिति

उपसंहारार्थमाह ॥

णीवारमेवं बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं ॥
बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे ॥३१॥

एतद्योषितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं बुध्येत जानीयात् यथा हि नीवारेण केनचिद्भक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वशमानीयते एवमसावपि तेनामन्त्रणेन वशमानीयते अतस्तं नेच्छेदगारं गृहं गन्तुम् । यदि वा गृहमेवावर्त्तो गृहावर्त्तो गृहं भ्रमस्तं नेच्छेत् नाभिलष्येत् । किमिति यतो बद्धो वशीकृतो विषया एव शब्दादयः पाशा रज्जुबन्धनानि तैर्बद्धः परवशीकृतः स्नेहपाशानपत्रोटयितुमसमर्थः सन्मोहं चित्तव्याकुलत्वमागच्छति । किं कर्तव्यमूढो भवति पौनःपुन्येन मन्दोऽज्ञो जड इति । उक्तः प्रथमोद्देशकः । सांप्रतं द्वितीयः समारभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्धः इहानन्तरोद्देशके स्त्रीसंस्तवाद्यारिभ्रस्खलनमुक्तं स्खलितशीलस्य या अवस्था इहैव प्रादुर्भवति तत्कृतकर्मबन्धश्च तदिह प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्योद्देशकस्यादिमसूत्रम् ॥

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ॥
भोगे समणाण सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

अस्य चानन्तरपरस्परसूत्रसंबन्धो वक्तव्यः । स चायं संबन्धो विषयपाशैर्मोहमागच्छति । यतोऽत ओजः एको रागद्वेषवियुतः स्त्रीषु रागं न कुर्यात् । परस्परसूत्रसंबन्धस्तु संलोकनीयमनगारं दृष्ट्वा च यदि काचिद्योषित् साधुमशनादिना नीवारकल्पेन प्रतारयेत्तत्रौजः सन्न रज्येतेति तत्रौजो द्रव्यतः परमाणुर्भावतस्तु रागद्वेषवियुतः स्त्रीषु रागादिहैव वक्ष्यमाणनीत्या नानाविधा विडम्बना भवन्ति तत्कृतश्च कर्मबन्धस्तद्विपाकाच्चामुत्र नरकादौ तीव्रा वेदना भवन्ति यतोऽत एतन्मत्वा भावौजः सन् सदा सर्वकालं वाऽनर्थखनिषु स्त्रीषु न रज्येत । तथा यद्यपि मोहोदयात् भोगाभिलाषी भवेत्तथाप्यैहिकामुष्मिकापायान् परिगणय्य पुनस्ताभ्यो विरज्येत । एतदुक्तं भवति कर्मोदयात्प्रवृत्तमपि चित्तं हेयोपादेयपर्यालोचनया ज्ञानाङ्कुशेन निवर्तयेदिति । तथा श्राम्यन्ति तपसा खिद्यन्तीति श्रमणास्तेषामपि भोगा इत्येतच्छृणुत यूयम् । एतदुक्तं भवति गृहस्थानामपि भोगा विडम्बनाप्राया यतीनां तु भोगा इत्येतदेव विडम्बनाप्रायं किं पुनस्तत्कृतावस्था । तथा चोक्तं मुण्डं शिर इत्यादि पूर्ववत् । यथा यथा च भोगानेकेऽपुष्टधर्माणो भिक्-

वो यतयो विडम्बनाप्रायान् भुञ्जते तथोद्देशकसूत्रेणैव वक्ष्यमाणेनोत्तरत्र महता प्रबन्धेन दर्शयिष्यामि । अन्यैरप्युक्तम् । " कृशः काण. खञ्जः श्रवणरहित. पुच्छविकलः क्षुधा क्षामो जीर्णः पिठरककपालार्दितगलः । व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलशतैराविलतनुः शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः॥ "

(८) भोगिनां विडम्बनां दर्शयितुमाह ॥

अह तं तु भेदमावन्नं–मुच्छितं भिक्खु काममतिवहं ॥
पलिभिंदियाणं तो पच्छा, पादु ऋद्धमुद्धिपहाणंति॥ २॥

अथेत्यानन्तर्यार्थः । तुशब्दो विशेषणार्थः स्त्रीसंस्तवादनन्तरं भिक्षुं साधुं भेद शीलभेद चारित्रस्खलनमापन्न प्राप्त सन्तं स्त्रीषु मूर्छितं गृद्धमध्युपपन्नं तमेव विशिनष्टि । कामेष्विच्छामदनरूपेषु मतेर्बुद्धेर्मनसो वा वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्त. कामाभिलाषुक इत्यर्थः । तमेवम्भूत परिभिद्य मदभ्युपगतः श्वेतकृष्णप्रतिपन्नो मद्वशक इत्येव परिज्ञाय यदि वा परिभिद्य परिसार्यात्मसात्कृत चोपयेंति । तद्यथा मया तव लुञ्चितशिरसो जल्लमलाविलतया दुर्गन्धस्य जुगुप्सनीयकक्षावक्षोवस्तिस्थानस्य कुलशीलमर्यादालज्जाधर्मादीन् परित्यज्यात्मादत्तस्त्व पुनरकिंचित्कर इत्यादि भणित्वा प्रकुपितायास्तस्या असौ विषयमूर्छितस्तत्प्रत्यापनार्थ पादयोर्निपतितः । तथा चोक्तम् । " व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्च सिंहा नागाश्च दानमदराजिकृशैः कपोलैः । मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति " ॥ १ ॥ ततो विषयेष्वेकान्तेन मूर्छित इति परिज्ञानात्पश्चात्पादं निजवामचरणमुत्कृत्योत्क्षिप्य मूर्ध्नि शिरसि प्रघ्नन्ति ताडयन्त्येव विडम्बनां प्रापयन्तीति" ॥ २ ॥ अन्यच्च–

जइ केसिआणं मए भिक्खु, णो विहरे सह णमित्थिए ।
केसाए वि ह लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥ ३ ॥

केशाः विद्यन्ते यस्याः सा केशिका णमिति वाक्यालंकारे । हे भिक्षो ! यदि मया स्त्रिया भार्यया केशवत्या सह नो विहरेस्त्वं सकेशया स्त्रिया भोगान् भुञ्जानो व्रीडां यदि वहसि ततः केशानप्यहं त्वत्सङ्गमाकाङ्क्षिणी लुञ्चिष्याम्यपनेष्यामि । आस्तां तावदलंकारादिकमित्यपि शब्दार्थः अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदपि दुष्करं विदेशगमनादिकं तत्सर्वमहं करिष्ये त्वं पुनर्मया रहितो नान्यत्र चरेः । इदमुक्तं भवति मयारहितेन भवता क्षणमपि न स्थातव्यमेतावदेवाहं भवन्त प्रार्थयामि अहमपि यद्भवानादिशति तत्सर्वं विधास्य इति ॥ ३ ॥

(ए) इत्येवमतिपेशलैर्विश्रम्भजननैरापातभद्रकैरालापैर्विश्रम्भयित्वा यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह ॥

अह णं स होई उवलद्धो, तो पेसंति तहा जूएहिं ।
अलाउच्छेदं पेहेहिं, वग्गुफलाइं आहराहित्ति ॥ ४ ॥

अथेत्यानन्तर्यार्थः णमिति वाक्यालंकारे विश्रम्भालापानन्तरं यदासौ साधुर्मदनुरक्त इत्येवमुपलब्धो भवत्याकारैरिङ्गितैश्चेष्टया वा मद्वशग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः कपटनाटकनायिकाभिः स्त्रीभिस्ततस्तदभिप्रायपरिज्ञानादुत्तरकाल तथाभूतैः कर्मकरव्यापारैरपशब्दैः प्रेषयन्ति नियोजयन्ति । यदि वा तथाभूतैरिति लिङ्गस्थयोग्यैर्व्यापारैः प्रेषयन्ति तानेव दर्शयितुमाह । अलावुतुम्बं छिद्यते येन तदलावुच्छेदं पिप्पलकादिशस्त्रं (पेहाहित्ति) प्रेक्षस्व निरूपय लभस्वेति येन पिप्पलकादिना लब्धेन पात्रादेर्मुखादि क्रियत इति तथा वल्गूनि शोभनानि फलानि नारीकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वमाहरानयेति । यदि वा वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वाचो यानि फलानि वस्त्रादिलाभरूपाणि तान्याहरेति ॥ ४ ॥ अपिच ॥

दारूणि साग पागाए, पज्जोत वा भविस्सती राओ ।
पाताणि य मेरयावेहि, एहि तामेपिट्ठओ मद्दे ॥ ५ ॥

यथा दारूणि काष्ठानि शाकं पक्वस्तुलादिकं अपशाक तत्पाकार्थं क्वचिदन्नपाकायेति पाठस्तत्रान्नमोदकादिकमिति रात्रौ रजन्यां प्रद्योतो वा भविष्यतीति कृत्वा अतो अटवी तस्तमाहरेति । तथा पात्राणि पतद्गृहादीनि रञ्जयलेपय येन सुखेनैव भिक्षाटनमहं करोमि । यदि वा पादावलक्तकादिना रञ्जयेति । तथा परित्यज्यापरं कर्म तावदेहागच्छ मे मम पृष्ठमुत्मावल्येन मर्दय बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः सहारय पुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति ॥ ५ ॥ किंच—

वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नं पाणं च आहरा हित्ति ।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं मे समणु जाणाहि ॥६॥

वस्त्राणि च अम्बराणि मे मम जीर्णानि वर्तन्तेऽत प्रत्युपेक्षस्वान्यानि निरूपय यदि वा मलिनानि रजकस्य समर्पय मदुपाधिं वा मूषिकादिभयात्प्रत्युपेक्षस्वेति । तथा अन्नपानादिकमाहरानयेति तथा गन्धं कोष्ठपुटादिकग्रन्थिं वा हिरण्य तथा शोभन रजोहरण तथा लोच कारयितु महमशक्तेत्यतः काश्यप नापितं मच्छिरो मुण्डनाय श्रमणानुजानीहि येनाहं बृहत्केशानपनयामीति ॥ ६ ॥

किंचान्यत्–

अदु अंजणिं अलंकारं, कुकुरयं मे पयच्छाहि ॥
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ।७।
कुट्ठं तगरं च आगरं, संपिट्ठं सम्म उसिरेणं ।
तेल्लं मुहभिजाए, वेणुफलाइं सन्निधानाए ॥ ८ ॥

अथ शब्दोऽधिकारान्तरप्रदर्शनार्थः पूर्वलिङ्गस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिहितमधुना गृहस्थोपकरणान्यधिकृत्याभिधीयते तद्यथा (अंजणीमिति) अञ्जनिकां कज्जलाधारभूतां नलिकां मम प्रयच्छस्वेत्युत्तरत्र क्रिया । तथा कटककेयूरादिकमलंकार वा तथा (कुक्कुरयाति) खुखुणक मे मम प्रयच्छ येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणाविनोदेन भवन्त विनोदयामि । तथा लोध्र च लोध्रकुसुमं च । तथा (वेणुफलासियति) वंशात्मिका श्लक्ष्णत्वक्काष्ठिका सा दन्तैर्वामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते । तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहमविनष्टयौवना भवामीति ॥ ७ ॥ तथा (कुट्ठमित्यादि) कुष्ठमुत्पलकुष्ठ तथा ऽगर तगर च एते द्वे अपि गन्धिकद्रव्ये एतत्कुष्ठादिकमुशीरेण वीरणीमूलेन सपिष्टं सुगन्धि भवति यतस्तत्तथा कुरु तथा तैलं लोध्रकुङ्कुमादिना संस्कृत मुखमाश्रित्य (भिजाए) अभ्यङ्गाय ढौकयस्व। एतदुक्तं भवति । मुखाभ्यङ्गार्थं तथाविधं संस्कृतं तैलमुपाहरेति येन कान्त्युपेत मे मुख जायेत (वेणुफलाइति) वेणुकार्याणि करण्डकपेटिकादीनि सन्निधिः सन्निधानं वस्त्रादेर्व्यवस्थान तदर्थमानयेति ॥ ८ ॥

किंच—

नंदी चुण्णगाइं पाहराहिं, छत्तोवाणहं च जाणाहि ॥
सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि॥९॥

सुफणिं च सागपागाए आमलगा इंदगाहरणं च ।

तिलगकरणिमंजण सलागं घिंसु मे विहूणयं विजाणेहि ॥१०॥

(नदी चुसगादति) द्रव्यसयोगनिष्पादितोष्ठमृक्षणचूर्णोऽभिधीयते । तमेवभूत चूर्णं प्रकर्षेण येन केनचित्प्रकारेणाहरानयेति । तथाऽऽतपस्य वृष्टेर्वा सरक्षणाय छत्रं तथोपानहौ च ममानुजानीहि । न मे शरीरमेभिर्विना वर्तते ततो ददस्वेति । तथा शस्त्र दात्रादिकं सुपच्छेदनाय पत्रशाकच्छेदनार्थं ढौकयस्व । तथा वस्त्रमम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा नील-मीषन्नील सामस्त्येन वा नील भवत्युपलक्षणार्थत्वाद्रक्त यथा भवतीति ॥९॥ तथा (सुफणिं चेत्यादि) सुखं सुखेन वा फण्यते क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणिस्थालिपिठरादिकं भाजनमभिधीयते तच्छाकपाकार्थमानय । तथा आमलकानि धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा । तथोदकमाह्रियते येन तदुदकाहरणं कुटवर्धनिकादि अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् घृततैलाद्याहरण सर्वं वा गृहोपस्कर ढौकस्वेति । तिलक क्रियते यया सा तिलककरणी दन्तमयी सुवर्णात्मिका वा श-लाका यया गोरोचनादियुक्तया तिलक क्रियते इति । यदि वा गोरोचनया तिलक क्रियते सा च तिलककरणीत्युच्यते । तिलका क्रियन्ते पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणीत्युच्यते तथा-ञ्जन सौवीरकादि शलाका चक्षुषोरञ्जनार्थं शलाका अञ्जनशलाका तामाहरेति । तथा ग्रीष्मे उष्णाभितापे सति मे मम विधूनक व्यजनक विजानीहि ॥

संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि ।

आदंसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि ॥ ११ ॥

पूयफलं तंबोलयं, सूई सुत्तग च जाणाहि ।

कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालणं च ॥१२॥

एव समासिकं नासिकाकेशोत्पाटन फणिह केशसंयमनार्थं कङ्कतक तथा (सीहलिपासगंति) वीणासंयमनार्थमूर्णामय कङ्कणं चानय ढौकयेति । एवमासमन्ताद्दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्श स एव आदर्शकस्त प्रयच्छ ददस्वेति । तथा दन्ता प्रक्षाल्यन्ते अपगतमला क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालन दन्तकाष्ठ तन्मदन्तिके प्रवेशयेति ॥११॥ (पूयफलं चेत्यादि) पूगफल प्रतीत ताम्बूल नागवल्लीदल तथा सूचीं च सूत्र च सूच्यर्थं वा सूत्र जानीहि ददस्वेति । तथा कोशमिति वारकादिभाजन तन्मोचमेहाय समाहर तत्र मोचः प्रस्रवण कायिकेत्यर्थ । तेन मेह सेचन तदर्थं भाजन ढौकय । एतदुक्त भवति बहिर्गमन कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयादतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमन न भवति तथा कुरु । एतच्चान्यस्याप्यधमतमकर्तव्यस्योपलक्षण द्रष्टव्यम् । तथा शूर्पं तण्डुलादिशोधनार्थं तथाश्रयन्न तथा किंचन क्षारस्य सर्जिकादेर्गालनकमित्येवमादिकमुपकरण सर्वमप्यानयेति ॥ १२ ॥

किंचान्यत् ॥

चंदालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो खणइ ।

सरपायं च जयाए, गोरहगं च सामणए य ॥ १३ ॥

घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमार भूयाए ।

वासं समभिआवस्स, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

चन्द्रालकमिति देवतार्चनिकार्थं ताम्रमय भाजनमेतच्च मथुरायां चन्द्रालकत्वेन प्रतीतमिति । तथा करको जलाधारो मदिराभाजन वा तदानयेति क्रिया । तथा वर्चोगृह पुरीषोत्सर्गस्थान तदायुष्मन् मदर्थ खन संस्कुरु । तथा शरा इषवः पात्यन्ते क्षिप्यन्ते येन तच्छरपात धनुस्तज्जाताय मत्पुत्राय कृते ढौकय । तथा (गोरहगंति) त्र्यहायण बलीवर्दं च ढौकयेति (सामणएत्ति) श्रमणस्यापत्यं श्रामणिस्तस्मै श्रामणये त्वत्पुत्राय गन्त्र्यादिकृते भविष्यतीति ॥१३॥ तथा (घडिगंचेत्यादि) घटिकां मृन्मयकुल्लडिकां डिण्डिमेन पटहकादिवादित्रविशेषेण सह तथा (चेलगोलंति) वस्त्रात्मकं कन्दुक कुमारभूताय क्षुल्लकरूपाय राजकुमाररूपाय वा मत्पुत्राय क्रीडनार्थमुपानयेति । तथा वर्षमिति । प्रावृट्कालोऽयमभ्यापन्नोऽभिमुख समापन्नोऽत आवसथ गृह प्रावृट्कालनिवासयोग्य तथा भक्त च तन्दुलादिकं तत्कालयोग्य जानीहि निरूपय निष्पादय येन सुखेनैवाऽनागतपरिकल्पितावसथादिना प्रावृट्कालोऽतिवाह्यत इति । तदुक्तं " मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्तव्य मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते ' ॥ १४ ॥ एव च ।

आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए ।

अदु पुत्तदोहलट्ठाए-आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

मौञ्जे काष्ठपादुके वा सक्रमणार्थं पर्यटनार्थं निरूपय यतो नाह निरावरणपादा भूमौ पदमपि दातुं समर्थेति । अथवा पुत्रे गर्भस्थे दौहृद पुत्रदौहृद अन्तर्वत्नी फलादावभिलाषविशेषस्तस्मै तत्सपादनार्थं स्त्रीणां पुरुषा स्ववशीकृता दासा इव क्रयक्रीता इवाज्ञाप्या आज्ञापनीया भवन्ति । यथा दासा अलज्जितैर्योग्यत्वादाज्ञाप्यन्ते एव तेऽपि वराकाः स्नेहपाशावपाशिता विषयार्थिन स्त्रीभि ससारावतरणवीथीभिरादिश्यन्त इति ॥ १५ ॥

अन्यच्च-

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वाणं अहवा जहाहि ।

अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहे हवंति उट्टा वा ॥ १६ ॥

जातपुत्र स एव फल गृहस्थानाम्, तथाहि पुरुषाणां कामभोगफल तेषामपि फल प्रधान कार्य पुत्रजन्मेति । तदुक्तम् । " इद तत्स्नेहसर्वस्व, सममाढ्यदरिद्रयो । अचन्दनमनौशीर, हृदयस्यानुलेपनम् ॥ १ ॥ यत्तच्छपनिकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्तभाषिणा हित्वा सांख्य च योग च, तन्मे मनसि वर्तते-" ॥२॥ यथा लोके पुत्रसुख नाम द्वितीय सुखमात्मन इत्यादि । तदेवं पुत्र पुरुषाणां परमाभ्युदयकारण तस्मिन्समुत्पन्ने जाते तदुद्देशेन या विडम्बना पुरुषाणां भवन्ति । अमु दारक गृहाण त्वमहन्तु कर्मासक्ता न मे ग्रहणावसरोऽस्ति । अथ चैन जहाहि परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छाम्येवं कुपिता सती ब्रूते मयाऽय नव मासानुदरेणोढस्त्वं पुनरुत्सङ्गेनाप्युद्वहने स्तोकमपि कालमुद्विजस इति । दासदृष्टान्तस्त्वादेशदानेनैव साम्य भजते नादेशनिष्पादनेनैव तथाहि दासभयात्कुदम्यादेश विधत्ते स तु स्त्रीवशगोऽनुग्रह मन्यमानो मुदितश्च तथा देशं विधत्ते " यदेव रोचते मह्य, तदेव कुरुते प्रिया । इति वेत्ति न जानाति, तदप्रियं यत्करोत्यसौ ॥ १ ॥ ददाति प्रार्थितप्राणान् मातरं हन्ति तत्कृते ॥ किमदेयं किमकृत्य कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ।२। ददाति शौचं पानीय, पादौ प्रक्षालयत्यपि । श्लेष्माणमपि गृह्णाति, स्त्रीणां वशगतो नरः ॥ ३ ॥ तदेवं पुत्रनिमित्तमन्यस्मै यत्किंचिन्निमित्तमुद्दिश्य दासमिवादिशन्ति । अथ तेऽपि पुत्रान्

पोषितु शीलं येषां ते पुत्रपोषिण उपलक्षणार्थत्वादस्य सर्वादेशकारिण एके केचन मोहोदये वर्तमानाः स्त्रीणां निर्देशवर्तिनोऽपहस्तितैहिकामुष्मिकापाया उष्ट्रा इव परवशा भारवाहा भवन्तीति ॥ १६ ॥

किंचान्यात् ॥

राओ वि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा ।
सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

रात्रावप्युत्थिताः सन्तो रुदन्तं दारकं धात्रीवत् सस्थापयन्त्यनेकप्रकारैरुल्लापैः । तद्यथा ॥ " सामिओ णगरस्स-यणकउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीहपुरस्स उण्णयस्स भिन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कणकुज्जआयामुहसोरियपुरस्स य " इत्येवमादिभिरसंबद्धैः क्रीडनकालापैः स्त्रीचित्तानुवर्तिनः पुरुषास्तत्कुर्वन्ति येनोपहास्यतां सर्वस्य व्रजन्ति सुष्ठु ह्रीर्लज्जा तस्यां मनोऽन्तःकरणं येषां ते सुह्रीमनसो लज्जालवोऽपि ते सन्तो विहाय लज्जां स्त्रीवचनात्सर्वजघन्यान्यपि कर्माणि कुर्वते तान्येव सूत्रावयवेन दर्शयति । वस्त्रधावका वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव रजका इव भवन्ति अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदपि उदकवाहनादिकं कुर्वन्ति ॥ १७ ॥

किमेतत् केचन कुर्वन्तीति येनैवमभिधीयते ।
बाढं कुर्वन्तीत्याह ॥

एवं बहुहिकए पुव्वं, भोगत्थाए जो भियावन्ना ॥
दासेमिव पेसे वा, पसुभूतेव सेण वा केई ॥ १८ ॥

एवमिति पूर्वोक्त स्त्रीणामादेशकारणं पुत्रपोषणवस्त्रधावनादिक तद्बहुभिः ससाराभिष्वङ्गिभिः पूर्वं तथापरे कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ये भोगकृते कामभोगार्थमैहिकामुष्मिकापायमपर्यालोच्याभिमुख्येन भोगानुकूल्येनापन्ना व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ना इति यावत् । तथा यो रागान्धः स्त्रीवशीकृतः स दासवदशङ्किताभिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते । तथा वागुरापतितपरवशो मृग इव धार्यते नात्मवशो भोजनादिक्रियाऽपि कर्तुं लभते । तथा प्रेष्य इव कर्मकर इव क्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते । तथा कर्तव्याकर्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् पशुभूत इव यथाहि पश्वाहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एव केवलमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वात्पशुकल्पः । यदि वा स स्त्रीवशगो दासमृगप्रेष्यपशुभ्यो प्यधमत्वान्न कश्चित्, एतदुक्तं भवति सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयेत । अथवा न स कश्चिदित्युभयभ्रष्टत्वात् । तथाहि न तावत्प्रव्रजितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वान्नापि गृहस्थस्ताम्बूलादिपरिभोगरहितत्वाल्लोचिकामात्रधारित्वाच्च । यदि वा ऐहिकामुष्मिकानुष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति ॥१८॥

सांप्रतमुपसंहारद्वारेण स्त्रीसङ्गपरिहारमाह ॥

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा ।
तज्जातिआइ मे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥१९॥

एतत्पूर्वोक्त खु शब्दो वाक्यालङ्कारे तासु यत्स्थित तासां वा स्त्रीणां सबन्धि यद्विज्ञप्तमुक्तं । तद्यथा । यदि सकेशया सह न रमसे ततोऽहं केशानप्यपनयामि इत्येवमादिकम् । तथा स्त्रीभिः सार्धं सस्तवं परिचयं तत्संवासं च स्त्रीभिः सहैकत्र निवासं चात्महितमनुवर्तमानः सर्वापायभीरुस्त्यजेत्त्यजेत् । यतस्ताभ्यो जातिरुत्पत्तिर्येषां ते कामास्तज्जातिकामा रमणीसंपर्कोत्थास्तथाऽवद्यं पापं वज्रं वा गुरुत्वादधःपातकत्वेन भापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवमाख्यातास्तीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादिता इति ॥ १९ ॥

सर्वोपसंहारार्थमाह ॥

एवं भयं ण से याय इइ, से अप्पगं निरुंभित्ता ।
णो इत्थिणो पसुभिक्खुणो सयं पाणिणा णलिज्जेज्जा ॥२०॥

एवमनन्तरनीत्या भयहेतुत्वात्स्त्रीभिर्विज्ञप्तं तथा संस्तवस्तत्संवासश्च भयमित्यतः स्त्रीभिःसार्धं सपर्को न श्रेयसे असदनुष्ठानहेतुत्वात्तस्येत्येवं परिज्ञाय स भिक्षुरवगतकामभोगविपाक आत्मानं स्त्रीसंपर्कान्निरुध्य सन्मार्गेऽव्यवस्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति । न स्त्रियं नरकवीथिप्रायां नापि पशुं लीयेताश्रयेत स्त्रीपशुभ्यां सह सवासं परित्यजेत् । " स्त्रीपशुपण्डकवर्जिता शय्येति" वचनात्तथा स्वकीयेन पाणिना हस्तेनावाच्यस्य (ण लिज्जेज्जति) न संबाधनं कुर्यात् । यतस्तदपि हस्तसंवाधनं चारित्रं शवलीकरोति । यदि वा स्त्रीपश्वादिक स्वेन पणिना न स्पृशेदिति । २० । अपिच ।

सुविसुद्ध लेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी ॥
मणसा वयसा काएण, सव्वफाससहे अणगारे ॥ २१ ॥

सुष्ठु विशेषेण शुद्धा स्त्रीसपर्कपरिसहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्यान्तः करणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवभूतो मेधावी मर्यादावर्ती परस्मै स्त्र्यादिपदार्थो क्रिया परक्रिया तां च ज्ञानी विदितवेद्यो वर्जयेत्परिहरेत् । एतदुक्त भवति । विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यात् नाप्यात्मनः स्त्रिया पादधावनादिकमपि कारयेत् । एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्तथा ह्यौदारिककामभोगार्थं मनसा न गच्छति नान्य गमयति गच्छन्तमपरं नानुजानीते एव वाचा कायेन च सर्वेऽप्यौदारिके नव भेदा एव दिव्ये ऽपि नव भेदास्ततश्चाष्टादशभेदभिन्नमपि ब्रह्म बिभृयात् । यथाच स्त्री स्पर्शपरिषहः सोढव्य एव सर्वानपि शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानपि सहेत । एव च सर्वस्पर्शसहोऽनगारः साधुर्भवतीति ॥ २१ ।

क एवमाहेति दर्शयति ।

इच्चेव माहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्थ विसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाएपरिव्वएज्जासि ।

(पाठान्तर विहरे आमुक्खाए त्तिबेमि) इच्चेवमाहुरित्यादि (इत्येवं यत्पूर्वमुक्त तत्सर्वं स वीरो भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः परहितैकरत आह उक्तवान् । यत एवमतो धूतमपनीत रजः स्त्रीसंपर्कादिकृत कर्म येन स धूतरजाः । तथा धूतो मोहो रागद्वेषरूपो येन स तथा । पाठान्तर वा धूतोऽपनीतो रागमार्गो रागपन्था यस्मिन् स्त्रीसस्तवादिपरिहारात्सतथा तत्सर्वज्ञगवान् वीर एवाह । यत एवं तस्मात्स भिक्षुरध्यात्मविशुद्धः सुविशुद्धान्तःकरणः सुष्ठु रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसपर्केण मुक्तः सन्नामोक्षायाशेषकर्मक्षयं यावत् परि समन्तात्संयमेऽनुष्ठाने व्रजेद्गच्छेत्संयमोद्योगवान् भवेदिति ॥ सूत्र० ॥ १ श्रु० ४ अ० ।

(१०) स्त्रीस्वरूपस्य स्त्रीचरित्रस्य चातिनिन्दनीयत्वम् ।

तत्र स्वरूपनिन्दा यथा—

हा असुइसमुप्पनिया, निग्गया जेण चेव दारेणं ।
सत्ता मोहपसत्था, रमंति तत्थेव असुइदारम्मि ॥ १ ॥

हा इति खेदे अशुचिसमुत्पन्ना अपवित्रोत्पन्ना येनैव द्वारेण निर्गताः गर्भाद्बाह्यागत्वमापन्नाः सत्त्वा जीवाः मोहप्रसक्ता विषमरक्ताः रमन्ते क्रीडयन्ति । तत्रैवाशुचिद्वारे वेदोक-

समुद्रप्रसूतकुमारवदिति । एवं शरीराशुचित्वे सति शिष्य-प्रश्नयाति ।

किह ताव घरकुमीरी, कइसहस्सेहिँ अपरितंतेहिँ ।
वन्निज्जइ असुइबिलं, जघणं ति सकज्जमूढेहिँ ॥ ४ ॥

हे पूज्याः ! कथं तावद् गृहकुट्या स्त्रीदेहस्येत्यर्थः अपरितं तैरश्रान्तैः परिश्रमगणनारहितैः स्वकार्यमूढैः स्वस्वार्थमौल्यगतैः कविसहस्रैः (जघणंति) स्त्रीकट्यग्रभागं जगरूपमित्यर्थः वर्ण्यते वचनविस्तारेण विस्तार्यते । किंभूतं जघनम् अशुचिबिलं परमापवित्रविवरम् उक्तं च " चर्मखण्डं सदाभिन्नमपानोद्गारवासितम् । तत्र मूढाः क्षयं यान्ति प्राणैरपि धनैरपि" ॥ ४ ॥ (तत्र प्राणैः शाम्बादय क्षयङ्गताः धनैर्धम्मिल्लादय इति)

रागेण न जाणंति, वराया कलमलस्स निद्धमणं ।
ताणं परिणंदंती, फुल्लं नीलुप्पलवणं व ॥ ५ ॥

हे शिष्य ! तीव्रकामरागेण न जानन्ति हृदये, च शब्दादन्येषां न कथयन्ति वराकास्तपस्विनः कलमलस्यापवित्रमलस्य निर्द्धमनं खालु इति (ताणति) णं वाक्यालङ्कारे तज्जघनं (परिणदंतीत्ति) परमविषयासक्ता वर्णयन्ति कथं यत्कारं इवार्थे इव वर्ण्यते फुल्लं प्रफुल्लं विकसितमित्यर्थः नीलोत्पलवनमिन्दीवरकाननम् ॥ ५ ॥

कित्तियमित्तं वन्ने, अमिज्झमइयंमि वच्चसंघारो ।
रागो हु न कायव्वो, विरागमूले सरीरम्मि ॥ ६ ॥

कियन्मात्रं कियत्प्रमाणं (वन्नेत्ति) वर्णयामि शरीरे वपुषि हु यस्मादेव तस्माद्रागो न कर्त्तव्यः । स्थूलभद्रजम्बूस्वामिजम्बूस्वाम्यादिवत् । किंभूते अमेध्यप्रचुरमसिमितिति अमेध्यमये गूथात्मके इत्यर्थः । वर्चस्कसंघाते परमापवित्रविष्टासमूहे (विरागमूलेत्ति) विशिष्टो रागो विरागः मनोहरराग इत्यर्थः । तस्य मूलं कारणं कामासक्तानामङ्कारयतीरूपदर्शने चारुमथ्योतस्यैव । यद्वा विगतो रागो मन्मथनाथो यस्मात्स विरागो वैराग्यमित्यर्थः तस्य मूलं कारणं काष्ठश्रेष्ठेरिव तस्मिन्विरागमूले ॥ ६ ॥

किमिकुलसयसंकिले, असुइयमचुक्खे असासयमसारे ।
सेयमलपुव्वडम्मी, निव्वेयं वच्चह सरीरे ॥ ७ ॥

कृमिकुलशतसंकीर्णे (असुइयमचुक्खत्ति) अशुचिके अपवित्रमलव्याप्ते (अचुक्खे) अशुद्धे सर्वथा धौतुमशक्यत्वात् । अशाश्वते क्षणं २ प्रतिविनश्वरत्वात् । असारे सारवर्जिते (सेयमलपुव्वडम्मित्ति) दुर्गन्धिस्वेदमलाचिगचिगायमाने एवंविधे शरीरे जीवा यूयं निर्वेदं वैराग्यं व्रजत गच्छत चिक्रमयशोनृपस्येवेति ॥ ७ ॥

दंतमलकन्नगूहग, सिंहाणमले य लालमलबहुले ।
एयारिसवीभत्थे, दुगुंच्छणिज्जम्मि को रागो ॥ ८ ॥

दन्तमल-कर्णमल-गूथकसिंघाणमले चशब्दः शरीरगतानेकमलग्रहणसूचनार्थः । लालामलबहुले एतादृशबीभत्से जुगुप्सनीये सर्वथा निन्द्ये वपुषि को रागः ॥

को सडणपडणविकिरण-विद्धंसणचयणमरणधम्मम्मि
देहम्मी अहिलासं, कुढियकढणकट्ठभूयम्मि ॥ ८ ॥

देहे शरीरे कोऽभिलाषो वाञ्छा किंभूते शटनपतनविकिरणविध्वंसनच्यवनमरणधर्मे । तत्र शटनं कुष्ठादिनाङ्गुल्यादेः पतनं बाह्वादेः खड्गच्छेदादिना विकिरणत्वं चिनश्वरत्वं, विध्वंसनं रोगज्वरादिना जर्जरीकरणम्, च्यवनं हस्तपादादेर्देहाच्च्युतिः मरणं सर्वथा क्षयः । पुनः किंभूते कुथितकठिनकाष्ठभूते । विनष्टकर्कशदारुतुल्ये ॥ ८ ॥

कागसुणगाणभक्खे, किमिकुलभत्ते य वाहिभत्ते य ।
देहम्मि मच्छभत्ते, सुसाणभत्तम्मि को रागो ॥ १० ॥

देहे को रागः । किंभूते काकश्वानयोः घूकारीभपणयोर्भक्ष्ये खाद्ये कृमिकुलभक्ते च व्याधिभक्ते च मत्स्यभक्ते श्मशानभक्ते च ॥ १० ॥

असुई अमिज्झपुन्नं, कुणिमकलेवरकुडियपरिसवंति ।
आगंतुयसंठवियं, नवछिद्दमसासयं जाणे ॥ ११ ॥

अशुचि सदाऽविशुद्धममेध्यपूर्णं विष्टाभृतम् (कुणिमकलेवरकुडीति) मांसशरीरदृश्योर्गृहम् (परिसवतीत्ति) परिस्रवत् सर्वतो गलत् आगन्तुकसंस्थापितं मातापित्रोः शोणितशुक्रपुद्गलैर्निष्पादितं नवच्छिद्रं नवरन्ध्रोपेतम् । अशाश्वतमस्थिरम् । एवंविधं वपुस्त्वं जानीहीति ॥ ११ ॥

पिच्छसि मुहं सतिलयं, सविसेसं राएण अहरेणं ॥
सकडक्खं सवियारं, तरलच्छि जुव्वणत्थीए ॥ १२ ॥

(जुव्वणत्थीयाए त्ति)यौवनस्त्रियास्तरुण्या मुखं तुण्डं नरकतुण्डं साधुसयमनृपविपक्षस्त्वं पश्यसि नन्दिषेणशिष्यार्हत्रकस्थूलभद्रसतीर्थ्यकवत् किंभूतं सतिलकं सपुण्ड्रम् सविशेषं कुङ्कुमकज्जलादिविशेषसहितं केन सह रागेण ताम्बूलादिरागवता अधरेणोष्ठेन सह सकटाक्षमर्द्धवीक्षणसहितम् सविकारं भ्रूक्षेपसहितं यथा तपस्विनामपि मन्मथविकारजनकं तरले चपले काकलोचनवत् अक्षिणी यत्र तत्तरलाक्षि इति

पिच्छसि बाहिरमट्ठं, न पिच्छसी उज्जरं कलिमलस्स ॥
मोहेण नच्चयंतो, सीसघडिकं जियं पियासि ॥ १३ ॥

एवं त्वं बहिर्मृष्टं बाह्यभोगे मठारितं पश्यसि सरागदृष्ट्या विलोकयसि न पश्यसि अन्तर्वस्तु विलोकयसि (उज्जरंति) मध्यगतं कुचेष्टां कुर्वन् (सीसघडी कांजियपियसित्ति) मस्तकघटीरसमपवित्रं पिबसि पानं करोषि चुम्बनादिप्रकारेणेति ॥ १३ ॥

सीसघडी निगालं, जं निट्ठहसी दुगुंच्छसी जं च ।
तं चेव रागरत्तो, मूढो अइमुच्छिउं पियसि ॥ १४ ॥

मस्तकोद्भवापवित्ररसं यन्निष्ठे नयसि मूत्कृतयसि जुगुप्ससे कुत्सां करोषीत्यर्थः । यच्च त्वं तदेव रागरक्तो विषयासक्तो मूढो महामोहं गतः अतिमूर्च्छितः तीव्रमूर्च्छां गतः पिबसि ॥ १४ ॥

पूइयसीसकवालं, पूइयनासं च पूइदेहं च ।
पूइयछिद्दविछिद्दं पुइयचम्मेण यं पिणद्धं ॥ १५ ॥

पूतिकशीर्षकपालं दुर्गन्धिमस्तककर्परं पूतिकनासमपवित्रनासिकं पूतिदेहं दुर्गन्धिगात्रं पूतिकछिद्रविछिद्रम् अपवित्रबहुविधविवरकुविवरं पूतिकचर्मणा अशुभाजिनेन पिनद्धं नियन्त्रितम् ॥ १५ ॥

अंजणगुणसुविसुद्धं, न्हाणुव्वट्टणगुणेहि सुकुमालं ।
पुप्फुम्मीसियकेसं, जणेइ बालस्स तं रागं ॥ १६ ॥

अञ्जनगुणसुविशुद्धं तत्राञ्जनं लोचनकज्जलं गुणा नारूकगोफणकराखामिकादयस्तैः सुष्ठु विशुद्धमत्यर्थशोभायमानं

स्नानोद्वर्तनगुणैः सुकुमारम् । तत्र स्नानमनेकधा क्षालन मुद्वर्तन पिष्टिकादिना मलोत्तारण गुणा धूपनादिप्रकाराः यद्वा स्नानोद्वर्तनाभ्यां गुणास्तैर्मृदुत्व गत पुष्पमिश्रितं केशमनेककुसुमवासितकुन्तलमेवविध तन्मुखं मस्तक शरीरं वा बालस्य मन्मथकर्कशवाणविद्धत्वेन सदसद्विवेकविकलस्य जनयति उत्पादयति रागं मन्मथपारवश्यं येन गुर्वादिकमपि न गणयति नन्दिसेणापाढभूतिमुन्यादिवत् ॥ १६ ॥

जं सीसपूरओ त्ति य, पुप्फाइं भणंति मंदविन्नाणा।
पुप्फाइं चिय ताइं, सीसस्स य पूरयं सुणह ॥ १७ ॥

मन्दविज्ञाना मन्मथग्रहग्रथिलीकृताः (जाति) यानि पुष्पाणि कुसुमानि शीर्षपूरको मस्तकाभरणमिति भणन्ति कथयन्ति पुष्पाण्येव तानि शीर्षस्य पूरकं शृणुत यूयमिति ॥

मेओवसायरसिया, खेले सिंघाणए य बुभए यं ।
अह सीसपूरओ भे, नियगसरीरम्मि साहीणो ॥१८॥

मेदोऽस्थिकृत् वसावस्रसा चशब्दोऽनेकशरीरान्तर्गतावयवग्रहणार्थं । रसिका व्रणाद्युत्पन्नाः (खेलेत्ति) कण्ठमुखश्लेष्मा (सिंघाणेत्ति) नासिकाश्लेष्मा (यति) वर्चस्कमेतन्मेदादिक (बुभएय) कपष्व मस्तके प्रक्षेपयत । अथ शीर्षपूरको (भे) भवतां निजकशरीरे स्वाधीनः स्वायत्तो वर्तते।१८।

सा किर दुप्पडिपूरा, वच्चकुडी दुप्पया नवच्छिद्दा ।
उक्कडगंधविलित्ता, बालजणो अइमुच्छियं गिद्धो ॥१९॥

सा वर्चस्ककुटी विष्ठाकुटीरिका (किरत्ति) निश्चये दुष्पतिपूरा पूरयितुमशक्येत्यर्थः । किंभूता द्विपदा नवच्छिद्रा उत्कटगन्धविलिप्ता तीव्रदुर्गन्धव्याप्ता एवंविधा शरीरकुटी वर्तते । तां च बालजनो मूर्खलोक अतिमूर्छितं यथा स्यात्तथा गृद्धो लम्पटत्व गत. ॥ १९ ॥

कथ गृद्ध इत्याह—

जं पेमरागरत्तो, अवयासेऊण गूढमुत्तोलिं ।
दंतमलचिक्कणंगं, सीसघडिकंजियं पियासि ॥ २० ॥

यस्मात्प्रेमरागरक्तः कामरागग्रथिलीकृतो लोकः (अवयासेऊणत्ति) अवकाश्य प्रकाश्य प्रकटीकृत्येत्यर्थः (गूढमुत्तोलिति) अपवित्र रामाङ्ग पुश्चिह्न वा जुगुप्सनीय दन्तानां मल. पिप्पिका दन्तमलस्तेन सह चिकणाङ्ग चिगाचिगायमानमङ्ग शरीरमालिङ्ग्य च शीर्षघटीकाञ्जिक कपालकर्परखट्टरसं चुम्बनादिप्रकारेण (पियसीत्ति) पिबसि अतृप्तवत् घुण्टयस्यत. ॥ २० ॥

दंतमुसलेसु गहणं, गयाणमंसे य ससयमीयाणं ।
वालेसु य चमरीणं, चम्मनहे दीवियाणं च ॥ २१ ॥

गजानां दन्तमुसलेषु (गहणंतीति) ग्रहणमादान लोकानां वर्तते । मांसे चशब्दाद्रसाभङ्गादौ शशकमृगाणां ग्रहणं वर्तते। चमरीणां वालेषु ग्रहण द्वीपिकानां चित्रकव्याघ्रादीनां चर्मनखे ग्रहण चशब्दादनेकतिरश्चामनेकावयवग्रहण वर्तते । को भावः यथा गजादीनां तिरश्चां दन्तादिक सर्वेषां भोगाय भवति तथा मनुष्यावयवो न भोगाय भवति पश्चादत. कथ्यतेऽनेनादौ जिनधर्मो विधेय इति ॥ २१ ॥

पूइयकाए य इहं, चवणमुहे निच्चकालवीसत्थो ॥
आइक्खसु सब्भावं, किम्हिसि गिद्धो तुमं मूढ ॥२२॥

इह पूतिककाये अपवित्रवपुषि च्यवनमुखे मरणसन्मुखे नित्यकालविश्वस्तः सदा विश्वासं गत. (आइक्खसुत्ति) आख्याहि कथय सद्भाव हार्द (किम्हिसित्ति) कस्मादऽसि गृद्धस्त्व मूढो मूर्खः यद्वा हे मूर्ख यद्वा हे मूढ प्रह्लादचद्दशमुखादिवत्।२२।

दंता वि अकज्जकरा, वाला वि विवड्ढमाणबीभत्था ।
चम्मं पि य बीभत्थं, भण किं तसितं गओ रागं ॥२३॥

दन्ता अपि अकार्यकरा वाला अपि विवर्द्धमानाः सर्पवत् बीभत्सा भयंकराः चर्मापि च बीभत्सं भण कथय किं (तसित्ति) तस्मिन् शरीरे (तमित्ति) त्व रागं गत. ॥२३॥

सिंभे पित्ते मुत्ते, गूहम्मि य वसाइ दंत कुंडीसु ।
भणसु किमत्थं तुज्झं, असुइम्मिवि वड्ढिओ रागो ॥२४॥

(सिंभेत्ति) कफे पित्तमायुषि मूत्रे प्रस्रवणे गूथे विष्ठायां (वसाइत्ति) वसाया (दन्तकुंडीसुत्ति) इह भाजने यद्वा मकारोऽलाक्षणिकः दन्तकुड्यां यद्वा (दंतकुंडीसुत्ति) दन्तेषु भण कथय किमर्थं तवाशुचावपि वर्द्धितो रागः ॥२४॥

जंघट्ठियासु ऊरू, पइट्ठिया तट्ठिया कडीपिट्ठी ।
कडियट्ठिवेढियाइं, अट्ठारसपिट्ठिअट्ठीणि ॥२५॥

(जङ्घट्ठियासुऊरुत्ति) जङ्घास्थिकयोरूरुप्रतिष्ठितौ स्थापितौ यद्वा जङ्घास्थितयोरूरू भवत. (पइट्ठियत्ति) अत्राप पदस्यन्ध तयोरूर्वोः स्थिता तत्स्थिता कटिः श्रोणिर्भवति कट्यां प्रतिष्ठिता स्थापिता (पिट्ठित्ति) पृष्ठिर्भवति कट्यास्थिवेष्टितानि अष्टादश १८ पृष्ठ्यस्थीनि भवन्ति शरीर इति ॥ २५ ॥

दो अच्छि अट्ठियाइं, सोलस गीवट्ठियामुणेयव्वा ।
पिट्ठिप्पइट्ठियाओ, बारस किल पंसुली हुंति ॥२६॥

द्वे अक्ष्यस्थिनी भवतः षोडश ग्रीवास्थीनि ज्ञातव्यानि पृष्ठिप्रतिष्ठिताः द्वादश किलेति प्रसिद्धे पशुल्यो भवन्ति ॥२६॥

अट्ठिय कठिणे सिरन्हा, रूबंधणे मंसचम्मलेवम्मि ।
विट्ठा कोट्ठागारे, को वच्चघरो व मे रागो ॥

अस्थिनि (काठिणे) कठिने यद्वा कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथास्मिन् सिराभसानां लघ्वीतराणां बन्धनं यत्र तत्तथा तस्मिन्, मांसचर्मलेपे विष्ठाकोष्ठाकारे वर्चस्कगृहोपमे कलेवरे रे जीव तव को रागः ॥२७॥

जह नाम वच्चकूवो, निच्चं भिणि २ भणंतकायकली ।
किमिएहिं सुलसुलायइ, सो एहिं य पूइयं वहइ ॥२८॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शने नामेति कोमलामन्त्रणे सम्भावने वा (वच्चकूवोत्ति) वर्चस्ककूपो विष्ठाभृतकूपो भवति किंभूत भिणिभिणीतिशब्द (भणतत्ति) भणन् शृण्वन् कथयन् काककलिवायसससमामो यत्र स भिणिभिणित्यभणत्काककलि कृमिकैर्विष्ठानीलकुभि सुलसुलेत्येव शब्द करोतीति सुलसुलायते श्रोतोभिश्च रेलकैः पूतिक परमदुर्गन्ध वहाति स्रवति इत्यर्थः यथा विष्ठाकूप तथेदमपि शरीर ज्ञातव्य मृतावस्थायां रोगावस्थायां वेति । २८ ।

अथ शरीरस्य शवावस्थां दर्शयति गाथात्रयेण ।

उद्धियनयणं खगमुह, विकड्ढियं विप्पइन्नबाहुलयं ।
अंतविकड्ढियमालं, सीसघडी पागडीघोरं ॥
भिणि भिणि भणंत सद्दं, विसप्पियं सुलुसुलिंतमंसोडं ।
मिसि २ मिसंत किमियं, थिवि थिवि थिवि अंतबीभच्छं॥

पागारिएणं पसुलिय. निगराहं नृक संधिसंघायं ।
पाहिरं निव्वेयणगं. मरीरमेयारिसं जाण । ३१ ।

वद्भृते निष्कासिते काकादिभिर्नयने लोचने यस्य शवस्य यस्मिन् यस्माद्वा तदुद्भृतनयनं स्नायुसंबद्धाङ्गुलार्द्धं (विकारियंति) विप्रलित विशेषेण वासितं पादित गगनुसा- रिफालितम् विप्रकीर्णी अवदीर्णी विस्तारितं यं (पाहुत्य ति) बाहू प्रविष्टौ यस्य शवस्य सम् प्रसारिताहु (अतविप- रियमारोति) विफलितास्यमाय शृगालादिभिरिति (सीम गलियामिति) प्रगलया शोणितदिकया त्वचाहितकया घोर सं- ज्ञम् ॥ २८ ॥ (निलिनिलीति जर्णताणं) पालनामलकार्थ- स्याद्रुपचमानः निलिनिलीति शब्दो यत्र तत् भिणिभिणि- सणायन्तद् मक्षिकादिभिर्णभणायमानमित्यर्थः । सक्कादि- निभिसन्देन निम्नतं यजन् (सुलसुलसमसपोकति) सुलसुलायमानसोम्नपुटम (मिसिमिसिमिसनयिमिमिति) मिसिमिसीति मिसन शब्दं कुर्वन्त कृमयो यत्र तन्मिसिमिसिति मिसन् इक (थिविथिविथिविथिसत्वीमच्छेति) उपजपलय- मानत्वं दर्शनत्वं बीभत्सम्यं ॥ ३० ॥ प्रकटिता प्रकटयं मता पांशुलिका यत्र तत्प्रकटितपांशुलिक. विकराले भयो- त्पादकम् । शुष्काश्च ता मध्यमा शुष्कसन्ध्यस्तासां संघात समुदायो यत्र तच्छुष्कसन्ध्यात पतितं ममांदं। निश्चेतनत्वं वैर- पर्याप्तं शरीर यद्वा पतनादर्लं पूर्वोक्तधर्मयुक्तं त्व (जाणति) जानीहि ' जाणं ' इति पाठे तु निश्चेतनत्वं शरीरमस्मीदृशा जानामीति ॥ ३१ ॥

पयाओ असुइनरं, नरहि मोणएहिं परिक्खगतेहिं ।
आमपमलागम्ने. निव्वेयं वगद्दसरीरं ॥ ३२ ॥

नवभि श्रोतोभि परिगलद्भि घर्मस्वेदादुष्णात् सशुचिसार- स्यपिसमसम (आमगमल्लगरूपेत्ति) अपक्वशरावसदृशे शरीरे निर्वेदं वैराग्यं व्रजत विशुद्धाशरीरे विषमसयोगजम्येत । ३२।

दो हत्था दो पापा, सीसं उचं पिवं कबंधम्मि ।
कलपमलकोट्ठागारं, परिवहसि दुयादुयं ममं ॥ ३३ ॥

छिदस्ने शिपाद (सीसं उच्चप्पियति) शीर्षमुच्चमपल्येन चर्पितं यत्र नरशीर्षमर्पितं तस्मिन् यद्वा शीर्षं उच्चापन्येन स्थापितमापमिति यत्तत्तथा तस्मिन् । प्राकृतत्वाद् अनुस्वारः शीर्षोत्थापितं कलमलकोष्ठागारं पर्यायेण कबन्धे (दुयादुयंति) शीघ्र २ किं वर्चस्कं परिवहसि त्वमिति यत्र यथायोगं विम- क्तिविपरिणामो द्रष्टव्य इति ॥ ३३ ॥

तं च किर रत्तयंतं, वचनरायमग्गमाइयं ।
परगंधेहिं सुगंधयं, मन्नंतो अप्पणो गंधं ॥ ३४ ॥

तच्छरीरं (किरेत्ति) समाख्यायां रूपवत् व्रजत् राज- मार्ग (आगयंति) प्राप्त तत्र परगन्धैः पाटलचम्पकादिभिः सुग- न्धकं जातं तत्र च स्वमात्मनो गंध (मन्नंतोत्ति) जानन् दर्श- यसीति ॥ ३४ ॥

परगन्ध दर्शयति-

पाडलचंपयमल्लिय-अगरुयचंदणतुरुक्कवमीसं वा ।
गंधं समोयरंता, मन्नंतो अप्पणो गंधं ॥ ३५ ॥

पाटलचम्पकमल्लिकागुरुकचन्दनतुरुष्कामिश्र वा अथवा मिश्र संयोगोत्पन्नं यक्षकर्दमादिकं गन्धकस्तूर्यादिकं किल ते (समा यन्तोति) सर्वतो विस्तरत् पर्यायेण परगन्धमात्मगन्धमिति (मन्नतोत्ति) जानन् दर्शयसीति ॥ ३५ ॥

सुहवाससुरहिगंधं. वायसुहं अगरुगंधिय अंगं ।
केसा ण्हाणसुगंधा, कयरो ते अप्पणो गंधो ॥ ३६ ॥

मुखवासं सुगन्धचूर्णं सुरभिगन्ध सुगन्धं गन्ध शुभवाससुरभि गन्ध यात शीतलादिभि सुखं सुखं वा यत्र तत् वातसुखम अगरुगन्धो धूपनादिप्रकारेण जातोऽस्यति अगरुगन्धि तम ईदृशमङ्गं गात्रं वर्तते (केसान्हाणसुगंधत्ति) य च केशा कचा ते स्नानेन स्नपनेन सुगन्धा वर्तन्ते अथ कथय त्वं कतर कतम. ते तवात्मनो गन्ध इति ॥ ३६ ॥

अच्छिमलो कन्नमलो, खेलो सिंघाणओ य पूओ य ।
असुई मुत्तपुरिसो, एसो य अप्पणो गंधो ॥ ३७ ॥

अक्षिमलो दूषिकादि कर्णमल श्लेष्मा कफमुखश्लेष्मा (सिंघाणओत्ति) नासिका श्लेष्मा चशब्दादन्योऽपि दन्त- मलजिह्वामलगुह्यमलकक्षामलादि किल (पूओयत्ति) पूति धातुर्गन्धः तथा अशुचि सर्वप्रकारेषूत्र मलपुरीष प्रश्राव- णमयोऽनन्तरोक्तः तवात्मनो गन्ध ॥ ३७ ॥

(११) अथ वैराग्योत्पादनार्थं स्त्रीचरित्रं वर्णयति यथा-

जाओ चिय इमाओ इत्थियाओ अणेगेहिं कइवर- सहस्सेहिं विविहपासपडिबंधेहिं कामरागमोहेहिं वन्नि- याओ ताओ वि एरिसाओ-तंजहा पगइविसमाओ १ पियवयणवल्लरीओ २ कइयवपेम्मगिरितडीओ ३ अवराहसहस्सघरिणीओ ४ पभवो सोगस्स ५ विणा सो बलस्स ६ सूणा पुरिसाणं ७ नासो लज्जाए ८ संकरो अविणयस्स ९ निलओ नियडीणं १० खाणी वइ- रस्स ११ सरीरं सोगस्स १२ भेओ मज्जायाण १३ आसाओ रागस्स १४ निलओ दुच्चरियाणं १५ माइए संमोहो १६ खलणा नाणस्स १७ चलणं सीलस्स १८ विग्घो धम्मस्स १९ अरी साहूणं २० दूसणं आयार- पत्ताणं २१ आरामो कम्मरयस्स २२ फलिहो मुक्ख- मग्गस्स २३ भवणं दरिद्दस्स २४ अवि याओ इमाओ आसीविसो विव कुवियाओ २५ मत्तगओ विव मयण परवसाओ २६ वग्घी विव दुट्ठहिययाओ २७ तणच्छन्न- कूवो विव अप्पगासहिययाओ २८ मायाकारओ विव उवयारसयबंधणपओत्ताओ २९ आयरियसविधं पिव बहु गिज्झ सब्भावाओ ३० फुंफुया विव अंतोदहणसीलाओ ३१ नगवमग्गो विव अणवट्ठियचित्ताओ ३२ अंतो दुट्ठ वणो विव कुहियहिययाओ ३३ किण्हसप्पो विव अविस्ससणिज्जाओ ३४ संघारो विव छन्नमायाओ ३५ संज्झब्भरागो विव मुहुत्तरागाओ ३६ समुद्दवीची वि- व चलस्सभावाओ ३७ मच्छो विव दुप्परियत्तणसीला ओ ३८ वानरो विव चलचित्ताओ ३९ मच्चु विव निव्वि सेसाओ ४० कालो विव निरणुकंपाओ ४१ वरुणो विव पासहत्थाओ ४२ सलिलमिव निम्नगामिणीओ ४३ किवणो विव उत्ताणहत्थाओ ४४ नरओ विव

उत्तासणिज्जाओ ४५ खरो विव दुःसीलाओ ४६ दुट्ठा सो विव दुद्दमाओ ४७ बालो इव मुहुत्तहिययाओ ४८ अंधयारमिव दुप्पवेसाओ ४९ विसवल्ली अणल्लीय णिज्जाओ ५० दुट्ठग्गहा इव वापी अणवगाहाओ ५१ ठाणभट्ठो विव इस्सरो अप्पसंसणिज्जाओ ५२ किंपागफलमिव मुहमहुराओ ५३ रित्तमुट्ठी विव वालोभणिज्जाओ ५४ मंसपेसीगहणमिव सोवद्दवाओ ५५ जलियचुडली विव अमुच्चमाणडहणसीलाओ ५६ अरिट्ठमिव दुल्लंघणिज्जाओ ५७ कूडकरिसावणो विव कालविसंवायणसीलाओ ५८ चंडसीलो विव दुक्खरक्खियाओ ५९ अइविसाओ ६० दुगंछियाओ ६१ दुरुवचाराओ ६२ अगंभीराओ ६३ अविस्ससणिज्जाओ ६४ अणवत्थियाओ ६५ दुक्खरक्खियाओ ६६ दुक्खपालियाओ ६७ अरइकराओ ६८ कक्कसाओ ६९ दढवेराओ ७० रूवसोहग्गमउम्मत्ताओ ७१ भुयगगइकुटिलहिययाओ ७२ कंतारगईठाणभूयाओ ७३ कुलसयणमित्तभेयण कारियाओ ७४ परदोसपगासियाओ ७५ कयग्घाओ ७६ बलसोहियाओ ७७ एगंतहरणलोकाओ ७८ चंचलाओ ७९ जोइंभंडोवरागो विवमुहरागविरागाओ ८० अवि याइं ताओ अंतरंगभंगसयं ८१ अरज्जुओ पासो ८२ अदारुया अडवी ८३ अणालयस्स निलओ ८४ अइक्खवेयरणी ८५ अणामियावाहि ८६ अवि ओगो विप्पलावो ८७ अरु उवसग्गो ८८ रइवंतो ८९ चित्तविब्भमो ९० सव्वंगओ दाहो ९१ अणब्भयावज्जासणी ९२ असलीलप्पवाहो ९३ समुद्दरओ ९४ ॥

(जाओ चिय इमाओ) इत आरभ्य [समुद्दरओ] इति पर्यन्त गद्य या एव इमा वक्ष्यमाणा· स्त्रिय अनेकैः कविवरसहस्रै विविधपाशप्रतिबद्धैः कामरागमोहैर्मन्मथरागमूढै (वन्नियाओत्ति) वर्णिता शृङ्गारादिवर्णनप्रकारेणेति (ताओ विचित्ति) ता अपि ईदृशा वक्ष्यमाणस्वरूपा ज्ञातव्या· तद्यथा (पगइविसमाओत्ति) प्रकृत्या स्वभावेन विषमा वक्रभावयुक्ता आवश्यकोक्तपतिमारिकावत् १ (पिय०) प्रियवचनवल्लर्यो मिष्टवाणीमञ्जर्यो ज्ञातासूत्रोक्तजिनपालजिनरक्षितोपसर्गकारिणी रत्नद्वीपदेवीवत् २ (कइय०) कैतवप्रेमगिरितटय कुशिष्यकूलवालकपातिका मागधिकागणिकावत् ३ (अवरा०) अपराधसहस्रगृहरूपा ब्रह्मदत्तमातृचुलनीवत् ४ (पभवो०) अयं स्त्रीरूपो वस्तुस्वभावप्रभव उत्पत्तिस्थान कस्य शोकस्य सीतागते रामस्येव ५ (विणा०) विनाशो बलस्य पुरुषबलस्य क्षयहेतुत्वात् । उक्तंच । "दर्शने हरते चित्त, स्पर्शने हरते बलम् । सङ्गमे हरते वीर्यं, नारी प्रत्यक्षराक्षसी" ॥ इति यद्वा विनाश क्षय कस्य बलस्य सैन्यस्य कोणिकस्त्रीपद्मावतीवत् ६ (सूणा०) पुरुषाणां शूना वधस्थानं शूरिकन्ताराज्ञीवत् ७ नाशो लज्जाया लज्जाभावरहितत्वात् ब्रह्मणप्रार्थनकारिकासूर्पणखावत् । यद्वा लज्जानाश अस्या सङ्गे पुरुषस्य लज्जानाशो भवति गोविन्दद्विजपुत्रवत् । यद्वा नाश क्षय लज्जाया

परिलज्जाया· संघस्याऽऽषाढभूतियतिचारित्रक्षुल्लिकानटपुत्रीवत् ८ (सक०) सकरङ्कतकरुटकङ्ककररूक इति जनोक्तिः कस्य अविनयस्य श्वेताङ्गुल्यादिपुरुषाणां भार्यावत् ९ (निल०) निलयो गृह कासां प्रकृत्यान्तरदम्भानामित्यर्थ चण्डप्रद्योतप्रेषिता अभयकुमारवञ्चिकावेश्यावत् १० (खणीति) खानिराकर कस्य वैरस्य जमदग्निनितापसस्त्रीरेणुकावत् ११ शरीर शोकस्य वीरककादम्बिकस्त्रीवनमालावत् १२ भेदा नाशः मर्यादायाः कुलरूपाया· श्रीपतिश्रेष्ठिपुत्रीवत् यथा मर्यादाया· संयमलक्षणाया विनाश· आर्द्रकुमारसंयमस्यार्द्रकुमारपूर्वभवस्त्रीवत् १३ (आसाओत्ति) आशा वाञ्छा रागस्य कामरागस्य तद्धेतुफत्वात् । यद्वा आश्रय स्थान रागस्य उपलक्षणत्वाद् द्वेषस्यापि आर्षत्वादाकार । यद्वा आ ईषदपि अइति न स्वाद आ अस्वाद कस्य [रागस्सत्ति] धर्मरागस्य १४ (निल०) निलयो गेह केषां दुश्चरित्राणां भूयंगमचौरभगिनीवीरमतीवत् १५ (माई०) मातृकाया· समूह कमलश्रेष्ठिसुतापद्मिनीवत् १६ (खल०) स्खलना· स्खलनाः ज्ञानस्य श्रुतज्ञानादे· उपलक्षणाच्चारित्रादे रणाकुरणमुनिकादिबहुप्रसङ्गे तदभावत्वात् । अर्हन्नकक्षुल्लकवत् १७ (चल०) चलन शीलस्य ब्रह्मव्रतस्य ब्रह्मचारिणां तस्याः सङ्गे तत्र तिष्ठतीति भाव १८ (विग्घो०) विघ्नमन्तरायं धर्मस्य श्रुतचारित्रादेः १९ (अरी०) अरिर्निर्दयो रिपु केषां साधूनां मोक्षपथसाधकानां चारित्रप्राणविनाशकहेतुत्वात् महानरककारागृहप्रक्षेपकत्वाच्च कूलवालुकस्य मागधिकावेश्यावत् २० [दूस०] दूषण कलङ्क केषां (आया०) ब्रह्मवताद्याचारपालानाम् २१ आरामः कृत्रिमवन कस्य कर्मरजस· कर्मपरागस्य । यद्वा कर्म च निविडमोहनीयादि, रजश्च काम , चश्च चौर·, रव तस्याराम वाटिका २२ (फलिहोत्ति०) अर्गला यद्वा झम्पक मोक्षमार्गस्य शिवपथस्य २३ भवन गृह दरिद्रस्य २४ (अवियाउइमाउत्ति) अपि च या इमा वक्ष्यमाणा स्त्रिय· एवंविधा भवन्ति (आसीवि०) विव शब्द इवार्थे आशीविषवत् दर्पाविषभुजगमवत् कुपिता कोपङ्गता भवन्ति २५ (मत्त) मतगज उन्मत्तमतगज इव मदनपरवशा मन्मथविह्वला भवन्ति अभयाराज्ञीवत् २६ (वग्घी०) व्याघ्रीवत् दुष्टहृदया दुष्टचित्ताः पापगो मातृपरमातृमहालक्ष्मीवत् २७ (तण०) तृणच्छन्नकूप इव तृणसमूहाच्छादितान्धवत् अप्रकाशहृदया शतकश्रावकभार्यारेवतीवत् २८ (माया०) मायाकारक इव परवञ्चकमृगाधिबन्धक इव उपचारशतबन्धनशतप्रयुक्ता प्रयोक्त्र्यो वा तत्रोपचारशतानि उपचारिकवचनचेष्टादिशतानि बन्धनानि रज्जुस्नेहानि बन्धनशतानि च तेषां (पओत्ताओत्ति) प्रयोगकर्त्र्य २९ (आयरि०) अत्रापि च इवार्थे आचार्यसविधमिवानुयोगकृतसर्मापमिव बहुभिरनेकप्रकारैरनेकपुरुषैर्वा ग्राह्यो ग्रहीतु शक्य । यद्वा आर्षत्वात् (अगिज्झत्ति) अग्राह्य सर्वथाग्रहीतुमशक्य सद्भाव आन्तरचित्ताभिप्रायो यासां ता बहुग्राह्यसद्भावा । बहुग्राह्यसद्भावा वा ३० (फुंफु०) फुंफुककरीषाग्नि कोउकस्तरूत् अन्तर्दहनशीला पुरुषाणामन्तर्दुःखाभिज्वालनत्वात् । उक्तंच–" पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, शठ च मित्र चपल कलत्रम् । विलासकालेपि दरिद्रता च विना शिना पञ्च दहन्ति देहम्" ३१ (नगय०) विषमपर्वतमार्गवत् विना पञ्च दहन्ति अनवस्थितचित्ता नैकत्रस्थापितान्त करणा इत्यर्थ अनङ्गसेनसुवर्णकारजीवस्त्रीवत् यद्वा नम्नकमार्गवत् जिनकल्पिकपथवत् । नैकत्रचित्ताः यद्वा नम्नकमार्गवत् भूतावेष्टितावारवत्

नैकत्र स्थानचित्ता ३२(अतो०)अन्तर्दुष्टव्रणवत् कुथितहृदया तिप्रनष्टोन्मत्तरामावत् ३३ (किएट०) कृष्णसर्पवत् (अवि०) विश्वासकर्तुमयोग्या इत्यर्थ ३४ (संघा०) संहारवत् बहुजन्तुक्षयरच्छन्नमाया प्रच्छन्नमातृका ३५ (सञ्झ०) सन्ध्याभ्रराग- वत् मुहूर्तरागा । तथाविधदुष्प्रवेश्यावत्-३६ (समुद्द०) समुद्रवीचिवत्सागरतरङ्गवच्चलस्वभावा. चञ्चलस्वाभिप्राया ३७ (मच्छो०) मत्स्यवद्दुष्परिवर्तनशीला महता कष्टेन परिवर्तनं पश्चाद्वालयितुं शील स्वभावो यासां तास्तथा ३८ (वानर०) वानरवत् चलचित्ता चपलाभिप्राया ३९(मचु विव) मृत्युवत् मरणवत् निर्विशेषा विशेषवर्जिता ४०(कालोत्ति०) दुर्भिक्षकाल एकान्तदुष्पमाकालो वा यद्वा लोकोक्तो दुष्पसप्त्वेस्तद्वत् निरनुकम्पा दयादावर्जिता कीर्तिधरराजभार्या-सुकोमलजननीवत् । ४१ (वरु०) वरुणवत् पाशहस्ता. पुरुषाणामालिङ्गनादिभिः कामपाशबन्धनहेतुहस्तत्वात् ४२ (सलि०) सलिलमिव जलमिव प्रायो नीचगामिन्य स्वकान्तनृपनदीप्रक्षेपिका अधमपङ्गुकामिका राज्ञीवत् ४३ [किव०] कृपणवत् उत्तानहस्ता सर्वेभ्यो मातृपितृभ्रातृकुटुम्ब्यादिभ्यो विवादादायादानहेतुत्वात् ४४ (नरओ०) नरकवत् त्रासनीया दुष्टकर्मकारित्वात् महाभयङ्करा. सुकुमारिकाजीवयेऽत्यादासीघातिका कृतपुण्यनार्यावत् ४५ [खरो०] खरवत् विहानकपकर्दमवत् दुःशीला दुष्टाचारा निर्लज्जत्वेन यत्र तत्र ग्रामनगरारण्यमर्तक्षेत्रप्रदेशोपाध्ययर्तत्वदृ-हगर्तत्रादिष्वादौ पुरुषाणां घात्याचारित्वात् । तथाविधव्रजा दुष्टरामीरामिकामुसिङ्गकादीनामिव ४६ [दुट्ठस्सा०] दुष्टा-श्ववत् कुग्रहणवेत्करवत् दुर्दमा. सर्वप्रकारैर्निखिलीकृता अपि पुनः पुरुषसंयोगे स्वकामाभिप्रायकर्पणहेतुत्वात् ४७ [बालो] बालवत् शिशुवत् मुहूर्तहृदया मुहूर्तानन्तरं प्रायोऽन्यत्र रागधारकत्वात् काषिकग्रामणामसरूलानीवत् ४८ [अंधकार०] कृष्णपूर्तप्रादिभयम् अन्धकारमरणवन्मसुखोहृदयगतमस्कार्य वा तद्वत् दुष्प्रवेशा मायामहान्धकारगहन येन देवानामपि दुष्प्रवेश्यत्वात् ४९ [विस०] विषवल्लीवत् हालाहलविषलतावत् [वण००] अनाश्रयणीया. सर्वथा सङ्गादिकर्तुमयोग्यास्तात्कालप्राणप्रयाणहेतुत्वात् पर्वतकराजस्य नन्दपुत्रीविषकन्यावत् ५० [दुट्ठगाहा व०] दुष्टग्राहा निर्दयमहामकरादि-जलजन्तुभिरिताप्यपीवत् । अनवग्राह्या महता कष्टेनापि अप्रवेशयोग्या सुदर्शनश्रेष्ठिवत् ५१ [ठाणभ्र०] स्थानभ्रष्ट ईश्वरो ग्रामनगरादिनायकस्तद्वत् । यद्वा स्थानं चारित्रगुरुकुलवासादिकं तस्माद्भ्रष्ट ईश्वरश्चारित्रनायकः साधुरित्यर्थस्तद्वत् । यद्वा स्थानं सिद्धान्तव्याख्यानरूपं तस्माद्भ्रष्ट उत्सूत्रप्ररूपणेन ईश्वरो गणनायक आचार्य इत्यर्थ तद्वत् । यद्वा स्थानभ्रष्टो दुष्टाचारे रक्त इत्यर्थः ईश्वरः सत्यकीविद्याधरस्तद्वत् अप्रशंसनीयाः साधुजनैः प्रशंसांकर्तुं योग्या नेत्यर्थः ५२ (किंपाग०) किंपाकफलमिव मुखे आदौ मधुरा महाकामरसोत्पादिका परं पश्चाद्विपाकदारुणा अज्ञातदत्तवनितेव ५३ (रित्तमु०) रिक्तमुष्टिवत् पोल्लकमुष्टिकवत् बालप्रलोभनीया अव्यक्तजनलोभनयोग्या वल्कलचीरीतापसवत् ५४ [मंस०] मांसपेशीग्रहणमिव सोपद्रवा यथा केनापि सामान्यपक्षिणा कुतश्चित् स्थानान्मांसपेशीप्राप्ती तस्य अन्यदुष्टपक्षिकृतानेकशरीरपीडाकरणे उपद्रवा भवन्ति तथा रामाग्रहणेऽनेके इह भवे परभवे दारुणा उपद्रवा जायन्ते । यद्वा । यथा मत्स्याना मांसपेशीग्रहण सोपद्रवं तथा नराणामपीति

५५ [जलि०] अमुञ्चन्ति अत्यजमानाः [जालियमुम्मिलीव-वत्ति] प्रदीप्ततृणपूलिकेव दहनशीला ज्वालनस्वभावाः ५६ [अरि०] अरिष्टमिव दुर्लङ्घनीया ५७ [कूड०] कूटकार्षापण इवासत्यनाणकविशेष इव कालविसंवादनशीला काल विघातस्वभावा अकालचारिण्य इत्यर्थ. ५८ [चण्ड०] चण्डशील इव तीव्रकोपीव दुःखरक्षिता ५९ [अतिविसाओत्ति०] अतिविषादा दारुणविषादहेतुत्वात् यद्वा [अतीति] अति क्रान्तो गतोऽकार्यकरणे विषाद भेदो यासां तास्तथा यद्वा अतीति विष अतिविषम् आ समन्तात् ददति पुरुषाणा सरि कान्तावत् यास्ता अतिविषादा यद्वा अतीति प्रवृद्धा प्रीति नानाविध. स्वादो विषयाणामास्वादो यासां ता अतिविषादाः अथवा अतिविषयात् प्रचुरपञ्चेन्द्रियसम्पदवत् षष्ठी नरकभूमि यावत् सुभद्रमातृवत् गच्छन्ति यास्ता अतिविषयगा प्राकृतत्वात् यकारलोपे सन्धि । यद्वा स्वेन्द्रियविषयप्राप्तौ अति विषादा इति । यद्वा अतिवृष तीव्र पुण्य येषान्ते अतिवृषा मुनयस्तेषामासमन्तात् वसत्यन्तो वहिश्च कायन्ति वमयन्ति यम इवाचरन्ति चारित्रप्राणकर्षणत्वेन यास्ताः अति वृषाका यद्वा कायन्ति अनयन्ति समितिगृहज्वालनत्वेन यास्ता. अतिवृषाका यद्वा लोकानामतिवृषे तीव्रपुण्यधने आवृत्य चायन्ति चोरयन्ति यास्ता. अतिवृषाचा ६० (दुगुंछि) जुगुप्सिका जुगुप्सां कर्तुं योग्या मुनीनाम् ६१ (दुरु०) दुरुपचारा दुष्टोपचाराणितौ यत्नादिविस्तारो यासा तास्तया ६२ अगम्भीरा गम्भीरगुणरहिता ६३ (अवि०) अविश्वसनीया विश्वासं कर्तुमयोग्या. ६४ (अण०) अनवस्थिता. नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठन्तीत्यर्थ ६५ (दुक्ख०) दुःखरक्षिता कष्टेन रक्षणयोग्या यौवनावस्थायाम् ६६(दुक्खपा०) दुःखपालिता दुःखेन पालयितुं शक्या बालावस्थायाम् ६७(अरइ०)अरतिकरा. उद्वेगजनिका ६८(कक्क०) कर्कशा इह परत्र कर्कशदुःखोत्पादकत्वात् ६९दढवैरा इह परत्रदारुणवैरकारणत्वात् ७०[रूव०]रूपसौभाग्यमदमत्ताः तत्र रूप वार्याकृति सौभाग्य स्वकीर्तिश्रवणादिरूप मदोन्मत्ता इव ७१[भुय०] भुजगगतिवत् कुटिलहृदया. ७२ [कंता०] कान्तारगतिस्थानतुल्या कान्तारे दुष्टश्वापदाकुले महारण्ये गतिरेकाकित्वेन गमनं स्थानं चैकाकित्वेन वसनं तयोस्तुल्यास्तुल्या. दारुणमहाभयोत्पादकत्वात् ७३ (कुलस०) कुलस्वजनमित्रभेदनकारिका यंशकातिलुब्धदिनाशजनिका. ७४ [पर०] परदोषप्रकाशिका. अन्यदोषप्रकटकारिका. ७५ (कय०) कृत घ्नाः प्रणपालादिप्रदत्तं घ्नन्ति सर्वथा नाशयन्तीत्येव शीला कृतघ्नाः ७६ [बलसो०] बलं पुरुषवीर्यं प्रतिसङ्गसङ्गं वा शोधयन्ति नाशयन्तीत्येव शीला बलशोधिका' । यद्वा बलेन स्वसामर्थ्यलक्षणेन च निशादौ जारपुरुषादीना शोधिकास्तच्छुद्धिकारिका बलशोधिका. । यद्वा बलयोरलयोरैक्याद्बलशोधिका स्वेच्छया पाणिग्रहणकरणत्वात् धम्मिलश्रीवृन्दवत् ७७ (एग०) एकान्ते विजने हरणं नेतव्य पुरुषाणां विषयार्थमेकान्तहरणम् यद्वा एकान्ते दूरग्रामनगरदेशादौ स्वकुटुम्बादिजनरहिते हरण तत्र पुरुषाणां विषयार्थं लात्वा गमनमित्यर्थः तत्र कौशलाः वनसूकरतुल्या. यथा सूकर. किमपि सारं कन्दादिक भक्ष्यं प्राप्य विजने गत्वा भक्षयति तथैमाः ७८ [चच०] चञ्चलाश्च ७९ [जोइस्समो०] ज्योतिर्भाण्डोपरागवत् अग्निभाजनसमीपरागवत् [मुहरा०] मुखरागविरागा यथाग्निभाजनसमीपे मुख रागवद्भवति अन्ते विराग तथैमाः । यद्वा (जोइस्समोवरागाओत्ति) पाठे तु ज्योतिर्भाण्डस्येवो-

परागाः यथा ज्योतिर्ज्ञाण्टमग्निभाजनमुपसमीपे रागवद्भवति तथेमाः वस्त्रादिभिरुप समीपे रागवत्यो भवन्तीत्यर्थः ८० [अवियाइति] अपि चेति अभ्युच्चये आ इति वाक्यालङ्कारे [तओत्ति] ता· स्त्रियः [अंतर०] अन्तरङ्गसङ्कशतमभ्यन्तरविघटनशतम् अस्यापेक्षयायात पुरुषस्य परस्पर मैत्र्यादिविनाशहेतुत्वात् । यद्वा अन्तर्मध्ये [रगत्ति] पुरुषाणां ब्रह्मव्रतचारित्रादिरागस्तस्य भङ्गशत तस्य विघ्नहेतुत्वात् ८१ (अरज्जु) अरज्जुकः पाशः रज्जुक विना बन्धनमित्यर्थः ८२ [अदा] अदारु काष्ठादिरहिता अटवी कान्तार यथा दारुका अटवी मृगतृष्णाहेतुर्भवति तथेमाः यथा काष्ठादिरहिता अटवी कदापि न ज्वलति यथेयमपि पाप कृत्वा न ज्वलति न पश्चात्ताप करोतीत्यर्थः नृपनकलङ्कदात्रीश्रावकभार्यावत् । ८३ [अणाल०] न आलस्यमनुत्साहो ऽनालस्य तस्य निलयः अकार्यादौ सादर प्रवृत्तिहेतुत्वात् ८४ [अइक्खवेयरणीत्ति.] ईक्कदर्शनाङ्कनयोरिति वचनात् अनैक्यवैतरणी अदृक्ष्यवैतरणी परमाधार्मिकविकुर्वितनरकनदी तत्सङ्गे तदवाप्तिहेतुत्वात् अतीक्ष्णवैतरणी वा ८५ [अणा०] अनामिको नामरहितो व्याधिरसाध्यरोग इह परत्र तत्कारणत्वात् ८६ [अविओ०] न वियोगः पुत्रमित्रादिविरह· अवियोगः विप्रलापः तीव्रखेद· ८७ अरुक् रोगरहित उपसर्ग· [अरु०] यद्वा आर्षत्वाद्धकारलोपे अरूपो रूपरहित उपसर्ग उत्पात ८८ [रइ०] रति· कामप्रिया विद्यतेऽस्येति रतिमान् कन्दर्पोऽयमिति ८९ (चित्त विब्भम) चित्तभ्रमकारणम् यद्वा रतिमान् सुखदायी मनोभ्रमो मनोविकारः ९० [सव्वग०] सर्वाङ्गग· सर्वशरीरव्यापीदाह· ९१ [अणब्भया वज्जासणीति] अनभ्रका अभ्ररहिता वज्राशनिर्विद्युत् । यद्वा इय स्त्री [असणीत्ति] अशनिर्विद्युत् किंभूता अनभ्रका मेघरहिता वा पुन· किंभूता वज्रा वज्रतुल्या इत्यर्थ· दारुणविपाका [अप्पसूया वज्जासणीत्ति] पाठे अप्रसूता अपत्यजन्मरहिता [वज्जेत्ति] वर्ज्या सुन्दराकारा एवंविधा रामा [असणि०] अशनिर्विद्युद्बालानां नरकादौ दारुणदहनहेतुत्वात् "अप्पसूयावज्जासुणीति" पाठे तु अप्रसूता नवयौवना परिणीता अपरिणीता वा सालङ्कारा अनलङ्कारा वा मुण्डा अमुण्डा वा एवंविधा रामा (सुणीति) हण्डिकाशुनीवत् मण्डलीवत् [वज्जेति] वर्ज्या सर्वथा साधुभिर्मोक्ष काङ्क्षिः ब्रह्मचारिभिश्चतुर्थव्रतरक्षा काङ्क्षिर्विवर्जनीयेत्यर्थः । कायवाङ्मनोभिरिति ९२ [असालिलप्पवाहोत्ति०] अजलप्रवाह "असलिलप्पवाओत्ति" पाठान्तम् । अजलप्लव· जल विनाप्लुतिरित्यर्थ ९३ [समुद्दरओत्ति] समुद्रवेगः केनापि धर्तुमशक्यत्वात् 'समरूरओत्ति' पाठे तु सम्यगरूढं यस्मात्स समरूढः एवंविध [रओत्ति] वेग· परमस्नेहवतां बान्धवानां परस्परं स्त्रीकलहे सति गृहार्द्धकरणहेतुत्वात् भद्रातिभद्राख्यौ श्रेष्ठिपुत्राविव ९४ ॥

अवि याइं तासिं इत्थियाणं अणेगाणी नाम निरुत्ताणि पुरिसे कामरागपडिबद्धं नाणाविहेहिं उवायसयसहस्सेहिं वहबंधणमाणयंति पुरिसाणं नो अन्नो एरिसो अरीअत्थि ओत्ति नारिओ तंजहा नारी समाननराणं अरिओ नारिओ १ नाणा विहेहिं कम्मेहिं सिप्पयाइएहिं पुरिसे मोहंतित्ति महिलाओ २ पुरिसे मत्ते करंतित्ति पमयाओ ३ महंत कलिजणयंतित्ति महिलियाओ ४ पुरिसे हावभावमाईहिं रमंतित्ति रामाओ ५ पुरिसे अंगाणुराए करंतित्ति अंगणाओ ६ नाणाविहेसु जुद्धभंडणसंगामाडविसु मुहाणगिन्हणसीउन्हदुक्खकिलेसमाईसु पुरिसे लालयंतित्ति ललणाओ ७ पुरिसे जोगनिओएहिं वसे ठावंतित्ते जोसियाओ ८ पुरिसे नाणाविहेहिं भावेहिं वण्णंतित्ति वणियाओ ९ काई पमत्तभावं काई पयणं सविब्भमं काई सत्तइंसासिव्व ववहरंति काई सत्तुवरोरो इव काई पयएसु पणमंति काई उवणएसु उवणमंति काई कोउय नमंतिओ काओ सुकडक्खनिरिक्खिएहिं सविलासमहुरेहिं उवहसिएहिं उवगाहिएहिं उवसद्देहिं गुरुगदरिसणेहिं भूमिलिहणविलिहणेहिं च आरुहणनदृणेहिं च बालयउवगुहणेहिं च अंगुलिफोडणथणपीलणकडितडजायणाहिं तज्जणाहिं च अवि याइं ताओ पासोव्व सिउं जे पंकुव्वखुप्पिउं जे मच्चुव्व मरिउं जे अगणिव्व डहिउं जे असिव्व छिज्जिउं जे ॥

(अवियाइति) पूर्ववत् [तासिं इति] तासामुक्तवक्ष्यमाणानां स्त्रीणामधमाधमानां दासीकुरण्डादीनामनेकानि विविधप्रकाराणि नामनिरुक्तानि नामपदभञ्जनानि भवन्ति पुरिस इत्यादि यावत् [नारीओत्ति] खण्डयति कथ ना-आ-अरि-इति ना इति नानाविधैरुपायशतसहस्रैः कामरागप्रतिबद्धं पुरुषं वधबन्धन प्रति, आ-इति आणयन्ति प्रापयन्ति [अरीत्ति] पुरुषाणां च नान्यदृशः अरिः शत्रुरस्तीति नार्य्य· [तंजहत्ति] तत्पूर्वोक्त यथेति दर्शयति नारीति [तन्डु०] [नार्यादिशब्दानां व्युत्पत्तयस्तत्तच्छब्दे द्रष्टव्या] [काइपमत्तभावति] काश्चित् कामिन्यः प्रकर्षेण मत्तभावमुन्मत्तभाव व्यवहरन्ति स्वचेष्टां दर्शयन्तीत्यर्थ । क इव स्वासीव स्वासरोगीवत् । पुरुषाणा स्नेहभावोत्पादनार्थं [काइस०] काश्चित् शत्रुवत् प्रवर्तयन्ति मारणार्थं मर्मस्थानग्रहणेन । यद्वा स्वभर्त्रादीनां भयोत्पादनार्थं रिपुवत्प्रवर्तयन्ति [रोरो] काश्चित् कामतृष्णातृषिता· रोर इव रङ्क इव रङ्कपुरुषाणामपि पादयो· पादान् वा प्रणमन्ति लगन्तीत्यर्थ· । [काइउव०] काश्चित् उपनयनैर्नृत्यप्रकारैरुप नमन्ति स्वसकलाङ्गादिदर्शनार्थम् (काइकोउत्ति०) काश्चित् कौतुक वचननयनादिभव कृत्वा विधाय नमन्ति नराणा हास्याद्युत्पादनार्थम् । काओ इति पदमग्रेपियोज्यम् (सुकडक्खनिरक्खिएहिंति) काश्चित् सुकटाक्षनिरीक्षितैः सुष्ठु नेत्रविकारनिरीक्षणैर्वलानापातयन्तीति विशेष तैः काश्चित् पुरुषानामोहयन्ति इति (उपहसिएहिंति) उपहसितै· काश्चित् हास्यचेष्टाकरणै कामिनां हास्यमुत्पादयन्तीति (उवगाहिएहिंति) उपग्रहीतानि पुरुषस्यालिङ्गनै· कान्तनयनालिङ्गग्रहणकरग्रहणादीनि तै काश्चित् नराणां स्वप्रेमभाव दर्शयन्तीति (उवसद्दिएहिंति) उपशब्दानि सुरतावस्थायां बलयलायमानादीनि शब्दकरणानि प्रच्छन्नसमीपशब्दकरणानि वा तै काश्चित् कामिनां कामराग प्रकटयन्तीति (गुरुगदरिसणहिंति) गुरुकाणि च प्रौढानि पयोधरनितम्बादीनि स्थूलत्वात्सुन्दराणि वा यानि दर्शनानि च आकलय्य तानि गुरुकदर्शनानि तैर्द्रष्टया एव काश्चित् कामिनां स्ववश कुर्वन्तीति । यद्वा [गु] इति गुह्यप्रकाशनेन पुरुष पातयन्ति । यद्वा गु इति गुरुं स्वजनकजनयादिकम-

पि विप्रनार्याकार्ये प्रवर्तयन्तीति (१) रु इति रोदनकरणेन पुरुषं सस्नेहं कुर्वन्ति (२) ग इति स्वपितृगृहगमनादिप्रस्तावे पुरुषमत्यन्तरागवन्तं कुर्वन्तीति (३) द इति दर्शनेन रक्तकृष्णादिदन्तदर्शनेन कामिनो मोहयन्तीति (४) रि इति सम्भाषणे रे मां मुञ्च रे मां मा कदर्थयेत्यादिकथनेन कुरामा पुरुषं सकामं कुर्वन्तीति आर्षत्वात् रि इति । यद्वा अरि इति रतिकलहे अरे मया सह मा कुरु उपहासमित्यादि रतिकलहकरणेन पुरुषं क्रीडयन्तीति आर्षत्वात् अरि इति (५) स इति अन्योन्यशृङ्गारगीतादिकशब्दकरणेन साधूनपि सकामान्कुर्वन्तीति (६) ण इति सकलकलकविकारसंजनकाभ्यां नेत्राभ्यां पुरुषं सकामं स्ववशंगमं स्वकार्यकर्तारमपराधभोक्तारं कुर्वन्तीति (७) गुरुगदरिशनेरिति । (भूमिलिहणविलिहणेहिंचेति) भूमिलिखनानि भूमौ पदादिनाऽक्षरलेखनानि विलिखनानि विशेषतो रेखास्वस्तिकादिकरणानि तैः स्वगुह्यं पुरुषान् ज्ञापयन्तीति भूमिलिखनविलिखनैरिति चकारोऽत्र समुच्चयार्थः (आरुहणनट्टणेहिंचेत्ति) आरोहणानि वंशाग्रादिचटनानि नर्तनानि भूमौ नृत्यकरणानि तैरारोहणनर्तनैः पुरुषादिकमाश्चर्यवन्तं कुर्वन्तीति (बालयउवगूहणेहिंचेति) बालका मूर्खाः कामिन इत्यर्थः तेषामुपगूहनानि प्रच्छन्नरक्षणादीनि तैर्बालकोपगूहनैः कुरएडाः स्वकामेच्छां पूरयन्तीति । यद्वा बालका केशकलापास्तैरुपगूहनानि रचना स्वच्छवस्त्राच्छादितादीनि तैर्मन्मथप्रस्तानप्रमाथमान् स्ववशं कृत्वा यथेच्छं वाहयन्तीति । च शब्दात्कपिवद्रमयन्ति अभ्यनारयन्ति श्रेणिकभार्या चेलणीवदीनत् । स्वार्थप्राप्तौ प्राणत्यागमपि कुर्वन्तीति (अगुलि०) अङ्गुलीस्फोटनानि क्रीडिकाकरणानि । यद्वा अङ्गुलीनां परस्परं ताडनानि । स्तनपीडनानि कराभ्यां पयोधरचापनानि हस्ताभ्यां कुचमर्दनानि वा कटितटयातनानि श्रोणिभागपीडनानि कराभ्यां वक्रगत्या वा ते कामिनां चित्तान्यान्दोलयन्तीति (तज्जणाहिंचेति) तर्जनानि अङ्गुलिमस्तकतृणादिचालनानि तैर्मन्मथपीडामुत्पादयन्ति कामिना च शब्दाडुहुनेपथ्यकटीयाभरणशब्दोत्पादनैः सविलासगत्या चतुष्पथादौ प्रवर्तनैरित्याद्यनेकप्रकारैर्नरान् वृषभतुल्यान् कुर्वन्त्यतः स्वयमार्यैर्भिः साधुभिरासां सङ्गस्त्याज्य इति । तथा (अवियाइति) पूर्ववत् "ताओपासोयवसिउजे" इति प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । या कुरएडादयः स्त्रियः सन्ति जगति [ताओत्ति] ताः पुरुषान् पाशवत् नागपाशवागुरादिबन्धनवत् वसितु धातूनामनेकार्थत्वात् बन्धितुं वर्तन्ते इह परभवे नराणां बन्धनकारणत्वात् [पकुम्बखुप्पिउजेत्ति] ताओत्ति अग्रेपि अनुवर्तते याः कुटिलादयः सन्ति ता नराणां पङ्कवत् । अगाधा इव बहुलसमुद्रादिकर्दमवत् क्षपितुं वर्तन्ते [मच्चुव्वमरिउजंत्ति] या स्वैरिण्यादयः सन्ति ता नराणां मृत्युवत् कृतान्तवत् मारयितुं मारणार्थमित्यर्थः प्रवर्तन्ते । [अगणिव्वडिउजत्ति] या जगति गणिकादयः सन्ति ता कामिनामग्निवद्दग्धं ज्वालयितुं परिभ्रमन्ति [असिव्वछिज्जिउजेत्ति] या मृगाक्ष्यामा क्षतरुण । परिव्राजिकादयः सन्ति ता कौटिल्यकरएडाः साधूनपि असिवत्खड्गवच्छेत्तुं द्विधाकर्तुमुत्सहन्ते ।

अथ स्त्रीवर्णनं पद्येन वर्णयति यथा—

असिमासिमारित्थीण, कंतारकवाडचारयसमाणं ।
घोरनिउरंबकंदर, चलंतबीभत्थभावाणं ॥ १ ॥

नारीणां सर्वथा विश्वासो न विधेयः । किंभूतानाम् असिमसीसदृशीनां कर्तकालककज्जलतुल्यानाम् । अयमाशयः यथा खड्गः परिकरसतर्जसराशिर्द्वयतया छेदयति तथा अनार्या नार्योऽपि नरानिह परत्र दारुणदुःखोत्पादनेन छेदयन्ति । यथा च कज्जलं स्वभावेन कृष्णमस्य श्वेतपत्रादिसंगमे सति तस्य कृष्णत्वं जनयति, तथोन्मत्तनारी स्वभावेन कृष्णा दुःखान्तःकरणत्वात्तत्संगमे उत्तमकुलोत्पन्नानामुत्तमानामपि कृष्णत्वमुत्पादयति यशोधनक्षयराजविडम्बनादिहेतुत्वात् । पुनः किंभूतानां कान्तारकपाटचारकसमानाम् अरण्यकपाटकारागृहतुल्यानाम् । अयमाशयः । यथा गहनं घनं व्याघ्राद्याकुलं जीवानां भयोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्योऽपि भयं जनयन्ति धनजीवितादिविनाशहेतुत्वेनेति यथा प्रतोल्यां कपाटे दत्ते केनापि गन्तुं न शक्यते तथा नरे नारीकपाटहृदये दत्ते सति केनापि कुत्रापि धर्मधनादौ गन्तुं न शक्यते । यथा च जीवानां कारागृहं दुःखोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्योऽपीति । पुनः किंभूतानां (घोरनि०) घोरा रौद्रा प्राणनाशहेतुत्वात् । निकुरम्बं घनमगाधमित्यर्थः यत्कामिति जलं तस्य दरो भरा यस्मात्प्रावात्साङ्कृतपुराधिपदेवरतिराजस्येव स निकुरम्बकन्दरः । कमिति अव्ययशब्दः उदकवाचकः । चलन् पुरुषं २ प्रति भ्रमन् बीभत्सो भयङ्करः इह परत्र महाभयोत्पादकत्वादेवंविधो भावः आन्तरमायावक्रस्वभावो यासां ता घोरनिरकुम्बकन्दरचलद्बीभत्सभावास्तासां घोरभावानाम् ॥ १ ॥

दोससयगग्गरीणं, अजससयविसप्पमाणहिययाणं ।
कइयवपन्नत्तीणं, ताणं अन्नायसीलाणं ॥ २ ॥

दोषशतगर्गरिकाणां दोषाः परस्परकलहमत्सरगालिप्रदानमर्मोद्घाटनकलङ्कप्रदानजल्पनशापप्रदानस्वपरप्राणघातचिन्तनादयस्तेषां शतानि तेषाम् । गर्गरीका भाजनविशेषास्तासां दोषशतगर्गरिकाणाम् [अजस०] न यशः शतानि अयशः शतानि तेषु विसर्पं विस्तारं गच्छद्धृदयं मानसं यासां ताः अयशः शतविसर्पद्धृदयास्तासाम् । तथा [कइयवत्ति [कैतवानि कपटानि नेपथ्यभाषामार्गगृहपरावर्तादीनि [पन्नत्तीत्ति] प्रज्ञाप्यन्ते यानिस्ताः कैतवप्रज्ञप्तयः यद्वा कैतवानां दम्भानां प्रकृष्टाः ज्ञप्तयो ज्ञानानि कमलश्रेष्ठिसुतापाथिनीवद्यासु ताः कैतवप्रज्ञप्तयः । यद्वा कैतवेषु प्रज्ञा यथा कुबेरादत्तिरादानं यासां तास्तासां कैतवप्रज्ञप्तीनाम् । तथा [ताणति] तासां नारीणां अज्ञातशीलानां पण्डितैरप्यज्ञातस्वभावानाम् । यदुक्तं— " देवाणदाणवाण, मत निमतनिउणा जे । इत्थीचरियम्मि पुणो, ताण वि मता कहं नट्ठा १ जालधरेहिं भूमिहरेहिं विविहेहिं अगरक्खेहिं । निवरक्खियावि लोए, रमणी वम्भमग्गाय २ मच्छपय जलमज्झे आगासे पक्खियाण पयपती । महिलाण हिययमग्गो, तिन्नि वि लोए न दीसंति ३" इति यत्र न ज्ञातं नाङ्गीकृतं शीलं ब्रह्मस्वरूपं याभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम् । यद्वा नञः कुत्सार्थत्वात्कुत्सितं ज्ञातं शीलं साध्वीनां याभिः परिव्राजिकायोगिन्यादिभिस्ता अज्ञातशीलास्तासां मुनिवरैः प्रसङ्गैकान्तजल्पनैकत्रवासविश्वाससहचरणादिव्यापारो वर्जनीय इति ॥ २ ॥

अन्नं रयंति अन्नं, रमंति अन्नस्स दिंति उल्लावं ।
अन्नो कडयंतरिओ, अन्नो पडयंतरे ठविओ ॥ ३ ॥

छिड्यादिपुरुषसमवं अन्यं स्वभावसमीपस्थं नरं रञ्जयन्ति अर्द्धवीक्षणादिना कामरागवन्तं कुर्वन्तीत्यर्थः । पल्ले-

पतिश्वशुरभ्रातरं प्रति अगडदत्तस्त्रमिदं नमस्त्रीवत । यद्वा स्वकुशीलत्वे केनापि ज्ञाते सति (अन्न ऊन्नतिर्दि) अन्यादिप भक्षणकाष्ठभक्षणादिकं रचयन्ति कपटेन निष्पादयन्ति । यद्वा जारस्य स्वान्तःकरणज्ञापनाय [अक्करयतित्ति] अन्यदात्मव्यतिरिक्तं तृणतन्तुद्रमादिकं रदन्ति उत्पाटनं कुर्वन्तीत्यर्थः । रद विलेखने इति विलेखनमुत्पाटनमिति । यद्वा अन्य रयन्तीति अन्य स्वकान्तव्यतिरिक्तं पुत्रभ्रातृकान्तमित्रादिकं प्रति रामा अधमकामाः रय गतौ रखु गतौ वा रयन्ते रवंति वा गच्छन्ति । तथा [अन्न रमतित्ति] अन्य स्वकान्तव्यतिरिक्तं नरं रमन्ते मैथुनतत्पराः क्रीडयन्तीत्यर्थः पातालसुन्दरीवत् । भूतादि प्रकारेण क्रीडयन्ति वा [अन्नस्सदिति उल्लावत्ति] अन्यस्यो कव्यतिरिक्तस्य ददति प्रयच्छन्ति उल्लापं वचनं बोलरूपम् । यद्वा अनेकनरपरिवृता अपि अन्यस्य नरस्य मार्गादिगच्छत स्थितस्य वा उत्प्रावल्येन लाप मन्मथोद्दीपनशब्द ददतीति । उल्लापयन्ति पाठे तु कामिनरडिम्यादिसम्भवे सति उन्मत्ता कुरामा अन्यस्मै ददति उल्लात प्रबलपादप्रहारमित्यर्थः । तथा अन्यः कश्चिद्दशीवर्द्धरूपः कटान्तरितः कटान्तर्वर्ती प्रच्छन्नरक्षितो भवतीति । तथा अन्यस्तत्कटाक्षबाणसमूहेन ग्लानीकृतः । पटकान्तरे वस्त्रविशेषान्तरे स्थापितो भवेत् ग्लानवत् इति । ३ ।

गंगाए वालुयाए, सागरजलं हिमवओ य परिमाणं ।
उग्गस्स तवस्स गई, गब्भुप्पत्तिं च विलयाए ॥ ४ ॥
सिंहे कुंभुयारस्स, पुट्टलकुकुहाइयं अस्से ।
जाणंति बुद्धिमंता, महिलाहिययं न याणंति ॥ ५ ॥

गङ्गायां वालुकां वालुकाकणान्सागरे समुद्रे जलं जलपरिमाणमित्यर्थः । हिमवतो महाहिमवन्नगस्य परिमाणमुर्ध्वाधस्तिर्यक्परिधिप्रतरघनमानम् । उग्रस्य तीव्रस्य तपसो गतिं फलप्राप्तिरूपां गर्भोत्पत्तिं च (विलयाए) वनिताया नार्याः सिंहे कुरुयारमिति रूढि गम्य (पुट्टलति) जठरोत्थ (कुकुहाइयति) गतिकाले शब्दविशेषमश्वघोटके जानन्ति अवगच्छन्ति बुद्धिमन्तः प्रज्ञावन्त महिलायाः कूटकपटलोहपरवञ्चनपरायाः प्रवत्तमन्मथाग्निविधमायमानायाः अतर्कितातुच्छोच्छ्वसितकरुकाटोदूगच्छदूगीयमानमधुरगेयध्वनिमृगीकृतमुनि वराया ललाटे पट्टनटघटितघनश्रीखण्डतिलकचन्द्रचकोरीकृतचतुरायाः पीनपयोधरपीठलुठन्निर्मलतारहारकस्थूलमुक्ताफलहारश्वेतहरविषभुजगमगतविवेकचैतन्यकृतानेकपाण्डिताया हृदयं गूढान्तःकरणं न जानन्ति न सम्यगवगच्छन्तीति । उक्तञ्च " ब्राह्मोजातौ दाम्भिकता, भीरुकता भूयसी वणिग्जातौ । रोषः क्षत्रियजातौ, द्विजातिजातौ पुनर्लोभः ॥१॥ न स्नेहेन न विद्यया न च श्रिया रूपेण शौर्येण वा, नेर्ष्यावादभयार्थदानविनयक्रोधक्षमामार्दवैः । लज्जायौवनभोगसत्यकरुणासत्वादिभिर्वा गुणैर्गृह्यन्ते न विभूतिभिश्च ललना दुःशीलचित्ता यतः " ॥ २ इति ।

एरिसगुणजुत्ताणं, ताणं कइयव्व संठियमणाणं ।
न हु भे वीससियव्वं, महिलाणं जीवलोगम्मि ॥

ईदृशगुणयुक्तानामुक्तवक्ष्यमाणलक्षणान्वितानां तासां नारीणां कपिवद्वानरवत्सस्थितमनसा नैव प्रवाहि विश्वसितव्यं महिलानां जीवलोके इति ॥ ६ ॥

निब्भग्गयं च खत्तयं, पुप्फेहिं विवज्जियं च आरामं ।

निदुद्धियं च धेणुं, लोए वि अतिल्लियं पिंडं ॥ ७ ॥

यादृशमिति गम्यते निर्धान्यकं धान्यकणविवर्जितं चारामं ना दृश तरुणीमण्डल शुभसम्भावनाकुसुमरहितत्वात् । यादृशा निर्दुग्धिका दुग्धरहिता धेनुर्गौस्तादृशान्यव्रतिनी धर्मध्यानदुग्धाभावाच्चथा लोके अपि शब्दः पूरणार्थे यादृश (अतिल्लियति) सर्वथा तैलांशरहितं पिण्डं खलखण्डं तादृशं महिलाव्यावृतमण्डलं परमार्थेन स्नेहतैलविवर्जितत्वात् । ७ ।

जेणंतरेणलोय—णाणि निमिसंति तेण य वियसंति ।
तेणंतरे वि हिययं, चित्तसहस्साउलं होइ ॥ ८ ॥

स्त्रीणां येन परमवल्लभेन सर्वार्थसंप्राप्तिकारकेणान्तरेण विना लोचनानि प्रफुल्लनेत्राणि तत्क्षणे निमिषन्ति संकुचितभावं गच्छन्तीत्यर्थः च पुनस्तेनैव परमवल्लभेन स्वार्थप्राप्त्यकारकेणान्तरेण विना विकसन्ति प्रफुल्लनेत्राणि भवन्तीत्यर्थः । तेणतरे इति प्राकृतत्वात्तृतीयार्थे सप्तमी अपि शब्द एवार्थे तथा कुलस्त्रीणां हृदयं कदाचित्स्ववल्लभे प्रवर्तते स्ववल्लभे सत्यपि कदाचित्तासां चित्तं स्वमानसं सहस्राकुलं स्वकान्तव्यतिरिक्तपुरुषान्तरसहस्रेषु आकुलं मन्मथभावेन परिभ्रममाणं भवतीत्यर्थः । शाकिनीवत् । अतो मुनिवरैरत्नत्रयरक्षणपरैर्मुक्तगृहारम्भभरैरासां कुरण्डमुण्डीदासीयोगिन्यादीनां यथा कथञ्चित्परिचयो न कार्य इति । अस्या अन्यदपि व्याख्यान्तरं सद्गुरुप्रसादात्कार्यमिति ॥ ८ ॥ तन्दु० ॥

(१२) स्त्रीणामशुचित्वं यथा—

"मंस इमं मुत्तपुरीसमीसं, सिंहाणखेलाण य निज्झरंतं । एवं अणिच्चं किमिआण वासं, पासं नराणं मइबाहिराणं "
इत्यादि—धर्म० ।

सर्वस्वापकर्षत्वं यथा—

नो रक्खसीसु गिज्झे—ज्जा गंडवत्थासुणेगचित्तासु ।
-जाओ पुरिसं पलोभित्ता,खेल्लंति जहाव दासेहिं ।१८।

नो नैव राक्षस्य इव राक्षस्य स्त्रियस्तास्तु यथा हि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनामपहरन्त्येवमेता अपि तत्त्वतो हि ज्ञानादीन्येव जीवितं स्वार्थं च तानि चताभिरपह्रियन्त एव तथा च हारिलः " धातोद्भूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां, मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव । ज्ञानं शीलं विनय विभवौदार्यविज्ञानदेहान्सर्वानर्थान् दहति वनिता मुष्मिकानैहिकांश्च " (गिज्झेज्जत्ति) गृध्येदभिकाङ्क्षावान् भवेत् कीदृशीषु (गण्डवत्थासुत्ति) गण्डं गण्डं शब्दश्चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतास्तथाच्च तदुपमत्वात्कुचावुक्तौ । ते वक्षसि यासां तास्तथाभूतास्तासु घेरा मयोत्पादनार्थं चैवमुक्तम् । तथा अनेकान्यनेकसहस्राणि चञ्चलतया चित्तानि मनांसि यासां तास्तासु अनेकचित्तासु आह च " अन्यस्याङ्के ललति विशदं चान्यमालिङ्ग्य शेते, अन्यं वाचा वपति हसयत्यन्यमन्यं च रौति । अन्यं दृष्टि स्पृशति कराति प्रोञ्छते चान्यमिष्टं,नार्यो नृत्यसरित इव धिक् चञ्चलावालिकाश्च " तथा (जाउत्ति) याः पुरुषं मनुष्यं कुलीनमपीति गम्यते प्रलोभ्यत्वमेव शरण्यमेव च प्रीतिकृदित्यादिकामिर्वागिर्विप्रतार्य क्रीडन्ति (जहावत्ति) वा शब्दस्यैवकारार्थत्वाद्यथैव दासे पहागच्छ मा वद त्वं मायासीरित्यादिसूत्रार्थः ॥ १८ ॥

विवक्षितप्रभृतिक्रीडाश्चिविल्सन्तीति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

पुनस्तासामेवातिहेयता दर्शयन्नाह ।

नारीसु नो पगिज्झिज्जा, इत्थिविप्पजहे अणगारे ।

धम्मं च पेसलं नच्चा, तत्थ ठविज्ज भिक्खुमप्पाणं ॥१८॥

नारीपुंसो नैव प्रगृह्णीःप्रशब्द आदिकर्मणि ततो गृद्धिमारब्धेतापि न । किं पुनः कुर्यादिति भावः (इत्थीविप्पजहियत्ति) स्त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजति इति स्त्रीविप्रजहः उणादयो बहुलमिति बहुलवचनाच्च । यद्वा (इत्थिवित्ति) स्त्रियो (विप्पजहेत्ति) विप्रजहातपूर्वत्र नारीग्रहणान्मनुष्यस्त्रिय एवोक्ताः इह च देवतिर्यक्संबन्धिन्योपि त्याज्यतयोच्यन्ते इति न पौनरुक्त्यमुपदेशत्वाद्वा । अणगारः प्राग्वत् । उत्त० ८ अ० ॥

(स्त्रीणां दुर्ग्राह्यहृदयत्वम् ' इत्थिरज्ज ' शब्दे)

[१३] स्त्रीणां बन्धकारणत्वं—यथा——

वाउव्वं जालमच्चेति पिया लोगंसि इत्थिओ ८ ॥
इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा हु ते जणा ॥
ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥ ९ ॥

वायुर्यथा सततगतिरस्खलितयाऽग्निज्वालां दहनात्मिकामप्येति अतिक्रामति पराभवति न तया पराभूयते एव लोके मनुष्यलोके हावभावप्रधानत्वात्प्रिया दयितास्तत्प्रियत्वाच्च दुरतिक्रमणीया अत्येत्यतिक्रामति न ताभिर्जीयते तत्स्वरूपावगमात्तज्जयविपाकदर्शनाच्चेति । तथा चोक्तम् ॥ स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षितैः। वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया, समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥ १ ॥ स्त्रीणां कृते भ्रातृयुगस्य भेदः, संबन्धिभेदे स्त्रिय एव मूलम् । अप्राप्तकामा बहवो नरेन्द्रा, नारीभिरुत्सादितराजवंशाः ॥ २ ॥ इत्येवं तत्स्वरूपं परिज्ञाय तज्जयं विधत्ते नैताभिर्जीयत इति स्थितम् । अथ किं पुनः कारणं स्त्रीप्रसङ्गाश्रवद्वारेण शेषाश्रवद्वारोपलक्षणं क्रियते न प्राणातिपातादिनेति । अत्रोच्यते केषांचिद्दर्शनिनामङ्गनोपभोग आश्रवद्वारमेव न भवति । तथा चोचुः ।"न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला" ॥ इत्यादि तन्मतव्युदासार्थमेवमुपन्यस्तमिति । यदि वा । मध्यमतीर्थकृता चतुर्याम एव धर्म इह तु पञ्चयामो धर्म इत्यस्यार्थस्याविर्भावनायानेनोपक्रमणमकारि । अथवा । पराणि व्रतानि सापवादानीदं तु निरपवादमित्यस्यार्थस्याविर्भावनाय प्रकटनायैवमकारि । अथवा , सर्वाण्यपि व्रतानि तुल्यानि एकखण्डनेन सर्वविराधनमिति कृत्वा येन केनचिन्निर्देशो न दोषायेति । [इत्थिओ इत्यादि] ये महासत्त्वा कटुविपाकोऽयं स्त्रीप्रसङ्ग इत्येवमवधारणतया स्त्रियः सुगतिमार्गार्गला संसारवीथीभूता सर्वाविनयराजधान्यः कपटजालशताकुला महामोहनशक्तयो न सेवन्ते न तत्प्रसङ्गमभिलषन्ति ते एवंभूता जना इतरजनातीता साधव आदौ प्रथमं मोक्षोऽशेषद्वन्द्वो परमरूपो येषान्ते आदिमोक्षा । हुरवधारणे । आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्याः । इदमुक्तं भवति सर्वाविनयास्पदभूतः स्त्रीप्रसङ्गो यैः परित्यक्तस्त एवादिमोक्षाः प्रधानभूतमोक्षाख्यपुरुषार्थोद्यता । आदिशब्दस्य प्रधानवाचित्वाच्च केवलमुद्यतास्ते जना स्त्रीपाशबन्धनोन्मुक्ततयाऽशेषकर्मबन्धनोन्मुक्ताः सन्तो नावकाङ्क्षन्ति नाभिलषन्ति असंयमजीवितमपरमपि'परिग्रहादिकं नाभिलषन्ति । यदि वा परित्यक्तविषयेच्छा सदनुष्ठानपरायणा मोक्षैकताना जीवितं दीर्घकालजीवितं नाभिकांक्षन्ति इति ॥ ९ ॥ सूत्र० १ श्रु० १५ अ०

नारीस्नेहे दृष्टान्तो यथा "नारीनेहाणुगया, गणइ न सीलं कुलं धणं धन्नं । दाणं पाणेन गुणे,गुरुवयणं कुगइगमणंपि" दर्श० ।

(१४) स्त्रीससर्गश्चावश्यमपरित्याज्यस्तथा च ।

वशीकुर्वन्ति ये लोके , मृगान् दर्शनतन्तुना । ससर्गयागुरामिस्ते, स्त्रीन्याधाः किन्न कुर्वते" पचा० १० विव० ।

स्त्रीससर्गपरित्यागे कारणमाह ।

जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ जयं ।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ जयं । ५४ ।

यथा कुक्कुटपोतस्य कुक्कुटचेल्लकस्य नित्यं सर्वकालं कुललतो मार्जाराद्भयमेवमेव ब्रह्मचारिणः साधोः स्त्रीविग्रहात् स्त्रीशरीरात् विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः । यतश्चैवं मत -

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ ५५ ॥

चित्रभित्तिं चित्रगतां स्त्रियं न निरीक्षेत न पश्येत् नारीं वा सचेतनामेव स्वलङ्कृतामुपलक्षणमेतदनलङ्कृतां वा न निरीक्षेत कथंचिद्दर्शनयोगे ऽपि भास्करमिवादित्यमिव दृष्ट्वा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् द्रागेव विनिवर्तयेदिति सूत्रार्थः । किंबहुनाह—

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्न नास विगप्पियं ।
अवि वाससयं नारीं, बंभयारी विवज्जए ॥ ५६ ॥

हस्तपादप्रतिच्छिन्नामिति प्रतिच्छिन्नहस्तपादां कर्णनासाविकृत्तामिति विकृत्तकर्णनासामपि वर्षशतिकां नारीमेवंविधामपि किमङ्ग पुनस्तरुणी तान्तु सुतरामेव ब्रह्मचारी चारित्रधनो महाधन इव तस्करान् विवर्जयेदिति । अपिच ।

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ५७ ॥

विभूषा वस्त्रादिराढा स्त्रीससर्गः येन केनचित्प्रकारेण सम्बन्धः प्रणितरसभोजनं गलत्स्नेहरसाभ्यवहारः एतत्सर्वमेव विभूषादि नरस्यात्मगवेषिण आत्महितान्वेषणपरस्य विषं तालपुटं यथा तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमहितमिति सूत्रार्थः ।

अंगपच्चंगसठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ५८ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानमित्यङ्गानि शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि नयनादीनि एतेषां संस्थानं विन्यासविशेषस्तथा चारु शोभनं लपितं जल्पितं प्रेक्षितं निरीक्षितं स्त्रीणां संबन्धि तदङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानादि न निरीक्षेत न पश्येत् । किमित्यत आह । कामरागविवर्द्धनमिति एतद्धि निरीक्ष्यमाणं मोहदोषान् मैथुनाभिलाषं वर्द्धयति अत एवास्य प्राक् स्त्रीणां निरीक्षणप्रतिषेधाकृतार्थतायामपि प्राधान्यख्यापनार्थो भेदेनोपन्यास इति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० ॥ तथा चान्यत्रापि—

"आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां, दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम् । स्वर्गद्वारस्य विघ्नं नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं, स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं सर्वलोकस्य पाशः ॥ १ ॥ नो सत्येन मृगाङ्क एष वदनीभूतो न चेन्दीवर-द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यङ्गयष्टिः कृता । किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्त्वं विजानन्नपि, त्वङ्मांसास्थिमयं वपुर्मृगदृशां मत्वा जनः सेवते ॥२॥ यद्येतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृतिधरं, मुखाब्जं तन्वङ्ग्याः किल वसति यत्राऽधरमधु । इदं तत्किं पाकद्रुमफलमिवातीव वि-

रस, व्यतीतेऽस्मिन् काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ॥ ३ ॥
दीर्घेणाक्षिचलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना,
नीलाब्जद्युतिनाऽहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा ॥
दष्टे सन्ति चिकित्सका दिशि दिशि प्रायेण पुण्यार्थिनो,
मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य न हि मे वैद्यो न चाप्यौषधम् ॥ ४ ॥
संसार ! तव निस्तर-पदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥ ५ ॥
नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा,
ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम् ।
याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः,
शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ॥ ६ ॥
जल्पन्ति सार्द्धमन्येन, पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृदये चिन्तयन्त्यन्यं, प्रियः को नाम योषिताम् ॥ ७ ॥

सव्वत्थे इत्थिवग्गम्मि, अप्पमत्तो सया अविस्सत्थो ।
नित्थरइ बंभचेरं, तव्विवरीओ न नित्थरइ ॥ ६७ ॥

सर्वत्र सर्वस्मिन् प्रव्रजिता प्रव्रजितरूपे स्त्रीवर्गे अप्रमत्तः नि-द्राविकथादिप्रमादरहितः सदा सर्वकालमविश्वस्तो विश्वास-रहितः श्वसन् निस्तरति पालयतीत्यर्थः ब्रह्मचर्यं मैथुनत्या-गरूपं तद्विपरीतः उक्तविशेषणरहितो न निस्तरति न निर्वहति ब्रह्मचर्यमिति गाथार्थः । ग० २ अधि० । [साध्वीससर्गो दोषायेति ' अज्जिया ' शब्दे ॥ स्त्रीसंसर्गादि परित्यागो यत्नचे रगुत्ति शब्दे]

[१५] स्त्रीषु सक्तस्य परिग्रहोऽवश्यं भवतीति यथा—

इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥

स्त्रीषु रमणीष्वासक्तो ऽध्युपपन्नः पृथक् २ तद्भाषितहसित बिब्बोकशरीरावयवेष्विति बालवद्बालोऽज्ञ सदसद्विवेक-विकलस्तदवसक्ततया च नान्यथा द्रव्यमन्तरेण तत्सम्प्राप्तिर्भ-वतीत्यतो येन केनचिदुपायेन तदुपायभूत परिग्रहमेव प्रकर्षेण कुर्वाण पाप कर्म्म समुच्चिनोतीति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । [स्त्रीषु कामेषु चासक्तानामवश्य नरकयातना भवतीति ' इत्थिकाम' शब्दे] स्त्रीषु च सर्वेन्द्रियगुप्तेन भाव्यम् तथा च ॥

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के।

सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृतः संवृतेन्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः । क्व प्रजासु स्त्रीषु तासु हि पञ्च प्रकारा अपि शब्दादयो विषया विद्यन्ते तथा चोक्तम् । "कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोकिता-नि। रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोऽपि गन्धोऽपि च चुम्बना-दे. ॥ १ ॥ तदेव स्त्रीषु पञ्चेन्द्रियविषयसम्भवात्तद्विषये संवृत-सर्वेन्द्रियेण भाव्यमेतदेव दर्शयति चरेत्संयमानुष्ठानमनुतिष्ठे न्मुनि' साधु सर्वत' सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तो नि सङ्गो निष्किञ्चनश्चेत्यर्थ । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । स्त्रीणां दर्शननिषधो यथा– " स्त्रीरम्याङ्गेक्षणतरलितविलोचनो हि दीपशिखायां शलभ इव विनाशमुपयाति । ध० ३ अधि० । [अत्र प्रायश्चित्त रायपिंम शब्दे]

[१६] स्त्रीकरस्पर्शादिनिषेधो यथा—

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।
दिट्ठी विसदित्तग्गी, विसं व मुणिवज्जए गच्छे । ७३ ।

यत्र गणे स्त्रीकरस्पर्श' अथवा स्त्रिया करेण स्पर्शः स्त्रीकर-स्पर्शस्तमुपलक्षणत्वात् स्त्रीपादादिस्पर्श च कथम्भूतम् [अंतरियंति] अपि शब्दस्येहापि सम्बन्धादन्तरितमपि वस्त्रा-दिना जातान्तरमपि किं पुनरनन्तरित कारणेऽपि कण्टकरो-गोन्मत्तत्वादि उत्पन्ने सञ्जाते सति किं पुन' अकारणे दृष्टिविषश्च सर्पविशेषः दीप्ताग्निश्च ज्वलितवह्निर्विषं च हाला-हलादीनि समाहारद्वन्द्वः तदिव वर्जयेत् उत्सर्गमार्गेण दूरत' त्यजेन्मुनिः समुदाय. [गच्छत्ति] स गच्छ' स्यादिति शेषगाथा छन्दः ।

बालाए वुड्डाए, नत्तु अ दुहिआइ अहव भइणीए।
न य कीरइ तणुफरिसं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं॥७४॥

इहाङ्गस्पर्शस्य सर्वत्र सम्बन्धात् बालाया अपि अप्राप्तयौव-नाया अपि किं पुनः प्राप्तयौवनाया. वृद्धाया अपि अतिक्रान्त यौवनाया अपि किंपुनरनतिक्रान्तयौवनायाः एवंविधायाः कस्या इत्याह । नप्तृका पौत्री तस्या अपि दुहिता पुत्री तस्या अपि अथवा भगिनी स्वसा तस्या अपि नालबद्धोपलक्षणत्वा-दस्य दौहित्रीभ्रातृजामातुलीपितृष्वसृमातृष्वसृजननीमातामही प्रह. । कोऽर्थः नप्तृकादिकानामेकादशानां नालबद्धानामपि स्त्रीणां किं पुनरनालबद्धानां तनुस्पर्शः उपलक्षणत्वात्सविलास-शब्दश्रवणादि च यत्र गच्छे न च नैव क्रियते हे गौतम ! स गच्छो भणित इति इह हि सम्बन्धिन्या अपि स्त्रिया अङ्गस्पर्शादि वर्जनं स्त्रीस्पर्शस्योत्कटमोहोदयहेतुत्वात् ॥

जत्थ त्थीकरफरिसं, लिंगी अरिहो वि सयमवि करिज्जा
तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणभट्ठं ॥ ७५ ॥

यत्र गणे स्त्रीकरस्पर्शम् लिङ्ग विद्यते अस्याऽसौ लिङ्गी साधु वेषधान् अर्होऽपि पदव्यादिप्राप्त्यादियोग्योऽपि स्वयमपि अपेरेवकारार्थत्वात् स्वयमेव कुर्यात्स गच्छ निश्चयतो हे गौत-म ! जानीयान्मूलगुणभ्रष्ट चारित्ररहितमिति ॥ ७५॥ स्त्रीकर-स्पर्शादिकमुत्सर्गपदेन निषिध्याथापवादपदेनापि निषिध्यति॥

कीरइ बीयपएणं, सुत्तमभणियं न जत्थ विहिणाओ ॥
उप्पन्ने पुण कज्जे, दिक्खा आयंकमाईए ॥ ७६ ॥

अपेर्गम्यमानत्वादुत्सर्गपदापेक्षया द्वितीयपदेनापि अपवाद-पदेनापीत्यर्थः [सुत्तम भणियत्ति] मकारस्यालाक्षणिकत्वा-त्सूत्राभणित सूत्राननुज्ञात सर्वथागमनिषिद्ध स्त्रीकरस्पर्शादि-कमित्यर्थः । ग० २ अधि० । [कण्टकोद्धरणवक्तव्यता विस्तरेण कण्टकुद्धरण शब्दे]

। १७ । स्त्रिया. सार्द्धं विहारस्वाध्यायाहारोच्चारप्रस्रवणप-रिष्ठापनिकाधर्मकथादिनिषेधो यथा—

जे भिक्खू आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गहावइसु-गहा वइकुलेसु वा परियागसहेसु वा एगो एगइत्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४ आहा-रेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अण-रियं मेहुणं अस्सणं पाओगकहं कहेइ कहंतं वा साइ-ज्जइ ॥ १ ॥ नि० चू० ७ उ० ।

कहिता खलु आगारो, ते उ कहिं कतिविधा उ विण्णेया ।
आगंतागारादिसु, सविगारविहारमादीया ।

° सत्तमस्स अंतसुत्ते त्थीपुरिसागारा कहिता ते कहिं हवेज्ज आगंतागारादिसु ते आरामादिसु ते आगतारादि इह स-माण कतिविहा ते आगारा विण्णेया । इह अपुव्वकधियाणि

एगो साहू एगाए इत्थियाए सद्धिं समाए गामाओ गामंतरं अहवा गतागन चकमणं सज्झाय करेति असणादिय वा आहारेति उच्चार पासवण परिट्ठवेति एगो एगित्थीए सद्धिं वियारभूमिं गच्छति अणारिया कामकहा णिरंतरं वा अप्पिय कह कहेति कामनिट्ठुरकहाओ एता चेव असमणपाउग्ग अथवा देसभत्तकहादिसंजमोवकारिका ण भवति सा सव्वा असमाणपाउग्गा ।

आगंतारे आरा-मा गारमिह कुलावसहे य ।
पुरिसित्थिएगणेगं, चउक्कभयणा दुपक्खे वि ॥ २ ॥

एगे एगित्थिए सद्धिं, एगे अणेगित्थिए सद्धिं, अणेगा एगित्थीए, अणेगा अणेगित्थिए ॥

जा कामकहा साहो, तणारिया लोकिकी च उत्तरिया ।
णिट्ठुरनट्ठी कहणं, भागवतपदोसखामणया ॥ ३ ॥

तत्थ लोइया णरवाहणरधकधा लोगुत्तरिया तरंगवती मलयवती मगधसेणादि णिट्ठुर णामवल्ली धरकहण एगो साहू भरुद् खिक्खायइ सच्छेंदेणयामो य भागवएण पुच्छितोकिमेयं भल्ली घरति तेण साहुणा वारवतिदाहतो आरब्भ जहा वासुदेवे य पयाओ जहा य कूरवागा भजण कोसवीरक्खपवेसो जहा जरकुमारागमो जहा य जरकुमारेण भल्लिणा इओ मओ य एव भल्लिघरुप्पत्ति सव्वा कहिया ताहे सो भागवतो पदुट्ठो चिंतेति । जइ एयं न भविस्सति तो एस समणो घातेयव्वो सो गहिओ दिट्ठो यणेण पादे भल्लिए विद्धो ताहे आगंतूण त साहु खामेति भणति य भए एव चिंतियमासी तं खमेज्जसि एवमा द्दी णिट्ठुरा एवमादिपुरिसाण वित्ताण जुज्जेति कहिओ किमु वा एगित्थियाण ॥

अवि मायर पि सद्धिं, कधा तु एगागियस्स पडिसिद्धा ।
किं पुण अणारयादी, तरुणत्थीहिं सहगतस्स ॥ ४ ॥

माइभगिणीमादीहिं अगम्मित्थिहिं सद्धिं एगाणियस्स धम्मकहावि ण वट्टति किं पुण अणारहिं तरुणित्थिहिं सद्धिं ॥

अण्णावि अप्पसत्थीसु, कधा किमु अणारिय असज्झा ॥
चंकमणसज्झायभोयण-उच्चारेसुं तु सविसेसा ॥ ५ ॥

अणाइ वि धम्मकहा अवि सद्धाओ सवेरग्ग सावित्थीएसु एगागियासु णिसद्धा किंपुण अणारिया जोग्गा अणारिया सा य कामकहा असब्भा जोग्गा असज्झा । अहवा असब्भा जत्थ लल्लविज्जति चकमणे सति विब्भमगतितागार दट्ठुं मोहुब्भवो भवति सज्झाए मणहरसद्देण भोयणदाणग्गहणातो विसमे उच्चारे ऊण गादित्थणगदरिसणं ॥

भयणपदा चउण्हं, अण्णतरजुते तु संजते संते ।
जे भिक्खू विहरेज्जा, अहवा विकरेज सज्झाय ॥ ६ ॥

भयणपदा चउत्थगो पुव्वुत्तो ॥

असणादी वीहारे, उच्चारादि व आतरेज्जा ।
हिट्ठुरमसाधुजुत्तं, अण्णतरकधं व जो कधए ॥ ७ ॥

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं दुविधं ।
पाविति जम्हा तेणं, एते तु पदे विवज्जेज्जा ॥ ८ ॥

दिट्ठे सजोइणापि जम्हा एते दोसा तम्हा ण कप्पति विहारादि कारणे कारणे पुण करेज्जा ॥ ८ ॥

वितिय पदमणप्पज्झे, गेलण्णुत्तमसगरोहट्ठाणे ।

संजमभयचरासासु य, खत्तियमादीसु विसयं ॥ ९ ॥

अणवज्झो सो सव्वाणि विहारादीणि करेज्ज । इदाणिं गेलण्णे ॥ ९ ॥

समण सदेसम्मि वओत्ये, गेलण्णे जा विधी समक्खाता ।
सा चेव य वितियपदे, गेलण्णे अट्ठमुद्देसे ॥ १० ॥

कप्पा ॥ नि० चू० ८ उ० ॥

इदाणिं सत्तमयवास तिण्णिवि दाराए एगगहाएदेसण्चि आकुयय गाहा । आउमादिया सममाबोहियमच्छादिभय गोयर- अरुता वासेण अब्भवहतो एगणिलए वि होज्जा-

जलसंजमे यहादिसु, चिट्ठंताणं भवेज्ज चउभंगो ।
एगतरुवएसए वा, वूढगलं ते व सव्वत्तो ॥ ६५ ॥
एग तरज्झामिए ज, वसयमिमज्जेज्ज वावि भावसदी ।
एमेवय वा ताम्मिवि, तेण भयावाणिए दुक्कारं ॥ ६६ ॥
भोइतमाई विरुद्धे, रोधेरहादिणं तु संजमो होज्जा ।
बोहियमित्थ भएत्ता, गुत्तिणिमित्तं च एगत्था ॥ ६७ ॥

एगो एगत्थीए सम हवेज्ज आउक्कायसजमेण उदगवाहगे एग उभय थल पव्वयं मोंगर वा तत्य चिट्ठताण चउभगसभवे वा खेत्ताओ खेत्त सकमेज्जा इत्थ वि चउभगसभवो । एगतर वसहीए वा खेत्ताउ खेत्त कमिज्जंति । एव चउभग संभवो हवेज्जा एव घा तो वि चउभगसभवो तेणगभएण वा गुत्ते चउभगसभवेण णिलुक्का अच्छति । भोइस्स भोतियस्स विरोहा एव गामस्स य रट्ठस्स य परिसममे चउभंगसभवो तेणगभएण वा गुत्ते हवेज्जा । बोहियमच्छभएण पलाया णं चउभगसभवेण विहारसज्झाय असणादिया उच्चारादिया वा एकत्थ णिलुक्कारसभवो हवेज्जा गुत्ती वा रक्खण करेत्ताए समवेज्जा ॥

पुव्वपविट्ठेगतरे, वासभएणं विसेज्ज अण्णतरा ।
तत्थ रहिते परमुहो, एयस्सुं णेस्सुं जतीट्ठंति ॥

वासासु वासावासे पडते सजतो सजती वा किंचि णिरोवणरि सगाणपविट्ठ हवेज्ज पच्छा इयर पविसिज्जा विच्छलण विरहिये दोवि परोप्पर सुहा अच्छति । सज्झायहाय दुट्ठवि वासे पडते सजती सुसट्ठाणे णो पविसति । नि० चू० ८उ० ।

जे भिक्खू उज्जाणंसि वा उज्जाणगिहंसि वा । उज्जाणसालंसि वा णिज्जासिणंसि वा णिज्जाणगिहंसि वा सिज्जाणसालंसि वा एको एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४ आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ।

उज्जाण जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति ज नाइसिणगारस्स उवकठ ठिय त उज्जाण । रायादियाण णिग्गमणठाए णिज्जाणिया नगरागमे वा जं पिय ठिय त णिज्जाण एतेसु चेव गिहा किरिया उज्जाणणिज्जाणगिहणगरेपागारो तस्सेव देसे अट्टालग पागारस्स अहो अट्टाहत्थो रहमग्गो चरिया पडाणग दार दा बलाणगा पागारपडिणिरुद्धा तण अतर गोपुर जेण जणो वृगरस्स घचति मा वृगपदो दगवाहो दगमग्गो दज्झाम्म दगतीर सुण्ण गिह सुण्णागार देसे पडिय सडियं भिण्णागार अधोविसाले च उवरिं सवाट्टं न कूडागारं इच्चा

गारं कोट्ठागार दज्झादितणट्ठाणं अवोपगासं तणसाओ सालिमादि तुसट्ठाण तुससाओ मुग्गादियाण तुसा गोकरिसो गोमय गोणादि जत्थ चिट्ठंति सा गोसाओ गिहं च जुगादिजाणाण्ण अकुड्डसाला सकुड्डं गिह अस्सादिअ वाहणा ताण सालगिहं वा विक्केयं भ्रंड जत्थ छूढुति सा सालागिहं वा पासमिणो परियागा तेसिं आवासथो सालागिह वा छुहादिया जत्थ कमविज्जति सा कम्म त सालागिह वा महत पाहुसे बहुते वा महत गिह महागिह पहूसु वा उच्चारएसु महा गिहं महाकुडपिज्झकुडादी पाहुसे बहुजणो अणाइ बहुत्ते इमा सगहगाहा ॥

उज्जाणट्ठाए दगे, सुएणाकूलावतुसतुसे गामे।
गोमग्गाणापणिगा, परियागमहाकुले सेव ॥ ८५ ॥

एवति जहा पच्छिमसुत्ते एवं एतेसु उस्सग्गावववातेण चउजगस नयो वत्तव्वो इमं उज्जाणवक्खाणं।

मंजमडुज्जाणगिहा—णिग्गमणगिहा विणियमाईणं।
इतरे णगरादिणिग्गमे, सुयसत्रादिणिज्जाणगेहा उ॥८६॥

उज्जाण सत्रमादिया गहा इयवेत्ति णिज्जाणे वणियमादिया णिग्गमगहियं कयं णिज्जाणगिह अहवा पच्छद्धेण विन्तिय वक्खाण सालगिहाण इमो विसेसो ॥

साहातुअरे पविट्ठा, गेहं कुड्डसहितं तु णेगविधं।
वणिजं रुसालपरिजि—च्छुगादिमहबहुगवाहसे ॥८७॥

जे भिक्खू अट्टंसि वा अट्टालियंसि वा चरियंसि वा पागारंसि वा दारंसि वा गोपुरंसि वा एको एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अणयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू दगंसि वा दगमग्गंसि वा दगपहंसि वा दगतिरंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥४॥ जे भिक्खू सुण्णगिहंसि वा सुण्णसालंसि वा भिण्णगिहंसि वा भिण्णसालंसि वा भिण्णगिहंसि वा भिण्णसालंसि वा कूडागारंसि वा कोट्ठागारंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू तणगिहंसि वा तणसालंसि वा तुसगिहंसि वा तुससालंसि वा जुसगिहंसि वा जुससालंसि वा एको एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिक्खू जाणगिहंसि वा जाणसालंसि वा जुग्गगिहंसि वा जुग्गसालंसि वा जुसगिहंसि वा जुससालंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे भिक्खू पणियसालंसि वा पणियगिहंसि वा कुवियसालंसि वा कुवियगिहंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहार वा करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ॥ ८ ॥ जे भिक्खू गोणसालंसि वा गोणगिहंसि वा महाकुलंसि वा महागिहंसि वा एगो एगित्थीए सद्धिं विहारं करेइ सज्झायं वा करेइ असणं वा ४, आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्सवणपओगकहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥९॥ जे भिक्खू राओ वा वियाले वा इत्थीमज्झगए इत्थीसंसत्ते इत्थिपरिवुडे अपरिमाणाए कहं कहेइ कहंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

संझाराती भणिता, संझाएतु विगमो वियालो उ।
केसिवीवोच्चत्थं, एगएणतरे दुविधकाले ॥ ८८ ॥

रातीति रातिसंझातीए विगमो वियालो अथवा जेसिं काले चोरादिया रजति सा राती सझावगमेत्यर्थः। ते व्वियमिमकाले वि गच्छंति सो वियालो सज्ञेत्यर्थः ॥

इत्थीणं मज्झम्मि, इत्थी संसत्तपरिवुडे ताहि।
चतुपरिमाणं तेण, परं कहं तस्स आणादि ॥ ८९ ॥

इत्थीसु मयो वियासु मज्झ भवति उरुकोप्परमादीहिं संघट्टंतो ससत्तो भवति दिट्ठीए वा परोप्पर ससत्तो सव्वत्तो समता परिवेट्ठिओ परिवुडो भण्णति परिमाण जाव तिण्णि चउरो पच वा वागरणाणि परतो उट्ठादि अपरिमाणकह कहेतस्स चउगुरुग आणादिया पके सा एसा सुत्तत्था इमा णिज्जुत्ती ॥

मज्झं दोएहंतगतो, संसत्त ऊसगादिघट्टंतो।
चतुदिसि ठिताहिं तुवरुो, पासगताहि व अप्फुसंतो ॥९०॥

अहवा पगदिसि वियाहिं वि अप्फुसंतीहिं परिवुडो भण्णति

दुविधं च होति मज्झं, संसत्ता दिट्ठिदिट्ठिअंतो वा।
भावो व तासु णिहितो, एमेवित्थीअ पुरिसेसु ॥९१॥

वसहाओ ससत्तंपि दुविधमुरुगादि घट्टंतो ससत्तो दिट्ठीए वा इत्थीण वा मज्झे अथवा संससस्म इमं वक्खाणं तेण तासु भावो णिहितो णिवेसितो परस्परगृहानीत्यर्थ इमे दोसा ॥

इत्थीणातिसुहीणं, अवियत्तं असि यावणा छेदो।
आतपरतदुभए वा, दोसा संकादिगा चेव ॥९२॥

इत्थीए जेण ततो माया पिया पुत्तभवयमादी ताणाय जेसुही मित्ता एतेसिं अवियत्त हवेज्ज अवियत्तं वा उप्पज्जे दिया असिया वेति क रातो क तेसिं अणोमि या दसहिमादियाण वोच्छेदं करेज्जा आयपरआ जयममुत्थाण पइओ मिलिया ण दोसा होज्ज अहवा सकातिए ते रातो मिलिता किं पुण अणायार करेज्ज संकेन चउगुरु णिस्संकिते मूलं

गेण्हणादिया दोसा तम्हा णो रातो इत्थीण धम्मो कहेयव्वो भवे कारणे ॥

बितियपदमणप्पज्झे, णातीवग्गो य संणिसेज्जासु ॥
णाती वा उवसग्गे, रण्णो अंतेपुरादीसु ॥ ए३ ॥

अणवज्झो वा णातिवग्गा वा सो विरत्तस्स गतो ताहे भणेज्जा रत्तिधम्म कहेह ताहे सो कहेज्ज वर कोइ धम्मपव्वज्जं वा पाभिवज्जेज्ज सावगसेज्जातरकुलेसु वा असकणिज्जेसु अदुट्ठसीले वा णाणायारेसु उवसग्गा वा जहा अंतेपुरे अभिजुत्तो अहवा राया भणेज्ज अंतेपुरस्स धम्म कहेह ताहे कहेज्जा तात्थिम विधाण ॥ ९३ ॥

णो सघम्मि ठिओ दि-ट्ठिं मियसंवतो इसेसि विकिठीसु।
वेरग्ग पुरिसविमिस्स, तासु किदिगा जुताणं वा ।। ए४ ॥

णो सघे ठितो भणइ य दूरे ठायइ मा थाम सघट्टेह तासु दिट्ठिं असवतो इसवुट्ठासु दिट्ठिबंधे तो वेरग्गकह कहेति पुरिसविमिस्साण वा कहेति अहवा सव्वा इत्थीओ ताहे थेरविमिस्साणं कहेति ।

जे भिक्खू सगणिच्चियाए वा णिग्गंथिए सद्धं गामाणुगामं दुइज्जमाणे पुरओ गच्छमाणे पिट्ठउरियमाणीये ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरं संविविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए विहार वा करेइ जाव कहंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥'

सगणे चियासासिस्सिणि,अथवा वि सगच्छवासिणी भणितो
परासिस्सिणि परगच्छे, णातव्वा परिगणिच्चाओ ॥ ए५ ॥

सगणेच्चिया ससिस्सिणी वा सगच्छवासिणी वा परगणेच्चिगा।

पुरतोवग्गमतो वा, सपव्ववाते य पिट्ठंतो ।
वच्चंताणं तेसिं, चउक्कभयणा अ वोच्चत्थं ॥ ए६ ॥

तो अग्गतो २ ठितो साहू वच्चति अथवा पिट्ठितो साधु वच्चति एत्य चउभंगो ॥

पुरतो वच्चति साधू, अथवा पिट्ठेण एत्थ चउभंगो ।
अथव ण पुरतो वा उ, पिट्ठे वा एत्थ वा चउरो ॥ ए७ ॥

पुरतो साधू वचाति णो मग्गतो पुरतो मग्गओ वच्चति बहूसु पुरतो वि मग्गतो भणे पुरतो णो मग्गतो पक्खापक्खीसु णो वा अहवा इमो चउभंगो । पुरतो सा वायणो पिट्ठतो णो पुरतो पिट्ठओ सावाय, पुरतो वि सावात पिट्ठतो वि, सावात णो पुरतो णो पिट्ठतो, सावातं णिज्झए अवोच्चत्थ गतव्व पुरओ साधू पिट्ठतो स तीतो ॥

भयणपदोण चतुण्हं, अणंतरा तेण संजती सहिते ।
ओहतमणसंकप्पे, जे कुज्जविहारमादीणि ॥ ए८ ॥

सजतिसहिओ जइ ओहयमणसकप्पो विहरति ॥

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणा तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, एते तु पदे विवज्जेज्जा ॥ एए ॥

सो पुण किं ओहयमणसकप्पो विहरति भण्णति ॥

अतिच्चि करणे पुच्छा, किं कहितेणं अणिग्गह समत्थे ।
दुक्खमणाए किरिया, सिट्ठे सत्ति ण हावेस्स ॥ १०० ॥

ताओ ओहयमणसकप्प दट्ठु पुच्छति जेट्ठतो किं अधिइ करेह ताहे सजतो भणेज्जा जो णिग्गहसमत्थो ण भवति तस्स किं कहिएणं ताहे सजतीओ भणति दुक्खे आणा ते किरिया ण कज्जति णाए पुण दुक्खापडिआरो सो अप्पणो सत्ति ण हावेस्स एवं भणिते तहवि गारवेण अकहते संजतीताइं भणति ॥

अम्हं करेति अरती, दुइतदुक्खं इमं असीसंतं ।
इति अणुरत्तं भावं, णातु भावं पदंमेति ॥ १०१ ॥

असीसत अकहिज्जत ताओ अणुगतभावाओ णाउ अफुट्टधम्मो अप्पणो भावं दंसेति आकारविकारा य करेज्ज एवं सपरोभयसमुत्था दोसा भवति किं-चान्यत् ॥

पंथे तिण्ण वरिणेम्मं, उवस्सगादीसु एस चेव गमो ।
णिस्संकिता हु पंथे, इत्थमणिच्छे य वा ताहे ॥ १०२ ॥

णिज्झमे त थेमता ण पुरतो उवस्सए वि ओहियमणसकप्पेण अत्थियव्वं सजती जइ इच्छेति ताहे चरित्तविराहणा अह णो इच्छति ताहे सजयस्स आयविराहणाति ताए वेहाणसकरेज्ज । कारणे—

बितियपदमणप्पज्झे, गेलण्णमुनिसग्ग दुविधमद्धाण ।
उवधासरीरतेणग-संभमतयखेत्तसंकमणे ॥ १०३ ॥

अणपज्झो ओहयमणसकप्पो भवे गेलण्णे इमं ।

पाउग्गस्स अलंभे, एगागिगिलाणखत्तिआदिसु वा ।
मंभिगमादि उसग्गा, मुच्चेज्ज कथं व इति चिंता ॥ १०४ ॥

गिलाण पाउग्गण लब्भति ताहे अद्धितिं करेज्ज खत्तिआदिसु वा गिलाणिसु अद्धितिं करेज्ज उवसग्गे इमं भणिएण उवसग्गिज्जतो उवस्सग्गिज्जतिसु वा चिंतं करेज्ज उवसग्गे भणिएण अप्पणो सजतीण वा उवसग्गे करिंति कह मुच्चेज्जामो त्तिचिंत करेज्ज उवहीसरीरतेणपत्ति-अस्य व्याख्या-

उवधिसरीरचरित्ता, भावमुच्चेज्ज किएहु आवाय ।
ववसाय सहायस्स वि, सीतति चित्तं धितिमतो वि १०५ ॥

उवधि तेण सरीरत्तेणगा य सजती वा चारि त्तगेण वा कोंढ पतेहिंतो अविग्घेण णित्थरेज्ज परिसे कज्जे समत्थस्सवि चित्त सीदति । अद्धाणेति—

परिसंतो अद्धाणे, दगग्गिभयसंभमे वरोतएहा ।
वोहियमेत्थ भए वा, तिविताए होति एगस्स १०६ ॥

अद्धाणपरिसंतो तण्हा खुहतो वा अद्धाण कहं णित्थरेज्ज दगवाहसंभमे अग्गिसंभमे भयादिसभमे वा चिंता भवे वोहियमेत्थ भयेण वा चिंताए परो भवेज्ज । नि० चू० ८ उ०।

(१८) स्त्रीणां निर्ग्रन्थादिनिषेधो यथा—

एवइयं वइयरं सोच्चा, दुक्खसंतग वेसिणा इत्थीपरिग्गहारंभो, वचाघोरं तवं चरे । १ । वियासणत्था सायिया परंमुही, अलंकिया वा अनलंकिया वा, निरिक्खमाणोपमया हिं दुव्वद्धं, मणुस्समाव्वेहगयावि किस्सइ ।२। चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं । भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ।३। हत्थपायपडिच्छिन्नं, कण्णनासोट्ठ कत्तियं । यप्पयं सहमाणीय, कुट्ठवाहोदरोरुयं । ४ । तमवित्थियं दुरपणेणं, बंभयारी विवज्जए । थेरभज्जप्पा इत्थी, पव्वगुब्भकजोव्वणा । ५ । कुमारकुमारी पउरय-पडवाडविहवं तहेव य । अंतेउरवासिणी चेव,

परपासंडसंसियं । ६ । दिक्खियं साहुणी वा वि, वेसं तहय नपुंसगं । कणिहं गोणिं खरिं चेव, वडविं अविलं अविं तहा । ७ । सप्पिरिंथि पसुइत्थिं वा वि, जमरोगमहिलं तहा । चिरिसं सहमचेल्लिक्खं, एवमादी य वित्थिओ । ८ । गमंति जत्थ रयणीए, अह परिक्खे दिणस्स वा । तं वसहिं सन्निवेसं वा, सव्वोवाएहि सव्वहा । ९ । दूरदूरदूरदूरेणं, बंभयारी विवज्जए । एएसिं सद्धिं संलावं, अद्धाणं वा वि गोयमा ! । १० । अन्नासु वा वि इत्थीसु, खणद्धं पि विवज्जए ॥ से भयवं ! किमत्थीयं, णोणं णिज्जाएज्जा गोयमा ! णो णं- णिज्जाएज्जा । से भयवं ! किंसुणियच्छवत्थालंकरियविहूसियं इत्थीयं नो णं निज्जाए उयाहु णं विणियंसणं ? गोयमा ! उभयहा वि णं णो णं णिज्जाए । से भयवं ! किमित्थियं नो आलावेज्जा गोयमा ! नो णं आलावेज्जा । से भयवं ! किमित्थीसु सद्धिं खणद्धमवि नो वसेज्जा, गोयमा ! णो णं संवसेज्जा । से भयवं ! किमित्थीसु सद्धिं नो अद्धाणं पडिवज्जेज्जा । गोयमा ! एगो बंभयारी एगत्थीए सद्धिं नो पडिवज्जेज्जा । से भयवं ! केणट्ठेण एवंवुच्चइ जहा णं नो इत्थीण निज्झाएज्जा नो ण मालवेज्जा नोणं तिए सद्धिं परिवसेज्जा नो णं अद्धाणं पडिवज्जेज्जा गोयमा ! सव्वप्पयारेहि णं सव्वित्थियओ अच्चत्थमओकडत्ताए ओगेणं संबंधुकिज्जमाणी कामग्गीए संपलित्ता सहावओ चेव विसएहिं वाहिज्जमाणी अणुसमयं दसदिसिं विदिसासु णं सव्वत्थ विसए पत्थिज्जा जाव णं सव्वत्थ विसए पत्थिज्जा ताव णं सव्वत्थ पयारेहिं णं सव्वत्थ सव्वहापुरिसे संकप्पेज्जा । ताव णं सोइंदिओवओगत्ताए चक्खुइंदिओवओगत्ताए रसणिंदिओवओगत्ताए घाणिंदिओवओगत्ताए फासिंदिओवओगत्ताए जत्थ णं केइपुरिसे कंतरूवेइ वा अकंतरूवेइ वा पडुप्पन्नजोव्वणेइ वा अपडुप्पन्नजोव्वणेइ वा गयजोव्वणेइ वा दिट्ठपुव्वेइ वा इड्ढिमंतेइ वा अणिड्ढिमंतेइ वा इड्ढिपत्तेइ वा अणिड्ढिपत्तेइ वा विसयाउरेइ वा निविन्नकामभोगेइ वा उद्धयावोंदिएइ वा अणुद्धयवोंदिएइ वा । महासत्तेइ वा हीणसत्तेइ वा महापुरिसेइ वा कापुरिसेइ वा समणेइ वा माहणेइ वा अन्नयरेइ वा निंदियाहिं महीणं जाइएहिं वा तत्थणं ईहापोहवीमंसं पलंजित्ताणं जाव णं संयोगसंपत्ती परिकप्पे ताव णं से चित्ते संखुद्धे भवेज्जा । जाव णं से चित्ते संखुद्धे भवेज्जा तावणं से चित्ते विसंवएज्जा जावणं से चित्ते विसंवएज्जा ताव णं से देहेमए णं अज्झासेज्जा । जाव णं से देहेमए अज्झासेज्जा ताव णं से दरविंदरे इहपरलोगावाए पम्हसेज्जा । जाव णं से दरविंदरे इहपरलोगावाए पम्हसेज्जा ताव णं वेयावज्जं भयं अयसं अकित्तिमेरं उवट्ठाणाओ नियट्ठाणं गएज्जा । जाव णं उवट्ठाणाओ नियट्ठाणं गएज्जा ताव णं [चणेज्जा] वट्टेज्जा असंखेयाओ समयावलिया जाव णं नीयंति असंखेज्जाओ समयावलिओ [ताव णं जं पढमसमयाउ] ताव णं जं पढमसमयाओ कम्मट्ठिइयं तं बीयसमयं पडुच्चावइया दिणाणं समयाणं संखेज्जं असंखेज्जं अणंतं वा अणुक्कमसो कम्मट्ठिइं संचणिज्जा जाव णं अणुक्कमसो अणंतं कम्मट्ठिइं संचिणइ ताव णं असंखेज्जाइं अवसप्पिणी कोडिलक्खाइं जाव णं काले णं परिवत्तंति तावइयं कालं दोसु चेव नरयतिरिच्छासु गतीसु उक्कोसट्ठिइयं कम्मं आसंकलेज्जा जाव णं उक्कोसट्ठितीयं कम्मासंकलेज्जा ताव णं सेविसुज्जुत्तिं विवन्नकंतिं विवलियलावन्नसरीयं निम्मट्ठादित्तेया बोंदी भवेज्जा । जाव चुयकंति लावन्नसिरियं दित्तेया बोंदी भवेज्जा जावणं से सिइज्जा फारिसिंदिए ताव णं सव्वहा विवट्टेज्जा सव्वत्थ चक्खुरागे जावणं सव्वत्थ विवट्टेज्जा चक्खुरागे ताव णं रागारुणे नयणजुयले भवेज्जा । जावणं रागारुणे नयणजुयले य भवेज्जा ताव णं रागंधत्ताए ण गणेज्जा सुमहंतगुरुदोसे वयभंगे न गणेज्जा सुमहंत गुरुदोसे नियमभंगे न गणेज्जा । सुमहंतघोरपावकम्मसमायरणं सीलखंडणं न गणेज्जा सुमहंतसव्वगुरुपावकम्मं समायरणं संजमं विराहणं न गणेज्जा घोरंधयारं परलोगदुक्खभयं न गणेज्जा । आइयं न गणेज्जा । सकम्मगुणट्ठाणगं न गणेज्जा । स सुरासुरस्स वि णं जगस्स अलं गणिज्ज आणं न गणेज्जा अणंतहुतो चुलसीइजोणिलक्खपरिवत्तगब्भयरं परं अलद्धणिमिसिद्धसोक्खं चउगइसंसारदुक्खं ण पासिज्जा जं पासिणिज्जं पासेज्जाणं अपासणिज्जणं सव्वजणसमूहमज्झसन्निविट्ठाट्ठियाणि वक्कवक्कमियनिरिक्खिज्जमाणी वा दिप्पंतकिरणजालं दसदिसी पयासयत्तवंततेयसी सूरिए वि तहावि ण पासेज्जा । सुमंधयारे सव्वे दिसाभाए जाव णं एगचत्ताए ण गणेज्जा । सुमहइगुरुदोसे वयभंगे नियमभंगे सीलखंभणे संजमाविराहणे परलोगभए आणाभंगाइक्कमो अणंतसंसार भए पासेज्जा । अपासणिज्जे सव्वजणपयडदिणयरे वि ण मन्नेज्जा सुमंधयारे उज्जे सव्वेदिसाभाए जाव णं न गणेज्जा सुमहइगुरुदोसे वयभंगे नियमभंगे सीलखंडणीया अकंतनिज्जडसोहग्गाइसए वित्थीए रागारुणपंकए दुद्दंसणिज्जे अणिरिक्खणिज्जे वयणकमले भवेज्जा । जाव णं अकंतनिज्जड जाव भवेज्जा ताव णं फुरफुरेज्जा सणियं सणियं पोंडफुरिनियंब त्थोरुहत्थ बाहुलइयउरकंठपएसे जाव णं फुरफुरेति पोंड-

फुम नियंववत्योरुहत्यवाहुलइयउरु कंठप्पएसे तावणं । मो-ढायमाणी अंगपालियाहिं निरुवलक्खे वा सोवलक्खे वा भंजेज्जा सव्वंगोवंगे जाव एं मोढायमाणी अंगपालियाहिं भंजेज्जा सव्वंगोवंगे ताव णं मयणसरसन्निवाएणं जज्जरियसंभिन्ने सव्वरोमकूवे तए भवेज्जा । जाव णं मयणसरसन्निवाएणं विच्छसिए बोंदी भवेज्जा ताव एं तहा परिणमेज्जा । तए जहा एं मणगं पयलंति धातूवो जाव णं मणगं पयलंति धातूओ ताव णं अच्च त्थं वाहिज्जंति पोग्गलनियं बेरुवाहुलइयाओ जाव एं अच्चत्थं वाहुं वाहिज्जइ नियंवं ताव णं दुक्खेहिं धरेज्जा गत्तयहिं जाव णं दुक्खेणं धरेज्जा गत्तयहिं तावणं से णो वलक्खेज्जा तियंसरीरावत्थं जाव एं णोवलक्खेज्जा । अतीयं सारीरवत्थं ताव णं दुवालसेहिं समएहिं दरनि व्वट्ठंभवे बोंदी जाव एं दरनिव्वट्ठं भवे बोंदी ताव एं पम्हि क्खलेज्जा । से ऊसासे नीसासे ताव ण मंदं मंदं ऊसा सेज्जा मंदं मंदं नीसासेज्जा जाव एं एयाइं इतियाइ भावतर अवत्थेतराइं विहारज्जा ताव एं जहा गहच्छत्ये केइ पुरीसेइ वा इत्थिए वा विसंवुलाए पिसायाए भार तिए असंवद्ध सवलियं विसखुत्तं तं अच्चत्थ उल्लाविज्जा एवं सिया णं इत्थीयं विसमावन्नमोहणमम्मणुल्लावेणं पुरिसे दिट्ठपुव्वेइ वा अदिट्ठपुव्वेइ वा कंतरूवेइ वा अ कंतरूवेइ वा गइजोव्वणेइ वा परुपन्नजोव्वणेइ वा महा सत्तेइ वा हीणसत्तेइ वा सप्पुरिसेइ वा कापुरिसेइ वा इड्ढिमंतेइ वा अणिड्ढिमंतेइ वा विसउप्पेइ वा निव्विन्न कामभोगेइ वा समणेइ वा माहणेइ वा जाव णंअन्न यरे वा केई निंदिया इमहीण जावइए वा अन्नत्थेणं सभज्जभमे एं आमंतेमाणि उल्लावेज्जा जाव एं संखेज्ज भेदभिन्नेणं सरागेणं सरेणं दिट्ठिएइ वा पुरिसो ल्लावेज्जा निज्जाएज्ज वा ताव एं जं न असंखे-ज्जाइं अवसप्पिणीए सप्पिणीकोडिलक्खाइं दोसुं नर-यतिरिच्छासु गतिसु उक्कोसट्ठितीयं कम्म आसंकलिउं आसिउं तं निवंधिज्जा नो एं वच्छफुट्ठं करेज्जा । सेवि णं जं समयं पुरिसस्स एं सरीरावयवफरिसिणाभिमुहं भ-णिज्जा णोणं फरिसेज्जा तं समयं चेव तं कम्मट्ठिइं वद्ध पुट्ठं करेज्जा ? नो णं वच्छपुट्ठनिकायंतिए याव सारि-म्हिओ गोयम! संजोगेणं संजुज्जेज्जा से वि णं संजोए पुरिसाय ते पुरिसो त्ति एं जेणं ण संजुज्जे से धम्मे जेणं संयुज्जे से अधम्मे । से भयवं ! केणट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा पुरिसे वि णं ण संजुज्जे से धम्मे जे णं संजुज्जे से ण अधम्मे गोयम ! जेणं सत्तीए इत्थीए पावए वच्छपु-ट्ठकम्मट्ठिई चिट्ठइ सेणं पुरिससगेणं निकाइज्जइ । तेण तु वच्छपुट्ठनिकाइएणं कमेणं सा वराई तं तारिस अज्झ वसायं पडुच्चा एगिंदियत्ताए पुढवादिसु गया समाणी अणंतकालपरियट्टेण विण णोणं पावेज्जा वेइंदियत्तणं एवं कहावि वहुके सेणं अणंतकालाओ एगिंदियत्ताणं खाविय वेइंदियत्तणं तेइंदियत्तणं चउरिंदियत्तमविसेय णं वेइयत्ता पंचिंदियत्तेणं आगया समाणि दुब्भगित्थिस पंडनेरिच्छा वेयमाणी हाहाभूयकट्ठसरणासिविणेवि अ दिट्ठसोक्खा निच्चं संतावुव्वेसिया छुहिसयणवंधवविज्जि या । आजम्मं कुच्छणिज्जं गेहणिज्जं निंदणिज्जं खंस णिज्जं वहुकम्मं तेहिं अणेगवाहुमएहिं लम्वोदरभरण सव्वलोगपरिभूया चउगइए संसारेज्जा अन्नं च एं गोयम! जाव इयतीए पायइत्थीए । वच्छपुट्ठनिकाइककम्मट्ठिइं समज्झियं इत्थियं अभिलासिउकामे पुरिसा उक्किट्ठ २ यरं अणंतकम्मट्ठिइं वच्छपुट्ठनिकाइयं समज्झिणेज्जा (समुचि णेज्जा) तेणं अट्ठेणं गोयम ! एवं वुच्चइ जहा णं पुरिसेवि एं जेणं नो संजुज्जे सेणं धम्मे जेणं संजुज्जे सेणं अधम्मे। भयव ! पुरिसेणं पुच्छा जाव णं च णं वयासि, गोयम ! छ विहे पुरिसे नेयं तजहा अहमाहमे १ अहमे २ वि मज्झिमे ३ उत्तमे ४ उत्तमुत्तमे ५ सव्वुत्तमुत्तमे ६ तत्थ णं जे सव्वुत्तमुत्तमे पुरिसे सेणं पुव्वंगुलरूयोव्वणं सव्वु-त्तमरूवलावन्नकंतिकलियाए वि इत्थए नियं वा रूढो वा स सयं पि चिट्ठिज्जा णो णं मणसा वि तं इत्थियं अभिल-सेज्जा । जे णं से उत्तमुत्तमे से णं जइ कहवितुम्मितिहाएणं मणसा समये कं अभिलसेज्जा तहावि वीयसमए मणसं निरुं जिय अत्ताणं अप्पाणं निंदेज्जा गरहेज्जा न पुणो वी-एणं तत्थ मे इत्थियं मणसा वि उ अभिलसेज्जा । जेणं से उत्तमे सेणं जइ कहवि खणमुहुत्त वा इत्थियं कामेज्ज-माणे पक्खेज्जा तओ मणसा अभिलसेज्जा जाव णं जामच्छजामं वा णो णं इत्थीए संकप्पं विकप्पं समाय-रेज्जा । जइ एं वंभयारिकियपच्चक्खाणग्गहे अहाणं तो वंभयारी नो कयपच्चक्खाणाभिग्गहे तो णं निय-कलत्ते भयणाए उए तिव्वे कामेसु अभिलासे भविज्जा तस्स एयस्स एं गोयम ! अत्थि वंधे किंतु अणंतसं-सारइत्तणं नो निवंधेज्जा । जे णं सेज्जा जे एं से वि मज्झि मेण से एं नियकलत्तेणं सद्धि नियमं समायरिज्जा णो णं परकलत्तेण एसे य णं जइ पच्छा उग्गवंभयारी नो भवेज्जा नो णं अज्झवसायविसेसं तं तारिसमंगीकाऊण अणंतससारियत्तणे भयणा जओ णं जे केइ अभिग-यजीवाइपयत्थो सव्वसत्ते आगमाणुसारेणं सुसा. हुण धम्मोवट्ठंभदाणाइदाणसीलतवभावणामई स चउ व्विहे धम्मखंधे समणुट्ठेज्जा । सेणं जइ कहइ निय

मवयजंगं न करेज्जा तओ णं सायपरंपरएणं सुमाणु सत्तंसुदेवत्ताए । जाव णं अपरिवभियमम्मत्ते निसग्गेण अभिगमणे वा जाव अट्ठारससीलंगसहस्सधारी भवित्ताणं निरुद्धा सव्वदारे विहूयरयमले पावकम्मं खवेत्ताणं सिज्झेज्जा। जे य णं से अहमे मेणं सपरिदारासत्तमाणा से अणुसमयं कूरज्झवसायज्झवसियचित्तेहिं सारंभपरिग्गहाइसु अभिरए भवेज्जा तहा णं जे य से अहमाहमे सेणं महापावं कम्मं सव्वाओ इत्थीओ वाया मणसा य कम्मुणा तिविहं तिविहेणं । अणुसमयाभिलसेज्जा तहा अच्चंतकूरवज्झवसायअज्झवसिएहिं सारंभपरिसत्ते कालगमेज्जा एसिं दोएहंपि णं गोयम ! अणंतसंसारयत्तणं णेयं । भवयं! जेणं से अहमे जे विणं से अहमाहमे पुरिसे तेसिं च दोएहं पि यं अणंतसंसारियत्तणं समक्खायं तो य णं एगे अहमे एगे अहमाहमे एतेसिं दोएहंपि पुरिसावत्था णं को पइविसेसो गोयम! जेणं से अहम पुरिसे सेणं जइवि उ सपरदारासत्तमाणसे कूरज्झवसायअज्झवसिएहिं सारंभपरिग्गहासत्तचित्ते तहवि णं दिक्खियाहिं साहुणीहिं अन्नयरासुं च सीलसंरक्खणपोसहोववासनियराहिं दुक्खियाहिं गारत्थीहिं वा सद्धिं आवाभिअ पिल्लियामंतिए वि समाणे णो वियमं समायरेज्ज। जे य णं से अहमाहमे पुरिसे सेणं नियजणणिपभई जाव णं दिक्खियाइहिं साहुणीहिंपि समं वियमं समायरिज्जा तेणं चेव से महापावकम्मे सव्वहमाहमे समक्खाए सेणं गोयमा ! पइविसेसे तहा य जेणं से अहमपुरिसे सेणं अणंतेणं कालेणं बोहिं पावेज्जा । जओ णं से अहमाहमे महापावकारी दिक्खियाहिं पि साहुणीहिं पि समं वियमं समायरिज्जा सेणं अणंतहुत्तोवि अणंतसंसार माहिंडिऊणंपि बोहिं नो पावेज्जा । एसे य णं गोयम! वितिए पइविसेसे तत्थ णं जे से सव्वुत्तमे सेणं छउमत्थ वीयरागेण य जेणं तु से उत्तमुत्तमे मेणं अणिड्ढिपत्तिभीए जाव णं उवसमायरेज्जा ताव णं निउणीए जेणं च से उत्तमे सेणं अप्पमत्तसंजए णो एवमेएसिं निरूवणा कुज्जा जे उणं मिच्छदिट्ठी भवित्ताणं उग्गबंभयारी भवेज्जा हिंसारंभपरिग्गहाइणं वीरए सेणं मिच्छदिट्ठी चेव णेए णोणं सम्मदिट्ठी तेसिं च णं अविइयजीवाइपयत्थ सब्भावाणं गोयम! नो णं उत्तमुत्तमे अभिनंदणिज्जे वा संसणिज्जेवा भवइ जे उत्तमेणं ते अणंतरभविए दिव्वोएलए विसए पच्छेज्जा अच्छेवकयाइइ ते दिव्विस्थियादओ संनिक्खियत्तणं बंभव्वयाओ परिहरिज्जा णियाण कम्मे वा हवेज्जा जे य णं से विमज्झिमे सेणं तं तारिसमज्झवमायमंगीकिच्चा ए विहरिज्जा विरयाविरए दहव्वे तदा

णं जे से अहमे जे य णं से अहमाहमे तेसिं तु णं एगंतेणं जहा इत्थीसु तहा णं नेइजोवणं कमेइ त्तिई समज्जेज्जा एवरं पुरिसस्स णं संचिक्खणंगे संवेत्थरुहोवरतमपक्खएसु लिंगे य अहियपररागमुप्पज्जे एवं एते चेव न पुरिसविभागे कासिं च इत्थीणं गोयमा ! भव्वसत्तं सम्मत्तदढत्तं च अंगीकाऊणं जावणं सव्वुत्तमे पुरिसविभागे ताव णं चिंतणिज्जे नोणं सव्वेसिमित्थीणं । एवं तु गोयमा ! जीए इत्थीए तिकालं पुरिससंजोगसंपत्तीए संजया अहाणं पुरिससंजोगसंपत्तीए वि साहुणीए जाव णं तेरसमे चोद्दसमे पन्नरसमे णं च समयेणं पुरिसेण सद्धिं ण संजुत्ता णो वि यं संसमायरियं सेणं जहा घणकट्ठतणदारुसमिद्धे केइ गामेइ वा नगरेइ वा रणेइ वा संपलित्ते चमानिलसंधुक्किए य पलित्ताणं णिज्झिय २, चिरेणं उवसमेज्जा एवं तु णं गोयमा ! से इत्थी कामग्गीसंपलित्ता समाणि णिज्झिय २, समयचउकेणं उवसमेज्जा एवं इगवीसइमे वावीसइमे जाव ण सत्ततीसइमे समए जहाणं पदीवसिहा वावन्ना पुणरवि उसयं वा तहा विहेणं चुन्नजोगेणं वा पयलेज्जा एवं सा इत्थी पुरिसदंसणेण वा पुरिसालावगढसणेण वा मदेणं कंदप्पेणं कामग्गीए पुणरवित्ति पयलेज्जा एत्थं च गोयमा! जत्थियं भएण वा लज्जाए वा कुलंकुसेण वा जाव णं धम्मसद्धाएणं वा तवे य णं अहियासेज्जा नोणं वियमं समायरिज्जा, से णं धन्ना से पुण पुन्ना, से य णं वंदा, से णं पुज्जा, से णं दट्ठव्वा, से णं सव्वलक्खणा, से णं सव्वकल्लाणं कारया, से णं सव्वुत्तममंगलनिही, से णं सुयदेवया, से णं सरस्सती, से णं अंबहुंडी, से णं अच्चुया, से णं इंदाणि, से णं परमपवित्तुत्तमसिद्धी मुत्तीसासयासिवगइत्ति। जे इत्थियं ते चेवणं नो अहियासेज्जा वियमं वा समायरेज्जा से णं अधन्ना, से णं अवंदा, से णं अपुज्जा, से णं अदट्ठवा, से णं अलक्खणा, से णं भग्गलक्खणा सेणं सव्वअमंगलअकल्लाणभायणा, से णं भट्टसीला, से णं भट्ठायारा, से णं परिभट्ठचारित्ता, से णं निंदणिया, से णं गरहणिया, से णं खिंसणिज्जा, से णं कुच्छणिज्जा, से णं पावा, सेणं पावपावा, से णं महापावा, से णं अपवित्तात्ति एवं तु गोयमा ! चपुलत्ताए, भीरुत्ताए, कायरत्ताए, लोलत्ताए, उम्मायओ वादप्पओ वा कंदप्पओ वा अणप्पवसओ वा । आउट्टियए वा जमित्थियं संजमाओ परिभस्सिय दूरट्ठाणे वा गामे वा नगरे वा रायहाणीए वा वेसग्गहणं अच्छडिय पुरिसे णं सद्धिं वियमं समायरेज्जा भूओ २ पुरिसं कामेज्ज वा रामेज्ज वा अहाणं तमेवा दोयत्थियं कज्जमई परिकप्पेताण तमा

इवेज्जा तं चेव आई व माणीय सिया णं उम्मायओ वा दप्पओ वा कंदप्पओ वा अणवस्सओ वा आउट्टियाए वा कइया पारेए वा सामसं संजप्पइ वा रायसंसिए वा बामयलद्धिजुत्तेइ वा तवोलद्धिजुत्तेइ वा जोगजुगल-द्धिजुत्तेइ वा विन्नाणलद्धिजुत्तेइ वा जुगुप्पहाणेइ वा प-वयणप्पनावगेइ वा समित्थियं अन्नं वा रामेज्ज वा कामे ज्ज वा अन्निलसेज्ज वा नुंजेज्ज वा परिनुंजेज्ज वा जाव णं वियमं वा समायरेज्जा । से णं दुरंतपंतलक्खणे, अहव्वे, अवंदे, अदट्ठव्वे अपविते, अपसत्थे, अकल्लाणे, अमंगल्ले, निंदणिज्जे, गरहणिज्जे, खिंसणिज्जे, कुच्छि-णिज्जे, से णं पावे, से णं पावपावे, से णं महापावे, से णं महापावपावे, से णं नट्ठसीले से णं नट्ठायारे, से णं नि-न्नट्ठचारित्ते महापावकम्मकारिजयणं पायणि पायछि-त्तमब्नुट्ठिज्जा तओणं मंदतुरगेणं, वइरेणं सरीरेणं, उत्त-मेणं संघयणेणं, उत्तमेणं पोरुसेणं, उत्तमेणं सत्तेणं उत्त-मेणं तत्तपरिमाणेणं, उत्तमेणं वीरियसामत्थेणं, उत्त-मेणं संवेगेणं, उत्तमाए धम्मसद्धाए, उत्तमेणं आउक्खएणं तपायच्छे तमणुचरेज्जा । तेणं तु गोयमा ! साहूणं महा णुनागाणं अट्ठारसपरिहारट्ठाणाई णववंनचेरगुत्तिउ-वागरिज्जत्ति । से नयवं ! किं पच्छित्तेण सुज्झेज्जा गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा । से नयवं ! केणट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा । गोयम ! अत्थेगे-जेणं नियडिप्पहाणे सट्ठमीले वंकसमायरे से णं अस-ल्लेया लोइत्ताणं ससल्ले चेव पायच्छित्तमणुचरेज्जा सेणं अविसुद्धसकलुसं से णं णो सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं उज्जु पद्धरसरलसहावे जहावत्तं णीसल्लं णीसंकं सुपरिफुम आलोइत्ताणं जहोवइट्ठं चेव पायच्छित्तमणुचेट्ठिज्जा से णं निम्मलनिकलुसविसुद्धासए विसज्जेज्जा । एतेणं एवं वुच्चइ जहा णं गोयम ! अत्थेगे जेणं सुज्झेज्जा अत्थेगे जेणं नो सुज्झेज्जा तहा णं गोयम ! इत्थीय णामं पुरि-साणं महंमाणं सव्वपावकम्माणं वसुहारातमरय पंक-खाणी सोग्गइमग्गसणं अग्गला नारयावयारस्स अ समोयरभवेसणी अनूमयं विसकंदलिं अणग्गिणियं चडुलिं अन्नीयणं विसूइयं अणामियं वाहिं अवे यणं मुच्छं अणोवसग्गं मारिं अणियलं गुत्तिं अरु-ज्जुए पासे आहओ मच्चू तहा य णं गोयम ! इत्थी संनोगे पुरिसाणं मणसावेयं अचिंतिणिज्जे अवसाज्झवस-णिज्जे अप्पमत्थणिज्जे अपसत्थाणिज्जे अहीणिज्जे अवियप्पणिज्जे असंकप्पणिज्जे अणनिलसणिज्जे अ-संजरणिज्जे तिविहं तिविहेणंति जओणं इत्थीणं नाम पुरि-

स्स णं गोयम ! सव्वप्पगारेसु पि दुस्साहियं विज्जं पि वा दो सुप्पायणं सरंजसंजगं पि वा अपुट्ठधम्मं अलियचारित्तं पि व अणालोइयं अणिंदियं अगरहियं अकयपायच्छ-त्तऊवसायं पमुत्त अणंतसंसारपरियट्टणदुक्खसंदोहं कयपायच्छित्तं विसोहिं पि व पुणो असंजमायरणं महंत पावकम्मसंचयहिंसं पि व सयलतेलोकनिंदियं आदिट्ठं परलोगपच्चवायघोरंधयारणरयवासो इव णिरंतराणेग दुक्खनिहिंति अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं अच्छी णं तं न णिज्झाए कामरागविवड्ढणं तहा य इत्थीओ नाम गोयम ! पलयकालरयणीमिव सव्वकालं तणो वलित्ताओ नवंति विज्जु इव खणदिट्ठनट्ठपेमाओ न-वंति सरणागयत्तायगा इव एक्कजमियाओ तक्खणपसूय-जीवंतमुद्धनियसिसुनक्खओ इव महापावकम्माओ नवंति । खरपवणुद्धयवालियलवणोदहिवेला इव बहु-विहविकप्पकल्लोलमालाहिं ण खणंपि एगत्थ असं-ठियमाणसाओ नवंति सयंनुरमणोवहीमिव दुक्खगा-हकइतवाओ नवंति पवणो इव चडुलसहावाओ नवंति अग्गी इव सव्वन्नक्खाओ । वाओ इव सव्वफरिसाओ तक्करो इव परत्थलोलाओ साणो इव दाणमेत्तमित्तिओ मच्छो इव हत्थपारिचत्तनेहाओ एव माई अणेगदोसल-क्खपमिपुन्नसव्वंगोवंगसब्भिंतरबाहिराणं महापावकम्मा-णं अविणयविसमंजरीणं तत्थुप्पन्नअणत्थगत्थ पसूईणं इत्थी य णं अणवरयनिब्भरंतदुग्गंधा सुइविलीए कुच्छ णिज्ज निंदणिज्ज खिंसणिज्ज सव्वंगोवंगाणं सब्भिंतरवा हिएणं परमत्थओ महासत्ताणं निविन्नकामनोगाणं गोयम ! सव्वुत्तमुत्तमपुरिसाणं के नाम सुइत्तेसु विवाया धम्माहम्मेक्खणमावि अनिलासं गच्छिज्जा जासिं च णं अनिलसिऊणं कामे पुरिसे तज्जोणिसंमुच्छिमं पंचिंदियाणं एक्कपसंगेणं चेव णवएहं सयसहस्सेणं णियमाओ उद्द वगे नवेज्जा ते य अच्चतसुहमुत्ताओ मंसचक्खुणो ण पा सिया एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ जहा णं गोयमा ! णो इत्थी णं आलवेज्जा नो असंलवेज्जा नो उल्लवेज्जा नो इत्थी णं अंगोवंगाइं संणिरिक्खेज्जा जाव णं नो इत्थीए सार्द्धं रागे बंजयारि अच्छणं पत्रिवज्जेज्जा । महा० २ अ० ॥ २

(२०) स्त्रीस्थानदूषणमाह ।

जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था । एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, न बम्नयारिस्स खमो नि वासो ॥ १३ ॥

यथा विरालावसथस्य मूले विरालस्य आवसथ गृहं विरा लावसथं तस्य मूले समीपे मूषकाणां उन्दुराणां वसतिः स्थिति न प्रशस्ता न समीचीना भवति विरालगृहसमीपे मूषकस्थितिर्मरणायैव एवमनुना दृष्टान्तेन स्त्रीनिलयस्य स्त्रिया

सहितो निलयो गृहं स्त्रीनिलयस्तस्य स्त्रीनिलयस्य मध्ये ब्रह्मचारिणो निवासः क्रमो युक्तो नास्ति । तत्र वसमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्यस्य नाश एव स्यादिति भावः ॥ १३ ॥

स्त्र्यादिरहिते स्थाने वसमानेनापि स्त्रीसम्पाते किं कर्तव्य तदाह ।

न रूपलावण्णविलासहासं, न जंपियं इंगियपेहियं वा । इत्थीणचित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥

तपस्वी श्रमणः स्त्रीणामेतत्सर्वमेतच्चेष्टितं चित्ते स्वकीये मनसि सन्निवेश्य सम्यगवधार्य दृष्टु न व्यवस्येत दर्शनाय. सोद्यमो न भवेत् । कोऽर्थः साधुः स्त्रीणामेतच्चेष्टितं स्वहृदि धृत्वा एतच्चेष्टित दृष्टुं व्यवसायं न कुर्यात् । यतो हि । पूर्वं मनसः इच्छायाः प्रवृत्तिस्ततश्चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां प्रवृत्तिरिति । तत्स्त्रीणां किंकिञ्चेष्टितं तदाह रूप स्त्रीणां गौरादिवर्णो लावण्यं नयनाह्लादकः कश्चिद्गुणविशेषः, विलासो विशिष्टनयनचेष्टाविशेषः, अथवा मन्थरगतिकरणादिको, हास्यं स्मितमीषद्दन्तानां जल्पित मन्मनोल्लापादिकम् इङ्गितमङ्गोपाङ्गादिमोटनं स्वचित्तविकारसूचक, वीक्षितं वक्रावलोकनम् रूपञ्च लावण्यं च विलासश्च हास्य च रूपलावण्यविलासहास्यानि तेषां समाहारो रूपलावण्यविलासहास्यमेतत्सर्वं स्त्रीणां साधुना रागेण न द्रष्टव्यमिति भावः

अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च । इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सयावम्भवए रयाणं १५

ब्रह्मव्रते ब्रह्मचर्ये रतानां सावधानानां साधूनामेतदार्यध्यान योग्य हित वर्तते । आर्य च तद्ध्यान च आर्यध्यानं सम्यग्ध्यान धर्मशुक्लादिक तस्य योग्य हित पथ्य धर्मध्यानस्य स्थैर्यकारको भवति कोऽर्थः यदा हि ब्रह्मचर्यधारिणः एतत् कुर्वन्ति तदा तेषां धर्मध्यान स्थिर स्यादित्यर्थः । तत्किं किमार्यध्यानयोग्य तदाह । स्त्रीणामदर्शन रागेण अनवलोकन च पादपूरणे एव निश्चये । पुनः किं स्त्रीणामप्रार्थनमभिलाषस्याकरणं पुनः स्त्रीणामाचिन्तन यत् कदाचित् रूपादिक दृष्ट तस्य चेतसि न स्मरणमपरिभावनमित्यर्थः । पुनः स्त्रीणामकीर्तन यत्कदाचिद्रूपेण नाम्ना गुणेन वा न कीर्त्तनमकीर्त्तनं नाम गुणोच्चारणस्य अकरणम् यदि ब्रह्मचारी स्त्रीणां दर्शन प्रार्थन चिन्तनं कीर्तनं करोति तदा तस्य आर्यध्यानस्य उत्तमध्यानस्य स्थैर्यं न स्यात् एतत्कर्मध्यानस्य योग्यं हित नास्ति । ननु कश्चिद्वक्ष्याति "विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः" तत् किं विविक्तशयनासनसेवनेन इति चेत्तत्राह ।

कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिउत्ता । तहा वि एगं तहियंति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥ १६ ॥

हे शिष्य ! तथापि मुनीनां विविक्तभाव एकान्तस्थाननिवासः प्रशस्तः । किं कृत्वा विविक्तभावमेकान्तहित मत्वा तथा इति कथ यद्यपि त्रिगुप्तास्तिसृभिर्गुप्ताः मुनयः काममत्यर्थं देवीभिः क्षोभयितुं ध्यानाच्चालयितु न 'चाइया' इति न शक्तिता कीदृशीभिर्देवीभि आभूषणयुक्ताभि । यदि देवाङ्गनाभिरा भरणालङ्कृताभिरपि साधवो ध्यानान्न चालितास्तदा मानुषीभिस्तु क्षोभ प्रापयितुमशक्या एव तथापि स्त्रीप्रसङ्गत्याग मुनीनामेकान्तहित ज्ञात्वा स्त्र्यादिरहितोपाश्रये स्थितिः श्रेयसीति भावः ॥ १६ ॥

स्त्रीप्रसङ्गत्याग पुनरपि दृढयति ।

मोक्खाभिकंखिस्स विमाणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे । न तारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥ १७ ॥

मोक्षाभिकाङ्क्षस्य मोक्षाभिलाषुकस्य मानवस्य संसारभीरोरपि तथा धर्मे स्थितस्य श्रुतधर्मे स्थितस्य अत्र ससारे तादृश दुस्तरमन्यत् किमपि नास्ति यथा लोके ससारे स्त्री दुस्तरा स्ति । कीदृशी स्त्री बालमनोहरा बालानामविवेकिनां मनांसि हरतीति बालमनोहरा । तुशब्दः पादपूरणे विशेषार्थे च ।

स्त्रीसङ्गातिक्रमे गुणमाह ॥

एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा । जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगा समाणा १८।

मनुष्याणामेतान् स्त्रीसम्बन्धिसङ्गान् समतिक्रम्य शेषाः धनधान्यादिसंबन्धाः सुखोत्तराश्चैव भवन्ति । सुखेनोत्तीर्यन्ते इति सुखोत्तराः यथा महासागर स्वयंभूरमणसदृश समुद्रमुल्लङ्घ्य गङ्गा नदी अपि सुखोत्तरा सुखोल्लङ्घ्या एव तथा येन स्त्रीसङ्गस्त्यक्तस्तस्य अन्यसङ्गो धनधान्यादिसयोगः सुत्यज एव (अत्र गाथायां चतुर्थपादे छन्दोनुरोधात् " गंगा नयेवा विणई समाणा " इति पाठो युक्त) १८ ॥ उत्त० ३२ । अ० । स्त्रीस्थानदर्शनादिपरिहारस्य ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानत्वे श्लोकाः प्रतिपादिताः ।

जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं इत्थिजणेण य । बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥ १ ॥

साधुर्ब्रह्मचारी तमालय तमुपाश्रय निषेवते । तुः पादपूरणे त क य आलयो विविक्त एकान्तभूत. तत्रत्यवास्तव्यस्त्रीजनेन चशब्दात् पशुपण्डकैरपि रहित पण्डकशब्देन नपुंसक उच्यते कालाकालविभागागतसाध्वीजनं श्राद्धीजन वा श्रित्य विविक्तत्व ज्ञेय यदुक्तम्- "अट्ठमी पक्खिये मोत्तु वयणा कालमेव य । सेसकालम्मि इत्थीओ, नेया उ अकालचारीओ " ॥ १ ॥ तस्मात् य आलयस्त्र्यादिभिरसेवितस्तमालय ब्रह्मचारी साधुश्च निषेवते इत्यर्थः । पुनर्य आलयः अनाकीर्णो गृहस्थानां गृहाद्दूरवर्ती किमर्थं ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थं यो हि स्वब्रह्मचर्य रक्षितुमिच्छति स एतादृशमुपाश्रय निषेवते अत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राकृतत्वात् ॥ १ ॥

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी । बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥ १२ ॥

अथ द्वितीय ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुः स्त्रीकथां विवर्जयेत् स्त्रीणां कथा स्त्रीकथा ता त्यजेत् कीदृशीं कथां मन प्रह्लादजननीमन्तःकरणस्य हर्षोत्पादिका पुन कीदृशीं कामरागविवर्द्धनीं विषयरागस्य अतिशयेन वृद्धिकर्त्रीम् ॥ १२ ॥

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं । बम्भचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्यरतो भिक्षुर्नित्यशो निरन्तर सर्वदा स्त्रीभि सम स स्तवं अर्थात् एकासने स्थित्वा परिचय च पुन अभीक्ष्ण वार २ सकथां स्त्रीजातिभि सह स्थित्वा बह्वीं वार्ता वारं वर्जयेत् सर्वथा त्यजेत् ॥ ३ ॥

अंगपच्चगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं।
बंभचेररओ त्थीणं, चक्खू गिज्झं विवज्जए ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यरत. साधु स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गसंस्थान चक्षुर्ग्राह्य विवर्जयेत्। अङ्ग मुख प्रत्यङ्गं स्तनजघननासिकादिक स स्थानक कटिविषये हस्त दत्वा ऊर्ध्वस्थायित्व पुन· स्त्रीणां चारुल्लपित प्रेक्षित चक्षुग्राह्य विशेषेण वर्जयेत्। चारु मनोहर यदुल्लपितं मन्मनादि जल्पन प्रकृष्टमीक्षित वक्रावलोकनमेतत्सर्वं परित्यजेत् कोऽर्थ ब्रह्मचारी हि स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्ग संस्थान-चारुभणित कटाक्षैरवलोकनमेतत्सर्वं दृष्टिविषयमागतमपि तत स्वकीयचक्षुरिन्द्रिय, बलान्निवारयेदित्यर्थ ॥ ४ ॥

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं।
बंभचेररओ त्थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥ ५ ॥

ब्रह्मचर्यरत· स्त्रीणां कूजितं रुदित गीत हसित स्तनित क्रन्दितं श्रोत्रग्राह्यं कर्णाभ्यां गृहीतु योग्य विशेषेण वर्जयेत् न शृणुयादित्यर्थ· ५ ।

हासं कीडं रयं दप्पं, सहं भुत्तासणाणि य।
बंभचेर रओ थीणं, नाणुचिंते कयाइ वि ॥ ७ ॥

ब्रह्मचर्यरतो ब्रह्मचारी स्त्रीणां हास्य पुन· क्रीडां तथा रत मैथुनप्रीतिं दर्पं स्त्रीणां मानमर्दनाद्युत्पन्न गर्व पुन सहसा अपत्रासितानि सहसा कारेण आगत्य पश्चात्पराङ्मुखस्थितानां स्त्रीणां नेत्रे हस्ताभ्यां निरुध्य भयोत्पादनहास्योत्पादनानि सहसा वित्रासितानि उच्यन्ते एतानि पूर्वानुभूतानि कदापि न अनुचिन्तयेत् न स्मरेत् (अत्र सहसाद वित्तासणाणिय " इति कचित्पाठस्तदनुसारेण व्याख्यातम)। अथ च सह भुक्तासनानि न अनुचिन्तयेत् सह इति क्रिया सार्द्धं भुक्तमेकासने उपविश्य पूर्वं भोजनानि कृतान्यपि न स्मरेत् सहासनभुक्तानि इति वक्तव्ये सह भुक्तासनानि इति प्राकृतत्वात् ॥ ७ ॥ उत्त० १६ अ० । (स्त्रीप्रसङ्गे दोषस्तत्र दोषा दो गविचारश्च मेहुण शब्दे)।

सांप्रत मतान्तर दूषणाय पूर्वपक्षयितुमाह।

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया।
इत्थी वसंगया बाला, जिणसासण परम्मुहा ॥ ९ ॥
जहा गंभ पिलाग वा, परि पीलेज्ज मुहुत्तग।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ॥ १० ॥

तु शब्द पूर्वस्माद्विशेषणार्थ । एवमिति वक्ष्यमाणया नीत्या यदि वा प्राक्तन एव श्लोकोत्रापि संबन्धनीय (एवमिति) प्राणातिपातादिषु वर्तमाना एक इत्या दि यौद्धविशेषा नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषा सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था· स्वयूथ्यावापार्श्वस्थावसन्न-कुशीलादय स्त्रीपरीषहपराजितास्त एव प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्ति अनार्या अनार्यकर्मकारित्वात्।तथाहि। ते वदन्ति। " प्रियादर्शनमेवास्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरै । प्राप्यते येन निर्वाण सरागेणापि चेतसा "। किमित्यथ ते ऽभिदधतीत्याह। स्त्रीवशगता· यतो युवतीनामाज्ञाया वर्तन्ते बाला अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति रागद्वेषजिनो जिनास्तेषां शासनमाज्ञा-कषायमोहोपशमहेतुभूता तत्पराङ्मुखा समाराधनविद्वेषिणो जैनमार्गविद्वेषिण एतद्वक्ष्यमाणसूचुरिति ॥ ९ ॥ यदूचुस्तदाह (जहा गण्डमित्यादि) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थ·। यथा येन प्रकारेण कश्चित् गण्डी पुरुषो गण्ड समुत्थितं पिटक वा तज्जातीयकमेव तदाकृतोपशमनार्थं परिपीड्य पूयरुधिरादिकं निर्गाल्य मुहूर्तमात्र सुखितो भवति न च दोषेणानुषज्यते। एवमत्रापि स्त्रीविज्ञापनायां युवतिप्रार्थनाया रमणीसबन्धे गण्डपरिपीडनकल्पे दोषस्तत्र कुत· स्यात्। न ह्येतावता क्लेदापगममात्रेण दोषो भवेदिति। स्यात्तत्र दोषो यदि काचित्पीडा भवेत् ॥ १० ॥

दृष्टान्तेन दर्शयति–

जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ॥ ११ ॥
जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ॥ १२ ॥
एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिआ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणे व्वतरुणए ॥ १३ ॥

यथेत्थमुदाहरणोपन्यासार्थ । मन्धादन इति मेष नामशब्द· सभावनायाम् यथा मेषस्तिमितमनालोडयन्नुदक पिबत्या त्मानं प्रीणयति न च तथान्येषां किंचनोपघातं विधत्ते। एवमत्रापि स्त्रीसंबन्धे न काचिदन्यस्य पीडा आत्मनश्च प्रीणनमतः कुतस्तत्र दोष· स्यादिति ॥ ११ ॥ अस्मिन्नेवानुपवादार्थं दृष्टान्तबहुत्वख्यापनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह । (जहाविहगमा इत्यादि) यथा येन प्रकारेण विहायसा गच्छतीति विहंगमा पक्षिणी (पिंगेति) कपिञ्जला साकाश एव वर्तमाना स्तिमित निभृतमुदकमापिवत्येवमत्रापि गर्भप्रधानपूर्विकया क्रियया अरक्ता द्विष्टस्य पुत्रार्थं स्त्रीसबन्ध कुर्वतोपि कपिञ्जलाया इव न तस्य दोष इति। सांप्रतमेतेषां गण्डपीडनतुल्य स्त्रीपरिभोग मन्यमानानां तथैडकोदकपानसदृश परपीडाऽनुत्पादकत्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्वेन किल मैथुन जायत इत्यध्यवसायिनां तथा कपिञ्जलोदकपान यथा तदागोदकास्पर्शेन किल भवत्येवमरक्तद्विष्टतया दर्भाद्युत्तारणात् स्त्रीगात्रस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुकालाभिगामितया शास्त्रोक्तविधानेन मैथुनेपि न दोषानुषङ्गस्तथोक्तं " धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिण· । ऋतुकाले विधानेन दोषस्तत्र न विद्यते" इति

एव मुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तैनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह।

[जह णाममण्डलग्गे ण,सीसं छित्तूण कस्सइ मणसो ॥
चिट्ठेज्ज पराहुत्तो, किं नाम ततो ण घेप्पेज्जा ॥ ५३ ॥
जह णाविसगंडूसं, कोतीघेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अणेण अदीसतो, किं नाम ततो नवमरेज्जा॥ ५४ ॥
जह नाम सिरिघराउ, कोऽरयणाणि णामघेत्तूणं ।
अत्थेज्ज पराहुत्तो, किं णाम ततो नघेप्पेज्जा ॥ ५५] ॥

यथा नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्यचिच्छिरश्छित्त्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत् । किमेतावतोदासीनभावावलम्बनेन न गृह्येत नापराधी भवेत्। तथा यथा कश्चिद्विषगण्डूष गृहीत्वा पीत्वा नाम तूष्णीं भाव भजेदन्येन वाप्यदृश्यमानोसौ किं नाम ततो सावन्यादर्शनात् न म्रियेत। तथा यथा कश्चिच्छ्रीगृहाद्भाण्डागाराद्रत्नानि महार्घ्याणि गृहीत्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत् किमेतावता सौ न गृह्येतेति। अत्र च यथा कश्चिद शठतया अज्ञतया वा

शिरश्छेदे विषगण्डूषरत्नापहाराख्ये सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थ्यमवलम्बेत न च तस्य तदवलम्बनेऽपि निर्दोषतेति । एवमत्राप्यवश्यं भाविरागकार्यमैथुने सर्वदोषास्पदे संसारवर्धके कुतो निर्दोषतेति। तथाचोक्तम् "प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रेगीतं महर्षिभिः। नलिकातप्तकणक प्रवेशज्ञानतस्तथा ॥१॥ मूलं चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम् ॥ तस्माद्विषान्नवत्त्याज्यमिदं पापमनिच्छतेति " निर्युक्तिगाथात्रयतात्पर्यार्थः ॥ १२ ॥

साम्प्रतं सूत्रकार उपहारव्याजेन गण्डपीडनादिदृष्टान्तवादिनां दोषोद्भिभावयिषयाह । (एवमेगे इत्यादि) एवमिति गण्डपीडनादिदृष्टान्तबलेन निर्दोषं मैथुनमिति मन्यमाना एके स्त्रीपरीषहपराजिताः सदनुष्ठानात्पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः तुशब्दात् स्वयूथ्या वा तथा विपरीता तत्त्वाग्राहिणी दृष्टिर्दर्शनं येषां ते । तथा आराद्दूरे याता गता सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्या न आर्या अनार्याः । धर्मविरुद्धानुष्ठानात्त एवंविधा अभ्युपपन्ना गृद्धा इच्छामदनरूपेषु कामेषु कामैर्वा करणभूतैः सावद्यानुष्ठानेष्विति । अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह । यथा वा पूतनाडाकिनी तरुणके स्तनन्धये ऽभ्युपपन्ना एवं तेऽप्यनार्याः कामेष्विति। यदिवा (पूयणत्ति) गड्डरिका आत्मीये ऽपत्येऽभ्युपपन्ना एव ते ऽपीति कथानकं चात्र। यथा किल सर्वपशूनामपत्यानि निरुदके कूपे ऽपत्यस्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनंधयशब्दाकर्णनेऽपि कूपतटस्था रुदन्त्यस्तिष्ठन्ति । उरभ्री त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रैवात्मानं क्षिप्तवतीत्यतो ऽपरपशुभ्यः स्वापत्ये ऽभ्युपपन्नेति ।

एव ते ऽपि कामाभिष्वङ्गिणां दोषमाविष्कुर्वन्नाह ।

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ॥
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥ १४ ॥
जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ॥
ते धीरा बंधणुम्मुक्का, नावकखंति जीविअं ॥ १५ ॥

अनागतमेष्यत् कालमनिवृत्ता नरकादियातनास्थानेषु महादुःखमपश्यन्तो ऽपर्यालोचयन्तस्तथा प्रत्युत्पन्नं वर्तमानमेव वैषयिकं सुखाभासमन्वेषयन्तो मृगयमाणा नानाविधैरुपायैर्भोगान् प्रार्थयन्तस्ते पश्चात् क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वा अपगते परितप्यन्ते शोचयन्ते पश्चात्तापं विदधति । उक्तञ्च । " हत मुष्टिभिराकाशं तुषाणां कण्डनं कृतम् । यन्मया प्राप्य मानुष्यं सदर्थे नादरः कृतः ॥ १ ॥ तथा । " विहवा वलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएण ॥ वयपरिणामे सरियाइं ताइंहिं अपक्खुडुक्कंति ॥ १ ॥ ॥ १४ ॥ ये तूत्तमसत्वतया अनागतमेव तपश्चरणादावुद्यमं विदधति न ते पश्चाच्छोचन्तीति तद्दर्शयितुमाह । (जेहिंकालेइत्यादि) यैरात्महितकर्तृभिः काले धर्मार्जनावसरे पराक्रान्तमिन्द्रियकषायपराजयायोद्यमो विहितो न ते पश्चान्मरणकाले वृद्धावस्थायां वा परितप्यन्ते न शोकाकुला भवन्ति । एकवचननिर्देशस्तु सौत्रच्छान्दसत्वादिति । धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव । तस्मात्स एव प्रधानपुरुषार्थः प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटां प्राञ्चति । ततश्चायं बाल्यात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणास्ते धीराः कर्मविदारणसहिष्णवो बन्धनेन स्नेहात्मकेन कर्मणा चोत्प्राबल्येन मुक्ता नावकाङ्क्षन्ति असंयमजीवितम् । यदिवा जीविते मरणे वा निस्पृहाः संयमोद्यममतयो भवन्तीति ॥ १५ ॥ अन्यच्च–

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता ।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया ॥ १६ ॥
जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता ॥
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥ १७ ॥

य एत्युदाहरणोपन्यासार्थः यथा वैतरणी नदीनां मध्ये ऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च दुस्तरा दुर्लङ्घ्या एवमस्मिन्नपि लोके नार्यो ऽमतिमता निर्विवेकेन हीनसत्त्वेन दुःखेनोत्तीर्यन्ते । तथाहि । ता हावभावैः कृतविद्यानपि स्वीकुर्वन्ति । तथाचोक्तं " सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ॥ भ्रूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ,, । तदेवं वैतरणी नदीवत् दुस्तरा नार्यो भवन्तीति ॥ १६ ॥ अपिच (जेहीत्यादि) यैरुत्तमसत्त्वैः स्त्रीसङ्गविपाकवेदिभिः पर्यन्तकटवो नारीसंयोगाः परित्यक्तास्तथा तत्सङ्गार्थमेव वस्त्रालंकारमाल्यादिभिरात्मनः पूजनाकामविभूषा पृष्ठतः कृता परित्यक्तेत्यर्थः । सर्वमेतत्स्त्रीप्रसङ्गादिकं क्षुत्पिपासादि प्रतिकूलोपसर्गकदम्बकं च निराकृत्य ये महापुरुषसेवितपथं प्रति प्रवृत्तास्ते सुसमाधिना स्वस्थचित्तवृत्तिरूपेण व्यवस्थिता नोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलरूपैः प्रक्षोभ्यन्ते । अन्ये तु विषयाभिष्वङ्गिणः स्त्र्यादिपरीषहपराजिता अङ्गारोपरिपतितमीनवद्रागाग्निना दह्यमाना असमाधिना तिष्ठन्तीति ॥ १७ ॥

स्त्र्यादिपरीषहपराजयस्य फलं दर्शयितुमाह

एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो ॥
जत्थपाणा विसन्नासि, किच्चंती सयकम्मणा ॥ १८ ॥
तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ॥
मुसावायं च वज्जिज्जा–दिन्नादाणं च वोसिरे ॥ १९ ॥

य एते अनन्तरोक्तानुकूलप्रतिकूलोपसर्गजेतार एते सर्व ओघं संसारं दुस्तरमपि तरिष्यन्ति । द्रव्यौघदृष्टान्तमाह । समुद्रं लवणसागरमिव व्यवहारिणः सांयात्रिका यानपात्रेण तरन्त्येव भवौघमपि संसारसंयमयानपात्रेण यतयस्तरिष्यन्ति । तथा तीर्णास्तरन्ति चेति । भवौघमेव विशिनष्टि । भवौघे संसारसागरे प्राणाः प्राणिनः स्त्रीविषयसङ्गाद्विषण्णाः सन्तः कृत्यन्ते पीड्यन्ते स्वकृतेनानुष्ठितेन पापेन कर्मणा असद्वेदनीयोदयरूपेणेति ॥ १८ ॥ सांप्रतमुपसंहारव्याजेनोपदेशान्तरविधित्सयाह । (तचभिक्खूइत्यादि) तदेतद्यथा प्रागुक्तं यथा वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो यैः परित्यक्तास्ते समाधिस्थाः संसारं तरन्ति स्त्रीसङ्गिनश्च संसारान्तर्गताः स्वकृतकर्मणा कृत्यन्त इति तदेतत्सर्वं भिक्षणशीलो भिक्षुः परिज्ञाय हेयोपादेयतया बुद्ध्वा शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यनेनोत्तरगुणख्यापनं कृतमित्येवम्भूतश्चरेत्संयमानुष्ठानं विदध्यात् । तथा मृषावादमसद्भूतार्थभाषणं विशेषेण वर्जयेत्तथा अदत्तादानञ्च व्युत्सृजेद्दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं न गृह्णीयात् । आदिग्रहणात् मैथुनादेः परिग्रह इति । तच्च मैथुनादिकं यावज्जीवमात्माहितं मन्यमानः परिहरेत् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ॥

(स्त्रियां जातमपत्यं पुरुषस्यैवेति-'अपच'-शब्दे । स्त्रीपुरुषयोरन्तरं ' अणंतर ' शब्दे । स्त्रीगर्भवक्तव्यता ' गब्भ ' शब्दे । स्त्रीभ्यो दृष्टिवादो न दीयत इति ' दिट्ठिवाय ' शब्दे । स्त्रीणां

मोक्षसिद्धिः ' इत्थिलिंगसिद्ध ' शब्दे । स्त्रीवसङ्गतस्य निन्दा ' इत्थिवस ' शब्दे । स्त्रीशब्दयुक्ते स्थाने न स्थातव्यमिति 'वसही ' शब्दे । स्त्रीससकस्थानादिनिषेधो 'बम्भचेरसमाहिट्ठाण ' शब्दे 'बम्भचेर गुत्ति' शब्दे च । स्त्रीणां स्वातन्त्र्यनिषेधः ' इत्थिरक्ख शब्दे ')

इदं–इदम्–त्रि०'इदि' कमि नञ्लोपश्च । पुरोवर्त्तिनि, । सूत्र०१श्रु० ३ अ० । प्रत्यक्षे, । नि० चू० १ उ० । प्रत्यक्षासन्ने च । आ० चू० ४ अ० । इणमेव खणंवियाणिया" । इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिति । सूत्र १ श्रु० २ अ० । " आरम्भ ज दुक्ख मिणति णच्चा " इदमिति प्रत्यक्षगोचरतापन्नमिति । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सूत्र० । प्रश्न० । "वुइवेद सुयक्खाय" ॥ प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदम इति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । अस्य च सर्वस्याम् विभक्तौ ॥ ' इदम इम' ८ । ३ । ७२ । इति प्राकृतसूत्रेण इमादेशः इमो-इमे-इमं । इमेण-स्त्रीयामपि-इमा सौ" पुंस्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ" ८ । ३ । ७३ इति प्राकृत सूत्रेण अयमिति पुंल्लिङ्गे इमिआ इति स्त्रीलिङ्गे वैकल्पिक आदेशः । अहया एक सकज्जो-इमिआ वाणिअधूआ । पक्षे इमो इमा-" ष्ठीसप्तम्यो स्सिस्स्सयोरत्" ८ । ३ । ७४ । इति प्राकृतसूत्रेणेदम स्सि स्स इत्येतयोः परयोर्वा अद्भवति अस्सि अस्स । पक्षे इमादेशोपि । इमस्सिं इमस्स-बहुला धिकारादन्यत्रापि अद् भवति । एहि-एसु-आहि एभि- एषु आभिरित्यर्थः । 'र्डेमेन ह , । ८ । ३ । ७५ । इति प्राकृतसूत्रेण इनेमादेशातपरस्य ङेः स्थाने मेन सह वैकल्पिके हादेशे, इह पक्षे इमस्सि इमम्मि । नन्य । ८ । ३ । ७६ । इति प्राकृतसूत्रेण इदम परस्य ङेः स्सिम्मित्या इतिप्राप्तस्यो निपिध्यते । इह इमस्सि इमम्मि । णोऽम् शस्टाभिसि । ८ । ३ । ७७ । इति प्राकृतसूत्रेणामशस्टाभिस्सु इदमो वा ण इत्यादेशो भवति ण पेच्छ । णे पेच्छ । णेण-णेहिं कअ । पक्षे इम इमे इमेण इमेहिं । द्वितीयैकवचनेऽमि । अमेणम् । ८ । ३ । ७८ । इति प्राकृतसूत्रेणामा सहितस्येदम स्थाने इणम् इत्यादेशो वा भवति इणं पेच्छ पक्षे इम सौ- अमि त्र नपुंसके । " क्लीबे स्यमेदमिणमो च" ८ । ३ । ७९ । इति प्राकृतसूत्रेण स्यम्भ्यां सहितस्य इदम इणमो इणम् च नित्यमादेशो भवति । इद इणमो इण । धण चिट्ठइ पेच्छ वा । प्रा० व्या० ।

इदा (या) णिं-इयाणिंह-इदानीम्-अव्य० इदमीदानीम । सम्प्रत्यर्थे,–वाच० इआणि कोणो क वसव्वयं इच्छइ- । अनु० । 'इयाणिं गच्छं' ॥ इदानीं गच्छामीति । स्था० ३ ठा० । 'काम खलु आउसो इदाणिं ति'–आचा ० २ श्रु० १ अ० १० उ० । " मांसादेर्वा । इतिप्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य विकल्पेन लोपे इयाणि इयाणिं । दाणिं दाणि । प्रा० व्या० ।

इन्दुर–इन्दुर–न० कोष्ठिकामुखगन्ध्या उपरि दीयमाने सुवाद्रियूते हंचनकादिके, अनु० । महति पिठके, येन समस्तापि रसवतीस्थग्यते-राज० ।

इद्दं–इद्दाएम–पुं०भ्रमरे, दे०ना० ॥

इद्ध-इद्ध-न-इन्ध भावे क-आतपे, दीप्तौ, आश्चर्ये च । कर्त्तरि-क । दीप्ते, गन्धे च । त्रि० । वाच० ।

इध–इह–अव्य०'इहहचोर्हस्य' इति प्राकृतसूत्रेण शौरसैन्यां ध. । प्रा० व्या० । इद इहशादेशः । अस्मिन्काले देशे दिशि वा इत्यर्थे, वाच० ॥

इंध–(चिंएह) चिह्न–न० 'चिह्ने न्धो वा' । इति वा न्धादेशः । एहा पवाद पक्षे सोपि । ' कगचजतदपयवां प्रायो लुक् ' ॥ इति प्राकृतसूत्रेण वा चस्य लुक् । लक्षणे, प्रा० व्या० ।

इब्भ–इभ्य–पु–इभो हस्ती तत्प्रमाण द्रव्यमर्हतीति इभ्यः । अनु० । दण्डादित्वाद् यत् । वाच० । हस्तिप्रमाणद्रविणराशिपतौ; । औप० । यद्द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रितकदलिका दण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्या इति जनश्रुतिरिति । स्था० ६ ठा० । ज ० । महाधनपतौ, भ०१५ श० ३३ उ० । आ० म० । अधिकतरद्रव्यो वा इभ्य इति । अनु० । " अड्ढा इब्भा धणिणो । इति । प्रा० को० । नृपे, हस्तिपके च । पुं० । वाच० । स्वनामख्याते वसन्तपुरस्थे श्रेष्ठिनि च । " वसन्तपुरनामास्ति, वसन्तर्त्तु सम पुरम् । श्रेष्ठी तत्रेभ्यनामाऽस्यु-त्प्रे यसी तस्य धारिणीति-" । आ० क० । वणिजि, दे० ना० ।

इब्भग (य) इभ्यक–त्रि-स्वार्थे कन् इभ्यशब्दार्थे, । आ० म० प्र० । स्त्रियां तु टापि वा अत इत्वम् । इभ्यका इभ्यिका-इभ्याख्यायां स्त्रियाम् । वाच० ।

इब्भगब्भिज– इभ्यकगिभ्ज–पु–इभ्यवासके, इब्भगब्भिजाणि नाणाविहभक्खहत्थगयाणि स गिहेहिंतो निग्गयाणि । आ० म० प्र० ।

इब्भजाइ–इभ्यजाति–स्त्री० आर्यजातौ,

छव्विहा जाइ आरिया मणुस्सा पण्णत्ता तंजहा अंबट्ठा य कलंदा य, वेदेहा वेदिगाइया । हरिया चुंचुणा चेव, छब्भेया इब्भजाइओ ॥ १ ॥

जातिर्मातृक पक्षस्तया आर्या अपापा निर्दोषा जात्यार्या विशुद्धमातृका इत्यर्थः । अम्बष्ठेत्याद्यनुष्टुप्प्रतिकृति षडप्येता इभ्यजातय इति । इभमर्हन्तीतीभ्या यद्द्रव्यस्तूपान्तरित उच्छ्रितकदलिका दण्डो हस्ती न दृश्यते ते इभ्या इति श्रुति स्तेषां जातय इभ्यजातयस्ता एता इति । स्था० ६ ठा० ।

इब्भदास–इभ्यदास–पुं० स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, । ती० ।

इब्भ–इभ्य–पुं०इण्–भ– किच्च । हस्तिनि, । ज० २ व० । अनु० ।

इमट्ठी–इमट्ठी–स्त्री० इ' कामस्तस्य मष्ठ: कामिन्यः स्त्रियाम्,गा

इ (मा) (मिआ) मी–इयम् स्त्री० प्रत्यक्षायाम् " पुस्त्रीयोर्नवायमिमिआ सौ–८ । ४–७३ इति प्राकृतसूत्रेण स्त्रीलिङ्ग इमि आदेशः । आजाते' पुसः । ८। ३ । ३२ इति जाति वाचिन पुंलिङ्गात्स आत्वम् । इमिए, इमाए, इमिणं इमाणं । प्रा० व्या० ।

इय–इक–देशी० क्वापि प्रवेशार्थे,–इकमिति देशीपद क्वापि प्रवेशार्थे वर्तत इति आ० म० द्वि० एतस्य निक्षेपो यथा इकमपि चतुर्धा तद्यथा नामेक स्थापनेक द्रव्येक भावेक च । तत्र नामस्थापने प्रतीते । द्रव्येकं "दोहारस्सणिइंगाइमेयाइ तु दव्वाइ " दोरे इति सूत्रे दवरके मौक्तिकान्यधिकृत्य भाविपर्यायापेक्षया हारस्य मुक्ताफलकलापस्य विनिवेशन प्रवेशनम् " ए आ अतुदव्वम्मि" एतान्युदाहरणानि द्रव्ये द्रव्यविषयाणि "नाणाइतिय तस्साया पोयणं भावसामाई"तस्येति सामादि सम्बन्धे । तस्य सामादेरात्मनि प्रोतनमात्मनि प्रवेशनं भावेकमिति । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

इत–त्रि० गते, समियं उदाहु सम्यक् इत गतमिति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । स्था० । ज्ञाते,परिच्छिन्ने, । आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० । प्राप्ते,विशे० । इतो इतः स्थित इत्यनर्थान्तरम् । नं० । विशे० । प्राप्ते क्तः । गतौ, ज्ञाने च । वाच० ।

'इतो तो वाक्यादौ' । इति प्राकृतसूत्रेण वाक्यादौ इति शब्देकारस्याकारः । 'इअ ज पिआ वसाणे' इअविअ सिअ कुसुमसरो इति । प्रा० व्या० । इति एवमर्थे, "इय सिद्धाण सोक्खं" इति एव सिद्धानां सौख्यमिति । औप० । "इय सव्वगुणाहाणं" एवमुक्तेन प्रकारेण सर्वगुणाधानम् इति । आव० । नि० चू० ॥

इयर–इतर–त्रि० इना कामेन तीर्य्यते तृ अप् । तरति पचाद्यच् वा । नीचे, पामरे, । वाच० ।

इत्तरिए अय अहमंसिपुण विसिट्ठे जाइकुल बलाइ-
गुणोववेए एवं अप्पाणं समुक्कस्से ॥

इतरोय जघन्यो हीनजातिकः कुलबलरूपादिभिर्दूरमपकृष्टः सर्वजनावगीतोयमिति । अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेत एवमात्मान समुत्कर्षयेदिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ॥ "इयराइयरहिं कुलेहिं" इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतराः साधव इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ॥

इयरकुल–इतरकुल–न० अन्तप्रान्तकुले, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ॥

इयरेयर–इतरेतर–त्रि० इतरद्विव समासवद्भावश्च । अन्योन्य शब्दार्थे, । उत्त० १ अ० ॥

इयरेयरसंजोग–इतरेतरसंयोग–पुं० इतरेतरस्य परस्परस्य संयोगो घटना । परस्परघटनायाम्, तदात्मसयोगभेदे च उत्त० १ अ० । (तद्वक्तव्यतासंजोगशब्दे)

इयरेयरसावेक्ख–इतरेतरसापेक्ष्य–त्रि० परस्पराविरोधिनि, इतरेतरसापेक्षात्वेषां पुनरपासवचनपरिणतया इतरेतरसापेक्षा परस्पराविरोधिनीनि । षो० ।

इयरेयरस्सय–इतरेतराश्रय–पुं० इतरेतर आश्रयति आ–श्रि–अच् अन्योन्याश्रये तर्कदोषभेदे, वाच० ।

इयरेयराभाव–इतरेतराभाव–पु– इतरेतरस्मिन्नभावः । अभावविशेषे, इतरेतराभावं वर्णयन्ति स्वरूपान्तरात्स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभाव इति । स्वभावान्तरान् पुनः स्वस्वरूपादव तथाऽऽसत्त्वप्रसक्ते स्वरूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावो ऽप्यपोहनमानिगद्यते ॥ उदाहरणमाहुर्यथास्तम्भस्वभावात्कुम्भस्वभावव्यावृत्तिरिति । रत्ना० ।

इर–इर–धा० ईर्षायाम्, कण्ड्वादित्वाद् यक् । उभ० । इर्यति इर्य्यते वाच० । 'किरेरे रहिर किलार्थे वा' ८।२।८६। इति सूत्रेण किलार्थे तस्य प्रयोगबोधनात् । तस्स इर किलार्थे, प्रा० व्या० । पाद पूरणे च । अव्य० व्य० । ईजे इराः पादपूरणे । ८ ।२।२१७ इति सूत्रात् "गेण्हइ इर कलमगोवि" । इति- । प्रा० ।

इरमंदिर–इरमन्दिर–पुं० करभे, दे० ना०

इराव–इराव–देशी–गजे, दे० ना० ।

इरिआ–ईर्या–स्त्री–कुट्याम्,–दे० ना० ।

इरिण–इरिण–देशी–कनके, दे० ना० ।

इरियज्झयण–ईर्याध्ययन–न० आचाराङ्गश्रुतस्कन्धस्य प्रथम चूलिकान्तर्गते तृतीयेऽध्ययने, तच्चाचाराङ्गपञ्चमाध्ययनावन्त्याख्यस्य चतुर्थोद्देशकसूत्रम् । गामाणुगाम दुइज्जमाणस्स दुज्जाय दुपरक्कममित्यादिनेर्यासंक्षेपेण व्यावर्णितेत्यत इर्याध्ययनं निर्व्यूढमिति ।

अत्र अय उद्देशा उद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह निर्युक्तिकारः

सव्वेवि यदवि इरियं विसोहि-कारगा तहवि अत्थिपविसेसो ।
उद्देसे उद्देसे, वोच्छामि समासओ किंपि ॥ २८ ॥
पढमे य उवागमणि-ग्गमो य अध्दाणंमि य जयणा ।
बितिए आरूढ छलणं, जंघा संतारपुच्छाया ॥ २९ ॥
तइयम्मि अदंसणया–अप्पमिबंधो य होइ उवहिम्मि ।
वज्जेयव्वं च सया, संसारियरायगिहगमणं ॥ ३० ॥

(सव्वेत्यादि) सर्वेपि त्रयोपि यद्यपीर्याविशुद्धिकारकास्तथापि प्रत्युद्देशकमस्ति विशेषस्त च यथाक्रमं किञ्चिद्वक्ष्यामि इति यथाप्रतिज्ञातमाह (पढगाहा) प्रथमोद्देशके वर्षाकालादावुपागमन स्थान तथा निर्गमश्च शरत्कालादौ यथा भवति तदत्र प्रतिपाद्यमध्वनि यतना चोति द्वितीयोद्देशके धावावारूढस्य छलन प्रक्षेपणं व्यवर्ण्यते जघा सतारे च पानीये यतना तथा नानाप्रकारे च प्रश्ने साधुना यद्विधेयमेतच्च प्रतिपाद्यमिति (तइयम्मि गाहा) तृतीयोद्देशके यदि कश्चिदुदकादीनि पृच्छति तस्य जानताप्यदर्शनता विधेयेत्ययमधिकारः तथोपधावप्रतिबन्धो विधेयस्तदपहरणे च स्वजनराजगृहगमनञ्च वर्जनीय न च तेषामाख्येयमिति । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ॥

इरियट्ठ–ईर्य्यार्थ–त्रि० ईर्य्याविशुद्ध्यर्थे, तदर्थमाहरकरणेऽनातिक्रमः 'इरियट्ठाए य' ईर्यागमन तस्या विशुद्धिर्युगमात्रनिहितदृष्टित्वमीर्य्याविशुद्धिस्तस्यै इदमीर्याविशुद्ध्यर्थम् । इह च विशुद्धिशब्दलोपादीर्य्यार्थमित्युक्तम् बुभुक्षितो हीर्य्या शुद्धावशक्तः स्यादिति । स्था० ६ ठा० (तदर्थमाहरकरणे नातिक्रम इति 'आहार' शब्दे)

इरिया–ईर्य्या–स्त्री–ईरणमीर्य्या ईरगतिप्रेरणयोरस्माद्भावे ण्यत् गमने, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आचू० । स्था० । आव० । उत्त० । सूत्र० । ईर्य्यानिक्षेपणार्थं निर्युक्तिकृदाह ।

णामं ठवणा इरिया, दव्वे खेत्ते य कालभावे य ।
एसो खलु इरियाए, णिक्खेवोछव्विहो होइ ॥ ३३ ॥
दव्वइरिया उ तिविहा, सचित्ताचित्तमीसया चेव ।
खेत्तम्मि जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जोए ॥ ३४ ॥

तत्र द्रव्येर्या सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिविधा ईरणमीर्य्या गमनमित्यर्थः । तत्र सचित्तस्य वायुपुरुषादेर्द्रव्यस्य यद्गमनं सा सचित्तद्रव्येर्या एव परमाण्वादिद्रव्यस्य गमनमचित्तद्रव्येर्या । तथा मिश्रद्रव्येर्या रथादिगमनमिति । क्षेत्रेर्या यस्मिन् क्षेत्रे गमन क्रियते ईर्या वा वर्ण्यते । एव कालेर्य्यापि द्रष्टव्येति । आचा० । भावेर्य्याप्रतिपादनायाह– ।

भावइरिया उ दुविहा, चरणगई संजमगई य ।
समणस्स कहं गमणं, दोसं होइ परिसुद्धं ॥ ३५ ॥

भावविषयेर्या द्विविधा चरणेर्य्या सयमेर्य्या च । तत्र सयमेर्या सप्तदशविधसयमानुष्ठान यदि वा असख्येयेषु सयमस्थानेष्वेकस्मात्सयमस्थानादपरं सयमस्थानं गच्छत संयमेर्या भवति । चरणेर्या तु अभूवभूमञ्चरगत्यर्था चरतेर्भावेर्युट् चरणं तद्रूपेर्या चरणेर्या । चरण गतिः गमनमित्यर्थः तच्च श्रमणस्य कथ केन प्रकारेण भावरूपगमन निर्दोष भवतीत्याह–

आलंबणे य काले, मग्गे जयणा य चेव परिसुद्धं ।
जंगेहिं गोदमविधं, उपरिसुद्धं पसत्थं तु ॥ १६ ॥

न प्रवचनसंघगच्छाचार्यादिप्रयोजनं काले स्वाध्यायं विहारं दर्शनादौ मार्गे जनैः पदन्यासे कृते पद्भ्यां यतना उपयुक्तस्य युगमात्रदृष्टित्वं तदेवमालम्बनकाले मार्गयतना चतुर्विधैः पदप्रक्षेपादिना चतुरन्तं चोडशविधं गमनं भवति तस्य च यत्परिशुद्धम् । नवैव प्रशस्तं भवतीति दर्शयितुमाह—

चउकारण परिसुद्धं, अहवा वि होज्ज कारणाजाए ।
आलंबण जयणाए, काले मग्गे य जइयव्वं ॥ १७ ॥

चतुर्भिः कारणैः स्वाध्यायगमनं परिशुद्धं भवति तथाहि स्वाध्यायनमं दिवा मार्गे यतनया गच्छन् इति अथवा अकालेऽपि ग्लानाद्यालम्बनेन यतनया गच्छन् शुद्धमेव गमनं भवत्येव पूर्वं च मार्गे स्वाधुना यतितव्यमिति । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० (गमनं च यथा कर्तव्यमित्यादिवर्णनं आचाराङ्गे प्रतिपादितं विहार-शब्दे द्रष्टव्यम्) "इरियं च पडिक्कमाहेज्जा" ईरणमीर्या सा च गमनागमनं भवति तथा मार्गगता या प्रतिक्रान्ता प्रत्यागतेति इति । आचा० १ श्रु० ८ अ० । ७ उ० । ईरणमीर्या गमनम् । गच्छति कर्मणि च । गमनस्य पर्यन्तस्य, न ईर्ति इरियावही गुणा" ईरणमीर्या गमनमित्यर्थः इह ईर्यापथं वर्ज्य यतः ईर्यापथेन गृहीते पात्रे पापोपचारादिति । स्था० ८० ठि० । ईर्यासमितौ, "पादूपबलं विबाधा जीव च इरियं समया, जीव प्रजाः इर्यासमितिरिति । उत्त० ईरणमीर्या तत्सूत्राद्यनुपयुक्तस्याभिगामकं आत्मासादितेदं च । ग० २ अधि ।

इरियापच्चय–ईर्याप्रत्यय–न० ईरणमीर्या गमनं तेन जनितमीर्या प्रत्ययम् । कर्मभेदे, सूत्र १ श्रु० १ अ० (एतद्वक्तव्यता इरियावहिय शब्दे)

इरियावह–ईर्यापथ–पु० ईरणनिःसरणमीर्या तस्याः पन्थाः । ईरणमीर्या तस्याः (तया या) पन्था ईर्यापथः । सूत्र० १ श्रु० २ स०॥ स्था० । ईरणमीर्या गमनं तद्विशिष्टः पन्था ईर्यापथ ।प्रव०३द्वार। ईर्या गमनं तद्विषयः पन्था ईर्यापथः । प्र० ११ श० १० उ० । आव० । गमनमार्गे, प्र० ३ श० ३ उ० । कस्मिन्नीर्याया पन्था भवति यदाश्रिता सा भवतीति । आचा० २ श्रु० १ उ० । ईरणमीर्या तत्सम्बद्ध पन्था ईर्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्यापथम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । ईर्यापथप्रत्ययमीर्यापथम् । प्रति० । कर्मभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । एतत्कृतं भवति पथि गच्छतां यथा कथंचिदनभिसन्धय प्राणिव्यापादनं भवतीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० । (अस्य बन्धनकारणत्वविचार कम्मबंध शब्दे) ।

इरियावहकिरिया–ईर्यापथक्रिया–स्त्री० क्रियाभेदे, सा च यदुपशान्तमोहादेरेकविधकर्मबन्धनमिति । स्था० ५ ठा० । ईर्यापथक्रिया तूपशान्तमोहादारभ्य सयोगिकेवलिनं यावदिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० (एतस्या विस्तरेण वक्तव्यता इरियावहिया शब्दे) ।

इरियावहिय-ईर्यापथिक न० ईरगतिप्रेरणयोः रस्मादृभावे यत् ईरणमीर्या तस्याः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवमीर्यापथिकम् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । ईरणमीर्या तस्यास्तया वा पन्था ईर्यापथः स विद्यते यस्य तदीर्यापथिकम् । एतच्च शब्दव्युत्पत्तिमात्रम् प्रवृत्तिनिमित्तं तु इदम् सर्वत्रोपयुक्तस्य निकषायस्य समीक्षितमनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया तया यत्कर्म तदीर्यापथिकम् । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

ऐर्यापथिक न० ईरणमीर्या गमनं तत्प्रधानः पन्था मार्ग ईर्यापथस्तत्र भवमैर्यापथिकम् । केवलयोगप्रत्यये कर्मभेदे, भ० ८ श० ८ उ० । कस्मिन्नीर्याया पन्था भवति यदाश्रिता सा भवत्येतच्च व्युत्पत्तिनिमित्तं यस्तिष्ठतोऽपि तद्भवति प्रवृत्तिनिमित्तं तु छिन्नकषायस्योपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिना भवति । अयोगिकेवलिनोऽपि हि तिष्ठतोऽपि सूक्ष्मगात्रसञ्चारा भवन्त्युक्तं च "केवली णं भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा पायं वा ओगाहित्ताणं चिट्ठइ पभू णं भंते ! केवली सेसु आगासपएसेसु पडिसाहरित्ताए णो इणट्ठे समट्ठे । कहं वीर्यासव्वं पडाइं सरीरोवगरणाइं भवंति चलोवगरणाइं भवंति एवसाए केवलिणो अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा पायं वा पडिसाहरित्तए " तदेव सूक्ष्मगात्रसञ्चाररूपेण योगेन यत्कर्म बध्यते तदीर्यापथिकमीर्यापथमित्यर्थः । तत्र हि प्रथमसमयबद्धस्पृष्टमस्मिन् समये वेदितं तृतीयसमये तदपेक्षया नाकर्मतामेति कथमित्युच्यते यत्स्थित्यनुभवाभावात् कथं स्वभावेन कल्पमानमेव परित्यजति शुभानुभावतोऽनुत्तरोपपातिकसुखातिशायिप्रदेशाग्रसूक्ष्मबहुप्रदेशमिति उक्तम्—

अप्पं बायरमउयं, बहुं च लुक्खं च सुक्किलं चेव ।
मंदं महव्वयंतिय सातबहुलं च तं कम्मं ॥

अल्पं स्थितितः स्थितेरभावात् बादरं परिणामतोऽनुभावतो मृदु अनुभावतः प्रदेशतो बहु स्पर्शतो वर्णेन शुक्लं च लेपतः मन्दं रूक्षस्पर्शं सुखिसुखं कुड्यापतित सिकतावत् महाव्ययमेकसमयेनैव व्ययगमनात्ततो बहुलसातानुत्तरोपपातिकसुखातिशायि (ता) बाधाति तत्कामीर्यापथिकम् । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० (एतस्य बन्धविचार कम्मबंध शब्दे) अर्थोऽङ्गदेशव्यतीते च । आव० । ऐर्यापथिकः केवलयोगप्रत्ययः कर्मबन्ध उपशान्तमोहादीनां सातवेदनीयबन्ध इति । सम० १३ स० (विस्तरेणैतस्य वक्तव्यता इरियावहिया शब्दे)

इरियावहियबंध–ऐर्यापथिकबन्ध–पु० ईर्या गमनम् तत्प्रधानः पन्था मार्ग ईर्यापथस्तत्र भवमैर्यापथिकम् । केवलयोगप्रत्ययं कर्म तस्य यो बन्धस्स तथा । ऐर्यापथिककर्मणो बन्धे, । तद्वक्तव्यता यथा ।

इरियावहियाणं भंते ! कम्मं किं णेरइओ बंधइ, तिरिक्खजोणिओ बंधइ, तिरिक्खजोणिणी बंधइ, मणुस्सो बंधइ, मणुस्सी बंधइ, देवो बंधइ देवी बंधइ ? । गो० ! णो णेरइओ बंधइ, णो तिरिक्खजोणिओ बंधइ, णो तिरिक्खजोणिणी बंधइ, णो देवो बंधइ, णो देवी बंधइ, पुव्वपडिवण्णए पडुच्च मणुस्सा य मणुस्सीओ य बंधंति । पडिवज्जमाणए पडुच्च मणुस्सो वा बंधइ मणुस्सी वा बंधइ मणुस्सा य वा बंधंति मणुस्सीओ य वा बंधंति अहवा मणुस्सो य मणुस्सी य बंधइ । अहवा मणुस्सो य मणुस्सीओ य बंधंति । अहवा मणुस्सा य मणुस्सी य बंधइ-

अहवा मणुस्सा य मणुस्सीओ य बंधंति । तं भंते ! किं इत्थी बंधइ, पुरिसो बंधइ, णपुंसगो बंधइ, इत्थीओ बंधंति पुरिसा बंधंति णपुंसगा बंधंति । णो इत्थी णो पुरिसो णो णपुंसगो बंधइ ? गोयमा ! णो इत्थी बंधइ णो पुरिसो बंधइ, जाव णो णपुंसगा बंधंति । पुव्वपडिवण्णए पडुच्च अवगयवेदा बंधंति, पडिवज्जमाणए पडुच्च अवगयवेदो वा बंधइ अवगयवेदा वा बंधंति । जइ भंते ! अवगयवेदो वा बंधइ अवगयवेदा वा बंधंति तं भंते ! किं इत्थी पच्छाकडो बंधइ १ पुरिसपच्छाकडो बंधइ २ णपुंसगपच्छाकडो बंधइ ३ इत्थी पच्छाकडा बंधंति ४ पुरिसपच्छाकडा बंधंति ५ णपुंसगपच्छाकडा बंधंति ६ । उदाहु इत्थीपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ १ उदाहु इत्थी पच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधंति २ उदाहु इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ ३ उदाहु इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य बंधंति ४ उदाहु इत्थीपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ४ उदाहु पुरिसपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ४ उदाहु इत्थी पच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य णपुंसगपच्छाकडो य बंधइ ८ एवं एए छव्वीसं भंगा । जाव उदाहु इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य णपुंसगपच्छाकडा य बंधंति ! गोयमा ! इत्थी पच्छाकडो पि बंधइ, पुरिसपच्छाकडो वि बंधइ, णपुंसगपच्छाकडो वि बंधइ । इत्थी पच्छाकडा वि बंधंति, पुरिसपच्छाकडा वि बंधंति, णपुंसगपच्छाकडा वि बंधंति । ६ । अहवा इत्थीपच्छाकडो य पुरिसपच्छाकडो य बंधइ १२ एवं एए छव्वीसं भंगा भाणियव्वा जाव । अहवा इत्थी पच्छाकडा य पुरिसपच्छाकडा य णपुंसगपच्छाकडा य बंधंति, । तं भंते ! किं बंधी बंधइ, बंधिस्सइ १ बंधी बंधइ न बंधिस्सइ २ बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ३ बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ४ न बंधी बंधइ बंधिस्सइ ५ न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ ६ न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ ७ न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ ८ गोयमा ! भवागरिसं पडुच्च अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ, अत्थेगइए बंधी बंधइ न बंधिस्सइ, एवं तं चेव सव्वं जाव । अत्थेगइए न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ । गहणागरिसं पडुच्च अत्थेगइए बंधी बंधइ बंधिस्सइ एवं जाव अत्थेगइए न बंधी बंधइ बंधिस्सइ णो चेव णं न बंधी बंधइ न बंधिस्सइ । अत्थेगइए न बंधी न बंधइ बंधिस्सइ । अत्थेगइए न बंधी न बंधइ न बंधिस्सइ । तं भंते ! किं साइयं सपज्जवसियं बंधइ, साइयं अपज्जवसियं बंधइ अणाइयं सपज्जवसियं बंधइ अणाइयं अपज्जवसियं बंधइ ? गोयमा ! साइयं सपज्जवसियं बंधइ, णो साइयं अपज्जवसियं बंधइ, णो अणाइयं सपज्जवसियं बंधइ णो अणाइयं अपज्जवसियं बंधइ ।

(नो नेरइओ इत्यादि) मनुष्यस्यैव तद्बन्धो यस्माद्बन्धा उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनामेव तद्बन्धनमिति (पुव्वपडिवण्णए इत्यादि) पूर्वं प्राक्काले प्रतिपन्नमैर्यापथिकबन्धकत्वं यैस्ते पूर्वप्रतिपन्नकास्तान् तद्बन्धकत्वद्वितीयादिसमयवर्तिन इत्यर्थः । ते च सदैव बहवः पुरुषाः स्त्रियश्च सन्ति उभयेषां केवलिनां सदैव भावादत उक्तम् " मणुस्सा य मणुस्सीओ य बंधंतित्ति " (पडिवज्जमाणयेत्ति) प्रतिपद्यमानका ऐर्यापथिककर्मबन्धनप्रथमसमयवर्तिन इत्यर्थः । एषां च विरहसम्भवादेकदा मनुष्यस्य स्त्रियाश्च एकयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां चत्वारो विकल्पाः, द्विकयोगे तथैव चत्वारः, एवमेते सर्वेऽप्यष्टावेतद्वेवाह (मणुस्सो वा इत्यादि) एषां च पुंस्त्वादि तत्तल्लिङ्गापेक्षया न तु वेदापेक्षया क्षीणोपशान्तवेदत्वात् । अथ वेदापेक्षस्त्रीत्वाद्यधिकृत्याह "तं भंते । किमित्यादि नो इत्थी इत्यादिना" च पदत्रयनिषेधेनावेदकः प्रश्नितः उत्तरे तु षण्णां पदानां निषेधः सप्तमपदोक्तस्तु व्यपगतवेदस्तत्र च पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च भवन्ति तत्र पूर्वप्रतिपन्नकानां विगतवेदानां सदा बहुत्वभावादाह (पुव्वपडीत्यादि) प्रतिपद्यमानकानान्तु सामयिकत्वात् विरहभावेनैकादिसम्भवाद्विकल्पद्वयमत एवाह ।(पडिवज्जमाणेत्यादि) अपगतवेदमेवैर्यापथिकबन्धमाश्रित्य स्त्रीत्वादिभूतभावापेक्षया विकल्पयन्नाह । "जइ इत्यादि तं भंते ! तदा भदन्त ! तद्वा कर्म इत्थी पच्छाकडेति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य स्त्रीत्वं पश्चात्कृतं भूततां नीतं येनावेदकेनासौ स्त्रीपश्चात्कृत एवमन्यावपि इहैकैकयोगे एकत्वबहुत्वाभ्यां षड्विकल्पाः, द्विकयोगे तु त्रिषु द्विकयोगेषु तथैव द्वादश, त्रिकयोगे पुनस्तथैवाष्टावेते च सर्वे षड्विंशति । सूत्रे च चतुर्भङ्गषड्भङ्गीनां प्रथम विकल्पा दर्शिता सर्वान्तिमश्चेति । अथैर्यापथिककर्मबन्धनमेव कालत्रयेण विकल्पयन्नाह (तं भंते इत्यादि) तदैर्यापथिककर्मबन्धी बद्धवान् बध्नाति भन्त्स्यति चेत्येको विकल्पः । एवमन्येऽपि सप्त भङ्गाः एषां च स्थापना उत्तरन्तु (भवेत्यादि) भवे अनेकशोपशमादिश्रेणिप्राप्त्या आकर्षैर्यापथिककर्माणुग्रहणं भवाकर्षस्तं प्रतीत्य अस्त्येकः प्रत्येकः कश्चिज्जीवः प्रथमवैकल्पिकः । तथाहि पूर्वभवे उपशान्तमोहत्वे सत्यैर्यापथिकं कर्म बद्धवान् वर्तमानभवे चोपशान्तमोहत्वे बध्नाति अनागतं च उपशान्तमोहावस्थायां भन्त्स्यति । १ । द्वितीयस्तु यः पूर्वस्मिन् भवे उपशान्तमोहत्वं लब्धवान् वर्तमाने च क्षीणमोहत्वं प्राप्तः स पूर्वं बद्धवान् वर्तमाने च बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भन्त्स्यति । २ । तृतीयः पूर्वजन्मनि उपशान्तमोहत्वे बद्धवान् तत्प्रतिपतितो न बध्नाति अनागते च मोहावस्थायां भन्त्स्यति । ३ । चतुर्थस्तु शैलेशीपूर्वकाले बद्धवान् शैलेश्यां च न बध्नाति न च पुनर्भन्त्स्यति । ४ । पञ्चमस्तु पूर्वजन्मनि नोपशान्तमोहत्वं लब्धवानिति न बद्धवान् अधुना लब्धमिति बध्नाति पुनरप्येष्यत्काले उपशान्तमोहाद्यवस्थायां भन्त्स्यतीति । ५ । षष्ठः पुनः क्षीणमोहत्वादि न लब्धवान् न पूर्वं बद्धवान् । अधुना तु क्षीणमोहत्वं लब्धमिति बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भन्त्स्यतीति । ६ । सप्तमः पुनर्भव्यस्य, स हि अनादौ काले न बद्धवान्

अधुनापि कश्चिन्न बध्नाति कालान्तरे तु भन्त्स्यतीति । ७ । अष्टमस्त्वभव्यस्य स तु प्रतीत एव । (गहणागरिसमित्यादि) एकस्मिन्नेव भवे ऐर्यापथिककर्मपुद्गलानां ग्रहणरूपो य आकर्षोऽसौ ग्रहणाकर्षस्तं प्रतीत्यास्त्येकः कश्चिज्जीव. प्रथमवैकल्पिकः । तथाहि-उपशान्तमोहादिर्यदैर्यापथिक कर्म बध्नाति तदातीतसमयापेक्षया बद्धवान् वर्तमानसमयापेक्षया च बध्नाति अनागतसमयापेक्षया तु भन्त्स्यतीति। १ । द्वितीयस्तु केवली स ह्यतीतकाले बद्धवान् वर्तमाने च बध्नाति शैलेश्यवस्थायां पुनर्न भन्त्स्यतीति । २ । तृतीयस्तु उपशान्तमोहत्वे बद्धवांस्ततःप्रतिपतितस्तु न बध्नाति पुनस्तत्रैव भवे उपशमश्रेणिप्रतिपन्नो भन्त्स्यतीति एकभवे चोपशमश्रेणी द्वि प्राप्यत एवेति । ३ । चतुर्थः पुनः सयोगित्वे बद्धवान् शैलेश्यवस्थायां न बध्नाति न च भन्त्स्यतीति । ४ । पञ्चमः पुनरायुषः पूर्वभागे उपशान्तमोहत्वादि न लब्धमिति न बद्धवान् अधुना तु लब्धमिति बध्नाति। तदद्धाया एव चैष्यत्समये तु पूर्वं पुनर्भन्त्स्यतीति ।५। षष्ठस्तु नास्त्येव तत्र न बद्धवान् बध्नातीत्यनयोरुपपद्यमानत्वेऽपि न भन्त्स्यतीत्यस्यानुपपद्यमानत्वात्, तथाह्यायुषः पूर्वभागे उपशान्तमोहत्वादि न लब्धमिति न बद्धवांस्तल्लाभसमये च बध्नाति ततोऽनन्तरसमयेषु च भन्त्स्यत्येव न तु न भन्त्स्यति समयमात्रस्य बन्धस्येहाभावात्, यस्तु मोहोपशमनिर्ग्रन्थस्य समयानन्तरमरणेनैर्यापथिककर्मबन्ध समयमात्रो भवति नासौ षष्ठविकल्पहेतुस्तदनन्तरमैर्यापथिककर्मबन्धाभावस्य भवान्तरवर्तित्वात् ग्रहणाकर्षणस्य चेह प्रक्रान्तत्वात्। यदि पुन सयोगिचरमसमये न ध्नाति ततोऽनन्तर न भन्त्स्यतीति विवक्ष्येत तदा यत्सयोगिचरमसमये बध्नातीति तद्बन्धपूर्वकमेव स्याच्चाबन्धपूर्वकं तत्पूर्वसमयेषु तस्य बन्धकत्वात् । एव च द्वितीय एव भङ्गः स्यान्न पुन षष्ठ इति । ६ । सप्तम पुनर्भव्यविशेषस्य, अष्टमस्त्वभव्यस्येति । इह च भवाकर्षापेक्षेषु अष्टासु भङ्गेषु "बधी बधइ बधिस्सइ" इत्यत्र प्रथमे भङ्गे उपशान्तमोह । 'बधी बधइ न बधिस्सइ' इत्यत्र द्वितीये क्षीणमोहः । 'बधी न बधइ बधिस्सइ' इत्यत्र तृतीये उपशान्तमोह ।'बधी न बधइ न बधिस्सइ' इत्यत्र चतुर्थे शैलेशीगतः । 'न बधी बधइ बधिस्सइ' इत्यत्र पञ्चमे उपशान्तमोह ।"न बंधी बधइ न बधिस्सइ' इत्यत्र षष्ठे क्षीणमोहः ।'न बधी न बधइ बधिस्सइ' इत्यत्र सप्तमे भव्य । 'न बधी न बंधइ न बंधिस्सइ' इत्यत्राष्टमे ऽभव्य । ग्रहणापेक्षेषु पुनरेतेषु एव प्रथमे उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा, द्वितीये तु केवली, तृतीये उपशान्तमोहः, चतुर्थे शैलेशीगत , पञ्चमे उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा, षष्ठ शून्यः, सप्तमे भव्यो भाविमोहोपशमो भाविमोहक्षयो वा, अष्टमे त्वभव्य इति अथैर्यापथिकबन्धमेव निरूपयन्नाह "तमित्यादि" तदैर्यापथिक कर्म साइय सपज्जवसियमित्यादिचतुर्भङ्गं',तत्र चैर्यापथिककर्मण प्रथम एव भङ्ग बन्धोन्येषु तदसम्भवादिति, भ० ८ श० ८ उ० ।

इरियावहिया-ईर्यापथिका-स्त्री०-ईरणमीर्यागमनमित्यर्थ पथि जाता पथिका ईर्या चासौ पथिका च ईर्यापथिकेति । गमनप्रधानमार्गोत्पन्ने, आ० चू० ४ अ० ।

ऐर्यापथिकी–स्त्री०ईरणमीर्या गमन तद्विशिष्टस्तत्प्रधानो वा पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी । स्था० २ ठा० । आव० ४ अ० । व्युत्पत्तिमात्रमिद प्रवृत्तिनिमित्त तु य केवलयोगप्रत्यय उपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्मबन्धः सा ईर्यापथिकी। प्रव० १२१ द्वा० । क्रियाभेदे-,

अजीवकिरिया दुविहा पएणत्ता तंजहा इरिआवहिआ चेव संपराइया चेव ।

यत्केवलयोगप्रत्ययमुपशान्तमोहादित्रयस्य सातवेदनीयकर्मतया जीवस्य पुद्गलराशेर्भवन सा ऐर्यापथिकी क्रिया। इह जीवव्यापारेप्यजीवप्रधानत्वविवक्षया जीवक्रियेयमुक्ता कर्मविशेषावैर्यापथिकी क्रियोच्यते यतोऽभिहितम् "इरियावहिया किरिया दुविहा बज्झमाणा वेइज्जमाणा य जा पढमसमये बद्धा, बीयसमये वेइया सा बद्धा पुट्ठा वेइया णिज्जिता से य काले अकम्म वा वि भवइत्ति । स्था० २ ठा० ।

तत्स्वरूप यथा—

एसाउ लोजवत्ती, इरिआवहिअं अओ पचक्खामि ।
इह खलु अणगारस्स, समिई गुत्तीसु गुत्तस्स ॥६०॥
सययं तु अप्पमत्तस्स, भावओ जाव चक्खुपम्हंपि ।
निवयइ ता सुहुमा हु, इरिआवहिआ किरिअएसा ॥६१॥

इह खल्वनगारस्य साधोः समितिषु ईर्यासमित्यादिषु मनोगुप्त्यादिषु गुप्तस्य संवृतस्य सततमेवाप्रमत्तस्य उपशान्तमोह क्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणस्थानकत्रयवर्तिनः । अन्येषां तु अप्रमत्तानामपि कषायप्रत्ययकर्मबन्धसद्भावेन केवलयोगनिमित्तकर्मबन्धोदयसम्भवाभावादप्रमत्तशब्देनात्रग्रहण भगवतः पूज्यस्य यावच्चक्षुः पक्ष्मापि निपतति स्पन्दते इह च योगस्योपलक्षण ततोऽयमर्थो यावच्चक्षुर्निमेषोन्मेषमात्रोपि योगः सम्भवति तावत्सूक्ष्मा एकसामयिकबन्धत्वेनास्त्यल्पा सातबन्धलक्षणा क्रिया भवति । एषा हु स्फुटमैर्यापथिकीक्रिया त्रयोदशीति । प्रव० १२१ द्वा० ।आव० ।

विस्तरेण तस्याः स्वरूप सा कस्य भवति किंभूता वा क्विष्टकर्मफला वा इत्येतद्दर्शयितुमाह—

अहावरे तेरसमे किरियाट्ठाणे इरियावहिएति आहिज्जइ इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभयारिस्स आउत्त गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसियमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुञ्जमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणि वा यमवि अत्थिविमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया नाम कज्जइ सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा वितीयसमए वेइया तइय समए णिज्जिण्णा सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया णिज्जिण्णा सेयं काले अकम्मयावि भवति एव खलु तस्स तप्पतियं सा वज्जति आहिज्जइ तेरसमे किरियाट्ठाणे इरियावहिएति आहिज्जइ ॥ से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइ-

चेव तेरसकिरियाट्ठाणाइं जाणिंसु वा जाणेंति वा जाणिस्सं ति वा पन्नविंसु वा पन्नविंति वा पन्नविंस्संति वा एवं चेव तेरसमं किरियाट्ठाणं सेविंसु वा सेविंति वा सेविस्संति वा ॥ २३ ॥

इह जगति प्रवचने संयमे वा वर्तमानस्य । गमु शब्दो ऽवधारणे ऽलंकारे वा । आत्मनो भाव आत्मत्वं तदर्थमात्मत्वार्थं संवृतस्य मनोवाक्कायैः परमार्थतः पर्यालोचमानस्य आत्मभावोऽपरस्य त्वसंवृतस्यात्मतत्वमेव नास्ति सदनुष्ठानात्मकार्यकारणात् । तदेवमात्मार्थे संवृतस्यानगारस्येर्य्यापथिकादिभिः पञ्चभिः समितिभिर्मनोवाक्कायैः समितस्य तथा तिसृभिर्गुप्तस्य पुनर्गुप्तिग्रहणमेताभिरेव गुप्तिभिर्गुप्तो भवतीत्यस्यार्थस्याविर्भावनायात्यादरख्यापनार्थं चेति । तथा गुप्तेन्द्रियस्य नवब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतब्रह्मचारिणश्च सततस्तयोपयुक्त गच्छतस्तिष्ठतो निषीदतो मुनेस्त्वग्वर्त्तनां कुर्वाणस्य तयोपयुक्तमेव वस्त्रं पतद्गृह कम्बलं वा पादपुञ्छनकं वा गृह्णतो निक्षिपतो वा यावच्चक्षुःपक्ष्मनिपातमप्युपयुक्तं कुर्वतः सतोऽत्यन्तमुपयुक्तस्याप्यस्ति विद्यते । विविधामात्राविमात्रा तद्वैविधा सूक्ष्माक्षिपक्ष्मसञ्चलनरूपादिकैर्यापथिका नाम क्रिया केवलिनापि क्रियते । तथाहि । सयोगिजीवो न शक्नोति क्षणमप्येक निश्चलः स्थातुमग्निना ताप्यमानोदकवत्कार्मणशरीरानुगतः सदा परिवर्तयन्नेवास्ते । तथाचोक्तं "केवलीणं भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु" इत्यादि तदेव केवलिनोपि सूक्ष्मगात्रसञ्चारा भवन्तीह च कारणे कार्योपचारात्तया क्रियया यद्बध्यते कर्म तस्य कर्मणो या अवस्थास्ताः क्रियाः ता एव दर्शयितुमाह । (सापढमसमये इत्यादि) या सावद्यकापथिणि क्रिया तया यद्बध्यते कर्म तत्प्रथमसमय एव बद्ध स्पृष्टं चेति कृत्वा तत्क्रियैव बद्धस्पृष्टेत्युक्ता तथा द्वितीयसमये वेदितेत्यनुभूता तृतीयसमयेऽतिजीर्णा । एतदुक्तं भवति । कर्मयोगनिमित्तं बध्यते तत्स्थितिश्च कषायायत्ता तदभावाच्च न तस्य सांपरायिकस्येव स्थितिः किंतु योगसद्भावाद्बध्यमानमेव स्पृष्टता सश्लेषं याति । द्वितीयसमये त्वनुभूयते नच प्रकृतितः सातावेदनीयं स्थितितो द्विसमयस्थितिकमनुभावतः शुभानुभावमनुत्तरोपपातिकदेवसुखातिशायि देशतो बहुप्रदेशमस्थिरबन्ध बहुव्ययं च । तदेवं सैर्यापथिका क्रिया । प्रथमसमये बद्धस्पृष्टा द्वितीयसमये उदिता वेदिताऽतिजीर्णा भवति (सेयकालेत्ति) आगामिनि तृतीयसमये तत्कर्मापेक्षया कर्मतापि च भवति । एवं तावद्वीतरागस्येर्यापथप्रत्ययिकं कर्माधीयते संबध्यते । तदेतत्त्रयोदश क्रियास्थानं व्याख्यातम् । ये पुनस्तेभ्योऽन्ये प्राणिनस्तेषां सांपरायिको बन्धस्ते तु यानि प्रागुक्तानीर्यापथवर्ज्यानि द्वादश क्रियास्थानानि तेषु वर्त्तन्ते तेषां तद्वर्तिनामसुमतां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिमित्तः सांपरायिको बन्धो भवति । तत्र च प्रमादस्तत्र कषाया योगाश्च नियमाद्भवन्ति । कषायिणश्च योगा योगिनस्त्वेते भाज्याः । तत्र प्रमादकषायप्रत्ययिको बन्धोऽनेकप्रकारस्थितिः । तद्रहितस्तु केवलयोगप्रत्ययिको द्विसमयस्थितिरैर्यापथप्रत्ययिक इति स्थितम् ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । भ० । आव० । आ० चू० । (चतुर्विंशतिदण्डकेऽस्या वक्तव्यता किरि- ' शब्दे ') ऐर्यापथिक्याः प्रतिक्रमणावश्यकता यथा ऐर्यापथप्रथमप्रतिक्रमणं कृत्वा न किंचिदन्यत् कुर्यात्तदशुद्धतापत्तेरिति । दश० चूलि० २ ।

तथा च महानिशीथे—

गोयमा एं अप्पडिक्कंताए इरियावहियाए न कप्पइ चेव काउं किंचि चिइवंदणा आयाइयं फलासायमभिकंखुगाणं एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहा णं गोयमा ! समुत्तत्थोभयपंचमंगलाथिरपरिचियं काऊणं तओ इरियावहियं अब्भीए से भयवं कयए विहिए तमिरियावहीए महीए गोयमा ! जहा णं पंचमंगलमहसुयं खंधे स भयवमिरियावहियमहिज्जित्ताणं । महा० १ अ० ।

एतस्याः प्रतिक्रमण स्वरूपञ्च यथा—

इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए । विराहणाए गमणागमणे । पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे । ओसाउत्तिंगपणगदगमट्टीमक्कडासंताणासंकमणे जेमे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया अभिहया वत्तिया लेसिया । संघाइया संघट्टिया परियाविया किलामिया उद्दविया ठाणओ ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

इच्छाम्यभिलषामि प्रतिक्रमितुं निवर्त्तयितुमीर्यापथिकायां विराधनायां योऽतिचार इति गम्यते । तस्येति योगः अनेन क्रियाकालमाह 'मिच्छामि दुक्कडमिति' अनेन तु निष्ठाकालमिति तत्रेरणमीर्य्या गमनमित्यर्थः तत्प्रधानः पन्था ईर्यापथः तत्र भवा ईर्यापथिका तथा किंविशिष्टायामित्यत आह । विराध्यन्ते दुःखं स्थाप्यन्ते प्राणिनोऽनयेति विराधना क्रिया तस्यां विराधनायां तस्या योऽतिचार इति वाक्यशेषस्तस्येति योग विषयमुपदर्शयन्नाह गमन चागमनं चेत्येकवद्भावस्तस्मिंस्तत्र गमन स्वाध्यायादिनिमित्तं वसतिरिति आगमन प्रयोजनपरिसमाप्तौ पुनर्वसतिमेवेति तत्रापि यः कथं जातोतिचार इत्यत आह । 'पाणक्कमणे, प्राणिनो द्वीन्द्रियादयस्तेषां गृह्यन्ते तेषामाक्रमणं पादेन क्षोभणं प्राण्याक्रमण तस्मिन्निति तथा बीजाक्रमणे अनेन बीजानां जीवत्वमाह-हरिताक्रमणे अनेन तु सकलवनस्पतिरेव तथा अवश्यायोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसतानसंक्रमणे सति तत्रावश्यायोजलविशेषः इह चावश्यायग्रहणमिति स यत शेषजलसंयोगपरिहरणार्थमित्येवमन्यत्रापि भावनीयम् उत्तिंगा गर्दभाकृतयो ये जीवाः कीटिका नगराणि वा पनक इति दगमृत्तिका चिक्खल्लः अथवा दगग्रहणादप्कायः मृत्तिकाग्रहणात्पृथिवीकायः मर्कटसंतान कोलिकाजालमुच्यते ततश्चावश्यायश्चोत्तिङ्गाश्चेत्यादिद्वन्द्वः अवश्यायोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसंतानास्तेषां संक्रमणमाक्रमणं तस्मिन्किंबहुना किं यन्तो भेदेनाख्यास्यन्ते सर्वे ये मया जीवा विराधिता दुःखं न स्थापिताः एकेन्द्रियाः पृथिव्यादयः द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः त्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयश्चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः पञ्चेन्द्रिया मूषिकादयः अभिहता अभिमुख्येन हताश्चरणेन घट्टिताः उत्क्षिप्य विक्षिप्ता वा वर्त्तिता पुञ्जीकृता धूल्या वा स्थगिता इति श्लेषिताः श्लिष्टा भूरित्यादिषु वा लगिताः संघातिताः अन्योन्यं गात्रैरेकत्र लगिताः संघट्टित मनाक् स्पृष्टाः परितापिताः समन्ततः पीडिताः क्लामिता समुद्घातं नीता ग्लानिमापादिता इत्यर्थः । अपद्राविता उत्त्रासिता स्थानात्स्थानं संक्रामिताः स्वस्थानात्परस्थानं नीताः जीवितादव्यपरोपिता मारिता इत्यर्थः एवं यो जातोतिचारः तस्येत्येतावता क्रियाकालमाह । तस्स मिच्छामि दुक्कडमनेन निष्ठाकालमाह मिथ्यादुष्कृत पूर्ववदेव तस्येत्युपयत्र

योजना सर्वत्र कार्य्या । आव० ४ अ० । इच्छामि पडिक्कमितु तिपुव्वभणित एस सखेवत्थो इरियावहियाए" विस्तरस्तु ग- मणेत्यादि । आ० चू० ४ अ० ।

ननु द्वयोः श्राद्धयोः प्रतिक्रमणकरणसमयेऽथवा सामायिके कृते सति एकस्य हस्तादपरेण चरवलके पातिते उभयोर्मध्ये क- स्येर्यापथिकी समायाति किमुभावपि प्रतिक्रामत एको वेति । (उत्तरम्) अत्र द्वयोः श्राद्धयोः प्रतिक्रमणकरणादौ सावधान- तयैकेन चरवलको गृहितो भवति अथ यदि द्वितीयहस्तलगने- न हेतुना पतति तदा तस्येर्य्यापथिकी समायाति यदि च गृहीतो प्यसावधानतयैव तदोभयोरपीर्य्यापथिकी समायातीति । १ । तथा यः शुद्धक्रियां कुर्वाणः शुद्धाचार च पालयन् ईर्यापथिकी भागना न जानाति स कियद्भिर्मुहूर्तैस्तां प्रतिक्रामतीति (उत्तरम्) अत्र शुद्धक्रियायां क्रियमाणायां सोपयोगतया प्रमार्जनादिविधि- नोपदेशनादिए ईर्यापथिकी नायाति यतस्तामाश्रित्य काल- मानमुक्तं ज्ञातं नास्ति तथापि क्रियान्तरे क्रियमाणे ईर्यापथि- की प्रतिक्राम्यते यतो महत्यां वेलायां मनोवचः कायोपयोगा- नां सम्यगवबोधो न भवतीति ॥ २ ॥ ईर्य्या गमनं तस्याः पन्था मार्ग ईर्य्यापथ स्तत्र भवा या समितिः ईर्य्यासमितिलक्षणा सा ऐर्य्यापथिकी । समितिभेदे, स्था० ६ ठा० । (तद्वक्तव्यता इरि यासमिइ शब्दे । ऐर्य्यापथिक्यापरिमन्यु कप्प शब्दे । उच्चा- रादौ ईर्याप्रतिक्रान्तव्या इति पडिक्कमण शब्दे)

इरियासमिइ-ईर्य्यासमिति-स्त्री० सम्यगिति प्रवृत्ति समितिः ईर्य्यायां गमने, समितिश्चक्षुर्व्यापारपूर्वतयेतीर्य्यासमिति । समितिभेदे, । स्था०८ ठा० । आव० । पा० । सम० । प्रव० । तत्स्वरूप धर्मसंग्रहे यथा- त्रसस्थावरजन्तुजाताभयदान- दीक्षितस्य मुनेरावश्यके प्रयोजने गच्छतो जन्तुरक्षानिमित्त स्वशरीररक्षानिमित्त च पादाग्रादारभ्य युगमात्रक्षेत्रं यावन्नि- रीक्ष्य ईरण ईर्या गतिस्तस्यां समितिरीर्यासमितिर्यदाहुः "पु- रओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीअहरिआइ, पाणे अ दगमट्टिअं ॥ १ ॥ उवाय विसमं खाणुं, विज्जलं परिव- ज्जए । संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे" २ एवविधोप- योगेन गच्छतो यते कथंचित्प्राणिवधोऽपि प्राणिवधपापं न भवति यदाहु "उच्चालिअम्मि पाए, इरिआसमिअस्स संकम- ट्ठाए । वा वज्जिज्जकुलिंगी मरिज्ज तज्जोगमासज्ज ॥ १ ॥ न- य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए । अणवज्जो उपओगे, सव्वभावेण सो जम्हा २ तथा " जिअदु व मरउ व जीवो, अज- दारस्स निच्छओ हिंसा । पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसा मित्तेण स- मिदस्स,, । ध० ३ अधि० । प्रव० । जीवसरक्खणजुगमेत्ततर- दिट्ठस्स अप्पमादिणो सजमो व करणुप्पायणाणिमित्त जा ग मणकिरिया सा इरियासमिती । नि० चू० १ उ० । ईर्य्यासमि- तिर्नाम रथशकटयान वाहनाक्रान्तेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासु- कविविक्तेषु पथिषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमन कर्तव्य- मिति । आव० ४ अ० । ईर्य्यासमितेर्विस्तरेण स्वरूपमाह ।

आलंबणेण कालें, मग्गेण जयणाए य ।
चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए ।

आलम्बनेन कालेन मार्गेण यतनया च चतु कारणैरेभिरेव आलम्बनादिभि परिशुद्धा निर्दोषा चतुः कारणपरिशुद्धा तां सयतो यतिरीर्यां गति (रिएत्ति) रीयेतानुष्ठानविषयतया प्राप्नुयात् यद्वा सुव्यत्ययाच्चतु कारणपरिशुद्धया ईर्य्यारीयन गच्छेत् आलम्बनादीन्येव व्याख्यातु माह-

तत्थालंवणं णाण-दंसणं चरणं तहा ।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गउप्पहविवज्जए ॥

वर्जए तत्र तेष्वालम्बनादिषु मध्ये आलम्बनं यदालम्ब्य गम- नमनुज्ञायते निरालम्बनस्य हि नानुज्ञातमेव गमन ततः किमि- त्याह-ज्ञानं सूत्रार्थोभयात्मकागमरूपं दर्शनं दर्शनप्रयोजन चरणं चारित्रं तथा शब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थत्वेन ग्लानत्वादिसङ्ग- सूचकस्ततोयमर्थः प्रत्येकं ज्ञानादीन्याश्रित्य द्विकादिसंयो- गेन वा गमनमनुज्ञातमालम्बनेनेति व्याचष्टे कालश्च प्रस्तावा- दीर्यया दिवस उक्तस्तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते रात्रौ चक्षु- र्विषयत्वेन पुष्टतरालम्बनं विना नानुज्ञातमेव गमन मार्गे- णेति द्वारं व्याख्यातुमाह मार्गे इह सामान्येन पन्थाः स उत्पथे- नोन्मार्गेण वर्जितो रहितः उत्पथवर्जितः उक्तसत्पथः उत्पथेहि व्रजत आत्मसंयमविराधनादयो दोषाः । यतनेति द्वारं विवृर्षुराह ।

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा ।
जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मेवि तयओ सुण ।'

(दव्वओ इत्यादि) सुगममेव नवरं तामिति चतुर्विधयतनां मे कीर्तयतः सम्यक् प्ररूपाभिधानद्वारेण संशब्दयतः शृणु वा कर्णय शिष्येति गम्यते । यथा प्रतिज्ञातमेवाह-

दव्वओ चक्खुणा पेहे, जुगमेत्तं च खेत्तओ ।
कालओ जाव रीएज्जा, उवउत्ते व भावओ ॥

द्रव्यत इति जीवादिकद्रव्यमाश्रित्येय यतना यच्चक्षुषा दृष्ट्या प्रेक्षेतावलोकयेत्प्रक्रमात् जीवादिक द्रव्यमवलोक्य च सय मात्मविराधना परिहारेण गच्छेदिति भावो युगमात्रं च चतु- र्हस्तप्रमाणं प्रस्तावात्क्षेत्रं प्रेक्षेत इय क्षेत्रतो यतना कालतो यतना यावत् (रीएज्जत्ति) रीयते यावन्तं कालं पर्यटति तावत् कालमिति गम्यते उपलक्षणं भावतो दत्तावधानो यद्री- यते इय भावमङ्गीकृत्य यतना । उपयुक्तत्वमेव स्पष्टयितुमाह ।

इंदियत्थे विवज्जत्ता, सज्झायं च पंचहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्तो रियं रए ॥

इन्द्रियार्थान् शब्दादीन् विवर्ज्य तदनाध्यवसानतः परिहृ- त्य स्वाध्यायं चैव चः समुच्चये एवकारोऽपि शब्दार्थस्ततो यमर्थान् केवलमिन्द्रियार्थान् विवर्ज्य किंतु स्वाध्यायं चापि पञ्चधेति वाचनादिभेदत पञ्चप्रकार गत्युपयोगोपघातित्वा- त्ततश्च तस्यामेव ईर्यायां मूर्तिः शरीरमर्थाद् व्याप्रियमाणा यस्याऽसौ तन्मूर्तिस्तथा तामेव पुरस्करोति तत्रैवोपयुक्ततया प्राधान्येनाङ्गीकुरुते इति तत्पुरस्कारोऽनेन कायमनसोस्तत्प- रतोक्ता वचसो हि तत्र व्यापार एव न समस्ति एवमुपयुक्त संश्रीयाँ रीयेत यतिरिति शेष । सर्वत्र च सयमात्मविराधनैव विपक्षे दोष इति सूत्रपञ्चकार्थः । उत्त० ४ अ० ।

ईर्य्यासमितौ उदाहरण यथा-एको साहू समणगुणभाविओ इरियासमिइए जुत्तो विहरइ । एत्थंतरे सक्कासणं चलियं । पउत्तावही साहु दट्ठुं परमभत्तीए वंदइ पससइ य देवस- भा मज्झगओ तओ मिच्छदिट्ठी एगो देवो असद्दहंतो समागओ साहुस्स, वियारभूमि पट्ठियस्स पुरओ मच्छियमाणाओ मण्डुकलियाओ विउव्वइ । पच्छओ य मत्तहत्थि तहा वि गइ न भिंदइ । तओ हत्थिणा उक्खिविऊण भूमिए पाडियो न य सो भय च न य सरीरं गणइ । किं तु सत्ता मे मारियत्ति । जी वमयापारणओ अत्थइ । स देवावि अचालिय त साहुं पेहत्त इयब्भुत्त तं निवेयत्ता देवलोग गओत्ति" पा० । "अहवाअर

हणओ समितो असमितो देवताए पादो छिण्णो अण्णए सधितो इत्यधिकम् " आ० चू० ४ अ० । (अस्याः प्रवचनमातृत्वम् पवयणमायाशब्दे) (ईर्यासमितौ अनाभोगप्रतिषेवण भवतीति पडिसेवणाशब्दे) (ईर्यासमितेः परिमन्थत्वं कप्प शब्दे)

इरियासमिइजोग–ईर्यासमितियोग–पु० ईर्यासमितिव्यापारे, "जे एव इरियासमिइजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा इति" प्रश्न० १ द्वा० ।

इरियासमिय–ईर्यासमित–पु० ईरणं गमनमीर्या तस्यां समितः (सम्यक्प्रवृत्त भ० २ श० १ उ०) (उपयुक्तः । प्रश्न०७२ द्वि०) दत्तावधान ईर्यासमित । पुरतो युगमात्रभूभागन्यस्तदृष्टिगामिनि, आचा० २ श्रु० ६ अ० । आव० " इरियासमिए सया जये" ईरणमीर्या गमन तस्यां समितः सम्यक्प्राप्तः ईर्यासमितः ईर्यासमितता प्रथमभावना यतोऽसमितः प्राणिनोहिंस्यात् सदाऽतो यत्तः सर्वकालमुपयुक्त इति । आव०४ अ० प्रव० । (ईर्यासमितस्य विस्तरेण वक्तव्यता इरियासमिइ शब्दे) (ईर्यासमितस्य प्राणातिपातविरमणव्रतस्य प्रथम भावना भवतीति पाणाइवायवेरमण शब्दे–भावनाशब्दे च द्रष्टव्यम्)

इला–इला–स्त्री० इल्-क-भूमौ, वाच० । जम्बूद्वीपान्तर्गते वर्षभेदे, आ० क० । इलावर्धनगरस्थायां स्वनामख्यातायां देवतायाम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० (तत्कथा इलापुत्त शब्दे) पश्चिमरुचकवास्तव्ये दिक्कुमारीभेदे च । ति० ।

इलाकूड–इलाकूट–न० क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्थे इलादेव्यधिष्ठितं कूटभेदे, । स्था० ४ ठा० ।

इलादेवी–इलादेवी–स्त्री० पश्चिमरुचकवास्तव्ये दिक्कुमारी भेदे, आ० क० । जं० । आ० म० प्र० । स्था० ।

इलादेवीकूड–इलादेवीकूट– न० क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतस्थे इलादेव्यधिष्ठिते कूटभेदे, ज० २ वक्ष०।

इलापुत्त–इलापुत्र–पु० इलावर्द्धनपुरस्थे इलादेवी प्रसादाज्जाते स्वनामख्याते श्रेष्ठिसुते, तत्कथा यथा ।

एकस्मिन् कुत्रचिद्ग्रामे श्रुत्वा धर्मं गुरोः पुरः ।
द्विज एकः सपत्नीकः परिव्रज्यामुपाददे । १ ।
तप्यते स्म तपस्तीव्र प्रीतिर्नागात्पर मिथः ।
धिग्जेति स्त्रीशूद्रसङ्गाविचिकित्सा व्यधात्पुनः । २ ।
मृत्वा तौ जग्मतुः स्वर्गं तत्र सौख्येन तिष्ठतः ।
इतश्च भरतेऽमुष्मिन्निग्रामएरुलमएरुनम् । ३ ।
इलावर्धननाम्नास्ति पुर प्रस्पर्द्धित परैः ।
सत्योपयाचिता तस्मिन्निलानाम्न्यस्ति देवता । ४ ।
एका च श्रेष्ठिनी तत्र सिषेवे तां सुतार्थिनी ।
स च द्विजामरः स्वर्गाच्च्युत्वा तस्या सुतोऽभवत् । ५ ।
तस्येलापुत्र इत्याख्या चक्रेत्युत्सवपूर्वकम् ।
स्त्रीजीवो विचिकित्सातः संजज्ञे मखपुत्रिका । ६ ।
प्राप्तौ स्मरकरिक्रीडा-वन तावपि यौवनम् ।
नृत्यन्तीं मखपुत्रीं ता-मिलापुत्रोऽन्यदैक्षत । ७ ।
अभवत्प्राग्भवे प्रेम्णानुरागस्तस्य तां प्रति ।
नैव तस्य ददुस्ते तां सुवर्णेनापि तोलिताम् । ८ ।
अक्षया निधिरस्माकमियं नेमां ददामहे ।
यदि न मलचारी स्यादस्माद्विद्या च शिक्षते ॥ ९ ॥
ततो नामत्र नमन जुगस्मापि धर्मे म च ।
मुक्त्वा कुटुम्ब तत्कामस्तेषां सोथानुगोऽभवत् । १० ।
शिक्षित सोथ तद्विद्यां विवाहायार्जितु धनम् ।
बेन्नातटपुरे गत्वा ययाचेऽवसर नृप ॥ ११ ॥
इलापुत्रस्य नाट्यस्था ऽवसरोऽदायि भूभुजा ।
स्वय शान्त पुर सोथ पौराः सर्वेपि चाविशन् ॥१२॥
न्यस्तस्तत्र महान् वंशः फलक तस्य चोपरि ।
न्यस्तौ द्वौ द्वौ तथा लोहकीलकौ फलकान्तयोः ॥ १३ ॥
तस्योपरि ननर्तोच्चैरिलापुत्रो धनाशया ।
धनिनां द्वारि सौवर्ण–यष्ट्यां क्रीडां मयूरवत् ॥ १४ ॥
अधस्तान्मखपुत्र्या च गायकीवृन्दयुक्तया ।
गीत गीत रसस्फीत प्रीत सामाजिकैर्यतः ॥ १५ ॥
सच्छिद्रपादुकापादः करोपात्तासिखेटकः ।
उत्पत्योत्पत्य गगने ददानः किरणानि सः ॥ १६ ॥
अप्रमत्तः सप्तसप्तपुरः पश्चान्मुखानि च ।
फलकप्रान्तकीलेषु प्रवेशयति पादुके ॥ १७ ॥
एव कृते भवल्लोकः सर्वः सर्वस्वदानधीः ।
राज्ञा दत्ते पर त्यागे प्राक् पश्चाद्ददते परे ॥ १८ ॥
नट्यां रक्तो नृपस्तानि भूयो भूयोऽप्यवादयत् ।
तन्मृत्युमीहते राजा स पुनर्धनमीहते ॥ १९ ॥
ज्ञात तेनाप्यथ यथा नट्यां राजापि रागवान् ।
स च तत्र स्थितो दृष्ट्वा निकटे श्रेष्ठिनो गृहे ॥ २० ॥
युवतीः सादरं साधु प्रति भोजनतत्पराः ।
साधुदृष्टि पुनर्भक्त–शुद्धौ तासां न वीक्षणे ॥ २१ ॥
दध्यौ निर्विषया ह्येते धिग् मां विषयरागिणम् ।
तदेव भावयन् आप ज्ञान तत्रैव केवलम् ॥२२ ॥
राज्ञोऽदुश्चिन्तितध्यानात्तल्लेभे मल्लपुत्र्यपि ।
पट्टराज्ञ्यपि तत्तद्भावयन्ती समासदत् ॥ २३ ॥
श्रुत्वापरागं स्वं लोकाद् ध्यात्वा दुश्चिन्तितं च तत् ।
विरक्तो भावनासक्त प्राप भूपोऽपि केवलम् ॥ २४ ॥
चतुर्णां केवलोत्पत्तौ तत्रयुर्व्यन्तरामराः ।
साधुवेष ददुस्तेषां वंश स्वर्णोत्पल व्यधुः ॥ २५ ॥
आख्यद्धर्ममिलापुत्रः प्रत्यबुध्यत्ततो जनः ।
सम्यक्त्वाभिग्रहादीनां कोपि किंचित्प्रपन्नवान् ॥२६॥

आ० क० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । विशे० ।

इलावइ–इलापति–पु० ऐलापत्यगोत्रस्य प्रकाशके आद्यपुरुषे, न०

इलवच्चा–इलापत्या–स्त्री०स्वनामख्यातायां तृतीयरात्रौ, । कल्प०

इलावद्धण–इलावर्द्धन– न० इलापुत्रस्य निवासस्थाने पुरभेदे, इतश्च भरतेऽमुष्मिन्निलामारुलमएरुनम् । इलावर्द्धननामास्ति पुर प्रस्पर्द्धितम्परैः । इति० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० ।

इलिया–इलिका– स्त्री० तृणपत्रनिसृते द्वीन्द्रियजीवविशेषे, । आचा० । द्वीन्द्रियेलिकायाश्चतुरिन्द्रियत्वे हीरप्रश्ने पण्डितचिरावर्षिगणिकृतप्रश्नेषु प्रश्नो यथा-द्वीन्द्रियेलिका स्फुटित्वा चतुरिन्द्रियभ्रमरी कथ भवति । उत्तरम् । इलिकाकलेवरमध्ये इलिकाजीवोऽपरो वा भ्रमरीत्वेनागत्योत्पद्यत इति । ही० ।

इलियागइ–इलिकागति–स्त्री०इलिकाया इव गतिरिलिकागति परलोकगमनार्थं गतिविशेषे, तस्याः स्वरूप यथा-"इलिका पुच्छदेशमपरित्यज्य स्वमुखेनाग्रेतन स्थान शरीरप्रसारणेन संस्पृश्य तत तथा पुच्छं संहरति एव जीवोपि कश्चित्स्वप्रयाणकाले स्वप्रदेशैरुत्पत्तिस्थान- संस्पृश्य परभवायु प्रथमसमये शरीर परित्यजति । प० सं० २ द्वा० ।

इल्ल–इल्ल–मतुवर्थके प्रत्यये, "मतुवत्थ च मुणेज्जइ आले इल्लचणं च मतुव च इति " प० सं० ३ द्वा० । आव० ।

इल्ली–देशी० शार्दूले, सिंहे, वर्षत्राणे च । दे० ना० ।

इल्लीर–देशी०वृष्टघाम्, वृष्टिवारणे गृहद्वारे च, दे० ना० ।

इल्लो–देशी०दरिद्रे, कोमले, प्रतीहारे, लवित्रे, कृष्णवर्णे च दे०ना०

इव–इव– अव्य० सादृश्ये, उत्प्रेक्षायाम्, त० । ईषदर्थे वाक्यालङ्कारद्योतकता चास्य तत्र उपमायामिवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्चेति वार्तिकेन नित्वसमासः । विभक्तेर्लोपाभावश्च । वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये । रघु० अस्य च " मिवपिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ८ । २ । ८२ । इति प्राकृतसूत्रेणवार्थे एतेषामेव प्राय प्रयोगो भवति । कुमुअ मिव-चन्दण पिव हंसो विव. साअरोव्व खारोओ. सेससव निम्माओ (फुल्लनीलुप्पलवण व । त०)कमल विअ पङ्के निलुप्पसमास इवेति । प्रा० व्या० ।

इस–इष– गतौ, सर्पणे च । दिवा० पर० सक० सेट् इष्याति ऐष्यत्-ऐषीत्-इषित एषित्वा । अनु-अन्वेषणे, गवेषणे । वाच० ।

इ(रि)सि-ऋषि-पु०पश्यन्तीति ऋषयः । औप० । उपा० । ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा ८ । १ । ४१ । इति सूत्रेण वैकल्पिको ' रि ' इत्यादेश । रिसी पक्षे । इत् कृपादौ । ८ । १ । १२८ । इति सूत्रेणेकारादेश । इसी । अतिशयज्ञानिनि साधौ, औ० । अवध्यादिज्ञानवति, उपा० । ज्ञानिनि । भ० ए श० ३२ उ० । प्रत्येकबुद्धसाधौ, । पा० ॥ ऋषीणामुत्तम ह्येतन्निर्दिष्ट परमर्षिभि । हिंसादोषनिवृत्तानां व्रतशीलविवर्धनम् ॥७॥ पश्यन्ति यथा वस्त्स्विति ऋषयो मुनय इति । हा० । मूलोत्तरगुणयुते साधौ, ध० ३० अधि० । मुनौ, उत्त० १२ अ० । गणधरव्यतिरिक्ता शेषा जिनशिष्या ऋषय इति । सम० । २४ स० । पं० चू० । जे णामिव " ता इसिणा स एसो, । स एष ऋषिर्वर्तते येन ऋषिणाहं वान्ता त्यक्तेति । उत्त० १२अ० ।

ऋषेर्लक्षण यथा ॥

अनिए अवासो समुआणचरिआ, अण्णाय उंछं पयरिक्किया य । अप्पोवही कलहविवज्जणा य, विहार चरिआ इसिणं पसत्था ॥ ५ ॥

अनियतवासो मासकल्पादिना अनिकेतवासो वा अगृहे उद्यानादौ वास तथा समुदानचर्या अनेकत्र याचितभिक्षाचरणम् अज्ञातोञ्छ विशुद्धोपकरणग्रहणविषयं (पइरिक्कया य) विजनैकान्तसेविता च अल्पोपधित्वमनुल्वणयुक्तस्नाकोपधिसेवि त्वे कलहविवर्ज्जना च तथा तद्भासिना भण्डनविवर्जना विवर्जन विवर्जना श्रवणकथादिना परिवर्जनमित्यर्थ । विहारचर्या विहरणस्थितिर्विहरणमर्यादा इयमेवभूता ऋषीणा साधूनां प्रशस्ता व्याक्षेपाभावात् । आज्ञापालनेन भावचरणमाधनात्पविशेति सूत्रार्थ । दश० २ चूलि० । कपिलादीनामृषीणामिति । उ०२३ द्वा० । स्वनामख्याते ऋषिवादीन्द्रभेदे च । स्था० २ ठा० ।

इसिगुत्त–ऋषिगुप्त– पु० वशिष्ठसगोत्रस्यार्यसुहस्तिनः शिष्ये, वशिष्ठसगोत्रे स्वनामख्याते स्थविरे, । तस्मात् माणवगणो निर्गत तथाच " थेरेहि तो ण इसिगुत्तेहितो वासिट्ठ सगोत्तेहिं तो एत्य ण माणवगणे णाम गणो णिग्गए इति । स्वनामख्याते माणवगणस्य प्रथम कुले च ॥ कल्प० ।

इसिण–इसिन– पु–अनार्यदेशभेदे, ज्ञा० १ अ० ।

इसिणिया–इसिनिका– स्त्री०इसिनामकानार्यदेशोद्भवायां नार्याम्, प्रज्ञा० १ पद ।

इसितलाग–ऋषितडाग –पु० तोशलिदेशस्थे शैलपुरनगरस्थे स्वनामख्याते सरसि, " सेलपुरे इसि तलागम्मि होति अट्ठाहिया । महिमा तोसलिदेशे शैलपुरे नगरे ऋषितडागे सरसि प्रतिवर्षं महता विच्छर्देनाष्टाहिका महती महिमा भवतीति । वृ० १ उ० । तोशलिनगरस्थे स्वनामख्याते सरसि च । "तोसलीनगरम्मि इसिवालो,, तोशलिनगरवास्तव्येन वणिजा ऋषिपालो नाम वाणमन्तर उज्जयनी कुत्रिकापणात्क्रीत्वान्ते बुद्धिमाहात्म्येन सम्यगाराधितस्ततस्तेन ऋषितडागनाम सरः कृतमिति वृ० ३ उ० ।

इसिदास–ऋषिदास–पु० राजगृहस्थे स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, अणु० ३ व० ३ अ० । (तद्वक्तव्यता धन्नश्रेष्ठिवत् अणुत्तरो ववाइय शब्दे)

इसिदासज्झयण–ऋषिदासाध्ययन–न० । ऋषिदासवक्तव्यता प्रतिबद्धेऽनुत्तरोपपातिकदशायास्तृतीयवर्गस्य तृतीयेऽध्ययने, अणु० । वाचनान्तरापेक्षया प्रथमेऽध्ययने च । स्था०१० ठा० ।

इसिदिण्ण (दत्त) ऋषिदत्त– पु० भरतवर्षवासिसुमतिजिन समानकालिके ऐरावतवर्षवासिनि जिनभेदे,-"सुमई य भरहवासे इसिदिण्णजिणो य एरवणयवासे य " ति० । सम० । सुस्थितसुप्रतिबुद्धानां कौटिककाकन्दकानां शिष्ये, काश्यपगोत्रोत्पन्ने स्वनामख्याते स्थविरे च ॥ कल्प० ।

इसिदत्तय–ऋषिदत्तक–पु० स्थविरात् रिसिगुत्तान्मानवगणस्य द्वितीये कुले, कल्प० ।

इसिपरिसा–ऋषिपरिषत्–स्त्री० पश्यन्तीति ऋषयोऽवध्यादि ज्ञानवन्त (उपा०२अ०) त एव परिषत्परिवार. ऋषिपरिषत् अतिशयज्ञानिसाधूनाम्परिवारे, औ० ॥ महइमहालियाए परिसाए " । पश्यन्तीति ऋषियो ज्ञानिनस्तद्रूपा पर्षत्परिवारः ऋषिपर्षत्तस्यै । भ० ए श० ३३ उ० ।

इसिवाल–ऋषिपाल–पु० स्वनामख्याते ऋषिवादिव्यन्तरनिकाये इन्द्रभेदे,-स्था० २ ठा० । स्वनामख्याते वाणव्यन्तरे च । स च तोशलिनगरवास्तव्येन वणिजा ऋषिपालो नाम वाणव्यन्तर उज्जयनीकुत्रिकापणात् क्रीत्वा तेन बुद्धिमहात्म्येन सम्यगाराधित इति । वृ० ३ उ० ।

इसिवालिय–ऋषिपालित–पु० ऋषिवादिव्यन्तरनिकायेन्द्रभेदे, इसिवालियमयमहिया इति-इसिवालियस्स भद्दसुरघरकारयस्स वीरस्स जेहिंसया पुवता सव्वे इदा पवराकित्तिया ३ दे० ७ प० । आर्यशान्तिसैनिकस्य माठरसगोत्रस्य शिष्ये, स्वनामख्याते स्थविरे च । तन्निर्गतायां स्वनामख्यातायां शाखायाम् स्त्री० टाप्० "थेरेहिंतो अज्जुइसिवालिएहिं तो इत्यण अज्जुइसिवालिया साहा णिग्गया इति " कल्प० ।

इसिभद्दपुत्त–ऋषिभद्रपुत्र–पुं०स्वनामख्याते श्रावके, ऋषिभद्रपुत्रवत्सविभ्रगीतार्थगुरुसमीपश्रवणसमुत्पन्नप्रवचनार्थकोशलेन भावश्रावकेण भाव्यमिति । ध० २० ।

ऋषिभद्रपुत्र कथाचैव—

तेणं कालेणं तेण समएण आलभियाणाम णयरी होत्था वण्णओ सखवणे चेइए वण्णओ तत्थणं आलंभियाए णयरीए बहवे इसिभद्दपुत्तप्पमोक्खा समणोवासगा परि-

वसंति अहे जाव अपरिभूए अभिगयजीवा जीवा जाव विहरंति तएणं तेसिं समणोवासयाणं अण्णदा कयावि- एगयओ समुवागयाणं सहियाणं समुविट्ठाणं सण्णि- सण्णाणं अयमेयारूवे मिहोकहा समुल्लावे अब्भत्थिए समुप्पज्जित्था देवलोएसु णं अज्जो देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? तएणं से इसिभद्दपुत्ते समणोवासए देव- ट्ठिइगहियट्ठे ते समणोवासए एवं वयासि देव लोएसु णं अज्जो देवाणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं ठिई पएण- त्ता तेण परं समाहिया दुसमयाहिया जाव दससमयाहिया सं खेज्जसमयाहिया असंखेज्जसमयाहिया उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिई पएणत्ता तेण परं वोच्छिएणा देवा य देवलोगा य तएणं ते समणोवासगा इसिभद्दपुत्तस्स समणोवा- सगस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव एवं परूवेमाणस्स ए यमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति एयमट्ठं अस- द्दहमाणा अपत्तियमाणा अरोएमाणा जामेव दिसिं पा- उब्भूया तामेवदिसं पडिगया । तेणं कालेणं तेणं स मएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे जाव परिसा- पज्जुवासइ तएणं ते समणोवासगा इमी से कहाए लध्दट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा एवं जहा तुंगियोद्देसए जाव णमंसंति । तएणं समणे भगवं महावीरे तेसिं समणो- वासगाणं तीसेय महइ धम्मकहा जाव आणाए आरा- हए भवई । तएणं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा उट्ठाए उट्ठेंति उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वदित्ता णमंसित्ता एवं वयासि एवं खलु भंते ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए अम्हं एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेइ देवलोएसु णं अज्जो ! देवाणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं ठिई पएणत्ता तेण परं समयाहिया जाव तेण परं वोच्छिएणा देवा य देवलोगा य । से कहमेयं भंते ! एवं अज्जो ! त्ति समणं भगवं महावीरे ते समणोवासए एवं वयासी जेणं अज्जो ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तुज्झं एवमाइक्खई जाव परूवेइ देवलोगे- सुणं अज्जो देवाणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं ठिई पएणत्ता तं चेव समयाहिया जाव तेण परं वोच्छिएणा देवा य देवलोगा य सच्चेणं एसमट्ठे अहं पुण अज्जो ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि देवलोगेसुणं अज्जो ! देवाणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं तं चेव जाव तेण- परं वोच्छिएणा देवा य देवलोगा य सच्चेणं एसमट्ठे । तएणं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महा- वीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव इसि- भद्दपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता इसिभद्दपुत्तं समणोवासगं वंदंति णमंसंति एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति । तएणं ते सम- णोवासगा पसिणाइं पुच्छंति २ त्ता अट्ठाइं परियादि- यंति २ त्ता समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदइ- त्ता णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडि- गया भंतेति ? भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ २ त्ताएवं वयासी पभूणं भंते ! इसिभद्दपुत्ते समणोवासए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे गोयमा ! इसि भद्दपुत्तेणं समणोवासए बहुहिं सीलव्वय गुणव्वय वेरमण पच्चक्खाण पोसहोववासे- हिं अहापरिग्गएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूहिं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणिहिति २ त्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेहिति २ त्ता सट्ठिं- भत्ताइं अणसणाए छेदेइ छेदेइत्ता आलोइय पडिकंते समाहिपत्ते कालमासे कालं कि॰ । सोहम्मे कप्पे अरु- णाभे विमाणे देवत्ताए उववज्जिहि त्ति । तत्थणं अत्थे गइयाणं देवाणं चत्तारि पलि॰ वमाइं ठिई पएणत्ता- तत्थणं इसिभद्दपुत्तस्स देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई भविस्सई । सेणं भंते ! इसिभद्दपुत्ते देवत्ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहिं उवज्जिहिइ ? गोयमा महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ जाव अंतं काहिति सेव- भंते भंतेत्ति । भगवं गोयमे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तएणं समणे भगवं महावीरे अण्ण या कयावि आलंभियाओ णयरीओ संखवणाओ चेइयाओ पडि- णिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता बाहिरिया जणवयविहारं विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं आलंभिया णामं णयरी होत्था । वएणओ संखवणे चेइए वएणओ तत्थणं संखवणस्स चेइयस्स अदूरसामंते पोग्गले णामं परिव्वाए परिवसइ । रिउव्वेय जउव्वेय जाव नएसु सुपरिनिट्ठि ए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ जाव आयावेमाणे विहरइ । तएणं तस्स पोग्गलस्स छट्ठं छट्ठेणं जाव आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए जहा सिवस्स जाव विभंगे णामं अण्णाणे समुप्पण्णे सेणं तेणं विभंगे णामं अएणाणेणं समुप्पएणेणं बंभलोए कप्पे देवाणं ठिई जाणइ पासइ । तएणं तस्स पोग्गलस्स परिव्वा गयस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था । अत्थिणं मम अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पण्णे देवलो- एसु णं देवाणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं ठिई पएणत्ता तेण परं समयाहिआ दुसमयाहिया जाव असंखेज्ज-

समयाहिया उक्कोसेणं दससागरोवमाइं ठिई पम्मत्ता तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभइत्ता तिदंडकुंडिआ जाव धाउरत्तवत्थाओ य गेण्हंति २ त्ता जेणेव आलंभिया णयरी जेणेव परिव्वायगावसहे तेणेव उवागए भंडगणिक्खेवं करेइ करेइत्ता आलंभियाए णयरीए सिंघाडग जाव पहेसु अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ जाव परूवेइ अत्थिणं देवाणुप्पिया ! मम अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पण्णे देवलोएसु णं देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्से तहेव जाव वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य तएणं आलंभियाए णयरीए एवं एएणं अभिलावेणं जहा सिवस्स तं चेव जाव से कहमेयं मण्णे एवं ? सामी समोसढे जाव परिसापडिगया भगवं गोयमे तहेव भिक्खापरियाए तहेव बहुजणसद्दं निसामेइ तहेव सव्वं भाणियव्वं जाव अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि एवं भासामि जाव परूवेमि देवलोएसु णं देवाणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता तेण परं समयाहिया दुसमयाहिया जाव उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता तेण परं वोच्छिण्णा देवा य देवलोगा य । अत्थि णं भंते ! सोहम्मे कप्पे दव्वाइं सवण्णाइंपि अवण्णाइंपि तहेव जाव हंता अत्थि। एवं ईसाणे वि एवं जाव अच्चुए वि एवं गेविज्जविमाणेसु अणुत्तरविमाणेसु वि ईसिप्पब्भाराए वि जाव हंता अत्थि । तएणं सा महइ महालिया जाव पडिगया । तएणं आलंभियाए णयरीए सिंघाडगतिगअवसेसं जहा सिवस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणे णवरं तिदंडकुंडियं जाव धाउरत्तवत्थपरिहिए परिवडियविब्भंगे आलंभियं णयरं मज्झं मज्झेणं णिगच्छइ जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता तिदंडकुंडियं च जहा खंदओ जाव पव्वइओ सेसं जहा सिवस्स जाव अव्वाबाहं सोक्खमणुभवंति सासयं सिद्धा सेवं भंते भंतेत्ति । भ० ११ श० १२ उ० ।

इसिभासिय–ऋषिभाषित–न० ऋषयः प्रत्येकबुद्धसाधवस्ते-चात्र नेमिनाथतीर्थवर्तिनो नारदादयो विंशतिः । पार्श्वनाथतीर्थवर्तिनः पञ्चदश वर्द्धमानस्वामितीर्थवर्तिनो दश माषा-स्तैर्भाषितानि पञ्चचत्वारिंशत्सङ्ख्यान्यध्ययनानि श्रवणाद्यधिकारवन्ति ऋषिभाषितानि अङ्गबाह्येषु उत्कालिकश्रुतविशेषेषु,

अत्रवृद्धसंप्रदायः॥"सोरियपुरे नयरे सुरंबरो नाम जक्खो धणंजओ सेट्ठी सुभद्दा भज्जा तेहिं अन्नया सुरंबरो विन्नातो जहा ॥ जइ अम्हाणं पुत्तो होहि इत्तो तुम्भे महिससयं दाहामित्ति एवं ताणं संजाओ पुत्तो एत्थंतरे भगवं वद्धमाणसामी ताणि संबुज्झिहिंतित्ति सोरियपुरमागओ तओ सेट्ठी सज्झा निग्गओ संबुद्धो अणुव्वयाणि गहियाणि सो जक्खो सुविणए महिसे मग्गइ तेण विसेट्ठिणा पिट्ठमया दिन्नाति । सामिणो भुविसीसा धम्मघोसो धम्मजसो य एगस्स असोगवरपायवस्स हेट्ठा परियट्टंति । ते पुव्वण्हे ट्ठिया अवरण्हेवि छाया न परियत्तइ तओ एक्को भणइ तुब्भे एसा लद्धीओ भणइ तुब्भति । तओ एक्को काइयभूमिं गओ जाव छाया तहेव अत्थइ तओ वि इओ वि गओ तत्थवि तहेव अत्थइ तेहिं नाय जहा न एक्कस्स विलद्धी । तओ सामी पुच्छिओ भयवया भणियं जहा इहेव सोरियपुरे समुद्दविजओ राया आसि जण्णदत्तो तावसो । सोमजसा तावसी ताण पुत्तो नारओ ताणि उंछवित्तीणि एक्कदिवस जिमंति एक्कदिवस उववासं करेंति । अन्नया ताणि नारयं पुव्वण्हे असोगपायवस्स हेट्ठा ठवेऊण उंछंति इओ य वेयड्ढाओ वेसमणकाइया तिरियंजंभगा देवा तेण तेण वीइवयंता पेच्छंति तं दारयं ओहिणा आभोएंति । सो ताओ चेव देवनिकायाओ तओ ते तस्साणुकंपाए तं छायं थंभंतित्ति । एवं सो वड्ढंतो भावो अन्नया तेहिं जंभगदेवेहिं पन्नत्तिपाइयाओ विज्जाओ पाढिओ तओ कंचणकुंडियाए मणियाओ याहिं आगासे हिंडइ अन्नया बारवइं गओ वासुदेवेण पुच्छिओ किं सोयंति सो न मयाति कहेउं तओ अक्कहा एवं छेव काऊण महिड्ढिओ गओ पुव्वविदेहं तत्थ य सीमंधरं तित्थयरं जुगबाहुवासुदेवो पुच्छइ । किं सोयंति तित्थगरेण भणियं सव्वं सोयंति जुगबाहुणा एक्कवयणेण वि सव्वं उवलद्धं नारओ वि तं निसुणित्ता उप्पइऊण अवरविदेहं गओ तत्थ वि जुगंधरं तित्थयरं महाबाहु वासुदेवो तं चेव पुच्छइ । भगवया वि तं चेव वागरियं महाबाहुस्स वि तं सव्वमुवगयं नारओ वि तं सुणित्ता बारवइं गओ वासुदेवं भणइ किं ते तदा पुच्छियं वासुदेवो भणइ किं सोयंति नारओ भणइ सव्वं सोयंति । वासुदेवो भणइ किं सव्वं ति तओ नारओ खुभिओ न किंचि उत्तरं देइ । तओ कण्हवासुदेवेण भणियं । जत्थ ते तं पडिच्छियं तत्थ एयंपि पुच्छियव्वं जुत्तं तिखिंसिओ ताहे नारओ भणइ सव्वं भट्टारओ न पुच्छिओत्ति चिंतेउमारद्धो जाव ईसरिया संबुद्धो पढममज्झयणं सोयव्वमेव इच्चाइ वदति एवं सोऽणिवि इच्चवाणित्ति ॥ पा० ।

उत्तराध्ययनादिके (देवेन्द्रस्तवादिके) श्रुतविशेषे, आ० म० प्र० । 'इसिभासिए य जहा' ऋषिभाषितेषूत्तराध्ययनादिषु । सूत्र० ।

इसिभासियज्झयण–ऋषिभाषिताध्ययन–न० प्रश्नव्याकरणदशायास्तृतीयेऽध्ययने, । स्था० १० ठा० ॥

इसिया–इषिका–स्त्री मुञ्जागर्भभूतायां शलाकायाम्, 'से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा इसियंति' तद्गर्भभूतां शलाकां पृथक्कृत्य दर्शयेदिति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

इसिवंस–ऋषिवंश–पुं० । गणधरव्यतिरिक्ताः शेषा जिनशिष्या ऋषयस्तेषां वंशे, तद्वंशप्रतिपादके समवायाङ्गादिश्रुते च । 'इसिवंसे इय' गणधरवंश इति च गणधरव्यतिरिक्ताः शेषा जिनशिष्या ऋषयस्तद्वंशप्रतिपादकत्वादृषिवंश इति च । तत्प्रतिपादनं चात्र पर्यूषणाकल्पस्य समस्तस्य ऋषिवंशपर्यवसानस्य समवसरणप्रतिक्रमेण भणितत्वात् । सम० १ स० ।

इसिवाइ (न्)–ऋषिवादिन्–पुं० पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामुपरिवर्तिनि व्यन्तरनिकायविशेषे, औ० ।

इसिवाइय–ऋषिवादिक–पुं० पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामुपरिवर्तिनि व्यन्तरजातिविशेषे, प्रश्न० ४ द्वा० । प्रज्ञा० ।

इसिवादित–ऋषिवादित–पु० पिशाचादिव्यन्तरनिकायानामुपरि वर्तिनि व्यन्तरनिकायभेदे, प्रव० १२ द्वा० ।

इसिसत्त–ऋषिसप्त–पु० ऋषिणा सप्त ऋषिसप्तः मदीयतपःप्रभावान्नपुंसको भव त्वमिति ऋषिशापाज्जाते नपुंसकभेदे, ग० १ अधि० (अस्य प्रव्रज्याया युक्तायुक्तत्वविचारो णपुंसग शब्दे)

इसिसेट्ठ–ऋषिश्रेष्ठ–पु० मुनिश्रेष्ठे,

जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीणसेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥

योधेषु मध्ये ज्ञातो विदितो दृष्टान्तभूतो वा विश्वा हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनश्चक्रवर्ती यथाऽसौ प्रधानपुष्पेषु च मध्ये यथाऽरविंदप्रधानमाहुः तथा क्षतात्त्रायन्त इति क्षत्रियास्तेषां मध्ये दान्ता उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रव स दान्तवाक्यश्चक्रवर्ती । यथा ऽसौ श्रेष्ठः तदेवं बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् प्रदर्श्याऽधुना भगवन्त दार्ष्टान्तिक स्वनामग्राहमाह । तथा ऋषीणां मध्ये श्रीमान् वर्द्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति ॥२२॥ सूत्र० । १ श्रु० ६ अ० ।

इसु–इषु–पु० शरे, सूचकत्वात् इषूपमया भिक्षा ग्रहणविध्यर्थके द्रुमपुष्पिकाध्ययने, " जह रहितो अणुवत्तो इसुणा लक्खं न विंधइ तहेव । साधू गोयरपत्तो सजमलक्खपि णायव्वो " दश० १ अ० ।

इस्स (ईस) र–ईश्वर–पु०ईश्–वरच्–ईश् ऐश्वर्ये ऐश्वर्येण युक्त ईश्वरः। नि० चू० ९ अ० । ईश्वरश्च अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्ते क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टे सर्वजगत्कारके पुरुषविशेषे,– " अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इत्येके " । जीवा० ३ प्रति० । स्था० । आचा० । अनु० । " तथा च पतञ्जलिः । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इति । सम्म० । टा० ।

ईश्वरवादिनश्च सर्वं जगदीश्वरकृत मन्यन्ते ईश्वर च सह सिद्धं ज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यरूप चतुष्टय प्राणिनां च स्वर्गापवर्गयो प्रेरकमिति तदुक्तं " ज्ञानमप्रतिघ यस्य, वैराग्य च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च स हि सिद्ध चतुष्टयम् " ॥ १ ॥ अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ २ ॥ तदसमीचीनम् । ईश्वरग्राहकप्रमाणाभावात् । अथास्ति तद्ग्राहकप्रमाणमनुमानम् । तथाहि यत् स्थित्वाऽभिमतफलसपादनाय प्रवर्त्तते तद्बुद्धिमत्कारणाधिष्ठित यथा वास्या द्वैधीकरणादौ प्रवर्तते च स्थित्वा सकलमपि विश्व स्वफलसाधनायेति न खलु वास्यादयः स्वत एव प्रवर्तन्ते तेषामचेतनत्वान् स्वभावत एव चेत् प्रवर्तन्ते तर्हि सदैव तेषां प्रवर्तन भवेत् न च भवति तस्य स्थित्वा स्थित्वा प्रवर्तन केनचित्प्रेक्षावता प्रवर्तकेन भवितव्य सकलस्यापि च जगतः स्थित्वा स्थित्वा स्वफलं साधयतः प्रवर्तक ईश्वर एवोपपद्यते नान्यः इतीश्वरसिद्धिः । तथा अपरमनुमान यत्पारिमाण्डल्यादिलक्षणसन्निवेशविशेषभाक् तच्चेतनावता कृत यथा घटादिपारिमाण्डल्यादिसन्निवेशविशेषभाक् भूभूधरादिकमपि तदेतदयुक्त सिद्धसाधनेन पक्षस्य प्रसिद्धसबन्धत्वात् तथाहि सकलमपीद विश्ववैचित्र्यं कर्मनिबन्धनमिच्छामो–इतो ऽमी वैताढ्यहिमवदादय पर्वता भरतैरावतविदेहान्तरद्वीपादीनि च क्षेत्राणि तथा तथा प्राणिनां सुखदुःखादिहेतुतया यत्परिणमन्ते तत्र तथा तथा परिणामने तत्तन्निवासिनामेव तेषां जन्तूनां कर्मकारणमवसेय नान्यत्तथाच दृश्यते एव पुण्यवति राज्यमनुशासति भूपतौ तत्कर्मप्रभावतः सुभिक्षादयः प्रवर्तमाना कर्म च जीवाश्रित जीवाश्च बुद्धिमन्तश्चेतनावत्त्वात् ततो बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितत्वे चेतनावत्कृतत्वे च साध्यमाने सिद्धसाधनम् । अथ बुद्धिमान् चेतनावान् वा विशिष्ट एवेश्वरः कश्चित्साध्यते तेन न सिद्धसाधन तर्हि दृष्टान्तस्य साध्यविकलता वास्यादौ घटादौ चेश्वरस्याधिष्ठायकत्वेन कारणत्वेन वा व्याप्रियमाणस्यानुपलभ्यमानत्वात् वर्द्धकिकुम्भकारादीनामेव तत्र तत्रान्वयव्यतिरेकता व्याप्रियमाणानां निश्चीयमानत्वात् । अथ वार्द्धक्यादयोपीश्वरप्रेरिता एव तत्र तत्र कर्मणि प्रवर्तन्ते न स्वतस्ततो न दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । नन्वेव तर्हि ईश्वरोप्यन्येनेश्वरेण प्रेरितः स्वकर्मणि प्रवर्तते न स्वतो विशेषाभावात् सोऽप्यन्येनेश्वरेण प्रेरित इति विकालसध्यायां तमःसंततिरिवादृष्टपर्यन्तान्यान्यमापादयन्ती प्रसरत्यनवस्था । अथमन्यथा वर्द्धक्यादिको जन्तुः सर्वोपि स्वरूपेणाज्ञस्ततः सप्रेरित एव स्वकर्मणि प्रवर्तते भगवांस्त्वीश्वरः सकलपदार्थज्ञाता ततो नासौ स्वकर्मण्यन्यं स्वप्रेरकमपेक्षते तेन नानवस्था, तदप्यसत् इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् तथाहि सकलपदार्थयथावस्थितस्वरूपज्ञातृत्वे सिद्धे सत्यन्याप्रेरितत्वसिद्धिः अन्याप्रेरितत्वसिद्धौ च सकलजगत्कारणतः सर्वज्ञत्वसिद्धिरित्येकासिद्धावन्यतरस्याप्यसिद्धिः । अपिच यद्यसौ सर्वज्ञो वीतरागश्च तत्किमर्थमन्यं जनमसद्व्यवहारे प्रवर्तयति मध्यस्था हि विवेकिनः सद्व्यवहार एव प्रवर्तयन्ति नासद्व्यवहारे, स तु विपर्ययमपि करोति ततः कथमसौ सर्वज्ञो वीतरागो वा । अथोच्यते सद्व्यवहारविषयमेव भगवानुपदेश ददाति तेन सर्वज्ञो वीतरागश्च यश्चाधर्मकारिजनसमूहः त फलमसदनुभावयति येन स तस्मादधर्मान्निवर्तते तत उचितफलदायित्वाद्विवेकवानेव भगवानिति न कश्चिद्दोषः तदप्यसमीक्षिताभिधान यतः पापेपि प्रथम स एव वर्तयति नान्यो न च स्वय प्रवर्त्तते तस्याज्ञत्वेन पापे धर्मे वा स्वय प्रवृत्तेरयोगात्ततः पुर्वं पापे प्रवर्तयते तत्फलमनुभाव्य पश्चाद्धर्मे प्रवर्तयतीति केयमीश्वरस्य प्रेक्षापूर्वकारिता । अथ पापे ऽपि प्रथम प्रवर्तयति तत्कर्माधिष्ठित एव तथाहि तदेव तेन जन्तुना कृत कर्म्म यद्वशात्पाप एव प्रवर्त्यते ईश्वरोपि च भगवान् सर्वज्ञः तथा रूप तत्कर्म साक्षाद् ज्ञात्वा त पाप एव प्रवर्तयति तन उचितफलदायित्वान्नाप्रेक्षापूर्वकारीति । ननु तदपि कर्म तेनैव कारितं ततस्तदपि कस्मात्प्रथम कारयतीति स एवाप्रेक्षापूर्वकारिताप्रसङ्गः अथाधर्म्ममसौ न कारयति किंतु स्वत एव सोऽधर्म्ममाचरति अधर्मकारिणं तु तत्तत्फलमसदनुभावयति तदन्येश्वरवत् । यथाहि तदन्येश्वरराजादयो नाम धर्मे जन प्रवर्तयन्ति अधर्मफल तु प्रेक्षादिकमनुभावयन्ति तद्वद्भगवानीश्वरोपि, तदप्युयक्तम् अन्येऽपीश्वराः पापप्रतिषेधं कारयितुमीशा नहि नाम राजानोऽपि उग्रशासनाः पापे मनोवाक्कायनिमित्ते सर्वथा प्रतिषेधयितु प्रभविष्णवः स तु भगवान् धर्माधर्मविधिप्रतिषेधविधापनसमर्थ इष्यते तत्कथ पापे प्रवृत्त न प्रतिषेधयति अप्रतिषेधश्च परमार्थतः स एव कारयति तत्फलस्य पश्चादनुभावनादिति तदवस्थ एव दोषः । अथ पापं प्रवर्तमान प्रतिषेधितुमशक्त इष्यते तर्हि नैवोद्धर्करिद्मन्निधानात्य सर्व–

मीश्वरेण कृतमिति। अपिच यद्यसौ स्वयमधर्मं करोति तथा धर्ममपि करिष्यति फलं च स्वयमेव भोक्ष्यन्ते तत किमीश्वर कल्पनया विधेयमिति । उक्तच " अशक्तत्वाऽन्येश्वराः पाप-प्रतिषेध न कुर्वते । स त्वत्यन्तमशक्तोऽन्यो, व्यावृत्तमतिरिष्यते १ अथाप्यशक्त एवासौ, तथा सति परिस्फुटम्। नेश्वरेण कृत सर्वमिति वक्तव्यमुच्चकैः ॥ २ ॥ पापवत्स्वार्थकारित्वात् धर्मादिरपि किंतत"इति। अथ ब्रुवीथा' स्वयमसौ धर्माधर्मौ करोति तत्फल त्वीश्वर एव भोजयति तस्य धर्माधर्मफलभोगे स्वयमशक्तत्वादिति, तदप्यसत् यतो यो नाम स्वयं धर्माधर्मौ विधातुमलं स कथ तत्फल स्वयमेव न भोक्तुमीशो नहि पक्तुमोदन समर्थो नहि भोक्तुमिति लोके प्रतीतम् । अथवा भवत्वेतदपि तथापि धर्मफलमुन्मत्तदेवाङ्गनास्पर्शादिरूपमनुभावयतु तस्येष्टत्वादधर्मफल तु नरकप्रयातादिरूप कस्मादनुभावयति नहि मध्यस्थभावमवलम्बमाना. परमकरुणापरीतचेतस प्रेक्षावन्तो निरर्थके परपीडाहेतौ कर्मणि प्रवर्तन्ते क्रीडार्था भगवत' तथा प्रवृत्तिरिति चेत् यद्येव तर्हि कथमसौ प्रेक्षावान् तस्य हि प्रवर्तने क्रीडामात्रमेव फल ते पुन' प्राणिनः स्थाने स्थाने प्राणैर्वियुज्यन्ते। उक्तञ्च " क्रीडार्थो तस्य धृतिश्चेत्प्रेक्षापूर्वक्रिया कुत' । एकस्य क्षणिका तृप्ति, अन्य प्राणैर्वियुज्यते ॥ १ ॥ " अपिच क्रीडा लोके सरागस्योपलभ्यते भगवांश्च वीतरागस्तत कथ तस्य क्रीडा सङ्गतिमङ्गति। अथ सोपि सराग इष्यते तर्हि शेषजन्तुरिवावीतरागत्वान्न सर्वज्ञो नापि सर्वस्य कर्तेत्यापतितम् । अथ रागादिकृतोऽपि स सर्वज्ञः सर्वस्य कर्ता च भवति तथा स्वभावत्वात् ततो न कश्चिद्दोषो नहि स्वभावे पर्यनुयोगो घटनामुपपद्यते । उक्तंच । " इदमेव नवेत्येतत्, कस्य पर्यनुयोज्यताम्। अग्निर्दहति नाकाशं, कोऽत्र पर्यनुयोज्यताम् " ॥ तदेतदसम्यक् यतः प्रत्यक्षत. तथारूपे स्वभावे च गते यदि पर्यनुयोगो विधीयते तत्रेदमुत्तर विजृम्भते । यथा स्वभावे पर्यनुयोगो भवतीति यथा प्रत्यक्षेणोपलभ्यमाने वह्नेर्दाह्य दहतो दाहकत्वरूपे स्वभावे, तथाहि यदि तत्र कोपि पर्यनुयोगमाधत्ते यथा कथमेष वह्निर्दाहकस्वभावो जातो यदि वस्तुत्वेन तर्हि व्योमादिक न दाहकस्वभाव भवति वस्तुत्वाद्विशेषादिति नत्रेदमुत्तर विधीयते दाहकत्वरूपो हि स्वभावो वह्नेः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते तत कथमेष पर्यनुयोगमर्हति न हि दृष्टेऽनुपपन्नता नाम तथाचोक्तम्। स्वभावोऽध्यक्षत सिद्धे यदि पर्यनुयुज्यते। तत्रेदमुत्तरं वाच्य, न दृष्टेऽनुपपन्नता॥१॥ ईश्वरस्तु सर्वजगत्कर्तृत्वेन सर्वज्ञत्वेन च नोपलब्धस्ततस्तत्र तथास्वभावत्वकल्पनादवश्य पर्यनुयोगमाश्रयते। यदि पुनरदृष्टेपि तथा स्वभावत्वकल्पनापर्यनुयोगानाश्रयोऽभ्युपगम्यते तर्हि सर्वोपि वादी त त पक्षमाश्रयन् परेण विक्षोभितस्तत्र तत्र तथा २ स्वभावताकल्पनेन परं निरुत्तरीकृत्य लब्धजयपताक एव भवेत् ॥ उक्तच ॥ अन्यथा "यत्किंचिदात्माभिमत विधाय, निरुत्तरस्तत्र कृत परेण ॥ वस्तुस्वभावैरिति वाच्यमित्थं, तदुत्तर' स्याद्विजयी समस्त ॥ किंच ॥ सर्वं यदि जगदीश्वरकृतं मन्यते तर्हि सर्वाण्यपि शास्त्राणि सकलदर्शनगतानि तेन प्रवर्तितानीति प्राप्त तानि च शास्त्राणि परस्पर विरुद्धार्थानि ततो ध्रुवं कानिचित्सत्यानि कानिचिदसत्यानि तत सत्यासत्योपदेशदानात्कथमसौ प्रमाणम् । उक्तच । " शास्त्रान्तराणि सर्वाणि, यदीश्वरविकल्पन ॥ मन्यामत्योपदेशस्य प्रमाणदानतः कथम् ॥१॥ अथ सकलानि शास्त्राणि ईश्वरकारितानि किंतु सत्यान्येव ततो न कश्चिद्दोषावकाशस्तर्हि शास्त्रान्तरवदेव नरेश्वरेणान्यदपि व्यधायीति हता तव पक्षसिद्धिरिति । अन्यच्च यादृग्भूत संस्थानादि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेनोपलब्ध तादृग्भूतमेवान्यत्रापि बुद्धिमन्तमात्मनो हेतुमनुमापयति यथा जीर्णदेवकुलकूपादिगत न शेष नहि सन्ध्याभ्ररागवल्मीकादिगत संस्थानाद्यात्मनो बुद्धिमन्त कर्तारमनुमापयति नथा प्रतीतेरभावात् तथातस्य संस्थानादेर्बुद्धिमत्कारणत्वेन निश्चयाभावात् तथा भूभूधरादिगतमपि संस्थानादिक न बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन निश्चितमिति कथं तद्वशाद्बुद्धिमतः कर्तुरनुमानम्। अथ मन्येथास्तदपि संस्थानादि तादृग्भूतमेव संस्थानादिशब्दवाच्यत्वात् नचैव तत्कर्तुर्बुद्धिमतोऽनुमाने काञ्चिदपि बाधामुपलभामहे ततः सर्वं सुस्थितमिति तदयुक्तं शब्दादिरूढवशाज्जात्यन्तरेपि प्रवर्तन्ते ततः शब्दसाम्यात्। यदि तथारूपवस्त्वनुमान तर्हि गोत्वाच्छागादीनामपि विषाणितामनुमीयतां विशेषाभावात्। अथ तत्र प्रत्यक्षेण बाधोपलभ्यते ईश्वरानुमानेन ततो न कश्चिद्दोष इति तदेतदतीव प्रमाणमार्गानभिज्ञतासूचक यतो यत एव तत्र प्रत्यक्षेण बाधोपलम्भोऽत एव नान्यत्रापि शब्दसाम्यात्तथारूपवस्त्वनुमान कर्तव्य प्रत्यक्षत एव शब्दसाम्यस्य वस्तुतथारूप्येण सहाविनाभावित्वस्याभावावगमात् । न च बाधकमत्र नोपलभ्यते इत्येवानुमान प्रवर्तते किंतु वस्तुसम्बन्धबलात् तथाचोक्तम् " ननु बाध्यत इत्येव-मनुमान प्रवर्तते ॥ सम्बन्धदर्शनात् तस्य प्रवर्तन मिहेष्यते"-इति स च सम्बन्धोऽत्र न विद्यते तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् ततोऽनैकान्तिकता हेतोरित्थ चैतदङ्गीकर्तव्यमन्यथा यो यो मृद्विकार. स स कुम्भकृतो यथा घटादिर्मृद्विकारश्चायं वल्मीकस्तस्मात्कुम्भकारकृत इत्यप्यनुमान समीचीनतामाचक्षीस्कथेत बाधकमात्राद्दर्शनात् । तथाहि यदि तत्र कुम्भकारः कर्ता भवेत्तर्हि कदाचिदुपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मादेव तदयुक्तमिति तदेतदीश्वरानुमानेपि समानम् ॥ यदि हि सर्वस्यापि वस्तुजातस्येश्वर. कर्ता क्वचित्कदाचिदुपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मादप्यलीकमिति कृत प्रसङ्गेन ।न०॥

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगम-
मिथ्याभिनिवेशरूप निरूपयन्नाह ॥

कर्तास्ति कश्चिज्जगतः सचैकः, स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः। इमाः कुहेवाकविडम्बनाःस्यु-स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥

जगत' प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य कश्चिदनिर्वचनीयस्वरूप. पुरुषविशेष. कर्ता स्रष्टाऽस्ति विद्यते । तेहीत्थ प्रमाणयन्ति उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वाद्यद्यत्कार्यं तत्तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं यथा घटस्तथाचेद तस्मात्तथा। व्यतिरेके व्योमादि । यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्ता स भगवानीश्वर एवेति । नचायमसिद्धो हेतुर्यतो भूभूधरादेः स्वस्वकारणकलापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्व सर्ववादिनां प्रतीतमेव। नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टः प्रत्यक्षानुमानागमाबाधितधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात् । नापि प्रकरणसम तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थ प्रत्यनुमानाभावात् । न च वाच्यमीश्वर. पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति अशरीरित्वान्निर्वृत्तात्मवदिति प्रत्यनुमान तद्बाधकमिति

यतोऽत्रेश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः । न ताव-दप्रतीतो हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात् । प्रतीतश्चेत्येन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितं स्वतनुर्न प्रतीयते इत्यतः कथमशरीरत्वं तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति । सचैक इति चः पुनरर्थे स पुनः पुरुषविशेष एकोऽद्वितीयः बहूनां हि विश्व-विधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतसम्भावनाया अनिवार्यत्वा-देकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्ये तेति । तथा (स सर्वग इति) सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः सर्व-व्यापी तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्त्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीनां वि-भवत्रयान्तर्वर्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः कुम्भ-कारादिषु तथा दर्शनात् । अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः सर्वज्ञः सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति वचनात् सर्वज्ञत्वा-भावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वादनुरूपकार्योत्प-त्तिर्न स्यात् । तथा स स्ववशः स्वतन्त्रः सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात्तथा चोक्तम् "ईश्वर-प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा, अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोरिति" पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्य-कर्तृत्वव्याघातादनीश्वरत्वापत्तिः । तथा (स नित्य इति) अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपस्तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृ-तकत्वमाप्तिः । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते यश्चापरस्तत्कर्ता कल्प्यते स नित्योऽनित्यो वा स्यान्नित्यश्चेदधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्तस्या प्युत्पादकान्तरेण भाव्यं तस्यापि नित्यानित्यत्वविकल्पकल्प-नायामनवस्थादौःस्थ्यमिति तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगतकर्त्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्योत्तरार्द्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे । इमा एता अनन्तरोक्ताः कुहेवाकविडम्बनाः कुत्सिताः हेवाकाः आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः कदाग्रहा इत्यर्थः त एव विडम्बना विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वाद्वि-गोपकप्रकारा स्युर्भवेयुस्तेषां प्रामाणिकापसदानां येषां हे-स्वामिन् ! त्वं नानुशासको न शिक्षादाता तदभिनिवेशानां विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येक तत्तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयांचकार स्तुतिकारः । तथाचैवमेव निन्दनीयं प्रति वक्तारो वदन्ति " स मूर्खः स पापीयान् स दरिद्रः इत्यादि " त्वमित्येकवचनसंयुक्तयुष्म-च्छब्दप्रयोगेण परेशितुः परमकारुणिकतयाऽनपेक्षितस्वपर पक्षविभागमितरशास्त्रिणामसाधारणमद्वितीयं हितोपदेश-कत्वं ध्वन्यते । अतोऽन्ययमाशयो यद्यपि भगवान् विशेषेण सकलजगज्जन्तुजाते हितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे तथापि सैव केषांचिन्निचिनिकाचितपापकर्मकलुषितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते अपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तत्वेनायो-ग्यत्वात्तथा च कादम्बर्यां बाणोऽपि बभाण " अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुख-मुपदेशगुणा गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति । श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्येति " यतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भग-वाननुशासक इति । नचैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसम्भावना, नहि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टको विषभिष-गुपालम्भनीयोऽतिप्रसङ्गात् । स हि तेषामेव दोषः । न खलु निखिलभुवनाभोगमवभासयन्तोऽपि भानवीया भानवः कौशि-कलोकस्यालोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसंभावनास्पदम् तथा च श्रीसिद्धसेनः " सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् । तन्नाद्भुतं खगकुले-ष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥ १ ॥ अथ कथमिव तत्कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वमिति ब्रूमः यत्तावदुक्तं परैः "क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वात् घटव-दिति तदयुक्तं व्याप्तेरग्रहणात् । साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः । स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात् सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद्दृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवददृश्य-शरीरविशिष्टः । प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधस्तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् । प्रमेयत्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः । द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहो-स्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम् । प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्या-यनीयः तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् । इतरेतराश्रयदोषा-पत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्ये-तव्यं तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति । द्वितीयी-कस्तु प्रकारो न संवरत्येव विचारगोचरे संशयाऽनिवृत्तेः । किं तस्यासत्वाददृश्यशरीरत्वं वान्ध्येयादिवत् किंवाऽस्म-दाद्यदृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात् । अशरी-रश्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्सिद्धो हेतुः । घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टा अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादिवत् । तस्मात्सशरीरा-शरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः । किंचत्व-न्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः धर्म्येकदेशस्य तरुविद्यु-दभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्य-क्षबाधितधर्म्यनन्तरहेतुभणनात्तदेवं न कश्चिज्जगतः कर्त्ता । एक-त्वादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि तद्विशे-षणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसम्पन्निरूपणप्रायाण्येव तथापि तेषां विचारासहत्वख्यापनार्थं किञ्चिदुच्यते नत्वैकत्वचर्चस्तावत् बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसंभावनेति नायमेकान्तः । अनेक-कीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नोऽनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां नैकसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरू-पताया अविगानेनोपलम्भात् । अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्त्तेति ब्रूषे एवं चेद्भवतो भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते । अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमप-होतुं शक्यं तर्हि कीटिकादिभिः किं तव विराद्धं यत्तेषामसदृश-तादृशप्रयाससाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते तस्माद्वैमत्यभ-यान्महेशितुरेकत्वकल्पनाभोजनादिव्ययभयात्कृपणस्यात्यन्त-वल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिव । तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नं तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा स्यात् । प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादि-तरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसा-ध्यताऽस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रय-क्रोडीकरणाभ्युपगमात् । यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम् । "विश्व-तश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पादिति श्रुतेः " यच्चोक्तम् । तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतप दार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छ्यते स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत्साक्षाद्देहव्यापा-रेण निर्मिमीते यदि वा सङ्कल्पमात्रेण । आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेर्विधानेऽक्षोदीयसः कालक्षेपस्य सम्भवाद्गरीयसा प्यनेहसा न परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव

चिन्तितकार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किंचिद्दूषणमुत्पश्यामः नियतदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसंपादनप्रतिपत्तेः ॥

किंच तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थानेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते तथाचानिष्टापत्तिः। अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वजगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते तदाऽशुचिरसास्वादादीनामप्युपलम्भसंभावनाऽनारकादिदुःखस्वरूपसंवेदनात्मकतया दुःखानुभवप्रसङ्गाच्चानिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत्तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरेवावकरणं यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थलस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति न पुनस्तत्र गत्वा तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः। तर्हि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादानुभूतिस्तद्भावे हि स्रक्चन्दनाङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति। यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तं तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यं तथा च वक्तारो भवन्ति। "अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति इति"। न च ज्ञानं प्राप्यकारि तस्यात्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाभावाद्बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्याऽजीवत्वप्रसङ्गात् नहि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति "यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यान्निष्क्रम्य भुवनं भासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेयं परिच्छिनत्तीति" तत्रेदमुत्तरं किरणानां गुणत्वमसिद्धं तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात्। यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग्भवतीति। तथाच धर्मसंग्रहण्यां श्रीहरिभद्राचार्यपादाः "किरणा गुणा न दव्वं, तेसिं पयासो गुणो न वा दव्वं। जं नाणं आयगुणो, कहमदव्वो स अन्नत्थ ?॥ १॥ गंतूण न परिछिंदइ, नाणं नेयं तयम्मि देसम्मि। आयत्थं चिय नवरं, अचिंतसत्तीउ विन्नेयं ॥ २॥ लोहोवलस्स सत्ती, आयत्था चेव भिन्नदेसम्मि। लोहं आगरिसंती दीसइ इह कज्जपच्चक्खा ॥ ३॥ एवमिह नाणसत्ती, आयत्था चेव हंदि लोगंतं। जइ परिछिंदइ सव्वं, को णु विरोहो भवे तत्थ ॥ ४॥" इत्यादि अथ सर्वगं सर्वज्ञः इति व्याख्यानं तत्रापि प्रतिविधीयते। ननु तस्य सार्वज्ञ्यं केन प्रमाणेन गृहीतं प्रत्यक्षेण परोक्षेण वा। न तावत्प्रत्यक्षेण तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतयाऽतीन्द्रियग्रहणासामर्थ्यात्। नापि परोक्षेण तद्धि अनुमानं शाब्दं वा स्यात्। न तावदनुमानं तस्य लिङ्गग्रहणलिङ्गिलिङ्गसंबन्धस्मरणपूर्वकत्वात् न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेयं किंचिदव्यभिचारिलिङ्गं पश्यामस्तस्याऽत्यन्तविप्रकृष्टत्वेन तत्प्रतिबद्धलिङ्गसंबन्धग्रहणाभावात्। अथ तस्य सर्वज्ञत्वं विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमानं सर्वज्ञत्वमर्थादापादयतीति चेन्न अविनाभावाऽभावात्। न हि जगद्वैचित्री तत्सार्वज्ञ्यं विनाऽन्यथा नोपपन्ना। द्विविधं हि जगत् स्थावरजङ्गमभेदात् तत्र जङ्गमानां वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभाऽशुभकर्मपरिपाकवशेनैव। स्थावराणां तु सचेतनानामियमेव गतिः अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनानादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति। नाप्यागमस्तत्साधकः। स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात्। तत्कृत एव चेत्तस्य सर्वज्ञतां साधयति। तदा तस्य महत्त्वक्षतिः स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्तनस्य महतामनधिकृतत्वात्। अन्यच्च तस्य शास्त्रकर्तृत्वमेव न युज्यते। शास्त्रं हि वर्णात्मकम्। ते च ताल्वादिव्यापारजन्याः। स च शरीर एव सम्भवी। शरीराऽभ्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः। अन्यकृतश्चेत्सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा। सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्ततदेकत्वाभ्युपगमबाधः। तत्साधकप्रमाणचर्चायामनवस्थापातश्च। असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः अपरं च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति पूर्वाऽपरविरुद्धाऽर्थवचनोपेतत्वात्। तथाहि "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" इति प्रथममुक्त्वा पश्चात्तत्रैव पठितम् "षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य वचनान्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः।" तथा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" "सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत" इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते। तथा "नानृतं ब्रूयात्" इत्यादिनाऽनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य पश्चाद् "ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयादित्यादि" तथा "न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले। प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चाऽनृतान्याहुरपातकानि ॥ १॥" तथा "परद्रव्याणि लोष्ठवत्" इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य पश्चादुक्तं "यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा, तथापि तस्य नाऽदत्तादानम्। यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम्। ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद्वृषलाः परिभुञ्जते तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते वस्ते स्वं ददातीति। तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" इति लपित्वाऽनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणां दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिमित्यादि कियन्तो वा दधिमाषभोजनात्कृपणा विवेच्यन्ते। तदेवमागमोऽपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति। किंच सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद्विरचयति तदा जगदुपप्लवकरणवैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहान् सुरवैरिणः एतदधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजतीति तन्नायं सर्वज्ञः। तथा स्ववशत्वं स्वातन्त्र्यं तदपि तस्य न क्षोदक्षमम्। स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते तत्कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनमेकान्तशर्मसम्पत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते। अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः संस्तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः। कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये विशिष्टहेतुकविष्टपसृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वादस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं प्रेक्षावता। तथा चायातोऽयं "घट्टकुट्यां प्रभातमिति" न्यायः। किंच प्राणिनां धर्माधर्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोति इति। नहि कुलालो दण्डादि करोति एवं कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात्तर्हि कर्मणीश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति। तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम्। स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा प्रथमविधायां जगन्निर्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत। तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः। एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानादेकस्यापि कार्यस्य नसृष्टिः। घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्यापरिसमाप्तेरुपान्त्यक्षणं यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेशमासादयति जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात्। अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत्तत्स्वभावायोगाद्गगनवत्। अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिरिव संहारोऽपि न घटते नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः। स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत्तेनैव तानि संहरेत्स्वभावान्तरेण वा तेनैव चेत् सृष्टिसंहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः स्वभावाभेदात्। एकस्वभावात्कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात्। स्वभावान्तरेण चेन्नित्यत्वहानिः। स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः। यथा

पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम्। इत्थञ्च भावानां सृष्टिसंहारयोः शम्भोः स्वभावभेदः। रजोगुणात्मकतया सृष्टौ,तमोगुणात्मकतया संहरणे, सात्त्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात् एव चावस्थाभेदस्तद्भेदे चावस्थावतोऽपि भेदान्नित्यत्वक्षतिः। अथास्तु नित्यस्तथापि स कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते। इच्छावशाच्चेन्ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयतीति स एवोपालम्भः। तथा शम्भोरष्टगुणाधिकरणत्वे कार्यभेदाऽनुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वान्नित्यत्वहानिः केन निवार्यते इति। किंच प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्कारुण्याद्वा न तावत्स्वार्थात्तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात्परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यं ततः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्। सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम्। कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति। नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिध्यति तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति। अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनी नकारस्य घण्टालोलान्यायेन योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति यथा 'इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषां त्वमनुशासक इति' तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयोऽन्ययोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वादिति काव्यार्थः। स्या० ६ श्लोक।

ईश्वरस्य जगदकर्तृत्वं यथा।

उवगरणाभावाउ निच्चेट्ठामुत्तयाइ उ वावि।
ईसरदेहारंभे वि तुल्लया वा णवत्था वा ॥

नायमीश्वरः जीवादिरकर्माशरीरादिकार्याण्यारभते उपकरणाभावाद्दण्डाद्युपकरणरहितकुलालवत्। न च कर्म विना शरीराद्यारम्भिजीवादीनामन्यदुपकरणं घटते। गर्भाद्यवस्थास्वन्योपकरणासंभवाच्छुक्रशोणिताद्यग्रहणस्याप्यकर्मणोऽनुपपत्तेः। अथवा ऽन्यथा प्रयोगः क्रियते निश्चेष्टत्यादिना कर्मशरीराद्यारभते निश्चेष्टत्वादाकाशवत्तथा ऽमूर्तत्वादादिशब्दादशरीरत्वान्निष्क्रियत्वात्सर्वगतत्वादाकाशवदेव तथा एकत्वादेकपरमाणुवदित्यादि। अत्रोच्यते शरीरवानीश्वरः सर्वाण्यपि देहादिकार्याण्यारभते। नन्वीश्वरदेहारम्भेऽपि तर्हि तुल्यता पर्यनुयोगस्य तथाहृकर्मा नारभते निजशरीरमीश्वरो निरुपकरणत्वाद्दण्डादिरहितकुलालवदिति। अथान्यः कोपीश्वरस्तच्छरीरारम्भाय प्रवर्तते ततः सोपि शरीरवानशरीरो वा यद्यशरीरस्तर्हि नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि सैव वक्तव्यता अथ शरीरवान् तर्हि तच्छरीरारम्भेपि तुल्यता सोप्यकर्मा निजशरीरं नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि। अथ तच्छरीरमन्यः शरीरवांस्तर्हि तच्छरीरारम्भेपि तुल्यता नारभते ऽतस्तस्याप्यन्य इत्येवमनवस्था। अनिष्टं च सर्वमेतत्तस्मान्नेश्वरो देहादीनां कर्ता किंतु कर्म सहितो जीव एव निष्प्रयोजनश्चेश्वरो देहादीन् कुर्वन्नुन्मत्तकल्प एव स्यात्। सप्रयोजनकर्तृत्वे पुनरनीश्वरप्रसङ्गः। न चानादिशुद्धस्य देहादिकारणेच्छा युज्यते तस्यारागविकल्परूपत्वात्॥ विशे०॥ नयान्त्र 'इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहियं ईसरेण कडे लोए' इत्युपक्रम्य 'असो तत्तमकासीयं अयाणतामुसवहे' इत्युपसंहारः। सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

"ईश्वरकर्तृके सुखदुःखे अपि न भवतः यथासावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा। यदि मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः। अथाऽमूर्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम्। अपि च यद्यसौ रागादिमांस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तैव। यथासौ विगतरागस्ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्रादिजगद्वैचित्र्यम् न घटां प्राञ्चति ततो नेश्वरः कर्तेति। सूत्र०॥ यथा कथंचिदीश्वरस्य कर्तृत्वं सूत्रकृताङ्गे प्रतिपादितम्।

तथेश्वरोपि कर्ता आत्मैव हि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः। तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव। यच्चात्र मूर्तादि दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयेण दूरोच्छेदितमेवेति॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। ऐश्वर्येण ज्ञानाद्यतिशयलक्षणेन युक्त ईश्वरः परमब्रह्मवादीनां मुक्तेऽयोगिनामरूपे अर्हता जिने च। द्वा० १६ द्वा० - यो० वि०।

तेषामीश्वरत्वं यथा-

महेशानुग्रहात्किंचि-द्योगसिद्धिं प्रचक्षते।
क्लेशाद्यैरपरामृष्टः, पुंविशेषः स चेष्यते॥१॥

केचित्पातञ्जला महेशानुग्रहात् योगस्योक्तलक्षणस्य सिद्धिमयोगक्षेमलक्षणा प्रचक्षते प्रकथयन्ति स च महेशः पुंविशेषः पुरुषविशेषः इष्यते। कीदृश इत्याह क्लेशाद्यैः क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टोऽस्पृष्टस्त्रिष्वपि कालेषु तथा च सूत्रं "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष इष्यते। कीदृश इत्याह ईश्वर इति अत्र क्लेशा अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशा वक्ष्यमाणलक्षणाः क्लेशमूलाः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय अस्मिन्नेव जन्मन्यनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयो जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयस्तीव्रसंवेगेन हि कृतानि पुण्यानि देवताराधनादीनि कर्माणि इहैव जन्मनि फलं जात्यायुर्भोगलक्षणं प्रयच्छन्ति। यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराराधनबलादिहैव जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूता न चैतदनुपपत्तिः सदनुष्ठानेन प्रतिबन्धकापनयने केदारान्तरे जलापूरणवत्पात्रात्य प्रकृत्यापूरणेनैव सिद्धिविशेषोपपत्तेस्तदुक्तम्।"जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः सिद्धिश्चोत्कर्षविशेषः कायकरणस्य आत्यन्तरपरिणामः प्रकृत्या पूरानिमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदिति। सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः सति मूले क्लेशरूपबीजे तेषां कुशलाकुशलं कर्मणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति जातिर्मनुष्यादिरायुश्चिरकाले शरीरसंबन्धो भोगा विषयाः इन्द्रियाणि सुखदुःखसंवित्ति कर्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य, इदमत्र तात्पर्यम्। चित्तं हि द्विविधं साशयमनाशयं च। तत्र योगिनामनाशयं तदाह। ध्यानजमनाशयम् अत एव तेषामशुक्लाकृष्णं कर्म तदाह कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषां शुभफलदं कर्म यागादिशुक्लम् अशुभफलदं ब्रह्महत्यादिकृष्णम् उभयसंकीर्णं शुक्लकृष्णम्। तत्र शुक्लं दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणां कृष्णं नारकिणां, शुक्लकृष्णं मनुष्याणां योगिनां तु विलक्षणमिति साशयचित्तमयोगिनाम् तत्र फलत्यागानुसंधानाद्यात्फलजनकं कर्माशयस्ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानां द्विविधा हि कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफलाजात्यायुर्भोगफलाश्च तत्राद्या येन कर्मणा यादृक् शरीरमारब्धं देवमानुषतिर्यगादिभेदेन आत्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्यारम्भे तदनुरूपामेव स्मृतिं जनयति,

न्यादर्शी च व्यञ्जयन्ति देवादिभवे नारकादिशरीरोपभोगस्मृतिवत्। न चातिव्यवहितयोः स्मृतिसंस्कारयोर्जन्यजनकभावानुपपत्तिरिहानुवृत्तस्याप्यविचलितचित्ते वासनात्मना स्थितस्योद्बोधविशेषसहकारेण स्मृतिविशेषपरिणामे व्यवधानाभावात्तदुक्तम्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ताश्च सुखसाधना वियोगाध्यवसायसङ्कल्पस्य मोहलक्षणस्य बीजस्यानादित्वादादिरहितास्तदुक्तं तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् द्वितीयाया अपि चित्तभूमावेवानादिकालसंचिता यथा यथा पाकमुपयान्ति तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं कार्यमारभन्त इति। तदेतत्कर्माशयफले जात्यादिविपाक इति। यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि ते चित्तगतास्तेषां व्यपदिश्यन्ते यथा योधगतौ जयपराजयौ स्वामिन, अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्तीति विलक्षणोऽयमन्येभ्यः ॥ १ ॥

ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥ २ ॥
सात्त्विकः परिणामोऽत्र, काष्ठा प्राप्ततयेष्यते।
नाक्रमणाल्लिकामात्र, इति सर्वज्ञताग्थितिः ॥ ३ ॥
ऋषीणां कापिलादीना-मप्ययं परमो गुरुः।
तदिच्छया जगत्सर्वं, यथाकर्म विवर्त्तते ॥ ४ ॥

ज्ञानादयोऽत्राप्रतिघाः सहजाश्च गुरुत्वस्यानादिसम्बन्धात् यथा हीतरेषां सुमहद्धर्मोदतया विपरिणतचित्तं निर्मले सात्त्विके धर्मात्मपक्षे प्रतिसंक्रान्तचिच्छायासम्बन्धात् सर्वज्ञो भवति नैवमीश्वरस्य किन्तु तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणामो नित्यतया व्यवस्थित इति। किञ्च प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेरनादिज्ञानादिमत्त्वमस्य सिद्धम्। २। अत्रेश्वरे सात्त्विकपरिणामः काष्ठाप्राप्ततयाऽत्यन्तोत्कृष्टत्वेनेष्यते नातन्यथा सातिशयानां धर्माणां परमाणावल्पत्वस्येवाकाशे परममहत्त्वस्येव काष्ठाप्राप्तिदर्शनात्। ज्ञानादीनामपि चित्तधर्माणां तारतम्येन परिदृश्यमानानां क्वचिन्निरतिशयत्वे सिद्धे न पुनः रक्तप्रमाणाल्लिकयेन्द्रियद्वाराभ्यामुपनीतमिति हेतोः सर्वविषयत्वात्तेनेश्वरस्य सर्वज्ञतया स्थितिः प्रसिद्धेस्तदुक्तम् 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'। ३। अयमीश्वरः कपिलादीनामपि ऋषीणां परमः उत्कृष्टो गुरुस्तदुक्तं 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदा'दिति तस्येश्वरस्येच्छया सर्वं जगत् यथाकर्म कर्मानतिक्रम्य विवर्त्तते उच्चावचफलभाग्भवति न च कर्मणैवान्यथासिद्धिरेककारकेण कारकान्तरानुपक्षयादिति भावः। ४। एतद्दूषयति—

नैतद्युक्तमनुग्राह्य-तत्स्वभावत्वमन्तरा।
नाणुः कदाचिदात्मा स्या-देवतानुग्रहादपि ॥ ५ ॥
उभयोस्तत्स्वभावत्व-भेदे च परिणामिनि।
अत्युत्कर्षश्च धर्माणा-मन्यत्रापि प्रसञ्जकः ॥ ६ ॥

एतदीश्वरानुग्रहजन्यत्वं योगस्य न युक्तमनुग्राह्यतत्स्वभावत्वमनुग्राह्यस्वभावत्वमन्तरा विना यत् देवतायाअनुग्रहादपि अणुतरात्मामयत्विनीत्यग्रलक्षणो कदाचिदपि अणुरात्मा न स्यात् स्वभावापरावृत्ते। ५। उभयोरीश्वरात्मनोस्तत्स्वभावत्वभेदे च व्यक्तिकालफलादिभेदेन चित्रितानुग्राह्यानुग्राहकस्वभावभाजनत्वे च परिणामिता स्यात् स्वभावभेदस्यैव परिणामभेदार्थत्वादित्याचार्य सिद्धान्तः। ज्ञानादिधर्माणामप्युत्कर्षेणेश्वरसिद्धिरित्यपि च नास्ति यतो धर्माणामप्युत्कर्षः साध्यमानो ज्ञानादावितरत्राज्ञानादावतिप्रसङ्गकोऽनिष्टसिद्धिरुक्त आयुरपकृष्टज्ञानादिमत्त्वस्येश्वरस्येव तादृशाज्ञानादिमत्तया तत्प्रतिपक्षस्यापि सिद्ध्यापत्तेरित्यं च ज्ञानत्वमुत्कर्षापकर्षाऽऽश्रयवृत्ति उत्कर्षापकर्षाश्रयवृत्तित्वान्महत्त्ववदित्यत्र ज्ञानत्वं न तथा चित्तधर्ममात्रवृत्तित्वादज्ञानत्ववदिति प्रतिरोधो द्रष्टव्यः। प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगौ च यदि तात्त्विकौ तदात्मनोऽपरिणामित्वं न स्यात् तयोर्लिङ्गत्वेन तस्य अन्यधर्मानाश्रयत्वक्षतेः। नो चेत्कथं कारणमीश्वरेच्छा। किञ्च प्रयोजनाभावादपि नेश्वरो जगत् कुरुते। न च परमकारुणिकत्वाद्भूतानुग्रह एवास्य प्रयोजनमिति भोजस्य वचनं साम्प्रतम्। इत्थं हि सर्वस्याप्यमिष्टमेव संपादयेदित्यधिकं शास्त्रवार्त्तासमुच्चयविवरणे।

आर्यं व्यापारमाश्रित्य, तदाज्ञापालनात्मकम्।
युज्यते परमीशस्या-नुग्रहस्तत्र नीतितः ॥ ७ ॥
एवं च प्रणवेनैत-ज्जपात्प्रत्यूहसंक्षयः।
प्रत्यक् चैतन्यलाभश्चे-त्युक्तं युक्तं पतञ्जलेः ॥ ८ ॥
प्रत्यूहा व्याधयः स्त्यानं, प्रमादालस्यविभ्रमाः।
संदेहाविरती भूम्य-लाभश्चाप्यनवस्थितिः ॥ ९ ॥
धातुवैषम्यजो व्याधि-स्थान चाकर्मनिष्ठता।
प्रमादो यत्न आलस्य-मौदासीन्यं च हेतुषु ॥१०॥

आर्यं तत्सामर्थ्यप्राप्तं न तु प्रसह्य तैः व इत्त तदाज्ञापालनात्मकं व्यापारमाश्रित्य परं केवलं तत्र नीतितोऽस्मत्सिद्धान्तनीत्या ईशस्यानुग्रहो युज्यते तदुक्तम्। आर्यं व्यापारमाश्रित्य तत्र दोषोऽपि विद्यत इति ॥ ७ ॥ एवं चार्यव्यापारेणेशानुग्रहभावे च प्रणवेनोङ्कारेणैतस्येश्वरस्य जपात्प्रत्यूहानां विघ्नानां संक्षयः विषयप्रातिकूल्येन स्वकरणाभिमुख्यमञ्चति यत्तत्प्रत्यक् चैतन्यं ज्ञानं तस्य लाभश्चेति पतञ्जलेरुक्तं युक्तं तस्य वाचकः प्रणवस्तज्जपस्तदर्थभावनं ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्चेति सूत्रप्रसिद्धेर्गुणविशेषवतः पुरुषस्य प्रणिधानस्य महाफलत्वात् ॥ ८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया इति ॥ ९ ॥ धातुवैषम्यजो धातुदोषाजनितो व्याधिर्ज्वरातीसारादिः स्थानं चाकर्मनिष्ठतादित एव कर्मप्रारम्भः प्रमादो यत्न आरब्धेऽप्यनुत्थानशीलता आलस्यं च हेतुषु समाधिसाधनेष्वौदासीन्यं माध्यस्थ्यं न तु पक्षपातः १०।

विभ्रमो व्यत्ययज्ञानं, संदेहः स्यान्नवेत्ययम्।
अखेदो विषयावेशा-दवैराग्यविरतिः किल ॥ ११ ॥
भूम्यलाभः समाधीनां, ध्रुवःप्राप्तिः कथंचन।
लाभेऽपि तत्र चित्तस्या-प्रतिष्ठात्वनवस्थितिः ॥ १२ ॥
रजस्तमोमयाद्दोषा-द्विक्षेपाच्चेतसो ह्यमी।
सोपक्रमाजपाद्रासं, यान्ति शक्ति हृतिं परे ॥ १३ ॥
प्रत्यक् चैतन्यमप्यस्मा-दन्तर्ज्योतिः प्रथामयम्।
बहिर्व्यापाररोधेन, जायमानं मतं हि नः ॥ १४ ॥
योगातिशयतश्चायं, स्तोत्रकोटिगुणः स्मृतम्।
योगदृष्ट्या बुधैर्दृष्टो, ध्यानविश्रामभूमिका ॥ १५ ॥

विभ्रमो व्यत्ययज्ञानं रजते रङ्गबुद्धिवदिष्टसाधनेपि योगः इष्टसाधनत्वं निश्चयः सन्देहोयं योगः स्याद्वा नवेत्याकारविषयविशालाक्षेन्द्रियार्थव्याक्षेपलक्षणादखेदोनुपरमलक्षणः किलाविरतिर्भवेत् ११ (भूम्यलाभशती) कुतोपि हेतोः समाधीनां ध्रुवः स्थानस्याप्राप्तिर्भूम्यलाभः लाभेपि समाधिभूमावपि तत्र समाधिभुवि चित्तस्याप्रतिष्ठानिवेशस्त्वनवस्थितिः ॥ १२ ॥ अमी हि रजस्तमोमयाद्दोपाश्चेतसोविक्षेपे एकाग्रताविरोधिनः परिणामाः सोपक्रमा अपवर्तनीयकर्मजानिता' सन्तो जपाद्भगवत्प्रणिधानान्नाशं यान्ति परिनिरुपक्रमाशक्ति हतिदोषानुबन्धशक्तिनङ्गमुत्तयथापि योगप्रतिबन्धसामर्थ्यमेवापगच्छन्तीति भावः ॥ १३ ॥ अस्माद्भगवज्जपाद्बहिर्व्यापाररोधेन शब्दादिबहिरर्थग्रहत्यागेनान्तर्ज्योतिः प्रथाज्ञानादिविशुद्धिविस्तारस्तन्मय प्रत्यक्चैतन्यमपि हि जायमानं मतनोस्माकं तथैव नक्तिश्रद्धाद्यतिशयोपपत्तेः ॥ १४ ॥

योगातिशयतश्चाभ्यन्तरपरिणामोत्कर्षाच्चायं जपः स्तोत्रकोटिगुणः स्मृतश्चिरतनाचार्यैः वाग्योगापेक्षया मनोयोगस्याधिकत्वादत एव मौनविशेषेणैव जपः प्रशस्यते तथा बुधैर्विशारदैर्योगदृष्ट्या योगजप्रातिभज्ञानेन ध्यानस्य विश्रामभूमिका पुनरारोहस्थानं दृष्टः ॥ १५ ॥

ननु यदि यादृश ईश्वरोऽभ्युपगतस्तादृशस्य भवद्भिरनभ्युपगमात्कथमार्थव्यापारेणापि तदनुग्रहसिद्धिरित्याशङ्कायां विषयविशेषपक्षपातेनैव समाधानाभिप्रायवानाह ॥

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैव, देवतातिशयस्य च ।
सेवा सर्वैर्बुधैरिष्टा, कालातीतोऽपि यज्जगौ ॥ १६ ॥

माध्यस्थ्यमनिर्णीतविशेषकलहाभिनिवेशाभावलक्षणमवलम्ब्य देवतातिशयस्य च विशिष्टदेवताख्यस्य च सेवा स्तवनध्यानपूजनादिरूपा सर्वैर्बुधैरिष्टा तन्निमित्तकफलार्थत्वेनाभिमता स्तवनादिक्रियायाः स्वकर्तृकायाः फलदानसमर्थत्वेपि स्तवनीयाद्यालम्बनत्वे ततस्तस्यास्तोत्रादेः फललाभस्य स्तोतव्यादिनिमित्तकत्वव्यवहाराद्यद्यस्मात्कालातीतोपि शास्त्रकृद्विशेषो जगौ । १६ ।

अन्येषामप्ययं मार्गो, मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेन, तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥१७॥
मुक्तो बुद्धोऽर्हन्वापि य-दैश्वर्येण समन्वितः ।
तदीश्वरः स एव स्या-त्संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥१८॥

अन्येषामपि तीर्थान्तरीयाणां किं पुनरस्माकमयमस्मदुक्तो मार्गो देवतादिगोचरो मुक्तादिवादिनामविद्यादिवादिनां च मतेनाभिधानादीनां नामविशेषणादीनां भेदेपि तत्त्वनीत्या परमार्थत एकविषयतया व्यवस्थित' प्रतिष्ठितः ॥१७॥

मुक्तः परमब्रह्मवादिना बुद्धो बौद्धानाम् अर्हन् जैनानां वापीति समुच्चये यद्यस्मादैश्वर्येण ज्ञानाद्यतिशयलक्षणेन समन्वितो युक्तो वर्तते तत्तस्मादीश्वरोऽस्मदुक्तः स एव मुक्तादिः स्यात् संज्ञाभेदो नामनानात्वमत्र मुक्तादिप्रज्ञापनायां केवलम् ॥१८॥

अनादिशुद्ध इत्यादि-र्यो भेदो यस्य कल्प्यते ।
तत्र तन्त्रानुसारेण, मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥ १९ ॥
विशेषस्यापरिज्ञाना-द्युक्तानां जातिवादतः ।
प्रायो विरोधतश्चैव, फलाभेदाच्च भावतः ॥ २० ॥
अविद्या क्लेशकर्मादि, यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत्, संज्ञाभेदमुपागतम् ॥ २१ ॥

अनादिशुद्ध इत्येवरूप आदिर्यस्य स तथा । तत्रानादिशुद्धः सर्वगतश्च शैवानां सोर्हन् सर्वगतश्च जिनानां स एव प्रतिक्षणभङ्गुरः सौगतानां यः पुनर्भेदो विशेषो यस्येश्वरस्य कल्प्यते तस्य तस्य तन्त्रस्य दर्शनस्यानुसारेणानुवृत्त्यामन्ये प्रतिपद्ये सोपि विशेषः किंपुनः प्रागभिहितः संज्ञाभेद इत्यपि शब्दार्थः निरर्थको निष्प्रयोजनः ॥१९॥ विशेषस्य मुक्तादेर्देवताविशेषगतस्यापरिज्ञानादर्वाग्दर्शितप्रत्यक्षेण तथा युक्तानामनुमानरूपाणां जातिवादतोऽसिद्धत्वादिहेतुदोषोपपातेनानुमानाभासत्वात्प्रायो बाहुल्येन विरोधतश्चैव वेदान्तिबौद्धादियुक्तीनामेकेषां हि नित्य एवात्मा प्रपञ्चाधिष्ठातृत्वादपरेषां चार्थक्रियाकारित्वस्य स्वभावभेदनियतत्वेनानित्य एवेति फलस्य क्लेशक्षयलक्षणस्य गुणप्रकर्षविशेषवत्पुरुषाराधनसाध्यस्य क्वचिन्नित्यानित्यत्वादौ विशेषे आराध्यगते सत्यभेदादविशेषाच्च भावतः परमार्थतः गुणप्रकर्षविषयस्य बहुमानस्यैव फलदायकत्वात्तस्य सर्वज्ञमुक्तादावविशेषादिति ॥ २० ॥ अविद्या वेदान्तिनां, क्लेशः सांख्यानां, कर्म जैनानाम्, आदिशब्दाद्वासना सौगतानां पाशः शैवानां यतो यस्माच्चकारो वक्तव्यान्तरसूचनार्थः भवकारणं संसारहेतुस्ततस्तस्मादविद्यादीनां भवकारणत्वाद्धेतोः प्रधानमेवैतदस्मदभ्युपगतं भवकारणं सत्संज्ञाभेदं नामनानात्वमुपागतम् ॥ २१ ॥

अत्रापि परपरिकल्पितविशेषनिराकरणायाह ।

अस्यापि योऽपरो भेद-श्चित्रोपाधिस्तथा तथा ।
गीयतेऽतीतहेतुभ्यो, धीमतां सोऽप्यपार्थकः ॥ २२ ॥

अस्यापि प्रधानस्यापि योऽपरो भवकारणत्वात्सर्वाभ्युपगतादन्यो भेदो विशेषश्चित्रोपाधिर्नानारूपमूर्तत्वामूर्तत्वादिलक्षणस्तथातथा तत्तद्दर्शनभेदेन गीयते वर्ण्यते अतीतहेतुभ्योऽनन्तरमेव विशेषस्यापरिज्ञानादित्यादिश्लोकोक्तेभ्यो धीमतां बुद्धिमतां सोपि किंपुनर्देवतागत इत्यपि शब्दार्थः अपार्थकोऽपगतपरमार्थप्रयोजनः सर्वैरपि भवकारणत्वेन योगापनेयस्याभ्युपगमादन्यस्य विशेषस्य सतोऽप्यकिंचित्करत्वात् ।२२॥

ततोऽस्थानप्रयासोयं, यत्तद्भेदनिरूपणम् ।
सामान्यमनुमानस्य, यतश्च विषयो मतः ॥ २३ ॥

यत एव ततः सतो विशेषस्यापार्थकत्वाद्धेतोरस्थानप्रयासोयं तत्त्वचिन्तकानां यत्तद्भेदस्य देवादिविशेषस्य निरूपणं गवेषणं यतश्चानुमानस्य देवताविशेषादिग्राहकत्वेनाभिमतस्य सामान्यं विषयो मतोऽतोपि सर्वविशेषानुगतस्य तस्याप्रतीतेरस्थानप्रायासोऽयम् इत्थं च भवकारणमात्रज्ञानात्तदपनयनार्थं गुणवत्पुरुषविशेषाराधनं कर्तव्यं विशेषविमर्शस्तु निष्प्रयोजन इति कालातीतमतं व्यवस्थितम् । एतस्मात्साम्याकमपि । विशेषविमर्शाक्षमस्य स्वाग्रहच्छेदाय सामान्ययोगप्रवृत्त्यर्थमनुमतम् अन्यस्य तु निरभिनिवेशस्य शास्त्रानुसारेण विशेषविमर्शोपि भगवद्विशिष्टोपासनारूपतया अकामसकामविशेषबिमर्शोपि ... तत्त्वज्ञानगर्भवैराग्यजीवानुभूतत्वाद्विशिष्टनिर्जराहेतुरिति नेन तत्त्वज्ञानगर्भवैराग्यजीवानुभूतत्वाद्विशिष्टनिर्जराहेतुरिति न सर्वथा तद्वैफल्यमित्यभिप्राय' ॥ २३ ॥

आस्थितं चैतदाचार्य-स्त्याज्ये कुचितिकाग्रहे ।
शास्त्रानुसारिणस्तर्को-त्साम्भेदानुपग्रहात् ॥ २४ ॥

एतच्च कालातीतमतमाचार्यैः श्रीहरिभद्रसूरिभिरास्थितमङ्गीकृतं कुचितिकाग्रहे कौटिल्यावेशे त्याज्ये परिहार्ये कुचितिकात्यागार्थमित्यर्थः । शास्त्रानुसारिणस्तर्कादर्थसिद्धौ सत्याभिति

गम्यं नानेदस्य संज्ञाविशेषस्यानुपग्रहादनभिवेशात्तत्त्वार्थसिद्धौ नाममात्रफ्लेशी हि योगप्रतिपन्थी न तु धर्मवाधेन विशेषविमर्शोपीति भावस्तदिदमुक्तम् । " साधुचैतद्यतो नीत्या, शास्त्रमत्रप्रवर्तकम् । तथाभिधानभेदात्तु-भेदः कुचितिकाग्रहः ॥ विपश्चितां न युक्तोय-मैदम्पर्यप्रियाहिते । यथोक्तास्त्तु पुनश्चारु, दन्तात्रापि निरूप्यताम् ॥ उभयोः परिणामित्व, तथाभ्युपगमाद् ध्रुवम् । अनुग्रहात्प्रवृत्तेश्च, तथाभ्रा भेदतः स्थितम् ॥ आत्मनां तत्स्वभावत्वे, प्रधानस्यापि संस्थिते । ईश्वरस्यापि सन्न्याया-द्विशेषोधिकृतो भवेत् ॥४॥ इति ॥

अथ विशेषविमर्शे शास्त्रतर्कयोर्द्वयोरुपयोगप्रस्थानमाह ।

अस्थानं रूपमन्धस्य, यथा सन्निश्चयं प्रति ।
तथैवातीन्द्रियं वस्तु, छद्मस्थस्यापि तत्त्वतः ॥२५॥

अस्थानमविषयो रूपं नीलकृष्णादिलक्षणमन्धस्य लोचनव्यापारविकलस्य यथा सन्निश्चयं विशदालोचनं प्रत्याश्रित्य तथैवोक्तन्यायेनैवातीन्द्रियं वस्त्वात्मादिविशेषरूपं छद्मस्थस्यार्वाग्दृशः परमार्थतत्त्वतः परमार्थनीत्या ॥ २५ ॥

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं, तत एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोपि स्या-त्तथा चन्द्रोपरागवत् ॥ २६ ॥

हस्तस्पर्शसमं तदन्धप्रवृत्तिहेतुहस्तस्पर्शसदृशं शास्त्रमतीन्द्रियार्थगोचरं तत एव शास्त्रादेव कथञ्चन केनापि प्रकारेणात्र छद्मस्थे प्रमातरि तन्निश्चयोऽप्यतीन्द्रियवस्तुनिर्णयोऽपि स्यात्तथा वर्द्धमानत्वादिविशेषेण चन्द्रोपरागवच्चन्द्रराहुस्पर्शवत् । यथा शास्त्रात्सर्वविशेषानिश्चयेऽपि चन्द्रोपरागः केनापि विशेषेण निश्चीयते एव तथा यदपि अतीन्द्रियं वस्तु तच्छद्मस्थेन निश्चीयत इति भावः ॥ २६ ॥

इत्थं ह्यस्पष्टता शाब्दे, प्रोक्ता तत्र विचारणम् ।
माध्यस्थ्यनीतितो युक्तं, व्यासोपि यद्वदो जगौ ॥ २७ ॥

इत्यमुक्तदृष्टान्तेन हि शाब्दे ज्ञानेऽस्पष्टता प्रोक्ता तत्र स्पष्टे शाब्दज्ञाने माध्यस्थ्यनीतितो विचारणं युक्तं तर्कस्य प्रमाणानुग्राहकत्वादैदम्पर्यशुद्धेस्तस्याश्च स्पष्टताप्रायत्वात् यद्यस्माददो वक्ष्यमाणं व्यासोऽपि जगौ ॥ २७ ॥

आर्षं धर्मोपदेशं च, वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः ॥ २८ ॥
शास्त्रादौ चरणं सम्यक्, स्याद्वादन्यायसंगतम् ।
ईशस्यानुग्रहस्तस्मा-द्दृष्टेष्टार्थाविरोधिनः ॥ २९ ॥
यदातव्यं जिनैः सर्वं-दत्तमेव तदेकदा ।
दर्शनज्ञानचारित्र-मयो मोक्षपथः सताम् ॥ ३० ॥
जिनेभ्यो याचमानेभ्यो, लब्धं धर्ममनाश्रयं ।
त विश्वस्तं विना भाग्य, केन मूल्येन लप्स्यते ॥ ३१ ॥
अनुष्ठानं ततः स्वामि-गुणरागपुरःसरम् ।
परमानन्दतः कार्यं, मन्यमानैरनुग्रहम् । ३२ ।

आर्षमित्यादन्य स्पष्टम् । द्वा० १६ द्वा० । यो० वि० ।

विशेषस्यापरिज्ञानात्, युक्तीनां जातिवादतः ।
प्रायो विरोधतश्चैव, फलाभेदाच्च भावतः ॥

विशेषस्य मुक्तादिदेवताविशेषगतस्याऽर्वाग्ज्ञानाद्संवेदनादर्वाग्दर्शिप्रत्यक्षेण तथा युक्तीनामनुमानरूपाणां जातिवादतोऽसिद्धादिहेतुदोषोपघातेनानुमानाभासत्वात् । प्रायो बाहुल्येन विरोधेति पूर्ववत् । तथाहि साङ्ख्यः शैवश्च सर्वक्षणिकवादिनं सौगतं प्रत्याह । तु यथा भवदाराध्यो बुद्धोऽर्थक्रियां देशनादिकां स्वक्षणे पूर्वं पश्चाद्वा कुर्यादिति त्रयी गतिः । तत्र न तावदाद्यः पक्षः कक्षीकरणीयः समकालभाविनि व्यापाराभावात् । इतरथैकक्षणवर्तिनां समर्थार्थक्षणानामितरेतरकार्यकारणभावः प्रसज्येत । न चैतद्दृष्टमिष्टं वा अथ स्वक्षणात् कार्यकार्यं विधत्ते इति मन्येथा एतदप्यसाधीयो विनष्टस्य कार्यकरणाक्षमत्वात् अन्यथा मृतस्य शिखिनः केकायितं स्यात् । एवं च क्षणिकादर्थाद्धावर्तमानाऽर्थक्रियावीवादशेशकुनिन्यायेन नित्यानेव भावनाश्रयतया प्रतिपद्यते इति नित्यरूपोऽत एवानादिशुद्ध ईश्वरनामा आप्तविशेषोऽभ्युपगन्तुं युक्तोपायित इति । वीरः पुनः आह । ईश्वरोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो भवद्भिरभ्युपगम्यते । नच नित्यस्य कथञ्चिदप्यर्थक्रिया युज्यते । नित्यो ह्यर्थक्रमेण यौगपद्येन वार्थक्रियां कुर्वीत । न तावत्क्रमेण सन्निहितसर्वशक्तेः सहकारिभिश्चानाधेयातिशयस्य युगपदेव त्रैकालिकसर्वकार्यकरणप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन यतस्तत्र युगपदेव सर्वकार्यकरणेन कृतस्य पुनः करणाभावेन च द्वितीयक्षणेऽर्थक्रियाविरहलक्षणं वलाद्मत्यमाढौकमानं न केनापि निरोद्धुं पार्यत इति प्रतिक्षणं परिवर्तमानाऽपरापररूपः सर्वार्थक्रियाऽक्षमोऽभ्युपगन्तुं युक्तोऽसावपीति । फलाभेदाच्च फलस्य क्लेशक्षयणस्य गुणप्रकर्षरूपपुरुषाराधनासाध्यस्य क्वचिन्नित्यानित्यत्वादौ विरोधे आराध्यगते सत्यप्यभेदादविशेषात् । भावतः परमार्थतः गुणप्रकर्षविषयस्य बहुमानस्यैव फलदायकत्वात् तस्य सर्वत्र मुक्तादावविशेषादिति । यो० वि० ।

परतीर्थिकाभिमतेश्वरस्य निराकरणम् ।

नान्वियं त्रिभुवनभवनान्तर्वर्तमानान्तरितानन्तरितपदार्थप्रथा त्वत्तीर्थनाथसूक्तिर्न भवति यतो भूभूधरप्रभृतिपदार्थप्रबन्धविधानद्वारा प्रमथपतेरेवेयमुपपद्यते यदेतदनुमानमत्र प्ररूप्यते न्यायतात्पर्यावबोधप्रधानमनोवृत्तिविद्वद्वृन्देन विवादपदभूतं भूभूधरादिबुद्धिमद्विधेयं यतो निमित्ताधीनात्मलाभं यन्निमित्ताधीनात्मलाभं तद्बुद्धिमद्विधेयं यथा मन्दिरं तथा पुनरेतत्तेन तथा न तावन्निमित्ताधीनात्मलाभत्वं वादिनः प्रतिवादिनो वा प्रतीतं यतो भूभूधरादेरात्मीयात्मीयनिमित्तसमवातनिर्वर्तनीयता भुवनभाविभवभृत्प्रतीतैव । नापि दोलायमानवेदनानिमित्तं मतिमन्निवर्तनीयतराम्बरादिपदार्थतोऽत्यन्तव्यावृत्तत्वेन । नापि विरुद्धतावरोधद्धुरम्बरादितोऽत्यन्तव्यावृत्तत्वेनैव नापि तुरीयव्याप्यामता प्रतिबद्धमिन्द्रियवेदनेनानुमाननाम्ना राद्धान्ताभिधानेन वा मानेनाबाधिताभिप्रेतधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वेन । नापि प्रत्यनुमानापमानतानिबन्धनमेतत्पारिपन्थिधर्मोपपादनप्रत्यलानुमानाभावेन । ननु भवतीदं तावदनुमानं परिपन्थिधर्मोपपादनप्रत्यलम् । यथा भूभूधरादिर्विधाता न भवति वपुर्वन्ध्यत्वेन निर्वृत्यात्मवत् तदनवदातं यतोऽत्र त्रिनेत्ररूपो धर्मी धर्मधनेन प्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नो वा प्ररूपितः । न तावदप्रतिपन्नो यत्तदवमाधारद्वारा प्रतीतत्वोपपन्नो वपुर्वन्ध्यमाख्याप्योपनिपाता भवननिरोद्धुं न पार्यते । यदि पुनः प्रतिपन्नोयं धर्मी तदा येन मानेन प्रतिपत्तिर्मन्मथप्रत्यर्थिनोऽभिधीयते तेन तस्यादिविधानव्युत्पन्नमतेरेवेयमिति तत्रोपाधीगमाना वपुर्वन्ध्यता वाधितवत्मैवेति न नाम प्रव-

र्तितुं पर्याप्नोति। तदेवं निमित्ताधीनात्मलाभताव्याप्यमत्यन्तपूतरूप पर्वतादेर्धीमद्धेतुताप्रतिपादनावदातमेवेति तत्राभिधीयते यदिदं तावन्निमित्ताधीनात्मलाभत्वं व्याप्यमालपितं तद्द्रव्यद्वारा पर्यायद्वारा वेति भेदोऽन्त्यौ। यद्याद्यः पन्थाः प्रथ्यते तदानीमप्रतीतिर्नाम व्याप्योपतापः। यतो द्रव्यरूपतया पृथ्वीपर्वतादेर्नित्यत्वमेव प्रतिवादिनाऽभ्युपेयते। ननु भूभूधराद्यमुत्पादवदवयवित्वेन यदेव तदेव यथेन्दीवरमवयविरूपं पुनरिदं तदुत्पादं वेत्यनुमानेन तन्नित्यता निर्मूलोन्मूलितैवेति नैतद्धीमद्धेतुविधानप्रधानं यतो भूभूधरादेरवयवित्वमवयवारब्धत्वेन। यद्यवयवव्रातवर्तमानतया मन्यते न प्रथमविधा विबुधावधानधाम यतो न नामैतत्पृथ्वीपृथ्वीधरप्रभृतिद्रव्यमभूतपूर्वमवयववृन्देन निर्वर्तितमिति प्रतिवादिनः प्रतीतिर्विद्यते। यदि पुनरवयववृत्तिभेदोऽभिधीयते तदानीमवयवत्वेन दोलायमानमतेः। यतोऽवयवोऽयमवयवोऽयमितीत्थं बुद्धिर्यथामवयवत्वमवयवितानवृत्ति भवति न पुनरुत्पादपराधीनं नित्यत्वेन। ननु नार्योऽनेन दुर्भेदप्रतिपादनेन प्रतीतोऽयमवयवी तावद्वादिविततेरविवादेन पद्मपत्रपात्रशालादिरिति न नाम न प्रतीतोऽपि त्वात्मापि तथा नियमेन प्रतीतो वर्तते न पुनरुत्पादवानित्यनुमेयतत्तुल्यताद्विरुद्धवृत्तितोपद्रवः। यदि तु पर्यायद्वारा निमित्ताधीनात्मलाभत्वं भूभूधरादेरभिधीयते तदा नरामरादिपर्यायद्वारोत्पद्यमानात्मनोऽपि बुद्धिमदुत्पाद्यत्वमापद्यते। ननु नरामराद्युत्पादनप्रत्यलधर्माधर्मोत्पाद्यानुभवायतनभूता तथाविधा तनुरेवोत्पद्यते न पुनरात्मा लघमात्रतोऽप्यनादिनिधनत्वेन यदि पुनरात्माप्युत्पत्तिविपत्तिधर्मा भवति तदानीं भूतमात्रतत्त्ववादिमतापत्तिरात्मनः पूर्वोत्तरभवानुयायिनो भेदिनोऽनभ्युपेतत्वेनेति, तन्न बन्धुरं यतो यद्यात्मनोऽभिन्नरूपतैवावेद्यते तदान्यतरनरामरादिभववर्त्यैवायमपरिमेयानुभवनीयतत्तद्भवपर्यायप्रबन्धानुभवनेन द्वितीयादिभवानुभवावासभावितुमुपपद्यते, वेद्यते त्वनेनैव भवपर्यायपरम्परेति। तद्रूपतयाऽयमुत्पत्तिमानिति नियम्यते। नाप्येवं भूतमात्रतत्त्ववादितापत्तिरात्मनो द्रव्यरूपतया नित्यताभ्युपायेन पूर्वोत्तरभवप्रतीतितः। तन्मतेन तु न नाम द्रव्यतया नित्यं वेदनं वर्तते यतो भूतधर्मतयानेन प्रतिपादितमेतत्। तथैतदनुमानधर्मीन्द्रियोद्भूतबोधेनाऽर्हतो बाध्यते रूपध्वनिरपि नयनोत्थप्रथाप्रत्येयमित्यादिवत्। यतोऽत्र दोलायमानविधानतत्परनरव्यापारः पृथ्वीपृथ्वीधराभ्रतरुपुरन्दरधनुरादिर्भावव्रातो धर्मी प्ररूपितः। तत्र त्वभ्रतरुविद्युदादेरिदानीमप्युत्पद्यमानतया वेद्यमानतनोर्विधातानोपलभ्यते। ननु भवत्येव बाधेयं यद्येतद्विधानावधानप्रधानः पुमानिन्द्रियप्रभवप्रमालम्बनीभूतोऽभ्युपेतो भवति यावताऽतीन्द्रियोऽयमिति नायमुपद्रवः प्रभवति तदनभिधानीयम्। यतो व्याप्तिप्रतिपादनप्रत्यक्षं मानमत्रेन्द्रियद्वारोद्भूतं वेदनं तवाभिमतम्। धूमानुमानवत्, धूमानुमितेरपि न पारावारोर्वीदर्यतनूनपात्तदितरतनूनपात्तुल्यत्वेन व्याप्तिप्रतीतीन्द्रियोद्भववेदनवेद्यभावालम्बनेनैवानेनानुमानेन भवितव्यमन्यथा तु तेन व्याप्तिप्रतीतिर्दुरुपपादैव। ततोऽपि तत्र व्याप्त्यनालम्बनीभूतेन तेन बुद्धिमन्निमित्तेनानुमेयतापि नाद्रियते। तथात्वेन प्रतिपादितत्वे तत्तदतीन्द्रियबोधावबोध्यतया नियमेनाभ्युपेतव्यम् यदि तु तथाभ्युपेयते तदा नैतन्निमित्तं तरुविद्युदादेरुपलभ्यते। ततोऽनेन वेदनेनात्र बाधो भवत्येव। ननु धूमान प्रत्यारण्य तनूनपातोऽप्येवमनेन वेदनेन बाधो भवति यतो न तत्रापि विधीयमानानुमानेन प्रमात्रा तनूनपादिन्द्रियवेदनेन वेद्यते। नवमनोरमं यतोऽत्रानुमातुर्व्यवधिर्विद्यते व्यवधिमान् पुनः पदार्थो नेन्द्रियालम्बनीभवतीति तदनालम्बनीभूतः पर्वततनूनपान्न तेन बाधितुं पार्यते। यदा पुनः प्रमाता तत्र प्रवृत्तो भवति तदानीमव्यवधानवानयं तनूनपात्तेनोपलभ्यते। तरुविद्युदभ्रादिबुद्धिमन्निमित्तं तु तत्र प्रवर्तमानेनापि नितरामवधानवतापि नोपलभ्यते ततो भवति तत्रेन्द्रियोद्भवबोधबाधेति। ततोऽपि तथाविधधर्म्यनन्तरनिमित्ताधीनात्मलाभत्वरूपव्याप्यप्रतिपादनेन त्वन्मतेन तुरीयव्याप्यामत्योपनिपातः। मन्मतेन त्वन्तर्व्याप्तिरभावेनानियतप्रतिपत्तिनिमित्तताऽत्र व्याप्यपराभूतिः तथैव निमित्ताधीनात्मलाभत्वम्। यदि तन्मात्रमेव व्याप्यत्वेन प्रतिपाद्यते तदानभिप्रेतपदार्थप्रतीतिनिर्वर्तनपर्याप्तमनुपलब्धपूर्वोत्पत्तिव्यापारेन्द्रमूर्धा मर्त्यपूर्वत्वप्रतीत्योपात्तमृन्मयत्ववत्। न नाम निपेन्द्रमूर्ध्नो मृन्मयत्वमपि विद्यते। ननु यद्यपि मृन्मयत्वं तुल्यमेवोभयत्रापि तथापि नेन्द्रमूर्ध्न्यां मानवपूर्वत्वेन प्रतीतो विद्यते। ततो विवादपदापन्नोऽप्ययं तत्तुल्यत्वेन न मर्त्यनिर्वर्त्यो भवति तन्नावदात यतोऽत्रापि न भूभूधरभुवनादि प्राय पदार्थोऽन्यो बुद्धिमन्निमित्तोपेतः परिज्ञातो वर्तते। ततो विवादपद्धतिप्रतिपन्नोऽप्ययं न तथा भवितुं लभते। ननु निपादिर्विद्यते बुद्धिमन्निमित्तोपेतः परिज्ञायिनोऽतो विवादापन्नोऽपि तथाऽनुमातुमनुरूपः। तदवद्यं यतोऽन्यत्रापि निपादिरेवमानवनिर्वर्त्यो विभाति वो विद्यते। ततः पुरन्दरमूर्धापि तन्निर्वर्त्येन नितरां भवितव्यम्। ननु नरनिर्मितनिपादितः पुरन्दरमूर्ध्नो वैरूप्यमुपलभ्यते ततो न तत्र मर्त्यनिर्वर्त्यतानुमानमुपपन्नं यद्येवं तदानीमेतद्वैरूप्यं निपादितो भूभूधरभुवनादेरपि परिज्ञायते यतो निपादिनाऽनुपलब्धबुद्धिमद्व्यापारात्मनाप्युपलब्धेन नियमतो निर्वर्तितोऽयं मतिमतेति बुद्धिरुत्पाद्यते, न पुनर्भुवनादिना। ततो न निमित्ताधीनात्मलाभत्वमात्रं बुद्धिमद्धेतुत्वप्रतीतिविधानबन्धुरं यदा तु धरित्रीधरित्रीधरत्रिभुवनादिविधानं न प्रतीतं तदानीं त्रिनयनो भुवनभवनान्तर्भावि भावव्रातप्रद्योतनप्रबलवेदनप्रदीपवानिति निर्धनदानमनोरथप्रथैवेयमित्यादिवचनद्वयेन स्यादिकवचनत्रयेण वर्णैस्तु त्रिभिरधिकैर्दशभिरयं व्यधायि शिवसिद्धिविध्वंसः इति+न्ते, सि, टा, ङस्, इत्यत्या एव विभक्तयः तथव धन, पवभम यरलव. एते पवाभवर्णाः। १ रत्ना०। (जिनानामीश्वरत्वं जिनमहत्त्वद्वात्रिंशिकायामपि सा च ' जिण ' शब्दे)

आढ्ये, वाच०। प्रभौ, । दशा० ९ अ० । सम० । दर्श० । ग्रामनगरादिनायके, तं० । ईश ऐश्वर्ये ऐश्वर्येण युक्तः ईश्वरः ग्रामभोगिकादिके, अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्ते च । जी० ३ प्रति० नि० चू० । "ईसर भोइय माई" ईश्वरो भोगिकादिर्ग्रामस्वामिप्रभृतिक उच्यते, सू० ६ उ० । पञ्चा० । नियुक्ते, आचा० । युवराजादिके, भ० ९ श० ३३ उ० ॥ राज० । माण्डलिके, अमात्ये च । ईश्वरो युवराजो माण्डलिकोऽमात्यो वेति । अनु० । स्था० । ईश्वरा युवराजस्तदन्ये च महर्द्धिका इति । भ० २ श० १ उ० । ऐश्वर्यान्वितस्त्रियां टाप्० । प्रभवादिमध्ये एकादशे वत्सरे च ॥ तत्फलम् । सुभिक्षं क्षेममारोग्यं, कार्पासस्य महर्घता । लवणं मधुगव्यं च, ईश्वरे दुर्लभप्रिये । वाच० । स्वनामख्याते भूतवादिव्यन्तरविशेषनिकायेन्द्रे, स्था० २ ठा० । स्वनामख्याते जम्बूद्वीपस्य बाह्यवेदिकाया उत्तरदिशि स्थिते स्वनामख्याते महापातालकलशे । स्था० ४ ठा० । (तद्वक्तव्यता 'महापाताल' शब्दे) मेरोरुत्तरस्यां दिशि वर्तमाने स्वनामख्याते महापातालकलशे च । जी० ३ प्रति० । (तद्वक्तव्यता 'महापातालकलस' शब्दे)

(राजपुरीनगरस्थे स्वनामख्याते नृपे, तत्कथा कुकुमेस्सर-शब्दे) स्वनामख्याते मुनिवरे च, स चागीतार्थदोषेण दुःख-मवाप्य गोशालको जातस्तथा च महानिशीथे ।

से जयवं णो वि याणाहिं, ईसरो कोवि मुणिवरो ।
किंवा अगियत्थ दोसेणं, पत्तं तेणं कहाहिणो ॥
चउवीसिगाए अन्नेवि, एत्थ जरहम्मि गोयमा ।
पढमे तित्थंकरे जइया, विहीपुब्वेण निव्वुडे ॥
तइया निव्वाणमहिमा ए-गंतरूवे सुरासुरे ।
निवयते उप्पयंते, दहुय एवं तवासिओ ॥
अहो अच्छेरयं अज्ज-मन्नोयम्मि य पच्छिमो ।
ण इंदजालसुमिणं वा, विदिट्ठे कत्थइ पुणो ॥
एवं विविहापोहाए, पुव्विं जाइं सरित्तुमो ।
मोहं गनूण खणमेक्कं, मारुयासासिओ पुणो ॥
थरथरस्स य कंपंतो निंदिउं गरहिउं चिरं ।
अत्तारं गोयमा ! धणियं, सामत्तं गहिय मुज्झओ ॥
अह पंचमुट्ठिय लोयं, जा वा ढवइ महायसो ॥
से विणयं देवया तस्स. रयहरणं ताव ढोयई ।
उग्गं कंउ तवच्चरणं, तस्स दहूण ईसरो ॥
लोओ पूयकरेमाणा, जाव उ गतूण पुच्छइ ।
कंणं तं दिक्खिओ कत्थ, उप्पन्ने को कुले तव ॥
सुत्तत्थं कस्स वा मूले, साइसयं हेसमज्झिय ।
सो पचरागतुढे जाव, सव्व तस्स वियागरे ॥
जाङ्कुलं दिक्खा सुत्तं, अत्थं जह य समज्झियं ।
तं सोऊण अहन्नो सो, इम चिंतेइ गोयमा ॥
अलिया अणारिओ एस, लोगट्ठे तेण परिसुसे ।
ता जारिसमे सजागेइ, तारिस मो वि जिणवरो ॥
ण किंचेत्थ वियारेणं, सुम्हिहकेई वरं ठिए ।
अहवा णाहिहि मो जयवं, देवदाणवपणमिओ ॥
मणासायं पि जं मज्झं, त पि छिन्दिज्ज संसयं ।
तम्ह म जो हो उ सो होउ, किं वियारेण एत्थ मे ॥
अन्निणंदामीह पव्वज्जं, सव्वदोसविमोक्खणिं ।
ना पत्थिओ जिणंदस्स, सया से जातणक्खई ॥
जुरगंम जिणवरं, तो खि गणहरमाणियं ।
ठिओ परिनिव्वुयम्मि, जगवंते धम्मतित्थयरे ॥
जिणाजिह्नियं सुत्तत्थं, गणहरो जाय रूवई ।
तावमासारगं पय, वक्खाणम्मि ममागयं ॥
पुढवीकाइगम एगो, वावा एगो असंजओ ।
ता ईसरो वि चिंत, सुहुमे पुढविकाइए ॥
सव्वत्थउद्दविज्जंति, को नाम रक्खिउं तरे ।
दुई करेइ अत्ताणं, पत्थ एस महायसो ॥
असद्देयं जणं मयन्ने, किमट्टयपच्चदस्सइ ।
अचंतकमयभं एवं, वक्खाणं तस्स वीफुसं ॥
कंठं सोसोयरं हाजे, एरिसं कोणुचिट्ठए ।
ता एयं विप्पएजूणं, सामग्गं किंचिमज्झिमं ॥
जं वा तं वा कहे धम्मं, ताओलन्हाण लहइ ।
अह वा हाहा अहं मूढो, पावकम्मा णराहमो ॥
णवरं जइ णाणुचिट्ठामि, अन्नो न चिट्ठती जणे ।
जेणायमणंतनाणीहिं, सव्वन्नूहिं पवेदियं ॥
जो एहिं अन्नहा वाए, तस्स आट्ठो ण वज्जई ।
ताइमेयस्स पच्छित्तं, घोरमइदुक्करं चिरं ॥
लहुं सिग्घसुसिग्घयरं, जाव मत्थूण मे न्नवे ।
आसायणाकयं पावं, आसंजेण विहुव्वती ॥
दिव्वं वाससयं पुन्नं, अह सो पच्छित्तमणुचरे ।
तं तारिसं महाघोरं, पायच्छित्तं सयं मई ॥
काउं पच्छियबुच्छस्स, सया मे पुण वीगओ ।
तत्थावि जा सुणेवक्खा, ता वहिगारामिमागयं ॥
पुढवादीणं समारंभं, साहू तिविहेण वज्जए ।
दढमूढो हुओ जोई, ताईसरो मुकमूलओ ॥
विंवं तेरं जहिच्छजए, को ण ताईसमारभे ।
पुढवीए नावए सेव, समासीणो विचिट्ठई ॥
अग्गीए रद्धयक्खाइ, असणखाइमसाइम ।
अन्नं व विणा पाणेणं, खणमेकं जीवए कहं ॥
ता किं पि तं पत्थयक्खेज्ज, संपवुयमच्छंतियं ।
इमस्सेव समागच्छे, ण उ णायं कोइ सद्दहे ।
ता चिट्ठंतु ताव एसेत्थं, वरं सो चेव गणहरो ।
अहवा एसो उणमज्झ, एकोवि जणियंकरे ।
अलिया एवंविहं धम्म, किंचुदेसे य तं पिओ ॥
साहिज्जइ जो स वि किंचि, ण तु सामच्चंतकमयमं ॥
अहवा चिट्ठंतु तावेव, अहयं सयमेव वागर ॥
सुहं सुहेण जं धम्मं, सव्वोवि अणुट्ठए जणो ॥
न कालं कमयमस्सज्ज, धम्मस्सिति जा विचिंतइ ॥
घरं मितो सणीताव, निवाडिउ तस्सोवरि ।
गोयम ! निहणं गओ ताहे, उववन्ना सचमा एसो
सासण सुयनाणसंसग्ग, पीरूणीयत्ताइ ईसरो ।
तत्थं तं दारुणं दुक्खं, नरए अणुनविउ चिरं ॥
इहागओ समुद्दम्मि, महामच्छो न्नवे उण ।
पुणोवि सत्तमाएय, तित्तीसं सागरोवमे ॥
दुन्निमहं दारुणं दुक्खं, अणुचिट्ठिऊण इहागओ ।
तिरियपक्खीसु उववन्नो. कागत्ताए स ईसरो ॥
तओ वि पढमियं गतु. उवट्टित्ता इहागओ ।
दुट्ठमाणो जवेत्ताण. पुणरवि पढमियं गओ ॥
उव्वट्टित्ता तओ इहई. खरो होइं पुणो मओ ।

उववण्णा रासहत्ताए, उब्भवगहणे निरंतरं ॥
ताहे माणुस्स जाईए, एसिमुप्पन्नो मन्नो ।
उववन्नो वयणरत्ताए, माणुसत्तसमागओ ॥
तओ वि मरिउ समुप्पन्नो, मज्जारत्ता स ईसरो ।
पुणो वि नरयं गंतु (इह,)सीहत्तेण पुणोमओ ॥
उववज्जियं चउत्थीए, सीहत्तेण पुणोविहं ।
मरिऊणं चउत्थीए, गंतुं इह समागओ ॥
तओ वि नरयं गंतुं, चक्कियत्तेण ईसरो ।
तओ वि कुट्ठिहोऊणं, बहुदुक्खदिओ मओ ॥
किमिएहिं खज्जमाणस्स, पन्नासं सहिवच्छरे ।
जा काम निज्जरा जाया, तीए देवेसु वज्जिओ ॥
तओ इहईनरिस्सत्तं, लध्दूणं सत्तमिं गओ ।
एवं नरगतिरिच्छेसु, कुच्छिय मणुएसु ईसरो ॥
गोयम ! सुइपरिब्भमिउं, घोरदुक्खसुदुक्खिओ ।
संपइ गोसालओ जाओ, एससउ वीसरज्जिओ ॥
तम्हा एहि वियाणित्ता, अविरागीयत्थेगुणी ।
भवेज्जा विदियपरमत्थे, सारासारपरत्तुए । इति ॥

महा० ६ अ० ॥ स्वनामख्यातेऽभिनन्दनजिनस्य यक्षे च । तथा च प्रवचनसारे श्रीअभिनन्दनस्येश्वरो यक्षः श्यामकान्तिर्गजवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणकरकमलद्वयो नकुलाङ्कुशान्वितो वामपाणिद्वयश्चेति । प्रव० २७द्वा० ।

इस्स (ईस) रकम–ईश्वरकृत–त्रि० ईश्वरविरचिते, "ईसरेण कडेलोए" । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । (जगत ईश्वर कृतत्वनिराकरणम् 'इस्सर' शब्दे–)

इस्स (ईस) रकडवाइ [न्] –ईश्वरकृतवादिन्–पुं० जगदीश्वरकृतत्ववादिनि वादिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० (तन्मतनिराकरणमिस्सरशब्दे)

इस्स (ईस) रकारग–ईश्वरकारक–पु० जगदीश्वरकृतत्ववादिनि वादिविशेषे,– सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । (तन्मत निराकरण 'मिस्सर'शब्दे) ॥

इस्स (इसर) रवाई (न्) ईश्वरवादिन्–पु० । ईश्वरस्य जगत्कारणतद्वादिनि प्रवादिविशेषे; सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । तन्मतमाचाराङ्गे दर्शितम्–तद्यथा वैशेषिकास्तनुभुवनकरणादिकमीश्वरकर्तृकमिति प्रतिपन्नास्तदुक्तम् "अन्यो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा स्वभ्रमेव वे" त्यादिक प्रवादमात्मीयप्रवादेन पर्यालोचयेत्तथा इन्द्रधनुरादीनां विश्रसापरिणामलब्धात्मलाभानां तदतिरिक्तेश्वरादिकारणपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गः स्यात्तथा घटपटादीनां दण्डचक्रचीवरसलिलकुलालतुरीवेमसलाकाकुविन्दादिव्यापारानन्तरावाप्तात्मलाभानां तदनुपलब्धव्यापारेश्वरस्य करणपरिकल्पनायां रासभादेरपि किं न स्यात्तनुकरणादीनामप्यवन्ध्य स्वकृतकर्मोपादित वैचित्र्यं कर्मणोऽनुपलब्धेः कुत एतदिह चेत्समानः पर्यनुयोगोऽपि च तुल्ये मातापित्रादिके कारणे अपत्यवैचित्र्यदर्शनात्तदधिकेन निमित्तेन भाव्यं तच्चेश्वराभ्युपगमेऽप्यदृष्टमेवेति द्रष्टव्यं नान्यथा सुखदुःखसुभगदुर्भगादिजगद्वैचित्र्यं स्यादिति । आचा० १ श्रु० । अ० ।

(विस्तरेणैतन्मतनिराकरणमिस्सरशब्दे)

इस्स (ईस) रविभूइ–ईश्वरविभूति–स्त्री० ६ तत्पुरुष० ईश्वरस्य विभूतौ, नृपे च । वाच० ।

इस्स (ईस) रसरिस–ईश्वरसदृश–त्रि० ईश्वरस्थानीये, (ईसरसरिसो गुरु) ईश्वरसदृश ईश्वरस्थानीय इति । व्य० १ उ० । वाच० ॥

इस्स (ईस) रिय (या)मय–ऐश्वर्यमद–पुं० ऐश्वर्येण मदः ऐश्वर्यमदः । मदस्थानभेदे,–स्था० ८ ठा० । सम० । प्रश्न० ।

इस्स (ईस) रिय (म) सिद्ध–ऐश्वर्यसिद्धि–स्त्री० ईश्वरत्वसिद्धौ,–साचाष्टगुणा तद्यथा–"अणिमा लघिमा गरिमा प्राकाम्यमीशित्व वशित्वं प्रतिघातित्व यत्र कामावसायित्वम् इति– । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

इस्स (ईस) रीकय–ईश्वरीकृत– त्रि० अनीश्वरे–ईश्वरीकृते, (ईसरेण अहुवा गामेण अणिस्सरे ईसरीकए) ईश्वरेण प्रभुणा अथवा ग्रामेण जनसमूहेनानीश्वर ईश्वरीकृत इति । सम० २९ स० । दशा० ।

इस्सास-इष्वास-पु० इषवोऽस्यन्तेऽनेन । असु क्षेपे करणे घञ् षष्ठीतत्पु० । धनुषि, शरक्षेपके, त्रि० (तीरन्दाज) मेदि० । वाच० ।

इह–इह–अव्य० "इदम इमः ८ । ३ । ७२ । इति प्राकृतसूत्रेणेदम इमादेशः । ङेर्मे न हः ८ । ३ । ७५ । इति प्राकृतसूत्रेण इदमः कृते मादेशात्परस्य ङे स्थाने मेन सह ह आदेशो वा । प्रा० । ङे स्सिम्मित्था ८ । ३ । ५९ । इति प्राकृतसूत्रेण त्थादेशः प्राप्तः 'नत्थः' ८ । ३ । ७६ । इति प्राकृतसूत्रेण निषिद्धः । इह इयस्सि इमम्मि । प्रा० । अस्मिन्काले देशे दिशि वा इत्यर्थे, तद खिन्नमिहभूत भूतगत्या जगत्या । नैष० । अनुभूयमाने लोके च । वाच० । (इह सावसेसकम्मा) इह तिर्यग्लोके विभूता सावशेषकर्माणः । "ज वि य इह माणुसत्तण आगया" येऽपि चेह मर्त्यलोके मनुष्यत्वमागता इति । "अबुहा इह हिंसति तसे पाणे" इह जीवलोके हिंसन्ति घ्नन्ति त्रसान् प्राणान् । प्रश्न० १ द्वा० । "इह खलु छज्जीवणिकायाणामज्झयण" इहेति लोके प्रवचने वेति । दश० ४ अ० । "इह वा भवे अभेसु वा भवग्गहणेसु" (इह विचि) बिन्दुलोपात् इह वास्मिन् वाऽनुभूयमाने भवे मनुष्यजन्मनीति । पा० । इह खलु अणादिजीवे इहलोक इति– प० सू० । जेणेह णिव्वहे भिक्खू इहास्मिन् लोके इति– सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । 'इहेव माणुस्सए भवे' इहैव प्रत्यक्षे मानुष्यके भवे इति । स्था० ८ ठा० । 'के वा इओ चुओ इहपेच्चा भविस्सामि' कोवादेवादिरितो मनुष्यादेर्जन्मनश्च्युतो विनष्ट इह संसारे प्रेत्य जन्मान्तरे भविष्याम्युत्पत्स्यामीति– । वाक्योपन्यासे, " इह खलु पाईणं वा पडीण वा दाहिण वा उदीण वा " इहेति वाक्योपन्यासे प्रज्ञापकक्षेत्रे वेति । आ० चा० १ श्रु० १ अ० ।

इहगय–इहगत– त्रि० इह व्यवस्थिते, " से भंते किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ " इह पृच्छको गौतमस्तदपेक्षया इहशब्दवाच्यो मनुष्यलोकस्ततश्च इह गतान् नरकलोकव्यवस्थितानिति । भ० ७ श० । उ० ।

इहत्थ–इहार्थ– त्रि० इहैव जन्मन्यर्थप्रयोजनभोगसुखादिर्यस्य स । भोगपुरुषे, । स्था० ४ ठा० ।

इहस्थ–त्रि० इहैव जन्मन्यास्था वा इदमेव साध्विति बुद्धि-

र्यस्य स इहास्थ.। भोगपुरुषे, इह लोकपरिवर्त्ते च। स्था० ४ ठा०

इहत्थ-इहैव विवक्षिते ग्रामादौ तिष्ठतीति इहस्थस्तत्प्रतिबन्धात् । विवक्षिते ग्रामादौ प्रतिबद्धे,-स्था० ४ ठा० ।

इहपरलोयविरुद्ध-इहपरलोकविरुद्ध- त्रि० इह लोकविरुद्धे निन्दादिके, परलोकविरुद्धे खर कर्मादिके, इहलोकपरलोकविरुद्धे गर्दभादिके च । ध० र० । इह लोके विरुद्धकारिणो वधबन्धादयो दोषा. परलोके च नरकगमनादय इति । तथाचाह-

इह परलोयविरुद्धं, न सेवए दाणविणयसीलड्ढो ।
लोयप्पिओ जणाणं, जणेइ धम्मम्मि बहुमाणं ॥

इह लोकविरुद्ध परनिन्दादि यदुक्त । "सव्वस्स चेव निंदा विसेसओ तहय गुणसमिद्धाणं । उज्जुधम्म करण हसण रीढा जण पूयणिज्जाण " । १ । बहुजण विरुद्धसंगो, देसादाचार लघणं तह य । उब्भण भोगो य तहा दाणाइवियम मन्नेसिं ।२। साहु वसणम्मि तो सो सइसामत्थम्मि अपडियारो य । एमाइयाइ इत्थ लोगविरुद्धाइ नेयाणित्ति " । ३ । परलोकविरुद्ध खरकर्मादि तद्यथा । "बहुधा खरकर्मित्व सीरपतित्व च शुक्लपालत्वम् । विरतिं विनापि सुकृती करोति नैवप्रकारा श्रम्" । उभयलोकविरुद्ध द्यूतादि । तद्यथा॥ "द्यूत च १मांस च २ सुरा च ३ वेश्या ४ पापर्द्धि ५ चौर्य ६ परदारसेवा ७ । एतानि सप्त व्यसनानि लोके-पापाधिके पुंसि सदा भवन्ति ॥ इहैव निन्द्य ते शिष्टै-र्व्यसनासक्तमानस. । मृतस्तु दुर्गतिं याति, गतत्राणो नराधम ' इति । ध० र० ।

इहपरलोयावाय-इहपरलोकापाय- पु० ऐहिकामुष्मिकविरोधिनि-तथाचावश्यके-

रागद्दोसकसाया, सवाइ किरियासु वट्टमाणाणं ।
इहपरलोगावाए, झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ॥

रागद्वेषकषायाश्रवादिक्रियासु वर्तमानानामिह परलोकापायान्ध्यायेत् । यथा रागादिरैहिकामुष्मिकविरोधिनी । उक्तञ्च "रागसपद्यमानोपि, दु खदो दुष्टगोचर' । महाव्याध्यभिभूतस्य, अपथ्यान्नाभिलाषवत् । १ । द्वेष. सपद्यमानोऽपि, तापयत्येव देहिनम् । कोटरस्थोज्वलन्नाशु, दावानल इव द्रुमम् ।२। दृष्टा तद्भेदभिन्नस्य, रागस्यामुष्मिक फलम् । दीर्घ. संसार एवोक्तः, सर्वज्ञै. सर्वदर्शिभि रित्यादि ।३। दोसाऽनलसतत्तो, इहलोगे चेव दुक्खिओ जीवो । परलोगम्मि य पावो, पावपनियानल्ल तत्तो ॥ ४ ॥ इत्यादि- तथा-कषायप्राया क्रोधादयस्तदपाया' पुन' । " कोहो पीइं विणासेइ माणो विणयनासणो । माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ५ कोहा य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एए कसिणो कसाया, सिंचति मूलाइँ पुणब्भवस्स" । ६ । तथा आश्रवा' कर्मबन्धहेतवो मिथ्यात्वादयस्तदपाया' पुन' । मिच्छत्तमोहियमती, जीवो इह लोग एव दु खाइ । निरसोवमाइयादो, पावति य समाइगुणहीणे । ७ । "अज्ञान खलु कष्ट क्रोधादिभ्योपि सर्वदोषेभ्य' । अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतो लोक' । ८ । जीवा पावतिएह पाणवधादविरतियपावेए । नियसु य घायणमादी, दोसे जणगरहि पावे । ९ । परलोगम्मिवि एव, आसव किरियाहि अज्जिए कम्मे । जीवाणचिरगवायणि-रयादिगतिगमताण १०इत्यादि- आदिशब्द स्वगतानेकभेदज्ञापक प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्ध भेदग्राहक इत्यन्ये । क्रियासु कायिक्यादिभेदा पञ्चएता. पुनरुक्तत्र सक्षेपेण वक्ष्याम । विपाकः पुनः " किरियासु वट्टमाण,काइगमाईसु दुक्खिया जीवा । इहचेव यपरलोगे ससारपवड्डगा भणिया"ततश्चैव रागादिक्रियासु वर्तमानानामपायान्ध्यायेत् । किं विशिष्टः सन्नित्याह । वर्ज्यपरिवर्जी तत्र वर्जनीय वर्ज्यमकृत्यं परिगृह्यते तत्परिवर्जी अप्रमत्त इति गाथार्थः । आव० ४ अ० ।

इहभव-इहभव- पुं० अत्र भवे,-दशा० १ अ० ।

इहभवेएगेभवे तस्स विप्पनासासि सव्वनासोत्ति एवं जप्पंति मुसावायी ।

इह भवे एव प्रत्यक्षजन्मैव एको भव एकं जन्म नान्यः परलोकोऽस्तिप्रमाणाविषयत्वात् तस्य शरीरस्य विविधैः प्रकारैः प्रकृष्टो नाश प्रणाशस्तस्मिन् सति सर्वनाश इति नात्मा शुभाशुभरूप वा कर्मावितष्टमवशिष्यते । एतमेवोक्तप्रकारेण (जपति) जल्पन्ति मृषावादिन. मृषावादिना चैषां जातिस्मरणादिना जीवपरलोकसिद्धेरिति । प्रश्न २ द्वा० । (परलोकसिद्धेर्बहुवक्तव्यता परलोगशब्दे) यो यादृगिह भवे परत्र भवे स तादृशोऽन्यादृशो वेति निर्णीत यथा. अणते निइए लोए । नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्त' न निरन्वयनाशेन नश्यति इत्युक्त भवतीति । तथाहि यो यादृगिहभवे स तादृगेव परभवेऽप्युपपद्यत पुरुष' पुरुष एवाङ्गनाङ्गनैवेत्यादि-सूत्र० १श्रु० १ अ० ।

विस्तरेणैतदुक्तता सुधर्मगणधरसवादे यथा-

किं मन्ने जारिसो इह, भवम्मि सो परभवे वि ।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसि मो अत्थो ॥

त्वमेव मन्यसे यो मनुष्यादिर्यादृश इहभवे स तादृश. परभवेपि नन्वयमनुचितस्ते सशयो यतो धर्मो विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनो वर्तते । तानि चामूनि "पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते, पशव पशुत्वमित्यादि । तथा "शृगालो वै एष जायते य' सुपुरीषो दह्यते इत्यादि-एषा च वेदपदानाममुमेवार्थं मन्यसे त्व पुरुषो मृत सन् परभवे पुरुषत्वमेवाश्नुते प्राप्नोति । यथा पशवो गवादय.पशुत्वमेवेत्यादि । अमूनि किल भवान्तर गतजन्तुसादृश्यप्रतिपादकानि ।तथा शृगालो वैत्यादीनि वै सादृशाख्यापकानीत्यतस्तव सशय.। अयं चायुक्त एव यतो अमीषां वेदपदानां नायमर्थ किन्तु वक्ष्यमाणलक्षण इति । अत्र भाष्यम् ।

कारणसरिसं कज्जं, बीयस्सेवंकुरोत्ति मन्नंतो ।
इहभवसरिसं सव्वं, जमवेसि परेसि तमजुत्तं ॥

सुधर्माण प्रति भगवानुवाच । इह कारणानुरूपमेव कार्यं भवति यथा यवबीजानुरूपो यवाङ्कुर' इह भवकारणं चान्यजन्म ततस्तेनापि इहभवसदृशेन भवितव्यमित्येव मन्यमानस्त्व यदिह भवसदृश सर्वं पुरुषादिक परभावेप्यवैषि तदयुक्तमेवेति कुत इत्याह ।

जाइ सरोसिंगाउ, भूतणओ सासवाणुलित्ताउ ।
संजायइ गोलोमा-विलोमसंजोगउ दुब्भाइ ॥
रुक्खायुव्वेदेजोणि-विहाणेयविसरसेहिंसो ।
दीसइ जम्हा जम्मं, सुहम्मतो नायमेगत्तो ॥

तत. कारणानुरूप कार्यमिति । सुधर्मन्नायमेकान्ततो यतः शृङ्गादपि शरो जायते तस्मादेव च सर्षपानुलिप्तादूत्तृणक शष्पसंघातो जायते । तथा गोलोमाविलोमाभ्यां दूर्वा प्रभवति

इत्येव वृक्षायुर्वेदे विलक्षणानेकद्रव्यसंयोगजन्मानो वनस्पतयो दृश्यन्ते। तथा योनिविधाने च योनिप्राभृते विसदृशानेकद्रव्यसंयोगयोनयः सर्पसिंहादिप्राणिनो मणयो हेमादयश्च पदार्था नानारूपाः समुपलभ्यन्ते अतः केयं कार्यस्य कारणानुरूपतेति । अथवा यत एव कारणानुरूपं कार्यमत एव भवान्तरे विचित्ररूपता जन्तूनामिति दर्शयति ।

अहव जउव्विय बीया–णुरूवजम्मं मयं तओ चेव ।
जीवं गिण्ह भवाओ, भवंतरे चित्तपरिणामं ॥
जेण भवंकुरबीयं, कम्मं विचित्तं तओऽभिहियं ।
हेउविचित्तत्तणओ, भवंकुरविचित्तया तेणं ॥
जइ पडिवन्नं कम्मं, हेउ विचित्तत्तओ विचित्तं च ।
तो तप्फलं विचित्तं, पडिवज्ज संसारिणो सोम्म ॥

अथवा यत एव बीजानुरूपं कारणानुगुणं कार्याणां जन्म मत तत एवेह भवाङ्कुरवान्तरे जीवं गृहाण प्रतिपद्यस्व । कथंभूत जातिकुलबलैश्वर्यरूपादि विचित्रपरिणामम् । यदि नाम बीजानुरूपं जन्म तथापि कथं भवान्तरे विचित्रता जीवानामित्याह । जेण भवंकुरेत्यादि येन यस्मान्नारकतिर्यगादिरूपेण भवन भवः स एवाङ्कुरस्तस्य बीजमिह कर्मैवावसेयं तच्च मिथ्यात्वाविरत्यादिहेतुवैचित्र्याद्विचित्रं तस्मान्मयाभिहितं तस्मात्तज्जन्यस्य भवाङ्कुरस्यापि जात्यादिभेदेन विचित्रता । ततो यदि त्वया कर्म प्रतिपन्नं हेतुवैचित्र्याच्च यदि च तद्वैचित्र्यमभ्युपगतं ततः संसारिणो जीवस्य तत्फलमपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामररूपेण भवनरूपं सौम्य ! विचित्ररूपं प्रतिपद्यस्वेति ।

अत्र प्रमाणमुपदर्शयन्नाह ।

चित्तं संसारित्तं, विचित्तकम्मफलभावओ हेऊ ।
इह चित्तं चित्ताणं, कम्माणफलं च लोगम्मि ॥

चित्रं संसारिजीवानां नारकादिरूपेण संसारित्वमिति प्रतिज्ञा विचित्रस्य कर्मणः फलरूपत्वादिति हेतुः । इह यद्विचित्रहेतुकं तद्विचित्रमुपलभ्यते यथेह विचित्राणां कृषिवाणिज्यादिकर्मणां लोक इति । तदेव कर्मवैचित्र्ये प्रमाणमाह ।

चित्ता कम्मपरिणई, पोग्गलपरिणामओ जहा बज्झा ।
कम्माण चित्तया पुण, तद्धेउ विचित्तभावाओ ॥

इह चित्रा कर्मपरिणतिः पुद्गलपरिणामात्मकत्वादिह यत्पुद्गलपरिणामात्मकं तद्विचित्रपरिणतिरूपं दृश्यते । यथा बाह्योऽभ्रादिविकारो वा पृथिव्यादिविकारो वा यत्तु विचित्रपरिणतिरूपं न भवति तत्पुद्गलपरिणामात्मकमपि न भवति यथा आकाशम् । यः पुनः पुद्गलपरिणामसाम्येऽपि कर्मणामावर्णादिभेदेन विशेषतो विचित्रता सा तद्धेतुवैचित्र्यादवगन्तव्या विचित्राश्च मिथ्यात्वादयः प्रद्वेषमानिह्नवादयश्च कर्महेतव इति । अथ पराभ्युपगमेनैव परभवे जीवानां वैसदृश्यं साधयन्नाह ।

अहवा इहभवसरिसो, परलोगो वि जइ सम्मओ तेणं ।
कम्मफलं पि इहभव–सरिसं पडिवज्ज परलोए ॥
किं भणियमिहं मणुया, नाणागइकम्मकारिणो संति ।
जइ ते तप्फलभाजो, परे वि तो सरिसया जुत्ता ॥

अथवा यदि इह भवसदृशः परलोकसमतो भवतः ततः कर्मफलमपि परलोके इह भवसदृशं इहत्य विचित्रशुभाशुभक्रियानुरूपं विचित्रं प्रतिपद्यस्वेति । एवं मुकुलितं प्रतिपद्यैनदेव भावयति (किंभणियमित्यादि) किमेतावता प्रतिपादितं भवति इह तावन्मनुष्या नानागतिहेतुभूतविचित्रक्रियानुष्ठायिनः सन्तीति प्रत्यक्षत एव लक्ष्यन्ते ततो यदि ते परलोके तत्क्रियाफलभाज इष्यन्ते ततो यथेहत्यक्रियाणां स सदृशता तथा परलोकगतजन्तूनामपि सैव युक्ता । ननु योऽत्र यादृशः स परत्रापि तादृश एवेति अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

अह इहसफलं कम्मं, न परेत्तो सव्वहा न सरिसत्तं ।
अकयागमकयनासा, कम्माभावो ह वा पत्तो ।
कम्माभावेह कओ, भवंतरं सरिसया व तदभावे ।
निक्कारणओ व्व न्ना, जइ तो नासो वि तह चेव ।

अथैव ब्रूषे इह सफलं कर्मेति इह भवसंबन्धे तत्कृष्यादिक्रियारूपं कर्म सफलं न तु परभविकदानादिक्रियारूपं कर्म। ततश्च तत्फलं भवान्तरपरलोके जन्तुवैसदृश्यम् । अत्रोत्तरमाह । (तोसव्वहेत्ति) तत एव सति यत्त्वयाभिप्रेतं तत्सर्वथा परभवे जीवानां सदृशत्वं न स्यात्तद्धि कर्मणा जन्यते ॥ तच्च नास्ति पारभविकक्रियाणां त्वया निष्फलत्वाभ्युपगमत्वान्निष्फलत्वे च कर्माभावाद्यं कर्माभावेपि भवेत्साद्दश्यं तर्ह्यकृतस्यैव तस्य निर्हेतुकस्यागमः प्राप्नोति कृतस्य च दानहिंसादिक्रियाफलरूपस्य कर्मणो नाशः प्रसज्जति । अथवा मूलत एव कर्मणामभावः प्राप्तः दानहिंसादिक्रियाणां निष्फलत्वाभ्युपगमात् मूलत एव कर्मणो बन्धोपि न स्यादिति भावः । ततः किमित्याह । कर्माभावे च कारणाभावात्कुतो भवान्तरं तदभावे च दूरोत्सारितमेव साद्दश्यम् । अथ कर्माभावेपि भव इष्यते तर्हि निष्कारण एवासौ स्याद्यदि चैवमयमिष्यते ततो नाशोपि तस्य भवस्य निष्कारण एव स्यादतो व्यर्थस्तपोनियमाद्यनुष्ठानप्रयासः । निष्कारणे च भवे ऽभ्युपगम्यमाने वैसाद्दश्यमपि जीवानां निष्कारणं किं नेष्यते विशेषाभावादिति ।

अथ प्रेरकमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

कम्माभावे वि मई, को दोसो होज्ज जइ सभावेयं ।
जह कारणाणुरूवं, घडाइकज्जं सहावेणं ॥

अथ परस्यैवंभूता मतिः स्याद्यदुत कर्माभावेऽपि यदि सद्भावरूपः स्वभाव एवायं स चेत्तर्हि को दोषः स्याद्विनापि कर्म यदि स्वभावादेव भवः स्यात्तर्हि किं दूषणं भवेन्न किंचिदित्यर्थः । दृष्टान्तमाह । यथा कर्म विनापि मृत्पिण्डादिकारणानुरूपं घटादिकार्यं स्वभावेनैवोत्पद्यमानं दृश्यते तथा सदृशप्राणिजन्मपरंपरारूपो भवोपि स्वभावादेव भविष्यति । अत्रोच्यते । ननु घटोऽपि स्वभावत एव जायते कर्तृकरणाद्यपेक्षित्वात्तस्य, ततश्चेहापि कर्तुरात्मनः पारभविकस्य च शरीरादिकार्यस्य करणं संभाव्यते। तच्च कर्तृकार्याभ्यां भिन्नं लोकेपि दृश्यते । कुलालघटाभ्यां चक्रादिवच्चेहात्मनः शरीरादिकार्यं कुर्वतः करणं तत्कर्मेति प्रतिपद्यस्वेति । स्यादेतद्घटादेः प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्भवन्तु कुलालादयः कर्तारः, शरीरादिकार्यं त्वभ्रादिविकारवत्स्वभावतोपि भविष्यति ततो न कर्मसिद्धिस्तदयुक्तम् । यतो न स्वाभाविकं शरीरादि आदिमत्प्रतिनियताकारत्वाद्घटवदिति । किंच कारणानुरूपमेव कार्यमित्येवं परभवे साद्दश्यं त्वया ऽभ्युपगम्यते तदपि स्वभाववादिनस्तवाभ्रादिविकारदृष्टान्ते परिहीयते । अभ्रादिविकारस्य स्वकारणभूतपुद्गलद्रव्यादतिविलक्षणत्वादिति । अपि च ।

होज्ज सहावो वत्थुं, निक्कारणया व वत्थुधम्मो वा ।

जइ वत्थुं नत्थि तत्रो, णुवलम्भीओ खपुप्फं च ॥
अवंतमणुवलम्भो, विय्र अह तउ अत्थि नत्थि तो कम्मं ।
हेऊ वि तदत्थित्तो, जो नणुकम्मस्स विसयत्थ ॥
कम्मस्स वाभिहाणं, होज्ज सभावो त्ति होउ को दोसो ।
निच्चं च सो सभावो, सरिसो पत्थ च को हेऊ ॥

एतद्गाथात्रयमपि प्राय पाठेनैव व्याख्यातार्थं नवरं निच्चमित्याह तृतीयगाथोत्तरार्द्धम् । इदमत्र हृदय स स्वभावो नित्य सदृश एव त्वयाऽभ्युपगन्तव्यो भवान्तरे सदृशस्यैव मनुष्यादिभवस्य जननात्तस्य च स्वभावस्य नित्यसदृशत्वे को हेतुर्न कश्चिदित्यभिप्राय । स्वभावत यद्यय स्वभावः सदृश इति चेन्नतु भवविसदृशतायामप्येतद्वक्तु शक्यत एवेति । किंच

मुत्तो वा मुत्तो वा, जइ मुत्तो तो न सव्वदा सरिसो ।
परिणामो पयं पिव, न देहहेऊ जइ अमुत्तो ।
उवगरणाभावाओ, न य हवइ सुहम्म सो अमुत्तो वि ।
कज्जेसु मुत्तिमत्ता, सुहसंवित्तादिओ चेव ।

सस्वभावो मूर्तोऽमूर्तो वा यदि मूर्तस्तर्हि कर्मणा सह तस्य को विशेष , सञ्ज्ञान्तरमात्रविशिष्टकर्म्मैवेत्यमुक्त स्यादिति । न चासौ सर्वदैव सर्वथा सदृशो युज्यते परिणामित्वाद्दुग्धादिवदथवा मूर्त्तत्वादेवाभ्रादिविकारवदिति । अमूर्तोऽसौ स्वभावस्तर्हि नैष देहादीनामारम्भको ऽनुपकरणत्वाद्दण्डादिविकलकुलालवदमूर्तत्वादाकाशवत (नय हवइ सुहम्मसो अमुत्तो वित्ति) किंच सुधर्मन्नितोऽपि स स्वभावो ऽमूर्तो न युक्तः शरीरादेस्तत्कार्यस्य मूर्तिमत्त्वाद्यद्यमूर्त्तस्य नभस इव मूर्त्तं कार्यमुपपद्यते । तथा सुखसंवित्त्यादेश्च नाय मूर्त्त । इदमुक्तं भवति । कर्म्म तावद्भवता नेष्यते स्वभाववादित्वात्तत्तश्च शारीरादीनि सुखदु खसंवित्त्यादीनि च स्वभावस्यैव कार्याण्येष्टव्यानि न तस्य वा मूर्त्तत्वेनैतान्युपपद्यन्ते । ततो यथा द्वितीयगणधरवादे कार्यस्य मूर्तत्वात्सुखसंवित्यादेश्च कर्मणो-मूर्तत्व साधित तथेह स्वभावस्यापि साधनीयम् । तथाच प्राक्कम् आह । "नणु मेत्तमेयमुत्त,चिय कज्जमुत्ति मत्ताउ । इह-जह मुत्तित्तणओ, घडस्स परमाणवो मुत्ता । तह सुह संवित्तीउ, संविधिवेयणुब्भवाओ य । वज्भवलाहाणीउ, परिणामा माउयविण्णेयमिति"

अथनिष्कारणता स्वभावमिति द्वितीयविकल्पमधिकृत्याह

अहवा कारणउ च्चिय, सभावउत्तो वि सरिसया कत्तो ।
किमकारणाउ न भवे, विसरिसया किंन विच्छित्ती ॥

अथ स्वभावत एव भवोत्पत्तिरित्यत्र अकारणत एवेत्ययमयोभिप्रेत' (ताविति) तथापि हन्त ' परभवे सदृशता कुत कोऽभिप्राय इत्याह । यथा कारणतः सदृशता भवति तथा किमित्यकारणत एव विसदृशता न स्यादकस्माच्चाकारणतो भवविच्छित्ति कस्मान्न स्यादकस्माच्च भवेत्खरविषाणादिरपि भवेच्छरीरादीना च कारणत्वात्तेन चाभ्रादीनामिव प्रतिनियता कारणभ्वादिरूपना न स्यात्तस्मान्नाकारणता स्वभावत इति ।

अथ वस्तुधर्मोमाविति तृतीयविकल्पमाश्रित्याह ।

अहव सहावो धम्मो, वत्थुस्स न सोवि सरिसओ निच्चं ।
उप्पायट्ठिइभंगा, चित्ता ज वत्थुपज्जाया ॥

अथ वस्तुनो धर्मस्वभाव सोपि सर्वदैव सदृशो न घटत इति । किं कथं सर्वदैव शरीरादीना सदृशतां जनयेत्कथ पुनरस्य सदैव सदृशता न घटत इत्याह ॥ (उप्पायेत्यादि यद्यस्मादुत्पादस्थितिभङ्गादयश्चित्रा वस्तुपर्याया न च ते सदैवावस्थितसादृश्या' नीलादीनां वस्तुधर्माणां प्रत्यक्षत एवा न्यान्यरूपतया परिणतिदर्शनात् । किंच वस्तुधर्मोसौ भवत्स्वभाव आत्मधर्मो वासौ स्यात्पुद्गलधर्मो वा । यद्यात्मधर्मस्तर्हि नासौ शरीरादीनां कारणम् अमूर्तत्वादाकाशादिवदथ पुद्गलधर्मस्तर्हि कर्म्मैवासौ कर्मणोपि हि पुद्गलास्तिकायधर्मत्वेनास्माभिरभ्युपगतत्वादिति । किंच ॥

कम्मस्स वि परिणामो, सुह धम्मधम्मो सपोग्गलमयस्स
हेऊ चित्तो जगओ, होइ सहावोत्ति को दोसो ॥

सुधर्मन्नसौ वस्तुधर्मो भवत्स्वभावो धर्मो भवति को दोषो न कश्चित् युक्तियुक्तत्वात्किंविशिष्टो धर्म इत्याह । परिणामकस्य कर्मणः कथभूतस्य पुद्गलमयस्य कथभूतो यः कर्म्मपरिणाम इत्याह । हेतु कस्य जगतो जगद्वैचित्र्यस्य तदेव कर्मलक्षणस्य वस्तुनःपरिणामरूपो धर्मो भवति स्वभावो नात्र काचिद्दोषापत्तिरस्माकमपि सम्मतो ऽयमर्थ केवलं सर्वदा सदृशोसौ न भवति किन्तु चित्रो मिथ्यात्वादिहेतु- वैचित्र्याद्विचित्रो विविधस्वभाव । अतो न तस्मात्परभवे सादृश्यमेव किन्तु विचित्ररूपतेति यद्विवा किमनेनाव्यापकेन मिथ्यारूपेण चैकान्तवादेन, सर्वव्यापकमवितथरूपं चानेकान्तवादमेव दर्शयन्नाह ।

अहवा सव्वं वत्थु, पइक्खणं चिय सुहम्म धम्मेहिं ।
संभवइ चेइ केहि वि, केहि वि तदवत्थमच्चंतं ॥
तं अप्पणो विसरिसं, न पुव्वधम्मेहिं पच्छिमिल्लाणं ।
सयलस्स तिहुयणस्स व, सरिसं सामन्न धम्मेहिं ॥

अथवा सुधर्मन्किमेक एव परभवः सर्वमेव हि घटपटादिक भुवनान्तर्गत वस्तु कैश्चित्पूर्वपर्यायैः समानासमानपर्यायैः प्रतिक्षणमुपपद्यते । कैश्चित्पुनरुत्तरपर्यायै- समानासमानपर्यायैर्व्यति व्युपरमति । कैश्चित्तदवस्थमेवास्ते । ततश्चैव सति तद्वस्त्वात्मनो पूर्व धर्मैरुत्तरोत्तरधर्माणां न सदृश किं पुनरन्यवस्तूनाम् । सामान्यधर्मैस्तु सर्वस्यापि त्रिभुवनस्य समान किंपुनरेकस्यैव निजपूर्वजन्मन इति ।

तत किं स्थितमित्याह ।

को सव्वहेव सरिसो, सरिसो वा इहभवे परभवे वा ।
सरिसासरिसं सव्वं, निच्चानिच्चाइरूवं च ॥

को ह्यथोऽर्थान्तरैरात्मना वा स इहभवेपि सर्वथा सदृशोऽसदृशो वा किंपुन- परभवे । तस्मात्सर्वमपि वस्तु स्वधर्मेणापि सह समानासमानरूपमेवेहभवेपीति कुतः परभवे सादृश्यमेव प्रतिज्ञायते । इति भवत इति भावः । तया सर्वमपि नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकमिति ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयितुमाह ।

जह नियएहिं वि सरिसो, न जुवा भुवि वालवुड्ढधम्मेहिं ।
जगओ विसमो सत्ताइ, एहिं तह परभवे जीवो ॥

यथेह युवा निजैरप्यतीतानागतैर्बालवृद्धत्वादिपर्यायैरात्मनोपि सर्वथा न समान सत्तादिभिस्तु समान्यपर्यायैर्जगति न केनाचिन्न समानस्तथायमपि जीव परलोक गतः सर्वेणापि सह समानासमानरूप एवेति । कुत सर्वथा सादृश्यमिति ।

एतदेव दृष्टान्तेन भावयति ॥

मणुओ देवीभूओ, सरिसो सत्ताइएहि जगओ वि ।

देवीईहिं वि सरिसो, निव्वानिचो वि एमेव ॥

मनुष्यो मृत्वा देवत्वमापन्नो जगत्त्रयस्यापि सत्तादिभिः पर्यायैः सदृशो देवत्वादिभिस्तु विसदृशः इति नैकान्तेन क्वापि सदृशता । तथा द्रव्यतयासौ नित्यः पर्यायतया त्वनित्य इत्याद्यपि वक्तव्यमित्याह । नन्वस्माभिरपि नैकान्तेन परभवे सादृश्यमभ्युपगम्यते किंतु समानजात्यन्वयमात्रमेवेष्यते पुरुषादिर्मृतः पुरुषादिरेव भवतीति । एतदप्ययुक्तं कर्मजनितो हि परभव इति साधितम् । तच्च मिथ्यात्वादि विचित्रहेतुजन्यत्वाद्विचित्रमेवेत्यतस्तज्जन्यः परभवो विचित्र एव युज्यते नतु समानजात्यन्वयः सिध्यतीति । किंच ॥

उक्करिसा वक्करिसा, न समाणाए वि जेण जाईए ।
सरिसग्गाहे जम्हा, दाणाइ फलं विही तम्हा ॥

सदृशग्रहे समानजातीयताग्रहे सति येन यस्मादीश्वरदरिद्रकुलीनाकुलीनादिरूपेणोत्कर्षापकर्षौ न घटा प्राञ्चतः । यो हि यादृशः इहभवे स यदि परभवेपि तादृश एव तर्हि य इहभवे ईश्वरः स परभवेपि तादृश एव एव दरिद्रेष्वपि वाच्य ततश्चेह भवात्परभवे सर्वप्रकारैरप्युत्कर्षापकर्षौ न स्यातां किंत्वेकान्तसदृशतैव भवेत् (तम्हत्ति) तस्मान्नोकव्योय सादृश्यग्रह इति प्रक्रमाद्गन्तव्यम् । अथेत्यमाचक्षीथाः मा भूतामुत्कर्षापकर्षौ का नो हानिरित्याह (जम्हा दाणाइ फलं विहित्ति) चकारस्य गम्यमानत्वाद्यस्माच्चेत्थ परत्रोत्कर्षापकर्षयोरभावे दानादिफलं वृथा सपद्यते लोको हि परत्र देवादिसमृद्धिप्राप्त्या आत्मन उत्कर्षार्थं दानादि प्रवृत्तिं विदधाति यदिचोक्तयुक्त्या उत्कर्षाद्यभावाद्दरिद्रो दानतपस्तीर्थावगाहनाद्यपि कृत्वा ऽमुत्र दरिद्र एव स्यात्तर्हि क तद्दानादिफलमित्यपार्थिका दानादौ प्रवृत्तिस्तस्माच्च विधेयः सादृश्यग्रह इति । अपिचैतस्मिन् सादृश्यग्रहे वेदपदानामप्यप्रमाण्यमापद्यत इति दर्शयन्नाह ।

जं च सिआलो वइए, स जायए वेयविहियमिच्चाइ ।
सग्गीयं जं च फलं, तमसंबद्धं मरिसयाए ॥

यच्च शृगालो वै एष जायते य. स पुरीषो दह्यत इत्यादि वेद विहित तदपि परभवसदृशताग्रहे सबद्ध एव स्यात्पुरुषादेरमुत्र शृगालत्वाद्यनुपपत्तेः तथा यदप्यग्निहोत्र जुहुयात्स्वर्गकामः स त्वन्यथाऽग्निष्टोमेन यमराज्यमभिजायत इत्यादिकं स्वर्गीय फलसूत्रकत्वात्स्वर्गीय फल तदप्यसबद्ध भवेन्मनुष्यस्य त्वदभिप्रायेण देवत्वानुपपत्तेरिति पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वमित्यादीनां च वेदानामयमर्थः । कोपि पुरुषः खल्विह जन्मनि प्रकृत्या भद्रको विनीतः सानुक्रोशोऽमत्सरश्च मनुष्यनामगोत्रे कर्मणि च मृत सन् पुरुषत्वमश्नुते नतु नियमेन सर्व एव अन्यस्यान्यकर्मवशगस्यान्यथाप्युत्पत्तेः । एव पशवोपि केचिन्मायादिदोषवशात्पशुनामगोत्रे कर्मणि बद्धा परभवे पशवो जायन्ते नतु सर्वेपि नियमेन कर्मापेक्षित्वार्थे जीवगतेरिति । विशे० (च्युतिसमये इहभव. परभवांवति करणशब्दे चिन्तयिष्यामि)

इहभवियाउय-इहभविकायुष्-न० वर्तमानभवायुषि, । भ० ५ श० ३ उ० ।

इहय-इहक-त्रि० " स्वार्थे कश्चवा ८ ।२। ६१।" इति प्राकृत सूत्रेण स्वार्थे कः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे,—वाच० ।

इहरा-इतरथा-अव्य० "इहरा इतरथा" पा० २।२२ इति प्राकृत सूत्रेण इहरा इति इतरथार्थे वा प्रयोक्तव्यं । पक्षे यथा आत्मन्यथार्थे,"इहरा नीसासमेहिं" पक्षे इअरहा । प्रा० । नि० चू० । " इहरा सपरूवघाओ " इतरथा अन्यथेति । दर्श० । " इहरा समूहसिद्धो " इतरथोकप्रकारादन्यथा समूहो रत्नानां सिद्धो निष्पन्न इति-सम्म० इहरा वि य धीयमेयस्स" इतरथान्यथा भावव्यतिरेकेणेत्यर्थः इति । पचा० २ विव० । " इहरा अणत्थगत " पंचा० ६ विव० ।

इहलोइय ऐहलौकिक-त्रि० इहलोके भवः ठञ् द्विपदवृद्धिः वाच० । ऐहिके,-'अन्नस्स पाणस्सिह लोइयस्स' अन्नस्य पानस्य वा कृते ऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते इति । सूत्र० १ श्रु०७अ० । इहलोकप्रयोजने,'इहलोइया वि किं पुण' ऐहलौकिकी इहलोकप्रयोजनापि कृष्यादिकापीत्यर्थः । पचा० ४ विव० इहलोकगते, " इहलोइया विहाणित्ति " ऐहलौकिक्यपि इह लोकगताऽपि न केवल परलोकगता हानिरिति । पंचा० ३ विव० । इहलोककृते, इहजन्मभवे च " इयलोइयाइं परलोइयाइ भीमाइं अणेगरूवाइ अविसुभिदुब्भिगंधाइ सद्दाइं अणेगरूवाइं" इहलोके भवा ऐहलौकिका मनुष्यकृताः के ते स्पर्शा दुःखविशेषाः । यदिवा इहैव जन्मनि ये दु.खयन्ति दण्डप्रहारादयः प्रतिकूलोपसर्गास्त इहलौकिका इति । आचा० १श्रु०९अ० ३ उ० । इहलोके भव ऐहलौकिकः । व्यवसायभेदे, य इह भवे वर्तमानस्य निश्चयोऽनुष्ठान वा स ऐहलौकिको व्यवसाय इति स्था० ३ ठा० ।

इहलोय-इहलोक-पु०इदम् प्रथमार्थे ह । कर्म०इहलोकः समानलोकः सदृशलोको यथा मनुजो मनुष्यस्य तिर्यङ् तिरश्च इति दर्श० । अस्मिन् लोके, आचा० १श्रु०५ अ०४ उ० "इहलोगदुहावहविऊ" इहास्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहतीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ०२ उ० । मनुष्यलोके, स्था० ३ ठा० । आव० । " इहलोगपडिणीए " इहलोकस्य प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इति । भ०८ श०८उ० इहलोगो मणुस्सस्स लोगो इति । आ० चू० । अस्मिन् जन्मनि, आचा०१ श्रु. ५ अ०४ उ० । मनुष्यजन्मनि, स्था० ४ ठा०

इहलोगगवेसग-इहलोकगवेषक- त्रि० अन्योन्यभक्तपानाद्युपभोगेन केवलस्येहलोकस्यैवान्वेषके, सू० १ उ० ।

इहलोगपडिणीय-इहलोकप्रत्यनीक- त्रि० इहलोकस्य प्रत्यक्षमानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारित्वात्पञ्चाग्नितपस्विवदिहलोकप्रत्यनीकः । इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारिणि, गतिमप्रतीत्य मनुष्यलोकप्रत्यनीकरूपे प्रत्यनीकभेदे,-इहलोकोपकारिणां भोग. साधनादीनामुपरूधकारिणि, इहलोको मनुष्यलोकस्तस्य प्रत्यनीकता तद्वितथप्ररूपणेति इहलोकप्रत्यनीकः । मनुष्यलोकस्य वितथप्ररूपणाकर्तरि च । स्था० ३ ठा० ।

इहलोकपडिबद्ध-इहलोकप्रतिबद्ध-त्रि० निर्वाहादिमात्रार्थिनि प्रव्रज्याभेदे, स्त्री-टाप् इहलोकप्रतिबद्धा निर्वाहादिमात्रार्थिनामिति-स्था० ४ ठा० (विशेषार्थस्तु पव्वज्जा शब्दे)

इहलोइयपरलोइय-ऐहलौकिकपारलौकिक-त्रि० इह परत्र च भवे, तदात्मके भव ऐहलौकिकपारलौकिकः । इह परत्र च भवे, तदात्मके व्यवसायभेदे च । यस्त्विह परत्र च स ऐहलौकिकपारलौकिक इति । स्था० ३ ठा० ।

इहलोइयपरलोइयकज्ज-ऐहलौकिकपारलौकिककार्य-न० वर्तमानभवपरभवप्रयोजनसाध्ये,—

इहलोइयपारलोइय–कज्जाणं पारलोइयं अहिगं ।
त पि हु भावपहाणं, सो चिय इयकज्जगम्मो त्ति ॥

ऐहलौकिकपारलौकिककार्ययोर्धर्मस्नानभवनपूजनप्रयोजनयोः मध्ये पारलौकिकं पारत्रिकं प्रधानतरं विशेषतरस्य स्नानस्याशातनापरिहारोपाये यद्वर्तमानभवजनकपारलौकिककृत्यं च सिद्धपूजारूपो भावशुभयोगस्थानं तदुत्तरं प्रधानमित्यर्थः । तत्र च यत्प्रधानं तद्दर्शयितुमाह । (त पि हु त्ति) तत्पुनः पारलौकिककार्यं भाव आत्मपरिणाम प्रधानं यस्य तत्पक्षो धर्मस्नानप्रधानं भुवनपूजनाद्यासेवनरूपो भावविशेषो विशिष्टपारलौकिककार्यसिद्धौ प्रधानमिति हृदयम् । यदि भावप्रधानं तत् किमित्याह (सोचियत्ति) स एव पारलौकिककार्ये तुल्यो भाव इति कार्यगम्यः तत्र तस्य पारलौकिककार्ये भावस्य पुण्यानुबन्धिपुण्योपादानरूपे तेन यो गम्या निश्चेतव्यः स इति कार्यगम्य । इति शब्दः समाप्ताविति भणितुमुक्तं भवति । परलोकसाधनहेतुभूतशुभभावस्याशातनापरिहारोपायस्य शुभभावे सम्यक्पूजाविशेषं भवतीति गाथार्थः । पंचा० ४ विव० ।

इहलोगभय–इहलोकभय–न० इहलोके स्वभावलोके मनुष्यादीनां यथा मनुष्यो मनुष्यात्तिर्यक् तिर्यग्भ्यो भयमिहलोकभयम् । दर्श० । मनुष्यादिकस्य सजातीयादन्यस्मात् मनुष्यादेरेव सकाशाद्भयं भवति तदिहलोकभयम् । इहाधिकृतभवापेक्षया यो लोकस्तस्माद्भयमिति व्युत्पत्तिः । स्था० ७ ठा० । आव० । सम० । भयभेदे, तच्च यथा राजादिभ्यश्चौरादिभ्यो वा भयं यत् प्रति प्रमादीनां सिंहादेर्वा मृगादीनामिति – दर्श० ।

इहलोगवेयण–इहलोकवेदन–न० इहास्मिन् लोके जन्मनि वेदनमनुभवनमिहलोकवेदनम् । इहलोकानुभवने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

इहलोगवेयणवेज्ज–इहलोकवेदनवेद्य–त्री० इहास्मिन् लोके वेदनमनुभवनमिहलोकवेदनं तेन वेद्यमनुभवनीयमिहलोकवेदनवेद्यम् । इहलोकानुभवेनानुभवनीये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

इहलोगवेयणवेज्जावडिय,– इहलोकवेदनवेद्यापतित– त्रि० ऐहिककर्मानुबन्धिनि, "इह लोगवेयणवेज्जावडियं । ज आउट्टीकम्मं त परिण्णाय विवेगमेति " इहास्मिन् लोके जन्मनि वेदनमनुभवनमिहलोकवेदनं तेन वेद्यमनुभवनीयमिहलोकवेदनवेद्य तत्रापतितमिहलोकवेदनवेद्यापतितम् । इदमुक्तं भवति प्रमत्तयतिना ऽपि यदकामतः कृतं कर्म कायसंघट्टादिना तदैहिकभवानुबन्धि तेनैव भवेन क्षप्यमाणत्वादिति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

इहलोगसंवेगिणी– इहलोकसंवेगिनी– स्त्री० इहलोको मनुष्यजन्म तत्स्वरूपकथनेन संवेगिनी इहलोकसंवेगिनी सर्वमिदं मानुषत्वमसारमध्रुवं कदलीस्तम्भसमानमित्यादिरूपे संवेगिन्याः कथायाः प्रथमे भेदे, स्था० ४ ठा० ।

इहलोगावेक्खा–इहलोकापेक्षा–स्त्री० इहलोकालम्बने,

विहियाणुट्ठाणमिणं ति–एवमेव सयाकरेत्ताण ।
होइ चरणस्स हेऊ, णो इह लोगावेक्खाए । ४ ।

विहितमागमे विधेयतयानुमतं यदनुष्ठानं क्रिया तद्विहितानुष्ठानमिदं जिनभवनादिकरणलक्षणमिति । अनेनोल्लेखेन एवमनेन भावस्तवानुरागलक्षणेन सूत्रविधिलक्षणेन वा प्रकारेण एतज्जिनभवनादिविधानं सदा सर्वकालं कुर्वतां विदधतां भवति जायते । चरणस्य सर्वविरतिरूपचारित्रस्य हेतुर्निमित्तम् । तदेव जिनभवनादि । उक्तविपर्यये यद्भवति तदाह नो नैव इह लोकाद्यपेक्षया देवलोकिकफीर्त्यादिपारत्रिकदेवत्वराज्यादिपदार्थाकाङ्क्षया न एतेन । चरणस्य हेतुर्भवति एतज्जिनभवनादिविधानं निदानदूषितत्वादिति गाथार्थः । पंचा० ६ विव० ।

इहलोगासंसप्पओग–इहलोकाशंसाप्रयोग– पुं० । इहलोको नरलोकस्तत्राशंसा राजा स्यामित्याद्यभिलापस्तस्याः प्रयोगो व्यापार इह लोकाशंसाप्रयोगः । धर्म० २ अधि० । अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाराधनाया अतिचारविशेषे,– उपा० । न च श्रेष्ठी स्या जन्मान्तरे अमात्यो वेत्येवं रूपा प्रार्थनेति । उपा० १ अ० । श्राव० आव० ॥

——— ००:———

(ईकार)

———

ई–ई– अव्य० क्विप्- विषादे, उपभाषणायाम्, क्रोधे, अनुकम्पायाम्, प्रत्यक्षे, सन्निधौ, सम्बोधने,- वाच० "ईः कुत्सार्थे विषादेपि निषेधे, नयनभ्रमे । ६। एका० । पादपूरणे च । "ई जेरा पादपूरणे" ८ । २ । १७ । इति । प्रा० मदियामय सान्ततया पठित' । पृषोदरादित्वात्साधुः । वाच० ।

ई– स्त्री० लक्ष्म्याम्, वाच० । ई रमा मन्दिरा मोदे, महानन्दे शिरोभ्रमे । स्त्रीलिङ्गेऽयमुणादन्तो, नातोऽस्माल्लोपन सुप । ७ । ई यीयोऽजसो रूपं, स्यादमारूपमी· शसि । ई शब्दो व्ययपर्याये व्यय पूर्वं प्रदर्शितम् । ८ । एका० ।

ईति–ईति–पुं० ईयते ई-क्तिच् (१) क्लेशे, २ उत्पादिते,-त्रि० । ३ प्रवासे, । " अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभाः मूषिकाः खगाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः । 'इत्युक्ते ४ कृष्युपद्रवभेदे च । स्त्री० निरातङ्का निरीतयः" रघु । वाच० ईतिर्धान्याद्युपद्रवकारी प्रचुरमूषिकादिप्राणिगण इति । सम० ३४ स० । जं० । प्रचुरशलभशुकमूषिकाद्या धान्यादिविनाशका इति । प्रव० ४० द्वा० । प्रायो वर्षासु शस्योपद्रवकारिणो मूषिकादय इति । दर्श० ॥

ईरण–ईरण–न० ईर्–भावे ल्युट् प्रेरणे, आव० ४ अ० । " इन्द्रियाणि समीरए ' इन्द्रियाणीष्टानिष्टविषयेभ्यः सकाशाद्रागद्वेषाकरणतया सम्यगीरयेदिति । आचा० १ श्रु० ए अ० उ० । गतौ, आ० म० द्वि० । स्था० । आचा० । कथने, 'घोरे धम्मे उदीरए ' उत्पादव्ययेन ईरितः कथितः प्रतिपादितस्तीर्थकरगणधरादिभिरिति । आचा० १ श्रु० ८ अ० ७ उ० । युच्

ईरणा तत्रैव स्त्री० । नन्द्या-ल्यु प्रेरके, त्रि० समीरणः प्रेरयिता प्रवेति-कुमा० । वाच० ।

ईरिय-ईरित- त्रि०प्रेरिते,-आव ४ अ० । दर्श० । चोदिते- "समीरिया कोट्टवलिं करिंति" समीरिताः पापेन कर्मणा चोदितास्ताम्नारकान् कुट्टयित्वा खण्डशः कृत्वा नगरवलिव- न्दितइचेतश्चाक्षिपन्तीत्यर्थः इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ०२ उ० कथिते, प्रतिपादिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । " सक्के- पाभिरपेक्षाणां यतीनां धर्म ईरित " ईरितः प्रोक्त इति-धर्म० ४ अधि० । जनिते,-कृते च । " ससद्दफासाफरुसा उदीरिया" उत्प्राबल्येनेरिता जनिता कृता इत्यर्थ इति । आचा० ।

ईसश्रो-देशी, रोजाख्ये मृगे, दे० ना० ।

ईसक्ख-ईशाख्य- त्रि० ईश ईश्वर इत्याख्या प्रसिद्धिर्येषां ते ईशाख्याप्रसिद्धे ईश्वरे, ईशनमीशो भावे घञ् प्रत्ययः । ऐश्वर्यमित्यर्थः । ईश ऐश्वर्ये इति वचनात् । तत ईशमैश्व- र्यमात्मनः ख्यान्ति अन्तर्भूतण्यर्थतयाऽऽ ख्यापयन्ति प्रथय- न्तीति ईशाख्याः । आत्मन ऐश्वर्य्यस्य प्रसिद्धिकारके,-जी०- ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

ईसत्त-ईशत्व- न०सर्वत्र प्रभविष्णुतारूपे सिद्धिविशेषे, द्वा०- २६ द्वा० ।

ईसत्थ-इषुशास्त्र- न० । चतुष्षष्ठिकलान्तर्गते कलाभेदे, ज्ञा० १ अ० । सच धनुर्वेदः- प्रश्न० ५ द्वा० । ईसत्थति प्राकृतशै- ल्या इषु शास्त्र नागवाणादिदिव्यास्त्रादिसूचक शास्त्रम् इति- जं० २ वक्ष० । सम० तथाचावश्यके भगवत ऋषभदेवस्य वर्णनमुपक्रम्योक्तम् "ईसत्थ धणुवेयो" इषु शास्त्रं नाम धनु- र्वेदः स च तदैव राजधर्मे सति प्रावर्त्ततेति- आ० म० प्र० ।

ईस-ईश- पुं०ईश- क- ईश्वरे, प्रज्ञा० २ पद । जी० । परमे- श्वरेषु, महादेवे, रुद्रसङ्ख्यातुल्यसङ्ख्याकत्वात् एकादश- संख्यायाम्, आर्द्रानक्षत्रे च । वाच० । ईशानमीशो भावे घञ्० ऐश्वर्ये, ईश ऐश्वर्ये इति वचनात् प्रज्ञा० २ पद ।

ईस-देशी० कीलके, दे० ना० ।

ईसमित्त-ईशामित्र- न०कुबेरे, - प्रा० को० ।

ईसर-देशी० मन्मथे, दे० ना० ।

ईस सह-ईशसख-पुं०षष्ठीतत्पु० टच्-समा० कुवेरे-बहु० न टच् ईशसखा इत्येव ईशमित्रादयोप्यत्र- वाच० ।

ईसा-ईर्ष्या-स्त्री० परगुणासहने, उत्त० ३४ अ० ।

ईर्ष्या०स्त्री ईर्ष्य भावे स्त्रीत्वात् टाप् । अक्षमायामपरवृद्ध्यसहि- ष्णुतायाम्, । वाच० । प्रतिपक्षाभ्युदयोपलम्भजनितो मत्सर- विशेष ईर्ष्येति । आव०४ अ० । सम० । आ० म० द्वि० । पै- शून्यं साहस द्रोहमीर्ष्या सूयाऽथ दूषणम् । वाग्दण्डजञ्च पारुष्य क्रोधजो ऽपि गणोऽष्टकः । मनुः । एतेषाञ्च । क्रोधप्रव- र्त्तकत्वात् क्रोधजत्वम्- । अत एव । "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोप -पा० द्रुहादयो ऽपि-कोपप्रभावा एव गृह्यन्तेऽतो विशेषणं सामान्येन य प्रति कोप इति सि० कौ० । धरणेन्द्रभव नपतीनामग्रमहिषीनां प्रथमपर्षदि- स्था० ३ ठा० ।

ईषा स्त्री० ईश्-क-शकटस्य दोषकाष्ठे, हलयुगयोर्मध्यस्थकाष्ठे, लाङ्गलदण्डे च । वाच० ।

ईसाण-ईशान- पु० सकलविमानप्रधानेशानावतंसकविमान- विशेषे, अनु० । सकलविमानप्रधानेशानावतंसकविमानवि- शेषोपलक्षिते स्वनामख्याते ऊर्ध्वलोकविशेषे,- अनु० । कल्पभेदे,-स्था०१० ठा० । विशे० । आ० चू० । देवलोक- भेदे, । तल्लोकवासिनि कल्पोपपन्नके वैमानिकदेवभेदे, प्रव० द्वा० । विशे० ईशानकल्पस्थे ईशानदेवेन्द्रे च । स्था० १० ठा० त्रिशे० । सम० । ईशानस्थानशब्दे वक्तव्यता- (इशानेन्द्रवक्त व्यता णाणशब्दे ईसाणिंदशब्दे ऽपि-) । प्रभौ, । " उतामृत- त्वस्येशानः " अमृतत्वस्यामरणभावस्य मोक्षस्येशानः प्रभु- रिति । विशे० । आ० म० द्वि० । ईश-ताच्छील्ये चानश्-ऐश्वर्य्य- शीले,- रुद्रमूर्त्तिभेदे,- पुं० । "अहोरात्रभवेषु त्रिंशन्मुहूर्त्तेषु स्वनामख्याते एकादशे मुहूर्त्ते,-जं०७ वक्ष० । दश० प० । कल्प० । ज्यो० । समवायांगे तु षोडशो मुहूर्त्त इति । सम० ३ स० ।

ईसाणकप्प-ईशानकल्प-पुं० मेरोरुत्तरवर्त्तिनि परिपूर्णचन्द्र- मण्डलसस्थानसंस्थिते कल्पविशेषे, राज० । तद्वक्तव्यता णिंदशब्दे-)

ईसाणवर्डिसय-ईशानावतंसक- पुं० ईशानकल्पस्थसकल- विमानप्रधाने स्वनामख्याते विमाने,-अनु० । तथात्र-प्रज्ञा- पनायामपञ्चविमानावतसकान्प्रतिपाद्योक्तम् "मज्झइत्थे ईसाण वर्डिसए" मध्ये ईशानावतसक इति-प्रज्ञा० २ पद० ॥

ईसाणिंद-ईशानेन्द्र-पु० । ईशानकल्पस्थवैमानिकदेवानामिन्द्रे,

तद्वर्णको यथा-

तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया सूल पाणी वसहवाहणे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाण वाससयसहस्साहिवई अरयंवर वत्थधरे आलइयमालमउ- डे नवहेमचारुचित्तचलचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे ईसाणकप्पे ईसाणवर्डिसए विमाणे जहेव रायप्पसेणइज्जे जाव दिव्वं देविड्ढि ॥

(जहेव रायप्पसेणइज्जेत्ति) यथैव राजप्रश्नीयाख्ये अध्य- यने सूरिकाभदेवस्य वक्तव्यता तथैवचेहेशानेन्द्रस्य किमन्ते त्याह (जावदिव्वे देवड्ढिमिति)सा चेयमर्थसङ्क्षेपनः सभायां सुधर्मायामीशाने सिंहासने अशीत्या सामानिकसहस्त्रैश्चतुर्भि- र्लोकपालैरष्टाभिः सपरिवाराभिरग्रमहिषीभिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिश्चत्वसृभिश्चाशीतिभिरात्मरक्षकदेवस- हस्राणामन्यैश्च बहुभिर्देवैर्देवीभिश्च परिवृतो महता नृत्यना- ट्यादिरवेण दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति स्म ।

जाव जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंते ! त्ति भगवं ! गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ त्ता एवं वयासी अहो णं भंते ! ईसाणे देविंदे देव राया महिड्ढिए ईसाणस्स णं भंते ! सा दिव्वा देविड्ढी कहिं गते कहिं अणुपविट्ठे ? गोयमा ! सरीरं गए से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सरीरं गए ? गोयमा ! से जहा नामए कूडागार सालासिया दुहओलित्ता गुत्तागुत्त दुवारा णिवाया णिवायगंभीरा तीसेणं कूडागारं जाव कूडागारसालादिट्ठंतो भाणियव्वो ईसाणेणं भंते ! दे- विंदे देवरण्णो सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती दिव्वे देवाणुभावे किण्णालद्धे किण्णापत्ते किण्णा अभिसमण्णागए

केणं एस आसी पुव्व भवे किंनामए वा किंगोत्तेवा-कयरंसि गामंसि वा नयरंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा किच्चा किं वा समयारित्ता कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म जेणं ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढि जाव अभिसमण्णागया एवं खलु गोयमा ! ।

इतश्च जम्बूद्वीपमवधिनाऽऽलोकयन् भगवन्तं महावीरं राजगृहे ददर्श दृष्ट्वा च ससम्भ्रममासनादुत्तस्थौ उत्थाय च सप्ताष्टानि पदानि तीर्थकराभिमुखमाजगाम। ततो ललाटतटघटितकरकुड्मलो ववन्दे वन्दित्वा चाभियोगिकदेवान् शब्दयाञ्चकार। एवं च तानवादीत् गच्छत भो राजगृहं नगरं महावीरं भगवन्तं वन्दध्वं योजनपरिमण्डलञ्च क्षेत्रं शोधयत कृत्वा चैव मम निवेदयत। ते पि तथैव चक्रुः। ततोसौ पदात्यनीकाधिपतिं देवमेवमवादीत् भो २ देवानुप्रिय ! ईशानावतंसके विमाने घण्टामास्फालयन् घोषणां कुरु यदुत गच्छति भो ईशानेन्द्रो महावीरस्य वन्दनाय ततो यूयं शीघ्रं महर्द्ध्या तस्यान्तिकमागच्छत। कृतायां च तेन तस्यां बहवो देवाः कुतूहलादिभिस्तत्समीपमुपागतास्तैश्च परिवृतोसौ योजनलक्षप्रमाणयानविमानारूढो ऽनेकदेवगणपरिवृतो नन्दीश्वरद्वीपे कृतविमानसङ्क्षेपो राजगृहनगरमाजगाम। ततो भगवन्तं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य चतुर्भिरङ्गुलैर्भुवमप्राप्तं विमानं विमुच्य भगवत्समीपमागत्य भगवन्तं वन्दित्वा पर्युपास्ते स्म। ततो धर्मं श्रुत्वैवमवादीत्। भदन्त ! यूयं सर्वं जानीथ पश्यथ केवलं गौतमादीनां महर्षीणां दिव्यं नाट्यविधिमुपदर्शयितुमिच्छामीत्यभिधाय दिव्यं मण्डपं विकुर्वितवान्। तन्मध्ये मणिपीठिकां तत्र च सिंहासनं ततश्च भगवन्तं प्रणम्य तत्रोपविवेश। ततश्च तस्य दक्षिणाद् भुजादष्टोत्तरं शतं देवकुमाराणां वामाच्च देवकुमारीणां निर्गच्छतिस्म। ततश्च विविधातोद्यरवगीतध्वनिरञ्जितजनमानसं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिमुपदर्शयामासेति (तएण से ईसाणे देविंदे २ त दिव्वं देविड्ढी) यावत्करणादिदमपरं वाच्यं यदुत " दिव्वं देवज्जुइं दिव्वं देवाणुभावं पडिसाहरइ पडिसाहरइत्ता खणेण जाए एगभूए तएणं ईसाणे ३ समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता नियगपरियालसंपरिवुडे " त्ति " (परियालत्ति) परिवार। (कूडागार सालादिट्ठंतोत्ति) कूटाकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला या सा तथा तया दृष्टान्तो यः स तथा। तत्रैव भगवन्तं गौतम एवमवादीत् ईशानेन्द्रस्य सा दिव्या देवर्द्धिः क गता। गौतम ! शरीरकमनुप्रविष्टा। अथ केनार्थेनैवमुच्यते ? गौतम ! यथा नाम कूटाकारशाला स्यात् तस्याश्चादूरे महान् जनसमूहस्तिष्ठति स च महाभ्राद्रिकमागच्छन्तं पश्यति दृष्ट्वा च तां कूटाकारशालामनुप्रविशति एवमीशानेन्द्रस्य सा दिव्या देवर्द्धिः शरीरकमनुप्रविष्टेति। भ० ३ श० १ उ०। (शक्रेशानयोर्विवाद ' विवायशब्दे) शक्रस्येशानसमीपे प्रादुर्भाव ' पाउब्भाव शब्दे) (ईशानेन्द्रस्य पूर्वभवकथा तामलि शब्दे वक्ष्यामि यावत्तस्य तत्र स्थितिं)

ईसालु-ईर्ष्यालु-त्रि० ईर्ष्यां लाति-ला-बा-डु-ईर्ष्यायुक्ते, वाच०। ईर्ष्यालवो हि अन्तरुपतापपरा एव भवन्ति निष्कारणमेवेति। यतः "यद्यपि का नो हानि परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम्। असमञ्जसं तु दृष्ट्वा तथापि परिखिद्यते चेतः " इति। द्रव्य०। नपुंसकभेदे,। स च यस्य प्रतिसेव्यमानां वनितां विलोक्य प्रकाममीर्ष्याऽभिलाषो जायते स ईर्ष्यालुरिति। ग० १ अधि०। ध०। प्रव०। ईर्ष्यालुर्नाम यस्य प्रतिसेव्यमानं दृष्ट्वा ईर्ष्या मैथुनाभिलाष उत्पद्यते सोऽपि निरुद्धवेदः कालान्तरेण त्रैराशिको भवतीति-बृ० ४ उ०।

ईसालु-ईर्ष्यावत्- त्रि० " आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा-मतो " ८। २। २ ५९। इति प्राकृतसूत्रेण मतोः स्थाने-आलुरादेशः। ईर्ष्यायुते,- प्रा०।

ईसि-(ईसिं) (ईसी) ईषत् अव्य०-ईष अति-शः स्नमादौ ८। २। इतिप्राकृतसूत्रेणेत्वम्। वा स्वरेमश्च-८। १। २४। इतिप्राकृतसूत्रेण बाहुलकाधिकारान्मकारादन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः " अन्त्यव्यञ्जनस्य " ८। २। ११ इति प्राकृतसूत्रेण वा लुक्-प्रा०। अल्पे, - सम० ३४ स०। स्तोके,- प्रज्ञा० ३६ पद० अल्पभावे, नि० चू० १ उ०। मनागित्यर्थे,-प्रज्ञा० १७ पद जी०। औप०। आ० म० प्र०। जं० "ईसिं असोगवरपायवे ' ईषत् मनागिति- राज०। " ईसिं पाडेइ" मनागनगारं भूम्यां पातयति- इति - भ०१६ श० ३ उ०। " ईसिं खंध समल्लीणे'। इह स्कन्धस्थुडमित्युच्यते तस्याशोकवरपादपस्य ईषन्मनाक् सम्यग्लीनस्तदासन्न इत्यर्थः। राज०। किञ्चिदर्थे च-सू०। मार्ये च। ईषत्प्राग्भाराख्ये लोकाग्रस्थे पृथिवीविशेषे च-स्था०८ ठा०। औप० (तद्वक्तव्यता ईसिपब्भारा शब्दे)

ईसिअ-दशी० शबरशिरः पत्रपुटे वशायिते च। दे०ना०।

ईसिं-(ईसिं) (ईसी) उट्ठावलंबि (न्)-ईषदोष्ठावलम्बिन्-त्रि० ईषत् मनाक् ततः परमास्वादतया झटित्येवाग्रतो गच्छति ओष्ठे अवलम्बते लगतीत्येवं शील ईषदोष्ठावलम्बी। मनागोष्ठावलम्बिनि। " ईसिं उट्ठावलम्बिणी "— प्रज्ञा० १७ पद०।

ईसि-(ईसिं) (इसी) तंवच्छिकरणी-ईषत्ताम्राक्षिकरणी-स्त्री० ईषन्मनाक् ताम्रे अक्षिणी क्रियेते अनया इति ईषत्ताम्राक्षिकरणी। मदिराम्-मद्यस्य प्रायः सर्वस्यापि तथा स्वभावत्वादिति- प्रज्ञा० १७ पद०।

ईसि (ईसिं-इसी) तुंग-ईषत्तुङ्ग- त्रि० मनागुच्चे, जं०६वक्ष०

ईसिदंत-ईषद्दन्त- पु० मनाग्दन्ते, औप०।

ईषद्दान्त- त्रि० मनागाहितशिक्ष्ये गजादौ,-जं० ३ वक्ष०।

ईसि (ईसिं-ईसी) पण्णवणिज्ज-ईषत्प्रज्ञापनीय- त्रि०। मनाक्प्रज्ञापयितुं शक्ये,-पञ्चा० १२ विव०।

ईसि (इसिं इसी) पब्भार- ईषत्प्राग्भार- त्रि० ईषत्कुब्जे पञ्चा० १८ विव०।

ईसि (ईसिं,-ईसी) पब्भारगय-ईषत्प्राग्भारगत-त्रि० ईषदवनते, अत एव अ०। ईषत्कुब्जे, नद्याविद्रुस्तटीस्थिते च। (ईसीपब्भारगओ) ईषत्प्राग्भारगत ईषत्कुब्जो नद्याविद्रुस्तटीस्थितो वासौ स्यादिति। पञ्चा० १८ विव०।

ईसि (ईसिं-ईसी) पब्भारा-ईषत्प्राग्भारा- स्त्री०ईषदल्पा-रत्नप्रभादिपृथिव्या इव महान् प्राग्भारो महत्त्वं यस्याः सा ईषत्प्राग्भारा। औप०। ईषदल्पो रत्नप्रभाद्यपेक्षया प्राग्भार-उच्छ्रयादिलक्षणो यस्याः सा ईषत्प्राग्भारा। ऊर्ध्वलोकाग्रस्थे सिद्धानां निवासभूते पृथ्वीभेदे,-(ईसिपब्भारापुढवी) ईषत्प्राग्भारा ऊर्ध्वलोके भवतीति। स्था० ४ ठा०। (ईसीप-

ब्भाराणामा य) (इसिप्ति) अल्पभावे अ इति प्रायो वृत्त्या भार इति भारक्रतस्स पुरिसस्स पाय पायसो ईसेणय भवति जाए वट्टित्ता सा पुढवी ईसीपब्भारा णाम इति एतमभिहणंतस्स सायदव्वट्ठसिद्धविमाणाओ उवरिं वा रसेहिं जोयणेहिं भवति तेण सा ऊर्ध्वलोगचूला भवतीति । नि० चू० १ उ० ।

अस्या अथ स्वरूपो ह्यौपपातिके यथा ।

बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदम्मि सूरियग्गहगणणक्खत्ततारारूवाणं बहुइं जोयणसहस्साइं बहुइं जोयणसयसहस्साइं बहुइं जोयणकोमीओ बहुजोयणकोमाकोमीओ उड्ढंतरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणं कुमारमाहिंदबंभलंतगमहासुक्कसहस्सारआणतपाणतआरणच्चुयतिन्निय अट्ठारे गेविज्जविमाणवासते विती वइत्ता विजयवेजयंतजयंतअपराजियसव्वट्ठसिध्दस्स य हाविमाणस्स सव्वउपरिल्लातो थूभियग्गतो डुवालसजोयणाइं अवाहाए एत्थ णं इसीपब्भारा णाम पुढवी पम्मत्ते पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एगा जोयणकोमी बयालीसं सयसहस्साइं तीसं च सहस्साइं दोषि य अडणापएणे जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिरएणं इसियपब्भाराएणं पुढवीए बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणणक्खत्ते अट्ठजोयणाइं बाहुल्लेणं तयाणंतरं च णं माताए २ परिहायमाणी २ सव्वेसु चरिमपेरंतेसु मच्छियपत्तातो तणुयतरा अंगुलस्स असंखेज्जइभागबाहुल्लेणं पम्मत्ता ।

(बहुसमेत्यादि) बहुसत्वेन रमणीयो यः स तथा स्यात् (अवाहेत्ति) अवाधयान्तरेण । औप० । ईषत्प्राग्भारायाः पृथिव्या बहुमध्यदेशभागे अष्टयोजनिकमायाम-विष्कम्भाभ्यामष्टयोजनप्रमाण क्षेत्र चाष्टौ योजनानि बाहुल्येन चोच्चत्वेनोच्चैस्त्वेनेति भाव. प्रज्ञप्ता तदनन्तर सर्वासुदिक्षु विदिक्षु च मात्रया स्तोकया २ प्रदेशप्रहाण्या परिहीयमाना सर्वेषु चरमान्तेषु मक्षिकापत्रतोऽप्यतितन्वी अङ्गुलासख्येयभाग बाहुल्येन प्रज्ञप्ता स्थापना । प्रज्ञा० २ पद ।

ईसीपब्भाराए, सायाए जोयणस्स लोगंतो ।
बारसहिं जोयणेहिं, सिध्दीसव्वट्ठासिध्दातो ॥

ईषत्प्राग्भारा सिद्धभूमिस्तस्या सीताया इति द्वितीय नाम ऊर्ध्व योजने इति कान्ते लोकान्त. सापि च ईषत्प्राग्भाराख्या सिद्धि. सर्वार्थसिद्धा ह्यारविमानादूर्ध्वं द्वादशभिर्योजनैर्भवति । अन्ये तु व्याचक्षते सर्वार्थसिद्धाद्विमानाद् द्वादशभिर्योजनैर्लोकान्तस्तत्रलक्षणेपि तत्त्व पुन. केवलिनो विदन्ति तस्मिन् लोकान्ते ईषत्प्राग्भारोपलक्षिते मनुष्यक्षेत्रपरिमाणे सिद्धा प्रतिस्थिता । उक्तच 'अत्थीसीपब्भारोवलक्खिय मणुयलोय परिमाण । लोगग्गनभोभागो सिद्धक्खेत्तं जिणक्खाय, सम्प्रति परिधिप्रतिपादनेस्या एवोपायत. प्रमाणमभिधित्सुराह ।

एगा जोयणकोमी, बायालीसं च सहस्साइं ।
तीसं चेव सहस्सा, दो चेव सया अउणवन्ना ॥

इह ईषत्प्राग्भारो य आयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चचत्वारिंशद्यो अनशतानि प्रमाणम् । अतो विक्खंभवग्गह, गुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ । इति परिधिगणितेन परिधिपरिमाणमेका योजनानां कोटी द्वाचत्वारिंशल्लक्षाणि त्रिंशत्सहस्राणि द्वे शतं एकोनपञ्चाशदधिके १४२३०२४९ शेष त्वधिकमल्पत्वान्न विवक्षितं प्रज्ञापनातो धाऽवसेयमिति ।

सम्प्रति तस्या एव बाहुल्यं प्रतिपादयति ।

बहु मज्झ देसभागे, अट्ठेव य जोयणाणि बाहुल्लं ।
चरिमंते सुय तणुई, अंगुल संखेज्जई भागं ॥

मध्यदेशभाग एव बहुमध्यदेशभागो बहुशब्दस्य स्तोकपरिहारार्थमात्रत्वात् । स च बहुमध्यदेशभाग आयामविष्कम्भाभ्यामष्टयोजनप्रमाणस्तत्र बाहुल्यमुच्चैस्त्वमष्टैवायोजनानि ततो यथोक्तप्रमाणात् बहुमध्यदेशभागात् चरमेषु सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च योजन गत्वा अङ्गुलपृथक्त्वं तथाङ्गुलप्रमाण (परिहाइत्ति) परिहीयते एवमनेन प्रकारेण हानिभावे सति तस्यास्तावत्प्रमाणमहत्याः पृथिव्या. । अपि शब्दो भिन्नक्रमो मक्षिकापत्रादपि तनुतरा: किमुक्त भवति । घृतपूर्णतथाविधकरोटिकाकारेति भावस्थापना । आ० म० द्वि० ।

अस्याः स्वरूपमौपपातिके यथा—

ईसीपब्भाराणं पुढवीसेया संखतलविमल सोत्थियमुणालदगरयतुसार गोक्खीरहारवण्णा उत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया सव्वज्जुण सुवण्णमई अच्छासएहालएहा घट्ठामट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पंका णिक्कंकडच्छायासमरीचियासुप्पन्ना पासादिया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा इसीपब्भारा । औप० ।

सा च ईषत्प्राग्भारा पृथिवी श्वेता श्वेतत्वमेवोपमया प्रकटयति (सखदलविमलेत्यादि) शङ्खदलस्य शङ्खदलचूर्णस्य विमलो निर्मलः स्वस्तिकः शङ्खदलविमलस्वस्तिकः स च मृणालं चन्द्रकरजश्च तुषार च हिमं च गोक्षीरं च हारश्च तेषामिव वर्णो यस्या. सा । तथा उत्तानकमुत्तानीकृतं यच्छत्र तस्य यत्संस्थान येन सस्थिता उत्तानच्छत्रसस्थानसस्थितत्वं च प्राग्पदर्शितस्थापनातो भावनीयम् । (सव्वज्जुणसुवण्णमयी) सर्वात्मना श्वेतसुवर्णमयी । प्रज्ञा० २ पद । आ० म० द्वि० ।

सव्वट्ठविमाणाउ, सव्वु परिसाउथुभिय ।
बारसहिं जोयणेहिं, ईसिपब्भार पुढवीउ ॥ १६ ॥
निम्मलदगरयवन्ना, तुसार गोक्खीरहारसरिवंना ।
उत्ताणगछत्त संठाणा, भणिया जिणवरिंदेहिं ॥ १७ ॥
ईसी पब्भाराए, सायाए जोयणम्मि लोगंते ।
बारसहिं जोयणेहिं, सिध्दा सव्वट्ठसिध्दाओ ॥ १८ ॥
पणयालीसं आयाम, वित्थमा होइ सत्तसहस्साइं ।
तं पि तिगुणं विसेसं, परिओ होइ बोधव्वो ॥ १९ ॥
एगा जोयणकोमी, बायालीसं च सयसहस्साइं ।
तीसं च सहस्साइं, दो य सया अउणवीसाउ ॥ २० ॥
खेत्तसमयविधिना अ—ट्ठेवजोयणाइं बाहल्लं ।
परिहाइयचरिमंत, मच्छियपत्ता तणुयरा ॥ २१ ॥
गंतूण जोयणं जोय, णंतु परिहाइ अंगुलपहत्तं ।
संखतलसंनिगासा, पेरंता होंति पत्तागूसा ॥ २२ ॥

अक्कण सुनगमया, नामेण सुदंसणा पन्नासा य ।
सखतल संनिगासा, वत्तागारा य सा पुढवी॥१३॥ती०द०प
उत्तराऽध्ययनेऽपि यत्संस्थाना यत्प्रमाणा यद्वर्णा च तदभिधानायाह ।

वारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिंभवे ।
ईसीपब्भारनामा, पुढवी छत्तसंठिया ॥

द्वादशभिर्योजनैः प्रकृत्यादित्वात्तृतीया सर्वार्थस्य सर्वार्थनाम्नो विमानस्योपर्यूर्ध्वं भवेत्तस्मादीषत्प्राग्भारेतिनाम यस्या सा ईषत्प्राग्भारनामा । अतो बहुव्रीहेरिति निषेधाभ्रान्तत्वेपि ङीप् न भवति । ईषदादिनामोपलक्षणं चैतदनेकनामयाभिधेयत्वात्तस्या उक्तंहि "ईसीती वा ईसीपब्भारा वा तणुतणुत्तीति वा सिद्धीति वा सिद्धालयत्ति वा मुत्तीइ वा मुत्तालपइ वा लोयगोइ वा लोयगाथूभइ वा लोयपडिवुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहाइवेत्यादि " पृथिवी भूमिः छत्रमातपत्रं तत्संस्थितमिव संस्थितं सगानमस्या इति छत्रसंस्थिता । इह च विशेषानभिधानेपि उत्तानमेव छत्र गृह्यते यत आह । भगवान् भद्रबाहुः । उत्ताणयछत्तयसंठियाओ भणिया जिणवरेहिंति,-

पणयालीस सय सहस्सा, जोयणाणं तु आयया ।
तावइयं विच्छिन्ना, तिगुणा तस्सेव साहिय परिरया ॥
अट्ठजोयण वाहल्ला, सामज्झम्मि आहिया ।
परिहायमाणपरं, तामच्छीय पत्ताओ तणुयरी ॥

पञ्चचत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां तु पूरणे आयतता दीर्घता (तावइय चेवत्ति) तावतश्चैव प्रमाणात्सहस्राद्विस्तरतोपि च पञ्चचत्वारिंशच्छतसहस्रप्रमाणेति भावस्त्रिगुणा (तस्संवत्ति)प्राग्वत् । तस्माञ्चकरूपादयो याः परिधय परिधिरिह च त्रिगुण इत्यभिधानेऽपि विशेषाधिकं रूढ्यं " सव्ववट्टति गुण सविसेसमिति " वचनादन्यथाहि पञ्चत्रिंशल्लक्षाधिकयोजनकोटिरेवैतत् परिमाणं स्यात्तया च सूत्रान्तरविरोधो यत्सूत्रोक्त "एगा जोयणकोडी बायालीस भवे शय सहस्सा । तीसं चेव सहस्सा दो चेव सया अउणवन्नत्ति" । पठन्ति च "तिगुणसाहियपरिरयत्ति" अष्टौ अष्टसंख्यानि योजनानि बाहुल्यं स्थौल्यमस्या इत्यष्टयोजनत्वाद्बाहुल्या (से) तस्येषत्प्राग्भारा किं सर्वत्राप्येवमाह । आहिमध्यं मध्यप्रदेशा व्याख्याता किमित्येवमत आह । परिसमन्ताद्धीयमाना (परिहियमानी चरिमतेत्ति) चरिमान्तेषु सकलदिग्भागवर्तिषु पर्यन्तप्रदेशेषु मक्षिकायाः पत्र पक्षो मक्षिकापत्रमपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् तस्मादपि तनुतरी अतिपरिकृशेति यावत् । हानिश्चात्र विशेषानविधानेपि प्रतियोजनमाङ्गुलपृथुत्व रूपध्या तथाचान्यत्रावाचि " गतूण जोयण तु परिहोइ अगुलपुहत्ताति" अत्र केचित्पठन्ति ॥

अज्जुण सुवण्णगमई, सा पुढवी निम्मला सभावेण ।
उत्ताणगछत्तगसं-ठिया य भणिया जिणवरेहिं ॥
सखककुंदसकासा पण्डरा निमला सुभा ॥

तत्र च अर्जुनं शुक्लं तच्च तत्सुवर्णकं तेन निर्वृताऽर्जुनसुवर्णकमयी सतीयत् प्राग्भारा (निम्मला) स्वच्छा । किमुपाधिवशात इत्याह । स्वभावेन स्वरूपेण उत्तानकमूर्ध्वमुखं यच्छत्रमेव छत्रकं तत्संस्थिताच भणितोक्ता जिनवरैः प्राक् सामान्यतः छत्रसंस्थितेव भणितोक्ता जिनवरैः । प्रागित्युक्तमिह तत्तानत्वं तद्विशेष उच्यत इति न पौनरुक्त्यम् । सखाकुंदादानि प्रतीतानि तत्सकाशा वर्णतस्तत्सदृशी अत एव (पण्डुरत्ति) पाण्डुरा श्वेता निर्मला निष्कलङ्का शुभा अत्यन्तकल्याणवहा सुखावहा सुखहेतुत्वेन इति सार्द्धसूत्रत्रयार्थः । उत्त० ३६ अ० । ईषत्प्राग्भारायां अष्टौ नामधेयानि यथा ।

इसिप्पब्भाराएणं पुढवीए अट्ठनामधेज्जा पण्णत्ता तं जहा ईसीइ वा ईसिप्पब्भाराइ वा तणुइ वा तणुतणुइ वा सिद्धिइ वा सिद्धालएइ वा मुत्तीइ वा मुत्तालएइ वा स्था० ८ ठा० ।

प्रज्ञापनायां द्वादश नामधेयानि यथा—

ईसीपब्भाराएणं पुढवीए दुवालस नामधेज्जा पण्णत्ता तंजहा-ईसीति वा, ईसीपब्भाराइ वा, तणुत्ति वा, तणुतणुयरीति वा, सिद्धित्ति वा, सिद्धालएत्ति वा, मुत्तिइ वा, मुत्तालएइ वा, लोयग्गेति वा लोयग्गथुभियाति वा, लोयपडिवुज्झणाइ वा सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहाइ वा । प्रज्ञा० २ पद ।

ईसीइवत्ति-पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् (तणुत्तिवा) तन्वी वा शेषपृथिव्यपेक्षयाऽतितनुत्वात् । तनुभ्योऽपि जगत्प्रसिद्धेभ्यस्तन्वी मक्षिकापत्रतोऽपि पर्यन्तप्रदेशेऽतितनुत्वात्तनुतन्वी । सिद्धिरिति वा-सिद्धिक्षेत्रस्य प्रत्यासन्नत्वात् । सिद्धिक्षेत्रस्य प्रत्यासन्नतयोपचारात्सिद्धा नामालयः सिद्धालयः एव मुक्तिरिति वा मुक्तालय इतिवेत्यपि परिभावनीयम् । तथा लोकाग्रे वर्त्तमानत्वाल्लोकाग्रमिति लोकाग्रस्य स्तूपिकेव लोकाग्रस्तूपिका तया लोकाग्रेण प्रत्यूह्यते इति लोकाग्रप्रतिवाहिनी (लोयगपडिवुज्झत्ति) लोकाग्रमिति प्रतिबुध्यते अवसीयते या लोकाग्र वा प्रतिबुध्यते यया सा तथेति (सव्वपाणेत्ति) प्राणा द्वित्रिचतुरिन्द्रिया इति भूतास्तरवो जीवाः पञ्चेन्द्रिया शेषाः प्राणिनः सत्त्वा उक्तञ्च-"प्राणा द्वित्रिचतु प्रोक्ता भूताश्च तरव स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेया शेषा सत्त्वा उदीरिताः " सर्वेषां प्राणभूतजीवसत्त्वानां सुखावहा उपद्रवकारित्वाभावात्सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावहाः । प्रज्ञा० २ पद ॥ एतेषाञ्च पृथिव्यादितया तत्रोत्पन्नानां सा सुखावहा शीतादिदुःखहेतूनामभावादिति । औप० । ईषदिति वा नामरत्नप्रभाद्यपेक्षया ह्रस्वत्वात्तस्य एव प्राग्भारस्य ह्रस्वत्वात्तस्या ईषत्प्राग्भारेति वा अत एव तनुरिति वा तन्वीत्यर्थः । अतितनुत्वात्तनुतनुरिति वा । सिद्ध्यन्ति तस्यामिति सिद्धिरिति वा । सिद्धानामाश्रयत्वात्सिद्धालय इति वा । मुच्यन्ते सकलकर्मभिस्तस्यामिति मुक्तिरिति वा मुक्तानामाश्रयत्वान्मुक्तालय इति वेति । स्था० ८ ठा० । ईसीतिवा ईषदल्पा पृथिव्यन्तरापेक्षया इति-शब्द उपदर्शने वा शब्दो विकल्पने। औप० ।

ईसि (ईसिं) (ईषी) पुरेवाय-ईषत्पुरोवात- त्रि० मनाक् सस्नेहवाते,-आ० ५ श० १ उ० ।

ईसि (ईसिं) (ईसी) मत्त-ईषन्मत्त- त्रि० यौवनारम्भवर्तित्वान्मनाग्मत्ते गजादौ, ज० ३ वक्ष० । औप० ।

ईसि (ईसिं) (इषी)रहस्स-ईषद्ध्रस्व- त्रि० ईषत्स्पृष्टे ह्रस्वे- "ईसि रहस्स पचक्खर उच्चारणद्धाए"(ईसिति) ईषत्स्पृष्टानि

ह्रस्वानि च यानि पञ्चाक्षराणि तेषां यदुच्चारणं तस्य योऽद्धा कालस्तस्य तथेति । औप० ।

ईसि (ईसिं) (ईसी) विच्छेयकडुआ–ईषद्विच्छेदकटुका–स्त्री० ईषद् मनाक् व्यवच्छेदे सति तत ऊर्ध्वं कटुका पश्चादिरूव्य-सम्पर्केत उपलक्ष्यमाणत्यक्तवीर्य्येति । मनाग्व्यवच्छेदे सति उपलक्ष्यमाणत्यक्तवीर्य्यायाम्मदिरायाम्, । प्रज्ञा० १७ पद ।

ईसिं (ईसि) (ईसी) सिलिंद (घ) पुप्फप्पगास–ईषच्छिलीन्ध (सिलीन्ध्र) पुष्पप्रकाश–त्रि० ईषन्मनाक् शिलीन्ध्रपुष्पप्रकाशानि शिलीन्ध्रपुष्पसदृशवर्णानि- ईषच्छिलीन्ध्रपुष्पसदृशवर्णं, जी० ३ प्रति । ईषच्छ्वेते " ईसिं सिलिंधपुप्फप्पगासा- इति मनाक् सिलीन्ध्रकुसुमप्रभानि ईषत्सितानि इत्यर्थः । सिलीन्ध्र भूमिस्फोटकं छत्रकम्– । औप० ।

ईसित्त–ईशित्व– न० अणिमसिद्ध्यन्तर्गते सिद्धिविशेषे, ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा कामावसायिता– सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

ईहण–ईक्षण–न० ईक्ष भावे ल्युट् दर्शने, करणे ल्युट् २ नेत्रे, तत्र दर्शने० । वाच० ।

ईहणिय–ईक्षणिक–त्रि० ईक्षणं हस्तरेखादीक्षणेन शुभाशुभ दर्शनं शिल्पमस्य ठन् शुभाशुभफलकथनेनोपजीविनि सामुद्रिके, स्त्रियां टाप् मङ्गला देशवृत्ताश्च शङ्काश्चेक्षणिकैः सह । मनु० । वाच० ।

ईहा–ईहा–स्त्री० ईह-अ-चेष्टायाम, उद्यमे, वाञ्छायाञ्च । वाच० । वितर्के–सम० । ईह चेष्टायाम् ईहनमीहा (आभिनिबोधिकज्ञान) मतिज्ञानविशेषे, विशे० । आ० चू० । आ० म० प्र० । ओघ० । प्रव० । प्रज्ञा० । सा च सतामन्वयिनां व्यतिरेकिणां चार्थानां पर्य्यालोचना । विशे० । तथाच भाष्यम् । " ईहासेसा-सव्वं" शेषाभिधानानि त्वीहा विमर्षणमार्गणगवेषणा सज्ञा-लक्षणानि सर्वाण्यपि ईहान्तर्भावीनि द्रष्टव्यानीति । विशे० । प्रज्ञा० । वियालणति वा ममाणति वा ईहणति वा एगट्ठति । आ० चू० १ अ० । अन्वयव्यतिरेकधर्मपर्य्यालोचनरूपा ईहेति विशे० । ईहा दीर्घपर्य्यालोचनमिति । नं० । " तहवियारणे-ईहा" तपेत्यानन्तर्य्ये विचारणं पर्य्यालोचनमर्थानामिति वर्त्तते, ईहनमीहा तां भुवन इति योग' । आ० म० प्र० । न० । ईहा स्थाणुरयं पुरुषो वेत्येवं सदर्थालोचनाभिमुखा मतिश्चेष्टेति ज्ञा० ३ अ० । दशा० । नं० । "थाणुमनुसाणुगया, जह ईहा-देवदत्तस्स" ईहा सदर्थपर्य्यालोचनात्मिका स्थाणु मनुष्यानुगता किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इत्येवरूपा यथेहा देवदत्तस्य-जीवतो धर्म इति । ग० २ अ० । पूर्वपरपर्य्यालोचनमीहेति दर्श० । " ईहणयावि " पूर्वापराविरोधेन पर्य्यालोचयति अपि-शब्द पर्य्यालोचने किंचित्स्ववुद्धयाप्युत्प्रेक्ष्यत इति सूचनार्थः न० । आ० म० प्र० । सदर्थाभिमुखो वितर्क इति० । ज्ञा० १ अ० । स्थाणुरूवस्त्वन्वषणरूपा चेष्टा ईहेत्युच्यत इति । ओघ० । अवगृहीताविषयाकाङ्क्षणमीहेति । सम्म० । तदर्थगतसद्भूतविशेषालोचनमीहेति । राज० । ईहा किमिदमित्यमुतान्यथेत्येवं सद्दार्था-लोचनाभिमुखा मतिचेष्टा इति । औप० । "ईहाया स्वरूपं यथा । ईह चेष्टायामीहनमीहा सद्भूतार्थपर्यालोचनरूपा चेष्टा इत्यर्थः किमुक्तं भवति । अवग्रहादुत्तरकालमवायात्पूर्वं सद्भूतार्थ-विशेषोपादानाभिमुखा असद्भूतार्थविशेषपरित्यागाभिमुखाः प्रायोऽत्र मधुरत्वादय शङ्खादिशब्दधर्मा दृश्यन्ते न कर्कश-

निष्ठुरतादयः शाङ्र्गादि शब्दधर्मा इत्येवंरूपो मतिविशेष ईहा । आहच भाष्यकृत् "भूयाभूयविशेषा दाणच्चायाभिमुहमीहा" प्रज्ञा० १५ पद । न० । आ० म० प्र० । अवगृहीतार्थविशेषाकाङ्क्षणमीहेति अवगृहीतोऽवग्रहेण विषयीकृतो योऽर्थोऽवान्तर मनुष्यत्वादिजातिविशेषलक्षणस्तस्य विशेषः । कर्णाटलाटादिभेदस्तस्याकाङ्क्षणं भवितव्यता प्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यमीहेत्यभिधीयते । रत्ना० १ परि० ।

तथाच–ईहां व्याचिख्यासुराह ।

इय सामण्णग्गहणं, णंतरमीहा सदत्थमीमंसा ।
किमिदं सद्दो सद्दो, को होज्जव संखसंगाणं ॥

इति शब्दउपदर्शने इत्येवं प्रागुक्तेन प्रकारेण नैश्चयिकार्थावग्रहे यत्सामान्यग्रहणं रूपाद्यव्यावृत्त्या व्यक्तवस्तुमात्रग्रहणमुक्तं तथा व्यवहारार्थावग्रहेपि यदुत्तरविशेषापेक्षया श-ब्दादिसामान्यस्य ग्रहणमभिहितं तस्मादनन्तरमीहा प्रवर्त्तते कथम्भूतेयमित्याह सतस्तत्र विद्यमानस्य गृहीतार्थस्य विशेषविमर्शद्वारेण मीमांसा विचारणा केनोल्लेखेनेत्याह । किमिदं वस्तु मया गृहीतं शब्दोऽशब्दो वा रूपरसगन्धस्पर्शरूपः इह च निश्चयार्थावग्रहादनन्तरभाविन्या ईहाया स्वरूपमुक्तम् । अथ व्यवहारार्थावग्रहानन्तरभाविन्याः स्वरूपमाह । (को होज्जवेत्यादि) वा इत्यथवा व्यवहारावग्रहेण शब्दे गृहीते इत्यमीहा प्रवर्त्तते शाङ्खशार्ङ्गयोर्मध्ये कोऽयं भवेच्छब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वेति । ननु किं शब्दोऽशब्दो वेत्यादि किं संशयज्ञानमेव कथमीहा भवितुमर्हति सत्यं किन्तु दिग्मात्रमेवेदमिह दर्शितं परमार्थतस्तु व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तश्चापायाभिमुख एव बोध ईहा द्रष्टव्या । तद्यथा 'अरण्यमेतत्सवितास्तमागतो, न चाऽधुना सम्भवतीह मानवः । प्रायस्तदेतत्खगादिभाजा, भाव्यं रतिप्रियसमाराभिधानभाजेति ' एतच्च प्रागुक्तमपि मन्दमतिस्मरणार्थं पुनरप्युक्तमिति गाथार्थः । विशे० । प्रव० ।

ईहा पञ्चविधा यथा– ।

कति विहाणं भंते ! ईहा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियईहा जाव फासिंदियईहा एवं जाव वेमाणियाणं नवरं जस्स जइ इंदिया ॥

प्रज्ञा० १५ पद । ईहापि मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात् षोढैव– प्रव० २१ द्वा० । तथाचाह ॥

से किं तं ईहा ईहा छव्विहा पण्णत्ता तंजहा सोइंदियईहा चक्खिदियईहा घाणिंदियईहा जिब्भिंदियईहा फासिंदियईहा नो इंदियईहा तीसेणं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति तंजहा आभोगणया मग्गणया गवेसणया चिंता वीमंसा सेत्तं ईहा ।

अथ केयमीहा । ईहा षड्विधा प्रज्ञप्ता तद्यथा । श्रोत्रेन्द्रियेहा इत्यादि । तत्र श्रोत्रेन्द्रियेणेहा श्रोत्रेन्द्रियेहा । श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहमधिकृत्य या प्रवृत्ता ईहा सा श्रोत्रेन्द्रियेहा इत्यर्थः । एवं शेषा अपि भावनीयाः (तीसेणमित्यादि) सुगमं नवरं भावान्यत एकार्थिकानि विशेषचिन्तायां पुनरिमान्यर्थाः तत्र (आभोगणयाचि) आभोग्यतेऽनेनेति आभोगनम् अर्थावग्रहसमयमनन्तरमेव सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमालोचनं तस्य भाव आभोगनता । तथा मार्ग्यते अनेनेति मार्गणं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव तदूर्ध्वमन्वयव्यतिरेकधर्मान्वेषणं तद्भावो

मार्गणता तथा गवेष्यतेऽनेनेति गवेषण तत ऊर्ध्वं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्माध्यासालोचन तद्भावो गवेषणता। ततो मुहुर्मुहुः क्षयोपशमविशेषतः स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थविशेषचिन्तन चिन्ता तत ऊर्ध्वं क्षयोपशमविशेषात्स्पष्टतर सद्भूतार्थविशेषाभिमुखमेव व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्मापरित्यागतो ऽन्वयधर्मविमर्शनं विमर्शः। सेत्तमीहेति निगमनम्। नं० टी०। अत्र केचिदीहां संशयमात्र मन्वन्ते-तदयुक्तम्। संशयो हि नामाज्ञानमिति ज्ञानांशरूपा चेहा ततस्सा कथमज्ञानरूपा भवितुमर्हति। तिन०। उक्तं च। "ईहा संसयमेत्तं केइ मसयं अत्रो तमन्नाणं। मइनाणं सो चेहा कहमन्नाणतई जुत्त" । आ० म०। नन्वीहापि किमयं शाङ्ख किंवा शार्ङ्ग इति एवरूपतया प्रवर्तते संशयोपि चैवमेव ततः कोऽनयो प्रतिविशेषः। उच्यते इह यद्ज्ञानं शाङ्खशार्ङ्गादिविशेषाननेकानालम्बनेन चासद्भूत विशेषमपासितु शक्नोति किन्तु सर्वात्मना संशयानामिव वर्तते कुण्ठीभूतं तिष्ठतीत्यर्थः। सदसद्भूतविशेषापर्युदासपरिकुण्ठितं संशयज्ञानमुच्यते, यत्पुन सद्भूतार्थविशेषविषये हेतूपपत्तिव्यापारपरतया सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखमसद्भूतविशेषत्यागाभिमुख च तदीहा। आह च भाष्यकृत "अमणगत्थालम्बण-मपज्जुदासपरिकुंठियं चित्तं। सेसव्व सव्व प्पणओ, तं संसयरूवमन्नाणं॥१॥ जं पुण सयत्थहेऊ, वयत्ति वावारतप्परममोहं। भूयाभूयविसेसो, पादाणाभिमुहमीहा" न०। बुद्धिभेदे,-अवग्रहे बुद्धिः अपायधारणे मतिरिति-न०। बुद्धिगुणभेदे, पञ्चा० ७ विव०। मतिसम्पद्भेदे, स्था० ८ ठा०। सा च तदर्थविशेषालोचनमिति-दशा० ४ अ०। अवगृहीतस्यार्थस्यासद्भूतविशेषपरित्यागेन सद्भूतविशेषादानाभिमुखो बोधविशेष ईहेति-स्थ० द्वि० १० उ०॥

ईहामई-ईहामति- स्त्री० ईहैव मतिः। तदर्थविशेषालोचनरूपे मतिभेदे,-"नेयमहणमिहेहो" स्था० ५ ठा०-तस्याश्च षड्विधत्वं। तथा-"छव्विहा ईहामई पण्णत्ता तजहा खिप्पमीहई बज्जुमीहइ जाव असंदिद्धमीहइ" स्था० ६ ठा० (टीका अवग्गहमइ शब्दे-)

ईहामिय-ईहामृग- पु० ईहां मृगयते अण् ईहाप्रधानो मृगः। पशुभेदे वृके,-औप०। राज०। ज्ञा०। आ० म० प्र०। जी० कल्प०। ईहामृगा वृका वरगमा जीवा इति लोके। कल्प०। ईहामिय उसभ तुरग मकर विहग वालग किंनर रुरु सरभ कुंजर वणलय पउमलय भत्तिचित्त तत्र ईहामृगा वृका-भ० ११श०११उ०। कल्प०। दिव्ये नाट्यविधिविशेषे,-तथा च राजप्रश्नीये सूर्याभस्याज्ञया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके समागतैर्देवकुमारैर्देवकुमारीभिश्च दर्शितं द्वात्रिंशद्भेद नाट्यविधिमुपक्रम्योक्तम्-तत्तेण ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीय ता य समणस्स भगवओ महावीरस्स ईहामिय उसभ तुरग-णरमगर विहग बालग किन्नर रुरु सरभ चर कुंजर वणलय पउमलय भत्तिचित्त णाम दिव्वं णट्टविह उवदसेइ- ईहया समिया ईहासाध्यो मृगः। कृत्रिममृगे, अलंकारशास्त्रलक्षिते नाटकभेदे, राज०।

ईहिय-ईहित- त्रि० ज्ञाते "जस्सिमाओ सव्वओ सुप्पभिईहि आओ भवन्ति सुष्ठु शङ्कादिव्युदासेन प्रत्युपेक्षिता प्रति उप सामीप्येन ईक्षिता ज्ञाता भवन्तीति। आचा०।

ईहित- त्रि० ईह क्त चेष्टिते, निष्पादिते,। "सद्धीमा गतमीहियं" अनयावतान्येन भक्तिमताऽपरानागन्तुकानुद्दिश्येहितं चेष्टितं निष्पादितमिति-सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। "नजाई नाणीहियं,, नचानीहितमविचारितं ज्ञायतेऽपायविषयं तायातीति। विशे०॥

इति श्री-बृहत्सौधर्मतपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि-विरचिते अभिधानराजेन्द्रे इकारेकारादि शब्द सङ्कलनं समाप्तम्।

———:**:———

(उकार)

उ—उ—अव्य० उ-क्विप् न तुक् सम्बोधने, कोपवचने, अनुकम्पायाम्, नियोगे, अङ्गीकारे, प्रश्ने च । हेमचन्द्रः । अवधारणे, आ० म० द्वि० । चकारार्थे, न० । अन्तिके, विशे० भृशार्थे, (भृश शब्दस्यार्थे) आ० म० द्वि० । (उपयोगकरणे,) "उत्ति उवओगकरणो उ इत्येतदक्षरमुपयोगकरणे, "उ त्ति य उस्सक्कणाकम्मे" उ इति अप्वष्कणाकर्मणि वर्तते। आ०म०द्वि०। अतति सातत्येन तिष्ठति अत- कु- शिवे, वाच० । अम्भाणि, गा० तोये, तोयधौ, धरणिधरे, अवसाने, वितर्के, वञ्चनायाम्, व्यसने, अव्य० हरमौलौ, शुचौ, हरौ, तपसि, द्रुमाङ्के, चन्द्राज्ञायां, गिरौ, भूमौ विलोकने, एका० । उपाध्याये, तस्याऽऽद्याक्षरेण ग्रहणात् । गा० । उशब्दात् स्वरूपार्थे कारः उकारः पञ्चमस्वरे, स च उदात्तानुदात्तस्वरितभेदात् प्रथम त्रिधा । पुनः अनुनासिकाननुनासिकभेदेन प्रत्येक द्विधेति षड्विधः । कारतकारानुत्तरस्तु ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेन प्रत्येकं त्रिविधोऽपिप्रत्येकं प्रागुक्तभेदषट्कात् अष्टादशविध· । चन्द्रमाकृते च । तत्र मकारान्तस्यैव तन्नामतेति बहवः । उ इत्येतदक्षरस्य निपातत्वात् प्रगृह्यसंज्ञेति । अच्परत्वे न सन्धिः उ उमेशः । सच चादिगणीय· । वाच० ।

उअत्तंत—उद्वर्तमान—त्रि० उद्वृत्य वर्तमाने, । उअत्तंतम्मि बहो पाणाणं तेण पुव्व उसित्त । उअत्तंतम्मि इति प्राकृतत्वात्तुंस्त्वनिर्देशः । बृ० १ उ० ।

उअविय-उद्दपित०त्रि० । उच्छिष्टे, "इहरा भोणिसिज्जत्त उअवियं चेव गुरुमादी" बृ० १ उ० ।

उइ (दि) ओइ (दि) अ—उदितोदित-त्रि० उदितश्चासावुन्नतकुलबलसमृद्धिनिरवद्यकर्मनिरत्युदयवान् । उदितश्च परमसुखसदोहोदयेनेत्युदितोदितः । सर्वथोदयवति पुरुषे, यथा भरत.। उदितोदितत्व चास्य सुप्रसिद्धम् । स्था० ४ ठा० । पुरिमताळाऽधिपतौ राजभेदे, उदितोदितस्य राज्ञः श्रीकान्तपतेः पुरिमतालपुरे राज्यमनुशासतः श्रीकान्तपतेर्निमित्त वाणारसी वास्तव्येन धर्मरुचिना राज्ञा सर्वयत्नेन समागतम् । म० । आ० चू० ।

उइ (दि) एण—उदीर्ण— त्रि० उदयप्राप्ते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० । उत्त० । प्रज्ञा० । उदिते स्था० ५ ठा० । उत्त० । प्र० । विपाकोदयमागते, । प्रज्ञा० १९ पद । आचा० । उदीरणाकरणेनोदिते, भ० १ श० ७ उ० । उत्कटे, स्था० ५ ठा० ।

उदीच्य— त्रि० उत्तरे, उत्तरदिग्भवे, आ० म० द्वि० ।

उइ (दि) एणकम्म—उदीर्णकर्मन्— त्रि० उदीर्णमुदयप्राप्त क टुविपाक कर्म येषां ते तथा । मिथ्यात्वहास्यरत्यादीनामुदये वर्तमानेषु,-"उदीएणकम्माण उदिएणकम्मा पुणो पुणा ते सरह दुहेति" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

उइ [दि] एण बलवाहए—उदीर्णबलवाहन— पु० स्त्री० उदीर्णमुदयप्राप्तं बल येषां तानि उदीर्णबलानि । उदीर्णबलानि वाहनानि यस्य स उदीर्णबलवाहनः । उदयप्राप्तबलयुग्वाहने, बलं चतुरङ्ग गजाश्वरथयुग्मटरूपं वाहनं शिबिकावेसरप्रमुखम्, बल च वाहन च बलवाहने, उदीर्णे उदयप्राप्ते बलवाहने यस्य स उदीर्णबलवाहनः । उत्त० १८ अ० । उदीर्णमुदयप्राप्त बल चतुरङ्ग वाहन च गिल्लिथिल्ल्यादिरूपं यस्य सोऽयमुदीर्णबलवाहन· । बल शारीर सामर्थ्यं वाहन गजाश्वादि, पदात्युपलक्षणं चैतत् । उदयप्राप्तबलवाहनविशिष्टे, " कपिल्ले नयरे राया उदिण्णबलवाहणे णामेण सजओ णाममिगवउवधिगाए" उत्त० १ अ० ।

उइ [दि] एणमोह—उदीर्णमोह— त्रि० ६ ब० । उत्कट (वेद) मोहनीये "अणुत्तरोववाइयाणं भंते ! देवा किं उदिण्णमोहा उवसंतमोहा खीणमोहा" भ० ५ श० ४ उ० ।

उइ [दि] एणवेय—उदीर्णवेद— त्रि० उदीर्णो विपाकाप्तो वेदो यस्य स तथा ॥ वेदानां विपाकमप्राप्ते, उदीर्णवेदो हि पुमान् स्त्रियं कामयते, साऽपीतरं, नपुंसकस्तूभयमिति ॥ आचा १ श्रु० १ अ० । ० ।

उइ [दि] य—उदित— त्रि० वद-क्त० सम्प्र० गदिते, निष्पन्ने, उत्स्वैर्न खलु जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा-। षो० । उक्ते, ठा० १ अ० "उमायति वा उइउत्ति वा एगट्ठमिति" नि० चू० १०उ०।

उइ (दि) यत्थमिय—उदितास्तमित—त्रि० उदितश्चासौ तथैव अस्तमितश्च भास्कर इव सर्वसमृद्धिभ्रष्टत्वाद्दुर्गतिगतत्वाच्चेति उदितास्तमित· । पूर्वमुदिते पश्चादस्तमिते, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती । स हि पूर्वमुदित उन्नतकुलोत्पन्नत्वादिना स्वभुजोपार्जितसाम्राज्यत्वेन च पश्चादस्तमित. । अतथाविधकारणकुपितब्राह्मणप्रयुक्तपशुपालधनुर्गोलिकाप्रक्षेपणोपायप्रस्फोटिताक्षिगोलकतया मरणानन्तराप्रतिष्ठानमहानरकवेदनाप्राप्ततया चेति, स्था० ४ ठा० ।

उई (दी) ण—उदीचीन—त्रि० उत्तरे,-स्था० ५ ठा० ।

उई (दी) णा—उदीचीना—स्त्री० उत्तरस्यां दिशि, "दो दिसाउ कप्पइ पाईणं चेव उदीणं चेव " स्था० २ ठा० । उई (दी) णदाहिण वित्थिरुणे अर्द्धचन्द्रसंगणसंठिए उदग्दक्षिणविस्तीर्णोऽर्द्धचन्द्रसस्थानसस्थितः । राज० ।

उई (दी) णपाईण—उदीचीनप्राचीन—स्त्री० उदगेव उदीचीनं प्रागेव च प्राचीनमुदीचीन च तद्दूदीच्या आसन्नत्वात् प्राचीनं च तत्प्राच्या· प्रत्यासन्नत्वादुदीचीनप्राचीन दिगन्तरम् । ऐशान्य तत्प्राच्या· प्रत्यासन्नत्वादुदीचीनप्राचीनं दिगन्तरम् । ईशा-दिगपेक्षया पूर्वोत्तरदिशि, (जम्बूदीवे णं दीवे सूरिया उदीणपाईणमुग्गच्छ) भ० ५ श० १ उ० ।

उई(दी)णवाय—उदीचीनवात—पु०उदीचीन उत्तरः वातः उदीचीनवातः । उदीच्या दिशः समागच्छति बादरवायुकायिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद० । स्था० ।

उई (दी) रत्ता—उदीरयित्वा—अव्य० उच्चारणेन ईरयित्वा कथयित्वेत्यर्थे, "अणुत्तर धम्ममुदीरइत्ता" । सूत्र०१ श्रु० ६अ

उई (दी) रण—उदीरण—न० उद-ईर-ल्युट् उच्चारणे-वाच०

अनुदयप्राप्तस्य (दलिकस्य) करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणं, स्था० ४ ठा० ।

उई (दी) रणा-उदीरणा-स्त्री० अनुदयप्राप्तं कर्म दलिकमुदीर्यत उदयावलिकायां प्रवेश्यते यया सा उदीरणा । उदयावलिकातो बहिर्वर्तिनीनां स्थितीनां दलिकं कषायैः सहितेन वा योगसञ्ज्ञितेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदये प्रवेशनरूपे करणभेदे, पं० सं० । तेषामेव कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानां जीवसामर्थ्य विशेषादुदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्धसंक्रमाभ्यां लब्धाऽऽत्मलाभानां निर्जरणसंक्रमणकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सद्भावः सत्ता । कर्म० । आन्तरशक्तिविशेषे, । द्वा० । "जीवाणं दोहिं ठाणेहिं पावकम्मं उदीरेंति तंजहा । अब्भोवगमियाए चेव वेयणाए उवक्कमियाए चेव वेदणाए एवं वेदेंति एवं णिज्जरेंति अब्भो० वे० उव० वेय० " (व्याख्या स्व स्व शब्दे) स्था० २ ठा० । सूत्र० । अस्या निःशेषा वक्तव्यता यथा तत्र चैते अर्थाधिकारास्तद्यथा लक्षणं, भेदः, साद्यनादिप्ररूपणा, स्वामित्वम्, उदीरणा, प्रकृतिस्थानानि, तत्स्वामित्वं चेति ॥

तत्र पुरतो लक्षणभेदयोः प्ररूपणार्थमाह ॥

जं करणे णो कड्डिय, उदए दिज्जइ उदीरणा एसा ॥
पगइट्ठिइ अणुभाग-प्पएसमूलुत्तरविभागा ॥ २२५ ॥

अत्र पूर्वार्द्धेन लक्षणं तदनन्तरप्ररूपणार्थमाह । यत् यत्परमाण्वात्मकं दलिकं करणेन योगसंज्ञितेन वीर्यविशेषेण कषायसहितेन असहितेन वा उदयावलिका बहिर्वर्तिनीभ्यः स्थितिभ्योऽपकृष्य उदये दीयते उदयावलिकायां प्रक्षिप्यते एषा उदीरणा च वक्तव्या "उदयावलिया बाहिरल्लाट्ठिईहिंतो कसायसहिएण वा जोगसन्नेण करणेण दलियमाकड्डिय उदयावलियाए पवेसणं" उदीरणत्ति सा च किंभूतेत्यत आह । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशमूलोत्तरविभागा । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशैर्मूलप्रकृतिभिरुत्तरप्रकृतिभिश्च कृत्वा विभागो भेदो यस्या सा तथा । इदमुक्तं भवति । सा उदीरणा चतुर्विधा तद्यथा प्रकृत्युदीरणा स्थित्युदीरणा अनुभागोदीरणा प्रदेशोदीरणा च । एकैकापि द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च । तत्र मूलप्रकृतिविषया अष्टधा उत्तरप्रकृतिविषया चाष्टपञ्चाशदधिकशतभेदा तदेवमुक्तौ लक्षणभेदौ । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा कर्तव्या । सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च ॥

तत्र प्रथमतो मूलप्रकृतिविषयामाह ॥

मूलप्पगईसु पंचण्ह, तिहा दोण्हं चउव्विहा होइ ॥
आउस्स साइ अधुवा, दसुत्तरसयउत्तरासिं पि ॥ २२६ ॥

मूलप्रकृतिषु मध्ये पञ्चानां मूलप्रकृतीनां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां यावन्मोहगुणस्थानं यस्य समयावलिकाशेषा न भवति तावत्सर्वजीवानामुदीरणाऽवश्यं भाविनी नामगोत्रयोस्तु यावत्सयोगिचरमसमयस्तावत् । तत एवामनादिरुदीरणा ध्रुवा अभव्यानां अध्रुवा, भव्यानां तु द्वयोर्वेदनीयमोहनीययोरुदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा ऽध्रुवा च । तत्र वेदनीयस्य प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् उदीरणा न परतः । मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् न परतः । ततोऽप्रमत्तादिगुणस्थानकेभ्यः प्रतिपतितो वेदनीयस्य उपशान्तमोहगुणस्थानकेभ्यश्च प्रतिपतितमोहनीयस्योदीरणा सादि तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । आयुषः पुनरुदीरणा सादिरध्रुवा च । तथा ह्यायुषः पर्यन्तावलिकायां नियमादुदीरणा न प्रवर्तन्ति । ततो ऽध्रुवा पुनरपि परभवोत्पत्तिप्रथमसमये प्रवर्तते ततः सादिरिति तदेव मूलप्रकृतिषु साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रत्युत्तरप्रकृतिषु तां चिकीर्षुराह (दसुत्तरेत्यादि) सादिरध्रुवा चेत्यनुवर्त्यते । उत्तरासामपि उत्तरप्रकृतीनामपि । दशोत्तरशतसंख्यानां पञ्चविधज्ञानावरणदर्शनावरणचतुष्टयमिथ्यात्वतैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभागुरुलघुनिर्माणान्तराय । पञ्चकरूपाश्चत्वारिंशद्वर्जानां सर्वशेषप्रकृतीनामित्यर्थः । उदीरणा द्विधा तद्यथा । सादिरध्रुवा चासाच साद्यध्रुवता अध्रुवोदयत्वादेव सिद्धा ।

मिच्छत्तस्स चउद्धा, तिहा य आवरण विग्घ चउद्दसगे ।
थिरसुभ सेयर उवघा, यवज्जधुवबंधिनामेय ॥ २२७ ॥

मिथ्यात्वस्योदीरणा चतुर्धा । तद्यथा सादिरनादिः ध्रुवा अध्रुवा च तत्र सम्यक्त्वं गतस्य पुनरनादिर्भवति । ततोऽसौ सादि तत्स्थानमप्राप्तस्य त्वनादि । अभव्यानां ध्रुवा, भव्यानामध्रुवा । तथा ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामुदीरणा त्रिप्रकारा । तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च । तथा ह्येतासां प्रकृतीनां ध्रुवोदयत्वेनानादिरुदीरणा । अभव्यानां ध्रुवा । भव्यानां तु क्षीणमोहगुणस्थानके आवलिकाशेषे व्यवच्छेदे भवा ध्रुवा । तथा स्थिरशुभे सेतरे । अस्थिराशुभसहितयोस्तयोरुपघातं वर्जयित्वा शेषाणामध्रुवबन्धिनीनां च तैजससप्तकागुरुलघुवर्णादिविंशतिनिर्माणप्रकृतीनां सर्वसंख्यया त्रयस्त्रिंशत्संख्यानामुदीरणा त्रिधा । तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च । तत्रानादित्वं ध्रुवोदयत्वात् ध्रुवा अभव्यानाम् । अध्रुवा भव्यानां सयोगिकेवलिचरमसमये व्यवच्छेदाभावात् । शेषाणां चाध्रुवोदयानां दशोत्तरशतसंख्यानामध्रुवोदयत्वात् उदीरणा सादिरध्रुवा च प्रागेवोक्ता । तदेवं कृता साद्यनादिप्ररूपणा ।

सम्प्रति मूलप्रकृत्युदीरणास्वामिनमाह ।

घाईणं छउमत्था, उदीरगा रागिणो य मोहस्स ।
तइया उ पमत्ता, जोगंता उ त्ति दोण्हं च ॥ २२८ ॥

घातिप्रकृतीनां ज्ञानावरणीयान्तरायदर्शनावरणीयान्तरायरूपाणां सर्वेऽपि छद्मस्थाः क्षीणमोहपर्यवसाना उदीरका मोहनीयस्य तु रागिणः सरागाः सूक्ष्मसंपरायपर्यवसाना उदीरका तृतीयवेदनीयस्य आयुषश्च प्रमत्ताः प्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्ता सर्वेऽप्युदीरका । केवलमायुषः पर्यन्तावलिकायां नोदीरका भवन्ति । तथा द्वयोर्नामगोत्रयोर्योगान्ताः सयोगिकेवलिपर्यवसाना सर्वेऽप्युदीरका । इतिशब्दो भिन्नक्रमो गाथापर्यन्ते योजनीयः । स च मूलप्रकृत्युदीरणापरिसमाप्तिद्योतको वेदितव्यस्तदेव मूलप्रकृत्युदीरणास्वाम्युक्तं ।

साम्प्रतमुत्तरप्रकृत्युदीरणास्वामिनमाह ।

विग्घावरण धुवाणं, छउमत्था जोगिणो उ धुवा ।
उवघायस्स तणुत्था, तणुकिट्टीण तणुयरागा ॥ २२९ ॥

विघ्न इति अन्तराय ततोऽन्तरायपञ्चकं ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशानां ध्रुवोदयप्रकृतीनां सार्थच्छद्मस्था उदीरका । तथा (धुवाणंति) नाम ध्रुवोदयाना

त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्यानां तैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिर-शुभाशुभगुरुलघुनिर्माणरूपाणां योगिनः सयोगिकेवलिपर्यन्ता उदीरकाः । उपघातिनाम्नस्तु तनुस्थाः शरीरस्थाः शरीरपर्याप्त्यपर्याप्त्युदीरकाः तनुकिट्टीकृतां सूक्ष्मकिट्टीकृताम् अर्थात् लोभसत्कानां ननुकरागाः सूक्ष्मसंपराया यावच्चरमसमयावलिका न भवति तावदुदीरकाः ।

तसबायरपज्जत्ते, सेयरगइजाइ दिट्ठिवेयाणं ।
आऊणं तन्नामा, पत्तेयसरीरस्स उ तणुत्था ॥२३०॥

त्रसबादरपर्याप्तानां सेतराणां सप्रति ज्ञापना स्थावरसूक्ष्मपर्याप्तसहितानामित्यर्थः । तथा चतसृणां गतीनां, पञ्चानां च जातीनां, तिसृणां दृष्टीनां दर्शनानां मिथ्यादर्शनादीनां, त्रयाणां वेदानां नपुंसकवेदादीनां, चतुर्णां चायुषां सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतिप्रकृतीनां यथास्वं तन्नामास्तन्नामप्रकृतिनामान उदीरणास्तद्यथा त्रसनाम्नस्त्रसास्ते च शरीरे अपान्तरालेऽपि गतौ च वर्तमाना उदीरकाः । एवं सर्वेषामपि भावनीयम् तथा प्रत्येकनामानः शरीरस्य तनुस्था देहस्थाः तुरेवार्थे देहस्था एव भवन्तीति गाथार्थः ॥ २३० ॥

आहरयओ णिचा, सरीर दुगवेयप्पमोत्तूणं ।
ओरालाए एवं, तदुवंगाए तसजियाओ व्व ॥२३१॥

ये नरा मनुष्यास्तिर्यञ्च आहारका ओजोलोमप्रक्षेपाहारकाणामन्यतममाहारं गृह्णन्ति तत औदारिकं उपलक्षणमेतत् औदारिकबन्धनचतुष्टयस्यौदारिकसंघातस्य । औदारिकाः किं सर्वेऽपि नित्या शरीरद्विकवेदकान् प्रमुच्य शरीरद्विक आहारकवैक्रियलक्षणानां तत्स्थानात्परित्यज्यन्ते हीनौदारिकसङ्घातस्य औदारिकाः किं सर्वेऽपि नेत्याह । शरीरद्विकवेदकान् प्रमुच्य शरीरद्विकमाहारकवैक्रियलक्षणं तत्स्थावरा एवमुक्तेन प्रकारेण (तदुवंगाएत्ति) तदङ्गोपाङ्गनाम्नः औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उदीरका वेदितव्याः । केवलं ते त्रसकायिका एव न स्थावरास्तेषां तदुदयाभावात् ।

वेउव्विगाय सुरने-रइया आहारगा नरो तिरिओ ।
सन्नी बायरपवणो, लद्धीपज्जत्तगो होजा ॥२३२॥

वैक्रियशरीरनाम्नः उपलक्षणमेतत् वैक्रियसंघातस्य सुरा नैरयिका वा गृह्णन्तो यश्च नरस्तिर्यङ् वा सञ्ज्ञी वैक्रियलब्धिमान् यश्च बादरपवनो दुर्भगनामोदयी लब्धिपर्याप्तको वैक्रियशरीरलक्षणलब्ध्या पर्याप्तस्ते सर्वेऽप्युदीरकाः ।

वेउव्वियंग उवंगतणु-तुल्ला पवणबायरं हिचा ।
आहारगा य विरओ, विउव्वंतो पमत्तेय ॥२३३॥

वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न उदीरकास्तनुतुल्या वैक्रियशरीरनाम्न उदीरकाः प्रागुपदिष्टास्त एव वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽपि वेदितव्या इत्यर्थः । किं सर्वेऽपि नेत्याह । बादरपवन बादरवायुकायिकं हित्वा परित्यज्य शेषा द्रष्टव्याः । आहारकशरीरनाम्नोऽपि विरतसंयतस्तत् आहारकशरीरं कुर्वन् प्रमत्तः प्रमादमुपगतस्सन् उदीरको भवति ।

छण्हं ठाणं संघय-णाणं सगला तिरिय नरा ।
देहत्था पज्जत्ता, उत्तमसंघयणाणो सेढी ॥ २३४ ॥

सकला पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च देहस्थाः शरीरनामोदये वर्तमाना लब्ध्या पर्याप्ताः षण्णां संहनननामुदीरका भवन्ति । षण्णां संहननानामुदयप्राप्तानामेवोदीरणा प्रवर्तते नान्येषां ततो यत्संस्थानं यत्संस्थानं संहननं वा उदयप्राप्तं वा भवति तत्तदा उदीयते । नान्यदा चेति द्रष्टव्यम् । तथा उत्तमसंहननो वज्रर्षभनाराचसंहननः श्रेणीः क्षपकश्रेणीर्भवति न शेषसंहननः । तेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्ना वज्रर्षभनाराचसंहननमेवोदीरयन्ति न शेषसंहननानि उदयाभावादित्यवसेयम् ।

चतुरंसस्स तणुत्था, उत्तरतणु सगलभोगभूमिगया ।
देवा इयरे हुंमा, तस तिरिय नरा य सेवट्टा ॥२३५॥

चतुरस्रस्य समचतुरस्रसंस्थानस्य तनुस्थाः शरीरस्थाः उत्तरतनवः आहारकोत्तरवैक्रियशरीरिणो मनुष्यास्तिर्यञ्चः सकलाः सकलेन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया इत्यर्थः । तथा भोगभूमिगता देवाश्च उदीरका भवन्ति (इयरेहुंमत्ति) इतरे उक्तशेषाः एकेन्द्रियविकलेन्द्रियनैरयिका अपर्याप्तकाश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या एते सर्वेऽपि शरीरस्थाः हुण्डसंस्थानस्योदीरका भवन्ति (तस तिरियनरा यसेवट्टत्ति) अत्र इतरे इत्यनुवर्तते उक्तशेषास्त्रसा द्वीन्द्रियादयः । पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याश्च सेवार्ताः सेवार्तसंहननोपेताः सेवार्तसंहननस्योदीरकाः

संघयणाणि न उत्तरे, तणुसु तन्नामगा भवंतरगे ।
आणुपुव्वीणं परघा-इस्स उ देहीण पज्जत्ता ॥२३६॥

उत्तरतनुषु वैक्रियाहारकशरीरेषु संहनना न भवन्तीति एषां संहनननामैकतरमपि संहननं न भवति तेन एकस्यापि संहननस्योदीरका न भवन्ति । तथा आनुपूर्वीणां नारकानुपूर्व्यादीनां चतसृणां तन्नामिका तत्तदानुपूर्व्यापि नारकादिनामाना भवापान्तरालगतौ वर्त्तमाना उदीरका वेदितव्या । तद्यथा नारकानुपूर्व्या नारको भवापान्तरालगतौ वर्तमान उदीरकस्तिर्यगानुपूर्व्यास्तिर्यक् इत्यादि । तथा पराघातनाम्नः शरीरपर्याप्तापर्याप्ताः सर्वेऽप्युदीरकाः ।

बायर पुढवी आयव, णामवज्जियत्तु सुहुमतसा ।
उज्जोयणामतिरिए, उत्तरदेहे य देवजई ॥२३७॥

आतपनामा बादरपृथ्वीकायिक उदीरकः चशब्दस्यानुकार्यसमुच्चायकत्वात् बादरपृथ्वीकायिको पर्याप्तो द्रष्टव्यः । तथा सूक्ष्मान् सूक्ष्मैकेन्द्रियान् सूक्ष्मत्रसांश्च तेजोवायुकायिकान् वर्जयित्वा शेषास्तिर्यञ्चः पृथिव्यम्बुवनस्पतयो विकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः लब्धिपर्याप्ता उद्योतनामानो यथासंभवमुदीरकाः भवन्ति । तथा उत्तरदेहे उत्तरशरीरे यथासंभवं वैक्रिये आहारके च वर्तमानो देवोयतिश्च उद्योतनामा उदीरको भवति । २३७ ।

सगलो पसत्थगई, उत्तरतणुदेवभोगभूमिगया ।
इट्ठसराय तसो वि य, इतरासिं सनेरइया ॥२३८॥

सकलः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्यो वा शरीरपर्याप्तापर्याप्तः प्रशस्तविहायोगति उदये वर्तमानस्तथा उत्तरस्यां तनौ वैक्रियशरीररूपायां वर्तमाना सर्वे तिर्यञ्चो मनुष्याश्च तथा सर्वे देव भोगभूमिकागता द्रष्टव्याः । इष्टगते प्रशस्तविहायोगतेरुदीरकः । तथा इष्टस्वराः सुस्वरनामानस्त्रसा द्वीन्द्रियादयोऽपि शब्दात्प्रागुक्ताश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यगादयो भाषापर्याप्त्यापर्याप्ता यथासंभवमुदीरका । तथा इतरस्यामप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनामानस्त्रसा विकलेन्द्रियाः सनैरयिका नैरयिकसहितास्तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः केचन यथासंभवमुदीरका वेदितव्याः ।

उस्सासस्स सराण य, पज्जत्ता आणपाणभासासु ।
सव्वण्णूणुस्सासो, भासा वि य जानुरुञ्जाति ॥२३९॥

उच्छ्वासस्वरशब्दयो पततप्राणभाषाशब्दाभ्यां सह यथासङ्ख्येन योजना । सा चैवं उच्छ्वासनाम्न प्राय पानपर्याप्तापर्याप्ता सर्वेप्युदीरका (सराणयत्ति) द्वित्वेपि बहुवचन प्राकृतत्वात् । तत स्वरयो सुस्वरदु स्वरयो प्रागुक्ता उदीरका सर्वेपि भाषापर्याप्तापर्याप्ता द्रष्टव्या । यद्यपि स्वरयो प्राग्योदीरका उक्तास्तथापि ते भाषापर्याप्तापर्याप्ता एवोदीरका वेदितव्या इति विशेषोपदर्शनार्थं पुनरुपादानम् । तथा सयोगिनां केवलिनामुच्छ्वासभाषे यावन्नाद्यापि निरोधमुपगच्छत स्तावदुदीरितेऽत्र निरोधानन्तरमुदयाभावान्नोदीरणा भवति ।

देवोसुभगाएय, णामगच्छवकंति उदयकित्तीए ।
पज्जत्तो वज्जियास, सुहुमं नेरइया सुहुमतेसु तसे ॥२४०॥

देवो इत्यादि अतावेकवचनं केचिद्देवाः केचित्तिर्यङ्मनुष्या गर्भव्युत्क्रान्ता सुभगादेयनामान उदीरकोपेतास्तदुदये वर्तन्ते । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियसहितान् नैरयिकान् सूक्ष्मत्रसांश्च वर्जयित्वा शेषाः पर्याप्तकनामोदये वर्तमाना यश कीर्तेरुदीरका ॥

गोउत्तमस्स देवा, नरा य वयणो चउएहमियराइ ।
तव्वइरित्ता त्तिय–गरस्स सव्वसायापज्जवे ॥ २४१ ॥

सर्वे देवा मनुष्या अपि केचिदुच्चैःकुलसमुत्पन्नास्तथा प्रकृतिनो नीचैर्गोत्रिणोऽपि पञ्चमहाव्रतसमलङ्कृतगात्रयष्टय उच्चैर्गोत्रस्योदीरकास्तथा इतरासां चतसृणा प्रकृतीनां दुर्भगानादेयायश कीर्तिनीचैर्गोत्राणां तद्व्यतिरिक्तानामुक्तव्यतिरिक्ता नांवेदितव्यास्तत्र दुर्भगानादेययोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियसमूर्छिमतिर्यङ्मनुष्यनैरयिका । अयश कीर्ते सर्वे सूक्ष्मा सर्वे च नैरयिका सर्वे सूक्ष्मत्रसा सर्वेप्यपर्याप्तकनामोदये वर्तमाना । नीचैर्गोत्रस्य पुन सर्वे नैरयिका सर्वे तिर्यञ्चो मनुष्या अपि विशिष्टकुलोत्पन्नान् व्रतिनश्च मुक्त्वा शेषा सर्वेप्युदीरका द्रष्टव्याः । तथा तीर्थकरनाम्न सर्वज्ञताया सत्या भवेदुदीरणा नान्यदा उदयाभावात् ।

इंदिअपज्जत्तीए, दुसमयपज्जत्तगा य पाउग्गा ।
निद्दा पयलाणखीं–णराग खवगेय परिवज्जिय ॥ २४२ ॥

इन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तास्ततो द्वितीयसमयादारभ्य इन्द्रियपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य इत्यर्थ । निद्राप्रचलप्रायोग्या भवन्ति । किं सर्वे नेत्याह । क्षीणरागान् क्षपकांश्च परित्यज्य उदीरणाहि उदये सति नान्यथा न च क्षीणकपकयोर्निद्राप्रचलयोरुदय सम्भवति " निद्दादुगस्स उदओ खीणखवगे परिवज्जति " प्रामाण्यात् तावस्तान् वर्जयित्वा शेषा निद्राप्रचलयोरुदीरका वेदितव्या ॥

निद्दानिद्दाईण वि, असंखवासा य मणुयतिरिया य ॥
वेउव्वियाहारगतणू, वज्जित्ता अप्पमत्ते य ॥ २४३ ॥

असङ्ख्येयवर्षायुषो मनुष्यतिर्यञ्चो वैक्रियशरीरिणो प्रमत्तसयताश्च मुक्त्वा शेषा सर्वेपि निद्रानिद्राप्रचलस्त्यानर्द्धीनामुदीरका वेदितव्या ।

वेयणीयाणपमत्ता, ते ते वेयगा कसायाण ।
हासाई छक्कस्स य, अपुव्वकरणस्स चरमंते ॥ २४४ ॥

वेदनीययो सातासातरूपयो प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्ता सर्वेप्युदीरका । तथा य जीवा यान् कषायाणा य ध्रुवास्तेषा कषायाणामुदीरका वेदितव्या । यतो यानत कषायान् वेदयते तानेव बध्नाति । "जे वेयइ संबंधे" इति वचनात् । उदये च सत्युदीरणा ततो युक्तमुक्त "ते ते वधतगा कसायाणमिति" तत्र मिथ्यादृष्टिसास्वादना अनन्तानुबन्धिनामुदीरकास्तेषां तद्वेदकत्वात् । अप्रत्याख्यानावरणानां देशविरतिपर्यन्ता सज्वलनक्रोधमानमायालोभानां स्वस्वबन्धव्यवच्छेदादर्वाक् उदीरका हास्यादिषट्कस्यापूर्वगुणस्थानका उदीरकाः ।

जावूण खणो पढमो, संहरइ हासाणमेव मियरासिं ।
देवा नेरइया जव–द्विइं केइ नेरइया ॥ २४५ ॥

यावत् प्रथमः क्षण किञ्चिदूनो भवति प्रथममन्तर्मुहूर्तं यावदित्यर्थ तावन्नियमाद्देवा सुस्वररतिहास्यानामुदीरका वेदितव्या । परस्त्वनियम एवं किञ्चिदून प्रथमक्षण यावन्नैरयिका इतरासामसातावेदनीयारतिशोकप्रकृतीनां नियमादुदीरकाः । परस्तु तीर्थकरकेवलज्ञानलाभादौ विनिर्यासोपि भवति । केचित्पुनर्नैरयिकाः सकलामपि भवस्थितिं यावद् असातवेदनीयारतिशोकानामुदीरका भवन्ति । एवमेकैकप्रकृत्युदीरणास्वामित्वमुक्तम् । संप्रति प्रकृत्युदीरणास्थानमाह ।

पंचएहं च चउएहं च एकाईजा दसएहं तु ।
तिगहीणाए मोहे, मिच्छे सत्ताए जाव दसए ॥ २४६ ॥

द्वितीयकर्मणि दर्शनावरणीयलक्षणे पञ्चानां चतसृणां प्रकृतीनां युगपदुदीरणा भवति । तत्र चतसृणां चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणरूपाणां ध्रुवा क्षमस्थानामुदीरणा । एतासां मध्ये निद्रापञ्चकमध्यादन्यतमप्रकृतिप्रक्षेपे पञ्चानामुदीरणा । तथा मोहे मोहनीये एकादित्रिकहीना तावद् द्रष्टव्या यावद्दशानामेतदुक्त भवति मोहनीये कर्मणि उदीरणामधिकृत्य एकादीनि त्रिकहीनानि दशपर्यन्तानि नव प्रकृत्या स्थानानि भवन्ति । तद्यथा | १ | २ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | सम्प्रत्येपामुदीरणास्थानानां स्वामिनमाह ॥ 'मिच्छे सत्ताइ जाव' इह मिथ्यादृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि भवन्ति । तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणसज्वलनक्रोधादीनामन्यमे त्रय क्रोधादिकाः । यत एकस्मिन् क्रोधे उदीयमाने सर्वे क्रोधा उदीर्यन्ते । एव मानमायालोभेष्वपि द्रष्टव्या । न च युगपदुदीरणेत्यन्यतमे त्रयो गृह्यन्ते तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । तथा हास्यरत्यरतियुगले रतिशोकयुगलयोरन्यतरद्युगलम् । एतासां सप्तप्रकृतीना मिथ्यादृष्टौ उदीरणा ध्रुवा । अत्र च भङ्गाश्चतुर्विंशतिस्तद्यथा हास्यरत्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ तौ च प्रत्येक त्रिष्वपि वेदेषु प्राप्येते इति । द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् । ते च प्रत्येक क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिताश्चतुर्विंशतिरिति । एतस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायामनन्तानुबन्धिना वा क्षिप्ते अष्टानामुदीरणानां भयादौ प्रत्येकमेकैका भङ्गकानां चतुर्विंशति प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्या । ननु च मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदय सम्भवति उदये च सत्यवश्यमुदीरणा तत्कथ मिथ्यादृष्टेरनन्तानुबन्ध्युदयरहित प्राप्यत सप्तानामष्टानां वा अनन्तानुबन्धिरहितानामुदीरणा सम्भवेत । उच्यते इह सम्यग्दृष्टीना सतां कर्माणि प्रथमतोऽन तानुब न्ध्युदयरहित प्रयोजता तत्रैव च मिथ्यात्वा न मिथ्यात्वादिक्षपाय उक्तास्तथाविधसामग्र्यभावात् । तत कालान्तरे मिथ्यात्व गत सन् मिथ्यात्वप्रत्ययात् भूयोप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति । ततो बन्धा–

वलिकाया यावदद्याप्यनिक्रामति तावत्तेषामुदयो न भवति, उदयाभावाच्च उदीरणाया अप्यभावः। बन्धावलिकायां पुनरतीतायामुदयसम्भवाद्भवत्येवोदीरणा। ननु कथं सबन्धसमयादारभ्य आवलिकायामतीतायामुदयोऽपि संभवति ततो ह्यबाधाकालक्षये सति उदयः। अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः चत्वारि वर्षसहस्राणि इति। नैष दोषः यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत्सत्ता भवति। सत्तायां च सत्यां पतद्ग्रहता तस्यां च सत्यां शेषप्रकृतिदलिकं सङ्क्रामति सङ्क्रम्य तस्य च स सङ्क्रमावलिकायाममतीतायामुदयः उदये च सत्युदीरणा। ततो बन्धसमयादनन्तरमावलिकायामतीतायामुदीरणामिधीयमाना न विरुध्यते। तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिनां बन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानामुदीरणा। अत्रत्यैव भङ्गकानां चतुर्विंशतिस्तदेव मिथ्यादृष्टेर्मोहनीयस्योदीरणास्थानान्युक्तानि।

साम्प्रतं सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामाह।

सासायणम्मि सत्ताइ, नव अविरए छाइ परम्मि पंचाइ।
अट्ठविरए चउराइ, सत्त छच्चोवरिल्लम्मि ॥ २४७ ॥

सासादने सम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यादृष्टौ च सप्तादीनि नव पर्यन्तानि त्रीणि त्रीण्युदीरणास्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव। तत्र सासादनसम्यग्दृष्टौ अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः। त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः। द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति। सप्तमिति सप्तानामुदीरणा ध्रुवा। अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः। सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिवानन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः। द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानामुदीरणा। अत्र च द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदीरणा। अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयोऽत्र चैका चतुर्विंशतिः। अस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वानामन्यतरस्मिन् क्षिप्ते सप्तानामुदीरणास्थानानि भवन्ति। तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव। तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा अविरतस्य अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमक्रोधादिकाः। त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति षण्णामुदीरणा। अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां " परम्मि पंचाइ अट्ठत्ति " विरतसम्यग्दृष्टिपरस्मिन् देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि। तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनसंज्ञौ क्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ। त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः। द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम्। एतासां पञ्चानां प्रकृतीनां देशविरतस्योदीरणा ध्रुवा। एषा चौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा अवगन्तव्या। अत्रत्र प्रागुक्तक्रमेण चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम्। संप्रति प्रमत्ताप्रमत्तभेदयोर्भावात् युगपत् उदीरणास्थानान्याह "विरइए चउराइ सत्तत्ति" विरते प्रमत्ते अप्रमत्ते च चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि उदीरणास्थानानि भवन्ति। तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् सप्त। तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः। त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः। द्वयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनां विरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा उदीरणा ध्रुवा अत्रैका भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतयः। तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदीरणा। अत्र भङ्गकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदीरणा अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां भयजुगुप्सानाम्। संप्रत्यपूर्वकरणस्योदीरणास्थानान्याह (छच्चोवरिल्लम्मित्ति) उपरितनः उपरितनेन अपूर्वकरणेन चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीण्युदीरणास्थानानि आह। तद्यथा चतस्रः पञ्च षट्। तत्र चतुर्णां संज्वलनक्रोधादीनामेकतमः। क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः। द्वयोर्युगलयोरन्यतरयुगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनां विरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा उदीरणाऽत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानामेताश्चापूर्वकरणसत्का भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदीरणा। अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् एताश्चापूर्वकरणसत्काश्चतुर्विंशतयः। अस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सायां वा क्षिप्तायां पञ्चानामुदीरणा। अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदीरणा। अत्रैका चतुर्विंशतिः। चतुर्विंशतयः परमार्थतः प्रमत्ताप्रमत्तचतुर्विंशतिका भिन्नस्वरूपा इति न पृथक् गणयिष्यन्ते।

सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरस्योदीरणास्थानान्याह।

अनियट्टम्मि दुगेगं, लोभो तणुरागजोगचउवीसा।
एकग छक्कार-दसमत्तचउक्क एक्काउ ॥२४८॥

(अनियट्टत्ति) अनिवृत्तिबादरे द्वे उदीरणास्थाने। तद्यथा द्वे प्रकृती एका च तत्र चतुर्णां संज्वलनक्रोधादीनामेकतमे क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः। अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिः संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः। वेदेषु क्षीणेषूपशान्तेषु वा संज्वलनक्रोधादीनामेकतमं क्रोधादित्रयाणां वेदानामन्यतममुदीरयन्ति। तत्र चत्वारो भङ्गाः। (लोभोतणुरागोत्ति) तनुरागयोग्यस्य सूक्ष्मसंपरायस्य सूक्ष्मलोभकिट्टीवेदयमानस्य लोभ एवैको मोहनीयमध्ये उदीरणायोग्यो भवति। सम्प्रति चतुरादिषु दशपर्यन्तेषु उदीरणास्थानेषु विरतायां यावत्यश्चतुर्विंशतयो भवन्ति तावतीर्निरूपयति- (चउवीसेत्ति) दशोदीरणायामेका चतुर्विंशतिः, नवोदीरणायां षट्, अष्टोदीरणायामेकादश सप्तोदीरणायां दश षडुदीरणायां सप्त पञ्चकोदीरणायां चतस्रः, चतुरुदीरणायामेकेति। एताश्चतुर्विंशतयः प्रागेव भवन्ति। केवलं सङ्ख्यानमत्रामिदं स्वधिया परिभावनीयम्। तदेवमुक्तानि मोहनीयस्योदीरणास्थानानि दश। तद्यथा एकचत्वारिंशद् द्विचत्वारिंशत्पञ्चाशत् एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति। तत्र तैजससप्तक वर्णादिविंशतिरगुरुलघुस्थिरास्थिरे शुभाशुभे निर्माणमित्येतासां त्रयस्त्रिंशत् प्रकृतीनामुदीरणा ध्रुवा। तत्र मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तिरूपे अष्टके प्रक्षिप्ते सति एकचत्वारिंशद्भवति एतासां चैकचत्वारिंशत्प्रकृतीनां केवलिसमुद्घातगतः कार्मणकाययोगे वर्तमानः केवली उदीरको भवति। एषैव चैकचत्वारिंशत्तीर्थकरनामसहिता द्विचत्वारिंशद्भवति। तस्याश्च तीर्थंकरकेवली समुद्घातगतः कार्मणकाययोगे वर्तमान उदीरकः। तस्यामेवैकचत्वारिंशति औदारिकसप्तक षण्णां संस्थानानामेकैकमेतत्सस्थानं वज्रऋषभनाराचसंहननम्। उपघातप्रत्येकमित्येकादशके प्रक्षिप्ते सति द्विपञ्चाशद्भवति। अत्र षड्भिः संस्थानैः षड् भङ्गास्ते च षड्विंशतिः भङ्गाः सामान्यमनुष्यभङ्गग्रहणेन गृहीता द्रष्टव्याः।

एवमुत्तरत्रापि। एतस्याश्च द्विपञ्चाशत्सयोगिकेवलिसमुद्घातगतौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमाने उदीरक एवेव च द्विपञ्चाशत्तीर्थकरनामसहिता त्रिपञ्चाशत्के त्रयमिह सस्थान समचतुरस्रमेव वक्तव्यम्। अस्या अप्युदीरका सयोगकेवलतीर्थकरौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमाना वेदितव्या। तया सैव द्विपञ्चाशत् पराघात. उच्छ्वासनामप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिरन्यतरा विहायोगति सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरनामेति प्रक्षेपात्त्रिपञ्चाशत् षट्पञ्चाशद्भवति। एष च सयोगिकेवल्यौदारिककाययोगे वर्तमान उदीरक सप्तपञ्चाशद्वेवचयोगनिरोधे षट्पञ्चाशत् उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे चतु पञ्चाशत् अत्र द्विपञ्चाशदाद्यचतु पञ्चाशदन्त्येषु द्वेषु तु पञ्चसु तीर्थकृताम्। तदेवमुक्तानि केवलिनामुदीरणास्थानानि। संप्रत्येकेन्द्रियाणामभिधीयन्ते। एकेन्द्रियाणामुदीरणास्थानानि पञ्च। तद्यथा द्विचत्वारिंशत्पञ्चाशत् एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चेति तत्र तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्यौ। स्थावरनाम एकेन्द्रियजाति. बादरसूक्ष्मयोरेकतरयो पर्याप्तापर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगमनादेययश कीर्त्ययश कीर्त्योरेकतरमित्येता नव प्रकृतय । प्रागुक्ताभिर्ध्रुवोदीरणाभिस्त्रयस्त्रिंशत्सख्याकाभि सह सम्मिश्रा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति। अत्र च भङ्गा पञ्च। तद्यथा बादरसूक्ष्माभ्यां प्रत्येक पर्याप्तापर्याप्ताभ्यामयश कीर्त्या सह चत्वारि, बादरपर्याप्तयश कीर्तिमिश्रैक। सूक्ष्मापर्याप्ताभ्या सह यश कीर्तेरुदयो न भवति, तदभावाच्च नोदीरणेति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति। एषा द्विचत्वारिंशदपान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या। तत शरीरस्थस्यौदारिकशरीरौदारिकसघातौदारिकबन्धनचतुष्टयहुण्डसस्थानोपघातप्रत्येकसाधारणाभ्यामयश कीर्त्या सह द्वौ सूक्ष्मस्य पर्याप्तापर्याप्तकप्रत्येकसाधारणैरयश कीर्त्या सह चत्वारि इति दश बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत औदारिकषट्कस्थाने वैक्रियषट्कमवगन्तव्यम्। ततश्च तस्यापि पञ्चाशदेवोदीरणा योग्या भवन्ति केवलमिह बादरपर्याप्तप्रत्येकायश कीर्तिपदे एष एव भङ्ग तैजसकायिक वायुकायिकयोर्हि साधारणपद कीर्त्योरुदयो न भवति तदभावाच्च नाप्युदीरणा ततस्तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते। तदेव सर्वसख्यया पञ्चाशदेकादश भङ्गास्तत शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघात उच्छ्वासक्षिप्ते एकपञ्चाशद्भवति। अत्र भङ्गा षट्। तद्यथा-बादरस्य प्रत्येकसाधारणयश कीर्त्ययश कीर्तिपदैश्चत्वार। सूक्ष्मप्रत्येकसाधारणाभ्यामयश कीर्त्या सह द्वौ बादरवायुकायिकस्य च वैक्रियं कुर्वत शरीरपर्याप्तापर्याप्तपराघाते क्षिप्ते एका प्रागुक्ता पञ्चाशत् भवति पञ्चाशत्त्र च प्रागवदेक एव भङ्ग । सर्वसैख्यया चैकपञ्चाशदत सप्त भङ्गा.। तत. प्राणापानपर्याप्त्यापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते द्विपञ्चाशद्भवति। अत्रापि भङ्गा षट्। तद्यथा बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येकसाधारणयश कीर्त्ययश कीर्तिपदैश्चत्वार । आतपसहितस्य प्रत्येकयश कीर्त्ययश कीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ। बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत प्राणापानपर्याप्त्यापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते प्रागुक्ता एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् भवति। तत्र च प्रागवदेक एव भङ्ग । तैजसकायिकवायुकायिकयोर्हि आतपोद्योतयश कीर्तिनामुदयाभावात् उदीरणा न भवति। ततस्तदाश्रिता भङ्गा अत्र न प्राप्यन्ते । सर्वसख्यया द्विपञ्चाशद्भङ्गास्त्रयोदश तथा-

प्राणापानपर्याप्त्यापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां द्विपञ्चाशत् । आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिपञ्चाशद्भवति अत्र भङ्गा षट्। अत्र भङ्गा ये प्रागातपोद्योतत्वान्यतरसहितायां द्विपञ्चाशदभिहिता सर्वसख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गा द्विचत्वारिंशत् द्वीन्द्रियाणामुदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा द्विचत्वारिंशदपान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया. । अत्र च भङ्गात्रय तद्यथा अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्यायश.कीर्त्या सह एको भङ्ग पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य यश कीर्त्ययश कीर्तिभ्यां द्वाविंशति । तत शरीरस्थस्यौदारिकसप्तक हुण्डकसस्थानसेवार्तसंहननमुपघातनामप्रत्येकनामेत्येकादशक प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते । ततो जाता द्विपञ्चाशत् । अत्र च भङ्गात्रयस्ते च प्रागिव रूप्या. । तत. शरीरपर्याप्त्यापर्याप्तस्य विहायोगतिपराघातयो प्रक्षिप्तयो चतु पञ्चाशत भवति । अत्र यश.कीर्त्ययश कीर्तिभ्या द्वौ भङ्गौ। तत प्राणापानपर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते पञ्चाशत् सुस्वरदु स्वरयोरेकतरस्मिन् पञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ। अथवा शरीरपर्याप्तौ उच्छ्वासे अनुदिते तदुद्योतनाम्नि तुदिते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्र तु स्वरसुस्वरयशः कीर्त्ययश कीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ सर्वेऽपि षट्पञ्चाशति षट् भङ्गा. ततो भाषापर्याप्त्यापर्याप्तस्य स्वरसहितायां षट्पञ्चाशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते सप्तपञ्चाशद् भवति अत्र सुस्वरदु स्वरयोर्यश.कीर्त्ययश कीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गा सर्वे द्वीन्द्रियाणां भङ्गा द्वाविंशति. । एव त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिरभिधातव्या। प्रत्येक भङ्गा द्वाविंशतिरवसेया। सर्वसख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गा षट्षष्टि । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियसभिवरहितानामुदीरणास्थानानि षट्। तद्यथा द्विचत्वारिंशत् द्विपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति। तत्र तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबादरनामपर्याप्तापर्याप्तयोरेकतर सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयोरेकतरं युगलं यश कीर्त्ययश कीर्त्योरेकतरोऽन्ये तावदव प्रकृतय प्रागुक्तास्त्रयस्त्रिंशत्सख्याकाभिर्ध्रुवोदीरणाभिः सह चत्वारिंशत् अपान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या । अत्र च भङ्गा पञ्च । तत्र पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलकीर्त्ययश कीर्तिभिश्चत्वारो भङ्गा. । अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य दुर्भगानादेयायश कीर्तिभि एक एव भङ्ग । इह सुभगादेये दुर्भगानादेये वा युगपदुदयमायातस्तत उदीरणापि युगपदेवेति पञ्चैव भङ्गा । अपरे पुनराहु । सुभगादेययोर्दुर्भगानादेययोर्वा भजिका वा नेन युगपदेका सनयो नोवनियमाऽन्यादर्शनात् । तत पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य सुभगदुर्भगादयानादेयपदैः कीर्त्ययश कीर्तिभिरष्टौ भङ्गा. । अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य तु दुर्भगानादेयायश कीर्तिभिरेक इति । सर्वसख्यया द्विचत्वारिंशत् नव तत शरीरस्थस्यौदारिकसप्तक षण्णां सस्थानानामेकतम सहननमुपघात प्रत्येकनामेत्येकादशकं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततो द्विपञ्चाशद्भवति अत्र भङ्गानां पञ्चचत्वारिंशत् तद्यथा पर्याप्तकस्य षड्भि संस्थानै षड्भि सहननै सुभगादेयानादेयायश कीर्तिभिरन्य इति । तत्र पर्याप्तकस्य षड्भि संस्थानै षड्भिः सहननै सुभगदुर्भगाभ्या आदेयानादेयाभ्यां यश कीर्त्ययश कीर्तिभ्यां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके । अपर्याप्तकस्य तु प्रागुक्तस्वरूप एक एवेति । तस्यामेव द्विपञ्चाशति शरीरपर्याप्त्यापर्याप्तपराघातप्रश-

स्तामशस्तान्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्र पर्याप्तानां प्राक् चतुश्चत्वारिंशत् भङ्गकानामुक्तम् । तदेवमुक्तविहायोगतिद्विकगुणितमवगन्तव्यम् तथाच सत्यत्र भङ्गानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भवतः मतान्तरेण पुनः पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासक्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव भङ्गानां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके मतान्तरेण पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासक्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति अत्रापि प्रागिव सर्वसंख्यया पञ्चाशति स्वमतेन भङ्गकानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । मतान्तरेण तु द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरस्मिन् क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । तत्र स्वमतचिन्तायां उच्छ्वासेन द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भङ्गकानां प्राक् लब्धे ते इह स्वरद्विके तु गण्यते ततो लब्धानि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । मतान्तरेण पुनरिह द्विपञ्चाशद्भवति । अत्र स्वमतचिन्तायां प्रागिव द्वे शते अष्टाशीत्यधिके भङ्गकानां मतान्तरेण पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसंख्यया स्वमतेन षट्पञ्चाशति भङ्गा अष्टशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि । मतान्तरेण सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि ततः स्वरसहितायां षट्पञ्चाशत्शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । मतान्तरेण द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि त एवात्राऽपि द्रष्टव्याः । तथा तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैक्रियं कुर्वतामुदीरणास्थानानि पञ्च भवन्ति तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र वैक्रियसप्तक समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिदशक प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां प्रायोग्या द्विचत्वारिंशत्प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत एकपञ्चाशद्भवति । अत्र सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपर्याप्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । मतान्तरेण पुनः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च पर्याप्तकेन सहाष्टौ भङ्गाः ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां पञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव चत्वारो भङ्गा । मतान्तरेण पुनरष्टौ ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् । स्वमतेनाष्टौ भङ्गा । मतान्तरेण षोडश । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति अत्रापि भङ्गा स्वमतेन चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ । सर्वसंख्यया वैक्रियं कुर्वतां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां भङ्गा अष्टाविंशति मतान्तरेण षट्पञ्चाशत् । सामान्येन तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां स्वमतेन भङ्गाश्चतुर्णवशतिशतानि द्वादशाधिकानि, मतान्तरेण एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्ट्यधिकानि ।

सम्प्रतिमनुष्याणामुदीरणास्थानानि प्रतिपाद्यन्ते । तत्र केवलिनां प्रागेवोक्तानि अन्येषां तु पञ्च । तद्यथा द्विचत्वारिंशद् द्विपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत्पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । एतानि सर्वाण्यपि यथाप्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि नवरं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्योः स्थाने मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ वक्तव्ये पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या वैक्रियाहारकसंयतानुक्त्वा स्वमतेन द्विचत्वारिंशति पञ्च द्विपञ्चाशति पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि परमतेन तु यथाक्रमम् | ९ | २ | ८ | ७ | ५ | ३ | ६ | ५७६ | ११७२ | वैक्रियमपि कुर्वतां मनुष्याणामुदीरणास्थानानि पञ्च भवन्ति । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्च यथा प्राग्वैक्रियमुक्त्वा तथात्रापि द्रष्टव्या चतुःपञ्चाशत् उच्छ्वाससहिताया प्रागिव स्वमतेन चत्वारो भङ्गाः मतान्तरेणाष्टौ । उत्तरवैक्रियं कुर्वतां संयतानामुद्योतनामोदय गच्छति नान्येषां ततस्तेन सह चतुःपञ्चाशदुच्छ्वासप्रशस्त एवैको भङ्गो भवति संयतानां दुर्भगानादेयायशःकीर्त्युदयाभावात् । सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् । स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ । अथवा संयतानां स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्रागिव एक एव भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशति स्वमतेन पञ्च भङ्गा मतान्तरेण नव पञ्चपञ्चाशति सुस्वरसहितायामुद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद् भवति तस्याश्चैक एव प्रशस्तो भङ्गः । सर्वसंख्यया वैक्रियमनुष्याणामन्यमतेनैकोनविंशतिभङ्गा मतान्तरेण पञ्चत्रिंशत् ।

सम्प्रत्याहारकं कुर्वतामुदीरणास्थानान्युच्यन्ते आहारकसंयतानामुदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्राहारकसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिदशकं प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्याया द्विचत्वारिंशति प्रक्षिप्यते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते । ततः एकपञ्चाशद्भवति केवलमिह सर्वाण्यपि पदानि प्रशस्तानि एवेति कृत्वा एक एव भङ्गः । शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य प्रशस्तविहायोगतिपराघातयोः प्रक्षिप्तयोस्त्रिपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः शरीरपर्याप्त. । ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशति द्वौ भङ्गौ ततो भाषापर्याप्तापर्याप्त उच्छ्वाससहितायां चतुःपञ्चाशति सुस्वरे क्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्राग्वदेक एव भङ्गः । अथवा प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि उदिते पञ्चपञ्चाशद् भवति अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशति द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य स्वरसहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः आहारकशरीरिणो सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः । तदेव मनुष्याणां सामान्यवैक्रियशरीराहारकशरीरकेवलिनां भङ्गाः सर्वसंख्यया त्रयोदश शतानि चतुस्त्रिंशत्यधिकानि भवन्ति । परमतेन षड्विंशतिशतानि पञ्चाशदधिकानि ।

देवानामुदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र देवगतिर्देवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनामबादरनामपर्याप्तनामसुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलयोरेकतरं युगलं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरेत्यो नवप्रकृतयो नवोदीरणाभिस्त्रयस्त्रिंशत्संख्याकाभिः सह सम्मिश्रा द्विचत्वारिंशद्भवति । अत्र सुभगादेयदुर्भगानादेययुगलयशःकीर्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः ततश्शरीरस्थस्य वैक्रियसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमित्येता दश प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते । तत एकपञ्चाशत् भवति । अत्रापि प्रागिव स्वमतेन चत्वारो भङ्गा मतान्तरेणाष्टौ । ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगत्यो

प्रक्षिप्तयो त्रिपञ्चाशद्भवति । अत्रापि प्राग्वत् स्वमतेन चत्वारो भङ्गा मतान्तरेणाष्टौ। देवाना प्रशस्तविहायोगतेरुदया भावात् तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते । ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्रापि स्वमतेन चत्वारो भङ्गाः मतान्तरेणाष्टौ । अथवा शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते चतुःपञ्चाशद्भवति अत्रापि प्राग्वत् स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो, मतान्तरेणाष्टौ । अथवा शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते च सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् स्वमतेनाष्टौ भङ्गा मतान्तरेण षोडश ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां चतुःपञ्चाशति सुस्वरे क्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति अत्रापि स्वमतेन भङ्गाश्चत्वारो मतान्तरेणाष्टौ सर्वसंख्यया पञ्चपञ्चाशत् । स्वमतेनाष्टौ भङ्गा मतान्तरेणापि तु षोडश भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य सुस्वरसहितायां पञ्चपञ्चाशति उद्योते क्षिप्ते षट्पञ्चाशद्भवति । अत्रापि स्वमतेनैव चत्वारो भङ्गा मतान्तरेणाष्टौ सर्वसंख्यया देवानां स्वमतेन द्वात्रिंशद्भङ्गा मतान्तरेण चतुःषष्टिः । नैरयिकाणामुदीरणास्थानानि पञ्च । तद्यथा-द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत्पञ्चपञ्चाशच्चेति । तत्र नरकगतिनरकानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तदुर्भगानादेयायशःकीर्तिश्च इत्येता नव प्रकृतयो ध्रुवोदीरणाभिरद्वाविंशत्संख्याकाभिः सह सम्मिश्रा द्विचत्वारिंशद्भवति । अत्र च सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्गः । तत्रशरीरस्थस्य वैक्रियसप्तकहुण्डकसंस्थानमुपघातप्रत्येकमिति दश प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते । नरकानुपूर्वी चापनीयते । तत एकपञ्चाशद् भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्तापर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगत्योः प्रक्षिप्तयोः त्रिपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापानपर्याप्तापर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते चतुःपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । ततो भाषापर्याप्तापर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते पञ्चपञ्चाशद्भवति । अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसंख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः । तदेवमुक्तानि नामकर्मणोऽदीरणास्थानानि ।

संप्रत्येतान्येव गुणस्थानकेषु दर्शयति ।

गुणिसु नामस्स तत्र, सत्त तिसि अट्ठ च छप्पं च ।
अप्पमत्ते दो एक, पंचसु एक्कम्मि अट्ठ ॥ २४९ ॥

नाम्नोर्नामकर्मणोर्गुणिषु गुणस्थानेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु यथासंख्यया नवादिषु संख्या युदीरणास्थानानि भवन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टिषु नवोदीरणास्थानानि । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् पञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशदेकपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । अमूनि च सर्वाण्यपि मिथ्यादृष्टीन्येकेन्द्रियादीन्यधिकृत्य स्वयं परिभावनीयानि । सास्वादनसम्यग्दृष्टेरुदीरणास्थानानि सप्त । तद्यथा द्विचत्वारिंशत् पञ्चाशत् एकपञ्चाशत् द्विपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत्सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र द्विचत्वारिंशत् बादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामपान्तरालगतौ वर्तमानानामवसेया । तथा एकेन्द्रियाणां शरीरस्थानां पञ्चाशत् देवानां शरीरस्थानामेकपञ्चाशद्विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां शरीरस्थानां द्विपञ्चाशत् एव नैरयिकाणां पर्याप्तानां सासादनसम्यक्त्वे वर्तमानानां पञ्चपञ्चाशत् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां पर्याप्तानां षट्पञ्चाशत् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदकानां पर्याप्तानां सप्तपञ्चाशत् । सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्त्रीण्युदीरणास्थानानि । तद्यथा पञ्चपञ्चाशत्सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र देवनैरयिकाणामेव पञ्चपञ्चाशदविरतसम्यग्दृष्टेरष्टावुदीरणास्थानानि तद्यथा द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाशच्चेति । तत्र नैरयिकदेवतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां द्विचत्वारिंशद् देवनैरयिकाणामेकपञ्चाशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां द्विपञ्चाशत्, देवनैरयिकतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिपञ्चाशत् देवनैरयिकाणामेकपञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियवैक्रियतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशदेतेषामेव पञ्चपञ्चाशदपि तदेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां षट्पञ्चाशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदिकाया सप्तपञ्चाशत्, देशविरतस्योदीरणास्थानानि षट् । तद्यथा एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । तत्र एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशच्चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशच्चेति । तिर्यग्मनुष्याणां वैक्रियशरीरे वर्तमानानामवगन्तव्या । तिर्यग्मनुष्याणामेव स्वभावस्थानां वैक्रियशरीरिणां षट्पञ्चाशत् तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतसहितानां सप्तपञ्चाशत् प्रमत्तसंयतानामुदीरणास्थानानि पञ्च तद्यथा एकपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र पञ्चाप्येतानि वैक्रियशरीरिणामाहारकशरीरिणां वा दृष्टव्यानि षट्पञ्चाशत् पुनरौदारिकस्थानमवगन्तव्यम्। अप्रमत्तसंयतानां द्वे उदीरणास्थाने तद्यथा पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । तत्र षट्पञ्चाशदौदारिके स्थाने इह केषांचित् वैक्रियशरीरस्थानामाहारकशरीरस्थानां वा संयतानां वा सर्वपर्याप्तापर्याप्तानां कियत्कालमप्रमत्तभावो पि लभ्यते इति तेषां द्वे अप्युक्तरूपे उदीरणास्थाने । एकः पञ्च सुहर्ता पञ्चसु गुणस्थानकेषु अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्म सम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहरूपेषु एकमुदीरणास्थानं भवति । षट् पञ्चाशत् सा च औदारिकशरीरस्थानमिति (एकस्मिन्नष्टाविति) एकस्मिन् सयोगिकेवलिगुणस्थानके अष्टावुदीरणास्थानानि तद्यथा एकचत्वारिंशत् द्विचत्वारिंशत् द्विपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशच्चेति । एतानि च प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानि इति नेह भूयो भाव्यन्ते । तदेवं चिन्तितानि गुणस्थानकेषु उदीरणा स्थानानि ।

संप्रति कस्मिन्नुदीरणास्थाने कति भङ्गा प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह ।

ठाणकमेण भंगा, वि एक्कतीसेक्कारस ।
इगवीस वा बारस-सए य इगवीसउच्चसया ॥२५०॥
छह अहिया नव सया य, एगहिया य अउणुत्तारि ।
णाओ चउदस सयाणि, गुण नउइसया पव ॥२५१॥

स्थानक्रमेण एकचत्वारिंशत्येको भङ्गः । स च तीर्थकरकेवलिनः द्विचत्वारिंशति त्रिकाभङ्गाः । तत्र नैरयिकानधिकृत्य एकः एकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं त्रिकं प्राप्यते इति नव । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च,मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्च,तीर्थकरमधि-

कृत्य एकः । देवानधिकृत्य चत्वारः । ये पुनः सुभगादेययोर्दुर्भगानादेययोश्च केवलकेवलयोरप्युदयमिच्छन्ति तन्मतेन द्विचत्वारिंशति त्रिचत्वारिंशद्भङ्गाः । यतस्तन्मतेन तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव, मनुष्यानधिकृत्य नव,देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैव । पञ्चाशत्येकादश भङ्गास्ते चैकेन्द्रियान्देवानधिकृत्य प्राप्यन्ते । अन्यत्र पञ्चाशतः प्राप्यमाणत्वात् । एकपञ्चाशत्येकविंशति भङ्गाः। तत्र नैरयिकानधिकृत्य चत्वारो वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य चत्वारः आहारकशरीरिणः संयतानधिकृत्य नव देवानाश्रित्य चत्वार इत्येकविंशतिः । मतान्तरेण पुनर्वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवानाधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्येकपञ्चाशति तदपेक्षया त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः । (सवारसातिसयपत्ति) त्रिंशद्द्वादशाधिका त्रिंशति भङ्गानां द्विपञ्चाशतिरवगन्तव्याः । तत्र एकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं प्राप्यते इति नव। तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतं मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतम् । अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गानामेकोनवत्यधिके प्राप्येते इति तदपेक्षया द्विपञ्चाशद्भङ्गानां शतानि षट् प्राप्यन्ते । त्रिपञ्चाशति भङ्गानामेकविंशतिः तद्यथा मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गानामेकोनवत्याधिके प्राप्येते तदपेक्षया मनुष्यदेवानधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपेक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट् शतानि षडुत्तराणि तद्यथा नैरयिकाणां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपेक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ स्वभावस्थान्मनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ स्वभावस्थान् मनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य चत्वारः संहतान् वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्य द्वौ देवानधिकृत्योद्योतेन सहैकः । आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति तदपेक्षया चतुःपञ्चाशदधिकानि द्वादश शतानि पञ्चशतानि भङ्गानां नव शतानि एकाधिकानि । तद्यथा नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः प्राप्यन्ते इति द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः वैक्रियसंयतानधिकृत्योद्योतेन सहैकः आहारकशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः तीर्थकरमधिकृत्यैकः देवानधिकृत्याष्टाविति । मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यान् स्वभावस्थानधिकृत्य पञ्च शतानि षट् सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति । तदपेक्षया पञ्चपञ्चाशति पञ्चाशीत्यधिकसप्तदश शतानि षट्पञ्चाशति भङ्गानामेकोनसप्तत्यधिकानि चतुर्दश शतानि तद्यथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं षट् प्राप्यन्ते इति अष्टादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्याष्टौ शतानि चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि वैक्रियशरीरिणोऽधिकृत्य चत्वारः मनुष्यानधिकृत्य पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि, वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्योद्योतेन सहैकः । आहारकशरीरिणः संयतानधिकृत्यैकः तीर्थकरमाश्रित्यैकः देवानधिकृत्य चत्वारः । अत्र मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतानि भङ्गानां भवन्ति सप्तपञ्चाशद्भङ्गानां पञ्चाशति एकोननवत्यधिकानि प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान धिकृत्य पञ्च शतानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते षट्सप्तत्यधिकानि तीर्थकरमाश्रित्यैक इति । अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति । तदपेक्षया सप्तपञ्चाशत् पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि भङ्गानां भवन्ति ।

(अनयोर्व्याख्या पुस्तकान्तरे एव दृश्यते । तद्यथा)

" स्थानक्रमेण एकचत्वारिंशत्येको भङ्गः । स च तीर्थकरकेवलिनः द्विचत्वारिंशति त्रिंशद्भङ्गाः । तत्र नैरयिकानधिकृत्य एकः एकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिक त्रिकं प्राप्यते इति नव । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च, मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्च, तीर्थकरमधिकृत्य एकः देवानधिकृत्य चत्वारः । ये पुनः सुभगादेययोर्दुर्भगानादेययोश्च केवलकेवलयोरप्युदयमिच्छन्ति तन्मतेन द्विचत्वारिंशति द्विचत्वारिंशद्भङ्गाः यतस्तन्मतेन तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाण्यधिकृत्य नव, मनुष्यानाधिकृत्य नव, देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैव । पञ्चाशत्येकादश भङ्गास्ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते अन्यत्र पञ्चाशतो ऽप्राप्यमाणत्वात् एकपञ्चाशत्येकविंशतिर्भङ्गाः तत्र नैरयिकानधिकृत्य चत्वारो वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्य चत्वारः आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य एकः देवानाश्रित्य चत्वार इत्येकविंशतिः । मतान्तरेण पुनर्वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यदेवानाधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इत्येकपञ्चाशति तदपेक्षया त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः (सवारसातिसयपत्ति) स द्वादशाधिका त्रिंशतिभङ्गानां द्विपञ्चाशत्यवगन्तव्या । तत्र एकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं त्रिकं प्राप्यते इति नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतं मनुष्यानप्यधिकृत्य पञ्चचत्वारिंशतमिति । अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य प्रत्येकं द्वे द्वे शते भङ्गानामेकोननवत्यधिके प्राप्येते इति तदपेक्षया द्विपञ्चाशति भङ्गानां शतानि षट् प्राप्यन्ते । त्रिपञ्चाशति भङ्गानामेकविंशतिः । तद्यथा नैरयिकानधिकृत्य एकः एकेन्द्रियानाधिकृत्य षट् वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्य चत्वारः वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्य चत्वारः आहारिकशरीरिणोऽधिकृत्य पुनरेकस्तीर्थकरमप्याश्रित्यैकः देवानप्यधिकृत्य चत्वारः अत्रापि मतान्तरेण वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते इति तदपेक्षया त्रिपञ्चाशति त्रयस्त्रिंशद्भङ्गाः चतुःपञ्चाशति भङ्गानां षट् शतानि षडुत्तराणि । तद्यथा नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियांस्त्रीन्द्रियांश्चतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ प्राप्येते इति षट् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानाधिकृत्याष्टौ स्वभावस्थान्मनुष्यानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके वैक्रिय-

मनुष्यानधिकृत्य चत्वारः संयतान् वैक्रियशरीरिणोधिकृत्य चत्वारः । संयतानधिकृत्य द्वौ, देवानधिकृत्योद्योतेन सहैकः, आहारिकशरीरिणः संयतानधिकृत्य द्वौ, देवानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि प्राप्यन्ते इति । अत्रापि मतान्तरेण प्रकृतिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते शेषं तथैवेति । तदपेक्षया चतुःपञ्चाशति द्व्यधिकानि द्वादश शतानि पञ्च शतानि भङ्गानां नव शतानि एकाधिकानि तद्यथा नैरयिकानधिकृत्यैकः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः प्राप्यन्ते इति द्वादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः प्राप्यन्ते इति द्वादश । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियशरीरिणोधिकृत्याष्टौ, मनुष्यान् स्वभावस्थानधिकृत्य द्वे शते अष्टाशीत्यधिके, वैक्रियशरीरिणोधिकृत्य चत्वारः,वैक्रियसंयतानधिकृत्योद्योतेन सहैकः, आहारकशरीरिणोधिकृत्य द्वौ, तीर्थकरमधिकृत्यैकः, देवानधिकृत्याष्टाविति । मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश मनुष्यान् स्वभावस्थानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, देवानधिकृत्य षोडश भङ्गाः प्राप्यन्ते । शेषं तथैवेति तदपेक्षया पञ्चपञ्चाशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि षट्पञ्चाशति भङ्गानामेकोनसप्तत्यधिकानि चतुर्दश शतानि तद्यथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं षट् प्राप्यन्ते इति अष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् स्वभावस्थानधिकृत्याष्टौ शतानि चतुःपञ्चाधिकानि, वैक्रियशरीरिणोधिकृत्य चत्वारः मनुष्यानधिकृत्य पञ्चशतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियशरीरिणः संयतानधिकृत्य उद्योतेन सह एकः आहारकशरीरिणः संयतानधिकृत्यैकः तीर्थकरमाश्रित्यैकः, देवानाश्रित्य चत्वारः । अत्र मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकानि भङ्गाना भवन्ति । सप्तपञ्चाशति भङ्गाना पञ्चशती एकोननवत्यधिका । तद्यथा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियानधिकृत्य प्रत्येकं चत्वारः २ प्राप्यन्ते इति द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्चाश (तानि) ति एकादश शतानि भङ्गाना प्राप्यन्ते षट्सप्तत्यधिकानि । तीर्थकरमाश्रित्यैकः इति । अत्रापि मतान्तरेण तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि भङ्गानां प्राप्यन्ते । शेषं तथैवेति । तदपेक्षया सप्तपञ्चाशति पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि भङ्गानां भवन्ति " ॥

सम्प्रति गतिमाश्रित्य स्थानप्ररूपणां करोति ।

पणनवगट्ठकाणि, गइसुट्ठाणि नामकम्माणं ।

एगेगमेव मेने य, साहितिगे य पगईओ ॥२५२॥

नरकगतावुदीरणास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विचत्वारिंशत् एकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशच्चेति । तिर्यग्गतावेकचत्वारिंशत् वर्ज्यानि शेषाणि नवोदीरणास्थानानि मनुष्यगतावपि सयोगिकेवल्यादीनधिकृत्य पञ्चाशत् वर्ज्यानि शेषाणि नवोदीरणास्थानानि देवगतौ षडुदीरणास्थानानि मनुष्यगतिसयोगिकेवली तद्यथा द्विचत्वारिंशदेकपञ्चाशत् त्रिपञ्चाशत् चतुःपञ्चाशत् पञ्चपञ्चाशत् षट्पञ्चाशच्चेति । एतानि च सर्वाण्यपि प्राक् सप्रपञ्चं भावितानीति नेह भूयो भाव्यन्ते । तदेवमुक्तानि नामकर्मणः सप्रपञ्चमुदीरणास्थानानि । सम्प्रति शेषकर्मणामुदीरणास्थानप्रतिपादनार्थमाह (सेसकम्माणंति) शेषकर्मणां ज्ञानावरणवेदनीयायुर्गोत्रान्तरायलक्षणानामुदीरणास्थानमेकैकमवगन्तव्यं तद्यथा ज्ञानावरणान्तरायगोः पञ्चप्रकृत्यात्मकमेकैकमुदीरणास्थानं वेदनीयायुर्गोत्राणान्तु वेद्यमानैकप्रकृत्यात्मकं नहामीषां द्विव्यादिकाः प्रकृतयो युगपदुदीर्यन्ते युगपदुदयाभावात् एतच्च ज्ञानावरणीयवेदनीयानामेकैकमुदीरणास्थानं प्रागुक्तैकैकप्रकृत्युदीरणायां स्वामित्वं साधयित्वा निश्चित्य गुणस्थानेषु नारकादिषु गतिषु स्वयमेव ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । तदेवमुक्ता प्रकृत्युदीरणा । सम्प्रति स्थित्युदीरणाभिधानावसरस्तत्र चेति अर्थाधिकारास्तद्यथा लक्षणं भेदः साद्यनादिप्ररूपणा अद्धाच्छेदः स्वामित्वं चेति ॥

तत्र लक्षणभेदयोः प्रतिपादनार्थमाह ।

संपत्तिए य उदये, पओगओ दिस्सए उईरणा सा ।

सेचिकाठिईहिं जाही, दुविहा मूलोत्तराए य ॥२५३॥

इह द्विविध उदयः सम्प्राप्त्युदयोऽसम्प्राप्त्युदयश्च । तत्र यत्कर्म दलिकं कालप्राप्तं सदनुभूयते स सम्प्राप्त्युदयः । तथाहि कालक्रमेण कर्मदलिकस्योदये हेतुद्रव्यक्षेत्रादिसामग्रीसम्प्राप्तौ सत्यामुदयः सम्प्राप्त्युदयः । यत्पुनरकालप्राप्तं कर्म तद्दलिकमुदीरणा । तथाचाह या स्थितिरकालप्राप्तापि सती प्रयोगेण-उदीरणाप्रयोगेण सम्प्राप्त्युदये पूर्वोक्ते स्वरूपे प्रक्षिप्ता सती दृश्यते केवलचक्षुषा सा स्थित्युदीरणा । एष लक्षणनिर्देशः । अधुना भेद उच्यते (सेचिकेत्यादि) इह यासां स्थितीनां भेदपरिकल्पना सम्भवति ताः पुरुषपरिभाषया सेचिका इत्युच्यन्ते ताश्च द्विधा उदीरणाया प्रायोग्या अप्रायोग्याश्च काश्चाप्रायोग्या इति चेदुच्यतेबन्धावलिका गता सक्रमावलिकागताश्च उदयावलिकागताश्च प्रायोग्याः "नकम्मसंघ उदयवट्टणासिहईणा करणाइ" इति वचनप्रामाण्यात् शेषाश्च सर्वा अपि प्राय प्रायोग्या तत्रोदये सति यासां प्रकृतीनामुत्कृष्टबन्धः सम्भवति तासामुत्कर्षतः आवलिका द्विकहीना सर्वाप्युत्कृष्टा स्थितिरुदीरणाप्रायोग्या तथाहि उदयोत्कृष्टबन्धानां तु ययासनवमुदीरणाप्रायोग्या । आवलिकाद्विकहीनायाश्चोत्कृष्टा स्थितेर्यावन्त समयास्तावन्त उदीरणाया प्रभेदा तथाहि उदयावलिकाया उपरिवर्तिनी समयमात्रा स्थितिः कस्याप्युदीरणाप्रायोग्यस्य तावन्यत्रशेषीकृता तिष्ठति एवं कस्यापि द्विसमयमात्रा कस्यापि त्रिसमयमात्रा एव । तावद्वाच्यम् आवलिका द्विकहीना कस्यापि सर्वोत्कृष्टा स्थितिरिति । अक्षरयोजना त्वियम् सचिकास्थितिभ्यः उदीरणाप्रायोग्याभ्यो यकाभ्यो यावतीभ्य आवलिकाद्विकहीनोत्कृष्टस्थितिसमयप्रमाणाभ्य इत्यर्थं उदीरणाप्रयोगेण समाकृष्य स्थितिः सम्प्राप्त्युदये दीयते तावती तावद्भेदप्रमाणा सा एषा उदीरणा । तदेवं कृता भेदप्ररूपणा । सम्प्रति साद्यनादिप्ररूपणा सकर्त्तव्या । सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च ।

तत्र मूलप्रकृतिविषया साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह ।

मूलठिइअजहन्ना, मोहस्स चउव्विहा तिहा सेसा ।

वेउणिया उए दुहासे, सविगप्पा उ उज्जामि ॥२५४॥

मूलस्थितिशब्दात्प्राकृतत्वात् प्रत्येकं षष्ठीविभक्तिलोपः ततोऽयमर्थः मूलप्रकृतीनां मध्ये मोहस्य मोहनीयस्थितेरुदीरणा अजघन्या चतुर्विधा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च। तथामोहनीयस्य जघन्या स्थित्युदीरणा सूक्ष्मसंपरायक्षपकस्य स्वगुणस्थानकसमयाधिकावलिका शेषे वर्तमानस्य भवति शेषकालं त्वजघन्या सामाशेषे वर्तमानस्य भवति । ततोऽन्यत्र सर्वत्राप्यजघन्या सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकेषु न भवति ततः प्रतिपाते च भवति ततोऽसौ सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवा अभव्यानाम्, अध्रुवा भव्यानां, शेषा ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणां स्थित्युदीरणा। अजघन्या त्रिधा त्रिप्रकारा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथाहि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां जघन्या स्थित्युदीरणा क्षीणकषायस्य स्वगुणस्थानसमयाधिकावलिका शेषे वर्तमानस्य भवति शेषकालं त्वजघन्या सा चानादिः सदैव भावात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। नामगोत्रयोस्तु जघन्या स्थित्युदीरणा सयोगिकेवलिचरमसमये सा चानादिरध्रुवा च। ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा चानादिः ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । वेदनीयायुरजघन्या स्थित्युदीरणा द्विधा तद्यथा सादिरध्रुवा च तथा सर्वा हि वेदनीयस्य जघन्या स्थित्युदीरणा एकेन्द्रियस्य सर्वस्तोकस्थितिसत्कर्मणो लभ्यते ततस्तस्यैव समयान्तरे प्रवर्त्तमानसत्कर्मणोऽजघन्या ततः पुनरपि जघन्येति जघन्या। अजघन्या च सादिरध्रुवा च आयुषः पर्यन्तावलिकायां न भवति परभवोत्पत्तिसमये च भवति सा च सादिरध्रुवा च। तथा सर्वासां प्रकृतीनां शेषविकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यलक्षणा द्विधा द्विप्रकारा यथा सादयो ध्रुवाश्च तथाहि सर्वेषामपि कर्मणामायुर्वर्जानामुत्कृष्टा स्थित्युदीरणा मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य कियत्कालं प्राप्यते। ततः समयान्तरे तस्याप्यनुत्कृष्टा ततः पुनरपि समयान्तरे उत्कृष्टा संक्लेशे विशुद्धा प्रायः प्रतिसमयमन्यथाभावात् ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे। जघन्या च द्विधा प्रागेव भाविता अयुषां तु विकल्पत्रये युक्तिः प्राक्तन्येव प्रायोऽवसेया। तदेवं कृता मूलप्रकृतिविषया साधनादिप्ररूपणा।

सम्प्रत्युत्तरविषयां तां विवक्षुराह ।

मिच्छत्तस्सचउद्धा, अजहरणा धुवं उदीरणाण तिहा ।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पाय सेसाणं ॥२५५॥

मिथ्यात्वस्य अजघन्या स्थित्युदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च। तत्र मिथ्यादृष्टेः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतो मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितौ समयाधिकावलिका शेषायां जघन्या स्थित्युदीरणा सादिरध्रुवा च सम्यक्त्वाच्च प्रतिपतितो जघन्या सा च सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया। तथा ध्रुवोदीरणानां पञ्चविधज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणपञ्चविधान्तरायतैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभागुरुलघुनिर्माणाख्यानामजघन्या स्थित्युदीरणा त्रिधा । तत्र प्रथमानादिर्ध्रुवाध्रुवा च तथाहि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायस्य स्वगुणस्थानकसमयाधिकावलिका शेषे वर्तमानस्य स्थित्युदीरणा । सा च सादिरध्रुवा च । शेषा सर्वाप्यजघन्या सा चानादिः सदैव भावात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तैजससप्तकादीनां च त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां नाम च प्रकृतीनां जघन्या स्थित्युदीरणा सयोगिकेवलिचरमसमये सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा चानादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । एतासामेव मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामष्टचत्वारिंशत्संख्याकानां शेषविकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यलक्षणा द्विप्रकारास्तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च। तथा एतासामुत्कृष्टा स्थित्युदीरणा मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य कियत्कालं लभ्यते ततः समयान्तरे तस्याप्यनुत्कृष्टा ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे जघन्या च प्रागेव भाविता (सव्वविगप्पा य सेसाणं ति) शेषाणां शेषप्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वे विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्यरूपा विकल्पास्तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च साद्यध्रुवत्वं चाध्रुवोदयत्वाद्भावनीयम् कृता साधनादिप्ररूपणा ॥

सम्प्रत्यद्धाच्छेदस्य स्वामित्वस्य च प्रतिपादनार्थमाह ॥

अद्धाओ सामित्तं, पिठइ संकमे जहा नवरि ॥
तंवयन्तु निरउयगई, एवा विनिस्सहिहिम्मलीईसु ॥२५६॥

अद्धाच्छेदः स्वामित्वं च यथा स्थितिसंक्रमेऽभिहितं तथैवात्राप्यवगन्तव्यं नवरमत्र विशेषमक्तप्रकरणे तदावेदयेऽपि स्थितिसंक्रम उक्तः । उदयाभावेऽपि संक्रमस्य भावात्। उदीरणा पुनरियं तदुदयवत एव वेदितव्या । उदयाभावे उदीरणाया अभावात् । इदमपि संक्षिप्तमुक्तमिति किंचिद्विशेषतो भाव्यते। तत्र येषां कर्मणामुदये सति बन्धोत्कृष्टा स्थितिस्तेषां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयतैजससप्तकवर्णादिविंशतिनिर्माणस्थिरास्थिरशुभाशुभागुरुलघुमिथ्यात्वषोडशकषायत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकहुण्डसंस्थानाशुभवर्णनादेयायशःकीर्तिवैक्रियसप्तकपञ्चेन्द्रियजातिहुण्डोपघातपराघातोच्छ्वासतपोद्योतासन्नविहायोगतिनीचैर्गोत्ररूपाणां षडशीतिसंख्यानां बन्धावलिकायामतीतायामुदयावलिकात उपरितनी सर्वापि स्थितिरुदीरणाप्रायोग्या केवलं तानि कर्माणि वेद्यमानानां वेदितव्या । उदयसत्त्वेवोदीरणाया अभावात् । आवलिकाबन्धावलिकारहिता च सर्वा स्थितिः । इह आवलिकाद्विकरूपोऽद्धाच्छेदः तदुदयवतस्तदुदीरणा स्वामिनः येषां तु कर्मणां मनुजगतिसातवेदनीयस्थिरादिषट्कहास्यादिषट्कवेदत्रयशुभविहायोगतिप्रथमसंस्थानपञ्चकप्रथमसंहननपञ्चकोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकोनत्रिंशत्संख्याकानामुदये सति संक्रमेणोत्कृष्टा स्थितिः । तेषामावलिका त्रिकहीना सर्वा स्थितिरुदीरणा प्रायोग्या केवलं तानि कर्माणि वेद्यमाना वेदितव्या अत्र बन्धावलिका संक्रमावलिकारहिता च सर्वा स्थितिर्यत्स्थितिरिह आवलिकात्रिकरूपोऽद्धाच्छेदस्तदुदयवन्तस्तदुदीरणास्वामिनः । एवमुत्तरत्रापि यावत् यावानुपरितनायामयोग्यः कालस्तावानद्धाच्छेदस्तदुदयवन्तस्तदुदीरणास्वामिना वेदितव्याः । तथा सप्ततिसागरोपमकोटीप्रमाणा मिथ्यात्वस्य स्थितिर्मिथ्यादृष्टिना सता बद्धा च ततोऽन्तर्मुहूर्तकालं यावन्मिथ्यात्वमनुभूय सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ततः सम्यक्त्वे सम्यङ्मिथ्यात्वे चान्तर्मुहूर्तोना मिथ्यात्वस्थितिः सकलामपि संक्रमयति संक्रमावलिकायां चातीतायामुदीरणा योग्या तत्र संक्रमावलिकातिक्रमेऽपि सान्तर्मुहूर्ता नैव तत सम्यक्त्वमनुभवतः सम्यक्त्वस्यान्तर्मुहूर्तोना सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिप्रमाणा उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या ततः कश्चित् सम्यक्त्वेऽप्यन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते ततः सम्यग्मिथ्यात्वमनुभवतः सम्यग्मिथ्यात्व-

स्यान्तर्मुहूर्त्तं द्विकोना सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिप्रमाणा उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवति । तथा आहारकमप्रमप्रमत्तेन सता तद्योग्योत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टस्थितिक बद्ध तत्कालोत्कृष्टस्थितिक मूलप्रकृत्यभिन्नप्रकृत्यन्तरदलिकं च तत्र संक्रमितमतस्तत्सर्वोत्कृष्टा तत्तत्सागरोपमकोटाकोटीस्थितिक जातं यश्चान्तरं चान्तर्मुहूर्त्तमतिक्रम्य आहारकशरीरमारभते । तथारम्भमाणा लब्ध्युपजीवनेनौत्सुक्यभावत प्रमादभागभवति ततस्तस्य प्रमत्तस्य सत आहारकशरीरमुत्पादयत आहारकसप्तस्यान्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टास्थितिरुदीरणायोग्या । अत्र प्रमत्तस्य सत आहारकशरीरारम्भत्वात् उत्कृष्टस्थित्युदीरणा स्वामित्वप्रमत्तसंयत एव वेदितव्या । शेषप्रकृतीनां सूत्रकृदेव विशेषमाचष्टे (निरयगएवाविति) नरकगतेरपिशब्दात् नरकानुपूर्व्याश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा उत्कृष्टां स्थितिं बध्वा उत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरं चान्तर्मुहूर्त्ते व्यतिक्रान्ते सति तिसृषु अधस्तनपृथिवीषु मध्ये अन्यतरस्यां समुत्पन्नस्तस्य प्रथमसमये नरकगतेरन्तर्मुहूर्त्तहीने सर्वापि स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उदीरणा योग्या भवति । नरकानुपूर्व्यां चापान्तरालगतौ समयत्रय यावदुत्कृष्टास्थितिरुदीरणायोग्या भवति । अधस्तनपृथिवीत्रयग्रहणे किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते । इह नरकगत्यादीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् अवश्य कृष्णलेश्यापरिणामोपेतो भवति कृष्णलेश्यापरिणाम पञ्चमपृथिव्यामुत्पद्यते । मध्यमकृष्णलेश्यापरिणाम षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टकृष्णलेश्या परिणाम सप्तमपृथिव्यामित्यधस्तनपृथिवीत्रयग्रहण कृतम् ॥

देवगतिदेवमणुआ-णुपुव्वि आयावविगलसुहमतिगे ।
अंतोमुहुत्तभागा, ताव ए गूणंतदुक्कस्स ॥ २५७ ॥

देवगतिर्देवानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीणामातपस्य विकलत्रिकस्य द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिरूपस्य सूक्ष्मत्रिकस्य सूक्ष्मसाधारणपर्याप्तकलक्षणस्य स्वस्वोदये वर्त्तमाना अन्तर्मुहूर्त्तभागा उत्कृष्टा स्थितिबन्धाध्यवसायानन्तमुहूर्त्तं काल यावत्परिभ्रष्टा सन्तस्तावदूनामन्तर्मुहूर्त्तोनां तत्तदुत्कृष्टां देवगत्यादिना उत्कृष्टां स्थितिमुदीरयन्ति । इयमत्र भावना । इह कश्चित् तथाविधपरिणामविशेषभावतो नरकगतेरुत्कृष्टां स्थितिं दशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां बद्धुमारभते ततस्तस्यां देवगतिस्थितौ बध्यमानायामावलिका उपरि बन्धावलिकाहीना आवलिकामात्रहीना जाता देवगतिं च बध्नन् जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् बध्नाति बन्धानन्तर च काल कृत्वा अनन्तरसमये देवो जातस्ततस्तस्य देवत्वमनुभवतो देवगतिरन्तर्मुहूर्त्तोना विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उत्कृष्टा स्थित्युदीरणायोग्या भवति । ननु कथमत्रानुसारिणावलिकात्रिकान्तर्मुहूर्त्तोना प्राप्नोति कथमुच्यते अन्तर्मुहूर्त्तोनेति नैष दोष यत आवलिका प्रक्षेप्येति तदन्तर्मुहूर्त्तमेव केवलं गृहान्तरमवगन्तव्यमित्येव देवानुपूर्व्या अपि वाच्यम् । तथा कश्चिन्नरकानुपूर्व्या उत्कृष्टां स्थितिं विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणं बध्वा तत शुभपरिणामविशेषतो मनुष्यानुपूर्व्या उत्कृष्टां स्थितिं पञ्चदशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाण बद्धुमारभते ततस्तस्यां मनुष्यानुपूर्व्या स्थितौ बध्यमानायामावलिकायामुपरि बन्धावलिकाहीनामावलिकामुपरितनीं सर्वामपि नारकानुपूर्वी स्थितिं संक्रमयति ततो मनुष्यानुपूर्व्या अपि विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा स्थितिरावलिकामात्रहीना जाता मनुष्यानुपूर्वीं च बध्नन् जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं

काल यावद्भवति तथान्तर्मुहूर्त्तमावलिकोनविंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणा उदीरणा योग्या। ननु मनुष्यगतेरपि पञ्चदशसागरोपमकोटाकोट्यो बन्धेनोत्कृष्टा स्थितिं प्राप्यते तथा मनुष्यानुपूर्व्या अपि नत्वेकस्या अपि विंशतिस्तत उभयोरपि संक्रमोत्कृष्टे संक्रमोत्कृष्टत्वात् विशेषे च कथं मनुष्यगतेरिव मनुष्यानुपूर्व्या अपि आवलिकात्रिकहीनोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या न भवति तत्र युक्त मनुष्यानुपूर्व्या अनुदयसंक्रमोत्कृष्टत्वात् तदुक्त " मणुयाणुपुव्विमीसग, आहारग देवजुअलविगलाणि । सुहुमातिगं तिन्नि अणुदय सकमणे उक्कोसा , अनुदय संक्रमोत्कृष्टाना च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तोनाया एवोत्कृष्टस्थितेरुदीरणायोग्यत्वात् मनुष्यगतिस्तूदयसंक्रमोत्कृष्टा तदुक्त " मणुयगई सायंसं सम्म थिरहास छक्क वेय सुभ । खगई रिसभ चउरंस पणुच्च उदसंकमुक्कोसा " ततस्तस्या आवलिकात्रिकहीने चोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवति एवमातपादीनामप्यन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या भवतु आतपानामनुबन्धोत्कृष्ट ततस्तस्य स्थितीनां प्रकृतीनामन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या भवतु आतपानामनुबन्धोत्कृष्टा ततस्तस्य बन्धोत्स्यावलिकाद्विकरहिते चोत्कृष्टस्थितिरुदीरणा प्रायोग्या भावनीया । ननु अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा स्थितीनां प्रकृतानामन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टास्थितिरुदीरणा योग्या भवतु कथमुच्यते अन्तर्मुहूर्त्तोनेति उच्यते इह देव एवोत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमान एकेन्द्रियाणामेकेन्द्रियप्रायोग्याणामातपस्थावरैकेन्द्रियजातीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति नान्य स च तां बध्वा तत्रैव देवभवे अन्तर्मुहूर्त्तं काल यावत् भवति-ष्ठते तत काल कृत्वा बादरपृथ्वीकायिकेषु मध्ये समुत्पद्यते समुत्पन्नस्सन् शरीरपर्याप्त्या पर्याप्त आतपनामोदये वर्त्तमानस्तदुदीरयति तत एव सति तस्यान्तर्मुहूर्त्तोनैवोत्कृष्टा स्थितिरुदीरणा योग्या न भवति आतपग्रहणं चोपलक्षण तेनान्यासामपि स्थावरैकेन्द्रियजातिनरकद्विकतिर्यग्द्विकौदारिकसप्तकान्त्यसहननतिर्यगानुपूर्व्याणामकोनविंशतिसंख्याकानामनुदयबन्धोत्कृष्टानामन्तर्मुहूर्त्तोना उत्कृष्टा स्थितिरुदीरणायोग्या वेदितव्या। तत्र स्थावरैकेन्द्रियजातिनरकद्विकाना भावना कृता शेषाणां क्रियते । तत्र नारकस्तिर्यग्द्विकौदारिकसप्तकान्त्यसंहननानामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा ततो मध्यमपरिणामस्तत्र तत्र चान्तर्मुहूर्त्ते गते सति निजोदये उत्कृष्टोदीरणां करोति ।

तित्थयरस्स पल्लासं, खिज्जइमे जहन्नगे इत्तो ।
थावर जहन्नसते, ए सम अहिगं व बंधंतो ॥२५८॥
गंतूणावलिमित्त, कसाय बारसगभय दुगछाणं ।
निद्दा य पंचगस्स य, आया उज्जो य नामस्स ॥२५९॥

इह पूर्वं तीर्थकरनाम्न स्थितिशुभैरसंख्येयभागैरपवर्त्यापवर्त्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रा शेषीकृता ततोऽनन्तरसमये उत्पन्नकेवलज्ञान स नामुदीरयति उदीरयतश्च प्रथमसमये उत्कृष्टा उदीरणा सर्वदैव च इयमात्रैव स्थितिरुत्कृष्टा तीर्थकरनामन उदीरणायोग्या प्राप्यते नाधिकेति । तदेवमुत्कृष्टस्थित्युदीरणास्वामित्वमुक्तम् । सम्प्रति जघन्यस्थित्युदीरणास्वामित्वमाह । (जहन्नगे इत्तोत्ति) इत उर्ध्वं जघन्ये जघन्यस्थित्युदीरणाया स्वामित्वमभिधीयते प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति । (थावरजहन्ने यादि) स्थावरस्य सतो यत्जघन्यस्थित्युदीरणा सर्वस्तोक स्थितिसत्कर्म तेन समधिक वा मनाग्मात्रे-

णाभिनवकर्मा स एव जघन्यस्थितिकर्मा स्थावर एकेन्द्रियो भवन् बन्धावलिकायामतीतायामित्यर्थः । आद्य द्वादशकषाय-भयजुगुप्सानिद्रापञ्चकातपोद्योतनाम्नामेकाधिशतिप्रकृतीनां जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति इहातपोद्योतवर्जानामेकोनविंशतिप्रकृतीनां ध्रुवबन्धित्वादातपोद्योतयोस्तु प्रतिपक्षाभावात् अन्यत्र जघन्यतरा स्थितिर्न प्राप्यते ततः एकेन्द्रिय एव यथोक्तस्वरूपम् । आसां प्रकृतीनां जघन्यस्थित्युदीरणास्वामी ।

एगिंदिय जोग्गाणं, इयरा बंधत्त आलिगं गंतु ।
एगिंदियागए त-ट्ठिय जाईणमवि एवं ॥ ३६० ॥

एकेन्द्रियाणामेव उदीरणा संप्रति या योग्याः प्रकृतयस्ता एकेन्द्रिययोग्याः । एकेन्द्रिया जातिस्थावराः सूक्ष्मसाधारणनामानस्तासामेकेन्द्रियो जघन्यास्मिन् स्थितिः सत्सत्कर्मा इतरा एकेन्द्रियजात्यादिप्रतिपक्षभूता द्वीन्द्रियजात्यादिका प्रकृतीर्बध्नाति । तद्यथा एकेन्द्रियजाति द्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणानां त्रसबादरप्रत्येकनामानि ततः एकेन्द्रियजात्यादीनं बध्नाति ततो बन्धावलिकां गत्वा अतिक्रम्य बन्धावलिकायाश्चरमसमये एकेन्द्रियजात्यादीनां जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । इयमत्र भावना एकेन्द्रियः सर्वजघन्यस्थितिसत्कर्मा द्वीन्द्रियजातीः सर्वा अपि परिपाट्या बध्नाति ततस्तावद्बन्धानन्तरमेकेन्द्रियजातिर्वेदधुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरम समये पूर्वबद्धायास्तस्या एकेन्द्रियजातिर्जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । इह बन्धावलिकाया अनन्तरसमये बन्धावलिका प्रथमसमयबद्धा । अपि च ता उदीरणामायान्ति ततो जघन्या स्थित्युदीरणा न प्राप्यते इति कृत्वा बन्धावलिकायाश्चरमसमये इत्युक्तं यावता कालेन प्रतिपक्षभूताः प्रकृतीर्बध्नाति तावता कालेनान्यूना एकेन्द्रियजातिस्थितिर्भवति ततस्तोकतरा प्राप्यते, इति प्रतिपक्षभूतप्रकृतिबन्धोपादानम् । एवं स्थावरसूक्ष्मसाधारणानामपि भावना कर्त्तव्या केवलमेतेषां प्रतिपक्षभूताः प्रकृतयः त्रसबादरप्रत्येकनामानो वेदितव्याः । (एगेंदियागएत्ति) जातीनामपि द्वीन्द्रियादिजातीनामपि एव पूर्वोक्तप्रकारेण एकेन्द्रियादागतस्तत्स्थितिक एकेन्द्रिययोग्यतया जघन्यस्थितिका जघन्या स्थित्युदीरणां करोति । अत्रापीयं भावना । एकेन्द्रियो जघन्यस्थिति सत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य द्वीन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततः पूर्वबद्धां द्वीन्द्रियजातिमनुभवितुमारभते । अनुभवप्रथमसमयादारभ्य च एकेन्द्रियजातिर्दीर्घे काले बद्धुं लभ्यस्ततस्तयैव श्रीन्द्रियजातिर्वेदधुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरमसमये तस्या द्वीन्द्रियजातिरेकेन्द्रियजातिभवोपार्जितस्थितिसत्कर्मापेक्षया, अन्तर्मुहूर्ते चतुष्टयबन्धावलिकाचरमसमये ग्रहणे च कारण प्रागेवोक्तम् । एवं श्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजात्योरपि भावना कार्या ।

वेयणियनो कसाया, सम्मत्तसंघयणपंचनीयाए ।
तिरिय दुगअयमदुभगणा, पुज्जाणं च संतिगए॥३६१॥

सातासातवेदनीयहास्यरत्यरतिशोकपर्याप्तकान्तिमपञ्चसहननचैर्गोत्रतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्व्ययश कीर्त्तिदुर्भगानादेयरूपाणामष्टद्वशप्रकृतीनां सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियगते जघन्या स्थित्युदीरणा । भावना त्वियम् । एकेन्द्रिया जघन्यस्थितिसत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नः उत्पत्तिप्रथमसमयादारभ्य च सातवेदनीयमनुभवन् असातवेदनीय बृहत्तरमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् बध्नाति ततः पुनरपि सातं वेदधुमारभते ततो बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धस्य सातवेदनीयस्य जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति एवमसातवेदनीयस्यापि द्रष्टव्य केवलं सातवेदनीयस्याने असातवेदनीयमुच्चारणीयम् । असातवेदनीयस्य सातवेदनीयमिति हास्यरत्यरतसातवद्भावना कार्या आसमाप्तम् । अपर्याप्तकनाम एकेन्द्रियो जघन्यस्थितिसत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्वृत्य पर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियमध्ये समुत्पन्न उत्पत्तिप्रथमसमयादारभ्य च पर्याप्तकनाम बृहत्तरमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद् बध्नाति ततः पुनरपि अपर्याप्तकनाम वेदधुमारभते बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धस्यापर्याप्तकनाम्नो जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति संहननपञ्चकस्य तु मध्ये वेद्यमानं संहननं मुक्त्वा शेषसंहननं प्रत्येक बन्धकालोऽतिदीर्घो वक्तव्यः । ततो वेद्यमानसंहननस्य बन्धे बन्धावलिकाचरमसमये स्थित्युदीरणा नीचैर्गोत्रमसातवद्वेदितव्यम् । तथा तैजस्कायिको वायुकायिको बादरसर्वजघन्यस्थितिसत्कर्मा पर्याप्तसञ्ज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नस्ततो बृहत्तरमन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावन्मनुजगतिं बध्नाति तद्बन्धानन्तरं च तिर्यग्गतिं वेदधुमारभते । तत आवलिकायाश्चरमसमये तस्यास्तिर्यग्गतेर्जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति एवं तिर्यगानुपूर्व्या अपि वक्तव्य नवरमपान्तरालगतौ तृतीयसमये जघन्या स्थित्युदीरणा वाच्या अयशःकीर्त्तिदुर्भगानादेयानां चासातस्यैव भावना कार्या केवलमिह प्रतिपक्षप्रकृतीनां यशःकीर्त्तिसुभगादेयानां बन्धो वाच्यः ।

अमणागयस्स चिरइ अंत, सुरनरयगइउव्वंगाणं ।
आणुपुव्वीति समइगे, नराए एगेंदिआ गयगे ॥३६२॥

अमनस्कादसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियादुद्वृत्य देवेषु वा मध्ये समागतस्य सुरगतिनरकगतिवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्ना स्वस्वायुर्दैर्घ्यस्थित्यन्तरे जघन्या स्थित्युदीरणा । एतदुक्तं भवति असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियः सर्वजघन्यां सुरगतिस्थितिं बध्वा बन्धानन्तरं च दीर्घकालं तत्रैव स्थित्वा देवेषु नारकेषु वा मध्ये पल्योपमासंख्येयभागमात्रायुःस्थितिकः समुत्पन्नस्ततस्तस्य देवस्य नारकस्य वा स्वस्वायुषश्चिरस्थित्यन्ते चरमसमये वर्त्तमानस्य यथायोग देवगतिनरकगतिवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नां जघन्या स्थित्युदीरणा स एवासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियो देवस्य नारकस्य वा भवस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानो यथासंख्य देवानुपूर्वीनारकानुपूर्व्योश्च तृतीयसमये जघन्यां स्थित्युदीरणां करोति । (नराए एगेंदिआगयगेत्ति) एकेन्द्रियः सर्वजघन्यमनुष्यानुपूर्वीस्थितिः सत्कर्मा एकेन्द्रियभवादुद्धृत्य मनुष्येषु मध्ये उत्पद्यमानो ऽपान्तरालगतौ वर्त्तमानो मनुष्यानुपूर्व्यास्तृतीयसमये जघन्यस्थित्युदीरणास्वामी भवति ।

समया हिगआलगाए, पढमट्ठिइओ सेसवेलाए ।
मिच्छत्ते वेरासु य, संजलनासु वि य सम्मत्ते ॥३६३॥

इह अन्तरकरणे कृते अधस्तनी स्थिति प्रथमा स्थितिरित्युच्यते । उपरितनी तु द्वितीयेति । तत्र प्रथमस्थितेः शेषायां समयाधिकावलिकाप्रमाणाया मिथ्यात्ववेदत्रिकसंज्वलनचतुष्टय सम्यक्त्वानां जघन्यस्थित्युदीरणा भवति नवरं सम्यक्त्वसंज्वलनलोभयो क्षये उपशमे वा जम या स्थित्युदीरणा द्रष्टव्या ।

विपाकशून्याः । उक्तं च " आउव्वभवविवागाई गईत आउस्स परभवे जम्हा । नो सव्वहा वि उदओ गईण पुण संकमेणत्थि " सुगमा शेषाणां त्वष्टसप्ततिसंख्यानां प्रकृतीनां जीवविपाको रसः जीवमधिकृत्य विपाको यस्यासौ जीवविपाकः (नाणत्तं पच्चयामेत्ति) नानात्व विशेषो यत्तत्र शतकाख्ये ग्रन्थे अनुभागबन्धेनोक्तं तदिह षड्ये उक्तस्य च विशेषमित्यर्थस्तथा तत्र बन्धमाश्रित्य अन्ये एवं मिथ्यात्वादयः प्रत्ययाः उक्ताः । इह उदीरणामाश्रित्य अन्ये एव वक्ष्यमाणा ज्ञातव्याः तत्र नानात्वप्ररूपणार्थमाह ।

मीसुदुट्ठाणे सव्वघाइ, दुट्ठाण एगट्ठाणे य
सम्मत्तमंतरायं च, देसघाई अचक्खूअ ॥ २६८ ॥

सम्यङ्मिथ्यात्व स्थानसंज्ञामधिकृत्य द्विस्थानक द्विस्थानकरसोपेत घातिसंज्ञामधिकृत्य सर्वघातिसम्यक्त्व पुनरुत्कृष्टोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानकरसोपेतं जघन्योदीरणां त्वधिकृत्य एकस्थानकं घातिसंज्ञामधिकृत्य च देशघाति वेदितव्यम् । एतच्च तत्र सर्वथा नोक्तं किन्त्विहैव यत्र तत्राऽनुसारेण भागबन्धमाश्रित्य शुभाशुभप्ररूपणा कृता । न च सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोर्बन्धः संभवति ततः एतद्वर्जा एव तत्राशुभप्रकृतयो निर्दिष्टाः उदीरणा त्वेतयोरपि भवति तत इह विशेषेणैव तयोरुपादानम् । तथान्तरायपञ्चकप्रकारम् । उत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानके एकस्थानके च घातिसंज्ञामधिकृत्य देशघाति वेदितव्यम् । बन्धं प्रतीत्य पुनश्चतुःप्रकारेऽपि रसस्तद्यथा-चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके एकस्थानके च । अचक्षुर्दर्शन घातिसंज्ञामधिकृत्य देशघाति ।

ठाणेसु चउसु अपुमं, दुठाणे कक्खडगुरुकंच ।
आणुपुव्वीओ तीसं, नरतिरियगंत जोग्गा य ॥२६९॥

नपुंसकवेदो बन्धं प्रतीत्य त्रिप्रकारे रसे । तद्यथा चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके च । अत्र तूत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य चतुःस्थानके अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य चतुःस्थानके त्रिस्थानके एकस्थानके च । ननु बन्धाभावे कथमुदीरणायामेकस्थानको रसो नपुंसकवेदस्य प्राप्यते उच्यते क्षपणाकाले रसघातं कुर्वतः तस्य एकस्थानकस्यापि रससंभवात् । तथा कर्कशनाम गुरुनाम च बन्धं प्रतीत्य चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके च । इह त्वनुभागोदीरणामधिकृत्य द्विस्थानके तथा चतस्र आनुपूर्व्यो यावन्नरतिरश्चामुदयं प्रति एकान्तयोग्याः त्रिंशत् प्रकृतयस्तद्यथा-मनुष्यायुस्तिर्यगायुर्गतिर्मनुष्यगतिरेकेन्द्रियजातिर्द्वीन्द्रियजातिस्त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियजातिरौदारिकसप्तकम् । आद्यन्तवर्जसंस्थानचतुष्टयसंहननषट्कमातपस्थावरसूक्ष्मपर्याप्तसाधारणं चेति । ता अपि बन्धं प्रतीत्य चतुःस्थानके,,त्रिस्थानके द्विस्थानके च । इह त्वनुभागोदीरणामुत्कृष्टानुत्कृष्टां चाधिकृत्य द्विस्थानके रसे वेदितव्याः ।

वेया एगट्ठाणे, दुट्ठाणे वा अचक्खुचक्खू अवेदा ।
जस्सत्थि एगमवि, अक्खरं तु तस्सेगठाणाणि ॥२७०॥

स्त्रीवेद पुरुषवेदोऽनुभागोदीरणामुत्कृष्टामधिकृत्य द्विस्थानके अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य द्विस्थानके एकस्थानके वा ऽवगन्तव्यौ । एवमचक्षुश्चक्षुर्दर्शनावरणे च बन्धं प्रतीत्य पुनः स्त्रीवेदश्चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके वा पुरुषवेदोऽचक्षुर्दर्शनावरणे चक्षुर्दर्शनावरणे च चतुःप्रकारेऽपि । तद्यथा चतुःस्थानके त्रिस्थानके द्विस्थानके एकस्थानके च । ननु " देसघाई अचक्खुयत्ति " प्रागेवोक्तं तत्किमर्थं पुनरिहाचक्षुर्दर्शनावरणोपादानमुच्यते स्थाननियमार्थम् । पूर्वं हि देशघातित्वमेवाचक्षुर्दर्शनावरणस्योक्तमत्र तु रसस्थाननियमः । (जस्सत्थिएगंत्ति) यस्य जीवस्य एकमप्यक्षरं सर्वपर्यायैः परिज्ञातं वर्त्तते तस्य श्रुतकेवलिनो मतिश्रुतावधिदर्शनावरणप्रकृतीनामनुभागोदीरणायामेकस्थानको रसः प्राप्यते संज्वलनानां तु बन्धे अनुभागोदीरणायां च चतुःप्रकारेऽपि रसः । तद्यथा । चतुःस्थानकः त्रिस्थानको द्विस्थानक एकस्थानकश्च ।

मणनाणं सेससमं, मीसगसम्मत्तमवि य पावेसु ।
छट्ठाणवडियहीणा, उक्कोसाणुभागुदीरणा कुणइ ॥२७१॥

मनःपर्यायज्ञानं शेषैः कर्मभिः समं वेदितव्यम् । इयमत्र भावना । यथा शेषकर्मणामनुभागोदीरणा चतुःस्थानकस्य त्रिस्थानकस्य द्विस्थानकस्य चरमस्य भवति तथा मनःपर्यायज्ञानावरणकर्मणामनुभागोदीरणा वरणस्यापि द्रष्टव्या एवं पुनर्मनःपर्यायज्ञानावरणस्य चतुःप्रकारोऽपि रसो भवति शेषकर्मणां तु बन्धे त्रिप्रकारस्तद्यथा चतुःस्थानकस्त्रिस्थानको द्विस्थानकश्च । तानि च शेषकर्माण्यमूनि । तद्यथा केवलज्ञानावरणं निद्रापञ्चकं केवलदर्शनावरणं च सातासातवेदनीये, मिथ्यात्वं द्वादश कषायाः षड् नोकषायाः नरकायुर्देवायुः नरकगतिर्देवगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्तैजससप्तकं वैक्रियसप्तकमाहारकसप्तकं समचतुरस्रसंस्थानं हुण्डकसंस्थानं वर्णपञ्चकं गन्धादिकं रसपञ्चकं स्निग्धरूक्षमृदुलघुशीतोष्णरूपं षट्कम् अगुरुलघूपघातपराघातमुच्छ्वासोद्योतप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भग दुःस्वरसुस्वरानादेययशःकीर्त्तिनिर्माणतीर्थकराख्यगोत्रनीचैर्गोत्राणि च । एतेषां च एकोत्तरशतसंख्यानां शेषकर्मणामुत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य चतुःस्थानको रसः । अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य चतुःस्थानकस्त्रिस्थानको द्विस्थानकश्च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणानामुत्कृष्टामनुभागोदीरणामधिकृत्य रसः । स च घाती अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य सर्वघाती देशघाती वा । केवलज्ञानावरणनिद्रापञ्चकमिथ्यात्वद्वादशकषायाणामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा अनुभागोदीरणामधिकृत्य रसघाती सर्वघाती सातासातवेदनीयायुश्चतुष्टयसकलनामप्रकृतिगोत्रद्विकानामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा उदीरणामधिकृत्य रसः सर्वघाती अनुत्कृष्टां त्वधिकृत्य सर्वघाती वा प्रतिपत्तव्यः । इदानीमशुभप्रकृतिविपर्यविशेषमाह (मीसगसम्मत्तेत्ति) अपि च सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्वं चानुभागोदीरणामधिकृत्य पापेषु पापकर्मसु मध्येऽवगन्तव्यम् । घातिस्वभावतया तयोः रसस्य अशुभत्वात् शेषप्रकृतयस्तु यथा शतकग्रन्थे अनुभागबन्धे शुभाशुभाश्चोक्तास्तथात्राप्यवगन्तव्या । कीदृशे अनुभागसत्कर्मणि वर्त्तमान उत्कृष्टामनुभागोदीरणां करोति उच्यते-(छट्ठाणवडियहीणत्ति) अनुभागसत्कर्मणि षट्स्थापना पतितहीनादपि उत्कृष्टमनुभागोदीरणां करोति उच्यते प्रवर्त्तते एतदुक्तं भवति यत्सर्वोत्कृष्टमनुभाग सत्कर्म तस्मिन् अनन्तभागहीने वा संख्यातभागहीने वा असंख्येयगुणहीने वा अनन्तगुणहीने वा उत्कृष्टामनुभागोदीरणा प्रवर्त्तते यतोऽनन्तानन्तस्पर्द्धकानामनुभाग

साइअणाईधुव, अधुवा य तस्सेसिगाय दुविगप्पा ।
आउस्स साइअधुवा, सव्वविगप्पाउ विन्नेया ॥ १८९ ॥

मोहनीयवर्ज्यानां त्रयाणां घातिकर्मणामजघन्या अनुभागोदीरणा त्रिधा त्रिप्रकारा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा येषां क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिकायां शेषायां स्थितौ जघन्या अनुभागोदीरणा च सादिरध्रुवा च। शेषकाल त्वजघन्या सा चानादिर्ध्रुवोदीरणात्वात् । ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया तथा द्वयोर्नामगोत्रयोरनुत्कृष्टानुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा ह्यनयोरनुत्कृष्टानुभागोदीरणा सयोगिकेवलिनि सा च सादिरध्रुवा च। शेषकाले त्वनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणात्वात्। ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा वेदनीये अनुत्कृष्टा मोहनीये वा जघन्यानुभागोदीरणा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तथाहि उपशान्तश्रेण्यां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने यद्बन्धसातवेदनीय तस्य सर्वार्थसिद्धिसंप्राप्तौ प्रथमसमये या उदीरणा प्रवर्त्तते सा उत्कृष्टा। सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चाप्रमत्तगुणस्थानकादौ न भवति ततः प्रतिपाते च भवति ततोऽसौ सादिः तत्र स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। तथा मोहनीयस्य जघन्यानुभागोदीरणा सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य समयाधिकावलिका शेषाया स्थितौ भवति सा च सादिस्तदनन्तरसमये वा भावादध्रुवा शेषकाले त्वजघन्या सा चोपशान्तमोहगुणस्थानके न भवति। ततः प्रतिपाते च भवति ततोऽसौ सादिः । तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । (तस्सेसियदुविगप्पत्ति) तच्छेषा रीतिः उक्तरीतिव्यतिरिक्ता विकल्पा द्विप्रकारा ज्ञातव्या तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च । तथाहि चतुर्णां घातिकर्मणामुत्कृष्टा अनुत्कृष्टा च अनुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते। ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । तथा नामगोत्रवेदनीया जघन्या अजघन्या वानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । आयुषां तु सर्वे विकल्पाः साद्यध्रुवाः सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदीरणात्वादवसेया। तदेव कृता मूलप्रकृतिविषया साद्यनादिप्ररूपणा।

संप्रत्युत्तरप्रकृतिविषयां ता चिकीर्षुराह ।

मउलहुगाणुकोसा, चउव्विहा तिएहमवि य जहएणा ।
इगधुवा य अधुवा, वीसाए होय णुकोसा ॥ १९० ॥

तेवीसाए अजहएणा, तिया पयाविसेसाविगप्पा ।
सव्वविगप्पा सेसा, एवावि अधुवा य साई य ॥ १९१ ॥

मृदुलघुस्पर्शयोरनुत्कृष्टा अनुभागोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च तथा ह्यनयोरुत्कृष्टानुभागोदीरणा आहारकशरीरस्य संयतस्य भवति । सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्यासर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि चाहारकशरीरमुपसंहरतः सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। तथा त्रयाणा मिथ्यात्वगुरुकर्कशानामजघन्यानुभागोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च । तत्र सम्यक्त्व संयम च युगपत्प्रतिपत्तुकामस्य जन्तोर्मिथ्यात्वस्य जघन्यानुभागोदीरणा सा चानादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा च सम्यक्त्वात्प्रतिपतितसादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । कर्कशगुरुस्पर्शयोर्जघन्यानुभागोदीरणा आहारकशरीरसंयतस्य केवलिसमुद्घातान्निवर्तमानस्य षष्ठसमये भवति सा च सादिरध्रुवा च। समयमात्रत्वात्ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सापि केवलिसमुद्घातान्निवर्तमानस्य सप्तमे समये भवतीत्यादि सादिः। ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत्। तथा तैजससप्तकमृदुलघुवर्द्धशुभवर्णाद्येकादशगुरुलघुस्थिरशुभनिर्माणनाम्नां विंशतिप्रकृतीनामनुत्कृष्टाऽनुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च। तथा ह्येतासामुत्कृष्टानुभागोदीरणा सयोगिकेवलिचरमसमये ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणत्वात् । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा पञ्चविधज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणकृष्णनीलदुरभिसुरभिगन्धतिक्तकटुरूक्षशीतास्थिराशुभपञ्चविधान्तरायरूपाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामजघन्या अनुभागोदीरणा त्रिधा तद्यथा अनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तथा ह्येतासां स्वस्वोदीरणापर्यवसाने जघन्यानुभागोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यजघन्या सा चानादिध्रुवोदीरणत्वात् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (पयाणसेसविगप्पत्ति) एतासां पूर्वोक्तानां शेषप्रकृतीना शेषविकल्पा मृदुलघुविंशतीनां जघन्या जघन्योत्कृष्टा मिथ्यात्वगुरुकर्कशत्रयोविंशतीनां चोत्कृष्टजघन्याः सादयोऽध्रुवाश्च भवन्ति । तथाहि मृदुलघुविंशतीनां जघन्या अजघन्या चानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता । तथा कर्कशगुरुमिथ्यात्वत्रयोविंशतीनां चोत्कृष्टजघन्या सादयो ध्रुवाश्च भवन्ति । तथाहि मृदुलघुविंशतीनामुत्कृष्टा अनुत्कृष्टा चानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्टौ पर्यायेण लभ्यते अशुभप्रकृतित्वात् ततो द्वे अपि साद्यध्रुवे जघन्या च प्रागेव भाविता । शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसङ्ख्यानां सर्वे विकल्पा उत्कृष्टानुत्कृष्टजघन्याजघन्यरूपाः सादयोऽध्रुवाश्चावगन्तव्याः । सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदीरणत्वादवसेया। कृता साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वमभिधातव्य तच्च द्विधा उत्कृष्टोदीरणाविषय जघन्योदीरणाविषय च तत्र प्रथमत उत्कृष्टोदीरणाविषय स्वामित्वमाह ॥

दाणाइ अचक्खूणं, जेट्ठा आयाहीण लद्धिस्स ।
सुहुमस्स चक्खुणो पुण, तेइंदियसव्वपज्जत्ते ॥ १९२ ॥

सूक्ष्मस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य हीनलब्धिकस्य सर्वस्तोकदानाद्यचक्षुर्दर्शनविज्ञानलब्धियुक्तस्यादौ प्रथमसमये वर्तमानस्य पञ्चविधान्तराया चक्षुर्दर्शनावरणरूपाणां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति । तथा त्रीन्द्रियस्य सर्वाभिः पर्याप्तस्य पर्याप्तिचरमसमये चक्षुर्दर्शनावरणस्योत्कृष्टा अनुभागोदीरणा ।

निद्दयपंचगस्स य, मज्झिमपरिणामसंकिलिट्ठस्स ।
अपुमादि असायाणं, निरये जेट्ठठिई सम्मत्तो ॥ १९३ ॥

मध्यमपरिणामस्य तत्प्रायोग्यसंक्लेशयुक्तस्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य निद्रापञ्चकस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति निद्रापञ्चकस्योदयो अत्यन्तविशुद्धस्य अत्यन्तसंक्लिष्टस्य वा न भवतीति कृत्वा मध्यमपरिणामग्रहणम् । तथा अपुमादीनां नपुंसकवेदादीनां रतिशोकभयजुगुप्सानामसातस्य चोत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी नैरयिको ज्येष्ठस्थितिक उत्कृ-

स्थितिकः समाप्त सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो वेदितव्यः।

पंचेंदियतसबायर–पज्जत्तगसायसुस्सरगईणं ।
वेउव्वियउस्सासाणं, देवो जेट्ठट्ठिई सम्मत्तो ॥ २७४ ॥

देवो ज्येष्ठस्थितिक उत्कृष्टस्थितिकस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिक समाप्त सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वविशुद्धः पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसातवेदनीयसुस्वरदेवगतिवैक्रियसप्तकोच्छ्वासरूपाणां दशप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी।

सम्मत्तमीसगाणं, से काले गहिहि मिच्छत्तं ।
हासरईणं सहस्सा–रगस्स पज्जत्तदेवस्स ॥ २७५ ॥

योऽनन्तरे समये मिथ्यात्वं प्रतिपत्स्यते तस्य सर्वसंक्लिष्टस्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्यथासंख्यं स्वस्वोदये उत्कृष्टानुभागोदीरणा । तथा सहस्रारकदेवस्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य हास्यरत्योरुत्कृष्टानुभागोदीरणा ।

गइहुंडुवघायाणि–ट्ठखगइनीयाण दुहचउक्कस्स ।
निरउक्कस्सममत्ते, असमत्ता नारसंते ॥ २७६ ॥

नैरयिक उत्कृष्टस्थितौ वर्त्तमानः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशयुक्तो नरकगतिहुंडसंस्थानोपघातोऽप्रशस्तविहायोगतिनीचैर्गोत्राणां (दुहचउक्कस्सत्ति) दुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिरूपस्य सर्वसंख्यया नवानां प्रकृतीनां दुरुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी । तथा अपर्याप्तकनाम्नो मनुष्योऽपर्याप्तश्चरमसमये वर्त्तमानः सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी । संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियादपर्याप्तान्मनुष्योऽपर्याप्तसंक्लिष्टतर इति तिर्यग्मनुष्यग्रहणम् ।

कक्खडगुरुसंघयणा, पुव्वी पुमसंठाणतिरियनामाण ।
पंचिंदियतिरिक्खो, अट्ठमवासट्ठवासाऊ ॥ २७७ ॥

कर्कशगुरुस्पर्शयोरादिवर्ज्यानाञ्च पञ्चानां संहननानां स्त्रीवेदपुरुषवेदयोरादान्तवर्ज्यानां चतुर्णां संस्थानानां तिर्यग्गतेश्च सर्वसंख्यया चतुर्दशप्रकृतीनां तिर्यक्संज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽष्टवर्षायुरष्टमे वर्तमाने सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी।

मणुओरालियसत्तग–वज्जरिसहनारायसंघयणे ।
मणुओतिपल्लपज्ज–त्तो आउग वि संकिट्ठो ॥ २७८ ॥

मनुष्य पल्योपमायुःस्थितिक सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त सर्वविशुद्धो मनुष्यगत्यौदारिकसप्तकवज्रर्षभनाराचसंहननरूपाणां नवानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी । तथा सर्वोत्कृष्टस्वस्वस्थितौ वर्तमान सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तश्च स्वकीयानामायुषां सर्वविशुद्धो नारकायुषस्तु सर्वसंक्लिष्ट उत्कृष्टानुभागोदीरको भवति ।

न्यस्थितौ वर्तमानो बादरैकेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टः स्थावरनाम्नः स्थावरसाधारणनाम्नः साधारण एकेन्द्रियजातेश्चापि उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामिनो भवन्ति । बादरस्य महान् सर्वसंक्लेशो भवतीति कृत्वा तदुपादानम् ।

आहारतणूपज्जत्त, गो उज्जवं समयओ य लहुगाणं ।
पत्तेयखगइपराघा–याहारतणूण य विसुद्धो ॥ २९० ॥

समचतुरस्रसंस्थानमृदुलघुस्पर्शप्रत्येकप्रशस्तविहायोगतिपराघाताहारकसप्तकरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामाहारकशरीरी संयतस्य सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त सर्वविशुद्ध उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी ।

उत्तरवेउव्विजओ–यणामयाऽऽयवरपुढवी ।
निरयगईणं नाणि आ, तइए समयाणुपुव्वीणं ॥ २९१ ॥

उत्तरवैक्रिये वर्तमानो यातिः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त सर्वविशुद्ध उद्योतनाम्न उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी तथा खरपृथ्वीकायिक उत्कृष्टायां स्थितौ वर्तमान सर्वपर्याप्तिपर्याप्त सर्वविशुद्ध आतपनाम्न उत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी तथा मनुष्यदेवतानुपूर्व्योर्विशुद्धा नरकतिर्यगानुपूर्व्योः संक्लिष्टा निजकगतीनां तृतीयसमये वर्तमाना उत्कृष्टानुभागोदीरकाश्च भवन्ति ।

जोगंते सेसाणं, सुभाणमियरासि चउसु वि गईसु ।
पज्जत्तुक्कसमिच्छस्सो, हीणमणो किलट्ठस्स ॥ २९२ ॥

योगिन सयोगिकेवलिनस्ते सर्वापवर्तमानस्य शेषाणामुक्तव्यतिरिक्तानां शुभप्रकृतीनां तैजससप्तकमृदुलघुवर्ज्यशुभवर्णादिकादशागुरुलघुस्थिरशुभसुभगादेययशःकीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रतीर्थकरनाम्ना पञ्चविंशतिसंख्यानामुत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति इतरासां च शुभप्रकृतीनां मतिश्रुतमनःपर्यायकेवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणमिथ्यात्वषोडशकषायपञ्चान्तरायवर्ज्यशेषकुवर्णादिनवकास्थिराशुभरूपाणामष्टचत्वारिंशत्प्रकृतीनां चतसृष्वपि गतिषु मिथ्यादृष्टेः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तस्य उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति तथा अवधिज्ञानावरणदर्शनावरणयोस्तस्यैव चतुर्गतिकस्य मिथ्यादृष्टेरनवधिकस्य अवधिलब्धिरहितस्योत्कृष्टानुभागोदीरणा भवति अवधिलब्धियुक्तस्य हि प्रभूतोऽनुभाग क्षयं याति तत उत्कृष्टो न लभ्यते इति न लब्धिकस्येत्युक्तम् । तदेवमुक्तमुत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामित्वम् ।

तीनां स्वस्वोदीरणापर्यवसाने जघन्यानुभागोदीरणा । तथा निद्राप्रचलयोरुपशान्तमोहे जघन्यानुभागोदीरणा लभ्यते तस्य सर्वविशुद्धत्वात् ॥

निद्दानिद्दाईणं, पमत्तविरये विसुज्झमाणम्मि ॥
वेयगसम्मत्तस्स, सगखवणोदीरणा चरमे ॥ २९५ ॥

निद्रानिद्रादीनां निद्रा २ प्रचला २ स्त्यानर्द्धीनां प्रमत्तस्य संयतस्य विशुध्यमानस्य अप्रमत्तभावाभिमुखजघन्यानुभागोदीरणा प्रवर्तते । तथा क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतो मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोः क्षपति । तयोर्वेदकसम्यक्त्वस्य क्षायोपशमिकस्य क्षपणकाले चरमोदीरणायां समयाधिकावलिकाशेषायां स्थितौ सत्यां प्रवर्तमानायां जघन्यानुभागोदीरणा भवति सा च चतुर्गतिकानामन्यतरस्य वेदितव्या ॥

से काले सम्मत्तं, ससंजमगिएहओ य तेरसगं ॥
सम्मत्तमेव मीसे, आऊण जहन्नट्ठिईसु ॥ २९६ ॥

अनन्तरे काले द्वितीयसमये यः सम्यक्त्वं संयमसहितं ग्रहीष्यति तस्य त्रयोदशानां मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानावरणरूपाणां प्रकृतीनां जघन्यानुभागोदीरणा । अयमिह सम्प्रदायः । योऽनन्तरसमये सम्यक्त्वं संयमसहितं ग्रहीष्यति तस्य मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वेनानन्तानुबन्धिनाम्, तथा यो विरतिसमये संयमं ग्रहीष्यति तस्याप्रत्याख्यानावरणकषायाणां जघन्यानुभागोदीरणा मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया हि अविरतिसम्यग्दृष्टिरनन्तगुणविशुद्धस्ततोऽपि देशविरतोऽनन्तगुणविशुद्ध इत्युक्तक्रमेणैव जघन्यानुभागोदीरणासम्भवः । तथा सम्यक्त्वमवसीयते इति यः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्रतिपत्स्यते तस्य सम्यग्मिथ्यात्वस्य जघन्यानुभागोदीरणा सम्यङ्मिथ्यादृष्टिर्युगपत् सम्यक्त्वं संयमं च न प्रतिपद्यते तथा विशुद्धेरभावात् किन्तु केवलं सम्यक्त्वमेवेतिकृत्वा तदेव केवलमुक्तम् । तथा चतुर्णामायुषामात्मीयात्मीयजघन्यस्थितौ वर्तमाना जघन्यमनुभागमुदीरयन्ति । तत्र त्रयाणामायुषां सङ्क्लेशादेव जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति कृत्वा जघन्यानुभागोऽपि तत्रैव लभ्यते । तथा नरकायुषो विशुद्धिवशाज्जघन्यः स्थितिबन्धः ततो जघन्यानुभागोऽपि नरकायुषस्तत्रैव लभ्यते । तथा च सति त्रयाणामायुषामतिसङ्क्लिष्टो जघन्यानुभागोदीरकः नरकायुषस्त्वतिविशुद्ध इति ॥

पोग्गलविवागियाणं, भवाइसमये विसेसमवि चासिं ।
आइतणूणं दोएहं, सुहुमो वाउअप्पाउ । २९७ ।

पुद्गलविपाकिन्यः प्रकृतयः तासां सर्वासामपि भवादपि समये भवप्रथमसमये जघन्यानुभागोदीरणा एतच्च सामान्येनोक्तं ततः अमुकस्यामुक उदीरक इत्येवरूपं विशेषमपि आसां प्रकृतीनां वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति । (आइ इत्यादि) आद्योर्द्वयोस्तन्वोश्शरीरयोरौदारिकवैक्रियरूपयोर्यथासंख्यं सूक्ष्मो वायुकायिकश्चाल्पायुर्जघन्यानुभागोदीरकः । इह शरीरग्रहणेन बन्धनसङ्घाता अपि गृहीता द्रष्टव्याः । तत एतदुक्तं भवति औदारिकशरीरौदारिकसङ्घातौदारिकबन्धनचतुष्टयरूपस्यौदारिकषट्कस्याप्यपर्याप्तकसूक्ष्मैकेन्द्रियो वायुकायिकवैक्रियषट्कस्य च पर्याप्तौ बादरवायुकायिकोऽल्पायुर्जघन्यानुभागोदीरको भवति ।

वेइंदिअप्पाउग, तिरयचिरट्ठिई असन्निणो वावि ।
अंगोवंगाण हारग, जइ णो अप्पकालम्मि । २९८ ।

द्वयोरङ्गोपाङ्गयोरौदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोर्यथासंख्यमल्पायुर्द्वीन्द्रियस्तथा असंज्ञी सन् जातो नारकश्चिरस्थितिकः स च जघन्यानुभागोदीरको भवति इयमत्र भावना द्वीन्द्रियोऽल्पायुरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न उदयप्रथमसमये जघन्यमनुभागमुदीरयति तथा संज्ञिपञ्चेन्द्रियः पूर्वोद्वर्तितवैक्रियाङ्गोपाङ्गः स्तोककालं बध्वा स्वभूमिकानुसारेण चिरस्थितिको नैरयिको जातस्तस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्न उदयप्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यानुभागोदीरणा । तथाऽऽहारकस्य प्राकृतत्वात् अत्र स्त्रीत्वनिर्देशः शरीरग्रहणेन च बन्धनसङ्घाता अपि गृह्यन्ते तत आहारकसप्तकस्य यतेराहारकशरीरमुत्पादयतः संक्लिष्टस्य अल्पे काले प्रथमसमये इत्यर्थः जघन्यानुभागोदीरणा ।

अमणो समचउरंसु, रिसहएय ओसगचिरट्ठिई सेसे ।
संघयणाणयमाणु, ओहुंडुवगघायाणमवि सुहुमो । २९९ ।

असंज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽल्पायुरिति संक्लिष्टप्रथमसमये तद्भवस्थ आहारकः समचतुरस्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसंहननयोर्जघन्यमनुभागमुदीरयति अल्पायुर्ग्रहणं सङ्क्लेशार्थम् । तथा असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय एवात्मीयायामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमान आहारको भवप्रथमसमये शेष इति । तथा शेषाणां संहननानां सवर्तवज्रर्षभनाराचवर्जानां पूर्वकोट्यायुर्मनुष्या आहारकस्य भवप्रथमसमये वर्तमाना जघन्यानुभागोदीरकाः इह दीर्घायुर्ग्रहणं विशुद्धतिर्यक्पञ्चेन्द्रियापेक्षया च प्रायोग्या मनुष्या अल्पबला इति मनुष्योपादानम् । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियः सुदीर्घायुःस्थितिक आहारकप्रथमसमये हुण्डोपघातिनाम्नोर्जघन्यानुभागोदीरकः

सेवट्टस्स वेइंदिय, वारसवासस्स मउयलहुगाणं ।
सन्निविसुद्धाणुणा-हारगस्स वीसा अइकिलिट्ठे । ३०० ।

द्वीन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य स्वभूमिकानुसारेणातिविशुद्धस्यानाहारकस्य जघन्यानुभागोदीरणा । तथा तैजससप्तकमृदुलघुवर्जशुभवर्णाद्येकादशकागुरुलघुस्थिरशुभनिर्माणरूपाणां विंशतिप्रकृतीनां संक्लिष्टोऽपान्तरालगतौ वर्तमानोऽनाहारको मिथ्यादृष्टिर्जघन्यानुभागोदीरणास्वामी वेदितव्यः ।

पत्तेगमुरालसमं, इयरं हुंडेण तस्स परघाओ ।
अप्पाउस्स य आया, उज्जोयाणमवि तज्जोगो ॥ ३०१ ॥

प्रत्येकनाम औदारिकेण समं वक्तव्यम् । औदारिकस्येव प्रत्येकनाम्नोऽपि सूक्ष्मैकेन्द्रियसमये वर्तमानो जघन्यानुभागोदीरको वेदितव्य इत्यर्थः । तथा हुण्डेन समानमेतत् साधारणनाम्नो वक्तव्यम् । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रियस्याहारकस्य प्रथमसमये हुण्डनाम्नोर्जघन्यानुभागोदीरणा प्रागभिहिता तथा साधारणनाम्नोऽपि वक्तव्येत्यर्थः । तथा सूक्ष्मैकेन्द्रिय सूक्ष्मपर्याप्तस्याल्पायुष इति संक्लिष्टस्यापर्याप्तचरमसमये वर्तमानस्य पराघातनाम्नो जघन्यानुभागोदीरणा । तथा आतपोद्योतनाम्नोस्तद्योगः पृथिवीकायिकः शरीरपर्याप्तापर्याप्तः प्रथमसमये वर्तमानः संक्लिष्टो जघन्यानुभागोदीरकः ।

जानाउज्जोयकरणं, तित्थगरस्स नवगस्स जोगंते ।
करकम्मगुरूणमंते, नियत्तमाणस्स केवलिणो ॥ ३०२ ॥

आयोजिकाकरणं नाम केवलिसमुद्घातादर्वाक् भवति तथाङ् मर्यादायाम् आमर्यादया केवलदृष्ट्या योजनं व्यापारणमायोजनं च तथातिशुभयोगानामयसंयमायोजनमायोजिका तस्याः करणमायोजिकाकरणं केचिदाचार्या वर्जितकरणमित्याहुस्तत्राय शब्दार्थः आवर्जितनामाभिमुखीकृतस्तथा च

ऽोके वकार' आवर्जितोऽथ मया सम्मुखीकृत इत्यर्थः । ततश्च तथा प्रयत्नेनावर्जितस्य मोक्षगमन प्रत्यभिमुखीकृतस्य करण शुभयोगव्यापाराणामावर्जितकरणम् । अपरे "आवश्यकरण"मिति पठन्ति तत्राय शब्दसंस्कारोऽवश्यकरणम् तथाहि समुद्घातं केचित्कुर्वन्ति केचिन्न कुर्वन्ति । इदं त्वावश्यकरणं सर्वेऽपि केवलिनः कुर्वन्तीति तथायोजिकाकरणमवश्यंकरणम् तथाहि समुद्घात केचित्कुर्वन्ति च । करणमसङ्ख्येयसमयात्मकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम् । यत उक्तम् । प्रज्ञापनायाम्-" कइ समए णं भंते ! आउज्जियाकरणे पन्नत्ते गोयमा ! असंखिज्जसमइए अंतोमुहुत्तए पन्नत्ते । इति तज्जा " तत्राथा प्रारभ्यते । तावत्तीर्थकरकेवलिनः तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभागोदीरणा आयोजिकाकरणो हि प्रभूतानुभागोदीरणा प्रवर्तते इत्यर्थात् ग्रहणम् तथा नीलकृष्णदुरभिगन्धतिक्तकटुशीतरूक्षस्थिराशुभरूपस्य प्रकृतिनवकस्य सयोगिकेवलिचरमसमये जघन्यानुभागोदीरणा तस्यैव सर्वविशुद्धत्वात् । कर्कशगुरुस्पर्शयोस्तु केवलिसमुद्घातिनि वर्तमानस्य केवलिनः प्रथमसंहारसमये जघन्यानुभागोदीरणा ।

सेसाण य गइचेइम–माज्झिमपरिणामपरिणयउ होज्जा ।
पच्चयसुभासुभवि य, चिंयदए नउ विहागे य ॥३०३॥

शेषाणां सातवेदनीय गतिचतुष्टयजातिपञ्चकानुपूर्वीचतुष्टयाद्यसंस्थानसंहननगतिद्विकत्रसस्थावरबादरसूक्ष्मपर्याप्तापर्याप्तसुभगदुःस्वरदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्ययश उच्चैर्नीचैर्गोत्रनीचैर्गोत्राख्यानां चतुस्त्रिंशत्सङ्ख्यानां प्रकृतीनां तत्प्रकृतीनां स्वोदयवर्तमानाः सर्वेऽपि जीवा मध्यमपरिणामपरिणता जघन्यानुभागोदीरणामपरिसाता जघन्यानुभागोदीरणास्वामिनो भवन्ति । सा च सर्वासां प्रकृतीनां सामान्येन जघन्योत्कृष्टानुभागोदीरणा । स्वामित्वपरिज्ञानार्थमुपायोपदेशमाह (पच्चयादि) प्रत्ययपरिणामप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च प्रकृतीनां शुभत्वमशुभत्वं च विपाकादि एतान् सम्यक् चिन्तयित्वा परिभाव्य जघन्योत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामी यथायोग्यमवगन्तव्य । तथाहि । परिणामप्रत्ययानुभागोदीरणा प्राय उत्कृष्टा भवति भवप्रत्यया तु जघन्या शुभानाञ्च संक्लेशप्रयोजनं जघन्यानुभागोदीरणा अशुभानां च विशुद्धौ विपर्यासे तूत्कृष्टा इत्यादि परिभाव्य तत्तत्प्रकृत्युदयगतां जघन्योत्कृष्टानुभागोदीरणास्वामित्वमवगन्तव्यम् । इति तदेवमुक्ता अनुभागोदीरणा । सम्प्रति प्रदेशोदीरणाभिधानावसरस्तत्र च अावयोधिकारौ । तद्यथा साद्यनादि प्ररूपणार्थमाह साच द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च तत्र मूलप्रकृतिविषयां साद्यनादिप्ररूपणां चिकीर्षुराह ।

पंचण्हमणुक्कोसा, तिहा पएसे चउव्विहा दोण्हं ।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पा य आउस्स ॥३०४॥

ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायरूपाणां पञ्चानां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टा प्रदेशविषया उदीरणा त्रिधा त्रिप्रकारा तद्यथा अनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तयाह्येतासामुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा गुणितकर्मांशस्य स्वोदीरणापर्यवसाने लभ्यते सा च सादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणात्वात् ध्रुवाध्रुवे अभव्यभव्यापेक्षया तया द्वयोर्वेदनीयमोहनीययोरनुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा चतुर्विधा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च । तथाहि वेदनीयस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा प्रमत्तभावाभिमुखस्य सर्वविशुद्धस्य मोहनीयस्य पुनः स्वोदीरणा पर्यवसाने सूक्ष्मसंपरायस्य ततो द्वयोरपि एषा साद्यनादीध्रुवा ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि चाप्रमत्तगुणस्थानकात् प्रतिपतितो वेदनीयस्योपशान्तमोहगुणस्थानकाच्च प्रतिपतितो मोहनीयस्य सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य द्वयोरप्यनादिः ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (सेसविगप्पति) एतासां सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां शेषा उक्तव्यतिरिक्ता विकल्पा जघन्योत्कृष्टा द्विधा द्विप्रकारास्तद्यथा साद्योऽध्रुवाश्च । तथाह्येतासां सप्तानामतिसंक्लिष्टा मिथ्यादृष्टौ जघन्या प्रदेशोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च । संक्लेशपरिणामाच्च च्युतस्य मिथ्यादृष्टेरप्यजघन्यतः सापि सादिरध्रुवा च । उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता आयुषः सर्वेऽपि विकल्पा जघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टा द्विविधास्तद्यथा सादयोऽध्रुवाश्च । सा च साध्रुवता अध्रुवोदीरणत्वादवसेया । सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणामाह ।

मिच्छत्तस्स चउद्धा, सगयाला ए तिहा अणुक्कोसा ।
सेसविगप्पा दुविहा, सव्वविगप्पा य सेसाणं ॥३०५॥

मिथ्यात्वस्यानुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा चतुर्विधा । तद्यथा-सादिरनादिर्ध्रुवाध्रुवा च तथाहि योऽनन्तरसमये सम्यक्त्वं सयमसहितं प्रतिपत्स्यते तस्य मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा सा च सादिरध्रुवा च समयमात्रत्वात् ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सापि च सम्यक्त्वात्प्रतिपतिता भवति सादि तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा त्रिधा । तद्यथा । अनादिर्ध्रुवा ध्रुवत्वात् । तथाहि । पञ्चविधज्ञानावरणपञ्चविधान्तरायचतुर्विधदर्शनावरणरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायस्य गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदीरणापर्यवसाने उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा । सा च सादिरध्रुवा च ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा च अनादि ध्रुवोदीरणत्वाद् ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् । तथा तैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरशुभाशुभगुरुलघुनिर्माणनाम्नां त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्याकानां प्रकृतीनां गुणितकर्मांशोऽस्य सयोगिकेवलिनश्चरमसमये उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा । सा च सादिरध्रुवा च । ततोऽन्या सर्वाप्यनुत्कृष्टा सा चानादिर्ध्रुवोदीरणत्वादासां ध्रुवाध्रुवे पूर्ववत् (सेसविगप्पा दुविहत्ति) उक्तशेषा विकल्पा जघन्याजघन्योत्कृष्टरूपा द्विविधास्तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च । तथाहि सर्वासामप्युक्तप्रकृतीनामतिसंक्लिष्टपरिणामे मिथ्यादृष्टौ जघन्या प्रदेशोदीरणा लभ्यते अतिसंक्लिष्टस्य परिणामप्रत्ययने या जघन्या ततो द्वे अपि साध्रुवे उत्कृष्टा च प्रागेव भाविता शेषाणां चोक्तव्यतिरिक्तानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वेऽपि विकल्पा जघन्याजघन्योत्कृष्टा द्विविधास्तद्यथा सादयो ध्रुवाश्च साध्रुवता च ध्रुवोदीरणत्वादवसेया । कृता साद्यनादिप्ररूपणा । सम्प्रति स्वामित्वमभिधातव्यं तच्च द्विधा उत्कृष्टजघन्यप्रदेशोदीरणास्वामित्वात् । तत्र प्रथमत उत्कृष्टोदीरणास्वामित्वमाह ।

अणुभागुदीरणा ए, जहन्नसामीव एस जेट्ठाए ।
घाईणं अन्नयरी, ओहीए विणोहिलंभेण ॥३०६॥

घातिकर्मणां सर्वेषामपि अनुभागोदीरणायां यो यो जघन्यानुभागोदीरणास्वामी प्राक् प्रतिपादित स एवोत्कृष्टप्रदेशोदीरणायाः स्वामी गुणितकर्मांशो वेदितव्यः नवरमन्यत इति श्रुतकेवली इतरो वा अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोरवधिलब्धिहीनोत्कृष्टप्रदेशोदीरकोऽवसेय । (असीतिं) वेदमतिसंक्लिष्टमुक्तमिति विशेषता विभाव्यते अवधिज्ञानावरणवर्जाना चतुर्णां ज्ञानावरणानां चक्षुरचक्षुः केवलदर्शनावरणानां

क्षीणकषायश्रुतिकेवलिन इतरस्य वा गुणितकर्मांशस्य समयाधिकावलिका शेषायां स्थितौ उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा अवधिज्ञानावरणयोः पुनरवधिलब्धिरहितस्य क्षीणकषायस्य समयाधिकावलिका शेषाया स्थितौ उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा निद्राप्रचलयोरुपशान्तकषायस्य प्रमत्तसयते अप्रमत्तभावाभिमुखे स्त्यानर्द्धित्रिकस्य मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायाणामनन्तरसमये सम्यक्त्व सयमसहित प्रतिपत्तुकामस्य मिथ्यादृष्टेश्चरमसमये सम्यग्मिथ्यात्वस्य सम्यक्त्वप्रतिपत्त्युपान्त्यसमये अप्रत्याख्यानावरणकषायाणां प्रदेशविरतस्यानन्तरसमयाधिकावलिका शेषायां चरमसमये क्षपकस्य हानि हानादिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानकचरमसमये सर्वत्र गुणितकर्मांशस्योत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा वेदितव्या ।

वेयाणियाणां गहिहि, से कालिअप्पमाईमिय विरओ ।
संघयणपगतणुदुग, उज्जो वा अप्पमत्तस्स । ३०७ ।

यः प्रमत्तो द्वितीये समये अप्रमाद ग्रहीष्यति सोऽप्रमत्तो भविष्यति प्रमत्तो न पञ्चकवैक्रियसप्तकाहारकसप्तकोद्योतनाम्नामुत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा ।

देवनिरयाउ गाणं, जहन्नजेट्ठट्ठिई गुरुअ साए ।
इयराउण वि अट्ठम वासे, णेयो अट्ठवासाउ ॥३०८॥

देवनारकायुषोर्यथाक्रम देवनारकौ जघन्योत्कृष्टस्थितिकौ गुरुदुःखयोरुदये वर्तमानौ उत्कृष्टप्रदेशोदीरकौ वेदितव्यौ । एतदुक्त भवति । देवो दशवर्षसहस्रायुस्थितिको गुरुदुःखोदये वर्तमानो देवायुष उत्कृष्टप्रदेशोदीरकस्तथा नैरयिकस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायु स्थितिको गुरुदुःखोदये वर्तमानो नारकायुष उत्कृष्टप्रदेशोदीरकः प्रभूत हि दुःखमनुभवन् प्रभूतान् पुद्गलान् परिसाटयति इति तदुपादानम् । इतरायुषोस्तिर्यग्मनुष्यायुषोर्यथासख्य तिर्यग्मनुष्योऽष्टवर्षायुषोऽष्टमे वर्षे वर्तमानो गुरुदुःखोदये युक्त उत्कृष्टप्रदेशोदीरको भवति

एगं ततिरिगजोग्गा, नियग विसिट्ठ तसु तह अपज्जत्तो ।
संमुच्छिममणुअंत, तिरियगई देसविरयस्स । ३०९ ।

एकान्तेन तिरश्चामेवोदय प्रति प्रायोग्याः प्रकृतयस्तासामेकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रिय जातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजात्यातपस्थावरसूक्ष्मासाधारणनाम्नामष्टानां निजकविशिष्टेषु निजनिज प्रकृतिविशिष्टेषु यथा एकेन्द्रियजातिस्थावरनाम्नो बादरपृथिवीकायिके सर्वविशुद्धे आतपनाम्नः खरबादरपृथ्वीकायिकं सूक्ष्मस्य पर्याप्तसाधारण विकलेन्द्रियनाम्नां तन्नामसु पर्याप्तेषु सर्वविशुद्धेषु उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा देशविरतस्य तस्य सर्वविशुद्धत्वात् ।

अणुपुव्वीगइदुगाणं, सम्मदिट्ठीउ दुभगईणं ।
नीयस्स य से काले, गहियविरयत्ति सो चेव ।३१०।

चतसृणामानुपूर्वीणां तस्यां तस्यां गतौ वर्तमानः तृतीये समये सर्वविशुद्धसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशोदीरक केवल नरकतिर्यगानुपूर्व्योः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वक्तव्या देवनारकगत्योरपि स एव क्षायिकसम्यग्दृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशोदीरकः तथा योऽनन्तरसमये सयम प्रतिपत्स्यते स एवाविरतसम्यग्दृष्टिर्दुर्भगादीना दुर्भगदुःस्वरानादेयायश कीर्त्तीनां नीचैर्गोत्रस्योत्कृष्टप्रदेशोदीरकः ।

जागं उदीरगाणं, जोगंते सरदुगाणुपाणूणं ।
नियगंते केवलिणो, सव्वविसुद्धीए सव्वासिं ॥३११॥

योग्यन्तदीरणायोगी सयोगी केवली अन्ते चरमसमये उदीरको यासां ता योग्यन्तोदीरकास्तासां मनुजगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकसप्तकतैजससप्तकसस्थानषट्कप्रथमसहननवर्णादिविंशत्यगुरुलघूपघातपराघातविहायोगतिद्विकत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगादेययशःकिर्तिनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्राणां द्विषष्टिसङ्ख्यानां प्रकृतीनां सयोगिकेवली चरमसमये उत्कृष्टप्रदेशोदीरकः । तथा केवलिनः स्वरद्विकप्राणापानयोर्निजकान्ते स्वस्वनिरोधकाले उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा तथाहि स्वरनिरोधकाले सुस्वरदुःस्वरयोः प्राणापाननिरोधकाले च प्राणापाननाम्न उत्कृष्टा प्रदेशोदीरणा इह सर्वकर्मणामुत्कृष्टप्रदेशोदीरणायामेषा परिभाषा " यो यः स्वस्वोदीरणाधिकारी स स तस्य कर्मणः स्वामी वेदितव्यः " । आयुर्व्यतिरेकेण चान्यत्र सर्वत्रापि गुणितकर्मांशत्वेन दानान्तरायादीनामपि पञ्चानां प्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशोदीरणास्वामित्व चेति ॥

सम्प्रति जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामित्वमाह ।

तप्पगइ उदीरगत्ति, संकिलिट्ठभावे असव्वपगईण ।
णेयो जहन्नसामी, अणुभागो य तित्थयरे ॥३१२॥

यस्तासां प्रकृतीनामुदीरकः सोऽतिसंक्लिष्टभावोऽति सक्लिष्टपरिणामः क्षपितकर्मांश सर्वप्रकृतीनां स्वस्वयोग्यानां त्रयाणा दर्शनावरणीयानां सातासातवेदनीययोर्मिथ्यात्वस्य षोडशानां कषायाणा नोकषायाणां सर्वसख्यया पञ्चत्रिंशत्सख्यानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिः सर्वपर्याप्तिपर्याप्त सर्वसक्लिष्टो निद्रापञ्चकतत्प्रायोग्यसक्लेशयुक्तो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी । तथा योऽनन्तरसमये मिथ्यात्व यास्यति सोऽतिसक्लिष्ट सम्यक्त्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोर्जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी भवति । तथा गतिचतुष्टयपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकसप्तकवैक्रियसप्तकतैजससप्तकसस्थानषट्कवर्णादिविंशतोपराघातोपघातागुरुलघूच्छ्वासोद्योतविहायोगतिद्विकत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरादेयानादेययशःकीर्तिनिर्माणोच्चैर्गोत्रपञ्चविधान्तरायरूपाणां एकोननवतिसख्यानां प्रकृतीनां सज्ञिपर्याप्तसर्वोत्कृष्टसक्लेशयुक्तो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी आहारकस्य वाऽऽहारशरीरी तत्प्रयोग्यसक्लेशयुक्त आनुपूर्वीणामपि आतपस्य खरबादरपृथिवीकायिकः सर्वसक्लिष्ट एकेन्द्रिजातिस्थावरसाधारणनाम्नामेकेन्द्रियः सर्वोत्कृष्टसक्लेशयुक्तः सूक्ष्मनाम्नः सूक्ष्मैकेन्द्रियसर्वसक्लिष्टो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी अपर्याप्तकनाम्नः पुनरपर्याप्तमनुष्यसर्वसंक्लिष्टश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यप्रदेशोदीरको भवति । तथा द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातीनां यथाक्रम द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सर्वाः सक्लिष्टा जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामिनः (अणुभागोयतित्थयरत्ति) तीर्थकरनाम्न एव जघन्यानुभागोदीरणास्वामी प्राक् प्रतिपादित स एव जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी अपि वेदितव्यः तीर्थकरकेवली यावदद्यापि योजिकाकरणमारभते तावत्तीर्थकरनाम्नो जघन्यप्रदेशोदीरको वेदितव्य इत्यर्थः ।

ओहि ओहिजुए अइ-सुहवेयआउगाणं तु ॥
पढमस्स जहन्नाठिइ, सेसाणुक्कोसगाठिईउ ॥ ३१३ ॥

अवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोरवधिलब्धियुक्तः सर्वसक्लिष्टो जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामी । अवधिद्विक क्षेत्रादितो बहव पुद्गलाः परिक्षीणा इत्यवधिलब्धिग्रहणम् । तथा चतु-

र्णामप्यायुषां स्वनुभिकानुसारेणातीव सुखमनुभवन् जघन्यप्रदेशोदीरको भवति। तत्र प्रथमस्य नरकायुषो दशवर्षसहस्रप्रमाणं जघन्यास्थितौ वर्तमानो नैरयिक' स हि शेषनारकापेक्षया अतिशयेन सुखी शेषाणां च तिर्यग्मनुष्यदेवायुषामुत्कृष्टस्थितौ वर्तमानो नैरयिक। स हि शेषनारक स्वस्वयोग्यतानुसारेण परमसुखिनो यथासख्यतिर्यङ्मनुष्यदेवा जघन्यप्रदेशोदीरणास्वामिनो वेदितव्या। इति उदयोदीरणयो स्वामित्वेन भेदो नास्ति॥

उई (दी) रिज्जमाण–उदीर्यमाण–त्रि० उद्-ईर-य-शानच्। उदीरणानामनुदये प्राप्त चिरेणागामिना कालेन यद्वेदितव्य कर्म दलिक तस्य विशिष्टाऽध्यवसायलक्षणेन करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपण सा चाऽसख्येयसमयवर्तिनी तया च पुनरुदीरणया उदीरणाप्रथमसमय एव। भ० १ श० १उ०। उदयमुपनीयमाने,–प्रज्ञा० २३ पद। " उदीरिज्जमाणे उदीरए" भ० १ श० १ उ०।

उई (दी) रिय–उदीरित–त्रि०। उत्प्राबल्येनेरितो जनित'। कृते, " ससद्दफासाफरुसाउदीरिया " अर्पिकृते, आचा०। " महागुरूणिस्स यराउदीरिता " उत्प्राबल्येनेरित· कथित। प्रतिपादिते, 'धीरे धम्मे उदीरिए' आचा० ७ अ० ३ चू०। उत्प्राबल्येन प्रेरिते, राइयाण वेश्याण चालियाण घट्टियाण खोभियाण उदीरियाणं केरिसए सद्दे भवति। राज०। जी०। उदयमुपनीते, प्रज्ञा० २३ पद। भ०। उदीरितास्तु स्वभावतोऽनुदितान् पुद्गलान् उदयप्राप्ते कर्मदलिके करणविशेषेण प्रक्षिप्य यान् वेदयते इति तत्त्वम्। भ० १ श० १ उ०।

उई (दी) रेंत–उदीरयत्–त्रि०वस्त्वन्तर प्रेरयति, स्था०७ठा०।

उउ–ऋतु–पुं०ऋ तु किच्च। " उदृत्वादौ ८। १। ३। " ऋतु इत्यादिषु शब्देष्वादेर्ऋत उदू भवति-प्रा०। ऋतु स्वाभाविक स्त्रीणां रात्रय' षोडश स्मृता इति मनूक्ते स्त्रीणा शोणितदर्शनयोग्यगर्भधारणसमर्थे काले, । वाच० । नि० चू०। लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमाणद्विमासात्मके कालविशेषे, व्य० १ उ०। जी०। स्था०। भ०। जी० । " दो मासा उऊ "। भ० ६ श० ७ उ०। अनु०। स्था०। ज्ञा०। औ०। ज०। ते च षट्-"तत्थ खलु इमे छ उऊ पण्णत्ता तजहा पाउसे १ वरिसारत्ते २ सरदे ३ हेमन्ते ४ वसन्ते ५ गिम्हे ६। ता सव्वे वि ण एतेचिदे उऊ दुवे दुवे मासानि च उप्पएणं आदाएण गणिज्जमाणसातिरेगाइ एगूणसट्ठि २ रातिंदिनाइ रातिंदियगेण आहितेत्ति"। तत्राऽस्मिन् मनुष्यलोके प्रतिसूर्यायन प्रतिचन्द्रायन च खल्विमे षट् ऋतव प्रज्ञप्तास्तद्यथा-प्रावृट्, वर्षारात्र शरदो, हेमन्तो, वसन्तो, ग्रीष्म। इह लोके अन्यथाभिधाना ऋतव प्रसिद्धास्तद्यथा प्रावृट् शरद्, हेमन्त शिशिरो, वसन्तो ग्रीष्मश्चेति। जिनमते तु यथोक्ताभिधाना एव ऋतव। तथाचोक्तम् " पाउस वासारत्तो, सरओ हेमत वसत गिम्हो य। एए खलु छ प्पि उऊ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा" च० प्र० १२ पाहु। सू० प्र०। स्था०। ज०।

ऋतुपरिमाणविचार।

एत्तो उउपरिमाणं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए।

अतो मण्डलेषु नक्षत्रसूर्यशशिना प्रतिमुहूर्त गतिपरिमाणप्रतिपादितानामनन्तरमृतुपरिमाण सूर्यर्तुपरिमाण चन्द्रर्तुपरिमाण च यथानुपूर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि। प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकाम प्रथमतः सूर्यर्तुपरिमाणं प्रतिपादयति।

वे याइच्चा मासा, एकसट्ठिते भवंतहोरत्ता।
एयं उउपरिमाणं, अवगयमाणो जिणा विंति॥

यौ द्वावादित्यौ मासौ सूर्यमासौ यावदहोरात्रिपरिगणनया एकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति। तथाहि सूर्यमासस्त्रिंशदहोरात्रमेकस्य चाहोरात्रस्य चार्द्धं ततो द्वौ सूर्यमासावेकषष्टिरहोरात्रा भवन्ति। एतत् एतावत् क्रमत' सूर्यर्तो' परिमाणमपगतमाना। मानग्रहणमुपलक्षणमपगतसकलक्रोधमानादिवर्गा· जिनास्तीर्थकृतो ब्रुवते।

सांप्रतमीप्सितसूर्यर्त्वानयने करणमभिधित्सुराह।

सूरउउस्साणयणे, पव्वपंचरसगुणं नियमा।
तिहि संक्खित्तं संतं, बावट्ठिभागपरिहीणं॥
दुगुणे गट्टीए जुयं, बावीससएण भाइए नियमा।
जं लंद्धं तस्स पुणो, छहिहिय सेस उऊ होइ॥
सेसाणं अंसाणं, वेहि उ भागाहि तेसि जं लंद्धं।
ते दिवसा नायव्वा, होंति सचत्तस्स अयणस्स॥

सूर्यस्य सूर्यसम्बन्धेन ऋतोरानयने पर्वपर्वसस्थान नियमात्पञ्चदशगुण कर्त्तव्यम्। पर्वणां पञ्चदशतिथ्यात्मकत्वात्। इयमत्र भावना। इह ऋतव आषाढादिप्रभवा· युगं च प्रवर्तते श्रावणबहुलपक्षे प्रतिपद आरभ्यते। ता युगादित' प्रवृत्तानि यानि पर्वाणि तत्संख्या पञ्चदशगुणा क्रियते कृत्वा च पर्वणामुपरि या विवक्षितदिनमभिव्याप्य तिथयस्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते इत्यर्थ। ततो " बावट्ठीभागपरिहीणाति " प्रत्यहोरात्रमेकैकेन द्वाषष्टिभागेन परिहीयमाने ये निष्पन्ना अवमरात्रास्तेऽप्युपचारात् द्वाषष्टिभागास्ते परिहीनपर्वसख्यान कर्त्तव्य ततो (दुगुणत्ति) द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा च एकषष्ट्यायुत क्रियते। ततो द्वाविंशेन शतेन भाजित यल्लब्ध तस्य षड्भिर्भागे हृते यच्छेष स ऋतुरनन्तरातीतो भवति। येऽपि अंशा शेषा उद्धरिता तेषा द्वाभ्यां भागे हृते यल्लब्ध ते दिवसा· प्रवर्तमानस्य ऋतोर्ज्ञातव्या। एष करणगाथाक्षरार्थ'। संप्रति करणभावना क्रियते। तत्र युगे प्रथमे दीपोत्सवे केनापि पृष्ट· क' सूर्यर्तुरनन्तरमतीत को वा सम्प्रति वर्तते। तत्र युगादित सप्तपर्वाण्यतिक्रान्तानीति सप्तध्रियन्ते। तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते। जात पञ्चोत्तरशतम्। एतावति विकाले द्वाववमरात्रावभूतामिति द्वौ तत' पात्येते स्थित पश्चात् त्र्युत्तर शत (१०३) ततो द्वाभ्यां गुण्यते जाते द्वे षडुत्तरे (२०६) तत्रैकषष्टि प्रक्षिप्यते द्वे शते सप्तषष्ट्यधिके (२६७) तयोर्द्वाविंशतेन भागो न्हियते लब्धौ द्वौ तौ षड्भिर्भाग न सहेते इति न तयो' षड्भिर्भागहार·। शेषास्त्वंशा उद्धरन्ति त्रयोविंशति। तथा समर्द्धिजाता एकादश अर्द्धं च सूर्यर्तुश्चाषाढादिस्तत आगत द्वावृतू अतिक्रान्तौ तृतीयश्च ऋतु' सम्प्रति प्रवर्तते। तस्य च प्रवर्त्तमानस्यैकादश दिवसा अतिक्रान्ता द्वादशो वर्तते इति। तथा युगे प्रथमायामक्षयतृतीयायां केनापि पृष्टं के ऋतव· पूर्वमतिक्रान्ता को वा संप्रति वर्तते तत्राक्षयतृतीयायां प्रथमाया प्राक्युगस्यादित पर्वाण्यतिक्रान्तान्येकोनविंशतिः तत' एकोनविंशति पञ्चदशभिर्गुण्यते जाते द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके (२८५) अक्षयतृतीयाया किल पृष्टमिति पर्वणामुपरितन्यस्तितय प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते अष्टाशीत्यधिके (२८८) तावति काले अवमरात्रा पञ्च भवन्ति। पञ्च तत· पात्यन्ते

जाते द्वे शते त्र्यशीत्यधिके (२८३) ते द्वाभ्यां गुण्येते जातानि पञ्च शतानि षट्षष्ट्यधिकानि (५६६) तान्येकषष्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि षट् शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (६२७) तेषां द्वाविंशेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाः पञ्च पश्चाद् शाद्धवरन्ति सप्तदश तेषामर्द्धं लब्धाः सार्द्धा अष्टौ । आगत पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः षष्ठस्य च ऋतोः प्रवर्तमानस्याष्टौ दिवसा गताः नवमो वर्तते । तथा युगे द्वितीये दीपोत्सवे केनापि पृष्टं कियन्त ऋतवोऽतिक्रान्ताः को वा संप्रति वर्तते । तत्रैतावति काले पर्वाण्यतिक्रान्तानि एकत्रिंशत्पञ्चदशभिर्गुण्यते जातानि चत्वारि शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि (४६५) अवमरात्राश्चैतावति काले व्यतिक्रामत्यष्टौ ततोऽष्टौ पात्यानि शेषाणि चत्वारि शतानि सप्तपञ्चाशताधिकानि (४५७) तानि द्विगुणीक्रियन्ते जातानि नवशतानि चतुर्दशोत्तराणि (९१४) तथैकषष्टिप्रक्षेपे जातानि नव शतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि (९७५) एतेषां द्वाविंशत्यधिकशतेन भागहरणं, लब्धाः सप्त उपरिष्टादंशा उद्धरन्ति एकविंशतिशत (१२१) तस्य द्वाभ्यां भागे हृते लब्धाः षष्टिसार्द्धाः सप्तानां च ऋतूनां षड्भिर्भागे हृते लब्ध एकक, एक उपरिष्टात् तिष्ठन्ति आगतमेकसंवत्सरोऽतिक्रान्तः । एकस्य च संवत्सरस्योपरि प्रथम ऋतुः प्रावृड् नाम, निर्गतो द्वितीयस्य च षष्टिर्दिनान्यतिक्रान्तान्येकषष्टितम वर्तते इति एवमन्यत्रापि भावना कार्या ।

सांप्रतममूनामृतूनां नामान्याह ॥

पाउस वासारत्ता, सरओ हेमंत वसंत गिम्हो य ।
एए खलु छप्पि उऊ, जिणवरदिट्ठा मए सिट्ठा ॥

प्रथम ऋतुः प्रावृड्नामा द्वितीया वर्षारात्रा तृतीया शरच्चतुर्थो हेमन्तः, पञ्चमो वसन्तः, षष्ठो ग्रीष्मः । एते एकपि ऋतवः एव नामतो जिनवरदृष्टा सर्वज्ञदृष्टा मया शिष्टाः कथिताः । साम्प्रतमेतेषामृतूनां मध्ये क ऋतुः कस्यां तिथौ समाप्तिमुपयातीति परस्य प्रश्नमाशङ्क्य तत्परिज्ञानाय करणमाह ।

इच्छा उऊ दुगुणितो, रूवोणगुणिओ उ पव्वाणि ।
तस्सद्धं होइ तिही, जत्तसमत्ता उऊ तीसं ॥

यस्मिन् ऋतौ ज्ञातुमिच्छा स ऋतुः ध्रियते तत्संख्या ध्रियते इत्यर्थः ततः स द्विगुणितः सन् रूपोनः क्रियते । ततः पुनरपि स द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा च प्रतिराश्य तद्द्विगुणितश्च सन् यावन्ति तावन्ति पर्वाणि ज्ञातव्यानि तस्य च प्रतिराशि तस्यार्द्धं क्रियते । ततश्चार्धं यावत् भवति तावत्यस्तिथयः प्रतिपत्तव्याः । यास्तु युगमध्ये त्रिंशदपि ऋतवः समाप्ताः समाप्तिमेष्यन्तीति करणगाथाक्षरार्थः । सम्प्रति करणभावना विधीयते । किल प्रथम ऋतुर्ज्ञातुमिष्टो यथा युगे कस्यां तिथौ प्रथमतः प्रावृड्लक्षण ऋतुः समाप्तिमुपयातीति । तत्र एकका ध्रियते स द्वाभ्यां गुण्यते जाते द्वे स्वरूपोने क्रियते । जात एकक एवं स भूयोऽपि द्विगुण्यते द्वे रूप प्रतिराश्यते तयोरर्द्धं जातमेकं रूपमागतम् । युगादौ द्वे पर्वणी अतिक्रम्य प्रथमायां तिथौ प्रतिपदि प्रथमः प्रावृड्नामा ऋतुः समापत् । तथा द्वितीये ऋतौ ज्ञातुमिच्छति द्वौ स्थापितौ तथा द्वाभ्यां गुणने जातास्त्वत्वारस्ते रूपोना क्रियन्ते । जातास्त्रयस्ते भूयो द्विगुण्यन्ते जाताः षट् ते प्रतिराश्यन्ते प्रतिराशीनां चार्द्धं क्रियते जातास्त्रय आगत युगादितः षट् पर्वाण्यतिक्रम्य तृतीयायां तिथौ द्वितीय ऋतुः समाप्तिमुपागमत् । तथा तृतीये ऋतौ ज्ञातुमिच्छति त्रयो ध्रियन्ते । द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाताः षट् ते रूपोनाः कृताः सन्तो जाताः पञ्च ते भूयो द्विगुण्यन्ते जाता दश ते प्रतिराशीनां चार्द्धं लब्धाः पञ्च । आगत युगादित आरभ्य दश पर्वाण्यतिक्रम्य पञ्चम्यां तिथौ तृतीय ऋतुः समाप्तिमियाय । तथा षष्ठे ऋतौ ज्ञातुमिच्छति षट् स्थाप्यन्ते । ते द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता द्वादश रूपोनाः सन्तो जाता एकादश ते द्विर्गुण्यन्ते । जाता द्वाविंशतिः । सा प्रतिराशि तयार्द्धं क्रियते । जाता एकादश । आगतं युगादितो द्वाविंशतिपर्वाण्यतिक्रम्य एकादश्यां तिथौ षष्ठ ऋतुः समाप्नोति । तथा युगे नवमे ऋतौ ज्ञातुमिच्छता नव स्थाप्यन्ते ते द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता अष्टादश ते रूपोनाः क्रियन्ते । जाता सप्तदश ते भूयो द्विर्गुण्यन्ते जाताश्चतुस्त्रिंशत् । संप्रतिराश्यते तस्या अर्द्धं क्रियते जाताः सप्तदश आगतं युगादितश्चतुस्त्रिंशत्पर्वाण्यतिक्रम्य द्वितीये संवत्सरे पौषमासे शुक्लपक्षे द्वितीयस्यां तिथौ नवम ऋतुः परिसमाप्तिं गच्छति । तथा त्रिंशत्तमे ऋतौ जिज्ञासति त्रिंशद् ध्रियते सा द्विर्गुण्यते जाता षष्टिः सा रूपोना क्रियते जाता एकोनषष्टिः सा भूयो द्वाभ्यां गुण्यते जातमष्टादशोत्तर शतं तत् प्रतिराश्यते तस्यार्द्धं क्रियते जाता एकोनषष्टिः । आगत युगादितोऽष्टादशोत्तरपर्वाण्यतिक्रम्य एकोनषष्टितमायां तिथौ । किमुक्तं भवति । पञ्चमे संवत्सरे प्रथमे आषाढमासे शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां त्रिंशत्तम ऋतुः समाप्तिमुपायासीत् व्यवहारतः प्रथमाषाढपर्यन्त इत्यर्थः । संप्रति वर्षाकाले शीतकाले ग्रीष्मकालेषु चतुर्मासप्रमाणेषु यस्मिन् पर्वणि कर्ममासापेक्षयाऽधिकोऽहोरात्रः सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ भवति तत्प्रतिपादयन्नाह ॥

वासम्मि उ कायव्वा, अतिरत्तं सत्तम पव्वम्मि ।
वासहिमागम्हकाले, चाउम्मासे विहीयंते ॥

वर्षाहिमग्रीष्मकालेषु प्रत्येक चतुर्मासेषु चतुर्मासप्रमाणेषु पृथक् अतिरात्रा अधिका अहोरात्रा विधीयन्ते तद्यथा एका तृतीयपर्वण्यपरा सहिमपर्वणि । इयमत्र भावना । सूर्यर्तुचिन्तायां कर्ममासापेक्षया वर्षाकाले आषाढादौ तृतीये पर्वणि गते कोऽधिकोऽहोरात्रो द्वितीयः सप्तमे पर्वणि हेमन्तकालेऽपि एकस्तृतीये पर्वणि द्वितीयः सप्तमे ग्रीष्मकालेऽपि एकस्तृतीये पर्वणि द्वितीयः सप्तमे । अत्राह पूर्वपूर्वावमरात्रसाहितमुक्तम् । इदानीं त्वधिकरात्रोपेतमिति किमत्र पर्वकरणमत आह ॥

उउसहियं अतिरत्तं, जुगसहियं होइ ओमरत्तं तु ।
रविसहियं अइरत्तं, सहितहियं ओमरत्तं तु ॥

इह पर्वऋतुसहितं विवक्षते तदा विवक्षित तृतीयादिकवर्षाकालादिसम्बन्धि अतिरात्रमधिकरात्रम् । सूर्यर्तुपरिसमाप्तिचिन्तायां तस्मिन् विवक्षिते तृतीयादौ पर्वणि कर्ममासापेक्षयाऽधिकोऽहोरात्रो भवति । तथाहि कर्ममासस्त्रिंशता दिनैः सूर्यमासस्त्रिंशता मासद्वयात्मकश्च ऋतुः । ततः सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ कर्ममासापेक्षयैकोऽधिकोऽहोरात्रो भवतीति । तथा युगं चन्द्राभिवर्द्धितरूपं संवत्सरपञ्चकात्मकं पञ्चापि संवत्सराश्चन्द्रमासापेक्षया ततो यदि पर्वयुगसहितं चन्द्रमासापेक्षं विवक्ष्यते तदा विवक्षित पर्वतृतीयादिक वर्षाकालादिसम्बन्धि अवमरात्रोपेतं भवति कर्ममासापेक्षया तस्मिन् तृतीयादौ पर्वणि नियमादेको ऽहोरात्रः पततीति भावः । एतदेवाह

(रविसहियमित्यादि) रविसहितमिति रात्रं किमुक्तं भवति । रविमासनिपाद्यमानर्तुचिन्तायां तस्मिन् तृतीयादौ पर्वणि कालावस्थिते पर्वणि पर्यये तत्र सूर्यर्तुपरिसमाप्तौ कर्ममासापेक्षया एकैकोऽधिकोऽहोरात्रः प्राप्यते इति शशिसहितमवमरात्रं चन्द्रनिपादितास्तिथीरधिकृत्य कर्ममासापेक्षया विपक्षितं तृतीयादि पर्वहीनरात्रं भवतीत्यर्थः । सम्प्रति येषु मासेषु सूर्यर्तुपरिसमाप्तिचिन्तायां पूर्वपूर्वसूर्यर्तुगततिथ्यपेक्षयाधिकोऽहोरात्रः परिवर्द्धते तान् प्रतिपादयति । आसाढबहुलपक्षे तथा भाद्रपदमासे बहुलपक्षे एवं कार्तिके पौषे फाल्गुने वैशाखे चातिरात्रं बोद्धव्यम् । पूर्वपूर्वसूर्यर्तुगतितिथ्यपेक्षया एतेषु षट्सु मासेषु अधिकोऽहोरात्रो ज्ञातव्यो न शेषेषु मासेषु । एतदेव भावयिशेषमाह ।

एकन्तरिया मासा, तिही य जासु ता उऊ समप्पंति ।
असाढाई मासा, भद्दवयाइ तिहिं सव्वा ॥

इह सूर्यर्तुचिन्तायां मासा आषाढादयो द्रष्टव्या आषाढमासादारभ्य ऋतूनां प्रथमतः प्रवर्तमानत्वात् तिथयः सर्वा अपि भाद्रपदादिषु मासेषु प्रथमादीनामृतूनां परिसमाप्तत्वात् । तत्र येषु मासेषु यासु च तिथिषु ऋतवः प्रायशः परिसमाप्नुवन्ति ते आषाढादयो मासास्ताश्च तिथयो भाद्रपदादिमासानुगता सर्वा अपि एकान्तरिता वेदितव्या । तथा हि प्रथम ऋतुः भाद्रपदे मासि समाप्तिमुपैति तत एको मासश्च युगप्रत्ययान्तरालेऽन्तः । कार्तिके मासे द्वितीय ऋतुः परिसमाप्तिमियर्ति । एवं तृतीयः पौषमासे, चतुर्थः फाल्गुने, पञ्चमो वैशाखे, षष्ठः आषाढे, एवं शेषा अपि ऋतवः षट्सु मासेष्वेकान्तरेषु परिसमाप्तिमाप्नुवन्ति नाशेषेषु मासेषु । तथा प्रथम ऋतुः प्रतिपदि समाप्तिमेति द्वितीयः तृतीयस्यां, तृतीयः पञ्चम्यां,चतुर्थः सप्तम्यां पञ्चमो नवम्यां, षष्ठः एकादश्यां, सप्तमस्त्रयोदश्यामष्टमः पञ्चदश्याम् एते सर्वेऽपि ऋतवो बहुलपक्षे ततो नवम ऋतुः शुक्लपक्षे द्वितीयायां, दशमश्चतुर्थ्यामेकादशः षष्ठ्यां, द्वादशोऽष्टम्यां, त्रयोदशो दशम्यां, चतुर्दशो द्वादश्यां पञ्चदशश्चतुर्दश्याम् एते सप्त ऋतवः शुक्लपक्षे । एते ऋतवः कृष्णपक्षे भाविनः । पञ्चदशापि ऋतवो युगस्यार्द्धे भवन्ति । तत उक्तक्रमेणैव शेषा अपि पञ्चदश ऋतवो द्वितीये युगस्यार्द्धे भवन्ति । तद्यथा-षोडश ऋतुर्बहुलपक्षे प्रतिपदि, सप्तदशः तृतीयाया-मष्टादशः पञ्चम्यामेकोनविंशतितमः सप्तम्यां विंशतितमो, नवम्या,-मेकविंशतितम एकादश्यां, द्वाविंशतितम त्रयोदश्यां त्रयोविंशतितमः पञ्चदश्यामेते षोडशाद्यस्त्रयोविंशतिपर्यन्ताः । अष्टौ बहुलपक्षे ऋतवः शुक्लपक्षे द्वितीयायां चतुर्विंशतितम पञ्चविंशतितमश्चतुर्थ्यां, षड्विंशतितम षष्ठ्यां, सप्तविंशतितमोऽष्टम्याम् अष्टाविंशतितमो दशम्या, मेकोनत्रिंशत्तमो द्वादश्यां त्रिंशत्तमश्चतुर्दश्यामेवमेते सर्वेऽपि ऋतवो मासेष्वेकान्तरितेषु तिथिष्वपि चैकान्तरितासु भवन्ति । सांप्रतमेतेषु ऋतुषु चन्द्रनक्षत्रयोगं च प्रतिपादयिषुस्तद्विषय करणमाह ।

तितिसया पचहिगा, अंसा तेअो सयं च चोत्तीसं ।
एगाइ ति उत्तरगुणा, धुवरासीए स वोधव्वा ॥

त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि अंशा विभागाः किंरूपच्छेदकृता एते इत्याह च्छेदशत चतुस्त्रिंशं किमुक्तं भवति चतुस्त्रिंशदधिकशतच्छेदेन छिन्नं यदहोरात्रस्य तत्कानि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराण्यंशोनामिति अयं ध्रुवराशिर्बोद्धव्यः । एष च ध्रुवराशिरेकादिरुत्तरगुणः ईप्सितेन ऋतुना एकादिना त्रिंशत्पर्यन्तेनाधुत्तरेण एकस्मादारभ्य तत ऊर्ध्वमुत्तरवृद्ध्या गुणयितेति गुणो गुणितः कर्तव्यस्ततोऽस्मात् शोधकानि शोधयितव्यानीति प्रतिपादनार्थमाह ।

सत्तट्ठि अद्धखेत्ते, दुगातिंगगुणियासमेदिवङ्ढखित्ते ।
अट्ठासीई पुस्से-सोज्झा अभिइम्मि वायाला ॥

इह यत्र अर्द्धक्षेत्रं तत्र सप्तषष्टिः शोध्यानि च सप्तषष्टिः समे समक्षेत्रे द्विगुणिता सती शोध्या एकोत्तरे द्वे शते तत्र शोध्ये इति भावः । इह सूर्यस्य पुष्यादीनि नक्षत्राणि शोध्यानि चन्द्रस्याभिजिदादीनि तत्र सूर्यनक्षत्रयोगचिन्तायां पुष्ये पुष्यविषया अष्टाशीतिः शोध्यानि चन्द्रनक्षत्रयोगचिन्तायामभिजिति द्विचत्वारिंशत् ।

एयाणि सोहइत्ता, जं सेसं तु होइ नक्खत्तं ।
रविसोमाणं नियमा, तीसाए उउसमत्तीसु ॥

एतानि अनन्तरोदितानि अर्धक्षेत्रद्व्यर्धक्षेत्रविषयाणि शोधकानि शोधयित्वा यदुक्तप्रकारेण नक्षत्रं शेष भवति सर्वात्मना शुद्धिमश्नुते तत्र क्षेत्र रविसोमयोः सूर्यस्य चन्द्रमसश्च नियमाद् ज्ञातव्यम् । क इत्याह त्रिंशत्यपि ऋतुसमाप्तिषु एवं करणगाथात्रयाक्षरार्थः । संप्रति करणभावना क्रियते तत्र प्रथम ऋतुः कस्मिन्नक्षत्रे समाप्तिमुपैतीति जिज्ञासायामनन्तरोदितः पञ्चोत्तरत्रिशतप्रमाणो ध्रुवराशिध्रियते स एकोनगुणितस्तदेव भवतीति ततोऽनेन ध्रुवराशिर्जातस्तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा स्थिते पश्चात् द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके(२६३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणः शुद्धः । शेषजातमेकोनत्रिंशच्छतं (१२९) तेन च धनिष्ठा शुद्ध्यति तत आगतमेकोनत्रिंशं शतं चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानाम् धनिष्ठायास्तत्र मवगाह्य चन्द्रः प्रथमं सूर्यर्तुं समापयति । यदि द्वितीयसूर्यर्तुजिज्ञासा तदा स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि (८७३) ततश्चतुस्त्रिंशेन शतेन श्रवणशुद्धिमुपगत स्थितानि शेषाणि सप्त शतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि (७३९) ततोपि चतुस्त्रिंशेन शतेन धनिष्ठा शुद्धा जातानि षट् शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) ततोपि सप्तषष्ट्या शतभिषक् शुद्धा स्थितानि पश्चात्पञ्च शतानि अष्टत्रिंशदधिकानि (५३८) तेभ्योपि चतुस्त्रिंशेन शतेन पूर्वभद्रपदा शुद्धा स्थितानि चत्वारि शतानि चतुरधिकानि (४०४) ततो द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरभद्रपदा शुद्धा स्थिते शेषे त्रिकोनसप्ततिचतुस्त्रिंशदधिकं शतं भागानामवगाह्य द्वितीयं सूर्यर्तुं चन्द्रः परिसमापयति । एवं शेषेष्वपि ऋतुषु भावनीयम् । सम्प्रति सूर्यनक्षत्रयोगभावना क्रियते स एव पञ्चोत्तरशतप्रमाणो ध्रुवराशिः प्रथमसूर्यर्तुजिज्ञासायामेकेन गुण्यते एकेन च गुणने तावानेव जातस्तत्र पुष्यसत्काष्टाशीती शुद्धा स्थिते शेषे द्वे शते सप्तदशोत्तरे (२१७) ततः सप्तषष्ट्या अश्लेषा शुद्धा स्थितं शेष सार्द्धशत (१५०) ततोऽपि चतुस्त्रिंशच्छतेन मघा शुद्धा स्थिता षोडश आगत पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रस्य षोडश चतुस्त्रिंशदधिकानि शतभागानवगाह्य सूर्यः प्रथमर्तुं समापयति । तथा द्वितीयसूर्यर्तुजिज्ञासायां ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशत-

त्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) ततोऽष्टाशीत्या पुष्यः शुद्धिमगमत् स्थितानि पश्चादष्टौ शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (८२७) तेभ्यः सप्तषष्ट्या अश्लेषा शुद्धा स्थितानि शेषाणि षट् शतानि षष्टिशत्यधिकानि (६२६) तेभ्यश्चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन पूर्वफाल्गुनी शुद्धा स्थितानि पश्चाच्चत्वारि शतानि द्विनवत्यधिकानि (४९२) ततोऽपि द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरफाल्गुनी शुद्धा स्थिते द्वे शते एकोनवत्यधिके (२८९) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन हस्तः शुद्धः स्थितं पश्चात्सप्तपञ्चाशदधिकं शत (१५७) ततोऽपि चतुस्त्रिंशेन शतेन चित्रा शुद्धा स्थिता पश्चात्त्रयोविंशतिः आगत स्वातेस्त्रियोविंशति चतुस्त्रिंशदधिकशतं भागानामवगाह्य सूर्यो द्वितीय ऋतु परिसमापयति। एव शेषेष्वपि ऋतुषु भावनीयम तदेवमुक्ता सूर्यर्त्तवः॥

संप्रति चन्द्रर्तुप्रतिपादनार्थमाह

चत्तारि उ सयाइं वि, उत्तराइं जुगम्मि चंदस्स ।
तेसिं पि य करणविहिं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

इह एकस्मिन् नक्षत्रपर्याये षट् ऋतवो भवन्ति यथा सूर्यस्य चन्द्रस्यापि च नक्षत्रपर्याया युगसप्तषष्टिसङ्ख्यास्ततः सप्तषष्टिः षड्भिर्गुण्यते जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि एतावन्तो युग चन्द्रस्य ऋतवो भवन्ति तेषामपि चन्द्रर्तूनां परिज्ञानाय करणविधिं यथानुपुर्व्या क्रमेण वक्ष्यामि। तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितुकामः प्रथमतश्चन्द्रर्तुपरिमाणमाह

चंदस्स उ परिमाणं, चत्तारि य केवला अहोरत्ता ।
सत्तत्तीसं अंसा, सत्तसट्ठिकरणछेएण ॥

चन्द्रस्य चन्द्रसंबन्धिन ऋतोः परिमाण चत्वारः केवला परिपूर्णा अहोरात्राः सप्तषष्टिच्छेदकृतेन च च्छेदेन सप्तत्रिंशदंशाः । किमुक्त भवति सप्तत्रिंशत्सप्तषष्टिभागा दिनस्य तथा ह्येकस्मिन् नक्षत्रपर्याये षट् ऋतव इति प्रागेव भावितम् । नक्षत्रपर्यायचन्द्रविषयस्य परिमाणं सप्तविंशतिरहोरात्र एकस्य चाहोरात्रस्य एकविंशतिः सप्तषष्टिभागा तत्राहोरात्राणां षड्भिर्भागे हृते लब्धानि चत्वारि दिनानि, त्रीणि शेषाणि तिष्ठन्ति तानि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते जाते द्वे शते एकोत्तरे (२०१) तत उपरितना एकविंशतिः सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते द्वाविंशे (२२२) तेषां षड्भिर्भागे हृते लब्धा सप्तत्रिंशत्सप्तषष्टिभागा इति॥

संप्रति चन्द्रऋतोरानयनार्थं करणमाह ॥

चंदं उउ आणयणे, पव्वस्स संगुणं नियमा ।
तिहि संखित्तं संतं, बावट्ठी भागपरिहीणं ॥
चोत्तीससयाभिहियं, पंचुत्तरतिसयं संजयं वि भए ।
छहिं उदसूतारहियं, सणहिं लद्धा उऊ होंति ॥

विवक्षितस्य चन्द्रर्त्तोरानयने कर्तव्ये युगादितो ऽयनपर्वसङ्ख्यानमतिक्रान्तं तत्पञ्चदशगुण नियमात् कर्तव्यं ततास्तिथिसङ्क्षिप्तामिति यास्तिथयः पर्वणामुपरि विवक्षितान् दिनान् प्रागनिष्क्रान्तास्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते ततो द्वाषष्टिभागे द्वाषष्टिभागनिष्पन्नेऽवमरात्रे परिहीन विधेयं तत एवभूतं सञ्चतुस्त्रिंशेन शतेनाभिहितं कर्तव्य तदनन्तर च पञ्चोत्तरैस्त्रिभिः शतैः संयुक्तं सत् षड्भिर्दशोत्तरैः शतैर्विभजेत विभक्ते च सति ये लब्धा अङ्कास्ते ऋतवो भवन्ति ज्ञातव्याः । एष करणगाथाक्षरार्थः । संप्रति करणभावना क्रियते । कोपि पृच्छति युगादित प्रथमे पर्वणि पञ्चम्यां कश्चन्द्रर्तुर्वर्तते तत्रैकमपि पर्व परिपूर्णमत्र नाद्याप्यभूदिति युगादितो दिवसाद्रूपोना ध्रियन्ते ते चात्र चत्वारस्ते चतुस्त्रिंशेन शतेन गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि (५३६) तत्र भूयस्त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते जातान्यष्टौ शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि (८४१) तेषां षड्भि शतैर्दशोत्तरैर्भागो न्हियते लब्धः प्रथम ऋतु अंशा उद्धरन्ति द्वे शते एकत्रिंशदधिके (२३१) तेषां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागहरणं लब्ध एकः अंशानां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागे हृते यल्लभ्यते ते दिवसा ज्ञातव्याः शेषास्त्वंशा उद्धरन्ति सप्तनवतिस्तेषां द्विकेनापवर्तनायां लब्धा सार्द्धा अष्टाचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा आगतं युगादितः पञ्चम्यां प्रथम प्रावृड्लक्षण ऋतुरतिक्रान्तो द्वितीयस्य एको दिवसो गतो द्वितीयस्य च सार्द्धा अष्टचत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा । तथा कोपि पृच्छति युगादितो द्वितीये पर्वणि एकादश्यां कश्चन्द्रर्तुरिति तत्रैक पर्वातिक्रान्तमिति एको ध्रियते स पञ्चदशभिर्गुण्यते जाताः पञ्चदश एकादश्यां किल पृष्टमिति तस्याः पाश्चात्या दश ये दिवसास्ते प्रक्षिप्यन्ते जाता पञ्चविंशतिः सा चतुस्त्रिंशेन शतेन गुण्यते जातानि त्रयस्त्रिंशत् शतानि पञ्चाशदधिकानि (३३५०) तेषु त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि प्रक्षिप्यन्ते जातानि षट्त्रिंशत् शतानि पञ्चपञ्चाशदधिकानि (३६५५) तेषां षड्भिः शतैर्दशोत्तरैर्भागो न्हियते लब्धाः पञ्च अंशा अवतिष्ठन्ते षट् शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) तेषां चतुस्त्रिंशेन शतेन भागे हृते लब्धाश्चत्वारो दिवसाः (४) शेषास्त्वंशा उद्धरन्ति एकोनसप्ततिः (६९) तस्या द्विकेनापवर्तनायां लब्धाः सार्द्धाश्चतुस्त्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः आगतं पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः षष्ठस्य च ऋतोश्चत्वारो दिवसा पञ्चमस्य च दिवसस्य सार्द्धाश्चतुश्चत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः । एवमन्यस्मिन्नपि दिवसे चन्द्रर्तुरवगन्तव्य ।

संप्रति चन्द्रर्तुपरिसमाप्ति दिवसानयनाय करणमाह ।

रविधुवरासी पुव्वंच, गुणिय जयएसणेण छेएण ।
जं लद्धं सो दिवसो, सोमस्स उऊ समत्तीए ।

इह यः पूर्वसूर्यर्तुप्रतिपादने ध्रुवराशिरभिहत पञ्चोत्तराणि त्रीणि शतानि चतुस्त्रिंशद्भागा तस्मिन् पूर्वगुणिते ईप्सितेन एकादिना द्व्युत्तरचतुः शततमपर्यन्त न द्व्युत्तरवृद्धेन एकस्मादारभ्य तत ऊर्ध्वं स्वन्तरवृद्धया प्रवर्द्धमानेन गुणितस्वकेनात्मीयेन च्छेदेन चतुस्त्रिंशदधिकशतरूपेण भक्ते सति यल्लब्ध सोमस्य ऋतुसमाप्तौ दिवसो ज्ञातव्यः । यथा केनापि पृष्ट चन्द्रस्य ऋतु प्रथमः कस्यां तिथौ परिसमाप्तिं गत इति तत्र ध्रुवराशि पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रियते (३०५) स एकेन गुण्यते जातस्तावानेव ध्रुवराशिस्तत स्वकीयेन च्छेदेन चतुस्त्रिंशदधिकशतप्रमाणेन भागो न्हियते लब्धौ द्वौ शेषस्तिष्ठति सप्तत्रिंशद्द्विकेनापवर्तना क्रियते जाता सार्द्धा अष्टादश । आगतं युगादितो द्वौ दिवसावतिक्रम्य तृतीये दिवसेऽष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु प्रथमश्चन्द्रर्तु परिसमाप्तिं गतः द्वितीयचन्द्रर्तुपरिसमाप्तिजिज्ञासायां स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिभिर्गुण्यते जातानि पञ्चदशोत्तराणि नव शतानि (९१५) तेषां चतुस्त्रिंशदधिकेन शतेन भागो न्हियतं लब्धा षट् शेषमुद्धरति एकादशोत्तरशत तस्य द्विके-

नापवर्तनायां लब्धा सार्द्धा पञ्चपञ्चाशत्सप्तषष्टिभागाः आगतं युगादितः षट्सु दिवसेष्वतिक्रान्तेषु सप्तमस्य च दिवसस्य सार्द्धेषु पञ्चपञ्चाशत्सङ्ख्येषु भागेषु द्वितीयश्चन्द्रर्तुः परिसमाप्तिं गच्छति ह्युत्तरस्त्वृतु शततमजिज्ञासायां स ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणोऽष्टत्रिंशतैस्त्र्युत्तरैर्गुण्यते द्व्युत्तरवृद्ध्या हि द्व्युत्तरश्चतुः शततमस्य त्र्युत्तराष्टशतप्रमाण एव राशिर्भवति । तथाहि यस्य एकस्मादूर्ध्वं द्व्युत्तरवृद्ध्या राशिर्लभ्यते तस्य स द्विगुणो रूपोनो भवति तथा द्विकस्य त्रीणि त्रिकस्य पञ्च चतुष्कस्य सप्त अत्रापि च द्व्युत्तरस्त्वृतु शततमप्रमाणस्य राशेर्द्व्युत्तरवृद्ध्या राशिश्चिन्त्यते ततोऽष्टौ शतानि द्व्युत्तराणि भवन्ति एवंभूतेन च राशिना गुणने जाते द्वे लक्षे चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (२४४९१५) तेषां चतुर्स्त्रिंशच्छतेन भागो ह्रियते लब्धानि अष्टादश शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (१८२७) अंशाश्चोद्धरन्ति सप्तनवतिस्तस्या द्विकेनापवर्तना लब्धा सार्द्धा अष्टाचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागाः आगत युगादितोऽष्टादशसु दिवसशतेषु सप्तविंशत्यधिकेष्वतिक्रान्तेषु ततः परस्परसार्द्धेष्वष्टचत्वारिंशत्सङ्ख्यासु सप्तषष्टिभागेषु द्व्युत्तरश्चतु शततमस्य चन्द्रर्तोः परिसमाप्तिरिति ।

सम्प्रति चन्द्रर्तुषु नक्षत्रयोगपरिज्ञानाय करणमाह ॥

सो चेव धुवो रासी, गुणरासी वि य हवंति चेव ।
नक्खत्तं सोहणिय, परिजाण पुव्वभणियाणि ॥

युगे चन्द्रर्तोर्नक्षत्रयोगपरिज्ञानार्थं स एव पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रुवराशिर्वेदितव्यः गुणराशयोऽपि गुणकारराशयोऽपि एकाद्युत्तरवृद्ध्या त एव भवन्ति ज्ञातव्या ये पूर्वमुद्दिष्टा नक्षत्रशोधनान्यपि च परिजानीहि । तान्येव यानि पूर्वं भणितानि द्विचत्वारिंशत्प्रभृतीनि तत पूर्वकरणे विवक्षिते चन्द्रर्तौ नक्षत्रयोग इति जिज्ञासायां स एव पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणो ध्रुवराशिः ध्रियते (३०५) स एकेन गुण्यते एकेन गुणितं सन् स तावानेव भवति ततो जातो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा शेषे तिष्ठतो द्वे शते त्रिषष्ट्यधिके (२६३) ततश्चतुर्स्त्रिंशेन शतेन श्रवण शुद्ध स्थितं पश्चादेकोनत्रिंशच्छतं (१२९) तस्य द्विकेनापवर्तना क्रियते जाता सार्द्धाश्चतु षष्टिभागाः आगत धनिष्ठायाः सार्द्धमेकेन चतु षष्टिभागानवगाह्य चन्द्र प्रथम स्वऋतु परिसमापयति द्वितीयश्चन्द्रर्तुजिज्ञासायां स एव ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणस्त्रिगुण्यते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (९१५) तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशत् शुद्धा स्थितानि शेषाण्यष्टौ शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि (८७३) ततश्चतुर्स्त्रिंशेन शतेन श्रवण शुद्धमुपगत स्थितानि शेषाणि सप्तशतानि एकोनचत्वारिंशदधिकानि (७३९) ततोऽपि चतुर्स्त्रिंशेन शतेन धनिष्ठा शुद्धा जातानि षट्शतानि पञ्चोत्तराणि (६०५) ततोऽपि सप्तषष्ट्या शतभिषक् शुद्धा स्थितानि पश्चात्पञ्च शतानि अष्टत्रिंशदधिकानि (५३८) एतेभ्योऽपि चतुर्स्त्रिंशेन शतेन पूर्वभद्रपदा शुद्धा स्थितानि चत्वारि शतानि चतुरधिकानि (४०४) तेभ्योऽपि द्वाभ्यां शताभ्यामेकोत्तराभ्यामुत्तरभद्रपदा शुद्धा स्थिते शेषे द्वे शते त्र्युत्तरे (२०३) ताभ्यामपि भागानवगाह्य द्वितीयं स्वं ऋतु चन्द्रः परिसमापयति । तथा द्युत्तरश्चतु शततमचन्द्रर्तुजिज्ञासायां ध्रुवराशिः पञ्चोत्तरशतत्रयप्रमाणोऽष्टशि शतैस्त्र्युत्तरैर्गुण्यते जाते द्वे लक्षे चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि (२४४९१५) तत्रार्द्धक्षेत्रेषु षट्सु नक्षत्रेषु प्रत्येक सप्तषष्टिरंशा द्व्यर्द्धक्षेत्रेषु षट्सु नक्षत्रेषु प्रत्येकं द्वे शते एकोत्तरे अंशानां पञ्चदशसु नक्षत्रेषु प्रत्येकं चतुर्स्त्रिंशच्छतमिति षट्सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि द्व्युत्तराणि (४०२) तथा षट् एकोत्तरेण शतद्वयेन गुण्यन्ते जातानि द्वादश शतानि दशोत्तराणि । (१२१०) एते च त्रयोऽपि राशय एकत्र मील्यन्ते मीलयित्वाऽवतिष्ठन्तेऽभिजितो द्वाचत्वारिंशत् प्रक्षिप्यन्ते जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि (३६६०) एतावानेको नक्षत्रपर्यायस्तत एतत्पूर्वस्य राशेर्भागो ह्रियते लब्धा षष्टिर्नक्षत्राणि पर्यायाः पश्चादवतिष्ठन्ते पञ्चपञ्चाशदधिकानि त्रयस्त्रिंशच्छतानि (३३५५) तत्राभिजितो द्वाचत्वारिंशच्छुद्धाः स्थितानि शेषाणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि त्रयोदशाधिकानि (३३१३) तेषां त्रिभि सहस्रैर्द्व्यशीत्यधिकैरनुराधान्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि शेषं ते द्वे शते एकत्रिंशदधिकं (२३१) तत सप्तषष्ट्या ज्येष्ठा शुद्धा स्थितं चतु षष्ट्यधिकं षोडशशतं (१६६४) ततोऽपि चतुर्स्त्रिंशेन शतेन मूलं शुद्धं स्थिता पश्चात् त्रिंशत् (३०) आगत पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रस्य त्रिंशत चतुर्स्त्रिंशदधिकशत भागानामवगाह्योत्तरश्चतु शततम स्वऋतु चन्द्र परिसमापयति । ज्यो० १४ पाहु० ।च० प्र० ।

उउंवर [उंवर] ल [ऊ] दुवर-पु० उं शम्भु वृणोति कम्बर पृषो० दस्य वा रत्वम् । वाच० दुर्गादेव्युडुम्बरपादपतनपादपीठेऽन्तर्द० । २७० । ८ । २ । इति उडुम्बरशब्दमध्यवर्तिनि वा लुक् । प्रा० । (गूलर) इति प्रसिद्धे बहुबीजके वृक्षविशेषे, जी० १ प्रति० । आचा० । देहल्याम्, आ० म० द्वि० । गृहेलुके, गृहावयवविशेषे, आचा० । ताम्रे, नपुंसके, कुष्ठभेदे च । वाच० । प्रज्ञा० ।

उउंवर (उंव) रदत्त-उडुम्बरदत्त- पु० पाटलीखण्डनगरवास्तव्ये सागरदत्तसार्थवाहसुते, । तद्वक्तव्यता यथा-पाटलीखण्डे नगरे सागरदत्तसार्थवाहसुत उडुम्बरदत्ता नाम्नाऽभूत् स च षोडशभी रोगैरेकदाऽभिभूतो महाकष्टमनुभूय मृत । स च जन्मान्तरे विजयपुरराजस्य कनकरथनाम्नो धन्वन्तरिनामा वैद्य आसीत् मांसप्रियो मांसोपदेष्टा चेति कृत्वा नरकङ्गतवानिति । स्था० १० ठा० ।

जइ णं भंते उक्खेवो सत्तमस्स एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं पाडलिसंडे णयरे वणसंडे उज्जाणे उंवरदत्ते यक्खे तत्थ णं पाडलिसंडे णयरे सिद्धत्थ राया तत्थ णं पाडलिसंडे णयरे सागरदत्तसत्थवाहे होत्था । अहे गंगदत्ता भारिया तस्स णं सागरदत्तस्स पुत्ते गंगदत्ताए भारियाए अत्तए उंवरदत्ते णाम दारए होत्था । अहीणं तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव परिसागया तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं गोयमं तहेवए जेणेव पाडलिसंडे णयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता पाडलिसंडे णयरे पुरच्छिमेण दुवारेणं अणुप्पविसत्ति तत्थ णं पासइ एग पुरिसं कच्छुल्लं कोढियं दो उयरियं भगदलियं अरिसिल्लं कासिल्लं सासिल्लं सूय मुह सूयहत्थं सूयपायं सडियहत्थंगुलियं सडियपायं

उउंब (उंव) रीय—उडुम्बरीय—पु० प्रत्युडुम्बर रूपको दातव्य इत्येव लक्षणे करे, " जोयत उंबरीयस्स " वृ० ३ उ० ॥

उउ (ऊ) परियट्ट—ऋतुपरिवर्त—पु० ऋत्वन्तरे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

उउदेवी—ऋतुदेवी—स्त्री० वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिरोभिधानदेवतासु, पंचा० ३ विव० ।

उउवद्ध—ऋतुवद्ध— पु० शीतकाले, उष्णकाले च । औ० । अष्टौ मासा ऋतुवद्धसंज्ञकाः । आचा० २ श्रु०१ अ०१ उ० । आ० म० ।

उउमास—ऋतुमास—पु० ऋतुः किल लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमाणो द्विमासात्मकस्तस्यार्द्धमपि मासोऽवयवः समुदायोपचारात् ऋतुरेवार्थात्परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणो मासः ऋतुमासः । कर्ममासापरपर्याये मासभेदे, एष एव ऋतुमासः । कर्ममास इति वा व्यवह्रियते । उक्तच "एसो चेव उउमासो कम्ममासो सावणमासो भण्णइ" इति । व्य०१ उ० १ उ० । "उडुमासो तीसदिणो, आइच्चो तीस होइ अद्धं च" ५ व्य० प्र० १ उ० । नि०चू० ।

पंच संवच्छरियस्स णं जुगस्स रिउमासेणं मिज्जमाणस्स इगसट्ठिं उउमासा पण्णत्ता ॥

अथैकषष्टिस्थानक तत्र पञ्चेत्यादि पञ्चभिः संवत्सरैर्निर्वृत्तमिति पञ्चसांवत्सरिकम् । तस्य णमिति वाक्यालङ्कारे युगस्य कालमानविशेषस्य ऋतुमासेन चन्द्रादिमासेन मीयमानस्य एकषष्टिः ऋतुमासाः प्रज्ञप्ताः । इह चायं भावार्थः युगं हि पञ्चसंवत्सरान्निष्पादयति तद्यथा चन्द्रश्चन्द्रोऽभिवर्द्धितश्चेति । तत्र एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमाणेन २९ । ३२ । ६२ कृष्णप्रतिपदामारभ्य पौर्णमासीनिष्ठितेन चन्द्रमासेन द्वादश मासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सरस्तस्य च प्रमाणमिदम् । त्रीणि शतान्यह्नां चतुःपञ्चाशदुत्तराणि द्वादश च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३५४ । १२ । ६२ । तथा एकत्रिंशदह्नामेकविंशत्युत्तरं च शतं चतुर्विंशत्युत्तरशतं भागानां दिवसस्येत्येवंप्रमाणो ऽभिवर्द्धितमास इति । एतेन ३१ । १२१ । १२४ । च मासेन द्वादशमासप्रमाणोऽभिवर्द्धितसंवत्सरो भवति स च प्रमाणेन त्रीणि शतानि अह्नां त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्य ३८३ । ४४ । ६२ । तदेवं त्रयाणां चन्द्रसंवत्सराणां द्वयोश्चाभिवर्द्धितसंवत्सरयोरेकीकरणे जातानि दिनानां त्रिंशदुत्तराणि अष्टादश शतानि अहोरात्राणाम् १८३० ऋतुमासश्च त्रिंशताहोरात्रैर्भवतीति त्रिंशता भागहारे लब्धा एकषष्टिः ऋतुमासा इति । स०६१ स० ।

उउय—ऋतुज—त्रि० कालोचिते, "उउयपिंडमनिहारिसगंधिएसु" प्रश्न० ५ द्वा० ।

उउलच्छि—ऋतुलक्ष्मी—स्त्री० ऋतुसंपदि, ज्ञा० ९ अ० ।

उउलच्छिसमत्थजायसोह—ऋतुलक्ष्मीसमस्तजातशोभ—त्रि० ऋतुलक्ष्म्येव सर्वर्त्तुककुसुमसंपदा समस्ता सर्वा समस्तस्य वा जाता शोभा यस्य स तथा । सर्वर्तुषु कुसुमसम्पदा सामस्त्येन शोभमाने, "उउलच्छिसमत्थजाय सोहोप इट्ठगंधधूयाभिरामो" ज्ञा० ९ अ० ।

उउवास—ऋतुवर्ष—पु०—द० स० । ऋतुवद्धकालवर्षाकालयो, "उउवासे पणगचउमासे" प्रव० ७० द्वा० ।

उउ [ऊ] संधि—ऋतुसन्धि—पु०ऋतोः पर्यवसाने, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

उउसंवच्छर—ऋतुसंवत्सर— पु० ऋतवो लोकप्रसिद्धा वसन्तादयस्तत्प्रधानः संवत्सरः ऋतुसंवत्सरः । चन्द्र० १ पा० । त्रिंशदहोरात्रप्रमाणैर्द्वादशभिर्ऋतुमासैः श्रावणमासकर्ममासपर्यायैर्निष्पन्नेषष्ट्यधिहोरात्रशतत्रयमाने, । स्था० ५ ठा० । सावन संवत्सरपर्याये संवत्सरभेदे, तत्त्व च यथा ।

विसमं पवालिणो परि—णमंति अणडुसुदेंति पुष्फफलं ।
वासं ण सम्मवासइ, तमाहु संवच्छरं कम्मं ॥

विषमेण वैषम्येण प्रवाल पल्लवाङ्कुरस्तद्विद्यते येषां ते प्रवालिनो वृक्षा इति गम्यते । परिणमन्ति प्रवालवत्ताक्षणया अवस्थया जायन्ते । अथवा प्रवालिनो वृक्षाः परिणमन्ति अङ्कुरोद्भेदाद्यवस्थां यान्ति । तथा अनृतुषु अस्वकाले ददति प्रयच्छन्ति पुष्पफलं यथा चैत्रादिषु कुसुमादिदायिनोऽपि स्वरूपेण चूताः माघादिषु पुष्पादि प्रयच्छन्तीति यथा वर्षं वृष्टिमेघो न सम्यग्वर्षति यत्रेति गम्यते तमाहुर्लक्षणतः संवत्सरं कार्मणं यस्य स ऋतुसंवत्सरः सावनसंवत्सरश्चेति पर्यायौ । स्था० ५ ठा० । जो० ॥

ता एएसिणं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चे उउसंवच्छरस्स उउमासेति स तिमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं गणिज्जमाणे केवतिए रातिंदियग्गेणं आहितातिं वदेज्जा । ता तीसेणं राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेपुच्छा ता णवमुहुत्तसताइं णवमुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ता एस णं अद्धादुवालसखुत्तकडा उउसंवच्छरे ता सेणं केवतिते राइंदियग्गेणं आहितेति । ता तिण्णि सट्ठे रातिंदियसते राइंदियग्गेणं आहितातिं वदेज्जा । ता से णं केवतिते मुहुत्तग्गेणं आहिते ता दसमुहुत्तसहस्सातिं अट्ठ य मुहुत्तसताइं मुहुत्तग्गेणं आहिता ॥

तृतीय ऋतुसंवत्सरविषय प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह । (तातीसेणमित्यादि)ता इति पूर्ववत् त्रिंशदात्रिंदिनानि (३०) रात्रिंदिवाग्रेण ऋतुमास आख्यात इति वदेत । तथाहि ऋतुमासयुगे एकषष्टिस्ततो युगसत्कानां त्रिंशदधिकानामहोरात्राणामेकषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः त्रिंशदहोरात्राः (३०) (तासेणमित्यादि) मुहूर्तविषयं प्रश्नसूत्र सुगमम् भगवानाह "ता नव मुहुत्तसयाइ " इत्यादि । नव मुहूर्त्तशतानि मुहूर्त्ताग्रेणाख्यात इति वदेव । तथाहि त्रिंशदात्रिंदिनानि ऋतुमासपरिमाणमेकैकस्मिंश्च रात्रिंदिवे त्रिंशन्मुहूर्त्तास्तत त्रिंशत्त्रिंशता गुण्यते नव शतानि भवन्तीति । (ता एएसिणामित्यादि) प्राग्वद्भावनीयम् । च० १२ पा० ॥

उउसुह—ऋतुसुख— त्रि० ऋतौ कालविशेषे सुखः सुखहेतुःऋतुसुखः । कालोचितसुखप्रदे, "उउसुहसिवच्छायसमणुवद्धेण" ऋतौ कालविशेषे सुखा सुखहेतुः ऋतुसुखा शिवा निरुपद्रया छाया आतपवारणलक्षणा तया समनुवद्धमनवच्छिन्नं यत्तत्तथा । तेन छत्रेण । औ० ।

ऋतुसुज — पु० कालोचित्ते, प्रश्न० ४ द्वा० ॥

उंछ—उञ्छ— न० उञ्छ्यते अल्पाल्पतया गृह्यते इत्युञ्छः । भक्तपानादौ, स्था०४ठा० । जुगुप्सनीये भैक्ष्ये, सूत्र०१श्रु० ३अ० ।

तन्निक्षेपो तथा 'अत्ता उंछ दुविह, दव्वे भावे य होइ नायव्व । दव्वुछणेगविह होगरिसीण मुणेयव्व" व्य० द्वि० १० उ० । (एतद्व्याख्या अत्तायउंछअभिग्गह शब्दे) उञ्छमिवोञ्छम् । अल्पाल्पगृहीते भैक्ष्ये, प्र०१द्वा० । अज्ञातपिण्डोञ्छसूचकत्वादेतत्पदस्य" उञ्छमिति कुसुमपुष्पिकाऽध्ययने,द०१अ०।

उंछजीवियां-उञ्छजीविका-स्त्री० एषणायाम्, स्था०४ ठा०

उंछजीवियासंपन्न-उञ्छजीविकासम्पन्न- त्रि० एषणानिरते, स्था० ४ ठा० ।

उंछवित्ति-उञ्छवृत्ति-त्रि०कणश आदानरूपेण उञ्छेन जीविकावति, तत्पुत्रो नारदस्तेषामुञ्छवृत्त्या च भोजनम् । तदप्येकान्तरं ते चाऽशोकाधो नारद सुतम् । आ० क० । आव०

उंजण-उञ्जन-न० उत्सेचने, " ण उंजिज्जा ण घट्टिज्जा, णो ण णिव्वावए मुणी " द०८अ० ।

उंजायण-उञ्जायन- पुं० वाशिष्ठगोत्रे ऋषिभेदे, तत्प्रवर्तितेगोत्रजे च । स्था० ७ ठा० ।

उंडिया-उण्डिका-स्त्री० अजिनपत्तनगरादेर्निवेश्यमानस्य योगभूमियोग्यनार्थायामक्षरसहितमुद्रायाम्, वृ० १ उ० ।

उंडी-उण्डी-स्त्री० पिण्डयाम्, ज्ञा० ३ अ० । वृ० ।

उंडेरिय-उण्डेरिक-न० तिलकुट्टिकया अर्चनीये स्वादिमभेदे, यदीप्सित लप्स्यामहे तदा तवोण्डेरकादि दास्याम. । स्था०४ ठा० । आ० म० द्वि० ।

उंदुर- (रू) उन्दर (रू) पुं०-स्त्री उन्द उरु मूषके, आ० म० प्र० । उंदुरो वा लास सुत्तमुक वा मुचज्जो । नि० चू० ११ उ० ।

उंदुरक्क-उन्दुरक्क-न० देवतादि पुरतो वृषभगर्जितादिकरणे, ग० २ अधि० ।

उंदर (रू) माला-उन्दुर (रू) माला-स्त्री० मूषकस्रजि, उपा० १ अ० ।

उंदुरमालापरिगण्डुसुकयचिण्ह-उन्दरमालापरिणद्धसुकृतचिह्न-त्रि० उन्दुरमालया मूषकस्रजा परिणद्ध परिणत सुकृत सुष्ठु रचित चिह्नं स्वकीयलाञ्छन येन तत्तथा तास्मिन् ।उपा० १अ०।

उंबर-उम्बर-पु० उमित्यव्यक्तशब्दं वृणाति वृ० अच्-द्वारोर्ध्वकाष्ठे, वाच० । देहल्याम्, २ आ० म० द्वि । आव० । गन्धर्वभेदे च ।वाच० ।

उंभ-उम्भ-धा-ध्वा-प० पूरणे, आ० म० द्वि० ।विशे० ।

उक्कुकुर-उत् स्था-धा० (उठना) स्थित्याधारादूर्ध्वपतने उद एकुकुरौ ८।४।१७ इति उत्पूर्वस्य स्थाधातो. कुक्कर इत्यादेश । उक्कुकुरइ उत्तिष्ठति । प्रा० ।

उक्क-उत्क-त्रि० उद्गत मनोऽस्य उद्० नि०कण्वाच० । उत्कण्ठिते," अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नायेसी अलोलुए " उत्त० ।

उक्कचण-उत्कञ्चन-न० शूलाद्यारोपणार्थमूर्ध्वकुञ्चने, सूत्र० २ श्रु०२अ०।ज्ञा०।उत्कोचायां च।दशा०२अ० ।तच्च हीनगुणस्य गुणोत्कर्षप्रतिपादनम् । ज्ञा० २ अ० ।दीनानूर्ध्वं दण्डयत भ० ११ श० ११ उ० । मुग्धवञ्चनप्रवृत्तस्य समीपवर्तिविदग्धरक्षणार्थंक्षणं क्षणमव्यापारतयाऽवस्थानम् । उपा० १ अ० । औ० । मूर्ख प्रति तत्प्रतिरूपदानादिकमसद्व्यवहार कर्तुं प्रवृत्तस्य पार्श्ववर्तिविचक्षणभयात् क्षणं यत्तदकरणमुत्कुञ्चन-मित्यन्ये । ज्ञा० १८ अ० "उक्क च णं अज्झाविणा" वसतेर्बोन्यादिना कचवरनिष्काशनमिति सभाव्यते । नि० चू० ५ उ० ।

उक्कंचण-उत्कञ्चन-न० दण्डकोपरिकम्बीनां बन्धनरूपे वसतिपरिकर्मणि, ग० १ अधि० ।

उक्कंठा-उत्कण्ठा-स्त्री० " ङञणनो व्यञ्जनो " ८ । १ । २५ । इत्यनेन णकारस्यानुस्वारो वा । प्रा० । वर्गेऽन्त्यो वा ८।१।३०। इत्यनेनानुस्वारस्य णकारो वा।प्रा० । इष्टलाभाय कालासहनरूपे औत्सुक्ये, २ वाच० ।

उक्कंपिय-उत्कम्पित-त्रि० चञ्चलीकृते, कल्प० ।

उक्कंबण-उत्कम्बन-न० दण्डकोपरि कम्बीनां बन्धनरूपे वसतिपरिकर्मणि, वृ० १ उ० । ग० । नि० चू० ।

उक्कंबिय-उत्कम्बित-त्रि०वशादिकम्बाभिरवबद्धे,आचा०१श्रु०।

उक्कच्छिया-औपकच्छिकी-स्त्री०कक्षायाः समपिमुपकक्ष तत्र भवा औपकक्षिकी । अध्यात्मादित्वादिकण् प्रत्ययः । साध्व्युपकरणभेदे, । वृ० ३ उ० । साप्येवंविधा स्यूता समचतुरस्रा सार्द्धहस्तमाना चतुरोऽङ्गा दक्षिणपार्श्वे पृष्ठ चाच्छादयति । वामस्कन्धे वामपार्श्वे च वीटकप्रतिबद्धा परिधीयते । यदुक्तम् " ण्य २ अणुकुइए उरोरुहे कचुओ असीविअओ । एमेव य उक्कच्छिअ सा नवरं दाहिणे पासे त्ति।ध०३अधि० । वेगच्छियाउपज्जे कचुकमुत्काट्टियं च ण्दोति।संघाडओ उच्चउरो तत्थ दुहत्थाउ वसधीयउत्ति । वृ० ३ उ० ।

उक्कट्ठि-उत्कृष्टतस्-अव्य० उत्कर्षवशेनेत्यर्थे, सू० प्र० १९ पा०

उक्कड-उत्कट-त्रि० प्रकर्षपर्यन्तवर्तिनि, प्रश्न० १ द्वा० । तीव्रे, आचा० । उत्कृते, कल्प० । प्रचुरे, आव० ५ अ० । कलुषत्वे, व्य० २ श०२उ० । उक्कडफुडकुडिल जडुलकक्खडवियडफडा डोयकरणदच्छ । उत्कटो बलवतान्येनाध्वसनीयत्वात् स्फुटो व्यक्तप्रयत्नविहितत्वात् कुटिलो वक्रस्तत्स्वरूपत्वाज्जटिलः स्कन्धदेशे केसरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात् कर्कशो निष्ठुरोबलवत्त्वात् विकटो विस्तीर्णो यः स्फटाटोपः फणासरम्भः तत्करणे दक्षो य स तथा तम् । प्र०१५ श० १ उ० । रक्तैक्षौ, शरे च । पुं० विषमे, त्रि० सैंहीलतायां च स्त्री० । वाच० ।

उक्कडगंधविलित्त-उत्कटगन्धविलिप्त-त्रि० तीव्रदुर्गन्धव्याप्ते, नं०।

उक्कत्त उत्कृत्त-त्रि० शरीराद्दूरीकृतचर्मणि, "कप्पिओ फालिओ छिण्णो उक्कत्तो य अणेगसो " उत्त० १६ अ० ।

उक्कत्तग-उत्कर्तक-पु० चौरभेदे, ये गेहाद् ग्रहण निष्काशयन्ति प्रश्न० ३ द्वा० ।

उक्कत्तिअ-मुत्कार्तित-त्रि० धूर्तादित्वात् तंभागस्य न ट' । उत्क्षिप्ते, प्रा० ।

उक्कप्प-उत्कल्प-पु० ऊर्ध्वं कल्प उत्कल्पः उत्सर्गैषणोत्पादनाशुद्धसमाचारे, । प० भा० । "उक्कप्पो उ इदाणिं, उड्ढ कप्पादि होति ओकप्पो । अहवा त्तिच्छिण्णकप्पो, उक्कप्पो अहवण अवेत्तो ॥ उग्गमउप्पायणए-सणेसुणिक्खो कदमूलफले गिहिवे पावमियासु य,ओकप्प त वियाणाहि॥णामणिथभणि लेसणि, वेताली चेव अरुवेताली । आदाणपाणेसु य, अण्हेसु य एवमादीसु । तसपागिंदियमुच्छण-तसेहमच्छणामअ भिओगे।गेहाद धव्यण तहयंत, दुरुयंत य अगिणस्स । णामाणि रुप्पसफलाणं, परिमाण देउलाणयूमादि । थमणिपदम मि ण चलाति, लेसणिलेसंत्ति भणइ । विद्दिट्ठाण य आणणि

अहव णिउक्कावणम्मि वेताली । उट्ठावेऊण णिवातो, तम्खणए सुरूवेतासी । गब्भाणं आदाण, करोति तह सारूणं च गब्भाणं । असिओगवसीकरणं, विज्जा जोगादिहिं कुणति । विच्छिगमच्छिगभमरे, मडुक्के मच्छए तहा पक्खी । सम्मुच्छा वेमादी, जो जोणी पाहुडेणं च । पसुउद्दवियं जाग, आहव्व ण संतरोहकम्मेय। कोहादिवसदंडो,थंभणिअगाणिस्स मंतेणं एमादि अकरणिज्जं, निक्कारणे जे करेति तू भिक्खू। सव्वो सो उक्कपो,, दारं पं० भा० । प० चू० ॥

उक्कम–उत्क्रम– पुं० उत्-क्रम-घञ्-अवृद्धिः । पश्चादानुपूर्वीभवने, वि० ७ अ० । विशे० । उत्क्रान्तौ ऊर्ध्वगतौ च। वाच०॥

उक्कमंत–उत्क्रममाण– त्रि० ऊर्ध्वं क्रामति,"उक्कमंतेसु पाणेसु" आ० म० प्र० ।

उक्कमवोच्छिज्जमाणबंधोदया–उत्क्रमव्युच्छिद्यमानबन्धोदया– स्त्री० उत्क्रमेण पूर्वमुदयः पश्चाद्बन्ध इत्येव लक्षणेन व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ता उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। बन्धव्यवच्छित्तिपूर्वकोदयव्यवच्छित्तिमतीषु प्रकृतिषु,पं० स०।

उक्कमसेली–उत्क्रमशैली– स्त्री० विपरीतपरिभाषायाम्, द० ।

उक्कमित्त–उपक्रान्त– त्रि० उपक्रमकारणैरुपक्रान्ते क्षीणे, "अहवा उक्कमित्तेभवतिए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उक्कर–उत्कर– पुं० समूहे, कल्प० । संघाते, आव० ४ अ० । उन्मुक्तकरे, करस्तु गवादीन् प्रतिवर्षं राजदेय द्रव्यम् । भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । जं० ।

उक्करड–उत्करट– पुं० करटस्य सहाऽध्यायिनि, आ० म० द्वि० । (तत्कथा वरूकरण शब्दे)

उक्करिज्जमाण–उत्कीर्यमाण– त्रि० छुरिकादिभिरुत्कारिकयाभिद्यमाने, आ० म० प्र० ।

उक्करयाभेय–उत्करिकाभेद– पुं० एरण्डबीजानामिव बीजभेदे भ० ५ श० ४ उ० ।

उक्करिस–उत्कर्ष– पुं० उत्कर्षणे, उत्सेके, "अतसमुक्करिसत्थं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

उक्कड–उत्कट– त्रि० प्रकृष्टे, स्था० ५ ठा० ।

उक्कल– त्रि० वृद्धिमति, ।

पंच उक्कला पण्णत्ता तंजहा दंडुक्कले रज्जुक्कले तेणुक्कले देसुक्कले सव्वुक्कले ।

उत्कटा उत्कला वा तत्र दण्ड आज्ञापराधिदण्डनं वा सैन्य वा उत्कटः । प्रकृष्टो यस्य तेन वोत्कटो यः स दण्डोत्कटो दण्डेन चोत्कलति वृद्धिं याति यः स दण्डोत्कल इत्येव सर्वत्र । नवरं राज्य प्रभुता स्तेनाश्चौरा देशो मण्डल सर्वमेतत्समुदयति । स्था० ५ ठा० ।

औत्कल–उत्कलाऽभिजनोऽस्य अण् औत्कल । तद्देशानां राजनि, वाच० फाल्गुनस्य भ्रातरि कलिङ्गस्य सहोदरे पल्लीवास्तव्ये, २ आचा० २ श्रु०२अ०११उ० ।(सज्झानिक्षेपेकथा)

उक्कालिअंड–उत्कालिकाण्ड– न० लूतापुटाण्डे अण्डसूक्ष्मे,कल्प०

उक्कालिआ–उत्कालिका– स्त्री० लघुतरे समुदाये, औ० । भ० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, (लूतेति सभाव्यते) प्रज्ञा० १ पद । जी० । ज्ञा० । लहरी, देवोत्कालिकादेव लहरिः इति लहरिपरत्वेन उत्कलिकाशब्दस्य व्याख्यानात् स्था०४ठा० । अन्यत्र देवोत्कलिका तत्समवायविशेषः । स्था० ३ ठा० ।उत्कण्ठायाम्,कामादिजातायां स्मृतौ, कोरके, हेलायां च । हेम० ।

उक्कलियावाय–उत्कालिकावात–पुं० वायुकायविशेषे, स्थित्वा स्थित्वोत्कालिकाभिर्यो वाति स उत्कालिकावातः । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । उत्कलिकाभिः प्रचुरतराभिः सम्मिश्रोयो वातः स उत्कलिकावातः । जीवा० १ प्रति० । दश० ॥

उक्कस–उत्कर्ष–पुं० उत्कृष्यते आत्मा दर्पाध्मातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षः । माने, "उक्कसं जलणं णूमं मज्झत्थं च विगिंचए" सूत्र०१ श्रु०२ अ० । भावे घञ् । प्राशस्त्ये, अतिशये, उत्कर्षान्विते, उत्पाटयकर्षणे, उद्धरणे, वाच० ।

उक्कसण–उत्कर्षण–न०उत्क्रमणे, निवर्तने, उद्गतेन प्रेरणमुक्कसणम् । नि० चू० १८ उ० । गर्वकरणे, सूत्र० १ श्रु०१३अ० ।

उक्कस्स–उत्कर्षवत्–त्रि० अष्टमदस्थानानामन्यतमेनोत्सेक कुर्वति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

उक्कस्समाण–अपक(र्ष)सत्–त्रि० ह्रसति, स्था० ५ ठा० ।

उक्कस्समाणी–अपक(र्ष)न्ती–स्त्री०पङ्कपनकयोः परिह्रसत्याम्, णिग्गंथे णिग्गंथी सेसंसि वा पकंसि वा पणगंसि वा उदगंसि वा उक्कस्समाणि वा । स्था० ५ ठा० । वृ० ।

उक्कसावंत–उत्कर्षयत्–त्रि० उत्क्रामयति, स्थानान्तरं नयति णाव उक्कसावेइ उक्कसावंत वा साइज्जइ उक्कसावेइ स्थल स्थाज्जले कारयति जलस्थानूस्थले कारयति।नि०चू०१०उ०

उक्का–उल्का–स्त्री० उष् दाहे, क नि षस्य लः । सर्वत्र लवरामचन्द्रे ८ । २ । ७९ इति ललुक् । प्रा० । " अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् । ८ २ ८९ । इत्यनेन ककारस्य द्वित्वम् । प्रा० । चुडुल्याम्, जी० १ प्रति । सा च सरेखा प्रकाशयुक्ता उल्का व्य० द्वि० ८ उ० । प्रव० । आव० । प्रज्ञा० । न० । उपरि प्रकाशमधस्तादन्धकार ईदृक् छिन्नमूलो दिग्दाह उल्का आ० चू० । नि० चू० । "उक्कामहसरेहा पगासकारिणी य अहवा रेहा । विरहितो विप्फुलिंगो, पहासकरो" आ०चू० ४ अ० । निपततो ज्योतिः पिण्डस्य रेखायुक्तस्योल्केत्याख्या । ओ० । ये मूलाभितो विद्युत्य विद्युत्याग्निकणाः प्रसर्पन्ति त उल्का उच्यन्ते । जी० ३ प्रति । उल्का गगनाग्निः । दशा० ४ अ० । उल्का अग्निपिण्ड । स्था०८ ठा०। उद्योतो भूमावप्रतिष्ठितो गगनतलवर्ती दिग्दाह इति प्रसिद्ध उल्कास्था० आव० । उत्त० । शुष्कतृणवस्त्रादिवेष्टिते (मशाल इति प्रसिद्धे) दीपभेदे, ज्योतिषोक्ते नाक्षत्रिकदशाभेदे च । वाच० ।

उक्कामुह–उल्कामुख–पुं० अश्वकर्णनाम्नो ऽन्तर्द्वीपस्य पूर्वोत्तरस्यां विदिशि अष्टौ योजनशतानि अतिक्रम्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भे एकोनत्रिंशदधिकपञ्चविंशतियोजनशतपरिक्षेपे पद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरे जम्बूद्वीपवेदिकातो ऽष्टयोजनशतप्रमाणान्तरे अन्तरद्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च । स्था० ४ ठा० । (अंतरद्वीप शब्दे वर्णक उक्तः) उल्केव मुखमस्य । प्रेतभेदे, जन्तुभेदे, स्त्री० ङीप् वाच० ।

उक्कारियाभेय–उत्कारिकाभेद–पुं० एरण्डबीजानामिव पृथग्भेदे, स्वरूप च ॥

सेकिंतं उक्कारियाभेदे २ जाणंमूसया ण वा तिलसिंगाण वा मंडूसाण वा मुग्गसिंगाण वा माणसिंगाण वा एरंडबीयाण वा फुडिया उक्करियाए भवति सेत्त उक्कारियाभेदे । प्रज्ञा० ११ पद । स्था० ।

उक्कालिय–उत्कालिक–न० ऊर्ध्वं कालात्पठ्यत इत्युत्कालिकम्। दशवैकालिकादीनि। स्था०। कालवेला (पञ्चविधस्वाध्यायिक) मात्रवर्ज्यशेषकालानियमेन पठ्यमाने श्रुतविशेषे, अनु०। पा०। " जं पुण कालवेलावज्जं पढिज्जइ तं उक्कालियंति नं०। "

सेकिंतं उक्कालिअं उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्ता तंजहा दसवेयालियं कप्पिया कप्पियं चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं उववाइयं रायपसेणियं जीवाभिगमो पण्णवणा महापण्णवणा पमायप्पमायं नंदी अणुओगदाराइं देविंदत्थओ तंदुलवेयालिय चंदाविज्जयं सूरपण्णत्ति पोरिसिमंडलं मण्डलप्पवेसो विज्जाचरणविणिच्छिओ गणिविज्जा झाणविवत्ती मरणविवत्ती आयविसोही वियरागसुयं संलेहणासुयं विहारकप्पो चरणविही आउरपच्चक्खाणं महापच्चक्खाणं एवमाइ सेत्तं उक्कालियं। नं०। पा०। अनु० आ० म० द्वि०।

उक्कावाय–उल्कापात–पुं० ६ त०। उल्का आकाशाजातस्यापात उल्कापात। स्था०। व्योम्नि सम्मूर्च्छितज्वलनपतनरूपे लोकप्रसिद्धे सादिपारिणामिकेऽर्थे, अनु०। जी०। सरेखे सोद्योते वा तारकस्येव पाते, भ० ३ श० ६ उ०। उल्कापातादिदोषाश्च यावव्याधिमरणेसु भवन्तः शकुनाग्निकुल्पीकाभिधायिनो भवन्ति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

उक्कास–उत्कास–पुं० अभिमानात्स्वकीयसमुत्कर्षादे प्रकाशनरूपे मोहनीयकर्मभेदे, भ० १२ श० ५ उ०।

उक्कासहस्स–उल्कासहस्र–न० अग्निपिण्डसहस्रे, स्था० ठा०।

उक्कि (क) ट्ठ उत्कृष्ट–त्रि० कृषि विलेखने इत्यस्य धातोरुत्पूर्वस्य निष्पन्नस्येदं रूपम्। उत्–कृष–क्त दश० १ अ०। इत्यादौ ८। १। १२८ इति ऋत इत्वम्। प्रा०। आर्षे तु "तदा सव्वसुक्कट्ठित्ति" प्राकृतशैल्या उत्कृष्टम। दश० ४ अ०। प्रधाने, " धम्मो मंगलमुक्किट्ठमहिंसा संजमो तवो " । दश० १ अ०। भ०। प्रशस्ते, जी० ३ प्रति०। प्रव०। कर्षणयुक्ते क्षेत्रादौ च। वाच०। अनुत्कृष्टे, कृष्टं कर्षणं अन्यग्रहणाया कर्षणम् ज० ३ वक्ष०। उत्कर्षवति, वि० ३ अ०। हर्षवशाज्जायमाने उत्कर्षे, आ० म० प्र०। कल्प०। गंधवणियसंठिय, सोरट्ठिपिट्ठकुक्कसकए य। उक्किट्ठमसंसट्ठ, संसट्ठे चेव बोधव्वे " उत्कृष्टशब्देन कालिङ्गालाबुत्रपुषफलादीनां शस्त्रहतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते। दश० १ अ०।

उक्किट्ठवागग–उत्कृष्टवर्णक–पुं० प्रधानचन्दनके, उक्किट्ठवणोपरि, समवसरणविषयरूपस्स " पञ्चा० २ विव०।

उक्किट्ठसंकिलेस–उत्कृष्टसंक्लेश–पुं० ६त सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकानि चरमपङ्क्ति प्रदर्शितानि यानि स्थिति बन्धाध्यवसायस्थानानि तेषां मध्ये यश्चरममध्यवसायस्थानं तदुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते। अथवा चरमस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टसंक्लेश उच्यते। इति परिभाषिते ऽर्थे, कर्म०।

उक्किट्ठसरीर–उत्कृष्टशरीर–त्रि० उत्कर्षवच्छरीरे, " उक्किट्ठे उक्किट्ठसरीरे प्रविस्सइ " वि० ७ अ०। आ० म०।

उक्किट्ठा–उत्कृष्टा–स्त्री० प्रशस्तायां गतौ, जी० ३ प्रति०। मनोहरायां गतौ, कल्प०। "उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चयलाए जयणाए उद्धयाए दिव्वाए देवगईए " राय०।

उक्किट्ठि–उत्कृष्टि–स्त्री० हर्षविशेषप्रेरिते ध्वनिविशेषे, आ० म० द्वि०। आनन्दमहाध्वनौ, औ०। वि०। धकारपूर्वके कलकले, अत्र चतुर्थप्रायश्चित्तेन शुद्धिः। जीत०।

उक्किण्ण–उत्कीर्ण–त्रि० उत् कृ क्त–नष्टे, आ० चू० २ अ०। अतीव व्यक्ते, प्रज्ञा०। शिलादिषु उत्कीर्य्यकृते नामकादिरूपे पदभेदे, दश० ३ अ०। उद्–कृ–कर्तरि क्त उल्लिखिते, छतयोधे, ऊर्ध्वक्षिप्ते क्षिपिते च। वाच०।

उक्किण्णंतर–उत्कीर्णान्तर–त्रि० ६ ब० अतीव व्यक्तान्तरे, प्रज्ञा०। जी०। उक्किण्णतरविउलगंभीरखायफलिहा (असुरकुमारावासा) उत्कीर्णमुत्कीर्णमुत्कीर्य्य पाली रूपं कृतमन्तरालं ययोस्ते उत्कीर्णान्तरे ते विपुलगम्भीरे खातपरिखे येषां तानि उत्कीर्णान्तरविपुलगम्भीरखातमध उपरि च समम्परिखा उपरि विशाला अधः संकुचिता तयोरन्तरेषु पाली अस्तीति भावः। स०।

उक्कित्तण–उत्कीर्तन–न० उत् कृत् ल्युट् सशब्दने, विशे०। आव०। आ० म० द्वि०। व्य०। अनु०। नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि पर्य्यायोत्कीर्तनं मुदा० क०। देवनामादेरुच्चैः कीर्तने च। वाच०

उक्कित्तणाणुपुव्वी–उत्कीर्तनानुपूर्वी–स्त्री० उत्कीर्तनं संशब्दनमभिधानोच्चारणं तस्यानुपूर्वी अनुपरिपाटिः। आनुपूर्वीभेदे, अनु० ॥

उक्कित्तिय–उत्कीर्तित–त्रि० कथिते, च० २ पाहु०।

उक्किरिज्जमाण–उत्कीर्य्यमाण–त्रि० क्षुरिकादिभिरुत्कारिकया भिद्यमाने, ज० १ वक्ष०। कोट्ठपुडाण वा उक्किरिज्जमाणा ण य विक्किरिज्जमाणाण वा। आ० म० प्र०। जी० ॥

उक्कीरमाण–उत्कीरत्–त्रि० वेधनकेन विकिरति, क्षेत्रन्यादिना मृष्ट कुर्वाणे, त च केइ उक्कीरमाण पासित्ता वएज्जा किं भवं उक्कीरसि, अनु०। कर्म० ॥

उक्कुज्जिय–उत्कूजित–न० उत्—कूज्—भावे क्त उपरि कूजितिकरणे, उवरिहुत्ति करण उक्कुज्जियं। नि० चू०। कर्तरि क्तः कृताव्यक्तमहाध्वनौ, प्रश्न० १ द्वा० ॥

उत्कुब्ज्य– अव्य० ऊर्ध्वं कायमुन्नम्य ततः कुब्जीभूयेत्यर्थे, "असंजए भिक्खू परियाए उक्कुज्जिया आवउक्कुज्जिया" आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ०।

उक्कुट्ट–उत्कुष्ट– न० पीलुपर्णिकादेरुदूखलचूर्णिते आर्द्रपर्णचूर्णे आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०। सचित्तवणस्स इ चुण्णा उक्कुट्ठो भण्णइ। नि० चू० ४ उ०। उक्कुट्ठो णाम सचित्तवणस्स इपत्तकुरफलाणि वा उक्खले छुब्भति। नि० चू० १ उ०।

उक्कुडुग–उत्कुटुक–न० यथास्थानमनवस्थिते, ज० २ वक्ष०। यथास्थानमनिविष्टे, भ० ७ श० ६ उ०। आसने, पुताश्रयने ज्ञा० १ अ०। भूमावन्यस्तपुततयोपविष्टे, प्रव० ६७ द्वा० पञ्चा०। "आगम्मुक्कुडुओ सतो पुच्छेज्जा पंजलिउडो " गुरोः समीपमागत्य उत्कुटकोन्मुकासनः कारणतः पादपुञ्छनविस्थः सन् शान्तो वा। उत्त० १ अ०। आ० म०। यथा कुक्कुडिया पाद पसारी तु सहु चेव। झटिति एव सहु अपसारे तत्तो ताहे भूमि अच्छिवतो पसारेति सहु वा अप्पसारेए ठवेति। आ० चू० ४ अ०। "उक्कुडे वा ठाणं ठाइज्जा लाभे सवसेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वते नेसज्जिए विहरेज्जा ठट्ठा उगगहपडिमा" आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० जिनकल्प प्रतिपन्न पुनर्नियमादुत्कुटुक [illegible]

उक्कुडुया-उत्कुटुका-स्त्री० आसनालग्नपुतं पादाभ्यामवस्थित उत्कुटुकस्तस्य या सा उत्कुटुका। निषद्याभेदे, स्था० ५ ठा० आ० म० द्वि०।

उक्कुडुयासण-उत्कुटुकासन-न० पीठादौ पुताऽलगनेनोपवेशने, स्था० ५ ठा० वृ०।

उक्कुडुयासणिय-उत्कुटुकासनिक-पुं० उत्कुटुकासनं पीठादौ पुताऽलगनेनोपवेशनरूपमभिग्रहतो यस्यास्ति स उत्कुटुकासनिकः। उत्कुटुकासनेनैवोपविशामीत्यभिग्रहधारिणि साधौ उत्कुटुकासनिकत्वमप्यनुज्ञातं तीर्थकृता कायक्लेशाख्यतपोभेदे एव। स्था० ५ ठा०।

उक्कुरुड-उत्कुरुट-पुं० इष्टकाकाष्ठादिराशिरूपेऽर्थे कचवरपुञ्जे, "निम्मीइ पव्वयाया तणपुंजपलालगुम्मउक्कुरुडे" वृ० १ उ०। आ० म० द्वि०।

उक्कुस-गम्-धा० गतौ, भ्वादि-"गमेरइ अइच्छाणुवज्जावसज्जोक्कुस०" ८।४।१६२ इति सूत्रेण गम्धातोरुक्कुसादेशः उक्कुसइ गच्छति। प्रा०।

उक्केर-उत्केर-पुं० उप्पको उप्पीलो उक्केरो पहयरो ओहो पयरो प्रा० को० ७। उत्पीडने, उत्कारिकाभेदेन भिन्ने, "दुदुभिसमारोहे भेए उक्कारिया य उक्केरे" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ७०।

उक्कोडभंग-उत्कोटभङ्ग-पुं० खोटभङ्गशब्दार्थे, "खोडभंगो त्ति वा एगट्ठं" व्य० प्र० १ उ०।

उक्कोडा-उत्कोटा-स्त्री० उत्कोचायां लञ्चायाम्, औप०। ज्ञा०। "उक्कोडाहि य पराणवेहिं य दिज्जोहिं य" वि० १ अ०।

उक्कोडालंचणपासमग्गणपरायण-उत्कोटालञ्चनपार्श्वमार्गणपरायण-त्रि० उत्कोटालञ्चयोर्द्रव्यबहुत्वतरत्वादिभिर्लोकप्रतीतभेदयोः पार्श्वात् गुप्तिगतनरसमीपादुन्मार्गेण याचन तत्परायणस्तन्निष्ठः। चौर्यविशेषतत्परेषु, ("उक्कोडालंचणपास मग्गणपरायणेहि गोम्मियभडेहिं" प्रश्न० ३ द्वा०।

उक्कोडिय-उत्कोटिक-त्रि० उत्कोटा उत्कोचा लञ्चेत्यर्थः। तया ये व्यवहारन्ति औत्कोटिकाः। अन्यथा ऽसद्व्यवहारिषु, औ०। ज्ञा०।

उक्कोया-उत्कोचा-स्त्री० लञ्चायाम्, मूर्खं प्रति तत्प्रतिरूपदानादिकमसद्व्यवहारं कर्त्तुं प्रवृत्तस्य पार्श्ववर्त्तिविचक्षणभयात् विचक्षेण यत्तदकरणम्। ज्ञा० १८ अ०।

उक्कोस-उत्कर्ष-पुं० उत्कृष्यत इत्युत्कर्षः। उत्कृष्टे, "एसा खलु गुरुभत्ती उक्कोसो एस वा ण धम्मो उ" पञ्चा० २ विव०। चं० प्रव०। गुणाभिमाने, स्था० ४ ठा०। सूत्र०। आत्मनः परस्य वा मानादिक्रियोत्कृष्टताकरणे, भ० १२ श० ५ उ०। तत्स्वरूपे मोहनीयकर्मणि,। स० ५२ स०। प्रकर्षे, तद्योगात्कर्षतीति वा व्युत्पत्तेः। उत्कृष्टे, "तओ वियडदत्तीओ पडिगाहित्तए तंजहा उक्कोसा मज्झिमा जहण्णा" स्था० ३ ठा०

उत्कृष्ट-त्रि० उद् कृष् क्त केनाप्कुष्टादयः ८।४।५६ इति उत्पूर्वस्य कृष्धातोः क्तसहितस्य उक्कोसादेशः। उत्कर्षवति, प्रा०।

उत्क्रोश-पुं० कुररे, प्रश्न० १ द्वा०। कृमी क्रन्दिनि, त्रि०। तत स्वतुरस्त्र्याम् उत्करा उत्क्रोशीव. तत्सन्निहिते देशादौ, वाच०

उक्कोसंत-उत्क्रोशत्-त्रि० क्रन्दति, प्रश्न० १ द्वा०।

उक्कोसग-उत्कर्षक-पुं० उत्कर्षतीत्युत्कर्षः। उत्कर्ष एवोत्कर्षकः "उत्कृष्टे, ततानां च उत्तमकष्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ" चंद्र० १ पाहु०। सू० प्र०। आव०।

उक्कोसट्ठिइय-उत्कर्षस्थितिक-पुं० उत्कर्षो उत्कर्षवत्सख्यासमयापेक्षया स्थितिर्येषां ते तथा। तेषामसख्यातसमयस्थितिकानामित्यर्थः। तेषु, स्था० ११ ठा०।

उक्कोसपएसिय-उत्कर्षप्रदेशिक-पुं० उत्कर्षन्तीत्युत्कर्षाः उत्कर्षवन्तः उत्कृष्टसख्याः परमाणवः प्रदेशा अणवस्ते सन्ति येषान्ते उत्कर्षप्रदेशिकाः। तेषु, स्था० १ ठा०।

उक्कोसपद-उत्कृष्टपद-न० उत्कृष्टत्वे, "उक्कोसपदे अट्ठ अरिहंता" उत्कृष्टतोऽष्टावर्हन्तो भवन्ति स्था० ८ ठा०।

उक्कोसमयपत्त-उत्कर्षमदप्राप्त-त्रि० उत्कर्षेण मदं प्राप्त उत्कर्षमदप्राप्तः।। उत्कर्षतो मत्ते, जी० ३ प्रति०।

उक्कोसिय-उत्कौशिक-पुं० गोत्रविशेषप्रवर्तके ऋषिभेदे, "थेरस्स णं अज्जवइरसेणस्स उक्कोसियगोत्तस्स" कल्प०।

उक्कोसिया-उत्कर्षिका-स्त्री० उत्कर्षवत्याम्, पञ्चा० ८ विव०। उत्कृष्टायाम्, सू० प्र० १ पाहु०।

उक्ख-उक्ष-पुं० सम्बन्धे, न०। आ० म० प्र०। परिधानवस्त्रस्यैकदेशे, आह च निशीथचूर्णिकृत्। परिधानवत्थस्स अभिंतरचुण्णाए उवरिकसेणाभिहेढा उक्खो भण्णइ एस सयतीतं भवति वृ० १ उ०। नि० चू०। अवसेकारि, सिंचे, वाच०।

उक्ख (क्खा) अ-उत्खात-न० उद्-खन्-क्त आतम्। वा यव्यो खातादावादौ ८।१।६७ इत्यनेनादेरकारस्यात्वविकल्पः। ऊर्ध्वमवदीर्णे, प्रा०।

उक्खंभ-उत्तम्भ-पुं० उद्-स्तम्भ-घञ् उद्यावल्पेन स्तम्भने, संथा०।

उक्खंभिय-उत्तम्भिक-त्रि० उत् प्राबल्येन स्तम्भनमुत्तम्भ उत्तम्भ एव उत्तम्भिकः स्वार्थे इकण् प्रत्ययः। अवष्टम्भनके, प्रतिस्तम्भपहकादौ, अवलम्ब्यते स्थिरीक्रियते जीवो मुक्तिकारणेष्वनेनेति पर्यन्ताराधने, "भणकेरिसस्स नाणिणो सयाये केरिसे वउ मासे" संथा०।

उक्खणमणु-दशी-पुन पुनः शब्दार्थे, उक्तं "उक्खणमणु त्ति वा पुणो पुणो त्ति वा एगट्ठं" व्य० द्वि० १ उ०।

उक्खणण-उत्खनन-न० उत्पाटने, प्रश्न० १ द्वा०।

उक्खणिऊण-उत्खाय-अव्य० उत्खन्-ल्यप् उत्पाट्येत्यर्थे, "अप्पणो अच्छी अप्पणो उक्खणिऊण सिवगस्स ढापति" नि० चू० १ उ०।

उक्खंपिय-उत्कल्प्य-अव्य० कटकृत्य कृत्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०।

उक्खल-उदूखल-न० (ओखली) इति प्रसिद्धे कण्डनोपकारिणि गृहोपकरणे, "को सयणो चमेहाए सुप्पुक्खलग च खार गालण च" सूत्र० १ श्रु० ४ अ०।

उक्खलिया-उत्खलिका-स्त्री० स्थाल्याम्, उक्खलिया थाली, जा साधुणिमित्त सा अहाकम्मिआ" नि० चू० १ उ०।

उक्खवित्तु-उत्क्षिप्य-अव्य० उत् क्षिप् ल्यप् उर्ध्वं क्षिप्त्वेत्यर्थे, त उक्खवित्तु न णिक्खवे आसयाछडुए" दश० ५ अ०।

उक्खा-उखा-स्त्री० स्थाल्याम्, पिं०। एगाओ उक्खातो परिस मिज्जमाणे पहाए एकस्मात्पिठरकात् गृहीत्वा कूरादिकम् आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

उक्खित-उत्क्षित त्रि० सिक्ते, "चंदणोक्खित्तगाय सरीरे" सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

उत्क्षिप्त त्रि० उत् क्षिप्-क्त ऊर्ध्वमाकाशे क्षिप्ते, ज्ञा० १० अ० । जन्नाडुदुधृते, ज्ञा० १७ अ० । उत्पाटिते, आव० १ अ० । प्रथमतः समारभ्यमाणे गेयभेदे, रा० । जं० । उच्चारिते च धुत्तूरे पु० वाच० ।

उक्खित्तकण्णनास-उत्क्षिप्तकर्णनास-त्रि० ब० उत्पाटितकर्णनासिके, वि० १ अ० ।

उक्खित्तचरग-उत्क्षिप्तचरक-पु० स्वप्रयोजनाय पाकभाजनादुदधृतं तदर्थमभिग्रहविशेषाच्चरतितद्गवेषणाय गच्छतीत्युत्क्षिप्तचरकः । स्था० ५ ठा० । दायकेन पूर्वमेव भाजनादुदधृतस्य गवेषके, प्रतिग्रहविशेषधारिणि, ध० ३ अधि० । भिक्षाचरकभेदे, औप० । प० व ।

उक्खित्तणाय-उत्क्षिप्तज्ञात-न० मेघकुमारजीवेन हस्तिभवे वर्त्तमानेन य पाद उत्क्षिप्तस्तेनोपलक्षितं मेघकुमारचरितमुत्क्षिप्तमेवोच्यते । उत्क्षिप्तमेव ज्ञातमुदाहरणं विवक्षितार्थसाधनमुत्क्षिप्तज्ञातम् । मेघकुमारचरितरूपे ज्ञाताधर्मकथाया, प्रथमाऽध्ययनोक्ते मेघकुमारचरिते, ज्ञातभावोऽस्यैव भावनीयोदयादिगुणवन्तः सहन्त एव देहकष्टमुत्क्षिप्तैकपादो मेघकुमारजीवो हस्ती वेति । एतदर्थाभिधायके ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमे ऽध्ययने च । ज्ञा० १ अ० । स० आव० । प्रश्न०

उक्खित्तणिक्खित्तचरय-उत्क्षिप्तनिक्षिप्तचरक-पु० पाकभाजनादुत्क्षिप्य निक्षिप्तं तत्रैवान्यत्र च स्थाने यत्तदुत्क्षिप्तनिक्षिप्तम् । अथवा उत्क्षिप्तं च निक्षिप्तं च यश्चरति स तथोच्यते अभिग्रहविशेषधारिणि भिक्षाचरके, औ० । सूत्र० ।

उक्खित्तपसिणवागरण-उत्क्षिप्तप्रश्नव्याकरण-त्रि० उत्क्षिप्तानीवोत्क्षिप्तानि अविस्तारिरूपाणि प्रच्छनीयत्वात्प्रश्नाव्याक्रियमाणत्वाच्च व्याकरणानि यानि तानि तथा । संक्षिप्तप्रश्नोत्तरेषु । भ० १६ श० ५ उ० ।

उक्खित्तपुव्ववसहि-उत्क्षिप्तपूर्ववसति-पुं०क०स० अस्यां वसत यूयमिति साधूनामादौ दर्शितायां वसतौ, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

उक्खित्तभत्त- उत्क्षिप्तभक्त न० पूज्यभक्ते, पूज्यभक्तमुत्क्षिप्तभक्त पट्टकभक्तमेतान्येकार्थिकानि । बृ० २ उ० ।

उक्खित्तविवेग-उत्क्षिप्तविवेक-पु० उत्क्षिप्तस्य शुष्कौदनादिभक्ते निक्षिप्तपूर्वस्याचामाम्लप्रत्याख्यानवतामयोग्यस्याद्रवविकृत्यादिद्रव्यस्य विवेको निःशेषतया पृथक्करणमुद्धरणमुत्क्षिप्तविवेकः । आचामाम्लादिप्रत्याख्यानानां भोक्तव्यद्रव्यस्याऽकल्पनीयद्रव्येण संस्पर्शो तदुद्धरणरूपे प्रत्याख्यानाकारे, । "आयंबिल पच्चक्खाइ अन्नत्थणा भोगेणं सहस्सागारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं" पंचा० ५ विव० । ध० । आ० चू० ।

उक्खित्ताय-उत्क्षिप्तक-न उत् क्षिप्-क-ककारात्पूर्वं दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्- । प्रथमतः समारभ्यमाणे गेयादौ, जं० १ वक्ष० जी० । रा० । स्था० ।

उक्खिप्प -उत्क्षिप्य- अव्य० उत् क्षिप् ल्यप् "ऊर्ध्वं क्षिप्त्वेत्यर्थे उक्खिप्पपाद रीएज्जा" आचा २ श्रु ९ अ ३ उ ।

उक्खिप्पमाण-उत्क्षिप्यमाण-त्रि० ऊर्ध्वं क्रियमाण, (उक्खिप्पमाणेहिं) प्रकीर्णकैरुत्क्षिप्यमाणैरित्यर्थः । प्रश्न० ७४ द्वा० ।

उक्खिवत-उत्क्षिपत्-त्रि० उत् क्षिप्-शतृ- । उत्क्षिपेर्गुलुगुञ्छोत्यंघालत्थ, ८ । ४ । ४२ इत्यादिसूत्रस्य वैकल्पिकत्वाद् गुलुगुञ्छादय प्रेरणे, प्रा० ।

उक्खिवणा-उत्क्षेपणा-स्त्री० उद्घाटनायां साधूनां सघाद्वहिःकरणे, " अभिंदणो य उक्खवणा " बृ० १ उ० ।

उक्खुम-तुभ्-धा० भेदे, तुदा० कुटा०पर सक सेट् (तुभेस्तोटतुवखुडोक्खुडोल्लुक्कणिलुक्कलुक्कोल्लूराः ८ । ४ । १६ । इति तुभेरुक्खुडादेशः उक्खुडइ तुडति प्रा० ।

उक्खेव-उत्क्षेप पु० उत्-क्षिप्-घञ् उत्पाटने, ओ० कर्तरि अच् उत्क्षेपकारके, त्रि० वाच० प्रारम्भ वाक्ये, निर० ।

उपक्षेप-पु उपोद्घाते, "उक्खेवो तइयस्स" उपा० १अ हस्तादुत्पाटने, (उक्खेवेण देतिणिवावि उवणाति) व्य ३ उ० ।

उक्खेवग--उत्क्षेपक--त्रि० उद् क्षिप् ण्वुल् ऊर्ध्वप्रक्षेपे, उत्क्षिप्याहारके चौरे च । वाच० वंशदलादिमये मुष्टिग्राह्यदण्डमध्यभागे, वायूदीरणके वस्तुनि, भ०९ श० ३३ उ० । ज्ञा१ । प्रश्न० ८ ।

उक्खेवण--उत्क्षेपण--न० उत्-क्षिप् ल्युट् उत्खनने, समुद्धरणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । न्यायवैशेषिकप्रसिद्धे पञ्चानां कर्मणामन्यतमस्मिन्, तच्च यदूर्ध्वाध प्रदेशाभ्यां संयोगविभागकारणं कर्मोत्पद्यते । यथा शरीरावयवे तत्सम्बन्धे वा मूर्तिमति मुसलादौ द्रव्ये ऊर्ध्वभाग्भिराकाशप्रदेशाद्यैः संयोगकरणमधोदिग्भागावच्छिन्नैश्च तैर्विभागकारण प्रयत्नवशाद्यत्कर्म तदुत्क्षेपणमुच्यते । सम्म० ।

उगलफणग-उग्गालफलक-न० आर्यकप्रभृतीनांवेश्या समागते चम्पकपट्टादिफलके, व्य. ४ उ० ।

उगूहिया-उद्गूहिता-त्रि० पञ्चम्यामनेषणायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ १० उ ।

उग्ग-उद्-घट-धा उद् घट चेष्टायाम्, णि उद् घटेरुग्गः ८ । ४ । ३३ । उत्पूर्वस्य घटेर्ण्यन्तस्य उग्ग इत्यादेशः । उग्गइ उद्घटयति । प्रा० ।

उग्र-पु० उच् रक् गश्चान्तादेशः । क्षत्रियाद्शूद्रायां शूद्रायामुत्पन्ने सकीर्णवर्णे, वाच० उग्रदण्डकारित्वादुग्र कल्प० । आ० म० प्र० । आदिदेवावस्थापिते आरक्षवंशज क्षत्रियभेदे, ज्ञा० १ अ० । स्थ० । आचा० । बृ० । कल्प० । अनु० । ओ० प्र० । दुष्टे, अतिउग्ग दरुणिदम्मे आयरिया उग्गा दुट्ठुत्ति वुत्तं भवति नि० चू० । स्वभावत उदात्ते, प्र० १० ४ उ० । प्रज्ञा० तीव्रे, त० । अप्रधृष्ये, ज्ञा० १ अ० । रा० । च० । मत्स्या । उत्कटे, उत० २० अ० ।

उग्गकुल-उग्रकुल-न० ६ त आरक्षिकाणां कुले, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

उग्गच्छ-उद्गत्य-अव्य० क्रमेण तत्रोद्गमनं कृत्वेत्यर्थे, भ० ८ श० १ उ० ।

उग्गगध-उग्रगन्ध-पु० उग्र गन्ध पुष्पादावस्य चम्पके, कटफले, पर्जरक्षे, लशुने, च । हिङ्गुनि, न० । उत्कटगन्धाढ्ये त्रि० । यवान्याम्, वचायाम् अजमोदायां, च । स्त्री० टाप् मेदि० ।

उग्गतव--उग्रतपस्--त्रि० उग्रमप्रधृष्यं तपोऽनशनादि यस्य स तथा । रा० । वि० । प्र० । तीव्रतपसि, स्था० । यदन्येन प्राकृतेन पुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि मनसा (तेन) विविधेन तपसा युक्ते, रा० । उत्त० । स्था० । ज्ञा० । नि० ।

उग्गतेय--उग्रतेजस्--त्रि० ६ ब० । तीव्रप्रभावे, तीव्रविषे, "आसीविस उग्गतेयकप्पा" प्रश्न० १ सं० द्वा० ।

उग्गपव्वइय--उग्रप्रव्राजित--पुं० उग्राः सन्तः प्रव्रजिताः । दीक्षामाश्रितेषु, आदिदेवेनारक्षकत्वेन नियुक्तानां वंशजेषु, औ० ।

उग्गपुत्त--उग्रपुत्र--पु० ६ त. उग्राणां पुत्राः । उग्राणां कुमारेषु, क्षत्रियजातिविशेषेषु, सूत्र० २ श्रु० १३ अ० भ० ॥

उग्गपुरिस--उग्रपुरुष--पुं० उग्रपुरुषविशेषे, स्था० । (व्याख्या पुरिसशब्दे-)

उग्गम--उद्गम--पु० उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभवे,

तत्थुग्गमोपसूई, पभवो एमादि होंति एगट्ठा ।
सो पिंडस्सिह पगओ, तस्स य दोसा इमे होंति ॥

तत्रेत्युद्गमोत्पादनैषणासु मध्ये उद्गमनमुद्गमः । प्रसवनं प्रसूतिः । प्रभवनं प्रभवः (एमाइत्ति) एवमादयः आदिशब्दादुत्थानादिपरिग्रहः भवन्ति स्युरेकार्थाः । अनन्याभिधेयाः शब्दा इति गम्यम् (सोत्ति) स चोद्गमः सचेतनाचेतनमिश्रद्रिपदादिद्रव्यविषयत्वेन बहुविषयोपि सन् पिण्डस्य भैक्ष्यस्याधिकृतः प्रस्तुत. । इह पिण्डाधिकारे दोषा दूषणानि तस्य पिण्डोद्गमस्य इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति वर्तन्ते । ये हि साध्वर्थे पाकस्थापनप्रकाशनादयो भक्तादिवस्तुनो भक्तस्थापितत्वप्रकटत्वादिरूपेण भवनलक्षणमुद्गमं दूषयन्ति ते उद्गमदोषा इति गाथार्थ । पञ्चा० १३ विव० । तत्र प्रथमत उद्गमस्य एकार्थिकानि नामानि नामादिकांश्च भेदान् प्रतिपादयति ॥

उग्गम उग्गोवण मग्गणाय एगट्ठियाणि एयाणि ।
नामं ठवणा दविए भावम्मि य उग्गमो होइ ॥

उद्गम उद्गोपना मार्गणा च एकार्थिकान्येतानि नामानि स च उद्गमश्चतुर्धा भवति तद्यथा (नामंति) नामोद्गमः यत् उद्गम इति नाम अथवा जीवस्य अजीवस्य वा यदुद्गम इति नाम स नामनामवतोरभेदोपचारात् । यद्वा नाम्ना उद्गमो नामोद्गम इति व्युत्पत्तेर्नामोद्गम. । स्थापनोद्गम उद्गम' स्थाप्यमानो द्रव्ये द्रव्यविषयो भावेभाव विषयः तत्र द्रव्योद्गमो द्विधा आगमतो नो आगमतश्च । नो आगमतोपि त्रिधा । ज्ञशरीर भव्यशरीर तद्व्यतिरिक्तभेदात् । तत्र आगमतो नो आगमतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपौ द्रव्यगवेषणावत् भावनीयौ । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त तु द्रव्योद्गमम ॥

तथा नो आगमतो भावोद्गम च प्रतिपादयति ॥

दव्वम्मि लड्डुगाई, भावे तिविहोग्गमो मुणेयव्वो ॥
दंसणनाणचरित्ते, चरित्तुग्गमेणेत्थ अहिगारो ॥ ७३ ॥

द्रव्ये द्रव्यविषये उद्गमो लड्डुकादौ लड्डुकादिविषयो लड्डुकादे संबन्धी वेदितव्यः । अत्रादिशब्दाज्ज्योतिरादिपरिग्रह. । तथा भावे भावविषये त्रिविधस्त्रिप्रकारो ज्ञातव्य. । तद्यथा, दर्शने दर्शनविषयो ज्ञाने ज्ञानविषयश्चारित्रे चारित्रविषय. । अत्र तु चारित्रोद्गमेनाधिकारप्रयोजनम् चारित्रस्य प्रधानमोक्षाङ्गत्वात् । तथाहि ज्ञानदर्शने सती अपि न चारित्रमन्तरेण कर्ममलापगमाय प्रभवतः श्रेणिकादौ तथोपलम्भात् चारित्र पुनरवश्यं ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वरूपेणापि वाञ्छितसकलकर्मोपादाननिषेधपूर्वोपार्जितकर्मापगमकरणस्वरूपम् ततस्तत्प्रधानमोक्षस्याङ्गं तत्प्रधानानुयायिन्यश्च प्रेक्षावतां प्रवृत्तय. । ततोत्र चारित्रोद्गमेन प्रयोजनम् । लड्डुकादेरित्यत्रादिशब्देन लब्ध ज्योतिरुद्गमादिरूप द्रव्योद्गम विवरीतुमाह ॥

जोइसतणोसहीणं, मेहरिणकराणमुग्गमो दव्वे ।
सो पुण जत्तो य जया, जहा य दव्वुग्गमो दव्वो ॥७३॥

ज्योतिषां चन्द्रसूर्यादीनां तृणानां दर्भादीनामौषधीनां शाल्यादीनां जीमूतानां ऋणस्य उत्तमर्णो यदा तद्द्रव्यस्य कराणां राजदेयभागानाम् । उपलक्षणमेतत् । अन्येषामपि द्रव्याणां य उद्गमः स द्रव्यसबन्धी वेदितव्यः । स पुनर्द्रव्योद्गमो यतो यस्मात्सकाशात्स यदा यस्मिन् काले यथा च येन प्रकारेण भवति तथा वाच्यः । तत्र ज्योतिषां मेघानां च आकाशदेशात् तृणानामौषधीनां च भूमेर्ऋणस्य व्यवहारादेः कराणां नृपतिनियुक्तपुरुषादेः तथा यदि ज्योतिषां मध्ये सूर्यस्य प्रभाते शेषाणां तु कस्यापि कस्यांचिद्वेलायां तृणादीनां प्रायः श्रावणादौ तथा यथेति ज्योतिषां मेघानां चाकाशे प्रसरणेन तृणानामौषधीनां च भूमौ स्फोटयित्वा ऊर्ध्वं निरसरणेन ऋणस्य पञ्चकशतादिवर्द्धनरूपेण कराणां प्रतिवर्षं गृहस्य द्रम्मद्वयादिग्राह्यमित्येवंरूपेण । एव शेषाणामपि द्रव्याणां यतो यदा यथा च यथासम्भवमुद्गमो भावनीय. । इह प्राक् " दव्वम्मिलड्डुगाइ" इत्युक्त तेन च लड्डुकप्रियकुमारकथानक सूचितमतस्तदिदानीं गाथात्रयेणोपदर्शयति ।

वासहरा अणुजत्ता, अत्थाणी जोग्गकिडुकाले य ।
घडगसरावेसु कया उ, मोयगा लड्डुगपियस्स ॥७४॥
जोग्गा अभिप्पमारुय, निसमुब्भवो सुहसमुत्थो ।
आहारुग्गमचिंता, असुइ त्ति दुहा मलप्पभवो ॥७५॥
तस्सेव वेरुग्ग--ग्गमेण सम्मत्तनाणचरणाणं ।
जुगवंकमुग्गमो वा, केवलनाणुग्गमो जाओ ॥७६॥

वासगृहात् वासभवनात् अनुयात्रानिर्गमः । तत आस्थान्य योग्या क्रीडा सा व्यधीयत । ततः काले भोजनवेलायां तस्य लड्डुकप्रियस्य मोदकप्रियस्य कुमारस्य योग्या घटेषु सरावेषु च कृत्वा मोदका जनन्या प्रेषिता । ते च परिजनेन सह स्वेच्छ तेन भुक्तास्ततो भूयोपि योग्यक्रीडानिरीक्षणसक्तिस्तेन ... ततया तस्य रात्रौ जागरणभावतस्ते मोदका न जीर्णास्ततोऽजीर्णदोषप्रभावतोऽतीव पूतिगन्धिमारुतनिसर्गोऽभवत् । तत आहारोद्गमचिन्ता जाता । यथा त्रिसमुत्था घृतगुडकणिक्कासमुद्भवा एते मोदकास्तत' शुचिसमुत्था । सूत्रे च जातावेकवचनम् । केवलं द्विधा मलप्रभवोऽयं देहस्ततस्तत्सम्पर्कतोऽशुचयो जाता इत्येव तस्य वैराग्योद्गमेन ज्ञानदर्शनचारित्राणां युगपत्क्रमेण वा उद्गमो जातस्तत' केवलज्ञानोद्गम इति गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्तुकथानकादवसेयस्तच्चेदम् । श्रीस्थलक नाम नगर तत्र राजा भानुस्तस्य भार्या रुक्मिणी तयो सरूपनामा तनयः स च यथासुख पञ्चभिर्धात्रीभिः परिपाल्यमान प्रथमसुरकुमार इवानेकसुजनहृदयानिनन्दयन् कुमारभावमधिरोह । तत शुक्लपक्षचन्द्रबिम्बमिव प्रतिदिवसं कलाभिरभिवर्द्धमान' क्रमेण कमनीयकामिनीजनमनःप्रह्लादकारिणीं यौवनिकामधिजगाम । तस्मै च स्वजायत एव

रोचन्ते मोदकास्ततो लोके तस्य मोदकप्रिय इति नाम प्रसिद्धिमगमत् । स च कुमारोऽन्यदा वसन्तसमये वासभवनात्प्रातरुत्थाय आस्थानमण्डपिकायामाजगाम । तत्र च निजशरीरप्रभावर्णिमापाकृतसुरसुन्दरीरूपाहंकारमनोहरविलासिनीजनगीतनृत्यादिकं परिभावयितुं प्रावर्त्तत । तत्र च स्थितस्य भोजनवेलायामागतायां भोजननिमित्तं जननी प्रधानसरावसंपुटेषु शेषपरिजननिमित्तं च घटेषु कृत्वा मोदकान् प्रेषितवती । ततस्तेन परिजनेन सह मोदका यथेच्छं बुभुजिरे । ते च रात्रावपि गीतनृत्यादिव्याक्षिप्तचित्ततया जागरणभावतो न जीर्णास्ततो ऽजीर्णदोषप्रभावतोऽधोवातोऽतीव पूतिगन्धिर्निर्जगाम । तद्गन्धपुद्गलाश्च सर्वतः परिभ्रमन्तस्तन्नासिकां प्रविविशुः । ततस्तथारूपं पूतिगन्धमाघ्राय चिन्तयामास । यथामी मोदका घृतगुडकणिक्कादिनिष्पन्नास्ततः शुचिद्रव्यसमुत्था एवैते । केवलमयं यो देहो जननीशोणितजनकशुक्ररूपो द्विधा मलप्रभवत्वादशुचिरूपस्तत्संपर्कवशतोऽशुचिरूपो जातः । दृश्यन्ते च कर्पूरादयोऽपि पदार्थाः स्वरूपतः सुरभिगन्धयोऽपि देहसंपर्केन क्षणमात्रेण दुरभिगन्धयो जायमानाः । क्षणान्तरे शरीरगन्धस्यैव पूत्यात्मकस्योपलम्भात इत्थमशुचिरूपस्यानेकापायशतसंकुलस्य शरीरस्यापि कृते ये गृहमासाद्य नरकादिकुगतिविनिपातकारीणि पापकर्माणि सेवन्ते ते सचेतना अपि मोहमयनिद्रोपहतविवेकचेतनत्वादचेतना एव परमार्थतो वेदितव्याः । यदपि च तेषां शास्त्रादिपरिज्ञानं तदपि परमार्थतः शरीरायासफलम् । यद्वा तदपि पापानुबन्धिकर्मोदयतस्तथाविधक्षायोपशमनिबन्धनत्वादशुभकर्मकार्यमेवेति तत्त्ववेदिनामुपेक्षास्पदम् । विद्वत्ता हि सा तत्त्ववेदिनां प्रशंसार्हा या यथावस्थितवस्तुविविधहेयोपादेयहानोपादानप्रवृत्तिफला यां तु सकलजन्माभ्यासप्रवृत्त्या कथमपि परिपाकमागतापि सती सदैव तथाविधपापकर्मोदयवशात् एकान्ताशुचिरूपेष्वपि युवतिजनवदनजघनवक्षोरुहादिशरीरावयवेषु रामणीयकव्यावर्णनफला सा इह लोकेऽपि शरीरायासफला परलोके च कुगतिविनिपातहेतुरित्युपेक्षणीया ये पुनः परमर्षयः सर्वदैव सर्वज्ञमतानुसारितत्कोगमशास्त्राभ्यासतो विदितयथावस्थितहेयोपादेयवास्तव इत्थं शरीरस्याशुचिरूपतां परिभाव्य युवतिकलेवरेषु नाभिरज्यन्ते नापि कर्माणि स्वशरीरकृते पापानि समाचरन्ति किंतु शरीरादिनिस्पृहतया निरन्तरं सम्यक्शास्त्राभ्यासतो ज्ञानामृताम्भोधिनिमग्नाः समभित्रशत्रवः परीषहादिभी रक्षिताः सकलकर्मनिर्मूलनाय यतन्ते धन्यास्ते तत्त्ववेदिनस्तानहं नमस्करोमि । तदनुष्ठितं च सर्वमिदानीमनुतिष्ठामि इत्येवं तस्य मोदकप्रियस्य कुमारस्य वैराग्योद्गमेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामुद्गमो बभूव । ततः केवलज्ञानोद्गम इति तदेवमुक्तं मोदकप्रियकुमारकथानकम् । संप्रति यदुक्तं चारित्रोद्गमेनाधिकार इति तत्र चारित्रोद्गमेनाधिकारः शुद्धस्य द्रष्टव्यो नाशुद्धस्य । अशुद्धस्य मोक्षलक्षणकार्यसंपादकत्वायोगात् न खलु बीजमुपहतमङ्कुरं जनयति । सर्वत्राप्यनुपहतस्यैव कारणस्य कार्यजनकत्वात् चारित्रस्य च शुद्धौ कारणं द्विधा तद्यथा । आन्तरं बाह्यं च । ते द्वे अपि प्रतिपादयति ।

दंसणनाणप्पभवं, चरणं सुद्धेसु तेसु तस्सुद्धी ।
चरणेण कम्मसुद्धी, उग्गमसुद्धी चरणसुद्धी य ॥

इह यतो ज्ञानदर्शनप्रभवं चारित्रं ततस्तयोः शुद्धयोस्तस्य चारित्रस्य शुद्धिर्भवति नान्यथा । तस्मादवश्यं चारित्रशुद्धिनिमित्तं चारित्रिणां सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शने च यतितव्यम् । यतश्च निरन्तरं सद्गुरुचरणकमलपर्युपासनापुरस्सरं सर्वज्ञमतानुसारितत्कोगमशास्त्राभ्यासकरणम् । एतेन चारित्रशुद्धेरान्तरं कारणमुक्तम् । अथ चारित्रशुद्ध्यापि किं प्रयोजनं येनेत्थं तच्छुद्धिरन्विष्यते । अत आह । " चरणेणकम्मसुद्धी " चरणेन विशुद्धेन कर्मणा ज्ञानावरणीयादिकस्य शुद्धिरपगमो भवति । तदपगमे चात्मनो यथावस्थितस्वरूपलाभात्मको मोक्षस्ततो मोक्षार्थिना चरणशुद्धिरपेक्ष्यते तथा न केवलयोरेव ज्ञानदर्शनयोः शुद्धौ चारित्रशुद्धिः किन्तूद्गमशुद्धौ च चारित्रशुद्धिरेतेन बाह्यं कारणमुक्तम् । ततश्चरणशुद्धिनिमित्तं सम्यग्दर्शनज्ञानवतापि नियमत उद्गमदोषपरिशुद्ध आहारो ग्राह्यः । ते च उद्गमदोषाः षोडश । तानेव नामतो निर्दिशति ।

आहाकम्मुद्देसिय, पूइकम्मे य मीसजाए य ।
ठवणा पाहुडियाए, पाओयरकीयपामिच्चे ॥
परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडेई य ।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, अज्झोयरए य सोलसमे ॥

(एतद्व्याख्या अहाकम्म शब्दे) दर्श० । पं०चू० । ध० । केचित्पञ्चदश मन्यन्ते ते चैवं व्याख्यानयन्ति ननु चामी षोडश उच्यन्ते "अज्झोयरओमीसजायचदोहिं पि एक्को चेव" भेदआधाकर्मादीनां व्याख्या अन्यत्र अहाकम्मादिशब्देषु विशोधिकोट्यविशोधिकोटिविभाग ।

संप्रत्येतेषामेव विभागमाह ॥

एसो सोलस भेओ, दुहा कीरइ उग्गमो ।
एगा विसोहिकोडी, अविसेही उ वावए ॥

षोडशभेद उद्गमः सामान्येन द्विधा तद्यथा एकाविशोधिकोटिः एको भेदो विशोधिकोटिरूपः । अपरा चाविशोधिकोटिरविशोधिकोटिरूपः । द्वितीयो भेद इत्यर्थः । तत्र यद्वा दोषदुष्टे भक्ते तावन्मात्रे अपनीते सति शेषं कल्प्यते स दोषो विशोधिकोटिः शेषस्त्वविशोधिकोटिः ।

तत्र प्रथमतोऽविशोधिकोटिमाह ।

आहाकम्मुद्देसिय, चरमतिगं पूइमीसजाए य ।
बायरपाहुडिया वि य, अज्झोयरए चरिमदुगं ॥

आधाकर्मप्रभेदमौद्देशिकस्य विभागौद्देशिकस्यान्त्यभेदत्रय तथा पूतिभक्त पानरूप मिश्रजातं पाषण्डगृहमिश्ररूपं साधुगृहमिश्ररूपम् । बादरप्राभृतिका अध्यवपूरकस्य च चरमद्विकं स्वगृहपाषण्डमिश्रस्वगृहसाधुरूपम् । एते उद्गमदोषा अविशोधिकोटिरूपाः अनया चाविशोधिकोट्या स्पृष्टं शुद्धं भक्तम् ।

यद्दोषदुष्टं भवति तद्दोषमाह ।

उग्गमकोडीअवयव–लेवालेवे य अकयए कप्पे–
कंजिय आयामगवाउ, लेयसंसट्ठपूईओ

उद्गमकोट्या उद्गमदोषरूपया अविशोधिकोट्या अवयवेन शुष्कसिक्थादिना तथा लेपेन तक्रादिना अलेपेन वल्लचनकादिना सखण्ड तद्भक्तं तस्मिन्नुज्झितेऽपि कृते अकृते कल्प्ये । अकृतकल्प्यत्रये इत्यर्थः पात्रे यत्पश्चात्परिगृह्यते तत्पूरितमवगन्तव्यम् । इह कश्चित् मतिदौर्बल्यादित्थं विकल्पते । यथा तदेव साधूनाधाय निर्वर्तितं तदेवैकमोदनमाधाकर्म भवति न शेषमवश्रावणकाञ्जिकादि तत्संसृष्टं पूति न भवतीति ततस्तदभिप्रायनिराकरणार्थमाह (कंजिएत्यादि) इह

साध्वर्थमोदने निर्वर्त्यमाने यत्तत्सकाञ्जिकादि तदप्याधाकर्मादि तदवयवरूपत्वात्। ततः काञ्जिकेन आयामेन अवश्रावणेन वा उष्णोदकेन च यत्संसृष्टं तदपि पूतिर्भवति। एतदेव रूपकत्रयेण भाष्यकृत् व्याख्यानयति॥

सुक्केण वि जं छिक्कं तु, असुइणा धावए जहा लोए।
इह सुक्केण वि छिक्कं, धोवइ कम्मेण जाणं तु।
लेवालेवत्ति जं वुत्तं, जं पि दव्वमलेवुडं।
तं पि घेत्तूण कप्पंति, तक्कादिद्दमलेवडं।
आहाइ जं कीरइ तं तु कम्मं, वज्जेहि उप्पायमग्गणं व।
सोवीर विस्सामणतंदुलोया, कम्मंति तो तग्गहणं करेति।

सुगम नवरम्। आधरूपकेणावयव इति पदं व्याख्यातं द्वितीयरूपकेण लेवालेवत्ति तत्राय भावार्थः यदपि वल्लचनकादि द्रव्यमलेपकृत् तदपि प्रथममनाभोगादिकरणतः पात्रे गृहीत्वा पश्चात्कथमपि परिज्ञाते परित्यज्य पात्रं कल्पयति। कल्पत्रयेण प्रक्षालयति। किं पुनस्तक्रादिक लेपकृद्गृहीत्वा तत्र सुतरां कल्पत्रयेण प्रक्षालनं कर्त्तव्यमिति परिज्ञापनार्थं। लेपालेप इत्युक्तम्। तथा यदेव मुख्यवृत्त्या साधूनाधाय क्रियते तदेवाधाकर्मनान्यदिति बुद्ध्या शिष्या वर्जयिष्यन्ति ओदनमेकैकं केवलं न शेषं तन्दुलोदकादिकं ततो गुरवो भद्रबाहुस्वामिनः सौवीरं विश्रामणतन्दुलोदकान्यप्याधाकर्मेति परिज्ञापनार्थं तद्ग्रहणं सौवीरादिग्रहणं विशेषतः कुर्वन्ति। तदेव शोधिकोटिरुक्ता।

सम्प्रति विशोधिकोटिमाह।

सेसा विसोहिकोमी, भत्तं पाणं विगिंच जहसत्ति।
अणलक्खिय मीसदव्वे, सव्वविवेगे य वा सुद्धो॥

शेषा औद्देशिकं नवविधमपि च विभागौद्देशिकमुपकरणपूतिर्मिश्रस्याद्यो भेदः स्थापना सूक्ष्मप्राभृतिका प्रादुष्करणं क्रीतं प्रामित्यकं परिवर्त्तितमभ्याहृतमुद्भिन्नं मालापहृतमाच्छेद्यमनिसृष्टमध्यवपूरकस्याद्यो भेदश्चेत्येवरूपाणि विशोधिकोटिर्विशुध्यति शेषं शुद्धं भक्तम् यस्मिंस्तदुद्धृते यद्वा विशुद्ध्यति पात्रमकृतकल्पत्रयमपि यस्मिन्नुज्झिते सा विशोधिः सा चासौ कोटिश्च भेदश्च विशोधिकोटिः। उक्तं च "उद्देसियम्मि नवगं, उवगरणे जं च पूइय होइ, । जावंति य मीसगयं च, अज्झोयरए पढमपयं। परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडे य अच्छिज्जे अणिसट्ठे, पाउयरकीयपामिच्चे। सुहुमा पाहुडियावि य, ठवियगपिंडो य जो भवे दुविहो। सव्वोविएसरासी, विसोहिकोमी मुणेयव्वो। अत्र विधिमाह (विगिंच जहसत्ति) अनया विशोधिकोट्या यत्संसृष्टमन्नं पानं वा तद्यथाशक्ति विगिंच परित्यज। इयमत्र भावना। भिक्षामटता पूर्वं पात्रे शुद्धं भक्तं यस्मिन्नेव तत्रैवानाभोगादिकरणवशतो विशोधिकोटिदोषदुष्टं गृहीतं पश्चाच्च कथमपि ज्ञातं यथैतद्विवक्षितं विशोधिकोटिदोषदुष्टं मया गृहीतमिति ततो यदि तेन विनापि निर्वहति तर्हि सकलमपि तद्विधिना परित्याजयति। अथ न निर्वहति तर्हि यदेव विशोधिकोटिदोषदुष्टं तदेव तावन्मात्रं सम्यक् परिज्ञाय त्यजति। पुनरलक्षितेन सदृशवर्णगन्धादितया पृथक् परिज्ञातुमशक्येन मिश्रितं भवति। यद्वा द्रव्येण भक्तादिना अन्यत् भक्तादि तद्वा सर्वस्यापि तस्यापि विवेकः कृते च सर्वात्मना विवेके यद्यपि केचित्सूक्ष्मा अवयवा आत्मना तवन्ति तथापि तत्र पात्रे अकृतकल्पे ऽप्यन्यत्परिगृह्णन् शुद्धो यतिस्त्यक्तभक्तादेर्विशोधिकोटित्वात्। विवेकश्चतुर्धा भवति। तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। तथाचाह॥

दव्वाइओ विवेगो, दव्वे जं जं जहिं खित्ते।
काले अकालहीणं, असढो जं पस्सई भावो॥

द्रव्यादिको द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयो विवेकः तत्र यद्द्रव्यं परित्यजति स द्रव्यविवेकः। तथा परित्याज्यं यत्र परित्यज्यते स क्षेत्रविवेकः क्षेत्रे विवेकः क्षेत्रविवेक इति व्युत्पत्तेः। तथा यद्विशोधिकोटिदोषदुष्टमकालहीनं शीघ्रं परित्यजति एष कालतो विवेकः। इह यदेव दोषदुष्टं भक्तादिपरिज्ञातं तदेव तत्कालविलम्बाभावेन परित्यक्तव्यम्। परित्यागश्चरूक्षा वा पृथक् भिन्ने स्थाने कर्तव्यमन्यथा भावतस्तत्परिग्रहात्संयमहानिप्रसक्तेः। तत उक्तमकालहीनमिति तथा यः असठो ऽरक्तद्विष्टः सन् दोषदुष्टं पश्यति दृष्ट्वा वा कालहीनं शीघ्रं परित्यजति स भावे भावतो विवेकः। इह निर्वाहे सति विशोधिकोटिदोषसम्मिश्रं सकलमपि परित्यक्तम्। अनिर्वाहे तु तावन्मात्रं तत्र विधिमुपदर्शयितुकामः प्रथमतश्चतुर्भङ्गिकामाह।

सुक्कोल्लसरिसपाए, असरिसपाए य एत्थ चउभंगो।
तुल्ले तुल्लनिवाए, तत्थ दुवे दुन्नतुल्लाउ॥

अत्र शुष्कस्य आर्द्रस्य च सदृशे समाने ऽन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये पाते सति तथा ऽसदृशे असमाने ऽन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये पाते सति चतुर्भङ्गी भवति। सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात्। चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थः ते चामी। शुष्के शुष्कं पतितं, शुष्के आर्द्रम्, आर्द्रे शुष्कम्, आर्द्रे, आर्द्रमिति। तत्र येन २ पदेन यौ यौ भङ्गौ लब्धौ तौ तौ तथा दर्शयति (तत्थ त्ति) तत्र तुल्ये समाने सति अन्यस्मिन् वस्तुनि मध्ये तुल्यनिपाते सति चतुर्भङ्गी सदृशस्य वस्तुनः प्रक्षेपे द्वौ प्रथमचतुर्थरूपौ भङ्गौ लब्धौ तौ च "सुक्कोल्लसरिसपाए" इत्यनेन पदेन सूचितौ। तथा द्वौ भङ्गौ द्वितीयतृतीयरूपौ। अतुल्यात् विसदृशत्वात् प्रक्षिप्यमाणौ लब्धौ। तौ च "असरिसपाए य" इत्यनेन पदेनोक्तौ तदेवं चतुर्भङ्गिकामभिधाय सम्प्रत्येतेषां करणविधिमाह।

सुक्के सुक्कं पडियं, विगिंचिउ होइ तं सुहं पढमे।
बीयंमि दव्वं छोढुं, गालंति दव्वं करं दाउं॥
तइयंमि करं छोढुं, उव्विचइ उयणाइ जं तरइ।
दुल्लहदव्वं चरिमे, तत्तियमेत्तं विगिंचंति।

शुष्के वल्लचनकादौ मध्ये यत् शुष्कं वल्लचनकादि पतितं तत्सुखं जलादिकमन्तरेण "विगिंचिउ होइ" । परित्यक्तुं भवति। परित्याज्यं भवतीत्यर्थः। एष प्रथमो भङ्गः। तथा द्वितीयो भङ्गः तथा द्वितीये भङ्गे शुष्के वल्लचनकादौ मध्ये आर्द्रं तीमनादि विशोधिकोटिदोषदुष्टं पतितमित्येवंरूपे द्रव्यं काञ्जिकादि तत्र मध्ये ऽप्यतः प्रक्षिप्य पश्चात्पात्रमन्यत्पात्रकर्णैकदेशे च शुष्कभक्तपानरक्षणार्थं करं च दत्त्वा सर्वं द्रव्यं गालयन्ति। तथा तृतीये शुद्धम्। आर्द्रे तीमनादौ मध्ये पतितं शुष्कतरं वल्लचनकादिरूपमोदनमित्येवरूपे तत्र तीमनादौ मध्ये करं दत्त्वा प्रक्षिप्य ओदनादि यद् याव मात्रं शक्नोति तावन्मात्रमशठः सन् उज्झति आकर्षति तत शेषं तीमनादिकं लभते। तथा चरमे आर्द्रे आर्द्रे पतितमित्येवंरूपे यदि तद्द्रव्यं दुर्लभमन्यत्र न प्राप्यते तत उद्देशनस्तावन्मात्रं परित्यज्यते। तथाचाह।

संथरे सव्वमुज्झंति, चउभंगो असंथरे ।
असाढा सुज्झई जेसु, मायावी जेसु वज्झई ॥

सस्तरे निर्वाहे सति सर्वमपि पात्रे स्थित विशोधिकोटिसंसृष्टमुज्झति । असस्तरे अनिर्वाहे पुनश्चतुर्भङ्गी चत्वारोऽन्तरोक्ता भङ्गाः । सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । कथभूतास्ते भङ्गा इत्याह ॥ येषु भङ्गेषु असठोऽरक्तद्विष्ट सन् वर्त्तमान शुध्यति शुद्धमापद्यते । मायावी च येषु बध्यते तदेव विशोधिरूप कोटिद्वय सप्रपञ्चमुक्तमिदानीं तदेवोपसहारव्याजेन सक्षेपत आह ।

कोडीकरणं दुविहं, उग्गमकोडी विसोहिकोडी य ।
उग्गमकोडीछक्कं, विसोहिकोडी अणेगविहा ॥

कोटीकरण द्विविध द्विप्रकार द्विधा कोटिरित्यर्थः तद्यथा उद्गमकोटिर्विशोधिकोटिश्च । तत्रोद्गमकोटिषट्कमाधाकर्मिकौद्देशिकान्त्यतो दानृकादिषड्भेदा । विशोधिकोटि पुनरनेकविधा । औद्देशिकादिरूपा । सम्प्रत्यन्यथाकोटी· प्रतिपादयति

नव चेव अट्ठारसगं, सत्तावीसा तहेव चउपन्ना ।
नउइ दो चेव सयाउ, सत्तरा होइ कोडीणं ॥

प्रथमत· कोटयो नव भवन्ति । तद्यथा स्वय हननमन्येन घातनमपरेण हन्यमानस्यानुमोदनम् । तथा स्वय पचनमन्येन पाचन तत्परेण पच्यमानस्यानुमोदन तथा स्वयं करणम् अन्येन कारण करणपरेण क्रियमाणस्यानुमोदनम् । इहाद्या षट् विशोधिकोटयोऽनियमास्तु तिस्रो विशोधिकोटय । एता अपि नवकोटी कोपि रागेण सेवते कोपि द्वेषेण ततो द्विकेन गुणिता अष्टादश भवन्ति । अथवा एव ताः कोऽपि मिथ्यादृष्टि कुशास्त्रसपर्कसमुत्थवासनावसतो नि शङ्क सेवते । कोपि सम्यग्दृष्टि सन् विरतोऽप्यनाभोगादिकारणतोऽपरिज्ञानत कोपि पुन सम्यग्दृष्टिरपि सन् अविरतत्वेन गार्हस्थ्यमवलम्बमान ततो मिथ्यात्वादिरूपेण त्रिकेण नवगुणिता सप्तविंशतिर्भवति । रागद्वेषौ त्वत्र पृथग्विवक्ष्येते यदा पृथग्विवक्ष्येते तदा ताभ्यां सप्तविंशतिर्गुणिता चतु पञ्चाशद्भवति । तथा तथैव नव कोटय कदाचित् पुष्टमालम्बनमधिकृत्य दशविधक्षान्त्यादिधर्मपरिपालनार्थं सेव्यन्ते । यथा दुर्भिक्षे । यदा तु पृथक् विवक्ष्येते तदा ताभ्यां सप्तविंशतिगुणिता कान्तारे वान्येन फलादिना ऽव्यवहृते नाह देह धृत्वा क्षान्तिमार्दवार्जव यद्य प्राह्य पालयिष्यामीति (हतीति) एवमन्येन घातनाद्यपि भावनीयम् । ततो नव दशभिर्गुणिता जाता नवति· । इय च सामावृत्ते· चारित्रनिमित्ता केचित्पुनश्चारित्रनिमित्ता विशिष्टज्ञानशास्त्रसभवनिमित्ता च यथास्मिन् कान्ताराटावनेन फलादिना ऽव्यवहृतेन देहमह धृत्वा क्षान्त्यादिक पालयिष्यामि प्रभूतानि च शास्त्राण्यध्येष्ये इति (हतीत्यादि) एषा च ज्ञानस्य प्राधान्यविवक्षणात् ज्ञाननिमित्ता भण्यते । केचित् पुनश्चारित्रनिमित्ता दर्शनस्थिरीकरणहेतुशास्त्रपरिज्ञाननिमित्ता च यथाऽस्मिन् कान्तारादावनेन फलादिनाऽव्यवहृतेन देह परिपाल्य क्षान्त्यादिक पालयिष्यामि दर्शन च निर्मल विधास्ये इति (हतीत्यादि) एषा च दर्शनस्य प्राधान्यविवक्षणाद्दर्शननिमित्ताभिधीयते । तत एवप्रकारा नवतिस्त्रिभिर्नवतिर्गुण्यते ततो द्वे शते सप्तत्यधिके कोटीनां भवति । उक्तच "रागाइमिच्छाइरागाई समणधम्म नाणाई । नव नव सत्तावीसा, नवनउईए उ गुणेकारा" या तु दर्शनस्थिरीकरणार्थं प्रभूतशेषशास्त्रावगाहनार्थं चारित्रार्थं च सेव्यते सा सामान्यतश्चारित्रनिमित्तायामन्तर्भाव्यते ततोऽतस्तत्रोक्तभेदसख्यानियमव्याघात । सम्प्रत्युद्गमद्वारदोषाणां वक्ष्यमाणोत्पादनाद्वारदोषाणा च यतः सभवस्तदुत्थितान् वैवक्त्येनाह ।

सोलस उग्गमदोसे, गिहिणेउ समुट्ठिए वियाणाहि ।
उप्पायणा यदोसे साहू उ समुट्ठिओ जाण ॥

एतान् अनन्तरोक्तान् षोडशसख्यान् उद्गमदोषान् गृहिण· सकाशादुत्थितान् विजानीहि । तथा ह्याधाकर्मादिदोषदुष्ट भक्तादिगृहस्थैरेव क्रियते ये तु उत्पादनाया दोषा वक्ष्यमाणास्तान् साधुत· साधोः सकाशादुत्थितान् जानीहि । धात्रीत्वादीनां साधुभिरेव क्रियमाणत्वात् । तदेवमुक्तमुद्गमद्वारम् । पिं० । पञ्चा० । इहाधाकर्म्म औद्देसिकचरमभेदत्रयम् । आहारादतिमिश्रजातान्त्यभेदद्वय बादरप्राभृतिका अध्यवपूर्विकान्त्यभेदद्वय चाविशोध्यन्ते कोटि पुरीषलवेनेव तदवयवेनापि स्पृष्ट सर्व्वमाहरतोऽप्यविशुद्धकोटय· । तत्सपृक्तं चान्नादिसस्तरे साधवः सर्वं त्यजन्ति । असस्तरे तु विविच्य तदेव त्यजन्ति घृतादिकमपि तावन्मात्रमेव त्यजन्ति शेष यद्यपि तदवयवयोगस्तथापि शुद्धत्वमिति । जीत० । प्रव० । स्था० ।

उग्गमं से य पुच्छेज्जा, कस्सट्ठा केण वा कड ।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ॥

उद्गम तत्प्रसूतिरूप (से) तस्य शङ्कितस्याशनादेः पृच्छेत् तत्स्वामिन कर्मकर वा यथा कस्यार्थमेतत्केन वा कृतमिति श्रुत्वा तद्वचन न भवदर्थं किंत्वन्यार्थमित्येवभूत नि शङ्कित शुद्ध सत् ऋजुत्वादिभावगत्या प्रतिगृह्णीयात्सयत· विपर्ययग्रहणे दोषादिति सूत्रार्थ । तथा " असण पाणग वावि खाइम साइम तहा । पुप्फेसु होज्जउम्मीस बीएसु हरिएसु वा " दश० ५ अ० ध० ।

षोडशानामुद्गमदोषाणां प्रायश्चित्तमभिधित्सुराह ।

गुरुगा आह य चरमातिग, मीसवायरसपच्चवायहडे ।
कडपूइए य गुरुगो, अज्झोयरए य चरमदुगे ॥

आधाकर्म्म गृह्णतः प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका· (चरमातियत्ति) औद्देशिक द्विविधमोघेन विभागेन च । तत्र विभागतो द्वादश विध तद्यथा उद्दिष्ट कृत कर्म्म च । उद्दिष्टं चतुर्विधमौद्देशिक समुद्देशिकमादेशिक समादेशिकम् । कृतमपि चतुर्विध तद्यथा उद्देशकृत समुद्देशकृतमादेशकृत समादेशकृत च । 'कर्मापि चतु प्रकार तद्यथा उद्देशकर्म समुद्देशकर्म आदेशकर्म समादेशकर्म च । त्रयचतुष्कका द्वादश इह यावन्त केचन भिक्षाचरा समागच्छन्ति तावत सर्वान् उद्दिश्य यत् क्रियते तदौद्देशिकमुच्यते । पाषण्डिन उद्दिश्य क्रियमाण समुद्देश श्रमणानुद्दिश्यादेश निर्ग्रन्थानधिकृत्य समादेशम् । उक्तच " जावति य उद्देसो, पासडीण भवे समुद्देसो । समणाण आदेसो, निग्गंथाण समादेसो " एतस्मिन् द्वादशविधे विभागोद्देशके यच्चरम त्रिक समुद्देशकर्म आदेशकर्म समादेशकर्म च तत्र गृह्यमाणे प्रत्येक चत्वारो गुरुकास्तप कालविशेषिताः (मीसत्ति) मिश्रजात त्रिविध यावन्तिकमिश्र पाषण्डिकमिश्र स्वगृहमिश्र च । तत्र पाषण्डिकमिश्रे स्वगृहमिश्रे च प्रत्येक चत्वारो गुरुकास्तप कालगुरव (बायरत्ति) द्विविधा प्राभृतिका सूक्ष्मा बादरा च तत्र बादरायां गृह्यमाणायां चत्वारो गुरुका (सपच्चवायाहडेत्ति) यत्र यत्र ग्रामादौ सप्रत्यपाय-

मन्याहृत तत्र तत्र चत्वारो गुरुकाः । तदेव येषूक्रम भेदेषु गुरुकास्ते उक्ता. । सम्प्रति येषु मासगुरु तान् प्रतिपादयति (कम्मयझय इत्यादि) कृते औद्देशिके चतुः प्रकारेऽपि प्रत्येक मासगुरुक तप. कालविशेषितम् । तद्यथा यावन्तिके मासगुरु समुद्देशकृते तपोगुरुकं मासगुरु, आदेशकृते कालगुरुकं मास- गुरु. समा देश कृते मासगुरु चान्त्यां गुरुक तपोगुरुक कालगुरुकं च (पूतिपन्ति) भावपूतिक द्विविधं सूक्ष्म बादर च । तत्र सूक्ष्मे नास्ति प्रायश्चित्त बादर द्विविधम् उपकरणे भक्तपाने च । अत्र भक्तपानपूतिकं मासगुरु (अज्झोयरपय चरम दुगत्ति) अध्यवपूरक त्रिविध तद्यथा यावन्तिकमध्यव- पूरक पाषण्डाध्यवपूरक स्वगृहाध्यवपूरक च । तत्र पाषण्डाध्य वपूरके स्वगृहाध्यवपूरके च प्रत्येक मासगुरु उक्तानि गुरुक- प्रायश्चित्तान्यधुना लघुकप्रायश्चित्तान्यभिधित्सुराह ।

ओहविभागुद्देसे, चिरठविए पागडे य उवगरणे ।
लोउत्तरपामिच्चे, परियट्टियकाय पर भावे ॥
सग्गामभिहडमीग विजहन्न, जावंति आयरे लहुओ ।
इत्तरठविए सुहुमा, पणगं लहुगा य सेसेसु ॥

ओघौद्देशिके मासलघु, विभागौद्देशिके उद्देसे मासलघु, समुद्देशे मासलघु तपो गुरु आदेशे मासलघु कालगुरु, समा देशे मासलघु । अन्त्यां गुरु । स्थापित द्विविध चिरस्थापित मित्वरस्थापित च । तत्र चिरस्थापिते मासलघु, प्रादुष्करण प्रकाशकरणम् । तत्र प्रगटकरणे मासलघु, उपकरणपूतिके मासलघु, प्रामित्यं द्विविध, लौकिक लोकोत्तरिक च । लोको त्तरिके मासलघु । परिवर्त्तितमपि द्विधा लौकिक लोकोत्तरि क च । तत्र लोकोत्तरिके परिवर्तिते मासलघु । क्रीत द्विवि- धम् । द्रव्यक्रीत भावक्रीतं च । तत्र द्रव्यक्रीतं द्विविधम् आत्मद्रव्यक्रीत परद्रव्यक्रीत च । भावक्रीतमपि द्विधा आत्म- भावक्रीत परभावक्रीतं च तत्र परभावक्रीते मासलघु स्वग्रामा- भ्याहृते मासलघु (गविच्चि) ग्रन्थिपिहितमुच्यते । यत्र गुड- घृतादिभाजनमुखे पोतेन चर्मणा वा स्थगयित्वा दवरकेणाप रिग्रन्थिर्दीयते ग्रन्थिसहिता मुद्रा वा तदुपचाराद ग्रन्थिरित्यर्थ तस्मिन्नुद्भिद्यमाने मासलघु मालापहृत त्रिविध जघन्यमुत्कृष्ट च तत्र मालापहृते मासलघु तथा यावन्तिके ऽध्यवपूरके मासलघु तदेव यत्र मासलघुत्वात्स्थानमुक्तमिदानीं यथो. पञ्चरात्रिंदि वानि ते उच्येते (इत्तरगविय इत्यादि) इत्वरस्थापिते पञ्चरा त्रिंदिवानि सूक्ष्मप्राभृतिकायामपि पञ्चरात्रिंदिवानि (लहुकाय सेसेसुत्ति) येन्ये उद्गमदोषास्तेषु सर्वेष्वपि प्रत्येक चत्वारो लघुकास्तद्यथा । औद्देशिके कर्मणि यावन्तिके १ मिश्रजात २ प्रकाशकरणं ३ आत्मद्रव्यक्रीते ४ परद्रव्यक्रीते ५ आत्म- भावक्रीते लौकिके प्रामित्ये ७ लौकिके परिवर्तिते ८ परग्रामा- भ्याहृतनि प्रत्यपाये ९ पिहितोद्भिन्ने १० कपाटोद्भिन्ने ११ उत्कृष्टमालापहृते १२ अच्छेद्ये १३ अनिसृष्टे १४ एतेषु चतु- र्दशसु स्थानेषु चत्वारो लघुका इ० १ उ० । जीतकल्पे तु यथायथमाचाम्ल पुरिमार्द्धनिर्विकृतिक वा प्रायश्चित्तम् ।

उद्देसियचरिमतिगे, कम्मेपासंडसघरमीसे य ।
बायरपाहुडियाए, सपच्चवयाहडे लोभे ॥
अपरं अणंत निक्खित्तं, पिहिय साहय मीसियाईसु ।
संयोग सयंगाले, दुविहनिमित्ते य खमण तु ॥

औद्देशिकचरमत्रिके कर्मौद्देशकर्मसमादेशकर्मणि कर्मणि आधाकर्माख्यपाषण्डमिश्रेषु गृहमिश्रे च सुखतिशयेन गृह्य. सुगृहा अनगारास्तैःसह मिश्रजाते इत्यर्थः । बादरप्राभृतिकायां सप्रत्यपाये परग्रामात् हृते लोभपिण्डे अदूरतिरोव्यवधाने नितरां तिरोव्यवहितमनन्तरितमित्यर्थ. तच्चानन्तरितमनन्त काये निक्षिप्तम् । तथा संहृतमनन्तरकायेन पिहितम् तथा मिश्रितम् आदिग्रहणादनन्तरकायापरिणतमनन्तरकायर्द्दि- तच । तेषु अनन्तरनिक्षिप्तसंहृतपिहितमिश्रितादिषु संयो- गसागारयोः सर्वप्रकारयोः सयोगसागारान्वितभाजने च द्वि- विधनिमित्ते च वर्तमाननिमित्तं भविष्यति । निमित्तकथने क्षपणं तु इह सूत्रे धिक् पदमधिकमक्षरकाधिकार्थं सम्- चकं भवति । अत्र च तु.शब्दोऽधिकस्तेन गुर्वचित्तपिहिते गुरुसंहृते गुरुणि शिलापुत्रकादिके दर्वीकरोटिकादेरुपरि भोगासंहृते उत्क्षेपोत्सारिते गलत्कुतुपादुकारूढयोश्चेति सू- च्यते एतेषु सर्वेषु क्षपणं प्रायश्चित्तमित्यर्थः । अध्यवपूरका- दिदोषप्रायश्चित्त माह ।

अज्झोयरकडपूइय, मायाणं ते परंपरगए ।
मीसाणं ताणंतर गयाई एगमासणयं ॥

सूचकत्वात् सूत्रस्य (अज्झोयरत्ति) अध्यवपूरकान्त्यभेदद्व ये (कडत्ति) कृतेद्देशकृतसमुद्देसकृतदेशाख्ये विभागौद्देशि- कद्वितीयभेदचतुष्टये (पूइयत्ति) भक्तपानपूतिकर्मणि माया- यां मायापिण्डे (अणतेत्ति) एकारो लाक्षणिकः (परंपगय त्ति) गतशब्दो निक्षिप्तवाची चकारात्पिहितादिग्रहः । ततश्च सचित्तोनन्तकायपरंपरानिक्षिप्तपिहितसंहृतवर्जित चेत्यर्थ. । तथा मिश्रानन्तानन्तरगतादिके च अत्रापि गतशब्दो निक्षिप्ता- र्थ. आदिशब्दात्पिहितादिग्रहस्तेन सचित्ताचित्तरूपानन्तका- यादिपिहितनिक्षिप्तपिहितसंहृतोन्मिश्रापरिणतर्द्दिते इत्य- र्थ. (एगमासणयति) एकाशन प्रायश्चित्तम् । इदानीं येषु पुरिमार्द्धप्रायश्चित्त तान् गाथात्रयेणाह ॥

ओह विभागुद्देसो-वगरणपूइय ठवियपागडिए ॥
लोगुत्तरपरियट्टिय, पमेय परभावकीए व ॥
सग्गामाहडदद्दर-जहन्नमालोहज्झरेपढमे ॥
सुहुमितिगिच्छासंथव, तिगम विक्खयदायमोवहए ॥
पत्तय परंपरठविय-पिहियं मीसे अणंतराईसु ॥
पुरिमड्ढ संकाए, जं संकइ तं समावज्जे ॥

सामान्यौद्देशिकं विभागोद्देशोद्दिष्टोद्देशसमुद्देशोद्देश- मादेशाख्य विभागौद्देशिकप्रथमभेदचतुष्टयम् । उपकरण पू- तिकाचिरस्थापनाकप्रकटकरणम् । एषां द्वन्द्वस्तस्मिन् लोको- त्तरपरिवर्तते प्रामित्ययो परभावक्रीते अत्रापि द्वन्द् ॥४१॥ स्वग्रामाहृते दर्दरोद्भिन्ने जघन्यमालापहृते (इज्जरे पढमे त्ति) चकारोऽत्रलाक्षणिक.त्वाद् यावदर्थिक मिथ्यात्व ऽध्यवपूरकप्रथमभेदे इहापि द्वन्द्व.सूक्ष्मचिकित्सावचनसमा- तिका पूर्व पश्चात्संस्तवमुदकार्द्रम्रक्षितमिश्रकर्दममृक्षितरूप ग्र तिका पूर्व पश्चात्सस्तव... स्त्रीमुक्तिमुदकार्द्रम्रक्षित मिश्रममृक्षि तोहृदयादिविधप्रत्येक म्रक्षित चेति त्रिक म्रक्षित पिडअन लोचयन्ती कर्त्तयन्ती दायका य एत्तं तसदायकोपहृतम् । एषामपि द्वन्द्व. तस्मिन् यथान्य म । "वाले वुड्ढे मत्ते उम्मत्तवेवयजरिय यावत्ति सं यमयश्च पस दायगाघहय ॥" " तदत्र पुरिमार्द्धप्रत्यायनात्प्रथम । एतेभ्यो दायकेभ्यों मादकाणामानामाप्रायश्चित्तमन्योन्यात् ।

(पत्तेयपरपरठवियपिहियपत्ति) सुप्लोपः प्राकृतत्वादेकशब्दस्य चोपलक्षणत्वात् सचित्तपृथिव्यादिषट्कायपरस्यापि मतः पिहितेष्विति ज्ञेयम् । स्थापित निक्षिप्तमुच्यते । बहुवचनात्सहतच्छर्दितयोश्च (मीसयणतरार्द्दसुत्ति) सूचकत्वात्सूत्रस्य मिश्रपृथिव्यादिषट्कायानन्तरनिक्षिप्तसहतोन्मिश्रापरिणतच्छर्दितेष्वित्यर्थः । उन्मिश्रापरिणतयोश्चानन्तरे विशोधने योज्यम् । किं तर्हि मिश्रषट्कायोन्मिश्रं मिश्रषट्कायापरिणतं चेत्येव योज्यम् एषु सर्वेषु मासार्द्धप्रायश्चित्तशङ्कायां दोषमाशङ्कते तस्यामप्येकान्तदोषश्च प्रायश्चित्तमापद्यते । जीत० । नि० । चू० । आव० (नायाविविषय उद्गमदोषो णायादिशब्दे)

उग्गमउप्पायणेसणासुपरिसुद्ध-उद्गमोत्पादनैषणासुपरिशुद्ध-त्रि० उद्गमश्च आधाकर्मादिः षोडशविधः उत्पादना च धात्रीवृत्त्यादिका षोडशविधैव उद्गमोत्पादने एतद्विषया या एषणा पिण्डविशुद्धिस्तया सुष्ठु परिशुद्धो यः स उद्गमोत्पादनैषणासुपरिशुद्धः । द्वाचत्वारिंशत्पिण्डदोषरहिते,-प्र०७श०१उ० ।

उग्गमदोस-उद्गमदोष-पुं० उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः । तस्य दोषः । स्था० ३ ठा० । उद्गमविषयो दोषः । आधाकर्मादिषु पिण्डग्रहणदोषेषु, आचा० । उत्त० । (ते च उग्गमशब्दे दर्शिताः)

उग्गममाण-उद्गच्छत्-त्रि० प्रवृत्तिं गच्छति, "सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणे अणंतओ भणिओ" । प्रज्ञा० १ पद ।

उग्गमविसोहि-उद्गमविशोधि-स्त्री० भक्तनिरवद्यतारूपे उद्गमोपाधिके, विशोधिभेदे च । स्था० १० ठा० ।

उग्गमित-उद्गमित-त्रि० उपार्जिते, "वत्थपाया तिउग्गमउग्गमिया । नि० चू० २ उ० ।

उग्गमोवघाय-उद्गमोपघात-पुं० उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः । इह चाभेदविवक्षया उद्गमदोषा एवोद्गमोऽतस्तेन (स्था०३ठा०) आधाकर्मादिना षोडशविधेनोपहननं चिरानधश्चारित्रस्याकल्प्यता भक्तादेः स उद्गमोपघातः । स्था० १० ठा० । पिण्डादेरकल्पनीयताकरणे उपघातभेदे, । स्था० ३ ठा० ॥

उग्गय-उद्गत- त्रि० । उद्-गम्-क्त- । अग्रिमभागे, । मनागुद्गते, राय० । ऊर्ध्वगते, व्यवस्थिते च । ज्ञा० १ अ० । समुद्भूते, आव० ३ अ० । उदिते, । उग्गय इति वा उदयति वा एगट्ठमिति । नि०चू० १० उ० । भावे क्तः । उद्गतौ, । 'कडुगमणगधारे' । कणगाणा यदुद्गतमुद्गति । स्वरांशमलक्षणा क्रिया तेन । स्था० ७ ठा० ।

उग्रक- त्रि० उत्कटे, स्था० ७ ठा० ।

उग्गयमुत्ति-उद्गतमूर्ति-पुं० स्त्री० मूर्तिः शरीरमुद्गते रवौ प्रतिश्रयाद् बहिः प्रवादवनी मूर्तिरस्येत्युद्गममूर्तिको मध्यमपदलोपी समासः । सूत्रकृताङ्गे आहारादके, सू० २ उ० । नि०चू० ।

उग्गयवित्ति-उद्गतवृत्ति- पुं० स्त्री० उद्गते आदित्ये वृत्तिजीवनोपायो यस्य स उद्गतवृत्तिकः । सूर्योद्गमने सति भिक्षयित्वा प्रोक्तरि, "उग्गयवित्तीसुत्ती मणसकप्पे य होंति आवत्ता" उद्गते रवौ वृत्तिवर्तनं यस्य स उद्गतवृत्तिः । पाठान्तरेणोद्गतमूर्तिरिति वा । उद्गते सूर्ये वृत्तिः शरीरं वृत्तिनिमित्तं बहिः प्रचारो यस्य स उद्गतवृत्तिः । बृ० २ उ० । नि०चू० १उ० "भिक्खू य उग्गयवित्तिण आणत्थमिय सकप्पे सयतिय" बृ० १ उ० । (व्याख्या राइभोयणशब्दे)

उग्गवई-उग्रवती-स्त्री० लोकोत्तररीत्या नन्दानाम्न्यां प्रथमतिथिरात्रौ, ज० ७ वक्ष० । सू० प्र० । च० प्र० ॥

उग्गविस-उग्रविष-पुं० उग्रं दुर्जरत्वाद्विषं यस्य स उग्रविषः । दुर्जरविषे सर्पे, ज्ञा० ९ अ० । जी० । उपा० । प्रज्ञा० ॥

उग्गविहार-उग्रविहार-पुं० क० स० उत्कृष्टे विहरणे, "अत्युग्रकर्मदहनो दहनोग्रविहारतः" । ध० ४ अधि० ।

उग्गविहारि-उग्रविहारिन्-त्रि० सदनुष्ठानत्यादुग्राचारे, प्र० १० श० ४ उ० ।

उग्गसेण-उग्रसेन-पुं० । उग्रा सेना यस्य । धृतराष्ट्रपुत्रभेदे, कुरुवंश्ये नृपभेदे, यदुवंश्ये नृपभेदे, वाच० । "वसुदेवहिएरूधामस्य वक्तव्यता तत एवाऽवसेया । उग्गसेणपामोक्खाण सोलसण्हं राइसहस्साणं" आ० म० द्वि० । अन्त० । "अह च भोगरायस्स त च सिअधगवाण्हिणो" दश० २ अ० । ग० ।

उग्गसेणगढ-उग्रसेनगढ-न० । जीर्णगढे, "उग्गसेणगढ ति वा खगारगढ ति वा, जुण्णगढ ति वा, जुण्णगढस्स णामाइ" ती० ।

उग्गह-अवग्रह-पुं० अवग्रहः अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणरूपे श्रुतनिश्रितमतिज्ञानभेदे, त आह च चूर्णिकृत् "सामण्णस्स रूवादि विसेसणरहियस्स अणिद्दस्सस्स अवग्गहेणम वग्गह-इति" । न० । विशे० । रूपरसादिभेदैरनिर्देश्यस्याव्युत्पत्तरूपस्य सामान्यार्थस्यावग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः । "अत्थाणं उग्गहण अवग्गह इति" निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयन् भाष्यकृदाह "सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो" विशे० । (व्याख्या आभिणिबोहिय शब्दे) सम्म० । आ० म० प्र० । तत्र विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहो विषयस्य द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य विषयिणश्च निर्वृत्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्येत्युपलब्ध्युपयोगस्वभावेन्द्रियस्य विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्यार्थग्रहणयोग्यतास्वभावस्य च यथाक्रमेण सन्निपातो योग्यदेशावस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शनस्वभावदर्शनमनुत्तरपरिणामस्वविषयव्यवस्थापनविकाररूपप्रतिपत्तिमवग्रहः । व्य० द्वि० १० उ० ।

(१) अवग्रहभेदाः ।
(२) अवग्रहे दृष्टान्तः ।
(३) अवग्रहनिक्षेपः ।
(४) द्रव्यादितश्चातुर्विध्यं देवेन्द्रादितः पञ्चविधत्वं तत्र बलीयस्त्वे तारतम्यनिरूपणम् ।
(५) अदत्तादानदोषनिवृत्त्यर्थमवग्रहानुज्ञापनम् ।
(६) विधवाप्यनुज्ञापनीया ।
(७) साधर्मिकावग्रहे उपनिमन्त्रणम् ।
(८) अवग्रहयोग्य क्षेत्रमवग्रहप्रतिषेधश्च ।
(९) ब्राह्मणाद्यवगृहीते अवग्रहः ।
(१०) पथ्यवग्रहः ।
(११) आम्रेक्षुवनाद्यवग्रहे आम्रफलादिभोजनं लशुनवनाद्यवग्रहश्च ।
(१२) स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वावग्रहः ।
(१३) राजावग्रहो देवेन्द्रावग्रहश्च ।
(१४) राजपरिवर्ते ऽवग्रहः ।
(१५) अवग्रहक्षेत्रमानम् ।
(१६) क्षेत्रत्यागसम्भवात्तेषु अपरेऽप्यवग्रहपरिगृहीते ।
(१७) अवग्रहे सप्त प्रतिमाः ।

(१) अवग्रहभेदानाह-

से किं तं उग्गहे? २ दुविहे पण्णत्ते तंजहा अत्थोग्गहे य वंजणुग्गहे य । से किं तं वंजणुग्गहे ? वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा सोइंदियवंजणुग्गहे घाणिंदिय वंजणुग्गहे जिब्भिंदियवंजणुग्गहे फासिंदियवंजणुग्गहे. सेत्तं वंजणुग्गहे। से किं तं अत्थुग्गहे २ छव्विहे पण्णत्ते तंजहा सोइंदियअत्थुग्गहे चक्खिंदियअत्थुग्गहे घाणिंदियअत्थुग्गहे जिब्भिंदियअत्थुग्गहे फासिंदियअत्थुग्गहे नोइंदियअत्थुग्गहे । तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंचनामधिज्जा भवंति । तंजहा उगिण्हणया उगिण्हओ अवधारणया सवणया अवलंबणया मेहा सेत्तं उग्गहे ॥

अथकोऽयमवग्रह सूरिराह । अवग्रहो द्विविधस्तद्यथा अर्थावग्रहश्च व्यञ्जनावग्रहश्च ॥ नं० । (तस्सणमित्यादि) तस्य सामान्येनावग्रहस्य णमिति वाक्यालंकारे अमूनि वक्ष्यमाणानि एकार्थिकानि (नाना घोसाणित्ति) घोषा उदात्तादय स्वरविशेषा । आह चूर्णिकृत "घोसाउ उदत्तादओ सरावसेसा"नाना घोषा येषां तानि नानाघोषाणि । तथा नाना व्यञ्जनानि कादीनि येषां तानि नानाव्यञ्जनानि । पञ्चनामान्येव नामधेयानि भवन्ति तद्यथेति तेषामेवोपदर्शने (उगिण्हणया इत्यादि) यदा पुनरवग्रहविशेषाननपेक्ष्यामूनि पञ्चापि नामधेयानि चिन्त्यन्ते तदा परस्पर भिन्नार्थानि वेदितव्यानि । तथाहि इहावग्रहस्त्रिधा तद्यथा व्यञ्जनावग्रह सामान्यार्थावग्रहः विशेषसामान्यार्थावग्रहश्च । तत्र विशेषसामान्यार्थावग्रह औपचारिकः स चानन्तरमेवाग्रे दर्शयिष्यते । नं० । कर्म० । विशे० ।

तत्थुग्गहो दुरूवो, गहणं जहोज्जवंजणत्थाणं ।
वंजणओ य जमत्थो, तेणाई एतयं वोच्छं ॥

तत्रावग्रहणमवग्रहो द्विरूपो यथा भवति तथा प्रोच्यते । कथमित्याह यद्यस्माद्ग्रहणं व्यञ्जनार्थयोरेव भवेदन्यस्य ग्राह्यस्याभावात्तश्च विषयद्वैविध्यादवग्रहो द्विविध इति भावः । अपरं यद्यस्मात्कारणाद्वक्ष्यमाणन्यायेन प्राप्यकारिष्विन्द्रियेषु व्यञ्जनावग्रहादनन्तरमेवार्थो ऽर्थावग्रहो भवति तेनादौ-प्रथमतस्तकं व्यञ्जनावग्रहमेव वक्ष्ये इति गाथार्थः । विशे० । न० । आ० चू० । प्रव० । म० (व्यञ्जनावग्रहादीनां व्याख्याऽन्यत्र व्यञ्जनावग्रहे मल्लकप्रतिबोधकदृष्टान्तश्च आभिणिबोहिय शब्दे) ।

(२) अवग्रहे दण्डक ।

नेरइयाणं भंते ! कतिविहे उग्गहे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा अत्थोवग्गहे वंजणोवग्गहे एवं असुरकुमाराणं जाव वेमाणियाणं पुढविकाइयाणं भंते! कतिविहे उग्गहे पण्णत्ते? गोयमा ! दुविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य पुढविकाइयाणं भंते! वंजणोग्गहे कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! एगे फासिंदियवंजणोग्गहे पण्णत्ते । पुढविकाइयाणं भंते ! कइविहे अत्थोग्गहे पण्णत्ते । एगे फासिंदिय अत्थोग्गहे पण्णत्ते एवं जाव वणस्सइकाइयाणं एवं बेइंदियाणवि । नवरं बेइंदियाणं वंजणोग्गहे दुविहे पण्णत्ते एवं तेइंदिय चउरिंदियाण वि नवरं इंदियपरिवुड्ढी कायव्वा । चउरिंदियाणं वंजणोग्गहे तिविहे पण्णत्ते अत्थोवग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते सेसाणं जहा नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

टीका सुगमत्वान्न गृहीता अवधारणमवग्रहः । सुन्दरा एत इत्यवधारणम् । उत्त० । सम्म०,० । आ० चू० । अयं गृह्णातीत्यवग्रहः । उपधौ,-ओघ० । पतद्ग्रहे, "खरमुंडो लोएणं उग्गह च घेत्तूण-" पंचा० ३ विव० । "भगद्वारे अवग्रह इति योनिद्वारस्य सामायिकी सञ्ज्ञा" बृ० ३ उ० । प्रव० । अवगृह्यते स्वामिना स्वीक्रियते यः सोऽवग्रहः । राजावग्रहादौ, प्रति० । अवग्रहणीये वस्तुनि,-प्रश्न० ३ द्वा० । आश्रये, " उग्गहं च अजाइत्ता, अविदिन्ने उ उग्गहे" ध० ३ अधि० ।

(३) अवग्रहनिक्षेपो यथा ।

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य ।
एसो अवग्गहस्स, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥

सचित्तादिद्रव्यग्रहण द्रव्यावग्रह क्षेत्रावग्रहो यो यं क्षेत्रमवगृह्णाति तत्र वसामः । ततः सक्रोश योजन कालावग्रहो यो य कालमवगृह्णाति वर्षासु चतुरो मासान् ऋतुबद्धे मासं भावावग्रह । प्रशस्तेतरभेदः । प्रशस्तो ज्ञानाद्यवग्रह इतरस्तु क्रोधाद्यवग्रह इति । अथवावग्रह पञ्चधा ।

द्रव्यादितश्चातुर्विध्यमाह ।

(४) द्रव्यादितश्चातुर्विध्य देवेन्द्रादितः पञ्चविधत्वं तद्वीयस्त्वे तारतम्यनिरूपण च । तत्र ।

दव्वे खेत्ते काले, भावे विय उग्गहो चउद्धाउ ।
देविंदराय उग्गहो, गिहवइसागारियसाहम्मी ॥३४॥
दव्वुग्गहोउ तिविहो, साचित्ताचित्तमीसिओ चेव ।
खेत्तुग्गहो वि तिविहो, दुविहे का..ग्गहो होइ ॥३५॥

द्रव्यावग्रहः क्षेत्रावग्रह कालावग्रहो भावावग्रहश्चेति । एवं चतुर्विधोऽवग्रह । यदिवा सामान्येन पञ्चविधोऽवग्रहस्तद्यथा देवेन्द्रस्य लोकमध्यवर्ती रुचकदक्षिणार्द्धमवग्रहः राजश्चक्रवर्त्यादेर्भरतादिक्षेत्र गृहपतेर्ग्रामम्हत्तरादेर्ग्रामपाटकादिकमवग्रह । तथा सागारिकस्य शय्यातरस्य पाटशालादिकमवग्रह । तथा साधर्मिका साधवो ये मासकल्पेन तत्रावस्थितास्तेषां वसत्यादिरवग्रह । सपादयोजनमिति तदेवं पञ्चविधोऽवग्रह । वसत्यादिपरिग्रह च कुर्वता सर्वोर्थतेति यथावसरमनुज्ञाप्या इति । आ० म० प्र० । आचा० । प्रव० । म० ।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे जाव भुंजमाणे विहरइ इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवे २ विउले ओहिणाणे आभोएमाणे २ पासइ समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे दीवे जहा ईसाणे तइयसए तहेव सक्केणवि णवरं आभिओगेणं सद्दावेइ पायत्ताणियाहिवई हरीणेगमेसी पायत्ताणिओ विमाणवरं पालगं विमाण उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे दाहिणपुरच्छि-

मिड्ढे रत्तिकरपव्वए सेसं तं चेव णामगं सावेत्ता पज्जुवासइ धम्मकहा जाव पडिगया तएणं से सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठसमणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी कइणं भंते? उग्गहेपमत्ते सक्क! पंचविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा देविंदोग्गहे रायोग्गहे गहवइउग्गहे सागारियउग्गहे साहम्मियउग्गहे जे इमे अज्जत्ताए समणा णिग्गंथा विहरंति एसिणं अहं उग्गहं अणुजाणामी तिकट्टु समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहइ दुरूहइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंतेत्ति। भगवं गोयम! समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइ २ त्ता एवं वयासी जं णं भंते! सक्के देविंदे देवराया तुब्भे एवं वन्दति सच्चेणं एसमट्ठे हंता सच्चेणं। भ० १६ श० २ उ०।

अथ कतिविधोऽयमवग्रह उच्यते

देविंदरायगहवइ, उग्गहो सागारिए अ साहम्मि।
पंचविहम्मि परूविए, नायव्वा जो जहिं कमइ ॥

देवेन्द्रः शक्र ईशानो वा स यावतः क्षेत्रस्य प्रभवति तावान् देवेन्द्रावग्रहः राजा चक्रवर्तिप्रभृतिको महर्द्धिकः पृथ्वीपतिः स यावतः षट्खण्डभरतादेः क्षेत्रस्य प्रभुत्वमनुभवति तावान् राजावग्रहः। गृहपतिः सामान्यमण्डलाधिपतिस्तस्याऽऽधिपत्यविषयभूत यद्भूमिखण्डं स गृहपत्यवग्रहः। सागारिकः शय्यातरस्तस्य सत्तायां यद्गृहपाटकादिक स सागारिकावग्रहः। साधर्मिकाः समानधर्माणः साधवस्तेषां सबन्धि सक्रोशयोजनादिक यदा भव्य क्षेत्रं स साधर्मिकावग्रहः। एष पञ्चविधोऽवग्रहः। एतस्मिन् पञ्चविधेऽवग्रहे वक्ष्यमाणभेदे प्ररूपिते सति ज्ञातव्यो विधिरित्युपस्कारो यो यत्र देवेन्द्रादौ क्रमतऽवतरति स तत्रावतारणीय इति संग्रहगाथासमासार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुरमीषां पञ्चानां मध्ये कः कस्माद्बलीयानिति जिज्ञासायां तावदिदमाह।

हेट्ठिल्ला उवरिल्लेहिं, वाहिया नउ लहंति पाहन्नं।
पुव्वाणुन्नाभिनवं, चउसुभयपच्छिमेभिनवा ॥

अधस्तना देवेन्द्रावग्रहादय उपरितनै राजावग्रहादिभिर्यथाक्रम वाधिता रुव्या'। अत एव नतु नैव लभन्ते प्राधान्यमुत्तमत्वम्। किमुक्त भवति। राजावग्रहे राजैव प्रभवति न देवेन्द्रस्ततो देवेन्द्रानुज्ञातेप्यवग्रहे यदि राजा नानुजानीते तदा न कल्प्यते तदवग्रहे स्थातुम्। अथानुज्ञातो राज्ञा स्वविषयावग्रह पर न गृहपतिना ततस्तदवग्रहेपि न युज्यतेऽवस्थातुम्। अथानुमत गृहपतिना स्वभूमिखण्डेऽवस्थान पर न सागारिकेण स्वावग्रहे ततोऽपि न कल्प्यते वस्तुम। अथानुज्ञात सागारिकेण स्वावग्रहः पर न साधर्मिकैस्तथापि न कल्प्यते इत्येवमुपरितनैरधस्तना बाध्यन्ते तथानुपूर्वामनुज्ञामभिनवं चतुर्षु भजनां विकल्प्य केषाचित्साधूनां पूर्वानुज्ञा तदपरेषामभिनवति भजना कार्येत्यर्थः। अथ केय पूर्वानुज्ञा काऽभिनवानुज्ञेत्युच्यते। इहाया अवग्रहः पुरातनसाधुभिरनुज्ञापितः स यत्याश्चास्थैरेवमेव परिभुज्यते न भूयोऽनुज्ञाप्यते सा पूर्वानुज्ञा यथा चिरंतनकालवर्तिभिः साधुभिर्देवेन्द्रे यदवग्रहमनुज्ञापित' सैव पूर्वानुज्ञा। सांप्रतकालीनसाधूनामप्यनुवर्तते न पुनर्भूयोप्यनुज्ञाप्यते अभिनवानुज्ञानामभावात्। यदा किलान्यो देवेन्द्रः समुत्पद्यते तदा तत्कालवर्त्तिभिः साधुभिर्यदसाव भिनवोत्पन्नतयाऽवग्रहोऽनुज्ञाप्यते सा तेषामभिनवाऽनुज्ञा तदपरेषां पूर्वानुज्ञा एव शेषनृपतिगृहपतीनामपि पूर्वाभिनवानुज्ञे भावनीये। सागारिकोपि प्रथमत उपागतैः साधुभिर्यदुपाश्रयमनुज्ञाप्यते सा तेषामभिनवानुज्ञा तेषु साधुषु तत्र स्थितेषु यदन्ये साधवः समागत्य तदनुज्ञापितावग्रह परिभुञ्जते सा पूर्वानुज्ञा तदेवं चतुर्ष्ववग्रहेषु पूर्वाभिनवानुज्ञयो र्भजना भाविता। तथा पश्चिमे साधर्मिकावग्रहेभिनवानुज्ञैव भवति न पूर्वानुज्ञा। तथाहि यो यदावग्रहार्थं साधर्मिकमुपसपद्यते स सर्वोपि तदानीं तमनुज्ञाप्यैवावतिष्ठते नान्यथेत्यभिनवानुज्ञैवैका।

अथामीषां पञ्चानामपि भेदानाह।

दव्वाई एक्केक्के, चउहा खित्तं तु तत्थ पाहन्ने।
तत्थेव य जे दव्वा, कालो भावो असामित्ते ॥

एकैकोऽवग्रहश्चतुर्धा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च। तत्र प्रथमत क्षेत्रावग्रह प्ररूप्यते कुतो हेतोरिति चेदुच्यते क्षेत्र पुन स्वतन्त्रेषु द्रव्यादिषु मध्ये प्राधान्येन वर्तते इहावग्रहस्य प्ररूप्यमाणत्वात्तस्य च तत्वतः शक्रादिक्षेत्ररूपतयाभिधीयमानत्वादिति भावः। यतश्च तत्रैव क्षेत्रे यानि द्रव्याणि यश्च कालो भावश्च एतेषां क्षेत्रमध्ये भूतस्वामित्वे वर्तते क्षेत्रस्यैव संबन्धित्वादन्येषां तस्मिंश्च प्रथम प्ररूपिते द्रव्यादयस्तदन्तर्गताः प्ररूपिता एव भवन्तीति प्रथमतः क्षेत्रावग्रह प्ररूपयति

पुव्वावरायया खलु, सेढी लोगस्स मज्झयारम्मि।
जो कुणइ दुहा लोगं, दाहिण तह उत्तरद्धं च ॥

इह सर्वस्यापि लोकस्य मध्यकारे मध्यभागे मन्दरस्य पर्वतस्योपरि श्रेणिराकाशप्रदेशपङ्क्तिरेकप्रादेशिकी पूर्वापरयोर्दिशोरायता प्रदीर्घा समस्ति या श्रेणिर्लोकमेकरूपमपि द्विधा करोति। तद्यथा दाक्षिणलोकार्द्धमुत्तरलोकार्द्धं च। तत्र दक्षिणलोकार्द्धस्य शक्रः प्रभुत्वमनुभवति उत्तरलोकार्द्धस्य पुनरीशानकल्पनायकस्तथा दक्षिणलोकार्द्धे यान्यावलिकाप्रविष्टानि पुष्पावकीर्णानि वा विमानानि शक्रस्यैव भाव्यानि यानि पुनरुत्तरार्द्धे तानि सर्वाण्यपि द्वितीयकल्पाधिपते। अथ यानि मध्यमश्रेण्यां तानि कस्यानवन्तीत्याह।

साधारण आवलिया, मज्झम्मि अवड्ढचंदकप्पाणं।
अद्धं च परिक्खित्ते, तेसिं अद्धं च सक्खित्ते ॥

अपार्द्धचन्द्रकल्पयोरर्द्धचन्द्राकारयो सौधर्मेशानकल्पयोः पूर्वापरायतायां मध्यमश्रेण्यां या विमाननामावलिकासा साधारणा शक्रेशानयो। किमुक्तं भवति। तस्यां मध्यमश्रेण्या पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि त्रयोदशस्वपि प्रस्तटेषु यानि विमानानि तानि कानिचित् शक्रस्य कानिचिदीशानस्याभाव्यानि। तत्र यानि वृत्ताकाराणि तानि सर्वाण्यपि शक्रस्यैव, यानि पुनस्त्र्यस्राणि चतुरस्राणि वा तान्येक शक्रस्य एकमीशानस्येत्येवमुभयोरपि साधारणानि तथाचोक्तम् "जे दक्खिणेण इंदा, दाहिणओ आवली भवे तेसिं। जे पुण उत्तरइंदा, उत्तरओ

आवली तेसिं। पुव्वेण पच्छिमेण य जे वट्टा ते विदाहिणल्लस्स। तंसचउरंसगा पुण, सामण्णा हुंति दुण्हंपि" तेषां च मध्यमश्रेणिगतानां विमानानामर्द्धं स्वस्वक्षेत्रे कल्पसीमानि प्रतिष्ठित तदपरमर्द्धं परक्षेत्रे परकल्पसीमनीति ।

अथ शक्रमुद्दिश्य क्षेत्रावग्रहप्रमाणमाह ।

सेंदीऽ दाहिणेणं, जो लोगा उड्ढमासकविमाणा ।
हेट्ठावि अ लोगंते, खित्तं सोहम्मरायस्स ॥

सौधर्मराजस्य सौधर्मकल्पाधिपतेरेतावत्क्षेत्रमाधिपत्यविषयभूत तिर्यग्दिशमधिकृत्य श्रेण्याः पूर्वोक्ताया दक्षिणे दक्षिणस्यां दिशि यावल्लोक इति तीर्यग्लोकपर्यन्त ऊर्ध्वदिशमाश्रित्य आ पादपूरणे यानि स्वामिनि विमानानि स्तूपध्वजकलितानि अधोदिशमुद्दिश्य यावदधस्ततो लोकान्त इति भावितो देवेन्द्रक्षेत्राऽवग्रहः ।

सम्प्रति चक्रिणः क्षेत्रावग्रहमाह ।

सरगोयरो अ तिरियं, बावत्तरिजोयणाइं उड्ढं तु ।
अह लोगगामगत्ताइ, हेट्ठओ चक्किणो खित्तं ॥

यावच्छरस्य बाणस्य गोचरो विषयस्तावच्चक्रिणस्तिर्यक्क्षेत्रम् । इदमुक्तं भवति। चक्रवर्ती दिग्विजययात्रां कुर्वन् मागधादिषु तीर्थेषु यन्नामाङ्कितं बाणं निसृजति स पूर्वदक्षिणापरसमुद्रेषु द्वादशयोजनान्तं यावद्गच्छति एतावदन्तश्चक्रिणस्तिर्यगवग्रहः । स एव बाणः क्षुल्लहिमवत्कुमारदेव साधनार्थं चक्रिणैव निसृष्ट ऊर्ध्वं द्वासप्ततियोजनानि यावद्गच्छति तावानूर्ध्वमवग्रहः । अधःपुनरधोलोकग्रामास्तथा गर्ता आदिशब्दाद्वापीकूपभूमिगृहादिपरिग्रहः । इयमत्र भावना । जम्बूद्वीपापरविदेहवर्तिनलिनावती वप्राभिधानविजययुगलसमुद्भवा योजनसहस्रा द्वेधा समयप्रसिद्धा । ये अधोलोकग्रामास्तेषु ये चक्रवर्तिनः समुत्पद्यन्ते तेषां त एवाध क्षेत्रावग्रहास्तदपरेषां तु गर्ता कूपभूमिगृहादिकमिति प्ररूपितो राज्ञः क्षेत्रावग्रहः ।

अथगृहपतिसागारिकयोस्तमाह ।

गहवइणो आहारो, चउदिसि सागारियस्स घरवगडा ।
हेट्ठा अवागमाई, उड्ढं गिरिगहधयरुक्खा ॥

गृहपतेर्मण्डलेश्वरस्य यावानाधारो विषयः प्रभुत्वविषयभूतश्चतसृषु दिक्षु तावानस्योत्कृष्टतिर्यगवग्रहः । सागारिकस्य शय्यातरस्य गृहवगडागृहवृत्तिपरिक्षेप उत्कृष्टतिर्यगवग्रह· द्वयोरपि चाधस्तादवागर्तागडादय· अवागर्तो ह्रदो वा अगडः कूपः आदिशब्दाद् वाप्यादय ऊर्ध्वं गिरिगेहध्वजवृक्षाः गिरय पर्वता गृहध्वजा गृहोपरिवर्तिन्य·पताका वृक्षा सहकारादय । साधर्मिकाणां तु क्षेत्रावग्रह कुतोपि हेतोरत्र नोक्त· पर बृहद्भाष्ये इत्थमभिहित· "खित्तोग्गहो सकोसं जोयण साहम्मियाण बोधव्व। उड्ढदिसिजा पगादिसि उज्जाण आ मर्मपाई" मरुभ्यादौ उभयं यावदुत्कृष्ट·क्षेत्रावग्रहः शेष सुगमम् ।

अथ जघन्यक्षेत्रावग्रहमभिधातुकाम आह ।

अजहन्नमणुक्कोसो, पढमो जो आविचक्कवट्टीणं ।
सेनाविव रोहगाइ, सुजहन्नओगहवईणं च ॥

प्रथमो देवेन्द्रावग्रहोऽजघन्योत्कृष्टो न जघन्यो नचोत्कृष्ट तुल्यविशेषरहित· सर्वदैवैकरूपत्वात् यश्चाप्यवग्रह चक्रवर्तिना स्वबुधी सोऽप्यजघन्योत्कृष्ट चक्रवर्तिनामाधिपत्यस्यैकरूपत्वात् । शेषरूपाणां चक्रवर्तिव्यतिरिक्तानां नृपतीनां

महपतीनां च रोधकादिषु जघन्यः क्षेत्रावग्रहो द्रष्टव्य·। रोधन रोधकःपरचक्रेण नगरादेर्वेष्टनम् आदिशब्दादन्यस्याप्येवंविधस्य परिग्रहः । इयमत्र भावना । कोऽपि यद्यपि राजा मण्डलेश्वरो वा कस्याप्यल्पबलस्य नरपतेर्गृहपतेर्वाह्यनिर्वृतमात्मसात्कृत्य यदा तदीय नगरादि निरुध्यावतिष्ठते तदा तस्य तावान्नगरादिमात्रको जघन्य· ।

नगराइ निरुद्धघरे, रायाणुमाउ दुचरिमजहण्णो ।
उक्कोसे उ अनियओ, अचक्किमाई चउण्हंपि ॥

द्वौ चरमौ सागारिकसाधर्मिकौ तयोरय जघन्यःक्षेत्रावग्रहो नगरादौ केनचिद्राज्ञा निरुद्धे बहिर्वास्तव्यजनैरभ्यन्तरतः प्रविशद्भिःशय्यातरगृह साधर्म्मिकोपाश्रयो वा यदा प्रेर्यंत तदा या काचित्तथामनुज्ञा यथैतावति प्रदेशे युष्माभि स्थातव्यमेतावत्यस्माभिरिति स जघन्यक्षेत्रावग्रह· । उत्कृष्ट· पुनरवग्रहोनियतःकस्याप्यल्पीयान् कस्यापि भूयानिति भावः। केषामित्याह अचक्रयादीनां चतुर्णामपि यश्चक्रवर्ती न भवति किं तु सामान्यपार्थिवः स नञः पर्युदासप्रतिषेधात्तत्सदृशग्राहकत्वादचक्री भण्यते । आदिशब्दाद्गृहपत्यादयो गृह्यन्ते ।

अथसागारिकावग्रहस्य विशेषत उपयोगित्वाद्विधिमाह ।

अणुण्णाए वि सव्वम्मि, उग्गह घरसामिणा ।
तहावि न सीमं छिंदंति, साहू तप्पियकारिणो ॥

गृहस्वामिना शय्यातरेण भाजनधावनकायिक्यादिव्युत्सर्जनस्वाध्यायादिकं यत्र यत्र भावनां रोचते तत्र तत्र कुरुते ते च यद्यप्यसावप्यवग्रहेऽनुज्ञातस्तथापि साधवस्तस्य सागारिकस्य प्रियकारिण· समाधिविधित्सव· सीमां मर्यादां न छिन्दन्ति निर्धायन्ति व्यवस्थां पातयन्तीत्यर्थ । तामेव सीमामभिधत्ते ।

ठाणट्ठया भायण धावणाई,वोसट्ठया अत्थण इउगम्मि।
अभिग्गहं चेव अहिट्ठियंते,मासो चउण्हो व करेज्जमंतुं ॥

स्थानार्थं भाजनधावनबोधनाद्यर्थं द्वयोरुच्चारप्रश्रवणयोरर्थाय (अत्थाणत्ति) उपविश्यावस्थान तदुत्क च तन्निमित्तक मितावग्रहमेव परिमितमेवावग्रहमधितिष्ठन्ति । किमुक्तं भवति। साधवो व्यवस्थां स्थापयन्तः शय्यातरमामन्त्र्य ब्रुवते श्रावक ! वयमियति प्रदेशेऽस्याशिष्यामहे नेतः परम् । अत्र भाजनानि धाविष्यामो नान्यत्र यदि नाम ग्लानादेरत्राशुचिकारसम्भवो भवेत्ततोऽत्र परिष्ठापयिष्यते । अत्र पुनः कायिकी व्युत्सृज्यते इह पुनः साधवो भाजनरञ्जनादिकं कुर्वतः कियतीमपि वेलामासिष्यन्ते एव व्यवस्थाप्य मितमेवावग्रहमाधितिष्ठन्ति।कुत इत्याह अमात्यो वा सागारिकोऽन्यो वा तदीयो वयस्यस्वजनादि स वालवृद्धाकुलेन गच्छेनातिप्राचुर्येणाक्रान्तं कायिक्यादिना वा विनाशितेऽवग्रहे मन्युमप्रीतिकं कुर्यात । अपि च तथा साधुभिरप्रमत्तैस्तत्र स्थात·य तथा शय्यातरश्चिन्तयेत् अहो निभृतस्वभावा अमी मुनयो यदेतावन्तोऽपि सन्तः स्वसमयोदितमाचारमाचरन्तोऽपि परस्पर विकथादिकमकुर्वन्तो निर्व्यापारा इव लक्ष्यन्ते तत्सर्वथा कृतार्थोऽस्म्यहममीषां भगवतां शय्याया· प्रदानेन तीर्णप्रायो मयायमपारोऽपि संसारपारावार इति प्ररूपित· क्षेत्रावग्रह· ॥

सम्प्रति द्रव्यावग्रहमाह ॥

वयणमाचित्तमीसग, दव्वा खलु उग्गहेसु एएसु ।
जो जेण परिग्गाहिओ, सो दव्वे उग्गहो होइ ॥

एतेषु देवेन्द्राद्यवग्रहेषु यानि चेतनानि स्त्रीपुरुषादीनि पवि-

तानि वस्त्रपात्रादीनि मिश्राणि सभाण्डोपकरणस्त्रीपुरुषादीनि यानि द्रव्याणि स द्रव्ये द्रव्यविषयोऽवग्रहः । कथम्भूत इत्याह । यो येन शक्रादिना परिगृहीतः स तस्य संबन्धी द्रव्यावग्रहः । किमुक्तं भवति । देवेन्द्रावग्रहेऽत्र यानि सचित्ताचित्तमिश्राणि द्रव्याणि तानि सर्वाण्यपि देवेन्द्रद्रव्यावग्रहः । एवं राजावग्रहादिष्वपि भावना कार्या ॥

अथ कालावग्रहमाह

दोसागराउ पढमो, चक्की सत्तसय पुव्वचुलसीई ।
सेसानिवंसि मुहुत्तं, जहन्नमुक्कोसए भयणा ॥

प्रथमो देवेन्द्रावग्रहः स द्वे सागरोपमे यावद्भवति शक्रस्य द्विसागरोपमस्थितिकत्वात् चक्री चक्रवर्त्यवग्रहे जघन्यतः सप्तवर्षशतानि ब्रह्मदत्तवत् । उत्कर्षतः पुनश्चतुरशीतिपूर्वशतसहस्राणि भरतचक्रवर्तिवत् । तथा च चूर्णिः " चक्कवट्टिउग्गहो जहन्नेणं सत्तवाससया बंभदत्तस्स उक्कोसेणं चुरासीइ पुव्वसय सहस्साइं भरहस्स " अत्र पर आह । ब्रह्मदत्तः कुमारतायामष्टाविंशतिमाण्डलिकत्वे षट्पञ्चाशत दिग्विजये षोडशवर्षाण्यतिक्रम्य षट्वर्षशतान्येव चक्रवर्तिपदवीमनुबभूव । भरतोऽपि सप्तसप्ततिपूर्वलक्षाणि कुमारत्वमनुभूय वर्षसहस्रं माण्डलिकत्वमनुपाल्य षष्टिवर्षसहस्राणि विजययात्रायां व्यतीत्य ततः किंचिदूनानि षट्पूर्वलक्षाणि सर्वं भूमिश्रियं बुभुजे ततः कथमनयोः सप्तवर्षशतानि चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि च यथाक्रमं चक्रवर्त्यवग्रहः प्रतिपाद्यमानो न विरुध्यते । नैष दोषः यतो योग्यतामङ्गीकृत्य भरतादयो जन्मन एव चक्रवर्तिनो मन्तव्याः । यतः उत्पन्नमात्र एव चक्रवर्त्तिनि तदीयतथाविधाद्भुतभाग्यसमारसमावर्जितास्तदानीं क्षेत्रनिवासिदेवता उत्पन्नोऽयं सकलमहीवलयस्वामीति प्रमादभाजस्तदानुकूल्यवृत्तयस्तथाविधाभिज्ञापिणस्तत्प्रत्यनीकयुक्तप्रत्यूहापहाराय प्रवर्तन्त इति समीचीनमेव यथोक्तमवग्रहकालमानम् । अन्यथा वा बहुश्रुतैरुपयुज्य निर्वचनीयमिति (सेसानिवसिमुहुत्तंति) चक्रवर्तिनं मुक्त्वा अः शेषो नृपस्तस्य जघन्यतो मुहूर्तं कालावग्रहः । कृतराज्याभिषेकस्यान्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं मरणाद्राज्यपदपरिभ्रंशाद्वा शेषनृपतीनामुत्कृष्टे कालावग्रहे भजना कार्या । किमुक्तं भवति । अन्तर्मुहूर्तादारभ्य समयवृद्ध्या वर्द्धमानानि चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि यावद्यान्यायुःस्थानानि तेषां मध्ये येषां नृपतीनामायुःस्थानं निर्वर्तितं यो वा यावन्तं कालं राज्यैश्वर्यमनुभवति तस्य स उत्कृष्टः कालावग्रहः ॥

एवं गहवइसागा-रिए वि चरिमे जहन्नओ मासा ।
उक्कोसो चउमासा, दोसुवि भयणा उ वज्जाम्मि ॥

एवं गृहपतिसागारिकयोरपि शेषनृपतिवज्जघन्योत्कृष्टश्च कालावग्रहो द्रष्टव्यः । इह च यद्यपि शेषनृपतिगृहपतिसागारिकाणामायूंषि पूर्वकोटिपर्यवसितान्यपि सम्भाव्यन्ते तथापि चूर्णिकृता किमपि बाहुल्यादिकारणमुद्दिश्य चतुरशीतिपूर्वलक्षपर्यन्तान्येवाभिहितानीत्यत्रापि तदनुरोधेन तथैव व्याख्यातानि । तथा चरमे साधर्मिकावग्रहे ऋतुबद्धे मासकल्पविहारिणा जघन्यो मासमेकमुत्कृष्टो वर्षासु चतुरो मासान् कालावग्रहः (दोसु वि भयणाउ वज्जम्मित्ति) द्वयोरपि जघन्योत्कृष्टयोः कार्ये समापतिते भजना । किमुक्तं भवति ग्लानत्वादिभिः कारणैः कदाचिदृतुबद्धे मासो वर्षासु चत्वारो मासा न प्रतिपूर्यन्तेऽतिरिक्ता वा भवेयुः । गतः कालावग्रहः ।

अथ भावावग्रहमाह ।

चत्तारो दइअम्मि, खओवसमियम्मि पच्छिमो होइ ।
मणसीकरणमणुन्नं च, जाण जं जत्थ कम्मइ ॥

चत्वारो देवेन्द्रराजगृहसागारिकाणामवग्रहा औदयिके भावे वर्तन्ते ममेदं क्षेत्रमित्यादि मूर्छायास्तेषु सद्भावात्तस्याश्च कषायमोहनीयोदयजन्यत्वात् । पश्चिमः साधर्मिकावग्रहः स क्षायोपशमिके भावे वर्तते कषायमोहनीयक्षायोपशमयुक्ततया ममेदं क्षेत्रं ममायमुपाश्रय इत्यादिमूर्छायाः साधूनामभावात् । एष भावावग्रहः । तदेवं प्ररूपितः पञ्चविधोऽप्यवग्रहः । अथ यदुक्तं द्वारगाथायां " पंचविहम्मि परूवियम्मि नायव्वो जो जहिं कमइत्ति " तदिदानीं भाव्यते " मणसीकरणमणुन्नं चेत्यादि " मनसि करणमनुज्ञां च जानीहि । यद्यत्र देवेन्द्रावग्रहादौ क्रामति प्रवतरति तत्र मनसि चेतसि करणमनुजानीताम् । यस्यावग्रह इति मनस्येवानुज्ञापनमिति हृदयं यत्पुनर्वचसानुज्ञाप्यते साऽनुज्ञा अन्तर्भूतण्यर्थत्वादनुज्ञापनेति भावः । तत्र देवेन्द्रे राजावग्रहयोर्मनसैवानुज्ञापनं करोति गृहपत्यवग्रहस्य मनसा वा वचसा वा सागारिकसाधर्मिकावग्रहयोर्नियमाद्वचसाऽनुज्ञापना । यथानुज्ञापना यथानुजानीतास्माकं शय्यां वस्त्रपात्रशैक्षादिकं चेत्यादि ।

अथ भावावग्रहं प्रकारान्तरेणाह ॥

भावावग्गहो अहव उहा, मइगहणे अत्थ वंजणे उ मई ।
गहणे जत्थ उ गिण्हइ, मणसीकरणअकरणतिविहं ॥

अथवा भावावग्रहो द्विधा मतिभावावग्रहो ग्रहणभावावग्रहश्च । तत्र मतिर्मतिज्ञानरूपो भावावग्रहो भूयोपि द्विधा व्यञ्जनावग्रहोऽर्थावग्रहश्च गाथायां बन्धानुलोम्येन पूर्वमर्थशब्दस्य निर्देशः ग्रहणे ग्रहणविषये भावावग्रहः । यत्र तु यस्मिन् पुनर्देवेन्द्रावग्रहादौ यदा साधुः किं चिद्वस्तुजातं गृह्णाति सचित्तमचित्तं मिश्रं वा तस्य तदाग्रहणं भावावग्रहः (मणसीकरणत्ति) मनसि करणस्योपलक्षणत्वादनुज्ञापनायाश्चाकरणे त्रिविधं प्रायश्चित्तम् । एतदेव सविशेषमाह ।

पंचविह परूविए स, उग्गहो जाणएण घेत्तव्वो ।
अन्नाएउग्गहिए, पायच्छित्तं भवे तिविहं ॥

पञ्चविधेऽवग्रहे प्ररूपितेऽस्तीदं तात्पर्यमभिधीयते स एव विधायग्रहो ज्ञापकेनपञ्चप्रकारोवग्रहःस्वरूपवेदितो गृहीतव्यो नाज्ञापकेन कुत इत्याह अज्ञातेऽनधिगमे सति यद्यवग्रहमवगृह्णाति ततस्तस्मिन्नवगृहीते त्रिविधं प्रायश्चित्तं भवति तदेवाह ।

इक्कडकढिणे मासो, चाउम्मासो अपीडफलएसु ।
कट्टुकलिंचे पणगं, छारे तह मल्लगाईसु ॥

इक्कडः ढढणी कठिनः शरस्तम्भस्तयोः संस्तारके मासलघुकाष्ठमयेषु पीठेषु फलकेषु च प्रत्येकं चत्वारो मासलघवः काष्ठं च काष्ठशकलं कलिञ्चं वंशदलं काष्ठकलिञ्चं तत्र तथा क्षारे भस्मनि मल्लकादिषु मल्लकं शरावमादिशब्दाद्भृणमृगलादिपरिग्रहः । एतेषु सर्वेष्वपि पञ्चकं पञ्चरात्रिंदिवानि इति त्रिविधं प्रायश्चित्तमज्ञातावग्रहरूपस्यावग्रहणे द्रष्टव्यम् । उक्तोऽवग्रहकल्पिकः । व्य० १ उ० ।

साम्प्रतं द्रव्याद्यवग्रहप्रतिपादनायाह ।

दव्वुग्गहो उ तिविहो, सचित्ताचित्तमीसिओ चेव ।
खेत्तुग्गहो वि तिविहो, दुविहो कालुग्गहो होइ ॥

द्रव्यावग्रहस्त्रिविधः शिष्यादेः सचित्तो रजोहरणादेरचित्तः शिष्यरजोहरणादेर्मिश्रः । क्षेत्रावग्रहोऽपि सचित्तादिस्त्रिविध एव । यद्वा ग्रामनगरारण्यभेदादिति । कालावग्रहस्तु ऋतुबद्धवर्षाकालभेदाद्द्विधेति । भावाऽवग्रहप्रतिपादनार्थमाह ॥

मइउग्गहो य गहणो-ग्गहो य भावग्गहो दुहा होइ ।
इंदियणोइंदिअत्थ-वंजणोग्गहो होइ दसहा य ॥

भावावग्रहो द्वेधा तद्यथा मत्यवग्रहो ग्रहणावग्रहश्च । तत्र मत्यवग्रहो द्विधा अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्च तत्रार्थावग्रह इन्द्रियनोइन्द्रियभेदात्षोढा व्यञ्जनावग्रहस्तु चक्षुरिन्द्रियमनोवर्जश्चतुर्धा स एष सर्वोऽपि मतिभावावग्रहो दशधेति ।

ग्रहणावग्रहार्थमाह ॥

गहणोग्गहम्मि अपरि-ग्गहस्स गहणस्स गहणपरिणामो ।
कह पाडिहारियापाडिहा-रियं व होइ जइयव्वं ॥

अपरिग्रहस्य साधोर्यदा पिण्डवसतिवस्त्रपात्रग्रहणपरिणामो भवति तदा स ग्रहणभावावग्रहो भवति तस्मिंश्च सति कथं केन प्रकारेण ममेदं वसत्यादिकं प्रातिहारिकमप्रातिहारिकं वा भवत्येवं यतितव्यमिति । प्रागुक्तश्च देवेन्द्राद्यवग्रहः पञ्चविधोऽप्यस्ति स ग्रहणावग्रहे द्रष्टव्य इति । आचा० ७ अ० ।

एमेव वहूणं पि, पिंडं भवरोग्गहस्स उ विभागो ।
किं कतिविहो कस्स कम्मिव, केवइयं वा भवे काले ॥

अत्र प्रथमपदव्याख्याऽनुपयुक्तत्वान्न गृहीता अत्रावग्रहस्य विभागो वक्तव्यस्तमेवाह । किं कतिविधः कस्य वा कस्मिन्वा कियन्तं कालं भवत्यवग्रहः । तत्र किमित्याद्यद्वारव्याख्यानार्थमाह

किं उग्गहो त्ति भणिए, तिविहो उ होति चित्तादी ।
एक्केक्को पंचविहो, देविंदादी मुणयव्वा ॥

किमवग्रह इति भणिते पृष्टे सूरिराह । त्रिविधो भवत्यवग्रहश्चित्तादिः सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च । पुनरेकैकः कतिविधः इति प्रश्नमुपजीव्याह एकैकः । पञ्चविधः पञ्चप्रकारो ज्ञातव्यः कोऽसावित्याह देवेन्द्रादि देवेन्द्रावग्रहो राजावग्रहो माण्डलिकावग्रहः शय्यातरावग्रहः साधर्मिकावग्रहश्च ।

गत कतिविधद्वारमिदानीं कस्य न भवतीति प्रतिपादयति ।

कस्स पुण उग्गहो त्ति, परपासंडीण उग्गहो नत्थि ।
णिण्हे संते संयति, अगीते गीतणक्के वा ॥

कस्य पुनरवग्रहो भवतीति शिष्यप्रश्नमाशङ्क्य प्रोच्यते परपाषण्डिनामवग्रहो नास्ति ये च निह्नवा ये च सज्ञायाश्च संयत्यो गीतार्थैरपरिगृहीता ये चागीतार्था गीतार्थनिश्रामनुपपन्ना यश्च निष्कारणमेकाकी गीतार्थ एतेषां सर्वेषामप्यवग्रहो नास्ति (अस्य बहुवक्तव्यता ववसपयाशब्दे)

वुड्ढावासातीते, कालातीतेन उग्गहो तिविहो ।
आलंवणे विसुद्धो, उग्गहो उ कज्जवुच्छेओ ॥

वृद्धावासातीते मरणेन प्रतिभग्नतया वा आरोगीभूतेन वा ऋणेन वा वृद्धावासे वा अतीते काले अतीते ऋतुबद्धकाले मासाधिके अवग्रहस्त्रिविधोऽपि न भवति । सचित्तस्याचित्तस्य मिश्रस्य च ग्रहणं न कल्प्यते इति भावः । कुत इत्याह । आलम्बने वृद्धावासलक्षणे विशुद्धे परिसमाप्ते यस्तत्कार्यभूतो ऽवग्रहस्तस्यापि व्यवच्छेदो भवति कारणाभावे कार्यस्याभावात् वस्तु मन्यते । कालातीते विनावग्रहस्य व्यवच्छेदस्य प्रति दृष्टान्तमाह ।

आगासकुच्छिपूरो, उग्गहपडिसेहियम्मि कालम्मि ।
न हु होति उग्गहो सो, काले दुगे वा अणुन्नातो ॥

यथा कोऽपि पुरुषो बुभुक्षया पीडितः सन् चिन्तयति पूरयाम्युदरमाकाशेन मे बुभुक्षापगच्छति । स यथा आकाशस्य एवमेवावग्रहे प्रतिषेधितो यः कालो वर्त्तते तस्मिन्नुत्पादितः सोऽवग्रहो ऽवग्रहो न भवति प्रतिषिद्धकालाचीर्णत्वात् । अथवा प्रकारान्तरेण कालद्विकेनानुज्ञातोऽवग्रहः कथमिति चेदाह ।

गिम्हाणं चरिमासो, जहिं कत्तो तत्थ जाति पुणो वासं ।
वायंति अन्नखेत्तो, संनी दोसुं पि तो लाभो ॥

यत्र ग्रीष्माणामुष्णकालस्य चरमः पश्चादाषाढनामा मासः कृतस्तत्र यदि पुनरन्यक्षेत्रेऽसति तथाविधान्यक्षेत्राभावतो वर्षे च वर्षाकाल तिष्ठति ततो द्वयोरपि कालयोर्ग्रीष्मचरममासयोर्वर्षा चेत्यर्थतो लाभो भवति । एवं करणवतो द्वयोरपि कालयोः सचित्तादिलाभो ऽनुज्ञात इत्यर्थः ।

एमेव य समत्ते, वासे तिन्नि दसगा उ उक्कोसो ।
वासनिमित्त ठियाणं, उग्गहो मासउक्कोसे ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण वर्षे वर्षाकाले समतीते यदि मेघो वर्षति ततोऽन्यद्दिवसदशकं स्थीयते तस्मिन्नपि समाप्तिमुपगते यदि पुनर्वर्षति ततो द्वितीय दिवसदशकं स्थातव्यं तस्मिन्नप्यतीते पुनर्वृष्टे तृतीयमपि दशकं तिष्ठति । एवमुत्कर्षतस्त्रीणि दिवसदशकानि वर्षानिमित्तस्थितानामुत्कृष्टो ऽवग्रहः षण्मासप्रमाणो भवति । तद्यथा एको ग्रीष्मचरममासश्चत्वारो वर्षाकालमासाः षष्ठो मार्गशीर्षो दिवसदशकत्रयलक्षण इति । व्य० ४ उ० । नि० चू० ५ ॥

अदत्तादानदोषनिवृत्त्यर्थमवग्रहोऽनुज्ञापनीयः ॥

समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसुए परदत्तभोगी पावं कम्मं णो करिस्सामीति समुट्ठाए सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा णेवा सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा णेवऽण्णेणं अदिन्नं गिण्हावेज्जा णेवऽण्णं अदिन्नं गिण्हंतं पि समणुजाणेज्जा । जेहिं वि सद्धिं पव्वइए तेसिं पियाइं भिक्खू छत्तयं वा मत्तयं वा डंडगं वा जाव चम्मच्छेदणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुण्णविया अपडिलेहिया अपमज्जिया णो गिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ संजयमेव उगिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाएज्जा । जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णवेज्जा कामं खलु आउसो अहालंदं अहापरिण्णातं वसामो जाव आउसो जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मियाए जाव उग्गहं उगिण्हिस्सामो तेण परं विहरिस्सामो ॥

श्राम्यतीति श्रमणस्तपस्वी यतोऽहमतः एवम्भूतो भविष्यामीति दर्शयति । अनगारोऽगा वृक्षास्तैर्निष्पन्नमगारं तन्न विद्यत इति अनगारस्त्यक्तगृहपाश इत्यर्थस्तथा अकिञ्चना न

विद्यते किमप्यस्येत्यकिंचनः निष्परिग्रह इत्यर्थः। तथा अपुत्रः स्वजनबन्धुरहितो निर्मम इत्यर्थ । एवमपशुः द्विपदचतुष्पदादिरहित यत एवमत परदत्तभोजी सन् पाप कर्म न करिष्यामीत्येव समुत्थायैतत्प्रतिज्ञो भवामीति दर्शयति । यथा सर्वं अदन्तादत्तादान प्रत्याख्यामि दन्तशोधनमात्रमपि परकीयमदत्त न गृह्णामीत्यर्थ तदनेन विशेषणकदम्बकेनापरेषां शाक्यसरजस्कादीना सम्यक् श्रवणत्वं निराकृतं भवति । सचैवभूतोऽकिंचन श्रमणोऽनुप्रविश्य ग्राम वा यावद्राजधानीं वा नैव स्वयमदत्त गृह्णीयान्नापरेण ग्राहयेन्नाप्यपर गृह्णन्तं समनुजानीयाद्यैर्वा साधुभि सह सम्यक्प्रव्रजितस्तिष्ठति वा तेषामपि संबन्ध्युपकरणमननुज्ञाप्य न गृह्णीयादिति दर्शयति । तद्यथा छत्रकमिति छद् अपवारणे छादयतीति छत्र वर्षाकल्पादि। यदि वा कारणिकः कश्चित् कुंकणदेशादावतिवृष्टिसंभवाच्छत्रकमपि गृह्णीयाद्यावच्चर्मच्छेदनकमप्यननुज्ञाप्य प्रभु प्रेक्ष्य च नावगृह्णीयात् सकृत्प्रगृह्णीयादनेकश तेषां च सबन्धि यथा गृह्णीयात्तथा दर्शयति । पूर्वमेव तानननुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणादिना सकृदनेकशो वा गृह्णीयादिति किञ्च (सेऽन्त्यादि) स भिक्षुरागन्तागारादौ प्रविश्यानुविचिन्त्य च पर्यालोचयति विहारयोग्य क्षेत्रं ततोऽवग्रहं वसत्यादिक याचेत। यश्च याचयत्त दर्शयति। यस्तत्रेश्वरो गृहस्वामी तथा यस्तत्राधिष्ठाता गृहपतिना निक्षिप्तभर भूतस्तानवग्रह क्षेत्रावग्रहमनुज्ञापयेद्याचेत कथमिति दर्शयति (कामसिति) तवेच्छया यत्स्थितिः वाक्यालकारे। आयुष्मन्! गृहपते (अहालंदमिति) यावन्मात्र काल भवाननुजानीते (सदापरिणायति) यावन्मात्र क्षेत्रमनुजानीषे तावन्मात्र काल तावन्मात्र च क्षेत्रमाश्रित्य वय वसाम इति यावदिहायुष्मन् यावन्मात्र कालमिहायुष्मतोऽवग्रहो यावन्तश्च साधर्मिकाः साधव समागमिष्यन्ति ताव मात्रमवग्रह गृहीष्यामस्तत ऊर्ध्वं विहरिष्याम इति । आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ॥

(६] विधवाप्यनुज्ञापनीया ।

सागारियअहिगारे, अणुवत्तं तम्मि को विसो होति ।
संदिट्ठो वपनू वा, विहवा सूत्तस्स संबंधो ॥

इह पूर्वसूत्रात्सागारिकाधिकार शय्यातराधिकारोऽनुवर्त्तते तस्मिन् अनुवर्त्तमाने सूत्रे कोऽपि स सागारिक कोऽपि प्रभुरिति प्रतिपाद्यमित्येव विधवा सूत्रस्य सबन्ध ।अस्य व्याख्या । न विद्यते धवो भर्ता यस्या सा विधवा ततो दुहिता ज्ञातिकुलवासिनी पितृगृहवासिनी वा इत्यादि । अथवा समासकरणादिद रूप यस् या दुहिता विधवा या च ज्ञातिकुलवासिनी दुहिता । ज्ञातिकुलवासिनी नाम या गृहजामातुर्दत्ता साप्यवग्रहमनुज्ञापयितव्या किमङ्ग! पुन पिता वा भ्राता वा पुत्रो वा स सुतरामनुज्ञापयितव्य । तथा चाह (से यावती त्यादि) ततो वावत्यवग्रहमवगृहीतव्याविति सूत्राक्षरार्थः॥

संप्रति भाष्यकारो व्याख्यानमाह।

विगयधवा खलु विधवा, धवं तु भत्तारमहु नेरुत्ता ।
धारयति धीयते वा, दधाति वा तेण उ धवोत्ति

विगतधवा खलु विधवा । विगतो धवोऽस्या इति व्युत्पत्ते धव तु भर्त्तारमाहुर्नैरुक्ता निरुक्तिशास्त्रविद । कथा व्युत्पत्त्येत्याह ।धारयति ता स्त्रिय धीयते वा तेन पुसा सा स्त्री द धाति सर्वात्मना पुष्णाति तेन कारणेन निरुक्तिवशात् धव इत्युच्यते ॥

विधवा वा णुण्णविज्जइ, किं पुण पिय माइभायपुत्तादी।
सो पुण पभुवाऽपभुवा, अपभू पुण तत्थिमो होइ ॥

विधवाऽप्यनुज्ञाप्यते किं पुन पिता माता भ्राता पुत्रादिर्वा स सुतरामनुज्ञाप्य केवल पुन पुत्रभ्रातृप्रभृतिको द्विधा । प्रभुर्वा भवेदप्रभुर्वा । तत्र पुनरप्रभव इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति तानेव निर्युक्तिकृदाह ।

आदेसदासभइए, विरिक्कजामाइए उ दिण्णा य ।
अस्सामिमासो लहुतो, सेसपभुणुग्गहेणं वा ॥

आदेश प्राघूर्णको दासो ऽकिंचनो भृतक कर्मकरो विरिक्तो गृहीतरिक्थादिभाग पुत्रो भ्राता अन्यो वा तयाऽन्यत्र पृथग्गृहे जामातरि एतेऽस्वामिनोऽप्रभव एतान् यदि अनुज्ञापयति तदा प्रायश्चित्तं मासलघु शेषा प्रभव स्वामिनस्तान् अनुज्ञापयेत (अणुग्गहेणंवाति) अप्रभूणामपि येषां प्रभुणानुग्रहः कृतो यथा त्वया कृत दत्त वा तत्प्रमाणमिति तेन वा अनुग्रहेणाप्रभूनपि अनुज्ञापयेत नान्यथा ।

अप्रभूणामनुज्ञापने दोषमाह ।

दियरातो निच्छुहणा, अप्पहुदोसा आदिन्नदाणं च ।
तम्हा उ अणुण्णवए, पभुं च पभुणा च संदिट्ठ ॥
गहपतिगहवतिंणि वा, अविभत्तसुतो अदिण्णकण्णा वा ॥

अप्रभूणामनुज्ञापने दोषा दिवा रात्रौ वा निष्काशन तत्र जनगर्हाविनाशादयो दोषा न केवल निष्काशनमदत्तादान च । यस्मादप्रभूणामनुज्ञापने एते दोषास्तस्मात्प्रभुं प्रभुसंदिष्टं वाऽनुज्ञापयेत्। तमेव दर्शयति (गहपतित्ति) वाशब्दादविभक्तभ्रातृपितृव्यादिर्वा प्रभवति । अथवा या दुहिता विधवा निसृष्टा गृहे प्रमाणीकृता सापि प्रभवति । यदि वा य स्वय दातु प्रभुणा आदिष्ट सोऽपि प्रभवति । एतानुनुज्ञापयेत् । व्य० ७ उ० ।

(७)अवगृहीते चावग्रहे उत्तरकालविधि साधर्मिकागमने उपनिमन्त्रणम ।

से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया संभोतिय समणुण्णा उवागच्छिज्जा जे तेण सयमेसियाए असणे वा ४ तेण ते साहम्मिया संभोइया समणुण्णा उवणिमंतेज्जा णो चेव णं परवडियाए उगिज्झिय उगिहिहय उवणिमंतेज्जा से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया अण्णसंभोइया समणुण्णा उवागच्छेज्जा । जे तेणं संयमसियए पीढे वा फलए वा सेज्जासंथारए वा तेण ते साहम्मिए अण्णसंभोइए समणुण्णे उवणिमंतेज्जा णो चेव णं परिवडियाए उगिज्झिय उगिहिहय उवणिमंतेज्जा से आगंतारेसु वा ४ जाव ।

(से इत्यादि) तदेवमवगृहीतेऽवग्रहे स साधुः किं पुन कुर्यादिति दर्शयति। ये तत्र केचन प्राघूर्णकाः साधर्मिका साधव सभोगिका एकसामाचारीप्रविष्टा समनोज्ञा उद्युक्तविहारिण उपागच्छेयुरातिथयो भवेयुस्ते चैवभूता ये तेनैव साधुना परलोकार्थिना स्वयमेषितव्यास्त च स्वयमेवागता अवेयुस्ताश्नाशनादिना स्वयमाहृतेन स साधुरुपनिमन्त्रयेद्यथा गृह्णीत यूयमेतन्मयानीतमशनादिक क्रियता ममानुग्रह इत्येवमुपनिमन्त्र-

येन्नचैवं (परवड्डियापत्ति) परानीत यदशनादि तत् पृशमवगृह्याश्रित्य नोपनिमन्त्रयेद। किं तर्हि स्वयमेवानीतेन निमन्त्रयेदिति । तथा (सेज्जत्यादि) पूर्वसूत्रवत्सर्वे नवरमसांभोगिकान् पीठफलकादिनोपनिमन्त्रयेद्यस्तेषां तदेव पीठकादि सत्तांग्य नाशनादीति ।

(सूत्रम्) अत्थि या इत्था केइ उदस्स य परियावन्नए यअचित्ते परिहरणे रिह सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहो ॥

अस्य सबन्धमाह ।

अमहीणेसु वि साहम्मि, तेसुइतिएसु उग्गहो वुत्तो ।
अयमपरो आरंभो, गिहीवि जढे उग्गहे होइ ॥

अत्राधीनेष्वपि क्षेत्रान्तर गतेषु साधर्मिकेषु इत्येषोऽवग्रहः प्रोक्त. । अयं पुनरपर. प्रकृतसूत्रस्यारम्भो गृहिभिर्विजढ. परित्यक्तो य. प्रतिश्रयस्तद्विषयेऽवग्रहो भवति । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । अस्ति वात्रानन्तरस्तत्र प्रस्तुते प्रतिश्रये किंचिदाहारार्थं भक्तादिकं गृहस्थसत्कमुपाश्रये पर्यापन्न विस्मृत परित्यक्तमुपाश्रयपर्यापन्नम् अचित्त प्रासुक परिहरणार्थं साधूनां परिभोक्तुं योग्यं तत्र सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति तत्रोपाश्रये तिष्ठद्भि' पूर्वमेवानुजानां।त प्रायोग्यमित्येव यदवग्रहोऽनुज्ञापित. सैवानुज्ञापना पश्चादुपाश्रय पर्यापन्नगृहणेऽप्यवतिष्ठते न पुनरभिनवमनुज्ञापनं कर्त्तव्यमिति भाव. । कियन्त कालमित्याह । यथालन्दमपि मध्यमलन्दमात्रमपि काल यावदवग्रह इति सूत्रार्थ. ।

अथामुमेव सूत्रार्थं भाष्यकृत्प्रतिपादयति ।

आहारो उवही वा, आहारो भुंजणारिहे कज्जा ।
दुविहपरिहारअरिहो, उवही वि य कोयि णावि कोयि ॥

इह सूत्रे किंचिद्गृहस्थे न आहार उपधिर्वा गृहीतः परिहरणार्हंग्रहणेन तु संप्रवरपरिभोगार्हः । तत्राहार. कश्चिद्भोजनार्हो भवति कश्चित्तु न भवतीति । उपधिरपि कश्चिद्द्विविधपरिहारसाधारणार्हपरिभोगरूपस्यार्हो भवति कश्चिन्न न भवति । तथाहि ।

संसत्तासवपिसियं, आहारो अणुवभोज्ज इच्चादि ।
सुसिरातिणवकल्लइयो, परिहारे अणरिहो उवही ॥

ससक्त द्वीन्द्रियादिजन्तुमिश्र भक्तपानम् । आसवो मद्यम् पिशित पुद्गलम् । इत्यादिक आहारो अनुपभोज्यः । साधूनामुपभोक्तुमयोग्य. शुषिरतृणवस्त्रकल्पादिक उपधिरपि परिहारस्यानर्हो मन्तव्या । अर्थादापन्न ओदनादिक आहारो वस्त्रादिकश्चोपधि परिभोगार्ह इति ।

वायंते अणुण्णवणा, पायोग्गे होइ तप्पढमयाए ।
सो चेव उग्गहो खलु, चिट्ठइ कालो उ लंदक्खा ॥

साधुभि प्रतिश्रये तिष्ठद्भिस्तत्प्रथमतया या प्रायोग्यस्यानुज्ञापना कृता भवति सा पर्यापाश्रयपर्यापन्नस्यापि ग्रहणे अवग्रहस्तिष्ठति । न पुनर्भूया ऽनुज्ञाप्यते । या तु सूत्रे लन्दाख्या लन्द इत्यभिधान स काल. प्रतिपत्तव्य. इति कृता सूत्रव्याख्या भाष्यकृता ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तर ।

पुव्वमढा दुविह, दव्वे आहार जाव अवरण्हे ।
उवहिम्मि ततियदिवसे, इत्तरे गाहियम्मि जयणाए ॥

पूर्व प्रथम निष्ठन एव वृषभा समन्तादुपाश्रयमेवावलोकयन्तो द्विविधे द्रव्ये उपयोग प्रयच्छन्ति । द्विविध द्रव्य नाम आहार उपधिश्च । तत्राघूर्णकादयो गृहिणो विस्मृत्य परित्यज्य वा गता भवेयुः । तेषु गतेषु यावदपराह्णो भवति तावदाहार न गृह्णन्ति परतस्तु गृह्णन्ति उपधेस्तु तृतीये दिवसे गते ग्रहणं कुर्वन्ति इतरमाम अर्थजात तत्कदाचिद्गारिणां विस्मृत भवेत् तदेकान्त निक्षेपणीयम् (गहियंतिति) यदि धार्मिकादिभिर्गृहीत तथा प्रतिवासिकैर्नष्टो प्रवेसया तत्रापि यत्तेषां विस्मृत तद्यथोक्तविधिना गृह्णन्ति । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थ. । सांप्रतमेनामेव विवृणोति ॥

पायं सायं मज्झं-न्ने यउसभा उवस्सयसमंता ।
एहिंति अपिहाए, लहुगो वेसाइमे तत्थ ॥

प्रातः प्रभाते साय सन्ध्यायां मध्याह्ने च कालत्रये वृषभा उपाश्रय समन्तात् प्रत्युपेक्षन्ते अप्रत्युपेक्षमाणानां लघुको मासम् । दोषाश्चेमे । तत्राप्रत्युपेक्षणे भवन्ति ॥

साहम्मियमुधम्मिय, गारच्छिखिक्खिवणवोसिरणज्जु ।
गिण्हणकट्टणववहार, पच्छकड्डुहाणिव्विसए ॥

सधर्मिणी सयमी अन्यधर्मिणी परतीर्थिका अगारस्थी अविरतिका एता प्रविष्टा. सत्य. साधुप्रतिश्रयसमीपे अर्थजातस्य निक्षेपणं कुर्युः । यद्वा बालक व्युत्सृज्य गच्छेयुः । परिवहपराजितो वा कोऽपि सयतो रज्जुबन्धनेन म्रियेत । तत्र राजपुरुषैर्जाते सति ग्रहणाकर्षणव्यवहारः पश्चात्कृतोड्डाहनिर्विषयाज्ञापनादयो दोषा भवन्ति । इदमेव भावयति ॥

नोदण कुविय साहम्मिणि, परतित्थिणिगीवदिट्ठिरागेण ।
अणुकंपजहिच्छदा-रिजवालं अगारी वा ॥

सधर्मिणी काचित् खण्डितशीला गर्भवती उड्डाहोऽयमिति मन्यमानैः साधुभिर्गाढं नितरा रजोहरणादिलिङ्ग अहिति मन्यमानैः ... कृत्वा भवेत् तन' सा मद्' थालिङ्गमपहृतमिति मन्यमाना तयालोदनया कुपिता सती स्वयमपत्यजात तदाश्रयसमीपे परित्यजेत् परतीर्थिनी तु हार्दरागेण अस्माकमपयश प्रवाहो भविष्यतीति कृत्वा सयतानामुपाश्रयसंनिधौ बालकं व्युत्सृजेत् । अथवा अगारी पर लोकश्चिन्तयिष्यति एतैरेवैतज्जनितमिति । अथवा अगारी काचिदनुकम्पया यदृच्छया बालक तत्र प्रक्षिपेत तत्रानुकम्पया नाम दुष्कालादौ काचिद्दुःस्था योषिज्जीवनाय स्थापय तदाश्रयान्तिके त्यजति वरमेते अनुकम्पापरायणा अमु बालक शय्यातरस्यापरस्य वा ईश्वरस्य गृहे निवेशयन्तीति यदृच्छया अभिसंधिमन्तरेणैवमेव व्युत्सृजति ॥

हाउं व तरेउं वा, अचयंता तेणगा निवत्तादी ।
एएहिं वि य जणियं, तहिं व दोसा उजुणदिट्ठा ॥

स्तेनकादयो वस्त्रादिकं हर्तुं वा तरीतु वा (अचयंता) अशक्नुवन्त साधूनां प्रतिश्रयसंनिधौ परित्यजेयु । उपलक्षणमिदं तेनान्यतीर्थिकादय प्रत्यनीकतया हिरण्यसुवर्णादिकमपहृत्य तत्र निक्षिपेयु ततो यदि वृषभा त्रिसंध्य च सात प्रत्युपेक्षन्ते तदा लोको ब्रूयात् एतैरेवैतदपत्यजातं आनीत सुवर्णाद्यर्थमत्र प्रक्षिप्तमिति । यस्तु देहे द्रोहो द्रव्यार्थचौरादिकारणव्यपरोपितस्य पुरुषादे शरीरमित्यर्थस्तत्र प्रतिचरणा कर्तव्या । सम्यक् प्रतिचर्य यदि कोऽपि न पश्यति तदा परिकर्तव्या । सम्यक् प्रतिचर्य ... तत्र परावग्रहपरकीयनिवेशनादौ स्थापनीयामिति हृदयम् । तत्र परावग्रह परकीयनिवेशनादौ (निवोज्झति) परित्यजन्ति । किंतु परैरपि गृहीते नश्य नाम इति

अणिक्खिवणनिक्खिवणे, दोसा य गुणा य वणिया एए ।
एतेन सुत्तं न कतं, सुत्तनिवातो इमो तत्थ ॥

अनिक्षिपणनिक्षिपणयोः प्रतिश्रयस्याप्रत्युपेक्षणप्रत्युपेक्षणयोरेतावन्तमेते दोषा गुणाश्च वर्णिताः । परमेतेन पर्यन्तसूत्रं न कृतं न विहितं किन्तु सामाचारीप्रकाशनार्थं सर्वमेतदुक्तमवगन्तव्यमिति । सूत्रनिपातः पुनरयं तत्रेति सूत्रनिपातस्यैवोपदर्शनार्थम् ॥

आगंतुगागारट्ठियाणं, कज्जे आदेसमादिणा कोइ ।
वमिउं विस्समिउं वा, उट्ठित्तुगया अणाभोगा ॥

इह यत्रागारिणः आगन्त्यागन्त्य तिष्ठन्ति तदागन्तुकागारम् । तत्र कार्ये कारणविशेषतः स्थितानां प्रकृतसूत्रमवतरति कथमित्याह । आदेशाः प्राघूर्णकास्तत्र केचित्पथिका आगन्तुकागारे रजन्यां वासमुपगता दिवा वा भोजनार्थं विश्राम कुर्वन्तस्तत्र उषित्वा विश्रम्य वा किञ्चित् द्रव्यजातमनाभोगमानिक्षिप्य गताः । किन्तु स त्यजेदित्याह ।

सामिइसत्तुसागरस-सिणेहगुलओणमादि आहारो ।
ओहे अवग्गहम्मि य, होउवही अट्ठजातं वा ॥

इहाहार उपधिश्चेति द्विविधं द्रव्यं भवति । तत्राहारः समितिसक्तुशाकरसस्नेहगुडलवणादिकः । समितिः कणिका शेषं प्रतीतम् । उपधिस्तु द्विधा भवति ओघ उपधिः उपग्रहे वा । औघोपधिरुपग्रहोपधिश्चेत्यर्थः । अर्थजातं द्रव्यं यद्वा परित्यक्तं भवेत् तत्राहारोपधिविषयं तावद्विधिमाह ।

काऊण स मागरिए, पडियरणा हारजात अवरण्हे ।
एमेव य उवहिस्सवि, सुण्णे दोसा य गहणाइ ॥

आहारसागारिके प्रदेशे कृत्वा तावत्प्रतिचरणं कुर्वन्ति यावदपराह्णः संजायते । एवमेवोपधेरपि शून्ये भूभागे स स्थापनीयः अन्तिकं वा अपहृतमेव तत्र जनदृष्टे मतिदोषाः ग्रहणकर्षणादयो भवेयुः ॥

अहवा बुभेज्ज कोयि, उग्गामगवेरियं च हंतूणं ।
ढेहाण मइत्थी वा, परिसहपराजितो वा वि ॥

अथवा कश्चिदुद्भ्रामकं पारदारिकं वैरिणं वा हत्वा प्रत्यनीकतया तत्र प्रक्षिपेत् । स्त्री वा काचिदत्यन्तदुःखिता वैहायसमरणमुपाश्रयसमीपे कुर्यात् । परीषहपराजितो वा संयत एव कोऽपि रज्जुबन्धनेन म्रियेत " वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं नचापि भग्नं चिरसंचितं व्रतं " मिति कृत्वा ।

ढवियट्ठ संखडे वा, पुरिसत्था मेहुणो विसेसो वि ।
एमेय समागम्मि, चित्तं काए गिण्हणादीणि ॥

कोऽपि कश्चित्पुरुषं द्रव्यार्थं जातनिमित्तं यद्वा असंखडं कलहो वैरमित्यर्थः तेन वा कश्चिद् व्यपरोप्य संयतोपाश्रयसमीपे परित्यजेत् एवं स्त्रियमपि कांचिद्विनाश्य प्रक्षिपेत् । नवरं मैथुने विशेषः । किमुक्तं भवति सपत्नीं चतुर्थव्रतविघ्नकारिणीं मत्वा अपरोऽप्यत्र तत्र व्युत्सृजेत् अनायासप्रयासा भूयादिति कृत्वा । एवमेव श्रमणोऽपि गन्तव्यम् । तमपि कश्चिदुपकरणद्रव्यार्थं वैरेण वा मारयेदित्यर्थः । तत्र साधून् शङ्केरन् ततो ग्रहणाकर्षणादीनि पदानि प्राप्नुवन्ति यत एवमतः ।

कालम्मि पहुप्पंते, उच्चरमादी ठवित्तु पडियरणं ।
रक्खंति साणमादी, छप्पजादिहमयेहिं ॥

त्रिसन्ध्यं वृषभैः समं ततो वस्तु प्रत्युपेक्षणीयाः । प्रत्युपेक्षितायां च यदि किञ्चित् कलेवरकादिकं पश्यन्ति कालश्च पूर्यते ततश्चत्वरादिषु स्थापयित्वा प्रतिचरणं कुर्वाणाः प्रच्छन्ना श्वशृगालमार्जारादिना विनाश्यमानं रक्षन्ति यावत्कलेवरकादिकमन्यैर्दृष्टमिति ।

बोहं पभायकाले, करिंति जणजाणणट्ठयाए समा ।
पडियरणा पुण देहे, परगाहेणेव उज्झंति ॥

यत्तत्र हिरण्यसुवर्णादि केनचित्परित्यक्तं भवति तत्प्रभातकाल एव प्रत्युपेक्षमाणाः समालोक्य निरीक्ष्य बहुजनज्ञापनाबोधं कुर्वन्ति । यथा केनचित्पथिकेन हिरण्यादिकमस्मदुपाश्रयेऽर्थनिहितम् एवं च हिरण्यस्य द्विविधस्यापि द्रव्यस्य ज्ञापना कर्तव्या । किं कारणमत आह तेपराहे यावत्प्रतिचरणं तीक्ष्णमुच्यते

वोच्छिज्जई ममत्तं, परेण तेसिं च तेण जति कज्जं ।
गिण्हंता वि विसुद्धा, जतिवि ण वोच्छिज्जती भावो ।

अपराह्णात्परतस्तेषां पथिकानामाहारममत्वं व्यवच्छिद्यते तेषां साधूनां च यदि तेनाहारेण कार्यं भवति ततो गृह्णतोऽपि विशुद्धाः । यद्यपि च भावस्तेषां तदुपरि न व्यवच्छिद्यते तथाप्यपसमयाद् ऊर्ध्वं गृह्णतां न कश्चिद्दोषः । उपधिं तु तृतीयदिवसे पूर्णे गृह्णन्ति एतावता तद्विषयममत्वस्य व्यवच्छेदात् ।

अव्वोच्छिन्ने भावे, विरागयाणं पि तं पयंसिंति ।
पन्नवणमणिच्छंते, कप्पं तु करेंति परिभुत्ते ॥

अथ तेषामद्यापि भावो न व्यवच्छिद्यते ततोऽव्यवच्छिन्ने भावे तेषां स्ववस्त्राणि गवेषयतां चिरादायातानामपि तमुपधिं तु दर्शयन्ति । एवं च तेषां प्रज्ञापनां कुर्वन्ति । अस्माभिरेतानि वस्त्राणि स्वीकृतानि ततोऽनुग्रहं मन्यमाना साधूनामनुजानीत एवमुक्ते यद्यनुजानते ततः सुन्दरम् । अथ नेच्छन्त्यनुज्ञातुं तानि वस्त्राणि परिभुक्तानि ततः आत्मप्रतरक्षणार्थं कल्पं कुर्वन्ति ।

अथार्थजातविषयविधिमाह ।

पत्तो नियत्तपुट्ठा, करादि दापंति पत्थणां एधे ।
दरिसिंति अपिच्छंतो, को पुच्छति केण ठवियं च ॥

इहोपाश्रये यदर्थजातं पतितमुपलभ्यते तदा तदप्यल्पसागारिके स्थाप्यते । शेषकतादयश्च दूरे कर्तव्याः । प्रत्यवनिवृत्तैश्च भूयस्तत्रैव समायातैर्गृहिभिः पृष्टाः कुत्रास्माकं तदर्थजातमिति ततः करादिना हस्ताङ्गुल्यादिसंज्ञया दर्शयन्ति । अत्र प्रदेशे एतत्प्रेक्षध्वम् । अथ ते न पश्यन्ति ततः स्वयमेव तदर्थजातं दर्शयन्ति । यदि ते पृच्छेयुः केनेदमत्र स्थापितं ततो वक्तव्यं किं पृच्छन्ति केन स्थापितं चेति । एवं तावदुपाश्रयपर्यापन्ने आहारादौ विधिरुक्तः ।

अथ शय्यातरादिगृहपर्यापन्ने विधिमाह ।

नरमाहइभयणट्ठे, गहियागहिएसु सिज्जादी ।
गेण्हंति असंचइओ, संचइयं वा असंथरणे ॥

भटा राजपुरुषास्तदादिभयात् नष्टे शय्यातरादौ स्थिता शय्यिकाः प्रातिवेश्मिकास्तैर्गृहीतास्तैर्धनिकैरागृहीता अपि द्रापयितुमारब्धास्ततस्तेषु शय्यिकादिषु नष्टेषु तत्र च आहारोऽसंचयिको दधिघृतादिस्तं गृह्णन्ति । अथ असंस्तरणे तत्र संचयिकमप्युपध्यादिकं गृह्णन्ति ।

सोविक्खेतरणट्ठे, एमेव य होइ उवहिगहणं पि ।
पुन्नागएसु कहणं, भुजंति दिसो व मट्ठेनि ॥

प्रातिवेश्मिकादिसापेक्षो वा नष्टो भवेत् इतरो वा निरपेक्ष सापेक्षो नाम भूयस्तत्रैवागन्तुकामस्तद्विपरीतो निरपेक्ष ... नष्टे एवमेवाहारपद ...

सापेक्षकेषु च प्रत्यागतेषु कथयन्ति कथिते च दत्तमनुज्ञातं सत्परिभुञ्जन्ति । ये तु निरपेक्षनरास्तेषु निर्विवादमेव परिभुञ्जते । एष (अट्ठेविधित्ति) अर्थजातेऽपि ग्रहणं मन्तव्यम् ।

अत्रैवाक्षेपपरिहारावाह ।

पाउग्गमणुण्णवियं, जति मण्णसि एवमातिपसंगो त्ति ।
आउरजेसज्जवमा, तह संजमसाहगं जं तु ॥

यद्येवं मन्यसे प्रायोग्यं साधूनामुचितं यत्तदेव साधुनामनुज्ञापितं नेतरत्प्रायोग्यमर्थजातादि तत एवमननुज्ञापितमप्यर्थजातं गृह्णतामतिप्रसङ्गो भवति तत्राप्यभिधीयते नैकान्तेनार्थजातमप्रायोग्यं यत आतुरो रोगी तस्य भेषजोपमा कर्तव्या । यथा पुनरस्याभिनवोदीर्णे ज्वरादौ यदौषधं प्रतिषिध्यते तदेवान्यस्यामवस्थायां तस्यैवानुज्ञाप्यते एवमर्थजातमपि पुष्टकारणाभावे प्रतिषिद्धम् । यत्तु दुर्भिक्षादौ संयमस्य साधकं तदनुज्ञातमेव । वृ० ३ उ० ।

किञ्च ।

से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा सूती वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा णहच्छेदणए वा तं अप्पणो एगस्स अट्ठाए पडिहारियं जाइत्ता णो अण्णमण्णस्स देज्ज वा अणुपदेज्ज वा सयं करणिज्जं तिकट्टु से तमादाए तत्थ गच्छेज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवेत्ता इमं खलु इमं खलु इमं खलु त्ति आलोएज्जा णो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चप्पिणेज्जा ॥

(८) स सागारिकानुदकस्त्रीकमुपाश्रयमवग्रहं नानुज्ञापयेत् यत्र कर्मकरा आक्रोशन्ति यावत्स्नान्ति तत्रापि नावग्रहः ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा अणंतरहियाए पुढवीए ससणिद्धाए पुढवीए जाव संताणए तहप्पगारं उग्गहं णो उगिण्हेज्जा २ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा थूणंसि वा ४ तहप्पगारे अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे जाव णो उग्गहं उगिण्हेज्जा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा कुलियंसि वा जाव णो उगिण्हेज्ज वा से भिक्खू वा २ खंधंसि वा अण्णयरे वा तहप्पगारे जाव णो उगिण्हेज्ज वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा ससागारियं सगणियं सउदयं सइत्थिं सखुड्डं सपसु समत्तपाणं णो अण्णस्स णिक्खमणपवेसे जाव धम्माणुजोगचिंताए सेवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए ससागारिए जाव सखुड्डपसुभत्तपाणे णो उग्गहं उगिण्हेज्ज वा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा गाहावइकुलस्स मज्झं मज्झेण गंतुं पंथे पडिबद्धं वा णो अण्णस्स जाव से एवं णच्चा तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं उगिण्हेज्ज वा २ से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा । इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अण्णमण्णं अक्कोसंति वा तहेव तेल्लादिसिणाणदिसीओदगवियडादि णगिणाइ य जहा सेज्जाए आलावगा । णवरं उग्गहवत्तव्वता । से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण उग्गहं जाणेज्जा आइण्णं संलेक्खं णो अण्णस्स जाव चिंताए तहप्पगारे उवस्सए णो उग्गहं उगिण्हेज्ज जाव एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा २ सामग्गियं उग्गहपडिमाए । पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

(९) ब्राह्मणाद्यवगृहीतेऽवग्रहः ।

से आगंतारेसु वा ४ अणुवीयि उग्गहं जाएज्जा जे तत्थ ईसरे समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुण्णविज्जा कामं खलु आउसो अहालंदं अहापरिण्णायं वसामो जाव आउसो जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मियाए ताव उग्गहं उगिण्हिस्सामो तेण परं विहरिस्सामो । से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा दंडए वा छत्तए वा जाव चम्मच्छेदणए वा तओ अंतोहिंतो बाहिं णीणेज्जा बाहिया वा णो अंतोपवेसेज्जा णो सुत्तं वा णं पडिबोहेज्जा णो तेसिं किंचि वि अप्पत्तियं पडिणीयं करेज्जा ॥

स भिक्षुरागन्तागारादावपरब्राह्मणाद्युपभोगसामान्ये कारणिकः सन्नीश्वरादिकं पूर्वक्रमेणावग्रहं याचेत । तस्मिंश्चावगृहीते अवग्रहे यत्तत्र श्रमणब्राह्मणादीनां छत्राद्युपकरणजातं भवेत्तदेवाभ्यन्तरतो बहिर्निष्कामयेन्नापि ततोऽभ्यन्तरं प्रवेशयेन्नापि ब्राह्मणादिकं सुप्तं प्रतिबोधयेच्च तेषां (अप्पत्तियंति) मनसः पीडां कुर्यात्तथा प्रत्यनीकतां प्रतिकूलतां न विदध्यादिति । आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

(१०) पथ्यवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः ।

अणुन्नवेयन्तो अस्य सम्बन्धमाह ।

उग्गहहुम्मि दिट्ठे, कहियं पुण सो अणुण्णवेयव्वो ।
अद्धाणादीएसु वि, संभावणसुत्तसंबंधो ॥

अवग्रहस्य प्रमोदेऽ कपुनः सोऽवग्रहोऽनुज्ञापयितव्य इति चिन्तायामधिकृतसूत्रेणोच्यते पथ्यप्यवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः । अपि शब्दः संभावनायामास्तां ग्रामे नगरे वा किंतु संभावनायामध्वन्यपि । तथाचाह अध्वादिकेष्वप्यनुज्ञापयितव्यः । एष संभावनासूत्रस्य सम्बन्धः । संप्रति भाष्यविस्तरः ।

अद्धाण पुव्वभणियं, सागारियमग्गणा इहं सुत्ते ।
मग्गण परिग्गहिए सा, गारियसेसभयणा य ॥

अध्वनि यद्वक्तव्यं तत्सर्वं कल्पाध्ययने भणितमिदं पुनः सूत्रेऽध्वानं व्रजतां सागारिकमार्गणा शय्यातरमार्गणा क्रियते तथा केनचित्परिगृहीते वृक्षादौ सति शेषसागारिके भजना च विस्तारयन्ति तर्हि यावद्भिस्तद्गृहीतवृक्षादि तावत शय्यातरान् करोति असस्तरणे एकमपि शय्यातरमिति भावार्थः ।

संप्रति पूर्वार्द्धव्याख्यानमाह ।

दिणे दिणे जस्स उवाहियंती, जं की हवंते व पगासियं वा ।
सागारिए होंति स एयए व, रीआगए सुत्तु जहिं वसंति ॥

दिने दिने यस्य भर्ती गन्त्री वहन्तीमुपस्थापयन्ते आश्रयन्ति साधवो यदि वा प्रकाशिका नाम यत्र मध्याह्ने साधर्मिकास्तिष्ठन्ति यत्र वा वसन्ति तत्र वस्त्रादिमय कुटमयनं कुर्वन्ति तां वा यस्य दिने उपजीवन्ते तदा स एव सागारिकः

शय्यातरो भवति । वेलागतेषु तु यथाकृत्या यत्र तत्र गतेषु साधुषु यत्र रात्रौ वसन्ति तद्दिवस स शय्यातरः । इयमत्र भावना । यस्य न नियमेन भक्तं वा पानाम्लिकां वा प्रतिदिनमुपगृह्यन्ते किंतु यदृच्छया कस्मिन् दिने कस्यापि तदा यां यां रात्रिं यस्य भाण्डम्पादिकमुपगृह्यन्ते तस्मिन् २ दिने स शय्यातरः

वीसमंता वि छायाए, जे तहिं पढमंतिया ।
पुच्छिउं तेवि चिट्ठेय, पंतिए किमु जाहिं वसो ॥

विश्राम्यन्तोऽपि छायायां ये तत्र पथिकाः प्रथमं स्थितास्तिष्ठन्ति तानपि पृष्ट्वा तत्र तिष्ठेत नान्यथा किं पुनर्यत्र च साधुस्तत्र स्वपन्ते अनुज्ञापयितव्यास्ततो भवन्ति ते शय्यातराः सम्प्रति "पत्तेय परिग्गहिए सागारिय सेसए भयणा" इति व्याख्यानयन्नाह

वसतिं वा जाहिं रत्तिं, एगेणेगपरिग्गहे ।
तत्तिए उवरे भुज्जा, वा धंते गमसंथरे ॥

यत्र वृक्षस्याधस्तादन्यत्र वा एकस्य वा परिग्रहे अनेकस्य वा परिग्रहे अनेकस्य वा पथिकस्य सार्थस्तस्य परिग्रहे साधवो रात्रौ वसन्ति तर्हि सर्वानपि तान् शय्यातरान् कुर्युः । अथ न संस्तरन्ति तदात्ममध्ये एकं शय्यातरं स्थापयन्ति । शेषान् निर्विशन्ति । एषा शेषे सागारिके भजना । व्य० ८ उ० ।

आम्रक्षुवनादावग्रह आम्रफलादिभोजनं लशुनवनादावग्रहश्च । तत्र आम्रवनादौ अवग्रहे आम्रफलभोजनम् ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा अंबवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समाहिट्ठाए ते उग्गहं अणुजाणावेज्जा कामं खलु जाव विहरिस्सामो से किं पुण तत्थोग्गहंसि वा एवोग्गहियंसि वा भिक्खू वा भिक्खुणी वा इच्छेज्जा अंबं भोत्तए वा सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा स अंडं जाव ससंताणं तहप्पगारं अंबं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिन्नं अवोच्छिन्नं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा २ सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिन्नं वोच्छिन्नं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा अंबभित्तगं वा, अंबपेसियं वा, अंबचोयगं वा, अंबसालगं वा, अंबडालगं वा, भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं जाव अंबडालगं वा स अंडं जाव संताणगं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा अप्पंडं वा जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिन्नं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिन्नं वोच्छिन्नं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा ॥

स भिक्षुः कदाचिदाम्रवनेऽवग्रहमीश्वरादिकं याचेत तत्रस्थश्च सति कारणे आम्रं भोक्तुमिच्छेत्तच्चाम्रं साण्डं ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति । किंच (सेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनराम्रमल्पाण्डमल्पसन्तानकं वा जानीयात्किंतु तिरश्चीनच्छिन्नं तिरश्चीनमपाटितम् । तथा व्यवच्छिन्नं न खण्डितं यावदप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयादिति । तथा (सेइत्यादि) स भिक्षुरल्पाण्डमल्पसन्तानकं तिरश्चीनच्छिन्नं तथा व्यवच्छिन्नं यावत्प्रासुकं कारणे सति गृह्णीयादिति । एवमाम्रावयव एव सम्बन्धिसूत्रत्रयमपि नेयमिति । नवरम् (अंबभित्तय) आम्रार्द्धमाम्रपेशी आम्रफाली (अंबचोयगति) आम्रछल्ली सालगं रसं (डालगत्ति) आम्रश्लक्ष्णखण्डानीति ॥

इक्षुवनादाववग्रहः

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि अह भिक्खू इच्छेज्जा उच्छुं भोत्तए वा पायए वा सेज्जं उच्छुं जाणेज्जा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिन्नं तहेव तिरिच्छच्छिन्नं तहेव से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अभिकंखेज्जा अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा । भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा । अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा वा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा अप्पंडं जाव पडिगाहेज्जा अतिरिच्छच्छिन्नं तिरिच्छच्छिन्नं तहेव पडिगाहेज्जा

लशुनवनादाववग्रहः

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा लहसणवणं उवागच्छित्तए तहेव तिण्णिवि आलावगा णवरं लहसुणं से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा लहसुणं वा लहसुणकंदं वा लहसुणचोयगं वा लहसुणडालगं वा भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा लहसुणं वा जाव लहसुणवीयं वा स अंडं जाव णो पडिगाहेज्जा । एवं अतिरिच्छच्छिन्ने वि तिरिच्छच्छिन्ने पडिगाहेज्जा ॥ आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

सागारिकेण भाटकप्रदानेन स्वीकृतेऽवग्रहः (सागारियशब्दे)

(१२) स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वाऽवग्रहः ।

(सूत्रम्) से वत्थूसु अव्वावडेसु अव्वोगडेसु अपरपरिग्गहेसु अमरपरिग्गहिएसु सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ । अहालंदमवि उग्गहे ॥

अस्य सम्बन्धमाह ।

गिहिउग्गह सामिजढे, इति एसो उग्गहो समक्खातो ।
सामिजढे अजढे वा, अयमण्णो होइ आरंभो ॥

स्वामिना जढः परित्यक्तो यो गृहिणां संबन्धी अवग्रहस्तद्विषय इत्येषोऽवग्रहोऽवग्रहविधिः समाख्यातः । अयं पुनरन्यः प्रस्तुतसूत्रस्यारम्भः स्वामिना त्यक्ते अत्यक्ते वा अवग्रहो भवति अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (से) तस्य निर्ग्रन्थस्य वास्तुषु गृहेषु कथंभूतेषु अव्यापृतेषु शटितपतिततया व्यापारविरहितेषु अव्याकृतेषु दायादिभिरविभक्तेषु ।

अथवा पुनीतकाले केनाप्यनुज्ञातमिति न ज्ञायते यत्तदव्याकृत तेषु । तथा अपरपरिगृहितेषु परैरन्यैरनधिष्ठितेषु अमरपरिगृहीतेषु देवैः स्वीकृतेषु सैवावग्रहः नअपूर्वानुज्ञापना तिष्ठति । यथा सदमप्यवग्रहे किमुक्त भवति यावन्त काल तानि वस्तूनि तेषां पूर्वस्वामिनामवग्रहे वर्तन्ते तावन्त काल सैव पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति न पुनर्भूयोऽप्यवग्रहोऽनुज्ञापनीय इति सूत्रार्थः ।

सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः ॥

खित्तं वत्थुं सेतुं, केतुं माहारणं च पत्तेयं ।

अन्वोवरूमव्वोअम-अपरममरपरिग्गहं चेव ॥

इह वास्तु सामान्यतो द्विधा क्षेत्र वास्तु गृह वास्तु च । क्षेत्रं द्विधा सेतु केतुगृह च तत्र अरघट्टजलेन यत्सिच्यते तत्सेतु । वृष्टिजलेन तु यन्निष्पद्यते तत्केतु । गृहं पुनः खातोत्थितोभयभेदात्रिधा वक्ष्यते । क्षेत्र गृह चोभयमपि द्विधा । साधारण प्रत्येक च । साधारणे बहूनाम्, सामान्य प्रत्येकम् एकस्वामिनस्तत्र पदानि पश्चार्द्धेन सग्रहीतुमाह । अव्यापृतमव्याकृतमपरपरिगृहीतममरपरिगृहीतं चेति । अथ साधारणपद विवृणोति ।

होइ य गणगोट्ठीणं, सेणिमाधारणं च दुगमाई ।

वत्थुम्मि एत्थ यपयं, उत्थितखाते तदुभयम्मि ॥

गणगोष्ठीनां श्रेणीनां वा (दुगमाइत्ति) द्वित्रिप्रभृतिसख्यकानां द्व्यादिजनप्रतिबद्धानां वा यत्क्षेत्र वास्तु वा सामान्य तत्साधारणमुच्यते । अत्र तु वास्तुना अधिकारो न क्षेत्रेण तच्च वास्तु त्रिधा । उत्थित खात तदुभय च उत्थित प्रासाद । खात भूमिगृह तदुभयमधो भूमिगृहयुक्तः प्रासाद. ।

अव्यापृतादिपदानि व्याचष्टे ।

सन्नियमित्थं न कीरइ, जहिगं अव्वावडं तयं वत्थू ।

अव्वोगडमविभत्तं, अणहिट्ठियमणपक्खेवणं ।

यत्र शटित पतित यत्र व्यापारः केनापि न क्रियते यत्तद्वास्तु अव्यापृतमुच्यते । अव्याकृत नाम यद्दायादैरविभक्तम् अपर परिगृहीत नाम यदन्यपक्षेणान्यदीयवशेनानाधिष्ठित नास्य परिगृहीत स्वयमेव तस्य शय्यातर इति भावः । इदानीमेव भावयति ।

अवरो सुव्विसामी, जेण वि दिण्णं तु तप्पढमताए ।

अमरपरिग्गहियं पुण, इत्थाल्लिया रुक्खमादी य ॥

अपरो नाम तत्प्रथमतया साधूनां यद्दत्त स एव तस्य स्वामी नान्यः कश्चित् । न परोऽपर इति समासाश्रयणात् । अमरपरिगृहीत पुनर्देवकुलिका वा वृक्षादिकं वा यानम तदधिष्ठित मन्तव्यम् । अथाव्याकृतादिषु दृष्टान्तानुपदर्शयति ।

अव्वावडे कुडुंबी, काणिक्कावोगडे य रायगिहे ।

अपरपरोसादेवउ, अमरसक्खे पि सायघरे ॥

अव्यापृते गृहे कुटुम्बिदृष्टान्तः । अव्याकृते तु राजगृहे (काणिकाति) पाषाणमयः पकेष्टका वा वलिकामहत्यश्च काणिका उच्यन्ते तन्मध्ये गृहकारापको वणिग् दृष्टान्त । परपरिगृहीते ऽपि स एव दृष्टान्त. । अपरपरिगृहीते वृक्षपिशाचगृहं वा निदर्शन भवतीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषु कुटुम्बिदृष्टान्तमाह ।

नम्मवणं पामाए, संखडिजक्खेसु मिणायकडी य ।

अत्थ वावोण्ण कुणंति अंबावडं तेणं ॥

कुटुम्बिणा सुन्दर घर कारिय समत्तं तम्मि मम्मड जाव रूढे पविसामिमित्ति चिन्तेइ नवर वाणमतरेण रत्तिं भण्णति । जइ पविसिहिसि तो ते कुल उत्थापमि तण कट्टियाहि फालिहिएण मुक्क वावार वासेन करेइ । अन्नया साहूहिं आगएहिं सो कुटुबी अणुण्णविउ तेण भणइ दिवयाए परिग्गाहिय । तता से अवाओ भविस्सइ । साहूहिं भणितो अणुजाणसु तुम अम्हे स्सामो वय देवयाए तओ तेण अणुण्णाए तेहिं काउस्सग्गेण जक्खो आकम्पिओ भणइ । उवरिल्लुमियमोत्तु घासत्था अत्थ इते ठिया तेसु गतेसु जे अन्ने साहुणो इति ते तत्थेव ठायति । सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा । अथ गाथाक्षरार्थः । कुटुम्बिना प्रासादस्य निर्मापण कृत ततः सखडिः कर्तुमारब्धो यक्षेण च स्वप्ने निवेदित यदि प्रासाद प्रवेक्ष्यसि तत सकुटुम्ब भवन्तं व्यपरोपयिष्यामीति तेन कविटकाभि परिवृत्त तद्गृहम् अन्यमपि च व्यापार तत्र न करोति तेनाव्यापृतमुच्यते । अव्याकृते दृष्टान्तावाह ।

दत्तू असीयंवरघरं महल्लं, कालेण तं खीणधणं च जायं ।

ते उंबरीयस्स भयाउ कुट्टी, दाउं यमोल्लंवघरं अदेणं ॥

सगेण इड्ढिमंतेण वाणिएण रायगिहे नयरे स आलमावा वा चालपकट्टगाईं गिहं कारियं सोय तम्मि निम्मावियं एव तीहुओ पुत्ती सो पुट्ठी जाओ । क्षीणविभव इत्यर्थः । तयाय उवरीकरो घिप्पइ ते त दाउ अवयता पगासे कुट्टियं काउ ठिया त च तेहिं सजयाण दिन्न । अथाक्षरगमनिका । ऋद्धिमत्वे महर्द्धिकताया कस्यापि वणिजो गृह महल्ल महाजना कुलमालित कालेन तत् क्षीणधन च शब्दादपमानुप च संजात ते च नदीयाः पुत्रा उवरीयस्य प्रत्युदुम्बर रूपकोदातव्य इत्येवलक्षणस्य करस्य भयादेकस्मिन् पार्श्वे कुटीं कृत्वा मोल्लं च गृहपतीनां दत्वा कुटीरके स्वयं स्थिताः । एतदव्याकृतमुच्यते । अथ पूर्वानुज्ञापनां व्याख्याति ।

पुव्विट्ठियणुण्णविय-ठायं तत्थेवि तत्थ ते य गता ।

एव सुसुनसुसे, सो चेव य उग्गहे होइ ॥

अव्यापृते अव्याकृते वा पूर्व साधवोऽनुज्ञाप्य स्थिता तेषां मासकल्पे वर्षावासे वा पूर्णे शून्यभूते तत्र प्रतिश्रये अपूर्णे वा कल्पे अशून्यपदोपाश्रये अन्ये साधवस्तिष्ठन्ति ततः पूर्वसाधवः कल्प समाप्यान्यत्र गताः पर शून्ये अशून्ये वा तत्र तिष्ठतां तेषां स एवावग्रहो भवति न पुनर्भूयोऽनुज्ञापयन्ति ।

अपरपरिगृहीतं व्याचष्टे ।

अपरपरिग्गहितं पुण, अपरे जत्ती जइ उ चिंति ।

अव्वोकडं पि तं चिय, दोण्णि वि अच्छी अ परसहा ॥

पुनःशब्दो विशेषणार्थ स चैतद्विशिनष्टि अपरिगृहीतं नाम येन साधूनां तद्दत्त स एव स्वामी नान्य इति तावद्परिगृहीतं तस्यैकार्थ्ये प्रयुक्त । यद्वा न परे अपरा यतयस्तैरेवपरिगृहीतं तदपरपरिगृहीतमव्याकृतमपि तत्रैव मन्तव्यम् । मत्र्येष्वपि साधूनां साधारणमिति कृत्वा तदेव द्वावप्यपरपरशब्दे भवत । एको न परोऽपरस्तेन परिगृहीतमपरपरिगृहीतम् द्वितीयः परे साधुनि परिगृहीतमपरपरिगृहीतमिति । अमरपरिगृहीते तु वृक्षे वृक्षस्याधस्तात् गृह मन्तव्यम् । तत्र गृहं यदि पूर्व साधवो ऽनुज्ञाप्य स्थितास्तदा तेषां स एवावग्रहो भवति ।

अथ वृक्षविषय विधिमाह ।

भूयाइपरिग्गहिते, दुगम्मि नवाणुणवेत्तु सग्गहं ।

एगेण अणुषविए, सो चेव य उग्गहो होइ ॥

भूतादिना व्यन्तरेण परिगृहीतो यो द्रुमस्तत्र स्वाध्यायार्थं कदाचिद्भन्तव्यं भवति । त च व्यन्तरमनुज्ञाप्य स्वाध्याय करोति । एवमेकेनापि तस्मिन्ननुज्ञापिते शेषाणां साधूनां स वृक्ष एवा वग्रहो भवति । अथासौ वृक्ष परपरिगृहीतो ऽप्यस्ति तत

सामी अणुण्णविज्जइ, दुमस्स जस्सोग्गहो व्व असहीण ।
कूरसुरपरिग्गहिते, दुमम्मि कणिट्ठगाण गमो ॥

यस्तस्य द्रुमस्य स्वामी सोऽनुज्ञाप्यते । अथासौ न स्वाधीनस्ततोऽस्वाधीने तस्मिन् यस्यायमवग्रह सोऽनुजानीतामिति वक्तव्यम् । अथासौ द्रुम क्रूरसुरपरिगृहीतस्ततो येषामगारिणां सत्कस्तेषामागन्तुमसौ न ददाति तत्र कणेट्टका गृहगमो मन्तव्य । त सुर कायोत्सर्गेणानुकम्प्य स्वाध्यायादि कुर्वन्तीति भाव । तत्र चायं विधिः ।

निच्छंतेण व अधे, ईसालुसुरेण जं अणुण्णायं ।
तत्थ वि सो चेव गमो, सागारपिंडम्मि मग्गणता ॥

ईर्ष्यालुसुरेण अन्येन गृहिणा आगच्छता वृक्षमूलादिक साधूनामनुज्ञात तत्रापि स एव गम पूर्वानुज्ञापनावस्थानलक्षणे विज्ञेयो नवर तत्र स्थितानां सागारिकपिण्डस्यमार्गणा कर्तव्या । तामेवाह ।

जक्खो चि य होइ तरो, वज्जिमादी गिण्हणा भवे दोसा ।
सुविणा उवरिं एवा, संखडिकारोवणा निक्खं ॥

येन यक्षेण स द्रुम परिगृहीत स एव तत्र स्थितानां तरूणां शय्यातरो भवति । ततो यस्तस्य बलिकूरादि निवेद्यते स शय्यातरपिण्ड इति कृत्वा परिह्रियते । वृ० ३ उ० ।

राजावग्रहो देवेन्द्राऽवग्रहश्च ।

(सूत्रम्) से अणुकड्डेसु वा अणुभित्तिसु वा कुणरियासु वा अणुफारियासु वा अणुपंथेसु वा अणुमग्गेसु वा संघवग्गहए पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमविग्गहे ।

अस्य सवन्धमाह ।

जे चेव दोण्णि य गता, सागारियरायउग्गहो होंति ।
तेसिं इह परिमाणं, णिवोग्गहम्मी विसेसेणं ॥

यावेव द्वौ सागारिकराजावग्रहौ पूर्वसूत्रयो प्रकृतौ तयोरेवेह सूत्रे परिमाणमुच्यते तथापि नृपावग्रहपरिमाणं विशेषेणाभिधीयते अनेन सवन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (से) तस्य निर्ग्रन्थस्य अनुकुड्येषु वा कुड्यसमीपवर्तिषु प्रदेशेषु एवमनुभित्तिषु वा अनुपरिखासु वा अनुपथेषु वा अनुमर्यादासु वा इह परिखानगरप्राकारयोरपान्तराले हस्ताष्टकप्रमाणो मार्ग । परिखा खातिका मर्यादा सीमा शेष प्रतीतम् । एतेषु सैवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति यथालन्दमपि कालमवग्रह इति सूत्रार्थ ।

अथ निर्युक्तिविस्तर ।

अणुकुड्ड भित्तीसुं, वरियाए गारपंथफरिहासु ।
अणुमग्गे सीमाए, णायव्वं जं जहिं कमति ॥

अनुशब्द प्रत्येकमभिसंबध्यते अनुकुड्यानुभित्त्यो अनुवरिकाप्राकारपथपरिखासु च (अणुमग्गसीमाए) मर्यादा सीमा ततोऽनुमर्यादायामनुसीमायामित्येकोऽर्थ । एष्वनुज्ञातव्यम् । यथात्र सागारिकराजाद्यवग्रहानुज्ञापनम् ।

एनां निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति ।

उवकुड्ड अणुकुड्ड, कुड्डसमीवं व होइ एगट्ठं ।
एमेवाससएसु वि, तेसि पमाणं इमं होइ ॥

अनुशब्दस्य समीपार्थद्योतित्वादनुकुड्यमुपकुड्य कुड्यसमीपमिति चैकार्थम् । एवमेव शेषेष्वपि अनुभित्त्यादिषु पदेषु मन्तव्यम् । तेषामनुकुड्यादीनामवग्रहविषयमिद प्रमाणं भवति ।

वातिभित्तिकडगकुड्डे, पंथेपगएउग्गहो रयणी ।
अणुवरियाए अट्ठउ, चउरो रयणी उ परिहाए ॥

वृत्तौ वर्तुलादिपरिक्षेपरूपायां भित्ताविष्टकादिनिर्मितायां कटके वलये च कुड्ये पथि धर्म्ममर्यादायां (वरपाणिम्मि) एकहस्तमानावग्रहो भवति । अनुवरिकायामष्टौ हस्ताः परिखायां चत्वारो रत्नय । इदमेव भावयति ।

वतिसामिणोवतीतो, हत्थो सोवग्गहो ण खंतिस्स ।
तहि ममकारो जति त्रिय, पणाणिम्मग्गभूमीए ॥

गृहपतिविवक्षिताया वृत्ते स्वामी तस्य वृत्ते परतो हस्तमात्रमवग्रहो भवति शेषस्तु सर्वोऽपि नरपतेरवग्रहो मन्तव्यः । अथ किंकारण वृत्तिस्वामिनो वृत्तेःपरतोऽप्यवग्रहो भवति इत्याह तस्य गृहपतेः परतो हस्तप्रमाणे भूभागे ममकारो भवति । अतो यद्यपि (निम्माणिम्मि) मूलपादान्ते च तावद्विवक्षितगृहसत्का भूमिस्तथापि वृत्ते परतो हस्तमेक तस्यावग्रह एव भित्तिकुड्यादिष्वपि भावनीयम् ।

हत्थ हत्थं मोत्तुं, कुड्डादीणं तु मज्झिमो रण्णो ।
जत्थ न पूरइ हत्थो, मज्झे तिभागो वही रन्नो ॥

तेषामेव कुड्यादिनां हस्त हस्तमुभयोरपि गृहयोर्मुक्त्वा मध्यम सर्वोऽपि राज्ञोऽवग्रहः । यत्र तु गृहस्यापान्तरालस्यातिस्तोकतया हस्तो न पूर्यते तत्र मध्यमत्रिभागो राज्ञ शेषौ द्वौ गृहस्वामिनो । एतदवग्रहपरिमाणमुक्तम् । अत्र चोच्चारादीनि स्थानानिषदनादीनि वा कुर्वन् यदि कुड्यादीनां हस्ताभ्यन्तरे करोति ततो गृहपत्यवग्रहो मनसि क्रियते हस्ताद्बहिश्चरिकाप्राकारपरिखादिषु च राजावग्रहोऽनुज्ञाप्यते । अटव्यामपि यद्यसौ राजा प्रभवति तदा तस्यैवावग्रहः स्मर्यते । अथासौ तत्र न प्रभवति ततो देवेन्द्रावग्रहो मनसि क्रियते । वृ० ३ उ० ।

(१४) राजपरिवर्तेऽवग्रहः

"से रज्जपरियट्टेसु" इत्यादिसूत्रद्वयस्य सवन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

सागरियसाहम्मिय–उग्गहगहणउत्तमाणम्मि ।
सुत्तमअतिमसुत्तं, ठवंति राउग्गहे थेरा ॥

पूर्वसूत्रेभ्य सागारिकावग्रहग्रहणमनुवर्तते ततोऽपि परतरेभ्य साधर्म्मिकावग्रहण तस्मिन् अनुवर्तमाने अवग्रहग्रहणप्रस्तावात् सप्तमोद्देशकस्यान्तिमं सूत्रम् । सूत्रद्वय राजावग्रहे स्थविरा कर्त्तारः स्थापयन्ति एषोऽधिकृतसूत्रद्वयसवन्धोऽनेन सवन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (से) तस्य भिक्षो राजपरावर्तेषु राजपरावर्तो नामाभ्रेतनो राजा कालगतो नवोऽभिषिक्तस्तेषु । पुन कथंभूतेषु इत्याह सस्तृतेषु न कोऽपि तद्राज्यं विलुम्पतीति भावः । तथा अव्याकृतेषु येषां दायादानां सामान्य तद्राज्य तैरविभक्तेषु । अनवच्छिन्नेषु तस्मिन्नेव वंशे अनुवर्तमानेषु अत एवापरपरिगृहीतेषु सैवावग्रहस्य पूर्वा अनुज्ञापना तिष्ठति या तस्य वंशस्यादावनुज्ञापना कृता कियन्त कालं पुन सैव पूर्वानुज्ञा तिष्ठति तत आह यथालन्दमप्यवग्रहः । किमुक्तं भवति यावन्त कालं स वंशोऽनुवर्तते तावन्तमपि कालमवग्रहे

राजावग्रहे सैव पूर्वानुज्ञापना वर्तते न पुनरन्यस्मिन् राज्ञि उपविष्टे स भूयोऽवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः। एष प्रथमसूत्रस्यार्थः। द्वितीयस्योच्यते (से) तस्य भिक्षो राजपरावर्तेषु अन्येषु राज्य प्रतिपन्नेषु असंस्तृतेषु त्रुटितपूर्वराज्यसंस्थितिषु व्याकृतेषु अन्यवशीयैर्दायादैर्वा विभज्य समीकृतेषु व्यवस्थितेषु पूर्ववंशेषु अत एव परपरिगृहीतेषु भिक्षुभावस्यार्थाय भिक्षुभावो नाम ज्ञानदर्शनचारित्राणि तेषामेव भिक्षुशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वादेतदेव प्रथमोद्देशके सप्रपञ्च भावित तस्यार्थाय न भिक्षुभावः परिपूर्णो भूयादित्येवमर्थमित्यर्थः। अन्यथा सचित्तादीनामनुज्ञापनेऽदत्तादान स्यात्। द्वितीयेऽपि वारमवग्रहोऽनुज्ञापयितव्य' एष द्वितीयस्यापि सूत्रार्थः ।

सांप्रतमेनामेव व्याख्यां भाष्यकृद्दर्श्याह ।

संथडमो अविसुत्तं, पडिवक्खो वा न विज्जती जस्स ।
अणहिट्ठियमत्तेण व, अव्वोगडदाइसामन्नं ॥

संस्तृतं नाम राज्य यदविसुत मो इति पादपूरणे यस्य वा प्रतिपक्षो न विद्यते नाप्यन्येन केनाप्यधिष्ठितम् । अव्याकृत नाम दायिनां सामान्यं न पुनस्तैर्विभक्तम् ।

अव्वोगडं अविगडं, संदिट्ठं वा वि जं हवेज्जाहि ।
अव्वो च्छिन्नपरंपर–मागयतस्सेव वंसस्स ॥

अव्याकृतं नाम यदविकृत न केनापि विकारमापादितम् यदि वा यद्भवेत् पूर्वराजेन सदिष्ट यथा एतस्मै राज्यं देयमिति तत अव्याकृतम्। अव्यच्छिन्न नाम यत्तस्यैव वंशस्य परपरया समागतमिति ।

पुव्वाणुन्ना जा पुव्व–एहिं राईहिं इह अणुन्नाया ।
छंदंतु होइ कालो, चिट्ठइ जा उग्गहो तेसिं ॥

पूर्वानुज्ञा नाम या पूर्वकै राजभिरनुज्ञाता, " जहाछंदमवी" त्यत्र छदो नाम भवति कालस्ततोऽयमर्थो यावन्त काल तेषामवग्रहस्तावन्तमपि काल सैवावग्रहे पूर्वानुज्ञा । तदेव प्रथमसूत्रव्याख्या कृता । सप्रति द्वितीयसूत्रव्याख्यानार्थमाह ।

जं पुण असंथडं वा, सगडं तह वोगडं व वोच्छिन्नं ।
नंदमुरियाण व जहा, वोच्छिन्नो जत्थ वंसो उ ॥

यत्पुनरसंस्तृत शकटमिव शराहतया सवरीतुमशक्नुवत्तया व्याकृतं दायादैरन्यवशैर्वा विभज्य अङ्गीकृतम्। व्यवच्छिन्न यत्र नन्दमौर्याणामिव वशो व्यवच्छिन्नः ।

तत्थ उ अणुन्नविज्जइ, भिक्खुब्भावट्ठमग्गहो नियमं ।
दिक्खा भिक्खूभावो, अहवा तइयव्वयादीउ ॥

तत्र नियतमवश्यभावेन भिक्षुभावार्थी यथावस्थितभिक्षुभावः तत्रैव भिक्षुभाव इत्याह । दीक्षादिरादिशब्दात्सम्यग् ज्ञानादिपरिग्रहः। भिक्षुभावो ऽथवा तृतीयव्रतादिकं भिक्षुभाव' । तत्रैव भिक्षुशब्दस्य परमार्थत्वात्तदेव कृता सूत्रव्याख्या । संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

रण्णा कालगयम्मि, अथिरगुरुगा अणुन्नवे तम्मि ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा इमेसु गणासु ॥

राज्ञि कालगते ये द्वौ वा त्रयो वा दायिनस्तेषां मध्ये य' स्थिर' सोऽनुज्ञापयितव्य । यदि पुनरस्थिरमनुज्ञापयन्ति तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषास्तथा विराधना आत्मविराधना संयमविराधना वा । एषु वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु नान्यैवाह ।

धुवमण्णे तस्स मज्झे, वसमेरेथेरमज्झ संताहे ।
दोसो गयपरदोसो, अणणुन्नवणेथिरे गुरुगा ॥

ध्रुवमन्यस्मिन्नन्यवंशजे अस्थिरे तस्य वा पूर्वराजस्य संबन्धिनां दायिनामेकस्मिन् अस्थिरे सयतिरनुज्ञापित सन् चिन्तयति स तथा त्रिचिन्तनास्ति । तथा प्रावस्यान्यथाभाव इति स एको मुक्तसभाहो वर्तते। त च विश्वस्त ज्ञात्वाऽन्यदा सोऽन्येन दायादिना मारितो राज्यमधिष्ठितम् ततः स राजा चिन्तयति। सयतैर्ममामित्रपरिगृहीतैर्येन कारणेनासावग्रहमनुज्ञापितस्ततः स प्रसिद्धो द्वयोरेकतरस्य प्रद्वेषं कुर्यात्। किमुक्त भवति निर्विषयत्वादि कुर्यात्। जीवचारित्रयोर्वा भेदं कुर्यात्तस्मात् य स्थिरः सोऽनुज्ञापयितव्योऽननुज्ञापने प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः ।

अणणुन्नविए दोसा, पच्छा वा अप्पितो अवसे वा ।
पत्तेपुव्वममंगल, निच्छुभणे य दोसपत्थारो ॥

यदि स्थिरो नानुज्ञाप्यते तदा एतस्मिन्ननुज्ञापिते दोषाः सर्वे सामान्यपाखण्डकाः समीपमागता निर्ग्रन्थानां पुनरवज्ञां कृत्वा स्थितास्ततः प्रद्वेषितो निष्काशनादि कुर्यात् तस्मादव्यवच्छिन्नवंशो सोऽवश्यमवग्रहमनुज्ञापयितव्यः। किं पूर्वं पश्चात् मध्ये वा तत्र यदि सर्वैरन्यैः पाखण्डैरनुज्ञापिते स पश्चादनुज्ञाप्यते ततः स चिन्तयति अहमेतेषामप्रियोऽवज्ञा यतो ममैतैः क्रियते तेन पश्चादागताः। अथ प्राप्ते राज्ये पूर्वमनुज्ञाप्यते तदा कदाचिदमङ्गल मन्येत ततो (निच्छुभण ति). निष्काशन कुर्यात्प्रद्वेषतः प्रस्तारो जीवनात् व्यपरोपण क्रियेत तस्मान्मध्येऽनुज्ञापयितव्य' । यदि पुनर्भद्रक इति ज्ञातो भवति चानुज्ञाप्यमाना मङ्गलमिति मन्यते तदा पूर्वमप्यनुज्ञापनीयः। अथ कथमस्थिरा ज्ञातव्य' कथं वा भद्रक कथ वा पूर्वकमनुज्ञाप्यमानो मङ्गलं मन्यते इति तत आह ।

ओहादी आभोगण, निमित्तविसएण वा वि नाऊण ।
भद्दगपुव्वमणुन्ना, वपंतमज्झाय मज्झम्मि ॥

अवध्यादीनामतिशयेनादिशब्दान्मनःपर्यवज्ञानश्रुतातिशयविशेषपरिग्रहोऽथवा निमित्तविशेषेण । अथात्मनोऽवध्याद्यतिशयो निमित्तविशेषो वा न विद्यते तदा अन्यानवध्याद्यतिशयिनो निमित्तविशेष ज्ञात्वा दृष्ट्वा भद्रकमनुज्ञापयेत । प्रान्तमनुज्ञात वा मध्ये ।

एएणं विहिणाउ, सो णुन्नवितो जहेव रज्जेहिं ।
राया किं देमित्ति य, नं दिन्नं अन्नराईहिं ॥

एतेनानन्तरोदितेन विधिना सोऽनुज्ञापितो राजा यदा वदेत किं ददामीति तदा वक्तव्य यदस्मभ्यं राजभिस्तद्देहीति ।

जाणंतो अणुजाणइ, अजाणओ भति तेहिं किं दिन्नं ।
पायोग्गंति य भणिए, किं पाउग्गं इमं सुणसु ॥

एवमुक्ते जानान' सर्वमनुजानाति अज्ञायको ब्रूते तैरन्यै राजभिः किं दत्त तत्र प्रायोग्यमिति भणितव्यम् । तस्मिन् भणितेषु न ब्रूते किं प्रायोग्यमिति ततो वक्तव्य शृणुत इद प्रायोग्य तदेवाह ।

आहर उवहिसेज्जा, ठाणनिसीयणतुयट्टगमणादी ।
थीपुरिसाण य दिक्खा, दिन्ना णो पुव्वराईहिं ॥

नोऽस्माक पूर्वराजैराहार उपधिः शय्या स्थानमूर्ध्वस्थान निषदनं त्वग्वर्तो गमनमादिशब्दादागमनपरिग्रहस्तथा स्त्रीपुरुषाणां दीक्षा अनुज्ञातेण दत्ता ।

नद्दो एत्थं विरइ–प्पंते पुण दिक्खवज्जामियराणि ॥
इय सिद्ध इय काउं, निग्गं ते गुरुगा य आणादी ॥

एव कथिते सति यो भद्रक स सर्वविरतिमान्त पुनर्दीक्षावर्जमितराणि सर्वाण्यप्याहारादीनि अनुजानाति प्रव्रज्यां पुनर्नोज्ञापयति तत्र यदि तस्य राज्ञोऽनुशिष्टमकृत्वा आदिशब्दात् विद्यादि वा प्रभुकरणं वा अकृत्वा यदि तद्विषयात् निर्गच्छन्ति तदा तेषां प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः।

चेइय सावगपव्वइउ–काम अंतरंतबालवुड्ढा य ।
जत्ता अजंगमा वि य, अभत्ति तित्थस्स परिहाणी ॥

अन्यच्च चैत्यानि तेन परित्यक्तानि श्रावका ये च प्रव्रजितुकामास्तथा। ग्लायन्तो ग्लाना बाला वृद्धा अजङ्गमाश्चैते सर्वे परित्यक्ता भवन्ति तीर्थकराज्ञाखण्डनात् । तीर्थस्य च परिहाणिरापादिता । तथा हि ये तत्र विषये प्रव्रजितुकामास्ते न प्रव्रजिष्यन्ति श्रावका अपि सम्यक्त्वमणुव्रतानि च गृह्णन्तो न ग्रहीष्यन्ति ततो भवति तीर्थस्य व्यवच्छेदः। यद्येवं तर्हि तत्रैव तिष्ठन्तु । तत्राप्याह ॥

अत्थंताण वि गुरुगा, अभत्ति तित्थस्स हाणि जा वुत्ता ।
जाणमाण जाण चेत्ता, अत्थंति अणेरय वच्चंति ॥

तत्र तिष्ठतामपि प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका मासा देशान्तरे भव्यपोण्डरीकस्याप्रतिबोधेन हीनतो भ्रष्टत्वात्।तथा तीर्थकराणामभक्ति तिष्ठद्भि कृत्वा तदाज्ञाखण्डनात्तीर्थस्य हानिरापादिता तथा स्वयमेव तेन राज्ञोक्ते स्त्रीपुरुषा न दीक्षितव्या इति । यद्येवं तर्हि किं कर्तव्यमत आह । स्वय भणन्त प्रज्ञापयन्तोऽन्यैर्ज्ञापयन्तस्तिष्ठन्ति । तथापि चेत्स नेच्छेत्तर्हि ततो देशात् व्रजन्ति ।

अह पुण हवेज्ज दोन्नी, रज्जाइं तस्स नरवरिंदस्स ।
तहियं अणुजाणंतो, दोसुवि रज्जेसु अप्पवहुं ॥

अथ पुनस्तस्य नरवरेन्द्रस्य स्वयमन्यैर्वा प्रज्ञाप्यमानस्य कदाचिद्द्वे राज्ये भवतस्तत्र तयोर्द्वयोराज्ययोर्मध्ये एकत्रकाप्यनुजानाति । यथा मम द्वे राज्ये तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये यत्रैकत्र भवद्भ्यो रोचते तत्र प्रव्राजयत द्वितीये नानुजानामि । एवमुक्ते अल्पबहु परिभाव्य यत्र भूयान् तीर्थप्रव्रज्यादिलाभस्तत्र स्थातव्यमतद्व स्पष्टतरमाह ॥

एक्काहि विदिन्नं रज्जे, रज्जे एगत्थ होइ अवि.दत्तं ।
एगत्थ इत्थियत्तो, पुरिसन्वायाय एगत्थ ॥

एकत्र एकस्मिन् राज्ये वितीर्णमनुज्ञात भवति । एकस्मिन् राज्ये वितीर्णे यत्रानुज्ञात तत्र स्त्रिया• पुरुषा वा अनुज्ञाता• । अथवा एकत्र राज्ये स्त्रियोऽनुजानीत एकत्र पुरुषाननुजानीते ।

थेरा तरुणा य तहा, दुग्गया अड्ढया य कुलपुत्ता ।
जाणवयानागरया, अब्भंतरयो कुमारा य ।

अथवा एकत्र राज्ये स्थविराननुजानात्येकत्र तरुणान्। अथवा एकत्र दुर्गतकान् परत्र आढ्यान् । यदि वैकत्र कुलपुत्रानपरत्राभीरान् एवमेकत्र जानपदानन्यत्र नागरकान् । एकत्राभ्यन्तरकान् अभ्यन्तरका नाम ये राजानमतिप्रत्यासन्नीभूयावलगन्ति कुमारा राज्ञो दायादाः। एवमनुज्ञाते किं कर्तव्यमित्याह।

ओहीमादीउ जत्थ, बहुतरया उ पव्वयंति नहि ।
ते विति समणुजाणसु, असती पुरिसेव जे बहुगा ॥

अवध्यादिनादिशब्दात् श्रुतातिशयविशेषेण निमित्तविशेषेण वा ज्ञात्वा यत्र बहुतरका• अनुज्ञाता सन्ति अवध्यादेर्निमित्तविशेषस्य वा अभावे ये बहवः पुरुषास्तानेवानुज्ञापयति न शेषान् स्तोकानप्रभूतानिति ॥

एयाण वि धरति तहिं, कम्मघणो पुण भणेज्ज तत्थ ।
इम दिट्ठा उ अमंगल्ल, मा वा दिक्खेज्ज अन्यत्ता ॥

एतानि अनन्तरोदितानि प्रान्तोऽपि मनाग्भद्रक सन् तत्रात्मीये राज्ये वितरति । यः पुन कर्मघनो निबद्धपापकर्म्मा तत्रानुज्ञापनायां क्रियमाणायामिद ब्रूयात् दृष्टा अपि सन्तो यूयममङ्गलास्तस्मादप्रतिष्ठन्तो मा कञ्चन दीक्षयेयुरिति। वा शब्दो व्यपेक्षया विकल्पने ।

मा वा दच्छामि पुणो, अभिक्खणं वेंति कुण ति निव्विसए
पव्वंतो भणति ततो, भरहाहिवाति सति तुमंति ॥

यदि वा मा पुनर्भूयो द्रक्ष्याम्येतान्। अभीक्ष्णं वा ब्रुवन्ति स्वयमन्यैर्वा पुन• पुनर्विज्ञपन्तीति कृत्वा निर्विषयान्करोति ततो य• प्रभवन् वक्ष्यमाणगुणोपेतो ब्रूते नासि त्व सकलस्य भरतस्यापि पतिर्येन निर्विषयस्याज्ञापनेऽस्माक भयं स्यात्तत्र स्थातु न दास्यसि ततो ऽन्यत्र यास्याम । तथा इदमपि ब्रूते।

केवइयं वा एयं, गोपयमेत्तं इमं तुहं रज्जं ।
जं पेक्खिउ नासिपगं, मंतिय मुहुत्तमित्तेण ॥

कियद्वा एतद्गोष्पदमात्रमिदं च राज्य यत् प्रेयं मुहूर्तमात्रेण तं दृष्ट्वा गम्यते । एवमुक्ते स राजा प्राह ।

जं होउ तं होउ, पव्वामि अहं तु अप्पणो रज्जे ।
सो भणइ नीहमिज्जं, रज्जा तो किं बहुं णाउं ॥

स राजा ब्रूते यत् यावन्मात्रं तावन्मात्र वा भवतु आत्मनो राज्ये तावदह प्रव्राजयामि । तस्मात्किमत्र बहुना मम राज्यादपि निर्गच्छतेति । एवमुक्ते यत्कर्तव्य तदाह ।

अणुसट्ठी धम्मकहा, वज्जनिमित्तादिएहिं आउट्टो ।
आट्टिए य मुक्करणं, जहा कथं विण्हुणा पुव्वि ॥

अनुशिक्षया अनुशासनेन धर्म्मकथया विद्यया निमित्तेन आदिशब्दान्मन्त्रेण चूर्णयोगैर्वा त राजानमावर्तयेत् अनुकूलयेत्।अथैवमपि न तिष्ठति तर्हि तस्मिन् अस्थिते प्रभोरन्यस्य करण कर्तव्यम् । यथा कृत विष्णुना विष्णुकुमारेण । अथ कीदृशस्त राजानमन्यप्रभुकारणे प्रेरयन्तीत्यत आह ।

वेउव्वियलद्धी वा, ईसत्थे विज्जतो रसवल्ली वा ।
तवलद्धिपुलातो वा, पेल्लेति तमेतरे गुरुगा ॥

यो वैक्रियलब्धिमान् यो वा इषुशास्त्रे निर्म्मातोऽनेकैरपि पुरुषसहस्रैर्दुर्जय । अथवा विद्यावलवान् यदि वौरसवली साधर्मिको ऽथवा तपोलब्धिपुलाक स तमन्यप्रभुकरणेन प्रेरयति । यस्तु सत्यामपि शक्तौ प्रभुमन्यं न करोति तस्मिन्नितरस्मिन्प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका. । कथमन्यं प्रभुं करोतीत्यत आह ।

तं घेत्तुं बंधिऊण, पुव्वरज्जं ठवेंति उ समत्थो ।
असती अणुषममंते, निग्गतव्वं ततो ताहे ॥

त राजानं गृहीत्वा बन्धनेन च बध्वा समर्थस्तस्य पुत्रं राज्ये स्थापयति। असति सामर्थ्ये अनुशिष्यादिभिरुपशमयति । स च तथोपशम्यमानोऽपि नोपशाम्यति तर्हि ततो देशान्निर्गन्तव्यम् । तथा चानि यतनामाह ।

भत्तादिफासुएणं, अलब्भमाणे य पणगहाणीए ।
अद्धाणे कायव्वा, जयणा उग्गा जहिं भणिया ॥
अध्वनि मार्गे प्रासुके भक्तादावलभ्यमाने पञ्चकहान्या यतना कर्त्तव्या । यत्र ग्रामे नगरे अरण्ये वा पूर्वं कल्पाध्ययने भणिता । व्य० द्वि० ७ उ० ।

(१५) अवग्रहक्षेत्रमानम् ।

(सूत्रम्) सगामंसि वा जाव संनिवेसं वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सव्वओसमंता सकोसं जोयणं उग्गहं तु गिण्हित्ताणं चिट्ठित्तए ॥

अस्य सम्बन्धमाह ।

गामाइयाण वेसिं, उग्गहपरिमाणजाणणासुत्तं ।
कालस्स वा परिमाणं, वुत्तं इहइं तु खेत्तस्स ॥
तेषामनन्तरसूत्रोक्तानां ग्रामादीनां कियानवग्रहो भवतीति शङ्कायामवग्रहपरिमाणज्ञापनार्थमिदं सूत्रमारभ्यते । यद्वा पूर्वसूत्रेषु " अहालंदमवि उग्गहे इत्यादि " भणता अवग्रहविषयकालस्य परिमाणमुक्तमिह तु क्षेत्रस्य तदेवोच्यते । एतेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या अथ ग्रामे वा नगरे वा यावत्संनिवेशे वा कल्पते निर्ग्रन्थानां चावग्रहः सर्वे· सर्वासु दिक्षु समन्तात् चतसृष्वपि विदिक्षु सक्रोशं योजनमवग्रहमवगृह्य स्थातुमिति सूत्रार्थः । अथ भाष्यविस्तरः ।

उड्ढमहे तिरियं पि य, सकोसं होइ सव्वतो खित्तं ।
इंदपदमाइएसुं, विदिसिं सेसेसु चउ पंच ॥
ऊर्ध्वदिगधो दिग् (तिरियंपियत्ति) तिर्यक्पूर्वदक्षिणापरोत्तरलक्षणाश्चतस्रो दिशः एतासुपदिक्षु गिरिमार्गस्थितानां सर्वतः सक्रोशयोजनं क्षेत्रं भवति तथ इन्द्रपदादिषु सम्भवति इन्द्रपदो नाम गजाग्रपदगिरिस्तत्र ह्युपरिष्टात् ग्रामो विद्यते । अधोऽपि ग्रामो मध्यमश्रेण्यामपि ग्रामस्तस्य चतसृष्वपि दिक्षु ग्रामाः सन्ति ततो मध्यमश्रेणिग्रामे स्थितानां षट्सु दिक्षु क्षेत्रं भवति । आदिशब्दादन्योऽपि य ईदृशः पर्वतस्तस्य परिग्रहः शेषेषु पर्वतेषु चतसृषु पञ्चसु वा क्षेत्रं सक्रोशं योजनक्षेत्रं भवति समभूमिकायां व्याघाताभावे दिक्चतुष्टयक्षेत्रं व्याघातं प्रतीत्य पुनरित्थम् ।

एगं व दो व तिण्णि व, दिसा अकामं तु सव्वतो वा वि ।
सव्वत्तो तं अकोसे, अणुज्जणोउ जा खेत्तं ॥
एकदिग्भाविना पर्वतादिव्याघातेन किंचिद् ग्रामादिकमेकस्यां दिशि अक्रोशं भवति सक्रोशयोजनावग्रहरहितमित्यर्थः । एवं दिग्द्वयभाविना व्याघातेन द्वयोर्दिशोरक्रोशं त्रिदिग्भाविना तिसृषु दिक्षु दिक्चतुष्टयभाविना तु सर्वतोऽप्यक्रोशं भवति । तत्र च सर्वतोऽक्रोशे ग्रामादौ बाह्यान् यावत्क्षेत्रं ततः परमक्षेत्रमिति । किं च ।

संजमआयविराहण, जत्थ भवे देहउवधितेणा वि ।
तं खलु ण होइ खेत्तं, उग्घेयव्वं च किं तत्थ ॥
यत्र ग्रामादौ प्राणानां संयमात्मविराधना भवति यत्र च देहोपधिस्तेना भवन्ति तत् खलु क्षेत्रं न भवति । किंवा तत्रावग्रहीतव्यं येन क्षेत्रमुच्यते । अथ किं पुनः क्षेत्रमित्याह ।

खेत्तं चलमचलं वा, इंदमणिंदं सकोसमकोसं ।
वाघतम्मि अकोसं, अभवितजले सावए तेणे ॥

यत्रावग्रहो विचारयितुमुपक्रान्तस्तत् क्षेत्रं चलमचलं वा भवेत् । चलं व्रजिकादि अचलं ग्रामादिः । पुनरेकैकं द्विधा इन्द्रमिन्द्रकीलादियुक्तमनिन्द्रं वा तद्विपरीतम् । तत्र यदचलमनिन्द्रं वा तस्मात्सक्रोशमक्रोशं वा पश्चानुपूर्व्या । अथ तानेव भेदान् व्याचिख्यासुरिदमाह । (वाघायम्मीत्यादि) यत्र यस्यां दिशि व्याघातस्तत्रस्थमक्रोशं भवति । कः पुनर्व्याघात इति चेदत आह । अटवी तस्यां दिशि वर्त्तते (अभवेत्ति) समुद्रो नदी वा ये श्वापदा वा सिंहव्याघ्रादयस्तत्र सन्ति । स्तेना वा उपधिशरीरहरा विद्यन्ते एतैः कारणैः ग्रामादिकनिरुद्धा ग्रामा गोकुलाद्यभावादवग्रहीतव्यं किमपि तत्र नास्ति । अथ सक्रोशमाह ।

सेसे सकोसमंडल, मूलनिबंधणअणुमयंताणं ।
पुव्वट्ठिताण उग्गहो, सममंतरपल्लिगा दोण्हं ॥
शेष नाम यदनन्तरोक्तव्याघातरहितं तत्र मूलनिबन्धनं मण्डलमनुमतां सर्वतः सक्रोशं योजनमवग्रहो भवति । कथमिति चेदुच्यते । मूलग्रामादेकैकस्यां दिशि योजनार्द्धमर्द्धक्रोशेन समधिकं तावदवग्रहो भवति । स च पूर्वापराभ्यां दक्षिणोत्तराभ्यां वा कृत्वा सक्रोशं योजनं भवति । यद्वा गतिप्रत्यागतिभ्यामेकस्यामपि दिशि योजनं मन्तव्यं तत्र सक्रोशे अक्रोशे वा ये पूर्वस्थितास्तेषामवग्रहो भवति । यत्र समकमनुज्ञापितं तत् क्षेत्रं साधारणम् । अथ सवहेषु क्षेत्रेषु समकमेवाज्ञापितं ततो यदि द्वे अन्तरपल्लिके तत एकेषामेका अपरेषामप्येका । अथैकैवान्तरपल्लिका ततो द्वयोरपि साधारणः । अथ बहवस्तान्तरपल्लिकास्ततः को विधिरित्याह ।

खेत्तरसंतो दूरे, आसण्णे वा ठिताण समगं तु ।
अद्धद्धं वा दुगाई, गच्छाण साहारणा होई ॥
द्वित्रिप्रभृतिषु सवहेषु क्षेत्रेषु समकमनुज्ञाप्य स्थितानां काश्चिदन्तरपल्लिकाः क्षेत्रान्तः क्षेत्रस्याभ्यन्तरे भवन्ति (दूरेत्ति) काश्चित्तु दूरे यान्यः समुदानमूलग्रामानीयमानं क्षेत्रातिक्रान्तं भवतीति कृत्वा प्रथममालिकायां तत्रिवासिते (आसण्णेत्ति) काश्चित्पुनरासन्ने यान्यः समुदानं मूलग्रामानीयमानं क्षेत्रातिक्रान्तं न भवति ततो यावत्यस्ता अन्तरपल्लिकास्तासां सर्वासामपि अर्द्धं वा अर्द्धार्द्धं वा चतुर्भाग इत्यर्थः । वा शब्दात्त्रिभागादिकं वाद्विकादीनां द्वित्रिप्रभृतीनां गच्छानां साधारणं भवति । अथात्रैव भाष्यनोभाष्यविधिमाह ।

तणडगलछारमल्लग, संथारगभत्तपाणमादीणं ।
सव्विलं ते अस्सामी, खेत्तिय ते मोत्तु पाहुणए ।
तृणडगलक्षारमल्लकसंस्तारकभक्तपानादीनां सति विद्यमाने प्राघूर्णे लाभे क्षेत्रिका अस्वामिनः अक्षेत्रिकाणामप्येतान्याभवन्तीत्यर्थः (ते मोत्तु पाहुणएत्ति) येषां तृणादीनां क्षेत्रिकैरनुज्ञापना कृता तानि मुक्त्वा तान्यक्षेत्रिकाणां नो भवन्तीति भावः । किं पुनः क्षेत्रिकाणां भवतीत्युच्यते ।

ओहो उवग्गहो विय, सचित्तं वा वि खेत्तियस्सेते ।
मोत्तूणं पडिहारिय, संथरंतेवणाउवणा ॥
ओघोपधिरुपग्रहोपधिश्च । सचित्तं वा शैक्षादिकम् । एतानि क्षेत्रिकस्याभवन्ति । यद्यक्षेत्रिका एतेषामेकतरं गृह्णन्ति तदा प्रायश्चित्तं परं मुक्त्वा प्रातिहारिकं द्विविधमप्युपधिं न गृहस्थेभ्यो मार्गयन्तो न प्रायश्चित्तभाज इति हृदयम् । यः पुनः प्रातिहारिकस्तं न लभन्ते । अथ शीतादिना परिताप्यन्ते तत

एवमसंस्तरद्भिर्वस्त्रादेरनुज्ञापना कर्त्तव्या क्षेत्रिकैरपि संस्तरद्भिः तेषामनुज्ञा कर्त्तव्या ।

जइ पुण संथरमाणा, ण दिंति इतरे व तेसिं गएहंति ।
तिविधं आदेसो वा, तेण वि ण जाय परिहणी ॥

यदि पुनः संस्तरन्तः क्षेत्रिकाः असंस्तरन्तः सक्षेत्रिकाणां वस्त्रादिकं न प्रयच्छन्ति इतरे वा अक्षेत्रिका असंस्तरन्तोऽपि तेषां क्षेत्रिकाणामनापृच्छ्य वस्त्रमोदिका वा गृह्णन्ति ततस्त्रिविधं जघन्यमध्यमोत्कृष्टनिष्पन्नं पञ्चकमासलघुचतुर्लघुलक्षणं प्रायश्चित्तम् । सूत्रस्यादेशाद्वा नवमं तेन वस्त्रादिना जायते परिहाणिस्तन्निष्पन्नमपि तेषां प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्यक्तीकरोति ॥

जे खेत्तिया मोत्तिए देंति थागं, लब्भेति जागंतु वयं तहाणं ।
पेछंति वा गंतु असंथरम्मि, चिरं व दोएहंपि विराहणाओ ॥

ये क्षेत्रिका वयमिति कृत्वा भक्तपानादेः प्राचुर्येण लाभेऽपि अन्येषां (थाग) स्यवकाशं न प्रयच्छन्ति ततः आगन्तुकानां भजता या परिहाणिर्भवति ततस्तेषां प्रायश्चित्तम् । अथ क्षेत्रिणामसंस्तरणेऽप्यागन्तुकाः प्रेरयन्ति प्रेष्य विना तिष्ठन्ति ते चागन्तुका आदेशिकाः प्राघूर्णकास्ततश्चिरं वा प्रभूतं कालं वाशब्दादल्पं वा कालं न संस्तरणं तेषां भवेत् ततो द्वयेषामप्यागन्तुकानां वास्तव्यानां च या विराधना तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः ।

अत्थि हु वसभग्गामा, कुदेसणगरोवमासुहविहारा ।
बहुगच्छुवग्गहकरी, सामच्छेदेण वसियव्वं ।

सन्ति विद्यन्ते वृषभग्रामा इहाचार्य आत्मद्वितीयो गणावच्छेदकश्चात्मतृतीय एव पञ्चको गच्छो भवति । ईदृशास्त्रयो गच्छाः पञ्चदश जना एते यत्र ऋतुबद्धे निर्वहन्ति वर्षासु पुनः सप्तको गच्छस्तथथा आचार्य आत्मतृतीयो गणावच्छेदक आत्मचतुर्थः । ईदृशास्त्रयो गच्छाः पञ्चविंशतिजना भवन्ति । एते यत्र वर्षावासे जघन्येन निर्वहन्ति ते वृषभग्रामा उच्यन्ते ते च कीदृशा इत्याह । कुदेशस्य यन्नगरं तेनोपमा येषां ते कुदेशनगरोपमास्ते च सुखविहाराः सुलभभक्तपाना निरुपद्रवाश्च । अत एव बहूनामन्यतरोक्तप्रमाणानां त्रिप्रभृतीनां गच्छानामुपग्रहकरास्ततस्तेषु सीमाच्छेदेन बहुभिरपि गच्छैर्वस्तव्यम् । न केवलं परस्परं मत्सरो विधेय इति भावः । सीमाच्छेदो नाम साहिका ग्रामार्द्धवाटकादिविभजनम् । यथा अस्यां साहिकायां भवद्भिः पर्यटनीयम् अस्यां पुनरस्माभिरित्यादि । यद्वा ये तत्र क्षेत्रे समकं प्राप्तास्तैः समच्छेदेन वस्तव्यं यथा युष्माकं सचित्तमस्माकमचित्तम् । अथवा युष्माकमन्तः अस्माकं बहिः युष्माकं स्त्रियोऽस्माकं पुरुषा युष्माकं श्राद्धा अस्माकमश्राद्धाः । अथवा यो यल्लप्स्यते तत्तस्यैव न दातव्यम् ।

इदमेव व्याख्यानयति ॥

एक्कवीस जहण्णेणं, पुव्वट्ठिते उग्गहो इतरे ।
पल्लीपडिवसभे वा, सीमाए अंतरागामे ॥

पूर्वोक्तनीत्या वर्षासु एकविंशतिजना उपलक्षणत्वादृतुबद्धे पञ्चदश जना यत्र जघन्येन संस्तरन्ति स वृषभग्राम उच्यते । उत्कर्षतस्तु द्वयोरपि कालयोर्द्वात्रिंशत्सहस्रसंख्याको गच्छो यत्र संस्तरति स वृषभग्रामः । यत्र ये पूर्वस्थितास्तेषामवग्रह इतरे भक्तपानमात्रसंतुष्टास्तिष्ठन्ति तत्र च सीमाच्छेदो विधातव्यः । कथमित्याह (पल्लीत्यादि) युष्माभिरन्तरपल्ल्याः पर्यटनीयमस्माभिः प्रतिवृषभग्रामे प्रतिवृषभो नाम मूलग्रामाद् अर्द्धयोजने महाग्रामः । अथवा अन्तरपल्ल्याः प्रतिवृषभस्य वा अर्द्धं युष्माकमर्द्धमस्माकमेव सीमायां मूलग्रामस्य प्रतिवृषभग्रामस्य चान्तरा यो ग्रामस्तस्याप्यर्द्धं युष्माकमर्द्धमस्माकमेतबाह्यमनिन्द्रं च क्षेत्र मन्तव्यम् ।

अथाचलसेन्द्रक्षेत्रमाह ॥

इंदकीलमणोग्गहो, जत्थ य राया जहिं च पंच इमे ।
सत्थसन्तपुरोहिया, सेणावतिसत्थवाहे य ॥

इन्द्रकीलको नाम इन्द्रस्थूणा सा यत्रोत्तिष्ठति इह मातृकायास्तत्रायमवग्रहो न भवति । अनिन्द्रकीलकोऽपि यत्र राजा मूर्द्धाभिषिक्तः परिवसति (रायाजहिंपंचवत्ति) यत्र पञ्च वसन्ति । श्रेष्ठी अमात्यः पुरोहितः सेनापतिः सार्थवाहश्चेति ॥

अहण सीए व समो-सरे वा विराहणा अणुयाणे ।
एतेसु णत्थि उग्गहो, वसहीए य मग्गणं अखेत्ते ॥

अथ शीर्षकं नाम यत्र परं समुदायेन गन्तव्यं सम्यग्मार्गवहनात्तत्र मिलितानाम् समवसरणं नाम कुलसमवायो गणसमवायः संघसमवायो वा एतेषु वसतां तदवग्रहस्य मार्गणा कर्त्तव्या । अथ किमर्थमेतेष्ववग्रहो न भवतीत्युच्यते ।

बहुजणसमागते तेसु, होंति बहुगच्छमाणिवातो य ।
मा पुव्वं तु तदट्ठा-पेल्ले व अकोविया खेत्तं ॥

तेष्विन्द्रकीलकादिषु बहु प्रभूतस्य जनस्य समागमो भवति अश्वशीर्षकादिषु च बहूनां गच्छानां सन्निपातो मीलको भवति । अतः केचिदकोविदस्तादर्थं क्षेत्रमिदमस्माकमेवाभाव्यं भवत्विति कृत्वा पूर्वमन्ये इह प्रथमं समागत्य मा क्षेत्रं प्रेरयेयुरित्येतेषु भावावग्रहोऽधिक्रियते । इदमेव भावयति ।

सड्ढादर्ल त्थ उवाहिम्मि सिड्ढा,
सिड्ढे रहस्सम्मि करेज्ज गंतुं ।
एमावयंते यणमच्छरेणं,
तित्थस्स सड्ढी डुहतो वि हाणी ॥

तथेन्द्रकीलादौ श्राद्धाः केषांचिदाचार्याणामुपधिं वस्त्राद्युपकरणं दातुं सन्नास्ते च न वर्तन्ते अस्माकमिदं गृहीतुमिति भणित्वा ते निषिद्धाः ततः श्राद्धाः पृच्छेयुः प्रेषणीयान्यप्यानि वस्त्राणि किमिति न कल्प्यन्ते ततो वृत्त्याऽस्माकममूनि आभवन्तीति श्लक्ष्णं तेषां पुरतः कथयितव्यम् । तदेव विशिनष्टि कथिते सति ते श्राद्धा मन्युमप्रीतिं वा कुर्वीरन् । ये च सलब्धयो धर्मकथादिलब्धिसंपन्नास्ते मत्सरिणः वयं किमपि तावन्न लप्स्यामहे अतः किमर्थमेव प्रयासं कुर्म इत्यनुशयेन तीर्थे धर्मकथादिना न प्रभावयन्ति । ततो (डुहतो विहाणित्ति) द्वयोरपि सचित्ताचित्तलाभयोः परिहाणिर्भवति । तत्र सचित्तहानिः कोऽपि देशविरतिं वा न प्रतिपद्यते । अचित्तहानिराहारवस्त्रादि तथाविधं न प्राप्यते अत एव तेषु नावग्रहो भवति । वसतिं प्रतीत्य पुनरेतेष्वपि भवति कथमित्याह ।

एगालयट्ठियाणं, तु मग्गणा दूरिमग्गणा नत्थि ।
आसण्णे तुट्ठियाणं, तत्थ इमा मग्गणा होइ ॥

एकालय एकस्यां वसतौ स्थितानामवग्रहस्य मार्गणा भवति तत्र य पूर्वं तस्यां वसतौ स्थितस्तस्य सचित्तमचित्तं वा आभवति असमकं तौ बहवः स्थितास्तदा साधारणा सा वसतिः । ये तु तस्या वसतेर्दूरे स्थितास्तेषामवग्रह-

स्य मार्गणा नास्ति । ये पुनरासन्ने स्थितास्तेषामियमवग्रहस्य मार्गणा भवति ।

सज्झायकालकाइय-निल्लेवण भत्तणा असति अंतो ।
वसहिगमो पेल्लंते, वसहा पुण जसेसु पुण ॥

अन्तः प्रतिश्रयस्याभ्यन्तरे यदि स्वाध्यायभूमेः कायिकभूमेः पात्रनिर्लेपनभूमेरासन स्थानादिनिमित्तमुपवेशन तद्भूमे- श्चाभावस्ततो या बहिः स्वाध्यायभूमिप्रभृतयस्ताः समकमनुज्ञापिताः साधारणाः । अथैके पूर्वस्थिता अपरे च पश्चादागताः पूर्वस्थितानामवग्रहः पश्चादागतास्तु पूर्वस्थितानननुज्ञापयन्ति यदि ते प्रेर्यमाणा अवकाशेन जानन्ति इतरे च ते तमप्रेर्यमाणं प्रेषयन्ति ततो वसतिविषयेऽपि स एव प्रायश्चित्तादिगमो भवति। यः पूर्वं क्षेत्र प्रेरयतामुपलक्षणत्वादननुज्ञापयितुं चोक्तः वसतिः पुनरिह या समापूर्णा श्रमणराजकुला तस्याः प्रेरणायां दोषाः मन्तव्याः । उक्तमवग्रहक्षेत्रम् ॥

अथ चलमाह ।

वइगामत्थो सेणा, संवट्टे चउविहं चलं खेत्तं ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

व्रजिकार्थसेनासंवर्त्त इति चतुर्विधं चलक्षेत्रम् । एतेषां चतुर्णामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपूर्व्या प्रतिज्ञातमेव करोति ।

जेणोग्गहिता वइगा, मागंतह दूहजंभिपरिभोगा ।
समवइगपुव्वउग्गह माहारण जं व णीसाए ॥

येन साधुना सा व्रजिका पूर्वमवगृहीता स व्रजिकावग्रहस्य स्वामी भवति। तस्य व्रजिकावग्रहस्य किं प्रमाणमिति चिन्तायां नैगमपक्षाश्रिता इमे आदेशाः । तत्रैक आचार्यदेशीयो भणति यावत्प्रमाण भुजागं गावश्चरितुं व्रजन्ति तावान् व्रजिकाया अवग्रहः । अपरो ब्रवीति । (तइत्ति) तीर्थं जलपानस्थानमित्येकोऽर्थस्तत्र जलपानार्थं गावो यावद्गच्छन्ति अन्य. प्राह (दुहत्ति) यत्रोपस्थाने गावो दुह्यन्ति। आचार्य प्राह त्रयोऽप्येते अनादेशाःअयन्तु समीचीन आदेश. (भंडपरिभोगेत्ति)यावति भूभागे भण्डिका गन्त्र्यस्तिष्ठन्ति यावच्च व्रजिकायाः समीपे गोभि परिभुक्तं एतावद्व्रजिकावग्रहस्य प्रमाण मन्तव्यम् । तत्र च यदि समक द्वौ साधुवर्गावेकस्यां व्रजिकायां स्थितौ तदा साधारणा सा व्रजिका । अथैकः पूर्वं स्थितो द्वितीयस्तु व्रजिकान्तरेण सम पश्चादायातस्तत. पूर्वस्यावग्रहो भवति। अथ परस्परनिश्रया स्थितस्तत.साधारण तत् क्षेत्रम्। यस्याश्च व्रजिकाया निश्रया द्वितीया व्रजिका स्थिता तस्यां ये साधवस्तेषामवग्रह आभवतीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुरगादेशत्रयं निरस्याचार्यो न तं तावद्विभावयति ।

णिगोयरे णोवणगोणियाणं, णोवद्धदुज्झेति व जत्थ गावे ।
अभत्थगणोदिसु जत्थ खुण्णं,सउग्गहो सेसमणुग्गहो तु ॥

न गोचरो गवां चारिस्थानं नैव च गवां यत्र पानं नैव यत्रोपस्थाने गावो दुह्यन्ते किंतु व्रजिकाया अटव्यामेव गवादिभि र्यावत्क्षुण्णम्। आदि शब्दाद्गन्त्रीभिश्च यावदाक्रान्तं तावानवग्रहः शेषं तु गोचरादिस्थान सर्वमप्यनवग्रह' ।

जइ समगं दो वइगा-ट्ठितानुसाधारणं ततो खेत्तं ।
अणवइगापसहिता, तत्थेवभ्रोट्ठित्ता अप्पत्ता ॥

यदि समकमेकस्यां व्रजिकायां द्वौ गच्छौ स्थितौ ततः साधारणं तत्क्षेत्रम्। अथ कान्तिव्रजिका पूर्वं साधुभिरवगृहीता- तत्रान्ये साधवो ऽन्यया व्रजिकया सहिता. पश्चादागतास्तत्र च व्रजिकायां स्थितास्तदा ते पश्चादागता अप्रभवः पूर्वस्थिता एव स्वामिन इति ।

अन्नोन्नं णीसाए,ठिताण साधारणं तु दोण्हं पि ।
णीसट्ठिताए अपभे, तत्थ वत्थवात्थववसंता ।

अथ पूर्वस्थिताः पश्चादागता अन्योन्य परस्परं निश्रया स्थितास्तेषां द्वयेषामपि साधारण क्षेत्रम्। अथ पूर्वस्या व्रजिकाया निश्रया स्थितायाः आगन्तुकव्रजिकायां ये साधवो वर्तन्ते ते ऽत्र तव अन्यत्र ये वसन्तो ऽवग्रहस्याप्रभवो न स्वामिन' किमर्थमन्यस्या व्रजिकाया निश्रां सा व्रजिका प्रतिपद्यते। उच्यते

दुग्गाट्ठिआवीरअहिट्ठिए वा, करेण वाणेव ठिएहिं पुव्वं ।
जएण तेयस्सव कारणेणं, वपंतगाणं खलु होइ णिस्सा ॥

दुर्गे स्तेनपरचक्राद्यगम्यस्थाने स्थिता साऽन्या व्रजिका। यद्वा वीरेण स्वामिना अधिष्ठिता अथवा तैः प्रथमव्रजिकासन्निधिभिर्गोकुलिकैस्तत्र निपान जलपानस्थान कृतमस्ति ततो यस्य वा कारणेन तस्यां व्रजिकायां तिष्ठतामपरेषां गोकुलिकानां निश्रा भवति एवमादिका व्रजिका येन कारणेन पूर्वस्या निश्रा प्रतिपद्यते तदभिहितम् । अथ गन्तुकायाः निश्रा यथा पूर्वं प्रतिपद्यते तथा दर्शयति ।

भयेण उत्थेउमणा, वइगा अण्णाय तत्थ भइ पज्जा ।
पच्छापत्ते निस्सा, जे पुव्वट्ठियाण ते पहुणे ॥

काचिद् व्रजिका भयेनोत्थातुमना प्रचलितुकामा अन्या च नवा व्रजिका यदि तत्रागच्छेत्सा च बलवता परिग्रहीता ततः पश्चात्प्राप्ताया अपि तस्या निश्रा पूर्वं प्रतिपद्यते ततो ये पूर्वस्थिताः साधवस्ते अवग्रहस्य न प्रभवः किंतु पश्चात्प्राप्ता इति । अथ व्रजिकाया एव प्रकारान्तरमाह ।

वइयाए उट्ठियाए, अत्थंते अहव होज्ज गंतव्वं ।
अण्णे तत्थ पविट्ठा, तम्मिव अण्णम्मि वा होतु ॥

यस्यां व्रजिकायां साधव स्थिताः । अन्या च तत्रागन्तुका मा तैः श्रुता तत उत्थितायामपि व्रजिकायां तिष्ठताम्। अथवा ग्लानत्वं कस्यापि साधोर्भवेद् ततस्तत्रैव स्थितानामन्ये गोकुलिकाः साधुभिः सहितास्तत्र व्रजिकास्थाने प्रविष्टास्ते च तत्र अन्यत्र तीर्थे गा. पानीय पातुं ययुरन्यत्र वा ततो ऽत्रावग्रहमार्गणा क्रियते ।

जइ वा कुडीपकालिसु, पुव्विल्लकताइसु ते ठिता संता ।
आणम्मिवि पज्जेता, तुहे अस्सामिणो होंति ॥

वा शब्दः प्रकारान्तरद्योतकः यदि ते आगन्तुकाः पूर्वगोकुलिककृतासु कुटीपकालिकासु स्थितास्ततो ऽन्यस्मिन्नपि तीर्थे गाः पाययन्तोऽस्वामिनो भवन्ति ततो यदि ते पूर्वस्थिताः साधवो निष्कारणिकास्तदा न प्रभव' । अथ ग्लानादिकारणे स्थितास्तदा ते स्वामिनो नागन्तुकास्तत्रावग्रहस्य प्रभव'

अन्नत्थ वावि काउं, पाइंति कडट्ठ पज्जइ निव्वाणो ।
ते खलु न हुंति पहुणो, स भवे तहे पहू हुंति ॥

यद्वा पूर्वकृता. कुटीपकालिका वर्जयित्वा अन्यत्र स्थाने स्थिता आगान्तुका गोकुलिका यदि पूर्वैः कृते निपाते गाः पाययन्ति तदा ते आगन्तुकाः साधवो न प्रभवो भवन्ति । यदि तु स्वभवे तीर्थे स्वाभाविके निपाते पाययन्ति तदा आगन्तुकाः साधव. प्रभव इति ।

एमेव मासकप्पे, अतीरिए वट्टिया य पढिपरा ।
पुव्विल्ला हुंति पहू-पुण्णे हिंडिए न लहंति ॥

एवमेव अनिरिक्ते असंपूर्णे मासकल्पे वर्तिना या पूर्वप्रतिष्ठ ता तत्र प्राभृत तत पूर्वस्थसाधव एव प्रभव । अथ मासकल्प पूर्वस्ते च दृष्ट्वा प्रत्यागता अपि तत्रैव स्थितास्ततो नावग्रह लभन्ते पश्चादागता एव तत्र प्रभव इति ।

फासुगगोयरभूमी, उच्चारे चेव वसहीए ।
इहावि लभंते च, तदजावे पच्छ जे पत्ता ॥

अथ तत्र प्रासुका गोचरभूमि उच्चारभूमिश्च विद्यते वसतिश्च लभ्या प्राप्यते । अन्यत्र तत्र तथाविधनास्ति ततो दृष्ट्वा अपि च गमनपरेकयुक्त्वा लभन्ते तदभावे गमनपरेककारणाभावे ये पश्चादागतास्त एव लभन्ते । गतं ग्रामिकाद्वारम् ।

अथ सार्थद्वारमाह ।

जेण अहिगो सत्थो, जेण य सत्थ होइ समदोण्हंति ।
वा दुवा पविसत्था, पुव्वट्ठियसाहारणं जं च ॥

येन साधुना सार्थः पूर्वं गृहीतो येन वा सार्थवाहः पूर्वमनुज्ञापितस्तस्यावग्रह आभवति । अथ समकमनुज्ञापितस्ततो द्वयोरप्यवग्रहः यावन्त्वात्र प्रति सार्थी मीलनार्थमर्वाक्श्चुतरास्तत्र समागत्य मिलन्ति तेषु च साधवस्ते पूर्वस्थितानामुपसंपन्ना भवन्ति । यत्र परस्परमिश्रया द्वौ सार्थौ तिष्ठतस्तत साधारण मन्तव्यमिति । एतदेव स्पष्टयति ।

सत्थे महप्पधाणा, एक्केणक्केण सत्थवाहेउ ।
ओपुच्छियावि दिन्नो, दोण्हवि मिलिया व एगत्था ॥

सार्थे ये केऽपि अथवा प्रधाना पुरुषास्ते एकेनानुज्ञापिता एकेन साधुना सार्थवाह आदिष्टस्ताभ्यां चोभयोरपि वितीर्णमनुज्ञापित ततो येन दत्तं नातिक्रम्यते तेन यस्मै प्रदत्त तस्यावग्रह ॥ अथ द्वावप्यनतिक्रमणीयौ ततो द्वयोरपि साधारण क्षेत्रम् । अथ द्वावप्येकत्र मिलितौ अनुज्ञापितौ ततो येन पूर्वमनुज्ञापितस्तस्यावग्रह इति ।

ईतं महल्लमत्थं, महुरा गोपामिच्छएण तो पत्तुणो ।
तुरियं वा आधावति, मएण एमेव अस्सामी ॥

महल्ल बृहत्तरं कमपि सार्थमागच्छन्त दहरको लघुतर । सार्थमतिक्रान्ते ततो ये लघुतरसार्थवासिन साधवस्ते नावग्रहस्य प्रभव । यो वा सार्थो भयेन त्वरितं बृहत्तरसार्थं मिलनाय धावति तत्रापि ये साधवस्ते एवमेव स्वामिन ।बृहत्तरवासिन एवावग्रहस्य स्वामिन इति भाव ।

अह वीमज्झेगिणादी, दुग्गं वा एत्थ दोवि वमिऊणं ।
वासे हामो पजाए, णिस्सा साधारणं कुणइ ॥

द्वौ सार्थमेकत्र मिलितौ परस्परमित्थ निश्रा कुरुते यथा यदिदमटवीमध्ये नदी दुर्गं वा विद्यते अत्र द्वयेऽपि जना रात्रा वुषित्वा प्रजाते चलयिष्याम । पुरतो गमिष्याम इति परस्पर साधारणां निश्रां यत्र कुरुतस्तत्र सचित्तादिकं सर्वमपि साधारणम् । गत सार्थद्वारम् । अथ सेनाद्वारमाह ।

सेणाए जत्थ राया, अराणे अहो जत्थ पविट्ठो ।
सो सेसम्मि उग्गहो, जो उ वज्झा य सो इहइं ॥

यत्र यस्यां सेनायां राजा भवति तत्रावग्रहो न भवति यत्र वा ग्रामादौ क्षेत्रे स राजा प्रविष्टस्तत्र यद्यप्यन्ये साधव पूर्वं स्थिता सन्ति तथापि यावन्तं काल स तत्रास्ते तावदवग्रह ॥ शेषं नाम यत्र ग्रामादौ राजा न प्रविष्टो यो वा शून्यसेनो राजक इन्द्रयंल्लग्ननवग्रहो भवति परं तत्र ये प्रविष्टास्तेषां तत्रकास इहापि नन्तव्यः नते तेन ग्राह्यः ।

अथ संवर्तद्वारमाह ।

नागर गो संवट्ठो, अण्णोणइ जत्थ व म विट्ठो सो ।
सेनम्मि उग्गहो जो, गामाइ तत्थम्मि सो इहइं ॥

नगरको नगरसत्को संवर्तोऽवग्रहो न तत्रावग्रहो भवति । यत्र वा ग्रामादौ स नगरकः संवर्ते प्रविष्टस्तत्र यि नावग्रहः । शेषे प्रत्येकसंवर्त्तस्तत्रावग्रहो भवति परं द तत्र सार्थे ग्राम उक्त स एवेह द्रष्टव्यः । बृ० ३ उ० ।

(१६) क्षेत्रप्रत्यागतसत्क एव तत्र अपरे तर्हि स एवावग्रहः ।

(सूत्रम्) जद्दिवसं समणे निग्गंथा सिज्जासंथारयं विप्पजहंति । तद्दिवसं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छिज्जा सव्वे व उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमविउग्गहो ॥

अस्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ।

उग्गहए व ववगतो, सागारिय उवउझा उ साधम्मी ।
राहितं व होइ लियं, केवतिकाले स संबंधो ॥

पूर्वसूत्रे तावदवग्रह एव प्रकृत प्रस्तुतो वर्त्तते । "दोवेवि अणुण्णवित्ता" इति वचनात् । इदमपि अक्षातुरम्भवग्रहविषयम् । यद्वा पूर्वसूत्रद्वये सागारिकावग्रह उक्त इह तु सागारिकावग्रहादनन्तर साधर्मिकावग्रहः प्रतिपाद्यते । अथवा पूर्वसूत्रेषु संस्तारक प्रत्यर्प्य विहारः कर्त्तव्य इत्युक्तमत्र तु विहारे कृते तैः साधुभिर्विहरितमपि तत्क्षेत्रं कियन्तं कालमवग्रहयुक्तं भवतीति निरूप्यते एष सबन्ध । अनेनायातस्यास्य व्याख्या(जद्दिवसति)प्राकृतत्वात्सप्तम्यर्थे द्वितीया ततो यस्मिन्दिवसे श्रमणा निर्ग्रन्थाः शय्या च वसतिः संस्तारकश्च । तृणफलकात्मक शय्यासंस्तारकम् अत्र शय्याग्रहणेन ऋतुबद्धकाल सूचित संस्तारकग्रहणेन तु वर्षाकालः । अथ कारणजाते ऋतुबद्धो य संस्तारको गृह्यते इति कृत्वा संस्तारकग्रहणेन द्वावपि गृहीतौ तत मासकल्पे वर्षावासे वा पूर्वं शय्या संस्तारक वा यस्मिन् दिवसे पूर्वस्थिताः साधवो विप्रजहति परित्यजन्ति तद्दिवस एवापरे श्रमणा निर्ग्रन्थास्तत्क्षेत्रे हव्व शीघ्रमागच्छेयु तत क्षेत्रेऽवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति । किमुक्त भवति । य एव तत क्षेत्रान्निर्गतास्तेषामेवावग्रहेण तत्क्षेत्र यस्तु तद्दिवसमन्ये आगतास्ते क्षेत्रोपसंपन्ना इति कृत्वा यत्तत्र सचित्तादिक तत्पूर्वस्थितानामाजाव्य कियन्तं काल यावदित्याह (अहालंदमविगाहे) इह यस्यां वेलायां ते साधवो निर्गतास्तावती वेलां यावद् द्वितीयेऽप्यह्नि तेषामेवावग्रहो भवतीति वक्ष्यते । यतो यथालन्दमिहाग्र्यपौरुषीप्रमाण मध्यम गृह्यते एतावन्तमपि कालं तदीय एवावग्रहे तत्क्षेत्रम् अतो यद्यागन्तुकास्तत्र सचित्तादिग्रहण कुर्वन्ति तदा साधर्मिका स्तैन्यप्रत्यय प्रायश्चित्तमापद्यन्ते । अत्र तु सचित्तेनाधिकार इति सूत्रार्थ । अथ निर्युक्तिविस्तर । तत्र सचित्तावग्रहे शैक्षविषय इति कृत्वा प्रथमतस्तदुत्पत्ति दर्शयति ।

सुत्तत्थतदुभयाविसारए य धम्मकहिवाई ।
कालदुआम्मि व संते, उवसंतो स अणगामगाणो ॥

कालधर्मे ऋतुबद्धवर्षावासलक्षणे कस्मिंश्चित्क्षेत्रे वसता स्वगामजनसमक्षयोजनाभ्यन्तरवर्त्यन्यग्रामजनश्चोपदानाश्रितरू

कथमित्याह । सूत्रमर्थस्तदुभयविशारद आचार्यः सातिशय प्रवचनव्याख्यान करोति । क्षपको मासक्षपणादितपस्तप्यतो धर्मकथाक्षीराश्रवादिलब्धिसंपन्नतया वैराग्यजननीं धर्मकथां विधत्ते । वादी परवादिन निरुत्तरीकरोति । एवमादिभिः प्रभावकैः स्वग्रामीणोऽन्यग्रामीणश्च भूयान् जातः प्रव्रज्यायां परिणत. कृत' ॥

नीरोगेण सिवेण य, वासो वासासु णिग्गया साहू ।
अन्ने वि य विहरंता, तं चेवय आगता खित्तं ॥

नीरोगेण ग्लान्यभावेन शिवेन च राजादौ स्वाद्युपप्लवाभावेन वर्षावास कृत्वा ते साधवो निर्गताः। इह वर्षावासे भूयान् काल एकत्र स्थीयते तत. प्रभूतलोकस्योपशमो भवतीत्यभि प्रायेण वर्षावासग्रहणं कृतम्। अन्यथा ऋतुबद्धेऽपि मासकल्पा नन्तरमेव विहार. संभवति एव ते ततः क्षेत्रान्निर्गता' अन्ये च साधवो विहरन्तस्तदेव क्षेत्रमागतास्तत्रावग्रहचिन्तां चिकीर्षुराह ।

खित्तोग्गहप्पमाणं, तद्दिवसं केति के तहोरत्तं ।
जं वेला णिग्गयाणं, तं वेलं अण्णदिवसम्मि ॥

इह केचिदाचार्याः क्षेत्रावग्रहस्य कालप्रमाण ब्रुवते यस्मिन्दिवसे ते निर्गतास्तमेवैकं दिवसमवग्रहस्तत ऊर्ध्वं रात्राव-धग्रहो व्यवच्छिद्यते । केचित्तु भणन्ति अहोरात्रमवग्रहः । द्वितीये ऽह्नि सूर्योदयेऽवग्रहो व्यवच्छिद्यत इति भाव' । सूरिराह द्वावप्येतावनादेशौ अथ पुनरादेशो यस्यां वेलायां निर्गतास्तस्यामेव वेलायां यावदन्यस्मिन् दिवसे अवग्रहो भवति ततः पर व्यवच्छिद्यते इत्थ काल्त प्रमाणमुक्तम्। क्षेत्रतस्तु सर्वतः क्रोशयोजनमवग्रहस्तत ऊर्ध्वमनवग्रह इति ।

खित्तम्मि य वसहीय य,उग्गहो तहिँ सिक्खमग्गणा होइ।
ते वि य पुरिसा दुविहा, रूवं जाणं अजाणं व ॥

इहावग्रह. क्षेत्रे वा भवेद् वा वसतौ वा यदिन्द्रकीलादिवर्जित ग्रामनगरादि तदिह क्षेत्र मन्तव्य तत्रावग्रह प्रतीत्य शैक्षमार्गणा कर्त्तव्या । कस्य भवति कस्य वा नेति विचारयितव्यमित्यर्थः । यत्पुनरिन्द्रकीलकादियुक्त तदवग्रहयोग्य क्षेत्र न भवतीत्यक्षेत्रमभिधीयते तत्र वसतिविषया शैक्षमार्गणा भवति । सा चोपरिष्टात्करिष्यते । क्षेत्रविषयां तावत्करोति (ते वि य इत्यादि) ये पुरुषास्तत्र क्षेत्रे प्रव्रज्यां ग्रहीतुमायातास्ते द्विविधाः एके रूप जानन्तो परे अजानन्त. । इदमेव व्यक्तीकरोति ।

जाणंता जानंता, चउव्विहा तत्थ होंति जाणंता ।
उभयं रूपं सद्दं, चउत्थओ होइ जसकित्ती ॥

जानन्तोऽजानन्तश्चेति शैक्षा द्विविधाः। तत्र जानन्तस्तावच्चतुर्विधास्तद्यथा एक शैक्षो विवक्षितक्षेत्रस्थितस्याचार्यादि-रुभय रूप शब्दं च जानाति । धर्मकथाश्रवणार्थे शिष्य समागतो रूपेण च तमुपलक्षयतीत्यर्थः । द्वितीयो रूप जानाति न शब्दम् तृतीय शब्द न तद्रूप चतुर्थश्च पुनर्यशःकीर्तिं जानाति यश सर्वदिग्गामिनी प्रसिद्धिः सैवैकदिग्गामिनी कीर्त्तिः यश उपलक्षिता कीर्त्तिर्यशः कीर्त्तिरिति समास । यस्तु रूपशब्दयशःकीर्त्तीनामेकमपि न जानाति सोऽजानान उच्यते अथ द्वितीयमङ्गमार्गं कृत्वा यथाक्रममभूनेव भङ्गान् व्याचष्टे ।

उच्चारचेतिमाति सु, पासति रूप विणिग्गयस्सागो ।
रत्ति उ चितर्णतो , कालगमादी मुणति सत्तं ॥

चाउत्थो जसकित्तिं, सुणइ सगेमेव सागिहवासी वा ।
उभयं रूवं सद्दं, किंत्तिं व ण जाणते चरिमो ॥

उच्चारभूमिचैत्यवन्दनादिषु कार्येषु विनिर्गतस्याचार्याद रूप पश्यति चैको द्वितीयः शैक्षः पश्यति न पुन स्वरेण जानीते उपाश्रये तस्यानागमनात् । तृतीयस्तु शैक्षः कर्पणादिकर्षक कृषीवलस्तत्प्रभृतिकः सकलमपि दिवस क्षेत्रादौ स्थित्वा रात्रौ प्रदोषे गृहमुपागच्छन् प्रभाते च भूयोऽपि निर्गच्छेत्। धर्मकथायांप्रवर्तते न तु रूपमवलोकते चतुर्थस्तु शैक्षः स्वग्राम वासी वा दूरस्थः सन् तद्रूप पश्यति न च धर्मकथा दिशब्द शृणोति किन्तु लोकमुखेन तेषामाचार्यादीनां यश कीर्तिं शृणोति । यस्तु चरमोऽजानानः शैक्षः स रूपशब्दात्मकमुभय कीर्तिं च न जानाति पर गृहवासनिर्विण्णतया प्रव्रज्यां ग्रहीतुमायातः । वास्तव्यशैक्षः पञ्चविध उक्तः ।

वायाइउओ ति एवं, पंचविहो आणुपुव्वीए ।
एएसिं संहाणं, पत्तेयं मग्गणा इणमो ॥

वाचाहतो नाम आगन्तुकः शैक्षः सोऽप्येवमेव तस्य शैक्षवत्पञ्चविध आनुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या वक्तव्य । अथैतेषा द्शानामपि शैक्षाणां प्रत्येक पृथक् २ इयमेतेषु द्वारेषु मार्गणादि वारणा भवति तान्येव द्वाराण्यभिधित्सुः श्लोकचतुष्टयमाह ।

अव्वाघाए पुणो होइ, जावज्जीवपराजिए ।
वाघाओ संपए वावि, उड्ढिओ विहरंतिते ॥
पढमे विय दिवसे तु, कहकप्पो उ जाणते ।
जाणाविए कहं कप्पो, पच्छन्ने तहकेविया ॥
उत्ताअणुकए यावि, कहं कप्पो णिधारणे ।
एगगामे अभिच्छंते, कहं कप्पो विहिज्जते ॥
दुविहा मग्गणा सीसे, एगपिहा य पडिच्छए ।
पडिसेहियवच्चंते, कहं कप्पो विहिज्जइ ॥

न विद्यते व्याघात प्रव्रज्याविघ्नो यस्यासा अव्याघातः शैक्षपूर्वसाधुषु क्षेत्रान्निर्गतेष्वपि प्रव्रज्यां गृह्णाति न पुनः कालक्षेप करोतीति भाव (पुणोहोइत्ति) पुनर्भूयोऽपि यदा किलत साधवः समायास्यन्ति तदा प्रव्रजिष्यामीति कश्चित् शैक्षो ब्रूयात् (जावज्जीवपराजिएत्ति) यदा यदा अह प्रव्रजितुम भिलषामि तदा २ प्रवैर्विघ्नैरुत्थितैर्मानैर्यावज्जीवमहं पराजित भव एव मे सांप्रतमपि व्याघात उत्थितो यदेवं साधवो विप्रव एव मे सांप्रतमपि व्याघात उत्थितो यदेवं साधवो विहार कृतवन्त इति कश्चिद् ब्रूयात् । एषां शैक्षाणामेकतरे प्रथमद्वितीयदिवसयो प्रव्रजितुमुपस्थिते ज्ञायके कथचन प्रकारेण कल्प पूर्वसाधुसमीपे प्रेषणादिको विधिर्विधीयत तथा वास्तव्ये वाचनाहते वा त्वमस्माकं न भवसीति ज्ञापिते कथ कल्पो भवेत्। ऋजुर्नाम य आचार्यादिरेतान् शैक्षान् पूर्वसाधुसमीपे प्रहिणोति तद्विपरीतो अनृजु । एतयोश्चिन्ता कर्त्तव्या । अभिधारणमेकमनेकान् वा साधून् सम्यगाधाय शैक्षस्य गमनं तत्र कथमाभाव्यानाभाव्यता क्रियते (एगगामेत्ति) यत्र ग्रामे कैर्मिका स्थितास्तत्रैव केनापि धर्मकथिना काऽपि मिथ्यादृष्टिरुपशमित स कस्याभवति (अइच्छंतेत्ति) कामप्याचार्यमभिधार्यातिक्रामति विवक्षितक्षेत्रमतीत्याभतो गच्छति शैक्षे कथ कल्पो विधीयते । तथा शिष्ये शिष्यविषया द्विधा अज्ञातके शैक्षके द्विप्रकारा मार्गणा भवति प्रतीच्छके च एकविधा केवलमज्ञातक विषया मार्गणा (पडिसहियव-

च्छेतत्ति) भगवता प्रतिषिद्धज्ञानप्रतिचारणाव्यापृतैः शैक्षो न प्रव्राजनीयो ये तु तं प्रव्राज्यान्यत्र प्रेषयन्ति तैः प्रेषिते तस्मिन् गच्छान्तरं प्रव्रजति कथं कल्पो विधीयते । इत्येतत्सर्वं निरूपणीयम्। तत्र सगारः सकेतं स दत्तो यस्य शैक्षस्य स सगारदत्तः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात्क्तान्तस्य परनिपातः। तस्मिन्नपि कथं कल्पो विधीयते । इत्येतत्सर्वं निरूपणीयमिति द्वारश्लोकचतुष्टयसमासार्थः । अथ विस्तरार्थं विभणिषुः प्रथमतो ये पूर्वमुभयज्ञादयः पुरुषा उक्तास्तद्विषयवक्ष्यमाणं प्रेषणभेदसंग्रहायाह ।

चत्तारि णवगजाणं-तगम्मि जाणादिए वि चत्तारि ।
अभिधारणम्मि एए, खित्तम्मि विपरिणया वा वि ॥

यः पूर्वमुभयज्ञरूपज्ञादिभेदाच्चतुर्धा ज्ञापक उक्तस्तत्र प्रत्येकं चत्वारो नवकाः प्रेषणनवप्रकाररूपा भवन्ति तथा यो ऽज्ञानान् सन् साधुभिस्त्वमस्माकं न भवसि किंतु पूर्वसाधूनामित्येव ज्ञापितः तत्रापि चत्वारो नवकाः । अभिधारणं नाम मनसि करणं ततः क्षेत्रिकं मनसिकृत्य यद्येते अव्याघातादय आगताः तदा विपरिणता अपि क्षेत्रस्वामिन एव भोग्या इति संग्रहगाथासमासार्थः । अथैनामेव विवरीषुरव्याघातद्वारमङ्गीकृत्य तावदाह ।

पियमप्पियसब्भावे, दट्ठुं पुच्छंति भावसाहंति ।
कुत्थगता ते भगवं, पुट्ठब्वे भणंति किं तेहिं ॥

क्षेत्रिकेषु निर्गतेषु यः साधूभयज्ञः शैक्षः सन् प्रव्रजामीत्यभिप्रायेणागतो यावदागन्तुकान् साधून् पश्यति ततस्ते साधवस्तस्य प्रियमप्रियं वा भावं प्रहसितमुखतया दीनमुखतया वा दृष्ट्वा पृच्छन्ति किमेवं प्रहृष्टवदनश्चिन्तापरो वा पश्यसि एवं दृष्ट्वा तेन स्वरूपे कथिते सति (साहति) सद्भावं कथयन्ति यथागतास्ते अन्यविहारेणेति समाख्यस्य यानेव पृच्छेत् कुत्र गतास्ते भगवन्तः एवं पृष्टाः सन्तो भणन्ति किं तैर्भवतः प्रयोजनम् स प्राह—

पव्वइहिंति य ˘ ˘णते, अनुगच्छगया वयंति दिक्खेओ ।
तेसि समीवं णेमो, णयवाहण ते नयं सोयं ॥

प्रव्राजिष्याम्यहमिति तेन भणिते साधवो वदन्ति ते क्षेत्रिका अमुकत्र ग्रामादौ गता वयं भवन्तं दीक्षयित्वा प्रव्राज्य तेषां समीपं नयामः । स च तकमनन्तरोक्तं वचनं तव नैव व्याहन्ति न विकुट्टयति तथेति प्रतिपद्यते इत्यर्थः एषोऽव्याघात उच्यते ।

संघाडग एगेणं, पंथत्रपमेव मुंडिए तिन्नि ।
तरुणेमज्झेथेरे, एक्केक्के तिन्नि नव एते ॥

ततः साधवस्तं प्रव्राज्य संघाटकेन सह क्षेत्रिकाणामन्तिकं प्रेषयन्ति। अथ संघाटको न पूर्यते तत एकं साधुं सहायं दत्त्वा चालयन्ति तस्याप्यभावे एकाकिनमपि विसर्जयन्ति परं पन्थानमुपदिशेयुः । यतः तरुणस्य त्रयः प्रकाराः मध्यमस्थविरयोरप्येवमेव प्रत्येकं त्रयः एते नव भवन्ति एष प्रथमो नवकः ।

पढमदिणेसग्गामे, एक्को णवगो वितिज्जए वितिओ ।
एमेव परग्गामे, पढमे वितिए य जे णवगा ॥

एष एकः प्रथमो नवकः प्रथमदिने स्वग्रामे प्रव्राज्य प्रेषयतां मन्तव्यः । द्वितीये दिवसे एवमेव द्वितीयो नवकः एवं ग्रामे द्वौ नवकौ उक्तौ परग्रामेऽप्येवमेव प्रथमद्वितीयदिवसयोर्द्वौ नवकौ एवमेते चत्वारो नवकाः मुण्डितं प्रेषयतां भवन्ति ।

एमेव य मुंडियस्स वि, चउरो नवगा हवंति कायव्वा ।
एमेव य इत्थीण वि, णवगाण चउक्कगा दुन्नि ॥

एवमेव वा मुण्डितस्यापि प्रेष्यमाणस्य चत्वारो नवकाः कर्तव्या भवन्ति एवमेते द्वे नवकचतुष्टये पुरुषाणामुक्ते स्त्रीणामप्येवमेव द्वौ नवकानां चतुष्कौ संघाटकात्मद्वितीयादिभिः प्रकारैः कर्तव्यौ । अथ क्षेत्रिकाणामन्तिके न प्रेषयन्ति किंतु स्वयमेव स्वीकुर्वन्ति ततश्चत्वारो गुरुकाः ।

अथ किमर्थममुण्डितं प्रेषयन्तीत्युच्यते ।

सागारियसंकाए, णिच्छति घिच्छंति वा सयं मासे ।
तत्थ अड्ड पुणरवि, पच्छिह ममुंडितो एवं ॥

सागारिकाः सज्ञातकास्तेषां शङ्कया माममी उपप्राजयेयुरिति बुद्ध्या स्वग्रामे नेच्छति स शैक्षः प्रव्रजितुम्। यद्वा अमी साधवः प्रव्राजितं न मा ग्रहीष्यन्ति यदि च तान् साधून् न द्रक्ष्यामि ततः पुनरपि अत्रैव प्रत्येष्यामि प्रत्यागमनं करिष्ये इति बुद्ध्या नागन्तुकैरात्मानं मुण्डापयति एवममुण्डितं प्रेषयन्ति एतत् तावदुभयज्ञविषयो विधिरुक्तः ।

अथ रूपज्ञादिविषयं तमेवातिदिशन्नाह ।

एमेव य णवगकमो, सद्दं रूवं च होइ जाणंतो ।
जो पुण किंचि जाणाति, ण ते वयं सिस्सते तस्स ॥

एष एव नवकक्रमः शब्दं रूपं च जानाति शैक्षे वक्तव्यः शब्दमेव रूपमेव इत्यर्थः । यः पुनः शैक्षः कीर्तिमेव जानाति न रूपं न वा शब्दं तस्य शिष्यत्वे निवेद्यते ते वयं न भवामो येषां सकाशे भवान् प्रव्रजितुमायात इति ततो ब्रूयात् ।

किं न व कप्पइ तुब्भे, दिक्खेउं तोसि तो न अम्हाणं ।
तत्थ वि सो चेव गमो, णवगाणं जो पुरा भणितो ॥

किंवा युष्माकं दीक्षयितुं न कल्प्यते ततः साधुभिर्वक्तव्यं तेषामेव त्वमाभवसि नास्माकमेवमुक्ते यद्यसौ भणति यद्येवं तर्हि मां प्रव्राज्य तत्र प्रेषयत अमुण्डितं वा विसर्जयत ततस्तत्रापि स एव गमः प्रकारो यः संघाटकात्मद्वितीयादिभिर्भेदैर्निष्पन्नानां नवकानां पुरा भणितः ॥ अथ " अभिधारणम्मि एए, खित्तम्मि वि परिणया वा वि" इति पश्चार्द्धं व्याचष्टे ।

विपरिणया निज्जातिते, अम्हे तुब्भ भणंत संतेहिं ।
तह वि य ण वि ते तेसिं, अव्वाहयमादिया होंति ॥

ये अव्याघातादयो वाताः शैक्षा अत्र प्रस्तुतास्ते क्षेत्रिकमभिधार्य प्रथममागता अपि कुतोऽपि हेतोस्तं प्रति विपरिणतास्ततो यद्यागन्तुकान् भणन्ति वयं युष्माकं सकाशे प्रव्रजिष्यामोऽत्र पर्याप्तं तैः पूर्वसाधुभिरिति तथाऽप्येवं ब्रुवाणे अपि ते अव्याघातादयस्ते चागन्तुकानां न भवन्ति किंतु क्षेत्रिकस्यैव भवन्ति। गतमव्याघातद्वारम् । अथ पुणो हाइ ति द्वारमाह ॥

एहिंति पुणो हाउं, पुट्ठे सिच्छम्मिई य मणसाणा ।
वहुदोसे माणुस्से, अणुसासणणवग तह चेव ॥

आगन्तुकसाधूनां समीपे कुत्र गता इति पृष्टे ततस्तैः शिष्टाः अमुकत्र गता इति कथिते स शैक्षो ब्रूयात् (एहिंतिपुणो हाइति) यदा ते पुनरप्यत्रागमिष्यन्ति तदा प्रव्रजिष्यामि य एवं भणति स वक्तव्यः । सौम्य ! बहुदोषे बह्वन्तराये मानुष्ये मा प्रमादं कुरु एवमनुशासनं कृत्वा तथैव नवकगमेन प्रेषणं कर्त्तव्यम् । अनुशासनमेव विशेषत उपदर्शयति ।

जं कल्लं कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं ।

मच्चू अकलुणहियओ, न हु दीसति आवयंतो वि ॥

यदा दीक्षाग्रहणादिकार्यं कल्ये द्वितीयादिने नरेण कर्त्तव्यं तदद्यैव कर्त्तुं वरं प्रशस्य यतो मृत्युरकरुणहृदयः स्वभावादेव कठोराशयस्तथा कथमप्यापतति । यथा आपतन्नपि न दृश्यते उक्त " स्वकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । को हि तद्वेत्ति कस्याद्य, मृत्युसेना पतिष्यति । " तथा ।

तुरहा धम्मं काउं, मा हु पमायं खणं पि कुव्वीथ ।

बहुविग्घो हु मुहुत्तो मा, अवरण्हं पडिच्छाहि ॥

भव्यास्त्वरध्वं धर्मं कर्तुं मा क्षणमपि प्रमादं कुरुध्वं कुत इत्याह ॥ बहवश्चाशिवविध्वविकाशमुपघातामिदाहादिभेदादनेके विघ्ना जीवितान्तरायाः । यस्मादसौ बहुविघ्नो हुशब्दो यस्मादर्थे अपिशब्दस्य चानुक्तस्यापि गम्यमानत्वात् । यस्मान्मुहूर्त्तोऽपि बहुविघ्नः आस्तां प्रहरदिवसादिरतो महाभाग मा प्रव्रज्याग्रहणे अपराह्णमपि प्रतीक्षिष्ठाः । एवमेव कृत्वा चतुर्भिर्नवकैस्तथैव प्रेषणीयम् । गतं पुणो दाहति द्वारम् ।

अथ यावज्जीवपराजितद्वारमाह ॥

बहुसो उवट्ठियस्सा, विग्घा उट्ठेंति जज्जियति णामि ।

अणुसासणपन्नवणा, णवगा य भावसमुसुयरे ॥

क्षेत्रिकाणां गमनवृत्तान्तं ज्ञात्वा कोऽपि शैक्षो ब्रूयाद्बहुशोऽनेकशः प्रव्रज्याग्रहणोपायस्थितोऽहं परं वारं वारं विघ्ना नवनवा उत्तिष्ठन्ति अतो यद्य जावज्जीवमहं तैर्विघ्नैर्जितोऽस्मि यदेते साधवो विहृतवन्तः अतः परं तेषु समागतेषु प्रव्रजिष्यामि । एवं ब्रुवाणस्यानुशासनं कर्त्तव्यम् । भद्र ! साम्प्रतं तव चारित्रावारकाणामनुदयो वर्त्तते अतो मा प्रमादी को जानाति भूयोऽपि तेषामुदयो भवेत् । आवश्यकादिनिहितश्च कूर्मवर्त्महष्टान्तस्तत्पुरतः प्ररूपणीय । एवमनुशिष्य प्रस्थापनं कर्तव्यं तत्र च तथैव मुण्डितेन तयोः प्रत्येक चत्वारो नवका भवन्ति । एवं प्रथमद्वितीयदिवसयोरव्याहतादीनां कल्पो विधीयते । अथ ज्ञापिते कथं कल्पो वास्तव्ये वाताहतेऽपि वेति द्वारमाह ।

वाताहते वि णवगा, ता हव जाणाविए अइयरे य ।

एमेव वत्थव्वे, णवगाण गमो अजाणंते ॥

वाताहतो द्विधा ज्ञापित इतरश्च । यः क्षेत्रिकाणां यशःकीर्तिमपि न जानाति स आगन्तुकसाधुभिस्त्वमस्माकं न भवसि ये गतास्तेषामेवाभवसीति सद्भावावगमं कारितो ज्ञापित उच्यते । इतरो नाम यशःकीर्तिज्ञस्तत्र ज्ञापिते इतरस्मिन् वाताहते प्रव्रजितुमायाते तथैव चत्वारो नवका भवन्ति । वास्तव्योऽपि शैक्षोऽपि क्षेत्रिकाणां यशःकीर्तिमपि न जानाति तत्रापि नवकानां गम एवमेव मन्तव्यः । अथ वास्तव्यो वाताहतो वा यः कीर्तिमपि न जानाति स कीदृशो भवेदुच्यते ।

वत्थव्वे वायाहए, सेवगपरतित्थियवणियएए य ।

सव्वे ते उज्जुगाअ–पिणाइभेआइ वा जत्थ ॥

वास्तव्यो वा वाताहतो वा यो राजकुलसेवको यो वा परतीर्थिको यश्च वणिक् एते असन्निहितत्वेन यशःकीर्तिमपि गुरूणां न जानीयुः परं प्रथमद्वितीयदिवसयोः प्रव्रजितुमायातास्तेऽपि क्षेत्रिकाणामाभाव्या । अथ ऋजुअनृजुद्वारचिन्ता क्रियते । य आचार्यं ऋजुर्भवतिस सर्वानप्येतान् क्षेत्रिकाणामर्पयति । यत्र वा क्षेत्रिका भवन्ति तत्र संघाटकादिभिः प्रकारैः प्रेषयित्वा वा सह नीयते ।

माइल्ले वारसगं, जाणगजाणं वि एय चत्तारि ।

पच्छन्ने वायहए, ण लभति चउरो अणुग्घाया ॥

यस्तु मायावी अनृजुः सन् प्रेषयति तत्र च प्रकाराणां द्वादशकं भवति । तानेवाग्रे वक्ष्यति । तथा ज्ञापके ज्ञापिते च समुदिताश्चत्वारः प्रकारा भवन्ति । तद्यथा ज्ञापक प्रथमदिवसे न प्रेषयति । १ द्वितीये तमेव न प्रेषयति । एवं ज्ञापितस्यापि द्वौ प्रकारौ एतैश्चतुर्भिर्यमाणैश्च प्रकारैर्वास्तव्य वाताहतं वा अप्रेषयतश्चत्वारोऽनुद्घाता मासाः नव तान् शिक्षान् लभते कुअस्थविरादिभिर्विवेकात्क्षेत्रिकाणां दाप्यते इत्यर्थ ॥

अथात्रैव प्रायश्चित्तवृद्धिमाह ।

सत्तरत्तं तवो होति, ततो च्छेदो पहावई ।

छेदेण छिन्नपरियाए, ततो मूलं ततो दुगं ॥

प्रागिव स्पष्टम् प्रकारद्वादशकमाह ।

तरुणे मज्झिमथेरे, तद्दिणवितिए य छक्कं छक्कं ।

एमेव परग्गामे, छक्कं एमेव इत्थीसु ॥

पुरिसित्ति गाण एते, दो बारसगा उ मुंडिए होंति ।

एमेव व सासिहम्मि य, जाणगजाणविए नयणे ॥

तरुणमध्यमस्थविरान्प्रत्येकं तद्दिवसे द्वितीयदिने वा प्रेषयत एकं प्रकारषट्कं भवति एतच्च स्वग्रामविषय परग्राम एवमेव प्रकारषट्क सर्वेऽप्येते द्वादश प्रकाराः पुरुषेषु भणिता एवमेव च स्त्रीष्वपि प्रकारद्वादशकं भवति । एते द्वे द्वादशके पुरुषस्त्रीणां मुण्डितविषये भवतः । एवमेव च शैक्षकेऽपि शैक्षद्वादशकस्य तदेव ज्ञापिते च प्रत्येक (भयणाप्ति) भड्गकविकल्पास्तेषां चत्वारि द्वादशकानि भवन्ति । अथवा ॥

अव्वाहायपुणोघात, जावज्जीवपराजिया ।

तद्दिणपेसणया–सग्गामे पकारवारसहा ॥

अव्याघातपुनरागतप्रव्रजितयावज्जीवपराजितान्प्रेति अव शैक्षाः । एतान् तद्दिने वा प्रेषयन् प्रकारषट्कम् । एतच्च स्वग्रामे इतरस्मिन् वा परग्रामे भवतीति कृत्वा द्वाभ्यां गुणित द्वादशधा भवति । अथ ऋजु अनृजुलक्षणमाह ।

जाणंतमजाणंते, णाइवायसेवाअमाइल्लो ।

सो सेव उजुओ खलु, अणुजुओ जाणअप्पेति ॥

जानतोऽजानतो वा शैक्षान् योऽमायावी सत्क्षेत्रिकाणां समीपे स्वयं याति परहस्तेन वा प्रेषयति स एव ऋजुक उच्यते । अनृजुस्त्वसौ अभिधीयते यो न समर्पयति न वा प्रेषयते । अथैते वास्तव्यवाताहता जानन्तोऽजानन्तो वा अनृजुभिः प्रव्राजितास्ते स्वयं पश्चात्परिज्ञायन्ते । उच्यते ततोऽनुज्ञि प्रव्राजितास्ते स्वयं पश्चात्परिज्ञायन्ते । उच्यते ततोऽनुग्रामादिषु यत्र मिलितास्तत्र क्षेत्रिकैः कश्चिदनृजुः प्रव्रजितो वाताहतः पृष्टः कथं भवान्प्रव्रजित स भणति ।

तुज्झे वि य नीसाए, अहमागतो दिक्खितो बसेहिं ।

अम्हे किं न पव्वइया, पुट्ठावणते परिकहेमु ॥

युष्माकमेव निश्रया अहमागत । अमीभिः स्थविरादीक्षित मया भूयस्ततः पृष्टास्तत एभिराख्यातं यथं किं प्रव्रजिता न भवामो यदेव तान् मार्गयासि । यद्वा न पृष्टाः सन्त । किमपि व्याख्यातवन्तः । एव रूपशब्दे यशःकीर्तिहो वक्ति । यस्तु कीर्तिमपि न जानाति स ब्रूयात् ।

वायाहतो तु पुट्ठो, भणाइ अमुगादिणे अमुगकाओम्मि ।

एतेहिं दिसिग्गतो हं, तुम्हे वि सुणासि तत्थासी ॥

तुशब्दस्य विशेषणार्थतया यो वाताहतो यश कीर्त्योरपि अज्ञायक स पृष्टो जणति । अमुकदिने प्रतिपदादौ अमुष्मिन्काले मार्गशीर्षादौ मासे दीक्षितोऽहमेतैः दीक्षाकालान्तर च शृणोर्मि । यथा स्वयमपि तत्रासीगन्निति ।

एमेव य जसकीत्ति, जाएंते जदा तदा जाणाति ।
तस्स वि तहेव पुच्छा, पावयणिओ वा जहा जातो ॥

एवमेव वास्तव्यो ऽपि यो यश कीर्तिं जानाति तस्यापि तथैव स्नानादौ यदा पृच्छा छ्ला भवति तदा जायते । यदा वा असौ प्रावचनिको बहुश्रुतो जातस्तदा स्वयमेव जानाति नाहममीषामाभाव्य । एव तावत् सचित्तविषयो विधिरुक्त ।

अथाचित्तादिविषय तमेव निर्दिशन्नाह ।

एमेव य अचित्ते, दुविहे उवहिम्मि मीसते चेव ।
पुच्छा अपुव्वमुवहिं, दट्ठूण अणुज्जु पूयाणं ।

एवमेते अचित्ते द्विविधे औघोपग्रहोपधिभेदाद् द्विप्रकारे उपधौ मिश्रके च सोपधिकशैक्षे विधिर्मन्तव्य । कथ पुनरसावाभाव्यो वा ज्ञायते इत्याह । अपूर्वं सारतरमुपधिं दृष्ट्वा अनृजुभूताना तेषामन्तिके पृच्छा भवति । केनचित्कैरय कदा कुत्र या गृहीत इत्येवं ते प्रष्टव्या इति भाव ।

एवं वासावासे, उडुबद्धे पंथे जत्थ वा ठाति ।
सव्वत्थ वा होति उग्गहो, केसिं वि पदीवदिट्ठंतो ॥

एव वर्षावासे ऋतुबद्धे वा मासद्वय दिवसपञ्चक च पूर्वावग्रह इति । पथि वा व्रजतो यत्र क्वापि आचार्यस्तिष्ठति तत्र सर्वत सक्रोश योजनमवग्रहो भवति तत्राप्येवमेव सचित्तादीनामाभाव्याना माभाव्यविधिरवसातव्य । केषाञ्चिदाचार्याणामयमऽभिप्राय मार्गं गच्छतां पृच्छतो नास्त्यवग्रहः ॥ अथ वा नादेश कुत इत्याह प्रदीपदृष्टान्तोऽत्र भवति । यथा हि प्रदीप सर्वत प्रकाशयति नैकामपि दिश प्रकाशशून्यां करोति एवमवग्रहोऽपि सर्वतो भवति न कुत्रचिन्न भवत्यपीति । एव तावत् क्षेत्रे सचित्तादिविषयो विधिरुक्त ।

अथाक्षेत्रे तमेव निर्दिशति ।

अक्खित्ते वसधीए, जाणविए वि एमेव ।
उज्जुगमणुज्जुगे या, सो चेव गमो हवइ तत्थ ॥

अक्षेत्रे इह कालादियुक्ते नगरादौ सक्रोश योजनमवग्रहो भवति कि तु तत्र यस्यां वसतौ य पूर्वस्थितस्तस्या सचित्तादिक यदुपतिष्ठते तत्तस्याभवति न पश्चादागतानां तत्रापि य एव क्षेत्रे गम उक्त स एव सर्वोऽपि ज्ञापके ज्ञापिते च ऋजुके अनृजुके च वक्तव्य इति । अथ कथ कल्पोऽभिधारणीय इति निर्वचनमाह ।

अणिदिट्ठ सण्ण सण्णि, गहितागहिए य सच्छंदो ।
णिदिट्ठलिंगसहितो, सण्णी तस्सेव णस्सस्स ॥

अभिधारण प्रव्रज्यार्थमाचार्यादेर्मनसा सकल्पनम् तच्च द्विधा अनिर्दिष्ट निर्दिष्ट च अनिर्दिष्ट नाम धारयन् कमप्याचार्य विशेषतो न निर्दिशति स च अभिधारको द्विधा सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी च पुनरेकैको द्विधा गृहीतलिङ्गोऽगृहीतलिङ्गश्च एष सर्वोऽप्योघत सामान्येनाचार्यविशेषमनिर्दिश्य प्रव्रजन् स्वच्छन्द आभाव्यो भवति यस्यान्तिके प्रव्रजति तस्यैवासौ शिष्य इत्यर्थ । निर्दिष्ट पुनरभिधारण तदुच्यते यत्रामुकस्याचार्यस्य समीपे प्रव्रजिष्यामीति निर्देश करोति सोऽपि द्विधा सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी च । तत्र एकैको द्विधा लिङ्गसहितो लिङ्गरहितश्च । तत्र लिङ्गसहित सञ्ज्ञी यमाचार्यमभिधार्य गच्छति । विपरिणतोऽपि तस्यैवासौ भवति नान्यस्य ।

णिदिट्ठेव असण्णी, गहियागहिए य अगहिए सण्णी ।
तस्सेव अविपरिणतेवि, परिणते जस्स इच्छाया ॥

असञ्ज्ञी नाम गृहीतलिङ्गोऽगृहीतलिङ्गो वा भवतु । यस्तु सञ्ज्ञी श्रावक सोऽगृहीतलिङ्ग एते त्रयोऽप्यपरिणते भावे य निर्दिष्टमाचार्यमभिधार्य गच्छन्ति तस्यैव भवन्ति । अथ त प्रति भावो विपरिणतस्ततो यस्य सकाशे तेषां प्रव्रजितुमिच्छा तस्यैव ते शिष्या ॥

अथ किंकारण लिङ्गसहितो व्रजतीत्याह ॥

वारियसमुदाणट्ठा, तेण व गिण्हन्ति धम्मसड्ढा वा ।
एएहिं लिंगसहितो,सण्णी व सिया असण्णी व ॥

वारिको हरिकस्तद्विषया शङ्का मा भूदिति बुद्ध्या लिङ्ग गृहीत्वा व्रजति तथा समुदान भैक्ष तदर्थं लिङ्ग गृह्णाति गृहीतलिङ्गो हि सुखेनैव भिक्षामाप्नोति । स्वभावापान्तराले गृहिभ्रान्त्या धर्मश्रद्धालवो वा तिष्ठन्ति एते कारणे सञ्ज्ञी वा असञ्ज्ञी साधुसमाचारीनिपुणो लिङ्गसहित स्यादिति । इह यो निर्दिशन् प्रव्रजति एकमनेकान् वा निर्दिशेत् तत्र योऽनेकान् निर्दिशति स एव सकल्पयति यो मे प्रतिभाषिष्यते तस्य सकाशे प्रव्रजिष्यामि । तद्विषय विधिमाह ।

णेगा उदिस्स गतो, लिंगेणं फाडितो तु एकेणं ।
दट्ठुं व अचक्खुस्स, णिदिट्ठणं गतो तस्स ॥'

अनेकानाचार्यानुद्दिश्य लिङ्गेन सहिताना बहूनां निर्दिष्टानामन्तिके गतस्तत्र चैकेनास्फालित सादरमाभाषितो यदि तमभ्युपगतस्तदा तस्यैवासौ शिष्य । अथाभाषितोऽपि तमचक्षुष्यमनिर्दिष्ट दृष्ट्वा निर्दिष्टमेव कमप्यन्यमुपगतस्तदा तस्याभवति । इदमेव सविशेषमाह ।

णिदिट्ठमणिदिट्ठं, अब्भुवगयलिंगिणो लभइ अण्णो ।
लिंगी व अलिंगी वा, सच्छंदेण य अणिदिट्ठो ॥

निर्दिष्टमनिर्दिष्ट वा आचार्यमभिधार्य गच्छन् लिङ्गी लिङ्गसहित शैक्षो यमाचार्यमभ्युपगतस्तस्यैवाभवति नैवान्यस्त लभते । यस्त्वनिर्दिष्टो नाद्यापि कमप्यभ्युपगत स लिङ्गी वा भवतु अलिङ्गी वा स्वच्छन्देन यमभिलषति तस्याभवति ।

एमेव असिह सण्णी, णिदिट्ठस्सुवगतो ण अण्णस्स ।
अब्भुवगतो वि ससिहो, जस्सिच्छति दो असण्णीव ॥

लिङ्गसहित सञ्ज्ञी निर्दिष्टाना बहूनां मध्ये यमेवाभ्युगतस्तस्यैवाभवति एवमेव शिखाकोऽपि सञ्ज्ञी बहून् निर्दिश्यागतो वा यस्यैव निर्दिष्टस्यान्तिके उपगत प्रव्रजितु परिणतस्तस्यैवासौ शिष्यो भवति नान्यस्य यस्तु सशिखाक सञ्ज्ञी स कमप्यभ्युपगतोऽपि यदि पश्चाद्विपरितस्तदा यस्यान्तिके प्रव्रजितुमिच्छति तस्याभवति (दोहअसन्नात्ति) द्वौ वा शिखाकसशिखाकलक्षणौ यौ असञ्ज्ञिनौ नाद्यापि पूर्वं कञ्चनाभ्युपगतौ पश्चाद्विपरिणतौ स्वच्छन्देन यदुपकण्ठे प्रव्रजनस्तस्याभाव्यो । अस्यैवार्थस्य सुखावबोधाय भङ्गकानाह ।

णिदिट्ठस्ससमाणे, अब्भुवगतेतरअट्ठ लिंगिणो भंगा ।
एवमसिहे वि ससिहे वि, अट्ठ सण्णे चउव्वीम ॥

कमप्याचार्य निर्दिश्य गच्छन् निर्दिष्ट सञ्ज्ञी श्रावक अन्य

पगतः प्रव्रजितुं परिणत । एतैस्त्रिभिः पदैः (इयरत्ति) प्रतिपक्षपदसहितैरष्टौ भङ्गा लिङ्गिनो लिङ्गसहितस्य गच्छतो भवन्ति । तथाहि निर्दिष्टः सञ्ज्ञी अभ्युपगत. १ निर्दिष्टः सञ्ज्ञी अनभ्युपगतः ।२। निर्दिष्टो ऽसञ्ज्ञी अभ्युपगतः ३ निर्दिष्टो ऽसञ्ज्ञी अनभ्युपगत. ४ अनिर्दिष्टपदेनाप्येवं चत्वारो भङ्गा लभ्यन्ते एते अष्टौ भङ्गा लिङ्गिन उक्ताः । अशिक्षाके चैवमेव प्रत्येकमष्टौ भङ्गा भवन्ति सर्वेऽप्येते मीलिताश्चतुर्विंशतिर्भङ्गा जायन्ते एतेषु विधिमाह ।

पढम बिति ततिय पंच, सत्तम नवम तेरसेसु भंगेसु ।
विपरिणतो वि तस्सेव, होइ सेसेसु सच्छंदो ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयपञ्चमसप्तमनवमत्रयोदशेषु विपरिणतोऽपि य निर्दिश्यागतो य वा अभ्युपगतस्तस्यैवाभवति शेषेषु चतुर्थषष्ठाष्टमदशमैकादशद्वादशचतुर्दशादिषु चतुर्विंशतिषु स सप्तदशसु भङ्गेषु स्वच्छन्दः स्वेच्छया प्रतिभाति तस्यैवाभवतीत्यर्थ । इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह ।

सव्वो लिंगी असिहो य, भावतो जस्स अब्भुवगतो सो ।
णिद्दिट्ठमणालिंगी, तस्सेवाणब्भुवगतो त्ति ॥

सर्वो लिङ्गी अशिक्षाकश्च श्रावको यस्यान्तिके ऽभ्युपगत स एव त लभते । किमुक्तं भवति यो लिङ्गसहितो ऽभ्युपगत स निर्दिष्टोऽनिर्दिष्टो वा सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी वा भवतु यश्चाशिक्षाक श्रावको ऽभ्युपगत सोऽपि निर्दिष्टो वा भवतु एष सर्वोऽपि यमेवाभ्युपगतो विपरिणतोऽपि तस्यैवाभवति एतेन प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमनवमत्रयोदशभङ्गास्सूचिता । तथा यो लिङ्गी निर्दिष्ट सञ्ज्ञी च स यद्यप्यनभ्युपगतस्तथापि यमेव निर्दिश्यागतस्तस्यैवाभवति न पुनर्विपरिणतोऽप्यन्यस्यानेन द्वितीयो भङ्गो गृहीत. । शेषेषु तु सप्तदशस्वपि गतेषु यत्राभ्युपगतस्तत्राविपरिणतस्तस्यैव विपरिणतस्तु स्वेच्छाया यत्र तु नाभ्युपगतस्तत्र विपरिणतो ऽविपरिणतो वा यथा स्वच्छन्दमाभाव्य इति गत कथ कल्पो ऽभिधारण इति द्वारम् ।

अथैकग्रामे इति द्वारमाह ।

असन्नी उवसमितो अ–प्पणो इच्छाइ अप्पहिं तस्स ।
दट्ठूण च परिणए, उवसमिते जस्स वा खेत्त ॥

केनचिद्धर्मकथिना कश्चिदसञ्ज्ञी मिथ्यादृष्टिरुपशमित प्रव्रज्याभिमुखीकृत. स यावन्नाद्यापि सम्यक्त्व प्रतिपद्यते तावत्प्रव्रजन् क्षेत्रिकस्याभवति । अथ सम्यक्त्व प्रतिपन्नस्तस्य क्षेत्रमन्यस्याचार्यस्य सत्क ततो ऽसावात्मन इच्छया आभवति यदि क्षेत्रिकस्योपविष्टस्ततस्तस्यैव अथोपशामयत उपस्थितस्तत्रोपशमयत् एव एतौ द्वौ मुक्त्वा अन्यस्य नाभवति (अप्पहिंत्ति) अथान्यक्षेत्राद्बहिरुपशमितस्तदा तस्योपशामकस्याभवति । अथ केनापि नो कथित. परमन्य कमप्याचार्याद्विक दृष्ट्वा स्वयमेव प्रव्रज्यायां परिणतस्ततोऽसौ क्षेत्राद्बहिरुपशान्त उपशामत आभवति । मूर्तिदर्शनद्वारेणोपशमनकारित्व इत्यर्थं । अथ क्षेत्रान्तरुपशान्तस्ततो यस्य सत्क क्षेत्र तस्याभाव्य. । अमुमेवार्थं सविशेषमाह ।

परखित्ते वसमाणो, अइक्कमंतो व ण लभति अमणस्सिं ।
दट्ठूण पुव्वसण्णी, गाहितसम्माति सा लभति ॥

परक्षेत्रे मासकल्पे वर्षावासे वा वसन् अतिक्रामन् वा परक्षेत्रमगतो गन्तुमनास्तत्रावस्थितो ऽसञ्ज्ञिनमप्रतिपन्नसम्यक्त्व स्वयमुपशमितमपि न लभते । अथ कश्चिन्मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वमादिशब्दादणुव्रतानि वा ग्राहयित्वा क्षेत्रान्तरं गत. भूयोऽप्यन्यदा तदेव क्षेत्रमायात स च प्रागुपशमित इदानीं पूर्वसञ्ज्ञी लभ्यते ततस्त पूर्वसञ्ज्ञिन सम्यक्त्वादिग्राहित स उपशामकच्छन्देन लभते । किमुक्तं भवति । उपशामिक क्षेत्रिक वा यमभिरोचयति तस्याभवति । एव त्रयाणा वर्षाणामागतो मन्तव्य. । त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु स पूर्वसञ्ज्ञी क्षेत्रिकस्यैवाभाव्यो नोपशमयत ॥ आह च चूर्णिकृत् "तिसु वरिसेसु पुण्णेसु खेत्तियस्स वा भवति । तो उवसामितस्स त्ति" गतमेकग्रामद्वारम् ॥

अथातिक्रामन् द्वारमाह ।

मग्गंतो अण्णखित्ते, अभिधारितो उ भावतो तस्स ।
खित्तम्मि खित्तियस्स, बाहिं वा परिणतो तस्स ॥

शैक्षः कश्चिदाचार्यं मार्गयन् व्रजति तस्य चान्यक्षेत्रे परकीयक्षेत्राभ्यन्तरे पथि गच्छत. कश्चिद्धर्मकथी मिलित स यद्याकर्षणहेतोस्तस्य धर्मं कथयति तदा यमाचार्यमभिधारयन् व्रजति तस्याभवति । अथ भावत स्वभावादेव कथयति ततस्तस्य धर्मकथिकस्याभवति । तुशब्दो विशेषणे स चैतद्विशिनष्टि यदि क्षेत्राभ्यन्तरे स्वभावत कथयति ततः क्षेत्रिपरिणत प्रव्रज्याभिमुखीभूत क्षेत्रिकस्य भवति बहिस्तु परिणतस्तस्य कथयत आभाव्य इति । इदमेव व्याचष्टे ॥

अभिधारित्ता वच्चति, पुच्छित्ता साहु वच्चतो तस्स ।
परिसगतो व कहइ, कट्टए हेउं न तं लभति ॥

कश्चिदाचार्यमभिधारयन् शैक्षो व्रजति तस्य कोऽपि साधुः पथि गच्छन् मिलितस्तेन च पृष्टोऽमुक आचार्य कुत्रास्ते साधुराह किं तेन भवन' प्रयोजनम् । स प्राह । तस्यान्तिके प्रव्रजितुकामोऽहं पर दृष्ट्वा तस्य व्रजत एवाकर्षणहेतोः(साहत्ति) धर्मं कथयति यद्वा ग्रामे क्वापि पर्षदन्तर्गतस्य धर्मं कथयत उपस्थितस्ततो वन्दित्वा तथैव स्वाभिप्राये कथिते स आकर्षणहेतोर्विशेषतो धर्मं कथयति कथिते च यद्यसौ प्रव्रजितुमभिलपति ततो न त शैक्ष लभते । अभिधारिताचार्यस्यैव स आभवति ॥

उज्जुकहए परिणतं, अंतोखित्तस्स खित्तिओ लभइ ।
खित्तवहिं तु परिणयं, लभ उज्जुकहीण खलु माई ॥

अथासौ कथको धर्मकथी ऋजुक सद्भावत कथयति नाकर्षणहेतो. स च प्रव्रज्यायां परिणत. क्षेत्रान्त परिणते क्षेत्रिको लभते क्षेत्राद्बहि. परिणत तु ऋजुको धर्मकथी लभते न खलु मायी मायावान् ।

परिणमइ अंतरा अं–तरा य भावोणियत्ति तत्तो से ।
खित्तम्मि खित्तियस्स, बहिं तु परिणतो तस्स ॥

अथ अन्तरान्तरा तस्य भाव प्रव्रज्याया परिणमते निवर्तते वा तत क्षेत्रे परिणत क्षेत्रिकस्याभवति बहिस्तु परिणतस्तस्य धर्मकथिकस्याभवतीति । गतमतिक्रमन् द्वारम् ॥

अथ द्विधा मार्गणा शिष्ये एकविधा च प्रतिच्छके इति यदुक्त तत्र प्रतीच्छकविषया तावदेकविधां केवलसाङ्घातीयविषयां मार्गणामाह ॥

माया पिया य भाया, भगिणी पुत्तो तहेव धुत्ता य ।
एएते नालबद्धा, सेसए भवंति आयरिया ॥

माता पिता भ्राता भगिनी पुत्रस्तथैव दुहिता वा एतेऽप्यते अनन्तरवल्लीमधिकृत्य नालबद्धा मन्तव्या । एते च अभिधारयन्त. प्रतीच्छकस्याभवन्ति । उपलक्षणमिद तेन परावल्लीबद्धा अपि वक्ष्यमाणा षोडश जना अभिधारयन्तस्तस्यैवाभवन्ति । शेषास्तु ये नालबद्धा भवन्ति तेषु आचार्याः

प्रभवन्ति न प्रतीच्छक इदमेव व्यक्तीकुर्वन् परंपरावर्ल्ली प्रतिपादयति ।

माओ माया पिया भाया, भगिणी य एव पिउणो वि ।
भायादिपुत्तधूता, सोलसगं छच्च बावीसं ।
बावीस छसति एए, पडिच्छओ जाति य तमभिधारंति ।
अभिधारमणभिधार, णायमणाते तरेण लभे ॥

मातुः सबन्धिनो माता पिता भ्राता भगिनी चेति चत्वारो जनाः पितुः संबन्धिनोऽप्येवमेव चत्वारो जना (भ्रायादिपुत्तधूयति) भ्रातुः संबन्धिन पुत्रो दुहिता चेति जनद्वयम् आदिशब्दात् भगिन्या अप्यपत्य भागिनेय, भागिनेयी चेति द्वयम् । पुत्रस्यापत्य पौत्रः पौत्री चेति द्वयम् । दुहितुरपत्यं दौहित्रो दौहित्री चेति । सर्वसंख्यया षोडशकं भवति । षट् वाऽनन्तरवल्लीजना अत्र प्रक्षिप्यन्ते ततो द्वाविंशतिर्भवति द्वाविंशतिमप्येतान् जनान् प्रतीच्छको लभते । यदि च तं प्रतीच्छकमभिधारयन्तस्ततस्तेऽप्याचार्यस्यैवाभाव्या इति नव इतरे उक्ताः ये व्यतिरिक्तास्तानभिधारयतो वा ज्ञातकान् वा अज्ञातकान् वा प्रतीच्छको लभते । अथ शिष्याविषयां द्विविधां मार्गणामाह ।

नायगमणायगा पुण, सीसे अभिधारमणभिधारे य ।
दो खरदिट्ठंता स−व्वे वि भवति आयरिए ॥

द्विविधा मार्गणा तत्र ये शिष्यस्य ज्ञातकाः स्वजना ये चाज्ञातका अस्वजनास्ते तमभिधारयन्तो वा अनभिधारयन्तो वा सर्वेऽप्याचार्यस्याभवन्ति न शिष्यस्य कुत इत्याह खरस्वरदृष्टान्तात् " दासेणखरखरो किओ दासो वि सेसरूपेविमे इति " निदर्शनात् । अथ पडिसेहय कहं कप्पो विहज्जइ इति द्वार निरूपयन्नाह ।

दुब्बुप्पन्न गिलाणे, असंयरं ते य चउगुरुच्छेहं ।
वयमाणइमे संथा−पच्छप्पेतण लभंति ॥

एकत्र ग्रामे गच्छः स्थितस्तेषां च ग्लान उत्पन्नस्तत्प्रतिचरणे साधवो व्यापृता सन्तः सर्वेऽपि भिक्षामटितुं न प्रभवन्ति ततश्च सस्तरण सञ्जानमेव ग्लानोऽपूर्वोत्पन्नेरसस्तरण शैक्ष उपस्थितस्ते च ग्लानकार्यभृत्यतया शैक्ष दापयितु न पारयन्ति । अतो भगवद्भिः प्रतिषिद्ध न तैः शैक्षो दीक्षणीयः । यदि दीक्षयन्ति ततश्चतुरो गुरुकाः । अथालोचादौ अमीषां प्रकाराणा कृत्वा प्रेषयन्ति (वयमाण इत्यादि) त शैक्ष मुण्डयित्वा व्रज त्वमेकाक्यवामुकाचार्यसन्निधाविति वदन्तो विसर्जयन्ति । यद्वा तस्यैक कमपि सहाय सघाटक वा समर्पयन्ति एते त्रय प्रकारा मुण्डितस्य भवन्ति । अमुण्डितस्याप्येते त्रय एते पमपि त शैक्षं न लभन्ते । षड्भिः प्रकारैः प्रेषयन्त इत्यर्थः । येषां समीपे प्रेषयन्ति तेषामेवासौ शिष्यः । अथात्मसमीपे स्थापयन्ति तत इमे दोषाः ।

आयरिय गिलाण गुरुगा, सहस्सा अकरणम्मि ।
चउलहुगा परितावण, णिप्फणदुहतो भंगे य मूलं तु ॥

शैक्ष प्रव्राज्य तदैया वृत्यव्याकुला सन्तो यद्याचार्याणां ग्लानस्य वा वैयावृत्ति न कुर्वन्ति ततश्चतुर्गुरुकः । अथ शैक्षस्य न कुर्वन्ति ततश्चतुर्लघुक । अथ ग्लानादीनामनागाढमागाढ वा परितापना भवति तत आत्मनिष्पन्नम् (दुहतो भंगेयत्ति) शैक्षस्य यन्निष्क्रमण ग्लानस्य च यन्मरणमेव द्विधा भङ्ग उच्यते तत्र मूल भवति । अथ द्वितीयपदमाह ।

संथरमाणे पच्छा, जायं गहिते न पच्छगेलन्नं ।
अप्पव्वइते पव्वइए, संघाडगे व वयमाणे ॥

इह गच्छे ग्लानो विद्यते पर नागाढ ग्लानत्व ततः सस्तरति ते शैक्षमपि वर्तापयितुमाचार्याणामपि कर्तुमेव प्रव्राजिता । शैक्षः पश्चात्सग्लानत्वमागाढ समजनि ततो वर्तनपरिवर्तनादिव्यापृताय चेलावद्धिकां न हिण्डते यऽपि हिण्डन्ति ते ऽपि न शक्नुवन्ति सर्वेषामपि पर्याप्तमानेतुमेवमसस्तरण आतम् यद्वा मूलत एव ग्लानत्व पूर्वं नासीत् किंतु पश्चात् शैक्षे गृहीते प्रव्राजिते सति ग्लानत्वमुत्पन्न ततोऽसौ षड्भिः प्रकारैः प्रेषणीयः । तद्यथा अप्रव्राजितो ऽमुण्डितः प्रव्राजितो मुण्डितः एष द्विविधोऽपि त्रिधा सघाटकेन एकसाधुना (वयमाणत्ति) एकाकी व्रजते व्रजमानैरेकाकित्वेनेत्यर्थः । अथ सथरमाणे पच्छा जायंति पद विशेषतो व्याचष्टे ।

नागाढं पउणिस्सइ, अचिरेणं तं च जायमागाढं ।
सेहं वद्धा वेओ, ण भवति गिलाणकित्तं वा ॥

पूर्वमनागाढ ग्लानत्वं भवेत् तत शैक्षे उपस्थिते चिन्तितम् । अचिरेणैवाय ग्लानः प्रगुणीभविष्यति । तत शैक्षे प्रव्राजिते तद्ग्लानत्वमागाढ जात ततस्ते शैक्ष वर्तापयितुं ग्लानकृत्य च कर्तुं समकमेव न चरन्ति न शक्नुवन्ति । अतो ऽन्येषां समीपे प्रेषयन्त इत्युक्तः ।

अपडिच्छाण तेरेसि जं, सेहविया वमाउ पावेंति ।
तं चेव पुव्वभणियं, परितावणसेहभंगाइ ॥

इतरे नाम येषां समीपे प्रेष्यते । यदि ते न प्रतीच्छन्ति तदा चतुर्गुरुकः । यच्च ते शैक्षव्यापृताः प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्न तेषामप्रतीच्छतां प्रायश्चित्तम् । किं पुनस्ते प्राप्नुवन्तीत्याह । तदेव पूर्वभणितं परितापनशैक्षभङ्गादिकमत्र दोषजातं मन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ग्लानो ऽप्रतिचर्यमाणः परिताप्येत शैक्षो वैयावृत्त्येऽभिधीयमाने प्रतिभज्येत । आदिशब्दाद् ग्लानस्य मरणं वा भवेत् ।

संखडिए वा अट्ठा, अमुंडियं वा य पेसंती ।
वयमाणे एगेण य, संघाडएण ण लभंति ॥

सखडिकरणतस्या वा अर्थाय मनोज्ञाहारलम्पटशैक्षममुण्डितं वा प्रेषयन्ति तत्रापि (वयमाणित्ति) एकाकितया प्रेषणेन एकसाधुना सघाटकेन च षट् प्रकारा भवन्ति । एतैः षड्भिरपि प्रेषयन्तो न लभन्ते । इदमेव व्याख्यानयति ।

होहिंति ण मग्गाइं, आवाह विवाह पव्वयमहादी ।
सेहस्स व सागारियं, निद्दाविस्सइ विनेसिंति ॥

इह शैक्षः केषांचिदुपस्थितस्तत्र चावाहविवाहपर्वतमहादीनि प्रकाराणि नवाग्राणि प्रत्यासन्नाणि भविष्यन्ति । आवाहो वधूवरगृहानयनं विवाहः पाणिग्रहण पर्वतमह प्रतीतः । आदिशब्दात् तडागनदीहृदादिपरिग्रहः । शैक्षस्य च तत्र सागारिकस्तत्प्रव्राजनभयम् । यद्वा यद्येष शैक्षोऽत्र स्थास्यति तदा सखडिभोजनगृहमाविद्रास्यति । स विनश्यति । यदि च वयमनेनैव सह गच्छामस्ततः सखडिः स्फिटाम अत एवमन्यत्र प्रेषयाम इति विचिन्त्य षड्भिः प्रकारैस्त प्रेषयन्ति । ते च लभन्ते येषामन्तिके प्रेषयन्ति तेषामेव स आभवतीति । गतं प्रतिषिद्धे व्रजति कथं कल्पो विधीयत इति द्वारम् । संप्रति संगारदत्ते कथ कल्पो विधीयते इति द्वारमाह ।

गिहियाणं संगारो, संगारं संगिते करेमाणे ।
आणुमोयति मोहिंसं, पव्वावितो जेण तस्सेव ॥

गृहिणां सम्बन्धी यः संगारो युष्मदन्तिके अस्माभिरसंयत काशादूर्ध्वं प्रव्रज्या ग्रहीतव्येति संकेतस्तं प्रतीच्छन् संयत स्वयं च तैः सार्द्धं संगारममुष्मिन् दिनेऽमुष्मान् प्रव्राजयिष्यामीति लक्षणं कुर्वन् हिंसां यावदसौ न प्रव्रजति तावन्तं कालं षट्कायविराधनालक्षणामनुमोदयति स च शैक्षस्तं प्रति विपरिणतो येन प्राव्रजितस्तस्यैवाभवति न संकेतदायिन इति । किञ्च ।

विप्परिणमइ सव्वं व, परओ असन्नअन्नतित्थीव ।
मोत्तुं वासावासं, ण होइ संगारतो इहरा ॥

संकेतकरणानन्तरं शैक्षः स्वयं वा विपरिणमति परतो वा परेण स्वजनादिना स विपरिणम्येत आसन्नविहारिषु वा प्रव्रजेत् अन्यतीर्थिको भवेत् । अतो वर्षावासं मुक्त्वा इतरथा पुष्टालम्बनं विना संगारो न प्रतीच्छनीयो न वा कर्त्तव्यः किमर्थं पुनः संगारमसौ करोतीत्याह ।

संखडसज्झायावी, खित्तं मोत्तव्वयं व मा होज्जा ।
एएहिं कारणेहिं, संगारकरंति चउगुरुगा ॥

संखडिस्तत्र ग्रामे उपस्थितानां परिहर्त्तुं न शक्नोति संज्ञातका वा तस्य तत्र भूयांसस्तेषामाग्रहात् शक्नोति गन्तुं क्षेत्रं वा तदतीव सस्निग्धमधुराहारादिलाभापन्नं शैक्षस्य च तत्र सागारिकं ततस्तन्मोक्तव्यं माभूत् । एतैरेवमादिभिः कारणैः । शैक्षस्य संगारं यः करोति तस्य चतुर्गुरु ।

अथ गृहस्थाः किमर्थं संगारं कुर्वन्तीत्याह ।

रिणवाहिं मोक्खेउं, कुडुंबवित्तिं वतित्थि ते गिण्हे ।
एमादि अणाउत्ते, करिंति गिहिणो उ संगारं ॥

ऋणं वा व्याधिं वा मोक्षयितुं अथवा कुटुम्बस्य वा पश्चाभिर्वहणायोग्यां वृत्तिं संपादयितुं यद्वा ग्रीष्मस्तदानीमतिक्रान्तो वर्षावास आयातः एवमादिभिः कारणैः शैक्षस्यानायुक्ते अक्षणिकतायां गृहिणः संगारं कुर्वन्ति । अथ द्वितीयपदेन संगारे प्रतीष्यमाणे आभाव्यविधिमाह ।

अगविट्ठोमित्ति अहं, लब्भति असढेहिं विपरिणतो वि ।
वोयं तप्पाहिंति व, ते वियणं अंतरा गंतु ॥

संगारे कृते यदा शवैर्म्लानादिकार्यव्यापृतैः स शैक्षो न गवेषितस्तदाऽसावगवेषितो नैकमपि वारमहममीभिर्गवेषित इति बुद्ध्या विपरिणतोऽपि लभ्यते तेषामेवाभवतीत्यर्थः । परं तेऽपि साधवस्तमन्तरा गन्तुमा नोदयेयुरिति संकेतस्मारणपुरस्सरं शिक्षयन्ते अथ स्वयं गन्तुं न प्रभवन्ति तत (तप्पाहिंति) संदेशं तस्य प्रेषयन्ति ।

एवं खलु अच्छिन्ने, वेला तहेव दिवसेहिं ।
वेला पुण्णमपुण्णे, वाघाए होइ चउभंगो ॥

एवं तावदच्छिन्ने अनियते संगारे विधिरुक्तः यस्तु छिन्नः संगारस्तत्र विधिरभिधीयते छिन्नो नाम क्षेत्रतः कालतश्च प्रतिनियतः । क्षेत्रतो ग्रामवनखण्डादौ प्रव्रज्यादानार्थं भवद्भिः समागन्तव्यं कालतो वेलया दिवसैर्मासैश्च प्रतिनियतैस्तत्र च वेलाया उपलक्षणत्वाद्दिवसैश्च (पुण्णमपुण्णत्ति) पूर्णे अपूर्णे वा संगारे काले व्याघातो भवेत् । तत्र चेयं चतुर्भङ्गी । कालपूर्णो निर्घात प्राप्तः, १ कालः पूर्णः सघातः, २ संजातकालोऽव्याघातपूर्णेपरं निर्व्याघातं तत्र प्राप्तः, ३ कालोऽप्यपूर्णो व्याघातोऽपि जातः, इति ४ अथवा अन्यथा चतुर्भङ्गी संयतस्य व्याघातो न गृहस्थस्य, गृहस्थस्य व्याघातो न संयतस्य । द्वयोरपि व्याघातः । द्वयोरप्यव्याघातः ।

तत्र संयतस्य व्याघाते विधिमाह ।

मंदाडिगा ते तहियं वि पत्ते, जे तिंपणा ते य सदा ण होंति ।
स लब्भती अप्पुगतो तहेव, दप्पट्ठिया जे ण उ ते लभंति ॥

यत्र ग्रामादौ संकेतः कृत आसीत् तत्र स शैक्षः प्राप्तः साधवस्तु न प्राप्तास्ततो यद्येवं मन्यते मन्दार्थिनस्ते मद्विषये मन्दप्रयोजना अत एव नायाता इति बुद्ध्या विपरिणतः । ते च साधवो यदि शठप्रव्रजिकादिप्रतिबन्धयुक्ता न भवन्ति ग्लानादिकार्यव्यापृता यतो याता इति भावः तत स शैक्षोऽन्यगतोऽप्यन्यमाचार्यमभ्युपगतोऽपि तैः साधुभिर्लभ्यते । ये तु दर्पतः स्थितास्ते नैव तं लभन्ते येन प्रव्राजितस्तस्यैवासौ शिष्य इति ।

पंथेधम्मकहिस्सा, उवसंतो अंतरा उ अण्णस्स ।
अभिधारितो न तस्स उ, इयरे पुण जो उ पव्वावे ॥

यद्यसौ येन साधुना संकेतो दत्तस्तदभिमुखं प्रस्थितः पथि गच्छन् अन्तरा अन्यस्य धर्मकथिनः समीपे धर्ममाकर्ण्योपशान्तः स च स्वयमभिधारयन् गच्छति तदा तस्यैवाभिधारितस्याभवति । इतरः पुनरनभिधारयिता ततो धर्मकथी प्रव्राजयति । इदमेव व्याचष्टे ।

पुण्णेहिं पि दिणेहिं, उवसंते अंतरा उ अण्णस्स ।
अभिधारित्तो तस्स उ, इयरं पुण जो उ पव्वावे ॥

पूर्णैरपिशब्दादपूर्णैरपि दिवसैरन्तरा पथि वर्त्तमानोऽन्यस्य सकाशे उपशान्तः सन् अभिधारयति प्रव्रजामि तावदहममीषां समीपे परं पूर्वेषामेवाहं शिष्यः एवमभिधारयन् तस्यैव पूर्वाचार्यस्याभवति इतरो नाम यः पूर्वेषां विपरिणतस्तं प्रव्राजयति तस्यैव स शिष्यः । नियमप्रदर्शनार्थमिदमाह ।

णाणादिसमोसरणे, दट्ठूण वित्तं तु परिणतो अण्णं ।
तस्सेव से ण पुरिसे, एमेव पहम्मि दव्वं ते ॥

ज्ञानादौ समवसरणे तं पूर्वाचार्यं दृष्ट्वाऽपि यद्यन्यमेव परिणतः प्रतिपन्नस्तदा तस्यैवासौ शिष्यो न पूर्वस्य एवमेव पथि व्रजतामप्यनाघातानामाभाव्यविधिरवगन्तव्यः । अथ कः संयतस्य गृहस्थस्य वा व्याघातो न भवतीत्याह ।

गेलण्णतेणग नदी, सावयपडिणीयवालमहिया वा ।
इइ समणे वाघातो, महिगा वज्जा उ सेहस्स ॥

ग्लानत्वं तस्य साधोरुत्पन्नं स्तेनका वा अन्तराले द्विविधा नदी वा पूर्णा श्वापदा वा व्याघ्रादयः । पथि तिष्ठन्ति प्रत्यनीको वा तं प्रतिचरन्तास्ते व्यालाः सर्पास्ते वा पथि गच्छन्तं दशन्ति महिका वा पतितुमारब्धा य एवं श्रमणे व्याघातः संभवति शैक्षस्यापि महिकावर्जं सर्वोऽप्येष एव व्याघातो वक्तव्यः । पूर्वं स्वयं विपरिणतमाश्रित्य विधिरुक्तः । अथान्येन विपरिणामितस्य विधिमाह ।

विप्परिणामियभावो, ण लब्भते तं च णो वियाणामो ।
विप्परिणामियकहणा, तम्हा खलु होति कायव्वा ॥

विपरिणामितो विवक्षिताचार्यादुत्तारितो भावो यस्य स विपरिणामितभावः एवंविधः शैक्षो लभ्यते विपरिणामकस्य विपरिणामितभावं तावद्वयं न भवतीति भावः । शिष्यः प्राह तमेव विपरिणमनं तावद्वयं न विजानीमः । सूरिराह । यत एव भवतो जिज्ञासा तस्माद्विपरिणामनं विपरिणामितं तस्य कथना प्ररूपणा कर्त्तव्या भवति । तामेवाह ।

दिक्खपाडिच्छदिसत्थ, वि गिलाणे मंद धम्म अपमुत्ते ।

णिप्पत्ति णत्थि तस्स, तिविहं गरह व सा वजति ॥

शैक्ष' कमप्याचार्यमभिधार्य गच्छन् मार्गे कमपि साधु दृष्ट्वा पृच्छति अमुक आचार्यो भवद्भिः कदाचित् दृष्ट उताहो न दृष्ट एव दृष्टे स साधुर्विपरिणामन बुद्ध्या भणाति । किं तै करिष्यसि शैक्ष प्राह । प्रव्रजितुकामोऽहं तेषां समीपे एव श्रुत्वा साधुर्दृष्टानपि तान् न मया दृष्टा इति अथवा स्वदेशस्थानपि भणति विदेशस्थास्ते एवमग्लानानपि ग्लानास्ते व्रज त्वमपि तस्य द्वितीय । अथवा ब्रवीति यस्तस्य पार्श्वे प्रव्रजति सोऽवश्यं ग्लानो ग्लानवैयावृत्ये वा नित्यं व्यापृतो भवति । अथवा मन्दधर्मिणस्ते तत किं तव मन्दधर्मता रोचते । यद्वाऽसौ अल्पश्रुतस्त्वं च ग्रहणधारणासमर्थस्तस्य पार्श्वे गत किं करिष्यसि त्वमेव वा त पाठयिष्यसीति । अथवा तस्य शिष्याणां निष्पत्तिरेव नास्ति य प्रव्राजयति स सर्वोऽपि व्रती भज्यते म्रियते वेति भाव । त्रिविधां वा नामवाक्कायभेदात् ज्ञानदर्शनचारित्रभेदाद्वा त्रिप्रकारां गर्हां वक्ष्यमाणरीत्या यदाऽसौ करोति सा विपरिणामता मन्तव्या। एवं कुर्वन्नश्रुतगुरुकम न च त शैक्ष लभते अतो नैव कथनीयम् । किंतु दृष्टादिपदपु सद्भाव कथनीय । कथमित्याह ।

जइ पुण तेण ण दिट्ठा, णेव सुया पुच्छितो भणति ।
अण्णे गया विदेसं, तो साहइ जत्थ ते विसए ॥

योऽसौ शैक्षेण पृष्टस्ततो यदि ते सूरयो न दृष्टा नैव श्रुतास्तत पृष्ट सन् भणति अहं न जानामि। अन्यान् अपरान् साधून्पृच्छ । अथ जानाति ततो यथा वस्थित कथनीय यदि विदेशगतास्ततो यत्र विषये देशे ते वर्त्तन्ते त कथयति । अथ नाख्याति हीनाधिकं वा आख्याति ततोऽपरिणामेनाभवति

सेसेसु असब्भावं, णातिक्खमंदधम्मवज्जेसु ।
गूहयते सब्भावं, विप्परिणति हीणकहणे वा ॥

शेषेषु ग्लानादिषु पदेषु मन्दधर्मवर्जेषु सद्भाव व्याख्याति यद्यप्यसौ ग्लानो ऽल्पश्रुतो वा शिष्यनिष्पत्तिर्वा तस्य नास्ति तथापि तत्र कथनीयम् । यस्तु मन्दधर्मपार्श्वस्थादिस्तत्र सद्भाव कथनीयो मा ससार पार गन्तुकाम सुतरा ससारे पतिष्यतीति कृत्वा यस्तु ज्ञानदर्शनचारित्रतप संपन्नो धादी धर्मकथी सग्रहोपग्रहकारी तद्विषय सद्भाव यदि गूहयति अपलपति हीनकथन वा करोति अधिकमप्यन्याचार्येभ्यो हीन कृत्वा कथयतीत्यर्थ । एषा विपरिणामता मन्तव्या । अथ त्रिविधा गर्हा व्याचिख्यासुस्तत्स्वरूप तावदाह ।

सीसो कंपणगरिहा, हत्थविलंवि य अहो य हक्कारो ।
वेल्लाकरणाय दिसा, चिट्ठतिणामं ण घेत्तव्वं ॥

गर्हा नाम शैक्षेण पृष्टस्सन् शीर्षाकम्पन करोति हस्तौ वा धुनीते विलम्बितानि वा करोति हस्तावोष्ठौ वा विलम्बयतीत्यर्थ । यद्वा ब्रवीति । अहो प्रव्रज्या हाकार वा करोति हाहा कष्ट यदेव नष्टो लोक (वेल्लन्ति) नामापि न वर्त्तते। अस्या वेलाया गृहीतुमिति । कर्णौ वा तदीयनामग्रहणे स्थगयति यस्या वा दिशि स तिष्ठति तस्या न स्थातव्यमिति ब्रवीति। उपलक्षणत्वादक्षिणी वा निमीलयति यद्वा तामपि तस्यातिपत्रेन ग्रहीतव्यमत आस्तामेतद्विषय पृच्छादिकमिति ।

नाणे दंसणचरणे, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
अह होति तिहा गरहा, कायो वाया मणो वावि ॥

ज्ञाने दर्शने चारित्रे चेति त्रिविधा गर्हा भवति । तत्र ज्ञानगर्हा नाम न उपस्थितेनैव किंतु तदीयेन ज्ञानेन । दर्शनगर्हा तु मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकप्रायोऽसौ । चारित्रगर्हा सातिचारं चारित्रो ऽचारित्री वासौ । अथवा सूत्रे अर्थे तदुभये चेति त्रिविधा गर्हा । तत्र सूत्र तस्य शङ्कित स्खलितमर्थ पुनरवबुध्यते १ यद्वा अर्थे नावबुध्यते सूत्र पुनर्जानाति २ उभयमपि वा तस्याविशुद्ध जानाति वा किमपीति ३ अथवा कायवाग्मनोभेदात् त्रिधा गर्हा। तत्र कायगर्हा तेषामाचार्याणां शरीर हुण्डादिसंस्थान विरूप वा । वाग्गर्हा मन्मन काहल वा ते जल्पन्ति । मनोगर्हा न तेषां तथाविधोहापोहपाटव भवाग्रहणसामर्थ्यमिति । अथैषा त्रिविधा गर्हा भवति ।

प्रकारान्तरेण गर्हामेवाह ।

पव्वयसि ओम कस्स स-कासे अमुगस्स निद्दिट्ठो ।
आयपराधिगसंसी, उवहणति परं इमेहिं तु ॥

कोऽपि शैक्ष केनापि साधुना पृष्ट प्रव्रजसि त्व स प्राह ओम कस्य सकाशे इति पृष्ट सन् भूयोऽप्याह अमुकस्य समीपे । एव निर्दिष्टे उक्ते स साधु' आत्मान परस्मादधिक शसितुमाख्यातु शीलमस्येत्यात्मपराधिकशसी परममीभि वचनैरुपहन्ति । तद्यथा ॥

अवहुस्सुतो वि एव्वं, जहच्छंदा तेसु वा संसग्गी ।
ओमण्णा संसग्गी व, तेसु एक्केक्कए दुन्नि ॥

अहं बहुश्रुत' सोऽवहुश्रुत । अहं विशुद्धपाठक स पुनरविशुद्धपाठी । यद्वा यथाच्छन्दास्ते आचार्यास्तैर्वा यथाच्छन्दै' सह ते गाढतर संसर्गिण' । गाथाया तृतीयार्थे सप्तमी । अवसन्ना वा ते सार्द्धं ससर्गिणो वा एव पार्श्वस्थादावप्येकैकस्मिन् भेदौ द्वौ द्वौ दोषावेवमेव वक्तव्यौ ।

अथ कायवाङ्मनोगर्हामेव प्रकारान्तरेणाह ।

सीसोकंपणहत्थे, कण्णदिसा अत्थि काइगी गरहा ।
वेल्ला अहो य हात्तिय, णामत्ति काइगी गरहा ॥

शीर्षकम्पन हस्तविलम्बन कर्णस्य अन्यस्यां दिशि स्थापनम् । अक्षिनिमीलनमनिमिषलोचनस्य वा क्षणमवस्थानम् । एषा सर्वाऽपि कायिकी गर्हा यस्य यस्यां वेलाया नाम न गृहीतव्य म अहो कष्ट हाहाकारकरण नाम च तस्य कदापि न ग्रहीतव्यमित्यादिज्ञापण स्या कायिकी गर्हा ।

अह माणसिगी गरहा, निज्जाति णित्तवत्तरागेहिं ।
धीरत्ताए ए यं पुण, अभिणंदइ य त वयणं ॥

अयानन्तर मानसिकी गर्हा मनसि तमाचार्यं जुगुप्सते कथमेतत् ज्ञायते इत्याह नेत्रवक्त्रयो सबन्धिनो ये रागा मुकुलनविन्यायनवनादयो विकारास्तै सूच्यते मानसिकी गर्हेति भणिता साध्विद कृत्यमेतद्भव्यानामित्यादिवचोभिर्न तदीय वचनमभिनन्दति धीरतया वा तूष्णीकमास्ते। एवमन्यतरस्मिन् गर्हाप्रकारे कृते तस्य शङ्का भवति अवश्यमकार्यकारी स आचार्यादि समाख्यते । नचामी साधवोऽलीक भाषन्ते । अहमपि तत्र गत आत्मान नाशयिष्यामीति ।

एताणि य अण्णाणि य, विपरिणमणपदाणि सेहस्स ।
उवहिणियइण्पट्ठाणो, कुव्वति अणज्जया केइ ॥

एतानि चानन्तरोक्तानि अन्यानि च द्रव्यक्षेत्रकालभावा शैक्षस्य विपरिणमनपदानि भवन्ति। तत्र द्रव्यतो मनोज्ञाहारादि ददाति । क्षेत्रत प्रवातनिवाते मनोनुकूले प्रदेशे त स्थाप

यति । काद्यतो वेलायामेव भोजयति । भावतस्तस्याकर्षणार्थं हितयुतमुपदेशं ददाति । एवं केचिदनृजुकाः शठा उपधिः परवञ्चनाभिप्रायो निकृतिः कैतवार्थं प्रयुक्तवचनाकाराच्छादनं ते प्रधाने येषां ते तथाविधविपरिणामनपदानि कुर्वन्ति ।

उपसंहरन्नाह ।

एए सामयारं, कप्पं जो अतिचरेज्ज लोभेण ।
थेरे कुलगणसंघे, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

एतेषामन्याहृतादिद्वारकलापप्रतिपादितानां कल्पानामन्यतरकल्प विधाय आचार्यादिर्लोभदोषतोऽतिचरेत् अतिक्रामेत् तं सम्यक् ज्ञात्वा कुलगणस्थविरं कुलादिसमवायेन वा तस्य पार्श्वाच्चं शैक्षमाकृष्य चत्वारो मासा गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्त दातव्यम् । अथ स्थविरैः समवायेन वा भणितोऽपि तं शैक्षं न समर्पयति ततः कुलगणसंघबाह्यः क्रियते ॥ बृ० ३ उ० ॥ (साधारणावग्रहस्थितानां कस्य क्षेत्रमिति खेत्तशब्दे) वर्षास्ववग्रहः पज्जुसणा शब्दे) (अवग्रहस्य कर्षतो मान सागारिय शब्दे) ।

(१७) अवग्रहे सप्त प्रतिमाः ।

साम्प्रतमवग्रहविशेषानधिकृत्याह ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा आगंतारेसु वा ४ जावोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहावइपुत्ताण वा इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गहं उगिण्हित्तए तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा । से आगंतारेसु वा अणुवी ति उग्गहं जाएज्जा जाव विहरिस्सामो पढमा पडिमा । अहावरा दोच्चा पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं गिण्हिस्सामि अण्णेसिं भिक्खूणं उग्गहिए उग्गहे उवल्लिस्सामि दोच्चा पडिमा । अहावरा तच्चा पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं गिण्हिस्सामि अण्णेसिं च उग्गहिए उग्गहे णो उवल्लिस्सामि तच्चा पडिमा । अहावरा चउत्था पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं णो उगिण्हिस्सामि अण्णेसिं च उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि चउत्था पडिमा । अहावरा पंचमा पडिमा जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं उगिण्हिस्सामि णो दोण्हं णो तिण्हं णो चउण्हं णो पंचण्हं पंचमा पडिमा । अहावरा छट्ठा पडिमा से भिक्खू वा से भिक्खुणी वा जस्सेव उग्गहे उवल्लिएज्जा जे तत्थ अहासमण्णागते तंजहा । उक्कडे वा जाव पलाले वा तस्स लाभे संवसेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा छट्ठा पडिमा । अहावरा सत्तमा पडिमा से भिक्खू वा से भिक्खुणी वा अहासंथडमेव उग्गहं जाएज्जा तंजहा पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव तस्स लाभे संवसेज्जा तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा सत्तमा पडिमा इच्चेतासिं सत्तण्हं पडिमाणं अण्णयरं जहा पिंडेसणाए सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं । इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं पंचविहे उग्गहे पण्णत्ते तंजहा देविंदोग्गहे रायोग्गहे गाहावइउग्गहे सागारियउग्गहे साहम्मियउग्गहे एयं खलु तस्स भिक्खू वा भिक्खुणी वा सामग्गियं उग्गहपडिमा समत्ता ॥

स भिक्षुरागन्तागारादाववग्रहे गृहीते ये तत्र गृहपत्यादयस्तेषां सम्बन्धीन्यायतनानि पूर्वं प्रतिपादितान्यतिक्रम्येत्येतानि च वक्ष्यमाणानि कर्मोपादानानि परिहृत्यावग्रहं ग्रहीतुं जानीयात् । अथ भिक्षुः सप्तभिः प्रतिमाभिरभिग्रहविशेषैरवग्रहं गृह्णीयात्तत्रेयं प्रथमा प्रतिमा । तद्यथा स भिक्षुरागन्तागारादौ पूर्वमेव विचिन्त्यैवंभूत प्रतिश्रयो मया ग्राह्यः नान्यथाभूत इति प्रथमा । तथास्य च भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति तद्यथा अहं च खल्वन्येषां साधूनां कृते ऽवग्रहं ग्रहीष्यामि याचिष्ये अन्येषां चावग्रहे गृहीते तरितुं पालयिष्ये वत्स्यामीति द्वितीया प्रतिमा । सामान्येन इय तु गच्छान्तर्गतानां सम्भोगिकानामसम्भोगिकानां चोद्युक्तविहारिणां यतस्तेऽन्योन्यार्थं याचन्त इति । तृतीया त्विय मन्यार्थमवग्रहं याचिष्ये अन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीति एषा त्वाहालन्दिकानां यतस्ते सूत्रार्थविशेषमाचार्याद्दभिकाङ्क्षन्ते आचार्यार्थं याचन्ते । चतुर्थी पुनरहमन्येषां कृते ऽवग्रहं न याचिष्ये अन्यावगृहीते च वत्स्यामीतीय तु गच्छ एवाभ्युद्यतविहारिणां जिनकल्पार्थं परिकर्म्म कुर्व्वताम् । अथापरा पञ्चमी अहमात्मकृते ऽवग्रहमवग्रहीष्यामि न चापरेषां द्वित्रिचतुपञ्चानामिति । इय तु जिनकल्पिकस्य । अथापरा षष्ठी यदीयमवग्रहं ग्रहीष्यामि तदीयमवकटादि संस्तारकं ग्रहीष्यामीतरथोत्कुटुको वा निषण्णो उपविष्टो वा रजनीं गमयिष्यामीत्येषापि जिनकल्पिकादेरिति । अथापरा सप्तमी एषैव पूर्वोक्ता नवरं यथा संस्कृतमेव शिलादिकं ग्रहीष्यामि नेतरदिति शेषमात्मोत्कर्षवर्जनादिपिण्डैषणावन्नेयमिति । किञ्च (सुयमित्यादि) श्रुत मया आयुष्मता भगवतैवमाख्यातम् । इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिः पञ्चविधो ऽवग्रहो व्याख्यातस्तद्यथा देवेन्द्रावग्रह इत्यादि सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तेरिति । आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

तिर्हिइ सराहिं तिहिं रोहिणी हिं कुज्जा उग्गहवसहिट्ठाय द० प० । आत्मपरव्यापारे, व्य० द्वि० ४ उ० । अवष्टम्भे, ओ० । गृहस्थविहे, उपाश्रयान्तर्वर्तिनि अवगाह्ये वस्तुनि च । प्रश्न० । वृष्टिजलप्रतिबन्धे, अनावृष्टौ, च निग्रहे, गजसमूहे । अवग्रहस्तु शापे, वाच० ।

उद्ग्रह–पुं० विधिग्रहणे स्था० ।

उग्गहजायण–अवग्रहयाचन–न० मनुज्ञापितपानाशाने, आलोच्यावग्रहयाञ्चाऽभीक्ष्णाऽवग्रहयाचनम् । ध० २ अधि० ।

उग्गहणंतग–अवग्रहानन्तक–न० अवग्रह इति योनिद्वारस्य सामयिकी संज्ञा तस्याऽनन्तकं वस्त्रमवग्रहानन्तकम् । पुंस्त्वं प्राकृते । लौकिके मध्यभागविशाले पर्यन्तभागयोस्तु तनुके गुह्यरक्षार्थं क्रियमाणे उपकरणभेदे, बृ० ३ उ० । तच्च निर्ग्रन्थैर्न ग्राह्यं निर्ग्रन्थीभिस्तु ग्राह्यम् ॥

(सूत्रम्) नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणंतगं वा उग्गह

पट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ।

उभयम्मि वि य विसिट्ठं, वत्थग्गहणं तु वण्णियं एयं ।
जं जस्स होति जोग्गं, इदाणि तं तं परिकहइ ॥

उभय निश्राभिसे सूत्रद्वयमेतस्मिन्नविशिष्टमिदं साधूनां कल्पते न कल्पते वा इत्यादि । विशेषरहितमिदमनन्तरोक्तं वस्त्रग्रहणं वर्णितमिदानीं तु यद्यस्य संयत्या वा योग्यं तत्तस्त्वचेणैव साक्षात्परिकथयतीत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। नो कल्पते निर्ग्रन्थानामवग्रहानन्तकं वा गुह्यदेशविधानवस्त्रं तस्यैवाच्छादकं पट्टं धारयितुं वा परिहर्तुं वा इति सूत्रसंक्षेपार्थः । अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

निग्गंथोग्गहधरणे, चउरो लहुगा य दोस आणादी ।
अतिरेगओवहि त्ता, लिंगभेदवितियं अरिसमादी ॥

निर्ग्रन्थानामवग्रहानन्तकपट्टयोर्धारणे चत्वारो लघुमासाः । आज्ञादयश्च दोषाः । अतिरिक्तोपधित्वादधिकरणं भवेत् । तथा लिङ्गभेद एष्वो भवति । साधूनां लिङ्गनिश्चितं न भवतीत्यर्थः । द्वितीयपदविषयमर्शो रोगादिकं तत्रावग्रहानन्तकं पट्टकं वा धारयेत् । द्वितीयपदमेव भावयति ।

भगंदलं जस्स रिमा व णिच्चं, गालेंति पूयं वि ससोणियं वा।
लहाइ सज्झायदयाणिमित्तं, सो उग्गहं बंधति पट्टगं च ॥

भगदरं गुह्यसमीपे व्रणविशेषो ऽर्शांसि वा यस्य नित्यं पूयं वा रसिकां वा शोणितं वा गलति स लघुरिह स्वाध्यायदयानिमित्तम् अहो अमी ईदृश एव धाव्यन्ते यो भगन्दरादिरोगवान् बहिर्गन्तुमसहिष्णुस्तस्य पट्टो रुधिरलोपाश्रये कचिन्मात्रके धाव्यते ततस्तत्रावन हस्तशतादहिः । अथासौ बहिर्गन्तुमसहिष्णुस्ततो विचारभूमौ गत स्वयमेवावग्रहपट्टकं रुधिरं च धावति । पट्टबन्धने विधिमाह ।

ते पुण होंति दुगादी, दिवसंतरिएहिं वज्झए तेहिं ।
अरुगं इहरा कुत्थइ, तंवि य कुव्वंति णिच्चोल्ला ॥

ते पुनरवग्रहानन्तकपट्टा द्विकादयो त्रिप्रभृतिसख्याकाः कर्तव्याः । तैर्दिवसान्तरितैर्व्रणो बध्यते । किमुक्तं भवति येनावग्रहानन्तकेन पट्टकेन यो ऽद्य व्रणो बद्धः द्वितीयदिवसे स उन्मोच्य प्रक्षाल्य वा परिभोग्यो विधेयः । य पुनराद्यदिनेन परिभुक्तः तेन तस्मिन् दिने व्रणो बन्धनीयः । इतरथा प्रतिदिनं तेनैव पट्टेन बन्धे दीयमाने अरुकं व्रणं कुथ्यति प्रतिभावमुपगच्छति । तेऽपि च पट्टाः प्रतिदिनं धाव्यमानतया नित्यं सदैवार्द्राः सन्तः कुथ्यन्ति । अतो द्व्यादयः पट्टाः कर्तव्याः ॥

[सूत्रम्] कप्पइ निग्गंथीणं उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । अथ भाष्यविस्तरः ।

निग्गंथीण अगिण्हे, चउरो गुरुगा य आयरियमादी ।
तत्रतिणिय ओगाहण, णिवारणे निलहसमं ॥

निर्ग्रन्थीनामवग्रहानन्तकस्य पट्टकस्य वा अग्रहणे चतुर्गुरुका । इदं सूत्रमाचार्यः प्रवर्तिनीं न कथयति चत्वारो गुरवः। प्रवर्तिनी संयतीं न कथयति चत्वारो गुरवः । आर्यिका न प्रतिगृह्णन्ति मासलघु भिक्षादौ गच्छन्ती यद्यवग्रहानन्तकं वा न गृह्णाति तत एते दोषाः । तत्र भिक्षस्य भिक्षां गच्छन्त्या अवगाहनं प्रसरणमन्येषु दिवसेषु अवग्रहानन्तकपट्टाभ्यां निवारितमासीत् परं तद्दिवसमगृहीतयोरुधिरमवगाढं ततो लोकस्तद् दृष्ट्वा उपहसनं कुर्यात्। कथमिति चेदुच्यते ॥

खाइगयाए निग्गयं, रुहिरं दट्ठुमसंजता वदे ।
विगहेवत केणयं जणो,दोसमिणं असमिक्खदिक्खिओ॥

भिक्षायां गतायास्तस्याः रुधिरं निर्गतं दृष्ट्वा असंयता वदेयुः यत इत्यामन्त्रणे भो भो लोका धिगहो केनाय स्त्रीलक्षणो जनोऽमुं दोषमसमीक्ष्य दीक्षित । अपिच ।

छक्कायाण विराहणा, पडिगमणादीणि जाणि ठाणाणि।
तब्भाव पिच्छिऊणं, वितियं असती अहव जुण्णा ॥

शोणिते परिगलिते षट्कायानां विराधना भवति सा च दृष्ट्यमिति कृत्वा प्रतिगमनान्यन्यतीर्थिकगमनादीनि यानि स्थानानि कुर्यात् तन्निष्पन्नं प्रवर्तिन्या प्रायश्चित्तम्। सचासौ शोणितपरिगलनलक्षणो भावश्च तद्भावस्तं प्रेक्ष्य विलोभ्य तरुणा उपसर्गयेयुरिति वाक्यशेषः । द्वितीयपदमत्राभिधीयते (असइत्ति) नास्त्यवग्रहानन्तकमथवा जीर्णा स्थविरा सा संयती अतो विद्यमानमपि न गृह्णीयादपि ।

अथेदमेव भावयति ।

दिट्ठं तदिट्ठन्नमहं जणेण,
लज्जाए कुज्जा गमणाइगाइं ।
लज्जाइभंगो वहविज्जती से,
लज्जाविणासे य स किं न कुज्जा ॥

यत्पुनर्दृष्टं तत् दृष्टं तावज्जनेन अतो नाहमत्र स्थातुं शक्नोमीति कृत्वा लज्जया गमनादीनि गृहवासे यानादीनि कुर्यात् । यद्वा तस्याः संयत्या लज्जाया भङ्गो भवेत् लज्जाविनाशे च सा किं नामाकृत्यं न कुर्यात् । तथा ।

तं पासिउं भावमुदिण्णकम्मा,
दट्ठेज्ज वा सा वि य तत्थ भज्जे ।
तं लोहियं वा विसरक्खमादी,
विज्जा समालब्भति जोययंति ॥

तं रुधिरपरिगलनरूपं भावं दृष्ट्वा केचित्तरुणा उदीर्णकर्माणऋतुर्धमप्रतिसेवनार्थं प्रेरयेयुः । साऽपि च संयती तत्र भजेत् सङ्गं कुर्यात् यद्वा तल्लोहितं सरजस्कादयः कापालिकप्रभृतयः समालभ्य गृहीत्वा विद्याप्रयोगेणाभियोजयन्ति वशीकुर्वन्ति यत एवमतः ।

अंतो धरम्मि वयं तं करेति, जहा णडी रंगमुवेउकामा।
लज्जापहीणा अह सा जणोघं,संपप्पते ते य करोति हावे ॥

यथा नटी नर्तकी रङ्ग नाट्यस्थानमुपैतुकामा गृहस्यैवान्तर्मध्ये अयं लज्जाया अभिभवं करोति । अथानन्तरं सा लज्जाप्रहीणा सती जनौघ जनसमुदाय सम्प्राप्य तान् भावानङ्गविक्षेपादीन् करोति। एवं संयत्यपि भिक्षां गन्तुमना प्रतिश्रयमध्य एवावग्रहानन्तकादिभिरुपकरणैरात्मानं प्रावृत्त करोति ततो भिक्षां पर्यटन्ती त्वरणादिष्वनवलोकमानेष्वपि सुखेनैव लज्जां पराजयते । अथ द्वितीयपदमाह ।

असईया णंतगस्स उ, पणतिणिगा वग्गओ गेण्हे ।
निग्गमणं पुण सुविहिं, विधि अपही तत्थिमा अविहो ॥

अवग्रहानन्तकस्याभावे पञ्चपञ्चाशद्वर्षेभ्य उत्तीर्णा वा संयती

ग्लानयोनिकतया न गृह्णीयादपि । इह च भिक्षाया निर्गमन द्विविध विधिना अविधिना च । तत्र तावदयमविधिः ।

उग्गहमादीहि विणा, दुण्णिवसिया वा विउक्खुलणवत्था ।
एक्का दुएय अविहा, चउगुरु आणा य अणवत्था ॥

अवग्रहानन्तकादिभिर्विना भिक्षां निर्गच्छति । दुर्निवसिता वा भिक्षां पर्यटति । एका वा द्वे वा भिक्षायां गच्छत. एष सर्वोऽप्यविधिरुच्यते । अत्र चतुर्गुरुकाः । आज्ञा च भगवतां विराधिता स्यात् । अनवस्था च एकामविधिना निर्गच्छन्तीं दृष्ट्वा अन्याऽपि निर्गच्छतीत्येवलक्षणा भवति । तथा ।

मिच्छत्तपवाडियाए, वायण भउच्चयम्मियाउवरो ।
गोयरगयावगाहिया, धरिसणदोसे इमे लहंति ॥

अवग्रहानन्तकादिभिर्विना भिक्षां गता सहसा मूर्च्छादिना प्रपतेत् तत. प्रपतितायाः वातेन वा प्रावरणे समुद्धृते अभावृतत्व दृष्ट्वा लोको मिथ्यात्व गच्छेत् । यथा नास्त्यमीषाममुष्य दोषस्य प्रतिषेधः कथमन्यथैयमित्थं निर्गच्छेत् । गोचरगता वा काचिदविधिनिर्गता केनचिद्विटेन गृहीता धर्षणदोषानमून् वक्ष्यमाणान् लभते । ते चोपरि दर्शयिष्यन्ति ।

अथ विधिनिर्गमे गुणमाह ।

अड्ढोरुगादीहमिया सणादी, सा रक्खिया होति पदेवि जाव
तिण्हंपि चेलेण जणोभिजातो, एक्कं वराविप्पमुचेति णामं

या अर्धोरुकदीर्घनिवसनादिभि सुप्रावृता निर्गता सा केनचिद्धर्षितुमारब्धाऽपि पदादावपि यावत् सरक्षिता भवति तिसृणां च संयतीनां चेलेनाभिजातः शिष्टो जनो भयान् मिलती ति शेषः । या पुनरेकाम्बरा निर्गच्छति सा क्षिप्र शीघ्र विनाश संयमपरिभ्रंशमुपैति ।

उव्वेल्लिए गुज्झम पस्सतो सा, हाहक्कितस्सेव महाजणेणं ।
धिधित्ति उच्छुक्कितताडियस्स, पत्तो समं रणुदवो व वेढो ॥

विधिनिर्गतयोः केनचित्प्रत्यनीकेनोद्वेल्लिते वस्त्रादिकेऽपि बाह्योपकरणे यावदसौ गुह्य न पश्यति तावन्महाजनेन हाहाकृतो धिग्धिगिति भणनपूर्वकं च बुक्कितो गाढ जुगुप्सितस्ताडितश्चासौ ततस्तस्यैवविधां विडम्बनां प्रापितस्य वेदो मोहोदयोऽरण्यदव इव सद्यः शम प्राप्त. ।

अथ विधिनिर्गमने दोषानाह ।

तत्थे व य पडिबंधो, पडिगमणादीणि ठाणाणि ।
हिंडी य बंभचेरे, विधिणिग्गमणे पुणो वोच्छं ॥

येन सा अविधिनिर्गता धर्षिता तथैव प्रतिबन्धोऽनुरागो भवेत् तदनुरक्ता वसतिप्रतिगमनादीनि स्थानानि करोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्त प्रवर्तिन्या ऋतुसमयगृहीतायाश्च कस्याश्चित् हिण्डिमबन्धो भवेत् ततश्च महती प्रवचनापभ्राजना ब्रह्मचर्यविराधना च परिस्फुटैव तस्याः संजायते । विधिनिर्गमने पुनर्भूयोऽपि गुणान् वक्ष्ये । एतच्च सान्यासिकीकृत्य प्रथम विधिनिर्गमने दोषशेषमाह ।

न केवलं जा उविहम्मिआ सती,
सवच्चतामेति मधूमुहे जणा ।
उवेति अन्ना वि उ वच्चपत्ततं,
अपाउता जा अणियाऽस्सिया य ॥

न केवलमेव सती साध्वी विधर्म्मिता शीलधर्माद्राविता सैव मधुसरे च जने दुर्जनलोके सवाच्यतां सकलङ्कतामुपगच्छति । अन्याऽप्येत द्व्यतिरिक्ताऽपि वाच्यपात्रं वचनीययोग्यतामुपैति । याऽप्रावृत्ता औपक्षिकाद्युपरितनोपकरणरहिता अनिवसिता च । अथावग्रहानन्तकाद्यधस्तनोपकरणवर्जिता भवति । किं च "ण भूसण भूसयते सरीर" भूषणं शरीरं न भूषयति किंतु शील ब्रह्मचर्यं ह्रीश्च लज्जा एतदेव द्वय स्त्रिया विभूषणम् । अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया द्रढयति । गीर्वाणी संस्कारयुक्ताऽपि ससदि सभायां यद्यसाधुवादिनी अकारमकाराद्यसभ्यप्रलापिना तदा अपेशला । शिष्टजनजुगुप्सनीयतया न शोभना भवति एवमियमपि स्त्री हारादिविभूषिताऽपि यदि विशालसज्जाविकला तदा शिष्टजनस्य जुगुप्सनीया भवति । अत. स्त्रिया शील लज्जा च विभूषणम् । एतच्च शीलं द्वाद्वर्य संयत्या विधिप्रावरणे भवति अतस्तदेवाभिधित्सुराह ।

पट्टड्ढोरग चलणी, अंतोवहराहिराणियंसणिया ।
संजाभिखुज्जकरणी, अणेगतो वसतिकाले ॥

पट्टकोऽर्धोरुकश्च चालनिका अन्तर्निवसनि बहिर्निवसति सघट्टिका कुब्जकरणी उपलक्षणत्वादवग्रहानन्तकं कञ्चुक औपक्षिकी यानागत एव वसतिकाले भिक्षासमये इहतराण्युपकरणानि साध्व्या प्रावरणीयानि इहमेव विभावयिषुराह ।

उग्गहणंतगविएहिं, अच्चाओ अतुरिया उक्किक्खस्स ।
जोहोव्वलंखिया वा, अगिण्हणे गुरुग आणादी ॥

अथावग्रहानन्तकादिभिरुपकरणैरार्याः संयत्यो भिक्षात्वरिता आत्मान भावयन्ति क इवेत्याह । योध इव लंखिकेव वा यथा योध संग्रामशिरसि प्रवेष्टमान सन्नाह पिनह्यति यथा च लंखिका रङ्गभुवं प्रविशन्ती पूर्वं चल्लनकादिना गूढाऽपि नग्नमिवात्मान करोति एवमार्याऽप्यवग्रहानन्तकादिषु प्रावृता निर्गच्छति । अथैतान्युपकरणानि न गृह्णाति ततश्चतुर्गुरुका आज्ञाभङ्गादयश्च दोषा । अथ विशेषज्ञापनार्थमिदमाह ।

जोहोमरुएजड्ढो, णाइणी लंखिया व थल्लिसंनो ।
अज्जाभिक्खग्गहणा, आहरणा होंति णायव्वा ।

आर्याया भिक्षाग्रहणे यदुपकरणप्रावरण तत्रैतानि उदाहरणानि ज्ञातव्यानि । तद्यथा योध प्रतीत. मरुएजड्डो मरुकस्य रजोहस्ती २ नाटकिनी नर्तकी ३ लंखिका वंशाग्रनर्तकी ४ कदलीस्तम्भः प्रतीत. । तत्र योधदृष्टान्तमाह ।

विणिओ पराजितो मारिओ य संखे अवामितो जोहो ।
सावरणो पडिपक्खो, भयं च कुरुते विवक्खस्स ॥

योध संख्ये संग्रामे अवमित' प्राविशन् व्रणित पराजितो मारितो वा जायते । व्रणितो नाम परै' प्रहारजर्जरीकृत पराजित. पराभग्न मारित पञ्चत्वं प्रापित । यस्तु सावरणस्तस्य प्रतिपक्षो वक्तव्य । किमुक्त भवति य सन्नाह पिनह्य रणशिरसि प्रविशति स न प्रहारैर्जर्जरीभवति न वा पराजयते न वा मरणमासादयति । प्रत्युत विपक्षभय कुरुते । एव मार्याऽपि यथोक्तोपकरणप्रावरणमन्तरेण भिक्षां प्रविष्टा तरुणैरुपद्रूयते सुप्रावृता तु सर्वत्रैव तेषामगम्या भवति । उक्तो योधदृष्टान्तः । संप्रति मरुएजड्डदृष्टान्त गाथाचतुष्टयेनाह ।

विहिवसता उ मुरुंडं, आपुच्छति पव्वया महं कत्थ ।
पासंडे य परिक्खति, वेसग्गहणेण सो राया ॥
सोवेहिं व धरिसणा, माउग्गामस्स होइ कुसुमपुरे ।
उज्जावणा पयवणे, णिवारणे पावकम्माणं ॥
उज्झसु चीरे सा या, विणिवयहंसु याति जे जहा चायं ।

उच्चूरिया णग्गा विव, दीसति कुप्पसमादीहिं ॥
धिधिक्कतो वहेक्का, तो य लोएण तज्जितो भिंगो ।
उग्गोहिते णयाणि वा-रितो ततो रायसीहेण ॥ १४ ॥

कुसुमपुरे नगरे मुरुंडो राया तस्स भगिणी विहवा सा अ-
ण्णया रायं पुच्छइ अहं पव्वइउकामा तो भाइसइ कत्थ पव्व-
यामित्ति । तओ राया पासंडीण वेसग्गहणेण परिक्खं करेइ।
हत्थिमिंठा संदिठा जहा पासंडिगाओ गामेसु दत्थि सम्मि-
आह भणिज्जाह या पोत्तं मुयाहिं अण्णहा हमिणे उवद्दवेस्सा-
मित्ति । एक्कम्मि य मुक्के मा मारिहि तो धम्मरा देइ जीवस-
त्थे मुक्का तओ एगेण मिंठेण चाए रायपहे नहाकय जाव
नग्गीभूया रक्खा सव्व दिट्ठ नयरं अण्णा वि हीए पविट्ठा रायप-
होत्ति णाए इत्थिसाहिओ मुंडसुपुरुति तए पढमं मुहपोत्ति-
या मुक्का ततो निसिज्जा एवं जाणि बाहरिल्लाणि चीवराणि
ताणि पढमं मुयइ जाव बहूहिं वि मुक्केहिं नही वि य कंचुका-
दीहिं सुप्पाउया दीसइ ताहे लोगेण धिक्कदो कओ हा पाव
किमेयं महासईं तयस्सिण अभिहवेसित्ति रण्णा वि ओलोयण-
वारिओ वितियं च एस धम्मो सव्वन्नुदिठो अजेण य बहुज-
णेणा कया सासणस्स पसंसा ॥

अयाऽक्षरार्थो विधवा स्वसा मुरुण्ड राजानमापृच्छति कुत्राहं
प्रव्रजामीति । तत स राजा वेषग्रहणेन पाखण्डिनः परीक्ष-
ते परीक्षार्थमेव चासे हस्तिमिंठे कुसुमपुरे मातृग्रामस्य पाष-
ण्डिस्त्रीजनस्य धर्षणा भवति वर्तमाननिर्देशस्तत्कालापेक्षया
तदानीं प्रवचनस्योड्डायना प्रभावना समजनि। येच पापकर्मा-
ण सयतीः धर्षयितुमिच्छन्ति ते निवारणाय न शक्यन्ते।
अतस्तदेवविधेन एवा धर्षयितुमिति एत्या कथं पुनस्तत्
संवृतमित्याह (उच्चूरी पवरेत्यादि) विधिनिर्गता संयती भणि-
हिता उज्झ परित्यज चीवराणि सा चैवमभिहितवती नृपपथे
राजमार्गे यानि यथा यदिकपकरणानि तानि तथा मुञ्चति एव
बहुषु वस्त्रेषु मुक्तेष्वपि यदा सा नटीवत् कार्पासिकादिभि
कञ्चुकादिभिरर्धकञ्चुकादिना सुप्रावृता दृश्यते तदा लोकेन स
मिंठो धिग्धिक्कृतो हा हा कृतश्च तथा तर्जितो गाढं निर्भत्सित
ततश्चावलोकनस्थितेन गवाक्षोपविष्टेन राजसिंहेनाम्नी निवा-
रित मर्पेक्षतश्चायं धर्म इति कृत्वा साधूनां समीपे भगिनी-
प्रव्रज्याप्रदानार्थं विसर्जितेति नर्को मुरुण्डराजदृष्टान्त'।

अथ नर्तकीलङ्घिकादृष्टान्तद्वयमाह ।

पाए वि उक्खिवंती, न लज्जती णट्टिया सुणंवत्था ।
उच्चूरिया वा रंगम्मि, लंखिया लुप्पयंतीति ॥

यथा नर्तकी सुनेपथ्या सती पादावप्युत्क्षिपन्ती न लज्जते ।
लङ्खिका वा रङ्गान्तरे उत्पतन्ती परिकरणशतान्यपि कुर्वती
यथा उच्चूरिता सुप्रावृता सती न लज्जते । एवं संयत्यपि सु-
प्रावृता न लज्जत इति उपनय । अथ कदलीस्तम्भदृष्टान्तमाह ।

कयलीखंभो व जहा, उव्वेढेउ सुदुक्करं होति ।
इय अज्जा उवसग्गे, सीलस्स विराहणा दुक्खं ॥

कदलीस्तम्भो यथा पटलबहलत्वादुद्वेष्टयितुमुद्वेष्टयितुं सुदु-
ष्कर भवति एवमार्यिकाऽपि बहूपकरणप्रावृता नोद्वेष्टयितु
शक्या इत्येव योऽप्रादिनिर्दिष्टान्तैर्विधिनिर्गताया आर्याया
केनचिदुपसर्गे क्रियमाणेऽपि शीलस्य विराधना दुष्करा
मन्तव्या। किञ्च ।

एक्का मुक्का य धरिसिया,णिवेदण जतणा य होति कायव्वा।
वाहरिता जहिं तथा, सज्जातरादी सयं वावि ॥

एका काचिद्विधिनिर्गताऽपि मुक्ता एका परैर्धर्षिता ततो
यतनया यथा शेषसंयतसंयतीजनो न जानाति तथा गुरूणां
निवेदना कर्तव्या । अथ सा बाहाटिता ततो न परित्यक्तव्या
किंतु शय्यातरादिना स्वयं वा तस्य वार्त्तापनं विधेयमिति
निर्युक्तिगाथासमासार्थः। अथैनामेव विवृणोति ।

विहिणिग्गताउ एक्का, भायरियाए गहिता गिहत्थेहिं ।
संवरिए भावेण य, फिडिया अविराहियचरित्ता ॥

एका काचिद्विधिनिर्गता गोचरचार्यायां पर्यटन्ती गृहस्थैर्गृ-
हीता परं सवृतप्रभावेण सुप्रावरणमाहात्म्येन सा अविराधित-
चारित्रा स्फिटिता ॥

लोएण वारितो वा, दट्ठूण सयं च तं सुणेवत्थं ।
मुद्दिट्टं तु वसंतो, खविएइ उरमामयतीय ॥

यन सा धर्षितुमारब्धा स लोकेन धिक्कारपुरस्सरं वारितः ।
स्वयं वा तां संयतीं सुनेपथ्यां सुप्रावृतां दृष्ट्वा सुदृष्टममीषां
धर्मरहस्यमिति कृत्वा उपशान्तः सन् सविस्मयं पश्चात्ता
सयतीं क्षामयति ।

अणाभोगपमादेण व, असती पडस्साणि अवगहणे ।
विहिणिग्गतमाहव्व, वाहाडितघाडणे गुरगा ॥

सा कदाचिदनाभोगेनात्यन्तस्मृत्या प्रमादेन वा विकथानि-
द्रादिप्रमत्ततया अवग्रहपट्टस्य वा अभावे एवमेव भिक्षार्थं
निर्गता एवमविधिनिर्गता वा (आहव्व) कदाचित्प्रच्छन्ने अव-
काशे गृहीता ततो गुरूणा यतनया निवेदनीयम् । अथ सा
कदाचिद्वाहाटिता ततो यस्ता बाहरयति निष्काशयतीत्यर्थः
तस्य चतुर्गुरुका ॥ कुत इत्याह ।

निव्वुढपदुट्ठा सा, भणेइ तेहिं व कत्तमेत्तं च ।
राएगिहीहि सयं वा, तंच सासंति मा वितियं ॥

सा निर्व्यूढा निष्काशिता सती साधूनामुपरि प्रद्वेषं यायात्
प्रद्विष्य च भणति । एतैरेव श्रमणैरित्थं ममैतत् कृतमिति
ततो न परित्यक्तव्या येन च धर्षिता तमनवस्थाप्रसङ्गवार-
णार्थं राज्ञा प्रशासयन्ति गृहिभिर्वा शिक्षयन्ति यदि प्रज्ञव-
स्तत स्वयमपि शासन्ते मा द्वितीयं वारमित्थं प्रवर्तयेयमिति
कृत्वा, । अथ तस्याः सारणविधिमाह ॥

दुविहा णायमणाया, अगीयत्थणायमसिमादी तु ।
सण्णावेंमि कहिंत, सारिता जाव ण पि यती ॥

या वाहाटिता सा द्विधा ज्ञाता अज्ञाता च ज्ञातगर्भा अज्ञातगर्भा
चेत्यर्थ । तत्र या अज्ञाता सा अगीतार्था यथा न जानन्ति तथा
सङ्गी श्रावकस्तदादिकुलेषु स्थाप्यते । तेषां संज्ञिप्रभृतीनां
सद्भाव प्रथममेव कथनीयः कथिते च सद्भावे ते मातापितृ-
समानतया ता तावत् सारयन्ति प्रासुकेन प्रत्यवतारेण पाल-
यन्ति यावत्तदीयस्तनयः स्वजाएरुस्तन्य पिबति स्तन्यपाना-
न् निवर्तत इत्यर्थः ॥

जत्थ उ जणेण णातं, उवस्सया तत्थ एय निक्खं ।
किं सका उड्डेउं, वेंति अगीते असति सड्डे ॥

यत्र तु जनेन ज्ञातव्य यैषा वाहाटिता तत्रोपाश्रय एव स्था-
प्यते न श्रावकादिकुलेषु । न च सा भिक्षायां हिण्डापयितव्या
किंतु शेषसाध्वीभि साधुभिर्वा तस्या प्रायोग्य भक्तपानमा-
नीय दातव्यम् । यद्यगीतार्था भणन्ति किमेव कीदृश्या स-

ग्रह॰ क्रियते ततः सूरयो ब्रुवते यदि नाम न सगृह्यते ततः कथयत किं सांप्रतमेषा शक्या परित्यक्तुम् । अथैव प्रज्ञापिता अपि न प्रतिषेधन्ते तत श्राद्धान् प्रज्ञापयन्ति । यथा ।

दुरतिक्कमं खु विधियं, अवि य अकामा तवस्सिणी गहिता ।
को जाणति अप्पस्स वि, वित्तंतं सारवो तेणं ॥

खुरवधारणे दुरतिक्रममेव प्रतिकर्तुमशक्यमेतत् केनाप्यकार्यकारिणेदमकार्यं विहितं तत किं क्रियते । अपि च अकामा अनिच्छन्ती बलादेव तेन पापात्मना तपस्विनी गृहीता । ततः को जानाति अन्यस्या अप्येवंविधो वृत्तान्त॰ परवशतया भवेत् । तदेनां सम्प्रति सारयामः परिपालयाम इत्यर्थः ।

मा य अवन्नकाहिह, किं ण सुतं केसि सच्चईणं ते ।
जंमणे एय वयभंगो, संजातो तेसि अज्जाणं ॥

हु हुं विध्वस्तशीलेयमित्येवमस्यास्त्ववर्णमवज्ञां वा मा कार्षुः । किं न श्रुतं भवद्भि॰ कस्सित्यकिनोर्जन्म । यथा तावार्थिकाभ्यां पुरुषसंवासमन्तरेणापि कथंचिदुपात्तवीर्यपुद्गलाभ्यां प्रमुखवातेन च तयोरार्थिकयोर्व्रतभङ्गः सजायते विशुद्धपरिणामत्वात् । अनयोः कथाक्रम॰ पञ्चकल्पावद्यकटीकाभ्यामवसातव्यः ।

अवि य हु इमेहिं पंचहिं, ठाणेहि त्थीअ संवसंतीवि ।
पुरिसेण लभति गब्भं, लोएण वि गीइयं एयं ॥

अपिचेत्यभ्युच्चये हु निश्चितं तदेतैः पञ्चभिः स्थानैः स्त्री पुरुषेण सममवसन्त्यपि गर्भं लभते न केवलमस्माभिरेतदुच्यते । किंतु लोकेनापि गीत सशब्दितमेतत् । तान्येवोपदर्शयति ।

दुव्वियडदुण्णिसण्णा, रयं परो वासि पोग्गले छुभति ।
वत्थे वा संसट्ठे, दगआयमणेण वा पविसे ॥

विवृता अनावृता सा चोत्तरीयापेक्षयाऽपि स्यादतो दुःशब्देन विशेष्यते । दुष्ठु विवृता दुर्विवृता परिधानवर्जितेत्यर्थः । एव दुर्विवृता सती दुर्निषण्णा दुष्ठु विरूपतयोपविष्टा सा चासौ दुर्विवृता दुर्विवृतदुर्निषण्णा सा शुक्रपुद्गलान् कथंचित्पुरुषनिःसृतान् सगृह्णीयात् स्वयं वा पुत्रार्थितया शीलरक्षिकतया च शुक्रपुद्गलान् योनावनुप्रवेशयेत् । परो वा श्वश्रूप्रभृतिकः पुत्रार्थमेव (से) तस्या॰ योनौ प्रक्षिपेत् वस्त्र वा शुक्रपुद्गलसंसृष्टमुपलक्षणत्वात्तथाविधमन्यदपि केशात्वक्कण्डूयनार्थं रक्तनिरोधार्थं वा तया प्रयुक्त तदनु प्रविशेत् । अनाभोगेन वा तथाविधं वस्त्र परिहित सद्योनिमनुप्रविशेत् । के जानते न वा तस्या आचम्यन्त्या॰ पूर्वपतिता उदकमध्यवर्तिनश्च शुक्रपुद्गलाः अनुप्रविशेयुः । एवं पुरुषसंवासमन्तरेणापि गर्भसंभवे भवन्तो नास्या अवज्ञां कर्तुमर्हन्ति । एव प्रज्ञाप्य तेषां श्राद्धानां गृहे तां स्थापयन्ति । गता ज्ञातविषया यतना ।

अथाज्ञातविषयां तामाह ॥

अविदियजणगब्भम्मिय, सण्णिगादीसु तत्थ वसत्या ।
लाढेंति फासुएणं, लिंगविवेगो य जा पियति ॥

अनेनाविदितो यो गर्भस्तत्र ये मातापितृसमाना॰ संज्ञिन आदिशब्दाद्यथाभद्रका वा तेषां गृहेषु तत्र वा अन्यत्र वा ग्रामे स्थापयन्ति ते च संज्ञिप्रभृतयस्तां प्राशुकेन प्रत्यचतारेण लाढयन्ति यापयन्तीत्यर्थः । यावच्चापत्यं भावरूस्तन्यं पिबति । तावत्तया लिङ्गविवेक कर्तव्य ॥

एएसिं असतीए, सण्णायगणाणवद्धाकिढगासुं ।
अण्णो वि जो परिणतो, स सिट्ठवेसइतरागारीए ॥

तेषां संज्ञिप्रभृतीनामभावे ये तस्या सत्कास्याः सज्ञातकास्तेषां गृहेषु स्थाप्यन्ते अभावे य॰ स्यतो नाहवद्धः सोऽपि यदि किढो वृद्धस्तदाऽसौ श्रेष्ठिवेष कार्यते ततस्ते पुत्रकाद्वारेण यापयन्तौ तिष्ठतः । नाहवद्धस्याभावे अन्योऽपि यो वयसा परिणत॰ स श्रेष्ठिपुत्रवेष कार्यते इतरा अगारीवेष करोति इतराऽपि गृहिलिङ्ग करोति । अत्रेय प्रायश्चित्तमार्गणा ॥

मूलं वा जाव सणो, छेदो लगुरुगं जं जहा लहुअं ।
वितियपदे असतीए, लवस्सए व अहव जुण्णा ॥

यदि तया प्रतिसेव्यमानया स्वादित ततो मूलम् । वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः (जाव सणत्ति) पश्चाद्व्याख्यास्यते । गर्भमाहृतं दृष्ट्वा स्वादयति छेद॰ । अपत्य जात दृष्ट्वा सहायक मे भविष्यातीति स्वदयन्त्या॰ षड्गुरवः । यथा पुनरस्वादित तस्याः परप्रत्ययनिमित्त यत्किमपि यथा लघु प्रायश्चित्त दातु युज्यते तद्दातव्य (जावत्ति) यावत्तस्या अपत्य स्तन्यपानोपजीवि भवति तावत्तपोर्हं प्रायश्चित्त न दातव्यम् । द्वितीयपदे अवग्रहानन्तकस्याभावे उपाश्रये वा तिष्ठन्ति । अथवा जीर्णाः स्थविराः शासयन्ति अतो ऽवग्रहानन्तक न गृह्णात्यपि । अस्या एव पूर्वार्द्धं व्याख्याति ॥

सेविज्जंते अणुमए, मूलं छेओ गिब्भिमं दिस्स ।
होहिति सहागतं मे, जातं दट्ठूण छग्गुरुगा ॥

सेव्यमानया यद्यनुमत ततो मूलम् । अथ गिब्भिमं गर्भं दृष्ट्वा हर्षमुद्वहति ततश्छेदः । पुत्रभाण्डं दृष्ट्वा सहायक मे भविष्यतीत्यभ्यनुमन्यते षड् गुरवः ।

तेण परं चउगुरुगा, छम्मासा जा ण ताव पूरिंति ।
जातु तवारिहसोही, अणुवत्थणिए तआतं देंती ॥

तत परं जन्मान्तरं यावत्षण्मासा न पूर्यन्ते तावद्यत्र यत्र स्वादयति तत्र २ चतुर्गुरवः । यावत्तस्या अन्धो सोधिरुक्तामनपगतस्तन्ये स्तन्यपानादनपगते अपत्यभाण्डे न ददाति मा शून्य भविष्यतीति कृत्वा ।

मेहुणे गब्भेआ—हिते य सा निज्जियं जति णतीए ।
परपच्चया लहुसगं, तहावि सेवं दिंति पच्छित्तं ॥

मैथुने प्रतिसेव्यमाने गर्भे च आहृते यद्यपि तया न स्वादितं तथापि परप्रत्ययार्थं मा भूद्गीतार्थानामप्रत्यय इत्यर्थ यथा लघुक प्रायश्चित्त तस्या॰ सूरयः प्रयच्छन्ति । अथ यस्तस्या॰ खिंसां करोति तस्य प्रायश्चित्तमाह ।

खिंसाए होंति गुरुगा, लज्जाणिच्छकतो य गमणादी ।
दप्पकते वाउट्टे, जति खिंसति तत्थ वि तहेव ॥

यस्तस्या खिंसां विध्वस्तशीलत्वान्मलिनेयमित्येव करोति तस्य सयतस्य सयत्या वा चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तम् । सा च खिंसिता सती लज्जया प्रतिगमनादीनि कुर्यात् निर्लज्जा वा निर्लज्जा भवेत् तत एव सर्वजनप्रकटमात्मानं प्रतिसवयेत् । अथ दर्पतस्तया मैथुन प्रतिसेवित पर पश्चादावृत्ता आलोच नाप्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना प्रतिनिवृत्ता तामपि यः खिंसति तस्यापि तथैव चतुर्गुरु । किं कारणमिति चेदत आह ।

उम्मग्गेण वि गंतुं, ण होति किं सा तवाइणीसलिला ।
कालेण फुंफुगा वि य, विज्झयं वह सहे सेऊएं ॥

उन्मार्गेणापि गत्वा सलिला नदी पश्चात्किं श्रोतोवाहिनी मार्गगामिनी न भवति भवत्येवेति भाव.। फुंफुकारीषाग्निः सोऽपि (वहसहेसेऊणति) जाज्वलित्वा भृशमुद्दीप्तो भूत्वेत्यर्थं कालेन गच्छति विलीयते विलय याति उपनययोजना सुगमा । वृ० ३ उ० । ध० । प्रव० ।

उग्गहपट्ट–अवग्रहपट्ट– पु० अवग्रहस्य योनिद्वारस्य पट्ट । गुह्यदेशपिधानवस्त्रे, स च वीर्यपातसरक्षणार्थं च घन घनवस्त्रेण पुरुषसमानकर्कशस्पर्शपरिहरणार्थं च मसृण मसृणवस्त्रेण क्रियते प्रमाणेन च देह स्त्रीशरीरमासाद्य तद्विधीयते। देहो हि कस्याश्चित्तनु कस्याश्चित्तु स्थूलः ततस्तदनुसारेण विधेयमित्यर्थ ॥

पट्टो वि होइ एक्को, देहपमाणेण सो उ भइयव्वो ।
छादंतोग्गहणंतं, कडिबद्धो मल्लकच्छो वा ॥

पट्टोऽपि गणनयैको भवति स च पर्यन्तभागवर्तिवाटकबन्धबद्ध. प्रथुत्वेन चतुरङ्गुलप्रमाणः समतिरिक्तो वा दीर्घेण तु स्त्रीकटीप्रमाण. स च देहप्रमाणेन भक्तव्य । पृथुलघुकटीभागयोर्दीर्घ । सक्षीणकटीभागयोस्तु ह्रस्व इत्यर्थ । वृ० ३ उ० । (स च निर्ग्रन्थीभिरेव ग्राह्यो न निर्ग्रन्थैरिति उग्गहणतग शब्दे)

उग्गहपडिमा–अवग्रहप्रतिमा– स्त्री० अवगृह्यत इत्यवग्रहो वसतिस्तत्प्रतिमा अभिग्रह अवग्रहप्रतिमा । वसतिविषयकाभिग्रहेषु, (ता सप्त उग्गह शब्दे दर्शिता) तत्प्रतिपादके आचाराङ्गस्य षोडशे अध्ययने च। आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० प्रश्न० । स० । आव० । स्था० ।

उग्गहमइसंपया–अवग्रहमतिसम्पद्– स्त्री० सामान्यार्थस्य अशेषविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यरूपादेरवग्रहणमवग्रह स चासौ मतिसम्पच्चावग्रहमतिसम्पद् । मतिसम्पद्भेदे, दशा० ४ अ० । (मइसंपया शब्देऽस्या भेदा)

उग्गहसमिइजोग–अवग्रहसमितियोग– पु० अवग्रहणीयतृणादिविषयसम्यक्प्रवृत्तिसम्बन्धिनि, प्रश्न० ३ द्वा० ।

उ (ओ) ग्गहाइकहणा–अवग्रहादिकथना– स्त्री० अवग्रहस्य " देविंदरायगहवइसागारसाहम्मिउग्गहो चेवेत्येवविधस्यादिशब्दाद्राजरक्षितास्तपस्विनो भवन्तीत्यादेश्च यदाह "क्षुद्रलोकाकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते । क्षान्तदान्तार्यहन्तार, स्ताश्चेद्राजा न रक्षतीति" कथना प्ररूपणा अवग्रहादिकथना । देवेन्द्राद्यवग्रहस्य राजवर्णनस्य प्ररूपणायाम्," विसयपवेस रण्णो, उदसण उग्गहाइ कहणा य "पंचा० ७ विव० ।

उग्गहिय–अवगृहीत– न० परिवेषणार्थमुत्पाटिते, स्था० ३ ठा०

अवग्रहिक– न० अवग्रहोऽस्याऽस्तीति । वसतिपीठफलकादौ औपग्रहिकदण्डकादिके उपधिजाते, स्था० १० ठा० । तद्भेदा ॥

(सूत्रम्) तिविहे उग्गहिए पण्णत्ते जं च साहरइ जं च आसगम्मि पक्खिवति ॥

अस्य सम्बन्धमाह ॥

पगया अभिग्गहा खलु, सुद्धपरा ते य जोगवुड्डीए ।
इति उवहडसुत्ताओ, तिविहं च अवग्गहिय एए ॥

प्रकृता खल्वनन्तरसूत्रे शुद्धोपहृतादिष्वभिगृहास्ते चाभिगृहा शुद्धतरा भवन्ति । योगवृद्ध्या उत्तरोत्तरयोगवृद्धिकरणेन इति अस्मात् कारणात् उपहृतस्तत्रानन्तर त्रिविध द्विविध वा प्रगृहीतमुक्तमनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । त्रिविधमवगृहीत प्रकृत यदवगृह्णाति यच्च संहरति यच्च आस्यके प्रक्षिपति। एके एवमाहुर्द्विविधमवगृहीतं प्रकृतं यदवगृह्णाति यच्च संहृतम् । एष सूत्राक्षरसस्कारः । सम्प्रति भाष्यविस्तर. ।

पग्गहियं साहरियं, पक्खिवयंतं च आसए तह य ।
तिविहं दुविहं पुण, पग्गहियं चेव साहरियं ॥

यत्प्रगृहीत यच्च संहृत यच्चास्ये प्रक्षिप्यमाणमेतत्त्रिविधमवगृहीतम् । द्विविध पुनरवगृहीतमादेशान्तरेणेद प्रगृहीत संहृत च । अथादेशस्य किं लक्षणमत आह ।

बहुसुतमाइण्णंतु, नयाहयपेहिं जुगपहाणेहिं ।
आदेसो सो उ भवे, अहवा वि नयंतरविगप्पो ॥

यद्बहुश्रुतैराचीर्णं नचान्यैर्युगप्रधानैर्बाधित स भवति नाम आदेश । अथवा नयान्तरविकल्प आदेश. । तद्वशात्सूत्रमेवमुपन्यस्तमिति ॥

सांप्रतमवगृहीतादिपदव्याख्यानार्थमाह ।

साहीरमाण गाहियं, दिज्जंतं जं च होइ पाउग्गं ।
पक्खेवए दुगुग, आदेसो कुडमहादीसु ॥

इह अनानुपूर्व्या ग्रहण बन्धानुलोमतस्तत एवं द्रष्टव्यम् । गृहीत नाम यद्दीयमान यच्च भवति प्रायोग्य संहृत नाम संह्रियमाणम् । आस्ये प्रक्षिप्यमाण प्रतीतम् । अत्राह ननु "जं च आसगम्मि पक्खिवइ " इत्यस्यायमर्थ यत् आस्ये मुखे प्रक्षिपति तच्चोच्छिष्टमिति लोके जुगुप्सा ततः कथं तद् गृह्यते सूरिराह (आदेसो कुडमहादीसु) कुटो घटस्तस्य यन्मुख तदादिष्वादिशब्दात् पिठरमुखादिपरिग्रहस्तत्र आदेशव्याख्यानम् । किमुक्तं भवति पिठरमुखादीन्यधिकृत्य " ज च आसगम्मि पक्खिवति " इति सूत्र व्याख्यातमतो न कश्चिद्दोष । अथापहृतसूत्रस्यावगृहीतसूत्रस्य च परस्पर क प्रतिविशेषस्तमाह ।

उग्गहियम्मि विसेसो, पंचमपिंडेसणाउ छट्ठीए ।
तं पि हु अलेवकडं, नियमा पुव्वछूडं चेव ॥

उपहृतसूत्रे पञ्चमी पिण्डैषणा उक्ता अवगृहीतसूत्रे पुनरस्मिन् अय विशेषो यत्पञ्चपिण्डैषणात: परा या षष्ठी पिण्डैषणा तस्या अभिधानमिति । तदपि च हु निश्चित यल्लेपकृतं नियमाच्च पूर्वोत्क्षिप्तमिति ।

सम्प्रति दिज्जंत ज च होति पाउग्गमित्यस्य व्याख्या ।

भुंजमाणस्स उक्खित्तं, पडिसिद्धं च तेण उ ।
जहन्नोवहडं तं तु, हत्थस्स परियत्तणे ॥

परिवेषक पट्टिकाया कूर गृहीत्वा दक्षिणहस्तेन तस्य प्रायोग्यस्य दातुकामस्तस्य भाजने क्षिपामीति व्यवसित तच्च तथा भुञ्जानस्याक्षिप्त न भुञ्जानेन प्रतिषिद्ध पर्याप्त मा मह्य देहि । अस्मिन् देशकाले साधुना तत्र प्राप्तेन धर्म्मलाभित तत परिवेषको ब्रूते साधो ! धारय पात्रमेतद्गृहाण तत साधुना पात्रं धारित तत्रानेन प्रक्षिप्तमिदं हस्तस्य हस्तमात्रस्य परिवर्त्तनात्, गाथाया सप्तमी पञ्चम्यर्थे जघन्यमुपहृत भवति । एतेन दीयमानमपि व्याख्यातम् । यच्च भवति प्रायोग्यमित्यनेन शुद्धससृष्टयोः प्रागुक्तयोरन्यतरद् गृहीतम् । तदेव " ज च उग्गिण्हइ इति व्याख्यातम् । सम्प्रति ज च साहरियमिति व्याख्यानाय तत्साहरिपति गाथाशकलमुक्त तद्भावयति ।

अहसाहरिमाणं तु, बद्धेउं जो उ दावए ।
ठाणादचलितो तत्तो, छट्ठा एसा वि एसणा ॥
अथ वर्द्धापयितु सन्हियमाण यो दापयेत् तस्य वचनत स परिवेषकस्तस्मात्स्थानतो मनागप्यचलितो दद्यात् पतत्संह्रियमाणमुच्यते । एषाऽपि षष्ठी एषणा द्रष्टव्या । व्य० द्वि० । ७ उ० । आचा० ।

उग्गहिया–अवगृहीता–स्त्री० भोजनकाले भोक्तुकामस्य शरावादिषूपहृतमेव भोजनजातं यत्ततो गृह्णत पञ्चम्यां पिण्डैषणायाम्, स्था० ७ ठा० । पञ्चा० । ध० । सूत्र० । (पिंडेसणाशब्देऽस्याः स्वरूपम्)

उग्गाढ–उद्गाढ–न० उद् गाह क्त० । अतिशये, अत्यन्ते, अतिशययुक्ते, त्रि० वाच० । प्रगुणीभूते च । " इयाणि किं भणिहामो ज तुज्झ इ पज्जुत्त त उग्गाढम्मि काहामो" बृ० १ उ० ।

उग्गाल–उद्गार–पुं० उद्–गॄ ऋदोरप बाधित्वा "उन्योर्ग्रः इति घञ् । उद्वमने, वाच० । आचीर्णे, प्रव० ३८ द्वा० । उद्गारश्चाजीर्णरोगलिङ्ग नागवायुकार्य्यम् " वाच० (रात्राबुद्गारे आगते तस्य प्रत्युद्गिरणे दोषस्त च राइभोयण शब्दे दर्शयिष्यामि)

[सूत्रं] जे भिक्खू राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्ज तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ तं उगिलेत्ता पचोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते जो तं पच्चागिलंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

रातिवियालाण पुव्वकतवक्खाण सह पाणेण सपाण सहभोयणेण सभोयण उभिरण स्वयोरेकत्वात्स एव उग्गालो भवति । सित्थ विरहिय केवल उद्दोएण सह गच्छतीत्यर्थ भत्त वा उद्दोएण सह आगच्छति उभयं वा त जो उग्गिलित्ता पच्चोगिलति अब वा सातिज्जति कह पुण सातिज्जति करस वि उग्गालो आगतो तेण अक्खस्स सड्ढि उग्गालो मे आगतो पच्चुग्गिलितत्तए तेण भणिय सुदर कय एसा सातिज्जणा तस्स पायच्छित्त चउगुरु आणादिया य दोसाओ सुत्ततयो । नि० चू० १० उ० ।

उग्गिण्ण–उद्गीर्ण–त्रि० वान्ते, ज्ञा० १ अ० ।

उग्गोवणा–उद्गोपना–स्त्री० विवक्षितस्य पदार्थस्य जनप्रकाशचिकीर्षारूपायामेषणायाम्, पिं० ।

उग्गोवेमाण–उद्गोपयत्–त्रि० विमोहयति, उग्गोवेमाणे उग्गोवेइ । भ० १६ श० ६ उ० ।

उग्घव–पूरि–धा० पूर् पूर्तौ, णिच् "पूरेरग्घाडोग्घवोद्धुमांगुमांगुमाहिरे " ८ । ४ । ६८ । इति पूरेरुग्घवादेशः । उग्घवइ । पूरयति । प्रा० ।

उग्घाइम–उद्घातिम–न० उद्घातो भागपातस्तेन निर्वृत्तमुद्घातिमम् । लघुनि, स्था० ३ ठा० ।

उग्घाइय–उद्घातित–त्रि० उद्घातो भागपातो यत्रास्ति तदुद्घातिकम् । लघुनि प्रायश्चित्ते, स्था० ५ ठा० । (अणुग्घाइय शब्देऽस्य निक्षेप) विनाशिते, स्था० १० ठा० ।

यत उक्तम् " अद्धेण छिन्नसेस पुव्वद्धेण तु सजुय काउ । दिज्जाइ लहुयदाण गुरुदाण तत्तिय चेवत्ति ॥ १ ॥ भावना मासार्द्धेन भिन्ने जातानि पञ्चदश दिनानि ततो मासापेक्षया पूर्वेनप पञ्चविंशतितम तदर्द्ध सार्द्धद्वादशक तेन सयुत मासार्द्धजातानि सप्तविंशतिदिनानि सार्द्धानीत्येव कृत्वा यद्दीयते तल्लघुमासदानमेवमन्यान्यपि । स्था० ३ ठा० ।

उग्घाड–उद्घाट–पुं० उद् घट् घञ् । वाच० । अदत्तार्गले, ईषत्स्थगिते च । आव० ४ अ० ।

उग्घाडकवाड–उद्घाटकपाट–त्रि० निरर्गलितकपाटे, औ० ।

उग्घाडकवाडउग्घाडणा–उद्घाटकपाटोद्घाटना–स्त्री उद्घाटमदत्तार्गलमीषत्स्थगित वा किं तत्कपाट तस्योत्पाटन सुतरा प्रेरणमुद्घाटकपाटोद्घाटनमिदमेवोद्घाटकपाटोद्घाटना । कपाटमुद्घाटय भिक्षणरूपे भिक्षातिचारे, " पडिक्कमामि गोयरचरियाए उग्घाडकवाडउग्घाडणाए" आव० ४ अ० ।

उग्घाडण–उद्घाटन–न कपाटस्य सुतरां प्रेरणे, आव०४अ० ।

उग्घाडिय–उद्घाटित–त्रि० उद् घट् णिच् । किञ्चित्स्थगिते, आ० चू० ४ अ० । अनावृते, "तस्स उ अणतभागो, णिच्चुग्घाडो य सव्वजीवाण" विशे० । "ते वि तेण उग्घाडिया" आ० म० द्वि० । आच्छादनरहिते प्रकाशिते, आवरणरहिते प्रकाशिते, आवरणरहिते कृतोद्घाटने, वाच० ।

उग्घाडियण्णु–उद्घाटितज्ञ–त्रि० उद्घाटितं प्रकाशित यथा तथा जानाति । विज्ञे, वाच० । कथितमात्रज्ञे विनेये, न० ।

उग्घाय–उद्घात–पुं० उद् हन् घञ् । (ठोकर लगना) प्रतिघाते, आरम्भे, उत्तुङ्गे, मुद्गरे, शास्त्रे, ग्रन्थपरिच्छेदे, वाच० लघूकरणलक्षणे, प्रायश्चित्तदानायाभागपाते, स्था० ३ ठा० । आचारप्रकल्पाऽध्ययने च । आव० ४ अ० ।

उग्घायण–उग्घायतन–न प्रवाहत एव पूज्यस्थाने, तडागजलप्रवेशाय मार्गे च । "उग्घायणेसु वा सेयणवहसि वा अण्णयरसि वा तहप्पगारसि" २ आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

उग्घुस–मृज्–धा० शुद्धौ, लुपणे च । "मृजेरुग्घुस०" ८ । ४ । १०५ इति मृजेरुग्घुसादेशः । उग्घुसइ मार्जयति । प्रा० ।

उग्घोसिय–उद्घृष्ट–त्रि संमार्जिते "उग्घोसिय सुणिम्मलव" प्रश्न० ५ द्वा० ।

उग्घोसेमाण–उद्घोषयत्–त्रि० उद्घोषणां कुर्वति, "सद्देण उग्घोसेमाणे" रा० ॥

उचिअ–उचित–त्रि । शस्ते, परिचिते, युक्ते, वाच० । योग्ये, ज्ञा० १ अ० । सङ्गते, पञ्चा० १ विव० । अनुरूपे, आव० ३ अ० ।

उचिअ(य) करण–उचितकरण–न० आज्ञाराधनायाम्, पञ्चा० ६ विव० ।

उचिअ–(य) करणिज्ज–उचितकरणीय–त्रि० विहितकर्त्तव्ये, पञ्चा० १ विव० ।

उचिअ– (य) किच–उचितकृत्य–त्रि० यथार्हदानादौ ध० २ अधि० ।

उचिअ (य) जोग–उचितयोग–पु उचित स्वभूमिकायोग्यो योगो व्यापारः । स्वाध्यायाध्ययनादिके संगतव्यापारे, पञ्चा० ५ विव० ।

उचिअ– (य) ट्ठिइ–उचितस्थिति–स्त्री० अनुरूपप्रतिपत्तौ, ध० १ अधि० पञ्चा०

उचिअ(य)त्त–उचितत्व–न० योग्यतायाम्, पञ्चा० १० विव० ।

उचिअ (य) त्थापायण–उचितार्थापादन–न० अनुरूपवस्तुसंपादने, पञ्चा० ९ विव० ।

सुकुलुग्गयाहिँ परिणय-वयाहिँ निच्छम्म धम्मनिरयाहिँ
सयणे रमणीहिँ पि, पाउणइ समाणधम्माहिँ ॥ १७ ॥
रोगाइसु नो विकिलइ, सुमहाओ होइ धम्मकज्जेसु ॥
एमाइपणइणिगयं, उचिअं पाएण पुरिसस्स ॥ १८ ॥
पुत्तं पइ पुण उचिअं, पिउणो लालेइ बालभावम्मि ।
उम्मीलिअबुद्धिगुणं, कलासु कुसलं कुणइ कमसो ॥१९॥
गुरुदेवधम्मसुहिसयण, परिचयं कारवइ निच्चंपि ।
उत्तमलोएहिँ समं, मित्तीभावं रयावेइ ॥ २० ॥
गिन्हावेइ अ पाणिं, समाणकुलजम्मरूवकन्नाणं ।
गिहभारम्मि निजुंजइ, पहुत्तणं वि अ रइक्कमेण ॥२१॥
पच्चक्खं न पसंसइ, वसणोवहयाण कहइ पुरवत्थं ।
आयं वयमवसेसं च, सोहए सयमिमेहिँ जो ॥ २२ ॥
प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे मित्रबान्धवाः। कर्मान्ते दास-भृत्याश्च पुत्रा नैव मृताः स्त्रियः १ इति वचनात्पुत्रप्रशंसा नैव युक्ता। अन्यानिर्वाहादर्शनादिहेतुना चेत्कुर्यात् तदाऽपि न प्रत्यक्षं गुणवृद्ध्यभावाभिमानादिदोषापत्तेः। द्यूतादिव्यसनिनां निर्द्धनत्वान्यकारतर्जनताडनादिदुरवस्थाश्रवणे तेऽपि नैव व्यसने प्रवर्तन्ते आयव्ययं व्ययाद्युत्कलितशेषं च पुत्रेभ्यः शोधयति। एवं च पत्न्या प्रभुत्वं पुत्राणां स्वच्छन्दत्वमपास्तम्।
दंसेइ नरिंदसभं, देसंतरभावपयडणं कुणइ ।
इच्चाइअवच्चगयं, उचिअं पिउणो मुणेअव्वं ॥ २३ ॥
सयणेसु समुचिअमिणं, जं तेनिअगेहवुड्ढिकज्जेसु ।
सम्माणिज्ज सया वि हु, करिज्ज हाणीसु वि समीवे ॥२४॥
सयमवि तेसिं वसणू, सव्वे सुहो अव्वमंति अमिसया ।
खीणविहवाणरोगा, उराणकायव्वमुद्धरणं ॥ २५ ॥
खाइज्ज पिट्ठिमंसं, न तेसि कुज्जा न भुक्ककलहं च ।
तदमित्तेहिँ मित्तिं, न करिज्ज करिज्ज मित्तेहिँ ॥ २६ ॥
तयभावे तग्गेहे, न वइज्ज वइज्ज अत्थ संबंधं ।
गुरुदेवधम्मकज्जेसु, एगचित्तेहिँ होअव्वं ॥ २७ ॥
एमाइसयणोचिअ, मह धम्मायरिअ समुचिअं भणिमो।
भत्तिबहुमाणपुव्वं, तेसितिसं जं पि पणिवाओ ॥२८॥
तदंसिअनीईए, आवस्सयपमुहकिच्चकरणं च ।
धम्मोवएससवणं, तदंतिए सुद्धसद्धाए ॥ २९ ॥
आएसं बहुमन्नइ, इमेसि मणसा वि कुणइ नावन्नं ।
रुंभइ अवन्नवायं, थुइवाय पयडइ सया वि ॥ ३० ॥
न हवइ छिद्दप्पेही, सुहिव्व अणुअत्तए सुहदुहेसु ।
पडिणीअपच्चवायं, सव्वपयत्तेण वारेइ ॥ ३१ ॥
खलिअम्मि चोइओ गुरु-जणेण मन्नइ तहत्ति सव्वं पि।
चोएइ गुरुजणं पि हु, पमायखलिएसु एगंते ॥३२॥
कुणइ विणओवयारं, भत्तीए समयसमुचिअं सव्वं ।
गाढं गुणाणुरायं, निम्माय वहइ आयम्मि ॥ ३३ ॥
भावोवयारमेसिं, देसंतरिओ वि सुमिरई सया वि ।
इअ एवमाइगुरुजण, समुचिअमुचिअं मुणेअव्वं ॥ ३४ ॥
जत्थ सयं निवसिज्जइ, नयरे तत्थेव जे किर वसंति ।
ससमाणवित्तिणो ते, नायरया नाम वुच्चंति ॥ ३५ ॥
समुचिअमिणमो तेसिं, जमेगचित्तेहिँ समदुहसुहेहिँ ।
वसणूसवतुल्लगमा-गमेहिँ निच्चं पि होअव्वं ॥३६॥
कायव्वं कज्जे वि हु, नइक्कमिक्केण दंसणं पहुणो ।
कज्जो न मंतभेओ, पेसुन्नं परिहरेअव्वं ॥ ३७ ॥
समुवट्ठिए विवाए, तुलासमाणेहिँ चेव ठायव्वं ।
कारणसाविक्खेहिँ, विहुणो अन्नो न नयमग्गो ॥३८॥
बलिएहिँ दुब्बलजणो, सुंककराईहिँ नाभिभविअव्वो।
थोवावराहदोसे, विदंरूभूमिं न नेअव्वो ॥ ३९ ॥
कारणिएहिँ समं, कायव्वो जो न अत्थसंबंधो ।
किं पुण पहुणा सद्धिं, अप्पहिअं अहिलसंतेहिँ ॥४०॥
एअं परुप्परं ना-यराण पाएण समुचिआचरणं ।
परतित्थिआण समुचिअ, मह किं पि भणामि लेसेणं ॥४१॥
एएसिं तित्थिआणं, भिक्खट्ठमुवट्ठिआण निअगेहे ।
कायव्वमुचिअकिच्चं, विसेसओ रायमहिआणं ॥४२॥
जइ वि मणम्मि न भत्ती, न पक्खवाओ अ तग्गयगुणेसु।
उचिअं गिहागएसु, तहवि हु धम्मो गिहीण इमो ॥४३॥
गेहागयाणमुचिअं, वसणावडिआण तह समुद्धरणं ।
दुहिआण दया एसो, सव्वेसिं सम्मओ धम्मो ॥४४॥
मुंचंति न मज्जायं, जलनिहिणो नावलाविहु चलंति ।
न कयावि उत्तमनरा, उचिआचरणं विलंघंति ॥४५॥
तेणं चिअ जगगुरुणो, तित्थयरा वि हु गिहत्थवासम्मि।
अम्मापिऊणमुचिअं, अब्भुट्ठाणाइ कुव्वंति ॥४६॥
इत्थं नवधौचित्यम्। इत्थं च व्यवहारशुद्ध्यादिनिर्यापार्जनविशेषतो गृहिधर्म इति निष्कर्षः॥ टीका सुगमत्वान्न गृहीता धर्म० २ अधि०।

उचिअ (या) णुट्ठाण-उचितानुष्ठान-न० आप्तोपदिष्टत्वेन विहितक्रियारूपत्वे, "उचियाणुट्ठाणओ चिचित्त जह जोगतु-ल्लमोएस" पचा० ६ विव०।

उच्च-उच्च-त्रि० उत्क्षिप्य बाहु चीयते उपर्युपरि निचीयते वा रचयवैश्चीयतेऽसौ वा उद्० चि ड. वाच०। समुच्छ्रिते, जपा० २ अ०। उच्चं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा। द्रव्योच्च धवल-गृहवासि, भावोच्च जात्यादियुक्तम्। द० ५ अ०। उत्कृष्टे, सूत्र० १ श्रु०१० अ०। उच्चस्थानस्थिततत्वेन कर्ध्वीकृतकन्धरतया वा रूद्रत्नेऽत्रावतस्तवहो अहं लाघिमानिति मदाध्मातमानसः सूत्र० १ अ०। "उच्चं अगोत्तं च गतिं उवेति" उच्चां मोक्षाख्यां सर्वोत्तमां वा गतिं व्रजन्ति। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

उच्च [अ] उच्चैस्-अव्य०उद् चि डैसि.। "उच्चैर्नीचैसय. अ ८।१।५४। इति उच्चैः शब्दघटकस्यैतोऽत्वम प्रा०। उच्चशब्दात् सिद्धमिति केचित् उच्चैः शब्दस्य रूपान्तरमि-त्यर्थवचनम्। प्रा०। तुङ्गत्वे, महति, उच्चदेशजाते, वाच०॥ जं०।रा०।

उच्चतय-उच्चन्तग-पु० दन्तरोगे, जी० ३ प्रति०। जं०।रा०।

उच्चट्ठाण-उच्चस्थान-न० ग्रहाणामादित्यादीनां मेषादिषु

नीचस्थानेषु, तानि च दशादिषु व्यंशांशकेष्वेवमवसेयानि । अजवृषभमृगाङ्गनाकर्कमीनवणिजांशकेष्विनाद्युच्चाः । दश १० शिख्य ३ ऽष्टाविंशति २८ तिथी १५ न्द्रिय ५ त्रिघन २७ विंशतु । ज्ञा० "उच्चट्ठाणट्टिएसुगहेसु" अर्काद्युच्चान्यज १ वृष २ मृग ३ कन्या ४ कर्क ५ मीन वणिजोंऽशै । दिग्दहनाष्टाविंशति २८ तिथी १५ षु ५ नक्षत्र २७ विंशतिभि । २० । अथ नाथ मेषादिराशिस्था. सूर्योदय उच्चास्तत्राऽपि दशादीनंशान् यावत्परमोच्चाः । एषां फलं तु । सुखी १ भोगी २ धनी ३ नेता ४ जायते मण्डलाधिप । ५ । नृपतिश्चक्रवर्ती च क्रमादुच्चग्रहे फलम ॥ १ ॥ " तिहिं उच्चेहिं नरिंदो, पचहिं तह होइ अद्धचक्की य । छहि होइ चक्कवट्टी सत्तहिं तित्थयरो होइ " कल्प० ।

उच्चत्त–उच्चत्व– न० उच्च–त्व. । उच्चत्वे, स्था० २ ठा० । वस्तुनोऽनेकधोर्ध्वमूर्ध्वस्थितस्यैकमपर तिर्यक् स्थितस्याऽन्यत् गुणोन्नतिरूपम् । स्था० १ ठा० (ज्योतिषिकाणामुच्चत्व जोइसिय शब्दे)

उच्चत्तभयग–उच्चत्वभृतक– पुं० भृतकभेदे, मूल्यकालनियमं कृत्वा यो नियतं यथावसरं कर्म कार्यते स उच्चत्वभृतक । स्था० ४ ठा० ।

उच्चत्तरिया–उच्चत्तारिका– स्त्री० धाराालिपिभेदे, स० ।

उच्चंपिय–उच्चम्पित– त्रि० प्राबल्येनाक्रमिते, "सीसं उच्च पिय कयधम्मि य " स० ।

उच्चफल–उच्चफल– त्रि० उच्च चिरकालभावि फलं यस्मात्स उच्चफल । चिरकालेनोपकारिणि, "उच्चफलो अह गुट्ठो, स वणित्थो " व्य० प्र० ३ उ० ॥

उच्चविवत्त–उच्चाविद्ध– त्रि० यदूर्ध्वमुपरि यातुं प्रमाण्यं देयवस्तु गृहणाय पात्रं ध्रियते तत्र स्थाप्रियमाणे, पिं० ।

उच्चय–उच्चय– पुं० उद्० चि० अच्० । ऊर्ध्वचयने, न० ८ श० ८ उ० । पुष्पादेर्हस्तोत्क्षेपे, नारीकट्यग्रन्थौ, " नीवि स्यादुच्चयोऽस्य यम० " इत्युक्तार्थे । वृद्धसमुदाये, च । कर्मणि अच्० हस्तान्यामुद्धृत्यावचिते, निवारे, वाच० ॥

उच्चयबंध–उच्चयबन्ध– पुं० उच्चय ऊर्ध्वं चयन राशीकरण तद्रूपो बन्ध उच्चयबन्ध । अल्लियावणबन्धभेदे, भ० ८ श० ९ उ० ।

उच्चवेत्तुं–उच्चयित्वा– अव्य० उर्ध्वं कृत्वेत्यर्थे, सू० १ उ० ।

उच्चसद्द–उच्चशब्द– पुं० बृहति शब्दे, व्य० द्वि० ७ उ० ।

उच्चाकुइय–उच्चाकुचिक– पुं० अनीचाऽपरिस्पन्द शय्याके,"आणापाणमेयअभिग्गहिय सिज्जासणियस्स उच्चाकुइयस्स " उच्चाऽकुचशय्यावत्त्व सप्रयोजन पक्षमध्ये सकृत शय्याबन्धकत्वम् । कल्प० ।

उच्चाकुया–उच्चाकुचा– स्त्री० उच्चा हस्तादि यावत् येन पिपीलिकादंशो न स्यात्, सर्पादेर्वा दशो न स्यात् अकुचा कुच परिस्पन्द इति वचनात् परिस्पन्दरहिता निश्चलेति यावत् तत कर्मधारये उच्चाकुचा । अनीचाऽपरिस्पन्दायां कम्बादिमय्यां शय्यायाम्, कल्प० ॥

उच्चागय–उच्चागज– त्रि० उच्चो योऽग पर्वतो हिमवान् तत्र जातमुच्चागजम् । हिमावद्भोद्भवे, उच्चागयठाणलठ्ठसंठिय । कल्प० ॥

उच्चागोय–उच्चैर्गोत्र– न० गोत्रकर्मभेदे, यदुदयात्पुनर्निर्धनः कुरूपो बुद्ध्यादिपरिहीणोऽपि पुरुष सुकुलजन्ममात्रादेव लोकात्पूजां लभते तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयादुत्तमजातिकुलप्राप्तिसत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजालाभश्च तदुच्चैर्गोत्रम् । कर्म० । इक्ष्वाकुवंशादिके, उच्चैर्गोत्रमेषामित्युच्चैर्गोत्रा । उच्चैर्गोत्रोद्भवेषु इक्ष्वाकुहरिवंशादिकुलोद्भवेषु, उच्चागोया वेगे णीयागोयावेगे । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

उच्चणागरी–उच्चनागरी– स्त्री० सुस्थितसुप्रतिबुद्धस्थविराज्जिर्गतस्य कौटिकगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० ॥

उच्चागोयणिबंध–उच्चैर्गोत्रनिबन्ध– पुं० लोकपूज्यतानिबन्धनोच्चैर्गोत्राभिधानकर्मबन्धने, " उच्चागोयणिबंधो सासणवण्णो य लोगम्मि " पंचा १२ विव० ।

उच्चाडण–उच्चाटन– न० उद्. चट् णिच् ल्युट् । उत्पाटने, स्वस्थानाद् विश्लेषणे, "उच्चाटनं स्वदेशादेर्भ्रंशन परिकीर्तितम्" इत्युक्ते षट्कर्मान्तर्गतेऽभिचारभेदे च । वाच० ।

उच्चायप्पमाण–उच्चात्मप्रमाण– त्रि० उच्चमात्मप्रमाणं येषां ते तथा । स्वप्रमाणत उच्चे, कल्प० ।

उच्चार–उच्चार– पुं० उद् चर्–णिच्, घञ् । उच्चारणे, उद्गतचारे गति । गृहादीनां राशिनक्षत्रान्तरसञ्चारे, वाच० । शरीरादुत्प्राबल्येन च्यवतेऽपयाति उच्चरतीति चोच्चार । विष्ठायाम्, आचा० २ श्रु० ३ अ० १३ उ० । स० । आव० । ज्ञा० । कल्प० । त० । दशा० । स्था० । (अस्य परिष्ठापन पारिट्ठावणिया शब्दे वक्ष्यते) वृद्धच्छरीरचिन्तायाम्, दर्श० । विड्विसर्जने, ध० २ अधि० । ज० (पुरीषोत्सर्गप्रक्रिया–थंडिल शब्दे) (आचार्यस्य वसतावेव विड्विसर्जनमतिसय शब्दे)

उच्चारणिरोह–उच्चारनिरोध– पुं० । विसिष्टकायां सत्यामपि यत्नात्पुरीषरोधे, एष च रोगकारणम् । स्था० ९ ठा० ।

उच्चारपडिक्कमण–उच्चारप्रतिक्रमण– न० उच्चारोत्सर्गं विधाय ईर्यापथिकप्रतिक्रमणरूपे प्रतिक्रमणभेदे, स्था० ६ ठा० ।

उच्चारपासवण–उच्चारप्रस्रवण– न० । उच्चारः प्रस्रवणं च द्वन्द्व पुरीषमूत्रयो तद्विसर्गप्रतिपादके आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य तृतीये ऽध्ययने च । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

उच्चारपासवणकिरिया–उच्चारप्रस्रवणक्रिया– स्त्री० उच्चारप्रस्रवणकर्त्तव्यतायाम्, " उच्चारपासवणकिरियाए उव्वाहिज्जमाणे आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमइ–उच्चारप्रस्रवणखेलश्लेष्माणजल्लपारिष्ठापनिकसमिति –स्त्री० उच्चारादीना पारिष्ठापनिकारूपा समिति । समितिभेदे, "इत्थ इम आहरणं पर्वोणं खुड्डगेण वि वसते किहव्व विनयेहिं य थण्डिलं काइय सोयतो राया थण्डिल नापेहयती न थोसिरे देवयाए श्लेष्मा जल्लो मल सामण्णजोओ अणुकपाए य फल दिट्ठा भूमित्ति वासरियति" । पा० । सूत्र० । स्था० । उच्चारपासवणखेलसिंघाणगपारिट्ठावणियासमिनीए । एत्थ वि सत्त भगा । तत्थ उदाहरणं । धम्मरुई पारिठावणिया समितो समाहिपरिट्ठावणे अभिग्गहग्गहण सक्कासणचलण मिच्छदिट्ठि आगमण किं विल्लिया विउव्वण काइया ससंजता । वाहामिउ पमत्त उ निग्गतो पेच्छति । ताहे सरतो साहू ज किल्लामि ज्जति त्ति । एवणातो देवेण वारितो वदित्ता गतो । वितिय दिट्ठिवागए चेल्लओ तेण थण्डिल न पडिलेहिता वियाले सा-

यत्ति काइयाभो । जातो न पेहितति न वोसिरति । देवताए उज्जोतो कतो अणुकपाए दिछा भूमित्ति वोसिरिय । एस समितो । वितिओ असमितो चउव्वीसं उच्चारपासवणभूमीसु । तिण्णि कालभूमीओ न पडिलेहेति भणति । किमेत्थ उट्टो उववसिज्ज देवता उग्गरूवेण तत्थ ठिता ठितियाए गतो तत्थ वि एव ततियाए ताहे तेण उट्ठवितो तत्थ देवताए पडिचोदितो कीस सत्तवीसं न पडिलेहेसि सम्मं पडिवण्णो। एस पारिठावणियासमिती ॥ आ० चू० ।

उच्चारपासवणभूमि–उच्चारप्रस्रवणभूमि–स्त्री० पुरीषमूत्रोत्सर्गस्थण्डिले, पंचा १अ० । उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, प्र २ श० १ उ० । (अत्रोत्सर्गोऽस्याः प्रत्युपेक्षणं च थण्डिल शब्दे)

उच्चारपासवणविहिसत्तिकय–उच्चारप्रस्रवणविधिसप्तैकक–पुं० पुरीषमूत्रोत्सर्गप्रतिपादके आचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयचूडायाश्चतुर्थेऽध्ययने, स्था० ७ठा० । आचा० ॥

उच्चारभूमिसंपन्न–उच्चारभूमिसंपन्न–त्रि० उच्चारप्रस्रवणादिभूमियुक्ते, 'उच्चारभूमिसंपन्न-इत्थीपसुविवज्जिय" दश० ।

उच्चारिय–उच्चारित–त्रि उच्चार-तारका-इतच् । कृतविष्ठोत्सर्गे, उद् चर् णिच् कर्मणि क्त। यस्योच्चारण कृतं तादृशवर्णादौ, उद्- अन्तर्भूतण्यर्थे, चर क्त । उच्चारितोऽप्युक्तार्थे, वाच० ॥ " उच्चारिय सरिसाइं-सेसाइं वि कोवणट्टाए । बृ० । दश० ।

उच्चाइय–उच्चाल्य– अव्य. उद्.चल. ल्यप् । ऊर्ध्वमुत्क्षिप्येत्यर्थे, उच्चालिय णिहाणीसु" । आचा० १श्रु० ८ अ० १ उ० ।

उच्चलिय–उच्चालयितृ–त्रि० अपनेतरि, " उच्चालइ यं त जाणेज्जा दूरालइय"॥ आचा० १श्रु० ३ अ० ।

उच्चालित–त्रि० उद्,चल्,णिच्,क्त० । उत्पाटिते, "उच्चालियम्मि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए" ओ० । नि०चू० ।

उच्चावइत्ता–उच्चैःकृत्वा–अव्य०उत्पाट्येत्यर्थे, " दो वि पाए, उच्चावइत्ता सव्वओ समंता समभिलोएज्ज„ द्वावपि पादौ उच्चैःकृत्वा द्वावपि पार्ष्णी, उत्पाट्येत्यर्थे, प्रज्ञा० १ ७ पद० ।

उच्चावय–उच्चावच–त्रि० उच्च च अवच च उच्चावचम् । उत्त० । अनुकूलप्रतिकूले, भ० १ श० ९ उ० । अधमोत्तमेषु नानाप्रकारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । " हसतो नाभिगच्छेज्जा कुल उच्चावए सया " उच्च द्रव्यभावभेदाद् द्विधा द्रव्योच्च धवलगृहवासि भावोच्चं जात्यादियुक्तमेवमपि द्रव्यतः कुटीरकवासी भावतो जात्यादिहीनमिति, दश० ५ अ० । " उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खू थामव ऊर्ध्वचित्ता " उच्चा उपलक्षितत्वादुपलक्षणमेतत् यद्वा शीतातपनिवारकत्वादिगुणैः शय्यान्तरोपरिस्थितत्वेनोच्चास्ताद्विपरीतास्त्ववचा अनयोर्द्वन्द्वे उच्चावचा । नानाप्रकारा वोच्चावचास्ताभिः शय्याभिर्वसतिभिः । उत्त० ८ अ० । सूत्र० । " अह भिक्खू उच्चावयं मणं णियच्छेज्जा " उच्चावचं शोभनादौ मन कुर्यादिति । तत्रोच्चं नाम मैव कुर्वन्तु अवचं नाम एव कुर्वन्त्विति । आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । उत्कृष्टतरे, औ० । असमञ्जसे, " उच्चावयाहिं आसणाहिं " भ० १५ श० १ उ० । स्था० ।

उच्चव्वय-न०उच्चानि महान्ति व्रतानि येषां तानि उच्चव्रतानि आकार प्राकृतत्वात् । महाव्रतधरेषु, " उच्चावयाइ मुणिणो चरंति, ताइं तु देवाइ सुपेसलाइ" उत्त० १५ अ० । क० । स० शेषव्रतापेक्षया महाव्रतेषु, उत्त० १ अ० ।

उच्चासण–उच्चासन–न० उन्नतासने, जी० ३ प्रति० । गुरोरासनादुच्चैरासने, ध० २ अ० । अहावे सलावे उच्चसेणा समासणे अतरभासाए तव्वरिभासाए ज किंचि मज्झ मम विणयपरिहीण सेहे राइणियस्स उच्चासणम्मि संचिट्ठित्ता णिसीइत्ता वा तुयट्टित्ता भवति आसायणासेहस्स । आव० ४ अ० ।

उच्चिय–उचित–न० उच्चताकरणे, उत्पाटने च । औ० ।

उच्चुप–चट-धा० भेदे. भ्वा. पर. सक. सेट्–धातवोऽर्थान्तरेऽपि ८।४।५८। इत्यनेन चटतेरुच्चुप् । उच्चुपइ चटति प्रा० ।

उच्चूर–उच्चूर–त्रि० नानाविधे, व्य० प्र० ३ उ० ।

उच्चे–उच्चैस्– अव्य० उद् चि० डैसि० । तुङ्गत्वे, उन्नते, महति, ऊर्ध्वदेशजाते, वाच० " नाइ उच्चेव नीए वा णासन्ने नाइदूरओ " उच्चैः स्थाने मालादौ, उत्त० १ अ० । " तत्राऽस्य विषयतृष्णा प्रभवत्युच्चैर्न दृष्टिसम्मोहः " उच्चैरत्यर्थं, न० । षो० । प्रति० । उच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु । उच्चैरतीव कल्पितेषु इष्टानिष्टेषु, द्वा० १८ द्वा० ।

उच्छ (क्खाण) उक्षन्–पुं० उक्ष् कनिन् । गोऽक्षादौ ।८।२।१७। इति सयुक्तस्य च्छः । प्रा० " पुस्यन आणो राजवच्च ८ । ३ ५६ । इति अनः स्थाने आण इत्यादेशः । वृषभे, प्रा० ।

उच्छंग–उत्सङ्ग–पुं० सञ्ज आधारे घञ् । मध्यभागे, वाच० । " उच्छंगे णिवसेत्ता " आ० म० द्वि० । वि० । उत्सङ्ग इव उत्सङ्गः । पृष्ठदेशे, औ० । ज्ञा० । उत्क्रान्तः सङ्गम् अत्या० स० । सन्यासिनि, सङ्गरहिते तत्वहे, प्रा० । स० । ऊर्ध्वतः ससर्गे च । वाच० ।

उच्छंघ–उन्नमि–उद् नम णिच्० धा० । " उन्नमेरुत्थंघोल्लालगुलुगुच्छोप्पेला " ८।४।३६ इति उत्पूर्वस्य नमेर्ण्यन्तस्य उत्थंघ आदेशः । उत्थंघइ उन्नमयति । प्रा० ।

उच्छत्त–अपच्छत्र–न० अपहाद विरूप छत्र स्वदोषाणां परगुणानां चावरणमपच्छत्रम् चतुर्दशे गौणालीके, प्रश्न० १ द्वा० । उच्छत्र–न० उच्छत्र वा न्यूनत्वम् । चतुर्दशे गौणालीके, प्रश्न० १ द्वा० ।

उच्छरंत–आस्तृणवत्–त्रि० आच्छादयति, " अणियएहिं उच्छरंता अभिभूय हरंति परधणाई " प्रश्न ३ द्वा० ।

उच्छलणा–उच्छलना–स्त्री० अपवर्तनायाम, अपप्रेरणायाम, प्रश्न. ३ द्वा० ।

उच्छलिय–उच्छलित–त्रि० ऊर्ध्वगते, प्रश्न० ३ द्वा० ।

उच्छल्ल–उच्छल–धा० उद्-शल-भ्वा० ऊर्ध्वपतने, "उच्छल उच्छल्ल ।८।४।७३।उच्छलतेरुच्छल्लादेशः। उच्छल्लइ उच्छलति। प्रा ।

उच्छल्ल–उच्छलत्–पुं० भ्रमणे, " तज्जणगलुच्छल्ल उच्छल्लणाहिं " गलुच्छलंति गलग्रहणम् । प्रश्न० ३ द्वा० ।

उच्छल्लिय–उच्छल्य–अव्य० एकपार्श्वेन स्थित्वेत्यर्थे, "पलगसंपं पइरिक्कुच्छल्लिय पुणो पदं वरणिया" नि०चू० १ उ० ।

उच्छव–उत्सव–पुं० उद् सू० अप० " ह्रस्वात्थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले " ८।२।२१ एषु संयुक्तस्य छो वा भवति । प्रा० । आनन्दजनकव्यापारे, विवाहादौ, वाच० । छन्दो मर्यादा, ३३० १ अ० ।

उच्छादणया–उच्छादनता–स्त्री० सचित्ताऽचित्तस्थगनम् ।

च्छेदने, अंगाण सन्नुत्तराण घाताए वाहाए उच्छादणयाए " भ० १५ श० १ उ० ।

उच्छायणा-उच्छादना-स्त्री०जातेरपि व्यवच्छेदने,ज्ञा०१८अ०।

उच्छाय-उच्छ्राय-पु० उद्-श्रि करणे अच् घञ् वा । उत्सेधे, स्था० ७ ठा० ।

उच्छार-आ-क्रम धा०स्वा० आत्म० आक्रमणे, "आक्रमेरोहावोच्छारच्छुन्दा " ८।४।५८ आक्रमेरेते आदेशा भवन्ति । उच्छारइ आक्रामति (ते) (केवलस्तु परस्मैपदी) प्रा० ।

उच्छाह-उत्साह-पु० उद्-सह-घञ् ।" चोत्साहे थो ह्रस्वश्च र. " ८।२।४८। उत्साहशब्दे संयुक्तस्य थो वा भवति " तत्सन्नियोगे च ह्रस्य रः । उत्थारो उच्छाहो " थाऽभावे । "ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले ८।२।२१। इति त्सभागस्य च्छ.।" अनुत्साहोत्सन्ने त्स च्छे " ८।१।११४। इत्यत्र उत्साहपर्युदासात् च्छपरस्यादेरुत उत्वं न।प्रा० । पराक्रमे, जोगोत्ति वा विरियं ति वा सामत्थं ति वा परक्कमंति वा उच्छाहोति वा एगट्ठा ॥ आ० चू० १ अ० । पं० सं० । आ० म० । वीर्य्ये,सम० । श्रवणादिविषये उत्कण्ठिकाविशेषे, च०२०पा० उद्यमे, सू० प्र० २० पा० । अध्यवसाये, कर्त्तव्यकृत्ये, स्थिरतरे प्रयत्ने, कल्याणे, श० रत्ना० । सूत्रे, मेदि० कार्य्यारम्भेषु संरम्भ. स्थेयानुत्साह उच्यते सा० द० उक्तलक्षणे वीररसस्य स्थायिभावे च । वाच० ।

उच्छाहिय-उत्साहित-त्रि० त्वमेवाऽस्य कार्य्यस्य करणे समर्थ इत्येवमुत्कर्षिते, पिं० ॥

उच्छिंपग-अवच्छिम्पक-पु० चौरविशेषे, प्रश्न० । ३ द्वा० ।

उच्छिंपण-उत्क्षेपण-न० जलमध्यान्मत्स्यादीनामाकर्षणे, प्रश्न० २ द्वा० ।

उच्छिएण-उच्छिन्न-त्रि० उद्-छिद् निर्नष्टसत्ताके, स्था०५ठा०।

उच्छिएणसामिय-उच्छिन्नस्वामिक-त्रि० नि सत्तीभूतप्रभुषु, उच्छिन्नसामियाइ वा उच्छिन्नसेउयाइं वा उच्छिन्नगोत्तागाराइ वा धनानि। भ० ३ श० ७ उ० ।

उच्छिय-उच्छ्रित-त्रि०उद् श्रि कर्तरि क्त । उन्नते, सजाते, समुन्नद्धे, प्रवृद्धे । मेदि० वाच० ऊर्ध्वीकृते, औ० ।

उच्छु-इक्षु-पुं० इष्यते ऽसौ माधुर्यात् इष् कसु । प्रवासीक्षौ ८। १। ९५। इति आदेरित उत्वम् वा । प्रा० । मधुररसयुक्ते असिपत्रे, वाच० (इक्षुशब्दस्य व्याख्या इक्खु प्रकरणे उक्ता)

उच्छुअ-उत्सुक-त्रि० उत्सुकवति, प्रेरणे, " मितद्वादित्वात्-ठुकन् सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा ८।२।२२। इति संयुक्तस्य त्सभागस्य वा छः । उच्छुओ ऊसुओ प्रा० । इष्टावाप्तये कालक्षेपासहिष्णौ, इष्टार्थोद्युक्ते च । वाच० ।

उच्छुभइत्ता-अवक्षिप्य-अव्य० अपसद किञ्चित् क्षिप्त्वेत्यर्थे, उच्छुभइत्ता सावत्थीए णयरीए " भ० १५ श० १ उ० ।

उच्छूढ-उच्छूढ-त्रि० मुषिते, " उच्छूढेवि तदुभये सपक्खपरपक्खतदुभय होइ" बृ० १ उ० । त्यक्ते, सस्था०।स्वस्थानादवक्षिप्ते, निष्काशिते, "आयाणफलियउच्छूढदीहबाहू " । त० । औ० ।

उच्छूढसरीर-उच्छूढशरीर-पु० उच्छूढमुज्झितमुज्झितमिव उज्झित सस्कारपरित्यागाच्छरीरयेन स उच्छूढशरीर । च० प्र० १पाहु०।सु० प्र०।शरीरसस्कार प्रति निस्पृहत्वात्त्यक्तशरीर-

कल्पे तादृशे मुनौ, ज्ञा० १ अ०।औ० । भ० । नि० "घोरतवस्सी घोरबम्भयारी उच्छूढसरीरे सक्खित्तविउलतेयलेस्से" वि० १ अ० ।

उच्छूढसरीरगि (घ] र-उच्छूढशरीरगृह-त्रि० उच्छूढं त्यक्तं शरीरगृहं यैस्ते उच्छूढशरीरगृहा. । शरीरगृहयोर्निःस्पृहत्वात्त्यक्तपरिकर्मसु, सस्था० ।

उच्छूर-तुट्-धा-भेदे तुदा० कुटा० पर० सेट् । तुडेस्तोड तुट्ट खुट्ट खुडोक्खुडोल्लुक्कणिल्लुक्कलुक्कोच्छूराः ८।४।११६। इत्यनेन सूत्रेण तुडेरुच्छूरादेशः । उच्छूरइ तुटति । प्रा० ।

उच्छेइ-[ए] उच्छेदिन्-त्रि० नाशके, द्वा० २१ द्वा० ।

उच्छेद [य] उच्छेद-पुं० उद्-छिद्-भावे-घञ् । उत्प्राबल्येन छेदो विनाशः । एकान्तोच्छेदे, निरन्वये नाशे, दश० १ अ० । आ० म० द्वि० ।"उच्छेओ सुत्तत्था ण ववच्छेओत्ति वुत्त भवति" नि० चू० १ उ० ।

उच्छेव-उत्क्षेप-पु० यत्र पतितुमारब्धं तत्राऽन्यस्येष्टकादेः संस्थापने, व्य० द्वि० ४ उ० ।

उच्छोभ-उत्क्षोभ-न० उत्प्राबल्येन गता शोभा सौभाग्य सर्वजनवल्लभता यस्मात्तदुच्छोभम्॥ पैशुन्ये कर्णजपत्वे, "इहरा सयरुवघाओ उच्छोभाईहिं अंतणो लहुया" दर्श० ॥

उच्छोलंत-उच्छोलत्-त्रि० उन्मूलयति, दा० सकृत्पादादेः प्रक्षालन कुर्वति च । "उच्छोलत वा पधोयतं वा साइज्जइ" नि० चू० १७ उ० ।

उच्छोलण-उच्छोलन-न० सकृदुदकेन क्षालने' आचा० "पक्कसिं उच्छोलणा " नि० चू०२ उ० ।मुखनयनकक्षाहस्तपादानां प्रक्षालने, व्य० द्वि० ७ उ० । अयतनया शीतोदकादीनां हस्तपादादिप्रक्षालने, "उच्छोण च कक्कं च तं विज्ज परियाणिया" सूत्र १ श्रु० ए अ० । (उच्छोलनाऽप्यत्र)

उच्छोलणापहोय-उच्छोलनाप्रधौत-त्रि० उच्छोलनेन प्रभूतजलक्षालनक्रियया धौता धौतगात्रा ये ते तथा । प्रचुरजलेन धौतशरीरेषु, औ० ।

उच्छोलनापहोइ-उच्छोलनाप्रधाविन्-त्रि० उच्छोलनयोदकायतनया प्रकर्षेण धावति पादादिशुद्धिं करोति यः स तथा । अयतनया प्रभूतजलेन पादादिप्रक्षालके, दश० ४ अ० ।

उच्छोलावंत-उच्छोलयत्-त्रि० अन्येन सकृज्जलेन क्षालन कारयितरि " उच्छोलावत वा पधोवावंत वा साइज्जइ " नि० चू० १६ उ० ।

उज्जम-उद्यम-पुं० उद्-यम-घञ् । न वृद्धिः । प्रयासे, प्रयत्नभेदे, उद्योगे, उत्तोलने च । वाच० अनालस्ये, ग० १ अधि० ज्ञानतपो ऽनुष्ठानादिषूत्साहे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । औ० ।

उज्जमंत-उद्यच्छत्-त्रि० उद्यम कुर्वति, प्रति० । अत्यर्थमपि प्रयतमाने, अप्पच्चतकायसुट्ठावि उज्जमता तहविसुज्झसकम्म कयदुक्खसंगवियसित्थपिंडसचयपरा" प्रश्न० ३ द्वा० ।त्रिविधायामपि सामाचार्यां यथाशक्ति उद्यमकुर्वति, व्य प्र०१उ०।

उज्जमन-उद्यमन-न० उद्यमकरणे, । व्य० प्र० १ उ० । उत्क्षेपणे, उत्तोलने, वाच० ॥

उज्जममाण-उद्यच्छत्-त्रि० उद्यम कुर्वति,"ण करोति दुक्खमोक्ख उज्जममाणावि सजमतवेसु " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

उज्जममाणस्स गुणा, जइ हुंति ससत्तिओ तवसु ।
एमेव जहासत्ती, संजममाणे कहं न गुणा ? "

उद्यच्छत उद्यम कुर्वतः तपःश्रुतयोरिति योगः गुणास्तपो ज्ञानाव्याप्तिनिर्जरादयो यथा भवन्ति स्वशक्तितः स्वशक्त्युद्यमवत एवमेव यथाशक्ति शक्त्यनुरूपमित्यर्थः (सजममाणे कहं ण गुणत्ति) सयममाने सयम पृथिव्यादिसरक्षणादिलक्षण कुर्वति सति साधौ कथ न गुणाः गुणा एवेत्यर्थः। अथ वा कथ गुणा येनाविकलसयमानुष्ठानरहितो विराधकः प्रतिपाद्यत इत्यत्रोच्यते ॥ आव० ३ अ० ।

उज्जय–उद्यत–त्रि० उद् यम् कर्तरि क्त. । उद्यमयुक्ते, कृतोद्यमे, भावे क्तः उद्यमेन यमैर्नियमनार्थत्वे कर्मणि क्त । उत्तोलिते, वाच० । उद्यतविहारिणि, व्य० प्र० १ उ ॥

उज्जयंत–उज्जयन्त–पुं० रैवतकगिरौ, हेम० । वाच० । यत्राऽरिष्टनेमिः सिद्धः । आ. म. प्र. । तद्वक्तव्यता यथा ॥

नामभिः श्रीरैवतको, जयन्ताद्यैः प्रथामि तम् ।
श्रीनेमिपावित स्तौमि, गिरनारगिरीश्वरम् ॥ १ ॥
स्थाने देशः सुराष्ट्राख्य, बिभर्ति भुवनेष्वसौ ।
यद्भूमिकामिनीभाले, गिरिरेष विशेषक. ॥ २ ॥
शृङ्गारयन्ति खङ्गाराः दुर्गं श्रीऋषभादयः ।
श्रीपार्श्वस्तेजलपुरं, भूषितैतदुपत्यकम् ॥ ३ ॥
योजनद्वयतुङ्गेऽस्य, शृङ्गे जिनगृहावलिः ।
पुण्यराशिरिवाभाति, शरच्चन्द्रांशुनिर्मला ॥ ४ ॥
सौवर्णदण्डकलशा–मलसारकशोभितम् ।
चारु चैत्य चकास्त्यस्यो–परि श्रीनेमिन. प्रभोः ॥ ५ ॥
श्रीशिवासूनुदेवस्य, पादुकात्र निरीक्षिता ।
स्पृष्टार्चिताऽवशिष्टानां, पापव्यूह व्यपोहति ॥ ६ ॥
प्राज्य राज्य परित्यज्य, जरत्तृणमिव प्रभुः ।
बन्धून् विधूय च स्निग्धान्, प्रपेदेऽत्र महाव्रतम् ॥ ७॥
अत्रैव केवल देवः, स एव प्रतिलब्धवान् ।
जगज्जनहितैषी स, पर्यणैषीच्च निर्वृतिम् ॥ ८ ॥
अत्र एवात्र कल्याण, त्रयमन्दिरमादधे ।
श्रीवस्तुपालो मन्त्रीश–श्चमत्कारितभव्यकम् ॥ ९ ॥
जिनेन्द्रबिम्बपूर्णेन्दु–मण्डपस्था जना इह ।
श्रीनेमिर्मज्जन कर्त्तु–मिन्द्रा इव चकासति ॥ १० ॥
गजेन्द्रपदनामास्य, कुण्ड मण्डयते शिरः ।
सुधाविधैर्जलैः पूर्णं, स्नानार्हं तत्स्नक्रमैः ॥ ११ ॥
शत्रुञ्जयावतारे च, वस्तुपालेन कारिते ।
ऋषभः पुण्डरीकोऽष्टा–पदानन्दीश्वरास्तथा ॥ १२ ॥
सिंहयाना हेमवर्णा., सिद्धबुद्धसुतान्विता ।
कूष्माण्डयम्बात्यानि, रक्ष वा सघविघ्नहृत् ॥ १३ ॥
श्रीनेमिपत्पद्मपूत–मवलोकननामकम् ।
विलोकयन्तः शिखर, यान्ति भव्या कृतार्थताम् ॥ १४ ॥
शाम्बोजाम्ववतीजात–स्तुङ्गे शृङ्गेऽस्य कृष्णजः ।
प्रद्युम्नश्च महाद्युम्न–स्तेपाते दुस्तप तप. ॥ १५ ॥
नानाविधौषधिमणा, जाज्वल्यन्त्यत्र रात्रिषु ।
किंच घण्टाक्षरच्छत्र–शिलाशालन्त उच्चकैः ॥ १६ ॥
सहस्राम्रवणं लक्षा–रामोऽन्येऽपि वनव्रजाः ।
मयूरकोकिलाभृङ्गी–सगीतसुभगा इह ॥ १७ ॥
न स वृक्षो न सा वल्ली, न तत्पुष्प न तत्फलम् ।
नश्यतेऽत्राभियुक्तैर्य–दित्यैतिह्यविदो विदुः । १८ ।
राजीमती गृहागर्भे, कैर्न नामात्र वन्द्यते
रथनेमिर्यथोन्मार्गा–त्सन्मार्गमवतारितः । १९ ।
पूजास्तवनदानादि, तपश्चात्र कृतानि वै
संपद्यन्ते मोक्षसौख्य–हेतवो भव्यजन्मनाम् । २० ।
दिग्भ्रमावापि योऽत्राद्रौ, काप्यमार्गेऽपि सञ्चरेत्
सोऽपि पश्यति चैत्यस्था, जिनार्चास्तेऽर्पितार्चिता । २१ ।
काश्मीरगतरत्नेन, कूष्माण्डसद्दर्शेन च ।
लेप्यबिम्बास्पदे न्यस्ता, श्रीनेमेर्मूर्तिरश्मनी । २२ ।
नदीनिर्झरकुण्डानां, खनीनां वीरुधामपि ।
विद्वांकरोच्चात्र सख्यां, सख्यावानपि क. खलु । २३ ।
आलंबनकरूपाय, महातीर्थाय तायिने ।
चैत्यालंकृतशीर्षाय, नमः श्रीरैवताद्रये । २४ ।
स्तुतो मयेति सुरीन्द्र, वर्णितो श्रीजिनप्रभ ।
गिरिनारस्तु रैहेम–सिद्धयामिर्मुदेऽस्तु वः ॥ २५ ॥

अत्थि सुरट्ठविसए, उज्जिंतो नाम पव्वओ रम्मो ।
तस्सिहरे आरुहिओ, भत्तीए नमह नेमिजिणं ॥ १ ॥
अंबाइअंबदेविं, एहवणप्पणगधधूवदीवेहिं ।
पूइयकयप्पणामा, ता जोयह जेण अत्थात्थि ॥ २ ॥
गिरिसिहरकुहरकंदर–निज्झरणकवाडविमरकूवेहिं ।
जोयह सत्तवायं, जह भणियं पुव्वसूरीहिं । ३ ।
कइप्पकप्पराग, कुणइविहवणनमिनाहस्स ।
निव्वाणसिलानामेण, अत्थि भुवणम्मि विक्खाया । ४ ।
तस्स य उत्तरपासे, दसधणुहेहिं अहो मुहविवरं ।
दारम्मि तस्स लिंग, भवयाए धणुह चत्तारि । ५ ।
तस्स पसुमुत्तगंधो, अत्थि रसो पहसपण सय तब ।
विंधेवि कुणइ तारं, ससिकुंदसमुज्जलं सहसा । ६ ।
पुव्वादिसाए धणुहं–तरेसु तस्सेव अत्थि आगवई ।
पाहणमाया दाहिण, दिसाए बारस धणूहिं । ७ ।
दिस्सइ अ तस्स पयरो, हिंगुलवण्णो अहिवरसो ।
विंधेइ सव्वलोहे, फरिसेण आमिसगंधं । ८ ।
उज्जिंते अत्थि नई, विहलानामेण पव्वई परिम ।
द्रावेइ अंगुलीए, फरिसरसो पव्वई दारं । ९ ।
सक्कावयार उज्जित, गिरिवरे तस्स उत्तरे पासे ।
सोवाणं पतिआए, पारेवय वण्णिआ पुढवी । १० ।
पचगवसे बद्धा, पिण्डी धमिया करेइ वरतारं ।
फेडइ दारिद्दवाहिं, उत्तराइउक्कलंकतारं । ११ ।
सिहरे विसालसिंगे, विसत पाय कुट्टिमा जत्थ ।
तस्सासन्ने सिहरे, कज्जहरूपाम होतार । १२ ।
उज्जतरे थयवाण, तत्थ य सुट्ठारवानरो अत्थि ।
सोवामकप्पविओ, उग्घाडइ विवरवरदार । १३ ।
इत्थसण्णा पविठो, दिक्खइ सावयवण्णिआ सक्खो ।
नीहरणंसवता, सहस्सवेहे हीर सो नूणं । १४ ।
तमाहिकण निउत्तो, इणुवत छिवइ वामपायण ।
सो ढक्कइ बारदारं, जेण न जाणइ अण्णो को वि ॥ १५ ॥
उज्जिंतसिहर उवरिं, कोहि रुहर खु नाम विक्खाय ।
अचरेण तस्स य सिला, तदुभयपासे मुओ सतु ॥ १६ ॥
त अयसि तिल्लमीस, धमइ पविवायवगिमं वग ।
छोगव्व वादिहरण, परितुट्ठा अक्खिआ जस्स ॥ १७ ॥
सेगवई नामचई, मणसिज्जवण्णाइ तत्थ पाहाणा ।
तो पिंडधम असते, समसुक्का होइ वरतार ॥ १८ ॥
उज्जते नाणसिला, तस्स अहोकण्य य वण्णिआ पुढवी ।
छक्करयमुत्तपिंडी, खइरगारे भवे हेम ॥ १९ ॥

नाणसिला कयपुढवी, पिमियक्का य पच्चगव्वेण ।
दक्षपाए वसइ रसो, सहस्सवेही हवइ हेम ॥ २० ॥
गिरिवरमासन्नमि, अच्छायं तिच्चविसारण नाम ।
सिद्धवरूगाढपीढे, वेला का तत्थ धम्माण ॥ २१ ॥
सखा नामेण नई, सुवण्णतित्थम्मि तदुधु अपहाणा ।
पमिवाएण य सुच्च, करेति हेम न संदेहो ॥ २२ ॥
विल्लुक्लयम्मि नयरे, मउअहरं अत्थि सेसगं विव ।
तस्स य मज्झिम्मि विमो, गणवइरसकुरु उवरिव ॥ २३ ॥
उववासी कयपूओ, गणवइओ वल्लिऊण एयरक्खा ।
मा खेवी अत्थि अन्नं, भइव गतव्व संदेहो ॥ २४ ॥
सहसा सवति तित्थं-कर च रुक्खेण मणहर सम्मं ।
तत्थ य तु रयावारा, पाहाणा तेसि दो भाया ॥ २५ ॥
इक्को पारयभावो, पिट्ठो सुत्तेण अंधमूसाए ।
धमिओ करेइ तार, उसारइ डुक्खकतार ॥ २६ ॥
अवट्ठोअणसिहरसिला, अवरेण तत्थ वररसो सवरेसु ।
अपरो केसरिवण्णो, करेइ सुच्चं वर हेमं ॥ २७ ॥
गिरिपज्जुन्नवयारे, अथिअ आरत्तमए पच ।
नामेण तत्थ वियमा, पुढवी हिमघाय होइ वरहेम ॥ २८ ॥
नाणसिला उज्जते, तस्स य मूलम्मि मट्टिआ पीआ ।
साहामि असोवेण, गायामुक्क कुणइ हेम ॥ २९ ॥
उज्जतपढमसिहरे, आरुहिओ दाहिणेण अवयरिओ ।
तिम्मि धणूसयमित्ते, पूइकरजविल नाम ॥ ३० ॥
उग्घामिअं विल दि-क्खिऊण निउणेण तत्थ गतव्वं ।
दसतपाणि बारस, दिव्वुरसो अणुफलसरिसो ॥ ३१ ॥
जव घोलिअम्मि जमे, सहस्सभाएण विधए तारं ।
हेमं करइ अवस्स, हवत सुदर सहसा ॥ ३२ ॥
को हमिभवण पुव्वेण, उत्तरे जाव ताव सा भूमी ।
दीसइ अ तत्थ पमिमा, सेलमया वासुदेवस्स ॥ ३३ ॥
तस्सुत्तरेण दीसइ, हत्थेसु अदससुपव्वई पमिमा ।
अवराह मुहर अगुट्ठि, आइ सा दावए विवर ॥ ३४ ॥
नवधणुहाइपविट्ठो, दिक्खइ तुराई दाहिणुत्तरओ ।
हरियालसक्खवण्णो, सहस्सवेहीरसो नूण ॥ ३५ ॥
उज्जिते नाणसिओ, विक्खाया तत्थ अत्थि पाहाए ।
ताण उत्तरपासे, दाहिण य अहोमुहो विवरो ॥ ३६ ॥
तस्स य दाहिणभाए, देसअणुसुमी हरिगुसुयत्तणो ।
अत्थि रसो सयवेही, विंधइ सुच्च न सदेहो ॥ ३७ ॥
उसहदरिसिहाइकूले, पाहाणा ठाणसगमो अत्थि ।
गयवराहिमा किया, मज्झिमफरिसेण ते वेही ॥ ३८ ॥
जिनभवणदाहिणेण, नउई धणुहेहिं भूमिजबु अयरी ।
तिरिमिणुभरत्तविद्धा, पमिवाए बवए हेम ॥ ३९ ॥
वेगवई नामनई, मणसिलवण्णा य तत्थ पाहाणा ।
सव्वस्स पचवेह, सवति अमिभातय सिग्घ ॥ ४० ॥
इयउज्जयतकप्प, अविभप्प जो करेइ जिणभत्तो ।
कोहंभिकयपणामो, सो पावइ इत्थिय सुक्खि ॥४१॥ ती० ।

उज्जयग-उद्यतक-न० प्रामित्याऽपरनामके उद्गमदोषके ॥ आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

उज्जयमइ-उद्यतमति-त्रि० ६ ब० । प्रवृत्तचित्ते, " सजममिउ उज्जयमइस्स " दशा० ५ अ० ।

उज्जयमरण-उद्यतमरण-न० इङ्गिनीमरणादिके पण्डितमरणे, आचा०१श्रु०८ अ०७ उ० । (वर्णनमिंगिनीमरणशब्दे उक्तम्)

उज्जल-उज्ज्वल-त्रि० उद् ज्वल अच् । दीप्ते, विशदे, वाच० । निर्मले, औ० । रा० । जी० । प्रशस्ते, त० । भास्वरे, रा० । स० । शुक्ले, रा० । विपक्षलेशेनाप्यकलङ्किते, प्रश्न० १ आ० । भ० । स्था० । ज्ञा० । " उज्जलचलतकिसलसुकुमालपवालसोहियवरकुरग्गसिहए" औ० । "तेण तत्थ उज्जल विउल विउलपगाढ वेयण पच्चणुभवमाणा विहरंति" तामुज्ज्वलां तीव्रानुभावेनोत्कटामित्यादि । सूत्र २ श्रु० २ अ० । उज्ज्वलां दुःखरूपतया आज्वलयमानां सुखलेशेनाप्यकलङ्कितामिति भाव. । जी० ३ प्रति० । शृङ्गारे रसे, पुं० स्वर्णे, न० वाच० ।

उज्जलंत-उज्ज्वलत्-त्रि० भासमाने, न० ।

उज्जलणेवत्थ-उज्ज्वलनेपथ्य-न० निर्मलवेषे, प्र०७द्वा०८उ० ।

उज्जलणेवत्थहव्वपरिवच्छिय-उज्ज्वलनेपथ्यशीघ्र (हव्य) परिक्षिप्त-त्रि० उज्ज्वलनेपथ्येन निर्मलवेषेण(हव्वति) शीघ्रपरिक्षिप्त परिगृहीत. परिवृतो य. स तथा । कृतसत्वरसुवेषे, भ० ७ श० ८ उ० ।

उज्जलिय-उज्ज्वालित-त्रि० उद्गता ज्वाला यस्य स तथा ऊर्ध्वगतज्वालायुकेऽग्नौ, जी० ३ प्रति० । उद् ज्वल क. उद्दीप्ते, औ० । उद्दीपने, ज्ञा० १ अ० ।

उज्जल्ल-उज्जल्ल-त्रि० उद्गतो जल्लः शुष्कप्रस्वेदो यस्य सः । उद्गतशुष्कप्रस्वेदवति, " मुंमा कडुविणट्ठगा उज्जल्ला असमाहिता " सूत्र १ श्रु० ३ अ० ।

उज्जवण-उद्यापन-न० उद्. या. णिच् पुक. ल्युट् । व्रतसमाप्तिकृत्ये, तस्य कर्तव्यता । तथा नमस्कारावश्यकसूत्रोपदेशमालादिज्ञानदर्शनविविधतप सम्बन्धिपूद्यापने जघन्यतोऽप्येकैकं तत्प्रतिवर्ष विधिवत्कार्यं नमस्कारस्योपधानोद्वहनादिविधिपूर्वकमालारोपणेनावश्यकादिसूत्राणामेव गाथासङ्ख्यत्चतुश्चत्वारिंशदधिकपञ्चशत्यादिमोदकनालिकेरादिढौकना - दिना उपदेशमालादीनां सौवर्णादिगर्भदर्शनमोदकसम्भजनादिना दर्शनादिना शुक्लपञ्चम्यादिविविधतपसामपि तत्सदुपवासादिसङ्ख्यनाणकवर्त्तुलिकानालिकेरमोदकादिनानाविधवस्तुढौकनादिनोद्यापनानि कार्याणि ॥१२॥ ध० २ अधि० ।

उज्जाण-उद्यान-न० वस्त्राभरणादिसमलङ्कृतविग्रहाः सन्निहितासनाद्याहारा मदनोत्सवादिषु क्रीडार्थं लोका यान्ति यत्र तच्चम्पकादितरुखण्डमण्डितमुद्यानम् । अनु० । ऊर्ध्वं यानमस्मिन्नित्युद्यानम् । आव० ४ अ० । ऊर्ध्वं विलम्बितानि प्रयोजनाभावाद्यानानि यत्र तदुद्यानम् । नगरात्प्रत्यासन्नवर्तिनि यानवाहनक्रीडागृहाद्याश्रये, रा० । पुष्पफलोपेतवृक्षशोभिते बहुजनभोग्ये उद्यानिकास्थाने, कल्प० । भ० । पुष्पादिमद्वृक्षसकुले उत्सवादौ, बहुजनभोग्ये कानने, प्रश्न० ५ द्वा० रा० । जी० । द० । दशा० । भ० । अनु० । ज्ञा० । स्था० । जं० । " उज्जाणाइ वा वणाइ वा वणसडाइ वा वावीइ वा पुक्खरणीइ वा" उद्यानानि पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितानि बहुजनस्य विविधवेषस्योन्नतमानसस्य भोजनार्थं यानं येष्विति । स्था० २ ठा० । स० । सामान्यवृक्षवृन्दयुक्ते नगरासन्ने, ज्ञा० १ अ० जनक्रीडास्थाने, दशा० ५ अ० । "उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति ज वा इसिं णगरस्स उवकठं ठियत उज्जाणं नि० चू०८उ० । प्रतिलोमगामिनि,त्रि । नि०चू०१ उ० । ऊर्ध्वं यानमस्मिन्नित्युद्यानम् । ऊर्ध्वं यानमुद्यानम् । मार्गस्योन्नते भागे, उद्रके, तत्थ मदा विसीयति, उज्जाणंसिव दुब्बला " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । आव० ।

उज्जाणजत्ता–उद्यानयात्रा–स्त्री० उद्यानगमने, ज्ञा०१ अ०।

उज्जाणसंठिय–उद्यानसंस्थित–त्रि० उद्यानाकृतौ, ता उज्जाणसंसठिताणं ताव क्खेत्ते " चन्द्र० २ पाहु०।

उज्जाणसिर–उद्यानशिरस्–न० उद्यानमस्तके, " तत्थ मंदा विसीयति उज्जाणंसि जरग्गवा" सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

उज्जाणियलेण–औद्यानिकलयन–न० उद्यानगतजनानामुपकारकगृहे, नगरप्रवेशगृहे च। भ० १४ श० १ उ०।

उज्जाणिया–उद्यानिका–स्त्री० वस्त्राजरणादिसमलङ्कृतविग्रहाणां सन्निहितासनाद्याहारमदनोत्सवादिषु क्रीडार्थमुद्याने गमने, अनु० "उज्जाणे उज्जाणियाए गया" आ० म० द्वि०।

उज्जावल–ऊर्जोवल–न० प्रभूततरभाषणे ऽपि प्रवर्धमानबले, १ व्य०।

उज्जालण–उज्ज्वालन–न० उद् ज्वल् ल्युट्। 'अर्द्धविध्मातस्याग्नेः सकृदिन्धनप्रक्षेपेण ज्वालने, दश० ५ अ०।

उज्जालिय–उज्ज्वाल्य– अव्य० अर्धं विध्मातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण ज्वालयित्वेत्यर्थे, दश० ५ अ०।

उज्जालेत्ता–उज्ज्वाल्य–अव्य० उज्ज्वालनं कृत्वेत्यर्थे, " उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता काय आयावेज्जा" आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ०।

उज्जिंत–उज्जयन्त– पुं० गिरिनारनामके पर्वतविशेषे, पंचा० २० विव०। "उज्जितए चेव पव्वंदिया उ सुरट्ठे" आव० ४ अ० यत्र " उज्जितसेलसिहरे पव्वहिं छत्तीसाहिं अणगारसएहिं सद्धिं अरिट्ठनेमि· सिद्धः " कल्प०। आ० म० प्र०। (तद्वर्णनं उज्जयत शब्दे उक्तम्)

उज्जिंभ–उज्जृम्भ–पु० उद्–जृभि–घञ्। विकाशे, स्फुटने, उद्गता जृम्भा यस्मात् प्रा० ब० मुखविकाशनभेदे, कर्तरि अच्। प्रकाशान्विते उज्जृम्भावति, वाच०।

उज्जु–ऋजु–त्रि० अर्जयति गुणान् अर्ज्ज कु नि० ऋजादेशः। "उहत्वादौ" ८।१।६। अनेनादेर्ऋत उत्वम् प्रा०। प्रगुणे, सूत्र० २ श्रु०। अवक्रे, औ०। सूत्र०। स्था०। "त मग्गं उज्जुपाविस्सा ओहं तरति दुत्तर " ऋजु प्रगुणं यथाऽवस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रम् सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। रागद्वेषवक्रत्ववर्जिते, स्था० ४ ठा०। अविपरीतस्वभावे, स्था० २ ठा०। कौटिल्यरहिते, आचा० १ श्रु० १ अ०। प्रज्ञा०। सरले, ज० २ वक्ष०। औ०। अभ्युत्पन्नबुद्धौ, पंचा०। सयमे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। मायारहिते सयमवति, दश० ५ अ०। अमायाविनि, नि० चू० १ उ०। " धम्मविउत्ति उज्जु आवट्टे " ऋजोर्ज्ञानदर्शनचारित्राख्यस्य मोक्षमार्गस्यानुष्ठानादकुटिलः यथावस्थितपदार्थस्वरूपपरिच्छेदाद्वा ऋजुः सर्वोपाधिशुद्धोऽवक इति आचा० १ श्रु० २ अ०। " उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जुमाराभिसंकी " शब्दरूपादिषु यौ रागद्वेषौ तावुपेक्षमाण· अकुर्वन् ऋजुर्भवति यतिर्भवति यतिरेव परमार्थत ऋजु· परस्त्वन्यथाभूतरूप्यादिपदार्थान्यथाग्रहणाद्वक्रः। आचा० १ श्रु० २ अ० "पियधम्मो दढधम्मो सविग्गो जिइंदिओ उज्जू" आ० म० द्वि०। मार्गभेदे, ऋजुरादावन्तेऽपि ऋजु· प्रतिभाति तत्वतोऽपि ऋजुरेवेति तत्कल्पे पुरुषभेदे य पूर्वापरकालापेक्षया अन्तस्तत्त्ववहिस्तत्वापेक्षया वेति। स्था० ३ ठा० वस्तु देवपुत्रभेदे, पु० वाच०।

उद्योत–पु०उद्योतयतीत्युद्योत पचादित्वादच्। आर्षत्वादुज्जाति प्रकाशे, " भज्जाए सीउण्ह तसुउज्जुत्थायतवे चेव। उत्त० १ अ०।

उज्जुआयया–ऋज्वायता–स्त्री०ऋज्वी सरला सा चासावायता च दीर्घा ऋज्वायता। श्रेणि (प्रदेशपंक्ति) भेदे, स्था० ७ ठा०। यया जीवादय ऊर्ध्वलोकादेरधोलोकादौ ऋजुतया यान्तीति। भ० २५ श० ३ उ०।

उज्जुकड–ऋजुकृत–त्रि० ऋजु मायाविरहितं कृतमनुष्ठितमस्य· निर्मायितपोधर्मयुक्ते, " अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारंभनियत्तदोसा " उत्त० १४ अ०।

ऋजुकृत्–त्रि०ऋजुरकुटिलःसयमदुष्प्रणिहितमनोवाक्कायनिरोधः सर्वसत्वसरक्षणप्रवृत्तत्वादेकरूपः सर्वत्राकुटिलगतिरिति। यावत्। यदि वा मोक्षस्यानगमनऋजुश्रेणिप्रतिपत्तिः सर्वसञ्चारसयमात्कारणे कार्योपचार कृत्वा सयम एव सप्तदशप्रकार ऋजुस्तत्करोतीति ऋजुकृत् ऋजुकारिणि, यथोक्तसयमानुष्ठायिनि सपूर्णानगारे,"जहा अणगारे उज्जुकडे णियायपडिवण्णे' आचा० १ श्रु० १ अ० उ०।

उज्जुग (य) ऋजुक–न० दृष्टिवादस्य अष्टाशीतिसूत्रेषु प्रथमसूत्रे, सम०।

ऋजुग–त्रि० ऋजु यथा तथा गच्छति गम ड०। सरलव्यवहारिणि, बाणे, पु० वाच०। मायारहिते,पिं०।सरले, उपा०१ अ०। सूत्र०। ज्ञा०। आचा०। अवक्रे, त०। "उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ " आचा० १ श्रु० १ अ० "से हु समये सुयधारए उज्जुए संजए" प्रश्न०५ द्वा०। सस्फुटे, तिथिहे ते गच्छम्मि उज्जुयवाउप्पणसाहणा चेव ' ऋजुसंस्फुटमेव व्यावृतसाधना व्यावृतक्रिया कथनं कर्तव्यम् १ व्य० प्र० १ उ०। जी० " उज्जुयसमसहियजच्चतणुकसिणनिद्धआय अ· लडहरोमराई " ऋजुका न वक्रा समाना न क्वचिदुन्नता सं· हिता सतता नत्वपान्तराले व्यवच्छिन्ना सुजाता सुजन्मा न तु कालादिवैगुण्यतो दुर्जन्मा अत एव जात्या प्रधाना तन्वी न तु स्थूरा कृष्णा न तु मर्कटवर्णा कृष्णमपि किंचित् निर्द्युतिक भवति तत आह स्निग्धा आदेया दर्शनपथमुपगता सती उपादेया सुभगा इति भावः। एतदेव विशेषणद्वारेण समर्थयते।सदपि सलवणिमा अत आदेया तथा सुकुमाय अ· कठिना। तत्राकठिनमपि किञ्चित् कर्कशस्पर्शं भवति तत आह मृद्वी अत एव रमणीया रम्या रोमराजिस्तनूरुहपङ्क्तिर्येषां ते ऋजुकसमसहितजात्यतनुकृष्णा सुगन्धादेयलटहसुकुमारमृदुरमणीयरोमराजय·। जी० ३ प्रति।

उज्जुग– (य) भूय–ऋजुकभूत–त्रि० सरलीभूते, सो हि· उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ,,। उत्त विलरूपे स· यमसुद्धमभेदे,। कल्प।

उज्जुग [य]या–ऋजुकता–स्त्री० ऋजुकभावे, कर्मणि–चा–तल। अमायिनो भावे कर्मणि च। स्था० ३ ठा०।

उज्जुगा [या] ऋज्वी–स्त्री. ऋजु स्त्रियां वा ङीप्। आर्जववत्यां स्त्रियाम्, वाच०। माया भगिणी धूया मेहावी उज्जुयाय आणती य, ऋजुकामकुटिलामाहतास। व्य द्वि० ७ उ०। अण्णसु गोचरभूमिषु प्रथमगोचरभूमौ, उज्जुगामादिश्री वेच· बहिरतो उज्जुगं जातितो राउ स णिहरु,। पं० व०। ऋज्वी स्ववसतेर्ऋजुमार्गेण समश्रेणिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षाग्रहणेन पङ्क्तिसमापने तत्ता द्वितीयपङ्क्तौ पर्यन्तेऽपि भिक्षाग्रहणेन ऋ·

जुगन्त्यैव निवर्तते च भवन्ति । ध० २ अधि० ॥ यस्यामेकां त्रिशमनिगृहद्धर्पोपाश्रयान्निर्गत प्राञ्जलिनैव यथासमर्थेणिञ्य-घस्थित गृहपङ्क्तौ भिक्षां परिभ्रमन् तावद्याति यावत्पङ्क्तौ च रमगृह ततो भिक्षामगृहन्नेव अपर्याप्तेऽपि प्राञ्जलिर्यथागत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋज्वी । ग० १ अधि० ।

उज्जुजड्ड-ऋजुजड-पुं० ऋजवोऽशठास्ते च ते जडाश्च विशिष्टो-हार्थकल्पेनोकाभावप्राहिण ऋजुजडाः। पञ्चा० ११ अ० । शिक्षा-प्रहणतत्परतया ऋजुषुदुष्प्रतिपाद्यतया मूर्खेषु प्रथमतीर्थकृत्मा धुषु " पुरिमा उज्जुजडाओ वक्क जड्डा य पच्छिमा " उत्त० २६ अ० । (एषां स्वरूपं नटदृष्टान्तेन कप्प शब्दे दर्शयिष्यते)

उज्जुत्त-उद्युक्त-त्रि० उद् युज क । उद्यमवति, सस्या० । उ-द्यते, आव० ३ अ० । सावधाने, " तम्हा चंदगविज्झं सकार-एण उज्जुएण पुरिसेण " आतु० । उद्यमपरे, विशे० । अप्रमा-दिनि,न० । ग० । सूत्रार्थतदुभयग्रहणे अपरितान्ते, प० न्र०। उ पयुक्ते, व्य० प्र०१ उ० ।

उज्जुदंसि (ण्) ऋजुदर्शिन्-पुं० ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात् सयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः । सयमप्रतिबुद्धे-" णिग्गया उज्जुदंसिणो " दश० ३ अ० ।

उज्जुधम्मकरणहसण-ऋजुधर्मकरणहसन-न०ऋजूनामव्युत्पन्न-बुद्धीनां धर्मकरणे स्वबुद्ध्यनुसारेण कुशलानुष्ठानासेवने हस-नमुपहासः ऋजुधर्मकरणहसनम् । अव्युत्पन्नमतीना धर्मानु-ष्ठाने प्रवृत्तानाम् धूर्तविमम्बिन बलेत इत्यादिरूपे उपहासे, एतल्लोकविरुद्धत्वात्याज्यम् । यदयो ह्यव्युत्पन्ना एव लोकास्ते च तत्कर्मोत्तारहसने सति विरक्ता एव भवन्ति । पञ्चा० २विव०।

उज्जुपाण्ण-ऋजुप्राज्ञ- पुं०—ऋजवश्च प्राज्ञाश्च ऋजुप्राज्ञाः शिक्षाग्रहणतत्परेषु, प्रहृष्टबुद्धिषु च । मध्यमतीर्थकृत्साधुषु, " मज्झिमा उज्जुपणाओ, तेण धम्मे दुहा कए " उत्त० २६ अ० (नटप्रेक्षादर्शने तेषां स्वरूपविवेक कप्प शब्दे) अकुटिलमतौ, त्रि० । "उज्जुपन्ने अणुव्विग्गे,अव्वक्खित्तेण चेयसा, दश०५अ०।

उज्जुभाव-ऋजुभाव- पुं० सरलत्वे, " ते उज्जुभावं पडिवज्ज-माणा, किञ्चाणमग्गं विरए उवेइ " ॥ उत्त० २१ अ० ॥

उज्जुभावासेवण-ऋजुभावासेवन- न० ६ त० । कौटिल्यत्या-गरूपस्य ऋजुभावस्यानुष्ठाने, तच्च ऋजुभावासेवनमिति । ऋजुभावस्य कौटिल्यत्यागरूपस्यासेवनमनुष्ठानं देशकेनैव कार्यमेव हि तस्मिन् । अविप्रतारणकारिणि, सद्भाविते,।स हि शिष्यस्तदुपदेशाद् कुतोऽपि दूरवर्ती स्यादिति । ध०१अधि०।

उज्जु (रिउ) मइ-ऋजुमति- स्त्री० " रिजुमामन्न तम्मत-गाहिणी रिजुमइ मणोनाणं । पाय विसेसविमुहं घडमित्त चिंतिय मुणइ " पा० । आ० चू० । मननं मतिः सवेदन मित्यर्थः ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिर्ऋजुमतिः । न० । आ०म० प्र० । सामान्यग्राहिण्यां मतौ, न० । सा च घटोऽनेन चिन्तित इत्यध्यवसायनिबन्धना मनोद्रव्यपरिच्छित्तिरिति । न०। कर्म० । अर्द्धतृतीयाङ्गुलन्यूनमनुष्यक्षेत्रवर्तिसंज्ञिपञ्चे-न्द्रियमनोद्रव्यप्रत्यक्षीकरणहेतुमनःपर्यायज्ञानभेदे, । ग० १ अधि० । सामान्यघटादिवस्तुमात्रचिन्तनप्रवृत्त मन परिणाम-ग्राहि किञ्चिदविशुद्धतरमर्द्धतृतीयाङ्गुलहीनमनुष्यक्षेत्रविषय ज्ञानमृजुमति लब्धिभेद । प्रव० ॥

ऋजुमति-त्रि० ऋज्वी मतिर्यस्यासावृजुमतिः ऋजुमतिलब्धि-प्राप्ते न० । उज्जुमती नाम मणोगत भाव पडुच्च सामन्नतेम-गाहिणी मती जस्स सो उज्जुमती भन्नति । आ० चू० १ अ० । ऋजुमतयस्तु सर्वतः सार्द्धद्वयाङ्गुलाधिके मनुष्यक्षेत्रे स्थितानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनोगतं जानन्ति । कल्प० । प्रव० । (अस्य ज्ञेयविषयमान मणपज्जव शब्दे) नार्गप्रवृत्तबुद्धौ च । "तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइखंति सजमरस्स" दश० ४अ०।

उज्जुमउयपीवरपुट्ठसहयंगुलि-ऋजुमृदुकपीवरपुष्टसंहताङ्गुलि-त्रि० ऋजवोऽवक्रा मृदवोऽकठिनाः पीवराः अकृशाः पुष्टा मांस-सला सहताः सुश्लिष्टा अङ्गुलयो यस्य स तथा । स्वलक्षण-युक्ताङ्गुलिके, जी० ३ प्रति० ।

उज्जुया-ऋजुता -स्त्री० निकृतिपरेऽपि मायापरित्यागे; द्वा० ।

उज्जुयार-ऋजुचार-त्रि० अकौटिल्येन प्रवर्तमाने यथोपदेशं यः प्रवर्तते न तु पुनर्वक्रतयाऽऽचार्यादिवचनं विलोमयति प्रतिकूलयति "जयाणिप चेव सुउज्जुयारे " सूत्र० १श्रु० ५ अ० ।

उज्जुवालिया-ऋजुपालिका-स्त्री० स्वनामख्याते नदीविशेषे, सा जृम्भिकग्रामनगरस्य बहिर्वहति यस्यास्तीरे भगवतो वीरस्य केवलज्ञानमुत्पन्नम् । कल्प० ॥

उज्जुववहार-ऋजुव्यवहार- पुं० ऋजु अगुणं व्यवहरणमृजु-व्यवहारः । एकविंशतिभावश्रावकगुणानां चतुर्थे गुणे, ॥ अधुना ऋजुव्यवहारीति चतुर्थभावश्रावकलक्षण यथा ।

उज्जुववहारो चउहा, जहत्थभणणं अवंचगा किरिआ ।
हुंतावायपगासण, मित्तीभावो असब्भावो ॥

ऋजु अगुणं व्यवहरणं ऋजुव्यवहारः । स चतुर्धा यथार्थभ-णनमविसंवादिवचनम् १ अवञ्चका पराव्यंसनहेतुक्रियामनो-वाक्कायव्यापाररूपा २ (हुंतावायपगासणत्ति) हुतत्ति भावि तदोल्या भाविनोऽशुरूव्यवहारकृतो येऽपायास्तेषां प्रकाशनं प्रकटन करोति भद्र! मा कृथा पापानि चौर्यादीनि इह परत्र चा-नर्थकारिणीत्यादिभि विकयति ३ मैत्रीभावः सद्भावो निष्कप-टतायाः ४ । ध० २ अधि० । इत्युक्त ऋजुव्यवहारे यथार्थभण-नस्वरूपः प्रथमो भेदः । सम्प्रति द्वितीय भेदमाह । (अवचि गाकिरियत्ति) अवञ्चिका पराव्यसनहेतुः क्रिया मनोवाक्काय-व्यापाररूपा तत्र द्वितीयमृजुव्यवहारलक्षणम्' उक्तञ्च तप्पभिरूव गविहिणा, उन्नापयाई हिकण मज्झहिय । दिंतो हितो वि पर, नववए सुत्थम्मत्यी ॥ १ ॥ " चवञ्चकिरियाइ इह पि केय सं पावमेव पिच्छतो । तत्तो हरिनन्दी इव, नियत्तए सव्वहासु मई २ " इति क पुनरय हरिनन्दी तत्कथोच्यते ।

उत्तेणिपुरवरीए, वहिया वणधीहिया इ वयहरइ ।
हरिनदि वणी वारिद्द-रुद्ददोलि दुमविहगो ॥ १ ॥
आसन्नमनिवेसा उ, अन्नया आगया वणे तस्स ।
आहीरी ववहरिउं, पगा घयमाइ घित्तूण ॥ २ ॥
विक्किणिउ किणिउ वा, लोणतिल्लाइसाहणं पेइ ।
सिक्खिविसिह रूवग, दुगस्स कप्पासमप्पेसु ॥ ३ ॥
सो य समग्घो समए, तम्मि य तो तोलिउं दुवे वारे ।
इगरूवगस्स अप्पइ, सा मुद्धा वधए गंठि ॥ ४ ॥
त तह दट्ठु सिट्ठी, विचिन्तए परपवचणानिउणो ।
अज्ज मए अज्जिणिओ, अकिलेसं रूवगो एगो ॥ ५ ॥
इय चिंतिउ विसज्जइ, इमो अणुधुत्तमुज्जय सच्चो ।
इत्तो नवणिनिमित्त, पत्तो सगेहिणी तत्थ ॥ ६ ॥
सा चवणि उवणेउ, भणिया धयखंडसामिय मईणि ।
पयाह गिण्ह सिग्घं, करेसु त घेवरे पवरे ॥ ७ ॥

सा ताइ गहिय सगिहे, गतु तुट्ठा करइ घयपुन्ने।
सिठी गट्टियहट्टाउ न्हाउं पत्तो नई इत्तो । ८ ।
कत्तो य आगओ त–गिहम्मि जामाउओ वयस्सजुओ ।
अइओ सगुत्तिज्जुत्ते, ते घयपुन्ने गओ तुरिय । ९ ।
भहन्दाउ गिहे पत्तो, सिट्ठी साहाविय चिय कुभत्त ।
परिविट्ठि दट्ठुं सुट्ठु, रुट्ठओ भणइ इय भज्जे ! ॥ १० ॥
किं अलसे घयपुन्ना, न कया सा भणइ ते कया किंतु ।
अणुताव तावियमणो, इय अप्प निंदए सिट्ठी ॥ १२ ॥
हा वंचिया मुहाए, धण तव लुद्धेण सा मए मुद्धा ।
अन्नेहिं तय भुत्तं, पाव मह चेव सजायं ॥ १३ ॥
हट्टी इत्थिरकाल, परवंचणपवणमाणसेण मए ।
दुसहदुहनरयदाम–गिहं घणं कह कओ अप्पा ॥ १४ ॥
इय झूरतो जाजइ, किं पि भूभागमग्गओ ताव ।
मग्गम्मि मुणी एगं, गच्छंत दट्ठुमिय भणइ ॥ १५ ॥
भयवं ! पडिक्खसु खण, भणइ इमो गच्छिमो सकज्जेण ।
सिट्ठी वि आह किं को वि, नाह परिभमइ परकज्जे ॥१६॥
अइसयनाणी साहू, भणेइ त चिय भमेसि परकज्जे ।
साम मे इव पुट्ठो, बुद्धो तेणेव वयणेण ॥ १७ ॥
हरिनंदी आणदिय–हियओ वदिय मुणिं भणइ कत्थ ।
चिट्ठह तुम्हे भयव, ! भणइ मुणी इत्थ उज्जाणे ॥ १८ ॥
तो मुणिकहिय धम्म, सोउ विन्नवइ एइ तुह समीवे ।
गिण्हिस्ससह दिक्खं, नवरं पुच्छियससयणग्गं ॥ १९ ॥
पणमित्तु मुणिं गेहे, पत्तो मेलित्तु ज पए सयणे ।
इह तारिसो न लाभो, ता दिसि जत्ताइ गच्छामि ॥ २० ॥
इत्थ दुवे सत्थाहा, एगो नियरयणपणगमप्पेइ ।
तह नेइ इच्छिय पुर, पुव्व वि दत्त न मग्गेइ ॥ २१ ॥
बीओ न देइ किं चि वि, इच्छिय नयरं च नहु पराणेइ ।
पुव्वज्जिय पि गिण्हइ, वयमित्तो भणइ केण समं ॥ २२ ॥
ते विंति पढमएण, सिट्ठी वज्जरइ नियइ आगतु ।
तो ते पमोयकलिया, चलिया सह तेण मग्गम्मि ॥ २३ ॥
इयवसहाइं अदट्ठु, भणति ते कत्थ सत्थवाहो सो ।
नियहनिसन्नमसोग–हिट्ठओ ससए सिट्ठी ॥ २४ ॥
तो तिविम्हइयमणा, सयणा नमिउं मुणिं समासीणा ।
पणमिय पुच्छइ सिठी, को इत्थ पसत्थ सत्थाहो ॥२५॥
साहू साहइ इह स–व्वभावमेया दुहा उ सत्थाहो ।
तत्थ य पढमो नियओ, सगुज्जुओ सयणुवग्गुत्ति ॥२६॥
सो डुहियस्स वि जीवस्स,देइ न य कहावि किंपि सुकयधणं।
परभवपहे पयट्टस्स, तस्स न पय पि सह चलइ ॥ २७ ॥
कलहाइएहिं एसो, लुपइ पुव्वज्जियं पि सुकयलव ।
बीओ पुण सत्थाहो, सुगुरू गुणरयणगणकलिओ ॥ २८ ॥
जिणसासणसुरागर, संभूए निम्मले य सत्थाए ।
सो सम देइ निए, पचमहव्वयमहारयणे ॥ २९ ॥
जं तेहिं पचरयणेहिं, अज्जिय सुहकरं सुकयदव्व ।
नय त कयावि गिण्हइ, कमेण पावइ सियनयर ॥ ३० ॥
इय सोउ सविग्गो, हरिनदी गिण्हए समणधम्म ।
सयणा वि ससत्तीए, धम्म गहिउ गया सगिहे ॥ ३१ ॥
हरिनंदीपरवन्नण–किरिया सक्किरियाइ सो सणिकरवि ।
कयसक्किरिओ अकिरिय–ठाणम्मि कमेण सपत्तो ॥ ३२ ॥
इत्यवेत्य हरिनन्दिवज्जना –पापसतमसदर्शयामिनीम् ।
ता विमुच्य परवञ्चिकां क्रियां,सक्रिया स्त यदिवा क्रियेच्छव

इति हरिनन्दिकथा ॥

इत्युक्तऋजुव्यवहारेऽवञ्चिकाक्रियेति द्वितीयो भेद. ।

सम्प्रति भाव्यपायप्रकाशनस्वरूपं तृतीय भेदमाह ।

(हुनावायपगासणहुंतत्ति) प्राकृतशैल्या भाविनोऽऋजुव्यवहारकृतो येऽपायास्तेषां प्रकाशन प्रकटन करोति भद्र ! मा कृथाः पापानि चौर्यादीनि इह परत्र चानर्थकारीणीत्याश्रित शिक्षयति। भद्रश्रेष्ठीव निजपुत्र धन न पुनरन्यायप्रवृत्त मभ्युपेक्षत इति भाव ।

भद्रश्रेष्ठिकथा चैवम् ॥

हरिवेह पि व भहिल, पुरमत्थि सुवन्नसगय सुगय ।
तत्थ सुपसत्यनयकुंज–केसरी केसरी राया ॥ १ ॥
सिट्ठी भद्दो भद्दो, दतीव दाणपसरडुल्ललिओ ।
तस्स य वचणपवणो, धणलुद्धमणो धणो तणओ ॥ २ ॥
मुणिचित्त च सकरुणं, सअज्जुणं परुवाण सिन्न च ।
ते कीलिउ कया वि हु, दुवे वि उज्जाणमणुपत्ता ॥ ३ ॥
उच्छूढसभा भारं, निवूढदयपरूढगुरुवस ।
सन्नापि वसुपइट्ठ, सुपइट्ठमुणि नियति तहिं ॥ ४ ॥
ते त समणुत्तम्म–मुत्तमगसुनिविट्ठकरयला नमिओ ।
निसियति उचियठाणे, तो धम्म कहइ इय सुमुणी ॥ ५ ॥
कमलसर पिव मरुमं–डलम्मि तमसम्मि रयणदीव च ।
नरभवमिह दुलहं लहिय, कुणह सत्तीइ जिणधम्म ॥ ६ ॥
इय सुणिउ पियपुत्ता, पहिट्ठचित्ता गहित्तु गिहधम्मं ।
मुणिचरणे जयसरणे, नमिओ पत्तानिए सरणे ॥ ७ ॥
भाविबहुमइ सद्दोह, सुदरो भद्दमाणसो भद्दो ।
ववहारसुद्धिनिरओ, गिहिधम्म पालयइ विसुद्ध ॥ ८ ॥
हट्टम्मि ठिओ निच्च, धणो पुणो लुद्धओ धणे धणिय ।
कूडकयतुल्लमणो, कूडाईहिंच ववहरइ णिच्चं ॥ ९ ॥
मणविक्खिउं अपाए, तेणाणीय पि लेइ पच्छन्न ।
त नाउ सो उ पिउणा, मिउणा वयणेण इय भणियो ॥ १० ॥
वच्छ अवत्थ पच्छा–अपत्थभत्त व दोसपडिहत्थ ।
अन्नाएण दाविस्सस्स, ण अज्जण सज्जणा विंति । ११ ।
अन्नाएण वि दत्त , दव्वमसुद्ध असुद्धदव्वेण ।
आहारो वि असुद्धो, तेण असुद्ध सरीर पि । १२ ।
देहेण असुद्धेण, ज ज किज्जइ कयावि सुहकिच्च ।
त त न होइ सफल , बीय पिव चऊसरानिहत्तं । १३ ।
किंचि भाविअवाय अन्ना–नयपहपहियाणनराण चितेसु ।
निज्जियकज्जलपसरो , अजसभरो फुरइ भवणम्मि । १४ ।
इह य पिवि हुति कारा , पवासवहबंधहत्थच्छेयाई ।
परलोए पुण दारुण, नरगाईसु दुक्खाईं ओली । १५ ।
सपासपायवल, जलजलण नरिंदमाइसाहीणं ।
विहविलव नाउ अनाय, उज्जुओ कोइ विज्ज इह । १६ ।
सच्छ वियाणसु अन्नाय, अज्जिय पि विहवभर ।
पज्जते अइविरस, सुज्जय भवफूलभाव च । १७ ।
अइलोहनेहपूरिय, अन्नायपईवभाविणा इमिणा ।
नियवयनरभजण ख–जणेण कोमइलए अप्प । १८ ।
इय ज पिओ वि पिउणा, सो गुरुणा लोहकम्मणा मलिणो।
न हु किंपि त पवज्जइ, चिट्ठइ पुव्व व अनयपरो । १९ ।
अह चोरे णिक्केण, वरकुडलजुयलसजुय हार ।
उवणीय जाचे धणो, धणेण थोवेण गिण्हेइ । २० ।
चोरकराओ कइया, वि जाव रयणावलिं स गिण्हेइ ।
निवसिरिहरिओ विमलो, तो पत्तो तस्स हट्टम्मि । २१ ।
तेण य भणिओ वरसि य, सचए दसए धणो जाव ।

ताव धणउरियाए, पभियारयणावलीउभत्ति । २२ ।
तं गहिउ नवगासिय, विमलो पुच्छेइ सिद्धि किं एयं ।
जा किं पि न सो जपइ, खुहिओ ता जपए विमलो । २३ ।
अन्न पि इमीइ सम, नट्ठवरहारकुरुलाइय ।
तुह पासे त पि अह, मन्ने ता सह महप्पेसु । २४ ।
अन्नह निवेण नाणे, धणेण देहेण वा न छुट्टिहिसि ।
अह इण हाणित्ति नणिओ, सपत्तो तलवरो तत्थ । २५ ।
बद्धो तेण धणो विम-प्पपुच्छिओ सो भणइ जहा अज्ज ।
सब्बो इक्को चोरो, से हिज्जतेण तेण इमो । २६ ।
कहिओ मो सद्धाण नरवरआहरणमाइसव्वाण ।
तो रयणावलिसाहिओ, स तेण नीओ निवसमीवे । २७ ।
तो भिउडिनासुरेण, निवेण से हाविओ धणो अहियं ।
रयणावलिकुरुलहा-रमाइसव्व समप्पेह । २८ ।
इय सोऊण अबुहो, सहो गतूण निवइपासम्मि ।
दाउ पडूयविहवं, कह कहमवि मोयए पुत्त । २९ ।
तो नाउ बहुअवाय, चइऊण पुहावि उज्जणं वयणा।
दिक्ख गिण्हिय जाओ, सद्धो सद्धाण आभागी । ३० ।
मुक्कववहारसुद्धी, सुमइतसमुद्धसतधणगड्डी ।
परिचत्तविमलनावो, नरए पत्तो धणो पावो । ३१ ।
इत्येवमाकर्ण्य सकर्णलोका, जद्दस्य भद्रकस्य चरित्रम् ।
तद्भाव्यपायापसरेण मुक्तां, भवन्तु नित्य व्यवहारशुद्धिम्।३२।
इति भद्रश्रेष्ठिकथा ।
इत्युक्तऋजुव्यवहारे भाव्यपायप्रकाशनमिति तृतीयो भेदः । सम्प्रति सद्भावतो मैत्रीभाव इति चतुर्थं भेदमाह ॥
(मित्तीभावो य सब्भावत्ति) मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री तस्या भावो भवन सत्ता सद्भावान्निष्कपटतया सुमित्रवन्नि- ष्कपटमैत्रीं करोतीत्यर्थः । मैत्रीकपटभावयोश्छायातपयोरिव विरोधात् । उक्तं च "शाठ्येन मैत्री कलुषेण धर्मं, परोपतापेन समृद्धिभावम् । सुखेन विद्यां पुरुषेण नारीं वाञ्छन्ति ये व्यक्तमपण्डितास्ते । इति चतुर्थ ऋजुव्यवहारभेदः ।
सुमित्रकथा चैव ।
सुपुरिस पुरइवसुकरे, बरवत्थे सिरिपुरम्मि नयरम्मि ।
सिट्ठी आसिनदीणो, समुद्ददत्तो समुद्दव्व ॥ १ ॥
सब्भावसारमित्ती, मईनदिप्पनकलिकयसोहो ।
पुत्तो तस्स सुमित्तो, मित्तुव्व परं असग्गासो ॥ २ ॥
निकम्मो चत्त पुणो, सोहमओ मयगाणुव्व पीइहरो ।
परमस्सवेहणपरो, मित्तो तस्स त्थि वसुमित्तो ॥ ३ ॥
गुणविय कहसि पिउणो, ववहरणत्थ सुमित्त वसुमित्तो।
सगहिय पउरपणिया, वणिया देसंतरे चलिया ॥ ४ ॥
मित्तपओसी ठो सु-करिसपरो कोसिअव्व वसुमित्तो ।
चडमणो मित्तधणे, कुणइ विवाय इय पहम्मि ॥ ५ ॥
जीवाण जओ धम्माओ, किं व पावाउ कहसु मह मित्त ।
भणइ सुमित्तो धम्मओ, नाणुजओ न हण पावाउ ॥ ६ ॥
(यत)दविणमक्ष कुत्रममल, आणसरीरं अवपुर विरियं।
सुरम्पय सिवपय, धम्मा उच्चियजियाण धुव ॥ ७ ॥
जइ पुण पावेण बुद्धि, रिद्धिसिद्धिमाइयो हुज्जा ।
तो हुज्ज न को वि इह, जमो दरिद्दो असिद्धो य ॥ ८ ॥
रक्खियमिगे वि भयवं-तणो ससी हयमिगो वि मिगनाहो।
सीहो तउ पावा ज-इति इय भणइ वसुमित्तो ॥ ९ ॥
इय विययना दुन्नि वि, सव्वस्स पणम्मि निम्मयपइन्ना ।
अन्नायधम्मनामे, कमेण कमिवि गया गामे ॥ १० ॥
तत्थ य वसुमित्तेण, मच्छरभरपूरिएण नियपक्ख ।
पुट्ठा गामीणजणा, पावा उ जउ त्ति जपंति ॥ ११ ॥
जे परवचणपउणा, विगलियकरुणा सया अमच्चपणा ।
तप्पच्चक्ख पिच्छइ, अतुच्छअच्छोइसपन्ना ॥ १२ ॥
अन्यैरप्युक्तम् ।नातीव सरलैर्भाव्य,गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
सरलास्तत्र छिद्यन्ते कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥ १३ ॥
गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धूर्यो नियुज्यते ।
असजातकिणस्कन्धः सुखं जीवति गौर्गलिः ॥ १४ ॥
उत्तरदाणअसत्तो, तस्स सुमित्तो मुरुक्खसत्थस्स ।
वसुमित्तेण सत्था, उग्गाहिओ गहियसव्वस्स ॥ १५ ॥
सो एगागी अडवी-इनिवडिओ आहिदुक्खतत्तो वि ।
परगईसमित्तभावेण, परिगउ चिंतए एवं ॥ १६ ॥
भुज्जतो रेजियपुव्वं, जम्म कम्मुकम्मरुक्खफलमेयं ।
काऊण सतोसं, वसुमित्ते वज्जिसुपओसं ॥ १७ ॥
इय चिंतिउ सुमित्तो, निसाइसावयगणाण बीहतो ।
इक्कस्स निलुक्को गरु-यावित्थवित्थविडविस्स कुहरम्मि ॥ १८ ॥
इत्तो निसुणइ दीव-तरो उवचाए रुक्खसिहरम्मि ।
सो पक्खीणुव्वाविय, महल्लविहगेण पुट्ठाए ॥ १९ ॥
भो विहगा कहह मह, कत्तो को इत्थ आगओ इण्हि ।
दीवतरामिक्केण, किंकिरदट्ठ व निसुय वा ॥ २० ॥
तेहि वि ज जह दिट्ठ, सुय व दीवतरेसु वा सव्व ।
तह चेव तस्स कहियं, एगो पुण भणइ तत्थ इम ॥ २१ ॥
ताय अह पत्तपत्तो, सिंहलदीवा उ तत्थ नरवइणो ।
अत्थि जियमयणघरिणी, धूया धूयामयरणेहा ॥ २२ ॥
तीसे य अत्थि वियणइ-पीडियाए तइज्जओ मासो ।
विज्जेहि विपडिसिद्धा, तो पिउणा दाविओ पडहो ॥ २३ ॥
जो मह धूयं पउणेइ, तस्स वि य देमि रज्ज अद्धमह ।
सीइसम विय नय को वि,पडहपछिवइ पुण तया । २४ ।
अज्ज दिणं अट्ठीपढ-हयस्स तातीनयणरोगस्स ।
किं नत्थि ओसहमिह, किंवा अत्थत्ति मह कहसु । २५ ।
अह भणइ वुड्ढपक्खी, जाणतेहिं वि जह तहा एय ।
दिवसम्मि वि न कहिज्जइ, किं पुण रयणीइ हेपुत्तो । २६ ।
तेणुत्त महगरुय, कुट्ठ न य कोइ सुणइ इह ताय ।
ता कहसु आह सो वि हु, सुयपुव्व वत्थमह एयं । २७ ।
अद्धाण पवमभेहिं इह निसि वासिएहिं जइणसाहूहिं ।
सहक्खणुत्ति कहिओ, एस तरु नयणरोगहरो ॥ २८ ॥
जइ कोइ एइ तरुणो, पत्तरसेतीइ अत्थि सुविज्जा ।
तो सा पउणिज्जइ सहु, इय सा उचिंतइ सुमित्तो ॥ २९ ॥
उज्जीवहियामित्तीइ, मंदिर दुइय दहणजलवाहा ।
सन्नाणरयणजलही, न अन्नहा विंति जइणमुणी ॥ ३० ॥
इय नतिय य तरुण सर-जदलाइ गहित्तु सो अप्प ।
बधइ सिंहलदीवा, गयजाडरूस्स चरणम्मि ॥ ३१ ॥
नीओ तेण तहिं सो, खिविउ पडह गओ निवइ पासे ।
विहिओ वि य पभिवत्ती, रन्ना पुट्ठो कुसलवत्तं ॥ ३२ ॥
वाहरिय मयणरेह, वलिमडलमाइकाउनिवइ पासे ।
लोयणवेयणरहियं, करेइ तेण दलरसेण ॥ ३३ ॥
परिणाविय निवकन्न, दिन्न रन्न य तस्स रज्जद्धं ।
सो तत्थच्छइ सुत्थिय, हियओ सव्वेसि हियनिरओ ।३४।
वसुमित्तो वहणेणं, कया वि तत्थागयो विणिज्जेण ।
निवदंसणाइपत्तो, गहिउं कोसल्लिय बहुयं ॥ ३५ ॥
तत्थ सुमित्त सुमह-त्तयाय लच्छीइ दट्ठु ट्ठिप्पत ।
सो चत्तमित्तभावो, धसक्किओ चिंतए एव ॥ ३६ ॥

एसो पयउपउंसो, अइ कहमावि मज्झ वइयरं रन्नो।
पायरुइ तओ अहुणा, हिय सव्वस्सो विणस्सामि ॥३७॥
केणावि उ वाएणं, ताएय मारिमुस्सिंचिंतेउं।
पाहुरुमप्पितुनिवइ-रायपासम्मि आसीणो ॥ ३८ ॥
विजण आणित्तु इमो, सुमित्तभवणम्मि जाइ मायाए।
पुच्छियकुसलोदंता, परुप्परं जाव अच्छंति ॥ ३९ ॥
ताव सुमित्तपुत्तं, सुमित्तवरमित्त कइवयदिणाणि।
मा मं जाणा विज्जसु, रन्नो तेणावि पडिवन्नं ॥ ४० ॥
अण्णदिणे वसुमित्तो, रहम्मि विन्नवइनरवय एवं।
परदोसग्गहणं जइ, वि देवसुत्ततसुपुरिसाणं ॥ ४१ ॥
तहवि हु गुरुअववाओ, पहुणो मा होउ इय पयपेमि।
एसो जह जामाऊ, अम्ह पुरे विज्ञकुमसुओ ॥ ४२ ॥
त सोऊण विसन्नो, करालकुलिसाहओ व्व नरनाहो।
त वुसतं सव्वं, सुबुद्धिसचिवस्स साहेइ ॥ ४३ ॥
सो पभिणेइ जइ देव, एवमेयं तओ गुरुअबसो।
ववहारयारट्ठाणं, अमिमादिवेसु तुह नयरी ॥ ४४ ॥
सहसा निवो वि जंपइ, आ परुहवइ न हु इम लाए।
तो पच्छन्न एयं, वा वायसुमंति तम्हत्ति ॥ ४५ ॥
आमंति मंति वुत्ते, रहम्मि पुच्छा निवेण नियधूया।
किं अकुलीणवियारो, सव्वविओ को वित्ते पइणा ॥४६॥
सा भणइ अविकप्पको, ससिणो किर अत्थि न उण मह पइणो।
केवलगुणमयसुत्ती, पकुव्वपरगुज्झरक्खट्ठा ॥ ४७ ॥
नियपच्चइ नरेहिं, इत्तो पिच्छणय पिच्छणामिसेण।
सचिवेण लहु सुमित्तो, सभासमयम्मि बाहिरओ ॥ ४८ ॥
पुन्नभरपेरिएणं, तेण वि नियवेसमप्पउ तइया।
पच्छविओ वसुमित्तो, सुबुद्धिपुरिसेहि सो निहिओ ॥४९॥
त नाउ ति निवो कह, मह दुहिया होहि जाव फुरेइ।
सा ताव तत्थ आगंतु पुच्छिए किं इम ताय ॥ ५० ॥
तुह वेहव्वकरोह, वच्छे पावुत्ति जपिए रन्ना।
सा भणइ तुज्झ जामा-उगो गिहे चिट्ठए ताय ॥ ५१ ॥
तं आयन्नियरन्ना, रहम्मि पुट्ठो पयपइ सुमित्तो।
मन्नत्यमणो सव्वं, तं वसुमित्तस्स वुत्तं ॥ ५२ ॥
ता चिंतेइ नरिंदो, मित्ताभावसण इमस्स अहो।
गमनच्छरन्नीरुत्त, महो अहो धम्मसुथिरत्त ॥ ५३ ॥
इय चिंतिओ चमक्किय-मणो निवो कहइ मतिपच्चराण।
सब्भावरुइरमित्ति, जुत्त चित्त सुमित्तस्स ॥ ५४ ॥
तयणु सुमित्तेणं तहिं, पियरो आणाविया पहिट्ठेण।
नयरिपवेसो रन्ना, कराविओ गुरु विभूईए ॥ ५५ ॥
जायायवं ससुद्धी, स परेसि सुहाणकारओ जाओ।
पमिवज्जियपव्वज्जो, कमासुमित्तो गओ सुगइ ॥ ५६ ॥
मित्तीभावविरहिओ, अहिओ सपरेसि सययवसुमित्तो।
मरिऊण गओ नरए, भमिही संसारमइघोर ॥ ५७ ॥
एवं सुमित्रस्य समस्तसर्व-संदेहमित्रस्य निशम्य वृत्तम्।
भव्या जना दुस्कसनासविन्या सद्भावमैत्र्यां भृशमाश्रियध्वम् ॥
इति सुमित्र कथा ॥

इत्युक्त ऋजुव्यवहारे सद्भावमैत्रीलक्षणश्चतुर्थो भेदस्तदुक्तो मिहदित चतुर्विधमप्यृजुव्यवहारस्वरूपम्।

सांप्रतमस्यैव विपर्यये दोषदर्शनपूर्वकं विधेयतामाह–

अन्नह भणणाईसु, अबोहिवीयं परस्स नियमेण।
तत्तो भवपरिवड्ढी, तं होज्जा उज्जुववहारं ॥ ४८ ॥

अन्यथा भणनमयथार्थजल्पनमादिशब्दाद्धञ्चकक्रियादोषापेया सद्भावमैत्रीपरिग्रहस्तेषु सत्सु श्रावकस्येति भावः। अबोधिर्धर्मा-प्राप्तिर्बीजं मूलकारण परस्य मिथ्यादृष्टेर्नियमेन निश्चयेन प्रवर्तीति शेष.। तथाहि श्रावकमेतेषु वर्त्तमानमालोक्य वक्तारः संप्रवन्ति धिगस्तु जैनं शासन यत् श्रावकस्य शिष्टजननिन्दितेऽलीक-भाषणादौ कुकर्मणि निवृत्तिर्नापि दृश्यते इति निन्दाकरणादमी प्राणिनो जन्म कोटिष्वपि बोधिं न प्राप्नुवन्तीत्यबोधिबीजमिदमुच्यते। ततश्चाबोधिबीजाद्भवपरिवृद्धिर्भवति नभिन्दाकारिणस्तन्निमित्तभूतस्य श्रावकस्यापि यदवाचि। शासनस्योपघातो योऽनाभोगेनापि वर्त्तते। स तन्मिथ्यात्वहेतुत्वाद्-न्येषां प्राणिनामिति ।१। बध्नात्यपि तदेवाद्य, परं संसारकारणम्। विपाक दारुण घोर, सर्वानर्थविवर्द्धनमिति। ततस्तस्मात्कारणादुदयाद्भावे ऋजुव्यवहारी प्रगुणव्यवहारवान् प्रकृतो भावश्रावक इति। उक्तमृजुव्यवहार इति चतुर्थं भावश्रावकलक्षणम्। ध० र० ॥

उज्जुसंधिसंखेडय–ऋजुसन्धिसंखेटक–पु० सरले गन्तव्यविविभागे, "मग्गाउ उज्जुसधि, सखेडयं पवेदेइ। उज्जुसधिसखेडया वा सगडमग्ग पवेदेइ" नि चू. १३ उ०।

उज्जुसुत्त (य)–ऋजुसूत्र. –पुं० अतीतानागताभ्युपगमकुटिलतापरिहारेण ऋज्वकुटिल वर्त्तमानकालभावि वस्तु सूत्रयति गमयति अभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः। अतीतानागतयोर्विनाशानुत्पत्तिभ्यामभ्युपगमश्च कुटिल इति भावः। ऋज्ववक्र श्रुतमस्येति ऋजुश्रुत.। शेषज्ञानैर्मुख्यतया तथाविधपरोपकारसाधनश्रुतज्ञानमेवैकमित्यर्थ.। उक्तंच "सुयनाणे अभिउत्त, केवलं वयणतरं ॥ अप्पणो य परेसिं च, जम्हा त परिभावग" मिति स्वनामख्याते सप्तानां मूलनयानां चतुर्थे नये, अनु०। प्र०। द०। ग०। स्या०। सूत्र०। अष्ट०॥ अय हि द्रव्यं सदपि गुणीभावाभार्पयति पर्यायास्तु क्षणध्वसिनः प्रधानतया दर्शयतीति। उदाहरन्ति–यथा सुखविवर्त्त. सम्प्रत्यस्तीत्यादिरिति। अनेन हि वाक्येन क्षणस्थायि सुखाख्य पर्यायमात्र प्राधान्येनापि दर्श्यते। तदधिकरणभूत पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यते। आदिशब्दाद् दु.खपर्यायोऽधुनास्तीत्यादिक प्रकृतनयनिदर्शनमभ्यूहनीयम्

अस्यनिरुक्तिगर्भमतम्।

पच्चुप्पन्नग्गाही, उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो।

अय च नयो वर्त्तमानमपीच्छन् स्वकीयमेवेच्छति परकीयस्य स्वाभिमतकार्यासाधकत्वेन वस्तुतोऽसत्त्वादिति। अपर च लिङ्गवचनैर्भिन्नमपि शब्दैरेकमपि वस्त्वभिधीयत इति प्रतिजानीते यथा तट तटी तटमित्यादि। यथा गुरुर्गुरव इत्यादि तथा इन्द्रादेर्नामस्थापनादिभेदात्प्रतिपद्यते वक्ष्यमाणनयस्तत्तिविशुद्धत्वाल्लिङ्ग वचनभेदाद्वस्तुभेद प्रतिपत्स्यते। नामस्थापना द्रव्याणि च नाभ्युपगमिष्यतीति भाव.। इत्युक्त ऋजुसूत्र. अनु०।

एतदेव विस्तरेणाह।

उज्जुसुयं नाणमुज्जु-सुयमस्स सो यमुज्जुसुओ।
सूचयइ वा जमुज्जुं, वत्थुं तेण त्ति सुत्तोत्ति ॥

ऋजुश्रुत ज्ञान बोधरूप ततश्च ऋज्ववक्र श्रुतमस्य सोऽयमृजुश्रुत। वा अथवा ऋज्ववक्र वस्तु सूत्रयतीति ऋजुसूत्र इति। कथं पुनरेतदभ्युपगतस्य वस्तुनोऽवक्रत्वमित्याह

पच्चुप्पन्नं संयम-मुप्पन्नं जं च जस्स पत्तेयं।
तं ऋजुतदेव तस्स, त्थि उ वक्कमन्नं निजमसंतं ॥

यत्सांप्रतमुत्पन्नं वर्त्तमानकालीन वस्तु यच्च यस्य प्रत्येकमात्मीय तदेतदुभयस्वरूप वस्तु प्रत्युत्पन्नमुच्यते तदेवासौ नयः प्रतिपद्यते तदेव वर्तमानमात्मीय च वस्तु तस्य ऋजुसूत्रनय-

स्याऽस्ति अन्यत्तु शेषमतीतानागत परकीय च यद्यस्मादसद्विद्यमानं ततोऽसत्वादेव तदनुमिच्छत्यसाविति अत एवोक्तं निर्युक्तिकृता " पच्चुप्पन्नग्गाही, उज्जुसुत्तनयविही मुणेयव्वेत्ति "
एतन्मतमेव प्रमाणत समर्थयन्नाह ।

न वि गयमणागयं वा, जावो णुवलंजओ खपुप्फं च ।
न य निप्पओयणाउ, परकीयं परधणमिवत्थि ॥

विगत विनष्टमतीतमनागत त्वनुत्पन्नम् । एतदुभयरूपमपि न भावे न वस्त्वनुपलम्भात्खपुष्पवदिति । न च परकीय वस्त्वति निष्प्रयोजनत्वात्प्रयोजनाकर्तृत्वात्परधनवदिति ।

अथ व्यवहारनय युक्तितः स्वपक्ष ग्राहयन्नाह ।

जइ न मयं सामन्नं, मंववहारोवलच्छिरहियंति ।
नाणुगयमस्स व तहा, परक्कमवि निप्फलतणओ ॥

हेव्यवहारनयवादिन् ! यदि तव व्यवहारानुपयोगादनुपलम्भाच्च सामान्य न मत सग्रहस्य सम्मतमपि नेष्टमित्यर्थ । ननु तथा तेनैव प्रकारेणैव व्यवहारानुपयोगादनुपलम्भाच्च गतमतिक्रान्तमेष्यच्चानागत वस्तु नाभ्युपगतस्त्व युक्त समानत्वात् तथा परकमपि परकीयमपि वस्तु मैषी स्वप्रयोजनासाधकत्वेन निष्फलत्वात्परधनवदिति । अथ यदसौ नयोऽभ्युपगच्छति तत्सर्वमुपसहृत्य दर्शयति ।

तम्हा नियंयं संपय- कालीणं लिंगवयणजिन्नं पि ।
नामाइभेयविहियं, पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुओ ॥

तस्मादृजुसूत्रनय प्रतिपादितयुक्तितो वस्तु प्रतिपद्यते । कथ भूतं निजकमात्मीय न परकीय तदपि सांप्रतकालीन वर्तमानं न त्वतीतानागतरूपम् तच्च निज वर्तमान च वस्तु लिङ्गवचनभिन्नमपि प्रतिपद्यते । तत्रैकमपि त्रिलिङ्गं यथा तटस्तटी तटमित्यादि । तथैकमप्येकवचन बहुवचनवाच्य यथा गुरुर्गुरव आपो जल दारा कलत्रमित्यादि । तथा नामादिभेदविहितमप्यसौ वस्तु अभ्युपगच्छति । नामस्थापनाद्रव्यभावरूपाश्चतुरोऽपि निक्षेपान् सामान्यत इत्यर्थ तदिह लिंगवयणेत्यादिना अभ्युपगमद्वयोपन्यासेन वक्ष्यमाणशब्दनयेन सहास्याभ्युपगमभेदो दर्शित. शब्दनयो हि लिङ्गभेदाद्वचनभेदाच्च वस्तुनो भेदमेव प्रतिपत्स्यते न पुनरेकत्वम् । तथा नामादिनिक्षेपेऽप्येकमेव भावनिक्षेप मंस्यते न तु शेषनिक्षेपत्रयमिति तदेवमुक्त. ऋजुसूत्रनय. विशे० । (एतन्मतदूषण सद्नय शब्दे) ।

जावत्वे वर्तमानत्व-व्याप्तिधीरविशेषिता ।
ऋजुसूत्रश्रुतः सूत्रे, शब्दार्थस्तु विशेषितः ॥ २७ ॥

भावत्वे वर्तमानत्वव्याप्तिधीरतीतानागतसवन्धाभावव्याप्यत्वोपगन्तृता अविशेषिता शब्दाद्यभिमतविशेषा पक्षपातिनी सूत्रे ऋजुसूत्रनय श्रुत सूत्र च"पच्चुप्पन्नग्गाही, उज्जुसुओ य ण विहि मुणेयव्वोत्ति" अत्र प्रत्युत्पन्नमेव गृह्णातीत्येव शील इत्यर्थे तात्पर्याद्युक्तार्थलाभ । अविशेषितपदकृत्यमाह शब्दार्थस्तु विशेषित इति । तथाच विशेषितार्थग्राहिणि शब्दादिनये नातिव्याप्तिरिति भाव । सता साम्प्रतनामाद्यर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र इति तत्वार्थभाष्यम् । व्यवहारातिशायित्वलक्षणमभिप्रेत्य तदतिशयप्रतिपादनीयमेतदुक्त व्यवहारो हि सामान्य व्यवहारानङ्गत्वान्न सहते कथ तद्वदर्थमपि परकीयमतीतमनागतं चाभिधानमपि तथाविधार्थवाचक ज्ञानमपि तथाविधार्थविषयमविचार्य सहेतेत्यस्याभिमानो न चाय वृथाभिमान स्वदेशकालयोरेव सत्ताविश्रामात् । यथा कथंचित्संबन्धस्य सत्ताव्यवहाराङ्गत्वे प्रतिप्रसङ्गात् । नच देशकालयो. सत्त्व विहायान्यदतिरिक्तसत्वमस्ति तद्योग्यता प्रकृते स्यादसत्त्वाबोधोऽपि चात्र तत्र खरशृङ्गादाविव सत्ताप्रतिक्षेपी । विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिणि निषेध प्रवृत्तेस्तत्र तत्र व्यवस्थापितत्वादिति दिग् ॥ २६ ॥

अन्यमप्यत्र विशेषमाह ।

इष्यतेऽनेन नैकत्रा-वस्थान्तरसमागमः ।
क्रियानिष्ठाभिदाधार-द्रव्यजावाद् यथोच्यते ॥ ३० ॥

अनेनर्जुसूत्रनयेनैकधर्मिणि अवस्थान्तरसमागमः भिन्नावस्थावाचकपदार्थान्वयो नेष्यते न स्वीक्रियते कुत. क्रिया साध्यावस्थाऽनिष्ठा च सिद्धावस्था तयोर्या भिदा भिन्नकालसबन्धस्तदाऽऽधारस्यैकद्रव्यस्याभावादर्थोऽभियुक्तसमतिमाह यथोच्यतेऽभियुक्तैः

पलालं न दहत्यग्नि-र्भिद्यते न घटः कचित् ।
नासंयतः प्रव्रजति, जव्यासिद्धो न सिध्यति ॥ ३१ ॥

अत्र दहनादिक्रियाकाल एव तन्निष्ठाकाल इति, दह्यमानादेर्दग्धत्वाद्यव्यभिचारात्सदवस्थाविलक्षणपलालादु व्यवस्थावच्छिन्नेन सम दहनादिक्रियान्वयस्यायोग्यत्वात्पलाल न दहत्याग्निरित्यादयो व्यवहारा निषेधमुखा उपपद्यन्ते । विधिमुखस्तु व्यवहारोऽत्रापलाल दह्यतेऽघटो भिद्यते सयत. प्रव्रजति सिद्ध. सिध्यतीत्येवमाकार एव द्रष्टव्य. । अत एव"सो समए पव्वइओ"चेति नये कृतकरणपरिसमाप्ति. सिद्धस्याऽपि साधने करणव्यापारानुपरमादिति-॥ नयो० ॥

अथ ऋजुसूत्रनयस्य भेदमाह ॥

स्वानुकूलं वर्तमान-मृजुसूत्रो हि जाषते ।
तत्र क्षणिकपर्यायं, सूक्ष्मः स्थूलो नरादिकम् १३ ॥

हि निश्चित ऋजुसूत्रो नय. । वर्तमान केवलमतीतानागतकालरहित भाषते मनुते । तदपि कीदृशं स्वानुकूल स्वस्यात्मनोऽनुकूल कार्यप्रत्यय मनुते परं तु परप्रत्यय न मनुते । सोऽपि ऋजुसूत्रो द्विभेदो द्विप्रकार । एक सूक्ष्म ऋजुसूत्र ।१। अपर स्थूल ऋजुसूत्र ।२। तत्र सूक्ष्मस्तु क्षणिकपर्याय मनुते क्षणिका पर्याया परतोऽवस्थान्तरभेदात् पर्यायाणां स्ववर्त्तमानतायां क्षणावस्थायित्वमेवोचितमिति । स्थूलस्तु मनुष्यादिपर्यायं वर्त्तमान मनुते अतीतानागतादिनारकादिपर्यायं न मनुते यो हि व्यवहारनय. कालत्रयवर्तिपर्यायग्राहकस्तस्मात् स्थूल ऋजुसूत्रव्यवहारनयेन शाकरत्व न लभते । अथ च ऋजुवर्त्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रप्राधान्यत सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रनय इति अतीतानागतकाललक्षणकौटिल्यवैकल्यात्प्राञ्जलमिति ॥ द्र० ६ अ० । पर्यायनयभेदा । ऋजुसूत्रादय । " तत्रर्जुसूत्रनीति. स्या-च्छुद्धपर्यायसंश्रिता । नश्वरस्यैव भावस्य, भावास्थितिवियोगत. ॥ देशकालान्तरसंबन्धस्वभावरहित वस्तुतत्व साम्प्रतिकमेकस्वाभावमकुटिलमृजुसूत्रयतीति । ऋजुसूत्र. न ह्येकस्वभावस्य नानादिक्कालसबन्धित्वस्वभावमनेकत्व युक्तमेकस्यानेकत्वविरोधात् । न हि स्वरूपभेदादन्यो वस्तुभेदः स्वरूपस्यैव वस्तुत्वापत्ते. । तथाहि विद्यमानेऽपि स्वरूपे किमपरमभिन्न वस्तु यद्रूपनानात्वेऽप्येक स्यादिति । यद्वस्तुरूपं येन स्वभावेनोपलभ्यते तत्तेन सर्वात्मना विनश्यति न पुन क्षणान्तरसस्पर्शीति क्षणिक क्षणकान्तरसम्बन्धे तत् क्षणकान्तरस्य क्षणान्तराकारविशेषाप्रसङ्गात् अतो जातस्य यदि द्वितीयक्षणसबन्ध. प्रथमक्षणस्वभाव नापनयति तदा कल्पान्तरावस्थानसबन्धोऽपि तत्रापनयन् स्वभावभेदे वा कथ न वस्तुभेद. अन्यथा सर्वत्र सर्वदा भेदाभावप्रसक्ति । अक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपप-

सेरसत्व सह कार्यमुपढौकितातिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदपेक्षायोगादक्रमेण कार्यकारिणस्सर्वकार्यमेकदैव विदध्यादिति न क्रमकर्तृत्वम् न वा कदाचनापि स्वं कार्यमुत्पादयेत् निरपेक्षस्य निरतिशयत्वाच्च हि निरपेक्षस्य कदाचित्करणमकरणं वा विरोधात् तत्कृतानुकारं स्वभावभूतमङ्गीकुर्वतः क्षणिकत्वमेव । व्यतिरिक्तत्वे वा सम्बन्धासिद्धिरपरोपकारकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तिः । युगपदपि न नित्यस्य कार्यकारित्वं द्वितीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावात् । ततस्तदुपस्थितः तत्क्रमप्रसक्तेः । क्रमाक्रमव्यतिरिक्तप्रकारान्तराभावाच्च न नित्यस्य सत्वमर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात्तस्य प्रध्वंसस्य च निर्हेतुकत्वेन स्वभावतो भावात् स्वरसभङ्गुरा एव सर्वे भावाः इति पर्यायास्तिकर्जुसूत्राभिप्रायस्तदुक्तम् । अतीतानागता देव, कालसम्पर्शविवर्जितम् । वर्तमानतया सर्वे-ऋजुसूत्रेण सूत्र्यते ॥ सम्म० । स्या० (अयं च नयो सूक्ष्मनयत्वेनानुयोगद्वारादिषूक्तः समभिरूढता पुनः पर्यायनयभेदत्वेनाऽभ्युपगतः पज्जायणय शब्दे ऽस्य विस्तरतो वर्णनं करिष्यते) (क्षणिकवादः खणियवायशब्दे) एकत्वानेकत्वसमस्तधर्मकलापाविकलतायास्तदपि विज्ञानवादिपरिकल्पितम् विज्ञानशून्यरूपेण ऋजुसूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । माध्यमिकदर्शनाऽवलम्बिनि सर्वभावानां नैरात्म्यं प्रतिपादयति पर्यायास्तिकनयभेदे, (तन्मतं सुण्णवायशब्दे)

उज्जुसुत्त (य)वयणविच्छेद-ऋजुसूत्रवचनविच्छेद-पु० ऋजु वर्तमानसमयं वस्तुस्वरूपावच्छिन्नत्वात्तदेव सूत्रयति परिच्छिनत्ति नातीतानागतं तस्यासत्त्वेन कुटिलत्वात् तस्य वचनं पदं वाक्यं वा तस्य विच्छेदोऽन्तःसीमेति यावत् ऋजुसूत्रवचनस्येति कर्मणि षष्ठी । ऋजुसूत्रस्यैवायमर्थो नान्यस्येति प्ररूपयतो विच्छिद्यमाने वचने, "मूलणिमेण पज्जव-णयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो, तस्स उ सद्दाई आसादपसाहासुहुमभेआ" सम०

उज्जुसुत्ता (या) भास-ऋजुसूत्राभास-पुं० ऋजुसूत्रवदाभासते ऋजुसूत्राभासः । सर्वथा द्रव्यापलापिनि, ऋजुसूत्रवदाभासमाने नयाभासे, र० ॥

उज्जुसेढि-ऋजुश्रेणि-स्त्री० ऋजुः सरला चासौ श्रेणी च । सरलाकाशप्रदेशपङ्क्तौ, । (उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ) उत्त० २९ अ० ।

उज्जेणी-उज्जयिनी-स्त्री० अवन्तीजनपदराजधान्याम्, "उज्जेणीए नयरीए अवंति नामेण य विस्सुओ "सस्था० (उज्जेणि अट्टणे मल्लु०) आव० ४ अ० ॥

उज्जेणग-उज्जयनक-पु० स्वनामख्याते श्रावकभेदे, उज्जेणगस्स सावगस्स तत्थ णिर्यासेणेण कालगयस्स मिच्छत्त जाय, आव० ४ अ० ॥

उज्जोइय-उद्योतित-त्रि० उत् द्युत् क्त. रत्नप्रदीपादिभिःप्रकाशिते, ग० १ अधि० । ध० । त० । औ० ॥

उज्जोएमाण-उद्योतयत्-त्रि० प्रकाशयति, "दस दिसाउ उज्जोएमाणा पभासेमाणा" जीवा० ३ प्रति० । स्थूलवस्तूपदर्शनतः प्रकाशयति, स्था० ८ ठा० । सूत्र० । औ० । उपा० ॥

उज्जोय-उद्योत-पु० उद्. द्युत्-अच् । वर्तितृणचुल्याकाष्ठादिभिः अग्निप्रकाशने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । वस्तुप्रभासने, स्था० ४ ठा० । वस्तुविषये प्रकाशे, नं० । आ० म० प्र० । औ० । "देवुज्जोय करेंति " रा० । "उज्जोओ सह य अंधकारो पयसो स हुमआसाम परिणामो" सूत्र० १ अ० । अस्य निक्षेपः ।

सांप्रतमुद्योत उच्यते तत्राह-

दुविहो खलु उज्जोओ, नायव्वो दव्वभावसंजुत्तो ।
अग्गी दव्वुज्जोओ, चंदो सूरो मणी विज्जू ॥

द्विविधो द्विप्रकारः खलुशब्दो मूलभेदापेक्षया न वक्ष्यपेक्षं विशेषणार्थः । उद्योत्यते प्रकाश्यते अनेनेति उद्योतो ज्ञातव्यो ज्ञेयो द्रव्यभावसंयुक्तः । द्रव्योद्योतो भावोद्योतश्चेति भावः । द्रव्योद्योतोऽग्निश्चन्द्रः सूर्यो मणिश्चन्द्रकान्तादिलक्षणो विद्युत् प्रतीता । एते द्रव्योद्योताः । एतैर्घटादीनामुद्योतनेऽपि तत्त्वतः सम्यक्प्रतीतेरभावात् सकलवस्तुधर्मानुद्योतना च न ह्यम्य दिभिः सदसन्नित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः सर्व एव धर्मा धर्मास्तिकायादयो वा द्योत्यन्ते तस्मादग्न्यादयो द्रव्योद्योता इ अधुना भावोद्योतमाह ।

नाणं भावुज्जोओ, जह भणियं सव्वभावदंसीहिं ।
तस्स उवओगकरणे, भावुज्जोयं वियाणाहि ॥

ज्ञायते यथावस्थितं वस्त्वनेनेति ज्ञानम् । सतो भावोद्योत तेन घटादीनामुद्योतने तद्गतया सम्यक् प्रतिपत्तेः स्वभावावस तदात्मकत्वात् । एतावता वा विशेषेणैव ज्ञानं भावोद्योत इति प्राप्तमत आह यथा भणितं यथावस्थितं सर्वभावदर्शिभिस्तथा यद् ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति भावः । तत्रापि विशेषणोद्योत किं तु तस्य ज्ञानस्योपयोगकरणे सति भावोद्योतं विजानीहि नान्यदा तदेव तस्य वस्तुनोऽतत्त्वसिद्धेः । इत्यमुद्योतस्वरूपमभिधाय साम्प्रत येनोद्योतेन लोकस्योद्योतकरा जिना भवन्ति किंतु तीर्थकरनामकर्मोदयतोऽनु सत्वार्थसंपादनेन भावोद्योतकराः पुनर्भवन्ति जिनवराश्चतुर्विंशतिरिति । अत्र पुनःशब्दो विशेषणार्थः । स चैतत् विशिनष्टि । आत्मानमधिकृत्य केवलज्ञानेनोद्योतकरा लोकप्रकाशकवचनप्रदीपापेक्षया तु शेषकतिपयभव्यविशेषापेक्षयाधिकृत्योद्योतकरा अत एवोक्तं भवन्ति कोऽर्थः न भवन्ति न तु भव न्त्येव कांश्चन प्राणिनोऽधिकृत्योद्योतकरत्वस्यासंभवात् । चतुर्विंशतिग्रहणमधिकृतावसर्पिणीगततीर्थकरसंख्याप्रतिपादनार्थमुद्योतनाधिकारे एव द्रव्योद्योत । द्रव्योद्योतोद्योतभावोद्योतयो तयोर्विशेषप्रतिपादनार्थमाह ।

दव्वुज्जोओजोओ, पभासई परिमियम्मि खित्तम्मि ।
भावुज्जोओजोओ, लोगालोगं पगासेइ ॥

द्रव्योद्योतोद्योतो द्रव्योद्योतप्रकाश पुद्गलात्मकत्वात्तथाविधपरिणामयुक्तत्वाच्च प्रकाशयति । पाठान्तरं प्रभासते परिमितं क्षेत्रे अत्र यदा प्रकाशयति तदा प्रकाश्यं वस्तु अध्याह्रियते यदा तु प्रभासते तदा स एव दीप्यते इति गृह्यते भावोद्योतोद्योता लोकं प्रकाशयति प्रकटार्थम् । उक्तः उद्योतः । आ० म० द्वि० ॥ आ०चू० । उद्यातो यद्यपि लोके भेदेन प्रसिद्धो यथा सूर्यगत आतपः चन्द्रगतः प्रकाश इति तथाप्यातपशब्दश्चन्द्रप्रभायामपि वर्त्तते इति । सूत्रकृदाह " उज्जोवेंति तवति पगासेंति आहितति वदेज्जा " चं० २ पाहु० । दिवा उद्योतो रात्रावन्धकार इति दृष्टव्यश्च अंधयार शब्दे उक्त ।

ऊर्ध्वलोके तिर्यग्लोके च उद्योतः ॥

उड्ढलोगेणं चत्तारि उज्जोयं करेंति तंजहा देवा देवीओ विमाणा आभरणा तिरिक्खलोगेणं चत्तारि उज्जोयं करेंति चंदा सूरा मणी जोती । स्था० ४ ठा० ॥

उज्जोयकरण-उद्योतकरण-न० प्रकाशकरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ॥

उज्जोयग-उद्योतक-त्रि० उद्योतयति प्रकाशयति केवलज्ञानदर्शनाभ्यामिति । अवयवतः स्फुटप्रकाशके, "सव्वजगुज्जोयगस्स" नं० ॥

उज्जोयगर-उद्योतकर-त्रि० उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान् लोकस्य केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः । उद्योतकरणशीले तीर्थकृदादौ, आ० म० द्वि० । प्रकाशकारिणि, प्रश्न० २ स० द्वा०।

लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥
उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमि जिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥
एवं मए अभिथुआ, रयमलापहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

अस्य व्याख्या तल्लक्षणं चेदम् । "संहिता च पदं चैव पदार्थः पदविग्रहः । चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या सूत्रस्य षड्विधा । तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता सा च प्रतीता अधुना पदानि लोकस्योद्योतकरान् धर्मतीर्थकरान् जिनान् अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिन इति । अधुना पदार्थः लोक्यते प्रमाणेन दृश्यते इति लोकः । अयं चेह तावत्पञ्चास्तिकायात्मको गृह्यते । तस्य लोकस्य उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान् केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः । तस्माद् दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः । उक्तञ्च । "दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्यस्माद्धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभस्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥" तीर्यते संसारसागरोऽनेनेति तीर्थं धर्म्म एव धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थं तत्करणशीला धर्मतीर्थकरास्तान् । तथा रागद्वेषकषायोदयपरीषहोपसर्गाऽष्टप्रकारकर्म्मजेतृत्वाज्जिनास्तान् तथा अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तान् अर्हतः कीर्त्तयिष्यामि स्वनामभिः स्तोष्ये चतुर्विंशतिरितिसंख्या । अपिशब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः केवलज्ञानमेषां विद्यते इति केवलिनः तान् केवलिनः इति पदार्थः । पदविग्रहोऽपि यानि समासभाञ्जि पदानि तेषु दर्शित एव । सम्प्रति चालनावसरस्तत्र तिष्ठतु तावत्सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिरेवोच्यते । स्वस्थानत्वात् । उक्तं च "अक्खलियसंहियाई-वक्खाणचउक्कए दरिसियम्मि । सुत्तप्फासियनिज्जुत्ति, वित्थरत्थो इमो होइ" आ० म० द्वि० । ध० । ईश्वरसिद्धिविषये कृतबहुश्रमे विद्वद्वृन्दे, उद्योतकरस्तु प्रमाणयति । भुवनहेतवः प्रधानपरमाणवोऽदृष्टा स्वकार्योत्पत्तावतिशयवद्बुद्धिमन्तमधिष्ठातारमपेक्षन्ते स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतुर्यादिवदिति ॥ सम्म० ॥

उज्जोयणसूरि-उद्योतनसूरि-पु० देवसूरिशिष्यनेमिचन्द्रशिष्ये वर्द्धमानसूरिगुरौ वटगच्छस्य प्रथमाचार्ये, 'तस्माच्च विमलचन्द्र, सहेमसिद्धिर्वेभूव सूरिवरः । उद्योतनश्च सूरिः, शोधितदुरिताङ्कुरव्यूहः । अथ युगनवनन्द (९९४) मिते, वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते । पूर्वावनितो विहरन्, सोऽर्बुदसुगिरेः सविधमागात् । तत्र वटेलीखेटक-सीमावनिसंस्थवरवटाधः । सुमुहूर्ते सूपदेशान् सूरीन् संस्थापयामास । ख्यातस्ततो गणोऽयं वटगच्छाह्वोऽपि बृहद्गच्छ इति । ग० । प० व० । अयं च विक्रमसंवत् (९९४) मालवदेशाच्छत्रुञ्जयं गच्छन् मार्गे एव देवलोकं गतः । जै० इ० ॥

उज्जोयणाम-उद्योतनामन्-न० उद्योतनिबन्धनं नाम नामकर्मभेदे,

अणुसिणपयासरूवं, जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइ देवुत्तरविक्किय, जोइसखज्जोयमाइव्व ॥ ४५ ॥

इहोद्योतादुद्योतनामोदयेन जीवाङ्गं जन्तुशरीरमुद्योतत्वे उद्योतं करोति कथमित्याह । अनुष्णप्रकाशरूपमुष्णप्रकाशरूपं हि वह्निरप्युद्योतत इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुष्णप्रकाशरूपमित्युक्तम् । आह च इहोद्योतोदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतं कुर्वन्तीत्याह । यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादय इव । तत्र यतयश्च साधवो देवाश्च सुरा यतिदेवा यतिदेवैर्मूलशरीरापेक्षयोत्तरकालं क्रियमाणं वैक्रियं यतिदेवोत्तरवैक्रियं ज्योतिष्काश्चन्द्रग्रहनक्षत्रताराः खद्योताः प्रतीताः ततो यतिदेवोत्तरवैक्रियं च ज्योतिष्काश्च खद्योताश्च ते आदिर्येषां रत्नौषधीप्रभृतीनां ते यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादयस्त इव । अत्र मकारो लाक्षणिकः । अयमर्थः यथा यतिदेवोत्तरवैक्रियं चन्द्रग्रहादिज्योतिष्का एव खद्योतरत्नौषधीप्रभृतयश्चानुष्णप्रकाशात्मकमुद्योतं विदधति तथा यदुदयाज्जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमातपमातन्वन्ति तदुद्योतनामेत्यर्थः । कर्म० । प० सं० । प्रव० । आ० ॥

उज्जोयदुग-उद्योतद्विक-न० उद्योतातपलक्षणे नामकर्मप्रकृतियुग्मे, कर्म० ॥

उज्जोयफुड-उद्योतस्पृष्ट-त्रि० प्रकाशसंयुते, उज्जोयफुडम्मि तु दप्पणम्मि सज्जुज्जते जधा देहो हेति ततो पमिबिंब झायावए भासंसंजोगा,, । नि० चू० १३ उ० ॥

उज्जोवित-उद्योतित-त्रि० उद्- द्युत्- णिच्- । क्त- । रत्नप्रदीपादिभिर्दीप्ते, नि० चू० ५ उ० ॥

उज्झअ-उज्झक-त्रि० सद्विवेकशून्ये, "भिक्खा तिव्वाभितावेण उज्झआ असमाहिआ" सद्विवेकशून्या भिक्षा पात्रादित्यागात्परगृहभोजितयोद्देशकादिभोजित्वात् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

उज्झण-उज्झन-न० उज्झ्-ल्युट्- । बहिर्नयने, विशे० । परित्यागे, ओ० ।

उज्झणविहि-उज्झनविधि-पु० परिष्ठापनविधौ, व्य० द्वि०७ उ०

उज्झणा-उज्झना-स्त्री० उज्झ णि युच् । उत्सर्गे, अवकिरणे, आव० ४ अ० ॥

उज्झर-अवझर-पु० पर्वततटादुदकस्याऽधःपतने, ज्ञा० ५ श, ७ उ० । निर्झरविशेषे, ज्ञा० ५ अ० । प्रवाहे च, । न० । ज० ।

उज्झररव-अवझररव-पु० निर्झरशब्दे, ज्ञा० ६ अ० ॥

उज्झरवण्णी-अवझरपर्णी-स्त्री० उदकपाते, दगवातो सीतभारा साय उज्झरवण्णी भण्णति, नि० चू० ५ उ० ।

उज्झाअ-उपाध्याय-पु० उप, अधि इ अण । "ऊच्चोपे"८।१।१७३

उपशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह उत् ओच्चादेशौ वा भवतः । इति उत्वे सयोगादित्वाद्ध्रस्व । पाठके, प्रा० ॥

उज्झिउं-उज्झित्वा-अव्य० परित्यज्येत्यर्थे, "उज्झिउं वाले वेरस्स आभागी भवन्ति ." सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उज्झिऊण-उज्झित्वा-अव्य०उज्झ त्वा इट्।परित्यज्येत्यर्थे,'अपसत्थ पणिहाण उज्झिऊण समणेण । द० ८ अ० ।

उज्झित्तए-उज्झितुम्-अव्य० सर्वस्यादेशविरतेस्त्यागत परित्यक्तुमित्यर्थे, उपा० २ अ० ॥ " सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइ चालित्तए वा खोभित्तए खण्डित्तए भञ्जित्तए वा उज्झित्तए " ज्ञा० ८ अ० ।

उज्झिय-उज्झित-न० परित्यागे, अनु० ॥ उज्झ. कर्मणि क्त. । रहिते, अष्ट० । त्रिषु, भिणाति वा उज्झियति वा पगठमिति । आव० ४ अ० ।

चतुर्थ्यां वस्त्रपात्रादि प्रतिमायाम्॥

दव्वाइदव्वहीणा-हियं तु अमुगं च मे न घेत्तव्वं ।
दोहि विभावनिसिट्ठं, तमुज्झिउज्झणो चउहं ॥

उज्झितं चतुर्धा । द्रव्यक्षेत्रकालभावोज्झितभेदात्तत्र द्रव्योज्झितं यथा केनचिदगारिणा प्रतिज्ञातमियत्प्रमाणात् हीनाधिक पात्रममुक वा कमठकप्रतिग्रहादिक पात्र मया न गृहीतव्य तदेव केनचिदुपनीत ततः प्रागुक्तयुक्त्या द्वाभ्यामपि भावतो निसृष्ट तदेव भाषितमनवभाषित वा दीयमान द्रव्योज्झितम् ।

क्षेत्रोज्झितमाह ।

अमुगुब्भवं ण धारे, उवणीयं तं च केणई तस्स ।
जं तुज्झेतरहाई, सदेस बहुपत्तदेसे वा ॥

अमुकदेशोद्भव पात्र न धारयामि तदेव च केनचिदुपनीतं तद्भाभ्यामपि पूर्वोक्तहेतो परित्यक्त क्षेत्रोज्झितम् यद्वा पात्रमुज्झेयुर्भरतादयो भरतो नट. आदिशब्दाच्चारणादिपरिग्रहः स्वदेश गता सन्तो बहुपात्रदेसे वा तदपि क्षेत्रोज्झितम् ।

कालोज्झितमाह ।

दगदोच्छिगाइ पुव्वे-काले जुग्गं तदन्नहिं उज्झे ।
होहिइ वएस्स काले, अजोग्गयमणागयं उज्झे ॥

दोग्धिक तुम्बक दकस्य जलस्य यद्धियते तुम्बक तदादिशब्दात्तत्र तुम्बकादिकं च यत्पूर्वस्मिन् ग्रीष्मादौ काले योग्य तदन्यस्मिन् वर्षाकालादावुज्झेत् भविष्यति वा एष्यति काले ऽयोग्यमतोऽनागतमेव यदुज्झेत् तदेतदुभयथापि कालोज्झित ज्ञातव्यम् ।

भावोज्झितमाह ।

लद्धूण अन्नमन्ने, पत्ते दो देइ अन्नस्स ।
सो वि अनिच्छइ ताई, भावुज्झिय एवमाईयं ॥

लब्ध्वा अन्यान्यभिनवानि पात्राणि पुराणानि स गृही अन्यस्य कस्यचिद्ददाति अपि च तानि दीयमानानि अपि यदा नेच्छति तदा एवमादिक भावोज्झित द्रष्टव्यम्॥ वृ०१ उ० । नि. चू. । स्था

उज्झियकप्प-उज्झितकल्प-पु० उज्झितरूपे कल्पनीयेऽर्थे, अ-रुगमुज्झियकप्पे, नयचूर्मि खणति इहरहातिषि असज्झाध्यप्पमाण अरुय निषति वा उज्झियति वा पगट्ठ त च कप्पे वा उ-ज्झिय भूमीए जइ कप्पे ता कप्प ॥ आव० ४ अ० ।

उज्झियथोवमाहार-उज्झितस्तोकाहार-पु० उज्झितधर्मी स्तोक स्वल्प आहारो यस्य स उज्झितस्तोकाहारः । सप्तमपिण्डैषणाविषयकाभिग्रहधारके, ॥ आव० ३ अ० ।

उज्झियधम्मग-उज्झितधर्मक-त्रि०परित्यक्तजनधर्मके, 'अप्पोसिया भोयणजाए बहु उज्झियधम्मए " आचा० १ श्रु० १ अ०६ उ० ।

उज्झियधम्मा-उज्झितधर्म्मा-स्त्री० यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्विपदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्हत्यक्त वा गृह्णत. सप्तम्यां पिण्डैषणायाम्, पचा० १८ विव०। स्था०। ध०। सूत्र०।आ०चू.

उज्झियधम्मिय-उज्झितधर्मिक-त्रि० उज्झित परित्याग. स एव धर्मः पर्यायो यस्यास्ति तदुज्झितधर्मिकम् । सप्तमपिण्डैषणा-परिशुद्धे,। अनु०। अह उज्झियधम्मिया पुव्वदेसे किर पुव्वाह रज्ज तं अवरण्हे परिठविज्जति साधुआगमण च तपि भायणगत वा देज्जा हत्थग वा देज्जा कप्पति जिणकप्पितस्स पचविहिमा-हणं थेराण सत्तविहिं एतासि सत्तण्हं पिंडेसणाणं केइ पढति सत्तएह पाणेसणाण एवं पणेए वि चउत्थी अप्पलेवा तिलोद-गादी । आ० चू० ४ अ० ।

उज्झियय-उज्झितक-पु० विजयमित्रसार्थवाहस्य सुभद्रायां भार्यायामुत्पन्ने सुते, तद्वक्तव्यता दुःखविपाकानां द्वितीये ऽध्ययने दर्शिता तद्यथा-

जइणं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दोच्चस्सणं भंते! अज्झयणस्स दुहविवागाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते तएणं सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी । एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णाम णयरे होत्था रिद्ध ३ तस्स णं वाणियगामस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दुईपलासे णामं उज्जाणे होत्था । तत्थ णं दुईपलासे सुहम्मस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था । वाणओ तत्थ णं वाणियगामे मित्ते णामं राया होत्था । तत्थ णं मित्तस्स रण्णो सिरीणामं देवी होत्था । वण्णओ तत्थ णं वाणियगामे कामज्झया णामं गणिया होत्था । अहीण जाव सुरूवा बावत्तरिकलापंडिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया एकूणतीसे विसेसे रममाणी एकतीसरइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपडिबोहिया अट्ठारसदेसीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसा इगीयरइगंधव्वणट्टकुसला संगयगयभणियविहियविलासललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरथणजहणवयणकरचरणलावण्णविलासकलिया ऊसियधयासहस्सलंभा विदिण्णछत्तचामरवालवेयणिकया कणीरहप्पयाया होत्था । बहुणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं करेमाणी पालेमाणी विहरइ । तत्थ णं वाणियगामे विजयमित्ते णामं सत्थवाहे परिवसइ । अड्ढे तस्स णं विजयस्स मित्तसुभद्दाणामं भारिया होत्था । अहीण तस्स णं विजयमित्तस्स पुत्ते सुभद्दाए भारियाए अत्तए उज्झिए णामं दारए होत्था । अहीण जाव सुरूवा तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं जाव समोसढे परिसा निग्गया राया विनिग्गया जहा कूणिओ निग्गओ धम्मो कहिओ परिसा राया पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूइ जाव तेयलेसे छट्ठं छट्ठेण

जया पच्चत्थीए पढमं जाव जेणेव वाणियगामे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वाणियउच्चनीयकुलाइं अडमाणे जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तत्थणं बहवे हत्थी पासइ सणद्धबद्धवम्मियगुडिए उप्पीलियकयत्थे उदामियघंटे णाणामणिरयणविविहगेवेज्जे उत्तरंकचुइज्जे पडिकप्पिए-ज्झयपडागवरपंचामेला आरूढे हत्थारोहे गहिया उहपहरणए अण्णे य तत्थ बहवे आमे पासई सण्णद्धबद्धवम्मियगुडिए आविद्धगुडे उसारियपक्खरे उत्तरकंचुइयओचूलमुहचमावरचामरथासकपरिमंडियकडिए आरूढस्सारोहे गहियाओ हप्पहरणे तेसिं च णं पुरिसाणं मज्झगयं एगं पुरिसं पासइ अवउडगबंधणं उक्कत्तकण्णणासं णेहतुप्पियगयं वज्झकरकडिजुयणियत्थं कंठेप्प गुणरत्तमल्लदामं चुण्णगुण्डियगायं चुण्णयं वज्झपाणीपीयं तिलं २ चेव छिज्जमाणं काकणिमंसाइ खावियंतं पावीखक्खरसएहिं हम्ममाणं अणेगणरणारिसंपरिवुडे चच्चरे चच्चरे खंडपडहएणं उग्घोसिज्जमाणं इमं च णं एयारूवं उग्घोसणं सुणेइ णो खलु देवाणुप्पिया उज्झियगस्स दारगस्स केई राया रायपुत्तो वा अवरज्जइ । अप्पणो से सयाइं कम्माइं अवरज्जइ तएणं से भगवं गोयमस्स तं पुरिसं पासित्ता इमे अज्झत्थिए ४ अहोणं इमे पुरिसे जाव णिरयपडिरूवयं वेयणं वेएसि त्ति कट्टु वाणियगामे णयरे उच्चणीयकुले २ जाव अडमाणे अहापज्जत्त समुदाणं गेण्हइ वा णियगाम णयरं मज्झं मज्झेणं जाव पडिदंसेइ समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ एवं वयासी एवं खलु अहं भंते तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे वाणियगामं जाव तहेव निवेएइ सेणं भंते पुरिसे पुव्वभवे केआसि जाव पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । एव खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणाउरे णामं णयरे होत्था । रिद्ध तत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे सुणंदे णामं राया होत्था । महियाहिमवंतमलयमंदरतत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे बहुमज्झदेसभाए तत्थ णं महं एगे गोमंडवे होत्था । अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे पासाईए ४ तत्थ णं बहवे णयरे गोरूवासणाहा य अणाहा य णयरगावीओ य णयरबलीवद्दा य णयरपडियाओ य णयरमहिसओ य णयरवसभा य पउरतणपाणीय णिब्भया णिरुव्विग्गा सुहं सुहेणं परिवसइ । तत्थ ण हत्थिणाउरे भीमणामे कूडग्गाहे होत्था । अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तस्स णं भीमस्स कूडग्गाहस्स उप्पला णामं भारिया होत्था । अहीण तएणं साउप्पला कूडग्गाहिणी अण्णया कयाइ आवण्णसत्ता जाया वि होत्था । तएणं तीसे उप्पलाए कूडग्गाहिणीए तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेया रूवे दोहले पाउब्भूए धण्णाउणं ताओ अम्मयाओ ४ जाव सुलद्धे जाओ बहुणं बहुणं णयरगोरूवाणं सणाहाए य जाव वसभाण य ऊहेहि य थणेहि य वसणेहि य छिप्पाहि य कुकुहेहिं य वहहि य कण्णेहि य अक्खिहि य णासाहि य जिब्भाहि य ओट्ठेहि य कवलेहि य सोलेहि य तलंतेहि य भज्जिएहि य परिसुक्केहि य लावणेहि य सुरं च महुं च मेगरं च जाइं च सिधुं च पसण्णं च आसाए माणीओ विसाएमाणीओ परिभाएमाणीओ परिभुंजमाणीओ दोहलं विणज्जंति तं जइणं अहमवि बहुणं णयरं जाव विणिज्जामि तिकट्टु तंसि दोहलमिअविणिज्जमाणंसि सुक्का भुक्खा निम्मंसा उलग्गाउलग्गसरीरा नित्तेयाढीणं च मणवयणा पंडुल्लइयमुही इमं च णं भीमे कूडग्गाहे जेणेव उप्पला कूडग्गाहणीए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता उहय जाव पासइ पासइत्ता एवं वयासी। किण्ण तुमं देवाओ हयाज्झिया हिंसि तएणं सा उप्पला भारिया भीमकूडग्गाहं एवं वयासी। एवं खलु देवा मम तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दोहलं पाउब्भूए धण्णाणं ४ जाउणं बहुणं गोरूवाणं ऊहेहि य जाव लावणएहि य सुरं च ६ आसाएमाणीओ ४ दोहलंविणिंति तए णं अहं देवाणुप्पिया तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि जाव झियामि । तएणं से भीमकूडग्गाहे उप्पलं भारियं एवं वया० माणं तुमं देवाणुप्पिया उहज्झियासि अहण्णं तं तहा करिस्सामि जहा णं तव दोहलस्स संपत्ती भविस्सइ ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं जाव समासासेइ तएणं से भीमे कूडग्गाहे अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सण्णद्धजावपहरणे साओ गेहाओ णिग्गच्छइ णिग्गच्छइत्ता हत्थिणाउरं मज्झं मज्झेणं जेणेव गोमंडवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता बहूणं णयरगोरूवाणं जाव वसभाण य अप्पेगइयाणं ऊहेच्छिंदइ अप्पेगइयाणं कवलए छिंदइ अप्पेगइयाणं अण्णमण्णाणं अंगोवंगाइ विइंगेइ विइंगेइत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता उप्पलाए कूडग्गाहणीए उवणेइ तएणं सा उप्पला भारिया तेहिं बहूहिं गोमंसेहिं सोल्लेहिं सुरंच आसाएमाणीए ४ तं दोहलं विणेइ तएणं सा उप्पला कूडग्गाहणी संपुण्णदोहला सम्माणीयदोहला विच्छिण्णदोहला संपण्णदोहला तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवसइ। तए णं सा उप्पला कूडग्गाही अण्णया कयाई नवण्हं मासाण बहुपडिपुण्णाणं दारगं पयाया। तए णं तेणं दारएणं जायमित्तेणं चेव महया २ सद्देण विघुट्ठे विसरे आरसिए तएणं तस्स दारगस्स आरोयसद सोचा णिसम्म हत्थिणाउरे णयरे बहवे णयरगोरूवा जाव वसभाए य भीया ४ उव्विग्गा सव्वओ समंता विप्पलाइत्ता तएणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो अयमेया रूवे णामधेज्जं करेइ जम्हा णं अम्हं इमेणं दारएणं जायमेत्तेणं चेव महया२सद्देण विघुट्ठे विस्सरे आरसिए तएणं

एयस्स दारगस्स आरसियसद्दे सोच्चा णिसम्म हत्थिणाउरे बहवे णयरे गोरूवा जाव भीया ४ सव्वओ समंता विप्पलाइत्ता तह्माणं होउं अह्मं दारए गोत्तासे णामे णामेणं तए णं से गोत्तासे दारए उम्मुक्कबालभावे जाव जाएयावि होत्था । तए णं से भीमे कूडग्गाहे अण्णया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते तएणं से गोत्तासे दारए बहुणं मित्तणाइं णियगसयणसंबंधिपरिजणेणं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे वियवमाणे भीमस्स कूडग्गाहस्स णीहणं करेइ करेइत्ता बहुइलोइयमयकिच्चाइ करेइ करेइत्ता तएणं से सुणंदे राया गोत्तासं दारयं अण्णयाकयावि सयमेव कूडग्गाहेत्ताए ठवेइ । तए णं से गोत्तासे दारए कूडग्गाहे जाएयावि होत्था । अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तए णं से गोत्तासे दारए कूडग्गाहे कल्लाकल्लिं अद्धरत्तकालसमयंसि एगे अबीए सण्णद्धबद्धकवए जाव गहिया उहपहरणे साओ गिहाओ णिज्जइ जेणेव गोमण्डवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता बहु णं णयरगोरूवाणं सणाहा य जाव वियंगत्तेइ वियंगत्तेइत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तएणं से गोत्तासे कूडग्गाहे तेहिं बहुहिं गोमंसेहिं सोल्लेहिं सुरं च ६ आसाएमाणे ४ विहरइ तए णं से गोत्तासे कूडग्गाहे एयकम्मे एयपहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुपावं कम्मं समज्जिणित्ता पंचवाससयाइं परमाउं पालइत्ता अट्टदुहट्टोवगए कालमासे कालं किच्चा दोच्चाए पुढवीए उक्कोसं तिसागरो णेरइयत्ताए उववण्णे । तएणं सा विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया जाइ णिंदुया वि होत्था । जाया दारगा विणी हायमावज्जंति तएणं से गोत्तासे कूडग्गाहे दोच्चाओ पुढवीओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव वाणियग्गामे णयरे विजयमित्तस्स सत्थवाहस्स सुभद्दा भारिया कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववण्णे । तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही अण्णया कयावि णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारयं पयाया । तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही तं दारगं जायमेत्तयं चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झावेइ उज्झावेइत्ता दोच्चं पि गिण्हावेइ गिण्हावेइत्ता आणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी गोवेमाणी संवड्ढेइ तओ णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे णिव्वत्ते संपत्ते बारसाहे अयमेयारूवे गोण्णं गुणणिप्फण्णं णामधेज्जं करेइ जह्मा णं अह्मं इमं दारए जायमेत्ताए चेव एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिए तह्माणं होउं अह्मं दारए उज्झियणामेणं तए णं से उज्झिए दारए पंचधाईं परिग्गहिए तंजहा खीरधाई १ मज्जणधाई २ मंडणधाई ३ कीलावणधाई ४ अंकधाई ५ जहा दढपइण्णे जाव णिव्वाय णिव्वाघायगिरिकंदरमल्लीणेव चंपगपायवे सुहं सुहेणं विहरइ । तए णं से विजयमित्ते सत्थवाह अण्णया गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च चउव्विहं भंडगं गहाय लवणसमुद्दं पोयवहणेणं उवगए । तएणं से विजयमित्ते तत्थ लवणसमुद्दे पोत्ते विवत्तए णिबुडे भंडसारे अत्ताणे असरणे कालधम्मुणा संजुत्ते तएणं तं विजयसत्थवाहं जे जहा बहवे ईसरतलवरकोडुंबियइब्भसिट्ठिसत्थवाहा लवणसमुद्दो पोयविवत्तियं निव्वुडभंडसारं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेइ ते तहा हत्थणिक्खेवं च बाहिरभंडसारं च गहाइ एगं तं अवक्कमइ । तए णं सा सुभद्दा सत्थवाही विजयमित्तं सत्थवाहं लवणसमुद्दे पोएविवित्तिं णिब्बुडं कालधम्मुणा संजुत्तं सुणेइ सुणेइत्ता महया पइसोएणं आपण्णमाणीपरसुनियत्ता विव चंपगलया धसइ धरणीतलंसि सव्वं गेहिं सन्निपाडिया तएणं सा सुभद्दा मुहुत्तंतरेणं आसत्था समाणी बहूहिं मित्त जाव परिवुडा रोयमाणी कंदमाणी विलवमाणी विजयमित्तं सत्थवाहं लोइयाइं मयंकिच्चाइं करेइ करेइत्ता तएणं सा सुभद्दा अण्णया कयावि लवणसमुद्दोत्तरं च लच्छिविणासं च पोतविणासं च पतिमरणं च अणुचिंतेमाणी २ कालधम्मुणा संजुत्ता । तएणं णायरगुत्तिया सुभद्दं सत्थवाहिं कालगयं जाणित्ता उज्झियगदारगं सओ गिहाओ णिच्छुभंति उच्छुभंतित्ता तं गिहं अण्णस्स दलयंति । तएणं से उज्झियदारए सयाओ गिहाओ निच्छुढे समाणे वाणियग्गामे णयरे सिंघाडगजावपहेसु जूयखलएसु वेसियाघरएसु पाणागारेसु य सुहं सुहेणं परिवड्ढइ । तएणं से उज्झिए दारए अणोहट्टए अणिवारए सच्छंदमइसयरप्पयारे मज्जप्पसंगी चोरजूयवेसदारप्पसंगी जाएयावि होत्था । तए णं से उज्झिए अण्णया कामज्झियाए गणियाए सार्द्धं संपलिग्गे जाएयावि होत्था कामज्झियाए गणियाए सार्द्धं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ तएणं तस्स मित्तस्स रण्णो अण्णया कयावि सिरीए देवीए जोणीसूलपाउब्भूए या वि होत्था । णो संचाएइ मित्ते राया सिरीए देवीए सद्धिं उरालाइं माणुसगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ विहरित्तए तए णं से मित्ते राया अण्णया कयावि उज्झियए दारए कामज्झियाए गाणियाए गिहाओ णिच्छुभावेइ णिच्छुभावेइत्ता कामज्झियं गणियं अब्भिंतरयं वेइ । कामज्झियाए गणियाए सद्धिं उरालाइं जाव विहरइ तएणं से उज्झियदारए कामज्झियाए गणियाए गिहाओ णिच्छुभाविसमाणे कामज्झियाए गणियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अण्णत्थ कत्थइ सुयं च रतिं च धितं च अविंदमाणे तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तयप्पियकरणे तब्भावणाभाविए कामज्झियाए गणियाए बहूणि अंतराणि य छिद्दाणि य विवराणि य पडिजागरमाणे २ विहरइ । तए णं से उज्झिए य दारए अण्णया कामज्झियं गणियं अंतरं

लभेइ कामज्झियं गणियं गेहिं रहस्सइगं अणुप्पविसइ अणुप्पविसइत्ता कामज्झियाए गणियाए सद्धिं उरालाइं जाव विहरइ। इमं च णं मित्ते रायाए ण्हाए जाव कयवलि-कम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिय-माणस्स वागुराए परिखित्ते जेणेव कामगणियाए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तत्थ णं उज्झियए दारए कामज्झ-याए गणियाए सद्धिं उरालाइं जाव विहरमाणं पासइ पासइत्ता आसुरुत्ते ४ तिवलिं भिउडिं णिलाडे साहट्टु उज्झियं दारयं पुरिसेहिं गिण्हावेइ गिण्हावेइत्ता अट्ठिमुट्ठि-जाणुकोप्परप्पहारसंभग्गमहियमत्तं करेइ करेइत्ता अवओ-डगबंधणं करेइ करेइत्ता एएणं विहारेणं वज्झं आणवेइ । एवं खलु गोयमा ! उज्झियए दारए पुरा पोराणाणं जाव पच्चणुब्भवमाणे विहरइ । उज्झएणं भंते दारए पणवीसं वासाइं परमाउं पालइत्ता अज्जेवइत्ताभागावसेसे दिवसे सूलभिण्णे कए समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गमिहिंति कहिं उववज्जिहिंति ? गोयमा! उज्जियए दारए पणवीसं वासाइं पर० अज्जेवइ भागावसेसे दिवसे सूलभिण्णे कए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइय-त्ताए उववज्जिहिंति सेणं तओ अणंतरं उवज्जित्ता इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढगिरिपायमूले वाणरकुलंसि वाणरत्ताए उववज्जिहिंति सेणं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तिरियभोए मुमुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे जाए वाणर-पल्लेएवहेइ । एय कम्मे ४ कालमासे कालं किच्चा इहेव जंबूदीवे भारहे वासे इंदपुरे णयरे गणियाकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिंति तएणं तं दारगं अम्मापियरो जायमेत्ते कं वद्धेहिंति । तएणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णिव्वत्तबा-रसाहे दिवसे इमं एयारूवं णामधेज्जं करेहिंति । होउणं पियसेणे णपुंसए तएणं से पियसेणे णपुंसए उम्मुक्कबालभावे जोव्वणगमणुपत्ते विण्णयपरिणयमित्ते रूवेण य जोवणेण य लावण्णेण य उक्किट्ठे उक्किट्ठसरीरा भविस्सइ । तएणं से पियसेणे णपुंसए इंदपुरे णयरे बहवे राईसर जाव पभियओ बहुहिं य विज्जापओगेहिं य मंतचुण्णेहिं य उड्डावणेहिं य णिण्हवणेहिं य पण्हवणेहिं य वसीकरणेहिं य आभिओ-गेहिं य आभियोगित्ता उरालाइ माणुस्सए भोगभोगाइं भुं-जमाणे विहरिस्सइ। तए णं से पियसेणे णपुंसए एयकम्मे ४ सुबहुपावकम्मं समज्जिणित्ता इक्कवीसं वाससयं परमाउं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइयत्ताए उववज्जिहिंति । तओ सिरिसिवे सुसंसारो तहेव जाव पढमो जाव पुढविमेणं तओ अणंतरं उवट्टित्ता इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे चंपाए णयरीए महिसत्ताए पच्चायाहिं ति सेणं तत्थ अण्णया कयावि गोट्ठिल्लएहिंजी-वियाओ विवरोविसमाणे तत्थेव चंपाए णयरीए सेट्ठिकुलं-सि पुत्तत्ताए पच्चायाहिंति सेणं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहा रूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहियअणगारे सोहम्मे कप्पे जहापढमो जाव अंतं करेहिंति णिक्खेवो विइयं अज्झयणं सम्मत्तं । वि०२अ०॥ (टीका शब्दार्थमात्रदर्शिनीत्युपेक्षिता)

उज्झिया—उज्झिका— स्त्री० धनसार्थवाहसुतस्य धनपालस्य भार्यायाम् । ज्ञा० ७ अ ।

उज्झे—यूयम्-युष्मान्—मे तुब्भे उज्झे तुम्ह तुय्हे उय्हे जसा ८ । ३ । ९१ । वो तुब्भे उज्झे तुय्हे उय्हे भे शसा ८ । ३ । ९३ । इति च युष्मच्छब्दस्य जसा सह शसा सह च उज्झे इत्यादेशः । यूय पदस्य युष्मान् पदस्य चार्थे, प्रा० ॥

उट्ट—उष्ट्र—पुं० स्त्री० उष्० ष्ट्रन् किच्च० ष्ट्रस्यानुष्ट्रे ष्ट वा सदष्टे । ८ । २ । ३४ । इति उष्ट्रपर्युदासात् ष्ट्र भागस्य न ठ. । प्रा० । (ऊंट) इति प्रसिद्धे करभपर्याये चतुष्पदभेदे, अणु० । प्र० । 'अह भंते उट्टे गोणे खरे घोरुए'प्रज्ञा०११पद । स्त्रियां जातित्वात् ङीप् वाच०।कर्म०।जलचरविशेषे च० । मग्गु उट्टा दगरक्खसो सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

उट्टपाय—उष्ट्रपाद—पुं० ६ त० । करभचरणे, । धम्मस्स करिय ट्टस्स एमेयारूवे वे जमणामए उट्टपाएति वा" उष्ट्रपाद इति वा करभचरणो हि भागद्वयरूपोन्नतश्चाधस्तात् भवतीति तेन युक्तप्र-देशस्य साम्यम् । अणु० ॥

उट्टलिंड—उष्ट्रलिण्ड—न०क्रमेलकपुरीषपिण्डे, दश० ।(उष्ट्रलिण्ड-ससूचितकथा जावग शब्दे)

उट्टिय—औष्ट्रिक—त्रि० उष्ट्राणामिदमौष्ट्रिकम् । (उष्ट्रसम्ब-न्धिनि,) उष्ट्रलोममये सूत्रभेदे, अनु० । स्था० । उट्टिय कयल उट्टिय कंबल वा पायपुञ्छण भवति, नि० चू० १६ उ० ॥ " उचितप्रमाणे, णालत्थ ' अउहिं उट्टियाहिं उदगस्स घडयाहिं " उष्ट्रिका बृहन्मृण्मयभाण्ड तत्पूरणप्रयोजना ये घटा-स्ते उष्ट्रिका उचितप्रमाणा नातिलघवो महान्तो चेत्यर्थः । उपा० १ अ० ।

उट्टिया—उष्ट्रिका-स्त्री०उष्ट्रस्याकार पृष्ठावयव इव आकारोऽस्या' ठन् । मृण्मये मद्यभाण्डभेदे, सुरातैलादिभाजनविशेषे, उपा० ७ अ०।'उट्टियाकभल्ल सगणसठिय'उष्ट्रिकाभाजन विशेषस्तस्या-कभल्ल कपाल तत्सस्थान तत्सास्थितम् । उपा० २ अ० ।

उट्टियासमणा—उष्ट्रिकाश्रमण—पुं० उष्ट्रिका महामृन्मयोभाज-नविशेषस्तत्र प्रविष्टा ये श्राम्यन्ति तपस्यन्तीत्युष्ट्रिकाश्रमणाः । आजीवकश्रमणभेदेषु, औ० ॥

उट्टी—उष्ट्री—स्त्री०उष्ट्रजातिस्त्रियाम्, "उट्टीणं ताणि णो हुंति" उष्ट्रीणां तानि दध्यादीनि न भवन्ति माहुटभावादिति पि० व० ।ध०।

उट्ठ—उद्स्था०धा० उद् परस्य तिष्ठतेः ठकुकुरइत्यादेशौ वा भवत । उत्थाने, उट्ठइ उक्कुकुरइ । प्रा० ॥

उट्ठ—ओष्ठ—पुं० उष्यते उष्णाहारेण उष् कर्मणि थन् । दशन-च्छदे, निरुपपदोष्ठशब्दश्च प्रायेण उत्तरोष्ठ एव क्वचित्' प्रयुज्यते ताम्रौष्ठपर्यस्तरुच स्मितस्य, कुमा० उपपदे तूभयतः उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे। वाच०। उपाचियसिलप्पवाल विंवफलसण्णिहा-हरोट्ठा । प्रज्ञा० २ पद० ।

उट्ठंत—उत्तिष्ठत्—त्रि०उत्थानं कुर्वति । प्रा० ॥

उट्ठच्छिण्णग-ओष्ठच्छिन्नक-त्रि० ६ ब० खण्डितोष्ठे, औ० ।

उट्ठा-उत्था-स्त्री० उत्थानमुत्था ऊर्ध्ववर्तने, "उट्ठाए उट्ठेइ" नि० । रा० । वि० ॥ उत्थानमुत्था ऊर्ध्ववर्त्तनं तया उत्तिष्ठति ऊर्ध्वीभवति । इह उट्ठेइ इत्युक्ते क्रियारम्भमात्रमपि प्रतीयेत तथा वक्तुमुत्तिष्ठन् इति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तमुत्थायेति उपागच्छतीत्युत्तरक्रियापेक्षया उत्थानक्रियायाः पूर्वकालताभिधानायोत्थायोत्थायेति क्त्वाप्रत्ययेन निर्दिशति । यद्यपि द्वयोः क्रिययोः । पूर्वोत्तरनिर्देशाभ्यां पूर्वकाल आक्षेपलभ्य एव तथापि भुञ्जानो व्रजत इत्यादौ द्वयोः क्रिययोर्यौगपद्यदर्शनादानन्तर्यसूचनार्थमित्यमुपन्यासः उत्थानक्रियासव्यपेक्षत्वाडुपागमनक्रियाया इति अ०१ वक्ष०।

उट्ठाण-उत्थान-न० उद्०स्था०ल्युट् । ऊर्ध्वीभवने, भ० । ७ श०७उ०। श्रवणाय गुरुप्रत्यभिमुखगमने, चं०प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा ऊर्ध्वभवने, बृ० ३ उ० । उत्थानमुपविष्टः सन् यदूर्ध्वीभवति, उपा० ६ अ० । औ० । देहचेष्टाविशेषे, प्रज्ञा० २३ पद । स्था० । उत्पत्तौ, ज्ञा० १४ अ० । उद्वसने, न० । प्रथममुद्गमने, उत्त० ११ अ० । त्रिसदोषे, उत्थाने निर्वेदात् करणमकरणोदय सदैवास्याः पो० १ विव० । करणे ल्युट् । रणे, उत्साहे, पौरुषे, हर्षे च । अधिकरणे ल्युट् । राज्यचिन्तनरूपे तन्त्रे, प्राङ्गणे चैत्ये प्रबोधे च । वाच० ।

उट्ठाणकम्मबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कम-उत्थानकर्मबलवीर्यपुरुषकारपराक्रम-उत्थान चेष्टाविशेषः कर्म च भ्रमणादिक्रिया बल च शरीरसामर्थ्यं वीर्यं च जीवभवं पुरुषकारश्चाभिमानविशेषः पराक्रमश्च पुरुषकार एव निष्पादितस्वविषय इति विग्रहे द्वन्द्वैकवद्भावः । वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमसमुत्थजीवपरिणामविशेषाणामुत्थानादीनां समूहे, न० । एतेषु प्रत्येकशब्दो योजनीयो वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमवैचित्र्यतः प्रत्येकं जघन्यादिभेदैरनेकत्वेऽप्येषामेकजीवस्यैकदा क्षयक्षयोपशममात्राया एकविधत्वादेक एव जघन्यादिरेतद्विशेषो भवति कारणमात्राधीनत्वात्कार्यमात्राया इति सूत्रभावार्थः । शेष प्राग्वदिति । स्था० १ ठा० ॥

उट्ठाणपारियावणिय-उत्थानपारियापनिक-न० परियानं विविधव्यतिकरपरिगमनं तदेव पारियापनिकञ्चरितमुत्थानाज्जन्मन आरभ्य पारियापनिकमुत्थानपारियापनिकम् । भ० १५ श० १ उ० । उत्थानं चोत्पत्तिः पारियापनिका च कालान्तरं यावत्स्थितिरिति उत्थानपारियापनिकम् । आजन्मचरित्रे जीवनचरित्रे, "सव्वं च सं उट्ठाणपारियावणियं परिकहेइ" ज्ञा० १७ अ० । गोसालस्स मखलिपुत्तस्स उट्ठाणपारियावणियं परिकहियं' । भ० १५श० १उ० ।

उट्ठाणसुय-उत्थानश्रुत-न० उत्थानमुद्वसनं तद्धेतुः श्रुतमुत्थानश्रुतम् । कालिकश्रुतभेदे, न० । "परियट्टिज्जइ अहियं उट्ठाणसुयं तु तत्थ उट्ठेइ" ॥ यत्र प्रणिधाय उत्थानश्रुतं परावर्त्यते तत्र कुलग्रामदेशादि उत्तिष्ठति उद्वसीभवतीत्यर्थः "तत्थ त्रयोदशवर्षपर्यायस्य दीयते व्य० दि० १ उ० । तच्च शृङ्गनादिते कार्ये उपयुज्यते अत्र चूर्णिकारकृता भावना सज्जेस्सेगस्स कुलस्स वा गामस्स वा नगरस्स वा रायहाणीए वा समणे कयसकप्पे आसुरुत्ते चक्किए अप्पसत्ते अप्पसत्तलेसे वि समासुहासणत्थे उवउत्ते समाणेउट्ठाणसुयमज्झयणं परियट्टेइ तं च एक्क दो वा तिन्नि वा वारे ताहे से कुले वा गामे वा जाव रायहाणी वा ओहयमणसकप्पे विलवते दुयं दुयं पहावेंति । ते उट्ठेइ उव्वसइत्ति भणियं होत्ति । न० । पा० ।

उट्ठाय-उत्थाय-अव्य० उद्० स्था० ल्यप्० । उद्यतविहारं प्रतिपद्येत्यर्थे, । "अहासुयं वदिस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठायसखाए" आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

उट्ठिअ (य) उत्थित त्रि० उद्० स्था० क्त० । उद्यमोद्योग, रा० । अभ्युद्गते, "उट्ठिय पि सूरे" अभ्युद्गते आदित्ये, । अनु० । सो उट्ठितो चितेइ" आ० म० द्वि० । समुत्पन्ने, प्रश्न०३द्वा० । औ० भावोत्थानेन सयमानुष्ठानरूपेण उत्प्राबल्येन स्थित उत्थितः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । धर्मचरणायोद्यतेषु ज्ञानदर्शनचारित्रोद्योगवत्सु, आचा० १ श्रु० ४ अ०१उ० । "अह पासविवेगमुट्ठिए अवितिन्ने इह भासई धुवं" सूत्र० १श्रु० २ अ० । नि०चू० । उद्वसिते, वृ०३उ० । ओ० । वृद्धियुक्ते, उत्थानयुक्ते, अनुपविष्टे, उत्पन्ने च । वाच० ॥ "एगो वि उट्ठिओ सतो दारगं च सठवति घाई वा" सूत्र० १श्रु० ४ अ० ॥

उट्ठित्ता-उत्थाय-उद्-स्था० ल्यप्- उत्थानं कृत्वेत्यर्थे, "संकाभीओ न गच्छेज्जा- उट्ठित्ता- अन्नमासणं " ॥ उत्त० २० अ० ।

उट्ठिअ (य) दंड-उत्स्थितदण्ड-पु० ६ त० । कृतप्रायश्चित्त शुद्धौ, उट्ठियदंडो साहू अचिरेण उवेति सासयं ठाणं । पच्छिसं ग जयाउट्ठित पात्रं भवति तदा । विसुद्धचरणो मुक्ख पावसि० । नि० चू० २० उ० ।

उट्ठित्तु-उत्थाय-अव्य० उद्- स्था० ल्यप्० । उत्थानं कृत्वेत्यर्थे, उट्ठित्तु सपरिवारो " प० व० ।

उट्ठुभइत्ता-अवष्ठीव्य-अव् ष्ठीव् ल्यप् । निष्ठीवनं कृत्वेत्यर्थे, उट्ठुभइत्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग जाव पहेसु आकड्ढविकड्ढि करेमाणे० भ० १५ श० ७ उ० ।

उडंक-उट्टंक-पु० आयोदधौम्यशिष्यवेदनामकस्य मुनेः शिष्यभेदे, भार्गवे गौतमस्य शिष्यभेदे च । वाच० । "इदेण उडंकरिसिपत्तीरुववती दिट्ठाए सम अधिगमं गतो सो तओ णिमाच्छतो उ-रुकेण दिट्ठो. नि० चू० १२ उ० ।

उडय-उटज-पु० न० उटेभ्यो जायते जनः ड । पत्रादिनिर्मितशालायाम्, वाच० ॥ तापसाश्रमे, नि० जी० । स्था० । "अणेव सए उडए तेणेव उवागच्छति किढिणसंकाइय ठवेति" नि० "जमहं दियाय राओ य, हुणामि महुसप्पिस । तेण मे उडओ दड्ढो, जाय सरणओ भयं" नि० चू० १ उ० ।

उडु-उडु-स्त्री न. उड्-चा० कु० । नक्षत्रे, उत्त० ११ अ० । जले न । स्त्रीत्वे वा ऊङ् । कौ० । वाच० ।

ऋतु-पु० प्रावृडादौ, चं०प्र० । (उउ प्रकरणे सर्वेऽर्था दर्शिताः)

उडुज्झमाण-अपोह्यमान-त्रि० नियमने, पंकंसि वा पणगंसि वा उदकसमाणि वा उडुज्झमाणि वा अपोह्यमानां वा पङ्केन उदकेन वा नीयमानाम् । बृ० ६ उ० ।

उडुवइ-उडु (डू) पति-पु० उडूनां नक्षत्राणां पतिः प्रभुः उडुपतिः चन्द्रे, उत्त०११ अ० । प्रश्न० । ज० । तं० औ० । "चन्द्रः शशी निशाकरो रजनिकर उडुपतिरित्येवमादयः चन्द्रपर्यायाः । आ० म० द्वि० ।

जहा से उडुवई चंदे, नक्खत्तपरिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए, एवं हवइ बहुस्सुए ॥ २५ ॥

यथा स उडूनां नक्षत्राणां पतिः प्रभुरुडुपतिः । कइत्यादि चन्द्रः शशी नक्षत्रैरश्विन्यादिभिरुपलक्षणत्वाद् ग्रहैस्ताराभिश्च परिवारः परिकरः सजातोऽस्येति परिवारितो नक्षत्रपरिवारितः प्रतिपूर्णसमस्तकालोपेतः । स चेदृक् कदा भवत्यत

आह । पौर्णमास्यामिह च चन्द्र इत्युक्ते मा भूत् रामचन्द्रादावपि संप्रत्यय इत्युडुपतिग्रहणम् । उडुपतिरपि च कश्चिदेकाक्येव भवति मृगपतिवदत उक्तं नक्षत्रपरिवारित । सोऽप्यपरिपूर्णोऽपि द्वितीयादिषु संभवतीति परिपूर्ण पौर्णमास्यामित्युक्तमेवं भवति बहुश्रुतोऽसावपि हि नक्षत्राणामिवानेकसाधूनामधिपतिस्तया तत्परिकरित सकलकलोपेतत्वेन प्रतिपूर्णश्च भवतीति सूत्रार्थः । उत्त० ११ अ० । चन्द्रमण्डले, ज्यो० जलेशे, वरुणे च० । वाच० ॥

उडुवर-उडुवर-पुं०सूर्ये, "तिथि सहस्से सगले छप्प सए उडुवरो हवइ," त० ।

उडुवाडियगण-उडुपाटितगण-पुं०भद्रयशोनिर्गते गणे,"थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियगणामं गणे णिग्गए" कल्प० ।

उडुविमाण-उडुविमान-न० सौधर्मेशानयोः प्रथमप्रस्तटवर्तिनि चतसृणां विमानावलिकानां मध्यभागवर्तिनि वृत्ते स्वनामख्याते विमानकेन्द्रे,"उडुविमाणे णं विमाणे पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं"पं०स०। सौधर्म्मकल्पे प्रथमे विमाने, स्था० ४ ठा० ।

उड्ड-उ (ओ) ड्र-पुं० प्राच्यदेशभेदे, स च मिथिलादेशात्पूर्वस्यां दिशीति प्रतीयते । वाच० ॥ तद्देशजे मनुष्ये च । स च देशोऽनार्य्यक्षेत्रम् । तद्वासी जनश्च म्लेच्छजातीयः । प्रव० २७ अधि० । सूत्र० । प्रश्न० । वाच० । सर्वत्र उडुशब्दस्थवणात् उकारादित्वम् । रघुनन्दनेन तु ओड्रा " देशाख्यव्यवस्थितमित्युक्तत्वात् " ओकारादित्वमपि अस्य देशवाचित्वात् तस्य राजा तदस्याभिजन इत्यर्थे च । अण् ओड्र । तद्राजे, तद्वासिनि च । बहुषु तस्य लुक् । उड्र तद्राजेषु तन्निवासिषु च । वाच० ।

उड्डंचग-उड्डञ्चक-पुं० व्याकुण्ठे, उड्डंचगा वाउट्टी, नि० चू०१उ० उड्डचका उद्घट्टकास्तान् कुर्वन्ति " बृ० १ उ० ॥

उड्डं (ढं) डग-उड्ढदण्डक-पुं० वानप्रस्थतापसभेदेषु, ऊर्ध्वीकृतदण्डा ये सञ्चरन्ति । औ० । भ० ॥

उड्डय-उड्डारित-न० (डकार) इति प्रसिद्धे उद्गारे, " उड्डुएण उड्डुएण वायणिसग्गेण " आव० ५ अ० । ध० ।

उड्डावण-उड्डापन-न०आकर्षणे, "हियउड्डावणे का उड्डावणहेउ" हृदयोड्डापन चित्ताकर्षणहेतु । ज्ञा० १४ अ० ।

उड्डाह-उड्डाह-पुं० उपघाते, "गेलन्न दिट्ठ उड्डाहो, उड्डाह उपघातः प्रवचनस्य भवति । ओ० । प्रवचनलाघवे, उड्डाहो नाम अहो अमीषामनुकम्पा ये विविक्तानामपि अस्माकं चीवराणि न प्रयच्छन्ति । बृ० १ उ० । उड्डाहो नाम एते मायावन्त पापा वा परोपघातकारिणश्च । बृ० ३ उ० । मालिन्ये, व्य० प्र० २ उ० । खिसायां च । "योच्छेय पओसाई उड्डाहमनाणि वाओ य"प्रवचनस्य उड्डाहः खिंसा । पिं० । नि० चू० ॥

उड्डेंत-उड्डीयमान-त्रि० प्रत्यासन्नमाकाशे परिभ्रमति, रा० ।

उड्डोय-देशी०पुं०(डकार) इति प्रसिद्धे उद्गारे, उड्डोए वा वातणिसग्गे वा करेमाणे आचा० २ श्रु० ।

उड्ढ-ऊर्ध्व-त्रि० उद्-हाङ्-ड-पृषो० ऊरादेशः । उच्चे, उपरि उपरितने च । वाच० । उड्ढ दूर वीरुवच्चा । स० । ऊर्ध्वमुपरि, अनु० । ऊर्ध्वलोके, प्रश्न० अध० ३ द्वा० । स्था० । सर्वोपरिस्थिते मोक्षे, " घढिया उड्ढमाया य णावकंखे कयाइ वि " ऊर्ध्वलोकाग्रस्थान मोक्षम् । उत्त० ६ अ० " तम्हा उड्ढति पासहा अदक्खु कामाइ रोगव" ऊर्ध्वं मोक्ष योषित्परित्यागादूर्ध्वं यद् भवति " सूत्र० १ श्रु० २ अ० । उत्पाटिते, हेम० । अनुपविष्टे, दण्डायमाने, उत्क्षिप्ते, वाच० । शुभ्रे च । अनु० । वमने, न० । बृ० १ उ० ।

उड्ढंक-उड्ढंक-न० मार्गस्योन्नते भूभागे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उड्ढं (ड्ढ) जाणु-ऊर्ध्व (र्द्ध) जानु-त्रि० ऊर्ध्वे जानुनी यस्यासावूर्ध्वजानु । शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासने, " उड्ढं जाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए " भ० १ श० १ उ० । जं० । सू० प्र० । औ० । वि० । चन्द्र० । ज्ञा० । सो उड्ढजाणू अहोसिरो चिंततो चिट्ठइ आव०४अ०

उड्ढकंडूयग-ऊर्ध्वकण्डूयक-त्रि० तापसभेदेषु, ये नाभेरुपर्येव कण्डूयन्ति नाध । भ० ११ श० ९ उ० ।

उड्ढकाय-ऊर्ध्वकाय-पुं०न० ऊर्ध्वं कायस्य एकदे० ३ त० । देहस्योर्ध्वभागे, काके च । " ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा अवरेहिं खज्जति सणप्फएहिं " ऊर्ध्वैः काकैः वैक्रियैः प्रखाद्यमानाः । सूत्र० १ श्रु. ५ अ. ७ श्रु० ।

उड्ढगारवपरिणाम-ऊर्ध्वगौरवपरिणाम-पुं० आयुःपरिणामभेदे, येन आयु स्वभावेन जीवस्योर्ध्वदिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति स ऊर्ध्वगौरवगमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति स ऊर्ध्वगौरवपरिणामः । इह गौरवशब्दो गमनपर्यायः । स्था०१० ठा० ।

उड्ढचर-ऊर्ध्वचर-त्रि०उपरिचरे गृध्राणौ,आचा०१श्रु०८ अ०८उ०

उड्ढणिरोह-ऊर्ध्वनिरोध-पुं० वमननिरोधे, "उड्ढणिरोहे कुट्ठं, ऊर्ध्वं वमनं तन्निरोधे कुष्ठं भवति । बृ. ३ उ० ।

उड्ढत्ता-ऊर्ध्व (र्द्ध) ता-स्त्री०मुख्यतायाम्, अइत्ताए नो उड्ढत्ताए दुक्खत्ताए नोसुहत्ताए भुज्जो परिणमंति, भ०६ श ३ उ० ।

उड्ढत्तासामण्ण-ऊर्ध्व (र्द्ध) तासामान्य-न० ऊर्ध्वमुल्लेखितानुगताकारव्यत्ययेन परिच्छिद्यमानमूर्ध्वतासामान्यम् । सामान्यभेदे,तत्स्वरूप यथा पूर्वापरपरिणामसाधारणद्रव्यमूर्ध्वतासामान्य कटककङ्कणाद्यनुगामिकाञ्चनवदिति पूर्वापरपर्याययोरनुगतमेकद्रव्य द्रवति तांस्तान् पर्यायान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशस्तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते निदर्शनमुक्तामेव।र०॥(अत्रक्षणिकवादिबौद्धपूर्वपक्ष उत्तरं च खणियशब्दे)

अथ सामान्यं द्विप्रकारं दर्शयन्नाह ।

ऊर्ध्वतादिमसामान्यं, पूर्वापरगुणोदयम् ।
पिण्डाश्रितादिसंस्थाना-नुगका मृद्यथा स्थिता ॥ ४ ॥

पूर्व प्रथमोऽपरोऽग्रेतनो यो गुणो विशेषस्तयोरुदयकरणं पूर्वापरगुणोदयं पूर्वापरपर्याययोरनुगतमेकं द्रव्यं त्रिकाली यो वस्त्वंशस्तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते । निदर्शनमुक्तानमेव । यथा पिण्डो मृत्पिण्डः आश्रितः कुसूल इत्यादयोऽनेके संस्थाना आकृतयस्तासु अनुगता पूर्वापरसाधारणपरिणामद्रव्यरूपा मृत्तिका तथाकारा स्थिता एतदूर्ध्वतासामान्यं कथ्यते यदि च पिण्डकुसूलादिपर्यायेषु अनुगतमेकं मृद्द्रव्यं न कथ्यते तर्हि घटादिपर्यायेषु अनुगतं घटादिद्रव्यमपि न कथ्यते तदा च सर्वं विशेषरूपं भवतः क्षणिकवादिबौद्धमतमायाति,अथवा सर्वद्रव्येषु एकमेव द्रव्याणां गच्छतीति ततः घटादिद्रव्ये अथवा तदन्तर्वर्तिसामान्यमृदादिद्रव्ये वानुभवानुसारेण परोर्ध्वतासामान्यमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम् । घटादिद्रव्याणि स्तोकपर्यायव्यापीनि पुनर्मृदादिद्रव्याणि बहुपर्यायव्यापीनि सन्ति इत्थं नरनारकादिद्रव्याणां विशेषो ज्ञातव्य ।

तत्सर्वमपि नैगमनयमतम् । तथा ऋजुसूत्रनयमते तु सद्दैनवादेन एकमेव द्रव्यमापद्यते इति ज्ञेयम् । ६० ॥

उड्ढदिसाइक्कम--ऊर्ध्वदिगतिक्रम--पुं० दिग्व्रतस्यातिचारभेदे, उपा० १ अ० ।

उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कम--ऊर्ध्व (र्ध्व) दिक्प्रमाणातिक्रम--पुं० दिग्व्रतग्रहणे, ऊर्ध्वदिशि यावत्प्रमाण परिगृहीत तस्यातिलङ्घनरूपे, दिग्व्रतातिचारे, आव० ६ अ० ॥ उपा० ।

उड्ढदिसिव्वय--ऊर्ध्वदिग्व्रत--न० ऊर्ध्व दिक् तत्सम्बन्धि तस्या व्रतम् । एतावती दिगूर्ध्वपर्वताधोरोहणादवगाहनीया न परत इत्येवरूपे दिग्व्रतभेदे, आव० ६ अ० ।

उड्ढदेह--ऊर्ध्वदेह-- पुं०-न० ऊर्ध्वं देहस्य शरीरस्योर्ध्वदेहे "खाणु व्व उड्ढदेहो, काउस्सग्गं तु ठाइज्जा" स्थाणुरिवोर्ध्वदेहो निष्प्रकम्प । आव० । ६ अ० ॥

उड्ढपाअ--ऊर्ध्वपाद--त्रि०६ त० ऊर्ध्वचरणे, "कन्दतो कन्दुकुम्भीसु उड्ढपाओ अहोसिरो" उत्त० १९ अ० ॥ "उड्ढपाया सुवह तहा तुम मरण करहोहिन्ति" आ० म० प्र० ॥

उड्ढबद्ध--ऊर्ध्वबद्ध--त्रि० वृक्षशाखादौ बद्धे " रसतो कन्दुकुम्भीसु, उड्ढबद्धो अबन्धवो " ॥ उत्त० १९ अ० ।

उड्ढभागि (ण्) ऊर्ध्वभागिन्--त्रि० गगनतलभागिनि, उड्ढवाएसु उड्ढभागी भवति ऊर्ध्वं गतेषु वातेषूर्ध्वभागी भवत्यप्कायो गगनगत. वातवशाद्दिवि सम्मूर्च्छते जलम् । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

उड्ढमुइंग--ऊर्ध्वमृदङ्ग--पुं०ऊर्ध्वमुखे मृदङ्गभेदे, भ० ११श०१०उ० ।

उड्ढमुइंगाकारसंठिय--ऊर्ध्वमृदङ्गाकारसंस्थित--त्रि० ऊर्ध्वमूर्ध्वमुखो यो मृदङ्गस्तदाकारेण सस्थितो य स तथा । सरावसम्पुटाकारे, भ० ११ श० १० उ० ।

उड्ढमुह--ऊर्ध्वमुख--त्रि. ऊर्ध्व मुखमस्य । ऊर्ध्वगतप्रथमप्रसरे, ऊर्ध्वस्थिताग्रभागे , उन्नमितवदने च । स्वाङ्गत्वात् स्त्रियां ङीष् । ऊर्ध्व मुखस्य एकदेशी. तत्पुरुष । मुखस्योर्ध्वभागे, न० वाच० । " उड्ढमुहलोमजालसुकुमालणिद्धमउअआवत्तपसत्थलोमविरइ अमसरिवच्छसंछण्णविउलवच्छे " ॥ ऊर्ध्वं मुख येषा तानि ऊर्ध्वमुखानि यानि लोमानि तेषां जाल समूहो यत्र स तथा । अनेन च श्रीवत्साकारत्वमिदं दर्शितं । अन्यथाऽधोमुखैस्तै. श्रीवत्साकारानुद्भव. स्यात् । सुकुमालस्निग्धानि नवनीतपिण्डादिद्रव्याणि तानीव मृदुकानि आवर्तैश्चिकुरसंस्थानविशेषैः प्रशस्तानि माङ्गल्यानि दक्षिणावर्तानीत्यर्थः । यानि लोमानि तैर्विरचितो य. श्रीवत्सो महापुरुषाणां वक्षान्तर्वर्ती अभ्युन्नतोऽवयवस्तत पूर्वपदेन कर्मधारयस्तेन छन्नमाच्छादित विपुलवक्षो यस्य स तथा ॥ जं० ३ वक्ष० ॥

उड्ढरइय-- और्ध्वरथिक-- पुं० ऊमके,और्ध्वरथिकशब्दोऽस्ति 'कष्टेनेप्सविशिष्टार्था महापुरीमिव मनुजगतिमनुप्रविशन्ति जन्तवोऽनुप्रविश्यापि चास्यामौर्ध्वरथिका इवाकृतसुकृतसम्भारा निरीक्षितुमपि नैव क्षमन्ते । उत्त० १ अ० । उत्तराध्ययनबृहद्वृत्तिप्रथमपत्रे स कस्य वाचक इति हीरविजयसूरिं प्रति कल्याणविजयगणिकृतप्रश्नो यथा अस्योत्तर हीरविजयसूरिकृतम् ॥ तथा च ऊर्ध्वरथिकशब्दमाश्रित्य सिद्धान्तविषमपदपर्यायान्तर्गतोत्तराध्ययनविषमपर्याये ऊमकवाचकत्वमुक्तमस्ति ॥ ३ ॥ ही०

उड्ढरेणु--ऊर्ध्वरेणु--स्त्री० पुं० जालप्रभाभिव्यङ्ग्य स्वत. परतो वा ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्चलनधर्मा रेणुरूर्ध्वरेणु. । प्रव०२५४द्वा० ॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्चलनधर्मोपलक्ष्ये रेणौ, तद्रूपेऽष्टश्लक्ष्णश्लक्ष्णिकात्मके प्रमाणभेदे, भ० ६ श ७ उ० । ज्यो० ॥

उड्ढरोम--ऊर्ध्वरोमन्--पुं० ऊर्ध्वानि रामाण्यस्य । ऊर्ध्वमुखतयाविकटरोम्णि यमदूतादौ, कुशद्वीपसीमापर्वते च । ऊर्ध्वमुखरोमयुक्ते, त्रि० वाच० । "घोडयपुच्छं व तस्स कविलफरुसाउ उड्डलोमाओ, परुसे कर्कशस्पर्शे ऊर्ध्वरोमिकेन तिर्यग्गवनतेनेत्यर्थः दंष्ट्रिके श्मश्रुरोमणि, उपा० । २ अ० ॥

उड्ढलोग (य) ऊर्ध्वलोक--पुं० ऊर्ध्वमुपरि व्यवस्थितो लोक ऊर्ध्वलोक अथवा ऊर्ध्वशब्द शुभपर्यायस्तत्र च क्षेत्रस्य शुभत्वात्तदनुभावाद् द्रव्याणां प्राय. शुभा एव परिणामा भवन्त्यत शुभपरिणामद्रव्यायोगादूर्ध्व शुभो लोक ऊर्ध्वलोक । उक्तं "उड्ढं ति उवरि ज चिय, सुभखेत्त खेत्तओ य दव्वगुणा । उप्पज्जंति सुभावा, तेण तओ उड्ढलोगोत्ति" रुचकप्रतरद्वयस्य मध्ये एकस्मादुपरितनप्रतरादारभ्योर्ध्व नवयोजनशतानि परिहृत्य परतः किञ्चिन्न्यूनसप्तरज्ज्वायते क्षेत्रलोकभेदे, अनु० । आ० म० द्वि० ।

उड्ढलोगचूला--ऊर्ध्वलोकचूला-- स्त्री० " उड्ढलोगस्स चूला सिहा" ऊर्ध्वलोकस्य चूला शिखा । ऊर्ध्वलोकचूला । ईषत्प्राग्भाराख्ये क्षेत्रचूलाभेदे, नि० चू० १ उ० । "ईसीपब्भारा णाम य ईसित्ति" अप्पभावे य इति प्रायोवृत्त्या । प्राग्भारमित्यारब्धतस्स पुरिसस्स गय पायसा ईसेणय भवति जाव एव ठिता सा पुढवी ईसीपब्भारा णाम इति एतमभिहाणतस्स सायदव्वट्ठसिद्धिविणाउ उवरिं बारसेहिं जोयणेहिं भवति तेण सा उड्ढलोगचूला भवति । नि० चू० १ उ० ॥

उड्ढलोगवत्थव्व--ऊर्ध्वलोकवास्तव्य-- त्रि० ऊर्ध्वलोकवासिनि, " उड्ढलोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसाकुमारीओ " ऊर्ध्वलोकवास्तव्या नन्दनकूटनिवासिन्य इत्यर्थ. । ज्ञा० ८ अ० ।

उड्ढलोग (य) विभत्ति--ऊर्ध्वलोकविभक्ति--स्त्री० स्थानाङ्गाणात्क्षेत्रविभक्तिभेदे, । सा च ऊर्ध्वलोकविभक्ति. सौधर्माद्या उपर्युपरि व्यवस्थिता द्वादश देवलोका नवग्रैवेयकानि पञ्चमहाविमानानि तत्रापि विमानकेन्द्रकावलिप्रविष्टपुष्पावकीर्णकवृत्तत्र्यस्रचतुरस्रविमानस्वरूपनिरूपणामिति ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

उड्ढवाइयगण--ऊर्ध्ववातिकगण--पुं०श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य नवगणानां पञ्चमे गणे, स्था० ९ ठा० । " थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ ण उड्ढवाडिय णाम गणे णिग्गए " कल्प० ॥

उड्ढवाय--ऊर्ध्ववात पुं० ऊर्ध्वमुच्चलन् यो वाति वात स ऊर्ध्ववातः । बादरवायुकायभेदे, जीवा० १ प्रति० । स्था० । प्रज्ञा० । ऊर्ध्वगतो वात. सुश्रुतोक्ते स्वाभाविकगतिरोधेन ऊर्ध्वगते वायौ, स च मूत्रादिवेगधारणाद् भवति । वाच० ॥

उड्ढा--ऊर्ध्वम्--अव्य० दिग्भेदे, स्था० ६ ठा० ।

उड्ढाइक्कम-ऊर्ध्वादिक्रम-पुं०ऊर्ध्वादिषु ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु दिक्षु क्रमः क्रमण विवक्षितक्षेत्रात्परत इति गम्यते अथ ऊर्ध्वादिक्रम । ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रमाधोदिक्प्रमाणातिक्रमतिर्यग्दिक्प्रमातिक्रमलक्षणे दिग्व्रतातिचारत्रये, पञ्चा० १ विव ।

उड्ढोववरागा--ऊर्ध्वोपपन्नक--पुं० सौधर्मादिभ्यो द्वादशभ्यः कल्पेभ्य. ऊर्ध्वं ग्रैवेयकानुत्तरविमानेषूपपन्ना उत्पन्ना । कल्पातीतेषु देवेषु, ज०७वक्ष० । जी० । ऊर्ध्वलोकेपूपपन्नेषु, स्था० २ठा० ।

जे देवा उष्ठोववन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता । कप्पोववन्नगा विमाणोववन्नगा ।

ऊर्ध्वलोकस्तत्रोपपन्नका उत्पन्ना ऊर्ध्वोपपन्नकास्ते च द्विधा कल्पोपपन्नका सौधर्म्मादिदेवलोकोत्पन्नकास्तथा विमानोपपन्नकाः ग्रैवेयकानुत्तरलक्षणविमानोत्पन्ना कल्पातीता इत्यर्थ. । स्था० २ ठा० ।

उण-पुनर्-अव्य पनस्तुनौ वा अरि पुणो प्राकृते स्वरादसयुक्तस्यानादे' इत्यनुवृत्तिसहितस्य । कगचजतदपयवा प्रायो लुगि ' ति सूत्रस्य क्वचिदादेरपि लुग्विधानात्पकारस्य वा लुक् स उण स पुन. । प्रा० । द्वितीयवारे, प्रथमे भेदे च । अमर (पुणशब्दे सर्वेऽर्थाः प्रदर्शयिष्यन्ते)

उण्ण (उरण) ऊर्ण-त्रि०ऊर्णा अस्त्यस्य कारणत्वेन अर्श० अच । मेषलोमरचिते वस्त्रादौ, मेषलोम्नि,स्त्री० ललाटस्था चिन्हभेदे, वाच०।शब्दे, स च वर्णात्मकोऽर्थ स्थानोर्णायालम्बन तदन्ययोगपरिभवनम्, षो० । ३ विव० ।

उण्णइज्जमाण-उन्नीयमान-त्रि० उन्नतिं क्रियमाणे, उन्नतिं प्राप्यमाणे, औ० ॥

उण्णकप्पास-ऊर्णाकार्पास-पु० कर्म० स० । मेषरोम्णि, उण्णत्तिला राणगट्टए नवति तस्स रोमा कन्वणिज्जा कप्पासो भण्णति अहवा उण्ण कप्पासो । जे भिक्खू साणकप्पासा उ वा उण्णकप्पासाउ वा । नि० चू० १ उ० ।

उण्णणाज-ऊर्णनाभ-पु० ऊर्णेव सूत्र नाभौ गर्भेऽस्य अच समा०। लूतायात्, दीर्घादिरयमिति केचित् । वाच०"ऊर्णनाभ इवांशून्या, चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्"ऊर्णनाभोऽत्र कर्मठको ग्राह्यात ।सम०।

उण्णमणी-उन्नमनी-स्त्री० उन्नामिय जासियं वि, उन्नमणी इति निरुक्ते द्वितीयगणानुज्ञायाम्, प०भा० । न०॥

उण्णमिय-उन्नम्य-अव्य० उद् नम ल्यप् । उन्नतीकृत्येर्थे, । "उद्दिसिय २ उन्नमिय २ णिज्झाएज्जा" आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

उण्णय-उन्नत(य)-त्रि० उद्० नम० क्त० । उच्चे, रा०। अभ्युन्नते, ज० २ वक्ष०।तुङ्गे, त० । प्रश्न० । गुणवति, औ० "उज्जलय चरियदारगोपुरतोरणउन्नयसुविभत्तरायमग्गा " । उन्नतानि गुणवन्ति उच्चानि च । ज्ञा० १ अ० । स्था० । उन्नत रूच्यत. शरीरेणाच्छ्रित. भावतस्त्वभिमानग्रहग्रस्त. । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । स्था० (पुरिसजाय शब्दे विवरणम्) उच्छ्रितं नत पूर्वप्रवृत्त नमनमभिमानाद्भुन्ननमुच्छ्रितो वा नयो नीतिरभिमानादेव उन्नयो नयाभाव इत्यर्थ । मानविशेषे, पु० तत्परिणामजनके कर्मणि च नपुं० । भ० १२ श० ५ उ० । मोहनीये, स० । उण्णयरइयतलिणतवसुइणिद्धणक्ख -उन्नतरतिदतलिनताम्रशुचिस्निग्धनख - उन्नता ऊर्ध्वं नता रतिदा रमणीया स्तलिना प्रतलास्ताम्रा ईषद्रक्ता शुचय पवित्रा स्निग्धा स्निग्धच्छाया नखा यस्य । सुलक्षणयुक्पादाङ्गुलीके, त्रि० जी० ३ प्रति० ।

उण्णयतणुतंवणिद्धनख-उन्नततनुताम्रस्निग्धनख-त्रि०उन्नता अनिम्नास्तनव प्रतलास्ताम्रा अरुणा स्निग्धा. कान्ता. नखा पादाङ्गुल्यवयवा यस्य स तथा । सुलक्षणयुक्पादाङ्गुलीके, औ० । जी० । त० ।

उण्णयमण-उन्नतमनस्-त्रि० प्रकृत्या औदार्य्यादियुक्तमनसि, स्था० ४ ठा० ।

उण्णयमण्ण-उन्नतंमन्य-त्रि० उन्नतमात्मान मन्यते य. स तथा आत्मानमुन्नतिमन्त मन्यमाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

उण्णयमाण-उन्नतमान-त्रि० उन्नतो मानोऽस्येत्युन्नतमानः । गर्वाध्माते, " उण्णयमाणे य णरे महतमोहेण मुज्झसि " उन्नतो मानो ऽस्येति उन्नतमान । उन्नत चात्मान मन्यते स चैवभूतो नरो मनुष्यो महता मोहेन प्रवलमोहनीयोदयेनाज्ञानोदयेन वा मुह्यति कार्य्याकार्य्यविकलो भवति । आचा० १ श्रु० ५ अ०४ उ०।

उण्णयावत्त-उन्नतावर्त-पु० उन्नत उच्छ्रित स चासावावर्तश्चेति उन्नतावर्तः । आवर्तभेदे, स च पर्वतशिखरारोहणमार्गस्थवातोत्कलिकाया वा । स्था० ४ ठा० ।

उण्णयासण-उन्नतासन-न० उच्चासने, रा० । ज० । जी० ॥

उण्णा-उ (ऊ) र्णा-स्त्री०ऊर्णुयते आच्छादयते,ऊर्णु का ह्रस्वः मेषादिलोम्नि, ललाटस्थलोमसमूहात्मके चिह्नभेदे, वाच० । दीर्घादिरयमिति वहव वाच०। स्था० आ० म० प्र० ।

उण्णाग-उन्नाक-पु०स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र महावीरस्वामिना विहृतम् । "ततो सामी उण्णागं वच्चति तत्यतए वहूवर सपक्खिहुत्त पईताणि पुण दोवि विरूवाणि दतुराणि य तत्थ गोसालो भणइ अहो इमो सुसजोगो" आ०म०द्वि० ।

उण्णाम-उन्नाम-पु०प्रणतस्य मदानुप्रवेशादुन्नमनमुन्नामः मानविशेषे, तत्परिणामजनके मोहनीयकर्मणि च । न० । भ० १२ श० ५ उ० । स० ॥

उण्णिद्द-उन्निद्र-त्रि० उद्गता निद्रा मुद्रा यस्य । विकासिते, निद्राशब्दस्य मुद्रामुकुलीभावरूपनेत्रनिमीलनार्थकत्वेन तथात्वम् निद्रारहिते च । वाच० उन्निद्र विजृम्भित हसित उद्बुद्धमित्यादि पर्य्याया' । विशे० ।

उण्णिय-और्णिक-त्रि०ऊर्णाया निमित्त संयोग उत्पातो वा ठञ् । तन्निमित्तादौ, स्त्रियां ङीप् । वाच० । ऊर्णामये सूत्रादौ, आ० म० प्र० । ऊर्णरोमनिष्पन्ने वस्त्रे, वृ० २ उ० । नि० चू० ॥ उष्ट्रलोममये रजोहरणे, स्था०५ ठा० । जीत० ॥

उन्नीत-त्रि० उद्-नी क्त-ऊर्ध्वं नीते, वितर्किते च । वाच० । पृथग्व्यवस्थापिते, " द्वाभ्या नयाभ्यामुन्नीतमपि शास्त्र कणाभिना" । नयो० ।

उण्णु-(न्नु) इतो-उन्नुइतो-देशीपदमेतत् । गर्वे वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे,पव भणितो सतो उण्णुइतो सो कहेइ सव्व तु।व्य०द्वि०१०उ०।

उण्ह-उष्ण-पु० । उषति दहति जन्तूनित्युष्णः उष् नक् उत्त०१ अ० । सूर्यादिपरितापे, पि० । आहारपाकादिकारणे, ज्वलनाद्यनुगते स्पर्शभेदे, कर्म० । ग्रीष्मर्तौ, पलाण्डौ च । अर्श० अच् । तद्वति, आलस्यरहिते, दक्षे च । वाच० । सीएण उण्हेण सिरेण मुक्खेण काळण रूहेण सगेण" आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । (उण्हशब्दनिक्षेप सीउण्ह शब्दे)

उण्ह (उसिण) परि (री) सह-उष्णपरि (री) षह-पु० उप दाहे इत्यस्यौणादिकनक्प्रत्ययान्तस्य उष्ण निदाघादितापात्मकम्-तदेव परीषह उष्णपरीषह. । उत्त०१ अ० । प्र०। स च'उष्णेन तप्तो नैवोष्णं निन्देच्छाया च न स्मरेत् ।वीजनं व्यजन गात्राभिषेकादि च वर्जयेत्'। ध०३अधि० ॥ पाठान्तरेण । "उष्णतप्तो न त निन्देच्छायामपि न सस्मरेत् । स्नानगात्राभिषेकादि-वर्जन वाऽपि वर्जयेत्" । आ० म० द्वि० ।

पुट्ठे गिम्हाहि तावेणं, विमणेसुप्पिवासिए ॥
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥ ५ ॥

ग्रीष्मे ज्येष्ठाषाढाख्ये अभितापस्तेन स्पृष्टश्छुप्तो व्याप्तः सन् । विमना विमनस्कः सुष्ठु वा अतिशयेन पातुमिच्छा पिपासा तां प्राप्तो नितरां भृशमभिभूतो बाहुल्येन दैन्यमुपयातीति दर्शयति ॥ तत्र तस्मिन्नुष्णपरीषहोदये मन्दा जडा अशक्ता विषीदन्ति । पराजयमुपयान्ति । दृष्टान्तमाह । यथा मत्स्या अल्पोदके विषीदन्ति । गमनाभावान्मरणमुपयान्त्येव सत्वाभावात्संयमात् भ्रश्यन्त इति । इदमुक्तं भवति । यथा मत्स्या अल्पत्वादुदकस्य ग्रीष्माभितापेन तप्ता अवसीदन्त्येवमल्पसत्त्वाश्चारित्रप्रतिपन्नावपि जलमलक्लेदक्लिन्नगात्रा बहिरुष्णाभितप्ताः शीतलान् जलाश्रयान् जलाधारगृहचन्दनादीनुष्णप्रतीकारहेतूननुस्मरन्त आकुलितचेतसः संयमानुष्ठानं प्रति विषीदन्ति॥५॥सूत्र०१श्रु ३अ०।

उसिणपरियावेणं, परिदाहेण तज्जिए ।

घिंसु वा परियावेणं, सायं नो परिदेवए ॥ ८ ॥

उष्णमुष्णस्पर्शवद्भूशिलादि तेन परितापः तेन तथा परिदाहेन बहिः स्वेदमलात्त्वा वह्निना चान्तश्च तृष्णया जनितनिदाघस्वरूपेण तर्जितो भर्त्सितोऽत्यन्तपीडित इति यावत् । तथा ग्रीष्मे वाशब्दात् शरदि वा परितापेन रविकिरणादिजनितेन तर्जित इति संबन्धः । किमित्याह । सातं सुखं प्रतीति शेषं न परिदेवेत किमुक्तं भवति । नारीकुचोरुकरपल्लवोपगूढैः क्वचित्सुखं प्राप्ताः क्वचिदङ्गारैर्ज्वलितैस्तीक्ष्णैः पक्काःस्म नरकेष्वित्यादि परिभावयन् हा कथं मम मन्दभाग्यस्य सुखं स्यादिति न प्रलपेत । यद्वा सातमिति सातहेतुं प्रति यथा हा कथं कदा वा शीतकालः शीतांशुकरकलापादयो वा मम सुखोत्पादकाः संपत्स्यन्त इति न परिदेवेत इति सूत्रार्थः ॥

उपदेशान्तरमाह ।

उन्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए ।

गायं नो परिसिंचिज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं ॥९॥

मेधावी मर्यादानतिवर्त्ती स्नानं शौचं देशसर्वभेदभिन्नं नाभिप्रार्थयेत नैवाभिलषेत् पतन्ति च (नो वि पत्थइत्ति) अपिभिन्नक्रमत्वात्प्रार्थयेदपि न किन्तु पुनः कुर्यात्तथा गात्रं शरीरं नो परिसिञ्चेत् सूक्ष्मादकबिन्दुभिरार्द्रीकुर्यात् न वीजयेच्च तालवृन्तादिना (अप्पयंति)आत्मानमथ वाऽल्पमेवाल्पकं किं पुनर्बहिति सूत्रार्थः । साम्प्रतं शिलाद्वारमनुस्मरन् उवरितावेणत्यादिसूत्रावयवसूचितमुदाहरणं निर्युक्तिकृदाह-

तगराए अरिहमित्तो, अरिहए तोयभद्दा य ।

वणियमहिलं चइत्ता, तत्तम्मि सिलायले विहरे ॥

तगरायामर्हन्मित्रो दत्तोऽर्हन्नकश्च भद्रा चावणिग्महिलां त्यक्त्वा शिलातले विहरेत्ति व्यहार्षीदिति गाथाक्षरार्थो भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेय । सचायं तगरा नयरी तत्थ अरहमित्तो नाम आयरिओ तस्स समीवे दत्तो नाम वाणियओ भद्दाए भारियाए पुत्तेण य अरहन्नएणं सद्धिं पव्वइत्तो । सो तं खुड्डगं कयाइ भिक्खाए नहिंडावेइ पढमालियाईहिं किं भिच्छिएहिं पोसेत्ति सो सुकुमालो साहूण अप्पत्तियणतरति किं चि भणिउं । अन्नया सो खंतो कालगतो साहूहिं दो तिन्नि वा दिवसे दाउं भिक्खस्स उपरितो सो सुकुमालसरीरो गिम्हे उवरिहेट्ठाए रुज्झितो पस्सेयतण्हाभिभूतो छायाए वीसमंतो पोसियवइयाए वाणियमहिलाए दिट्ठो उराल सुकुमालसरीरोत्ति काउ तीसे तहिं अज्झोववाओ जाओ । चेडीए सद्दावितो किं मग्गसि । भिक्खं दिन्ना से मोयगा पुच्छिओ कीस तुमं धम्मं करेसि । भणति सुहनिमित्तं । सा भणति तो मए चेव समाणं भोगे भुंजाहि । सो य उण्हेण तज्जिओ उवसग्गज्जितो य पडिभग्गो भोगे भुजति । सो साहूहिं सव्वहिं मग्गिओ नो दिट्ठो अप्पसागारिओ पविट्ठो पच्छा से माया उम्मत्तिया जाया पुत्तसोगेण णयरं परिभमती अरहन्नय विलवती जं जहिं पासति तं तहिं सव्वं भणति अत्थि ते कोवि अरहन्नको दिट्ठो एवं विलवमाणा भमति जाव अन्नया तेण पुत्तेण ओलोयणगए दिट्ठा पच्चभिन्नाया तहेव उत्तरिता पाएसु पडिओ तं पेच्छिऊण तहेव सत्थचित्ता जाया ताए भन्नति पुत्त पव्वयाहि मा दोग्गइं जाहि । सिस्सो भणति न तरामि काउं संजमं यदि पर अणसणं करेमि एयं करेहि मा असंयतो भवाहि मा संसारं भमिहिसि । पच्छा सो तहेव तत्ताए सिलाए पाओवगमणं करेति मुहुत्तेण सुकुमालसरीरो उण्हेण विलावो पुव्विं तेण णाहियासिओ पच्छा तेण अहियासितो एवं अहियासियव्वं उण्हे उत्त०पा० तगरानगर्यामर्हन्मित्राचार्यपार्श्वे दत्तनामा वणिक् भद्रा भार्या र्हन्नकपुत्रेण समं प्रव्राजितः । पित्रा सर्ववैयावृत्यकरणेन इतस्ततः परिभ्रम्य भव्यभिक्षाभोजनसम्पादनेन स बालोऽत्यन्तं सुखीकृतः उपविष्ट एव भुङ्क्ते कदापि भिक्षायै न भ्रमति । तद्भिक्षार्थं स्वभिक्षार्थंच पितुरेव भ्रमणात् । अन्यदा पितरि मृते साधुभिः प्रेरितः स बालो ग्रीष्मे मासे भिक्षार्थङ्गतः । तापाभिभूतः सोच्चगृहच्छायायामुपविशति पुनस्ततः उत्तिष्ठति शनैः शनैर्याति एवं कुर्वन्तमतिसुकुमारं तमर्हन्नककुमारं रूपेण कन्दर्पावतारं दृष्ट्वा काचित्प्रोषितवणिग्भार्या आकार्य गृहे स्थापितवती तया सह स विषयासक्तोऽभूत् । अथ तन्माता साध्वी पुत्रमोहेन ग्रथिलीभूता अरे अर्हन्नक ! अर्हन्नक ! इति निर्घोषयन्ती चतुष्पथादिषु भ्रमति । एकदा गवाक्षस्थेन अर्हन्नकेन तादृशावस्था माता दृष्टा संजातात्यन्तसंवेगः स गवाक्षादुत्तीर्य पादयोः पतित्वा मातरमेवमाह । हे मातः सोऽहमर्हन्नक इति तद्वच श्रवणात् स्वस्थचित्ता माता तमेवमाह । वत्स भव्यकुलजातस्य तव केयमवस्था । स प्राह । मातश्चारित्रं पालयितुमहं न शक्नोमि । सा प्राह तर्हि अनशनं कुरु मातृवचसा स तप्तशिलायां सुप्त्वा पादोपगमनञ्चकार सम्यगुष्णपरीषहं विषह्य समाधिभाग् देवत्वं प्राप्तवान् । एवं अन्यैरपि साधुभिरुष्णपरीषहः सोढव्यः । उत्त २ अ० । (परीसहशब्देऽन्यत्)

उण्ह (उसिण) परियाव-उष्णपरिताप-पुं० उष्णमुष्णस्पर्शवद्भूशिलादि तेन परितापः । उत्त० २ अ० । आतापनादौ, भूशिलाद्यौष्ण्यहेतुके दाहे, उत्त० १ अ० ।

उण्हफासणाम-उष्णस्पर्शनामन्-न० नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं हुतभुजादिवद् भवति तदुष्णस्पर्शनाम । कर्म० ।

उण्हयर-उष्णतर-न० कषायः शोकवेदोदययोश्च दाहकत्वादुष्णः सर्वं वा मोहनीयमष्टप्रकारं वा कर्मोष्णं ततोऽपि तद्दाहकत्वादुष्णतरम् । तपसि, " रुज्झइ तिव्वकसाओ, सोगभिभूओ उइण्णवओ य । उण्हयरो होइ तवो, कसायमाई वि जं रुहइ " आचा० नि० २ अ० । (सीउण्ह शब्दे विवृतिः)

उण्हवण-उष्णापन-न० उष्णीकरणे, पिं० ॥

उण्हाभि (हि) तत्त-उष्णाभितप्त-त्रि० उष्णेनात्यन्तपीडिते, "उण्हाहितत्तो मेहावी सिणाणं नो विपत्थए" उत्त० २ अ० ।

उण्हाभिहय-उष्णाभिहत-त्रि० सूर्यखरप्रतापाभिभूते " उण्हाभिहए तण्हाभिहए दवग्गिजालाभिहए " जी० ३ प्रति० ।

उण्हीस-उष्णीष-पुं०न० उष्णमीषते हि नास्ति उष्णम् ईष शक० पररूपम् । "सूक्ष्मश्नष्णस्नन्हह्णक्ष्णां ण्हः" ।८।२।७५। सूत्रेण ष्णभागस्य णकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० । शिरोवेष्टनवस्त्रे, (पागडी)

किरीटे च। " पवित्र केश्यमुष्णीष, वातातपरजोऽपहम् । वर्षानिलरजोघर्म-हिमादीना निवारणम् " वाच० ॥

उएहोदग-उष्णोदक-न०क. स अग्निना तप्तजले, क्वथ्यमानपादशेषार्धावशेषपादादिहीनके जले, " अष्टमेनांशशेषेण, चतुर्थेनार्धकेन वा। अथवा क्वथनेनैव, सिद्धमुष्णोदक वदेदिति। वाच० पुप्फोदएहि य गधोदएहि य उएहोदएहि य सुभोदएहि य कल्प०।

उएहोला-उष्णोपला-स्त्री०तैलपायिकानामके कीटभेदे, सङ्गमक. सौधर्मकल्पवासी देव वीरमुपसर्गयन् " उएहोला विउव्वइ उएहोला णाम तेल्लपाइया तो तातो तिक्खेहिं तुरेहिं अतीव दसति " आ० म० द्वि० ।

उत्त-उक्त-त्रि० वच. दुहा. गौणे कर्मणि क्त । यस्य ज्ञानाय कथ्यते तादृशे, अनुक्तेनापि वक्तव्य, सुहृदा हितमिच्छता । गौणकर्मसमभिव्याहारे तु मुख्ये कर्मणि क्त'। वाच०। अभिहिते, "तत्थुत्ता त जिणभवणाइ" पचा० ६ विव०। भणिते, आख्याते, नि० । वुत्त उक्त भणितमिति वुत्तशब्दस्योक्तेत्यनुवाद. । आव० ५ अ० ॥ उत्तराध्ययने तु व्युक्तेत्यनुवाद. । उत्त० १ अ० ॥

उत्त-त्रि० उन्द क्लेदने क्त-वा तस्य न. । क्लिन्ने आर्द्रवस्तुनि, वाच० । स्वनामख्याते वनस्पतिभेदे, पु० । अनु० ।

उप्त-त्रि० वप्-क्त । निक्षिप्ते, ध० १ अधि० । कृतवापे धान्यादौ क्षेत्रे, वाच० । कर्षक इव बीजवपन कृत्वा निष्पादिते, " देव उत्ते अपत्तोए वनउत्तेत्तियावरे " । सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ० ।

उत्तण-उत्तृण-न० उन्नत तृणमुत्तृणम् । ऊर्ध्वगते तृणे, " खित्तखिल्लभूमिवल्लराइ उत्तणघणसकडाइ डज्झतु " उत्तृणै स्तृणैर्घनमत्यर्थ सकटानि सङ्कीर्णानि यानि तानि तथा । प्रश्न० १ द्वा० उन्नतानि तृणानि यत्र उत्ततृणके, "उत्तणाणि वणाणि णिप्पाणसव्वं वा मेइणि" उन्नतानि तृणानि येषु वनेषु तानि तथा । अनु०।

उत्तत्थ-उत्त्रस्त-त्रि० उत्त्रासे, प्रश्न० अध० ३ द्वा० । भयाजातोत्कम्पादिभयभावे, "उत्तत्था तसिया उव्विग्गा सजायभया " भ०३ श०१ उ० । "उत्तत्थसुण्णभयसतत्था" प्रश्न० अध०३द्वा०।

उत्तत्तसरीर-उत्तप्तशरीर-त्रि० देदीप्यमानशरीरे, रा० ।

उत्तम-उत्तम-त्रि० उद्-तमप्० । स्वरूपत' सुन्दरे, कल्प० , भ० । प्रशसास्पदीभूते, ज० २ वक्ष० । औ० । सर्वोत्कृष्टे, आव० २ अ० । महति, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। प्रधाने, पचा० ए विव० प्रश्न०।सत्या।"अय से उत्तमे धम्मे,पुव्वठाणस्स पग्गहे"आचा० १ श्रु०७अ०। "बभचेरं उत्तमतवनियमनाणदसणचरित्तविणयमूल" प्रश्न० ३ द्वा० । प्रज्ञा० । सयमे, पु० दशा०५अ० । गिरीणामुत्तमत्वादुत्तम । मेरौ, "ता उत्तमासि पव्वयसि" च० प्र० १पाहु० । सू० प्र०। अन्त्ये, त्रि० उत्तमैकान्त्या च० पा०उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थ. उत्तानपादस्य पुत्रभेदे, ध्रुवस्य भ्रातरि पु० वाच० ॥

उत्तमस्-त्रि० ऊर्ध्व तमसोऽज्ञानाधत्तत्तथा अज्ञानरहिते, ज्ञा०१अ०

कित्तियवंदियमहिया, जे लोगस्सुत्तमा सिद्धा ॥

कीर्तिता स्वनामभि प्रोक्ता वन्दितास्त्रिविधयोगेन सम्यक् स्तुता महिता पुष्पादिभि पूजिता। क एते इत्यत आह ये एते लोकस्य प्राणिलोकस्य मिथ्यात्वादिकर्ममलकलङ्काभावेनोत्तमा प्रधाना ऊर्ध्व वा तमस इत्युत्तमस. । उत्प्राबल्येनोर्ध्वगमनोच्छेदनेष्विति वचनात्। प्राकृतशैल्या पुनरुत्तमा उच्यन्ते । ((सिद्धा इति) सित ध्मात बद्धमेषामिति सिद्धा कृतकृत्या इत्यर्थ । द्वा०।

अस्यैव व्याख्यां निर्युक्तिकृदाह ।

मिच्छत्तमोहणिज्जा, नाणावरणाचरित्तमोहाउ ।
तिविहतमा उम्मुक्का, तम्हा ते उत्तमा हुंति ॥ ५५ ॥

मिथ्यात्वमोहनीयात्तथा ज्ञानावरणात्तथा चारित्रमोहादित्यत्र मिथ्यात्वमोहनीयग्रहणेन दर्शनसप्तक गृह्यते। तत्रानन्तानुबन्धिनश्चत्वार कषायास्तथा मिथ्यात्वादित्रयं च ज्ञानावरण मतिज्ञानावरणभेदात्पञ्चविध चारित्रमोहनीय पुनरेकविंशतिभेद तथानन्तानुबन्धिरहिता. द्वादशकषायास्तथा नव नोकषाया इति अस्मादेव यतस्त्रिविधतमस किमुन्मुक्ता' प्राबल्येन मुक्ताः पृथग्भूता इत्यर्थ । तस्माचे भगवन्त. किमुत्तमा भवन्ति ऊर्ध्व तमोवृत्तेरिति गाथार्थ. ॥ आव० २ अ० । आ० चू० ।

उत्तमंग-उत्तमाङ्ग-न० क स. सर्वावयवानां प्रधानावयवे, स०। शिरसि च । सूत्र० १ श्रु०५ अ० २ उ० । उत्त०। नं० । मस्तकस्य अङ्गेषूत्कृष्टत्व चक्षुरादीन्द्रियाधारत्वात्, वाच० । तात्स्थ्यात्केशेषु, "लोयविरलुत्तमग" अत्र उत्तमाङ्गशब्देन उत्तमाङ्गस्थाः केशा उच्यन्ते । पिं० ॥

उत्तमकट्ठपत्त-उत्तमकष्टप्राप्त-त्रि० परमकष्टावाप्ते,भ०७ श०६उ०

उत्तमकाष्ठाप्राप्त-त्रि० उत्तमावस्थां गते, परमकाष्ठाप्राप्ते, "दुसमदुसमाए समाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स केरिसए आगारभावपडोयारे पष्णत्ते " भ० ७ श० ६ उ० । परमप्रकर्षप्राप्ते, प्रकृष्टावस्थां गते, सू० प्र० १ पाहु० ।

उत्तमकट्ठा-उत्तमकाष्ठा-स्त्री० प्रकृष्टावस्थायाम्, ज० २ वक्ष० ।

उत्तमकुल-उत्तमकुल-न० उग्रभोगादिके चान्द्रादिके वा कुले, " उत्तमकुले वि जायं णिक्कामिज्जइ तपगच्छं " ग०२ अधि०

उत्तमगुण-उत्तमगुण-पुं० प्रधानगुणे, पचा० ४ विव० ।

उत्तमगुणबहुमाण-उत्तमगुणबहुमान-पु० उत्तमगुणेषु प्रधानगुणेषु जिनेषु वीतरागत्वादिषु वा जिनगुणेषु, बहुमान. पक्षपात. उत्तमगुणबहुमान उत्तमगुणपक्षपाते, " उत्तमगुणबहुमाणो पयमुत्तमसत्तमज्झयारम्मि " पंचा० ४ विव० ।

उत्तमगुणोघ-उत्तमगुणौघ-पु० अनहंकारिणि, " ण करोति अहंकार परिसम्रो उत्तमगुणो य " पं० भा० ॥

उत्तमजणसेविय-उत्तमजनसेवित-त्रि०गणधरसेविते, गणधराणामुत्तमत्वात्। "उत्तममिय पय जिण-वरेहिं लोगुत्तमेहिं पण्णत्त। उत्तमकयसजणय, उत्तमजणसेविता लोए " पचा० ११ विव० ।

उत्तमजत्ता-उत्तमयात्रा-स्त्री० प्रधानयात्रायाम्, पचा०ए विव

उत्तमजोगित्त- त्तमयोगित्व- न० अयोगित्वलक्षणे सवरद्वारे, स्था० ५ ठा० ॥

उत्तमट्ठ-उत्तमार्थ- पु० उत्तमश्चासावर्थश्च उत्तमार्थ. । प्रकृष्टपदार्थे, " इच्चेय महव्वयउच्चारणा उवत्तया जुत्तपायत्ताणे परमट्ठे उत्तमट्ठे " उत्तमश्चासावर्थश्चोत्तमार्थ । प्रकृष्टपदार्थे, मोक्षफलसाधकत्वेन महात्मताना सर्ववस्तुप्रदानत्वादिति । पा० ॥ उत्तम. प्रधानोऽर्थो मोक्षो यस्मात्स उत्तमार्थ' । पर्यन्तसमयाराधनरूपे जिनाज्ञाराधने,"निरट्ठिया णिप्परुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठे विवज्ञा समेइ" उत्त०२अ०।अनशने,"इच्छामि भते उत्तमट्ठ पडिक्कमामि" (अणसणशब्दे विवरणमुक्तम्) कालधर्मे, आव ४अ०।

उत्तमट्ठगवेसय-उत्तमार्थगवेषक-त्रि०मोक्षाभिलाषिणि " ण वि रुट्ठो ण वि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ " उत्त० २५ अ० ॥

उत्तमट्ठपत्त-उत्तमार्थप्राप्त- त्रि०उत्कृष्टानर्थान्प्राप्ते,"सुसुमाए समाए उत्तमट्ठपत्ताए भरहस्स केरिसए आयारभावपडोयारे पष्णत्ते" उत्तमांस्तत्कालापेक्षयोत्कृष्टानर्थानायुष्कादीन् प्राप्ता उत्तमार्थप्राप्ता । भ० ६ श० ७ उ० ॥

उत्तमट्ठाण–उत्तमस्थान– न० मोक्षस्थाने, " धीरो असूढसणी-सो गच्छइ उत्तमट्ठाण" ॥ आतु० ॥

उत्तमड्ढि (रिद्धि) उत्तमर्द्धि– स्त्री० प्रधानविभवे, "सेया य उत्तमा खलु, उत्तमरिद्धीए कायव्वा " पचा० ६ विव० ॥

उत्तमणिदंसण–उत्तमनिदर्शन–न०इन्द्रादिलक्षणेषु, प्रधानसत्वज्ञानेषु, पचा० १६ विव० ॥

उत्तमणिदंसणजुय–उत्तमनिदर्शनयुत– त्रि० अहीनोदाहरणवति, "उत्तमणिदसणजुअ विचित्तणयगब्भणर चेव " प०व० ॥

उत्तमधम्मपसिद्धि–उत्तमधर्मप्रसिद्धि–स्त्री०प्रधानधर्म्मस्य पूजाकाले, प्रकृष्टपुण्यकर्मबन्धरूपस्य अशुभकर्मक्षयरूपस्य च कालान्तरक्रमेण यथाख्यातचारित्ररूपस्य निष्पत्तौ, जिनशासनप्रकाशे च । "उत्तमधम्मपसिद्धि–पूयाए जिणवरिंदाण" पचा०४विव० ।

उत्तमपसत्थज्झाण–उत्तमप्रशस्तध्यान– न० प्रकृष्टशुभयोगे, " उत्तमपवसत्थज्झाणो, हियएण इम विचिंतेइ " प०व० ॥

उत्तमपुरिस–उत्तमपुरुष–पु० । तीर्थकृच्चक्रवर्तिबलदेववासुदेवलक्षणेषु प्रधानपुरुषेषु, "अरहन्तचक्कवट्टी, बलदेवा चेव वासुदेवा य । एए उत्तमपुरिसा. नहु तुच्छकुलेसु जायंति आ० म० द्वि० । "णव दसारमण्डलाहोत्था तजहा उत्तमपुरिसा मज्झिमपुरिसा उत्तमपुरुषास्तीर्थकरादीनां चतु. पञ्चाशदुत्तमपुरुषाणा मध्यवर्तित्वात्० ।स०। कुम्मुण्णया जोणी उत्तमपुरिसमाऊण" स्था०३ ठा०

उत्तमपोग्गल–उत्तमपुद्गल–पु० आत्मनि, प्रधानवाची वा पुद्गलशब्दस्ततश्चायमर्थ. उत्तमोत्तमे महतोऽपि महीयसि, "से परिए उत्तमपोग्गले "सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ॥

उत्तमफलसंजणय–उत्तमफलसंजनक–त्रि० मोक्षजनके, प० व०।

उत्तमबलविरियसत्तजुत्त--उत्तमबलवीर्य्यसत्वयुक्त--त्रि० उत्तमैर्बलवीर्य्यसत्वैर्युक्ते, उत्तमयोर्बलवीर्य्ययोः सत्वेन (सत्तया) युक्ते च । भ० ए श० ३३ उ० ।

उत्तममग्ग--उत्तममार्ग-पु०ज्ञानस्य प्राधान्य व्यवहारस्य च गौणता-यत्र तस्मिन्, उ० ॥

उत्तमाविउव्वि (ण्)–उत्तमविकुर्विन्–त्रि० उत्तम विकुर्वन्ती-त्येवशीला. । उत्तमाविकुर्वणशीलेषु, जी० ४ प्रति० ।

उत्तमसुत्त--उत्तमसूत्र--न० कर्म० स. । छेदश्रुते, दृष्टिवादे च । किंपुण त उत्तमसुत्तं उच्चते "छेयसुत्तमुत्तमसुय, अहवा दिट्ठिवाओ भण्णइ । छेयसुयं कम्हा, उत्तमसुत्त भणति जम्हा । तत्थ स पायच्छित्तो विधी भण्णति–जम्हा य तेण चरणविसुद्धी करेति तम्हा त उत्तमसुत्तं दिट्ठिवाओ वा" नि० चू० १ए उ० ।

उत्तमसुयवण्णिय--उत्तमश्रुतवर्णित--त्रि० प्रधानागमाभिहिते, पचा० ए विव० ।

उत्तमा–उत्तमा–स्त्री० पूर्णभद्रस्य यक्षेन्द्रस्य तृतीयायामग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० । भ०।(अग्गमहीसीशब्दे सा उक्ता) लोकोत्तरीत्या प्रतिपद्रात्रौ, च० १ पाहु०। कल्प० । जं०। ज्यो० ॥

उत्तमागार--उत्तमाकार--पु० उत्तरङ्गादिरूपे उपरितनेष्वाकारेषु, तेसिणं दाराण उत्तमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया, रा० ॥

उत्तमोत्तम-उत्तमोत्तम-त्रि०महतोऽपि महीयसि, सू०१ श्रु०१२अ०

उत्तर-उत्तर--न० उत्तीर्यते प्रकृताभियोगोऽनेन उद् तृ०अच्. उद् तरप् वा । राजसमीपे वादिकृताभियोगापनोदके उत्तराख्ये व्यवहाराङ्गे, द्वितीयपादे, प्रश्नश्चोद्यधिया प्रश्नस्तस्य खण्डनमुत्तरम् इत्युक्ते दोषभञ्जनवाक्ये, जिज्ञासितविषयावेदके वाक्ये, भन न्तेर, वाच० ॥

अस्य निक्षेप ॥

णामं ठवणा दविए, खेत्तदिसा ताव खेत्तपखवए ।
पइकालं संचयपहा– णाणायणकमगणणतो भावे ।
जहण्णरुत्तरं खलु, उक्कोसं वा अणुत्तरं होइ ।
सेसाइं अणुत्तराइं, अणुत्तराइं च णायाइं ॥

इह च सुपो यत्रादर्शन तत्र सूत्रत्वेन छान्दसत्वाल्लुक् तथोत्तरनिक्षेपप्रस्तावात्सूचकत्वात्सूत्रस्य 'कमउत्तरेण य गय 'मित्युत्तरत्र भणाच्च (नामति) नामोत्तर (ठवणत्ति) स्थापनोत्तरमित्याद्यभिलाप' कार्यस्तत्र नामोत्तरमिति नामेव यस्य वा जीवादेरुत्तरमिति नाम क्रियते।स्थापनोत्तरमक्षरादि उत्तर मिति वर्णविन्यासो वा द्रव्योत्तरमागमतो ज्ञानानुपयुक्तो नोआगमतो ज्ञशरीर भव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तं चातद्व्यतिरिक्त त्रिधा सचित्ताचित्त मिश्रभेदेन तत्र च सचित्त पितु• पुत्र' अचित्त क्षीराद्दधि, मिश्र जननी शरीरतो रोमादिमदपत्यम् । इहच द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यप्राधान्यविवक्षया पित्रादीनां द्रव्योत्तरत्व भावनीयम् । क्षेत्रोत्तर मेर्वाद्यपेक्षया यदुत्तर यथोत्तरा• कुरव यद्वा पूर्वं शालिक्षेत्र तदेव पश्चादिक्षुक्षेत्र दिगुत्तरमुत्तरा दिग्दक्षिणादिगपेक्षत्वादस्य । तापक्षेत्रोत्तर यत्तापदिगपेक्षयोत्तरमित्युच्यते यथा सर्वेषामुत्तरो मन्दराद्रि• प्रज्ञापकस्य वाम प्रत्युत्तरमेकदिगवस्थितयोर्देवदत्तयज्ञदत्तयोर्देवदत्तात्परो यज्ञदत्त• उत्तर• । कालोत्तर समयादावलिका आवलीकातो मुहूर्तमित्यादि । सञ्चयोत्तरं यत्सञ्चयस्योपरि यथा धान्यराशे• काष्ठम्। प्रधानोत्तर त्रिविध सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्। सचित्तप्रधानोत्तरमपि त्रिविधमेव तद्यथा द्विपदं चतुष्पदमपद च । तत्र द्विपदमनुत्तरपुण्यप्रकृतितीर्थकरनामाद्यनुभवनस्तीर्थकरश्चतुष्पदमनन्यसाधारणशौर्यधैर्यादियोगत• सिंह ,अपद रम्यत्वसुरसेव्यत्वादिभिर्जात्यजाम्बूनदादिमयी जम्बूद्वीपमध्यस्थिता सुदर्शना जम्बू अचित्तमचिन्त्यमहात्म्यश्चिन्तामणि• मिश्र तीर्थकर एव गृहस्थावस्थाया सर्वालङ्कारालङ्कृत• । ज्ञानोत्तर केवलज्ञानं विलीनसकलावरणत्वेन समस्तवस्तुस्वभावावभासितया च । यद्वा श्रुतज्ञान तस्य स्वपरप्रकाशकत्वेन केवलादपि महार्द्धिकत्वात् । उक्त च "सुयनाण महिड्ढीय, केवल तयणतर । अप्पणो य परेसिं च जम्हा त परिभावणत्ति" क्रमोत्तर क्रममाश्रित्य यद्भवति तच्चतुर्विध द्रव्यत• क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत परमाणोर्द्विप्रदेशिकस्ततोऽपि त्रिप्रदेशिक एव यावदन्त्योऽनन्तप्रदेशिक• स्कन्ध• क्षेत्रत• एकप्रदेशावगाढाद् द्विप्रदेशावगाढ ततोऽपि त्रिप्रदेशावगाढ एव यावदवसानवर्त्यसख्येयप्रदेशावगाढ । कालत एकसमयस्थितेर्द्विसमयस्थितिस्ततोऽपि त्रिसमयस्थितिरेव यावद संख्येयसमयस्थिति । भावत एकगुणकृष्णाद्द्विगुणकृष्णस्ततोऽपि त्रिगुणकृष्ण एवं यावदनन्तगुणकृष्णो यतो वा क्षायोपशमिकादिभावादनन्तरं य• क्षायिकादिर्भवति (गणनुत्तरत्ति) गणना उत्तरमेककाद् द्विकस्ततोऽपि त्रिक एव यावच्छीर्षप्रहेलिका।भावोत्तर क्षायिको भावस्तस्य केवलज्ञानदर्शनाद्यात्मकत्वेन सकलौदयिकादिभावप्रधानत्वादहैवमस्य प्रधानोत्तर एवान्तर्भावादयुक्त भेदेनाभिधानम् । यद्येवमन्योन्यमिदमुच्यते एवं हि नामादि चतुष्टय एव सर्वनिक्षेपाणामन्तर्भावात्तदेवाभिधेय तत इहान्यत्र यन्नामादिचतुष्टयाधिकनिक्षेपाभिधान तच्छिष्यमतिव्युत्पादनार्थ

मरमणिज्जभूमिजागे पष्मत्ते वण्णओ जाव आसयंति ।

क भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ ? भगवानाह गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्ताच्चरमरूपात् पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागान् अबाधया कृत्वा अपान्तराले मुक्त्वेति भाव । अत्रान्तरे शीताया महानद्याः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयो कूलयोरत्र एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ । तद्यथा एक· पूर्वकूले एकः पश्चिमकूले प्रत्येक योजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि ऊर्ध्वेन अवगाहेन मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामपि शेषेणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्यावगाहभावात् मूले एक योजनसहस्रं विष्कम्भः (१०००) मध्ये अर्द्धशतोनाष्ट योजनशतानि (७५०) उपरि पञ्चयोजनशतानि (५००) मूले त्रीणि योजनशतानि एकं च द्वाषष्टं द्वाषष्ट्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ (३१६२) मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्तत्यधिकानि (२३७२) किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ । उपरि एकं योजनसहस्रं पञ्चशतानि एकाशीतीनि एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि (१५८१) परिक्षेपेण एव च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये सङ्क्षिप्तौ उपरि तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ (सव्वकणगमया इति) सर्वात्मना कनकमयौ (अच्छा जाव पडिरूवा इति) प्राग्वत् तौ च प्रत्येक २ पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ प्रत्येक २ वनखण्डपरिक्षिप्तौ पद्मवरवेदिका वर्णको वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकवत् वक्तव्य (जमकपव्वयाणमित्यादि) यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येक बहुसमरमणीयो भूमिभाग· प्रज्ञप्त भूमिभागवर्णन च "से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा" इत्यादि प्राग्वत् तावद्वक्तव्य यावद्वाणमतरा देवा देवीउ य आसयति सयति जाव पच्चणुब्भवमाणा विहरति ॥

तेसि णं बहुसमरमणिज्जाण भूमिभागाण बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ पासायवडेंसका पण्णत्ता तेणं पासायवडेंसका बावट्ठिं जोयणाइं अद्धजोयण च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसित वण्णओ भूमिभागाओ उल्लोत्ता दो जोयणाइं मणिपेढियाओ उवरि सीहासणा सपरिवारा जाव जमगा चिट्ठंति ।

(तेसिणमित्यादि) तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहुमध्यदेशभागे प्रत्येक प्रत्येक प्रासादावतसक प्रज्ञप्त । तौ च प्रासादावतसकौ द्वाषष्टियोजनानि अर्द्धयोजन चोर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोश चैक विष्कम्भेन " अब्भुग्गय मूसिय पहसियाइवे " त्यादि यावत् पडिरूवा इति प्रासादावतसकवर्णनमुल्लोचवर्णन भूमिभागवर्णनं मणिपीठिकावर्णन सिंहासनवर्णन विजयदूष्यवर्णनमङ्कुशवर्णन दामवर्णन च निरवशेष प्राग्वद्वक्तव्यम् नवरमत्र मणिपीठिकाया प्रमाणमायामविष्कम्भाभ्या द्वे योजने बाहल्येन एक योजन शेष तथैव (तेसिण सिंहासणाणमित्यादि) तयो सिंहासनयो· प्रत्येकम् (अवरुत्तरेणंति) अपरोत्तरस्यां वायव्यामित्यर्थ उत्तरपूर्वस्या च दिशि अत्र एतासु तिसृषु दिक्षु यमकयोर्यमकनाम्नोर्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयो प्रत्येकं प्रत्येक चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । एवमेतेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्यो यथा प्राक् विजयदेवस्य (तेसिणमित्यादि) तयो· प्रासादावतसकयो· प्रत्येकमुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानीत्याद्यपि ... तावद्वक्तव्य यावत् सयसहस्सपत्तगा इतिपदम् ।

सम्प्रति नामनिबन्धन पिपृच्छिषुरिदमाह ॥

से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चंति जमगा पव्वया २ गोयमा ! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ २ देसे २ तहिं २ बहूउ खुड्डियाउ वावीउ जाव विलपंतियाउ तासु णं खुड्डा खुड्डिया जाव विलपंतियासु बहूइं उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं जमगप्पभाइं जमगवण्णाइं जमगा एत्थ णं दो देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति तेणं तत्थ पत्तेयं २ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव जमगाणं पव्वयाणं जमिगाण य रायहाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव पालेमाणा विहरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ जमगपव्वया २ अदुत्तरं चणं गोयमा ! जाव णिच्चा ।

अथ केनार्थेन केन कारणेन एवमुच्यते यमकपर्वतौ यमकपर्वताविति भगवानाह गौतम ! यमकपर्वतयो·णमिति वाक्यालङ्कारे क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु बहूनि उत्पलानि यावत्सहस्रपत्राणि यमकप्रभाणि यमका नाम शकुनिविशेषास्तत्प्रभाणि तदाकाराणि एतदेव व्याचष्टे यमकवर्णाभानि यमकसदृशवर्णानीत्यर्थ· यमकौ च यमकनामानौ च तत्र तयोर्यमकपर्वतयो स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावन्महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तौ च तत्र प्रत्येक प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणा सपरिवाराणा तिसृणामभ्यन्तरमध्यबाह्यरूपाणा यथासंख्यमष्टादश द्वादश दशसहस्रसख्याकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणा (जमगपव्वयाणां जमगाण य रायहाणीयमिति) स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्या· यमिकाभिधाया राजधान्या अन्येषां च बहूना वानमन्तराणां देवाना देवीनां च स्वस्वयामिकाभिधराजधानीवास्तव्यानामाधिपत्य यावद्विहरत· यावत्करणात् "पोरेवच्च सामित्त भट्टित्तमित्यादि" परिग्रहस्ततो यमकाकारयमकवर्णोत्पलादियोगात् यमकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वतावित्युच्येते । यथा चाह (सेएणट्ठेणमित्यादि ।)

सप्रति यमकाभिधराजधानीस्थानम् ।

कहिणं भंते जमगाणं देवाणं जमगाओ नाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं उत्तरेणंति तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे वितिकमित्ता अण्णम्मि जंबूद्दीवे २ बारसजोयणसहस्साइं उगाहित्ता एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ बारसजोयणसहस्साइं जहा विजयस्स जाव महिड्ढिया ॥

जमगा देवा क भदन्त ! यमकयोर्देवयोः सत्कन्यौ यमिके नामराजधान्यौ प्रज्ञप्ते भगवानाह गौतम ! यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन् असख्येयतमे जम्बूद्वीपे २ द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे यमकदेवयो· सत्कन्यौ यमकराजधान्यौ प्रज्ञप्ते ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृश्यौ वक्तव्ये जी० ३ प्रति० ॥

सप्रति ह्रदवक्तव्यतामभिधित्सुराह ॥

जंबूमंदरउत्तरेणं उत्तरकुराए कुराए पंचमहद्दहा पण्णत्ता तंजहा नीलवंतदहे एरावणदहे उत्तरकुरुदहे चंददहे मालवंतदहे ।

नीलवन्तमहाह्रदो विचित्रचित्रकूटपर्वतसमवक्तव्यतान्या यम-

रुकथनं ततः पार्श्वस्थौ विद्युत्प्रभसौमनसौ विहाय गन्धमादनमाल्यवद्वक्षस्कारप्ररूपणं भरतासन्नविजयान् विहाय कच्छमहाकच्छादिविजयकथनं चेति । अथैतासां जीवामाह (तीसेइत्यादि) तासामुत्तरकुरूणां सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वाज्जीवा उत्तरतो नीलवद्वर्षधरासन्ना कुरुक्षेत्रप्रदेशश्रेणिः पूर्वापरायता द्विधा पूर्वपश्चिमभागाभ्यां वक्षस्कारपर्वतं स्पृष्टा एतदेव विवृणोति । तद्यथा पौरस्त्यया कोट्या पौरस्त्यं वक्षस्कारपर्वतं माल्यवन्तं स्पृष्टा पाश्चात्यया पाश्चात्यं गन्धमादननामानं वक्षस्कारपर्वतं स्पृष्टा त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि आयामेन तत्कथमित्युच्यते । मेरोः पूर्वस्यां दिशि भद्रशालवनमायामतो द्वाविंशतियोजनसहस्राणि एवं पश्चिमायामपि उभयोर्मीलने जातं चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि मेरुविष्कम्भे दशसहस्रयोजनात्मके प्रक्षिप्ते जातं चतुःपञ्चाशद्योजनसहस्राणि एकैकस्य वक्षस्कारगिरेः वर्षधरसमीपे पृथुत्वं पञ्चयोजनशतानि ततो द्वयोर्वक्षस्कारगिर्योः पृथुत्वपरिमाणं योजनसहस्रं ततः पूर्वराशिरपनीयते जातः पूर्वराशिस्त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणीति । अथैतासां धनुःपृष्ठमाह (तीसेणं धणु दाहिणेणमित्यादि) तासां धनुःपृष्ठं दक्षिणतो मेरोर्वासन्न इत्यर्थः । षष्टिर्योजनसहस्राणि चत्वारि च योजनशतानि अष्टादशानि अष्टादशाधिकानि द्वादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य परिक्षेपेण । तथाहि एकैकवक्षस्कारगिरेरायामस्त्रिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च नवोत्तरे षट् च कलाः । ततो द्वयोर्वक्षस्कारयोरायाममीलने यथोक्तं मानमिति ॥ जं० ४ वक्ष० ।

अथैतासां स्वरूपप्ररूपणायाह ॥

उत्तरकुराएणं भंते ! कुराए केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते ! गोयमा बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते से जहाणामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव एवं एगोरुगदीववत्तव्वया जाव देवलोगपरिग्गहाणं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ॥

(उत्तरकुराएणं भंते इत्यादि) उत्तरकुरूणां सूत्रे एकवचनं प्राकृतत्वात् कीदृश आकारभावस्य स्वरूपस्य प्रत्यवतारसम्भवः प्रज्ञप्तः ! भगवानाह गौतम ! बहुसमरमणीयो भूमिभाग उत्तरकुरूणां प्रज्ञप्तः (सेजहानामए इत्यादि) जगत्युपरि वनखण्डवर्णकवत् तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां मणीनां च वर्णो गन्धः स्पर्शः शब्दश्च सवर्णकः परिपूर्णो वक्तो भवति ॥ पर्यन्तसूत्रं चेदं दिव्वं नट्टसज्जं गेयं पगीयाणं भवे एयारूवे सिया हंता सिया इति" जी० ३ प्रति ॥ अत्रेदमवधेयम् ॥ (सूत्रपाठे जाव एवं एगोरुगदीववत्तव्वया इति । एकोरुकद्वीपवर्णक एव स्मारितः वृत्तिकृता तु एतादृशं पाठममन्यमानेन एकोरुकवक्तव्यतायामकिञ्चिद्भूकता इहैव व्याख्यातमित्यस्माभिरपि अन्तरद्वीपशब्दे एकोरुकवक्तव्यता मूलसूत्रैरेव प्रदर्शिता इह तु तादृशानि सूत्राणि परित्यज्य टीका संयोजिता) उत्तरकुरुषु आकारप्रत्यवतारस्य वर्णकः सुषमसुषमाभरतवर्षस्येव भावनीया सा ओसप्पिणीशब्दे व्याख्यास्यते नवरम् ॥

उत्तरकुराणं कुराए छव्विहा मणुस्सा अणुसज्जंति । तंजहा पम्हगंधा १ मियगंधा २ अममा ३ सहा ४ तेयली ५ सणिच्चारी ६

(उत्तरकुराएणं भंते इत्यादि) उत्तरकुरुषु कुरुषु भदन्त ! कतिविधा जातिभेदेन कतिप्रकारा मनुष्या अनुषजन्ति सन्तानेनानुवर्तन्ते ? भगवानाह-गौतम ! षड्विधा मनुजा अनुषजन्ति तद्यथा पद्मगन्धा इत्यादि जातिवाचका इमे शब्दाः अत्र विनेयजनानुग्रहाय उत्तरकुरुविषयसूत्रसंक्षेपार्थं सङ्ग्रहणीगाथात्रयमाह-

इसुजीवा धणुपट्ठ, भूमी गुम्मा य हेरुउद्दाला ।
तिलगलयावणराई, रुक्खामणुया य आहारे ॥
गेहा गामाय असी, हिरण्णरायाय दासमाया य ।
आरवरक्खा मत्तवि, वाहमहनट्टसगडा य ॥
आसागावो सीहा, साली थाणुयगड्डदसाही ।
गहजुद्धरोगट्ठिइ, उव्वट्टणा य अणुवट्टणा चेव ॥

अस्य व्याख्या प्रथममुत्तरकुरुविषयमिषुजीवाधनुःपृष्ठप्रतिपादनकं सूत्रं तदनन्तरं (भूमिरित्ति) भूमिविषयं सूत्रं ततो (गुम्मा इति) गुल्मविषयं सूत्रं तदनन्तरं हेरुतालवनविषयं सूत्रं ततः । (उद्दाला इति) उद्दालविषयं तदनन्तरं (तिलगइति) तिलकपदोपलक्षितं ततो लताविषयं तदनन्तरं वनराजिविषयं ततो (रुक्खाइति) दशविधकल्पपादपविषया दश सूत्रदण्डकाः (मणुया य इति) त्रयो मनुष्यविषयाः सूत्रदण्डकास्तद्यथा आद्यः पुरुषविषयो द्वितीयः स्त्रीविषयस्तृतीयः सामान्यत उभयविषयः । ततः (आहारे इति) आहारविषयस्तदनन्तरं (गेहा इति) गृहविषयौ दण्डकौ आद्यो गृहाकारवृक्षाभिधायी अपरो गेहाद्यभावविषय इति ततो (गामा इति) ग्रामाद्यभावस्तदनन्तरम्(असीति) अस्याद्यभावविषयस्ततो हिरण्याद्यभावविषयस्तदनन्तरं राजाद्यभावविषयस्ततो दासाद्यभावविषयस्ततो मात्रादिविषयस्तदनन्तरमरिवैरिप्रभृतिविषयस्तदनन्तरं मित्राद्यभावविषयस्तदनन्तरं विवाहपदोपलक्षितस्तत्प्रतिषेधविषयः तदनन्तरं महप्रतिषेधविषयः ततो नृत्तपदोपलक्षितप्रेक्षाप्रतिषेधः तदनन्तरं शकटादिप्रतिषेधविषयः ततोऽश्वादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः तदनन्तरं स्त्रीगव्यादिपरिभोगप्रतिषेधविषयः । ततः सिंहादिश्वापदविषयः तदनन्तरं शाल्याद्युपभोगप्रतिषेधविषयस्ततः स्थाण्वादिप्रतिषेधविषयस्तदनन्तरं गर्तादिप्रतिषेधविषयस्ततो दंशाद्यभावविषयस्ततोऽह्यादिविषयस्तदनन्तरं ग्रह इति ग्रहदण्डादिविषयस्ततो युद्ध इति युद्धपदोपलक्षितो डिम्बादिप्रतिषेधविषयः सूत्रदण्डकस्ततो रोगइति रोगपदोपलक्षितो दुर्भूतादिप्रतिषेधविषयस्तदनन्तरं स्थितिसूत्रं ततोऽनुपञ्चनसूत्रमिति ॥

सम्प्रति उत्तरकुरुनामिकयमकपर्वतवक्तव्यतामाह-

कहिणं भंते ! उत्तरकुराए जमगा नामं दुवे पव्वता पण्णत्ता ? गोयमा ! नीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसं जोयणसत्ते चत्तारिय सत्तभागे जोयणस्स अबाधाए सीताए महाणतीए उभओ कूले एत्थ णं उत्तरकुराए कुराए जमगा णाम दुवे पव्वता पण्णत्ता एगमेगं जोयणसहस्समउड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइं जोयणसयाइं उव्वेहेणं मूले एकमेकं जोयणसहस्स आयामविक्खंभेणं मज्झे अद्धट्ठमाइं जोयणसताइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पंच जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं एकं च बावट्ठं जोयणसयं किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं दो जोयणसहस्साइं तिण्णि य बावत्तरे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं उवरिं पण्णरस एक्कासीते जोयणसते किंचि विसेसाहिया परिक्खेवेणं पण्णत्ता मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया सव्वकणगामया अच्छा सण्हा जाव पडिरूवा पत्तेयं २ पउमवरवेइयापरिक्खित्ता पत्तेयं २ वणसंडपरिक्खित्ता वण्णओ दोण्ह वि तेसिणं जमगपव्वयाणं उप्पिं बहु

मरमणिज्जभूमिभागे पछत्ते वधओ जाव आसयंति ।

क भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ? भगवानाह गौतम ! नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्ताच्चरमरूपात् पर्यन्तादष्टौ योजनशतानि चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागान् अबाधया कृत्वा अपान्तराले मुच्चवेति भाव। अत्रान्तरे शीताया महानद्याः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोरुभयो कूलयोरत्र एतस्मिन् प्रदेशे यमकौ नाम द्वौ पर्वतौ प्रज्ञप्तौ। तद्यथा एक पूर्वकूले एक पश्चिमकूले प्रत्येक योजनसहस्रमुच्चैस्त्वेन अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि ऊर्द्धेन अवगाहेन मेरुव्यतिरेकेण शेषशाश्वतपर्वतानां सर्वेषामपि शेषेणोच्चैस्त्वापेक्षया चतुर्भागस्यावगाहभावात् मूले एक योजनसहस्र विष्कम्भ (१०००) मध्ये अर्द्धशतोनाष्ट योजनशतानि (७५०) उपरि पञ्चयोजनशतानि (५००) मूले त्रीणि योजनशतानि एकं च द्वाषष्टं द्वाषष्ट्यधिक योजनशत किञ्चिद्विशेषाधिक परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ (३१६२) मध्ये द्वे योजनसहस्रे त्रीणि योजनशतानि द्वासप्तत्यधिकानि (२३७२) किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तौ। उपरि एक योजनसहस्र पञ्चशतानि एकाशीतीनि एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि (१५८१) परिक्षेपेण एव च तौ मूले विस्तीर्णौ मध्ये सङ्क्षिप्तौ उपरि तनुकावत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थितौ (सव्वकणगमया इति) सर्वात्मना कनकमयौ (अच्छा जाव पडिरूवा इति) प्राग्वत् तौ च प्रत्येक २ पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्तौ प्रत्येक २ वनखण्डपरिक्षिप्तौ पद्मवरवेदिकावर्णको वनखण्डवर्णकश्च जगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकवत् वक्तव्य (जमकपव्वयाणमित्यादि) यमकपर्वतयोरुपरि प्रत्येक बहुसमरमणीयो भूमिभाग प्रज्ञप्त भूमिभागवर्णन च "से जहा नामए आलिंगपुक्खरेइ वा" इत्यादि प्राग्वत् तावद्वक्तव्य यावद्वाणमंतरा देवा देवीउ य आसयंति सयंति जाव पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ॥

तेसि णं बहुसमरमणिज्जाण भूमिभागाण बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ पासायवडेंसका पण्णत्ता तेणं पासायवडेंसका बावट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेण एकतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गतमूसित वणाओ भूमिभागाओ उल्लोता दो जोयणाइं मणिपेढियाओ उवरि सीहासणा सपरिवारा जाव जमगा चिट्ठंति ।

(तेसिणमित्यादि) तयोर्बहुसमरमणीययोर्भूमिभागयोर्बहु मध्यदेशभागे प्रत्येक प्रत्येक प्रासादावतंसक प्रज्ञप्त । तौ च प्रासादावतंसकौ द्वाषष्टिर्योजनानि अर्द्धयोजन चोर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोश चैक विष्कम्भेन " अब्भुग्गय मूसिय पहसियाइवे "त्यादि यावत् पडिरूवा इति प्रासादावतंसकवर्णनमुल्लोचवर्णन भूमिभागवर्णनं मणिपीठिकावर्णन सिंहासनवर्णन विजयदूष्यवर्णनमङ्कुशवर्णन दामवर्णन च निरवशेष प्राग्वदुक्तव्यम् नवरमत्र मणिपीठिकाया प्रमाणमायामविष्कम्भाभ्या द्वे योजने बाहल्येन एक योजन शेष तथैव (तेसिणं सिंहासणाणमित्यादि) तयो सिंहासनयो प्रत्येकम् (अवरुत्तरेणति) अपरोत्तरस्यां वायव्यामित्यर्थः उत्तरपूर्वस्या च दिशि अत्र एतासु तिसृषु दिक्षु यमकयोर्यमकनाम्नोर्यमकपर्वतस्वामिनोर्देवयो प्रत्येक प्रत्येक चतुर्णा सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि भद्रासनसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। एवमेतेन क्रमेण सिंहासनपरिवारो वक्तव्यो यथा प्राक् विजयदेवस्य (तेसिणमित्यादि) तयोः प्रासादावतंसकयोः प्रत्येकमुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि प्रज्ञप्तानिइत्याद्यपि प्राग्वत्तावद्वक्तव्य यावत् सयसहस्सपत्तगा इतिपदम्।

सम्प्रति नामनिबन्धन पिपृच्छिषुरिदमाह ॥

से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चंति जमगा पव्वया २ गोयमा ! जमगेसु णं पव्वतेसु तत्थ २ देसे २ तहिं २ बहूउ खुड्डियाउ वावीउ जाव बिलपंतियाउ तासुणं खुड्डा खुड्डिया जाव बिलपंतियासु बहूइं उप्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं जमगप्पभाइं जमगवण्णाइं जमगा एत्थ णं दो देवा महिड्डिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति तेणं तत्थ पत्तेयं २ चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव जमगाणं पव्वयाणं जमिगाण य रायहाणीणं अण्णेसिं च बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव पालेमाणा विहरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा एवं वुच्चइ जमगपव्वया २ अदुत्तरं चेणं गोयमा ! जाव णिच्चा ।

अथ केनार्थेन केन कारणेन एवमुच्यते यमकपर्वतो यमकपर्वताविति भगवानाह गौतम ! यमकपर्वतयोःणमिति वाक्यालङ्कारे क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु बहूनि उत्पलानि यावत्सहस्रपत्राणि यमकप्रभाणि यमका नाम शकुनिविशेषास्तत्प्रभाणि तदाकाराणि एतदेव व्याचष्टे यमकवर्णाभानि यमकसदृशवर्णानीत्यर्थः यमकौ च यमकनामानौ च तत्र तयोर्यमकपर्वतयोः स्वामित्वेन द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावन्महाभागौ पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तौ च तत्र प्रत्येक प्रत्येकं चतुर्णा सामानिकसहस्राणा चतसृणामग्रमहिषीणा सपरिवाराणा तिसृणामभ्यन्तरमध्यबाह्यरूपाणा यथासंख्यमष्टादश द्वादश देवसहस्रसंख्याकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां (जमगपव्वयाणा जमगाण य रायहाणीयमिति) स्वस्य स्वस्य यमकपर्वतस्य स्वस्या यमिकाभिधाया राजधान्या अन्येषां च बहूनां वानमन्तराणां देवानां देवीनां च स्वस्वयामिकाभिधराजधानीवास्तव्यानामाधिपत्य यावद्विहरत. यावत्करणात् "पारेवच्च सामित्त भट्टित्तामित्यादि" परिग्रहस्ततो यमकाकारयमकवर्णोत्पलादियोगात् यमकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च तौ यमकपर्वतावित्युच्येते। यथा चाह (सेएणट्ठेणमित्यादि ।)

सम्प्रति यमकाभिधराजधानीस्थानम् ।

कहिणं भंते जमगाणं देवाणं जमगाओ नाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं उत्तरेणं तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे वितिकमित्ता अण्णम्मि जंबूद्दीवे २ बारसजोयणसहस्साइं उगाहित्ता एत्थ णं जमगाणं देवाणं जमिगाओ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ बारसजोयणसहस्साइं जहा विजयस्स जाव महिड्डिया ॥

जमगा देवा' क भदन्त यमकयोर्देवयोः सबन्धिन्यौ यमिके नामराजधान्यौ प्रज्ञप्ते भगवानाह गौतम यमकपर्वतयोरुत्तरतोऽन्यस्मिन् असंख्येयतमे जम्बूद्वीपे २ द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे यमकदेवयोः सबन्धिन्यौ यमकराजधान्यौ प्रज्ञप्ते ते चाविशेषेण विजयराजधानीसदृश्यौ वक्तव्ये जी० ३ प्रति० ॥

सम्प्रति ह्रदवक्तव्यतामभिधित्सुराह ॥

जंबूमंदरउत्तरेणं उत्तरकुराए कुराए पंचमहद्दहा पण्णत्ता तंजहा नीलवंतदहे एरावणदहे उत्तरकुरुदहे चंददहे मालवंतदहे ।

नीलवन्तमहाह्रदो विचित्रचित्रकूटपर्वतसमवक्तव्यताभ्यां यम-

काभिधानाभ्यां स्वसमाननामदेवावासाभ्यां पर्वताभ्यामनन्तर रूप्यस्ततो दक्षिणतः शेषाश्चत्वार इति एते च सर्वेऽपि प्रत्येक दशभिर्दशभिः काञ्चनकाभिधानैर्योजनशतोच्छ्रितैर्योजनशतमूलविष्कम्भैः पञ्चाशद्योजनमानमस्तकविस्तारैः स्वसमाननामदेवाधिवासैः प्रत्येकं दशयोजनान्तरैः पूर्वापरव्यवस्थितैर्गिरिभिरुपेता एतेषां च विचित्रकूटादिपर्वतह्रदनिवासिदेवानामसंख्येयतमजम्बूद्वीपे द्वादशयोजनसहस्रप्रमाणास्तन्नामिका नगर्यो भवन्तीति ॥

नीलवद्ह्रदादीनां विशेषवर्णकः ।

कहि णं भंते ! उत्तरकुराए२ नीलवंतदहे नाम दहे पएणत्ते ? गोयमा ! जमगाणं पव्वयाणं दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसये चत्तारि सत्तभागे जोयणस्स अवाधाए सीताए महाणतीये बहुमज्झदेसभाए एत्थणं उत्तरकुराए २ नीलवंतदहे नामं दहे पएणत्ते उत्तरदक्खिणाए पाईणपडीणविच्छिएणे एगं जोयणसहस्सं आयामेणं पंचजोयणसयाति विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे सएहे रयतामयकूले चउक्कोणे समतीरे जाव पडिरूवे उभओपासिं दोहि य पउमवरवेतियाहिं दोहिं वणसंडेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते दोरहवि वएणओ नीलवंतदहस्स णं तत्थ २ जाव बहवेत्ति सोमाणपडिरूवका पएणत्ता वएणओ भाणियव्वो तोरणेत्ति ॥

क्व भदन्त ! उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवन्नह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः ? भगवानाह गौतम ! यमकपर्वतयोर्दक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणाभिमुखमष्टौ चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति गीयते अपान्तराले मुक्त्वेति भाव । अत्रान्तरे शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे (एत्थणंति) एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु नीलवत्ह्रदो नाम ह्रद प्रज्ञप्तः स च किं विशिष्ट इत्याह उत्तरदक्षिणायत प्राचीनापाचीनविस्तीर्ण उत्तरदक्षिणाभ्यामवयवाभ्यामायतः उत्तरदक्षिणायत प्राचीनापाचीनाभ्यामवयवाभ्यां विस्तीर्णः प्राचीनापाचीनविस्तीर्णः । एकं योजनसहस्रमायामेन पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भतः दशयोजनान्युद्वेधेन उण्डत्वेन अच्छस्फटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशः श्लक्ष्णः श्लक्ष्णपुद्गलनिर्मापितबहिःप्रदेश । तथा रजतमयं रूप्यमय कूलं यस्यासौ रजतमयकूल इत्यादि विशेषणकदम्बकं जगत्युपरि वाप्यादिवत् तावद्वक्तव्यं यावदिदं पर्यन्तपद " पडिहत्थभमंतमच्छकच्छपअणेगसउणमिहुणपरियरिए इति" (उभयेपासेत्यादि) स च नीलवन्नामह्रदः शीताया महानद्या उभयोः पार्श्वयो बहिर्विनिर्गत स तथाभूत सन् उभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वितीये पार्श्वे द्वितीयया पद्मवरवेदिकया इत्यर्थ । एवं द्वाभ्यां वनखण्डाभ्यां सर्वत सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन सपरिक्षिप्त पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकश्च प्राग्वत् । (नीलवंत दहस्स णं तत्थ तत्थेत्यादि) नीलवद्ह्रदस्य णमिति वाक्यालङ्कारे तत्र देशे तस्य२ देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि त्रिसोपानप्रतिरूपकाणि प्रतिशिष्टरूपकाणि त्रिसोपानानि प्रज्ञप्तानि वर्णकस्तेषा प्राग्वद्वक्तव्य । (तेसिणमित्यादि) तेषां च त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरत प्रत्येकं २ तोरणं प्रज्ञप्तं (तेणतोरणाइत्यादि) तोरणवर्णन पूर्ववद्वक्तव्यम् यावद्दयो "सयसहस्सपत्तगा" इति पदम ॥

तस्सणं नीलवंतदहस्सणं दहस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महं पउमे पएणत्ते जोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं दो कोसे ऊसिते जलंतीतो सातिरेगाइं दसजोयणाइं सव्वग्गेणं पएणत्ते तस्सणं पउमस्स अयमेतारूवे वएणावासे पएणत्ते तंजहा वइरामता मूला रिट्ठामते कंदे वेरुलिया मएणाले वेरुलियामता बाहिरपत्ता जंबूणयमया अब्भंतरपत्ता तव णिज्जमया केसरा कणगामई कएिणया णाणामणिमया पुक्खलत्थिरया साणं कएिणया अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेस परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा सएहा जाव पडिरूवा तीसेणं कएिणयाए उवरिं बहुसमरमणिज्जदेसभाए पएणत्ते जाव मणीहिं तस्सणं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं एगे महं भवणे पएणत्ते कोसं च आयामेणं अद्धकोसं च विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगक्खंभसतसंनिविट्ठ सभावएणओ । तस्स णं भवणस्स तिदिसिं ततो दारा पएणत्ता तंजहा पुरच्छिमेणं दाहिणेणं उत्तरेणं तेणं दारा पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं से ताव कणगथूभियागा जाव वणमालाउत्ति तस्सणं भवणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जभूमिभागं पएणत्ते से जहानामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव मणीणं वएणओ तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं मणिपेढिया पएणत्ता पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसताइं बाहल्लेणं सव्वमणामणिमती ।

(तस्सणमित्यादि) तस्य नीलवन्नाम्नो ह्रदस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेक पद्म प्रज्ञप्तम् योजनमायामतो विष्कम्भतश्च अर्द्ध योजन बाहुल्येन दशयोजनानि उद्वेधेन उण्डत्वेन जलपर्यन्तात् द्वौ क्रोशावुच्छ्रित सर्वाग्रेण सातिरेकाणि दशयोजनानि प्रज्ञप्तानि ।तस्य पद्मस्य अय वक्ष्यमाण एतद्रूपोऽनन्तरमेव वक्ष्यमाण स्वरूपो वर्णावासो वर्णकनिवेश प्रज्ञप्तस्तद्यथा वज्रमय मूल रिष्टरत्नमय कन्दो वैडूर्यरत्नमयो नाल वैडूर्यरत्नमयानि बाह्यपत्राणि जाम्बूनदमयानि अभ्यन्तरपत्राणि तपनीयमयानि केसराणि कनकमयी पुष्करकर्णिका नानामणिमयी पुष्करस्थिबुका (साणं कर्णिका अद्धमित्यादि) सा कर्णिका अर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेक बाहुल्यतः सर्वात्मना कनकमयी अच्छा इत्यादिपरिग्रह "सण्हा घट्ठामट्ठा नीरया इत्यादिपरिग्रहरूपा यावत् करणात् (तीसेण कण्णियाए इत्यादि) तस्याः कर्णिकाया उपरि बहुसमरमणीयो भूमिभाग प्रज्ञप्तस्तद्वर्णन च " सेजहानामए आलिंगपुक्खरे इवा' इत्यादिना ग्रन्थेन विजयराजधान्या उपकारिकालयनस्येव तावद्वक्तव्य यावन्मणीनां स्पर्शवक्तव्यता परिसमाप्ति (तस्सणमित्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र महदेक भवनं प्रज्ञप्त क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमूर्द्धमुच्चैस्त्वेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टमित्यादि तद्वर्णन विजयराजधानीगतसुधर्मासभाया इव तावद्वक्तव्यं यावदिदं सूत्र (दिव्वतुडियसद्दसपणादितेति) तदनन्तर सूत्रमिदं । (सव्वरयणामए इत्यादि) सर्वात्मना रत्नमय अच्छ यावत्

प्रतिरूप यावत् करणात् 'सण्हे लण्हे घट्ठे मट्ठे इत्यादि' परिग्रहः ॥ (तस्सणमित्यादि) तस्य भवनस्य त्रिदिशि त्रिसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकद्वारभावेन त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा पूर्वस्यामुत्तरस्यां दक्षिणस्यां (तेणं दारा इत्यादि) तानि द्वाराणि पञ्चधनुःशतानि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि विष्कम्भेन तावदेव अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि प्रवेशेन (सेयावरकणगथूभियागा इत्यादि) द्वारवर्णनं विजयद्वारस्येव तावद् वक्तव्यं यावत् 'वणमाला' इति वनमालावक्तव्यतापरिसमाप्तिः (तस्सणमित्यादि) तस्य भवनस्य उल्लोचान्तर्बहुसमरमणीये भूमिभागे मणीनां वर्णगन्धरसस्पर्शवर्णनं प्राग्वत् (तस्सेत्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे मणिपीठिका प्रज्ञप्ता पञ्चधनुःशतानि आयामविष्कम्भाभ्यामर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि बाहुल्येन सर्वात्मना मणिमयी अच्छा यावत् प्रतिरूपा इति प्राग्वत् ॥

तीसेणं मणिपेढियाए उवरिं एत्थणं एगे महं देवसयणिज्जे पण्णत्ते देवसयणिज्जस्स वण्णओ से णं पउमे अण्णेणं अट्ठसएणं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेणं पउमाणं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते तेणं पउमा अद्धजोयणं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं कोसं बाहल्लेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं कोसं ऊसिया। जलंताओ साइरेगाई दसजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ताइं तेसिणं पउमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते तंजहा वइरामया मूला जाव णाणामणिमया पुक्खरत्थिभुगा ता उणं कण्णिया उ ताओ णं आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ तासि णं कण्णियाणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा जाव मणीणं वण्णो गंधो फासो तस्स णं पउमस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं नीलवंतद्दहकुमारस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि पउमसाहस्सीउ पण्णत्ताउ एवं सव्वो परिवारो नवरिं पउमाणं भाणियव्वो। से णं पउमे अण्णेहिं तिहिं पउमपरिक्खेवेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते तंजहा अब्भिंतरएणं मज्झिमएणं बाहिरएणं अब्भिंतरएणं पउमपरिक्खेवे बत्तीसं पउमसयसाहस्सीउ पण्णत्ताउ मज्झिमएणं पउमपरिक्खेवे चत्तालीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बाहिरएणं पउमपरिक्खेवे अडयालीसं पउमसयसाहस्सीउ पण्णत्ताओ एवामेव सपुव्वावरेणं एगा पउमकोडीओ वीसं च पउमसयसहस्सा भवंतीति मक्खाया। से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चति नीलवंतद्दहे ? गोयमा ! णीलवंतद्दहेणं तत्थ २ जाव उप्पलाति जाव सयसहस्सपत्ताइं नीलवंतप्पभाइं नीलवंतवण्णाभाइं नीलवंतद्दहकुमारे य एत्थ सो चेव गमो जाव णीलवंतद्दहे २ ॥

(तीसेणमित्यादि) तस्या मणिपीठिकाया उपरि अत्र महदेकं देवशयनीयं प्रज्ञप्तम्। शयनीयवर्णकः प्राग्वत्। (तस्सणमित्यादि) तस्य भवनस्योपरि अष्टावष्टौ स्वस्तिकादीनि मङ्गलकानि इत्यादि पूर्ववत्तावद्वक्तव्यम् यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तका इति मूलतः इदमधिकं दृश्यते " (सेणमित्यादि) तत् पद्मम-न्येन अष्टशतेन पद्मानां तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमात्राणां तस्य मूलपद्मप्रमाणस्यार्द्धं तदर्द्धं तच्च तदुच्चत्वप्रमाणं च तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणं तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणं मात्रा येषां तानि तथा तेषां सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तं तदर्द्धोच्चत्वप्रमाणमेव तेषां भावयति (पउमा इति) तानि पद्मानि प्रत्येकमर्द्धयोजनमायामविष्कम्भाभ्यां क्रोशमेकं बाहुल्येन दशयोजनानि उद्वेधेन क्रोशमेकं जलपर्यन्तादुच्छ्रितं सातिरेकाणि दशयोजनानि सर्वाग्रेण (तेसिणमित्यादि) तेषां पद्मानामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः वज्रमयानि मूलानि रिष्टरत्नमयाः कन्दा वैडूर्यरत्नमया नालाः तपनीयमयानि बाह्यपत्राणि जाम्बूनदमयानि बाह्यपत्राणि तपनीयमयानि केसराणि कनकमय्यः कर्णिका नानामणिमयाः पुष्करास्थिभागाः (ताउण कण्णियाउ इत्यादि) ताः कर्णिकाः क्रोशमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धं क्रोशं बाहुल्येन सर्वात्मना कनकमय्यः अच्छाश्च जाव पडिरूव इति प्राग्वत्। (तेसिणं कण्णियाणमित्यादि) तासां कर्णिकानामुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः तस्य वर्णकः पूर्ववत्तावद्वक्तव्यो यावन्मणीनां स्पर्शः (तस्सणमित्यादि) तस्य मूलपद्मस्य पद्मस्य अपरोत्तरेण अपरोत्तरस्यामेवमुत्तरस्यामुत्तरपूर्वस्यां सर्वसङ्ख्यया तिसृषु दिक्षु अत्र नीलवतो नागकुमारेन्द्रस्य नागकुमारराजस्य चतुर्णां सामानिकसहस्राणां योग्यानि चत्वारि पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि (एतेणमित्यादि) एतेनाभिलापेन यथा विजयस्य सिंहासनपरिवारोऽभिहितस्तथा इहापि पद्मपरिवारो वक्तव्यस्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि चतसृणामग्रमहिषीणां योग्यानि चत्वारि महापद्मानि दक्षिणपूर्वस्यामभ्यन्तरपर्षदोऽष्टानां देवसहस्राणां योग्यान्यष्टौ पद्मसहस्राणि दक्षिणस्यां मध्यपर्षदो दशानां देवसहस्राणां योग्यानि दशपद्मसहस्राणि दक्षिणापरस्यां बाह्यपर्षदो द्वादशानां देवसहस्राणां द्वादश पद्मसहस्राणि पश्चिमायां सप्तानामनीकाधिपतीनां योग्यानि सप्तमहापद्मानि प्रज्ञप्तानि तदनन्तरं तस्य द्वितीयस्य पद्मपरिक्षेपस्य चतसृष्वपि दिक्षु षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां योग्यानि षोडशपद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा चत्वारि पद्मसहस्राणि पूर्वस्यां दिशि चत्वारि पद्मसहस्राणि दक्षिणस्यां चत्वारि पद्मसहस्राणि पश्चिमायां चत्वारि पद्मसहस्राणि उत्तरस्यामिति। तदेवं मूलपद्मस्य त्रयः पद्मपरिक्षेपा अभूवन् अन्येऽपि च त्रयो विद्यन्ते इति तत्प्रतिपादनार्थमाह। (सेणंपउमे इत्यादि) तत्पद्ममन्यैरभ्यन्तरकपरिक्षेपत्रिकव्यतिरिक्तैस्त्रिभिः पद्मपरिक्षेपैः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन संपरिक्षिप्तम्। तद्यथा अभ्यन्तरेण मध्यमेन बाह्येन च। तत्राभ्यन्तरपद्मपरिक्षेपे सर्वसङ्ख्यया द्वात्रिंशत् पद्मशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि (३२०००००) मध्यमे परिक्षेपे चत्वारिंशत् पद्मशतसहस्राणि (४००००००) बाह्यपद्मपरिक्षेपे अष्टाचत्वारिंशत् पद्मशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि (४८०००००) एवमेव अनेनैव प्रकारेण (सपुव्वावरेणंति) सह पूर्वं यस्य येन वा सपूर्वं तत् अपरं च सपूर्वापरं तेन सपूर्वापरेण पूर्वापरसमुदायेनेत्यर्थः एका पद्मकोटी विंशतिश्च पद्मशतसहस्राणि भवन्तीत्याख्यातं मया शेषैश्च तीर्थकृद्भिरेतेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनतामाह। कोट्यादिका च सङ्ख्या स्वमीलितया द्वात्रिंशदादिशतसहस्राणामेकत्र मीलने यथोक्तसंख्याया अवश्यं भावात् समाप्ति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुराह। अथ केनार्थेन एवमुच्यते नीलवद्द्रहो नीलवद्द्रह इति भगवानाह। गौतम ! नीलवद्द्रहे तत्र तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहूनि उत्पलानि पद्मानि यावत् सहस्रपत्राणि नीलवद्द्रहप्रभाणि नीलवन्नाम ह्रदाकाराणि नीलवद्वर्णानि नीलवन्नाम वर्षधरपर्वतस्तद्वर्णानीति यावत्। नीलवन्नामा च नागकुमारेन्द्रो नागकुमार-

राजो महर्द्धिक इत्यादि यमकदेववन्निरवशेषं वक्तव्य यावद्विहरति । ततो यस्मात्तज्जातानि पद्मानि नीलवद्वर्णानि नीलवन्नामा च तदधिपतिर्देवस्ततस्तद्योगादसौ नीलवन्नामा ह्रदः । तथाचाह (से एएणट्ठेणमित्यादि) कहिणं भंते ! नीलवंतद्दहस्सेत्यादि राजधानीविषयं सूत्रं समस्तमपि प्राग्वत् ॥

नीलवद्ह्रदे काञ्चनपर्वताः ।

नीलवंतेणं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं दस दस जोयणाति अबाहाए एत्थणं दस दस कंचणगपव्वता पण्णत्ता तेणं कंचणगपव्वता एगमेगं जोयणसतं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं २ जोयणाति उव्वेहेणं मूले एगमेगं जोयणसतं विक्खंभेणं मज्झे पण्णत्तरिं जोयणाइं आयामविक्खंभेणं उवरिं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं मूले तिण्णि सोळे जोयणसते किंचिविसेसाहिता । परिक्खेवेणं मज्झे दोण्णि सत्ततीसे जोयणसते किंचि विसेसाहिता परिक्खेवेणं उवरिं एगं अट्ठावन्नं जोयणसतं किंचि विसेसाहिया । परिक्खिवेणं मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाण संठिया सव्वकंचणमया अच्छा पत्तेयं२ पउमवरवेतिइं पत्तेयं २ वणखंडपरिक्खित्ता तेसिणं कंचणगपव्वताणं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे जाव आसयन्ति पत्तेयं २ पासायवडेंसगा सड्ढा बावट्ठिं जोयणिया उड्ढं एकतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं मणिपेढिया दो जोयणिया सिंहासणा सपरिवारा । से केट्ठेणं णं भंते एवं वुच्चइ कंचणगपव्वया गोयमा ! कंचणगेसूणं पव्वतेसु तत्थ२वाविउ उप्पलाइं जाव कंचणवण्णा भाति कंचणगा जाव देवा महिड्डिया जाव विहरंति उत्तरेणं कंचणगाणं कंचणिताउ रायहाणीओ अण्णहम्मि जंबू तहेव सव्वं भाणियव्वं (नीलवतद्दस्सणमिति)नीलवतो ह्रदस्य(पुरच्छिमपच्चच्छिमेण) पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि प्रत्येक दशयोजनान्यबाधया कृत्वेति गम्यतेऽपान्तराले मुक्त्वेतिभावः।दश दश काञ्चनपर्वता दक्षिणोत्तरश्रेण्यो प्रज्ञप्ताः।ते काञ्चनपर्वता।प्रत्येकमेक योजनशतमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन पञ्चविंशतिर्योजनान्युद्वेधेन मूले एक योजनशत विष्कम्भेन मध्ये पञ्चसप्ततिर्योजनानि विष्कम्भेन उपरि पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन मूले त्रीणि षोडशोत्तराणि योजनशतानि (३१६) किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण मध्ये द्वे सप्तविंशे योजनशते (२२७) किंचिद्विशेषोने परिक्षेपेण उपरि एकमष्टापञ्चाशद्योजनशत (१५८) किञ्चिद्विशेषोन परिक्षेपेण अत एव मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्षिप्ता उपरि तनुका अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिता सर्वात्मना कनकमया (अच्छा जावपडिरूवाइति) प्राग्वत् । तया प्रत्येक प्रत्येक पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ता । प्रत्येक वनखण्डपरिक्षिप्ताश्च पद्मवरवेदिका वनखण्डवर्णन प्राग्वत् । (तेसिणमित्यादि) तेषां काञ्चनपर्वतानामुपरि बहुसमरमणीया भूमिभागा प्रज्ञप्ता। तेषां च वर्णन प्राग्वत् तावद्वक्तव्यं यावत्तृणानां मणीनां च शब्दवर्णनमिति (तेसिणमित्यादि) तेषां च बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः प्रासादवक्तव्यता सर्वा यमकपर्वतोपरि प्रासादावतंसकयोरिव निरवशेषा वक्तव्या यावत्परिवारसिंहासनवक्तव्यतापरिसमाप्ति। सम्प्रति नामान्वर्थं पिपृच्छिषुराह–सेकेणट्ठेणमित्यादि प्राग्वत्सर्वं यस्मादुत्पलादीनि काञ्चननामानश्च देवास्तत्र परिवसन्ति तत्काञ्चनप्रभोत्पलादियोगात् काञ्चनकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च ते काञ्चनका इति तथाचाह । सेएणट्ठेणमित्यादि काञ्चनिकाश्च राजधान्यो यामिका राजधानीवद्वक्तव्या ॥

उत्तरकुरुह्रदाः ॥

कहि णं भंते उत्तरकुराए उत्तरकुरुद्दहे नाम दहे पण्णत्ते ? गोयमा ! नीलवंतद्दहस्स २ दाहिणेणं अट्ठचोत्तीसे जोयणसए एवं चेव गमोणेयव्वो जो णीलवंतद्दहस्स सव्वेसिं सरिसके दहसरिसनामा य देवा सव्वेसिं पुरच्छिमपच्चच्छिमे णं कंचणपव्वता दस२ एकप्पमाणा उत्तरेणं रायहाणी अण्णम्मि जंबुद्दीवे चंददहे एरावणद्दहे मालवंतद्दहे एवं एकेको णेयव्वो ॥ क भदन्त ! जम्बूद्वीपे उत्तरकुरुषु कुरुषु उत्तरकुरुह्रदो नाम ह्रदः प्रज्ञप्तः । भगवानाह । गौतम ! नीलवतो ह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमपर्यन्तादष्टौ चतुस्त्रिंशानि चतुस्त्रिंशदधिकानि योजनशतानि चतुरश्च योजनस्य सप्त भागा अबाधया कृत्वेति गम्यते शीताया महानद्या बहुदेशभागे अत्र उत्तरकुरुर्नाम ह्रदः प्रज्ञप्त। यथैव प्राक् नीलवतो ह्रदस्य आयामविष्कम्भोद्वेधपद्मवरवेदिकावनखण्डत्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणमहामूलभूतपद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्मशेषपरिधिपरिक्षेपत्रयवक्तव्यतोक्ता तथाऽन्यूनानतिरिक्ता वक्तव्या । (मूलटीकयो। पाठभेदः) नामकारणं पिपृच्छिषुरिदमाह– "से केणट्ठेणं भंते इत्यादि प्राग्वत्" नवरमुत्पलादीनि यस्मात् उत्तरकुरुह्रदप्रभाणि उत्तरकुरुह्रदाकाराणि तेन तानि तदाकारयोगात् उत्तरकुरुनामाऽत्र तत्र देवः परिवसति तेन तद्योगात् ह्रदोऽप्युत्तरकुरुः नचैवमितरेतराश्रयदोषप्रसङ्ग उभयेषामपि नाम्नामनादिकालं तथाप्रवृत्तेः । एवमन्यत्रापि निर्दोषता भावनीया । उत्तरकुरुनामा च तत्र देव। परिवसति तद्वक्तव्यता च नीलवन्नागकुमारवद्वक्तव्या ततोऽप्यसावुत्तरकुरुरिति । राजधानीवक्तव्यता काञ्चनकपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत् ।। चन्द्रह्रदवक्तव्यतामाह । (कहिण भंते इत्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगम भगवानाह–गौतम ! उत्तरकुरुह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति शेष। शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र अस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु चन्द्रह्रदो नाम ह्रद। प्रज्ञप्त। । अस्यापि नीलवद्ध्रदस्येव आयामविष्कम्भोद्वेधपद्मवरवेदिकावनखण्डत्रिसोपानप्रतिरूपकतोरणमूलभूतमहापद्माष्टशतपद्मपरिवारपद्मशेषपद्मपरिक्षेपत्रयवक्तव्यता वक्तव्या । नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव नवरं यस्मात् उत्पलादीनि चन्द्रह्रदप्रभाणि चन्द्रह्रदाकाराणि चन्द्रवर्णानि चन्द्रनामा च देवस्तत्र परिवसति तस्माच्चन्द्रह्रदाभोत्पलादियोगात् चन्द्रदेवस्वामिकत्वाच्चन्द्रह्रद इति । चन्द्राराजधानीवक्तव्यता काञ्चनकपर्वतवक्तव्यता च राजधानीपर्यवसाना प्राग्वत् । सांप्रतमैरावतह्रदवक्तव्यतामाह । कहिणं भंते इत्यादि प्रश्नसूत्र पाठसिद्ध निर्वचनमाह । गौतम ! चन्द्रह्रदस्य दाक्षिणात्याच्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुस्त्रिंशादियोजनशतानि चतुरश्च सप्त भागान् योजनस्याबाधया कृत्वेति शेष। शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र एतस्मिन्नवकाशे ऐरावतह्रदो नाम ह्रद प्रज्ञप्तः। अस्यापि नीलवन्नाम्नो ह्रदस्येवायामविष्कम्भादिवक्तव्यता पर्यवसाना वक्तव्या । अन्वर्थसूत्रमपि तथैव नवरं यस्मादुत्पलादीनि ऐरावणह्रदप्रभाणि ऐरावतो नाम हस्ती तद्वर्णानि च ऐरावतश्च नामा तत्र देव

परिवसति तेन ऐरावत ऋद इति ऐरावतराजधानीवत् काञ्चनकपर्वतवक्तव्यताऽपि राजधानीवक्तव्यता पर्यवसाना तथैव अधुना माल्यवद्धामऋदवक्तव्यतामाह (कहिणं भंते इत्यादि) सुगमं भगवानाह गौतम ! ऐरावतऋदस्य दाक्षिणात्याञ्चरमान्तादर्वाक् दक्षिणस्यां दिशि अष्टौ चतुर्स्त्रिंशानि योजनशतानि चतुरश्च सप्तभागान् योजनस्य अबाधया कृत्वेति शेषः। शीताया महानद्या बहुमध्यदेशभागे अत्र एतस्मिन्नवकाशे उत्तरकुरुषु कुरुषु माल्यवन्नामा ऋद' प्रज्ञप्तः स च नीलवद्दूहवत् आयामविष्कम्भादिना तावद्वक्तव्यो यावत् पद्मवक्तव्यतापरिसमाप्तिः । नामान्वर्थसूत्रमपि तथैव यस्मादुत्पलादीनि माल्यवद्ऋदप्रभाणि माल्यवद्ह्रदाकाराणि माल्यवन्नामा वक्षस्कारपर्वतस्तद्वर्णानि तद्वर्णाभानि माल्यवन्नामा च तत्र देव परिवसति तेन माल्यवद्ह्रद इति । माल्यवती राजधानी विजयाराजधानी वद्वक्तव्या काञ्चनकपर्वतवक्तव्यतापर्यवसाना प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० । (उत्तरकुरुगतजम्बूसुदर्शनवर्णकोऽन्यत्र)उत्तरकुर्वधिपती देवे,पुं० अथोत्तरकुरुनामार्थे पिपृच्छिषुरिदमाह ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ उत्तरकुरा २ गोयमा ! उत्तरकुराए उत्तरकुरुणामं देवे परिवसइ महिड्ढिए जाव पलिओमट्ठिइए से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ उत्तरा २ उत्तरकुराए उत्तरकुरुणामं देवे परिवसइ महिड्ढिए जाव पलिओवमट्ठिई से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ उत्तरकुराए अदुत्तरं च णं जाव सासए ।

से केणट्ठेणमित्यादि प्रतीतं नवरम् उत्तरकुरुनामाऽत्र देवः परिवसति तेनेमा उत्तरकुरव इत्यर्थः । जं०२वक्ष० । द्वाविंशतीर्थकृतो निष्क्रमणशिविकायाम्, स्त्री० । स० ।

उत्तरकुरुकूड–उत्तरकुरुकूट–न० माल्यवद्वक्षस्कारपर्वतस्य तृतीयं कूटे, स्था०९ ठा० । मेरोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि, माल्यवद्वर्षधरपर्वतस्य तृतीय कूट हिमवत्कूटप्रमाण कूटसदृग्नामकश्चात्र । देव' । जं०४ वक्ष० । महाविदेहे, गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य चतुर्थे कूटे, स्था० १० ठा० । जं० ।

उत्तरकुरुदह–उत्तरकुरुऋद–पुं० उत्तरकुरुषु तृतीये ह्रदे, स्था० ६ ठा० । (तन्मानादिमुत्तरकुरुशब्दे उक्तम्) ॥

उत्तरकुरुमाणुसच्छरा–उत्तरकुरुमानुषाप्सरस्–स्त्री०उत्तरकुरुषु मानुषरूपासु अप्सरस्सु, प्रश्न० अध० ४ द्वा० ।

उत्तरकूलग–उत्तरकूलग–पुं० वानप्रस्थतापसभेदेषु, यैर्गङ्गायामुत्तरकूल एव वस्तव्यम् । नि० । भ० ॥

उत्तरकोडि–उत्तरकोटि–स्त्री० गान्धारग्रामस्य सप्तम्यां मूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

उत्तरगंधारा–उत्तरगान्धारा–स्त्री० गान्धारग्रामस्य षष्ठ्यां मूर्च्छनायाम्, ॥ स्था० ७ ठा० ॥

उत्तरगुण–उत्तरगुण–पुं०मूलगुणापेक्षया उत्तरभूता गुणा वृक्षस्य शाखा इवोत्तरगुणा । भ०७ श० २ उ० । सर्वतः पिण्डविशुद्ध्यादिषु, देशतो दिग्व्रतादिषु, पञ्चा० ५ विव० ।

शेषाः पिण्डविशुद्ध्याद्याः, स्युरुत्तरगुणाः स्फुटम् ।
एषां चानतिचाराणां, पालनं ते त्वमी मताः ॥ ४७ ॥

शेषा उक्तमूलगुणेभ्योऽवशिष्टास्ते के इत्याह । पिण्डविशुद्ध्याद्या इति पिण्डविशुद्धिराहारादिनिर्दोषता सा आदौ येषां भेदानां ते पिण्डविशुद्ध्याद्याः सप्ततिभेदा इत्यर्थः । उत्तरगुणा उत्तरगुणसहकाः स्फुटं प्रकटं स्युर्भवेयुरिति संबन्धस्तत्रादिशब्दगृहीता भेदास्त्विमे "पिंडविसोही समिई, भावणपडिमा य इंदियनिरोहो । पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणतु" धर्म०३अधि० (पाठान्तरेण) " पिंडस्स जा विसोही, समिईओ भावणा तवो दुविहा । पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि" १ सूत्र०श्रु०१४अ०।(एतद्व्याख्या पायच्छित्तशब्दे) पिण्डविशुद्ध्यादय सार्थाः स्वस्वस्थाने) महाव्रतावतेषु, सूत्र० । व्य० नि० चू० । पञ्चा० । जीत० । आव० । (मूलगुणानामिवोत्तरगुणानामपि भङ्गो नेष्ट इत्यतिचारशब्दे उक्तम्)

उत्तरगुणकप्पिय–उत्तरगुणकल्पिक–पुं०

आहारउवहिसेज्जा, उग्गमउप्पादणेसणा सुद्धा ।
जो परिगिण्हति णियय, उत्तरगुणकप्पिओ स खलु ॥

य आहारोपधिशय्या उद्गमोत्पादनैषणा । शुद्धा नियत निश्चितं परिगृह्णाति स खलु उत्तरगुणकल्पिको मन्तव्यः । इत्युक्तरूपे उत्तरगुणयुक्तसामाचारीभेदे, वृ० ६ उ० ।

उत्तरगुणपच्चक्खाण–उत्तरगुणप्रत्याख्यान–न० मूलगुणापेक्षया उत्तरभूता गुणा वृक्षशाखा इवोत्तरगुणास्तेषु प्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानम् । प्रत्याख्यानभेदे, ॥ तद्भेदा यथा–

उत्तरगुणपच्चक्खाणे णं कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे य देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे य । सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते तंजहा अणागयमइक्कंतं, कोडिसहीयं नियंठियं चेव । सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं ॥

अनागतादीनां च व्याख्याऽन्यत्र ॥ भ०७ श० २ उ० । "मूलगुणउत्तरगुणा, जे मे णाराहिया पमाएण । तमहं सव्वं णिंदे, पडिक्कमे आगामिस्साणं" इति रूपम् । आतु० । पञ्चा० । आ० क० ।

उत्तरगुणपडिसेवणा उत्तरगुणप्रतिसेवना–स्त्री० उत्तरगुणविषये प्रतिसेवनायाम्, "इदाणिं उत्तरगुणपडिसेवणा भण्णति ते उत्तरगुणा पिंडविसोहाइ अणेगविहा तत्थ पिंडे ताव दप्पिय कप्पिय च पडिसेवणं भण्णत्ति" ॥ नि० चू० १ उ०(सर्वं पडिसेवणाशब्दे वक्ष्यते)

उत्तरगुणलद्धि–उत्तरगुणलब्धि–स्त्री० उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्यादयस्तेषु चेह प्रक्रमात्तपो गृह्यते तस्य लब्धिः । तपोलब्धौ, "उत्तरगुणलद्धिक्खममाणस्स विज्जाचारणलद्धिणाम लद्धि समुप्पज्जइ" । भ० २० श० ६ उ० ॥

उत्तरगुणसड्ढा–उत्तरगुणश्रद्धा–स्त्री०प्रधानतरगुणाभिलाषे,पंचा०

उत्तरगुणासेवणासिक्खग–उत्तरगुणासेवनाशिक्षक–त्रि० उत्तरगुणविषये सम्यक् पिण्डविशुद्ध्यादिकान् गुणान् आसेवमाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

उत्तरचावाला–उत्तरचावाला–स्त्री० नगरभेदे, ताहे सामी उत्तरचावालं वच्चती तत्थ अंतरा कणखलं नाम उत्तमपदम् ।" आ० चू० २ अ० । ततः स्वामी उत्तरचावालां गतः तत्र पक्षक्षपणपारणे नागसेनगृहे क्षीरभोजनेन प्रतिमानानि प्रादुर्भूतानि । आ० क० । आ० म० द्वि० ॥

उत्तरचूल–उत्तरचूड–न० वन्दनकं दत्वा शब्देन मस्तकेन वन्दे इत्यभिधानरूपे एकोनविंशत्तमे वन्दनकदोषे, ध० २ अधि० । आव० ।

उत्तरचूलिया–उत्तरचूलिका–स्त्री०"दाऊण वंदणं मत्थए वंदामि

चूलियाए सा " यद्वन्दनकं दत्वा पश्चान्महता शब्देन मस्तकेन वन्दे इति यत्र ब्रूते तदुत्तरचूलिका मन्तव्या । वृ० ३ उ० । आव० चू० ।

उत्तरज्झयण–उत्तराध्ययन– न० बहुव० उत्तराणि प्रधानानि अध्ययनानि रूढिवशाद्विनयश्रुतादीनि षट्त्रिंशदुत्तराध्ययनानि सर्वाण्यपि चाध्ययनानि प्रधानान्येव तथापि अमून्येव रूढ्या उत्तराध्ययनशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धानि । न० । अङ्गबाह्ये कालिकश्रुतभेदे, पा० ।

उत्तराध्ययनशब्दनिरुक्तिं निर्युक्तिकृद् विस्तरेणाह ।

णामं ठवणा दविए, खेत्तदिसा ताव खेत्तपण्णवए ।
पइकाल संचयपहा–णणाणयकमगणणतो जावे ॥
जहणं उत्तरं खलु, उक्कोसं वा अणुत्तरं होइ ।
सेसाइं अणुत्तराइं, अणुत्तराइं च णामाइं ॥

(नामोत्तरव्याख्या उत्तरशब्दे दर्शिता) उत्तरस्यानेकविधत्वेन यदत्र प्रकृत तदाह ।

कम उत्तरेण पगयं, आयारस्से व उवरिमाइं तु ।
तम्हाउ उत्तरा खलु, अज्झयणा होंति णायव्वा ॥

क्रमापेक्षमुत्तरं क्रमोत्तरं शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासस्तेन प्रकृतमधिकृतमिह च क्रमोत्तरेणेति भावक्रमोत्तरेणैतानि हि श्रुतात्मकत्वेन क्षायोपशमिकभावरूपाणि तद्रूपस्यैवाचाराङ्गस्योपरिपाठ्यमानत्वेनोत्तराणीत्युच्यन्ते अत आह (आयारस्से व उवरिमाइ तु) एवकारो भिन्नक्रमस्ततश्चाचारस्योपर्येवोत्तरकालमेवेमानीति हृदि विपरिवर्तमानतया प्रत्यक्षाणि पठितवन्त इति गम्यते । तुर्विशेषणे विशेषश्चायं यथा शय्यंभव यावदेष क्रमस्तदाचारस्तु दशवैकालिकोत्तरकाल पठ्यन्त इति (तम्हाउत्ति) तु पूरणे यस्तदोश्च नित्यमभिसंबन्धस्ततो यस्मादाचारस्योपर्येवेमानि पठितवन्तस्तस्मादुत्तराण्युत्तरशब्दवाच्यानि खलुर्वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा तत उत्तराण्येवाध्ययनानि विनयश्रुतादीनि भवन्ति ज्ञातव्यानि अन्यच्च बोद्धव्यानि प्राकृतत्वाच्च लिङ्गव्यत्यय इति गाथार्थः । आह यद्याचारस्योपरि पठ्यमानत्वेनोत्तराण्यमूनि तत्किमन्त एवाचारस्य प्रसूतिरेषामपि तत एवाभिधेयमपि यदेव तस्य तदेवान्यथेतिसंशयापनोदायाह ।

अंगप्पभवा जिणभा–सिया य पत्तेयबुद्धसंवाया ।
बंधे मोक्खे य कथा, छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥

अङ्गाद् दृष्टिवादादेः प्रभव उत्पत्तिरेषामित्यङ्गप्रभवानि यथा परीषहाध्ययनम् । वक्ष्यति हि " कम्मप्पवायपुव्वे, सत्तरसे पाहुडम्मि जं सुत्त । सणय सोदाहरणं, तं चेव इहपि नायव्व " जिनभाषितानि यथाद्रुमपत्रकाध्ययन तद्धि समुत्पन्नकेवलेन भगवता महावीरेण प्रणीत यद्वक्ष्याति " तन्निस्साए भगव, सीसाण देइ अणुसट्ठिं ति " च समुच्चये प्रत्येकबुद्धाश्च संवादश्च प्रत्येकबुद्धसंवादस्तस्मादुत्पन्नानीति शेषः । तत्र प्रत्येकबुद्धाः कपिलादयस्तेभ्य उत्पन्नानीति । यथा कापिलायाध्ययनम् वक्ष्यति हि " धम्मदुत्रागीश्च " तत्र कपिलेनेति क्रम संवादसगत. प्रश्नोत्तरवचनरूपस्तत उत्पन्नानि यथा केशीगौतमीये वक्ष्याति च "गौतमकेसीओ या, सवाय समुचिय तु जम्हेयमित्यादि " ननु स्थविरविरचितान्येवैतानि यत आह चूर्णिकृत् । " सुत्तं थेराण अत्तागमोत्ति' नन्द्यध्ययनेऽप्युक्तम् "जस्स जे तिया सिस्सा उप्पत्तिया ए वेणइयाए कम्मयाए पारिणामिया चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स तत्तियाइ पइन्नगसहस्साइ" प्रकीर्णकानि चामूनि तत्कथ जिनदेशितत्वादि न विरुध्यते । उच्यते तथा स्थितानामेव जिनादिवचसामिह दृब्धत्वेन तद्देशितत्वाद्युक्तमिति न विरोधः । बन्ध आत्मकर्मणोरत्यन्त संश्लेषस्तस्मिन् मोक्षस्योरेवात्यान्तिकः पृथग्भावस्तस्मिंश्च कृतानि कोऽभिप्रायो यथा बन्धो भवति यथा च मोक्षस्तथा प्रदर्शकानि । तत्र बन्धे यथा "आणाअणिद्देसकरेत्ति " मोक्षे यथा " आणानिद्देसकरेत्ति ' अत्र्यां यथाक्रममश्चाविनयो मिथ्यात्वाद्यविनाभूतत्वेन बन्धस्य विनयश्चान्तरतपोरूपत्वेन मोक्षस्य कारणमिति तत्वतस्तौ यथा भवतस्तदेवोक्त भवति मोक्षप्राधान्येऽपि बन्धस्य प्राग्उपादानमनादित्वोपदर्शनार्थम् । यद्वा " बंधे मोक्खेयत्ति " च शब्द एवकारार्थे भिन्नक्रमश्च । ततो बन्ध एव सति यो मोक्षस्तस्मिन् कृतान्यनेनानादिमुक्तमन्तव्यवच्छेदश्च कृतस्तत्र हि मोक्षशब्दार्थानुपपत्तिः सकलानुष्ठानवैकल्यापत्तिश्च किमेव कतिचिदेव नेत्याह । षट्त्रिंशत्संख्यानि कोऽर्थः सर्वाण्येतद्युत्तराध्ययनानीति गाथार्थः । उत्त० १ अ० ।

। तानि च षट्त्रिंशदमूनि ॥

छत्तीसउत्तरज्झयणा पण्णत्ता तंजहा । विणयसुयं १ परीसहा २ चाउरंगीज्जं ३ असंखयं ४ अकाममकाममरणीज्जं ५ पुरिसविज्जा ६ उरब्भिज्जं ७ काविलियं ८ नमिपव्वज्जा ९ दुमपत्तयं १० बहुसुयपुज्जा ११ हरिएसिज्जं १२ चित्तसंभूयं १३ उसुयारिज्जं १४ सभिक्खुगं १५ समाहिट्ठाणाइं १६ पायसमणिज्जं १७ संजइज्जं १८ मियाचारिया १९ अणाहपव्वज्जा २० समुद्दपालिज्जं २१ रहनेमिज्जं २२ गोयमकेसीज्जं २३ समितीओ २४ जन्नतिज्जं २५ सामायारी २६ खलुंकेज्जं २७ मोक्खमग्गगई २८ अप्पमाओ २९ तवोमग्गो ३० चरणविही ३१ पमायट्ठाणाइं ३२ कम्मपयडी ३३ लेसज्झयणं ३४ अणगारमग्गे ३५ जीवाजीवविभत्ती य ३६ ॥ छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥ स० । व्य० । आव० ४ अ० ।

उत्तरज्झाय –उत्तराध्याय–पुं० उत्तरा प्रधाना अध्याया अध्ययनानि । उत्तराश्च ते अध्यायाश्च उत्तराध्यायाः । विनयादिषु षट्त्रिंशत्युत्तराध्ययनेषु, "छत्तीस उत्तरज्झाए भवसिद्धिए सम्मत्तिवेत्ति" उत्त० ३६ अ० ॥

उत्तरड्ढकच्छ–उत्तरार्द्धकच्छ–पुं० कच्छविजयस्य वैताढ्यपर्वतेन विभक्तस्य उत्तरार्द्धे, ॥

कहि णं भंते जंबूद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरड्ढकच्छे णामं विजए पण्णत्ते ? गोयमा ! वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरेण णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेण मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं जंबूद्दीवे दीवे जाव सिज्झति तहेव णेअव्वं जं० ४ वक्ष० । टीकासुगमत्वान्न गृहीता ॥ (सिन्धुकुण्डाद्यत्र) कच्छविजयविभाजकस्य वैताढ्यपर्वतस्याष्टानां कूटानामष्टमे कूटे, जं० ४ वक्ष० ।

उत्तरड्ढभरह–उत्तरार्द्धभरत– न० वैताढ्यपर्वतेन द्विधा विभक्तस्य भरतवर्षस्य उत्तरार्द्धे ॥

अथोत्तरार्द्धभरतवर्ष क्वास्तीति प्रश्नसूत्रमाह ॥

कहि णं जंबुद्दीवे उत्तरड्ढभरहे णामं वासे पण्णत्ते? गोयमा! चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं । एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे उत्तरड्ढभरहे णामं वासे पण्णत्ते पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे पलियंकसंठिए दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चच्छिमिल्लाए जाव पुट्ठे गंगासिंधूहिं महाणईहिं तिभागपविभत्ते दोण्णि अट्ठतीसे जोयणसए तिण्णि य एगूणवीसइभागे जोयणस्स विक्खंभेणं तस्स बाहा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अट्ठारसबाणउए जोयणसए सत्त य एगूणवीसइभागे जोयणस्स अद्धभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायया दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठा तहेव जाव चोद्दस जोयणसहस्साइं चत्तारि य एगहत्तरे जोयणसए छच्च एगूणवीसइभाए जोयणस्स किंचिविसेसूणे आयामेणं पण्णत्ता । तीसे धणुपिट्ठे दाहिणेणं चोद्दस जोयणसहस्साइं पंच अट्ठावीसे जोयणसए एक्कारस य एगूणवीसइभाए जोयणस्स परिक्खेवेणं ॥

दक्षिणार्द्धभरतसमानमत्र ज्ञेयम्। नवरं (पलियंकसंठिए) पर्यङ्कसंस्थितं संस्थानं यस्य तत्तथा । द्वे शते अष्टात्रिंशदधिके त्रीन् चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य विष्कम्भेनेति अस्य शरस्तु प्राच्यशरस्य द्विगुणितवैताढ्यविस्तारो योजन [५२६] कलाश्चत्वस्तु [१,०००] अथास्य बाहे आह इत्यादि तस्योत्तरार्द्धभरतस्य बाहा पूर्वोक्तरूपा पूर्वापरयोर्दिशोरष्टादशयोजनशतानि द्विनवति-योजनाधिकानि सप्त चैकोनविंशतिभागान् [७/१९] योजनस्य अर्द्धभागं चैकोनविंशतितमभागस्य योजनस्यार्धभागमित्यर्थः ॥ अत्र करणं यथा गुरुधनुःपृष्ठकलारूपं [२७६०४३] अस्मात् [२०४१३२] कलारूपं लघुधनुःपृष्ठमपनीते जातं [७२०११] अर्द्धे कृते जातं कलाः [३५९५५] कलार्द्धं च तासां योजनानि [१८९२] कलाः [७] कलार्द्धं चेति एतावत्येकस्मिन् पार्श्वे बाहाया आयाममानम् । अथास्य जीवामाह (तस्स जीवा उत्तरेणमित्यादि) तस्य जीवा प्रागुक्तस्वरूपा उत्तरेण क्षुल्लहिमवद्गिरिदिशि प्राचीनायता द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टा तथैव दक्षिणार्द्धभरतजीवासूत्रादेव "जावत्ति पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठत्ति" पर्यन्तसूत्रं ज्ञेयमिति भावः (चउद्दसत्ति) चतुर्दशयोजनसहस्राणि चत्वारि चैकसप्तत्यधिकानि योजनशतानि षट् चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य किञ्चिद्विशेषोना प्रज्ञप्ता । अत्र करणं यथा कलीकृतो जम्बूद्वीपव्यासः [१९] शून्य [५] इषुनिति [१९५] शून्यं [४] इषुगुण [१८९] शून्य [८] चतुर्गुण [७५६] शून्य [८] एष उत्तरभरतार्द्धजीवावर्गः । अस्य वर्गमूले लब्धाः कलाः [२७४९५४] शेषकलांशाः [२०७८८४] छेदः [५४९९०८] लब्धकलानां [१९] भागे योजनं (१४४७१) [६/१९] उद्धरितैः शेषकलांशैर्मध्ये प्रक्षिप्ते परिकला किञ्चिद्विशेषोना विवक्षिता भवति । अथास्य धनुःपृष्ठमाह—[तीसे इत्यादि] तस्या उत्तरार्द्धभरतजीवाया दक्षिणपार्श्वे धनुःपृष्ठम् । अर्थादुत्तरार्द्धभरतस्य चतुर्दशयोजनसहस्राणि पञ्चशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि एकादश चैकोनविंशतिभागान् योजनपरिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्तमिति शेषः । अत्र करणम् । यथा उत्तरार्धभरतस्य कलीकृत इषु [१००००] अस्य वर्गः [१] शून्य [८] स च षड्गुणः [६] शून्य (८] सोऽप्युत्तरार्द्धभरतजीवावर्गेण [७५६००००००००] इत्येवरूपेण मिश्रितो जातः (७६२) शून्यम् (८) एष उत्तरार्द्धभरतस्य जीवावर्गः । अस्य मूले लब्धाः कला (२७६०६२] शेषकलांशाः (२६२१५१) छेदराशिः (५५२०२६) कलानामेकोनविंशत्या भागे (१४५२८) [११/१९] अत्र शेषांशानामविवक्षितत्वाद्विकादशकलानां साधिकत्वमूह्यम् । अत्र दक्षिणार्द्धभरतादिक्षेत्रसम्बन्धिशरादिचतुष्कस्य सुखेन परिज्ञानाय यन्त्रस्थापना, ।

क्षेत्रनाम	शर प्रमाणम्	बाहाप्रमाणम्	जीवाप्रमाणम्	धनु पृष्ठम्
दक्षिणभरतार्द्ध	२३८ योजन भाग १०।१९	❀	९७४८ योजन भाग १२।१९	९७६६ योजन भाग १।१९
वैताढ्यपर्वत	२८८ योजन भाग ३।१९	४८८ योजन भाग १६।१९॥	१०७२० योजन भाग १२।१९	१०७४३ योजन भाग १५।१९
उत्तरभरतार्द्ध	५२६ योजन भाग ६।१९	१८९२ योजन भाग ७।१९॥	१४४७१ योजन भाग ६।१९	१४५२८ योजन भाग ११।१९

यथा एषां च शरादीनां करणविधिप्रसङ्गतोऽत्र दर्शित अतः परमुत्तरत्र क्षुल्लहिमवदादिसूत्रेषु स न दर्शयिष्यते विस्तरभयात् तज्जिज्ञासुना तु क्षेत्रविचारवृत्तितोऽवसेय इति ॥

अथोत्तरार्द्धभरतस्वरूपं पृच्छति ॥

उत्तरड्ढभरहस्स णं भंते! वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते? गोयमा! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव कित्तिमेहिं चेव । अकित्तिमेहिं चेव । उत्तरड्ढभरहे णं भंते! वासे मणुआणं केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते? गोयमा! तेणं मणुया बहुसंघयणा जाव अप्पेगइआ सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥

उत्तरभरहस्सणमित्यादि व्यक्तम् । अत्रैव मनुष्यस्वरूपं पृच्छति "उत्तरड्ढभरहे" इत्यादि इदमपि प्राग्वत् यावदेके केचन सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्तीति तत्रत्यमनुष्याणामर्हदाद्यभावेन मुक्त्यङ्गभूतधर्मश्रवणाद्यभावात् कथं मुक्त्यवाप्तिः सूत्रस्यौचित्यमञ्चतीति चेदुच्यते चक्रवर्तिकाले अप्रावृतगुहाद्वयावस्थानेन गच्छदागच्छद्दक्षिणार्द्धभरतवासिसाध्वादिभ्यो वाऽन्यदापि विद्याधरश्रमणादिभ्यो वा जातिस्मरणादिना वा मुक्त्यङ्गावाप्तेर्मुक्त्यवाप्तिः सूत्रमुचितमेवेति ॥ (ऋषभकूटवक्तव्यताऽन्यत्र) वैताढ्य-

पर्वतस्याष्टमकूटस्योत्तरार्द्धभरतकूटस्य स्वामिदेवे च। जं०१वक्ष०।

उत्तरड्डभरहकूड–उत्तरार्द्धभरतकूट–न०जम्बूद्वीपे वैताढ्यपर्वतस्याष्टमे कूटे, उत्तरार्द्धभरतनाम्नो देवस्य वासभूत कूटमुत्तरार्द्धभरतकूटम् मध्यमपदलोपी समासः। तदधिपे च । जं० १ वक्ष० । (अस्य मानादिवैताढ्यपर्वतवक्तव्यतायां वक्ष्यते)

उत्तरड्डभरहा–उत्तरार्द्धभरता–स्त्री०उत्तरार्द्धभरतकूटस्य स्वामिन उत्तरार्द्धभरतकूटनाम्नो राजधान्याम् ॥ जं० १ वक्ष० ।

उत्तरड्डमाणुस्सक्खेत्त–उत्तरार्द्धमानुष्यक्षेत्र– न० मनुष्यक्षेत्रस्यार्द्धमर्द्धमनुष्यक्षेत्रमुत्तर च तदर्द्धमनुष्यक्षेत्रम् । मनुष्यक्षेत्रस्योत्तरेऽर्द्धे, तत्र भवोऽप्युत्तरार्द्धमानुष्यक्षेत्र उत्तरार्द्धमनुष्यक्षेत्रभवे "उत्तरड्डमाणुस्सक्खेत्ताणं छावट्ठिं चंदा य मासिं तु" । स० ।

उत्तरण–उत्तरण–न०बाहुजङ्घादिना सकृद् वा नद्यादेः पारगमने स्था०५ठा०।नावादिना सङ्घट्टादिभिः प्रकारैर्नद्यादेः पारगमने,'बृ० ६ उ० । (संयतैर्यथा नदी उत्तीर्य्यते तथा णई शब्दे वक्ष्यते) अवतरणे च ॥ " उत्तरण चदसूराण " भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवतरणमाकाशात्समवसरणभूम्यां चन्द्रसूर्ययोः शाश्वतविमानोपेतयोर्वभूवेदमप्याश्चर्य्यमेवेति ॥ स्था० १० ठा० ॥

उत्तरदारियणक्खत्त–उत्तरद्वारिकनक्षत्र–न० उत्तर द्वार येषामस्ति तानि उत्तरद्वारिकाणि तानि च नक्षत्राणि । उत्तरस्यां दिशि गम्यते येषु तादृशेषु नक्षत्रेषु, " साइयाइं सत्तणक्खत्ता उत्तरदारिया पण्णत्ता तजहा साई विसाहा अणुराहा जिट्ठा मूलो पुव्वासाढा उत्तराआसाढा " स्था० ७ ठा० ।

उत्तरदाहिणायय–उत्तरदक्षिणायत–त्रि० उत्तरदक्षिणस्यामायते, " उत्तरदाहिणायए पार्श्वे वितिष्ठे । जं०४ वक्ष० ।

उत्तरपओगकरण–उत्तरप्रयोगकरण–न० निष्पत्तेरुत्तरम् । निष्पादनरूपे जीवप्रयोगकरणभेदे. आ० चू० २ अ० (तस्य स्वरूप करणशब्दे प्रपञ्चतो वक्ष्यते)

उत्तरपगइ–उत्तरप्रकृति–स्त्री० ज्ञानावरणदर्शनावरणादीनां पञ्चनवाद्यासु अवान्तरप्रकृतिषु भेदेषु, उत्त० ३३ अ० । यथा ज्ञानावरणीय पञ्चधा मतिश्रुतावधिमनःपर्य्यायकेवलावरणभेदात् । तत्र केवलावारक सर्वघाति । शेषाणि देशसर्वघातीन्यपि दर्शनावरणीय नवधा निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयभेदात् । तत्र निद्रापञ्चक प्राप्तदर्शनलब्ध्युपयोगोपघातकारि दर्शनचतुष्टय तु दर्शनलब्धिप्राप्तेरेवात्रापि केवलदर्शनावरण सर्वघाति शेषाणि तु देशतः । वेदनीय द्विधा सातासातभेदात् । मोहनीय द्विधा दर्शनचारित्रभेदात् तत्र दर्शनमोहनीय त्रिधा मिथ्यात्वादिभेदात् घन्यतस्त्वेकविधम् । चारित्रमोहनीयं षोडशकषायनवनोकषायभेदात् पञ्चविंशतिविधम् । अत्रापि मिथ्यात्व सम्यक्त्वनर्ज्य द्वादशकषायाश्च सर्वघातिन्य । शेषास्तु देशघातिन्य इति । आयुष्कं चतुर्धा नारकादिभेदात् । नाम द्विचत्वारिंशद्भेद गत्यादिभेदात् त्रिनवतिभेदं चोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदात् । गतिश्चतुर्धा । जातिरेकेन्द्रियादिभेदात्पञ्चधा । शरीरा-णौदारिकादिभेदात्पञ्चधा औदारिकवैक्रियाहारकभेदादङ्गोपाङ्ग त्रिधा । निर्म्माणनाम सर्व्वजीवशरीरावयवनिष्पादकमेकधा । बन्धननाम औदारिककर्म्मवर्गणैकत्वापादक पञ्चधा । सघातनामौदारिकादिकर्म्मवर्गणारचनाविशेषसस्थापक पञ्चधा । सस्थानानि चतुरस्रादि षोढा।सहनन वज्रऋषभनाराचादि षोढैव स्पर्शोऽष्टधा । रस पञ्चधा । गन्धो द्विधा । वर्ण पञ्चधा । आनुपूर्वी नारकादिचतुर्धा । विहायोगतिः प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्विधा । अगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासप्रत्येकसाधारणत्रसस्थावरशुभाशुभसुभगदुर्भगसुस्वरदुःस्वरसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकस्थिरास्थिरत्वानादेयायशःकीर्त्तियशःकीर्त्तितीर्थकरनामानि प्रत्येकमेकविधानीति । गोत्रमुच्चनीचभेदात् द्विधा । अन्तराय दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ॥

उत्तरपच्चत्थिमिल्ल–उत्तरपश्चिम–पुं० वायव्यकोणे, चं०१पाहु०॥

उत्तरपुरच्छिम–उत्तरपौरस्त्य– पुं० ईशानकोणे, जी० १ प्रति० । भ० । रा० । क० । औ० । " तीसे ण मिहिलाए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्यण माणिभद्दे णाम चेइए होत्था " सू० प्र० १ पाहु० । चं०प्र० ॥

उत्तरपुरच्छिमा–उत्तरपौरस्त्या–स्त्री०ऐशान्यां दिशि,स्था०१०ठा०।

उत्तरपोट्ठवया–उत्तरप्रौष्ठपदा– स्त्री० उत्तरभाद्रपदा नक्षत्रे, असमासे " उत्तरा पोट्ठवया–उत्तरा प्रौष्ठपदा " सूर्य० ४पाहु० ॥

उत्तरफग्गुणी–उत्तरफाल्गुनी– स्त्री० फलति-फलनिष्पत्तौ फलेर्गुक्च उणा० उनन् गुक्च गौरा० ङीष्-कर्म० । अभिजिदादिषु एकोनविंशे नक्षत्रे, जं० ७ वक्ष० । वाच० । "उत्तरफग्गुणी णक्खत्ते दुतारे पण्णत्ते" स्था० २ ठा० । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य " अर्यमा देवता" ज्यो० ॥

उत्तरफग्गुणीसणिच्छरसंवच्छर–उत्तरफाल्गुनीशनैश्चरसंवत्सर पुं–शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यत्र उत्तरफल्गुनीनक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपयाति । जं ० ७ वक्ष० ।

उत्तरबलिस्सह– उत्तरबलिकसह– पुं०–स्थविरमहागिरेः प्रथमे शिष्ये, ततो निर्गते स्वनामख्याते गणे च । " थेरेहिंतो उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ ण उत्तरबलिस्सहे नाम गणे निग्गए" कल्प० ॥ महावीरस्य नवाना गणानां द्वितीये गणे, "उत्तरबलियस्स य गणो उत्तरबलिस्सहगणेत्ति वा " द्विधा रूपोपलब्धिः अनुवादानुपलम्भान्न तत्त्वनिश्चयः ॥ स्था० ९ ठा०

उत्तरभद्दवया–उत्तरभद्रपदा–स्त्री० अभिजिदादीना नक्षत्राणा षड् नक्षत्रे, ज्यो० । " उत्तरभद्दवयाणक्खत्ते दुतारे पण्णत्ते " स्था० ९ ठा० । जं० ।(उत्तराभाद्रपदनक्षत्राणामभिवृद्धिर्देवताविषयः सर्वो णक्खत्तशब्दे वक्ष्यते)

उत्तरभद्दवयासणिच्छरसंवच्छर–उत्तरभद्रपदाशनैश्चरसंवत्सर-पुं० शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यत्र सवत्सरे उत्तरभाद्रपदानक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते ॥ जं०७ वक्ष० ।

उत्तरमंदा–उत्तरमन्दा–स्त्री० मध्यमग्रामस्य प्रथममूर्छनायाम्, स्था०७ठा०। गन्धारस्वरान्तर्गताया सप्तम्या मूर्छनायाम्, जी० ।

उत्तरमंदामुच्छिया–उत्तरमन्दामूर्च्छिता– स्त्री० मूर्छन मूर्छा सा सजाता अस्या इति मूर्च्छिता उत्तरमन्दया मूर्छिता उत्तरमन्दामूर्छिता । उत्तमन्दाभिधया गन्धारस्वरान्तर्गतया सप्तम्या मूर्छनया मूर्च्छितायां वीणायाम्, "से जहा णामए वयालियाए वीणाए उत्तरमंदामुच्छियाए अंके सुपइट्ठियाए" इह गन्धारस्वरान्तर्गताना च मूर्छनाना मध्ये सप्तमी उत्तरमन्दा मूर्छना क्रियातिप्रकर्षप्राप्ता ततस्तदुपादान तया च मुख्यवृत्त्या वादयिता मूर्च्छितो भवति परमभेदापचाराद्वीणापि मूर्च्छितेत्युक्ता । जं० १ वक्ष० । जी० ॥

उत्तरमहुरा–उत्तरमथुरा– स्त्री० नगरीभेदे, " तेण कालेण तेण समएण उत्तरमहुरा णाम णयरी होत्था । तत्थ य धणधन्नाणामणिकाणरयणपडिपुन्नो जउणामसेट्ठी परिवसइ " दर्श० । (व्रजान्तर्गता मथुरा नगर्येवयमुत्तरमथुरेति सभाव्यते)

उत्तरवाय–उत्तरवाद–पुं० उत्तरवादे, "आणाए मामगं धम्म एस उत्तरवादे इह माणवाणं, वियाहिते" आचा० १ श्रु०६ स०१ उ०।

उत्तरवेउव्विय–उत्तरवैक्रिय–त्रि० भवधारणीयापेक्षयाऽन्यस्मिन्, "उत्तरवेउव्विय रुव विउव्वइ" रा० । कल्प० ।

उत्तरवे (वे) कुव्विक–त्रि० उत्तरमुत्तरकालभावि न स्वाभाविकमित्यर्थः विकुर्विक विकुर्वणं विकुर्वणेन निर्वृत्तं वैकुर्विकं विशिष्टरचनाविशिष्टाभरणसुश्लिष्टततपरिधानसमाचीनकुङ्कुमाद्युपलेपनजनितमतिमनोहारि रामणीयकं यस्य स तथा । व्य० १प्र०२उ०। उत्तरकालभाविवराभरणादिविचित्राकृतिभविभूषणयित, "दट्ठूण णमं काई उत्तरवेउव्वियं मयणरिया" वृ०६ उ० ।

उत्तरवेउव्विया–उत्तरवैकुर्विकी–स्त्री० स्वपरभवान्तरवैरिमारकप्रतिघातनार्थमुत्तरकाले या विचित्ररूपा वैक्रियिकी अवगाहना सा उत्तरवैकुर्विकी । शरीरावगाहनाभेदे, ॥ जी० १ प्रति० ।

उत्तर (रा) समा–उत्तरसमा–स्त्री० मध्यमग्रामस्य चतुर्थमूर्च्छनायाम, स्था० ७ ठा० ॥

उत्तरसाला–उत्तरशाला–स्त्री० गृहविशेषे, "जत्थ वा कीलापुव्वगच्छंति ण वसति ते उत्तरसाला गिहा वत्तव्वा । जे वा पच्छा कीरंति ते उत्तरसाला गिहा अच्छा तिगादिमरुया उत्तरसाला, हय गयाणं वा साला उत्तरसाला, गिहाण इम वक्खाणं गाहा "मूलगिहस्सयका' गिहाय उत्तरा होंति । जत्थ व ण वसति राया, पच्छा कीरंति जायाणे" नि० चू० ८ उ० ।

उत्तरा–उत्तरा–स्त्री० नक्षत्रभेदे, तिस्र उत्तरा । उत्तरे फाल्गुन्यौ उत्तराऽऽषाढा । उत्तरा भाद्रपद् "आषाढा उत्तरा चेव" स्था० २ ठा० ॥ "पुव्वासाढा तहा उत्तरा चेव भणु०॥ (णक्खत्तशब्दे-वक्तव्यता) मध्यमग्रामस्य तृतीयमूर्च्छनायाम, स्था० ७ ठा० । स्वनामख्यात दिग्भेदे, स्था० १० ठा० ॥ रुचकपर्वतेऽष्टानां दिक्कुमारीणां पट्ट्या दिक्कुमार्याम, स्था०७ ठा०॥ दधिमुखवास्य वापीरूपे तीर्थभेदे, " सत्तिकुन्तणिसमुद्दवाविवदिपुण्णा उत्तराभिहाणा वावि तत्थ मज्जणं काए तवस्सं माहिप्पाले पेण कुट्ठीण कुक्कुडंगेयस्समा हवइ' तीo ॥ दिगम्बरमतप्रवर्तकस्य शिवभूतेर्भगिन्याम,विशे०।आ०म०द्वि०।तस्य वक्तव्यता बोडियशब्दे वक्ष्यते।

उत्तरात्–अव्य० उत्तरदिग्देशकालविषये, । उत्तरमुत्तरस्मादुत्तरस्मिन्नित्यर्थे, वाच० ।

उत्तराणंदा–उत्तरानन्दा–स्त्री० ऊर्ध्वलोकवास्तव्याना दिक्कुमारीणां द्वितीयदिक्कुमार्याम, आ०क० ।

उत्तरापह–उत्तरापथ–पुं० उत्तरा उत्तरस्यां पन्था अच् समा० उत्तरस्या दिशि स्थिते पथि, देशभेदे च । उत्तरपथजन्मान कीर्तयिष्यामि तानपि । काम्बोजगान्धारा–किरातान्बर्बरैः सह । वाच० । "पूर्वदिसातो उत्तरापहं गतो " आ० म० द्वि० । " जहा उत्तरापहं पच्छा वच्चं तरुण तण उट्ठेइ " आव० ६अ० । " उत्तरापहं दकणा णाम मेच्छा । आ० चू० २ अ० । आ०म०प्र०

उत्तरायण–उत्तरायन–न० उत्तरा उत्तरस्यामयनं सूर्यादे (पूर्वपदात्संज्ञायाम्) पा० सूत्रेण णत्वम् । वाच० । सूर्यादेरुत्तरदिग्गमने, स्था० २ ठा० । उत्तरं च तदयनम् । षण्मासात्मके सूर्यस्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलप्रवेशसमये, (तस्य सकरणवक्तव्यता अयणशब्दे उक्ता) ।

उत्तरायणगय– उत्तरायणगत– पुं० सर्वाभ्यन्तरमण्डलप्रविष्टे कर्कसंक्रान्तिदिने, स० ॥

उत्तरायणणियट्ट–उत्तरायननिवृत्त–पुं० उत्तरायणादुत्तरदिग्गमनान्निवृत्तः । प्रारब्धदक्षिणायने, "उत्तरायण णियट्टेण,सूरिए " स्था० ३ ठा० । स० ॥

उत्तरासंग–उत्तरासङ्ग–पुं० उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषे, भ० २ श० ५ उ० " एगसाडियं उत्तरासंग करेइ " आ० म० प्र०।

उत्तरासंगकरण–उत्तरासङ्गकरण– न० उत्तरीयस्य न्यासविशेषे, "एगसाडिएण उत्तरासंगकरणेण एकत्तीकरणेण" ज्ञा०१अ०।

उत्तरासाढा–उत्तराषाढा–स्त्री क० स० अश्विन्यादिनक्षत्रेषु एकविंशे नक्षत्रे, वाच० । अभिजिदादिषु अष्टाविंशे च नक्षत्रे, जं० ७ वक्ष० । " उत्तरासाढाणक्खत्ते चउ तारे " प०स० । स्था० । उत्तराषाढानक्षत्रस्य विश्वदेवदेवता । ज्यो०(णक्खत्तशब्देऽन्यत्)

उत्तरासाढासणिच्छरसंवच्छर–उत्तराषाढाशनैश्चरसंवत्सर– पुं० शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यत्र उत्तराषाढानक्षत्रेण सह शनैश्चरो योगमुपादत्ते जं० ७ वक्ष० ॥

उत्तराहुत्त–उत्तराहूत– त्रि० उत्तराभिमुखे, " थोवावसेसियाए सज्झाए गाइ उत्तराहुत्तो ' आव० ४ अ० ।

उत्तरिज्ज– (रि अ) उत्तरीय–न० उत्तरस्मिन् देहभागे भव । गहादित्वात् छ " ग्रोत्तरिया नीय तीय कृद्येज्ज " ८ । १ । ४८ । इत्युत्तरीय शब्दे ईयभागस्य द्विरुक्तो जो वा । उत्तरिज्ज उत्तरीअ । प्रा० ॥ उपरिकायाच्छादनवस्त्रे, ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० । उत्तरासङ्गे, कल्प० । ज्ञा० । "उत्तरिज्जय विक्कुमार्ण" उपा० ८ अ० । शय्याया उपर्याच्छादके प्रच्छदे, " उत्तरिज्जं णाम–पाउरणं अहवा सेज्जाए उवरिलं प्रच्छदादि " नि० चू०१५उ०।

उत्तरित्तए–उत्तरीतुम्–अव्य० उद्० तृ० तुमुन् । बाहुजङ्घादिना नद्यादिकं अतुवितु सकृद् वा लङ्घयितुमित्यर्थे, "दुक्खुत्तो तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा" वृ०४ उ० ।

उत्तरिय–औत्तरिक–त्रि० उत्तर प्रधान. स एवौत्तरिक । प्रधाने, स्था० १० ठा० ।

उत्तरिल्ल–औत्तराह–त्रि० उत्तरस्मिन् कालादौ भवः उत्तरादाहञ् पा० उत्तर आहञ् । उत्तरकालादौ भवे, वाच० । " उज्जुवालियाए नइए तीरे उत्तरिल्ले कूले " आ० म० द्वि० ॥ "उत्तरिल्लाणं असुरकुमाराण उत्तरिल्लाण णागकुमाराणं "प्रज्ञा० २पद ।

उत्तरीकरण–उत्तरीकरण–न० अनुत्तरस्योत्तरस्य पुनः संस्काराद्वारेणोपरि करणमुत्तरीकरणम् । ध० २ अधि० । अनुत्तरमुत्तरं क्रियते इति उत्तरीकरणम् तेन कारणमिति, आव०५ अ० । यस्यातिचारस्य पूर्वमालोचनादिकृत तस्यैव पुनः शिक्षये कायोत्सर्गस्य करणे"इच्छामि ठाउं काउस्सग्गं जो मे देवसिओ तस्सुत्तरीकरणेण पायच्छित्तकरणेण "ध०२ अधि० (उत्तरकरणशब्दे प्रपञ्चतो व्याख्यातम्)

उत्त(रु)रूढ–उत्तरो(रो)ढ–पुं० उत्तर उपरितनओष्ठो वा वृद्धि । श्मश्रुणि,समुदा अहरुढा, उत्तरुढा अह पुण एव जाणिज्जा कल्प०

उत्ताड (ल) ण– उत्ताडन–न० उद् तड् णिच्० ल्युट्० आलिङ्गकुस्तुम्बगोमुखीमर्दलानां वादने, रा० ।

उत्ताडि (लि) ज्जत–उत्ताड्यमान–त्रि० वाद्यमाने, आलिङ्गकुस्तुम्बगोमुखीमर्दले, । उत्ताडिज्जताण दहरियाण कुरुवाणां कालिसियाण भंभियाण उत्तालिज्जताण आलिंगणह कुतुंबीणं गोमुहीण मद्दलाण । रा० ।

उत्ताण–उत्तान– त्रि० उद्गतस्तानो विस्तारो यस्य विशेषाद्रूर्ध्वमुखशयिते, पंचा० १८ विव० । ध० ।

वाच० । तादृशे उदके, पुरुषजाते च । स्था० ४ ठा० (पुरुसजायश ब्दे उत्तानसूत्रे प्रकटीभविष्यति)

उत्ताणग-उत्तानक-पुं० उत्तान एव उत्तानकः । पृष्ठतोऽवनता-दौ, श्रा० म० द्वि० । उच्चयवृक्षे, वाच० । "जीवेण भते गब्भगए सम्माणे उत्ताणए वा पासल्लए वा " भ० १ श० ७ उ० ॥

उत्ताणणयणपेच्छणिज्ज-उत्ताननयनप्रेक्षणीय- त्रि० उत्तानै-र्नयनैः प्रेक्षणीयम् । सौभाग्यातिशयादनिमिषैर्लोचनैः प्रेक्षणीये, ज्ञा० १ अ० । नि० । उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा पासादीया दरि-सणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, औं० ॥

उत्ताणत्थ-उत्तानार्थ- त्रि० ६ ब० प्रगटार्थे, सूत्रादर्शेषु टी-कायां तु दृष्ट इति कृत्वा लिखित उत्तानार्थश्च । सूत्र०१श्रु०७अ०

उत्ताणहत्थ-उत्तानहस्त- त्रि० प्रतिगृहीतुमूर्ध्वमुखहस्ते, "कि वणो विव उत्ताणहत्थाओ" स्त्रियः कृपणवत्सर्वेभ्यो मातापितृब-न्धुकुटुम्बादिभ्यो विवाहादावादानहेतुत्वात्, तं० ॥

उत्ताणिय-उत्तानिक-पुं० अभिग्रहविशेषात् उत्तानशायिनि, दशा

उत्तार-उत्तार- पुं० उद्- तॄ- णिच्- अच्- "उत्तरणे, अणुसो-ओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो" दश० २ अ० । उद्गमने, उल्लङ्घने, पारगमने च । उद्वेस्तारः प्रा० स० अत्यन्तोच्चशब्दादौ, त्रि० । वाच० ॥

उत्तारिय-उत्तार्य्य-त्रि० उद्. तृ णिच्. कर्मणि यत् उद्गमनीये, ल्यप् उद्गमनं कृत्वेत्यर्थे, अव्य० उद्-तृ-कर्मणि ण्यत् उद्गमनीये, त्रि-वाच०

उत्तारित- त्रि० अवरोहिते, "देवाहिदेवस्स पडिमा कायव्वा-वीयभए उत्तारिया " आ० म० द्वि० ॥

उत्तारेमाण-उत्तारयत्- त्रि० अवरोहिते, स्था० ५ ठा० ॥

उत्ताल-उत्ताल-त्रि० उद् चूरा० तल प्रतिष्ठायाम्, अच् प्रतिष्ठिते, महति, । वाच० । तालस्तु कंसिकादिशब्दविशेषः उत्प्राबल्येन अतीतमस्थानतालं वा उत्तालम् । गेयदोषभेदे, " गायतो मा पगाहि उत्तालं " स्था० ७ ठा० अनु० । जी० । जं० ॥

उत्तासइत्ता-(तृ) उत्त्रासयिता-(तृ)-त्रि० लोष्टप्रक्षेपादि-भिः उत्त्रासकारके, "से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता उत्तासइत्ता अकडं करिस्सामि" आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

उत्तासणय-उत्त्रासनक-त्रि० त्रसी उद्वेगे इतिवचनात् । उत्त्रा-स्यतेऽनेनेति उत्त्रासनं उत्त्रासन एव उत्त्रासनकः । स्मरणे-नाप्युद्वेगजनके, भ० ३ श० २ उ० । भयकरे, ज्ञा० ८ अ० । प्रश्न० । उत्त्रासकारिणि, ज्ञा० ५ अ० । "भीमा उत्तासणा परम कण्हावण्णेण पण्णत्ता" । प्रश्ना० २ पद० ।

उत्तासणिज्ज-उत्त्रासनीय- त्रि० महाभयकरे, । "नरओविव उत्तासणिज्जाओ" स्त्रियः नरकवत् उत्त्रासनीयाः दुष्टकर्मकारि-त्वात् महाभयकरा. सकुणा साध्वी जीववेश्यादासीघातिका कुलपुत्रभार्य्यावत् । तं० ॥

उत्तासिय-उत्त्रासित- त्रि० अपद्राविते, आव० ४ अ० ॥

उत्ति-उक्ति- स्त्री० वच्- क्तिन्- सम्प्र० शब्दशक्तौ, एकयोक्त्या पुष्पदन्तौ दिवाकरनिशाकरौ,वाच० । वाचि,अनु० । विशे० । भणि-तौ," गंभीराहरणेहिं उत्तीहि य भावसाराहिं" पचा० ७विव० ॥

उत्तिंग-उत्तिङ्ग-पुं० भूम्यां वृत्तविवरकारिणि गर्द्दभाकारे जीवे, ध० २ अधि० । "उत्तिगो पणगद्दगो" नि० चू० १३ उ० ॥ " उत्तिगा भूअका गर्द्दभाकृतयो जीवा " कल्प० । आव० । पि-पीलिकासंतानके, दशा० ३ अ० । आचा० । कीटिकानगरे, बृ० ४ उ० । तृणाग्रे उदकबिन्दौ, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । सर्पच्छत्रादौ, च ," गहणे सुमणिच्छिज्जा बीएसु हरिएसु वा । उद गम्मि तहा निच्चं उत्तिंगपणगेसु वा" दश० ८ अ० । छिद्रे,न० भ० । नि० चू० १८ उ० । " णावापउत्तिंगं हत्थेण वा पाएण सणया, उत्तिङ्ग रन्ध्रम्, आचा० २ श्रु० अ० उ० ॥

उत्तिंगलेण-उत्तिङ्गलयन- न० उत्तिङ्गानां लयन भूमौ उत्कीर्य गृहसुत्तिङ्गलयनम् । लयनलक्षणभेदे, । कल्प० ॥

उत्तिण्ण-उत्तीर्ण-त्रि० उद् तृ-कर्तरि क्त-निवृत्ते, अष्ट० । पारंगते कर्मणि क्तः कृतोत्तरणे नद्यादौ, वाच० ।

उत्तिम-उत्तम-त्रि० उद् तमप् "इः स्वप्नादौ" ८ । १ । ४६ । इत्या-देरस्य इत्वम् । उत्कृष्टे, प्रा० । वाच० । आर्षे उत्तम इत्येव बाहुल्येनोपलभ्यते इति तथैव उत्तमप्रकरणे दर्शितम् ।

उत्तिमट्ठ-उत्तमार्थ-पुं० अनशने, नि० चू० १ उ० ।

उत्तिमट्ठपडिवण्ण-उत्तमार्थप्रतिपन्न-पुं० स्त्री० अनशनप्रतिपन्ने, नि० चू० १ उ० ।

उत्तेइय-उत्तेजित-त्रि० उद्. तेज्-णिच्. क्त. । अधिकं दीपिते, दश० ३ अ० । उत्कृष्टतो जनानीते "सयमालं विवेकेन शाणेनोत्ते जित मुनेः" । अष्ट० । प्रेरिते, भावे. क्त. प्रेरणायाम्, उद्दीपने च । न० अश्वगतिभेदे, न० वाच० ।

उत्तेम-उत्तेम-पुं० बिन्दौ, "उत्तेमा वत्थुयायनं समत्ति" ॥ पिं०

उत्थ-उक्थ-न० वच्. थक्. । अप्रगीतमन्त्रसाध्ये स्तोत्रे चतुर्वि-शस्तोमभेदे, उपचारात् तत्साध्ये उक्थयागे च । वाच० । विशे० ॥

उत्थंघ-रुध्-धा० आवरणे, रु० उभ० द्वि० अनिट् । रुधेरुत्थंघ इत्यादेशो वा भवति । उत्थंघइ रुंधइ । प्रा० । रुणद्धि रुधे इति अरुधत् अरौत्सीत् वाच० ॥

उद्-क्षिप्-धा० तु० ऊर्ध्वक्षेपे, उत्थघइ उक्खिवइ उत्क्षिपति । प्रा० ॥

उत्थरमाण-उत्तरत्-त्रि० अभिभवति, "उत्थरमाणे सव्व महा लओ पुव्वमेहणिग्घोसो" आव० ४ अ० ।

उत्थल्ल-उत्स्थल-न० उत् उन्नतानि स्थलानि धूल्युच्छ्रयरूपाणि उत्स्थलानि धूलिपुञ्जेषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

उत्थिय-अवस्तृत-त्रि० आच्छादिते, "सुहपुरस वत्तउत्थ तु गो-त्थिया होति पासेसु " पचा० ८ विव० ।

उत्थुभण-अवस्तोभन-न० अनिष्टोपशान्तये, निष्ठीवनेन थुथु-करणे, एतच्च कौतुकभेदत्वेन साधुभिर्वर्ज्यम् बृ०१ उ० । प० व० ।

उदउल्ल-उदकार्द्र-त्रि० ३ त० । गलदुदकबिन्दुयुक्ते, दश० ५ अ० । "उदउल्लं बीयससत्त" दश० ६ अ० । "उदउल्लं अप्पणो कायं नेव पुंछे ण संलिहे" दश०८ अ० । "उदउल्लं वा कायं उ-दउल्लं वा वत्थं ससणिद्धं वा कायं ससणिद्धं वा वत्थं न मुसेज्जा न सफुसेज्जा " । दश० । ४ अ० (अह पुण एवं जाणेज्जा णो पुरेकम्मकरेण हत्थेण वा असणं वा ४ अफासुयं अणेसणिज्जं जाव णो पडिगाहिज्जा इत्यादि पुर कम्मशब्दे वक्ष्यते) आचा० २ श्रु०१ अ०५ उ । उदकार्द्र पुनर्यद्बिन्दुसहित भाजनादि गल-द्बिन्दुरित्यर्थ । ओ० । नि० चू०। उदगअल्लंग्यपि रूपं क्वचिद् दृ-श्यते ॥ कल्प० ॥

उदउल्लाहड-उदकार्द्राहृत- त्रि० उदकार्द्रे हस्तेन पुरःकर्म सस्पर्शेनानीते पिण्डे, " सागारिय पिंडुद्देसिय उदउल्लाहडे

चाउम्मासिय सागारियं पिंडुद्देसियं उदउल्लाइके' नि०चू०२०उ०।

उदओदर–उदकोदर–न० जलोदररोगे, जं० २ वक्ष०।

उदंक-उदङ्क–पुं०उदङ्को ये नोदकमुदच्यते तस्मिन्, जं०२वक्ष०।जी.

उदंच–उदञ्च–त्रि० उद् अनच् विच्-उदकशब्दार्थे, प्रथमान्तार्थे, दिग्देशादौ, वाच०।

उदंचण–उदञ्चन–न० उद् अनच् णिच् करणे ल्युट्। पिधानार्थे पात्रे, (ढक्कन) भावे ल्युट्। ऊर्ध्वक्षेपणे, कर्तरि ल्युट्। उत्क्षेपके, त्रि० वाच०। अनु०।

उदंत–उदन्त–पुं० उक्तोऽन्तो निर्णयो यस्मात्। वार्तायाम्,। ज्ञा० ८-अ० " गोसे मे वहेज्जह उदंत" व्य० द्वि० ४उ०। आ० म० प्र०। साधौ, स्वार्थे कन्। तत्रैव उक्तोऽन्तोऽस्य पाकवशात् प्रा० व० गतलोप.। पाकवशात् प्राप्तान्ते, वाच०॥

उदंतवाहय–उदन्तवाहक–त्रि० वार्त्ताहरे, वाच०।

उदक्क–उदर्क–पुं० उद् अर्क–अच् वा घञ् उत्तरकाले, भाविफलके शुभाशुभकर्मणि, वाच०। उदये, " केषांचिद्विषयज्वरातुरमहो चित्तं परेषां विषा–वेगोदर्ककुतर्कमूर्च्छितमथान्येषां तु वैराग्यतः " अष्ट०।

उदग (य)उदक–न० उन्द् एवुल्. नि नलोपश्च। जले, (चत्तारि उदगा पण्णत्ता उत्ताणे णाममेगे उत्ताणोदए इत्यादि पुरिसजायशब्दे उत्तानसूत्रावसरे व्याख्यास्यते)(चत्तारि उदगा पण्णत्ता तं जहा कद्दमोदए खंजणोदए वालुओदए सेलोदए इति सदृष्टान्तो भावशब्दे) उदग च दुविह वासु दग च। नि०चू०१०उ०। तं०। सिरापानीये, दश०४अ०। "जेण उदएण मट्टियाएण य" ओ०। "तिहिं उदगेहिं मज्जावेत्ता"त्रिभिरुदकैर्गन्धोदकोष्णोदकशीतोदकैर्मार्जयित्वा (स्था० ३ ठा०) उदकात्सिद्धिरिति वादिन ।,

एगे य सीओदगसेवणेण, हुएण एके पवयंति मोक्खं ॥

नथैके वारिभद्रकादयो भागवतविशेषा शीतोदकसेवनेन सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्ष प्रवदन्ति। उपपत्तिं च ते अभिदधति-यथोदक बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि बस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एव बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तरापि शुद्धिरुदकादेवेति मन्यन्ते।

एतेषामुत्तर यथा॥

उदगेण ये सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पावं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेणसिया य सिद्धि, सिज्झंसु पाणा बहवे दगंसि

तथा ये केचन मूढा उदकेन शीतवारिणा सिद्धिं परलोकमुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति सायमपराह्ने विकाले वा प्रातश्च प्रत्यूषसि च आद्यन्तग्रहणात् मध्याह्ने च तदेव सध्यात्रयेऽप्युदकं स्पृशन्त स्नानादिकाः क्रिया जलेन कुर्वन्त. प्राणिनो विशिष्टां गतिमाप्नुवन्तीति केचनोदाहरन्ति । एतच्चासम्यक् । यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धि स्यात् तत उदकसमाश्रिता मत्स्यबन्धादयः क्रूरकर्माणो निरनुक्रोशा बहवः प्राणिन. सिद्धेयुरिति। यदपि तैरेवोच्यते। बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य दृष्टमिति तदपि विचार्यमाण न घटते। यतो यथोदकमनिष्टमलमपनयत्येवमभिमतमप्यङ्गरागं कुङ्कुमादिकमपनयति। ततश्च पुण्यस्याऽपनयनादिष्टविघातकृद्विरुद्ध. स्यात्। किंच यतीना ब्रह्मचारिणामुदकस्नान दोषायैव। तथाचोक्तम्। "स्नान मददर्पकर, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्। तस्मात्काम परित्यज्य, न ते स्नान्ति दमेरताः॥ अपि च। नोदकक्लिन्नगात्रो हि, स्नात इत्यभिधीयते। स स्नातो यो व्रतस्नात, स बाह्याभ्यन्तर शुचि ॥१४॥

मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्टादगरक्खसा य।
अट्टाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति।१५।

किञ्च यदि जलसपर्कात्सिद्धि. स्यात्ततो ये सततमुदकावगाहिनो मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च तथा मद्गवस्तथोष्ट्रा जलचरविशेषास्तथोदकराक्षसा जलमानुषाकृतयो जलचरविशेषा एते प्रथमं सिद्धेयुर्न चैतद्दृष्टमिष्टम् ततश्च ये उदकेन सिद्धिमुदाहरन्त्येतदस्थानमयुक्तमसांप्रतं कुशलनिपुणा मोक्षमार्गाभिज्ञा वदन्ति।१५।

किञ्चान्यत्।

उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेवं॥
अंधंवणे यारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा।१६।

यद्युदक कर्ममलमपहरेदेव शुभमपि पुण्यमपहरेत्। अथ पुण्यं नापहरेदेव कर्ममलमपि नापहरेत्। अत इच्छामात्रमेवैतदयुच्यते जलं कर्मापरिहारीति। एवमपि व्यवस्थिते ये स्नानादिकाः क्रियाः स्मार्तमार्गमनुसरन्त. कुर्वन्ति ते यथा जात्यन्धा अपर जात्यन्धमेव नेतारमनुसृत्य गच्छन्त कुपथश्रुतयो भवन्ति नाभिप्रेतं स्थानमवाप्नुवन्ति। एव स्मार्त्तमार्गानुसारिणो जलशौचपरायणा मन्दा अज्ञाः कर्त्तव्याकर्तव्यविवेकविकलाः प्राणिन एव तन्मयान् तदाश्रिताश्च, पुत्तरकादीन् विनिघ्नन्ति व्यापादयन्ति अवश्य जलक्रियया प्राणव्यपरोपणस्य सम्भवादिति ॥ १६ ॥

अपि च

पावाइँ कम्माइँ पकुव्वतोहिं, सिओदगं तू जइ तं हरिज्जा।
सिज्झंसु एगे दगसत्तघाति, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु।१७।

पापानि पापोपादानभूतानि कर्माणि प्राण्युपमर्दकारीणि कुर्वतोऽसुमतो यत्कर्मोपचीयते तत्कर्म यद्युदकमपहरेत्। यद्येव स्यात् तर्हि यस्मादर्थे यस्मात्प्राण्युपमर्दकर्मोपादीयते जलावगाहनाद्याऽपगच्छति तस्मादुदकसत्त्वघातिन. पापकृतोऽप्येव सिद्ध्येयु। न चैतद्दृष्टमिष्टं वा। जलावगाहनात्सिद्धिमाहुस्ते मृषा वदन्ति॥

किंचाऽन्यत्॥

आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा।
उदयेण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो वसीयति ॥१॥

केचन अविदितपरमार्था आहुरुक्तवन्तः। किं तदित्याह। यथा महापुरुषा प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणर्षिप्रभृतय। पूर्वं पूर्वस्मिन् काले तप्तमनुष्ठित तप एव धन येषां ते तप्ततपोधना. पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहास्त एवंभूता. शीतोदकपरिभोगेन उपलक्षणार्थत्वात् कन्दमूलफलाद्युपभोगेन च सिद्धिमापन्ना. सिद्धिं गतास्तत्रैवंभूतार्थसमाकर्णने तदर्थसद्भावावेशात् मन्दोऽज्ञः स्नानादित्याजित' प्रासुकोदकपरिभोगभग्नः संयमानुष्ठाने प्रविषीदति। यदि वा तत्रैव शीतोदकपरिभोगे विषीदति लगति निमज्जतीति यावत्। नचासौ वराक एवमवधारयति यथा तेषां तापसादिव्रतानुष्ठायिनां कुतश्चिज्जातिस्मरणादिप्रत्ययादाविर्भूतसम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्रभावसंयमप्रतिपत्त्या अपगतज्ञानावरणादिकर्मणां भरतादीनामिव मोक्षावाप्तिर्न तु शीतोदकपरिभोगादिति ॥ १ ॥ किंचान्यत्॥

अभुंजिया नमि विदेही, रामगुत्ते य भुंजिया॥
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा तारा गणे रिसी ॥ २ ॥

केचन कुतीर्थिका साधुप्रतारणार्थमेवमूचु.। यदि वा स्ववर्ग्याः शीतलविहारिण एतद्वक्ष्यमाणमुक्तवन्तस्तद्यथा नमी राजा विदेहो नाम जनपदस्तत्र भवा वैदेहास्तन्निवासिनो लोकास्तेऽस्य

सन्तीति वैदेही । स एवंभूतो नमी राजा अशनादिकमभुक्त्वा सिद्धिमुपगतस्तथा रामगुप्तश्च राजर्षिराहारादिकं भुक्त्वैव भुञ्जान एव सिद्धिं प्राप्त इति ॥ तथा बाहुक शीतोदकादिपरिभोगं कृत्वा तथा नारायणो नाम महर्षिः परिणतोदकादिपरिभोगात्सिद्ध इति ॥ २ ॥ आपिच—

असिले देवले चेव, दीवायणमहारिसी ।
पारासरे दगंभोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥ ३ ॥
एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ॥ ४ ॥

असितो नाम महर्षिर्देवलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येवमादयः शीतोदकबीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते ॥ ३ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह । (एते इत्यादि) एते पूर्वोक्ता नम्यादयो महर्षयः (पूर्वमिति) पूर्वस्मिन्काले त्रेताद्वापरादौ महापुरुषा इति प्रधानपुरुषा आसमन्तात् ख्याता, प्रख्याता राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगताः इहाप्यार्हतप्रवचने ऋषिभाषितादौ केचन समता अभिप्रेता इत्येवं कुतीर्थिका स्वयूथ्या वा प्रोचुस्तद्यथा एते सर्वेऽपि बीजोदकादिक भुक्त्वा सिद्धा इत्येतन्मया भारतादौ पुराणे श्रुतम् ॥ ४ ॥

एतदुपसंहारद्वारेण परिहरन्नाह ॥

तत्थ मंदा विसीयंति, वाहच्छिन्नाव गद्दभा ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी च संभमे ॥ ५ ॥
इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती ।
जे तत्थ आरिअं मग्गं, परमं च समाहिए ॥ ६ ॥

(तत्थेत्यादि) तत्र तस्मिन् क्षुधुत्युपसर्गोदये मन्दा अज्ञा नानाविधोपसाध्यां सिद्धिगमनमवधार्य विषीदन्ति संयमानुष्ठानेन पुनरेतद्वदन्त्यज्ञा । तद्यथा येषां सिद्धिगमनमभूत् तेषां कुतश्चिन्निमित्तात् जातजातिस्मरणादिप्रत्ययानामवाप्तसम्यग्ज्ञानचारित्राणामेव वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव सिद्धिगमनमभूत् न पुनः कदाचिदपि सर्वविरतिपरिणामभावलिङ्गमन्तरेण शीतोदकबीजाद्युपभोगेन जीवोपमर्दप्रायेण कर्मक्षयोऽवाप्यते । विषीदने दृष्टान्तमाह । वहन वाहो भारोद्वहन तेन छिन्ना कर्षितास्त्रुटिता रासभा इव विषीदन्ति । यथा रासभा गमनपथ एव प्रोज्झितभारा निपतन्ति एव ते प्रोज्झय संयमभार शीतलविहारिणो भवन्ति । दृष्टान्तान्तरमाह । यथा पृष्ठसर्पिणो भग्नगतयोऽग्न्यादिसम्भ्रमे सत्युद्भ्रान्तनयना' समाकुला, प्रनष्टजनस्य पृष्ठत, पश्चात्परिसर्पन्ति नाग्रगामिनो भवन्त्यपि तु तत्रैवाग्न्यादिसम्भ्रमे विनश्यन्त्येव तेऽपि शीतलविहारिणो मोक्ष प्रति प्रवृत्ता अपि तु न मोक्षगतयो भवन्त्यपि तु तस्मिन्नेव ससारे अनन्तमपि काल यावदासत इति ॥ ५ ॥ मतान्तर निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह (इह मेगे इत्यादि) इहेति मोक्षगमनप्रस्तावे एके शाक्यादय स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ता । तुशब्द पूर्वस्मात् शीतोदकापरिभोगादिविशेपमाह । भाषन्ते ब्रुवते । मन्यन्ते च क्वचित्पाठ । किं तदित्याह सात सुख सातेन सुखेनैव विद्यते भवतीति । तथाच वक्तारो भवन्ति । "सर्वाणि सत्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दु खाच्च समुद्विजन्ति । तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि" ॥ १ ॥ युक्तिरप्येवमेव स्थिता । यत कारणानुरूप कार्यमुत्पद्यते । तद्यथा शालिबीजाच्छाल्यङ्कुरो जायते न यवाङ्कुर इत्येव प्रीत्यात्मसुखान्मुक्तिसुखमुपजायते नतु लोचादिरूपात् दु खादिति । तथा ह्यागमेऽप्येवमेव व्यवस्थितम् ॥ मणुण्ण भोयण भोच्चा, म णुण्णं सयणासण । मणुण्णंसि अगारसि, मणुण्णं भायए मुणी ॥१॥ तथा मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भुक्त मध्ये पानक चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥ १ ॥ इत्यतो मनोज्ञाहारविहारादेश्चित्तस्वास्थ्य तत, समाधिरुत्पद्यते समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिरतः स्थितमेतत्सुखेनैव सुखावाप्तिर्न पुन, कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरिति स्थितम् इत्येव व्यामूढमतयो ये केचन शाक्यादयस्तत्र तस्मिन्मोक्षमार्गप्रस्तावे समुपस्थिते आराज्जात' सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गस्त ये परिहरन्ति । तथाच । परमं च समाधिज्ञानदर्शनचारित्रात्मक ये त्यजन्ति तेऽज्ञा' स सारान्तर्वर्तिन सदा भवन्ति । तथाहि । यत्तैरभिहित कारणानुरूप कार्यमिति तन्नायमेकान्तो यत, शृङ्गाच्छरो जायते गोमयाद्वृश्चिको गोलोमाविलोमादिभ्यो दूर्वेति । यदपि मनोज्ञाहारादिकमुपन्यस्त सुखकारणत्वेन तदपि विसूचिकादिसम्भवाद्व्यभिचारीति । अपिचेद वैषयिकं सुख दु खप्रकारहेतुत्वात् सुखाभासतया सुखमेव न भवति । तदुक्तम् । दु खात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमान, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दु खबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णवदपङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥ १ ॥ इति कुत स्ततपरमानन्दरूपमस्यात्यन्तिकैकान्तिकस्य मोक्षसुखस्य कारण भवति यदपि लोचभूशयनभिक्षाटनपरपरिभवक्षुत्पिपासादंशमशकादिक दुःखकारणत्वेन भवतोपन्यस्त तदप्यल्पसत्वानाम परमार्थदृशां महापुरुषाणां तु स्वार्थाभ्युपगमप्रवृत्ताना परमार्थचिन्तकानां महासत्त्वतया सर्वमेवैतत्सुखायैवेति । तथा चोक्तम् । तणसथारनिविण्णो वि, मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो ॥ ज पावइ मुत्तिसुह, कत्तो त चक्कवट्टी वि ॥ १ ॥ तथा । सत्त्व दुष्कृतसत्या च महतां क्रान्त पद वैरिण, कायस्याशुचिता विरागपदवी सवेगहेतुर्जरा ॥ सर्वत्यागमहोत्सवाय मरण जातिः सुहृत्प्रीतये, सपद्भिः परिपूरित जगदिद स्थान विपत्तेः कुत इति ॥ १ ॥ अपिचैकान्तेन सुखेनैव सुखेऽभ्युपगम्यमाने चित्रसंसाराभाव स्यात्तथा स्वर्गस्थानां नित्यसुखिनां पुनरपि सुखानुभूतेस्तत्रैवोत्पत्ति स्यात्तथा नारकाणा च पुनर्दु खानुभवात्तत्रैवोत्पत्तेर्न नानागत्या विचित्रता ससारस्य स्यान्नचैतत् दृष्टमिष्ट चेति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० (उदकस्य विपर्यान्तराणि आ उदकाय शब्दे उक्तानि) भविष्यति सप्तमे तीर्थकरे, स० । वनस्पतिविशेषे, यथोक्तम् "उदए अवए पणए इत्यादि " दश ८ अ० । प्रज्ञा० । जलाशयमात्रे, भ० १श०८ उ० । 'मेदार्यगोत्रे, स्वनामख्याते पेढालपुत्रे, पार्श्वापत्यीये निर्ग्रन्थे,

अहेणं उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे णियंठे मेयज्जे गोत्तेणं, पासावगिच्चो पुच्छियाइओ अज्ज गोयमं उदगो सावगपुच्छा धम्मं सोच्च कहियम्मि उवसंता । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

(उदकस्य गौतमस्वामिनं प्रति प्रश्न पच्चक्खाणशब्दे व क्ष्यते) तद्विषयकत्वेन तत्रैवोपन्यसिष्यमाणत्वात् अथ संक्षयते) तद्विषयकत्वेन तत्रैवोपन्यसिष्यमाणत्वात् अथ स त्स्यति ॥ सूत्रकृतद्वितीयश्रुतस्कन्ध नालन्दीयाध्ययनाभिहित स्तद्यथा—उदकनामानगार, पेढालपुत्र पार्श्वजिनशिष्यो यो ऽसौ राजगृहनगरबाहिरिकाया नालन्दाभिधानाया उत्तरपूर्वस्यां दिशि हस्तिद्वीपवनखण्डे व्यवस्थितस्तत्रैकदास्य गौतम सदायासेपमापृच्छ्य विच्छिन्नसशयः सन् चातुर्यामं धर्मं विहाय पञ्चयाम धर्मं प्रतिपेदे इति ॥ सत्र उत्सर्पिण्यां सप्तमस्तीर्थकरो भविष्यति, स० । कालोदायिप्रभृतिष्विकादशस्वन्ययूथिकेषु चतुर्थ, स० । भ० ७ श० १० उ० ।

उदग (दग) गब्भ—उदकगर्भ—पुं० (उदकस्य) दकस्यं

धूम्य वा गर्भ इव गर्भः । स्था० ४ ठा० । कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतौ पुद्गलपरिणामे, भ० २ श० ५ उ० ॥

चत्तारि उदगगब्भा पण्णत्ता तंजहा हेमगा अब्भसंथडा सीओसिणा पंचरूविया ॥

उदकस्योदकस्य गर्भा इव गर्भा उदकगर्भाः कालान्तरे जलवर्षणस्य हेतव तत्संसूचका इति तत्त्वमिति । अवश्याय- तुषारजल महिका धूमिका शीतान्यात्यन्तिकानि च, उष्णं धर्मं चन्द्रे हि यत्र दिने तत्पक्षात्तस्माद्धूष्णार्थैः स्याहता सन्तः बहुनिर्माम्मिर्रुदक प्रसुवते धर्म्यं पुनरेषमुक्तम् । " पवनाभ्रवृष्टिविद्यु-द्गर्जितशीतोष्णरश्मिपरिवेषा । जलमत्स्येन सहोक्ता, दशधा चाम्बुगर्भजनहेतु ॥१॥ " तथा-शीतवातश्च विद्युच्च गर्जितं परिवेषणम् । सर्वगर्भेषु शमन्ति, निर्ग्रन्था सत्पुरुषोदिता ॥ २ ॥ तथा-सप्तमे सप्तमे मासे, सप्तमे सप्तमेऽहनि । गर्भाः पाकं निगच्छन्ति, यादृशास्तादृशं फलम् ॥ १ ॥" हिम तुहिनं तदेव हिमकं तस्यैते हैमका हिमपातरूपा इत्यर्थः ॥ (अब्भसंथडत्ति) अभ्रसंस्कृतानि मेघैराकाशाच्छादनानीत्यर्थः सात्यन्तिके शीतोष्णे पञ्चाना रूपाणा गर्जितविद्युज्जलपाताभ्रवातलक्षणानां समाहारः पञ्चरूपं तदस्ति यथा ते पञ्चरूपिका उदगगर्भा इह मतान्तरमेवम् । "पौषे समार्गशीर्षे, सन्ध्यारागाम्बुदाः सपरिवेषा । नात्यर्थं मार्गशिरे, शीतं पौषेऽतिहिमपात ॥ १ ॥ माघे प्रबलो वायु-स्तुषारकलुषद्युती रविशशाङ्कौ । अतिशीत सघनस्य च, भानोरस्तोदयौ धन्यौ ॥ २ ॥ फाल्गुनमासे रुक्ष-श्चण्ड- पवनोऽभ्रसंप्लवाः स्निग्धाः । परिवेषाश्च सकला, कपिलस्ताम्रो रविश्च शुभः ॥ ३ ॥ पवनघनवृष्टियुक्ताश्चैत्रे गर्भाः शुभाः सपरिवेषाः । घनपवनसलिलविद्युत्स्तनितैश्च हिताय वैशाखे इति ॥४॥" तदेव मासभेदेन दर्शयति " माहे उ हेमगा गब्भा, फग्गुणे अब्भसंथडा । सीओसिणाओ य चित्ते, वइसाहे पंचरूविया ॥ १ ॥ " स्था०४ ठा० । तस्य कालस्थिति कायस्थितिशब्दे)

उदगजीव-उदकजीव-पु० उदकमेव जीवः । उदकरूपे जीवे, सचित्ताप्काये, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० (आउकायशब्द विषय उक्तः)

उदगजोणिय-उदकयोनिक-पु० उदकं योनिरुत्पत्तिस्थान येषां ते, 'जलसम्भवेषु जीवेषु, " इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा " सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

उदकस्य योनय परिणामकारणभूता उदकयोनयस्त एवोदकयोनिका । उदकजननस्वभावेषु, " णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ता य वक्कमंति" स्था० ३ ठा०३उ० ।

उदगणाय-उदकज्ञात-न० उदकं नगरपरिखाजलं तदेव ज्ञातमुदाहरणमुदकज्ञातम् । ज्ञाताधर्मकथाया- प्रथमश्रुतस्य द्वादशाऽध्ययनेऽस्मिन् उदाहरणं, तत्प्रतिपादकेऽध्ययने च। ज्ञा०१ श्रु०१अ० । आ० चू० । आव० । तथैव ।

जइ णं भंते समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं एक्कारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । बारसमस्स णं भंते समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते । एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपाणामं णयरी होत्था । पुण्णभद्दे चेइए तीसेणं चंपाए णयरीए जियसत्तू णामं राया होत्था । तस्स णं जियसत्तुस्स रण्णो धारिणी णामं देवी होत्था । अहीणसुकुमाल जाव सुरूवा तस्स णं जियसत्तुस्स रण्णो पुत्ते धारिणीए अत्तए अदीणसत्तू णामं कुमारे जुवराया वि होत्था । सुबुद्धी अमच्चे जाव रज्जधुरा चिंतए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे तीसेणं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमेणं एगे फरिहोदए यावि होत्था । मेयवसामंसरुहिरपूयपडलपोच्चडे मयगकलेवरसंछण्णे अमणुण्णे वण्णेणं जाव फासेणं जे जहा णामए अहिमडेति वा गोमडेति वा जाव मयकुहियविणिट्ठकिमिणवावण्णदुरभिगंधकिमिजालाउले संसत्ते असुइविगयवीभच्छदरसणिज्जे भवेयारूवे सिया । णो इणट्ठे समट्ठे एत्तो अणिट्ठतराए चेव जाव गंधेणं पण्णत्ते । तए णं से जियसत्तू राया अण्णया कयाइं ण्हाए कयबलिकम्मे जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे बहूहिं राईसर जाव सत्थवाहपभिईहिं सद्धिं भोयणमंडवंसि भोयणवेलाए सुहासणवरगए विपुलं असणं ४ भुंजेमाणा जाव विहरइ । जिमियभुत्तुत्तरागए जाव सुइभूए तंसि विपुलंसि असणं ४ जाव विम्हिए ते बहवे ईसर जाव पभिई एवं वयासी अहो णं देवाणुप्पिया इमे मणुण्णे असणं ४ वण्णेणं उववेए जाव फासेण उववेए अस्सायणिज्जे विस्सायणिज्जे पीणणिज्जे दीवणिज्जे सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे तए णं ते बहवे राईसर जावप्पभिईओ जियसत्तूरायं एवं वयासी तहेव णं सामी जण्णं तुब्भे वयह अहो णं इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं वण्णेणं उववेए जाव पल्हायणिज्जे तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं एवं वयासी अहो णं सुबुद्धि अमच्चे इमे मणुण्णे असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पल्हायणिज्जे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायस्स य एयमट्ठं णो आढाइ णो परियाणाइ जाव तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी अहो णं सुबुद्धी अमच्चे इमे मणुण्णे त चेव जाव पल्हायणिज्जे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुणा दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे जियसत्तू रायं एवं वयासी । णो खलु सामी अहं एयंसि मणुण्णंसि असणं पाण खाइमं साइमंसि केइ विम्हए एवं खलु सामि सुब्भिसद्दा वि पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा वि पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति सुरूवा वि पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति । दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति । सुब्भिगंधा वि पोग्गला दुब्भिगंधत्ताए परिणमंति । दुब्भिगंधा वि पोग्गला सुब्भिगंधत्ताए परिणमंति, सुरसा वि पोग्गला दुरसत्ताए परिणमंति, दुरसा वि पोग्गला सुरसत्ताए परिणमंति । सुहफासा वि पोग्गला दुहफासत्ताए परिणमंति, दुहफासा वि पोग्गला सुहफासत्ताए परिणमंति । पओगवीससा परिणया वि य णं सामी पोग्गला पण्णत्ता तए णं से जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो आढाइ णो

परियाणइ तुसिणीए संचिट्ठइ तए णं से जियसत्तू राया अप्पया कयाइ एहाए जाव विभूसिए आसखंधवरगए महया भडचडगरआसवाहणियाए णिज्जायमाणे तस्स फरिहोदयस्स अदूरसामंते एं वीइयइ तए णं जियसत्तू राया तस्स फरिहोदगस्स अभिभूए समाणे सएणं उत्तरिज्जे णं आसगं-पिहेइ एगं तं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता ते बहवे राईसरजाव-पभिइओ एवं वयासी। अहो णं देवाणुप्पिया इमे फरिहोदए अमणुणे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिमडेइ वा जाव अणामत्तराए चेव तएणं ते राईसरप्पभिइए जाव एवं वयासी। तहेव णं सामी जणं तुब्भे एवं वयह अहो णं इमे फरिहोदए अमणुणे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिमडेइवा जाव अमणामतराए तएणं से जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासी अहोणं सुबुद्धि इमे फरिहोदए अमणुणे वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं से जहा णामए अहिमडेति वा जाव अमणा मतराए तएणं सुबुद्धि अमच्चे जाव तुसिणीए संचिट्ठइ तएणं से जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी अहोणं तं चेव तएणं से सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुणा रण्णा दोच्चंपि तच्चंपि एवं वुत्ते समाणे एवं वयासी णो खलु सामी अम्हं एयंसि फरिहोदगंसि केइ विम्हए एवं खलु सामी सुब्भिसद्दावि पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति तं चेव पओगवीससा परिणया वि यणं सामी पोग्गला पण्णत्ता तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं एवं वयासीमाणं तुमं देवाणुप्पिया अप्पाणं च परं च तदुभयं च बहुहि य असब्भावुब्भावणाहि मिच्छत्ताभिणिवेसेण य वुग्गाहेमाणे वुप्पायमाणे विहराही। तएणं सुबुद्धिस्स अमच्चस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए समुप्पज्जित्था अहो णं जियसत्तू राया संते तच्चे तहिए अवितहे संभूए जिण पण्णत्ते भावे णो उवलभंते तं सेयं खलु ममजियसत्तुस्स रण्णो सत्ताणं तच्चाणं तहियाणं अवितहाणं संभूयाणं जिण पण्णत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए एयमट्ठं उवायणावेत्तए एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता तिपत्तिएहिं पुरिसेहिं सद्धिं अंतरावणाओ णवघडए गिण्हइ२ त्ता संज्झाकालसमयंमि पविरलमणुसंसि णिसंत पडिणिमत्तंसि जेणेव फरिहोदए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तं फरिहोदगं गिण्हावेइ णवएसु घडएसु पक्खिवावेइ २ त्ता सज्जक्खारं पक्खिवावेइ लंछियमुद्दिए करावेइ सत्तरत्तं परिवसावेइ दोच्चंपि णवएसु घडएसु गालावेइ २ त्ता णवएसु घडएसु पक्खिवावेइ २त्ता सज्जक्खारं पक्खिवावेइ २त्ता लंछिय मुद्दिय करावे सत्तरत्त परिवासावेइ २ त्ता तच्चंपि णवएसु घडएसु जाव संवसावेइ २ त्ता एवं खलु एएणं उवाएणं अंतरा गलावेमाणे अंतरा पक्खिवावेमाणे अंतरा अवसावेमाणे २ सत्तसत्तए राइंदिइं परिवसावेइ २ त्ता तएणं से फरिहोदए सत्तयंसि २ परिणममाणंसि उदगरयणे जाए यावि होत्था। अच्छे पत्थे जच्चे तणुए फालियवण्णाभे वण्णेणं उववेए ४ आसायणिज्जे जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे तएणं सुबुद्धी अमच्चे जेणेव से उदगरयणे तेणेव उवागच्छइ२त्ता करयलंसि आसादेइ तं उदगरयणं वण्णेणं गंधेणं रसेणं फासेणं उववेयं आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं जाणित्ता हट्ठतुट्ठे बहूहिं उदगसंभारणिज्जेहिं दव्वेहिं संभारेइ २ त्ता जियसत्तुस्स रण्णो पाणियधारियं पुरिसं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी तुमं णं देवाणुप्पिया इमं उदगरयणं गिण्हाहिं २ जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवट्ठवेइ तएणं से जियसत्तू राया पाणियधरए पुरिसे सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एयमट्ठं पडिसुणेइ २ त्ता तं उदगरयणं गिण्हइ २ त्ता जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवट्ठवइ तए णं से जियसत्तू राया तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा विसाएमाणा जाव विहरइ जिमियभुत्तुत्तरागए वि यणं जाव परम सुइभूए तंसि उदगरयणंमि जाव विम्हए ते बहवे राईसरजाव एवं वयासी । अहो णं देवाणुप्पिया इमे उदगरयणे अच्छे जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे तए णं ते बहवे राईसर जाव एवं वयासी तहेणं सामी जण्णं तुब्भे वयह जाव तं चेव पल्हायणिज्जे तए णं जियसत्तू राया पाणियधरयं पुरिसं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी एस णं देवाणुप्पिया-उदगरयणे कओ आसादिए तए णं से पाणिधरए जियसत्तू रायं एवं वयासी एस णं सामी मए उदगरयणे सुबुद्धिस्स अंतियाओ आसाइए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धि अमच्चं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी । अहो णं सुबुद्धी अहं तव अणिट्ठे ५ जेणं तुमं ममं कल्लाकल्लिं भोयणवेलाए इमं उदगरयणं ण उवट्ठवेसि तए णं तुमे देवाणुप्पिया उदगरयणे-कओ उवलद्धे तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायं एवं वयासी एस णं सामी सफरिहोदए तए णं से जियसत्तू राया सुबुद्धी अमच्चं एवं वयासी केणं कारणेणं । सुबुद्धी अमच्चे एस फरिहोदए तएणं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायं एवं वयासी एवं खलु सामी तुम्हे तइया मम एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमट्ठं णो सद्दह तए णं ममं इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुपज्जित्था। अहो णं जियसत्तू राया संते जाव भावे णो सद्दहइ णो पत्तियइ णो रोयइ त्ति तं सेयं खलु मम जियसत्तुस्स रण्णो संताणं जाव संभूयाणं जिणपण्णत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए एयमट्ठं उवायणावेत्तए एवं संपेहेइ २ त्ता एवं चेव जाव पाणियधरियं पुरिसं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी तुमं णं देवाणुप्पिया उदगरयणं जियसत्तुस्स रण्णो भोयणवेलाए उवणेहि तं एएणं कारणेणं

सामी एस से फरिहोदए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स एवमाइक्खमाणस्स ४ एयमहं णो सद्दहइ २ त्ता असद्दहमाणे ३ अभिंतरहाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया अंतरावणाओ णवघडए गिएहह जाव उदगसंजारणिज्जेहिं दव्वेहिं संभारेह। ते वि तहेव संजारेइ जियसत्तुस्स रएणो उवणेइ तए णं जियसत्तू राया तं उदगरयणं करयलंसि आसाएइ आसायणिज्जं जाव सव्विंदियगायपल्हायणिज्जं जाणित्ता सुबुद्धिं अमच्चं सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी सुबुद्धि एएणं तुमे संता-तत्थ जाव संजूया जावा कओ उवलद्धा तएणं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायं एवं वयासी एएणं सामी मए संता-जाव जावा जिणवयणाओ उवलद्धा तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी तं इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं तव अंतिए जिणवयणं णिसामित्तए। तएणं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तुस्स रएणो विचित्तं केवलिपएणत्तं चउज्जामं धम्मं परिकहेइ तमाइक्खेति जहा जीवा बुज्झंति जाव पंच अणुव्वयाणि। तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी सद्दहामिणं देवाणुप्पिया णिग्गंथं पावयणं ३ जाव से जहेयं तुब्भे वयह तं इच्छामिणं तव अंतियं पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह। तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जइ। तएणं जियसत्तू राया समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरा जेणेव चंपाणयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव समवसढे जियसत्तू राया सुबुद्धियणिग्गए सुबुद्धी धम्मं सोच्चा जं णवर देवाणुप्पिया जियसत्तू रायं आपुच्छामि जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह तए णं से सुबुद्धी अमच्चे जेणेव जियसत्तू राया तेणेव उवागच्छइ २ त्ता एवं वयासी एवं खलु सामी मए थेराणं अंतिए धम्मे णिसम्मे सेविवधम्मे इच्छिए पडिच्छिए तए णं अहं सामी संसारजओव्विग्गे जीए जाव इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे जाव पव्वइत्तए तएणं जियसत्तू राया सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी इच्छामि ताव देवाणुप्पिया कइ वयाइं वासाइं उरालाइं जाव भुंजमाणा तओ पच्छाए गयाओ थेराणं अंतिए मुंडे जवित्ता जाव पव्वइस्सामो। तए णं सुबुद्धी णामं अमच्चे जियसत्तुस्स रएणो एयमहं पडिसुणेइ तएणं तस्स जियसत्तुस्स रएणो सुबुद्धिणा सद्धिं विपुलाइं माणुस्सगाइं जोगभोगाइं जाव पच्चणुब्भवमाणस्स दुवालसवासाइं वीइक्कंताइं। तेणं कालेणं तेणं समएणं थेरागमणं जियसत्तू राया धम्मं सोच्चा एवं जं णवरं देवाणुप्पिया सुबुद्धिं अमच्चं आमंतेमि जेट्ठपुत्तं रज्जे ठवेमि तएणं तुब्भे णं जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह। तए णं जियसत्तू राया जेणेव सए गिहे सुबुद्धिं अमच्चं सद्दावइ एवं वयासी एवं खलु मए थेराणं जाव पव्वयामि तुमं णं किं करेसि तए णं सुबुद्धी अमच्चे जियसत्तू रायं एवं वयासी जाव केअन्ने आहारे वा जाव पव्वयामि तं जइ णं देवाणुप्पिया जाव पव्वाहि गच्छ णं देवाणुप्पिया जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेहिं सहस्सपुरिसवाहिणी सीयं दुरुहित्ताणं मम अंतिए सीयाओ जाव पाउब्भवह तएणं से सुबुद्धी अमच्चे सीया जाव पाउब्भवइ। तए णं जियसत्तू राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ २ त्ता एवं वयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया अदिणसत्तुस्स कुमारस्स रायाभिसेयं उवट्ठवेह। तहेव कोडुंबियपुरिसा अभिसिंचइ जाव जियसत्तू राया पव्वइए। तए णं जियसत्तू रायरिसी एकारसअंगाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि परियायं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए सिद्धे। तएणं सुबुद्धी एकारसअंगाइं अहिज्जित्ता बहूणि वासाणि जाव सिद्धे एवं खलु जंबू समणेणं जगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं बारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्तिबेमि। "मिच्छत्तमोहिमणा–पावपसत्ता वि पाणिणो विगुणा। फरिहोदगं च गुणणो, हवंति वरगुरुपसायाओ।१" बारसमं णायज्झयणं सम्मत्तं १२॥ ज्ञा०।

उदगता–उदकता– स्त्री० अप्कायरूपतायाम्, "णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगता य वक्कमति" स्था०३ठा०।

उदगदोणि–उदकद्रोणि– स्त्री० जलभाजने, यत्र तप्तलोहं शीतलीकरणायाक्षिप्यते, "उदगदोणी थिल्लतिए" प्र० १६ श०। १ उ०। दशा० "फलिहगालणा वाणमलं उदगदोणिय" उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका इति। दशा० ७ अ०॥

उदगपरिणय–उदकपरिणत– त्रि० उदकदायकावस्थां प्राप्ते,स्था० ३ ठा० ३ उ०॥

उदगपसूय–उदकप्रसूत– त्रि० जलोत्पन्ने कन्दादौ, "उदगपसूयाणि कदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा" आचा०२ श्रु०१ अ०॥

उदगपोग्गल–उदकपौद्गल– न० उदकप्रधानं पौद्गलं पुद्गलसमूहे मेघे, "तत्थ समुट्ठिय उदगपोग्गल परिणय वा सिउकाम अन्न देस साहरति" स्था० ३ ठा० ३ उ०॥

उदगमच्छ–उदकमत्स्य– पुं० इन्द्रधनुःखण्डे, 'एष चाशुभसूचक उत्पातविशेषः, भ० ३ श० ६ उ०॥ अनु०॥

उदगमाल–पुं० उदकमाला– स्त्री०६ त० उदकशिखायाम्, वेलायाम्, स्था० १० ठा०॥

लवणस्सणं समुद्दस्स केमहालए उदगमाले पण्णत्ते? गोयमा! दसजोयणसहस्साइं उदगमाले पण्णत्ते॥

भदन्त! लवणस्य समुद्रस्य किंप्रमाणा महत्या उदकमाला समपानीयोपरिभूता षोडशयोजनसहस्रोच्छ्रया प्रज्ञप्ता? भगवानाह गौतम! दशयोजनसहस्राणि उदकमाला प्रज्ञप्ता।जी०३ प्रति०

उदगरयण–उदकरत्न– न० उदकमेव रत्नमुदकरत्नम् । उदकजातौ, उत्कृष्टे, "अम्मेहिं इमस्स धम्मियस्स पढमाए धम्माए भिक्खाए उच्छे उदगरयणे अस्सादिए" भ० १५ श० १ उ० ॥

उदगरस–उदकरस– पुं० जलरसे, तओ समुद्दा पगईए उदगरसेणं पण्णत्ता तंजहा कालोदे, पुक्खरोदे, सयंभूरमणे, स्था०३ठा०१उ " अप्पेगइयाउ उदगरसे णं पण्णत्ता " जं० १ वक्ष० ॥

उदग (दग) लेव–उदकलेप–पुं० नाभि प्रमाणजलावगाहने, "अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबले" स० । दशा० । जललेपे, "बहु परियावन्ने पाणीसु उदगलेवे तहप्पगारे असणं जाव पडिगाहेज्जा" आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ० ।

उदगवत्थि–उदकवस्ति–स्त्री० जलभृद्दृतौ, जलाधारचर्ममयभाजने, "उदगवत्थिं परामुसइ" ज्ञा० १८ अ० ।

उदगवद्दलय–उदकवार्दलक–न० भाविरेणुसंतापोपशान्तये अल्पवर्षके वार्दलके, आ० म० द्वि० ।

उदगविंदु–उदकविन्दु–पुं० जललवे, पंचा० ४ विव० ।

उदगवेग–उदकवेग–पुं० उदकरये "तिक्खम्मि उदगवेगे विसमम्मि विज्जलम्मि वच्चंतो" व्य० प्र० १ उ० ।

उदगसंचारणिज्ज–उदकसंचारणीय–न० वालकमुस्तादौ, उदकवासादौ, "हट्ठतुट्ठे बहुहिं उदगसंचारणिज्जेहिं" ज्ञा० १३ अ०

उदगसत्थ–उदकशस्त्र–न० उदकं शस्त्रमुदकमेव शस्त्रम् । अप्कायरक्षके स्वकायपरकायशस्त्रे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

उदगसिहा–उदकशिखा–स्त्री० वेलायाम्, स्था० १० ठा० ।

उदग (दग) सीमय–उदक (दक) सीम–पुं० उदक (दक) स्य शीताशीतोदपानीयस्य सीमा यत्रासौ उदक (दक) सीमः मनःशिलाकस्य वेलन्धरनागराजस्यावासपर्वते, जी० ३ प्रति० (तद्वक्तव्यता वेलन्धरशब्देवक्ष्यते)

उदग (दग) हारा–उदकधारा–स्त्री० उदकविन्दुप्रवाहे, ज्ञा० ६ अ० ।

उदगुप्पीला–उदकोत्पीला–स्त्री० तडागादिषु जलसमूहे, ॥भ०॥ ३ श० ६ उ० ॥

उदग्ग–उदग्र–त्रि० उन्नतमग्रं यस्य । उन्नते, स्था० ४ ठा० ॥ अनन्तपर्यवसाने, भ० २ श० १ उ० । उत्त० । उत्कटे, उत्त० १४ अ० । प्रधाने, "जहा से तिक्ख दाढे, उदग्गे दुप्पहंसए" सीहेमियाण पवरे एवं हवइ बहुस्सुए" उत्त० १३ अ०

उदग्गचारित्ततव उदग्रचारित्रतपस् पुं० स्त्री० उदग्रं प्रधान साध्वाचारं सर्वविरतिलक्षणं दशविधरूप चारित्रतपो द्वादशविध यस्य स उदग्रचारित्रतपाः । प्रधानचारित्रतपस्के, " चित्तो वि कामेहिं विरत्तकामो, उदग्गचारित्ततवो महेसी, उत्त० १३ अ० ॥

उदत्त–उदात्त–पुं० उद्– आ० दा० क्त वर्णोत्पत्तिस्थानेषु उच्चैरुच्चारिते स्वरे, तद्युक्ते, त्रि० । "अविकत्थन क्षमावा–नतिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयान् निगूढमानो, धीरो दात्तो दृढव्रतः कथित. " सा० द. उक्ते(पूर्वपदलोपेन)नायकभेदे, वाच० । कर्तरि क्तः । उदारे "अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ' ॥ षो० १४ विवृ० । महति, समर्थे, दातरि, च त्रि० । भावे क्त, दाने, वाद्यभेदे, अलङ्कारभेदे च । वाच० ।

उदत्तात्त–उदात्तात्त–पुं० गौतमगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तत्प्रवर्तिते गोत्रे, तत्र जाते च । " ते उदात्तात्ता " स्था० ७ ठा० ।

उदय–उदय–पुं० उद्. इ. अच्. प्रादुर्भावे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । उत्पत्तौ,–विशे० । ज्योतिषोक्ते राशेरुदयरूपे लग्ने, । आभारे अच् । "येर्यत्र दृश्यते भास्वान् स तेषामुदयः स्मृतः" इत्युक्तलक्षणे रवेर्दृष्टियोग्यस्थाने, उदयाचले, पूर्वपर्वते, वाच० । कर्मपुद्गलानां यथास्थितिबद्धानामबाधाकालक्षयेणापवर्तनविशेषतो वा उदयप्राप्तानामनुभवने, विपाकवेदने, क० प्र० । कर्म० । दश० । प्रव० । उदयावलिकाप्रविष्टानां कर्मपुद्गलानामनुभूतसमर्थतायाम्, आ० म० प्र० । विपाके,–दश० १ अ० ।

(१) प्रकृत्युदयः तत्र नानात्व च ।
(२) जघन्योत्कृष्टस्थित्युदयः ।
(३) अनुभागोदयः ।
(४) प्रदेशोदयनिरूपणावसरे साद्यनादिप्ररूपणास्वामित्वं ।
(५) कस्मिन्गुणस्थाने कियत्यः प्रकृतयो भगवतः क्षीणाः ।
(६) उदयहेतुः ।

(१) तद्वक्तव्यता चैवं तत्र प्रकृत्युदयो यथा–

उदओ उदीरणाए, तुल्लो मोत्तूण एकचत्तालं ।
आवरणविग्घसंजलण–लोभवेए य दिट्ठिदुगं ॥१८८॥
आलिगमहिगं वेएति, आउगाणं अप्पमत्तावि ॥
वेयणियाणि उदयदुसमय–तणुपज्जत्ता दावनिद्दाउ ॥१८९॥
मणुयगइजाइतसबा–यरं च पज्जत्तसुभगमाएज्जं ॥
जसकित्तिमुच्चगोत्तं–पंचाजोगिकेइ तित्थयरं ॥ १९० ॥

उदय उदीरणायाः तुल्यः किमुक्तं भवति उदीरणायाः प्रकृत्युदयः प्रागुक्ता या च साद्यनादिप्ररूपणा यच्च स्वामित्वमेतत् सर्वमन्यूनातिरिक्तमुदयेऽपि द्रष्टव्यम् । उदयोदीरणयोः सहभावित्वात् । तथाहि यत्र उदयस्तत्रोदीरणा यत्र उदीरणा तत्रोदयः किं सर्वत्राप्येवमिति चेत् उच्यते । अत आह । मुक्त्वा एकचत्वारिंशत् प्रकृतीनामासामुदीरणामन्तरेणापि कियत् कालमुदयस्य प्राप्यमाणत्वात् । तथाहि ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणचतुष्टयान्तरपञ्चकसंज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वरूपा विंशतिः प्रकृतीः स्वस्वोदयपर्यवसाने आवलिकामात्र कालमधिकृत्य वेदयन्ति । उदीरणामन्तरेणाऽपि केवलेनोदयेनावलिकामात्रं कालमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ तत्रावलिकामात्रं त्रयाणां वेदानां मिथ्यात्वस्य चान्तरकरणस्य प्रथमस्थितौ आवलिकाशेषायाम् शेषाणां स्वस्वसत्तापर्यवसाने । तथा चतुर्णामप्यायुषां स्वस्वपर्यवसाने आवलिकामात्रं कालमुदय एव भवतीति नोदीरणा मनुष्यायुर्वेदनीययोर्वा प्रमत्ताप्रमत्तसंयतप्रभृतय उदीरणामन्तरेणापि केवलेनैवोदयेन वेदयन्ते न तथा तनुपर्याप्ताः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ताः सन्तो द्वितीयस्य समयादारभ्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य इन्द्रियपर्याप्तिचरमसमय यावत् उदीरणामन्तरेणापि केवलेनैवोदयेन निद्राः पञ्चापि वेदयन्ते । तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्ररूपा नवप्रकृतिः योगिकेवलिन उदीरणामन्तरेण स्वकाल यावत् केवलिनि नैवोदयेन वेदयन्ते । तथा तनुपर्याप्ताः शरीरपर्याप्तापर्याप्ताः सन्तो द्वितीयस्य समयादारभ्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य इन्द्रियपर्याप्तिचरमसमयं यावत् उदीरणामन्तरेणापि । क० प्र० ।

होइ अणाइअणंतो, अणिसंतो धुवोदयाणुदओ ।
साइसपज्जवसाणो, अधुवाणं तदयमिच्छस्स ॥

इहक प्रकृतयो द्विधा तद्यथा ध्रुवोदया अध्रुवोदयाश्च । तत्र कर्मप्रकृतिका उदयचिन्तायामप्यष्टपञ्चाशदधिकं प्रकृतीनां शतं भव्यते मत कर्म वा करणाष्टकपरिसमाप्तेः कर्मप्रकृतिभिः प्रायो ब-

च्यते । ततो ध्रुवोदयाः प्रकृतयोऽष्टचत्वारिंशत्संख्या वेदितव्यास्तद्यथा ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयं मिथ्यात्वं वर्णादिविंशतिस्तैजसकार्म्मणसमकस्थिरास्थिरेषु शुभाशुभे अगुरुलघुनिर्म्माणमिति । एतासामष्टचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनामुदयो द्विधा । तद्यथा अनाद्यनन्तः अनादिसपर्यवसानस्तत्र अभव्याश्रितानां च तत कदाचिदपि व्यवच्छेदासम्भवात् भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः तेषां मोक्षं प्रतिस्थितानामवश्यमुदयव्यवच्छेदसम्भवात् । अध्रुवाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनामुक्तव्यतिरिक्तानां विशोत्तरशतसंख्यानामुदयसादिपर्यवसानः अध्रुवोदयतः परावृत्य २ तासामुदयभावात् न केवलमध्रुवोदयानामुदयः सादिसपर्यवसानः किन्तु मिथ्यात्वस्य च । तथाहि-सम्यक्त्वात्प्रतिपतितमधिकृत्य मिथ्यात्वस्योदयः । सादिः पुनरपि सम्यक्त्वकस्पान्न्यवच्छेदादध्रुवः । तदेव मिथ्यात्वस्योदयस्त्रिविध आवेदितस्तद्यथा-अनाद्यनन्तानादिसपर्यवसानः । एतौ च द्वावपि भङ्गौ ध्रुवोदयत्वात्तद्ग्रहणेन गृहीतौ तृतीयस्तु भेदः सादिपर्यवसानलक्षणस्तदयमिच्छसेइत्यनेनावयवेन ऽऽऽऽ उक्त इति

पयमिहं ठिइमाइया भेया, पुव्वुत्ता इहावि किरिया ।
उदीरणउदयाणं, जइ नाणत्तं तयं वोच्छं ॥

यथा-किल पूर्वं बन्धविधौ प्रकृतिस्थित्यादयो भेदा उक्तास्तद्यथा प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धश्च । तथा इहाप्युदयाधिकारे ज्ञेयास्तद्यथा प्रकृत्युदयः स्थित्युदयोऽनुभागोदयः प्रदेशोदयश्च । तत्राचार्यः स्वयमेवाग्रे सप्रपञ्चमुदीरणाकरणं वक्ष्यति उदयोदीरणयोश्च प्रायः स्वामित्वं प्रत्यविशेषः सहभावित्वात् । तथाहि-यत्रोदयस्तत्रोदीरणा यत्रोदीरणा तत्रोदय । ततो यथा प्रकृत्यादयो भेदा उदीरणाधिकारे वक्ष्यन्ते यच्च स्वामित्वं प्ररूपणादिकं तदेतत्सर्वमन्यूनातिरिक्तमत्रापि भावनीयम् । यत्पुनर्नानात्वं तदभिधित्सुराह (उदीरणेत्यादि) उदीरणोदययोः प्रकृत्यादिभेदविषये यतो नानात्वं तद्वक्ष्ये शेषं तदुदीरणावद्द्रष्टव्यमिति भावः ।

तत्र प्रकृतिभेदविषये नानात्वं दिदर्शयिषुर्गाथाद्वितयमाह ।

चरिमोदयपुव्वाणं, अजोगिकालं उदीरणा विरहे ।
देसूणं पुव्वकोडी, मनुयाउगवेयणीयाणं ॥
तइयाविय पज्जत्ती, जाता निद्दाणहोइ य चउएहं ।
उदओ आवलिअंते, तेवीसाए उ सेसाणं ॥

चरमोदयानां चरमे अयोगिकेवलिचरमसमये उदयो यासां नामप्रकृतीनां ताश्चरमोदयास्ताश्चेमा नव । तद्यथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबादरनामपर्याप्तनामसुभगनामादेययशःकीर्तिनामतीर्थकृतां च भगवतामयोगिकेवलिनां तीर्थनाम च । एतासां नवानां प्रकृतीनामुच्चैर्गोत्रस्य च अयोगिकालस्तावत् कालः यावत् उदीरणाविरहेऽपि उदीरणाया अभावेऽप्युदय एव केवलः प्रवर्तते । तथा मनुष्यायुः सातवेदनीयमसातवेदनीयं चेत्येवरूपाणां तिसृणां प्रकृतीनां प्रमत्तसंयतगुणस्थानकात्परतः शेषेषु गुणस्थानकेषु वर्तमानानामुत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटी यावत् उदीरणामन्तरेण केवल उदयो भवति । स चोत्कर्षत इयान् कालः सयोगिकेवलिगुणस्थानके द्रष्टव्यः शेषस्य गुणस्थानकस्य सर्वस्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । अथ कस्मात्सातासातवेदनीयमनुष्यायुषां प्रमत्तसंयतगुणस्थानकात्परत उदीरणा न प्रवर्तते । उच्यते अमीषां ह्युदीरणा सङ्क्लिष्टाध्यवसायवशतः प्रवर्तते तथा स्वाभाव्यात् विशुद्धविशुद्धतराध्यवसायवर्तिनश्चाप्रमत्तसंयतादयस्ततस्तेषां वेदनीयद्विकमनुष्यायुषोरुदीरणाया अभावः । तथा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां सतां शरीरपर्याप्तिपर्याप्त्यनन्तरसमयादारभ्य यावत्तृतीया पर्याप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः परिसमाप्तिमुपैति तावत्पञ्चानामपि निद्राणां तथा स्वाभाव्यात् नोदीरणा प्रवर्तते किन्तूदय एव केवलस्तथा शेषाणां ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकसंज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वमिथ्यात्वनारकायुषस्तिर्यगायुर्देवायूरूपाणां त्रयोविंशतिप्रकृतीनामावलिकाः । ततोऽन्तर्भूतायामावलिकायामुदय एव केवलोदीरणा । तथाहि-पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणरूपस्य दर्शनावरणचतुष्टयस्य क्षीणकषायस्य पर्याप्तावलिकायां वर्तमानस्यावलिकायां प्रविष्टत्वान्नोदीरणेत्युदय एव केवलः । एवमेव सज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायपर्यन्तावलिकायां मिथ्यात्वस्त्रीपुनपुंसकवेदानामन्तरकरणे कृते प्रथमस्थित्यामावलिका शेषाणां नारकायुस्तिर्यगायुर्देवायुषां स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायामुदय एव केवलो नोदीरणा । आवलिकान्तर्गतस्य कर्म्मणः सर्वस्याप्युदीरणा तदत्ययात् इह मनुष्यायुष उदीरणाविरहेऽप्युदयकालः प्रागेव देशोनपूर्वकोटीप्रमाणमुक्तस्ततो मनुष्यायुषो मिथ्यादृष्ट्यादीनां पर्यन्तावलिकायामुदीरणाविरहेऽपि य उदयकाल आवलिकामात्रः स तदन्तर्गत एव वेदितव्य इति पृथग्नोक्तः । पूर्वकोट्यभिधाने ह्यावलिकामात्रं तदेकदेशतया भूतसामर्थ्यात् उक्तमवशेषं शेषाणां तु प्रकृतीनां यावदुदयस्तावदुदीरणा यावदुदीरणा तावदुदय इति तदेव दर्शितं प्रकृत्युदये उदीरणातो विशेषः । सम्प्रत्यत्रैव साद्यादिप्ररूपणा कर्तव्या सा च द्विधा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च तां द्विविधामपि चिकीर्षुराह ।

मोहे चउहा तिविहे, वोससत्तएहमूलपगईण ।
मिच्छत्तउदयचउहा, अधुवधुवाणं दुविहतिविहो ॥

मोहो मोहनीयस्य कर्म्मण उदयश्चतुर्धा चतुःप्रकारस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवो ध्रुवश्च । तथाहि-उपशान्तगुणस्थानका प्रतिपातिनो भवेत् सादिस्ततस्तत्स्थानमप्राप्तस्यानादिः । ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया, अवशेषाणां सप्तानां मूलप्रकृतीनामुदयस्त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तद्यथाऽनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामुदयः क्षीणमोहान्तसमयं यावत् वेदनीयनामगोत्रायुषां सयोगान्तसमयम् । न च क्षीणो भूयः प्रादुर्भवति ततः एतासां सप्तानामप्युदयोऽनादिर्भव्यानामध्रुवः क्षपकश्रेण्यामाह । यथोक्तकाले तथा उदयव्यवच्छेदभावादभव्यानां ध्रुवः कदाचिदपि व्यवच्छेदासंभवात् । कृता मूलप्रकृतिषु साद्यादिप्ररूपणा । सांप्रतमुत्तरप्रकृतिभूतां करोति (मिच्छत्तुदउइत्यादि) मिथ्यात्वस्योदयश्चतुर्धा चतुष्प्रकारस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तत्र सम्यक्त्वात्प्रतिपतितस्य भवेत् सादिस्ततस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवावभव्यभव्यापेक्षया । तथा अध्रुवाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनामुदयो द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा । सादिरध्रुवश्च । सा च साद्यध्रुवता अध्रुवोदयवद्भावनीया । तथा ध्रुवाणां ध्रुवोदयानां प्रकृतीनां प्रागुक्तस्वरूपाणां मिथ्यात्ववर्ज्यशेषसप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुदयस्त्रिप्रकारस्तद्यथा अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च तथाहि घातिध्रुवोदयानां प्रकृतीनां क्षीणमोहगुणस्थानकचरमसमयं यावदुदयानामध्रुवोदयानामयोग्यन्त समयस्ततस्तत्स्थानमप्राप्तानां सर्वेषामपि संसारजीवानामुदयो ध्रुवोदयो नाम नादिध्रुवाध्रुवौ प्राग्वत् । उक्तः प्रकृत्युदयः ।

(२) सम्प्रति स्थित्युदयमाह-

उदओ ठिइक्खएणं, संपत्तीए सभावतो पढमो ।

सति तम्मिन्नावलीओ, पओगउदीरणा उदओ ॥

इह उदयो द्विधा। तद्यथा स्थितिक्षयेण प्रयोगेण वा। तत्र स्थितिरबाध्यकालरूपा तस्याः क्षयेण इत्यर्थोऽबाधाकालसमयनावरूपाणामुदयहेतूनामप्राप्तौ सत्यां यः स्वभावत उदयः स स्थितिक्षयेणोदय उच्यते। यो पुनस्तस्मिन्नुदये प्रवर्तमाने सति प्रयोगत उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण दलिकमाकृष्यानुभवति स द्वितीय उदीरणोदयाभिधान उच्यते। स च उदयसामान्यतो द्विधा। तद्यथा- जघन्य उत्कृष्टश्च। तत्रोत्कृष्टस्थित्युदीरणाद्युत्कृष्टस्थित्युदयस्थित्यान्यधिकस्तथा चाह—

उदीरणाजोग्गाणं, अइदिहिइए य जोग्गो उ ।

हस्सुदएगट्ठिइणं, निद्दाम्मा सगिलाणए ॥

उदीरणायोग्यानामुत्कृष्टस्थितीनां प्रकृतीनामुदीरणायोग्येभ्यः स्थितिभ्यः उदययोग्याः स्थितय एकया उदययोग्यया स्थित्या अभ्यधिका वेदितव्याः। तथा ह्युत्कृष्टायां स्थितौ बध्यमानायामबधिकालेऽपि यावद्दलिकं प्ररूपयति तथा बन्धावलिकायामतीतायामनन्तरस्थितौ विपाकोदयेन वर्तमान उदयावलिकान्त उपरिवर्तिनीः सर्वा अपि स्थितीरुदीरयति उदीर्य च वेदयते ततो बन्धावलिकाहीनयोः शेषयोः सर्वस्या अपि स्थितेरुदयोदीरणे तुल्ये वेद्यमानायां च स्थितौ उदीरणा न प्रवर्तते किन्तूदय एव केवलस्ततो वेद्यमानायां समयमात्रस्थितिभ्योऽधिका उत्कृष्टस्थित्युदीरणा। तत उत्कृष्टस्थित्युदयाबन्धावलिकोदयावलिकाद्विनाज्ञानुत्कृष्टस्थित्युदय उदयोत्कृष्टप्रधानप्रकृतीः वेदितव्याः। शेषाणां तु यथायोग तत्राप्युक्तनीत्या उदयस्थित्याऽभ्यधिकोऽवगन्तव्यः। संप्रति जघन्यस्थित्युदये विशेषमाह। (हस्सुदएत्यादि) प्रागुक्तानां मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरनामोच्चैर्गोत्रायुश्चतुष्टयसातासातवेदनीयनिद्रापञ्चकज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयसंज्वलनलोभवेदत्रयसम्यक्त्वमिथ्यात्वरूपाणामेकचत्वारिंशत्संख्याकानां प्रकृतीनां निद्रापञ्चकोनानां सतीनां षट्त्रिंशत्संख्यानां ह्रस्वो जघन्यः स्थित्युदय एकस्थितिरवसेया। निद्रायां पुनरेकैकस्थितीनां समये वेदितव्य। किमुक्तं भवति। उक्तरूपाणां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यः स्थित्युदयः समयमात्रैकस्थित्युदयप्रमाणो वेदितव्य इति। समयमात्रा चैका स्थितिश्चरमा स्थितिरवसेया। निद्रापञ्चकस्य हयुदीरणाया अभावेऽपि शरीरपर्याप्त्यनन्तरं विपाकोदयकाले अपवर्तनाऽपि प्रवर्तते। तत एका स्थितिर्न प्राप्यते इति। तद्वर्जनशेष तु सर्वमपि साद्यादिप्ररूपणादिकं स्थित्युदीरणायामेव निरवशेषमवगन्तव्यम्। उक्तः स्थित्युदयः॥

(३) सम्प्रत्यनुभागोदयमाह।

अणुभागुदओ वि उदीरणा—ए तुल्लो जहन्नए नवरं ।

आवलिगंतेन सम्म—त्तं वेयखीणंतलोभाणं ॥

अनुभागोदयोऽप्युदीरणायास्तुल्यो यथानुभागोदीरणा सप्रपञ्चमत्र वक्ष्यते तथाऽनुभागोदयोऽपि वक्तव्य इति भाव। किं सर्वथा साम्यमिति चेदत आह। नवरमय विशेषोऽजघन्यमनुभागोदयं सम्यक्त्ववेदानां क्षीणान्तानां क्षीणमोहगुणस्थानकपर्यवसानानां ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशानां प्रकृतीनां संज्वलनलोभस्य च आवलिकान्ते जानीयात्। इयमत्र भावना। ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयवेदत्रयसंज्वलनलोभसम्यक्त्वरूपाणामेकोनविंशतिप्रकृतीनां स्वस्वपर्यवसानसमये उदीरणाया व्यवच्छेदे सति परत आवलिकां गत्वा आवलिकाचरमसमये जघन्यानुभागोदयस्य प्राप्यमाणत्वादिति। तदेवमुक्तोऽनुभागोदय। पं० सं०।

(४) संप्रति प्रदेशोदयाभिधानावसरस्तत्र चेमौ अर्थाधिकारौ-तद्यथा साद्यनादिप्ररूपणास्वामित्वं। साद्यनादिप्ररूपणा द्विविधा। मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च। तत्र मूलप्रकृतिविषय साद्यनादिप्ररूपणार्थमाह।

अजहण्णाणुक्कोसा, चउव्विहा छिण्हचउव्विहा मोहे ।

आउस्स साइअधुवा, सेसविगप्पा य सव्वेवि । १०३।

मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां कर्मणामजघन्यः प्रदेशोऽय चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि कश्चित् क्षपितकर्मांशो देवलोके देवो जातः स च तत्र संक्लिष्टो भूत्वा उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशाग्रमुद्वर्त्तयति ततो बन्धावसाने कालं कृत्वा एकेन्द्रियेषु उत्पन्नस्तस्य प्रथमसमये प्रागुक्तानां षण्णां कर्मणां जघन्यप्रदेशोदयः। स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरनादिर्ध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः सोऽपि तस्य द्वितीयसमये भवन् सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथा तेषामेव षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टः प्रदेशोदयस्त्रिधा त्रिप्रकारस्तद्यथा अनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि अमीषां षण्णां कर्मणामनुत्कृष्टः प्रदेशोदय प्रागुक्तस्वरूपस्य गुणितकर्मांशस्य स्वस्वोदयान्तगुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्य प्राप्यते स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चानादिः सदैव भावात्। ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथा मोहे मोहनीये अजघन्योत्कृष्टश्च प्रदेशोदयश्चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि-क्षपितकर्मांशस्यान्तरकरणे कृते अन्तरकरणे पर्यन्तावलिगोपुच्छाकारसंस्थितावलिकामात्रदलिकान्तसमये मोहनीयस्य जघन्यप्रदेशोदय। स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च। ततोऽन्य सर्वोऽप्यजघन्यः सोऽपि ततो द्वितीयसमये भवन् सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। तथा गुणितकर्मांशस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकान्तसमये उत्कृष्टप्रदेशोदयः। स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चोपशमश्रेणीतः प्रतिपतितो भवन् सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत्। आयुषि चत्वारोऽपि भेदा उत्कृष्टजघन्यरूपाः साद्यध्रुवाः। चतुर्णामपि भेदानां यथायोग नियतकालं भावात्। तथा सर्वेषां कर्मणां प्रागुक्तानां षण्णां मोहनीयस्य उक्तशेषौ विकल्पौ उत्कृष्टजघन्यरूपौ साद्यध्रुवौ तौ च प्रागेव भावितौ कृता मूलप्रकृतीनां साद्यनादिप्ररूपणा।

संप्रत्युत्तरप्रकृतीनां चिकीर्षुराह।

अजहण्णाणुक्कोसो, सगयाला एगचउतिहा चउहा ।

मिच्छत्ते सेसाणं, दुविहा सव्वे य सेसाणं । १०४।

तैजससप्तकवर्णादिविंशतिस्थिरास्थिरनिर्माणागुरुलघुशुभाशुभज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणा सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यप्रदेशोदयश्चतुर्विधस्तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च। तथाहि-क्षपितकर्मांशो देव उत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमान उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशमुद्वर्तयति। ततो बन्धावसाने कालं कृत्वा एकेन्द्रियेषूत्पद्यते तस्य प्रथमसमये प्रागुक्तानां सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीना जघन्यप्रदेशोदय। नवरमावधिकस्य ज्ञानावरणावधिदर्शनावरणयोर्बन्धावलिकाचरमसमये देवस्य जघन्यप्रदेशोदये वेदितव्यः। स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यजघन्य। स च द्वितीयसमये भवन् सादिः।

तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः । ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा अमूषामेव सप्तचत्वारिंशत् प्रकृतीनामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः । स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः स चानादि सदैव भावात् । ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा मिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्य जघन्योऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशोदयश्चतुर्विधः तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च । तथाहि-क्षपितकर्मांशस्य प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयत कृतान्तरकरणस्य औपशमिकस्य सम्यक्त्वात्प्रच्युतस्य मिथ्यात्व गतस्यान्तरकरणपर्यन्तमावलिगोपुच्छाकारसंस्थितावलिकामात्रदलिकान्त समये वर्तमानस्य जघन्यतः प्रदेशोदयः स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोन्यः सर्वोऽप्यजघन्यः सोपि द्वितीयसमये भवन् सादिः वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपततः सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । तथा कश्चिद्गुणितकर्मांशो यदा देशविरतिगुणश्रेण्या वर्तमान सर्वविरतिं प्रतिपद्यते ततस्तन्निमित्तां गुणश्रेणिं करोतीति कृत्वा च तावद्गतो यावत् द्वयोः गुणश्रेण्योर्मस्तके तदानीं च कश्चिन्मिथ्यात्व गच्छति । ततस्तस्य मिथ्यात्वस्योत्कृष्ट प्रदेशोदयः स चैकसामायिक इति कृत्वा सादिरध्रुवश्च ततोऽन्यः सर्वोऽप्यनुत्कृष्टः सोऽपि ततो द्वितीयसमये भवन् सादिः वेदकसम्यक्त्वाद्वा प्रतिपतति सादिः तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिः ध्रुवाध्रुवौ पूर्ववत् । एतासां च सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां मिथ्यात्वस्य च वक्ष्यमाणौ विकल्पौ जघन्योत्कृष्टरूपौ द्विधा द्विप्रकारौ तद्यथा सादी अध्रुवौ तौ च भावितावेव शेषाणामध्रुवोदयानां प्रकृतीनां दशोत्तरशतसंख्यानां सर्वेऽपि विकल्पा जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टरूपा द्विधा ज्ञातव्याः तद्यथा साद्योऽध्रुवाश्च सा च साद्यध्रुवता च अध्रुवोदयत्वादवसेया कृता साद्यनादिप्ररूपणा ।

सम्प्रति स्वामित्वमप्यभिधानीय तच्च द्विधा उत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्व जघन्यप्रदेशोदयस्वामित्वं च । तत्रोत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्वप्रतिपादनार्थं सम्भवतीति गुणश्रेणिः सर्वा अपि प्ररूपयति ॥

सम्मत्तुप्पासावि य, विरए संजोयणाविणासे य ।
दंसणमोहक्खवगे, कसायउवसामगुवसंते ॥ ३०५ ॥
खवगे य खीणमोहे, जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी ।
तदओ तव्विवरीओ, कालो संखेज्जगुणसेढी ॥ ३०६ ॥

इह एकादशगुणश्रेणयः तद्यथा सम्यक्त्वोत्पादे प्रथमा, द्वितीया श्रावके देशविरतनृतीया विरते सर्वविरते, प्रमत्ते चतुर्थी, संयोजनानामनन्तानुबन्धिनां विसंयोजने पञ्चमी, दर्शनमोहनीयतृतीयक्षपणे षष्ठी, चारित्रमोहनीयोपशमके सप्तमी, उपशान्तमोहनीये अष्टमी, मोहनीयक्षपके नवमी, क्षीणमोहे दशमी, सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनित्येकादशीति (असंखगुणसेढीउदयओत्ति) सर्वस्तोकसम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेण्यां दलिक ततोऽपि देशविरतिगुणश्रेण्यामसंख्येयगुणं ततोऽपि सर्वविरतिगुणश्रेण्यामसंख्येयगुणमेव तावद्वाच्य यावदयोगिकेवलि गुणश्रेण्यां दलिकमसंख्येयगुण तस्मात् प्रदेशोदयमप्याश्रित्य एता गुणश्रेणयो यथाक्रममसंख्येयगुणा वक्तव्याः (तव्विवरीओत्ति) सर्वास्वपि एतासु गुणश्रेणिषु कालस्तद्विपरीत उदयविपरीत संख्येयगुणश्रेण्या तद्यथा अयोगिकेवलिगुणश्रेणिकालः संख्येयगुण एव तावद्वाच्य यावत् सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणिकालः संख्येयः । गुणस्थापना एषा सम्यक्त्वोत्पादगुणश्रेणिः । पुनर्यथोत्तरमसंख्येयगुणदलिकाकालतश्च संख्येयगुणाः उपरिष्टाच्च पृथक्त्वेन यथोत्तर विशाला विशालतरा । अथोच्यते कथं दलिक यथोत्तरमसंख्येयगुण प्राप्यते उच्यते । सम्यक्त्वमुत्पादयन् मिथ्यादृष्टिर्भवति ततस्तस्य स्तोकं गुणश्रेणिदलिकं सम्यक्त्वोत्पत्तौ सत्यां पुनः प्रागुक्तगुणश्रेण्यपेक्षया संख्येयगुणदलिका गुणश्रेणिः विशुद्धत्वात् ततोऽपि सर्वविरतस्य गुणश्रेणिरसंख्येयगुणदलिका तस्यातिविशुद्धत्वात् । एवमुत्तरोत्तरविशुद्धिप्रकर्षवशात् यथोक्तमसंख्येयगुणदलिका भावनीया ॥

संप्रति का गुणश्रेणिः कस्यां गतौ प्राप्यते इत्येतन्निरूपणार्थमाह ।

तिन्नविमपढमपढिओ, मिच्छत्तगए वि होज्ज अभवे ॥
पगयं तु गुणियकम्मे, गुणसेढी सीसगाणुदये ॥ ३०७ ॥

आद्यास्तिस्रो गुणश्रेणयः सम्यक्त्वोत्पाददेशविरतिसर्वविरतिनिमित्ता झटित्येव मिथ्यात्व गतस्य अप्रशस्तेन मरणेन झटित्येव मृतस्य अन्यभवे नारकादिरूपपरभवे किञ्चित्कालमुदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते शेषास्तु गुणश्रेणयः परभवनारकादिरूपे न प्राप्यन्ते नारकादिभवो हि अप्रशस्ते मरणे न प्राप्यते न च शेषासु गुणश्रेणिषु सतीष्वप्रशस्तमरणसम्भवः किन्तु क्षीणास्वेव । तथा चोक्तम् । "उवसंगुणाओ पढिए, मिच्छत्तगयम्मि आइमा तिन्नि । लब्भंति न सेसा साओ, ज हीणासु असुभमरणं" तथा प्रकृतमत्र उत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामित्वे गुणितकर्मांशेन गुणश्रेणिशिरसामुदये वर्तमानेन ।

आवरणविग्घमोहाणं, जिणोदइयाण वा वि नियगंते ।
लहुखवणाए ओहीण-णो हि लद्धिस्स उक्कस्स । ३०८ ।

आवरण पञ्चप्रकार ज्ञानावरणं चतुःप्रकारं दर्शनावरणं (विग्घत्ति) पञ्चप्रकारमन्तरायमेतासां चतुर्दशप्रकृतीनां लघुक्षपणायां शीघ्रक्षपणायामर्थमभ्युद्यतस्य । द्विविधा हि क्षपणा लघुक्षपणा चिरक्षपणा च । तत्र योऽष्टवार्षिक एव सप्तमासाभ्यधिकं संयमं प्रतिपन्नस्तत्प्रतिपत्त्यनन्तरं चान्तर्मुहूर्तेन क्षपकश्रेणिमारभते तस्य या क्षपणा सा लघुक्षपणा । यस्तु प्रभूतेन कालेन संयम प्रतिपद्यते संयमप्रतिपत्तेरप्यूर्ध्वं प्रभूतेन कालेन क्षपकगुणश्रेणिमारभते तस्य या क्षपणा सा चिरक्षपणा तया च प्रभूताः पुद्गलाः परिसटन्ति स्तोका एव च शेषीभवन्ति ततो न तया उत्कृष्ट प्रदेशोदयो लभ्यते । उक्तं लघुक्षपणया अभ्युत्थितस्येति तस्या गुणितकर्मांशस्य क्षीणमोहगुणस्थानक चरमसमये गुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयो भवति नवरम् । (ओहीणणोहिलद्धिस्सत्ति) अवध्यो ऽवधिज्ञानमुत्पादयतो बहवः पुद्गला परिक्षीयन्ते ततो नावधियुक्तस्योत्कृष्टप्रदेशोदयलाभ इत्यनवधिलब्धियुक्तस्येत्युक्तम् । तथा मोहानां मोहनीयानां प्रकृतीनां सम्यक्त्वसंज्वलनचतुष्टयवेदनयाख्यातमष्टाना गुणितकर्मांशस्य क्षपकस्य स्वस्वोदयचरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदय । तथा जिने केवलिनि उदयो यासां ता जिनोदयकास्तासां मध्ये औदारिकसप्तकतैजससप्तकसंस्थानषट्कप्रथमसंहननवर्णादिविंशतिपराघातोपघातादिगुरुलघुविहायोगतिद्विकपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभनिर्माणरूपाणां द्विपञ्चाशत्प्रकृतीनां गुणितकर्मांशस्यायोगिकेवलिगुणस्थानकचरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः सुस्वरदुःस्वरनिरोधकाले उच्छ्वासनाम्नः पुनरुच्छ्वासनिरोधकाले तथा अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेययशःकीर्तितीर्थकरोच्चैर्गोत्राणा द्वादशप्रकृतीनां गुणितकर्मांशस्यायोगिकेवलिनश्चरमसमये उत्कृष्टः प्रदेशोदयः ।

उवसतपढमगुणसेढीए, निद्दादुगस्स तस्सेव ।
पावइ सीसगमुदयंति, जाव देवस्स सुरनवगं । ३०९ ।

उपशान्तकषायस्यात्मीयप्रथमगुणश्रेणीशिरसि वर्तमानस्य सुरनवकस्य वैक्रियसप्तकदेवद्विकरूपस्योत्कृष्ट प्रदेशोदयः । तथास्यैवोपशान्तकषायस्यात्मीयप्रथमगुणश्रेणीशीर्षकोदयानन्तरसमये-प्राप्यतीति तस्मिन् पाश्चात्यसमये जाते देवस्य ततः स्वप्रथमगु-

णश्रेणीशिरसि वर्तमानस्य वैक्रियसप्तकदेवद्विकरूपस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

मिच्छत्ती मीसाणं–ताणुबंधअसमत्थीए गिद्धीए ।
तिरिउदए गंताण य, विइया तइया य गुणसेढी ॥४००॥

इह केनचित् देशविरतेन सता देशविरतिप्रत्यया गुणश्रेणिः कृता ततः संयमं प्रतिपन्नस्ततः संयमप्रत्यया गुणश्रेणिः कृता ततो यस्मिन्काले द्वयोरपि गुणश्रेण्योः शिरसि एकत्र मिलतः तस्मिन् काले वर्तमानो गुणितकर्मांशः कश्चिन्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य तदा मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः। यदि पुनः सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपन्नस्तर्हि ३ सम्यङ्मिथ्यात्वस्य स्त्यानर्द्धित्रिकस्य पुनर्मिथ्यात्वं गतस्यागतस्य वा उत्कृष्टः प्रदेशोदयो वाच्यः। यदि स्त्यानर्द्धित्रिकस्य प्रमत्तस्य संयतेऽप्युदयः प्राप्यते तथा तिर्यक्षु इव उदयः एकान्तेन यासां तास्तिर्यगुदयैकान्ता एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियस्थावरसूक्ष्मसाधारणनामानस्तयोः पर्याप्तनाम्नश्च तिर्यग्भवप्राप्तौ सत्यां देशविरतिसर्वविरतिगुणश्रेणिशिरसोरेकत्र योगे वर्तमानस्य मिथ्यादृष्टेः स्वस्वोदये वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

अंतरकरणे करणं, होहिन्ति जयदेवस्स तं मुहुत्तं तो ।
अट्ठण्हकसायाणं, छण्हं पि य नो कसायाणं ॥४०१॥

इह कश्चिदुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नोऽनन्तरसमये अन्तरकरणं प्रविष्यतीति तस्मिन् पाश्चात्यसमये कालं कृत्वा देवो जातः तस्य देवस्य उत्पत्त्यन्तर्मुहूर्त्तात् परतो गुणश्रेणिशिरसोरेकत्र योगे वर्तमानस्य मिथ्यादृष्टेः स्वस्वोदये वर्तमानस्योत्कृष्टः प्रदेशोदयः। इह कश्चित् उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नोऽनन्तरसमये अन्तरकरणं प्रविष्यतीति एतस्मिन् पाश्चात्यसमये कालं कृत्वा देवो जातः तस्य देवस्य उत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तात्परतो गुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्यप्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टके वेदत्रिकवर्जानां षण्णां नोकषायाणामुत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

हस्सठिई बंधित्ता, अट्ठा जोगाइठिइनिसगेणं ।
उक्कस्सपएपढमो–देयम्मि सुरनारगाऊणं । ४०२ ।

'अद्धा बन्धकालयोगमनोवाक्कायनिमित्तं वीर्यम्। आदिस्थितिः' प्रथमा स्थितिः तस्यां दलिकनिक्षेपः आदिस्थितिनिर्दलिकनिक्षेपः । एतेषामुत्कृष्टपदे सति किमुक्तं भवति उत्कृष्टेन बन्धेन कालेन उत्कृष्टे योगे वर्तमानो ह्रस्वां जघन्यां स्थितिं बध्वा प्रथमस्थितौ च दलिके निक्षेपस्तमुत्कृष्टं कृत्वा मृतः सन् देवो नारको जातः तस्य प्रथमोदये प्रथमस्थित्युदये वर्तमानस्य देवायुषो नारकस्य नारकायुष उत्कृष्टः प्रदेशोदयः। (अद्धाजोगुक्ति) भोगभूमिषु तीर्थेषु मनुष्येषु वा विषये कश्चित् तीर्यगायुः कश्चित् मनुष्यायुरुत्कृष्टं पल्योपमस्थितिकं बध्वा लघु शीघ्रं च मृत्वा त्रिपल्योपमायुष्के तीर्येक्षु परो मनुष्येषु मध्ये समुत्पन्नस्तत्र च सर्वाल्पजीवितमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं वर्जयित्वा अन्तर्मुहूर्तमेकमपवर्त्त्येत्यर्थे शेषमशेषमपि स्वस्वापवर्त्तनाकरणेनापवर्त्तयतस्ततोऽपवर्तमानानन्तरप्रथमसमयस्तयोस्तिर्यङ्मनुष्ययोर्यथासंख्यं तिर्यगापि मनुष्यायुषोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

दूभगणाएज्जजसगई, दुगअणुपुव्वितियसगनीयाणं ।
दंसणमोहे खवणे, देसविरइए व गुणसेढी ॥ ४०३ ॥

इहाविरतसम्यग्दृष्टिर्दर्शनमोहनीयत्रितयं क्षपयितुमभ्युद्यतो गुणश्रेणिं करोति। ततः स एव देशविरतिप्रतिपन्नस्ततः सर्वविरतिनिमित्तां गुणश्रेणीं करोति। तत्करणपरिसमाप्तौ सत्यां संक्लिष्टो भूत्वा पुनरप्यविरतो जातः तस्य तिसृणामपि गुणश्रेणीनां शिरसि वर्तमानस्य तस्मिन्नेव भवे स्थितस्य दुर्भगानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्राणामुत्कृष्टप्रदेशोदयः। अथ तिर्यक्षु उत्पन्नस्तर्हि तस्य पूर्वोक्तानां तिर्यग्द्विकसहितानामुत्कृष्टप्रदेशोदयः मनुष्यो जातस्तर्हि मनुष्यानुपूर्वीसहितानामिति।

संघयणपंचगस्स य, वियाढीतिन्नि होति गुणसेढी ।
आहारगउज्जो वा–णुत्तगतणु अप्पमत्तस्स ॥ ४०४ ॥

इह कश्चिन्मनुष्यो देशविरतिप्रतिपन्नस्ततः सदेशविरतिप्रत्ययां गुणश्रेणिं करोति। यतः स एव विशुद्धिप्रकर्षवशतः सर्वविरतिप्रतिपन्नस्ततः सर्वविरतिप्रत्ययां गुणश्रेणिं करोति। ततः स एव तथाविधशुद्धयशात्सोऽन्तानुबन्धिना विसंयोजनायोत्थितस्तस्तन्निमित्तां गुणश्रेणिं करोति। एवं द्वितीयादयस्तिस्रो गुणश्रेणयो भवन्ति ताश्च कृत्वा तासां शिरसि सुवर्तमानस्य प्रथमसंहननवर्जानां पञ्चानां संहननानां यथायोग्यमुदयप्राप्तानामुत्कृष्टप्रदेशोदयः तथा उत्तरतनौ शरीरे आहारके वर्तमानस्याप्रमत्तभावं गतस्य प्रथमगुणश्रेणिशिरसि वर्तमानस्याहारकसप्तकाद्योस्तयोरुत्कृष्टः प्रदेशोदयः।

वेइंदियमावएणो, कम्मं काऊण तस्सिमं खिप्पं ।
आयावस्स उ तच्चे, पढमसमयम्मि व वट्टंतो ॥ ४०५ ॥

गुणितकर्मांशः पञ्चेन्द्रियसम्यग्दृष्टिर्जातः सम्यक्त्वनिमित्तां गुणश्रेणिं कृतवान्। ततस्तस्यां गुणश्रेणितः प्रतिपतितो मिथ्यात्वं गत्वा द्वीन्द्रियमध्ये समुत्पन्नः तत्र च द्वीन्द्रियप्रायोग्यां स्थितिं मुक्त्वा शेषं सर्वमप्यपवर्त्तयति। ततोऽपि मृत्वा एकेन्द्रियो जातः। तत्र एकेन्द्रियसमां स्थितिं करोति शीघ्रमेव च शरीरपर्याप्तस्तस्य तद्वेदिनः आतपवेदिनः खरबादरपृथिवीकायिकस्य शरीरपर्याप्त्यनन्तरप्रथमसमये आतपनाम्नः उत्कृष्टप्रदेशोदयः एकेन्द्रियो द्विन्द्रियस्थितिं झटित्येव खयोग्यां करोति न त्रीन्द्रियादिस्थितिमिति द्वीन्द्रियग्रहणम् तदेवमुक्तं उत्कृष्टप्रदेशोदयस्वामी।

सम्प्रति जघन्यप्रदेशोदयस्वाम्यत्वमभिधीयते।

एयगं तु खवियकम्मे, जहन्नदेवट्ठिइंन्निमुहुत्ते ॥
संते मिच्छत्तगतो, अतिकिलट्ठो कालयं तु खविगए ॥४०६॥
एगेंदियगो पढमे, समये वमईसु पावरणे ॥
केवलदुगमणपज्जव–चक्खुअचक्खूण आवरणा ॥४०७॥

जघन्यस्वामीति भावप्रधानोऽयं निर्देशः प्राकृतत्वाच्च ततः परस्याः सप्तम्याः लुक् ततोऽयमर्थः। जघन्यप्रदेशोदयस्वामित्वे प्रकृतमधिकारः क्षपितकर्मांशेन सूत्रे चात्र सप्तमी तृतीयार्थे वदितव्या। तत्र कश्चित्क्षपितकर्मांशो देवो जघन्यस्थितिर्दशवर्षसहस्रायुरुत्पन्न अन्तर्मुहूर्ते गते सति सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तच्च सम्यक्त्वं दशवर्षसहस्राणि देशोनानि यावत्परिपाल्य अन्तर्मुहूर्त्तावशेषे जीवित मिथ्यात्वं गतः स चातिसंक्लिष्टपरिणामो वक्ष्यमाणकर्मणामुत्कृष्टस्थितिबन्धमारभते प्रभूतं दलिकं तदानीमुद्वर्तयति तावद्यावदन्तर्मुहूर्तम् । ततः संक्लिष्टपरिणाम एव कालं कृत्वा एकेन्द्रिया जातस्तस्य प्रथमसमये मतिज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणमनःपर्यवज्ञानावरणचक्षुर्ज्ञानावरणाचक्षुर्दर्शनावरणानां जघन्या प्रदेशोदीरणा स्तोका प्रवर्तते यतस्तस्यानुभागोदीरणा बह्वी प्रवर्तते यत्र चानुभागोदीरणा बह्वी तत्र स्तोका प्रदेशोदीरणा ततो "मिच्छत्तगतो अतिकिलट्ठो" इत्याद्युक्तम् ॥

ओहीए संजमाउ, देवत्तगए यस्स मिच्छत्तं ॥
उक्कोसं बंधठिई बंधे, विकट्टणा आलिगं गंतु ॥ ४०८ ॥

क्षपितकर्मांशः संयमं प्रतिपन्नः समुत्पन्नावधिज्ञानदर्शनोऽप्रति-

पतितावधिज्ञानदर्शन एव देवो जातस्तत्रान्तर्मुहूर्त्ते गते मिथ्यात्वं प्रतिपन्नस्ततो मिथ्यात्वप्रत्ययेनोत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति बध्नंश्च प्रभूतं दलिकं विकर्षयति उद्वर्त्तयति इत्यर्थः । तत आवलिकां गत्वा अतिक्रम्य बन्धावलिकायामतीतायामित्यर्थः अवध्योरवधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणावधिर्जघन्य प्रदेशोदयः ॥

वेयणियंतरसोगा, चउ हि व्व निद्दपलायस्स ॥

उक्कस्स ठिई बंधो, पडिभागा पवेड्या नवरं ॥ ४०९ ॥

द्वयोर्वेदनीययोः सातासातयोः पञ्चानामन्तरायाणां शोकारत्यु-वर्गोत्राणां च जघन्यः प्रदेशोदयोऽवधिज्ञानावरणस्येव वेदितव्यो निद्राप्रचलयोरपि तथैव केवलमुत्कृष्टस्थितिं बन्धात् प्रतिभग्नस्य प्रतिपतितस्य निद्राप्रचलयोरनुभवितु लाभस्य चेति द्रष्टव्यम् । उत्कृष्टस्थिति बन्धो हि अतिशायेन संक्लिष्टस्य भवति न चातिसंक्लेशे वर्त्तमानस्य निद्रोदयसंभवस्ततः उत्कृष्टस्थितिबन्धात्प्रतिभग्नस्येति द्रष्टव्यम् ॥

वरिमवरतिरियथावर, नीयंपि मउस्सं नवरं ।

तिन्नि निद्दानिद्दा, इंदिय पज्जत्तिपढमसमयम्मि ॥४१०॥

सर्वपरो नपुंसकवेदस्ततो नपुंसकवेदतिर्यग्गतिस्थावरनीचैर्गोत्राणां जघन्य प्रदेशोदयो मतिज्ञानावरणस्येवास्य निद्रानिद्रादयोऽपि तिस्रः प्रकृतयो जघन्यप्रदेशोदयविषये मतिज्ञानावरणवद् भावनीयाः । नवरमिन्द्रियपर्याप्त्यापर्याप्तस्य प्रथमसमये इति द्रष्टव्यम् । ततोऽनन्तरसमये उदीरणाया सद्भावने जघन्यप्रदेशोदयासंभवात् ॥

दंसणमोहे तिविहे, उदीरणुदए य आलिगं गंतुं ॥

सत्तरसह एवमेवं, उवसमित्ताण देवे ॥ ४११ ॥

क्षपितकर्मांशस्य औपशमिकस्य सम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यक्त्वात्प्रच्यवमानस्य सन्तरकरणेन स्थितेन द्वितीयस्थितेन सकाशात्सम्यक्त्वादीनां दलिकानि समाकृष्यान्तराणि चरमसमये आवलिकामात्रभागे गोपुच्छाकारसंस्थाने रचितानि । तद्यथा-प्रथमसमये प्रभूतं दलिकं द्वितीयसमये विशेषहीनं तेषामुदयोदीरणोदय उच्यते तस्मिन् उदीरणोदये आवलिकामात्रं गत्वा आवलिका यावच्चरमसमये विशेषहीनं तेषामुदयोदीरणा उदय उच्यते तस्मिन् उदीरणोदय आवलिकामात्रं गत्वा आवलिकामात्रं यावच्चरमसमये विशेषहीनं समयं सम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वाना स्वस्योदययुक्तस्य जघन्यप्रदेशोदय । तथानन्तानुबन्धिवर्जद्वादशकषायवेदपुरुषवेदहास्यरतिभयजुगुप्सारूपाः सप्तदश प्रकृतीरुपशमय्य देवलोकं गत्वा एवमेवेति उदीरणोदयचरमसमये तासां सप्तदशप्रकृतीनां जघन्यः प्रदेशोदय । आसां हि सप्तदशोपशमय्य देवलोकं गतस्य एवमेवेति उदीरणानामपि प्रकृतीनामन्तरकरणं कृत्वा देवलोकं गत सन् प्रथमसमये एव द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्योदयसमयादारभ्य गोपुच्छाकारं विरचयति । तद्यथा उदयसमये प्रभूतं, द्वितीयसमये विशेषहीनं तृतीयसमये जघन्यप्रदेशोदयो लभ्यते ॥

चउरुवसमित्तु पच्छा, संजोई य दीहकालसम्मत्ता ॥

मिच्छत्तगए आवलि-गाए संजोजयणाणं तु ॥ ४१२ ॥

चतुरो वारान् मोहनीयमुपशमय्य पश्चादन्तर्मुहूर्ते गते सति मिथ्यात्वं गतः ततोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेनासंयोजनात् अनन्तानुबन्धिनो बध्नाति ततः सम्यक्त्वं गतस्तच्च दीर्घकालं द्वात्रिंशत्सागरोपमाणां शतं यावदनुपालयन् समयसम्यक्त्वप्रभावत प्रभूतान् पुद्गलान् अनन्तानुबन्धिनां सम्बन्धिनः प्रदेशसंक्रमतः परिशाटयति । तत्र पुनरपि मिथ्यात्वं गतः मिथ्यात्वप्रत्ययेन च भू-योऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति तस्या आवलिकाया बन्धावलिकायाश्चरमसमये पूर्वबद्धानामनन्तानुबन्धिनां जघन्य प्रदेशोदय आवलिकायाश्चरमसमये इत्युक्तं संसारे चैकजीवस्य चतुष्कृत्व एव मोहनीयस्योपशमनो भवति न पञ्चकृत्वा इति चतुष्कृत्वो ग्रहणम् । मोहोपशमनेन किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते । इह मोहोपशमं कुर्वन् अप्रत्याख्यानादिकषायेण दलिकमन्यत्र गुणसंक्रमेण प्रभूतं सक्रमयति ततः क्षीणमोहे शेषाणां तेषामनन्तानुबन्धिषु बन्धकाले स्तोकमेव सक्रमयति ततो मोहोपशमग्रहणम् ।

इत्थीए संजमभवे, सव्वनिरुद्धम्मि गंतु मिच्छत्तं ।

देवीए लहुमिच्छी, जेट्ठठिई आलिगं गंतु ॥ ४१३ ॥

संयमेनोपलक्षितो भव संयमभवस्तस्मिन् सर्वनिरुद्धे अन्तर्मुहूर्त्तावशेषे स्त्रिया मिथ्यात्वं गतायास्ततोऽनन्तरभवे देवीभूतायाः शीघ्रमेव पर्याप्ताया उत्कृष्टस्थितिबन्धानन्तरमावलिकां गत्वा आवलिकायाश्चरमसमये स्त्रीवेदस्य जघन्यः प्रदेशोदयः । इयमत्र भावना । क्षपितकर्मांशा काचित् स्त्री देशोनां पूर्वकोटिं यावत्संयममनुपाल्य अन्तर्मुहूर्ते आयुषोऽवशेषे मिथ्यात्वं गत्वा अन्तरभवे देवी समुत्पन्ना शीघ्रमेव पर्याप्ता ततः उत्कृष्टे संक्लेशे वर्त्तमाना स्त्रीवेदस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति । पूर्वबद्धां च उद्वर्त्तयति तत उत्कृष्टबन्धारम्भे परत आवलिकायाश्चरमसमये तस्याः स्त्रीवेदस्य जघन्य प्रदेशोदयो भवति ।

अप्पद्धा जोगचियाणं, चउणुक्कस्सगठिईणं ते ।

उवरिं थोवनिसेगे, चिरंति वासाइ वेईणं ॥ ४१४ ॥

अल्पया बन्धाद्धया अल्पेन च योगेन चितानां बद्धानां चतुर्णामप्यायुषां ज्येष्ठस्थितीनामुत्कृष्टस्थितीनामन्ते वासी अन्तिमे उपरि सर्वोपरितने समये, सर्वस्तोकदलिकनिक्षेपे चिरकालं तीव्रासातवेदनया ह्यभिभूतानां क्षपितकर्मांशानां तत्तदायुर्वेदानां जघन्यप्रदेशोदय तीव्रासातवेदनया ह्यभिभूतानां बहव पुद्गलाः परिसटन्तीति कृत्वा तीव्रासातवेदग्रहणम् ।

संजोयणा वियोजिय, देवभवे जहन्नगे अइनिरुद्धे ।

बंधियउक्कस्स ठिई, गतूणे गेंदिया सन्नी ॥ ४१५ ॥

सव्वलहुनरयगए, निरयगई तम्मि सव्वपज्जत्ते ।

पुण तेअणु पुव्विउ य गई, तुल्ला नेया भवाइम्मि ॥ ४१६ ॥

संयोजनात् अनन्तानुबन्धिनो विसंयोगतः विसंयोजने हि शेषाणामपि कर्मणां भूयांसो पुद्गलाः परिसटन्ति इति तदुपादानं ततो जघन्यदेवत्वं प्राप्तः । तत्र चातिनिरुद्धे पश्चिमे अन्तर्मुहूर्त्ते प्रतिपन्नमिथ्यात्व एकेन्द्रियप्रायोग्यां प्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा सर्वसंक्लिष्ट एकेन्द्रियेषु उत्पन्नस्तत्र चान्तर्मुहूर्तं स्थित्वा असंज्ञिषु मध्ये समायातः । देवो हि मृत्वा नाऽसंज्ञिषु मध्ये समायात गच्छतीति कृत्वा एकेन्द्रियग्रहणम् । ततो संज्ञिभवात् लघु शीघ्रं मृत्वा नारको जातः सर्वपर्याप्तिभिश्च शीघ्रं पर्याप्तस्तस्मिन् सर्वपर्याप्ति पर्याप्ते नारके नरकगतेर्जघन्यः प्रदेशोदयः । पर्याप्तस्य हि प्रभूताः प्रकृतयो विपाकोदयमायान्ति उदयमागताश्च स्तिबुकसंक्रमेण न संक्रामन्ति तेन प्रकृत्यन्तरदलिकसंक्रमाभावाज्जघन्यप्रदेशोदय प्राप्यते इति "सव्वपज्जत्त" इत्युक्तम् । आनुपूर्व्यश्चतस्रोऽपि गतितुल्या भवन्ति स्वस्वगतितुल्या ज्ञेया ज्ञातव्याः केवलं भवादौ भवप्रथमसमये वेदितव्याः । तृतीयसमये अन्या अपि बन्धावलिकातीता कर्मलता उदयमागच्छन्ति ततो भवप्रथमसमयग्रहणम् ।

देवगई ओहि समा, नवरिं उज्जो य वेयगो नाहे ।

आहारजाइ अचिर, संजममणुपालिऊणं ते ॥ ४१७ ॥

देवगतौ अवधिसमा ज्ञानावरणसमो अवधिज्ञानावरणस्येति च देवगतेरपि जघन्यप्रदेशोदयो द्रष्टव्यः । किं कारणमिति चेदुच्यते यावदुद्योतस्योदयो न भवति तावद्देवगतौ स्तिबुकसंक्रमो न भवति तत उद्योतवेदकग्रहणम् । उद्योतवेदकत्वञ्च पर्याप्तस्य भवति नापर्याप्तावस्थायां देवगतिर्जघन्यप्रदेशोदयः । तथा यश्चिर कालं देशोनपूर्वकोटिरूप यावत्संयममनुपाल्य अन्तिमे काले आहारकशरीरी जात उद्योत च वेदयते तस्याहारकसप्तकस्याजघन्यप्रदेशोदयः चिरकालसंयमपरिपालने हि भूयांस कर्मपुद्गलाः परिसाटिता भवन्तीति कृत्वा चिरकाल संयमग्रहणम् । उद्योतकरणग्रहण प्रागुक्तमेवानुसर्त्तव्यम् ॥ ४१७ ॥

सेसाणं चक्खुसमं, तमिव अन्नम्मि वा भवे अचिरा ।

तज्जोगा बहुगीउ, पदेयं तस्स ता ताओ ॥ ४१८ ॥

उक्तशेषाणां प्रकृतीनां चक्षुःसम चक्षुर्दर्शनावरणसम वक्तव्य तावद् यावदेकेन्द्रियो जातस्ततो येषा कर्मणां तस्मिन्नेवैकेन्द्रियभवे उदयो विद्यते तेषां तत्रैव जघन्यप्रदेशोदयो वाच्य. । येषां तु कर्मणामनुजगतिद्वीन्द्रियादिजातिचतुष्टयाद्यसंस्थानपञ्चकौदारिकाङ्गोपाङ्गसंहननषट्कविहायोगतिद्विकत्रससुभगसुस्वरदुःस्वरादिरूपाणां न तत्रोदयस्तभवस्तमेकेन्द्रियभवादुद्धृत्य तत्त उदयायोग्येषु भवेषु उत्पन्नस्य तास्तास्तद्भवयोग्या बह्वीः प्रकृतीर्वेदनीयमानस्य तद्भवयोग्यबहुप्रकृतिर्वेदन च पर्याप्तस्योपपद्यते ततः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तस्य जघन्यप्रदेशोदयः पर्याप्तस्याभूताः बह्वः प्रकृतयः उदयमागच्छन्ति उदयप्राप्तानां च प्रकृतीनां स्तिबुकसंक्रमो न भवति तथा च सति विवक्षितप्रकृतीनां जघन्यप्रदेशोदयो ज्ञेयः परतो गुणश्रेणीदलिक प्रभूतमवाप्यते इति स न भवति । क० प्र० । प० सं० ॥

(५) साम्प्रतमुदयस्य प्रायस्तत्समानत्वादुदीरणायाश्च लक्षणकथनपूर्वकं कस्मिन् गुणस्थाने कियन्त्य. प्रकृतयस्तस्य भगवत. क्षीणा इत्येतन्निर्दिदिक्षुराह ॥

उदओ विवागवेयण-मुदीरणा अपत्ति इह दुवीससयं ।

सत्तरससयमिच्छे, मीससम्मआहारजिणणुदया ॥ १३ ॥

इह कर्मपुद्गलानां यथा स्वस्थितिबद्धानामुदयसमयप्राप्तानां यद्विपाकेनानुभवनेन वेदन स उदय उच्यते (उदीरणाअपत्तित्ति) कर्मपुद्गलानां यथा स्वस्थितिबद्धानां यदप्राप्तकाले वेदनमुदीरणा भण्यते (इहत्ति) इहोदये उदीरणायां च (दुवीससयति) द्विविंशच्छत द्वाभ्यामधिकविंश शत द्विविंशशत मयूरव्यंसकादित्वात्समासस्तत्सामान्यतोऽधिक्रियते इति शेषः । सप्तदशशतमिच्छन्ति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने उदये भवति । कथमित्याह । (मीससम्मआहारजिणणुदयत्ति) मिश्रं च (सम्मित्ति) सम्यक्त्वं च (आहारत्ति) इहाहारकशब्देन सर्वत्राहारकशरीर आहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विक गृह्यते तत आहारकं च (जिणत्ति) जिननाम च मिश्रसम्यक्त्वाहारजिनास्तेषामनुदयात् । इदमत्र हृदयं मिश्रोदयस्तावत्सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव भवति सम्यक्त्वोदयस्त्वविरतिसम्यग्दृष्ट्यादौ आहारकद्विकोदय प्रमत्तादौ, जिननामोदय. सयोगिकेवल्यादौ, भवति । तत इद प्रकृतिपञ्चक द्वाविंशतिशतादपनीयते ततो मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने सप्तदशशत भवतीति ॥ १३ ॥

सुहुमतिगायवमिच्छं, मिच्छंतमासणेइगारसयं ॥

निरयाणुपुव्विणुदया, उण थावरइगविगलअंतो ॥ १४ ॥

सूक्ष्मत्रिक सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपम् आतप च मिथ्यात्व च सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्व मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्ट्यावन्तो यस्य तन्मिथ्यात्वान्त एतत्प्रकृतिपञ्चकस्य मिथ्यात्वेऽन्तो भवतीत्यर्थः । अयमत्र भावः । सूक्ष्मनाम्नः उदयसूक्ष्मैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तनाम्नः सर्वेष्वपि अपर्याप्तकेषु, साधारणनाम्नोऽनन्तवनस्पतिषु, आतपनामोदयेषु, बादरपृथिवीकायिकेषु एव न चैतेषु स्थितो जीवः सास्वादनादित्व लभते नापि पूर्वप्रतिपन्नस्तेषूत्पद्यते सास्वादनस्तु यद्यपि बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेषूत्पद्यते तथापि न तस्यातपनामोदयस्तत्रोत्पन्नमात्रस्यासमाप्तशरीरस्यैव सासादनत्वगमनात् समाप्ते च शरीरे तत्रातपनामोदयो भवति मिथ्यात्वोदयः पुनर्मिथ्यादृष्ट्यावेव तेनैतासां पञ्चप्रकृतीनां मिथ्यादृष्ट्यावुदयस्यान्तस्ततदिद प्रकृतिपञ्चक पूर्वोक्त सप्तदशशतादपनीयते शेष द्वादशशत सास्वादने उदय प्रतीत्य भवति । नरकानुपूर्व्यपनयने च एकादशशत भवतीत्येतदेवाह । " सासणे इगारसय नरयाणुपुव्विणुदयत्ति " सास्वादति एकादशशतमुदये भवति नरकानुपूर्व्युदयात् नरकानुपूर्व्या उदयो हि नरके वक्रेण गच्छतो जीवस्य भवति । न च सास्वादनो नरक गच्छति यदुक्त बृहत्कर्मस्तवभाष्ये " नरयाणुपुव्विउदए, सासण सम्मम्मि होइ नहु उदओ । नरयम्मि जं न गच्छइ, अधिगिज्जइ तेण सा तस्स ॥ " ततो नरकानुपूर्वी मिथ्यादृष्टिव्यवच्छिन्नसूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वलक्षण प्रकृतिपञ्चक च सप्तदशशतादपनीयते शेष सास्वादने एकादशशत भवतीति [२] (अणथावरइगविगलअंतुत्ति) (अणत्ति) अनन्तानुबन्धिनश्चत्वार' क्रोधमानमायालोभाः स्थावरनामा (इगत्ति) एकेन्द्रियजातिर्विकलाः पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षया असम्पूर्णद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातय इत्यर्थः । इत्येतासां नवानां प्रकृतीनां सास्वादनेऽन्त उदयमाश्रित्य भवति । इयमत्र भावना । अनन्ताऽनुबन्धिनामुदये हि सम्यक्त्वलाभ एव न भवति । यदाहु' श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः " पढमिल्लुयाण उदये, नियमा संजोयणा कसायाण । सम्मद्दंसणलंभ, भवसिद्धीया वि न लहंति " नापि सम्यग्मिथ्यात्व कोऽप्यनन्तानुबन्ध्युदये गच्छति योऽपि पूर्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्धिनामुदय करोति सोऽपि सास्वादन एव भवतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभाव. । स्थावर एकेन्द्रियजातिविकलेन्द्रियजातयस्तु यथास्वमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियवेद्या एव उत्तरगुणस्थानानि तु सम्यक्पञ्चेन्द्रिय एव प्रतिपद्यन्ते पूर्वप्रतिपन्नोऽपि पञ्चेन्द्रियेष्वेव गच्छतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभाव इति ॥

मीसे सयमणुपुव्वी-णुदयामीसोदएण मीसंतो ।

चउसयमजए सम्मा-णु पुव्विखेवावि अकसाया ॥ १५ ॥

मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ शतमुदये भवति-कथमित्याह । (अणुपुव्वीणुदयत्ति) इहानुपूर्वीशब्देन नरानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्यदेवानुपूर्वीलक्षणा आनुपूर्वीत्रयी गृह्यते तस्या अनुदयान्मिश्रोदयेन च । अयमत्र भाव. । नरकानुपूर्वी तावदुदयमाश्रित्य सास्वादने व्यवच्छिन्ना । इह सा न गृह्यते शेषमानुपूर्वीत्रिकं मिश्रदृष्टेर्नोदति तस्य मरणाभावात् । " न सम्ममीसो कुणइ कालमिति " वचनात् मिश्रप्रकृति. पुनरत्रोदये प्राप्यते । तत. सास्वादनव्यवच्छिन्नप्रकृतिनवकमानुपूर्वीत्रिक च पूर्वोक्तैकादशशतादपनीयते शेषा तिष्ठन्ति प्रकृतीनां नवनवति. । तत्र मिश्रप्रकृतिप्रक्षेपे जात शतमिति (मीसंतुत्ति) मिश्रगुणस्थाने मिश्रप्रकृतेरन्तो भवति । एतदुदये हि मिश्रदृष्टिरेव भवति नान्य इति [३] (चउसयमजए सम्माणुपुव्विखेवासि) चतुर्भिरधिक शत चतु शतमुदये भवति केत्याह । अयते अविरतिसम्यग्दृष्टौ कथमित्याह । (सम्मत्ति) सम्यक्त्वम् (अणुपुव्विखि) आ.पु.र्व्यश्चतस्रः नासां क्षेपात्प्रक्षेपात् । इदमुक्त भवति पूर्वोक्तशतान्मिश्रगुणस्थान-

व्यवच्छिन्नैका मिश्रप्रकृतिरपनीयते शेषा नवनवतिस्तत्र सम्यक्त्वानुपूर्वीचतुष्कलक्षणं प्रकृतिपञ्चकं क्षिप्यते जातं चतुःशतं यतः सम्यक्त्वमत्र गुण उदयत एव तथा विरतसम्यग्दृशां यथास्वं चतस्रोऽप्यानुपूर्व्य इति (वितियकसायत्ति) द्वितीयकषाया अप्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः ।

मणुतिरिणुपुव्विविउव्वट्ठ, दुहगअणाइज्जदुगसत्तरस छेओ
सत्तासीइदेसितिरिगइ, आउनिउज्जोय तिकसाया ॥१६॥

(मणुतिरिणुपुव्वित्ति) आनुपूर्वीशब्दस्य प्रत्येकं योजनान्मनुजानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी (विउव्वट्ठत्ति) वैक्रियाष्टकं वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गदेवानुपूर्वीदेवायुर्नरकगतिर्नरकानुपूर्वीनरकायुर्लक्षणं दुर्भगमनादेयद्विकम् । अनादेयायशोकीर्तिरूपमित्येतासां सप्तदशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्ट्युदयं प्रतीत्य छेदो भवति ततः इमाः सप्तदश प्रकृतयः पूर्वोक्तचतुःशतादपनीयन्ते शेषाः (सगसीइदेसित्ति) (५) सप्ताशीतिर्देशविरते उदये भवति । इदमत्र तात्पर्यम् । द्वितीयकषायोदये हि देशविरतेर्लाभ आगमे निषिद्धः । यदागमः "बीयकसायाणुदये, अप्पच्चक्खाणावरण । नामधिज्जाए । सम्मद्दसणलम, विरयाविरय न उ लहंति" नापि पूर्वप्रपन्नदेशविरत्यादेर्जीवस्य तदुदयसंभवस्तेनोत्तरेषु तदुदयाभावः मनुजानुपूर्व्यास्तिर्यगानुपूर्व्यास्तु परभवादिसमयेषु त्रिचपान्तरालगतावुदयसंभवः । स च यथायोगं मनुजतिरश्चां वर्षाष्टकादुपरिष्टात्सम्भविषु देशविरत्यादिषु गुणस्थानेषु न सम्भवति । देवत्रिकं नारकत्रिकं च देवनारकवेद्यमेव । न च तेषु देशविरत्यादेः सम्भवः वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोस्तु देवनारकेषूदयः । तिर्यग्मनुष्येषु तु प्राचुर्येणाविरतसम्यग्दृष्ट्यन्तेषु । यस्तूत्तरगुणस्थानेष्वपि केषांचिदागमे विष्णुकुमारस्थूलभद्रादीनां वैक्रियद्विकस्योदयः श्रूयते स प्रविरलतरत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षित इत्यस्माभिरपि नेह विवक्षित इति दुर्भगनामनादेयद्विकमित्येतास्तु तिस्रः प्रकृतयो देशविरत्यादिषु गुणप्रत्ययाश्चोदयन्त इत्येता अविरतिव्यवच्छिन्ना इति (तिरिगइआउत्ति) तिर्यक्शब्दस्य प्रत्येकं योगात् तिर्यग्गतितिर्यगायुः (निउज्जोयत्ति) नीचैर्गोत्रमुद्योतं वा (तिकसायत्ति) तृतीयः कषायः त्रिकषायः मयूरव्यंसकादित्वात्पूरणप्रत्ययलोपी समासः । प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः (६)

अट्ठच्छेओ इगसी, पमत्तिआहारजुगलपक्खेवा ।
थीणतिगहारगदुग, छेओछस्सयरिअपमत्ते ॥१७॥

पूर्वोक्ताष्टप्रकृतीनां देशविरतेः उदयमाश्रित्य छेदो भवति ततः प्रमत्त एकाशीतिर्भवति आहारकयुगलप्रक्षेपात् । इदमत्र हृदयम् । तिर्यग्गतितिर्यगायुषी तिर्यग्वेद्ये एव तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि घटन्ते नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । नीचैर्गोत्रं तु तिर्यग्गतिस्वाभाव्यात् ध्रुवौदयिकं न परावर्त्तते ततश्च देशविरतस्यापि तिरश्चो नीचैर्गोत्रोदयोऽस्त्येव मनुजेषु पुनः सर्वस्य देशविरतादेर्गुणिनो गुणप्रत्ययादुच्चैर्गोत्रमेवोदेतीत्युत्तरत्र नीचैर्गोत्रोदयाभावः । उद्योतनामस्वभावतस्तिर्यग्वेद्यं तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । यद्यपि यतिवैक्रियेष्वुद्योतनामोदेति "उत्तरदेहि च देवजई इति वचनात्" तथापि स्वल्पत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितं तृतीयकषायोदये हि चारित्रजात एव न भवति । उक्तं च पूज्यैः " तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाए । देसिक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहंति " न च पूर्वप्रतिपन्नचारित्रस्य तदुदयसंभव इत्युत्तरेषु तदुदयाभावः । इत्येता अष्टौ प्रकृतयः पूर्वोक्तसप्ताशीतेरपनीयन्ते शेषा एकोनाशीतिः । तत आहारकयुगलं क्षिप्यते यतः प्रमत्तयतिराहारकयुगलस्योदयो भवतीत्येकाशीतिः । (थीणतिगत्ति) स्त्यानर्द्धित्रिकं निद्रा २ प्रचला २ स्त्यानर्द्धिरूपमाहारकद्विकमाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमिति (७) प्रकृतिपञ्चकस्य प्रमत्ते छेदो भवति । ततः पूर्वोक्तैकाशीतेरिदं प्रकृतिपञ्चकमपनीयते । शेषा षट्सप्ततिरप्रमत्ते उदये भवति । अत्रायमाशयः । स्त्यानर्द्धित्रिकोदयः प्रमादरूपत्वादप्रमत्ते न सम्भवति आहारकद्विकं च विकुर्वाणो यतिरौत्सुक्यादवश्यं प्रमादवशगो भवत्यत इदमप्यप्रमत्ते उदयमाश्रित्य न जाघटीति । यत्पुनरिदमन्यत्र श्रूयते प्रमत्तयतिराहारकं विकृत्य पश्चाद्विशुद्धिवशात्तत्रस्थ एवाप्रमत्ततां यातीति तत्केनापि स्वल्पत्वादिना कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितमिति ॥ १७ ॥

सम्मत्तंतिमसंघयण-तियगच्छेओविसत्तरि अपुव्वे ।
हासाइछक्कअंतो, विसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं ॥१८॥

सम्यक्त्वमन्तिमसंहननत्रिकमर्द्धनाराचसंहननकीलिकासंहननसेवार्त्तसंहननरूपमित्येतत्प्रकृतिचतुष्टयस्याप्रमत्ते छेदो भवति । तत इदं प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तषट्सप्ततेरपनीयते शेषा द्वासप्ततिः (अपुव्वित्ति) अपूर्वकरणे उदये भवतीति । अयमत्राशयः सम्यक्त्वे क्षपिते उपशमिते वा श्रेणिद्वयमारुह्यते इत्यपूर्वकरणादौ तदुदयाभावः । अन्तिमसंहननत्रयोदयेतु श्रेणिरारोढुमेव न शक्यते तथाविधशुद्धेरभावादित्युत्तरेषु तदुदयाभावः (९) (हासाइछक्कअतुत्ति) हास्यमादौ यस्य षट्कस्य तत् हास्यादिषट्कं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्यं तस्यान्तोऽपूर्वकरणे भवति संक्लिष्टतरपरिणामत्वादेतस्य उत्तरेषां च विशुद्धतरपरिणामत्वात्तेषां तदुदयाभाव इति उत्तरेष्वप्ययमुदयव्यवच्छेदहेतुरनुसरणीयः । तत इदं प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तद्विसप्ततेरपनीयते शेषाः । (१०) (छसट्ठिअनियट्टित्ति) षट्षष्टिरनिवृत्तिबादरे भवति । उदयमाश्रित्येति शेषः । (वेयतिग) वेदत्रिकं स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदाख्यम् ।

संजलणतिगं छ छेओ, सट्ठिसुहुमम्मि तुरियलोभंतो ।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि, रिसहनारायदुगअंतो ॥१९ ॥

संज्वलनत्रिकं संज्वलनक्रोधमानमायारूपमित्येतासां षण्णां प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरे छेदो भवति तत्र स्त्रियाः श्रेणिमारोहन्त्याः स्त्रीवेदस्य प्रथममुदयच्छेदः ततः क्रमेण पुंवेदस्य नपुंसकवेदस्य संज्वलनत्रयस्य च पुंसस्तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं पुंवेदस्योदयच्छेदस्ततः क्रमेण स्त्रीवेदस्य षण्ढवेदस्य संज्वलनत्रयस्य । षण्ढस्य तु श्रेणिमारोहतः प्रथमं षण्ढवेदस्योदयच्छेदः ततः स्त्रीवेदस्य पुंवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चैतत्प्रकृतिषट्कं पूर्वोक्तषट्षष्टेरपनीयते शेषाः (सट्ठिसुहुमम्मित्ति) षष्टिः सूक्ष्मसंपराये उदये भवति (११) अत्र च तुर्यलोभान्तश्चतुर्थो लोभान्तः संज्वलनलोभस्यव्यवच्छेद इत्यर्थः । तत इयमेका प्रकृतिः षष्टेरपनीयते शेषा उपशान्तगुणे उपशान्तमोहगुणस्थाने एकोनषष्टिरुदये भवति । (रिसहनारायदुगअतुत्ति) ऋषभनाराचद्विकं ऋषभनाराचसंहनननाराचसंहननाख्यं तस्यामुपशान्तगुणे भवति प्रथमसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यारोहणात् इति क्षीणमोहादौ तदुदयाभावः । उपशमश्रेणिस्तु प्रथमसंहननत्रयेणारुह्यते तत इदं प्रकृतिद्वयं पूर्वोक्तैकोनषष्टेरपनीयते शेषा. (१२)

सत्तावन्नखीणदुचरिमि, निद्ददुगंतोअचरमिपणपन्ना।
नाणंतरायदंसण, चउछेओ सजोगिबायाला॥ २० ॥

सप्तपञ्चाशत् (खीणत्ति) क्षीणमोहस्य (दुचरिमित्ति) द्विचरमसमये चरमसमयादर्वाक् द्वितीये समये निद्राद्विकस्य निद्राप्रचलाख्यस्य क्षीणद्विचरमसमयेऽन्त इत्येतत्प्रकृतिद्वय पूर्वोक्तसप्तपञ्चाशतोऽपनीयते ततः (चरमित्ति) चरमसमये क्षीणमोहस्येति शेषः (पणपन्नत्ति) पञ्चपञ्चाशदुदये भवति। इदमुक्तं भवति। निद्राप्रचलयो' क्षीणमोहस्य द्विचरमसमये उदयच्छेद. अपरे पुनराहु. उपशान्तमोहे निद्राप्रचलयोरुदयच्छेदः'। पञ्चानामपि निद्राणां घोलनापरिणामे भवत्युदयः। क्षपकाणां त्वतिविशुद्धत्वान्न निद्रोदयसभव'। उपशमकानां पुनरनतिविशुद्धत्वास्त्यादपीति (नाणतरायदंसणचउत्ति) ज्ञानावरणपञ्चक मतिश्रुतावधिमन.पर्यायकेवलज्ञानावरणरूपमन्तरायपञ्चक दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायाख्य दर्शनचतुष्कं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षणमित्येतासां क्षीणमोहचरमसमये छेदो भवति। (१३) तदनन्तर क्षीणमोहत्वादित्येतत्प्रकृतिचतुर्दशक पूर्वोक्तपञ्चपञ्चाशतोऽपनीयते शेषैकचत्वारिंशत्तीर्थंकरनामोदयाच्च तत्प्रक्षेपे द्वाचत्वारिंशत्सयोगिकेवलिनि भवतीत्येतदवाह। (सजोगिबायालत्ति) स्पष्टम्॥

तित्थुदयाउरला थिर–खगइदुगपरित्ततिगछसंठाणा॥
अगुरुलघुवन्नचउनिमिण–तेअ कम्माइसंघयण॥ २१ ॥

ननु पञ्चपञ्चाशतो ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चक दर्शनचतुष्कलक्षणप्रकृतिचतुर्दशकापनयत एकचत्वारिंशदेव भवति तत. कथमुक्त सयोगिनि द्विचत्वारिंशदित्याशङ्क्याह (तित्थुदयत्ति) तीर्थोदयात्तीर्थंकरनामोदयादित्यर्थ.। यत. सयोग्यादौ तीर्थकरनामोदयो भवति यदुक्तम् "उदए जस्स सुरासुर–नरवइनिवहेहिं पूइओ होइ। त तित्थयर नाम, तस्सुविवागो हु केवलिणो"॥ तत. पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थंकरनाम क्षिप्यते। जाता द्विचत्वारिंशत्सा च सयोगिनि भवतीति। (उरला थिरखगइदुगत्ति) द्विकशब्दस्य प्रत्येक योगात् औदारिकद्विकमौदारिकशरीर औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्। अस्थिरद्विकमस्थिराशुभाख्यम्। खगतिद्विक शुभविहायोगत्यशुभविहायोगतिरूप (परित्ततिगत्ति) प्रत्येकत्रिक प्रत्येकस्थिरशुभाख्यम्। (छसठाणत्ति) षट्सस्थानानि समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डस्वरूपाणि संस्थानशब्दस्य च पुंस्त्वं प्राकृतलक्षणत्वात् यदाह। पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे लिङ्ग व्यभिचार्यपि (अगुरुलघुवन्नचउत्ति) चतु.शब्दस्य प्रत्येक सबन्धात् अगुरुलघुचतुष्कमगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासाख्य वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शरूपं (निमिणत्ति) निर्माणम्। (तेयत्ति) तैजसशरीरम्। (कम्मत्ति) कार्मणशरीरम्। (आइसहनन ति) प्रथमसहनन वज्रऋषभनाराचसहननमित्यर्थ.॥

दूसरसूसरसाया, साएगयरं च तीसवुच्छेओ।
बारस अजोगिसुभगा–इज्ज जसन्नयरवेयणिअं॥२१॥

दुःस्वरं सुस्वर सात च सुखमसात च दुःख सातासाते तयोरेकतरमन्यतरत्सातं वा असात वेत्यर्थ.। तत. एतासां त्रिंशतः प्रकृतीनां सयोगिकेवलिन्युदयव्यवच्छेद'। तत्रैकतरवेदनीयं यदयोगिकेवलिनि वेदयितव्य तत्सयोगिकेवलिचरमसमये व्युच्छिन्नोदय भवति (१४) पुनरुत्तरत्रोदयाभावात् दुःस्वरसुस्वरनाम्नोस्तु भाषापुद्गलविपाकित्वाद्वाग्योगिनामेवोदय' शेषाणा पुन' शरीरपुद्गलविपाकित्वात् काययोगिनामेव तेन हि योगेन पुद्गलग्रहणपरिणामालम्बनानि ततस्तेषु गृहीतेष्वेतेषां कर्मणां स्वस्वविपाकेनोदयो भवति। तेनायोगिकेवलिनि तद्योगाभावात्सदुदयाभावः इत्यतस्त्रिंशत्प्रकृतयः पूर्वोक्तद्विचत्वारिंशतोऽपनीयन्ते ततः शेषा द्वादश प्रकृतयोऽयोगिकेवलिन्युदयमाश्रित्य भवन्तीत्येतदेवाह (बारस अजोगीत्यादि) द्वादश प्रकृतयो ऽयोगिकेवलिनि चरमसमयान्ताश्चरमसमये योगिकेवलिगुणस्थानस्यान्तो व्यवच्छेदो यासां ताश्चरमसमयान्तास्ता एवाह सुभगमादेयम् (जसत्ति) यशःकीर्तिनाम अन्यतरवेदनीय सयोगिकेवलिचरमसमयव्यवच्छिन्नोद्धरितं वेदनीयमित्यर्थ'।

तसतिगपणिंदिमणुया–उगइजिणुच्चंति चरमसमयंता॥

(तसतिगति) त्रसत्रिक त्रसबादरपर्याप्ताख्य (पणिंदित्ति) पञ्चेन्द्रियजातिः (मणुआउगइत्ति) मनुजशब्दस्य प्रत्येक योगान्मनुजायुः मनुजगति' (जिणत्ति) जिननाम (उच्चति) उच्चैर्गोत्रमिति शब्दो द्वादशप्रकृतिपरिसमाप्तिद्योतक इति। कर्म० २ क०। प० स०। एकस्मिन् गुणस्थानेषु, (उदयसत्तास्थानयोजनागुणट्ठाणशब्दे। बन्धोदयसत्तास्थानचिन्ता तत्तद्बन्धकम्मशब्दे। ये परिषहा यत्कर्मोदयनिमित्ता. इत्यादि परिसह शब्दे। मारणान्तिक उदयसोढव्य इति वेयणा शब्दे)

(६) उदयहेतु प्रदर्शयति

दव्वं खेत्तं कालो, भवो य भावो य हेयवो पंच।
हेउसमासेणुदओ, जायइ सव्वाणपगईणं॥

इदक् सर्वासा प्रकृतीनां सामान्यतः पञ्च उदयहेतवस्तद्यथा द्रव्यं क्षेत्र कालो भवो भावश्च। तत्र द्रव्य कर्मपुद्गलरूप यदि वाबाह्य किमपि तथाविधमुदयप्रादुर्भावनिमित्तं [illegible] दुर्भाषितभावापुद्गलद्रव्यक्रोधोदयस्य क्षेत्रमाकाश [illegible] दिरूपो भवो मनुष्यादिभव। भावो जीवस्य परिणाम[illegible]। एते च नैकैकश उदयहेतव. किन्तु समुदितास्तथा वा हेतुसमासेन उक्तस्वरूपाणां द्रव्यादीना हेतुना समासेन समुदायेन जायते सर्वासा प्रकृतीनामुदय. केवल क्वापि इत्यादि सामग्री कस्याश्चित्प्रकृतेरुदयहेतुरितिनहेतुत्वव्यभिचार.। उक्ता उदयहेतव। प०सं०।

उदयगामिणी– उदयगामिनी– स्त्री० उदय सूर्योदयं गच्छति मुहूर्तादिना व्याप्नोति गम्–णिनि–ङीप्–सूर्योदयावधिमुहूर्तादिकालव्यापिन्यां तिथौ,कर्माऽनुष्ठाने उदयकाले, कियन्मानस्य प्राह्यता। तन्निर्णयो वैष्णवाना कालमाधवे ग्रन्थे। वाच०।

उदयजिण–उदयजिन–पुं० भविष्यति सप्तमे तीर्थंकरे, स च पूर्वभवे शङ्खनामा श्रावकः। सप्तममुदयजिन वन्दे जीव च शङ्खनाम्नः श्रावकस्य। प्रव० ४६ द्वा०।

उदयट्ठाण–उदयस्थान–न० उदयप्रकारे,। प०स०। (बन्धोदयसत्ता आश्रित्य उदयस्थानेषु भङ्गा. कम्मशब्दे)

उदयट्ठि (ण्) उदयार्थिन्–त्रि० लाभार्थिनि, "एवं जहा वणिए उदयट्ठि, आयस्स हेउ पगरेति सग" सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

उदयण–उदयन–न० उद्–इ–भावे–ल्युट्–उदये, समासौ च। अगस्त्यमुनौ, कुसुमाञ्जलिप्रभृतिग्रन्थकारके स्वनामख्याते आचार्ये च। वाच०। उदनोऽप्याह। नापि प्रतिपक्षसाधनमनिवर्त्य प्रथमस्य साधनत्वावस्थितिशङ्कितप्रतिपक्षत्वादिति। ए०। मुमुक्षुकर्मव्यापारतन्त्र तत्वज्ञानवृत्ति नवेति विप्रतिपत्तिविधिकोटिरुदयनाचार्याणाम्। न०। वीणावत्सराजे, उत्त० १ अ०।

(तत्कथा चैवम्।)

जइ णं भंते! पंचमस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ एवं खलु

जंबू० तेणं कालेणं तेणं समएणं 'कोसंबी णामं णयरी होत्था । रिद्ध ३ बाहिं चंदोत्तरणे उज्जाणे सेयभद्दे जक्खे तत्थ णं कोसंबी य णयरीए सयाणिए णामं राया होत्था महया हिमवंत तस्स णं सयाणीयस्स रन्नो मियावतीए देवीए अत्तए उदयणे णामं कुमारे होत्था । अहीणजुवराया तस्स णं उदयणस्स कुमारस्स पउमावई णामं देवी होत्था विपा० ५ अ० ।

(उदयनस्य सोमदत्तपुरोहितसुतबृहस्पतिदत्त पद्मावत्यां स्वभार्यायामासक्तं दृष्ट्वा तद्विघातन तच्च वहस्सइदत्त शब्दे) गन्धर्वविद्याप्रगुणे चण्डप्रद्योतभूभुजः पुत्र्या वासवदत्ताया शिक्षके, आ०क० । आव० । आ०चू० (सिणियशब्दे तत्कथानकम् । यौगन्धरायणसेणियसब्दे तद्विवृतिः) सिन्धुसौवीराधिपतौ च । तद्वृत्तलेशोऽयम् । सिन्धुसौवीरदेशाधिपतिर्दशमुकुटबद्धभूपसेव्यउदयनराजो विद्युन्मालिसमर्पितश्रीवीरप्रतिमार्चनागतनीरोगीभूतगन्धारश्राद्धार्पितगुटिकाभक्षणतो जाताद्भुतरूपायाः सुवर्णगुलिकाया देवाधिदेवप्रतिमायुताया अपहर्तोर मालवदेशभूपसेव्य चण्डप्रद्योतराजं देवाधिदेवप्रतिमाप्रत्यानयनोत्पन्नसङ्ग्रामे बद्ध्वा पश्चादागच्छन् दशपुरे वर्षासु तस्थौ । वार्षिकपर्वणि च स्वयमुपवास चक्रे । भूपादिष्टसूपकारेण भोजनार्थं पृष्टेन चण्डप्रद्योतेन विषभिया श्राद्धस्य ममाप्यद्योपवास इति प्रोक्ते धूर्त्तसाधर्मिकेऽप्यस्मिन्नक्षमिते मम प्रतिक्रमणं न शुध्यतीति तत्सर्वस्वप्रदानमस्तङ्काले ममदासीपतिरित्यक्षराच्छादनाय स्वर्णमुकुटपट्टदानतश्च श्रीउदयनराजेन श्रीचण्डप्रद्योतः क्षमितोऽत्र श्रीउदयनराजस्यैवाराधकत्वम् । कल्प० उदयगामिनि, त्रि० । स्था० ४ ठा० ।

उदयणसत्त-उदयनसत्व- पु० उदयनमुदयगामि प्रवर्त्तमान सत्वं यस्य स तथा । तथाविधे पुरुषजातभेदे, स्था०४ठा० ।

उदयत्थमण-उदयास्तमन-न० उदयवेलायामस्तवेलायां च। 'उदयत्थमणे सुमुहुत्तसुहदंसण " कल्प० ।

उदयधम्म-उदयधर्मन्-पु०धर्मकल्पद्रुमकारके आगमगच्छीये आचार्ये, जै० इ० ।

उदयपत्त-उदयप्राप्त-त्रि० उदिते,-प्रश्न० सं०५ द्वा० ।

उदयप्पभसूरि-उदयप्रभसूरि-पु० नागेन्द्रगच्छीये स्वनामख्याते सूरिभेदे, " प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र, यत्किञ्चिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् । मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः, प्रसादमाधाय विशोधयन्तु । ४ । उन्यांमेप सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारणो, यत्रेय प्रतिभासरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भते । किंचामी विबुधाः सुधेति वचनोद्गार यदीय मुदा, शंसन्ति प्रथयन्ति तामतितमां सवादमेदस्विनीम् । ५ । नागेन्द्रगच्छगोविन्द-वक्षोऽलङ्कारकौस्तुभाः । ते विश्ववन्द्यानद्यास्तुरुदयप्रभसूरयः । ॥ अयमाचार्य विक्रमसवत् १२२० वर्षात् १२७७ पर्यन्त विद्यमान आसीत् । विजयसेनसूरेरय शिष्य वीरधवलमहाराजाऽमात्यवस्तुपालस्य मान्य आसीत् आरम्भासिद्धि धर्माभ्युदयग्रन्थौ व्यरीरचत् । द्वितीयोऽप्येतन्नामा रविप्रभसूरेः शिष्य । नेमिचन्द्रसूरिकृतप्रवचनोद्धारस्योपरि विषमपदव्याख्यानाम्नीं टीकां कृतवानिति । जै० इ० ।

उदयबंधुक्किट्ठा-उदयबन्धोत्कृष्टा- स्त्री० कर्मप्रकृतिभेदे, यासां प्रकृतिविपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्टस्थितिकर्माप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञाः । पं० सं० । " उदउक्कोसापयणाओ" अनायुष आयुश्चतुष्टयरहिता पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकतुल्यसंस्थानपराघातोच्छ्वासोद्योतविहायोगतयो गुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणोपघातवर्णादिचतुष्कानि स्थिरादिषट्कं त्रसादिचतुष्कमसातवेदनीय नीचैर्गोत्रं षोडशकषायमिथ्यात्वं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयमित्येता षष्टि प्रकृतय 'उदयबन्धोत्कृष्टा' । एतासामुदयप्राप्तानां स्वबन्धनेन उत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते तत एता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधेयाः । पं० सं० ॥

उदयवई-उदयवती- स्त्री० कर्मप्रकृतिभेदे, तत्स्वरूपं च " चरमसमयम्मि दलिय, जासिं अन्नत्थसकमे ताउ । अनुदयवइ इयरीओ, उदयवइ होति पगईओ " इति अनुदयवतीरूपप्रतिरूप इतराः प्रकृतय उदयवत्यो भवन्ति । पं० सं ॥

यासां दलिक चरमसमये स्वविपाकेन वेद्यते सम्प्रति ता एवोदयवती प्रकृतीरभिधातुकाम आह ।

नाणंतराय आउग-दंसणचउवेयणीयमपुमिच्छा ।
चरिमुदयउच्चवेयग-उदयवई चरिमलोभो य ॥

ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकमायुश्चतुष्टय दर्शनचतुष्टयं सातासातवेदनीये स्त्रीनपुंसकवेदौ चरमोदयान्यमन वक्ष्यमाणरूपास्ताश्चेमाः । मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजातित्रसनामबादरनाम पर्याप्तकनाम शुभनामसुस्वरनामादेयनाम तीर्थकरनाम तथा उच्चैर्गोत्रं वेदकसम्यक्त्व चरमलोभः सज्वलनलोभः इत्येताश्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतय उदयवत्यस्तत्राहि-ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायान्त्यसमये चरमोदयानां च नाम वेदकलक्षणानां सातासातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रस्य च सर्वसख्यया द्वादशप्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये सज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसपरायान्त्यसमये वेदकसम्यक्त्वस्य स्वक्षपणपर्यवसानसमये स्त्रीनपुंसकवेदयोः क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसपराययो सख्येयेषु भागेष्वतिक्रान्तेषु तदुदयान्तसमये आयुषां च स्वस्वभवचरमसमये स्ववेदनमस्ति । तत एता उदयवत्योऽभिधीयन्ते । यद्यपि सातासातवेदनीययोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चानुदयवतीत्वमपि सभवति तथापि प्रधानमेव गुणमवलम्ब्य सत्पुरुषा व्यपदेश प्रयच्छन्तीति उदयवत्य पूर्वपुरुषैरुपदिष्टाः । पं० सं० ३ द्वा० ।

उदयवल्लभ-उदयवल्लभ- पु० विक्रमराज्यात् अष्टाविंशत्यधिकचतुर्दशशते (१४२८) वर्षे जाते श्रीपालकथानामग्रन्थकृतो लब्धिसागरस्य गुरौ । जै०इ० ।

उदयरयणगणि-उदयरत्नगणिन्-पु० 'स्वनामके मुनिसिंहसूरेः शिष्ये, अनेन विक्रमराज्यात् अष्टाविंशत्यधिकचतुर्दशशते (१४२८) वर्षे रत्नशेखरसूरिकृतश्रीपालचरित्रस्य प्रथमादर्शो लिखितः । जै० इ० ।

उदयवीरगणि-उदयवीरगणिन्-पुं०तपागच्छीये सघवीरगणिनोऽन्तेवासिनि, । जै० इ० ।

उदयसंकमुक्किट्ठा-उदयसंक्रमोत्कृष्टा-स्त्री० कर्मप्रकृतिभेदे, यासां विपाकोदये प्रवर्तमाने सति संक्रमत उत्कृष्टस्थितिसत्कर्म लभ्यते न बन्धनस्ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाः । पं० सं०३ द्वा० ।

उदयसंठिइ-उदयसंस्थिति-पु० सूर्यादेरुदयविधौ, चं० प्र० ६ पाहु० । सू० प्र० । (सूर्यस्य उदयविधौ विप्रतिपत्तिप्रदर्शनपूर्वकसिद्धान्तो यथा-

ता कध ते उदयसंठिती आहितेति वदेज्जा तत्थ खलु इमाओ तिन्नि पडिवत्तिओ पन्नत्ताओ तत्थेगे एवमाहंसु ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तता

एं उत्तरद्धे वि अट्ठारसमुहूत्ते दिवसे जवति । जता एं उत्तरद्धे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति तता एं दाहिणड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति। जदा एं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे जवति तया एं उत्तरद्धे वि सत्तरस मुहुत्ते दिवसे जवति। जया एं उत्तरद्धे सत्तरस मुहुत्ते दिवसे जवति तदा णं दाहिणड्ढे वि सत्तरस मुहुत्ते दिवसे जवति। एवं परिहावेतव्वं सोलसमुहुत्ते दिवसे पन्नरसमुहुत्ते दिवसे चोद्दस मुहुत्ते दिवसे जवति तेरसमुहुत्ते दिवसे जाव ता जता एं जंबूदीवे २ दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ते दिवसे तया णं उत्तरड्ढेवि बारसमुहुत्ते दिवसे जवति। जता एं उत्तरड्ढे बारसमुहुत्ते दिवसे जवति तताणं दाहिणड्ढे वि बारसमुहुत्ते दिवसे जवति। तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमं पच्चच्छिमेणं सत्तपन्नरसमुहुत्ते दिवसे जवति सदा पन्नरस मुहुत्ता राई भवति अवट्ठिताणं तत्थ राइंदिया पन्नत्ता समणाउसो एगे एवमाहंसु। एगे पुण एवमाहंसु जता एं जंबूदीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारस मुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति तया णं उत्तरड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवइ। जया एं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति तता एं दाहिणड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति। जया एं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति तता णं दाहिणड्ढे वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति। एवं परिहावतव्वं सत्तरस मुहुत्ताणतरे दिवसे जवति सोलसमुहुत्ताणंतरे पन्नरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति एवं परिहावेतव्वं चोद्दसमुहुत्ताणंतरे जाव॥

(ता कधन इत्यादि) ता इति पूर्ववत् कथ केन प्रकारेण सूर्यस्य उदयसंस्थितिस्ते त्वया भगवन्नाख्याता इति वदेत् एवमुक्ते सति भगवानेतद्विषया यावत्य प्रतिपत्तय· तावतीरुपदर्शयति। (तत्थेत्यादि) तत्र तस्यामुदयसंस्थितौ विषये तिस्र· प्रतिपत्तयः परतीर्थिकाभ्युपगमरूपा प्रज्ञप्तास्तद्यथा तत्र तेषा त्रयाणा परतीर्थिकाना मध्ये एक प्रथमा· परतीर्थिका एवमाहुः (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे अस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि अष्टादशमुहूर्त्तोदिवस । तदेव दक्षिणार्द्धनियमेनोत्तरार्द्धनियम उक्त । सम्प्रति उत्तरार्द्धनियमेन दक्षिणार्द्धनियमनमाह (ताजयाणमिदि) तत्र यदा उत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धेऽपि अष्टादशमुहूर्त्तो दिवस (ताजयाणमित्यादि) यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति यदा चोत्तरार्द्धे सप्तदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धेऽपि सप्तदशमुहूर्त्तो दिवस· (एव इत्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एकैकमुहूर्त्तहान्या परिहातव्यम् परिहानिमेव क्रमेण दर्शयति। प्रथमत उक्त प्रकारेण षोडशमुहूर्त्तो दिवसो वक्तव्यः तदनन्तर पञ्चदशमुहूर्त्तस्ततश्चतुर्दशमुहूर्त्तस्ततस्त्रयोदशमुहूर्त्त· सूत्रपाठेऽपि प्रागुक्तसूत्रानुसारेण स्वय परिभावनीय । सत्रैव "जया ण जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे सोलसमुहुत्ते दिवसे भवइ तया ण उत्तरड्ढे सोलसमुहुत्ते दिवसे भवइ जयाण उत्तरड्ढे वि सोलसमुहुत्ते दिवसे भवइ तया ण दाहिणड्ढे वि सोलसमुहुत्ते दिवसे भवइ" इत्यादि द्वादशमुहूर्त्तदिवसप्रतिपादकसूत्र साक्षादाह (ता जयाणमित्यादि) ता इति तत्र यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्त्तो दिवस· यदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्त्तो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवस· । तदा अष्टादशमुहूर्त्तादिदिवसकाले जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि सदा सर्वकाल पञ्चदशमुहूर्त्तो दिवसो भवति सदैव पञ्चदशमुहूर्त्ता रात्रि । कुत इत्याह । अवस्थितानि सकलकालमेकप्रमाणानि णमिति वाक्यालंकारे तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां दिशि रात्रिं दिवानि प्रज्ञप्तानि हे श्रमण! हे आयुष्मन्! एतच्च प्रथमानां परतीर्थिकानां मूलभूत स्वशिष्य प्रत्यामन्त्रण वाक्यम् । अत्रैवोपसंहारमाह । (एगे एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहु· यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणस्मिन्नर्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरोऽष्टादशभ्यो मुहूर्त्तेभ्योऽनन्तरो मनाक् हीनो हीनतरो वा यावत्सप्तदशभ्यो मुहूर्त्तेभ्य· किंचित्समधिक एव प्रमाणो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽप्यष्टादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति यदा चोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धेऽपि अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरो दिवस· । यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे सप्तदशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि सप्तदशमुहूर्त्तानन्तरो दिवस· यदा उत्तरार्द्धे सप्तदशानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि सप्तदशमुहूर्त्तानन्तरो दिवस· (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एकैकमुहूर्त्तहान्या परिहातव्य परिहानिप्रकारमेवाह (सोलसेत्यादि) प्रथमत· षोडशमुहूर्त्तानन्तरो दिवसो वक्तव्यः। तत· पञ्चदशमुहूर्त्तानन्तरस्तदनन्तर चतुर्दशमुहूर्त्तानन्तरस्ततस्त्रयोदशमुहूर्त्तानन्तर· एतेषा हि मतेन न कदाचनापि परिपूर्णमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति तत· सर्वत्रानन्तरशब्दप्रयोग· । द्वादशमुहूर्त्तानन्तर सूत्र तु साक्षाद्दर्शयति॥

ता जयाणं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा एं उत्तरड्ढे वि बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति जता एं उत्तरड्ढे बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति तया एं दाहिणड्ढेवि बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति तदा एं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वतस्स पुरत्थिमपच्चच्छिमेणं णो सदा पन्नरसमुहुत्ते दिवसे जवति णो सदा पन्नरसमुहुत्ता राई जवति अणवट्ठिताणं तत्थ राइंदिया पन्नत्ता समणाउसो एगे एवमाहंसु एगे पुण एवमाहंसु २ ता जदा एं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवत्ति तदा एं उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई जवति। जया णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति तदा एं दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ता राई जवति ता जया एं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति तदा एं उत्तरड्ढे बारसमुहुत्ता राई जवइ। जता णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति तदा एं दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ता राई जवति। एवं णेतव्वं सगलेहि य अणंतरेहि य एक्केके दो दो आलावका सव्वेहिं दुवालसमुहुत्ता राई जवति जाव ता जता एं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे बारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई जवति जया एं उत्तरड्ढे दुवालसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति तदा णं दाहिणड्ढे दुवालसमुहुत्ता राई जवति। तता एं

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं णेवत्थि पण्णरसमुहुत्ते दिवसे जवति । एवत्थिपण्णरसमुहुत्ता राई जवति वोच्छिण्णाणं तत्थ राइंदिया पण्णत्ता समणाउसो एगे एवमाहंसु ३ वयं पुण एवं वदामो ता जंबुद्दीवे २ सूरियाउ ईणपाईणमुग्गच्छंति पाईण दाहिणमागच्छंति पाईण दाहिणमुग्गच्छंति दाहिणपडिणमागच्छंति दाहीणपडीणमुग्गच्छंति पडीणमुदीणमागच्छंति पडीणउदीणमुग्गच्छंति उदीणपाईणमागच्छंति । ता जता णं जंबुद्दीवे २ दाहिणद्धे दिवसे जवति ता तदा णं उत्तरद्धे दिवसे जवति । तदाए जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई जवति ता जदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं दिवसे जवति तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं राई जवति । ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणद्धे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति तदा णं उत्तरद्धेवि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति जता णं उत्तरद्धे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति तदा णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं जहस्सिया दुवालसमुहुत्ता राई जवति । ता जता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जता णं पच्चच्छिमेणं उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे जवति तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं जहस्सिया दुवालसमुहुत्ता राई जवति । एवं एएणं गमेणं णेतव्वं । अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगदुवालसमुहुत्ता राई जवति सत्तरसमुहुत्ते दिवसे तेरसमुहुत्ता राई सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति सातिरेगतेरसमुहुत्ता राई जवति सोलसमुहुत्ते दिवसे जवति चोद्दसमुहुत्ता राई जवति । सोलसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवति सातिरेगचोद्दसमुहुत्ता राई जवति । पण्णरसमुहुत्ते दिवसे पण्णरसमुहुत्ता राई पण्णरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगपण्णरसमुहुत्ता राई जवति । चोद्दसमुहुत्ते दिवसे सोलसमुहुत्ता राई चोद्दसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगसोलसमुहुत्ता राई तेरसमुहुत्ते दिवसे सत्तरसमुहुत्ता राई तेरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे सातिरेगसत्तरसमुहुत्ता राई । जहस्सए दुवालसमुहुत्ते दिवसे जवति उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई जवइ एवं जाणितव्वं । ता जदा णं जंबुद्दीवे २ दाहिणद्धे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तता णं उत्तरद्धेवि वासाणं पढमे समए पडिवज्जति । जता णं उत्तरद्धे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंतरपुरक्खडे कालसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ता जया णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तता णं पच्चच्छिमेण वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ । जया णं पच्चच्छिमे णं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकयकालसमयंसि वासाणं पढमे समये पडिवण्णे जवति ॥ जहा समओ एवं आवलियाए आणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उदू एवं दस आलावका जया वासाणं एवं हेमंताणं गिम्हाणं च जाणियव्वा ॥

(ता जया णमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा उत्तरार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसः । यदा चोत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धेऽपि द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा चाष्टादशमुहूर्तानन्तरादिदिवसकाले जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि नो नैव सदा सर्वकालं पञ्चदशमुहूर्तो दिवसो भवति नापि सदा पञ्चदशमुहूर्ता रात्रिः कुत इत्याह (अणवट्ठियाणमित्यादि) अनवस्थितानि अनियतप्रमाणानि णमिति खलु तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिन्दिवानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण ' हेआयुष्मन् ' अत्रोपसंहारमाह । (एगे एवमाहंसु २) एके पुनरेवमाहुः । ता इति पूर्ववत् जम्बूद्वीपे यदा दक्षिणार्द्धे अष्टादशमुहूर्तो दिवसो जवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः । यदोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः तथा यदा दक्षिणार्द्धे (अट्ठारसमुहुत्ताणंतरेत्ति) अष्टादशभ्यो मुहूर्तेभ्योऽनन्तरो मनाक् हीनो हीनतरो यावत्सप्तदशभ्यो मुहूर्तेभ्यः किञ्चिदभ्यधिक एव प्रमाणो दिवसो जवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः । तथा यदा चोत्तरार्द्धे अष्टादशमुहूर्तानन्तरो दिवसस्तदा दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावत्त्रयोदशमुहूर्तानन्तरदिवसवक्तव्यता एकैकस्मिंश्च सप्तदशादिके सङ्ख्याविशेषे एकैकैर्मुहूर्तैरनन्तरैश्च किञ्चिदूनैर्द्वौ द्वावालापकौ वक्तव्यौ सर्वत्र च द्वादशमुहूर्ता रात्रिस्तथा । जयाणं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणद्धे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे जवइ तयाणं उत्तरद्धे दुवालसमुहुत्ता राई जवति जयाणं उत्तरद्धे सत्तरसमुहुत्ते दिवसे जवइ तया णं दाहिणद्धे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ जया णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणद्धे सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं उत्तरद्धे दुवालसमुहुत्ता राई जवइ जयाणं उत्तरद्धे सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे जवइ तथा णं दाहिणद्धे दुवालसमुहुत्ता राई जवइ " एवं षोडशमुहूर्त्ते । षोडशमुहूर्तानन्तरं पञ्चदशमुहूर्ते पञ्चदशमुहूर्तानन्तरं चतुर्दशमुहूर्ते चतुर्दशमुहूर्तानन्तरं त्रयोदशमुहूर्ते त्रयोदशमुहूर्तानन्तरं द्वादशमुहूर्तगता अपि तव आलापका वक्तव्या द्वादशमुहूर्तानन्तरगतमालापकं साक्षादाह (जयाणमित्यादि) यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसो जवति तदा उत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति यदा चोत्तरार्द्धे द्वादशमुहूर्तानन्तरो दिवसो जवति तदा दक्षिणार्द्धे द्वादशमुहूर्ता रात्रिः तदा चाष्टादशमुहूर्तानन्तरादिदिवसकाले जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणंति) पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि नैवास्त्येतत् यदुत पञ्चदशमुहूर्तो दिवसो जवति नाप्यस्त्येतत् यथा पञ्चदशमुहूर्ता रात्रिर्भवतीति कुत इत्याह (वोच्छिन्नाणमित्यादि) व्यवच्छिन्नानि णमिति खलु तत्र मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि रात्रिंदिवानि प्रज्ञप्तानि हेश्रमण ' हेआयुष्मन् ' अत्रोपसंहारमाह (एगे एवमाहंसु ३) एताश्च तिस्रोऽपि प्रतिपत्तयो मिथ्यारूपा जगवतोऽननुमतत्वात् । अपि च ये तृतीया वादिनः सर्वदा रात्रिं द्वादशमुहूर्तप्रमाणामिच्छन्ति तेषां प्रत्यक्षविरोधः । प्रत्यक्षतोऽत्र हीनाधिकरूपा रात्रेरुपलभ्यमानत्वात् ॥

सम्प्रति स्वमतं भगवानुपदर्शयति । (वयपुण इत्यादि) वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वदामस्तमेव प्रकारमाह (ता जंबुद्दीवे दीवे इत्यादि) ता इति पूर्ववत् जम्बूद्वीपे द्वीपे सूर्यौ यथायोगमण्डलपरिभ्रम्या भ्रमन्तौ मेरोरुदक्प्राच्यामुत्तरपूर्वस्यां दिशि उद्गच्छतः तत्र चोद्गत्य प्राग् दक्षिणपूर्वस्यामागच्छतः ततो भरतादिक्षेत्रापेक्षया प्राग् दक्षिणपूर्वस्यामुद्गत्य दक्षिणापरस्यामागच्छतस्तत्रापि च दक्षिणापरस्यामपरविदेहक्षेत्रापेक्षया उद्गत्यापाच्युदीच्यामपरोत्तरस्यामागच्छतस्तत्रापि चापरोत्तरस्यामैरवतादिक्षेत्रापेक्षया उद्गत्य उदक्प्राच्यामुत्तरपूर्वस्यामागच्छतः एवं तावत्सामान्यतो द्वयोरपि सूर्ययोरुदयविधिरुपदर्शितो विशेषतः पुनरयं यदैकः सूर्यः पूर्वदक्षिणस्यामुद्गच्छति तदा अपरः उत्तरस्यां दिशि समुद्गच्छति दक्षिणपूर्वोद्गतश्च सूर्यो भरतादीनि क्षेत्राणि मेरुदक्षिणदिग्वर्तीनि मण्डलपरिभ्रम्या परिभ्रमन् प्रकाशयति अपरोत्तरस्यामुद्गतः सन् ततः ऊर्ध्वं मण्डलपरिभ्रम्या परिभ्रमन् ऐरावतादीनि क्षेत्राणि मेरोरुत्तरदिग्भावीनि प्रकाशयति भारतश्च सूर्यो दक्षिणापरस्यामागतः सन्नपरविदेहक्षेत्रापेक्षया उदयमासादयति ऐरावतः सूर्यः पुनरुत्तरपूर्वस्यामागतः पूर्वविदेहापेक्षया समुद्गच्छति ततो दक्षिणापरस्यामुद्गतः सन् ततः ऊर्ध्वं मण्डलभ्रम्या परिभ्रमन् अपरविदेहान् प्रकाशयति। उत्तरपूर्वस्यामुद्गतः सन् तत ऊर्ध्वं मण्डलगत्या चरन् पूर्वविदेहानवभासयति । तत एव पूर्वविदेहप्रकाशकः सूर्यो दक्षिणपूर्वस्यां भरतादिक्षेत्रापेक्षयोदयमासादयति अपरविदेहप्रकाशकस्त्वपरोत्तरस्यामिति।तदेवं जम्बूद्वीपे सूर्ययोरुदयविधिरुक्तः सम्प्रति क्षेत्रविभागेन दिवसरात्रिविभागमाह (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपे २ दक्षिणार्द्धे दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि दिवसो भवति एकस्य सूर्यस्य दक्षिणदिशि परिभ्रमणसम्भवे अपरस्य सूर्यस्यावश्यमुत्तरदिशि भ्रमणसम्भवात् यदा चोत्तरार्द्धे दिवसस्तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिर्भवति तदानीमेकस्यापि सूर्यस्य तत्राभावात् । (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि दिवसो भवति एकस्य सूर्यस्य पूर्वदिग्भागसम्भवे अपरस्य सूर्यस्यावश्यमपरस्यां दिशि भावात् । एतच्च प्रागेव भावितम् । यदा च पश्चिमायामपि दिशि दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणति) उत्तरतो दक्षिणतश्च रात्रिर्भवति (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा णमिति प्राग्वत् जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे उत्कर्षत उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः उत्कृष्टो ह्यष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसः सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारित्वे तत्र च यदैकः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारी भवति तदा अपरोऽप्यवश्यं तत्समायातश्रेण्या सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारी भवतीति दक्षिणार्द्धे उत्कृष्टदिवससम्भवे उत्तरार्द्धेऽप्युत्कृष्टदिवससम्भव । यदा उत्तरार्द्धे उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि जघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति सर्वाभ्यन्तरं मण्डलं चारं चरतोः सूर्ययोः सर्वत्रापि रात्रेर्द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणाया एव भावात् तथा (ताजयाणमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि उत्कर्षत उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसः कारणं दक्षिणोत्तरार्द्धगतं प्रागुक्तमनुसरणीयम् । यदा च मन्दरपर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणति) उत्तरतो दक्षिणतश्च जघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः । अत्रापि कारणं पूर्वपश्चिमार्द्धे रात्रिगतं प्रागुक्तमनुसरणीयम् । (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेन गमेनालापकगमेन वक्ष्यमाणमपि नेतव्यम् । किं तद्वक्ष्यमाणमित्याह । (अट्ठारसमुहुत्ताणतरमित्यादि) यदा मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणोत्तरार्द्धयोः पूर्वपश्चिमयोर्वा अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरः सप्तदशभिर्मुहूर्त्तैस्य ऊर्द्धं किञ्चिन्न्यूनाष्टादशमुहूर्त्तप्रमाणो दिवसस्तदा पूर्वपश्चिमयोर्दक्षिणोत्तरार्द्धयोर्वा सातिरेका द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवतीति एवं शेषाण्यपि पदानि भावनीयानि सूत्रपाठोऽपि प्रागुक्तालापकगमानुसारेण स्वयं परिभावनीयः । स चैवं " ता जयाणं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं उत्तरड्ढेवि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ जया णं उत्तरड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं सातिरेगदुवालसमुहुत्ता राई भवइ ता जया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ तया णं पच्चच्छिमेण वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे हवइ। जया णं पच्चच्छिमेण वि अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं सातिरेगदुवालसमुहुत्ता राई भवइ" एवं सप्तदशमुहूर्त्तदिवसादिप्रतिपादका अपि सूत्रालापका भावनीयाः (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे दक्षिणार्द्धे वर्षाणां वर्षाकालस्य प्रथमः समयः प्रतिपद्यते भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि वर्षाणां प्रथमसमयो भवति समकालं नैयत्येन दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च सूर्ययोश्चारभावात् यदा चोत्तरार्द्धे वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (पुरच्छिमपच्चच्छिमेणति) पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि (अणंतरपुरक्खडेत्ति) अनन्तरमव्यवधानेन पुरस्कृतः कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतोऽनन्तरद्वितीय इत्यर्थः । तस्मिन् काले (समयसित्ति) समयः सङ्केतादिरपि भवति ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं कालग्रहणं कालश्चासौ समयश्च कालसमयस्तत्र वर्षाकालप्रथमसमयः प्रतिपद्यते भवति किमुक्तं भवति यस्मिन् समये दक्षिणार्द्धोत्तरार्द्धयोर्वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तस्मादूर्ध्वमनन्तरे द्वितीये समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाकालस्य प्रथमसमयो भवति (ताजयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति प्राग्वत् । जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि वर्षाकालस्य प्रथमसमयो भवति तदा मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमायामपि दिशि वर्षाकालप्रथमसमयो भवति समकालं नैयत्येन पूर्वपश्चिमयोरपि सूर्ययोश्चारचरणात् । यदा च पश्चिमायामपि दिशि वर्षाकालस्य प्रथमः समयः भवति तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य (उत्तरदाहिणेणति) उत्तरतो दक्षिणतश्च अनन्तरमव्यवधानेन पश्चात्कृतोऽनन्तरपश्चात्कृतस्तस्मिन् कालसमये वर्षाकालस्य प्रथमः समयः प्रतिपन्नो भवति भूत इत्यर्थः । इह यस्मिन् समये दक्षिणार्द्धे उत्तरार्द्धे च वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति तदनन्तरमेतने द्वितीये समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाणां प्रथमसमयो भवतीति । एतावन्मात्रो कालोऽपि यस्मिन् समये पूर्वपश्चिमयोर्वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवति ततोऽनन्तरे पश्चाद्भाविनि समये दक्षिणोत्तरार्द्धयोर्वर्षाकालस्य प्रथमः समयो भवतीति गम्यते तत्किमर्थमस्योपादानम् उच्यते इह क्रमाद्व्यामनिहितोऽर्थः प्रपञ्चितज्ञाना शिष्याणामतिसुनिश्चितो भवति ततस्तेषामनुग्रहाय

तदुक्तमित्यदोषः ॥ (जहासमयइत्यादि) यथा समय उक्तस्तथा आवलिकाद्याणापाणौ स्तोकको लवो मुहूर्त्तोऽहोरात्र पक्षो मास ऋतुश्च प्रावृडादिरूपो वक्तव्य एव च समयागतमालापकमादिं कृत्वा दश आलापका एते भवन्ति ते च समयगतालापकरीत्या स्वयं परिभावनीयास्तद्यथा" जयाणं जंबूदीवे दीवे वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया ण उत्तरड्ढे वि वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ जयाण उत्तरड्ढे वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया ण जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेण अणतरपुरक्खडे कालसमयसि वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ ता जयाण जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेण वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया ण पच्चच्छिमेण च पढमा आवलिया पडिवज्जइ जया ण पच्चच्छिमेण वासाण पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेण अणतरपच्छाकडकालसमयसि वासाण पढमा आवलिया पडिवन्ना भवइ" इद च प्रागुक्तव्याख्यानुसारेण व्याख्येय नवरम् (आवलिया पडिवज्जत्ति) आवलिका परिपूर्णा भवति शेष तथैव एवं प्राणापानादिका अप्यालापका भणनीया (एएइत्यादि) यथा वर्षाणां वर्षाकालस्य एते अनन्तरोदिता समयादिगता अत्र आलापका भणिता एव (हेमताणति) शीतकालस्य (गिम्हाणति) ग्रीष्मकालस्योष्णकालस्येत्यर्थ । प्रत्येकं समयादिगता दश आलापका भणितव्या. । अयनगत त्वालापक साक्षात्पठति ॥

ता जता णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमे अयणे पडिवज्जइ जता ण उत्तरड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जति तता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं अणंतरपुरक्खडकालसमयंसि पढमे अयणे पडिवज्जति ता जता णं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं पढमे अयणे पडिवज्जति जया णं पच्चच्छिमेणं पढमे अयणे पडिवज्जति तता ण जंबुद्दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकडकालसमयंसि पढमे अयणे पडिवन्ने भवति जहा अयणे तथा संवच्छरे जुगे वाससते एवं वाससहस्से वाससयसहस्से पुव्वंगे पुव्वे एवं जाव सीसपहेलिया पलितोवमे सागरोवमे ता जता णं जंबुद्दीवे २ दाहिणड्ढे उस्सप्पिणी पडिवज्जति तता णं उतरड्ढे वि उस्सप्पिणी पडिवज्जति जता णं उत्तरड्ढे उस्सप्पिणी पडिवज्जति तताणं जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं णेवत्थि ओसप्पिणी णेव अत्थि उस्सप्पिणी अवट्ठितेणं तत्थ काले पण्णत्ते समणाउसो एवं उस्सप्पिणी वि ता लवणं समुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तता णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति जता ण उत्तरड्ढे दिवसे भवति तता णं लवणसमुद्दे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवति जहा जंबुद्दीवे २ तहेव जाव उस्सप्पिणी तहा धायइसंडेणं दीवे सूरिया उदीण तधेव ता जता णं धायइसंडे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तता णं उत्तरड्ढे वि दिवसे भवति जता णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति तता णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वताण पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवति एवं जंबुद्दीवे २ तहा तधेव जाव उस्सप्पिणी कालो एवं जहा लवणे समुद्दे तधेव कालोदे तब्भिंतरं पुक्खरद्धेणं सूरिया उदीणपाईणमुग्गच्छं तधेव ता जता णं अब्भिंतरपुक्खरद्धेणं दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरद्धे वि दिवसे भवति जता णं उत्तरद्धे वि दिवसे भवति तता ण अब्भिंतरपुक्खरद्धे मंदराणं पव्वताणं पुरच्छिमे पच्चच्छिमेणं राई भवति सेसं जहा णं जंबुद्दीवे तधेव जाव उस्सप्पिणीओ सप्पिणी ।

ता जताणमित्यादि सुगमम् । (जहाअयणेइत्यादि) यथा अयने आलापको भणितस्तथा सवत्सरे युगे वक्ष्यमाणस्वरूपे चन्द्रादिसवत्सरपञ्चकात्मके वर्षसहस्रे वर्षशतसहस्रे पूर्वाङ्गे पूर्वे एव (जाव सोसपहेलियत्ति) अत्र एव यावत्करणादमूव्यपान्तराले पदानि द्रष्टव्यानि " तुडियगे तुडिए अडडंगे अडडे अववगे अववे हुहुयगे हुहुये उप्पलगे उप्पले पउमंगे पउमे नलिणंगे नलिणे अत्थनिउरगे अत्थनिउरे अउयगे अउए नउयगे नउए चूलियगे चूलिए सीसपहेलियगे सीसपहेलिए इति" अत्र चतुरशीतिवर्षलक्षाण्येक पूर्वाङ्ग चतुरशीतिपूर्वाङ्गलक्षाणि एक पूर्वमेव पूर्वः पूर्वो राशिश्चतुरशीतिलक्षैर्गुणित उत्तरो राशिर्भवति. यावच्चतुरशीतिशीर्षप्रहेलिकाङ्गलक्षाणि एका शीर्षप्रहेलिका एतावान् राशिर्गणितविषयोऽत ऊर्ध्वं गणनातीतः स च पल्योपमादि " पलिउवमे सागरोवमे " अनयो स्वरूप सग्रहणीटीकायामुक्तम् । आलापकास्तु स्वय वक्तव्याः । अवसर्पिण्युत्सर्पिणीविषयमालापकं साक्षादाह (ताजयाणमित्यादि) तत्र यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणार्द्धे अवसर्पिणी प्रतिपद्यते परिपूर्णा भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि अवसर्पिणी प्रतिपद्यते यदा उत्तरार्द्धे अवसर्पिणी प्रतिपद्यते तदा जम्बूद्वीपे २ मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि नैवास्त्यवसर्पिणी नाप्यस्त्युत्सर्पिणी कुत इत्याह अविस्थितो णमिति खलु तत्र पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि कालः प्रज्ञप्तो मया शेषैश्च तीर्थकरैः हे श्रमणायुष्मन् ! ततस्तत्रावसर्पिण्युत्सर्पिण्यभाव (एवमुस्सप्पिणीवित्ति) एवमुक्तेन प्रकारेणोत्सर्पिण्यपि उत्सर्पिण्यालापकोऽपि वक्तव्य. । स चैव "ताजयाण जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ तया ण उत्तरड्ढे वि पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ जया ण उत्तरड्ढे वि पढमा उस्सप्पिणी पडिवज्जइ तया ण जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमपच्चच्छिमेण नेव अत्थि उस्सप्पिणी अवसप्पिणी अवट्ठिएण तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो " तदेव जम्बूद्वीपवक्तव्यतोक्ता सम्प्रति लवणसमुद्रवक्तव्यतामाह । (लवणेण समुद्दे इत्यादि) (तहेवत्ति) यथा जम्बूद्वीपे उद्गमविषये आलापक उक्तस्तथा लवणसमुद्रेऽपि वक्तव्य. । सचैव "लवणेण सूरिया उईणपाईणमुग्गच्छ पाईणदाहिणमागच्छति पाईणदाहिणमुग्गच्छ दाहिणपाईणमागच्छेति दाहिणपाईणमुग्गच्छ पाईणउईणमागच्छति पाईणउईणमुग्गच्छ उईणपाईणमागच्छति " इदं च सूत्र जम्बूद्वीपगतोद्गमसूत्रवत्स्वय परिभावनीय नवरमत्र सूर्याश्चत्वारो वेदितव्या " चत्तारि य सागरे लवणे इति वचनात् " ते च जम्बूद्वीपगतसूर्याभ्यां सह समश्रेण्या प्रतिबद्धास्तद्यथा द्वौ सूर्यावेकस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या प्रतिबद्धौ द्वितीयस्य जम्बूद्वीपगतस्य सूर्यस्य श्रेण्या अपरौ तत्र यदैक सूर्यो जम्बूद्वीपे दक्षिणपूर्वस्यामुद्गच्छति तदा

तत्समश्रेण्या प्रतिबद्धौ सूर्यौ लवणसमुद्रे तस्यामेव दक्षिणपूर्वस्यामुदयमागच्छतस्तदेव जम्बूद्वीपगतेन सूर्येण सह तत्समश्रेण्या प्रतिबद्धौ द्वावपरौ लवणसमुद्रे अपरोत्तरस्यां दिशि उदयमासादयत. । तत उदयविधिरपि द्वयोर्द्वयोर्जम्बूद्वीपसूर्ययोरिव भावनीय । तेन दिवसरात्रिविभागोऽपि क्षेत्रविभागेन तथैव द्रष्टव्यः । तथा चाह । ताजयाणमित्यादि सुगमं नवरं (जहाजंबुद्दीवेइत्यादि) यथा जंबुद्दीवे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं राई भवइ इत्यादिकं सूत्रमुक्तं यावदुत्सर्पिण्यवसर्पिण्यालापकस्तथा लवणसमुद्रेऽप्यन्यूनातिरिक्तं समस्त भणितव्य नवरं जम्बूद्वीपे द्वीप इत्यस्य स्थाने लवणसमुद्रे इति वक्तव्यमिति शेषः तदेवं लवणसमुद्रगतापि वक्तव्यतोक्ता । संप्रति धातकीखण्डविषयां तामाह "धायइसंडेणं सूरियाइ इत्यादि" अत्राप्युद्गमविधिः प्राग्वद्भावनीया नवरमत्र सूर्या द्वादश " धायइसंडे दीवे बारसचंदा य सूरा य " इतिवचनात् । तत षट् सूर्या दक्षिणदिक्चारिभिर्जम्बूद्वीपगतलवणसमुद्रगतै सूर्यैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धा. षट् उत्तरदिक्चारिभिः । संप्रत्यपि क्षेत्रविभागेन दिवसरात्रिविभागमाह (ताजयाणमित्यादि) यदा धातकीखण्डे द्वीपे दक्षिणार्द्धे दिवसो भवति तदा उत्तरार्द्धेऽपि दिवसो भवति यदा उत्तरार्द्धेऽपि दिवसस्तदा धातकीखण्डे मन्दरयो. पर्वतयोः पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धगतयो प्रत्येकं पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि रात्रिर्भवति [एवमित्यादि] एवमुक्तेन प्रकारेण यथा जम्बूद्वीपे उक्तं तथैवात्रापि वक्तव्य तत्र तावद्यावदुत्सर्पिण्यालापक. । [कालोएइत्यादि] कालोदे समुद्रे यथा लवणेऽभिहित तथैवाभिधातव्य नवरं कालोदे सूर्या द्विचत्वारिंशत् तत्रैकविंशतिर्दक्षिणदिक्चारिभिर्जम्बूद्वीपलवणसमुद्रधातकीखण्डगतैः सह समश्रेण्या सबद्धा एकविंशतिरुत्तरदिक्चारिभि तत उदयविधिर्दिवसरात्रिविभागश्च क्षेत्रविभागेन तथैव वेदितव्य ॥ सांप्रतमभ्यन्तरपुष्करवरार्द्धवक्तव्यतामाह [ता अभिंतरपुक्खरद्धे इत्यादि] इदमपि सूत्रं सुगम [तहेवत्ति] तथैव जम्बूद्वीप इव वक्तव्यं नवरमत्र सूर्या द्वासप्ततिः तत्र षट्त्रिंशद्दक्षिणदिक्चारिभिर्जम्बूद्वीपादिगतैः सह समश्रेण्या प्रतिबद्धा षट्त्रिंशदुत्तरदिक्चारिभिस्तत उदयविधिर्दिवसरात्रिविभागश्च क्षेत्रविभागेन प्राग्वदवसेयस्तथाचाह [ताजयाणमित्यादि] सुगमम् । सू० प्र० ८ पाहु० ।

उदयसाय(ग)र–उदयसागर–पुं० अञ्चलगच्छीये विद्यासागरसूरिशिष्ये, येन विक्रम स० (१८०४) वर्षे पालिताणय नगरे स्नात्रपञ्चाशिका नामग्रन्थो व्यरचि । जै० इ० ।

उदयसिंहमुणि–उदयसिंहमुनि–पु० तपागच्छीये उदयवीरगणिन शिष्ये, अनेन– वि० स० (१६४६) वर्षे रत्नशेखरसूरिकृतश्राद्धप्रतिक्रमणवृत्ति प्रथमादर्शो लिखिता । जै० इ० ।

उदयसेण–उदयसेन– पु० वीरसेनसूरसेनयोरनयोः पितरि, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । (सम्मशब्दे कथा–)

उदयावलिया–उदयावलिका–स्त्री० षष्ठीतत्पु० उदयवतीनामनुदयवतीनां च प्रकृतीनामुदयसमयारञ्याविलिकामात्रायां स्थितौ, । " आवलियतिग पमोत्तूणं " इह उदयवतीनामनुदयवतीनां च प्रकृतीनामुदयसमयादारभ्यावलिकामात्रास्थितिरुदयावलिका वक्तव्या तथैव चिरन्तनग्रन्थेषु व्यवहारात् । पं० स० ।

उद (य) र–उदर– न० उद्–ऋ–अच्० जठरे, । प्रश्न० ३ द्वा० । अङ्गान्युपाङ्गानि चेति द्विधा शरीरावयवास्तत्रैकमङ्गम् स्था० ८ ठा० । प्रज्ञा० । उत्त० । आ० चू० । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश. उदररोगे, । वाच० उदरामयश्चैः । "पृथक् समस्तैरपि चानिलाद्यैः (४) प्लीहोदर (५) बद्धगुद तथैव (६) आगुन्तुकं (७) सप्तममष्टम च जलोदरं चेति भवन्ति तानि" । प्रश्न० सं० ५ द्वा० । विपा० । त० । उपा० ।

उदरंभरि–उदरम्भरि–त्रि० उदरं बिभर्ति–भृ–खि–मुम् च । पञ्चयज्ञाद्यकरणेनात्मोदरमात्रपोषके, । वाच० ।

उद (य) रगंठि–उदरग्रन्थि–पु० उदरे ग्रन्थिरिव गुल्मरोगे हेम० ।

उद (य) रत्ताण–उदरत्राण–न० उदर त्रायतेऽनेन त्रै० ल्युट् (कमरबन्ध) उदरबन्धवस्त्रे । हेम० ।

उदराणुगिद्ध–उदरानुगृद्ध–त्रि० उदरेऽनुगृद्ध उदरानुगृद्ध । उदरभरणव्यग्रे तुन्दपरिमृजे, "कुक्खीं जे धावति सा उगाई, आघातिधम्मं उदराणुगिद्धे" । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

उदरिय–उदरिक–न० जलोदरिके, विपा० १ श्रु० ७ अ० । नि० चू० ।

उदवाह–उदवाह–पु० उदक वहति । वह अण् उप० स० अल्पवाहके मेघे, उदकवाहकमात्रे, त्रि० । वाच० । अपकृष्टेऽल्पे उदकवाहने, "उदवाहाइ वा पवाहाइ वा " अपकृष्टानि अल्पान्युदकवाहनानि तान्येव प्रकर्षवन्ति प्रवाहाः । प्र० ३ श० ६उ० ।

उदहि–उदधि–पु० उदकानि धीयन्तेऽत्र धा–आधारे कि–उदादेश. समुद्रे, । "जहा से सयंभुउदहीणसेट्ठे णागेसु धरणिंदमाहुसेट्ठे" । सूत्र० १ श्रु० ७अ० । "जहा से सयंभुरमणे, उदही अक्खओदए"–उत्त० १ अ० । (उदधीनां सर्वा वक्तव्यता दीवसागरशब्दे) । ("चत्तारि उदही पण्णत्ता तजहा उत्ताणे णाममेगे" इत्यादि पुरुषजातशब्दे उदधि सूत्रे वक्ष्यते) (उदकयोऽञ्जा समयेन स्पृष्टा नवेति फरिसणा शब्दे) घनोदधौ, स्था० ३ ठा० २उ० " पुढवीइ वा उदहीइ वा " पृथिवी रत्नप्रभादिका उदधिस्तदधीनोधनोदधि । स्था०,२ ठा०४ उ० । "वायुपइट्ठिया उदही, उदहिपइट्ठिया पुढवी" । स्था० ४ ठा० २उ० । आर्य्यसमुद्रनामके आचार्य्ये, । आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ० । नामैकदेशे नामग्रहणात् । उदधिकुमारे सप्तमभवनवासिनि, । भ० १ श० १ उ० । " दीवदिसा उदहीण जुवन्नपाण चावत्तरिमो य सयसहस्सा ' स० । प्रश्न० । जलचये, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

उदहिकुमार–उदधिकुमार–पु० सप्तमे भवनवासिनि, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । " उदहिकुमारा णं सव्वे समाहारा सेव भंते भ" तेत्ति । भ० १६ श० ११उ० । (उदधिकुमारोद्देशवक्तव्यता वर्णादिव्यवस्था भवणवासिशब्दे । (अन्तक्रियादिद्वारकास्तु अतिदिशब्देषु)

उदहिकुमारावास–उदधिकुमारावास–पु० उदधिकुमाराणां भवनावासे," छावत्तरिं उदहिकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता" स० ।

उदहिपइट्ठिय–उदधिप्रतिष्ठित–त्रि० घनोदध्याश्रिते, "उदहिपइट्ठिया पुढवी" भ० १ श० ७ उ० ।

उदहिपुहत्त–उदधिपृथक्त्व– न० उदधिपृथक्त्वप्रमाणे प्रकृष्टसागरोपमशतप्रमाणे, "उदहिपुहुत्तुक्कस्स इयर पसस्स सकनमागो" । क० प्र० ।

उदहिमंगल–उदधिमङ्गल–न० समुद्रव्यञ्जनमङ्गले, पञ्चा०७विव० ।

उदहिमेहला–उदधिमेखला–स्त्री० उदधिर्मेखला इव यस्या । मध्यस्थाने, समुद्रवेष्टितायां पृथिव्याम्, वाच० ॥

तस्स उदायणस्स रण्णो अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु अभीइकुमारे मम एगे पुत्ते इट्ठे कंते जाव किमंग पुण पासणयाए एतं जइ णं अहं अभीइकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिअं मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि तओ णं अभिइकुमारे रज्जे य रट्ठे य जाव जणवए य माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सत्ति तं णो खलु मे सेयं अभीइकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए सेयं खलु मेणियगं भाइणिज्जकेसीकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता जेणेव वीइभए णयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वीइभयं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव सए गेहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता अभिसेकं हत्थिं ठावेइ अभिसेकाओ हत्थीओ पचोरुहइ पच्चोरुहइत्ता जेणेव सिंहासणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सिंहासणवरंमि पुरच्छाभिमुहे णिसीयइ णीसीयइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! वीइभयं णयरं सब्भितरबाहिरियं जाव पच्चप्पिणंति तएणं से उदायणे राया दोचंपि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! केसिस्स कुमारस्स महत्थं एवं रायाभिसेओ जहा सिवभद्दस्स तहेव भाणियव्वो जाव परमाउं पालयाहिं इट्ठजणसंपरिवुडे सिंधुसोवीरप्पामोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीइभयप्पामोक्खाणं तिण्हि तेसट्ठीणं णगरागरसयाणं महसेणप्पामोक्खाणं दसण्हं राईणं अण्णेसिं च बहूणं राईसर जाव कारेमाणे पालेमाणे विहराहित्तिकट्टु जयजयसद्दं पउंजंति तएणं केसीकुमारे राया जाए महया जाव विहरइ तए णं से उदायणे राया केसिं रायाणं आपुच्छइ तए णं ते केसीराया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ एवं जहा जमालिस्स तहेव सब्भितरबाहिरियं तहेव जाव णिक्खमणाभिसेयं उवट्ठावेत्ति तएणं से केसीराया अणेगगणनायग जाव संपरिवुडे उदायणरायं सीहासणवरंसि पुरच्छाभिमुहे निसियावेइ निसियावेइत्ता अट्ठसएणं सोवण्णियाणं एवं जहा जमालिस्स एवं वयासी भण सामि किं देमो किं पयच्छामो किणाणावाते अट्ठे तएणं से उदायणे राया केसिं रायं एवं वयासी इच्छामि णं देवाणुप्पिया कुत्तियावणाओ एवं जहा जमालिस्स णवरं पउमावई अग्गकेसे पडिच्छइ पियविप्पओगओ दूसहा तए णं से केसीराया दोचंपि उत्तरावक्कमणं सीहासणं रयावेइ रयावेइत्ता उदायणं रायं सीयापीतएहिं कलसेहिं सेसं जहा जमालिस्स जाव सण्णिसण्णे तहेव अम्मधाई णवरं पउमावई हंसलक्खणं पडसाडगं गहाय सेसं तं चेव जाव सिबिआओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं तं चेव जाव पउमावई पडिच्छइ जाव घडियव्वं सामी जाव णो पमादीयव्वं तिकट्टु केसीराया पउमावई य समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता जाव पडिगया तएणं से उदायणे राया सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं सेसं जहा उसभदत्तस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणे । भ० १३ श० ६ उ० ।

इयमेव वक्तव्यता कथान्तरसवलिता इत्थम् । भरतक्षेत्रे सौवीरदेशे वीतभयनामनगरे उदायनो नाम राजा तस्य प्रभावती राज्ञी तयोर्ज्येष्ठपुत्रोऽभीचिनामाऽभवत् तस्य भागिनेय केसीनामाऽभूत् । स उदायनो राजा सिन्धुसौवीरप्रमुखषोडशजनपदानां वीतभयप्रमुखत्रिशतत्रिषष्ठिनगराणां महासेनप्रमुखाणां दशराजानां बहुमुकुटानां छत्राणां चामराणां च पैश्वर्यं पालयन्नस्ति । इतश्चम्पाया नगर्यां कुमारनन्दी नाम सुवर्णकारोऽस्ति । स च स्त्रीलम्पटो यत्र २ स्वरूपां दारिकां पश्यति जानाति वा तत्र तत्र पञ्चशत सुवर्णानि दत्वा तां परिणयति । एवञ्च तेन पञ्चशतकन्याः परिणीता । एकस्तम्भ प्रासादं कारयित्वा ताभिस्सम क्रीडति । तस्य च मित्रं नागिलो नाम श्रावकोऽस्ति । अन्यदा पञ्चशैलद्वीपवास्तव्यव्यन्तराधिपस्य हासाप्रहासाख्यन्तर्यौ स्तः तयोर्भर्ता विद्युन्माली नामदेवोऽस्ति सोऽन्यदा च्युतः ताभिश्चिन्तित कमपि व्युद्ग्राहयावः सोऽस्माकं भर्ता भवति स्वयोग्यपुरुषगवेषणाय इतस्ततो भ्रमन्तीभ्यां ताभ्यां चम्पानगर्यां कुमारनन्दी सुवर्णकार पञ्चशतस्त्रीपरिवृतो दृष्ट । ताभ्यां चिन्तितम् । एष स्त्रीलम्पट सुखेन व्युद्ग्राहयिष्यते । कुमारनन्दी भणति । के भवत्यौ । कुतः समायाते त आहतु । आवां हासाप्रहासादेव्यौ तद्रूपमोहित कुमारसुवर्णकारस्ते दृष्ट्यौ भोगार्थं प्रार्थितवान् । ताभ्यां भणित यद्यस्मद्भोगकार्यं तदा पञ्चशैलद्वीप समागच्छेः । एव भणिते देव्यौ उत्पतिते गत स्वस्थानम् । राज्ञ सुवर्णं दत्वा पटह वादयति स्म । कुमारनन्दीसुवर्णकार य पञ्चशैलद्वीप नयति तस्य स धनकोटिं ददाति । एकेन स्थविरेण तत्पटह स्पृष्ट कुमारनन्दिना तस्य कोटि धन दत्त स्थविरोऽपि तत् पुत्राणा दत्वा कुमारनन्दिना सह यानपात्रमारूढ समुद्रमध्य प्रविष्ट । यावद्दूरं गतस्तावद्वद्धं वट दृष्टवान् । स्थविर उवाच । तस्य वटस्याध यद् वाहन निर्गमिष्यति तत्र जलावर्तोऽस्तीति वाहन भङ्क्ष्यति । त्व तु एतद्वटशाखामाश्रये । वटेऽत्र पञ्चशैलद्वीपात् भारण्डपक्षिणस्समायास्यन्ति सन्ध्यायां तच्चरणेषु स्ववपु स्ववस्त्रेण दृढं बध्नीया । त च प्रभाते इत उड्डीना पञ्चशैले यास्यन्ति । त्वमपि तै सम पञ्चशैले गन्ता । स्थविरेण एवमुच्यमाने तद्वाहन वटाधो गत कुमारनन्दिना वटशाखावलम्बन कृत भग्नञ्च तद्वाहनम् । कुमारनन्दी तु भारण्डपक्षिचरणावलम्बेन पञ्चशैले गत । हासाप्रहासाभ्यां दृष्ट उक्तञ्च । त्वं एतेन शरीरेण नावाभ्यां भोगो विधीयते । स्वनगरे गत्वा हुतशन आरभ्य मस्तक यावज्ज्वलनेन स्वशरीर दह यथा पञ्चशैलाधीशो भूत्वाऽस्माभिस्सह पूर्णकुरु ।

तेनोक्तं तत्राह कथं यामि । ताभ्यां करतले समुत्पाट्य स नगरोद्याने मुक्तः । ततो लोकस्तं पृच्छति । किं त्वया तत्राश्चर्यं दृष्टम् ? स भणति । दृष्टं श्रुतमनुभूतं पञ्चशैलद्वीपं मया यत्र प्रशस्ते हासाप्रहासाभिधे देव्यौ स्तः । अत्र कुमारनन्दिना तवः स्वादुष्टेऽग्निमारचयित्वा मस्तकं यावत्स्वशरीरं ज्वालयितुमारब्धं । तदा मित्रेणाऽथ धारितो भो मित्र ! नेदं कापुरुषजनोचितं चेष्टितं न युक्तम् । महानुभाव ! दुर्लभं मनुष्यजन्म मा हारय तुच्छमिदं भोगसुखमस्ति । किं च यद्यपि त्वं भोगार्थी तथापि स्वधर्म्मानुष्ठानमेव कुरु यत उक्तं । "धम्मो अत्थकामियाणं, कामत्थीणं च सव्वकामकरो । सग्गापवग्गसंगम-हेऊ जिणदेसिओ धम्मो ।।१।। इत्यादि शिक्षावदमित्रेण स धार्यमाणोऽपि इङ्गिनीमरणेन स मृतः । पञ्चशैलाधिपतिर्जातः तन्मित्रस्य श्रावकस्य महान् खेदो जातः । अहो ! भोगकामार्थं जना इत्थं क्लिश्यन्ति जानन्तोऽपि वयं किमत्र गार्हस्थ्ये स्थिता स इति स श्रावकः प्रव्रजितः । क्रमेण कालं कृत्वा अच्युतदेवलोके समुत्पन्नः । अवधिना स स्ववृत्तान्तं जानाति स्म । अन्यदा नन्दीश्वरयात्रार्थं सर्वदेवेन्द्राश्चलिता स श्रावकदेवोऽपि अच्युतेन्द्रेण समं चलितः । तदा पञ्चशैलाधिपतेस्तस्य विद्युन्मालिनाम्नो देवस्य गले पटहो लग्नः उत्तारितो नोत्तरति । हासाप्रहासाभ्यां उक्तम् । इयं पञ्चशैलद्वीपवासिनो स्थितिः यन्नन्दीश्वरद्वीपयात्रार्थं चलितानां देवेन्द्राणां पुरः पटहं वादयन् विद्युन्मालिदेवस्तत्र याति ततस्त्वं खेदं मा कुरु गललग्नमिमं पटहं वादयन् गीतानि गायन्तीभ्यां आवाभ्यां सह नन्दीश्वरद्वीपे याहि । ततः स तथा कुर्वन् नन्दीश्वरद्वीपोद्देशेन चलितः । श्रावकदेवस्तं सखेदं पटहं वादयन्तं दृष्ट्वा उपयोगेनोपलक्षितवान् । भणति च भो ! त्वं मां जानासि ? स भणति । कः शक्रादिदेवान् न जानाति । ततस्तं श्रावकदेवः तस्य स्वप्राग्भवस्वरूपं दर्शयति स्म । सर्वं पूर्ववृत्तान्तमाख्याति । ततः संवेगमापन्नः स देवो भणति । तदिदानीमहं किं करोमि । श्रावकदेवो भणति श्रीवर्द्धमानस्वामिनः प्रतिमां कुरु यथा तव सम्यक्त्वं सुस्थिरं भवति । यत उक्तम् । " जो कुणइ जिणपडिमं, जिणाण जियरागदोसमोहाणं । सो पावइ अन्नभवे, सुहजणणं धम्मवररयणं" ।।१।। अन्यच्च ।। " दारिद्द दोहग्गं, कुजाइकुसरीरकुगइकुमईओ । अवमाणरोगसोगा, न हुंति जिणबिंबकारीणं ।।२।। " ततः स विद्युन्माली महाहिमवच्छिखरात् गोशीर्षचन्दनदारु छेदयित्वा श्रीवर्द्धमानस्वामिप्रतिमां निर्वर्तितवान् । ताञ्च मञ्जूषायां क्षिप्तवान् । तस्मिन्नवसरे षण्मासान् यावदविच्छिन्नं प्रवहणं वायुभिरास्फाल्यमानं विलोकितवान् । तत्र गत्वा चासौ तमुत्पातमुपशामितवान् । सांयात्रिकाणां च तां मञ्जूषां दत्तवान्, भणितवांश्च । देवाधिदेवप्रतिमा चात्रास्ति यत्र चैव विशेषपूजामाप्नोति तत्रैव देया देवाधिदेवनाम्नैवेयमुद्घाटयिष्यते स्वच्छन्देऽस्यां स्थितायां न कोऽप्युपद्रवो भविष्यति । ततस्तां लात्वा सांयात्रिका वीतभयपत्तनं प्राप्ताः । तत्रोदायनराजा तापसभक्तस्तस्य सा मञ्जूषा दत्ता । कथितश्च सुरवचनं मिलितश्च तत्र ब्राह्मणादिकः सकलो लोकः भणति च गोविन्दाय नमः इत्युक्ते मञ्जूषा नोद्घाटिता । तत्र केचित् भणन्ति । अत्र देवाधिदेवश्चतुर्मुखो ब्रह्मास्ति अन्ये केचिद्वदन्ति अत्र चतुर्भुजो विष्णुरेवास्ति । केचिद्वदन्ति अत्र महेश्वरो देवाधिदेवोऽस्ति । अस्मिन्नवसरे तत्रोदायनराजपट्टराज्ञी चेटकराजसुता प्रभावती नाम्नी श्रमणोपासिका तत्रायाता । तया तस्या मञ्जूषाया पूजां कृत्वा एव भणितं " गयरागदोसमोहो, सव्वन्नू अट्ठपाडिहेरसंजुत्तो । देवाहिदेवगुरुओ, अइरा मे दसणं देउ ।।१।। ' एवमुक्त्वा तया मञ्जूषायां हस्तेन परशुप्रहारो दत्तः उद्घाटिता सा मञ्जूषा तस्यां दृष्टाऽतीव सुन्दराम्लानपुष्पमालालङ्कृता श्रीवर्द्धमानस्वामिप्रतिमा जातजिनशासनोन्नति अतीवानन्दिता प्रभावती एवं बभाण । "सव्वन्नु सव्वदरिसण, अपुणब्भवभवियजिनमणाणंद । जय चिंतामणि जय गुरु, जय जय जिणवीर अकलंको ।। १ ।। " तत्र प्रभावत्या अन्तःपुरमध्ये चैत्यगृहं कारितं तत्रैव प्रतिमा स्थापिता । तां च त्रिकालं सा पवित्रा पूजयति । अन्यदा प्रभावती राज्ञी तत्प्रतिमायाः पुरो नृत्यति, राजा च वीणां वादयति तदानीं स राजा तस्याः मस्तकं न पश्यति । राज्ञोऽधृतिर्जाता हस्ताद्वीणा पतिता राज्या पृष्टं किं मया दुष्टं नर्तितं राजा मौनमाश्रित्य स्थितः । राजा अतिनिर्बन्धे उक्तवान् यत्तव मस्तकमपश्यन्नहं व्याकुलीभूतो हस्ताद्वीणां पातितवान् सा भणति मया सुचिरं श्रावकधर्मः न काचिन्मे मरणाद्भीतिरस्ति । अन्यदा तत्प्रतिमापूजनार्थं स्नाता सा राज्ञी स्वचेटीं प्रति वस्त्राण्यानयेत्युवाच । तया च रक्तानि वस्त्राण्यानीतानि राज्ञी क्रुद्धा प्राह । जिनगृहे प्रविशन्त्या मम रक्तानि वस्त्राणि ददासीत्युक्त्वा चेटीमादर्शेनाहतवती मर्मणि प्रत्याहारत्वात्सा मृता । प्रभावत्या चिन्तितं हा ! मया निरपराधत्रसजीववधकरणाद्व्रतं भग्नमतः परं किं मे जीवितव्येन ततस्तया राज्या राज्ञ उक्तम् । अहं भक्तं प्रत्याख्यामि राज्ञा नैवेति प्रतिपादितं तया पुनस्तथेत्युच्यते । तदा राज्ञा उक्तं च यदि त्वं देवी भूत्वा मां प्रतिबोधयसि तदा त्वं भक्तं प्रत्याख्याहि । राज्या तच्चाङ्गीकृतं भक्तं प्रत्याख्याय समाधिना मृता देवलोकं गता देवोऽजनि । तां च प्रतिमां कुब्जा देवदत्ता दासी त्रिकालं पूजयति । प्रभावती देवस्तु उदायनं राजानं प्रतिबोधयति । न च स तं बुध्यते राजा तु तापसभक्तोऽतः स देवस्तापसस्वरूपं कृत्वाऽमृतफलानि गृहीत्वा गतो राज्ञे दत्तवान् । राज्ञा तानि आस्वादितानि पृष्टश्च तापसः क्व एतानि फलानि तापसो भणति । एतन्नगराऽऽरण्येऽस्मदाश्रमोऽस्ति तत्रैतानि फलानि सन्ति । राजा तेन सममेकाक्येव तत्र गतः । तापसैस्ससमाचारं स हन्तुमारब्धः राजा ततो नष्टः । तस्मिन्नेव वने जैनसाधून् ददर्श तेषामसौ शरणमाश्रितः । भयं मा कुर्व्विति राजानमाश्वासितं तापसा निवृत्ताः साधुभिश्च तस्यैव धर्मं उक्तः । "धम्मो चेवेत्थसत्ताणं, सरणं भव सायरे । देव धम्मं गुरुं चेव, धम्मइत्थी परिक्खए ।। १ ।। दस अट्ठदोसरहिओ, देवो धम्मो वि निउणदयसहिओ । सुगुरू य बंभयारी, आरंभपरिग्गहा विरओ ।। २ ।। " इत्यादिकोपदेशेन स राजा प्रतिबोधितः । प्रतिपन्नो जिनधर्मं प्रभावती देव आत्मानं दर्शयित्वा राजानं च स्थिरीकृत्य स्वस्थानं गतः । एवमुदायनराजा श्रावको जातः । इतश्च गन्धारदेशवास्तव्य सत्यनामा श्रावकः सर्वत्र जिनजन्मभूम्यादितीर्थानि वन्दमानो वैताढ्यं यावद्गतः तत्र शाश्वतप्रतिमावन्दनार्थमुपवासत्रयं कृतवान् तपस्तुष्ट्या तदधिष्ठातृदेव्यास्तस्य शाश्वतजिनप्रतिमा दर्शिता तेन च वन्दिता । अथ तया देव्या तस्मै श्रावकाय कामितगुटिका दत्ता । ततः स निवृत्तो वीतभयपत्तनं जीवितस्वामिप्रतिमां वन्दितुमायातः गोशीर्षचन्दनमयीं तां ववन्दे । दैवात्तस्याऽतिसारो रोग उत्पन्नः कुब्जया दास्या प्रतिचरितः स नीरुग् जातः तुष्टेन तेन तस्यै कामाङ्कुशिका गुटिका दत्ता कथितश्च तासां चिन्तितार्थसाधकत्व-

भाव. । अन्यदा सा दासी अहं सुवर्णवर्णा सुरूपा भवामीति चिन्तयित्वा एकां गुटिकां भक्षितवती सुवर्णवर्णा सुरूपा जाता । ततस्तस्या सुवर्णगुलिकेति नाम जातम् । अन्यदा सा चिन्तयति भोगसुखमनुभवामि एष उदायनराजा मम पिता अपरे मत्तुल्या केऽपि राजानो न सन्तीति चण्डप्रद्योतमेव मनसि कृत्वा द्वितीयां गुटिकां भक्षितवती तदानीं तस्य चण्डप्रद्योतस्य स्वप्ने देवतया कथितं वीतभयपत्तने उदायनराज्ञो दासी सुवर्णगुलिकानाम्नी सुवर्णवर्णाऽतीव रूपवती त्वद्योग्यास्ति । चण्डप्रद्योतेन सुवर्णगुलिकायाः समीपे दूत प्रेषित. । दूतेन एकान्ते तस्या एवं कथितं चण्डप्रद्योतस्त्वामीहते । तया भणितमत्र चण्डप्रद्योत प्रथममायातु तं पश्यामि पश्चाद्यथारुच्या तेन सह यास्यामि दूतेन गत्वा तस्या वचनं चण्डप्रद्योतस्योक्तं सोऽपि अनिलगिरिहस्तिनमधिरुह्य रात्रौ तत्रायात । दृष्टस्तया रुचितश्च । सा भणति यदीमां प्रतिमां सार्द्धं नयसि तदाहमायामि नान्यथेति । ततस्तेन तत्स्थानस्थापनयोग्यान्या प्रतिमा तदानीं नास्तीति तस्यां रात्रौ तत्र उषित्वा स्वनगरे पश्चाद्गत. । तत्र तादृशीं जिनप्रतिमां कारयित्वा पुनरत्रायातस्तां प्रतिमां तत्र स्थापयित्वा मूलप्रतिमां दासीं च गृहीत्वा उज्जयिनीं गत. । तत्रानलगिरिणा मूत्रपुरीषे कृते तद्गन्धेन वीतभयपत्तनसत्का हस्तिनो निर्मदा जाता । उदायनराजेन तत्कारणं गवेषितम् । अनलगिरिहस्तिन. पदं दृष्टम् । उदायनेन चिन्तितं स किमयमत्रायात गृहमानुषैरुक्तं सुवर्णगुलिका न दृश्यते राज्ञा उक्तं चेटी चण्डप्रद्योतेन गृहीता प्रतिमां विलोकयन्तु तैरुक्तं प्रतिमा दृश्यते परं पुष्पाणि म्लानानि दृश्यन्ते राज्ञा गत्वा स्वयं प्रतिमा विलोकिता पुष्पम्लानदर्शनेन राज्ञा ज्ञातं नेयं सा प्रतिमा किं त्वन्येति विषण्णेन राज्ञा दूतश्चण्डप्रद्योतान्तिके प्रेषित. । मम दास्या नास्ति कार्यं प्रतिमां त्वरितं प्रेषयेति दूतेन चण्डप्रद्योतस्योक्तं चण्डप्रद्योत प्रतिमां नार्पयति तदा सैन्येन समं ज्येष्ठमासे उदायनश्चलित । यावन्मरुदेशे तत्सैन्यमायात तावज्जलाप्राप्त्या तत्सैन्य. तृषाक्रान्तं व्याकुलीबभूव । तदानीं राज्ञा प्रभावतीदेवश्चिन्तित. तेन समागत्य त्रीणि पुष्कराणि कृतानि तेषु जललाभात्सर्वं सैन्यं सुस्थं जातं क्रमेण उदायनराजा उज्जयिनीं गत । कथितवांश्च भो चण्डप्रद्योत तव मम च साक्षाद्युद्धं भवतु लोकेन मारितेन अश्वस्थेन रथस्थेन वा त्वया मया च युद्धमङ्गीकुरु चण्डप्रद्योतेनोक्तं रथस्थेनैव त्वया मया च योद्धव्यम् । प्रभाते चण्डप्रद्योत कपटं कृतवान् स्वयं अनलगिरिहस्तिनमारुह्य सङ्ग्रामाङ्गणे समायात. उदायनस्तु स्वप्रतिज्ञानिर्वाही रथारूढ. सङ्ग्रामाङ्गणे समायात. । तदानीमुदायनेन चण्डप्रद्योतस्य उक्तं त्वमसत्यप्रतिज्ञो जातः कपटं च कृतवानसि तथापि तव मत्तो मोक्षो नास्तीति भणता उदायनेन रथो मण्डल्यां क्षिप्त । चण्डप्रद्योतेन तत्पृष्ठेऽनलगिरिहस्ती वेगेन क्षिप्त. । स च हस्ती यं यं पादमुत्क्षिपति तं तमुदायन. शरैर्विध्यते यावत् हस्ती भूमौ निपतित । तत्स्कन्धादुत्तरन् प्रद्योतो बद्ध तस्य ललाटे मम दासीपतिरित्यक्षराणि लिखितानि । तत उदायनराजेन चण्डप्रद्योतदेशे स्वाधिकारिण स्थापिता स्वयं तु चण्डप्रद्योतं काष्ठपञ्जरे क्षिप्त्वा सार्द्धं च नीत्वा स्वदेशं प्रति चलित । सा प्रतिमा तु ततो न उत्तिष्ठतीति तत्रैव सा मुक्ता । अव्यवच्छिन्नप्रयाणैश्चलितस्य अन्तरा वर्षाकाल. समायातस्तेन रुद्धो दशनीराजभिर्धूलीप्राकारं कृत्वा मध्ये स रक्षित । सुखेन तत्र तिष्ठति यत्स्वयं भुङ्क्ते तच्चण्डप्रद्योतस्यापि भोजयति । एकदा पर्युषणादिनमायातं तदा उदायनेन उपवासः कृत सूपकारैः चण्डप्रद्योतः पृथग् भोजनार्थं पृच्छ्यते तैरुक्तमद्य पर्युषणादिने उदायनराजा उपोषितोऽस्तीति यद्भवतो रोचते तत्पच्यते । चण्डप्रद्योतेनोक्तं ममाप्यद्योपवासोऽस्ति न ज्ञातं मयाद्य पर्युषणादिनं सूपकारैः चण्डप्रद्योतस्य उक्तमुदायनराजाय तेनापि चिन्तितं जानाम्यहं यथायं धूर्तसाधर्मिकोऽस्ति तथाप्यस्मिन् बद्धे मम पर्युषणा न शुध्यति चण्डप्रद्योतो मुक्त. क्षामितश्च तद्ललाटाक्षरादर्शननिमित्तं रत्नपट्टस्तस्य मूर्ध्नि बद्ध. । स्वविषयश्च तस्य दत्त । ततः प्रभृति पट्टबद्धा राजानो जाता । मुकुटबद्धाश्च पूर्वमप्यासन् वर्षारात्रे व्यतिक्रान्ते उदायनराजस्ततः प्रस्थित. व्यापारार्थं यो वणिग्वर्गस्तत्रायातः स तत्रैव स्थित. दशनीराजभिर्वासितत्वाद्दशपुरं नाम नगरं प्रसिद्धं जातम् । अन्यदा स उदायनराज पौषधशालायां पौषधिकः पौषधं प्रतिपालयन् विहरति । पूर्वरात्रिसमये च तस्यैतादृशोऽभिप्रायः समुत्पन्न. धन्यानि तानि ग्रामाकरनगराणि यत्र श्रमणो भगवान् श्रीमहावीरो विहरति । धन्यास्ते राजेश्वरप्रभृतयो ये श्रमणभगवत श्रीमहावीरस्यान्तिके केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शृण्वन्ति । पञ्चाणुव्रतिकं सप्तशिक्षाव्रतिकं द्वादशविधं श्रावकधर्मं च प्रतिपद्यन्ते । तथा मुण्डीभूत्वा आगाराद्नगारितां व्रजन्ति । ततो यदि श्रमणभगवान् श्रीमहावीरः पूर्वानुपूर्व्या चरन् यदीहागच्छेत्ततोऽहमपि भगवतोऽन्तिके प्रव्रजामि । उदायनस्यायमध्यवसायो भगवता ज्ञातः प्रातश्चम्पातः प्रतिनिष्क्रम्य वीतभयपत्तनस्य मृगवनोद्यानं भगवान् समवसृत । तत्र पर्षन्मिलिता उदायनोऽपि तत्रायातो भगवदन्तिके अहं प्रव्रजिष्यामि परं राज्यं कस्मैचिद्दास्यामीत्युक्त्वा भगवन्तं वन्दित्वा स्वगृहाभिमुखं चलित । भगवतापि प्रतिबन्धं मा कार्षीरित्युक्तम् । ततो हस्तिरत्नमारुह्य उदायनराज स्वगृहे समायात । तत उदायनस्यैतादृशोऽध्यवसायः समुत्पन्न यद्यहं स्वपुत्रमभीचिकुमार राज्ये स्थापयित्वा प्रव्रजामि तदायं राज्ये जनपदे मानुष्यकेषु कामभोगेषु मूर्च्छितोऽनाद्यनन्तं संसारकान्तारं भ्रमिष्यति ततः श्रेयः खलु मम निजकं केसिकुमारं राज्ये स्थापयितुम् । एवं सम्प्रेक्ष्य शोभने तिथिकरणमुहूर्ते कौटुम्बिकपुरुषानाकार्य एवमवादीत् । क्षिप्रमेव केशिकुमारस्य राज्याभिषेकसामग्रीमुपस्थापयत तैः कृतायां सर्वसामग्र्यां केशिकुमारो राज्येऽभिषिक्त । ततस्तत्र केशिकुमारो राजा जात. । उदायनराजश्च केशिकुमारराजानं पृष्ट्वा तत्कृतनिष्क्रमणाभिषेक श्रीमहावीरान्तिके प्रव्रजित बहूनि षष्ठाष्टमदशमद्वादशमासार्द्धमासक्षपणादीनि तपःकर्माणि कुर्वाणो विहरति । अन्यदा तस्य उदायनराजर्षेरन्तप्रान्ताहारकरणेन महान् व्याधिरुत्पन्न. वैद्यैरुक्तं दध्यौषधं कुरु । स च उदायनराजर्षिर्भगवदाज्ञया एकाक्येव विहरति । अन्यदा विहरन् वीतभयगत । तत्र तस्य भागिनेय केशिकुमारराजामात्यैर्भणितं स्वामिन्नेष उदायनराजर्षिः परीषहादिपराभूत. प्रव्रज्यां मोक्तुकाम एकाक्येव इहायात । तव राज्यं मार्गयिष्यति । स प्राह नाहं किं स प्राह दास्यामि तैरुक्तं नैष राजधर्म । पुनः स प्राह ततः किं करिष्यति । ते प्राहुर्विषमिश्रमस्य दीयतां तस्य गृहात् दधि काचित् तेषां शिक्षया तया तस्य पशुपाल्या गृहे विषमिश्रितं दधि काचित् दत्तं । तच्च तस्य देवतया तद्दत्तमुदायनभक्तं यावद्देवतयाऽपहृतम् । भक्तं च तस्य देवतया महर्षे तव विषं दत्तं दध्यन्तस्ततो दध्यौषधं परिहर । तदा भगवता महर्षेः परिहृतं रागो वर्द्धितुमारब्ध । पुनस्तेन दध्यौषधं कर्तुमारब्धं पुनरपि तदन्तर्विषं देवतयाऽपहृतम् । एवं वारत्रयं जातम् । अन्यदा देवता प्रमत्ता जाता तैश्च विषं दत्तम् । तत उदायनराजर्षिर्बहूनि वर्षाणि श्रामण्यपर्यायं पालयित्वा मासिकया संलेखनया केवलज्ञानमुत्पाद्य सिद्धः । अस्य शय्यातरः कुम्भकारस्तदानीं कार्यार्थं ग्रामान्तरं गतोऽभूत् कुपितया च देवतया वीतभयपत्तनं परि पांशुवृष्टिर्मुक्ता सकलमपि नगरं भस्मावशेषितम् । अद्यापि तदुपरि स्थितं शय्यातरः कुम्भकारस्तु दैवितपल्ल्या मुक्त । (उत्त०१० अ०)

१८ अ० । आ० क० । आ० म० ॥ (अभीचिकुमारस्य वक्तव्यता स्वावसरे प्रोक्ता अस्या एव महत्या उदायनपत्न्याः प्रभावत्याः कन्दि देशा ... । उदायनस्य पितृष्वसुर्जयन्त्या श्रमणोपासिकाया कथा जयंतीशब्दे)

उदार (राल)-उदार-त्रि० उद्-आ-रा-क-दातरि, महति, सरले, दक्षिणे, गम्भीरे, असाधारणे, वाच० । निस्पृहस्यातिरेका-दौदार्यवति, । प्र० २ श० १ उ० ।

उदार्त-उदारत्व-न० । अभिधेयार्थस्यातुच्छरूपे, स० । अतिशि-ष्टगुम्फगुणयुक्तास्वरूपे अन्यन्यार्थप्रतिपादकनामकरणे वा ग्राविं-दातिनमे सत्यवचनातिशये, स० ।

उदासीण-उदासीन-त्रि० उद्-आस-शानच० । रागद्वेषरहिते माध्यस्थे,"उदासीणे फलमं वयंति" उदासीना रागद्वेषरहिता म-ध्यस्था बहुश्रुताः ... कुर्वन्ति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ॥ "समणापि दुरुदासी णं, मय वि तांच भोग कुप्पति" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । विषद्मानयोरिव परपक्षालासम्बन्ध जिगीषतोर्नृपयो ... मित्रो ... उदासीनो ... राजभेदे, वाच० । उपेक्षमाणे च । स्था० ४ ठा० ।

उदाहड-उदाहृत- त्रि० उद्--आ-हृ-क्त दृष्टान्ततयोपन्यस्ते कथिते,। वाच० । उपन्यस्ते, उदाहृत तु "सम मोच मराउ मो दिम्पविया सम्मं" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

उदाहरंत-उदाहरत् त्रि०प्रतिपादयति,'सच भगवंत इति' वितयं ता, "अमाइ माइं कि उदाहरेता" । सूत्र०१श्रु० १३ अ० ।

उदाहरण-उदाहरण-न० उदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणम् । दश० १ अ० । उपपत्तिधर्मक-स्याप्यायसत्पर्यामलक्षमनायं दृष्टान्ते, यथा घट इति वैधर्म्यो-दाहरणं यदनित्यं न भवति तदुपपत्तिमदपि न भवति यथाका-शमिति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । विशे० ।

मूलभेदतो द्वैविध्यं निदर्शयाह ।

तन्योदाहरणं दुविहं, चउव्विहं होइ एगमेगं तु ।
हेऊ चउव्विहो खलु, तेण उ साहिज्जए अत्थ ॥

तत्र ज्ञातो वाक्योपयगामार्थी निर्धारणार्थी वा । उदाहरण पूर्ववत्तच्च मूलभेदतो द्विविधं द्विप्रकारं चरितकल्पितभेदाद्भु-चरभेदतस्तु चतुर्विधं भवति । तयोरेकमेकमुदाहरणमादाहर-णमदेशतद्दोषोपन्यासभेदात् वक्ष्यामः ।

नायं आहरणं ति, दिट्ठंतोवमनिदरिसणं चेव ।
एगट्टं तं दुविहं, चउव्विहं चेव नायव्वं ॥ ५२ ॥

ज्ञायतेऽस्मिन्नति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम् । अधिकरणे निष्ठाप्रत्ययः । तथोदाहियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणमिति दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः । अतीन्द्रियप्रमाणदृष्टं संवेदनान्तं नयतीत्यर्थः । उपनीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोर्थ इत्युपमानम् । तथा च निदर्शनं निश्चयेन दर्श्यते अनेन दार्ष्टान्तिक पदार्थ इति निदर्शनम् (एगट्ठति) इदमेकार्थ-मेकार्थिकजातम् इद च तत्प्रागुपन्यस्तं द्विविधमुदाहरणं चतुर्विधं चैवाङ्गीकृत्य ज्ञातव्य प्रत्यकमपि सामान्यविशेषयोः कथंचिदेकत्वादत एव सामान्यस्यापि प्राधान्यख्यापनार्थमेकवचना-भिधानमेकार्थमित्यत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभया-त्गमनिकामात्रमेतदिति गाथार्थः ।

साम्प्रतं यदुक्तं तत्रोदाहरण द्विविधमित्यादि तद्द्वैविध्यादिप्रद-र्शनायाह ।

चरियं च कप्पियं वा, दुविहं तत्तो चउव्विहेकेक्कं ।
आहरणे तद्देसे, तद्दोसे चेवुपन्नासे ॥ ५३ ॥

चरितं कल्पितं चेति द्विविधमुदाहरणम् । तत्र चरितमभिधी-यते यद्वृत्तान्तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । तद्यथा दुःखाय निदानं यथा ब्रह्मदत्तस्य । तथा कल्पितं स्वबुद्धिकल्पना-शिल्पनिर्मितमुच्यते तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । यथा पिप्पलपत्रैरनित्यतायामित्युक्तं च " जह तुम्भे तह अम्हे, तुम्हे वि य होहिह जहा अम्हे । अप्पाहेइ पडतं, पंडुयपत्तं किसलयाण ॥ नवि अत्थि नवि य होही, उल्लावो किसलपंडुपत्ताणं । उवमा खलु एस कया भवियजणविबोहणट्ठाए" इत्यादि आहेदमुदाहरणं दृष्टान्त उच्यते तस्य च साध्यानुगमादिलक्षणमित्युक्तं च "साध्ये नानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता । ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते, स साधर्म्येतरो द्विधा" अस्य पुनस्तल्लक्षणाभावात्कथमुदाहरण-त्वमित्यत्रोच्यते तदपि कश्चित्साध्यानुगमादिना दार्ष्टान्तिकार्थ प्रतिपत्तिजनकत्वात्फलत उदाहरणं इहापि च सोऽस्त्येवेति कृत्वा किं नोदाहरणतेति साध्यानुगमादिलक्षणमपि सामान्यविशेषो-भयरूपानुविधमात्मके वस्तुनि सति कथंचिद्भेदवादिन एव यु-ज्यते नान्यस्यैकान्तभेदाभेदयोस्तदभावादिति । तथाहि सर्वथा प्रतिज्ञा दृष्टान्तयोर्भेदवादिनोऽनुगमतः खलु घटादौ कृतकत्वादे-रनित्यत्वादिप्रतिपत्यदर्शनमपि कृतानुपयोग्येव भिन्नवस्तुधर्मत्वा-त्सामान्यस्य च परिकल्पितत्वादन्यत्वादित्यमपि च तद्बलेन सा-ध्यार्थप्रतिपत्तिकल्पनायामतिप्रसङ्गादित्यत्र बहुवक्तव्य तत्तु नो-च्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति । एव सर्वथा अभेदवादिनोऽप्येक-त्वादेव तदभावो भावनीय इति । अनेकान्तवादिनस्त्वनन्तधर्मा-त्मके वस्तुनि तत्सामर्थ्याच्चतद्वस्तुनः प्रतिबन्धबलेनैव तस्य तस्य वस्तुनो गमकं भवत्यन्यथा तस्मिन् तत्प्रतिपत्त्यसंभव इति कृत प्रसङ्गेन । प्रकृत प्रस्तुमः । चरितं च कल्पितं चेत्यनेन विधिना द्विविधम् । पुनश्चतुर्विधं चतुःप्रकारमेकैकं कथमत आह । उदाहरण तद्देशस्तद्दोषश्चैवमुपन्यास इति । तत्रोदाहरणश-ब्दार्थ उक्त एव । तस्य देशस्तद्देशः । एव तद्दोषः । उपन्यसन-मुपन्यासः स च तद्वस्त्वादिलक्षणो वक्ष्यमाण इति गाथार्थ ।

साम्प्रतमुदाहरणमभिधातुकाम आह ।

चउहा खलु आहरणं, होइ अवाओ उवायठवणा य ।
तह य पडुप्पन्नविणा-समेव पढमं चउविगप्पं ॥ ५४ ॥

चतुर्धा खलूदाहरणं भवति । अथ चतुर्धा खलूदाहरणे विचा-र्यमाणं भेदा भवन्ति । तद्यथा-अपाय उपाय स्थापना च । तथा च प्रत्युत्पन्नविनाशमेवेति । स्वरूपमेषां प्रपञ्चेन भेदतो निर्यु-क्तिकार एव वक्ष्यति । दश० नि०१ अ०। आव० । (अपायादि-शब्देषु अपायाद्युदाहरणादि) एकदेशप्रसिद्धा सकलसिद्धयर्थ-कथने, कर्म्मणि-ल्युट्-दृष्ट-सिद्धयर्थमुच्यमाने दृष्टान्ते,।प्रकृतासि-द्धयर्थनिदर्शनरूपे उपोद्धाते च । करणे-ल्युट्-न्यायमते प्रतिवादिना प्रयुक्तप्रतिज्ञादिपञ्चकान्तर्गते व्याप्तिपक्षधर्म्मताप्रदर्शके,वाक्यभेदे कथनमात्रे, लक्षणसम्पन्नतया प्रामाणिकवाक्योपन्यासे, कथाप्रसङ्गे च । भावे-ल्युट् वाच० । काल्पनिकमप्युदाहरणं भवति। नचैतदनुपपन्नमपि काल्पनिकदृष्टान्तस्याप्यनुज्ञानाद्यदाह भगवान् भद्रबाहुस्वामी " चरियं च कप्पियं वा, आहरणं दुवि हमेव पण्णत्तं । अट्ठस्स साहणट्ठा, इंधणमिव तु पण्णट्ठाए " न०

उदाहिय–उदाहृत–त्रि० व्याख्याते, " आ मा तिणि उदाहिया " आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

उदाहु–उताहो–अव्य० विकल्पे; " किं नव मुणी मुणीए उदाहो जुया संजायरए" उताहो इति विकल्पार्थो निपात.। भ० १५ श० १ उ० । "किं जाणया दिंस उदाहु अजाणया" आचा० २ श्रु० । कदाचिच्छब्दार्थे, आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ० ॥

उदाहृतवत्–त्रि० व्याहृतवति, "ज्याहु ते आर्यं कायुसन्ति इति उदाहु धीरे" । आचा० १ श्रु० ७ अ० २ उ० । कथितवति, "एओ धम्मं तत्थ उदाहु धीरे । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । "एव से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी " । उत्त० ६ अ० ।

उदि–उदि–पुं० उद–उत्कृष्ट इः कामो यस्य उदिः ॥ उत्कृष्टकामयुक्ते 'भर्गो देवस्य धीमहि' गा० ।

उदुन्भेय–उदकोद्भेद–पुं० गिरितटादिभ्यो जलोद्भवे, । भ० ३ श० ६ उ० ॥

उदूढ–उदूढ–त्रि० उद्० —वह्–क्त । जढे, स्थूले, धृते, च। विवाहितस्त्रियाम, स्त्री० । वाच० ।

उदूढ–देशीवचनम्–मुषिते च "उदूढ सेसवाहिं अतोवि पचगि एहनउ्डुम " बृ० १ उ० ॥ नि० चू० ।

उदूहल–उदूखल–न० ऊर्ध्वं खं लाति ला० क० पृषो० नि० । तण्डुलादिखण्डनार्थे काष्ठादिरचिते द्रव्ये, गुग्गुलौ च । वाच० । " पीढं वा फलगं वा णिस्सेणिं वा उदूहलं वा अवहट्टुउस्स वि य दुरुहेज्जा " आचा० २ श्रु० ।

उद्द–उद्द–पुं० उनत्ति क्लिद्यति उन्द–रक् । जलबिडाले, वाच० । सिन्धुविषये मत्स्ये, तत्सूक्ष्मचर्म निष्पन्ने वस्त्रे च । आचा० २श्रु० ।

उद्दंडग–उद्दंडक–पुं० वानप्रस्थतापसभेदे, ऊर्ध्वकृतदण्डा ये सञ्चरन्ति, नि० चू० १ उ० । औप० । भ० ।

उद्दंडविहार–उद्दण्डविहार–पुं० महानगर्यामादिनाथालये, महानगर्यामुद्दण्डविहारे श्री आदिनाथः ॥ ती० ।

उद्दंस–उद्दंश–पुं०उद्दशति–उद्–दंश–अच्–मस्तकदंशके, वाच० । मधुमक्षिकायाम, क० ।

उद्दंसंड–उद्दंशाण्ड–न० षष्ठीतत्पु० मधुमक्षिकाणामण्डरूपे अण्डसूक्ष्मभेदे, क० ।

उद्दंसग–उद्दंशक–पुं० त्रीन्द्रियजीवभेदे,–प्रज्ञा०१पद । जी० ।

उद्दड्ढ–उद्दग्ध–पुं० रत्नप्रभायाः पृथिव्याः पूर्वावलिकायां सीमन्तकप्रभावरकाद्विंशतितमेऽपक्रान्तमहानिरये, स्था० ६ ठा० ।

उद्दड्ढमज्झिम–उद्दग्धमध्यम–पुं० रत्नप्रभाया पृथिव्या. उत्तरावलिकायां सीमन्तकमध्यमान्तरकाद्विंशतितमेऽपक्रान्तमहानिरये, स्था० ६ ठा० ।

उद्दड्ढावत्त–उद्दग्धावर्त–पुं० रत्नप्रभायाः पृथिव्या. पश्चिमायां नरकावल्यां सीमन्तकावर्तस्यापरेण विंशतितमेऽपक्रान्तमहानरके,–स्था० ६ ठा० ।

उद्दड्ढावसिट्ठ–उद्दग्धावशिष्ट–पुं० रत्नप्रभाया. पृथिव्याः पश्चिमायां नरकावल्यां सीमन्तकावर्तस्यापरेण विंशतितमेऽपक्रान्तमहानरके, स्था० ६ ठा० ।

उद्दद्दर–ऊर्ध्वदर–न० ऊर्ध्वदरः पूर्यते यत्र काले तदूर्ध्वदरम् । प्राकृतशैल्या " उद्दद्दर" । ते च दरा द्विविधा धान्यदरा उदरदराश्च । धान्यानामाधारभूता दरा धान्यदरा कटपल्यादय । उदराण्येव दरा उदरदरास्ते उभयेऽपि यत्र पूर्यन्ते, बृ० १ उ० । सुभिक्षे, । नि०चू०१०उ० । दुविहाओ होंति उद्दरा, पेट्टे तह धन्नभाणिया" ते उद्दरा द्विविधास्तद्यथा पोट्टदरा धान्यभाजनदराश्च । पोट्टमुदरं तद्रूपाद्दरा पोट्टदराः । धान्यभाजनानि कटपल्यादयस्तान्येव दरा धान्यभाजनदरा । ऊर्ध्वं यत्र पूर्यन्ते तदूर्ध्वमुदरमुच्यते । बृ० १ उ० । नि० चू० ।

उद्दरिय–उद्दप्त–त्रि० उद्–दृप–क्त–उद्धते, गर्वान्विते, वाच० । प्राबल्येन कर्मशत्रुजयं प्रति दर्पिते, । न० ।

उद्दवइत्ता–अपद्रावयितृ–त्रि० प्राणव्यपरोपणात् जीविताविनाशके, "उद्दवइत्ता आहारं आहारेइ इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ" । सूत्र०२ श्रु०२ अ० ।

उद्दवण–अपद्रावण–न० जीविताद् व्यपरोपणे, । आचा०२श्रु० । अतिपातनविवर्जितपीडायाम्, । " उद्दवण पुण जाणासु, अइवायविवज्जियं पीडं " पिं० । सर्वथा जीवविनाशने च । तत्र पृथिव्यम्बोरन्यन्तरसंमर्दनादौ अप्कायस्य तु वहितापनदण्डाभिघातनपानपादादिक्षालनैः वनस्पतेः पत्रपुष्पाङ्कुरादिभेदनादिभिः । अत्र प्रायश्चित्तमाम्नं इति । जीत० । "उद्दवण मारणे" तत्र प्रायश्चित्त पाराञ्चितम् । नि० चू० १ उ० ।

उद्दवण –अपद्रवण–गौणहिंसायाम, प्रश्न०–आश्र० १ द्वा० । विवयाऽन्यत्र नयने, बृ० १ उ० ।

उद्दवणकर–अपद्रावणकर–पुं० मारणान्तिकभेदकारिणि, ग० १ अधि० ।

उपद्रवणकर–पुं०धनहरणाद्युपद्रवकारिणि, परोऽप्रशस्तमनोविनयभेद", ग० १ अधि० । औप० ।

उद्दवणकरी–अपद्रावणकरी–स्त्री० जीवानामपद्रावणकारिण्याम्, "परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूतोवघाइय अभिकंखो भासेज्जा " आचा० २ श्रु० ।

उद्दविज्जमाण–अपद्राव्यमाण–त्रि० मार्यमाणे, "किसाविअभाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणण मायमविहिं सासारगं दुक्खं भय पडिसंवेदेति । सूत्र०२श्रु०१ अ० ।

उद्दविय–अपद्रावित–त्रि० उत्त्रासिते, "परिताविया किलामिया उद्दविया ठाणाओ ठाण संकामिया" । ग०२ अधि० । मारिते, भ० २ श० १ उ० ।

उद्दवेयव्व–अपद्रावयितव्य–त्रि० जीविताद्व्यपरोपयितव्ये "अहं ण उद्दवेयव्वा अन्ने उद्दवेयव्वा एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया " । सूत्र० २ श्रु०२ अ० ।

उद्दवेहिंत–उपद्राविष्यत्–त्रि० उपद्रवान् करिष्यति,–भ० १५ श० १ उ० ॥

उद्दह–उद्रथ–पुं० उद्गतो रथो यस्मात् १ रथकीले, कुक्कुटतुल्य. पक्षो यस्य । ताम्रचूडविहगे, । मेदिनी०

उद्दाइत्ता–अपद्रूय–अव्य० मृत्वेत्यर्थे, " जम्म जीवा उद्दाइत्ता इत्थेव भुज्जो २ पच्चायंति" स्था० १० ठा० ।

उद्दाणभत्तारा–उद्दानभर्तृका–स्त्री० भर्त्रा परिष्ठापिताया स्त्रियाम, "उद्दाणभत्तारा भत्तारेण परिठाविता " नि०चू०१उ०

उद्दाम–उद्दाम–त्रि० उत्क्रान्तं दाम्न. अत्–समा० । बन्धनरहिते, "ताहे उद्दाम गच्छतस्स कलिंगे ईसिं पाणिए तणाए पक्खा भग्गा" आ०म०द्वि० । अप्रतिनियमे, स्वतन्त्रे, अत्युग्रे च । आव० । "एवं च कुसलजोगे उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा" पं० सू० । तत्–तत्र-

ष्ट श्रेष्ठ दाम पाशाख्यमस्त्र यस्य । वरुणे, पुं०।गम्भीरे,।त्रि०। वाच०।

उद्दाल–आ–छिद्–धा० हस्तादाकर्षणे, "आङा ओ अन्दोद्दालौ" ८।४।१२५। उद्दालइ–आच्छिनत्ति आच्छिन्दति, प्रा०।

अवदाल–पुं० अवदलने, पादादिन्यासेऽधोगमने, "गगापुलिणवालुयउद्दालसालिसए । ज्ञा० १ अ० । च० । क० । भ० । रा० । उद्दालयति भूमिमुद्भिनत्ति उद्–दल्–णिच्–ण्वुल्–बहुवारकवृक्षे, वनकोद्रवे, । वाच० । अवसर्पिण्या प्रथमारके, भरतक्षेत्रे स्वनामख्याते द्रुमभेदे, । जं० २ वक्ष० । भूकेदारभेदे च । वाच० ।

उद्दालित्ता–उद्दालयितुम्–अव्य० । चर्माणि सुम्पयितुमित्यर्थे, दशा० १ अ० । जोत्तेणवा वेतेण वा णेतेण वा तयाए वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा पासाइ उद्दालित्ता भवइ" ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उद्दाव–उद्द्राव–पुं० उद्–द्रु–घञ्–पलायने, । अमर । वाच० ।

उद्दावणया–अपद्रावणता–स्त्री० उत्त्रासने, भ० ३ श० ६ उ० ।

उद्दाह–उद्दाह–पुं०प्रकृष्टे दाहे, । स्था० १० ठा० ।

उद्दिट्ठ–उद्दिष्ट–त्रि० उद्–दिश्–क्त० सामान्यतोऽभिहिते, स्था० ५ ठा० । प्रति० । प्रतिपादिते, । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । तद्विषयकीर्त्तायप्रणीते, सूत्र० २ श्रु० ९ अ० । बृ० । निर्दिष्टे, । दश० । नि० चू० । दानाय परिकल्पिते भक्तपानादिके, । "तस्स अकसिणो इसिणो णायपुत्ता उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयन्ति" सूत्र० २ श्रु० ६ अभिलषिते च । वाच० ।

उद्दिट्ठकड–उद्दिष्टकृत–त्रि० उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृत विहितं तद् (साध्व) र्थं संस्कृते, "उद्दिट्ठकडं भत्त विवज्जती किमुपसेलमारंभे" । पचा० १० विव० । साध्वपेक्षया कृते आधाकर्मादौ, । पचा० १४ विव० । औद्देशिके, "उद्दिट्ठकडं भुजइ, छक्कायपमद्दणो घण कुणइ । पच्चक्खं च जलगए, जो पियइकस सो भिक्खू" । दश० १० अ० । उद्दिष्ट च कृत च उद्दिष्टकृतम् आधाकर्मणि, । दश० ।

उद्दिट्ठपडिमा–उद्दिष्टप्रतिमा–स्त्री० दशमासानात्मार्थनिष्पन्नमाहारं न भुङ्क्ते इत्येवं रूपाया दशम्यामुपासकप्रतिमायाम्,ध०२अधि० ।

उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाय–उद्दिष्टभक्तपरिज्ञात–पुं० उद्दिष्ट तदेव श्रावकमुद्दिश्य कृत भक्तमोदनादि उद्दिष्टभक्त तत्परिज्ञात येनासावुद्दिष्टभक्तपरिज्ञात ।दशमीमुपासकप्रतिमा प्रतिपन्ने श्रावके, स० ।

उद्दिट्ठभत्तवज्जणपडिमा–उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा–स्त्री० दशम्या श्रावकप्रतिमायाम् , तत्स्वरूप चैवम् । उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमां सा चैव "उद्दिट्ठकडं भत्त, पि वज्जए किमुय सेसमारंभं । सो होई खुरमुंडो, सिहलिं व धारते को वि । तिव्वं तुठो जाणे, जाणेइ वयइ नो वेति । पुव्वोदियगुणजुत्तो, दसमासा कालमाणेणं' । उपा० १ अ० । तथा श्रमणेति निर्ग्रन्थस्तेद्व्यस्तदनुष्ठानकरणात्स श्रमणभूत साधुकल्प इत्यर्थे । चकार समुच्चये अपिः सम्भावने भवति । श्रावक इति प्रकृत हेश्रमण ' हआयुष्मन् ' इति सुधर्मस्वामिना जम्बूस्वामिनमामन्त्रयतोक्तमित्येकादशीति । इह चैव भावना । पूर्वोक्तसमग्रगुणोपेतस्य क्षुरमुण्डस्य कृतलोचस्य वा गृहीतसाधुनेपथ्यस्य ईर्यासमित्यादिक साधुधर्ममनुपालयता भिक्षार्थं गृहिकुलप्रवेशे सति श्रमणोपासकाय प्रतिपन्नाय भिक्षां देयेति भाषमाणस्य कस्त्वमिति कश्चित्पृच्छति प्रतिपन्नश्रमणोपासकाऽहमिति ब्रुवाणस्यास्यैकादश मासान् यावदेकादशी प्रतिमा भवतीति । पुस्तकान्तरे त्वेव "वाचनाद्दसणसावए प्रथमा कयवयकं द्वितीया । कयसामाइए तृतीया । पोसहोववासनिरए चतुर्थी । राइभत्तपरिन्नाए पञ्चमी । सचित्तपरिन्नाए षष्ठी । दिया बमयारी राओ परिमाणकडे सप्तमी । दिआ वि राओ वि बंभयारी असिणाणपयावि भवति वोसठकेसरोमनहे अष्टमी । आरंभपरिन्नाए नवमी । उद्दिट्ठभत्तवज्जए दशमी । समणभूयया वि भवइत्ति समणाउसो एकादशीति । क्वचित्तु आरम्भपरिज्ञात इति नवमी । प्रेष्यारम्भपरिज्ञात इति दशमी । उद्दिष्टभक्तवर्जक श्रमणभूतश्चैकादशीति ॥ स० ॥ प्रश्न० ॥

उद्दित्त–उद्दीप्त–त्रि० प्रकाशान्विते, वाच० । "उद्दयिते कुड्याकडिपट्टा । पुढवी दगवारगो य उद्दित्तो (उद्दित्ति) अग्निकाय शीतकाले उद्दविनो भवति । बृ० १ उ० ।

उद्दिक्त–त्रि० उद् रिच्–क्त–अतिशयिते, अधिके, स्फुटे, । वाच० ।

उद्दिसावित्तए–उद्देशयितुम्–अव्य० आत्मनो गुरुतया व्यवस्थापयितुमित्यर्थे, । बृ० १ उ० ।

उद्दिसिऊण–उद्दिश्य–अव्य० अनुज्ञाप्येत्यर्थे, । व्य० ७ उ० ।

उद्दिसिज्जंता–उद्दिश्यमान–त्रि० वाच्यमाने, । आ० म० द्वि० ।

उद्दिसित्तए–उपदेष्टुम्–अव्य० स्वय धारयितुमित्यर्थे, "दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए जहा तस्स गणस्स अप्पतिय सिया" । व्य० द्वि०२ उ० । योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वेदमित्येवमुद्देष्टुमित्यर्थे, "स जं काय उद्दिसित्तए" स्था० २ ठा० ।

उद्दिसिय–उद्दिश्य–अव्य० उद्–दिश्–ल्यप्–प्रेक्ष्येत्यर्थे, "से भिक्खू वा २ उद्दिसिय उद्दिसिय सयारग जाएज्ज अंगुलियाए उद्दिसिय उद्दिसिय" उद्दिश्य अङ्गुली प्रसार्य । आचा० २ श्रु० १ अ० ।

उद्दिष्ट–त्रि०प्राक् सकल्पिते,"उद्दिसियवत्थं सय वा ण जाएज्जा आचा०२ श्रु० ॥

उद्दिस्स–उद्दिश्य–अव्य० उद्–दिश्–ल्यप्–आश्रित्येत्यर्थे, "जता महूसवो खलु उद्दिस्स जिणेस कीरई जो उ" पचा०७ विव० ॥ अङ्गीकृत्येत्यर्थे च । "तत्थ भवे आसका उद्दिस्स जई वि कीरए योगो । दश० १ अ० ।

उद्दीविय–उद्दीपित–त्रि० उज्ज्वालिते, "संधुक्किय मुद्दीविय मुज्जालियय पदीविय जाण" । को० ।

उद्देस–उद्देश–पुं० उद्दिश्यते नारकादिव्यपदेशेनेति उद्देश । लोके, । आचा० १ श्रु० १ अ० । उद्दिश्यते इत्युद्देशः । उपदेशे, सदसत्कर्तव्यतादेशे, नारकादिव्यपदेशे, "उद्देसोपासगस्स णत्थि" उद्दिश्यते इत्युद्देश उपदेश सदसत्कर्तव्यादेश स पश्यति इति पश्य स एव पश्यकस्तस्य स विद्यते स्वत एव विदितवेद्यत्वात्तस्य अथवा पश्यतीति पश्यकः सर्वज्ञस्तदुपदेशवर्ती वा तस्य उद्दिश्यत इत्युद्देशो नारकादिव्यपदेश उच्चावचगोत्रादिव्यपदेशो वा स तस्य न विद्यते तस्य प्रागेव मोक्षगमनादिति भाव । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । गुरुवचने, उत्त०१ अ० । अध्ययने, तदन्तर्गताधिकारे च । "भणिओ वि य दुच्चोव्विय छठ्ठुद्देसे विसेसण" न० । समस्तार्थिना कृते कल्पिते, ध०३ अधि० ॥ अस्यनिक्षेप । तत्रोद्देशः षोढा नामोद्देश स्थापनोद्देशो द्रव्योद्देश क्षेत्रोद्देश कालोद्देशो भावोद्देशश्चेति । नामोद्देशो यस्योद्देश इति नाम क्रियते । स्थापनोद्देश उद्देशवत पुरुषादे । स्थापना । द्रव्योद्देश ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्त स्वयमेव भाष्यकृदाह ॥

दव्वेण उद्देसा, उद्दिसति जाव जेण दव्वेणं ।
दव्वं वा उद्दिसते, दव्वजूओ नढठ्ठव्वो ॥

द्रव्येण रजोहरणादिना यदुद्देशः यो वा यन सचित्तादिना द्रव्येणोद्दिश्यते तत्र सचित्तेन यथा गोभिर्गोमान् तुरगैस्तुरगपति गजैर्गजपतिरिति । अचित्तेन यथा दण्डेन च दण्डी छत्रेण

छत्री कपालेन कपालीत्यादि । मिश्रेण यथा शकटेन शाकटिको रथेन रथिक इत्यादि । द्रव्य वा व्याधिप्रशमन यदुद्दिशति । अमुकमौषध द्रव्य भवता गृहीतव्यमिति । द्रव्यभूतो वा ज्ञानानुपयुक्तः पद । न श्रुतस्कन्धादिकमुद्दिशति द्रव्यार्थी वा द्रव्य निमित्तं धनुर्वेदादिक यदुद्दिसति एष सर्वोऽपि द्रव्योद्देशः ॥

खित्तम्मि जम्मि खित्ते, उद्दिसती जाव जेण खेत्तेण ।
एवमेवय-कालस्स वि, भावे उ पसत्थअपसत्थो ॥

क्षेत्रोद्देशे चिन्त्यमाने यस्मिन् क्षेत्रे अङ्गश्रुतस्कन्धादेरुद्देशः क्रियते व्यावर्ण्यते वा यो वा येन क्षेत्रेणोद्दिश्यते यथा भरते भवो भारतः । सुराष्ट्रायां भव सौराष्ट्रो मगधेषु भवो मागध इत्यादि । एवमेव च यस्मिन् काले अङ्गादिकमुद्दिश्यते येन वा कालेनोद्दिश्यते यथा सुषमाया भवः सौषमः शरदि जातः शारद इत्यादि एष कालोद्देश । भावोद्देशो द्विधा । प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । उभयमपि दर्शयति ॥

कोहाइ अपसत्थो, णाणमादीय होइ उ पसत्था ।
उदओ वि खलु पसत्थो, तित्थकराहार उदयादा ॥

क्रोधमानादिरौदयिको भावोद्देश । ज्ञानदर्शनादिक्षयोपशमिक औपशमिकः क्षायिकोपशमिको वा भावः प्रशस्तो भावोद्देशो भवति उदयोऽप्यौदयिको भावोऽपि तीर्थकराहारयशः कीर्त्यादिसत्कर्मोदयरूपप्रशस्तो भवति । आदिशब्दस्य गाथायां व्यत्ययेन निर्देशो बन्धानुलोम्यात् । बृ० ३ उ० । उद्देशनमुद्देश । सामान्याभिधाने, यथाऽध्ययनमिति । आ० म० प्र० । विशे० । अनु०॥

उद्देशनिर्देशयो स्वरूप भाष्यकृदाह ॥

अज्झयणं उद्देसो, अभिहियं सामाइयति निद्देसो ।
सामन्नविसिट्ठाणं, अभिहाणं सत्थनामाणं ॥

शास्त्रं च नाम च शास्त्रनामनी तयो सामान्यविशिष्टयोः सामान्यविशेषभूतयोरोघनिष्पन्ने नामनिष्पन्ने च निक्षेपे यदभिधानमभिहित तावुद्देशनिर्देशौ यथा सख्येन चेह योजना । तद्यथासामान्यस्य शास्त्रस्यौघनिष्पन्ननिक्षेपे यदध्ययनमित्यभिधानमभिहित त उद्देश इत्युच्यते । नामनिष्पन्ने च निक्षेपे विशिष्टस्य नाम्नो यत्सामायिकमित्यभिधानमभिहित स निर्देश इत्यभिधीयतइति ॥

अस्यनिक्षेपो यथा ॥

नामं ठवणा दविए, खित्ते काले समासउद्देसे ।
उद्देसम्मि य भावे, एमाई होइ अट्ठमओ ॥

नामादिभेदादुद्देशोऽष्टविधस्तद्यथा नामोद्देश स्थापनोद्देशो द्रव्योद्देशः क्षेत्रोद्देश कालोद्देश उद्देशोद्देश समासोद्देशो भावोद्देशो भवत्यष्टमक इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥

तत्र नामोद्देश व्याख्यातुमाह भाष्यकारः ॥

नामं जस्सुद्देसो, नामेणुद्देसए व जो जेण ।
उद्देसो नामस्स व, नामुद्देसाभिहाणंति ॥

यस्य जीवादेर्वस्तुन उद्देश इति नाम क्रियते स नामोद्देशः । नामरूप उद्देशो नामोद्देश यथा गोपालदारकादिरुद्देश इति नाम (नामेणुद्देसात्ति) यो वा घटपटस्तम्भादिपदार्थो येन घटपटस्तम्भादिनाम्ना उद्दिश्यते प्रतिपाद्यते सोऽपि घटपटादिपदार्थो नामोद्देश उच्यते । उद्दिश्यतेऽभिधीयते प्रतिपाद्यते निजेन नाम्ना इति कृत्वा उद्देश (नामस्सवत्ति) नाम्नो वा वस्तु सामान्याभिधानस्योद्देशनमुच्चारणं नामोद्देश । किमुक्तंभवतीत्याह (अभिहाणत्ति) वस्तुन सामान्य यदभिधान तन्नामोद्देश इत्यर्थ यथा आम्रादे वृक्षादिनाम । वा शब्द सर्वत्र प्रकारान्तरसूचकः ।

अत्र परोऽतिप्रसङ्गमुद्भावयन्नाह ।

एवं नणु सव्वो च्चिय, नामोद्देसो जओ भिहाणंति ।
दव्वाईणं तेहि व, तेसु व विकीरणगस्स ॥

ननु यदि वस्तुन सामान्याभिधानमात्रमुद्देशोऽभिधीयते एव तर्हि सर्व एवाय स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालाद्युद्देशो नामोद्देश एव प्राप्नोति । यतो द्रव्यादीनामपि हेमरजतादीनां हेमादिक सामान्याभिधानमिति तैर्वा कुसुम्भहरिद्रादिद्रव्यैर्हेतुभूतैर्वस्त्रादीनां रक्तपीतमित्यादिसामान्याभिधान प्रवर्तते । तेषु वा दण्डकुण्डलकिरीटादिद्रव्येषु सत्सु दण्डी कुण्डली किरीटीत्यादिक सामान्याभिधान प्रवर्तमान दृश्यते । एव स्थापनाक्षेत्रादिष्वपि वाच्यम । ततो य एव द्रव्याद्युद्देशोऽभिमतः स एव सर्वोऽपि नामोद्देशः प्राप्नोतीति उद्देशस्यैकविधत्वादष्टविधत्व विशीर्यत इति ।

अत्र पराभिहितमभ्युपगम्य परिहारमाह ।

सच्चं सव्वाणुगओ, नामुद्देसोभिहाणमित्तं जं ।
नाणत्तं तह वि मयं, मइकिरियावत्थुभेएहिं ॥

सत्यमुक्त भवता यतो यत्सामान्याभिधानमात्र नामोद्देशः स खलु सर्वानुगत एव तथापि नामस्थापनाद्रव्याद्युद्देशाना नानात्व भेदरूप मत सम्मतमेव परमार्थवेदिना कैरित्याह । मतिक्रियावस्तुभेदैस्तथाहि-यादृशी नामेन्द्रे मतिस्तादृश्येव न स्थापनेन्द्रादिषूत्पद्यते किंतु विलक्षणैव । नच यां क्रिया नामेन्द्रः करोति तामेव स्थापनाद्रव्येन्द्रादय किंचित्सदृशीमेव अत एव नामेन्द्रादिवस्तूनां परस्पर भेदो विज्ञेयो भिन्नमित्यादिहेतुत्वात् घटपटादिवस्तुवदिति ॥ करोति तामेव स्थापनां द्रव्येन्द्रादिवस्तुवदिति । एव प्रस्तुतनामस्थापनाद्रव्याद्युद्देशानामपि मत्यादिभेदाद्भेदो योजनीय इति ॥

अथ स्थापनाद्युद्देशानाह ।

ठवणाए उद्देसो, ठवणुद्देसात्ति तस्स वा ठवणा ।
तं तेण तओ तम्मिव, दव्वाऽयाणमुद्देसो ।
दव्वुद्देसो दव्वं, दव्वपई दव्ववंसदव्वो त्ति ।
एव खेत्त खेत्ती, खेत्तपई खेत्तजायत्ति ॥

स्थापनाया उद्देशनमुच्चारण सामान्येनाभिधान स्थापनोद्देशः तस्य वा उद्देशस्य अक्षरादिषु स्थापना स्थापनोद्देश । अथ द्रव्योद्देशमाह-द्रव्यादीनामुद्देशो द्रव्योद्देशः । आदिशब्दात् द्रव्यवदादिपरिग्रहः कया पुनर्व्युत्पत्त्या द्रव्यादयो वाच्या भवन्तीत्याह (तम्मित्यादि) तदेव द्रव्यमुद्दिश्यते उच्चार्यते द्रव्यमित्यव सामान्येनाभिधीयते द्रव्योद्देश । द्रव्यं च तदुद्देशश्चेति कर्मधारयसमास । अत्र च पक्षे द्रव्यमेवोद्देशशब्दवाच्यम् । अत एव द्वितीयगाथायामाह (दव्वमिति) अथवा तेन द्रव्येण हेतुभूतेन य उद्दिश्यते अभिधीयते स द्रव्योद्देशो यथा द्रव्यपतिरित्यादि । यदिवा ततस्तस्माद्द्रव्यादुद्देशोऽभिधानप्रवृत्तिर्द्रव्योद्देशा यथा द्रव्यवानित्यादि । अथवा तस्मिन् द्रव्ये सत्युद्देशोऽभिधानप्रवृत्तिर्द्रव्योद्देशो यथा स द्रव्य इत्यादि सिंहासन राजा चूते कोकिल, घने मयूर, इत्यादि वा । एवमुद्दिश्यते तेन वा, इत्यादिव्युत्पत्त्या क्षेत्र क्षेत्री क्षेत्रपति क्षेत्रे जात क्षेत्रमित्यादिकः सर्वोऽपि क्षेत्रोद्देश इति ।

कालो कालाईयं, कालो वेयंति कालजायंति ।
संखेवो त्ति समासो, अंगाईणं तओ तिण्हं ॥
अंगसुयखधज्झयणाणं, नियनियपज्जेयसंगहओ ।

होइ समासुद्देसो, जहसमग्गी तदज्झेज्जा ॥
एमेव सुयक्खंधो, जह तस्स तयट्ठविप्लाया ।
अज्झयणं अज्झयणी, तस्स नेया तयत्थसो ॥

काल एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशकाल कालोद्देश । तेन वा कालेनोद्देश कालोद्देशो यथा कालातीत कालातिक्रान्तमिद वस्त्विति । ततो वा कालादुद्देश कालोद्देशो यथा कालोपेन कालमामामिति । तस्मिन्वा काले जात कालजातमित्यादिक कालोद्देश । अथ समासोद्देस विवक्षुराह (सखेवेत्यादि) सङ्क्षेपेणाविस्तरेण सकोचन समास उच्यते तत्कोऽय चेह अङ्गादीनां त्रयाणां विवक्षित एतदेव दर्शयति (अगेत्यादि) अङ्गश्रुतस्कन्धोऽध्ययनमित्येष समासो भवति ॥ कुत इत्याह । निजनिजप्रभेदसग्रहादिति । अस्याङ्गादिसमासस्योद्देशनमभिधान समासोद्देशक इति दर्शयति । यथा अङ्गमिति तदेवोद्दिश्यमानत्वादुद्देश इत्यर्थ । तेन वाङ्गरूपसमासेनोद्देशो यथाङ्गीति (तस्सनयट्ठेत्ति) अङ्गात्मकसमानोद्देशो यथा तदध्येता अङ्गाध्येता इत्यादि । एव श्रुतस्कन्धात्मकसमास एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशो यथा तदर्थविज्ञाता श्रुतस्कन्धार्थज्ञ इत्यादि । एवमध्ययनात्मकसमास एवोद्दिश्यते इत्युद्देशो यथाऽध्ययनमिति तेन वा उद्देशो यथाऽध्ययनीति । तस्माद्वा उद्देशो यथा तस्याध्ययनस्याध्येता । तस्मिन्वा अध्ययने सति उद्देशो यथा तदर्थज्ञोऽध्ययनार्थविदित्यादि विवक्षया सर्वं भावनीयमिति ॥

अथोद्देशोद्देश भावोद्देश चाह ।
उद्देसो उभिउद्दे-सणो तयत्थवेत्ता वा ।
उद्देसुद्देसो यं, जातो भाविति नातम्मि ॥

उद्देशः पुलाकोद्देशकादि स एवोद्दिश्यमानत्वादुद्देशोद्देश । स चाय विशेष क इत्याह । पुलाकोद्देशकादिक उद्देशोऽप्युद्दिश्यमानत्वेनोद्देशोद्देश उच्यते । तेन वा उद्देशोऽभिधान यथा उद्देशीति । तस्माद्वा उद्देशो यथा उद्देशाग । तस्मिन्वा उद्देशो यथा तस्योद्देशकस्यार्थवेत्ता इत्यादि (भावम्मित्ति) भावविषय उद्देशो भावोद्देश । क इत्याह (भावोत्ति) औदयिको भाव उद्दिश्यतेऽभिधीयते इत्युद्देशो भावश्चासावुद्देशश्च भावोद्देश इत्यर्थ । तेन वा भावेनोद्देशो भावोद्देशो यथा औदयिकादि पूर्वोक्तानुसारेण वाच्यमिति गाथात्रयार्थ ॥ अथोद्देशव्याख्यानेन निर्देशमप्यतिदिशन्नाह ।

एवमेव स णिद्देसो, अट्ठविहो सो वि होइ नायव्वो ।
अविसेसियमुद्देसो, विसेसिओ होइ णिद्देसो ।

एवमेव यथा उद्देश उक्तस्तथा निर्देशोऽप्यष्टविध एव भवति ज्ञातव्य । सर्वथा साम्यप्रतिषेधार्थमाह । किन्त्वविशेषितसामान्यनामस्थापनादिरूप उद्देशो विशेषितनामादिरूपस्तु स एव निर्देशो भवतीति विशेष इति निर्युक्तिगाथार्थ ॥४६॥

भावार्थं तु भाष्यकार आह ॥
नाम जिणदव्वाई, ठवणाविसिट्ठवत्थुनिक्खेवो ।
दव्वो गोसं दण्डी, रहीति तिविहो सचित्ताइ ॥

वस्तुत पुरुषादिर्वस्तुमात्रादिक सामान्य नाम स नामोद्देश उक्तो यत्तु तस्यैव विशेषनामसग्रह नाम निर्देश उच्यते यथा जिनदत्तादिसामान्यस्य चन्द्रादिर्वस्तुत । स्थापना स्थापनोद्देश उक्त इह तु विशिष्टस्य सोधर्मादिपत्यादिवस्तुनो य स्थापनारूपो निक्षेप स स्थापनानिर्देश । द्रव्यस्यापि त्रिविधस्य सचित्तादेर्विशिष्टस्य यो विशिष्टाभिधानरूपो निर्देश तत्र सचित्तद्रव्यविशेषस्य निर्देशो यथा गौरित्यादि अचित्तस्य तु दण्ड इत्यादि मिश्रस्य तु रथ इत्यादि रथस्य चाश्वादियुक्तस्येह मिश्रता भावनीयेति । तेन वा सचित्तादिद्रव्यविशेषणनिर्देशो यथा गोमानित्यादि दण्डी रथीत्यादि ॥

अथ क्षेत्रकालनिर्देशावाह ॥
खेत्ते भरह तत्थ व, नवोत्ति मगहत्ति मागहीवत्ति ।
सरउत्ति सारउत्ति-य, संवच्छरिउत्ति काल्लम्मि ॥

क्षेत्र क्षेत्रीत्यादिक क्षेत्रोद्देश उक्त । इह तु तदेव विशिष्ट क्षेत्र क्षेत्रनिर्देशो यथा भरतमित्यादि । अथवा (मगहत्ति) मगधजनपद इत्यादि तस्मिन्वा क्षेत्रविशेषे भव. क्षेत्रमित्युच्यते यथा भारत इत्यादि एतच्च स्वयमेव द्रष्टव्यम् । मगधेषु भवो मागध इत्यादि एतत्तु गाथायामप्युक्तमिति काली कालोऽयमित्यादिक कालोद्देश उक्तः । इह तु तस्यैव कालस्य विशिष्टस्य यो निर्देशो विशिष्टमभिधान स कालनिर्देशो यथा शर इत्यादि । तत्र वा कालविशेषे भव. कालनिर्देशोऽभिधीयते यथा शरदि भव शारद । सवच्छरे भव. सांवच्छरिक इत्यादि ॥

अथ समासनिर्देशमुद्देश निर्देश चाह ॥
आयारो आयारेव, आयारधरे त्ति वा समासम्मि ।
आवस्सय मावासयि, तु तत्थ धरोइ वायत्ति ॥
सत्थए परिण्णाइ यव, अज्जेया य समासनिद्देसा ।
उद्देसयनिद्देसो, स पएसो पोग्गलुद्देसो ॥

विस्तरवतो वस्तुत सक्षेप समासस्तस्य सामान्याभिधान समासोद्देश उक्त । इह तु तस्यैव समासस्य विशेषाभिधान समासनिर्देशस्तत्र चाङ्गश्रुतस्कन्धाध्ययनभेदात्त्रिविध समासोद्देश पूर्वमुक्त इह तु तेषामेव त्रयाणामङ्गादीनां विशेषाभिधानरूपस्त्रिविध एव समासनिर्देशस्तत्र चाह (आयारेत्यादि) आचाररूपाणाङ्गविशेषाभिधाननिर्दिश्यमानत्वादाचार इति समासनिर्देशस्तेन वा आचारसमासेन निर्देशो यथा आचारवानित्यादि । तस्माद्वा आचारसमासान्निर्देशो यथा आचारधर इत्यादि । श्रुतस्कन्धसमासनिर्देशो यथा आवश्यकमिति । तेन वा आवश्यकसमासेन निर्देशो यथा आवश्यकीति । अथवा तस्मादावश्यकसमासान्निर्देशो यथा आवश्यकसूत्रार्थधरोऽयमिति । अध्ययनमाश्रित्य समासनिर्देश क इत्याह ॥ आचाराङ्गे प्रथममध्ययन शस्त्रपरिज्ञा इत्यादि तेन वा शस्त्रपरिज्ञासमासविशेषेण निर्देशो यथा (अज्झेयायत्ति) शस्त्रपरिज्ञाध्येता अयमित्यर्थ इत्यादि समासनिर्देश । उद्देशनिर्देशस्तूच्यते क इत्याह । (पएसो त्ति) अध्ययनस्य प्रदेशोंऽश इत्यर्थ । यथा भगवत्या पुद्गलोद्देशकस्तस्य निर्देशोऽभिधानमुद्देशनिर्देश इत्यादीति । विशे० ॥ आ०म० प्र० । आ० चू० । वाचयामीति गुरुप्रतिज्ञारूपे विशे० ॥ इदमध्ययनादि त्वया पठितव्यमिति गुरुवचनविशेष, ॥

तद्विधिश्चैवम् ॥

तत्राचाराद्यङ्गस्य उत्तराध्ययनादिकालिकश्रुतस्कन्धस्य औपपातिकाद्युत्कालिकोपाङ्गाध्ययनस्य चायमुद्देशविधि । इहाचाराङ्गान्तरश्रुतमध्येतुमिच्छति यो विनेय स स्वाध्याय प्रस्थाप्य गुरु विज्ञपयति भगवन्नमुक सम श्रुतमुद्दिशत । गुरुरपि भणतीच्छाम इति । ततो विनेयो वन्दनक ददाति । ततो गुरुरुत्थाय चैत्यवन्दन करोति तत ऊर्ध्वस्थितो वामपार्श्वावस्थितशिष्यो योगोत्क्षेपनिमित्त पञ्चविंशत्युच्छ्वासमान कायोत्सर्ग करोति "चंदेसु निम्मलयरत्ति यावच्चतुर्विंशतिस्तवं चिन्तयतीत्यर्थ । तत पारित-

कायोत्सर्गं. संपूर्णचतुर्विंशतिस्तवं भणित्वा तथास्थित एव पञ्च-परमेष्ठिनमस्कारवारत्रयमुच्चार्य "नाणं पञ्चविहं पण्णत्तमित्यादि" उद्देशनन्दीं भणति। तदन्ते चैव पुन. प्रस्थापन प्रतीत्य साधोरिदमङ्गममु श्रुतस्कन्ध इदमध्ययन वा उद्दिसामि क्षमाश्रमणानां हस्तेन सूत्रमर्थं तदुभयं च उद्दिष्टमित्येवं वदति। क्षमाश्रमणानामित्यादि त्वात्मनोऽहंकारवर्जनार्थमभिधत्ते ततो विनेय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति २ तत उत्थितो ब्रवीति संदिशत किं भणामीति। ततो गुरुर्वदति वन्दित्वा प्रवेदयत ततो विनेय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति ३ ततः पुनरुत्थित प्रतिपादयति भवद्भिर्ममामुक श्रुतमुद्दिष्टमिच्छाम्यनुशास्तिम्। ततो गुरुः प्रत्युत्तरयति योगं कुर्विति एवं संदिष्टो विनेय इच्छामीति भणित्वा वन्दनकं ददाति ४ ततोऽनन्तरं नमस्कारमुच्चारयन्नसौ गुरुं प्रदक्षिणयति तदन्ते च गुरोः पुरतः स्थित्वा पुनर्वदति भवद्भिर्ममामुकं श्रुतमुद्दिष्टमिच्छाम्यनुशास्तिं ततो गुरुराह योगं कुर्विति। एवं संदिष्ट इच्छामीति भणित्वा वन्दित्वा च पुनस्तथैव गुरुं प्रदक्षिणयति। तदन्ते च पुनस्तथैव गुरुशिष्ययोर्वचनप्रतिवचने तथैव च तृतीयप्रदक्षिणां विदधाति विनेय.। एतानि च चतुर्थवन्दनकादीनि त्रीण्यपि वन्दनकान्येकमेव चतुर्थं गण्यते एकार्थप्रतिबद्धत्वादिति ४ ततस्तृतीयप्रदक्षिणान्ते गुरुर्निषीदति निषण्णस्य च गुरोः पुरतोऽर्द्धावनतगात्रो विनेयो वक्ति युष्माकं प्रवेदितं संदिशत साधूनां प्रवेदयामि। ततो गुरुराह प्रवेदयेति। तत इच्छामीति भणित्वा विनेयो वन्दनकं ददाति। ५। प्रत्युत्थितश्चोच्चारितपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारः पुनर्वन्दनं ददाति। ६। पुनरुत्थितो वदति युष्माकं प्रवेदितं साधूनां च तं प्रवेदितं संदिशत करोमि कायोत्सर्गम्। ततो गुरुरनुजानीते। कुर्विति ततः पुनरपि वन्दनकं ददाति। ७। एतानि सप्तच्छोभवन्दनकानि श्रुतप्रत्ययानि भवन्ति ततः प्रत्युत्थितोऽभिधत्ते अमुकस्योद्देशननिमित्तं करोमि कायोत्सर्गमन्यत्रोच्छ्वसितादित्यादि यावद्व्युत्सृजामीति ततः कायोत्सर्गे स्थित सप्तविंशतिमुच्छ्वासांश्चिन्तयति "सागरवरगम्भीरेत्ति" यावच्चतुर्विंशतिस्तवं चिन्तयति इत्यर्थः। "उद्देससमुद्देसे, सत्तावीसं अणुन्नवणियाए" इति वचनात् ततः पारितकायोत्सर्गः संपूर्णं चतुर्विंशतिस्तवं भणित्वा परिसमाप्तोद्देशक्रियत्वाद्गुरोश्छोभवन्दनकं ददाति तच्च न श्रुतप्रत्ययं किं तर्हि श्रुतदातृत्वादिना गुरुः परमोपकारी तद्विनयप्रतिपत्तिनिमित्तमिति ॥ अनु०। आ० म० द्वि०। (श्रुतस्कन्धस्यैवोद्देश इति अणुओगशब्दे उक्तम्) वाचनायां सूत्रप्रदाने, व्य० प्र० १ उ०। श्रुतस्कन्धाद्यङ्गपरावर्तनोत्तरकाले च सप्तविंशत्युच्छ्वासकाले कायोत्सर्गे। "उद्देस समुद्देसे सत्तावीस" ॥ जी० १ प्रति०। उद्देशो मुहूर्तम् "पुस्सो हत्थो अभिई, अस्सिणी य तहेव य। चत्तारि खिप्पकारीणि, विज्जारंभे सुसोहणा ॥२७॥ विज्जाण धीरण कुज्जा" इति।

कियत्पर्यायस्य किं श्रुतं दातव्यमित्याह।

णो कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डागं वा खुड्डियाए वा अवंजणजायस्स आयारकप्पे णामज्झयणे उद्दिसित्तए वा कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीए वा खुड्डागस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आयारकप्पणामं अज्झयणे उद्दिसित्तए वि ३। व्य० सू० १० उ०।

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा क्षुल्लकस्य वा क्षुल्लिकाया वा अव्यञ्जनजातस्य व्यञ्जनान्युपस्थरोमाणि जातानि यस्य स तथा तस्य आचारप्रकल्पो नामाध्ययनं निशीथापरपर्यायमुद्देष्टुम्। अत्र कारणं भाष्यकृदाह।

अहिअच्छस्स आयारे, अपत्तिते न उ कप्पति।
अव्वंजणजातस्स, वंजणाए परूवणा ॥
जहा चरित्तं धारेउं, ऊणओ उ अपच्चलो।
तहा वि वक्कं वुद्दाउ, अववायस्स नो सहू ॥

अधिकाष्टवर्षस्याप्यपठितेऽप्याचारे अव्यञ्जनजातस्य। अत्र व्यञ्जनानां प्ररूपणा कर्तव्या सा च सूत्रव्याख्यायां कृता न तु नैव सूरयः प्रकल्पमाचारप्रकल्पनामाध्ययनं ददति कुत इत्याह। (जहेत्यादि) यथा ऊनाष्ट-ऊनाष्टवर्षश्चारित्रं धारयितुमप्रत्यलोऽसमर्थः तथा अजातव्यञ्जनतया अपक्वबुद्धिरपवादमाधारणे वदति तथा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकस्य वा क्षुल्लिकायावा व्यञ्जनजातस्य आचारप्रकल्पो नामाध्ययनमुद्देष्टुम्। अथ स्तोककालदीक्षितस्यापि ज्ञातव्यञ्जनस्य दीयते किंवा नेत्यत आह। (अतिवासपरियागस्सेत्यादि) ज्ञातव्यञ्जनस्यापि त्रिवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते आचारप्रकल्पो नामाध्ययनमुद्देष्टुम्। यदि पुनस्त्रयाणां वर्षाणां अभ्यन्तरत उद्दिशति ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। त्रिवर्षपर्यायस्याप्यपरिणामकस्यातिपरिणामकस्य चोदितस्य चतुर्गुरुकम् ॥

(सूत्रम्) चउवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए पंचवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति दसा कप्पववहारा उद्दिसित्तए वि अट्ठवास परियागस्स निग्गंथस्स कप्पति ठाणसमवाए उद्दिसित्तए दसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति वियाहे नामं अंगे उद्दिसित्तए ॥

चतुर्वर्षपर्यायस्य श्रमणनिर्ग्रन्थस्य कल्पते सूत्रकृतं नामाङ्गमुद्देष्टुम्। पञ्चवर्षपर्यायस्य दशाकल्पव्यवहारासंघिको नाम परभ्य आरभ्य नव वर्षाणि यावत् तत्पर्यायस्य स्थानं समवायस्य दशवर्षपर्यायस्य व्याख्या प्रज्ञप्तिः पञ्चममङ्गमेतदेव सहेतुकं वक्तुकामो भाष्यकृदाह।

चउवासे सूयगडं, कप्पववहारस्स पंचवासस्स।
निगढट्ठाणस्स, समवरिसविवाहपण्णत्ती ॥

चतुर्वर्षपर्यायस्य सूत्रकृतं पञ्चवर्षस्य-कल्पव्यवहारावुपलक्षणमेतत् दशाश्रुतस्कन्धश्चाविकृष्टपर्यायस्य स्थानं समवायश्च दशवर्षपर्यायस्य व्याख्या प्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते किंकारणमेतावत्कालातिक्रमेण तत आह ॥

चउवासो गाढमती, न कुसमएहिं तु हीनपज्जाओ।
संवच्छरिमओ जोग्गो, अववायस्सात्ति तो हिंति ॥
पंचवरिसेहुवरिविगिट्ठो, सुयथेरा जेण तेण उवरिट्ठो।
ठाणे महिड्डियति य, तेण दसवरिसपरियाए ॥

सूत्रकृताङ्गे त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां पाषण्डिकशतानां दृष्टयः प्ररूप्यन्ते। ततो हीनपर्यायो मतिभेदेन मिथ्यात्वं यायात्। चतुर्वर्षपर्यायस्तु धर्मे अवगाढमतिर्भवति तत कुसमयैर्नापह्रियते। न चतुर्वर्षपर्यायस्य तदुद्देष्टुमनुज्ञातम्। तथा पञ्चमोवर्षोऽपवादस्य योग्य इति कृत्वा पञ्चवर्षस्य दशाकल्पव्यवहारान् ददति। तथा पञ्चाना वर्षाणामुपरि पर्यायो विकृष्ट उच्यते। येन कारणेन स्थाने समवाये न चार्थानां श्रुतस्थविरा भवन्ति तेन कारणेन तदुद्देशनं प्रति विकृष्टपर्यायो गृहीतस्तथा स्थानं समवायश्च महर्द्धिकं प्रायेण दशाना-

मग्यङ्गाना तेन सूत्रनादिति ॥ तेन तत्परिकर्म्मितमनौ दशवर्ष-पर्याये व्याख्या प्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते ॥

(सूत्रम्)एक्कारसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ खुड्डियाविमाणविभत्ती । महल्लियाविमाणविभत्ती महल्लिया विमाणे पविभत्ती अंगचूलिया विवाहचूलिया नामं अज्झयणमुद्दिसित्तए ॥

अस्य व्याख्या ॥

एक्कारसवासस्सा, खुड्डिमहल्ली विमाणपविभत्ती ।
कप्पइ य अंगवग्गे, विवाह चेव चूलीयओ ॥
अंगाणमंगचूली, महकप्पसुयस्स वग्गचूली उ ।
विवाहचूलिया पुण, पन्नत्तीए मुणेयव्वा ॥

एकादशवर्षस्य क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्यत्र कल्पेषु विमानानि वर्ण्यन्ते महती विमानप्रविभक्तिर्यत्र विमानान्येव विमानविस्तरेणाभिधीयन्ते । अङ्गानामुपासकदशाप्रभृतीनां पञ्चाना चूलिका निरावलिका अङ्गचूलिका महाकल्पश्रुतस्य चूलिकावर्गचूलिका व्याख्याचूलिका पुन प्रज्ञप्तेर्व्याख्या प्रज्ञप्तिचूलिका मन्तव्या ॥

(सूत्रम्) बारसवासपरियागस्स समणस्स कप्पइ अरुणोववाए गरुलोववाए वरुणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए । वेलंधरोववाए नाम अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥

अत्र भाष्यव्याख्या ॥

बारसवासे अरुणो-ववायवरुणो य गरुलवेलंधरो ।
वेसमणुववायतहा य, ते कप्पति उद्दिसिउं ॥

द्वादशपर्यायस्य ।

अरुणोपया त्तुपरिय-ट्टंतिए तिदेवा उ ।
अंजलिमउलियहत्था, उज्जोवेत्ता दसदिसो उ ॥
नागावरुणोवासं, अरुणा गरुला य वीयगं देंति ।
आगंतण पवत्ती, मदि महा कि करेमित्ति ॥

तेषामरुणोपपातादीनामध्ययनानां ये दशनामान खल्वरुणादयो देवास्ते यदि तान् प्रणिधायाध्ययनानि परावर्तन्ते तदा त अञ्जलिमुकुलितहस्ता दशापि दिश उद्योतयन्ति । समागच्छन्ति समागत्य च किंकरभूता पर्युपासत तथा नागा धरणनामानो वरुणाश्च गन्धोदकादि वर्षन्ति । अरुणा गरुडाश्च बीजक सुवर्ण दधत प्रत्यासन्नमागत्य ब्रुवते सन्दिशत कि कुर्मो वयमिति ।

(सूत्रम्) तेरसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुयसमुट्ठाणसुयदेविंदो देववाए नागए परियावणियाए ।

अस्य व्याख्या ।

तेरसवासे कप्पइ, उट्ठाणसुए तहा समुट्ठाणे ।
देविंदपरियावणिया, नागाण तहेव परिमाणी ॥

त्रयोदशवर्षस्य कल्पते उत्थानश्रुत तथा समुत्थान समुत्थानश्रुत देवेन्द्रपरियापनिका नागाना तथैव परियापनिका नागपरियापनिका इत्यर्थ ।

(सूत्रम्) चउद्दसपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति सुमिणभावणानामं अज्झयणमुद्दिसित्तए ॥

चतुर्दशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते महास्वप्नभावना नामाध्ययनमुद्देष्टुम् " चोद्दसवासुद्दिसिए " इत्यादि भाष्यगाथोत्तरार्द्ध सुप्रतीतमधुनार्थमाह ।

इत्थं तीसं सुमिणा, बायाला चेव हुंति महसुमिणा ।
बावत्तरि सव्वसुमिणा, वन्निज्जंते फलं तेसि ॥

अत्र महास्वप्नभावनाध्ययने त्रिंशत् सामान्यस्वप्ना द्वाचत्वारिंशन्महास्वप्ना वर्ण्यन्ते फल चैषा स्वप्नाना वर्ण्यते ॥

(सूत्रम्) पन्नरसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ । चारणभावणानामसज्झयणमुद्दिसित्तए ॥

अत्र भाष्यम् ॥

पन्नरसे चारणभा-वणं ति उद्दिसिए उ अज्झयणं ।
चारणलद्धी तहियं, उप्पज्जंते उ अहियम्मि ॥

पञ्चदशे पञ्चदशवर्षपर्यायस्य चारणभावनेत्यध्ययनमुद्दिश्यते तस्य कोऽतिशय इत्याह चारणलब्धिस्तस्मिन्नधीते उत्पद्यते येन वा तपसा कृता चारणलब्धिरुपजायते तदुपवर्ण्यते ॥

(सूत्रम्) सोलसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ तेअनिसग्गनामअज्झयणे उद्दिसित्तए सत्तरसवासपरियागस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पति आसीविसभावणा नामं अज्झयणमुद्दिसित्तए । अट्ठारस वासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पति दिट्ठीविसभावणानामअज्झयणमुद्दिसित्तए । एगूणवीसवासपरियागस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिवायनामंगे उद्दिसित्तए वीसतिवासपरियाए समणे निग्गंथे सव्वसुयाणुवाती भवति ॥

अस्य व्याख्या

तेअनिसग्गा सोलस, आसीविसभावणं च सत्तरसे ।
दिट्ठिविसमट्ठारस, एगुणवीसइदिट्ठिवाओ उ ॥

षोडशवर्षे तेजोनिसर्गो नामाध्ययनमुद्दिश्यते । सप्तदशे वर्षे आशीविषभावनानामोद्दिश्यते दृष्टिविषभावनानामाष्टादश वर्षे एकोनविंशतितमे वर्षे दृष्टिवादो नाम द्वादशमङ्गमुद्दिश्यते । साम्प्रतमेतेषामध्ययनानामतिशयानाह ।

तेयस्स निसग्गे खलु, आसीविसत्तं तहेव दिट्ठिविसं ।
लद्धीतो समुप्पज्जे, समहीएसु तु एएसु ॥

एतेषु तेजोनिसर्गप्रभृतिष्वध्ययनेषु यथाक्रम तेजसो निस्सर्ग आशीविषत्व दृष्टिविषमित्येव लब्धय समुत्पद्यन्त । इयमत्र भावना । तेजोनिसर्गेऽध्ययनेऽधीते तेजोनिस्सरणलब्धिरुत्पद्यते येन वा तपसा कृत्वा तेजोलब्धिर्भवति तत एवमुपवर्ण्यते आशीविषभावनाया पठितायामाशीविषत्वलब्धिर्यया समाचरणाशीविषतया कर्म बध्यते तान्युपवर्ण्यन्ते । एव दृष्टिविषभावनायामपि भावनीयम् ॥

दिट्ठिवाए पुण होइ, सव्वभावाण रूवणं नियमा ।
सव्वसुयाणुवाइ-वीसइवासे उ बोधव्वो ॥

दृष्टिवादे पुनर्भवति सर्वभावाना रूपण प्ररूपण नियमात् विंशतिवर्ष पुन सर्वश्रुतानुपाती भवति सर्वमपि श्रुत यथा भणितन योगेन तस्य पठनीय भवति । अथ कस्य तीर्थकरस्य काले कियन्ति प्रकीर्णकान्यासीरन्नित्याह

चउदसयसहस्साइं, पइन्नगाणं तु वद्धमाणस्स ।
सेसाण जत्तया खलु, सीसा पत्तेयबुद्धा उ ॥

भगवतो वर्द्धमानस्वामिन तीर्थे चतुर्दश प्रकीर्णकसहस्राण्यभवन् शेषाणा च तीर्थकृता यस्य यावन्त शिष्यास्तस्य तावन्ति प्रकीर्णकानि प्रत्येकबुद्धा अपि तस्य तावन्त ।

पत्तस्स पत्तकालेय, वयाणि जो उ उद्दिसे तस्स ।
निज्जरलाभो विपुलो, किहमाणं पुण तं निसामेह ॥

पात्रस्य योग्यस्य परिणामकस्येत्यर्थः । एतेनापात्रेऽपरिणामके विपरिणामके वा ददाना महतीं श्रुतासातनामेतीति प्रतिपादितम् । प्राप्ते काले यथोदिते एतानि प्रकीर्णकानि च उद्दिशति तस्य सुविपुलो निर्जरालाभः । कथं पुनः स विपुलो निर्जरालाभः । सूरिराह तं विपुलनिर्जरालाभं कथ्यमानं निशमयतो मते कथयति ।

कम्ममसंखेज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नयरगम्मि जोगे, सज्झायम्मी विसेसेण ॥

कर्मज्ञानावरणीयादिकमसंख्येयभवोपार्जितमन्यतरकेऽपि योगप्रतिलेखनादावुक्तोऽनुसमयमेव क्षपयति विशेषतः स्वाध्याये आयुक्तः ।

आयारंगादीयाणं, अंगाणं जाव दिट्ठिवातो उ ।
एस विही विण्णेओ, सव्वेसिं आणुपुव्वीए ।

आचारादिकानामङ्गानां यावत् दृष्टिवादो दृष्टिवादपर्यन्तानां सर्वेषामानुपूर्व्या एषोऽनन्तरोदितो विधिर्विज्ञेयः । पात्रस्योचिते काले यदुचितमङ्गं तद्दातव्यं न शेषमित्यर्थः ॥ व्य० १० उ० ।

त्रिवर्षपर्यायो निर्ग्रन्थ आचारादिकुशल आचार्यादितया कल्पते उद्देशयितुम् ॥

तिवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पर्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे असबलायारे अभिन्नायारे असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बब्भागमे जहण्णेणं आयारकप्पड उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ३ सच्चेव णं से तिवासपरियाए समणे निग्गंथे नो आयारकुसले जाव संकिलिट्ठायारचरित्ते अप्पस्सुए अप्पागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ४ एवं पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले जाव असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बब्भागमे जहण्णेणं दसाकप्पववहारे धारे कप्पड आयरियउवज्झायत्ताए उद्देसित्तए ५ सच्चेव णं से पंचवासपरियाए निग्गंथे जाव अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ६ अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले जाव असंकिलिट्ठायारचरित्ते बहुस्सुए बब्भागमे जहण्णेणं ठाणसमवायधरे कप्पड से आसे आयरियत्ताए पवित्तित्ताए थेरत्ताए गणित्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्देसित्तए ७ सच्चेव णं अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे णो आयारकुसले जाव संकिलिट्ठायारचरित्ते अप्पसुए अप्पागमे णो कप्पइ आयरियत्ताए जाव गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए ८ । व्य० सू० ॥

सूत्रपट्कम् । अथास्य पूर्वसूत्रेण सह कः सम्बन्धस्तत आह ।

जावपलिच्छेयम्म उपरि, एसाहाए होऽस मुत्ते ।
सुयवरणे उपमाण, संगा उ हवंति जा लद्धी ॥

द्रव्यभावपरिच्छेदेनाविशेरनुज्ञातो गणं धारयति । तद्विपरीतो न धारयतीति उक्तम् । तदेव सूत्रपट्कं भावपरिच्छेदस्य परिमाणार्थं परिमाणप्रतिपादनार्थं भवति वर्त्तते । यथा चानेन सूत्रपट्केन श्रुतेन चरणे च प्रमाणमभिधीयते शेषाश्च या लब्धयः आचार्याणामुपाध्यायादीनां योग्या याभिः समन्विता आचार्यतया उपाध्यायादितया वा उद्दिश्यन्ते । ता अपि प्रतिपाद्यन्ते तत्र श्रुतपरिमाणं "जहन्नेणं आयारप्पकप्पधरे" इत्यादिनाचारित्रपरिमाणं ' तिवासपरियाए" इत्यादिना शेषपदैर्यथायोगं लब्धयः । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । त्रीणि वर्षाणि पर्याय प्रव्रज्यापर्यायो यस्य स त्रिवर्षपर्यायः । श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः । स च शाक्यादिरपि भवति । ततस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह । निर्ग्रन्थः निर्गता ग्रन्थात् द्रव्यतः सुवर्णादिरूपाद् भावतो मिथ्यात्वादिलक्षणादिति निर्ग्रन्थः । आचारकुशलः ज्ञानादिपञ्चविधाचारकुशलः । तत्र कुशल इति द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र यः कुश दर्भं दात्रेण तथा लुनाति न क्वचिदपि दात्रेण छिद्यते स द्रव्यकुशलः । यः पुनः पञ्चविधेनाचारेण दात्रकल्पेन कर्म कुश लुनाति स भावकुशलः तत्रैव समासः आचारेण ज्ञानाद्याचारेण कर्मकुशलः कर्मच्छेदकः आचारकुशलः आचारविषये सम्यक् परिज्ञानवान् इति तात्पर्यार्थः । अन्यथा तेन कर्मकुशच्छेदकत्वानुपपत्तेः । एवं सर्वत्र भावनीयम् । संयम सप्तदशविधं यो जानात्येव स संयमकुशलः समासभावना सर्वत्र तथैव । अथवा यः कुशं लुनन् कचिद्दात्रेणाच्छिद्यते स लोके तत्त्वतः कुशलो नास्तीति न कुशलशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्त दक्षत्वं तच्च यत्रास्ति तत्र कुशलशब्दोऽपि प्रवर्तते इति दक्षवाची कुशलशब्दस्तत एव समासः । आचारे ज्ञातव्ये प्रयोक्तव्ये वा कुशलो दक्ष आचारकुशलः ॥ एवं संयमकुशलः प्रवचने ज्ञातव्ये कुशल प्रवचनकुशलः । प्रज्ञप्तिर्नाम स्वसमयपरसमयप्ररूपणा तत्र कुशलः । संग्रहणं संग्रहः । स द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत आहारोपध्यादीनाम् । भावतः सूत्रार्थयोः तयोर्द्विविधेऽपि संग्रहे कुशल । उप सामीप्येन ग्रह सोऽपि द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र येषामाचार्य उपाध्याया वा न विद्यन्ते तान् आत्मसमीपे समानीय तेषामभिन्नवं दिग बुद्ध्वा तावद्धारयति यावन्निष्पाद्यन्ते एष द्रव्यत उपसग्रह ग्रहउपादाने इति वचनात् य पुनरविशेषेण सर्वेषामुपकारे वर्तते स भावतः उपग्रहः । अक्षताचारता परिपूर्णाचारता च चारित्रे सति भवति । चारित्रवता नियमतः शेषाश्चान्वारोऽ प्याचारा सेव्या चारित्रवतः चारित्रस्यादानेनेति वचनात् । तत्तश्चारित्रवानित्युक्तं स्तव्यम् । तत्कोऽयमर्थ आचारकुशलत्व तेनोपात्त इति किमर्थमस्योपादानमुच्यते चारित्रं खलु प्रधान मोक्षाङ्गं तदपि कदाचित् नोकमिति तदाशङ्काव्युदासार्थमित्यदोषः । तथा अशबलो यस्य सितासितवर्णो एतवलीवर्द इव न कर्बुर आचारो विनयशिष्यभाषागोचरादिको यस्यासावशबलाचारः । तथा अभिन्नेन केनचिदत्यनीचारविशेषेण खण्डित आचारो ज्ञानाचारादिको यस्यासावभिन्नाचारः । तथा असंक्लिष्ट इह परलोकाशंसारूपसंक्लेशविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्लिष्टाचारः । तथा बहु श्रुत सूत्र यस्यासौ बहुश्रुतः । तथा बहुरागमोऽर्थरूपो यस्य स बह्वागमः । जघन्यतः आचारप्रकल्पधरो निशीथाध्ययनसूत्रार्थधर इत्यर्थः जघन्यत आचारप्रकल्पग्रहणादुत्कर्षतो द्वादशाङ्गविदिति द्रष्टव्यम् । स कल्पते यो भवत्युपाध्यायतयोद्देष्टुमिति प्रथमसूत्रार्थः । (सच्चेव णं से ति यो वासेत्यादि) सेशब्दोऽथशब्दार्थे । अथ स एव त्रिवर्षपर्याय श्रमणो निर्ग्रन्थो नो आचारकुशल इत्यादि पूर्वव्याख्यानं सुगमतरम् । एवं द्वे सूत्रे पञ्चवर्षपर्यायस्याचार्योपाध्यायत्वो द्देशविषये भावनीये नवरं तत्र उत्कर्षेण दशाकल्पव्यवहारधर इति वक्तव्यम् । ४ । एवमेवाष्टवर्षपर्यायस्याचार्योपाध्याय-

गणावच्छेदित्वोद्देशविषये द्वे सूत्रे व्याख्येये केवल तत्र जघन्येन स्थानसामाचार्यां गण इति वाच्य शेष तथैव । एष सूत्रषट्कस्य सक्षेपार्थ. । अधुना निर्युक्तिविस्तरः । तत्र तावत्सर्वेषामेव सूत्रपदानां सामान्येन व्याख्यां चिकीर्षुरिदमाह । भाष्यकृत् ॥

एक्कारसंगसुत्तत्थ-धारया नवमपुव्वकडजोगी ।
बहुसुय बहुआगमिया, सुत्तत्थविसारया धीरा ॥
एयगुणोववेया, सुयनिघसा णायगामहाणस्स ।
आयरियउवज्झाय-पवत्तिथेरा अणुन्नाया ॥

एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थमवधारयन्तीत्येकादशाङ्गसूत्रधारका (नवमपुव्वत्ति) अत्रापि सूत्रधारका इति सबध्यते नवमपूर्वग्रहण च शेषपूर्वाणामुपलक्षण ततोऽयमर्थ समस्तपूर्वसूत्रधारका' तथा सूत्रोपदेशेन मोक्षाविरोधीकृता न्यस्तो योगो मनोवाक्कायव्यापारात्मक सकृतयोग स येषामस्ति ते कृतयोगिन' । बहुश्रुता. प्रकीर्णकानामपि सूत्रार्थधारणात् इह पूर्वधरा अपि तुल्येऽपि च सूत्रे मतिवैचित्र्यतोऽर्थागममपेक्ष्य षट्स्थानपतितास्तत. प्रभूतावगमप्रतिपादनार्थमाह । बह्वागमा. बहु प्रभूत आगमो येषां ते तथा एतदेवाह । सूत्रार्थाविशारदा. तत्कालापेक्षया सूत्रेऽर्थे च विशारदा' तथा धिया औत्पत्तिक्यादिरूपया बुद्ध्या राजन्ते इति धीरा " एतद्गुणोपपेता इत्यादि " येऽनन्तरगाथायामुक्ता गुणा एतैर्गुणैरुपेता एतद्गुणोपेता । श्रुत निघर्षयन्तीति श्रुतनिघर्षा' । किमुक्तं भवति यथा सुवर्णकारस्तापनिकर्षच्छेदै । सुवर्णं परीक्षते किं सुन्दरमथवाऽसुन्दरमिति । एव स्वसमयपरसमयान्परीक्षन्ते ते श्रुतनिघर्षा इति यथा नायका' स्वामिनो महाजनस्य स्वगच्छवर्त्तिनां साधूनामिति भाव । अथवा नायका ज्ञानादीनां प्रापकास्तदुपदेशलाभात् महाजनस्य समस्तस्य सघस्य इत्थभूता आचार्या उपाध्याया प्रवर्तितस्थविरा उपलक्षणमेतद्गणावच्छेदिनश्चानुज्ञाता तदेव सामान्यत' सर्वसूत्रपदानामर्थो व्याख्यात । सम्प्रत्येकैकस्य सूत्रपदस्यार्थो वक्तव्यस्तत्र येषा पदानां वक्तव्य. तान्युपक्षिपन्नाह ॥

आयारकुसलसंजम-पवयणपण्णत्ति संगहोवग्गहे ।
अक्खुय असबलभिन्न-मंकिलिट्ठायारसंकिण्णे ॥

अत्र कुशलशब्द पूर्वार्द्धे प्रत्येक सम्बध्यते ततोऽयमर्थ. आचारकुशलशब्दस्य प्रवचनकुशलशब्दस्य प्रज्ञप्तिकुशलशब्दस्य सग्रहकुशलशब्दस्य उपग्रहशब्दकुशलस्य च (अक्खुयत्यादि) अत्राचारशब्दसपन्न प्रत्येकमभिसम्बन्धनीय. । अक्षताचारसपन्नस्य अक्षताचारशब्दसपन्नस्य अक्षताचारस्येत्यर्थ । एवमशबलाचारसपन्न. य अभिन्नाचारसपन्नस्य सक्लिष्टाचारसपन्नस्य च व्याख्या कर्त्तव्या ॥ व्य० ॥ (कुशलशब्दव्याख्या स्वस्थाने)

सांप्रतमक्षताचारादिपदाना सामान्येन व्याख्यानमाह ।

आहाकम्मुद्देसिय, ठविय रइय कीय कारियं छेज्जं ।
उब्भिण्णा हडमाले, वणीमगाजीवण निकाए ।
परिहरति असणं पाणं, सेज्जोवहिं पूति सकियं मीसं ।
अक्खुयमभिन्नमसं-किलिट्ठ वासए जुत्तो ।

आधाकर्मिक यन्मूलत एव साधूना कृते कृतम् औद्देसिकमुद्दिष्टादिभेदभिन्न, स्थापित यत्स्वयतार्थ स्वस्थाने परस्थाने वा स्थापित, रचित नाम सयतनिमित्त कांस्यपात्र्यादौ मध्ये भक्त निवेश्य पार्श्वेषु व्यञ्जनानि बहुविधानि स्थाप्यन्ते । तथा क्रीतेन कारितमुत्पादित क्रीतकारितम् आच्छेद्य यत् भृतकादिभ्यस्त्वमाच्छिद्य दीयते । उद्भिन्न यत्कुतपादिमुख स्थगितमप्युच्छिद्य ददाति । आहृत स्वग्रामाधाहृतादि (मालत्ति) मालापहृत वनीपकीभूय पिण्ड उत्पाद्यते स पिण्डोऽपि वनीपकः । आजीवन यदाहारशय्यादिक जात्याद्याजीवनेनोत्पादित (निकायत्ति) मम एतावद्दातव्यमिति निकाचितम् एतानि योऽशनपानादिशय्योपधीश्च परिहरति तथा पूतिकं शङ्कित मिश्रमुपलक्षणमेतदध्यवपूरकादिक च यश्चान्नत्रयके युक्त सोऽक्षताचार अभिन्नाचारः सक्लिष्टाचार. । तत्र स्थापितादिपरिहारी अक्षताचार । अन्याहृतादिपरिहारी अशबलाचार' जात्योपजीवनादि परिहरन् अभिन्नाचार । सकलदोषपरिहारी असक्लिष्ट. । सम्प्रति लाघवाय द्वितीयसूत्रगतानि अक्षताचारादीनि पदानि व्याख्यानयति ॥

ओसन्नखुयायारो, सबलायारो य होइ पासत्थो ।
भिन्नायारकुसीलो, संसत्तो संकिलिट्ठो उ ।

अवसन्न आवश्यकादिष्वनुद्यम कृताचार । तथा पार्श्वस्थोऽन्योऽन्यादिभोजी शबलाचार. । कुशीलो जात्याजीवनादिपरो भिन्नाचार. ससक्तः ससर्गवशात्स्थापितादिभोजी । सक्लिष्ट. सक्लिष्टाचार. । समत्याचारप्रकल्पधर इति पद व्याख्यानयति ।

।..वहो य पकप्पधरो, सुत्ते अत्थेय तदुभये चेव ।
सुत्तधरवज्जियाणं, तिगदुगपरिवड्ढणा गच्छे ॥

त्रिविध खलु प्रकल्पधरस्तथा सूत्रे सूत्रतः अर्थत. तदुभयतश्च । इयमत्र भावना । आचारप्रकल्पधारिणां चत्वारो भङ्गास्तद्यथा सूत्रधरोऽर्थधर अर्थधरो न सूत्रधर सूत्रधरो नार्थधरः सूत्रधरो नाप्यर्थधर ४ अत्र चतुर्थो भङ्ग. शून्य । तत्त्रयविकलतया आचारप्रकल्पधारित्वविशेषणासमवात् । आद्यानां त्रयाणां भङ्गानां मध्ये तृतीय भङ्गवर्त्ती स गणे उद्दिश्यते । यत' स सूत्रधारितया गच्छे गच्छस्य परिवर्द्धको भवति तदभावे द्वितीयभङ्गवर्त्यपि तस्याप्यर्थधारितया सम्यक्परिवर्द्धकत्वात् चाद्यभङ्गवर्त्ती तथा-चाह । सूत्रधरवर्जितानामाचारप्रकल्पितानां गच्छे सम्यक् परिवर्द्धनात्रिकं तृतीयभङ्गे च ततस्त एवोपाध्याया. स्थाप्या न प्रथमभङ्गवर्त्तिन । एव दशाकल्पव्यवहारधरादिपदानामपि व्याख्या कर्त्तव्या ॥

अत्र पर आह ॥

पुव्वं वसे ऊणं, दीहं परियायसंघयणसद्धे ।
दसपुव्विए य धीरे, मज्जार पभियपरूवणया ॥

ननु पूर्वमाचार्यपदयोग्यस्य दीर्घे पर्यायो वर्णित सहनन चातिविशिष्ट श्रद्धा च प्रवचनविषयाऽत्युत्तमा आगमतश्चाचार्यपदयोग्या जघन्यतोऽपिदशपूर्विकास्तथा धरा बुद्धिचतुष्टयेन विराजमाना तत एव पूर्वं वर्णयित्वा यदेवमिदानीं प्ररूप्यते यथा त्रिवर्षपर्याय आचारप्रकल्पधर उपाध्याय स्थाप्यते, पञ्चवर्षपर्यायदशाकल्पव्यवहारधर इत्यादि । सैषा प्ररूपणा मार्जारादि न कल्पा । यथाहि मार्जार पूर्वं महता शब्देनारटति पश्चादेव शनै. शनैरारटति । यथा स्वयमपि श्रोतु न शक्नोत्येव त्वमपि पूर्वमुच्चैः शब्दितवान् । पश्चाच्छनैरिति सूरिराह । सत्यमेतत् केवल यत्पूर्वमुक्तं तद्यथोक्तन्यायमङ्गीकृत्य सम्प्रति पुन कालानुरूपं प्रज्ञाप्यते इत्यदोषस्तथाचात्र पुष्करिण्यादौ यौ दृष्टान्तौ तावेवाह ॥

पुक्खरिणी आयारे, आणयणा तेणगा य गीयत्थे ।
आयारम्मि उ एए, आहरणा होंति नायव्वा ॥

पुष्करिणी वापी आचार आचारप्रकल्पस्य आनयन स्तेनकाश्चौ-

रा गीतार्थो एतानि चत्वार्याहरणानि दृष्टान्याचार्येण ज्ञातव्यानि इमानि च ॥

सत्थपरिण्णाछक्काय-अहिगमपिंमउत्तरज्झयणं ।

रुक्खेयवसजगावो, गोहा सोही य पुक्खरिणी ॥

शस्त्रपरिज्ञा षट्कायाधिगमः षड्जीवनिका इदमेकमुदाहरणं पिण्डः उत्तराध्ययन उत्तराध्ययनानि वृक्षाः कल्पद्रुमादयः वृषभा बलीवर्दाः गावः गोधा शोधिः अत्र दृष्टान्त पुष्करिणी च सर्वसंख्यया त्रयोदश आहरणानि ॥

एतानि व्याचिख्यासुः प्रथमतः पुष्करिण्याहरणं भावयति ॥

पुक्खरिणीतो पुव्विं, जारिसया जएह तारिसा एण्हिं ।

तहवि य ता पुक्खरिणी, ता हवंति कज्जइ कीरंति ॥

पूर्वं सुषमसुषमाकाले यादृशाः पुष्करिण्यो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ पर्यन्ते इदानीं न तादृश्यस्तथापि च न ता अपि पुष्करिण्यो भवन्ति कार्याणि च तानि क्रियन्ते । आचारप्रकल्पानयनादरणमाह ।

आयारपकप्पो उ, नवमे पुव्वम्मि आसि सोधी य ।

तत्तो च्चिय निज्जूढो, इहाणि य तो किं न सुद्धि भवे ॥

आचारप्रकल्पः पूर्वं नवमे पूर्वे आसीत् । शोधिश्च ततोऽभवत् । इदानीं पुनरिहाचाराङ्गे तत एव नवमात्रियूढानीतः ततः किमेष आचारप्रकल्पो न भवति किं वा ततः शोधिर्नोपजायते । एषोऽप्याचारप्रकल्पः । शोधिश्चास्मादवशिष्टा भवतीति भावः । अधुनास्तेनकदृष्टान्तभावनार्थमाह ॥

तालुग्घाडिणि ओमो-वणादिविज्जाहिं तेणगा आसि ।

इण्हिं ते उ न संती, तहा वि किं तेणगा न खलु ॥

पूर्वं स्तेनकाश्चौरा विजयप्रभवादयस्तालोद्घाटिन्यवस्वापिन्यादिभिरुपेता आसीरन् ताश्च विद्या इदानीं न सन्ति । तथापि किं खलु ते न भवन्ति भवन्त्येव तैरपि परद्रव्यापहरणादिति भावः । अधुना गीतार्थदृष्टान्तं भावयति ।

पुव्विं चउदसपुव्वी, इण्हिं जहन्नो पकप्पधारीओ ।

मज्झिमगपकप्पधारी, जह सो उ न होइ गीयत्थो ॥

पूर्वं गीतार्थश्चतुर्दशपूर्वी अभवत् । इदानीं स किं गीतार्थो जघन्यः प्रकल्पधारी न भवति भवत्येवेति भावः । शस्त्रपरिज्ञादृष्टान्तमाह

पुव्विं सत्थपरिण्णा, अधीयपढिया य होउ उट्ठवणा ।

इण्हिं छज्जीवणिया, किं सा उ न होउ उट्ठवणा ॥

पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचाराङ्गान्तर्गतायामधीतायामर्थतो ज्ञातायां पठितायां सूत्रत उपस्थापना अभूदिदानीं पुनः सा उपस्थापना षड्जीवनिकायां दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठितायां च न भवति । भवत्येवेत्यर्थः । पिण्डदृष्टान्तभावनामाह ।

बितितम्मि बंभचेरे, पंचम उद्देस आमगंधम्मि ।

सुत्तम्मि पिंडकप्पि, इह पुण पिंडेसणाएओ ॥

पूर्वमाचाराङ्गान्तर्गते लोकविजयनाम्नि द्वितीयेऽध्ययने यो ब्रह्मचर्याख्य पञ्चम उद्देशकस्तस्मिन् यदामगन्धिसूत्रम् । "सव्वामगंध परिण्णाय निरामगंधं परिव्वए इति" तस्मिन् सूत्रतोऽर्थतश्चाधीते पिण्डकल्पी आसीत् । इह इदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गताया पिण्डैषणायामपि सूत्रोऽर्थतश्चाधीताया पिण्डकल्पिकः क्रियते सोऽपि च भवति तादृश इति उत्तराध्ययने दृष्टान्तं भावयति ।

आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु ।

दसवेयालियउवरिं, इयाणि किं ते न होंती उ ॥

पूर्वमुत्तराध्ययनानि आचारस्याचाराङ्गस्योपर्यासीरन् । इदानीं दशवैकालिकस्योपरि पठितव्यानि किं तानि तथा रूपाणि न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः । वृक्षदृष्टान्तभावनामाह ।

मत्तंगादी तरुवर, न संति इण्हिं न होंति किं रुक्खा ।

महजूहाहिव दप्पिय, पुव्विं वसभाण पुण इण्हिं ॥

पूर्वं सुषमसुषमादिकाले मत्ताङ्गादयो दशविधास्तरुवराः कल्पद्रुमा आसीरन् इदानीं ते न सन्ति किं तदन्ये चूतादयस्ततः किं ते वृक्षा न भवन्ति तेऽपि वृक्षा भवन्तीति भावः । वृषभदृष्टान्तमाह । (महजूहाहिवेत्यादि) पूर्वं वृषभा महायूथाधिपा दर्पिकाः श्वेताः सुजाताः सुविभक्तशृङ्गा आसीरन् इदानीं ते तथाभूता न सन्ति किंतु पञ्चदशादि गोसंख्यातास्ततः किं ते यूथा न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः । अधुना गोदृष्टान्तभावनार्थमाह ॥

पुव्विं कोडीबद्धा, जूहाओ नंदगोवमाईणं ।

इण्हिं न संति ताइं, किं जूहाइं न हुंती उ ॥

पूर्वं नन्दगोपादीनां गवां यूथाः कोटीबद्धाः कोटीसंख्याका आसीरन् इदानीं ते तथाभूता न सन्ति किं तु पञ्चदशादि गोसंख्याकास्ततः किं ते यूथा न भवन्ति किंतु भवन्त्येवेति । अधुना योधदृष्टान्तभावनमाह ॥

साहस्सी मल्ला खलु, महपाणा पुव्विं आसि जोहा उ ।

ते तुल्ल नत्थि एण्हिं, किं ते जोहा न होंती तो ॥

पूर्वं योधा महाप्राणाः सहस्रमल्ला आसीरन् इदानीं तेषां तुल्या न सन्ति किंत्वमी ततो हीनास्ततः किं ते योधा न भवन्ति भवन्त्येव कालौचित्येन तेषामपि योधकार्यकरणादिति भावः । शोधिदृष्टान्तमाह ॥

पुव्विं छम्मासेहिं, स होउ परिहारेण सोही उ ।

इण्हिं निव्वियाहिं, पंचकल्लाणगाईहिं ॥

पूर्वं षड्भिर्मासैः परिहारेण वा परिहारतपसा वा शोधिरासीत् इदानीं निर्विकृतिकादिभिरपि च शोधिः पञ्चकल्याणकदशकल्याणकादिमात्रप्रायश्चित्तदानव्यवहारात शोधिविषय एव । पुष्करिणीदृष्टान्तमाह ॥

किंव पुण एव सोही, जह पुव्विल्ला सुपच्छिमा सुं च ।

पुक्खरिणीसुं वत्था, इयाणि सुज्झंति तह सोही ॥

किं केन प्रकारेण पुनरत्राधुना एव निर्विकृतिकादिमात्रेण शोधिर्भवति । सूरिराह । यथा पूर्वोक्तसु च पूर्वकालभाविनीषु (पुष्करिणीषु) प्रभूतजलपरिपूर्णासु वस्त्राणि शुध्यन्तिस्म एव पश्चिमास्वप्यधुनातनकालभाविनीषु शुध्यन्ति तथा शोधिरपि पूर्वमिवदानीमपि भवतीति एव दृष्टान्तानभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह ॥

आयरियादिचोद्दस, पुव्वादि आसि पुव्विं तु ।

एवं जुवाणरूवा, आयरिया हुंति नायव्वा ॥

एवमन्तरोदितदृष्टान्तकदम्बकप्रकारेण यद्यपि पूर्वमाचार्यादयश्चतुर्दश पूर्वादयश्चतुर्दशपूर्वधरादय आसीरन् तथापीदानीमाचार्या उपलक्षणमेतत् उपाध्यायाश्च युगानुरूपा द्वादशकल्पयव हारधरादयस्तपोनियमस्वाध्यायादियुक्ता द्रव्यक्षेत्रकालभावाचितयतनापरायणा भवन्ति ज्ञातव्या । सम्प्रति यावत्पर्यायस्य यावन्ति स्थानानि सूत्रेणानुज्ञातानि तस्य तावन्त्यसंमोहार्थमुपदर्शयिषुराह ॥

तिवरिसएगट्ठाणं, दोतियट्ठाणा उ पंचवरिसस्स ।

सव्वाणि विकिट्ठो पुण, जोढुं वा एति ठाणाइं ।

त्रिघर्षे त्रिवर्षपर्यायस्य एकमेवोपाध्यायलक्षण स्थानमनुज्ञात न द्वितीयमाचार्यत्वलक्षणमपि तस्याल्पपर्यायतया प्रभूतखेद सहिष्णुत्वाभावेनाचार्यपदयोग्यताया अभावात् । पञ्चवर्ष-स्य पञ्चवर्षपर्यायस्य द्वे स्थाने अनुज्ञाते तद्यथा उपाध्याय-त्वमाचार्यत्वबहुवर्षवर्षपर्यायतया खेदसहतरत्वाविकृष्टोष्टवर्ष पर्याय पुन सर्वाण्यपि स्थानानि वोढु सक्नोति बहुतम-वर्षपर्यायत्वात् ततस्तस्य सूत्रेणोपाध्यायत्वमाचार्यत्व गणित्व प्रवर्तित्व स्थविरत्व गणावच्छेदित्व वाऽनुज्ञातम् । अथ कथ सर्वाणि यथोक्तानि स्थानानि वोढु शक्नोति तत आह ।

नो इंदियाण य कालेण, जायाणि तस्स दीहेण ।
कायव्वेसु बहूसु य, अप्पा खलु भावितो तेण ॥

तस्य अष्टवर्षपर्यायस्य दीर्घेणाष्टवर्षप्रमाणेन इन्द्रियनोइन्द्रि याणि जातानि भवन्ति कर्त्तव्येषु च बहुष्वात्मा खलु तेन भावि-तो भवति ततो योग्यत्वात्सर्वाण्यपि स्थानानि तस्यानुज्ञातानि।

निरुद्धपर्य्यायस्तद्दिवसमुद्देष्टु कल्पते ॥

(सूत्रम्) निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ तद्दिवसस्स आयरियत्ताए उद्दिसित्तए से किमाहु भंते ? अत्थि ण थेराण तहारूवाइं कुलाइं कडाइं पत्तियाइं थिज्जाइं वेसासियाइं संमयाइं समुइकराइं अणुमयाइं बहुमयाइं भवंति । तेहिं कडेहिं तेहिं पत्तिएहिं थिज्जेहिं तेहिं विसासीएहिं समुइकरे-हिं जेसे निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ आयरिय उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं ॥ व्य० ३ उ०

अथास्य सूत्रस्य क सम्बन्ध उच्यते ।

उस्सग्गस्स ववादो, होति विवक्खो उ तेणिमं सुत्तं ।
नियमेण विगिट्ठो पुण, तस्सासी पुव्वपरियातो ॥

इहोत्सर्गस्य विपक्षप्रतिपक्षो भवत्यपवादस्तेन कारणेन "तिवरिसपरियाए समणे निग्गंथे इत्यादि" रूपस्योत्सर्ग-स्येदमपवादभूत सूत्रमुच्यते । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । निरुद्धो विनाशित पर्यायोऽस्य स निरुद्धपर्याय. । श्रमणो निर्ग्रन्थ कल्पते युज्यते तद्दिवस यस्मिन् दिवसे प्रव्र-ज्यार्थं प्रतिपन्नवान् तस्मिन्नेव दिवसे पूर्वपर्याय पुनस्तस्य प्रभूततर आसीत् । तथाचाह । (नियमेणेत्यादि) नियमेन तस्य पूर्वपर्यायो विकृष्टो विंशति वर्षाण्यासीत् ततस्तद्दिवस कल्पते । आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् । अत्र शिष्य प्राह । (से किमाहु ? भंते !) स शब्दोऽथ शब्दार्थे । अथ किं कस्मात् कारणात् भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! भगवन्त एवमाहु-र्यथा तद्दिवसमेव कल्पते आचार्योपाध्याययोरुद्देष्टु न खलु प्र-व्रजितमात्रस्याचार्यत्वादीन्यारोप्यमाणानियुक्तान्यगीतार्थत्वा-त् अत्र सूरिराह । (अत्थि णमित्यादि) अस्तीति निपातो निपातत्वाच्च बहुवचनेऽप्यविरुद्धस्ततोऽयमर्थ सन्ति विद्यन्ते णमिति वाक्यालकारे स्थविराणामाचार्याणा तथा रूपाणि आचार्यादिप्रायोग्यानि कुलानि तेन कृतानि गच्छप्रायोग्यत-या निर्वर्त्तितानीत्यर्थ । येन यथा काल तेभ्य आचार्यादिप्रा-योग्य भक्तमुपधिश्चोपजायते । उपलक्षणमेतत् तेन केवल तथा रूपाणि कुलानि कृतानि किंत्वाचार्यबालवृद्धग्लानादयोऽपि अनेकधा सग्रहोपग्रहविषयी कृता इति द्रष्टव्य न केवल कुला-नि तथारूपमात्राणि कृतानि किं तु (पत्तियाणित्ति) प्रीति-कराणि वैनयिकानि कृतानि (थेज्जाणित्ति) स्थेयानि प्री-तिकरतया गच्छचिन्ताया प्रमाणभूतानि । अथवा स्थिया-नीति किमुक्त भवति । नैक द्वौ वा वारौ प्रीतिकरणा कृतानि किंत्वनेकश इति (वेसासियाणित्ति) आत्मना-न्येषां गच्छवासिनां मायारहितीकृततया विश्वासस्थानानि कृतानि विश्वासे भवानि योग्यानि वैश्वासिकानीति स-त्पत्त अत एव सम्मतानि तेषु तेषु प्रयोजनेष्विष्टानि समुदि कराणि अविषमत्वेन प्रयोजनकारीणि ।सोपि च बहुशो विग्रहे षु समुत्पन्नेषु गणस्य समुदितमकार्षीत् । समुदिकृततया इष्टे च प्रयोजनष्वनुकलेयन मतान्यनुमतानि । तया बहूना विखर्व जरूवर्जाना सर्वेषामित्यर्थ । मतानि बहुमनानि भवन्ति तिष्ठनि शुभ्रं तस्य स्यादिद रूप ततो यद्यस्मात्तेषु कुलेषु तथारूपेषु कृते प्रीतिकरेषु एव तेषु स्थेयेषु तेषु वैश्वासिकेषु तेषु समुदिकरष्वि त्यपि भावनीयम् स श्रमणो निर्ग्रन्थो निरुद्धपर्यायाऽभवत् ते कारणे न सकल्पते आचार्यतया उपाध्यायतया वा उद्देष्टु त द्दिवसमिति । एव सूत्रसक्षेपार्थ । व्यासार्थ तु भाष्यकृद्विवृ प्रथमत (सेकिमाहुभंतेऽत्यादि) एतस्येद व्याख्यानयति ।

चोरएयतिवासादी, पुव्वं वन्नेउं दीहपरियागं ।
तद्दिवसमेव इच्छह, आयरियादीणि किं देह ॥

चोदयति प्रश्नयति परो यथापूर्वं त्रिवर्षादिकं दीर्घं पर्याय व-र्णयित्वा किमिदानीं तद्दिवसमेव । आचार्यादीनि भावप्रधानोऽय निर्देश आचार्यत्वादीनि दत्थ । अत्र सूरिराह ।

भण्णति तेहिं कायाइ, वेहियाणं तु उवहिं भत्ताई ।
गुरुबालासहुमादी, अणेगकारेहु वज्जिया ॥

भण्यते अत्रोत्तर दीयते तैराचार्यादिपदयोग्यैर्वैनयिकाना वि नयमर्हन्तीति वैनयिका आचार्यादय तेषा कृतान्युत्पादितानि । उपधिभक्तानि । किमुक्त भवति । तथारूपाणि स्थविराणा तै-र्वैनयिकानि कुलानि कृतानि येन तेभ्यो यथाकालमुपधिर्भक्त चोपजायते इति।एतेन "अत्थिण थेराण तयारूपाणि कडाणीति" व्याख्यातम् । न केवल तैस्तथारूपाणि कुलानि कृतानि किं तु गुरुबालसहोदरादय आदिशब्दात् वृद्धग्लानादिपरिग्रह ।अनेक-प्रकारैरुपगृहीता. सग्रहोपग्रहाभ्यामुपष्टम्भं नीता "पत्तियाणी-त्ति" सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातम् तच्चेत्यत्र द्वितीय व्याख्यानमाह

ताइं पीतिकराइं, असई दुव्वसि होसि थेज्जाणि ।
सकियअणवेक्खाए, जिम्हजढा ईति विसमंभो ॥

अथ वेति प्रतीन प्रथमव्याख्यानापेक्षया व्याख्यानान्तरोपदर्शने स्थेयानीति किंत्वसकृदिति। तथा वैश्वासिकानीति कोऽर्थ अन-पेक्षया स्वपरविशेषाकरणेन प्रभूततराणा सचिताङ्गेनेत्यर्थ । वेष्याणि विशेषत एषणीयान्यभिलषनीयानि कृतानि यतस्तानि जिह्मजढानि जिह्म मायया रहितानि कृतानीति तेषु विश्रम्भो विश्रम-स्थानत्वास्वाद्यप्यपेक्ष्याणीति समुइकराणीति व्याख्यानार्थमाह ।

मव्वत्थ अविसमत्ते, ण कारगो होइ संमुदी नियमा ।
बहुसो य विग्गहेसुं, अकासि गणसम्मुदिं सो उ ॥

सर्वत्र सर्वेषु प्रयोजनेषु यो नियमादविषमत्वेनाकुटिलतया का-रको भवति (सम्मुदित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् समुदिकर तान्यपि कुलानि तेन तथारूपाणि कृतानि न केवल तेन कुलानि समुदिकराणि कृतानि । किंतु सोऽपि तु शब्दोऽपि-शब्दार्थे । बहुशो बहुभि प्रकारैर्विग्रहेषु समुत्पन्नेषु तदुपशम-नतो गणस्य गच्छस्य सम्मुदिमकार्षीत् शेषाणि तु पदानि सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातानि ॥

थिरपरिचियपुव्वसुतो, सरीरयामावहारविजढो उ ।

पुव्विं विणीयकरणो, करेइ सुत्तं सफलमेयं ॥

थिरो नाम अचपलः। परिचितं पूर्वस्मिन्पूर्वपर्याये श्रुतं यस्य स परिचितपूर्वश्रुतः। यदि वा प्रत्यागतस्यापि स्वाभिधानमिव परिचितं पूर्वपठितं यस्य स तथा। ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः। तथा शरीरस्य स्थानप्रापणस्तस्यापहारोऽपहापनं तेन विजढो रहितः शरीरस्थानापहाररहितः। किमुक्तं भवति। पूर्वेनेन सार्द्ध यदा धैर्यावृत्य वाचनादिषु परिहारयितमिति तथा पूर्वं पूर्वपर्याये विनीतानि विशेषतः संयमयोगेषु नीतानि करणानि मनोवाक्कायलक्षणानि येन स विनीतकरणः संयमयोगादिकं सर्वं तेन पूर्वमपरिहीनं कृतमिति भावः। य ईदृशः पूर्वमासीत्। स एतत्सूत्रं सफलं करोति। ईदृशस्य तद्दिवसमाचार्यत्वमुपाध्यायत्वं वा उद्दिश्यते न शेषस्य ततो न कश्चित्पूर्वापरविरोध इति भावः।

कह पुण तस्स निरुद्धो, परियातो होज्ज तद्दिवसतो उ।

पुव्वा कम्मावेक्खो, मणाईहिं बद्धानीतो ॥

कथं केन प्रकारेण तस्य पूर्वः पर्यायो निरुद्धः कथं तावद्दैवसिकस्तद्दिवसभावी पर्यायोऽभवत्। अत्रोत्तरमाह (पुव्वकम्मेत्यादि) स्वज्ञातिभिः स्वकीयैः स्वजनैः सापेक्षो गच्छसापेक्ष सन् बद्धानीतः सोऽभवत सर्वे सपृष्टलमभूत् एतदेव प्रपञ्चयन्नाह।

पव्वज्जअप्पपंचम, कुमारगुरुमाढिउवहिते णयणं।

निज्जं तस्स निकायण, पव्वतिते तद्दिवसपुच्छा ॥

राजा कोऽप्यमात्यपुरोहितसेनापतिश्रेष्ठिसहितो राज्यमनुशास्ति तेषामेकैकः पुत्रस्तत्र राजपुत्रो राज्ञा राजा भविष्यतीति संभावितः अमात्यपुत्रो अमात्येनामात्यत्वे पुरोहितपुत्रः पुरोहितेन पुरोहितत्वे सेनापतिपुत्रः सेनापतिना सेनापतित्वे श्रेष्ठिना श्रेष्ठित्वे तेऽपि पञ्चापि सह क्रीडन्ति। अन्यदा कुमारो राजपुत्र आत्मपञ्चमोऽमात्यपुरोहितसेनापतिश्रेष्ठिपुत्रैः सहेत्यर्थः प्रव्रज्यामगृहीत्। सर्वे च तेऽतीव बहुश्रुता जाता ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां चातिशिक्षितवन्तः कुशलानि च प्रीतिकरादिरूपाणि कृतानि। आचार्येण च ते गुर्वादयः सम्भाविताः। तद्यथा राजपुत्र आचार्यपदे अमात्यपुत्र उपाध्यायत्वे पुरोहितपुत्रः स्थविरत्वे सेनापतिपुत्रो गणित्वे श्रेष्ठिपुत्रो गणावच्छेदित्वे संभावितः राजादीनां चान्ये पुत्रा न विद्यन्ते ततस्ते सूरिसमीपमागत्य विज्ञापयन्ति यथा नयाम एतान् स्वस्थानं पश्चादेतैरेव सह समागत्य वयं प्रव्रजिष्यामः एवमुपधिना मातृस्थानेन विज्ञाप्य तेषां ते नयनमुपकरणं कुर्वन्ति। तस्य च राजकुमारस्यात्मपञ्चमस्य नीयमानस्याचार्यो निकाचनं करोति यथा सम्यक्त्वे नियमतोऽप्रमत्तेन भाव्यं अत्र शिष्यस्य पृच्छा भूयः। प्रव्रजिते सति राजकुमारादौ किमिति तद्दिवसं यस्मिन् दिवसे प्रव्रज्या प्रतिपन्ना तस्मिन्नेव दिने आचार्यादिपदस्थापनाम सोत्तरं वक्तव्यमिति भावार्थः। इति उपधिना तेषां नयनमुक्तं सम्प्रति प्रकारान्तरेणापहरणमाह।

पियरो व तावसादी, पव्वजिउमणा उ ते फुराविंत्ति।

ठविया एयादीसुं, ठाणेसुं ते जहा कमसो ॥

पितरो वा तेषां। तापसादयः तापसादिरूपतया प्रव्रजितुमनसः। तान् राजपुत्रादीन् (फुराबिंत्ति त्ति) देसीपदमेतत् अपहारयन्ति। तत्र च नीता सन्तस्ते स्वपितृभिर्यथाक्रमं राजादिषु स्थानेषु स्थापिता।

निया वि फासुभोजी, पोसहमालायपोरिसीकरणं।

धुवलोयं च करेंता, लक्खणपाढेय पुच्छंती ॥

जो तत्थ अमूढ लक्खा, रिउकाले तीए एक्कमेक्कं तु।

उप्पाएऊण सुयं, ठाविय ताहे पुणो होति ॥

नीता अपि ते राजकुमारादयः प्रासुकभोजिनः पौषधशालायां प्रतिदिवसं सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्याश्च करणं ध्रुवमवश्यं लोचं च ते कुर्वन्ति। ब्रह्मचर्यं च परिपालयन्ति। नवरं लक्षणपाठकान् दिने पृच्छन्ति। कस्या महिलाया ऋतुकाले गर्भो लगतीति एवं दृष्ट्वा यासां महिलानां लक्षणपाठका भवन्ति नयैतासामृतुकाले नियमनात् गर्भो लगिष्यतीति ततो या ऋतुकाले अमूढलक्षा ऋतुकालस्य स्वस्य ज्ञात्री तस्यामात्मीयायामेकैकं वारं गत्वा बीजं निक्षिपन्ति। एवं चात्मीयमात्मीयं पुत्रमुत्पाद्य यदा यदा यो यो स समर्थो जायते। तदा तदा तं तं स्वस्वस्थाने स्थापयित्वा पुनरागच्छन्तीति।

अणुज्जयमेगपरं, पडिवज्जिउकामथेरअसति अन्ने।

तद्दिवसमागतेसुं, ठाणेसु ठवेंति तस्सेव ॥

यस्मिन् दिवसे ते प्रत्यागतास्तस्मिन्नेव दिवसे स्थविरा आचार्या अभ्युद्यतमेकतरं विहारं जिनकल्पिकं यथालन्दकल्पविहारं वा प्रतिपत्तुकामाः स्थविरत्वात्। अन्यगणधारणेऽसमर्था ता दृशो न विद्यन्ते ततस्तद्दिवसमागतान् राजकुमारादीन् तेषाचार्यत्वादिषु स्थानेषु स्थापयन्ति " पुव्वयते दिवसपुव्वे " यदुक्तं तत्र तामेव पृच्छां भावयति।

कह दिज्जइ तस्स गणो, तद्दिवसं चेव पव्वइगस्स।

जाणइ तम्मि ठविए, होंति सुबहुगुणाउ इमे ॥

कथं तस्य राजकुमारस्य प्रव्रजितस्य तद्दिवसमेव यस्मिन् दिने प्रव्रज्या प्रतिपन्ना तस्मिन्नेव दिने गणो दीयते। अत्र सूरिराह भण्यते तस्मिन् स्थापने सुष्ठु अतिशयेन बहवो गुणा इमे वक्ष्यमाणा भवन्ति तानेवाह।

साहु विसीयमाणो, अब्भागेण्हणनिक्खउवगरणा।

ववहारइत्थियाए, वाएय अकिंचणकरे य ॥

एते गुणा हवंती, तज्जायाणं कुडुंबपरिवड्डी।

ओहाणं पि य तेसिं, अणुलोमुवसग्गतुल्लं तू ॥

साधुर्विषीदन् तान् तथाभूतान् दृष्ट्वा स्थिरो भवति। आर्यिका अपि तेषु स्वचेतसि स्थिरा उपजायन्ते (गेलण्णत्ति) ग्लानत्वे साधूनामौषधं सुलभं भवति। वैद्योऽपि तेषां प्रभावतोऽनुकूलां क्रियां करोति। यथा एते राजादिपुत्राः तेषां चामी शिष्या इति। तथा भिक्षा उपगरणमपि साधूनामतिसुलभम् (ववहारो इत्थिया) एते स्त्रिया अपहृतायास्तेषां भयतो व्यवहारो भवेत् इयमत्र भावना। काचित् रूपवती कुमारश्रमणा केनापि राज्ञा गृहीता स्यात् ततस्तेषां गतानां भयेन सा मुच्यते इति वादे च तद्गौरवात्साधवोऽपरिभूता भवन्ति (अकिंचणका-रयत्ति) योऽपि कश्चित्साधूनां प्रत्यनीकः सोऽपि तेषां राजादिकुमारप्रव्रजितानां भयतो न किञ्चित्करोति अथवा किंचनानां साधूनां यदि कथमपि केनाऽप्यर्थजाते प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत्सर्वं लोकः प्रायोऽप्रार्थित एव करोति। तदेवमेते अनन्तरोदिता गुणास्तज्जातानां राजादिजातीयानां यतोऽतस्ते निरुद्धपर्याया प्रत्यागता प्रव्राजितास्तद्दिवसं एवाचार्यादिपदेषु स्थाप्यन्ते। अयं च गुणः कुटुम्बपरिवृद्धिस्तथाहि यदि नामैते तथाभूता राज्यादिकमपहाय धर्मे समाचरन्ति ततः किं तेषु तुच्छेषु भोगोपभोगेषु इत्यन्येऽपि संयमे निष्क्रमन्ति ततो भवति गच्छस्य महती वृद्धिः।

एतेषामवधानमुत्प्रव्राजनं तदप्यनुलोमोपसर्गतुल्यम्। किमुक्तं भवति। यथा कस्याऽपि साधोः कश्चिदनुलोमान् उपसर्गान् प्रकृतवान् सचैव चिन्तयति। यदि परमनेनोपायेनाहं मुच्ये नान्यथा ततः एव विचिन्त्याशठभावं सपरिसेवते स च तथाकृतपरिसेवनोऽप्यशठभाव इत्यखण्डचारित्र इति व्यवह्रियते ॥ एवमेतेऽप्यखण्डचारित्रा एव तत्वतो मन्तव्याः एतदेव लेशतो व्याख्यानयन्नाह।

साहूणं अज्जाण य, विसीयमाणा ण हौंति थिरकरणं।
जइ एरिसा वि धम्मं, करेंति अम्हं किमंग पुण ॥

साधूनामार्यिकाणां च विषीदतां स्थिरकरणं भवति। तथा हि केचित्साधवो भोगेषु विषीदन्तस्तान् दृष्ट्वा एव चिन्तयन्ति। यदि तावदीदृशा अपि विपुलराज्यादिका अमी देवकुमारिकाः प्रव्र्याभिरपि निजमहिलाभिरुपसर्ग्यमाणा धर्मं कुर्वन्ते न पुनर्निजं ब्रह्मचर्यं भ्रंशितवन्तोऽत एव ते तद्दिवसं एवाचार्यादिपदेषु स्थापिता किमङ्गपुनरस्माभिः सुतरां धर्मं समाचरणीयम्। विभवादिपरिभ्रष्टत्वादिति। आर्यिका अपि चिन्तयति। यदि तावदीदृशाः खल्वस्माकं बान्धवाः सपत्नाः कथममन्दपुण्या एतेषां सुखमपि निरीक्ष्यन्ते न सीदन्ति खल्वेनादृशधीरपुरुषपरिगृहीता आर्यिका केवलमपरिभूता सदा वर्त्तन्ते ॥

किंच तत्थ ठविएसु, लोगो नयं गौरवं करेति।
गेलसोमहिमाई, सुलभं उवकरण भत्तादी ॥

किं च तत्र तेषु राजकुमारादिष्वाचार्यादिपदेषु स्थापितेषु लोको भयं गौरवं बहुमानं च कुर्वते। ग्लानत्वे भवत्यौषधादिकं सुलभमुपकरणभक्तादि च।

संजतिमादीगहणे, ववहारे होइ दुप्पधंसो उ।
तगारत्ता उ वादे, हवंति अपराजिया चेव ॥

संजत्यादीनामादिशब्दात् तथाविधक्षुल्लकादिपरिग्रहः। ग्रहणे अपहारे भवत्यसौ राजकुमारादिर्दुष्प्रधृष्यः। तथा तद्गौरवात् वादे भवन्ति साधवोऽपराजिता एव।

पडिणीयाअकिंचिकरा, हौंति अवत्तव्वो अट्ठजाए य।
तज्जायदिक्खिएण, होइ विवड्ढी वि य गणस्स ॥

प्रत्यनीका अकिञ्चित्करा भवन्ति अर्थजाते च समुत्पन्ने कश्चिदपि वक्तव्यो न भवति। किंतु सर्वोऽप्यप्रार्थित एव यथौचित्यं करोति। तथा तेन तज्जातेन राजादिजातेन तद्दिवस एवाचार्यादिपदस्थापितेन गणस्य गच्छस्य वृद्धिर्भवति। शेषं सुप्रतीतत्वान्न व्याख्यातम्।

(सूत्रम्) निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गंथे आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए समुत्थे य कप्पति, तस्स णं कप्पस्स देसे अभिज्जिए भवंति से आहिज्जिस्सामिति आहिज्जिज्जा एवं से कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए से य आहिज्जे सामित्ति णो अहिज्जा आ एवं से नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए १०।

निरुद्धवासपरियाए समणे निग्गंथे इत्यादि अस्य सम्बन्धमाह

अपवदिए तु निरुद्धं, आयरियत्तं तु पुव्वपरियाए।
इमतो पुण अववातो, असमत्तसुयस्स तरुणस्स ॥

निरुद्धे। विनाशिते पूर्वपर्याये सत्याचार्यत्वमपवदितुं प्रव्रज्यादिवस एवाचार्यत्वमनुज्ञातुमनन्तरसूत्रेऽयमनेन सूत्रेणाभिधीयमानः पुनरपवादोऽसमाप्तश्रुतस्य तरुणस्य। किमुक्तं भवत्यल्पविपर्ययपर्यायस्यासमासश्रुतस्यापि चापवादतो गणधरत्वमनुज्ञायते ततोऽनेनाप्यपवादोऽभिधानतो भवति पूर्वसूत्रेणास्य सम्बन्धः। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या निरुद्धो विनाशितो वर्षपर्यायो यस्य स निरुद्धवर्षपर्यायः। एतदुक्तं भवति। त्रिषु वर्षेषु परिपूर्णेषु यस्य निरुद्धः पूर्वपर्यायो यदि वा पूर्णे त्रिवर्षे समाप्तश्रुतस्य निरुद्धवर्षपर्याय इति। श्रमणो निर्ग्रन्थः कल्पते आचार्योपाध्यायतया। आचार्यतया उपाध्यायतया वा उद्देष्टुमित्याह समुच्छेदकल्पे आचार्ये कालगते अन्यस्मिंश्च बहुश्रुते लक्षणसंपूर्णेऽसति तस्य च आचार्यतया उपाध्यायतया उद्देष्टुमपि तस्य आचारप्रकल्पस्य निशीथाध्ययनस्य देशोऽधीतो भवति सूत्रमधीतमर्थोऽद्यापि नाधीयते यदि वार्थो न परिपूर्णोऽध्याप्यधीत इत्यर्थः। (सेयइत्यादि) स चेदमधीतवान् पाश्चात्य स्थितं देशमध्येऽध्यीयते तत एव सति कल्पते आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् यदि पुनः सोऽध्येष्ये इति चिन्तयन्नपि नाधीयते इति सम्भाव्यते। तत एव सति न कल्पते। आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् एष सूत्रसंक्षेपार्थः। तत्राल्पवर्षपर्यायस्यासमाप्तश्रुतस्यापवादतो गणधरपदानुज्ञानार्थमिदं सूत्रमित्युक्तमतोऽल्पवर्षपर्यायत्वं समाप्तश्रुतत्वं च भाष्यकृद्भावयति।

तिण्णि जस्स अ पुण्णा, वासा पुण्णेहिं वा तिहिउंतं तु।
वासेहिं निरुद्धेहिं, लक्खणजुत्तं पसंमंति ॥

यस्य त्रीणि वर्षाणि व्रतपर्यायतयाऽद्याप्यपरिपूर्णानि एतस्यामवस्थायां यदि वा त्रिषु परिपूर्णेषु तस्य तन्निरुद्धवर्षपर्यायत्वमभवत्। स त्रिषु पूर्णेषु अपूर्णेषु वा वर्षेषु निरुद्धेषु आचार्ये कालगते अन्यो बहुश्रुतोऽपि लक्षणसंपूर्णो न विद्यते स चासमाप्तश्रुतोऽपि लक्षणयुक्तो ग्रहणधारणासमर्थश्चेति स्थाप्यते। बहुश्रुतोऽप्यन्यो न स्थाप्यते किं तु सोऽसमाप्तश्रुतोऽपि लक्षणयुक्तः। किं कारणमत आह। लक्खणेत्यादि। लोके वेदे समये च विशारदा नायकत्वपदाध्यारोपे प्रशंसन्ति। लक्षणयुक्तं नेतरं बहुश्रुतमपि ततः स एव स्थाप्यते। अत्र पर आह।

किं अम्ह लक्खणेहिं, तवसंजमसुट्ठियाणसमणाणं।
गच्छविवड्ढिनिमित्तं, इच्छिज्जइ सो जह कुमारो ॥

किमस्माकं श्रमणानां तपःसंयमसुस्थितानां लक्षणैः केवलं लक्षणविहीनोऽपि बहुश्रुतः स्थाप्यतां येनाऽस्माकं स्वाध्यायवृद्धिर्भवति। आचार्य आह। सोऽल्पश्रुतोऽपि लक्षणयुक्ततया गणधरपदस्थापनायामिष्यते गच्छविवृद्धिनिमित्तं यथा राज्यवृद्धिनिमित्तं राज्ये कुमारः। एतदेव भावयति ॥

बहुपुत्तो नरवई, सामुद्दं भणति कं ठवेमि निवं।
दोसगुणएगणेगे, सो वि य तेसिं परिकहेइ ॥

कोऽपि बहुपुत्रको नरपतिः सामुद्रिकं सामुद्रलक्षणवेत्तारं भणति। तथा कमहं कुमारं नृपं स्थापयामि एवमुक्तः सोऽपि तेषां कुमाराणां यस्य दोषा गुणा वा एकोऽनेके च विद्यन्ते तत्सर्वं परिकथयति तत्र दोषा इमे ॥

निद्धूमगं च डमरं, मारीदुब्भिक्खचोरपउराइं।
धणधन्नकोसहाणी, बलवति पच्चतरायाणो ॥

निर्धूमकं नाम अपलक्षणं यत्प्रभावतो राज्यमनुशासति रन्धनीयमेव न भवति डमरं यद्वशाद्राज्यं डमरबहुलं भवति। प्रचूनस्वदेशोत्थोपप्लवा एवोपजायन्ते इत्यर्थः। मारियेल्लशान्मारिदोषोपहतं प्रचुरं दुर्भिक्षमुपयाति। चोरप्रचुरं यद्वशाच्चौरा उच्छलन्ति। धनहानिर्यतः सर्वत्र धनक्षयः सम्भवति। धान्यहानिर्य-

त्प्रभावावृष्टेऽपि मेघे सस्यनिष्पत्तिस्तादृशी नोपजायते । कोश-हानिर्यतः कोशक्षयः बलबलत्यन्तराजक यतो बलवन्तः प्रत्यन्त-राजाः सर्वे भवन्ति एते कस्याप्येकः कस्याप्यनेके दोषाः अधुना गुणमाह ॥

खेमं सिवं सुभिक्खं, निरुवसग्गं गुणेहिं उववेयं ।
अभिसिंचंति कुमारं, गच्छे वि तयाणुरूवंतु ॥

क्षेमं नाम सुलक्षणं यत्प्रभावात्सर्वत्र राज्ये नीरोगता शिवं यतः सर्वत्र कल्याणं सुभिक्षसंभवः । निरुपसर्गो यतः सकलेऽपि देशे मारिर्डमराद्युपसर्गासंभवः । एतेऽपि गुणाः कस्याप्येकः कस्याप्यनेके कस्याऽपि सर्वे तत्र यथा सर्वथा दोषैरपेतमधिकृतैश्च गुणैः सर्वैरप्युपेतं कुमारं राजामात्यादयो राज्येऽभिषिञ्चन्ति तथा गच्छेऽपि तदनुरूपं राजकुमारानुरूपं सर्वथा दोषविनिर्मुक्तमेकान्ततो गुणैरुपेतमाचार्यादिपदे । सिञ्चन्ति एतदेव स्पष्टयति ॥

जह ते रायकुमारा, सुलक्खणा जे सुहा जणवयाणं ।
संतमविसुयसमिद्धं, नच वेंति गुणे गुणविहूणं ॥

यथा ते राजकुमाराः सलक्षणा ये स्थापिताः सन्तो जनपदानां शुभाः । कल्याणकारिणः त एव स्थाप्यन्ते न शेषास्तथा सूरयोऽपि गच्छवृद्धिमपेक्षमाणाः सन्तमपि श्रुतसमृद्धं गुणविहीनं न गणे स्थापयन्ति ॥

लक्खणजुत्तो जइ वि हु, न समिद्धसुतेण तह वि तं ठवए ।
तस्स पुण होति देसो, असमत्तो पकप्पनामस्स ॥

लक्षणयुक्तो यद्यपि हु निश्चितं स्थापयेत् । तस्य पुनर्देशो भवत्यसमाप्तः ॥ प्रकल्पनाम्नो निशीथाध्ययनस्य कथं पुनर्देशोऽसमाप्त इत्याह ॥

देसो सुत्तमधीतं, न तु अत्था अत्थतो व असमत्ती ।
सगणे अणरिहगीता, सतीपागिएहेज्जमेहिंतो ॥

प्रकल्पं द्विधा शरीरं सूत्रमर्थश्च । तत्र देशः सूत्रमधीतं नत्वर्थः । अथवा अर्थोऽपि कियानधिगतः केवलमर्थतः समाप्तिर्नाभूत् । ततो ये स्वगणे आचार्यलक्षणविहीनतया गीतार्था अपि सन्तोऽनर्हाः आचार्यपदायोग्यास्तेभ्यः आचार्यपदोपविष्टः सन्नर्थं गृह्णीयात् । अथ स्वगणे गीतार्था न विद्यन्ते । तर्हि तेषामसत्यभावे एभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यो गृह्णीयात्तानेवाह ।

संविग्गमसंविग्गे, सारूवियसिद्धपुत्तपच्छिन्ने ।
पडिकंत अब्भुत्थिए, संती अभत्थ तत्थेव ॥

स्वगणे गीतार्थानामभावे अन्येषां सांभोगिकानां समसुखदुःखानां गीतार्थानामन्तिके गत्वाऽधीते तेषामप्यभावेऽन्यसांभोगिकानां गच्छं प्रविश्य पठति । तेषामप्यभावे पार्श्वस्थादीनां संविग्नपाक्षिकाणामन्तिके केवलं तत्सयमयोगेष्वभ्युत्थाप्य एतावता सविग्नेति व्याख्यातम् । अधुना असंविग्नेत्यादि व्याख्यायते । असंविग्नान् सारूपिकान् सयतरूपधारिणः सिद्धपुत्रप्रच्छन्नान् सिद्धपुत्रान् पश्चात्कृतांश्चाश्रयेत् । कथंभूतानित्याह प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितान् असयमव्यापारान् प्रतिक्रान्तान् संयमं प्रत्यभ्युत्थितान् तेषामप्यसति अभावे अन्यत्र यत्र ते न ज्ञायन्ते तत्र गत्वा तेषामन्तिके अधीते नान्यत्र तेषामगमने तत्रैव पठेत् यत्र ते स्वव्यापारेण स्थिता वर्त्तन्ते । इयमत्र भावना पार्श्वस्थादीना सविग्नपाक्षिकाणामभावे ये पूर्वं संविग्ना गीतार्था आसीरन् तेषां पश्चात्कृतानां पुनः प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितानामन्तिके गृह्णीयात्तेषामप्यभावे सयमयोगं प्रत्यभ्युत्थितानां सिद्धपुत्राणामन्तिके तेषामप्यभावे अन्यत्र तान् सयतरूपकान् कृत्वा तेषामन्तिके अन्यत्रागमने तत्रैव तान् तथारूपान् कृत्वा सागारिकाणामभावे तेषामन्तिकेऽधीते एतदेवाह ।

सगणे परगणे वा, मणुण्णअण्णोसिं वा वि असतीए ।
संविग्गपक्खिएसुं, सरूवि सिद्धे सु पढमं तु ॥

स्वगणे गणधरपदानर्हगीतार्थानामन्तिके परगणे वा मनोज्ञे वा साम्भोगिके तदभावे अन्येषां वा असाम्भोगिकानामन्तिके तेषामप्यसत्यभावे सविग्नपाक्षिकेषु पार्श्वस्थादिषु प्रथममेव प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितेषु तेषामप्यभावे सरूपिषु सयतरूपिषु प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितेषु पश्चात्कृतेषु तेषामप्यभावे प्रथममेव स्वरूपिषु सिद्धेषु सिद्धपुत्रेषु एतत्प्रतिक्रान्ताभ्युत्थितानधिकृत्योक्त तदभावे अन्यत्र विधिमाह ।

मुंडं च धरेमाणे, सिहं च फेरुं च अणिच्छसिहे वि ।
लिंगेण मसागारिए, वंदणगादीण हावेंति ॥

ते पश्चात्कृतादयो यदि न प्रतिक्रान्ता अभ्युत्थिताः किं तु लिङ्गतो गृहिस्था वर्तन्ते । अन्यत्र गत्वा तान् मुण्ड च धरमाणान् धारयतः कारयति । यदि पुनः सशिखाकाः सन्ति ततः शिखा स्फेटयति । अथ शिखास्फेटन ते नेच्छन्ति ततः सशिखानपि स्थापयित्वा इत्वरं श्रमणलिङ्गं तेषां समर्पयन्ति । व्याख्यानवेलायां च चोलपट्टक मुखपोतिकां च ग्राहयन्ति तेषामपि तथा भूतानां पार्श्वे पठता यथा प्रतिरूपश्रुतविनयः प्रयोक्तव्यः । तेषु न वारणीयः । अथ ते अन्यत्र गमन नेच्छन्ति तर्हि तत्रैवासागारिके सागारिकसंपातरहिते प्रदेशविशेषे छिन्नेन रजोहरणमुखपोतिकादिना श्रमणरूपधारिणः कारयित्वा पठनीयम् । ते च तत्रापि तथा पठन्तो न वन्दनादीनि हापयन्ति ॥

आहारउवहिसेज्जाए, समणमादीसु होइ जइयव्वं ।
अणुमोयणकारावण-सिक्खत्तिपदम्मि तो सुद्धो ॥

तेन तेषां समीपे पठनाहारोपधिशय्यानामेषणादिषु भवति यतितव्यम् । तदाऽनुमोदने कारापणे च न च कारणकारापणानुमोदनदोषैः स परिगृह्यते । यतः शिक्षा मयाऽस्य समीपे गृह्यते इति द्वितीये पदे वर्तते । ततः स शुद्ध इति । इयमत्र भावना । यदि स पार्श्वस्थः पश्चात्कृतादि पाठयन्नात्मनः आहारोपध्यादिकमात्मनैवोत्पादयति । ततः सुन्दरम् । आत्मना नोत्पादयति । तत आह ।

चोयइ से परिवारं, अकारमाणं भणति वा सड्ढे ।
सव्वोच्छित्तिकरस्स हु, सुयभत्तीए कुणह पूयं ॥

से तस्य परिवार विनयमकुर्वन्त चोदयति प्रज्ञापयति । यथा मदर्थं इदं ज्ञानपात्रमतः क्रियतामस्योत्कृष्टाहारसपादनेन विनय इति परिवारस्याभावे श्राद्धाञ्छ्राद्धसिद्धपुत्रपुराणेतररूपान् भणति यथा अव्यवच्छित्तिकरस्यास्य श्रुतभक्त्या कुरुत पूजामिति । एतनानुमोदनकारापणे व्याख्याते । सम्प्रति स्वयमुत्पादनमाहारादीनां भावयति ॥

दुविहा सत्ती एसिं, आहारादी करेंति ते सव्वं ।
पणहाणीए जयंतो, अट्टाए वि एमेव ॥

द्विविधस्य प्रतिपरिचारकस्य सिद्धपुत्रादेश्चेत्यर्थः । असत्यभावे तेषां पार्श्वस्थपश्चात्कृतादीनामाहारादिकं स सर्वमात्मना करोति । तत्रापि स प्रथमतः शुद्धमुत्पादलाभे पञ्चकपरिहान्या यतति । तत्रापि स प्रथमतः शुद्धमुत्पादलाभे पञ्चकप्राय- मानोऽशुद्धमपि पञ्चकपरिहानियतनानामशुद्धलाभे पञ्चकप्रायश्चित्तस्थानप्रतिसेवनात् उत्पादयति तदसंभवे दशकप्रायश्चित्त

स्थानप्रतिसेवनात् एव तावत् यावच्चतुर्गुरुकममप्राप्त । तथापि से तस्योत्पादयति । एवमेवात्मार्थं पञ्चकपरिहान्या यतते । किमुक्त भवति । उद्गमादिदोषत्रयशुद्धमलभमान पञ्चकादियतनया त्रिभिरपि दोषैरशुद्ध गृह्णाति स तथा कुर्वन्नपि ज्ञाननिमित्त प्रवृत्तत्वात् कृतयतनाविषयपुरुषकारत्वात् रागद्वेषविरहितत्वाच्च शुद्ध इति (आचार्योपाध्यायादिषु मृतेषु नवडहरस्य तत्पदे स्थापना)

(सूत्रम्) निग्गंथस्स णं णवडहरतरुणगस्स आयरियउवज्झाए विसंभेज्जा णो से कप्पइ अणायरियउवज्झायस्स होत्तए कप्पइ मे पुव्वआयरियं उद्दिसावित्ता ततो पच्छा उवज्झाय से किमाहु भंते दुसंगहिए समणे निग्गंथे तंजहा आयरिएणं उवज्झाएण य ॥

निग्गंथस्सेत्यादि अथास्य सूत्रस्य क संबन्ध इत्याह ॥

आयरियाणं सीसो , परियातो वावि अह कितो एस ।
सीसाणकेरिसाण व, ठाविज्जइ सो उ आयरिओ ॥

पूर्वसूत्रे आचार्यस्थापनीय उक्त । आचार्याणां च शिष्या भवन्तीति तद्व्यक्तव्यतार्थमिद सूत्रम् अथवा पूर्वसूत्रेषु पर्यायोऽधिकृतोऽस्मिन्नपि च सूत्रे एव पर्यायस्तथा च "नवडहरतरुणग्रहण" यदि वाऽनन्तरसूत्रे य आचार्य स्थापनीय उक्त स कीदृशानां शिष्याणा स्थाप्यते । इतीदमनेन सूत्रेणोच्यते । अनेन सबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे नवडहरतरुणस्य नवस्य डहरस्य तरुणस्य वा आचार्यसहित उपाध्याय आचार्योपाध्याय । आचार्य उपाध्यायश्चेत्यर्थ । विष्वक्भ्रो यावन्म्रियते तत से तस्य नवडहरतरुणस्यानाचार्योपाध्यायस्य सतो भवितु वर्तितु न कल्पते किं तु पूर्वमाचार्यमुद्देशा स्थापयित्वा तत॰ पश्चादुपाध्यायमुद्देशा अप्येवमाचार्योपाध्यायस्य सतो भवितु कल्पते । से किमाहु । सेशब्दोऽथशब्दार्थे । अथ भदन्त ! किं कस्मात् कारणात् भगवन्त एवमाहु सूरिराह । द्वाभ्यामाचार्योपाध्यायाभ्या संगृहीतो द्विसंगृहित श्रमणो निर्ग्रन्थ सदा भवति । तद्यथा आचार्येणोपाध्यायेन च एष सूत्रसंक्षेपार्थे व्यासार्थे तु भाष्यकृद्विवकुर्नवादिशब्दार्थानामर्थमाह

निवरिमो होइ नवो, आमोलमगं तु डहरगं बेंति ।
तरुणे चत्तासत्तरुण, मज्झिमो थेरतो सीसो ॥

प्रव्रज्यापर्यायेण यस्य त्रीणि वर्षाणि नाधिकमित्येष त्रिवर्षो भवति नव तन्नव पर्यायेण चत्वारि वर्षाण्यारभ्य यावदापोडशक वर्षम् अत्राङ्मर्यादाया यथा आपाटलिपुत्राद्वृष्टो देव । किमुक्त भवति । पाटलिपुत्र मर्यादीकृत्यारतो वृष्टो देव । इत्यत्र ततोऽयमर्थ । यावत्परिपूर्णानि पञ्चदशवर्षाणि षोडशाद्वर्षादर्वाक् तद्डहरकं ब्रुवन्त समयविद । ततो जन्मपर्यायेण षोडशवर्षाण्यारभ्य यावच्चत्वारिंशद्वर्षाणि तावत्तरुण । तत पर यावत्सप्ततिरेकेन वर्षेणोना तावन्मध्यम । तत पर सप्ततेरारभ्य स्थविर शिष्य ॥

अणवकस्स वि डहरग–तरुणगस्स नियमेण संगहं विंति ।
एमेव तरुणमज्झे, थेरम्मि य संगहो नियमे ॥

य प्रव्रज्यापर्यायेण त्रिवर्षोत्तीर्ण सोऽनवक उच्यते । तस्यापि आस्ता नवकस्येत्यपि शब्दार्थ । डहरक सन् तरुणकस्तस्य द्वादशवर्षाण्यारतो यावत्पञ्चदशवर्षाणि तावदित्यर्थ नियमेन सग्रहमभिस्थापिता आचार्योपाध्यायाना सग्रहण ब्रुवते अभिनवस्थापिताचार्योपाध्याया सग्रहीतेन तेनावश्य वर्त्तितव्यमिति भाव । तथा य प्रव्रज्यापर्यायेण त्राणि वर्षाणि नाद्याप्युत्तीर्ण स नवकस्तस्मिन्नवके तरुणे मध्यमे स्थविरे च शब्दाड्डहर च । एवं पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण सग्रह ब्रुवते । किमुक्त भवति । नवकस्य डहरस्य वा तरुणस्य वा मध्यमस्य वा स्थविरस्य वा नवकत्वादेव नियमाचार्योपाध्यायसग्रहो वेदितव्य इति ॥

वा खलु मज्झिमथेर–गीयमगीए य होइ नायव्वं ।
उद्दिसिणा उ गीए, पुव्वायरिए उ गीयत्थे ॥

वा शब्दो विभाषाया खलु निश्चित त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्णत्वेनानवके मध्यमे स्थविरे च प्रत्येक गीते अगीते वर्षाणां नानात्व ज्ञातव्यम् । तदेवाह ॥ (उद्दिसणाउ अगीते) अगीतार्थे उद्देशना इयमत्र भावना । ये मध्यमा स्थविरा वा त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्णा अप्यगीतार्थास्ते नियमात् य स्थापितो गणधर॰ तस्य शिष्या वयद्दयन्ते । इति गीतार्थेषु न स्थविरे मध्यमे च पूर्वाचार्ये पूर्वाचार्यसग्रह॰ । ये मध्यमा स्थविरा गीतार्था पूर्वाचार्यदिश धारयन्तीति ।

नवडहरतरुणगस्सा, विहीए विसुंभियम्मि आयरिए ।
पच्छन्ने अभिसे तो, नियमा पुण संगहे ठाइ ॥

नवश्च डहरकश्च तरुणश्च समाहारो द्वन्द्व । तस्य पुन सग्रहार्थमाचार्ये विष्वक्भिते विधिना नियमेनान्यस्य गणधरस्याभिषेक कर्त्तव्य॰ । अविधिना अभिषेककरणे प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका मासा । कोत्र विधिरिति चेदुच्यते । आचार्य॰ कालगतो न प्रकाश्यते यावदन्यो गणधरो न स्थापित॰ तथाचाह (पच्छन्नेत्ति) आचार्ये कालगते प्रच्छन्ने देशे अभिषेक करणीय । एतदेवाह ।

आयरिए कालगए, न पगासेज्ज अट्ठविहे गणहरम्मि ।
रायेव अणभिसित्ते, रज्जक्खोभो तहा गच्छे ।

अस्थापिते अन्यस्मिन् गणधरे आचार्य कालगतो न प्रकाश्यते । अत्र दृष्टान्तो राजा काल गतस्तावन्न प्रकाश्यते यावदन्यो नाभिषिच्यते । अन्यथा अनभिषिक्ते राज्ञि यथा राज्यक्षोभो भवति । दायादे परस्परविरोधत सर्वं राज्य विलुप्यते इत्यर्थ तथा गच्छेऽप्यन्यस्मिन्नस्थापिते गणधरे यद्याचार्य कालगत प्रकाश्यते तदा गच्छक्षोभो भवति तमेवाह ॥

अणाहोवहाणसच्छंद, खित्तेणा सपक्खपरपक्खे ।
लयकंपणा य तरुणे–सारणमाणोवमाणे य ॥

केषाचिदनाथा वय जाता इत्यवधान भवेत् केषाचित् (सच्छंदत्ति) स्वच्छन्दचरिता अपर केचित् क्षिप्ता क्षिप्तचित्ता भवेयु । तथा स्तेना स्वपक्षे परपक्षे चोत्तिष्ठन्ति हताया इव साधना कम्पन तथा तरुणानामाचार्यपिपासयाऽन्यत्र गमनम् । तथाऽसारणा सयमयोगेषु सीदता पुन सयमाभ्यन्यप्रवर्त्तना । तथा मानापमान च साम्प्रतमेतानेव दोषान् व्याचिख्यासु प्रथमतोऽनाथावधानस्वच्छन्दचारित क्षिप्तचित्तत्वानि व्याख्यानयति ।

जायामो अणाहा त्ति, अण्णहि गच्छंति केइ ओहावो ।
सच्छंदा व भमंति, केइ खित्ताउ होज्जाहि ।

बाला वृद्धास्तरुणा वा केचिदगीतार्था आचार्याणा विप्रयोगे जातावयमनाथा इति विचिन्त्य कचिदन्यत्र गच्छन्ति । केचिदवधावेयु तथा केचि मन्दधर्म्मश्रद्धाका गणादपक्रम्य स्वच्छन्दा भ्रमन्ति । अपरे केचिदाचार्यविप्रयोगत क्षिप्ता क्षिप्तचित्ता अपगतचित्ता भवेयु । स्वपक्षपरपक्षस्तेनानुव्रताकम्पन चाह ।

पासत्थगिहत्थादी, उभिक्खावेज्ज खुड्डगादीओ ।
इया वा कपमाणा उ, केइ तरुणा उ अच्छंति ॥

स्वपक्षपार्श्वस्थादय॰परपक्षे गृहस्थादय । अत्रापि शब्दात्परती-

र्थिकग्रहणं क्षुल्लकादीन् अभिष्क्रामयेयुः । किमुक्तं भवति पार्श्वस्थादयः क्षुल्लकादीन् विपरिणमय्य पार्श्वस्थादीन् कुर्युः । अन्यतीर्थिका स्वज्ञातयो गृहस्थानिति । तथैव यानेनेव कम्पमानाः संयमे परीषहैः केचित्तरुणास्तिष्ठन्ति । इयमत्र भावना । यथा पद्मग्रताऽन्यस्मिन्ननवग्रहाधासनो वातेन कम्पमाना तिष्ठति । एवं केचित्तरुणा गच्छेऽपि वर्तमानाः संयमानाः संयमे परीषहैः ॥ कम्पमानास्तिष्ठन्तीति । तरुणदोषमस्मारणादोषं चाह ॥

आयरियपिवासाए, कालगयं तु सोउ ते वि गच्छेज्जा ।
गच्छेज्ज धम्मसड्ढा, वि सारयितगच्छस्स असती ॥

केचित्तरुणा आचार्यपिपासयाऽनाचार्यमन्तरेण ज्ञानदर्शनचारित्रलाभोऽनुत्तरो भवति तस्मादवश्यमाचार्यसमीपे वर्तितव्यमित्याचार्यमाज्ञया कालगतं श्रुत्वा तेऽप्यन्यत्र गच्छेयुः । तथा धर्मश्रद्धा अपि केचित् सारयितुरभावे गच्छान्तरं गच्छेयुः । माना पमानदोषमाह ।

माणिया वा गुरुणं तु, थेराढीत्थकेचिओ नत्थि ।
माणं तु तओ अन्नो, अवमाणभयाउवगच्छेज्जा ॥

तत्र केचित्स्थविरादय एव चिन्तयेयुः यथा सर्वकालं मानिता वयं गुरुभिः । अत्र गाथायाम् ।

पगासिज्जा कालगयं, एएयदोसरक्खट्ठा ।
आगम्मि ववत्थविए, ताहे पगासेज्ज कालगयं ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मादेतद्दोषरक्षार्थमाचार्यं कालगतं न प्रकाशयेत् यदा पुनरन्यो गणधरो व्यवस्थापितो भवति तदाऽन्यस्मिन् व्यवस्थापिते कालगतं प्रकाशयेत् आचार्योपाध्यायादिषु मृतेषु निर्ग्रन्थ्या आचार्यादिपदोद्देशः ।

(सूत्रम्) निग्गंथीएणं णवरूहरतरूणियाए आयरियउवज्झाए पवित्तिणियं विसंजेज्जा णो से कप्पइ अणायारिय अणुवज्झाइयत्ताए अपवत्तिणिए य होत्तए कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावित्ता तओ पच्छा उवज्झायं ततो पच्छा पवित्तिणियं से किमाहु भंतेति संगहिया समणी निग्गंथी तं तह आयरियाणं उवज्झाएणं पवित्तिणिए ॥ १३ ॥

निर्ग्रन्थ्या णमिति पूर्ववत् । नवरूहरतरुणाया नवाया रूहराया-स्तरुण्या वा इत्यर्थः । आचार्योपाध्यायः समासोऽत्र पूर्ववत् आचार्योपाध्यायमेतत् । प्रवर्तिनी च विष्वक्त्र्युयात् म्रियेत तत. (से) तस्या अनाचार्योपाध्यायाया उपलक्षणमेतत् प्रवर्तिनीरहितायाश्च नो कल्पते भवितुं किंतु पूर्वमाचार्यमुद्दिश्यापि ततः पश्चादुपाध्यायं ततः पश्चात्प्रवर्तिनीकया भवितुं कल्पते से किमाहुरित्यादि । अथ भदन्त ! किं कस्मात्कारणादू भगवन्त एवमाहुः । सूरिराह त्रिभिः संगृहीता श्रमणी निर्ग्रन्थी सदा भवति । तद्यथा आचार्येणोपाध्यायेन प्रवर्तिन्या च एष सूत्रसंक्षेपार्थः । अत्रायमाक्षेपः । किं कारणं ननु यस्त्रिभिः संगृहीता निर्ग्रन्थी भवति । तत्राचार्योपाध्यायसंग्रहे गुणानुपदर्शयति ।

दूरत्थम्मि वि कीरइ, पुरिसे गारवभयं सबहुमाणं ।
अदेय अवहंती, चोएउं जे सुहं होइ ॥

दूरस्थेऽपि पुरुषे स्वपरपक्षेण च क्रियते गौरवं भयं सबहुमानं चेत्यर्थः । इयमत्र भावना यद्यपि नाम आचार्य उपाध्याया वा संयतीना दूरे वर्तते तथापि दूरस्थस्यापि पौरुषस्य गौरवेण भयेन वा कोऽपि संयतीनामपन्यायं न करोति । किं तु स्वपक्षे परपक्षे च सुबहुमानो जायते । तथा संयती प्रवर्तिन्याच्छन्दं अवर्तमाना चोदयितुं जे इति पादपूरणे इति वचनात्सुखं भवति । किमुक्तं भवति आचार्योपाध्यायभयतो न काचिदपि संयती आचारक्षितिमाचरति । याऽपि काचिदाचरति । सापि प्रवर्तिन्या सावद्यम्मं शिष्यते । अथ शिष्यमाणापि न प्रतिपद्यते ततः प्रवर्तिनी ब्रूते । आचार्यस्योपाध्यायस्य चाहं कथयिष्यामि । ततः सा भीता प्रवर्तिन्या उपपाते तिष्ठति । एते आचार्योपाध्यायसंग्रहे गुणाः ॥ सम्प्रति प्रवर्तिनीसंग्रहे गुणानाह ।

मिहो कहाज्झरविट्टराहिं, कंदप्पकिड्डावउसत्तणेहिं ।
पुव्वावरे ते सुयनिद्दकालं, गिण्हाइ तिण्णं गणिणी महीणा ।

मिथः कथापरस्परं भक्तादिविकथाकरणं झट्टरविट्टरं नाम तेषु गृहस्थप्रयोजनेषु कुण्डलविण्टलादिषु वा प्रवर्त्तनम् । एतान्यां कन्दर्पक्रीडा कन्दर्पोद्रेकजननीकायवाक्चेष्टावत्कुसत्वं शरीरोपकरणविभूषाकरणम् । एतान्यां च तथा पूर्वरात्रे अपररात्रे च गणिन्या प्रवर्तिन्यास्वधीना सती संगृह्यते । तथा तत्प्रवर्तिनीसंग्रहोऽपि साध्व्याः श्रेयान् । एतदेवविभावयिषुर्लोकप्रसिद्धियात्रिविधं संग्रहमाह ।

जायं पित्तिवसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा ।
विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयंवसा ॥

जाता सती नारी पितृवशा पितुरायत्ता भवति । दत्ता परिणीता सती नारी पतिवशा भर्तुरायत्ता । विधवा मृतपतिका नारी पुत्रवशा । नास्ति एवं च सति नारी कदाचनापि स्वयवशा । अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह ।

जायंपि य रक्खंती, मातापित्तिसासुदेवरादिवं ।
पति नायपुत्तविहवं, गुरुगणिगणिणी य अज्जंपि ॥

जातामपि नारीं रक्षतो मातापितरौ । दत्तां परिणीतां रक्षन्ति श्वश्रूदेवरभर्त्रादयः । देवरग्रहणं श्वसुरज्येष्ठादिपरिग्रहणम् । विधवां पुनः पिता भ्राता पुत्रो वा यदि जीवन्ति पित्रादयस्तर्हि तेऽपि रक्षन्ति । एवमार्यिकामपि गुरुराचार्यो गणी उपाध्यायः गणिनी प्रवर्तिनी रक्षति ॥

एगागिणि अपुरिसा, सकवाडघरपरं तु नोपविसे ।
सगणे व परगणे वा, पव्वतिया पीयमंगहिया ॥

यथा भर्त्राद्यधीना नारी एकाकिनी अपुरुषा भर्त्रादिपुरुषरहिता सकपाटं परगृहं न प्रविशति एवं प्रव्रजिता पित्रिसंगृहीता आचार्योपाध्यायप्रवर्तिनीसंगृहीता स्वगणे परगणे वा एकाकिनी न गच्छति ।

आयरियउवज्झाया, सययं साहुस्स संगहो दुविहो ।
आयरियउवज्झाया, अज्जाणपवत्तिणी तइयो ॥

संगृह्णातीति संग्रहः । संग्राहक इत्यर्थः साधोः सततं सर्वकालं संग्रहः संग्राहको द्विविध आचार्योपाध्यायौ । आर्यिकाणां त्रिविधस्तद्यथा ह्याचार्योपाध्यायौ तृतीयः प्रवर्तिनी । अत्रैवापवादपदमाह

बितियपदे सा थेरी, जुण्णा गीया य जइ खलु भवेज्जा ।
आयरियादी तिण्हवि, असतीए न उ दिसा विज्जति ॥

द्वितीयपदे अपवादपदे सा प्रव्रजिता स्थविरा वयसा वृद्धा जीर्णा चिरकालप्रव्रजिता गीता उत्सर्गापवादसामाचारीकुशलतया गीतार्था यदि खलु भवेत् ततः आचार्यादीनामाचार्योपाध्यायप्र-

वर्तिनीनां तिसृणामप्यभावे न सग्राहकमाचार्यमुपाध्याय प्रवर्तिनीं च उद्देशापयेत् दोषासम्भवात् आचार्यादिष्ववधावितपृद्देश'

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म मेहुणधम्मं पडिसेविज्जा तिण्णि संवच्छराइं तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं जाव गणावच्छेयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तिहिं संवच्छरेहिं वीतिक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि उट्ठियंसि ठियंसि उवसंतस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा गणावच्छेयत्तं उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ।१३। गणावच्छेइयत्तं वा अणिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा जाव तस्स तप्पत्तियं नो से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ।१४। गणावच्छेयए गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेविज्जा तिण्णि संवच्छराइं तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तिहिं संवच्छरेहिं वितिक्कंतेहिं चउत्थयंसि संवच्छरंसि पविट्ठंसि पट्ठियंसि उवट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ।१५। एवं आयरियउवज्झायगावि दो आलावगा । १६ । १७ ।

अथास्य सूत्रस्य कः सम्बन्धस्तत आह ।

नवतरुणे मेहुणहं, कोई सेवेज्ज एस संबंधो ।
अबंभलक्खणादि-व्वसंगहो एत्थ विसए वा ॥
अप्परियाए वि गणो, दिज्जइ वुत्तंति मा अतिपसंगा ।
सेवियमपुन्नपज्जय, दाहिंति गणं अतो सुत्तं ।

पूर्वसूत्रे नवतरुणादिक साधुरुक्तस्तत्र कोऽपि नवतरुणो मोहोदयवशात् मैथुन सेवते कृतमैथुनसेवाकस्य च यथाऽऽचार्यत्वादिकमुद्देष्टव्यं तथाऽनेन सूत्रेण प्रतिपाद्यते इत्येष सूत्रसम्बन्धः । अब्रह्मणादेर्हेतोरब्रह्मलक्षणादिनिमित्तं संग्रहः । आचार्यादिकोऽनन्तरसूत्रेऽभिहितः अत्रापि स एव सग्रहोऽभिधीयते इति । अथवा पूर्वतरेषु सूत्रेषु अपर्यायेऽपि गणो दीयते इत्युक्त तद्दिवसाचार्यादिपदानुज्ञानात् त एतत् श्रुत्वा मा अतिप्रसङ्गान्मैथुन सेवित्वा अपूर्णे पर्याय गण दास्यन्ति तत एतन्निवारणार्थमिदं सूत्रम् । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । भिक्षुर्गणादपक्रम्य मैथुन प्रतिसेवते तस्य त्रीणि संवत्सराणि यावत्तत्प्रत्ययं मैथुनसेवाप्रत्यय न कल्पते आचार्यत्वमुपाध्यायत्व यावत्करणात्प्रवर्तित्वं स्थविरत्वमिति परिग्रह । गणावच्छेदित्व वा उद्देष्टुमनुज्ञातुमतोऽपि तस्य कल्पते स्वयं धारयितु किन्तु त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थे संवत्सरे प्रस्थिते प्रवर्तितुमारब्धवति तत्र प्रस्थितत्वमभिमुखीभवनमात्रेऽपि भवति तत आह । अस्थिते अवर्धमाने स्थितस्य वर्तमानस्य किं विशिष्टस्य सत इत्याह । उपशान्तस्य उपशान्तवेदोदयस्य तत्रोपशान्तत्व प्रवृत्तिनिषेधादवसीयते तत आह उपरतस्य मैथुनप्रवृत्ते प्रतिनिवृत्तत्व दाक्षिण्यवशादिमात्रतोऽपि भवति । तत आह मैथुनेच्छाप्रातिकूल्येन विरत तस्य तदपि च प्रतिविरतत्व विकारादर्शनतोऽपि मैथुनाभिलाषहेतुकविकाररहितस्तस्य कल्पते आचार्यत्व यावत् गणावच्छेदित्वं वा उद्देष्टु वा धारयितु वा एष सूत्रसंक्षेपार्थः । व्यासार्थं तु भावतो भाष्यकृदाह ।

दुविहो माविक्खियरो, निरवेक्खो उदिय जाइजयणाए ।
जोग च अकाऊणं, जाव स वेस्सादि सेवेज्जा ॥

द्विविधो द्विप्रकारः खलु मैथुनप्रतिसेवकस्तद्यथा सापेक्ष इतरश्च इतरो निरपेक्षः तत्र निरपेक्षो य उदीर्णे वेदोदयं यो वा याति योगं यतनया योगमकृत्वा यदि वा स वेश्यादिकां सेवेत । एष त्रिविधोऽपि निरपेक्षः गुरुतीर्थकरापेक्षारहितत्वात् ॥

सावेक्खो उ उदिष्णे, आपुच्छे गुरुं तु सो जति उवेक्खे ।
ता चउगुरुगा भवति, सीसो व अणापुच्छए गच्छे ॥

यदि पुनरुदीर्णे उदयप्राप्ते मोहे उदिते वेदे इत्यर्थ । गुरुमापृच्छति समापेक्षः सह अपेक्षा यस्यास्ति स समापेक्ष इति व्युत्पत्ते । तत्रापृच्छायां यदि स गुरुरुपेक्षां कुरुते ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुका भवन्ति । स च साधुरनापृच्छय गुरु याति तर्हि तस्यापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुका । सा च पृच्छा त्रीन्वारान्कर्तव्या । तथा चाह ।

अहवा सइ दो वारे, आयरिए पुच्छ अकडजोगी वा ।
गुरुगा तिण्णि उ वारे, तम्हा पुच्छेज्ज आयरिए ॥

अथवा । सकृदेकं वारं यद्याचार्यान् पृच्छति तथापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकाः अथ द्वौ वारौ पृच्छति न तृतीयमपि वार तदापि चतुर्गुरुकाः । अथवा वारत्रयपृच्छायामपि कृतायां यदि अकृतयोगी यतनायोगमकृत्वा गच्छति तदानीमपि चतुर्गुरुकाः । यत एवमेक द्वौ वा वारौ पृच्छायां प्रायश्चित्त तस्मात्त्रीन् वारान् आचार्यान् पृच्छेत् लोकेऽपि तथा दर्शनात्तथा चाह ।

बंधे य घाते य पमारणे य, दंडेसु अन्नेसु य दारुणेसु ।
पमत्तमत्ते पुण चित्तहेउं, लोए वि पुच्छंति उ तिण्णि वारे ॥

राज्ञा बधे आदिष्टे यदि वा घाते प्रहारे अथवा प्रमारे कुमरणमारणे अन्येषु च दण्डेषु हस्तपादच्छेदादिषु दारुणेष्वादिष्टेषु लोके त्रीन् वारान् राजा पृच्छयते । किमर्थमित्यत आह प्रमत्तेन व्याक्षिप्तेन यदि वा मद्यपानेन मत्तेनादिष्ट भवेत् प्रशान्तस्य पुनश्चित्तमुपजायते । यथा मा मार्यतामिति वारत्रयमनापृच्छाया स कथ्यते किमिति स मारित इति । एवं यथा राजा केनापि त्रीन् वारान् पृच्छ्यते तथाऽऽचार्योऽपि ॥

आलोइयम्मि गुरुणा, तस्स चिकिच्छा विहीए कायव्वा ।
निव्विगितिगयादीया, नायव्वा कमेणिमेणं तु ॥

आलोचिते वारत्रयमापृच्छायां कृताया गुरुणा आचार्येण तस्योदितवेदस्य साधोर्विधिना चिकित्सा कर्तव्या सा चिकित्सा निर्विकृतिकादिका क्रमेणानेन वक्ष्यमाणेन ज्ञातव्या तमेव क्रममाह ।

निव्वायमिय अवमोदरिय, वेयावच्चे तहेव ठाणे य ।
वाहिंडणे य मंडलि-चोयगवयणं व कप्पट्ठी ॥

प्रथमतो निर्विकृतिक कारयितव्य तत्र यदि निर्विकृतिक तपः कुर्वतो नोपशाम्यति वेदस्तर्हि निर्विकृतिकेनावमौदर्यं कारयितव्य तथाप्यनुपशाम्यति ततश्चतुर्थादिक कार्यन्ते तथाप्यतिष्ठति वैयावृत्य कारणीय वैयावृत्त्येनाप्यतिष्ठति स्थानेन ऊर्ध्वस्थानेन तिष्ठति तथाप्यनुपशाम्यति आहिंडन कार्यते । देशकादिएरूकानां सहायो दीयते इत्यर्थः । तत्र यदि एष परिभ्रमणोपशान्तो भवति वेदस्तत सुन्दरमथ नोपशाम्यति ततो यदि स बहुश्रुतस्तर्हि स सूत्रमण्डली च दाप्यते । अत्रार्थे चोदकवचनं यथा किमर्थं स मण्डली दाप्यते । सूरिराह । दृष्टान्तोऽत्र कप्पट्ठीति

कुलवधूः। "एगो सेट्ठी तस्स पुत्तो धणोवज्जणनिमित्तं देसंतरं गतो। भारिया सेट्ठिसमीवे मुक्का। सा य सुहभोयणतवोलावि-लेवणमरूणपसाहणरया घरवावारमकुणती अन्नया उम्मत्तिया जाया। दासचेडीए भणइ। पुरिसं मग्गेह तीए सेट्ठिणो कहिय तेण चिंतिय। जावज्ज वि न विणस्सति ताव चिंतेमि उवाय सेट्ठिणी भणिया कलहं काऊण तुम गच्छ जेण सा घरवावारे वु-ज्झति अण्णहा विणिस्सिहिति। एव सामत्थेऊण अन्नया सेट्ठी घरमागओ आमोक्ख मग्गइ सा न देइ तो सेट्ठिणा महतो कल-हो कतो सा पेल्लिऊण निस्सारिया। सा य बहू य कलहसद्द सोऊण तत्थागया सेट्ठिणा भणिया। भत्ति वहूए तुमे अज्जप्प-भिति सव्वो वावारो कायव्वो सा तहेव करितुमारद्धा। तओ तीए वावारवाउलाए भोयणमवि वियालवेलाए कुतो मरूणप-साहणं। दासचेडीए भणिय मग्गितो चिट्ठति पुरिसो कया मेलि-ज्जइ तीए भणिय मरणस्स वि मे अवसरो नत्थि कतो पुरिसस्स" एव। यथा तस्या गृहव्यापारव्यापृततया वेदोपशान्तिरभूत्तथा ऽस्यापि सूत्रमर्थरूप्यापि व्यापारव्यापृततया कदाचिद्वेदोपशा-न्तिः सम्भाव्यते। तत. सूत्रमर्थग्रहणमर्थमर्थग्रहणं च दाप्यत इति व्य०। (अत्राचार्यसाधूनामवधावनविषये बहुवक्तव्य तच्च व्यवहार-भाष्यतोऽवसेय देशत एव किञ्चिदत्रोक्तम्) बहुश्रुतोऽपि पादो न कल्पते आचार्यादितया उद्देष्टुम्।

(सूत्रम्) बहवे भिक्खुणो बहुस्सु तवब्भागमबहुसो बहुसु आगाढगाढेसु कारणेसु माइमुसावाइअसुइपापजीवी जाव जीवाए तेसिं तप्पतियं नो कप्पइ जाव उद्दिसित्तए वा धारि-त्तए वा एवं गणावच्छेइएया वि एवं आयरियउवज्झाएया-वि बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरियउव-ज्झाया बहुसुआ बब्भागमबहुसो बहुसु आगाढागाढेसु माइ-मुसावाइअसुइपावजीवी जाव जीवाए तेसिं तप्पति णो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं वा पवत्तिं वा थेरत्तं वा गणधरत्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारि-त्तए वा। इति ववहारस्स तइओ उद्देसो॥ ३॥

सूत्रसप्तकम् अथास्य पूर्वसूत्रैः सह सम्बन्धमाह॥

वयअतियारे पगते, अयमवि अन्नोऽस्स अइयारो।
इत्तिरियपमत्तं वा, वुत्तं इदमावकहियं तु॥

पूर्वसूत्रेषु व्रतस्य मैथुनविरत्यादेरतीचार प्रकृतोऽधिकृतोऽयमपि चान्यस्तस्य व्रतस्यातिचार इति तत्प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रसप्तक-म्। अथवा पूर्वसूत्रेषु त्रीणि संवत्सराणि यावदाचार्यत्वादीनि न कल्पन्ते इति वचनादित्वरमपात्रमुक्तमिदं पुनः सूत्रसप्तकेनाभिधी-यमानमपात्र यावत्कथिकं बहुशो यावज्जीवमाचार्यत्वादीनि क-ल्पन्त इति वक्ष्यमाणात्॥

अहवा एगहिगारे, उद्देसो तइयओ उ ववहारे।
केरिसितो आयरिओ, ठविज्जइ केरिसो नेत्ति॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शने व्यवहारे तृतीयोद्देश-काधिकारे यथा कीदृश आचार्यः स्थाप्यते कीदृशो न। तत्र यादृग स्थाप्यो यादृशश्च न स्थाप्यस्तादृश उक्तोऽयमन्यो न स्थाप्य-त इति प्रतिपादनार्थमेष सूत्रसप्तकारम्भ॥

अहवा दीवगमेयं, जह पमिसिद्धो अभिक्खमाइल्लो।
सागारियमेवि एवं, अभिक्खओहावणकरी य॥

अथवेति पूर्ववत्। दीपकमेतत्सप्तसूत्रक पूर्वसूत्रेष्वधिकारार्थोद्दी-पनार्थमिदं सूत्रसप्तकमधिकमेवार्थमुपदर्शयति। यथानेन सूत्रसप्तक न अभीक्ष्ण मायी बहुशो मायावी यावज्जीवमाचार्यत्वादिषु पदेषु प्रतिषिद्धस्तथा मैथुनसूत्रपञ्चकमध्ये यो भिक्षुसूत्रे निक्षेपणसूत्र द्वये च सागारिकसेवी मैथुनप्रतिसेवी संवत्सरत्रयातिक्रमे योग्य उक्त. सोऽप्येवमभीक्ष्णं सागारिकसेवी सन् यावज्जीव प्रतिषि-द्धो द्रष्टव्यः। तस्यापि यावज्जीवमाचार्यत्वादीनि न कल्पन्ते इति भावस्तथा अवधावनसूत्रकेऽपि यो भिक्षुसूत्रे निक्षेपणसूत्रद्वये वर्षत्रयातिक्रमेण योग्य उक्तः सोऽपि यदि अभीक्ष्णमवधावन-कारी भवति ततस्तस्यापि यावज्जीवमाचार्यत्वादिपदप्रतिषेधः। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। भिक्षुर्बहु श्रुत सूत्र यस्या-सौ बहुश्रुतः। बहुरागमोऽर्थपरिज्ञान यस्य स बह्वागमः। तथा कुलप्रात गणप्रात यत्सचित्तादिक व्यवहारेण छेत्तव्य कार्य वा आगाढगाढ कारण तेषु आगाढागाढेषु बहुप्रभूतेषु बहुशोऽनेक-प्रकार मायी मायावान् मृषावादी अशुचिराहारार्थमन्यवहारी पापजीवी कोटवाद्याजीवी तस्य यावज्जीव तत्प्रत्यय मायित्व-मृषावादित्वादिप्रत्यय न कल्पते आचार्यत्व वा यावत् गणावच्छे-दित्व वा उद्देष्टु वाऽनुज्ञातु स्वय वा धारयितुम्। एष प्रथमसूत्र-संक्षेपार्थः। एवं गणावच्छेदकसूत्रमाचार्योपाध्यायसूत्र च भावनी-य पाठोऽपि सुप्रतीत.। यथा च त्रीणि सूत्राण्येकत्वेनोक्तानि इत्येव त्रीणि सूत्राणि बहुत्वे वक्तव्यानि। सप्तम बहुभिक्षुबहु गणावच्छेदिबह्वाचार्यविषय तदपि तथैव। अत्रभाष्यकृदाह॥

एगत्तबहुत्ताणं, सव्वेसिं तेसिमेगजातीणं।
सुत्ताणं पिंडेणं, वोच्छं अत्थं समासेणं॥

एकत्वबहुत्वादिसंबन्धिनां सर्वेषामेतेषां सूत्राणामेकजातीयाना-मेकप्रकाराणां पिण्डेनाप्युक्तो वैविक्त्येन प्रतीतः। तत्र प्रथम-मेकत्वबहुत्वविषयावाक्षेपपरिहारावाह॥

एगत्तियसुत्तेसुं, भणिएसुं किं बहु पुणोग्गहणं।
चोयगसुणसू इणमो, जं कारणं मो बहुग्गहणं॥

एकत्वेनैकवचनेन निर्दिष्टान्यैकत्विकानि तेष्वैकत्विकेषु किं पुन-र्बहुग्रहण बहुत्वविशिष्टसूत्रचतुष्टयोपादानं सूरिराह। यत्कारण येन कारणेन मो इति पादपूरणे बहुग्रहण बहुत्वविशिष्टसूत्रो-पादान तत्कारणमिदं हे चोदक ' शृणु तदेवाह।

लोगम्मि सयमवज्झं, होइ अदंमं सहस्स मा एवं।
होहिति उत्तरियम्मि वि, उत्ता उ कया बहुकए वि॥

लोके बहुभिरकृत्यं सेवितेऽय न्याय. शतमवध्य सहस्रमदण्ड्य तत एवमौत्तरिकेऽपि लोकोत्तरिकेऽपि व्यवहारे प्रसङ्गो मा भू-दिति तत्प्रतिषेधार्थं चत्वारि सूत्राणि बहुकेऽपि बहुवचने कृतानि। सांप्रतमागाढागाढकारणादीनि पदानि व्याचिख्यासुराह॥

कुलगणसंघप्पत्तं, सच्चित्ताढी उ कारणागाढं।
छिद्दाणि निरीहित्ता, माय। तेणेव असुतीउ॥

सचित्तनिमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहारः कुलेऽक्षिप्तो यथेद सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्त-मेव गणप्राप्त सङ्घप्राप्त भावनीयम्। यत्र यत्सचित्तादिक विवा-दास्पदीकृत व्यवहारेण छेद्यतया कुलप्राप्त वा तत्कार गागाढ कारणम्। तथा कथमहमेन व्यवहारमाहारयामुपग्रहे वर्तमान ना-ज्जितं छिद्रामिति बुद्ध्या परस्य छिद्राणि निरीक्ष्यमाणो मायी तेनैव मायित्वेनैव सोऽशुचि. तमेवाशुचिं द्रव्यभावभेदत प्ररूपयति

दव्वे भावे असुती, भावे अम्मासंढणादीहिं।

कप्पं कुणइ अकप्पं, विविहेहि य रागदोसेहिं ॥

अशुचिर्द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र योऽशुचिना लिप्तगात्रो यो वा पुरीषमुत्सृज्य पुनौ न निर्लेपयति स द्रव्यतोऽशुचि । भावे भावत पुनरशुचिराहारबन्धनादिभिर्विविधैर्वा रागद्वेषैः कल्प्यमप्यकल्प्य करोति । किमुक्तं भवति । आहारोपधिशय्यादिनिमित्त वन्दननीवैर्वृत्यादिना वा तोषितो यदि वा एष मम स्वगच्छसम्बन्धी स्वकुलसम्बन्धीति रागतोऽथवा न मामेष वन्दते विरूप वा भाषितवानित्यादिद्वेषतोऽय श्रुतोऽय श्रुतोपदेशेनाभाव्यमनाभाव्यं करोति । अनाभाव्यमप्याभाव्य सोऽव्यवहारी भावतोऽशुचिः । एतदेव सुव्यक्तमाह ।

दव्वे भावे असुती, दिव्वम्मी विट्ठमादिलित्तो उ ।
पाणतिवायादीहि उ, भावम्मि उ होइ असुईओ ॥

अशुचिर्द्विधा द्रव्ये भावे च तत्र द्रव्ये विष्ठादिना लिप्त आदिशब्दान्मूत्रश्लेष्मादिपरिग्रह । भावे प्राणातिपातादिभिर्भवत्यशुचिः ॥

तप्पच्चियमेतेसिं, आयरियादी न देंति जा जीव ।
के पुण भिक्खुइमे य, बहुस्सुयमादिणो हुंति ॥

तत्प्रत्यय मायावित्वादिप्रत्यय येषां भिक्षुप्रभृतीनां यावज्जीवमाचार्यादीनि भावप्रधानोऽय निर्देश । आचार्यत्वादीनि न ददाति । के पुनस्ते आह । भिक्षुक उपलक्षणमेतत् गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायाश्च सूत्रोक्ता न केवलमेते किंत्विमे च बहुश्रुतादयो भवन्त्याचार्यादिपदानामनर्हास्तानेव निर्युक्तिकृदाह ॥

अबहुस्सुते य ओमे, पडिसेवओ यतो अप्पचिंते य ।
निरवेक्खपमत्तमाइ–अणरिहे जुंगिए चेव ॥

अबहुश्रुतोऽवम प्रतिसेवको यत आत्मचिन्तक निरपेक्ष प्रमत्तो मायी अनर्हो जुङ्गिकश्च । एते सूरित्वादिपदानामनर्हा । साम्प्रतमेतानेव व्याचिख्यासुराह ।

अबहुस्सुतो पकप्पो, अणहीओमा तिवरिसरओ ।
निक्कारणे वि भिक्खू, कारणपडिसेवते जो उ ।
अब्भुज्जयअप्पचिंतो, निरवेक्खो बालमादीसु ।
अन्नयरपमायजुत्तो, असच्चरुची होइ माईओ ।
अवलक्खणा अणरिहा, उज्जावाहादि अ जो जुवत्ता ॥
चउरो य जुंगिया खलु, अचंति य भिक्खुणा एते ॥

अबहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकल्पो निशीथाध्ययननामक सूत्रतोऽर्थतश्च नाधीत अवमो नाम आत्रिवर्षपरतो यस्य प्रव्रज्यापर्यायेण त्रीणि वर्षाणि नाद्यापि परिपूर्णानीत्यर्थ । प्रतिसेवको नाम यो भिक्षु निष्कारणेऽपि कारणाभावेऽपि पञ्चकादीनि प्रायश्चित्तस्थानानि प्रतिसेवते । आत्मचिन्तको योऽभ्युद्यतमरण वा प्रतिपत्तु निश्चितो निश्चितवान् निरपेक्षो बालादिषु चिन्तारहित प्रमत्त पञ्चाना प्रमादानामन्यतरेण प्रमादेन युक्त असत्य मृषाभाषणे असयम वा रुचिर्यस्यासावसत्यरुचिर्भवति । मायी किमुक्त भवत्यभीक्ष्ण मायाप्रतिसेवनशीला मायीति अपलक्षण येषामाचार्यलक्षणानि न विद्यन्ते ये च पूर्वमुक्ता अत्यवधावनादय एते सर्वेऽनर्हा । जुङ्गिका जातिकर्म्मशील्पशरीरभेदतश्चतुर्धा । एतेऽपि प्रागुक्ता एत सर्वेऽपि भिक्षवोऽत्यन्तमाचार्यत्वादिपदानामनर्हा । यदि पुनर्बहुश्रुतो भवेत् अवमोऽपि त्रिवर्षपर्यायोत्तीर्ण प्रतिसेवकोऽप्रतिसेवकोऽप्रताऽन्ययतनात प्रतिविरतो निरपेक्ष सापेक्षाभून प्रमत्तोऽप्यप्रमत्ततामुपगतस्तदा भवन्त्येतेऽप्याचार्यत्वादिपदाना योग्याः ।

सम्प्रति सप्तानामपि सूत्राणां सम्भवविषयमाह ।

अहवा जो आगाढं, वंदणआहारमादि संगहितो ।
कप्पं कुणइ अकप्पं, विविहेहि य रागदोसेहिं ॥
माई कुणइ अकज्जं, को माई जो भवे मुसावाई ।
को पुण मोसावाई, असुई पावसुयजीवी ॥

अथवेति सूत्रव्याख्या प्रकारान्तरोपदर्शने यो वन्दनादिभि वन्दनवैयावृत्यादिना आहारादिभिराहारोपधिशय्यादिभिरागाढमत्यर्थं सगृहीत सन् विविधैश्च रागद्वेषै प्रागुक्तस्वरूपै कल्प्यमप्याभाव्यमप्यकल्प्यमनाभाव्य करोति । सप्तानामपि सूत्राणां विषय. (माई कुणइ इत्यादि) क पुनरेवमकार्यं कल्प्यमप्यनाभाव्यमकल्प्यमप्याभाव्यमित्यर्थ करोति एव शिष्यस्य प्रश्नमाशङ्क्य सूत्रकृदाह । मायी मायावान् को मायी तत आह यो भवेत् मृषावादी क पुन मृषावादी तत आह अशुचिः कोऽशुचि सूत्रकृदाह पापजीवी एतस्य व्याख्यान पापश्रुतोपजीवी कौटल्यादिशास्त्रोपजीवीत्यर्थः ।

किह पुण कज्जमकज्जं, करेज्ज आहारमादिसंगहितो ।
जह कम्मिवि नगरम्मा उप्पन्नं संघकज्ज तु ।

कथ पुनराहारादिसगृहीत सन् कार्यमुपलक्षणमेतत् आचार्यमपि कार्यं करोति । अत्र सूरिर्निदर्शनमाह । यथा कस्मिंश्चिन्नगर किमपि सङ्घकार्यमुत्पन्न सचित्तादिनिमित्त वास्तव्यसङ्घस्य व्यवहारो जात इत्यर्थः ॥ स च वास्तव्यसङ्घेन छेत्तु न शक्यते ॥ (अन्यदत्रत्य ववहारशब्दे) एतद्गुणविप्रमुक्ते पुनर्व्यवहरति सुमहती आशातना व्रतलोपश्च तथा चाह–

आगाढमुसावाढी, वितियतइए उ लोवतिवएउ ।
माई य पावजीवी, असुइकिन्ने कणगदडे ॥

आगाढे कुलकार्ये सघकार्ये वा आभाव्यस्य वाऽनाभाव्यस्य वा ज्ञानतया रागद्वेषाभ्या वा भणनात् । मृषा वदतीत्येव शील. आगाढे मृषावादी द्वितीयतृतीये मृषावादादत्तादानविरतिरूपे व्रते लोपयति । तत्र द्वितीयव्रतलोपो मृषावादभणनात् तृतीयव्रतलोपो ऽनाभाव्य ग्राहयतोऽनुमतिदोषभावात् । तुशब्दात् शेषाण्यपि व्रतानि लोपयति । एकव्रतलोपे सर्वव्रतलोप इति वचनात् । मायी सूत्रमुल्लङ्घ्य शठोत्तरैर्व्यवहारकरणात् । पापजीवी दुर्व्यवहारादिकरणात् । परदत्तापहाराण्युपजीवनात् । अत एवाशुचिर्मृषावादित्यादिदोषदुष्टत्वात् । अशुचित्वादेव यथा कनकदण्ड सङ्गाश्रित स्प्रष्टु न कल्पते एवमेषोऽपि न कल्पते यावज्जीवमाचार्यत्वादिषु पदेषु स्थापयितुमिति ॥ व्य० ३ उ० ।

(गणान्तरे उद्देशना उद्देसणा शब्दे)

न व्यतिकृष्टदिशमुद्दिशेत् ॥

(सूत्रम्) णो कप्पति णिग्गंथीणं वितिकिट्ठयं दिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा । कप्पति णिग्गंथाणं वितिगिट्ठियं दिसं वा अदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा । ए ।

न कल्पते निर्ग्रन्थीना व्यतिकृष्टामतिशयेन क्षेत्रतो भावतश्च विकृष्टा दिशमनुदिश वा उद्देष्टुमनुज्ञातु नापि स्वय धारयितु वा इत्येष सूत्रद्वयाक्षरार्थ ।

सम्प्रति भाष्यम् ।

दुविहं पि य वितिगिट्ठं, णिग्गंथीणुद्दिसंति चउगुरगा ।
आणाइणो य दोसा, दिट्ठंतो होइ कोसलए ॥

द्विविधामपि विकृष्टा क्षेत्रविकृष्टा भावविकृष्टां चेत्यर्थ । निर्ग्र-

र्यीनां दिशमुद्दिशति । अस्मिन्प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषास्तत्र विकृष्टां दिशमुद्दिशतो ये दोषास्तत्र को भवति दृष्टान्तस्तमेव भावयति ।

उत्तसामिया जघन्नेण, कोसलेणं गते य मातम्मि ।
तं चेव दिसंती य, निक्खंता अन्नगच्छम्मि ॥
वारिज्जंती वि गया, पडिवसमा मा य तेण पावेणं ।
जिणवयणबाहिरेणं, कोसलएणं अकुलएणं ॥

एकः कोशलकः कोशलदेशोत्पन्न इत्यर्थः । तेनान्यदेशं गतेन यतमानेन सदनुष्ठानपरायणेन कापि श्राविका उपशामिता स च कोशलकस्त देश गतः तस्मिंश्च गते सा श्राविका अन्यस्मिन् गच्छे तत्रागते तस्य समीपे निष्क्रमितुमुपस्थिता यथा मा निष्कामयत पर मम स एव कोशलकः आचार्य एव सा तमेव व्यपदिशन्ती तैर्दीक्षिता । सा च दीक्षाप्रतिपत्त्यनन्तर वार्यमाणाऽपि कोशलसमीपे गता । सा च पापेन जिनवचनबाह्येनाकुलजेन कोशलेन प्रतिपन्ना । एष दोष क्षेत्रविकृष्टां दिशमुद्दिशत । अत्र पर आह ॥

कोसलएहि कारण, गहणं बहुदोसआउ कोसलगो ।
तम्हा दोसुक्कडया, गहणं इह कोसले कारणमओ ॥

कोशलकस्य ग्रहण कृतम् । सूरिराह यस्मात्कोशलको देश स्वभावात् बहून् दोषान् लाति आदत्ते अतिबहुदोषलो बहुदोषवान् तस्मात् दोषोत्कटतयाऽत्र कोशलस्य ग्रहणम् अपि च ।

अंधं अकूरमयं, अविरमहुदयं अवोगिल्लं ।
कोसलयं च अपावं, सएसु एकं न पेच्छामो ॥

अन्ध्रमन्ध्रदेशोत्पन्नमक्रूरमतकमक्रूरामिप्रायमपि च महाराष्ट्रकमवोगिल्लमवाचालं कोशलक चापापशतेषु मध्ये एकं न प्रेक्षामहे इति प्रसिद्धिरित कोशलग्रहणम् । पुनरपि प्राह

कोसलए जे दोसा, उद्दिस्संतुम्मि किन्न सेमाणं ।
ते तेसि होज्ज व न वा, इमेहि पुण नोद्दिसे तेवि ॥

ये दोषा कोशलके दिशमुद्दिशन्ति ते किं न शेषाणां दिशमुद्दिशन्ति किं न भवन्ति भवन्त्येवेति भाव । सूरिराह । ते दोषास्तेषां भवेयुर्वा न वा कोशलके पुनर्नियमाद्भवन्ति देशविशेषजन्मनोऽपि गुणदोषहेतुत्वात्तत कोशलोपादानम् । एते पुनर्वक्ष्यमाणास्तानपि शेषदेशोत्पन्नान् क्षेत्रविकृष्टान्नोद्दिशेत् । अन्यच्च ।

अन्नं उद्दिसिऊणं, निक्खंता वा सरागधम्मम्मि ।
अन्नोन्नम्मि मतं न तु, अग्गाणं पि संभवति ॥

वा शब्दो दूषणान्तरसमुच्चये अथवा भाविनि सरागधर्मे अन्यमाचार्यमुद्दिश्य निष्क्रान्ता परमन्योन्यस्मिन् परस्परस्मिन् यन्ममत्वं तत् व्यग्राणामपि व्यग्रचित्तानामपि न तु नैव भवति किंत्वेकचित्तानामुपजायते सा चैकचित्तता अत्र नास्ति तथा चाह ।

सुचिरं पि सारिया ग-च्छइत्ति ममयाइ गच्छस्स ।
सा यंतचोयणासु य, परिन्नूयामित्ति मन्नेज्जा ॥

सुचिरमपि कालं सारिता शिक्षिता सती गमिष्यतीति मन्यमानस्य गच्छस्य न तस्या विषये ममता ममत्व मायातिसीदन्त्याः संयमयोगेषु शिथिलीभवन्त्या याश्चोदना शिक्षास्तासु चीयमानासु साऽन्यत्र गन्तुमना परिभूताऽस्मीति मन्यते ततस्तस्या अपि न गच्छस्योपरि ममता । किं च

गमणुस्सुएण चित्तेण, सिक्खातोवि न गेण्हइ ।
वारिज्जंती वि गच्छिज्जा, पंथदोसे इमे लभे ॥

गमनोत्सुकेन चित्ते शिक्षा अपि नानाप्रकारा ग्रहणशिक्षा आसेवनाशिक्षाश्च न गृह्णाति । तथा वार्यमाणाऽपि तस्य क्षेत्रविकृष्टस्यान्यस्याचार्यस्य समीपे गच्छेत् तत्र च पथि दोषानिमान् वक्ष्यमाणान् लभते । अत्र यदुक्तं प्राक् एतैर्वक्ष्यमाणैर्दोषैस्तानपि नोद्दिशेदिति तद्व्याख्यानावसरस्तानेव दोषानाह ॥

मिच्छत्तसोहिसागा-रियादिपासंडतेणसच्छंदा ।
खेत्तविगिट्ठे दोसा, असंगलं भावविगिट्ठम्मि ॥

मिथ्यात्व मिथ्यात्वगमन शोधेरभावस्तथा सागारके अगारसहिते आदिशब्दादनागारे एकाकिन्या उपाश्रये दोषाः । तथा पाषण्डैर्विपरिणामन स्तेनैरपहारस्तथा स्वच्छन्दा स्यात् न गच्छाधीना तथा च सति भूयांसो दोषाः । एते क्षेत्रविकृष्टे उद्दिश्यमाने दोषाः । भावविकृष्टे उद्दिश्यमाने अमङ्गल तेन संयमजीविताद्भवजीविताद्वा भ्रश्येत्तस्माद्भावविकृष्टाऽपि नोद्देष्टव्यः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो मिथ्यात्वद्वार शोधिद्वारं चाह ॥

उवदेसो तासिं अत्थि, जेणेगागी उ हिंडए ।
इति मिच्छं जणो गच्छे, कत्थमाहिं च कुज्जउ ॥

उपदेशः तासामेकाकिनीनां नास्ति येन स तादृशः स्त्रीजन एकाकी हिंडते । तत इति अस्मात्कारणादुपदेशाभावलक्षणाजनः स्त्रीजनो मिथ्यात्वे गच्छेत् । गतं मिथ्यात्वद्वारम् ॥ शोधिद्वारमाह । क्षेत्रप्रायश्चित्तमापन्ना सती कुत्र शोधिं कुर्यात् नैव कुत्रापीति भावः एकाकिनीत्वाच्च च प्रायश्चित्तस्थानमप्रायश्चित्तस्थानं वा सा जानाति तत इतोऽपि शोध्यभाव । सागारिकादिद्वार पाषण्डद्वारमाह ।

सागारमसागारे, एकाए वसुए भवे दोसा ।
चरिगादिविपरिणामण-सपक्खपरपक्खनिण्हादी ॥

सागारे आगारसहिते असागारे आगाररहिते उपाश्रये एकस्या एकाकिन्या दोषा भवन्ति । तत्र सागारे दीपस्पर्शनादयो दोषाः । अनागारे कुलटाजारादिप्रवेशनम् । गत सागारिकादिद्वारम् । पाषण्डद्वारमाह (चरगादित्यादि) स्वपक्षे परपक्षे च विपरिणमन तत्र स्वपक्षे निह्नवादिभिरादिशब्दपरपक्षे चरकादिभिः स्तोभ्रष्टादिपरिग्रहः । परपक्षे चरकादिभिः । स्तेनद्वारं स्वच्छन्दद्वारं चाह ।

तेणेहि वा विहिज्जइ, सच्छंदुट्ठाणगमणमादीया ।
दोसा भवंति एए, किंच न पावेज्ज सच्छंदा ॥

स्तेनैर्वा द्रव्यापहारिभिर्वा सार्धं गच्छन्ती ह्रियते तथा स्वच्छन्दमुत्थान स्वच्छन्दगमनमित्यादयश्चैते दोषा एकाकिन्या भवन्ति । किं वा स्वच्छन्दा सती सा किं न प्राप्नुयात्सर्वदुःखस्थानमाप्नुयादित्यर्थः । सम्प्रति भावविकृष्टे दोषानाह ।

गोरवभयसमीकरा, अविदूरत्थे वि होइ जीवंते ।
को टाणिसमुग्घातस्स, कुणइ न य तेण जं किंच ॥

अपि दूरस्थेऽपि जीवति सति तद्विषया गौरवभयसमीकरा भवन्ति भूयस्तन्मिलनादिप्रत्याशासंभवात् । इदानीं पुनस्तस्य समुद्घातस्य को गौरव भय समीकार वा करोति नैव कश्चित् यत् यस्मात् न च नैव तेन सर्वप्रयोजनातीतत्वात् ॥

कोसलवज्जा नत्थि य, दोसा सविसेसभवविगिट्ठम्मि ।
दुविहं पी विनिगिट्ठं, तम्हा उ न उद्दिसेज्जाहि ॥

एव दोषा ये मिथ्यात्वगमनादयः क्षेत्रविकृष्टेऽभिहितास्त एव

सविशेषा भावविकृष्टेऽपि ज्ञातव्याः केवलं कोशलवर्जाः कोशलदोषा हि भावविकृष्टे न भवन्ति मृतत्वेनासंभवात्तस्मात् द्विविधमपि व्यतिकृष्टं क्षेत्रविकृष्टं भावविकृष्टं च नोदिशेत्।

अत्रैवापवादपदमाह ॥

बितियं तिव्वणुरागा, संबंधी वा न ते य सीयंति ।

इत्तरादिसाउ नयणं, अव्वाहाए य दूरम्मि ॥

द्वितीयपदमपवादमधिकृत्य क्षेत्रविकृष्टमपि उद्दिशेत् । यदि सा धर्मग्राहिण्याचार्ये तीव्रानुरागा भवेत् स चाचार्यस्तस्याः सबन्धिस्वजनो न च ते आचार्याः संयमयोगेषु सीदन्ति उद्यतविहारिण इत्यर्थः केवलं तस्या इत्वरा दिशोऽनुबन्धनीया. यावत्तं स्वक आचार्यो न मिलति तावद्वयमाचार्या एते उपाध्याया इय प्रवर्तिनीति ततः स्वाचार्यसमीपे विधिना नयनमव्याघाते च दूरे ते आचार्यास्तत. सदेशं कथयन्ति यथा युष्मदीयधर्मशिष्याऽस्माक पार्श्वे प्रतिपन्नदीक्षिका वर्तते सा प्रतिग्राह्या।

भावविगिट्ठे वि एमेव, समुज्जातोत्ति वा न वा ।

तत्थ आसंकिए बंधो, निस्संके उ न बज्झति ॥

भावविकृष्टेऽप्येवमेव द्वितीयपदमवगन्तव्यमिति भावः कथमित्याह । किं समुद्घातकालगत. किं वा नेत्येव तस्मिन् भावविकृष्टे तस्या बन्ध क्रियते निःशङ्किते तु भावविकृष्टे सा न बध्यते ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह ।

अहवा तस्स सीसं तु, जति सा उ समुद्दिसे ।

विकप्पट्ठे तर्हि खेत्ते, जयणा जा उ सा भवे ॥

अथवा यदि सा तस्य शिष्यं समुद्दिशति कथयति मम ते एवाचार्या अहं तु तच्छिष्यसमीपे स्थास्यामीति तदा भावविकृष्टेऽपि तस्या बन्धः क्रियते तत्र या विकृष्टे क्षेत्रे यतनोक्ता सात्रापि भवति ज्ञातव्या तदेव निर्ग्रन्थीसूत्रं व्याख्यातमधुना कप्पइत्ति द्वारम्

निग्गंथाण वि विगिट्ठो, दोसा ते चेव मोत्तुकोसलयं ।

सुत्तनिवातो निगए, संविग्गे य सेसइत्तरिए ॥

निर्ग्रन्थानामपि विकृष्टे उद्दिश्यमाने य एव निर्ग्रन्थीनां दोषा-मिथ्यात्वादय उक्तास्त एव कोशलकमेकं दोषं मुक्त्वा शेषाः सर्वे निरवशेषा द्रष्टव्या. । यद्येव तर्हि सूत्रमनर्थकमविषयत्वादत आह "सूत्रनिपाताऽभिगते सविग्ने च शेष इत्वरिकः"इयमत्र भावना। अभिगतो ज्ञाततत्व. श्राद्ध. पुराणो वा संविग्न. स्वय योऽपि तस्य धर्मदेशक आचार्यः सोऽपि सविग्नस्तस्मिन् सूत्रनिपातो यस्तु शेषः स्वय न सम्यक् ज्ञाततत्वस्तस्य पथि व्रजतो-मिथ्यात्वादयो दोषास्तस्य दीक्षामाधाय इत्वरिको दिग्बन्ध. क्रियते पुन. प्रेष्यते एतदेव व्याचिख्यासुराह ।

सड्ढो पुराणो वा जइ, लिंगं घेत्तूण वयति अन्नत्थ ।

तस्स वि विगिट्ठबंधो, जा इच्छइ ताव इत्तरिको ॥

श्राद्ध· श्रावक. पुराण· पश्चात्कृतो वाशब्दो विकल्पने अधिगततत्व. स्वयं सविग्नो योऽपि तस्य धर्मग्राहक आचार्य· सोऽपि सविग्न. स इत्यंभूतो यदि लिङ्गं गृहीत्वाऽन्यत्र क्षेत्रविकृष्टमूलाचार्यसमीपे व्रजति तस्य विकृष्टे दिग्बन्ध· कर्तव्यो यावच्च तत्र तिष्ठति तावत्तस्यात्मीय इत्वरिको दिग्बन्ध ॥

मिच्छत्तादी दोसा, जे वुत्ता ते उ गच्छतो तस्स ।

एगागिस्स वि न भवे, इति दूरगते वि उद्दिसणा ॥

य एव पूर्वं मिथ्यात्वादयो दोषा उक्तास्तेऽपि तस्यैकाकिनोऽपि गच्छतो न भवन्ति ज्ञाततत्वत्वात्सविग्नत्वाच्च इति हेतोस्तस्य दूरगतेऽपि क्षेत्रविकृष्टेऽपि गुरावुद्देशन भवति ।

गीयपुराणोवट्ठं, धारेंतो सततमुद्दिसंतं तु ।

ओसन्नं उद्दिसइ, पुव्वदिसं वा सयं धरए ।

चोइज्जंतो जो पुण, उज्जमिहिति तं पि नाम बंधंति ।

सो सततं उद्दिसणा, इति जयणा खेत्तविगिट्ठो ॥

गीतो नाम सूत्रार्थनिष्पन्नः। पुराण· पश्चात्कृतश्रमणभावः स निष्क्रमितुकामोऽन्येषामाचार्याणामुपस्थितस्तस्य च पूर्वाचार्योऽवसन्नो विदेशस्थश्च स तं सततमेवाभिधारयति येषां च समीपे निष्क्रमितुमुपस्थितस्तान्प्रति उद्दिशति भणतीत्यर्थः। मम स एवाचार्य इति तं गीतं पुराणमुपस्थितपूर्वमाचार्यमवसन्नमभिधारयन्त वचसा तमेवोद्दिशन्तं च प्रति यस्य समीपे निष्क्रमितुमुपस्थितः स पूर्वाचार्यो विदेशस्थ योऽन्यस्तस्य संबन्धी सविग्नस्तमुद्दिशति यथा स तवाचार्य इति-अथवा स्वय तेनात्मीयावसन्ना दिक् धारयितव्या न पुनः स तेन तत्रोद्देशयितव्यः तस्यावसन्नत्वाद्यदि वा तमप्यवसन्नमुद्दिशति। केवलमनेन प्रकारेण। केनेत्यत आह (चोइज्जतो इत्यादि) य· पुनर्ज्ञायते चोद्यमानः शिष्यमाण उद्यस्यति सविग्नो भविष्यति तमपि नाम ते आचार्या बध्नन्ति यथा ते तवाचार्य इति ॥ ये पुनर्ज्ञायन्ते न चोद्यमानाः सविग्ना भविष्यन्ति तेषु शेषेषु नोद्देशनमिति भजना । गत क्षेत्रविकृष्टम् ॥

सम्प्रति भावविकृष्टमाह ।

एमेव य कालगते, आसन्ने तं च उद्दिसइ गीयत्थो ।

पुव्वदिसधारणं वा, अगीयमुत्तूण कालगयं ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण कालगते तस्य मूलाचार्यो यदि स्वय गीतार्थो भवति तदा तस्य येऽन्ये आसन्ना आचार्यास्ते वा उद्दिशन्ति पूर्वदिशं वा धावति । अथ स स्वयमगीतार्थस्तदा तस्य कालगत मुक्त्वा शेषोऽन्य उद्दिश्यते इति । व्य० द्वि ७ उ०।(व्यतिकृष्टकाले स्वाध्यायो नोद्देष्टव्य इति सज्झायशब्दे) उद्देशफलमाह परः किमत्र पुनः कारणं यदुद्देश· क्रियते । अनुद्दिष्ट कस्मान्न पठ्यते तत्राह ।

बहुमाणविणयआउ-त्तताय उद्देसतो गुणा हुंति ।

पढमाए सो उ सन्नो, एत्तो वुच्छं करणकालं ॥

उद्देशे हि क्रियमाणे श्रुतस्य श्रुताधारस्य वाऽध्यापकस्योपरि बहुमानमान्तर· प्रीतिविशेषो भवति विनयश्च प्रयुक्तः स्यादायुक्तता च महती भवति एते उद्देशतो गुणा भवन्ति एव सर्वोऽप्युद्दिविषय उद्देशः प्रथमोद्देश. ॥ व्य०७ उ० ॥

(आचार्येऽवसन्ने उद्देशविधिरवधावनं च ओहावण शब्दे वक्ष्यते) उद्-दिश्-घञ्- अनुसंधाने , अन्वेषणे , अभिलाषे, उपदेशे च।आधारे घञ्।उपदेशे, यथोद्देश संज्ञापरिज्ञापम् । वाच० ।

उद्देसणा-उद्देशन- न० अङ्गादौ पठने ऽधिकारित्वे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

उद्देसणकप्प-उद्देशनकल्प-पु० वाचनासामाचार्याम्, ।

एसुवसंपदकप्पो, वोच्छं उद्देसकप्प महुणाओ ।

उद्दिसणवायणाभि य, पाढणता चेव एगट्ठा ॥

सुत्तत्थ तदुभयाइं, पवायते ताव जाव संधाणं ।

बहुपच्चवायपाए, विजढे जाजियं तु संधाणं ॥

संधाणमंतगमणं, असिवादी पच्चवादणेगविहा ।

विजढे तो णिक्खित्ते, जोगे रुडओ पुणरवेवा ॥
जदि कारणेण केणइ वि, णिक्खित्तो तो मउविग्घव पुणो वि ।
अह दप्पा णिक्खित्तो, तो णं उक्खिप्पती मुज्जो ॥
उद्दिट्ठम्मि य अंगे, सुयखंधम्मि य तहेव अज्झयणे ।
आसन्नपुरिसकरणं, तिट्ठाणे होंति पडिसेहा ॥
अंगादि उ दिट्ठा पुरि-सं दट्ठूण अपरिणामादी ।
अत्थति वसहरादिहि, अन्नणीया दीन्नणाकाणं ॥
ताहे णिक्खिवणतीसु, तिट्ठाणे जं तु भणितपडिसेहो ।
तं सुत्तमत्थतदुभए, एतेसि तिण्ह पडिसेहो ॥ पं० भा० ।

इयाणि वायणाकप्पो गाहा ।

सुत्तमत्थतदुभयं, पुण सुत्तस्स तदुभयं वा ।
ताव वाएइ जाव, संथाण नाम जणअर्द्धं ॥

किं निमित्त न समाणेइ जण पर्व होज्जा । उच्यते यद्गुपयात्रा- यताए विजढं जोगे निविगस्स भणिय होइ सइया य सन्नणा य संवणा नाम पुरवि जो न उक्खेयो समाणणेति पुस्स होइ जइ असिवाइ कारणेहिं निक्खित्तो जोगो तो से पुणो वि साहिज्जइ । अह दप्पेण सङ्घयार वा निक्खावइ ताहे न उक्खिप्पइ पुणो जो- गो अहाचार्यो किमर्थं भक्तं न पर्यटन्ति वैयावृत्त्य वा न कुर्वंति उच्यते वायपि ते आयरिओ जो हिंडइ उगइवास सीयकाल- वासासु हिंडंतो वायण वेप्पइ सो वायसु घरता फयाणाइ अ- ग्याणेनो सुत्तत्थतदुभयाण परिहाणी गच्छस्स सीसपडिच्छगाण गिलाणा रोवणा य उवइकाले वा पित्ताइरोहो सइबहुयं वा पाणय पीठ उपादे उ न तरइ समुद्दिसिओ उवगरणं च पडिले- हंतो वायण घेप्पेज्जा तत्थ वि सुत्तत्थाइपरिहाणी गणाचोए जहा गोवालो गावीओ तिविह वेलाओ पयोयइ पुव्वाहगब्भणहा- वरणेसु तहा आयरिओ वि पुव्वाह्ने ताव आवासयसुत्तत्थमरुती- य गणालोय करेइ । मज्झण्हे समुद्देसवेलाए अवराण्हे वि पुणो सज्झायवेलाए आवासए वा को आगओ अणागओ वा परी- सहपराइओ वा पिव मुच्छाए वा पडिओ तत्थ नाहिंडइ अत्थंतो सव्वाणि जाइछायकिलेसो य हिंडंतस्स पच्छा किलेसाभिभूओ सुत्तत्थाणि चिंतिऊण देइ न य नासेइ मेढीपमाण आधार इत्यर्थः । दव्वमेढीए वइच्छा परिग्गहिया सुह भमति भावमेढीए आयरिया मेढीभूया तम्मि य सव्वे सनियट्टति जाणंति य अत्थता कास्य हिंडइ गिहिनिसेज्जं वा जो वाहेइ त जाणति- अत्थंता अकारए आयरिआण हिंडंताण ज सरीरस्स अ- कारय अवक्खयमाइनीणिय जइ गेण्हइ समुद्दिसइ य सरीरा- पच्च गिलाणाइ दोसा अपडिसेहेइ अकारिकामिति ताहे लोओ वड्डइ । आयरिओ चेव अजिइदिओ जाणति निच्छइ किं पव- इयत्थ वालेण सुएण वा खज्जंजा गिलाणारोवणासुत्ताइपरिहा- णी गच्छविणासो य मणचिंता गण न चिंतेइ हिंडता वाल- वुड्ढे गिलाणसेहपाहुणयाइवालवुड्ढा य न तरति दीहभिक्खा- यरिय हिंडिओ गिलाणस्स न कोइ वावारिं तओ गेण्हतओ वा अहवा वारेंति गिलाणस्स गेण्हइ पाउग्ग ते य न गेण्ह- नि अहवा ज वा त वा आणेंति ताहे जइ भणति किं परिस गिलाणस्स नाणीय ताहे तेहिं भण्णइ केरिसाएहिं तुब्भे सयमे- व हिंडता किं लभह दीसता तुब्भे पडिरूवा लाभीए एव सेहपाहुणाण पि न कोइ गेण्हतओ सदिसतो वा जइ पुण अच्छतो वालवुड्ढादयो सव्वे चिंतते गिलाणस्स पाहुणयाण वा पाउग्ग गेण्हावेंतो इड्ढित्ति इड्ढिए य रायमत्त दंडभडभो- इया वा आगया धम्म सुणेमो त्ति जाव आयरिय भिक्ख गया ते निसिऊण पडिगया परिसा आयरिया भिक्खं पि से न कोइ आणेइ । अह अत्थतो तेसिं धम्म कहतो ते पव्व- यता वा सावगा वा हुता अहा भद्दया वा दाणसड्ढा वा हुता पवयणउवग्गहकरा वा हुता तेसिं चद्दगवेज्झसरिसो आगमो " जहा पएसण रण्णा अमच्चेण य धम्मो सुओ ते य अक्खित्ता तेहिं गंतूण अंतेउरं कहिय जहा परिसा तारिसा य आय- रिया पच्छा वियच्चदिवसे महादेवी अमच्चा य समागया धम्मं निसामेंति जाव भिक्ख गया पच्छा निसिउ पडिगया ताओ वि य पव्वयंताओ वि साविआओ वा हुताओ एए दोसा । वाई वा आगओ पुच्छइ किं आयरिया केणइ सिद्ध भिक्खाए गया पच्छा वाई भणइ किह सो अत्था ण जाणि- हिइ जो दिवस भिक्ख हिंडतो अत्थइ अहवा परिस्सतो त्ति काऊण नीसङ्घावेइ सो वि उव्वाओ न तरइ उत्तर दाउ पच्छा पवयणोभावणया अह अच्छंतो पच्छा सत्थाणि चिंततो न परवाइहंडणा वा निमित्तेण वा पराइणं तो पच्छा पवयणउ- ब्भावणया कया हुंता गाहा "गणहारिस्सा हारो" गाहा "सिद्ध उद्दिट्ठम्मि" उयंगसुयगअज्झयणेण उद्दिट्ठे आसन्नणाम प्राप्य पुरिस्सि उद्दिसावेउ ताहे अत्थइ अदूरवदूरेहिं अहवा अ- भिग्गीओ वि गहपडिवद्धो वा अविओ स वि य पाहुडोत्ति एवमादि दोसा पच्छा नाया ताहे निक्खिप्पइ जोगो तिट्ठाणं णागसुत्तत्थतदुभएसु पडिसेहो कारणे वा असिवाइमति वाएज्जा एस वायणाकप्पो । प० चू० ॥

उद्देसणकाल–उद्देशनकाल–पुं० उद्देशसमुद्देशानुज्ञानार्थं पड्- वन्दनकदानकायोत्सर्गत्रयसमयप्रसिद्धे क्रियाविशेषे, ध० ३ अधि० ॥ उद्देशनकाला यत्र श्रुतस्कन्धेऽध्ययने च यावन्त्य- ध्ययनानि उद्देशका वा तत्र तावन्त एव उद्देशनकाला उद्देशा- वसराः श्रुतोपचाररूपा इति । "छव्वीस दसाकप्पववहाराण उद्देसणकाला पण्णत्ता" । सम० । ते चैव दशाश्रुतस्कन्धस्य दशस्वध्ययनेषु दशसु च कल्पस्य षट्सु च व्यवहारस्योद्देश- केष्विति तैरविधिना गृहीतैः ध० ३ अधि० । षड्विंशति- रुद्देशनकाला दशाकल्पव्यवहाराणं तत्र गाथा " दस उद्देस- णकाला, दसाण छच्चेव हुति कप्पस्स । दस चेव ववहारस्स, दसाकप्पस्स हुति छव्वीस " ॥ प्रश्न० स० ५ द्वा ।

खुड्डियाएणं विमाणपविभत्तीए तइए वग्गे चत्तालीसं उद्दे- सणकाला पण्णत्ता महालियाएणं विमाणपविभत्तीए तइए वग्गे तेयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता महालियाएणं विमा- णपविभत्तीए चउत्थे वग्गे चोयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता महालियाएणं विमाणपविभत्तीए पंचमे वग्गे पणयालीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता नवण्हं बंभचेराणं एगावण्णं उद्देसण- काला पण्णत्ता ॥

(बंभचेराणाति) आचाराः प्रथमश्रुतस्कन्धाध्ययनानां श- स्त्रपरिज्ञादीनाम् । तत्र प्रथमे सप्तोद्देशका इति सप्तैवोद्देशनकाला एवं द्वितीयादिषु क्रमेण षट् चत्वारः षट्सप्तैवमेकपञ्चाशदिति ।

आयारस्स णं सचूलियागस्स पंचासीइ उद्देसणकाला पण्णत्ता ।

तत्राचारस्य प्रथमाङ्गस्य नवाध्ययनात्मकप्रथमश्रुतस्कन्धरू- पस्य (सचूलियागस्स इति) द्वितीये हि तस्य श्रुतस्कन्धे पञ्च चूलिकास्तासु च पञ्चमी निशीथाख्येह न गृह्यते भिन्नप्र- स्थानरूपत्वात्तस्यास्तदन्याश्चतस्रस्तासु च प्रथमद्वितीये सप्त- सप्ताध्ययनात्मिके तृतीयचतुर्थ्यौ चैकैकाध्ययनात्मिके तदेव

सह चूलिकाभिर्वर्त्तत इति सचूलिकाकस्तस्य पञ्चाशीतिरु-द्देशनकाला भवन्तीति प्रत्यध्ययनमुद्देशनकालानामेतावत्स-ख्यत्वात्तथाहि प्रथमश्रुतस्कन्धे नवस्वध्ययनेषु क्रमेण सप्त प-ड्चत्वारश्चत्वार षट् पञ्च अष्ट चत्वार सप्तचेति द्वितीयश्रुत-स्कन्धे तु प्रथमचूलिकायां सप्तस्वध्ययनेषु क्रमेण एकादश त्रयस्त्रय चतुर्षु द्वौ द्वौ द्वितीयायां सप्तैकसराणि अध्ययना-न्येव तृतीयैकाध्ययनात्मिका एव चतुर्थ्यपीति सर्वमीलने पञ्चाशीतिरिति । सम० ॥

उद्देसणा-उद्देसना-स्त्री० वाचनायाम्, पाठने, प० भा० । अ-न्याचार्य्योपाध्यायोद्देशना ॥

(सूत्रम्) भिक्खू य इच्छिज्जा अन्नं आयरियउवज्झायं विहरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिया जाव गणावच्छेइय वा अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ते से वियरिज्जा एव मे कप्पइ अन्नं आयरियउवज्झाय उद्दिसावित्तए नो मे कप्पइ तेसिं कारणं अदावित्ता अन्नं आयरियउवज्झाय उद्दिसावित्तए कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्त अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् । नवरमन्यदाचार्योपाध्यायमुद्देशयितु-माचार्यश्चोपाध्यायश्चाचार्योपाध्याय समाहारद्वन्द्व । यद्वा आचा-र्ययुक्त उपाध्याय आचार्योपाध्याय शाकपार्थिवत्वान्मध्यमपदलोपी समास आचार्योपाध्यायावित्यर्थ तावन्यानुद्देशयितुमात्मन इच्छेत् ततो नो कल्पते अनापृच्छ्याचार्यं वा यावद्गणावच्छेदक वा इत्यादि प्राग्वत् द्रष्टव्यम् तथात्वकल्पने तेपामाचार्यादीना कारणमदापयित्वा अनिवेद्य अन्यमाचार्योपाध्यायमुद्देशयितुमा-त्मनो गुरुतया व्यवस्थापयितुमेष सूत्रार्थ ।

अथ भाष्यम् ।

सुत्तम्मि कड्डियम्मि, आयरियउवज्झाय उद्दिसा विंति
तिएहन्न उद्दिसिज्जा, णाणे खलु दंसणचरित्ते ।

सूत्र सूत्रार्थे आकृष्टे उक्तम । निर्युक्तिविस्तर उच्यते । आचार्यो-पाध्यायमभिनवमुद्देशयन् त्रयाणामर्थायोद्दिशेत् । ज्ञानार्थं दर्श-नार्थं चारित्रार्थं चेति ॥

नाणे महकप्पसुत, मिरिसत्ते को पि उवगए ।
तस्सट्ट उद्दिसिज्जा, सा खलु सेच्छा ण जिणआणा ॥

ज्ञाने तावदभिधीयते । केपाचिदाचार्याणा कुले गणे वा महा-कल्पश्रुतमस्ति तैश्च गणसस्थिति कृता योऽस्माक शिष्यतया गच्छति तस्यैव महाकल्पश्रुत देय नान्यस्य तत्रोत्सर्गतो नो गन्त-व्यम् यद्यन्यत्र नास्ति तदा तस्य महाकल्पश्रुतस्यार्थाय तमप्या-चार्यमुद्दिशेत् । उद्दिश्य वाऽधीते तस्मिन् पूर्वाचार्याणामेवान्तिके गच्छेत्न तत्र तिष्ठेत् । कुत इत्याह । सा खलु तेपामाचार्याणा स्वेच्छा न जिनाज्ञा नहि जिनैरिद भणित शिष्यतयोपगतस्य श्रुत दातव्यमिति ॥

अथ दर्शनार्थमाह

विज्जामंतनिमित्ते, हेऊ सत्तट्ठदंसणट्ठाए ।
चरित्तट्ठ पुन्नगमो, अहव इमे हुंति आएसा ॥

विद्यामन्त्रनिमित्तार्थं हेतुशास्त्राणा च गोविन्दनिर्युक्तिप्रभृतीना-मर्थाय यद्यन्य आचार्य उद्दिश्यते तद्दर्शनार्थं गन्तव्य चारित्रार्थं पुनरुद्देशेन पूर्वं प्रागुक्त एव गमो भवति । अथवा तत्रैते आदेशा प्रकारा भवन्ति ।

आयरिओवज्झाए, ओसण्णोहाविते विकारगते ।
ओसण्णे छव्विहे खलु, वत्तमवत्तस्स मग्गणया ॥

आचार्य उपाध्यायो वा अवसन्न सजात अवधावितो वा गृह-स्थीभूत काल गतो वा यद्यवसन्नस्तत षड्विधो भवेत् पार्श्वस्थोऽवमग्न कुशील ससक्तो नित्यवासी यथाच्छन्दश्चेति । यश्च तस्य शिष्य आचार्यपदयोग्य स व्यक्तोऽव्यक्तो वा भवेत् तत्रेय मार्गणा ।

वत्ते खलु गीयत्थे, अव्वत्ते वयए अहव अगीयत्थे ।
वत्तिच्छसारपेच्छण, अहवा सम्मे सयं गमणं ॥

अत्र चत्वारो भङ्गा । तत्र वयसा व्यक्त षोडशवार्षिक श्रुतेन च व्यक्तो गीतार्थ । एष प्रथमो भङ्ग । वयसा व्यक्त श्रुतेनाव्यक्त एषोऽ र्थतो द्वितीय । श्रुतेन व्यक्त वयसा अव्यक्त । अत्रमर्थतस्तृतीय अव्वत्ते वयण अहव अगीयत्थत्ति चतुर्थो भङ्गो गृहीत स चाय वयसाऽप्यव्यक्त श्रुतेन चाव्यक्त इति ४ तत्र प्रथमभङ्गे द्विधाऽपि व्यक्तस्य इच्छा अन्यमाचार्यमुद्दिशति तावत् तमासन्नीभूतमाचा-र्यं सारयितु साधु संघाटक प्रेषयति । अथासन्न स आचार्यस्तत स्वयमेव गत्वा नोदयति नोदनायां चैव कालपरिमाणम् ॥

एगाहपणगपक्खे, चाउम्मासोवरिसे जत्थ वा मिलइ ।
चोयइ चोयवेइ वा, णेच्छंते सयं तु वद्धाओ ॥

एकाह नाम दिने गच्छो नोदयति एकान्तरित वा तथा प-श्चाह पञ्चाना दिवसानामन्ते एव पक्षे चातुर्म्मासे वर्षान्ते वा यत्र वा समवसरणादौ मिलति तत्र स्वयमेव नोदयति अप-रैर्वा स्वगच्छीयैर्नोदन कारयति यदि सर्वथापि नेच्छति ततः स्वयमेव त गण वर्त्तापयति ।

उद्दिसइ व अन्नदिसं, पयावणट्ठा न संगहट्ठाए ।
जइ णाम गारवेण वि, मुपज्जाणिच्छे सयं वाइ ॥

अथवा स उभयव्यक्तोऽन्यां दिशमपरमाचार्यमुद्दिशति । तच्च तस्यावसन्नाचार्यस्य प्रतापनार्थं न पुनर्गणस्य सग्रहोप-ग्रहनिमित्त स च तत्र गत्वा भणति । अहमन्यमाचार्यमुद्दि-शामि यदि यूयमितस्थानान्नोपरमध्वे तत स चिन्तयेत् अ-हो अमी मयि जीवत्यप्यपरमाचार्य प्रतिपद्यन्ते मुञ्चामि पा-र्श्वस्थतां यदि नामैव गौरवेणापि पार्श्वस्थत्व मुञ्चे तत सुन्दर अथ सर्वथा नेच्छत्युपरन्तु तत स्वयमेव गच्छाधिपत्ये ति-ष्ठति गत प्रथमो भङ्ग । अथ द्वितीयपदमाह ॥

सुअवत्तो वयावत्तो, जणइ गणं तेन सारितु सत्ता ।
सारेहिं सगणमेवं, अण्णं च वयाम आयरिअं ॥

य श्रुतेन व्यक्तो वयसा पुनरव्यक्त स स्वय गच्छ वर्त्तीप-यितुमसमर्थ ॥ तत आचार्य भणति । अहमप्राप्तवयास्तेन-त्वदीय गण सारयितु न शक्त । अत सारय स्वगणमेव अहं पुनरन्यस्य शिष्यो भविष्यामि अथवा अहमेते चान्यमाचार्यं व्रजाम उद्दिशामीत्यर्थ ॥

आयरियउवज्झायं, निच्छंते अप्पणा य असमत्थे ।
तिगसवच्छरपच्छं, कुलगणसंघे दिसाबंधो ॥

एव भणित आचार्य उपाध्यायो वा यदि नेच्छति सयमे स्थातु सचात्मना गण वर्त्तापयितुमसमर्थ । तत कुले सत्कमाचा-र्यमुपाध्याय वा उद्दिशति । तत्र त्रीणि वर्षाणि तिष्ठति तमा-चार्यं सारयति तत त्रयाणा परम स चिन्तादिक कुलाचार्यो

हरतीति कृत्वा गणाचार्यमुद्दिशति तत्र संवत्सरं स्थित्वा स- घाचार्यस्य दिग्बन्धं प्रतिपद्य वर्षार्द्धं षण्मासान् तत्र तिष्ठति । कुलगणाभ्यां संघं स कामयाचार्यमिद भणति ।

सचित्तादिहरंता, कुलंपि णेच्छाम जं कुलं तुज्झ ।
वच्चामो अण्णगणं, संघं च तुमं जइ न वयसि ॥

यत् त्वदीय कुलं त्वदीया आचार्या अस्माकं वर्षत्रयादूर्ध्वं सचित्तादिकं हरन्ति अत. कुलमपि नेच्छामो यदि त्विदानीमपि न तिष्ठति ततो वयमन्यगणं संघं वा व्रजामः ॥

एवं पि अच्छीयंते, नाहेत्तअट्ठपंचमे वरिसे ।
संजमे व धारइगणं, अनुलोमेणं च सारेइ ॥

एवमर्द्धपञ्चमे वर्षे पूर्वाचार्यो नोदनाभिः प्रतापितोऽपि यदि न तिष्ठति तत एतावता कालेन स श्रुतव्यक्तो वयमपि व्यक्ता जाता इति कृत्वा स्वयमेव गणं धारयति । यत्र च पूर्वाचार्यं पश्यति तत्रानुलोमवचनैस्तथैव सारयति ।

अहव जइ अत्थि थेरा, सत्तापरिकड्ढिऊण तं गच्छं ।
दुहा वत्तसरिसस्स, तस्स उ गमो मुणेयव्वो ॥

अथवा यदि तस्य श्रुतव्यक्तस्य स्थविरस्त गच्छं परिवर्तयितुं शक्तस्तत कुलगणसंघेषु नोपतिष्ठेन किन्तु स स्वयं सूत्रार्थौ शिष्याणां ददाति । स्थविरास्तु गच्छं परिवर्त्तयन्ति एव च द्विधा व्यक्तसादृश्यस्यास्य गमो ज्ञातः एो भवति गतो द्वितीयभङ्ग ।

अथ तृतीय भङ्गमाह ।

वत्तवओ उ अगीओ, जइ थेरा तत्थ केइ गीयत्था ।
ते मंतिए पढंतो, चोएइ असइ अण्णत्थ ॥

यो वयसा व्यक्तः परमगीतार्थस्तस्य गच्छे च यदि केऽपि स्थविरा गीतार्था सन्ति ततस्तेषां स्थविराणामन्तिके पठन् गच्छमपि परिवर्तयति अवसन्नाचार्यं चान्तरतो नोदयति तेषां गीतार्थस्थविराणामभावे गणं गृहीत्वा अन्यत्रोपसम्पद्यते गतस्तृतीयो भङ्ग. । अथ चतुर्थभङ्गमाह ।

जो पुण उभय अवत्तो, वट्टावग असइ सो उद्दिसई ।
सव्वे वि उद्दिसंता, मोत्तूण उद्दिसंति इमे ॥

य पुनरुभयथा श्रुतेन वयसा वा व्यक्तस्तस्य यदि स्थविराः पाठयितारो विद्यन्ते । अपरे च गच्छवर्त्तापकास्ततोऽसावपि नान्यमुद्दिशति । स्थविराणामभावे स नियमादन्यमुद्दिशति सर्वेऽपि भङ्गचतुष्टयवर्तिनोऽन्यमाचार्यमुद्दिशतोऽमून् मुक्त्वा उद्दिशन्ति तद्यथा ।

संविग्गमगीयत्थं, असंविग्गं खलु तहेव गीयत्थं ।
असंविग्गमगीयत्थं, उद्दिसमाणस्स चउगुरुगा ॥

संविग्नमगीतार्थमसंविग्नं गीतार्थमसंविग्नमगीतार्थं चेति त्रीनप्याचार्यत्वेनोद्दिशतश्चतुर्गुरुका एतेन यथाक्रम कालेन तपसा तदुभयेन चतुर्गुरुका कर्तव्या । अत्रैव प्रायश्चित्तवृद्धिमाह ॥

सत्तरत्तं तवो होइ, तओ छेओ य हावई ।
तेणच्छिण्णपरीआए, तओ मूलं तओ दुगं ॥

एतानयोग्यानुद्दिशतो वर्तमानस्य प्रथम सप्तरात्र चतुर्गुरु, द्वितीय सप्तरात्र षड्लघु तृतीय षड्गुरु, चतुर्थे चतुर्गुरुकच्छेद । पञ्चमे षड्लघुक षष्ठ षड्गुरुकस्तत एकदिवसे मूल द्वितीये अनवस्थाप्य तृतीये पाराञ्चिकम् । अथवा षड्गुरुकतपोऽनन्तर प्रथमत एव सप्तरात्र षड्गुरुकच्छेदस्ततो मूलानवस्थाप्यपाराञ्चिकानि प्राप्नुवत । यद्वा तपोऽनन्तर पञ्चकादिच्छेद सप्तसप्तदिना-

नि भवन्ति तेषां प्रायश्चित्त विज्ञाय संविग्नो गीतार्थ. उद्देष्टव्यः । तत्रापि विशेषमाह ।

उट्ठाणत्रिरहियं वा, संविग्गं वा वि वयइ गीयत्थं ।
चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणैर्विरहितमपि संविग्नं गीतार्थं यदि स दोषकायिकादिसहित न वदति आचार्यत्वेन उद्दिशति तदा चत्वारोऽनुद्घातास्तत्राप्याज्ञादयो दोषा. । इदमेव व्याचष्टे ॥

उट्ठाणजोणियगो, तत्थ रहियकाइयाइ ता चउरो ।
तं चिय उद्दिसमाणं, उट्ठाणगयाण जे दोसा ॥

षट्स्थानानि नाम पार्श्वस्थ. अवसन्न. कुशीलः ससक्तो यथाच्छन्दो नियतवासी चेति एतै षड्भिर्विरहितो ये कथिकादयः कथिकप्राश्निकनामाकसम्प्रसारकाख्याश्चत्वारस्तानप्युद्दिशतस्त-- एव दोषा ये षट्स्थानेषु पार्श्वस्थादिषु गतानां प्रविष्टानां भवन्ति । एष सर्वोऽप्यवसन्ने आचार्ये विधिरुक्तः । अथावधावितकालगतयोर्विधिमाह ॥

ओहावियकालगते, जो अव्वत्तो स उद्दिसावेत्ति ।
अव्वत्ते तिविहे वा, णियमा पुण संगहट्ठाए ॥

अवधाविते कालगते वा गुरौ त्रिविधेऽपि प्रथमभङ्गवर्जे भङ्गत्रयेऽपि योऽव्यक्तः स यदा इत्थं भवति तदा अन्यमाचार्यमुद्दिशयति अथवा त्रिविधेऽपि कुलसत्के गणसत्के संघसत्के वाचार्योपाध्याये आत्मना उद्देशं कारयति स चाव्यक्तत्वान्नियमात् संग्रहोपग्रहार्थमेवोद्दिशति आचार्यं गृहीभूतमवसन्नं वा यदा पश्यत्तदेत्थ भणति ।

ओहाविय ओसन्ने, भणइ अणाहो वयं विणा तुज्झे ।
कमसासमसागरिए, दुप्पडिए गंततो तिएहं ॥

अवधावितस्यावसन्नस्य वा गुरो. क्रमयो शीर्षं सागारिके प्रदेशे कृत्वा भणति भगवन् अनाथा वय युष्मान् विना अत प्रसीद भूय संयमे स्थित्वा समाधीकुरु किमनकष्पासमान् । शिष्य पृच्छति तस्य गृहीभूतस्याचारित्रस्य वा चरणयो कथं शिरो विधीयते गुरुराह–दुष्प्रतिकर दु खेन प्रतिकर्तुं शक्य यतस्त्रयाणा तद्यथा मातापित्रो स्वामिनो धर्माचार्यस्य च यदुक्तं "तिण्ह दुप्पडिआर समण० तसो अम्मापिउस्स भट्टिस्स धम्मायरियस्स य इत्यादि "। तत एवमवसन्नेऽवधाविते वा गुरौ विनयो विधीयते । किञ्च ।

जो जेण जम्मि ठाणम्मि, ठाविओ दंसणे व चरणे वा ।
सो तं तओ चुक्तं-म्मिवि, काउं भवे निरणो ॥

यो येनाचार्यादिना यस्मिन् स्थापितस्तद्यथा । दर्शने वा चरणे वा स शिष्यस्त गुरु ततो दर्शनाद्भ्रष्टं तत्रैव दर्शने चरणे वा स शिष्यस्तं गुरुं कृत्वा स्थापयित्वा अनृण ऋणमुक्तो भवति । कृतप्रत्युपकार इत्यर्थ । अथ 'कप्पइ तेसिं कारण दीविता इत्यादि " सूत्रावयव व्याचष्टे ।

निस्सु वि दीवियकज्जा, विमज्जिता जइ अ तत्थ तं णत्थि ।
णिक्खिवइ वयनि दुवे, निक्खुकिंद्राणि निक्खिवत ॥

त्रिष्वपि ज्ञानदर्शनचारित्रेषु भजन्तो भिक्षुप्रभृतयो दीपितकार्या. पूर्वोक्तविधिना निवेदितमन्त. स्वप्रयोजनेन गुरुणा विसर्जिता गच्छन्ति । यदि च तत्र गच्छे तदवसन्नादिकं कारण नास्ति तत उपसपद्यते नान्यत्रेति ।

(सूत्रम्) गणावच्छेदइए य इच्छिज्जा अन्नं आयरियउवज्झायं

उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा ३ अन्नं उद्दिसावित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता जाव उद्दिसावित्तए नो से कप्पति तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्नं आयरिओवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अन्नं जाव उद्दिसावित्तए कप्पइ आयरियउवज्झाए य इच्छेज्जा । अण्णं आयरिओवज्झायं उद्दिसावेत्तए । नो से कप्पइ आयरियउवज्झाए तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ आयरियउवज्झाइत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए णो से कप्पति अणापुच्छित्ता । आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा ॥ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए य तं से वितरंति एवं से कप्पति एवं नो से कप्पइ जाव विहरित्तए तेसिं कारणं अदीवेत्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए कप्पइ तेसिं कारणं दीवित्ता जाव उद्दिसावित्तए ॥

सूत्रद्वयव्याख्या प्राग्वत् अथ भाष्यम् "निक्खिवयवयाति इत्यादि" पश्चार्द्धे द्वौ गणावच्छेदकौ आचार्य उपाध्यायश्च यथाक्रम गणावच्छेदित्वमाचार्यत्वमुपाध्यायत्व निक्षिप्य व्रजन्तु यस्तु भिक्षु स किमिदानीं निक्षिपतु गणाभावान्न किमपि तस्य निक्षेपणीयमस्ति तस्य निक्षेपणं नोक्तमिति भाव । अथ गणावच्छेदकाचार्ययोर्गणनिक्षेपणाविधिमाह ॥

णाणट्ठाए दंसणहवि, णिक्खिवणं होइ उज्जमंतेसु ।
सीयंतेसु य सगाणा, वच्चइ मा ते विणासिज्जा ॥

द्वयोर्ज्ञानदर्शनयोरर्थाय गतयोर्द्वयोरपि गणावच्छेदकाचार्ययो स्वगणस्य निक्षेपण ये उद्यच्छन्त' सविग्ना आचार्यास्तेषु भवति अथ सीदन्तस्त ततस्त स्वगण गृहित्वा व्रजन्ति न पुनस्तेषामन्तिके निक्षिपन्ति । कुत इत्याह मा ते शिष्यास्तत्र मुक्ता' सन्तो विनश्येयु । इदमेव भावयति ॥

वच्चम्मि जो गमो खलु, गणवच्छे सो गमो उ आयरिया ।
निक्खिवणे तम्मि चत्ता, जमुद्दिसे तम्मि ते पच्छा ॥

यो गम उभयव्यक्तं भिक्षावुक्त स एव गणावच्छेदके आचार्येच मन्तव्य । नवर गणनिक्षेप कृत्वा तावात्मद्वितीयावात्मतृतीयो वा वर्त्तेते तत स्वगच्छे एव य सविग्नो गीतार्थ आचार्यादिस्तत्रात्मीयसाधून्निक्षिपति । अथासविग्नस्य पार्श्वे निक्षिपति ततस्ते साधव परित्यक्ता मन्तव्यास्तस्मान्न निक्षेपणीया किन्तु येन केन प्रकारेणात्मना सह नेतव्यास्ततोऽयमाचार्य सगणावच्छेदक आचार्यो यमुद्दिशति तस्मिन् तान् आत्मीयसाधून् पश्चान्निक्षिपति । यथाह युष्माकं शिष्यस्तया इमेऽपि युष्मदीया शिष्या इति भाव । इदमेवाह ।

जह अप्पगं तहा ते, ते ण य हप्पंत तेण घेतव्वा ।
अपहुप्पंते गिण्हइ, संघाडं मुत्तु सव्वे वा ॥

यथा आत्मान तथा तानपि साधून्निवेदयति तेनाप्याचार्येण प्रमाणेषु साधुषु ते प्रतीच्छकाचार्यसाधवो न ग्रहीतव्या तस्यैव तान् प्रत्यर्पयति । अथ वास्तव्याचार्यस्य साधवो न पूर्यन्ते ततः एकसंघाटकं तस्य प्रयच्छति त मुक्त्वा शेषानात्मना गृह्णाति । अथ वास्तव्याचार्य सर्वथैवासहायस्ततः सर्वानपि गृह्णाति ॥

मुह असुहस्स वि तेण वि, वेयावच्चाइसव्वकायव्वं ।
तेतेसि अणाए सा, वावारेउं न कप्पंति ॥

तेनापि प्रतीच्छकाचार्यादिना तस्याचार्यस्य सहिष्णोरसहिष्णोर्वा वैयावृत्त्यादिकं सर्वमपि कर्त्तव्यं तेऽपि साधवस्तेषामाचार्याणामादेशान्तरेण व्यापारयितु न कल्पन्ते । वृ०४ उ ॥

उद्देसिय (उ) —औद्देशिक— न० उद्देशनमुद्देश' यावदर्थिकादिप्रणिधानमित्युद्गमदोषस्तेनोद्गमेन निर्वृत्त तत्प्रयोजन वौद्देशिकम् । द्वितीयोद्गमदोषदुष्टे भक्तादौ, तद्भेदोपचाराद् द्वितीयोद्गम दोषे च । पचा० १३ विव० । पिं० । प्रव० । द० । स्था० ।

अस्य निर्युक्तिर्यथा—

उद्देसिअसाहुमाई, ओमचए भिक्खुवियरणं जं च ।
उव्वरियं मीसेउं, तविअं उद्देसिअं तं तु ॥ ४४ ॥

उद्दिश्य वाचा साध्वादीन्निर्ग्रन्थशाक्यादीनवमात्यये दुर्भिक्षापगमे भिक्षावितरण प्राभृतकादीनां यत उद्दिष्टौद्देशिकम् यच्चोद्धरितमोदनादि मिश्रयित्वा व्यञ्जनादिना वितरण तत्कृतौद्देशिक यच्च तप्त्वागुडादिना मोदकचूर्णीबन्धवितरण तत्कर्मौद्देशिकमित्येव चेतसि निधाय सामान्येनोपसहरत्यौद्देशिकं तदेतत तुशब्द' स्वगतभेदविशेषणार्थ इति गाथार्थ । पं० व० । साधुयोगे सति यदुद्दिश्य कृत्वा दीयते तदौद्देशिकम् । उत्त० २४ अ० । आधाकर्मिके, कल्प० । यत्पूर्वमेव सरकूचूर्णकादि साधूनुद्दिश्य पुनरपि सततगुडादिना सस्क्रियते तदुद्देशिकम् । आचा० २ श्रु० २ अ० । " उद्देसिय तु कम्म पत्थं उद्दिस्स कीरए जंति " पचा० १७ विव० । अर्थिन पाखण्डिकान् श्रमणान्वोद्दिश्य दुर्भिक्षात्ययादौ यद्भक्त वितीर्यते तदौद्देशिकमिति स्था०एवा तद्भेदा यथा तच्च समासतो द्विधा भवति । द्वैविध्यमाह ॥

ओहेण विभागेण, उहवप्पं तु बासयविभागे ।
उद्दिट्ठकडेकम्मे, एक्केक्के चउक्कओ भेओ ॥

द्विविधमौद्देशिकं तद्यथा ओघेन विभागेन च । तत्र ओघ' सामान्य विभाग पृथक् करणम् । इय चात्र भावना नाद्यासमिह किमपि लभ्यते तत' कतिपया भिक्षां दद्म इति बुद्ध्या कतिपयाधिकतण्डुलादिप्रक्षेपेण यन्निर्वर्तमशनादि तदोघौद्देशिकम् ओघेन सामान्येन स्वपरपृथग्विभागकरणाभावरूपेणौद्देशिकमोघौद्देशिकमिति व्युत्पत्तेस्तथा विवाहप्रकरणादिषु यदुद्धरित तत् पृथक् कृत्वा दानाय कल्पित तद्विभागौद्देशिक विभागेन स्वसत्ताया उत्तीर्य पृथक्करणेनौद्देशिक विभागौद्देशिकमिति व्युत्पत्ते तत्र ओघओघविषयमौद्देशिक तत्स्याप्यनाप्र व्याख्येय किं त्वग्रे व्याख्यास्य इति भाव । यत्तु विभागविषय तद् (चासति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायाद् द्वादशप्रकारम् । द्वादशप्रकारतामेव सामान्यत कथयति (उद्दिट्ठेत्यादि) प्रथमतस्त्रिधा विभागौद्देशिकम् । तद्यथा उद्दिष्ट कृत कर्म्म चातत्र स्वार्थमेव निष्पन्नमशनादिक भिक्षाचरणादानाय पृथक् कल्पित तदुद्दिष्टम् । यत पुनरुद्धरित सत्स्वाद्योदनादिक भिक्षादानाय करम्बादिरूपतया जात तत्कृतमित्युच्यते । यत्पुनर्विवाहप्रकरणादावुद्धरित मोदकचूर्णादि तद् भूयोऽपि भिक्षाचराणा दानाय गुडघृतादिदानादिना मोदकादि कृत तत्कर्मेत्याभिधीय

ते । एकैकस्मिंश्च उद्दिष्टादिकभेदे चतुष्कको वक्ष्यमाणश्चतु सङ्ख्या भेदो भवति । अयश्चतुर्भिर्गुणिता द्वादश ततो विभागोद्देशिक द्वादशधा । सम्प्रत्योघोद्देशिकस्य पूर्वस्थापिततया मुक्तस्य प्रथमतः सम्भवमाह ॥

जीवामु कहंचि उमे, नियथं भिक्खाविता कइदमोहे ।
दिहु नत्थि अदिन्नं भु-ज्जइ अकयं न य फलेइ ॥

इह भिक्षानन्तर केचिद् गृहस्था एव चिन्तयन्ति । कथमपि महता कष्टेन जीविता अयमदुर्भिक्षे ततो नियन प्रतिदिवस भिक्षां दद्मो यतो हु निश्चित हन्दीति स्वसम्बोधने नास्त्येतत् यदुत भवान्तरे अदत्तमिह जन्मनि भुज्यते नापीह भवे अकृत शुभ कर्म परलोके फलति । तस्मात्परलोकाय कतिपयभिक्षाप्रदानेन शुभ कर्मोपार्जनीयमित्यर्थौद्देशिकसम्भवः ।

सम्प्रत्योघौद्देशिकस्वरूप कथयति ॥

सा उ अविसेसियम्मेव, भत्तम्मि तंदुले छुहइ ।
पासंडीण गिहीण व, जो एहि इयस्स भिक्खट्ठा ॥

सा तु गृहनायिका योषित्प्रतिदिवस यावत्प्रमाण भक्त पच्यते तावत्प्रमाण एव भक्ते पक्तुमारभ्यमाणे पाखण्डिनां गृहिणां वा मध्ये य. कोऽपि समागमिष्यति तस्य भिक्षार्थे भिक्षादानार्थमविशेषितमेव । स्वार्थमेतावदेतावच्च भिक्षादानार्थमित्येव विभागरहितमेव तन्दुलानधिकतरान् प्रक्षिपति एतदप्यौद्देशिकम् । अत्र परस्य पूर्वपक्षमाशङ्क्योत्तरमाह ।

छउमत्थो उद्देसं, कहं वियाणाइ चोइए य भणइ ।
उवउत्तो गुरु एवं, गिहत्थसद्दाइ चेट्ठाए ॥

छद्मस्थः केवली कथमोघौद्देशिक पूर्वोक्तस्वरूप विजानाति न ह्येवं छद्मस्थेन ज्ञातु शक्यते यथा स्वार्थमारभ्यमाणे पाके भिक्षादानाय कतिपयतन्दुलप्रक्षेप आसीदिति । एव नोदिते प्रश्ने कृते गुरुर्भणति । एव वक्ष्यमाणप्रकारेण गृहस्थशब्दादिचेष्टयामुपयुक्तो दत्तावधानो जानातीति । एतदेव भावयति ।

देन्ना उ ताउ पंच वि, रेहा उ करेइ देइ व गणंती ।
देहइ उ मा य इओ, अवणेहय एत्तिया भिक्खा ॥

यदि नाम भिक्षादानसङ्कल्पतः प्रथमत एवाधिकतन्दुलप्रक्षेपः कृतो भवेत्तर्हि प्राय एव गृहस्थानां चेष्टाविशेषा भवेयु' यथा दत्तास्ता पञ्चापि भिक्षा । इयमत्र भावना । कोऽपि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टाय साधवे तत्स्वामी निजभार्यया भिक्षां दापयति सा च साधौ शृण्वति एवेत्य प्रत्युत्तर ददाति । यथा ताः प्रतिदिवस सङ्कल्पिता. पञ्चापि भिक्षा अन्यभिक्षाचरेभ्यो दत्ता इति । यद्वा भिक्षां ददन्ती दत्तभिक्षापरिगणनाय भित्त्यादिषु रेखां करोति । अथवा प्रथमेय भिक्षा द्वितीयेय भिक्षेत्येव गणनाय ददाति यदि वा काचित् कस्या अपि सन्मुखमेव भणति यथा अस्मदुद्दिष्टभक्त सत्कापिटकादेर्भव्याद्देहि मा इत इति । अथवा प्रथमत. साधौविवक्षितगृहे भिक्षार्थं प्रविष्टे काचित् कस्या समुखमेवमाह अपनय पृथक् कुरु विवक्षितात्स्थानादेतावतीं भिक्षां भिक्षाचरेभ्यो दानायेति । तत एवमुल्लापश्रवणरेखाकर्षणादिदर्शनेनैव छद्मस्थेनाप्यौद्देशिक ज्ञातु शक्यते ज्ञात्वा च परिह्रियते । तना न कश्चिद्दोष. अत्र चाय वृद्धसम्प्रदाय । सङ्कल्पितासु दत्तासु पृथग्कृतासु वा शेपमशनादिक कल्प्यमवसेयमिति इह उपयुक्त सन् शुद्धमशुद्धं वा आहार ज्ञातु शक्नोति । तानुपयुक्तस्ततो गोचरगवेषणा समान्यत उपयुक्तनां प्रतिपादयति ॥

सद्दाइएसु साहू मुच्छं न करेज्ज गोयरगओ य ।
एसणजुत्तो होज्जा, गोणीवच्छो गवत्तव्व ॥

इह साधुर्गोचरीं गतो भिक्षार्थं प्रविष्ट सन् शब्दादिषु शब्दरूपरसादिषु मूर्च्छां न कुर्यात् किंत्वेपणायुक्त उद्गमादिदोषगवेषणाभियुक्तो भवेत् यथा गोवत्सो (गच्छति) गोभक्त इव । गोवत्सदृष्टान्तमेव गाथाद्वयेन भावयति ।

ऊसवमंडणवग्गा, न पाणियं वच्छए न वा वारो ।
वणियागमअवरद्धे, वच्छगरुणं खरंटणया ॥
पंचविह विसयसोक्खे, खणी बहू समहियं गिहं तं तु ।
न गणेइ गोणिवच्छा, मुच्छियगढिओगवत्तम्मि ॥

गुणालय नाम नगरं तत्र सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी तस्य भार्या श्रीमती नाम श्रेष्ठिना च पूर्वतर जीर्णमन्दिर भङ्क्त्वा प्रधानतर मन्दिर कारयामासे । तस्य चत्वारस्तनयास्तद्यथा गुणचन्द्रो गुणसेनो गुणधुरो गुणशेखरश्च । एतेषां च तनयानां क्रमेण चतस्र इमा वध्वस्तया प्रियङ्गुलतिका प्रियगुरुचिका प्रियगुसुन्दरी प्रियगुसारिका च । कालेन च गच्छता श्रेष्ठिनो भार्या मरणमुपजगाम । तत. श्रेष्ठिना प्रियगुलतिकैव सर्वगृहसम्भारे समारोपिता गृहे च सवत्सा गौर्विद्यते तत्र गौर्दिवसं बहिर्गत्वा चरति वत्सस्तु गृह एव बद्धोऽवतिष्ठते । तस्मै चारिं पानीय च चतस्रोऽपि वध्वो यथायोग प्रयच्छन्ति । अन्यदा च गुणचन्द्रप्रियगुलतिकापुत्रस्य गुणसागरस्य विवाहदिवस उपतस्थे । ततस्ता' सर्वा अपि वध्वस्तस्मिन् दिने सविशेषमाभरणविभूषिताः स्वपरमण्डनादिकरणव्यापृता अभूवन् । ततो वत्सस्तासां विस्मृतिं गतो न काचिदपि तस्मै पानीयादि ढौकितवती । ततो मध्याह्ने श्रेष्ठी यत्र प्रदेशे वत्सो वर्तते तत्र कथमपि समायात वत्सोऽपि च श्रेष्ठिनमायान्त पश्यन्नारटितुमारब्धवान् ततो ज्ञातं श्रेष्ठिना यथाद्यापि वत्सो बुभुक्षितस्तिष्ठतीति । तत. कुपितेन तेन ता सर्वा अपि पुत्रवध्वो निर्भर्त्सयामासिरे ततस्त्वरित प्रियगुलतिका अन्या च यथायोग चारिं पानीय च गृहीत्वा वत्साभिमुख चचाल वत्सश्च ताभि सुरसुन्दरीभिरिव समलङ्कृतमपि तादृश गृह नावलोकते नापि ता सरागदृष्ट्या परिभावयति । किं तु तामेव चारिं पानीय वा समानीयमान सम्यक्परिभावयति । सूत्र सुगमं नवर (एव विहेत्यादि) पञ्चविधविषयसौख्यस्य खनय इव खनयो या वध्वस्ताभि. समधिकमतिशयेन रमणीयतया अधिकतर तद्गृह न गणयति न दृष्ट्वा परिभावयति नापि ता वधूरेव साधुरपि भिक्षार्थं मटन् रमणीं नावलोकयेत् नापि गीतादिषु चित्त बध्नीयात् किंतु भिक्षामात्रानयनादानाद्युपयुक्तो भवेत् । तथा च सति जानाति शुद्धमशुद्धं वा भक्तादिकम् तथाचाह ।

गमणागमणुक्खेवे, भासियसोयाइइंदियाउत्तो ।
एसणमणेसणे वा, तह जाणइ तम्मणो समणो ॥

गमन साधोर्भिक्षादानार्थे भिक्षानयनाय दात्र्या व्रजनम् आगमन भिक्षा गृहीत्वा साधोरभिमुख चलनम् । उत्क्षेपो भाजनादीनामूर्ध्वमुत्पाटनमुपलक्षणमेतत्तेन निक्षेपपरिग्रहस्ततो गमनादिपदानां समाहारो द्वन्द्वस्तस्मिन् । तथा भाषितेषु अमनादिषु भिक्षामस्मै साधवे इत्यादिरूपेषु श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैरुपयुक्तस्तथा वत्स इव तन्मना स्वयोग्यभक्तपानाय परिभावनमना' सन् श्रमण एषणामनेषणां वा सम्यग्जानाति ततो न कश्चिद्दोष । उक्तमोघौद्देशिकम् । सम्प्रति विभागौद्देशिक विभणिषुः प्रथमतस्तावत्तस्य सम्भवमाह ॥

महईए संखडीए, उव्वरियं कूरवंजणाईयं ।
पउरं दट्ठूण गिही, भणइ इम देहपुण्णट्ठा ॥

इह सखडि नाम विवाहादिकप्रकरण सम्पद्यन्ते व्यापा-

(साहणंति) कथन करोति वाशब्दो यदि साधवो बहुप्रमाणास्तत एकस्यावस्थानमिति सूचनार्थं स सर्वेऽप्या निवेदयति यथात्रास्मिन् गृहेऽमाजिषुरेषणा वर्तत इति । एवमपि थै सघाटकै कदमपि न ज्ञात भवति तेषा परिज्ञानायायमाह ।

मा एयं देह इमं, पुट्ठे सिट्ठम्मि त परिहरंति ।
जं दिन्नं तं दिन्नं, संपइ देहि गिएहंति ॥

साधुनिमित्तं कुतोऽपि स्थानात् भिक्षामाददती कयाचिन्निषिध्यते मा एतद्देहि किंचिदविवक्षितभाजनस्थ देहि तत एव कृते निषेधिते साधु पृच्छति किमेतन्निषिध्यते किं वा इद दाप्यते इति तत. सा प्राह । इदमेव दानाय कल्पितम नेदमिति तत एव शिष्टे कथिते साधवस्तत्परिहरन्ति । यदि पुनर्यद्दत्त तद्दत्त मा शेषं सम्प्रति दद्यादिति निषिध्यात्मार्थीकृतमौद्देशिक भवति तदा तत्कल्पते इति कृत्वा गृह्णन्ति तदेवमुक्तमुद्दिष्टौद्देशिकम् । सम्प्रति कृतौद्देशिकस्य सम्भवहेतून् स्वरूप च प्रतिपादयति ।

रसभायणहेउं वा, मा कुच्छीहिं इमा सुहं च दाहोमि ।
दाहिमाई आयत्तं, करेइ कूरं करं एयं ॥
मा कोहिंति अवन्नं, परिकट्ठम्मि य व दिज्जइ सुहं तु ।
वियमेण फालिएण व, मिट्ठेण समं तु वट्टंति ॥

रसेन दध्यादिना रूक्षमिदं भाजन तस्मादेतेन दध्यादिना यदुद्धरित शाल्योदनादि तत् करम्बीकृत्य इदं भाजन करोमि येनान्यत्प्रयोजनमनेन क्रियत इति । रसभाजनहेतोर्यद्वा इद रूक्ष्यादिना अमिश्रित कथिप्यते । न च कथिन पापरुक्ष्यादिभ्यो दातु शक्यते । यद्वा दध्यादि सन्मिश्रमेकेनैव प्रयासेन सुखदीयत इत्यादिना कारणजातेन रूक्ष्याद्यायत्त दध्यादिसन्मिश्र करोति करम्बौदनम् । एतत् कृतं ज्ञातव्यम् । तथा यदि भिन्न भिन्न मोदकाशोकवर्त्यादिचूर्णं दास्यामि ततो मे पापरुक्ष्यादयोऽवर्णमश्लाघां करिष्यन्ति यद्वा परिकट्टक्षितमेकत्र पिण्डीकृत सुखेन दीयते । अन्यथा क्रमेण मोदकाशोकवर्त्यादिचूर्णं स्वस्वस्थानादानीयानीय दाने भूयान् गमनागमनप्रयासो भवति । अपान्तराले सा चूर्णिर्हस्तात् क्षरित्वा पतति ततो विकटेन मधेन देशविशेषापेक्षमेतद्वा फाणितेन कक्कवादिना यद्वा स्निग्धेन घृतादिना मोदकचूर्णादिसम वर्तयति पिण्डतया बन्धन्ति । अत्र रूक्षगोधयो पूर्वार्धाभ्या सम्भवहेतव उक्ता उत्तरार्धाभ्यां तु स्वरूपम् । सम्प्रति कर्मौद्देशिकस्य सम्भवहेतून् स्वरूप चातिदेशेनाह ।

एमेव य कम्मम्मि वि, उण्हवणे तत्थ नवरि नाणत्त ।
तावियविलीणएणं, मोयगचुन्नी पुणकरणं ॥

यथा कृतस्य सभवस्वरूप चोक्तमेव कर्मण्यपि द्रष्टव्य नवरं तत्र कर्मणि उष्णापने उष्णीकरणे नानात्व विशेषस्तथा हि तापितविलीनेन तापितेन विलीनेन च गुडादिना मोदकचूर्ण्या पुनर्मोदकत्वेन करण नान्यथा तथा तु वर्त्यादि भक्तमपि राज्युषित द्वितीयदिने भूय संस्कारापादनेन कर्मतया निष्पाद्यमान नाग्निमन्तरेण निष्पाद्यते ततोऽवश्य कर्मण्युष्णापने नानात्वम् । सम्प्रत्यत्रैव कल्प्याकल्प्यविधिमाह ॥

असुगंति पुणो रद्ध, दाहमकप्पं तमारओ कप्पं ।
खेत्ते अंतो बाहिं, कालेसु इत्थं परेत्तं वा ॥

भिक्षार्थं प्रविष्ट साधुं प्रति यदि गृहस्थो भणति यथान्यस्मिन् गृहे विहृत्य व्यावर्त्तमानेन त्वया भूयोऽपि मद्गृहे समागन्तव्य यतोऽहममुक मोदकचूर्णादि भूयोऽपि राद्धगुडपाकादिदानेन मोदकादि कृत्वा दास्यामि एवमुक्ते तथा कृत्वा चेद्ददाति तर्हि तन्न कल्पते कर्मौद्देशिकत्वात् । आरात् भूय पाकारम्भादर्वाक् पुन कल्प्य दोषाभावात् । तथा क्षेत्रेऽन्तर्बहिर्वा काले स्वस्तन परतरदिनभव वा अकल्प्यमारत कल्प्यम् । इयमत्र भावना । यद् गृहस्यान्तर्बहिर्वा मोदकचूर्णादिक मोदकादितया उपस्करिष्यामि कालविवक्षायां यदद्य स्व. परतरे वा दिने भूयोऽपि पक्ष्यामि तत्तुभ्य दास्यामीत्युक्ते तथैव चेत् कृत्वा ददाति ततो न कल्पते भूयोऽपि पाकादारतस्त्वससक्त कल्पते ॥ तथा चाह ॥

जं जह व कयं दाहं, तं कप्पइ आरओ तहा अकयं ।
कय पाकमाणिट्ठत्त–ट्ठियं पि जावत्ति यं मोत्तुं ॥

यत्सामान्यतो द्रव्य यद्वा यथा क्षेत्रनिर्धारणेन वा भूयोऽपि कृत दास्यामीत्युक्ते तथैव कृते चेद्ददाति तदा न कल्पते तथा अकृते तु भूयोऽपि पाकादारत कल्पते । यत्तु निर्द्धारितक्षेत्रकालव्यतिकरेण पच्यते तन्न दातु सकल्पितमिति कल्पते यत्तु क्षेत्रे कालनिर्द्धारणमविवक्षिते च सामान्यतो भूयोऽपि पक्त्वा दास्यामीति संकल्पित तदन्तर्बहिर्वा स्वस्तने परतरदिने वा न कल्पते । अथ कर्मौद्देशिक कृतपाकमात्मार्थीकृतमपि यावदर्थिक मुक्त्वा शेषमनिष्ट नानुज्ञात तीर्थकरगणधरैर्यावदर्थिक त्वात्मार्थीकृत कल्पते । अथ आधाकर्मकर्मौद्देशिकयो परस्पर प्रतिविशेष उच्यते । यत्प्रथमत एव साध्वर्थं निष्पादित तदाधाकर्म यत् पुनाराद्ध सद् भूयोऽपि पाककरणेन सस्क्रियते तत् कर्मौद्देशिकमिति । उक्तमौद्देशिकद्वारम् ॥ पिं० । दर्श० । नि० चू० । प्रव० । पचा० । ग० । ध० । जीत० । व्य० ।

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं ॥ ४७ ॥

अशन पानक वापि खाद्य स्वाद्यम अशनमोदनादि पानक वारनालादि खाद्य सड्डुकादि स्वाद्यं हरीतक्यादि यज्जानीयादामन्त्रणादिना शृणुयाद्वा अन्यत यथा दानार्थं प्रकृतमिद दानार्थं प्रकृत नाम साधुवादनिमित्त यो ददात्यव्यापारपाषण्डिभ्यो देशान्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति सूत्रार्थ. ।

तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥

तादृश भक्तपान दानार्थं प्रवृत्तव्यापार सयतानामकल्पिक यनश्चैवमत ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थ ।

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुन्नट्ठा पगडं इमं ॥ ४९ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५० ॥
असणं पाणग वावि, खाइम साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगड इमं ॥ ५१ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु,संजयाण अकप्पिय ।
दिंतियं पडिआइक्खे , न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५२ ॥
असण पाणग वावि, खाइम साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ॥ ५३ ॥
तं भवे भत्तपाण तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥
उद्देसियं कीयगडं, पूइकम्म च आहडं ।

धन्ते प्राणिनोऽस्यामिति सखडिरिति व्युत्पत्तेस्तस्यां सखड्यां यदुद्धरित कूरव्यञ्जनादिक शाल्योदनदध्यादिक प्रचुरं तद्दृष्ट्वा गृही भणति स्वकुटुम्बतृप्तिकारकमेतत् यथा इद देहि पुण्यार्थं भिक्षाचरेभ्यः । तत्र यदा तथैव ददाति तदा तदुद्दिष्ट यदा तु तद्देय करम्बादिक करोति तदा तत्कृत यदा तु मोदकार्दचूर्णिप्रायोऽपि गुडपाकदानादिना मोदकादि करोति तदा तत्कर्म । एव विभागौद्देशिकस्य सभवस्तथा चाह । भाष्यकृत् "तसियम्मेव संभवइ पुव्वमुद्दिट्ठं सभवति" । सप्रति तदेव विभागौद्देशिक विना तत्रोद्धरिते प्रचुरे करम्बदावेव पूर्वोक्तेन प्रकारेण विभागौद्देशिक पूर्वमुद्दिष्ट सभवति । सप्रति तदेव विभागौद्देशिक विभागतो भेदेन शिष्यगणहितार्थं ग्रन्थकारो भणति ।

उद्देसियं समुद्दे–सियं च आएसियं समाएसं ।

एव कडे य कम्मे, एक्केक्के चउव्विहो भेओ ॥

विभागौद्देशिकं चतुर्धा । तद्यथा औद्देशिक समुद्देशिकमादेश समादेश च । एव कृते च कर्म्मणि एकैकस्मिन् चतुष्कश्चतुः सख्यो भेदो दृष्टः सर्वसख्यया द्वादशधा विभागौद्देशिकम् । संप्रत्यौद्देशिकादिक व्याचिख्यासुराह

जावंति य मुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं ।

समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥ २५० ॥

इह यदुद्दिष्ट कृत कर्म वा यावन्त केऽपि भिक्षाचरा समागमिष्यन्ति पाषण्डिनो गृहस्था वा तेभ्य सर्वेभ्योऽपि दातव्यमिति सकल्पित भवति तदा तदौद्देशिकमुच्यते ॥ पाषण्डिनां देयत्वेन कल्पित समुद्देश श्रमणानामादेशनिर्ग्रन्थानां समादेशम् । सप्रत्यमीषामेव द्वादशानां भेदानामवान्तरभेदानाह ।

छिन्नमछिन्नं दुविहं, दव्वे खेत्ते य कालभावे य ॥

निप्पाइयानिप्पन्नं, नायव्वं जं जहिं कमइ ॥

उद्दिष्टमौद्देशादिक प्रत्येक द्विधा तद्यथा छिन्नमच्छिन्न च । छिन्न नियमितमच्छिन्नमनियमितम् पुनरपि छिन्नमच्छिन्न च चतुर्धा तद्यथा द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च । एव यथा उद्दिष्टमौद्देशिक प्रत्येकमष्टधा तथा निष्पादित निष्पन्नमिति निष्पादितेन गृहिणा स्वार्थ कृतन निष्पन्नं यत्करम्बादि मोदकादि वा तन्निष्पादित निष्पन्नमित्युच्यते । ततो यन्निष्पादित निष्पन्न यत्र कृते कर्म्मणि वा क्रामति घटते यथा यदि करम्बादि तर्हि कृते, अथ मोदकादि तर्हि कर्मणि । तत्प्रत्येकमौद्देशिकादिभेदाभिन्न छिन्नमच्छिन्न चेत्यादिना प्रकारेणाष्टधा ज्ञातव्यम् । सप्रत्यमुमेव गाथार्थं व्याचिख्यासुः प्रथमतो द्रव्याद्यच्छिन्न व्याख्याति ॥

भत्तुव्वरितं खलु संखडिए, तद्दिवसमन्नदिवसे वा ।

अंतो बाहिं च सव्व, सव्वादिणं देइ अच्छिन्नं ॥

यत्सखड्या भक्तमुद्धरित तदिह प्राय सखड्या भक्तमुद्धरित प्राप्यते इति सखडिग्रहणमन्यथा त्वन्यत्रापि यथासभव द्रष्टव्यम् । (तद्दिवसमिति) व्यत्ययोऽप्यासामिति प्राकृतलक्षणवशात्सप्तम्यर्थे प्रथमा ततोऽयमर्थः यस्मिन् दिवसे सखडिस्तस्मिन्नेव दिवसे यद्वाऽन्यस्मिन् दिवसे गृहनायको भार्यया दापयति यथा यदन्तर्गृहस्य यच्च बहिरनेन क्षेत्राच्छिन्नमुक्त तत्सर्व समस्तमनेन द्रव्याच्छिन्नमुक्त सर्वदिन सकलमपि दिनं यावदुपलक्षणमेतत्तेन कर्मरुप मोदकादि प्रभूतान्यपि दिनानि यावदिति द्रष्टव्यम् । अनेन कालाच्छिन्नमुक्त अच्छिन्नमनवरत तद्देहि । भावाच्छिन्न तु स्वयमभ्यूह्य तच्चैव यदि तव रोचते यदि वा न रोचते तथाऽप्यवश्य दातव्यमिति ॥ सप्रति द्रव्यादिच्छिन्नमाह ।

देह इमं मा सेसं, अंतो बाहिं गयं व एगयरं ।

जाव अमुगत्ति वेला, अमुगं वेलं व आरब्भ ॥

इद शाल्योदनादिकमुद्धरित देहि मा शेष कोद्रवकूरादि अनेन द्रव्यच्छिन्नमुक्तं तदपि च शाल्योदनादिकमन्तर्व्यवस्थित वा एकतर न शेषम् । अनेन क्षेत्रच्छिन्नमुक्तम् । तथा अमुकस्या वेलाया आरभ्य यावदमुका वेला यथा प्रहारादारभ्य यावत्प्रहरद्वय तावद्देहि । अनेन कालच्छिन्नमुक्तम् । भावच्छिन्नं तु स्वयमभ्यूह्यम् । तथैव यावत्ते रोचते तावद्देहि मा स्वरुचिमतिक्रम्यापि । सप्रत्युद्दिष्टमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ॥

दव्वाइच्छिन्नं पि हु, जइ भणइ कोवि मा देह ।

नो कप्पइ छिन्न पि हु, अच्छिन्नकडं परिहरंति ॥

इह यद्द्रव्यक्षेत्रादिभि पृथक्निर्धारित तदतिरिच्य शेषं समस्तमपि कल्पते । तस्य दानार्थं सकल्पस्यापितत्वाभावात् । केवल द्रव्यादिच्छिन्नमपि दृष्ट्वा द्रव्यक्षेत्रादिभि पृथग्निर्धारितमपि दुर्निश्चित यदि गृहस्वामी आरत एव देयस्य वस्तुनो नियतावधेरर्वागपि भणति । यथा मा इत ऊर्ध्व कस्मायपि देहीति । यथा प्रहरद्वय यावत् पूर्वं किञ्चिद्दातु निरोपित ततो दानपरिणामाभावादर्वागेव निषेधति । मा इत ऊर्ध्व दद्यादिति तच्छिन्नमपि कल्पते । तस्य सप्रत्यात्मसत्तापि कृतत्वाद्यत्पुनरच्छिन्नकृतमच्छिन्नमनिर्धारित कृत वर्तते तत्परिहरन्ति अकल्प्यत्वादित्यमेव भगवदाज्ञाविजृम्भणात् । यदा त्वच्छिन्नमपि पश्चाद्दानपरिणामाभावादर्वागेव आत्मार्थीकृतं भवति तदा तत्कल्पते ॥

सप्रति सप्रदानविभागमधिकृत्य कल्पविधिमाह ॥

अमुगाणं ति वि दिज्जउ, अमुकाणं न एत्थ उ विभासा ।

जत्थ नईणाविसिट्ठो, निद्देसो तं परिहरंति ॥

अमुकेभ्यो दद्यात्मा अमुकेभ्य इत्येव सप्रदानविषये सकल्पे कृते विभाषा द्रष्टव्या कदाचित् कल्पते कदाचिन्न । तत्र यदा कल्पते तदादेय तदाह (जत्थेत्यादि) यत्र देयवस्तुनि यतीनामप्यविशेषेण निर्देशो भवति यथा ये केचन गृहस्था अगृहस्था वा भिक्षाचरा यदि वा ये केचित्पाषण्डिनो यद्वा ये केचन श्रमणास्तेभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्ति । यत्र तु यतीनामेव विशेषेण निर्देशो यथा यतिभ्यो दातव्यमिति तत्परिहरन्त्येव नात्र कश्चित्सदेह इति तत्र पृथग्विशेषेण नोक्तम् । यदि पुनर्गृहस्थेभ्य एव दीयतां यदि वा चरकादिभ्य एव पाषण्डिभ्यो न शेषेभ्यस्तदा कल्पते । अपिच ॥

संदिस्सते जो सुणइ, कप्पए तस्स सेसए ठवणा ।

संकामियसाहुणं वा, करेंति असुए इ मा थेरा ॥

यस्माद्याप्यौद्देशिक जात वर्तेते केवलं तदानीमपोह्यमान यस्मैऽद्दिश्यमानमर्थिभ्यो दानाय प्रवर्तते यथा इद देहि मा शेषमित्यादिश्यमानमर्थिभ्यो दानाय प्रवर्तते यथा इद देहि मा शेषमित्यादिश्यमान य साधुः शृणोति तस्य तत्कल्पते तद्देय दायकेन सकल्प्यमान य साधुः शृणोति तस्य तत्कल्पते तद्देय दाचनेन सकल्पमान च । भावाभावात्तदपि च उद्दिष्टौद्देशिकादि द्रष्टव्य न कृत कर्म च । यत उक्त मूलटीकायाम् अत्र चाय विधि "सदिस्सत जो सुणइ, तदेव दाया साहुदेसुद्देसेय । पडुच्च न य करू, कम्माइ त कप्पए" तदेव दाया साहुदेसुद्देसेय । पडुच्च न य करू, कम्माइ त कप्पए" ये तु सदिश्यमान न शृणोति तस्य न कल्पत कुत भावादिति यस्तु सदिश्यमान न शृणोति तस्य न कल्पत कुत भावादिति स च निर्गत सन्नन्यत्र भ्याह (ठवणत्ति) स्थापनादोषात् । स च निर्गत सन्नन्यत्र स्याह (सकामितयत्यादि) अथवा साधुभ्यो निवेदयति । तथा चाह (सकामितयत्यादि) अथवा शेषसाधुभिरनाकर्णित इय पूर्वपुरुषाचीर्णा मर्यादा यदुत सकशेषसाधुभिरनाकर्णित इय पूर्वपुरुषाचीर्णा मर्यादा यदुत सक- लिया एकसघाटकोऽन्यस्मै कथयति सोऽप्यन्यस्मै अन्यत्ररूपता

अज्झोयरपामिच्चं, मीसजायं विवज्जए ॥ ५५ ॥

यत्र पुण्यार्थं प्रकृतं नाम साधुप्रदानानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति एवं वनीपकार्थं वनीपकाः कृपणाः एवं श्रमणार्थमिति श्रमणा निर्ग्रन्था शाक्यादयः अस्य प्रतिषेधः पूर्ववत् । अत्राह पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्तेः । तथाहि न पितृकर्मादिव्यपदेशेनात्मार्थमेव भुञ्जन्त्यप्रपर्यन्ते शिष्टा इति नैतदेवमभिप्रायापरिज्ञानात् स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्यार्थकृतस्य निषेधात् । स्वभृत्यभोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्यान्यथा यथेच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याप्यनिषेधादिति एतेनादेयदानाभाव इत्युक्तः देयस्यैव यथेच्छादानोपपत्तेः कदाचिदपि पात्रेन यथेच्छादानोपपत्तेः तथा व्यवहारदर्शनात् वनीपकार्थस्य प्रतिषेधात् । तद्दानदोषेण योगात् यथेच्छादाने तु तद्दानेऽप्यारम्भप्रवृत्तेर्नाऽसौ तदर्थं इत्यारम्भदोषायोगात् । दृश्यते च कदाचित्सूतकादाविव सर्वेऽप्येवं प्रदानविकला शिष्टाभिमतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणान्न दोष इत्यलं प्रसङ्गेनाक्षरगमनिकामात्रफलत्वात्प्रयासस्य ॥ दश० ५ अ० । " साहट्टु देज्जिय तं चेतिय सियातणो सयं तुज्जइ " सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अथ प्रायश्चित्तम् ।

"उद्देसिय आवत्ति य उद्देसिए मासलहु दोहिं वि लहुं पासंडसमुद्देसिए मासलहु कालगुरु समणाए सए मासलहुय तवगुरु निग्गंथसमाएसिए मासलहुं दोहिंमि गुरू आवत्ति कम्मे मासलहुं दोहिं वि लहुं पासंडकम्मे मासगुरुं कालगुरुं समणकम्मे मासगुरु तवगुरुं निग्गंथसमाएसकम्मे मासगुरुं दोहिं वि गुरु आवत्ति कम्म चउलहु दोहिं लहु पासंडसमुद्देसकम्मे चउगुरु समणादेसकम्मे चउगुरु तवगुरु निग्गंथसमाएसकम्मे चउगुरु दोहिं गुरु " प० चू० । उद्देशिके चरमत्रिके कर्मोद्देशकर्मसमादेशलक्षणे कर्मणि क्षपणं प्रायश्चित्तम् । जीत० । कर्मौद्देशिके विभागौद्देशिके आचामाम्लम् । उद्देशिकमाधाकर्मिकमित्यर्थः । साधुनिमित्तं कृतमशनपानखाद्यस्वाद्यमतिप्रसृतम् । तच्च प्रथमचरमजिनतीर्थे एकं साधुमेकं साधुसमुदायमेकमुपाश्रयं वा आश्रित्य कृतं तत्सर्वेषां साध्वादीनां न कल्पते द्वाविंशतिजिनतीर्थे तु यं साध्वादिकमाश्रित्य कृतं तत्तस्यैव अकल्प्यमन्येषां तु कल्पते इति द्वितीयः । कल्प० ॥

आहा अहेयकम्मे, आयाहम्मे अ अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मं, कप्पति ण व कप्पती कस्स ॥

आधाकर्म अधःकर्म आत्मघ्नमात्मकर्म चैत्योद्देशिकस्य साधूनुद्दिश्य कृतस्य भक्तादेश्चत्वारि नामानि । यत्पुनराधाकर्म तत्कस्य कल्पते कस्य वा न कल्पते एवं शिष्येण पृष्टे सूरिराह ॥

संघस्सोहविभाए, समणासमणीण कुलगणे संघे ।
कडमिह ठिए ण कप्पति, अट्ठिअकप्पे जमुद्दिस्स ॥

अस्य व्याख्या सविस्तरं तृतीयोद्देशके कृता । (सा अकप्पट्ठिय-शब्दे उक्ता अतोऽक्षरार्थमात्रमुच्यते) ओघतो वा विभागतो वा सङ्घस्य श्रमणानां श्रमणीनां कुलस्य गणस्य वा सङ्घस्य वा सङ्कल्पेन यत् भक्तपानादिकं कृतं तत्स्थितकल्पितानां प्रथमपश्चिमसाधूनां न कल्पते ये पुनरस्थितकल्प स्थितास्तेषां यदुद्दिश्य कृतं तस्यैवैकस्य न कल्पते अन्येषां तु कल्पते द्वितीयपदे तु स्थितकल्पिकानामपि कल्पते यत आह ॥

आयरिए अभिसेए, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि भयणा उ ।
तिक्खुत्तअडविपवेसे, चउपरियट्टे ततो गहणं ॥

आचार्ये अभिषेके भिक्षौ वा ग्लाने सञ्जाते सति आधाकर्मणो भजना सेवनाऽपि क्रियते । तथा अटवीविप्रकृष्टाऽध्वा तस्याः प्रवेशे कृते यदि शुद्धं न लभ्यते ततस्त्रिः कृत्वा शुद्धमन्वेषितमपि यदि न लब्धं ततश्चतुर्थे परिवर्ते आधाकर्मणो ग्रहणं कार्यं गतमौद्देशिकद्वारम् । बृ० ६ उ० ॥

साली घतगुलगोरस-णवेसु वल्लीफलेसु जातेसु ।
दाणट्ठकरणसड्ढा, आहाकम्मेण मंतणता ॥
आहा अहे य कम्मे, आयाहम्मे य अत्तकम्मे य ।
तं पुण आहाकम्मं, णायव्वं कप्पती कस्स ॥
संघस्स पुरिमपच्छिम-समणाणं तह य चेव समणीणं ।
चउरो उवस्सयाणं, पच्छा सएहायगा समणं ॥
संघस्स मज्झिमे प-च्छिमे य समणाण तह य समणीणं ।
चतुरो पडिस्सयाणं, पुच्छा सएहायगा गमणं ॥
उज्जु य जड्डा सव्वे, पुरिमा चरिमा य वक्कजड्डा तु ।
तम्हा तेसिं सव्व-क्खणट्ट सव्वं परिकुट्ठं ।
अवगतजड्डा मज्झिम-साहू तह चेव ते परिणमंति ॥
कप्पाकप्पं दंसिय, तेसिं वज्जं परिकुट्टं ।
परिसाण दुव्विसोज्झो, चरिमो पुण दुरणुपालओ कप्पो ।
मज्झो विसुद्धचरणो, एवं कप्पो मुणेतव्वो ॥
आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि भयणा तु ।
तिक्खुत्तो अडविपवे-सणम्मि चउपरियट्टतओ गहणं ॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे विवादतुट्ठे वा ।
अद्धाणे गेलण्णे, आहाकम्मं तु जयणा य ।
जदि सव्वे गीतत्था, ताहे आलोयणा गहे भणिता ॥
अह होति मीसगजणो, पायच्छित्तं तत्थ कम्मं ।
चउरो चउत्थभत्ते, आयामेगासणे य पुरिमड्ढे ॥
णिव्वितितं दातव्वं, सतं व पुव्वोग्गहं कुज्जा ।
सपक्खेह विभागे, समणा समणी य कुलगणस्सेव ॥
कडमिह ठितेण कप्पति, अट्ठितकप्पे जमुद्दिस्स ।
आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि गिलाणगम्मि भयणा तु ॥
अडविपवेसे असीते, तिय परियट्टे तओ गहणं । पं० भा० ।

इयाणि उद्देसिय अहाअहे य कम्मो त पुण उद्देसिय पुरिमपच्छिमयाणसंघस्स ओघेण य समणाण वा समणीण वा कुलगणस्स वा जइ ओहेणे व करेंति ठियकप्पे वि अट्ठियकप्पे वि न कप्पइ । जया पुण रिसभसामिसतयाण अज्जाण अज्जियाण वा उद्दिस्स करेइ त रिसभसामिसतयाण दोण्हवि न कप्पइ अजियसामिसतणया गेण्हति अजियसामिसतयाण अज्जयाण कय अज्जियाण कप्पइ अज्जियाण वा कय अज्जयाणं कप्पइ पडिस्सए वि जइ एक्कम्मि गामे गणे तु करेइ एग दो वा ज तत्थ ण गणेइ पडिस्सय तेसिं कप्पइ गणिएसु विपडिस्सएसु जे पाहुणया पच्छासमागते जहा कप्पेसु । प०चू० ।

उद्देसियचरिमतिग-औद्देशिकचरमत्रिक-न० कर्मौद्देशिकस्य

पाषण्डश्रमणनिर्ग्रन्थविषये भेदत्रये, " कम्मुद्देसियचरमतिग पूय मीसचरिमपाहुडिया " दश० ५ अ० ।

उद्देहगण–उद्देहगण–पुं० वीरस्य गणानां तृतीयगणे, स्था० ए ठा० । " थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे नामं गणे निग्गए तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ छच्च कुला एवमाहिज्जंति । तंजहा से किं तं साहाओ एवमाहिज्जंति तं जहा । उदुंबरिज्जिया १ मासपूरिया २ मइपत्तिया ३ पन्नपत्तिया ४ सेत्त साहाओ से किं तं कुलाइ २ एवमाहिज्जंति त जहा "पढमं च नागभूअं १ बीअ पुण सोमभूइअं होइ । २ । अहउल्ल गच्छतइयं, चतुत्थयं-हत्थलिज्ज तु ॥ पंचमगं नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासयं होइ उद्देहगणस्सेए, छच्च कुला इति नायव्वा " ॥ कल्प० ।

उद्देहलिया– उद्देहलिका–स्त्री० कुहणभेदे, आचा० १अ०५उ०

उद्देहिगा–उद्देहिका–स्त्री० उद्गतो दोहोऽस्य क० ५ अत इत्वम् त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । "काष्ठनिश्रिता घुणोद्देहिका " आचा० १ अ० ४ उ० । तेइंदियाण उद्देहिकाइ ज चा वए वेज्जो उद्देहिकया सक्कया मृत्तिकया, । ओ० । "तओउद्देहिगं तओ वि वणप्फई " महा० ॥

उद्देही–देशी–उपदेहिकायाम् । दे० ना० ।

उद्धंसण–उद्धर्षण–न० उद्–धृष् ल्युट् वधे, ओ० । दुष्कुलीनेत्यादिभिः कुलाद्यभिमानमातनार्थे वचने, स्त्री० । ज्ञा० १६ अ० । " उत्तावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेइ " ॥ भ० १५ श०१ उ० । उन्मूलनायामाक्रोशे, ओ० ॥

उद्धंसिय– उद्धर्षित–त्रि० खरण्टिते, " उद्धंसिया य तेणं छुछु वि जाणाविया य अप्पाणं " । वृ० ३ उ० । आ० म० । अवमाषिते, उद्धंसियमो लोगंसि भागहारी व होहितीमोए, नि० चू० ४ उ० ।

उद्धघणभवण–ऊर्ध्वघनभवन–न० उच्चाविरलगेहेषु, ॥ भ० ॥ ए श० ३३ उ० ।

उद्धचलणबंधण–ऊर्ध्वचरणबन्धन–न० ऊर्ध्वचरणस्य बन्धनरूपे शरीरदण्डे, प्रश्न० अध० ३ द्वा० ।

उद्धच्छरिअ–देशी–निषिद्धे, दे० ना० ।

उद्धट्ठाण–ऊर्ध्वस्थान–न० कायोत्सर्गेऽवस्थाने, ध० ४ अधि० ।

उद्धट्टु–उद्धृत्य–अव्य० ऊर्ध्वीकृत्येत्यर्थे, "पलिभिंदियाण तो पच्छा पादुद्धट्टुमुद्धिपहाणति" निज वामचरणमुद्धृत्योत्क्षिप्य मूर्ध्नि शिरसि प्रघ्नन्ति " बाहू उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे " बाहुमुद्धृत्य कक्षामादर्श्यानुकूलं साध्वभिमुखं व्रजन्ति । सूत्र०१ श्रु०४अ० । "उद्धट्टुपादं रीएज्जा" पाद सहत्याग्रेतलेन पाद पातप्रदेशं वा तत्रातिक्रम्य गच्छेत् ॥ आचा० २ श्रु० । अवकृष्येत्यर्थे च । व्य० प्र० २ उ० ।

उद्धडा–उद्धृता–स्त्री० तृतीयापिण्डैषणायाम्, सा च स्वव्यापारेण मूलभाजनाद् भाजनान्तरे भक्तमुद्धृत स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुद्धृतं तच्च साधोर्गृह्णतः उद्धृता भिक्षा भवति । धर्म० ३ अधि० । स्था० । नि० चू० । (तां च सूत्रत पिंडेसणा शब्दे वक्ष्यामि)

उद्धत– (य) उद्धत–त्रि. उद् हन्–क्त. । वाक्यादिचञ्चले, अविनीते, प्रगल्भे, उद्गते, वाच० ॥ उत्पाटिते च । ज्ञा०१ अ० ।

उद्धततमंधकार–उद्धततमोऽन्धकार–पु० न० अतिशयप्रबले तमिस्रे, प्रश्न० अध० ३ द्वा० ।

उद्धत्थ–देशी–विप्रलब्धे, दे० ना० ।

उद्धपूरित–ऊर्ध्वपूरित–त्रि० श्वासपूरितोर्ध्वकाये, ऊर्ध्वस्थिते धूल्या पूरिते, शरीरदण्डदण्डिते, ॥ प्रश्न० ३ द्वा० ।

उद्धमंत–उद्धमायमान–त्रि० कृतोध्मानेषु शङ्खादिषु, "उद्धमंताण संखाणं सिंगाणं संखियाणं खरमुहीए पिरिपिरिया-णं " रा० ।

उद्धमाण–उद्ध्मान–न० शङ्खशृङ्गशङ्खिकाखरमुखीपेयापिरिपिरिकाणां वादने, रा० ।

उद्धय–उद्धय–त्रि० उद्धृत्य पानकर्तरि, । वाच० उद्धुरे, ज्ञा० १अ०

उद्धया–उद्धता–स्त्री० दर्पातिशयेन गतौ, "तुरियाए चवलाए चण्डाए सीहाए उद्धयाए जेयाए दिव्वाए गईए" भ०११श०१०उ० । सदर्पायां देवगतौ च । भ० ५ श० ४ उ० ।

उद्धरण–उद्धरण–न० उद्–हृ–भावे–ल्युट्–मुक्तौ, वमने, ऋणशुद्धौ, उन्मूलने, । उत्तारणे, उत्थापने, उद्धृत्य हरणे परिवेषणे, बहिर्निष्काशने, उत्पादने, वाच० । विकर्तने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० अपनयने च, । सूत्र० १ श्रु० ए अ० । उच्छिष्टे, दे० ना० ।

उद्धरिउ–उद्धृत्य–अव्य० आकृष्येत्यर्थे, "उद्धरिउ अवरज्झइ सप्पेण मल्लिज्जइ पेठ " पंचा० १६ विव० ।

उद्धरित्ता–उद्धृत्य–अव्य० उत्पाट्येत्यर्थे "तं लयं सव्वसो छित्ता उद्धरित्ता समूला य " उत्त० २३ अ० ।

उद्धरित्तु–उद्धृत्य–अव्य० निष्कृष्येत्यर्थे, "अणाउत्तो उद्धरित्तु गाहिति सोणियचउत्थे " पचा० १६ विव० ।

उद्धरिय–उद्धृत–त्रि–उद्–धृ–क्त । उत्पाटिते, "फलेइ विसभक्खीण साओ उद्धरिया कह" । उत्त०२३ अ० । पृथगवस्थापिते " उद्धरिय रुंदसुयसमुद्दाउ " पं०व० "जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिन्नाउ " आ० म० द्वि० ।

उद्धरियसव्वसल्ल–उद्धृतसर्वशल्य–त्रि० कृतालोचने, पचा० १६ विव० ।

उद्धविय–देशी–आर्चिते, दे० ना० ।

उद्धाउ–देशी० विषमोन्नतप्रदेशश्रांते, सघाते च । दे० ना० ।

उद्धायमाणग–उद्धावत्–त्रि० उत्तिष्ठति, "बहुचडुदुट्टसावयसमाहयउद्धायमाणगरपूरघोरविरूसणतबहुल" प्रश्न० अध० २ द्वा० ।

उद्धार–उद्धार–पु० उद्ध्रियते उद्–हृ–भावे–घञ् मुक्तौ, ऋणशुद्धौ, उद्धारणे, वाच० । अथोद्धरणे, अपहरणे, अनु० । अपवादे, । व्य० उ० । कर्मणि–घञ् । सर्वधनादुद्धृत्य ज्येष्ठादिभ्यो देये अशांशे वाच० ।

उद्धारणा उद्धारणा–स्त्री० "पाबल्लेण उवेच्च उद्धट्टुपयधारणा उ कारो"तत्प्राबल्येन उपेत्य वा उद्धृतानामर्थप्रदाना धारणा उद्धारणा । धारणाव्यवहारे, व्य० १० उ० ।

उद्धारपलिओवम–उद्धारपल्योपम–न. वक्ष्यमाणस्वरूपवालाग्राणां तत्खण्डानां वा तदुद्धारेण द्वीपसमुद्राणी वा प्रतिसमयमुद्धारण तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारमपोद्धरणमपहरणमुद्धारस्तद्विषय तत्प्रधानं वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् । पल्योपमभेदे, ॥

तत्स्वरूप यथा—

से किं तं उद्धारपलिओवमे १ दुविहे पण्णत्ते तंजहा सु–

हुमे अ ववहारिए अ । तत्थ णं जे से सुहमे से ठप्पे तत्थ णं जे से ववहारिए से जहानामए पल्लेसिआ जोयणं आयामविक्खंभेणं जोअणं उड्ढं उच्चत्तेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं सेणं पल्ले एगाहिअ वेआहिअ तेआहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाण संसट्ठे संनिचिते भरिते वालग्गकोडीणं तेणं वालग्गा नो अग्गी डहेज्जा नो वाऊ हरेज्जा नो कुहेज्जा नो विद्धंसिज्जा णो इ पुत्ताए हव्वमागच्छेज्जा तओ णं समए २ एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवइ सेत्तं ववहारिए । उद्धारपल्लिओवमे एएसिं पल्लवाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया तं ववहारिअस्स उद्धारसागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं २ एएहिं ववहारिअ उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओअणं एएहिं ववहारिअपलिओवमसागरोवमेहिं णत्थि किंचिप्पओअणं केवलं पण्णवणा पण्णविज्जइ सेत्तं ववहारिए उद्धारपलिओवमे । से किं तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे २ से जहाणामए पल्ले सिआ जोअणं आयामविक्खंभेणं जोअणं उच्चेहेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं से णं पल्ले एगाहिअ वेआहिअ तेआहिअ उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं संसट्ठे सनिचिते भरिते वालग्गकोडीणं तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखिज्जाइ खण्डाइ कज्जइ ते वालग्गदिट्ठीओ ओगाहणाउ असंखेज्जइ भागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाउ असंखेज्जगुणा तेणं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा नो वाऊ हरेज्जा णो कुहेज्जा णो विद्धंसिज्जा नो पुइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा तओ णं समए २ एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवइ से त्तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे एएसिं पल्लवाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिआ तं सुहुमस्स उद्धारसागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं एएहिं सुहुमउद्धारसागरोवमेहिं किं पओअणं एएहिं सुहुमउद्धारपलिओपमसागरोवमेहिं दीवसमुद्दाणं उद्धाराणं घेप्पइ केवईआणं भंते दीवसमुद्दा उद्धारेणं पण्णत्ता गोयमा ! जावइआणं अड्ढाइज्जाणं उद्धारसा० उद्धारसमयाए वइआणं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पण्णत्ता सेत्तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे सेत्तं उद्धारपलिओवमे ॥

(सेकिंत उद्धारपलिओवमे इत्यादि) उद्धारपल्योपमं द्विविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा वालाग्राणां सूक्ष्मखण्डकरणात् सूक्ष्मं च तेषामेव सांव्यवहारिकप्रत्यक्षव्यवहारिभिर्गृह्यमाणानामखण्डानां यथावस्थितानां ग्रहणात्प्ररूपणामात्रव्यवहारोपयोगित्वाद्व्यावहारिकं चेति । तत्र यत्सूक्ष्मं तत्स्थाप्यम् । तिष्ठतु । तावद्व्यावहारिकप्ररूपणापूर्वकत्वादेतत्प्ररूपणा पश्चात्प्ररूपयिष्यते इति भावस्तत्र यत्तद्व्यावहारिकमुद्धारपल्योपमं तदिदमिति शेषस्तदेव विवक्षुराह (से जहानामए इत्यादि) तद्यथा नाम धान्यपल्य इव पल्यः स्यात्स च वृत्तत्वादायामविष्कम्भाभ्यां दैर्घ्यविस्ताराभ्यां प्रत्येकमुत्सेधाङ्गुलकमनिष्पन्नं योजनमूर्ध्वमुच्चत्वेनापि तद्योजनं त्रिगुणं सविशेषं परिक्षेपेण प्रमितिमङ्गीकृत्येति सर्वस्यापि वृत्तपरिधेः किंचिन्न्यूनषड्भागाधिकत्रिगुणत्वादस्यापि पल्यस्य किञ्चिन्न्यूनषड्भागाधिकानि त्रीणि योजनानि परिधिर्भवतीत्यर्थः । स पल्यः (एगाहिय वेयाहियत्ते आहियत्ति) षष्ठीवचनलोपादेकाहिकद्व्याहिकत्र्याहिकमुत्कर्षतः सप्तरात्रप्ररूढानां भृतो वालाग्रकोटीनामिति सम्बन्धः । तत्र मुण्डिते शिरस्येकेनाह्ना यावत्प्रमाणा वालाग्रकोटय उत्तिष्ठन्ति ता एकाहिक्यः द्वाभ्यां तु या उत्तिष्ठन्ति ता द्व्याहिक्यः । कथमत इत्याह संसृष्टम् आकर्णपूरितः संनिचितं प्रचयविशेषान्निबिडीकृतं किं बहुना एवम्भूतोऽसौ भृतो येन तानि वालाग्राणि नाग्निर्दहेन्न वायुरपहरेदतीव निचितत्वादग्निपवनावपि न तत्र क्रामत इत्यर्थः (णो कुत्थेज्जत्ति) नो कुथ्येयुः प्रचयविशेषादेव सुषिराभावात् वायोरसम्भवाच्च नासारतां गच्छेयुः अत एव च (नो परिविद्धंसेज्जत्ति) कतिपयपरिशाटनमप्यङ्गीकृत्य न परिविध्वंसेयुरित्यर्थः अत एव च (नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जत्ति) न पूतित्वेन कदाचिदप्यागच्छेयुर्न कदाचिद्दुर्गन्धितां प्राप्नुयुरित्यर्थः (तओणंति) तेभ्यो वालाग्रेभ्य समये समये एकैकं वालाग्रमपहृत्य कालो मीयते इति विशेषः । ततश्च (जावईएणमित्यादि) यावता कालेन स पल्यः क्षीणो वालाग्रकर्षणात् क्षयमुपागतः अपकृष्टधान्यकोष्ठागारवत्तथा (नीरएत्ति) निर्गतो रजः सूक्ष्मवालाग्रोऽपकृष्टधान्यरजः कोष्ठागारवत्तथा (निल्लेवित्ति) अत्यन्तसंश्लेषात्तन्मयतां गतवालाग्रलेपापहारान्निर्लेपः अपनीतमित्यादि गतधान्यलेपकोष्ठागारवदेभिस्त्रिभिः प्रकारैर्निष्ठितो विशुद्ध इत्यर्थः । एकार्थिका वा एते शब्दाः अत्यन्तविशुद्धिप्रतिपादनपराः । वाचनान्तरदृश्यमानम् अन्यदपि पदमुक्तानुसारेण व्याख्येयम् एतावत्कालस्वरूपं बादरमुद्धारपल्योपमं भवति एतच्च पल्यान्तर्गतवालाग्राणां संख्येयत्वात्संख्येयैः समयैस्तदपहारसम्भवात्संख्येयसमयमानं द्रष्टव्यम् । सेत्तमित्यादि निगमनं व्यावहारिकं पल्योमपं निरूप्याथ सागरोपममाह । (एएसिं पल्लाणगाहा) एतेषामनन्तरोक्तपल्योपमानां दशभिः कोटाकोटिभिरेकं सागरोपमं भवतीति तात्पर्यम् । शिष्यः पृच्छति एतैर्व्यावहारिकपल्योपमसागरोपमैः किं प्रयोजनं कोऽर्थः साध्यते तत्रोत्तरं नास्ति किंचित्प्रयोजनं निरर्थकस्तर्हि तदुपन्यास इत्याशङ्क्याह केवलं प्रज्ञापना प्रज्ञाप्यते प्ररूपणामात्रं क्रियत इत्यर्थः । ननु निरर्थकस्य प्ररूपणयाऽपि किं कर्त्तव्यमतो यत्किंचिदुन्मत्तवाक्यवदेवमभिप्रायापरिज्ञानादेव हि मन्यते बादरे प्ररूपिते सूक्ष्मं सुखावसेयं स्यादतो बादरप्ररूपणा सूक्ष्मोपयोगित्वान्नैकान्ततो नैरर्थक्यमनुभवति । तर्हि नास्ति किंचित्प्रयोजनमित्युक्तमसत्यं प्राप्नोतीति चेन्नैवमेतावत्प्रयोजनस्याल्पत्वेनाविवक्षितत्वादेव बादराद्धापल्योपमा द्वावपि वाच्यम् । (सेकिंत सुहुमे इत्यादि) गतार्थमेव "जाव तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइमित्यादि" पूर्वं वालाग्राणि सह जात्यैव गृहीतान्यत्र त्वेकैकमसंख्येयखण्डीकृतं गृह्यत इति भावः । एवं सत्येकैकखण्डस्य यन्मानं भवति तन्निरूपयितुमाह (तेणं वालग्गादिट्ठीओगाहणाओ इत्यादि) तानि खण्डीकृतवालाग्राणि प्रत्येकं दृष्ट्यवगाहनात् किमसंख्येयभागमात्राणि दृष्टिश्चक्षुर्द्वारोत्पन्नदर्शनरूपा सावगाहते परिच्छेदद्वारेण प्रवर्तते तत्र वस्तुनि तदेव वस्तु दृष्ट्यवगाहना प्रोच्यते ततोऽसंख्येयभागवर्तीनि प्रत्येकं वालाग्रखण्डानि मन्तव्यानीदमुक्तं भवति यत् पुद्गलद्रव्यं विशुद्धचक्षुर्दर्शनः छद्मस्थः पश्यति तदसंख्येयभागमात्राण्येकैकशस्तान्येव भावतो द्रव्यतो निरूप्याथ क्षेत्रतस्तन्मानमाह (सुहुमस्सेत्यादि) अयमत्र भावार्थः सूक्ष्मपनकजीवशरीरं यावन्तोत्र

मवगाहते ततोऽसंख्येयगुणानि प्रत्येकं तानि भवन्ति बादर-पृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यानीति वृद्धवादः । एषां च वालाग्रखण्डानामसंख्येयत्वात् प्रतिसमयमुद्धारे किल संख्येया वर्षकोट्योऽतिक्रामन्त्यतः संख्येयवर्षकोटिमानमिदमवसेयं शेषं सूत्रार्थप्रायं यावत् जावइया अड्ढाइज्जाणमित्यादि । यावन्तोऽर्द्धतृतीयसागरोपमेषूद्धारसमया वालाग्रैरुद्धारोपलक्षिताः समया उद्धारसमयाः एतावन्तो द्विगुण २ विष्कम्भाद् द्वीपसमुद्रयथोक्तेनोद्धारेण प्रज्ञप्ता असंख्येया इत्यर्थः । उक्तमुद्धारपल्योपमम् । अनु० । कर्म० ।

उद्धारसमय-उद्धारसमय-पुं० वालाग्रोद्धारोपलक्षितेषु समयेषु, अनु० ॥

उद्धारसागरोवम-उद्धारसागरोपम-न०उद्धारविषयं तत्प्रधानं वा सागरोपममुद्धारसागरोपमम्।दशभिःकोटाकोटीभिर्गुणिते सागरोपमभेदे, स्था० १ ठा० । (तच्च सूक्ष्मव्यवहारिकभेदेन द्विधा उद्धारपल्योपमभेदे दर्शितम्)

उद्धावणा-उद्धावना-स्त्री० शीघ्रं तस्य कार्यस्य निष्पादने, व्य० १ उ० । उत्प्राबल्येन धावना । गच्छोपग्रहार्थं दूरक्षेत्रादौ गमने, ध० ३ अधि० ।

उद्धिय-उद्धृत-त्रि० उद्धृढे, कृतनिर्वाहे, "नामनिमित्त तत्व यथा तथा चोद्धृत पुरा यदिह" ॥ पो० ॥

उद्धियकंटक-उद्धृतकण्टक-त्रि० उद्धृता स्वदेशत्याजनेन जीवितत्याजनेन वा कण्टका यत्र तदुद्धृतकण्टकम् । प्रतिस्पर्द्धिगोत्रजरहिते, रा० । औ० ॥

उद्धियदंड-उद्धृतदण्ड-पुं० उद्धृत उत्पाटितो गृहीतो दण्डो येन स उद्धृतदण्डः गृहीतप्रायश्चित्ते, । व्य० १ उ० (उद्धियदंडो गिहत्थो दण्डशब्दे वक्ष्यते)

उद्धियसत्तु-उद्धृतशत्रु-त्रि० उद्धृताः शत्रवो यत्र तदुद्धृतशत्रु देशनिर्वासितागोत्रजवैरिणि, औ० । रा० ।

उद्धीमुह-ऊर्ध्वमुख-त्रि० ऊर्ध्वीकृतमुखे, "उद्धीमुहकलंबुतापुप्फगसठाणसठिया आहिंत्ति वदेज्जा" ॥ चं० ४पाहु० ।

उद्धुमय-ऊर्ध्वमात-त्रि० आपूर्णे, उद्धुमायशब्द आपूर्णपर्याय यतउक्तम् "अभिमानचिन्हेन पडिहत्थमुद्धुमाय आहिरेअं च जाण-आउण्णे" ॥ न० ।

उद्धुम्माण-उद्धूममान-त्रि० उत्पाद्यमाने, "उद्धुम्ममाण दगरयरयधआरचरकेण" ॥ औ० । प्रश्न० ॥

उद्धुय-उद्धूत-त्रि० उद् धू क्त उद्भूते उत्क्षिप्ते, उद्गते, ज्ञा० १ अ० । इतस्ततो विप्रसृते, "कालागरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघतगधुद्धुयाभिरामे" चं० २पाहु० । सूर्य० । स० । औ० । रा० प्रकटीकृते, क० । उत्कम्पिते, "वाउद्धुयविजयवेजयती" औ० । "वाउद्धुयविजयवेजयती पडागाछत्तातिछत्तकलिया" जी० ३ प्रति० च० । उत्कटे च । स० ।

उद्धुया-उद्धूता-स्त्री० वातोद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव गतौ, रा० । जीवा० ।

उद्धुर-उद्धुर-त्रि० उद्गताधूरस्मात् प्रा० व अच् म० । निरङ्के, भारशून्ये, दृढे, उच्चे, वाच० । उद्धते,आ० म० प्र० ।

उद्धुसिय-ऊर्ध्वोच्छ्रित-त्रि० ऊर्ध्वमुच्छ्रिते, "से जोयणे णवणच ति सहस्से उद्धुस्सितो हेट्ठसहस्समेग " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

उन्नामंत-उन्नमयत्-त्रि० ऊर्ध्वं नमयति, प्रा० ।

उप्पइय-उत्पतित-न० उद् पत् क्त उत्पतने, "चवलउप्पइयतुरियचवलजइणसिग्घवेगाहिं" औ० । "अट्टट्टहास काऊण उप्पइय" आ० म० प्र० । उद्भूते, "णवा उप्पइय दुक्खं वेयणाए दुरहियासए" उत्त० २ अ० । "उप्पइय पडिवयमाणे वसभ" आचा० । १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । ऊर्ध्वगते च । त्रि० वाच० ।

उप्पइयपडिवयमाण-उत्पतितप्रतिपतत्-त्रि० पूर्वं सयमारोहणादुत्पतिते पश्चात्पापोदयात्प्रतिपतति, आचा० १ श्रु० ६ अ० । ४ उ० ।

उप्पंक-देशी० उच्छ्रये, समूहे, पङ्के, बले च । दे० ना० ।

उप्पड-उत्पट-पुं० उत्पटति, उद् पट् गतौ-अच् । वृक्षादीनां त्वचमुद्भिद्य उद्गते निर्यासे,वाच० । त्रीन्द्रियजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

उप्पण्ण-उत्पन्न-त्रि० उद् पद् क्त । प्रादुर्भूते, ग० । प्रश्न० । स जाते, दश० । "उप्पण्णम्मि अणंतए, णम्मिच्छाउमत्थिए णाणे । उत्पतितस्वभावे च । " उप्पण्णेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा " सत्तालक्षणम् आ० म० द्वि० । विशे० ।

उप्पण्णकोउहल्ल-उत्पन्नकुतूहल-त्रि० उत्पन्नं प्रागभूतं कुतूहलं यस्य उत्पन्नौत्सुक्ये, सू० प्र० १ पाहु० ।

उप्पण्णगारव-उत्पन्नगौरव-त्रि० उत्पन्नमभिलषणीयतया जातं गौरवं यस्य स तथा । कमनीयतया जातगौरवे, "उप्पण्णगारवेपव गणिं त्ति परिकखिज्ज । व्य० ४ उ० ॥

उप्पण्णणाणदंसणधर-उत्पन्नज्ञानदर्शनधर-पुं० सादिकेवलज्ञानदर्शनोपयुक्ते, " समणे भगवं महावीरे उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली " उत्पन्नज्ञानदर्शनधरो न तु सदा संसिद्धः भ० १ श० ७ उ० ।

उप्पण्णदुक्ख-उत्पन्नदुःख-त्रि० सजातदु खे, "इह खलु भोगपत्तिएण उप्पण्णदुक्खेण संजमे अरइसमावन्नं चित्तेण" दश० १चूलि० ।

उप्पण्णसंसय-उत्पन्नसंशय- त्रि० उत्पन्नानवधारितार्थज्ञाने, रा० । सू० प्र० ।

उप्पण्णसड्ढ-उत्पन्नश्रद्ध- त्रि० उत्पन्ना प्रागभूता सती भूता श्रद्धा यस्यासौ उत्पन्नश्रद्धः । जातश्रद्धे, "उप्पण्णसड्ढे संजायसड्ढे समुप्पण्णसड्ढे उट्ठाए उट्ठेइ" ज० १ वक्ष० । रा० । सू० प्र० । ज्ञा० ।

उप्पण्णाणुप्पण्ण-उत्पन्नानुत्पन्न-त्रि० उत्पन्नश्चानुत्पन्नश्च उत्पन्नानुत्पन्नः । मयूरव्यंसकादय इति समासः । यथा कृताकृतं ह्यकाद्युक्तमित्यादि । एवं प्रकारश्च समासः स्याद्वादिन एव युक्तिमियर्ति न शेषस्य एकान्तवादिनः एकत्रैकदा परस्परविरुद्धधर्मानभ्युपगमात् । कस्यचिन्नयस्य मतेनोत्पन्ने कस्यचिदनुत्पन्ने, " उप्पण्णाणुप्पण्णो, एत्थ णया णेगमस्सणुप्पण्णो । सेसाण उप्पण्णो, जइ कत्तो तिविहसामित्ता " आ० म० द्वि० । (नमुक्कारशब्दे उत्पत्तिद्वारे स्पष्टीभविष्यति)

उप्पत्ति-उत्पत्ति- स्त्री० उत्पादनमुत्पत्तिः । प्रसूतौ, विशे० उत्पादने; उद्भूतौ, आ० चू० । (उत्पत्तौ नयानां मतानि नमुक्कारशब्दे उत्पत्तिद्वारे स्पष्टी भविष्यन्ति) सा च चतुर्धा । उत्पत्तिश्च तुर्धा जीवाज्जीवस्योत्पत्तिर्यथा मातापितृभ्यां पुत्रस्य । जीवादजीवस्योत्पत्तिर्यथा सजीवदेहान्नखकेशादेः । अजीवाज्जीवस्योत्पत्तिर्यथा काष्ठाद्घुणकस्य । अजीवादजीवस्य घटात्कपालस्य । ग० । निदानकारणे, " उप्पत्ती रोगाणं तस्स मणओसहयविणंगी " नि० चू० २० उ० । उपमाने, प्रव० । ऊर्ध्वं पतने, ऊर्ध्वगतौ च । उत्पद्यते प्रथमतो ज्ञायतेऽनेन उद् पद् करणे क्तिन् । प्राथमिकप्रतीतिविषयप्रवृत्तिसाधनेष्टसाधनताबोधके कर्मस्वरूपज्ञापके विधिवाक्ये, वाच० ॥

उप्पत्तिया-औत्पत्तिकी-स्त्री० उत्पत्तिरेव न शास्त्राभ्यासकर्मपरिशीलनादिकं प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी तदस्य प्रयोजनमिति इकण् ॥ न ॥ अदृष्टाश्रुताननुभूतविषयादकस्माद् भवनशीलायां बुद्धौ, रा० । ननु सर्वस्याः बुद्धेः कारणं क्षयोपशमः तत्कथमुच्यते उत्पत्तिरेव प्रयोजनमस्या इति उच्यते क्षायोपशमः सर्वबुद्धिसाधारणः ततो नासौ भेदेन प्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति । अथ च बुद्ध्यन्तरभेदेन प्रतिपत्त्यर्थं व्यपदेशान्तरं कर्तुमारब्धं तत्र व्यपदेशान्तरनिमित्तमत्र न किमपि विनयादिकं विद्यते केवलमेवमेव तथोत्पत्तिरिति सैव साक्षान्निर्दिष्टा । नं० ॥

औत्पत्तिक्या लक्षणम् ।

पुव्वमदिट्ठमसुयम-वेइयतक्खणविसुद्धगहिअत्था ।
अव्वाहयफलजोगा, बुद्धी ओप्पत्तिया नाम ॥२॥

पूर्वं बुद्ध्युत्पादात्प्राक् स्वयं चक्षुषा न दृष्टो नाप्यन्यतः श्रुतो मनसाऽप्यविदितोऽपर्यालोचितस्तस्मिन् क्षणेषु बुद्ध्युत्पादकाले विशुद्धो यथावस्थितो गृहीतोऽवधारितोऽर्थो यस्या सा तथा। पुव्वमदिट्ठेत्यादौ मकारोऽलाक्षणिकः । तथा अव्याहतेन अबाधितेन फलेन परिच्छेद्येनार्थेन योगो यस्याः सा अव्याहतफलयोगा बुद्धिरौत्पत्तिकी नाम । संप्रति विनेयजनानुग्रहायास्याः स्वरूपप्रतिपादनार्थमुदाहरणान्याह ।

भरहसिलपणियरुक्खे, खुड्डगपडसरडकायउच्चारे ।
गयपायणगोल्लखंभे, खुड्डगमग्गित्थिपइ पुत्ते ॥ ३ ॥
भरहसिलं मिढ कुक्कुड, तिलवालुयहत्थिअगडवणसंडे ।
पायसअइया पत्ते, खाडहिलापंचपियरो य ॥ ४ ॥
महुसित्थमुद्दिअंके, नाणए भिक्खचेडगनिहाणे ।
सिक्खा य अत्थसत्थे, इच्छायमह सयसहस्से ॥ ५ ॥

आसामर्थः कथानकेभ्योऽवसेयः । तानि च कथानकानि विस्तरतोऽभिधीयमानानि ग्रन्थगौरवमापादयन्ति ततः संक्षेपेणोच्यन्ते । उज्जयिनी नाम पुरी तस्याः समीपवर्ती कश्चिन्नटानामेको ग्रामः तत्र च भरतो नाम नटः तस्य भार्या परासुरभूत् तनयश्चास्य रोहकाभिधोऽद्याप्यल्पवयास्ततस्तेन स्वस्य तनयस्य च शुश्रूषाकरणायान्या समानिन्ये वधूः । सा च रोहकस्य सम्यग् न वर्तते ततो रोहकेण सा प्रत्यापादि मातर्न मे त्वं सम्यक् वर्तसे ततो ज्ञास्यसीति ततः सा सेर्ष्यमाह रे रोहक ! किं करिष्यसि ? रोहकोऽप्याह । तत्करिष्यामि येन त्वं मम पादयोरागत्य लगिष्यसीति ततः सातमवज्ञाय तूष्णीमतिष्ठत् रोहकोऽपि तत्कालादारभ्य गाढसजाताभिनिवेशोऽन्यदा निशि सहसा पितरमेवमभाणीत् भो भो पितरेष पलायमानो गोहो याति ततः एव बालकवचः श्रुत्वा पितुराशङ्का समुदपादि नूनं विनष्टा मे महेलेति ततः एवमाशङ्कावशात्तस्यामनुरागः शिथिली बभूव । ततो न तां सम्यक् सभाषते नापि विशेषतस्तस्यै पुष्पताम्बूलादिकं प्रयच्छति दूरतः पुनरपास्तं शयनादि ततः सा चिन्तयामास नूनमिदं बालकविचेष्टितम् अन्यथा कथमकाण्ड एवैष दोषाभावे पराङ्मुखो जातः ततो बालकमेवमवादीत् वत्स रोहक ! किमिदं त्वया चेष्टितं तव पिता मे सम्प्रति दूरं पराङ्मुखीभूतः रोहक आह किमिति तर्हि त्वं सम्यग् न वर्तसे तयोक्तमितः ऊर्ध्वं सम्यग् वर्तिष्ये । ततो बालक आह अव्यं तर्हि मा खेदमाकार्षीस्तथा करिष्ये यथा मे पिता तथैव त्वयि वर्तते इति ततः सा तत्कालादारभ्य सम्यग् वर्तितुं प्रवृत्ता । रोहकोऽप्यन्यदा निशि निशाकरप्रकाशितायां प्राक्तनकदाशङ्कापनोदाय बालभाव प्रकटयन् निजच्छायामङ्गुल्यग्रेण दर्शयन् पितरमेवमाह भो पितरेष गोहो याति गोहो यातीति । ततः एवमुक्ते स पिता परपुरुषप्रवेशाभिमानतो निष्कृत्याकारं कृपाणमुद्गीर्य प्राधावत रे कथय कुत्र यातीति ततः स बालको बालक्रीडां प्रकटयन्नङ्गुल्यग्रेण निजच्छायां दर्शयति पितरेष गोहो यातीति ततः स व्रीडित्वा प्रत्यावृत्तश्चिन्तयतिस्म च स्वचेतसि प्राक्तनोऽपि पुरुषो नूनमेवंविध एवासीदिति धिग्मया बालकवचनादलीकं सम्भाव्य विप्रियमेतावन्तं कालं कृतमस्यां प्रार्यायामिति पश्चात्तापाद्गाढतरमस्यामनुरक्तो बभूव । सोऽपि रोहको मया विप्रियं कृतमास्तेऽस्या इति कदाचिदेषा मां विषादिना मारयिष्यतीति विचिन्त्य सदैव पित्रा सह भुङ्क्ते न कदाचिदपि केवलः । अन्यदा च पित्रा सहोज्जयिनीं पुरीमगमत् दृष्टा च तेन त्रिदशपुरीवोज्जयिनी सविस्मयचेतसा च सकलाऽपि यथावत्परिभाविता । ततः पित्रैव सह नगर्या निर्यातुमारेभे पिता च तत्र किमपि विस्मृतमिति रोहकं सिप्रातटेऽवस्थाप्य तदानयनाय भूयोऽपि नगरीं प्रविक्रत । रोहकोऽपि च तत्र सिप्राभिधसिन्धुसैकते बालचापलवशात् सप्राकारां परिपूर्णामपि पुरं सिकताभिरालिखत् । इतश्च राजा अश्ववाहनिकायामश्वं वाहयन् कथंचिदेकाकीभूतस्तेन पथा समागन्तुं प्रावर्तत तं च स्वलिखितनगरीमध्येन समागच्छन्तं रोहकः अवादीत् भो राजपुत्र माऽनेन पथा समागमः । तेनोक्तं किमिति । रोहक आह । किं त्वं राजकुलमिदं न पश्यति । ततः स राजा कौतुकवशात्सकलामपि नगरीं तदालिखितामवेक्ष्य तं पप्रच्छ च तं बालकं रे अन्यदाऽपि त्वया नगरी दृष्टाऽऽसीत् न वा । रोहकः प्राह नैव कदाचित्केवलमहमद्यैव ग्रामादिहागतः । ततश्चिन्तयामास राजा अहो बालकस्य प्रज्ञातिशयः । ततः पृष्टो रोहकः वत्स किं ते नाम क वा ग्राम इति । तेनोक्तं रोहक इति मन्नाम प्रत्यासन्ने च पुरोग्रामे वसामीति । अत्रान्तरे समागतो रोहकस्य पिता चलितौ च स्वग्रामं प्रति द्वावपि राजा च स्वस्थानमगमत् चिन्तयति स च ममैकोनानि मन्त्रिणां पञ्चशतानि विद्यन्ते तद्यदि सकलमन्त्रिमण्डलमूर्द्धाभिषिक्तो महाप्रज्ञातिशायी परमो मन्त्री सपद्यते ततो मे राज्यं सुखेनैवैधते बुद्धिबलोपेतो हि राजा प्रायः शेषबलैरल्पबलोऽपि न पराजयस्थानं भवति परांश्च राज्ञो लीलया विजयते । एवं चिन्तयित्वा कतिपयदिनानन्तरं रोहकबुद्धिपरीक्षानिमित्तं सामान्यतो ग्रामप्रधानपुरुषानुद्दिश्यैवमादिष्टवान् यथा युष्मद्ग्रामस्य बहिरतीव महती शिला वर्तते तामनुत्पाट्य राजयोग्यमण्डपाच्छादनं कुरुत । ततः एवमादिष्टे सकलोऽपि ग्रामलोको राजादेशं कर्तुमशक्यं परिभावयन्नाकुलीभूतमानसो बहिः सभायामेकत्र मिलितवान् पृच्छति स्म परस्परं किमिदानीं कर्त्तव्यं दुष्टो राजादेशोऽस्माकमापतितो राजादेशाकरणे च महाननर्थोपनिपातः । एवं च चिन्तया व्याकुलीभूतानां तेषां मध्यंदिनमागतं रोहकश्च पितरमन्तरेण न भुङ्क्ते पिता च ग्राममेलापके मिलितो वर्तते । ततः स क्षुधापीडितः पितुः समीपे समागत्य रोदितुं प्रावर्तत पीडितोऽहमतीव क्षुधया ततः समागच्छ गृहे भोजनायेति । भरतः प्राह वत्स ! सुखितोऽसि त्वं न किमपि ग्रामकष्टं जानासि । स प्राह पितः किं तदिति । ततो भरतो राजादेशं सविस्तरमचकथत् । ततो निजबुद्धिप्रागल्भ्यवशात् झटिति कार्यस्यैतत्साध्यतां परिभाव्य तेनोक्तं मा आकुलीभवत यूयं खनत शिलाया राजोचितमण्डपनिष्पादनायाधस्तात् स्तम्भांश्च यथास्थानं निवेशयत भित्तींश्चोपलेपादिना प्रकारेणातीव रमणीयाः प्रगुणीकुरुत । ततः एवमुक्ते सर्वैरपि ग्रामप्रधानपुरुषैर्भव्यमिति प्रतिपन्नम् । गतः सर्वोऽपि

ग्रामलोकः । स्वगृहे भोजनाय भुक्त्वा च समागतः शिलाप्रदेशे प्रारब्धं तत्र कर्म कतिपयदिनैश्च निष्पादितः परिपूर्णो मण्डपः । कृता च शिला तस्य आच्छादनं निवेदितं राज्ञे राजनियुक्तैः पुरुषैर्देवनिष्पादितो ग्रामेण देवादेशः । राजा प्राह कथमिति ततस्ते सर्वमपि मण्डपनिष्पादनप्रकारं कथयामासुः । राजा पप्रच्छ कस्येयं बुद्धिस्ते ऽवादिषुर्देव ! भरतपुत्रस्य एषा रोहकस्य औत्पत्तिकी बुद्धिः । एवं सर्वेष्वपि सविधानकेषु योजनीय ततो भूयोऽपि राजा रोहकबुद्धिपरीक्षार्थं मेढकमेकं प्रेषितवान् । एष यावत्पलप्रमाणः सम्प्रति वर्तते पक्षातिक्रमेऽपि तावत्पलप्रमाण एव समर्पणीयो न न्यूनो नाप्यधिक इति तत एव राजादेशे समागते सति सर्वोऽपि ग्रामो व्याकुलीभूतचेता बहिः सभायामेकत्र मिलितवान् सगौरवमाकारितो रोहकः आज्ञापितश्च ग्रामप्रधानैः पुरुषैः वत्स ! प्राचीनमपि दुष्टराजादेशसिन्धुं त्वयैव निजबुद्धिसेतुबन्धेन समुत्तारितः सर्वोऽपि ग्रामः । ततः सम्प्रत्यपि प्रगुणीकुरु निजबुद्धिसेतुबन्धेनास्यापि दुष्टराजादेशसिन्धोः पारमधिगच्छाम इति । तत उवाच रोहको वृक प्रत्यासन्नं धृत्वा मेण्ढकमेन यवसदानेन पुष्टीकुरुत यवस हि भक्षयन्नेष न दुर्बलो भविष्यति वृकं च दृष्ट्वा न वृद्धिमाप्स्यते ततस्ते तथैव कृतवन्त पक्षातिक्रमे च तं राज्ञः समर्पयामासुः तोलने च तावत्पलप्रमाण एव जातः । ततो भूयोऽपि कतिपयदिनानन्तर राज्ञा कुर्कुटः प्रेषितः एष द्वितय कुर्कुट विना योधयितव्य इति एवं समाप्ते राजादेशे मिलित· सर्वोऽपि ग्रामो बहिः सभायामाकारितो रोहक· कथितश्च राजादेशः । ततो रोहकेणादर्शको महाप्रमाण आनायितो निर्मृष्टश्च भूत्वा सम्यक् ततो धृतः पुरो राजकुर्कुटस्तस्य ततः स राजकुक्कुटः प्रतिबिम्बमात्मीयमादर्शे दृष्ट्वा मत्प्रतिपक्षोऽयमपरः कुक्कुट इति मत्वा साहङ्कारं योद्धुं प्रवृत्तो जडचेतसो हि प्रायस्तिर्यञ्चो भवन्ति । एवं च परकुक्कुटमन्तरेण योधिते राजकुक्कुटे विस्मितः सर्वोऽपि ग्रामलोकः सपादितो राजादेशः निवेदित च राज्ञो निजपुरुषैः । ततो भूयोऽपि कतिपयदिवसातिक्रमे राजा निजादेश प्रेषितवान् युष्मद्ग्रामस्य सर्वत· समीपे रमणीया वालुका विद्यते तत' स्थूला वालुकामया कतिपया दवरकाः कृत्वा शीघ्र प्रेषणीया इति एवं राजादेशे समागते मिलितः सर्वोऽपि बहिः सभाया ग्रामः पृष्टश्च रोहकस्ततो रोहकेण प्रत्युत्तरमदायि नटा वयं ततो नृत्यमेव वयं कर्त्तुं जानीमो न दवरकादि । ततो राजादेशश्चावश्य कर्त्तव्यः ततो बृहद्राजकुलमिति चिरन्तना अपि कतिचिद्वालुकामया दवरका भविष्यन्तीति तन्मध्यादेकः कश्चित्प्रच्छन्दभूतः प्रेषणीयो येन तदनुसारेण वयमपि वालुकामयान् दवरकान् कुर्म इति । ततो निवेदितमेवं राज्ञो नियुक्तपुरुषैः । राजा च निरुत्तरीकृतः तूष्णीमास्त । तत पुनरपि कतिचिद्दिनानन्तर जीर्णहस्ती रोगग्रस्तो मुमूर्षुर्ग्रामे राज्ञा प्रेषित· यथाऽय हस्ती मृत इति न निवेदनीयोऽथ च प्रतिदिवसमस्य वार्ता कथनीया अकथने ग्रामस्य महान् दण्डः । एव च राजादेशे समागते तथैव मिलितः सर्वोऽपि ग्रामो बहि· सभायाम् । पृष्टश्च रोहकस्ततो रोहकेणोक्त दीयतामस्मै यवस पश्चाद्यद्भविष्यति तत्करिष्यामः । ततो रोहकादेशने दत्तो यवसस्तस्मै रात्रौ च स हस्ती पञ्चत्वमुपगत । ततो रोहकवचनतो ग्रामेण गत्वा राज्ञे निवेदितम् । देवाऽद्य हस्ती न निषीदति नोत्तिष्ठति न कवलं गृह्णाति न नीहार करोति नाप्युच्छ्वासनिःश्वासौ विदधाति किं बहुना देव ! कामपि सचेतनचेष्टां न करोति । ततो राज्ञा भणित किं रे मृतो हस्ती ततो ग्रामलोक आह देव ! देवपादा एव ब्रुवते न वयमिति । तत एवमुक्ते राजा मौनमाधाय स्थितः । आगतो ग्रामलोकः स्वग्रामे । ततो भूयोऽपि कतिपयदिनातिक्रमे राजा समादिष्टवानस्ति युष्माकीणे ग्रामे सुस्वादुजलसम्पूर्णः कूप' स इह सत्वरं प्रेषणीय· । तत एवमादिष्टो ग्रामो रोहक पृष्टवान् । रोहक प्राह । एष ग्रामेयकः कूपो, ग्रामेयकश्च स्वभावाद्भीरुर्भवति न च सजातीयमन्तरेण विश्वासमुपगच्छति ततो नागरिकः कश्चिदेकः कूपः प्रेष्यतां येन तत्रैव विश्वस्य तेन सह समागमिष्यति इत्येव निरुत्तरीकृत्य मुत्कलिताः राजनियुक्ता· पुरुषाः तैश्च राज्ञो निवेदित राजा च स्वचेतसि रोहकस्य बुद्ध्यतिशय परिभाव्य मौनमवलम्ब्य स्थितस्ततो भूयोऽपि कतिपयदिवसातिक्रमेऽभिहितवान् । वनखण्डो ग्रामस्य पूर्वस्यां दिशि वर्तमान पश्चिमायां दिशि कर्त्तव्य इति अस्मिन्नपि राजादेशे समागते ग्रामो रोहकबुद्धिमुपजीव्य वनखण्डस्य पूर्वस्यां दिशि व्यवतिष्ठते ततो जातो ग्रामस्य पश्चिमायां दिशि वनखण्ड· निवेदितं च राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैः । ततः पुनरपि कालान्तरे राजा समादिष्टवान् वह्निसंपर्कमन्तरेण पायसं पक्तव्यमिति तत्रापि सर्वो ग्राम एकत्र मिलितो रोहकमपृच्छत् रोहकश्चोक्तवान् तन्दुलानतीव जलेन भिन्नान् कृत्वा दिनकरकरनिकरसन्तप्तकरीषपलालादीनामुष्मणि तन्दुलपयोभृता स्थाली निवेशयतां येन परमान्नं सपद्यते तथैव कृत परमान्नं निवेदित राज्ञो विस्मित तस्य चेतः । ततो राज्ञा रोहकस्य बुद्ध्यतिशयमवगम्य तदाकारणाय समादिष्टं येन बालकेन मदादेशाः सर्वेऽपि प्रायः स्वबुद्धिवशात्संपादितास्तेन चावश्यमागन्तव्यम् पर न शुक्लपक्षे न कृष्णपक्षे न रात्रौ न दिवा न च्छायया नाप्यातपेन नाकाशेन नापि पादाभ्यां न पथा नाप्युत्पथेन न स्नातेन नास्नातेन तत एवमादिष्टे स रोहकः कण्ठस्नान कृत्वा गन्त्रीचक्रस्य मध्यभूमिभागेन करणमारूढो धृतचालनीरूपातपत्रः संध्यासमयेऽमावस्याप्रतिपत्सगमे नरेन्द्रपार्श्वमगमत् । स च रिक्तहस्तो न पश्येच्च राजानं देवतां गुरुमिति लोकश्रुतिं परिभाव्य पृथिवीपिण्डमेकमादाय गत· प्रणतो राजा मुक्तश्च तत्पुरतः पृथिवीपिण्डस्ततः पृष्टो राज्ञा रोहकः । रे रोहक ! किमेतत् ? रोहक प्राह देव ! देवपादाः पृथिवीपतय· ततो मया पृथिवी समानीता । श्रुत्वा चेद प्रथमदर्शने मङ्गलवच· तुतोष राजा मुत्कलितः शेषग्रामलोक· रोहकः पुनरात्मपार्श्वे शायित· गते च यामिन्याः प्रथमे यामे रोहकः शब्दितो राज्ञा, रे रोहक ! जागर्षि किं वा स्वपिषि । देव ! जागर्मि रे तर्हि किं चिन्तयसि स प्राह देव अश्वत्थपत्राणां किं दण्डो महान् उत शिखेति तत एवमुक्ते राजा संशयमापन्नो वदति साधु चिन्तित कोऽत्र निश्चयः । ततो राजा तमेव पृष्टवान् रे कथय कोऽत्र निर्णय इति तेनोक्त यावदद्यापि शिखाग्रभागो न शोषमुपयाति तावद्द्वे अपि समे ततो राज्ञा पार्श्ववर्ती लोक· पृष्टस्तेन च सर्वेणाप्यविज्ञानत· प्रतिपन्नं ततो भूयोऽपि रोहक सुप्तवान् पुनरपि च द्वितीययामेऽपगते राज्ञा शब्दित पृष्टश्च रे किं जागर्षि किं वा स्वपिषि स प्राह देव ! जागर्मि किं रे चिन्तयसि देव ! छागिकोदरे कथं भ्रम्युत्तीर्णा इव वर्तुलगुलिका जायन्ते तत एवमुक्ते राजा सशयापन्नस्तमेव पृष्टवान् कथय रे रोहक ! कथमिति स प्राह देव संवर्तकनामधानवातविशेषात् । तत पुनरपि रोहकः सुष्वाप तृतीययामेऽपगते भूयोऽपि राज्ञा शब्दित रे किं जागर्षि किं वा स्वपिषि सोऽवादीत् देव ! जागर्मि किं रे चिन्तयन्वर्तसे देव खाडहिलाजीवस्य यावन्मात्र शरीर तावन्मात्र पुच्छमुत हीनाधिकमिति तत एवमुक्ते राजा निर्णय कर्तुमशक्त तमेवापृच्छत् रे कोऽत्र

निर्षय देव सममिति ततो रोहक सुप्तः प्राभातिके च मङ्गलपटहनिस्वने सर्वत्र प्रसरमधिरोहति राजा प्रबोधमुपजगाम शब्दितवांश्च रोहक स च निद्राभरमुपारूढो न प्रतिवाच दत्तवान्। ततो राजा लीलाकङ्कतिकया मनाक् त स्पृष्टवान्ततः सोऽपगतनिद्रो जात. स्पृष्टश्च रे किं स्वपिषि स प्राह देव जागर्मि किं रे तर्हि कुर्वंस्तिष्ठसि देव'चिन्तयन्। किं चिन्तयसि देव एतच्चिन्तयामि कतिभिर्जातो देव इति। तत एवमुक्ते राजा सव्रीड मनाक् तूष्णीमतिष्ठत् तत्क्षणानन्तर पृष्टवान् कथय रे कतिभिरह जात इति। स प्राह देव पञ्चभि. राजा भूयोऽपि पृष्टवान् केन केनेति रोहक आह एकेन तावद्वैश्रमणेन वैश्रमणस्येव भवतो दानशक्तेर्दर्शनात्। द्वितीयेन चाण्डालेन वैरिसमूह प्रति चाण्डालस्येव कोपदर्शनात्। तृतीयेन रजकेन यतो रजक इव वस्त्र परिनिपील्य तस्य सर्वस्वमपहरन् दृश्यते। चतुर्थेन वृश्चिकेन यन्मामपि बालक निद्राभरसुप्त लीलाकङ्कतिकाग्रेण वृश्चिक इव निर्दय तुदसि। पञ्चमेन निजपित्रा येन यथावस्थित न्याय सम्यक्परिपालयसि। एवमुक्ते राजा तूष्णीमास्थाय प्राभातिककृत्यमकार्षीत् जननीं च नमस्कृत्यैकान्ते पृष्टवान्। कथय मात ! कतिभिरह जात इति सा प्राह वत्स!किमेतत् प्रष्टव्य निजपित्रा त्व जात.। ततो रोहकोक्त राजा कथितवान् वदति च मात स रोहक. प्रायोऽलीकबुद्धिर्न भवतीति। तन कथय सम्यक् तत्त्वमिति तेत एवमतिनिर्बन्धीकृते सति सा कथयामास। यदा त्वद्गर्भाधानमासीत् तदाऽह बहिरुद्याने वैश्रवणपूजनाय गतवती वैश्रवण च यक्षमतिशयरूप दृष्ट्वा हस्तसस्पर्शेन च सजातमन्मदोन्मादा भोगाय त स्पृहितवती। अपान्तराले च समागच्छन्ती चण्डालयुवानमेकमतिरूपमपश्य ततस्तमपि भोगाय स्पृहयामि स्म। ततोऽर्वाकने भागे समागच्छन्ती तथैव रजक दृष्ट्वाऽभिलषितवती। ततो गृहमागता सती तथाविधोत्सववशात् वृश्चिक कणिक्कामय भक्षणाय हस्ते न्यस्तवती। ततस्तत्सस्पर्शतो जातकामोद्रेका तमपि भोगायाशसितवती तत एव यदि स्पृहामात्रेणापि पितर सभवन्ति तर्हि सन्तु परमार्थतः पुनरेक एव ते पिता सकलजगत्प्रसिद्ध इति। तत एवमुक्ते राजा जननीं प्रणम्य रोहकबुद्धिविस्मितचेता' स्वावासप्रासादमगमत्। रोहक च सर्वेषा मन्त्रिणा मूर्द्धाभिषिक्त मन्त्रिणमकार्षीत् तदेव भरहसिलेति व्याख्यातम्॥ १॥

सप्रति पणयंति व्याख्यायते। द्वौ पुरुषौ एको ग्रामेयकः अपरो नागरिकः। ततो ग्रामेयकः स्वग्रामाच्चिर्भिटिका आनयन् प्रतोलीद्वारे वर्तते त प्रति नागरिका माह यद्येता सर्वा अपि तव त्रिर्भिटिका भक्षयामि तत किं मे प्रयच्छसीति ग्रामेयक. आह योऽनेन प्रतोलीद्वारेण मोदको न याति त प्रयच्छामि ततो द्वाभ्यामपि बद्ध पणित कृता. साक्षिणो जना ततो नागरिकेण ता सर्वा अपि चिर्भटिका मनाक् २ भक्षित्वा मुक्ता उक्त च ग्रामेयकं प्रति भक्षिता. सर्वा अपि त्वदीया' चिर्भिटिकास्ततो मे प्रयच्छ यथा प्रतिज्ञात मोदकमिति। ग्रामेयक प्राह न मे चिर्भिटिका भक्षिता तत कथ ते प्रयच्छामि मोदकमिति नागरिक प्राह। भक्षिता मया सर्वा अपि चिर्भिटिका यदि न प्रत्येषि तर्हि प्रत्ययमुत्पादयामीति। तेनोक्तमुत्पादय प्रत्ययम् ततो द्वाभ्यामपि विपणिवीथ्यां विस्तारिता विक्रयाय चिर्भिटिका. समागतो जन क्रयाय ताश्च चिर्भिटिका निरीक्ष्य लोको वक्ति ननु भक्षिता. सर्वा अपि त्वदीया चिर्भिटिका' तत्कथ वयं गृह्णीम एव लोकेनोक्ते साक्षिणा ग्रामेयकस्य च प्रतीतिरुदपादि क्षुभितो ग्रामेयक हा कथ नु नाम मया तावत्प्रमाणो मोदको दातव्य.। तन स भयेन कम्पमानो विनयनम्रो रूपकमेक प्रयच्छति नागरिको नेच्छति ततो द्वे रूपके दातुं प्रवृत्त तथापि नेच्छति। एव यावच्छतमपि रूपकाणा नेच्छति ततस्तेन ग्रामेयकेण चिन्तितं हस्ती हस्तिना प्रेर्यते ततो धूर्त एष नागरिको वचनेन मां वञ्चितवान् नापरनागरिकमन्तरेण पश्चात्कर्तुं शक्यते इत्यनेन सह कतिपयदिनानि व्यवस्थां कृत्वा नागरिकधूर्तानवलगामि तथैव कृतं दत्ता चैकेन नागरिकधूर्तेन तस्मै बुद्धिस्तत' तद्बुद्धिबलेन पूपिकापणे मोदकमेकमादाय प्रतिद्वन्द्विन धूर्तमाकारितवान् साक्षिणश्च सर्वेऽप्याकारिता. ततस्तेन सर्वसाक्षिसमक्षमिन्द्रकीलके मोदकोऽस्थाप्यते भणितश्च मोदक याहि रे याहि मोदक ! स न याति ततस्तेन साक्षिणोऽधिकृत्योक्त मयैव युष्मत्समक्ष प्रतिज्ञात यद्यह जितो भविष्यामि तर्हि स मया मोदको य प्रतोलीद्वारेण न निर्गच्छति एषोऽपि न याति तस्मादह मुत्कल इति एतच्च साक्षिभिरन्यैश्च पार्श्ववर्तिभिर्नागरिकैः प्रतिपन्नमित प्रतिजित प्रतिद्वन्द्वी धूर्त । द्यूतकारनागरिकधूर्तस्यौत्पत्तिकी बुद्धि ॥ २॥

(रुक्खेत्ति) वृक्षोदाहरण तद्भावना क्वचित्पथि पथिकानां सहकारफलान्यादातु प्रवृत्तानामन्तराय मर्कटका विदधते तत. पथिका' स्वबुद्धिवशाद्वस्तुतत्त्व पर्यालोच्य मर्कटाना समुख लोष्टकान् प्रेषयामासु ततो रोषावरुद्धचेतसो मर्कटाः पथिकाना संमुख सहकारफलानि प्रचिक्षेपु पथिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ३ तथा (खुड्डकत्ति) अङ्गुलीयकाभरण तदुदाहरणभावना राजगृह नगर तत्र प्रसेनजित प्रसेनरिपुसमूहविजेता राजा भूयांसस्तस्य तनया तेषां च सर्वेषामपि मध्ये श्रेणिको राजा नृपलक्षणसपन्न स्वचेतसि परिभावितोऽत एव च तस्मै न किञ्चिदपि ददाति नापि वचसापि सस्पृशति मा शेषैरेष परासुर्विधीयेतेति बुद्ध्या स च किञ्चिदप्यलभमानो मन्युभरवशात्प्रस्थितो देशान्तर जगाम। क्रमेण वेन्नातट नगरम् तत्र च क्षीणविभवस्य श्रेष्ठिनो विपणौ समुपविष्ट तेन च श्रेष्ठिना तस्यामेव रात्रौ स्वप्ने रत्नाकरो निजदुहितर परिणयन् दृष्ट आसीत् तस्य च श्रेणिकपुण्यप्रभावत. तस्मिन् दिने चिरसचितप्रभूतक्रयाणकविक्रयेण महान् लाभः समुत्पादि म्लेच्छहस्ताच्चाऽनर्घ्याणि महारत्नानि स्वल्पमौल्येन समपद्यन्त तत' सोऽचिन्तयत् अस्य महात्मनो मम समीपमुपविष्टस्य पुण्यप्रभाव एष यन्मया महती भूति एतावती समासादिता आकृतिं च तस्यातिमनोहरामवलोक्य स्वचेतसि कल्पयामास स एष रत्नाकरो य. स्वप्ने मया रात्रौ दृष्ट ततस्तन कृतकराञ्जलिसपुटेन विनयपुरस्सरमाभाषित. श्रेणिक.। कस्य यूय प्राघूर्णिका । श्रेणिक उवाच भवतामिति। तत स एवभूतवचनश्रवणतो धाराहतकदम्बपुष्पमिव पुलकितसमस्ततनुयष्टि सबहुमान स्वगृह नीतवान् श्रेणिक भोजनादिक च सकलमप्यात्मनाऽधिकतर सपादयामास पुण्यप्रभाव च तस्य प्रतिदिवसमात्मनो धनलाभवृद्धिसभवेनासाधारणमभिसमीक्ष्यमाण कतिपयदिनातिक्रमे तस्मै स्वदुहितर नन्दानामान दत्तवान् श्रेणिकोऽपि तया सह पुरन्दर इव पौलोम्या मन्मथमनोरथनापूरयत्पञ्चविधभोगलालसो बभूव। कतिपयवासरातिक्रमे च नन्दाया गर्भाधानमभूत् इतश्च प्रसेनजित्स्वान्तसमय विभाव्य श्रेणिकस्य परपरया वार्तामधिगम्य तदाकारणाय सत्वरमुष्ट्रवाहनान् पुरुषान् प्रेषयामास ते च समागत्य श्रेणिक विज्ञप्तवन्तो देव ! शीघ्रमागम्यतां देव सत्वरमाकारयति ततो नन्दां समापन्नसत्वामापृच्छ्य "अम्ह रायगिहे पण्डुरकुड्ड गोपाला। जइ अम्हेहिं कज्ज तो एज्जहत्ति" एतद्वाक्य क्वचित् लिखित्वा श्रेणिको राजगृह प्रति चलितवान् नन्दायाश्च देवलोकच्युतमहानुभावगर्भसत्त्वप्रभावत' एव दोहदमुदपादि यदह यदि प्रवरकुञ्जरमधिरूढा निखिलजनेभ्यो धनदानपुरस्सरमभयप्रदान करोमीति पिता च तदित्थभूतदोहदमुत्पन्न ज्ञात्वा राजान विज्ञप्य पूरितवान् कालक्रमेण च प्रवृत्ते

प्रसवसमये प्रातरादित्यबिम्बमिव दश दिशः प्रकाशय-न्नजायत परमसूनुस्तस्य च दौहृदानुसारेण अभय इति नाम चक्रे सोऽपि चाऽभयकुमारो नन्दनवनान्तर्गतकल्पपादप इव तत्र सुखेन परिवर्द्धते शास्त्रग्रहणादिकमपि यथाकालं कृतवान् । अन्यदा च स्वमातरं पप्रच्छ मातः ! कथं मे पिताऽभूदिति ततः सा कथयामास मूलत आरभ्य सर्वं यथावस्थितं वृत्तान्तं दर्शयामास च लिखितान्यक्षराणि । ततो मातृवचनतात्पर्यावगमतो लिखिताक्षरार्थावगमतश्च ज्ञातमभयकुमारेण यथा मे पिता राजगृहे राजा वर्तते इति एवं च ज्ञात्वा मातरमभाणीत् व्रजामो राजगृहे सार्थेन सह वयमिति । सा प्रत्यवादीत् वत्स ! यद्भणसि तत्करोमीति ततोऽभयकुमारः स्वमात्रा सह सार्थेन समं चलितः प्राप्तो राजगृहस्य बहिः प्रदेशं ततोऽभयकुमारस्तत्र मातरं विमुच्य किं प्रवर्तते सम्प्रति पुरे कथं वा राज्ञा दर्शनीय इति विचिन्त्य राजगृहं प्रविष्टः । तत्र पुरःप्रवेशे एव निर्जलकूपतटे समन्ततो लोकः समुदायेनावतिष्ठते पृष्टं चाऽभयकुमारेण किमित्येष लोकमेलापकः ततो लोकेनोक्तम् । अस्य मध्ये राज्ञोऽङ्गुल्याभरणमास्ते तत् यो नाम तटे स्थितः स्वहस्तेन गृह्णाति तस्मै राजा महतीं वृत्तिं प्रयच्छतीति तत एव श्रुते पृष्टाः प्रत्यासन्नवर्तिनो राजनियुक्ताः पुरुषाः तैरप्येवमेव कथितं ततोऽभयकुमारेणोक्तमहं तटे स्थितो गृहीष्यामि राजनियुक्तैः पुरुषैरुक्तं गृहाण त्वं यत्प्रतिज्ञातं राज्ञा तदवश्यं करिष्यते ततोऽभयकुमारेण परिज्ञावितमङ्गुल्याभरणं दृष्ट्वा सम्यक् ततः आर्द्रगोमयेनाहतं सहसा तत्र ततस्तस्मिन् शुष्के मुक्तं कूपान्तरात्पानीयं भृतो जलेन परिपूर्णः स कूपः तरति चोपरि सोऽङ्गुल्याभरणः शुष्कगोमयस्ततस्तटस्थेन सता गृहीतमङ्गुल्याभरणमभयकुमारेण कृतश्चानन्दकोलाहलो लोकेन, निवेदितं राज्ञो राजनियुक्तैः पुरुषैराकारितोऽभयकुमारो राज्ञा, गतो राज्ञः समीपं मुमोच पुरतोऽङ्गुल्याभरणं पृष्टश्च राज्ञा वत्स ! कोऽसि त्वम् । अभयकुमारेणोक्तम् । हे देव ! युष्मदपत्यं राजा प्राह कथम् । ततः प्राक्तनवृत्तान्तं कथितवान् ततो जगाम महाप्रमोदं राजा चकारोत्सङ्गे अभयकुमारं चुम्बितवान्सस्नेहं शिरसि पृष्टश्च श्रेणिकेनाभयकुमारो वत्स ! क्व ते माता वर्तते देव ! बहिः प्रदेशे ततो राजा सपरिच्छदः तस्याः सन्मुखमुपागमत् । अभयकुमारश्चाग्रे समागत्य कथयामास सर्वं नन्दायाः ततः सा मान मण्डयितुं प्रवृत्ता निषिद्धा च अभयकुमारेण मातर्न कल्पते कुलस्त्रीणां निजपतिविरहितानां निजपतिदर्शनमन्तरेण भूषणं कर्तुमिति समागतो राजा पपात राज्ञः पादयोर्नन्दा सन्मानिता च भूषणादिप्रदानेनातीव राज्ञा सस्नेहं प्रवेशिता महाविभूत्या नगरं सपुत्रा स्थापितश्चाभयकुमारोऽमात्यपदे इति अभयकुमारस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ४ ॥

तथा (पडत्ति) पटोदाहरणसद्भावना द्वौ पुरुषौ एकस्य आच्छादनपटः सौत्रिकोऽपरस्योर्णामयः तौ च सह गत्वा युगपत्स्नातुं प्रवृत्तौ तत्रोर्णामयपटस्वामी स्वपटं विमुच्य द्वितीयसत्कं सौत्रिकं पटं गृहीत्वा गन्तुं प्रस्थितो द्वितीयो याचते स्वपटं स न प्रयच्छति ततो राजकुले च व्यवहारो जातः ततः कारणिकैर्द्वयोरपि शिरसी कङ्कतिकयाऽवलेखिते ततोऽवलेखने कृते सति ऊर्णामयपटस्वामिनः शिरसः ऊर्णावयवा विनिर्जग्मुः ततो ज्ञातं नूनमेष न सौत्रिकपटस्य स्वामीति निगृहीतोऽपरस्य समर्पितः सौत्रिकपटः कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ५ ॥ (सरडत्ति) सरटोदाहरणंतद्भावना कस्यचित्पुरुषस्य पुरीषमुत्सृजतः सरटो गुदस्याधस्ताद्बिलं प्रविशन् पुच्छेन गुदं स्पृष्टवान् ततस्तस्यैवमजायत शङ्का नूनमुदरे मे सरटः प्रविष्टः ततो गृहं गतो महतीमधृतिं कुर्वन्नतीव दुर्बलो बभूव वैद्यं च पप्रच्छ वैद्यश्च ज्ञातवानसम्भवमेतत् केवलमस्य कथंचिदाशङ्का समुदपादि ततः सोऽवादीत् यदि मे शतं रूपकाणां प्रयच्छसि ततोऽहं त्वां निराकुलीकरोमि तेन प्रतिपन्नं ततो वैद्यो विरेचकौषधं प्रदाय तस्य लाक्षारसखरण्टितं कृत्वा सरटं घटे प्रक्षिप्य तस्मिन् घटे पुरीषोत्सर्गं कारितवान् ततो वैद्येन दर्शितः तस्य पुरीषखरण्टितो घटे सरटो व्यपगता तस्य सर्वा शङ्का जातो बलिष्ठशरीरो वैद्यस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ६ ॥

(कायत्ति) काकोदाहरणे तद्भावना बेन्नातटे नगरे केनापि सौगतेन कोऽपि श्वेतपटक्षुल्लकः पृष्टः भो क्षुल्लक ! सर्वज्ञाः किल तवार्हन्तस्त्वत्पुत्रकाश्च यूयं तत्कथय कियन्तो अत्र पुरे वसन्ति वायसाः ततः क्षुल्लकश्चिन्तयामास शठोऽयं प्रतिशठाचरणेन निर्लोठनीयः ततः स्वबुद्धिवशात् इदं पठितवान्- " सट्ठिं कागसहस्सा, इह य ब्लिन्नायडे परिवसंति । जइ ऊणगा वसिया, अब्भहिया पाहुणा आया " ततः स भिक्षुः प्रत्युत्तरं दातुमशक्नुवन् लकुडाहतशिरस्क इव शिरःकण्डूयमानो मौनमाधाय गत इति क्षुल्लकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ अथवा अपरो वायसदृष्टान्तः कोऽपि क्षुल्लकः केनापि भागवतेन दुष्टबुद्ध्या पृष्टो भोः क्षुल्लक ! किमेष काको विष्ठामितस्ततो विक्षिपति क्षुल्लकोऽपि तस्य दुष्टबुद्धितामवगम्य तन्मर्मवित् प्रत्युत्तरं दत्तवान् युष्मत्सिद्धान्ते च जले स्थले च सर्वत्र व्यापी विष्णुरभ्युपगम्यते ततो यौष्माकीयं सिद्धान्तमुपश्रुत्य एषोऽपि वायसोऽचिन्तयत् किमस्मिन् पुरीषे समस्ति विष्णुः किं वा नेति ततः स एवमुक्तो वाणाहतमर्मप्रदेश इव घूर्णितचेतनो मौनमवलम्ब्य रुषा धूमायमानो गतः इति क्षुल्लकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ७-८ ॥

(उच्चारेति) उच्चारोदाहरणं तद्भावना कश्चित्पुरे कोऽपि धिग्जातीयः तस्य भार्या अभिनवयौवनोद्भेदरमणीया लोचनयुगलविक्षेपावलोकनमहाभल्लीनिपातनताडितसकलकामिकुरङ्गहृदया प्रबलकामोन्मत्तमना आसीत् सोऽन्यदा धिग्जातीयः तया भार्यया सह देशान्तरे गन्तुं प्रवृत्तोऽपान्तराले च धूर्तः कोऽपि पथिको मिलितः । सा च धिग्जातीया भार्या तस्मिन् रतिं बद्धवती ततो धूर्तं प्राह मदीया एषा भार्या धिग्जातीयः प्राह मदीयेति ततो राजकुले व्यवहारो जातः । ततः कारणिकैर्द्वयोरपि पृथक् कृत्य ह्यस्तनदिनभुक्तमाहारः पृष्टो धिग्जातीयेनोक्तं मया ह्यस्तनदिने तिला भक्षितास्तद्भार्यया च । धूर्तेनान्यत्किमपि उक्तं ततो दत्तं तस्याः कारणिकैर्विरेकौषधं जातो विरेको दृष्टाः पुरीषान्तर्गतास्तिला दत्ता सा धिग्जातीयस्य निर्धाटितो धूर्तश्च । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ९

(गयत्ति) गजोदाहरणं तद्भावना वसन्तपुरे नगरे कोऽपि राजा बुद्ध्यतिशयसंपन्नं मन्त्रिणमन्वेषमाणः चतुष्पथे हस्तिनमालानस्तम्भे बन्धयित्वा घोषणामचीकरत् योऽमुं हस्तिनं तोलयति तस्मै राजा महतीं वृत्तिं प्रयच्छतीति इमां घोषणां श्रुत्वा कश्चिदेकः पुमान् तं हस्तिनं महासरसि नावमारोपयामास तस्मिंश्चारूढे यावत्प्रमाणा नौर्जले निमग्ना तावति प्रमाणे रेखामदात् ततः समुत्तारितो हस्ती तटे प्रक्षिप्ता गण्डशैलकल्पा नावि ग्रावाणस्ते च तावत्प्रक्षिप्ताः यावत् रेखां मर्यादीकृत्य जले निमग्ना नौस्ततस्तोलिता सर्वे ते पाषाणा कृतमेकत्र पलपरिमाणं निवेदितं राज्ञे देव एतावत्पलपरिमाणो हस्ती वर्तते ततस्तुतोष राजा कृतो मन्त्रिमण्डलमूर्ध्नि निक्षिप्तः परमो मन्त्री तस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥

१० (पायणेत्ति) भण्डस्तद्भावना विटो नाम कोऽपि पुरुषो राज्ञः -

प्रत्यासन्नवर्ती त प्रति राजा निजदेवीं प्रशसति अहो निरामया मे देवी या न कदाचिदपि वातनिसर्गं विदधाति । विट प्राह देव ! न भवतीदं जातुचित् । राजा अवादीत् कथं विट आह देव धूर्ता देवी ततो यदा सुगन्धिपुष्पाणि चूर्णवासा त्वां समर्पयति नासिकाग्रे तदा ज्ञातव्य वातं मुञ्चतीति ततोऽन्यदा राज्ञा तथैव परिभावित सम्यगवगते च हसितं ततो देवी हसननिमित्तकथनाय निर्बंध कृतवती ततो राजातिनिर्बन्धे कृते पूर्ववृत्तान्तमचकथत् । ततश्चुकोप तस्मै विटाय देवी आज्ञप्तो देशत्यागेन । तेनापि अङ्गे नूनमकथयत् पूर्ववृत्तान्त देवो देव्यास्तेन मे चुकोप देवी । ततो महान्तमुपानद्वा भरमादाय गतो देवीसकाश विज्ञापयामास देवीम् । देवि ! यामो देशान्तराणि देवी उपानद्भार पार्श्वे स्थितं दृष्ट्वा पृष्टवती रे किमेव उपानद्भार । सोऽवादीत् देवि यावन्ति देशान्तराण्येतायनीभि रुपानद्भिर्गन्तु शक्ष्यामि तावत्तु देव्या' कीर्तिर्विस्तारणीया तत एवमुक्ते मा मे सर्वत्राप्यपकीर्तिर्जायेतेति परिभाव्य देवी पश्चात् त धारयामास । विटस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ ११ ॥

(गोलोत्ति) गोलकोदाहरण तद्भावना लाक्षागोलक कस्यापि बालकस्य कथमपि नासिकामध्ये प्रविष्ट तन्मातापितरावतीव आर्ता बभूवतु दर्शितो बालक सुवर्णकारस्य तेन च सुवर्णकारेण प्रतप्ताग्रभागया लोहशलाकया शनैः २ यत्नतो लाक्षागोलको मनाक् प्रताप्य सर्वोऽपि समाकृष्ट सुवर्णकारस्यौत्पत्तिकी बुद्धि । १२। (खंभत्ति) स्तम्भोदाहरण तद्भावना । राजा मन्त्रिणमेक गवेषयन् महाविस्तीर्णतटाकमध्ये स्तम्भमेक निवेशयामास तत एव घोषणां कारितवान् यो नाम तटस्थितोऽमु स्तम्भ दवरकेण बध्नाति तस्मै राजा शतसहस्र प्रयच्छति तत एव घोषणां श्रुत्वा कोऽपि पुमान एकस्मिन् तटप्रदेशे कीलकं भूमौ प्रक्षिप्य दवरकेण बध्वा तेन दवरकेण सह सर्वतस्तटे परिभ्राम्यन् मध्यस्थित त स्तम्भ बद्धवान् लोकेन च बुद्ध्यतिशयसपन्नतया प्रशसितो निवेदितश्च राज्ञो राजनियुक्तै पुरुषैः तुतोष राजा ततस्त राजा मन्त्रिणमकार्षीत तस्य पुरुषस्यौत्पत्तिकी बुद्धि १३ (खुड्डत्ति) क्षुल्लकोदाहरणं तद्भावना कस्मिंश्चित्पुरे काचित्परिव्राजिका सा यो यत्करोति तदद कुशलकर्मा सर्वं करोमीति राज्ञः समक्ष प्रतिज्ञा कृतवती राजा च तत्प्रतिज्ञासूचक पटहमुद्घोषयामास । तत्र च कोपि क्षुल्लको भिक्षार्थमटन् पटहशब्द श्रुतवान् श्रुतश्च प्रतिज्ञार्थः ततो धृतवान पटह प्रतिपन्नो राजसमक्ष व्यवहारे गतो राजकुले क्षुल्लकस्ततस्त लघुं दृष्ट्वा सा परिव्राजिकात्मीय मुख विकृत्यावज्ञयाभिधत्ते कथय कुतो गिलामि तत एवमुक्ते क्षुल्लक' स मेढ्र दर्शितवान् ततो हसित सर्वैरपि जनैरुद्घुष्ट च जिता परिव्राजिका तस्या एव कर्तुमशक्यत्वात् तत क्षुल्लकः कायिक्या पद्ममालिखितवान् सा कर्तुं न शक्नोति ततो जिता परिव्राजिका । क्षुल्लकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः । १४।

(मग्गत्ति) मार्गोदाहरण तद्भावना कोऽपि पुरुषो निजभार्यां गृहीत्वा वाहनेन ग्रामान्तरं गच्छति अपान्तराले च कचित्प्रदेशे शरीरचिन्तानिमित्त तद्भार्या वाहनादुत्तीर्णवती तस्यां च शरीरचिन्तानिमित्त कियद्भूभाग गताया तत्प्रदेशवर्तिनी काचित् व्यन्तरी पुरुषस्य रूपसौभाग्यादिकमवलोक्य कामातुरा तद्रूपेणागत्य वाहन विलग्ना सा च तद्भार्या शरीरचिन्तां विधाय यावद्वाहनसमीपमागच्छति तावदन्या स्त्रियमात्मसमानरूपा वाहनरूढा पश्यति सा च व्यन्तरी पुरुष प्रत्याह एषा काचित् व्यन्तरी मदीय रूपमाचर्य तव सकाशमागच्छति तत खेटय सत्वर तत स पुरुषः तथैव कृतवान् । सा चारटन्ती पश्चाल्लग्ना समागच्छति पुरुषोऽपि तामारटन्तीं दृष्ट्वा मूढचेता मन्द २ खेटयामास तत प्रावर्तत तयो स्तद्भार्याव्यन्तर्योर्निष्ठुरभाषणादिकः परस्पर कलहः ग्रामे च प्राप्ते जातः तयो राजकुले व्यवहारः एकपक्ष निर्णयमकुर्वन्नुदासीनो वर्तते । ततः कारणिकैः पुरुषो दूरे व्यवस्थापितो भणिते च द्वे अपि स्त्रियौ युवयोर्मध्ये या काचिदमुं प्रथमं हस्तेन सस्पृक्ष्यति तस्याः पतिरेष न शेषाया । ततो व्यन्तरी दूरत हस्त प्रसार्य प्रथम स्पृष्टवती ततो ज्ञात कारणिकैरेषा व्यन्तरीति । ततो निर्धाटिता द्वितीया च समर्पिता स्वपते । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धि १५ (इत्थित्ति) स्त्र्युदाहरण तद्भावना मूलदेवकण्डरीकौ सह पन्थान गच्छतः इतश्च कोऽपि सभार्याक पुरुष तेनैव पथा गन्तु प्रावर्तत कण्डरीकश्च दूरस्थित तद्भार्यागतमतिशायि रूप दृष्ट्वा साभिलाषो जात कथित च तेन मूलदेवस्य यदीमां मे सपादयसि तदाहं जीवामि नान्यथेति ततो मूलदेवोऽप्यादीत मात्सरीभूरह ते नियमत सपादयिष्यामि । ततस्ती द्वावप्यलक्षितौ सत्वर दूरतो गतौ ततो मूलदेव' कण्डरीकमेकस्मिन्वननिकुञ्जे सस्थाप्य पथि कार्येस्थितो वर्तते तत पश्चादायात सभार्याक स पुरुषो भणितो मूलदेवेन । भो महापुरुष ! महिलाया मेऽस्मिन्वननिकुञ्जे प्रसवो वर्तते तत' क्षणमात्र निजमहिलां विसर्जय, विसर्जिता तेन आगता कण्डरीकपार्श्वं तत क्षणमात्र स्थित्वा समागता । " आगतूण य तत्तो, पडय घेत्तूण मूलदेवस्स । धुत्ती भणइ हसती, पिय खुणे दारओ जाओ " द्वयोरपि तयोरौत्पत्तिकी बुद्धि ॥ १६ ॥

(पइत्ति) पतिदृष्टान्तः तद्भावना द्वयोर्भ्रात्रोरेका भार्या लोके च महाकौतुकमहो द्वयोरप्येषा समानुरागेति एतच्च श्रुतिपरपरया राज्ञाऽपि श्रुत पर विस्मयमुपागतो राजा । मन्त्री ब्रूते देव ! न भवति कदाचिदप्येतदवश्य विशेष' कोऽपि भविष्यति राज्ञोक्त कथमेतदवसेयम । मन्त्री ब्रूते देवाचिरादेव यथा ज्ञास्यते तथा यतिष्यते । ततो मन्त्रिणा तस्याः स्त्रिया लेख प्रेषितो यथा द्वावपि निजपती ग्रामद्वये प्रेषणीयावेक पूर्वस्या दिशि विवक्षिते ग्रामेऽपरोऽपरस्यां दिशि । तस्मिन्नेव च दिने द्वाभ्यामपि गृहे समागन्तव्यम । ततस्तया यो मन्दवल्लभ स पूर्वस्यां दिशि प्रेषितोऽपरोऽपरस्या दिशि । पूर्वस्यां दिशि यो गत तस्य गच्छतः आगच्छतश्च समुख सूर्यः । य' पुनरपरस्यां दिशि गतः तस्य गच्छत' आगच्छतश्च पृष्टतः । एव च कृते मन्त्रिणा ज्ञातमय मन्दवल्लभोऽपरोऽत्यन्तवल्लभ । ततो निवेदित राज्ञो राज्ञा च न प्रतिपन्न यतोऽवश्यमेक' पूर्वस्यां दिशि प्रेषणीयोऽपरोऽपरस्यां दिशि । तत कथमेव विशेषोऽवगम्यते ततः पुनरपि मन्त्रिणा लेखप्रदानेन सा महेलोक्ता द्वावपि निजपती तयोरेव ग्रामयोः समक प्रेषणीयौ तया च तौ तथैव प्रेषितौ मन्त्रिणा च द्वौ पुरुषौ तस्या' समीपे समक तयोः शरीरापाटवनिवेदको प्रेषितौ द्वाभ्यामपि च सा समकमाकारिता ततो यो मन्दवल्लभशरीरपाटवनिवेदकः पुरुषस्त प्रत्याह स देवो मन्दशरीरी द्वितीयोऽप्यातुरश्च वर्तत ततस्तं प्रत्यह गमिष्यामि । तथैव कृत ततो निवेदित राज्ञो मन्त्रिणा प्रतिपन्न राज्ञा तथेति । मन्त्रिण औत्पत्तिकी बुद्धि ॥ १७ ॥

(पुत्तत्ति) पुत्रदृष्टान्तः तद्भावना कोऽपि वणिक् तस्य द्वे पत्न्यौ एकस्य पुत्रोऽपरा वन्ध्या पर सापि त पुत्र सम्यक्पालयति ततः स पुत्रो विशेष न जानीते यथेय मे जननी इयं नेति सोऽपि वणिक सभार्यापुत्रो देशान्तर गतो गतमात्र एव परासुरभूत् ततोद्वयोरपि तयोः कलहोऽजायत । एका भणति ममैष पुत्रस्ततोऽहं

गृहस्वामिनी द्वितीया तु वक्ति का त्वं ममैव पुत्रः ततोऽहमेव गृहस्वामिनीति । एवं तयोः परस्परं कलहे जाते राजकुले व्यवहारो जातः । ततोऽमात्यः प्रतिपादयामास निजपुरुषान् भो पूर्वं द्रव्यं समस्तं विभज्य ततो दारकं द्वौ भागौ करपत्रेण कुरुत कृत्वा चैकं खण्डमेकस्यै समर्प्पयत द्वितीयं द्वितीयस्यै । तत एतदमात्यवाक्यं शिरसि महाज्वालासहस्रावलीढवज्रोपनिपातकल्पं पुत्रमाता श्रुत्वा सोत्कम्पहृदयान्तः प्रविष्टतिर्यक्शल्येव दुःखवक्तुं प्रवृत्ता हे स्वामिन् ! महामात्य न ममैष पुत्रो न मे किञ्चिदर्थेन प्रयोजनमेतस्या एव पुत्रो भवत्वियं गृहस्वामिनी च अहं पुनरमुं पुत्रं दूरस्थितापि परगृहेषु दारिद्र्यमपि कुर्वती जीवन्तं द्रक्ष्यामि तावता च कृतकृत्यमात्मानं मंस्ये । पुत्रेण विना पुनरधुनापि समस्तोऽपि मे जीवलोकोऽस्तमुपयाति इतरा च न किमपि वक्ति ततोऽमात्येन तां सदुःखां परिभाव्य उक्तमेतस्याः पुत्रो नास्या इति । सैव च सर्वस्य स्वामिनी कृता द्वितीया तु निर्धाटिता अमात्यस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः १७ मरहसित्ति मेंढेत्यादिका च गाथा रोहक सविधानसूचिका सा च प्रागुक्तकथानकानुसारेण स्वयमेव व्याख्येया । (मधुसित्थेत्यादि) मधुयुक्त सिक्थ तदृष्टान्तभावना कश्चित्कौलिकः तस्य भार्या स्वैरिणी सा चान्यदा केनापि पुरुषेण सह कचित्प्रदेशे जालिकामध्ये मैथुनं सेवितवती मैथुनस्थितया च तया उपरि भ्रामरमुत्पन्नं दृष्टं क्षणमात्रानन्तरं च गृहे समागता । द्वितीये च दिवसे स्वभर्त्ता मदनं क्रीणस्तया निवारितो मा क्रीणाहि मदनं महत् भ्रामरमुत्पन्नं दर्शयामि । ततः स क्रयणाद्विनिवृत्तो गतौ च तौ द्वावपि तां जालिं न पश्यति सा कथमपि कौलिकी भ्रामरं न दृष्टवती ततो येन संस्थानेन मैथुनं सेवितवती तेन संस्थानेन स्थिता ततो भ्रामरं दृष्टवती दर्शयामास च कौलिकाय कौलिकोऽपि च तथारूपं संस्थानमवलोक्य ज्ञातवान्नूनमेषा दुराचारिणीति । कौलिकस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ १९ ॥

(मुद्दियत्ति) मुद्रिकोदाहरणं तद्भावना कचित्पुरे कोऽपि पुरोधाः सर्वत्र ख्यातसत्यवृत्तिर्यथा परकीयान्निक्षेपानादाय प्रभूतकालातिक्रमेऽपि तथास्थितानेव समर्प्पयतीति एतच्च ज्ञात्वा कोऽपि द्रमकः तस्मै स्वनिक्षेपं समर्प्य देशान्तरं प्रभूततरमगमत् प्रभूतकालातिक्रमे च भूयोऽपि तत्रागतो याचते स्व निक्षेपं पुरोधाश्च मूलत एवापलपति कस्त्वं कीदृशो वा तव निक्षेप इति । ततः स रङ्को वराकः स्वनिक्षेपमलभमानः शून्यचित्तो बभूव । अन्यदा च तेनामात्यो गच्छन् दृष्टो याचितश्च देहि मे पुरोहित ! सुवर्णसहस्रप्रमाणं निक्षेपमिति । तत एतदाकर्ण्य अमात्यः तद्विषयकृपापरीतचेताः बभूव । ततो गत्वा निवेदितं राज्ञः कारितश्च दर्शनं द्रमकोऽपि राज्ञा भणितः पुरोधा देहि तस्मै द्रमकाय स्वनिक्षेपमिति । पुरोहितोऽवादीत् देव ! तस्याहं न किमपि गृह्णामि । ततो राजा मौनमधात् । पुरोधसि च स्वगृहं गते राजा विजने तं द्रमकं पृष्टवान् रे कथय ! सत्यमिति ततस्तेन दिवसमुहूर्त्तस्थानपार्श्ववर्तिमानुषादिकं कथितम् ततोऽन्यदा राजा पुरोधसा समं रन्तुं प्रावर्तत परस्परं नाममुद्रा सञ्चारिता ततो राजा यथा पुरोधा न वेत्ति तथा कस्यापि मानुषहस्ते नाममुद्रां समर्प्य तं प्रति भणति रे पुरोधसो गृहे गत्वा तद्भार्यामेवं ब्रूहि यथाऽहं पुरोधसा प्रेषितः इयं च नाममुद्राभिज्ञानं तस्मिन् दिने तस्यां वेलायां यः सुवर्णसहस्रनवलको द्रमकसत्कः त्वत्समक्षममुकप्रदेशे मुक्तोऽस्ति तं झटिति समर्प्पय तेन पुरुषेण तथैव कृतं सापि च पुरोधसो भार्या नाममुद्रां दृष्ट्वाऽभिज्ञानमिलनतश्च सत्यमेष पुरोधसा प्रेषित इति प्रतिपन्नवती । ततः समर्प्पयामास तं द्रमकनिक्षेपं तेन पुरुषेणानीय राज्ञः स मर्पितो राज्ञा चान्येषां बहूनां नवलकानां मध्ये स द्रमकनवलकः प्रक्षिप्तः । आकारितो द्रमकः पार्श्वे चोपवेशितः पुरोधा द्रमकोऽपि तथात्मीयं नवलकं दृष्ट्वा प्रमुदितहृदयो विकसितलोचनोऽपगतचित्तशून्यताभावः सहर्षं राजानं विज्ञापयितुं प्रवृत्तो देव ! देवपदानां पुरत एवमाकारो मदीयो नवलकस्ततो राजा तस्मै समर्प्पयामास । पुरोधसो जिह्वाच्छेदमचीकरत् । राज्ञः औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २० ॥

(अंकत्ति) अङ्कदृष्टान्तभावना कोऽपि पार्श्वे रूपकसहस्रनवलकं निक्षिप्तवान् तेन च निक्षेपग्राहिणा तं नवलकमधः प्रदेशे छित्वा कूटरूपकाणां संभृतः तथैव च सीवितः । ततः कालान्तरे तस्य पार्श्वान्निक्षेपस्वामिना स्वनिक्षेपो गृहीतः परिज्ञापितः सर्व्वतः तथैव दृश्यते मुद्रादिकं तत उद्घाटिता मुद्रा यावद् रूपकान् परिज्ञापयति तावत्सर्वानपि कूटान्पश्यति ततो जातो राजकुलेन तयोर्व्यवहारः । पृष्टः कारणिकैर्निक्षेपस्वामी प्रोः कतिसंख्यास्तव नवलके रूपका आसीरन् स प्राह सहस्रं ततो गणयित्वा रूपकाणां सहस्रं तेन भृतः स नवलकः स च परिपूर्णं भृतः केवलं यावन्मात्रमधस्ताच्छिन्नस्तावन्न्यून इति उपरि सीवितुं न शक्यन्ते ततो ज्ञातं कारणिकैः नूनमस्याऽपहृता रूपकाः ततो दापितो रूपकसहस्रमितरो नवलकस्वामिनः । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २१ ॥

(नाणत्ति) कोऽपि कस्यापि पार्श्वे सुवर्णपणभृतं नवलकं निक्षिप्तवान् ततो गतो देशान्तरं प्रभूते च कालातिक्रान्ते निक्षेपग्राही तस्मान्नवलकाज्जात्यसुवर्णमयान् पणान् गृहीत्वा हीनवर्णकसुवर्णपणान् तावत्संख्याकान् तत्र प्रक्षिप्तवान् तथैव च स नवलकः तेन सीवितः ततः कतिपयदिनानन्तरं स नवलकस्वामी देशान्तरादागतः स्वं च नवलकं तस्य पार्श्वे याचितवान् सोऽपि समर्पयामास परिज्ञापितं तेन मुद्रादिकं तथैव दृष्टम् । ततो मुद्रां स्फोटयित्वा यावत्पणान्परिज्ञापयति तावद्धीनवर्णसुवर्णकमयान् पश्यति ततो बभूव राजकुले व्यवहारः पृष्टं च कारणिकैः कः कालः आसीत् यत्र त्वया नवलको मुक्त इति । नवलकस्वामी प्राह । अमुक इति ततः कारणिकैरुक्तं स चिरन्तनकालोऽधुनातनकालकृताश्च दृश्यन्तेऽमी पणास्ततो मिथ्याभाषी नूनमेष निक्षेपग्राहीति दण्डितो दापितश्च तस्य तावत्पणास्तमिति । कारणिकानामौत्पत्तिकीबुद्धिः ॥ २२ ॥

(भिक्खुत्ति) भिक्षूदाहरणं तद्भावना कोपि कस्यापि भिक्षोः पार्श्वे सुवर्णसहस्रं निक्षिप्तवान् कालान्तरे याचते स च भिक्षुर्न प्रयच्छति केवलमद्यकल्ये वा ददामीति विप्रतारयति ततस्तेन द्यूतकारा अवलगितास्ततस्तैः प्रतिपन्नं निश्चितं दापयिष्यामः। ततो द्यूतकारा रक्तपटवेषेण सुवर्णखोटिकां गृहीत्वा समागता वदन्ति च वयं चैत्यवन्दनाय देशान्तरं यियासवो यूयं परमसत्यतापात्रमत एताः सुवर्णखोटिका युष्मत्पार्श्वे स्थास्यन्ति एतावति चावसरे पूर्वं संकेतितः स पुरुषः आगत्य याचते स्म भिक्षो ! समर्पय स्थापनिकामिति ततो भिक्षुणाभिनवमुच्यमानसुवर्णखोटिका लम्पटतया समर्पिता तस्य स्थापनिका तस्मै । मा एतासामहमाजागी,जायेयेति बुद्ध्या तेऽपि च द्यूतकाराः किमपि मिषान्तरं कृत्वा स्वसुवर्णखोटिकां गृहीत्वा गताः। द्यूतकाराणामौत्पत्तिकी बुद्धिः २३

(चेडगनिहाणत्ति) चेटका बालका निधानं प्रतीत दृष्टान्तभावना द्वौ पुरुषौ परस्परं प्रतिपन्नसख्यभावावन्यदा क्वचित्प्रदेशे ताभ्यां निधानमुपलब्धं तत एको मायावी ब्रूते श्वस्तनदिने शुभे नक्षत्रे ग्रहीष्यामो द्वितीयेन च सरलमनस्कतया तथैव प्रतिपन्नम् । ततस्तेन मायाविना तस्मिन् प्रदेशे रात्रावागत्य निधानं गृहीत्वा तत्राङ्गारकाः प्रक्षिप्ताः ततो द्वितीयदिने तौ द्वावपि भूत्वा गतौ दृष्टवन्तौ तत्राङ्गारकान् । ततो मायावी मायया स्वोरस्ताडमाक्र-

न्द्रितुं प्रावर्तत वदति च हा हीनपुण्यया वयं दैवेन चक्षुर्दत्वाऽस्माकं समुत्पाटिते यन्निधानमुपदिश्याङ्गारका दर्शिताः पुनः पुनश्च द्वितीयमुखमवलोकते ततो द्वितीयेन जज्ञे नूनमनेन हृतधनमिति ततस्तेनाप्याकारसंवरणं कृत्वा तस्यानुशासनार्थमूचे मा वयस्य खेदं कार्षीः न खलु खेदं पुनर्निधानप्रत्यागमनहेतुः । ततो गतौ द्वावपि स्वं गृहं ततो द्वितीयेन तस्य मायाविनो लेप्यमयी सजीवेव प्रतिमा कारिता द्वौ च गृहीतौ मर्कटौ प्रतिमायाश्चोत्सङ्गे हस्ते शिरसि स्कन्धे धान्यत्र च यथायोग्यं तयोर्मर्कटयोर्भक्ष्यं मुक्तवान् तौ च मर्कटौ क्षुधापीडितौ तत्रागत्य प्रतिमाया उत्सङ्गादौ भक्षं भक्षितवन्तौ एवं च प्रतिदिनं करणे तयोस्तादृश्येव शैली समजनि । ततोऽन्यदा किमपि पर्वाधिकृत्य मायाविनो द्वावपि पुत्रौ भोजनाय निमन्त्रितौ समागतौ च भोजनवेलायां तद्गृहे भोजितौ च तेन महागौरवेण भोजनानन्तरं च तौ महता सुखेनान्यत्र संगोपितौ । ततस्तोकदिनावसाने मायावी स्वपुत्रशोधिकरणाय तद्गृहमागतः ततो द्वितीयस्तं प्रति ब्रूते मित्र ! तौ तव पुत्रौ मर्कटावभूतां ततः सखेदं विस्मितचेता गृहमध्यं प्राविशत् ततो लेप्यमयीं प्रतिमामुत्सार्य तस्थाने समुपावेशितो मुक्तौ स्वस्थानात् मर्कटौ च किलकिलायमानौ तस्योत्सङ्गे शिरसि स्कन्धे धागत्य विलग्नौ । ततो मित्रमवादीत् भो वयस्य! तावेतौ तव पुत्रौ तथा च पश्य तव स्नेहमात्मीयं दर्शयतः । ततः स मायावी प्राह वयस्य ! किं मानुषावकस्मान्मर्कटकौ जातौ वयस्य आह भवतः कर्म्मप्रातिकूल्यवशात् तथाहि किं सुवर्णमङ्गारी भवति परमावयोः कर्मप्रातिकूल्यादेतदपि जातं तथा तव पुत्रावपि मर्कटावभूतामिति । ततो मायावी चिन्तयामास नूनमहं ज्ञातोऽनेन ततो यद्युच्चैः शब्दं करिष्ये ततोऽहं राजग्राह्यो भविष्यामि पुत्रौ चान्यथा मे न भवतः ततस्तेन सर्वं यथावस्थितं निवेदितं दत्तश्च भाग इतरेण च समर्पितौ पुत्रौ तस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २४ ॥

(सिक्खत्ति) शिक्षा धनुर्वेदे तदुदाहरणभावना कोऽपि पुमानतीव धनुर्वेदकुशलः स परिभ्रमन्नेकत्रेश्वरपुत्रान् शिक्षयितुं प्रावर्तत तेभ्यश्चेश्वरपुत्रेभ्यः प्रभूतं द्रव्यं प्रापितवान् ततः पित्रादयस्तेषां चिन्तयामासुः प्रभूतमेतस्मै दत्तवन्तः । ततो यदासौ यास्यति तदैनं मारयित्वा सर्वं ग्रहीष्यामः एतच्च कथमपि तेन ज्ञातं ततः स्वबन्धूनां ग्रामान्तरवासिनां कथमपि ज्ञापितं यथाहममुकस्यां रात्रौ नद्यां गोमयपिण्डान् प्रक्षेप्स्यामि भवद्भिस्ते ग्राह्या इति । ततस्तैस्तथैव प्रतिपन्नं ततो द्रव्येण संवलिता गोमयपिण्डास्तेन कृताः आतपेन शोषितास्ततः ईश्वरपुत्रान् प्रत्युवाच यथैषोऽस्माकं विधिर्विवक्षितपर्वणि स्नानमन्त्रपुरस्सरं ते सर्वेऽपि गोमयपिण्डा नद्यां प्रक्षेप्यास्ततः समागतो गृहं तेऽपि गोमयपिण्डा नीता बन्धुभिः स्वग्रामे । ततः कतिपयदिनातिक्रमे तानीश्वरपुत्रान् तेषां च पित्रादीन् प्रत्येकं मुत्कलयाप्यात्मानं च वसुमात्रपरिग्रहोपेतं दर्शयन् सर्वजनसमक्षं स्वग्रामं जगाम पित्रादिभिश्च परिभावितो नास्य पार्श्वे किमप्यस्तीति न मारितः । तस्यौत्पत्तिकी बुद्धिः २५ (अत्थसत्थेति) अर्थशास्त्रमर्थविषयं नीतिशास्त्रं तद्दृष्टान्तभावना । कोऽपि वणिक् तस्य द्वे पत्न्यौ एकस्याः पुत्रोऽपरा वन्ध्या परं साऽपि पुत्रं सम्यक् परिपालयति ततः पुत्रो विशेषं न बुध्यते यथेयं मे जननी नेयमिति सोऽपि वणिक् सभार्यापुत्रो देशान्तरमगमत् । यत्र सुमतिस्वामिनस्तीर्थंकृतो जन्मभूमिः तत्र गतमात्र एव च दिवं गतः सपत्न्योश्च परस्परं कलहोऽभूत् एका ब्रूते ममैष पुत्रः ततोऽहं गृहस्वामिनी द्वितीया ब्रूतेऽहमिति ततो राजकुले व्यवहारो जातः तथापि न निर्वलति एतच्च भगवति सुमतिस्वामिनि तीर्थंकरे गर्भस्थिते जनन्या मङ्गलादेव्या जज्ञे तत आकारिते द्वे अपि ते सपत्न्यौ ततो देव्या प्रत्यपादि कतिपयदिनानन्तरं मे पुत्रो भविष्यति स च वृद्धिमधिरूढोऽस्याशोकपादपस्याधस्तादुपविष्टो युष्माकं व्यवहारं छेत्स्यति । तत एतावन्तं कालं यावदविशेषेण खादतां पिबतामिति ततो न यस्याः पुत्रः साऽचिन्तयत् लब्धस्तावदेतावान् कालः पश्चाद्यद्भविष्यति तन्न जानीमः । ततो हृष्टवदनयाऽनया प्रतिपन्नं ततो देव्या जज्ञे नैषा पुत्रस्य मातेति निर्भर्त्सिता द्वितीया च गृहस्वामिनी कृता । देव्या औत्पत्तिकी बुद्धिः ॥ २६ ॥

(इच्छीयमहंति) काऽपि स्त्री तस्या भर्ता पञ्चत्वमुपागतः सा च वृद्धिप्रयुक्तं लोकेभ्यो न लभते ततः पतिमित्रं प्रणितवन्ती मम दापय लोकेभ्यो धनमिति । ततस्तेनोक्तं यदि मम भाग प्रयच्छसि । तयोक्तं यदिच्छसि तन्मह्य दद्या इति ततस्तेन लोकेभ्यः सर्वं द्रव्यमुद्ग्राहितं तस्यै स्तोकं प्रयच्छति सा नेच्छति ततो जातो राजकुले व्यवहारः ततः कारणिकैर्यद्रुद्ग्राहितं द्रव्यं तत्सर्वमानायितं कृतौ द्वौ भागौ एको महान् द्वितीयोऽल्प इति ततः पृष्टः कारणिकैः पुरुषः कं भागं त्वमिच्छसि स प्राह महान्तमिति । ततः कारणिकैस्तदक्षरार्थो विचारितो यदिच्छसि तन्मह्यं दद्या इति त्वं चेच्छसि महान्तं भागं ततो महान् भाग एतस्या द्वितीयस्तु तवेति । कारणिकानामौत्पत्तिकी बुद्धिः ॥२७

(सयसहस्सत्ति) कोऽपि परिव्राजकः तस्य रौप्यमयं महाप्रमाणं भाजनं खोरयसङ्कं स च यदेकवारं शृणोति तत्सर्वं तथैवाऽवधारयति ततः स निजप्रज्ञागर्वमुद्वहन् सर्वत्र प्रतिज्ञां कृतवान् यो नाम ममापूर्वं श्रावयति तस्मै ददामीदं निजभाजनमिति । न च कोऽप्यपूर्वं श्रावयितुं शक्नोति स हि यत्किमपि शृणोति तत्सर्वमस्खलितं तथैवानुवदति । वदति चाग्रेऽपीदं मया श्रुतं कथमन्यथाहमस्खलितं भणामीति एतत्सर्वं ख्यातिमगमत् ततः केनापि सिद्धपुत्रकेण ज्ञातप्रतिज्ञेन तं प्रत्युक्तमपूर्वं श्रावयिष्यामि । ततो मिलितो भूयान् लोको राजसमक्षं व्यवहारो बभूव । ततः सिद्धपुत्रोऽपाठीत् । "तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणगं सयसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देसु" जितः परिव्राजकः सिद्धपुत्रेण । सिद्धपुत्रस्यौत्पत्तिकीबुद्धिः ॥ २८ ॥ नं० ॥ आ० म० द्वि० । आ० चू० । आ० क० ।

उप्पयंत-उत्पतत्-त्रि० ऊर्ध्वं पतति, "उप्पयताणि पतंता भमता पुव्वकम्मोदयोपगया" प्रश्न० १ द्वा० ।

उप्पयण-उत्पतन-न० उत्-पत् ल्युट् ऊर्ध्वगमने, स्था० १० ठा० ।

उप्पयणिवय-उत्पातनिपात-पुं० उत्पात आकाशे उल्लङ्घनं निपातस्तस्मादवपतनम् (ज०४वक्ष०) उत्पातपूर्वो निपातो यस्मिन् स उत्पातनिपातः । नाट्यविधिभेदे, "उप्पयणिवयपसत्तं संकुचियं पसारियरयारइयं भंतं संभं णाम दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेत्ति " रा० । जी० ।

उप्पयणी-उत्पतनी-स्त्री० विद्याभेदे, यां जपन् स्वत एव पतत्यन्यं चोत्पातयति ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उप्पयमाण-उत्पतत्- त्रि० ऊर्ध्वं पतति, स्त्रियाम् । "उप्पयमाणी विव धरणितलाउ" उत्पतन्ती ऊर्ध्वं यान्ती । ज्ञा०६अ०॥

उप्परिवाडी-उत्परिपाटी- स्त्री० विपर्यासे, " उप्परिवाडी गहणे, चाउम्मासा भवे लहुगा " ग० १ अधि० ॥

उप्परिवाडीकरण-उत्परिपाटीकरण-न० विपर्ययकरणे, " उप्परिवाडी करणे, दोसा सम्मं तहा करणे " प० व० ।

उप्पल-उत्पल-न० उद्-पल्-अच् प्राकृते " कगटडतदपशषस ≍क≍पा मूर्ध्व लुक्" ८।२।७७ इति संयोगादेर्लुक् । प्रा० । पद्मविशे० । " फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलिय " ज्ञा० १ अ० । वि० कल्प० । औ० । गर्दभके, श्वेतकुमुदे, आ० म० प्र० । " पक्खतरेसु बहूइ पउमाइ जाव सयसहस्सावत्ताइ" जी०३प्रति० ।रा०। ईषन्नीले जलरुहे, जं० १ वक्ष०। नीलोत्पले, जी० ३ प्रति । प्र० । त०।स०।आचा०।रक्तकमले, कल्प०। उत्पलं त्रिविधं नीलं रक्तं श्वेतञ्च । वाच० । अत एव उत्पलशब्दस्य, नीलोत्पल रक्तकमल गर्दभक नीलोत्पलादीत्येवं विभिन्ना अर्था उपपद्यन्ते (उत्पलस्य उपपात· परिमाणमवहार उच्चत्व यावत्समुद्घात उद्वर्तना· द्वात्रिंशता द्वारैर्वणप्फइ शब्दे वक्ष्यते) कुष्ठे गन्धद्रव्यविशेषे, । "पउमुप्पलगाधिए " स० । तच्च उत्पलं कुष्ठमिति प्रसिद्धम् ॥ जं० २ वक्ष० । जी० । त० । चतुरशीतावुत्पलाङ्गशतसहस्रेषु, जी० ३ प्रति० । अनु० । स्था० । दशमे कल्पे चतुर्थविमाने च । स० । स्वनामख्याते पार्श्वापत्यीये परिव्राजके, पुं० । अस्थिकग्रामे वीरभगवति शूलपाणियक्षेणोपसृष्टे, " तत्थ उप्पलो नाम पुराणो पासावच्चिज्जो परिव्वायगो अट्ठंगमहाणिमित्तजाणगो जणपासातो सोऊण मा तित्थगरो होज्जा अट्टिइं पकरेइ । आ०म०द्वि० । आ० क० । " तत्थ उप्पलो नाम पच्छाकम्मो परिव्वाओ पासावच्चिज्जो णेमित्तिओ भोमअप्पातसुमिणअतलिक्खअंगसरलक्खणवंजणअट्ठंगमहाणिमित्तजाणओ । आ० चू०१अ० । उत्कान्त पल मांसम् । अत्या० स० । मांसशून्ये, त्रि० । वाच० स्वनामख्याते द्वीपसमुद्रे च । प्रज्ञा० १५ पद० ।

उप्पलंग-उत्पलाङ्ग-न० चतुरशीतौ हुहुकशतसहस्रेषु, जी० ३ प्रति० । जं० । स्था० ।

उप्पलकंद-उत्पलकन्द-पुं० मूलबीजे कन्दभेदे, स्था० ५ ठा० ।

उप्पलगुम्मा-उत्पलगुल्मा-स्त्री० जम्बूसुदर्शनाया दक्षिणपूर्वस्यां पूर्वदिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० ।

उप्पलणाल-उत्पलनाल-न नीलोत्पलादेराधारे,आचा०२श्रु०१अ०

उप्पलवेंटग-उत्पलवृन्तक-पुं० उत्पलवृन्तानि नियमविशेषाद् गृहीतया नैकत्वेन येषां सन्ति ते उत्पलवृन्तिकाः । आजीविकश्रमणभेदेषु, औ० ॥

उप्पलहत्थग-उत्पलहस्तक-पुं० उत्पलाख्यजलजकुसुमविशेषे, । आ० म० द्वि० । जीवा० । रा० ।

उप्पला-उत्पला-स्त्री० शङ्खभार्यायाम्, स्था०७ ठा० । "तस्स ण सखस्स समणोवासगस्स उप्पला णाम भारिया होत्था सुकुमाल जाव सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा जाव विहरइ" भ० १२ श० १ उ० । (सखशब्देऽन्यत्) कालस्य पिशाचेन्द्रस्य तृतीयाग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । (तस्या भवत्रयवक्तव्यता अग्गमहिसी शब्दे उक्ता) भीमाभिधानकूटग्राहिणो भार्यायाम्, यस्या· पुत्रो गोत्रासो मृत्वा नरक गत्वा ततो विजयसार्थवाहस्य भद्रायामुज्झितको नाम दारकोऽभवत् । विपा० २अ० । (वक्तव्यता उज्झियशब्दे उक्ता) जम्ब्वा सुदर्शनाया दक्षिणपूर्वस्यां पश्चिमायां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, । जी० ३ प्रति० ।

उप्पलिणीकंद-उत्पलिनीकन्द-पुं० जलजवनस्पतिविशेषे, " पउमुप्पलिणीकंदे, अतरकंदे तहेव झिल्ली य । एते अणतजीवा एगो जीवोभिसमुणाले " । प्रज्ञा० १ पद० ।

उप्पलुज्जला-उत्पलोज्ज्वला-स्त्री० जम्ब्वा सुदर्शनाया दक्षिणपूर्वस्यामुत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० । जं० ।

उप्पव्वइय-उत्प्रव्रजित-त्रि० उत्प्रव्रज्य निर्गते, उत्प्रव्रजितस्तु द्विधा सारूपी गृहस्थश्च । ध० ३ अधि० ।

उप्पह-उत्पथ-पुं० उन्मार्गे, " आवज्जे उप्पहं ज तु " सूत्र० १ श्रु० १ अ० । ओ० । " पथा उ उप्पहं नेंति " नि० चू० ३ उ० । कदर्थे पथि, वाच० ।

उप्पहजाइ-उत्पथयायिन्-पुं० न० उन्मार्गगामिनि युग्ये, तत्तुल्ये लिङ्गावशेषे, परसमयगते वा पुरुषे च । स्था० ३ ठा० ।

उप्पहेय-देशी० । महाराष्ट्रादि देशविशेषप्रसिद्धेऽर्थे, प्रा० ।

उप्पा-उत्पाद-पुं० प्राकृते स्त्रीत्वं तथारूपत्व च " एगा उप्पा " प्राकृतत्वादुत्पादः स चैकसमये एकपर्यायापेक्षया नहि तस्य युगपदुत्पादद्वयादिरस्ति अनपेक्षिततद्विशेषकपदार्थतया चैकोऽसाविति । स्था० १ ठा० ।

उप्पाइत्ता-उत्पादयितृ-त्रि० उत्पादनशीले, स्था० ७ ठा० । उत्पादके, स्था० ४ ठा० ।

उत्पादयितुम्-अव्य० सपादयितुमित्यर्थे, "उप्पाइत्ता एगे य सप्पए पुच्छुप्पत्ताए " स्था० ४ ठा० ।

उप्पाइय-औत्पातिक- त्रि० उत्पादने निर्वृत्तमौत्पातिकम् । पांशुपातादौ, तन्निमित्तके अस्वाध्याये च । आव० ४ अ० । रुधिरवृष्ट्यादीनामनिष्टसूचकानां हेतुष्वनर्थेषु, "उप्पाइयावाही" उत्पातोऽनिष्टसूचकरुधिरवृष्ट्यादयस्तद्धेतुका येऽनर्थास्ते औत्पातिका.स०।

उप्पाइयपव्वण-औत्पातिकपवन-पुं०उत्पातजनितवायौ,प्रश्न०३द्वा०।

उप्पाइयपव्वय-औत्पातिकपर्वत- पुं० अस्वाभाविके, " उप्पाइयपव्वय व चकमंत सक्क मत्त गुलुगुलुंतं " स्वाभाविकपर्वतो हि न चङ्क्रमते अत उच्यते औत्पातिकपर्वतमिव चङ्क्रम्यमाणम् पाठान्तरेण तु औत्पातिकपर्वतमिव । औ० । ज्ञा० ॥

उप्पाइयाविच्छिन्नकोउहल्ल-उत्पादिताविच्छिन्नकौतूहल-न० श्रोतृणां स्वविषये उत्पादित जनितमविच्छिन्नं कौतूहलं कौतुक येन तत्तथा । तद्भावस्तत्त्वम् । श्रोतृषु स्वविषयाद्भुतविस्मयकारितारूपे पञ्चविंशे सत्यवचनातिशये, रा० ॥

उप्पाडण-उत्पाटन- न० उद्-पट्-णिच्-ल्युट्-उन्मूलने,क्षेपे, प्रश्न० १ द्वा० । उत्खनने, " सकृदुत्पाटनत', शालिरपि फलावह' पुंस' पो० १४ विव० । नि० चू० ॥

उप्पाडिय-उत्पाटित- त्रि० उन्मूलिते, "उप्पाडियनयणनासण्णसणासणस्स " आ० क० ॥

उप्पाय-उत्पात- पुं० न० उत्पतनमुत्पात । उद्-पत्-घञ्-ऊर्ध्वगमने, स्था० १ ठा० । प्रकृतिविकारे, तद्रूपे सहजरुधिरवृष्ट्यादौ, तत्प्रतिपादनपरे शास्त्रे च । यथा राष्ट्रोत्पातादि स्था० ९ ठा० । प्रश्न० । स० । अनु० । सूत्र० । आव० । " साहिए यस्मिन् अस्मि जायइ भन्नइ तमुप्पाय " सहजरुधिरवृष्ट्यादि यस्मिन् जायते तदुत्पातादिविध निमित्तम् । आदिशब्दादस्थिवृष्ट्यादिपरिग्रह· । यथा " मज्जानि रुधिरास्थीनि, धान्याङ्गारान् वसान्यथा मघवा वर्षते यत्र, भय विद्याच्चतुर्विधमित्यादि । प्रव० । अन्तविकारवत् विसरन्त· परिणामत उत्पात " पसुयममरुहिरे, केससिलावुट्ठिनिहरउग्घाए । मसासिलाहरिहे, अहोरत्त छाएंते अचिर सुत्त " अन्येन रूपे उत्पाते ऽस्वाध्यायिके स्थिरा इति आ० चू० । आव० ॥ (विस्तरतोवर्णनमसज्झाय शब्दे) उत्पातोचारोऽङ्गविद्यासु दर्शितोवृहत्संहितासु च । शुभाशुभसूचकोऽपत्यमहाभूतविकारः । स च वृहत्संहितायां यथा-दिव्यान्तरीक्षभौमभेदात् त्रिविध. । स च वृहत्संहितायां यथा-

यानन्येऽप्युत्पातान्, गर्गः प्रोवाच तानहं वक्ष्ये । तेषां सङ्क्षेपोऽयं, प्रकृतेरन्यत्वमुत्पातः ॥ अपचारेण नराणा-मुपसर्गः पापसञ्चयाद्भवति । संसूचयन्ति दिव्या-न्तरिक्षभौमास्तदुत्पाताः ॥ मनुजानामपचारा-दपरक्ता देवता सृजन्त्येतान् । तत्प्रतिघाताय नृपः, शान्तिं राष्ट्रे प्रयुञ्जीत ॥ दिव्यं ग्रहर्क्षवैकृत-मुल्कानिर्घातपवनपरिवेषाः । गन्धर्वपुरपुरन्दर-चापादि यदान्तरिक्षं तत् ॥ भौमं चरस्थिरभवं, तच्छान्तिभिराहतं शममुपैति । आत्मसुतकोशवाहन-पुरदारपुरोहितेषु लोकेषु ॥ पाकमुपयाति दैवं परिकल्पितमष्टधा नृपतेः । देवतयात्राशकटा-क्षचक्रयुगकेतुभङ्गपतनानि ॥ सम्पर्यसनसादन-सङ्गाश्च नृदेवपशुभेदाः । ऋषिधर्म्मपितृब्रह्म-प्रोद्भूतं तद् द्विजातीनाम् ॥ यद्रुद्रलोकपालोद्भवपशूनामनिष्टं तत् । गुरुसितशनैश्चरोत्थं पुरोधसां विष्णुजं च लोकानाम् ॥ स्कन्दविशाखसमुत्थं माण्डलिकानां नरेन्द्राणाम् । वेदव्यासे मन्त्रिणि विनायके वैकृते चमूनाथे ॥ धातरि सविश्वकर्म्मणि लोकानाभावाय निर्दिष्टम् । देवकुमारकुमारीवनिताप्रेष्येषु वैकृतं यत्स्यात् ॥ तन्नरपतेः कुमारककुमारिकावनितापरिजनानाम् । रक्षःपिशाचगुह्यकनागानामेतदेव निर्देश्यम् ॥ मासैश्चाप्यष्टाभिः सर्वेषामेव फलपाकः ॥ राष्ट्रे यस्यानग्निः प्रदीप्यते दीप्यते च नेन्धनवान् । मनुजेश्वरस्य पीडा तस्य नगरस्य विज्ञेया ॥ जलमांसार्द्रज्वलने नृपतिवधः प्रहरणे रणो रौद्रः । सैन्यग्रामपुरेषु च नाशो वह्नेर्भयं कुरुते ॥ प्रासादजवननेत्रण-देव्यादिष्वनलदग्धेषु । तडिता वा षण्मासात् परचक्रस्यागमो नियमात् ॥ धूमोऽनग्निसमुत्थो रजस्तमश्चाह्निजं महाभयदम् । व्यभ्रे निश्युडुनाशो दर्शनमपि चाह्नि दोषकरम् ॥ नगरचतुष्पादाण्डजमनुजानां भयकरं ज्वलनमाहुः । धूमाग्निविस्फुलिङ्गैः शय्याम्बरकेशगैर्मृत्युः ॥ आयुधज्वलनसर्पणस्वनाः कोशनिर्गमनवेपनानि वा । वैकृतानि यदि वायुधेऽपरापया तु रौद्ररणसङ्कुलं वदेत् । इत्यग्निवैकृतम् ।

शाखाभङ्गेऽकस्माद् वृक्षाणां निर्दिशेद्रणोद्योगम् । हसने देशभ्रंशं रुदिते च व्याधिबाहुल्यम् ॥ राष्ट्रविभेदस्त्वनृतौ बालवधोऽतीव कुसुमिते बाले । वृक्षात् क्षीरस्रावे सर्वद्रव्यक्षयो भवति ॥ मद्ये वाहननाशः सङ्ग्रामः शोणिते मधुनि रोगः । स्नेहे दुर्भिक्षभयं महद्भयं निःसृते सलिले ॥ शुष्कविरोहे वीर्यान्नसङ्क्षयः शोषणे च विरुधानाम् । पतितानामुत्थाने स्वयं भयं दैवजनितं च ॥ पूजितवृक्षे ह्यनृतौ कुसुमफलं नृपवधाय निर्दिष्टम् । धूमस्तस्मिन् ज्वाला वा स्यान्नृपवधायैव ॥ सर्पत्सु तरुषु वापि जनसङ्क्षयो विनिर्दिष्टः । वृक्षाणां वैकृत्ये दशभिर्मासैः फलविपाकः ॥ इति वृक्षवैकृतम् ।

नालेऽब्जयवादीनामेकस्मिन् द्वित्रिसम्भवो मरणम् । कथयति तदधिपतीनां यमलं जातं च कुसुमफलम् ॥ अतिवृद्धिः शस्यानां नानाफलकुसुमभवो वृक्षे । भवति हि यद्येकस्मिन् परचक्रस्यागमो नियमात् ॥ अर्धेन यदा तैलं भवति तिलानामतलता वा स्यात् । अन्नस्य च वैरस्यं तदा च विन्द्याद् भयं सुमहत् ॥ विकृतं कुसुमफलं वा ग्रामादथवा पुराद्बहिः कार्य्यम् । इति शस्यवैकृतम् ।

दुर्भिक्षमनावृष्ट्यामतिवृष्ट्या क्षुद्भयं सपरचक्रम् । रोगो ह्यनृतुजवृष्ट्या नृपवधोऽनभ्रजातायाम् ॥ शीतोष्णविपर्यासे नो सम्यगृतुषु च सम्प्रवृत्तेषु । षण्मासाद्राष्ट्रभयं रोगभयं दैवजनितं च ॥ अन्यर्तौ सप्ताहं प्रवन्धवर्षे प्रधाननृपमरणम् । रक्ते शस्त्रोद्योगो मांसास्थिवसादिभिर्मरकः ॥ धान्यहिरण्यत्वक्फलकुसुमाद्यैर्वर्षितैर्भयं विद्यात् । अङ्गारपांशुवर्षे विनाशमायाति तन्नगरम् ॥ उपला विना जलधरैर्विकृता वा प्राणिनो यदा वृष्टाः । छिद्रं वाप्यतिवृष्टौ शस्यानामीतिसञ्जननम् ॥ क्षीरघृतक्षौद्राणां दध्नो रुधिरोष्णवारिणां वर्षे । देशविनाशो ज्ञेयोऽसृग्वर्षे चापि नृपयुद्धम् ॥ यद्यमलेऽर्के छाया न दृश्यते दृश्यते प्रतीपा वा । देशस्य तदा सुमहद्भयमायातं विनिर्देश्यम् ॥ व्यभ्रे नभसीन्द्रधनुर्दिवा यदा दृश्यतेऽथवा रात्रौ । प्राच्यामपरस्यां वा तदा भवेत् क्षुद्भयं सुमहत् ॥ सूर्येन्दुपर्जन्यसमीरणानां योगः स्मृतो वृष्टिविकारकाले ॥ इति वृष्टिवैकृतम् । अपसर्पणं नदीनां नगरादचिरेण शून्यतां कुरुते । शोषश्चाशोष्याणामन्येषां वा ह्रदादीनाम् ॥ स्नेहासृग्मांसवहाः सङ्कुलकलुषाः प्रतीपगाश्चापि । परचक्रस्यागमनं नद्यः कथयन्ति षण्मासात् ॥ ज्वालाधूमक्वाथरुदितोत्क्रुष्टानि चैव कूपानाम् । गीतप्रजल्पितानि च जनमरकाय प्रदिष्टानि ॥ तोयोत्पत्तिरखाते गन्धरसविपर्यये च तोयानाम् । सलिलाशयविकृतौ वा महद्भयं तत्र शुभशान्त्यम् ॥ इति जलवैकृतम् ॥ प्रसवविकारे स्त्रीणां द्वित्रिचतुःप्रभृतिसम्प्रसूतौ वा । हीनातिरिक्तकाले च देशकुलसङ्क्षयो भवति ॥ वडवोष्ट्रमहिषगोहस्तिनीषु यमलोद्भवे मरणमेषाम् ॥ इति प्रसववैकृतम् ॥ परयोनावभिगमनं भवति तिरश्चामसाधु धेनूनाम् । उक्षाणां वान्योऽन्यं पिबति श्वा वा सुरभिपुत्रम् ॥ मासत्रयेण विद्यात् तस्मिन्नि संशयं परागमनम् ॥ इति चतुष्पादवैकृतम् ॥ यानं वाहवियुक्तं यदि गच्छेन्न व्रजेच्च न वाहयुतम् । राष्ट्रभयं भवति तदा चक्राणां सादभङ्गे च ॥ अनभिहततूर्यनादः शब्दो वा ताडितेषु यदि न स्यात् । व्युत्पत्तौ वा तेषां परागमो नृपतिमरणं वा ॥ गीतरवतूर्यनादा नभसि यदा वा चरस्थिरान्यत्वम् ॥ मृत्युस्तदा गदा वा विस्वरतूर्ये पराभिभवः । गोलाङ्गलयोर्भङ्गे दर्वीशूर्पाद्युपस्करविकारे ॥ क्रोष्टुकनादे च तथा शस्त्रभयं मुनिवचश्चेदम् । इति वाद्यवैकृतम् ॥ पुरपक्षिणो वनचरा वन्या वा निर्भया विशन्ति । पुरं नक्तं वा दिवसचरा क्षपाचरा वा चरन्त्यहनि । सन्ध्याद्वयेऽपि मण्डल-मावधन्तो मृगा विहङ्गा वा । दीप्तायां दिश्यथवा क्रोशन्तः संहता भयदाः ॥ श्वानः प्ररुदन्त इव द्वारे वा सन्ति जम्बुका दीप्ताः । प्रविशन्नरेन्द्रभवने कपोतकः कौशिको यदि वा ॥ कुक्कुटरुतं प्रदोषे हेमन्तादौ च कोकिलालापः । प्रतिलोममण्डलचराः श्येनाद्याश्चाम्बरे भयदाः ॥ गृहचैत्यतोरणेषु द्वारेषु च पक्षिसङ्घसम्पाताः । मधुवल्मीकाम्भोरुहसमुद्भवाश्चापि नाशाय ॥ श्वभिरस्थिशवावयव-प्रवेशनं मन्दिरेषु मरकाय । पशुशस्त्रव्याहारे नृपमृत्युर्मुनिवचश्चेदम् ॥ इति मृगपक्ष्यादिवैकृतम् ॥ शक्रध्वजेन्द्रकीलस्तम्भद्वारप्रपातभङ्गेषु । तद्वत्कपाटतोरणकेतूनां नरपतेर्मरणम् ॥ सन्ध्याद्वयस्य दीप्तिर्धूमोत्पत्तिश्च काननेऽनग्नौ । छिद्राभावे भूमेर्दरणं कम्पश्च भयकारी ॥ पापण्डानां नास्तिकानां च भक्तः साध्वाचारप्रोज्झितः क्रोधशीलः । ईर्ष्युः क्रूरो विग्रहासक्तचेता यस्मिन् राजा तस्य देशस्य नाशः ॥ प्रहर हर छिन्धि भिन्धीत्यायुधकाष्ठाश्मपाणयो बालाः । निगदन्तः प्रहरन्ते तत्रापि भयं भवत्याशु ॥ अङ्गारगैरिकाद्यैर्विकृतप्रेताभिलेखनं यस्मिन् । नायकचित्रितमथवा क्षये क्षयं याति न चिरेण ॥ लूतापटाङ्कशवल न सन्ध्ययोः पूजितं कलहयुक्तम् । नित्योच्छिष्टस्त्रीकं च यद्गृहं तत्क्षयं याति ॥ रणेषु यातुधानेषु निर्दिशेन्नरकमाशु सम्प्राप्तम् ॥ इति शक्रध्वजेन्द्रकीलादिवैकृतम् ॥

नरपतिदेशविनाशे केतोरुदयेऽथवा गृहेऽर्केन्दोः । उत्पातानां प्रभवः स्वर्तुभवश्चाप्यदोषाय ॥ ये च न दोषान् जनयन्त्युत्पातास्तानृतुस्वभावकृतान् । ऋषिपुत्रकृतैः श्लोकैर्विद्यादेतैः समासोक्तैः । वज्राशनिमहीकम्पसन्ध्यानिर्घातनिःस्वनाः । परिवेषरजोधूमरक्तार्कास्तमनोदयाः ॥ द्रुमेभ्योऽन्नरसस्नेहबहुपुष्पफलोद्गमाः । गोपक्षिमदवृद्धिश्च शिवाय मधुमाधवे ॥ तारोल्कापातकलुषं कपिलार्केन्दुमण्डलम् । अनग्निज्वलनस्फोटधूमरेणुवनिलाहतम् ॥

रक्तपद्मारुणं सान्ध्यं नभः क्षुब्धार्णवोपमम् । सरितां चाम्बुसंशोषं दृष्ट्वा ग्रीष्मे शुभं वदेत् ॥ शक्रायुधपरीवेषविद्युच्छुष्कविरोहणम् । कम्पोद्वर्तनवैकृत्यं रसनं दरणं क्षितेः ॥ सरोनद्युदपानानां वृद्ध्यूर्ध्वतरणप्लवाः । सरणं चाद्रिगेहाणां वर्षासु न भयावहम् ॥ दिव्यस्त्रीभूतगन्धर्वविमानाद्भुतदर्शनम् । नक्षत्राणां ग्रहाणां च दर्शनं च दिवाम्बरे ॥ गीतवादित्रनिर्घोषा वनपर्वतसानुषु । सस्यवृद्धिरपां हानिरपापा शरदि स्मृताः ॥ शीतानीलतुषारत्वं नर्दनं मृगपक्षिणाम् । रक्षोयक्षादिसत्त्वानां दर्शनं वागमानुषी ॥ दिशो धूमान्धकाराश्च सनभोवनपर्वताः । उच्चैः सूर्योदयास्तौ च हेमन्ते शोभनाः स्मृताः ॥ हिमपातानिलोत्पाता विरूपाद्भुतदर्शनम् । कृष्णाञ्जनाभमाकाशं तारोल्कापातपिञ्जरम् ॥ चित्रगर्भोद्भवाः स्त्रीषु गोऽजाश्वमृगपक्षिषु । पत्राङ्कुरलतानां च विकाराः शिशिरे शुभाः ॥ ऋतुस्वभावजा ह्येते दृष्टाः स्वर्तौ शुभप्रदाः । ऋतोरन्यत्र चोत्पाता दृष्टास्ते भृशदारुणाः ॥ उन्मत्तानां च या गाथाः शिशूनां भाषितं च यत् । स्त्रियो यच्च प्रभाषन्ते तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ पूर्वं चरति देवेषु पश्चाद्गच्छति मानुषान् । नाचोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ॥ उत्पातान् गणितविवर्जितोऽपि बुद्ध्वा विख्यातो भवति नरेन्द्रवल्लभश्च । एतन्मुनिवचनरहस्यमुक्तं यज्ज्ञात्वा भवति नरस्त्रिकालदर्शी (४६ अ०) दिव्यान्तरिक्षाश्रयमुक्तमादौ मया फलं शस्तमशोभनं च । प्रायेण चारेषु समागमेषु युद्धेषु मार्गादिषु विस्तरेण ॥ भूयो वराहमिहिरस्य न युक्तमेतत् कर्तुं समासकृदसाविति तस्य दोषः । तज्जैर्न धार्ष्यमिदमेव फलानुगीतिर्यद्बर्हिचित्रकमिति प्रथितं वराङ्गम् ॥ स्वरूपमेव तस्य तत्प्रकीर्तितानुकीर्तनम् । ब्रवीम्यहं नचेदिदं तथापि मेऽत्र वाच्यता । उत्तरवीथिगता द्युतिमन्तः, क्षेमसुभिक्षशिवाय समस्ताः । दक्षिणमार्गगता द्युतिहीना, क्षुद्भयतस्करमृत्युकरास्ते ॥ कोष्ठागारगते भृगुपुत्रे पुष्यस्थे च गिरामधिपे । निर्वैराः क्षितिपाः सुखभाजः संहृष्टाश्च जना गतरोगाः ॥ पीडयन्ति यदि कृत्तिकां मघां रोहिणीं श्रवणमैन्द्रमेव वा । प्रोज्झ्य सूर्यमपरे ग्रहास्तदा, पश्चिमादिगयनेन पीड्यते ॥ प्राच्यां चेद्ध्वजवदवस्थिता दिनान्ते, प्राच्यानां भवति हि विग्रहो नृपाणाम् । मध्ये चेद्भवति हि मध्यदेशपीडा, रूक्षैस्तैर्न तु रुचिरैर्मयूखवद्भिः ॥ दक्षिणां ककुभमाश्रितैस्तु तैर्दक्षिणापथपयोमुचा क्षयः । हीनरूक्षतनुभिश्च विग्रहः स्थूलदेवकिरणान्वितैः शुभम् ॥ उत्तरमार्गेऽप्येवमुक्ताः शान्तिकरास्ते तन्नृपतीनाम् । ह्रस्वशरीरा भस्मसवर्णा, दीपकराः स्युर्देहनृपाणाम् ॥ नक्षत्राणां तारकाः सग्रहाणां, धूमज्वालाविस्फुलिङ्गान्विताश्चेत् । आलोकं वा निर्निमित्तं न यान्ति, यान्ति ध्वंसं सर्वलोकः स भूयः ॥ दिवि भाति यदा तुहिनांशुयुगं, द्विजवृद्धिरतीव तदाशु शुभा । तदनन्तरवर्णरणोऽर्कयुगे जगतः प्रलयस्त्रिचतुःप्रभृति ॥ मुनीनभिजितं ध्रुवं मघवतश्च भ्रम स्पृशन् । शिखी धनविनाशकृत् कुशलकर्महा शोकदः । भुजङ्गमथ स्पृशेद्भवति वृष्टिनाशो ध्रुवं क्षयं व्रजति विद्रुतो जनपदश्च बालाकुलः ॥ प्राग्द्वारेषु चरन् रविपुत्रो, नक्षत्रेषु करोति च वक्रम् । दुर्भिक्षं कुरुते भयमुग्रं मित्राणां च विरोधमवृष्टिम् ॥ रोहिणीं शकटमर्कनन्दनो, यदि भिनत्ति रुधिरोऽथवा शिखी । किं वदामि यदनिष्टसागरे, जगदशेषमुपयाति संक्षयम् ॥ उदयति सततं यदा शिखी, चरति भचक्रमशेषमेव वा । अनुभवति पुनर्हतं तदा, फलमशुभं सचराचरं जगत् ॥ धनुःस्थायी रूक्षो रुधिरसदृशः क्षुद्भयकरो, बलोद्योगं चेन्दुः कथयति जयं ज्यास्य च यतः ॥ अवाक्शृङ्गो गोघ्नो, निधनमपि शस्यस्य कुरुते, ज्वलन्धूमायन् वा नृपतिमरणायैव भवति ॥ स्निग्धः स्थूलः समशृङ्गो विशालस्तुङ्गश्चोदग्विचरन्नागवीथ्याम् । दृष्टः सौम्यैर्दृग्भिरविप्रयुक्तो लोकानन्दं कुरुतेऽतीव चन्द्रः ॥ पित्र्यमैत्रपुरुहूतविशाखात्वाष्ट्रमेत्य च युनक्ति शशाङ्कः । दक्षिणेन न शुभो हितकृत्स्यात् यद्युदक्चरति मध्यगतो वा ॥ परिघ इति मेघरेखा या तिर्यग्भास्करोदयेऽस्ते वा । परिधिस्तु प्रतिसूर्यो दण्डस्त्वृजुरिन्द्रचापनिभः ॥ उदयेऽस्ते वा भानोर्ये दीर्घा रश्मयस्तमोघास्ते । सुरचापखण्डमृजुयद्, रोहितमैरावतं दीर्घम् ॥ अर्धास्तमयात्सन्ध्या व्यक्तीभूता न तारका यावत् । तेजःपरिहानिमुखाद्भानोरर्धोदयं यावत् ॥ तस्मिन् सन्ध्याकाले चिह्नैरेतैः शुभाशुभं वाच्यम् । सर्वैरेतैः स्निग्धैः सद्यो वर्षं भयं रूक्षैः ॥ अच्छिन्नः परिघो वियच्च विमलं श्यामा मयूखा रवेः, स्निग्धा दीधितयः सितं सुरधनुर्विद्युच्च पूर्वोत्तरा । स्निग्धो मेघतरुर्दिवाकरकरैराश्लिष्टो वा यदा, वृष्टिः स्यादथ वार्कमस्तसमये मघो महांश्छादयेत् ॥ अपरो यक्षः हल्लो दुखः काका यौर्वा चिह्नैर्विरूः । यस्मिन् देशे रूक्षश्चार्कस्तत्र प्रभावः प्रायो पक्षः ॥ वादिनी समुपयाति पृष्ठतो मांसभुक् खगगणो युयुत्सतः । यस्य तस्य बलविद्रवो महान्, अग्रगैस्तु विजयो विहङ्गमैः ॥ भानोरुदये यदि वास्तमये, गन्धर्वपुरप्रतिमाञ्जनिनी । बिम्बं निरुणद्धि तदा नृपते, प्राप्तं समरं सभयं प्रवदेत् ॥ शस्ताशान्तद्विजमृगघुष्टा, सन्ध्या स्निग्धा मृदुपवना च । पांशुध्वस्ता जनपदनाशं धत्ते रूक्षा रुधिरनिभा वा ॥ यद्विस्तरेण कथितं मुनिभिस्तदस्मिन् सर्वं मया निगदितं पुनरुक्तवर्जम् । श्रुत्वापि कोकिलरुतं बलिभुग्विरौति यत्तत्स्वभाववचनमस्य पिको न जेतुम् ॥ ४७ अ० । एवमन्येऽप्युत्पाताः सन्ति विस्तरभयान्नोक्ता उत्पातविशेषे मङ्गलकर्मवर्जनमन्यथस्यादेशादेर्नाचारभेदेन चावगन्तव्या पीयूषधारायाम् अत्यावश्यककार्ये परिहारस्तत्रोक्तः ज्योतिर्निबन्धे । दिनानि पञ्चवसिष्ठ त्रिदिनं गर्गस्तु कौशिकस्त्वेकम् । यवनाचार्यस्य मते पञ्चमुहूर्तांश्च दूषयति ॥ उत्पातेन ज्ञापिते च । ज्यो० । वाच० ।

उत्पाद-पुं०-उत् पद्-घञ्-उत्पादनमुत्पादः । कार्यस्योत्पत्तिरेतुभूते कार्यविशेषे, विशे० । प्रादुर्भावे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अथोत्पादस्य भेदान्कथयन्नाह ।

प्रयोगविश्रसाभ्यां स्या-दुत्पादो द्विविधस्तयोः ।
आद्योऽधिशुद्धो नियमात्समुदायविवादजः ॥ १९ ॥

उत्पादो द्विविधो द्विप्रकारोऽस्ति । काभ्यां द्विविधः प्रयोगविश्रसाभ्याम् । एकः प्रयोगजनित उत्पादः । १ । अपरो विश्रसा जनित उत्पादः । २ । पुनस्तयोर्द्वयोर्मध्ये आद्योऽविशुद्धो व्यवहारोत्पन्नत्वात् । स च निर्धारणनियमात्समुदायवादजनितो यत्नेन कृतावयवसंयोगेन सिद्ध कथितः । तथा च सम्मतितर्के ।

उप्पाओ दुवियप्पो, पओगजणिओ य विस्ससा चेव ।
तत्थ उ पओगजणिओ, समुदयवाओ अपरिसुद्धो ॥ ३२ ॥

भेद उत्पादः पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यतया भ्यक्षानुमानाभ्यां तथा तस्य प्रतीतेः पुरुषव्यापारोऽन्वयव्यतिरेकाभ्युपगमवत्त्वेऽपि शब्दविशेषस्य तदस्य तदजन्यत्वे घटादेरपि तदजन्यत्वेऽपि शब्दविशेषस्य तद्वस्य तदजन्यत्वे घटादेरपि तदजन्यतापत्तेर्विशेषाभावात् । प्रत्यभिज्ञानादेश्च विशेषस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । तत्र प्रयोगेण यो जनित उत्पादो मूर्तिमद्व्यारब्धावयवकृतत्वात्तत्समुदयवादः । तथा भूतारब्धस्य समुदायात्मकत्वात्तत एवासावपरिशुद्धः सावयवात्मकस्य तत्पदस्य वाच्यत्वेनाभिप्रेतत्वात् ।

विस्रसा जनितोऽप्युत्पादो द्विविध इत्याह ।

साभाविओ वि समुदाय-कओ व्व एगंति उच्चहोजाहि ।
आगासाईयाणं, तिण्हं परपच्चओ णियमा ॥ ३३ ॥

स्वाभाविकश्च द्विविध उत्पादः । एकः समुदयकृतः प्राक्प्रतिपादितावयवारब्धो घटादिवत् । अपरश्चैकत्विकोऽनुत्पादितामूर्तिमद्द्रव्यावयवारब्ध आकाशादिवत् । आकाशादीनां च त्रयाणामवगाहो घटादिद्रव्यनिमित्तोऽवगाहनादिक्रियोत्पादो नियमादनेकान्ततो भवेत् । अवगाहकगन्तृस्थातृद्रव्यसन्निधानतोऽस्थिरधर्माधर्मावगाहनगतिस्थितिक्रियोत्पत्तिनिमित्तभावोत्पत्तिरित्यभिप्रायः ॥ सम्म० ॥ (आगासशब्दे तत्प्रदेशिकिता दर्शिता)

अथोत्पादस्य द्वितीयभेदं कथयन्नाह ॥

विश्रसा हि विना यत्नं, जायते द्विविधः स च ।

तत्राद्यचेतनस्कन्ध–जन्यः समुदयोऽग्रिमः ॥ २० ॥

सचित्तमिश्रजश्चान्यः, स्यादेकत्वप्रकारकः ।

शरीराणां च वर्णादि, स्फुनिर्धारो भवत्यतः ॥ २१ ॥

विश्रसारूपो द्वितीय उत्पादः । विश्रसाशब्दस्य कोऽर्थः सहजं विना यत्नमुत्पद्यते यः स विश्रसोत्पादः । सोऽपि पुनर्द्विविधो द्विप्रकारः । एकस्तत्र समुदयजनितः द्वितीय एकत्विकः । उक्तं च " साहाविओ वि समुदय कओ व्व एगत्तिओ व्व होज्जाहि " तत्रापि तयोर्द्वयोर्मध्ये आद्यः समुदयजनितो विश्रसोत्पादः अचेतनस्कन्धजन्यः समुदयः कथितः । अभ्रादीनां समुदयपुद्गलानां यथोत्पादः ॥ २० ॥ तथा पुनर्द्वितीयः सचित्तमिश्रजः शरीरवर्णादिकानां निर्धारो ज्ञेयः । सचित्ताः पुद्गला वर्णादीनां तया तयाकारवर्णादिपुद्गलानां परिणत्या परिणतानामेकत्वप्रकारकः एकताकारेण परिणताः । अनेकेषां वर्णादीनां सङ्गतानां परस्परमुत्पादधारया पिण्डीभूतानामवयवानामवयविधर्मत्वेन देहस्वरूपाकारभूतानामणूनां शरीरादि स्फुनिर्धारो भवति । देहादिविभक्तानां (स्फु) अतिशयेन निर्धारो वपुरूपावयवत्वं संपद्यते । तथा च प्रज्ञापनायां स्थानाङ्गे च " तिविहा पुग्गला पण्णत्ता तंजहा पओगपरिणता १, मीससा परिणता २, वीससा परिणता ३," तत्र च प्रथमं प्रयोगपरिणताः पुद्गला ये भवन्ति ते जीवप्रयोगेण संयुक्ताः शरीरादयः सचित्ताः १ तथा मिश्रपरिणताश्च ते ये जीवेन पुद्गला मुक्ताः कलेवरादयः २ पुनश्च विश्रसा परिणताः स्वभावेन परिणता यथाभ्रेन्द्रधनुरादयः ३ एवं च सत्यत्र विश्रसाख्यस्य भेदस्य स्वभावजनितस्य द्वैविध्यं प्रदर्शितम् । अचेतनस्कन्धजन्यसमुदायाख्यः प्रथमस्तत्र सचित्तमिश्रजन्यैकत्वप्रकारकशरीरादिवर्णादिस्फुनिर्धारणरूपो द्वितीयः । अत्रायं विशेषः स्वाभाविके परिणमनेऽचित्तपुद्गलैरेवायत्नमात्रव्यवहार उपदिष्टः । इह तु द्वयमपि ॥२१॥

पुनर्भेद दर्शयन्नाह ॥

यत्संयोगं विनैकत्वं, तद्द्रव्यांशेन सिद्धता ॥

यथास्कन्धविभागाणोः, सिद्धस्यावरणक्षये ॥ २२ ॥

स्कन्धहेतुं विना योगः, परयोगेण चोद्भवः ॥

क्षणे क्षणे च पर्याया–यस्तदेकत्वमुच्यते ॥ २३ ॥

उत्पादो ननु धर्मादेः, परप्रत्ययतो भवेत् ॥

निजप्रत्ययतो वापि, ज्ञात्वान्तर्नय योजनाम् ॥ २४ ॥

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो रूपान्तरविगोचरः ॥

संयोगं विना विश्रसोत्पादो यद्भवेत्तदेकत्वं ज्ञेयम् । तदेवैकत्वं द्रव्यांशेन द्रव्यविभागेन सिद्धता नाम उत्पन्नत्वं ज्ञेयम् । यथा छिन्नदेशादिस्कन्धविभागेनाणोः परमाणोर्द्रव्यस्योत्पादः । तथा आवरणक्षये कर्मविभागे जाते सति सिद्धस्य सिद्धपर्यायस्योत्पाद इति । अवयवसंयोगेनैव द्रव्यस्योत्पत्तिर्भवति परन्तु विभागेन द्रव्यस्योत्पत्तिर्न भवति इत्थमेके नैयायिकादयः कथयन्ति । तेषां मते एकतन्त्वादिविभागेन खण्डपटोत्पत्तिः कथं जाघटीति प्रतिबन्धककालभावस्यावस्थितावयवसंयोगस्य हेतुताकल्पने महागौरवात् । तस्मात् कुत्रचित्संयोगात् कुत्रचिद्विभागाद्द्रव्योत्पादकता मन्तव्या । तथा विभागजपरमाणूत्पादोऽप्यर्थतः सिद्धः स्यात् सम्मतिशास्त्रे इत्थं सूचितमस्ति । तदुक्तम् । " दव्वंतरसंजोगाहि, केवि दवियस्स बिंति उप्पायं । उप्पायं वा कुसला, विभागजाइं न इच्छंति ॥ १ ॥ अणुमत्तएहिं आरद्धदव्वे तिअणुअंति निद्देसो । ततो अ पुण विभत्ते , अणुत्ति जाओ अणू होइ ॥ २ ॥ आभ्यां गाथाभ्यां भावार्थोऽवधार्यः । यथा परमाणोरुत्पादः एकत्वजन्यस्तथा येन संयोगेन स्कन्धो न निष्पद्यते एतादृशो धर्मास्तिकायादीनां जीवपुद्गलयोस्संयोगस्तद्द्वारा यश्च संयुक्तद्रव्योत्पादोऽसंयुक्तावस्थाविनाशपूर्वकः तथा ऋजुसूत्रनयाभिमतो यश्च क्षणिकपर्यायः प्रथमद्वितीयसमयादिव्यवहारहेतुस्तद्द्वारा यश्चोत्पादश्च तत्सर्वमेकत्वं ज्ञेयम् ॥ २२ ॥ अत्र न किंचिद्विवादस्तत्र श्लोकमाह । स्कन्धहेतुं विना यः संयोगपरयोगेन धर्मास्तिकायादीनां यश्चोत्पादः तथा च क्षणिकपर्याये प्रथमद्वितीयादिद्रव्यव्यवहारहेतवस्तद्द्वारा य उत्पादः तत्सर्वमेकत्वं कथ्यते तत्र न कोऽपि विसंवाद इति ॥२३॥ पुनर्भेदं कथयन्नाह (उत्पादेति) ननु धर्मादेरुत्पादः परप्रत्ययो भवेत् अपि पुनर्निजप्रत्ययाद्भवेदन्तर्नययोजनां ज्ञात्वा इति । भावार्थस्त्वयम् धर्मास्तिकायादीनामुत्पादो नियमेन परप्रत्ययः स्वोपष्टम्भ्य गत्यादिपरिणतजीवपुद्गलादिनिमित्त उक्तः । य उभयजनितस्स ऐकजनितोऽपि भवेत् । ततस्तस्य निजप्रत्ययतापि कथयितुं युक्ता निश्चयव्यवहारावधारणात् । अयमर्थः । " आगासाईयाणं, तिण्हं परपच्चओ नियमा " इति सम्मतिगाथायामकारप्रश्लेषतया वचनान्तरेण कृतोऽस्ति वृत्तिकारेण तमर्थमनुसृत्येहापि लिखितोऽस्ति तस्माद्धर्मास्तिकायादीनामुत्पादो नियमात्परप्रत्यय एव । सोऽपि स्वोपष्टम्भ्य गत्यादिपरिणतजीवपुद्गलादिनिमित्तः उभयजनितोऽप्येकजनितोऽपि स्यात् । तस्य च निजप्रत्ययताप्यन्तर्नयवादेनोक्तास्ति भावना चेत्थं ज्ञेया ॥ द्र० ९ अध्या० ॥ "उप्पादलक्खणं अप्पि तयववहारितं अणप्पियववहारियंति वा विसिसा दिट्ठंति वा एगट्ठा तव्विवरीतमितरं । तत्थ अप्पि तंजहा पढमसमयसिद्धो सिद्धत्तणेण उप्पन्नो अणप्पितो जोजणभोवणउप्पत्ता आ० चू०१ अ०। विशे० । त्रीन्द्रियजीवभेदे च । प्रज्ञा०१ प० ।

औत्पात–न० उत्पाते भवमौत्पातम् । पांशुवृष्ट्यादौ, आ०क० । कपिहसितादौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उप्पायग–उत्पातक–त्रि० उत्पातयति उत्पातं जनयति–उद्-पत्-णिच्–ण्वुल् उत्पातजनके, ऊर्ध्वपतनशीले च । वाच० ।

उत्पादक–त्रि० उद्–पद्–ण्वुल् उत्पादनकर्त्तरि, स्त्रियां टापि अत इत्वम् । उत्पादिका उत्पादककारिस्त्रियाम् हिलमोचिकाया शब्दा त्रि० पुत्तिकायाम्, देहिकानामकीटे च स्त्री० । पितरि, पु० ऊर्ध्वं स्थिता पादा अस्य कप् । अष्टापदे शरभाख्ये गजारातौ पशुभेदे, तस्य पृष्ठस्थचतुश्चरणत्वादूर्ध्वपादत्वम् । वाच० । त्रीन्द्रियजीवभेदे च । ये भूमिं भित्वा समुत्तिष्ठन्ति दीर्घाः "पाणासीयसकुंथूउप्पायगदीहगोम्मि सिसुणागो" व्य० प्र० ७ उ० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

उप्पायच्छेयण–उत्पादच्छेदन–न० उत्पादो देवत्वादिपर्यायान्तरस्य तेन छेदो जीवादिद्रव्यविभाग उत्पादच्छेदनम् । छेदनभेदे, स्था०५ ठा० ।

उप्पायण-उत्पादन-न० उद्-पद्-णिच्-ल्युट्-जनने,उत्पत्तिकरणे-वाच० । " भयाणुवायण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे " उत्पादने एते विषयादिपदार्थाः कथ मिल्लिष्यन्तीति चिन्तने, उत्त० ३४ अ० ।

उप्पायणंतिरिय-उत्पादनान्तर्य-न० उत्पादनस्याविरहे, यथा निरयगतौ जीवानामुत्कर्षतोऽसंख्येया समया स्था० ५ ठा० ।

उप्पायणा-उत्पादना-स्त्री० उत्पादनमुत्पादना । मूलतः शुद्धस्वपिण्डस्य धात्रीत्वादिभिः प्रकारैरुपार्जने, प्रव० ६७ द्वा० । पिं० । आव० । तस्या निक्षेपो यथा—

नामं ठवणा दविए, भावे उप्पायणा मुणेयव्वा ।
दव्वम्मि होइ तिविहा, भावम्मि उ सोलसपया ॥

उत्पादना चतुर्द्धा तद्यथा (नामंति) नामोत्पादना स्थापनोत्पादना द्रव्ये द्रव्यस्योत्पादना भावे भावस्योत्पादना च । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्योत्पादना च यावन्नो आगमतो भव्यशरीरद्रव्योत्पादना प्रागुक्तगवेषणादिरिव भावनीया । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता तु द्रव्योत्पादना त्रिधा सचित्तद्रव्योत्पादना अचित्तद्रव्योत्पादना मिश्रद्रव्योत्पादना च । भावोत्पादना द्विधा तद्यथा आगमतो नोआगमतश्च । तत्र आगत उत्पादना शब्दार्थस्तत्रोपयुक्त नोआगमतो भावोत्पादना तु द्विधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता ज्ञानाद्युत्पादना अप्रशस्ता षोडशपदा वक्ष्यमाणधात्रीदूत्यादिषोडशभेदा ।

तत्र प्रथमत. सचित्तद्रव्योत्पादनां विभावयिषुराह ॥

आसूयमाइएहिं वालवयिनुरंगवीयमाईहिं ।
सुयअसाइमाईणं, उप्पायणया उ सचित्ता ॥

सुताश्वद्रुमादीनां द्विपदचतुष्पदापदरूपाणामत्रादिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते सुतादीनामश्वादीनां द्रुमादीनां च यथासङ्ख्यमासूचादिभिरासूयमुपायादित्विकमादिशब्दाद्धाटकजलादि परिग्रहः।तथा वालचित्ततुरङ्गबीजादिभिश्च तत्र वालै. केशरोमादिभेदभिन्नैश्चितो व्याप्तो वालचितपुरुषो लोमशः पुरुष इति वचनात् । तुरङ्गवीजे च सुप्रसिद्धे । आदिशब्दात्तदन्यहेतुपरिग्रह. । या उत्पादना तथाहि केनचिन्निजभार्याः कथमपि पुत्रासभवे देवताया उपयादिति केनाप्यृतुकालोकेन स्वसम्प्रयोगेण च सुन पुत्रिका वा उत्पाद्यते । तथा निजघोटिकायाः परस्य भाटकप्रदानेन परघोटकमारोप्य तुरङ्ग उत्पाद्यते । एव यथायोग वलीवर्दादिरपि तथा जलसेकेन बीजारोपणेन च द्रुमवल्ल्यादि. । तत इत्थं या द्रुमादीनामुत्पादना सा सचित्तद्रव्योत्पादना । संप्रत्यचित्तद्रव्योत्पादनां मिश्रद्रव्योत्पादना च प्रतिपादयति ।

कणगरययाइयाणं, जहिट्ठधाउविहिया उ ।
सचित्तमीसाउभंडाणं, दुपयाइकया उ उप्पत्ती ॥

कनकरजतादीनां सुवर्णरूप्यताम्रादीनां यथेष्टधातुविहिता यथेष्टो यो यस्येष्टोऽशुद्धोऽपि लोहादिधातुस्तस्मात् विहिता कृता या उत्पत्तिः सा अचित्ता अचित्तद्रव्योत्पादना । तथा च द्विपदादीनां दासादीनां समाभ्यानां सालकारादीनां चेतनप्रदानेन या कृता आत्मीयत्वेनोत्पत्तिः सा मिश्रा मिश्रद्रव्योत्पादना । तदेवमुक्ता द्रव्योत्पादना । संप्रति भावोत्पादनामाह

भावे पसत्थ इयरा, कोहा उप्पायणा उ अपसत्था ।
कोहाइ जहा धायई-णं च नाणाइ उ पसत्था ॥

भावे भावविषया उत्पादना द्विधा तद्यथा प्रशस्ता इतरा अप्रशस्ता । तत्र या क्रोधादीनां क्रोधादियुतधात्रीत्वादीनां च उत्पादना साऽप्रशस्ता या तु ज्ञानादेर्ज्ञानदर्शनचारित्राणामुत्पादना सा प्रशस्ता । इह वा प्रशस्तया भावोत्पादनयाधिकार. पिण्डदोषाणां वक्तुमुपक्रान्तत्वात् । सा च षोडशभेदा ॥ पिं० ॥

उप्पायण संपायण-णिव्वत्तण मो य होंति एगट्ठा ।
आहारस्सिहपगया, तीए दोसा इमे होंति ॥ १० ॥

उत्पादनमुत्पादना एव सपादना निर्वर्तना च । इह च पदत्रयेऽपि न्हस्वतामोकारश्च निपात प्राकृतत्वाच्च शब्द' समुच्चये भवति स्युरेकार्या अनन्याभिधेयाः सर्वेषामेव एषामुत्पादनावोधकत्वादेते शब्दा इति गम्यम् । सा च सचेतना चेतनाचेतनद्रव्यादिविषयत्वेनानेकविधेत्यत उच्यते आहारस्याशनादिरूपलक्षणत्वादस्य वस्त्रपात्रादिपरिग्रहः । इह पिण्डाधिकारे प्रकृता प्रस्तुताः तद्दोषाधिकारात् (ता एत्ति) एतस्याः पुनरुत्पादनाया गृहस्थात्सकाशात्साधुना स्वार्थं भक्ताद्युपार्जनरूपा ये दोषा दूषणानि इमे इति वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षभूता भवन्ति स्युरिति गाथार्थः । तानेव नामतो दर्शयन्नाह "धातीदूतिणिमित्ते, आजीववणीमगे तिगिच्छा य । कोहे माणे माया, लोभे हवाति दस एते ॥ पुव्विंपच्छासथव-विज्जामंते य चुण्णजोगे य । उप्पायणाय दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य " । पंचा० १३ विव० । धात्र्यादिव्याख्यान्यत्र । एतेऽनन्तरोक्ता उत्पादनाया दोषा. षोडश । मूलकर्म वशीकरणम् । इह धात्र्या' पिण्डो धात्रीपिण्डः किमुक्तं भवति धात्रीत्वस्य करणेन कारणेन च य उत्पाद्यते पिण्डः । यस्तु दूतीत्वस्य करणेनोत्पाद्यते स दूतीपिण्ड. । एव निमित्तादिष्वपि भावनीयम् पिं० । ध० । उत्त० । स्था० । ग० । आचा० । जीत० ।

उत्पादनादोषेषु प्रायश्चित्तमभिधित्सुराह

दुविहनिमित्ते लोभे, गुरुगा माया य मासियं गुरुयं ।
सुहुमे वयणे लहुओ, सेसे लहुगा य मूलं च ॥

निमित्त त्रिविधमतीतविषय प्रत्युत्पन्नविषयमनागतविषय च । तत्र द्विविधे निमित्ते प्रत्युत्पन्नविषये च तथा लोभे च प्रत्येक चत्वारोगुरुका' । मायायां मासगुरु । सूक्ष्मे चैकित्स्ये वचनसस्तवे च प्रत्येक लघुको मास. शेषेषु तु समस्तेषूत्पादनादोषेषु प्रत्येक चत्वारो लघवो नवर मूलकर्मणि मूलम् । वृ० १ उ० । उप्पायणाए अइए निमित्ते चउलहु । पडुप्पन्ने अणागए लोभए चउगुरु । कोहे माणे चउलहु । मायाए मासगुरु । सुहुमतेइच्छि एवराइदिया । बादरतेइच्छे चउलहु । संथवे मासलहुं । धाईहिं चउलहु । जोइयमेहुणिय.संथवे चउगुरुं मूल वा । वयणसथवे मासलहु । मूलकम्मे मूल । सेसेसु चउलहु उप्पाइणा प० चू० । (जीतकल्पानुसारेणाचामाम्ल आयबित्तशब्दे चैतत्स्पष्टीकृतम्)

उप्पायणाविसोहि-उत्पादनाविशुद्धि-स्त्री० उत्पादनादोषे पिण्डचरणादीनां निर्दोषतारूपे उत्पादनाया वा निर्दोषतालक्षणे विशुद्धिभेदे, स्था० ३ ठा० ।

उप्पायणोवघाय-उत्पादनोपघात-पु उत्पादनयोपघातः पिण्डादेरकल्पनीयताकरणं चरणस्य वा शबलीकरणमुत्पादनोपघात' । उद्गमस्य वा पिण्डादिप्रसूतेरुपघातो धात्रीत्यादिभिर्दुष्टेनोत्पादनोपघात. । धात्र्यादिदोषलक्षणया उत्पादनया चारित्रस्य विराधनरूपे धात्र्यादिभि षोडशभिरुत्पादनादोषैर्भक्तपानोपकरणलेपानामशुद्धतालक्षणे वा उपघातभेदे, स्था० १० ठा० ।

उप्पायपडिवाय-उत्पादप्रतिपात-पु- विभागतो देशतो वा कस्यचिद्वस्तुनो वृद्धिहान्युभये, विपा० ६ अ० । यथा अवधिज्ञानस्य । " बाहिरलंभो भज्जो, " दव्वे खेत्ते य कालभावे य । ०स्य ।

प्पायपरिवाओ चिय, तदुक्तं वेगसमपए" अप्पायपरिवादो णाम जेम्मि दव्वखेत्तकालभावाण काणि वि एगसमयए चेव पुव्वुदिट्ठाणि तं पासति काणि पुण अदिट्ठपुव्वाणि पासति एस उप्पायपरिवातो भएति । आ० चू० २ अ० । (एतद्विषयावधि वक्तव्यता ओहि शब्दे स्पष्टी भविष्यति)

उप्पायपव्वय–उत्पातपर्वत–पुं० उत्पतनमूर्ध्वगमनमुत्पातस्तेनोपलक्षित पर्वत उत्पातपर्वत. । स्था० १० ठा० । स्वनामख्यातेषु पर्वतेषु, तिर्यग्लोकगमनाय यत्रागत्योत्पतति स उत्पातपर्वत इति ति । भ० २ श० ८ उ० । उत्पातपर्वता यत्रागत्य बहवो व्यन्तरदेवा देव्यश्च विचित्रक्रीडानिमित्तं वैक्रियशरीरमारचयन्ति । जी० ३ प्रति० ॥

सर्वेषां लोकपालानामुत्पातपर्वतमानादि यथा ॥

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो तिगिच्छिकूडे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ता । चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सोमस्स महारण्णो सोमप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते । चमरस्स णं असुरिंदस्स जमस्स महारण्णो जमप्पभे उप्पायपव्वए एवं चेव । एवं वरुणस्स वि । एवं वेसमणस्स वि । वलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो रुयगिंदे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पन्नत्ते । वलिस्स णं वइरोयणरन्नो सोमस्स एवं चेव जहा चमरस्स लोगपालाणं तं चेव वलिस्स वि । धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररन्नो धरणप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं । धरणस्स णं जाव नागकुमाररन्नो कालवालस्स महारन्नो कालप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं एवं चेव एवं जाव संखवालस्स एवं भूयाणंदस्स वि एवं लोगपालाणं पि । से जहा धरणस्स एवं जाव थणियकुमाराणं सलोगपालाणं भाणियव्वं । सव्वेसिं उप्पायपव्वया भाणियव्वा सरिसनामगा । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सक्कप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसहस्साइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं पण्णत्ते । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जहा सक्कस्स तहा सव्वेसिं लोगपालाणं सव्वेसिं च इंदाणं जाव अच्चुयत्ति ।

चमरस्सेत्यादि सुगम नवर (तिगिच्छिकूडेत्ति) तिगिच्छिकिञ्जल्कस्तत्प्रधानकूटत्वात्तिगिच्छिकूटस्तत्प्रधानत्वं च कमलबहुलत्वात् सञ्ज्ञा चेयम् ॥ (उप्पायपव्वपत्ति) उत्पतनमूर्ध्वगमनमुत्पातस्तेनोपलक्षित पर्वत उत्पातपर्वत स च रुचकवराभिधानात् त्रयोदशात्समुद्रात् दक्षिणतोऽसंख्येयान् द्वीपसमुद्रानतिलङ्घ्य यावदरुणवरद्वीपारुणवरसमुद्रौ तयोररुणवर समुद्र दक्षिणतो द्विचत्वारिंशत योजनसहस्राण्यवगाह्य भवति तत्प्रमाणं च "सत्तरसएकवीसाइ, जोयणसयाइं सो समुव्विद्धो । दस चेव जोयणसए, बावीसे वित्थडो हेट्ठा ॥ १ ॥ चत्तारिजोयणसए, चउवीसे वित्थडो उ मज्झम्मि । सत्तेव य तेवीसे, सिहरतले वित्थडो होइत्ति" ॥ २ ॥ स च रत्नमय· पद्मवरवेदिकया वनखण्डेन च परिक्षिप्तस्तस्य च मध्येऽशोकावतंसको देवप्रासाद इति ॥ (चमरस्सेत्यादि महारण्णोत्ति) लोकपालस्य सोमप्रभ उत्पातपर्वतोऽरुणोदसमुद्र एव भवति । एव यमवरुणवैश्रमणसूत्राणि नेयानीति (बलिस्सेत्यादि) रुचकेन्द्र उत्पातपर्वतोऽरुणोदसमुद्र एव यथोक्त भवति " अरुणस्स उत्तरेण, बायालीस भवे सहस्साइ । ओगाहिऊण उदहिं, भिन्नणिचयो रायहाणिओत्ति" ॥ १ ॥ (बलिस्सेत्यादि) । सूत्रसूची एव च इयम् ॥ वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सोमस्स महारण्णो एवं चेवत्ति ॥ अतिदेश एतद्भावना । (जहेत्यादि) यथा यत्प्रकार चमरस्य लोकपालानामुत्पातपर्वतप्रमाण प्रत्येकं चतुर्भिः सूत्रैरुक्तं (त चेवत्ति) तत्प्रकारमेव चतुर्भिः सूत्रैर्बलिनोऽपि वैरोचनेन्द्रस्यापि वक्तव्य समानत्वादिति (वरुणस्सेत्यादि)वरुणस्योत्पातपर्वतोऽरुणोद एव समुद्रे भवति (वरुणस्सेत्यादि) प्रथमे लोकपालसूत्रे । "एव चेवत्ति"करणात् "उच्चत्तेण दसगाउयसयाइ उव्वेहेणमित्यादि " सूत्रमतिदिष्ट एव जाव "संखवालस्सत्ति" । करणाच्छेषाणां त्रयाणां लोकपालानां कोलवालसेलवालसंखवालाभिधानानामुत्पातपर्वताभिधायीनि त्रीण्यन्यानि सूत्राणि दर्शयति । (एव भूयाणंदस्सवित्ति) भूतानन्दस्यापि औदीच्यनागराजस्यापि उत्पातपर्वतस्तस्य नाम प्रमाण च वाच्य यथा धरणस्येत्यर्थ भूतानन्दप्रभश्चोत्पातपर्वतोऽरुणोद एव भवति केवलमुत्तरत. एव (लोगपालाण वि से त्ति) (से) तस्य भूतानन्दस्य लोकपालानामपि एवमुत्पातपर्वतप्रमाण यथा धरणलोकपालानामिति भाव । नवरं तत्रेमानि चतु.स्थानकानुसारेण ज्ञातव्यानीति । (जहा धरणस्सत्ति) यथा धरणस्य एवमिति तथा सुपर्णविद्युत्कुमारादीनां ये इन्द्रास्तेषामुत्पातपर्वतप्रमाण भणितव्य कियत्पर्यन्तानां तेषामित्यत आह (जाव थणियकुमाराण ति) प्रकटं किमिन्द्राणामेव नेत्याह (सलोगपालाणति) तल्लोकपालानपीत्यर्थ । (सव्वेसिमित्यादि) सर्वेषामिन्द्राणां तल्लोकपालाना चोत्पातपर्वता सदृग्नामानो भणितव्या यथा धरणस्य धरणप्रभः प्रथमतल्लोकपालस्य कालवालस्य कालवालप्रभ इत्येव सर्वत्र ते च पर्वता. स्थानमङ्गीकृत्यैवमभवन्ति "असुराण नागाण, उदहिकुमाराण होंति आवासा । अरुणोदए समुद्दे, तत्थेव य तेसिं उप्पाया ॥ १ ॥ दीवदिसा अग्गीण थणियकुमाराण होंति आवासा । अरुणवरे दीवम्मि उ, तत्थेव य तेसि उप्पायत्ति" ॥ २ ॥ सक्कस्सेत्यादि ॥ कुण्डलवरे द्वीपे कुण्डलपर्वतस्याभ्यन्तरे दक्षिणत. षोडश राजधान्य. सन्ति तासां चतसृणां मध्ये सोमप्रभयमप्रभवरुणप्रभवैश्रमणप्रभाख्या उत्पातपर्वता: सोमादीना शक्रलोकपालाना सन्ति उत्तरपार्श्वे तु एवमेवेशानलोकपालानामिति यथा शक्रस्य तथाच्युतान्तानामिन्द्राणां लोकपालानां चोत्पातपर्वता वाच्या यत· सर्वेषामेक प्रमाण नवर स्थानविशेषो विशेषसूत्रादवगन्तव्य.॥ स्था० १० ठा० ।

उप्पायपुव्व–उत्पाद (द) पूर्व–न० उत्पादप्रतिपादकं पूर्वमुत्पादपूर्वम् । प्रथमपूर्वे, तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां चोत्पादमधिकृत्य प्ररूपणा क्रियते आह च चूर्णिकृत् "पढम उप्पायपुव्व, तत्थ सव्वदव्वाण पज्जवाण य उप्पाय मगीकाउ पण्णवणा कप्पाइति" ॥ नं० ॥ तस्य पदपरिमाणमेका कोटी । स० । नन्दीसमवायाङ्गवृत्त्योरेका पदकोटीत्युपलभ्यतेऽन्यैश्चैकादश । यत्रोत्पादमङ्गीकृत्य सर्वद्रव्यपर्यायाणा प्ररूपणा कृता तदुत्पादपूर्वं प्रथम तच्च

पदप्रमाणेन पदसंख्यामाश्रित्य एकादशकोटीप्रमाणम्। प्रथमपूर्वे एकादशपदानां कोट्य इत्यर्थः इह यत्रार्थोपलब्धिस्तत्पदमित्यादि पदलक्षणसद्भावेऽपि तथाविधसम्प्रदायाभावात्तस्य प्रामाण्य न सम्यगवगम्यत इति। प्रव० ६२ द्वा० "उप्पायपुव्वस्स णं चत्तारि चूलिया वत्थू पण्णत्ता" उत्पादपूर्वं पूर्वाणां तस्य चूला आचारस्याग्राणीव तद्रूपाणि वस्तूनि परिच्छेदविशेषा अध्ययनवत् चूलावस्तूनि । स्था० ४ ठा० । "उप्पायपुव्वस्स णं दसवत्थू पण्णत्ता" उत्पातपूर्वं प्रथमं तस्य दश वस्तून्यध्यायविशेषाः । स्था० १० ठा० ।

उप्पायविगमलक्खण–उत्पादविगमलक्षण–न० उत्पादविगमयोः स्वरूपपरिच्छायके, विशे० (लक्खण शब्दे इदं वक्ष्यामि)

उप्पावेंत–उत्प्लावयत्–त्रि० उत्-प्लव-णिच्-शतृ । उत्प्लुतिप्रयोजके, प्रा० ॥

उप्पिं–उपरि–अ० ऊर्ध्व-रिल्-उपादेशश्च । प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तार्थवृत्तेरूर्ध्वशब्दस्यार्थे, वाच० "तेसिं भोमाणं उप्पिं उल्लोया" जी० ३ प्रति० । स्था० । "उप्पिं पणवीसं जोयणाइं विक्खंभेणं" (उपरि) मस्तके, रा० ॥

उप्पिंजल–उत्पिञ्जल–त्रि० उद्-पि-जि–कलन्-वा लस्य रः । अत्यर्थाकुले, वाच० । "उप्पिंजलभूए कहकहभूए दिव्वे देवरमणे पव्वत्ते आवि होत्था" उत्पिञ्जलभूते आकुलके भूते किमुक्तं भवति महर्द्धिकदेवानामप्यतिशायितया परक्षोभोत्पादकत्वेन सकलदेवासुरमनुजसमूहचित्ताक्षेपकारी । रा० ।

उप्पित्थ–उ(त्पित्त)प्पित्थ–न० आकुले, रोषभृते आकुलता च श्वासेन लक्ष्या। तथा पूर्वसूरिभिर्व्याख्यानात् उक्तञ्च 'उप्पित्थ' श्वाससंयुक्तमिति । जी० ३ प्रति० । तृतीय एष गेयदोषः । ज० १ वक्ष० । स्था० । रा० । अनु० ।

उप्पियंत–उत्पिवत्–त्रि० आस्वादयति, प्रश्न० ३ द्वा० । मुहुर्मुहुः श्वसति, " उप्पियंतं गणिदिस्सा अगीतो भासेइ इम" व्य० द्वि० ४ उ० ।

उप्पियण–उत्पातन–न० मुहुर्मुहुःश्वसने, व्य० द्वि० ४ उ० ।

उप्पियमाण–उत्प्लाव्यमान–त्रि० जलोपरि प्लाव्यमाने, "बुड्डमाणे णिवुड्डमाणे उप्पियमाणे, उपा० ७ अ० ।

उप्पिलावंत–उत्प्लावयत्–त्रि० ऊर्ध्वं प्लावयति, " जे भिक्खू सच्च णावं उप्पिलावेइ उप्पिलावंतं वा साइज्जइ " नि० चू० १७ उ० । आचा० ॥

उप्पीलित–उत्पीडित–त्रि० गाढीकृते, " उप्पीलियकच्छकच्छुगेवेज्जबद्धगलगवरभूसणविराइयं " उत्पीडिता बद्धासिकृता हृदयरज्जुर्यस्य स तथा, भ० ७ श० ६ उ० । ज्ञा० । औ० । वि० । " उप्पीलियचिंधपट्टगहिया उहपहरणा " उत्पीडितो गाढबद्धश्चिह्नपट्टो नेत्रादिचीवरात्मको यैस्ते तथा । प्रश्न० ३ द्वा० । "उप्पीलियचित्तपट्टपरियरसफेणगावतरङ्गसगयपलचवत्थतचित्तविक्खलग " उत्पीडितोऽत्यन्तबद्धश्चित्रपट्टो विचित्रवर्णपट्टरूपः परिकरो यैस्ते तथा । रा० " उप्पीलियसरासणपट्टिए " उत्पीडिता गुणसारणेन कृतावपीडा शरासनपट्टिका धनुर्दण्डो येन स तथा । उत्पीडिता वा बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका बाहुपट्टिका येन स तथा । भ० ७ श० ६ उ० । उत्पीडिता प्रत्यञ्चारोपणेन शराशनपट्टिका धनुर्यष्टिर्यैस्ते तथा। अथवा उत्पीडिता बाहौ बद्धा शराशनपट्टिका धनुर्धरप्रतीता यैस्ते तथा । भ० ३ श० ७ उ० । रा० । वि० ।

उप्पुय–उत्पुत–त्रि० उद्-पुन्-क्त। पवित्रादिना कृतोत्पवनसंस्कारे पात्रादौ, इद् पक्षे उत्पवितोऽप्यत्र । वाच० ॥

उप्फुत्त–न० गेयदोषभेदे, ज्ञा० १६ अ० ॥

उप्पूर–उत्पूर–पुं० प्रकृष्टे प्रवाहे, "पवणाहयचवललत्तियतरंगहत्थनच्चंतवीइपसरियखीरोदकपवरसागरुप्पूरचंचलाहिं " औ० । प्राचुर्ये, " उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवेहकरणं " उत्पूरेण प्राचुर्येण समरो जनमरकयुक्तो यः सङ्ग्रामो रणः स उत्पूरसमरसङ्ग्रामः । प्रश्न० ३ द्वा० ।

उप्पेय–देशी–अभ्यङ्गे, । " पुव्वं च मगलट्ठा, उप्पेयं जइ करेइ गिहियाणं" पूर्वं च यदि मङ्गलार्थं साधु उप्पेयं देशीपदमेतत् अभ्यङ्गं पश्चाद् गृहिकाणां गृहस्थानां करोति। व्य० ६ उ० ।

उप्पेल–उन्नमि–धा० उद् नम्-णिच्-ऊर्ध्वनमनकारणे, उन्नमेरुत्थङ्घोल्लालगुलुगुञ्छोप्पेला ८ । ४ । ३६ । इति उन्नमेरुप्पेलादेशः । उप्पेलइ उन्नमयति। प्रा० ॥

उप्पेहड–देशी–उद्भटार्थे, दे० ना० ।

उप्फुसा–देशी–आपूर्णे, दे० ना० ।

उप्फुण–उत्फण–पुं० स्त्री० ऊर्ध्वछत्फणे, उत्फणत्वे, कुण्डलिकादिपर्य्यायसमन्वितसर्पद्रव्यवत् आ० म० द्वि० ।

उप्फाल–देशी–दुर्जने, दे० ना० ।

उप्फालंत–उत्फालयत्–त्रि० प्रोत्क्षिपयति, प्रा० ।

उप्फुल्ल–उत्फुल्ल–त्रि० उद्-फुल्-नि विकसिते, द० ५ अ० । दलानामन्योन्याविश्लेषेण प्रकाशिते, उत्फुल्लनीलनलिनोदरतुल्यभासः माघः । उत्ताने, त्रि० स्त्रीणां गुप्तेन्द्रिये, न० । वाच० ॥

उप्फुसिऊण–उत्स्पृश्य–अ० उदकेन अभ्युक्ष्य इत्यर्थे "उप्फुसिऊणं देते अत्तट्ठियसेविए गहणं" बृ० १ उ० ।

उप्फेणउप्फेणिय–उत्फेनोत्फेनित–न० फेनोद्गमनकृते, "उप्फेण उप्फेणियसीहसेण रायं एवं वयासी उप्फेण उप्फेणियंति" सकोपोष्मवचनं यथा भवतीत्यर्थः । विपा० ६ अ० ।

उप्फेस–देशी–न० पुं० मुकुटे, औ० । प्रज्ञा० । शिरोवेष्टने, शेखरके, "पचरायककुहा पण्णत्ता तंजहा खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणा उवालवियाणी" स्था० ५ ठा० । "उप्फेसं वा कुज्जा" शिरोवेष्टनं वा कुर्यात्, आचा० २ श्रु० । त्रासे, अपवादार्थे, दे० ना० ।

उप्फोअ–देशी–उद्गमे, दे० ना० ।

उप्फोस–उत्स्पृश–पुं० उत्स्पर्शने, उन्दने, बृ० १ उ० ।

उब्बंधण–उद्बन्धन–न० उद्-बन्ध्-ल्युट्-उल्लम्बने, । प्रश्न० ५ द्वा० ऊर्ध्वं वृक्षशाखादौ बन्धने, तेन मरणे च । "उब्बंधणाइ वेहासमित्यादि" प्रव० १५ द्वा० ।

उब्बच्छय–उद्वच्छक–पुं० विद्यादायकादिप्रतिजागरके, स्था० ३ ठा० । स च प्रव्राजयितु न कल्पते । इति तत्प्ररूपणामित्यत्र " अद्धयाणि उब्बच्छो " ।

कम्मे सिप्पे विज्जा, मंते जोगेय होंति उववरआ ।
उब्बंच्छउओ एसो, न कप्पए तारिसे दिक्खा ॥४२०॥

एस पचविहो उपवरणगनायेण बद्धो उपचारकः प्रतिजागरक इत्यर्थः ।

कम्मे सिप्पे विज्जा, मंतेय परूवणा व उएहं पि ।
गोवालउट्ठमादी, कमउं होंति उब्बट्ठउ ॥४२१ ॥

कम्मसिप्पाण दोण्हं जये परूवणा कज्जति तेणं अउगहरणं अणुवएसपुव्वग गोपालादीकम्म आयरितोवएसपुव्वगं रहगादी सिप्पं लेहादिया सउणरूपपज्जवसाणा बावत्तरिकलातो

विज्जाइयपयसमयनिबद्धो मंतो अहवा इत्थिपुरिसाभिहाणविज्जा-मंता अहवा स साहणा विज्जा पढणसिद्धो मंतो दुगमादि दव्वनियरा विद्देसणवसीकरणउच्चाडणारोगावणायफरायजोगा अन्य गोपालादीकम्मे विज्जगा फासतो मुत्ते गहिते अगहिते वा काले असपुन्ने ण कप्पति विच्छिण्णउ पुन्ने कप्पति । अभिन्नफासतो जय कम्मे गिहिते वा अगहिते वा मुत्ते कप्पति ।

मिप्पाई सिक्खंतो, मिक्खावेंतस्स दत्त जा सिक्खा ।
गहियम्मि वि सिक्खम्मि.जं चिरकालं तु उब्भच्छो ॥४२२॥
एमेव य विज्जाए, मंते जोगे य जाव उब्भच्छो ।
तावति काले ण कप्पति, सेस कालं अणुणातो ॥४२३॥

असिगादणातो विज्जा मंत जोगा सिक्खतो सिक्खावेंतस्स कयसादिदव्वं देति मा य अति तेण एवं उब्भच्छो जाव सिक्ख-सि ताव तुमं ममायतो तमि असिविगते न कप्पति सिक्खिए कप्पति । अध एवं उब्भच्छो सिक्खिए वि उवरिए तिय काले ममा-यतणे नविपणे तम्मि काले अपुन्ने ण कप्पति भतरा पच्चावेंतस्स इमे दोसा ॥

बंधवहो रोहा वा, हवेज्ज परितावसकिलेसो वा ।
उब्भच्छगम्मि दोसा, उब्भणालु ते य परिहाणा ॥४२४॥
उवउब्भच्छगजवगाणं, एस विसेसो मुणेयव्वो ।

कडा विभिपपदं सुत्तोपगाहा । कंठगतो उब्भच्छगो उब्भच्छम-यगाय अन्नो वि से मोहए उवसंपदं उब्भच्छो भयव पुण भ-र्त्ताए वच्चति । नि० चू० ११ उ० ।

उब्भसण–उद्घसन–न० अभ्यङ्गे, विइयपयकारणम्मि उम्मु-व्वलण तु होति पगट्टा" वृ० ३ उ० । (अणायारगम्मे तन्निषेध उक्त.) प्रोद्धसने च । क०प्र० । करणे, ल्युट् । देहोपलेपनविशे-षेषु, यानि देहादुन्मार्गेनेनापनीयमानानि मालादिकमादाय उद्धलन्तीति । ज्ञा० १३ अ० ॥

उब्भसणसंकम–उद्घसनासंक्रम–पु० प्रदेशे, सङ्क्रमभेदे, प० स० (तत्सशाणादिसंकमशब्दे प्रदेशसङ्क्रमप्रस्तावे दर्शयिष्यते)

उब्भिद्ध–उद्विद्ध–त्रि० ऊर्ध्वं गते, औ० । "सुगधवरकुसुमचुण्ण वासरेणुमइलं" भ०१श०३३ उ० । रा० । उच्छ्रिते, । "तालज्झ-उव्विद्धगहलकेउ " स० । प्रश्न० । रा० ।

उपविद्ध–त्रि० उएडे, "उब्भिद्धविपुलगभीरखायफलिहा " ज्ञा० १ अ० । रा० ।

उब्बेह–उद्वेध–पुं०उएडत्वे, जी०३प्रति० । "उब्बेध ओंडत्तणति भणिय होइ" स्था०१०ठा० । भूमिप्रविष्टत्वे, ज०७ वक्ष० । भुवि प्रवेशे, स्था० २ ठा० । भूमावयगाहे, मध्यविष्कम्भे च । स्था० १० ठा० ।

उब्भोलित्ता–अपवोलयितृ–त्रि० अधोयोलयितरि, "सीओद-गवियडसि वा काय उब्भोलित्ता भवति " सूत्र० २ श्रु०२ अ०

उब्भ–ऊर्ध्व–त्रि०उद्–हाङ्–रू–पृषो० ऊरादेशः । "वोर्ध्वे" ८ । २ ५८ । इति संयुक्तस्य वा भ. । उब्भ उद्ध । प्रा० । उच्चे, उपरिउप-रितने च । वाच० ।

उब्भज्जि–देशी–कौश्चजालके, वृ० १ उ० ।

उब्भट्ठ–अवज्ञापित–त्रि० याचिते, " उब्भट्ठ अणोमट्ठ वा गे-

एहतस्स दव्वुज्झियं भवति । नि० चू० १५ उ० ।

उब्भड–उद्भट–त्रि० उद् भट् करणे–अप् । तण्डुलादेः प्रस्फो-टनहेतौ शूर्पे, तदाकारत्वात्कच्छपे, श्रेष्ठाशये, महाशये, प्रवरे, अन्यथयहिर्भूतैर्लोकप्रसिद्धेऽज्ञातवक्तृके श्लोके, वाच० । असंवृतपरिधानादौ " छिक्कावणा उब्भेडो णीया सा दारुण-सभावा" वृ० ६ उ० । विकराले, " उब्भडघडमुहा कञ्चुक-सराभिभूया " उद्भटं विकराल घटकमुखमिव मुखं तुच्छ-दशनच्छदत्वाद्येषां ते तथा । स्पष्टे च । "उब्भडघाडामुहा क-ञ्चुकसराभिभूया " उद्भटे स्पष्टे घाटामुखे शिरोदेशविशेषो येषा ते तथा । भ० ७ श० ६ उ० । जं० । ज्ञा० । त० ।

उब्भडवेस–उद्भटवेष–पु० निषिद्धजनोचितनेपथ्ये, ध० र० । दर्श० । (तदकरणीयता अणुब्भड शब्दे उक्ता)

उब्भव–उद्भव–पुं० उद्–भू–अच् । उत्पत्तौ, विशे० । सम्भ-वे, ज्ञा० २ अ० । कर्तरि–अच्– । उत्पत्तिमति, उद्भूतत्वे, वि-शेषगुणगते जातिभेदे, वाच० ॥

उब्भाम–उद्भ्राम–पुं० उद्– भ्रम– घञ्–भिक्षाभ्रमणे, स्था० ४ ठा० ॥ उत्प्राबल्येन भ्रमत्युद्भ्रमाः । भिक्षाचरेषु, "तीरिय उ-ब्भामणितो य वरिसणं " व्य० १ उ० । नि० चू० ।

उब्भामइल्ला–उद्भ्रामिका–स्त्री० स्वैरिण्याम्, "जस्स महिला-यति उब्भामइल्ला य तस्स" व्य०४उ० । दुःशीलायां च । वृ०६उ ।

उब्भामग–उद्भ्रामक–पुं०उद्–भ्रम–ण्वुल् । पारदारिके, बाह्य-ग्रामे भिक्षाटनं विधायापर्य्यासे तत्रैव भिक्षामटति, "अद्धाण-णिग्गयाई उब्भामगखमग अक्खरे रिक्खा " वृ० १ उ० ॥ वायुभेदे च । प्रज्ञा० ।

उब्भामगणितो(यो)य–उद्भ्रामकनियोग–पु० उद्भ्रामका भि-क्षाचरास्तेषां नियोगो व्यापारो यत्र स उद्भ्रामकनियोगः । भि-क्षाचरव्यापारवति ग्रामे, "तीरिय उब्भामणितोयदारिसणं सा सुसणिवप्पाहे । " व्य० १ उ० ।

उब्भामिगा–उद्भ्रामिका–स्त्री० कुलटायाम्, व्य० ६ उ० । " उब्भामिगावलिया वलिया वलवलिया " महा० ३ अ० ।

उब्भालण–देशी–शूर्पादिनोत्पवने, अपूर्वे च । दे० ना० ।

उब्भाव–रम्–धा० क्रीडायाम्, रमेः संखुडुखेड्डोब्भावकिलिकि-चकोट्टुममोट्टायणीसरवेल्ला ८ । ४ । ६७ । इति रमेरुब्भावादे-शः । उब्भावइ । रमते । प्रा० ।

उब्भावणा–उद्भावना–स्त्री० उत्प्रेक्षणे, "अमब्भावुब्भावणाहिं" ज्ञा० १२ अ० । औ० । प्रकाशने, न० । प्रभावनायाम्, " पव-यण उब्भावणया " स्था० १० ठा० । वृ० ।

उब्भाविअ–देशी–सुरते, दे० ना० ।

उब्भिदमाण–उद्भिदत्–त्रि०उद्भेदं कुर्वति, "मट्टिउवलित्तं अस-णं४ वा उब्भिदमाणे पुढवीकाय समारंभेज्जा" आचा०२श्रु.७अ.

उब्भिदिउं (य) उद्भिद्य–अव्य० उद्घाट्येत्यर्थे " छगणा-इणोवलित्त उब्भिदिय ज तमुब्भिन्न " पचा० १३ विव० । द० ॥

उब्भिज्जमाण–उद्भिद्यमान–त्रि० उद्घाट्यमाने, जं० १ वक्ष० । रा० । जीवा० । प्राबल्येनोर्द्ध वा दार्यमाणे, केतइपुडाण वा अणुवायसि उब्भिज्जमाणाण वा " भ० १६ श० ६ उ० ॥

उब्भिन्न–उद्भिन्न–न० उद्भेदनमुदभिन्नम् । साधुभ्यो घृता-दिदाननिमित्त कुतुपादेर्मुखस्य गोमयादिस्थगितोद्घाटने छा-दशे उद्गमदोषे, तद्योगाद्देये घृतादौ च । पिं० । " छगणा-इणोवउत्त उब्भिदिय ज तमुब्भिन्न " । उद्भिद्य उद्घाट्य यद् भक्तादि ददातीति वर्तते तद्भक्ताद्युद्भिन्नमित्युच्यते । कोष्ठ-काद्युद्भिन्न भाजनसम्बन्धादिति । पचा० १३ विव० ।

तद्भेदा यथा—

पिहिउब्भिन्नकवाडे, फासुयअफासुए य बोधव्वे ॥

अफासु य पुढविमाई, फासुय छगणाइ दद्दरए ॥

उद्भिन्नं द्विधा तथा पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नं च । तत्र यत् कुतुपादेः स्थगितं मुखं साधूनां तैलघृतादि दीयते तद्दीयमान तैलादि पिहितोद्भिन्नं पिहितमुद्भिन्नं यत्र तत् पिहितोद्भिन्नमिति व्युत्पत्तेः । तथा यत् पिहित कपाटमुद्भिद्य उद्घाट्य साधुभ्यो दीयते तत् कपाटोद्भिन्नम् । व्युत्पत्तिः प्रागिव । तत्र पिहितोद्भिन्नं द्विधा तद्यथा प्रासुकमप्रासुकं च सचेतनमचेतनं चेत्यर्थः । तत्राप्रासुक सचित्तपृथिव्यादिमय प्रासुकं छगणादिदर्दरके तत्र छगणा गोमया आदिशब्दाद्भस्मादिपरिग्रहः दर्दरको मुखबन्धनवस्त्रखण्डम् ॥

अत्र पिहितोद्भिन्ने दोषानभिधित्सुराह ॥

छब्भिन्ने छक्काया, दाणे कयविक्कए य अहिगरणे ।

ते चेव कवाडम्मि वि, सविसेसा जंतमाईसु ॥

उद्भिन्ने पिहितोद्भिन्ने च दोषस्तदुद्भेदकाले षट्पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते तथा प्रथमतः साधुनिमित्त कुतुपादिमुखे उद्भिन्ने सति पुत्रादिभ्यस्तैलादिप्रदाने तथा क्रये विक्रये चाधिकरणप्रवृत्तिरुपजायते । तथा त एव षट्कायविराधनादयो दोषा कपाटेऽपि कपाटोद्भिन्नेऽपि सविशेषास्तु यन्त्ररूपकपाटादिषु द्रष्टव्या । तत्र यान्यनीव सपुटमागतानि कुञ्चिकाया रोधायान्ति यानि च दर्दरिकोपरि पिट्टुणिकाया एकदेशवर्तीनि मासप्रवेशरूपद्वारे तानि यन्त्ररूपकपाटानि । आदिशब्दात्परिघादिग्रहः । सम्प्रत्येनामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतः " उब्भिन्ने छक्काया " इत्यवयवं व्याख्यानयन् गाथाद्वयमाह ।

सचित्तपुढविलित्तं, लेलुसितं वा वि दाउमोलित्तं ।

सचित्तपुढविलेवो, चिरम्मि उदगं अविरलित्ते ॥

एवं तु पुव्वलित्ते, जे उब्भिपाणे य ते चेव ।

ते मेत्तुं उवलिंपइ, जउमुद्दं वा वि तावेउं ॥

इह कुतुपादिमुखदर्दरकोपरि कदाचित् लेलु लोष्टम् । शिलां पाषाणखण्डं प्रक्षिप्य जलार्द्रीकृतसचित्तकायलिप्त भवति । तत्र सचित्तः पृथिवीलेप सचित्तः सन् चिरकालमप्यवतिष्ठते । उदकं त्वचिरलिप्ते अचिरकाललिप्ते सम्भवति किमुक्त भवति यदि चिरकालसचित्तपृथिवीकायलिप्तमुद्भिद्यते तर्हि सचित्तपृथिवीकायविनाशोऽचिरलिप्ते तद्भिद्यमाने अप्कायस्यापि विनाशः । अचिरलिप्तमप्यत्रान्तर्मुहूर्तकालमध्यवर्ति द्रष्टव्यमन्तर्मुहूर्तानन्तरं तु पृथिवीकायशस्त्रसंपर्कत उदकमचित्तीभवति । ततो न तद्विराधनादोषः । उपलक्षणमेतत् तेन त्रसादेरपि तदाश्रितस्य विनाशसंभवो द्रष्टव्य एवमनेन प्रकारेण पूर्वलिप्ते साध्वर्थमुद्भिद्यमाने दोषा उक्ताः । एते एव पृथिवीकायादिविराधना दोषा उपलिप्यमानेऽपि कुतुपादिमुखात्तैलघृतादिक साधवे दत्वा शेषस्य रक्षणार्थं भूयोऽपि कुतुपादिमुखे स्थग्यमाने द्रष्टव्याः । तथाहि भूयोऽपि कुतुपादिमुख सचित्तपृथिवीकायेन जलार्द्रीकृतेनोपलिप्यते तत पृथिवीकायविराधना । अप्कायविराधना च पृथिवीकायमध्ये च मुद्गादयः कीटिकादयश्च समवन्ति । ततस्तेषामपि विराधना । तथा कोऽप्यभिज्ञानार्थं कुतुपादिमुखस्योपरि जतुमुद्रां ददाति । तथा तेजस्कायविराधनापि । यत्राग्निस्तत्र वायुरिति वायुकायविराधना च । ततः पिहितोद्भिन्ने षट्कायविराधना ।

अमुमेवार्थं स्पष्टं भावयति ।

जह चेव पुव्वलित्ते कायादओ पुणो वि तह चेव ।

उवलिप्पंते काया, मुइंगाई नवरि छट्ठे ॥

यथा चैव पूर्वलिप्ते कायाः पृथिवीकायादयो विराध्यन्ते तथा साधुभ्यस्तैलादिक दत्वा भूयोऽपि कुतुपादेर्मुखे उपलिप्यमाने काया विराध्यन्ते । नवरं षष्ठे काये त्रसकायरूपे विराध्यमाना जन्तवः पृथिव्याश्रिताः मुइंगादयः पिपीलिका कुन्थ्वादयो द्रष्टव्याः सम्प्रति " दाणे कयविक्कय " इत्यवयव व्याचिख्यासुराह ॥

परस्स तं देइ स एव गेहे, तेल्लं व लोणं व घयं गुलं वा ।

उग्घाडियं तम्मि करे अवस्सं, सविक्कयं तेण किणाइ अन्नं ॥

तस्मिन् कुतुपादिमुखे साध्वर्थमुद्घाटिते सति प्रवर्तते इति साधोः प्रवृत्तिदोषः । तथा च ' एते एव अहिगरण ' मित्यवयव वाचिख्यासुराह ॥

दाणकयविक्कए चेव, होइ अहिगरणमजयजावस्स ।

निवयंति जेय तहिं ये, जीवा मुइंगमूसाई ॥

दानक्रये विक्रये चानन्तरोक्तस्वरूप वर्तमाने साधोरयतभावस्य अयतोऽशुद्धाहारापरिहारकत्वेन जीवरक्षणरहितो भावोऽध्यवसायो यस्य स तथा तस्याधिकरण पापप्रवृत्तिरुपजायते । तथा तस्मिन् कुतुपादिमुखे उद्घाटिते ये जीवा मुइंगमूषकादयो निपतन्ति निपत्य च विनाशमाविशन्ति तदप्यधिकरण साधोरेव सम्प्रति ' ते चेव कवाडम्मी ' त्यवयवं व्याचिख्यासुराह ॥

जहेव कुंभाइसु पुव्वलित्ते, उब्भिज्जमाणे य भवंति काया ।

उल्लिप्पमाणे वि तहा तहेव,काया कवाडम्मि विभाणियव्वा ॥

तथैव कुम्भादौ घटादौ आदिशब्दात् कुतुपादिपरिग्रहः । पूर्वलिप्ते उद्भिद्यमाने तथा उपलिप्यमाने कपाटे तद्विराधना भवति । जलभृते करकादौ लुप्यमाने भिद्यमाने वा पानीये प्रसर्पत प्रत्यासन्नचुल्लादावपि प्रविशेत् । तथा च सत्यग्निविराधना यत्र चाग्निस्तत्र वायुरिति वायुविराधना च । मुरुकादिविवरप्रविष्टकीटिकागृहगोधिकादिसर्वविनाशे त्रसकायविराधना चेति । दान क्रयविक्रयाधिकरणप्रवृत्तिभावना च पूर्ववत्कर्तव्या । संप्रति "सविसेसण" इत्यवयव व्याचिख्यासुराह ॥

घरकोइलमंचारा, आवत्तणपट्टगाइहेट्ठुवरिं ।

निंतिट्ठिए य अंतो, डिंभाई पेल्लणे दोसा ॥

कपाटस्य सञ्चारात् सचलनात् गृहगोधिका उपलक्षणमेतत्कीटिकाकुरादयश्च विराध्यन्ते । तथा प्रासादस्याधोभूमिरूपा पीठिकेव पीठिका भूमिका तत्र अध उपरितले च कपाटैकदेशस्याधो वव पीठिका भूमिका तत्र अध उपरितले च कपाटैकदेशस्याधो वा तैते तदाश्रिताः कुन्थुपिपीलिकादयो विनाशमश्नुवते । तथा उद्घाटिते कपाटे पश्चान्मुख नीयमाने अन्तःस्थितस्य डिम्भादेः प्रेरणदोषाः शिर स्फोटनादयो भवन्ति ॥

संप्रत्यपवादमाह ॥

घेप्पइ अकिंचियागम्मि, कवाडे पइदिणं परिवहंति ।

अज्जउमुद्दिय गंठी, परिभुज्जइ दद्दरो जाव ॥

अकुञ्चिकारहिते कुञ्चिकादिविरहिते इत्यर्थः । तत्र हि किल पृष्ठभागे उल्लालको न भवति । तेन न घर्षण द्वारेण सत्वविराधना । यद्वा ' अकुद्धयागत्ति " पाठ । तत्र अकूजिकाके कूजिकारहिते अक्रेंकारावे किमुक्त भवति । यत् उद्घाट्यमान कपाट क्रेंकाररव करोति तद्धि क्रियमाणमूर्ध्वमधस्तिर्यक् च घर्षतं प्रभूतसत्वव्यापादन करोति । तेन तद्वर्जनम् । तस्मिन्नपि किं विशिष्ट इत्याह । प्रतिदिन प्रतिदिवस निरन्तर प्रतियहति । उद्घाट्यमाने दीयमाने चेत्यर्थ तस्मिन् प्रायो न गृहगोधिकादिसत्वाश्रयम् नवाश्चिरकालमवस्थानाभावात् । इत्थं भूते कपाटे साध्वर्थमपु-

दूघाटिते यत् ददाति गृहस्थः तत् गृह्यते स्थविरकल्पानामाची- र्णमेतद् । तथा यश्च दर्दरकः कुतुपादीनां मुखबन्धरूप प्रति- दिवस परिभुज्यते बध्यते बाध्यते च इत्यर्थः तत्र यदि जतुमुद्रा- व्यतिरेकेण केवल वस्त्रमात्रग्रन्थिर्दीयते । नापि च सचित्तपृथि- वीकायादिक्षेपस्तर्हि तस्मिन् साध्वर्थमुद्भिन्नेऽपि यद्दीयते त- त्साधुभिर्गृह्यते इति । उक्कमुब्भिन्नद्वारम् । पिं० । प्रव० । ध० । पचा० । व्य० । उत्त० । दर्श० । ग० । स्था० । (तद्ग्रहणनिषेध आचाराङ्गे प्रतिपादित. स च माल्लोहड शब्दे व्याख्यास्यते)वृ० । (जीतकल्पानुसारेण पिहितोद्भिन्नकपाटोद्भिन्ने आचामाम्ल- म्) जीत० । उत्पन्ने, कर्मणि-क्त द्विधाकृते, दलिते च । वाच० ॥

उब्भुअंत-उद्भवत्-त्रि०उद्-भू-शतृ-भुवेर्होहुवहवा ८।४।६०। इत्यत्र कचिदन्यदपीत्युक्तेरुब्भुअ आदेशः । उत्पद्यमाने, प्रा० ॥

उब्भुइया-औद्भूतिकी-स्त्री० उद्भूते, आगन्तुके, कस्मिंश्चित्प्र- योजने सामन्तामात्यादिलोकस्य ज्ञापनार्थं वाद्यमानायामाशीर्ष- चन्दनमय्यां देवतापरिगृहीतायां कृष्णवासुदेवभेर्य्याम्, विशे० ॥

उब्भुत्त-उत्क्षिप्-धा-ऊर्ध्वक्षेपे, उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थघाल्लत्योब्भु- त्तोस्सिकहक्खुप्पाः ८ । ४ । ४३ । इत्युत्क्षिपे रुब्भुत्तादेशः । उब्भुत्तइ । उक्खिवइ । प्रा० ॥

उब्भेइम-उद्भेदिम-न० उद्भेद्ये सामुद्रादौ, अप्रासुके वा लवणे, द० ६ अ० । " बिड वा लोणं उब्भेइमं वा लोणं आहारेइ आहा रंत वा साइज्जइ उब्भेतिम पुण सयं रुहइ जहा सामुद्दं " नि० चू० ११ उ० ॥

उभओ-उभयतस्-अव्य० उभाभ्यां प्रकाराभ्यामित्यर्थे, " उभ- ओ जोगविसुद्धा आयावणट्ठाणमाईया " उभाभ्यां प्रकाराभ्यां क्रियया भावतश्चेत्यर्थ. । (जोगविसुद्धत्ति) विशुद्धयोगा निरव- द्यव्यापारा । पञ्चा० १८ विव० । " उभओ विब्बोयणे दुहओ उक्कए " उभयतः शिरोन्तपादान्तावाश्रित्य (विब्बोयणेत्ति) उपधानके यत्र तत्तथा । भ० ११ श० ११ उ० ॥

उभय-उभय-त्रि० उभ्-अयच्-अवयवे द्वित्वविशिष्टे, अस्य द्वि- त्वे बोधकत्वेऽपि एकवचनबहुवचनान्ततैव प्रयोग न द्विवचन- प्रयोग । "सिज्जादिएसु उभय करेज्जसे धोवधिं व ममत्त।उभय णाम एगदोसा" नि० चू० १ उ० ।

उभयभाग-उभयभाग-न० चन्द्रस्य उभयत उभयभागाभ्यां पूर्वत पश्चाच्चेत्यर्थो भज्यन्ते भुज्यन्ते यानि तानि उभयभागानि चन्द्रस्य पूर्वत. पृष्ठतश्च भोगमुपगच्छति नक्षत्रे, । "चंदस्स जोइ- सिंदस्स जोइसरण्णो छ णक्खत्ता उभयभागा उत्तरा तिण्णि विसा- हा पुणव्वसू रोहिणी उभयजोगत्ति" । स्था० ६ ठा० ।

उभयकाल-उभयकाल-पु० उभयसन्ध्ये, ग०२ अधि० ।

उभयगणि-उभयगणिन्-पु० उभय. साधुसाध्वीद्वयरूपो गणो- ऽस्यास्तीति उभयगणी । साधुसाध्वीगणस्याऽऽचार्ये, वृ० १ उ० ।

उभयजणणसब्भाव-उभयजननस्वभाव-त्रि० इष्टानिष्टार्थोत्पाद- नवीजकल्पे, "जमुभयजणणसब्भावा एसा विहिणेयरेहिं उप्पण्णा" पंचा० ३ विव० ।

उभयणिसिरण-उभयनिसर्जन-न० कायिकसञ्ज्ञोभयव्युत्सर्जने, "उभय णाम काइयसण्णणिसिरणं धोसिरणं" नि० चू० १ उ० ।

उभयदढ-उभयदृढ-त्रि० धृत्या संहननेन च बलवति, वृ० १ उ०-

उभयप्पियसंबंधणसंजोग-उभयार्पितसम्बन्धनसंयोग-पुं० मि- श्रार्पितसम्बन्धनसंयोगरूपे सयोगभेदे, उत्त० १ अ० । (आत्म- कर्मणोरर्पितैौदयिकादिभावविषयकसंयोगलक्षणस्योभयार्पितस- म्बन्धनसंयोगस्य व्याख्या संजोग शब्दे वक्ष्यते)

उभयमंगली-उभयमङ्गली-स्त्री० समुद्देशनमण्डल्याम्, स्वा- ध्यायमण्डल्यां च । वृ० १ उ० ।

उभयलोगहिय-उभयलोकहित-त्रि० लोकद्वयेऽप्युपकारके, "क ल्लाण भायणत्तेण उभयलोगहिअ" पचा० ११ विव० ।

उभयसंबंधणसंजोग-उभयसम्बन्धनसंयोग-पु० उभयेनात्मधा- त्वात्मकेन तदुभयस्मिन्वा संयोगे, यथा क्रोधी देवदत्त क्रोधी कौशिको मानी सौराष्ट्र क्रोधी वा सन्ति । अत्र क्रोधादिनिरो- दयिकादिभावान्तर्गतत्वेनात्मरूपैर्नामादिभिस्त्वात्मनोऽनन्यत्वेन- बाह्यरूपै सयोग इत्युभयसम्बन्धनसयोग उच्यते । उत्त० १ अ० । (एतद्व्याख्या संजोग शब्दे)

उभयसमय-उभयसमय-पु० उभय (स्वपर) मतानुगतशास्त्र- स्वभावे, उत्त० १ अ० ।

उभयारिह-उभयार्ह-न० मिश्रापरपर्य्याये, दशविधप्रायश्चित्त- मध्ये तृतीये, यस्मिन्प्रतिसेविते प्रायश्चित्ते यदि गुरुसमक्षमालो- चयति आलोच्य च गुरुसन्दिष्ट प्रतिक्रामति पश्चाच्च मिथ्यादु- ष्कृतमिति ब्रूते तदा शुध्यति तत आलोचनाप्रतिक्रमणलक्षणोभया- र्हत्वान्मिश्रम् । व्य० प्र० १ उ० । यच्च प्रतिसेव्य गुरोरालोचय- ति गुरूपदेशेन च विशुद्ध्यर्थं मिथ्यादुष्कृत क्रियते तदुभयार्हम् ।जी० येषु प्रतिसेवितेषु उभयार्हप्रायश्चित्त तान्याह ॥

संभमभयाउरावइ, सहसाणाभोगणप्पवसओ वा ।
सव्ववयाईयारे, तदुभयमासकिए चेव ॥

सम्भ्रम सक्षोभ करिसरित्पूरसार्दूलदावानलादेः भय चौरव- न्दिकग्रहणादे (आउरत्ति) भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य आतुरत्वं पीडितत्व क्षुत्पिपासाद्यै । आपच्चतुर्धा द्रव्यक्षेत्रकालभावैः । तत्र द्रव्यापत्कल्पनीयासनादिद्रव्यदुर्लभता १ क्षेत्रापत्प्रत्यासन्नग्रा- मनगराद्विरहितमल्प च क्षेत्रम् २ कालापद्दुष्कालादि ३ भावा- पद्ग्लानत्वादि ४ तत संभ्रमभयातुरापद्भिः कारणैः सहसाका- रानाभोगौ प्राग् व्याख्यातौ ताभ्यां चानात्मवशाक परवशः वा शब्दाद् गृहीताद्यविशिष्टश्च तस्य सर्वव्रतातिचारे सति । नन्वेवम- तीचारा हस्तिसम्भ्रमाद्धि पलायमान पृथिवीजलानलरहितद्वि- त्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियांश्चरणकरणघातादिना तारुयन् पादपाथारो- हणेन प्राणातिपातविरतिं विराधयेत् । मृषाविरतिं कूटसाक्ष्या- दिना अदत्तविरतिं भग्नो स्तैन्येनासनादिदत्तो ग्रहणेन मैथुन- विरतिं स्त्र्यादिना परिग्रहविरतिं मध्यमसूत्रादिना रात्रिभोजन- विरतिं दिवागृहितानि प्रक्षके अल्पकल्पो दूरतममार्गे व्रजनां घृतमिश्रकणिकायादानरूप त विदध्यात् । लेपकृत क्षीरान्नादि तदुत्सर्गतो न ग्राह्यतेकचिदुद्भुञ्जीतेत्यादि मूत्रविषया एवमुत्तरे- ऽगुणेष्वपि क्षेया । इत्यमतीचारजाते सति तथा आशङ्किते चैव यदतिचारस्थान कृतमकृत चेति निश्चेतु न शक्नोति त- स्मिश्च दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृतिसर्वपदविषये तदुभयार्हं प्रायश्चित्तम् ।एकं गुरोरालोचना द्वितीय गुरुसंदिष्टेन मिथ्यादुष्कृ- तदान प्रतिक्रमणार्हाख्यमित्येतदुभय शुद्धिकरम् । किञ्च ।

दुच्चिंतिय दुब्भासिय, दुच्चिट्ठिय एवमाऽयं बहुसो ।
उवउत्तो वि न याणइ, ज देवसियाऽऽइयार ॥

दुश्चिन्तित कोङ्कणार्यकशब्दवदार्तचिन्तनात् । दुर्भाषित त्व- सद्भूतोद्भावन दुश्चेष्टित च धावनादि । दुश्चिन्तित दुर्भाषित दुश्चेष्टितम् । एवमादिकमन्यदप्येव प्रकार दुष्प्रतिलेखित दुष्प्र-

मार्जिता बहुशोऽनेकशो उपयुक्तोऽपि उपयोगवानपि यद्दैवसिका-द्यतिचारादित्यादिशब्दाद्वा त्रिकपाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरि-कादि च पूर्वकालकृतमालोचनाकाले न स्मरति तस्याप्यति-चार जातस्याशोधकः । अस्यां गाथायामनुक्तमपि प्रस्तावात्तदु-भयार्हमेव ज्ञेयम् ।

सव्वेसु वि वीइयपए, दंसणनाणचरणावरोहेसु ।
आउत्तस्स तदुभयं, सहसाकाराइणा चेव ॥

प्रथमपदमुत्सर्गस्तदपेक्षया द्वितीयपदमपवादस्तस्मिन्नुपस्थि-ते सत्ययुक्तस्य कारणेन यतनया गीतार्थस्यापराधपदान्यासेवं-मानसहसाकारादिना चैवमादिशब्दादाभोगानाभोगाभ्यां च सर्वेष्वपि दर्शनज्ञानचरणापराधेषु तदुभयं प्रायश्चित्तम् । अत्राह शिष्यः । 'खलियस्स य सव्वत्थ वी' त्यत्र दर्शनज्ञानचरणादिपदेषु सर्वेषु सस्खलितस्य प्रतिक्रमणार्हमभिधाय तेष्वेवेह कथ तदुभ-यार्हमभिधीयते ॥ तत्र हि सममापद्यमानस्येत्युक्तम् । इह तु हिंसाव्यापन्नसाम्ययुक्तस्य तदुभयार्हेण शुद्धिरिति न विरोधः ।

इदानीं तदुभयार्हमभिधातुकाम आह ॥

संकिए सहसागारे, भयाउरे आवतीसु य ॥
सहव्वयातियारे य, छण्हं ठाणाण वज्जतो ॥

शङ्कितः प्राणातिपातादौ यथा मया प्राणातिपातः कृतः किं वा न कृतः । तथा मृषा भणित न वा अवग्रहोऽनुज्ञापितो न वा, ज्ञानादिदर्शननिमित्तं जिनभवनादिगतस्य स्त्रीस्पर्शे रा-गगमनमभूत्र वा इष्टानिष्टेषु रागद्वेषौ गतौ न वा, तक्रादिले-पकृद्द्रव्यवाः कथमपि पात्रगताः पर्युषिताःभित्तार्थमटितुका-मेन धौताः किं वा न धौता इत्यादि । तत्र षष्ठां वाह्यं तदुभय-लक्षणं प्रायश्चित्तमिति योगः । तथा उपयोगवतोऽपि सहसा कारे सहसा प्राणातिपातादिकरणे । तथा भये दुष्टम्लेच्छा-दिसमुत्थे यदि वा हस्त्यागमने मेघोदकनिपातस्पर्शने दीपा-दिस्पर्शने वा आकुलतया प्राणातिपातादिकरणे तथा आतु-रः क्षुधा पिपासया वा पीडितः । भावप्रधानश्चाय निर्देशस्त-तोऽयमर्थः आतुरतायाम् । तथा आपत्सुतुर्द्धा तद्यथा । द्र-व्यापत् क्षेत्रापत् कालापत् भावापत् । तत्र द्रव्यापत् दुर्लभं प्रायोग्यं द्रव्यम् । क्षेत्रापत् छिन्नमण्डपादि । कालापत् दुर्भि-क्षादि । भावापत् गाढग्लानत्वादि । एतासु स हिंसादि-दोषमापद्यमानस्यापि अनात्मवशगस्य तथाहि ईर्यासमिता-वुपयुक्तोऽप्युत्क्षालिते पादे सहसा समापतितं कुलिङ्गिनमपि व्यापादयेत् मृषापि कदाचित्सहसा भाषते । अवग्रहमपि कदाचिद्भ्रमसिकतया अननुज्ञातमपि परिभोगयति । अत्यु-ल्वणमबलारूपमवलोक्य कदाचनापि सहसा रागमुपैति इ-त्यादि । तथा भयात्प्रपलायमानोभूदकज्वलनवनस्पतिद्वित्रि-चतुःपञ्चेन्द्रियानपि व्यापादयेत् । मृषापि भयात् भाषते परि ग्रहमपि धर्म्मोपकरणबाह्यस्य करोति । आतुरतायामपि स-म्यगीर्यापथाशोधने संभवति प्राणातिपातः । अत्यातुरतायां कदाचिन्मृषा भाषणमपि अदत्तादानमपि च एवमापत्स्वपि भावनीयम् तथा महाव्रतानां प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनां सह-साकारतः स्फुटदुच्छ्वा कारणतो वा अतीचारे च शब्दादति क्रमव्यतिक्रमयोश्च । तथातिक्रमादीनां महाव्रतविषयाणामन्य-तमस्याशङ्कायां वा किमित्याह (छण्हं ठाणाणवज्जतो इति) केषांचिदनवस्थितपाराञ्चिते प्रायश्चित्ते द्वे अपि एक प्राय-श्चित्तमिति प्रतिपत्तिः ॥ तन्मते नवधा प्रायश्चित्त तत्र वाह्ये द्वे प्रायश्चित्ते मुक्त्वा शेषाणि सप्त प्रायश्चित्तानि तेषां च स-प्तानां प्रायश्चित्तानां यदाद्य प्रायश्चित्तं तदुपरितनानां षष्ठां वा-ह्यं नाभ्यन्तरमिति षष्ठां स्थानानां बाह्यत इति वचनादेव प्र-तिपत्तव्यम् । तच्च तदुभयं तच्चैवं भावनीयम् । शङ्कितादि-षु यथोक्तस्वरूपेषु सत्सु प्रथम गुरूणां पुरत आलोचनां तद-नन्तरं गुरुसमादेशेन मिथ्यादुष्कृतदानमिति । शङ्किए इत्येत-द्विवृण्वन्नाह ॥

हिंस्थो व णहिंस्थो मे, सत्तो भणियं च न भणियं मिसा ।
उग्गहणुण्णमणुण्णा, तइए फासे चउत्थम्मि ॥
इंदियरागद्दोसाउ, पंचमे किं गतोमि न गतोत्ति ।
छट्ठे लेवाकादी, धोयमधोयं न वावेत्ति ॥

सत्वः प्राणी (हिंस्थोत्ति) देशीपदमेतत् । हिंसितो मे मया न वा हिंसित इति । तथा मृषा भणित न वा । तथा तृतीये अदत्ता-दानविरतिलक्षणे अवग्रहोऽनुज्ञा मया कारिता यदि वा अनुज्ञा न कारिता । तथा चतुर्थे मैथुनविरतिलक्षणे जिनभवनादिषु स्नानादिदर्शनप्रयोजनतो गतः सन् (फासेइत्ति) स्त्रीस्पर्शे रागं गतो न वा । तथा पञ्चमे परिग्रहविरमणलक्षणे इन्द्रियेषु विषयिणा विषयेपयोगलक्षणादिन्द्रियेषु इष्टानिष्टेषु रागद्वेषौ गतोऽस्मि किं वा न गत इति । तथा षष्ठे रात्रिभोजनविरमणे लेपकृदादि तक्रावयवरूपं कथमपि पात्रादिगत पर्युषित भि-क्षाटनार्थमत्पद्यते तद्धौतमथवा न धौत मयेति । यद्येवं ततः किमित्याह ॥

इंदियअव्वागमिया जे, अत्था अणुवधारिया ।
तदुभयपायच्छित्तं, परिवज्जइ भावतो ॥

उक्तेन प्रकारेण येऽर्थाः प्राणातिपातादय इन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरव्या-कृताः प्रकटीकृता अपि येऽनुपधारिता न सम्यगुपधारणाविषयीकृता-स्तेषु प्रायश्चित्त प्रतिपद्यते । भावतः सम्यगपुनराऽपतनेन तदुभय-मिति । तच्च तदुभयं च पूर्वं गुरूणां पुरत आलोचना । तदन-न्तरं तदादेशतो मिथ्यादुष्कृतदानमित्येवंरूपं तदुभयम् ।

एतदेव सविस्तरमभिधित्सुराह ।

सद्दा सुया बहुविहा, तत्थ य केसु वि गतोमि रागंति ।
अमुगत्थ मे वितक्का, परिवज्जइ तदुभयं तत्थ ॥

शब्दा मया बहुविधा बहुप्रकाराः श्रवणविषयीकृतास्तत्र तेषु बहुविधेषु शब्देषु श्रुतेषु मध्ये (वितक्कत्ति) एव मे वितर्कः संदेहो यथा केषुचिदपि (अमुगत्थत्ति) अमुकेषु रागमुपलक्षणमेतत् द्वेषं वा गतोऽस्मि । तत्र तस्मिन् शङ्काविषये तदुभयमुक्तलक्षण प्रायश्चित्त भावतः प्रतिपद्यते । यदिहि निश्चितं भवति यथा अमुकेषु शब्देषु राग द्वेष वा गतः इति तत्र तपोऽर्हं प्रायश्चि-त्तम् । तथैव निश्चयो न गतो रागं द्वेषं वा तत्र स शुद्ध एव न प्रायश्चित्तविषयः । ततो वितर्के यथोक्तलक्षणे तदुभयमेव प्राय-श्चित्तमिति ।

एमेव सेसए वि, विसए आसेविऊण जे पच्छा ।
काऊण एगपक्खे, न तरइ ताहि यं तदुभयं तु ॥

एवमेव उक्तेनैव प्रकारेण यान् रूपादीन्विषयान् आसेव्योपलक्ष्य उपलक्षणमेतत् प्राणातिपातादीन्वाऽऽसेव्य पश्चात् एकतरस्मिन्प-क्षे अपराधलक्षणे निर्दोषतालक्षणे वा न कर्त्तुं शक्नोति यथा रूपा-दिषु विषयेषु राग द्वेषं वा गत । प्राणातिपातादयो वा कृता इति । यदि वा न गतो रागद्वेषौ नापि कृता प्राणातिपातादय इति तत्र तदुभय तु तदुभयमेव तु शब्दस्यैवकारार्थत्वात् यथोक्तलक्षणं प्रायश्चित्त शङ्कास्पदत्वात् तदेवं शङ्किते इति व्याख्यातम् ।

संप्रति सहसाकारेत्यादिव्याचिख्यासुराह

उवओगवतो सहसा, नयेण वा पल्लिए कुलिंगादी ।
अच्चाउरावती सु य, अणेसिया दीहगणजोगा ॥

उपयोगवतो पि ईर्यासमितौ सम्यगुपयुक्तस्यापि उत्क्षिप्ते पादे कथमपि सहसा योगतः समापतितः सन् कुलिङ्गी व्यापाद्यते भये न वा चौरसिंहादीनां भृशं पलायमाने नयग्रहणमुपलक्षणं तेन पतद्यपि दुष्टव्यं परेण वा (पेल्लिए इति) परेण प्रेरिते वा तद्व्यापारमासाद्य कुलिङ्गी उपलक्षणमेतत् । पृथिव्यादिजीवनिकायो वा व्यापत्तिमाप्नुयात् । तथा अत्यातुरे क्षुधा पिपासया वा अत्यन्त पीडिते तथा आपत्सु द्रव्यापदादिषु यदि अनेषिताद्विग्रहणभोगौ भवतः अनेषितमनेषणीयमादिशब्दादकल्पनीयस्य परिग्रहः न केवलमनेषिताद्विग्रहणभोगौ किंतु गमनागमनादौ पृथिव्यादिजन्तुविराधनापि भवति । तथापि तत्र प्रायश्चित्तं यथोक्तलक्षण तदुभयमिति वर्त्तते सहसाकारादिविषयत्वात् ।

संप्रति महव्वयाइयारे य इत्येतद्व्याख्यानयन्नाह ॥

सहसाकारे अइक्कम–वइक्कमे चेव तह य अइयारे ।
होइ व सइग्गहणा, पच्छित्तं तदुभयं तिसु वि ॥
इतिमाउवयोगे वा, एगयरे तत्थ होइ आसंका ।
नवहा जस्स विसोही, तस्सुवरिं उएह वज्झतु ॥

सहसाकारतोऽतिक्रमे व्यतिक्रमे अतीचारे प्राग्व्यावर्णितस्वरूपे महाव्रतविषये इति सामर्थ्याद्गम्यते महव्वयाइयारे य इति पदस्य व्याख्यायमानत्वात् एतेषु त्रिष्वपि दोषेषु तदुभयमुक्तस्वरूप प्रायश्चित्तम् । अथ मूलगाथायां महाव्रतातीचारे चेत्येवोक्त ततः कथमत्र विधृतम् अतिक्रमे चेति अत आह । चशब्दग्रहणात्किमुक्तं भवति चशब्दग्रहणात् सूत्रगाथायामतिक्रमव्यतिक्रमयोरपि समुच्चयः कृत इत्यदोषः । अथवा अतीचारस्य पर्यन्तग्रहणादतिक्रमव्यतिक्रमयोरपि उपयोगे स्फुटबुद्ध्या करणे तदुभयप्रायश्चित्तमिति योगः । वा शब्दो भिन्नक्रमत्वाद् एगयरे इत्यत्र योजनीयः । ततोऽयमर्थः । एकतरस्मिन्वा तत्र अतिक्रमे अतीचारे वा यदि भवत्याशङ्का यथा मयातिक्रमः कृतो न वा व्यतिक्रमः कृतो न वा अतीचारः कृतो नवेति । तत्रापि तदुभयं प्रायश्चित्तम् । "इह सहसाकारासंके सकिय सहसाकारे" पदद्वयेनापि गते केवल महाव्रतानामतिक्रमादिष्वप्याशङ्कायां सहसाकारे चैतदेव प्रायश्चित्तं नान्यत्परिकल्पनीयमिति । भाष्यकृता सहसाकारासंके अपि योजिते । उएह गणाण वज्झतो इति व्याख्यानयन्नाह (नवहेत्यादि) यस्याचार्यस्य मतेन अनवस्थितपाराञ्चितयोरैक्यविवक्षणान्नवधा नवप्रकारा विशोधिः प्रायश्चित्तं तस्य आद्यप्रायश्चित्तद्वयस्योपरि यद्वर्त्तते प्रायश्चित्तं तत्पञ्चामुपरितनानां वाह्यमेव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । ततः उएह गणाणवज्झत्तो इति तदुभयं प्रायश्चित्तं प्रतिपत्तव्यमिति । उक्त तदुभयार्हं प्रायश्चित्तम् ।

उमच्छ–वञ्च–धा० उपालम्भे, वञ्चेर्वेहववेलवजूरवोमच्छाः । ८ । ४ । ९३ । इति वञ्चेरुमच्छादेशः । उमच्छइ वञ्चइ वञ्चति । प्रा० ।

उमा–उमा–स्त्री० शिवपत्न्याम्, को० । अवसर्पिण्यां द्वितीयभद्रदेववासुदेवमातरि, स० । आव० । उज्जयिन्यां प्रद्योतस्य राज्ञोऽन्तःपुरे गणिकायाम्, आव० ४ अ० । आ० चू० । (तया महेश्वरनामा खेचरो भृत इति सिल्ला शब्दे विकाशमेष्यति)

उमाल्ल-(लय) निर्माल्य–न० निर-मल्ल-ण्यत् । निष्पती उत्पर्ती मल्यस्थोर्वा ८ । १ । ३८ । इति निर इत्येष शब्दो माल्यशब्दे परे वा उदूरूपमापद्यते । देवादिदत्ते तद्विसर्जनोत्तरमुच्छिष्टे द्रव्ये, 'उमालं निम्मालं उमालय वहइ' प्रा० ।

उमासाइ–उमास्वाति–पुं० तत्वार्थसूत्राकारके स्वनामख्याते वाचकप्रवरे, अस्य च माता उमा नाम्नी पिता च स्वातिनामेति तयोर्जातत्वादयमुमास्वातिनामा प्रसिद्धिमगमत् । कौषीतकिगोत्रोऽय ब्राह्मण आसीत् प्रवाचकान्वयानुसारेणाऽय घोषनन्दिक्षमाश्रमणशिष्यशिवश्रीनाम्न आचार्यस्य शिष्य आसीत् । वाचनाचार्यान्वयानुसृत्या मुन्दपादशिष्यमूलवाचकस्य शिष्य आसीत् । अयमाचार्योऽस्मदीय इति श्वेताम्बरा दिगम्बराश्च विवदन्ते । तत्र दिगम्बरमतेन वीरमोक्षात् (१०१) वर्षेऽय विद्यमान आसीत् न्यग्रोधिकानाम्नि ग्रामेऽयं जन्म लेभे सरस्वतीगच्छेऽय षष्ठः कुन्दकुन्दाचार्यलोहाचार्ययोर्मध्यगो जातः अनेन तत्वार्थसूत्रं पाटलिपुत्रनगरे विरचितम् । तदुपरि टीकाभाष्ये च स्वेनैव कृते अन्याप्येका टीका विक्रमसमकालिकेन सिद्धसेनार्केण तत्र कृता जै० इ० । तथाचाह भगवानुमास्वातिवाचकः सम्यग्दर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इति । न० । एकस्थानमुकथ श्रावको भवतीत्युमास्वातिवाचकवचनात् । क्षा० १६ अ० । उक्तं चोमास्वातिधावकेन "हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमिति" आव० ४ अ० । वाचकः पूर्वधरोऽभिधीयते स च श्रीमानुमास्वातिनामा महातार्किक प्रकरणपञ्चशतीकर्ताचार्यः सुप्रसिद्धोऽभवत् पञ्चा० ६ विव० ।

उम्मग्ग–उन्मग्न–त्रि० उद्-मस्ज्-क्त । ऊर्ध्वं जलगमन कुर्वाणे, प्रश्न० ३ द्वा० ।

उन्मज्जन–न० उन्मज्यते अनेनेति उन्मज्जनम् । रन्ध्रे,"उम्मग्गं सि णो लभति" । आचा० १ श्रु० ३ अ० । जलादूर्ध्वगमने, "उम्मग्गलद्धुं इह माणुसेहिं, णो पाणिणं पाणिसमारभेज्जा" इह मिथ्यात्वादिशैवालाच्छादितसंसारह्रदे जीवकच्छपः श्रुतिश्रद्धासंयमवीर्यरूपमुन्मज्जनमासाद्य लब्ध्वाऽन्यत्र संपूर्णमोक्षमार्गसम्भवान्मानुष्येष्वित्युक्तम् । आचा० । १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

उन्मार्ग–पुं० मार्गः क्षायोपशमिको भावस्तमतिक्रान्त उन्मार्गः । क्षायोपशमिकभावत्यागेनौदयिकभावसंक्रमे, " जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो " ध० २ अधि० । आव० । आ० चू० । निर्वृतिपुरीं प्रति अपथि वस्तुतत्वापेक्षया विपरीतश्रद्धानज्ञानानुष्ठाने, "मग्गे उम्मग्गसद्धा" स्था० १० ठा० । असन्मार्गे, ग० १ अधि० । परसमए अणट्ठे अहेऊ असब्भावे अकिरिए उम्मग्गे " उन्मार्गत्वं परस्परविरोधानवस्थासद्भाकुलत्वात्तथाहि– "न हिंस्यात् सर्वभूतानि, स्थावराणि चराणि च । आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः" इत्याद्यभिधाय पुनरपि–"षट् सहस्राणि युज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभि" रित्यादि प्रतिपादयन्तीति । अनु० । ससारावतरणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आचा० । ऊर्ध्वे मार्गे उन्मार्गे । रन्ध्रे,"उम्मग्गसि णो लभति" आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० उद्गतो मार्गोऽन्मार्गः । अकार्यकरणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

उम्मग्गगय–उन्मार्गगत–त्रि० उन्मार्गेण ससारावतरणरूपेण गतः प्रवृत्त उन्मार्गगतः । ससारे एव प्रवृत्ते मोक्षमार्गे उद्धस्ते, "सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती । उम्मग्गगता दुक्खं, घायमे सति त तहा " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

उम्मगजला– उन्मग्नजला–स्त्री० उन्मज्जति शिलादिकमस्यामिति उन्मग्न कुडङ्गुलमिति वचनात् अपादाने क्तप्रत्ययः । उन्मग्न जल यस्यां सा तथा । तमिस्रगुहायां बहुमध्यदेशभागे वहन्त्यां स्वनामख्यातायां नद्याम् ॥

तत्स्वरूपं यथा ॥

तीसे णं तिमिसगुहाए बहुमज्झदेसभाए एत्थणं उम्मगगणिमग्गजलाउ णामं दुवे महाणईओ पण्णत्ताओ जाउ णं तिमिसगुहाए पुरच्छिमिल्लाओ कडगाउ पवूढाओ समाणी पञ्चच्छिमेणं सिंधु महाणदीं सिमप्पेंति॥

तस्यास्तमिस्रागुहायाः बहुमध्यदेशभागे दक्षिणद्वारतस्तो इकसमेतैकविंशति योजनेभ्यः परतः उत्तरद्वारतस्तोङ्कसमेतैकविंशतियोजनेभ्योऽर्वाक् च उन्मग्नजलानिमग्नजलानाम्न्यौ नद्यौ प्रज्ञप्ते । ये तमिस्रागुहायाः पौरस्त्यकटकाद्भित्तिप्रदेशात् प्रव्यूढे निर्गते सत्यौ पाश्चात्येन कटकेन विनिर्गतेन सिन्धुमहानदीं समाप्नुतः प्रविशत इत्यर्थः । नित्यप्रवृत्तत्वाद्वर्तमाननिर्देशः ।

अथानयोरन्वर्थं पृच्छन्नाह ॥

से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ उम्मग्गणिमग्गजलाओ महाणईओ ? गोअमा ! जाणं उमग्गजलाए महाणईए तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा आसे वा हत्थी वा रहे वा जोहे वा मणुस्से वा पक्खिपइ ताओ एं उम्मग्गजला महाणई तिक्खुत्तो आहुणिअ २ एगंते थले पक्खिवइ जणं णिमग्गजलाए महाणईए तणं वा जाव मणुस्से वा पक्खिपइ तणं णिम्मग्गजला महाणई तिक्खुत्तो आहुणिय २ अंतो जलंसि णिमज्जावेइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ उम्मग्गणिम्मग्गजलाओ । महाणईओ ॥

अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते उन्मग्ननिमग्नजले महानद्यौ गोतम ! यत् णमिति प्राग्वत् उन्मग्नजलायां महानद्यां तृणं वा पत्रं वा काष्ठं वा शर्करा वा इपत्खपरू अत्र प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । अश्वो वा हस्ती वा रथो वा योधो वा सुभटः सेनायाः प्रकरणाच्चतुर्णां सेनाङ्गानां कश्चन मनुष्यो वा प्रक्षिप्यते तत्तृणादिकं उन्मग्नजलामहानदीकृतांस्त्रीन् वारान् आधूय २ भ्रमयित्वा २ जलेन सहाऽस्याहत्येत्यर्थः एकान्ते जलप्रदेशाद्द्वीयसि स्थाने निर्जलप्रदेशे (पक्खिवइत्ति) छर्दयति तीरे प्रक्षिपतीत्यर्थः । तुम्बीफलमिव शिला उन्मग्नजले उन्मज्जति अत एवोन्मज्जति शिलादिकमस्मादिति उन्मग्न कृद्बहुमिति वचनात् अपादानेक्तप्रत्ययः । उन्मग्नं जलं यस्यां सा तथा । अथ द्वितीयानामार्थो । तत्पूर्वोक्तं वस्तुजातं निमग्नजला महानदी त्रिःकृत्व आधूयाधूय अन्तर्जले निमज्जयति शिलेव तुम्बीफलं निमग्नाजले निमज्जतीत्यर्थः । अत एव निमज्जयत्यस्मिन् तृणादिकमखिलम् वस्तुजातमिति निमग्न बहुलवचनादधिकरणे क्तप्रत्ययः । निमग्नं जलं यस्यां सा तथा । अथैतन्निगमयति सेतेणट्ठेणमित्यादि सुगमम् । अनयोश्च यथाक्रममुन्मज्जननिमज्जकत्वे वस्तुस्वभाव एव शरणं तस्य चातर्कणीयत्वात् । इमे च द्वे अपि त्रियोजनविस्तारगुहाविस्तारायामे अन्योन्य द्वियोजनान्तरे बोध्ये अनयोर्यथा गुहामध्यदेशवर्तित्वं तथा सुखाववोध्या स्थापना दृश्यते । जं० ३ वक्ष० ।

उमग्गट्ठिय-उन्मार्गस्थित-त्रि० नत्सूत्रादिप्ररूपणापरे, "भट्ठायारो सूरी, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरी । उम्मग्गट्ठिओ सूरी, तिण्णि वि मग्ग पणासेंति" ग० १ अधि० । (आयरियशब्दे विवृतिरुक्ता)

उम्मग्गणयण-उन्मार्गनयन-न० उन्मार्गप्रापणे, "यद्भाषित मुनीन्द्रै, पाप खलु देशनापरस्थाने । उन्मार्गनयनमेतत्" षो० १ विव० ।

उम्मग्गदेसणा-उन्मार्गदेशना-स्त्री० उन्मार्गस्य भवहेतोर्मोक्षहेतुत्वेन देशना कथनमुन्मार्गदेशना ॥ कर्म० ॥ सम्यग्दर्शनादिरूपभावमार्गातिक्रान्तधर्मकथने, एष दर्शनमोहनीयकर्मणो हेतुः । स्था० ४ ठा० । ध० ॥

नाणाइ अदूसिंतो, तव्विवरीयं तु उवदिसइ मग्गं ।
उम्मग्गदेसओ एस, आय अहितो परेसिं च ॥

ज्ञानादीनि पारमार्थिकमार्गरूपाणि प्ररूपयन् तद्विपरीत ज्ञानादिविपरीतमेवोपदिशतीति मार्गे धूमसत्यन्धिनमेष उन्मार्गदेशकः अयं चात्मन परेषां च बोधिवीजोपघातादिना अहितः प्रतिकूल इत्येषा उन्मार्गदेशना । वृ० १ उ० ।

पुच्छंताणं धम्मं, तं पिउ न परिक्खिउ समत्थाण ।
आहारमेत्तलुद्धा, जे उम्मग्गं वइस्संति ॥
सुगई हणंति तेसिं, धम्मियजणनिंदणं करेमाणा ।
आहारपसंसया निंति, जिणदोग्गईबहुयं ॥

गुरुभिस्ताव... एव धर्मतत्वप्रकाशनशीलैर्भाव्यं यत्पृच्छता मित्यत्रापि शब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्पत्तः पृच्छतामपि प्रश्नशीलानामपि को धर्मः स्वर्गापवर्गसाधनमपि परीक्षितुमसमर्थानां मुग्धबुद्धीनामित्यर्थः । ये हि किल विशिष्टा भवन्ति ते विशेषतो मुग्धधीवन्धनं कुर्वन्ति अतोऽतिक्लिष्टताख्यापनार्थं परीक्षमाणमित्युक्तम् । ये कथ भूता आहारमात्रलुब्धा शिवसुखाभिलाषविमुखा । इहलोकसुखमात्रप्रतिकरूत्वेन महामेते विवेकिन सन्त आधाकर्मादिदोषदूषितमाहारवस्त्रपात्रवसत्यादि न दास्यन्त्यत उन्मार्गमुपदिशन्ति शास्त्रोक्तसन्मार्गाद्दुत्तार्य तथा विप्रतारयन्ति यथा ज मान्तरमपि दासादिवद्यर्थिकचित्कारिणो भवन्ति । ते किं तेषामुपकारिणो भवन्ति नेत्याह । घ्नन्ति नाशयन्ति कां सुगतिं स्वर्गापवर्गादिकां केषां सम्यगजानानानां परमगुरुरिव धर्मबुद्ध्याराधयतां तेषामपि सुगतिनाशो भवति । तथाहि यथा कश्चित्केपाचिदिह लोकपरलोकविरुद्धकारिणां मन्त्रयोगचूर्णादिना वशीकृत स तस्य परमबन्धुरबुद्ध्यापि सर्वस्व समर्पयन् प्राग्भवति एवमत्रापीति भावार्थः । पुनरपि कथंभूता गुरुकर्मतया धार्मिकजन संविग्नगीतार्थं यथाशक्त्यानुष्ठानपरायणमपि निन्दयन्तो हीलयन्तः न केवल तेषां स्वरुचिविरचिताचारान् विधाय देशनावशीकृतानां सुगतिं घ्नन्ति । अपिच दुर्गतिं नयन्ति प्रापयन्ति 'आहारपससासुत्ति' तृतीयार्थे सप्तमी तत आहारप्रशंसादिभिराहारादिदानप्रशंसनैः यदुत यदि भवदीयेष्वपि गृहेषु सकलसङ्घाधारभूतेषु समस्तसपङ्कपेतेषु कलिकालकवलितशक्तियो न प्राप्स्यन्ति आहारादिं तर्हि क यास्यन्ति अन्वेषणीयविनागान्वेषण कार्यलक्षम । ये तुच्छका वराका अल्पशक्तयो भवन्ति तेऽल्पेन व्यालजेनात्मान मुनयो मोचयन्ति इत्येवमादिवचोभिरुल्लास्योत्प्रास्य मुखमाङ्गलिका इव सकलशास्त्रविरुद्धे आधाकर्मादिदोषदूषिता द्याहारादिदाने प्रवर्तयन्ते बहुक जन लोक श्रावक यया प्ररूपं च । इयमत्र भावना । ते हि दुर्गतिगर्तप्रपतनाभिमुखीभूताः सन्तो यथा कथंचिदेवाहारार्थपरान् विप्रतार्य दुर्गतौ पातयन्तीति गाथार्थः । ये तावदिहलोकस्यैवैककस्य वाञ्छावन्तः परप्रतारणप्रवणास्तेषामियं गतिः । ये तु सर्वशक्तिविकलतया सम्यगनुष्ठान कर्तुमशक्तास्तथापि मनाक् शुद्धचित्ततया परलोकमपि वाञ्छन्ति तैः किं कर्तव्यमित्याह ॥

होज्जऽक्खवसाणपत्तो, सरीरदेबल्लया य असमत्था ।
चरणकरणे असुद्धे, सुद्धं मग्गं परूवेज्जा ॥

भवेद्व्यसनप्राप्तः इन्द्रियपरायत्ततास्वीकृतत्वेनोन्मादवान् तत्प्राप्तो व्यसनप्राप्तः । शरीरं वपुस्तस्य दौर्बल्यं दुर्बलता शरीरदौर्बल्यं तयाऽसमर्थोऽशक्तः यथावस्थितचरणकरणं कर्तुमित्यध्याहारः । अतोऽशुद्धेऽपि चरणकरणे परलोकार्थी शुद्ध एव मार्गं प्ररूपयेदिति । स हि सन्मार्गप्रकाशनात् पुनर्मार्गं प्राप्नोतीति गाथार्थः । यस्तु मनाक् संविग्नः सोऽपि नीत्या परान्वादिनो यथावस्थितं न कथयति तस्य दोषं दर्शयन्नाह ।

परिवारपूयहेऊ-पासत्थाण च णाणुवत्तीए ।
जो न कहेइ विसुद्धं, तं दुल्लहबोहियं जाण ॥

परिवारं ममात्मव्यतिरिक्तस्ततः परिवारेण पूजा परिवारपूजा अथवा परिवारस्य पूजा परिवारपूजा ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात् तस्या हेतुर्निमित्तं पार्श्वे सम्यक्त्वं तस्मिन् ज्ञानादिपार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थास्तेषामनुवृत्तिरनुवर्तनं तया यो न कथयति न प्रकाशयति विशुद्धं सर्वविशुद्धं सर्वविदुपदिष्टं यथावस्थितं मुक्तिमार्गमाचार्यं साधुं वा दुर्लभबोधिकं जानीहि । अयमत्र भावार्थः । यो हि मनागसंविग्नोऽपि परिवारापेक्षया सम्यक् साध्वाचारं न कथयति नायमन्यथा प्रवृत्तः सम्यक्त्वकथनेन प्रकटो भविष्यति ततोऽसमञ्जसरोपो भविष्यति ततः शरीरादिस्थितिं न करिष्यति पूजा वा न भविष्यतीति हेतोः पार्श्वस्थानुवृत्त्या वा यद्भुत नामैते सम्यक् कथयतः प्रकोपं यास्यन्त्यतः वरमात्मसाक्षिसुकृतं कृतमिति । एते चानवर्तिता भवन्त्विति स्वबुद्ध्या सुन्दरमपि विदधाना संसारसागरे एव भ्रमन्ति यत उक्तम् " जिणाणाए कुणताणं, नूणं निव्वाणकारणं । सुंदरं पि य बुद्धीए, सव्वं भवनिबंधनं ॥ जे मयग्रारम्भरया, ते जीवा होंति अप्पदोसयरा । ते उ महापावयरा, जे आरंभं पसंसति " य एवमधः परमाराध्य कालिकसूरिभिरिव प्राणप्रहाणेऽपि परानुवृत्त्या नैवानुवृत्त्यापि नैवान्यथा भाषणीयमिति गाथार्थः । भगवत्कालिकसूरिकथानकं चैवम् । " अत्थि इहेव खेत्ते तुरिमिणीए नयरीए जियसत्तू नाम राया तीए वि नयरीए अन्नो रुद्दाइमाहणीए सुओ दत्तो माहणसु उवरि वसइ सो य न याइ एसु सत्तसु महावसणेसु पसुत्तो । किं बहुणा सव्वहा विरुद्धायारसमायरणसीलो अहंतया भवियव्वयावसेण जाओ रायाणो सजाओ सव्वहाइ पच्चासन्नत्तणेण जाओ अन्नंसि पि सामंतमण्डलीयए सुहबहुमओ ततो दाणसम्माणाइणा उवलोभिऊण कओ सव्वो वि राइणो परियणोवासे । ततो गहिऊण जियसत्तुमूलरायाणं बंधित्ता कट्ठचियचारगागिहे जाओ सयं चेव सयं पहोराया एव रज्जुधराइदस्स भवियव्वयावसेण तत्थ समागयक्कमेण विहरमाणा साहसया बहुसीससमन्निया जुगप्पहाणो अज्जकालगनामए सूरिणो नाया य दत्तमायाए भद्दाए। जहा वच्छ सपए एत्थ मे भाया तुज्झ वि य माउलओ अज्जवि कालगसूरी समागओ ता तं वंदाहि तेण वि तह त्ति पडिसुय गतो बहुपरिवारो सूरिसयासे दिट्ठा य सूरिणो काऊण उचिओवयारउवविट्ठो जहारिहासणे भयवया नाऊण वक्कायरं सायारो सूरीहिं सामंतेण पडिवण्णो उ सिट्ठजणसमायारो। जहा होयव्वं करणापहाणमणसा सव्वेण धम्मत्थिणा भासेयव्वमणिंदियं हियकरं सव्वं वयाय सया काय सव्वजियाण सोक्खजणगट्ठाणेसु दायव्वय सव्वेणावि जिएण रायसयय वेयं हि पच्चप्पणोदीणाईणमणिंदिय पइदिणं गेहाणुसारेण उदेय दाणमेहेह वेयमणह जीवाण सव्वेसिएण अधतं हियमेव सव्ववयणं भासति जं जतुणो तं जाणाहि नरीससव्वमणह धम्मस्स समाहग एमाइसव्वसाहारणदेसणासवणपज्जंते भवियव्वयावसवत्तिणा दत्तेण पुच्छिय कहेहि किंजण्णाण फलं । तओ भगवया अज्जकालगसूरिणो विचिंतिय नूणं एस पउट्ठो वक्कबुद्धी जं मे सुत्ताण कमेपए विरोहिपए विग्गप्पिऊण भणियं तुमं महाराय ! धम्ममूलाइ पुच्छसि " करुणा सव्वजीवेसु, सव्वं वायाए भासणं । परस्स दारगं चाउ, परिग्गहविवज्जणा ॥ एमाइ धम्ममूलाइ, कोहाईण य वज्जणं । सव्वपासंडियाण पि, एय सम्मं पयंसया" ततो पुणो वि पुच्छिय वेयविहियविहाणेण विहियजण्णाण किं फलं ? सूरीहिं भणियं किं महाराय ! विहिविहिसुहाणुबंधि पुन्नफलं साहेमि जहा- "विहिजीवदयाइजुया, जीवा स सुवज्जिऊण सुहयम्मि। पुन्नपावत्तयरा, नरसुरविसोक्खविउलाइ " पुणो वि पुच्छिय जन्नाण किं फलं सूरिणा भणिय पावविवायं पुच्छसि नरयपहो पावविवागो " णरवई देइ दुहं, नरयतिरियजोणीसु हीणासु । हीणसुरनरगईसु वि ता तहेव इह दुहाण ॥ नरयाण पुणो मग्गो, सहरम्भपरिग्गहो य जियघाओ। कुणिमाहारो अविरइ, तिव्वकसाया पमाओ य " ततो दत्तेण कुद्धेण भणियं । भो भो समणा किं तुमं सम्मं न सुणसि कन्नेसु । किं वा अकण्णसुयं करेसि किं वा न याणसि जन्नाण फलं । जं फुडं न साहेसि ततो सूरीहिं भणियं जइ फुडं ता नरयगमणमेव फलं तओ रोसारुणलोयणेण पवय किमहं नरगं गमिस्सामि अणेगजन्नकरणा वि भयवया भणियं कया इओ य सत्तमे दिणे कुम्भियाए पइज्जतो सुणएहिं खज्जंतो मरिहिसि । पुणो वि पुच्छिय एत्थ वि को पच्चओ भयवया पराप्पियतो तम्मि दिणे विट्ठा मुहं पविसिहि पुणो वि दत्तेण भणियं तुमं के चिरं अओ दिणाओ जीविहिसि ? सूरीहिं साहियं अणेगाइ वरिसाइ दिवं च गमिस्सामि । ततो दत्तेण चिंतियं अइकोहमुवागराण किं पट्ठवेमि सपय चेव जम्ममन्दिरं देसेमि दुव्वयणस्स फलं पइविठामि ताव कालावहिं जाव पच्चाअलियवाइए भणिऊण विहिइजाइणा पुव्वं विणिवाइस्सं ततो मा एस समणगो कहिं पि गच्छहि ति ततो मोत्तूण निथपुरिसे रक्खा । अप्पणा समागओ सए गिहे तओ चिंतियं चेट्ठामि ताव अंतेउरे सत्तदिणाणि तओ कह मे विट्ठा मुहं पविसइ तओ पविट्ठो अंतेउरे सोयाविया सव्वे वि रायमग्गा तओ सत्तमे दिणे भवियव्वया वसेण रायपह पवन्नस्स जाओ वेगो न सकेइ अ तओ गतुं ततो तत्थ काऊण वेगभंग ढक्किउ पुप्फेहिं अप्पणावि भयतुओ लहु लहुं विणीहरिओ रायपहाओ । इओ य सो दत्तो दुम्मई विमूढमणो गया सत्तदिवसत्ति कलिऊण तम्मि चेव सो नीहारिओ महया तुरयचडयरेण जाव रायपहमागओ ताव सो चेव विठा तुरयखुराहया पविठा मुहे तओ नायं जहा निच्छएण मरिज्ज इतो निगिन्हामि तं चेव पडिसत्तू जियसत्तू अउनिकट मे रज्ज होहिं एय चिंतिऊण जाव नियतो तो ततो गहिओ सेससामंतेहिं मा भिन्नरहसत्ति काऊण रायाए विणिवाइऊण अम्हे वि विणिवाइस्सइ ततो नीहारिऊण मूलरायाण कठागिहाओ अह सिंचिऊण रायपए समप्पिओ दत्तो बंधिऊण तेण वि खिवाविऊण सहसुणएहिं कुम्भियाए पज्जालिओ भीसणो जलणो खज्जतो य सुणएहिं महावेयणाभिभूओ रुद्दज्झवसायपरिगओ मरिऊण जाओ नारओ । सूरी वि सायसउत्ति काऊण पूइओ नरवइणा जहा एएण भयवया पाणपरिव्वायसभवे वि न अन्नहा भासियं एवं अन्नेणावि सिवसुहत्थिणा जहठिय जिणवयणं भणियव्वं कालगायरिय कहाणयं सम्मत्तं"। ननु यद्येवमन्यथा कथने दण्डो भवति तर्हि किमित्यन्यथा कथ्यते इत्याह ।

मुहमहुरं परिणइमं-गुलं च गिरहंति दिंति उवएसं ।

महुकडुयं परिणइ सुं-दरं च विरलव्वि य भणंति ॥२९॥

मुखे मधुरं मुखमधुरं यथा धार्मिकस्त्वमसि सत्पुरुष इति वा एवविधं वचन न हि तद्गुणविकलस्यापि मनः प्रह्लादयति परिणतौ मङ्गलमसुन्दरं परिणतिमङ्गलं चशब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्सतोऽसुन्दरमपि भवान्तरे कर्णसुखदत्वात् गृह्णन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। ददति च परचेतोवृत्तिरञ्जनप्रवणपुरुषाणां प्रायः प्रभूतत्वात् मुखकटुकं परिणतिसुन्दरम् । चशब्दस्य पुनः शब्दार्थत्वात्ततो विरला एव पुनर्भणन्ति प्रतिपादयन्ति । अयमत्र भावार्थः । को हि नामात्मनः कटुकभाषित्वमप्यङ्गीकृत्य यथावस्थितोभयलोकहितोपदेशदाने प्रवर्त्तते । प्रायेण हि प्रभूततराः स्वार्थाभिमता एव दृश्यन्त एवेति गाथार्थः ।

यद्येव कर्णकटुकमुभयलोकहितमपि विरला एव गृह्णन्ति ततः किं तदुपदेशेनेत्याह-

भवगिहमज्झम्मि पमाय-जलणजलियम्मि मोहनिद्दाए ।

उद्वइ जो सुयंतं, सो तस्स जणो परमबंधू ॥ ३० ॥

भवः संसारः स एव गृहं भवगृहं तस्य मध्य भवगृहमध्यं तस्मिन् प्रमादो मद्यादिरनेकधा स एव ज्वलनो वैश्वानरः तेन ज्वलितो दीप्तस्तस्मिन् प्रमादज्वलनज्वलितस्तस्मिन् । मोहनीयमेव निद्रा हिताहितविवेकवैकल्यकारकत्वात् तया स्वपन्तं स्वापं कुर्वन्त यः कश्चिदनुपकृतः परहितरतः उत्थापयति सदुपदेशदानेन प्रमादव्यवहितानुष्ठाने च प्रवर्त्तयति स तस्य प्रमादस्यापवर्ती जनो लोकः परवन्धुरात्यन्तिकैकान्तिकबन्धुरिति गाथार्थः ॥ अत एव सदुपदेशदानतः परमबान्धवा भवन्ति अत एव भावतस्ते पूजनीया इत्याह-

जइ वि हु सकम्मदोसा, मणयं सीयंति चरणकरणेसु ।

सुद्धपरूवगा तेण, भावओ पूयणिज्जंति ॥ ३१ ॥

यद्यपि स्वकर्म्मदोषाच्चारित्रावरणोदयान्मनाक् सीदन्ति मनागशुद्धानुष्ठाना भवन्ति चरणकरणयोर्वक्ष्यमाणस्वभावयोः शुद्धप्ररूपकाः सम्यग्मार्गावभाषकास्तेन ते भावतोऽपि मोक्षनिमित्तमपि पूजनीया इति । अयमत्र भावार्थः । ये मिथ्यात्वावष्टब्धचेतसो मुग्धधीवन्धनपरायणा लोकरूढ्या बहुश्रुता अपि सम्यक् क्रियावादिनोऽपि परशास्त्राभिप्रायपराङ्मुखास्ते विषाग्निहिंसिहादिवत्परित्याज्याः मार्गोच्छेदकत्वेन संसारकारणत्वात् । ये तु स्वयं कर्म्मपरतन्त्रतयापि मोक्षसुखाभिलाषितया मनाक् सीदन्तोऽपि चरणकरणयोर्भवभ्रमणभीरुतया यथावस्थितशिवमार्गप्रकाशकाः स्वानुष्ठानापकृपातिनस्ते तृतीयमार्गानुयायित्वाद्भावतः परमार्थतः पूज्या इति गाथार्थः । यत एवं क्रियाविकलोऽपि श्रमणमार्गप्ररूपको भावतोऽपि पूज्यते कुग्राहग्रस्ततयोन्मार्गप्ररूपकः क्रियावानपि सर्प्पादिवत्परित्यज्यते ततो विवेकवता किमुचितमित्याह ।

एवं जिया आगमदिट्ठिदिट्ठ-सुनायमग्गा सुहमग्गलग्गा ।

गयाणुगामीण जणाण मग्गे, लग्गंति नो गड्डरिकापवाहे ॥

एवमिति पूर्वकथितप्रकारेण अत एव शुभमार्गलग्ना जीवाः प्राणिनः सदा सदागमावदातबुद्धयः किं न लगन्ति न लीयन्ते क गड्डरिकाप्रवाहे कथम्भूता आगम आप्तवचन स एव दर्शितहिताहितपदार्थप्रकाशकत्वादागमदृष्टिः । तया दृष्टमवलोकितमागमदृष्टिदृष्टं तेन शोभनप्रकारेण ज्ञातो मार्गो ज्ञानादिको यैस्ते आगमदृष्टिदृष्टसुज्ञातमार्गाः । क मार्गे केषां जनानां कथम्भूतानां गतानुगामिनाम् । गतं गच्छन्तीत्येव शीला गतानुगामिनस्तेषाम् । अयमभिप्रायः । ये हि सुविहितसपर्कात्सम्यगाप्तमोक्षमार्गा भवन्ति तान् मुक्त्वा मिथ्यात्वमोहमोहितमतिगतानुगतप्रवर्त्तितमार्गे गड्डरिकाप्रवाहकृत्यं नाङ्गीकुर्वन्त्यपि तु सन्मार्ग एव भजन्तीति वृत्तार्थः ॥ नन्वित्थं भूताः केचन एवावदातबुद्धयः स्वल्पा दृश्यन्ते प्रभूततराः पुनः प्रवाहानुयायिन इति किमत्र तत्त्वमित्याह "नेगतेण चिय" अथवा बहुतरतमाः शास्त्रगर्भार्थवेदिनोऽप्येवविधप्रवृत्तिमन्त एव दृश्यन्ते लोकेऽप्येवंविधमेव श्रूयते यथा "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इत्याशयवतः शिष्यस्य शिक्षार्थमाह-

नेगंतेणं चिय लो-गनायसारेण एत्थ होयव्वं ।

बहुमुंडाइवयणाउ, आणाइत्तो इह पमाणं ॥ ३३ ॥

नैकान्तेनैव लोकज्ञातसारेण भाव्यम् । अत्र धर्म्मविचारे तस्य हि विचित्राभिप्रायणानेकरूपत्वात् तदप्रवृत्तौ हेतुमाह बहुमुण्डादिवचनात् यदिह बहुवचनप्रवृत्तिरेव गरीयसी तदा नेदमागमवचनमभविष्यत्तद्यथा "कलहकरा डमरकरा, असमाहिकरा अनिव्वुइकरा य। होर्हिति भरहवासे, बहुमुंडे अप्पसमणा य" इत एतस्माद्धेतोराज्ञैवेह प्रमाणं शास्त्रमेव प्रमाणमिति गाथार्थः । यदि पुनः प्रमाणं द्रव्यपूजया मिथ्याभिमाना ज्ञानितया वा लोकप्रवृत्तिरेवाङ्गीक्रियते ततोऽन्यदर्थान्तरमापद्यत इत्याह-

बहुजणपवित्तिसित्तं, इत्थं तेहिं इह लोइओ चेव ।

धम्मो न उज्झियव्वो, जेण तहिं बहुजणपवित्ती ॥३४॥

बहवश्च बहुजनास्तेषां प्रवृत्तिरेकान्तेनागमनिरपेक्षितया स्वरुचिविरचितानुष्ठानस्यैव बहुजनप्रवृत्तिमात्रं तदिच्छद्भिरिह धर्म्मविचारे लौकिक एव धर्म्मो नैव परित्याज्यः स्यात् येन कारणेन तत्र तस्मिन् लौकिके धर्मे बहुजनप्रवृत्तिप्रभूतीनां प्रवृत्तिदर्शनादिति गाथार्थः । यत एवाज्ञाप्रमाणमत एवाह ॥

ता आणाणुगया जं, तं चेव बुहेण सेवियव्वं तु ।

किमिह बहुणा जणेणं, हंदि णेस अत्थि णो बहुया ॥३५॥

यस्मात्कारणात् बहुजनप्रवर्त्तमानं सेवनीय ता तस्मात्कारणादाज्ञानुगत यत्तदेव बुधेन जिनाज्ञापरिपालनफलवेदिना सेवनीयमासेव्यमित्यर्थः । तुशब्दश्चैवकारार्थो योजित एव किमिति न किञ्चिदित्यर्थः । इहैव धर्म्मविचारे परलोकचिन्तायां वा बहुना जनेन बहुजनोन्मार्गप्रवर्त्तकेनेत्यर्थः । हन्दीत्युपदर्शने ततः प्रसिद्धमेतत्तेनैव बहवः श्रेयोर्थिनो मोक्षार्थिनः । सम्प्रति काले बहवो मुण्डाः अल्पाश्च श्रमणा इति वचनादिति गाथार्थः । इत्यनेकधा विधिमार्गसमर्थनमाकर्ण्य मिथ्यात्वाहतसहसोद्बोधलोचना यत्र न्यन्ते तदाह । अथवा स्वयं ये सन्मार्गगमनाप्रवणाः इत्य च सन्मार्गप्ररूपणामाकर्ण्य मुग्धबुद्धिबन्धनार्थं यद्वदन्ति तदाह-

दूसमकाले दुलहो, विहिमग्गो धम्मि चेव कीरंते ।

ता जायइ तित्थवेओ, केसिं चिय कुग्गहो एसो ॥ ३६॥

दुःषमारूप कालो दुःषमाकालस्तस्मिन् तद्भावे दुरापः स्वकर्म्मपरिणतेरुन्मार्गप्रवृत्तलोकाच्चा विधिमार्गः शास्त्रोक्तानुष्ठानप्रवृत्तिरूपः तस्मिंश्च क्रियमाणे विधीयमाने जायते सपद्यते तीर्थोच्छेदः शास्त्रोक्तानुष्ठानवतामत्यल्पत्वादितरेषां चातिबहुत्वाद्विलयः । तादृग्विधान च क्वापि कथञ्चिदेव सद्भावादिति केषांचित्कुधीः । तादृग्विधान च क्वापि कथञ्चिदेव सद्भावादिति केषांचित्कुग्रह एष इति कुग्रहता चैषामतोऽवसीयते यतः सदनुष्ठानसाध्यमपि मोक्षमसदनुष्ठानेन प्रकल्पयन्ति । नहि नाम सुवर्णकलशमपि मोक्षमसदनुष्ठानेन प्रकल्पयन्ति । एतदपि कुतोऽवसीयत इत्याह ॥

जम्हा न मोक्खमग्गं, मोत्तूणं आगमं इह पमाणं ।

विज्जइ छउमत्थाणं, तम्हा तत्थेव जइयव्वं ॥ ३७ ॥

यस्मान्न नैव मोक्षमार्गे मोक्षे साध्ये मोक्षागम शास्त्रं परित्यज्ये-त्यर्थः । इहेति धर्म्मविचारे प्रमाणमालम्बनमित्यर्थः । विद्यते छद्म-स्थानामतिशयवतां हि यथा कथञ्चित्तेषामतिशयवशात्प्रवर्त्तमाना-नामपि निर्जरालाभ एवावसीयते तत्र इहेति पुनः सर्वथा शास्त्रमेव प्रमाणीकर्त्तव्यम् । तस्मात्तत्रैव यतितव्यमुद्यमः कार्य इति गाथा-र्थः । शास्त्राभिप्रायेणैव संसारमोक्षमार्गप्ररूपणायाह ॥

गिहिलिंगि कुलिंगि य दव्व-लिंगिणो तिन्नि हुंति भवमग्गा ।
सुजइसुसावगसंविग्ग-पक्खिणो तिन्नि मोक्खपहा ॥ ३८ ॥

तत्र गृहमेव लिङ्गं येषां ते गृहलिङ्गिनः राजामात्यप्रकृतिप्रभृतयः कुत्सितं लिङ्गं कुलिङ्गं शिवसुखासाधकं तद्विद्यते येषां ते कुलिङ्गि-नः स्वरुचिविरचितनानाकाराचाराः त्रिदण्डिभौतापसादयः द्रव्य-प्रधानं लिङ्गं तद्विद्यते येषां ते द्रव्यलिङ्गिनः गृहलिङ्गिनश्चेत्यादि द्वन्द्वः गृहिलिङ्गिकुलिङ्गिद्रव्यलिङ्गिनः । एते त्रयोऽपि भवन्ति भवमार्गाः संसारपथाः सुयतयः साधुसमाचारचरणप्रवणाः सु-श्रावकाः सम्यक्त्वाणुव्रतादिसकलकलापोपेताः संविग्नाः सुसाधु-धर्म्मेषां पक्षेण चरन्ति ये ते संविग्नपाक्षिकाः सम्यक् संयमपरि-पालनासमर्था अपि सुयतिपक्षपातेनात्मनिस्तारका इत्यर्थः । पूर्वपदे ते त्रयोऽपि मोक्षमार्गा इति गाथार्थः । कथमेते त्रय एव मोक्षमार्गा नान्ये शेषाः, किमन्यैर्मार्गैरित्याह ॥

सम्मत्तनाणचरणा-मग्गो मोक्खस्स जिणवरुद्दिट्ठो ।
विवरीओ उम्मग्गो, णायव्वो बुद्धिमंतेहिं ॥ ३९ ॥

सम्यक्त्वज्ञानाचरणानि मोक्षमार्गो मोक्षश्च जिनवरोद्दिष्टस्तीर्थ-कृदुपदिष्ट इत्यर्थः । स च सर्वथा सम्यक्त्वादित्रिक एव यतोऽ-त शेष सर्वोऽपि तद्व्यतिरिक्त उन्मार्गः शिवसुखासाधन इति ज्ञातव्योऽवबोद्धव्य बुद्धिमद्भिर्विवेकविद्भिरिति गाथार्थः । दर्श० ॥

उम्मग्गदेसय-उन्मार्गदेशक- पु० ज्ञानादीनि पारमार्थिकमार्ग-रूपाण्यप्ररूपयति । असन्मार्गप्ररूपके, सू० १ उ० । " उम्मग्गदे-सणो मग्ग, नासओ मग्गविप्पडिवत्ती । मोहेण य मोहित्ता, सम्मो-हिं भावणं कुणइ " । ग० २ अधि० ॥

उम्मग्गपइट्ठिय-उन्मार्गप्रतिष्ठित- त्रि० असन्मार्गस्थिते, " भ-यव कहिं लिंगेहिं उम्मग्गपइट्ठियं वियाणिज्जा ग० १ अधि० । (आयरियशब्दे उक्तम्) उन्मार्गगामिनि, " अत्थेगे गोयमा पाणी, जे उम्मग्गपइट्ठिए । गच्छम्मि संवसित्ताणं, भमइ भवपरंपरं " ग० १ अधि० ।

उम्मग्गपडिवण्ण-उन्मार्गप्रतिपन्न त्रि० आश्रितकुदृष्टिशासने, " उम्मग्गपडिवन्नेसव्वदुहनिणट्ठे मिच्छत्तपराभिभूए " उपा० ७ अ० ।

उम्मज्जग-उन्मार्जक- पुं० वानप्रस्थतापसभेदे, उन्मार्जन-मात्रेण ये स्नान्ति । भ० ११ श० ९ उ० । नि० । औ० । कण्ठ-दघ्ने जले स्थित्वा तपः कुर्वन् प्रवर्त्तते । उन्मज्जकः स विज्ञेय-स्तापसो लोकपूजितः " इत्युक्तलक्षणे तापसभेदे, जलादेरुपर्यु-पर्युत्प्लावके, त्रि० वाच० ।

उम्मज्जणिमज्जिया-उन्मग्ननिमग्निका-स्त्री० उत्पतननिपतना-याम्, उत्पतननिपतनकरणे, " अहे उम्मज्जणिमज्जियं करे-माणे देस पुढवीए वज्जेज्जा " स्था० ३ ठा० ॥

उम्मत्त-उन्मत्त- त्रि० उद्-मद्-करणे-क्त । धुस्तूरे, मुचुकु-न्दवृक्षे च, कर्त्तरि-क्त वाच० ॥ धूर्मिते, अष्ट० । मन्मथोन्मा-दयुक्ते, विटे, सू० १ उ० । यक्षादिभिः प्रबलमोहोदयेन वा परवशे, ध० ३ अधि० । इप्ते, ग्रहगृहीते, पिं० । अस्य दीक्षाया अयो-ग्यत्वमुच्यते ॥

उम्माहो खलु दुविहो, जक्खावेसो य मोहणिज्जो य ।
अगणीआलीवणता, आतवयविराहणुम्माहो ॥ ३७८ ॥

जक्खेण आविट्ठो मोहणिज्जकम्मोदएण वा से उम्माहो जातो एते दोवि ण पव्वावेयव्वा । इमे दोसा अगणीए पयावणादि करे-ज्ज पजावणं करेज्ज अप्पाणं परं वा विराहेज्ज । खरियादि-गहणेण वा उड्डाह करेज्जा ॥

छकाए ण सद्दहति, सज्झायज्झाणजोगकरणं वा ।
उवदिट्ठं पि ण गेण्हइ, उम्मत्ते ण कप्पती दिक्खा ॥ ३८० ॥

छक्काये ण सद्दहति सज्झायज्झाणं न करेति अप्पसत्थे मणादिजो-गे करेति पडिलेहणसज्झमादिकारणजोगे ण करेति । अन्नं पि विविधं चक्कवालसामायारीए उवदिट्ठं ण करेति । एवमादिएहिं दोसेहिं उम्मत्ते न कप्पति दिक्खा ॥ नि० चू० ११ उ० । पं० भा० । उन्मादवत्त्वेन मत्तः उन्मत्तो दरमत्तो वा उन्मत्तः । प्रबलमत्ते, ईषन्मत्ते च । नि० चू० १० उ० । उद्धते, वाच० । भरतक्षेत्रे वै-ताढ्यगिरिदक्षिणश्रेणिमण्डने शिवमन्दिरे नगरे ज्वलनशिखस्य-राज्ञोऽङ्गजे, उत्त० १३ अ० ।

उम्मत्तगभूय-उन्मत्तकभूत-पु० उन्मत्तको मदिरादिना वि-प्लुतचित्तः स इव उन्मत्तकभूतो भूतशब्दस्योपमानार्थत्वात् । उन्मत्तककल्पे उन्मत्तक एव वा उन्मत्तकभूतो भूतशब्दस्य प्रकृत्यर्थत्वात् । उन्मत्तके, स्था० ४ ठा० ॥

उम्मत्तजला-उन्मत्तजला-स्त्री० जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वेण शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वहन्त्यामन्तर्नद्याम्, स्था० ३ ठा० । " रम्मए विजए उम्मत्तजला महाणई " रम्यो विजयः पद्मावती राजपूः उन्मत्तजला महानदी । जं० ४ वक्ष० । " दो उम्मत्तजलाओ " स्था० २ ठा० ।

उम्मत्थ-अभि-आ-गम्-धा० । अभिमुखगमने, " अभ्याङोम्मत्थ " ८ । ४ । १६४ । अभ्याङ्भ्यां युक्तस्य गमेरुम्मत्थ इत्यादेशो वा भवति । उम्मत्थइ अब्भागच्छइ । अभ्यागच्छति । अभिमुख-मागच्छतीत्यर्थः । प्रा० ।

उम्माण-उन्मान-न० उन्मीयते तदित्युन्मानम् । कर्षादिके तु-लामाने, ज्ञा० १ अ० । स्था० । कल्प० । भ० । तद्विषयं यत्त-दपि उन्मानम् । खण्डगुडादिधरिमे, स्था० १० ठा० ।

अथोन्मानमभिधित्सुराह ।

से किं तं उम्माणे ? जण्णं उम्मिणिज्जइ तंजहा अद्धक-रिसो करिसो पलं अद्धपलं अद्धतुला तुला अद्धभारो भारो । दो अद्धकरिसो करिसो दोकरिसो अद्धपलं दो अद्धपलाइं पलं पंचपलसइआ तुला दसतुलाओ अद्धभा-रो वीसं तुलाओ भारो । एएणं उम्माणपमाणेणं किं पओयणं एएणं उम्माणपमाणेणं पत्ता अगरतगरचोआकुंकुमखंडगु-लमच्छंडिआईणं दव्वाणं उम्माणपमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ सेत्तं उम्माणपमाणेणं ॥

यदुन्मीयते प्रतिनियतस्वरूपतया व्यवस्थाप्यते तदुन्मानं तद्यथा । अर्द्धकर्ष इत्यादि । पलस्याष्टमांशोऽर्द्धकर्षः तस्यैव चतुर्भागः कर्षः । पलस्यार्द्धमर्द्धपलमित्यादि सर्वं मागधदेश-प्रसिद्धं सूत्रमेव नवरं पलाशपत्रकर्मोरीपात्रादिकं पत्रं चोयं त्वपलविशेषः मत्स्यण्डिका शर्कराविशेषः । अनु० । नाराचादौ, अश्वादीनां वेगादिपरीक्षायाम्, आचा० २ श्रु० । उन्मीयते ऽनेनेत्युन्मानम् । अर्द्धभारपरिमाणतायाम्, " जलदोणमद्ध-

भार समुद्दाइं समूसिओ उ जो नवओ । माणुम्माणपमाणं, तिविहं खलु लक्खणं नेयं " उन्मानं तुलारोपितस्यार्द्धभारप्रमाणता । सा च सारपुद्गलोपचितत्वात् तुलायामारोपितः सन्नर्द्धभारं यः पुरुषस्तुलयति स उन्मानयुक्तो भवति । प्रश्न० ४ ५६ द्वा० । स्था० । नि० चू० । कल्प० ।

उम्माथिय–उन्माथित–त्रि० सञ्जातोन्माथे, सुतरामुन्माथितो बभूव तमुन्माथितं विज्ञाय । आ० म० प्र० ।

उम्माद (य) उन्माद–पुं० उद्-मद्-घञ्–उन्मत्ततायाम्, विविक्तचेतनाभ्रंशे ग्रहे बुद्धिविप्लवे, भ० १४ श० २ उ० । चित्तविभ्रमे, स्था० ३ ठा० । क्षिप्तादिके, आव० ४ अ० । आ०चू० । नष्टचित्ततायाम्, आलजालजल्पने, प्रव० १६९ द्वा० । कामेन पारवश्ये, उत्त० १६ अ० । अत्यन्तकामोद्रेकादालिङ्गने च । विशे० ॥

तस्य भेदा यथा—

कइविहे णं भंते उम्मादे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उम्मादे पण्णत्ते, तंजहा–जक्खावेसे य मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदए णं तत्थ णं जे से जक्खाएसे से णं सुहवेदणतराए चेव, सुहविमोयणतराए चेव । तत्थ णं जे से मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं सेणं दुहवेदणतराए चेव दुहविमोयणतराए चेव ।

उन्माद उन्मत्तता विविक्तचेतनाभ्रंश इत्यर्थः । " तथा उन्मादो ग्रहो बुद्धिविप्लव इत्यर्थः " (जक्खाएसेयत्ति) यक्षो देवस्तेनावेशः प्राणिनोऽधिष्ठानं यक्षावेशः इत्येकः (मोहणिज्जस्सेत्यादि) मोहनीयस्य दर्शनमोहनीयादेः कर्मण उदये नन्यः सोऽन्य इति । तत्र मोहनीय मिथ्यात्वमोहनीय तस्योदयादुन्मादो भवति यतस्तदुदयवर्ती जन्तुरतत्त्व तत्त्व मन्यते तत्त्वमपि चातत्त्व चारित्रमोहनीय वा, यतस्तदुदये जानन्नपि विषयादीनां स्वरूपमजानन्निव वर्त्तते । अथवा चारित्रमोहनीयस्यैव विशेषो वेदाख्यो मोहनीय यतस्तदुदयविशेषे अत्युन्मत्त एव भवति यदाह " चिंतेइ १ दट्ठुं मिच्छइ, २ दीह नीससइ ३ तह जरे ४ दाहे ५ । भत्तअरोयग ६ मुच्छा ७ उम्माए ८ न याणई ९ मरणंति " १० ॥ १ ॥ एतयोश्चोन्मादत्वे समानेऽपि विशेषं दर्शयन्नाह (तत्थणमित्यादि) तत्र तयोर्मध्ये " योऽसौ यक्षाविष्टो भवति " (सुहवेयणतराए चेवत्ति) अतिशयतः सुखेन मोहजन्योन्मादापेक्षया अक्लेशेन वेदनमनुभवनं यस्यासौ सुखवेदनतरः स एव सुखवेदनतरकः मोहजनितग्रहापेक्षया अकृच्छ्रानुभवनीयतर एव नैकान्तिकान त्यन्तिकजन्मरूपत्वादस्येति । चैव शब्दः स्वरूपावधारणे (सुहविमोयणतराए चेवत्ति) अतिशयेन सुखेन विमोचनं वियोजन यस्मादसौ सुखविमोचनतरः । कप्रत्ययस्तथैव । अथवा अत्यन्त सुखापेयः सुखापेयतरः तथा अत्यन्त सुखेनैव विमुच्यते यो देहिन स सुखविमोचनतरक इति मोहस्तु तद्विपरीतः एकान्तिकात्यान्तिकजन्मस्वभावतयात्यन्तानुचितप्रवृत्तिहेतुत्वेनानन्तभावकारणत्वात् तथान्तरकारणजनितत्वेन मन्त्राद्यसाध्यत्वात् कर्मक्षयोपशमादिनैव साध्यत्वादित्यत एवोक्तम् (दुहवेयतराए चेव दुहविमोयतराए चेवत्ति) अतिशयेन दुःख वेद्य एव दुःख विमोच्य एव चासाविति ॥ (तत्थण मित्यादि) मोहजन्योन्माद इतरापेक्षया दुःखवेदनतरो भवति अनन्तसंसारकारणत्वात् । संसारस्य च दुःखवेदनस्वभावत्वादितरस्तु सुखवेदनतर एव एकभविकत्वादिति । तथा मोहजोन्माद इतरापेक्षया दुःखविमोचनतरो भवति विद्यामन्त्रतन्त्रदेवानुग्रहवतामपि वार्तिकाना तस्यासाध्यत्वादितरस्तु सुखविमोचनतर एव भवति । मन्त्रमात्रेणापि तस्य निग्रहीतुं शक्यत्वादिति । आह च " सर्वज्ञमन्त्रवाद्यपि, यस्य न सर्वस्य निग्रहे शक्तः । मिथ्यामोहोन्मादः, स केन किल कथ्यतां तुल्यः " इदञ्च द्वयमपि चतुर्विंशतिदण्डके योजयन्नाह ॥

नेरइया णं भंते ! कइविहे उम्मादे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उम्मादे पण्णत्ते तंजहा जक्खावेसे य मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयाणं दुविहे उम्मादे पण्णत्ते ? जक्खावेसे य मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं गोयमा ! देवे वासे असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा । सेणं तेसिं असुभाणं पोग्गलाणं पक्खिवणयाए जक्खावेसे णं उम्मादे पाउणेज्जा मोहणिज्जस्स वा कम्मस्स उदएणं मोहणिज्जं उम्मायं पाउणेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उदएणं । असुरकुमाराणं भंते ! कइविहे उम्मादे पण्णत्ते? एवं जहेव णेरइयाणं णवरं देवे वासे महिड्ढियतराए चेव असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा सेणं तेसिं असुभाणं पोग्गलाणं पक्खिवणयाए जक्खाएसं उम्मादं पाउणेज्जा । मोहणिज्जस्स वा सेसं तं चेव से तेणट्ठेणं जाव उदएणं एवं जाव थणियकुमाराणं पुढविकाइयाणं जाव मणुस्साणं एएसिं जहा णेरइयाणं वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं ।

(णेरइयाणमित्यादि) पुढविकाइयाणमित्यादौ यदुक्तं जहानेरइयाणंति तेन देवे वासे असुभे पोग्गले पक्खिवेज्जा इत्येतद्यक्षावेशो पृथिव्यादिसूत्रेष्वध्यापित वाणमन्तरेत्यादौ तु यदुक्तं "जहाअसुराणंति" तेन यक्षावेश एव व्यन्तरादिसूत्रेषु देवे वासे महिड्ढियतराए इत्येतदध्यापितं मोहोन्मादालापकस्तु सर्वसूत्रेषु समान इति ॥ भ० १४ श० २ उ० । षड्भिः प्रकारैरात्मन उन्मादस्तद्यथा ॥

छहिं ठाणेहिं आया उम्मायं पाउणेज्जा तंजहा अरहंताणमवण्णं वदमाणे अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्णं वदमाणे आयरियउवज्झायाणमवण्णं वदमाणे चाउवण्णस्स संघस्स य अवण्णं वदमाणे जक्खावेसेण चेव मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं ।

अनन्तर श्रमणस्याहारग्रहणकारणान्यभिहितानीति श्रमणादेर्जीवस्यानुचितकारिण उन्मादस्थानान्याह (छहीत्यादि) इद च सूत्रं पञ्चस्थानक एव व्याख्यातप्राय नवर षड्भिः स्थानैरात्मा जीव उन्मादमुन्मत्ततां प्राप्नुयादुन्मादश्च महामिथ्यात्वलक्षणस्तीर्थकरादीनामवर्णवादतो भवत्येवं तीर्थकराद्यवर्णवदनकुपितप्रवचनदेवतातो वाऽसौ ग्रहणरूपो भवेदिति पाठान्तरेण । (उम्मायपमायंति) उन्मादः सद्ग्रहत्व स एव प्रमादः प्रमत्तत्वमाभोगशून्यतोन्मादप्रमादः । अथवोन्मादश्च प्रमादश्चाहितप्रवृत्तिहिताप्रवृत्ती उन्मादप्रमाद प्राप्नुयादिति । (अवण्णंति) अवर्णमश्लाघामवज्ञां वा वदन् भजन् वा कुर्वन्नित्यर्थं (धम्मस्सत्ति) श्रुतस्य चारित्रस्य वा आचार्योपाध्यायानाञ्च चतुर्वर्णस्य श्रमणादिभेदेन चतुःप्रकारस्य यक्षावेशेन चैव निमित्तान्तरकुपितदेवाधिष्ठितत्वे मोहनीयस्य मिथ्यात्ववेदशोकोदयेनेति । स्था० ६ ठा० ॥

उम्माद (य) पत्त–उन्मादप्राप्त–त्रि० उन्मादमुन्मत्ततां प्राप्तः । उन्मादप्राप्त । स्था० ५ ठा० । मोहनीयकर्मोदयेन चित्तशून्यता-

मुपागते, बृ० ३ उ० । धातादिदोषादुन्मत्ततामुपागते, स्था० ५ ठा० । उन्मादप्राप्ताया निर्ग्रन्थ्याः प्रतिचर्य्या यथा-

(सूत्रम्) उम्मायपत्तिं निग्गंथिं निग्गंथे गिएहमाणे २ नातिक्कमइ

अस्य व्याख्या प्राग्वत् अथोन्मादप्ररूपणार्थं भाष्यकारः प्राह ॥

उम्मत्तो खलु दुविधो, जक्खावेसो य मोहणिज्जो य ।
जक्खावएसो वुत्तो, मोहेण इमं तु वोच्छामि ॥

उन्मादः खलु निश्चित द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा यक्षावेशहेतुको यक्षावेश कार्यं कारणोपचारात् । एव मोहनीयकर्मोदयहेतुको मोहनीयवशाद् द्वौ चकारौ परस्परसमुच्चयार्थौ स्वगतानेकभेदसंसूचकौ वा । तत्र यो यक्षावेशो यक्षावेशहेतुकः सोऽनन्तरसूत्रोक्तो यस्तु मोदेन मोहनीयोदयेन मोहनीयं नाम येनात्मा मुह्यति तच्च ज्ञानावरणीयं मोहनीयं वा द्वयस्य द्वाभ्यामप्यात्मनो विपर्यासापादनात् । तेनोत्तरत्र भदमपि तमुत्पाय ईर्योयुच्यमान न विरुध्यते (इमतुत्ति) मथमन्तरमेव वक्ष्यमाणतया प्रत्यक्षीभूत इव समेपेदानीं वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातं निर्वाहयति ॥

रूवंगं दट्टूण, उम्मातो अहव पित्तमुच्छाए ।
नट्ठारणाणि वा ते, पित्तम्मि य सक्कराईणि ॥

रूपं विटादेरादिरङ्गं च गुह्याङ्गं रूपाङ्गं तद् दृष्ट्वा कस्या अप्युन्मादो भवेत् । अथवा पित्तमूर्च्छया पित्तोद्रेकेणोपलक्षत्वाद्वातोद्रेकवशतो वा स्यादुन्मादः । तत्र रूपाङ्गं दृष्ट्वा यस्या उन्मादः सञ्जातस्तस्यास्तस्य रूपाङ्गस्य विरूपावस्था प्राप्तस्य दर्शना कर्त्तव्या । या तु वातेनोन्मादं प्राप्ता सा निवाते स्थापनीया उपलक्षणमिदं तेन तैलादिना शरीरस्याभ्यङ्गो घृतपायनं च तस्याः क्रियते । पित्तवशादुन्मत्तीभूताया शर्करक्षीरादीनि दातव्यानि कथं पुनरसौ रूपाङ्गदर्शनेनोन्मादं गच्छेदित्याह ॥

दट्टूण नमं काई, उत्तरविउव्वितं मयणखित्ता ।
तेण विय रूवेण उ-ड्डुम्मिकायम्मि निव्विण्णा ॥

काचिद्रूपसन्ना नटं दृष्ट्वा किंविशिष्टमित्याह । उत्तरवैकुर्विकमुत्कालनाविधवस्त्राभरणादिविविधशृङ्गारविभूषाशोभित तत काचिन्मदनक्षिप्ता उन्मादप्राप्ता भवेत् तत्रेयं यतना । उत्तरवैकुर्विकाप्रमाणेन तेनैव स्वाभाविकेन रूपेण तस्मिन्नूर्ध्वकाये सति काचिद् दल्पकर्मा निर्विण्णा भवति तद्विषय विरागं गच्छतीत्यर्थः ॥

पण्णविते उ दुरूवो, उम्म दिज्जति अ तीए पुरतो उ ।
रूववतो पुण भत्तं, तं दिज्जति जेण छड्डेति ॥

अन्यच्च यदि नटः स्वरूपो दुरूपतो भवति । ततः स पूर्वं प्रज्ञाप्यते प्रज्ञापितश्च सन् तस्या उन्मादप्राप्तायाः पुरत उन्मण्डनं यत्तस्य मण्डनं तत्सर्वमपनीयते । ततो विरूपरूपदर्शनतो विरागो भवति । अथासौ नटः स्वभावत एव रूपवान् अतिशायिनोद्भटरूपेण युक्तः ततस्तस्य भक्तं मदनफलमिश्रादिकं तद्दीयते येन भुक्तेन तस्याः पुरतः छर्दयति उद्वमति उद्वमनं च कुर्वन् किलासौ जुगुप्सनीयो भवति ततः सा तं दृष्ट्वा विरज्यते इति ।

गुज्झंगम्मि उ वियडं, पज्जावेऊण खरगमादीणं ।
तद्दरिसणे विरागो, तीसे तु हवेज्ज दट्टूणं ॥

यदि पुनः कस्या अपि गुह्याङ्गे उन्मादो भवति रूपलावण्यादयपेक्षस्तत खरकादीनां द्वारकप्रभृतीनां विकटं मद्यं पाययित्वा प्रसुप्तीकृतानां पथि मद्योद्गालखरण्टितसर्वशरीराणामत एव मक्षिकाभिर्भिणिभिणायमानानां (तद्दायणेत्ति) तस्य गुह्याङ्गस्य मद्योद्गालनादिना बीभत्सीभूतस्य दर्शना क्रियते । तच्च दृष्ट्वा तस्या आर्यिकाया विरागो भवेत् । ततः प्रगुणी भवति । बृ० ६ उ० ।

उन्मादप्राप्तस्य भिक्षोः प्रतिचर्य्या यथा ॥

उम्मायपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पए तस्स गणावच्छेयस्स निज्जूहित्तए गिलाए करणिज्जं वेयावडियं जाव ततो रोगातंकातो विप्पमुक्को ततो पच्छा लहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया इति ।

अस्य व्याख्या पूर्ववत् । उन्मादप्ररूपणा तु निर्ग्रन्थ्या इव नवरं पुरुषाभिलापः कार्यः ॥ क्षुल्लकस्य वातेन पित्तेन चोन्मादयतनामाह ।

वाते अब्भंगसिणेह, पज्जणादी तहा निवाए य ।
सक्करखीरादिहिं य, पित्तचिगिच्छा उ कायव्वा ॥

वाते वातनिमित्ते उन्मादे तैलादिना शरीरस्याभ्यङ्गः क्रियते स्नेहपायनं घृतपायनमादिशब्दात्तथाविधान्यचिकित्सापरिग्रहः तत्कार्यते तथा निवाते स्थाप्यते । पित्तवशादुन्मत्तीभूतस्य शर्करक्षीरादिभिस्तस्य चिकित्सा कर्त्तव्या ॥ व्य० २ उ० ।

उम्माद (य) पमाय–उन्मादप्रमाद–पुं० क० स० । उन्मादस्तत्त्वत्व स एव प्रमादः प्रमत्तत्वमाभोगशून्यतोन्मादप्रमादः । ग्रहावेशादुपयोगशून्यतायाम्, उन्मादश्च प्रमादश्च समाहारद्वन्द्वः । अहितप्रवृत्तिहितातप्रवृत्त्योः, न० । स्था० ६ ठा० ।

उम्मि–ऊर्मि–पुं० स्त्री० ऋ–मि–अर्त्तेरुच । महाकल्लोले, ज्ञा० १ अ० । भ० । स्था० । सम्बाधे, कल्लोलाकारेजनसमुदाये, भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० । प्रकाशे, वेगे, वस्त्रसंकोचरेखायाम्, पीडायाम्, उत्कण्ठायाम्, बुभुक्षादिषु षट्सु देहमनः प्राणानां यथायथ धर्मेषु अश्वगतौ, स्त्री० । वाच० ॥

उम्मिमालिणी–ऊर्मिमालिनी–स्त्री० जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमतः शीतोदाया महानद्या उत्तरेण वहन्त्यामन्तर्नद्याम्, स्था० ३ ठा० । " सुवप्पे विजए जयंती रायहाणी उम्मिमालिणी णई " " सुवप्रो विजयो वैजयन्ती राजधानी उर्मिमालिनी नदी " जं० ४ वक्ष० । प्रश्न० । " दो उम्मिमालिणीओ " स्था० २ ।

उम्मिल्लण–उन्मीलन–न० प्रादेर्मीलेः ८ । ४ । ३१ । इति उदः परस्य मीलेरन्त्यस्य द्वित्वम् वा । प्रा० । विकाशे, चक्षुरादेः पुटविभेदे, भावे घञ् । उन्मीलोऽप्यत्र । वाच० ॥

उम्मिल्लिय–उन्मीलित–न० उद्-मील-भावे-क्तः । उन्मीलने, अनु० विकसिते, अमुद्रिते च । णिच्-कर्मणि क्त । प्रकाशिते, भेदितमुकुले नेत्रादौ " ततो उम्मिल्लियाणि तस्स नयणाणि ", आ० म० द्वि० । " पजरुम्मिलियमणिकणगथूभियागे " पञ्जरादुन्मीलितमिव बहिष्कृतमिव पञ्जरोन्मीलितमिव । यथाहि किल किमपि वस्तु पञ्जराद् वशादिमयप्रच्छादनविशेषात् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते । तथा तदपि विमानमिति भावः । जी० ४ प्रति० । स० ॥

उम्मि (म्मी) वीइ–ऊर्मिवीचि–स्त्री० ऊर्मयश्च वीचयश्च महाकल्लोलेषु, ह्रस्वकल्लोलेषु च ६ त० । ऊर्म्मीणां विविक्तत्वे, प्र० १६ श० ६ उ० । स्था० । " उम्मीवीई सहस्सकलियं ति " ॥ ऊर्मयः कल्लोलास्तल्लक्षणा या वीचयस्ता ऊर्मिवीचयो वीचिशब्दो हि लोकेऽन्तरार्थोऽपि रूढोऽथवोर्मिवीच्योर्विशेषो गुरुत्वलघुत्वलक्षणः क्वचिद्वीचिशब्दो न पठ्यते एवेति ऊर्मिवीचीनां सहस्रैः कलितो युक्तो यः स तथा । स्था० १० ठा० ।

उम्मिसिय–उन्मिषित–त्रि० उद्-मिष्-क्त-प्रफुल्ले, किञ्चित्प्रका-

शिते, वाच० । उन्मीलिते, भ० १४ श० १ उ० । भावे क्तः । उन्मेषे, " उम्मिसियणिमिसियतरेण " उन्मिषितनिमिषितान्तरेण यावता अन्तरेण व्यवधानेन उन्मेषनिमेषौ क्रियेते तावदन्तरप्रमाणेन । जी० ३ प्रति० ।

उम्मिस्स–उन्मिश्र–न० सचित्तसम्मिश्रे, तद्भेदोपचारात्तत्समे एषणादोषे, प्रव० ६७ द्वा० । " बीयादि उम्मीस " बीजाद्युन्मिश्र बीजकहरितादिमिर्यद्युन्मिश्रमुच्यते । पञ्चा० १३ विव० । यदा अनाभोगेन अविचार्यैव शुद्धाशुद्धाहार सम्मील्याददाति तदा सप्तम उन्मिश्रितदोषः । उत्त० २४ अ० । देयद्रव्यं खण्डादि सचित्तेन धान्यकणादिना मिश्र ददत उन्मिश्रम् । ध० ३ अधि० ।

असण पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज सम्मीसं, बीएसु हरीएसु वा ॥ ५७ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥

पानकं चापि खाद्यं स्वाद्य तथा पुष्पैर्जातिपाटलादिभिर्भवेदुन्मिश्र बीजैर्हरितैर्वेति तादृशं भक्तपान तु संयतानामकल्पिकं यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ दश०५ अ० । (अस्य भेदादि–उन्मिश्रग्रहणनिषेधश्च एषणा शब्दे वक्ष्यते) अत्र प्रायश्चित्तम् "उम्मीसे अणंते चउगुरुपच्छित्ते चउलहु मीसुम्मीसे अणते मासगुरु परित्ते मासलहु सिचे चउलु गणेसु जे तिषि तेसु सट्ठाणपच्छित्तं " पं० चू० । "प्राबल्येन मिश्रे वस्तुमात्रे, त्रि० । आव० । "कम्मुम्मीसगा सरीरा „ कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्राणि । स्था० ४ ठा० ।

उम्मीलणा–उन्मीलना–स्त्री० प्रसवे, विशे० ।

उम्मीलिय–उन्मीलित–त्रि० उद्–मील–क्त–आदेर्मीलेः ८ । ४ । ३१ । इति उदः परस्य मीलेरन्त्यस्य द्वित्वाभावे रूपम् । प्रा० । उन्मेषे, विपा० १ श्रु० ७ अ० । "पंजरुम्मिलियव्वमणिकणगथूभियागा" पञ्जरादुन्मीलित इव वहिष्कृता इव पञ्जरोन्मीलिता । रा० । उन्मीलितमुन्मिषित स्मितमुत्सिक्तमित्यादिपर्य्यायाः । विशे० ।

उम्मुक्क–उन्मुक्त–त्रि–उद्–मुच्–क्त–उत्क्षिप्ते, औ० । परित्यक्ते, विशे० ॥ "उमुक्कमणुम्मुके, उम्मुच्चते य केसलंकारे" आ० म० द्वि० । प्राबल्येन मुक्ते, "ते वीरा बधणुम्मुक्का नावकंखंति जीवियं" सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

उम्मुक्ककम्मकवय–उन्मुक्तकर्मकवच–पुं० सकलकर्मवियुक्तत्वात्सिद्धे, औ० ।

उम्मुक्कबालभाव–उन्मुक्तबालभाव–पुं–स्त्री–त्यक्तबाल्ये जाताष्टवर्षे, "सेवियणं दारए उम्मुक्कबालभावे विषयपरिणायमेत्ते" कर्म० ।

उम्मुयणा–उन्मोचना–स्त्री० परिशातनायाम, आव० ५ अ० ।

उम्मूलणा–उन्मूलना–स्त्री० उत्पाटने, "उम्मूलणा सरीराओ" वृक्षस्योन्मूलनेवोन्मूलना निष्काशनं जीवस्य शरीराद्देहादिति" द्वितिया गौणी हिंसा । प्रश्न० १ द्वा० ।

उम्मेस–उन्मेष–पु० उद्–मिष्–घञ्–अक्षिव्यापारविशेषे, "आगमणगमणंपसारणुम्मेसमणजोगकायजोगा जेयावणे तहप्पगारा चलसभावा सव्वे ते" भ० १३ श० ४ उ० ।

उम्ह (ए)–उ (ऊ)ष्मन्–त्रि० उष्–आधारे–मनिन्–वाऽऽह्रस्वः । पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्हः ८ । २ । ७४ । इति ष्मभागस्य मकाराक्रान्तो हः । प्रा० । ग्रीष्मर्तौ, कर्सरि–मनिन् । आतपे, शपसहवर्णेषु, वाच० ॥ "अणुमोदणउम्हमाविणे दोसा" उष्मा नाम तेनाऽऽन्येन रूप्येण तस्य रागिणो हस्तादौ परिताप आदिशब्दाधदि द्रव्यमसौ तत्र प्रक्षिपति । बृ० २ उ० ।

उम्हातिस–युष्मादृश–त्रि० युष्मद्–दृश्–कञ्–आत्वं पैशाच्याम । याद्दशोर्देर्तिस्तिः ८ । ४ । १६ । इति (इ) इति दृश इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । भवादशो, प्रा० ॥

उम्हासेस–ऊष्मावशेष–पुं० मनागपि ऊष्मे, "उम्हासेसो विसिही होउं सहूँ" आव० ५ अ० ।

उय–उत–अव्य० अपि शब्दार्थे, विशे० "उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति" आ० म० द्वि० सुतरामिति शब्दस्यार्थे, "किमुयकुरुवाभिस्स" आव० ५ अ० । विकल्पे, समुच्चये, वितर्के, प्रश्ने, अत्यर्थे च । वाच० ॥

उयत्तेमाण–प्रवर्त्तयत्–त्रि० तिरश्चीनं कुर्वति, "उत्तारेमाणे वा उयत्तेमाणे वा जीवेहिं " आचा० २ श्रु० ॥

उयत्तिय–अपवृत्य–अव्य० अपवर्त्तनं कृत्वेत्यर्थे, " उयत्तियाण गिण्हाहि, तहप्पगारं पाणगजात " आचा० २ श्रु० ॥

उयाय–उपयात–त्रि० उपगते, "महासिलाकटग सगाम उयाए पुरओ य से सक्के" भ० ७ श० ९ उ० ॥

उय्हे–यूयम्– युष्मद्– जस्– यूयवयौ–जसि । इति यूयादेशः । ङे प्रथमयोरम इति जसोऽमादेशः । पा० व्या० । भे तुज्झे उज्झे तुम्हे तुय्हे उय्हे जसा । ८ । ३ । ९१ । इति जसा सहितस्य युष्मच्छब्दस्य उय्हे आदेशः । प्रा० । "उय्हेचिट्ठह" प्रश्न० युष्मान्–युष्मद् शस् । वो तुम्हे उज्झे तुय्हे उय्हे भे शसा " ८ ३ । ९३ । इति शसा सहितस्य युष्मच्छब्दस्य उय्हे आदेशः 'उय्हे पेच्छामि' प्रा० ॥

उर–पुं०उरस–न० ऋ–असुन् धातोरुच्च–रपरः । स्नमदामशिरोनभः ८ । १ । ३२ । इति उरः पुंल्लिङ्गत्वम । प्रा० । वक्षसि, स्था०१० ठा० । हृदये, प्रश्न०२ द्वा० । अध्यानामङ्गाना द्वितीयेऽङ्गे, । "सीसमुरोयरपिट्ठि " आ० चू० १ अ० । उत्त० । नि० चू० । प्रज्ञा० । " उरे थिरकाए " अर्द्धमागध्या भाषया उरसि, विस्तृततया उरसो विस्तीर्णत्वात् । औ० । "उरसि दहावेइ" उरसि दापयति । विपा० । "उरेणपरिसक्क सरं" । स्था० ७ ठा० । शोभने, स्था ४ ठा० ।

उरंउर–उरउरस्–न० साकल्यार्थे" बाउरंणि पि उरउरे गिपिहत्तए " वि० ३ अ० ।

उरकडग–उरःकटक–न० उरो ह्रदय तदेव कटकमुर कटकम । उरोरूपे कटके, अनु० ॥

उरग–उरग–पुं०स्त्री० उरसा गच्छति उरस्–गम्–ड । सलोपश्च सर्पे, अष्ट० । "उरगगिरिजलणसागर–नहतलतरुगणसमो अ जो होइ । भमरमियधरणिजलरुह–रविपवणसमो अ सो समणो" अनु०

उरगवर–उरगवर–पु० नागवरे, ज्ञा० १६ अ० ।

उरगवीहि–उरगवीथी–स्त्री० उरगसहका वीथी उरगवीथी । शुक्रादेरुरगसहेऽवकाशे, स्था०१०ठा० (वीहीशब्दे स्पष्टम)

उरच्छंद–उरश्छन्द–पु० कवचे, हैम० ।

उरत्थ–उरःस्थ–त्रि० । ह्रदयस्थिते, " उरत्थदोणारसाम्रवीरत्थ ण" कल्प० ॥

उरतव–उरस्तपस्–न०क०स० इह लोकाद्याशंसारहितत्वेन सोभने आजीवकतपोभेदे, स्था० ४ ठा० ।

उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिय उरःपरिसर्पस्थल-

चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक-पुं० उरसा वक्षसा परिसर्पन्ति संचरन्तीति उर.परिसर्पास्ते च ते स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च उर.परिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । उर.परिसर्पस्थ लचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, तद्भेदा यथा ।

से किं तं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाश्चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा अही अयगरा आसालिया महोरगा ।

अथ के ते उर.परिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः । सूरिराह उर.परिसर्पस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुर्विधा प्रज्ञप्तास्तद्यथा । अहयोऽजगरा आसालिगा महोरगा । प्रज्ञा० १पद । अनु० । स्था० । जी० । एतेषामेव भेदानामवगमाय प्रश्ननिर्वचनसूत्राणि तानि च अह्यादिशब्देषु द्रष्टव्यानि"तिविहा उरपरिसप्पा पण्णत्ता तंजहा इत्थी पुरिसा णपुंसगा " उर.परिसर्पमात्रेणापि बोध. । स्था० ।

उरपरिसप्पिणी–उरःपरिसर्पिणी–स्त्री० उर. परिसर्पस्त्रियाम्, तद्भेदा यथा "से किं तं उरगपरिसप्पिणी ओ २ तिविधाओ तंजहा अहीओ अयगरीओ महोरगीओ सेत्तं उरपरिसप्पिणी" जी० २ प्रति० ।

उरब्भ–उरभ्र–पुं० स्त्री० । उरु उत्कट भ्रमति भ्रम० ड० पृषो० रुलोप. । मेषे, प्रश्न० १ द्वा० । सूत्र० । करणे, रा० । उपा० ।

अस्य निक्षेप. ।

णिक्खेवे उ उरब्भे, चउव्विहो दुविहहोइ दव्वम्मि ।
आगमणोआगमतो, णो आगमतो य सो तिविहो ॥

निक्षेपो न्यासस्तु' पूरणे उरभ्रे उरभ्रविषये चतुर्विधश्चतु प्रकारो नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एवेति । द्रव्योरभ्रमाह–द्विविधो भवति द्रव्य इति द्रव्यविषये आगमतो नो आगमतश्च तत्रागमत उरभ्रशब्दार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तो नो आगमत पुनश्चास्य पुनरर्थत्वात् स इति द्रव्योरभ्रस्त्रिविधस्त्रिभेद. ।

तत्रैविध्यमाह–

जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगभवियबद्धाउ य, अभिमुहतो णामगोत्ते य ॥

शरीरमुरभ्रशब्दार्थज्ञस्य सिद्धशिलातलगत शरीरमुच्यते भव्यशरीरोरभ्रस्तु यस्तावदुरभ्रशब्दार्थं न जानाति कालान्तरे च ज्ञास्यति तस्य यच्छरीर तद्व्यतिरिक्तश्च ताभ्यां ज्ञशरीरभव्यशरीरोरभ्राभ्यां व्यतिरिक्तो भिन्नस्तद्व्यतिरिक्तः । च. समुच्चये स तद्व्यतिरिक्त. पुनस्त्रिविधस्त्रिभेदस्त्रैविध्यमेवाह । एकस्मिन् भवे तस्मिन्नेवातिक्रान्ते भावी एकभविको योऽनन्तर एव भवे उरभ्रतयोत्पत्स्यते तथा स एवोरभ्रायुर्बन्धानन्तर बद्धमायुर्येनेति बद्धायुष्क उच्यते । तृतीयमाह— (अभिमुहओ नामगोत्तेयत्ति) आर्षत्वादभिमुखनामगोत्रश्च तत्राभिमुखे समुखेऽन्तर्मुहूर्तानन्तरभावितया नामगोत्रे उरभ्रसंबन्धिनी यस्य स तथोक्तान्तर्मुहूर्तानन्तर मेवोरभ्रभवभावीति गाथार्थ । भावोरभ्रमध्ययननामनिबन्धः

उरब्भाउण मेगोयं, वेदेंतो भावतो उरब्भो उ ।
ततो समुट्ठियमेयं, उरब्भिज्जति अज्झयणं ॥
उरब्भे य कागणीअं, पएयववहारसागरे चेव ।
पंचेवेते दिट्ठ–ता उरब्भिज्जम्मि अज्झयणे ॥

उरभ्रः उरणकस्तस्यायुश्च नाम च गोत्रं च उरभ्रायुर्नामगोत्र एतदुदयागुरभ्रो भवति वेदयन्ननुभवन् भावतो भावमाश्रित्योरभ्रस्तुशब्द पर्यायास्तिकमतमेतदिति विशेषणार्थस्ततो भावोरभ्रदृष्टान्ततयेहाभिधेयात्समुत्थितमुत्पन्नमिदमिति प्रस्तुत यस्मादिति गम्यते (उरभिज्जंति) उरभ्रीय गहादित्वाच्छैषिकछप्रत्यये इति तस्मादध्ययन प्रागुक्तमुच्यते इति शेष इति गाथार्थ. ॥ उरभ्रस्यैव चेह प्रथममुच्यमानत्वात् बहुवक्तव्यत्वाच्चेत्थमुक्तमन्यथा हि काकण्यादयोऽपि दृष्टान्ता इहाऽभिधीयन्त एव तथा चाह निर्युक्तिकृत् (उरब्भे गाहा) उरभ्र उक्तरूप. काकणिर्विंशतिः कपर्दिका (उरब्भेयत्ति) चशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्काकणिश्च (अवएयत्ति) आम्रकमाम्रफलं व्यवहारश्च क्रयविक्रयरूपो वणिग्धर्मश्चस्य गम्यमानत्वात् सागरश्च समुद्रः । च सर्वत्र समुच्चये एवावधारणे भिन्नक्रमश्चैव योज्यते पञ्चैवैते न तु न्यूनाधिका दृष्टान्ता उदाहरणानि उरभ्रीये उरभ्रनाम्न्यध्ययने इति गाथार्थः ॥

संप्रति यदर्थसाधर्म्यादुरभ्रस्य दृष्टान्तता तदुपदर्शनायाह ॥

आरंभो रसगेही, दुग्गमरणं च पव्ववातो य ।
उवमा कया उरब्भे, उरभिज्जस्स णिज्जुत्ती ॥
आउरविणाई एयाइं, जाइं वरइणंदितो ।
मुज्जताणेहिं ह्याढाइ, एयदीहाउ लक्खणं ॥

आरम्भणमारम्भः पृथिव्याद्युपमर्दो रसेषु मधुरादिषु गृद्धिरभिकाङ्क्षा रसेगृद्धिर्दुर्गतिगमन च नरकतिर्यगादिषु पर्यटन प्रत्यपायश्चेहैव शिरश्छेदादि वक्ष्यति हि ' शिरच्छेत्तूणभुञ्जत ' इति शिरश्छेदाद्यार्तरौद्रोपगतस्य दुर्गतिपाते तु स्वानुभवनादिरुपमा सा दृश्यते। दर्शनरूपा प्रक्रमादेभिरेवारम्भादिभिरर्थैः कृता विहिता उरभ्रे उरभ्रविषया। इदमुक्त भवति। सांप्रतेक्षिणो हि विषयामिषगृध्नवः तांस्तानारम्भानारभन्ते आरभ्य चोपचितकर्मभि कालसौकरिकादिवदिहैव दु.खमुपलभ्य नरकादिकां कुगतिमाप्नुवन्तीत्युरभ्रोदाहरणत इहोपदर्श्यते।काकण्यादि साधर्म्यदृष्टान्तोपलक्षण चैतदुरभ्रीयस्य निर्युक्तिरिति निगमनमेतदिति गाथार्थ. ॥ २० ॥ उरभ्रदृष्टान्तश्चैवम् ॥ इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेप. ।

सम्प्रति सूत्रालापकनिक्षेपस्यावसर. स च सूत्रे सति भवतीत्यत सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् ॥

जहा एसं समुद्दिस्सं, कोइ पोसेज्ज एलयं ।
ओयणं जवसंदिज्जा, पोसेज्जावि मयं गणे ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासे आदिश्यते आज्ञाप्यते विविधव्यापारेषु परिजनोऽस्मिन्नायात इत्यादेशोऽभ्यर्हित प्राहुणकस्त समुद्दिश्याश्रित्य यथासौ समेष्यति समागतश्चैन भोदयन इति कश्चित्परलोकापायनिरपेक्ष. पोषयेत्पुष्टं कुर्यादेलकमूरणक कथमित्याह ओदनं भक्त तज्जोग्यशेषाभ्रोपलक्षणमेतत् यवसमुद्गमाषादि दद्यात्तदग्रतो ढौकयेत्तत एव पोषयेत् पुन.र्वचनमादरख्यापनाय अपि. संभावने संभाव्यत एव एव विध. कोऽपि गुरुकर्म्मेति स्वकाङ्गणे स्वकीयगृहप्राङ्गणे अन्यत्र निर्युक्तिक. कदाचित्मोदनादि दास्यतीति स्वकाङ्गण इत्युक्त । यदि वा (पोसिज्जाविसयगणेत्ति) विशन्त्यस्मिन्निति विषयो गृह तस्याङ्गण विषयाङ्गणं तस्मिन्नथवा विषयं रसलक्षण वचनव्यत्ययाद्विषयान्वा गणयन् संप्रधारयन् धर्मनिरपेक्ष इति भाव । इहोदाहरण सम्प्रदायादवसेयम् " जहेगो उरणगो पाहुणयनिमित्त पोसिज्जति सो पीणियसरीरो सुण्हातो हालिद्दादिकयंगरागो कयकण्णचूलओ कुमारगायग णाणाविहेहिं कीडाविसेसेहिं कीडावेंति त च वच्छगो एवं लालिज्जमाणं दट्ठूण माऊए रोहेण गोचियं दोहएण य तयणुकंपाए मुक्कमवि खीरं न पियति । रोसेण ताए पुच्छिओ भणइ

अस्मो एस णं दियगो सव्वेहिं एएहिं अम्ह सामिसालेहिं इट्ठेहिं जवजोगासणेहिं तदुवओगेहिं अलंकारविसेसेहिं अलकारितो पुत्त इव परिपालिज्जइ अहं तु मंदभग्गो सुक्काणि तणाणि कोहे वि लभामि ताणि वि न पज्जत्तिगाणि एव पाणियं पि ण य मे को वि भालेति । ताए भण्णत्ति पुत्त आतुरचिण्णाइं " गाहा । जहा आतुरो मरिउं कामो जमगातिपच्छं वा अपच्छं वा तं दिज्जतिते स एव नदिओ मारिज्जिहित्ति जहा तदा पेच्छेहिसि इति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥

ततः कीदृशो जातः किञ्च कुरुते इत्याह ॥

तओ स पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे ।
पाणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥

तत इत्योदनादिदानाद्धेतौ पञ्चमी स इत्युरभ्रः पुष्ट उपचितमांसतया पुष्टिभाक् परिदृढः प्रभूः समर्थ इति यावत् । जातमेद उपचितचतुर्थधातुरत एव महोदरो बृहज्जठरः प्राणितस्तर्पितो यथासमयमुपढौकिताहारत्वादेभिरेव हेतुभिर्विपुले विशाले देहे शरीरे सति यस्य च भावेन भावलक्षणमिति सप्तमी किमित्याह । आदेशं प्रतिकाङ्क्षेति पाठान्तरतः परिकाङ्क्षति वेच्छति नचास्य तत्वतः प्रतिपालनामिच्छा च संभवत्यतः प्रतिकाङ्क्षतीव प्रतिकाङ्क्षतीत्युपमार्थोऽवगन्तव्यः एव परिकाङ्क्षतीत्यत्रापीति सूत्रार्थः ॥ ३२ ॥ स किमेव चिरस्थायी स्यादित्याह ॥

जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छित्तूण भुंजइ ॥

यावदिति कालावधारण नैति नायाति कोऽसावादेशस्तावन्नोत्तरकाल जीवति प्राणान् धारयति (सेदुहित्ति) आकारप्रश्लेषात्स इत्युरभ्रो दुःखी सन्नथवा वध्यमण्डनमिवास्यौदनदानानीति तत्वतो दुःखितैवास्येति दुःखी (अहपत्तम्मि आएसे) अथानन्तर प्राप्ते आगते आदेशे श्रिता अस्मिन् प्राणा इति शिरस्तच्छित्त्वा द्विधा विधाय भुज्यते तेनैव स्वामिना पाहुणकसहितेनेति शेष । सम्प्रति सम्प्रदायशेषमनुश्रियते ततोऽसौ "वच्छगो ततो नंदियंग पाहुणगेसु आगएसु च हिज्जमाण दट्ठु तिसितो वि भएण माऊए थण णाभिलसति । ताए भण्णति किं पुत्त भयभीतोसि णेहेण पण्हुयं पि मे ण पिबसि तेण भण्णति अम्म कओ से थणाभिलासो णणु सोवराओ णदिओ अज्ज केहिं वि पाहुणएहिं आगएहिं मम अग्गतो वि गयजीहो वि लोलनयणो विस्सर रसतो अत्तणो असरणो मारिओ तब्भयाओ मे कओ पाउमिच्छा तओ ताए भणति पुत्त ! णणु तदा चेव कहियं जहा आउरचिण्णाइं एयाइं एस सविवागो अणुपत्तो एस दिट्ठतो " इति सूत्रार्थः । इत्थ दृष्टान्तमभिधाय तमेवानुवदन् दार्ष्टान्तिकमाह ।

जहा खलु से उरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥

यथा येन प्रकारेण खलु निश्चये स इति प्रागुक्तरूप उरभ्र आदेशाय आदेशार्थे समीहित कल्पितः सन् यथा यस्मै भविष्यत्यादेशं परिकाङ्क्षतीत्यनुवर्तते एवमनुनैव न्यायेन बालोऽज्ञोऽधर्म्मो धर्मविपक्ष पापमिति यावत् इष्टोऽभिलषितोऽस्येत्यधर्म्मिष्ठ आहितादेराकृतिगणत्वादिष्टशब्दस्य परनिपात । यद्वाऽधर्म्मगुणयागादधर्म्मोतिशयेनाधर्म्माधर्म्मिष्ठ इह ईहते वाञ्छतीव तदनुकुलाचारतया किं नरकायुष्कं नरकजीवितामिति सूत्रार्थः ।

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयितुमाह ।

हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणम्मि विलोवए ।
अन्नादत्तहरे तेणे, माई कन्नु हरे सढे ॥

इत्थीविसयगिद्धे य, महारंभपरिग्गहे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे ॥
अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चिय लोहिए ।
आउयं नरए कंखे, जहाएसं व एलए ॥

हिनस्तीत्येव शीलो हिंस्रः स्वभावतः प्राणव्यपरोपणकृद्बालोऽज्ञः पाठान्तरतश्च कुप्यति हेतुमन्तरेणापि कुप्यतीत्येव धर्म्मो क्रोधी मृषाऽलीकं वदति प्रतिपादयतीत्येवं शीलो मृषावादी अध्वनि मार्गे विलुम्पति मुष्णातीति विलोपकः । यः पथि गच्छतो जनान् सर्वस्वहरणतो लुण्ठति (अन्नदत्तहरेति) अन्येऽन्यो दत्त राजादीनां विस्तीर्णं हरत्यापान्तराल एवाच्छिन्नत्यन्यदत्तहरः । अन्यैर्वा अदत्तमनिसृष्टं हरत्यादत्ते अन्यादत्तहरो ग्रामनगरादिषु चौर्यकृत् अत एव बालोऽज्ञो विस्मरणशीलः स्मारणार्थमेतदिति न पौनरुक्त्य सर्वावस्थासु वा बालत्वख्यापनार्थं पाठान्तरतश्च स्तैन्येनैवोपकल्पितात्मवृत्तिः । यद्वा अन्य दत्तहरोऽन्यादत्त ग्रन्थिच्छेदादिनोपायेन अपहरति स्तेनः क्षेत्रादिखननेनेति विशेषो मायी वञ्चनैकचित्तः । कन्नुहरः कण्हुकस्यार्थे हरिष्यामीत्येवमध्यवसायी शठो वक्राचारः तथा स्त्रियश्च विषयाश्च स्त्रीविषयास्तेषु गृद्धोऽभिकाङ्क्षावान् स्त्रीविषयगृद्धश्च प्राग्वन्महानपरिमितः आरम्भोऽनेकजन्तूपघातकृद्व्यापारः परिग्रहश्च धान्यादिसञ्चयो यस्य स तथोक्तो भुञ्जानोऽभ्यवहरन् सुरां मांस पिशित (परिवूढोत्ति) परिवृढः प्रभुरुपचितमांसशोणिततया तत्तत्क्रियासमर्थ इति यावत् । अत एव परानन्यान् दमयति न्यक्कृत्याभिमतकृत्येषु प्रवर्तयतीति परदमः । किञ्च अजश्छागस्तस्य कर्कर यच्चणकवद्भक्ष्यमाण कर्करायते तच्चेह प्रस्तावान्मेदो दन्तुरमतिपक्व वा मांस तद्भोजी वाऽत एव तुन्दिलो जातबृहज्जठरश्चितमुपचयप्राप्त लोहित शोणितमस्येति चितलोहितः । शेषधातूपलक्षणमेतत् आयुर्जीवित नरके सीमन्तकादौ काङ्क्षतीव काङ्क्षति तद्योगकर्म्मारम्भितया कामिव क इवेत्याह (जहाएस व एलएत्ति) आदेशमिव यथैलक उक्तरूप इह च हिंसे इत्यादिना सार्द्धश्लोकेनारम्भ उक्तो भुञ्जमाणे सुरमित्यादिना चार्द्धद्वयेन रसगृद्धिः आयुषमित्यादिनाचार्द्धेन दुर्गतिगमन तत्प्रतिपादनाच्चार्थतः प्रत्युपायाभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ इदानीं यदुक्तमायुर्नरके काङ्क्षतीति तदनन्तरमसौ किं कुरुते इत्याह । यद्वा साक्षादैहिकापाय दर्शनायाह ॥

आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहु संचिणिया रयं ॥
तओ कम्मगुरू जंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अयव्व आगयाएसे, मरणं तम्मि सोयए ॥

आसनं शयनं यानमिति प्राग्वन्नवरं भुक्त्वेति सबन्धनीयं वित्त द्रव्यं कामान्मनोज्ञशब्दादीन् भुक्त्वोपभुज्य (दुस्साहडंति) दुःखेनात्मनः परेषां च दुःखकरणेन क्षुद्वादरातिशयेनाहृतमुपार्जित दुःस्वाहृतम् । यदि वा प्राकृतत्वात् दुःखेन संह्रियते मील्यतेस्मेति दुस्संहृत धन द्रव्य हित्वा आसनादुपभोगेन द्यूताद्यसद्व्ययेन च त्यक्त्वा तथा च मिथ्यात्वादिकर्म्मबन्धहेतुसंभवाद्बहु प्रभूत सचित्योपार्ज्य रजोऽष्टप्रकारं कर्म्म । तत किमित्याह । (ततोत्ति) ततो रज सचयात् कर्मणा वा सचितरजाः कर्म्मणा गुरुरिव गुरुरधो नरकगामितया कर्म्मगुरुर्जन्तु प्राणी प्रत्युत्पन्न वर्त्तमान तस्मिन्परायणस्तन्निष्ठ "एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचर " इति नास्तिकमतानुसारितया परलोकनिरपेक्ष इति यावत् । (आएयाव)

अजः पशुः स चेह प्रक्रमादुरभ्रस्तद्वत् (आगयाएसम्मि) प्राकृतत्वादागते प्राप्ते आदेशे प्राघुणके एतेन प्रपञ्चितप्रविनेयानुग्रहायोक्तमेवोरभ्रदृष्टान्तं स्मारयति । किमित्याह । मरणान्ते प्राणपरित्यागात्मन्यवसाने शोचति । किमुक्तं भवति यथादेश आगत उरभ्र उक्तनीत्या शोचति तथाऽयमपि धिग्मां विषयव्यामोहत उपार्जितगुरुकर्म्माणं हा केदानीं मया गन्तव्यमित्यादिप्रलापतः खिद्यतेऽत्यन्तनास्तिकस्यापि प्रायस्तदा शोकसम्भवादिति सूत्रद्वयार्थः । अनेनैहिकोपाय उक्तः ।

संप्रतिपारभविकमाह ॥

तओ आउपरिक्खीणे, चुया देहविहिंसगा ।
आसुरीयं दिसं बाला, गच्छंति अवसातमं ॥

ततः शोचनानन्तरं को वा उपार्जितगुरुकर्मा आयुषि तद्भवसंभविनि जीविते परिक्षीणे सर्वथा क्षयं गते कथञ्चिदायुः क्षयस्यावीचीमरणेन प्रागपि सम्भवादेवमुच्यते । च्युतो भ्रष्टो देहाच्छरीरात्पाठान्तरस्तु च्युतदेहोपगते हन्त्यशरीरो विहिंसको विविधप्रकारैः प्राणिघातकः (आसुरीयति) अविद्यमानसूर्यामुपलक्षणत्वात् ग्रहनक्षत्रादिविरहितां च दिश्यते नारकादित्वेनास्यां संसारीति दिक्तामर्थोद्भावदिवामथवा रौद्रकर्म्मकारी सर्व्वोऽप्यसुर उच्यते । ततश्चासुराणामियमासुरीया तामासुरीयां दिश नरकगतिमित्यर्थो बालोऽज्ञो गच्छति यात्यवशः कर्मपरवशो वचनव्यत्ययाच्च सर्वत्र बहुवचननिर्देशो व्याप्तिख्यापनार्थो वा यथा नैक एवैवविध किंतु बहव इति (तमति) तमोयुक्तत्वात्तमो देवगतेरप्यसूर्यत्वसंभवात्तद्व्यवच्छेदाय दिशो विशेषणम् । ततोऽर्थान्नरकगतिम् । उक्तंहि " निच्चंधयारतमसा, ववगयगहचंदसूरनक्खत्ता " इत्यादिस्वरूपख्यापक वा द्वितीय व्याख्यानमिति सूत्रार्थः ।

संप्रति काकण्याम्रदृष्टान्तद्वयमाह

जहा कागणीए हेउं, सहस्सं हारए नरो ।
अपच्छं अंबगं भुच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥ ११ ॥
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामा य अंतिए ।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामाय दिव्विया ॥१२॥
अणेगवासाणउया, जा सा पएणवओ ठिई ॥
जाणि जीयंति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ॥१३ ॥

(जहासूत्रम्) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । काकन्या उक्तरूपाया. (हेउंति) हेतोः कारणात्सहस्र दशशतात्मक कार्षापणानामिति गम्यते हारयेन्नाशयेन्नरः पुरुषोऽत्रोदाहरण सम्प्रदायादवसेय " एगो दमगो तेण वित्तिं करिंतेण सहस्स काहावणाण अज्जियं सो तं गहाय सत्थेण सम सगिहिं पत्थितो । तेण भत्तनिमित्त रूवगो कागिणीहिं भिन्न ततो दिणे दिणे कागणिए भुंजति तस्स य अवसेसा एका कागिणी सा विस्सारिया सत्ये पहाविए सो चिंतेइ मा मे रूवगो भिंदिअव्वो होहेतित्ति नउलग अन्नय गोवेउ कागिणीनिमित्त नियतो सावि कागिणी अन्नेण हुना सो वि नउलओ अन्नेण दिट्ठो उविज्झतो सो त घेत्तूण नट्ठो पच्छा सो दारं गतो सोयइ एस दिट्ठंतो" तथाऽपथ्यमहितमाम्रफलमाम्रफलं भुक्त्वावाहत्य राजेति नृपती राज्य पृथिवीपतित्वं तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च तेन हारयेदेव समयत्येव । अस्यापथ्यभोजिनो हारणमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेय । स चायम् । " जहा कस्सइ रन्नो अयाजिण्णेण विसूइगा जाया सा तस्स वेज्जेहिं महाजत्तेण चिगिच्छिया भणितो जदि पुणो अंबाणि खाइसि तो विणस्ससि । तस्स य अतीव पियाणि अंबाणि तेण

सदेसे सव्वे अंबाउ उत्थाविया । अन्नया अस्स घाहणिए निग्गतो सह अमच्चेण अस्सेण अवहरिओ अस्सो दूर गतूण परिस्संतो ठितो एगम्मि वणसंडे चूयच्छायाए अमच्चेण वारिज्जमाणो वि णिविट्ठो । तस्स य हेट्ठे अयाणि पडियाणि सो ताणि परामुसति । पच्छा अग्घाति पच्छा चक्खिउं निट्ठुभति । अमच्चो वारेति पच्छा भक्खेउ मतो " इति सूत्रार्थः । इत्थ दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह । (एव गाहा) एवमिति काकिन्याम्रकसदृशानां मनुष्याणाममी मानुष्यका गोत्रप्रत्ययान्तत्वात् । गोत्रचरणाविति वुञ् कामा विषया देवकामानां देवसयन्धिनां विषयाणामन्तिके समीपे अन्तिकोपादान च दूरे अनवधारणमपि स्यादिति । किमित्येवमत आह । सहस्रगुणिता. सहस्रैस्ताडिताः भूयोऽतिशयेन बहु बहून्वारानित्यर्थे मनुष्यायुः कामापेक्षयेति प्रक्रमोऽनेनैषामतिभूयस्त्व सूचयन्कार्षापणसहस्रराज्यतुल्यतामाह । आयुर्जीवित कामाश्च शब्दादयो (दिव्वियत्ति) दिवि भवा दिव्या गुणागुदक्प्रतीचो यदिति यत्त एव दिव्यकाः इहचार्थे । [देवकामाणअतिपत्ति] काममात्रोपादानेऽपि अयुष्कामाय [तिव्वियत्ति] आयुषोऽप्युपादानम् । तत्र प्रज्ञापयितुमाह (अणेगसूत्र) अनेकानि बहूनि तानि चेहासङ्ख्येयानि वर्षाणि वत्सराणि तेषा न युतानि सख्याविशेषा वर्षनयुतान्यऽनेकानि च तानि वर्षनयुतानि स्वरोऽन्योन्यस्येति प्राकृतलक्षणात् सकाराकारदीर्घत्वमेवमन्यत्रापि स्वरान्यत्व भावनीयम् । यदिवा अनेकानि वर्षनयुतानि येषु तान्यनेकवर्षनयुतान्युभयत्रार्थात्पल्योपमसागराणीति यावत् । नयुतानयनोपायस्त्वयं चतुरशीतिवर्षलक्षा पूर्व्वाङ्ग तच्च पूर्व्वाङ्गेन गुणितं पूर्व्वं चतुरशीतिलक्षाहत नयुताङ्ग नयुताङ्गमपि चतुरशीतिलक्षाभिताडित नयुतांङ्कैवमुच्यत इत्याह । या सेति प्रज्ञापक शिष्यान्प्रत्येवमाह । या सा भवतामस्माकं च प्रतीता । प्रकर्षेण ज्ञायते वस्तुतत्वमनयेति प्रज्ञा हेयोपादेयविवेचिका बुद्धिः सा विद्यते यस्यासौ प्रज्ञावानतिशायने मतुप् । अतिशयश्चास्या हेयोपादेययोर्हानोपादाननिबन्धनत्वमिहाभिमतं नतश्च क्रियाया अप्याक्षिप्तत्वात् । यदि वा निश्चयनयमतेन क्रियारहिता प्रज्ञाप्यप्रज्ञैवेति प्रत्ययेनैव क्रिया क्षिप्यते नत प्रज्ञावान् ज्ञानक्रियावानित्युक्तं भवति तस्य प्रज्ञावत । स्थीयते अनया अर्थाद्देवभवे इति स्थितिर्देवायुरधिकृतत्वात् । दिव्यकामाश्च । तानि च कीदृशानीत्याह । यान्यनेकवर्षनयुतानि दिव्यस्थितेर्दिव्यकामानां च विषयभूतानि जीयन्ते हार्यन्ते तद्धेतुभूतानुष्ठानानासेवनेनेति भाव । पाठान्तरतो हारयन्ति वा के ते दुष्टा विषयादिदोषदुष्टत्वेन मेधा वस्तुरूपावधारणशक्तिरेषा ते दुर्मेधसो विषयैर्जिता जन्तव इति गम्यते । क्वा पुनस्तानि दुर्मेधसो विषयैर्जीयन्त इत्याह ऊने वर्षशतायुष्यनेनायुषोऽल्पत्वान्मनुष्यकामानामप्यल्पतामाह । यद्वि वा प्रभूते ह्यायुषि प्रमादैनैकदा हारितान्यपि पुनर्जीयेरन्नस्मिंस्तु सङ्क्षिप्तायुष्येकदा हारितानि हारितान्येव भगवतश्च वीरस्य तीर्थे प्रायोऽन्यूनवर्षशतायुष एव जन्तव इत्ययमुपन्यासः । अय चात्र भावार्थो ऽल्पं मनुष्याणामायुर्विषयाश्चेति काकण्याम्रफलोपमा देवायुर्देवकामाश्चातिप्रभूततया कार्षापणसहस्रराज्यतुल्या । ततो यथा द्रमको राजा च काकण्याम्रफलार्थं कार्षापणसहस्रराज्य च हारितवानेवमेतेऽपि दुर्मेधसोऽल्पतरमनुष्यायु कर्मार्थं प्रभूतान्देवायु कामान् हारयन्तीति सूत्रार्थ ॥

सम्प्रति व्यवहारोदाहरणमाह ॥

जहा य तिण्णि वाणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ॥
एगो तत्थ लहइ लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥ १४ ॥

एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ॥
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥ १५ ॥
माणुस्सत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ॥
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥ १६ ॥

यथेति प्राग्वत्। चः प्रतिपादितदृष्टान्तापेक्षया समुच्चये । त्रयो वणिजः प्रतीता मूलराशिं नीविमिति यावत् गृहीत्वा निर्गताः स्वस्थानात् स्थानान्तरं प्रति प्रस्थिताः प्राप्ताश्च समीहितस्थानम् । तत्र च गतानामेको वणिक्कलाकुशलोऽत्रैतेषु मध्ये लभते प्राप्नोति लाभं विशिष्टद्रव्योपचयलक्षणम् । एकस्तेष्वेवान्यतरो यस्तथा नातिनिपुणो नाप्यत्यन्तानिपुणः स (मूलेणत्ति) मूलधनेन यावद्गृहान्नीतं तावतैवोपलक्षित आगतः स्वस्थानं प्राप्त इति सूत्रार्थः । तथा (एगो सूत्रम्) एकोऽन्यतरः प्रमादपरो द्यूतमद्यादिष्वत्यन्तमासक्तचेता मूलमप्युकरूपं हारयित्वा नाशयित्वा गतः प्राप्तः स्वस्थानमित्युपस्कारः । एवं सर्वत्रोदाहरणसूचायां सोपस्कारता द्रष्टव्या । तत्र तेषु मध्ये वणिगेव वाणिजः अत्र च संप्रदायः " जहा एगस्स वाणियगस्स तिन्नि पुत्ता तेण तेसिं सहस्सं दिन्नं काहावणाण भणिया य । एएण ववहरिऊण पत्तिएण कालेण एज्जह ते तं मूलं घेत्तूण निग्गया सनयराउ विविधविधेसु पट्टणेसु ठिया तत्थेगो भोयणच्छायणवज्ज जूयमज्जमंसवेसावसणविरहितो विहीए ववहरमाणो विपुललाभसंपुन्नो जातो। वितितो पुण मूलमवि वितो लाभगं भोयणच्छायणमल्लालकारादिसु उवभुंजति णय अच्चादरेण ववहरति । तइओ न किंचि ववहरइ केवलं जूयमंसवेसगंधमल्लतंबोलसरीरकिरियासु अप्पेणेव कालेण तं दव्वं निट्ठवियं ते य जहावहिकालस्स सपुरमागया तत्थ जो छिन्नमूलो सो सव्वस्स असामी जातो पेसए व उवचरिज्जति । वितिओ घरवावारे निउत्तो भत्तपत्तिसंतुट्ठो ण दातव्वभोत्तव्वे सु च सायनि । ततिओ घरवित्थरस्स सामी जातो के वि पुण कहिंति तिन्नि वि वाणियगा पत्तेयं २ ववहरंति । तत्थेगो छिन्नमूलो एसत्तणमुवगतो केण वा सववहारं करेउ अच्छिन्नमूलो पुणरवि वाणिज्जाए भवति । इयरो बंधुसहितो मोदते एस दिट्ठंतो "
सम्प्रति सूत्रमनुश्रियते व्यवहारे व्यवहारविषया उपमा दृष्टान्तः । एषाऽनन्तरोक्ता वक्ष्यमाणन्यायेन धर्मे धर्मविषयामेनामेवोपमां विजानीत अवबुध्यत यूयमिति सूत्रार्थः। कथमित्याह ॥ (माणुसत्तं सूत्रम्) मानुषत्वं मनुजत्वं भवेत्स्यात् मूलमिव मूलं स्वर्गापवर्गात्मकतदुत्तरोत्तरलाभहेतुतया तल्लाभ इव लाभो मनुजगत्यपेक्षया विषयसुखादिभिर्विशिष्टत्वाद्देवगतिर्देवत्वावाप्तिर्भवेत् एवं च स्थिते किमित्याह। मूलच्छेदेन मानुषत्वगतिहान्यात्मकेन जीवानां प्राणिनां नरकतिर्यक्त्वं नरकत्वं तिर्यक्त्वं च तद्गत्यात्मकं ध्रुवं निश्चितम् इहापि संप्रदायः । " तिन्नि संसारिणो सत्तमाणुसे आयाता तत्थेगो मद्दवज्जवादिगुणसंपन्नो मज्झिमारंभपरिग्गहजुत्तो कालं काऊण काहावणस्स मूलत्थाणीयं तमेव माणुसत्तं पडिलभति । वितिओ पुण सम्मदंसणचारित्तगुणेसु ठितो सरागसंजमेण लद्धलाभवणिय इव देवेसु उववन्नो । ततितो पुण हिंसे वाले मुसावाती इच्चेतेहिं पुव्वभाणिएहिं सावज्जजोगेहिं वट्टिओ छिन्नमूलवणिय इव नरगेसु तिरिएसु वा उववज्जति इति सूत्रार्थः ॥

यथा मूलच्छेदेन नारकतिर्यक्त्वप्राप्तिस्तथा स्वयं सूत्रकृदाह।

दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिआ ।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलुया सढे ॥१७॥
तओ जिएसइं होइ, दुविहं दुग्गइं गए ।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाएसु चिरादवि ॥१८॥
एवं जीयं स पेहाए, तुलिया बालं च पंडियं ।
मूलियं ते पवेसंति, माणुस्सं जोणिमंति जे ॥१९॥

द्विधा द्विप्रकारा गम्यत इति गतिः सा चेह प्रक्रमान्नरकगतिस्तिर्यग्गतिश्च । कस्येत्याह बालस्य द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यामाकलितस्य(आगइत्ति) आगच्छत्यापतति । बधः उपलक्षणत्वान्महारम्भमहापरिग्रहानृतभाषणमायादयश्च मूल कारणं यस्याः सा वधमूलिका। यदि वा द्विधा गतिर्बालस्य भवतीति गम्यते। तत्र च तस्य (आवइत्ति) आपत्सा च कीदृशीत्याह । बधो विनाशस्तादनं वा मूलमादिर्यस्याः सा बधमूलिका। मूलग्रहणाच्छेदभेदातिभारारोपणादिपरिग्रहः । लभन्ते हि प्राणिनो नरकतिर्यक्षु विविधा बधाद्यापदः। किमित्येवमत आह देवत्वं देवभवं मानुषत्वं च मनुजभवं यद्यस्माज्जितो हारितो (लोलयासढेत्ति) लोलता पिशितादिलाम्पट्यं तद्योगाज्जन्तुरपि तन्मयत्वख्यापनार्थं लोलतेत्युक्तः। शाठ्ययोगाच्छठः विश्वस्तानां वञ्चकस्ततो लोलता चासौ शठश्च लोलताशठः। पञ्चेन्द्रियबधाद्युपलक्षणतया च नरकहेत्वभिधानमेतत् यदुक्तं " महारम्भयाए परिग्गहयाए कुणिमाहारेणं पंचिंदियवहेण जीवा निरयाउयं नियच्छंति " शठ इत्यनेन तु शाठ्यमुक्तं तच्च तिर्यग्गतिहेतुरुक्तं च "माया तैर्यग्योनस्येति" अतश्चायमाशयो यतोऽयं बालो लोलताशठस्ततो नरकतिर्यग्गतिनिबन्धनाभ्यां लोलताशाठ्याभ्यां देवत्वमनुजत्वे हारितस्यास्योक्तरूपाद्विधैव गतिः संभवत्येवं मूलच्छेदेन जीवानां नरकतिर्यक्त्वमुच्यते । मूलं हि मनुष्यत्वं लाभश्च देवत्वमनुजयोरपि तयोर्हारणादिति सूत्रार्थः । पूनर्मूलच्छेदमेव समर्थयितुमाह । (ततोजिएत्ति) ततो देवत्वमानुषत्वजयात् को वा बाल• (जिएत्ति) व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्य जित एव सततं सदा भवति द्विविधा नरकतिर्यग्भेदात्तां द्विभेदां दुर्निन्दायां दुष्टा निन्दिता गतिर्दुर्गतिस्तां गतः प्राप्तः सदा जितत्वमेवाभिव्यनक्ति दुर्लभा दुष्प्रापा तस्येति देवमनुजत्वे हारितवतो बालस्य (उम्मग्गत्ति) सूत्रत्वात् उन्मज्जनमुन्मज्जा नरकगतितिर्यग्गतिनिर्गमनात्मिका स्यादेतच्चिरतरकालेनोन्मज्जास्य भविष्यत्यत आह । सुचिराद्धायां काले अर्थादागामिन्यां किंस्वल्पायामेवत्याह । सुचिरादपीत्यद्धा शब्देनैव कालाभिधानात् सुचिराच्छब्दः प्रभूतत्वमाह । ततोऽयमर्थोऽनागताद्धायां प्रभूतायामपि बाहुल्याच्चैवमुक्तमन्यथा हि केचिदेकभवेनैव तत उद्धृत्य मुक्तिमप्यानुवन्त्येवेति सूत्रार्थः॥ इत्य पश्चानुपूर्व्यापि व्याख्याक्रमिति पश्चादुक्तेऽपि मूलसूत्रार्थः विपक्षा हारिण्युपनयमुपदर्श्य मूलप्रवेशिन्यभिधातुमाह । यद्वा विपक्षापायास्तज्ज्ञानत एवोपादेयप्रवृत्तिरिति पश्चादुक्तमपि मूलप्रवेशमादावुपदर्शयदमाह (एवसूत्रम्) एवमुक्तनीत्या (जियंति) मुच्यत्यया ज्जित लोलतया शाठ्येन च देवमनुजत्वे हारितं बालमिति प्रथमतः (सपेहाएत्ति) संप्रेक्ष्य सम्यगालोच्य तथा तोलयित्वा गुणदोषवत्तया परिज्ञाय यदि चैव जित सम्यगतितोलयित्वा कं बाल चस्य निभरीता प्रेक्षा बुद्धि संप्रेक्ष्यतया तोलयित्वा कं बाल चस्य विपरीतमर्यान्मनुष्यदेवगतिगामिनमिह च विक्रमत्वात्पाण्डितं तद्विपरीतमर्थान्मनुष्यदेवगतिगामिनमिह च द्वितीयायां व्याख्यायामेव जितमिति बालस्य विशेषणम् नतु पण्डितस्यासंभवात् । तथा च सति मूलं भवं मौलिक मूलधनं तेप्रवेशयन्ति मूलप्रवेशकवणिक्सदृशास्त इत्यभिप्रायो ये किमि•

स्याह (माणुस्सत्ति) मनुष्याणामियं मानुषी तां योनिमुत्पत्तिस्थानमायान्त्यागच्छन्ति बालत्वपरिहारेण पण्डितत्वमासेवमाना ये ते इति सूत्रार्थः ॥

यथा च मानुषीं योनिमायान्ति तथाह ॥

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ॥
उवेंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥ २० ॥
जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइत्थिया ॥
सीलवंता स विसेसा, अदीणा जंति देवयं ॥ २१ ॥
एवं अदीणयं भिक्खुं, अगारिं च वियाणिया ॥
कहणं जिच्च मेलिक्खं, जिच्चमाणो न संविदे ॥ २२ ॥

विविधा मात्रा परिमाणमासां विमात्रा विचित्रपरिमाणास्ताभिः परिमाणविशेषमाश्रित्य विमात्राभिः शिक्षाभिः प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासरूपाभिरुक्तंहि "चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुयाउयं पकरेंति तंजहा पगतिभद्दयाए पगतिविणिययाए साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए त्ति" ये इत्यविवक्षितविशेषा नरा पुरुषा गृहिणश्च गृहस्थाः सुव्रताश्च धृतसत्पुरुषव्रतास्ते हि प्रकृतिभद्रकत्वाद्यभ्यासानुभावत एव न विपद्यपि विषीदन्ति सदाचारं वा अवधीरयन्ति त्याद्विगुणान्विता इदमेव च सतां व्रतं लौकिका अप्याहुः । विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं हि महतां, प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् । असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः, सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ इति आगमविहितव्रतधारणं त्वमीषां सन्निहितगतिहेतुतयैव तदभिधानात् ईदृशाः किमित्याह (उविंतित्ति) उपयन्ति (माणुसंति) मानुषीं मानुषसंबन्धिनीं योनिमुक्तरूपां कर्म्मणा मनोवाक्कायक्रियालक्षणेन सत्याः अविसंवादिनः कर्म्मसत्याः । हुरवधारणे तत कर्म्मसत्या एव न तु तद्विसत्यतया तिर्यग्योनिहेतुत्वेनोक्तत्वात् । तथा च वाचकः " धूर्त्ता नैकृतिकाः स्तब्धा, लुब्धाः कार्पटिकाः शठाः । विविधा ते प्रपद्यन्ते, तिर्यग्योनिं दुरुत्तरा" मित्यादि पाठान्तरतश्च कर्म्मस्वर्थान्मनुष्यगतियोग्यक्रियारूपेषु शक्ताः अभिष्वक्ताः कर्म्मशक्ताः प्राणिनो जीवा इह च नरग्रहणे सति प्राणिग्रहणं देवादिपरिग्रहार्थमिति न पुनरुक्तम् यदि वा विमात्राभिः शिक्षाभिर्ये नरा गृहिणः सुव्रता धृतव्रतानियमाभिसंबन्धास्ते मानुषीं योनिमुपयान्ति किमित्येवमत आह (कम्मसच्चाहुपाणिणोत्ति) हु शब्दो यस्मादर्थे यस्मात्सत्यान्यवन्ध्यफलानि कर्म्माणि ज्ञानावरणादीनि येषां ते सत्यकर्म्माणः प्राणिनो निरुपक्रमकर्म्मापेक्षं चैतदिति सूत्रार्थः । सम्प्रति लब्धालाभोपनयमाह (जेसिंसूत्रं) येषां तु पुनर्विपुलानि शङ्कितत्वादिसम्यक्त्वाचाराणुव्रतमहाव्रतादिविषयत्वेन विस्तीर्णा शिक्षा ग्रहणासेवनात्मिकास्तीति गम्यते । मूले भव मौलिकं मूलधनमिव मानुषत्वं ते य एवंविधाः (तिन्नस्थियात्ति अतिट्टियात्ति अतिच्छियात्ति) पाठत्रयेऽपि अतिक्रान्ता उल्लङ्घितवन्त इत्यर्थः । यद्वा अतिक्रम्योल्लङ्घ्य कीदृशाः सन्तः शीलं सदाचारोऽविरतसम्यग्दृशां विरतिमतां तु देशसर्वविरमणात्मकं चारित्रं तद्विद्यते येषां ते शीलवन्तः । तथा सह विशेषेणोत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तिलक्षणेन वर्तन्त इति सविशेषाः अत एवादीनाः कथं वयममुत्र भविष्याम इति वैक्लव्यरहिताः परीषहोपसर्गादिसंभवे वा न दैन्यभाज इति अदीना यान्ति प्राप्नुवन्ति ते । देवभावो देवता सैव दैवतं न तु तत्त्वतो मुक्तिगतिरेव लाभस्तत्किमिह तत्परिहारतो देवगतिरुक्तेत्युच्यते । सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वान्मुक्तेश्चेदानीं विशिष्टसंहननाभावतोऽभावाद्वगतेश्च " छेवट्ठेण उ गम्मइ चत्तारि उ जाव आदिमा कप्पा " इति वचनाच्छेदपरिवर्तिसंहनिनामिदानींतनानामपि संभवादेव मुक्त-

मिति सूत्रार्थः ॥ प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्नुपदेशमाह । (एवंसूत्रम्) एवममुना न्यायेन लाभान्वितम् (अदीणवंति) दीनः क्लवतां दीनवन्तः न तथा दीनवन्तमदीनं दैन्यरहितमित्यर्थो भिक्षुं यतिमगारिणं च गृहस्थं विज्ञाय विशेषेण तथाविधशिक्षावशाद्देवमनुजगतिगामित्वलक्षणेन ज्ञात्वाऽवगम्य यतमान इति शेषः । कथं केन प्रकारेण न कथंचिदित्यर्थो नु वितर्के (जिच्चंति) सुत्रत्वाज्जीयेत हार्येत विवेकी तत्प्रतिकूलैः कषायो दयादिभिरिति गम्यते । ईदृक्षमनन्तरोक्तं देवगत्यात्मकं लाभं (जिच्चमाणोत्ति) वा शब्दस्य गम्यमानत्वाज्जीयमानो वा हार्यमाणस्तैरेव कषायादिभिर्न संविते सुत्रत्वान्न संवेत्ति न जानीते यथाहमेभिर्जीय इति । कथं न्वितीहापि योज्यते ततोऽयमर्थः कथं नु संवित्ते एव जानीते एव ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तन्निरोधं प्रति प्रयतते एवेत्येव च वदन् कांश्चोपदिशति यत एवं ततो यूयमप्येवं जानाना यथा न देवगतिलक्षणं लाभं जीयध्वं काषायादिभिस्तथा यतध्वं कथंचिज्जीयमानाश्च सम्यग्विज्ञाय तत्प्रतीकारायैव प्रवर्तध्वमिति । यद्वा एवमदीनवन्तं भिक्षुमगारिणं च लब्धलाभं विज्ञाय यतमानो कथं नु जीयन्ति आर्षत्वात् जीयते हार्यते अतिरौद्रैरिन्द्रियादिभिरात्मा तदिति ज्ञेयं तथेह प्रक्रमान्मानुष्यदेवगतिलक्षणं (पलिक्खंति) सुब्व्यत्ययादीदृक्षोऽभिहितार्थो भिक्षुः कथं नु जीयमानो न संवित्तेऽपि तु संवित्त एव संविदानश्च यथा न जीयते तथा यतेतेत्यभिप्रायोऽथवैवमदीनवन्तं भिक्षुमगारिणं च लब्धलाभं विज्ञाय यतमानः कथं नु (जिच्चति) आर्षत्वाज्जीयते हार्येत विषयादिभिरिति गम्यते । ईदृक्षं देवगतिलक्षणं लाभमिति शेषः । अयमाशयो यदि लभमाना न विज्ञाताः स्युर्लाभो वा न तथाविधस्तदा जयनमपि स्याद्यदा तु लभमानौ भिक्ष्वगारिणौ दृश्येते लाभश्च देवत्वलक्षणस्तदा कथमयं जानानोऽपि जन्तुर्जीयते यत आह जीयमानो न संवित्ते । किमुक्तं भवति । यदासौ जीयमानो जानीयात्तदा तदुपायपरतया न जीयेत यदा त्वसौ विषयव्यामोहतो न जानीते तदा जीयत एवेति किमत्र चित्रमिति सूत्रार्थः ।

समुद्रदृष्टान्तमाह ।

जहा कुसग्गे उदयं, समुद्देण समं मिणे ।
एवं मणुस्सया कामा, देवकामाण अंतिए ॥ २३ ॥
कुसग्गमत्ता इमे कामा, संनिरुद्धम्मि आउए ।
कस्स हेउं पुरा काउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥ २४
इह कामा नियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झइ ।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई ॥ २६ ॥

यथेति दृष्टान्तोपन्यासे कुशो दर्भविशेषस्तस्याग्रं कोटिः । कुशाग्रं तस्मिन्नुदकं जलं तत् किमित्याह समुद्रेणेति तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायात्समुद्रजलेन समं तुल्यं मिनुयात्परिच्छिन्द्यात् । तथा किमित्याह-एवमुक्तनीत्या मानुष्यका मनुष्यसंबन्धिनः कामा विषया मनुष्यविशेषणं तु तेषामेवोपदेशार्हत्वाद्विशिष्टभोगसंभवाच्च । देवकामानां दिव्यभोगानामन्तिके समीपे कृता इति शेषः । दूरस्थितानां हि न सम्यगवधारणमित्येवमाह । किमुक्तं भवति । यथाऽज्ञः कश्चित्कुशाग्रस्थितं जलबिन्दुमालोक्य समुद्रं मन्यते एवं मूढाश्चक्रवर्त्यादिमनुष्यकामान् दिव्यभोगोपमानध्यवस्यन्ति तत्त्वतस्तु कुशाग्रजलबिन्दोरिव समुद्रान्मनुष्यकामाना दिव्यभोगेभ्यो महदेवान्तरमिति सूत्रार्थः । उक्तमेवार्थं निगमयन्नुपदेशमाह । (कुसमेत्तत्ति) कुशाग्रशब्देन कुशाग्रस्थितो जलबिन्दुरुपलक्ष्यते तन्मात्रास्तत्परिमाण इमे इति प्रत्यक्षाः कामाः प्रकृतत्वात् मनुष्यविषयाः कदा ये इत्याह । सन्निरुद्धेऽत्यन्तसंक्षिप्ते यद्वा सममेकीभा-

येन निरुद्धेऽध्यवसानादिभिरुपक्रमणकारणैरवष्टब्धे आयुषि जीवितेन मनुष्यायुषोऽल्पतया सोपक्रमतया वा कामानामप्यल्पत्वमुक्तं समृद्ध्याद्यल्पतोपलक्षणं चैतदस्मिंस्त्वर्थे उक्ते दिव्यकामास्तु-जलधिजलतुल्या इत्यर्थादवगम्यते (कस्सहेउंति) सूत्रत्वात् कं हेतुं कारणं (पुराकाउं ति) तन एव पुरस्कृत्याश्रित्य अलब्धस्य लाभो योगो लब्धस्य च परिपालनं क्षेमोऽनयोः समाहारे योगक्षेमं । कोऽर्थोऽप्राप्तविशिष्टधर्म्मप्राप्तिं प्राप्तस्य च परिपालने न संविते न जानीते जन इति शेषस्तदसंवित्तौ हि मनुष्यविषयाभिष्वङ्ग एव हेतुस्ते च धर्म्मं प्राप्य दिव्यभोगापेक्षयैवप्रायास्तत एव तत्यागतो विषयाभिलाषिणोऽपि धर्म्मे एव यतितव्यमित्याभिप्रायः । यद्वा यत. कुशाग्रमात्रा दर्भप्रान्तवदत्यल्पा इमे कामास्तेऽपि न पल्योपमादिपरिमितौ ज्ञाया यस्यायुषि किंतु सन्निरुद्धे संक्षिप्ते आयुषि ततः (कस्सहेउंति) कस्माद्धेतोः पुरस्कृत्यैव पुरस्कृत्य मुख्यतयाङ्गीकृत्य असयममिति शेषो योगक्षेममुक्तरूपं न संवित्ते । भावार्थस्त्वभिहित एवेति सूत्रार्थः । इत्थ दृष्टान्तपञ्चकमुक्तम् तत्र प्रथममुरभ्रदृष्टान्तेन भोगानामायतावपायबहुलत्वमाभिहितमायतौ चापायबहुलमपि यन्न तुच्छं न तत्परिहर्तुं शक्यत इति । काकण्याम्रफलदृष्टान्ततस्तुच्छत्व तुच्छमपि च लाभच्छेदात्मकव्यवहाराविज्ञतयाऽऽयव्ययतोलनाकुशल एव हातु शक्त इति । वणिग्व्यवहारोदाहरणमायव्ययतोलनापि च कथ कर्त्तव्येति समुद्रदृष्टान्तस्तत्र हि दिव्यकामानां समुद्रजलोपमत्वमुक्तं तथा च तदुपार्जनं महानायोऽनुपार्जनं तु महान्व्यय इति तत्वतो दर्शितमेव भवति । इह च योगक्षेमासंवेदने कामो निवृत्त एव भवतीति तस्य दोषमाह (इहेति सूत्रम् ।) इहेति मनुष्यत्वे जिनशासने वा प्राप्ते इति शेष । कामेभ्योऽनिवृत्तोऽनुपरत कामानिवृत्त तस्य आत्मनोऽर्थ· आत्मार्थोऽर्थ्यमानतया स्वर्गादि· अप राध्यत्यनेकार्थत्वाद्धातूनां नश्यति । यद्वा आत्मैवार्थ आत्मार्थं स एवापराध्यति नान्य कश्चिदात्मव्यतिरिक्तोऽर्थ· सापराधो भवति उभयत्र दुर्गतिगमनेनेति भाव· । आह विषयत्यागाविरोधिनि जिनागमे सति कथं कामानिवृत्तिरत्र उच्यते श्रुत्वाऽऽकर्ण्य नैयायिकं न्यायोपपन्नं मार्गं सम्यग्दर्शनादिकं मुक्तिपथं यद्यस्माद् भूय· पुन परिभ्रस्यति कामान्निवर्तित इति शेषः । कोऽभिप्रायो जिनागमश्रवणात् कामनिवृत्तिप्रतिपन्नोऽपि गुरुकर्म्मत्वात् प्रतिपतति ये तु श्रुत्वाऽपि न प्रतिपन्ना· श्रवणं येषां नास्ति ते कामनिवृत्ता एवेति भावः । यद्वा यदसौ कामानिवृत्त· सन् श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं भूय· परिभ्रस्यति मिथ्यात्वं गच्छति तदस्यात्मार्थं एव गुरुकर्मोऽपराध्यति अनेन मा भूत्कचित् मूढस्य सिद्धान्तमधीत्याप्युत्पथप्रस्थितान् विलोक्य सिद्धान्त एव द्वेष इति तदनपराधित्वमुक्तं पठ्यते च " पत्तो नेयाउयति " स्पष्टमिति सूत्रार्थ· ॥

यस्तु कामेभ्यो निवृत्तस्तस्य गुणमाह ॥

इह कामनियत्तस्स, अत्तट्ठे नावरज्झइ ॥
पूइदेहनिरोहेणं, भवे देव त्ति मे सुयं ॥ २६ ॥

इह कामेभ्योऽपि निवृत्तस्यात्मार्थः स्वर्गादिर्नापराध्यति न भ्रस्यति आत्मलक्षणो वार्थो न सापराधो भवति किं पुनरेव यत· पूति· कुथितो देहोऽर्थादौदारिकशरीरं तस्य निरोधोऽभावः पूतिदेहनिरोधस्तेन भवेत् स्यात् प्रकृतत्वात् कामनिवृत्तो देव· सौधर्मादिनिवासी सुर· उपलक्षणत्वात्सिद्धो वा इतीत्येतन्मया श्रुतमाकर्णितं परमगुरुभ्य इति गम्यते । अनेन स्वर्गाद्यवाप्तिरात्मार्थोऽनपराधे निमित्तमुक्तमिति सूत्रार्थ ॥

ततश्च यदसावाप्नोति तदाह ॥

इड्ढीजुइजसोवन्नो, आउं सुहमणुत्तरं ॥
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जइ ॥ २७ ॥

ऋद्धिः कनकादिसमुदयो, द्युतिः शरीरकान्ति,र्यशः पराक्रमकृता प्रसिद्धिर्वर्णो गाम्भीर्यादिगुणैः श्लाघा गौरादिर्वा । आयुर्जीवितम्, सुखं यथेप्सितविषयावाप्तावाह्लादो, न विद्यते उत्तरं प्रधानमस्मादित्यनुत्तरमिदं च सर्वत्र योज्यते । भूय पुनर्देवभवापेक्षमेतत्तत्राप्यनुत्तराण्येव तान्यस्य सम्भवति । यत्र येषु मनुष्येषु-मनुजेषु तत्र तेषु (सेत्ति) सः अथशब्दार्थो वा ततोऽनन्तरमुत्पद्यते जायत इति गाथार्थः। एवं कामानिवृत्त्या यस्यात्मार्थोऽपराध्यति स बाल इतरस्तु पण्डित इत्यर्थोक्तम् । सम्प्रति पुनरन योरेव साक्षात् स्वरूप फलं चोपदर्श्योपदेशमाह ॥

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिणो ॥
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरएसु उववज्जइ ॥ २८ ॥
धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो ॥
चिच्चा अहम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥ २९ ॥
तुलियाणबालभावं, अबालं चेव पंडिए ॥
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणे ॥ ३० ।

बालस्याज्ञस्य पश्यावधारय बालत्वमज्ञत्वं किं तदित्याह अधर्म्मं धर्म्मविपक्षं विषयासक्तिरूपं प्रतिपद्याभ्युपगम्य पठ्यते च (पडिवज्जिणोत्ति)प्रतिपादिनोऽवश्यं प्रतिपद्यमानस्य त्यक्त्वा ऽपहाय धर्म्मं विषयनिवृत्तिरूपं सदाचारम् ।(अहम्मिट्ठत्ति) प्राग्वन्नरके सीमन्तकादावुपलक्षणत्वादन्यत्र वा दुर्गतावुत्पद्यते । तथा धीर्बुद्धिस्तया राजत इति धीरो बुद्धिमान् परीषहाद्यक्षोभ्यो वा धीरस्तस्य पश्य प्रेक्षस्व धीरत्वं धीरभावं सर्व्वं धर्म्मं क्षान्त्या दिरूपमनुवर्त्तते तदनुकूलाचारतया स्वीकुरुत इत्येवं शीलो यस्तस्य सर्व्वधर्मानुवर्त्तिनो धीरत्वमेवाह त्यक्त्वा हित्वा अधर्म्मं विषयाभिरतिरूपमसदाचारं (धम्मिट्ठित्ति) इष्टधर्म्मा यदि वाऽतिशयेन धर्म्मवानिति इष्ठनि विन्मतोर्लुगिति मतुब्लोपे धर्म्मिष्ठ इति देवेषूत्पद्यते । यतश्चैवमतो यद्विधेय तदाह तोलयित्वेति प्राग्वत् । बालभावं बालत्वम् । (अबालत्ति) भावप्रधानत्वान्निर्दे-शस्यबालधीरत्वं च समुच्चये (एवेति) प्राकृतत्वादनुस्वारलोप एवमनन्तरोक्तप्रकारेण पण्डितो बुद्धिमान् त्यक्त्वा बालभावं बालत्वम् (अबालति) अबालत्वं सेवते अनुतिष्ठति मुनिर्यतिरिति सूत्रत्रयार्थ । उत्त० ७अ० । (थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता । तं लोण तेल्लेण उवक्खडेत्ता सपिप्पलीयं पग रंति मसं" इति शाक्यमतम् । अद्दगकुमारशब्दे व्याख्यास्य) उग्ल्याम्, आ० म० द्वि ।

उरब्भपुडसण्णिभा-उरभ्रपुटसन्निभा-स्त्री० उरभ्रऊरणस्तस्य पुटं नासापुटं तत्सन्निभा तत्सदृशी (मेषस्येव नासाया) " उरब्भपुडसण्णिभा से नासा " । उपा० १ अ० ॥

उरब्भरुहिर-उरभ्ररुधिर-न० उरभ्र ऊरणस्तस्य रुधिरम् । मेषरक्ते , तद्धि अतिशोणित भवतीति रोहितवस्तु तेनोपमीयते । जी० ३ प्रति० ॥

उरब्भिय-उरभ्रिय-न० उरभ्रादिपञ्चदृष्टान्तमये सप्तमे उत्तराध्ययने, । उत्त० । (उरब्भ शब्दे व्याख्यातम्)।
औरभ्रिक-पु० उरभ्रा ऊरणकास्तैश्चरति य स औरभ्रिकः उरभ्रस्य ऊर्णया तन्मांसादिना वात्मानं वर्त्तयति, "उरब्भ वा अण्णतरं तसं पाणं हंता जाव " । सूत्र० २ श्रु० २अ० ।

उरय-उरज-पु० गुल्मभेदे । प्रज्ञा० १ पद ।

उररी-देशी-पशौ, दे० ना० ।

उरलदुग–औदारिकद्विक–न० औदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो द्विकम् । औदारिकौदारिकमिश्रकाययोगयुगले, "उरलदुगकम्मपढमंतिमं मण्णवइ केवलदुगम्मि" कर्म० ॥

उरलविणु–औदारिकविना–अव्य० (प्राकृते समान इति प्रतीयते) औदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं च विनेत्यर्थे, "सुरदुगपणिंदिसु वणगाइतसनवउरलविणुतणुवगा" कर्म० ॥

उरसिरमुहपच्छकंठतोण–उरःशिरोमुखवच्छकण्ठतोण–त्रि० उरसा वक्षसा सह शिरोमुखा ऊर्द्धमुखा यद्वा यन्त्रिता कण्ठे गले तोणास्तोणीरा शरधयो येस्ते उरःशिरोमुखपढतोणा । वद्धतुणीरे, प्रश्न० आ० ३ द्वा० ॥

उरसी–उरसी–स्त्री० गुच्छभेदे, । प्रज्ञा० १ पद ॥

उरसुत्तिया–उरःसूत्रिका–स्त्री०७ त० । मुक्ताहारे, अमर । ज०।

उरस्स–उरस्य–पुं० उरसैकादि० क यत् । वक्षसैकदेशगते, पुत्रे च । उरसि भवम् । आन्तरे, रा० ।

उरस्सबल–उरस्यबल–न०उरसि भवमुरस्यं तच्च तद्बलं च उरस्यबलम् । आन्तरोत्साहे, । अनु० । शारीरबले च । सूत्र०१ श्रु०८अ.

उरस्सबलसमण्णागय–उरस्यबलसमन्वागत–त्रि०उरस्यबल समन्वागतः समनुप्राप्तः । आन्तरोत्साहवीर्ययुक्ते, । रा० । अनु० । आ०म०प्र० ॥

उ (ओ) राल–उदार–त्रि०उत प्राबल्येन आरो येषां ते उदाराः ऊर्द्धं गमनस्वभावेषु, प्रबलशक्तिषु च । जी०५ प्रति० । रा० । ज० । आ० म० प्र० । दशा० । प्रधाने, भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० । नि० । शोभने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अत्यद्भुते, चं० २० पाहु० "तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं" उरालेन आशंसारहितया प्रधानेन प्रधानं चाल्पमपि स्यादित्याह विपुलेन " भ० २ श० १ उ० ॥ "उग्गतवे दित्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे तवस्सी घोरबम्भचेरवासी" उदारः प्रधानोऽथवा उरालो भीष्मः उग्रादिविशेषणविशिष्टतपःकरणतः पार्श्वस्थानामल्पसत्वानां भयानक इत्यर्थः । सू०प्र०१ पाहु० । ज० । औ० । चं० । रा० । वि० । "उरालाहिं वग्गुहिं" उदाराभिः शब्दतोऽर्थतश्च । भ० २ श०१ उ० । उदाराभिः सुन्दरध्वनिवर्णसयुताभिः । कल्प० । उदाराभिरुदारनादवर्णोच्चारादिमुक्ताभिः । ज्ञा० १ अ० । जं० । विस्तराले विशाले, च । स्था० ४ ठा० । शरीरभेदे, । न० । उदारं प्रधानं प्राधान्यं च तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात् । यद्वा उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वाच्छेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणं बृहता चास्य वैक्रियं प्रतिभवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या इति व्युत्पत्तेः । कर्म० । अनु०,

उरालचरिय–उदारचरित–त्रि० सकलप्राणिषु समभावतया उदाराशये,"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" । षो०१४ विव ।

उरु–उरु–त्रि० उर्णु–नुलोपो ह्रस्वश्च । विशाले, बृहति, वाच० विस्तीर्णे,"भमरोरु" भ्रमरोमावर्ता उरवो विस्तीर्णा यत्रस तथा ज्ञा० १ अ० । बहुले, नि०० । उरोर्भाव पृथ्व्या० इमनिच् उरिमन् तद्भाव पक्षे त्व उरुत्व न० तल् उरुता, स्त्री० । अण् औरवम० न० तद्भावे, वाच० ।

उरुपुल्ल–देशी–अपूर्वे, धान्यमिश्रे च । दे० ना० ।

उरुमिल्ल–देशी–प्रेरितार्थे, दे० ना० ।

उरुसोल्ल–देशी–प्रेरितार्थे, दे० ना० ।

उरोवित्थडा–उरोविस्तृता–स्त्री० वक्षप्रदेशे, "उरोवित्थडाए सिरेकखाए" गलविवरस्य वर्तुलत्वात् । उपा० २ अ० ।

उरोविसुद्ध–उरोविशुद्ध–न० गेयशुद्धिभेदे, यदि उरसि स्वरः स्वभूमिकानुसारेण विशुद्धो भवति तत् उरोविशुद्धम्, रा० ।

उल्लिअ–देशी–निकूणिताक्षे, दे० ना० ।

उलित–देशी–उच्चस्थिते कूपे, दे० ना० ।

उलुंडिअ–देशी–प्रलुठिते, दे० ना० ।

उलुकसिअ–देशी–पुलकितार्थे, दे० ना० ।

उलुखंड–देशी–उल्मुके, दे० ना० ।

उलु–(लू) ग–उलूक–पुं० वलसमवाये उक्त संप्रसारणम् ऊर्द्धकर्णः उलूकः । अनु० । सूत्र० । कौशिके, आ०म० । जातित्वात् स्त्रियां ङीप् वाच० । वैशेषिकशास्त्रप्रणेतरि कणादमुनौ च ।

दोहि वि णएहिं णीयं, सत्थमुलूएण तहवि मिच्छत्तं ।
जं सविसअप्पहाण–त्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥

द्वाभ्यामपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां प्रणीतं शास्त्रमुलूकेन वैशेषिकशास्त्रप्रमाणेत्रा द्रव्यगुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यैकान्तरूपस्य तत्र प्रतिपादनात् । तदेवोक्तं भगवता परमर्षिणोलूक्येन गुणो भावाद्गुणत्वमुक्तम् । सम्म० । आ० म० । विशे० । आचा० ॥ (विसेसियशब्दे समग्र मतम्)

उलु (लू) गच्छि–उलूकाक्ष–पुं० उलूको घूकस्तस्येवाक्षिणी यस्य स उलूकाक्षः । कौशिकसदृशलोचने, वृ०४ उ० । नि० चू० (उलूकाक्षदृष्टान्तो दुट्ठशब्दे)

उलु (लू) गपत्तलहुय–उलूकपत्रलघुक–त्रि० उलूकपत्रवल्लघव कौशिकपिच्छवल्लघीयसि । "उलुगपत्तलहुया पवयगुरुया ते आयरिया" । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ॥

उलु (लू) गी–उलूकी– स्त्री० पोताकी प्रतिपक्षभूतायामूलाघकाप्रधानायाम परिव्राजकमथिन्यां विद्यायाम, विशे० । आ० म०

उलुफुंटिअ–देशी०विनिपाते, प्रशान्ते, दे० ना० ॥

उलुहंत–देशी०काके, दे० ना० ॥

उल्लुहलिय–देशी–तृप्तिरहिते, दे० ना० ।

उल्मुक–देशी०निकरे, चरणे, दे० ना० ॥

उल्ल–आर्द्र–त्रि० अर्द–रक्–दीर्घश्च प्राकृते 'उदोद्वाऽर्द्रे' आर्द्रशब्दे आदेरात् उदोच्च वा भवतः । उल्लं । ओल्लं । पक्षे अल्लं अद्दं । प्रा० जलमिश्रिते, पिं० । अशुष्के, द० ५ अ० १ उ० । वाहसत्तीलपवहेण उल्लेइ । ८ । २ । ८ प्रा० । प्रचुरव्यञ्जने, । "उल्लं वा जइ वा सुक्कं" । द० ५ अ० २ उ० । चर्पणे, जीत० । नि० चू० । उत्त० ।

उल्लंक–उल्लङ्क–पुं० काष्ठमये "वारके, उल्लंकओ कट्ठमओ वारओ" नि० चू० १२ उ० ।

उल्लगच्छ–आर्द्रगच्छ–पुं०स्थविरादार्यरोहणात्काश्यपगोत्रान्निर्गतस्य उद्देहगणस्य तृतीये गणे, । कल्प० ।

उल्लंघण–उल्लङ्घन–न० सकृल्लङ्घने, ज०१२ श०४ उ० । सहजात्यादिविक्षेपान्मनागधिकतरे, पादविक्षेपे, प्रज्ञा० ३६ पद । द्वारागेहावरुकादेरुर्द्धं लङ्घने, प्र० २५ श० ७ उ० । देहल्यादेरुल्लङ्घने, स्था० १० ठा० । कर्दमादीनामतिक्रमणे, उल्लङ्घयति अज्ञानिनामथ वा बालानां हास्याद्यावनयकर्तृणां भावयमूस्वकीयमाचारमतिक्रामयतीति उल्लङ्घनं उत्त० १७ अ० । ग० । कर्त्तरि ल्युट् बालादीनामुचितप्रतिपत्त्यर्थं करणतोऽध. कर्त्तरि, वत्सकिम्मकादीनामुल्लङ्घनकर्त्तरि, " उल्लङ्घणे य चण्डेय, पावसमणेत्ति वुच्चइ " उत्त० ८ अ० ।

उल्लंघित्तए-उल्लङ्घयितुम्- अव्य० बाहुजङ्घादिना सकृल्लङ्घनेन वा पारं गन्तुमित्यर्थे, प्रति० । भ० ८ श० ३३ उ० (वीइवयणशब्दे देवस्य तिर्यगुल्लङ्घनम्)

उल्लंड-विरेचि- धा० चुरा० विरेचेरोलुण्डोल्लण्डपल्हत्था ।८।४। ।२६ इति विरेचेरुल्लण्डादेश । उल्लण्डइ-विरेइ विरेचयति।प्रा०।

उल्लंडग-उल्लण्डक- पुं० मृदङ्गिकायाम्, उल्लण्डका मृद्गोलकाः। वृ० ४ उ० ।

उल्लंघित-उल्लङ्घयत्- त्रि० सकृल्लङ्घन कुर्वति, ज्ञा० ३ अ० ॥

उल्लंवण-उल्लम्बन-न.वृक्षशाखादावुद्वन्धने,तद्रूपे शारीरदण्डे,स.।

उल्लगण-आर्द्रच्छगण- पुं० अशुष्कगोमये, वृ० (आर्द्रछगणदृष्टान्तो जिणकप्पियशब्दे निष्पत्तिद्वारे, स्पष्टीभविष्यति)

उल्लण-उल्वण- त्रि० उत् वणति-अच्- उत्कटे,प्रकाशान्विते, नतोन्नते, व्यक्ते, स्पष्टे, । वाच० । तीक्ष्णे, । अष्ट० । अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्वणम् । पाक्षिच्छायां जलचर-प्रवृत्ताभ्रमतःपरम् । द्वा० । आव० ।

उल्लणग-उल्वणक-न० स्नानजलार्द्रशारीरस्य रूपणवस्त्रे, उपा०।

उल्लणजोग-उल्वणजोग- पुं० क० स० । खिन्नजनाचरिते वस्त्रपुण्यादिनिर्देहसत्कारे, पंचा० २ विव० ॥

उल्लणियाविहि-आर्द्रनयनिकाविधि- पुं० जलार्द्रशारीरस्य जलरूषणविधौ," तयाणतरं चण माणे उल्लणिया विहिपरिमाणं करेइ णणत्थ रागेण गन्धकासाईए अवसेसं सव्वं उल्लणियाविहिं पच्चक्खामि " । उपा० १ अ० (आणदशब्दे सूत्रम्)

उल्लपडसाडिया-आर्द्रपटसाटिका-स्त्री० आर्द्रप्रावरणनिवसनयो "उल्लपडसाडिया पुक्खरिणी पच्चुत्तरइ"उपा०२अ०।

उल्लभूमि-आर्द्रभूमि-स्त्री०अशुष्यन्त्यां भूमौ,"उल्लभूमीए असुक्खमाणीए" नि० चू० १ उ० ।

उल्लयट्ठीमहुय-आर्द्रयष्टिमधुक-न० आर्द्रे मधुररसवनस्पतिविशेषे, ॥ उपा० १ अ० ।

उल्लरय-देशी-कपर्दाभरणे, दे० ना० ।

उल्लालिय-उल्लालित-त्रि० " नाविसयणिज्जिहिति उल्लालिय णवाए" नि० चू० १ उ० ॥

उल्लविय-उल्लापित-न०मन्मथादिजल्पने,"अंगपच्चंगसंठाणं,चारुल्लवियपेहियं।बंभचेररओ थीणं,चक्खुगिज्झं विवज्जए"उत्त०।

उल्लस-उल्लस्- धा० उल्लासे, हर्षजनकव्यापारे " उल्लसे रूसलोसुम्भणिल्लस पुलआअंगुज्जोलारो आः ८ । ४ । १ । उल्लसेरेते षडादेशा वा भवन्ति।ऊसलइ-ऊसुम्भइ णिल्लसइ पुलआअइ गुज्जोल्लइ। ह्रस्वत्वेतु गुञ्जुल्लइ उल्लसति, प्रा० ।

उल्लसिय-उल्लासित-त्रि० उद्-लस्-क्त-स्फुरिते, उद्गते, हृष्टे च। वाच० सुदृधुल्लसिते भीते पच्चक्खाणे पडिच्छगच्छ थेरविद् उहसिएतेण वि ताव मिसेण इत्थि पावामो हरिसित्तो नि० चू० १ उ० । पुलकितार्थे, दे० ना० ॥

उल्लाय-उल्लात-पुं० प्रबलपादप्रहारे, ॥ त० ॥

उल्लालिय-उल्लालित-त्रि० ताडिते, आ० म० प्र० । रा० ।

उल्लालेमाण-उल्लालयत्-त्रि० ताडयति, " तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे " । रा० ।

उल्लाव-उल्लाप-पुं० उद्-लप्-घञ् । काकुवर्णने यदाह । अनुलापो मुहुर्भाषा, प्रलापोऽनर्थकं वचः । काकावर्णनमुल्लापः, संलापो भाषणं मिथः । भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । ज्ञा० स्था० । " कंदप्पो अणिहिया य उल्ला वा पच्चवा । सूत्र०१ श्रु० १ अ० शोकरोगादिना विकृतस्वरयुक्तवाक्ये, दुष्टवाक्ये, सूचने च, ततोऽस्त्यर्थे ठन् सूचके, त्रि० वाच० ॥

उल्लि-उल्लि-पुं० पनके, आव० ४ अ० । स्था० । आचा० ।

उल्लिहिय-उल्लिखित- उद् लिख्- क । घृष्टे, 'कुंन लिहियगंडेहा ' ज्ञा० १ अ० । औ० । रा० । नि० ।

उल्ली-देशी०-तथेत्यर्थे, दे० ना० ॥

उल्लुंटिअ-देशी० सच्चूर्णिते, दे० ना० ॥

उल्लुक-तुड-धा. तोडने, तुडेस्तोड तुट्ट खुट्ट खुडो क्खुडोक्खमो ल्लुक्कणिलुक्क लुक्को ल्लूराः ८।४।११६। इति तुडेरुल्लुकादेश। उल्लुकइ तुडइ तुडति । प्रा० ॥ त्रुटिते, दे० ना० ॥

उल्लुगा-उल्लुका- स्त्री० स्वनामख्यातायां नद्याम्, तदुपलक्षिते जनपदे च। उल्लुका नाम नदी तदुपलक्षितो जनपदो प्युल्लुक। विशे० । आ० म० द्वि० । आ० क० । आ० चू० । स्था० ।

उल्लुयातीर-उल्लुकातीर- न० उल्लुकानदीतीर वर्तिनि नगरे, यतः प्रस्थितस्योल्लुकानदीमुत्तरतो गङ्गाचार्यस्य युगपच्छीतोष्णावेदनाद्वयमनुभवतो द्वैक्रियबुद्धिर्जाता ततो द्वैक्रियनिह्नवा उत्पन्नाः । उत्त० ३ अ० । स्था० । आ० म० द्वि० । विशे० ।

तएणं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयावि रायगिहाओ णयराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ तेणं कालेणं तेणं समएणं उल्लुयातीरे णामं णयरे होत्था । वण्णओ तस्स णं उल्लुयातीरस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं एगजंबुए णामं चेइए होत्था । वण्णओ तस्स णं तएणं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयावि पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव एगजंबुए समोसढे जाव परिसापडिगया भंतेत्ति । भ० १६ श० ३ उ० ।

उल्लुरुह-देशी० लघुशङ्खे, दे० ना०।

उल्लुह-निर्-सृ धा बहिर्गमने, धातवोऽर्थान्तरेऽपि ८।४।५८। इति नि. सरतेरुल्लुहादेशः । उल्लुहइ, निःसरति । प्रा० ।

उल्लूहो-देशी० अङ्कुरिते, दे० ना० ॥

उल्लेव-देशी० हासे, दे० ना० ॥

उल्लेवण-देशी० घृते, दे० ना० ॥

उल्लेहड-देशी० लम्पटे, दे० ना० ॥

उल्लोइय-उल्लोचित-न० कुड्यानामास्य च सेटिकादिभिः समष्टीकरणे, धवलनं 'लाइ उल्लोइय महिय' ज्ञा० १ अ० । औ० । ज० । स० । नि० । जी० । क० । प्रश्न० ॥

उल्लोय-उल्लोक-पुं० उपरितनभागे, जी० ३ प्रति० । रा० । ज० । कल्प० । चं० । मनागालोके च । जं० १ वक्ष० ।

उल्लोच- पुं० ऊर्ध्वं लोच्यते उद् लोच् कर्मणि घञ् । निष्ठाया से दृक्त्वात् न कुत्वम् । उपरितले च । भ० १४ श० ६ उ० । कल्प० । विताने, दे० ना० ॥

उल्लोयतल-उल्लोकतल-न० उपरितनभागे, । ज्ञा० १ अ० ।

उल्लोयमेताग–उल्लोकमात्र–न० यावता भवतो मनाक् कालविभागरूप आलोको भवति तावन्मात्रके, । जो० १ पाहु० ॥
उल्लोयवराग–उल्लोकवर्णक–पु० प्रासादस्योपरिभागवर्णके,॥ स चैवम् "तस्स ण पासायवर्डिसगस्स इमेयारूवे उल्लोए पण्णत्ते पउमलयभत्तिचित्ते जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे जाव पडिरूवे" ॥ रा० २ श० ८ उ० ॥
उल्लोव–देशी–शय्यो, दे० ना० ।
उल्लोअंत–उल्लोकयत्–त्रि० शरीरापवर्त्तन कुर्वाणे, "उल्लोअंत वा साइज्जइ" । नि० चू० १७ उ० । आचा० ।
उव-उप–अव्य० वप् क० सामीप्ये, "उवदंसिया भगवया पन्नवणा सव्वभावाण" उपसामीप्येन यथा श्रोतृणां झटिति यथा वस्थितवस्तुतत्त्वावबोधो भवति तथा स्पष्टवचनैरित्यर्थ.— दर्शिता श्रवणगोचर नीता उपदिष्टा इत्यर्थ । प्रज्ञा० १ पद उत्त० । आचा० । प्रव० । सूत्र । आ० म० प्र० । न० । सामर्थ्ये,॥ रा० । सादृश्ये, उपशब्द उपमेति वत् सादृश्येऽपि दृश्यते, उत्त०३ अ० । सकृदर्थे, अन्तरर्थे, आव०४ अ० । अधिकार्थहीने, आसन्ने, प्रतिपन्ने, सतो गुणान्तराधाने, व्याप्तौ, पूजायाम्, शक्तौ, आरम्भे, दाने, दोषाख्याने, आचार्य्यकरणे, अत्यये निदर्शने, वाच० ॥
उवइय–उपाचित–त्रि० उप० चि क० । उपहते, औ० ॥ लेपनादिना परिकर्मिते, निदिग्धे, अमर । समाहिते, हेम० । सञ्चिते, च । वाच० ॥
उवइया–उपचिता–स्त्री० कुड्यादौ सचरणशील त्रीन्द्रियजीवभेदे । बृ० ए उ० । जी० ॥
उवउज्ज–उपयुज्य–अव्य० उपयोग कृत्वेत्यर्थे, दीहादिदाए उवउज्ज ज जुञ्जति आएयव्व । नि० चू० १ उ० ॥
उवउत्त-उपयुक्त-त्रि० उप-युज-क । दत्तावधाने, जीत० । पचा० । सावधाने, पचा०५ विव० उपते, आतु० । अप्रमत्ते, नि०चू०१ उ० । उपयोगवति, विपा०२अ० । "दसणनाणोवउत्ता" औ० । ज्ञेयप्रत्याख्येयविषयज्ञानप्रत्याख्यानपरिणामे, आ० म० द्वि० । विशे० । न्याय्ये, रचिते, भुक्ते च । वाच० ॥
उवएस–उपदेस–पु० उप-दिश्-घञ् । उपदेशनमुपदेश कथने,। न० । भणने, प्ररूपणे, । विशे० । आ० म० प्र० । प्रज्ञापनायाम्, । बृ०१ उ० । सूत्रानुसारेण कथने, । आव०४ अ० । हेयोपादेयोपेक्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभणने, । दर्श० । वर्तने, पचा०२ विव० । अन्यतरक्रियायां प्रवर्तनेच्छाकरणे, । अनु० ॥ न च हितोपदेशादपर पारमार्थिक परार्थ. तथा चार्षम् । रूस ओ वा परो मा वा, विस वा परियत्तओ । भासियव्वाहिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥१॥ स्या० । उवाच वाचकमुख्य । न भवति धर्म. श्रोतु सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् । ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥ उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये । पय पान भुजङ्गानां, केवल विषवर्द्धनमिति । पचा०१२ विव०।(धम्मकहा शब्दे विस्तरत' उपदेशप्रकारो वक्ष्यते उचिय पवित्ति शब्दे वर्जयेदेनेकोपघातकारकम् इत्याद्युक्तम्) श्राद्धकादिकुलाख्याने, आव ५ अ० । उपदिश्यत इत्युपदेश. उपदेष्टुमिष्ट वस्तुविशेषे, ॥ भूयो भूय उपदेश इति भूयो भूय पुन' पुनरुपदिश्यत इत्युपदेश उपदेष्टुमिष्टवस्तुविषय. कथञ्चिदनवगमे सति कार्ये' किं न क्रियते दृढसन्निपातरोगिणां पुन पुन. क्रियातिक्तादिक्वाथपानोपचार इति । ध० १ अधि० । गुरूणां–शिक्षावाक्ये, "तहियाणतु भासए सव्भावे उवएसए" उत्त० २८ अ० । प्रत्युपेक्षणाप्रस्फोटनाक्रियायाम्, नि० चू० १ उ० । दर्शने, शास्त्रे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ॥
उवएसग–उपदेशक–त्रि० उप-दिश्-एवुल्-उपदेशकर्तरि, " हिच्चाए पुव्वसजोग सिया किच्चोवएसगा " सूत्र० १श्रु० १अ०॥
उवए (द) सण–उपदेशन–न० उपदिश्यत इत्युपदेशनम् । उपदेशनक्रियाया व्याप्ये, उपलक्षणत्वादस्याः क्रियाया. व्याप्ये कर्मणि, "विद्दया उवएसणे " उपदेशने कर्मणि द्वितीया यथा भणइ इम श्लोक कुरु वा त ददाति त य ति ग्रामम् । स्था०७ठा०॥
उवए (दे) सणा–उपदेशना–स्त्री० कथनायाम्, "पचविधपयत्थोवदेसणया" । विशे० ॥
उवएसमाला–उपदेशमाला–स्त्री० स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, ग० १ अधि० । तथा कश्चित्परपक्षी प्रार्थनां करोति तदर्थमुपदेशमालागाथावलोकने दूषण लगति नवेति प्रश्न. यदि स निष्कपटतया प्रार्थनां करोति तदर्थमुपदेशमालागाथावलोकने सर्वथा दूषण ज्ञात नास्ति इति । सेन० ४ उल्ला० १३५ प्र० ॥
उवएसरयणकोस–उपदेशरत्नकोश–पु० उपदेशा हेयोपादेयोपेक्षणीयार्थेषु हानोपादानोपेक्षणीयभणनानि त एव रत्नानि तेषां कोश एव भण्डारवदुपदेशरत्नकोश । दर्शनशुद्धिनामके ग्रन्थे, दर्श० ॥
उवएसरयणागर–उपदेशरत्नाकर–पु० स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, यत उपदेशरत्नाकरे सम्यक्त्वाणुव्रतादि श्राद्धधर्मरहिता नमस्कारगुणा जिनार्चनचन्दनाभिग्रहस्मृते । ध० २ अधि०॥
उवएसरुइ–उपदेशरुचि–पु० क० स० साधूपदेशात्तत्त्वश्रद्धाने, ग०१अधि० । परोपदेशप्रयुक्ते जीवाजीवादिपदार्थविषयिकश्रद्धाने, सम्यक्त्वभेदे च । ध० २ अधि । उपदेशो गुर्वादिना वस्तुतत्त्वकथन तेन रुचिर्जिनप्रणीततत्त्वाभिलापरूपा यस्य स उपदेशरुचि । स्था २ ठा० । यो हि जिनोक्तानेव जीवादीनर्थान् तीर्थकरतच्छिष्यादिनोपदिष्टान् श्रद्धत्ते तस्मिन् । दर्शनार्य्यभेदे, स्था० १० ठा० । उत्त० ।

तस्य स्वरूप यथा ।

एए चेव उ भावे, उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ ।
छउमत्थेण जिणेण च, उवएसरुइत्ति नायव्वा ॥ ६७॥

एतांश्चैवानन्तरोक्तांस्तु पूरणे भावान् जीवादीनुपदिष्टान् कथितान् परेणान्येन न श्रद्धधाति न तथेति प्रतिपद्यते । कीदृशा परेण ठादयतीति छद्म घातिकर्म्मचतुष्टय तत्र तिष्ठति छद्मस्थोऽनुत्पन्नकेमलस्तेन जयति रागादीनि जिनस्तेन वोत्पन्नकेवलज्ञानेन तीर्थकृदादिना छद्मस्थस्य प्रागुपन्यासस्तत्पूर्वकत्वाज्जिनस्य प्रत्युर्थेण वा तथाविधोपदेष्टृणां स ईदृक्किमित्याह उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः । प्रव० १७० द्वा० ॥
उवएसलद्ध-उपदेशलब्ध–त्रि० लब्धासोपदेशे, "इय उवएस लद्धा इयविणाण पत्ता " उपा० ३ अ० ।
उवएसिय–उपदेशित–त्रि–उपदिष्टे 'सामाइयणिज्जुत्त, वोच्छ उवएसिय गुरुजणेण । आयरियपरपरएण आगय आणुपुव्वीए' विशे०
उवओग–उपयोग–पु० उपयोजनमुपयोग' भावे घञ् । उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेद प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोग । पुन्नाम्नि करणे घञ् प्रत्यय । उपयुज्यते वस्तु परिच्छेद प्रति व्यापार्यत इत्युपयोग. कर्मणि घञ् । बोधरूपे जीवस्य तत्वभूते व्यापारे, प्रज्ञा० २९ पद । कल्प० । प्रव० । आव० । दर्श० । स्या० । उपयोगो ज्ञान सवेदन प्रत्यय. इति पर्याया । विशे० । अनु० ।

उपयोगभेदा ।

कतिविहेणं भंते उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओ-

गे पण्णत्ते तंजहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य ॥

कतिविधः कतिप्रकारः सूत्रे पकारो मागधभाषालक्षणवशात् णमिति वाक्यालङ्कृतौ भदन्त परमकल्याणयोगिन् उपयोग उप- योजनमुपयोगो भावे घञ् यद्वा उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः पुन्नाम्नि करणे घञ् प्रत्ययो बोध- रूपो जीवस्य तत्त्वभूतो व्यापारः प्रश्नः प्रतिपादितः भगवा- नाह गोयमेत्यादि ॥ आकारप्रतिनियतो ग्रहणपरिणाम "आ- गारोअविसेसो" इति वचनात् सह आकारेण वर्त्तत इति साकारः स चासावुपयोगश्च साकारोपयोगः । किमुक्तं भवति । सचेतने अचेतने वा वस्तुनि उपयुञ्जान आत्मा यदा सपर्या- यमेव वस्तु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोगः साकार उच्यते इति । स च कालतः छद्मस्थानामन्तर्मुहूर्त्तं काल केवलिनामेक सामायिकः । तथा न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सोऽ- नाकारः स चासावुपयोगश्चानाकारोपयोग । यत्तु वस्तुनः सामान्यरूपतया परिच्छेदः सोऽनाकारोपयोगः स्कन्धावारो- पयोगवदित्यर्थः । असावपि छद्मस्थानामान्तर्मौहूर्त्तिकः परम- नाकारोपयोगकालात्साकारोपयोगकाल सङ्ख्येयगुण प्रति- पत्तव्यः पर्यायपरिच्छेदकतया चिरकाललगनात् छद्मस्थानां तथास्वाभाव्यात् । केवलिनां त्वनाकारोपयोग एकसामायिकः चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ ।

तत्र साकारोपयोगभेदानभिधित्सुरिदमाह ॥

सागारोवओगे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! अ- ट्ठविहे पण्णत्ते, तंजहा आभिणिबोहियनाणसागारोवओगे सुयनाणसागारोवओगे, ओहिनाणमणपज्जवसागारोवओगे केवलनाणसागारोवओगे य । मतिअन्नाणसागारोवओगे सुयअन्नाणसागारोवओगे विभंगनाणसागारोवओगे य ॥

अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिस्वरूपको बोधो बोधविशेषोऽभि- निबोधः । अभिनिबोध एव आभिनिबोधिकम् । अभिनिबोधश- ब्दस्य विनयादिपाठाभ्युपगमात् विनयादिभ्य इत्यनेन स्वार्थे इ- कण् प्रत्ययः । अतिवर्त्तन्ते स्वार्थे प्रत्ययकाः प्रकृतिलिङ्गवच- नानीति वचनात्तत्र नपुंसकता यथा विनय एव वैनयिकमित्यत्र । अथवा अभिनिबुध्यते असादस्मिन् वेति अभिनिबोधस्तदाव- रणकर्मक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिबोधिकं तच्च तज्ज्ञानं चा- भिनिबोधिकज्ञानम् । इन्द्रियमनोनिमित्तो योग्यप्रदेशावस्थित वस्तु- विषय स्फुटप्रतिभासो बोधविशेष इत्यर्थः । स चासौ साकारोप- योगश्च आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोग । एवं सर्वत्रापि स- मास कर्त्तव्य । तथा श्रवण श्रुत वाच्यवाचकभावपुरस्सरीकार- णशब्दसंस्पृष्टार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेष एवमाकारं वस्तु घट- शब्दवाच्य जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानी- कृत समानपरिणामशब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनो- निमित्तागमविशेष इत्यर्थः । श्रुतं च तज्ज्ञान च श्रुतज्ञान ततो भूयः साकारोपयोगशब्देन विशेषणसमास तथाऽवशब्दोऽध- शब्दार्थे । अव अधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यव- धि । यद्वा अवधि मर्यादारूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृ- त्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधिः । अवधिश्चासौ ज्ञान चा- वधिज्ञानम् । तथा परि सर्वतोभावे अवनं अवः तुदादिभ्योऽन् कश्चिदित्यधिकारे अकिनौ चेत्यकारप्रत्ययः अवनं गमनमिति प- र्याय । परि अव पर्यवः मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ । पाठान्तर पर्यय इति तत्र पर्ययण पर्यय मनसि मनसो वा पर्ययः मनःपर्यय । सर्वतस्तत्परि- च्छेद इत्यर्थः । स चासौ ज्ञान मनःपर्ययज्ञान मनःपर्यवज्ञान वा । अथवा मनःपर्यायेति पाठान्तरं तत्र मनांसि पर्येति सर्वा- त्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायं कर्मण्यण् । मनःपर्यायं च तत् ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं यदि वा मनसः पर्याया मनःपर्याया । पर्याया धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यनर्थान्तरं तेषु तेषां वा सम्बन्धिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानमिदं चार्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्ति- संज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनम् । तथा केवलमेकं मत्यादिज्ञाननिर- पेक्षत्वात् "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात् शुद्धं वा केवलं तदावरण मलकलङ्कविगमात् । सकलं वा केवलं प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः । असाधारणं वा केवलमनन्यसदृशत्वात् । अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वात् । केवलं च तत् ज्ञानं तथा मतिश्रुतावधय एव यदा मिथ्यात्वकलु- षिता भवन्ति तदा यथाक्रमं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानव्यपदे- शान्लभन्ते । उक्तञ्च । आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयु- क्तमिति । विभङ्ग इति विपरीतो भङ्गः परिच्छित्तिप्रकारो यस्य तद्विभङ्गं तच्च तत् ज्ञानं च विभङ्गज्ञानं सर्वत्रापि च साकारोप- योगशब्देन विशेषणसमास ॥

॥ अनाकारोपयोगभेदानभिधित्सुराह ॥

अणागारोवओगे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा चक्खुदंसणअणागारोवओगे, अच- क्खुदंसणअणागारोवओगे, ओहिदंसणअणागारोवओगे केवलदंसणअणागारोवओगे ।

तत्र चक्षुषा चक्षुरिन्द्रियेण दर्शनं रूपसामान्यग्रहणं च चक्षुर्द- र्शनं तच्च तत् अनाकारोपयोगः । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनो- भिर्दर्शनं स्वस्वविषये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् । ततोऽनाका- रोपयोगशब्देन विशेषणसमासः । एवमुत्तरत्रापि अवधिरेव रूप- दर्शन सामान्यग्रहणमवधिदर्शनं केवलमिव सकलजगद्भावि- समस्तवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपं दर्शनं केवलदर्शनम् । अथ मनः- पर्यायदर्शनमपि कस्मान्न भवति येन पञ्चमोऽनाकारोपयोगो न भवतीति चेदुच्यते मनःपर्यायविषयं हि ज्ञान मनसा पर्या- यानेव विविक्तान् गृह्णत् कश्चिदुपजायते पर्यायाश्च विशेषा विशेषालम्बनं च ज्ञान ज्ञानमेव न दर्शनमिति मनःपर्यायद- र्शनाभावस्तदभावाच्च पञ्चमानाकारोपयोगासम्भव इति (एवं जीवाणमित्यादि) एवं निर्विशेषेणोपयोगवत् जीवानाम- नुपयोगो द्विविधः प्रज्ञप्तो भणितव्यस्तत्रापि साकारोपयोगो ऽष्टविधोऽनाकारोपयोगश्चतुर्विधः । एतदुक्तं भवति । यथा प्राक् जीवपदरहितमुपयोगसूत्रं सामान्यत उक्तं तथा जीवपदसहितम- पि भणितव्यं तद्यथा "जीवाणं भंते ! कतिविहे उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते तंजहा सागारोवओगे य अणा- गारोवओगे य जीवाणं भंते ! कतिविहे उवओगे पण्णत्ते गोयमा ! दुविहे उवओगे अट्ठविहे पण्णत्ते तंजहा इत्यादि" तदेव सामान्य- तो जीवानामुपयोगश्चिन्तित । प्रज्ञा २७ पद । न० । प्रव० ॥

उपयोग साकारानाकारद्वयात्मक प्रमाणमितरथा अप्रमाणम् ॥ उपयोग परस्परसव्यपेक्षसामान्यविशेषग्रहणप्रवृत्तदर्शनज्ञानरूप- रूपद्वयात्मक प्रमाण दर्शनाज्ञानैकान्तरूपस्त्वप्रमाणमिति दर्शयि- तु प्रकरणमारभमाणो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकसिमतं प्रत्यक्षदर्शन- ज्ञानस्वरूपप्रतिपादकगाथामाहाचार्य ।

जं सामन्नग्गहणं, दंसणमेयं विसेसियं णाणं ।
दोण्हं वि णयाण एसो, पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥

द्रव्यास्तिकस्य सामान्यमेव वस्तु तदेव गृह्यते अनेनेति ग्रहण

दर्शनमेतदुच्यते पर्यायास्तिकस्य तु विशेष एव वस्तु स एव गृह्यते येन तज्ज्ञानमधीयते ग्रहण विशेषितमिति विशेषग्रहण- मित्यभिप्राययोरप्यनयोर्नययोरेक प्रत्येकमर्थपर्यायोऽर्थविषय पर्येत्यवगच्छति य सोऽर्थपर्याय ईदृग्भूतार्थग्राहकत्वमित्यर्थः । उपयोगस्य चानाकारसाकारस्ते सामान्यविशेषग्राहके एते चत्वा रस्तत्राभिधीयते नविद्यमान आकारो भेदो ग्राह्यस्यास्येत्यनाकारो- दर्शनमुच्यते सहाकारैर्ग्राह्यभेदैर्वर्त्तते यद्ग्राहक तत्साकार ज्ञान- मित्युच्यते । अनाकारसाकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितरा- कारो स्वविनाशकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाण ननु निरस्तेतराकारौ तयाभूतवस्तुविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेरित- रांशविकलैकांशरूपोपयोगसत्तानुपपत्तेश्च तेनैकान्तवाद्यभ्युपग- मो बोधमात्र प्रमाण साकारो बोधोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वविशि- ष्ट स एव ज्ञातृव्यापारोऽर्थदृष्टताख्यफलानुमेयोऽसवेदनाख्यफ- लानुमेयो वाऽनधिगतार्थो विगत इन्द्रियादि सपाद्यो व्यभिचारा दिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री तदेकदेशो वा बोधरूपो वा साधकत्वात्प्रमाणमित्यादिरूपोऽयुक्त । निराकारस्य केवलबोधरूपस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यमिति विज्ञानवादिनोऽन्ये च स्वस्वस्थाने स्वस्वमतमुद्भाव्य परास्ता भविष्यन्ति । सम्म०। (तदेतत्सम्मतितर्कत एव विज्ञेयमिहापि यथावसर किञ्चिद्वक्ष्ये) सामान्यविशेषात्मके च प्रमाणप्रमेयरूपे वस्तुतत्वे व्यव- स्थिते द्रव्यास्तिकस्यालोचनमात्र विशेषाकारत्यागिदर्शन य- त्तत्सत्यमितरस्य तु विशेषाकारसामान्याकाररहित यज्ज्ञान तदेव पारमार्थिकमभिप्रेत प्रत्येकमेषोऽर्थपर्याय इति वचनात् प्रमाण तु द्रव्यपर्यायौ दर्शनज्ञानस्वरूपावन्योऽन्यावनिर्भागव- र्त्तिनाविति दर्शयन्नाह ।

दव्वट्ठिओ वि होऊण, दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ ।
उवसमिआई भाव, पडुच्च णाणे उ विवरीय ॥

अस्यास्तात्पर्यार्थ दर्शनेऽपि विशेषांशो न निवृत्तो नापि ज्ञाने सामान्यांश इति द्रव्यास्तिकोऽपीति आत्मा द्रव्यार्थरूप स भूत्वा दर्शने सामान्यात्मके स ह्यात्मा चेतनालोकमात्रस्व- भावो भूत्वा तदैव पर्यायास्तिको विशेषकरोऽपि भवति यदा हि विशेषरूपतयाऽऽत्मा सपद्यते तदा सामान्यस्वभाव परित्यजन्नेव विशेषाकारश्च विशेषावगमस्वभाव ज्ञान दर्शने सामान्यपर्यालोचने प्रवृत्तोऽप्युपात्तज्ञानाकारो न हि विशि- ष्टेन रूपेण विना सामान्य सम्भवति एतदेवाह औपशमि- कादिभाव प्रतीत्येति औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकादीन् भा- वान् अपेक्ष्य विशेषरूपत्वेन ज्ञानस्वभावात् वैपरीत्य सा- मान्यरूपतां प्रतिपद्यते विशेषरूप. सन् स एव सामान्यरू- पोऽपि भवति न ह्यस्ति सामान्य विशेषविकल वस्तुत्वात् शिवकादिविकलमृत्त्ववत् विशेषा वा सामान्यविकला न सन्ति असामान्यत्वात् मृत्त्वरहितशिवकादिवदत्र च सामान्यविशेषा- त्मके प्रमेयवस्तुनि तद्ग्राहि प्रमाणमपि दर्शनज्ञानरूप तथाऽपि छद्मस्थोपयोगस्वाभाव्यात् कदाचिज्ज्ञानोपसर्जनो दर्शनोप- योग कदाचित्तु दर्शनोपसर्जनो ज्ञानोपयोग इति क्रमेण द- र्शनज्ञानोपयोगौ । क्षायिके तु ज्ञानदर्शने युगपद्वर्तिदीपमिति द- र्शयन्नाह सूरिः ।

मणपज्जवणाणस्स य, दरिसणस्स य विसेसो य ।
केवलणाणं पुण दं-सणंति नाणंति य समाणं ॥

मन पर्यायज्ञान मन पर्यवसान यस्याविक्षेपस्य स त- थोक्त ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विक्षेप पृथग्भाव. म- त्यादिषु चतुर्षु ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमणे भवत इति यावत् । तथा हि चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेभ्य पृथक् कालानि छद्मस्थोपयोगात्मकज्ञानत्वात् श्रुतमन पर्यायज्ञानवत् वाक्यार्थविशेषविषयं श्रुतज्ञान मनोद्रव्यविशेषालम्बनं च म- न.पर्यायज्ञानमेतद्द्वयमप्यदर्शनस्वभाव मत्यवधिज्ञानदर्शनोप- योगात् भिन्नकाल सिद्ध केवलज्ञानं पुन. केवलाख्यो बोधो दर्शनमिति चाज्ञानमिति चाऽन्यत्केवल तत्समानकाल उ- यमपि युगपदेवेति भाव. ॥ सम्म० । (अत्र बहु वक्तव्य तच्च ग्रन्थविस्तरभयान्नोच्यते किंतु विशेषजिज्ञासुना सम्मतितर्कत एव समवलोकनीयम) सिद्ध साकारोपयोग एव सिध्य- तीति केवलस्य साकारत्वात् यौगपद्यम् । कथ पुनरसौ सा- कारोपयोग एव सिध्यतीत्याह ।

सव्वाओ लद्धीओ, जं सागारोवओगतो लाओ ।
तेणेह सिद्धलद्धी, उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स ॥

प्रतीतार्थैव । एतच्च साकारोपयोगवर्तमान सिध्यतीति विशे- षेण प्रज्ञापनाया विहितम् । अनेन चात्र केवलसाकारोपयोगे ये विप्रतिपद्यन्ते साकारानाकारोपयोगयोः सिद्धस्य युगपदभ्युप- गमात्ते निरस्ता अत एवाह ।

एवं च गम्मइ धुवं, तरतमजोगोवओगया तस्स ।
जुगवोवओगभावे, साकारविसेसणमजुत्तं ॥

एव च साकारोपयोगविशेषणाद्गम्यते किमत आह । ध्रुव नि- श्चित तरतमयोगोपयोगता सिद्धस्य अन्यस्मिन्काले तस्य सा- कारोपयोगोऽन्यत्र चानाकारोपयोग इति । अन्यथा बाधामाह । युगपदुपयोगभावे साकारविशेषण प्रज्ञापनोक्तमयुक्तमेव स्या- दिति । अत्र परमतमाशङ्क्यपरिहरन्नाह ।

अहव मई सव्वं चि य, सागार से तओ अदोसो त्ति ।
नाणं ति दंसणं ति य, न विसेसो तं च नो जम्हा ॥
सागारमणागारं, लक्खणमेयं ति भणियमिह चेव ।
तह नाणदंसणाइं, समए वीसुं पसिद्धाइं ॥

अथ मति परस्य सर्वमेव (से) तस्य सिद्धस्य ज्ञान दर्शन वा साकार तत साकारोपयोगविशेषणे अदोष एव स्वरूपविशे- षणत्वात्तस्य । यदपि केवलज्ञान केवलदर्शन च तस्योच्यते त- स्यापि तयोर्निर्विशेष इत्यभिप्रायवता प्रोक्त स्तुतिकारेण एव कल्पितमेदमप्रतिहत सर्वज्ञतालाञ्छन सर्वेषा तमसा निहन्तृ- जगतामालोकन शाश्वत नित्य पश्यति बुध्यते च युगपन्नानावि- धानि प्रभास्थित्युत्पत्तिविनाशवन्ति विमलद्रव्याणि तत्केवल तच्च न युक्त यस्मात्साकारमनाकार च लक्षण सिद्धानामितीहै- व पुरतो भणितं वर्तते यद्वक्ष्यति "असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दसणेय नाणे य । सागारमणागार, लक्खणमेय तु सिद्धाण " इति।तदनयो साकारनाकारलक्षणयोर्भेदनोक्तत्वात्कथमुच्यते म- र्वमेव तस्य साकारमिति भाव ।तथा समये सिद्धान्ते विष्वक्पा- र्थक्येन ज्ञानदर्शने सिद्धानां तेषु तेषु स्थानेषु प्रसिद्धे अत कथ तयोरविशेष उच्यत इति हृदयम् ।

तदविशेषे हि बहवो दोषा के इत्याह ।

पत्तेयावरणत्तं, इहरा बारसविहोवओगो य ।
नाणं पंचवियप्पं, चउव्विहं दंसणं कत्तो ॥

इतरथा केवलज्ञानदर्शनयोरेकत्वे प्रत्येकावरणत्व केवलज्ञाना- वरणकेवलदर्शनावरण चेति प्रत्येकमावरण नयो कुतो घटते नह्येकस्य द्वे आवरणे युज्येते तत प्रत्येकावरणनिर्देशात्केवलज्ञान- दर्शनयोर्भेद एवेति भाव. । तथा साकारोऽष्टधा अनाकारस्तु च-

तुरूत्येव यो द्वादशविधोपयोगः श्रुतेऽभिहितो यच्च ज्ञानं पञ्चविधं दर्शनं चतुर्विधं प्रोक्तं तदेतत्सर्वमपि केवलज्ञानदर्शनयोरेकत्वे कुत उपपद्यते न कुतश्चिदिति । अपिच-

नणियमिहेव य केवल-नाणुवउत्ता मुणंति सव्वंति ।
पासंति सव्वओ त्ति य, केवल दिट्ठीहिणंताहिं ॥

इहैव पुरतो भणितं केवलज्ञानोपयुक्ताः सिद्धाः सर्वे (मुणंति) जानन्ति तथा पश्यन्ति च सर्वतः केवलदर्शनदृष्टिभिरनन्ताभिर्यद्वक्ष्यति " केवलनाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे । पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिणंताहिमिति " तस्मान्नैतयोरेकत्वमितिभावः ।

पुनरपि परः प्राह ।

आह परोत्तावम्मि, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।
नणियंतो जुगवंतो, नणु नणियमिणं पि तं सुणसु ॥

आह परो नन्वपृथग्भावेऽपि केवलज्ञानदर्शनयोर्न दोषो यतः "असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य नाणे य" इत्यत्र दर्शने च ज्ञाने च युगपदुपयुक्ता इति भणितं ततो युगपदेव केवलज्ञानदर्शनोपयोगः सिद्धः । सूरिराह । ननु यदि भणितेनार्थसिद्धिस्तव तर्हीदमपि भणितं वर्तते तच्छृणु किंपुनस्तदित्याह ॥

नाणम्मि दंसणम्मि य, वत्तेगयरम्मि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्स, जुगवदो नत्थि उवओगा ॥

एतदिहैव व्यक्तं पुरस्ताद्वक्ष्यति ततोऽस्यां गाथायां भद्रबाहुस्वामिभिर्व्यक्तेऽपि युगपदुपयोगे निषिद्धे किमिति तद्यौगपद्याभिमानोऽद्यापि न त्यज्यत इति भावः । अत्र परस्य व्याख्यान्तरकल्पनामाशङ्क्य परिहरन्नाह ॥

अह सव्वस्सेव न के-वलिस्स दो किं तु कस्सइ हवेज्ज ।
सो य जिणो सिद्धो वा, तं च न सिद्धाहिगाराउ ॥

अथैवं व्याख्यायते परेण सर्वस्यैव केवलिनो न युगपद्द्वावुपयोगौ किंतु कस्यापि द्वौ भवेतां कस्यचिदेकः स च केवलिजिनसिद्धो वा भवेद्भवस्थकेवली वा भवेदित्यर्थः । ततश्च भवस्थकेवलिनोऽद्यापि सकर्मकत्वादेकदा एक एवोपयोगः । सिद्धकेवलिनस्तु सर्वथा कर्ममलकलङ्कविप्रमुक्तत्वात् युगपद् द्वावुपयोगौ भवत इति परस्याकूतं तच्च न युक्तमिह सिद्धाधिकारादिदमुक्तं भवति "सव्वस्स केवलिस्स" इत्यादिना सिद्धाधिकारे सिद्धस्यैव भद्रबाहुस्वामिभिर्युगपद्द्वावुपयोगौ निषिद्धावतो न किंचित्त्वत्कृता व्याख्यान्तरकल्पनेह भवतीति भावः । सूरिः समाधानान्तरमाह-

अह पुव्वद्धेणेव, सिद्धमेको त्ति किं च विइएणं ।
एत्तो वि य पच्छद्धे, निगमइ सव्वपडिसेहो ॥

अथवा " नाणम्मि दंसणम्मि य वत्तेगयरम्मि उवउत्ता " इत्यनेन पूर्वार्द्धेनैवैकदा एक उपयोगः सिद्धस्ततः किं द्वितीयेन पश्चार्द्धेनोक्तेन उक्तं चेदत (एत्तोवियात्ति) इत एव " सव्वस्स केवलिस्स " इत्यादि पश्चार्द्धोपन्यासात्सर्वप्रतिषेधो गम्यते । यथा सर्वस्य केवलिनोऽपि युगपद् द्वावुपयोगौ न स्तः किंपृच्छा केवलिन इति ॥ पुनः परवचनमाशङ्क्य परिहारमाह-

तो कहमिहेव भणियं, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।
समुदायविसयमेयं, उभयनिसेहो य पत्तेयं ॥

यदि न युगपदुपयोग इष्यते तत आचार्यैः कथमिहैव भणिष्यति तथापीहैव भणिष्यतीत्यर्थः । किं तदित्याह (उवउत्ता दंसणे यत्ति) दर्शने ज्ञाने च युगपदुपयुक्ता इह किल भणिता इति परस्याभिप्रायः । अयं च मिथ्याभिमानोपहतसद्बोधत्वात्कदभिप्राय एवेति दर्शयति (समुदायवयणमेयत्ति) समुदायविषयमेवेदं नतु युगपदुपयोगप्रतिपादनपरमित्यर्थः । अनन्तास्तर्हि सिद्धास्तत्समुदायेऽत्र केऽपि ज्ञाने उपयुक्ताः केचिद्दर्शने इत्ययमर्थः । प्रत्येकविवक्षायां पुनः "पत्तेआवरणत्ता" मित्याद्यभिहितयुक्तेर्युगपदुभयोपयोगनिषेध एव मन्तव्य इति पुनरपि प्रेर्यपरिहारौ प्राह-

जम्हा अपज्जत्ताइं, केवल तेणोभओवओगो त्ति ।
भण्णइ नायं नियमो, संतं तेणोवओगो त्ति ॥

साद्यपर्यवसितत्वाद्यस्मादपर्यन्ते अविनाशिनी सदावस्थितकेवलदर्शने तेन तस्माद्युगपदुपयोग इष्यते अस्माभिः । इद हि यद्बोधस्वभावसदावस्थितं च तस्योपयोगेनापि सदा भवितव्यमेव अन्यथोपलशकलकल्पत्वेन बोधस्वभावत्वानुपपत्तेः । सदोपयोगे च द्वयोर्युगपदुपयोगः सिद्ध एवेति परस्याभिप्रायः । आचार्य आह । भण्यते अत्रोत्तरम् । नायं नियमः सर्वदा यल्लब्धिमाश्रित्य स विद्यमानकेवलज्ञानं केवलदर्शनं च तेन तयोरुपयोगेनापि सर्वदा भवितव्यमिति कुतः पुनर्नाय नियम इत्याह-

ठिइकालं जह से दं-सणनाणाणमणुवओगे वि ।
दिट्ठमवत्थाणं तह, न होइ किं केवलाणं पि ॥

यथा केवलज्ञानदर्शनाभ्यां शेषाणि यानि दर्शनज्ञानानि तेषां निज २ स्थितिकाल यावदनुपयोगाभावेऽपि सत्त्वस्यावस्थानं दृष्टं तथा केवलज्ञानदर्शनयोरपि निजस्थितिकाल यावदनुपयोगेऽपि सत्त्वस्यावस्थानं किमिति न भवति भवति चेत्तर्हि सतो ज्ञानस्य दर्शनस्योपयोगेन भवितव्यमिति अनेकान्तिकमेव । इयमत्र भावना । शेषज्ञानदर्शनानां प्रज्ञापनायां कायस्थितौ दीर्घस्थितिकाल उक्तस्तद्यथा । " मइनाणीणं भंते ! मइनाणित्ति कालओ केच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण छावट्ठिसागारोवमाइं साइरेगाइं एवं सुयनाणीवि ओहिनाणीवि एवं चेव नवरं जहन्नेण एक्कं समयं मणपज्जवनाणी जहन्नेण एक्कं समयं उक्कोसेण देसूण पुव्वकोडिं " यदा विभङ्गज्ञानसम्यक्त्वलाभे समयमेकमवधिज्ञानं भूत्वा प्रतिपतति तदा अवधिज्ञानस्य जघन्यतः समयस्थितिकालो मन्तव्यः । मनःपर्यायज्ञानस्य तूत्पत्त्यनन्तरं तद्गतो मरणादिति " चक्खुदंसणी जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण सागरोवमसहस्सं साइरेगं अचक्खुदंसणी अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा पज्जवसिए ओहिदंसणी जहा ओहिनाणि त्ति " तदेवमेतेषां निजनिजस्थितिकाल यावत्सत्त्वमुक्तम् । उपयोगस्त्वान्तर्मौहूर्तिकत्वान्नैतावन्तं कालं भवत्यतः सतोऽवश्यमुपयोगेन भवितव्यमिति कथं नानैकान्तिकम् । अथ लब्धित एवं तान्येतावन्तं कालं भवन्ति नतु बोधात्मनेति चेत्तदिदं हन्त केवलज्ञानदर्शनयोरपि समानं तयोरपि लब्धित एवापर्यन्तत्वादुपयोगस्तु सामानिकत्वादिति पुनरप्यतिस्वाग्रहग्रस्तत्वात्परः प्राह-

नणु सनिधणता समयं, मिच्छावरणक्खउ त्ति व जिणस्स ।
इयरेयरावरणया, अहवा निक्कारणावरणं ॥
एगयराणुवउत्ते, तदसव्वसुदरिसत्तणमेव ।
भण्णइ छउमत्थस्स वि, समाणमेगंतरे सव्वं ॥

ननु यदि एकस्मिन्समये केवलज्ञानोपयोगोऽन्यस्मिंस्तु समये केवलदर्शनोपयोग इष्यते तर्ह्येव क्रमोपयोगित्वे केवलोपयोगित्वे केवलज्ञानदर्शनयोः सनिधनत्वं प्रतिसमयं सान्तत्वं प्राप्नोति ।

तथाच सति तयो समयोक्तमपर्यवसितत्व हीयते। अथवा यः कष्टशतानि कृत्वा ज्ञानावरणादिक्षयो विहितः स मिथ्या निरर्थको जिनस्य भगवतः प्राप्नोति समयात्समयादूर्ध्वं केवलज्ञानदर्शनोपयोगयोः पुनरप्यभावाच्छद्मपनीतावरणौ द्वौ प्रदीपौ क्रमेण प्रकाश प्रकाशयतः। अथवा केवलज्ञानदर्शनयोरितरेतरावरणता नेष्यते तर्ह्यन्यतरोपयोगकाले अन्यतरस्य निष्कारणमेवावरणं स्यात्तथा च सति सत्वमसत्व चेत्यादि प्रसज्यत इति। तथा एकतरस्मिन् ज्ञाने दर्शने वाऽनुपयुक्तस्तस्मिन्नेकतरानुपयुक्ते केवलिनीष्यमाणे ज्ञानानुपयोगकाले तस्य केवलिनोऽसर्वज्ञत्वं प्राप्नोति दर्शनानुपयोगकाले त्वसर्वदर्शित्व प्रसजति अनुस्वारश्चेह लुप्तो द्रष्टव्यः। तथाऽसर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्व च नेष्ट जैनानां सर्वदैव केवलिनि सर्वज्ञत्वसर्वदर्शित्वाभ्युपगमादिति। सूरिराह। भण्यते अत्रोत्तरम्। ननु छद्मस्थस्यापि दर्शनज्ञानयोरेकतरे उपयोगे सर्वमिदं दोषजाल समानमेव अत्रापि हि शक्यते एव वक्तु ज्ञानानुपयोगे तस्याज्ञानित्व दर्शनानुपयोगे पुनरदर्शनत्वम् तथा मिथ्यावरणक्षय इतरेतरावरणता वा निष्कारणावरणत्व चेत्यादि पुनरप्यनिर्विण्णस्य परस्याशङ्कामाह-

सव्वक्खीणावरणो, अह मन्नसि केवली न छउमत्थो।
उभओवओगविग्घ-छउमत्थस्स व जिणस्स॥

अथैव मन्यसे सर्वक्षीणावरणः क्षपितनि शेषावरण केवली न तु छद्मस्थस्ततो युगपज्ज्ञानदर्शनोभयोपयोगविघ्न छद्मस्थस्यैव भवति सावरणत्वान्न तु जिनस्य केवलिन सर्वथा निरावरणत्वादिति।

देसक्खए अजुत्तं, जुगवं कसिणोभओवओगित्तं।
एतावंतं मम्मे, पुण पडिसिज्झए किं से॥

इह यद्यपि छद्मस्थ क्षीणानि शेषावरणो न भवति तथापि देशतस्तस्याप्यावरणक्षयो लभ्यते ततस्तस्यावरणक्षये सति युगपत्कृत्स्नोभयोपगित्व युगपत्सर्ववस्तुविषयज्ञानदर्शनोभयोपयोगभवनमयुक्तमित्येतावन्मात्र मन्यामहे वयं वस्तुदेशतो सर्ववस्तुविषयज्ञानदर्शनोभयोपयोगः स हन्त (से) तस्य छद्मस्थस्य किं प्रतिषिध्यते ननु युक्तस्तत्प्रतिषेध इत्यर्थः। नचास्य युगपदुभयोपयोगो भवति ततोऽसौ केवलिनोऽपि न युक्तः इतीह भावार्थ ॥ पुनरपि पराशङ्कां परिहार चाह-

अह जम्मि नोवउत्तो, तं नत्थि तओ न दंसणाइ तिगे।
अत्थि कुगओवओगो-त्तिहोइ साहू कहं विगलो॥

अथैव मन्यसे क्रमोपयोगित्वमभ्युपगम्यमाने केवली यस्मिन् ज्ञाने दर्शने वानुपयुक्तस्तदस्ति यस्मिंस्तु नोपयुक्तस्तत्तदा नास्त्येवानुपलभ्यमानत्वात्खरविषाणवत्तनस्तर्हि दर्शनादेशिकदर्शनज्ञानचारित्रत्रये छद्मस्थस्य साधोर्युगपदुपयोगो नास्ति छद्मस्थस्य युगपदुपयोगाभावस्य त्वयाभ्युपगतत्वात्ततो दर्शनादित्रिकेष्वप्राप्यनुपयुक्तस्तदपि त्वदभिप्रायेण नास्त्यतस्तद्विकल एकेनापि दर्शनादिना रहित कथ साधुर्भवतु न प्राप्नोत्येव साधुत्व तस्य त्वदभिप्रायेणेति भाव । भण्यते चासौ समये लोके सर्वदैव साधुस्ततो नेदमपि क्रमोपयोगे दूषणमिति यन्नानुपयुक्तस्तदसदित्यत्र दूषणान्तरमप्याह-

निक्काय विसआओ, नाणाणं न वि य ते चउन्नाणी।
एवं सइ छउमत्थो, अत्थि न तिदंसणी समए॥

इह ज्ञानानां दर्शनानां चोपयोग आन्तर्मौहूर्तिक एव समये प्रोक्तस्तस्माच्च परतस्तदभिप्रायेण किल ज्ञान दर्शन वा नास्ति। एव च सति ज्ञानानामुपलक्षणत्वाद्दर्शनानां च यः सातिरेकषट्पल्योपमादिको दीर्घस्थितिकाल समये प्रोक्तस्तस्य विसंवादो विघटन प्राप्नोति यश्च चतुर्ज्ञानी केवलदर्शनवर्जदर्शनत्रययुक्तत्वात्त्रिदर्शनी च छद्मस्थो गौतमादिः प्रसिद्धः सोऽपि त्वदभिप्रायेणैतद्रूपः सर्वदा न भवति एकदा एकोपयोगस्यैव सद्भावाद नुपयोगवतश्चासत्वादिति। अथ सिद्धान्तान्तरग्रहणेन पुनरपि पर प्राह

आह भणियं नणु सुए, केवलिणो केवलोवओगेण।
पढमत्ति तेण गम्मत्ति, सओवओगोभयं तेसिं॥

आह ननु भणित भगवत्यामष्टादशशतप्रथमोद्देशकलक्षणे श्रुते "केवलीण भंते केवलोपओगेण किं पढमा अपढमा? गोयमा! पढमा नोअपढमत्ति" इह च यो येन भावेन पूर्वं नासीदिदानीं च जातः स तेन भावेन प्रथम उच्यते ततश्च केवलिनः केवलोपयोगेन प्रथमः अयमर्थः केवलयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरुपयोगः केवलोपयोगस्तेन केवलिन प्रथमा नत्वप्रथमास्तस्याप्राप्तपूर्वत्वात्प्राप्तस्य च पुनर्ध्वंसाभावात्तेन तस्माद्गम्यते ज्ञायते सदैवोपयोगोभय तेषां प्रवर्तते। यदि पुन क्रमेणोपयोग स्यात्तदा भूत्वा २ विनाशात्पुनः पुनरपि चोत्पादात्केवलोपयोगेनाप्रथमत्वमपि तेषां भवेदिति। सूरिराह-

उवओगग्गहणाओ, इह केवलनाणदंसणं।
जइ तदणत्थंतरया, हवेज्ज सुत्तम्मि को दोसो॥

यदि केवलोवओगेणातीत्यत्रोपयोगग्रहणात्केवलयोरुपयोगः केवलोपयोग इति समासाश्रितयो केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्ग्रहणमिष्यते तर्हि तदनर्थान्तरता तयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेकस्माडुपयोगादव्यतिरिक्तत्वात्परस्परमनर्थान्तरता ज्ञान च दर्शन चैकमेव वस्त्वेवरूपं भवेदिति परः प्राह (सुत्तम्मि को दोसोत्ति) भवतु तयोरनर्थान्तरता को ह्येवं सति केवलोवओगेण सूत्रे दोषः स्यान्न कश्चिदस्माक सिद्धिसाधनादिति। आचार्य प्राह। यदि दोषपरिज्ञाने तव कुतूहल तर्हि शृणु किमित्याह-

तग्गहणे किमिह फलं, नणु तदणत्थंतरोवएमत्थं।
तह वत्थुविसेसणत्थं, एयंमयसमयम्मि सुत्ताणि॥

तद्ग्रहणे सति किं फल सिध्यति अनर्थान्तरत्वे सति किमर्थमुभयग्रहणं पुनरुक्तदोषप्रसङ्गादिति भावः। पर आह ननु तयोः केवलज्ञानदर्शनयोः परस्परमनर्थान्तरतोपदेशार्थमेवेद तथा वस्तुन केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायध्वनिभ्यां विशेषणार्थमेवेदम् एकमेव हि केवल वस्तु केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायध्वनिभ्यां विशेषणार्थं चेदम्। एवमेवहि केवलवस्तुनोऽनेकपर्यायध्वनिभिर्विशेषणार्थं समये सिद्धान्ते सूत्राणि शतशोऽनेकशः सन्तीति। एतदेव पर उपदर्शयति॥

सिद्धा काइ य नो सं-जयाइपज्जाय उसएवेगो।
सुत्तेसु विसेसिज्जइ, जहेह तह सव्ववत्थूणि॥

(विसेसिज्जइजहत्ति) यथा तेषु२ सिद्धान्तसूत्रेषु स एवैको मुक्तात्मा सिद्धः कायिकानां सयतादिपर्यायैर्विशेष्यते प्रतिपाद्यते आदिशब्दान्नोभव्यनोबादरनोपर्याप्तनोपरित्तानां सन्निमपरिनिवृत्तादिपर्यायैरपि विशेष्यः क्वचित्प्रतिपाद्यते (इहतहत्ति) तथेहापि क्षायिकाज्ञानवस्त्वेकमेव केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायध्वनिभ्यां विशेष्यते एवमन्यान्यपि सर्वाणि पुरन्दरघटवृक्षादिवस्तूनि निजनिजपर्यायशब्दैः समये लोके च विशेष्यन्त एवेति क इह प्रद्वेष इति। अथैव सूरिः पर दुरभिनिवेशममुञ्चन्तमवलोक्य युगपदुपयोगद्वयपक्ष मूलत एनोन्मूलयितु क्रमोपयोगक व्यक्तमेव सिद्धान्तोक्तमादर्शयन्नाह-

नाणेयंपि य पन्नत्ती, पन्नवणाईसु जह जिणो समयं।
जं जाणइ न वि पासइ, तं अणुपणप्पन्नाईणि ॥

ननु प्रज्ञप्त्यां भगवत्यां प्रज्ञापनायां स्फुटं भणितमेवोक्तमेव । यथा जिनः केवली परमाणुरत्नप्रभादीनि वस्तूनि (समय ज जाणयत्ति) यस्मिन्समये जानाति (न वि पासइत्ति) तस्मिन् समये नैव पश्यति किंत्वन्यस्मिन्समये जानाति अन्यस्मिंस्तु पश्यति । इयमत्र भावना । इह भगवत्यां तावदष्टादशशतस्याष्टमोद्देशके स्फुटमेवोक्तम् ॥ तद्यथा ॥ " छउमत्थेणं भंते ! मणुस्से परमाणुपोग्गलं जाणइ न पासइ उदाहु न जाणइ न पासइ । गोयमा ! अत्थेगइए जाणइ न पासइ । अत्थेगइए न जाणइ न पासइ । एवं जाव असंखेज्जपएसिए खंधे " इह छद्मस्थो निरतिशयो गृह्यते । तत्र श्रुतज्ञानी उपयुक्त श्रुतज्ञानेन परमाणु जानाति न तु पश्यति दर्शनाभावादपरस्तु न जानाति न पश्यति " एवं ओहीएवि परमा ओहीएण भंते मणुस्से परमाणुपोग्गल जं समय जाणइ त समय पासइ जं समय पासइ त समयं जाणइ णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! सागारे से नाणे भवइ अणागारे से दंसणे भवइ से केणट्ठेण पासइ ? तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ इत्यादि" "केवलीणं भंते ! मणुस्से परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणइ तं समयं पासइ जं समयं पासइ तं समयं जाणइ णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ गोयमा ! सागारे से नाणे भवइ । अणागारे से दंसणे भवइ से केणट्ठेण एवं वुच्चइत्यादि " एवं प्रज्ञापनोक्तमपि द्रष्टव्यम् । तदेव सिद्धान्ते स्फुटाक्षरैर्युगपदुपयोगे निषिद्धेऽपि किमिति सर्वानर्थमूलं तदभिमानमुत्सृज्य क्रमोपयोगोऽनभ्युपगम्यत इति । तदेव युक्तिता जरद्गवा जवबुसगृहे प्रविशन्तीति निबिडयुक्तिग्रगुमादिभिर्धर्तैर्निवार्यमाणा अपि परस्य दुराग्रहबुद्धिर्न निवर्त्तते ततश्चक्षुषी निमील्य धृष्टतया पुनरप्याह—

इय सद्दमणुप्पव्वय, छोवा तं केइ विंति छउमत्थो ।
अन्नपुणपरतित्थि, पवत्तव्वमिणंति जंपंति ॥

यस्य केवलिनो भगवत्यां युगपदुपयोगो निषिद्धस्तं केचिच्छद्मस्थोऽसाविति ब्रुवते कथं पुन केवली छद्मस्थो भण्यत इत्याह । केवलीति वाक्ये इव शब्दलोपादथवा केवली शासिताऽस्येति केवलिमान् इति वाक्ये मतुप्प्रत्ययस्य लोपाच्छद्मस्थोऽसौ केवली तस्य च युगपदुपयोगनिषेधो मयापीष्यत एवेति परस्याभिप्राय । पर एवाह अन्ये तु केचित्तु परतीर्थिकवक्तव्यताविषयमिदं केवलिनो युगपदुपयोगनिषेधसूत्रं भगवत्यां केनापि प्रसङ्गेन लिखितमिति जल्पन्त्यतो न केवलिनः क्रमोपयोगनिषेधसूत्रमिति । अथ परस्य विभ्रमापहरणार्थं समस्तभूतग्रामानुग्रहशीलः पुनरपि सूरिराह—

जं छउमत्थो होहि य, परतावहिणो विसेसिउं कमसो ।
निद्दिसइ केवलिं नेए, तस्स छउमत्थया नत्थि ॥

यस्माद्भगवत्यामष्टादशशताष्टमोद्देशके छद्मस्थमधोऽधिक परमावधिकं चेत्येतास्त्रीनपि क्रमश प्रथमं विशेष्य विशेषतो निर्दिश्य तत पर्यन्ते केवलिनं निर्दिशति । तेन तस्मात्तस्य केवलिनः स्वजल्पितवरुमिथ्यावष्टम्भेन युक्तिविकलधार्ष्ट्यसामर्थ्यादिव मतुप्प्रत्ययलोपास्वयोपनीयमाना छद्मस्थता नास्ति किंतु निरुपचरितकेवलयेवासौ । यदि पुनरयं छद्मस्थोऽभिप्रेत स्यात्तदा किमनेन व्याजनिर्देशेन यत्किमपि छद्मस्थस्य भणनीयं तत्प्रथमं छद्मस्थोपन्यासकाल एव सर्वमुक्तं स्यादिति । किंच—

न य पासइ अणुमन्नो, छउमत्थोकेवली कोसो ।
जो पासइ परमाणुं, गहपामिणं जस्स होज्जाहि ॥

"केवली ण भंते ! परमाणुपोग्गल जं स जाणइत्यादि' भगवत्यामुक्तं तं च परमाणुमवधिज्ञानिनं मुक्त्वा अन्यश्छद्मस्थो न पश्यति तत्रापि सर्वेऽप्यवधिज्ञानिनस्तं पश्यन्ति किं तु य. परमावधिज्ञानी तस्माच्च परमावधेर्य. किञ्चिन्न्यूनावधिरधोवधिकः स एव तं पश्यति तौ चाधोवधिकपरमावधिज्ञानिनौ प्रागपि केवलिनः प्रथममेव निर्दिष्टौ ततस्तयोरुभयोरपि विशेषतो निर्दिष्टत्वात्कोऽन्यो हन्त छद्मस्थकेवली योऽसौ परमाणुमुक्तं पश्यति यस्य छद्मस्थकेवलिन इह त्वत्कल्पनया भगवत्या ग्रहण भवेदिति । अपि चागमे स्थानान्तरेऽपि छद्मस्थादिभ्य उपरिभणितीत एव केवली निर्दिष्टो नत्विवादिलोपकल्पनया छद्मस्थ इति दर्शयन्नाह—

तेसिं चिय छउमत्था, इयाए मग्गिज्जए जहिं सुत्ते ।
केवलसंवरसंज—माईएहिं वि निव्वाणं ।
तिन्निवि पडिसेहेउं, तीसुवि कालेसु केवली तत्थ ।
सिज्झइ सिज्झिसि सिज्झि—स्सइ वावि विनिद्दिट्ठो ॥

तेषामेव छद्मस्थादीनामादिशब्दादधोवधिकपरमावधिकेवलज्ञानिनां यत्र यत्र भगवतिप्रथमशतकचतुर्थोद्देशकसूत्रे केवलसंवरसंयमब्रह्मचर्यादिभिर्निर्वाण मोक्षो मृग्यते चिन्त्यते तत्रापि सूत्रे त्रीनपि छद्मस्थाधोवधिकपरमावधिज्ञानिनः प्रतिषेध्य तदुपरि केवली भूतभवद्भविष्यल्लक्षणेषु त्रिष्वपि कालेषु सिध्यति असैषीत सेत्स्यतीति निर्दिष्टो यदि पुनरयमपि त्वत्कल्पनया छद्मस्थो भवति तदा अस्यापि प्रथमनिर्दिष्टछद्मस्थस्यैव केवलसंवरादिभि सिद्धिर्न भवेदिति किं पुनस्तत्सूत्रमुच्यत ।" छउमत्थे ण भंते मणूसे तीयमणंतं सासयं समयं केवलेणं संवरेण । केवलेणं संजमेण केवलादि पवयणमायाहिं सिज्झिसु बुज्झिसु जाव सव्वदुक्खाणमंत करिंसु ! गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ! तं चेव जाव अंतं करिंसु गोयमा ! जे केवि अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाण अंत करिंसु वा करेंति वा करेस्सति वा सव्वे ते उप्पन्ना णाणदंसणधरा अरहा जिणा केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंत करिंसु वा करेंति वा करेस्सति वा से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव सव्वदुक्खाण अंत करिंसु पडुप्पन्नेवि एवं चेव नवरं सिज्झति भाणियव्वं । अणागएवि एवं चेव । नवरं सिज्झिस्सन्ति भाणियव्वं । जहा छउमत्थो तहा अहोहिय परमाहोहिओवि तिन्नि २ आलावगा भाणियव्वा । केवलीणं भंते ! मणूसे तीतमणंत सासयं समयं जाव अंत करिंसु हंता सिज्झिसु वा जाव अंत करेंसु । एए तिन्नि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थे जहा नवरं सिज्झिसु सिज्झति सिज्झिस्सति " तस्मादियमेव रीतिः । सिद्धान्ते छद्मस्थादिभ्य उपरि य केवली भण्यते स निरुपचरित एव न पुनरिवादिलोपकल्पनया छद्मस्थो ऽमीन्यथा अनन्तरसूत्रोक्तसिद्धिगमनानुपपत्तेरिति । अथ यदुक्तं " अन्ने पुण परतित्थिय वत्तव्व " मित्यादि तेनासमञ्जस प्रापितेनोद्वेजित परानुकम्पया सखेद सूरिराह ।

एवं विसेसियम्मि, परमयमेगंतरो वउगंति ।
न पुणरुत्तओवओगो, परवत्तव्वंति का बुद्धी ॥
उवओगो एगयरो, पणुनीमइमे सए मणायस्स ।

जणिओ वियमत्थो वि य, उद्दुद्देसे विसेसे उ ॥
एवं फुमवियभम्मि वि, सुत्ते मन्नन्नुजासिए सिध्दे ।
कह तीरइ परतित्थिय-वत्तव्वमिणंति वोत्तुं ते ॥

एवमुक्तप्रकारेण विशेषितेऽपि व्यक्तेऽपि क्रमोपयोगसाधके सिद्धान्ते सूत्रे सति योऽयमेकान्तरोपयोग स परमत युगपदुभयोपयोगसूत्र तु यदसत्त्वपि भवता किमपि कल्पते तत्र परतीर्थिकवक्तव्यतेति स्व स्व पक्षपात परित्यज्य चिन्त्यतां केय विपर्यासबुद्धिरिति । किंच भगवत्यां पञ्चविंशतितमे शते षष्ठोद्देशके " सिणाएणं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा अणगारोवउत्ते होज्जा ...मा ! सागारोवउत्तेवि होज्जा अणगारोवउत्तेवि होज्जा " ॥ इत्यनेन सूत्रेण विशेष्य नामग्राहं स्नातकस्य केवलिनो विकटार्थे प्रकटार्थ एव भणितः प्रतिपादितः । एकस्मिन्समये एकतरः साकारो नाकारो वा उपयोग इति ॥ एव स्फुटे सूत्रतो विकटे प्रकटे चाऽर्थत सर्वज्ञभाषिते सूत्रे सिद्धे कथ सकर्णविधानैः परतीर्थिकवक्तव्यतेयमिति तीर्यते शक्यते वक्तुम् । (जे) इति वाक्यालङ्कारार्थ इति ॥ अपिच-

सव्वत्थमुत्तमत्थि य-फुमएगपरोवओगजुत्ताणं ।
उजओगउत्तमत्ता, सुत्तिवुत्ता न कत्थइ वि ॥
कस्सइ वि नाम कत्थइ, काले जइ होज दोवि उवओगा।
उजओगउत्तसत्ता, ण सुत्तमेगं पि तो होज्जा ॥

एकतरोपयोगोपयुक्तानां सत्वानां प्रतिपादक सूत्र सर्वत्र सिद्धान्ते स्फुटमस्ति। तच्च किञ्चिद्दर्शित दर्शयिष्यते च युगपदुभयोपयोगो युक्तसत्वास्तु सूत्रे क्वचिदप्युक्ता प्रतिपादिता दृश्यन्त इति। यदि नाम कस्यापि भवस्थकेवलिन सिद्धकेवलिनो वा क्वचिदपि काल युगपद् द्वावुपयोगौ भवेतां ततस्तर्हि युगपदुभयोपयोगोपयुक्तसत्वानां प्रतिपादकमेकमपि सूत्र क्वचिदपि भवेन्नतु क्वापि तत्पश्याम इत्यतो निरालम्बनाग्रहमात्रभ्रमित एव भ्राम्यति भवानिति ॥ अपिच-

दुविहाणं पि य जीवा-ए जणियमप्पावहुं च समयम्मि।
सागारणगाराण य, न जणियमुजओवउत्ताणं ॥
जइ केवलीण जुगवं, उवओगो होज्ज तो एवं ।
सागारणगाराण य, मीसाण य तिएहमप्पवहुं ॥

साकारोपयोगवतामनाकारोपयोगवतां च द्विविधानामेव जीवानामल्पबहुत्व समये सिद्धान्ते प्रज्ञापनाल्पबहुत्वपदे भणितम् । तद्यथा " एएसि णं भंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताण अणगारोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा वहुया वा तुल्ला विसेसाहिया वा ॥ गोयमा सव्वत्थो वा जीवा अणगारोवउत्ता सागारोवउत्ता सखेज्जगुणा " युगपदुभयोपयोगोपयुक्तानां तु मिश्राणां तृतीयानामिहाल्पबहुत्व न भणित यदि पुन केवलिना युगपदुपयोगद्वय भवेत्तदैव सति साकारानाकारमिश्रोपयोगवतां त्रयाणामेव पदानामल्पबहुत्व भवेन्न द्वयोरिति । अत्र परशङ्का परिहारं चाह-

अह व मई उउमत्थे, पमुच्च सुत्तमिणमो न केवलिणो ।
तं पि न जुज्जइ जं स-व्व सत्तमरवाहिगारो यं ॥

सुगमा नवरं व्याप्त्या सर्वजीवसस्याधिकारे निर्दिष्टत्वान्नेद सूत्र छद्मस्थविषय प्रवक्तु युज्यत इति ॥ अथ सर्वजीवाधिकारोऽय न भवतीत्यत्राह-

काउं सिध्दगहणं, वहुवत्तव्वयपदेसु सव्वेसु ।
इह केवलमग्गहणं, जइ तो तं कारणं वच्चं ॥

यदि सर्वजीवाधिकारोऽयं न भवति तर्हि "गइ इंदियवेए काए जोए कसायलेसास्वित्यादिष्वन्येषु अल्पबहुत्ववक्तव्यताविचारविषयभूतेषु पदेषु सिद्धिगतिकानीन्द्रियकाययोग्यकषायलेश्या नोसयतनोपरीत्तादिपदे· पृथक् सिद्धग्रहणं कृत्वा केवलमिहैवोपयोगपदे पृथक्त्वग्रहण करोति । ततस्तत्र कारण वाच्य यदि हि छद्मस्थाधिकारत्वादिह तदग्रहणमित्युच्यते तर्हि शेषपदेषु सिद्धकेवलिग्रहणमयुक्त स्यात्तस्मात्सर्वजीवाधिकार एवाय केवलमाहारकानाहारकभाषकादिपदद्वयेनैवानेन साकारानाकारोपयोगपदद्वयेन सिद्धकेवलिना गृहीतत्वादिह पृथक्त्वादग्रहणमिति । आगमान्तरतोऽप्यत्र छद्मस्थाधिकारशङ्का निवर्तयन्नाह ॥

अहवा विसेसियं चिय, जीवाभिगमम्मि एयमप्पवहुं ।
दुविहत्ति सव्वजीवा, सिध्दासिध्दाइया जत्थ ॥

अथवा छद्मस्थाधिकारशङ्कानिवर्त्तकत्वाद्विशेषितमिवैतत्साकारानाकारोपयोगयो· पदद्वयस्याल्पबहुत्व जीवाभिगमे प्रोक्तमिति शेष ॥ क सूत्रे इत्याह । सिद्धासिद्धादिभेदेन द्विविधा एव सर्वे जीवा यत्र सूत्रे प्रतिपाद्यन्त इति तदेव सूत्र गाथयोपनिबध्य दर्शयन्नाह ॥

सिध्दसइंदियकाए, जोए वेए कसायलेसा य ।
नाणुवओगाहारय, भासयसरीरचरमे य ॥

सिद्धा असिद्धाश्च सेन्द्रिया अनिन्द्रियाश्च सकाया अकायाश्चेत्यादि भेदेन सर्वे जीवा· सगृह्यात्रसूत्रे जीवाभिगमे प्रतिपाद्यन्ते तत्र सूत्रविशेषितमेवेदमल्पबहुत्वप्रतिपादितमिति युगपदुपयोगद्वयपक्ष निराचिकीर्षुराह ॥

अंतोमुहुत्तमेवे य, कालो जणिओ न होवओगस्स ।
साइअपज्जवसिओत्ति, नत्थि कत्थइ वि निद्दिट्ठो ॥

तथा ज्ञानाज्ञानदर्शनानामुपयोगस्यागमे सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त्तमेव कालो भणित साद्यपर्यवसितस्तु उपयोगकाल क्वापि नास्ति विनिर्दिष्ट । यदिह साकारानाकारोपयोगरूपो मिश्र· सिद्धानामुपयोग स्यात्तदा तेषामिव तस्यापि साद्यपर्यवसितत्व स्यान्नचैतत्सिद्धान्ते क्वापि भणित दृश्यते तस्मान्नास्ति युगपदुपयोगद्वयमिति ॥ एतदेवाह—

जह सिध्दाईयाणं, जणियं साइअपज्जवसियत्तं ।
तह जइ उवओगाणं, जणियं हवेज्ज तो जुगवं ॥

यथा सिद्धादीनामादिशब्दादनिन्द्रियकादीनां साद्यपर्यवसितत्व भणित तथा यद्युपयोगानामपि तद्भणित भवेत्ततस्तौ साकारानाकारोपयोगौ युगपद्भवेतां नचैव तस्मान्न युगपदुपयोगद्वयमिति तदेव सूरि· परस्याभिनिवेश निराकृत्यात्मनि तदाशङ्कां निराकर्तुमाह—

कस्स व नाणुमयमिणं, जिणस्स जइ होज्ज दोन्नि उवओगा।
नूणं न होंति जुगवं, जओ निसिध्दा सुए वहुसो ॥
नन्नि अजिनिवेसवुध्दी, अम्हं एगंतरोवओगम्मि ।
तहवि जणिमो न तारड, जं जिणमयमन्नहा काउं ॥

पाठसिद्ध एव । अथ परपृच्छामुत्तर चाह ॥ "जइ तओआवरणक्खमेवमित्यादि " गाथाया यन्मया " इयरेयरावरणया अहवा निक्कारणावरणमित्यादि " दूषणमुक्तं तद्यदि प्रागुक्तेनैव प्रकारेण त्वया नेष्यते तर्हि कथ जिनस्य केवलिन एकान्तरोपयोगेऽभ्युपग-

न्यमाने तस्य युगपदुपयोगवृत्तेरावरणं तदावरणमिति कथ्यतां सूरिराह । भएयतेऽत्रोत्तरम् । "तन्नि तदावरण" मिह स्वभावो द्रष्टव्य. ईदृश एव जीवस्वभावो येन क्रमेणैवोपयोगः प्रवर्त्तते न युगपत् न च स्वभाव. पर्यनुपयोगमर्हति । अग्निर्दहति नाकाशमित्यादिष्वपि तत्प्रसङ्गादिति । एतदेव समर्थयति—

परिणामिय भावाओ, जीवत्तं पि य सब्भावए वायं ।
एगंतरोवओगो, जीवाणमणन्नहेउत्ति ॥

यथा जीवस्य जीवत्वमनन्यहेतुक पारिणामिकभावत्वादेवमेकान्तरोपयोगोऽपि परिणामिकत्वात्तस्य स्वभाव एव ततो नास्यान्यो हेतुरन्वेषणीय इति ॥ विशे० । स्था० । नं० ।

सम्प्रति चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नैरयिकादीन् चिन्तयन्नाह—

णेरइयाणं भंते ! कइविहे उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते । तंजहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य । णेरइयाणं भंते ! सागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते तंजहा—मतिनाण० सुयनाण० ओहिनाण० मतिअन्नाण० सुयअन्नाण० विभंगनाणसागारोवओगे । णेरइयाणं भंते ! अणागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तंजहा चक्खुदंसण० अचक्खुदंसण० ओहिदंसणअणागारोवओगे । एवं जाव थणियकुमाराणं ॥

नैरयिका हि द्विविधा भवन्ति सम्यग् दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च । अवधिरपि तेषां भवप्रत्ययोऽवश्यमुपजायते भवप्रत्ययो नारकदेवानामिति वचनात् । तत्र सम्यग्दृष्टीनां मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टीनां मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानीति सामान्यतो नैरयिकाणां षड्विध साकारोपयोग. । अनाकारोपयोगस्त्रिविधस्तद्यथा चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शन च । एष त्रिविधोऽप्यनाकारोपयोग' सम्यग्दृशां मिथ्यादृशां वा विशेषेण प्रतिपत्तव्यः उभयेषामप्यवधिदर्शनस्य सूत्रे प्रतिपादितत्वात् । एवमसुरकुमारादीना स्तनितकुमारपर्यवसानानां भवनपतीनामप्यवसेयम् ।

पुढविकाइयाणं पुच्छा गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते, तंजहा सागारोवओगे य अणागारोवओगे य । पुढविकाइयाणं भंते ! अणागारोवओगे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा मतिअन्नाणसुयअन्नाण । पुढविकाइयाणं भंते ! अणागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्खुदंसण अणागारोवओगे पण्णत्ते एवं जाव वणस्सइकाइयाणं । बेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा सागारो अणागारो । बेइंदियाणं सागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा आभिनिबोहियनाण० सुयनाण० मतिअन्नाण० सुयअन्नाण० । बेइंदियाणं भंते ! अणागारोवओगे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगे अचक्खुदंसणअणागारोवओगे एवं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं वि एवं चेव नवरं अणागारोवओगे दुविहे पण्णत्ते चक्खुदंसण० अचक्खुदंसणअणागारोवओगे य । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जहा णेरइयाणं मणुस्साणं जहा ओहिए उवओगे भणियं तहेव भाणियव्वं । वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा णेरइयाणं ।

पृथिवीकायिकानां साकारोपयोगो द्विविधस्तद्यथा मत्यज्ञानं श्रुताज्ञान चाऽनाकारोपयोग एकोऽचक्षुर्दर्शनरूपः शेषोपयोगानां तेषामसम्भवात् सम्यग्दर्शनादिलब्धिविकलत्वात् । एवमतेजोवायुवनस्पतीनामपि वेदितव्यम् । द्वीन्द्रियाणां साकारोपयोगश्चतुर्विधस्तद्यथा मतिज्ञान श्रुतज्ञानं मत्यज्ञान श्रुताज्ञानम् । तत्रापर्याप्तावस्थायां केषांचित्सास्वादनभावमासादयितां मतिज्ञानश्रुतज्ञाने शेषाणां तु मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने । अनाकारोपयोगस्त्वेकोऽचक्षुर्दर्शनरूपः शेषोपयोगानाम् । एव त्रीन्द्रियाणामपि चतुरिन्द्रियाणामप्येवम् । नवरमनाकारोपयोगो द्विविधः चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनं च । पञ्चेन्द्रियतिरिश्चां साकारोपयोगः षड्विधस्तद्यथा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञान मत्यज्ञान श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानम् । अनाकारोपयोगस्त्रिविधस्तद्यथा चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिद्विकस्यापि केषुचित्तेषु सम्भवात् । मनुष्याणां यथासम्भवमष्टावपि साकारोपयोगाश्चत्वारोऽप्यनाकारोपयोगा मनुष्येषु सर्वज्ञानदर्शनलब्धिसम्भवात् व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका यथा नैरयिकास्तदेव सामान्यतश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण जीवानामुपयोगश्चिन्तितः ॥

सम्प्रति मन्दमतिस्पष्टावबोधाय जीवा एव तत्तदुपयोगोपयुक्ताः सामान्यतश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्त्यन्ते—

जीवा णं भंते ! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ? गोयमा ! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि । सेकेणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि ? गोयमा ! जेणं जीवो आभिनिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणमणपज्जवकेवलनाण, मतिअन्नाणसुयअन्नाणविभंगनाणोवउत्ता तेणं जीवा सागारोवउत्ता जेणं जीवा चक्खुदंसणअचक्खुदंसणओहिदंसणकेवलदंसणोवउत्ता तेणं जीवा अणागारोवउत्ता से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवा सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि । नेरइया णं भंते ! किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ? गोयमा ! नेरइया सागारोवउत्तावि अणागारोवउत्तावि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! जेणं नेरइयाणं आभिनिबोहियनाण सुयनाण ओहिनाण मइअन्नाण सुयअन्नाण विभंगनाणोवउत्ता तेणं नेरइया सागारोवउत्ता जेणं नेरइया चक्खुदंसण अचक्खुदंसण ओहिदंसणोवउत्ता तेणं नेरइया अणागारोवउत्ता । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव अणागारोवउत्ता एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा गोयमा ! तहेव जाव जेणं पुढविकाइया मतिअन्नाण सुयअन्नाणोवउत्ता तेणं पुढविकाइयाणं सागारोवउत्ता जेणं पुढवि० अचक्खुदंसणोवउत्ता तेणं पुढवि० अणागारोवउत्ता । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव वणस्सइकाइया बेइंदियाणं अट्ठसाहिया तहेव पुच्छा जाव जेणं बेइंदिया आभिनिबोहियनाण सुयनाण मतिअन्नाण सुयअन्नाणोवउत्ता तेणं

वेइंदिया सागारोवउत्ता जेणं वेइंदिया अचक्खुदंसणोवउत्ता तेणं वेइंदिया अणागारोवउत्ता से तेणट्टेणं गोयमा! एवं वुच्चई एवं जाव चउरिंदिया णवरं चक्खुदंसणं अब्भहियं चउरिंदियाणंति पंचेंदियतिरिक्खजोणिया जहा णेरइया मणूसा जहा जीवा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया इति ॥

जीवाणभन्ते इत्यादि सुगमम । प्रज्ञा० २९ पद० । भ० । जी० (जीवेषूपयोगाः जीवट्ठाणशब्दे)

गतीन्द्रियादिषु मार्गणास्थानेषु उपयोगाः

मणुयगईए वारस, मणकेवलवज्जियाउ नव मीसे ।
इगिथावरेसुतितिन्नि्ओ, चउविगले वारसे सगले ॥

मनुजगतौ द्वादशाप्युपयोगाः अन्यासु च नारकामरतिर्यग्गतिषु प्रत्येक मनःपर्यायकेवलद्विकवर्ज्यचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनाख्यास्त्रय उपयोगाः भवन्ति। तुशब्दस्याधिकार्यससूचनान्मतिश्रुतावधिज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपाः षट् उपयोगा दृश्यन्ते अज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षट् । मिश्रे आद्यज्ञानत्रिकाज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपा नव प्ररूप्यन्ते । तथा चत्वारो विकलेष्वन्येषामसम्भवाच्चतुरिन्द्रियेषूपयोगास्तत्र त्रयः पूर्वोक्ता एव । चतुर्थस्तु चक्षुर्दर्शनम् । उपलक्षणं चैतत्तेनैत एव चत्वारोऽसञ्ज्ञिनि वेदितव्या । तथा त्रसेषु (सगलित्ति) पञ्चेन्द्रियेषु द्वादश ॥

जोए वेए सन्नी, आहारगभव्वसुक्कलेसासु ।
वारस संजमसम्मे, नव दस लेसा कसाएसु ॥

योगे मनोवाक्कायरूपे वेदे स्त्रीपुनपुंसकलक्षणे, सञ्ज्ञिनि आहारकभव्येषु शुक्ललेश्यायां च द्वादशाप्युपयोगाः । वेदश्चेह द्रव्यरूप आकारमात्रो गृह्यते तेन तत्र केवलज्ञानाद्यविरोधः। तथा संयमे यथाख्यातरूपे सम्यक्त्वे। १ क्षायिकलक्षणे नवोपयोगास्तत्राज्ञानत्रिकाभावात् । तथा लेश्यासु कृष्णनीलकापोततेजःपद्माख्यासु कषायेषु च चतुर्षु केवलज्ञानकेवलदर्शनहीनाः शेषा दशोपयोगा कृष्णादिलेश्याभावे केवलद्विकानुत्पादात् । इह ये उपयोगा यैरुपयोगैः सह न भवन्ति यैश्च सह भवन्ति तान् तथोपदर्शयन्नाह ।

सम्मत्तकारणेहिं, मिच्छत्तनिमित्ता न होंति उवओगा।
केवलदुगेण सेसा, संतेव अचक्खुचक्खुसु ॥

सम्यक्त्व कारणं येषान्ते सम्यक्त्वकारणास्तैर्मतिज्ञानादिभिरुपयोगैः सह मिथ्यात्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिबन्धना मत्यज्ञानादय उपयोगा न भवन्ति । तथा केवलद्विकेन केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपेण सह शेषाश्छाद्मस्थिका मतिज्ञानादय उपयोगा न भवन्ति देशज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलज्ञानदर्शनप्राप्तुर्भावात् । "उप्पन्नंसि अणंते नट्ठम्मियछाउमत्थिए नाणे" इति वचनप्रामाण्यात् । आह ननु यदि मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुष्यन्ति तर्हि सकलस्वस्वावरणक्षये सुतरां भवेयुश्चारित्रपरिणामवत् तत्कथ केवलज्ञानदर्शनभावे मतिज्ञानाद्यभाव आदर० " आवरणदेसविगमे, जाईविज्जति मई सुयाईणि । आवरणसव्वविगमे, कह ताइ न होंति जीवस्स " उच्यते इह यथा सहस्रभानोरुपचितघनपटलान्तरितस्यापान्तरालावस्थितकटकुड्याद्यावरणविवरप्रविष्टः प्रकाशो ऽस्पष्टरूपो घटपटादीन् प्रकाशयति तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्यापान्तरालमतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमरूपविवरविनिर्गतः प्रकाशो जीवादीन् पदार्थान् प्रकाशयति । स च तथा प्रकाशयंस्तत्तत्क्षयोपशमानुरूपं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमित्यादिरूपमभिधानमुद्वहति । ततो यथा सकलघनपटलकटकुड्याद्यावरणापगमे स तथाविधप्रकाशसहस्रधाकारास्पष्टरूपो न भवति किं तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमतिज्ञानाद्यावरणविलयेन तथाविधोऽस्पष्टरूपो मतिज्ञानादिसञ्ज्ञिनः केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति सर्वात्मना यथावस्थित वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एवेत्यदोष । उक्तं च । कडविवरागयकिरणा, मेहतरियस्स जह दिणेसस्स । उक्कडमेहावरणे, न होति जह तह इमाइंपि " । अन्ये पुनराहुः । सत्येव सयोगिकेवल्यादावपि मतिज्ञानादीनि केवलमफलत्वात्सन्त्यपि तदानींतनानि न विकसन्ति सूर्योदये नक्षत्राणीति । उक्तं च । " अन्ने आभिणिबोहिय-नाणाईणि वि जिणस्स विज्जति । अफलाणि य सूरुदए, जहेव नक्खत्तमाईणि " तथा (संतेवअचक्खुचक्खुसुत्ति) सन्त्येव भवन्त्येव अचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनाभ्या बहुवचनात् अवधिदर्शनेन च सह सम्यक्त्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिमित्ताश्चोपयोगास्तेन मतिश्रुतावधिज्ञानमनः पर्यायज्ञानसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसपरायक्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वेषु केवलद्विकाज्ञानत्रिकहीनाः शेषाः सप्तोपयोगाः । अज्ञानत्रिकावरणसास्वादनमिथ्यात्वेषु केवलद्विकमतिज्ञानादिचतुष्टयरहिताः शेषाः षट् केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शने चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेषु केवलद्विकहीनाः शेषा दश । मनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनरहिताश्च शेषा दशानाहारके सूत्रे च ।(अचक्खुचक्खुसुत्ति) सप्तमी तृतीयार्थे वेदितव्या भवति ॥ यदाह पाणिनिः प्राकृतलक्षणे तृतीयार्थे सप्तमी यथा तिसु तेसु अलंकियापुहई इति" तदेव कृता मार्गणास्थानेषु योगोपयोगमार्गणा ॥ पं० सं० १ द्वा० ।

गुणस्थानेषूपयोगाः ।

अधुनैतेष्वेवोपयोगानभिधातुकाम आह ॥

तिअनाणदुदंसाइम-दुगे अतियदेसिनाणदंसतिगं ।
ते मीसे मीससमणा, जयाइकेवलिदुयंतदुगे ॥ ४७ ॥

आदिमद्विके मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे प्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वये इत्यर्थः (तियनाणदुदंसत्ति) त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञान मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूप दर्शन दर्शः । द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शम् । चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोर्भवन्ति न शेषाः सम्यक्त्वविरत्यभावात् । तथा अयतेऽविरतसम्यग् दृष्टौ देशे देशविरते षडुपयोगा भवन्ति तथा हि (नाणदंसतिगंति) त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् ज्ञानत्रिक मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूप दर्शत्रिक चक्षुरचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणमिति न शेषाः सर्वविरत्यभावात् । ते पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षडुपयोगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके मिश्रा अज्ञानसहिता द्रष्टव्याः तस्योभयदृष्टिपातित्वात् केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यं कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यम् । ततोऽज्ञानबाहुल्यसमकक्षतायां तूभयांशसमतेति । अस्मिंश्च गुणस्थानके यदवधिदर्शनमुक्तं तत्सैद्धान्तिकमतापेक्षया द्रष्टव्यमित्युक्तं प्राक् । (समणाजयाइत्ति) यमस्तुपरमे यमन यतम् । यतं विद्यते यस्य स यतः अभ्रादित्वात् इत्यप्रत्ययः प्रमत्तगुणस्थानकवर्त्ती साधुर्यत आदिर्येषा गुणस्थानकानां तानि यतादीनि प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्तगुणस्थानकानि तेषु पूर्वोक्तज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः षडुपयोगाः (समणत्ति) मन

पर्यायज्ञानरहिताः सप्त भवन्तीति न शेषा मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात् । केवलद्विक केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयरूपम् । अतएव द्विके सयोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भवति न शेषा ज्ञानदर्शनलक्षणास्तदुच्छेदेनैव केवलज्ञानकेवलदर्शनोत्पत्ते. "नट्ठम्मिय छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात् तदेवमभिहिता गुणस्थानकेषूपयोगाः ॥ कर्म०

अचक्खुचक्खुदंसण–सन्नाण तिगं च मिच्छसासाणो ।
विरयाविरएसम्मे, नाणतिगं दंसणतिगं च ।

अचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनम् अज्ञानत्रिक च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गलक्षणम् । चः समुच्चये मिथ्यादृष्टौ सास्वादने चोपयोगा भवन्ति । यत्तु अवधिदर्शनं तत्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टाः श्रुतविदो नेच्छन्ति तन्न सम्यगवगच्छामः । अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते यतउक्तं भगवत्याम् "ओहिदंसणअणगारोवउत्ताणं भवइ ते किं नाणी अन्नाणी गोयमा नाणी वि अन्नाणी वि । जइ नाणत्तो अत्थेगइया तिनाणी अत्थेगइया चउनाणी जे तिनाणी ते आभिणिवोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी जे चउनाणी ते आभिनिवोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी । जे अन्नाणी ते नियमा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी इति" ॥ अत्र हि ये अज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टीनामप्यवधिदर्शन साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपादितम् यदा त्ववधिज्ञानी सास्वादनभाव मिश्रभाव वा गच्छति तदा तत्राप्यवधिदर्शन प्राप्यते इति । तथा विरताविरते देशविरते (सम्मेति) अविरतसम्यग्दृष्टौ मतिश्रुतावधिलक्षणज्ञानत्रिकं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनत्रिकमिति षट् उपयोगा भवन्ति ।

मिस्सम्मि य वामिस्सं, मणनाणजयं पमत्तपुव्वाणं ।
केवलियनाणदंसण, उवओगअजोगिजोगीसु ॥

मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टौ तदेव ज्ञानत्रिक दर्शनत्रिक चानन्तरोक्तमज्ञानव्यामिश्र द्रष्टव्यम् । मतिज्ञान मत्यज्ञानमिश्रमित्यादि केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यं कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यं समतायां तु सम्यक्त्वमिथ्यात्वयोरुभयोरपि समत्वेति तथा तदेव पूर्वोक्तमुपयोगषट्क मनःपर्यायज्ञानयुतम् । प्रमत्त. पूर्वो येषां ते प्रमत्तपूर्वास्तेषां प्रमत्तपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहानामवसेयम् । तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणौ द्वावुपयोगौ सयोग्ययोगिकेवलिषु द्रष्टव्यौ न शेषाः "केवलदुगे न सेसा" इति वचनात् ॥ पं०सं०१ । द्वा० ।

(अवशिष्टवक्तव्यतोपयोगस्य मार्गणास्थानाल्पबहुत्वं संजतनिग्गथादि शब्देषु ।) अवधाने, आव० ६ अ० । यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृतिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्तमात्मनो मनः साचिव्यादर्थग्रहणं प्रति व्यापाररूपे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । स्वस्वविषये लब्ध्यनुसारेणात्मनः परिच्छेदव्यापारस्वरूपे वा भावेन्द्रियभेदे, । जी० १ प्रति० । आ० म० द्वि० । "जो सविसयवावारो उवओगो" । य. श्रोत्रादीन्द्रियस्य स्वविषये शब्दादौ परिच्छेद्य व्यापार स उपयोग. उपयोजनमुपयोग' । विवक्षितकर्मणि मनसोऽभिनिवेशे, विशे० । "उवओगदिट्ठसाए कम्मप्पसंगपरियोलणविसाला" न० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । कायोत्सर्गे, महा०७ अ० । उपयोगाकरणे प्रायश्चित्तम् । "चेइएहिं अवंदिएहिं उवओगं करेज्जा पुरिवड्ढं गुरुणो अतिए णोवओगं करेज्जा । चउत्थं अकएण उवओगेण ज किंचि पडिगाहेज्जा चउत्थ अविहीए उवओग करेज्जा । व्याप्रियमाणतायाम्, आ० म० प्र० ॥ लिङ्गे, चिह्ने, विशे० ॥ आचरणे, भोजने, इष्टसिद्धिसाधने, व्यापारे, आनुकूल्ये च । वाच० ॥

उवओगकरावणिया–उपयोगकारापणिका– स्त्री० उपयोगकरणविधौ, सा चैवम् ॥

पडिलेहिअ सुपमज्जिअ, तत्तो पत्ताणि पढमजुत्ताणि ।
उग्गाहियगुरुपुरओ, उवओगं कुणइ उवउत्तो ॥ २ ॥
संपइ सामायारी, दीसइ एसा य आगसमयम्मि ।
जं किज्जइ उवओगो, बालाइअणुग्गहट्ठाए ३ ॥

पञ्चवस्तुकेऽपि " काइअमाइअजोगं, काउ घेत्तूण पत्तए ताहे । दरू च सजयतो, गुरुपुरओ ठवितु उवउत्तो ॥१॥ उपयोगकरणविधिस्त्वेव तत्रैवम् ।

संदिसह भणंति गुरुं, उवओगं करेसु ते मणुन्नया ।
उवओगकरावणियं, करेसु उस्सग्गमिच्चाइ ॥ १ ॥

संदिशतेति गुरुं भणति किमित्याह (उवओग करेमित्ति) इच्छाकारेण सदिसह भगवन् ! उपयोगकरूँ" इति भणतीत्यर्थ. । तत उपयोगकारावणिय करेमि काउस्सग्ग अन्नत्थ इत्यादि भणति ।

अह कड्ढिऊण सुत्तं, अक्खलिआइगुणसंजुअं गच्छा ।
चिट्ठंति काउसग्गे, चिंतिंति अत्थमंगलयं ॥ २ ॥

सुगमा । परं (मगलाति) पञ्चमङ्गलनमस्कारं कायोत्सर्गे चिन्तयन्ति अत्र पक्षान्तरमाह ।

तप्पुव्वयं जयत्थं, अन्नेउ भणंति धम्मजोगगिणं ।
गुरुबालवुड्ढसिक्खग, सेसिम्मिण अप्पणो चेव ॥ ३ ॥

तत्पूर्वकं नमस्कारपूर्वक पदार्थं तत्र चिन्तयन्ति सम्यगनालोचितस्य ग्रहणप्रतिषेधात् तस्माद्यावन्नालोचित हृदि तावन्न किञ्चिद्ग्राह्यम् । अन्ये आचार्या इत्थ भणन्ति धर्मयोगमेन चिन्तयन्तीति । किंविशिष्ट गुरुबालवृद्धशैक्षैरेव एतदर्थं नात्मार्थम् । ३ । तत. किमित्याह–

चिंतेतु तओ पच्छा, मंगलपुव्वं भणंति विणयणया ।
सादिसहत्ति गुरू वि अ, लाभोत्ति भणंति उवउत्तो ॥

चिन्तयित्वा पश्चात् (मगलपुव्विति) "नमो अरिहताण ति" भणनपूर्वं विनयनता भणन्ति किमित्याह (सदिसहेत्ति) सूरिरनुजानातीत्यर्थ. । गुरुरपि भणति (लाभोत्ति) कालोचितानुकूलानपायित्वात् उपयुक्तो निमित्ते ऽप्यसम्भ्रान्तः ॥ ४ ॥ तत. किमित्याह–

कहघेच्छमोत्ति पच्छा, सविसेसणया भणंति ते सम्मं ।
आह गुरूवि तहत्ति, जह गहिहं पुव्वसाहूहिं ॥ ५ ॥

ततः कथ गृहीष्याम एवं पश्चात् सविशेषनतास्ते साधवः सम्यग भणन्ति ततो गुरुरप्याह यथा गृहीत पूर्वसाधुभिरित्यनेन गुरोरसाधुप्रायोग्येन भणनप्रतिषेधमाह–

आवस्सियाए जस्स य, जोगुत्ति भणितु ते उ णिग्गंति ।
णिक्कारणेण कप्पइ, साहूणं वसहिणिग्गमणं ॥

आवश्यिक्या साधुक्रियाभिधायिन्या हेतुभूतया (जस्सयजोगुत्ति) भणित्वा निर्गच्छन्ति वसतेः तस्यार्थस्त्वेव यस्य वस्तुनो वस्त्रपात्रशैक्षादेर्योगः संयमोपकारकः संबन्धो भविष्यति त ग्रहीष्यामीत्यर्थः किमेतदित्याह निष्कारणे न कल्पते साधूनां वसतिनिर्गमनं तत्र दोषसंभवादिति । यस्य योगइत्यस्याऽकरणे च दोषो यदुक्तमोघनिर्युक्तौ ॥

जस्स य जोगमकाऊण, निग्गओ न लभेज्ज सच्चित्तं ।
नयवत्थपायमाई, तेणं गहणे कुणसु तम्हा ॥

यस्य योगमित्येवमकृत्वाऽभणित्वा निर्गते सज लभते नाभाव्यतया प्राप्नोति सचित्त प्रवज्यार्थमुपस्थित गृहस्थ नाप्यचित्त वस्त्रपात्रादि । अथ यदि गृह्णाति तत स्तैन्य भवति । तस्मात्कुरु अस्य योगमिति । एव चोपयोगकरणे चत्वारि स्थानानि तदुक्तम् " आपुच्छणत्ति पढमा, बिइया पडिपुच्छणा य कायव्वा । आवस्सिआ य तइआ, जस्स य जोगो चउत्थो उ " ध० ३ अधि० ।

उवओगगुण–उपयोगगुण–पु० उपयोग साकारानाकारभेद चैतन्य गुणो धर्म्मो यस्य स तथा। चैतन्यधर्मके जीवे, " जीवे सासए गुणओ उवओगगुणे " स्था० ५ ठा० । भ० ।

उवओगजुय–उपयोगयुत–त्रि० अवहितमनसि, "त पुण संविग्गेण उवओगजुएण तिव्वसद्धाए " पंचा० ४ विव० ।

उवओगट्टया–उपयोगार्थता–स्त्री० विविधविषयानुपयोगाश्रयणे, " उवओगट्टयाए अणेगभूयभावभवियविग्रह " विविधविषयानुपयोगानाश्रित्यानेकभूतभावभविको ऽप्यहमप्यतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधनात्मन कथञ्चिदभिन्नानां भूतत्वाद्भेत्स्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायेति । भ० १८ श० १० उ० ।

उवओगदिट्टसारा–उपयोगदृष्टसारा–स्त्री० उपयोजनमुपयोगो विवक्षितकर्मणि मनसोऽभिनिवेश सारस्तस्यैव विवक्षितकर्मण परमार्थ उपयोगेन दृष्ट सारो यया सा उपयोगदृष्टसारा । अभिनिवेशोपलब्धकर्मपरमार्थायां बुद्धौ," उवओगदिट्टसारा, कम्मपसगपरिघोलणविसाला " न० ॥

उवओगपरिणाम–उपयोगपरिणाम–पु० उपयोग एव परिणाम उपयोगपरिणाम जीवपरिणामभेदे, प्रज्ञा० १२ पद । स च साकारानाकारभेदाद् द्विधा, स्था० १० ठा० ।

उवओगवक्क–उपयोगवाक्य–न० आनन्दस्य भगवन्त प्रति वाक्यभेदे, । दर्श० ।

उवओगवीरिय–उपयोगवीर्य्य–आध्यात्मिकवीर्य्यभेदे, उपयोगवीर्य साकारानाकारभेदात् द्विविधम् । तत्र साकारोपयोगोऽष्टधा अनाकारश्चतुर्धा तेन चोपयुक्त स्वविषयस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपस्य परिच्छेद विधत्ते इति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

उवओगाता–स्त्री० उपयोगात्मन्–पु० उपयोग साकारानाकारभेदस्तत्प्रधान आत्मा उपयोगात्मा । सर्वजीवाना सिद्धसंसारिस्वरूपे विवक्षितवस्तूपयोगविशिष्टे वा आत्मभेदे, भ० ॥ १२ श० १० उ० ॥

उवग–उपाङ्ग–न० उपमितमङ्गेन । अङ्गावयवभूतेऽङ्गुल्यादौ, प्रज्ञा० २३ पद ॥ कर्म० । आ० म० द्वि० । विशे० । कर्णादिषु, च । उपाङ्गानि कर्णौ नासे अक्षिणी जङ्घे हस्तौ पादौ च । उत्त० ३ अ० । आचा० ॥ " होंति उवगा कण्णाणासच्छी जंघा हत्था पाया य कण्णा णासिगा अच्छि जघ पादा य एवमादी सव्वे उवगा भवति ॥ नि० चू० १ उ० ॥ कर्म० । अङ्गार्थविस्ताररूपे, ॥ कल्प० ॥ शिक्षाद्यङ्गोक्तप्रपञ्चनपरे प्रबन्धे, ज्ञा० ५ अ० । नि० । सगोवगाण सरहस्साण चउण्ह वेयाण " औ० ॥ लोकोत्तरिकाचाराङ्गैकदेशप्रपञ्चरूपे श्रुते, तानि च द्वादश तथाहि तत्राङ्गानि द्वादश उपाङ्गान्यपि अङ्गैकदेशरूपाणि प्राय प्रत्यङ्गमेकैकभावात्प्रत्येकंच । तत्राङ्गानि आचाराङ्गादीनि प्रतीतानि । तेषामुपाङ्गानि क्रमेणामूनि आचाराङ्गस्यौपपातिकम् ॥ १ ॥ सूत्र तदङ्गस्य राजप्रश्नीयम् ॥ २ ॥ स्थानाङ्गस्य जीवाभिगम ॥ ३ ॥ समवायाङ्गस्य प्रज्ञापना ॥ ४ ॥ भगवत्या सूर्यप्रज्ञप्ति ॥ ५ ॥ ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ॥ ६ ॥ उपासकदशाङ्गस्य चन्द्रप्रज्ञप्ति ॥ ७ ॥ अन्तकृद्दशाङ्गादीना दृष्टिवादपर्यन्तानां पञ्चानामप्यङ्गानां निरयावलिका । श्रुतस्कन्धगतकल्पिकादि पञ्चवर्गी पञ्चोपाङ्गानि तथाहि अन्तकृद्दशाङ्गस्य कल्पिका ॥ ८ ॥ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य कल्पावतसिका ९ प्रश्नव्याकरणस्य पुष्पिता ॥ १० ॥ विपाकश्रुतस्य पुष्पचूलिका ॥ ११ ॥ दृष्टिवादस्य वृष्णिदशा ॥ १२ ॥ इति । ज० १ वक्ष० ॥ उपाङ्गानि केन कृतानीत्यत्र प्रश्नोत्तरे तत्रोपाङ्गानि किं गणधररचितानि अन्यथा वा तथाङ्गप्रणयनकालेऽन्यदा वा तन्निर्माणमिति । सूत्रोपाङ्गानि स्थविरा कुर्वन्ति तीर्थकरे विद्यमानेऽविद्यमाने यान्यङ्गप्रणयनकाल एव तेषां निर्माणमिति नैकान्त इति नन्दीसूत्रवृत्तौ व्यक्तोक्रमस्ति तेन विशेषतस्ततोऽवसेयमिति ह्री० । (अङ्गपविट्टशब्दे तथा दर्शितम्) उपाङ्गेषु केन किं विवृतम् उपाङ्गाना च मध्ये प्रथममुपाङ्ग श्रीअभयदेवसूरिभिर्विवृतम् । राजप्रश्नीयादीनि षट् श्रीमलयगिरि पादैर्विवृतानि पञ्चोपाङ्गमयी निर्यावलिका च श्रीचन्द्रसूरिभिर्विवृता तत्र प्रस्तुतोपाङ्गस्य वृत्ति श्रीमलयगिरिकृताऽपि सम्प्रति कालदोषेण व्यवच्छिन्ना इद च गम्भीरार्थतया अतिगहन तेनानुयोगरहित मुद्रितराजकीयकमनीयकोशगृहमिव न तदर्थार्थिनां हस्तानुयोगार्पितसिद्धिक सजायत इति कल्पितार्थकल्पनकल्पद्रुमाणां युगप्रधानसमानम् । सम्प्रति विजयमानगच्छनायकपरमगुरुश्रीहीरविजयसूरीश्वरनिर्देशेन कोशाध्यक्षाकृथा प्रख्येयेणेवोन्मुद्रणमिव मया तदनुयोग प्रारभ्यते ॥ ज० १ वक्ष० । रा० । तिलक, पु० वाच० ।

उवगतिग–उपाङ्गत्रिक–न० औदारिकवैक्रियाहारकाङ्गोपाङ्गरूपे त्रये, कर्म० ॥

उवंजण–उपाञ्जन–न० उप अञ्ज ल्युट्, लेपने, गोमयादिनानुलेपने, समार्जनोपार्जनेन सेकेनोल्लेखने, च । वाच० ॥ अभ्यङ्गे, " अक्खोवजण वणाणुलेवणट्ठ्य " सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आधारे ल्युट् । अञ्जनाधारे, हस्तादौ च । वाच० ॥

उवंसुजव–उपांशुजप–पु० परैरश्रूयमाणेऽन्त सजल्पनरूपे जपभेदे, ध० ४ अधि० ॥

उवकप्प–उपकल्प–पु० उपगत कल्पम् । अत्या० स० कल्पोपगते, नके पाले, न० । उप सामीप्ये उपेत्य कल्पते इति उपकल्प । आहारादिषु उपेत्योपकारे वर्तते इत्युपकल्प । आहारादिना साधोरुपग्रहकरणे, । पु० चू० ॥

एत्तो पुच्छा महंतु, उवकप्पं उवग्गहे । उवकप्पती करेति, उवणाउत होति एकट्ठा ॥ भत्तेण व पाणेण व, उवग्गह तओ कुणति । उवकप्पति गुणधारी, उवरूपतं वियाणाहि ॥ खुहिओ पिवासिओ वा, मीतभिभूतो व ण तरति । पार्डेतं तस्स करेति, उवग्गहएसंतं कुडुस्स वा थूणे ॥ जो उप्पाए समाहिं, चउव्विहं णाणदसणचरित्ते । तत्तो य तवसमाहिं, तस्स ववाणिज्जए होइ ॥ भत्तेण व पाणेण व, उवगरणेण व उवग्गाहितंहो । जं कुणति सो समाहिं, तस्सावरण हवति दाता ॥ भत्तस्स व पाणस्स व, उवकरणस्स व उवग्गहकरस्स । जो कुणति प्रत्तवाय, तस्सावरणं पवट्टो त्ति ॥ एस उवकप्पो भणितो ॥ पं० भा० ॥

इयाणिं उवकप्पो तत्थ गाहा "भत्तेण व पाणेण व" उव सामीप्ये उपेत्य कल्पते इत्युपकल्पः आहारादिसु उपेत्योपकारे वर्त्तते इत्युपकल्पः । साहुस्स उग्गहं करेइ आहाराइणा-पढंतस्स उदुस्सेव मूला मूलगुण उत्तरगुणधारी उवकप्पतं वियाणाहि गाहा "भत्तेण य सो पुण भत्ताइहिं साहुस्स उवग्गहं कुणमाणो समाहिं समुप्पायइ चउव्विहं पि नाणदरिसणतवचरित्तसमाहिं सो पुण समाहिमुप्पायंतो तासिं चेव नाणदरिसणचरित्ततवसमाहीण आवरण हणइ कम गाहा "भत्तस्स य पाणस्स य" जो पुण अतराय करेइ आहाराइणं साहुस्स दिज्जंताए से तासिं चेव णाणदरिसिणतवसमाहीण अनराए पवड्ढइ सो जाणाइअंतराइयं बधइ उवकप्पो ॥ पं० चू० ॥

उवकप्पंत–उपकल्पयत्– त्रि० निष्पाद्यति, "जेसिं तेहिं उवकप्पंति अन्नं पाण तह वि" उपकल्पयन्ति निष्पादयन्ति सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ॥

उवकय–उपकृत– त्रि० उप-कृ-क्त० । कृतोपकारे, यस्योपकारः कृतस्तस्मिन् वाच० । परैर्वर्तिते, "अणुवकयपराणुग्गहपरायणा" आव० ४ अ० ॥

उवकसंत–उपकषत्– त्रि० व्रजति, "पण्णासमक्खितावेगे । नारीणं वसमुवकसंति" सूत्र० १ अ० ४ अ० ॥

उवकुल–उपकुल– न० कुलानां समीपमुपकुलम । तत्र वर्त्तन्ते यानि नक्षत्राणि तान्युपचारादुपकुलानीति व्युत्पत्तेः कुलसंज्ञकानां नक्षत्राणामधस्तनेषु नक्षत्रेषु, तानि द्वादश । श्रवण, पूर्वभाद्रपदा रेवती भरणी रोहिणी पुनर्वसू अश्लेषा पूर्वफाल्गुनी हस्तः स्वाती ज्येष्ठापूर्वाषाढाश्चेति । जं० ७ वक्ष० । चं० ॥ सू० प्र० (णक्खत्त शब्दे सूत्रत. स्पष्टीभविष्यति)

उवकेसपुर–उपकेशपुर– न० स्वनामख्याते तीर्थभेदे, यत्र वीरभगवत्प्रतिमा ॥ ती० ॥

उवकोसा–उपकोशा– स्त्री० पाटलिपुत्रवासिन्याः कोशागणिकायाः कनिष्ठभगिन्याम्, "पालिपुत्ते नयरे दो गणियातो कोसा उवकोसातो । आ० म० द्वि० । कोसाए लहरिकामगिणी उवकोसातीए समं वररुची वसति । आ० चू० ४ अ० । (थूलभद्दशब्दे कथानकम्)

उवक्कम–उपक्रम– पुं० उपक्रमणमुपक्रमः उप-क्रम् घञ् वृद्ध्यभावः । उपाये, आचा० १श्रु० ७ अ० ८ उ० । "सोच्चा भगवाणुसासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कम" तदुपक्रम तत्प्राप्त्युपाय कुर्यात् सूत्र० १ श्र० ३ अ० । उपायपूर्वके आरम्भे, तद्भेदाश्च यथा—

तिविहे उवक्कमे पण्णत्ते तंजहा धम्मिए उवक्कमे अहम्मिए उवक्कमे धम्मियाधम्मिए उवक्कमे ॥

उपक्रमणमुपक्रम उपायपूर्वक आरम्भो धर्म्मश्रुतचारित्रात्मके भव. स वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकश्रुतचारित्रार्थ आरम्भ इत्यर्थस्तथा न धार्मिकोऽधार्मिक सयमार्थस्तथा धार्मिकश्चासौ देशत सयमरूपत्वादधार्मिकश्च तथैवासयमरूपत्वाद्वा धार्मिकाधार्मिकौ देशविरत्यारम्भ इत्यर्थ । अथवा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षड्विध उपक्रमस्तत्र नामस्थापने सुज्ञाते द्रव्योपक्रमस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्त्रिधा सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यभेदात् । तत्र सचित्तद्रव्योपक्रमो द्विपदचतुष्पदापदभेदस्त्रिधा पुनरेकैको द्विविध. परिकर्म्मणि वस्तुविनाशे च । तत्र परिकर्म्मद्रव्यस्य गुणविशेषकरण तस्मिन्सति तद्यथा घृताद्युपयोगेन पुरुषस्य वर्णादिकरण एवं शुकसारिकादीनां शिक्षागुणविशेषकरणम् । तथा चतुष्पदानां हस्त्यादीनाम् अपदानां च वृक्षादीनां वृक्षायुर्वेदोपदेशात् वार्द्धक्यादिगुणापादनमिति । तथा वस्तुविनाशे च पुरुषादीनां खड्गादिभिर्विनाश एवोपक्रम इति । एवमचित्तद्रव्योपक्रमः पद्मरागादिमणेः क्षारमृत्पुटपाकादिना वैमल्यापादन विनाशश्चेति । मिश्रद्रव्योपक्रमस्तु कटकादिविभूषितपुरुषादिद्रव्यस्यैवेति । तथा क्षेत्रस्य शालिक्षेत्रादेः परिकर्म्मविनाशो वा क्षेत्रोपक्रमस्तथा कालस्य चन्द्रोपरागादिलक्षणस्योपक्रमे उपायेन परिज्ञानं कालोपक्रमः । तथा भावस्य प्रशस्ताप्रशस्तरूपस्योपायत. परिज्ञानमेव भावोपक्रमः । स चाप्रशस्तो ब्राह्मिनीगणिकामात्यदृष्टान्तादवसेयः । प्रशस्तस्तु श्रुतादिनिमित्तमाचार्यादिभावोपक्रम एव धार्म्मिकस्य सयतस्य यश्चारित्रार्थं द्रव्यक्षेत्रकालभावानामुपक्रम उक्तस्वरूप स धार्मिक एवोपक्रम । तथा अधार्मिकस्याऽसयतस्यासयमार्थं यः सोऽधार्मिक एव । तथा धार्मिकोधार्मिकस्य देशविरतस्य यः स धार्मिकाधार्म्मिक इति ॥ अथ स्वाम्यन्तरभेदेनोपक्रममेव त्रिधाह–

अहवा तिविहे उवक्कमे पण्णत्ते तं जहा आयोवक्कमे परोवक्कमे तदुभयोवक्कमे एवं वेयावच्चे अणुग्गहे अणुसिट्ठी उवालंभे एवमिक्किके तिन्नि २ आलावगा जहेव उवक्कमे ॥

तत्रात्मनोऽनुकूलोपसर्गादौ शीलरक्षणनिमित्तमुपक्रमो वैहानसादिना विनाशः परिकर्म वा आत्मार्थं वा उपक्रमोऽन्यस्य वस्तु न आत्मोपक्रम इति । तथा परस्य परार्थं चोपक्रमः परोपक्रम इति तदुभयस्य आत्मपरलक्षणस्य तदुभयार्थं चोपक्रमस्तदुभयोपक्रम इति । एवमिति । उपक्रमसूत्रवत् आत्मपरोभयभेदेन वैयावृत्त्यादयो वाच्याः । स्था० ३ ठा० । प्रथमत सर्वकृत्यविधौ, आतु० । उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रम । कर्म्मवेदनोपाये, भ० १ श० ४ उ० । उपक्रमणमुपक्रमः । कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । उपक्रम्यते क्रियतेऽनेनेति उपक्रम । कर्मणो बन्धनोदीरितत्वादिना परिणमनहेतौ जीवस्य शक्तिविशेषे, योऽन्यत्र करणमिति रूढ । तद्भेदा यथा–

चउव्विहे उवक्कमे पण्णत्ते तंजहा बंधणोवक्कमे उदीरणोवक्कमे उवसामणोवक्कमे विप्परिणामणोवक्कमे ॥

उपक्रमणं चोपक्रमो बन्धनादीनामारम्भः स्यादारम्भः उपक्रम इति वचनादिति तत्र बन्धनं कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशानाञ्च परस्परं सबन्धनमिदञ्च सूत्रमात्रबद्धलोहशलाकासबन्धोपममवगन्तव्यं तस्योपक्रम उक्तार्थो बन्धनोपक्रमः । आसकलितावस्थस्य वा कर्मणो बद्धावस्थीकरणं सबन्धन तदेवोपक्रमो वस्तुपरिकर्मरूपो बन्धनोपक्रमो वस्तुपरिकर्मवस्तुविनाशरूपस्याप्युपक्रमस्याभिहितत्वादिति । एवमन्यत्रापि । स्था० ४ ठा० २ उ० । (बन्धनोपक्रमादीनां व्याख्या स्वस्थाने) मरणे, बृ० ४ उ० । व्यापादे, दूरस्थस्य स तो वस्तुनस्तैस्तैः प्रकारैः समीपानयने, "उपक्रमणमुपक्रान्तिर्दूरस्थनिकटक्रिया" उत्त० १ अ० । व्याचिख्यासितशास्त्रस्य समीपानयनरूपे चतुर्णामनुयोगद्वाराणां प्रथमे द्वारे, आचा० १ श्रु० १ अ० ।

अथोपक्रमस्य निरुक्तिमाह–

सत्थस्सोवक्कमणं, उवक्कमो तेण तम्मि य तओ वा ।
सत्थसमीवीकरणं, आणयणं नासदेसम्मि ॥

उप सामीप्ये क्रमु पादविक्षेपे उपक्रमण दूरस्थस्य शास्त्रादिवस्तुनस्तैः प्रतिपादनप्रकारैः समीपीकरण न्यासदेशानयनं निक्षेपयोग्यताकरणमित्युपक्रम । उपक्रान्त ह्युपक्रमान्तर्गतभेदैर्विचारित निक्षिप्यते नान्यथेति भाव । उपक्रम्यते वा निक्षेपयोग्यं क्रियतेऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रमः । अथवा उपक्रम्यतेऽस्मिन् शिष्यश्र-

णभावे सतीति अथवा उपक्रम्यतेऽस्माद्विनीतविनेयविनयादित्युपक्रम विनेयेनाराधितो हि गुरुरुपक्रम्य निक्षेपयोग्य शास्त्रं करोतीत्यभिप्रायः । तदेव करणाधिकरणापादानकारकैर्गुरुवाग्योगाद्ययोऽर्थो विवक्षाभेदतो भेदेनोक्ता । यदि तु विवक्षया सर्वेऽप्येकैककरणादिकारणवाच्यत्वेनोच्यन्ते । तथापि न दोषः । (सत्थसमीवीकरणमिति) शास्त्रस्य समीपीकरणं शास्त्रस्य न्यासदेशानयनं निक्षेपयोग्यताकरणमुपक्रम इति सर्वत्र सम्बध्यत इति ॥ विशे० ६ द्वा० । अनु० । उपक्रमणमुपक्रम इति भावसाधन । शास्त्रस्य न्यासदेशसमीपीकरणलक्षण उपक्रम्यते वाग्योगेनेत्युपक्रम इति करणसाधन । उपक्रम्यतेऽस्मिन्निति वा शिष्यश्रवणभावे सतीत्युपक्रम इत्यधिकरणसाधन । उपक्रम्यते अस्मादिति वा विनेयविनयादित्युपक्रम इत्यपादानसाधन इति । स्था० १ ठा० । व्य० । आ० म० प्र० । सूत्र० १ अ० । उपक्रमो द्विधा । शास्त्रीय इतरश्च । शास्त्रानुगत शास्त्रीयः (आचा०) इतरश्च लोकप्रसिद्धः । तत्रेतरजिज्ञासयाह—

से किं तं उवक्कमेऽछव्विहे पण्णत्ते तं जहा णामोवक्कमे ठवणोवक्कमे दव्वोवक्कमे खेत्तोवक्कमे कालोवक्कमे भावोवक्कमे नामठवणाओ गयाओ ॥

अत्र क्वचिदेव दृश्यते उवक्कमे दुविहे पण्णत्ते इत्यादि"अयं च पाठः आधुनिको युक्तश्च आह वा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते इत्यादि वक्ष्यमाणग्रन्थोपन्यासस्यायटमानताप्रसङ्गात् । यदि शास्त्रीयोपक्रमोऽत्र प्रतिज्ञातः स्यात्तत वक्ष्यमाणसूत्रमेव स्यात् "से किं त सत्थोवक्कमे २ छव्विहे पण्णत्ते इत्यादि " नचैव तस्मादिह सूत्रद्वैविध्यप्रतिज्ञा किन्त्वितरोपक्रमभणन चेतसि विकल्प्य यथा निर्दिष्टमेव सूत्रमित्यलं विस्तारेण । प्रकृतं प्रस्तुत सूत्रम् । नामस्थापनोपक्रमव्याख्या नामस्थापनावश्यक व्याख्यानुसारेण कर्त्तव्या । अनु० । विशे० ॥

द्रव्योपक्रम ।

से किं तं दव्वोवक्कमे २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा आगमतो अ नोआगमतो अ । जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वोवक्कमे २ तिविहे पण्णत्ते तं जहा सचित्ते अचित्ते मीसए। से किं तं सचित्ते दव्वोवक्कमे २ तिविहे पण्णत्ते त जहा दुपए चउप्पए अपए एक्किक्के पुण दुविहे पण्णत्ते तं जहा परिकम्मे अ वत्थुविणासे अ ॥

द्रव्योपक्रमव्याख्यापि द्रव्यावश्यकवदेव यावत्तद्व्योपक्कमे इत्यादि। तत्र द्रव्यस्य नटादेरुपक्रमण कालान्तरभविनाऽपि पर्यायेण सदेदानीमेवोपायविशेषतः सयोजन द्रव्योपक्रमः । अथवा द्रव्येण घृतादिना चूमादौ द्रव्यत घृतादेरेवोपक्रमो द्रव्योपक्रम इत्यादि । कारकयोजना विवक्षया कर्त्तव्येति । स च त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तथा सचित्तद्रव्यविषय सचित्तः । अचित्तद्रव्यविषयोऽचित्तः । मिश्रद्रव्यविषयस्तु मिश्र । द्रव्योपक्रमस्त्रिविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा द्विपदानां नटनर्त्तकादीनां चतुष्पदानामश्वहस्त्यादीनामपदानामाम्रादीनाम्। तत्रैकक पुनरपि द्विधा परिकर्मणि वस्तुनाशे च । तत्रावस्थितस्यैव वस्तुनो गुणविशेषाधानं परिकर्म्म । तत्र परिकर्म्मणि परिकर्मविषयो द्रव्योपक्रमः । यदा तु वस्तुनो विनाश एवोपायविशेषैरुपक्रम्यते तदा वस्तुनाशविषयो द्रव्योपक्रमः । सूत्र द्विपदानां नटनर्तकादीनां घृताद्युपयोगेन बलवर्णादिकरण वर्णस्कन्धवर्द्धनादिक्रिया वा परिकर्म्मणि सचित्तद्रव्योपक्रम ॥

द्विविधमप्येतदुपक्रमं विभणिषुराह—

से किं तं दुपए उवक्कमे नडाणं नट्टाणं जल्लाणं मल्लाणं मुट्ठियाणं वेलंवगाणं कहगाणं पवगाणं लासगाणं आइक्खगाणं लंखाणं मंखाण तूणइल्लाणं तुंबवीणियाणं कायाणं मागहाणं सेत्तं दुपए उवक्कमे ॥

अत्र निर्वचनं (दुपयाण नडाणमित्यादि) तत्र नाटकानां नाटयितारो नटास्तेषां (नट्टाणति) नृत्यविधायिनो नर्तकास्तेषां (जल्लाणति) जल्ला वरत्राः खेलकास्तेषां राजस्तोत्रपाठकानामित्यन्ये (मल्लाणति) मल्लाः प्रतीतास्तेषां (मुट्ठियाणंति) मौष्टिका ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति मल्लविशेषा एव तेषां (वेडंवगाणति) विटम्बका विदूषका नानावेषादिकारिण इत्यर्थः । तेषां (कहगाणति) कथकानां प्रतीतानाम् (पवगाणंति) प्लवका ये उत्प्लवन्ति गर्तादिकं झम्पामिर्लङ्घयन्ति नद्यादिक वा तरन्ति तेषां (लासगाणति) लासका ये रासकान् गायन्ति तेषां जय शब्दप्रयोक्तॄणां वा भण्डानामित्यर्थः। (आयक्खगाणंति) ये शुभाशुभमाख्यायन्ति ते आख्यायकास्तेषां (लखाणति) ये महावंशाग्रमारोहन्ति ते लंखास्तेषाम् (मंखाणंति) ये चित्रफटादिहस्ता भिक्षां चरन्ति ते मंखास्तेषाम् (तूणइल्लाणति) तूणाभिधानवाद्यविशेषवताम् (तुंबवीणियाणति) वीणावादकानां (कायाणंति) कावडिवाहकानाम् (मागहाणंति) मङ्गलपाठकानामेषां सर्वेषामपि यद्घृताद्युपयोगेन बलवर्णादिकरणं वर्णस्कन्धवर्द्धनादिक्रिया वा स परिकर्म्मणि सचित्तद्रव्योपक्रमः । यस्तु खड्गादिभिरेषां नाश एवोपक्रम्यते सम्पाद्यते स वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इति वाक्यशेषः । अन्ये तु शास्त्रं गन्धर्वनृत्यादिकलासम्पादनमपि परिकर्म्मणि द्रव्योपक्रम इति व्याचक्षते एतच्चायुक्त विज्ञानविशेषात्मकत्वाच्छास्त्रादिपरिज्ञानस्य च भावत्वादिति । अथवा यद्यात्मकद्रव्यसंस्कारमात्रापेक्षया शरीरवर्णादिकरणवदित्थमुच्यते तर्हीतदप्यदुष्टमेवेति । सेत्तमित्यादिनिगमनम् ।

अथ चतुष्पादानां द्विविधमप्युपक्रमं विभणिषुराह—

से किं तं चउप्पए उवक्कमे, चउप्पयाणं आसाणं हत्थीणं । इच्चादि सेत्तं चउप्पयउवक्कमे, से किं तं अप्पए उवक्कमे ॥

अप्पयाणं अंबाणं अंबाडगाणं इच्चाइ सेत्तं अप्पयउवक्कमे। सेत्तं सचित्ते दव्वोवक्कमे ॥

से किं तमित्यादि। अत्र निर्वचनं"चउप्पयाणं आसाणं हत्थीणमित्यादि अश्वादयः प्रतीता एव एतेषां शिक्षा गुणविशेषकरणं परिकर्म्मणि खड्गादिस्तेषां नाशोपक्रमण वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इतीहापि वाक्यशेषः सेत्तमित्यादिनिगमनम्। अथापदानां द्विविधमप्युपक्रम विभणिषुराह। अत्र निर्वचनम् । "अपयाण अबाण चारगाणमित्यादि" इहाम्रादयो देशप्रतीता एव नवरं (चाराणंति) येषु चारकुलिका उत्पद्यन्ते ते चारवृक्षाः आम्रादिशब्दाच्च वृक्षास्तत्फलानि वा गृह्यन्ते तत्र वृक्षाणां वृक्षायुर्वेदोपदेशाद्वार्द्धक्यादिगुणानयनं तु गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालस्थगनादिनाऽऽश्वेव पाकादिकरण परिकर्म्मणि शस्त्रादिभिस्तु मूलत एव विनाशन वस्तुनाशे सचित्तद्रव्योपक्रम इत्यत्रापि वाक्यशेषः सेत्तमित्यादि निगमनद्वयम् ॥

अथाचित्तद्रव्योपक्रमं विवक्षुराह—

से किं तं अचित्ते दव्वोवक्कमे खंडाईणं गुडाईणं मच्छंडीणं सेत्तं अचित्ते दव्वोवक्कमे ॥

खण्डकादयः प्रतीता एव नवरं मत्स्यण्डी खण्डशर्करा एतेषां खण्डाद्यचित्तद्रव्याणामुपायविशेषतो माधुर्यादिगुणविशेषकरणे परिकर्मणि सर्वथाविनाशकरणं वस्तुनाशे अचित्तद्रव्योपक्रम इत्यत्रापि वाक्यशेषः । सेत्तमित्यादिनिगमनम् ॥

अथ मिश्रद्रव्योपक्रममाह–

से किं तं मीसए दव्वोवक्कमे, से चेव थासगमंडिए आसाइ सेत्तं मीसए दव्वोवक्कमे सेत्तं जाणयसरीरभवियसरीर तव्वतिरित्ते दव्वोवक्कमे सेत्तं नो आगमतो दव्वोवक्कमे । सेत्तं दव्वोवक्कमे ॥

(सेकिंतमित्यादि) स्थासकोऽश्वानामाभरणविशेषः आदर्शस्तु वृषभादिग्रीवाभरणम् आदिशब्दात् कुङ्कुमादिपरिग्रहः ततश्च तेषां मश्वादीनां कुङ्कुमादिभिर्मण्डितानां स्थासकादिभिस्तु विभूषितानां यच्छिक्षादिगुणविशेषकरणं खड्गादिभिर्विनाशो वा स मिश्रद्रव्योपक्रम इति शेषः । अश्वादीनां सचेतनत्वात् स्थासकादीनामचेतनत्वात् मिश्रद्रव्यत्वमिह भावनीयम् । अत्र च सचित्ताचित्ता अपि वाचनाविशेषा दृश्यन्ते तेऽप्युक्तानुसारेण भावनीयाः । सेत्तमित्यादिनिगमनचतुष्टयम् । उक्तो द्रव्योपक्रमः ।

क्षेत्रोपक्रममभिधित्सुराह–

से किं तं खेत्तोवक्कमे जणं हलकुलिआईहिं । खेत्ताइं उवक्कमिज्जंति सेत्तं खेत्तोवक्कमे ॥

क्षेत्रस्योपक्रमः परिकर्म विनाशकरणं क्षेत्रोपक्रमः स क इत्याह (खेत्तोवक्कमेत्ति) तत्र हलं प्रतीतम् अधोनिबद्धतिर्यक्तीक्ष्णायोऽपट्टिकं कुलिकं लघुतरं काष्ठं तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रावस्थित तन्मरुमण्डलादि प्रसिद्धं कुलिकमुच्यते ततश्च यत्र हलकुलिकादिभिः क्षेत्राण्युपक्रम्यन्ते बीजवपनादियोग्यतामानीयन्ते स परिकर्मणि क्षेत्रोपक्रमः । आदिशब्दाद्गजेन्द्रबन्धनादिभिः क्षेत्राण्युपक्रम्यन्ते विनाश्यन्ते स वस्तुनाशे क्षेत्रोपक्रमः । गजेन्द्रमूत्रपुरीषादिवद्धेषु क्षेत्रेषु बीजानामप्ररोहणादिनष्टानि क्षेत्राणि इति व्यपदिश्यन्ते । आह । यद्येवं क्षेत्रगतपृथिव्यादिद्रव्याणामेतौ परिकर्मविनाशौ इत्थं च द्रव्योपक्रम एवायं कथं क्षेत्रोपक्रम इति सत्यं किं तु क्षेत्रमाकाशं तस्य चामूर्त्तत्वात् मुख्यवृत्त्या ह्युपक्रमः संभवति किं तु तदाधेयद्रव्याणां पृथिव्यादीनां य उपक्रमः स क्षेत्रेऽपि उपचर्यते । दृश्यते च आधेयधर्मोपचारात् आधारः । उक्तञ्च । "खेत्तमरूवं निच्चं, तस्स परिकम्मणं नय विणासो । आहेयगयवसेणउ, करणविणासो उवयारोत्थ" इत्यादि सेत्तमित्यादिनिगमनम् ॥

सम्प्रति क्षेत्रोपक्रममाह–

नोवाए वक्कमणं, हलकुलियाहिं वा वि खित्तस्स ।
सम्मज्जणभूमिकम्म, पज्जवतस्सागाइस्सुं तु परिकम्मं ॥

यन्नावा आदिशब्दादुडुपादिभिश्च नदीं तरति । अथवा हलकुलिकादिभिर्यत्क्षेत्रस्येक्षुक्षेत्रादेरुपक्रमणम् यदि वा यत् क्रियते गृहादीनां समार्जनं भूमिकर्म वा देवकुलादीनां यच्च वा यथोन्मार्गशोधनं तडागः व्याख्यात इव आदिग्रहणे वा तटादिषु यत्परिकर्म खननादिलक्षणमेव समस्तोऽपि क्षेत्रोपक्रमः ॥

कालोपक्रमसूत्रम्–

से किं तं कालोवक्कमे २ जण्णं नालिआईहिं कालस्सोवक्कमणं कीरइ सेत्तं कालोवक्कमे ॥

कालो द्रव्यपर्याय स एव द्रव्यपर्याय चित्रकार्मणवत्सलालितरूपान्वित इति द्रव्योपक्रमाभिधाने कालोपक्रम उक्त एव भवति । अथवा समयावलिकामुहूर्त्तत्वादिरूपस्य कालस्य स्वतन्त्रमेवोपक्रममभिधित्सुराह ॥ सूत्रकारः (सेकिंतमित्यादि) कालस्योपक्रमः कालोपक्रमः स क इत्याह (जण्णं नालिआईहिं) इत्यादि णमिति वाक्यालङ्कारे यदिह नालिकादिभिरादिशब्दात् तृणच्छायानक्षत्रचारादिपरिग्रहस्तैः काल उपक्रम इति शेषः । तत्र नालिका ताम्रादिमयघटिका । तृणसंकुच्छायादिना वा एतावत्पौरुष्यादिकालोऽतिक्रान्त इति यत्परिज्ञानं भवति परिकर्मणि कालोपक्रमः यथा तत्परिज्ञानमेव हि तस्येह परिकर्म यत्तु नक्षत्रादिचारैः कालस्य विनाशनं स वस्तुनाशे कालोपक्रमस्तथा ह्यनेन ग्रहनक्षत्रादिचारेण विनाशितः कालो न भविष्यत्यधुना धान्यादिसम्पत्तय इति वक्तारो भवन्ति । अनु० ॥ किञ्च–

छायाए नालियाए व, परिकम्मं से जहत्थविन्नाणं ।
रिक्खाइ य चारेहि य, तस्स विणासो विवज्जासो ॥

(से)तस्य समयावलिका घटिका मुहूर्त्तादिलक्षणस्य कालस्येदमेव परिकर्म यत्किमित्याह यथार्थविज्ञानं यथावत्परिज्ञानं कयेत्याह शङ्क्वादिप्रतिच्छाया रूपच्छायया वा घटिकारूपया च नालिकया विनाशस्तर्हि तस्य क इत्याह विपर्यासो वैपरीत्यमघनमनिष्टफलदायिकतया परिणमनमित्यर्थः । कैरित्याह ऋक्षगृहादिचारैस्तथा च वक्तारो भवन्त्यमुकेन नक्षत्रेण ग्रहेण वा दुष्टमित्थं गच्छता विनाशितः काल इति । उक्तः कालोपक्रमः । नि० चू० । यद्वा " सावित्रीरोहेसु वड्डमाणे " द्रुमाणां शमीचिञ्चिणिकाप्रभृतीनां स्वापे विबोधे च ज्ञायते यथागतोऽस्तमादित्य उदितो वेति । एष कालोपक्रमः । बृ० १ उ० ॥

अथ भावोपक्रममाह–

से किं तं भावोवक्कमे २ दुविहे पण्णत्ते तं जहा आगमतो अ नोआगमतो अ । जाणए उवउत्ते नो आगमतो दुविहे पण्णत्ते तं जहा पसत्थे अपसत्थे अ ॥

भावोपक्रमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तथा आगमतो नो आगमतश्च । तत्रोपक्रमशब्दार्थज्ञस्तत्रोपयुक्त आगमतो भावोपक्रमः (से किं तं नो आगमओ इत्यादि) अत्रोत्तरम् (नो आगमओ भावोवक्कमे दुविहेत्यादि) इहाभिधायकस्थो जीवद्रव्यपर्याया भावशब्देनाभिप्रेतः । उक्तं च "भावाभिख्या पञ्चस्वभावसत्तात्मयोः" इत्यभिप्रायस्ततश्च भावस्य परकीयाभिप्रायस्योपक्रमणं यथा तत्परिज्ञानं भावोपक्रमः । स च द्विविधः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्चेति । तत्राप्रशस्ताभिधित्सया आह–

तत्थ अपसत्थे डोडिणी गणिआ अमच्चाईणं ।

(तत्थ अपसत्थेत्ति) इह तात्पर्यं ब्राह्मण्या वेश्यया अमात्येन च यत्परकीयभावस्य यथा तत्परिज्ञानलक्षणमुपक्रमणं कृतं सोऽप्रशस्तभावोपक्रमः संसारफलत्वात् । अनु० । अशुभस्य तस्य भावोपक्रमस्य ब्राह्मणीवेश्याऽमात्यादयो दृष्टान्ताः प्रतिपादितास्तद्यथा–

एकस्या ब्राह्मण्यास्तिस्रः पुत्रिकाः तासां च परिणयनानन्तरं तथा करोमि यथैताः सुखिता भवन्त्विति विचिन्त्य माता ज्येष्ठदुहितरं प्रत्यवोचद्धुत त्वया वासभवनसमागमे स्वभर्त्ता किञ्चिदपराधमुद्भाव्य मूर्ध्नि पादप्रहारेण हन्तव्यो हतश्च यदनुतिष्ठति तन्ममाख्येयं कृतं च तया तथैव सोऽप्यतिस्नेहतरलितमना अपि प्रियतमे पीडितस्ते सुकुमारचरणो भविष्यतीत्यभिधानपूर्वकं तस्याश्चरणोपमर्दनं चकार । अमुं च व्यतिकरं सा मात्रे निवेदितवती साप्युपक्रान्तजामातृकभावा हृष्टा दुहितरं प्रत्यवादीत् । पुत्रिके यद्रोचते

तथाद्वीयगृहे कुरु त्वं न तवायचनकरो भर्ता भविष्यतीति । द्वितीयापि तथैव शिक्षिता । तयापि च तथैव स्वभर्ता शिरसि प्रहतः केवलमसौ नैतत्कुलप्रसूतानां युज्यत इत्यादि किंचित्कृणमेकं जल्पित्वा व्युपरतस्तस्मिंश्च व्यतिकरे तया मातुर्निवेदिते प्रोक्तं मात्रा वत्से ! त्वमपि यथेष्टं तद्गृहे विजृम्भस्व केवलं त्वद्भर्ता जल्पित्वा स्थास्यति । एवं तृतीययाऽपि मातृशिक्षितया दुहित्रा तथैव प्रहतः स्वभर्ता केवलमेतेनोच्छ्वसदतुच्छकोपेन नूनमकुलीना त्वं येनैवं शिष्टजनानुचितं विचेष्टसे इत्याद्यभिधाय गाढं कुट्टयित्वा निष्काशिता गृहात् । तया च गत्वा सर्वं मात्रे निवेदितम् । ततस्तया विज्ञातजामातृभावतया तत्समीपं गत्वा वत्स ! स्वकुलस्थितिरियमस्माकं यदुत प्रथमसमागमे वध्वा वरस्येत्थं विधातव्यमित्यादि किंचिदभिधाय कथमप्यनुनीतोऽसौ दुहिता च प्रोक्ता वत्से ! दुराराधस्ते भर्ता भविष्यति परमदेवतावदप्रमत्तया समाराधनीय इति ब्राह्मणीदृष्टान्तः ।

अथ गणिकादृष्टान्त उच्यते ॥ एकस्मिन्नगरे चतुःषष्टिविज्ञानसहिता देवदत्ताऽभिधाना रूपादिगुणवती वेश्या परिवसति तया च भुजङ्गजनाभिप्रायपरिज्ञानार्थं स्वव्यापारं कुर्वत्या सर्वा अपि राजपुत्रादिजातयो रतिभवनभित्तिषु चित्रकर्मणि लेखितास्तत्र च यः कश्चिद्राजपुत्रादिरागच्छति स यत्र २ कृताभ्यासस्तत्तदेव चित्रलिखितं दृष्ट्वा स्वरूपं प्रशंसति । ततोऽसौ विलासिनी राजपुत्रादीनामन्यतरत्वेन निश्चित्य यथोचितमुपचरति । आनुकूल्येनोपचरिताश्च राजपुत्रादयस्तस्यै प्रचुरमर्थजातं प्रयच्छन्तीति गणिकादृष्टान्तः ।

अथामात्यदृष्टान्तोऽभिधीयते ॥ एकस्मिन्नगरे कश्चिद्राजा समात्येन सहाश्ववाहनिकायां निर्गतस्तत्र च पथि गच्छता राजतुरङ्गमेण कस्मिंश्चित्स्थलप्रदेशे प्रस्रवणमकारि तच्च तत्प्रदेशपृथिव्याः स्थिरत्वेन चलस्थिरस्य चिरेणाप्यशुष्कं व्यावर्तमानो राजा तथैव व्यवस्थितमद्राक्षीच्चिरावस्थायिजलः शोभनोऽत्र प्रदेशे तडागो भविष्यतीति चिन्तितं चिरमवलोकितवांश्चेति । ततश्चेङ्गिताकारकुशलतया विदितं तदभिप्रायेणामात्येन राजादेशमन्तरेणापि खानितं तत्प्रदेशे महासरः तत्पाल्यां च रोपिताः सर्वर्तुकपुष्पफलसमृद्धयो नानाजातीयतरुनिवहाः । अन्यदा च तेनैव प्रदेशेन गच्छता भूपालेन दृष्टं पृष्टं चाहो मानससरोवररमणीयं केनेदं खानितं सरः । अमात्यो जगाद देव ! भवद्भिरेव । राजा सविस्मयं प्राह कथं कदा मयैतत्खानाय निरूपितं इत्यतः सचिवो यथावृत्तं सर्वमपि कथितवानहो परचित्तोपलक्षकत्वमस्येति विचिन्त्य परितुष्टो राजा तस्य वृत्तिवर्द्धनादिना प्रसादं चकार तद्देवमादिकः समारम्भोऽपरोऽप्यप्रशस्तभावोपक्रम स्वयमभ्यूह्य इति ॥ विशे० ॥ अथ प्रशस्तभावोपक्रममाह । " पसत्थ गुरुमाईण " तत्र श्रुतादिनिमित्तं गुर्वादीनां यद् भावोपक्रमणं स प्रशस्तभावोपक्रमः ॥ अनु० ॥

मीसो गुरुणो भावं, जमुवक्कमइ सुहं पसत्थमणो ।

सहियत्थं सपसत्थो, इह भावोवक्कमो हि गओ ॥

इह यच्छिष्यः स्वहितार्थे श्रुतार्थं श्रुताध्ययनादिहेतो प्रशस्तमनाः शुभहेतुत्वाच्छुभं गुरुभावमुपक्रामतीङ्गिताकारादिना जानाति स मोक्षफलत्वात्प्रशस्तभावोपक्रमस्तेनैव चेहाऽधिकारो मोक्षार्थत्वादेव सर्वस्यास्य प्रारम्भस्येति । विशे० । वृ० (गुरुचित्तोपक्रमो गुरु शब्दे) साम्प्रतं तमेव शास्त्रीयोपक्रमलक्षणेन प्रकारान्तरेणाभिधित्सुराह—

अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते तंजहा आणुपुव्वी १ नाम २ पमाणे ३ वत्तव्वया ४ अत्थाहिगारे ५ समोआरे ६ ॥

अथवा अनन्तरं यः प्रशस्तभावोपक्रमः उक्तः श्लोके पूर्वादिविभागः स हि द्विविधो द्रष्टव्यो गुरुभावोपक्रमः शास्त्रभावोपक्रमश्च । शास्त्रलक्षणो भावस्तस्योपक्रमः शास्त्रभावोपक्रमस्तत्रैकेन गुरुभावोपक्रमलक्षणेन प्रकारेणोक्तोऽथ द्वितीयेन शास्त्रभावोपक्रमलक्षणेन प्रकारान्तरेण तमभिधित्सुराह (अहवा उवक्कमे इत्यादि) अथवेति पक्षान्तरसूचकः उपक्रमः प्रथमपातनापक्षे शास्त्रीयोपक्रमो द्वितीयपातनापक्षे तु शास्त्रभावोपक्रमः षड्विधः षट्प्रकारः प्रज्ञप्तस्तद्यथा आनुपूर्वी १ नाम २ प्रमाणं ३ वक्तव्यता ४ अर्थाधिकारः ५ समवतारः ६ अनु० (एतेषां च शब्दव्युत्पत्त्यादिस्वरूपं यथावसरं स्वस्वस्थाने) (उपोद्घातादस्य भेदः स्वस्थाने) उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः । ज्वरातिसारादौ, स्था० ४ ठा० । शास्त्रे, "कम्माहारकंपि उवक्कमेण च परिणाए " तच्च त्रिधा स्वकायपरकायतदुभयरूपम् । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा लवणोदकं मधुरोदकस्य कृष्णभूमं वा पाण्डुभूमस्य । परकायशस्त्रं यथाऽग्निरुदकस्य उदकं चाग्नेरिति तदुभयशस्त्रं यथा उदकाः मृत्तोदकस्येत्यादि । ध० २ अधि० । उपक्रमोपसंहारौ हेतुतात्पर्यनिर्णये, वेदान्तिमते तात्पर्यनिर्णायके हेतुभेदे, तत्रोपक्रमोपसंहाराभ्यां द्वाभ्यामेव तात्पर्यं निश्चीयते नत्वेकैकेनेति बोध्यम् । करणे घञ् । सामाद्युपाये, कर्मणि घञ् आरभ्यमाणे, पुं० वाच० ।

उवक्कमकाल—उपक्रमकाल—पुं० क० स० । अभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणे सामाचारीयथायुष्कभेदभिन्ने वा कालभेदे, आ० म० द्वि० ॥

अथोपक्रमकालं विनिर्युक्तिकारस्तत्स्वरूपमाह—

जेणोवक्कामिज्जइ, समीवमाणिज्जए जओ जंतु ।

स किलोवक्कमकालो, किरियापरिणामजुड्डो ॥

ननु पादविक्षेपे विवक्षितस्य दूरस्थितस्य वस्तुनस्तैस्तैरुपायभूतैः क्रियाविशेषैरुपक्रमणं सामीप्यानयनमुपक्रमः । अथ येन क्रियाविशेषेणोपक्रम्यते दूरस्थं समीपमानीयते स उपक्रमः । यतो वा क्रियाविशेषादुपक्रम्यते । यद्वा सामाचारीप्रभृतं वस्तु उपक्रम्यते स उपक्रमस्तस्य कालोऽप्युपचारादुपक्रम एव कालः उपक्रमकालः । किलशब्द आप्तवचनोपदर्शनार्थः । अयं च बहुभिः क्रियापरिणामैर्नृयितः प्रचुरो भवति प्रभूता क्रियापरिणामा इह भवति । यहवऽप्यायुष्काद्युपक्रमहेतुभूताः क्रिया भवन्तीति यावत् । तथा च वक्ष्यति "अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाए । फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउ" इत्यादीति गाथार्थः । ३३ ॥

अयं च द्विविधो भवति कथमित्याह निर्युक्तिकारः—

दुविहोवक्कमकालो, सामायारी अहाउयं चेव ।

सामायारी तिविहा, ओहे दसहा य पयविभागे ॥

यथोक्त उपक्रमकालो द्विविधस्तद्वैविध्यं दर्शयति सामाचार्युपक्रमकालो यथायुष्कोपक्रमकालश्च । अथ सामाचार्या उपक्रमकालत्वं समर्थयन्नाह भाष्यकारः ॥

जेणोवरियसुयाउ, सामायारिसुयमाणियं हेट्ठा ।

ओहाइतिविह एसो, उवक्कमो समयवज्जाए ॥

पूर्वनिर्दिष्टान्नवमपूर्वादुपरिश्रमश्रुतादुद्धृत्य येन साधुसामाचारीप्रतिपादकं श्रुतमधस्तादिदानींतनकालेऽपि समा-

नीतमस्मदादीनां समीपीकृत स एव समस्तसाधुवर्गः प्रत्यक्षः (ओहाइत्ति) ओघनिर्युक्तिस्तथा " इच्छामिच्छातहक्कारो इत्यादि" दशधा सामाचारीप्रतिपादको ग्रन्थश्छेदसूत्राणि चेति त्रिविध समयचर्यया समयपरिभाषया उपक्रमः सामाचार्युपक्रमकालो भण्यत इत्यर्थः। इदमुक्त भवति लोके न सामाचार्युपक्रमकालतया कश्चित्कालो रुढ. समस्ति। आगमे पुनरसौ भण्यते कथमिति चेदुच्यते येन प्रभूतेन कालेन नवमपूर्वादिगतं सामाचारीश्रुत शिष्योऽध्येतुमलप्स्यत स कालः सामाचारीश्रुतोपक्रमणद्वारेण स्थविरैरुपक्रम्य किलार्वागप्यानीतस्तत्काललभ्यस्य सामाचारीश्रुतस्य स्थविरैरिदानीमपि विनेयेभ्यः प्रदानात्ततश्च सामाचार्युपक्रमद्वारेणोपचारत. कालस्यापि तस्योपक्रमान्तत्वात्सामाचार्युपक्रमकालोऽसौ भण्यत इति । आयुष्कोपक्रमस्यापि यथायुष्कोपक्रमकालतां दर्शयन्नाह–

जं जीवियसंवट्टण–मज्झवसाणाइ हेउसंजणियं ।
सोवक्कमाउयाणं, स जीवओवक्कमणकालो ॥

स जीवितोपक्रमणकालः यथाऽऽयुष्कोपक्रमकालोऽभिधीयत इत्यर्थ. । तत्किमित्याह यज्जीवितस्य बद्धा बद्धस्य दीर्घकालवेद्यस्यायुष्कस्य सवर्त्तन स्वल्पस्थितिकत्वापादनम् । केषां सोपक्रमायुषां जीवानां निरुपक्रमायुषां निकाचितावस्थस्यैकवद्धत्वादपवर्तनायोगात् किं निर्हेतुकमेव जीवितसवर्त्तन नेत्याह अध्यवसाननिमित्तादिहेतुसजनितम् । अयमत्राभिप्रायो यश्चिरेण मरणकालोऽभविष्यदसौ आयुष्कर्मस्थित्यपवर्त्तनद्वारेणोपचारत. किलोपक्रम्यार्वागानीत इत्यसौ यथायुष्कोपक्रमकाल उच्यत इति । नन्वेवमुपक्रमः किमायुष एव भवत्याहोस्विदन्यासामपि ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामिति विनेयप्रश्नमाशङ्क्याह ॥

सव्वपगईणमेवं, परिणामवसादुवक्कमो होज्जा ।
पायमनिकाइयाणं, तवसा उ निकाइयाणं पि ॥

न केवलमायुष' किं तु सर्वासामपि ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां शुभाशुभपरिणामवशादपवर्त्तनाकरणेन यथायोग स्थित्यादिखण्डनद्वारेणापवर्त्यमानानामुपक्रमो भवति स च प्रायो निकाचनाकरणेनानिकाचितानां स्पृष्टबद्धतावस्थानामेव भवति प्रायो ग्रहणस्य फलमाह । तीव्रेण तपसा पुनर्निकाचितान्यपि कर्माण्युपक्रम्यन्त एव यदि पुनर्यथा बद्धं तथैवानुपक्रान्तं सर्वमपि कर्म वेद्येत तदा मुक्तिगमन कस्यापि न स्यात्तद्भवासिद्धिकानामपि नियमेन सत्तायामत. सागरोपमकोटीकोटीस्थितिकस्य कर्म्मणः सद्भावादेतच्च स्वत एव वक्ष्यति नह्यायुष्येव किमित्यत्रोपक्रमकाल उक्तो न शेषकर्म्मणामिति चेदुच्यते लोके आयुष्कोपक्रमस्यैव प्रसिद्धत्वात्तदुपक्रमकाल एवेह प्रोक्त उपलक्षणव्याख्यानाच्छेषकर्म्मोपक्रमकालोऽपि द्रष्टव्य इति ॥ अथ प्रेरक प्राह—

कम्मोवक्कामिज्जइ, अपत्तकालं पि जइ तओ पत्ता ।
अकयागमकयनासा, मोक्खाणासासया दोसा ॥

ननु यद्यप्राप्तकालमपि बहुकालवेद्य कर्म्मैवमुपक्रम्यते इदानीमपि क्षिप्रमेव वेद्यते ततस्तर्ह्यकृतागमकृतनाशौ मोक्षोनाश्वासादयश्चेत्येते दोषा प्राप्ता. । तथाहि यदीदानीमेवोपक्रमाकृतात्पस्थितादिरूप कर्म्म वेद्यते तत्पूर्वमकृतमेवोपगतमित्यकृताभ्यागम. । यत्तु पूर्वं दीर्घस्थितादिरूपतया कृतं बद्ध तस्यापवर्तनाकरणोपक्रमेण नाशितत्वात्कृतनाश ततो मोक्षोऽप्येवमनाश्वास सिद्धानामप्येवं कृतकर्माभ्यागमेन प्रतिपातप्रसङ्गादिति । अत्रोत्तरमाह—

नहि दीहकालियस्स वि, नासो तस्साणुभूइओ खिप्पं ।
बहुकालाहारस्स व, दुयमग्गिय रोगिणो भोगे ॥

न कृतनाशादयो दोषा इति प्रकरणाद्गम्यते कुत इत्याह न यस्मात्तस्यायुष्कादेः कर्म्मणो दीर्घकालिकस्यापि दीर्घस्थित्यादिरुपतया बद्धस्याप्युपक्रमेण नाश. क्रियते । कुत इत्याह क्षिप्र शीघ्रमेव सर्वस्यापि तस्याध्यवसायवशादनुभूतेर्वेदनाद् यदि हि तद्बहुकाले वेद्य कर्म्म अवेदितमेव नश्येद्यच्चाल्पस्थित्यादिविशिष्टं वेद्यते तत्ततोऽन्यदेव भवेत्तदा कृतनाशाकृताभ्यागमौ भवेताम् यदा तु तदेव दीर्घकालवेद्यमध्यवसायविशेषादुपक्रम्य स्वल्पेनैव कालेन वेद्यते तदा कथ कृतनाशादिदोष यथाहि बहुकालभोगयोग्यस्याऽऽहारस्य धान्यमूषकदस्युकादेरग्निरोगिणो भस्मकवातव्याधिमतो द्रुत स्वल्पकालेनैव भोगो भवति न च तत्र कृतनाशो नाप्यकृताभ्यागम इत्येवमिहापि भावनीयमिति । अत्राह ननु यद्बद्ध तद्यदि स्वल्पकालेन सर्वमपि वेद्यते तर्हि प्रसन्नचन्द्रादिभिः सप्तमनरकपृथिवीयोग्यमसातवेदनीयादि किं कर्म्मबद्धं श्रूयते तद्यदि सर्वमपि तैर्वेदित तर्हि सप्तमनरकपृथ्वीसम्भविदुःखोदयप्रसङ्ग. । अथ न सर्वमपि वेदित तर्हि कथ न कृतनाशादिदोष. । सत्यमुक्त किंतु प्रदेशापेक्षयैव तस्य सर्वस्यापि शीघ्रमनुभवनमुच्यते अनुभागवेदन तु न भवत्यपीत्येतदेवाह–

सव्वं च पएसतया, भुज्जइ कम्ममणुभागओ भइयं ।
तेणावस्साणुभवे, के कयनासादओ तस्स ॥

सर्वमष्टप्रकारमपि कर्म सोत्तरभेद प्रदेशतया प्रदेशानुभवद्वारेण भुज्यते वेद्यत एवेत्येष तावन्नियमोऽनुभागस्तु सानुभवमाश्रित्येत्यर्थः। भजनीयं विकल्पनीयम् अनुभाग कोऽपि वेद्यते कोऽपि पुनरध्यवसायविशेषेण हेतुत्वान्न वेद्यत इत्यर्थः। तदुक्तमागमे " तत्थ ण जं त अणुभागकम्म तं अत्थेगइए वेयइ अत्थेगइय नो वेयइ तत्थ ण जं त पएसकम्म त नियम विपइत्ति" अत. प्रसन्नचन्द्रादिभिस्तस्य नरकयोग्यकर्म्मण प्रदेशा एव नीरसा इह वेदिता नत्वनुभागस्य शुभाध्यवसायेन हतत्वादत एव न तेषां नरकसंभविदुःखोदय. कर्म्मणां विपाकानुभव एव सुखदुःखयोर्वेदनाद्येनैव तेन बद्धस्य कर्म्मण. सर्वेषामपि प्रदेशानामवश्य वेदनात् के किल तस्य कर्म्मोपक्रम कर्त्तु कृतनाशादयो दोषा न केचिदित्यर्थः। आह नन्वेवमप्यनुभागो यथा बद्धस्तथैव प्रसन्नचन्द्रादिभिर्न वेदित इति कथं न कृतनाश अस्त्येव कृतनाशः। ननु कश्चिद्विधा यदि ह्यध्यवसायविशेषेणोपहतत्वान्नश्यति रसस्तदा किमनिष्ट. सर्वस्यापि ह्यष्टप्रकारकर्म्मणो मूलोच्छेदाय यतन्त एव साधव इत्यभीष्ट एवेत्थ तेषां कृतनाश । यदा बहुरस बहुस्थितिकं च सत्कर्म अल्परसमल्पस्थितिक च कृत्वा वेदयति तदा तस्याल्पस्थितिकस्य च कर्म्मण पूर्वमकृतस्यागमतस्ततश्च मोक्षेऽप्यनाश्वासः सिद्धानामप्यकृतकर्म्मागमेन पुनरावृत्तिप्रसङ्गादिति चेत्तदयुक्तं यदि ह्यल्परसत्वमल्पस्थितिकत्व च कर्म्मणोऽत्र निर्हेतुक स्यात् एवं च नास्ति अल्परसत्वम् अध्यवसायविशेषकृतत्वेनाभ्यागमत्वायोगादल्पस्थितिकत्वमप्यायुष्कादीना निर्हेतुकमेव जायते अध्यवसानविमित्तादिहेतूनां दर्शितत्वादतस्तत्रापि कथमकृतागमत्वम् । अत एव न सिद्धानां कर्म्मसमागमस्तदागमहेतूना तेष्वभावादित्यल प्रसङ्गेन । भाष्यकारेणाप्यस्यार्थस्य प्रपञ्चयिष्यमाणत्वादिति युक्तियुक्तश्चोपक्रमः कर्म्मणा कुत इत्याह–

उदयखयखओवसमो–वसमा जं च कम्मणो भणियं ।
दव्वाइपंचयं पइ–जुत्तमवक्कामणमओ वि ॥

यश्च यस्मादुदयश्च क्षयश्च क्षयोपशमश्च उपशमश्च उदयक्षयक्ष-योपशमोपशमास्ते कर्म्मणो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चकं प्रति भणिता द्रव्यादीनाश्रित्योक्ता अतोऽपि कारणाच्छस्त्रादिद्रव्याणि प्राप्यायुष्कादीनां युक्तमुपक्रमणं क्षय इति । तथाह्यसातवेदनीयस्य कर्म्मणो द्रव्यमहिविषकण्टकादिप्राप्योदयो भवति क्षेत्रं तु नरकवासादिकं कालं तीव्रनिदाघसमयादिकं भवं नारकभवादिकं भावं तु वृद्धभावादिकम् क्षयोऽप्यस्य द्रव्यं सद्गुरुचरणारविन्दादिकं प्राप्य भवति क्षेत्रं तु पुण्यतीर्थादिकं कालं सुषमदुःषमादिकं भवं सुमनुजकुलजन्मलक्षणं भावं तु सम्यग्ज्ञानावरणादिकम् क्षयोपशमोपशमौ तु वेदनीयस्य न भवतः । एवं मोहनीयेऽपि । मिथ्यात्वमोहनीयस्य द्रव्यं कुतीर्थादिकं प्राप्योदयो भवति क्षेत्रं तु कुरुक्षेत्रादिकं साध्वादिरहितदेशाधिकं वा कालं दुःषमादिकं भवं तेजोवाय्वेकेन्द्रियादिकम् अनार्यमनुजकुलजन्मरूपं वा भावं कुसमदेशनादिकमिति । क्षयक्षयोपशमास्त्वस्य द्रव्यं तीर्थकरादिकं प्राप्य भवति । क्षेत्रं तु महाविदेहादिकं, कालं सुषमदुःषमादिकं भवं सुमनुजकुलजन्म भावं तु सम्यग्ज्ञानावरणादिकमिति एवं शेषेऽपि ज्ञानदर्शनावरणादिके कर्म्मणि निद्रावेदनीयकर्म्मणो माहिषदधिघृतादिकं द्रव्यमासाद्योदयो भवति क्षेत्रं तु अनूपादिकं कालं ग्रीष्मादिकं भवमेकेन्द्रियादिकं भावं तु वृद्धत्वादिकमिति । क्षयोऽप्यस्योक्तानुसारेण वाच्यः । क्षयोपशमोपशमौ त्वस्यापि न भवतः । एवमन्येषामपि कर्म्मणामुदयादयो यथायोगं द्रव्यादीन् प्राप्य स्वधिया भावनीया इति । अथ दृष्टान्तद्वारेण कर्म्मणां द्रव्यक्षेत्रादि सहकारिकारणापेक्षां साधयन्नाह–

पुण्णापुण्णं कयं पि हु, सायमसायं जहोदयाई ए ।
वज्झबलाहाणा उ, देइ तह पुण्णपावं पि ॥

यथा सातं सुखमसातं तु दुःखं पुण्यापुण्यस्वरूपकर्म्मजनितमपि स्रक्चन्दनाङ्गनादिविषकण्टकादिना बाह्येन सहकारिणा यद्बलस्य सामर्थ्यस्याधानं विधानं तस्माद्धेतोर्ददयादीन् ददाति नत्वेवमेव पुण्यपापोदयमात्रात् ततश्च यथैतत्सकललोकस्यानुभवसिद्धं सुखदुःखाख्यं कार्यं बाह्यान् द्रव्यक्षेत्रादीनपेक्ष्यैवोदेति क्षीयते वा न पुनरेवमेव तथा तत्कारणं पुण्यपापात्मकं कर्मापि द्रव्यक्षेत्रादीनपेक्ष्यैवोदेति क्षीयते वेति सिद्धमेव नहि कार्यं द्रव्यादीनपेक्षते तत्कारणं तु तन्निरपेक्षमिति शक्यते वक्तुम् । न खलु कार्यभूतो घटश्चक्रचीवरादीनपेक्ष्यैव जायते तत्कारणभूतस्तु कुलालश्चक्राद्यनपेक्ष एव घटं जनयतीत्युच्यमानं शोभां बिभर्ति तस्मादुदयादीन् प्रति द्रव्यादिसव्यपेक्षाणां कर्मणां युक्तस्तत्सन्निधानादुपक्रम इति । यदि पुनर्यथा बद्धं तथैव वेद्यते सर्वं कर्म्म न पुनरुपक्रम्यते तदा किं दूषणमित्याह–

जइ ताणुभूइओ च्चिय, खविज्जए कम्म मन्नहा न मयं ।
तेणामखभवज्जिय, नाणागइकारणत्तणओ ॥
नाणाभवाणुभवणा, भावाद्देक्कम्मि पज्जएणं वा ।
अणुभवओ बंधा उ, मोक्खा भावो सचाणिट्ठो ।

यदि तावद्यथाबद्धं तथैव प्रतिसमयानुभूतिनत प्रतिसमयं विपाकानुभवेनैव कर्म्म क्षप्यत इति तवानुमतं नान्यथा नोपक्रमद्वारेण तदेतत्क्षपणमभिप्रेतं हन्त तेन तर्हि सर्वस्यापि जन्तोर्मोक्षाभावस्त्वदभिप्रायेण प्राप्नोति स चानिष्ट एव कस्मात्पुनर्मोक्षाभावप्राप्तिरित्याह । तद्भवसिद्धिकस्यापि सत्तायामसङ्ख्येयभवार्जितकर्म्मणः सद्भावात्तस्य च नानाध्यवसायबद्धत्वेन नरकादिनानागतिकारणत्वात्ततस्तस्य विपाकत एवानुभवने एकस्मिन्नपि तत्र चरमभवे नानाभावानामनुभवनं प्राप्नोति तच्चायुक्तं कुत इत्याह । (नाणाभवाणुत्ति) तत्र चैकस्मिन्मनुष्यगतिवर्तिनि चरमभवे नारकतिर्यगादिनाना भवानां परस्परविरुद्धत्वेनानुभवनाभावात्तर्हि तन्नानागतिकारणं कर्म्म पर्य्यायेणापि क्रमेण नानाभवेष्वनुभूय सिध्यतु किमेतावता विनश्यति तदयुक्तं कुत इत्याह । (पज्जएणवा इति) इदमुक्तं भवति पर्यायेण वा क्रमेण तान्नानाभवान्विपाकतोऽनुभवतः पुनरपि नानागतिकारणस्य कर्म्मणो बन्धः पुनरपि च क्रमेण नानाभवभ्रमणं पुनर्नानागतिकारणं कर्म्म बन्ध इत्येवं मोक्षाभावः । एतच्चानिष्टं तस्मादेष्टव्यः कर्म्मणामुपक्रम इति । अथ प्रकारान्तरेणोत्तरदित्सया पूर्वविहितमेव प्रेर्यं पुनः कारयन्नाह ।

नणु तम्म जहोवचियं, तदाणुभवओ कया गमाईयं ।
तप्पाओग्गत्तं चिय, तेण वि य सज्झरोगो व्व ॥

ननु यदुपक्रमाल्लघुस्थितिकं कृत्वा जीवो वेदयति तदायुष्कर्म न भवति । कथम्भूतमित्याह येन प्रकारेण वर्षशतभोग्यत्वलक्षणेन पूर्वमुपचितं तेन जीवेन बद्धं यथोपचितमिति । यादृश पूर्वजन्मनि बद्धम् तादृशमेव तत्र भवतीत्यर्थः । वर्षशतभोग्यत्वं हि दीर्घकालस्थितिकं पूर्वभवे बद्धं उपक्रमानन्तरं तु यदन्तर्मुहूर्तादिलघुस्थितिकमनुभवत्यायुस्तदन्यदेव अन्यथा अनुभवादिति भावः । ततः को दोष इत्याह (तहाणुभवओ इत्यादि) यथा तेन प्रकारेण पूर्वबद्धविलक्षणमायुरनुभवतो जीवस्य पूर्वोक्ता अकृतागमादयो दोषा प्रसज्जन्ति । अत्रोत्तरमाह । (तप्पाओग्गमित्यादि) तस्योपक्रमस्य प्रायोग्यं उपक्रमार्हमेव तदायुष्कर्म तेन सोपक्रमायुषा जीवेन चित्त पूर्वजन्मनि बद्धं साध्यरोगवदिति । ततश्च यथोपक्रमसाध्ये रोगो व्याधिः केनापि प्रागुपार्जितं इत्युपक्रम्य तं स्फोटयति न च तस्य तथा कुर्वतोऽकृतागमादयः एवमायुरप्युपक्रमसाध्यतया बद्धत्वात् । यद्युपक्रमस्यैव वेदयति तदा केन स्यात्कृतागम इति ।

ननु साध्योऽसाध्यो वा रोग इति कथं ज्ञायत इत्याह ।

अणुवक्कमओ नासइ, कालेणोवक्कमेण खिप्पंति ।
कालेण चेव सज्झा–सज्झा सज्झं तहा कम्मं ॥

साध्यो रोग इति स चानुपक्रमतः उपक्रमाभावात्कालेन निजभुक्तिच्छेदेन नश्यति । उपक्रमेण तु विहितेन क्षिप्रमर्वागपि शीघ्रं नश्यति साध्यत्वादेव । यस्त्वसाध्यो रोगः स कालो मरणं तेनैव नश्यति नतूपक्रमशतैरपि । तथा कर्म्मापि यत्साध्यं बन्धकालेऽप्युपक्रमसव्यपेक्षमेव बद्धं तदुपक्रमसामग्र्यभावे कालेन सपूर्णवर्षशतादिलक्षणेन निजभुक्तिच्छेदेन नश्यति उपक्रमसामग्रीसन्निधाने तु शीघ्रमन्तर्मुहूर्तादिनैव कालेन नश्यति साध्यत्वादेव यत्पुनरसाध्यं बन्धकाले निकाचितावस्थमनुपक्रमे च बद्धं तदनेकोपक्रमसद्भावेऽपि निजपरिपूर्त्तिकालमन्तरेण न नश्यति ।

अस्यैवार्थस्य साधनार्थमाह ।

सज्झमसज्झं कम्मं, किरियाए दोसओ जहा रोगो ।
सज्झमुवक्कामिज्जइ, एत्तो चिय सज्झरोगो व्व ॥

(किरियाए त्ति) क्रियाया उपक्रमलक्षणाया साध्यमसाध्यं च कर्म्म भवतीति प्रतिज्ञा (दोसओत्ति) दोषत्वादिति हेतुर्यो यो दोषः स स उपक्रमक्रियाया साध्योऽसाध्यश्च भवति

यथा ज्वरादिरोगः यश्च साध्य तदुपक्रम्यते (एत्तोच्चियत्ति) साध्यत्वादेव साध्यरोगवदिति । अथवा प्रकारान्तरेण प्रमाणयन्नाह ॥

सज्झामयहेऊओ, सज्झनियाणासओऽहवा सज्झं ।
सोवक्कमणमयं पि व, देहो देहाइभावाओ ॥

अथवा सह उपक्रमेण वर्त्तते सोपक्रमण वेदनीयादिकम् । साध्यमुपक्रमक्रियाविषयभूतं कर्म्मेति प्रतिज्ञा । उपक्रमश्च साध्यश्चासौ आमयश्च साध्यामयस्तद्धेतुत्वादिति हेतुः । यथा अयमेव प्रत्यक्षो देहः गण्डच्छेदादिद्वारेण देहोऽपि साध्य उपक्रमक्रियाविषयः सोपक्रमश्चेति साध्यविकलत्वाभावो दृष्टान्तस्तस्य साध्यामयस्य च गण्डादिकारणत्वाद्देहस्य साधनविकलत्वस्याप्यभावः । अथवा हेतुत्वन्तरभावादन्यथा प्रमाण सोपक्रमण साध्यं कर्म्मेति सैव प्रतिज्ञा साध्यनिदानाश्रयत्वादिति । अत्र निदान कारण साध्यकर्म्मजनकं च निदानमपि साध्यमुच्यते साध्य च तन्निदानं च साध्यनिदान तस्याश्रय. साध्यनिदानाश्रयस्तद्भाव' साध्यनिदानाश्रयत्वं तस्मात्साध्यनिदानाश्रयत्वात्साध्यनिदानजन्यत्वादिति भावः । निदानस्य साध्यत्व कथ ज्ञायत इति चेदुच्यते साध्यकर्म्मजनकत्वात्कर्म्मणोऽपि साध्यत्व कथमवसीयत इति ॥ चेदुच्यते उपक्रमान्यथानुपपत्तेरिति । आह ननूपक्रम एव ह्यत्र साध्यस्ततस्तदसिद्धौ कर्म्मण साध्यत्वं न सिध्यति तदसिद्धौ तु कर्मजनकस्यापि साध्यत्वासिद्धिरिति साध्यनिदानजन्यत्वादिति साध्यत्वविशेषणासिद्ध्याऽसिद्धो हेतुरिति । सत्य किंत्वेव मन्यते "जह्नाणुभूइउवियखविज्जयकम्मेत्यादि" ग्रन्थोक्तयुक्तिभ्य सिद्धमेव कर्म्मण सोपक्रमत्वं ततस्तत्सिद्धौ कर्म्मण. साध्यत्व सिध्यति तत्सिद्धौ च साध्यकर्म्मजनकतया तज्जनकनिदानस्यापि साध्यसिद्धिरिति । यद्येवं पूर्वोक्तयुक्तिभ्य एव सिद्धं कर्म्मण सोपक्रमत्वमिह पुनरपि तत्साधनमपार्थक्यमिति चेत्सत्य किंतु प्रपञ्चप्रियविनेयानुग्रहार्थत्वाददोष. । यदि वा कर्म्मणो निदानमध्यवसायस्थानान्येव तानि च विचित्रत्वेनासख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणान्यतस्तेषु मध्ये यथा निरुपक्रमजनकानि तथास्योपकर्म्मजनकान्यध्यवसायस्थानानि विद्यन्ते एवेति तद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्तेरित्यादि युक्तित. साध्यकर्म्म जनकनिदानस्य साध्यत्वं साधनीय तत्सिद्धौ च तत्कार्यस्य कर्म्मणोऽपि साध्यत्व सोपक्रमणत्व सिध्यतीत्यल प्रपञ्चेन । यथा अय देह इति स एव दृष्टान्तः अस्य च गण्डच्छेदादिद्वारेण छिद्यमानत्वात्सोपक्रमत्वमत एव साध्यनिदानजन्यता अत साध्यसाधनधर्मान्यासस्याविकलतेति । अथवा हेत्वन्यथात्वेनान्यथाप्रमाण (देहादिभावाओत्ति) सोपक्रमण साध्यमुपक्रमक्रियाविषयभूत कर्म्मेति प्रतिज्ञा सैव देहादौ भावादादिशब्दाज्जीवे च भावादिति हेतु देहे जीवे च किल वर्त्तते कर्म्म केवल जीवे वह्न्यय पिण्डन्यायेन तस्य वृत्ति. देहे त्वाधाराधेयभावेन जीवो वर्त्तते तद्द्वारेण च कर्म्मापीति यथायमेव प्रत्यक्षो देह इति स एव दृष्टान्त । नन्वाधाराधेयभावेन देहस्यापि जीवे वृत्तिर्युक्ता देहस्य च देहे वृत्तिरिति एतत्कथम् । सत्य सर्वे भावा' स्वात्मनि वर्त्तन्ते वस्त्वन्तरे चाधारे इति न्यायाद्देहस्यापि देहे वृत्तिर्युज्यत एव । अथवास्यौदारिकादिदेहस्य जीववत्कार्म्मणलक्षणेऽपि देहे वृत्ति प्रतीतैवेति न देहादौ भावादिति साधनधर्मविकलताद्दृष्टान्तस्येति । अथ कर्म्मणः सोपक्रमत्वासिद्धावुपपत्त्यन्तराण्यप्याह ।

किंचिदकाले वि फलो, पाइज्जइ पच्चएण कालेण ।
तह कम्मं पाइज्जइ, पाएण वि पच्चए बद्धं ॥
भिन्नो जहेह कालो, तुल्ले वि पहम्मि गइविसेसाउ ।
सत्थेव गहणकालो, गइमेहा भेयओ भिन्नो ॥
तह तुल्लम्मि वि कम्मे य, परिणामाइकिरिया विसेमाउ ।
भिन्नोणुभवणकालो, जेट्ठो मज्झो जहन्नो य ।
जह वा दीहा रज्जू, डज्झइ कालेण पुंजिए खिप्पं ।
वियओ पडो व्व सुस्सइ, पिंडीभूओ य कालेण ।
भागा य निरोवट्टो, हीरइ कमसो जहा णदी खिप्पं ।
किरिया विसेसओ वा, समे वि रोगे चिगिच्छाए ॥

यथा किंचिदाम्रराजादनादिफल यावता कालेन वृक्षस्थं क्रमेण पच्यते तदपेक्षया अर्वाक्कालेऽपि गर्तप्रक्षेपपललस्थगनाद्युपायेन पाच्यते अन्यत्र वृक्षस्थमेवोपायाभावतः क्रमश स्वपाककालेन पच्यते तथा कर्म्माप्यायुष्कादिक किमप्यध्यवसानादिहेतुभिर्बन्धकालनिर्वर्तितवर्षशतादिरूपस्थितिकालापेक्षया कालेनाप्यन्तर्मुहूर्त्तादिना पाच्यते वेदनेऽनुभूय पर्यन्त नीयत इति तात्पर्यम् अन्यानुबन्धकालनिर्वर्तितवर्षशतादिलक्षणस्थितिकालेनैव सपूर्णेन विपाच्यते अनुभूयत इति । अथवा यथेह तुल्येऽपि त्रियोजनादिके पथि त्रयाणां पुरुषाणां गच्छतां प्रहरो द्व्यादिलक्षणो गतिविशेषाद्भिन्नो गतिकालो विशिष्यते दृश्यते एव कर्म्मण तुल्यस्थितिकस्यापि तीव्रमन्दमध्यमाध्यवसायविशेषाज्जघन्यमध्यमोत्कृष्टलक्षणस्त्रिविधोऽनुभवनकालो भवति । यदि वा यथा तुल्येऽपि शास्त्रेऽध्येतॄणां मतिर्ग्रहणबुद्धिर्मेधा पुनरिहावधारणस्वरूपा गृह्यते तद्भेदात्त्रिविधो ग्रहणस्य पठनस्य कालो भिन्नोऽनेकरूपो विलोक्यते एवमायुषोऽपि परिणामविशेषात्तुल्यस्थितिकस्याप्यनेकरूपोऽनुभवनकाल इति । पथि शास्त्रदृष्टान्तयो प्रकृतयोजनामाह । (तहतुल्लम्मिवीत्यादि) गतार्थैव नवर (परिणामाइ किरियाविसेसाओत्ति) परिणामोऽध्यवसानमादिशब्दाद्यावदणुकशस्त्रादयो गृह्यन्ते क्रिया च परिणामादिलक्षणा परिणामादयश्च क्रिया च परिणामादिक्रियास्तद्विशेषास्तद्भेदा बहुभिस्तुल्यस्थितिके एकेऽपि कर्म्मणि भिन्न एवानुभवनकाल इति यथा दीर्घा प्रसारिता रज्जुरेकस्मात्पक्षात्क्रमेण ज्वलन्ती प्रभूतेनैव कालेन दह्यते पुञ्जीकृता तु पिण्डिता तु ज्वलन्ती क्षिप्रं शीघ्रमेव भस्मीभवति । एव कर्म्माप्यायुष्कादिक दीर्घकालस्थितिक प्रतिसमय क्रमेण वेद्यमान चिरकालेन वेद्यते अपवर्त्य पुनर्वेद्यमानमल्पेनैव कालेन वेद्यत इति । यथा वा जलार्द्र पिण्डीभूत. पटश्चिरकालेन शुष्यति वितत. प्रसारित. पुनरल्पेनैव कालेन शुष्यत्येव कर्म्मापीत्युपनयस्व (यथैवेति) यथा वा लक्षादिकस्य महतो राशेर्निरपवर्तनोऽपवर्त्तनोपवर्त्तनारहितो भाग क्रमशश्चिरेण ह्रियते अन्यथा पुनरपवर्त्तनायां विहितायां क्षिप्र शीघ्रमेवापह्रियत । तथाहि किल लक्षप्रमाणस्य राशेर्दशभिर्भागो हरणीय. स च यद्यपवर्तनामन्तरेण ह्रियते तदा महती वेला लगति यदि तु गुणस्य लक्षस्य गुणाकारकस्य च दशलक्षस्य पञ्चभिरपवर्त्तना विधीयते पञ्चभिर्भागो ह्रियत इत्यर्थ तदा शीघ्रमेव ह्रियते भागो लक्षस्य हि पञ्चभिर्भागे हृते लब्धानि विंशतिसहस्राणि दशानां तु पञ्चभिर्भागे हृते लब्धौ द्वौ एताभ्यां विंशतिसाहस्रिकस्य लघुराशेर्भागे हृते झटित्येव दशसहस्राण्यागच्छन्ति अनपवर्तितैस्तु दशभिरनपवर्तितस्यैव लक्षस्यैव दीर्घो भागापहारकालो भवति एवमायुषोऽप्यनपवर्तितस्य तु लघुर्भागापहारकालो भवति एवमायुषोऽपीति । यथा वा समेऽपि कुष्ठादिके रोगे क्रियाविशेषाच्चिकित्साया रोगनिग्रहलक्षणाया कालभेदो भवत्येवमायुषोऽपीति । तदेव सप्रसङ्गो द्विविधोऽप्युक्त उपक्रमकाल ॥ विशे० ॥

उवक्कमण–उपक्रमण– न० उप-क्रम-ल्युट् । विक्षेपणे, विशे० ३ खा० । आरम्भे, करणे ल्युट् तत्साधने. सुश्रुतोक्ते दीर्घायुष्यादिज्ञानपूर्वकचिकित्सायाम्, कृमिकायाम्, स्त्री० । वाच० ॥

उवक्कमिया–औपक्रमिकी– स्त्री० उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमो ज्वरातिसारादिस्तत्र भवा या सा औपक्रमिकी । स्था० । उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः कर्मवेदनोपायस्तत्र भवा औपक्रमिकी (भ० १ श०४ उ०) कर्मोदीरणकारणेन निर्वृत्ताया तत्र भवायां ज्वरातिसारादिजन्याया वा वेदनायाम्, स्था० २ ठा० । " अह उवक्कमियं वेयणं णो सम्मं सहामि " ॥ स्था० ४ ठा० ॥

उवक्कमियुवसग्ग–औपक्रमिकोपसर्ग– पु० दण्डकशस्त्रादिनाऽसातवेदनीयोदयापादके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । (उवसग्गशब्दे विवृति) ।

उवक्केस–उपक्लेश-पु० उपक्लिश्नाति अनेन उप क्लिश् करणे घञ् मदादिषु, वाच० । भावे घञ् । शोकादिबाधायाम्,, स्था०३ ठा०

उवक्खा (क्खा) इत्ता-उपख्यापयितृ-त्रि०लोके ख्यापयति, "पावेहिं कम्मेहिं अत्ताण उवक्खाइत्ता भवइत्ति" । पापैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति । अय महापापकारीत्येवं लोके ख्यापयतीति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ॥

उवक्खड–उपस्कृत–त्रि० उप-कृ-क्त-भूषणादौ सुट् । भूषिते, सहते, विकृते, अध्याहृते, वाच० । घृतहिङ्गुधान्यकमरिचलवणजीरकादिभिः कृतोपस्कारे शाकादिके, । "उवक्खडं भोयणमाहणाणं अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं उपा०।"उवक्खडार्ग्री-न्दहिमादी ' नि० चू० ८ उ । उपस्करणमुपस्कृतम् । पाके, । स्था० ४ ठा० ।

उवक्खडसंपण्ण–उपस्कृतसंपन्न–पु०उपस्कृतेन पाकेन सपन्न ।ओदनमण्डकादौ आहारभेदे, । स्था०४ठा० ।

उवक्खडनाम–उपस्कृतनाम–न० कंकडुकादिउवक्खडं इत्युक्तेनामभेदे, "उवक्खडनाम णाम जहा तणयादीण उवक्खडियाण जेणमिज्जति ते कंकडुयाम उवक्खडियाम भण्णति' नि०चू०१५ उ०।

उवक्खडिज्जमाण–उपस्क्रियमाण–त्रि०उपसंस्क्रियमाणे, "उवक्खडिज्जमाणे पेहाए पुरा अप्पजूहिए" आचा० २श्रु०२अ०।नि०चू०

उवक्खडिय–उपस्कृत–त्रि०संस्कृते, "विरूवरूवे भोयणजाए उवक्खडिए सिया" "उवक्खडियपेहाए" उवक्खडियं पेहाए तहावि त णो एव घटेज्जा' आचा० २ श्रु० ४ अ० । " सवत्थपरमाणुवक्खडिय । आ०म०द्वि० ॥

उवक्खडेत्ता–उपस्कृत्य–अव्य०संस्कृत्येत्यर्थे, "असणं वा ४ उवक्खडेत्ता उवक्खडेत्ता। आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

उवक्खर–उपस्कर– पु० उप-कृ-भावे अप् । हिंसने सुट् । हिंसने, उपस्करोति उप-कृ-अच् । भूषणे, समवाये, प्रतियत्ने, विकारे, सूपके,कटकमण्डलादौ,समुदिते,सहते, व्यञ्जनसंस्कारकपिष्टधान्यकादिद्रव्ये, गृहसंस्कारके समार्जन्यादौ, वाच० । सूर्यादिके नि० चू० १० उ० ॥ उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करः । हिङ्ग्वादौ । स्था० ४ ठा० ॥

उवक्खरणसाला-उपस्करणशाला-स्त्री० महानसे, नि०चू०९उ०।

उवक्खरसंपन्न–उपस्करसंपन्न– पु० उपस्क्रियतेऽनेनेत्युपस्करो हिङ्ग्वादिस्तेन संपन्न । हिंग्वादिभिः संस्कृते ओदनमण्डकादौ, आहारभेदे, स्था० ४ ठा० ।

उवक्खाइया–उपाख्यायिका–स्त्री० कथाभेदे, ज्ञाताधर्मकथासु-पञ्चपञ्चाख्यायिकोपाख्यायिकाशतानि । न० ॥

उवग–उपग– त्रि० उप-गम-ड-उपगन्तरि, वाच० ॥

उवक–पु०तिरश्चि,"तदणुचए वावि उवगो"उपको नाम अन्योऽपि तिर्यगापतितो मिलित'।वृ०६उ०।गतायां च।नि०चू०३उ०

उवगन्तुकाम–उपगन्तुकाम– त्रि० अभ्युत्थातुकामे, " जो सविगविहार उवगन्तुकामो अब्भुट्ठिउकाम इत्यर्थः "।नि० चू०१९उ०।

उवगय–उपगत– त्रि० उप-गम्-क्त स्वीकृते, उपस्थिते, ज्ञाते, वाच० । ढौकिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । अधिगते, " णिउणसिप्पोवगएहिं " औ० । प्रश्न० । युक्ते, " सिरिए हिरिए उवगए उत्तत्तसरीरे " रा० । " सण्णाणणाणोवगए महेसी" उत्त० १२ अ० । औ० । उप सामीप्येन गत । प्राप्ते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । द० । पञ्चा० । अनु० । रा० । " णिहयदयसरसजोव्वणकक्कसतरुणवयभावमुवगयाओ " औ० । उत्त० । " झाणकोट्ठोवगए सजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ " ध्यान धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठ कुशूलो ध्यानकोष्ठस्तमुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगत भ० १ श० १ उ० । "लोयग्गमुवगयाण" लोकाग्रमुपगतेभ्यः लोकाग्रमीषत्प्राग्भाराख्य तदुप सामीप्येन निरवशेषकर्मविच्युतिपरानिम्नप्रदेशतया गता उपगता । ल० । उपेति कायसामीप्यं गतानां प्राप्तानाम् । यद्वा उपेत्युपसर्गप्रकर्षेऽप्युपलक्ष्यते यथा पीडारोगेण तेन स्थानमनुपमसुख प्रकर्षेण गतानामिति सम्मा० ॥

उवगयसलाहत्त–उपगतश्लाघत्व– न० उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्लाघतारूपे चतुर्थिंशे सत्यवचनातिशये, स० । रा० ॥

उवगरण–उपकरण– न० उपक्रियतेऽनेन उप-कृ-ल्युट्-प्रधानसाधके अङ्गे, हस्त्यश्वरथासनमञ्चकादौ, आचा० १ श्रु०२ अ०। अङ्गे,"वेयविरियसण वीरियस्स सयोगसद्दव्वयाए चत्तारि उवगरणाइ भवति । भ० ५ श० ४ उ० । कामभोगाङ्गे, धनधान्यहिरण्यादिके, सूत्र०२ श्रु० १ अ० । उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् । क्षुधादिके द्रव्यादिके च । तन्निरुक्तिश्चैवम् ।
उपकरणशब्दं व्याख्यानयति ॥

सिज्झतसमुवयारं, डिज्जतस्स व कारइ य जं दव्वं ।
तं उवकरणचुल्ली, उवरकादव्वीए होयाड ॥

"यत् क्षुधादिकं सिध्यतेऽस्य यद्वा यद्दर्व्यादिकं दीयमानस्य भक्तस्योपकारं करोति तत्क्षुधादिकं दर्व्यादिकं च उपकरणमित्युच्यते । उपक्रियते अनेनेत्युपकरणमिति व्युत्पत्तेः ॥ पि० ॥ आचा० । स्था० । उपकरण त्वनेकविधम् कटपिटकशूर्पादिके, अनु० । भ० । " लौहीकटाहकडुच्छुकादौ, भ० ५ श० ७ उ० । उपक्रियते व्रती अनेनेत्युपकरणम् धर्मशरीरोपष्टम्भहेतौ वस्त्रादौ, उत्त० १२ अ० । दण्डकरजोहरणवस्त्रपात्रादौ, प्रश्न० १ द्वा० । प्रव० । स्था० । यज्ज्ञानादीनामुपकारकं तदुपकरणमुच्यते । तथा चाह । "ज जुज्जइ उवयारे उवगरण तसि होइ उवगरण । अहिगरण अजओ अ, जय परिहरंतो परिहरंतो" ध० ३ अधि० । यत्किञ्च साधूनामुपकारे न व्याप्रियते तन्नोपकरण किन्तु अधिकरणम् । वृ० १ उ० । उपकारिवस्तुनि, प्रश्न०१ द्वा० । खड्गस्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्गधारास्थानीया स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्ति सा । शक्तिविशेषे, जी० १ प्रति० । आचा० ।

उवगरणउप्पादणया–उपकरणोत्पादनता–स्त्री० उपकुर्वन्तीति शीतातपादिषु सीदन्त स्थिरीकुर्वन्तीति उपकरणानि तेषामुत्पादनता उपकरणोत्पादनता वक्ष्यमाणप्रकारेण उत्पादनरूपे विनयभेदे, अथोपकरणोत्पादनतां पृच्छति ।

से किं तं उवगरणउप्पायणया २ चउव्विहा पएणत्ता तं जहा अणुप्पण्णाई उवगरणाइं उप्पाइत्ता जवति पोराणाइं उवगरणाइं संरक्खिता जवति । संगोवित्ता जवति परित्तं जाणित्ता पच्चुध्दरित्ता जवति जधाविधिं संविजइत्ता जवति सेत्तं उवगरणउप्पायणया ।

प्रश्नसूत्रं कएठ्यम् । गुरुराह । चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा (अणुप्पन्नाइति) अनुत्पन्नानि पूर्वमप्राप्तानि अपेक्षमाणानि उपकरणानि सम्यगेषणादिशुद्ध्या उत्पादयिता सपादनशीलो जवति यत स्वयमाचार्यस्योपकरणोत्पादने वाचनाधर्मकथाद्यन्तरायो भवति अतः शिष्येणैवोपकरणान्युत्पादनीयम् । (पोराणाइंति) पुरातनान्युपकरणानि सरक्षयिता उपायेन चोरादिभ्यः अथवा जीर्णानि शीर्ष्यति काले प्रावृणोति व्याख्यानकाले चोत्तपट्टादिकम् । सगोपयिता च अल्पसागारिककरणेन मलिनतारक्षणेन वेति २ "परित्त" नाम अल्पोपधिक देशान्तरादागतं साधर्मिक समीपस्थं वा अन्यगणसत्कं वा सीदन्त दृष्ट्वा उपकरणैरुत्तो भवति ३ यथाविधिसविभक्ता जवति यथाविधि नाम यथाशास्त्रिकतया दाता जवति ज्ञानादिकारणे वा तथाविधवस्त्रसग्राहको भवति॥ सेत्तमित्यादि निगमनवचन व्यक्तम् । दशा० ४ अ० ॥

उवगरणदाण–उपकरणदान–न० उपकरणं दण्डकादि तस्य दानम् वितरणम् । ममैकान्तनिर्जरा भवत्विति बुद्ध्या दण्डकादिवितरणे, "बहुमाणो वंदणयनिवेयणा पालणा य जातणाउवगरणमेव" दर्श० ॥

उवगरणपूतित–उपकरणपूतिक–न० राध्यमानस्य दीयमानस्य वा उपकारकारके पूतिभेदे, "जंतं रज्झंतस्स वा दिज्जंतस्स वा उवकारं करेति तं उवकरणपूतित त च इम चुलुक्खलिय डोएदव्वी छूढे य मासय पूति डोएलोणेहिं गूसकामणफोडसधूमे" नि०चू० २ उ० ।

उवगरणलाघव–उपकरणलाघव–न० अल्पोपधित्वरूपे द्रव्यतो लाघवे, आचा० १ श्रु०६ अ० ३ उ० ।

उवगरणवडिया–उपकरणप्रतिज्ञा–स्त्री० उपकरणलाभप्रतिज्ञायाम्, "आमोसगा उवगरणवडियाए सपिडिया गच्छेज्जा" आमोषकाश्चौरा उपकरणप्रतिज्ञया उपकरणार्थिनः समागच्छेयु । आचा० २ श्रु० ।

उवगरणसंजम–उपकरणसंयम–पुं० महामूल्यवस्त्रादिपरिहाररूपे पुस्तकवस्त्रतृणचर्मपञ्चकपरिहारलक्षणे वा सयमभेदे, स्था० ४ ठा० ।

उवगरणसंजोयणा–उपकरणसंयोजना–स्त्री० उपकरणविषये संयोजनादोषे, सा च बाह्याऽभ्यन्तरा च । तत्र बहिरुपकरणसयोजना उपकरण गवेषयन् एव साधोश्चोलपट्टकप्राप्तौ विभूषाप्रत्ययमन्तरा कल्प्य याचयित्वा परिभुञ्जानस्य भवति । अन्तरुपकरणसयोजना वसतावागत्य तथैव परिभुञ्जानस्य । पञ्चा० १३ विव० । पं० व० ॥

उवगरणसंवर–उपकरणसंवर–पुं० अप्रतिनियताकल्पनीयवस्त्राद्यग्रहणरूपे विप्रकीर्णस्य वस्त्राद्युपकरणस्य सवरणलक्षणे वा सवरभेदे, स्था० १० ठा० ।

उवगसित्ता–उपसंश्लिष्य–अव्य०समीपमागत्येत्यर्थे, "मणवधमाणेहिं घोरेहिं कलुणविणीयमुवगसित्ताण" सूत्र०१श्रु०४अ० ।

उवगाइज्जमाण–उपगीयमान–त्रि० क्रियमाणोपगाने, "गंधव्वेहिं णाडएहिं उवगिज्जमाणे उवगाइज्जमाणे उवलालिज्जमाणे" रा० ।

उवगार–उपकार–पुं० उप-कृ-भावे-घञ् । प्रधानस्यानुगुणयसम्पादने, उपकृतौ, वाच० ॥ उपकारवक्तव्यतामेवाह । चैत्यमुनिवन्दनप्रभृति-भाष्यविवृतेर्यथाश्रुतं किंचित् । संघस्याचारविधि, वक्ष्ये स्वपरोपकाराय । २ । इहहि दुरन्तानन्तचतुरन्तासारविसारिसंसारापारावारे निमज्जता भव्यजन्तुना जिनप्रवचनप्रतीतचोल्लकादिदशनिदर्शनदुष्प्राप कथमपि प्रशस्तमनुजजन्मादिसामग्रीमबाधभवजलधिसमुत्तरणप्रवहणस धर्मसद्धर्मविधाने प्रयत्नो विधेयः । यद्वादि "भवकोटी दुष्प्रापामवाप्य नृभवादिसकलसामग्रीम् । भवजलधियानपात्रे, धर्मे यत्नः सदा कार्यः । १ । तत्रापि विशेषत परोपकारकरणे प्रवर्तितव्यम् । तस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यामपि पुण्यबन्धनिबन्धनत्वात् उक्तं च "सक्षेपात्कथ्यते धर्मो, जना किं विस्तरेण व । परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् । १ । स चोपकारो द्वेधा । द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्योपकारो भोजनशयनाच्छादनप्रदानादिलक्षण स चाल्पीयाननात्यन्तिकश्चैहिकार्थस्यापि साधनेनैकान्तेन साधीयानिति । भावोपकारस्त्वध्यापनश्रावणादिस्वरूपो गरीयानित्यात्यन्तिक उभयलोकसुखावहश्चेत्यतो भावोपकार एव यतितव्यम् । स च परमार्थत पारमेश्वरप्रवचनोपदेश एव । तस्यैव भवशतोपचितदु खलक्षक्षयक्षमत्वात् ॥ आहच ॥ नोपकारो जगत्यस्मिंस्तादृशो विद्यते क्वचित् । यादृशी दुःखविच्छेदाद्देहिनां धर्मदेशना ॥ ३ ॥ संघा० । नं० । सुखानुभवे, षो० ११ विव० ।

उवगा (या) रण–उपकारण–न० आत्मनोऽन्यस्य वा ग्लानाद्यवस्थायामन्येनोपकारकरणे, "उवयारणपारणासु विणओ पउजियव्वो" प्रश्न० ३ द्वा० ।

उवगाराजाव–उपकाराजाव–पुं० कृतकृत्यत्वेनानन्दाद्युपकारस्याभवे, "उवगाराभावम्मि वि, पूआए पूजगस्स उवगारो" पचा० ४ विव० ।

उवगारि (ए्)–उपकारिन्–त्रि० उपकारके, आ० म० प्र० । विशे० । उपकारवति, षो० १० विव० ।

उवगारिया–उपकारिका–स्त्री० विमानाधिपतिसत्कप्रसादावतंसकादीन् उपकरोत्युपष्टभ्नातीत्युपकारिका विमानाधिपतिसत्कप्रसादावतसकादीनां पीठिकायाम्, अन्यत्र त्वियमुपकार्योपकारिकेति प्रसिद्धा । उक्त च "गृहस्थानां स्मृत राज्ञामुपकार्योपकारिका" इति । रा० ।

उवगारि (य) यालयण–उपकारिकालयन–न० उपकारिका लयनमिव उपकारिकालयनम् । उपकार्योपकारिकारूपे लयने, "एत्थणं महेगे उवयारियलयणे पण्णत्ते एग जोयणसयसहस्स आयामविक्खंभेणं" रा० । जी० ॥

उवगिज्जमाण–उपगीयमान–त्रि० "तद्गुणगानात् क्रियमाणोपगाने, मुदङ्गमस्तथर्पाहि । वत्तीसइवद्धेहिं उवनच्चिज्जमाणे उवगिज्जमाणे" भ० ६ श० ३३ उ० । तथाविधवालोचितगीतविशेषैर्गीयमाने गाय्यमाने च । औ० ॥

उवगीइ–उपगीति–स्त्री० आर्याया द्वितीयकार्द्धे यद् गदित लक्षण "तत् स्यात् यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तामुनिर्ब्रूते" वृ० २० । उक्ते मात्रावृत्तभेदे, ग० ।

उवगूढ–उपगूढ–न० उप–गुह भावे क्त । आलिङ्गने, कर्मणि क्त–आलिङ्गिते, त्रि० । सूत्र० १ श्रु०४ अ० । वेष्टिते, आ०म०प्र० । युक्ते, "गुंजावककुहरोवगूढ" "गुंजत वसकुहरोवगूढ" रा० ।

उवगूहण–उपगूहन–न० उप-गुह-ल्युट्-ऊरुङ् । आलिङ्गने,

पाच० । प्रच्छादने, रचनायां च । " आरुहणएहणेहिं पालयउवगूहणेहिं च " तं० ॥

उवगूहिज्जमाण–उपगूह्यमान–त्रि० आलिङ्ग्यमाने, " उवगूहिज्जमाणे उवगाइज्जमाणे उवलालिज्जमाणे उवगूहिज्जमाणे " ज्ञा० १ अ० ॥

उवगूहिय–उपगूहित (उपगूढ) न० गाढतरपरिष्वङ्गरूपे ममाप्तकामभेदे, प्रव० १६९ द्वा० । दृ० । आलिङ्गिते, त्रि० "एस मे पहरो तुट्ठेति उवगूहिओ " आ० म० द्वि० ।

उवग्ग–उपाग्र–न० अग्रस्य मुख्यस्य वर्षाकालस्याऽऽसन्नं समीपमुपाग्रम् ॥ आषाढमासे, " पत्तो वियकालो पुणरेव गण उवग्गम्मि " व्य० १ उ० ।

उवग्गह–उपग्रह–पुं० उपगृह्णातीत्युपग्रहः । उपाधौ, ओ० । नि० चू० । उपग्रहणमुपग्रहः शिष्याणां भक्तश्रुतादिदानेनोपष्टम्भने, ग० । व्यवि० वि० ओ० पं०चू० । पं०भा० । (तद्भेदाः परिहारतुवन्ने वक्ष्यन्ते) आत्मनः समीपे संयमोपष्टम्भार्थवस्तुनो ग्रहणे, प्रव० ६० द्वा० । उपकारे, विशे० । कारागन्धने बन्दीकरणे, उपयोगे, आनुकूल्ये, वाच० । परस्मैपदात्मने पदयोर्व्यत्यये, यथा निपूर्वः प्रतिष्ठते रमते उपरमतीत्यादि । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । कर्मणि घञ् । कारागृहे, बन्धाम, वाच० ।

उवग्गहकर–उपग्रहकर–त्रि० उपकारके, "जोगावि पञ्चमाइ उवगहकरा नि गदुस्स " पं० व० २ द्वा० ॥

उवग्गहकुसल–उपग्रहकुशल–पुं० उपग्रहविषयके कुशले, उपग्रहसामीप्येन प्रहः सोऽपि द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र येषामाचार्य उपाध्यायो वा न विद्यते तान् । आगमसमीपे समानीय तेषामित्वरं दिशा यथा नायचारयति यावत्तिणाचार्येण द्रव्यत उपग्रहः । ग्रहः उपादाने इति वचनात् । स पुनरविशेषेण सर्वेषामुपकारे वर्तते स भावत उपग्रहः ॥

उपग्रहकुशलताम् ॥

बाला य वुड्ढ सेहे, ससत्तवकिलिन्नत्तेयणानंके ।
भत्तनिमित्तोवहियाण, समणभेसज्जवग्गहिए ॥
ठाणदत्ताणकारा–वणे य तहाकयमणुणाए ।
उवहितमणुवहितविही, जाणाति उवग्गहं एयं ॥

बाला मह वृद्धेषु तथाप्रभृतिमार्गगमनत । यथा वा श्रान्तेषु तपःक्लान्तेषु तथा वेदनायां सामान्यतः शारीरपीडाया जातायामातङ्के च सद्यो जाते सति रोगे समुत्पन्ने दास्या वर्तमानिं तेषां पीठकफलकादिरूपा उपधि कल्पादि पानं द्रव्यम् । अदानमौदनादि भैषज्यं यथा पात्रादिकं प्राप्तं प्राच्छनाद्युपकरणम् । एतेषां समादाने ठक्तस्मिन् सप्तमी षष्ठ्यर्थे ततोऽयमर्थः । एतेषां स्वयं दाने ऽर्पयापने तथा वैयावृत्यादि कारापणे च तथा "कयमणुणाए" इति पदे कृतस्यानुज्ञायां यत्प्रवर्तनं तथा य उपहितविधिश्चानुपहितविधिर्नाम यत आचार्यैर्वितीर्णं तदाचार्यमनुज्ञाप्यान्येषां साधूनां तदन्तरेण विस्मरयतां ददाति अनुपहितविधिर्यदनुज्ञप्तमुत्पाद्य ददाति । अन्येतु व्याचक्षते यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयनमेव उपहितविधिः । यत्पुनस्तस्य गुरुभिर्दत्तं तत्सोऽन्यस्य गुरून् अनुज्ञाप्य ददाति एषोऽनुपहितविधिः । एवं सर्वमुपग्रहं जानाति । एतदेव वेदानो व्याख्यानयति ॥

बालाईण तस्सिं, भेज्जनिमित्तोवहिप्पयाणेहिं ।
जत्तगपाणभेसज–माईहिं उवग्गहिं कुणइ ॥
देइ सय दावेइ य, करेय कारावए य अणुजाणे ।
उवहिय जं जस्स गुरूहिं, दिण्णतं तस्स उवणेति ॥

अणुवहियं जं तस्स उ, दिन्नं देइ सो उ अन्नस्स ।
खमासमणेहिं दिन्नं, तुज्झं ति उवग्गहो एसो ॥

एतेषामनन्तरगाथाभिहितानां बालादीनां बालासमर्थवृद्धमार्गगमनादिश्रान्ततपःक्लान्तवेदनार्त्तजातातङ्कानां शय्यानिषद्योपधिप्रदानैस्तथा भक्तमोदकाशोकवर्त्यादि अन्नमोदनादि पानभैषज्ये प्रागुक्तस्वरूपे आदिशब्दादौपग्रहिकोपकरणादिपरिग्रहः । एतेषामुपग्रहमुपष्टम्भं करोति कथमित्याह । स्वयं शय्यादिकं ददाति । अन्यैर्वा दापयति तथा स्वयं वैयावृत्यादि करोति । अन्यैः कारयति । कुर्वन्तं वा अन्यमनुजानीते । (उवहियत्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादुपहितविधिरिति द्रष्टव्यम् । यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयतीत्येष उपहितविधिर्यत्पुनस्तस्य दत्तं सोऽन्यस्मै गुरून् अनुज्ञाप्य ददाति । क्षमाश्रमणैस्तुभ्यमिदं दत्तमित्येषोऽनुपहितविधिः । एष सर्वोऽप्युपग्रहः । उक्त उपग्रहकुशलः ॥ व्य० ३ उ० ॥

उवग्गहट्ठया–उपग्रहार्थता–स्त्री० भक्तपानवस्त्राद्युत्पादनसमर्थतयोपष्टम्भयिता भवतीति प्रयोजने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ॥

उवग्गहिय–उपगृहीत–न० भावे-क्त० । पुरुषस्यालिङ्गनैकान्तनयनलिङ्गमर्दनकरग्रहणादौ, ", उवहसिएहिं उवग्गहिएहिं उवसद्देहिं " तं० । कर्मणि क- । ज्ञानादिभिर्वस्त्रादिभिश्चोपष्टम्भिते, ॥ पा० ॥

उवग्घाय–उपोद्घात–पुं० समीपवर्तिनः प्रकृतस्य उद्घात उन्ननम प्राप्तं चिन्तनं यत्र । उप- हन्- गतौ- गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थता आधारे घञ् । प्रकृतसिद्ध्यर्थमालोचनात्मके सङ्गतिप्रभेदे "चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थ-मुपोद्घातं विदुर्बुधाः " तदर्थवर्णने आरम्भो शास्त्रोत्पत्तौ, विशे० ॥ उपक्रमादस्य भेदः । अपरस्त्वाह । ननूपक्रम प्राय शास्त्रसमुत्थापनार्थे उक्त उपोद्घातोऽप्येषशास्त्रसमुद्घातप्रयोजन एवेति कोऽनयोर्भेदः । उच्यते उपक्रमो गुद्देशमात्रनियतव्यापार उपोद्घातस्तु प्रायेण तदुद्दिष्टवस्तुप्रबोधनफलोऽर्थानुगमत्वादित्यल विस्तरेण आ० म० प्र० ॥ उपोद्धननमुपोद्घातः । व्याख्येयस्य सूत्रस्य व्याख्यानविधिसमीपीकरणे ॥ विशे० ॥ उपोद्घातफलम् ॥ अनेन चापोद्घातेनाभिहितेन सूत्रादयोऽर्था व्यक्ता भवन्ति यथा दीपेनापवरके तमसि उक्तं च "वत्ती भवन्ति अत्था, दीवेण अप्पगास उव्वरए । वत्तो भवति अत्था, उवघाएण तहा सत्थे " उपोद्घाताभिधानमन्तरेण पुनः शास्त्रं स्वतोऽतिविशिष्टमपि न तथाविधमुपादेयतया विराजते यथा नभसि मेघच्छन्नश्चन्द्रमाः । उक्तं च " मेघच्छन्नो यथा चन्द्रो, न राजति नभस्तले । उपोद्घातं विना शास्त्रं न राजति तथा विध " तत्र सूत्रभणितं " नो कप्पति निग्गथाण वा निग्गथीण वा आमेनालपलवे इत्यादि " सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितमिदम् । बृ० १ उ० ॥

उवग्घायणिज्जुत्ति–उपोद्घातनिर्युक्ति–स्त्री० उपोद्घातेन व्याख्येयस्य सूत्रस्य व्याख्या विधिसमीपीकरणमुपोद्घातनिर्युक्तिस्तद्रूपस्तस्या वा अनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः । निर्युक्त्यनुगमभेदे, " से किं त उवग्घायनिज्जुत्तिअणुगमे २ इमाहिं दोहिं मूलगाहाहिं अणुगतव्वे तंजहा "उद्देसे १ निद्देसे अ २ निग्गमे ३ खित्ते ४ काले ५ पुरिसे य ६ । कारण ७ पच्चय ८ लक्खण, ९ नए १० समोआरणाणुमए ११ ॥ किं १२ कइविहं १३ कस्स, १४ कहिं १५ केसु १६ कहं १७ किच्चिरं हवइ कालं १८ । कइ १९ संतर २० मविरहियं, २१ भवा २२ गरिस २३ फा-

सण २४ निरुत्ता २५ ॥ सेत्तं उवग्घायनिज्जुत्ति अणुगमो" । अनु० । आ० म० प्र० । विशे० । आ० म० द्वि० (समाइय शब्दे स्पष्टी भविष्यति)

उवघाय–उपघात–पुं० उपहननमुपघातः । पिण्डशय्यादेरकल्पनायाम् । स्था० ३ ठा० । अशबलीकरणे, ओ० । परम्पराघाते, प्रश्न० २ द्वा० । उपघातभेदः "उवघाओ" उपेत्य घातो उपघातः स च द्विविधः द्रव्योपघातो भावोपघातश्च तत्र द्रव्योपघातो विशुद्धद्रव्येनोपहन्यते । भावोपघातो द्विविधः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्र प्रशस्तोपघातः मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायोपघातः सम्यग्दर्शनादिषु प्रशस्तः । अप्रशस्तोपघातस्तु सम्यग्दर्शनाद्युपघातः मिथ्यात्वादिषु प्रशस्तः विशोधी नानार्थातिशयेषु सुप्रशस्तिभावयी शोधनं शुद्धिः विविधमनेकप्रकारं वा शुद्धिर्विशुद्धिरिय द्विविधा द्रव्यविशुद्धिर्वस्त्रादि भावविशुद्धिः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशुद्धिः । स च विशुद्ध्युपघातो वा अजीवद्रव्याणां न भवतीत्येष सिद्धान्तः कस्माद्यस्मादजीवद्रव्याणां क्रोधादयः परिणामविशेषा न भवन्ति तेनोपघातो विशुद्धता वा अजीवा नो न भवन्तीत्येष भावनानिश्चय इत्यर्थः । आह कस्योपघात इति संज्ञा । यदजीवानां न भवति शुद्धिरुपघातो वा उच्यते उपघातो विशुद्धिर्वा परिणामप्रत्यया जीवानां भवति न त्वजीवानामिति सिद्धान्तः । परिणतिः परिणामः अध्यवसायो भाव इत्येकार्थाः । पं० चू० ॥

त्रिविध उपघातः

तिविहे उवघाए पण्णत्ते तंजहा उग्गमोवघाए उप्पायणोवघाए एसणोवघाए । एवं विसोही ॥

उपहननमुपघातः पिण्डशय्यादेरकल्पतेत्यर्थः । तत्र उद्गमनमुद्गमः पिण्डादेः प्रभव इत्यर्थः तस्य चाधाकर्मादयः षोडश दोषाः । उक्तञ्च " तत्थुग्गमोपसूई–पभवो पमादि होंति एगट्ठा । सो पिण्डस्सिह पगओ, तस्स य दोसा इमे होंति " ।१। आहाकम्मुद्देसिय २ पूईकम्मे य ३ मीसजाए य ।४। ठवणा ५ पाहुडियाए, ६ पाओयर ७ कीअ ८ पामिच्चे ९ ॥२॥ परियट्टए १० अभिहडे, ११ उब्भिन्ने १२ मालोहडेई य १३ अच्छिज्जे १४ अणिसिट्ठे, १५ अज्झोयरए य १६ सोलसमेत्ति ॥३॥ " इह चाभेदविवक्षया उद्गमदोष एवोद्गमोऽतस्तेनोद्गमेनोपघातः पिण्डादेरकल्पनीयता करणं चरणस्य वा शबलीकरणमुद्गमोपघातः उद्गमस्य वा पिण्डादिप्रसूतेरुपघात आधाकर्मत्वादिभिर्दुष्टतोद्गमोपघातः ।

पञ्चविध उपघातो यथा—

पंचविहे उवघाए पण्णत्ते तंजहा उग्गमोवघाए उप्पायणोवघाए एसणोवघाए परिकम्मोवघाए परिहरणोवघाए ॥

उपघातोऽशुद्धता उद्गमोपघात उद्गमदोषैराधाकर्मादिभिः षोडशप्रकारैर्भक्तपानोपकरणलेपानामशुद्धता एवं सर्वत्र नवरम् उत्पादनया उत्पादनादोषैः धात्र्यादिभिरेषणया तद्दोषैर्दशभिः शङ्कितादिभिरिति परिकर्म वस्त्रपात्रादेश्छेदनसीवनादि तेन तस्योपघातोऽकल्पता तत्र वस्त्रस्य परिकर्मोपघातो यथा "निएहपरिफालियाण, वत्थं जो फालिय तु मसीवे । पचण्ह एगतर, सो पावइ आणमाईणि ' ॥ १ ॥ तथा पात्रस्य " अवलक्खणेगवंधे, दुग्गतिगअइरेगवंधणं वावि । जो पाय परियट्टइ (परिभुंक्ते) पर दिवट्ठा उ मासा उ ॥ २ ॥ (स आज्ञादीनामाभोतीति तथा वसते) " दूमिय धूमिय वासिय, उज्जोव्वय बलिकमा अवत्ता य । सित्ता समट्ठा वि य विसोहि कोडिं गया वसहित्ति " ॥ ३ ॥ दूमिता धवलिता " बलिकृता कूराद्दिना अव्यक्ता । कुगणादिना लिप्ता सम्मृष्टा समार्जितेत्यर्थः तथा परिहरणा आसेवा तयोपध्यादेरकल्पता तथोपधेर्यथा एकाकिना हिण्डकसाधुना यदासेवितमुपकरणं तदुपहतं भवतीति समयव्यवस्था " जग्गहणअप्पडिवज्जण, जइ वि चिरेण न उवहम्मेति " वचनात् । अस्य चायमर्थ एकाकी गच्छभ्रष्टो यदि जागर्ति दुग्धादिषु च न प्रतिवध्यते तदा यद्यप्यसौ गच्छे चिरेणागच्छति तथाऽप्युपधिर्नोपहन्यते अन्यथा तूपहन्यत इति । वसतेरपि मासचतुर्मासयोरुपरि कालातिक्रान्तेनेति । तथा मासद्वयं चतुर्मासद्वयं वा वर्जयित्वा पुनस्तत्रैव वसतामुपस्थानेऽपि च तद्दोषाभिधानात् । उक्तञ्च " उउ वासा समतीता, कालातीता उ सा भवे सेज्जा । से चेव उवट्ठाण–दुगुणादुगणं च वज्जित्ता " ॥ १ ॥ तथा भक्तस्यापरिष्ठापनिकाकार प्रत्यकल्पता तदुक्तं " विहिगहिय विहिभुत्तं, अइरेगं भत्तपाणभोत्तव्वं । विहिगहिए विहिभुत्ते, इत्थ य चउरो भवे भंगा ॥ १ ॥ अहवा वि अ विहिगहियं, विहिभुत्तं तं गुरुहि पुप्पाय । सेसाणाणुण्णाया, गहणे दिन्ने य निज्जुहणति । स्था० ५ ठा० । (व्याख्याऽपसणाशब्दे)

दशविध उपघातः ॥

दसविहे उवघाए पण्णत्ते तंजहा उग्गमोवघाए उप्पायणोवघाए जहा पंचट्ठाणे जाव परिहरणोवघाए णाणोवघाए दंसणोवघाए चरित्तोवघाए अवियत्तोवघाए सारक्खणोवघाए

यदुद्गमेनाधाकर्मादिना षोडशविधेनोपहननं विराधनं चारित्रस्याकल्पता वा भक्तादेः स उद्गमोपघातः एवमुत्पादनाया धात्र्यादिदोषलक्षणाया य स उत्पादनोपघातः । "जहा पंचट्ठाणेति" भणनात्तत्सूत्रमिह दृश्यं कियदत आह जाव परीत्यादि तद्वेद (एसणोवघाए) एषणया शङ्कितादिभेदया य स एषणोपघातः (परिकम्मोवघाए) परिकर्म वस्त्रपात्रादिसमारचनं तेनोपघातः स्वाध्यायस्य श्रमादिना शरीरस्य संयमस्य चोपघातः परिकर्मोपघातः । (परिहरणोवघाए) परिहरणा अलाक्षणिकस्याकल्प्यस्य चोपकरणस्य सेवा तया य स परिहरणोपघातस्तथा ज्ञानोपघातः श्रुतज्ञानापेक्षया प्रमादतो दर्शनोपघातः शङ्कादिभिश्चारित्रोपघातः समितिभङ्गादिभिः (अवियत्तोवघाएत्ति) अवियत्तमप्रीतिकं तेनोपघातो विनयादेः (सारक्खणोवघाएत्ति) संरक्षणं शरीरादिविषये मूर्च्छयोपघातः परिग्रहविरतेरिति संरक्षणोपघात इति । स्था० १० ठा० । " उवघाय च दसविह, असवरं तह य संकिलेसं च । परिवज्जतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच " पा० । ध० । सूत्रतो विनाशे, कर्म० । नि० चू० । उपद्रवे, त० । कर्मायोग्यतासम्पादने, उपकारे, वाच० ॥

उवघायकम्म–उपघातकर्मन्–न० परोपघातक्रियायाम, " आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं । उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

उवघायजणय–उपघातजनक–न० उपघातः सत्त्वघातादिस्तज्जनकम्, अनु० ॥ सत्त्वोपघातादिप्रवर्तके सूत्रदोषे, यथा वेदविहिता हिंसा धर्मायेत्यादि ॥ विशे० ॥ यथा वा " न मांसभक्षणे दोष इत्यादि " वृ० १ उ० ।

उवघायण–उपहनन–न० हन्यतेऽनेनेति हननम् उप सामीप्येन हननमुपहननम् । करे, " भूओवघायणमणज्ज " आव० ४ अ० ।

उवघायणाम–उपघातनामन्–न० उपघातनिबन्धनं नाम । नामकर्मभेदे, यदुदयवशात्स्वशरीरावयवैः स्वशरीरान्तःपरिवर्द्धमानैः प्रतिजिह्वागलवृन्दलम्बकचोरदन्तादिभिरुपहन्यते । यद्वा

न्यय इत्येष प्रतीयमानपातादिभिरुपहन्यमाम । प्र० सं० । कर्म० । स० । शा० । प्रव० ॥

उवघायणिस्सिय–उपघातनिश्रित–न० उपघाते प्राणि वधे नि-श्रितमाश्रितम । दशमे मृषाभेदे, स्था० १० ठा० ।

उवघायपरुग–उपघातपराक्रम–पुं० उपहतपरोपकरणे पराक्र-मे, नि० चू० १३ उ० । अपोपघातपराक्रममाह—

पुव्विमयाणं कम्मा–ण असुहफलदायगाण ।

जो उवहम्मइ देवो, जीवाण पावकम्माणं ॥

पूर्वं पूर्वभवोपार्जितानां कर्मणामशु-भफलो विपाक उदयं गच्छति ततो जीवानां पापकर्मणां येन उपहन्यते । अत्र चार्थं दृष्टान्त —

जह हेमो उ कुमारो, इंदमहे भूमियानिमित्तााणं ।

कुच्छिय निद्दो य मओ, सेणो जा य उवहओ तस्स ॥

यथा हेमो नाम कुमार इन्द्रमहे समागता याच्च्यभिरता वासि-ताभिरता निमित्तेन मूर्च्छितो मृत्युमुपजगाम । अत्र कथा—... अनुसरतो ... इति कथानकमतोऽवगन्तव्यं ॥ ... हेमपुरं नगरं हेमकूटो राजा हेमवतीसंभवः सेवतिदत्तहेमकुमारः पुत्रो ... हेमा नाम कुमारी ... सा च कुमारी अन्यदा ... इन्द्रमहे ... कुमार ... भवति । ... ... इति । वृ० ४ उ० ।

उवचय–उपचय–पुं० उपचीयते उपचय जीवभे इन्द्रियसमेति उपचय । प्रयोगपत्रुभवमवदणम्सरनिर्वृत्तिकरणप्रक्रिया प्रव० १०७५ गा० । इन्द्रियपर्याप्तौ च उन ॥ शरीर, आचा० १ श्रु० ... विशे, निचय, समृद्ध, पि० । स्था० । वृहत्, भ० । अत्र सूत्रम्—

जीवाणं भंते ! किं सोवचया सावचया सोवचयसावचया निरु-वचया निरवचया ? गोयमा ! जीवा नो सोवचया नो साव-चया नो सोवचयसावचया निरुवचया निरवचया । एगिंदिया तइयपए सेसा जीवा चउहिं पएहिं जाणियव्वा । सिद्धाणं भंते पुच्छा गोयमा ! सिद्धा सोवचया नो सावचया नो सोवच-यसावचया निरुवचय निरवचया । जीवाणं भंते ! केवइय का-लं निरुवचयनिरवचया ? गोयमा ! सव्वद्धं । नेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं सोवचया ? गोयमा ! जहण्णं एगं समयं उक्को-सेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं केवइयं कालं सावचया एवं चेव केवइय कालं सोवचयसावचया एवं चेव केवइय का-लं निरुवचयनिरवचया ? गोयमा ! जहण्णं एगं समयं उक्को-सं बारसमुहुत्ता एगिंदिया सव्वे सोवचया सावचया सव्वद्धं । सेसा सव्वे सोवचया वि सावचया वि सोवचयसावचया वि । जहण्णेण एगं समय उक्कोसं आवलियाए असंखेज्जइ भागं अवट्ठिएहिं वक्कं-ति य कालो जाणियव्वो । सिद्धाणं भंते ! केवइयं काल सोवचया गोयमा ! जहण्णं एगं समयं उक्कोसं अट्ठ समया केवइय निरुवचयनिरवचया जहण्णं एगं उक्कोसं छम्मासा सेवं भंते भंतेत्ति ।

सोपचया सवृद्धय प्राक्तनेषु येषामुत्पादात् । सापचया प्रा-क्तनेभ्य केषाञ्चिदुद्वर्त्तनात्सहानयो सोपचयसापचया उत्पादो-द्वर्त्तनाभ्यां वृद्धिहान्योर्युगपद्भावात् निरुपचयनिरपचया उत्पा-दोद्वर्त्तनयोरभावेन वृद्धिहान्योरभावात् । ननूपचयो वृद्धिरपचय-स्तु हानिर्युगपदुभयसद्भाव ... इति शब्दभेदव्यतिरेकेण कोऽनयो सूत्रयोर्भेद ? उच्यते पूर्वत्र परिमाणमभिप्रेतमिह तु तद-नपेक्षमुत्पादोद्वर्त्तनामात्र तथाहि तृतीयभङ्गे पूर्वोक्तरूपादिवि-कल्पात्ते प्रथमपि स्यात्सप्तादि पञ्चमपादे वृद्धिर्वृद्धिरुद्वर्त्तने न हानि । समोत्पादोद्वर्त्तनयोरवस्थितत्वमित्येव भेद इति । (एगिंदिया तइयपएत्ति) सोपचयसापचया इत्यर्थ युगपदु-त्पादोद्वर्त्तनाभ्यां वृद्धिहानिभावात् शेषपदत्रयेषु ते न सम्भवन्ति प्रतिक्षणमुत्पादोद्वर्त्तनयोस्तत्रिदस्य भावाभावादिति । (अवट्ठिएहिं-ति) निरुपचयनिरपचयेषु । (वक्कंति कालो जाणियव्वोत्ति) विरहकालो वाच्य ॥

वस्त्रस्य पुद्गलोपचयो जीवानां कर्मोपचय ।

वत्थस्स णं भंते ! पोग्गलोवचये किं पयोगसा वीससा ? गोयमा ! पयोगसा वि वीससा वि । जहा णं भंते ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचये पयोगसा वि वीससा वि तहा णं जीवाणं कम्मोवचए किं पयोगसा वीससा ? गोयमा ! पयोगसा नो वीससा । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! जीवाणं तिविहे पओगे पण्णत्ते त जहा–मणप्पओगे वइप्पओगे कायप्पओगे इच्चे-तेण तिविहेणं पयोगेणं । जीवाणं कम्मोवचये पयोगसा नो वीससा एवं सव्वेसिं पंचिंदियाणं तिविहे पयोगे जाणियव्वे । पुढविकाइयाणं एगविहपओगेणं एवं जाव वणस्सइकाइया । विगलिंदियाणं दुविहे पओगे पण्णत्ते त जहा– वइप्पयोगे य कायप्पओगे य । इच्चेतेणं दुविहेणं पयोगेणं कम्मोवचये पयोगसा नो वीससा से एणं अट्ठेणं जाव नो वीससा एवं जस्स जो पओगो जाव वेमाणिया णं । वत्थस्स णं भंते ! पोग्गलोवचए किं सादीए सपज्जवसिए सादीए अपज्जवसिए अणादीए सपज्जवसिए अणादीए अपज्जवसिए ? गोयमा ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए । जहा णं भंते ! वत्थस्स पोग्गलोवचए सा-दीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणा-दीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए तहा णं जीवाणं कम्मोवचए पुच्छा गोयमा ! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए

सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए अपज्जवसिए नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! इरियावहिया बंधयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए से तेणट्ठेणं ॥

वत्थेत्यादिद्वारे ॥ (पयोगसावीससायत्ति) ग्रन्दसत्वात् प्रयोगेण पुरुषव्यापारेण विस्रसया स्वभावेनेति । (जीवाण कम्मोवचए पओगसा णो वीससत्ति) प्रयोगेणैव अन्यथा योगस्यापि बन्धप्रसङ्गः । सादिद्वारे । (इरियावहियबंधस्सेत्यादि) ईर्या पंथो गमनमार्गस्तत्र भवमैर्यापथिक केवलयोगप्रत्यय कर्म्मेत्यर्थः । तद्बन्धकस्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य सयोगिकेवलिनश्चेत्यर्थः । ऐर्यापथिककर्म्मणो हि अबन्धपूर्वस्य बन्धनात्सादित्वमयोग्यवस्थायां श्रेणिप्रतिपाते वा अबन्धनात्सपर्यवसितत्वम् (गइए गइ पडुच्चत्ति) नरकादिगतौ गमनमाश्रित्य सादयः आगमनमाश्रित्य च सपर्यवसिता इत्यर्थः । (सिद्धगई पडुच्च साइया अपज्जवसियत्ति) इहाक्षेपपरिहारावेव " साइ अपज्जवसिया, सिद्धानयनामइय कालम्मि । आसिकयाइविसुद्धा, सिद्धा सिद्धे वहि सिद्धंते ॥ सव्वं साइसरीरं, नयनामादिमयदेहसब्भावो । कालाणाइत्तणओ,जहा वए इदियाईणं ॥ सव्वो साई सिद्धो, नयादिमो विज्जई तहा ते च । सिद्धो सिद्धा य सया, निद्दिट्ठा रोहपुच्छा एत्ति । (त चाति) तच्च सिद्धानादित्वमिष्यते यत. सिद्धा सिद्धायेत्यादि [भवसिद्धियालद्धिमित्यादि] भवसिद्धिकानां भव्यत्वलब्धिः सिद्धत्वेऽपैतीति कृत्वाऽनादिसपर्यवसिता चेति । भ० ६ श० ३ उ० । उन्नतौ, षष्ठत्रिदशलाभाच्च,लग्नाडुपचयाः स्मृताः । इति ज्योतिषोक्ते लग्नात्षष्ठादिस्थानेषु च । वाच० ।

उवचयण–उपचयन–न० स्थितस्याबाधाकालं मुक्त्वा ज्ञानावरणीयादितया निषेके, सचैवं प्रथमस्थितौ बहुतरकर्मदलिक 'निषिञ्चति ततो द्वितीयायां विशेषहीनमेव यावदुत्कृष्टायां विशेषहीन' निषिञ्चति । उक्त च " मोत्तूण सगमवाह, पढमाए ठिइए बहुतर दव्व । सेस विसेसहीण, जावुक्कोसति सव्वेसिंति" " चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु उवचिणंति उवचिणिस्सति " स्था० ४ ठा० । परिपोषणे च । स्था० ७ ठा० ।

उवचर–उपचर–उप–चर–धा– भ्वा० पर० । सामीप्ये, नाशने, उपसर्गणे, " अडुवा पक्खिणो उवचरति " अडुवा कुचरा उवचरति " । उपचरति उप सामीप्येन मांसादिकमश्नन्ति । अथवा श्मशानादौ पक्षिणो गृध्रादय उपचरन्ति । अथवा कुत्सित चरन्तीति कुचराश्चोरपारदारिकादयस्ते च क्वचिच्छून्यगृहादावुपचरन्ति उपसर्गयन्ति । आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० ॥

उवचरय–उपचरक–पुं० स्तेनभेदे, "अयतणे अय उवचरते अथ तओ आगओ पतिकट्ठु" आचा० २ श्रु० । सूत्र० ॥

उवचरिय–उपचरित–त्रि० उप–चर–क्त– । उपासिते, बोधिते, च । वाच० । उप–चर–भावे–उपचारे, पचा० ६ विव० ।

उवचिण–उपचयन–न०गृहीतानां कर्मपुद्गलानां ज्ञानावरणादिभावेन निषेचने, स्था० १० ठा० । (व्याख्या पावकम्मशब्दे)

उवचित (य)–उपचित–त्रि० पुष्टे, कल्प० । समृद्धे, ज्ञा० ४अ० । मांसले, " कणयसिलायलुज्जलपसत्थसमतलोवचियविच्छिन्नपिहुलवच्छा" । जी० ३ प्रति० । निवेशिते, प्रज्ञा०२ पद । उपनिहिते, ' उवचियचदणकलस "उपचिता उपनिहिता चन्दनकलशामाङ्गल्यघटा गृहान्तश्चतुष्केषु यत्र तत्तथा । कल्प० । औ० । रा० । भृते, "बहुउप्पलकुमुयफुल्लकेसरोवचिया" । जं० १ वक्ष० । उन्नते औ० ॥ ज्ञा० ॥ बहुशः प्रदेशसामीप्येन शरीरे चिते, ॥ भ० १ श० १ उ० । जीवप्रदेशैर्व्याप्ते, अनु० ॥ प्रारब्धे वा कर्मणि, उत्त० १ अ० । दिग्धे,मेदि० । लेपनादना वर्द्धिष्णौ, । निदिग्धे, अमर. वाच० ॥ "उवचियखोमियदुगुल्लपट्टपरिच्छन्ने" परिकर्मित (खोमियत्ति) क्षौमं यद् दुकूल वस्त्र तस्य य पट्टो युगलापेक्षया एकपट्टः तेन आच्छादिते, ॥ स० ॥ परिकर्मिते, औ० । कल्प० । समाहिते, हेम० । सुसञ्चिते च । वाच० ।

उवचितकाय–उपचितकाय–त्रि० मांसलशरीरे, " परिवूढकायं पेहाए एवं वदेज्जा परिवूढकाएत्ति वा उवचितकाएत्ति वा" ॥ आचा० २ श्रु० ॥

उवचियमंससोणिय–उपचितमांसशोणित–पु० परिवृद्धमांसशोणिते, । आचा० २ श्रु० ॥

उवजोइ–उपज्योति–पु० अव्य० सामीप्ये अन्ययी०स० अग्नेः समीपे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । उपज्योतेरग्ने' समीपे व्यवस्थित उपज्योतिः । वर्त्तिनि, "जतुकुम्भे जहा उवज्जोई संवासे विदुविसीएज्जा " सूत्र० १ श्रु० ४० ।

उवजोइय–उपज्योतिष्क–पु० ज्योतिषसमीपे, उपज्योतिषस्त एवोपज्योतिष्काः अग्निसमीपवर्तिषु माहानसिकेषु, ऋत्विक्षु, च । उत्त० ॥ केइत्थगता उवजोइया वा अज्झावया वा सहखण्डिएहिं" उत्त० १२ अ० ॥

उवज्झाय–उपाध्याय–पु० उप समीपमागत्य अधीयते इङ् अध्ययने' इतिवचनात्, पठ्यते, इण् गताविति वचनाद् वा अधि आधिक्येन गम्यते, इक् स्मरेण इतिवचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनप्रवचनं येभ्यस्त उपाध्यायाः । यदाह " बारसंगो जिणक्खाओ, सिज्झाओ कहिओ बुहे । त उवइस्सति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चति " अथवा उपाध्यानमुपाधि' सन्निधिस्तेनोपाधिना उपाधौ वा आयो लाभः श्रुतस्य येषामुपाधीनां वा विशेषणानां प्रक्रमाच्छोभमानानामायो लाभो येभ्योऽथवा उपाधिरेव सन्निधिरेव आय इष्टफलदैवजनितत्वेन आयानामिष्टफलानां समूहस्तदेकी हेतुत्वाद्येषामथवा आधीनां मन.पीडानामायो लाभः आध्याय. अधियां वा नय' कुत्सार्थत्वात् कुबुद्धीनामायो ध्याय. आध्याय. ध्यैचिन्तायामित्यस्य धातो प्रयोगान्नञः कुत्सार्थत्वादेव दुर्ध्यानं वा अध्याय उपहतोऽध्यायः आध्यायो वा यैस्ते उपाध्याया. ॥ भ० १ श० १ उ० । दशा० । ध० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । प्रव० । साध्वसप्यहर्ा ऊ । ७ । २ । २६ । इति ध्वेति सयुक्तस्य ऊ । प्रा० । यथाशक्तिद्वादशाङ्गस्वयमध्ययनपराध्यापननिषण्णमानसेषु, । च० १ पाहु० । सूत्राध्यापकेषु, कल्प० । आचा० । स्था० । आव० । स्वाध्यायपाठकेषु, द्वा० । विशे० । बृ० ।

अस्य निक्षेपो यथा ।

नामं ठवणा दविए, भावे चउव्विहो उवज्झाओ ।
दव्वम्मि लोइयसिप्पा, धम्मा तह अन्नतित्थीया ॥

नामस्थापनोपाध्यायौ सुबोधौ द्रव्योपाध्यायस्तु ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तानाह (दव्वेत्यादि) द्रव्ये विचार्ये तद्व्यतिरिक्त उपाध्यायः शिल्पाद्युपदेष्टा । तथा (धम्मेत्ति) निज २ धर्मोपदेष्टारोऽन्यतीर्थिकाश्च संसारनिबन्धनत्वेनाप्रधानभूतत्वात्तद्व्यतिरिक्ता द्रव्योपाध्याया मन्तव्या इति । भावोपाध्यायानाह–

बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिउं बुहे ।
तं उवइसंति जम्हाओ–वज्झाया तेण वुच्चंति ॥

यो द्वादशाङ्ग स्वाध्याय प्रथमतो जिनैरारतस्ततो (बुद्देत्ति) प्राकृतत्वादूबुद्धैर्गणधरादिभिः कथित पारपर्येणोपदिष्ट त स्वाध्याय सूत्रतः शिष्याणामुपदिशन्ति यस्मात्तेनोपाध्याया उच्यन्ते अत एव इङ् अध्ययने उपेत्य सूत्रमधीयते येभ्यः शिष्यास्ते उपाध्याया भणन्ते इति ॥

सांप्रतमागमशैल्या अक्षरार्थमधिकृत्योपाध्यायशब्दार्थमाह ।

उत्ति उवकरणवेति, वेयज्झाणस्स होइ निद्देसे ।
एएण होइ उज्झा, एसो अन्नो विपज्जाओ ॥

(उ) इत्येनदक्षरमुपयोगकरणे वर्त्तते (व) इति वेदध्यानस्य निर्देशे ततश्च प्राकृतशैल्या एतेन कारणेन भवन्ति उज्झा उपयोगपुरःसर ध्यानकर्तार इत्यर्थः । एसोऽनन्तरोक्त उपाध्यायशब्दापेक्षयान्योऽपि पर्याय इति । अथोपाध्यायशब्दार्थे भाष्यकारः प्राह ।

उवगम्म जओ हीयइ, जं चोवगयमग्गया वेंति ।
जं वो वायज्झाया, हियस्स तो ते उवज्झाया ॥

उवगम्योपेत्य यतो येभ्योऽधीयते पठन्ति शिष्यास्ते उपाध्यायाः यच्च यस्मादुप समीपे गत प्राप्तं शिष्यमध्यापयन्ति तत उपाध्याया । यस्माच्च स्वपरहितस्योपाध्यायका उपायका उपायचिन्तकास्ततस्ते उपाध्याया इति । विशे० । आ० चू० । आ० म० द्वि० ।

इदानीमुपाध्यायस्वरूपमाह ।

सुत्तत्थतदुभयवि-ज्जुत्तो नाणदंसणचरित्ते ।
निप्पायगसेसाण, एरिसया होंति उवज्झाया ॥

ये सूत्रार्थतदुभयविदो ज्ञानदर्शनचारित्रेषूद्युक्ता उपयुक्तास्तथा शिष्याणां सूत्रवाचनानिष्पादका एतादृशा भवन्त्युपाध्यायाः । उक्त च । " समत्तनाणदसण, जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविधिणा । आयरियप्पाजुग्गो, सुत्त वाएइ उवज्झातो " अथ कस्मात्सूत्रमुपाध्यायो वाचयति । उच्यते अनेकगुणसम्भवानेवाह ।

सुत्तत्थेसु थिरत्तं, रिणमुक्खो आयती अपडिबंधो ।
पाडिच्छे मोहजयो, तम्हा वाए उवज्झातो ॥

उपाध्याय शिष्येभ्यः सूत्रवाचना प्रयच्छन् स्वयमर्थमपि परिभावयति । सूत्रेऽर्थे च तस्य स्थिरत्वमुपजायते । तथाऽन्यस्य सूत्रवाचनाप्रदानेन सूत्रलक्षणस्य ऋणस्य मोक्ष कृतो भवति । तथा आयत्यामागामिनि काले आचार्यपदाध्यासेऽप्रतिबन्धोऽत्यन्ताभ्यस्ततया यथावस्थतया स्वरूपस्य सूत्रस्यानुवर्तन भवति । तथा (पाडिच्छेत्ति) येऽन्यतो गच्छान्तरादागत्य साधवस्सूत्रोपसपद गृह्णते ते प्रतीच्छका उच्यन्ते ते च सूत्रवाचनाप्रदानेनानुगृहीता भवन्तीति वाक्यशेषः । तथा मोहजय कृतो भवति । सूत्रवाचनाप्रदानव्यग्रस्य सत प्रायश्चित्तविश्रोतसिकाया अभावात् अत एव गुणस्तस्मादुपाध्यायः सूत्र वाचयेत् । पाठान्तरं (तहा अ उण वाएत्ति) अत्रापि स एवार्थो नवर गणी उपाध्याय उक्तमुपाध्यायस्वरूपम् । व्य० १ उ० । प्रव० । स्था० " एवमेते णामठवणादीहिं अणेगहा पन्नविज्जंति तहा सुसघुडासवदारे मणोवइकायजोगुत्तउवउत्ते विहिणा सरविंजणमत्ता बिंदुपयक्खरविसुद्धदुवालसगे सुयनाणसुयणज्झावणेण परमप्पणोयमोक्खोवाय झायतित्ति उवज्झाए थिरपरिचियमणतगमपज्जवत्थेहिं दुवालसग सुयनाण चिंतति अणुसरंति एगग्गमणसा झायतित्ति वा उवज्झाए" महा० । (उपाध्यायस्य अतिशयादय स्वस्थाने (नमस्कारार्हत्वं नमो उवज्झायाणंती सूत्रार्थौ 'नमुक्कार' शब्दे) (उपाध्यायोद्देश 'उद्देस' शब्दे उक्तः) (उपाध्यायस्थापना 'दिसा' शब्दे)

उवज्झिय–उपाहूत–त्रि० आकारिते, व्य० १ उ० ।

उव (व्व) ट्टण–उद्वर्तन–न० उद्वर्त्यतेऽनेन उद्-वृत्-णिच्-करणे ल्युट् । शरीरनिर्मलीकरणद्रव्यादौ, भावे-ल्युट् । द्रव्यभेदै स्नेहाद्यपहारार्थे व्यापारे, विलेपने, घर्षणे च । वाच० । पङ्कापनयने, " गायस्सुवट्टणाणि य " दश० ३ अ० । सकृद्वर्त्तने नि० चू० ३ उ० । प० ।

उव (व्व) ट्टणविहि–उद्वर्तनविधि–पु० उद्वर्त्तनप्रकारे, " तयाणतर च णं उवट्टणविहिपरिमाण करेइ णण्णत्थ एगेणं सुरभिणा गधवूपएण । अवसेस उवट्टणविहिं पच्चक्खामि" उवा० अ० । त्रि० समीपस्थिते, वाच० ।

उवट्ठ–उपस्थ–एकस्यां वसतौ सततमवस्थिते, व्य० ४ उ०

उवट्ठंभ–उपष्ट(स्त)म्भ–पुं० उप-स्तम्भ-घञ् पतनप्रतिरोधने, अवलम्बने, आलम्बने, स्थितौ, सहकारे, वाच० । अनुकम्पायाम स्था० २ ठा० । मोहनीयेन कर्मणाऽवस्थाने, भ० १ श० ४ उ०

उवट्ठकाल–उपस्थकाल–पु० अभ्यागमवेलायाम्, व्य० ४ उ०

उवट्ठ (ट्ठा) वणा–उपस्थापना–स्त्री० उपस्थापनमुपस्थापना अनुकूलशक्त्यभावे, प्रति० । उपस्थाप्यन्ते व्रतान्यारोप्यन्ते यस्यां सा उपस्थापना । चारित्रविशेषे, ध० २ अधि० । व्रतेषु स्थापनायाम, प० चू० । 'वयट्ठवणमुवट्ठवणा' प० भा० । पचा० नवीनदीक्षितस्य साधोः श्रीतातपाददीक्षाभवनानन्तर 'मच्चित्तरजओहडावणिअ' कायोत्सर्गे विस्मृते पुनर्दीक्षां दत्त्वाऽवश्यकादियोगानुष्ठानमुपस्थापना च शुद्ध्यति नवेति ७४ प्रश्न गच्छनायकदीक्षाभवनानन्तर 'मचित्तरजओहडावणिअ' कायोत्सर्गे विस्मृते पुनर्गच्छनायकदीक्षामन्तरेणावश्यकादियोगानुष्ठानमुपस्थापना च न शुद्ध्यतीति ॥ सेन० २ उल्ला० ।

उपस्थापनाविधिश्चैवम् ॥ "पढिआइ१वास२चिइ३वयति,अतिअवेला४खम समणरासत्त५। दिसि वंधो दुविह तिहा६नवए देसण७मडली सत्त८ ॥ पढिए अकहिअअहिगाहिअ" इत्यादि गाथाद्वयं एव "सुपरिक्खियगुणसीसो तिहिनक्खत्तमुहुत्तरविजोगाइपसत्थदिवसे विपासवणाइपहाणखित्ते गुरु वदित्ता भणइ, इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अहं पञ्चमहाव्रतरात्रिभोजनविरमण षष्ठ आरोपावणिअं नंदिकरावणिअ वासनिक्खेवं करेहत्ति । तओअ देवे वदियवदण दाउं महव्वयाइ आरोवणत्थ सत्तावीसुस्सास काउस्सग्ग दोवि करेंति । तओ सूरिओ वदति तुब्भएहिं पिट्ठोवरिकुप्परसठिएहिं करेहिं रयहरण ठावित्ता मकरानामिआए मुहपुत्तिं लवति, धरित्तु-सम्मं उवओगपरो सीस अद्धावणयकाय इक्किक्कवयं नमुक्कारपुव्व तिण्णि वारे उच्चरावेइ । तत्थ पढमे भंते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमण सव्व भते पाणाइवायं पच्चक्खामि से सुहुम वा वायर वा तस वा थावर वा नेव सय पाणे अइवाइज्जा नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंते वि अन्न न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करत पि अन्न न समणुजाणामि तस्स भते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि । पढमे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ विरमण । अहावरे दुच्चे भते महव्वए मूसावायाओ वेरमण इत्याद्यालापकषट्क वाच्यम् । तओपत्ताए लग्गवेलाए "इच्चेइयाइ पचमहव्वयाइ राईभोअणवेरमणछट्ठाइ अत्तहियट्ठ

याए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि" एवं तिन्नि वारे भणावेइ तओ वंदित्ता सीसो भणइ इच्छकारि भगवन् ! तुब्भे अम्ह पचमहाव्रतरात्रिभोजनविरमणषष्ठआरोवओ इत्यादिक्षमाश्रमणानि प्रदक्षिणाश्च प्राग्वत् । तओ सीसस्स आयरियउवज्झायरूवो दुविहो दिसाबंधो कीरइ । यथा कोटिको गणः वइरी शाखा चान्द्रं कुलम् । अमुका गुरवः उपाध्यायाश्च साध्वी अमुकी प्रवर्तिनी चेति तृतीयः आचाम्लनिर्विकृतिकादितपः कार्यते । देशनायां च वधूचतुष्ककथावाच्या ॥

उट्ठविओ चेव सीसो, मंडलीपवेसत्थं ।
सत्तआयंबिलाणि-कारे अबोतं जहा ॥
सुत्ते१ अत्थे२ भोअण,३ काले४ आवस्सए ५ सज्झाए६।
संथारपविट्ठे७ तहा, सत्ते आ मंडली हुंति ॥

सूत्रे सूत्रविषये १एवम् अर्थे २भोजने ३कालग्रहे ४आवश्यके प्रतिक्रमणे ५स्वाध्याये तत्र च प्रस्थापने ६संस्तारके चैव ७ सप्तैता मण्डल्यो भवन्ति । एतासु चैकैकेनाचाम्लेन प्रवेष्टुं कल्पते नान्यथेति । तत्र च "मुहपोत्तिं पेहिअ वंदणदुगं दाउं सुत्तमंडलीं संदिसावउ खमाए सुत्तमंडलीवासिओ खमा० इत्थं तस्स मिच्छामि दुक्कड तिविहेण सेसासुत्ति" इति प्रतिपादितः सप्रपञ्चमुपस्थापनाविधिः । ध०३अधि० ।

अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयपरिच्छणये चउगुरुगा ।
दोहिं गुरु तव गुरुगा, कालगुरुं दोहि वि लहुगा ॥

सूत्रेऽसमाप्ते उपस्थाप्यमाने उपस्थापयितुः प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुकाः । कथम्भूता इत्याह । द्वाभ्यां गुरवस्तद्यथा तपसापि गुरुका कालेनापि गुरुका । अथ सूत्रप्राप्तस्तथापि तस्यार्थमकथयित्वा यदि तमुपस्थापयति तदा तस्य चत्वारो लघुकाः । नवरं कालेनैकेन लघवः । अथ कथितोऽर्थः परं नाद्याप्यधिगतः अथवा अधिगतः परमद्यापि न सम्यक् तं श्रद्धाति तमनधिगतार्थमश्रद्दधानं वा उपस्थापयतश्चत्वारो लघुकाः । नवरमेकेन तपसा लघवः । अथाधिगतार्थमप्यपरीक्ष्योपस्थापयति तदा चत्वारो लघुकास्तपसापि कालेनापि च लघवः न केवलं तत्प्रायश्चित्तं किं त्वाज्ञादयश्च दोषाः तथा सर्वत्र षण्णां जीवनिकायानां यद्विराधयिष्यति तत्सर्वमुपस्थापयन् प्राप्नोति तस्मात् यत एवं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्तस्मादपठिते षड्जीवनिकायसूत्रे नाप्यनधिगतेऽर्थे नापि तस्मिन्नपरीक्षिते उपस्थापना कर्त्तव्या ।

अथ कियन्तः षड्जीवनिकायामर्थाधिकारास्तत आह ।

जीवाजीवाभिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य ।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाए अहिगारा ॥

षड्जीवनिकायामिमे पञ्चाधिकारास्तद्यथा प्रथमो जीवाजीवाभिगमो द्वितीयो महाव्रतसूत्रादारभ्य चारित्रधर्मस्तृतीयो'जयं चरे जयं चिट्ठे' इत्यादिना यत्नादनन्तरमुपदेशस्ततो धर्मफलमेते च विस्तरतो दशवैकालिकटीकातः परिभावनीया । तत्रास्तामुपस्थापना कथं स प्रव्राजयितव्य इति तदेवोच्यते । तत्र षड्विधो कल्पो वक्तव्य इति तमभिधित्सुराह ॥

पव्वावण मुंडावण, सिक्खावणउवट्ठसंभुंजणा य संवसणा ।
एसो उ दवियकप्पो, छव्विहतो होति नायव्वो ॥

प्रव्राजना नाम यो धर्मे कथितेऽकथिते वा प्रव्रजामीत्यभ्युत्थितः प्रथमतः पृच्छ्यसे कस्त्वं कुतो वा समागतः किं निमित्तं वा प्रव्राजिष्यसि । तत्र यदा पृच्छा परिशुद्धा भवति तदा प्रव्राजयितुमभ्युपगम्यते अभ्युपगम्य च प्रशस्तेषु द्रव्यादिष्वाचार्यः स्वयमेवाग्रा (स्तोककेश) ग्रहणं करोति एतावता प्रव्राजनाद्वारम् । तदनन्तरं स्थिरहस्तेन लोचे कृते रजोहरणमर्पयित्वा तस्य सामायिकसूत्रं दीयते । ततः सामायिकं मे दत्तमिच्छामो अनुशिष्टिमिति । सूरयो ब्रुवते निस्तारपारगो भव क्षमाश्रमणगुणैर्वर्द्धस्व एषा मुण्डापना (सिक्खावणत्ति) तदनन्तरं द्विविधामपि शिक्षां ग्राह्यते तद्यथा ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां च । ग्रहणशिक्षा नाम पाठः । आसेवनाशिक्षा सामाचारीशिक्षणम् । यदा द्विविधामपि शिक्षां ग्राहितो भवति तदा स उपस्थाप्यते प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु । द्रव्यतः शालिकरणे इक्षुकरणे चैत्यवृक्षे वा । क्षेत्रतः पद्मसरसि सानुनादे चैत्यगृहे वा कालतश्चतुर्थ्यष्टम्यादिवर्जितासु तिथिषु भावतोऽनुकूले नक्षत्रे यदि तस्य जन्मनक्षत्रं जायते तदा आचार्यस्यानुकूलनक्षत्रे सुन्दरे मुहूर्त्ते यथाजातेन लिङ्गेन । तद्यथा रजोहरणेन निषिद्याद्वयोपेतमुखपोत्तिकया चोलपट्टेन च वामपार्श्वे स्थापयित्वा एकैकं महाव्रतं त्रीन् वारान् उच्चार्यते यावत् रात्रिभोजनम् । अथ ते द्वौ त्रयो बहवो वा भवेयुस्ततो यथावयोवृद्धम् अथ ते क्षत्रिया राजपुत्रास्तत्र यः स्वत एवासन्नतर आचार्यस्य स रत्नाधिकः क्रियते इतरो लघुः अथ द्वावप्युभयत पार्श्वयोः समौ व्यवस्थितौ तदा तौ द्वावपि समरत्नाधिकौ व्रतेषूच्चारितेषु प्रदक्षिणां कारयित्वा पादयोः पात्येते भण्यते च महाव्रतानि ममारोपितानि इच्छामोऽनुशिष्टिं शेषाणामपि साधूनां निवेदयामि । गुरुर्भणति । निवेदय इव च भणति निस्तारगपारगो भव क्षमाश्रमणानां च गुणैर्वर्द्धस्व एवमुपस्थापिते द्विविधसंग्रहः साधोर्यथा अहं तव आचार्योऽमुकस्ते उपाध्यायः । साध्व्यास्त्रिविधसंग्रहस्तत्र तृतीया अमुका ते प्रवर्त्तिनी एवमुपस्थाप्य केषांचित्पञ्चकल्याणकं केषांचिदभक्तार्थं केषांचिदाचाम्लं केषांचिन्निर्विकृतिकमपरेषां न किंचित् । किं बहुना यत् यस्य तपः कर्म आवलिकागतं तस्य तद्दत्वा तेन सहैकत्र मण्डल्यां सभुक्ते सवसनं च करोति । शैक्षकमध्ये परिपालना चैवं यथायावन्नोपस्थाप्यते तावन्न भिक्षां हिण्डापयितव्यः । कथं पुनरुपस्थापनीय इत्यत आह ॥

पढिएय कहिय अहिगय, परिहर उट्ठावणा य सो कप्पो ।
छक्कंतीहिं विसुद्धं, परिहरनवगेण भेएण ॥

सूत्रं प्रथमतः पाठयित्वा तदनन्तरमर्थं कथयित्वा ततोऽधिगतोऽनेनार्थः सम्यक् श्रद्धानविषयीकृतश्चेति परीक्ष्य यदा षड्भिः षड्जीवनिकायान् त्रिभिर्मनोवाक्कायैर्विशुद्धं भावतो न परानुवृत्त्या परिहरतीत्यत आह नवकभेदेन न स्वयं मनसा स्वयं परिहरति अन्यैः परिहारयति परिहरन्तमन्यं समनुजानाति । एवं वाचा कायेन प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदा द्रष्टव्याः । एष उपस्थापनायाः कल्पः बृ० १ उ० ॥ नि० चू० ॥

उपस्थापनाविधिः ।

(सूत्रम्) आयरिय उवज्झाय सरिमाणे परं चउराओ पंचराओ कप्पागं भिक्खुणो उवट्ठावइ कप्पाइं अत्थियाइं से केइ छेए वा परिहारे वा माणणिज्जे कप्पागे णत्थि याइं से केइ छेए वा परिहारे वा नत्थि याइं से केइमाणणिज्जे कप्पइ सेसंतरा छेए वा परिहारे वा ॥

आचार्य उपाध्यायो वा स्मरन् अयमुपस्थापनार्ह इति जानानः परं चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा कल्पाक सूत्रतोऽर्थतश्च प्राप्तं भिक्षुर्नोपस्थापयति । तत्र यदि तस्मिन्कल्पके सत्यस्ति

(से) तस्य कल्पाकस्य कश्चित् माननीय पिता माता भ्राता वा ज्येष्ठ स्वामी वा कल्पाको भावी पञ्चरात्रेण दशरात्रेण पञ्चदशरात्रेण वा ततो नास्ति (से) तस्य काश्चिच्छेद· परिहारो वा अत्रादेशद्वयमेके प्राहुश्चतूरात्रात् परं यद्यन्यानि चत्वारि दिनानि नोपस्थापयति तत आचार्यस्योपाध्यायस्य च प्रत्येक प्रत्येक प्रायश्चित्त चतुर्गुरुकम् । अथ ततोऽप्यन्यानि चत्वारि दिनानि लङ्घयति ततः षड्लघुकम् । ततोऽप्यन्यानि चत्वारि दिनानि तत षड्गुरुकम् । ततोऽप्यन्यानि यदि चत्वारि दिनानि ततश्चतुर्गुरुकश्छेद· । तत· परमन्यानि चत्वारि दिनानि यदि तर्हि षड्लघुक षड्लघुकश्छेद । ततोऽपि चेदन्यादि चत्वारि ततः षड्गुरुक षड्गुरुकश्छेद· । तत· परमेकैकदिवसातिक्रमे मूलानवस्थाप्यपाराञ्चितानि । द्वितीयादेशवादिन· प्राहु । पञ्चरात्रात्पर यदि नोपस्थापयति ततश्चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त ततोऽपि पर यदि पञ्च दिनानि लङ्घयति तत षड्लघुक षड्लघुकम् । तत परमपि पञ्चरात्रातिक्रमे षड्गुरुकं षड्गुरुकम् । ततोऽपि पर यदि पञ्च दिनानि वाहयति ततश्चतुर्गुरुकश्चतुर्गुरुकश्छेद । तत· परमन्यानि चेद्दिनानि पञ्च तत षड्लघुक· षड्लघुकश्छेद· । ततोऽपि पञ्चरात्रातिवाहने षड्गुरुक· षड्गुरुकश्छेदस्तत परमेकैकदिवसातिवाहने मूलानवस्थाप्यपाराञ्चितानि ॥ एष सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अधुना भाष्यनिर्युक्तिविस्तरः ।

संभुमरणउवट्ठवण, तिन्नि उवणगा हवंति उक्कोसा ।
माणणिज्जे पितादी तु, ते समतीछेदपरिहारो ॥

सस्मरणमुपस्थापनाविषये यथा एष उपस्थापयितव्यो वर्त्ततइति तत्र माननीये पित्रादौ सति कल्पाकस्यातिवाहने त्रय· पञ्च वा भवन्त्युत्कर्षत· । किमुक्त भवति । विवक्षिते त्रिकौ कल्पाके जाते सति यदि तस्य माननीयपित्रादिरुपस्थाप्योऽस्ति परमद्यापि कल्पाको नोपजायते तर्हि स जघन्यत· पञ्चरात्र प्रतीक्षाप्यते मध्यमतो दशरात्रमुत्कर्षत· पञ्चदशरात्र तथापि चेन्माननीय· कल्पाको नोपजायते तर्हि स चाकल्पाको निक्षुरुपस्थापनीयो नोचेदुपस्थापयति तर्हि छेद· परिहारो वा प्रायश्चित्तम् । अथ तस्य माननीया पित्रादयो न सन्ति ततस्तेपामसत्वभावे यदि त चतूरात्रमध्ये वा नोपस्थापयति तथापि तस्य प्रायश्चित्त छेद· परिहारो वा छेदपरिहारग्रहण सूचामात्र तेनोदेशद्वयेन प्रागुक्त· प्रायश्चित्तविधिर्द्रष्टव्य· ।

चिट्ठउ ता उट्ठवणा, पुव्वं पव्वावणादि वत्तव्वा ।
अडयालपुच्छसुद्धे, जम्मति दुक्खं खु सामन्नं ॥

तिष्ठतु तावदुपस्थापना पूर्वं प्रव्राजनादिर्वक्तव्या । तत्र यथा पञ्चकल्पे निशीथे वाष्टचत्वारिंशत्पृच्छाशुद्धोऽभिहितस्तथा अष्टचत्वारिंशत्पृच्छाशुद्धे कृते तत्समुखमिदं भण्यते । " दुष्कर खु श्रामण्य परिपालयितु " तथाहि

गोयर अचित्त–जोयण सज्झायमण्हाणभूमिसेज्जाती ।
अब्भुवगयम्मि दिक्खा, दव्वादीसुं पसत्थेसु ॥

यावज्जीव गोचरचर्यया भिक्षामटित्वा अचित्तस्यैषणादिशुद्धस्य भोजन कर्त्तव्य तदपि बालवृद्धशैक्षकादिसंविभागेन तथा चतुष्काल स्वाध्यायो विधातव्य । यावज्जीव देशत सर्वतश्चास्नान ऋतुबद्धे काले भूमौ शय्या आदिशब्दाद्वर्षारात्रे फलकादिषु शयन दिवसे न स्वप्तव्य रात्रौ तृतीये यामे निद्रामोक्ष एवमुक्ते यद्यभ्युपगच्छति तत एतस्मिन्नभ्युपगते तस्य दीक्षा प्रशस्तेषु द्रव्ये शाल्यादिसंचयादौ प्रशस्तक्षेत्रे गम्भीरसानुनादादौ प्रशस्ते भावे प्रवर्द्धमानपरिणामादौ दातव्या ।

लग्गादिं च तुरंतं, अनुकूले दिक्खिए उ अह जायं ।
सयमेव तु थिरहत्थो, गुरू जहन्नेण तिन्नट्ठा ॥

इहोत्सर्गतो लोचे कृते यथा जाते च रजोहरणादिके समर्पिते पश्चात्त्रि कृत्व· सामायिकमुच्चार्यते इत्येष विधि· । यदि पुनर्लग्नादिक त्वरमाण स्यात्ततोऽनुकूले लग्नादावादिशब्दान्मुहूर्त्तादिपरिग्रहस्त्वरमाण शीघ्र समापतति यथा ज्ञात सनिषद्य रजोहरणमुखवस्त्रिकाग्रपूररूपं दीयते । उक्तं च । " अह जाय नाम सनिसेज्ज रयहरणमुहपोत्तिया वालपज्जे य इति" ततो यदि गुरु· स्थिरहस्तो न कम्पते अथ गृह्णानस्य हस्त· तर्हि स्वयमेव जघन्येन तिस्रोऽष्ट अव्यवच्छित्वा गृह्णाति । समर्थः सर्वं वालोच करोति ॥

अन्नो वा थिरहत्थो, सामाइयतिगुणमट्ठगहणं च ।
तिगुणं पादक्खिणं, नित्थारगगुरुगए विवड्ढी ॥

आचार्यस्य स्थिरहस्तत्वाभावे अन्यो वा स्थिरहस्तः प्रमाजयति समस्त लोच करोतीति भाव । तदनन्तर गुरुः शोभने लग्नादौ प्राप्ते त्रिगुण त्रीन्वारान् सामायिकमुच्चारयति ॥ इयमत्र भावना । प्रथमतः । प्रव्राजनीयमात्मनो वामपार्श्वे स्थापयित्वा चैत्यानि तेन सह वन्दते ततः परिहितचोलपट्टस्य रजोहरण मुखवस्त्रिकां च ददाति । तदनन्तरमर्थग्रहण लोच वा कृत्वा सामायिकारोपणनिमित्त कायोत्सर्गं करोति । तत्र चतुर्विंशतिस्तव चिन्तयित्वा नमस्कारेण पारयित्वा चतुर्विंशति स्तवमाकृष्य त्रि·कृत्व· सामायिकमुच्चारयति । तदनन्तरमर्थग्रहण स कारयितव्यः । सामायिकार्थस्तस्य व्याख्यायते इति भाव । तत· सूत्रतोऽर्थतश्च गृहीत सामायिकमिति तदनुज्ञानिमित्त विधिना त्रिगुण प्रादक्षिण्य कार्यते तत्र तृतीयस्यां प्रदक्षिणायामनुज्ञा क्रियते यथा निस्तारको भव गुरुगुणैर्विवृद्धिर्भवतु वर्द्धस्वेत्यर्थ· । एव प्रव्राजनायां कृतायां यत्कर्तव्य तदाह ॥

फासुय आहारो से, अणहिंमंतो य गाहए सिक्खं ।
ताहे उ उवट्ठावणा, छज्जीवणियं तु पत्तस्स ॥

प्रव्रज्याप्रदानानन्तरं (से) तस्य प्रासुक आहारो दीयते स च भिक्षा न हिण्डाप्यते किं त्वहिण्डमान एव भिक्षां ग्रहणभिक्षामासेवनाशिक्षां च ग्राह्यते ततः षड्जीवनिकां प्राप्तस्याधिगृह्यत षड्जीवनिकाध्ययनस्य उपस्थापना क्रियते ॥

विक्षेपप्रायश्चित्तविधिमाह ॥

अप्पत्ते अकहेत्ता, अणहिगए(अ)परिच्छिए(अ)निकम्मे से ।
एक्केक्के चउगुरुगा, जेयगसुत्त तु कारणियं ॥

अप्राप्ते षड्जीवनिकां पर्याय वा जघन्यत· षण्मासानुत्कर्षतो द्वादश संवत्सराणि तथा अकथयित्वा जीवादीन् तथा अनधिगते जीवाजीवादौ तथा अपरीक्षाया परीक्षाया अभावे तथा (से) तस्य उपस्थापयितोऽतिक्रमे एकैकस्य व्रतस्य वारत्रयमनुच्चारणे एतेषु सर्वेषु प्रत्येकमेकैकस्मिन्प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुका । अथ सूत्रे पर्यायादिक नोपात्तमिति तत्कथने कथं न सूत्रविरोधस्तत्राह हेचोदक ! सूत्रमिद कारणिक पुरुषविशेषपात्रापेक्षमत पर्यायाद्यनभिधानेऽपि न दोष· । एतामेव गाथां प्राप्यस्पष्टविवृणोति ।

अप्पत्ते सुएणं परि–यागमुवट्ठावणे य चउगुरुगा ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा छण्हकायाणं ॥

श्रुतेन षड्जीवनिकापर्यन्तेनाप्राप्ते पर्याय वा जघन्यादिभेदभिन्नमप्राप्ते उपस्थाप्यमाने उपस्थापयितु प्रायश्चित्त चत्वारो

गुरुकास्तपसा कालेन च गुरवः । न केवलमेतत् किं त्वाज्ञादयो ऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषास्तथा स उपस्थापितो भिक्षादौ किन्न कल्पिको भवति । ततस्तस्य भिक्षादिमेषणे षण्णां कायानां विराधना अपरिज्ञानात् । तथा ।

सुत्तत्थमकहइत्ता, जीवाजीवे य बंधमुक्खं च ।
उवट्ठावण चउगुरुगा, विराहणा जा भणियपुव्वं ॥

सूत्रार्थे षड्जीवनिकापर्यन्तमकथयित्वा तथा जीवाजीवान् बन्धमोक्षं चाकथयित्वा एवमेवोपस्थापने क्रियमाणे उपस्थापयितुश्चत्वारो गुरुकास्तपोगुरुकं प्रायश्चित्तम् । तथा या विराधना पूर्वमनन्तरसूत्रे षण्णां जीवनिकायानामुक्ता साऽपि द्रष्टव्या । ततस्तस्मिन्निषणे समितस्य प्रायश्चित्तमुपढौकते ।

अणहिगयपुण्णपावं, उवट्ठवतस्स चउगुरू होंति ।
आणादिणो य दोसा, मालाए होइ दिट्ठंतो ॥

अनधिगतपुण्यपापं सूत्रार्थकथनेऽप्यविज्ञातपुण्यपापमुपस्थापयतः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरवः । कालगुरुका मासा भवन्ति । आज्ञादयश्चानन्तराभिहिता दोषाः । अत्र मालया दृष्टान्तो यथा स्थाणौ शूलापक्के पञ्चवर्णसुगन्धपुष्पमालामारोपयतो वटनीयतादयो दोषा एवमत्राप्यनधिगतपुण्यपापे व्रतान्यारोपयत आज्ञाद्य इति ।

उदउल्लादिपरिच्छा, अहिगयनाऊण तो व वंदंतो ।
एक्केकं तिक्खुत्तो, जो न कुणइ तस्स चउगुरुगा ॥

गोचरादिगते न उदकार्द्रादिना परीक्षा कर्त्तव्या वृषभेण तत्परीक्षानिमित्तं तेन स गोचरगतेन उदकार्द्रेण हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षा ग्राह्या तत्र यदि स वारयति निषिद्धमेतत्कथं यूयमेव भिक्षामभिगृह्णीथ ततो ज्ञायते एष परिणतसूत्रार्थोऽधिगतपुण्यपाप । एव शेषपरीक्षास्वपि भावनीयम् । तत उदकार्द्रादिपरीक्षाभिरधिगतपुण्यपापं ज्ञात्वा ततोऽनन्तरं व्रतानि गुरवो ददति । कथमित्याह । एकैकं व्रत त्रि कृत्वस्त्रीन् वारान् एव यो न करोति तस्य चत्वारो गुरुका द्वाभ्यां लघवस्तपसा कालेन च प्रायश्चित्तम् ।

अथ परीक्षामेव वैतत्येनाह-

उच्चारादि अथंडिल्ल, वोसिरठाणाइ वावि पुढवीए ।
नदिमादिदगसमीवे, सागणिनिक्खित्ततेउम्मि ॥
वियणभिधारणवाए, हरिए जह पुढविए तसेसुं च ।
एमेव गोयरगए, होइ परिच्छा उ काएहिं ॥

उच्चारादिरादिशब्दात्प्रश्रवणादिपरिग्रहः । अस्थण्डिले सचित्तपृथिवीकायात्मके व्युत्सर्जनम् । यदि वा स्थानादिस्थानमूर्ध्वस्थानमादिशब्दान्निषदनादिपरिग्रहस्तत्पृथिव्यां पृथिवीकायस्योपरि कुरुते । तथा कायविषये नद्यामुदकसमीपेऽआदिशब्दात्तडागादिपरिग्रहः । तथा नेजसि तेजस्कायविषये स निक्षिप्ताग्नौ प्रदेशे गाथायां तु निक्षिप्तशब्दस्यान्यथा पाठ प्राकृतत्वात् उच्चारादेर्व्युत्सर्जनमिति सर्वत्र संबध्यते । तथा वाते वातविषये व्यजनस्य तालवृन्तस्याभिधारणं वातोदीरणायाभिमुख्येन धारण करोति । हरिते यथा पृथिव्यां तथा वक्तव्यम् । हरितकायस्योपरि स्थानादि करोति । यदिवोच्चारादिव्युत्सर्जनमिति । त्रसेष्वपि च पृथिव्यामिव वक्तव्यं कीटिकानगराद्यतिप्रत्यासन्नमुच्चारादि स्थानादि वा करोतीति भावः । तत्र यदि वारयति तदा ज्ञायते सम्यक् परिणतोऽस्य धर्म्म इति योग्य उपस्थापनायाः । एवमेव गोचरगतेऽपि तस्मिन्कायैः पृथिव्यादिभिर्भवति परीक्षा कर्तव्या । तद्यथा सरजस्केनोदकार्द्रेण वा हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षा ग्राह्यते इत्यादि परीक्षितस्य व्रतारोपण कर्तव्यम् । तथा चाह-

दव्वादिपसत्थवया, एक्केकतिगंति उवरिमं हेट्ठा ।
दुविहा तिविहा यदि सा, आयंबिलनिव्विगइगावो ॥

द्रव्यादौ प्रशस्ते व्रतान्यारोपणीयानि एकैक व्रतं त्रिकं त्रि कृत्वा उच्चारयेत् कथमित्याह "उवरिमं हेट्ठा" अधस्तान्मूलादारभ्य यावदुपरितन पर्यन्तवर्तिसूत्रम् इदमेकमुच्चारणमेव त्रीन्वारान् दिक् निबध्यते । द्विविधां वा त्रिविधां वा तत्र साधोर्द्विविधा स्त यथा । आचार्यस्योपाध्यायस्य च प्रवृर्तिन्याश्च । तथा उत्थापनानन्तरं तप कार्यते । अजनकार्यमाचाम्ल निर्विकृतिकमित्यादि । उक्त च । "जद्दिवस उवट्ठावितो तद्दिवस किंचि आभितुट्ठो भवइ । केसिं वि आयंबिले केसिं वि निविगइयमित्यादि" ॥

संप्रति माननीयपित्रादिविषये विधिविशेषमाह-

पियपुत्तखुड्डथेरे, खुड्डगथेरेऽत्र पावमाणम्मि ।
सिक्खावणपन्नवणा, दिट्ठंतो दंडिमाईहिं ॥

द्वौ पितापुत्रौ प्रव्रजितौ (दिट्ठावपि) युगपत्प्राप्तौ तर्हि युगपदुपस्थाप्येते अथ (खुड्डत्ति) क्षुल्लकः पुत्रः सूत्रादिभिरप्राप्तः (थेरत्ति) स्थविरः सूत्रादिभिः प्राप्तस्तर्हि स्थविरस्योपस्थापना विधेया (खुड्डत्ति) यदि पुनः क्षुल्लकः सूत्रादिभिः प्राप्त स्थविरो नाद्यापि प्राप्तो भवति तर्हि तस्मिन् स्थविरे सूत्रादिकमप्राप्नुवति यावदुपस्थानादिवसः शुभः समागच्छति तावत्स्थविरस्य प्रयत्नेन शिक्षापना क्रियते । आदरेण शिष्यत इत्यर्थः । तत्र यदि उपस्थापनादिवससमय एव प्राप्तो भवति ततो द्वावपि युगपदुपस्थाप्येते । अथादरेण शिक्षमाणोऽपि न प्राप्तस्तत्र स्थविरेणानुज्ञाते क्षुल्लक उपस्थाप्यते । अथ स्थविरो न मन्यते तदा प्रज्ञापना कर्त्तव्या तस्यां च प्रज्ञापनायां क्रियमाणायां दृष्टान्तो दण्डिकाद्यभिधातव्यः । दण्डिको राजा आदिशब्दादमात्यादिपरिग्रहः स चैवम् " एगो राया रज्जपरिट्ठो स पुत्तो अन्नरायाणमो समाउमाढत्तो । सो राया पुत्तस्स तुट्ठो तं से पुत्त रज्जे ठावउमिच्छइ । किं सो पिया नाणुजाणइ एव तत्र जइ पुत्तो महव्वयरज्ज पाविति किं न मन्नसि ।

एतदेवसविशेषमाह-

थेरेण अणुण्णाए, उवट्ठनिच्छे व ठंति पंचाहं ।
ति पण मणिच्छे उवरिं, वत्थुसहावेण जाहीयं ॥

स्थविरेणानुज्ञाते उपस्थापना क्षुल्लकस्य कर्तव्या । अथ स स्थविरो दण्डिकादिभिर्दृष्टान्तैः प्रज्ञाप्यमानो नेच्छति तदा पञ्चाहं पञ्च दिवसान् यावत्तिष्ठति ततः पुनरपि प्रज्ञाप्यते तथाप्यनिच्छायां पुनरपि पञ्चाह तिष्ठति पुनः प्रज्ञाप्यते तथाप्यनिष्ठो भूयः पञ्चाहमवतिष्ठते । एव यदि त्रिपञ्चाहकालेन स्थविरः प्राप्तो भवति तदा युगपदुपस्थापनाऽत पर स्थविरेऽनिच्छत्यपि क्षुल्लक उपस्थाप्यते (वत्थुसहावेण जा हीयमिति) वस्तुनः स्वभावो वस्तुस्वभाव । अहंकारी सन् । अहं पुत्रस्यावमतरः करिष्येऽहमिति विचिन्त्य कदाचिन्निष्कामेत् गुरोः क्षुल्लकस्य चोपरि प्रद्वेष गच्छेत् । एव स्वरूपे वस्तुस्वभावे ज्ञाते त्रयाणां पञ्चाहानामुपर्यपि स क्षुल्लक प्रतीक्षाप्यते यावत्तेनाधीतमिति ॥

अथ द्वे पितापुत्रयुगले तदाऽत्र विधिः-

दो थेरे खुड्डथेरे, खुड्डगवेच्चत्थमग्गणा होइ ।
रण्णो अमच्चमाई, संजइमज्झे महादेवी ॥

द्वौ स्थविरौ सपुत्रौ समकं प्रव्रजितौ तत्र यदि द्वौ स्थविरौ प्राप्तौ न क्षुल्लकौ तत स्थविरावुपस्थाप्येते (खुड्डत्ति) अथ द्वावपि क्षुल्लकौ प्राप्तौ न स्थविरौ तदा पूर्ववत् प्रज्ञापनोत्कर्षत पञ्चदशदिवसान्यावत्कर्त्तव्या तथाप्यनिच्छायामुपेक्षा वस्तु-

स्वभाव ज्ञात्वा प्रतीक्षापणम्। (थेरे खुड्डुत्ति) द्वौ स्थविरावेकश्च क्षुल्लकः सूत्रादिभिः प्राप्तोऽत्रोपस्थापना (घोषस्थे इत्यादि) स्थविरस्यक्षुल्लकस्य च विपर्ययस्ततो भवति मार्गणा कर्तव्या सा चैव द्वौ क्षुल्लकौ प्राप्तावेकश्च स्थविरः प्राप्त एको न प्राप्तस्तत्र यो न प्राप्त स आचार्येण वृषभैर्वा प्रज्ञाप्यते प्रज्ञापितः सन् यद्यनुजानाति तदा तत्र क्षुल्लक उपस्थाप्यते। तथाप्यनिच्छायां राजदृष्टान्तेन तथैव प्रज्ञापना। अयं चात्र विशेषः। सोऽप्राप्तस्थविरो भण्यते। एष तव पुत्रः परममेधावी सूत्रादिभिः प्राप्त इत्युपस्थाप्यताम्। यदि पुनस्त्वं न मुत्कलयसि तदैतौ द्वावपि पितापुत्रौ रत्नाधिकौ न भविष्यतस्तस्माद्विसर्जय एनमात्मीयं पुत्रमेषोऽपि तावद्भवतु रत्नाधिक इति अतोऽपि परमनिच्छायामुपेक्षा वस्तुस्वभाव वा ज्ञात्वा तत्क्षुल्लकस्य प्रतीक्षापणमिति। (रत्नो य अमच्चाईत्यादि) पश्चार्द्धे राजा अमात्यश्च समकं प्रव्रजितौ समकमेव सूत्रादिभिः प्राप्तौ ततो युगपत्तौ द्वावप्युपस्थाप्येते। अथ राजा सूत्रादिभिः प्राप्तो नामात्यस्ततो राज्ञ उपस्थापना। अथामात्यः सूत्रादिभिः प्राप्तो न राजा ततो यावदुपस्थापनादिनमागच्छति तावदादरेण राजा शिक्ष्यते ततो यदि प्राप्तो भवति ततो युगपदुपस्थापना। अथ तत्रापि राजा न प्राप्तस्तदा तेनानुज्ञाते अमात्य उपस्थाप्यते। अथ नेच्छति तदा पूर्ववद्धिरुकदृष्टान्तेन राज्ञ प्रज्ञापना। तथापि चेन्नेच्छति ततः पञ्चदिवसान्यावदमात्यस्य प्रतीक्षापण तथापि चेन्न प्राप्तो भूयः प्रज्ञापना तत्राप्यनिच्छायां पुनः पञ्चदशाहमपि। तथाप्यनिच्छायामुपेक्षा वस्तुभाव वा ज्ञात्वामात्यस्य प्रतीक्षापणम्। यदि वा वक्ष्यमाणोऽत्र विशेषो यथा चामात्यस्य राज्ञा सहोक्तमेवमादिग्रहणसूचितयोः श्रेष्ठिसार्थवाहयोरपि वक्तव्यमिति। (संजइमज्के महादेवीत्ति) द्वयोर्माताढुहित्रोर्द्वयोर्माताडुहितृयुगलयोर्महादेव्यमात्योश्च सर्वमेव निरवशेष वक्तव्यम्।

संप्रति यदुक्त बोद्धव्यममग्गणा होइत्ति तद्व्याख्यानार्थमाह।

दो पत्तापियपुत्ता, एगस्स पुत्तं न उ थेरा।

गहितोवसयं वियरइ, राइणितो होउ एस वि य॥

द्वौ पितापुत्रौ प्राप्तावेकस्य तु पिता प्राप्तो न पुत्रः युगलस्य पुत्रः प्राप्तो न स्थविरः स आचार्येण वृषभेण वा प्रज्ञापनां ग्राहित स्वय वितरत्यनुजानाति तदा स क्षुल्लक उपस्थाप्यते। अथ नेच्छति तदा पूर्ववद्राजदृष्टान्तेन प्रज्ञापना अन्यच्च तौ पितापुत्रौ रत्नाधिकौ भविष्यत एषोऽपि च तव पुत्रो यदि रात्निको रत्नाधिको भवति। भवतु नाम तव ग्राम इति तथाप्यनिच्छायां पूर्ववदुपेक्षादि।

राया रायाणो वा, दोन्नि वि समपत्त दोसु पासेसु।

ईसरसेट्ठिअमच्चे, नियमघडाकुलदुए खुड्डे॥

एको राजा द्वितीयराजस्तौ समक प्रव्रजितौ अत्रापि यथा पितापुत्रयो राजामात्ययोर्वा प्रागुक्तं तथा निरवशेष वक्तव्य केवलममात्यादिके सूत्रादिभिः प्राप्ते उपस्थाप्यमाने यदि राजादिरप्रीतिं करोति दारुणस्वभावतया भूते वा किमपि पुरुषः तदा सोऽप्राप्तोऽपीतरैरमात्यादिभिः सममुपस्थाप्यते। अथवा (रायात्ति) यत्र एको राजा तत्र सोऽमात्यादीनां सर्वेषां रत्नाधिकः कर्तव्यः (रायाणोत्ति) यत्र पुनर्द्विप्रभृतयो राजान समक प्रव्रजिताः समक च सूत्रादिभिः प्राप्तास्ते समरत्नाधिका कर्तव्या इत्युपस्थाप्यमाना द्वयोः पार्श्वयोः स्थाप्यन्ते अत्रैवार्थे विशेषमाह।

समगं तु अणेगेसुं, पत्तेसुं अणभिजोगमावलिया।

एगतो दुहतो ठविया, समराइणिया जहासन्न॥

पूर्वं पितापुत्रादिसंबन्धेनासंबन्धेष्वनेकेषु राजसु समकं सूत्रादिभिः प्राप्तेष्वत एवैककालमुपस्थाप्यमानेषु (अणभिजोगत्ति) गुरुणा अन्येन वाभियोगो न कर्तव्यो यथा इतस्तिष्ठथ इतस्तिष्ठथेति किंत्वेकतः पार्श्वे द्विधा वा द्वयोः पार्श्वयोर्यथैव स्थिताः स्वस्वभावेन तेषामावलिका तथैव तिष्ठति तत्र यो यथा गुरो प्रत्यासन्नः स तथा ज्येष्ठो ये तूभयोः समश्रेण्या स्थितास्ते समरत्नाधिकाः। इदानीं पूर्वगाथापश्चार्द्धव्याख्या (ईसरेत्यादि) यथा द्विप्रभृतयो राजान उक्ता एव द्विप्रभृतयः श्रेष्ठिनो द्विप्रभृतयोऽमात्या द्विप्रभृतयो निगमावणिजः (घडात्त) गोष्ठी द्विप्रभृतयो गोष्ठ्यो यदि वा द्विप्रभृतयो गोष्ठिका यदि वा द्विप्रभृतयो महाकुला द्विकग्रहणमुपलक्षण तेन द्विप्रभृतय इति द्रष्टव्यम्। तथैव च व्याख्यातं च (खुड्डुत्ति) क्षुल्लकाः समकं प्रव्रजिता इत्यर्थः। सूत्रादिभिः प्राप्ताः समकं रत्नाधिकाः कर्तव्याः। एतेषामेव मध्ये यः पूर्व प्राप्त सपूर्वमुपस्थाप्यते इति वृद्धसम्प्रदायः।

ईसिं अणो पत्ता, वामपासम्मि होइ आवलिया।

अभिसरणम्मि य वड्ढी, ओसरणे सो व अण्णो वा॥

तेषामुपस्थाप्यमानानामावलिका गुरुर्वामपार्श्वे जगदन्तवत् ईषदवनतस्य अवनतीभूय स्थिता तव यदि ते गुरुसमीपमभितोऽभिसरन्ति तदा गच्छस्य वृद्धिर्ज्ञातव्या यथाऽन्येऽपि बहवः प्रव्रजिष्यन्तीति अथ पश्चाद्बहिरपसरन्ति तदा स उपस्थाप्यमानोऽन्यो वा उन्निष्क्रमिष्यति अपद्रविष्यति वेति ज्ञातव्यमेव निमित्तकथनम्। व्य० द्वि० ४ उ०॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णायगं वा, अणायगं वा सगं वा जे।

अपालं उवट्ठावेइ, उवट्ठावंतं वा साइज्जइ॥ ३०२॥

सूत्रार्थः पूर्ववत् अपालं उवट्ठावेंतस्स आणादी दोसा चउगुरुगं च चिट्ठउ ताव उवट्ठावणाविहिं पव्वावणाविहिं तावणातुमिच्छामि॥

नायगमनायगं वा, सावगमस्सावगं तु जे भिक्खू।

अणलमुवट्ठावेई, सो पावति आणमादीणि॥४५४॥

पच्छा मुण्डे अट्ठा, वामेसाइयं च तिक्खुत्तो।

सयमेव उ कायव्वं, सिक्खा य तहिं पयातेणं॥४५५॥

जो च उवट्ठाति पव्वज्जा एसो पुच्छिज्जति कोसि तुमं किं पव्वयसि किं च ते वेरग्ग एवं पुच्छितो जति अणलो ण भवति ता सुद्धो पव्वज्जाए कप्पणिज्जो ताहे से इमा साहुं चरिया कहिज्जति॥

गोयरमचित्तभोयण, सज्झायमण्हाणभूमिसेज्जादी।

अब्भुवगयथिरहोत्था, गुरुजहछ्मेण तिभ्मुट्ठा॥४५६॥

गोयरेति दिणे दिणे भिक्ख हिंडियव्वं जत्थ जं लब्भइ तं अचित्त घेत्तव्वं ज पि एसणादि सुद्ध आणियंपि ताव वुड्डसेहादिएहिं सह संविभागेण भोत्तव्वं निच्चं सज्झायज्झाणपुरेण होयव्व सदा अण्हाणग तु उड्डवड्ढे सया भूमिसयण वासासु फलगादिएसु सोतव्व अट्ठारससीलंगसहस्सा धारेयव्वा लोयादिया य किलेसा अणेगे कायव्वा एयं सव्व जति अब्भुवगच्छति तो पव्वावेयव्वा एसा पव्वावणिज्जपरिक्खा पव्वावणा भन्नति॥ नि०चू० ११ उ०॥

(सूत्रम्) आयरियउवज्झायअसमरमाहो परं चउरातातो

पंचरातातो कप्पागं भिक्खुं णो उवट्ठावेति कप्पाए अत्थि-याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदे वा परिहारे वा नत्थि याइ से के माणणिज्जे कप्पइ से सतराछेदे वा परिहारे वा ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं तं चेव भाणियव्व मिति वचना-देवं परिपूर्णः पाठो द्रष्टव्यः । " कप्पाए अत्थि याइ से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदेवा परिहरे वा नत्थि याइ से केइ माणणिज्जे कप्पागे से संतरा छेदे वा परिहारे वा " अस्यापि व्याख्या प्राग्वत् तत्र यैः कारणैर्न स्मरति तान्यु-पदर्शयन्नाह-

दप्पेण पमाएण व, वक्खेवणगिलाणतो वावि ।
एएहिं असमरमाणे, चउव्विहं होइ पच्छित्तं ॥

दर्प्पो निष्कारणोऽनादरस्तेन प्रथममादौ विकथादीनां प-ञ्चानां प्रथमादीनामन्यस्तेन व्याक्षेपणसीवनादिना ग्लायते एतैः कारणैरस्मरति प्रायश्चित्तमस्मरणनिमित्त चतुर्विधमस्म-रणकारणस्य दर्प्पादेश्चतुष्प्रकारत्वात् । तदेवाभिधित्सुःप्रथ-मतो दर्प्पतः प्रमादेन चाह ॥

वायामगिल्लाणादिसु, दप्पेण अणुट्ठवेंति चउगुरुगा ।
विकहादिपमाएण व, चउलहुगा होंति बोधव्वा ॥

व्यायामग्लानादिषु व्यापृततया निष्कारणोऽनादर उपस्था-पनायाः स दर्प्प उच्यते तेन दर्प्पेणानुपस्थापयति प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः विकथादिना अन्यतमेन प्रमादेनानुपस्थाप-यति चत्वारो लघुका भवन्ति बोद्धव्याः ॥

सिव्वणतुयणणसज्झाय, झाणलेवादिदाणकज्जेसु ।
विक्खेवे होइ गुरुगो, गेलण्णेणं तु मासलहू ॥

सीवनतूर्णनास्वाध्यायध्यानपात्रलेपादिदानकार्यैर्गाथायां सप्त-मी तृतीयार्थे । यो व्याक्षेपेणाऽनुपस्थापयति प्रायश्चित्तं भवति गुरुको मासो ग्लान्येन त्वनुपस्थापयति मासलघु । संप्रति यैः कारणैः स्मरतोऽस्मरतश्चानुपस्थापयतः प्रायश्चित्त न भवति । तान्यभिधित्सुराह-

धम्मकहाइड्डिमत्तो, वादो अच्चुक्कमे व गेलण्णे ।
बिइयं चरमपएसुं, दोसु पुरिमेसु तं नत्थि ।

ऋद्धिमतो राज्ञो युवराजस्यामात्यादेर्वा प्रतिदिवसमागच्छतो धर्मकथा कथ्यते परप्रवादी वा कश्चनाप्युपस्थितः स वादेन गृहीतव्यः । इति तन्निग्रहणाय विशेषतः शास्त्राभ्यासे तेन स-ह वादे वा दीयमाने यदि वा आचार्यस्यान्यस्य वा साधोर्यो वा उपस्थाप्यस्तस्य वा अत्युत्कटे ग्लानत्वे जाते व्याकुलीभवनतः स्मरन्नस्मरन्वा यद्यपि नोपस्थापयति तथापि न तस्य प्रायश्चि-त्त कारणतो व्याकुलीभवनात् । एतच्च प्रायश्चित्ताभावलक्षणं द्वितीयपदमपवादपदं चरमपदयोर्द्वयोर्व्याक्षेपग्लानत्वलक्षणयो-रवगन्तव्यम् । तथा हि धर्मकथावादाभ्यां व्याक्षेप उक्तो ग्लानत्वपदेन च ग्लानत्वमिति पुर्वयोस्तु द्वयोः पदयोस्तत् अप-वादपदं नास्ति । एतच्च चतुर्विधं प्रायश्चित्तमस्मरणनिमित्त-मुक्तं स्मरणतस्तु चतूरात्रपञ्चरात्रात्यतिक्रमे यत्प्रायश्चित्तं तत्पू-र्वसूत्रे इवात्रापि निरवशेष द्रष्टव्यम् ।

आयरियउवज्झाओ य समरमाणे वा असमरमाणे वा परं दसराय कप्पातो कप्पागभिक्खू णो उवट्ठावेति कप्पाए अ-त्थि आइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे नत्थि याइं से केइ छेदे वा परिहारे वा जाव कप्पाए संवच्छरं तस्स तप्पतियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयं वा उदिसित्तए वा

आचार्य उपाध्यायो वा स्मरन् अस्मरन्वा यदा स्मरति तदा न साधक नक्षत्रादिकं यदा तु साधक नक्षत्रादिक तदा बहुव्या-क्षेपतो न स्मरन्वापरं दशरात्रकल्पान् दशरात्रकल्पाकं भिक्षु नोपस्थापयति तत्र यदि तस्मिन्कल्पाके अस्ति (से) तस्य कल्पाकस्य कश्चिन्माननीयः पित्रादिर्जीवी कल्पाकस्ततो नो पस्थापयति । तर्हि नास्ति (से) तस्यानुपस्थापयति कश्चिच्छेदः परिहारो वा । अथ नास्ति (से) तस्य कल्पाकस्य कश्चिन्माननीयः पित्रादिर्जीवी कल्पाकस्तर्हि तस्यानुपस्थापयतश्छेदः परिहारो वा प्रथमादेश इति वाक्यशेषो द्वितीयादेशेन पुनश्छेदेन परिहारतप-सा वा दम्यमानस्य तत्प्रथममनुपस्थापनाप्रयतस्य सवत्सरं यावन्न कल्पत आचार्यत्वमुपदेष्टुमनुज्ञातु सवत्सर यावन्नोच्चि-यते इति भावः । एष सूत्रसक्षेपार्थः । व्यासार्थन्तु भाष्यकृदभि-धित्सु प्रथमतो दशरात्रनिबन्धनमाह-

समरमाणेवि पंचदिय, समरमाणे वि तेत्तिया चेव ।
कालोत्ति व समओत्ति व, अद्धाकप्पओत्ति व एगट्ठं ॥

स्मरत्यपि चउरायपंचरायातो इत्यनेन पञ्चदिनान्युक्ता-नि अस्मरत्यपि तावन्ति चैव पञ्च दिनानि चैवोक्तानि इद व स्मरणास्मरणमिश्रकसूत्रतो दशरात्रात्कल्पादित्युक्तमत्रैव क-ल्पशब्दस्तदुव्याख्यानमाह । " काल इति वा समय इति वा अद्धा इति वा कल्प इति " एकार्थं ततो दशरात्रक-ल्पादिति दशरात्रकालादिति द्रष्टव्यम् ।

सम्प्रति स्मरणास्मरण भावयति ॥

जाहे सुमरइ ताहे, असाहगं रिक्खलग्गादिणमादी ।
बहुविक्खेवम्मि य गणे, सरियं पि पुणो वि विस्सरति ॥

यदा स्मरति तदा असाधकमप्रयोजकमृक्षलग्नादि आदिशब्दात् मुहूर्त्तादिपरिग्रहः । बहुव्याक्षेपे च गणे गच्छे स्मृतमपि पुनरपि विस्मरति तत एव स्मरणास्मरणसम्भवः । अत्रैव प्रायश्चित्त-विधि सविशेषमाह ।

दसदिवसे चउगुरुगा, दसेव छल्लहुग छग्गुरू चेव ।
तत्तो छेदो मूलं, णणवट्ठप्पो य पारंची ॥

तस्मिन्नधिकृते कल्पाके जाते साति यदि स्मरणास्मरणतो दसदिवसानतिक्रमति ततस्तस्यानुपस्थापयतः प्रायश्चित्त च-त्वारो गुरुकाः ततः परमप्यन्यानि दशैव चेद दिनान्यतिक्रा-म्यति ततः षड्लघुकम् । ततः परतोऽपि दिनदशकाति-क्रमे षड्गुरुकं (ततोछेदोत्ति) ततः परमेव छेदाभिधा वक्-ष्यः । सचैव ततोऽपि परतो यद्यन्यानि दशदिनानि लङ्घयति तर्हि चतुर्गुरुकश्छेदस्ततोऽपि परतो दिनदशकातिक्रमे षड्लघु-कश्छेदः ततोऽन्यदशदिवसस्यातिवाहने पाराञ्चिको जायते ॥

एसो देसो पढमो, बितिए तवसा अदम्ममाणम्मि ।
उत्तयवल्लभुव्वले वा, संवच्छरमोदिसाहरणं ॥

यथोऽनन्तरोदित आदेशः प्रथमो द्वितीये आदेशो पुनस्त-पसा उपलक्षणमेतच्छेदेन वा अदम्यमाने यदिवा उभयबलेन कायबलेन च उपलक्षणमेतदन्यतरैकबलेन वा तपसश्छेदस्य वा दातुमशक्यतया सवत्सरं यावत् दिश आचार्यत्वस्य हरणम् ॥

एते दो आदेसा, मीसगसुत्ते हवंति नायव्वा ।
पढमबिईएसुं पुण, सुत्तेसु इमं तु नाणत्तं ॥

एतावनन्तरोदितौ द्वावप्यादेशौ मिश्रकसूत्रे भवतो ज्ञातव्यौ

यमर्द्वितीययोः पुनः सूत्रयोरिदमादेशाविषय प्रत्येक नानात्व देवाह ॥

चउरो य पंचदिवसा, चउगुरू एव होंति छेदो वि ।

ततो मूलं नवम, चरमं पि य एगसरगं तु ॥

प्रथमे द्वितीये च सूत्रे प्रत्येकमिमावादेशौ प्रथम आदेशस्तस्मिन् विवक्षिते कल्पके जाते सति यदि चतुरो दिवसातिवाहयति तदा चतुर्गुरु एव पञ्चपञ्चातिक्रमे परलघु परुके । एव छेदो ऽपि त्रिधा वक्तव्य तदनन्तर मूल नवममनस्थाप्य चरम पाराञ्चितमेकसरकमेकैकदिनातिक्रमे वक्तव्यम् । द्वितीय आदेश पञ्चदिवसातिक्रमे चतुर्गुरु एव पञ्चपञ्चातिक्रमे परलघुपरगुरुके एव छेदोऽपि पञ्चपञ्चदिनातिक्रमेण त्रेधा वक्तव्यस्ततो मूल नवम चरम च एकसरक मेकैकदिनातिक्रमेणेति भावार्थ । व्य० ४ उ० । दशा० ॥

फासुय आहारो से, अणहिंरुण च गाहए सिक्खं ।

ताहे उ उवट्ठवणं, छज्जीवणियं तु पत्तस्स ॥

अप्पत्ते अकहित्ता, अणभिगतपरिच्छअतिकमेया से ।

एक्केक्के चउगुरुगा, विसेसिया आदिमा चतुरो ॥

अप्पत्तं सुत्तेणं, परियाग उवट्ठवेंत चउगुरुगा ।

आणादिया य दोसा, विराहणा छण्ह कायाणं ॥

सुत्तत्थ कहऽत्ता, जीवाजीवे य बंधमोक्खं च ।

उवट्ठवण चउगुरुगा, विराहणा जा जणियपुव्विं ॥

अणभिगतपुन्नपावं, उवट्ठवेंतस्स चउगुरू होंति ।

आणादिणो य दोसा, मालाए होंति दिट्ठंते ॥

समरक्खदउल्लगणी, पतिट्ठिते हरितबीजमादीसु ।

होंति परिक्खागोयरे, किं परिहरतीए वा वि त्ति ॥

उच्चारादि अथंडिल, वोसिरठाणादि वावि पुढवीए ।

णदि मादिदगसमीवे, खारादिदाह अगणिम्मि वि ॥

जए अहिधारए वा ते, हरिए अहव पुढवि ते तसेसुं च ।

एमादि परिक्खित्ता, वनदाणमिमेए विहिणा सो ॥

दव्वादिपसत्थे वा, एकेक्कं तिगुणणोवरिं हेट्ठा ।

दुविहा तिविहा य दिसा, अंबिलनिव्विगतिओ वा ।

पियपुत्ताणं जुयला, दोण्हि तु निक्खंत तत्थ एगस्स ।

पत्तो यदि ताए पुत्ता, एगस्स पुत्तो ण तु थेरो ॥

ताहे तु पन्नविज्जाति, दंडियणायं तु का तु जम्मइ तु मा ।

गेण्हं अससगहीए, निम्मि उ होंति एमविता ॥

एवं सो पण्हवि तो, जति इच्छंते तो उ उट्ठवेंति तु ॥

नेच्छंते यं चाह—वेति दो तिण्हि वायणगा ।

वच्छमच्चावासज्ज व, जा धीतं ताव त परिच्छति ।

एवं रायअणच्चेसुं—जाति मज्झे महादेवी ॥

राया रायाणो वा, दोण्हि वि समपत्तदोसु पासेसु ।

ईसरसेट्ठिअमच्चे, णियमघमाकुलदुवे खुड्डे ॥

समपत्तअणेगेसुं, पत्तेसुं अणभिओगमावलिया ।

एगतो ठुहतो ठविता, समराइणिया जहा सव्वं ॥

ईसिं अन्नो पत्ता, वामे पमाम्मि होंति आवलिया ।

आसरणम्मि य वट्ठी, सरणे सो य अण्णो वा ॥

उवट्ठवियस्स एवं, संभुंजणता तहेव संवासो ।

वितियपदे संबंधी, ओमादीसु माहु पडिन्नावं ॥

भुंजीसु मए मज्झि, इयाणिं णेच्छति जोतु पहिन्नावं ।

अहिखायंति व छन्ने, पच्छन्ने जे ए भुंजंति ।

एमादिणा तु जावं, तादे अप्पत्तअहवपत्तं वा ॥

उवट्ठावेंति भुंजंति, अपरिणते चित्तरक्खट्ठा ॥ पं०भा० ॥

उवट्ठावणा कप्पो अप्पते अकवेला । गाहा जह आवासगमाइ जाव छज्जीवणियातो सुत्ते अपढिए उवट्ठावेइ चउगुरू दोहिं वि गुरू नवेण कालेण तवगुरू अंतो अट्ठमदसमदुवालसमकालगुरू गिण्हकाले अहासुत्ते पढिए अच्छे अकहिए उवहावेइ चउगुरू तवगुरू कालसहु कालसहु सीतकाले वामासु वा अह पढिए सुत्ते य अपरिच्छिओ ता मनसदहइ पुढविमाईणि चउगुरू तवलहू तवचउगुरू तवचउलहुग च भण्णइ अणुग्घाइय पउत्त्व गुरुय अणुग्घाइयं नाम छट्ठे चउत्थे आयविले व एए पारणए पुरिमड्ढनिव्वीइएगासणाइ करेइ तेण गुरुय भवइ अह पढियसुयअभिमय अपरिच्छिऊण उवहावेइ किं परिहरइ न उदओल्लादि चउगुरु दोहिं वि लहु नवसा कालेण अणुग्घाइयं पुण एवं वारमविह वि कप्पिए। पं०चू० । "उवगस्स वा उवट्ठावेज्ज वा सुत्त वा अत्थ वा उभय वा परूवेज्जा एतेसु कुलगणसघवज्जो" मह० ७ अ० । एतदेव सावयमाह—

णो उट्ठावणए च्चिअ, निअमा चरणंति दव्वओ जेण ।

मा नव्वाए विजणिआ, छउमत्यगुरूण सफला य ॥

नोपस्थापनायामेव कृतायां सत्यां नियमाच्चरणमिति कुत इत्याह । उच्यतो येन प्रकारेण सा अभव्यानामपि भणितोपस्थापना अङ्गारमर्दकादीनां छद्मस्थगुरूणांविधिकारकाणां सफला चाज्ञाराधनादिति गाथार्थ. । उपस्थापना विधिफलवत्तामाह ।

पायं च तेण विहिणा, होइ इमंति निअमो कओ सुत्ते ।

इयरा सामाइअम्मि-त्तओ वि सिद्धि गयाणं ता ॥१०॥

प्रायश्चित्तेन विधिना उपस्थापनागतेन भवत्येतच्छेदोपस्थाप्य चारित्रमिति नियम कृत सूत्रदशवैकालिकादिपाठादनन्तरमुपस्थापनाया इतरथान्यथा सामायिकमात्रतोऽप्यपहि प्राप्त्या सिद्धिं गता. अनन्ता प्राणिन इति गाथार्थ. ।

अनियममेव दर्शयति ॥

पुव्विं असंगतं पि अ, विहिणा गुरुगच्छसेवाए ।

जावमणेगेसि इमं, पच्छा गोविंदमाईणं ॥ ११ ॥

पूर्वमुपस्थापना काले असदपि चैतच्चरण विधिना गुरुगच्छादिसेवया हेतुभूतया जातमभिव्यक्तमनेकेषामिद पश्चात्गोपेन्द्रादीना गोपेन्द्रवाचककरोटकगणिप्रभृतीनामिति गाथार्थ. ॥

प्रकान्तसमर्थनायैवाह ॥

एअं च उत्तमं खलु, निव्वाणपसाहणं जिणा विंति ।

जं नाणदसणाण वि, फलमे अंवं व निद्दिट्ठं ॥१२॥

एतच्चारित्र उत्तम खलूत्तममेव निर्व्वाणप्रसाधन मोक्षसाधन जिना ब्रुवते । अत एतदुपाये यत्न कार्य इत्यैदपर्यमुत्तमत्वे युक्तिमाह । यद्यस्माज्ज्ञानदर्शनयोरपि तत्वदृष्ट्या फलमेतदेव चारित्र निर्दिष्ट तत्साधकत्वादिति गाथार्थ । पं०व० । बालस्योपस्थापना न कल्पते ॥

(सूत्रम्) णो कप्पत्ति णिग्गंथाए वा णिग्गंथीण वा खुड्डयं वा खुड्डियं वा ऊणट्ठवासजायं उवट्ठावित्तए संभुंजित्तए वा कप्पति णिग्गंथाए वा णिग्गंथीण वा खुड्डयं वा ३ सातिरेगट्ठवासजायाइं उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा ।

सूत्रस्याक्षरगमनिका न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लक वा क्षुल्लिकां वा ऊनाष्टवर्षजातानामुपस्थापयितु वा सम्भोक्तुं वा मण्डल्यां तथा कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकं वा सातिरेकाष्टवर्षजातानामुपस्थापयितु वा उपस्थाप्य मण्डल्यां सम्भोक्तु वा । अथ कस्मादूनाष्टवर्षजातस्योपस्थापनादि न कल्पते तत आह ॥

ऊणट्ठए चरित्तं, न चिट्ठए चालणी य उदगं वा ।
वालस्स य जे दोसा, भणिया आरोवणा दोसा ॥

ऊनाष्टके ऊनाष्टवर्षजाते वाले चालिन्यामुदकमिव चारित्रं न तिष्ठति । तथा ये बालस्य दोषा भणिता स्ते च बालस्योपस्थापने आरोपणायामाप्रसजति । बालस्य दोषानाह ॥

कायवयमणोजोगो, हवंति तम्हा णवट्ठिया जम्हा ।
संबंधिमणाभोगे, ओमे सहसाववादे य ॥

तस्य बालस्य कायवाङ्मनोयोगादस्मादनवस्थिता भवन्ति । तस्मान्नोपस्थापयेत तत्रैवापवादमाह । सबन्धिनमनाभोगे अवमे दुर्भिक्षे सहसाकारेण वा सभोजने अपवादे नोपस्थापयेदूनाष्टवर्षजातमपि । तत्र सबन्धिव्याख्यानार्थमाह ॥

भुंजिस्से स मए चेवं, वितीया निच्छइ संपइ ।
सो आनाहणसंबंधो, कह चिट्ठेज्ज तं विणा ॥

एष बालको मया सह भोक्ष्यते इत्येव भणित्वा नातो मण्डल्यां स च सप्रति तमाचार्यं विना भोक्तु नेच्छति स चाचार्यस्य स्नेहेन सबन्धस्ततः कथ प्रव्रज्यायां गृहीतायां सह भोजन विना तिष्ठेत् । नैवतिष्ठेदिति भावः ॥

अणुवट्ठविओ एसो, जड्यादेज्ज अपरिणया ।
तो होउ व वारिज्जइ, तो णं संभुज्जए ताहो ॥

तत्र हु निश्चितमपरिणता आवश्रुरेव यद्येषोऽनुपस्थापितो मण्डल्या संभुक्तो ततः स तदा उपस्थाप्यते तदनन्तरं संभोजनं मण्डल्यामिति ॥

अहव अणाभोगेणं, सहसाकारेण वा वि होज्ज संजुत्तो ।
ओमम्मि विमहु तत्तो, विप्परिणामं तु गच्छेज्जा ॥

अथवा अनाभोगेण सहसाकारेण वा मण्डल्यां सयुक्तो भूयात् । ततो माभूदनवस्थाप्रसङ्ग इति तमूनवर्षजातमप्युपस्थाप्य मण्डल्यां समोजयेत् । अवमे दुर्भिक्षे जातेमाविपरिणामं गच्छेदत उपस्थाप्य मण्डल्यां समोज्यते एतदेव भावयति ॥

अदिक्खियंति एवं मां, इमे पच्छन्नभोजिणो ।
परोहमिति भावेज्जा, तेणावि सह भुज्जते ॥

इमे प्रच्छन्नभोजिनो मामेघमेव दुर्भिक्षे दीक्षयन्ति । अदीक्षां कर्तुमिच्छन्ति । तेन कारणनाहं परः कृत इति स भावयेतन्त ततस्तेनापि सह सभुङ्क्ते । व्य०१०उ० ("तओ नो कप्पइ उवट्ठावित्तए तजहा पडए वाइए कीवे" व्याख्या पव्वायणा शब्दे) ' दोसा उवट्ठाविउ सियत्ती सेसदुगस्स । अणायरण जोग्गा अहवा समायार ते पुरिनयद निवारिया दोसा" वृ० ४ उ० ॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा वासगं वा जे अणलं उट्ठावेइ उठावंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

सूत्रार्थः पूर्ववत् । अणल उवट्ठावेंतस्स आणादी दोसा चउगुरुगं च । नि० चू० ११ उ० ।

अनवस्थाप्यभिक्षादेः पुनरुपस्थापना-

अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयस्स उवट्ठवित्तए अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूयं तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए इति ॥

यथास्य सूत्रस्य क. सबन्ध उच्यते ।

अट्ठस्स कारणेणं, साहम्मि य तेणमादि जइ कुज्जा ।
इह अणवट्ठे जोगो, नियमातो यावि दसमस्स ॥

साधर्मिकैः कारणेन प्रासुकेनोत्पादितो योऽर्थस्तस्य स्तैन्यमादिशब्दादन्यपरिग्रहः । यदि कुर्यात्ततः सोऽनवस्थाप्यो भवति एतदर्थख्यापनार्थमर्थजातसूत्रानन्तरमनवस्थाप्यसूत्रम् इत्येषोऽनवस्थाप्यसूत्रस्य योगः संबन्धः । पाराञ्चितसूत्रस्यापि संबन्धमाह । नवमात्प्रायश्चित्तादनवस्थाप्यादनन्तरं किल दशम पाराञ्चितनामक प्रायश्चित्त भवति ततो नवमानन्तरमपाराञ्चित्तसूत्रस्यारम्भमाह । अनेन सबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । अनवस्थाप्य भिक्षुमगृहीभूतमगृहस्थीकृत नो कल्पते यस्य समीपेऽवतिष्ठते तस्य गणावच्छेदिनो गणस्वामिन उपस्थापयितुम् । सम्प्रति पाराञ्चितसूत्रमाह ।

(सूत्रम्) पारंचियं पि भिक्खुं अगिहिभूतं नो कप्पते तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेदियस्स उवट्ठावित्तए ॥

अत्र सूत्रद्वयस्याक्षरगमनिका प्राग्वत्सम्प्रति भाष्यविस्तरः ।

अणवट्ठो पारंचिय, पुव्वं भणिया इमं तु णाणत्तं ।
गिहिभूयस्स य करणं, अकरणे गुरुगा य आणादी ॥

अनवस्थाप्यपाराञ्चितौ एतौ द्वावपि पूर्वं भणितौ इदं चात्र नानात्व गृहीभूतस्य गृहस्थरूपसदृशस्य करण यदि पुनर्गृहीभूतमकृत्वा तमुपस्थापयतितदा गृहीभूतस्याकारणे प्रायश्चित्त गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । तथा आज्ञादय. आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधना दोषाः । अन्यच्च प्रमत्त सन्तं देवता छलयेत् । गृहीभूतस्य तु छलना न भवति । तस्माद् गृहीभूत कृत्वा तमुपस्थापयेत् । गृहस्थरूपताकरणमेव भावयति ।

परनेवच्छं एगे, एहाणादिविवज्जमवरिजुगलमित्तं ।
परिसामज्झे धम्मं, सुणेज्ज तो कहण दिक्खा ॥

एके आचार्या एवं ब्रुवते स्नानविवर्ज्यं परं नेपथ्यं तस्य क्रियते । अपरे दाक्षिणात्याः पुनरेवमाहुर्वस्त्रयुगलमात्र परिधाप्यते तद्रूपमध्ये आचार्यसमीपमुपगम्य ब्रुवते भगवन् ! धर्मं श्रोतुमिच्छामि । ततः (कहणत्ति) आचार्यः धर्मं कथयति । कथिते च सति सकलजनसमक्ष ब्रूते श्रद्दधामि सम्यग्धर्ममेनमिति मां प्रव्राजयत एवमुक्ते तस्य दीक्षा लिङ्गसमर्पणानन्तरं च तत्क्षणमेवोपस्थाप्यते तत्र शिष्यः प्राह । कस्मादेष गृहस्थावस्थां प्राप्यते । सूरिराह ।

ओहावितो न कुव्वइ, पुणो वि सो तारिसं अतीयारं ।
होइ भयं सेसाणं, गिहिरूवे धम्मिया चेव ।

किं वा तस्स न दिज्जइ, गिहिलिंगं तेण भावतो लिंगं ।
अजढे वि दव्वलिंगे, सलिंगपडिसेवणावि जढं ॥

अपभ्राजितो ग्लानिमापादितः सन् पुनरपि स तादृशमतीचार न करोति । शेषाणामपि च साधूना भयमुत्पादित भवति। येन तेऽप्येव न कुर्वते । तस्माद्गृहिरूपे गृहस्थता रूपस्य धर्म्मता धर्म्मादनपेतान्याच्येत तस्यापि याच्यमानागृहस्थरूपतेति भाव (किंवेत्यादि) किं वा केन वा कारणेन तस्य न दीयते गृहिलिङ्ग दातव्यमेव तस्य गृहिलिङ्गमित्यर्थ । येन कारणेनापरित्यक्तोऽपि द्रव्यलिङ्गे स्वलिङ्गे प्रतिसेवनात् भावतो लिङ्गं विजढं परित्यक्तमिति ।

सम्प्रति सूत्रकृदेवापवादमाह ।

(सूत्रम्) अणवट्ठप्प भिक्खुं पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं वा अगिहिभूतं वा कप्पइ, तस्स गणावच्छेदितस्स उवट्ठावेत्तए जहा तस्स गणस्स पतियं सिया इति ॥

अनवस्थाप्य भिक्षुं पाराञ्चित वा भूत भिक्षु गृहीभूतमगृहीभूत वा कल्पते । तस्य गणावच्छेदिन. उपस्थापयितु कथमित्याह यथा तस्य प्रतीक प्रतिकारमुपस्थापन स्यात्तथा कल्पते नान्यथा इह यो गृहस्थीभूतः स तावदुपस्थाप्यते एवमस्यापवादविषय वा यस्त्वगृहीभूत. सोऽपवादविषयस्तस्योत्सर्गत. प्रतिषिद्धत्वात् । तत्र यैः कारणैरगृहीभूतोऽप्युपस्थाप्यते तत्र यथा नुवृत्त्यास्योऽगृहस्थीभूतोऽप्युपस्थाप्यो भवति । तथा भाव्यते इहानवस्थाप्य पराञ्चित वा कोऽपि प्रतिपन्नस्तस्य चाय कल्पो यावदनवस्थाप्य पाराञ्चित वा वहति तावद्बहि क्षेत्राद्वतिष्ठते । स च बहिर्यावत्तिष्ठति तावन्न गृहस्थ क्रियते किन्त्वागत करिष्यते । बहिश्चावतिष्ठमान. स जिनकल्पिक इव भिक्षाचर्यामलेपकृद्भक्तादिग्रहणात्मिकां करोति तस्य च तथा बहिस्तिष्ठते । यथाचार्य करोति तथा प्रतिपादयति ।

आलोयणं गवसेण, आयरिओ कुणइ सव्वकालं पि ।
उप्पण्णे कारणम्मि, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥

यस्याचार्यस्य समीपेऽनवस्थाप्यं पाराञ्चित वा प्रतिपन्न स आचार्यः सर्वकालमपि यावन्त काल तत्प्रायश्चित्त वहति तावन्त सकलमपि काल यावत्प्रतिदिवसमवलोकन करोति तत्समीप गत्वा तद्दर्शन करोतीत्यर्थ । तदनन्तर गवेषण गतोऽल्पक्लामतया तत्र दिवसे रात्रौ वेति पृच्छा करोति । उत्पन्ने पुन कारणे ग्लानत्वलक्षणे सर्वप्रयत्नेन स्वयमाचार्येण कर्तव्य भक्तपानहरणादि ॥

जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणइ प्पमाएण ।
आरोवणा उ तस्स, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा ॥

य. पुनराचार्य. केनापि प्रमादेन जनव्याक्षेपादिना उपेक्षां कुरुते न तत्समीप गत्वा तत्सरीरस्योदन्त वहति तस्य आरोपणा प्रायश्चित्तप्रदान पूर्वनिर्दिष्टा कर्त्तव्या । चत्वारो गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तमारोपयितव्यामिति भाव । यदुक्तमुत्पन्ने कारणे सर्वप्रयत्नेन कर्तव्य तद्भावयति ॥

आहरति भत्तपाणं, उव्वत्तमादियंति सो कुणति ।
सयमेव गणाहिवती, अह गिलाणो सय कुणइ ॥

अथ सोऽनवस्थाप्य पाराञ्चितो वा ग्लानोऽभवत्। ततस्तस्य गणाधिपतिराचार्य स्वयमेव भक्त पान वा हरति आनयति उद्वर्तनादिकमप्यादिशब्दात्परावर्तनोद्धरणोपदेशनादिपरिग्रह स तस्य स्वय करोति । अथ जातो ग्लानो निरोगस्तत स आचार्यं न किमपि कारयति किं तु सर्वं स्वयमेव कुरुते । अधुना यदुक्तमालोयणं गवेसणति तद्व्याख्यानार्थमाह–

उभयंपि दाऊण सपडिपुच्छं, वोढुं सरीरस्स पवट्टमाणिं ।
आसासइत्ताण तवो किलंत, तमेव खेत्तं समुवेंति थेरा ॥

स्थविरा आचार्या शिष्याणां प्रतीच्छकानां च उभयमपि सूत्रमर्थं चेत्यर्थः किं विशिष्टमित्याह । स प्रतिपृच्छं पृच्छा प्रश्न. तस्याः प्रतिवचन प्रतिपृच्छा प्रत्युक्तौ प्रतिशब्दः सह प्रतिपृच्छा यस्य तत् सप्रतिपृच्छं सूत्रविपये च यद्येन पृष्टं तत्र प्रतिवचन चेत्यर्थ. दत्वा तत्सकाशमुपगम्य तस्य शरीरस्य वर्तमानमुदन्त वहति अल्पक्लामतां पृच्छतीति भाव । सोऽपि चाचार्यं समागत मस्तकेन वन्दे इति फेटावन्दनकेन वन्दते शरीरस्य वोदन्त मूर्ध्ना यदि तपसा क्लाम्यति तत आश्वासयति आश्वास्य च तदेव क्षेत्र यत्र गच्छोऽवतिष्ठते तत्समुपगच्छन्ति। कदाचिन्न गच्छेयुरपि तत्रेमानि कारणानि॥

गेलण्णेण वि पुट्ठो, अभिणवमुक्को ततो व रोगत्तो ।
कालम्मि दुब्बले वा, कज्जे अण्णेवबाघातो ॥

इहैकस्यापि कदाचिदेकवचनं सर्वस्यापि वस्तुन एकानेकरूपताख्यापनार्थमित्यदुष्टम्। अथवा काले दुर्बले न विद्यते बल गमने यस्मिन् गाढतप समवादिना दुर्बलो ज्येष्ठाषाढादिको दु.शब्दो भाववाची तस्मिन्न गच्छेत् शरीरक्लेशसंभवात् "कज्जे अन्नेव वा घातो इति" अत्र सप्तमी तृतीयार्थे प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः । अन्येन वा कार्येण राज्ञा प्रद्वेपतो निर्विपयत्वाज्ञापनादिना व्याघातो भवेत्ततो न गच्छेदिति । आगमने चोपाध्याय प्रेपणीयो योऽन्यो वा तथा चाह ॥

पेसेइ उवज्झायं, अंग नीयं च जो तहिं जोग्गो ।
पुट्ठो व अपुट्ठो वा, तहा वि दीवेति तं कज्जं ॥

पूर्वोक्तकारणवशात स्वयमाचार्यस्य गमनाभावे उपाध्याय तदभावे ऽन्यो वा गीतार्थस्तत्र योग्यस्त प्रेपयति । स च तत्र गत सन् तेन पाराञ्चिनेन किमित्यद्य क्षमाश्रमणा नायाता इति पृष्टो वा अथवा न पृष्टस्तथाऽपि तत्कारण कार्यकारणं दीपयेत् । तथा अमुकेन कारणेन क्षमाश्रमणानामनागमन पृष्टेनापृष्टेन वा दीपित तदा न किमप्यन्यस्तेन वा पाराञ्चितादि तावद्वक्तव्यं किं गुर्वादेश पयोजान्यां यथोदित. सपादनीय । अथ राज्ञा प्रद्वेपतो निर्विपयत्वाज्ञापनादिना व्याघातो दीपितस्तत्र यदि ते उपाध्याया अन्ये वा गीतार्थास्तस्य शक्तिं स्वयमवबुध्यन्ते ततो जानन्त. स्वयमेव तस्य महत्त्व ब्रुवते । यथा अस्मिन्प्रयोजने त्व योग्य इति क्रियतामुधम । अथ न जानते तस्य शक्तिं ततः स एव तान् अजानानान् ब्रूते । यथा अस्ति ममात्र विपय इति । एतच्च स्वयमुपाध्यायादिभिर्वा भणितो वक्ति ।

अत्थ उ महाणुभागो, जहासुहं गुणसयागरो संघो ।
गुरुगं पि इमं कज्जं, मं पप्प भविस्सए लहुयं ॥

तिष्ठत यथासुख महान् अनुभागोऽचि कृतप्रयोजनानुकूला अचिन्त्या शक्तिर्यस्य स तथा गुणशतानामनेकेषां गुणानामाकरो निधानं गुणशताकर सङ्घ यत इद गुरुकमपि कार्यं मां प्राप्य लघुक भविष्यति । समर्थोऽहमस्य प्रयोजनस्य लीलयाऽपि साधने इति भाव । एवमुक्ते सोऽनुज्ञात सन् यत्करोति तदाह ॥

अज्झिहाणहेउकुसलो, बहूसु नीराजितो वि उमज्झासु ।
गंतूण रायभवणा, भणाति त रायदारिंदं ॥

अभिधानहेतुकुशल इति अभिधानेषु शब्देषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो दक्षोऽभिधानहेतुकुशलः शब्दमार्गे चातीव क्षुण्ण इत्यर्थः । अत एव बहुषु विद्वत्सभासु नीराजितो निर्वर्तितः इत्थभूतः सन् राजभवनं गत्वा तं राजद्वारस्थ प्रतीहारं भणति किं भणतीत्यत आह ॥

पडिहाररूवी भण रायरूविं, तहडुए संजयरूवि दट्टुं ।
निवेदइत्ता य स पत्थिवस्स, ओविट्ठए जत्थ तयं पवेसे ॥

हे प्रतीहाररूपिन् मध्ये गत्वा राजरूपिणं राजानुकारिणं भण ब्रूहि यथा त्वां संयतरूपी द्रष्टुमिच्छति । एवमुक्तः सन् प्रतीहारस्तथैवास्य निवेदयति । निवेद्य च राजानुमत्या यत्र नृपोऽवतिष्ठते तत्र तक साधु प्रवेशयति ॥

तं पूयइत्ताण सुहासणत्थं, पुच्छिंसु एगागय कोउ हल्लो ।
पण्हे उराले असुए कयाइ, सवा त्रिआरुक्खइ पत्थिवस्स ॥

त साधुं प्रतिष्ठमान राजा पूजयित्वा शुभासनस्थ शुभे आसने निषण्णमागतकुतूहल समुत्पन्नकुतूहलोऽप्राक्षीत् कानित्याह । प्रश्नान् उदारान् गम्भीरार्थान् कदाचिदप्यश्रुतान् । प्रतीहाररूपिन् तथा त्वमपि यादृशश्चक्री चक्रवर्त्ती तादृशो न भवसि रत्नाद्यभावाद् (अत्रान्तरे चक्रवर्तिसमृद्धिराख्यातव्या) किं तु प्रतापशौर्यन्यायानुपालनादिना तत्प्रतिरूपोऽस्ति तत उक्त राजरूपिणं ब्रूहि चक्रवर्तिप्रतिरूपमित्यर्थः । एवमुक्ते राजा प्राह त्व कथं श्रमणानां प्रतिरूपी तत आह ॥

समणाणं पडिरूवी, जं पुच्छसि वा य तं कहमहंति ।
निरईयाए समणा, न तहा हं तेण पडिरूवं ॥

यत्त्व राजन्पृच्छसि । अथ कथं त्वं श्रमणानां प्रतीरूपी तद्ह कथयामि यथा श्रमणा भगवन्तो निरतिचारा न तथाहं ततः श्रमणानां प्रतिरूपी नतु साक्षाच्छ्रमण इति । प्रतिरूपत्वमेव भावयति ।

निज्जूढोमि नरेसर, खेत्ते वि जईण अत्थिओ न लभे ।
अतियारस्स विसोही, पकरेमि पमायमूलस्स ॥

हेनरेश्वर ! पृथिवीपते प्रमादमूलस्यातिचारस्य संप्रति विशोधिं करोमि । तां च कुर्वन् निर्यूढोस्मि निष्काशितोऽस्मि तत आस्तामन्यक्षेत्रेऽपि यतीनामह स्थातु न लभे ततः श्रमणप्रतिरूप्यहमिति । राजा प्राह । कस्त्वया कृतोऽतीचार । का च तस्य विशोधिरेव पृष्टे यत्कर्त्तव्यं तदाह ।

कहणाउट्टण आगमण-पुच्छणं दीवणा य कज्जस्स ।
वीसज्जियंति य मया, हासुस्सितो भणइ राया ॥

कथन राज्ञा पृष्टस्य सर्वस्याप्यर्थस्य प्रवचनप्रभावना भवति । तत आवर्त्तनमाकम्पनं राज्ञो भक्तीभवनमिति भावः । तदनन्तरमागमनप्रच्छनमागमनकारणस्य प्रश्नः केन प्रयोजनेन यूयमत्रागता स्थ । अत्रान्तरे येन कार्येण समागतस्तस्य दीपना प्रकाशना ततो राजा हासोत्कलितोऽतिहासेन उत्सृतो हृष्टोच्छ्वास स्मितो हसितमुखः प्रहृष्टश्च सन्नित्यर्थः । भणनि यथा मया विसर्जित मुत्कलितमिति । अथ किं तत्कार्यं यस्य राज्ञो मुत्कलनं कृतमित्यत आह ।

वायपरायणकुवितो, चेइयतद्दव्वसंजतीगहणे ।
पुव्ववावणचउण्ह वि, कज्जाण हवेज्ज अन्नयरं ॥

वादे पराजयेन कुपित स्यात् । अथवा चैत्यं जिनायतनं किमपि तेनावष्टब्ध स्यात् । ततस्तस्मान्मोचनात्तुष्टो भवति । यदि वा तद्द्रव्यस्य चैत्यद्रव्यस्य ग्रहणेऽथवा संयत्या ग्रहणे ततः पूर्वोक्तानां कल्पाध्ययनोक्तानां चतुर्णां निर्विषयत्वाज्ञापनादीनामकार्याणामन्यतरत्कार्यं भवेत् ॥

संघो न लहति कज्जं, लद्धं कज्जं महाणुभागेण ।
तुज्झं तु विसज्जेमी, सो वि य संघोत्ति पूएइ ॥

निर्विषयत्वाज्ञापनमुत्कलनादिलक्षणं कार्यं संघो न लभते किं तेनावस्थाप्येन पाराञ्चितेन वा महानुभागेन लब्ध न च स एव कार्यलाभेऽपि गर्वमुद्वहति यत आह तुज्झ तु इत्यादि । राजा प्राह । युष्माकं तु निश्चितं प्रभावेनाहं पूर्वग्राहं विसृजामि नान्यथा । सोऽपि च ब्रूते । राजन् कोऽहं कियन्मात्रो वा गरीयान् संघो भट्टारकस्तत्प्रभावादहं किंचिद्घसात्सघमाहूय क्षमयित्वा च यूयमेवं व्रूथ मुत्कलित मया युष्माकमिति संघ पूजयति । तत किमित्याह ॥

अन्नत्थितो व रण्णा, सयं च संघो विसज्जयति ।
आदीमज्झवसाणे, स वा त्रिदेसो सुओ होइ ॥

अभ्यर्थितो वा राज्ञा संघो यदि वा स्वतुष्टः संघो विसर्जयति । किमुक्तं भवति । यद्गृहीतं शेषं सर्वं प्रसादेन मुक्तं सोऽग्रहस्थीभूत एवोपस्थाप्यते इति । एतदेवाह सचापि दोषो पुनः प्रकम्पितः प्रसादेन स्फोटित इत्यर्थः । आदौ मध्ये अवसाने वा भवति । राजानुवृत्तिद्वार गतम् ।

इदानीं प्रद्विष्टस्वगणद्वारमाह ॥

सगणो य पउट्ठो से, आवण्णो तं च कारणं नत्थि ।
एएहिं कारणेहि य, गिहिभूते उवट्टवणा ॥

(से) तस्याचार्यस्य स्वगणप्रसिद्ध सन् ब्रूते । यथाऽमुकेन कारणेनैष पाराञ्चितप्रतिपत्त्या गृहीभूतत्वमापन्न इति तच्च कारणं तस्याचार्यस्य नास्ति । एताभ्यां स्वगणप्रद्वेषकारणाभावलक्षणाभ्यामगृहीभूते अगृहस्थीभूतस्य उपस्थापना क्रियते एव गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थस्त्वयम् । एगा तरुणी बहुसुयणं वेत्तु पव्वइया । अन्नया ताए सजतीए आयरितो उ भासिओ । आयरिएणं नेच्छिया । ताहे सा पदोसमावन्ना आयरियस्स तोसिं संजए पव्वयाणं कहे इमं एस आयरिओ उवसग्गेइ । ताहे ते सजतीए नियल्लगा पव्वइया आयरियस्स पउट्ठा भणंति । एस आयरिओ पारंचिए गिहिभूतो आभवइ । ततो आयरिओ अन्न गण गतु सव्व जहट्ठिय परिकहेइ त वावन्नं असत्थ कुणह गिहियंति तवेति । ते नाऊण पउट्ठे माहोहितित । ते मिगस्स तरउत्ति मिच्छिच्छा मा सफला हांहिति तोसितो अगिहिभूतो " काचित् व्रतिनी बहुस्वजना न् भासने या वा न प्रतिसिद्धा सती (क्षोभगमिति) अभ्याख्यानं दद्यात्कालत्रयेऽपि ससमीति दत्तवती तथाभ्याख्यान सपादित प्रायश्चित्तमन्यत्र गणे स आचार्यो वहति चेत् सयतीस्वजनाः प्रद्विष्टा ब्रुवते । कुरुतैनमाचार्यं गृहिक गृहस्थीभूतमिति । ते वरणान्तरस्थविरास्तान्प्रद्विष्टान् ज्ञात्वा मा तेषा गम्यतरः पश्चाद्भूदिति तेऽपि कैतवेन क्षेत्राद्बहिस्तत्समीपे स्थितां तथा मा तेषां मिथ्यारूपा इच्छा सफला भवेदिति सोऽगृहीभूत एवोपस्थाप्यते । गत स्वगणप्रद्विष्टद्वारम् ।

अधुना परमोचापनद्वारमाह ॥

सोऊण लिंगकरणं, अणुरागेण भणंति अगियत्थो ।
मा गीयं कुणह गुरुं, अह कुणह इमं निसामेह ॥
विद्धंसामो अम्हे, एवं ओहावणं जतं गुरुणं ।
एएहिं कारणेहिं, अगिहिभूतं उवट्ठवणा ॥

"एगो बहुसिस्सो आयरिओ पमिसेवणाए गिहिभूतसमावण्णो सो अघ गण्णगतु आलोएइ। तेहिं गिहिभूतो कज्जिनमाढत्तो। ततो तस्स सीसा भणति मा अम्ह गुरु गिहिभूयं कुणह। जइ पुण अम्हं गुरूणमेवं उहावणा कीरइ ततो अम्हे सव्वे निक्खमिस्सामो। ततो तेसिं अप्पत्तियं माहोतीति। अगिहिभूतो चेव सो उवठाविज्जइ" अक्षरगमनिका आचार्यस्य गृहिलिङ्गकरण श्रुत्वा तस्य शिष्या अगीतार्था अनुरागेण भणन्ति। मागृहिकमस्मदीय गुरु कुरुत। अथ करिष्यथ तत इद निशामयत आकर्णयत एवमपभ्राजना यदि गुरूणां ततो वय (विद्मसामोत्ति) उत्निष्क्रमिष्यामः एतेन खल्वनन्तरगादितेन कारणेन अगृहीभूतस्य तस्योपस्थापना। गत परमोचापनद्वारम्—

इदानीं मिथ्या गणद्वयविवादे इति द्वारमाह ॥

अएणोण्णेसु गणेसुं, वहंति तेसिं गुरू अगीयाणं।
ते विंति अप्पमप्पं, किह काहिह अम्ह थेरत्ति ॥

द्वौ गणौ तयोश्च द्वयोरपि गणयोः साधवो गीतार्थास्तेषां च गुरू स्थापनार्ह प्रायश्चित्तस्थानमापन्नौ। नवरमेकोऽगृहीभूतोपस्थापनार्हस्तो च परस्पर गणयो प्रतिपन्नेते। तद्यथा एकोऽपरस्मिन् एवमन्योऽन्यस्य गणयोस्तेषामगीतार्थानां गुरू प्रायश्चित्त वहतस्ते गणा परस्पर ब्रुवते कथमस्माक स्थविरान् करिष्यथ किंगृहीभूतानगृहीभूताद्वा तत्र यो गृहीभूतोपस्थापनार्हप्राप्तस्तद्गणान् प्रतीते ब्रुवते। गृहीभूत करिष्याम ॥

गिहिभूतोत्ति य वित्ते, अम्हेवि करोत तुब्भ गिहिभूतं।
अगिहिहोभिवि मए, भणति थेरा इमं दो वि ॥
नवि तुब्भेगो अम्हे, अगिहितया मह विणिच्छेसु।
इच्छा सपूरिज्जइ, गणपत्तियकारगेहिं तु ॥

गृहीभूतान् करिष्याम इत्युक्ते इतरे वदन्ति वयमपि तवाचार्य गृहीभूत करिष्याम तत्रैव परस्पर विवादे तान् द्वयानपि मुगान् अगीतार्थान् भणन्ति। द्वावप्यगृहीभूतौ वयमुपस्थापयिष्याम। इतरै च द्वावप्याचार्याविद भूत न वयमगृहीभूता द्यास्याम तस्मादगृहीभूता क्रियामहे इति एव यद्यप्यगृहीभूतोपस्थापना ते नेच्छन्ति तथापि तेषु तथा अनिच्छत्स्वपि गणप्रीतिकारकैर्महद्भि स्थविरै सद्भिस्तेषां द्वयानामपि गणसाधूनामिच्छा पूर्यते द्वावप्यप्रीतिपरिहारार्थ गृहस्थीभूतावुपस्थाप्येतेइत्यर्थ। व्य० प्र० २ उ०। येषु स्थानेष्वपराधपदेषु पूर्वचरमाणा साधूनामुपस्थापना भवति तानि निरूपयितुमाह ॥

सा जेसि उवट्ठवणा, जेहिट्ठाणेहिं पुरिमचरिमाणं।
पंचायामे धम्मे, आदेसतिगं च मे सुणसु ॥

सा उपस्थापना येषा भवति ते वक्तव्या येषु वा स्थानेष्वपराधपदेषु पूर्वचरमाणा साधूनां पञ्च यामे धर्मे स्थितानामुपस्थापना भवति तान्यपि वक्तव्यानि तत्र येषामुपस्थापना ते तावदभिधीयन्ते तत्रादेशत्रय दश वा षड् वा चत्वारो वा उपस्थापनायामर्हा भवन्ति। तथा आदेशत्रिकं मे इति मया यथाक्रम वक्ष्यमाण शृणु।

तओ पारंचिया वुत्ता, अणवट्ठा य तिण्णि उ।
दंसणम्मि य वतम्मि, चरित्तम्मि य केवले ॥ १ ॥
अदुवा वि य चक्किचे, जीवकाए समारभे।
सेहे दसमे वुत्ते, जस्स उवट्ठावणा भणिया ॥ २ ॥

ये चतुर्थोद्देशके त्रयो दुष्टप्रमत्तान्योऽन्यकुर्वाणाख्या पाराञ्चिका उक्ता ३ ये च त्रय साधर्मिकान्यधार्मिकान्यकारिहस्तताडरूपा अनवस्थाप्याः ६ येन च दर्शनं सम्यक्त्वं केवलं संपूर्णमपि वान्तं ७ येन चारित्रं केवलं संपूर्णं मूलगुणविराधनया वान्तं ८ अथवा यस्त्यक्तकृत्य परित्यक्तसकलसंयमव्यापार आकुट्टिकया कर्षेण चाजीविकावान् पृथिवीकायादीन् समारभेत ९ यश्च शैक्षोऽभिनवदीक्षित स दशमः १० उक्त। एतद्दशक मन्तव्य यस्य उपस्थापना प्रथमचरमतीर्थकरै भणिता। द्वितीयादेशमाह ॥

जे य पारंचिया वुत्ता, अणवट्ठप्पा य जे विऊ।
दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले ॥ १ ॥
अदुवा वि य चक्किचे, जीवकाए समारभे।
सेहे छट्ठे मे वुत्ते, जस्स उवट्ठावणा भणिया ॥ २ ॥

ये च दर्शन पाराञ्चिकाः सामान्यत उक्ता ३ ये च विद्वांसोऽनवस्थाप्या ४ येन च दर्शन केवलं वान्तं ५ येन चारित्रं केवल वान्तम् अथवा यस्त्यक्तकृत्यो जीवकायान् समारभते यश्च शैक्षा षष्ठः ६ एते षट्क प्रतिपत्तव्यम्। यस्य उपस्थापना द्वितीयादेशे भणिता। तृतीयादेशमाह ॥

दंसणम्मि य वंतम्मि, चरित्तम्मि य केवले।
वियत्तकिच्चे सेहे य, उवट्ठप्पा य आहिया ॥

दर्शने केवलं शेषे वान्ते यो वर्तते। यो वा चारित्रे केवलं वान्ते पाराञ्चिकानवस्थाप्ययोरत्रैवान्तर्भावो विवक्षितो यश्च त्यक्तकृत्यः षट्कायविराधक यश्च शैक्ष एते चत्वार उपस्थाप्या उपस्थापनायोग्या आख्याताः। अथ तेषां मध्ये उपस्थापनीयो भवतीति चिन्तायामिदमाह ॥

केवलगहणकसिणं, जति वमती दंसणं चरित्तं वा।
तो तस्स उवट्ठवणा, दोसे वतम्मि भयणा तु ॥

दर्शनचारित्रपदयोर्यत्केवल ग्रहण कृत तत इदं ज्ञाप्यते यदि कृत्स्न निःशेषमपि दर्शन चारित्रं वा वमति ततस्तस्योपस्थापना भवति देशे देशत पुनर्दर्शनचारित्रे वा वान्ते भजना उपस्थापना भवेद्वा न वा। भजनामेव भावयति ॥

एमेव य किंचि पदं, सुयं व असुयं व अप्पदोसेणं।
अविकोवितो कहिंतो, चोदिय आउट्टसुद्धे तु ॥

एवमेवाविमृश्य किञ्चिज्जीवादिक सूत्रार्थविषय वा पदं श्रुत वा अश्रुत वा अल्पदोषेण कदाग्रहाभिनिवेशादिदोषाभावे अकोविदोऽगीतार्थ कस्यापि पुरतो अन्यद्वा कथयन् आचार्यादिनामैव वितथप्ररूपणां कार्षीरिति चोदितः सन् यदि सम्यगावर्तते तदा स मिथ्यादुष्कृतप्रदानमात्रेणैव शुद्ध इति। तच्च दर्शनमनाभोगेनाभोगेन वा वान्त स्यात् ॥

तत्रानाभोगेन वान्ते विधिमाह—

अणाभोएण मिच्छत्त, सम्मत्तं पुणरागते।
तमेव तस्स पच्छित्तं, जं सम्मं पडिवज्जई ॥

एक श्राद्धो निह्नवान् साधुवेषधारिणो दृष्ट्वा यथोक्तकारिणः साधव एते इति बुद्ध्वा तेषां सकाशे प्रव्रजित स चापरै साधुभिर्भणित किमेव निह्नवानां सकाशे प्रव्रजित स प्राह नाहमागमविशेषज्ञानवान् तत स मिथ्यादुष्कृत कृत्वा शुद्धदर्शनिना समीपे उपसपन्न एवमनाभोगेन दर्शन वमित्वा मिथ्यात्वं गत्वा सम्यक्त्व पुनरागतस्य तदेव प्रायश्चित्त यदसौ सम्यक् मार्गं प्रतिपद्यते स एव च तस्य व्रतपर्यायो न भूय उपस्थापना कर्त्तव्या ॥

आभोगेन वान्ते पुनरय विधि—

आभोगेण य मिच्छत्त, सम्मत्त पुणरागते।

जिणथेराण आणाए, मूलच्छेज्जं तु कारए ॥

यः पुनराभोगेन निह्नवा एते इति जानन्नपि मिथ्यात्वं सङ्क्रान्त इति शेषः निह्नवानामन्तिके प्रव्रजित इत्यर्थः स च सम्यक् अन्येन प्रज्ञापितः सन् पुनर्भूयोऽपि यथागतस्थानं तं जिनस्थविराणां तीर्थकरगणभृतामाज्ञया मूलच्छेद्यं प्रायश्चित्तं कारयेत् । मूलत एवोपस्थापनां तपः कुर्यादिति । एवं दर्शने देशतो वान्ते उपस्थापना भजना भाजिता । सम्प्रति चारित्रे देशतो वान्ते तामेव भावयति ॥

छण्हं जीवणिकायाणं, अणप्पज्झो विराहओ ।

आलोइय पडिक्कंते, सुद्धो हवति संजओ ॥

षण्णां जीवनिकायानां (अणप्पज्झोत्ति) अनात्मवशः दिप्तचित्तादिर्यदि विराधको भवति तत आलोचितप्रतिक्रान्तो-गुरूणामालोच्य प्रदत्तमिथ्यादुष्कृतः स यतः शुद्धो भवति ॥

छण्हं जीवनिकायाणं, अप्पज्झो अविराहतो ।

आलोइय पडिक्कंतो, मूलछेज्जं तु कारए ॥

षण्णां जीवनिकायानां (अप्पज्झोत्ति) स्ववशो यदि दर्पेणाकुट्टिकया वा विराधको भवति तत आलोचितप्रतिक्रान्त त मूलच्छेद्यं प्रायश्चित्तं कारयेत् वा शब्दोपादानाद्यदि तपोऽर्ह-प्रायश्चित्तमापन्नस्ततस्तपोऽर्हमेव दद्यात् तत्रापि यन्मासलघु-कादिमापन्नस्तदेव दद्यात् । अथ हीनादिकं ददाति ततो दोषा-भवन्तीति दर्शयति ॥

जं जोउ समावन्नो, जं पाउग्गं व जस्स वत्थुस्स ।

तं तस्स उ दायव्वं, असरिसदाणे इमे दोसा ॥

यत्तपोर्हं छेदार्हं वा प्रायश्चित्तं य. समापन्नो यस्य वा वस्तुन आचार्यादेरसहिष्णुप्रभृतेर्वा यत्प्रायश्चित्तं प्रायोग्यमुचितं त-त्तस्य दातव्यं यदसदृशमनुचितं ददाति तत इमे दोषाः ॥

अप्पच्छित्ते पच्छित्तं, पच्छित्ते अति .त्तया ।

धम्मस्सासायणा तिव्वा, मग्गस्स य विराहणा ॥

अप्रायश्चित्ते अनापद्यमानेऽपि प्रायश्चित्ते य· प्रायश्चित्तं ददाति प्राप्ते च प्रायश्चित्ते योऽतिमात्रमतिरिक्तप्रमाणं प्रायश्चित्तं द-दाति स धर्मस्य तीव्रामाशातनां करोति मार्गस्य मुक्तिपथस्य सम्यग्दर्शनादेर्विराधनां करोति । किंच ॥

उस्सुत्तं ववहरंतो, कम्मं बंधति चिक्कणं ।

संसारं च पवड्ढंति, मोहणिज्जं च कुव्वती ॥

उत्सूत्रं सूत्रोत्तीर्णं रागद्वेषादिना व्यवहरन् प्रायश्चित्तं प्रयच्छन् चिक्कणं गाढतरं कर्म बध्नाति । संसारं च प्रवर्द्धयति । प्रकर्षेण वृद्धिमन्तं करोति । मोहनीयं च मिथ्यात्वमोहादिरूपं करोति इदमेव सविशेषमाह ॥

उम्मग्गदेसणाए, मग्गविप्पडिवातए ।

परं मोहेण रंजंतो, महामोहं पकुव्वइ ॥

उन्मार्गदेशनया च सूत्रोत्तीर्णप्रायश्चित्तादिमार्गप्ररूपणया मार्गं सम्यग्दर्शनादिरूपं विविधैः प्रकारैः प्रतिपातयति व्यव-च्छेदं प्रापयति तत एव परमपि मोहेन रञ्जयन्महामोहं प्रक-रोति तथा च त्रिंशतिमहामोहस्थानेषु पठ्यते " नेया अयस्स मग्गस्स, अवगारम्मि वट्टइ " यत एवमतो न हीनाधिकप्राय-श्चित्तं दातव्यमिति ॥ वृ० ६ उ० ॥

उवट्ठ (ट्ठा) वणाकप्पिय-उपस्थापनाकल्पिक-पुं० उपस्थाप-नाविषये, कल्पिके वृ० १ उ० (यथा स तथा दर्शितमनन्तर मेव ' उवट्ठवणा ' शब्दे)

उवट्ठ (ट्ठा) वणागहण-उपस्थापनाग्रहण-न० उपस्थापना-यां, हस्तिदन्तोन्नताकारहस्तादिभी रजोहरणादिग्रहणे,वृ० ३उ०।

उवट्ठ (ट्ठा) वणायरिय-उपस्थापनाचार्य- पुं० उपस्थाप-नया आचार्यः । आचार्यभेदे, स्था० ४ठा० ३ उ० ॥

उवट्ठ (ट्ठा) वणारिह-उपस्थापनार्ह- पुं०प्रवार्यपरिज्ञानादि-गुणयुक्ते व्रतारोपणयोग्ये, । "पढिय कहिय अहिगय परिहरउ-वट्ठावणाइ ओगोत्ति । छक्कंतीहिं विसुद्ध, परिहरणववण भेदेण॥ परूपासाउरमादी, दिट्ठंता होंति वयसामा । कहणे अह मलिणा-इसु, दोसा सुद्धाइ सुणेव मिहइं पीत्यादि, एतांसि छेसुद्देसेण सीसहियट्ठयाए अत्थो भन्नइ पढियाए सत्यपरिन्नाए दस कालिए छज्जीवणिकाए या कहियाए अत्थओ अभिगयाए सम्मं परिक्खिऊण परिहरइ छज्जीवनियाए मणवयणकाएहिं कयका रियाणुमतिभेदेण तओ ठाविज्जइ ण अन्नहा इमे य इत्यपनार्थ। दिट्ठंता मरुओ पत्तं ण रंगिज्जइ सोहि उ रंगिज्जइ असोहिए मूल पासाओ ण किज्जइ सोहिए किवमणाईहिं असोहिए आउरे उसहं न दिज्जइ सोहिए दिज्जइ असउविए रयणे पडिबंधो न कज्जइ सउए किज्जति एवं पढिय कहियाईहिं असोहिए सीसो-ण वयारोवणं कज्जइ सोहिए कज्जइ असोहिए य करणे गुरुणो दोसो सोगहया पालणे सीसस्स दोसोत्ति " । द० ४अ० ॥

उवट्ठ (ट्ठा) वणीय-उपस्थापनीय-त्रि०आरोपणीये, स्था० २ठा० ।

उवट्ठ (ट्ठा) वि (वे) त्तए-उपस्थापयितुम्- अव्य० महाव्रतेषु व्यवस्थापयितुमित्यर्थे, वृ० ४ उ० । स्था० ॥

उवट्ठाण-उपस्थान-न० उप-स्था-ल्युट्-उपेत्य स्थितौ, परलोक-क्रियास्वभ्युपगमे, भ० १ श० ३ उ० । प्रत्यासत्तिगमने, नि० । प्रतस्थापने, " वीयाए छेय तइयाए उवट्ठाणं अविहीए वेर-याइं पदेसा " महा० ७ अ० ॥

उवट्ठाणकिरिया-उपस्थानक्रिया-स्त्री०वसतिदोषभेदे,ये भगव-न्तः आगन्तारादिषु च ऋतुबद्धं वर्षां वा अतिवाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति । अयमेवम्भूत प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवत्यतस्तत्राऽवस्थातुं न क-ल्पते आचा० २श्रु० २अ. (वसइ शब्दे सूत्रतः चैतत्स्पष्टीभविष्यति)

उवट्ठाणगिह-उपस्थानगृह-न० पु० आस्थानमण्डपे, स्था० ४ ठा० । भ० । आस्थानसमायाम्, कल्प० ।

उवट्ठाणदोस-उपस्थानदोष-पु० नित्यवासदोषे, व्य० ४ उ० ।

उवट्ठाणसाला-उपस्थानशाला-स्त्री० उपवेशनमण्डपे, नि० । आस्थानमण्डपे, ज्ञा० १ अ० । उपस्थानमण्डपे, दशा० १० अ० । " बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं अणाभि-मुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह " औ० ।

उवट्ठाणा-उपस्थाना-स्त्री० उप सामीप्येन सर्वदावस्थानलक्षणे-न तिष्ठन्त्यस्यामिति उपस्थाना भजादिपाठादाप्प्रत्यय· । उप स्थानक्रियादोषदुष्टायां शय्यायाम्, व्य० ४ उ० । यस्यां वसतौ ऋतुबद्धे मास वर्षाकाले चतुर्मास च स्थिता यदि तस्यामृतु-बद्धवर्षाकाले सबन्धिकालमर्यादां द्विगुणामवर्जयित्वा भूयः समागत्य तिष्ठन्ति तदा सैव वसतिरुपस्थाना । किमुक्तं भवति । ऋतुबद्धे कालं द्वौ मासौ वर्षास्वष्टमासान् अपहृत्य यदि पुनरागच्छन्ति तस्यां वसतौ तत· सा उपस्थाना भवति । अन्ये पुनरिदमाचक्षते । यस्यां वसतौ वर्षारात्रं स्थिता तस्यां द्वौ वर्षारात्रौ अन्यत्र कृत्वा यदि समागच्छन्ति तत सा उपस्थाना न भवति अर्वाक् तिष्ठतां पुनरुपस्थाना ॥ व्य० १ अधि० ॥

गुणगुणिनौ १ क्रियाक्रियावन्तौ २ जातिव्यक्ती ३ नित्यद्रव्यविशेषौ चेति ४ एव एकद्रव्यानुगतभेदा उच्यन्ते ते सर्वेऽपि उपनयस्यार्था ज्ञातव्याः । अवयवावयविनौ इति अवयवाद्यो हि यथाक्रममवयव्याद्याश्रिता एव तिष्ठन्तेऽविनश्यन्तो विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एव तिष्ठन्ते इत्यादि ॥

अथासद्भूतव्यवहारं निरूपयति ।

असद्भूत व्यवहारो, द्रव्यादेरुपचारतः ।
परपरिणतिश्लेष–जन्यो भेदो नवात्मकः ॥ ४ ॥

असद्भूतव्यवहारः स कथ्यते यः परद्रव्यस्य परिणत्या मिश्रितः अर्थात् द्रव्यादेर्धर्माधर्मादेरुपचारतः उपचारणात् परपरिणतिश्लेषजन्यः परस्य वस्तुनः परिणतिः परिणमनं तस्य श्लेषः संसर्गस्तेन जन्यः परपरिणतिश्लेषजन्यः । असद्भूतव्यवहारः कथ्यते । अत्र हि शुद्धस्फटिकसंकाशजीवभावस्य परशब्देन कर्म कथ्यते तस्य परिणतिः पञ्चवर्णादिरौदारिकादिका तस्याः श्लेषो जीवप्रदेशैः कर्मप्रदेशसंसर्गस्तेन जन्यः उत्पन्नः परपरिणतिश्लेषजन्यः असद्भूतव्यवहाराख्यो द्वितीयो भेदः कथ्यते । स नवधा नवप्रकारो भवति । तथाहि द्रव्ये द्रव्योपचारः १ गुणे गुणोपचारः २ पर्याये पर्यायोपचारः ३ द्रव्ये गुणोपचारः ४ द्रव्ये पर्यायोपचारः ५ गुणे द्रव्योपचारः ६ गुणे पर्यायोपचारः ७ पर्याये द्रव्योपचारः ८ पर्याये गुणोपचारः ९ इति । सर्वोऽपि असद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः अत एवोपचारः पृथक् नयो न भवति मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते सोऽपि संबन्धाविनाभावः श्लेषः संबन्धः परिणामपरिणामिसंबन्धः श्रद्धाश्रद्धेयसंबन्धः ज्ञानज्ञेयसंबन्धश्चेति । भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहारः गुणगुणिनोर्द्रव्यपर्याययोः संज्ञासंज्ञिनोः स्वभावतद्वतोः कारकतद्वतोः क्रियातद्वतोर्भेदाद् भेदकः सद्भूतव्यवहारः । शुद्धगुणगुणिनोः शुद्धद्रव्यपर्याययोर्भेदकथनं शुद्धसद्भूतव्यवहारः २ तत्र उपचरितसद्भूतव्यवहारः सोपाधिकगुणगुणिनोर्भेदविषयः । उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः । निरुपाधिकगुणगुणिनोर्भेदकोऽनुपचारिसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः । ४ शुद्धगुणगुणिनोरशुद्धद्रव्यपर्याययोर्भेदकथनमशुद्धसद्भूतव्यवहारः ५ इत्यादिप्रयोगवशाद्ज्ञेयमिति ॥

अथ नवभेदानसद्भूतव्यवहारजन्यान् विवृणोति ।

द्रव्ये द्रव्योपचारो हि, यथा पुद्गलजीवयोः ।
गुणे गुणोपचारश्च, भावद्रव्याख्यलेश्ययोः ॥ ५ ॥
पर्याये किल पर्यायो–पचारश्च यथा भवेत् ।
स्कन्धा यथात्मद्रव्यस्य, गजवाजिमुखाः समे ॥ ६ ॥

हि निश्चितं द्रव्ये गुणपर्यायवति वस्तुनि द्रव्योपचारः द्रव्यस्य प्रस्तुतस्योपचारः उपचरणमात्रधर्मः यथेति दृष्टान्ते श्रीजिनस्यागमे पुद्गलजीवयोरैक्यं जीवः पुद्गलरूपः पुद्गलात्मकः, अत्र जीवोऽपि द्रव्यं पुद्गलोऽपि द्रव्यम् उपचारेण जीवः पुद्गलमय एवासद्भूतव्यवहारेण मन्यते न तु परमार्थेन यथा च क्षीरनीरयोरन्योन्यात् क्षीरं हि नीरमिश्रितं क्षीरमेवोच्यते व्यवहारात् । एवमत्र जीवे जीवद्रव्ये पुद्गलद्रव्यस्योपचारः १ पुनर्गुणे गुणोपचारो गुणे रूपादिके गुणस्योपचारः यथा भावलेश्याद्रव्यलेश्ययोरुपचारः भावलेश्या हि आत्मनोऽरूपी गुणस्तस्य हि यत्कृष्णनीलादिकथनं वर्तते तद्धि कृष्णादिपुद्गलद्रव्यजगुणस्योपचारोऽस्ति अयं हि आत्मगुणस्य पुद्गलगुणस्योपचारो ज्ञातव्यः ॥ ५ ॥ पर्याये पर्यायविषये नरत्वादिके पर्यायस्य तदादिकस्यैवोपचारः यथा आत्मा द्रव्यपर्यायस्य तदादिकस्यैवोपचारः यथा गजवाजिमुखाः पर्यायस्कन्धा उपचारादात्मद्रव्यस्य समानजातीयद्रव्यपर्यायास्तेषां स्कन्धाः कथ्यन्ते तत्र आत्मपर्यायस्योपरि पुद्गलपर्यायस्य उपचरणात्स्कन्धा व्यपदिश्यन्ते व्यवहारात् ॥

अथ द्रव्ये गुणोपचारः ।

द्रव्ये गुणोपचारश्च, गौरोऽहमिति द्रव्यके ।
पर्यायस्योपचारश्च, अहं देहीति निर्णयः ॥ ७ ॥

यथाहं गौर इति ब्रुवतामहमित्यात्मद्रव्यम् तत्र गौर इति पुद्गलस्योज्ज्वलताख्यो गुण उपचरितः । ४ । अथवा द्रव्ये पर्यायोपचारः । अथ वा "अहं देहीति निर्णयः" इत्यत्र अहमिति आत्मद्रव्यं तत्रात्मद्रव्यविषये देहीति देहमस्यास्तीति देही देहमिति पुद्गलद्रव्यस्य समानजातीयद्रव्यपर्याय उपचरितः ॥ ५ ॥

गुणे द्रव्योपचारश्च, पर्यायेऽपि तथैव च ।
गौर आत्मा देहमात्मा, दृष्टान्तौ हि क्रमात्तयोः ॥ ८ ॥

गुणे द्रव्योपचारश्च तथा पर्याये गुणोपचारश्च । एव द्वौ उपनयासद्भूतव्यवहारस्य भेदौ । अथ तयोरेवानुक्रमेण दृष्टान्तौ यथा "अयं गौरो दृश्यते स चात्मा" अत्र गौरमुद्दिश्यात्मनो विधानं क्रियते यत्तदिह गौरतारूपपुद्गलगुणोपरि आत्मद्रव्यस्योपचारपठनमिति।६।पर्याये द्रव्योपचारो यथा "देहमिति आत्मा" अत्र हि देहमिति देहाकारपरिणतानां पुद्गलानां पर्यायेषु विषयभूतेषु च आत्मद्रव्यस्योपचारः कृतः देहमेवात्मा देहरूपपुद्गलपर्यायविषय आत्मद्रव्यस्यापौद्गलिकस्योपचारः कृत इति सप्तमो भेदः । ७ । "अतति सातत्येन गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्यात्मा" अत्र पर्यायाणां द्रव्यभावभेदितानां गमनप्रयोगो यद्यपीष्टस्तथापि असद्भूतव्यवहारविवक्षावशेन उपचारधर्मस्यैव प्राधान्यात् बहिः पर्यायावलम्बनेन कर्मजशुभाशुभपुद्गलपरिणतगौराख्यवर्णोपलक्षित आत्मा भासते तदा गौर आत्मेति प्रतीतिर्जायते अन्यथा आत्मनः शुद्धस्याकर्मणः कुतो गौरत्वध्वनिः । अत एव उपचारधर्मो देहमात्मेत्यत्र तु औदारिकादिपुद्गलप्रणीतं देहमौदयिकेनाश्रित आत्मा उपलभ्यते तदा देहमात्मेति उपचारध्वनिः ॥ ८ ॥

अथाष्टमभेदोत्कीर्तनमाह ।

गुणे पर्यायचारश्च, मतिज्ञानं यथा तनुः ।
पर्याये गुणचारोऽपि, शरीरं मतिरिष्यते ॥ ९ ॥

गुणे पर्यायोपचारः पर्यायचार इति उपचारो वाच्यो भीमो भीमसेन इति वत् । यथा मतिज्ञानम् तदेव शरीरं शरीरजं वर्तते ततः कारणात् अत्र मतिज्ञानरूपात्मकगुणविषये शरीररूपपुद्गलपर्यायस्योपचारः कृतः ।८। अथ नवमभेदोत्कीर्तनमाह । पर्याये गुणोपचारः यथा हि पूर्वप्रयोगजमन्यथा क्रियते यतः पर्याये गुणोपचारः यथा हि पूर्वप्रयोगजमन्यथा क्रियते यत शरीरे तदेव मतिज्ञानरूपो गुणोऽस्ति अत्र हि शरीररूपपर्यायविषये मतिज्ञानरूपाख्यस्य गुणस्योपचारः क्रियते शरीरमिति पर्याय तस्मिन् विषये मतिज्ञानाख्यो गुणस्तस्य चोपचारः कृतः अत्र च अष्टमनवमविकल्पयोः समविषमकरणेनोपचारो विहित स्तत्रापि सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः सहभावित्वं च द्रव्येण क्रमभावित्वमपि द्रव्येणैव ज्ञेयमतो द्रव्यस्यैव गुणाः पर्याया अपि द्रव्यस्यैव गुणपर्याययोः पर्यायगुणयोश्च परस्परमुपचारोऽव्यवहारः कृतः । यत्रोपचारस्तत्र निदर्शनमात्रमेव विसदृशधर्मित्वेन धर्मारोपयत् । किं च मतिज्ञानमात्मनः कश्चिदुदाहतो गुणः । शरीरं च पुद्गलद्रव्यस्य समवायिकारणं यथा मृत्तिका घटस्य समवायिकारणमितियत् । एवं सति उपचारो आ-

यते परेण परस्योपचारात् स्वस्य स्वेनोपचारासम्भव यथा मृत्पिण्डस्य घटेन, तन्तूनां पटेनेत्येवमसद्भूतव्यवहारो नवधा उपदिष्टः। उपचारबलेन नवधोपचारः कृता ॥ ६ ॥

अथ तस्यैवासद्भूतव्यवहारस्य भेदत्रयं कथ्यते।

असद्भूतव्यवहार, एवमेव त्रिधा भवेत्।
तत्राद्यो निजया जात्या-ऽप्यनुचूरिप्रदेशयुक् ॥ १० ॥

असद्भूतव्यवहार एवं पूर्वोक्तरीत्यैव त्रिधा त्रिप्रकारो भवेत्तत्र त्रिषु भेदेषु आद्यो भेदो यथा परमाणुर्बहुप्रदेशी कथ्यते कथमेतत् परमाणुस्तु निरवयवोऽतो निरवयवस्य प्रसदेशत्वं नास्ति तथापि बहुप्रदेशानां सांसर्गिकी जातिः परमाणुरस्ति यथाहि द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धादयः ॥ अथ द्वितीयो भेदश्च।

विजात्यापि स एवान्यो, यथा मूर्तिमती मतिः।
मूर्तिमद्भिरपि द्रव्यै-र्निष्पन्ना चोपचारतः ॥ ११ ॥

यथा स एव असद्भूत विजात्या वर्तते यथा वा मूर्तिमती मतिः मतिज्ञान मूर्तं कथितं तत्तु मूर्तविषयालोकमनस्कारादिकेभ्य उत्पन्नं तस्मान्मूर्तम्। वस्तुतस्तु मतिज्ञानमात्मगुणः तस्य चापौद्गलिकस्य मूर्तिपुद्गलगुणोपचारः कृतः स तु विजात्या असद्भूतव्यवहारः।

अथ तृतीयमाह।

स्वजात्या च विजात्याऽपि, असद्भूतस्तृतीयकः।
जीवाजीवमयं ज्ञानं, व्यवहाराद्यथोदितम् ॥ १२ ॥

स एव पुनरसद्भूतव्यवहारः स्वजात्या विजात्या च सवन्धितः कथितः यथा जीवाजीवविषय मतिज्ञानम् अत्र हि जीवो मतिज्ञानस्य स्वजातिरस्त्यात्मनो ज्ञानमयत्वात्। अजीवो मातिज्ञानस्य विजातिरस्ति। यद्यपि मतिज्ञानादिविषयीभूतघटोऽयमिति ज्ञान तथापि विजातिजडचेतनसम्बन्धात् अनयोर्जीवाजीवयोर्विषयविषयिभावनामा उपचरितसम्बन्धोऽस्ति स हि स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारोऽस्ति तद्भावनमेव ज्ञेयं स्वजात्यंशे किं नाम सद्भूत इति चेद्विजात्यंशे विषयतासम्बन्धस्योपचरितस्यैवानुभवाद्धिति गृहाणेति व्यवहाराद्यथोदित तथा विचारयेति पदार्थः ॥

अथोपचरितासद्भूतस्य लक्षणमाह।

यत्रैकेनोपचारेण-पचारो हि विधीयते।
स स्यादुपचरिताद्य-सद्भूतव्यवहारकः ॥ १३ ॥

यत्र पुनरेकेन उपचारेण कृत्वा द्वितीय उपचारो विधीयते स हि उपचरितोपचरितो जात उपचरितासद्भूतव्यवहार इति नाम लभत इत्यर्थः ॥

अथोदाहरणमाह।

स्वजात्या तं विजानीत, योऽहं पुत्रादिरस्मि वै।
पुत्रमित्रकलत्राद्या, मदीया निखिला इमे ॥ १४ ॥

तमुपचरितासद्भूत स्वजात्या निजशक्त्या उपचरितसम्बन्धेन असद्भूत व्यवहार जानीत सम्बन्धकल्पन यथा अहं पुत्रादिः। अहमित्यात्मपर्याय पुत्रादिरिति परपर्याय अह पुत्रादिरिति सम्बन्धकल्पनम्। पुन पुत्रमित्रकलत्राद्या निखिला इमे मदीया सम्बन्धिनः। अत्र अह मम चेत्यादिकथन पुत्रादिषु तद्धि उपचरितेन उपचरित तत्कथ पुत्रादयो हि आत्मनो भेदा स्ववीर्यपरिणामत्वात् अभेदसम्बन्ध परम्पराहेतुतयोपचारितः पुत्रादयस्तु शरीरात्मकपर्यायरूपेण स्वजातिः पर तु कल्पनमात्र न चेदेव तर्हि स्वशरीरसम्बन्धयोजनया सम्बन्ध कथित पुत्रादीनां तथैव मत्कुणादीनामपि पुत्रव्यवहारः कथ न कथित इति ॥

अथ विजात्या असद्भूतव्यवहारः।

विजात्या किल तं वित्त, योऽहं वस्त्रादिरद्भुतः।
वस्त्रादीनि ममैतानि, वप्रदेशादयो द्विधा ॥

विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार प्रकटयति किल इति सत्ये त असद्भूतव्यवहारं विजात्या उपचरितं विजानीत यत्र अहं वस्त्रादि अहमिति सम्बन्धिवचन वस्त्रादिरिति सम्बन्धवचनमह वस्त्रादिरिति उपचरितं सर्वोऽपि व्यतिकर असद्भूतव्यवहार सम्बन्धसम्बन्धिकल्पनत्वात् अथ च तानि वस्त्रादीनि मम सन्ति अत्र हि वस्त्रादिकानि पुद्गलपर्यायाणि ममेति सम्बन्धयोजनया भोज्यभोजकभोगभोगिकोपचारकल्पनमात्रपराणि भवन्तीति निष्कर्षः। अन्यथा वल्कलादीनां वा नेयानां पुद्गलानां शरीराच्छादनसमर्थानामपि मम वस्त्राणीति उपचारसम्बन्धकल्पन कथ न कथ्यते वस्त्रादीनि हि विजातिषु स्वसम्बन्धोपचरितानि सन्तीति भाव। पुनः वप्रदेशादयोऽपि द्विधेति वप्रादिरहं वप्रदेशादयो ममेति कथयता स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूतव्यवहारो भवेत् कथं वप्रदेशादयो हि जीवाजीवात्मकोभयसमुदायरूपाः सन्ति ॥

अथ सङ्क्षेपमाह।

इत्थं समे चोपनयाः प्रदिष्टाः, स्याद्वादमुद्रोपनिषत्स्वरूपाः।
विज्ञाय तान् शुद्धधियः श्रयन्ता,जिनक्रमाम्भोजयुगं महीयः॥

इत्थमनया दिशा समे नया च पुनः उपनया प्रदिष्टाः कथिता। कीदृशास्ते स्याद्वादस्य श्रीजिनागमस्य या मुद्रा शैली तस्या उपनिषत्स्वरूपा रहस्यरूपाः सन्ति। तान् सर्वानपि विज्ञाय ज्ञात्वा शुद्धधिय निर्मलबुद्धयः श्रयन्तामङ्गीकुर्वतां किं जिनक्रमाम्भोजयुग वीतरागचरणकमल श्रयन्तामित्यर्थः। द्र० ७ अध्या०।

उवणयण-उपनयन-न० ढौकने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। कलाग्राहणे, भ० ११ श० ११ उ०। उपनयार्थे समीपप्रापणे च ॥

एवम्भूतमुपनयन कदा प्रवृत्तमित्याह।

उपणयणं तु कलाणं, गुरुमूले साहुणो तवो कम्मं।
केई हवंति सड्ढा, केई दिक्खं पवज्जंति ॥

उपनयन नाम तेषामेव बालानां कलाना ग्रहणाय गुरोः कलाचार्यस्य मूले समीपे नयनम्। यदि वा धर्मश्रवणनिमित्तं साधोः सकाशे नयनमुपनयन तस्माच्च साधोर्द्धर्म्मं गृहीत्वा केचित् श्राद्धा भवन्त्यपरे लघुकर्म्माणो दीक्षां प्रपद्यन्ते एतद्वोभयमपि तदा प्रवृत्तम्। आ० म० प्र०। आ० चू०। रा०।

उवणयाभास-उपनयाभास-पुं० हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयस्य लक्षणोल्लङ्घनेनोपनयवदाभासमाने, परिणामी शब्दः कृतकत्वात् यः कृतकः स परिणामी यथा कुम्भ इत्यत्र परिणामी च शब्द इति कृतकश्च कुम्भ इति। इह साध्यधर्मं साध्यधर्मिणि-साधनधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिण्युपसंहरत उपनयाभासः। रत्ना०।

उवणयावणयचउक्क-उपनयापनयचतुष्क-न० घोरुशवचनानां वचनचतुष्के, तद्योपनयापनयवचन चतुर्द्धा भवति। तद्यथा उपनयापनयवचन तथा उपनयोपनयवचन तथा अपनयोपनयवचनतथा अपनयापनयवचनमिति। तत्रोपनयो गुणोत्किरपनयो दोषभाषणम्। तत्र स्वरूपेय रामा पर तु शीला इत्युपनयापनयवचनम्। तथा सुरूपेयं स्त्री सुशीलेत्युपनयोपनयवचनम्। तथा कुरूपेय स्त्री पर सुशीला इत्यपनयोपनयवचनम्। तथा कुरूपेय कुशीला चेत्यपनयापनयवचनमिति ॥ यद्वा उपनय स्तुतिरपनयो निन्दा, तयोर्वचनचतुष्कम्। यथा रूपवती स्त्रीत्युपनयवचन कुरूपा स्त्रीत्युपनयवचन रूपवती किं तु कुशीलेत्युपनयापनयवचन कुरू-

पा स्त्री किं तु सुशीलेत्यपनयोपनयवचनमिति। प्रव० १४० द्वा०।

उवणिक्खित्त-उपनिक्षिप्त-त्रि० व्यवस्थापिते, "अंतलिक्खजायंसि उवणिक्खित्ते सिया" । आचा० २ श्रु० ॥

उवणिक्खेव-उपनिक्षेप-पुं० उप-नि-क्षिप्-कर्मणि घञ् । रूपसख्याप्रदर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहिते रूव्ये, स चोपनिक्षेपो द्विधा लौकिकोलोकोत्तरिकश्च। पुनरेकैको द्विधा आत्मोपनिक्षेप. परोपनिक्षेपश्च । तत्र लौकिक आत्मनिक्षेपो ये प्रगल्भास्ते आत्मनैवात्मानं राज्ञ उपनिक्षिपन्ति तिष्ठन्ति च चरणापपातकारकाः प्रपन्नशरणा ये पुनरप्रगल्भास्ते ये राज्ञो वल्लभास्तैरात्मानमुपनिक्षेपयन्ति । एष परोपनिक्षेपः। लोकोत्तरिक आत्मनिक्षेपो गच्छवर्त्तिनां साधूनां तथा हि ये गच्छे एव वर्तन्ते साधवस्ते आत्मानमात्मनैवाभिनवाचार्यस्योपनिक्षिपन्ति परनिक्षेपः फड्डगतानां ते हि समागताः स्पर्द्धकपतिना निक्षिप्यन्ते यथा एते अह च युष्माकमिति । " इह मिथियाइं अस्से कइउवसपज्जणारिहे" इत्याद्युक्त तत्र यद्यपि सगीतार्थस्तरुण. समर्थश्चेन्द्रिय नोइन्द्रियाणां निग्रहं कर्त्तुं तथापि तेनान्यो गणो निश्रयितव्यो निश्रयस्य च परप्रत्ययनिमित्त तत्रापि निक्षेपः कर्त्तव्यः । व्य० द्वि० ४ उ० ।

उवणिग्गय-उपनिर्गत-त्रि० उप सामीप्येन निर्गतो निष्क्रान्त उपनिर्गतः । सामीप्येन निष्क्रान्ते, " उद्दिष्मबलवाहणे । नामेण सजए नाम, मिगवं उवणिग्गए"। उत्त०१४ अ०। "उवणिग्गयणवतरुणपत्तपल्लवकोमलउज्जलचलतकिसलयसुकुमालपवालसोहियवरगकुरग्गसिहरा" उपनिर्गतैर्नवतरुणपत्रपल्लवैरत्याभिनवपत्रगुच्छैस्तथा कोमलोज्वलैश्चलद्भिः किशलयैः पत्रविशेषै. तथा सुकुमारप्रवालैः शोभितानि वराङ्कुराणि अग्रशिखराणि येषान्ते तथा (वनखण्डः) औ० ।

उवणिमंतण-उपनिमन्त्रण-न० भिक्षो ! गृहाणेदं पिण्डद्वयमित्यभिधाने, भ० ८ श० ६ उ० ॥

उवणिय-उपनीत-त्रि० उप-नी-क्त । पानीयादिष्विल् ८ । १ । १०१ । इति ईत इत्। ढौकिते, प्रा० ॥

उवणिविट्ठ-उपनिविष्ट-त्रि०सामीप्येन स्थिते, "तेणं तोरणा णाणामणिमएसु खम्भेसु उवणिविट्ठसंनिविट्ठा विविहमुत्तंतरोवचिता" उपनिविष्टानि सामीप्येन स्थितानि तानि च कदाचिच्चलानि ।अथवा अपदपतितानीतिशङ्केयुरत उक्त आह सम्यग् निश्चलतया अपदपरिहारेण च निविष्टानि ततो विशेषणसमासः उपनिविष्टसंनिविष्टानि । रा० । ज० ॥

उवणिसया-उपनिषद्-स्त्री० वेदान्तदर्शनप्रवृत्तौ, तथाप्युपनिषद्दृष्टि-सृष्टिवादात्मिका परा ॥ न० ॥

उवणिहा-उपनिधा-स्त्री० उप निधानमुपनिधा धातूनामनेकार्थत्वात् । मार्गणायाम्, । क० प्र० । प० सं० ।

उवणिहि-उपनिधि-पुं० उपनिधीयत इत्युपनिधिः । प्रत्यासन्नं यथाकथञ्चिदानीते, । स्था० ५ ठा० । उप सामीप्येन निधिरुपनिधिः । एकस्मिन्विवक्षितार्थे पूर्वं व्यवस्थापिते, तत्समीप एवापरापरस्य आनुपूर्वीशब्दोक्ते पूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण निक्षेपणे, निक्षेपे, विरचने, अनु० ॥

उवणिहिय-उपनिहित-त्रि० यथा कथञ्चिदासन्नीभूते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उवणिहियय-उपनिहितक-पुं० उपनिहितं यथाकथञ्चिदासन्नीभूत तेन चरन्ति ये ते उपनिहितका. । अभिग्रहविशेषोपयुक्ते भिक्षाचरके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उवणीय-उपनीत-त्रि० उप-नी-क्त-उपढौकिते, उत्त० ४ अ०॥ प्रश्न० । विशे० । सूत्र० । प्रापिते, स्था० १० ठा० । आचा० । "कालोवणीए कंखेज्जा " कालेनोपनीतः कालोपनीतो मृत्युकालेनात्मवशतां प्रापितः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । उपनयं प्रापिते, व्य० १ उ० । अर्पिते, गमित प्रदर्शितमुपनीतमर्पितमित्येकार्थाः । आ० चू० १ अ० । केनचित्कस्यचिद्धुपढौकिते प्रहेणकादौ, औ० । समीप प्रापिते, उत्त० ४ अ० निकटं समागते, उत्त० अ० ।आसन्ने, सूत्र २ श्रु० १अ० । उपसहारोपनययुक्ते सूत्रगुणभेदे, । अनु० । विशे० । उप सामीप्येन नीतः प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा । ज्ञानाद्युपढौकितात्मनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उवणीयअवणीयवयण-उपनीतापनीतवचन- न० कश्चिद्गुण प्रशस्य. कश्चिन्निन्द्य. यथा रूपवती स्त्री किन्त्वसद्वृत्तेति इति प्रशस्यनिन्द्यलक्षणे षोडशवचनानामन्यतमे, आचा० २ श्रु० ।

उवणीयचरय-उपनीतचरक-पुं० केनचित्कस्यचिद्धुपढौकितस्य प्रहेणकादेरभिग्रहतश्चरके, औ० ।

उवणीयतर-उपनीततर-त्रि० आसन्नतरे, " इणमेव उवणीयतरागं माया मे पिया मे भाया मे" सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

उवणीयरागत्त-उपनीतरागत्व-न० मालवदेशिकादिग्रामरागयुक्तारूपे सप्तमे सत्यवचनातिशये, औ० । स० । रा० ॥

उवणीयवयण- उपनीतवचन-न० प्रशसावचने, यथारूपवती स्त्री इद षोडशवचनानामष्टमम् । प्रज्ञा० ११ पद० ।

उवणीयावणीयचरय-उपनीतापनीतचरक-पुं० उपनीत ढौकित सत्प्रहेणकाद्यपनीतं स्थानान्तरस्थापितमथवोपनीत चापनीत च यश्चरति स तथा । अथवा उपनीतं दायकेन वर्णितगुणमपनीतं निराकृतगुणमुपनीतापनीत यदेकेन गुणेन वर्णित गुणान्त रापेक्षया तु दूषित यथा अहो शीतल जल केवलं क्षारमित्यभिग्रहविशेषयुक्ते भिक्षाचरके, औ० ॥

उवण्णत्थ-उपन्यस्त-त्रि० उपकल्पिते, दश० ८ अ० ॥

उवण्णास-उपन्यास-पुं० उप-नि-अस्-घञ् । उपादाने, "उपन्यासश्च शास्त्रेऽस्याः, कृतो यत्नेन चिन्त्यताम्" द्वा० । उपन्यसनमुपन्यासः । तद्वस्त्वादिलक्षणे ज्ञातभेदे, ॥

चत्तारि उवन्नासे, तव्वत्थुग अन्नवत्थुगे चेव ।

पडिनिभए हेउम्मि, होंति इणमो उदाहरणा ॥ ८३ ॥

चत्वार उपन्यासे विचार्ये अधिकृते वा भेदा भवन्तीति शेषस्तत्रासौ सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा तथाऽधिकारानुवृत्तेश्च तद्वस्तूपन्यासः । तथा तदन्यवस्तूपन्यासः तथा प्रतिनिभोपन्यासस्तथा हेतूपन्यासश्च । तत्रैतेषु भवन्त्यमूनि वक्ष्यमाणलक्षणानि उदाहरणानीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु प्रतिभेदं स्वयमेव वक्ष्यति निर्युक्तिकार. । दश० १ अ० । (एतद्भेदस्वरूपनिरूपण तत्तच्छब्दे द्रष्टव्यम्)

उवण्णासोवणय-उपन्यासोपनय-पुं० वादिना अभिमतार्थसाधनाय कृते वस्तूपन्यासे तद्विघटनाय य प्रतिवादिना विरुद्धार्थोपनयः क्रियते पर्यनुयोगोपन्यासो वा य उत्तरोपनयः स उपन्यासोपनयः । ज्ञातभेदे , उत्तररूपमुपपत्तिमात्रमपि ज्ञातमेवो ज्ञानहेतुत्वादिति । यथा अकर्तात्मा अमूर्तत्वादाकाशवदित्युक्ते अन्य आह आकाशवदेवाभोक्तेत्यपि प्राप्तमनिष्टं चैतदिति । यथा वा मांसभक्षणमदुष्टप्राण्यङ्गत्वादोदनादिवत् अत्राहान्य ओदमादिवदेव स्वपुत्रादिमांसभक्षणमप्यदुष्टमिति । यथा वा त्यक्तसङ्गा

वस्त्रपात्रादिसंग्रहं न कुर्वन्ति ऋषभादिवत् अत्राह कुपिरुकाद्यपि-ते न गृह्णन्ति तद्वदेवेति तथा कस्मात्कर्म कुरुषे यस्माद्धनार्थीति इह प्रथम ज्ञात समग्रसाधर्म्यं द्वितीय देशसाधर्म्यं तृतीय स-दोषं, चतुर्थं प्रतिवाद्युत्तररूपमित्ययमेषां स्वरूपविभाग इति । इह देशतः सवादगाथा "चरियं च कप्पियं वा, दुविहं तत्तो चउव्विहेक्केक्क । आहरणे तद्देसे, तद्दोसे चेव उवन्नासेत्ति ॥ ५ ॥ स्था० ४ ठा० । "उवण्णासोवणए चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा तव्वत्थुतदन्नवत्थुए पडिणिभेदेहेउ" । स्था० ४ ठा० । (स्वस्व-स्थाने व्याख्या)

उवत्थेउ–उपनम्य–अव्य० स्थगयित्वेत्यर्थे, । बृ० १ उ० ।

उवतल–उपतल–न० हस्ततलात्समन्तात्पार्श्वेषु, "हत्यतला उ समंता पासेसु अग्गया उवतल भणंति" । नि० चू० १ उ० ।

उवताव–उपताप–पु० उप आधिक्ये तप–आधारे–घञ्–त्वरायां, भावे–घञ् सन्तापे, एयन्ततपेरच् । रोगे, मेदि० । करणे–घञ् । अशुभे, पीडने, रत्ना० । उपसर्गे, शरीरपीडनोत्पादने, ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

उवतीर–उपतीर–अव्य० सामीप्यादौ अव्ययी० । तीरसामीप्यादौ, "एसण गोयमा महातवो व तीरप्पभवे" भ० ५ श० ५ उ० ।

उवत्थड–उपस्तीर्ण–त्रि० उपशब्द सामीप्यार्थस्तृञ् च आच्छा-दनार्थः । उप स्तृ उत्पतद्भिर्निपतद्भिश्चानवरतक्रीडाशकैरुपर्युपर्यो च्छादिते, "आतिणा वितिणा उवत्थडासयडा" भ० १ श० १उ०

उवत्थिय–उपस्थित–त्रि० उपनते, "दसविहा रुक्खा उवभोग-त्ताए उवत्थिया" ॥ स० ॥

उवदंसण–उपदर्शन–न० उपनयनिगमनाभ्यां नि शङ्क शिष्यबु-द्धौ स्थापने, सकलनयाभिप्रायावतारणतः पटुप्रज्ञशिष्यबुद्धि षु व्यवस्थापने, न० । स्था० ॥

उवदंसणकूड–उपदर्शनकूट–न० जम्बूद्वीपे मन्दरस्योत्तरेण नील-वतो वर्षधरपर्वतस्य द्वितीये कूटे, स्था० ९ ठा० ।

उवदंसिज्जमाण–उपदर्श्यमान–त्रि० लोकैरन्योऽन्य दर्श्यमाने, ज्ञा० १३ अ० ।

उवदंसिय–उपदर्शित–त्रि० उप सामीप्येन यथा श्रोतॄणां झटिति यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधो भवति तथा स्फुटवचनैरित्यर्थः द-र्शितः श्रवणगोचरं नीतः । उपदिष्टे, "उवदंसिया भगवया पन्न-वणा सव्वभावाणं" । प्रज्ञा० १ पद । सकलनययुक्तिनिर्दर्शिते, । ग० २ अधि० । अनु० ॥

उवदर्श्य–अव्य० उपदर्शनं कृत्वेत्यर्थे "अणुवीए उवदंसिय २ णिज्झाएज्जा" आचा० २ श्रु० ।

उवदसेमाण–उपदर्शयमान–त्रि० उपदर्शनं कारयति, "पुरिसक्का-रपरक्कम उवदंसेमाणे" स्था० ३ ठा० ॥

उवदीव–देशी–अन्यद्वीपे, दे० ना० ॥

उवद्दव–उपद्रव–पुं० उप–द्रु–भावे–घञ् । उत्पाते, रोगारम्भके, धातुवैषम्यजनिते विकारभेदे, उपसर्गे, स्था०५ ठा० । अशिवे, । बृ०४ उ० । मारणे, भ० ८ श० ७ उ० । तत्र प्रायश्चित्त । "उवद्दवेण खमण चउत्थं" महा०७ अ० ।

उवद्दवण–उपद्रावण– न० महापीडाकारणे, ध०३अधि० ।

उवद्दविय–अपद्रावित– त्रि० उत्त्रासिते, आव०४ अ० ।

उवप्पयाण–उपप्रदान–न० उप–प्र दा–ल्युट्–अभिमतार्थदानरूपे नीतिभेदे, विपा० ३ अ० । आ० म० प्र० ॥

उवप्पव–उपप्लव–पु०उप–प्लु– अप् । भ्रमविषये, पु० "विकल तल्पमारूढः, शेष पुनरुपप्लवः । द्वा० २४ द्वा० ।

उवप्पुयट्ठाणविवज्जण–उपप्लुतस्थानविवर्जन–न०उपप्लुत स्व चक्रपरचक्रविक्षोभात् दुर्भिक्षमारीतिजनविरोधादेश्चास्वस्थी भूत यत्स्थान ग्रामनगरादि तस्य विवर्जन परिहरणम् । सामा न्यतो गृहिधर्मभेदे, " तत्र सामान्यतो गृहि–धर्मो न्यायार्जित धनम् । इन्द्रियाणां जय उप–प्लुतस्थानविवर्जनम्" अत्यत्यज्य माने हि तस्मिन् धर्मार्थकामानां पूर्वार्जितानां विनाशेन नव्यान चानुपार्जनेनोभयलोकभ्रंश एव स्यात् ॥ ध० १ अधि० ।

उवभुत्त–उपभुक्त–त्रि० उप–भुज्–क्त । कृतोपभोगे वस्तुनि, उपपादिते, आचा०१श्रु०२ अ०१ उ० । उपभुक्तभोगे, व्य०३उ० ।

उवभोग–उपभोग–पु०उप–भुज्–घञ् । उपभोजने, आचा०१श्रु० २अ०३उ० । उपेत्य अधिक पुनरुपयुज्यमानतया भुज्यते इत्युपभोग पुन. पुनरुपभोग्यभवनाङ्गनादौ, "सति भुज्ज इति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईतो । उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणवल-याइ" उत्त ३३ अ० । उपा० । कर्म० । धर्म० । आ०चू० । आ० ।

साम्प्रतमुपभोगादिभेदमाह–

उवभोगपरिभोगवए दुविहे पन्नत्ते तंजहा भोअणओ कम्मओ अ भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा सचित्ताहारे १ सचि-त्तपडिबद्धाहारे २ अप्पोलिओसहिभक्खणया सचित्तस-मिस्साहारे ३ (पाठान्तरं) दुप्पोलिओसहिभक्खणया ४ तुच्छोसहिभक्खणया ५ । आव० ५ अ० ॥

उप भुज्यत इत्युपभोग उपशब्द सकृदर्थे वर्तते सकृद्भोग उप-भोग । अशनपानादौ, अथवा अन्तर्भोग उपभोग । आहारादौ, उपशब्दोऽत्रान्तर्वचन. । ध० २ अधि० । आचा० । गन्धरूपावि-षये, त० ।(पृथ्वीकायानामप्कायानां चोपभोग पुढव्यादिशब्देषु)

उवभोगंतराय–उपभोगान्तराय– न० अन्तरायकर्मभेदे, यस्यो-दयात्सदपि वस्त्रालंकारादि नोपभुङ्क्ते । उत्त० ३३ अ० । प०स० । कर्म० । स० ॥

उवभोगपरिभोगपरिमाण–उपभोगपरिभोगपरिमाण–न० उप-भोग सकृद्भोगः स चाशनपानानुलेपनादीना परिभोगस्तु पुन पुनर्भोगः सचाशनशयनवसनवनितादीना तयो परिमाणम् देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानभेदे, भ०७श०२ उ० । उपभुज्यते इत्यु-पभोग. । उपशब्द. सकृदर्थे वर्तते सकृद्भोग उपभोग. अशनपा-नादेः अथवान्तर्भोग उपभोग आहारादिः उपशब्दोऽत्रान्तर्व-चन. परिभुज्यत इति परिभोग. परिशब्दोऽसकृद्वृत्तौ वर्तते पुन पुनर्भोग. परिभोगो वस्त्रादे बहिर्भोगो वा परिभोगो वसनाद्धा-रादेरत्र परिशब्दो बहिर्वाचक इति एतद्विषय व्रतमुपभोगपरिभोग व्रतम् । ध०२अधि० । एतावदिद भोक्तव्यमुपभोक्तव्य चातोऽन्यन्नैवे रूपे द्वितीयेऽणुव्रते, आ० । इदचद्विविध भोजनतः कर्मतश्च । उप-भोगपरिभोगयोरासेवाविषययोर्वस्तुविशेषयोस्तदुपार्जनोपायभू-तकर्मणां चोपचारादुपभोगादिशब्दवाच्यानां व्रतमुपभोगपरि भोगव्रतमिति व्युत्पत्ति (ध०) भोगत कर्मतश्च । भोगोऽपि द्विधा उपभोगपरिभोगभेदात् तत्र उप इति सकृत् भोग आहारमा ल्यादेरासेवनमुपभोग । परीत्य सकृत्भोगो भवनाङ्गनादीनामा-सेवन परिभोग । तत्र गाथामाह ।

मज्जम्मि य मंसम्मि य, पुप्फे य फले य गंधमल्ले य ।
उवभोगपरिभोगे, वीयम्मि गुणव्वए निंदे ॥ २० ॥

श्रावकेण तावदुत्सर्गेतः प्रासुकैषणीयाहारिणा भाव्यम् । असति सचित्तपरिहारिणा तदसति बहुसावद्यमद्यादीन् वर्जयित्वा प्रत्येक मिश्रादीनां कृतप्रमाणेन भवितव्यम् । तत्र मद्यं मदिरा मांसं पिशितं च शब्दाच्छेषाभक्ष्यद्रव्याणामनन्तकायादीनां च ग्रहः । तानि च प्रागुक्तानि पञ्चोदुम्बर्यादीनि पुष्पाणि करीरमधुकादिकुसुमानि चशब्दात् त्रससक्तपत्रादिपरिग्रहः । फलानि जम्बूबिल्वादीनि एषु च मद्यादिषु राजव्यापारादिषु वर्तमानेन यत्किंचित्कायणादि कृत तस्मिन् एतैरन्तर्भोग सूचितः बहिस्त्वय (गधमल्लेति) गन्धा वासाः माल्यानि पुष्पस्रजः अत्रोपलक्षणत्वाच्छेषभोग्यवस्तुपरिग्रहः । तस्मिन्नुक्तरूपे उपभोगपरिभोगे भीमो भीमसेन इति न्यायादुपभोगपरिभोगपरिमाणाख्ये द्वितीये गुणव्रतेऽनाभोगादिना यदतिक्रान्त तन्निन्दामि । (ध०) । तत्र भोजनत उत्सर्गेण निरवद्याहारभोजिना भवितव्यम् कर्मतोऽपि प्रायो निरवद्यकर्मानुष्ठानयुक्तेनेति । अत्रेयं भावना । श्रावकेण हि तावदुत्सर्गतः प्रासुकैषणीयाहारभोजिना भाव्यम् तस्मिन्नसति सचित्तपरिहारः कार्यस्तस्याप्यशक्तौ बहुसावद्यान्मद्यामिषानन्तकायादीन् वर्जयता प्रत्येकमिश्रसचित्तादीनां प्रमाणं कार्यं भणित च "निरवज्जाहारेणं, १ निज्जीवेण २ परित्तमीसेण ३। अत्ताणुसधणपरा, सुसावगा एरिसा हुति १" एवमुत्सवादिविशेष विनाऽत्यन्तवेषो गृह्ण्युन्मादजनापवादादिजनकमत्युद्भटवेषवाहनालङ्कारादिकर्मापि श्रावको वर्जयेत् यतः "अइरोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जणेहिं संवासो । अइउब्भडो य वेसो, पंच वि गुरुअंपि लहु अंपि १" अतिमलिनाः अतिस्थूलह्रस्वसच्छिद्रवस्त्रादिसामान्यवेषपरिधानेऽपि कुचेलत्वकार्पण्यादिजनापवादोपहसनीयतादि स्यादतः स्वविस्तवयोवस्थानिवासस्थानकुलाद्यनुरूपवेषं कुर्यात् । उचितवेषादावपि प्रमाणनैयत्यं कार्यम् । एवं दन्तकाष्ठाभ्यङ्गतैलोद्वर्तनमज्जनवस्त्रविलेपनाभरणपुष्पफलधूपासनशयनभवनादिस्तथौदनसूपस्नेहशाकपेय खण्डखाद्याद्यशनपानखादिमस्वादिमादेस्त्यक्तुमशक्यस्य व्यक्त्याप्रमाण कार्यं शेषं च त्याज्यमानन्दादिसुश्रावकवत् । कर्मतोऽपि श्रावकेण मुख्यतो निरवद्यकर्मप्रवृत्तिमता भवितव्य तदशक्तावप्यन्यन्तसावद्याविवेकिजननिन्द्यक्रयविक्रयादि कर्म वर्जनीयं शेषकर्मणामपि प्रमाण करणीयम् यतः "रंधणखंडणपीसण-दलणं पयणं च पयमाईण । निश्चपरिमाणकरण, अविरइवधो जओ गुरुओ" आवश्यकचूर्णावप्युक्तम् ॥ इह चेय सामाचारी "भोअणओ सावगो उसग्गेण फासुगं आहार आहारेज्जा तस्सासति अफासुगमपि सचित्तवज्ज तस्स असति अणतकायबहुबीयगाणि परिहरिअव्वाणि इम च अत्थं भोअणओ परिहरइ असणे अणतकाय अल्लगमूलगाइमस च पाणे मंसरसमज्जाइ खादिमेउ उंबरका उंबरवडपिप्पलपिलंखुमादिसादिमे मधुमक्खियादि । अचित्त च आहारेअव्व जदा किर ण होज्ज अचित्तो तो उस्सग्गेण भत्तपच्चक्खाइ ण तरइ ताहे अपवाएण सच्चित्त अणतकाय बहुबीअगवज्ज कम्मओवि अकम्मा ण तरइ जीविउ ताहे अच्चतसावज्जाणि परिहरिज्जति त्ति" इत्थ चेद भोगोपभोगव्रतं भोक्तुं योग्येषु परिमाणकरणेन भवति इतरेषु तु वर्जनेनेति पर्यवसितमिति च श्लोकत्रयेण वर्जनीयानाह ॥

चतुर्विकृतयो निन्द्या, उदुम्बरकपञ्चकम् ।
हिमं विषं च करका, मृज्जाति रात्रिभोजनम् ॥ ३२ ॥
बहुबीजाज्ञातफले, सन्धानानन्तकायिके ।
वृन्ताकं चलितरसं, तुच्छ पुष्पफलादि च ॥ ३३ ॥
आमगोरससंपृक्तं, द्विदलं च विवर्जयेत् ।
द्वाविंशतिरभक्ष्याणि, जैनधर्माधिवासिनः ॥ ३४ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् । जैनधर्मेणार्हतधर्मेणाधिवासितो भावितात्मा पुमान् (द्वाविंशतिः) द्वाविंशतिसंख्याकान्यभक्ष्याणि भोक्तुमनर्हाणि वर्जयेत् त्यजेदिति तृतीयश्लोकान्तेन सबन्धः । तान्येवाह । (चतुर्विकृतय इति) चतुरवयवा विकृतयश्चतुर्विकृतयः शाकपार्थिवादित्वात्समास कीदृश्यस्ता निन्द्याः सकलशिष्टजननिन्दाविषया मद्यमांसमधुनवनीतलक्षणा इत्यर्थः । तद्वर्णानेकजीवसम्मूर्च्छनात् । तथा चाहुः "मज्जे महुम्मि मसम्मि, नवणीए चउत्थए । उप्पज्जति चयति अ, तव्वण्णा तत्थ जतुणो" १ परेऽपि "मद्ये मांसे मधूनि च, नवनीते चतुर्थके । उत्पद्यन्ते विलीयन्ते, सूक्ष्मा जन्तुराशयः" इति । तत्र मद्यं मदिरा तच्च द्विधा काष्ठनिष्पन्नं पिष्टनिष्पन्नं चेति । एतच्च बहुदोषाश्रयान्महानर्थहेतुत्वाच्च त्याज्यं यदाह "गुरुमोहकलहनिद्दा, परिभवउवहासरोसमयहेऊ । मज्जं दुग्गइमूल, हिरिसिरिमइधम्मनासकर ॥ १ ॥ तथा "रसोद्भवाश्च भूयांसो, भवन्ति किल जन्तवः । तस्मान्मद्य न पातव्यं, हिंसापातकभीरुणा ॥२॥ दत्त न दत्तमात्तं च, नात्त कृतमथाकृतम् । मृषोद्यराज्यादिवहा-स्वैरं वदति मद्यपः ॥ ३ ॥ गृहे बहिर्वा मार्गे वा, परद्रव्याणि मूढधीः । वधबन्धादिनिर्भीको, गृह्णात्याच्छिद्य मद्यपः ॥ ४ ॥ बालिकां युवतीं वृद्धां, ब्राह्मणीं श्वपचामपि । भुङ्क्ते परस्त्रियं सद्यो, मद्योन्मादकदर्थितः ॥ ५ ॥ विवेक संयमो ज्ञान, सत्य शौच दया क्षमा । मद्यात्प्रलीयते सर्वं, तृण्या वह्निकणादपि ॥ ६ ॥ श्रूयते किल शाम्बेन, मद्यादन्धकविष्णुना । हत वृष्णिकुल सर्वं, प्लोषिता च पुरी पितु ॥७॥" मांसं च त्रेधा जलचरस्थलचरखचरजन्तूद्भवभेदाच्चर्मरुधिरमांसभेदाद्वा । तद्भक्षणमपि महापापमूलत्वाद्वर्ज्यं यदाहुः "पचिंदियवहभूअ, मस दुग्गंधमसुइबीभच्छ । रक्खपरितुलिअगक्खग—मामयजयण कुणइ मल ॥ १॥ " आमासु अ पक्कासु अ, विपच्चमाणासु मंसपेसीसु । सयय चिअ उववाओ, भणिओ अ निगोअजीवाण " ॥ २ ॥ योगशास्त्रेऽपि । सद्यः सम्मूर्च्छितानन्त-जन्तुसंतानदूषितम् । नरकाध्वनि पाथेय, कोऽश्नीयात्पिशितं सुधीः ॥३॥" सद्योहि जन्तुविशसनकाल एव सम्मूर्च्छिता उत्पन्ना अनन्ता निगोदरूपा ये जन्तवस्तेषां सन्तानः पुन पुनर्भवन तेन दूषितमिति तद्भक्षि मांसभक्षकस्य च घातकत्वमेव । यतः "हन्ता पलस्य विक्रेता, संस्कर्ता भक्षकस्तथा । क्रेतानुमन्ता दाता च, घातका एव यन्मनु ४ तथा भक्षकस्यैवान्यपरिहारेण बन्धकत्व यथा "ये भक्षयन्त्यन्यपलं, स्वभक्षकस्यैवान्यपरिहारेण बन्धकत्व यथा" भक्षक विना५" इति मधुकीयपलपुष्टये । त एव घातका यन्न, वधको भक्षक विना५" इति मधु च माक्षिक १ कौत्तिक २ भ्रामर ३ चेति त्रिधा इदमपि बहुप्राणिविनाशसमुद्भवमिति हेयम् । यत "अनेकजन्तुसंघात-निघातनसमुद्भवम् । जुगुप्सनीयं लालावत्क स्वादयति माक्षिकम् इति" नवनीतमपि गोमहिष्यजाविसम्बन्धेन चतुर्धा तदपि सूक्ष्मजन्तुराशिखानित्वात्त्याज्यमेव । यत " अन्तर्मुहूर्तात्परत, सुसूक्ष्माजन्तुराशयः । यत्र मूर्च्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिरिति । ४ । तथा उदुम्बरकेणोपलक्षित पञ्चक वट १ पिप्पलो २ उदुम्बर ३ प्लक्ष ४ काकोदुम्बरी ५ फललक्षण उदुम्बरकपञ्चक मशकाकारसूक्ष्मबहुजीवानिचितत्वाद्वर्जनीयम् । ततो योगशास्त्रे " उदुम्बरवटप्लक्ष-काकोदुम्बरशाखिनाम् । पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फल कृमिकुलाकुलम् । १ लोकेपि "कोऽपि क्वापि कुतोऽपि कस्यचिदहो चेतस्यकस्माज्जन, केनापि प्रविशत्युदुम्बरफलप्रा-

णि क्रमेण क्षणात् । येनास्मिन्नपि पाटिते विघटिते विस्फोटिते शोटिते, निष्पिष्टे परिगालिते विदालिते निर्यात्यसौ वा न वा ९ तथा हिम तुहिन तदप्यसङ्ख्येयाप्कायरूपत्वात्याज्यम् १० विषम- हिफेनादि मन्त्रोपहतवीर्यमप्युदरान्तर्वर्तिगण्डोलकादिजीवघात- हेतुत्वान्मरणसमये महामोहोत्पादकत्वाच्च हेयम् ११ करका रूपीभूता आप । असङ्ख्याप्कायित्वाद्वर्ज्या ॥ नन्वेवमसङ्ख्या- प्कायित्वेनाऽभक्ष्यत्वे जलस्याप्यभक्ष्यत्वापत्तिरिति चेत्सत्यम् । असंख्यजीवमयत्वेऽपि जलमन्तरा निर्वाहाभावान्न तस्य तथोक्तिः १२ तथा मृज्जाति सर्वा अपि मृत्तिका दर्दुरादिपञ्चेन्द्रियप्राण्यु- त्पत्तिनिमित्तत्वादिना मरणाद्यनर्थकारित्वात् त्याज्याः । जातिग्र- हण खटिकादिसूचकं तद्भक्षणस्यामाश्मर्यादिदोषजनकत्वात् । मृद्ग्रहणं चोपलक्षण तेन सुधाद्यपि वर्जनीयं तद्भक्षकस्यान्त्रशा- टाद्यनर्थसंभवात् मृद्भक्षणे चासङ्ख्येयपृथिवीकायजीवाना विरा- धनाद्यपि लवणमप्यसङ्ख्यपृथिवीकायात्मकमिति सचित्त त्याज्यं प्रासुक ग्राह्यं प्रासुकत्व चाग्न्यादिप्रबलशस्त्रयोगेनैव नान्यथा तत्र पृथिवीकायजीवानामसङ्ख्येयत्वेनात्यन्तसूक्ष्मत्वात् तथा च पञ्चमाङ्गे १९ शतकतृतीयोद्देशके निर्दिष्टोऽयमर्थ वज्रमय्यां शि- लायां स्वल्पपृथिवीकायस्य वज्रलोष्टकेनैकविंशतिवारान्पेषणे सत्येके केचन जीवा ये स्पृष्टा अपि नेति १३ तथा रात्रौ नक्त भोजन भुक्तिः रात्रिभोजन तदपि हेयं बहुविधजीवसंपातसभ- येनैहिकपारलौकिकानेकदोषदुष्टत्वात् यदभिहित " मेहं पिपी- लिआओ, हणंति वमण च मच्छिआ कुणइ । जूआ जलोद- रत्तं, कोलिअओ कोढरोगं च ॥ १ ॥ वाला सरस्स भंग, कंटोल- गाल्गलम्मि दारु च । तालुम्मि विंधइ अली, वंजणमज्झम्मि भु- ञ्जतो ॥ २ ॥ " व्यञ्जनमिह वार्त्ताकशाकरूपमभिप्रेत तद्वृन्त च वृश्चिकाकारमेव स्यादिति वृश्चिकस्यासूक्ष्मस्यापि तन्मध्यप- तितस्यालक्ष्यत्वाद्भोज्यता सम्भवतीति विशेष । निशीथचूर्णा- वपि " गिहकोइलअवयवसम्मिस्सेण भुत्तेण पोट्टे किल गिह- कोइला संमुच्छंति ' एव सर्पादिलालामलमूत्रादिपाताद्यपि " तथा " मांलंति महिअलं जा-मिणीसु रयणी य रायमतेण । ते वि च्छलंति हु फुरू, रयणीए भुंजमाणं तु ॥ १ ॥ अपि च निशा- भोजने क्रियमाणे अवश्यं पाकः संभवी । तत्र षट् जीवनिकायव- धोऽवश्यंभावी भाजनधावनादौ च जलगतजन्तुनाशः जलो- ज्झनेन भूमिगतकुन्थुपिपीलिकादिजन्तुघातश्च भवति तत्प्राणिर- क्षणकाङ्क्षयाऽपि निशाभोजन न कर्तव्यम् । यदाहुः " जीवाण कुंथुमाईण, घायण भाणधोअणाईसु । एमाइ रयणिभोयण-दो- से को साहिउ तरइ ॥ १ ॥ " यद्यपि च सिद्धमोदकादिखर्जूर- द्राक्षादिभक्षणे नास्त्यन्नपाको नच भाजनधावनादिसंभवस्तथापि कुन्थुपनकादिसंघातसंभवात्तस्यापि त्याग एव शुक्तो यदुक्त नि- शीथभाष्ये "जइवि हु फासुगदव्व, कुंथुपणगा तहावि दुप्पस्सा । पच्चक्खणा णो वि हु, राईभत्तं परिहरंति ॥ १ ॥ जइ वि हु पि- पीलिगाई, दीसंति पईवमाइउज्जोए । तह वि खलु अणाइन्न, मू- लवयविराहणाजम्म ॥ २ " एतत्फल च " उलूककाकमार्जार- गृध्रशम्बरशूकराः । अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात्" परेऽपि पठन्ति "मृते स्वजनमात्रेऽपि, सूतक जायते किल । अस्त गते दिवानाथे, भोजन क्रियते कथम् ॥ १ ॥ रक्तीभवन्ति तोयानि, अन्नानि पिशितानि च । रात्रौ भोजनशक्तस्य, ग्रासे तन्मांसभ- क्षणम् ॥ २ ॥ स्कन्दपुराणे रुद्रप्रणीतकपालमोचनस्तोत्रे सूर्यस्तु- तिस्तोत्रेऽपि " एकभक्ताशनान्नित्य-मग्निहोत्रफल लभेत् । अन- स्तभोजने नित्य, तीर्थयात्राफल भवेत् ॥१॥" तथा " नैवाहुतिर्न च स्नान, न श्राद्ध देवतार्चनम् । दान वा विहित रात्रौ, भोजन- न्तु विशेषत ॥२॥" आयुर्वेदेऽपि । " हृन्नाभिपद्मसङ्कोच-श्चण्ड- रोचेरपायतः । अतो नक्त न भोक्तव्य, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥ ३ ॥" तस्माद्विवेकिना रात्रौ चतुर्विधोऽप्याहार परिहार्यस्तदशक्तौ त्व- शन खादिमं च त्याज्यमेव स्वादिम पूगीफलाद्यपि दिवा सम्य- क्शोधनादियतनयैव गृह्णात्यन्यथा त्रसहिंसादयोऽपि दोषाः मुख्यवृत्त्या च प्रातः साय च रात्रिप्रत्यासन्नत्वाद् द्वे द्वे घटिके भो- जन त्यजेद्यतो योगशास्त्रे "अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् । निशाभोजनदोषज्ञो-ऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥ १ ॥" अत एवागमे सर्वजघन्य प्रत्याख्यान मुहूर्तप्रमाण नमस्कार- सहितमुच्यते जातु तत्तत्कार्यव्यग्रत्वादिना तथा न शक्नोति तदापि सूर्योदयास्तनिर्णयमपेक्षत एवातपदर्शनादिनाऽन्यथा रात्रिभोजनदोषः । अन्धकारभवनेऽपि भीरुया प्रदीपाकरणादि- ना त्रसादिहिंसानियमभङ्गमायामृषावादादयोऽधिकदोषा अपि यत " न करेमित्ति भणित्ता, त चेव निसेवए पुणो पाव । पच्च- क्खमुसावाई, मायानियडी पसंगो अ ॥१॥ पाव काऊण सयं, अ- प्पाण सुद्धमेव वाहरइ । दुगुण करेइ पाव, बीअ बालस्स मंदत्त २" तथा बहुबीजेति बहुबीज च अज्ञातफल चेति द्वन्द्वस्तत्र बहू- नि बीजानि वर्तन्ते यस्मिन् तद्बहुबीज पम्पोटकादिकमभ्यन्तर- पुटादिरहित केवल बीजमय तच्च प्रतिबीज जीवोपमर्दसंभवाद्व- र्जनीय यच्चाभ्यन्तरपुटादिसहितबीजमय दाडिमटिण्डुरादि त- न्नामकतया व्यवहरन्ति १५ अज्ञात च तत्फल चेति कर्मधारयः अज्ञातफल स्वयं परेण वा यद् न ज्ञातफलमुपलक्षणत्वात्पत्र तद- भक्ष्यं निषिद्धफले विषफले वा अज्ञानात्प्रवृत्तिसंभवात् । अज्ञान- तो हि प्रतिषिद्धे फले प्रवर्तमानस्य व्रतभङ्गः विषफले तु जी- वितविनाश १६ तथा संधान चानन्तकायिक चेति द्वन्द्वस्तत्र संधान निम्बकबिल्वकादीनामनेकत्रससक्तिनिमित्तत्वाद्वर्ज्यं सं- धानस्य च व्यवहारवृत्त्या दिनत्रयात्परतोऽभक्षत्वमाचक्षते । यो- गशास्त्रवृत्तावपि " संधानमाम्रफलादी-नां यदि संसक्त भवेत् । तदा जिनधर्मपरा-यण' कृपालुत्यास्त्यजेदिति । १७। अनन्ताः का- यिका जीवा यत्र तत् अनन्तकायिकम् । अनन्तजन्तुसन्तानन- िपातननिमित्तत्वात् वर्ज्यम् (४०) (अनन्तकायिकव्याख्या स्व- स्थाने उक्ता) अन्यदप्यभक्ष्य चाचित्तीभूतमपि परिहार्यं निः शूकतालौल्यवृद्ध्यादिदोषसंभवात् परपरया सचित्ततद्ग्रहणप्र- सङ्गाच्च यथोक्तम् "इक्केण कयमकज्ज, करेइ तप्पच्चया पुणो अन्नो। सायाबहुलपरंपर-वुच्छेओ संजमतवाण । १ । " अत एवोत्का- लितसेल्लरकरालार्द्रकसूरणवृन्ताकादि प्रासुकमपि सर्वं वर्ज्यं मू- लकस्तु पञ्चाङ्गोऽपि त्याज्यः । शुण्ठ्यादि तु नाम स्वेदभेदादि- ना कल्पते इति श्राद्धविधिवृत्तौ । १८ । तथा वृन्ताक निद्राबाहु- ल्यमदनोद्दीपनादिदोषपोषकत्वात्त्याज्यम् । पठन्ति च परेऽपि च " यस्तु वृन्ताककालिङ्ग-मूलकानां च भक्षकः । अन्तकाले स- मूढात्मा, न स्मरिष्यति मां प्रिये" इति ।१९। तथा चलितो विन- ष्टो रस स्वाद उपलक्षणत्वाद्वर्णादिर्यस्य तच्चलितरसं कुथिता- न्नपर्युषितद्विदलपूपिकादि केवलजलराद्धकूराद्यनेकजन्तुसंसक्त- त्वात् पुष्पितौदनपक्वान्नादिदिनद्वयातीतदध्याद्यपि च तत्र पक्वा- न्नाद्याश्रित्य चैवमुक्तम् । "वासासु पन्नरदिवस , सीउण्हकालेसु मासदिणवीस । उग्गाहिम जईण, कप्पइ आरब्भ पढम दिणे" केचित्त्वस्या गाथाया अलभ्यमानस्थानत्व वदन्तो या- वद्गन्धरसादिना न विनश्यति तावदवगाहिम शुद्ध्यती- त्याहुः दिनद्वयातीते दध्यपि जीवससक्तिर्यथा " जइ मुग्ग- मासमाई, विदल कच्चम्मि गोरसे पडइ । ता तसजीवुप्पत्ति, भणंति दहिएवि दुदिणुवरिं " १ हारिभद्रदशवैकालिक- वृत्तावपि रसजास्तक्रारनालदधितेमनादिषु पायुकृम्याकृत- योऽतिसूक्ष्मा भवन्तीति दध्यहर्द्वितयातीतमिति ॥ हैममपि।२०।

तथा तुच्छं असारं पुष्पं च फल च ते आदौ यस्य तत् पुष्पफलादि । चः समुच्चये आदिशब्दान्मूलपत्रादिपरिग्रहस्तत्र तुच्छ पुष्पमरणिकरीरशिग्रुमधूकादिसंबन्धि तुच्छं फलम् । मधूकजम्बूटीवरूपीलुपक्वकरमदेङ्गुदीफलपिचुमकुरवालओलिवृहद्बदरकच्छकुट्टिभडस्वसखसादि २ प्रावृषि तन्दुलीयकादेश्च पत्रं बहुजीवसंमिश्रितत्वात् ३ त्याज्यम् । अन्यदप्येतादृशं मूलादि वल्लाऽर्द्धनिष्पन्नकोमलचवलकमुद्गसिम्बादिकम् । तद्भक्षणे हि न तथाविधतृप्तिर्विराधना च भूयसी २१ तथा आमेति आम च तद्गोरसं च आमगोरसं तत्र सपृक्तमामगोरससंपृक्तम् । कच्चदुग्धदधितक्रसंमिलितम् । तदूद्विदलं केवलिगम्यसूक्ष्मजीवसंसक्तिसंभवाव हेयम् । उक्त च संसक्तनिर्युक्तादौ "सव्वेसु वि देसेसुं, सव्वेसु वि चेव तह य कालेसु । कुसिणेसु आमगोरस-जुत्तेसु निगोअपंचिंदी" द्विदल लक्षण त्वेवमाहुः "जम्मि उ पीलिज्जंते, नेहो नहु होइ बिंति तं विदलं । विदले वि हु उप्पन्नं, नेह जुअं होइ नो विदलं" १ इह हीयं स्थितिः केचिद्भावा हेतुगम्याः केचित्त्वागमगम्याः । तत्र ये यथा हेतुगम्यास्ते स्तवप्रवचनधरैः प्रतिपादनीयाः आगमगम्येषु हेतून् हेतुगम्येषु त्वागममात्रं प्रतिपादयन्नाज्ञाविराधकः स्यात् । यतः " जे हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे अ आगमिओ । सो समयपन्नवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो " इति । आमगोरससपृक्तद्विदले पुष्पितौदने अहर्द्वितयातीते दध्नि कुथितान्ने च न हेतुगम्यो जीवसद्भावः किंत्वागमगम्य एव तेन तेषु ये जन्तवस्ते केवलिभिर्दृष्टा इति द्वाविंशति अभक्ष्याणि वर्जयेदिति पूर्वं योजितमेवेति श्लोकत्रयार्थः । योगशास्त्रे तु षोडशवर्जनीयानि प्रतिपादितानि यथा "मद्य मांसं नवनीत, मधूदुम्बरपञ्चकम् । अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् ।१। आमगोरससपृक्त-द्विदलं पुष्पितौदनम् । दध्यहर्द्वितयातीतं,क्वथितान्नं च वर्जयेत् ।२। अन्यसकलाभक्ष्यवर्जनं च । जन्तुमिश्रं फलं पुष्पं, पत्रं चान्यदपि त्यजेत् । संधानमपि संसक्तं,जिनधर्मपरायणः ।३। इति सग्रहश्लोकेनोक्तम् । अत्र च सप्तमव्रते सचित्ताचित्तमिश्रव्यक्तिः श्राद्धविध्युक्ता पूर्वं सम्यक् ज्ञेया युज्यते यथा चतुर्दशादिनियमाः । सुपाल्या भवन्तीति ॥ (ध०) (अचित्तव्यक्तिः स्वस्थाने) एवं सचित्ताचित्तादिव्यक्तिं ज्ञात्वा सप्तमव्रतं नामग्राहं सचित्तादिसर्वभोग्यवस्तुनैयत्यकरणादिना स्वीकार्यं यथानन्दकामदेवादिभिः स्वीकृत तथा करणाशक्तौ तु सामान्यतोऽपि सचित्तादिनियमा कार्यास्ते चैवम् ॥

सचित्त १ दव्व २ विगइ ३ वाणह ४ तंबोल ५ वत्थ ६ कुसुमेसु ७ । वाहण ८ सयण ९ विलेवण १० बंभ ११ दिसि १२ न्हाण १३ भत्तेसु १४ ॥

१ तत्र मुख्यवृत्त्या सुश्रावकेण सचित्तं सर्वथा त्याज्यं तदशक्तौ नामग्राह तथाऽप्यशक्तौ सामान्यत एकद्व्यादिनियम्य यतः "निरवज्जाहारेणं " इति पूर्वलिखितगाथे पर प्रतिदिनैकसचित्ताभिग्राहिणो हि पृथक् दिनेषु परावर्तनेन सर्वसचित्तग्रहणमपि स्यात्तथा च न विशेषविरतिः नामग्राह सचित्ताभिग्रहे तु तदन्यसर्वसचित्तनिषेधरूपयावज्जीवस्पष्टमेवाधिकं फलम् उक्त च " पुप्फफलाण च रस, सुराइमसाणमहिलिआण च । जाणता जे विरया, ते दुक्करकारए वंदे"सचित्तेष्वपि नागवल्लीदलानि दुस्त्यजानि शेषसचित्तानां प्रायः प्रासुकीभवन स्वल्पकालमध्येऽपि हि भवति एषु तु निरन्तरं जलक्लेदादिना सचित्ततासुस्थैव कुन्थ्वादिविराधनापि भूयसी च तत एव पापभीरुणा त्याज्यानि अन्यथाऽपि रात्रौ न व्यापार्याणि रात्रिव्यापारिणोऽपि दिवा संशोधनादियतनाया एव मुख्यता । ब्रह्मचारिणा तु कामाङ्गत्वात्त्याज्यान्येव सचित्तभक्षणे दोषस्तु अनेकजीवविराधनारूपः यत प्रत्येकसचित्तेऽप्येकस्मिन् पत्रफलादावसंख्यजीवविराधनासंभवः यदागमः "जं भणिअं पज्जत्तग, निस्साए वुक्कमंत अपज्जत्ता । जत्थेगो पज्जत्तो, तत्थ असंखा अपज्जत्ता " बादरेष्वेकेन्द्रियेष्वेवमुक्तं सूक्ष्मेषु तु यत्रैकोऽपर्याप्तस्तत्र तन्निश्राया नियमादसंख्याः पर्याप्ताः स्युरित्याचाराङ्गवृत्त्यादौ प्रोक्तम् । एवमेकस्मिन्नपि पत्रादावसंख्यजीवविराधना तदाश्रितजलनील्यादि संभवे त्वनन्ता अपि जललवणादि वाऽसंख्यजीवात्मकमेव यदार्षम् । " एगम्मि उदगबिंदुम्मि, जे जीवा जिणवरेहिं पन्नत्ता । ते जइ सरिसवमित्ता, जंबूदीवे न मायंति ।१। अद्दामलप्पमाणे, पुढविक्काये हवंति जे जीवा । ते पारेवयमित्ता, जंबुद्दीवे न मायंति " सर्वसचित्तत्यागेऽम्बडपरिव्राजकसप्तशतशिष्यनिदर्शनम् । एवं सचित्तत्यागे यतनीयमिति प्रथमनियमः ॥ सचित्तविकृतिवर्जं यन्मुखे क्षिप्यते तत्सर्वं द्रव्य खिचडीरोटिकानिर्विकृतिकमोदकलपनश्रीपर्पटिकाचूरिमकरम्बकक्षैरेय्यादिकं बहुधान्यादिनिष्पन्नमपि परिणामान्तरापत्तेरेकैकमेव द्रव्यमेकधान्यनिष्पन्नान्यपि पूलिकास्थूलरोटकमण्डकपर्पटकघूघरीटोकलथूलीबाटकणिकादीनि पृथक् २ नामास्वादवत्त्वेन पृथक् २ द्रव्याणि फलफलिकादौ तु नामैक्ये भिन्नास्वादव्यक्तेः परिणामान्तराभावाच्च । बहुद्रव्यत्वमन्यथा वा संप्रदायादिवशाद्द्रव्याणि गणनीयानि धातुमयशिलाकाकराङ्गुल्यादिकं द्रव्यमध्ये न गणयन्ति २ विकृतयो भक्ष्याः षट् दुग्ध १ दधि २ घृत ३ तैल ४ गुड ५ सर्वपक्वान्न ६ भेदात् ३ (वाणहत्ति) उपानद्युग्मं मोचकयुग्म वा काष्ठपादुकादि तु बहुजीवविराधनाहेतुत्वात्त्याज्यमेव श्रावकैः ४ ताम्बूलपत्रपूगखदिरवटिकाकत्थकादिस्वाद्यिमरूपम् ।५। वस्त्र पञ्चाङ्गादिवेष धौतिकपौतिकरात्रिवस्त्रादि वेषे न गण्यते ।६। कुसुमानि शिरःकण्ठकपशय्योच्छीर्षकाद्यर्हाणि तन्नियमेऽपि देवशेषाः कल्पन्ते । ७ । वाहन रथाश्वादि ८ शयनं खट्वादि ९ विलेपन भोगार्थं चन्दनाञ्जनादिचूर्ण कस्तूर्यादि तन्नियमे देवपूजादौ तिलकस्वहस्तकङ्कणधूपनादि कल्पते । १० । अब्रह्म दिवा रात्रौ पत्न्याद्याश्रित्य ११ दिक्परिमाण सर्वतोऽमुकदिशि वा इयदवधिगमनादिनियमनम् ।१२। स्नान तैलाभ्यङ्गादिपूर्वकं देवपूजार्थं करणेन नियमभङ्गः लौकिककारणे च यतना रक्ष्या ।१३।भक्तं राद्धधान्यसुखभक्षिकादि सर्वं त्रिचतु सेरादिमित खरबूजादिग्रहणे बहवोऽपि सेराः स्युः ।१४। एतदुपलक्षणत्वादन्येऽपि शाकफलधान्यादिप्रमाणारम्भनैयत्यादिनियमा यथाशक्ति ग्राह्या इत्युक्तं भोगोपभोगव्रतम् ॥ ध० २ अधि० । इदमपि चातिचाररहितमनुपालनीयमित्यतोऽस्यैवातिचारानभिधित्सुराह ॥

भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच अइआरा जाणिअव्वा न सामायरिअव्वा तं जहा सचित्ताहारे १ सचित्तपडिबद्धाहारे २ अप्पोलिओसहिभक्खणया सचित्तसम्मिस्साहारे (पाठान्तरम्)३ दुप्पोलिओसहिभक्खणया ४ तुच्छोसहिभक्खणया ॥

भोजनतो यद् व्रतमुक्त तदाश्रित्य श्रमणोपासकेनापि पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्यास्तद्यथा सचित्ताहारः चित्त चेतना संज्ञान उपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः सचित्तश्चासावाहारश्च २ सचित्तो वाहारो यस्य सचित्तमाहारयतीति वा मूलकन्दकार्दकादिसाधारणप्रत्येकतरुशरीराणि सचित्तानि सचित्त पृथिव्याद्याहारयतीति भावना । तथा सचित्तप्रतिबद्धाहारो यथा वृक्षस्थ-

तेषां गोदाद्दिपक्वफलानि वा तथा अपक्वौषधिभक्षणत्वामिद
इ प्रतीत सं-ासमिश्राहार इति पाठान्तरं सचित्तेन सन्मिश्र
आहार सचित्तसन्मिश्राहार घल्ल्यादिपुष्पादिना सन्मिश्र तथा
दुष्पक्वौषधेर्भक्षणतो दुष्पक्वा अभिन्ना इत्यर्थ. तद्भक्षणता । तथा
तुच्छौषधिभक्षणता तुच्छा ह्यसारा मुद्गफलीप्रभृतय अत्र महती
वराधना कृत्वा च तुष्टिर्यद्वाज्ञिरर्थैहिकोऽप्यपाय सम्भाव्यते ।
'एत्थ संगरफायगो उदाहरणम्-एगो खेत्तरक्खगो मे गालो खाइ
या निग्गओ भायत पेच्छइ ततो पक्किएइ ता खायइ रन्नो कोउ-
गण पोट्ट फालिय कतियाओ खाइयाओ होज्जति नवारं फेण
ण्णं न किंचि अत्थि एव्य भोजनत" इति गतम् । आव० ६ अ०॥

सचित्तस्तत्प्रतिबद्धः, संमिश्रोऽभिषवस्तथा ।
दुष्पक्वाहार इत्येते, द्वैतीयीके गुणव्रते ॥ ५० ॥

सह चित्तेन चेतनया वर्तते य स सचित्त. । तेन सचित्तेन
तिबद्धः सबद्धस्तत्प्रतिबद्ध । सचित्तेन मिश्र शबल सम्मिश्र।
भिषवोऽनेकद्रव्यसधाननिष्पन्न दुष्पक्वो मन्दपक्व स चासा-
हारश्चेत्यत्रीचाराद्द्वैतीयीके द्वितीये स्वार्थे इकण् गुणव्रते
भोगोपभोगपरिमाणाख्ये हेया इति शेषस्तत्र सचित्त कन्दमूल-
ादिः पृथिवीकायादिर्वा । इह च निवृत्तिविपर्ययेऽप्यपि सचि-
ाहारे प्रवृत्तावतिचाराभिधानं व्रतसापेक्षस्यानाभोगातिक्रमादि-
प्रवर्तनप्रवृत्त्या द्रष्टव्यमन्यथा भङ्ग एव स्यात् । तत्रापि कृतसचि-
परिहारस्य कृतसचित्तपरिमाणस्य वा सचित्तमधिकसचित्तं
ऽनाभोगादिना खादत सचित्ताहाररूप प्रथमोऽतिचार ।
हारशब्दस्तु दुष्पक्वाहार इत्यस्मादाकृष्य सर्वस्य एवमुत्तरे-
ष्वाहारशब्दयोजना भाव्या १ सचित्तप्रतिबद्ध सचेतनवृक्षा-
दिसंबद्धो गुन्दादि पक्वफलादिर्वा सचित्तान्तर्बीज खर्जूराम्रा-
दि तदाहारो हि सचित्ताहारवर्जकस्यानाभोगादिना सावद्या-
हारप्रवृत्तिरूपत्वादतिचार । अथवा बीज त्यक्ष्यामि सचेतन-
ात्तस्य कटाह त्वचेतनत्वाद्भक्षयिष्यामीति धिया पक्व खर्जूरा-
दिकं मुखे प्रक्षिपत सचित्तवर्जकस्य सचित्तप्रतिबद्धाहारो
द्वितीय । २ । संमिश्रोऽर्द्धपरिणतजलादिरार्द्रकदाडिमबीजकपू-
रितचिर्भटिकादिमिश्र पूरणादिर्वा तिलमिश्रो यवधानादिर्वा एतदा-
हारोऽप्यनाभोगातिक्रमादिनाऽतिचार । अथवा सभवत्सचित्ता-
वयवस्याऽपक्वकणिक्कादे पिष्टत्वादिनाऽचेतनमिति बुद्ध्याहार
मिश्राहारो व्रतसापेक्षत्वादतिचार. इति तृतीय. । अभिषव
सौवीरकादिर्मांसप्रकारखण्डकादिर्वा सुरा मद्याद्यभिस्यन्दिवृ-
ष्यद्रव्योपयोगो वाऽयमपि सावद्याहारवर्जकस्यानाभोगादिनाऽ
तिचार चतुर्थ. । ४ । तथा दुष्पक्वोऽर्द्धस्विन्नपृथुकतन्दुलयवगोधू-
मस्थूलमण्डकफलकुक्कुटादिरैहिकप्रत्यवायकारी यावता चांशेन
सचित्तस्तावता परलोकमप्युपहन्ति पृथुकादेर्दुष्पक्वतया सचेत-
नाचेतनावयवत्वात्पक्वत्वेनाऽचेतन इति भुञ्जानस्यातिचार इति
पञ्चम. । ५ । केचित्त्वपक्वाहारमप्यतिचारत्वेन वर्णयन्ति । अपक्व
यदग्निनाऽसस्कृत एष च सचित्ताहारे प्रथमातिचारेऽन्तर्भ-
वति तुच्छौषधिभक्षणमपि केचिदतिचारमाहुस्तुच्छौषधयश्च मु-
द्गिकोमलशिम्बीप्रमुखास्ताश्च यदि सचित्तास्तदा सचित्ताति-
चार एवान्तर्भवन्ति । अथाग्निपाकादिनाऽचित्तास्तर्हि को दोष
इति एव रात्रिभोजनमद्यादिनिवृत्तिष्वपि अनाभोगातिक्रमा-
दिभिरतिचारा भावनीया । इत्यमतिचारव्याख्यान तत्त्वार्थवृत्त्या-
नुसारेण ज्ञेयम् । आवश्यकपञ्चाशकवृत्त्यादिषु तु अपक्वदु-
ष्पक्वतुच्छौषधिभक्षणस्य क्रमेण तृतीयाद्यतिचारत्व दर्शितम् ।
रात्रिभोजनपरिहारादित्यम् । नन्वपक्वौषधयो यदि सचेतनास्तदा स-
चित्तमित्याद्रिपदेनैवोक्तार्थत्वात्पुनर्वचनमसगतमथाचेतनास्तदा-

कोऽतिचारो निरवद्यत्वात्तद्भक्षणस्येति सत्यम् किं त्वाद्यावती-
चारौ सचेतनकन्दफलादिविषयावितरे तु शाल्याद्यौषधिविषया
इति विषयकृतो भेदोऽत एव मूलसूत्रे "अप्पउलिओसहिभक्खण-
ये"त्याद्युक्त ततोऽनाभोगातिक्रमादिनाऽपक्वौषधिभक्षणमतिचारो
ऽथवा कणिक्कादेरपक्वतया सभवत्सचित्तावयवस्य पिष्टत्वादि-
नाऽचेतनमिदमिति बुद्ध्या भक्षण व्रतसापेक्षत्वादतिचार । दु-
ष्पक्वौषधिभक्षणभावना तु पूर्वोक्तैव तुच्छौषधिभक्षणे त्वित्थ न
तुच्छौषधयोऽपक्वाः दुष्पक्वा सम्यक्पक्वा. वा स्युर्यदाद्यौ पक्षौ
तदा तृतीयचतुर्थातिचाराभ्यामेवास्योक्तत्वात्पुनरुक्तत्वदोष. । अथ
सम्यक्पक्वास्तदा निरवद्यत्वादेव कातिचारता तद्भक्षणस्येति सत्य
किं तु यथाऽऽद्यद्वयस्योत्तरद्वयस्य च सचित्तत्वे समानेऽप्यनो-
षध्योपधिकृतो विशेष एवमस्य सचेतनौषधिताभ्यां समानत्वेऽ-
पि अतुच्छतुच्छत्वकृतो विशेषो हृदयस्तत्र च कोमलमुद्गादिफली-
विशिष्टतृप्त्यकारकात्वेन तुच्छा सचित्ता एवानाभोगादिना
भुञ्जानस्य तुच्छौषधिभक्षणमतिचार. । अथवात्यन्तावद्यभीरुतया
ऽचित्ताहारताभ्युपगन्ता तत्र च यत्तृप्तिकारक तदचित्तीकृत्यापि
भक्षयतु सचेतनस्यैव वर्जनीयत्वाभ्युपगमाद्यत्पुनस्तृप्तिजनना-
समर्थाभ्यौषधीलौल्येनाचित्तीकृत्य भुङ्क्ते तत्तुच्छौषधिभक्षण-
मतिचार. । तत्र भावतो विरतेर्विराधित्वाद्द्रव्यतस्तु पालितत्वादि-
ति पञ्चाशकवृत्तौ । अथ भोगोपभोगातिचारानुपसहरन् भोगोप-
भोगव्रतस्य लक्षणान्तर तद्गतांश्चातिचारानुपदर्शयितुमाह ॥

अमी भोजनमाश्रित्य, त्यक्तव्याः कर्मतः पुनः ।
खरकर्म त्रिघ्नपञ्च, कर्मादानानि तन्मलाः ॥ ४१ ॥

अमी उक्तस्वरूपा पञ्चातिचारा भोजनमाश्रित्य त्यक्तव्या
हेया । अथ कर्मतस्तानाह-तत्र भोगोपभोगसाधनं यद्द्रव्य
तदुपार्जनाय यत्कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते
कारणे कार्योपचारात् इति व्याख्यानान्तर पूर्वमुक्तमेव । ततश्च
कर्मत कर्माश्रित्य भोगोपभोगोत्पादकव्यापारमाश्रित्येत्यर्थ ।
पुन खरं कठोर यत्कर्म कोट्टपालनगुप्तिपालनादिरूप तत्त्याज्य
तन्मलास्तस्मिन् खरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते मला
अतिचारा त्रिघ्ना त्रिगुणिताः पञ्चदशेत्यर्थ । कर्मादानानि कर्मा-
दानशब्दवाच्या भवन्ति शेष. कर्मणां पापप्रकृतीनामादानानि-
कारणानीति कृत्वा तेऽपि त्यक्तव्या इति पूर्वक्रियान्वयः. । ध०२
अधि०। अधुना कर्मतो यद् व्रतमुक्तं तदप्यतिचाररहितमनुपाल-
नीयमित्यतोऽस्यातिचारानभिधित्सुराह ।

कम्मओण समणोवासएणं इमाइं पन्नरसकम्मादाणाइं
जाणिअव्वाइं न समायरिअव्वाइं तंजहा इंगालकम्मे १ वण-
कम्मे २ साडीकम्मे ३ भाडीकम्मे ४ फोडीकम्मे ५ दंतवाणि-
ज्जे ६ लक्खवाणिज्जे ७ रसवाणिज्जे ८ केसवाणिज्जे ९
विसवाणिज्जे १० जंतपीलणकम्मे ११ निलंछणकम्मे १२
दवग्गिदावणया १३ सरदहतलावसोसणया १४ असईपो-
सणया ॥ १५ ॥ आव० ६ अ०

(सूत्रव्याख्या इंगालकम्मादिषु शब्देषु)

उवभोगपरिभोगाइ(ति) रित्त-उपभोगपरिभोगातिरिक्त-न०
उपभोगविषयभूतानि यानि द्रव्याणि स्नानप्रक्रमे उष्णोदकोद्व-
र्तनकामलकादीनि भोजनप्रक्रमेऽशनपानादीनि तेषु यदतिरिक्तम-
धिकमात्मादीनामनर्थक्रिया सिद्धावप्यवतिष्ठते तदुपभोगपरि-
भोगातिरिक्तम् । आत्मोपभोगातिरिक्ते, तदुपचारात्प्रमादमता-

तिचारे, तेन आत्मोपभोगातिरिक्तेन परेषां स्नानभोजनादिरनर्थदण्डो भवति । अयं च प्रमादमतस्यैवातिचार इति । उपा० १ अ० ।

उवभोगपरिभोगाइरेग-उपभोगपरिभोगातिरेक-पुं० उपभोगपरिभोगयोरतिरेकः अधिकमुपभोगपरिभोगातिरेकः । प्रमादचरितस्यातिचारे, इह किल स्वोपयोगिभ्योऽधिकानि ताम्बूसमोदकमएरुकादीन्युपभोगाङ्गानि तडागादिषु न नेतव्यानि अन्यथा हि खिद्गादयस्तानि भजंते ततश्चात्मनो निरर्थककर्मबन्धादिदोष । अयमपि विषयात्मकत्वात् प्रमादचरितस्यातिचारः । ध० र० । श्रा० ।

उवभोगत्त-उपभोग्यत्व-न० उपभोगयोग्यतायाम् । स० ।

उवमा-उपमा-स्त्री० उपमानमुपमा-उप-मा-भावे-अ-अनेन गवयेन सदृशो गौरिति सादृश्यप्रतिपत्तिरूपे प्रमाणभेदे, ॥उक्तं च ॥ " गां दृष्ट्वाऽयमरण्येऽन्य, गवय वीक्षते यदा । भूयोऽवयवसामान्य-भाजं वर्तुलकण्ठकम् ॥ १ ॥ तस्यामेव त्ववस्थायां यदि ज्ञानं प्रवर्तते । पशुनैतेन तुल्योऽसौ, गोपिण्ड इति सोपमेति ॥ २ ॥ " श्रुतातिदेशवाक्यसमानार्थोपलम्भने, सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञाने च । स्था० ४ ठा० ॥ उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमा । द० १ अ० । सूत्र० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य प्रथमाग्रमहिष्याम् । स्था० ८ ठा० । खाद्यविशेषे, । जी ३ प्रति० । इदानीं मद्दश्यमाने प्रश्नव्याकरणानां प्रथमेऽध्ययने च । स्था० १० ठा० ।

उवमाण-उपमान-न० उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम् । दृष्टान्ते, । द० १ अ० । प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधने, यथा गौर्गवयस्तथा । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । उपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सादृश्यालम्बने, । सम्म० । (औपम्यभेदा ओवम्म शब्दे वक्ष्यन्ते) ॥

उपमानस्य प्रमाणान्तरताविचारः ॥ उपमानमपि प्रमाणान्तर तस्य लक्षण यथा " दृश्यमानाद्यदन्यत्र, विज्ञानमुपजायते । साध्यदृश्योपाधितज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृत " यथोक्तमुपमानमपि सादृश्यादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शन गोस्मरणस्येति अस्यायमर्थः येन प्रतिपात्रा गौरुपलब्धो न गवयो नवातिदेशवाक्य गौरिव गवय इति श्रुत तस्याटव्यां पर्यटतः गवयदर्शने प्रथमे उपजायते परोक्षगवि सादृश्यज्ञान यदुत्पद्यते अनेन सदृशो गौरिति तदुपमानमिति । तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौस्तद्विशिष्टं वा सादृश्यं च वस्तुभूतमेव य दाह । " सादृश्यस्य च वस्तुत्व, न शक्यमववाधितुम् । भूयोऽवयवसामान्य-योगो जात्यन्तरस्य तदिति " अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यमुपपन्नं यतो गवयेन प्रत्यक्षेण गवय एव विषयीकृतो न पुनरसन्निहितोऽपि सादृश्यविशिष्टो गौः तद्विशिष्ट वा सादृश्यम् । यदपि तस्य पूर्व गौरिति प्रत्यक्षमभूत्तस्यापि गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एवेति कथं गवि तदपेक्षं तत्सादृश्यज्ञानम् । तदेवं गवयसदृशो गौरिति प्रागप्रतिपत्तेरनधिगतार्थाधिगन्तृपरोक्षे गवयदर्शनात् सादृश्यज्ञानम् । तदुक्तं " तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्, सादृश्येन विशेषित । प्रमेयमनुमानस्य, सादृश्य वा तदन्विते ॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि, सादृश्ये गवि च स्मृतौ । विशिष्टस्यान्यतो सिद्धे-रुपमानप्रमाणता ॥ प्रत्यक्षेऽपि यथादेशे, स्मर्यमाणे च पर्वके । विशिष्टविषयत्वेन, नानुमानाप्रमाणतेति " न चेद प्रत्यक्षं परोक्षविषयत्वात् सविकल्पकत्वाच्च । नाप्यनुमानं हेत्वभावात् । न च स एव दृश्यमानो गवयविशेष तद्गत वा सादृश्यं हेतुरुभयस्यापि धर्मिणा सह प्रतिबन्धाभावाभावामतिबन्धो हेतुरतिप्रसङ्गात् न च गोमत्त्वं सादृश्य गौर्वा हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात् न च सादृश्यमात्रं प्राक् प्रमेयेण सम्बन्ध प्रतिपन्न नवान्वयप्रतिपत्तिमन्तरेण हेतोः साध्यप्रतिपादकत्वमुपलब्ध तदेवं गन्नार्थदर्शने गवयं पश्यत. सादृश्येन विशिष्टे गवि पक्षधर्मत्वग्रहण सम्बन्धानुस्मरण चान्तरेण प्रतिपत्तिरुपजायमाने नानुमानेनत्वमेवतीति प्रमाणान्तरमुपमानम् । तदुक्त " न चैतस्यानुमानत्वं, पक्षधर्माद्यसम्भवात् । प्राक् प्रमेयस्य सादृश्यं, न धर्मत्वेन गृह्यते ॥ गवयं गृह्यमाणं च, न गवार्थानुमापकम् । प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वा-द्गोगतस्य न लिङ्गतः ॥ गवयश्चापि सम्बन्धा-न्न गोलिङ्गत्वमृच्छति । सादृश्यं न च पूर्वेण, पूर्वं दृष्टं तदन्वये ॥ एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे, द्वितीया पश्यतो वने । सादृश्येन सहैकस्मिं स्तदैवोत्पद्यतेमितिरिति " नैयायिकाः श्रूयमाणलक्षणमभिदधति प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानमिति । अत्रोपमानमितिलक्ष्यनिर्देशः प्रसिद्धसाधर्म्यादित्यागमपूर्विका प्रसिद्धिः दर्शिता आगमस्तु यथा गौस्तथा गवय इति एव प्रसिद्धेन साधर्म्यप्रसिद्धेः संस्कारवान् पुरुष कदाचिदरण्ये परिभ्रमन् समानमर्थ यदा पश्यति तदा तज्ज्ञानादागमाहितसंस्कारप्रबोधसञ्जात स्मृतिर्गोसदृशो गवय इत्येव रूपा स्मृतिसहायेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण गोसदृशोऽयमिति ज्ञानमुत्पाद्यते तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् तज्जनकत्वेनास्य प्रत्यक्षप्रमाणताप्रसक्तेः । न च शब्देन सार्द्धं यदौ कमुत्पादयदेतच्छाब्दप्रसज्यते अव्यपदेश्यपदाध्याहारात् अव्यभिचार्यादिपदानां तु पूर्ववद्व्यवच्छेदो द्रष्टव्य । नन्वेवमप्यनुमाने प्रसङ्गस्तस्य यथोक्तफलजनकत्वाद विनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकस्य परामर्शज्ञानस्य विशिष्टफलजनकत्वेनानुमानत्वावाप्तेः प्रकृतज्ञानमविनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकं गोसादृश्यस्य गवयशब्दवाच्यत्व नान्यस्याप्रसिद्धत्वात् गोसदृशो गवयशब्दः सङ्केति आगमात्प्रतीतिरिति चेत् न तस्य सन्निधीयमानगोसादृश्यपिण्डविषयत्वेनाप्युपपत्तेर्निश्चितश्चान्वय साध्यप्रतिपत्ति । न च तदोपलभ्यमानाश्लोसादृश्यपिण्डादव्यतिरिक्तः गोसदृशसद्भावनिश्चायकं प्रमाणमस्ति न चात्र व्यतिरेकी हेतु समस्ति सपक्षासत्वप्रतिपादक प्रमाणाभावात् अतो नाविनाभावसम्बन्धानुस्मृति व्यतिरिहितेऽपि चागमे गोसदृशो गवय इति सकृदुच्चारिते उत्तरकालगोसदृशपदार्थदर्शनात् अयं स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तिर्भवतीति नानुमानमेतत् सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानत्वागमक न भवत्येव श ब्दस्य तज्जनकस्य तदाऽभावात् शब्दजनितं च शाब्दं प्रमाणमितिव्यवस्थितं प्राक् शब्दप्रतीतत्वाच्छाब्दमिति चेदन्यनुमानस्याप्येवमभावप्रशक्तिः अग्निसाध्यस्य प्राग् प्रत्यक्षेण प्रतीतत्वाव न ह्यप्रतीते महानसादावग्निसामान्ये अनुमानप्रवृत्तिरिति अथ तीतार्थाप्रतिपादकत्वादनुमान न प्रमाणं भवेत् । न च विशिष्टदेशाद्यवच्छेदसाधकसाधकत्वेनास्या प्रामाण्यमितरत्रापि समान त्वात्तथाहि सन्निधीयमानपिण्डविषयत्वेन स्वप्रतिपाद्यमिद प्रतिपादयति आगमस्त्वसन्निहितपिण्डविषयत्वेन न चागमात् संज्ञासंज्ञिसंबन्ध. प्रतीयते ततः सारूप्यमात्रप्रतीतेरेव शब्दस्यैव साधकतमत्व तदेव शाब्द फलं न च विप्रान्तपत्यधिकारेण सह संज्ञिसंबन्धज्ञाने फलतसमस्ति प्रत्यक्षफल तु न भवत्येवैतत संज्ञासंज्ञिसंबन्धस्येन्द्रियेणासन्निकर्षात् । नच सन्निकर्षश्चेन्द्रियविषयत्वात्तस्य तदेव सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिनियततरं फलं यतः समुपजायते तदुपमान आह च सूत्रकार साध्यसाधर्म्यमिति साध्यं विशिष्ट फल तस्य साधनं जनक यत तदुपमानं एवं सा रूप्यज्ञानत्सारूप्यस्याप्यमानत्व न पुन सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य फलाभावात् न च हेयादिज्ञानमस्य फल प्रत्यक्षादिफलत्वात् । तथा हि हेयादिज्ञान पिण्डविषय तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपजायते यथा प्रत्यक्षफलमनुमान विशिष्टफलजनकत्वादेव

प्रमाणान्तरानिष्पाद्यविशिष्टफलजनकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानम् अत्र प्रतिविधानम् ॥ उपमानस्य त्वपूर्वार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रामाण्यमेव न संभवति नन्वस्यापूर्वार्थविषयता प्रागुपदर्शितैव सत्यमुपदर्शिता नतु युक्ता तथा हि तस्य विषय सादृश्यादिविशिष्टो गौस्तद्विशिष्ट वा सादृश्यमुपदर्शितं तच्च भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणप्रतिपादित न च सामान्य तद्योगो वा वस्तु संभवतीति प्रतिपादित तत्सद्भावेऽपि प्रत्यक्षविषयतया परैस्तस्येष्टि कथमुपमानगोचरत्वेनागृहीतार्थग्राहित्व प्रामाण्यनिबन्धन भवेत् सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावय क्रम पूर्वं तावद् गोगवययोर्विषाणित्वादिसादृश्य गवि प्रत्यक्षत· प्रतिपद्यते पश्चात् गवयदर्शनानन्तर यद्विषाणित्वादिसादृश्य पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया तत् गव्यप्युपलब्धमिति स्मरति तदनन्तर गवि विषाणित्वादिसादृश्यप्रतिसंधानं जायते अनेन पिण्डेन सदृशो गौरित्येव च स्मार्तमेतत् ज्ञान कथ प्रमाण भवेत् । यदि च गवि प्रत्यक्षेणोभयगत विषाणित्वादिसादृश्य प्राग् न प्रतिपन्नं भवेत् प्रतिपन्नमपि यदि विस्मृत भवेत् तदा गवयदर्शने सत्यपि परोक्षे गवि नैव सादृश्यज्ञानमुपजायेत अतो विषाणित्वादिसादृश्य पूर्वमेव गवि प्रत्यक्षेणावगतमिदानीं गवयदर्शनात् तत्रैव स्मर्यते तत्र गृहीतग्राहणात् सादृश्यज्ञान प्रमाणम् । अथ पूर्वप्रत्यक्षेण गोगतमेव सादृश्यमवगत गवयदर्शनेन तु तद्गतमेवोभयगतसादृश्यप्रतिपत्तिस्तु गवयदर्शनानन्तर सादृश्यज्ञाननिबन्धनेति अगृहीतग्राहितया प्रमाणमुपमानम् । असदेतत् पूर्वमुभयगतसादृश्यप्रतिपत्तौ गवयदर्शनानन्तरमप्यप्रतिपत्तिस्तदनुसंधानप्रतिपत्तेरप्यसंभवात् । न हि गवयपिण्डदर्शनानन्तर प्रागप्रतिपन्ने तत्सादृश्येऽश्वपिण्डे अनेन सदृशोऽश्वप्रतिपत्ति कदाचिदपि भवति तस्मात् प्रागप्यज्ञावगतसादृश्ये प्रतियोगिग्रहणाद्व्यवहारमात्रप्रवृत्तिरेव तदा प्राक् तदप्रवृत्तिः प्रतियोग्यपेक्षत्वात् तस्य ह्रस्वादिव्यवहारवत् न च तत् प्रामाण्य युक्तप्रमानामियत्ताभावप्रसक्ते· एव धूमदर्शनास्मर्यमाणाग्निसंबन्धितयाऽप्यज्ञानवगतप्रदेशे तद्योगव्यवच्छेदमवगमयन्ती प्रतिपत्तिरुपजायमानाऽनुमिति प्रमाणतां यथा समासादयति न तथा सादृश्यप्रतिपत्ति· गवाख्यधर्मिप्रतिपत्तिकाल एव भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणस्य सादृश्यप्रतिपत्तेस्तेन प्रत्यक्षेऽपि यथादेश इत्यादिवचनमयुक्ततया व्यवस्थितम् । किं च । यदि सादृश्यज्ञान गृहीतग्राहित्वेऽपि व्यवहारमात्रप्रवर्तनात् प्रमाण तर्हि वैसादृश्यज्ञानमपि सप्तम प्रमाण भवेत् दृश्यपरोक्षे सादृश्यधीरप्रमाणान्तर यदि वैधर्म्यमर्हति तर्ह्येवमप्येवं प्रमाण किं न सप्तमम् । तथा सोपानव्राजात् क्रामत प्रथमाक्रान्त पश्चादाक्रान्तादीर्घं महत् ह्रस्व चेत्याद्यनेकप्रमाण प्रसक्तमिति कुत· प्रमाणषट्कवाद· संगतो भवेत् । दृश्यमानव्याक्षेप चेद् दृष्टज्ञान प्रमाणान्तर तत् पूर्वमस्मादित्यादिप्रमाणान्तरमिष्यताम् । अप्रमाण्ये चास्य पक्षधर्मत्वाद्यभावप्रतिपादन सिद्धसाधनमेवाप्रमा वा प्रमाणस्यानुमानत्वानभ्युपगमाद् । यदा च प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नेऽपि गवाश्वादौ भूयोऽवयवसामान्ययोग तद्वियोगवाच्य मूढ· सदृशासदृशव्यवहार न प्रवर्तयति तदा विषयदर्शनेन विषयिणो व्यवहारस्य साधनात् त्रैरूप्यसद्भावादनुमानप्रमाणता समस्त्येव तथा हि गवाश्वादौ विषाणाद्यवयवसामान्ययोगसिद्धियोगो वा प्रागुपलब्ध इदानीं स्मर्यमाण इति नासिद्धता हेतो प्रवृत्तिर्व्यवहारविषयश्च एवार्थोऽत्र दृष्टान्तोऽस्तीति नान्वयव्यतिरेकयोरप्यभावस्ततो न वै तस्यानुमानत्वमित्यादिपक्षधर्मत्वाद्यसंभवप्रतिपादनमसंगतव्यवहारसाधनपक्षधर्मत्वादे प्रसाधनान्नैयायिकोपवर्णितमप्युपमानमनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रमाणं न भवति तथा हि यथा गौस्तथा गवय इति वाक्याद् गोसदृशार्थसामान्यस्य गवयशब्दवाच्यताप्रतिपत्तेरन्यथा विसदृशमहिष्याद्यर्थदर्शनादप्यय स गवय इति संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्ति· किं न भवेत्तस्माद्यथा कश्चिदङ्गदी कुण्डली छत्री स राजेति कुतश्चिदुपश्रुत्याङ्गदादिमदर्थदर्शनादय स राजेति प्रतिपद्यते न चासौ प्रतिपत्ति· प्रमाणमुपवाक्यादेवाङ्गदादिमतोऽर्थस्य राजशब्दवाच्यत्वेन प्रतिपन्नत्वात् तथेहापि यथा गौस्तथा गवय इत्यतिदेशवाक्यात्संबन्धमवगत्य गवयदर्शनात्संकेतानुस्मरणे सत्ययं स गवयशब्दवाच्योऽर्थप्रतिपत्तेरप्रमाणमुपमानम् । यदि पुनरतिदेशवाक्यात्संबन्धप्रतिपत्तिर्नाभ्युपगम्यते पश्चादप्ययं स गवयशब्दवाच्यस्तथाऽपि प्रत्ययो न स्यात्तदपरनिमित्ताभावात् दृश्यते च तस्माद्गृहीतग्रहणान्नेद प्रमाणम् । अथातिदेशवाक्याद् पूर्वाज्ञात्सदृशार्थस्य गवयशब्दवाच्यता सामान्येन प्रतीता गवयदर्शनानन्तर तु गवयविशेषं तच्छब्दवाच्यत्वेन पूर्वमप्रतीतं प्रतिपद्यत इति न गृहीतग्राहिता असदेतत् सन्निहितगवयविशेषविषयस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षतयोपमानत्वानुपपत्तेर्गवयदर्शनोत्तरकालभावि त्वय स गवयशब्दवाच्योऽर्थ इति तज्ज्ञान तत्प्रत्यक्षबलोत्पन्नत्वात् स्मृतिरेव न प्रमाणम् । किं च गवयविशेषस्य गवयशब्दवाच्यता यद्यतिदेशवाक्यान्न प्रतिपन्ना कथ तर्हि गवयविशेषदर्शन उपजाते कस्मादस्य तच्छब्दता यस्यैवार्थस्य संबन्धग्रहणकाले येन सह संबन्धोऽनुभूतस्तस्यैवार्थस्य तेन सह संबन्धे तच्छब्दवाच्यता कालान्तरेऽपि दृश्यते तत सामान्येन संकेतकाल एव संबन्ध· प्रतीत· पश्चाद्गवयदर्शन उपजाते संकेतमनुस्मृत्याय स गवयशब्दवाच्योऽर्थ इति प्रतिपद्यते इत्यभ्युपगन्तव्यमेतेनोपयुक्तोपमानस्तु तुल्यार्थग्रहणे सति विशिष्टविषयत्वेन संबन्ध प्रतिपद्यत इत्यपि निरस्त विशेषस्य संकेतकालाननुभूतस्य व्यवहारकालानुगमादवाच्यत्वाच्च । यश्च शब्दप्रभवप्रतिपत्तावर्थ· प्रतिभाति स एकशब्दवाच्यो न त्वविशेषस्तत्र प्रतिभालक्षणज्ञाने असतस्तत्र शब्दस्याप्रतिभासनान्न विशेष· शब्दवाच्यतायामसौ गवयशब्दवाच्य इति विशेषस्य वाच्यप्रतिपत्ति· सादृश्यविकल्पयोरेकीकरणाद् भ्रान्तिरन्यापूर्वानुकृताकारपरामर्श इति दृश्येयमसौ गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्ति· कथं भवेदतिदेशवाक्यश्रवणसमये विशेषे संबन्धाप्रतिपत्ते प्रतिप्रत्त्यभ्युपगमे वा विशेषेऽपि सामान्यत्वस्मृतिरेवेति कुत प्रामाण्यमुपमानस्य । यद् गौरिव गवय इति गोगवययोरतिदेशवाक्यात्सादृश्यमात्रप्रतिपत्तिः संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिस्तूपमानात्तदप्यसमीक्षिताभिधान यतो गवयदर्शनानन्तरमय स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तिरुपजायते इय च तावदध्यक्षप्रतिपत्ति· फलश्रुतातिदेशवाक्यस्य प्रभ्रष्टसंस्कारस्य वा तत्सद्भावेऽप्यस्यानुत्पत्तेर्विशेषश्चाध्यक्षविषयत्वानभ्युपगमाच्च अतिदेशवाक्यस्मरणसहायस्य गवयदर्शनस्य तत्प्रतिपत्तिजनकत्वे स्मर्यमाणशब्दवाच्यत्वमित्यनिदेशवाक्यमेव तज्जनकमभ्युपगतं भवेत् न दर्शनं न हि यत्राध्यक्षप्रवृत्तिमत्तत्र शब्दस्मरणसहितमपि प्रवर्तते यथा चक्षुर्ज्ञानं गन्धस्मरणं सहायंपरिमलप्रतिपत्तावतिदेशवाक्याच्च संबन्धाप्रतिपत्तावपरस्य तत्प्रतिपत्तिर्निमित्तस्याभावात् अयं स गवयशब्दवाच्य इति पूर्वानुभूतपरामर्शेन प्रतिपत्तिर्न स्यात्कपि त्वय गोदृश इत्येव भवेत् न चैतत्प्रतिपत्तिरन्यथानुपपन्नैव प्रमाणान्तरमुपमाख्यमेतत्प्रतिपत्तिजनक प्रकल्पनीयं य कुण्डली स राजेति श्रोतातिदेशवाक्यस्य तद्दर्शनान्तरमयं

स राजशब्द वाच्य इति प्रतिपत्तेरप्युपमानफलत्वप्रसक्तेः अथात्र तच्छब्दवाच्यता इत्यतिदेशवाक्यादेव प्रतिपन्नेति नातिप्रसक्तिस्तर्हि गौरिव गवय इत्यतिदेशवाक्याद् गोसदृशार्थस्य गवयशब्दवाच्यतापि प्रतिपन्नेति नोपमानप्रमाणफलता अयं स गवयशब्दवाच्य इति प्रतिपत्तेः । तस्मात् स्मृतिरूपत्वादस्याः प्रतिपत्तेर्नैतस्या जनकस्य प्रमाणतेति अनुमानान्तर्भावप्रतिपादनं न दोषायेत्यलमतिविस्तरेण ॥ सम्म० । सूत्र० ।

उवमादोस–उपमादोष–पुं० हीनाधिकोपमाभिधानलक्षणे सूत्रदोषे, आ०म०द्वि० । यत्र हीनोपमा क्रियते यथा मेरुः सर्षपोपमः । अधिकोपमा वा क्रियते यथा सर्षपो मेरुसन्निभः । अनुपमा वाऽभिधीयते यथा मेरुः समुद्रोपम इत्यादि । अनु० । विशे० । यथा काञ्जिकमिव ब्राह्मणस्य सुराऽपेया ॥ बृ०१उ० ।

उवमिय–उपमित–त्रि० उप–मि–क्त । सादृश्यानुयोगिनि, यथा चन्द्रवन्मुखं तस्य चन्द्रसादृश्यानुयोगित्वात् ॥ वाच० ॥ उप–मि–भावे निष्ठाप्रत्ययः । उपमाने, विशे० ॥ उपमीयतेऽनेनोपमितम् बाहुलकात्करणे निष्ठाप्रत्यय । उपमाकरणे, क्षेत्रस्योपमितं क्षेत्रोपमितम् । आ० म० प्र० ॥

उवयाइय–उपयाचित–त्रि० कर्मणि क्त । उपगम्य प्रार्थिते, भावे क्त । उपगम्य याचने, न० देवाराधने, स्था० १० ठा० । पूजाभ्युपगमपूर्वकप्रार्थने, ज्ञा० ८ अ० ।

उवयाण–उपयान–न० सामीप्येन गमने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

उवयार–उपचार–पुं० उपचरणमुपचार । उप–चर–घञ् । ग्रहणे, अधिगमे, "उवयारसद्दसंपच्चयत्थ एगट्ठिया भणति । उवयारोत्ति वा अहीतं ति वा आगमियति वा गृहीतति वा एगट्ठं" । नि० चू० १ उ० । चिकित्सायाम् । पूजायाम्, पञ्चा० ६ विव० कल्प० । ज्ञा० । औ० । रा० । देवतापूजायाम्, प्रश्न० सं०३ द्वा० पञ्चवण्णसरसुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिते " च २० पाहु० । आराधनाप्रकारे, द० ए अ० । सुखकारिक्रियाविशेषे, प्रव० ६ द्वा० । अन्यक्रियाकलापे, पो० १२ विव० । लक्षणायाम्, ष० ७ अध्या० । लक्षणया शक्यार्थत्यागेनाऽन्यार्थबोधने, असदारोपे, अष्ट० । उपचरणम् अधर्मणि, ष० ७ अध्या० । यथा—

जो तेसु धम्मसद्दो, सो उवयारेण निच्छएण इहं ।
जह सीह सद्दसीहे, पाहण्णुवयारओ अत्थ ॥ ए५ ॥

यस्तेषु तत्रान्तरीयधर्मेषु धर्मशब्दः स उपचारेणापरमार्थेन निश्चयेनात्र जिनशासने कथ यथा सिंहशब्दः सिंहे व्यवस्थितः प्राधान्येनोपचारतः उपचारेणान्यत्र माणवकादौ यथा सिंहो माणवकः उपचारनिमित्तं च शौर्यक्रौर्यादय धर्मे त्वहिंसादाभिधानादय इति गाथार्थः ॥ दश० १ अ० । व्यवहारे, स्था० ४ ठा० । "णिउणजुत्तोवयारकुसला" विपा० २ अ० । उपचरितवस्तुव्यवहारे, यो० विं० । लोकव्यवहारे, ज्ञा० १ अ० । जं० । आदेशे, आ० म० द्वि० । कल्पनायाम्, विशे० ।

उवयारओ–उपचारतस्–अव्य० कल्पनामात्रेणेत्यर्थे, । "उवयारओ खित्तस्स विणिगमणं सव्वओ नत्थि "विशे० ॥

उवयारग–उपचारक–पुं० प्रतिजागरके, नि० चू० ११ उ० ।

उवयारग्ग–उपचाराग्र–न० उपचरणमुपचारः तेनोपचारेण करणभूतेनेदमग्रम् । भावाग्रे नि० चू० १ उ० । (तद्व्याख्या अग्गशब्दे उक्ता)

उवयारच्छल–उपचारच्छल–न० औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानरूपे छलभेदे, यथा मञ्चाः क्रोशन्ति इत्युक्ते पर प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्ति । स्या० ।

उवयारमित्तग–उपचारमात्रक–न० लोकोपचारे एव केवले, "उवचरइ कोणतितो, अहवा उवयारमित्तग एइ" बृ०१ उ०॥

उवयारसय–उपचारशत–न० औपचारिकवचनचेष्टादिशते, " उवयारसयपंधणपउत्ताओ " । त० ।

उवयारोवेयत्त–उपचारोपेतत्व–न०अग्राम्यतारूपे तृतीये सत्यवचनातिशये, स० । औ० ।

उवयालि–उपजालि–पुं० द्वारवत्यां वसुदेवस्य धारण्यामुत्पन्ने जालिभ्रातरि, सच द्वारवत्यां नगर्यां वसुदेवस्य धारण्यां देव्यां जातः पञ्चाशत्कन्याभिः परिणीतोऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजितः द्वादशाङ्गान्यधीत्य षोडशवर्षपर्यायो मृतः शत्रुञ्जये सिद्ध । शेषं यथा गौतमस्य इत्यन्तकृद्दशासु चतुर्थवर्गे द्वितीये अध्ययने प्रतिपादितम् । अन्त० ४ अ० ॥ राजगृहे नगरे श्रेणिकस्य राज्ञो धारण्यां देव्यामुत्पन्ने पुत्रे च । स च राजगृहे श्रेणिकस्य धारण्यां जातः अष्टकन्याः परिणायितः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यान्तिके प्रव्राजितः एकादशाङ्गान्यधीत्य षोडशवर्षाणि श्रामण्यपरिपाकं प्राप्य कालं कृत्वा वैजयन्ते विमाने देवतयोपपन्नः द्वात्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिं परिपाल्य महाविदेहे सेत्स्यतीति अनुत्तरोपपातिकदशासु प्रथमे वर्गे द्वितीयेऽध्ययने सूत्रितम् । अनु० ॥

उवरइ–उपरति–स्त्री० उप–रम–क्तिन्–विरतौ, स्था० १ ठा० । आचा० । स० ।

उवरम–उपरम–पुं० उप–रम्–घञ्–अवृद्धिः । उपरमणमुपरमः। नियमे, । विशे० विरमे, दर्श० ।

उवरय–उपरत–त्रि० उप–रम्–क्त । निवृत्ते । कल्प० । स्था० । उत्त० । " न हणे पाणिणं पाणे, भयवेराउ उवरए " उपरतो निवर्तितः । उत्त० ६ अ० । प्राय सावद्ययोगेभ्यो निवृत्ते, आव० ४ अ० । " उवरया मेहुणा उ " उपरता मैथुनाद् धर्मात् अष्टादशविकल्पब्रह्मोपेताः । आचा० २ श्रु० । उपसामीप्येन रत । व्यवस्थिते, "एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावकम्म झोसेत्ति" आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । " एत्थोवरए त झोसमाणे अय सधीति अदक्खु " अत्रास्मिन् सावद्यारम्भे कर्तव्ये उपरतः संकुचितगात्रः । अत्र वाऽर्हते धर्मे व्यवस्थिते उपरतः पापारम्भात् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

उवरयदंड–उपरतदण्ड–पुं० प्राणिनः आत्मानं वा दण्डयतीति दण्ड । स च मनोवाक्कायलक्षणः उपरतो दण्डो येषान्ते तथा । निवृत्तदण्डेषु, "उवरयदंडेसु अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा णिरुवहिएसु वा " आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०

उवरयमहुण–उपरतमैथुन–त्रि० मैथुनादुपरते, " से दुप्परिणं समयम्मि वट्टइ णिरास से उवरयमेहुणे चरे" आचा० २ श्रु०

उवराग–उपराग–पुं० उप–रञ्ज–घञ्–उपरञ्जने, ग्रहणे, "ससिरविगहोवरागविसमेसु" प्रश्न० २ द्वा० । " चंदसुरोवरागो गहण भण्णइ " आव० ४ अ० । स्था० । (गहणशब्दे वक्तव्यता वक्ष्यते)

उवरि–उपरि–अव्य० अग्रे इत्यर्थे, " मंदरचूलियाए उवरि चत्तारि जोयणाइ " स्था० ४ ठा० । उत्तरकाले, " गहणादुवरि पयत्तो " ध० २ अधि० । उपरिष्टादर्थे, "उक्किट्ठवण्णगावरिसवसरणाबिंवरूवस्स " पञ्चा० २ विव० । भ० । प्रज्ञा० ।

उवरिभासा-उपरिभाषा-स्त्री० गुरोर्भाषणानन्तरमेव विशेषभाषणरूपायां भाषायाम्, " अंतरभासाए उवरिभासाए ज किंचि " ध० २ अधि० ।

उव (प) रिम-उपरितन-त्रि० ऊर्द्धभवे, स्था० १० ठा० ।

उवरिमउवरिमगेविज्ज-उपरितनोपरितनग्रैवेय-पु० नवानां ग्रैवेयकाणामन्तिमे, स्था० ए ठा० ।

उवरिमउवरिमगेवेज्जविमाणपत्थड-उपरितनोपरितनग्रैवेयविमानप्रस्तट-पुं० नवमे ग्रैवेयकविमानप्रस्तटे, स्था० ए ठा० ।

उवरिमग-उवरिमक-पु० उपरिमा एव उपरिमका । उपर्य्युपरिवर्त्तिदेवलोकनिवासिषु देवेषु, " चउयरउवरिमगा-उड्डं च सकप्पथूभाइ " आ० म० प्र० । विशे० ।

उवरिममज्झिमगेवेज्ज-उपरिममध्यमग्रैवेय-पु० अष्टमे ग्रैवेयकदेवे, स्था० ६ ठा० ।

उवरिममज्झिमगेवेज्जविमाणपत्थड-उपरिममध्यमग्रैवेयविमानप्रस्तट-पु० अष्टमे ग्रैवेयविमानप्रस्तटे, स्था० ६ ठा० ।

उवरिमहिट्ठिमगेविज्ज-उपरिमाधस्तनग्रैवेय-पु० सप्तमे ग्रैवेयके, स्था० ६ ठा० ।

उवरिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थड-उपरिमाधस्तनग्रैवेयविमानप्रस्तट-पु० सप्तमे विमानप्रस्तटे, स्था० ६ ठा० ।

उवरिमहेट्ठिल्ल-उपरिमाधस्तन-त्रि० ऊर्द्धाधोवर्त्तिनोः, " उवरिमहेट्ठिल्ले सुखुड्डुगपयरेसु " उपरिमो यमवधीकृत्योर्द्ध प्रतरवृद्धिः प्रवृत्ता अधस्तनश्च यमवधीकृत्याध प्रतरवृद्धिः प्रवृत्ता ततस्तयोरुपरितनाधस्तनयोः क्षुल्लकप्रतरयोः शेषापेक्षया लघुतरयो रज्जुप्रमाणायामविष्कम्भयोस्तिर्य्यग्लोकमध्यभागवर्त्तिनोः, । भ० १३ श० ४ उ० ।

उवरिमागार-उपरिमाकार-पु० उपरितनेषु उत्तमाङ्गादिरूपेष्वाकारेषु, " तेसि ण दाराण उवरिमागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया " रा० ।

उवरियतल-उपरितल-न० गृहस्य पीठबन्धकल्पे स्थाने, "जंबूदीवप्पमाणा उवरियतलेण" भ० २ श० ८ उ० ।

उवरिल्ल-उपरितन-त्रि० उपरिशब्दात् । भिल्लुल्लौ भवे ८।२।६३ । भवेऽर्थे नाम्नः परौ इल्ल उल्ल इत्येतौ भितौ प्रत्ययौ भवत इति भवार्थे इल्लप्रत्ययः । ऊर्द्धभवे, प्रा० । " उवरिल्ले ताराख्वे चार चरति" स्था० ९ ठा० । अनु० । "उवरिम सुय वाएइ उवरिल्ल सुय जहा दसवेयालियस्स आवस्सग" नि० चू० १ए उ० ।

उवरुज्झंत-उपरुध्यमान-त्रि० उप-रुध्-कर्मणि-यक्-शानच् । समनूपाद्रुधेः ८ । ४ । ४७ । इति उपः परस्य कर्मणि ज्झो वा पक्षे उपरुधिज्जत । निरुध्यमाने, आव्रियमाणे, प्रा० ।

उवरुद्द-उपरौद्र-पु० यस्तु नारकाणामङ्गोपाङ्गानि भनक्ति सोऽत्यन्तरौद्रत्वादुपरौद्र इति । षष्ठे परमाधार्मिके, भ० ३ श० ६ उ० । तत्स्वरूप यथा-

भंजंति अंगमगाणि, ऊरू बाहू सिराणि करचरणा ।
कप्पेंति कप्पणीहिं, उवरुद्दा पावकम्मरया ॥ ७५ ॥

अथोपरुद्राख्या परमाधार्मिकाणामङ्गप्रत्यङ्गानि शिरोबाहूरुकादीनि तथा करचरणाश्च भञ्जन्ति मोटयन्ति पापकर्मण कल्पनीभि कल्पयन्ति पाटयन्ति तन्नास्त्येव दुःखोत्पादन यत्ते न कुर्वन्तीति ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । आव० । आ० चू० । प्रश्न० ।

उवरुवरि-उपर्य्युपरि-अव्य० निरन्तरमर्थे, " उवरुवरितरगइ-रियअतिवेगचक्खुपहमोच्छरंतं" प्रश्न० ३ द्वा० ।

उवरोह-उपरोध-पु० उप० रुध्-घञ्-आवरणे, अनुरोधे, व्याघाते, सू० १ उ० । वाधायाम्, विशे० । संघट्टनादौ, "भूओवरोहरहिए " भूतानि पृथिव्यादीनि उपरोधस्तत्सघट्टनादिलक्षण । आव० ४ अ० । परचक्रेण वेष्टने, ।

ग्रामादेरुपरोधे सति भिक्षाटनादिविधिमाह ।

(सूत्रम्) गमगमस्स वा जाव रायहाणी य वाहिया । सेण संनिविट्ठं पेहाय कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्दिवसं भिक्खायरियाए गतुं पडिपत्तए नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवायणाइ वित्तपजो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवायणाइ उवातिणंतं वा साइज्जति से दुहतो वि अक्कममा णो आवज्जइ वा उम्मासियं परिहारट्ठाण अणुग्घाइयं ॥

अस्य संबन्धमाह ।

उवरोहभया कीरइ, सप्परिखे पुरवरस्स पागारो ।
तेण र सुत्तेण सुत्त, अणुअत्तइ उग्गहो जं व ॥

पूर्वसूत्रे प्राकार प्राकारपरिखा चोक्ता स च प्राकार सपरिखेऽपि पुरवरस्योपरोध परचक्रेण वेष्टन तद्भयात्क्रियते तेन कारणेन र इति पादपूरणे तत सूत्रमिदमारभ्यते । यथावग्रह पूर्वसूत्रेभ्योऽनुवर्तते अव्यवच्छिन्न एवागच्छमस्तीति भावः । अतो यथा रोधके राजावग्रहमनुज्ञाप्य बहिर्निर्गम्यते प्रविश्यते वा तथाभिधीयते । अनेन सबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । सशब्दोऽथशब्दार्थे अथ ग्रामस्य वा यावद्राजधान्या वा यावत्करणान्नगरस्य वा खेटस्य वा इत्यादिपरिग्रहः । एतेषामन्यतरस्य बहि सेना राज्ञस्कन्धावार रोधकं त्वासन्निविष्ट प्रेक्ष्य दृष्ट्वा कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा तद्दिवस भिक्षाचर्यायां गत्वा प्रत्यागन्तुं नो नैव (से) तस्य विवक्षितस्य भिक्षोः कल्पते तां रजनीं तत्रैवोपाददाति उपाददन वा स्वादयाति स द्विधा आद्या निष्कामन् जितसीमान राजसीमान च विलुम्पन् आपद्यते चातुर्मासिक परिहारस्थानमुद्धातिकमिति सूत्रार्थः । अथ भाष्यविस्तरः ।

सेणादी गम्मिहिई, खित्तुप्पाय इमं वियाणित्ता ।
असिवे ओमोयरिय-भयक्खा णिग्गमे गुरुगा ॥

कश्चित् मासकल्पक्षेत्रे स्थितैर्ज्ञात सेनापरचक्रमत्र समायास्यति आदिशब्दादशिवमवमौदर्य म्लेच्छादिभय वा भविष्यति । एवमादौ कारणे पश्चादपि गमिष्यतीति कृत्वा अनागतमेव ततः क्षेत्रान्निर्गन्तव्य कथ पुनरनागतं तज्ज्ञायत इत्याह क्षेत्रस्योत्पातः परचक्राद्युपद्रवसूचकानि लिङ्गानीत्यर्थः । भ्रान्तिवद्दिक्चक्रवाल धूमायते । अकाले तरूण पुष्पफलानि जायन्ते महता शब्देन भूमिः कम्पते । समतत क्रन्दितकूजिताः शब्दा श्रूयन्ते इत्यादीनि मन्तव्यानि एव क्षेत्रोत्पातममु विज्ञाय निर्गन्तव्यम् । अथ न निर्गच्छन्ति ततोऽशिवे अवमौदर्ये बोधिकभये परचक्रागमने ज्ञातेऽपि निर्गमनमकुर्वता चतुर्गुरुका ।

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमायाए ।
असिवाहिम्मि परुविते, अधिकारो होइ सेणाए ॥

आज्ञादयश्च दोषाः विराधना च संयमात्मविषया भवति संयमविराधना शुद्धे भक्तपाने अलभ्यमाने अनेषणीयम् । गृह्णीयादित्यादिका आत्मविराधना परितापमहादु खादिका यदा वाऽशि-

वादिकं प्रतिपद प्ररूपितं भवति तदा तत्र सेनया अधिकारः कर्तव्यः । अशिवादिकं च प्रथमोद्देशके अध्वसूत्रे सप्रपञ्च प्ररूपितमिति नेह भूयः प्ररूप्यते । तच्च परचक्रागमन यथा ज्ञायते तथा दर्शयति ॥

अतिसयदेवत्तणिमि–त्तमादि अवितहपवित्ति मोत्तूणं ।
निग्गमणा होइ पुव्वं, अणागते रुद्धवोच्छिन्ने ॥

अवधिज्ञानाद्यतिशयेन स्वयमेव ज्ञात अपरेण वा अतिशयज्ञानिना पृष्टेन कथितं देवतया वा कथाचिदाख्यातं अविसंवादिना वा निमित्तेनाऽवगतम् आदिग्रहणेन विद्यामन्त्रादिपरिग्रहः अथवा प्रवृत्तिर्वार्त्ता तामवितथां श्रुत्वा तत क्षेत्रात्पूर्वमेव निर्गमनं कर्तव्यं भवति । अथानागत न ज्ञात सहसैव तन्नगर रुद्धं पन्थानो व्यवच्छिन्नास्ततो न निर्गच्छेयुरपि । अथवा अमीभिः कारणैर्ज्ञातेऽपि न निर्गमिताः भवेयुः ।

गेलन्नरोगिअसिवे, रायदुट्ठे तहेव ओसम्मि ।
उवही सरीरतेणग–णाते वि ण होइ णिग्गमणं ॥

ग्लानो ज्वरादिपीडित. कश्चिद्स्ति तत्प्रतिबन्धेन गन्तुं न शक्यते (रोगित्ति) दुष्टरोगेण कुष्ठादिना कश्चिदत्यन्तमभिभूत. स परित्यक्तुं न पार्यते बहिर्वा अशिवं राजद्विष्टमवमौदर्यं वा विद्यते उपधिस्तेनाः शरीरस्तेना वा बहिर्गच्छत उपद्रवन्ति एतैः कारणैर्ज्ञातेऽपि परचक्रागमने निर्गमन न भवति ।

एएहि य अन्नेहि य, ण णिग्गया कारणेहिं बहुएहिं ।
अच्छंति होइ जयणा, संवत्ते णगररोधे य ॥

एतैरन्यैश्च बहुभि. कारणैर्न निर्गता भवेयु. ततस्तत्रैव तिष्ठतां संवर्ते नगररोधके च यतना कर्तव्या सवर्तो नाम परचक्रागमनं श्रुत्वा स्वरक्षार्थं यत्र जलदुर्गादिषु बहूनां ग्रामाणां जन सवर्तीभूयैकत्र तिष्ठति । नगररोधक प्रतीतस्तत्र संवर्ते यतनामाह ।

संवट्टम्मि तु जयणा, भिक्खे भत्तट्टणा य वसहीए ।
तम्मि भए संपत्ते, अवाउडे कोण वट्टंति ॥

संवर्ते तिष्ठतां भैक्ष्ये भक्तार्थतायां वसतौ च यतना कर्तव्या । तस्मिंश्च परचक्रलक्षणे भये सम्प्राप्ते अपावृता एके न तिष्ठन्तीति निर्युक्तिगाथा समासार्थ. ।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति ।

वइयासु व पल्लीसु व, भिक्खं काउं वसंति संवट्टे ।
सव्वम्मि रज्जखोभे, तत्थ व य जाणियं डिट्ठे ॥

सवर्ते अभिनवसन्निविष्टतया सचित्त. पृथिवीकायो भवतीति कृत्वा भिक्षां हिण्डन्ते । किं तु पूर्वस्थितासु व्रजिकासु वा पल्लीसु वा भिक्षां कृत्वा तत्रैव स्थण्डिले भुक्त्वा रात्रौ सवर्ते समागत्य वसन्ति । अथ सर्वस्यापि राज्यस्य क्षोभस्ततो व्रजिकादिकमपि नास्ति तदा तत्रैव सवर्ते यानि तेषु भिक्षां हिण्डन्ते । अथ न सन्ति स्थण्डिले स्थितानि तत इयं यतना ।

पोपालियसत्तुउदगे, गहहं पमज्जोवरिं पगासमुहे ।
सुक्खादीण अहंते, न य चिता वा सिलाघंति ॥

तक्रतीमनादौ आर्द्रे प्रपतति पृथुकाप्कायविराधना भवेदिति मत्वा या. पूपलिका ये च सक्तवो यच्च शुष्कौदन एवमादिकं शुष्कद्रव्यं पटलोपरिस्थिते प्रकाशमुखे भाजने गृह्णन्ति अथ शुष्कादीनां लाभो न भवति । आदिशब्द स्वगतानेकभेदसूचको न च तैरात्मान पातयन्ति तत आर्द्रेण गृह्यमाणेन यत्र पटलकादौ अप्कायको लग्नस्तं सम्यक् रक्षयन्ति । गत भिक्षाद्वारम् ।

अथ भक्तार्थताद्वारमाह ।

पच्छन्ना सति बहिया, अह सत्थं तेण चिलिमिली अंतो ।
असतीए व सत्थम्मि व, धरंति अद्धेयरे भुंजे ॥

संवर्तस्यान्त. प्रच्छन्ने प्रदेशे भक्तार्थं न कर्तव्यं अथान्तः प्रच्छन्नं नास्ति ततः सवर्तस्य बहिर्गत्वा समुद्देष्टव्यम् अथ बहिः सत्थं ततोऽन्तः सवर्तस्याभ्यन्तर एव चिलिमिलिकां दत्वा भोक्तव्यम् । अथ नास्ति चिलमिलिका सभये वा सा न प्रकटीक्रियते । ततोऽर्द्धे साधवो भाजनानि धारयन्ति । इतरे द्वितीया आर्द्रकमशकेषु भुञ्जते ।

काले अपहुत्तंते, भए व सत्थे व गंतु कामम्मि ।
कप्पुपरिभोयणाइं, काउं इक्को उ परिवेसो ॥

अथ वारकेण भुञ्जानानां कालो न पूर्यते भये वा त्वरितं भोक्तव्यं यो वा सवर्ते सार्थः स गन्तुकामस्तत. कल्पस्योपरि भोजनानि कृत्वा स्थापयित्वा सर्वेऽपि कमठकादिषु भुञ्जते एकश्च तेषां सर्वेषामपि परिवेषयत ।

पत्तेगं वडुगा मंति, भज्जिअगादेकओ गुरू वीसुं ।
ओमोणकप्पकरणं, अन्ने गुरुणेकतो वा वि ॥

प्रत्येक यदि सर्वेषां वटुकान निमन्त्रितास्ततो ये भज्जिलकाः परस्परं सहोदरा भ्रातरः । आदिशब्दादन्येऽपि ये प्रीतिवशेनैकत्र मिलन्ति ते एकत. समुद्दिशन्ति गुरवोऽपि विष्वक् पृथक् भुञ्जते यदा सर्वेऽपि भक्ता यस्तत्रावमो लघुस्तेन कमठकाना कल्पकरण विधेयम् । गुरूणां समकं कमठक तौ सह न भील्येते अन्यस्तस्य कल्प पृच्छति । अपूर्यमाणेषु साधूनां गुरोश्च कमठकान्येकतोऽपि कल्पयन्ति ।

भायणस्स कप्पकरणं, हेट्ठिल्लगमुत्तकदुयरुक्खे य ।
ते अ सति कमढकप्पर, काउमजीवे पदेसे य ॥

भाजनस्य कल्पकरणं दग्धभूमिकायां गोमूत्रभाविते वा प्रभागे कटुकवृक्षस्याधस्ताद्वा कर्तव्यम् । तेषां दग्धादिस्थण्डिलानामभावे कमठकेषु घटादिकस्योपरि वा भाजनकल्प कृत्वा तत्र कल्पानकमन्यत्र नीत्वा स्थण्डिले परिष्ठापयन्ति । गते वा सवर्ते पश्चात्परिमन्थिनजीवप्रदेशेषु परिष्ठाप्य सभये वा त्वरमाणाः । स्थण्डिलस्य वा अभावे धर्माधर्मास्तिकायसबन्धिषु जीवप्रदेशेषु परिष्ठापयामः इति बुद्धिं विधाय अस्थण्डिले परिष्ठापयन्ति । गत भक्तार्थताद्वारम् । वसतिद्वारमाह ।

गोणादीवाघातो, अलब्भमाणेव बाहिवसमाणे ।
वातादिसिसावयभए, अ वा उभा तेण जग्गणता ॥

सवर्तस्यान्ते निराबाधे परिमिलिते प्रदेशे वसन्ति अथ तत्र गवादिभिरितस्ततस्त्वरमाणैर्व्याघातो यद्वा तत्र प्रासुक. प्रदेशो न लभ्यते ततो बहिर्वसतौ यतो वातिभय त प्रभागं वर्जयित्वा वसन्ति । अथ तत्र श्वापदभय ततो यस्यां दिशि वातस्तां वर्जयन्ति येन च परचक्रभयेन तत्र संवर्ते प्रविष्टास्तस्मिन् प्राप्ते सर्वमुपकरण गुपिले प्रदेशे स्थापयित्वा स्वयमेकतो ऽन्यत्र प्रदेशे अपावृता. कायोत्सर्गेण तिष्ठन्ति । स्तेनरक्षणार्थं च वारकेण रजनीं सकलामपि जाग्रति अथ कस्मादपावृतास्तिष्ठन्तीत्याह ।

जिणलिंगमप्पडिहयं, अवाउडा वा वि दिस्स वज्जंति ।
थंभणिमोहणिकरणं, करजोगे वा भवे करणं ॥

अचेलतालक्षण जिनलिङ्गमप्रतिहतमेव स्थिताना न कोऽप्युपद्रवं करोतीति भाव । अथवा ते स्तेना अपावृतान् दृष्ट्वा स्वयमेव वर्जयन्ति स्तम्भनीमोहनीविद्याभ्यां च तेषा स्तम्भनमोहने कुर्वन्ति

यो वाकृतयोग सहस्रयोधी तेन तादृशे आकम्पे गच्छसरक्षणार्थं करण शिक्षण तेषां विधेयम् । गत सवद्धारम् ।

अथ नगरारोधकद्वारमाह-

संवट्टणिग्गयाणं, णियट्टणे अट्टरोहजयणाए ।
वसही भत्तट्ठणया, थंडिल्लविगिंचणो भिक्खो ॥

ये मासकल्पप्रायोग्या क्षेत्रान्निर्गत्य सवर्त्तस्थितास्ते सवर्त्तनिर्गता उच्यन्ते तेषा तत उत्थितानामवस्कन्दादिभयेन भूयोऽपि संवर्त्तान्नगर प्रतिनिवर्तना भवति । यद्वा ग्लानादिभिः कारणै प्रथममेव नगरान्न निर्गतास्ततो नगरवसतावष्टौमासान् रोधके यतनया वस्तव्य । भवति सा च यतना वसतिभक्तार्थनस्थण्डिलविवेचनभैक्ष्यविषया कर्तव्या । तत्र वसतियतनां तावदाह-

हाणीजाते कट्ठा, दो दारा कडगचिलिमिलीं वसभा ।
तं चेव एगदारे, मत्तगसुविणं व जयणाए ॥

रोधके तिसृष्वपिदृष्टौ वसतय प्रत्युपेक्षणीयास्तासु प्रत्येकमृतुबद्धमास मासमासितव्य अष्टानामभावे सप्त एव चान्या तावद्वक्तव्य यावत् सयतानां सयतीनां च (एकट्ठति) एकैव वसतिर्भवति । तत्रैकस्या वसतौ स्थिताना द्वे द्वारे भवत । अथान्तराले कटकचिलिमिलिका वा वृषभा कुर्वन्ति । अथ द्वारद्वय न भवति तत एकद्वारे तमवाधिं कुर्वन्ति । कायिकभूमेरप्यभावे मात्रकेण यतन्ते यतनया च स्वप्न कुर्वन्ति । इति निर्युक्तिगाथा समासार्थ ।

अथ भाष्यकार एनामेव विवृणोति-

रोहे उ अच्छमासे, वासासु सभूमितोणि वा जंति ।
परचक्करुद्धेवि पुरे, हाविंतिणि मास कप्पतु ॥

अष्टावृतुबद्धिकान् मासान् रोधयित्वा रोध कृत्वा ततो वर्षासुनृपा स्वभूमिमात्मीयराज्यन्तुव गच्छन्ति साधवश्च रोधके वसन्त परचक्ररुद्धेऽपि पुरे मासकल्प न हापयन्ति किंतु तत्र प्रथमत एवाष्टौ वसतयोऽष्टौ भिक्षाचर्या प्रत्युपेक्षणीया । अथाष्टौ न प्राप्यन्ते तत

भिक्खस्स व वसहीए, असती सत्तेव चउरो जा ।
वेकालंजाव्वभे, एक्केक्कगस्साणगाउ संजोगा ॥

भैक्ष्यस्य वा वसतेर्वा असति सप्त प्रत्युपेक्षणीयास्तदप्राप्तौ षडादिपरिहाण्या चतस्रो यावदेका प्रत्युपेक्षणीया । किमुक्त भवति वसतयो भिक्षाचर्याश्च यद्यष्टौ न प्राप्यन्ते तत एकैकपरिहाण्या यावदेका वसतिरेकाभिक्षाचर्या । अत्र च एकैकस्यालाभे अलाभे वा अनेके सयोगा भवन्ति । तथाहि अष्टौ वसतयो अष्टौ भिक्षाचर्या , अष्टौ वसतय सप्तभिक्षाचर्या , अष्टौ वसतयः षड्भिक्षाचर्या , एव यावदष्टौ वसतय एकाभिक्षाचर्या, एवमष्टौ भङ्गा भवन्ति एते च वसतेरष्टकमभुञ्चता लब्धा । सप्तकादिभिरप्येकपर्यन्तैरेवमेवाष्टावष्टौ भङ्गा लभ्यन्ते सर्वसख्यया भङ्गकानां चतु षष्टिरुत्तिष्ठते । चतुष्षष्टितमश्च भङ्गक एका वसति एका भिक्षाचर्येति लक्षण । सा चैका वसति सयतानां सयतीना च पृथक् भवति । अथोभयेषामपि योग्या वसति प्रत्येक नावाप्यते तत एकत्रापि वस्तव्यम् । तत्र यतनामाह-

एगत्थ वसंताणं, पिह दुवारासतीयसयकरणं ।
मज्झेण कडगचिलिमिलि, तेसु न उ थेरखुड्डीतो ॥

सयतानां सयतीनां च एकत्र वसतामिय यतना ये द्वित्रिचतु शालादिक पृथक्द्वार तद्गृह तदा तत्रान्तरे कटक चिलमिलीं वा दत्वा तिष्ठन्ति । पृथक्द्वारस्याभावे (सयकरणनि) स्वयमेव कुड्य भित्वा द्वितीय द्वार कर्त्तव्य गृहमध्ये च कुड्याभावे कटकचिलिमिलिका वा दातव्या तयोश्च कटकस्य चिलिमिलिकाया वा आसन्नयोरुभयो॰ पार्श्वयोर्भागादेकस्मिन् स्थविरा॰ साधवो द्वितीये च क्षुल्लिका संयत्यो भवन्ति । एतच्चाग्रे व्यक्तीकरिष्यते ॥

अथ तत्रैव 'एगदारेत्ति' पदं व्याख्याति-

दारदुयस्स तु असती, मज्झे दारस्स कडगकुची वा ।
णिक्खमपवेसवेला, ससद्दपिंडेण सज्झातो ॥

यदि द्वारद्वय न भवति स्वय च पृथक्द्वार कर्त्तुं न शक्यते । ततस्तस्यैकद्वारस्य मध्ये कटकं पोत्तिका वा चिलिमिलीं दत्वा द्विधा विभजन विधेयम् । तत्रार्द्धेन साधवो निर्गच्छन्ति अर्द्धेन सयत्य इति । अथ संकीर्णे सा वसति नवा विभक्तु शक्यते तत॰ परस्पर निर्गमप्रवेशवेलायां वर्जयन्ति यस्यां वेलायां संयता निर्गच्छन्ति तस्यां न संयत्य इति निर्गच्छन्तश्च शब्द कुर्वन्ति पिण्डे न च स्वाध्याय कुर्वन्ति भृङ्गारकथां न कुर्वन्ति । न वा पठन्ति । अथ स्वप्न च यतनयेति पद व्याचष्टे ॥

अंतम्मि व मज्झंम्मि व, तरुणी तरुणा य सव्ववाहिरतो ।
मज्झे मज्झिमथेरा, खुड्डीखुड्डा य थेरा य ॥

यास्तरुण्यस्ता अन्ते वा मध्ये वा भवन्ति तरुणास्तु सर्वे बाह्यत कर्त्तव्या॰ ततो मध्ये मध्यमा॰ स्थविरा क्षुल्लिकाश्च साऽप्यस्तत क्षुल्लका स्थविराश्चशब्दान्मध्यमास्तरुणाश्च भवन्तीत्यक्षरार्थ॰ भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवगन्तव्य॰ । तच्चेदम् । "तरुणीओ अंते वा सुविज्जति मज्झे व तत्य अंतै ताव भन्नइ एगम्मि तरुणी उववज्जति तासिं आरता मज्झिमातो तासिं आरतो वेरीच तासिं आरतो खुड्डीतो खुड्डीण आरतो थेरा थेराण आरतो खुड्डा । तेसिम्मि आरतो मज्झिमा तेसिं आरतो तरुणा एव नवे तरुणीओ तरणा य अंते जाया इयाणिं जइ मज्झे तरुणीओ उवविज्जति तो तासिं उभयतो मज्झिमिया उ तासिं बाहिं थेरीओ तासिं बाहिं थेरा तासिं उभयतो खुड्डीओ तासिं परिक्खोवण थेरा तेसिं उभओ खुड्डा तेसिं बाहिं मज्झिमा तेसिं परिखोवणतरुणाए सारसिं वसताण जयणत्ति ॥

अथ मात्रकपद व्याख्याति-

पत्तेयसमणदिक्खिय-पुरिसा इत्थी य सव्वएगत्थ ।
पच्छण्णकडगचिलिमिलि, मज्झे वसभा य मत्तेणं ॥

यत्रोपाश्रयाणामल्पतया राजकीय आदेशो भवेत् ये केचित्पापण्डिनस्ते सर्वेप्येकत्रैव तिष्ठतामिति तत्र यदि प्रत्येका स्त्रीवर्जिता निर्ग्रन्था शाक्यादयो दीक्षितपुरुषा सर्वेप्येकस्यां वसतौ स्थिता॰ याश्च पाषण्डिन्य स्त्रियस्ता अपि सर्वा एकत्र स्थितास्तत इय यतना । य॰ प्रच्छन्न प्रदेशस्तत्र साधुभि॰ साध्वीभिश्च स्थातव्य प्रच्छन्नस्याभावे मध्ये कण्टक चिलिमिलिकां वा वृषभा कुर्वन्ति कायिकभूमेरभावे दिवा रात्रौ च मात्राकरणे वृषभा यतन्ते ।

पच्छन्नअसतिनिण्हग, वोडियभिक्खूअसोयसोया य ।
पउरदव्वउड्डगादि, गरहा य सअंतरं एक्को ॥

प्रच्छन्नस्य कण्टकचिलिमिलिकयोश्चाभावे निह्नवेषु तिष्ठन्ति तदभावे वोटिकेषु तदप्राप्तौ भिक्षुकेषु एतेष्वपि पूर्वमाशौचनादिषु च स्थिता आचमनादिषु क्रियासु प्रचुररूप्येण कार्यं कुर्वन्ति उड्डक कमठक नत्र भुञ्जते आदिशब्दादपरेणापि येन ते शौचवादिनो जुगुप्सां न कुर्वन्ति तस्य परिग्रहः । एव प्रवचनस्यागर्हा परिहृता भवति सान्तरं चोपविष्टा भुञ्जते (एगोत्ति) एक॰ क्षुल्लकादि॰ कमठकाना कल्प करोति ।

अथ पत्तेयसमणादिक्खियत्ति पदं व्याख्याति ।

पासंडी पुरिसाणं, पासंडित्थीए वा वि पत्तेगो ।
पासंडित्थियमाण्व, एकतो होंति मा जयणा ॥

पाखण्डिस्त्रीणां पाखण्डिपुरुषाणां वा प्रत्येकं स्थितानां पाखण्डिस्त्रीपुरुषाणामेकतः स्थितानां वा इय यतना भवति ।

जे जह असोयवादी, साधम्मी वा वि जत्थ बाहिं वा ।
सा णिहुयाय हुदकालेण, वुग्गहोणावसज्झाओ ॥

ये यथा अशौचवादिनो ये च जीवादिपदार्थास्तिक्यवादित्वेनैकवाक्यत्वेन च साधूनां साधर्मिकास्तेषु तेषां मध्ये साधुभिर्वासः कर्तव्यः यदा च तत्र द्वयोरपि शैक्ष्ययोः क्षुद्रकालो भवति तदा निभृता निर्व्यापारा भवन्ति । इदमेव व्याचष्टे न विग्रहः स्वपक्षेण परपक्षेण वा सह कलहो न कर्तव्यो नैव च तदानीं स्वाध्यायो विधेयः । गता वसतियतना । भक्तार्थयतनापि पउरदवरङ्गाई इत्यादिना तदेवोक्ता ।

अथ स्थण्डिलयतनामाह ।

तं चेव पुव्व भणितं, पत्तेयं दिस्समाण कुरुकुयाय ।
थंडिल्लसुक्खहरिए, पवायपासे पदेसेसु ॥

स्थण्डिलं तदेव पूर्वभणितम् "अणावायमसंलोए" इत्यादिना यथा पीठिकायामुक्तं तथैवात्रापि मन्तव्यम् । प्रथमस्थण्डिलालाभे शेषेषु गच्छतां प्रत्येकं मात्रकग्रहणं भवति सागारिकेण च दृश्यमाने कुरुकुचा कर्तव्या एवं बहिः स्थण्डिले लभ्यमाने यतना अथ बहिर्न लभ्यते निर्गन्तु ततो यन्नगराभ्यन्तरे स्थण्डिलमनुज्ञातं तत्र यानि तृणानि शुष्काणि तेषु व्युत्सृजति तेषामभावे दरमलिनेषु मिश्रेषु तदप्राप्तौ हरितेषु सचित्तेष्वपि व्युत्सृजति । अत्र च प्रत्येकानन्तस्थिरास्थिरादियतना सर्वाऽपि कर्तव्या । यथैव निर्युक्तौ भणिता । अथ प्रपाते गर्तायां नदीतटे प्राकारोपरि वा राज्ञाऽनुज्ञातं तत एतेषां पार्श्वे व्युत्सृजन्ति यदि सर्वथैव स्थण्डिलं न लभ्यते अधश्च भूमिं न पश्यन्ति ततो गर्तादिप्रदेशेष्वपि व्युत्सृजन्ति गुरुः "अथ पत्तेयदिस्समाणो कुरुपायत्ति" पदं व्याख्याति ॥

पढमा सइ असणुम्मे, तरणे गिहियाणवादि आभोगं ।
पत्तेयमत्तकुरुकुय, दिवं च पउरं गिहत्थेसु ॥
तेण परं पुरिसाणं, असोयवादीणवच्चआवातं ।
इत्थी नपुंसकेसु वि, परं मुहो कुरुकुया सेव ॥

गाथाद्वयमपि पीठिकायां व्याख्यातम् एषा उच्चारयतना भणिता ॥ अथ शरीरे विवेचनयतनामाह-

पच्छन्नपुव्वभणियं, विदिसअथंडिल्लसुक्कहरिए य ।
अगडवरंडगदीहिय, जलाण पासे पदेसेसु ॥

यद्यसौ कालं गतः साधुस्तत्र केनापि न ज्ञातस्ततोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणे उपयोगकाले अतीते अन्यलिङ्गं कृत्वा प्रच्छन्नमल्पसागारिके स्थण्डिले परिष्ठाप्यते अथ ज्ञातस्तदा (पुव्वभणियत्ति) यदि नगरान्निर्गमो न लभ्यते प्रत्यपायो वा निर्गतानां भवति ततो नगराभ्यन्तरे पूर्वमिहैव मासकल्पप्रकृते परिष्ठापनिका निर्युक्तौ वा यो भणितो विधिस्तेनोपाश्रये वाऽपरदक्षिणस्यां दिशि परिष्ठापयन्ति । अथ तस्यां न लभ्यते ततो राजवितीर्णमनुज्ञातं यत् स्थण्डिलं तत्र परिष्ठापयन्ति । अथ स्थण्डिले हरितानि भवन्ति ततः शुष्कतृणेषु तदभावे मिश्रेषु तदप्राप्तौ हरितेष्वपि परिष्ठापयन्ति । अथ राज्ञाभिहितं सर्वैरपि पाषण्डिभिरगडे गर्तायां शवं परित्यक्तव्यं प्राकारवरण्डके वा दीर्घिकायां वा नद्यां वहन्त्यां ज्वलति प्रक्षेप्तव्यं तत एतेषां पार्श्वे परिष्ठापयन्ति । अथ न लभ्यते पार्श्वतः परित्यक्तुं ततो धर्मास्तिकायादिप्रदेशेषु परिष्ठापयामीति बुद्धिं कृत्वा तत्रैव प्रक्षिपन्ति । अथ राज्ञा वितीर्णे स्थण्डिले परिष्ठापनाविधिमाह ।

अन्नाए परलिंगं, उवओगवा तुलेतुमामेत्तं ।
णातं उड्डाहो वा, अयसो पत्थार दोसो वा ॥

यद्यसौ तत्राज्ञातस्तदा परलिङ्गं क्रियते तच्चोपयोगाद्धा सान्तर्मुहूर्त्तलक्षणं तोलयित्वा प्रतीक्ष्य कर्तव्यं नो मिथ्यात्वं गमिष्यामीति कृत्वा यो अनज्ञातस्तत्र परलिङ्गं न करोति मा उड्डाहो भवेत् उड्डाहो नाम एते मायावन्तः पापा वा न परोपघातकारिणश्चेति इत्थं तेषामुड्डाहे जायमाने प्रवचनस्याप्ययशःप्रवादो भवति प्रस्तारदोषश्च कुलगणसंघविनाशलक्षण उपजायते । एतद्दोषपरिहरणार्थं स्वलिङ्गेनैव परिष्ठाप्यते ।

अथ भिक्षाद्वारमाह-

न वि को वि कंचि पुच्छति, णिंतं पविसंत अंतो वा ।
आसंकिते पडिसेहो, णिक्कारणकारणे उ जतणे य ॥

बोधके अन्तर्नगराभ्यन्तराद्बहिर्निर्गच्छन्तं बहिः कटकाद्वा नगरान्तःप्रविशन्तं न कोऽपि कश्चित्पृच्छति । तत्र स्वेच्छया बहिरन्तर्वा भिक्षामटन्ति । यत्र पुनराशङ्कितं क एष कुतो वा आगतो वेश बहिर्गतः सन् किमपि कथयिष्यति किमर्थं वा निर्गच्छति । ईदृशे आशङ्किते निष्कारणे प्रतिषेधे न गन्तव्य कारणे तु यतना वक्ष्यमाणा भवति । इदमेव भावयति ।

पउरन्नपाणगमणा, चउरो मासा हवंति उग्घाया ।
मोत्त इयरे य चत्ता, कुलगणसंघाय पत्थारे ॥

प्रचुरान्नपाने लभ्यमाने यदि बहिर्गच्छति तदा चत्वारो मासा अनुद्धाता भवन्ति आज्ञादयश्च दोषास्तेन साधुना स्वकीय आत्मा इतरे चाभ्यन्तरवर्तिनः साधवः परित्यक्ता भवन्ति तत्र स बहिः सैन्ये गतः पृच्छ्यमानेऽपि यदा किमपि नाख्याति तदा चारकोऽयमिति मत्वा गृह्यते । अभ्यन्तरवर्तिनस्तु अमीषां सहायिनः प्रव्रजितोऽयं निर्गतस्तेन भेदः प्रदत्त इति कृत्वा गृह्यन्ते । एवं कुलगणसंघप्रस्तारोऽपि राज्ञा क्रियते ततो निष्कारणे न गन्तव्यम् ॥

अंतो अलब्भमाणे, असणमाईसु होति जइतव्वं ।
जावंतिए विसोधी, असव्वमादी अलाभे वा ॥

अन्तर्मध्ये प्रासुकैषणीये अलभ्यमाने पञ्चकपरिहाणिक्रमेणैषणादिषु दोषेषु नगराभ्यन्तर एव यतितव्यं यावत् यावन्तिकादिरूपेषु विशोधिकोटिदोषेषु यतमानश्चतुर्लघुप्राप्तो भवति तथा प्यलम्भे अमात्यमादिशब्दाद्वा न श्रवान् अश्वादीन् वा प्रज्ञापयन्ति ते यद्यविशोधिकोटिदोषैर्दुष्टं प्रयच्छन्ति तदा तदपि गृह्यते न पुनर्बहिर्गन्तव्यम् । अथ तथापि न लभ्यते ततः ॥

आपुच्छित आरक्खित, सेट्ठी सेणावती रायाणं ।
णिग्गमणविट्ठरूवे, भासा य तहिं असावज्जा ॥

आरक्षिकः कोट्टपालस्तमागच्छन्ति । वयमत्र सस्तरामस्ततो बहिर्निर्गच्छतां द्वारं प्रयच्छत यद्यसौ ब्रूयात् मा निर्गच्छत । अहं भवतां पर्याप्तं दास्यामि ततो गृह्यते । अथ ब्रूयात् नास्ति मे किंचिद्भक्तं दातव्यं युष्मांश्च विसर्जयन् राज्ञो बिभेमि । ततः श्रेष्ठिनं पृच्छत ततः श्रेष्ठिनमापृच्छन्ति । एवं सेनापतिममात्यं राजानं वा पृच्छन्ति ततो यदि राज्ञाऽपि विसर्जितास्तदा निर्गम-

नं कुर्वन्ति द्वार पालानां च साधवो दर्शयन्ते यथा एतान् दृष्टरूपान् कुरुत भिक्षाग्रहणार्थमेते निर्गमिष्यन्ति प्रवेशयिष्यन्ति वा न किंचिद्दर्घ्दिवकृत्यम्।तत्र च बहिर्गतैरसावद्या भाषा भाषितव्या। अमुमेवार्थं स्पष्टयति ।

मा वच्चह दाहामि, संकाए वाणविंति निग्गंतुं ।

दाणम्मि होइ गहणं, अणुसट्ठादीणि पडिसेहे ॥

आरक्षिकादयः पृष्ठा: सन्तो भणन्ति मा व्रजत वय भक्तं दास्यामहे ते च भेदशङ्क्या साधूनां निर्गन्तु न ददति ततो यद्यविशुद्धमपि ते प्रयच्छन्ति तदा तस्य ग्रहण कर्तव्यम्। अथ पडिसेहेत्ति भक्त न च निर्गन्तु ददति ततोऽनुशिष्टिधर्मकथादीनि प्रयुज्यन्ते ॥

बहिया वि गमेऊणं, आरक्खितमाहि णो तहिं णिंति ।

हितणट्ठवारिगाही, एवं दोसा जढा होंति ॥

बहिरपि गता एवमेवारक्षिकश्रेष्ठिप्रभृतीन् गमयित्वा प्रज्ञाप्य तत्र भिक्षामटन्ति एव कुर्वद्भिर्हृतनष्टचारिकादयो दोषा. परिहृता भवन्ति । ये साधवो बहि: प्रस्थाप्यन्ते ते अमीभिर्गुणैर्युक्ता भवन्ति ॥

पियधम्मे दढधम्मे, संबंधविकारिणा करणदक्खे ।

पडिवत्तीसु य कुसले, तब्भूमे पेसए बहिता ॥

प्रियधर्मणो दृढधर्मणश्च प्रतीतान् (संबंधत्ति) येषामन्तर्बहिश्च स्वजनसबन्धो भवति । अविकारिणो नाम नोद्भटवेषा न वा कन्दर्पशीलास्तान् करणदक्षान् भिक्षाग्रहणादिक्रियासु परिच्छेदवत । प्रतिपत्ति । प्रतिवचनप्रदान तत्र कुशलान (तब्भूमित्ति) यो बहि: स्कन्धावार आगतस्तस्य भूमौ जातवर्द्धितान् एवंविधान् साधून् बहि प्रेषयेत् । 'नासायतहिं असेवेज्जति' पद व्याचिख्यासुराह—

केवति य आसहत्थी, जोधा धण्णं वि कित्तियं णगरे ।

परितंतमपरितंती, नागासेणाणवियाणे ॥

बाह्यस्कन्धावारसत्का: पृच्छेयु: नगराभ्यन्तरे कियन्तोऽश्वा हस्तिनो योधा वा सज्जिता सन्ति धान्य वा कियन्नगरेऽस्ति नागरा पौरा: सेना वा परितान्ता रोधकेण 'ठियाउपरितातो अ. तुठिया ' एव पृष्टे वक्तव्य न जानेऽहम् । ब्रवीरन् तत्रैव च सन्त कथ न जानीत । साधवो ब्रुवते ॥

सुणमाए वि मो मज्झा—यज्झाणनिरुमा उत्ता ।

सावज्जं सोऊण वि, णहु लब्भाइक्खिओ जतिणो ॥

वय स्वाध्यायध्यानयोर्नित्यमायुक्ता सन्त शृणुतोऽपि वार्त्तांतर न शृणुम । अपि च सावद्यं श्रुत्वाऽपि यतीनामन्यस्याख्यातु न लभ्यते । न युज्यते । अन्त: प्रविष्टस्य तु यदि कोऽपि पृच्छति तदा वक्तव्यं भिक्षाद्युपयोगेन न ज्ञातमन्तर्बहिश्च साधारणमिदमुत्तर"शृणोति बहु कर्णाभ्यामक्षिभ्यां बहु पश्यति।न च दृष्ट श्रुत सर्वं भिक्षुराख्यातुमर्हति" एव भैक्ष्यमटित्वा पर्याप्ते सजाते सति किं कर्तव्यमित्याह ॥

भत्तट्ठाणसलोए, मोत्तूणं संकिताइ ठाणाइ ।

सचित्ते पडिसेधो, अतिगहणं दिट्ठरूवाणं ॥

भक्तार्थं न वा जनमालोके प्रकाशे भवति । यानि शङ्कितानिचारिकादिशङ्काविषयभूतानि यानि गुपिलानि स्थानानि तानि मुक्त्वा तेषु न विधेयमित्यर्थ । यश्च सचित्त प्रव्रजितुमुपतिष्ठते तत्र प्रतिसिद्धः स न प्रव्राजयितव्य किं तु ये पूर्वं द्वारपालेन दृष्टरूपा: कृतास्तेषामेवान्तिकगमनं भूय प्रवेशो भवति एषा

बहर्थसंग्राहिका निर्युक्तिगाथा । अथैनां भाष्यकृद्विवृणोति ।

सावगसण्णि ठाणे, न वि ते कतर इए य भत्तट्टं ।

ते समतीआ लोए, वट्टगकुरुयादिसिं चेव ॥

यत्र श्रावकः श्राविका वा एतद्द्वयमपि यदि त साधुसामाचारीकुशलं तत्र स्थाने भक्तार्थयन्ति तदलाभे यथैकतरं साधु सामाचारिचतुरं तत्र समुद्देष्टव्यमेकतरस्यापि देवद्भस्याभावे इतरेषु अवेदृष्टेष्वपि श्रावकेषु यथा भद्रकेषु वा भक्तार्थयितव्यम् । तेषामभावे अटव्यामालोके अशङ्कनीये सप्रकाशे प्रदेशे समुद्दिशति । वट्टककुरुकुयादिका ऽनुरूपा सैव यतना कर्त्तव्या । शैक्षस्तु यदि कोऽप्युपतिष्ठते तदा न प्रव्राजनीय । अथ कोऽपि स्वयमेव लिङ्ग कृत्वा प्रविशति ततो वक्तव्य वयं गणितानामङ्किता एव द्वारेण निर्गतास्ततस्त तत्र गत सन् गृहीत्वा विनाशयिष्यत एव मुक्तेऽपि यद्यसावागच्छति तदा द्वार प्राप्ता द्वारपाल भणन्ति न जानीमो वय कमप्येनम् । अस्मानेतान् दृष्टरूपान् कुरुत ।

तदुट्ठियवाहट्ठो, पुणरविघेत्तुं अधिंति पज्जत्तं ॥

अणुसट्ठीदारोट्ठे अणो वसती जयं अंतं ॥

एव भक्तपान पर्याप्त गृहीत्वा भक्तार्थिता कृता न जना वाहाकितास्तन्दुकल्पूनमाजना पुनरपि नगर अधियन्ति । प्रविशन्ति । यदि द्वारस्थो द्वारपालो मार्गयति पौद्गलिकां मे यच्छत ततोऽनुशिष्टि कर्त्तव्या । अन्यो वा यदि कोऽप्यनुकम्पया ददाति । तदा न वारणीय: तस्या सत्यभावे यदन्न प्राप्त तद्दीयते।

रुद्धे वोच्छिन्ने वा—होरोट्ठ दो वि कारणं दीवे ।

इहरा वारियसंका, अकालचरवेदमादीसु ॥

अथ निर्गतानां द्वार रुद्ध स्थगित गमागमौ वा व्यवच्छिन्नौ ततस्तो द्वयेऽपि आभ्यन्तरा बाह्याश्च साधवो द्वारस्थस्य मार्गकारण दीपयन्ति । आभ्यन्तरा ब्रुवते अस्माक साधवो निर्गता बहिश्चरुद्धा: बाह्या ब्रुवते वय कारणे भिक्षायां बहिर्निर्गता परं द्वाराणि निरुद्धानि इतरथा यदि न कथयन्ति ततोऽकाले रात्रौ वा विकाले वा यद्यवस्कन्दो धाटि तदादीनि तदा चारिकशङ्का भवेत् ये साधवो निर्गतास्ते ऽत्र न प्रविष्टास्ते न चारिकास्ते आगता आसीरन्निति ।

बाहिं तुत्तसिउकामं, अंतिणती पेहणा अणिच्छंते ।

गुरुणा पराजयजए, वितियं रुद्धे व वोच्छिण्णे ॥

बहिर्निर्गताना कोऽप्येकश्चिन्तयेत् युक्तोऽस्मिन्नेववारके वासो न पुनः प्रविशामि अत्र सूत्रमवतरति एव बहिर्वसन्त प्रज्ञापयन्ति आर्य्य ! सूत्रे प्रतिषिद्ध वर्त्तते बहिर्वसतु द्वयोर्जिनराजाज्ञयोरतिक्रमो भवति । एवं प्रज्ञाप्य नगर' प्रवेशयन्ति । अथ नेच्छन्ति प्रवेष्टु तत (पेल्लणत्ति) बलान्मोटिकया शेषै स प्रवेशनीय यदि न प्रवेशयन्ति ततश्चत्वारो गुरुका: कदाचिदाभ्यन्तराणां पराजयो ऽपरेषां च जयो भवेत् तत्र पतिभेद: प्रदत्त इति शङ्कया प्रस्तारदोषा भवेयु द्वितीयपदमत्र भणति बहिर्निर्गतस्य सर्वतोऽपि नगर निरुद्ध गमागम सर्वथैव व्यवच्छिन्न इति कृत्वा तत्रापि वसन शुद्ध: । बृ० ३ उ० ॥

उवरोहि (ण्)—उपरोधिन्—त्रि० पीडाकारिणि, आव० ४ अ०।

उवल—उपल—पु० उप-ला-आदाने, टक्कानुपकरणपरिकर्मणा योग्ये पाषाणे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । गण्डशैलपाषाणखण्डादिरूपे पृथ्वीकायभेदे, उत्त० ३६ अ० । दग्धपाषाणे, भ० ५ श० २ उ० । छिन्नपाषाणे, बृ० ४ उ० । सामान्यत पाषाणे, विशे० । आ० म० प्र० । कर्करे, अष्ट० ।

उवलंभ-उपलम्भ-पुं० उप-लभ-घञ्-मुम् । लाभे, विशे० । ज्ञाने च । जीवाद्युपलम्भो वाच्यः । आ० म० प्र० ।

उवलद्ध-उपलब्ध-त्रि० उप-लभ-क्त । परिज्ञाने, " अह णं स होइ उवलद्धो, तो पेसति तहाभूएहिं अणालद्धेहिं पेहेहिं" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । यथावस्थितस्वरूपेण विज्ञाते, दशा० १० अ० । रा० ।

उवलद्धपुण्णपाव-उपलब्धपुण्यपाप-त्रि० उपलब्धे यथावस्थितस्वरूपेण विज्ञाते पुण्यपापे येन स उपलब्धपुण्यपाप. । तत्त्वतो विज्ञातपुण्यपापे, दशा० १० अ० । रा० ।

उवलद्धि-उपलब्धि-स्त्री० उपलम्भनमुपलब्धिः ज्ञाने, विशे० । उपलब्धिः पञ्चविधा "सारिक्खविवक्खे विवक्खोभये ओवमा गमतो य" उपलब्धिः सादृश्यतो विपक्षत उभयधर्मदर्शनत औपम्यत आगमतश्च ॥ अधुना सादृश्यतो विपक्षतश्चोपलब्धिमाह--

सारिक्खविवक्खेहि य, लभति परोक्खेवि अक्खरं कोई ।
सवलेरबाहुलेरा, जह अहि नउला य अणुमाणे ॥

कश्चित्परोक्षेऽप्यर्थे सादृश्यादक्षरं लभते यथा शावलेयबाहुलेयाक्षराणि तथाहि कश्चित् शावलेयं दृष्ट्वा तत्सादृश्यात्परोक्षेऽपि बाहुलेये तदक्षराणि लभते । ईदृशो बाहुलेय इति तथा कश्चिद्वैपक्ष्येण परोक्षेऽर्थे तदक्षरं लभते । यथा अहिदर्शनान्नकुलानुमाने नकुलदर्शनाद्वा सर्पानुमाने । सम्प्रत्युभयधर्मदर्शनत उभयाक्षरलब्धिमाह--

एगत्थे उवलद्धे, कम्मि वि उभयत्थ पच्चओ होइ ।
अस्सतरे खरसाणं, गुलदहियाणं सिहरिणीए ॥

कस्मिंश्चिदुभयधर्मा यानुमितिः उभयावयवयोगिनि वा एकस्मिन्नर्थे उपलब्धे उभयत्र परोक्षे प्रत्ययस्तदक्षरलाभो भवति यथा अश्वतरे वेगसरे दृष्टे खरस्य अश्वस्य च प्रत्ययस्तदक्षरलाभो यथा वा सिखरिण्यामुपलब्धायां गुडदध्न. प्रत्ययो गुडदध्यक्षरलाभ' ।

औपम्यत उपलब्धिमाह--

पुव्वं पि अणुवलद्धो, घिप्पइ अत्थो उ कोइ ओवम्मा ।
जह गो एवं गवयो, किंचिविसेसेण परिहीणो ॥

पूर्वमनुपलब्धोऽपि कोऽप्यर्थ औपम्याद् गृह्यते यथा गौरेवं गवयो नवरं किंचिद्विशेषेण परिहीन. कम्बलकविरहित इत्यर्थः । अत्रेयं भावना यथा गौस्तथा गवय इति श्रुत्वा कालान्तरेणाटव्यां पर्यटन् गवयं दृष्ट्वा गवयोऽयमिति यदक्षरजातं लभते एषा औपम्योपलब्धि. । इदानीमागमत उपलब्धिमाह--

अत्तागमप्पमाणेण, अक्खरं किंचि अविसयत्थेवि ।
भविया भविया कुरवो, नारगदिवलोय मोक्खो या ॥

आप्ताः सर्वज्ञास्तत्प्रणीत आगम आप्तागम. स एव प्रमाणमाप्तागमप्रमाणं तेन अविषयेऽप्यर्थे किंचिदक्षरं लभते यथा भव्योऽभव्यो देवकुरव उत्तरकुरवो नारका देवलोको मोक्ष. चशब्दादन्ये च भावा । इयमत्र भावना । आप्तागमप्रामाण्यवशात्तस्मिन् तस्मिन् वस्तुनि योऽक्षरलाभो यथा भव्य इति अभव्य इति देवकुरव इत्यादि सा आगमोपलब्धि' । एषा सर्वाप्युपलब्धि' सञ्ज्ञिनां भवति असञ्ज्ञिनां तु का वार्तेत्यत आह--

उस्सन्नेण असन्नीणं, अत्थ लंभे वि अक्खरं नत्थि ।
अत्थो चिय सन्नीणं तु, अक्खरं निच्छए भयणा ॥

असञ्ज्ञिनामर्थलाभेऽपि अर्थदर्शनेऽप्युत्सन्नेन एकान्तेन नास्त्यक्षरलाभः तथाहि शङ्खशब्दं श्रुत्वाऽपि न तेषामेषा लब्धिरुपजायते यथायं शङ्खशब्द इति एवं शेषेन्द्रियेष्वपि भावनीयम् । संज्ञिनां पुनरर्थ एवाक्षरमर्थोपलम्भकाल एवाक्षरलाभो यथा शङ्खशब्द इति निश्चये पुनर्भजना शङ्खशब्द एवायं शार्ङ्गशब्द एवायमिति वा निश्चयगमनं स्याद्वा न वा एवं शेषेन्द्रियेष्वपि भावनीयम् ॥ वृ० १ उ० ।

अथोपलब्धिं प्रकारान्तरतो दर्शयति । उपलब्धेरपि द्वैविध्यमविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्चेति । न केवलमुपलब्ध्यनुपलब्धिरन्यां भिद्यमानत्वेन हेतोर्द्वैविध्यमित्यपेरर्थः अविरुद्धोऽविरुद्धश्चात्र साध्येन सार्द्धं द्रष्टव्यस्ततस्तस्योपलब्धिरिति । आधाया भेदानाहुः । तत्राविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढेति ॥ तानेव व्याख्याति । साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिरिति । ततो व्याप्या विरुद्धोपलब्धिः कार्याविरुद्धोपलब्धिः कारणाविरुद्धोपलब्धिः पूर्वचराविरुद्धोपलब्धिः उत्तरचराविरुद्धोपलब्धि. सहचराविरुद्धोपलब्धिरिति षट्प्रकारा भवति । तत्र हि साध्य शब्दस्य परिणामित्वादि तस्याविरुद्धं व्याप्यादि प्रयत्नान्तरीयकत्वादि वक्ष्यमाण तदुपलब्धिरिति । अथ जिज्ञासते । विधिसिद्धौ स्वभावकार्ये एव साधने साधीयसी न कारणं तस्यावश्यतया कार्योत्पादकत्वाभावात्प्रतिबद्धावस्थस्य मुर्मुरावस्थस्य वा धूमस्यापि धूमध्वजस्य दर्शनात् । अप्रतिबद्धसामर्थ्यमुपसामग्रीकं च तद्गमकमिति चेदेवमेतत्किं तु नैतादृशमर्वाग्दृशावसातुं शक्यमिति तन्निराकर्तुं कीर्तयन्ति । तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाम्रादिफलरसादेकसामग्र्यनुमित्या रूपाद्यनुमितिमभिमन्यमानैरभिमतमेव किमपि कारणं हेतुतया यत्र शक्तेरप्रतिस्खलनमपरकारणसाकल्यं चेति । तमस्विन्यामिति रूपाप्रत्यक्षत्वसूचनाय शक्तेरप्रतिस्खलनं सामर्थ्यस्याप्रतिबन्धः । अपरकारणसाकल्यशेषनि.शेषसहकारिसंपर्कः रजन्यां रस्यमानात्किल रसात्तज्जनकसामग्र्यनुमानं ततोऽपि रूपानुमानं भवति । प्राक्तनो हि रूपक्षणः सजातीयरूपान्तरक्षणलक्षणं कार्यं कुर्वन्नेव विजातीयं रसक्षणं कार्यं करोतीति प्राक्तनरूपक्षणात्सजातीयोत्पाद्यरूपक्षणान्तरानुमानं मन्यमानैः सौगतैरनुमतमेव किंचित्कारणं हेतुरस्मिन् सामर्थ्याप्रतिबन्ध कारणान्तरसाकल्य च निश्चेतुं शक्यते ॥ अथ तन्नैतत्कारणात्कार्यानुमानं किं तु स्वभावानुमानमदः ईदृशरूपान्तरोत्पादसमर्थमिदं रूपमीदृशरसजनकत्वादित्येवं तत्स्वभावभूतस्यैव तज्जननसामर्थ्यस्यानुमानादिति चेन्नन्वेतदपि प्रतिबन्धाभावकारणान्तरसाकल्यनिर्णयमन्तरेण नोपपद्यत एव तन्निश्चये तु यदि कारणादेव कस्मात्कार्यमनुमास्यते तदा किं नाम दुश्चरितं चेतस्वी विचारयेत् । एवमस्त्यत्र गयाभ्रादित्यादीन्यव्यभिचारनिश्चयादनुमानान्येवेत्युक्तं भवति । अथ पूर्वचरोत्तरचरयोः स्वभावकार्यकारणहेत्वनन्तरभावाद्भेदान्तरत्वं समर्थयन्ति । पूर्वचरोत्तरचरयोर्न स्वभावकार्यकारणभावौ तयोः कालव्यवहितानुपलम्भादिति । साध्यसाधनयोस्तादात्म्ये सति स्वभावहेतौ तदुत्पत्तौ तु कार्ये कारणे वाऽन्तर्भावो विभाव्यते न चैतत्तादात्म्यं हेतु समसमयस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वपरिणामित्वादेरुपपन्नं तदुत्पत्तिश्चान्योन्यमव्यवहितस्यैव धूमधूमध्वजादेः समधिगता न तु व्यवहितकालस्यातिप्रसक्तेः । ननु कालव्यवधानेऽपि कार्यकारणभावो भवत्येव । जाग्रद्बोधप्रबोधयोर्मरणारिष्टयोश्च तथा दर्शनादिति प्रतिजानानं प्रज्ञाकरं प्रतिक्षिपन्ति । नवातिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदनमरणयो' प्रबोधोत्पत्तौ प्रति कारणत्वं व्यवहितत्वेन निर्व्यापारत्वादिति । अयमर्थः जाग्रद्दशासंवेदनमतीतं सुप्तावस्थोत्तरकालभाविज्ञानं वर्तमानं प्रतिमरणं वा

नागतं प्रबोधवीक्षणादि क्रमरिष्टं सांप्रतिकं प्रति व्यवहितत्वेन व्यापारपराङ्मुखमिति कथं तत्तत्र कारणत्वमवलम्बेत निर्व्यापारस्यापि तत्कल्पने सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्। इदमेव भावयन्ति॥ स्वव्यापारापेक्षिणो हि कार्यं प्रति पदार्थस्य कारणत्वव्यवस्था कुलालस्येव कलशं प्रतीति अन्वयव्यतिरेकावसेयो हि सर्वत्र कार्यकारणभावस्तौ च कार्यस्य कारणव्यापारसव्यपेक्षावेव युज्येते कुलालस्यैव कुम्भकारव्यापारसव्यपेक्षाविति । ननु चातिक्रान्तानागतयोर्व्यवहितत्वेऽपि व्यापारः कथं न स्यादित्यारेकामपहरयन्ति॥ नच व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यमतिप्रसक्तेरिति । तयोरतिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोः । अतिप्रसक्तिमेव भावयन्ति । परंपराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य निवारयितुमशक्यत्वादिति परेषामपि रावणशङ्खचक्रवर्त्यादीनां तत्कल्पनस्य व्यापारकल्पनस्य । अथान्वयव्यतिरेकसमधिगम्यः कार्यकारणभावस्ततो व्यवधानाविशेषेऽपि यस्यैव कार्यमन्वयव्यतिरेकावनुकरोति तदेव तत्कारणमन्यथा व्यवधानाविशेषेऽपि किं न काष्ठकृशानुवत्तत्र स्थित एव शर्कराकणनिकरोऽपि धूमकारणं स्यात्ततो नातिप्रसङ्ग इति चेन्नान्वयस्तद्भावे भाव स चात्र तावन्नास्त्येव जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोरभाव एव सर्वदा तत्कार्योत्पादात् । अथ स्वकाले सतोरेव तयोस्तत्कार्योत्पत्तेरन्वयः कथं न स्यादिति चेत्तर्हि ईदृशोऽयं रावणादिभिरप्यस्त्यस्त्येव सत्यमस्त्येव व्यतिरेकस्तु रिक्त इति चेन्ननु कोऽयं व्यतिरेको नाम तदभावेऽभाव इति चेत्तर्हि जाग्रद्दशासंवेदनादेः कथं स्यात्तदभाव एव सर्वदा प्रबोधादेर्भावात् स्वकाले त्वभावस्तस्य नास्त्येवेति कथं व्यतिरेकसिद्धिमधिवसेदिति न व्यवहितयोः कार्यकारणभावः सम्भवति। सहचरहेतोरपि स्वभावकार्यकारणेषु नान्तर्भाव इति दर्शयन्ति । सहचारिणोः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेश इति । यदि हि सहसचरणशीलयोर्वस्तुनोस्तादात्म्यं स्यात्तदा परस्परपरिहारेण स्वरूपान्तरोपलम्भो न भवेदथ तदुत्पत्तिस्तदा पौर्वापर्येणोत्पादप्रसङ्गात्सहोत्पादो न स्यात् नचैव ततो नास्य प्राक्तेषु स्वभावकार्यकारणेष्वन्तर्भावः । इदानीं मन्दमतिव्युत्पत्तिनिमित्तं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां पञ्चावयवां व्याप्याविरुद्धोपलब्धिमुदाहरन्ति । ध्वनिः परिणतिमान् प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् प्रयत्नानन्तरीयकः स परिणतिमान्यथा स्तम्भः यो वा न परिणतिमान् स न प्रयत्नानन्तरीयको यथा वान्ध्येयः प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिस्तस्मात्परिणतिमानिति व्याप्यस्य साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिः साधर्म्येण वैधर्म्येण चेति । अत्र ध्वनिः परिणतिमानिति साध्यधर्मविशिष्टधर्म्यभिधानरूपा प्रतिज्ञा प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुः यः प्रयत्नानन्तरीयक इत्यादि तु व्याप्तिप्रदर्शनपूर्वौ साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां स्तम्भवान्ध्येयरूपौ दृष्टान्तौ । प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिरित्युपनयस्तस्मात्परिणतिमानिति निगमनम् । यद्यपि व्याप्यत्वं कार्यादिहेतूनामप्यस्ति साध्येन व्याप्यत्वात्तथापि तदेह विवक्षितं किं तु साध्येन तदात्मीभूतस्य कार्याविरूपस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वादेः स्वरूपमित्यदोषः ॥ अथ कार्याविरुद्धोपलब्ध्यादीनुदाहरन्ति अस्त्यत्र गिरिनिकुञ्जे धनञ्जयो धूमसमुपलम्भादिति कार्यस्येति । साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिरिति पूर्वसूत्रादिहोत्तरत्र चानुवर्त्तनीयम् । भविष्यति वर्षं तथाविधवारिवाहविलोकनादिति कारणस्येति तथाविधेति सातिशयोन्नतत्वादिधर्मोपेतत्वं गृह्यते । उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते तिष्यतारका पुनर्वसूदयदर्शनादिति पूर्वचरस्येति तिष्यतारकेति पुष्यनक्षत्रम् ॥ उदगुर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वफल्गुन्य उत्तरफाल्गुनीनामुद्गमोपलब्धेरित्युत्तरचरस्येति । अस्तीह सहकारफलरूपविशेषः समास्वाद्यमानरसविशेषादिति सहचरस्येति । इयं च साक्षात्षोढा विरुद्धोपलब्धिरुक्ता । परम्परया पुनः संभवन्तीयमत्रैवान्तर्भावनीया । तद्यथा कार्यकार्याविरुद्धोपलब्धिः कार्यो विरुद्धोपलब्धौ अन्तर्भवतीति योगः अभूदत्र कोशः कलशोपलम्भादिति कोशस्य हि कार्यं कुशूलस्तस्य चाविरुद्धं कार्यं कुम्भ इति एवमन्याऽप्यत्रैवान्तर्भावनीया ॥ अधुना विरुद्धोपलब्धिभेदानाहुः ॥ विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सप्त प्रकारेति । प्रथमप्रकारं प्राक् प्रकाशयन्ति । तत्राद्या स्वभावविरुद्धोपलब्धिरिति । प्रतिषेध्यस्यार्थस्य यः स्वभावः स्वरूपं तेन सह यत्साक्षाद्विरुद्धं तस्योपलब्धिः स्वभावविरुद्धोपलब्धिः एतामुदाहरन्ति नास्त्येव सर्वथैकान्तोऽनेकान्तस्योपलम्भादिति । स्पष्टो हि सर्वथैकान्तानेकान्तयोः साक्षाद्विरोधो भावाभावयोरिव । नन्वयमनुपलब्धिहेतुरेव युक्तो यावान् कश्चित्प्रतिषेधः स सर्वोऽनुपलब्धिरिति वचनादिति चेत्तन्मलीमसमुपलम्भाभावस्यात्र हेतुत्वेनानुपन्यासात् । अथ विरुद्धयोः सर्वथैकान्तानेकान्तयोर्वह्निशीतस्पर्शयोरिव प्रथमं विरोधः स्वभावानुपलब्ध्या प्रतिपन्न इत्यनुपलब्धिमूलत्वात्स्वभावविरोधोपलब्धेरनुपलब्धिरूपत्वं युक्तमेवेति चेत्तर्हि साध्यधर्म्मिणि भूधरादौ साधने च धूमादावध्यक्षीकृते सतीदमप्यनुमानं प्रवर्तत इति प्रत्यक्षमूलत्वात् इदमपि प्रत्यक्षं किं न स्यात् । विरुद्धोपलब्धेराद्यप्रकारं प्रदर्श्य शेषानाख्याति । प्रतिषेध्यविरुद्धव्याप्तादीनामुपलब्धयः षडिति प्रतिषेध्येनार्थेन सह ये साक्षाद्विरुद्धास्तेषां ये व्याप्तादयो व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचरास्तेषामुपलब्धयः षट् भवन्ति । विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्विरुद्धकार्योपलब्धिर्विरुद्धकारणोपलब्धिर्विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्विरुद्धसहचरोपलब्धिश्चेति। क्रमेणासामुदाहरणान्याहुः । विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा नास्त्यस्य पुंसस्तत्त्वेषु निश्चयस्तत्र संदेहादिति । अत्र हि जीवादितत्त्वगोचरो निश्चयः प्रतिषेध्यस्तद्विरुद्धश्चानिश्चयस्तेन व्याप्तस्य संदेहस्योपलब्धिः । विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा न विद्यतेऽस्य क्रोधाद्युपशान्तिर्वदनविकारादेरिति वदनविकारस्ताम्रतादिरादिशब्दादधरस्फुरणादिपरिग्रहः । अत्र च प्रतिषेध्यः क्रोधाद्युपशमस्तद्विरुद्धस्तदनुपशमस्तत्कार्यस्य वदनविकारादेरुपलब्धिः । विरुद्धकारणोपलब्धिर्यथा नास्य महर्षेरसत्यं वचः समस्ति रागद्वेषकालुष्याकलङ्कितज्ञानसम्पन्नत्वादिति प्रतिषेध्येन ह्यसत्येन सह विरुद्धं सत्यं तस्य कारणं रागद्वेषकालुष्याकलङ्कितज्ञानं तत्कुतश्चित्सूक्ताभिधानादेः सिद्ध्यत्सत्यं साधयति । तच्च सिध्यदसत्यं प्रतिषेधति ॥ विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्यथा नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते पुष्यतारा रोहिण्युद्गमादिति । प्रतिषेध्योऽत्र पुष्यतारोद्गमस्तद्विरुद्धो मृगशीर्षोदयस्तदनन्तरं पुनर्वसूदयस्यैव भावात् । तत्पूर्वचरो रोहिण्युदयस्तस्योपलब्धिर्विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्यथा नोदगान्मुहूर्तात्पूर्वं मृगशिरः पूर्वफाल्गुन्युदयादिति। प्रतिषेध्योऽत्र मृगशीर्षोदयस्तद्विरुद्धो मघोदयोऽनन्तरमार्द्रोदयादेरेव भावात्तदुत्तरचरः पूर्वफल्गुन्युदयस्तस्योपलब्धिर्विरुद्धसहचरोपलब्धिर्यथा नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनादिति प्रतिषेध्येन हि मिथ्याज्ञानेन सह विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तत्सहचरं सम्यग्दर्शनं तच्च प्राण्यनुकम्पादेः कुतश्चिल्लिङ्गात्प्रसिध्यत्सहचरं सम्यग्ज्ञानं साधयति । इयं च सप्तप्रकारापि विरुद्धोपलब्धिः ॥ प्रतिषेध्येनार्थेन साक्षाद्विरोधमाश्रित्योक्ता परंपरया विरोधाश्रयेण त्वनेकप्रकारा विरुद्धोपलब्धि [illegible] वनीया । तद्यथा [illegible] विरुद्धोपलब्धि का- [illegible] अयं [illegible] कार्यवि-

रुद्धोपलब्धिर्यथा नात्र देहिनि दुःखकारणमस्ति सुखोपलम्भादिति साक्षादत्र सुखदुःखयोर्विरोधः प्रतिषेध्यस्वभावेन तु दुःखकारणेन परम्परया। व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा न सन्निकर्षादिः प्रमाणमज्ञानत्वादिति साक्षादत्र ज्ञानत्वाज्ञानत्वयोर्विरोधः प्रतिषेध्यस्वभावेन तु ज्ञानत्वव्याप्येन प्रामाण्येन व्यवहितः कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा नासौ रोमहर्षादिविशेषवान् समीपवर्तिपावकविशेषत्वादिति। अत्र पावकः साक्षाद्विरुद्धः शीतेन प्रतिषेध्यस्वभावेन तु रोमहर्षादिना शीत कार्येण पारम्पर्येण। ये तु नास्त्यस्य हिमजनितरोमहर्षादिविशेषो धूमात् प्रतिषेधस्य हि रोमहर्षादिविशेषस्य कारण हिम तद्विरुद्धोऽग्निस्तत्कार्यं धूम इत्यादयः कारणविरुद्धकार्योपलब्ध्यादयो विरुद्धोपलब्धेर्भेदास्ते यथासंभवं विरुद्धकार्योपलब्ध्यादिष्वन्तर्भावनीयाः। र० ३ परि०॥

उवलब्भ—उपलभ्य—अव्य० विज्ञायेत्यर्थे, "धम्मस्स सारमुवलब्भकरे य माय" ध० २ अधि०॥ ज्ञेये प्राप्ये च। वाच०।

उवलभत्ता—देशी—तथेत्यर्थे, दे० ना०॥

उवलयभग्गा—देशी—वलये, दे० ना०॥

उवलय—देशी—सुरते, दे० ना०॥

उवललिय—उपललित—न० उप-लल्- भावे-क्त-क्रीडितविशेषे, ज्ञा० ९ अ०।

उवलाउ—उपलातुम्—अव्य० ग्रहीतुमाश्रयितुमित्यर्थे, व्य०१उ०

उवलालिज्जमाण—उपलाल्यमान—त्रि० क्रीडादिलालनया(ज्ञा० १ अ०) ईप्सितार्थसम्पादनाद्वा क्रियमाणे उपलालने, भ० ९ श० ३३ उ०। "उवगाइज्जमाणे उवलालिज्जमाणे" रा०॥

उवलिंप (त्)—उपलिम्पत्—त्रि० घटकमुखस्य तत्पिधानकस्य च गोमयादिना रन्ध्र भजति, ज्ञा० ७ अ०॥

उवलित्त—उपलिप्त—त्रि० उप-लिप्-क्त। संवेष्टिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०। गोमयादिना लिप्ते, ज्ञा० १ अ०। आ० म० प्र०। दशा०।

उवली (ल्ली) ण—उपलीन—त्रि० उप-ली-क्त-प्रच्छन्ने, "उवल्लीणा मेहुणधम्म विष्णवेंति" आचा० २ श्रु०॥

उवलुअं—देशी—सलज्जे, दे० ना०॥

उवलेव—उपलेप—पुं० उप-लिप्-घञ्। उपलिप्यतेऽनेनेत्युपलेप कर्मबन्धे, औ०। भावे-घञ्। आश्लेषे, सूत्र०१ श्रु० १ अ०२ उ०। सश्लेषे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

उवलेवण—उपलेपन—न० उप-लिप्-ल्युट्-गोमयादिना लेपने, ग० २ अधि०। "उवलेवणसम्मज्जण करेइ" भ०११ श०९ उ०। "वंभणो उवलेवणादि काऊ णच्चण करेइ" नि० चू०१ उ०। औ०॥

उववज्जमाण—उपपद्यमान—त्रि० यथास्वमुत्पादस्थानेष्वन्यनगरस्योत्पद्यमाने, "चउहिं ठायरकाएहिं उववज्जमाणेहिं लोगे फुडे" स्था० ४ ठा०॥

उपवाद्यमान—त्रि० वादित्रे, कल्प०॥

उववज्जिउकाम—उत्पत्तिुंकाम—त्रि० समुत्पित्सौ, "जो जीवो उववज्जिउकामो" सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

उववज्जित्ता—उपपद्य—अव्य० उप पद्-ल्यप्। उत्पादक्षेत्र गत्वेत्यर्थे, भ० १७ श० ६ उ०।

उववण—उपवन—न० नववासभवने, ज्ञा० १ अ०।

उववण्ण—उपपन्न—त्रि० उप-पद्-क्त। उत्पन्ने, "उववण्णो माणुसम्मि लोगम्मि" उत्त०९ अ० "दोच्चं पुढवीए नारगा उववण्णा" नि० चू० ११ उ०। युक्त्या घटमानके, सूत्र० १ श्रु० १ अ०। सङ्गते, पञ्चा०६ विव०। उदीर्णे, प्रेरिते, "उववण्णो पावकम्मुणा" पापकर्मणा उदीर्णः प्रेरित.। उत्त०१९अ०। प्राप्ते,भावे क्त। उपपाते, भ० १४ श० १ उ०।

उववत्ता—उपपत्तृ—त्रि० उपपातकर्तरि, "देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति" औ०। स्था०॥

उववत्ति—उपपत्ति—स्त्री० उप-पद्-क्तिन्। उपपाते, जन्मनि, स्था० २ ठा०। सम्भवघटने,। विवक्षितार्थसम्भवव्यवस्थापने, विशे०। युक्तौ, "उपपत्तिर्भवेद्युक्ति-र्या तदभावप्रसाधिका। सा न्वयव्यतिरेकादि-लक्षणा सूरिभिः कृतेति १ आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं विधिलक्षणम्" अनु०। सङ्गतौ, हेतौ, उपाये, प्राप्तौ, सिद्धौ, वाच०। विनये, "विसउववत्तिया सजणवि वा उववत्तिवि वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ०।

उववत्थ—उपवस्त्र—न० अङ्गप्रोञ्छनसाधके प्रौतवस्त्रव्यतिरिक्ते द्वितीये वस्त्रे, तपोविशेषे श्रीआणन्दविमलसूरिकृताष्टकर्मतपो यद्युपवासेन कर्तुं न शक्नोति तदाऽऽचाम्लेन करोति किं वा नेति १५७ प्रश्ने यदि सर्वथोपवासकरणाशक्तिः स्यात्तदा चाम्लेनापि करोतीति सेनप्र० ४ उल्ला०।

उववाय—उपपात—पुं० उप पत् घञ् हट्टादागतौ, फलोन्मुखत्वे, नाशे, उप समीपे पतनमुपपातः। दृग्विषयदेशावस्थाने, "आणा णिद्देसयरे गुरूणमुववायकारए" उत्त० १ अ०। समीपे, "आणा उववायवयणनिद्देशकरे" व्य० द्वि० ४ उ०। सेवायाम्, "आणोववायवयणणिद्देसे चिट्ठंति" भ० ३ श० ३ उ०। आज्ञायाम्, "उववातो णिद्देसो, आणाविणओ य होंति एगट्ठा" इति वचनात्" व्य० द्वि० ४ उ०। उपपतनमुपपात। देवनारकाणां जन्मनि, "एगे उववाए" उपपात एकश्च्यवनवत्। स्था०१ ठा०। कल्प०। अकामनिर्जरादिजनिते, किल्बिषादिदेवत्वे, नारकत्वे च। स्था० ३ ठा०। दर्श०। स०। आचा०। अनु०। प्रादुर्भावे, प्रज्ञा० १६ पद। "दोण्ह उववाए पण्णत्ता तजहा देवाण चेव णेरइयाणं चेव" द्वयोर्जीवस्थानयोरुपपतनमुपपातो गर्भसम्मूर्च्छनलक्षणजन्मप्रकारद्वयविलक्षणो जन्मविशेषः। स्था० २ ठा०। स च क्षेत्रभवभेदाद् द्विविध तद्यथा क्षेत्रोपपातो भवोपपातश्च तत्र क्षेत्रमाकाशो यत्र नारकादयो जन्तव सिद्धाः पुद्गला वा अवतिष्ठन्ते। भवकर्मसम्पर्कजनितो नैरयिकत्वादिकः पर्याय सम्भवति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भव इति व्युत्पत्ते। नो भव भवव्यतिरिक्तः कर्मसम्पर्कसम्पाद्यनैरयिकत्वादिपर्यायरहित इति भाव। स च पुद्गल. सिद्धो वा उभयस्यापि यथोक्तलक्षणभवातीतत्वात्। प्रज्ञा० १६ पद।

(१) उपपाते संग्रहः।
(२) गतीनामुपपातविरह।
(३) सान्तरनिरन्तरोपपात.।
(४) एकसमये कियन्त उपपातास्तत्र नैरयिकादेकोनचत्वारिंशज्जीवानामुपपातविचार।
(५) नैरयिकादीनामात्मोपक्रमादिना उपपातचिन्तनम्।
(६) कतिसञ्चिताकतिसञ्चितानामुपपात. एषामल्पबहुत्वविचारः।
(७) षट्कसमर्जितोत्पादस्तदल्पबहुत्वविचारश्च।
(८) द्वादशसमर्जिताः।
(९) चतुरशीतिसमर्जिताः। असुरकुमारादीनां भेदादिनिरूपण च।

(१०) नैरयिकादयः कुत उत्पद्यन्ते तेषां स्थितिभवग्रहणादयः।
नैरयिकेषूत्पद्यमानानां स्थित्यादि च।
(११) कृतयुग्मादिविशेषणैनेकेन्द्रियादीनामुपपातचिन्तनम्।
तत्र प्रथमद्वितीयादिसमयकृतयुग्मविचारः।
(१२) राशियुग्मक्षुद्रकयुग्मादिविशेषणेन नैरयिकादीनामुपपातविचारः।
(१३) भव्यदेवादीनामुपपातचिन्तनम्।
(१४) नैरयिकादीनां स्वतोऽस्वतो वा उपपातचिन्तनम्।
(१५) नैरयिकादय उद्धृत्य क्व गच्छन्ति क्षुद्रकृतनैरयिका कुत उत्पद्यन्ते।
(१६) भव्यद्रव्यदेवादयः कुत उत्पद्यन्ते।
(१७) महर्द्धिकदेवाना द्विशरीरेषूपपादविचारः।
(१८) नैरयिकादयः कथमुत्पद्यन्त इति चिन्तनम्।
(१९) समुद्घातविशेषणैनैकेन्द्रियाणामुपपात चिन्तनम्।
(२०) पृथ्व्यादीनां समवहत्य देवलोकेषूपपातः।
(२१) नैरयिकादीना नैरयिकादिषूपपातोद्वर्त्तनचिन्तनम्। कृष्णलेश्याविपर्ययोत्पत्ति चिन्तनम्। पृथ्वीकायिकेषु कृष्णलेश्याविषयविचारः।
(२२) लेश्यावत्त्वेनोपपातश्चतुर्विंशतिदण्डकस्य शेषपदानामतिदेशश्च।
(२३) नैरयिकाणां देशतस्सर्वतो वा उपपातः।
(२४) गर्भगतस्य मृत्वा देवलोकेषूपपातः।
(२५) कुतो देवा देवलोकेषूपपद्यन्ते।
(२६) सहोपपन्नयोरसुरकुमारयोः शोभनाशोभनवत्त्वम्।
(२७) नैरयिका नैरयिकेषूपपन्नानां कश्चिदल्पतरोऽपरो महावेदनतरः।
(२८) पूर्वोक्तानां नैरयिकादीनामायुष्कसवेदनम्।
(२९) रत्नप्रभायां सर्वे उपपन्नपूर्वाः।
(३०) अविराधितश्रामण्यानां देवलोकेषूपपातः।

(१) अथसत्वानामुपपातविरहादयश्चिन्त्यन्ते। तत्रादौ इयमधिकारसग्रहणि गाथा–

बारसचउवीसाइं, संतरयं एगसमयकत्तो य।
उव्वट्टणपरजवियाउयं अट्ठेव य आगरिसा॥

प्रथम गतिषु सामान्यत उपपातविरहोद्वर्तनाविरहस्य च द्वादश मुहूर्तो प्रमाण वक्तव्य तदनन्तर नैरयिकादिषु भेदेषूपपातविरहस्योद्वर्तना विरहस्य चतुर्विंशतिमुहूर्ता गतिषु प्रत्येकमादौ वक्तव्या। ततः (संतरयं) सान्तरं नैरयिकादय उत्पद्यन्ते निरन्तरं चेति वक्तव्य। तदनन्तरमेकसमयेन नैरयिकादयः प्रत्येक कति उत्पद्यन्ते कति चोद्वर्तन्ते इति। चिन्तनीय ततः कुत उत्पद्यन्ते नारकादयः इति चिन्त्यते ततः (उव्वट्टण त्ति) नैरयिकादय उद्वृत्ताः सन्तः कुत्रोत्पद्यन्ते इति वक्तव्य तदनन्तरं कति भागावशेषेऽनुभूयमानभवायुषि जीवाः पारभविकमायुर्बध्नन्तीति वक्तव्य तथा कतिभिराकर्षैरुत्कर्षत आयुर्बन्धक इति चिन्तायामष्टौ आकर्षा वक्तव्याः। एषा सग्रहणीगाथासंक्षेपार्थः॥

(२) एतदेव क्रमेण विवरीषुर्गतीनामुपपातविरहमाह–

निरयगईणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। तिरियगईणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। मणुयगईणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। देवगईणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। सिद्धिगईणं भंते! केवइयं कालं विरहिता सिज्झणया पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं छम्मासा। निरयगईणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उव्वट्टणाए पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता। मणुयगईणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उव्वट्टणाए पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता एवं तिरिया देवगइए वि॥

निरयगतिर्नाम नरकगतिकर्मोदयजनिता जीवस्य औदयिको भावः स चैकः सप्तपृथिवीव्यापि चेति। एकवचनेन समानाञ्च पृथिवीनां परिग्रहः णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्तेति गुर्वामन्त्रणे परमकल्याणयोगिन्! (केवइयति) कियन्तं कालं विरहिता शून्या प्रज्ञप्ता उपपातेन उपपननमुपपातस्तदन्यगतिकानां सत्वानां नारकत्वेनोत्पाद इति भाव तेन प्रज्ञप्ता प्ररूपिता भगवता अन्यैश्च ऋषभादिभिस्तीर्थकरैः एवं प्रश्ने कृते भगवानाह। गौतम! जघन्यत एकं समयं यावदुत्कर्षतो द्वादशमुहूर्तान्। अत्र सुग्धप्रेरक आह। नन्वेकस्यामपि पृथिव्यामग्रे द्वादशमुहूर्त्तप्रमाण उपपातविरहो न वक्ष्यते चतुर्विंशतिमुहूर्त्तादिप्रमाणस्य वक्ष्यमाणत्वात् ततः कथं सर्वपृथिवी समुदायेऽपि द्वादशमुहूर्त्तप्रमाणम्। प्रत्येकमभावे समुदायेऽप्यभावादिति न्यायस्य श्रवणात्। तदयुक्तं वस्तुतत्वापरिज्ञानात्। यद्यपि हि नाम रत्नप्रभादिष्वेकैकनिर्द्धारणेन चतुर्विंशतिमुहूर्तादिप्रमाण उपपातविरहो वक्ष्यते तथापि यदा सप्तापि पृथिव्यः समुदिता उपेत्योपपातविरहश्चिन्त्यते तदा स द्वादशमुहूर्तप्रमाण एव लभ्यते द्वादशमुहूर्तानन्तरमवश्यमन्यतरस्यां पृथिव्यामुत्पादसम्भवात्तथाकेवलवेदसोपलब्धेः। यस्तु प्रत्येकमभावे समुदायेऽप्यभाव इति न्यायः स कारणकार्यधर्मानुगमचिन्तायां नान्यत्रेत्यदोषः। यथा नरकगतिर्द्वादशमुहूर्तोऽनुत्कर्षत उपपातेन विरहिता उक्ता एवं तिर्यङ्मनुष्यदेवगतयोऽपि। सिद्धिगतिस्तूत्कर्षतः षण्मासानुपपातेन विरहिता एवमुद्वर्तनाऽपि नवरं सिद्धा नोद्वर्त्तन्ते तेषां साद्यपर्यवसितकालतया शाश्वतत्वादिति सिद्धिरुद्वर्तनया विरहिता वक्तव्या। गतं प्रथमद्वारम्।

इदानीं चतुर्विंशतिरिति द्वितीय द्वारमभिधित्सुराह–

(१) रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता। सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं सत्तराइंदियाणि। वालुप्पभाए पुढवीए णेरइयाणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं अद्धमासं। पंकप्पभापुढविणेरइयाणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं मासं। धूमप्पभापुढविणेरइयाणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं दो मासा। तमापुढविणेरइयाणं भंते! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता? गोयमा! जहन्नेणं

एकं समयं उक्कोसेणं चत्तारि मासा । अहेसत्तमा पुढवि- णेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं छम्मासा (२) असुरकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं प- ण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । एवं (३) नागकुमाराणं (४) सुवण्णकुमाराणं (५) विज्जुकुमाराणं (६) अग्गिकुमाराणं (७) दीव- कुमाराणं (८) उदहिकुमाराणं (९) दिसाकुमाराणं (१०) वाउकुमाराणं (११) थणियकुमाराण य पत्तेयं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । (१२) पुढविकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! अणुसमयमविरहियं उववाएणं पण्णत्ता (१३) एवं आउकाइयाण वि (१४) तेउकाइयाणवि (१५) वाउकाइयाण वि (१६) वणस्सइकाइयाण वि अणुसमयविरहिया उववाएणं पण्णत्ता । (१७) बेइंदियाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । एवं (१८) तेइंदियाय (१९) चउरिंदिया य । (२०) सम्मुच्छिम- पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता । (२१) सम्मुच्छिमम- णुस्साणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समय उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । गब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बारसमुहुत्ता । (२२) वंतराणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता । (२३) जोइसियाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं एमयं उक्कोसे- णं चउवीसं मुहुत्ता । (२४) सोहम्मकप्पदेवाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उववाएणं पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेण चउव्वीसं मुहुत्ता । ईसाणे कप्पे देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्क समयं उक्कोसेणं चउव्वीस मुहुत्ता । सणंकुमारदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं नवराइंदिया वीसमुहुत्ताइं ॥ माहिंदरदे- वाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समय उक्कोसेणं बारसराइंदियाइं दसमुहुत्ताइं । बंभलोए देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अद्धतेवीसं राइं- दियाइं । लंतगदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं पणयालीसं राइंदियाइं । महासुक्कदेवाण पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असीतिराइंदियाइं । सहस्सारदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं राइंदियसत्तं । आणयदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं संखेज्जमासा । पाणयदेवा णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं सं- खेज्जमासा । आरणदेवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं संखेज्जवासा । अच्चुयदेवाणं पुच्छा गोय- मा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं संखेज्जवासा । हेट्ठिम- गेविज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससयाइं । मज्झिमगेविज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समय उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । उवरिमगेविज्जाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससयसहस्साइं । विजय-वेजयंत- जयंत अपराजिय-देवाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । सव्वट्ठसिद्धदेवाणं पुच्छा गो- यमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं पलिओवमस्स संखे- ज्जइभागं । सिद्धाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया सिज्झ- णयाए पण्णत्ते ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समय उक्कोसेणं छम्मासा । रयणप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! केवइयं कालं विरहिया उवट्टणाए पण्णत्ते ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं चउवीसमुहुत्ता एवं सिद्धवज्जा उवट्टणा वि भा- णियव्वा जाव अणुत्तरोववाय त्ति नवरं जोइसियवेमाणिएसु चयणं ति अभिलावो कायव्वो ॥

"रयणप्पभाए" इत्यादि पाठसिद्धम् । नवरमत्रार्थविषया इमा संग्रहणिगाथा "चउवीसयमुहुत्ता, सत्तयराइंदियाइं पक्खो य। मासो पक्खो दुन्नि य, चउरो छम्मास नरएसु ॥ १ ॥ कमसो उक्को- सेण, चउवीसमुहुत्तभवणवासीसु । अविरहिया पुढवाई, वि- गलाण तो मुहुत्त तु ॥ २ ॥ सम्मुच्छिमतिरियपंचिंदिय, एवं चियगब्भयारसमुहुत्ता ॥ सम्मुच्छिमगब्भमणुया, कमसो चउवी- सबारसया ॥ ३ ॥ वणजोइससोहम्मी-साणकप्पचउवीसइमु- हुत्ताओ । कप्प सणकुमारे दिवसाण बावीसई मुहुत्ताओ ॥ ४ ॥ माहिंदे राइंदिय-बारसदसमुहुत्तबंभलोगम्मि । राइंदियअ- द्धतेवी-सुलंतए होंति पणयाला ॥ ५ ॥ महसुक्कम्मि असई, स- हस्सारिसय तओ उ कप्पदुगे । मासा संखेज्जा तह, वासा सं- खेज्ज उवरिदुगे ॥ ६ ॥ हिट्ठिममज्झिम उवरिम, जह संखसया सहस्सलक्खाइं । वासाण विसेसो, उक्कोसेण विरहकालो ॥ ७ ॥ सखेज्जो कालो सव्वाईओ, विजयाइसु चउसु होइ नायव्वो । पल्लस्सओ, भागो सव्वट्ठसिद्धम्मि" ॥ ८ ॥ प्रज्ञा० ६ पद ।

बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया ।
वेरेण य पडिबद्धा, मरिओ असुरेसु गच्छंति ॥ ९ ॥
रज्जुग्गहविसभक्खण, जलजलणपवेसनहछुहदुहओ ।
गिरिसिरिपडणाउ मुया, सुह भावा हुंति वितरिया १० ॥
तावस जा जोइसिया, चरगपरिव्वाय बंभलोगो जा ।
जा सहसारो पंचिंदि-तिरिय जा अच्चुओ सड्डा ॥ ११ ॥
जइ लिंगिमिच्छदिट्ठी, गेविज्जा जाव जंति उक्कोसं ।
पयमवि असद्दहंतो, सुत्तत्थं मिच्छदिट्ठीओ ॥ १२ ॥
सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेय बुद्धरइयं च ।

सुयकेवलिणा रइयं, अभिन्नदसपुव्विणा रइयं ॥ १३ ॥
छउमत्थ संजयाणं, उववाय उक्कोसओ सव्वट्ठे ।
तेसिं सड्ढाणं पि य, जहन्नओ होइ सोहम्मे ॥ १४ ॥
लंतम्मि चउदसपुव्विस्स, तावसाईण वंतरेसु तहा ।
एसो उववायविही, नियकिरियट्ठियाणसव्वो वि ॥१५॥

अर्द्धवचनविकलास्तत्वतो ज्ञानशून्यत्वाद्बाला इव बालास्तेषां तपः पञ्चाग्न्यादि तच्च तत्वत सत्वोपघातहेतुत्वान्न तप तथा च । महाभारते शान्तिपर्वणि व्यासोऽप्याह । " चतुर्णां ज्वलतां मध्ये, यो नरः सूर्यपञ्चम । तपस्तपति कौन्तेय ! न तत्पञ्चतप स्मृतम ॥ पञ्चानामिन्द्रियाग्नीनां, विषयेन्धनचारिणाम् । तेषां तिष्ठति यो मध्ये, तद्वै पञ्चतप स्मृतम " ॥ तस्मिन् प्रतिवद्धा आसक्ताः अथवा बालस्थिता तथा तद्रूव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रतिबद्धा उत्कटरोषा चण्डकोपा । तथा तपसाऽनशनादिभेदेन गौरविता वय तपस्विन इति गर्वाध्माता तथा वैरेण क्रोधानुशयरूपेण क्वचित्प्राणिनि द्वारवत्या द्वीपायनवत्प्रतिबद्धा कृतानुबन्धा मृत्वा असुरेषु असुरादिषु भवनवासिषु जायन्ते ॥ ९ ॥ (रज्जुत्ति०) व्यक्ता नवर शुभभावा नरकादिगतियोग्या अत्यन्तरौद्रार्तचित्तपरिहारेण तथाविधमन्दशुभपरिणामा शूलपाणिप्रभृतय इव ॥ १० ॥ (तावसत्ति०) तापसा वनवासिनो मूलकन्दफलाहारास्ते (जति उक्कोसन्ति) वक्ष्यमाणेन योगादुत्कर्षतो यान्त्युत्पद्यन्ते यावज्ज्योतिष्कास्तत ऊर्ध्वं नेति भाव । एव चरका धाटिभिक्षाचरा परिव्राजकाश्च कपिलमतानुगामिनो यावद्ब्रह्मलोक पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो इत्यादय सम्यक्त्वदेशविरतिप्रयुक्ता यावत्सहस्रार श्राद्धा श्राविकादेशविरत मनुष्या यावदच्युतः ॥ ११ ॥ (जइत्ति०) यति लिङ्गिनो रजोहरणादिसाधुवेषधारिणो मिथ्यादृष्टय उत्कर्षतो ग्रैवेयकान् यावत् यान्ति । एतदुक्त भवति । प्रशमसवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिरूपसम्यक्त्वविकला अपि सपूर्णदशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानप्रभावाद्ग्रैवेयकान् यावदुत्कर्षतस्ते गच्छन्ति मिथ्यादृष्टिस्तु सोऽप्यभिधीयते य. समग्रद्वादशाङ्गं श्रद्दधानोऽपि सूत्रोक्तमेकमपि पदमक्षर वा न श्रद्धत्ते स्वल्पस्याऽपि सर्वविदोक्तस्याश्रद्धानेन तत्र तस्याप्रत्ययात् ॥ १२ ॥ सूत्रोक्तमित्युक्तमत सूत्रस्वरूपमाह (सुत्तत्ति) यद्गणधरैः सुधर्मस्वाम्यादिभीरचितमाचाराङ्गादि यच्च प्रत्येकबुद्धैर्नम्यादिभिर्नम्यध्ययनादि यच्च श्रुतकेवलिना चतुर्दशपूर्वधरेण शय्यंभवादिना दशवैकालिकादि यच्च संपूर्णपूर्वधारिणा रचित तत्सर्वं सूत्रमिति तथा ॥ १३ ॥ (छउमत्थत्ति० । लंतम्मित्ति०) गादयत्यात्मनो यथावस्थित रूपमिति छद्म ज्ञानावरणादि घातिकर्मचतुष्टय तत्रस्थाश्च तेषां तूपपात उत्कर्षतस्त्रैलोक्यतिलके सर्वार्थसिद्धे विमाने जघन्यत पुनस्तेषां छद्मस्थसाधूनां श्रावकाणामपि च सौधर्मे उपपातो भवति केवलमत्रापि स्थितिकृतो विशेषो यथा सौधर्मे साधोर्जघन्या स्थिति पल्योपमपृथक्त्व श्रावकस्य पल्योपममिति तथा चतुर्दशपूर्वधरस्य लान्तके जघन्य उपपात तापसादीनां तु व्यन्तरेषु प्रज्ञापनाया तु " ताव ईसाणजहन्नेण भवणवासीसु " इत्युक्तमेव चोक्तरूप सर्वोऽप्युपपातविधिर्निजनिजक्रियास्थितानां निजनिजागमोक्तानामनुष्ठानरतानां न चाचारहीनानामिति॥१४॥१५॥

देवीनामुत्पत्तिस्थानान्याह—

उववाओ देवीणं, कप्पदुगं जाव सहस्सारो ।
गमणागमणं नत्थी, अच्चुयपरओ सुराणं पि ॥ १६ ॥
तिपल्लिय-तिसार-तेरस, सारा कप्पदुगतइय लंतअहो ।
किब्बिसिय न होतुवरिं, अच्चुयपरओभिओगाई ॥१७॥

(उववाओत्ति) भवनपतीनारभ्य यावत्सौधर्मेशानकल्पद्विक तावद्देवीनामुपपातो जन्मत ऊर्ध्वं देवानां तूपपात सर्वत्र भवत्येव सनत्कुमारादिदेवानां च सुरताभिलाष । सौधर्मादीशानाद्याऽपरिगृहीता देव्यः सहस्रार यावद्गच्छन्ति । सहस्राराच्च परतो गमनागमन च देवीनां नास्ति । तथा च मूलसंग्रहणीटीकायां हरिभद्रसूरिः देव्यः खलु अपरिगृहीताः सहस्रार यावद् गच्छन्ति इति । तथा भगवानार्यश्यामोऽपि प्रज्ञापनायामाह " तत्थ ण जे ते मणपरियारगा देवा तेसिं इच्छा मणे समुप्पज्जइ इच्छामो ण अच्छराहिं सद्धिं मणपरियारणं करेत्तए तओ ण देवेहिं एवमणसीकए समाणे खिप्पामेव ताओ अच्छराओ तत्थ गयाओ चेव समाणी उ अणुत्तराइ उच्चावयाइ मणाइ पहारेमाणीओ चिट्ठति तओण ते देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं मणपरियारण करिंति इत्यादि " तत्र प्रविचारणार्थमानतादौ देवीनां गत्यागती स्त । देवीनां गमागमौ न स्त । तत्राधस्तनानामूर्ध्वंशक्त्यभावाद् । ता हि जिनजन्ममहिमास्वपि नात्रागच्छन्ति किं तु स्थानस्था एव भक्तिमातन्वते । सशयप्रश्ने चाऽवधिज्ञानतो भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि साक्षात्कृत्वेत्यतस्तदाकारान् यथानुपपत्या जिज्ञासितमर्थं निश्चिन्वन्ति न चान्यत्प्रयोजन तत्र तेषामिहागम ॥ १६ ॥ अथ वैमानिकेषु किल्बिषिकाणामाभियोग्यानां च देवानां स्थित्यादिकमाह (तिपल्लित्ति) किल्बिषिकाअशुभकर्मकृतश्चाण्डालप्राया देवास्ते त्रिपल्योपमादिस्थितय । क्रमात्कल्पद्विकादेरधो वसन्ति तथाहि त्रिपल्योपमस्थितयस्ते सौधर्मेशानयोरधोवसन्ति । एव त्रिसागरोपमायुष्काः सनत्कुमारस्याधः त्रयोदशसागरोपमायुषा लान्तकस्याधः गत च किल्बिषिका न हेतुरिति लान्तकादूर्ध्वं न चोत्पद्यन्ते अच्युतात्परतस्त्वाभियोग्या दासप्राया आदिशब्दात्प्रकीर्णादयो नोत्पद्यन्ते । इदमुक्तं भवति । ग्रैवेयकानुत्तरेषु सर्वेषामपि देवानामहमिन्द्रत्वेन शेषाणामपि सामानिकादिदेवभेदानामभाव इति ॥ संग्र०सू० ।

(३) सान्तरं निरन्तर वा उपपद्यन्ते ॥

णेरइयाणं भंते किं संतरं उववज्जति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जति निरंतरंपि उववज्जंति । तिरिक्खजोणियाण भंते ! किं संतर निरंतर उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जति निरंतरंपि उववज्जंति । मणुस्साणं भंते ! किं संतरं उववज्जति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरंपि उववज्जति निरंतर पि उववज्जति । देवाणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जति । रयणप्पभापुढविणेरइयाण भंते ! किं संतरं उववज्जति निरंतरं उववज्जति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जति निरंतरंपि उववज्जंति एवं जाव अहे सत्तमाए संतरं पि उववज्जति निरंतरं पि उववज्जंति । असुरकमाराण भंते ! देवाणं किं संतरं उववज्जति निरंतर उववज्जति ? गोयमा ! संतरंपि उववज्जति निरंतरंपि उववज्जति । एव जाव थणियकुमारा संतरं पि उववज्जति निरंतरं पि उववज्जंति । पुढविकाइयाणं भंते ! पुच्छा किं संतर निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! नो संतरं निरंतरं उववज्जंति । एवं जाव वणस्सइकाइया नो संतरं उववज्जंति

निरंतरं उवज्जति । बेइंदियाणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति निरंतरं पि उववज्जति एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया । मणुस्साणं भंते ! किं संतरं उववज्जंति निरंतरं उववज्जति ? गोयमा ! संतरंपि निरंतरं पि उववज्जंति ॥ एवं वाणमंतर–जोइसिय–सोहम्म–ईसाण–सणंकुमार–माहिंद–बंभलोय–लंतग–महासुक्क–सहस्सार–आणय–पाणय–आरण–अच्चुय हिट्ठिमगेविज्जग-मज्झिमगेविज्जग-उवरिमगेविज्जग-विजय-वेजयंत–जयंत–अपराजिय–सव्वट्ठसिद्ध–देवा य संतरं पि निरंतरंपि उववज्जंति, सिद्धाणं भंते ! किं संतरं निरंतरं सिज्झंति ? गोयमा ! संतरं पि सिज्झंति निरंतरं पि सिज्झंति ॥ णेरइयाणं भंते ! किं संतरं उवट्टंति निरंतरं उवट्टंति ? गोयमा ! संतरं पि उवट्टंति निरंतरं पि उवट्टंति । एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उवट्टणावि सिद्धिवज्जा भाणियव्वा । जाव वेमाणिया नवरं जोइसियवेमाणिएसु चयणं अभिलावो कायव्वो ॥

पाठसिद्धं प्रागुक्तसूत्रार्थानुसारेण भावार्थस्य सुप्रतीतत्वात् । गतं तृतीयं द्वारम् ।

(४) एकसमयेन कियन्त उत्पद्यन्ते इत्याह–

णेरइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति । गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखिज्जा वा असंखिज्जा वा उववज्जंति एवं जाव अहेसत्तमाए । असुरकुमाराणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा असंखेज्जा वा एवं नागकुमारा जाव थणियकुमारा वि भाणियव्वा । पुढविकाइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! अणुसमयं अविरहियं असंखेज्जा उववज्जंति । एवं जाव वाउकाइयाणं । वणस्सकाइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! सट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयं अविरहिया अणंता उववज्जंति परट्ठाणुववायं पडुच्च अणुसमयं अविरहिया असंखेज्जा उववज्जंति । बेइंदियाणं भंते ! केवइया एगसमएणं उववज्जंति ? गोयमा ! जहण्णेणं एगो वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा ॥ एवं तेइंदिय–चउरिंदिय–सम्मुच्छिमपंचिंदिय–तिरिक्खजोणिय– गब्भवक्कंतिय –पंचिंतिय तिरिक्खजोणिय-सम्मुच्छिममणुस्स-वाणमंतर-जोइसिय-सोहम्मी-साणसणंकुमार–माहिंद–बंभलोय–लंतग–सुक्क–सहस्सार–कप्पदेवा–एते जहा णेरइया । गब्भवक्कंतियमणुस्स–आणय–पाणय–आरण–अच्चुय-गेवेज्जग-अणुत्तरोववाइया य एते जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखिज्जा उववज्जंति । सिद्धा णं भंते ! एगसमएणं केवइया सिज्झंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं अट्ठसयं । णेरइयाणं भंते ! एगसमएणं केवइया उवट्टंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उवट्टंति । एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उवट्टणा वि सिद्धवज्जा भाणियव्वा । जाव अणुत्तरोववाइया नवरं जोइसियवेमाणियाणं चयणेणं अभिलावो कायव्वो ४ ॥

नेरइयाणं भंते ! एगसमएण केवइया उववज्जंतीत्यादि निगदसिद्धं नवरं "वनस्पतिसूत्रे सट्ठाणुववाय पडुच्च अणुसमयमविरहिया अणता" इति । स्वस्थानं वनस्पतीनां वनस्पतित्वं ततोऽयमर्थः यद्यनन्तरभववनस्पतय एव वनस्पतिषूत्पद्यमानाश्चिन्त्यन्ते तदा प्रतिसमयमविरहितं सर्वकालमनन्ता विज्ञेयाः प्रतिनिगोदमसङ्ख्येयभागस्य निरन्तरमुत्पद्यमानतया उद्वर्तमानतया च प्राप्यमानत्वात् "परट्ठाणुववाय पडुच्च अणुसमयमविरहियमसंखेज्जा" इति परस्थानं पृथिव्यादयः । किमुक्तं भवति यदि पृथिव्यादयः समाबाडुदृत्य वनस्पतिषूत्पद्यमानाश्चिन्त्यन्ते तदा अणुसमयविरहियमसंखेज्जा वक्तव्या इति । तथा गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्या उत्कर्षपदेऽपि सङ्ख्येया एव नासङ्ख्येयास्ततस्तत्सूत्रे उत्कर्षतः संख्येया वक्तव्या आनतादिषु देवलोकेषु मनुष्या एवोत्पद्यन्ते न तिर्यञ्चोऽपि मनुष्याश्च सख्येया एवेत्यानतादिसूत्रेष्वपि संख्येया एव वक्तव्या नासख्येयाः सिद्धिगतानामुत्कर्षतोऽष्टशतम् । एवमुद्वर्तनासूत्रमपि वक्तव्यम् । नवरं (जोइसिवेमाणियाण चयणेण अभिलावो कायव्वो इति) ज्योतिष्कवैमानिकानां हि स्वभावादुद्वर्तनं च्यवनमित्युच्यते । तथा अनादिकालप्रसिद्धेस्ततस्तत्सूत्रे च्यवनेनाऽभिलापकः कर्तव्यः सचैव " जोइसियाणं भंते एगसमएणं केवइया चयंति गोयमा जहन्नेणं एगो वा दो वा" इत्यादि गतं चतुर्थं द्वारम् । प्रज्ञा० ६ पद ॥

लेश्यादिविशेषणेनोपपाताः ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमए केवइया णेरइया उववज्जंति १ केवइया काउलेस्सा उववज्जंति २ केवइया कण्हपक्खिया उववज्जंति ३ केवइया सुक्कपक्खिया उववज्जंति ४ केवइया सण्णी उववज्जंति ५ केवइया असण्णी उववज्जंति ६ केवइया भवसिद्धिया जीवा उववज्जंति ७ केवइया अभवसिद्धिया जीवा उववज्जंति ८ केवइया आभिणिबोहियणाणी उववज्जंति ९ केवइया सुयणाणी उववज्जंति १० केवइया ओहिणाणी उववज्जंति ११ केवइया मइअण्णाणी उववज्जंति १२ केवइया सुअअण्णाणी उववज्जंति १३ केवइया विभंगणाणी उववज्जंति १४ केवइया चक्खुदंसणी उववज्जंति १५ केवइया अचक्खुदंसणी उववज्जंति १६ केवइया ओहिदंसणी उववज्जंति १७ केवइया आहारसण्णोवउत्ता उववज्जंति १८ केवइया भयसण्णोवउत्ता उववज्जंति १९ केवइया मेहुणसण्णोवउत्ता उववज्जंति २० केवइया परिग्गहसण्णोवउत्ता उववज्जंति २१ केवइया इत्थि वेदगा उववज्जंति २२ केवइया पुरिसवेदगा उववज्जंति २३ केवइया णपुंसगवेदगा उववज्जंति २४ केवइया

कोहकसायी उववज्जंति २५जाव केवइया लोभकसायी उववज्जंति २८केवइया सोइंदियोवउत्ता उववज्जंति २६जाव केवइया फासिंदियोवउत्ता उववज्जंति ३३केवइया णोइंदियोवउत्ता उववज्जंति ३४केवइया मणजोगी उववज्जंति ३५केवइया वइजोगी उववज्जंति ३६केवइया कायजोगी उववज्जंति ३७केवइया सागारोवउत्ता उववज्जंति ३८केवइया अणागारोवउत्ता उववज्जंति ३६गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णेरइयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णेरइया उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उववज्जंति। जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कण्हपक्खिया उववज्जंति। एवं सुक्कपक्खिया वि। एवं सण्णी वि। एवं असण्णी वि। एवं भवसिद्धिया वि। एवं अभवसिद्धिया ॥ आभिणिबोहियणाणी सुअणाणी ओहिणाणी मतिअण्णाणी सुअअण्णाणी विभंगणाणी एवं चेव चक्खुदंसणी ण उववज्जंति । जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा अचक्खुदंसणी उववज्जंति । एवं ओहिदंसणी वि एवं आहारोवउत्तावि जाव परिग्गहसण्णोवउत्तावि । इत्थीवेदगा न उववज्जंति पुरिसवेदगा न उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा नपुंसगवेदगा उववज्जंति एवं कोहकसायी जाव लोभकसायी सोइंदियउवउत्ता न उववज्जंति एवं जाव फासिंदियोवउत्ता ण उववज्जंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा नो इंदियोवउत्ता उववज्जंति मणजोगी ण उववज्जंति । एवं वइजोगी वि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कायजोगी उववज्जंति । एवं सागारोवउत्ता वि एवं अणागारोवउत्ता वि ३६ इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमएणं केवइया णेरइया उव्वट्टंति? केवइया काउलेस्सा उव्वट्टंति ? जाव केवइया अणागारोवउत्ता उव्वट्टंति ? गोयमा ! इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु एगसमएणं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णेरइया उव्वट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा काउलेस्सा उव्वट्टंति । एवं जाव सण्णी असण्णी ण उव्वट्टंति । जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा भवसिद्धिया उव्वट्टंति एवं जाव सुअअण्णाणी विभंगणाणी ण उव्वट्टंति । चक्खुदंसणी ण उव्वट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा अचक्खुदंसणी उव्वट्टंति । एवं जाव लोभकसायी सोइंदियोवउत्ता ण उव्वट्टंति एवं जाव फासिंदियोवउत्ता ण उव्वट्टंति जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा णोइंदियोवउत्ता उव्वट्टंति मणजोगी ण उव्वट्टंति । एवं वइजोगी वि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा कायजोगी उव्वट्टंति एवं सागारोवउत्ता वि एवं अणागारोवउत्ता वि। इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु केवइया णेरइया पण्णत्ता केवइया काउलेस्सा पण्णत्ता? जाव केवइया अणागारोवउत्ता पण्णत्ता ३६ केवइया अणंतरोववण्णगा पण्णत्ता ? केवइया परंपरोववण्णगा पण्णत्ता? केवइया अणंतरोवगाढा पण्णत्ता? केवइया परंपरोवगाढा पण्णत्ता केवइया अणंतराहारा पण्णत्ता ? केवइया परंपराहारा पण्णत्ता केवइया अणंतरपज्जत्ता पण्णत्ता ? केवइया परंपरपज्जत्ता पण्णत्ता ? केवइया चरिमा पण्णत्ता ? केवइया अचरिमा पण्णत्ता ? गोयमा ! इमी से रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु संखेज्जा णेरइया पण्णत्ता संखेज्जा काउलेस्सा पण्णत्ता, एवं जाव संखेज्जा सण्णी पण्णत्ता, असण्णी सिय अत्थि सिय नत्थि । जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्ता, संखेज्जा भवसिद्धिया पण्णत्ता, एवं जाव संखेज्जा परिग्गहसण्णोवउत्ता पण्णत्ता, इत्थि वेदगा णत्थि, पुरिसवेदगा णत्थि, संखेज्जा णपुंसगवेदगा पण्णत्ता । एवं कोहकसायी वि, माणकसायी जहा असण्णी एवं जाव लोभकसायी, संखेज्जा सोइंदियोवउत्ता एवं जाव फासिंदियोवउत्ता, नो इंदियोवउत्ता जहा असण्णी, संखेज्जा मणजोगी एवं जाव अणागारोवउत्ता । ३ए । अणंतरोववण्णगा सिय अत्थि सिय णत्थि, जइ अत्थि जहा असण्णी, संखेज्जा परंपरोववण्णगा, एवं जहा अणंतरोववण्णगा तहा अणंतरोवगाढा अणंतराहारगा अणंतरपज्जत्तगा चरिमा परंपरोवगाढा जाव अचरिमा जहा परंपरोववण्णगा । इमी से णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु असंखेज्जवित्थडेसु णेरइएसु एगसमएणं केवइया णेरइया उववज्जंति, जाव केवइया अणागारोवउत्ता उववज्जंति ? गोयमा ! इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु असंखिज्जवित्थडेसु णेरएसु एगसमए णं जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं असंखेज्जा णेरइया उववज्जंति एवं जहेव संखेज्जवित्थडेसु तिण्णि गमा पण्णत्ता, तहा असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि भाणियव्वा । णवरं असंखेज्जा भाणियव्वा सेसं तं चेव जाव असंखेज्जा अचरिमा णाणत्तं लेस्सासु लेस्साओ जहा पढमसए, णवरं संखेज्जवित्थडेसु वि असंखे-

ज्जवित्थडेसु वि ओहिणाणी ओहिदंसणी संखेज्जा उवट्टा वेयव्वा सेसं तं चेव। सक्करप्पभाएणं भंते! पुढवीए केवइया णिरयावासा पुच्छा, गोयमा! पणवीसं णिरयावाससयसहस्सा, ते णं भंते! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा एवं जहा रयणप्पभाए, तहा सक्करप्पभाए वि, णवरं असण्णी तिसु वि गमएसु न भण्णंति सेसं तं चेव। वालुयप्पभाएणं पुच्छा, गोयमा! पण्णरसणिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता, सेसं जहा सक्करप्पभाए, णाणत्तं लेस्सासु लेस्साओ जहा पढमसए। पंकप्पभाएणं भंते! णिरयावाससयसहस्सा पुच्छा गोयमा! दस णिरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता, एवं जहा सक्करप्पभाए, णवरं ओहिणाणी ओहिदंसणी ण उव्वट्टंति सेसं तं चेव। धूमप्पभाएणं पुच्छा, गोयमा! तिण्णि णिरयावाससयसहस्सा एवं जहा पंकप्पभाए। तमाएणं भंते! पुढवीए केवइया णिरयावासा पुच्छा, गोयमा! एगे पंचूणे णिरयावाससयसहस्से पण्णत्ते, सस जहा पंकप्पभाए अहे सत्तमाएणं भंते! पुढवीए कइ अणुत्तरा महति महालया महाणिरया पण्णत्ता? गोयमा! पंच अणु० जाव अप्पइट्ठाणे। सेणं भंते! किं संखेज्ज वित्थडा असंखेज्जवित्थडा? गोयमा! संखेज्जवित्थडे य असंखेज्जवित्थडे य अहे सत्तमाए णं भंते! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु महतिमहालया जाव महाणिरएसु संखेज्जवित्थडे णरए एगसमएणं केवइया एवं जहा पंकप्पभाए णवरं तिसु णाणेसु ण उववज्जंति, ण उवट्टंति पण्णत्ता एसु तहेव अत्थि। एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि णवरं असंखेज्जा भाणियव्वा। इमी से णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णरएसु किं सम्मदिट्ठी णेरइया उववज्जंति, मिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति सम्मामिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति? गोयमा! सम्मदिट्ठी णेरइया उववज्जंति, मिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति, णोसम्मामिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति। इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु णेरइएसु किं सम्मदिट्ठी णेरइया उवट्टंति एवं चेव। इमी से णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडा णिरया किं सम्मदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया मिच्छदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया, सम्मामिच्छदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया? गोयमा! सम्मदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया मिच्छदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिया, सम्मामिच्छदिट्ठीहिं णेरइएहिं अविरहिय विरहिया वा। एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि तिण्णि गमा भाणियव्वा। एवं सक्करप्पभाए वि। एवं जाव तमाए वि। अहे सत्तमाए णं भंते! पुढवीए पंचसु अणुत्तरेसु जाव संखेज्जवित्थडे णरए किं सम्मदिट्ठी णेरइया पुच्छा, गोयमा! सम्मदिट्ठी णेरइया ण उववज्जंति मिच्छदिट्ठी णेरइया उववज्जंति सम्मामिच्छदिट्ठी णेरइया ण उववज्जंति, एवं उव्वट्टंति वि, अविरहिए जहेव रयणप्पभाए। एवं असंखेज्ज वित्थडेसु तिण्णि गमा से णूणं भंते! कण्हलेस्से नीललेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति? हंता गोयमा! कण्हलेस्से जाव उववज्जंति। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-कण्हलेस्से जाव उववज्जंति? गोयमा! लेसट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु संकिलि० किण्हलेस्सं परिणमइ, कण्हऽकण्हलेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति। से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति। से णूणं भंते! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता णीललेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति? हंता गोयमा! जाव उववज्जंति। से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति? गोयमा! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु विसुज्झमाणेसु णीललेस्सं परिणमइ णीललेस्सा णीललेस्से सु णेरइएसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव उववज्जंति॥

रत्नप्रभापृथिव्यां कापोतलेश्या एवोत्पद्यन्ते न कृष्णलेश्यादय इति कापोतलेश्यानेवाश्रित्य प्रश्न कृत इति। "केवतिया कण्ह पक्खिपइत्यादि" एषां च लक्षणमिदम्। "जेसिमवड्ढोपोग्गल, परियट्टो सेसओ उ संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिगे पुण कण्हपक्खियत्ति" ॥१॥ (चक्खुदंसणी न उववज्जतित्ति) इन्द्रियत्यागेन तत्रोत्पत्तेरिति। नर्हि अचक्षुर्दर्शनिन कथमुत्पद्यन्ते? इन्द्रियानाश्रितस्य सामान्योपयोगमात्रस्याऽचक्षुर्दर्शनशब्दाभिधेयस्योत्पादसमयेऽपि भावादचक्षुर्दर्शनिने उत्पद्यन्त इत्युच्यत इति (इत्थिवेयगेत्यादि) स्त्रीपुरुषवेदा नोत्पद्यन्ते, भवप्रत्ययान्नपुंसकवेदत्वात्तेषां (सोतिंदिओवउत्तेत्यादि) श्रोत्राद्युपयुक्ता नोत्पद्यन्ते इन्द्रियाणां तदानीमभावात् (नो इंदिओवउत्ता उववज्जतित्ति) नोइन्द्रिय मनस्तत्र च यद्यपि मन पर्याप्त्यभावे द्रव्यमनो नास्ति तथापि भावमनसश्चैतन्यरूपस्य सदा भावात्तेनोपयुक्तानामुत्पत्तेर्नोइन्द्रियोपयुक्ता उत्पद्यन्त इत्युच्यत इति (मणजोगीत्यादि) मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च नोत्पद्यन्ते उत्पत्तिसमयेऽपर्याप्तकत्वेन मनोवाचोरभावादिति (कायजोगी उववज्जंतित्ति) सर्वसंसारिणां काययोगस्य सदैव भावादिति। अथ रत्नप्रभानारकाणामेवोद्वर्त्तनामभिधातुमाह। इमीसेणमित्यादि (असण्णी न उवट्टातित्ति) उद्वर्त्तना हि परभवप्रथमसमये स्यान्न च नारका असंज्ञिषूत्पद्यन्तेऽतस्ते असंज्ञिनः सन्तो नोद्वर्त्तन्त इत्युच्यते "एव विभंगनाणी न उव्वट्टति" इत्यपि भावनीयम्। शेषाणि तु पदान्युत्पादवद्व्याख्येयानि उक्तं च चूर्णौ "असण्णिणो य विभंगि-णो य उव्वट्टणाए वज्जेज्जा। दोसु वि य चक्खुदंसी, मणवइ तह इंदियाइंपत्ति" ॥१॥ अनन्तरं रत्नप्रभानारकाणामुत्पादे उद्वर्त्तनायां च परिमाणमुक्तमथ तेषामेवसत्तायां तदाह(इमी)सेणमित्यादि केवइया अणंतरोववण्णगत्ति) कियन्त प्रथमसमयोत्पन्ना इत्यर्थः। (परंपरोववण्णगत्ति) उत्पत्तिसमयापेक्षया द्व्यादिसमयेषु वर्त्तमाना (अणंतरोवगाढत्ति) विवक्षितक्षेत्रे प्रथमसमयावगाढा (परंपरोगाढत्ति) विवक्षितक्षेत्रे द्वितीयादिकसमयोऽवगाढो येषां ते परम्परोवगाढा (चरिमात्ति) चरमो नारकभवेषु स एव भवो येषां ते चरमा नारकभवस्य वा चरमसमये वर्त्तमानाश्चरमा अचरमास्त्वितरे (असण्णी सिय अत्थि सिय नत्थित्ति) असंज्ञिभ्य उद्वृत्य

ये नारकत्वेनोत्पन्नास्तेऽपर्याप्तकावस्थायामसञ्ज्ञिनो भूतभावत्वाचे व्याख्या इति कृत्वा सिय अत्थीत्याद्युक्तम्। मानमायालोभकषायोपयुक्तानां नोइन्द्रियोपयुक्तानामनन्तरोपपन्नानामनन्तरावगाढानामनन्तराहारकाणामनन्तरपर्याप्तकानां च कादाचित्कत्वात्सिय अत्थीत्यादि वाच्य शेषाणां तु बहुत्वात्संख्याता इति वाच्यमिति। अनन्तरं सख्यातविस्तृतनरकावासनारकवक्तव्यतोक्ता । अथ तद्विपर्ययवक्तव्यतामभिधातुमाह " इमीसेणमित्यादि " (तिसुवि गमएसु) उववज्जति उव्वट्टंति पण्णत्ति । एते त्रयो गमाः ओहिणाणीओहिदंसणीयस्सखेज्जा (उव्वट्टावेयव्वत्ति) कथ ते हि तीर्थकरादय एव भवन्ति ते च स्तोका स्तोकत्वाच्च सख्याता एवेति नवरम्। (असण्णी तिसुवि गमएसु ण भण्णइत्ति) कस्मादुच्यते । असञ्ज्ञिन प्रथमायामेवोत्पद्यन्ते । असण्णी खलु पढमति वचनादिति " नाणत्त लेस्सासु, लेस्साओ जहा पढमसए त्ति " इहाद्य पृथ्वीद्वयापेक्षया तृतीयादिपृथिवीषु नानात्व लेश्यासु भवति। ताश्च यथा प्रथमशते तथाऽऽध्येयास्तत्र च सग्रहगाथेयम " काऊ य दोसु तइयाए, मीसिया नीलिया चउत्थीए । पचमियाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हत्ति " ॥ १ ॥ नवरम् " ओहिनाणी ओहिदंसणी य न उव्वट्टंति " कस्मादुच्यते– ते हि प्रायस्तीर्थकरा एव ते च चतुर्थ्या उद्धृत्ता नोत्पद्यन्त इति ॥ (जाव अप्पइट्ठाणेत्ति) इह यावत्करणात्–काले महाकालरोरुए महारोरुएत्ति दृश्यम् । इह च मध्यम एव सख्ययविस्तृत इति ॥ नवरम्। "तिसु नाणेसु न उववज्जति न उव्वट्टंति त्ति " ॥ सम्यक्त्वभ्रष्टानामेव तत्रोत्पादात्तत उद्वर्त्तनाच्चाद्येषु त्रिषु ज्ञानेषु नोत्पद्यन्ते, नापि चोद्वर्त्तन्त इति ॥ (पचसुवि एएसु तहेव अत्थित्ति) एतेषु पञ्चसु नारकावासेषु कियन्त आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्च प्रज्ञप्ता इत्यत्र तृतीयगमे तथैव प्रथमादिपृथिवीष्विव सन्ति तत्रोत्पन्नानां सम्यग्दर्शनलाभे आभिनिबोधिकादिज्ञानत्रयभावादिति। अथ रत्नप्रभादिनारकवक्तव्यतामेव सम्यग्दृष्ट्यादीनाश्रित्याह इमीसेणमित्यादि । (नोसम्मामिच्छदिट्ठी उववज्जतित्ति) । " न सम्ममिच्छो कुणइ कालमिति वचनात् " मिश्रदृष्टयो न म्रियन्ते नापि तद्भवप्रत्ययं तेषामवधिवधेन मिश्रदृष्टयः सन्तस्ते उत्पद्येरन् । सम्मामिच्छदिट्ठीहिं नेरइएहिं अविरहिय विरहियवावत्ति । कादाचित्कत्वेन तेषां विरहसम्भवादिति अथ नारकवक्तव्यतामेव भङ्ग्यन्तरेणाह–से नूणमित्यादि। (लेसट्ठाणेसुत्ति) लेश्याभेदेषु (सकिलिस्समाणेसुत्ति) अविशुद्धं गच्छत्सु (कण्हलेस्स परिणमइत्ति) कृष्णलेश्यां याति ततश्च (कण्हलेसेत्यादि) (सकिलिस्समाणेसु वा विसुज्झमाणेसुवत्ति) प्रशस्तलेश्यास्थानेष्वऽविशुद्धिं गच्छत्सु अप्रशस्तलेश्यास्थानेषु च विशुद्धिं गच्छत्सु नीललेश्यां परिणमतीति भावः । भ० १३ श० १ उ० ॥

(५)नैरयिकादयः आत्मोपक्रमेण परोपक्रमेण वा आत्मर्द्धा परर्द्धा वा आत्मप्रयोगेण परप्रयोगेण वा उत्पद्यन्ते ।

णेरइयाणं भंते ! किं आउवक्कमेणं उववज्जंति, परोवक्कमेणं उववज्जंति णिरुवक्कमेणं उववज्जति ? गोयमा ! आतोवक्कमेण वि उववज्जंति परोवक्कमेण वि उववज्जंति णिरुवक्कमेण वि उववज्जति एवं जाव वेमाणियाणं। णेरइयाणं भंते! किं आतोवक्कमेणं उव्वट्टंति परोवक्कमेणं उव्वट्टंति णिरुवक्कमेणं उव्वट्टंति ? गोयमा ! णो आतोवक्कमेणं उव्वट्टंति णो परोवक्कमेणं उव्वट्टंति णिरुवक्कमेणं उव्वट्टंति। एवं जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइया जाव मणुस्सा तिसु उव्वट्टंति । सेस जहा णेरइया णवरं जोइसिया वेमाणिया चयंति । णेरइया णं भंते ! किं आयड्ढीए उववज्जति परिड्ढीए उववज्जति ? गोयमा ! आयड्ढीए उववज्जंति णो परिड्ढीए उववज्जंति। एवं जाव वेमाणिया । णेरइयाणं भंते ! किं आइड्ढीए उव्वट्टति परिड्ढीए उव्वट्टंति ? गोयमा ! आइड्ढीए उव्वट्टंति णो परिड्ढीए उव्वट्टति एवं जाव वेमाणिया णवरं जोइसिया वेमाणिया चयंतीत अभिलावो । णेरइयाणं भंते ! किं आयकम्मणा उववज्जति परकम्मणा उववज्जति ? गोयमा ! आयकम्मणा उववज्जंति णो परकम्मणा उववज्जंति एवं जाव वेमाणिया । एव उव्वट्टणा दंडओ । णेरइयाणं भंते ! किं आयप्पओगेणं उववज्जंति परप्पओगेणं उववज्जंति ? गोयमा ! आयप्पओगेणं उववज्जति णो परप्पओगेणं उववज्जंति । एवं जाव वेमाणिया । एवं दंडओ वि ॥

आत्मना स्वयमेव आयुष उपक्रम आत्मोपक्रमस्तेन मृत्वा इति शेषः उत्पद्यन्ते नारका यथा श्रेणिक । परोपक्रमेण परकृतमरणेन यथा कूणिकः । निरुपक्रमेण उपक्रमणाभावेन यथा कालशौकरिकः यत. । सोपक्रमायुष्का इतरे च तत्रोत्पद्यन्ते उत्पादोद्वर्त्तनाधिकारादिदमाह नेरइयेत्यादि (आइड्ढीएत्ति) नेश्वरादिप्रभावेणेत्यर्थ (आयकम्मुणत्ति) आत्मकृतकर्मणा ज्ञानावरणादिना (आयप्पओगेणति) आत्मव्यापारेण ॥

(६) कतिसञ्चिताकतिसञ्चितानामुपपादः ।

णेरइयाणं भंते ! किं कतिसंचिया अकतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया ? गोयमा ! णेरइया कतिसंचिया वि अकतिसंचिया वि अवत्तव्वगसंचिया वि, सेकेणट्ठेणं भंते ! जाव अवत्तव्वगसंचिया वि ? गोयमा ! जेणं णेरइया संखेज्जएणं पवेसणएणं पाविसंति, तेणं णेरइया कतिसंचिया । जेणं णेरइया असंखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया अकतिसंचिया । जेण णेरइया एक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया अवत्तव्वगसंचिया। से तेणट्ठेणं गोयमा ? जाव अवत्तव्वगसंचिया वि । एवं जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ? पुढवीकाइया णो कतिसंचिया अकतिसंचिया णो अवत्तव्वगसंचिया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–जाव णो अवत्तव्वगसंचिया ? गोयमा ! पुढवीकाइया असंखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति, से तेणट्ठेणं जाव णो अवत्तव्वगसंचिया एवं वणस्सइकाइया । बेइंदिया जाव वेमाणिया जहा णेरइया । सिद्धाणं पुच्छा ? गोयमा ! सिद्धा कतिसंचिया णो अकतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया वि । से केणट्ठेणं जाव अवत्तव्वगसंचिया वि ? गोयमा ! जेणं सिद्धा संखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा कतिसंचिया, जेणं सिद्धा एक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा अवत्तव्वगसंचिया वि से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अवत्तव्वगसंचिया वि ॥

उत्पादाधिकारादिदमाह नेरइयेत्यादि (कइसंचियत्ति) कति इति सङ्ख्यावाची ततश्च कतित्वेन सञ्चिता एकसमये सख्यातोत्पादेन पिरिडताः कातिसञ्चिताः एव (अकइसंचियत्ति)। नवरं । (अकतित्ति) सख्यानिषेधोऽसंख्यातत्वमनन्तत्वं चेति (अवत्तव्वगसंचियत्ति) द्यादिः सख्या व्यवहारतः शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽसंख्या यश्च सख्यात्वेनासख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाववक्तव्यः स च एककस्तेनावक्तव्येन एककेन एकत्वोत्पादेन सञ्चिता अवक्तव्यकसञ्चितास्तत्र नारकादयस्त्रिविधा अपि एकसमयेन तेषामेकादीनां संख्यातानामुत्पादात् पृथिवीकायिकादयस्तु अकतिसञ्चिता एव तेषां समयेनासंख्यातानामेव प्रवेशाद्वनस्पतयस्तु यद्यप्यनन्ता उत्पद्यन्ते तथापि प्रवेशनकं विजातीयेभ्य आगतानां यस्तत्रोत्पादस्तद्विवक्षितमसंख्याता एव च विजातीयेभ्य उद्वृत्तास्तत्रोत्पद्यन्त इति सूत्रे उक्तम्। (एवं जाव वणस्सइकाइयात्ति) सिद्धा नो अकतिसंचिता अनन्तानामसंख्यातानां वा तेषां समयेनासभवादिति । एषामेवाल्पबहुत्व चिन्तयन्नाह ॥

एएसिण भंते ! णेरइयाणं कइसंचियाणं अकइसंचियाणं अव त्तव्वगसंचियाण य कयरे २ वज्झा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा णेरइया अवत्तव्वगसंचिया कति संचिया संखेज्जगुणा अकतिसंचिया असंखेज्जगुणा एवं एगिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं अप्पाबहुगं एगिंदियाणं णत्थि अप्पाबहुगं एएसिणं भंते ! सिध्दाणं कतिसंचियाणं अव्वत्तव्वगसंचियाण य कयरे २ जाव विसेसाहिया वा गोयमा ! सव्वत्थो वा सिध्दा कतिसंचिया अवत्तव्वगसंचिया संखेज्जगुणा ॥

(एएसीत्यादि) अवक्तव्यकसंचिताः स्तोकाः। अवक्तव्यकस्थानस्यैकत्वात् कतिसंचिताः संख्यातगुणाः संख्यातत्वात्सख्यातस्थानकानामकतिसञ्चितास्त्वसख्यातगुणाः असख्यातस्थानकानामसख्यातत्वादित्येके । अन्ये त्वाहुः । वस्तुस्वभावोऽत्र कारण न तु स्थानकाल्पत्वादि कथमन्यथा सिद्धा कतिसचिताः स्थानकबहुत्वेऽपि स्तोकाः। । अवक्तव्यकास्तु स्थानस्यैकत्वेऽपि सख्यातगुणाः । द्व्यादित्वेन केवलिनामल्पानामायु समाप्तेरिय च लोकस्वभावादेवेति ॥

(७) षट्कसमर्जिताः नारकाद्युत्पादविशेषणभूतसंख्याधिकारादिदमाह ।

णेरइयाणं भंते ! किं छक्कसमज्जिया णो छक्कसमज्जिया छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया छक्केहि य समज्जिया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया ? गोयमा ! णेरइया छक्कसमज्जिया वि ! णो छक्कसमज्जिया वि २ छक्केण य णो छक्केणय समज्जिया ३ छक्केहि य समज्जिया वि ४ छक्केहिय णो छक्केण य समज्जिया वि ५ से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-णेरइया छक्कसमज्जिया वि जाव णो छक्केहि य णो छक्केण य सम्मज्जिया वि ? गोयमा ! जेणं णेरइया छक्कएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्कसमज्जिया । जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया णो छक्कसमज्जिया २ जेणं णेरइया छक्कएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेण णेरइया छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया ३ जेणं णेरइया अणेगेहिं छक्केहिं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्केहिय समज्जिया ४ जेणं णेरइया अणेगेहिं छक्केहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया ॥ ५ से तेणट्ठेण तं चेव समज्जिया वि एवं जाव थणियकुमारा पुढवीकाइयाणं पुच्छा, गोयमा ! पुढवीकाइया णो छक्कसमज्जिया णो णो छक्कसमज्जिया णो छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया ३ छक्केहि य समज्जिया वि छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया वि से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि गोयमा जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं छक्केहिं पवेसणगं पविसंति तेणं पुढवीकाइया छक्केहिं समज्जिया, जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं छक्कएहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं पुढवीकाइया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि एवं जाव वणस्सइकाइया बेइंदिया जाव वेमाणिया एए सिध्दा जहा णेरइया ॥

नेरइयाणमित्यादि (छक्कसमज्जियत्ति) षट् परिमाणमस्येति षट्क वृन्द तेन समर्जिताः पिण्डिता षट्कसमर्जिताः । अयमर्थः एकत्र समये ये समुत्पद्यन्ते तेषां यो राशि स षट्प्रमाणो यदि स्यात्तदा ते षट्कसमर्जिता उच्यन्ते ॥ १ ॥ (नो छक्कसमज्जियत्ति) नो षट्कः षट्काभावस्ते च एकादयः पञ्चान्तास्तेन नो षट्केन एकाद्युत्पादेन ये समर्जितास्तेन तथा । २ । तथा (छक्केण य नो छक्केण य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां षट्कमुत्पन्नमेकाद्यधिकं ते षट्केन नोषट्केन च समर्जिता उक्ताः ॥ ३ ॥ (छक्केहि य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां बहूनि षट्कानि उत्पन्नानि ते षट्कैः समर्जिताः उक्ताः । ४ । तथा (छक्केहि य नोछक्केण य समज्जियत्ति) एकत्र समये येषां बहूनि षट्कानि एकाद्यधिकानि ते षट्कैः नो षट्केन च समर्जिता एते पञ्चविकल्पाः । इह च नारकादीना पञ्चापि विकल्पाः सम्भवन्त्येकादीनामसख्यातानां तेषां समयेनोत्पत्तेरसख्यातेष्वपि च ज्ञानिनः षट्कानि व्यवस्थापयन्तीति एकेन्द्रियाणां त्वसख्यातानामेव प्रवेशनात्षट्कः समर्जिताः। तथा षट्कैर्नोषट्केन च समर्जिता इति विकल्पद्वयस्यैव सम्भव इति अत एवाह पुढविकाइयाणमित्यादि ॥

षट्कसमर्जितोत्पादे अल्पबहुत्वम् ।

एएसिणं भंते ! णेरइयाणं छक्कसमज्जियाणं णो छक्कसमज्जियाणं छक्केण य णोछक्केण य समज्जियाणं छक्केहि य समज्जियाणं छक्केहि य णो छक्केण य समज्जियाण य कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा णेरइया छक्कसमज्जिया णो छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्केहि य समज्जिया असंखेज्जगुणा छक्केहि

य णो छक्केण यं समज्जिया संखेज्जगुणा । एवं जाव थणियकुमारा एएसिणं भंते ! पुढविकाइयाणं छक्केहि य समज्जियाणं छक्केहि य णो छक्केहि य समज्जियाणं कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा पुढविकाइया छक्केहि य समज्जिया छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्ज गुणा एव जाव वणस्सइकाइयाणं बेइंदियाणं जाव वेमाणियाणं । जहा णेरइयाणं । एएसिणं भंते ! सिद्धाणं छक्कसमज्जियाणं णो छक्कसमज्जियाणं जाव छक्केहि य णो छक्केण य समज्जियाण य कयरे कयरे जाव विसेसाहिया ? गोयमा ! सव्वत्थो वा सिद्धा छक्केहि य णो छक्केण य समज्जिया छक्केहि य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्केण य णो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा णो छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा ॥

एषामल्पबहुत्वचिन्तायां नारकादयः स्तोका आद्याः षट्कस्थानस्यैकत्वात् द्वितीयास्तु संख्यातगुणाः नोषट्कस्थानानां बहुत्वात् एवं तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु स्थानबाहुल्यात्सूत्रोक्तं बहुत्वमवसेयमित्येके । अन्ये तु वस्तुस्वभावादित्याहुरिति ॥

(८) द्वादश समर्ज्जिता ।

णेरइयाणं भंते ! किं वारससमज्जिया णो वारससमज्जिया वारसएणं णो वारसएण य समज्जिया वारसएहि य समज्जिया ४ वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया ? गोयमा ! णेरइया वारससमज्जिया वि जाव वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया वि से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि । गोयमा ! जेण णेरइया वारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारससमज्जिया वि जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेण एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया णो वारससमज्जिया । जेणं णेरइया वारसएण अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेण एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेण णेरइया वारसएणं समज्जिया । जेण णेरइया णेगेहिं वारसएहिं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारसएहिं समज्जिया । जेण णेरइया णेगेहिं वारसएहिं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि । एवं जाव थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा गोयमा ! पुढवीकाइया णो वारससमज्जिया णो नो वारसएण य समज्जिया णो वारसए य णो वारसएण य समज्जिया वारसएहिं समज्जिया वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया । से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि ? गोयमा ! जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं वारसएहि य पवेसणगं पविसंति तेण पुढविकाइया वारसएहिं समज्जिया । जेणं पुढवीकाइया णेगेहिं वारसएहिं अण्णेण य जहण्णेण एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं एक्कारसएण य पवेसणएणं पविसंति तेणं पुढवीकाइया वारसएहि य णो वारसएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि एवं जाव वणस्सइकाइया । बेइंदिया जाव सिद्धा जहा णेरइया । एएसिणं भंते ! णेरइयाणं वारससमज्जियाणं सव्वेसिं अप्पाबहुगं जहा छक्कसमज्जियाणं णवरं वारसाभिलावो । सेसं तं चेव ॥

(९) चतुरशीतिसमर्जिताः ॥

णेरइयाणं भंते ! किं चुलसीति समज्जिया णोचुलसीति समज्जिया चुलसीतिए य णोचुलसीतिए य समज्जिया चुलसीतिहि य समज्जिया चुलसीतिहि य णो चुलसीतिए य समज्जिया ? गोयमा ! णेरइया चुलसीति समज्जिया वि । जाव चुलसीतिहि य णो चुलसीतिहि य समज्जिया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ जाव समज्जिया वि ? गोयमा ! जेणं णेरइया चलसीतिए णं पवेसणएणं पविसंति तेणं णेरइया चुलसीति समज्जिया, जेणं णेरइया जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेण तेसीति पवेसणएणं पविसंति तणं णेरइया णो चुलसीति समज्जिया, जेणं णेरइया चुलसीतिएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा जाव उक्कोसेण तेसीतिएण पवेसणएणं पविसंति तेण णेरइया चुलसीतिएण य णो चुलसीतिए य समज्जिया । जेणं णेरइया णेगेहिं चुलसीतिएहि य पवेसणगं पविसंति तेणं णेरइया चुलसीतिएहि य समज्जिया । जेणं णेरइया णेगेहिं चुलसीतिएहि य अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा जाव उक्कोसेणं तेसीतिएण जाव पविसंति तेणं णेरइया चुलसीतिएहि य णो चुलसीतिएण य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि । एवं जाव थणियकुमारा पुढवीकाइया तहेव पच्छिल्लएहिं दोहिं णवरं अभिलावो चुलसीतिओ । एवं जाव वणस्सइकाइया बेइंदिया जाव वेमाणिया जहा णेरइया । सिद्धाणं पुच्छा, गोयमा ! सिद्धा चुलसीति समज्जिया वि णो चुलसीति समज्जिया वा चुलसीति य णो चुलसीति य समज्जिया वि णो चुलसीतिहि य समज्जिया णो चुलसीतिहि य णो चुलसीति समज्जिया । से केणट्ठेणं जाव समज्जिया ? गोयमा ! जेणं सिद्धा चुलसीतिए णं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा चुलसीति समज्जिया जेण सिद्धा जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं तेसीतिएण य पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा णो चुलसीति समज्जिया जेणं सिद्धा चुलसीइएणं अण्णेण य जहण्णेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं तेसीतिएणं पवेसणएणं पविसंति तेणं सिद्धा चुलसीति य णो चुलसीतिए य समज्जिया से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया । एएसिणं भंते ! णेरइयाणं चुलसीति समज्जियाणं णो

चुल्लसीतिसमज्जियाणं सव्वेसिं अप्पाबहुगं जहा छक्कसमज्जियाणं जाव वेमाणिया णवरं अभिलावो चुलसीतिओ एएसिणं भंते ! सिद्धाणं चुल्लसीति समज्जियाणं णो चुलसीतिसमज्जियाणं चुलसीतिए य णो चुलसीतिए य समज्जियाणं कयरे कयरे जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थो वा सिद्धा चुल्लसीतिय णो चुलसीतिय समज्जिया चुलसीतिय समज्जिया अणंतगुणा णो चुल्लसीतिय समज्जिया अणंतगुणा सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

एवं द्वादशकसूत्राणि चतुरशीतिसूत्राणि चेति । असुरकुमाराः कतिविधाः ॥

केवइयाणं भंते ! असुरकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! चोयट्ठिअसुरकुमारा वाससयसहस्सा पण्णत्ता, ते भदंत ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि असंखेज्जवित्थडा वि । चोयट्ठियाणं भंते ! असुरकुमारा वाससयसहस्सेसु संखेज्जावित्थडेसु असुरकुमारा वाससयसहस्सेसु एगसमएणं केवइया असुरकुमारा उववज्जंति, केवइया तेउलेस्सा उववज्जंति, केवइया कण्हपक्खिया उववज्जंति एवं जहा रयणप्पभाए तहेव पुच्छा, तहेव वागरणं णवरं दोहिं वेदेहिं उववज्जंति, णपुंसगवेदगा ण उववज्जंति सेसं तं चेव, उव्वट्टंतगा वि तहेव णवरं असण्णि उव्वट्टंति, ओहिणाणी ओहिदंसणी य ण उव्वट्टंति सेसं तं चेव, पण्णत्ता एसु तहेव णवरं संखेज्जगा इत्थीवेदगा पण्णत्ता, एवं पुरिसवेदगावि, णपुंसगवेदगा णत्थि कोहकसायी सिय अत्थि सिय णत्थि, जइ अत्थि जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्ता, एवं माण माया, संखेज्जा लोभकसाई पण्णत्ता, सेसं तं चेव, तिसु वि गमएसु संखेज्जावित्थडेसु चत्तारि लेस्साओ भाणियव्वाओ, एवं असंखेज्जवित्थडेसु वि, णवरं तिसुवि गमएसु असंखेज्जा भाणियव्वा जाव असंखेज्जा अचरिमा पण्णत्ता ! केवइयाणं भंते ! णागकुमारावासा एवं जाव थणियकुमारावासा णवरं जत्थ जत्तियाभवणा ॥

कइविहेत्यादि (सखेज्जवित्थडावि असंखेज्जवित्थडावित्ति) इह गाथा " जंबुद्दीवसमा खलु, भवणा जे हुंति सव्वखुड्डागा । सखेज्जवित्थडा मज्झिमा उ सेसा असंखेज्ज त्ति " ॥१॥ (दोहिं वि वेदेहिं उववज्जतित्ति) द्वयोरपि स्त्रीवेदपुंवेदयोरुत्पद्यन्ते, तयोरेव तेषु भावात् (असण्णी उव्वट्टंतित्ति) असुरादीनामेवावधिमतामुद्वृत्तं (ओहिनाणी ओहिदंसणी य न उव्वट्टंतित्ति) असुराद्युद्वृत्तानां तीर्थकरादित्वाभावात्, तीर्थकरादीशानान्तदेवानामसंज्ञिष्वपि पृथिव्यादिषूत्पादात् (पण्णत्ताएसु तहेवत्ति) प्रज्ञप्तकेषु प्रज्ञप्तपदोपलक्षितगमाधीतेष्वसुरकुमारेषु तथैव यथा प्रथमोद्देशके "कोहकसाई इत्यादि" क्रोधमानमायाकषायोदयवन्तो देवेषु कादाचित्कत्वादत उक्तम् "सिय अत्थि इत्यादि" लोभकषायोदयवन्तस्तु सार्वदिका अत उक्तम् "संखेज्जा लोभकसाई पण्णत्तत्ति" "तिसुवि गमएसु चत्तारि लेस्साओ भणिअव्वाओत्ति " उववज्झति उव्वट्टंति पण्णत्तेस्वेवंलक्षणेषु त्रिष्वपि गमेषु चतस्रो लेश्यास्तेजोलेश्यान्ता भणितव्याः एता एव ह्यसुरादीनां भवन्तीति । (तत्थ जत्तिया भवणात्ति) यत्र निकाये यावन्ति भवनलक्षाणि तत्र तावन्त्युच्चारणीयानि यथा-" चउसट्ठी असुराणं, नागकुमाराण होइ चुलसीई । बावत्तरि कणगाणं, वाउकुमाराण छण्णउई " ॥ १ ॥ दीवादिसा उदहीणं, विज्जुकुमारिंदथणियमग्गीणं । जुयलाणं पत्तेयं छावत्तरिमो सयसहस्सात्ति ।२।

केवइयाणं भंते ! वाणमंतरा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा वाणमंतरा वाससययसहस्सा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जावित्थडा असंखेज्जावित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा णो असंखेज्जवित्थडा । संखेज्जेसुणं भंते ! वाणमंतरा वाससयसहस्सेसु एगसमएणं केवइया वाणमंतरा उववज्जंति ? एवं जहा असुरकुमाराणं संखेज्जावित्थडेसु तिण्णि गमगा तहेव जाणियव्वा, वाणमंतराण वि तिण्णि गमगा ॥

व्यन्तरसूत्रे (संखेज्जवित्थडत्ति) इह गाथा " जम्बुद्दीवसमा खलु, उक्कोसेणं हवंति ते नगरा । खुड्डा खेत्तसमा खलु, विदेहसमगाउ मज्झिमगात्ति ॥ २ ॥

केवइयाण भंते ! जोइसियविमाणा वाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा विमाणा वाससयसहस्सा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जावित्थडा एवं जहा वाणमंतराणं तहा जोइसियाण वि तिण्णि गमगा जाणियव्वा, णवरं एगा तेउल्लेस्सा उववज्जंतेसु पण्णत्तेसु य असण्णी णत्थि सेसं तं चेव ॥

ज्योतिष्कसूत्रे संख्यातविस्तृता विमानावासा एगसट्ठिभागं काऊण जोयणमित्यादिना ग्रन्थेन प्रमातव्याः, नवरं (एगा तेउलेस्सत्ति) व्यन्तरेषु लेश्याचतुष्टयमुक्तमेतेषु तु तेजोलेश्यैवैका वाच्या, तथा उववज्जतेसु पण्णत्तेसु य असण्णी नत्थित्ति । व्यन्तरेष्वसंज्ञिन उत्पद्यन्त इत्युक्तम् इह तु तन्निषेधः, प्रज्ञप्तेष्वपीह तन्निषेध उत्पादाभावादिति ॥

सोहम्मेणं भंते ! कप्पे केवइया विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता ? गोयमा ! बत्तीसं विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जावित्थडा वि असंखेज्जवित्थडा वि । सोहम्मेणं भंते ! बत्तीसविमाणावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु विमाणेसु एगसमएणं केवइया सोहम्मगा देवा उववज्जंति, केवइया तेउलेस्सा उववज्जंति, एवं जहा जोइसियाणं तिण्णि गमगा तहेव तिण्णि गमगा जाणियव्वा, णवरं तिसु वि संखेज्जा जाणियव्वा, ओहिणाणी ओहिदंसणी य चयावेयव्वा सेसं तं चेव । असंखेज्जवित्थडा वि एवं चेव तिण्णि गमगा य, णवरं तिसु वि गमएसु असंखेज्जा जाणियव्वा, ओहिणाणी य ओहिदसणी संखेज्जा चयंति सेसं तं चेव, एव जहा सोहम्मवत्तव्वया भणिया तहा ईसाणे छग्गमगा जाणियव्वा, सणंकुमारे वि एवं चेव णवरं

इत्थीवेदगा ण उववज्जति, तेसु पन्नत्तेसु य ण न्नसंति, असन्नी तिसु वि गमिएसु ण नसंति सेसं तं चेव । एवं जाव सहस्सारो णाणत्तं विमाणेसु लेस्सासु य सेस त चेव ॥

सौधर्मसूत्रे ओहिणाणीत्यादि ततश्च्युता यतस्तीर्थकरादयो भवन्त्यतो अवधिज्ञानादयश्च्यावयितव्या' । ओहिनाणी ओहिदंसणी य सखेज्जा (चयतित्ति) सख्यातानामेव तीर्थकरादित्वेनोत्पादादिति (उम्ममगत्ति) उत्पादादयस्त्रय संख्यातविस्तृतानाश्रित्य एत एव च त्रयोऽसख्यातविस्तृतानाश्रित्यैव षड्गमा' । नवर इत्थिवेयगेत्यादि । स्त्रिय सनत्कुमारादिषु नोत्पद्यन्ते, न च सन्ति उद्वृत्तौ तु स्यु (असन्नी तिसु वि गमएसु न भन्नइत्ति) सनत्कुमारादिदेवानां सञ्ज्ञिभ्य एवोत्पादेन च्युतानां च सञ्ज्ञिष्वेव गमनेन गमत्रयेऽप्यसंज्ञित्वस्याभावादिति (एव जाव सहस्सारेत्ति) सहस्रारान्तेषु तिरश्चामुत्पादेनासख्यातानां त्रिष्वपि गमेषु भावादिति (नाणत्तं विमाणेसु लेस्सासुयत्ति)तत्र विमानेषु नानात्व वत्तीस अट्ठावीसेत्यादिना ग्रन्थेन समवसेयम् लेश्यासु पुनरिद " तेऊ १ तेऊ २ तह तेऊपम्ह ३ पम्हाय ४ पम्हसुक्का य ५ । सुक्काय ६ परमसुक्काऽसुक्कइ विमाणवासीणति" ॥ १ ॥ इह च सर्वेष्वपि शुक्लादिदेवस्थानेषु परमशुक्लेति ॥

आणयपाणएसुणं भंते ! कप्पेसु केवइया विमाणावाससया पन्नत्ता ? चत्तारि विमाणावाससया पन्नत्ता । तेणं भंते ! किं संखेज्जा पुच्छा, गोयमा ! संखेज्जवित्थडा वि असंखेज्जवित्थडा वि, एवं संखेजवित्थडेसु तिन्नि गमगा जहा सहस्सारे, असंखेज्जवित्थडेसु उववज्जंति तेसु य चयं तेसु य एवं चेव संखेज्जा भाणियव्वा, पन्नत्तेसु असंखेज्जा, णवरं णो इंदियओवउत्ता अणंतरोववन्नगा अणंतरोवगाढा अणंतराहारगा अणंतरपज्जत्तगा य एएसिं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पन्नत्तेसु असंखेज्जा भाणियव्वा । आरणच्चुएसु एवं चेव जहा आणयपाणएसु णाणत्तं विमाणेसु, एवं गेवेज्जगावि ॥

अनतादिसूत्रे । सखेज्जवित्थडेसु इत्यादि । उत्पादे अवस्थाने च्यवनेन च सख्यातविस्तृतत्वाद्विमानानां सख्याता एव भवन्तीति भाव' । असख्यातविस्तृतेषु पुनरुत्पादच्यवनयो सख्याता एव, यतो गर्भजमनुष्येभ्य एव आनतादिषूत्पद्यन्ते, न ते च सख्याता एव । तथा आनतादिभ्यश्च्युता गर्भजमनुष्येभ्य एवोत्पद्यन्ते अतः समयेन संख्यातानामेवोत्पादच्यवनसम्भवोऽवस्थितिस्त्वसंख्यातानामपि स्यादसख्यातजीवितत्वेनैकदैव जीवितकाले असंख्यातानामुत्पादादिति । पन्नत्तेसु असंखेज्जा नवर नो इंदिओवउत्तेत्यादि । प्रज्ञप्तगमके असंख्येया वाच्या केवल नो इन्द्रियोपयुक्तादिषु पञ्चसु पदेषु सख्याता एव तेषामुत्पादावसर एव भावादुत्पत्तिश्च सख्यातानामेवेति दर्शितं प्रागिति ॥

कइ णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पन्नत्ता, तेणं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा ? गोयमा ! संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य । पंचसु णं भंते ! अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थडे विमाणे एगसमए केवइया अणुत्तरोववाइया उववज्जंति, केवइया सुक्कलेस्सा उववज्जंति पुच्छा तहेव, गोयमा ! पंचसु ण अणुत्तरविमाणेसु संखेज्जवित्थडे अणुत्तरविमाणे एगसमएणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कासेणं संखेज्जा अणुत्तरोववाइया उववज्जंति, एवं जहा गेविज्जगविमाणेसु सखेज्जवित्थडेसु णवरं कण्हपक्खिया अभवसिद्धिया तिसु अन्नाणेसु एए ण उववज्जति, ण चयंति, ण वि पन्नत्तएसु भाणियव्वा । अचरिमावि खोडिज्जंति, जाव संखेज्जा चरिमा पन्नत्ता, सेसं तं चेव असंखेज्जवित्थडेसु वि एए ण नसंति, अचरिमा अत्थि सेसं जहा गेवेज्जएसु असंखेज्जवित्थडेसु जाव असंखेज्जा अचरिमा पन्नत्ता ॥

(पच अणुत्तरोववाइयत्ति) तत्र मध्यमं संख्यातविस्तृत जोअनलक्षप्रमाणत्वादिति । नवर कण्हपक्खियेत्यादि । इह सम्यग्दृष्टीनामेवोत्पादात् कृष्णपाक्षिकादिपदानां गमत्रयेऽपि निषेधः (चरिमावि खोडिज्जतित्ति) येषां चरमो ऽनुत्तरदेवभव स एव ते चरमास्तदितरे त्वचरमास्ते च निषेधनीया यतश्चरमा एव मध्यमे विमाने उत्पद्यन्त इति । असंखेज्जवित्थडेसुवि (एए न भन्नतित्ति) इहेत इति कृष्णपाक्षिकादय । नवरं (अचरिमा अत्थित्ति) यतो बाह्यविमानेषु पुनरुत्पद्यन्त इति ॥

चोयट्ठीए णं भंते ! असुरकुमारावाससयसहस्सेसु संखेज्जवित्थडेसु असुरकुमारावासेसु किं सम्मदिट्ठी असुरकुमारा उववज्जंति, मिच्छादिट्ठी एवं जहा रयणप्पभाए तिन्नि आलावगा भणिया तहा असंखेज्जवित्थडेसु वि तिन्नि गमगा, एवं जाव गेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणेसु एवं चेव, णवरं तिसुवि आलावएसु मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी य णं भन्नत्ति सेसं तं चेव । से णूणं भंते ! कण्हलेस्से णीललेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता कण्हलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति ? हंता गोयमा ! एवं जहेव णेरइएसु पढमे उद्देसे तहेव भाणियव्वं, णीललेस्साए वि जहेव णेरइयाणं, जहा णीललेस्साए एवं जाव पम्हलेस्सेसु सुक्कलेस्सेसु एवं चेव, णवरं लेस्साठाणेसु विसुज्झमाणेसु विसुज्झमाणेसु सुक्कलेस्सा परिणमइ, परिणमइत्ता सुक्कलेस्सेसु देवेसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति । सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

(तिन्नि आलावगत्ति), सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिमिश्रदृष्टिविषया इति । नवरं तिसु वि आलवगेसु इत्यादि, उप्पत्तिए चवणे पन्नत्ता लावए य । मिथ्यादृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टिश्च न वाच्योऽनुत्तरसुरेषु तस्यासम्भवादिति । भ० १३ श० उ०२।

(१०) नैरयिकादय' कुत उत्पद्यन्ते ।

नेरइयाणं भंते कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उववज्जंति देवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नेरइया नो नेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो उववज्जंति जदि तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति वेइंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति तेइंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति चउरिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति पंचिंदियतिरिक्खजोणि-

एहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो एगिंदिया नो बेइंदिया नो तेइंदिया नो चउरिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति। जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति खहयरपंचिंदियएहिंतो वि उववज्जंति । जदि जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतिय जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदिएहिंतो व उववज्जंति गब्भवक्कंतिजलचरपंचिंदिएहिंतो वि उववज्जंति । जदि सम्मुच्छिमजलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसम्मुच्छिमजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तगसम्मुच्छिमजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति जदि गब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तगगब्भवक्कंतियपंचिंदियएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलचरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति नो अप्पज्जत्तगगब्भवक्कंतियजलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति । यदि थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति जदि चउप्पयपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति गब्भवक्कंतियचउप्पएहिंतो वि उववज्जंति । जदि सम्मुच्छिमचउप्पएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तगसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति किं अप्पज्जत्तगथलयरसम्मुच्छिमचउप्पयपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तग जाव उववज्जंति नो अप्पज्जत्तगथलयरचउप्पयसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं असंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति नो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति। जदि संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तगसंखिज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अप्पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जदि परिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति जदि उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मुच्छिमेहिंतो वि गब्भवक्कंतिएहिंतो वि उववज्जंति जदि सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! पज्जत्तगसम्मुच्छिमेहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तगसम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जदि गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! पज्जत्तगगब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तगगब्भवक्कंतिउरपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति । जदि भुजपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमभुजपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा दोहिंतो वि उववज्जंति जदि सम्मुच्छिमभुजपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तयसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तगसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति। जदि गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति किं अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उवव-

ज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जदि खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जति किं गब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति? गोयमा! दोहिंतो वि उववज्जंति। जदि सम्मुच्छिमखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जति? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो नो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जति जदि संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतियखहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति। भ०२४ श०१ उ०।

नैरयिकादीनां स्थित्यादय ।

जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा! सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति असन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति । जइ असन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जति थलचरेहिंतो उववज्जंति खहचरेहिंतो उववज्जंति? गोयमा! जलचरेहिंतो उववज्जंति थलचरेहिंतो वि उववज्जंति खहचरेहिंतो वि उववज्जंति जइ जलचरथलचरखहचरेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति णो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । पज्जत्तअसन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते! जे भविए णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसु पुढवीसु उववज्जेज्जा ? गोयमा !एगाए रयणप्पभाए पुढवीए उववज्जेज्जा पज्जत्तअसन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएण भंते! जे भविए रयणप्पभाए पुढवीएसु णेरइएसु उववज्जित्तए सेण भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठितिसु उववज्जेज्जा ? तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति ॥ २ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंघयणी पन्नत्ता ? गोयमा! छेवट्टसंघयणीपन्नत्ता तेसिणं भंते ! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग उक्कोसेणं जोयणसहस्सं ॥४॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संठिया पन्नत्ता ? गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिया पन्नत्ता ॥ ५ ॥ तेसि णं भंते जीवाणं कइ लेस्साओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! तिन्नि लेस्साओ पन्नत्ताओ तंजहा कण्हलेस्सा णीललेस्सा काउलेस्सा ॥ ६ ॥ तेणं भंते! जीवा सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी ? गोयमा ! णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी ॥ ७ तेणं भंते ! जीवा किं णाणी अन्नाणी ? गोयमा ! णो णाणी अन्नाणी । नियमा दुअन्नाणी तंजहा मतिअन्नाणी सुयअन्नाणी।।८। तेणं भंते !जीवा किं मणजोगी वयजोगी कायजोगी ? गोयमा ! णो मणजोगी वयजोगी वि कायजोगी वि ॥ ९ ॥ तेणं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता ? गोयमा ! सागारोवउत्ता वि अणागारोवउत्ता वि ॥ १० ॥ तेसि णं भंते ! जीवाणं कइ सन्ना पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि सन्ना पण्णत्ता तंजहा आहारसन्ना भयसन्ना मेहुणसन्ना परिग्गहसन्ना ॥ ११ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ कसाया पन्नत्ता ? गोयमा ! चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लोभकसाए ॥ १२ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ इंदिया पण्णत्ता? गोयमा ! पंचिंदिया पण्णत्ता तंजहा सोइंदिए चक्खिंदिए जाव फासिंदिए ॥ १३ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ समुग्घाया पण्णत्ता ? गोयमा ! तओ समुग्घाया पण्णत्ता तंजहा वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए ॥ १४ ॥ तेणं भंते ! जीवा किं सातावेदगा असातावेदगा ? गोयमा ! सातावेदगा वि असतावेदगा वि ॥ १५ ॥ तेणं भंते ! जीवा किं इत्थीवेदगा पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा ? गोयमा ! णो इत्थी वेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा ॥ १६ ॥ तेसि णं भंते ! जीवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता गोयमा! जहन्नेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी ॥ १७ ॥ तेसिणं भंते ! जीवाणं कइ अज्झवसाणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता ? तेणं भंते ! किं पसत्था अप्पसत्था? गोयमा ! पसत्था वि अप्पसत्था वि ॥ १८ ॥ तेणं भंते ! पज्जत्ता असन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएत्ति कालओ केवचिरं होइ गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी ॥ १९ ॥ सेणं भंते ! पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए रयणप्पभाए पुढवी णेरइए पुणरवि पज्जत्तअसन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएत्ति केवइयं कालं सेवेज्जा केवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइ उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडिमब्भहियं एवइयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ॥ १ ॥ पज्जत्तअसन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जहन्नकालट्ठिईएसु रयणप्पभा-

पुढवी णेरइए उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ॥ १ ॥ ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति एवं सब्भावत्तव्वया णिरवसेसा भाणियव्वा जाव अणुबंधो त्ति से णं भंते ! पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए जहएणकालट्ठिई य रयणप्पभापुढविणेरइए जहएणकालं पुणरवि असपज्जत्तअसएिण जाव गतिरागतिं करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ॥ २ ॥ पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिईएसु रयणप्पभापुढवीणेरएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ते णं भंते ! जीवा अवसेसं तं चेव जाव अणुबंधो । से णं भंते ! पज्जत्तअसएिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिई य रयणप्पभापुढवी णेरइए उक्कोसं पुणरवि पज्जत्त जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडी अब्भहियं एवयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा जहएणकालट्ठिई य पज्जत्तअसएिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढवी णेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवति अवसेसं तं चेव णवरं इमाई तिरिण णाणत्ताइं आउअज्झवसाणाणुबंधो य जहएणेणं ठिई अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । तेसि णं भंते ! जीवाणं केवइया अज्झवसाणा पएणत्ता ? गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पएणत्ता ते णं भंते ! किं पसत्था अप्पसत्था ? गोयमा ! णो पसत्था अप्पसत्था । अणुबंधो अंतोमुहुत्तं सेसं तं चेव । से णं भंते ! जहएणकालट्ठिई य पज्जत्ता असएिणपंचिंदियरयणप्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥ ४ ॥ जहएणकालट्ठिई य पज्जत्तअसएिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जहएणकालट्ठिईएसु रयणप्पभापुढवी णेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ते णं भंते ! जीवा सेसं तं चेव । ताइं चेव तिरिण णाणत्ताइं जाव से णं भंते ! जहएणकालट्ठिई य पज्जत्त जाव जोणिए जहएणकालट्ठिई य रयणप्पभा पुणरवि जाव ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा ॥ ५ ॥ जहएणकालट्ठिइयं पज्जत्ता जाव तिरिक्खजोणियाणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिएसु रयणप्पभापुढविणेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतियकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, ते णं भंते ! अवसेसं तं चेव ताणि चेव तिरिण णाणत्ताइं जाव । से णं भंते ! जहएणकालट्ठिईयस्स पज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिईयरयणप्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥ ६ ॥ उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्तअसएिणपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविणेरइएसु उववज्जित्तए, से णं भंते ! केवइयाट्ठिई जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जेज्जा, ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं अवसेसं जहेव ओहियगमएणं तहेव अणुगंतव्वं जाव इमाइं दोणि णाणत्ताइं ठिई जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि अवसेसं तं चेव । से णं भंते ! उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्तअसएिण जाव तिरिक्खजोणिए रयणप्पभा जाव ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहएणेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडीए अब्भहियं एवइयं जाव करेज्जा ७ उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्तातिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जहएणकालट्ठिईएसु रयणप्पभा जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, ते णं भंते ! सेसं तं चेव जहा सत्तमगमए जाव से णं भंते ! उक्कोसकालट्ठिई जाव तिरिक्खजोणिए जहएणकालट्ठिई य रयणप्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं

पुव्वकोमी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्जहिया उक्कोसे-
णवि पुव्वकोमी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्जहिया
एवइयं जाव करेज्जा ॥ ७ ॥ उक्कोसकालट्ठिइयपज्जत्त जाव
तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिईएसु
रयणप्पजा जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयं कालं जाव
उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमस्स असंखेज्ज-
इभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभाग-
ट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा एगसमए सेसं जहा
सत्तमगमए जाव सेणं भंते ! उक्कोसकालट्ठिई पज्जत्त जाव
तिरिक्खजोणियउक्कोसट्ठिईयरयणप्पजा जाव करेज्जा ? गो-
यमा ! भवादेसेणं दोभवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं
पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोमीए अब्जहियं, उ-
क्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोमी म-
ब्जहियं एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा ॥ ए ॥ एवं
एते ओहिया तिण्णिगमगा । ३ । जहण्णकालट्ठिईएसु तिण्णि-
गमगा । ६ । उक्कोसकालट्ठिईएसु तिण्णिगमगा । ए । सव्वे ते
णव गमगा भवंति ॥

सेण भते पज्जत्ता असम्नीत्यादि (भवादेसेणंति) भवप्रकारेण (दोभवग्गहणाइति) एकत्रासंज्ञी द्वितीये नारक ततो निर्गतस्सन्ननन्तरतया संज्ञित्वमेव लभते न पुनरसंज्ञित्वमिति (कालाएसेणंति) कालप्रकारेण कालत इत्यर्थ दशवर्षसहस्राणि नारकजघन्यस्थितिअन्तमुहूर्त्तान्यधिकानि असंज्ञिभवसम्बन्धिजघन्यायुस्सहितानीत्यर्थ (उक्कोसेणमित्यादि) इह पल्योपमासंख्येयभाग पूर्वभवासंज्ञिनारकोत्कृष्टायुष्करूप पूर्वकोटीचासंज्ञ्युत्कृष्टायुष्करूपेति । एवमेते सामान्येषु रत्नप्रभानारकेषूत्पित्सवोऽसंज्ञिन प्ररूपिता ।१। अथ जघन्यस्थितिषु तेषूत्पित्सूंस्तान्प्ररूपयन्नाह (पज्जत्तेत्यादि) सर्वं चेदं प्रतीतार्थमेवमुत्कृष्टस्थितिषु रत्नप्रभानारकेषूत्पित्सवोऽपि प्ररूपणीया एवमेते त्रयो गमा निर्विशेषणपर्याप्तकाऽसंज्ञिनमाश्रित्योक्ता एवमेव त जघन्यस्थितिकमुत्कृष्टस्थितिक २ चाश्रित्य वाच्यास्तदेवमेते नव गमा तत्र जघन्यस्थितिकमसंज्ञिनमाश्रित्य सामान्यनारकगम उच्यते (जहण्णेत्यादि) आउअज्झवसाणाअणुबंधोयत्ति) आयुरन्तर्मुहूर्तमेव जघन्यस्थितेरसंज्ञिनोऽधिकृतत्वात् अध्यवसायस्थाना यप्रशस्तान्येवान्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वाद्दीर्घस्थितेर्हि तस्य द्विविधान्यपि तानि सम्भवन्ति, कालस्य बहुत्वादनुबन्धश्च स्थिति तमान एवेति कायसंवेधे च नारकाणां जघन्याया उत्कृष्टायाश्च स्थितेरुपर्यन्तर्मुहूर्तं वाच्यमिति ॥ ४ ॥ एव जघन्यस्थितिकं त जघन्यस्थितिकेषु तेषूत्पादयन्नाह—जहण्णकालट्ठिईत्यादि ॥ ५ ॥ एवं जघन्यस्थितिक तमुत्कृष्टस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह—जहण्णेत्यादि ॥ ६ ॥ एवमुत्कृष्टस्थितिक त सामान्येषु तेषूत्पादयन्नाह—उक्कोसकालेत्यादि ॥ ७ ॥ एवमुत्कृष्टस्थितिक त जघन्यस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह—उक्कोसकालेत्यादि ॥ ८ ॥ एवमुत्कृष्टस्थितिक तमुत्कृष्टस्थितिषु तेषूत्पादयन्नाह उक्कोसकालेत्यादि ॥ ९ ॥ एव तावदसंज्ञिन पञ्चेन्द्रियतिरश्चो नारकेषूत्पादो नवधोक्तोऽथसंज्ञिनस्तस्यैव तथैव तमाह (जहसण्णीत्यादि) तिण्णि नाणा तिण्णि अण्णाणा (भयणाएत्ति)।

जदि सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं
संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उवव-
ज्जंति असंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्ख जाव उवव-
ज्जंति गोयमा ! संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजो-
णिएहिंतो उववज्जंति णो असंखेज्जवासाउय जाव उवव-
ज्जंति जदि संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदिय जाव उववज्जं-
ति किं जलचरेहिंतो उववज्जंति पुच्छा ? गोयमा ! जल-
चरेहिंतो उववज्जंति जहा असण्णी जाव पज्जत्तएहिंतो उ-
ववज्जंति णो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति पज्जत्तसंखेज्ज-
वासाउयसण्णि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भ-
विए णेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसु पुढवीसु
उववज्जेज्जा ? गोयमा ! सत्तसु पुढवीसु उववज्जेज्जा तं-
जहा रयणप्पभाए जाव अहेसत्तमाए पज्जत्तसंखेज्ज-
वासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भ-
विए रयणप्पभापुढविणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते !
केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जह-
ण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठि-
ईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइ-
या उववज्जंति जहेव असण्णी । तेसि णं भंते ! जीवाणं
सरीरगा किं संघयणी पण्णत्ता ? गोयमा ! छव्विहसंघय-
णी पण्णत्ता तं जहा वइरोसभनारायसंघयणी उसभना-
राय जाव छेवट्ठसंघयणी । सरीरोगाहणा जहेव असण्णीणं ।
तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किं संठिया पण्णत्ता ?
गोयमा ! छव्विहसंठिया पण्णत्ता तं जहा समचउरं-
सा णिग्गोहा जाव हुंडा । तेसिणं भंते ! जीवाणं कइलेस्सा
ओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! छल्लेस्साओ पण्णत्ताओ, तं जहा
कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा । दिट्ठी तिविहावि । ति-
ण्णिणाणा तिण्णि अण्णाणा भयणा । जोगो तिविहोवि सेसं
जहा असण्णीणं जाव अणुबंधो णवरं पंचसमुग्घाया आ-
दिल्लगा, वेदो तिविहो वि । अवसेसं तं चेव जाव सेणं
भंते ! पज्जत्तासंखेज्जवासाउ य जाव तिरिक्खजोणिए
रयणप्पभा जाव करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं
दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठभवग्गहणाइं, कालादेसेणं
जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं
चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्जहियाइं
एवइयं कालं जाव करेज्जा ।१। पज्जत्तसंखेज्जवासाउय
जाव जे भविए जहण्णकालं जाव से णं भंते ! केवइयका-
लट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवास-
हस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु जाव
उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा एवं सो चेव पढमगमओ
णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दस-
वाससहस्साइं अंतो मुहुत्तमब्जहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि

पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा । २ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु अवसेसो परिणामादीओ भवादेसे पज्जवसाणे सो चेव पढमगमगो णेतव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा । ३ । जहण्णकालट्ठिई य पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएण भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढवी जाव उववज्जित्तए, सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? । गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा अवसेसो सो चेव गमओ णवरं इमाइं अट्ठ णाणत्ताइं सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं धणुहपुहुत्तं लेस्साओ तिण्णिआदिल्लाओ णो सम्मदिट्ठी मिच्छदिट्ठी णो सम्मामिच्छदिट्ठी । णो णाणी दो अण्णाणी णियमं । समुग्घाया आदिल्ला तिण्णि । आउअज्झवसाणा आणुबंधो य जहेव असण्णीणं अवसेसं जहा पढमगमए जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।४। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववन्नो जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! एवं सो चेव चउत्थो णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तालीसं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥ ५ ॥ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो । जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! एवं सो चेव चउत्थो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥ ६ ॥ उक्कोसकालट्ठिई य पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए रयणप्पभा पुढवि णेरइएसु उववज्जित्तए । सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! जीवा अवसेसो परिणामादीओ भवादेसे पज्जवसाणे एएसिं चेव पढमो गमओ णेतव्वो णवरं ठिई । जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि । सेसं तं चेव । कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ॥७॥ सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववन्नो जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा सो चेव सत्तमो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव भवादेसोत्ति कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा ॥ ८ ॥ उक्कोसकालट्ठिईयपज्जत्त जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठिई जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा ! जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं भंते ! सो चेव सत्तमो गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव भवादेसोत्ति, कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं पुव्वकोडीए अब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ॥ ९ ॥ एवं एते णव गमगा उक्खेवओ णिक्खेवओ णवसु वि जहेव असण्णीणं, पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा जहण्णेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं एवं जहेव सक्करप्पभाए उववज्जंतगस्स लद्धी सच्चेव णिरवसेसा भाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं बारससागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एवं रयणप्पभापुढविगमगसरिसा णव वि गमा भाणियव्वा णवरं सव्वगमएसु वि णेरइयट्ठिई य संवेहेसु सागरोवमा भाणियव्वा एवं जाव छट्ठपुढवित्ति णवरं णेरइए ठिई जा जत्थ पुढवीए जहण्णुक्कोसिया सा तेण चेव कमेण चउग्गुणा कायव्वा वालुयप्पभाए अट्ठावीसं सागरोवमा चउगुणिया भवंति पंकप्पभाए चत्तालीसं,धूमप्पभाए अट्ठसट्ठिं,तमाए अट्ठासीतिं। संघयणाइं वालुयप्पभाए पंचविहा संघयणी तं जहा वइरोसभनाराय जाव कीलियासंघयणी, पंकप्पभाए चउव्विहसंघयणी,धूमप्पभाए तिविहसंघयणी, तमाए दुविहसंघयणी तं जहा वइरोसभनारायसंघयणी उसभनारायसंघयणी सेसं तं चेव । पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य जाव तिरिक्खजोणिएणं भंते!जे भविए अहे सत्तमपुढवीणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं बावीसं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते!जीवा एवं जहेव रयणप्पभाए णव गमगा लद्धी

सव्वेवि एवरं वइरोसजनारायसघयणी इत्थी वेदगा ण उववज्जंति सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति संवेहो जवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि जवग्गहणाइं उक्कोसेणं सत्त जवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्जहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोमीहिं अब्जहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । १ । सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेव वत्तव्वया जाव जवादेसोत्ति, कालादेसेणं जहण्णेणं कालादेसा वि तहेव जाव चउहिं पुव्वकोमीहिं अब्जहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेव लद्धी जाव अणुबंधोत्ति । जवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि जवग्गहणाइं उक्कोसेणं पंच जवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतो मुहुत्तेहिं अब्जहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोमीहिं अब्जहियाइं एवइयं जाव सेवेज्जा । ३ । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिइओ जाओ सव्वे वि रयणप्पजापुढविजहण्णकालट्ठिइयवत्तव्वया जाणियव्वा जाव जवादेसोत्ति एवरं पढमसंघयण णो इत्थीवेदगा जवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि जवग्गहणाइं उक्कोसेणं सत्त जवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्जहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्जहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।४। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एवं सो चेव चउत्थो गमो णिरवसेसो जाणियव्वो जाव कालादेसोत्ति ।५। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेव लद्धी जाव अणुबंधोत्ति, जवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि जवग्गहणाइं उक्कोसेणं पंच जवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्जहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तेहिं अब्जहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ जहण्णेणं बावीसं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तेतीसं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा,तेणं जंते! अवसेसा सव्वे वि सत्तमपुढवीपढमगमगवत्तव्वया जाणियव्वा जाव जवादेसोत्ति एवरं ठिई अणुबंधो त्ति, जहण्णेणं पुव्वकोमी उक्कोसेणं वि पुव्वकोमी सेसं तं चेव, कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोमीहिं अब्जहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोमीहिं अब्जहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । ७ । सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वेवलद्धी संवेहो वि तहेव सत्तमगमगसरिसो । ८ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो सव्वे वि लद्धी जाव अणुबंधोत्ति, जवादेसेण जहण्णेणं तिण्णि जवग्गहणाइं, उक्कोसेणं पंच जवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोमीहिं अब्जहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोमीहिं अब्जहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा । ९ । जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति णो असण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति जइ सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असंखेज्ज जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति णो असंखेज्जवासाउय उववज्जंति। जइ संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति अपज्जत्त जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति णो अपज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति ॥ पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्से णं जंते ! जे जविए णेरइएसु उववज्जित्तए से णं जंते ! कइसु पुढवीसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! सत्तसु पुढवीसु उववज्जेज्जा त जहा रयणप्पजा जाव अहे सत्तमाए। पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्से णं जंते! जे जविए रयणप्पजापुढवीए णेरइएसु उववज्जित्तए से णं जंते ! केवइया कालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा, तेणं जंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दोवा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति संघयणा छ सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहुत्तं । उक्कोसेण पंचधणुहसयाइं। एवं सेसं जहा सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण जाव जवादेसोत्ति एवरं चत्तारि णाणा तिण्णि अण्णाणा जयणाए। छ समुग्घाया केवलिवज्जा ठिई अणुबंधो य जहण्णेणं मासपुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं तं चेव । कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा।१। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा । २ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं सागरोवमं मासपुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । ३ । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवरं इमाइं णाणत्ताइं सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहुत्तं उक्कोसेण वि अंगुलपुहुत्तं तिण्णि णाणा तिण्णि अण्णाणाभयणाए पंच समुग्घाया आदिल्ला ठिई अणुबंधो य ज-

हएणेणं मासपुहुत्तं उक्कोसेणं वि मासपुहुत्तं सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं मासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । ४ । सो चेव जहएणकालट्ठिईएसु उववएणो एस चेव वत्तव्वया चउत्थगमगसरिसा णवरं कालादेसेणं जहएणेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तालीसं वाससहस्साइं चउहिं मासपुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ।५। सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववएणो एस चेव गमगो णवरं कालादेसेणं जहएणेणं सागरोवमं मासपुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं मासपुहुत्तेहिं एवइयं जाव करेज्जा । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाव सो चेव पढमगमओ णेयव्वो णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं पंच धणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंच धणुहसयाइं ठिई जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि । कालादेसेणं जहएणेणं पुव्वकोडीदसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा । ७ । सो चेव जहएणकालट्ठिईएसु उववएणो सच्चेव सत्तमगमगवत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहएणेणं पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं जाव करेज्जा ।८। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववएणो सा चेव सत्तमगमगवत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहएणेणं एगं सागरोवमं पुव्वकोडीए अब्भहियं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा । ९ । पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइए जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयं कालं जाव उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तिणि सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! एवं सो चेव रयणप्पभापुढविगमओ णेयव्वो णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं रयणिपुहुत्तं उक्कोसेणं पंचधणुहसयाइं ठिती जहएणेणं वासपुहुत्तं पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहएणेणं सागरोवमं वासपुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं बारससागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एवं एसा ओहिएसु तिसु गमेसु मणुस्सलद्धी णाणत्तं णेरइयट्ठिती कालादेसेण संवेहं च जाणेज्जा । सो चेव अप्पणा जहएणकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव लद्धी णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं रयणिपुहुत्तं उक्कोसेणं वि रयणिपुहुत्तं ठिती जहएणेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेण वि वासपुहुत्तं एवं अणुबंधोवि सेसं जहा ओहियाणं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु इमं णाणत्तं सरीरोगाहणा जहएणेणं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिती जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी, एवं अणुबंधो वि सेसं जहा पढमगमए णवरं णेरइयट्ठिती कायसंवेहं च जाणेज्जा । ९ । एवं जाव छट्ठपुढवी णवरं तच्चाए आढवेत्ता एक्केक्कं संघयणं परिहायति, तहेव तिरिक्खजोणियाणं कालादेसो वि तहेव । णवरं मणुस्सट्ठिई जाणियव्वा । पज्जत्तसंखेज्जवासाउसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए अहे सत्तमपुढविणेरइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं बावीसं सागरोवमट्ठिईएसु उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं अवसेसो सो चेव सक्करप्पभपुढविगमओ णेयव्वो णवरं पढमसंघयणं । इत्थी वेयगा ण उववज्जंति सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं बावीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा ? सो चेव जहएणकालट्ठिईएसु उववएणो एस चेव वत्तव्वया णवरं णेरइयट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववएणो एस चेव वत्तव्वया णवरं संवेहं च जाणेज्जा ।३। सो चेव अप्पणा जहएणकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं रयणिपुहुत्तं उक्कोसेण वि रयणिपुहुत्तं, ठिई जहएणेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेण वि वासपुहुत्तं एवं अणुबंधो वि संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं सरीरोगाहणा जहएणेणं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी एवं अणुबंधो वि । णवसु वि एतेसु गमएसु णेरइयट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा । सव्वत्थ भवग्गहणाइं दोण्णि जाव णव गमएसु कालादेसेणं जहएणेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहिया एवइयं कालं सेवेज्जा एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा॥ सेव भंते भंतेत्ति तिण्णि नाणा तिण्णि अन्नाणा (भयणाए त्ति) तिरश्चां संज्ञिनां नरकगामिनां ज्ञानान्यज्ञानानि च त्रीणि भजनया भवन्तीति, द्वे वा त्रीणि वा स्युरित्यर्थः ॥ समुग्घाया (आदिल्लग त्ति) असंज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिरश्च-

यस्समुद्घाता सञ्ज्ञिनस्तु नरक यियासो पञ्चाद्या अन्तयोर्द्वयोर्मनुष्याणामेव भावादिति । (जहन्नेणं दो भवग्गहणाइति) सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्य पुनर्नरकेषूत्पद्यते ततो मनुष्येष्वेवमधिकृत्य कायसंवेधे भवद्वय जघन्यतो भवति एव भवग्रहणाष्टकमपि भावनीयम् । अनेन चेदमुक्त सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् १ ततो नारक २ पुन. सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ३ पुनर्नारक ४ पुन. सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ५ पुनर्नारक. ६ तत पुन. सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् ७ पुनस्तस्यामेव पृथिव्या नारक' ८ इत्येवमष्टावेव वारानुत्पद्यते नवमे भवे तु मनुष्यः स्यादिति एवमौघिक औघिकेषु नारकेषूत्पादितोऽयं चेह प्रथमो गम' । पज्जत्तेत्यादिस्तु द्वितीय' । सो चेव उक्कोसकाले इत्यादिस्तु तृतीय. । जहन्नकालट्ठितीयेत्यादिस्तु चतुर्थ' । तत्र च । नवर इमाइं अट्ठनाणत्ताइंति । तानि चैव–तत्र शरीरावगाहनोत्कृष्टा योजनसहस्रमुक्ता इह तु धनु. पृथक्त्व तथा तत्र लेश्या. षट् इह त्वाद्यास्तिस्र. तथा तत्र दृष्टि त्रिधा इह तु मिथ्यादृष्टिरेव तथा तत्राऽज्ञानानि त्रीणि भजनयेह तु द्वे एवाज्ञाने । तथा तत्राद्या. पञ्च समुद्घाता इह तु त्रय' । " आऊअज्झवसाणा, अणुबंधो य जहेव असन्नीणंति " । जघन्यस्थितिकासञ्ज्ञिगम इवेत्यर्थ । ततश्चायुरिहान्तर्मुहूर्तम् । अध्यवसायस्थानान्यप्रशस्तान्येवानुबन्धोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेवेति (अवेससामित्यादि) अवशेष यथा सञ्ज्ञिन' प्रथमगमे औघिक इत्यर्थः । निगमनवाक्य चेदम् (अवसेसो सो चेव गमओत्ति) अनेनैवैतदर्थस्य गमत्वादिति सा चैव जहण्णकालेत्यादिस्तु सञ्ज्ञिविषये पञ्चमो गम' इह च । (सोचेवत्ति) स एव सञ्ज्ञी जघन्यास्थितिक' । " सो चेव उक्कोसे " त्यादिस्तु षष्ठ । उक्कोसकालेत्यादिस्तु सप्तम. । तत्र च (एएसिं चेव पढमगओत्ति) एतेषामेव सञ्ज्ञिनां प्रथमगमो यत्रौघिक ओघिकेषूत्पादित. । नवगमित्यादि । तत्र जघन्याप्यन्तर्मुहूर्तरूपा सञ्ज्ञिन स्थितिरुक्ता सेह न वाच्येत्यर्थ । एवमनुबन्धोऽपि तद्रूपत्वात्तस्येति । ७ । सो चेवेत्यादिरष्टम । इह च । (सोचे॰त्ति) स एवोत्कृष्टस्थितिक' सञ्ज्ञी । ८ । उक्कोसेत्यादिर्नवम' । " उक्खेवनिक्खेवओइत्यादि " तत्रोपक्षेप. प्रस्तावना (१६०००) स च प्रतिगममौचित्येन स्वयमेव वाच्यो निक्षेपस्तु निगमन सोऽप्येवमेवेति पर्याप्तकसङ्ख्यातवर्षायुष्कसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकमाश्रित्य रत्नप्रभा वक्तव्यतोक्ता अथ तमेवाश्रित्य शर्करप्रभा वक्तव्यतोच्यते तत्रौघिक ओघिकेषु तावदुच्यते पज्जत्तेत्यादि । (लद्धी सच्चेव निरवसेसा भाणियव्वत्ति) परिमाणसहननादीनां प्राप्त्यैव रत्नप्रभायामुत्पित्सोरुक्ता सैव निरवशेषा शर्करप्रभायामपि भणितव्येति । (सागरोवमअंतोमुहुत्तमब्भहियति) द्वितीयायां जघन्या स्थिति. सागरोपममन्तर्मुहूर्त्तं च सञ्ज्ञिभवसत्कमिति । उक्कोसेण बारसेत्यादि । द्वितीयायामुत्कृष्टत सागरोपमत्रयस्थितिस्तस्याश्चतुर्गुणत्वं द्वादश, एवं पूर्वकोट्योऽपि चतुर्षु सञ्ज्ञितिर्यग्भवेषु चतस्र एवेति । (नेरइयठितीसवेहेसुसागरोवमा—भाणियव्वात्ति) रत्नप्रभायामायुर्द्वारसंवेधद्वारे च दशवर्षसहस्राणि सागरोपम चोक्त द्वितीयादिषु पुनर्जघन्यत उत्कर्षतश्च सागरोपमाण्येव वाच्यानि-यत. " सागरमेग १ तिय २ सत्त, ३ दस य ४ सत्तरस ६ तह य वावीसा । ६ । तेत्तीसा जाव ठिती ७ सत्तसु वि कमेण पुढवीसु ॥ १ ॥ " तथा " जा पढमाए जेट्ठा, सा वीयाए कणिट्ठिया भणिया । तरतमजोगो एसो, दसवाससहस्सरयणाएत्ति ॥ २ ॥ " रत्नप्रभागमतुल्यनवापि गमाः कियद्दूर यावदित्याह (जाव छट्ठपुढवत्ति) चउगुणा कायव्वत्ति ४ उत्कृष्टकायसवेधे इति । (वालुयप्पभाए अट्ठावीसति) तत्र सप्तसागरोपमाण्युत्कर्षत. स्थितिरुक्ता सा च चतुर्गुणाऽष्टाविंशति स्यादेवमुत्तरत्रापीति (वालुयप्पभाए पचविहसघयणित्ति) आद्ययोरेव हि पृथिव्यो सेवार्तेनोत्पद्यन्ते एव तृतीया चतुर्थी ४ पञ्चमी ३ षष्ठी २ सप्तमी १ षु एकैक सहनन हीयते इति । अथ सप्तमपृथिवीमाश्रित्याह–पज्जत्तेत्यादि (इत्थिवेया न उववज्जतित्ति) षष्ठ्यन्तास्वेव पृथिवीषु स्त्रीणामुत्पत्तेः । (जहन्नेण तिन्नि भवग्गहणाइंति) मत्स्यस्य सप्तमपृथिवीनारकत्वेनोत्पद्य पुनर्मत्स्येष्वेवोत्पत्तौ (उक्कोसेण सत्तभवग्गहणाइंति) मत्स्यो १मृत्वा सप्तम्यां गतः २ पुनर्मत्स्यो जात. ३ पुनरपि सप्तम्यां गत ४ पुनरपि तथैव ६ पुनर्मत्स्य ७ इत्येवमिति । कालादेसेणमित्यादि । इह द्वाविंशतिसागरोपमाणि जघन्यस्थितिकसप्तमपृथिवीनारकसम्बन्धीनि अन्तर्मुहूर्तत्रयं च प्रथमतृतीयमत्स्यभवसम्बन्धीनि (छावट्ठिसागरोवमाइंति) वारत्रय सप्तम्यां द्वाविंशतिसागरोपमायुष्कतयोत्पत्तेश्चतस्रश्च पूर्वकोटयश्चतुर्षु नारकभवान्तरितेषु मत्स्यभवेष्विति,अतो वचनाच्चैतदवसीयते सप्तम्यां जघन्यस्थितिषूत्कर्षतस्त्रीनेव वारानुत्पद्यत इति कथमन्यथैवविध भवग्रहणकालपरिमाण स्यादिह च काल उत्कृष्टो विवक्षितस्तेन जघन्यस्थितिषु त्रीन् वारानुत्पादित एव हि चतुर्थी पूर्वकोटिर्लभ्यते उत्कृष्टस्थितिषु पुनर्वारद्वयोत्पादने षट्षष्टि. स.गरोपमाणां भवति पूर्वकोट्य. पुनस्तिस्र एवेति । सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु इत्यादिस्तु द्वितीयो गम'/॥ २ ॥ सो चेव उक्कोसट्ठिईएसु इत्यादिस्तृतीयः । तत्र च (उक्कोसेण पचभवग्गहणाइति) त्रीणि मत्स्यभवग्रहणानि द्वे च नारकभवग्रहणे अत एव वचनादुत्कृष्टस्थितिषु सप्तम्यां वारद्वयमेवोत्पद्यत इत्यवसीयते । ३ । सो चेव जहन्नकालट्ठिईओ इत्यादिस्तु चतुर्थ तत्र च (सच्चेवरयणप्पभापुढविजहन्नकालठितिवत्तव्वया भाणियव्वत्ति) सैव रत्नप्रभाचतुर्थगमवक्तव्यता भणितव्या नवर केवलमय विशेष तत्र रत्नप्रभाया षट्सहननानि त्रयश्च वेदा उक्ता' इह तु सप्तमपृथिवीचतुर्थगमे प्रथममेव सहनन स्त्रीवेदनिषेधवाच्य इति ॥ ४ ॥ शेषगमास्तु स्वयमेवोह्या मनुष्याधिकारे (उक्कोसेण सखेज्जा उववज्जतित्ति) गर्भजमनुष्याणा सदैव सङ्ख्यातानामेवास्तित्वादिति । नवर (चत्तारि नाणाइति) अवध्यादौ प्रतिपतिते सति केषांचिन्नरकेषूत्पत्ते आह च चूर्णिकार' "ओहिनाणमणपज्जवआहारयसरीराणि लद्धूण । परिसाडित्ता उववज्जइत्ति जहन्नेणं मासपुहत्तति " इदमुक्त भवति मासद्वयान्तर्वर्त्यायुर्नरो नरकं न याति (दसवाससहस्साइति) जघन्य नरकायु' (मासपुहुत्तमब्भहियाइति) इह मासपृथक्त्व जघन्य नरकयायिमनुष्यायु. (चत्तारि सागरोवमाइति) उत्कृष्ट रत्नप्रभानारकभवचतुष्कायु (चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहिया इंति) इह चतस्र. पूर्वकोट्यो नरकयायिमनुष्यभवचतुष्कोत्कृष्टायुः सम्बन्धिन्य । अनेन चेदमुक्तम् । मनुष्यो भूत्वा चतुर एव वारानकस्यां पृथिव्यां नारको जायते पुनश्च तिर्यक्ष्वेव भवतीति जघन्यकालस्थितिकः । औघिकेषु इत्यत्र चतुर्थे गमे " इमाइं पच णाणत्ताइं इत्यादि " शरीरावगाहनेह जघन्येतराभ्यामङ्गुलपृथक्त्व प्रथमगमे तु सा जघन्यतोऽङ्गुलपृथक्त्वमुत्कृष्टतस्तु पञ्चधनुःशतानीति ॥ १ ॥ तथेह त्रीणि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि भजनया जघन्यस्थितिकस्यैषामेव भावात्पूर्वं तु चत्वारि ज्ञानान्युक्तानीति ॥ २ ॥ तथेहाद्या पञ्च समुद्घाता जघन्यस्थितिकस्यैषामिव सम्भवात् प्राक् षडुक्ता अजघन्यस्थितिकस्याहारकसमुद्घातस्या-

पि सम्भवात् ॥ ३ ॥ तथेह स्थितिरनुबन्धश्च जघन्यत उत्कृष्टतश्च मासपृथक्त्वं प्राक् स्थित्यनुबन्धो जघन्यतो मासपृथक्त्वमुत्कृष्टतस्तु पूर्वकोट्यभिहितेति, शेषगमास्तु स्वयमभ्यूह्याः । शर्करप्रभावक्तव्यतायां (सरीरोगाहणारयणिपुहत्तांत्ति) अनेनेदमवसीयते द्विहस्तप्रमाणेभ्यो हनितरप्रमाणा द्वितीयायां उत्पद्यन्ते इत्यवसीयते । " एवं एसा ओहिएसु तिसु गमएसु मणुस्सस्स लद्धीति ओहिओ ओहिएसु " १ ओहिओ जहण्णट्ठितिएसु २ ओहिओ उक्कोसठिइएसु त्ति ३ " एते औघिकास्त्रयो गमाः ३ एतेष्वेषा उत्तरोक्ता मनुष्यस्य लब्धिपरिमाणसंहननादिप्राप्तिर्नानात्वं त्विदं यदुत नारकस्थितिकालादेशेन कायसंवेधं च जानीया' तत्र प्रथमे गमे स्थित्यादिकं लिखितमेव द्वितीये तु औघिको जघन्यस्थितिष्वित्यत्र नारकस्थितिर्जघन्येतराभ्यां सागरोपमं कालतस्तु सम्बेधो जघन्यतो वर्षपृथक्त्वाधिकं सागरोपममुत्कृष्टतस्तु सागरोपमचतुष्टयं चतुःपूर्वकोट्यधिकं तृतीयेऽप्येवमेव नवरं सागरोपमस्थाने जघन्यतः सागरोपमत्रयं सागरोपमचतुष्टयस्थाने तूत्कर्षतः सागरोपमद्वादशक वाच्यमिति (सचैवेत्यादि चतुर्थादिगमत्रयं । तत्र च (सवेहो उवओजिऊण भाणियव्वोत्ति) स चैव-जघन्यस्थितिकमौघिकेष्वित्यत्र गमे सम्बेधः कालादेशेन जघन्यतः सागरोपमं वर्षपृथक्त्वाधिकमुत्कृष्टतस्तु द्वादशसागरोपमाणि वर्षपृथक्त्वचतुष्काधिकानि जघन्यस्थितिको जघन्यस्थितिकेष्वित्यत्र जघन्येन कालतः कायसम्वेधः सागरोपमं वर्षपृथक्त्वाधिकमुत्कर्षतश्चत्वारि सागरोपमाणिवर्षपृथक्त्वचतुष्काधिकानि एव पष्ठगमोऽप्यूह्यः ॥ सो चेवेत्यादि ॥ सप्तमादिगमत्रयं तत्र च ॥ इमं नाणत्तमित्यादि ॥ शरीरावगाहना पूर्वं हस्तपृथक्त्वं धनुःशतपञ्चकं चोक्ता इह तु धनुःशतपञ्चकमेव एवमन्यदपि नानात्वमभ्यूह्यम् (मणुस्सट्ठिइंजाणियव्वत्ति) तिर्यक्स्थितिर्जघन्यान्तर्मुहूर्त्तमुक्ता मनुष्यगमेषु तु मनुष्यस्थितिर्ज्ञातव्या सा च जघन्या द्वितीयादिगामिनां वर्षपृथक्त्वमुत्कृष्टा तु पूर्वकोटीति ॥ सप्तमपृथिवी प्रथमगमे " तेत्तीसं सागरोवमाइ पुव्वकोडीए अब्भहियाइति " इहोत्कृष्ट कायसम्बन्ध एतावन्तमेव कालं भवति सप्तमपृथिवीनारकस्य तत उद्वृत्तस्य मनुष्येष्वनुत्पादेन भवद्वयमावेनैतावत एव कालस्य भावादिति ॥ भ० २४ श० १ उ० ॥

जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति गब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति जदि गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्मभूमिगब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति अंतरदीवगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कम्मभूमिगब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अकम्मगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अंतरदीवगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति । जदि कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयगब्भवक्कंतिएहिंतो उववज्जंति असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो असंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति । जदि संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति एवं जहा ओहिया उववाइया तहा रयणप्पभापुढवीनेरइया वि उववाएयव्वा । सक्करप्पभापुढवीनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! एते वि जहा ओहिया तहेव उववाएयव्वा नवरं सम्मुच्छिमेहिंतो पडिसेहो कायव्वो वालुयप्पभापुढविनेरइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा सक्करप्पभापुढविनेरइयाणं भुयपरिसप्पेहिंतो वि पडिसेहो कायव्वो पंकप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! जहा वालुयप्पभापुढविनेरइया नवरं खहयरेहिंतो पडिसेहो कायव्वो । धूमप्पभापुढविनेरइयाणं पुच्छा गोयमा ! जहा पंकप्पभापुढवीनेरइया नवरं चउप्पएहिंतो वि पडिसेहो कायव्वो । तमा पुढवीनेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! जहा धूमप्पभापुढविनेरइया नवरं थलयरेहिंतो पडिसेहो कायव्वो इमेणं अभिलावेणं । जदि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलयरपंचिंदिएहिंतो थलयरेहिंतो उववज्जंति खहयरपंचिंदिएहिंतो गोयमा ! जलयरपंचिंदिएहिंतो उववज्जंति नो थलयरेहिंतो नो खहयरेहिंतो उववज्जंति । जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं कम्मभूमिएहिंतो अकम्मभूमिएहिंतो किं अंतरदीवएहिंतो ? गोयमा ! कम्मभूमिएहिंतो उववज्जंति नो अकम्मभूमिएहिंतो नो अंतरदीवएहिंतो उववज्जंति । जइ कम्मभूमिएहिंतो किं संखेज्जवासाउएहिंतो असंखेज्जवासाउएहिंतो ? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो नो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति जदि संखेज्जवासाउएहिंतो किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो जदि पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिएहिंतो उववज्जंति किं इत्थीहिंतो उववज्जंति पुरिसेहिंतो उववज्जंति नपुंसएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! इत्थीहिंतो वि पुरिसेहिंतो वि नपुंसगेहिंतो वि उववज्जंति । अहे सत्तमा पुढवीनेरइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! एवं चेव नवरं इत्थीहिंतो पडिसेहो कायव्वो " असण्णी खलु पढमं, दोच्चं सिरीसवा तइयपक्खी । सीहा जंति चउत्थिं, उरगा पुण पंचमीं पुढवीं । १ । छट्ठिं च इत्थियाओ, मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं । एसो परमुववाओ, बोधव्वो नरगपुढवीणं । २ ।

असुरकुमाराणं यथा—

असुरकुमाराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो उववज्जंति एवं

हिंतो नेरइयाणं उववाओ तेहिंतो असुरकुमाराणं वि भाणियव्वं नवरं असंखेज्जवासाउयअकम्मभूमिगअंतर दीवगमणुस्सातिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति सेसं त चेव एवं जाव थणियकुमारा। प्रज्ञा० ६ पद।

पज्जत्तअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते! केवइयकालट्ठिइएसु उववज्जेज्जा? गोयमा! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते! जीवा एवं रयणप्पभागमगसरिसा णववि गमगा भाणियव्वा णवरं जाहे अप्पणाजहण्णकालट्ठिइओ भवइ ताहे अज्झवसाणा पसत्था णो अप्पसत्था तिसु वि गमएसु अवसेसं तं चेव। जदि सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जति किं संखेज्जवासाउयसण्णि जाव उववज्जंति असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति? गोयमा! संखेज्जवासाउय जाव उववज्जति असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते! केवइयकालट्ठिइएसु उववज्जेज्जा? गोयमा! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिइएसु उववज्जेज्जा। तेणं भंते! जीवा एगसमएणं पुच्छा, गोयमा! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति, वइरोसभनारायसंघयणी ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्त उक्कोसेणं छ गाउयाइं समचउरंससठाणसंठिया पण्णत्ता? चत्तारि लेस्साओ आदिल्लाओ। णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छद्दिट्ठी। णो णाणीअण्णाणी णियमं दुअण्णाणी मइअण्णाणी य सुयअण्णाणी य। जोगो तिविहो वि। उवओगो दुविहो वि। चत्तारिसण्णाओ चत्तारि कसायाओ। पंचइंदिया तिण्णि समुग्घाया आदिल्लगा समोहया वि मरंति असमोहया वि मरंति। वेदणा दुविहावि, सातावेदगा वि असातावेदगा वि। वेदो दुविहो वि इत्थीवेदगावि पुरिसवेदगावि णो णपुंसगवेदगा। ठिई य जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। अज्झवसाणा। पसत्था वि अप्पसत्थावि अणुबंधो जहेव ठिई कायसंवेहो भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं छ पलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा। १। सो चेव जहण्णकालट्ठिइएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरकुमारट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा। २। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईसु उववण्णो जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिइएसु उववज्जेज्जा एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई से जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइ उक्कोसेण वि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि। कालादेसेणं जहण्णेणं छ पलिओवमाइ उक्कोसेण वि छ पलिओवमाइं एवइयं सेसं तं चेव। ३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिइओ जाओ जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं साइरेगं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा? तेणं भंते! अवसेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति णवरं ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेण साइरेगं धणुहसहस्सं। ठिई जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी उक्कोसेण वि साइरेगा पुव्वकोडी एवं अणुबंधोवि। कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं साइरेगा दो पुव्वकोडी एवइयं जाव सेवेज्जा। ४। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरकुमारट्ठिइं संवेहं च जाणेज्जा। ५। सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववण्णो जहण्णेण साइरेगं पुव्वकोडी आउएसु उक्कोसेण वि साइरेगपुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा सेसं तं चेव णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगा दो पुव्वकोडीओ उक्कोसेण वि साइरेगाओ दो पुव्वकोडीओ एवइयं कालं जाव करेज्जा। ६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सो चेव य पढमगमगो भाणियव्वो णवरं ठिई जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेण वि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधो वि कालादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि पलिओपमाइं दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छ पलिओवमाइं एवइय जाव सेवेज्जा। ७। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं असुरट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा। ८। सो चेव उक्कोसकालट्ठिई एस उववण्णो जहण्णेणं तिपलिओवमं उक्कोसेण वि तिपलिओवमं एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं छ पलिओवमाइं उक्कोसेण वि छ पलिओवमाइं। ९। जइ संखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदिय जाव उववज्जंति किं जलचर एव जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउय। सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिइएसु उक्कोसेणं साइरेगसागरोवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा। तेणं भंते! जीवा एगसमएणं एवं एएसिं रयणप्पभापुढविगमगसरिसा णव गमगा णेतव्वा णवरं अप्पणाजहण्णकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु वि गमएसु इमं णाणत्तं चत्तारि लेस्साओ अज्झवसाणा पसत्था सेसं तं चेव संवेहो साइरेगेण सागरोवमेण कायव्वो। ९।

इह पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागग्रहणेन पूर्वकोटी ग्राह्या यत सम्मूर्च्छिमस्योत्कर्षतः पूर्वकोटीप्रमाणमायुर्भवति स चोत्क–

र्षतः स्वायुष्कतुल्यमेव देवायुर्बध्नाति नातिरिक्तमत एवोक्तं चूर्णिकारेण " उक्कोसेणं सतुल्लपुव्वकोडियाउयत्त निव्वत्तेइ न य सम्मुच्छिमो पुव्वकोडियाउयत्ताओ परो अत्थित्ति " असख्यातवर्षायु' संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गमेषु । (उक्कोसेणं तिपलिओवमठिईएसु उववज्जेज्जत्ति) इदं देवकुर्वादिमिथुनकतिरश्चोऽधिकृत्योक्तम । ते हि त्रिपल्योपमायुष्कत्वेनासख्यातवर्षायुषो भवन्ति, ते च स्वायु:सदृशं देवायुर्बध्नन्तीति (संखेज्जा उववज्जंतित्ति) असंख्या तवर्षायुस्तिरश्चामसंख्यातानां कदाचिदप्यभावात् (वइरोसहनारायसंघयणीत्ति) असंख्यातवर्षायुषा, यतस्तदेव भवतीति (जहन्नेणं धणुहपुहत्तत्ति) इदं पक्षिणोऽधिकृत्योक्तं पक्षिणामुत्कर्षतो धनु:पृथक्त्वप्रमाणशरीरत्वादाह च ।"धणुहपुहत्तं पक्खिसुत्ति" । असंख्यातवर्षायुषोऽपि ते स्युर्यदाह (पलियाअसंखेज्जपक्खीसुत्ति) पल्योपमासंख्येयभागः पक्षिणामायुरिति (उक्कोसेणं छग्गाउयाइंति) इदं च देवकुर्वादिहस्त्यादीनधिकृत्योक्तम् (नो नपुंसगवेयगत्ति) असंख्यातवर्षायुषो नपुसकवेदो न सम्भवत्येवेति । (उक्कोसेणं छप्पलिओवमाइत्ति) त्रीणि असंख्यातवर्षायुस्तिर्यग्भवसम्बन्धीनि त्रीणि चासुरभवसम्बन्धीनीत्येव षट् न च देवभवाद् वृत्तः पुनरप्यसंख्यातवर्षायुष्केषूत्पद्यत इति । सो चेव अप्पणाजहन्नकालट्ठिईओ इत्यादिश्चतुर्थो गम इह च जघन्यकालस्थितिकः सातिरेकपूर्वकोट्यायुः स च पक्षिप्रभृतिक. (उक्कोसेणं साइरेगपुव्वकोडिआउएसुत्ति) असंख्यातवर्षायुषां पक्ष्यादीनां सातिरेका पूर्वकोटिरायुस्ते च स्वायुस्तुल्यं देवायुः कुर्वन्तीति कृत्वा सातिरेकेत्याद्युक्तमिति । (उक्कोसेणं साइरेगं धणुसहस्संति) यदुक्तं तत्सप्तमकुलकरप्राक्कालभाविनो हस्त्यादीनपेक्ष्येति सम्भाव्यते । तथा हि इहासंख्यातवर्षायुर्जघन्यस्थितिकः प्रक्रान्त. स च सातिरेकपूर्वकोट्यायुर्भवति तथैवागमे व्यवहृतत्वात । एवंविधश्च हस्त्यादि. सप्तमकुलकरप्राक्काले लभ्यते तथा सप्तमकुलकरस्य पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनु:शतान्युच्चैस्त्व तत्प्राक्कालभाविनां च तानि समधिकतराणि तत्कालीनहस्त्यादयश्चैतद्विगुणोच्छ्राया अतः सप्तमकुलकरप्राक्कालभाविनामसंख्यातवर्षायुषां हस्त्यादीनां यथोक्तमवगाहनाप्रमाणं लभ्यत इति (साइरेगाओदेपुव्वकोडीओत्ति) एका सातिरेका तिर्यग्भवसत्काऽन्या तु सातिरेकैवासुरभवसत्केति ४ (असुरकुमारट्ठिईसंवेह च जाणिज्जति) तत्र जघन्यासुरकुमारस्थितिर्दशवर्षसहस्राणिसम्वेधस्तु सातिरेका पूर्वकोटी दशवर्षसहस्राणि चेति शेषगमस्तुस्वबमेवाभ्यूह्य', एवमुत्पादितोऽसंख्यातवर्षायु' संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यगसुरेष्वथसंख्यातवर्षायुरसावुत्पाद्यते । जइ संखेज्जेत्यादि(उक्कोसेण साइरेगसागरोवमठिइएसुत्ति) यदुक्तं तद्बलिनिकायमाश्रित्येति । (तिसुवि गमएसुत्ति) जघन्यकालस्थितिकसम्बन्धिष्वौघिकादिषु (चत्तारिलेस्साओत्ति) रत्नप्रभापृथिवीगामिनां जघन्यस्थितिकानां तिस्रस्ता उक्ता एषु पुनस्ता अतसोऽसुरेषु तेजोलेश्यावानप्युत्पद्यत इति । तथा रत्नप्रभापृथिवीगामिनां जघन्यस्थितिकानामध्यवसायस्थानान्यप्रशस्तान्येवोक्तानीह तु प्रशस्तान्येव दीर्घस्थितिकत्वे हि द्विविधान्यपि सम्भवन्ति नत्वितरेषु कालस्याल्पत्वात् (संवेहो सातिरेगेण सागरोवमेण कायव्वोत्ति) रत्नप्रभागमेषु सागरोपमेण सम्वेध उक्त असुरकुमारेषु तु सातिरेकसागरोपमेणासौ कार्यो बलिपक्षापेक्षया तस्यैव भावादिति ।

अथ मनुष्येभ्यो सुरानुत्पादयन्नाह ।

जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा! सण्णिमणू णो असण्णिमणू जइ सण्णिमणुस्सेहिंतो- उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणू असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्स जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति, असंज्जवासाउय जाव उववज्जंति । असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा एवं असंखेज्जवासाउयतिरिक्खजोणिए सरिसा आदिल्ला तिण्णि गमा णेयव्वा णवरं सरीरोगाहणा पढमबितिएसु गमएसु जहन्नेणं साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव तइओ गमोगाहणा जहन्नेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं सेसं जहेव तिरिक्खजोणियाणं ।३। सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि जहन्नकालट्ठिई यतिरिक्खजोणियसरिसा तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं सरीरोगाहणा तिसु वि गमएसु जहन्नेणं साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं सेसं तं चेव । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि ते चेव पच्छिल्ला तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं सरीरोगाहणा तिसु वि एगएसु जहन्नेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं अवसेसं तं चेव ॥

देवकुर्वादिनरा हि उत्कर्षतः स्वायु:समानस्यैव देवायुषो बन्धका अतः तिपलिओवमठिईएसु इत्युक्तम् । नवर सरीरोगाहणेत्यादि । तत्र प्रथम औघिक' औघिकेषु द्वितीयस्तु औघिको जघन्यस्थितिष्विति । तत्रौघिकोऽसंख्यातवर्षायुर्नरो जघन्यत. सातिरेकपञ्चधनु:शतप्रमाणो भवति । यथा सप्तमकुलकरप्राक्कालभावी मिथुनकनरः उत्कृष्टतस्तु त्रिगव्यूतमानो यथा देवकुर्वादिमिथुनकनर' स च प्रथमगमे । द्वितीये च द्विविधोऽपि सम्भवति । तृतीये तु त्रिगव्यूतावगाहन एव यस्मादसावुत्कृष्टस्थितिषु पल्योपमत्रयायुष्केषूत्पद्यते उत्कर्षतः स्वायुःसमानायुर्बन्धकत्वात्तस्येति ॥

अथ सख्यातवर्षायु' संज्ञिमनुष्यमाश्रित्याह ।

जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं-पज्जत्तसंखेज्जवासाउय अपज्जत्तसंखेज्ज जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासा णो अपज्जत्तसंखेज्ज। पज्जत्तसंखेज्जवासाउ य सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव एएसिं रयणप्पभाए उववज्जमाणाणं णव गमगा तहेव इह वि णव गमगा

भाणियव्वा णवरं संवेहो सातिरेगेण सागरोवमेण कायव्वो सेसं तं चेव ॥

एतच्च समस्तमपि पूर्वोक्तानुसारेणावगन्तव्यम् । भ० २ उ० ।

रायगिहे जाव एव वयासी णागकुमाराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सेहिंतो उववज्जंति णो देवेहिंतो उववज्जंति । जइ तिरिक्खजोणि० एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया तहा एएसिं पि जाव असण्णि त्ति । जइ सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउय असंखेज्जवासाउय गोयमा ! संखेज्ज वासाउय असंखेज्ज वासाउय जाव उववज्जंति । असंखेज्जवासाउय सण्णि पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए णागकुमारेसु उववज्जइ सेणं भंते ! केवतिकालट्ठिती ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेणं देसूणदुपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा अवसेसो सो चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स गमओ भाणियव्वो जाव भवादेसो त्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं सातिरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं देसूणाइं पंचपलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो तस्स वि एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिती जहण्णेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं सेसं त चेव जाव भवादेसो त्ति । कालादेसेणं जहण्णेणं देसूणाइं चत्तारि पलिओवमाइं उक्कोसेणं देसूणाइं पंच पलिओवमाइं एवइयं कालं सेवेज्जा ।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठितीओ जाओ तस्स तिसु गमएसु जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जहण्णकालट्ठितीयस्स तहेव णिरवसेसं ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ तस्स वि तहेव तिण्णि गमगा जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स ।९। जदि संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदिय जाव किं पज्जत्त० अपज्जत्त० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउय णो अपज्जत्तसंखेज्जवासा । पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव जे भविए णागकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिई ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्साइं ठिई उक्कोसेण देसूणाइं दो पलिओवमाइं एवं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स वत्तव्वया तहेव इह वि णवसु गमएसु णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव ॥ ९ ॥ जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्सेहिंतो ? गोयमा ! सण्णिमणुस्सेहिंतो णो असण्णिमणुस्सेहिंतो जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जाव असंखेज्जवासाउय । सण्णिमणुस्सेणं णागकुमारेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जइ ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं देसूणं दुपलिओवमं एवं जहेव असंखेज्जवासाउयाणं तिरिक्खजोणियाणं णागकुमारेसु आदिल्ला तिण्णि गमगा तहेव इमस्स वि णवरं पढमबिईएसु गमएसु सरीरोगाहणा जहण्णेणं साइरेगाइं पंचधणुहसयाइं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं, तईयगमओगाहणा जहण्णेणं देसूणाइं दो गाउयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ तस्स तिसुवि गमएसु जहा तस्स चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव णिरवसेसं ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि तिसु गमएसु जहा तस्स चेव उक्कोसट्ठिईयस्स असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव ।९। जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणु० किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्ज० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्ज० णो अपज्जत्तसंखेज्ज वासाउयं । पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्साणं भंते ! जे भविए णागकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ० गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं देसूणं दोपलिओवमस्स ठिईएसु उववज्जंति एव जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स सव्वेवलद्धी णिरवसेसा णवसु गमएसु णवरं णागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति । [भ० २४ श० ३ उ०]

अवसेसो सुवण्णकुमारा जाव थणियकुमारा एते वि अट्ठ उद्देसगा जहेव णागकुमारा तहेव णिरवसेसा भाणियव्वा सेवं भंते ! भंतेत्ति । चउवीसइमसयस्स एक्कारसमो उद्देसो सम्मत्तो (२४ । ११) पुढवीकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति । किं णेरइएहिंतो तिरिमणुदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिमणुदेवेहिंतो उववज्जंति । जइ तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति । किं एगिंदियतिरिक्खजोणिए एवं जहा वक्कंतीए उववाओ जाव जइ बादरपुढवीकाइयएगिंदिय तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तबादर पुढवी० उववज्जंति अपज्जत्तबादरपुढवी० जाव उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तबादरपुढवी अपज्जत्तबादरपुढवी जाव उववज्जंति ॥

"उक्कोसेण देसूणदुपलिओवमट्ठिईएसु त्ति" यदुक्तं तदौदीच्यनागकुमारनिकायापेक्षया, यतस्तत्र द्वे देशोने पल्योपमे उत्कर्षत आयुः स्यादाह च " दाहिणदिवड्ढपलियं, दो देसूणुत्तरिल्लाण ति " उत्कृष्टसंवेधपदे (देसूणाइं पंचपलिओवमाइं ति) पल्योपमत्रयमसङ्ख्यातवर्षायुस्तिर्यक्सम्बन्धि द्वे च देशोने ते नागकुमारसम्बन्धिनी इत्येवं यथोक्तं मानं भवतीति । द्वितीयगमे ।

(नागकुमारठिइसंवेह च जाणेज्जत्ति) तत्र जघन्या नागकुमारस्थितिर्दशवर्षसहस्राणि सर्वेभ्यस्तु कालतो जघन्यसातिरेकपूर्वकोटी दशवर्षसहस्राधिका उत्कृष्टः पुनः पल्योमत्रय तैरेवाधिकमिति । तृतीयगमे "उक्कोसकालट्ठिईएसुत्ति" देशोनद्विपल्योपमायुष्केष्वित्यर्थः तथा " ठिई जहण्णेण दो देसूणाइं पलिओपमाइंति " यदुक्त तदवसर्पिण्या सुषमाभिधानतृतीयारकस्य कियत्यपि भागे अतीते असङ्ख्यातवर्षायुषस्तिरश्चोऽधिकृत्योक्तं तेषामेवतत्प्रमाणायुष्कत्वात्, एषामेव च स्वायुःसमानदेवायुर्बन्धकत्वेनोत्कृष्टस्थितिषु नागकुमारेषूत्पादात् (तिण्णिपलिओवमाइति) एतच्च देवकुर्वाद्यसङ्ख्यातजीवितिरश्चोऽधिकृत्योक्त, ते च त्रिपल्योपमायुषोऽपि देशोनद्विपल्योपममानमायुर्बध्नन्ति । यतस्ते स्वायुषः सम हीनतरं वा तद्बध्नन्ति, न तु महत्तरमिति । अथ सङ्ख्यातजीवित सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमाश्रित्याह " जइ संखेज्जवासाउयेत्यादि " एतच्च पूर्वोक्तानुसारेणावगन्तव्यमिति । चतुर्विंशतितमे शते तृतीय एवमन्येऽष्टाविंशत्येवमेकादशः । चतुर्विंशतितमे शते एकादशः ॥

पृथ्वीकायादीनाम् ॥

पुढवीकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं नेरइएहिंतो जाव देवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो तिरिक्खजोणिएहिंतो जाव देवेहिंतो वि उववज्जंति जदि तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जदि एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो किं पुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति जाव वणस्सइकाइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पुढवीकाइएहिंतो वि उववज्जंति जाव वणस्सइकाइएहिंतो वि उववज्जंति किं सुहुमपुढवीकाइएहिंतो वि बादरपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति जदि सुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति । जदि सुहुमपुढवीकाइएहिंतो किं पज्जत्तयसुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तयसुहुमपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति । जदि बादरपुढवीकाइएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो किं अपज्जत्तएहिंतो ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति एवं जाव वणस्सइकाइया चउक्कएणं भेदेणं उववाएयव्वा ॥ प्रज्ञा० ६ पद० ॥

पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं बावीसवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं पुच्छा गोयमा ! अणुसमयं अविरहिया असंखेज्जा उववज्जंति । छेवट्ठसंघयणी । सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं मसूरचंदसंठिया चत्तारि लेस्साणो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी णो णाणी अण्णाणी । दो अण्णाणी णियमं । णो मणजोगी वइजोगी कायजोगी । उवओगो दुविहो वि । चत्तारि सण्णाओ । चत्तारि कसायाओ एगे फासिंदिए पण्णत्ता । तिण्णि समुग्घाया । वेदणा दुविहा । णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा । ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं । अज्झवसाणा पसत्था वि अप्पसत्था वि । अणुबंधो जहा ठिई । से णं भंते ! पुढवीकाइए पुणरवि पुढविकाइएत्ति केवइयं कालं सेवेज्जा केवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा ? गोयमा ! भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ताइं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं एवइयं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु एवं चेव वत्तव्वया णिरवसेसं ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं बावीसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेण वि बावीसं वाससहस्सट्ठिईएसु सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति णवरं जहण्णेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेण संखेज्जा वा असंखेज्जा वा । भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेण जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावत्तरिं वाससतसहस्सं एवइयं जाव करेज्जा । ३ । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठितीओ जाओ सो चेव पढमिल्लगमओ भाणियव्वो णवरं लेस्साओ तिण्णि ठिती जहण्णेण अंतोमुहुत्त उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं अप्पसत्था अज्झवसाणा अणुबंधो जहा ठिती सेसं तं चेव । ४ । सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो स च्चेव चउत्थगमक वत्तव्वया भाणियव्वा । ५ । सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवर जहण्णेणं एक्का वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा जाव भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहण्णेणं बावीस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीति वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ एवं तईयगमगसरिसो णिरवसेसो भाणियव्वो णवरं अप्पणा से जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं । उक्कोसेण वि बावीसं वाससहस्साइं । ७ । सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं एवं जहा सत्तमगमगो जाव भवादेसो । कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीइं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भ-

हियाइं एवइय-कालं । ८ । सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो जहन्नेणं बावीसं वाससहस्सट्ठितीएसु उक्कोसेण वि बावीसं वाससहस्सट्ठितीएसु एस चेव सत्तमगमगवत्तव्वया जाणियव्वा जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहन्नेणं चोयालीसं वाससहस्साइं उक्कोसेणं छावत्तरिं वाससतसहस्सं एवइयं । ९ । जइ आउकाइए एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सुहुमआउ बादरआउ एव चउक्कओ भेदो भाणियव्वो जहा पुढवीकाइया । आउकाइया णं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा एवं पुढविकाइयगमगसरिसा णव गमगा भाणियव्वा णवरं थिवुगबिंदुसंठिते ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्त उक्कोसेणं सत्तवाससहस्साइं एवं अणुबंधो वि । एवं तिसु वि गमएसु ठिती संवेहो तइयछट्ठसत्तमट्ठणवमेसु गमएसु । भवादेसेण जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं सेसेसु चउसु गमएसु जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं । उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं । ततियगमए कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससयसहस्सं एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा । ५ । छट्ठे गमए कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । ६ । सत्तमगमए कालादेसेणं जहन्नेणं सत्तवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससयसहस्सं एवइय अट्ठमगमए कालादेसेण जहन्नेण सत्तवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठावीसं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइय । णवगमए भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहन्नेणं एगूणतीसं वाससहस्साइं उक्कोसेणं सोलसुत्तरवाससहस्सं एवइयं काल एव णवसु वि गमएसु आयुकायट्ठिती जाणियव्वा ॥

तृतीयगमे नवर । (जहन्नेण एक्कोवेत्यादि) प्राक्तनगमयोरुत्पित्सुबहुत्वेनासंख्येया एवोत्पद्यन्ते इत्युक्तमिह तूत्कृष्टस्थितय एकादयोऽसंख्येयान्ता उत्पद्यन्ते उत्कृष्टस्थितिपृत्पित्सूनामल्पत्वेनैकादीनामप्युत्पादसम्भवात् (उक्कोसेण अट्ठभवग्गहणाइति) इहेदमवगन्तव्यं यत्र संवेधे पक्षद्वयस्य मध्ये एकत्रापि पक्षे उत्कृष्टा स्थितिर्भवति तत्रोत्कृष्टतोऽष्टौ भवग्रहणानि तदन्यत्र त्वसंख्यातानि तनश्चेहोत्पत्तिविषयभूतजीवेषूत्कृष्टा स्थितिरित्युत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणान्युक्तान्येवमुत्तरत्रापि भावनीयमिति । (छावत्तर वाससयसहस्संति) द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणामष्टाभिर्भवग्रहणैर्गुणने षट्सप्ततिवर्षसहस्राधिकं वर्षलक्षं भवतीति (१७६०००) चतुर्थे गमे (लेसाओ तिन्नित्ति) जघन्यस्थितिकेषु देवो नोत्पद्यत इति । तेजोलेश्या तेषु नास्तीति । षष्ठगमे (उक्कोसेण अट्ठासीइ वाससहस्साइं इत्यादि) तत्र जघन्यस्थितिकस्योत्कृष्टस्थितिकस्य च चतुः कृत्व उत्पन्नत्वाद्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि चतुर्गुणितानि अष्टाशीतिर्भवन्ति चत्वारि चान्तर्मुहूर्त्तानीति । नवमे गमे (जहन्नेण चोयालीसति) द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां भवग्रहणद्वयेन गुणने चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्तीति । एवं पृथिवीकायिक पृथिवीकायिकेभ्य उत्पादितोऽथाऽसावेवाप्कायिकेभ्य उत्पाद्यते (-जइ आउकाइएमेत्यादि चउक्कओ भेदोत्ति) सूक्ष्मबादरयोः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदात् (-संवेहो तइयछट्ठेत्यादि) तत्र भवादेशेन जघन्यतः सर्वेष्वपि सर्वगमेषु भवग्रहणद्वयरूपप्रतीत उत्कृष्टे च तस्मिन्विशेषोऽस्तीति दर्श्यते तत्र च तृतीयादिषु सूत्रोक्तेषु पञ्चसु गमेषूत्कर्षत संवेधोऽष्टौ भवग्रहणानि पूर्वप्रदर्शिताया अष्टभवग्रहणनिबन्धनभूतायास्तृतीयषष्ठसप्तमाष्टमेष्वेकपक्षे नवमे तु गमे उभयत्राप्युत्कृष्टस्थितेः सद्भावात् (सेसेसु चउसु गमएसुत्ति) शेषेषु चतुर्षु गमेषु प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमलक्षणेषूत्कर्षतोऽसंख्येयानि भवग्रहणान्येकत्रापि पक्षे उत्कृष्टस्थितेरभावात् (तइयगमए कालादेसेण जहन्नेण बावीस वाससहस्साइं इति) पृथिवीकायिकानामुत्पत्तिस्थानभूतानामुत्कृष्टस्थितिकत्वात् (अंतोमुहुत्तमब्भहियाइति) अप्कायिकस्य तत्रोत्पित्सोरौघिकत्वेऽपि जघन्यकालस्य विवक्षितत्वेनान्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात् (उक्कोसेण सोलसुत्तर वाससयसहस्संति) इहोत्कृष्टस्थितिकत्वात्पृथिवीकायिकानां तेषां च चतुर्णां भावानां भावात् तत्रोत्पित्सुश्चाप्कायिकस्यौघिकत्वेऽप्युत्कृष्टकालस्य विवक्षितत्वादुत्कृष्टस्थितयश्चत्वारस्तद्भवा एव च द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां च प्रत्येकं चतुर्गुणितत्वे (८८०००) (२८०००) मीलने च [११६०००] षोडशसहस्राधिकं लक्षम् । छट्ठे गमए इत्यादि षष्ठेगमे हि जघन्यस्थितिपृत्पद्यते इत्यन्तर्मुहूर्त्तस्य चतुर्वर्षसहस्रद्वाविंशतेश्च प्रत्येकं चतुर्भवग्रहणगुणितत्वे यथोक्तमुत्कृष्टकालमानं स्यात् [८८०००] अन्त. एवं सप्तमादिगमसंवेधा अप्यूह्या नवरं नवमे गमे जघन्येन एकोनत्रिंशद्वर्षसहस्राण्यप्कायिकपृथिवीकायिकोत्कृष्टस्थितिमीलनादिति । भ० २४ श० १२ उ० । जीवा० ।

अथ तेजस्कायिकेभ्यः पृथिवीकायिकमुत्पादयन्नाह ।

जइ तेउक्काइएहिंतो उववज्जंति तेउक्काइयाण वि एस चेव वत्तव्वया णवरं णवसु वि गमएसु तिन्नि लेस्साओ । तेउकाइयाण सूइकलावसंठिया ठिई जाणियव्वा । ततियगमए कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेण अट्ठासीतिवाससहस्साइं बारसहिं राइंदिएहिं अब्भहियाइं एवइयं एवं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वो ॥

(तिन्नि लेस्साओत्ति) अप्कायिकेषु देवोत्पत्तेस्तेजोलेश्यासद्भावाच्चतस्रस्ता उक्ता इह तु तदभावात्तिस्र एवेति । (ठिईजाणियव्वत्ति) तत्र तेजस्सु जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमितरा तु त्रीण्यहोरात्राणीति । (तइयगमए इत्यादि) तृतीयगमे औघिकास्तेजस्कायिका उत्कृष्टस्थितिषु पृथिवीकायिकेषूत्पद्यन्ते तत्र भवग्रहणेषु द्वाविंशतेर्वर्षसहस्राणां चतुर्गुणितत्वेऽष्टाशीतिस्तानि भवन्ति, तथा चतुर्ष्वेव तेजस्कायिकभवेषूत्कर्षेण प्रत्येकमहोरात्रत्रयपरिमाणेषु द्वादशाहोरात्राणीति । (एवं संवहो उवउंजिऊण भाणियव्वोत्ति) स चैवं पृथ्वि नवान्तेषु गमेष्वष्टौ भवग्रहणानि तेषु च कालमानं यथायोगमभ्यूह्य शेषगमेषु तूत्कृष्टतोऽसंख्येया भवाः कालोऽप्यसंख्येय एवेति । अथ वायुकायिकेभ्यः पृथिवीकायिकमुत्पादयन्नाह ॥

जइ वाउक्काइएहिंतो उववज्जंति वाउक्काइयाण वि एवं चेव णव गमका जहेव तेउकाइयाणं णवरं पडागासंठिया संवेहो वाससहस्सेहिं कायव्वो । ततियगमए कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं एगं वाससयसहस्सं एवं संवेहो उवउंजिऊण जाणियव्वो ॥

तेजस्कायिकाधिकारे अहोरात्रैः सम्बेधः कृत इह तु वर्षसहस्रैः स कार्यो वायूनामुत्कर्षतो वर्षसहस्रत्रयस्थितिकत्वादिति (तइयगमए इत्यादि) (उक्कोसेणं एगं वाससयसहस्संति) अत्राष्टौ भवग्रहणानि तेषु च चतुर्षु अष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणि पुनरन्येषु चतुर्षु वायुसत्केषु वर्षसहस्रत्रयस्य चतुर्गुणितत्वे द्वादश उभयमीलने च वर्षलक्षमिति (एवं संवेहो उवउंजिऊण भाणियव्वोत्ति) स च यथोत्कृष्टस्थितिसम्भवस्तत्रोत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणानीतरत्र त्वसंख्येयान्येतदनुसारेण च कालोऽपि वाच्य इति ।

अथ वनस्पतिभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जइ वणस्सइकाइएहिंतो उववज्जंति वणस्सइकाइयाणं आउक्काइयगमगसरिसा णव गमगा भाणियव्वा णवरं णाणासंठिया सरीरोगाहणा पढमपच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोअणसहस्सं मज्झिमएसु तहेव जहा पुढवीकाइयाणं संवेहो ठिती जाणियव्वा । तइयगमए कालाएसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठावीसुत्तरवाससयसहस्सं एवइयं एवं संवेहो उवउंजिऊण जाणियव्वो । ६ । जइ बेइंदिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तबेइंदिएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तबेइंदिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तबेइंदिएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तबेइंदिएहिंतो वि उववज्जंति ।

यस्त्वत्र विशेषस्तमाह (णाणसंठियेत्यादि ।) अप्कायिका नाम स्तिबुकाकारावगाहना एषां तु नानासंस्थिता तथा (पढमएसु इत्यादि) प्रथमकेषु औघिकेषु गमेषु पाश्चात्येषु चोत्कृष्टस्थितिकगमेष्ववगाहना वनस्पतिकायिकानां द्विधापि मध्यमेषु जघन्यस्थितिकगमेषु त्रिषु यथा पृथिवीकायिकानां पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानानामुक्तास्तथैव वाच्या अङ्गुलासंख्यातभागमात्रैवेत्यर्थः । (संवेहो ठिईयजाणियव्वात्ति ।) तत्र स्थितिरुत्कर्षतो दशवर्षसहस्राणि जघन्या तु प्रतीतैव एतदनुसारेण सम्बन्धोऽपि ज्ञेयः तमेवैकत्र गमे दर्शयति (तइयेत्यादि उक्कोसेणं अट्ठावीसुत्तरं वाससयसहस्संति) इह गमे उत्कर्षतोऽष्टौ भवग्रहणानि तेषु च चत्वारि पृथिव्याश्चत्वारि च वनस्पतेस्तत्र च चतुर्षु पृथिवीभवेषूत्कृष्टेषु वर्षसहस्राणामष्टाशीतिस्तथा वनस्पतेर्दशवर्षसहस्रायुष्कत्वाच्चतुर्षु भवेषु वर्षसहस्राणां चत्वारिंशदुभयमीलने च यथोक्तं मानमिति । अथ द्वीन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ॥

बेइंदिएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवतिकालट्ठिति ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सट्ठिती । तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं० गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति । छेवट्ठसंघयणी । ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं बारसजोअणाइं हुंडसंठिया तिण्णि लेस्साओ सम्मादिट्ठि वि मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी । दो णाणा दो अण्णाणा णियमं । णो मणजोगी वयजोगी वि कायजोगी वि । उवओगो दुविहो वि । चत्तारि सण्णाओ । चत्तारि कसायाओ । दो इंदिया पण्णत्ता ? तंजहा जिब्भिंदिए य फासिंदिए य तिण्णि समुग्घाया सेसं जहा पुढवीकाइयाणं णवरं ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बारससंवच्छराइं । एवं अणुबंधो वि सेसं तं चेव । भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं संखेज्जाइं भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहण्णेणं दो अंतोमुहुत्ताइं उक्कोसेणं संखेज्जं कालं एवइयं कालं ॥ १ ॥ सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया ॥ २ ॥ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव बिइयस्स लद्धी णवरं भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिवाससहस्साइं अडयालीसाए संवच्छरेहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ तस्स वि एस चेव वत्तव्वया तिसु वि गमएसु णवर इमाइं णाणत्ताइं सरीरोगाहणा जहा पुढवीकाइयाणं । णो सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी । दो अण्णाणी णियमं । णो मणजोगी वइजोगी कायजोगी । ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तए उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । अज्झवसाणा अप्पसत्था । अणुबंधो जहा ठिई । संवेहो तहेव आदिल्लेसु दो गमएसु तइयगमए भवादेसो तहेव अट्ठभवा कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं । ६ । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ एतस्स वि ओहिया गमगसरिसा तिण्णि गमगा भाणियव्वा णवरं तिसु वि गमएसु ठिई जहण्णेणं बारससंवच्छराइं, उक्कोसेण वि बारस संवच्छराइं । एवं अणुबंधो वि भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं, कालादेसेणं उवउंजिऊण भाणियव्वं जाव णवमे गमए जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं बारसहिं संवच्छरेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेण अट्ठासीतिवाससहस्साइं अडयालीसाए संवच्छरेहिं अब्भहियाइं एवइयं ॥ ९ ॥

(बारसजोयणाइति) यदुक्तं-तच्छङ्खमाश्रित्य यदाह "संखो पुण बारसजोयणाइंति" सम्मादिट्ठीविति । एतदुच्यते-सास्वादनसम्यक्त्वापेक्षयेति इयं च अपर्याप्तकद्वीन्द्रियस्यौघिकपृथिवीकायिकेषु एवमेतस्य जघन्यस्थितिष्वपि तस्यैवोत्कृष्टस्थितिकेषु पृथिवीकायिकेषु एवमेतस्य ... संवेधे विशेषोऽत एवाह-णवरमित्यादि (अट्ठभवग्गहणाइं) उत्पत्तौ संवेधे विशेषोऽत एवाह-णवरमित्यादि (अडयालीसाए संवच्छराइंति) एकैकस्योत्कृष्टस्थितिकत्वात् (अडयालीसाए संवच्छराइंति) एकैकस्योत्कृष्टस्थितिकत्वात्

स्सेहिं अब्भहियाइति) चतुर्षु द्वीन्द्रियभवेषु द्वादशाब्दमानेषु अष्टचत्वारिंशत् संवत्सरा भवन्ति तैरभ्यधिकान्यष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणीति, द्वितीयस्यापि गमत्रयस्यैषैव वक्तव्यता विशेष त्वाह नवरमित्यादि इह सप्त नानात्वानि शरीरावगाहना यथा पृथिवीकायिकानामङ्गुलासङ्ख्येयभागमात्रमित्यर्थ , प्राक्तनगमत्रयं तु द्वादशयोजनमानाप्युक्तेति । १ । तथा (नो सम्मद्दिट्ठी) जघन्यस्थितिकतया सास्वादनसम्यग्दृष्टीनामनुत्पादात्, प्राक्तनगमेषु तु सम्यग्दृष्टिरप्युक्तोऽजघन्यस्थितिकस्यापि तेषु भावात् । २ । तथा द्वे अज्ञाने प्राक् ज्ञाने अप्युक्ते । ३ । तथा योगद्वारे जघन्यस्थितिकत्वेनापर्याप्तकत्वान्न वाग्योग प्राक्तासावप्युक्त । ४ । तथा स्थितिरिहान्तर्मुहूर्त्तमेव प्राक्संवत्सरद्वादशकमपि । ५ । तथाऽध्यवसानानीहाप्रशस्तान्येव प्राक्कोभयरूपाणि । ६ । सप्तम नानात्वमनुबन्ध इति संवेधस्तु द्वितीयत्रयस्याद्ययोर्द्वयोर्गमयोरुत्कर्षतो भवादेशेन सङ्ख्येयभवलक्षण कालादेशेन च सङ्ख्येयकाललक्षण तृतीये तु विशेषमाह (तइए गमए इत्यादि) अन्त्यगमत्रये (कालादेसेण उववज्जिऊण भाणियव्वत्ति) यत्तदेव प्रथमे गमे कालत उत्कर्षतोऽष्टाशीतिर्वर्षसहस्राण्यष्टचत्वारिंशता वर्षैरधिकानि द्वितीये त्वष्टचत्वारिंशद्वर्षाण्यन्तर्मुहूर्त्तचतुष्टयाधिकानि तृतीये तु संवेधो लिखित एवास्ते ॥

अथ त्रीन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ॥

जइ तेइंदिएहिंतो पुढवीकाइएसु उववज्जंति एवं चेव णव गमका भाणियव्वा णवरं आदिल्लेसु वि तिसु वि गमएसु सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं तिण्णि इंदियाइं ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं एगूणपण्णराइंदियाइं । ततियगमए कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीइंवाससहस्साइं उण्णउइराइंदियमब्भहियाइं एवइयं । मज्झिमगा तिण्णि गमगा पच्छिमगा तिण्णि गमगा तहेव । णवरं ठिई जहण्णेणं एगूणपण्णराइंदियाइं उक्कोसेण वि एगूणपण्णराइंदियाइं संवेहो उववज्जिऊण भाणियव्वो ॥ ६ ॥

(जइ तेइंदीत्यादि-छण्णउयराइंदियसयमब्भहियाइंति) इह तृतीयगमेऽष्टौ भवास्तत्र चतुर्षु त्रीन्द्रियभवेषूत्कर्षत एकोनपञ्चाशदहोरात्रिदिवप्रमाणेषु यथोक्तं कालमान भवतीति । (मज्झिमा तिण्णि गमा तहेवत्ति) । यथा मध्यमा द्वीन्द्रियगमा । (संवेहो उववज्जिऊण भाणियव्वोत्ति) स च पश्चिमगमत्रये भवादेशे नोत्कर्षत प्रत्येकमष्टौ भवग्रहणानि कालादेशेन तु पश्चिमगमत्रयस्य प्रथमगमे तृतीयगमे चोत्कर्षतोऽष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणि षण्णवत्यधिकरात्रिंदिवशताधिकानि द्वितीये तु षण्णवत्युत्तरदिनशतमन्तर्मुहूर्त्तचतुष्टयान्यधिकामिति ।

अथ चतुरिन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जइ चउरिंदिएहिंतो उववज्जंति एस चेव चउरिंदियाणवि णव गमगा भाणियव्वा णवरं एएसु चेव ठाणेसु णाणत्ता भाणियव्वा सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण चत्तारि गाउयाइं ठिई जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छम्मासा एवं अणुबंधो वि चत्तारि इंदिया सेसं तं चेव जाव णवगमए कालादेसेणं जहण्णेणं बावीसं वाससहस्साइं छहिं मासेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउवीसाए मासेहिं अब्भहियाए एवइयं जाव करेज्जा ९ ।

(नवरं एएसु चेव ठाणेसुत्ति) वक्ष्यमाणेष्ववगाहनादिषु नानात्वानि द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियप्रकरणापेक्षया चतुरिन्द्रियप्रकरणे विशेषभणितव्यानि भवन्ति तान्येव दर्शयति-सरीरेत्यादि । (सेसं तहेवत्ति) शेषमुपपातादि द्वारजातं तथैव यथा त्रीन्द्रियस्य यस्तु संवेधे विशेषो न दर्शित स स्वयमूह्य इति ।

अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए ? गोयमा ! सण्णिपंचिंदियअसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए उववज्जंति । जइ असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जंति जाव किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो वि उववज्जंति । असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ० ? गोयमा । जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सं तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव बेइंदियस्स ओहिगमए लद्धी तहेव णवरं सरीरोगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोअणसहस्सं । पंचिंदियट्ठिई अणुबंधो य जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं तं चेव । भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं उववज्जिऊण भाणियव्वं णवरं मज्झिमएसु तिसु गमएसु जहेव बेइंदियस्स । मज्झिमएसु तिसु गमएसु पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहा एतस्सेव पढमगमए णवरं ठिई अणुबंधो जहण्णेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तहेव जाव णव गमए जहण्णेणं पुव्वकोडी बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीती एवं वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ एवइयं कालं सेवेज्जा । ९ ।

(जहेत्यादि-उक्कोसेणं अट्ठभवग्गहणाइंति) अनेनेदमवगम्यते यथोत्कर्षत पञ्चेन्द्रियतिरश्चो निरन्तरमष्टैव भवा भवन्ति एव समानभवान्तरिता अपि भवान्तरैः सहाष्टैव भवन्तीति (कालादेसेण उववज्जिऊण भाणियव्वंति) तत्र प्रथमे गमे कालत संवेध सूत्रे दर्शित एव द्वितीये तूत्कर्षतश्चतस्रः पूर्वकोट्यश्चतुर्भिरन्तर्मुहूर्तैरधिका तृतीये तु ता एवाऽष्टाशीत्या वर्षसहस्रैरधिका उत्तरगमेषु त्वतिदेशद्वारेण सूत्रोक्त एवासावचसेय इति । अथ संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जदि सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए उववज्जंति किं संखेज्जवासाउ य असंखेज्जवासाउय ? गोयमा ! संखेज्जवासाउ य सण्णिपंचिंदिय णो असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति । जइ असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति किं जलचरेहिंतो सेसं जहा असण्णीणं जाव तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स

सण्णिपंचिंदियस्स तहेव इह वि जाव कालादेसेणं जहएणेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीतिवाससहस्सेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एवं संवेहो णवसु वि गमएसु जहा असण्णीणं तहेव णिरवसेसं लद्धी से आदिल्लएसु तिसु गमएसु एस चेव मज्झिल्लएसु वि तिसु गमएसु एस चेव णवरं इमाइं णव णाणत्ताइं । जहएणेणं ओगाहणा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ति लेस्साओ । मिच्छद्दिट्ठी । दो अण्णाणा । कायजोगी तिण्णि समुग्घाया । ठिई जहएणेणं अंतोमुहुत्तं । उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं अप्पसत्था अज्झवसाणा । अणुबंधो जहा ठिई सेसं तं चेव । पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहेव पढमगमए णवरं ठिई अणुबंधो जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव ॥ ए ॥

(जइ सण्णीत्यादि । एवं संवेहो नवसु वि गमएसु इत्यादि) एवमुक्ताभिलापेन संवेधो नवस्वपि गमेषु यथा असञ्ज्ञिनां तथैव निरवशेष इह वाच्योऽसञ्ज्ञिनां सञ्ज्ञिनां च पृथिवीकायिकेषूत्पित्सूनां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तायुष्कत्वादुत्कर्षतश्च पूर्वकोट्यायुष्कत्वादिति । (लद्धी से इत्यादि ।) लब्धिपरिमाणसंहननादिप्राप्तिः (से) तस्य पृथिवीकायिकेषूत्पित्सोः सञ्ज्ञिन आद्ये गमत्रये (एस चेवत्ति) या रत्नप्रभायामुत्पित्सोस्तस्यैव मध्यमेऽपि गमत्रये एषैव लब्धिः विशेषस्त्वयं नवरमित्यादि नव च नानात्वानि जघन्यस्थितिकत्वाद्भवन्ति तानि च अवगाहना १ लेश्या २ दृष्टय ३ ज्ञान ४ योग ५ समुद्घात ६ स्थित्य ७ ध्यवसानाऽनुबन्धाख्यानि ९ अथ मनुष्येभ्यस्तमुत्पादयन्नाह (जईत्यादि) तत्र च (एवं जहेत्यादि) यथा ह्यसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चो जघन्यस्थितिकस्य त्रयो गमास्तथैतस्यापि त्रयोऽधिका गमा भवन्ति अजघन्योत्कृष्टस्थितिकत्वात् सम्मूर्च्छिममनुष्याणां न शेषगमषट्कसम्भव इति भ० २४ श० १२ उ०।

अथ सञ्ज्ञिमनुष्यमधिकृत्याह ।

जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो किं कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति सेसं जहा नेरइयाणं नवरं अपज्जत्तएहिंतो वि उववज्जंति । प्रज्ञा० ६ पद।

जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति असण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णिमणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति असण्णिमणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति । असण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु सेणं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु एवं जहा असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स जहएणकालट्ठिईयस्स तिण्णि गमगा तहा एतस्स वि ओहिया तिण्णि गमका भाणियव्वा तहेव णिरवसेसं सेसा छ नव जाणाइ । जइ सण्णिमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउय असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय णो असंखेज्जवासाउयं जाव उववज्जंति । जइ संखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्ज० ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्जवासा० जाव उववज्जंति । सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जंति सेणं भंते ! केवइकालस्स ? गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सट्ठिईएसु तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव रयणप्पभा उववज्जमाणस्स तहेव तिसु वि गमएसु लद्धी णवरं ओगाहणा जहएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पंचधणुसयाइं ठिई जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं एवं अणुबंधो वि । संवेहो णवसु गमएसु जहेव सण्णिपंचिंदियमज्झिल्लएसु तिसु गमएसु लद्धी तहेव सण्णिपंचिंदियस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु लद्धी सेसं तं चेव णिरवसेसं पच्छिल्ला तिण्णि गमका जहा एयस्स चेव ओहिया गमका णवरं ओगाहणा जहएणेणं पंचधणुसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुसयाइं । ठिई अणुबंधो जहएणेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तहेव ॥

जइ सण्णीत्यादि ॥ जहेव रयणप्पहाए उववज्जमाणस्सेति ॥ सञ्ज्ञिमनुष्यस्यैवेति प्रक्रमः ॥ नवरमित्यादि ॥ रत्नप्रभायामुत्पित्सोर्हि मनुष्यस्यावगाहना जघन्येनाङ्गुलपृथक्त्वमुत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि स्थितिश्च जघन्येन मासपृथक्त्वं प्रागुक्तमिह त्वन्तर्मुहूर्तमिति संवेधस्तु नवस्वपि गमेषु यथैव पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानस्य सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च उक्तस्तथैवेह वाच्यः मनुष्यस्य तिरश्चश्च पृथिवीकायिकेषु समुत्पित्सोः जघन्यायाः स्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वादुत्कृष्टायास्तु पूर्वकोटीप्रमाणत्वादिति । मज्झिमिल्लेत्यादि ॥ जघन्यस्थितिकसम्बन्धिनि गमत्रये द्वितीयस्तथेह वाच्या यथा तत्रैव गमत्रये सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च उक्ता सा च तत्सूत्रादेवेहावसेया ॥ पच्छिल्लेत्यादि ॥ ओहिया गमगत्ति अङ्गुलासंख्येयभागरूपाऽप्यवगाहना अन्तर्मुहूर्तरूपापि स्थितिरुक्ता साचेह न वाच्या अत एवाह-नवरम् । ओगाहणेत्यादि ॥

देवेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

संघयणा पण्णत्ता ? गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असं-घयणी जाव परिणमइ । तेसि णं भंते ! जीवा णं केमहा लिया सरीरोगाहणा ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थणं जा सा भ-वधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइजागं उक्कोसेणं सत्तरयणीओ तत्थणं जा सा उत्तरवेउव्वि-या सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइजागं उक्को-सेणं जोअणसयसहस्सं । तेसिणं भंते ! जीवाणं सरी-रगा किं संठिया पण्णत्ता, ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा–भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थणं जे ते भवधारणिज्जा ते समचउरंससंठाणसंठिया पण्णत्ता । तत्थणं जे से उत्तरवेउव्विया ते णाणासंठाणसंठिया पण्णत्ता । लेस्साओ चत्तारि दिट्ठी तिविहा वि तिण्णि णाणा णि-यमं । तिण्णि अण्णाणा भयणाए । जोगे तिविहे वि । उ वओगे दुविहे वि । चत्तारि सण्णाओ । चत्तारि कसाया । पंच इंदिया । पच समुग्घाया । वेदणा दुविहा वि । इत्थी वेदगा वि पुरिसवेदगा वि णो णपुंसगवेदगा । ठिई जहण्णेणं दसवास सहस्साइं उक्कोसेणं साइरेगं सागरोवमं । अज्झवसाणा असंखेज्जा पसत्था वि अप्पसत्था वि अणुबंधो जहा ठिई भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं साइ-रेगं सागरोवमं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं एव इयं । एव णव वि गमा णेयव्वा णवरं मज्झिल्लएसु प-च्छिल्लएसु तिसु गमएसु असुरकुमाराणं ठिई विसेसो जाणियव्वो । सेसा ओहिया चेव लद्धी कायसंवेहं च जाणेज्जा सवत्थ दोभवग्गहणाइं जाव णव गमए काला-देसेणं जहण्णेणं साइरेगं सागरोवम बावीसाए वाससह-स्सेहि अब्भहियं, उक्कोसेण वि साइरेगं सागरोवमं बा-वीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं एवइय जाव करेज्जा । णागकुमाराणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइए एस चेव व-त्तव्वया जाव भवादेसोत्ति णवरं ठिई जहण्णेणं दसवा-ससहस्साइं उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं एव अणुबधो वि कालादेसेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्त-मब्भहियाइं, उक्कोसेणं दो पलिओवमाइं देसूणाइं बा-वीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं एव णव वि गमगा असुरकुमारगमगसरिसा णवरं ठिई कालादेसेणं च जा-णेज्जा एवं जाव थणियकुमाराणं जदि वाणमंतर किं पिसायवाणमंतर जाव गंधव्ववाणमंतर ? गोयमा ! पि-साय वाणमंतर जाव गंधव्ववाणमंतर । वाणमंतरदेवेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइए एएसिं पि असुरकुमारगम-गसरिसा णव गमगा भाणियव्वा णवरं ठिई कालादे-सेण च जाणेज्जा । ठिई जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेण पलिओवमं सेस तहेव । जइ जोइसियदेवेहिंतो उववज्जति किं चंदविमाणजोइसियदेवेहिंतो उववज्जति जाव ताराविमाणजोइसियदेवेहिंतो उववज्जति ? गोयमा! चदविमाणजोइसियदेवेहिंतो वि उववज्जति जाव तारा जाव उववज्जति । जोइसियदेवेणं भंते ! जे भविए पुढ-वीकाइयलद्धी जहा असुरकुमाराण णवर एगा तेउलेस्सा पण्णत्ता तिण्णि णाणा तिण्णिअण्णाणा णियमं । ठिई जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवम उक्कोसेण पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं एवं अणुबंधो वि कालादेसेणं जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवम अंतोमुहुत्तमब्भहियं उ-क्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्सेण बावीसाए वास-सहस्सेहिं अब्भहिय एवइय । एव सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवर ठिई कालादेसेणं च जाणेज्जा । जइ वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति किं कप्पोववण्णगवेमाणिय कप्पातीतगवेमाणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कप्पो-ववण्णगवेमाणिय जाव उववज्जंति णो कप्पातीतगवेमा-णिय जाव उववज्जंति । जइ कप्पोववण्णग जाव उवव-ज्जति किं सोहम्मकप्पोववण्णगवेमाणिए जाव अच्चुत-कप्पोववण्णगवेमाणिया जाव उववज्जति ? गोयमा ! सो-हम्मकप्पोववण्णगवेमाणिया ईसाणकप्पोववण्णगवेमाणि-या जाव उववज्जति, णो सणंकुमार जाव णो अच्चुयक-प्पोववण्णगवेमाणिया जाव उववज्जंति । सोहम्मगदेवेणं भंते ! जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जइ सेणं भंते ! के-वइया एव जहा जोइसियस्स गमगो एव ठिई अणुबधो य जहण्णेणं पलिओवम उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं पलिओवम अंतोमुहुत्तमब्भहियं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइ बावीसवाससहस्सेहिं अब्भ-हियाइं एवइयं काल एव सेसावि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवर ठिई कालादेसं च जाणेज्जा । ईसाण देवेण भंते! जे भविए एव ईसाणदेवेण वि णव गमगा भाणियव्वा णवर ठिई अणुबंधो जहण्णेणं साइरेगपलिओवमं उ-क्कोसेणं साइरेगाइं दो सागरोवमाइ तं चेव सेव भंते! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

"जईत्यादि छण्हं संघयणाणं असंघयणित्ति" इह यावत्करणा-दिदं दृश्यं "णेवट्ठी णेवछिरा णेवण्हारू णेवसंघयणमत्थि जे पो-ग्गला इट्ठा कंता पिया मणुन्ना मणोमा ते तेसिं सरीरसंघाय-त्ताए परिणमंति" इति । "तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगु-लस्स असंखेज्जइ भागं" इति "उत्पादकालेऽनाभोगत कर्मपा-रतन्त्र्यादङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहना भवति उत्तरवैक्रिया तु जघन्याऽङ्गुलस्य संख्येयभागमाना भवत्याभोगजनित्वा-त्तस्यास्तथाविधा न सूक्ष्मता भवति यादृशी भवधारणीयाया इति ॥ तत्थणं जे ते उत्तरविउव्विया ते "नाणासंठियत्ति" इच्छावशेन संस्थाननिष्पादनादिति । (तिण्णि अन्नाणा भय-णाएत्ति) ये असुरकुमारा असंज्ञिभ्य आगत्योत्पद्यन्ते तेषा-

मपर्याप्तकावस्थायां विभङ्गस्याभावाच्छेषाणां तु तद्भावादज्ञानेषु भजनोक्ता (जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइ ति) तत्र दशवर्षसहस्राण्यसुरेषु अन्तर्मुहूर्तं पृथिवीकायिकेष्विति, इत्यमेव उक्कोसेण साइरेगं सागरोवममित्याद्यपि भावनीयम् । एतावानेव चोत्कर्षतोऽप्यत्र संवेधकालः पृथिवीत उद्वृत्तस्यासुरकुमारेषूत्पादाभावादिति (मज्झिल्लएसु पच्छिल्लएसु इत्यादि)अथ चेह स्थितिविशेषो मध्यमगमेषु जघन्यासुरकुमाराणां दशवर्षसहस्राणि स्थितिरन्त्यगमेषु च साधिकं सागरोपममिति, ज्योतिष्कदण्डके तिन्नि नाणा तिन्नि अन्नाणा नियमंति । इहासञ्ज्ञीनो नोत्पद्यन्ते सञ्ज्ञिनस्तूत्पत्तिसमयएव सम्यग्दृष्टेस्त्रीणि ज्ञानानि मत्यादीनि इतरस्य त्वज्ञानानि मत्यज्ञानादीनि भवन्ति । (अट्ठभागपलिओवमति) अष्टमोभागोऽष्टभागः स एवावयवे समुदायोपचारादष्टभागपल्योपमं इदं च तारकदेवदेवीराश्रित्योक्तम् । उक्कोसेण "पलिओवम-वाससयसहस्समब्भहियंति " इद च चन्द्रविमानदेवानाश्रित्योक्तमिति । भ० २४ श० १२ उ० ।

अप्कायिकानाम्—

आउकाइएणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं जहेव पुढवीकाइयउद्देसए जाव पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए आउकाइएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ० ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तवाससहस्सट्ठिईएसु उववज्जेज्जा एवं पुढवीकाइयउद्देसगसरिसो भाणियव्वो णवरं ठिई संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव । सेवं भंते ! भंते ! त्ति । भ० २४ श० १३ उ० ॥

तेजस्कायिकानां वायुकायिकानां च यथा—

तेउकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति णवरं पुढवीकाइयउद्देसगसरिसो उद्देसो भाणियव्वो णवरं ठिई संवेहं च जाणिज्जा देवेसु न उववज्जंति । सेसं तं चेव सेवं भंते भंतेत्ति जाव विहरइ वाउकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं जहवे तेउ काइय उद्देसो तहेव णवरं ठिई संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते भंते ! त्ति । चउवीसइमसयस्स पण्णरसमो उद्देसो सम्मत्तो ॥

(देवेसु न उववज्जतित्ति) देवेभ्य उद्वृत्तास्तेजस्कायिकेषु नोत्पद्यन्त इत्यर्थः । एव पञ्चदशेऽपि । भ० २४ श० १४ उ० ।

वनस्पतीनाम् ।

वणस्सइकाइयाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं पुढवीकाइयउद्देसो सरिसो णवरं जाहे वणस्सइकाइया वणस्सइकाइएसु उववज्जंति ताहे पढमबिइयचउत्थपंचमेसु गमेसु परिमाणं अणुसमयं अविरहियं अणंता उववज्जंति भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अणंताइं भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं दोअंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं अणंतं कालं एवइयं जाव करेज्जा । सेसा पंच गमा अट्ठभवग्गहणिया तहेव णवरं ठिई संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

"जाहे वणस्सइकाइओ इत्यादि" अनेन वनस्पतेरेवानन्तानामुद्वृत्तिरस्ति नान्यत इत्यावेदितं शेषाणां हि समस्तानामप्यसंख्यातत्वात् । तथा अनन्तानामुत्पादो वनस्पतिष्वेव कायान्तरस्यानन्तानामभाजनत्वादित्यप्यावेदितमिह च प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेष्वनुत्कृष्टस्थितिभावादनन्ता उत्पद्यन्त इत्यभिधीयते शेषेषु तु पञ्चसु गमेषूत्कृष्टस्थितिभावादेको वा द्वौ वेत्याद्यभिधीयत इति । तथातिष्वेव प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमेष्वनुत्कृष्टस्थितित्वादेवोत्कर्षतो भवादेशेनानन्तानि भवग्रहणानि वाच्यानि कालादर्शने चानन्त कालः शेषेषु तु पञ्चसु तृतीयषष्ठसप्तमादिषु गमेष्वष्टौ भवग्रहणान्युत्कृष्टस्थितिभावात् । (ठिई संवेहं च जाणेज्जत्ति) तत्र स्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च सर्वेष्वपि गमेषु प्रतीतैव संवेधस्तु तृतीयसप्तमयोर्जघन्येन दशवर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताधिकान्युत्कर्षतस्त्वष्टासु भवग्रहणेषु दशसहस्राः प्रत्येकं भावादशीतिर्वर्षसहस्राणि षष्ठाष्टमयोस्तु जघन्येन दशवर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्ताधिकान्युत्कृष्टतस्तु चत्वारिंशद्वर्षसहस्राण्यन्तर्मुहूर्त्तैश्चतुष्टयाभ्यधिकानि । नवमे तु जघन्यतो विंशतिर्वर्षसहस्राण्युत्कर्षतस्त्वशीतिरिति । भ० २४ श० १६ उ० ।

द्वीन्द्रियाणाम्—

बेइंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जाव पुढवीकाइएणं भंते ! जे भविए बेइंदिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ सव्वेव पुढवीकाइयस्स लद्धी जाव कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं संखेज्जं कालं एवइयं जाव करेज्जा एवं तेसु चेव चउसु गमएसु संवेहो सेसेसु पंचसु गमएसु तहेव अट्ठभवा एवं जाव चउरिंदिएणं समं चउसु संखेज्जभवा पंचसु अट्ठभवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिए मणुस्सेसु समं तहेव अट्ठभवा ठिई संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

(सव्वेव पुढवीकाइयस्स लद्धित्ति) या पृथिवीकायिकस्य पृथिवीकायिकेषूत्पित्सोर्लब्धिः प्रागुक्ता द्वीन्द्रियेष्वपि सैवेत्यर्थः । (तेसु चेवचउसुगमएसुत्ति) तेष्वेव चतुर्षु गमेषु प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमलक्षणेषु (सेसेसु पञ्चसुत्ति) शेषेषु पञ्चसु गमेषु तृतीयषष्ठसप्तमाष्टमनवमलक्षणेषु (एवति) यथा पृथिवीकायिकेन सह द्वीन्द्रियस्य संवेध उक्त एव अप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियैः सह संवेधो वाच्यस्तदेवाह चतुर्षुपूर्वोक्तेषु गमेषूत्कर्षतो भवादेशेन संख्येया भवाः पञ्चसुतृतीयादिष्वष्टौ भवाः कालादेशेन च या यस्य स्थितिस्तत्संयोजनेन संवेधो वाच्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिर्मनुष्यैश्च सह द्वीन्द्रियस्यतथैव संवेधो गमेष्वष्टावष्टौ च भवा वाच्या इति ॥ भ० २४ श० १७ उ० ।

त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च यथा—

तेइंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति एवं तेइंदियाणं जहेव बेइंदियाण उद्देसो णवरं ठिई संवेहं च जाणेज्जा तेउकाइएसु उववज्जइ समं तइओ गमो उक्कोसेणं अट्ठुत्तराइं बेइंदियसयाइं बेइंदिएहिं समं तइयगमे उक्कोसेणं अडयालीसं संवच्छराइं छण्णउइराइंदियसयमब्भहियाइं तेइंदिएहिं समं तइयगमे उक्कोसेणं बाणउत्तराइं तिन्नि राइंदियसयाइं एवं सव्वत्थ जाणेज्जा जाव सन्निमणुस्संति । सेवं भंते ! भंतेत्ति । चउरिंदियाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा तेइंदियाणं उद्देसओ तहा चउरिंदियाणवि णवरं ठिति संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंतेत्ति ।

(ठिति संवेहं च जाणेज्जति) स्थितिस्त्रीन्द्रियेषूत्पित्सूनां पृथिव्यादीनामायुः संवेधं च त्रीन्द्रियोत्पित्सुपृथिव्यादीनां त्रीन्द्रियाणां च स्थितेः संयोगं जानीयात् तदेव दर्शयन्नाह

(नेउकाइएसु इत्यादि) तेजस्कायिके सार्द्धं त्रीन्द्रियाणां स्थितिसंवेधस्तृतीयगमे प्रतीते उत्कर्षेण अष्टोत्तरे द्वे रात्रिंदिवशते । कथम् ? औधिकस्य तेजस्कायिकस्य चतुर्षु भवेषूत्कर्षेण ऽहोरात्रमानत्रयात्मकस्य द्वादशाहोरात्राणि उत्कृष्टस्थितेश्च त्रीन्द्रियस्योत्कर्षत चतुर्षु भवेषु एकोनपञ्चाशन्मानत्वेन भवस्य शतं षण्णवत्यधिकं भवति, राशिद्वयमीलने चाऽष्टोत्तरे द्वे रात्रिंदिवशते स्यातामिति (बेइंदिएहीत्यादि अडयालीसं संवच्छराइत्ति) द्वीन्द्रियस्योत्कर्षतो द्वादशवर्षप्रमाणेषु चतुर्षु भवेष्वष्टचत्वारिंशत्संवत्सरा चतुर्ष्वेव त्रीन्द्रियभवग्रहणेषूत्कर्षेणैकोनपञ्चाशदहोरात्रमानेषु षण्णवत्यधिकं दिनशतं भवतीति ॥ तेइंदिएहीत्यादि ॥ (वाणउयाइ तिण्णि राइंदियसयाइ ति) षट्सु त्रीन्द्रियभवेषूत्कर्षेणैकोनपञ्चाशदहोरात्रमानेषु त्रीणि शतानि द्विनवत्यधिकानि भवन्तीति । (एवं सव्वत्थ जाणेज्जत्ति) अनेन चतुरिन्द्रियसंज्ञितिर्यग्मनुष्यैः सह त्रीन्द्रियाणां संवेधः कार्य इति सूचितम् । अनेन च तृतीयगमसंवेधदर्शनेन षष्ठादिगमसंवेधा अपि सूचिता द्रष्टव्या । तेषामप्यष्टभविकत्वात् । प्रथमादिगमचतुष्कसंवेधस्तु भवादेशेनोत्कर्षत संख्यातभवग्रहणरूपः कालादेशेन तु संख्यातकालरूप इति (चतुरिन्द्रियसूत्रस्य व्याख्या नास्ति) भ०२४श०१८उ०॥

पञ्चेन्द्रियतिरश्चाम् ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइय० तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णेरइएहिंतो वि उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो वि उववज्जंति । जइ णेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढवीए णेरइएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! रयणप्पभा पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढविणेरइएहिंतो वि उववज्जंति रयणप्पभापुढविणेरइएणं भंते ! जे भविए तिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उववज्जेज्जा । ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया णवरं संघयणं पोग्गला अणिट्ठा अकंता जाव परिणमंति । ओगाहणा दुविहा पण्णत्ता तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्तधणुइं तिण्णि रयणीओ छच्चंगुलाइं । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेण अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पण्णरसधणुइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ । तेसि णं भंते ! जीवा सरीरगा किं संठिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तंजहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया । तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता । एगा काउलेस्सा पण्णत्ता । चत्तारि समुग्घाया । णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा । ठिई जहण्णेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं सागरोवमं । एवं अणुबंधोवि सेसं तहेव । भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव जहण्णकालट्ठितीएसु उववण्णो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तट्ठिती अवसेसं तहेव णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं तहेव उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं काल जाव करेज्जा । एवं सेसावि सत्त गमगा भाणियव्वा जहेव णेरइयउद्देसए सण्णिपंचिंदियएण समं णेरइयाणं मज्झिमएसु तिण्णि गमएणं पच्छिल्लएसु तिण्णि गमएसु ठितिणाणत्तं भवति सेसं तंचेव सव्वत्थ ठिती संवेहं च जाणेज्जा । सक्करप्पभापुढवीणेरइएणं भंते ! जे भविए एवं जहा रयणप्पभाए णव गमका तहेव सक्करप्पभाएवि णवरं सरीरोगाहणा जहा ओगाहणा संठाणे तिण्णि णाणा तिण्णि अण्णाणा णियमं ठिती अणुबंधो य पुव्वभणिया एवं णव गमगा उवउंजिऊण भाणियव्वा एवं जाव छट्ठ पुढवी णवरं ओगाहणा लेस्सा ठिती अणुबंधो संवेहो जाणियव्वा । अहेसत्तमा पुढवीणेरइएणं भंते ! जे भविए एवं चेव णव गमगा णवरं ओगाहणा लेस्सा ठिती अणुबंधा भाणियव्वा । संवेहो भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं । कालादेसेण जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं । आदिल्लएसु छसु गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं । पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं चत्तारि भवग्गहणाइं लद्धी । णवसु वि गमएसु जहा पढमगमएसु णवरं ठिइविसेसो कालादेसेणं १ बिइयगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं २ तइयगमए जहण्णेण बावीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं ।३। चउत्थगमए जहण्णेण बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं ।४। पंचमगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं ।५। छट्ठगमए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं

उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं । ६ । सत्तमगमए जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं ।७। अट्ठमगमए जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं ।८। णवमगमए जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं एवइयं जाव करेज्जा ।९।

(उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु त्ति) नारकाणामसङ्ख्यातवर्षायुष्केष्वनुत्पादादिति (असुरकुमाराणवत्तव्वयत्ति) पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानानामसुरकुमाराणां या वक्तव्यता परिमाणादिका प्रागुक्ता सेह नारकाणां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानानां वाच्या विशेषस्त्वयं नवरमित्यादि (जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग ति) उत्पत्तिसमयापेक्षमिदम् । उक्कोसेणं सत्तधणुइ इत्यादि इदं च त्रयोदशप्रस्तटापेक्षं प्रथमप्रस्तटादिषु पुनरेवम् । 'रयणाए पढमपयरे, हत्थतिय देहउस्सय भणियं । छप्पणंगुलसड्ढा, पयरे पयरे य वुड्ढी उ ॥ १॥ उक्कोसेणं पन्नरसेत्यादि ॥ इयं च भवधारणीयावगाहनाया द्विगुणेति (समुग्घाया चत्तारित्ति) वैक्रियान्ताः ।[सेस तहेवत्ति] शेषं दृष्ट्यादिकं तथैव यथा असुरकुमाराणां सो चेवेत्यादि द्वितीयो गम (अवसेस तहेवत्ति) यथौघिकगमे (एवं सेसावि सत्त गमगा भाणियव्वत्ति) एवमित्यनन्तरोक्तगमद्वयक्रमेण शेषा अपि सप्त गमा भणितव्या नन्वेवं करणाद्यादृशी स्थितिर्जघन्योत्कृष्टभेदादाद्ययोर्गमयोर्नारकाणामुक्ता तादृश्येव मध्यमेऽन्तिमे च गमत्रये प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते (जहेव नेरइयउद्देसए इत्यादि) यथैव नैरयिकोद्देशकेऽधिकृतशतस्य प्रथमे संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिः सह नारकाणां मध्यमेषु त्रिषु गमेषु पश्चिमेषु च त्रिषु गमेषु स्थितिनानात्वं भवति तथैवेहापीति वाक्यशेषः (सरीरोगाहणा जहा ओगाहणसंठाणेत्ति) शरीरावगाहना यथा प्रज्ञापनाया एकविंशतितमे पदे सा च सामान्यत एवं "सत्तधणु तिण्णिरयणी, छच्चेव य अंगुलाइं उच्चत्त । पढमाए पुढवीए, विउणा विउणं च सेसासु त्ति "१ (तिन्नि नाणा तिण्णि अण्णाणा नियमात्ति) द्वितीयादिषु संज्ञिभ्य एवोत्पद्यन्ते ते च त्रिज्ञानास्त्र्यज्ञाना वा नियमाद्भवन्तीति ॥ उक्कोसेणं छावट्ठीसागरोवमाइं इत्यादि ॥ ३ ॥ इह भवानां कालस्य च बहुत्वं विवक्षितं तच्च जघन्यस्थितिकत्वे नारकस्य लभ्यते इति द्वाविंशतिसागरोपमायुर्नारको भूत्वा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पूर्वकोट्यायुर्जातः एवं वारत्रये षट्षष्टिसागरोपमाणि पूर्वकोटित्रयं च स्याद्यदि चोत्कृष्टस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुर्नारको भूत्वा पूर्वकोट्यायुः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यते तदा वारद्वयमेवैवमुत्पत्तिः स्यात्ततश्च षट्षष्टिः सागरोपमाणि पूर्वकोटिद्वयं च स्यात् तृतीया तु तिर्यग्भवपूर्वकोटी न लभ्यत इति नोत्कृष्टता भवानां कालस्य च स्यादिति उत्पादितो नारकेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः ।

अथ तिर्यग्योनिकेभ्यस्तमुत्पादयन्नाह ।

जदि तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति एवं उववातो जहा पुढवीकाइयउद्देसए जाव पुढवीकाइए णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइकाल० ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठिइएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडीआउएसु उववज्जंति ते णं भंते ! जीवा एवं परिमाणादीया अणुबंधपज्जवसाणा जच्चेव अप्पणो सट्ठाणे वत्तव्वया सच्चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु वि उववज्जमाणस्स वि भाणियव्वा णवरं णवसु वि गमएसु परिमाणो जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति भवादेसेण वि णवसु गमएसु जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं सेसं तं चेव कालादेसेणं उभयतो ठिई एकरेज्जा । जदि आउकाइएण वि एवं जाव चउरिंदिया उववातेयव्वो णवरं सव्वत्थ अप्पणो लद्धी भाणियव्वा णवसु वि गमएसु भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं उभओ ठिति करेज्जा सव्वेसिं सव्वगमएसु जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणाणं लद्धी तहेव सव्वत्थ ठिइं संवेहं च जाणेज्जा । जइ पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सण्णिपंचिंदियभेदे जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स जाव असण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालं० ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइएसु उववज्जंति । ते णं भंते ! अवसेसं जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स असण्णिस्स तहेव णिरवसेसं जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडी पुहुत्तमब्भहियं एवइयं । बिइयगमए एस चेव लद्धी णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ एवइयं । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववज्जइ जहन्नेणं दो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिति उववज्जंति । ते णं भंते ! जीवा एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स असण्णिस्स तहेव णिरवसेसं जाव कालादेसोत्ति णवरं परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति सेसं तं चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठिईओ जाओ जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति ते णं भंते ! अवसेसं जहा एयस्स पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दो

अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं अट्ठ अंतोमुहुत्ता एवइयं सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो जहन्नेण पुव्वकोडिआउएसु उक्कोसेण वि पुव्वकोडिआउएसु उववज्जइ एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जाणेज्जा । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सो चेव पढमगमगवत्तव्वया णवरं ठिई से जहन्नेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव। कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं एवइय । सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया जहा सत्तमगमए णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ एवइयं। सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागं एवं जहा रयणप्पभाए जहन्नेणं उववज्जमाणस्स असण्णिस्स णवम गमं तहेव णिरवसेसं जाव कालादेसोत्ति णवरं परिमाणं जहा एतस्सेव त तयगमे सेसं तं चेव। जदि सण्णिपंचिंदिय तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जति किं संखेज्जवासा असंखेज्जवासाउय ? गोयमा ! संखेज्जवासा णो असंखेज्जवासा। जदि संखेज्जवासाउय जाव किं पज्जत्तसंखेज्ज० अपज्जत्तसंखेज्ज० दोसु वि। संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा । ते णं भंते ! अवसेसं जहा एयस्स चेव सण्णिस्स रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स पढमगमए णवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण जोअणसहस्सं सेसं तं चेव जाव भवादेसो, कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडी पुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं कालं । सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो जहन्नेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जंति । एस चेव वत्तव्वया णवरं परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जति। ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग उक्कोसेणं जोअणसहस्सं सेसं तं चेव जाव अणुबंधोत्ति । भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं । सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ

जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति लद्धी से जहा एतस्स चेव सण्णिपंचिंदियस्स पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु सच्चेव इह वि मज्झिमेसु तिसु गमएसु कायव्वा संवेहो जहेव एत्थ चेव असण्णिमज्झिमेसु तिसु गमएसु सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ जहा पढमगमएसु णवरं ठिती अणुबंधो जहन्नेणं पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडी पुहुत्तमब्भहियाइं, सो चेव जहन्नकालट्ठिइएसु उववन्नो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिइएसु उववन्नो जहन्नेणं तिपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठिईएसु अवसेसं तं चेव णवरं परिमाणं ओगाहणा जहा एतस्सेव तइयगमए भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहन्नेण तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेणवि तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्से ? गोयमा ! सण्णिमणुस्सेहिंतो असण्णिमणुस्से । असण्णिमणुस्से णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जति से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति लद्धी से तिसु वि गमएसु जहेव पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स संवेहो जहा एत्थ चेव असण्णिस्स पंचिंदियस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं। जदि सण्णिमणुस्स० किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्स० असंखेज्ज वासाउय० ? गोयमा ! सण्णिमणुस्ससंखेज्जवासाउय णो असंखेज्जवासाउय । जइ संखेज्जवासा किं पज्जत्तसंखेज्जवासा अपज्जत्तसंखेज्जवासा ? गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासा अपज्जत्तसंखेज्जवासा । सण्णिमणुस्से णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख० जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जंति ते णं भंते ! लद्धी जहा एतस्सेव सण्णिमणुस्सपुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स पढमगमए जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं सो चेव जहन्नकालट्ठिईएसु उववन्नो सच्चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ । सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो जह-

षेणं तिष्णि पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि तिष्णि पलिओवमट्ठिईएसु सच्चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहष्णेणं अंगुलपुहुत्तं उक्कोसेणं पंचधणुहसयाइं ठिई जहष्णेण मासपुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी। एवं अणुबंधो वि भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहष्णेणं तिष्णि पलिओवमाइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं ति ष पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा। सो चेव अप्पणा जहष्णकालट्ठिईओ जाओ जहा सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु वत्तव्वया भणिया सच्चेव एयस्स वि मज्झिमएसु तिसु गमएसु णिरवसेसा भणिया णवरं परिमाणं उक्कोसेणं संखेज्जावा उववज्जंति सेसं तं चेव। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सच्चेव पढमगमगा वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहष्णेणं पंच धणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई अणुबंधो जहष्णेण पुव्वकोडी उक्कोसेण वि पुव्वकोडी सेसं तं चेव जाव भवादेसोत्ति। कालादेसेणं जहष्णेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तिष्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा सो चेव जहष्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहष्णेणं तिष्णि पलिओवमाइं उक्कोसेण वि तिष्णि पलिओवमाइं एस चेव लद्धी जहेव सत्तमगमए। भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहष्णेणं तिष्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तिष्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं ९। जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति। जइ भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासि० ? गोयमा ! असुरकुमार भवण०जाव थणियकुमारभवणवासि० असुरकुमाराणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइय० ? गोयमा ! जहष्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडिट्ठिईएसु उववज्जेज्जा असुरकुमाराणं लद्धी णवसु वि गमएसु जहा पुढवीकाइएसु उववज्जमाणस्स एवं जाव ईसाणस्स देवस्स तहेव लद्धी भवादेसेणं सव्वत्थ अट्ठ भवग्गहणाइं उक्कोसेणं जहष्णेणं दोष्णि ठिर्ति संवेहं च जाणेज्जा। णागकुमाराणं भंते ! जे भविए एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिर्ति संवेहं च जाणेज्जा। एवं जाव थणियकुमारे जइ वाणमंतरेहिंतो उववज्जंति किं पिसायवाणमंतरे तहेव जाव वाणमंतरेणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख० एवं चेव णवरं ठिर्ति संवेहं च जाणेज्जा। जइ जोइसिय० उववाओ तहेव जाव जोइसिएणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख० एस चेव वत्तव्वया जहा पुढवीकाइय उद्देसए भवग्गहणाइं णव वि गमएसु अट्ठ जाव कालादेसेणं जहष्णेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं चउहि य वाससयसहस्सेहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव गतिरागतिं करेज्जा। णवसु गमएसु णवरं ठिर्ति संवेहं च जाणेज्जा। जइ वेमाणियदेव० किं कप्पोववण्णग०कप्पातीता ? गोयमा ! कप्पोववण्णगवेमाणिया णो कप्पातीता वेमाणिया। जइ कप्पोववण्णग जाव सहस्सारकप्पोववण्णगवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति णो आणय० जाव णो अच्चुयकप्पोववण्णगवेमाणिया। सोहम्मगदेवाणं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख जाव उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ ? गोयमा ! जहष्णेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु सेसं जहेव पुढवीकाइयउद्देसए णवसु वि गमएसु जहण्णेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं ठिर्ति कालादेसं च जाणेज्जा एवं ईसाणदेवे वि। एवं एएणं कमेणं अवसेसा जाव सहस्सारो देवेसु उववातेयव्वो णवरं ओगाहणा जहा ओगाहणा संठाणे लेस्सासणंकुमारमाहिंदबंभलोएसु एगा पम्हलेस्सा सेसाणं एगा सुक्कलेस्सा वेदे णो इत्थीवेदगा पुरिसवेदगा णो णपुंसगवेदगा। आउअणुबंधा जहा ठिइपदे सेसं जहेव ईसाणगाणं कायसंवेहं च जाणेज्जा। सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

(सच्चेव अप्पणो संगाणे वत्तव्वयत्ति।) यैवात्मनः पृथिवीकायिकस्य स्वस्थाने पृथिवीकायिकलक्षणे उत्पद्यमानस्य वक्तव्यता भणिता सैवात्रापि वाच्या केवलं तत्र परिमाणद्वारे प्रतिसमयमसंख्येया उत्पद्यन्ते इत्युक्तमिह त्वेकादिरित्येतदेवाह भवरमित्यादि॥ तथा पृथिवीकायिकेभ्य पृथिवीकायिकस्योत्पद्यमानस्य संवेधद्वारे प्रथमद्वितीयचतुर्थपञ्चमगमेषूत्कर्षतोऽसंख्यातानि भवग्रहणान्युक्तानि शेषेषु त्वष्टौ भवग्रहणानि इह पुनरष्टावेव भवस्यपीति। तथा (कालादेसेणं उभयओ ठिईय करेज्जत्ति) कालादेशेन संवेधं पृथिवीकायिकस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चश्च स्थित्या कुर्यात् तथाहि–प्रथमे गमे (कालादेसेणं जहष्णेणं दो अंतोमुहुत्ताइंति) पृथिवीसत्कं पञ्चेन्द्रियसत्कं चेति उत्कर्षतोऽष्टाशीतिर्वर्षसहस्राणि पृथिवीसत्कानि चतस्रश्च पूर्वकोटयः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्सत्का एवं शेषगमेष्वप्यूह्यः संवेधः । (सव्वत्थअप्पणो लद्धी भाणियव्वत्ति)। सर्वत्राप्कायिकादिज्यश्चतुरिन्द्रियान्तेभ्य उक्तानां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पादितानाम् (अप्पणोत्ति) अप्कायादिसत्का लब्धि परिमाणादिका प्रज्ञापनीया सा च प्राक्तनसूत्रेभ्योऽवगन्तव्या। अथानन्तरोक्तमेवार्थं स्फुटतरमाह "जहेव पुढविकाइएसु उववज्जमाणाणमित्यादि" यथा पृथिवीकायिकेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानानां जीवानां लब्धिरुक्ता तथैवाप्कायिकादिभ्यश्चतुरिन्द्रियान्तेभ्य उत्पद्यमानानां सा वाच्येति असंज्ञिभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्युत्पादाधिकारे।

(उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागट्ठिईएसुत्ति) असंख्यातवर्षायुष्कपञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातवर्षायुष्केषु पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पत्तिरुक्ता (अवसेसं जहेवेत्यादि) अवशेष परिमाणादिद्वारजातं यथा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानस्यासञ्ज्ञिनः पृथिवीकायिको-द्देशकेऽभिहितं तथैवासञ्ज्ञिनः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यमानस्य वाच्यमिति (उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडि-पुहुत्तमब्भहियंति) कथमसञ्ज्ञी पूर्वकोट्यायुष्कः पूर्वकोट्यायुष्केष्वेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पन्न इत्येवं सप्तसु भवग्रहणेषु सप्त पूर्वकोट्योऽष्टमभवग्रहणे तु मिथुनकतिर्यक्षु पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणायुष्केषूत्पन्न इति, तृतीये गमे (उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति त्ति)असंख्यातवर्षायुषां पञ्चेन्द्रियतिरश्चामसंख्यातानामभावादिति । चतुर्थगमे (उक्कोसेणं पुव्वकोडि-आउएसु उववज्जेज्जत्ति)जघन्यायुरसञ्ज्ञी संख्यातायुष्केष्वेव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षूत्पद्यत इति कृत्वा पूर्वकोट्यायुष्केष्वित्युक्तम् ॥ अथ नवमं जहा एयस्सेत्यादि ॥ इहावशेषं परिमाणादि एतस्यासञ्ज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य (मज्झिमेसुत्ति) जघन्यस्थितिकगमेषु एवं जहा रयणप्पभाए इत्यादि तच्च संहननोच्चत्वादि अनुबन्धसंवेधान्तं नवरं परिमाणमित्यादि ॥ तच्चेदं [उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंतीति]अथ सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वनुत्पादयन्नाह " जदि सण्णीत्यादि " (अवसेसं जहा एयस्स चेव सण्णिस्सत्ति) अवशेषं परिमाणादि तथैतस्यैव सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्च इत्यर्थः केवलं तत्रावगाहना सत्तधनुरित्यादिकोक्ता इह तूत्कर्षतो योजनसहस्रमाना सा च मत्स्यादीनाश्रित्यावसेयेति । एतदेवाह नवरमित्यादि (उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइंति) अस्य च भावना प्रागिवेति ॥ लद्धी से जहा एयस्स चेवेत्यादि ॥ एतच्च तत्सूत्रानुसारेणावगन्तव्यम् । संवेहो जहेवेत्यादि (पढमएसुत्ति) अत्रैव पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशके स चैवं भवादेशेन जघन्यतो द्वौ भवौ उत्कृष्टतस्त्वष्ट भवाः कालादेशेन जघन्येन द्वे अन्तर्मुहूर्ते उत्कर्षतश्च त्रयः पूर्वकोट्योऽन्तर्मुहूर्त्तचतुष्काधिका एवं जघन्यस्थितिकसंवेधोऽपि ज्ञेयोऽत्र संवेधो जघन्यस्थितिको जघन्यस्थितिकेष्वित्यत्र चान्तर्मुहूर्त्तं संवेधः जघन्यस्थितिक उत्कृष्टस्थितिकेष्वित्यत्र पुनरन्तर्मुहूर्त्तं पूर्वकोटीभिश्च संवेध इति । नवमगमे नवरं परिमाणमित्यादि ॥ तत्र परिमाणमुत्कर्षतः संख्याता उत्पद्यन्ते, अवगाहना चोत्कर्षतो योजनसहस्रमिति। अथ मनुष्येभ्यस्तमुत्पादयन्नाह जइ मणुस्सेहिंतो इत्यादि (लद्धी से तिसु वि गमएसुत्ति) लब्धिः परिमाणादिका । (से) तस्यासञ्ज्ञिमनुष्यस्य त्रिष्वपि गमेष्वाद्येषु यतो नवानां गमानां मध्ये आद्या एवेह त्रयो गमाः सम्भवन्ति, जघन्यतोऽप्युत्कर्षतोऽपि चान्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वात्तस्येति । (एयत्तेत्ति) अत्रैव पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशकमसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यगुत्पादाधिकारे । (नो असंखेज्जवासाउयहिंतोत्ति) असंख्यातवर्षायुषो मनुष्या देवेष्वेवोत्पद्यन्ते न तिर्यक्ष्विति लद्धी से इत्यादि लब्धिः परिमाणादिप्राप्तिः । (से) तस्य सञ्ज्ञिमनुष्यस्य यथैतस्यैव सञ्ज्ञिमनुष्यपृथिवीकायिकेषूत्पद्यमानस्य प्रथमगमेऽभिहिता, सा चैव परिमाणतो जघन्येनैको द्वौ वोत्कर्षेण तु संख्याता एवोत्पद्यन्ते स्वभावतोऽपि संख्यातत्वात्सञ्ज्ञिमनुष्याणां तथा षड्विधसंहनिन उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतावगाहनाः षड्विधसंस्थानिनः षट् लेश्या त्रिविधा दृष्टय भजनया चतुर्ज्ञानास्त्र्यज्ञानाश्च त्रियोगाः द्विविधोपयोगाश्चतुःसञ्ज्ञाः चतुष्कषायाः , पञ्चेन्द्रियाः , षट् समुद्घाताः, सातासातवेदनास्त्रिविधा वेदाः जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तस्थितय उत्कर्षेण तु पूर्वकोट्यायुषः प्रशस्तेतराध्यवसानाः , । स्थिति समानानुबन्धा, कायसंवेधस्तु भवादेशेन जघन्यतो द्वौ भवौ उत्कर्षतोऽष्टौ भवाः कालादेशेन तु लिखित एवास्ते । १ ।

द्वितीयगमे [संवेधं च जाणेज्जत्ति] प्रथमगमोक्तः केवलमिह संवेधः कालादेशेन जघन्यतो द्वे अन्तर्मुहूर्त्ते उत्कर्षतस्त्वतस्रः पूर्वकोट्यश्चतुरन्तर्मुहूर्त्ताधिकाः तृतीयेऽप्येवं नवरम्[ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलपुहुत्तंति]अनेनेदमवसितमङ्गुलपृथक्त्वाद्धीनतरशरीरो मनुष्यो नोत्कृष्टायुष्केषु तिर्यक्षूत्पद्यते, तथा (मासपुहुत्तंति) अनेनापि मासपृथक्त्वाद्धीनतरायुष्को मनुष्यो नोत्कृष्टस्थितिषु तिर्यक्षूत्पद्यत इत्युक्तं "जहा सण्णि पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्सेत्यादि" सर्वथेह समता परिहारार्थमाह । नवरं परिमाण मित्यादि । तत्र परिमाणद्वारे उत्कर्षतोऽसंख्येयास्ते उत्पद्यन्त इत्युक्तमिह तु सञ्ज्ञिमनुष्याणां संख्येयत्वेन संख्येया उत्पद्यन्त इति वाच्यम् । संहननादिद्वाराणि तु यथा तत्रोक्तानि तथेहावगन्तव्यानि तानि चैव तेषां षट् संहननानि, जघन्योत्कर्षाभ्यामङ्गुलासंख्येयभागमात्राऽवगाहना, षट् संस्थानानि, तिस्रो लेश्याः मिथ्यादृष्टी द्वे अज्ञाने कायरूपो योगो द्वावुपयोगौ, चतस्रः संज्ञाश्चत्वारः कषायाः पञ्चेन्द्रियाणि, त्रयः समुद्घाता द्वे वेदने त्रयो वेदाः जघन्योत्कर्षाभ्यामन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमायुरप्रशस्तान्यध्यवसायस्थानान्यायुः समानोऽनुबन्धकायसंवेधस्तत्र भवादेशेन जघन्येन द्वे भवग्रहणे उत्कर्षतस्त्वष्टौ भवग्रहणानि कालादेशेन तु सञ्ज्ञिमनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्थित्यनुसारतोऽवसेय इति । अथ देवेभ्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्ष्वमुत्पादयन्नाह-जइदेवेहिंत्यादि [असुरकुमाराणलद्धीति] असुरकुमाराणां लब्धि परिमाणादिका [एवं जाव ईसाणदेवस्सत्ति] यथा पृथिवीकायिकेषु देवस्योत्पत्तिरुक्ता असुरकुमारादावीशानकदेवान्ते एवमेव तस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु सा वाच्या, ईशानकान्त एव च देव पृथिवीकायिकेषूत्पद्यत इति कृत्वा यावदीशानकदेवस्येत्युक्तम् असुरकुमाराणां चैवं लब्धिरेकाद्यसंख्येयान्तानां तेषां पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु समयेनोत्पादः । तथा संहननाभावः जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमानोत्कर्षतः सप्तहस्तमाना भवधारणीयावगाहना इतरा तु जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागमाना, उत्कर्षतस्तु योजनलक्षमाना संस्थानसमचतुरस्रम्, उत्तरवैक्रियापेक्षया तु नानाविधं चतस्रो लेश्यास्त्रिविधा दृष्टिः त्रीणि ज्ञानान्यज्ञानत्रयमज्ञानानि च भजनया, योगादीनि पञ्च पदानि प्रतीतानि समुद्घाता आद्याः पञ्च वेदना द्विविधो वेदो नपुंसकवर्ज्जः स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि जघन्येतरा तु सातिरेकं सागरोपमं शेषद्वारद्वयं तु प्रतीतं संवेधं तु सामान्यत आह-भवादेसेणं सव्वत्थेत्यादि । नागकुमारादिवक्तव्यता तु सूत्रानुसारेणोपयुज्य वाच्या [ओगाहणा जहा ओगाहणा संठाणेति] अवगाहना यथा अवगाहनासंस्थाने प्रज्ञापनाया एकविंशतितमे पदे तत्र चैव देवानामवगाहना " भवणवणजोइसी, सोहम्मीसाणे सत्त हुंति रयणीओ। एक्केक्कहाणिसेसे, दुदुगे य दुगे चउक्केय" त्यादि ॥१॥ [जहाठितिपयत्ति] प्रज्ञापनायाश्चतुर्थपदे स्थितिश्च प्रतीतैवेति ।

मनुष्याणाम्—

मणुस्साणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णेरइएहिंतो वि उववज्जंति जाव देवेहिंतो वि उववज्जंति एवं उववातो जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिए उद्देसए जाव तमा पुढवी णेरइएहिंतो वि उववज्जंति णो अहेसत्तमाए पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति । रयणप्पभापुढ-

वी णेरइयाणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जंति से णं भंते ! केवइयकाल०? गोयमा ! जहएणेणं मासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु अवसेसा वत्तव्वया जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति तहेव णवरं परिमाणं जहएणेणं एक्को वा दो वा तिएिण वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति जहा तहिं अंतोमुहुत्तेहिं तहा इह मासपुहुत्तेहिं संवेहं च करेज्जा सेसं तं चेव जहा रयणप्पभाए वत्तव्वया तहा सक्करप्पभाए वि णवरं जहएणेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी ओगाहणा लेस्सा णाणट्ठिई अणुबंधसंवेहं णाणत्तं च जाणेज्जा जहेव तिरिक्खजोणियउद्देसए एवं जाव तमा पुढवीणेरइए। जइ तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ? किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति गो.मा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिए भेदो जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए णवरं तेऊ वाऊ पडिसेहेयव्वा सेसं तं चेव जाव पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइ०? गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जिज्जा । तेणं भंते ! जीवा एवं जहेव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स पुढवीकाइयवत्तव्वया सच्चेव इह वि उववज्जमाणस्स णवसु वि गमएसु णवरं तइयछट्ठणवमेसु गमएसु परिमाणं जहएणेणं एक्को वा दो वा तिएिण वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति जहेव अप्पणा जहएणकालट्ठिईओ भवइ तहेव पढमगमए अज्झवसाणा पसत्था वि अप्पसत्था वि । बिइयगमए अप्पसत्था तइयगमए पसत्था भवंति सेसं तं चेव णिरवसेसं । जइ आउकाइए एवं वाउकाइएण वि एवं वणस्सइकाइएण वि एवं जाव चउरिंदियाणं असणिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया सणिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया असणिमणुस्सा सणिमणुस्सा एए सव्वे वि । जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए तहेव भाणियव्वा णवरं एताणि चेव परिमाणं अज्झवसाणणाणत्ताणि जाणिज्जा । पुढवीकाइयस्स एत्थ चेव उद्देसए भणियाणि सेसं तहेव णिरवसेसं । जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति। जइ भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासि०? गोयमा ! असुरकुमारभवणवासि० जाव थणियकुमार० उववज्जंति। असुरकुमारेणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकाल[ट्ठिई]एसु ? गोयमा ! जहएणेणं मासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु एवं जा चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए वत्तव्वया सा चेव एत्थ वि भाणियव्वा णवरं जहा तहिं जहएणं अंतोमुहुत्तट्ठिईएसु तहा इह वि मासपुहुत्तट्ठिईएसु परिमाणं जहएणेणं एक्को वा दो वा तिएिण वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति सेसं तं चेव जाव ईसाणदेवोत्ति। एयाणि चेव णाणत्ताणि सणंकुमारादीया जाव सहस्सारोत्ति जहेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए णवरं परिमाणं जहएणेणं एक्को वा दो वा तिएिण वा उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति। उववातो जहएणेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जंति सेसं तं चेव संवेहं मासपुहुत्तपुव्वकोडीसु करेज्जा । सणंकुमारट्ठिई चउगुणिया अट्ठावीसं सागरोवमा भवंति, माहिंदे ताणि चेव सातिरेगाणि । बंभलोए चत्तालीसं लंतए छप्पणं महासुक्के अट्ठसट्ठिं सहस्सारे बावत्तरिं सागरोवमाइं एसा उक्कोसा ठिई भणिया जहएणट्ठितिं पि चउगुणेज्जा । आणयदेवेणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइ कालट्ठिईएसु ? जहएणेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणं पुव्वकोडिट्ठिईएसु । ते णं भंते ! एवं जहेव सहस्सारो देवाणं वत्तव्वया णवरं ओगाहणा ठिर्ति अणुबंधं जाणेज्जा सेसं तं चेव । भवादेसेणं जहएणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहएणेणं अट्ठारससागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं सत्तावण्णं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा । एवं णववि गमगा णवरं ठिई अणुबंधसंवेहं च जाणेज्जा एवं जाव अच्चुयदेवे णवरं ठिई अणुबंधसंवेहं च जाणेज्जा । पाणयदेवस्स ठिई तिगुणा सट्ठिं सागरोवमाइं आरणस्स तेवट्ठिं सागरोवमाइं अच्चुयस्स छावट्ठिं सागरोवमाइं जइ कप्पातीतवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति किं गेवेज्जगकप्पातीतदेवेहिंतो उववज्जंति अणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! गेवेज्जगकप्पातीत अणुत्तरोववाइयवेमाणिय० । जइ गेविज्जगकप्पातीतवेमाणियदेवे० किं हेट्ठिमगेवेज्जग कप्पातीतवेमाणिय० जाव उवरिम २ गेवेज्जग० गोयमा ! हेट्ठिमहेट्ठिमगेविज्जगकप्पातीत जाव उवरिम २ गेवेज्जगकप्पातीत० । गेवेज्जगदेवेणं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! केवइयकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहएणेणं वासपुहुत्तट्ठिईएसु उक्कोसेणं पुव्वकोडी आउएसु उववज्जेज्जा अवसेसं जहा आणयदेवस्स वत्तव्वया णवरं ओगाहणा एगे भवधारणिज्जसरीरए-से जहएणेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं दो रयणीओ संठाणं एगे भवधारणिज्जसरीरए से समचउरंससंठाणसंठिए, पंच समुग्घाया पण्णत्ता तं जहा वेयणासमुग्घाए जाव तेयगसमुग्घाए ! णो चेव णं वेउव्वियतेय

गसमुग्घाएहिं समोहणिसु वा समोहणंति वा समोहणिस्सं- ति वा ठितिं अणुबंधा जहणेणं बावीसं सागरोवमाइं उक्को- सेणं एक्तीसं सागरोवमाइं सेसं त चेव कालादेसेणं बावीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तेणउत्ति सा- गरोवमाइ तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं एवं सेसेसु वि अट्ठगमएसु णवरं ठिती संवेहं च जाणेज्जा जइ अणुत्तरोववाइयकप्पातीतवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जं ति किं विजयअणुत्तरोववाइयवेमाणिय० वेजयंतअणुत्त- रोववाइय जाव सव्वट्ठसिद्धगअणुत्तरोववाइयकप्पातीत० ? गोयमा ! विजयअणुत्तरोववाइयकप्पातीत जाव सव्वट्ठसि- द्धगअणुत्तरोववाइय । विजयवेजयंतजयंतअपराजितदेवेण भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उवव० से णं भंते ! केवइ- कालट्ठिइएसु एवं जहेव गेवेज्जगदेवाणं णवरं ओगाह- णा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं एगा रयणी सम्मदिट्ठी णो मिच्छदिट्ठी णो सम्मामिच्छदिट्ठी णाणी णो अण्णाणी णियमं तिण्णाणी तं जहा-आ- भिणिबोहियणाणी सुअणाणी ओहिणाणी ठिई जहणेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं सेसं तं चेव भवादेसेणं जहणेणं दो भवग्गहणाइं उक्कोसेणं च त्तारि भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहणेणं एक्कतीसं सागरो- वमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव करेज्जा । एव सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा, णवरं ठिईअणुबंधसं- वेहं च जाणेज्जा । सेसं तं चेव सव्वट्ठसिद्धगदेवेणं भंते ! जे भविए मणुए सव्वेव विजयादिदेववत्तव्वया भाणि- यव्वा णवरं ठिई अजहण्णमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरोवमाइं एवं अणुबंधो वि सेसं तं चेव भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भ- हियाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भ- हियाइं एवइयं जाव करेज्जा सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहणेणं ते- त्तीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेण वि ते- त्तीसं सागरोवमाइं वासपुहुत्तमब्भहियाइं सो चेव उक्कोसका- लट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादे- सेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडिए अब्भ- हियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं एवइयं एए चेव तिण्णि गमा सेसा ण भण्णइ, सेवं भंते भंते.त्ति ॥

[जहणेणं मासपुहुत्तट्ठिइएसुत्ति] अनेनेदमुक्तं रत्नप्रभानारका जघन्य मनुष्यायुर्बन्धन्तो मासपृथक्त्वाद्धीनतर न बध्नन्ति तथाविधपरिणामाभावादित्येवमन्यत्रापि कारणं वाच्यं, तथा परिमाणद्वारे (उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंतित्ति) नारकाणां सम्मूर्च्छिमेषु मनुष्येषूत्पादाभावाद्गर्भजानां च संख्यातत्वान्- तिवर्तित्वात्सङ्ख्याता उत्पद्यन्त इति (जहा तहिं अंतो मुहुत्ते- हिं तहा इदं मासपुहुत्तेहिं संवेहं करेज्जत्ति) यथा तत्र पञ्चे- न्द्रियतिर्यगुद्देशके रत्नप्रभानारकेभ्यः उत्पद्यमानानां पञ्चेन्द्रि- यतिरश्चां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकत्वादन्तर्मुहूर्तैः संवेध कृतः तथेह मनुष्योद्देशके मनुष्याणां जघन्यस्थितिमाश्रित्य मासपृथक्त्वैः संवेधः कार्य इति भाव तथाहि "कालादेसेणं जहणेणं दसवाससहस्साइं मासपुहुत्तमब्भहियाइं इत्यादि शर्कराप्रभादिवक्तव्यता तु पञ्चेन्द्रियतिर्यगुद्देशकानुसारेणा- वसेयेति । अथ तिर्यग्भ्यो मनुष्यमुत्पादयन्नाह-जइतिरिक्ख- त्यादि इह पृथिवीकायादुत्पद्यमानस्य पञ्चेन्द्रियतिरश्चो या व- क्तव्यतोक्ता सैव तत उत्पद्यमानस्य मनुष्यस्यापि एतदेवाह-एवं जहेवेत्यादि विशेषं पुनराह-नवरं 'तइयत्यादि' तत्र तृतीये औघिकेभ्य पृथिवीकायिकेभ्य उत्कृष्टस्थितिषु मनुष्येषु ये उत्प- द्यन्ते उत्कृष्टत सङ्ख्याता एव भवन्ति, यद्यपि मनुष्या सम्मू- र्च्छिमसंग्रहादसङ्ख्याता भवन्ति तथाप्युत्कृष्टस्थितय पूर्वको- ट्यायुष सङ्ख्याता एव पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्त्वसङ्ख्याता अपि भवन्तीति, एव षष्ठे नवमे चेति 'जाहेअप्पणेत्यादि' अयमर्थो मध्यमगमानां प्रथमगमे औघिकेषूत्पद्यमानतायामित्यर्थः" । अध्यवसानानि प्रशस्तानि उत्कृष्टस्थितिकत्वेनोत्पत्तावप्रश- स्तानि च जघन्यस्थितिकत्वेनोत्पत्तौ (बीयगमएत्ति) ज- घन्यस्थितिकस्य जघन्यस्थितिषूत्पत्तावप्रशस्तानि प्रशस्ता- ध्यवसानेभ्यो जघन्यस्थितिकत्वेनानुत्पत्तेरिति, एव तृतीयोऽपि वाच्य । अप्कायिकादिभ्यश्च तदुत्पादमतिदेशेनाह-एवम् आ- उक्काइयाणवीत्यादि-देवाधिकारे-एव जाव ईसाणो देवोत्ति- यथा असुरकुमारा मनुष्येषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकोद्देशकव- क्तव्यता अतिदेशेनोत्पादिता एव नागकुमारादय ईशानान्ता उत्पादनीयाः समानवक्तव्यत्वाद्यथा च तत्र जघन्यस्थिते परि- माणस्य च नानात्वमुक्त तथैतेष्वप्यत एवाह—" एयाणि चेव णाणत्ताणित्ति" सनत्कुमारादीनां तु वक्तव्यतायां विशेषोऽस्तीति तां भेदेन दर्शयति-सणकुमारेत्यादि (एसा उक्कोसठिई भणि- यत्ति) यदा औघिकेभ्य उत्कृष्टस्थितिकेभ्यश्च देवेभ्य औघिका- दिमनुष्येषूत्पद्यते तदोत्कृष्टा स्थितिर्भवति सा चोत्कृष्टसंवेधवि- वक्षाया चतुर्भिर्मनुष्यभवैः क्रमेणान्तरिता क्रियते ततश्च सनत्कु- मारादिदेवानामष्टाविंशत्यादिसागरोपममाना भवति सप्तादि- सागरोपमप्रमाणत्वात्तस्या इति । यदा पुनर्जघन्यस्थितिकदेवेभ्य औघिकादिमनुष्येषूत्पद्यते तदा जघन्यस्थितिर्भवति सा तथैव चतुर्गुणिता सनत्कुमारादीनामष्टादिसागरोपममाना भवति द्या- दिसागरोपममानत्वात्तस्या इति । माणयदेवेणमित्यादि उक्कोसेण छव्वग्गहणाइंति ॥ त्रीणि दैविकानि त्रीण्येव क्रमेण मनुष्यस- त्कानीत्येव षट् [कालादेसेण जहणेण अट्ठारस सागरोवमाइंति] आनतदेवलोके जघन्यस्थितेरेवभूतत्वात् [उक्कोसेण सत्तावण सागरोवमाइंति) आनते उत्कृष्टस्थितेरेकोनविंशतिसागरोपम- प्रमाणाया भवत्रयगुणनेन सप्तपञ्चाशत्सागरोपमाणि भवन्तीति ग्रैवेयकाधिकारे [एगेमवधारणिज्जए सरीरेत्ति] कल्पातीतदे- वानामुत्तरवैक्रिय नास्तीत्यर्थ " नोचेवण वेउव्विएत्यादि ' ग्रैवेयकदेवानामाद्या पञ्च समुद्घाता लब्ध्यपेक्षया सम्भवन्ति, केवलं वैक्रियतैजसाभ्यां न ते समुद्घात कृतवन्त कुर्वन्ति क- रिष्यन्ति वा प्रयोजनाभावादित्यर्थ [जहणेणं बावीस सागरो- वमाइंति] प्रथमग्रैवेयके जघन्येन द्वाविंशतिस्तस्या भवति [उक्को- सेण एक्कतीसत्ति] नवमग्रैवेयके उत्कर्षेत एकत्रिंशतामिति [वि-

क्कोसेणं तेणउतिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइ ति] उत्कृष्टतः षट् भवग्रहणानि ततश्च त्रिषु देवभवग्रहणेषूत्कृष्टस्थितिषु तिसृभिः सागरोपमाणामेकत्रिंशद्भिः त्रिनवतिस्तेषां स्यात् त्रिभिश्चोत्कृष्टमनुष्यजन्मभिस्तिस्रः पूर्वकोट्यो भवन्तीति सर्वार्थसिद्धिकदेवाधिकारे-आद्या एव त्रयो गमा भवन्ति सर्वार्थसिद्धिकदेवानां जघन्यस्थितेरभावान्मध्यम गमत्रय न भवत्युत्कृष्टस्थितेरभावाच्चान्तिममिति । भ० २४ श० २१ उ० ।

देवानां व्यन्तराणाम् ।

वाणमंतराणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिय० एवं जहेव णागकुमारउद्देसए असण्णि तहेव णिरवसेसं । जइ सण्णिपंचिंदिय० जाव असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदिय० जे भविए वाणमंतर० से णं भंते ! केवइयकाल ? गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठिईएसु उक्कोसेणं पलिओवमट्ठिईएसु सेसं तं चेव जहा णागकुमारउद्देसए जाव कालादेसेणं जहण्णेणं साइरेगाइं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहेव णागकुमाराणं विइयगम वत्तव्वया २ । सो चेव उक्कोसट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेण वि पलिओवमट्ठिईएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई से जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं संवेहो जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा ३ । मज्झिमगा तिण्णिवि जहेव णागकुमारेसु पच्छिमेसु तिसु गमएसु तं चेव जहा णागकुमारुद्देसए णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा ६ । संखेज्जवासाउय तहेव णवरं ठिई अणुबंधो संवेहं च उभओ ठिईए जाणेज्जा ६ जइ मणुस्साय असंखेज्जवासाउय जहेव णागकुमाराणं उद्देसए तहेव वत्तव्वया णवरं तइयगमए ठिई जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं ओगाहणा जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं सेसं तं चेव संवेहो से जहा एत्थ चेव उद्देसए असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियाणं संखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्सा जहेव णागकुमारुद्देसए णवरं वाणमंतरा ठिई संवेहं च जाणेज्जा सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

तत्रासङ्ख्यातवर्षायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाधिकारे [उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइति] त्रिपल्योपमायुः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ् पल्योपमायुर्व्यन्तरो जात इत्येवं चत्वारि पल्योपमानि द्वितीयगमे [जहेव णागकुमाराणं बीयगमे वत्तव्वयत्ति] सा च प्रथमगमसमानैव नवरं जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिर्दशवर्षसहस्राणि संवेधस्तु [कालाएसेणं जहण्णेणं साइरेगा पुव्वकोडी दसवाससहस्सेहिं अब्भहिया उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइति] तृतीयगमे [ठिई से जहण्णेण पलिओवमति] यद्यपि सातिरेका पूर्वकोटी जघन्यतोऽसङ्ख्यातवर्षायुषां तिरश्चामायुरस्ति तथापीह पल्योपममुक्तं पल्योपमायुष्कव्यन्तरेषूत्पादयिष्यमाणत्वात् यतोऽसङ्ख्यातवर्षायुः स्वायुषो बृहत्तरायुष्केषु देवेषु नोत्पद्यत एतच्च प्रागुक्तमेवेति । [ओगाहणा जहण्णेण गाउयति] येषां पल्योपमायुस्तेषामवगाहना गव्यूतं ते च सुषमदुःषमायामिति । भ० २४ श० २२ उ० ।

ज्योतिष्काणाम् ।

जोइसियाणं कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइयभेदो जाव सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति णो असण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० जइ सण्णिपंचिंदिय० किं संखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० ? गोयमा ! संखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख० असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति । असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा अवसेसं जहा असुरकुमारुद्देसए णवरं ठिई जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि सेसं तहेव णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं एवइयं कालं जाव करेज्जा ।१। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उवव० एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसं च जाणेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई जहण्णेणं पलिओवमवाससयसहस्समब्भहियं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं दोहिं वाससयसहस्सेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं ।३। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ ? गोयमा ! जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते ! जीवा एगसमए एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहण्णेणं धणुपुहुत्तं उक्कोसेणं सातिरेगाइं अट्ठारसधणुसयाइं ठिई जहण्णेणं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणवि अट्ठभागपलिओवमं एवं अणुबंधो वि सेसं तहेव । कालादेसेणं जहण्णेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं उक्कोसेणवि दो अट्ठभागपलिओवमाइं एवइयं जहण्णकालट्ठिईयस्स एस चेव एक्को गमो ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ सच्चेव ओहिया वत्तव्वया णवरं ठिई जहण्णेणं तिण्णि पलिओवमाइं उक्कोसेणवि तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुबंधोवि सेसं तं चेव एवं पच्छिमा तिण्णि गमगा णेयव्वा णवरं संवेहं च जाणेज्जा । एते सत्त गमगा । जइ संखेज्जवासाउय

सण्णिपंचिंदियमसंखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव एवंवि गमा भाणियव्वा णवरं जोइसियट्ठिई संवेहं च जाणेज्जा, सेसं तहेव णिरवसेसं ए। जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति भेदो तहेव जाव असंखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए सेणं भंते ! एवं जहा असंखेज्जवासाउय सण्णिपंचिंदियजोइसिएसु चेव उववज्जमाणस्स सत्त गमगा तहेव मणुस्साणवि णवरं ओगाहणाविसेसो पढमेसु तिसु गमएसु ओगाहणा जहण्णेणं साइरेगाइं णवधणुहसयाइं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं मज्झिमगमए जहण्णेणं साइरेगाइं णवधणुहसयाइं उक्कोसेणवि साइरेगाइं नव धणुहसयाइं पच्छिमेसु तिसुवि गमएसु जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं सेसं तहेव णिरवसेसं जाव संवेहोत्ति । जइ संखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्से संखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव णव गमगा भाणियव्वा णवरं जोइसियट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा । सेसं तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥

(जहण्णेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइति) द्वौ पल्योपमाष्टभागावित्यर्थः तत्रैकोऽसंख्यातायुष्कसम्बन्धी । द्वितीयस्तु तारकःज्योतिष्कसम्बन्धीति । (उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइंति) त्रीण्यसंख्यातायुःसत्कानि एकं च सातिरेकं चन्द्रविमानज्योतिष्कसत्कमिति तृतीयगमे (ठिई जहण्णेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियति) यद्यपि असंख्यातवर्षायुषां सातिरेका पूर्वकोटी च घन्यतः स्थितिर्भवति तथापीह पल्योपमं वर्षलक्षाभ्यधिकमुक्तमेतत्प्रमाणायुष्केषु ज्योतिष्केषूत्पत्स्यमानत्वात्ततोऽसंख्यातवर्षायुः स्वायुषो बृहत्तरायुष्केषु देवेषु नोत्पद्यते एतच्च प्रागुपदर्शितमेव । चतुर्थे गमे जघन्यकालस्थितिकोऽसंख्यातवर्षायुरौघिकेषु ज्योतिष्केषूत्पन्न तत्र चासंख्यातायुषो यद्यपि पल्योपमाष्टभागाद्धीनतरमपि जघन्यत आयुष्कं भवति तथापि ज्योतिषां ततो हीनतरं नास्ति स्वायुस्तुल्यायुर्बन्धकाश्चोत्कर्षतोऽसंख्यातवर्षायुष इतीह जघन्यतःस्थितिकास्ते पल्योपमाष्टभागायुषो भवन्ति, ते च विमलवाहनादिकुलकरकालात्पूर्वतरकालभुवो हस्त्यादय औघिकज्योतिष्का अप्येवंविधा एव तदुत्पत्तिस्थानं भवन्तीति । "जहण्णेण अट्ठभागपलिओवमट्ठिईएसु इत्याद्युक्तम्" "ओगाहणा जहण्णेण धणुपुहत्तं ति" यदुक्तम् तत्पल्योपमाष्टभागमानायुषो विमलवाहनादिपूर्वतरकालभाविनो हस्त्यादिव्यतिरिक्तक्षुद्रकायचतुष्पदानपेक्ष्यावगन्तव्यम् । उक्कोसेण साइरेगाइं अट्ठारसधणुसयाइंति) एतच्च विमलवाहनकुलकरपूर्वतरकालभाविहस्त्यादीनपेक्ष्योक्तम्, यतो विमलवाहनो नवधनुःशतमानावगाहनः तत्कालहस्त्यादयश्च तद्द्विगुणा । यत्पूर्वतरकालभाविनश्च ते सातिरेकतत्प्रमाणा भवन्तीति (जहण्णकालट्ठिइयस्स एस चेव एक्को गमोत्ति) । पञ्चमषष्ठगमयोरत्रैवान्तर्भावात् यतः पल्योपमाष्टभागमानायुषो मिथुनकतिरश्च पञ्चमगमे षष्ठगमे च पल्योपमाष्टभागमानमेवायुर्बध्नन्तीति प्राग्भावित चैतदिति । सप्तमादिगमेषूत्कृष्टैव त्रिपल्योपमलक्षणतिरश्च स्थिति ज्योतिष्कस्य तु सप्तमे द्विधा प्रतीतैव अष्टमे पल्योपमाष्टभागरूपा नवमे सातिरेकपल्योपमरूपा सवेधश्चैतदनुसारेण कार्यं (एते सत्तगमगत्ति) प्रथमास्त्रयो मध्यमत्रयस्थाने एकः पश्चिमास्तु त्रय एवेत्येवं सप्त असंख्यातवर्षायुष्कमनुष्याधिकारे (ओगाहणा साइरेगाइं नवधणुसयाइंति) विमलवाहनकुलकरपूर्वकालीनमनुष्यापेक्षया । (तिण्णिगाउयाइंति) एतच्चैकान्तसुषमादिकालभाविमनुष्यापेक्षया (मज्झिमगमएत्ति) पूर्वोक्तनीतेस्त्रिष्वप्येक एवायमिति ॥ भ०२४ श० २३ उ० ॥ (असदता अकामनिर्जया मृत्वा देवलोकेषूपपद्यन्ते इति वाणमंतरशब्दे वक्ष्यते)

एवं वेमाणियावि सोहम्मीसाणगा भाणियव्वा एवं । सणंकुमारगावि नवरं असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिगवज्जेहिंतो उववज्जंति एवं जाव सहस्सारकप्पोवगवेमाणियदेवा भाणियव्वा ॥ आणयदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं नेरइएहिंतो जाव देवेहिंतो उववज्जंति? गोयमा ! नो नेरइएहिंतो नो तिरिक्खजोणिएहिंतो मणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो देवेहिंतो । जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो गब्भवक्कंतिय मणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो सम्मुच्छिममणुस्सेहिंतो उववज्जंति । जदि गब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति । किं कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति अकम्मभूमिगब्भवक्कंतिएहिंतो अंतरदिवएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अकम्मभूमिगेहिंतो नो अंतरदिवगेहिंतो । जदि कम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउएहिंतो असंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! संखेज्जवासाउएहिंतो नो असंखेज्जवासाउएहिंतो । जदि संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति । जइ पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सम्मादिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ? मिच्छादिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउएहिंतो सम्मामिच्छदिट्ठी पज्जत्तगसंखेज्जवासाउएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! सम्मदिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो वि मिच्छदिट्ठी वासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतिएहितो वि नो सम्मामिच्छादिट्ठी पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ॥ जदि सम्मदिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संजयसम्मादिट्ठी पज्जत्तएहिंतो असंजयसम्मादिट्ठी पज्जत्तएहिंतो संजयासंजयसम्मादिट्ठी पज्जत्तसंखेज्जेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! तिहिंतो वि उववज्जंति । एवं जाव अच्चुयगो कप्पो एवं

गेविज्जदेवावि नवरं संजयासंजया एते पडिसेहेयव्वा । एवं जहेव गेविज्जगदेवा तहेव अणुत्तरोववाइयावि नवरं इमं नाणत्तं संजया चेव । जदि संजयसम्मदिट्ठी पज्जत्त-संखेज्जवासाउयकम्मभूमिगब्भवक्कंतियमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं पमत्तसंजयसम्मदिट्ठी पज्जत्तएहिंतो अप्पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! अप्पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति नो पमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति । जदि अपमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति किं इड्ढिपत्तअपमत्तसंजएहिंतो अणिड्ढिपत्तअपमत्तसंजएहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतो वि उववज्जंति । प्रज्ञा० ६ पद ।

सोहम्मगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति भेदो जहा जोइसियउद्देसए असंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिएणं भंते ! जे भविए सोहम्मगदेवेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवइयकाल० ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमट्ठिईएसु उववज्जेज्जा । तेणं भंते । अवसेसं जहा जोइसिएसु उववज्जमाणस्स णवरं सम्मदिट्ठी वि मिच्छदिट्ठी वि णो सम्मामिच्छादिट्ठी । णाणीवि अण्णाणीवि दो णाणा दो अण्णाणा णियमं । ठिई जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं एवं अणुवंधो वि सेसं तहेव । कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं छप्पलिओवमाइं एवइयं ।१। सो चेव जहण्णकालट्ठिईएसु उववण्णो एस चेव वत्तव्वया णवरं कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं एवइयं जाव करेज्जा ।२। सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववण्णो जहण्णेणं तिपलिओवमाइं उक्कोसेणावि तिपलिओवमाइं एस चेव वत्तव्वया णवरं ठिई जहण्णेणं तिपलिओवमाइं उक्कोसेणं वि तिण्णि पलिओवमाइं सेसं तं चेव कालादेसेणं जहण्णेणं छप्पलिओवमाइं उक्कोसेण वि छप्पलिओवमाइं एवइयं कालं जाव । ३ । सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ जहण्णेणं पलिओवमट्ठिईएसु उक्कोसेणवि पलिओवमट्ठिईएसु एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं दो गाउयाइं ठिई जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणवि पलिओवमं सेसं तहेव कालादेसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं उक्कोसेण वि दो पलिओवमाइं एवइयं ।६। सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ आदिल्लगमगसरिसा तिण्णि गमगा णेयव्वा णवरं ठिंतिं कालादेसं च जाणेज्जा ।९। जइ संखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियसंखेज्जवासाउयस्स जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव णववि गमगा णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा जाहे अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु गमएसु सम्मदिट्ठी वि मिच्छादिट्ठीवि णो सम्मामिच्छादिट्ठी । दो णाणा दो अण्णाणा णियमं सेसं तं चेव ए जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति भेदो जहेव जोइसिएसु उववज्जमाणस्स जाव असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सेणं भंते ! जे भविए सोहम्मकप्पे देवत्ताए उववज्जित्तए एवं जहेव असंखेज्जवासाउयस्स सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिए सोहम्मे कप्पे उववज्जमाणस्स तहेव सत्त गमगा णवरं आदिल्लेसु दोसु गमएसु ओगाहणा जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं । तइयगमे जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेणवि तिण्णि गाउयाइं चउत्थगमए जहण्णेणं गाउयं उक्कोसेणवि गाउयं । पच्छिमएसु तिसु गमएसु जहण्णेणं तिण्णि गाउयाइं उक्कोसेण वि तिण्णि गाउयाइं सेसं तहेव । णिरवसेसं । जइ संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्से एवं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्साणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव णव गमगा भाणियव्वा णवरं सोहम्मगदेवट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सेसं तं चेव । ईसाणदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ईसाणदेवाणं एस चेव सोहम्मगदेवसरिसा वत्तव्वया णवरं असंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स जेसु ठाणेसु सोहम्मे उववज्ज पलिओवमट्ठिई तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं पलिओवमं कायव्वं । चउत्थगमे ओगाहणा जहण्णेणं धणुहपुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगाइं दो गाउयाइं सेसं तं चेव । असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्सस्सवि तहेव ठिई जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स । असंखेज्जवासाउयस्स ओगाहणा वि जेसु ठाणेसु गाउयं तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं गाउयं सेसं तहेव । संखेज्जवासाउयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साण य जहेव सोहम्मे उववज्जमाणाणं तहेव णिरवसेसं णव गमगा णवरं ईसाणे ठितिं संवेहं च जाणेज्जा सणंकुमारगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति उववातो जहा सक्करप्पभा पुढवी णेरइयाणं जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! जे भविए सणंकुमारदेवेसु उववज्जित्तए अवसेसा परिमाणादीया भवादेसपज्जवसाणा सच्चेव वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सोहम्मे उववज्जमाणस्स णवरं सणंकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा । जाहे य अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ भवइ ताहे तिसु गमएसु पंच लेस्साओ आदिल्लाओ कायव्वाओ सेसं तं चेव । जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जति मणुसाणं जहेव सक्करप्पभाए उववज्जमाणाणं तहेव णव वि गमा णवर सणंकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा । माहिंदगदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति जहा सणंकुमारदेवाणं वत्तव्वया तहा माहिंदगदेवाणंवि भाणियव्वा णवरं माहिंदगदेवाणं ठितिं सातिरेगा भाणियव्वा मच्चेव एवं बंभलोगदेवाणवि वत्तव्वया णवरं बंभलोगट्ठितिं संवेह च जाणेज्जा एवं जाव सहस्सारे णवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा । लंतगादीणं जहण्णकालट्ठितियस्स तिरिक्खजोणियस्स तिसु वि गमएसु छप्पि लेस्साओ

कायव्वाओ संघयणाइं वंजलोगलंतएसु पच आदिल्लगाणि महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि तिरिक्खजोणियाणवि मणुस्साण वि सेसं तं चेव। आणयदेवाणं भंते! कओहिंतो उववज्जंति, उववाओ जहा सहस्सारे देवाणं णवरं तिरिक्खजोणिया खोडेयव्वा जाव पज्जत्तसंखेज्जवासाउय सण्णिमणुस्साणं भंते! जे भविए आणयदेवेसु उववज्जित्तए । मणुस्साणं वत्तव्वया जहेव सहस्सारेसु उववज्जमाणाणं णवरं तिण्णि संघयणाणि सेसं तहेव, अणुबंधो भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाइं कालादेसेणं जहण्णेणं अट्ठारससागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं सत्तावण्णं सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं। एवं सेसावि अट्ठ गमगा भाणियव्वा णवरं ठिर्ति संवेहं च जाणेज्जा सेसं तहेव । एवं जाव अच्चुयदेवा णवरं ठिर्ति संवेहं च जाणेज्जा। चउसु चेव संघयणा तिण्णि आणयादीसु । गेवेज्जगदेवाणं भंते! कओहिंतो उववज्जंति एस चेव वत्तव्वया णवर दो संघयणा ठिर्ति संवेहं च जाणेज्जा। विजयवेजयंत जयंत अपराजितदेवाणं भंते! कओहिंतो उववज्जंति एस चेव वत्तव्वया णिरवसेसा जाव अणुबंधोत्ति णवरं पढमं संघयणं सेस तहेव । भवादेसेणं जहण्णेणं तिण्णि भवग्गहणाइं उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं, कालादेसेण जहण्णेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं तिण्णि पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं जाव एवं सेसावि अट्ठ गमगा भाणियव्वा । णवरं ठिर्ति संवेहं च जाणेज्जा । मणूसे लद्धी णवसु वि गमएसु जहा गेवेज्जेसु उववज्जमाणस्स णवर पढमं संघयणं सव्वट्ठसिद्धगदेवाण भंते! कओहिंतो उववज्जंति उववाओ जहेव विजयाईणं जाव सेणं भंते! केवइयकालट्ठिईएसु उववज्जेज्जा? गोयमा! जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमट्ठिई उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमट्ठिईएसु अवसेसा जहा विजयाइसु उववज्जंता णवर भवादेसेणं तिण्णि भवग्गहणाइं, कालादेसेणं जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं वासपुहुत्तेहिं अब्भहियाइं उक्कोसेणवि तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवर ओगाहणाठिईओ रयणिपुहुत्त च वासपुहुत्ताणि सेसं तहेव संवेहं च जाणेज्जा । सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठिईओ जाओ एस चेव वत्तव्वया णवरं ओगाहणा जहण्णेणं पचधणुहसयाइं उक्कोसेण वि पंचधणुहसयाइं ठिई जहण्णेण पुव्वकोडी उक्कोसेणवि पुव्वकोडी सेसं तहेव जाव भवादेसोत्ति । कालादेसेण जहण्णेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीस सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं एवइयं कालं सेवेज्जा। एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा । एए तिण्णि गमगा सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते! भंते त्ति । भगवं! गोयमा! जाव विहरइ ।

(जहण्णेण पलिओवमट्ठिईएसुत्ति) सौधर्मे जघन्येनान्यस्यायुषोऽसत्वात्। (उक्कोसेण तिपलिओवमट्ठिईएसुत्ति) यद्यपि सौधर्मे बहुतरमायुष्कमस्ति तथाप्युत्कर्षतस्त्रिपल्योपमायुष एव तिर्यञ्चो भवन्ति तदनतिरिक्तं च देवायुर्बध्नन्तीति ॥ (दो पलिओवमाइति एक तिर्यग्भवसत्कमपर च देवसत्कम् (छपलिओवमाइति) त्रीणि पल्योपमानि तिर्यग्भवसत्कानि त्रीण्येव देवभवसत्कानीति। सो चेव अप्पणा जहण्णकालट्ठिईओ जाओ इत्यादि ॥ गमत्रयेऽप्येको गमो भावना तु प्रदर्शितैव । (जहण्णेणधणुहपुहुत्ताति) क्षुद्रकायचतुष्पदापेक्षम् (उक्कोसेण दोगाउयाइति) यत्र क्षेत्रे काले वा गव्यूतमाना मनुष्या भवन्ति तत्सम्बन्धिनो हस्त्यादीनपेक्ष्योक्तमिति । सख्यातायुपञ्चेन्द्रियतिर्यगधिकारे जाहेअप्पणाजहण्णकालट्ठिईओभवइत्यादौ (नो सम्मामिच्छादिट्ठीति), मिश्रदृष्टिर्निषेध्यो जघन्यस्थितिकस्य तदसम्भवाद्जघन्यस्थितिकेषु दृष्टित्रयस्यापि भावादिति । तथा ज्ञानद्विद्वारेऽपि द्वे ज्ञाने वा अज्ञाने वा स्यातां जघन्यस्थितस्यज्ञानाज्ञानयोरभावादिति । अथ मनुष्याधिकारे " नवर आइल्लएसु दोसु गमएसु इत्यादि " आद्यगमयोर्हि पूर्वत्र धनु. पृथक्त्वं जघन्यावगाहनोक्तथा तु गव्यूतषट्कमुक्तेह तु "जहण्णेण गाउयमित्यादि ' तृतीयगमे तु जघन्यत उत्कर्षतश्च षट् गव्यूतान्युक्तानीहतु त्रीणि चतुर्थगमे तु प्राग्जघन्यतो धनु पृथक्त्वमुत्कर्षतस्तु द्वे गव्यूते उक्ते इह तु जघन्यत उत्कर्षतश्च गव्यूतमेवमन्यदप्यूह्यम्। ईशानकदेवाधिकारे (साइरेग पलिओवम कायव्वंति) ईशाने सातिरेकपल्योपमजघन्यस्थितित्वात् तथा (चउत्थगमए ओगाहणा जहण्णेण धणुहपुहुत्तति) ये सातिरेकपल्योपमायुषस्तिर्यञ्च सुषमांशोद्भवा क्षुद्रतरकायास्तानपेक्ष्योक्तम् (उक्कोसेण साइरेगाइ दो गाउयाइति) एतच्च यत्र काले सातिरेकगव्यूतमाना मनुष्या भवन्ति तत्कालभवान् हस्त्यादीनपेक्ष्योक्तम्। तथा ॥ (जेसु ठाणेसु गाउयति) सौधर्मदेवाधिकारे येषु स्थानेष्वसख्यातवर्षायुर्मनुष्याणां गव्यूतमुक्तम् (तेसु ठाणेसु इह सातिरेगं गाउयति) जघन्यत सातिरेकपल्योपमस्थितिकत्वादीशानकदेवस्य प्राप्यदेवस्थित्यनुसारेण चाऽसख्यातवर्षायुर्मनुष्याणां स्थितिसद्भावात्तदनुसारेणैव च तेषामवगाहनाभावादिति । सनत्कुमारदेवाधिकारे जाहे य अप्पणजहण्णेत्यादौ (पंच लेस्सा आदिल्लाओ कायव्वाओत्ति)जघन्यस्थितिकोस्तिर्यङ् सनत्कुमारे समुत्पित्सुर्जघन्यस्थितिसामर्थ्यात्कृष्णादीना चतसृणां लेश्यानामन्यतरस्यां परिणतो भूत्वा मरणकाले पद्मलेश्यामासाद्य म्रियते ततस्तत्रोत्पद्यते यतोऽग्रेतनभवलेश्यापरिणामे सति जीव परभव गच्छतीत्यागम । तदेवमस्य पञ्च लेश्या भवन्ति ह्नतगादीणजहण्णेत्यादि एतद्भावना चानन्तरोक्तन्यायेन कार्या (सघयणाइ बभलोयलंतएसु पच आदिल्लगाणित्ति) छेदवर्तिसहननस्य चतुर्णामेव देवलोकाना गमने निर्बन्धनत्वात् यदाह–"छेवट्ठेण उगम्मइ,चत्तारि उ जाव आइमा कप्पा। वड्ढेज्ज कप्पजुअल, सघयणे कीलियाईए त्ति " ॥ १ ॥ (जहण्णेण तिण्णि भवग्गहणाइति) आनतादिदेवो मनुष्येष्वेवोत्पद्यते, तेष्वेव च प्रत्यागच्छतीति जघन्यतो भवत्रय भवतीति एव भवसप्तकमप्युत्कर्षतो भावनीयमिति (उक्कोसेण सत्तावणमित्यादि) आनतदेवानामुत्कर्षत एकोनविंशतिसागरोपमाण्यायुस्तस्य च भवत्रयभावेन सप्तपञ्चाश-

त्सागरोपमाणि मनुष्यभवचतुष्टयसम्बन्धिपूर्वकोटीचतुष्काभ्यधिकानि भवन्तीति ॥ भ० २४ श० २४ उ० ॥ जी० ॥ कर्म० ॥ एष संक्षेपार्थः सामान्यतो नरकोपपातचिन्तायां रत्नप्रभोपपातचिन्तायां च देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकाणांनथाऽसंख्येयवर्षायुष्कचतुष्पदखेचराणां शेषाणामपि चापर्याप्तकानां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तथा मनुष्याणां संमूर्च्छिमानां गर्भव्युत्क्रान्तिकानामप्यकर्मभूमिजानामन्तरद्वीपजानां कर्मभूमिजानामप्यसंख्येयवर्षायुषां सख्येयवर्षायुषामपि अपर्याप्तानां प्रतिषेधः शेषाणां विधानम् । शर्करप्रभायां संमूर्च्छिमानामपि प्रतिषेधः वालुकप्रभायां भुजपरिसर्पाणामपि पङ्कप्रभायां खेचराणामपि धूमप्रभायां चतुष्पदानामपि तमःप्रभायां उरःपरिसर्पाणामपि सप्तमपृथिव्यां स्त्रीणामपि भवनवासिषूपपातचिन्तायां देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्च्छिमापर्याप्तगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां प्रतिषेधः शेषाणां विधानम् । पृथिव्यब्वनस्पतिषु सकलनैरयिकसनत्कुमारादिदेवानां तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु सर्वनारकसर्वदेवानां प्रतिषेध तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वानतादिदेवानां मनुष्येषु सप्तमपृथिवीनारकतेजोवायूनां व्यन्तरेषु देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकविकलेन्द्रियत्रिकापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियसमूर्च्छिमापर्याप्तगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणां ज्योतिष्केषु सम्मूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियासंख्येयवर्षायुष्कखचरान्तरद्वीपजमनुष्याणामपि प्रतिषेधः । एवं सौधर्मैशानयोरपि । सनत्कुमारादिषु सहस्रारपर्यन्तेष्वकर्मभूमिजासंख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिजानामपि प्रतिषेध आनतादिषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि विजयादिषु मिथ्यादृष्टिमनुष्याणामपीति । गत पञ्चमद्वारम् । प्रज्ञा० ६ पद ।

११ कृतयुग्मादिविशेषणैकेन्द्रियाणाम्—

कडजुम्मकडजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइय जहा उप्पलुद्देसए तहा उववाओ तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अनंता वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा समए समए पुच्छा ? गोयमा ! तेणं अणंता समए समए अवहीरमाणा २ अणंताहिं ओसप्पिणीउस्सप्पिणीहिं अवहीरंति णो चेव णं अवहिरिया सिया उच्चत्तं जहा उप्पलुद्देसए । तेणं भंते जीवा णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा पुच्छा, गोयमा ! बंधगा णो अबंधगा एव सव्वेसिं वाउयवज्जाणं आउयस्स बंधगा वा अबंधगा वा तेणं भंते ! जीवा णाणावरणिज्जकम्मस्स वेदगा पुच्छा, गोयमा ! वेदगा णो अवेदगा एवं सव्वेसिं तेणं भंते! किं जीवा किं सातावेदगा असातावेदगा पुच्छा, गोयमा ! सातावेदगा वा असातावेदगा वा एवं खलु उप्पलुद्देसगपरिवाडी सव्वेसिं कम्माणं, उदई णो अणुदई छएहं कम्माणं उदीरगा णो अणुदीरगा वेदणिज्जा उयाणं उदीरगा वा अणुदीरगा वा तेणं भंते ! जीवा किं कएहलेस्सा पुच्छा, गोयमा ! कएहलेस्सा वा णीललेस्सा वा काउलेस्सा वा तेउलेस्सा वा णो सम्मदिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो णाणी अएणाणी णियमं दु अण्णाणी तं जहा मतिअएणाणी य सुयअएणाणी य णो मणजोगी णो वइजोगी कायजोगी सागारोवउत्ता वा अणागारोवउत्ता वा। तेसिणं भंते ! जीवाणं सरीरा कइवएणा जहा उप्पलुद्देसए सव्वत्थ पुच्छा, गोयमा ! उप्पलुद्देसए उसासगा वा णीसासगा वा णो उस्सासगा णीसासगा वा आहारगा वा अणाहारगा वा णो विरया अविरया णो विरयाविरया सकिरिया णो अकिरिया । सत्तविहबंधगा वा अट्ठविहबंधगा वा आहारसएणोवउत्ता वा जाव परिग्गहसएणोवउत्ता वा कोहकसाई जाव लोभकसाई वा णो इत्थीवेदगा णो पुरिसवेदगा णपुंसगवेदगा वा इत्थीवेदबंधगा वा णपुंसगवेदबंधगा वा णो सएणी असएणी सइंदिया णो अणिंदिया तेणं भंते ! कडजुम्म ॥ २ ॥ एगिंदियाओत्ति कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणी उस्सप्पिणीओ वणस्सइकालो संवेहो ए भएणइ आहारो जहा उप्पलुद्देसए णवरं णिव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं सेसं तहेव ठिई जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं समुग्घाया आदिल्ला, चत्तारि मारणंतियसमुग्घाया तेणं समोहयावि असमोहया वि मरंति उव्वट्टणा जहा उप्पलुद्देसए । अह भंते ! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता कडजुम्मा २ एगिंदियत्ताए उववएणपुव्वा ? हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो ? कडजुम्मतेओग एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव तेणं भंते ! जीवा एगपुच्छा, गोयमा ! एगूणवीसा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं जहा कडजुम्माणं जाव अणंतखुत्तो २ कडजुम्मदावरजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववातो तहेव । तेणं भंते ! जीवा एगपुच्छा, गोयमा ! अट्ठारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ३ ॥ कडजुम्मकलिओग एगिंदियाणं भंते ! कओ उववातो तहेव परिमाणं सत्तरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ४ ॥ तेओगकडजुम्मएगिंदियाणं भंते ! कओ उववातो तहेव परिमाणं बारस वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ॥ ५ ॥ तेओगतेओगएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव परिमाणं पएणरस संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो ।६। एवं एएसु सोलससु महाजुम्मेसु एक्को गमओ णवरं परिमाणं णाणत्तं तेओ य दावरजुम्मेसु परिमाणं चउदस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ।७। तेओगकलिओगेसु तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ।८।

ज्जंति ॥ ८ ॥ दावरजुम्मकडजुम्मेसु अट्ठ वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति।९। दावरजुम्मतेओगेसु एक्कारस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति । १० । दावरजुम्मदावरजुम्मेसु दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ ११ ॥ दावरजुम्मकलिओगेसु णव वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ॥ १२ ॥ कलिओगकडजुम्मेसु चत्तारि वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति १३ । कलिओगतेओगेसु सत्त वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति ।१४। कलिओगदावरजुम्मेसु छ वा संखेज्जा असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति । १५ । कलिओगकलिओगएगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव परिमाणं पंच वा संखेज्जा वा असंखेज्जा अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

(जहा उप्पलुद्देसप्ति) उत्पलोद्देशक एकादशशते प्रथम इह च यत्र क्वचित्पदे उत्पलोद्देशकातिदेश क्रियते तत्तत्पदार्थम् (नवरं न भवन्ति) उत्पलोद्देशके उत्पलजीवस्योत्पादो विवक्षितस्तत्र च पृथिवीकायिकादिकायां नरापेक्षया संयोग सम्भवति इह त्वेकेन्द्रियाणां कृतयुग्म २ विशेषणानामुत्पादोऽभिहितस्तस्ते च वस्तुतोऽनन्ता उत्पद्यन्ते तेषां च कृतं मेऽसम्भवसम्बंधो न सम्भवति। यच्च षोडशादीनामेकेन्द्रियेषूत्पादोऽभिहितोऽसौ त्रसकायिकेभ्यो ये तेषूत्पद्यन्ते तदपेक्ष एव न पुन पारमार्थिकोऽनन्तानां प्रतिसमय तेषूत्पादादिति ॥ भ०३४ श०१ उ० (उप्पलुद्देसक वगस्सइ शब्दे)

प्रथमसमयकृत ॥

पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति ? गोयमा ! तहेव एव जहेव पढमो उद्देसओ तहेव सोलसखुत्तो विनिओ वि भाणियव्वो तहेव सव्वं णवरं इमाणि दस णाणत्ताणि ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभाग आउयकम्मस्स णो बंधगा अबंधगा आउयस्स णो उदीरगा अणुदीरगा णो उस्सासगा णो णिस्सासगा णो उस्सासणिस्सासगा । सत्तविहबंधगा वा णो अट्ठविहबंधगा वा। तेणं भंते ! पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदिया तिकालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! एक्कं समयं एवं ठितीए वि समुग्घाया आदिल्ला दोण्णि । समोहयाणं पुच्छिज्जति उव्वट्टणा ण पुच्छिज्जइ सेसं तहेव सव्वं णिरवसेस सोलससु वि गमएसु जाव अणंतखुत्तो । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

अथ द्वितीयस्तत्र (पढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) एकेन्द्रियत्वेनोत्पत्तौ प्रथम समयो येषां ते तथा ते च कृतयुग्मकृतयुग्माश्चेति प्रथमसमयकृतयुग्मकृतयुग्मा ते च ते एकेन्द्रियाश्चेति समासोऽनस्ते (सोलसखुत्तोत्ति) पोडशकृत्व पूर्वोक्तान् षोडशराशिभेदानाश्रित्येत्यर्थ (णाणत्ताइति) पूर्वोक्तस्य विलक्षणत्वस्थानानि, ये पूर्वोक्ता भावास्ते केचित्प्रथमसमयोत्पन्नानां न सम्भवन्तीति कृत्वा तत्रावगाहनाचोद्देशकवादरवनस्पत्यपेक्षया महती उक्ताऽऽत्र इह तु प्रथमसमयोत्पन्नत्वेन साकल्येति नानात्वमेवमन्यान्यपि स्वधियोह्यानीति भ० ३४ श० २ उ० ॥

अप्रथमसमयकृत

अपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एसो जहा पढमुद्देसो सोलसहि वि जुम्मेसु तहेव णेयव्वो जाव कलिओगकलिओगत्ताए जाव अणंतखुत्तो-सेवं भंते ! भंते ! त्ति

तृतीयोद्देशके तु (अपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) इहाप्रथम समयो येषामेकेन्द्रियत्वेनोत्पन्नानां द्व्यादय समया विग्रहस्य पूर्ववत्. एते च यथा सामान्येनैकेन्द्रियास्तथा भवन्तीत्य त एवोक्तम् "एसो जहा पढम उद्देसो इत्यादीति' भ.३४ श०३उ.

चरमसमयकृत ॥

चरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एव जहेव पढमसमय उद्देसओ णवरं देवा न उववज्जंति तेउलेस्सा ण पुच्छति सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

चतुर्थे तु (चरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) इह चरमसमयशब्देनैकेन्द्रियाणां मरणसमयो विवक्षित स च परभवायुष प्रथमसमय एव तत्र च वर्त्तमानाश्चरमसमयाः संख्येयाश्च कृतयुग्मकृतयुग्मा ये एकेन्द्रियास्ते तथा ॥ (एवं जहा पढमसमय उद्देसओत्ति) यथा प्रथमसमयैकेन्द्रियोद्देशस्तथा चरमसमयैकेन्द्रियोद्देशकोऽपि वाच्यस्तत्र हि औघिकोद्देशकापेक्षया दश नानात्वान्युक्तानीहापि तानि तथैव समानस्वरूपत्वात्तत्प्रथमसमयचरमसमयानां य पुनरिह विशेषस्तं दर्शयितुमाह "नवर देवा न उववज्जंतीत्यादि" देवोत्पादे ह्येवैकेन्द्रियेषु तेजोलेश्या भवति, न चेह देवोत्पादः सम्भवतीति, तेजोलेश्या एकेन्द्रिया न पृच्छ्यन्ते इति ॥ भ० ३५ श०४ उ० ।

अचरमसमयकृत

अचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा अपढमसमयउद्देसो तहेव णिरवसेसो भाणियव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

पञ्चमे तु (अचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) न विद्यते चरमसमय उक्तलक्षणो येषा ते अचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति समास. भ० ३५ श० ॥ ५ उ०॥

प्रथमप्रथमसमयः।

पढमपढमसमयकडजुम्म२एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमसमयउद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

षष्ठे तु (पढमपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) एकेन्द्रियोत्पादस्य प्रथमसमययोगात्ते प्रथमा' प्रथमश्च समय कृतयुग्मकृतयुग्मत्वानुभूतेर्येषामेकेन्द्रियाणां ते प्रथम २ समयकृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रिया । भ० ३५ श० ६ उ० । प्रथमाप्रथमः।

पढमअपढमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमसमयउद्देसओ तहेव भाणियव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

सप्तमे तु (पढम अपढमसमयकडजुम्म२एगिंदियत्ति) प्रथम.-

स्तथैव योऽप्रथमश्च समयः कृतयुग्म२ त्वानुभूतेर्येषामेकेन्द्रियाणां ते प्रथमाप्रथमसमयकृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रिया इह च एकेन्द्रियत्वोत्पादप्रथमसमयवर्तित्वे तेषां यद्विवक्षितसङ्ख्यानुभूतेरप्रथमसमयवर्तित्वं तत्प्राग्भवसम्बन्धिनीं तामाश्रित्येत्यवसेयमेवमुत्तरत्रापीति । भ० ३५ श० ७ उ० प्रथमचरमः ।

पढमचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा चरिमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

अष्टमे तु (पढमचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) प्रथमाश्च ते विवक्षितसङ्ख्यानुभूता प्रथमसमयवर्तित्वाच्चरमसमयाश्च मरणसमयवर्तिनः परिशाटस्था इति ॥ प्रथमचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः भ० ३५ श० ८ उ० ।

प्रथमाचरमः

पढमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ

नवमे तु (पढमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) प्रथमास्तथैव अचरमसमयास्त्वेकेन्द्रियोत्पादापेक्षया प्रथमसमयवर्तिन इह विवक्षिताश्चरमत्वनिषेधस्य तेषु विद्यमानत्वादन्यथा हि द्वितीयोद्देशकोक्तानामवगाहनादीनां यदिह समत्वमुक्तं तन्न स्यात्ततः कर्मधारय शेषं तु तथैव भ० ३५ श० ९ उ० ।

चरमचरमः ।

चरिम २ समयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा चउत्थो उद्देसओ तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

दशमे तु (चरिम २ समयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) चरमाश्च ते विवक्षितसंख्यानुभूतेश्चरमसमयवर्तित्वाच्चरमसमयाश्च प्रागुक्तस्वरूपा इति चरमसमयाः शेषं तु प्राग्वत् ॥ ३५ ॥ १० ॥

चरमाचरमः ।

चरिमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसओ तहेव णिरवसेसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

एकादशे तु (चरिमअचरिमसमयकडजुम्म २ एगिंदियत्ति) चरमास्तथैव अचरमसमयाश्च प्रागुक्तयुक्तेरेकेन्द्रियोत्पादापेक्षया प्रथमसमयवर्तिनो ये ते चरमाचरमसमयास्ते च ते कृतयुग्मकृतयुग्मैकेन्द्रियाश्चेति विग्रहः ॥ भ० ३५ श० ११ उ० ।

एवं एएणं कमेणं एक्कारस उद्देसगा पढमो तइओ पंचमओ य सरिसगमया सेसा अट्ठ सरिसा णवरं चउत्थे अट्ठमे दसमे देवा ण उववज्जंति । तेउलेस्सा णत्थि । पढमं एगिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ भ० ३५ श० १ उ० ।

उक्तोद्देशकानां स्वरूपनिर्धारणायाह लेश्याविशेषणेन ॥

कण्हलेस्सकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति ? गोयमा ! उववाओ तहेव एवं जहा ओहियउद्देसए णवरं इमं णाणत्तं तेणं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा तेणं भंते ! कण्हलेस्सा कडजुम्मा २ एगिंदिया तिकालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । एवं ठितीए वि जाव अणंतखुत्तो । एवं सोलससु वि जुम्मा भाणियव्वा सेवं भंते ! भंते ! त्ति

पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमुद्देसए णवरं तेणं भंते ! कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति । एवं जहा ओहियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहा कण्हलेस्सवि एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा, पढमो ततिओ पंचमो य सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमगा णवरं चउत्थछट्ठदसमेसु उववाओ णत्थि देवस्स सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पणतीसइमे सए बितिय एगिंदियमहाजुम्मसयं २ एवं णीललेस्सेहिं वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं एक्कारस उद्देसगा तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ततियं एगिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ ३ एवं काउलेस्सेहिं वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३५ ॥ चउत्थ एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥ ४ ॥ भवसिद्धिकडजुम्म २ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा ओहियसयं णवरं एक्कारस वि उद्देसएसु अह भंते ! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता भवसिद्धियकडजुम्म २ एगिंदियत्ताए उववण्णपुव्वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचमं एगिंदियसयं महाजुम्मं सम्मत्तं ॥ ५ ॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियकडजुम्म२ एगिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति, एवं कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं बितियं सयं कण्हलेस्ससरिसं भाणियव्वं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ छट्ठं एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥ ६ ॥ णीललेस्से भवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं सेवं भंते ! भंते ! त्ति सत्तमं एगिंदियमहाजुम्मसयं ॥ ७ ॥ काउलेस्से भवसिद्धियएगिंदिएहिं वि तहेव एक्कारस उद्देसगसंजुत्तं सयं एवं एयाणि चत्तारि भवसिद्धियसयाणि चउसु वि सएसु सव्वपाणा जाव उववण्णपुव्वा णो इणट्ठे समट्ठे सेवं भंते ! भंते ! त्ति अट्ठमं एगिंदियसयं महाजुम्मं ॥ ८ ॥ भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाइं भणियाइं एवं अभवसिद्धिएहिं वि चत्तारि सयाणि लेस्सासंजुत्ताणि भाणियव्वाणि सव्वपाणा तहेव णो इणट्ठे समट्ठे एवं एयाणि बारस एगिंदियमहाजुम्मसयाइं भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचतीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ३५ ॥

(पढमो तइओ पंचमोयसरिसगमत्ति) कथं यतः प्रथमापेक्षया द्वितीये यानि नानात्वान्यवगाहनादीनि दश भवन्ति न तान्येतेष्विति (सेसा अट्ठसरिसगमगत्ति) द्वितीयचतुर्थषष्ठादयः परस्परेण सदृशगमाः पूर्वोक्तेभ्यो विलक्षणा द्वितीयसमानगमा इत्यर्थः विशेषं त्वाह-णवरं चउत्थेत्यादि कृष्णलेश्याशते (जहन्नेणं एक्कं समयंति) जघन्यत एकसमयानन्तरं संख्यान्तरं भवतीत्यत एकं समयं कृतयुग्मकृतयुग्म २ एकेन्द्रिया भवन्तीति । एव ठिईए वि त्ति) कृष्णलेश्यावतां स्थितिः कृष्णलेश्यकालवदवसेयेत्यर्थः ॥ भ० ३५ श० ।

त्रीन्द्रियाणाम्–

कडजुम्म२वेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ जहा वकंतीए परिमाणं सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति अवहारो जहा उप्पलुद्देसए ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं वारसजोयणाइं एवं जहा एगिंदियमहाजुम्माणं पढमुद्देसए तहेव णवरं तिण्णि लेस्साओ देवा ण उववज्जंति सम्मदिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा णो सम्मामिच्छादिट्ठी वा णाणी वा अण्णाणी वा । णो मणजोई वइजोगी वा कायजोगी वा तेणं भंते ! कडजुम्म२वेइंदिया कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं संखेज्जकालं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं वारस संवच्छराइं,आहारो णियम छद्दिसिं तिण्णि समुग्घाया, सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु वेइंदियमहाजुम्मसयं पढमो उद्देसो सम्मत्तो सेवं भंते ! भंते! त्ति ॥ ३६ ॥१॥ पढमसमयकडजुम्म२वेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहा एगिंदियमहाजुम्माणं पढमसमय उद्देसए दस णाणत्ताइं ताइं चेव दस इहवि एक्कारस वि इमं णाणत्तं णो मणजोगी णो वइजोगी कायजोगी । सेसं जहा बेइंदियाणं चेव पढमुद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥३६॥२॥ एवं एएण वि जहा एगिंदियमहाजुम्मेसु एक्कारस उद्देसगा तहेव भाणियव्वा णवरं चउत्थछट्ठट्ठमदसमेसु सम्मत्तणाणाणि ण भण्णति, जहेव एगिंदिएसु पढमो तईयपंचमो य एक्कगमा सेसा अट्ठ एक्कगमा । पढमं बेइंदिए महाजुम्मसयं सम्मत्तं ।३६। १ ॥ कण्हलेस्सकडजुम्म२वेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव कण्हलेस्से एक्कारस उद्देसगसंजुत्तं सयं णवर लेस्सा संचिट्ठणा ठिई जहा एगिंदियकण्हलेस्साणं॥ वितियं वेइंदियसयं ॥३६॥ २ ॥ एवं णीललेस्सेहिं वि सयं । सतं ततियं ॥ ३६ ॥ ३ ॥ एवं काउलेस्सेहि वि सयं चउत्थं सतं ॥४॥ भवसिद्धियकडजुम्म२वेइंदियाण भंते ! एवं भवसिद्धिया वि चत्तारि तेणेव पुव्वगमएणं णेतव्वा णवरं सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तहेव,ओहियसयाणि चत्तारि सेवं भंते ! भंते ! त्ति । छत्तीसइमसए अट्ठमं सयं सम्मत्तं ॥३६ ॥८॥ जहा भवसिद्धियसयाणि चत्तारि एवं अभवसिद्धियसयाणि चत्तारि भाणियव्वाणि णवरं सम्मत्तणाणाणि सव्वहा णत्थि सेसं तं चेव,एवं एयाणि वारसबेइंदियमहाजुम्मसयाणि भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ वेइंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । छत्तीसइमं महाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ ३६ ॥ कडजुम्म २ तेइंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं तेइंदिएसु वि वारस सया कायव्वा वेइंदियसयसरिसा णवरं ओगाहणा जहण्णेण अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं एगूणवण्णराइंदियाइं सेसं तहेवसेवं भंते ! भंते ! त्ति । तेइंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । सत्ततीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ॥ ३७ ॥ चउरिंदिएहिं वि एवं वारस सया कायव्वा णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं ठिई जहण्णेणं एक्क समयं, उक्कोसेणं छम्मासा सेसं जहा वेइंदियाणं सेवं भंते ! भंते ! त्ति । चउरिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं (अट्ठतीसइमं सयं सम्मत्तं) ॥ ३८ ॥ कडजुम्म २ असण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा बेइंदियाणं तहेव असण्णिसु वि वारस सया कायव्वा णवरं ओगाहणा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्क समयं उक्कोसेण पुव्वकोडिपुहुत्तं । ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी सेसं बेइंदियाणं । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ असण्णी पंचिंदियमहाजुम्मसया सम्मत्ता । एगूणयालीसइमं सयं सम्मत्तं ॥ ३९ ॥ कडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ चउसु वि गईसु संखेज्जवासाउय असंखेज्जवासाउय पज्जत्ता अपज्जत्तएसु य ण कओ वि पडिसेहो जाव अणुत्तरविमाणत्ति परिमाणं अवहारो ओगाहणा जहा असण्णिपंचिंदियाणं वेदणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं कम्मप्पगडीणं बंधगा वा अवंधगा वा वेदणिज्जस्स बंधगा णो अवंधगा, मोहणिज्जस्स वेदगा वा अवेदगा वा सेसाणं सत्तण्ह वि वेदगा णो अवेदगा, सायावेदगा वा असायावेदगा, वा मोहणिज्जस्स उदई वा अणुदई वा सेसाणं सत्तण्ह वि उदयी णो अणुदई णामस्स गोयस्स य उदीरगा णो अणुदीरगा सेसाणं छण्ह वि उदीरगा वा अणुदीरगा वा कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा या सम्मदिट्ठी वा मिच्छादिट्ठी वा सम्मामिच्छादिट्ठी वा णाणी वा अण्णाणी वा मणजोगी वा वइजोगी वा कायजोगी वा उवओगो वण्णमादी उस्सासगा आहारगा य जहा एगिंदियाणं, विरया वा अविरया वा विरयाविरया य सकिरिया णो अकिरिया । तेणं भंते ! जीवा किं सत्तविहबंधगा वा अट्ठविहबंधगा वा छव्विहबंधगा वा एगविहबंधगा वा ? गोयमा ! सत्तविह बंधगा वा जाव एगविहबंधगा वा । तेणं भंते ! जीवा किं आहारसण्णोवउत्ता जाव परिग्गहसण्णोवउत्ता णो सण्णोवउत्ता ? गोयमा ! आहारसण्णोवउत्ता जाव णो सण्णोवउत्ता सव्वपुच्छा भाणियव्वा । कोहकसायी जाव लोभकसाई वा अकसायी वा इत्थीवेदगा वा पुरिसवेदगा वा णपुंसगवेदगा वा अवेदगा वा । इत्थिवेदबंधगा वा पुरिसवेदबंधगा वा णपुंसगवेदबंधगा वा अबंधगा वा सण्णी णो असण्णी सइंदिया णो अणिंदिया, संचिट्ठणा जहण्णेण एक्कं समयं उक्कोसेणं सा–

गरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं आहारो तहेव जाव णियमं छ-द्दिसिं ठिई जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं । छ समुग्घाया आदिल्लगा मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया वि मरंति असमोहया वि मरंति । उव्वट्टणा जहेव उववाओ ण कत्थइ पडिसेहो जाव अणुत्तरविमाणत्ति । अह भंते ! सव्वपाणा जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु भाणियव्वं जाव अणंतखुत्तो णवरं परिमाणं जहा बेइंदिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४० ॥ १ ॥ पढमसमयकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववाओ परिमाणं आहारो जहा एएसिं चेव पढमो उद्देसए ओगाहणा-बंधो वेदो वेदणा उदयी उदीरगा य जहा बेइंदियाणं पढमसयाणं तहेव कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा वा सेसं जहा बेइंदियाणं पढमसमइयाणं जाव अणंतखुत्तो णवरं इत्थिवेदगा वा पुरिसवेदगा वा णपुंसगवेदगा वा सण्णिणो असण्णिणो सेसं तहेव एवं सोलससु वि जुम्मेसु परिमाणं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा तहेव पढमो तइओ पंचमो य सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमगा चउत्थछट्ठट्ठमदसमेसु णत्थि विसेसो कोइ वि सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४० ॥ (पढमं पंचिंदियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं ॥ १ ॥) कण्हलेस्स कडजुम्म२ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति तहेव पढमुद्देसओ सण्णीणं णवरं बंधो वेओ उदयी उदीरणालेस्सबंधगसण्ण-कसायवेदबंधगा एयाणि जहा बेइंदियाणं कण्हलेस्साणं वेदो तिविहो अवेदगा णत्थि, संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । एवं ठिईए वि णवरं ठिईए अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं ण भण्णंति सेसं जहा एएसिं चेव पढमुद्देसए जाव अणंतखुत्तो एवं सोलससु वि जुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥२॥ पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्म२सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति पढमसमयउद्देसए तहेव णिरवसेसं णवरं तेणं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा सेसं तहेव एवं सोलससु वि जुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति, एवं एए वि एक्कारस उद्देसगा कण्हलेस्ससए पढमतइयपंचमा सरिसगमगा सेसा अट्ठ वि सरिसगमगा सेवं भंते ! भंते ! त्ति । (वितियं सयं सम्मत्तं) ॥२॥ एवं णीललेस्सेसु वि सयं णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दससागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं । एवं ठिईए वि, एवं तिसु उद्देसएसु सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ततियं सयं सम्मत्तं ॥३॥

पञ्चत्रिंशशते संख्यापदैरेकेन्द्रिया प्ररूपिताः षट्त्रिंशे तु तैरेव, द्वीन्द्रियाः प्ररूप्यन्त इत्येव सम्बन्धस्यास्येदमादिसूत्रकडजुम्मबेइंदियाणमित्यादि (जहण्णेणं एक्कं समयंति) समयानन्तर संख्यान्तरभावादेव स्थितिरपि, इतः सर्वसूत्रसिद्धमाशास्त्रपरिसमाप्तेर्नवरं चत्वारिंशे शते (वेयणिज्जवज्जाणं सत्तण्ह पगडीणं बंधगा वा अबंधगा वत्ति) इह वेदनीयस्य बन्धविधिविशेषेण वक्ष्यतीति कृत्वा वेदनीयवर्जानामित्युक्तं तत्र चोपशान्तमोहादयः सप्तानामबन्धका एव शेषास्तु यथासम्भव बन्धका भवन्तीति (वेयणिज्जस्स बंधगा नो अबंधगत्ति) केवलित्वादारात्सर्वेऽपि सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते च वेदनीयस्य बन्धका एव नाबन्धकाः (मोहणिज्जस्स वेयगा वा अवेयगा वत्ति) मोहनीयस्य वेदकाः सूक्ष्मसम्परायान्ता अवेदकास्तु उपशान्तमोहादयः (सेसाणं सत्तण्ह वि वेयगा नो अवेयगत्ति) ये किलोपशान्तमोहादयः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ते सप्तानामपि वेदका नो अवेदकाः केवलिन एव चतसृणां वेदका भवन्ति ते चेन्द्रियव्यापारातीतत्वेन न पञ्चेन्द्रिया इति ॥ (सायावेयगा वा असायावेयगा वत्ति) सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव स्वरूपत्वात् (मोहणिज्जस्स उदयी वा अणुदयी वत्ति) तत्र सूक्ष्मसम्परायान्ता मोहनीयस्योदयिनः उपशान्तमोहादयस्त्वनुदयिनः । सेसाणं सत्तण्हवीत्यादि प्राग्वत् नवरं वेदकत्वानुक्रमेणाकरणेन चोदयागतानामनुभवनम् उदयस्त्वनुक्रमागतानामिति (नामस्स गोयस्स य उदीरगा नो अणुदीरगत्ति) नामगोत्रयोरकषायान्ताः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया सर्वेऽप्युदीरकाः (सेसाणं छण्हवि उदीरगा वत्ति) शेषाणां षण्णामपि यथासम्भवमुदीरकाश्चानुदीरकाश्च, यतोऽयमुदीरणाविधिः प्रमत्तान्ताः सामान्येनाष्टानामावलिकावशेषायुष्कास्तु त एवायुर्वर्जसप्तानामुदीरका अप्रमत्तादयस्तु चत्वारो वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां तथा सूक्ष्मसम्परायाः आवलिकायां स्वाद्धायाः शेषायां मोहनीयवेदनीयायुर्वर्जानां पञ्चानामपि उपशान्तमोहास्तु कषायाणां पञ्चानामेव क्षीणकषायाः पुनः स्वाद्धाया आवलिकायां शेषायां नामगोत्रयोरेव सयोगिनोऽप्येतयोरेवायोगिनस्त्वनुदीरका एवेति । (सचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयंति) कृतयुग्म २ सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां जघन्येनावस्थितिरेकं समयं समयानन्तरं संख्यान्तरसद्भावात् । (उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगत्ति) यत इतः परं सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया न भवन्त्येवेति (छ समुग्घाया आइल्लगत्ति) । सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामाद्याः षडेव समुद्घाता भवन्ति सप्तमस्तु केवलिनामेव ते चानिन्द्रिया इति । कृष्णलेश्याशते -(उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइंति) इद कृष्णलेश्याद्धावस्थानं सप्तमपृथिव्युत्कृष्टस्थितिं पूर्वभवपर्यन्तवर्तिनं कृष्णलेश्यापरिणाममाश्रित्येति नीललेश्याशते (उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइंति) पञ्चमपृथिव्या उपरितनप्रस्तटे दशसागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाधिकान्यायुः सम्भवति नीललेश्या च तत्र स्यादतः उक्तम् उक्कोसेणमित्यादि ॥ यश्चेह प्राक्तनभवान्तिमान्तर्मुहूर्त्तं तत्पल्योपमासंख्येयभागे प्रविष्टमिति न भेदेनोक्तमेवमन्यत्रापि । (तिसु उद्देसएसुत्ति) प्रथमतृतीयपञ्चमेष्विति ॥ भ०४० श०१उ०। जी०।

एवं काउलेस्ससयं पि णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं एवं ठिईए वि एवं तिसु वि उद्देसएसु सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति (चउत्थं सयं सम्मत्तं) ॥ ४ ॥ एवं तेउलेस्सविसयं णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमस्स

असंखेज्जइभागमब्भहियाइं । एवं ठिईएवि णवरं णो सम्मोवउत्ता एवं तिसुवि गमएसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ पंचमं सयं ॥ ५ ॥ जहा तेउलेस्सासतं तहा पम्हलेस्ससयं पि णवरं संचिट्ठणा जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं एवं ठिईएवि णवरं अंतोमुहुत्तं ण भण्णति सेसं तहेव । एवं एएसु पंचसु सएसु २ जहा कण्हलेस्ससए गमओ तहा णेतव्वो जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (छट्ठं सयं सम्मत्तं) ॥ ६ ॥ सुक्कलेस्ससयं जहा ओहियसए णवरं संचिट्ठणा ठिई य जहा कण्हलेस्ससए सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो सेवं भंते ! भंते ! त्ति सत्तमं सयं सम्मत्तं ॥ ७ ॥ भवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमं सण्णिसत्तं तहा णेतव्वं भवसिद्धियाभिलावेणं णवरं सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (अट्ठमं सयं) ॥ ८ ॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियकण्हलेस्ससयं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (णवमं सयं) ॥ ९ ॥ एवं णीललेस्सभवसिद्धिए वि सयं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ (दसमं सयं) ॥ १० ॥ एवं जहा ओहियाणि सण्णिपंचिंदियाणि सत्त सयाणि भणियाणि एवं भवसिद्धिएहिं वि सत्तसयाणि कायव्वाणि णवरं सत्तसु वि सएसु सव्वपाणा जाव णो इणट्ठे समट्ठे सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ भवसिद्धियसया सम्मत्ता ॥ (चउद्दसमं सयं सम्मत्तं) ॥ १४ ॥ अभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ तहेव अणुत्तरविमाणवज्जो परिमाणं आहारो उच्चत्तं बंधो वेदो वेदणउदओ उदीरणा य जहा कण्हलेस्ससए कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा वा णो सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी णो सम्मामिच्छादिट्ठी णो णाणी अण्णाणी एवं जहा कण्हलेस्ससए णवरं णो विरया अविरया णो विरयाविरया संचिट्ठणा ठिई य जहा ओहियउद्देसए समुग्घाया आदिल्लगा पंच उव्वट्टणा तहेव अणुत्तरविमाणवज्जं सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे सेसं जहा कण्हलेस्ससए जाव अणंतखुत्तो, एवं सोलससु वि कडजुम्मेसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ १ ॥ पढमसमयअभवसिद्धियकडजुम्म २ सण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा सण्णीणं पढमसमयउद्देसए तहेव णवरं सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं णाणं च सव्वत्थ णत्थि सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ २ ॥ एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा कायव्वा पढम तइयपंचमा एक्कगमा सेसा अट्ठवि एक्कगमा । पढमं अभवसिद्धियमहाजुम्मसयं सम्मत्तं । (पण्णरसमं सयं सम्मत्तं) ॥ १५ ॥ कण्हलेस्सअभवसिद्धियकडजुम्म २ असण्णिपंचिंदियाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा एएसिं चेव ओहियसए तहा कण्हलेस्ससयं पि णवरं तेणं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता कण्हलेस्सा ठिई संचिट्ठणा य कण्हलेस्ससए सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति । बितियं अभवसिद्धियमहाजुम्मसयं ॥ ४० ॥ (सोलसमं सयं सम्मत्तं) ॥ १६ ॥ एवं छहिं लेस्साहिं छ सया कायव्वा जहा कण्हलेस्ससयं णवरं संचिट्ठणा ठिती य जहेव ओहियसए तहेव भाणियव्वा णवरं सुक्कलेस्साए उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, ठिती एव चेव णवरं अंतोमुहुत्तो णत्थि जहण्णगं तहेव सव्वत्थं सम्मत्तं णाणाणि णत्थि, विरयी विरयाविरयी अणुत्तरविमाणोववात्ति एयाणि णत्थि सव्वपाणा णो इणट्ठे समट्ठे, सेवं भंते ! भंते ! त्ति । एवं एयाणि सत्त अभवसिद्धियसयाणि महाजुम्मसयाणि भवंति २ एवं एयाणि एक्कवीसं सण्णिमहाजुम्मसयाणि सव्वाणि एक्कासीतिमहाजुम्मसया सम्मत्ता चत्तालीसमं सयं सम्मत्तं ॥४०॥

कापोतलेश्याशते " उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइति " यदुक्तं तदीशानदेवपरमायुराश्रित्येत्यवसेयम् । पद्मलेश्याशते "उक्कोसेणं दससागरोवमाइं " इत्यादि तु यदुक्तं तद्ब्रह्मलोकदेवायुराश्रित्येति मन्तव्यम् । तत्र हि पद्मलेश्ये तावदायुर्भवत्यन्तर्मुहूर्तं च प्राक्तनभवावसानवर्तीति । शुक्लेश्याशते-(संचिट्ठणा ठिई य जहा कण्हलेस्ससएत्ति) त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सान्तर्मुहूर्तानि शुक्लेश्यावस्थानमित्यर्थः । एतच्च पूर्वभवान्त्यान्तर्मुहूर्तमनुत्तरायुश्चाश्रित्येत्यवसेयम् । स्थितिस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । " नवरं सुक्कलेस्साए उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइति " यदुक्तम् । तदुपरितनग्रैवेयकमाश्रित्येति मन्तव्यम् । तत्र हि देवानामेतावदेवायुः शुक्लेश्या च भवत्यभव्याश्चोत्कर्षतस्तत्रैव देवतयोत्पद्यन्ते न तु परतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं च पूर्वभवावसानसंबन्धीति ॥

(१२) राशियुग्मविशेषेण नैरयिकाणामुपपातः ।

कइ णं भंते ! रासीजुम्मा पण्णत्ता ? गोयमा ! चत्तारि रासीजुम्मा पण्णत्ता, तं जहा कडजुम्मे जाव कलिओगे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ चत्तारि रासीजुम्मा पण्णत्ता जाव कलिओगे ? गोयमा ! जेणं रासी । चउक्कएणं अवहारेणं अवहारमाणे चउपज्जवसिए से तं रासीजुम्मकडजुम्मे एवं जाव जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहारमाणे एगपज्जवसिए से ते रासीजुम्मकलिओगे से तेणट्ठेणं जाव कलिओगे रासीजुम्मकडजुम्म णेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ जहा वक्कंतीए, तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा किं संतरं उववज्जंति णिरंतरं उववज्जंति ? गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति णिरंतरं पि

उववज्जंति संतरं उववज्जमाणा जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जसमया अंतरं काउं उववज्जंति, णिरंतरं उववज्जमाणा जहणेणं दो समया उक्कोसेणं असंखेज्जा समया अणुसमयं अविरहियं णिरंतरं उववज्जति, तेणं भंते ! जीवा जं समयं कडजुम्मा तं समयं तेओगा, जं समयं तेओगा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे जं समयं कडजुम्मा तं समयं दावरजुम्मा, जं समयं दावरजुम्मा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे जं समयं कडजुम्मा तं समयं कलिओगा जं समयं कलिओगा तं समयं कडजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे तेणं भंते ! जीवा कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहा णामए पवए पवमाणे एवं जहा उववायसए जाव णो परप्पओगे णं उववज्जति । तेणं भंते ! जीवा किं आयजसेणं उववज्जंति आयअजसेणं उववज्जंति ? गोयमा ! णो आयजसेणं उववज्जंति आयअजसेणं उववज्जंति जइ आयअजसेणं उववज्जंति किं आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति ? गोयमा ! णो आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति, जदि आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा णो अलेस्सा । जदि सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया, जदि सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? णो इणट्ठे समट्ठे । रासीकडजुम्मअसुरकुमाराणं भंते ! कओ उववज्जंति जहेव णेरइया तहेव णिरवसेसं एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णवरं वणस्सइकाइया जाव असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंत्ति, सेसं तं चेव मणुस्सा वि एवं चेव जाव णो आयजसेणं उववज्जंति आयअजसेणं उववज्जंति, जइ आयअजसेणं उववज्जंति किं आयजसं उवजीवंति आयअजसं उवजीवंति ? गोयमा ! आयजसं पि उवजीवंति, आय अजसं पि उवजीवंति जइ आयजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा वि अलेस्सा वि जदि अलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! णो सकिरिया अकिरिया । जदि अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? हंता सिज्झंति जाव अंतं करेंति, जदि सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया जदि सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? गोयमा ! अत्थेगइया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति, अत्थेगइया णो तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति जदि आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा अलेस्सा ? गोयमा ! सलेस्सा णो अलेस्सा, जइ सलेस्सा किं सकिरिया अकिरिया ? गोयमा ! सकिरिया णो अकिरिया जइ सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ? णो इणट्ठे समट्ठे वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा णेरइया सेवं भंते ! भंते ! त्ति (इगुलीसइमसयस्स पढमो उद्देसो सम्मत्तो ।४१।) ॥१॥ रासीजुम्मतेओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव उद्देसओ भाणियव्वो णवरं परिमाणं तिण्णि वा सत्त वा एक्कारस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति, संतरं तहेव तेणं भंते ! जीवा जं समय तेओगा तं समयं कडजुम्मा, जं समयं कडजुम्मा तं समयं तेओगा ? णो इणट्ठे समट्ठे । जं समयं तेओगा तं समयं दावरजुम्मा, जं समयं दावरजुम्मा तं समयं तेओगा । णो इणट्ठे समट्ठे । एवं कलिओगेण वि समं सेसं तं चेव जाव वेमाणिया णवरं उववाओ सव्वेसिं जहा वक्कंतीए । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥२॥ रासीजुम्मदावरजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव उद्देसओ णवरं परिमाणं दो वा छ वा दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति संवेहो, तेणं भंते ! जीवा जं समयं दावरजुम्मा तं समयं कडजुम्मा, जं समयं कडजुम्मा तं समयं दावरजुम्मा ? णो इणट्ठे समट्ठे । एवं तेओगेण वि समं एवं कलिओगेण वि सम, सेसं जहा पढमुद्देसए जाव वेमाणिया । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥३॥ रासीजुम्मकलिओगे णेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव परिमाणं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति, संवेहो तेणं भंते ! जीवा जं समयं कलिओगा तं समयं कडजुम्मा जं समयं कडजुम्मा तं समयं कलिओगा ? णो इणट्ठे समट्ठे । एवं तेओगेण वि समं दावरजुम्माण वि समं, सेसं जहा पढमुद्देसए । एवं जाव वेमाणिया । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ४ ॥ कण्हलेस्स रासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति उववाओ जहा धूमप्पभाए सेसं जहा पढमुद्देसए । असुरकुमाराणं तहेव एवं जाव वाणमंतराणं । मणुस्साण वि जहेव णेरइयाणं । आयअजसं उवजीवंति, अलेस्सा अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति एवं ण भाणियव्वं सेसं जहा पढमुद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ५ ॥ कण्हलेस्सतेओएहिं वि एवं चेव उद्देसओ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ६ ॥ कण्हलेस्सदावरजुम्मेहिं वि एवं चेव उद्देसओ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ७ ॥ कण्हलेस्सकलिओगेहिं वि एवं चेव उद्देसओ परिमाणं संवेहो य जहा ओहिएसु उद्देसएसु सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ८ ॥ जहा कण्हलेस्सेहिं एवं णीललेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा णिरवसेसा णवरं णेरइयाणं उववाओ जहा वालुयप्पभाए सेसं तं चेव । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥१२॥

काउलेस्सेहि वि एवं चेव चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं णेरइयाणं उववाओ जहा रयणप्पभाए सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ १६ ॥ तेउलेस्सरासीजुम्मकडजुम्मअसुरकुमाराणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णवर जेसु तेउलेस्सा अत्थि तेसु भाणियव्वं एवं एएवि कण्हलेस्ससरिसा चत्तारि उद्देसगा कायव्वा ॥ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ २० ॥ एवं पम्हलेस्साए वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा । पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा वेमाणियाणं एएसिं पम्हलेस्सा सेसाणं णत्थि सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ २४ ॥ जहा पम्हलेस्सा एवं सुक्कलेस्साए चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं मणुस्साणं गमओ जहा ओहियउद्देसएसु सेसं तं चेव एएसु छसु लेस्सासु चउव्वीसं उद्देसगा ओहिया चत्तारि सव्वे ते अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ २८ ॥ भवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा ओहिया पढमगा चत्तारि उद्देसगा तहेव णिरवसेसं एए चत्तारि उद्देसगा सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ३२ ॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा कण्हलेस्साए चत्तारि उद्देसगा भवंति तहा इमेवि भवसिद्धियकण्हलेस्सेहिं चत्तारि उद्देसगा कायव्वा ॥४१॥ ३६ ॥ एवं णीललेस्सभवसिद्धिएहि वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१॥४० ॥ एव काउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१॥ ४४ ॥ तेउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ओहिया सरिसा ॥४१ ॥ ४८ ॥ पम्हलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ॥४१ ॥ ५२ ॥ सुक्कलेस्सेहिवि चत्तारि उद्देसगा ओहियसरिसा एवं एएवि भवसिद्धिएहि वि अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ४१ ॥ ५६ ॥ अभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति जहा पढमो उद्देसओ णवरं मणुस्साणं णेरइया य सरिसा भाणियव्वा सेसं तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति, एवं चउसुवि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा ॥६०॥ कण्हलेस्सा अभवसिद्धियरासीजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव चत्तारि उद्देसगा ॥६४॥ एवं णीललेस्सअभवसिद्धिएहिवि चत्तारि उद्देसगा ॥६८॥ एवं काउलेस्सेहिं वि चत्तारि उद्देसगा ॥७२॥ एवं तेउलेस्सेहिंवि चत्तारि उद्देसगा ॥७६॥ पम्हलेस्सेहिंवि चत्तारि उद्देसगा ॥८०॥ सुक्कलेस्से अभवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा एवं एएसु अट्ठावीसाएवि अभवसिद्धियउद्देसएसु मणुस्सा णेरइयगमेणं णेतव्वा, सेवं भंते ! भंते ! त्ति । एवं एतेवि अट्ठावीसा उद्देसगा ॥ ४१ ॥ ८४ ॥ सम्मदिट्ठी रासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एव जहा पढमो उद्देसओ एवं चउसुवि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा भवसिद्धियसरिसा कायव्वा, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥८८॥ कण्हलेस्ससम्मदिट्ठी रासीजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति, एएवि कण्हलेस्ससरिसा चत्तारि वि उद्देसगा कायव्वा एवं सम्मदिट्ठीसुवि भवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा, सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥४१॥ ११२ ॥ मिच्छदिट्ठी रासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं एत्थवि मिच्छादिट्ठी अभिलावेणं अभवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१ ॥ १४० ॥ कण्हपक्खियरासीजुम्मकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं अभवसिद्धियसरिसा अट्ठाविसं उद्देसगा कायव्वा, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥४१॥ १६८॥ सुक्कपक्खियरासीजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं एत्थवि भवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति एवं एएणं सव्वेवि छण्णउयं उद्देसगं सयं भवंति ॥ रासीजुम्मसयं सम्मत्तं ॥४१॥ १९६ ॥

(रासीजुम्मकडजुम्मनेरइयात्ति) राशियुग्मानां भेदभूतेन कृतयुग्मेन ये प्रमितास्ते राशियुग्मकृतयुग्मास्ते च ते नैरयिकाश्चेति समासोऽतस्ते " अणुसमयमित्यादि ' पदत्रयमेकार्थम् ॥ (आयजसेणति) आत्मनः सम्बन्धि यशो यशोहेतुत्वाद्यश संयम आत्मयशस्तेन (आयजस उवजीवनित्ति) आत्मयश आत्मसंयममुपजीवन्त्याश्रयन्ति विदधतीत्यर्थ । इह च सर्वेषामेवात्मयशसैवोत्पत्तिरुत्पत्तौ सर्वेषामप्यविरतत्वादिति । इह च शतपरिमाणमिदमाधानि द्वात्रिंशच्छतान्यविद्यमानावान्तरशतानि त्रयस्त्रिंशादिषु तु सप्तसु प्रत्येकमवान्तरशतानि द्वादश चत्वारिंशत्वेकविंशतिरेकचत्वारिंशे तु नास्त्यवान्तरशतमेतेषां च सर्वेषां मीलनेऽष्टत्रिंशदधिक शतानां शत भवत्येवमुद्देशकपरिमाणमपि सर्वं शास्त्रमवलोक्यावसेय तच्चैकोनविंशतिशतानि पञ्चविंशत्यधिकानीति । 'इह शतेषु कियत्स्वपि वृत्तिकां, विहितवानहमस्मि सुशङ्कितः । विवृतिचूर्णिगिरां विरहाद्दिदृक्, कथमशङ्कमियर्त्यथवा पथि' ॥ १ ॥ इति एकचत्वारिंश शत वृत्तितः समाप्तम् ॥ भ० ४१ श० १९६ उ० ।

क्षुद्रयुग्मविशेषणेन नैरयिकादीनाम् ।

खुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति ति. रिक्ख० पुच्छा, गोयमा ! णो णेरइएहिंतो उववज्जंति एवं णेरइओ उववाओ जहा वक्कंतीए तहा भाणियव्वो, तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अज्झवसाणे एव जहा पंचवीसइमसए अट्ठमुद्देसए णेरइयाणं वत्तव्वया तहेव इहवि भाणियव्वा जाव आयप्पओगेणं उववज्जंति णो परप्पओगेणं उववज्जंति । रयणप्पभापुढविखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उवव-

ज्जंति एवं जहा ओहियणेरइयाणं वत्तव्वया सच्चेव रयणप्पनाए वि जाणियव्वा जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंते एवं सक्करप्पनाएवि एवं जाव अहेसत्तमाएवि । एयं उववाओ जहा वक्कंतीए असण्णी खलु पढमं दोच्चेव सरीसीवातईयपक्खी गाहा । एवं उववातेयव्वा सेसं तहेव । खुड्डागतेओगणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववातो जहा वक्कंतीए तेणं जंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ? गोयमा ! तिण्णि वा सत्त वा एक्कारस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति सेसं जहा कडजुम्मस्स । एवं जाव अहेसत्तमाए । खुड्डागदावरजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव खुड्डागकडजुम्मे णवरं परिमाणं दो वा छ वा दस वा चउद्दस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तं चेव । एवं जाव अहेसत्तमाए । खुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव खुड्डागकडजुम्मे णवरं परिमाणं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति सेसं तं चेव । एवं जाव अहेसत्तमाए । सेवं जंते ! जंते ! त्ति । जाव विहरइ इक्कतीसइमस्स पढमो ॥ ३१ ॥ १ ॥

(जहा वक्कंतीएत्ति) प्रज्ञापनाषष्ठपदे अर्थतश्चैवं तत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यो गर्भजमनुष्येभ्यश्च नारका उत्पद्यन्त इति विशेषस्तु असण्णी खलु पढममित्यादि ॥ गाथाभ्यामवसेयः (अज्झवसाणत्ति) अनेन (अज्झवसाण निव्वत्तिएणं करणोववाएणंति) सूचितम् ॥ एकत्रिंशशते प्रथमः ॥ ३१ ॥ १ ॥

कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं जहा ओहियगमो जाव णो परप्पओगेणं णवरं उववातो जह वक्कंतीए धूमप्पन्नपुढविणेरइयाणं सेसं तहेव धूमप्पन्नपुढविकण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णिरवसेसं । एवं तमाएवि एवं अहेसत्तमाएवि णवरं उववाओ सव्वत्थ जहा वक्कंतीए । कण्हलेस्सखुड्डागतेओगणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णवरं तिण्णि वा सत्त वा एक्कारस वा पण्णरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तहेव एवं जाव अहेसत्तमाएवि ॥ कण्हलेस्सखुड्डागदावरजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं चेव णवरं दो वा छ वा दस वा चउद्दस वा सेसं तं चेव । एवं धूमप्पनाए वि जाव अहेसत्तमाएवि कण्हलेस्सखुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! एवं चेव णवरं एक्को वा पंच वा णव वा तेरस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा सेसं तं चेव । एवं धूमप्पनाए वि तमाए वि । अहेसत्तमाएवि सेवं जंते ! जंते ! त्ति एगतीसइमस्स वितिओ उद्देसो सम्मत्तो ॥

द्वितीयस्तु कृष्णलेश्याश्रय सा च पञ्चमीषष्ठीसप्तमीष्वेव पृथिवीषु भवतीति कृत्वा सामान्यदण्डकस्तद्दण्डकत्रय चात्र भवतीति (उववाओ जहा वक्कंतीए धूमप्पभपुढविनेरइयाणंति) इह कृष्णलेश्या प्रक्रान्ता सा च धूमप्रभायां भवतीति तत्र ये जीवा उत्पद्यन्ते तेषामेवोत्पादो वाच्यस्ते वा सञ्ज्ञिसरीसृपपक्षिसिंहवर्ज्जा इति ॥ भ० ३१ श० २ उ० ।

णीललेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मा, णवरं उववाओ जो वालुयप्पभाए सेसं तं चेव वालुयप्पन्नपुढविणीललेस्सखुड्डागकडजुम्म णेरइयाणं एवं पंकप्पनाएवि । एवं चउसुवि जुम्मेसु णवरं परिमाणं जाणियव्वं, परिमाणं जहा कण्हलेस्सउद्देसए सेसं तहेव सेवं जंते ! भंते ! त्ति एक्कतीसइमस्स ततिओ उद्देसो सम्मत्तो ॥ ३१ ॥ ३ ॥

तृतीयस्तु नीललेश्याश्रयः सा च तृतीया चतुर्थीपञ्चमीष्वेव पृथिवीषु भवतीति कृत्वा सामान्यदण्डकस्तद्दण्डकत्रय चात्र भवतीति (उववाओ जो वालुयप्पभाएत्ति) इह नीललेश्या प्रक्रान्ता सा च वालुकाप्रभायां भवतीति तत्र ये जीवा उत्पद्यन्ते तेषामेवोत्पादो वाच्यः ते चासञ्ज्ञिसरीसृपवर्जा इति (परिमाणं जाणियव्वत्ति) चतुरष्टादशप्रभृतिकुल्लकक्रतयुग्मादिस्वरूपं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ३१ ॥ ३ ।

काउलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं जंते ! कओ उववज्जंति एवं जहेव कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मे, णवरं उववाओ जो रयणप्पभाए सेसं तहेव । रयणप्पभपुढविकाउलेस्सखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! कओ उववज्जंति । एवं सक्करप्पभाएवि । एवं वालुयप्पभाएवि एवं चउसुवि जुम्मेसु णवरं परिमाणं जाणियव्वं परिमाणं जहा कण्हलेस्स उद्देसए सेसं तं चेव । सेवं भंते ! भंते ! त्ति

चतुर्थस्तु कापोतलेश्याश्रयः सा च प्रथमाद्वितीयातृतीयास्वेव पृथिवीष्विति कृत्वा सामान्यदण्डको रत्नप्रभादिदण्डकत्रय चात्र सम्भवतीति (उववाओ जो रयणप्पभाएत्ति) सामान्यदण्डके रत्नप्रभावदुपपातो वाच्य शेष सूत्रसिद्धम् ॥ एकत्रिंश शत चतुर्थः समाप्तम् ॥ ३१ ॥ ४ ॥

भवसिद्धियखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति किं णेरइए एवं जहेव ओहिओ तहेव णिरवसेसं जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति रयणप्पभापुढविभवसिद्धियखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! एवं चेव णिरवसेसं एवं जाव अहेसत्तमाए । एवं भवसिद्धियखुड्डागतेओगणेरइयावि । एवं जाव कलिओगोत्ति णवरं परिमाणं जाणियव्वं परिमाणं पुव्वं भणियं जहा पढमुद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ ५ ॥ कण्हलेस्सभवसिद्धियखुड्डागकडजुम्मणेरइयाणं भंते! उववज्जंति । एवं जहेव ओहिओ कण्हलेस्सउद्देसए तहेव णिरवसेसं चउसुवि जुम्मेसु भाणियव्वो जाव अहेसत्तमपुढविकण्हलेस्सभवसिद्धियखुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति तहेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ ६ ॥ णीललेस्सभवसिद्धियचउसुवि जुम्मेसु तहेव भाणियव्वं जहा ओहियणीललेस्सउद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति । जाव विह-

रइ ॥ ३१ ॥ ७ ॥ काउलेस्सभवसिद्धियचउसुवि जुम्मेसु तहेव उववातेयव्वो जहेव ओहिए काउलेस्सउद्देसए सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥ ३१ ॥ ८ ॥ जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा भणिया एवं अभवसिद्धिएहिं चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा जाव काउलेस्सउद्देसओत्ति ॥ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ १२ ॥ एवं सम्मदिट्ठीहिं वि लेस्सासंजुत्तेहिं चत्तारि उद्देसगा कायव्वा णवरं सम्मदिट्ठी पढमबितिएसु दोसुवि उद्देसएसु अहेसत्तमपुढवीसु ण उववातेयव्वो सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ १६ ॥ मिच्छादिट्ठीहिंवि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा जहा भवसिद्धियाणं सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ २० ॥ एवं कण्हपक्खिएहिंवि लेस्सा संजुत्ता चत्तारि उद्देसगा कायव्वा जहेव भवसिद्धिएहिंवि सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ २४ ॥ सुक्कपक्खिएहिं एवं चेव चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा जाव वालुयप्पभापुढविकाउलेस्ससुक्कपक्खिए खुड्डागकलिओगणेरइयाणं भंते ! कओ उववज्जंति तहेव जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ ३१ ॥ २८ ॥ सव्वेवि एए अट्ठावीसउद्देसगा उववायसयं सम्मत्त ॥ ३१ ॥ २८ ॥

(१३) भव्यदेवादय कुत उत्पद्यन्ते।

भवियदव्वदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खमणुस्सदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! णेरइएहिंतो उववज्जंति तिरि०मणु०देवेहिंतो उववज्जंति भेदो जहा वक्कंतीए सव्वेसु उववातेयव्वा जाव अणुत्तरोववाइयत्ति, णवरं असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिगअंतरदीवसव्वट्ठसिद्धवज्जं जाव अपराजियदेवेहिंतोवि उववज्जंति। णरदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइए पुच्छा ? गोयमा ! णेरइएहिंतोवि उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० देवेहिंतोवि उववज्जंति। जइ णेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तमाए पुढविए णेरइएहिंतो वि उववज्जंति ? गोयमा ! रयणप्पभापुढविणेरइएहिंतोवि उववज्जंति णो सक्कर० जाव णो अहेसत्तमपुढविणेरइएहिंतोवि उववज्जंति जइ देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ? गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति वाणमंतर० एवं सव्वदेवेसु उववाएयव्वा वक्कंती भेदेण जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति ॥

(भेदोत्ति " जइ नेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो " इत्यादिभेदो वाच्य। (जहा वक्कंतीएत्ति) यथा प्रज्ञापनाषष्ठपदे ॥ नवरमित्यादि (असंखेज्जवासाउयत्ति) असंख्यातवर्षायुष्ककर्मभूमिजा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः (अ) असंख्यातवर्षायुष्काकर्मभूमिजाश्च मनुष्या एतेभ्य उद्धृत्य च देवे भ्यश्चोद्धृत्ता भव्यद्रव्यदेवा न भवन्ति भावदेवेभ्येव तेषामुत्पादात् सर्वार्थसिद्धकास्तु भव्यद्रव्यसिद्धा एव भवन्तीत्यत एतेभ्योऽन्ये सर्वे भव्यद्रव्यदेवतयोत्पादनीया इति ॥ भ० १२ श० ९ उ० ॥ (उत्पलजीवादीनामुपपातो वणस्सइ शब्दे)

धम्मदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो एवं वक्कंती भेदेणं सव्वेसु उववाएयव्वा जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति, णवरं तमा अहेसत्तमाए तेऊ वाऊ असंखेज्जवासाउय अकम्मभूमिगअंतरदीवगवज्जेसु। देवाधिदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति किं णेरइएहिंतो उववज्जंति पुच्छा गोयमा ! णेरइएहिंतो उववज्जंति, णो तिरि० णो मणु० देवेहिंतो उववज्जंति जइ णेरइए० एवं तिसु पुढविसु उववज्जंति सेसाओ खोडेयव्वाओ जइ देवेहिंतो विमाणिएसु सव्वेसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति सेसा खोडेयव्वा। भावदेवाणं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? एवं जहा वक्कंतीए भवणवासीणं उववाओ तहा भाणियव्व ॥

धर्मदेवसूत्रे नवरमित्यादि (तमत्ति) षष्ठपृथिवी तत उद्धृत्तानां चारित्रं नास्ति तथा अधःसप्तम्यास्तेजसो वायोरसंख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिजेभ्योऽकर्मभूमिजेभ्योऽन्तरद्वीपजेभ्यश्चोद्धृत्तानां मानुषत्वाभावान्न चारित्रं ततश्च न धर्मदेवत्वमिति देवातिदेवसूत्रे (तिसु पुढवीसु उववज्जंतित्ति) तिसृभ्य पृथिवीभ्य उद्धृत्ता देवातिदेवा उत्पद्यन्ते (सेसाओ खोडेयव्वाओत्ति) शेषा पृथिव्यो निषेधयितव्या इत्यर्थः ताभ्य उद्धृत्तानां देवातिदेवत्वस्याभावादिति " भावदेवाणमित्यादि " इह च बहुतरस्थानेभ्य उद्धृत्ता भवनवासितयोत्पद्यन्ते असञ्ज्ञिनामपि तेषूत्पादादत उक्तम् " जहावक्कंतीए भवणवासीण उववाओ " इत्यादि ॥ भ० १२ श० १० उ० ।

(१४) सतोऽसतो वा नैरयिकादय उत्पद्यन्ते ॥

सओ भंते ! णेरइया उववज्जंति असतो णेरइया उववज्जंति ? गंगेया ! सओ णेरइया उववज्जंति णो असतो णेरइया उववज्जंति एवं जाव वेमाणिया। सओ भंते ! णेरइया उव्वट्टंति असओ णेरइया उव्वट्टंति ? गंगेया ! सओ णेरइया उव्वट्टंति णो असओ णेरइया उव्वट्टंति एवं जाव वेमाणिया, णवरं जोइसियवेमाणिएसु चयंति भाणियव्वं। सओ भंते ! णेरइया उववज्जंति असओ णेरइया उववज्जंति सओ असुरकुमारा उववज्जंति एवं जाव सओ वेमाणिया उववज्जंति असओ वेमाणिया उववज्जंति, सओ णेरइया उव्वट्टंति असओ णेरइया उव्वट्टंति सओ असुरकुमारा उव्वट्टंति जाव सओ वेमाणिया चयंति असओ वेमाणिया चयंति ? गंगेया ! सओ णेरइया उववज्जंति णो असओ णेरइया उववज्जंति सओ असुरकुमारा उववज्जंति णो असओ असुरकुमारा उववज्जंति जाव सओ वेमाणिया उववज्जंति णो असओ वेमाणिया उववज्जंति सओ णेरइया उव्वट्टंति णो असओ णेरइया उव्वट्टंति जाव सओ वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति। से केण-

इणं जंते ! एवं वुच्चइ सन्नो णेरइया उववज्जंति णो असन्नो णेरइया उववज्जंति। जाव सन्नो वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति से णूणं ने गंगेया ! पासेणं अरहा पुरिसादाणिएणं सासए लोए वुइए अणाइए अणवदग्गे जहा पंचमे सए जाव जे लोकइ से लोए से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ जाव सन्नो वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति । सयं जंते ! एयं एवं जाणह उदाहु असयं असोच्चा एतेवं जाणह उदाहु सोच्चा सन्नो णेरइया उववज्जंति णो असन्नो णेरइया उववज्जंति जाव सन्नो वेमाणिया चयंति णो असन्नो वेमाणिया चयंति ? गंगेया ! सयं एते एव जाणामि णो असयं असोच्चा एते एवं जाणामि णो सोच्चा सन्नो णेरइया उववज्जंति णो असन्नो णेरइया उववज्जति जाव सन्नो वेमाणिया चयंति णो असओ वेमाणिया चयंति से केणट्ठेणं जंते ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव णो असओ वेमाणिया चयंति ? गंगेया ! केवलीणं पुरच्छिमेणं मियंपि जाणइ अमियंपि जाणइ दाहिणेणं एवं जहा सदुद्देसए जाव णिव्वुमे णाणे केवलिस्स से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव णो असन्नो वेमाणिया चयंति ॥

अथ नारकादीनां प्रकारान्तरेणोत्पादोद्वर्तने निरूपयन्नाह " सन्नोभंते " इत्यादि ॥ तत्र च (सन्नो नेरइया उववज्जंतित्ति) सतो विद्यमाना द्रव्यार्थतया न हि सर्वथैवासत्किंचिदुत्पद्यते सत्वादेव खरविषाणवत् सत्वं च तेषां जीवद्रव्यापेक्षया नारकपर्यायापेक्षया वा तथा हि भाविनारकपर्यायापेक्षया द्रव्यतो नारका सन्तो नारका उत्पद्यन्ते नारकायुष्कोदयाद्वा भावनारका एव नारकत्वेनोत्पद्यन्त इति। अथवा (सऽत्ति) विभक्तिविपरिणामात्सत्सु प्रागुत्पन्नेष्वन्ये समुत्पद्यन्ते नासत्सु लोकस्य शाश्वतत्वेन नारकादीनां सर्वदैव सद्भावादिति ॥ " से णूणं भे गंगेया " इत्यादि । अनेन च तत्सिद्धान्तेनैव स्वमत पोषित यत पार्श्वनाथार्हता शाश्वतो लोका उक्तोऽतो लोकस्य शाश्वतत्वात्सन्त एव सत्स्वेव वा नारकादय उत्पद्यन्ते च्यवन्ते चेति साध्वेवोच्यत इति। अथ गाङ्गेयो भगवतोऽतिशायिन ज्ञानसंपद संजातप्रत्ययन् विकल्पयन्नाह । " सयं भंते ! इत्यादि । स्वयमात्मना लिङ्गानपेक्षमित्यर्थः (एवंति) वक्ष्यमाणप्रकारं वस्तु (असयंति) अस्वयं परतो लिङ्गत इत्यर्थ । तथा (असोच्चत्ति) अश्रुत्वा आगमानपेक्षम् (एतेयंति) एतदेवमित्यर्थ (सोच्चत्ति) पुरुषान्तरवचनं श्रुत्वा आगमत इत्यर्थ [सयं एतेवं जाणामित्ति) स्वयमेतदेवं जानामि पारमार्थिकप्रत्यक्षसाक्षात्कृतसमस्तवस्तुस्तोमस्वभावत्वान्मम ॥ भ० ए श० ३२ उ० ।

सयं भंते ! णेरइया णेरइएसु उववज्जंति असयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति ? गंगेया ! सयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति असयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव उववज्जंति ? गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियत्ताए कम्मगुरुसंभारियत्ताए असुभाणं कम्माणं उदएणं असुभाणं कम्माणं विवागेणं असुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं णेरइया णेरइएसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं गंगेया ! जाव उववज्जंति। सयं भंते ! असुरकुमारा पुच्छा गंगेया ! सयं असुरकुमारा उववज्जंति णो असयं असुरकुमारा उववज्जंति । से केणट्ठेणं तं चेव जाव उववज्जंति ? गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मोवसमेणं कम्मविगइए कम्मविसोहीए कम्मविसुद्धीए सुभाणं कम्माणं उदएणं सुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं असुरकुमारा असुरकुमारत्ताए जाव उववज्जंति णो असयं असुरकुमारा जाव उववज्जंति से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति, एवं जाव थणियकुमारा । सयं भंते ! पुढविकाइया पुच्छा गंगेया ! सयं पुढवीकाइया उववज्जंति णो असयं जाव उववज्जंति से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति ? गंगेया ! कम्मोदएणं कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियत्ताए कम्मगुरुयसंभारियत्ताए सुभासुभाणं कम्माणं उदएणं सुभासुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभासुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं पुढवीकाइया जाव उववज्जंति णो असयं पुढवीकाइया जाव उववज्जंति, से तेणट्ठेणं जाव उववज्जंति एवं जाव मणुस्सा वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकुमारा से तेणट्ठेणं गंगेया ! एवं वुच्चइ सयं वेमाणिया जाव उववज्जंति णो असयं वेमाणिया जाव उववज्जंति ॥

(सयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति) स्वयमेव नारका उत्पद्यन्ते नास्वयं नेश्वरपारतन्त्र्यादित्यर्थः यथा कैश्चिदुच्यते । " अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वेति १ ईश्वरस्य हि कालादिकारणकलापव्यतिरिक्तस्य युक्तिभिर्विचार्यमाणस्याघटनादिति (कम्मोदएणंति) कर्म्मणामुदितत्वेन न च कर्म्मोदयमात्रेण नारकेषूत्पद्यन्ते केवलिनामपि तस्य भावादत आह (कम्मगुरुयत्ताएत्ति) कर्म्मणां गुरुकता महत्ता कर्म्मगुरुकता तया (कम्मभारियाएत्ति) भारोऽस्ति येषां तानि भारिकाणि तद्भावो भारिकता कर्मणां भारिकता कर्म्मभारिकता तया महदपि किञ्चिदल्पभारं दृष्टं तथाविधभारमपि च किंचिन्महदित्यत आह (कम्मगुरुसंभारियत्ताएत्ति) गुरो सम्भारिकस्य च भावो गुरुसम्भारिकता गुरुता सम्भारिकता चेत्यर्थः । कर्म्मणां गुरुसम्भारिकता कर्म्मगुरुसम्भारिकता तयाऽतिप्रकर्षावस्थयेत्यर्थः । एतच्च प्रय शुभकर्मापेक्षया स्यादत आह ॥ " असुभाणं " मित्यादि ॥ उदयप्रदेशतोऽपि स्यादत आह (विवागेणंति) विपाको यथा बद्धरसानुभूति स च मन्दोऽपि स्यादत आह (फलविवागेणंति) फलस्येवालाबुकादे विपाको विपच्यमानता रसप्रकर्षावस्था फलविपाकस्तेनासुरकुमारसूत्रे (कम्मोदएणंति) असुरकुमारोचितं कर्म्मणामुदयेन। वाचनान्तरे तु (कम्मोवसमेणंति) दृश्यते तत्र चाशुभकर्म्मणामुपशमेन सामान्यत (कम्मविगइएत्ति) कर्म्मणामशुभाना विगत्या विगमेन स्थितिमाश्रित्य (कम्मविसोहीएत्ति) रसमाश्रित्य (कम्मविसुद्धीएत्ति) प्रदेशानाश्रित्य एकार्था-

अन्ये शब्दा इति पृथिवीकायिकसूत्रे (सुभासुभाणति)शुभानां शुभवर्णगन्धादीनामशुभानां तेषामेकेन्द्रियजात्यादीनां वा । भ० ९ श० ३२ उ० ।

(१५) इदानीं षष्ठ द्वारमभिधित्सुराह । उद्धृत्य क गच्छन्ति ।

नेरइयाणं भंते ! अणतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जति किं नेरइएसु उववज्जति तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु देवेसु उववज्जति ? गोयमा ! नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति मणुस्सेसु उववज्जति नो देवेसु उववज्जंति । जदि तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदिय, जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति ? गोयमा ! नो एगिंदिएसु जाव नो चउरिंदिएसु उववज्जंति एवं जेहिंतो उववाओ भणिओ तेसु उवट्टणा वि भाणियव्वा नवरं सम्मुच्छिमेसु न उववज्जति, एवं सव्वपुढवीसु भाणियव्व नवरं अहेसत्तमाओ मणुस्सेसु न उववज्जति असुरकुमाराणं भंते ! अणतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जति गोयमा ! नो नेरइएसु तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति । जदि तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदिएसु जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति गोयमा ! एगिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति नो बेइंदिएसु जाव नो चउरिंदिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति । जदि एगिंदिएसु उववज्जंति किं पुढवीकाइयएगिंदिएसु जाव वणस्सइकाइयएगिंदिएसु उववज्जंति ? गोयमा ! पुढवीकाइयएगिंदिएसुवि आउक्काइयएगिंदिएसुवि उववज्जंति नो तेउकाइएसु नो वाउकाइएसु वणस्सइकाइएसु उववज्जंति गोयमा ! नो सुहुमपुढवीकाइएसु अपज्जत्तयबादरपुढवीकाइएसु उववज्जंति । जइ बादरपुढवीकाइएसु किं पज्जत्तगबादरपुढवीकाइएसु अपज्जत्तयबादरपुढवीकाइएसु उववज्जति ? गोयमा ! पज्जत्तएसु उववज्जंति नो अपज्जत्तएसु एवं आउवणस्सईसु भाणियव्वा पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सेसु य जहा नेरइयाणं उव्वट्टणा सम्मुच्छिमवज्जा तहा भाणियव्वा। एवं जाव थणियकुमारा। पुढवीकाइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं नेरइएसु जाव देवेसु उववज्जति ? गोयमा! नो नेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु उववज्जंति नो देवेसु उववज्जंति । एवं जहा एतेसिं चेव उववाओ तहा उव्वट्टणावि देववज्जा भाणियव्वा । एवं आउवणस्सइबेइंदियतेइंदियचउरिंदियावि । एवं तेउवाउवि नवरं मणुस्सवज्जेसु उववज्जंति। पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ? गोयमा ! नेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति जइ नेरइएसु उववज्जति किं रयणप्पभापुढवीनेरइएसु उववज्जंति जाव अहेसत्तमापुढवीनेरइएसु उववज्जंति ? गोयमा ! रयणप्पभापुढवीनेरइएसु उववज्जंति जाव अहसत्तमपुढवीनेरइएसु उववज्जंति । जइ तिरिक्खजोणिएसु उववज्जंति किं एगिंदिएसु जाव पंचिंदिएसु ? गोयमा ! एगिंदिएसुवि उववज्जंति जाव पंचिंदिएसुवि उववज्जंति एवं जहा तेसिं चेव उववाओ उव्वट्टणावि भाणियव्वा तहेव नवरं असंखेज्जवासाउएसुवि एते उववज्जंति किं सम्मुच्छिममणुस्सेसु उववज्जंति मणुस्सेसु उववज्जति गब्भवक्कंतियमणुस्सेसु उववज्जंति ? गोयमा ! दोहिंतोवि एवं जहा उववाओ भणिओ तहा उव्वट्टणावि भाणियव्वा नवरं अकम्मभूमिगअंतरदीवगअसंखेज्जवासाउएसु वि एते उववज्जंति त्ति भाणियव्व, जदि देवेसु उववज्जंति किं भवणवईसु उववज्जंति जाव किं वेमाणिएसु उववज्जंति ? गोयमा ! सव्वेसु देवेसु चेव उववज्जंति । जदि भवणवईसु उववज्जंति असुरकुमारेसु जाव थणियकुमारेसु उववज्जंति ! गोयमा ! सव्वेसु चेव उववज्जति एवं वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु निरंतरं उववज्जंति जाव सहस्सारोकप्पोत्ति । मणुस्साणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति नेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति ? गोयमा ! नेरइएसु वि उववज्जंति जाव देवेसु वि उववज्जंति, एवं निरंतरं सव्वेसु ठाणेसु पुच्छा, गोयमा ! सव्वेसु ठाणेसु उववज्जंति न कहिं वि पडिसेहो कायव्वो । जाव सव्वट्ठसिद्धदेवेसु वि उववज्जंति अत्थेगइया सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति वाणमंतरजोइसियवेमाणियसोम्मीसाणाय जहा असुरकुमारा नवरं जोइसियाण य वेमाणियाण य चयंतीति अभिलावो कायव्वो । सणंकुमारदेवाणं पुच्छा, गोयमा ! जहा असुरकुमारा नवरं एगिंदिएसु न उववज्जति, एवं जाव सहस्सारगदेवा । आणय जाव अणुत्तरोववाइया एवं चेव नवरं नो तिरिक्खजोणिएसु उववज्जति, मणुस्सेसु पज्जत्तगसंखेज्जवासाउय कम्मभूमिगगब्भवक्कतियमणुस्सेसु उववज्जति दारं ॥

पाठसिद्ध नवरमत्राप्येष सङ्क्षेपार्थः । नैरयिकाणां स्वभावादुद्वृत्तानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषूत्पाद अथ सप्तमपृथिवीनारकाणां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वेव असुरकुमारादिभवनव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां बादरपर्याप्तपृथिव्यब्वनस्पतिगर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु , पृथिव्यब्वनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ च तेजोवायूनां तिर्यग्गतावेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नारकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु नवरं वैमानिकेषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्याणां सर्वेष्वपि स्थानेषु सनत्कुमारादिदेवानां सहस्रारदेवपर्यन्तानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु आनतादिदेवतानां गर्भजसंख्येयवर्षायुष्कमनुष्येष्वेवेति । गत षष्ठ द्वारम् ॥ प्रज्ञा० ६ पद ॥

(१६) भव्यद्रव्यदेवादयः कुत उत्पद्यन्ते ॥

भवियदव्वदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति किं णेरइएसु उववज्जंति जाव देवेसु उववज्जंति ? गोयमा ! णो णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० देवेसु उववज्जंति जइ देवेसु उववज्जंति सव्वदेवेसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धत्ति । णरदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता पुच्छा गोयमा ! णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० णो देवेसु उववज्जंति जइ णेरइएसु उववज्जंति सत्तसुवि पुढवीसु उववज्जंति । धम्मदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता पुच्छा गोयमा ! णो णेरइएसु उववज्जंति णो तिरि० णो मणु० देवेसु उववज्जंति जइ देवेसु उववज्जंति किं भवणवासि दे० पुच्छा, गोयमा ! णो भवणवासिदेवेसु उववज्जंति, णो वाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवेसु उववज्जंति, सव्वेसु वेमाणिएसु उववज्जंति जाव सव्वट्ठसिद्धे उववज्जंति अत्थेगइया सिज्झंति अंतं करेंति । देवाहिदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ? गोयमा ! सिज्झंति जाव अंतं करेंति । भावदेवाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता पुच्छा, जहा वक्कंतीए असुरकुमाराणं उव्वट्टणा तहा भाणियव्वा । भवियदव्वदेवाणं भंते ! भवियदव्वदेवेत्ति कालओ केवचिरं होइ ॥

अथ तेषामेवोद्वर्त्तनां प्ररूपयन्नाह-" भवियदव्वे " त्यादि ॥ इह च भविकद्रव्यदेवानां भाविदेवभवस्वभावत्वान्नारकादिभवत्रयनिषेधः (णेरइएसु उववज्जंतित्ति) अत्यक्तकामभोगा नरदेवा नैरयिकेषूत्पद्यन्ते, शेषत्रये तु तन्निषेधस्तत्र च यद्यपि केचिच्चक्रवर्त्तिनो देवेषूत्पद्यन्ते तथापि ते नरदेवत्वत्यागेन धर्म्मदेवत्वप्राप्ताविति न दोषः (जहा वक्कंतीए असुरकुमाराणं उव्वट्टणा तहा भाणियव्वत्ति) असुरकुमारा बहुषु जीवस्थानेषु गच्छन्तीति कृत्वा तैरतिदेशः कृतः असुरादयो हीशानान्ता पृथिव्यादिष्वपि गच्छन्तीति ॥ भ०१२ श० ए उ० ।

(१७) देवो महर्धिको यावन्महेशाख्ये विशरीरेषूपपद्येत ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी देवेणं भंते ! महिड्ढीए जाव महेसक्खे अणंतरं चयं चइत्ता विसरीरेसु नागेसु उववज्जेज्जा ? हंता गोयमा ! उववज्जेज्जा, सेणं तत्थ अच्चियवंदियपूइयसक्कारियसम्माणिए दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सन्निहियपाडिहेरेयावि भवेज्जा ? हंता भवेज्जा । सेणं भंते ! तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा जाव अंतं करेज्जा ? हंता सिज्झेज्जा जाव अंतं करेज्जा । देवेणं भंते ! महिड्ढिए एवं चेव जाव विसरीरेसु मणीसु उववज्जेज्जा एवं चेव जहा नागाणं ॥

(विसरीरेसुत्ति) द्वे शरीरे येषां ते द्विशरीरास्तेषु ये हि नागशरीरं त्यक्त्वा मनुष्यशरीरमवाप्य सेत्स्यन्ति ते द्विशरीरा इति । (नागेसुत्ति सर्पेषु हस्तिषु वा (तत्थत्ति) नागजन्मनि यत्र वा क्षेत्रे जातः ॥ " अच्चियेत्यादि " इहार्चितादिपदानां पञ्चानां कर्म्मधारयस्तत्र चार्चितश्चन्दनादिना वन्दितः स्तुत्या पूजितः पुष्पादिना सत्कारितो वस्त्रादिना सम्मानितः प्रतिपत्तिविशेषेण (दिव्वेत्ति) प्रधानः । (सच्चेत्ति) स्वप्नादिप्रकारेण तदुपदिष्टस्यावितथत्वात् (सच्चोवाएत्ति) सत्यावपातः सफलसेव इत्यर्थः कुत एतदित्याह (सन्निहियपाडिहेरेत्ति) सन्निहितमदूरवर्त्तिप्रातिहार्यं पूर्वसङ्गतिकादिदेवताकृतं प्रतिहारकर्म यस्य स तथा (मणीसुत्ति) पृथिवीकायविकारेषु ॥

देवेणं भंते ! महिड्ढिए जाव विसरीरेसु रुक्खेसु उववज्जेज्जा एवं चेव णवरं इमं णाणत्तं जाव सन्निहियपाडिहेरे लाउल्लोइयमहइयावि भवेज्जा सेसं तं चेव जाव अंतं करेज्जा ॥

(लाउल्लोइयमहियत्ति) (लाइयति) छगणादिना भूमिकायाः समृष्टीकरणम् (उल्लोइयति) सेढिकादिना कुड्यानां धवलनमेतेनैव द्वयेन महितो यः स तथा एतच्च विशेषणं वृक्षस्य पीठापेक्षया, विशिष्टवृक्षा हि बद्धपीठा भवन्तीति ॥

अह भंते गोणंगुलवसभे कुक्कुडवसभे मंडुक्कवसभे एएणं णिस्सीला णिव्वया णिग्गुणा णिम्मेरा णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासा कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसं सागरोवमट्ठिइयंसि णरगंसि णेरइयत्ताए उववज्जेज्जा समणे भगवं महावीरे वागरेइ उववज्जमाणे उववन्नेत्ति वत्तव्वंसिया अह भंते ! सीहे वग्घे जहा उसप्पिणी उद्देसए जाव परस्सरे एएसिं णिस्सीला एवं चेव जाव वत्तव्वंसिया अह भंते ! ढंके कंके विलए मद्दुए सिखीए एए णं णिस्सीला सेसं तं चेव जाव वत्तव्वंसिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति । जाव विहरइ दुवालसमसयस्स य अट्ठमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १२ ॥

(गोणगुलवसभेत्ति) गोलाङ्गूलानां वानराणां मध्ये महान् स एव वा विदग्धो विदग्धपर्यायत्वाद्वृषभशब्दस्य एवं कुक्कुटवृषभोऽपि एवं मण्डूकवृषभोऽपीति (निस्सीलात्ति] समाधानरहिताः (निव्वयेत्ति) अणुव्रतरहिता (निगुणात्ति) गुणव्रतरहिताः (निम्मेरा) क्षमादिभिर्वा रहिताः " नेरइयत्ताए उववज्जेज्जा " इति प्रश्नः । इह च " उववज्जेज्जा " इत्येतदुत्तरं तस्य चासमञ्जसमाशङ्कमानस्तत्परिहारमाह " समणे " इत्यादि असमञ्जसत्वं च यत्र समये गोलाङ्गूलादयो न तत्र समये नारकास्ते अतः कथं ते नारकतयोत्पद्यन्ते इति वक्तव्यं स्यात् ? अत्रोच्यते श्रमणो भगवान् महावीरो न तु जमाल्यादिरेवं व्याकरोति यदुत उत्पद्यमानमुत्पन्नमिति वक्तव्यं स्यात्क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् अतस्ते गोलाङ्गूलप्रभृतयो नारकतयोत्पत्तुकामा नारका एवेति तथा व्यपदिश्यन्ते (नेरइयत्ताए उववज्जेज्जत्ति) (उस्सप्पिणी उद्देसएत्ति) सप्तमशतस्य षष्ठे इति द्वादशशतेऽष्टम ॥ भ० १२ श० ८ उ० ॥

(१८) नैरयिकादयः कथमुपपद्यन्ते ।

रायगिहे जाव एवं वयासी णेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति गोयमा ! से जहाणामए पवयमाणे अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं सेयकाले तं ठाणं विप्पजहित्ता

पुरिमं ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरति एवामेव ते वि जीवा पवओवि पवयमाणा अज्झवसाणणिव्वत्तिएण करणोवाएणं से य काले तं जव णिप्पजहित्ता पुरिसजवं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति ।

समनोद्देशके संयता भेदत उक्तास्तद्विपक्षत्ताद्यामयता भवन्ति ते च नारकादयस्तेषां च यथोत्पादो भवति तथाऽनेमोऽभिधीयत इत्येव सम्बन्धस्यास्येदमादिसूत्रम् " रायगिहे " इत्यादि [पवएत्ति] प्लवक उत्प्लवनकारी (पवमाणेत्ति) प्लवमान उत्प्लुतिं कुर्वन् (अज्झवसाणनिव्वत्तिएणंति) उत्प्लोतव्यं मयेत्येवंरूपाऽध्यवसायनिर्वर्तितेन (करणोवायेणंति) उत्प्लवनलक्षण यत्करणं क्रियाविशेष स एवोपाय स्थानान्तरप्राप्तौ हेतु करणोपायस्तेन (सयकालंत्ति) एष्यति काले विहरतीति योग किं कृत्वेत्याह (तं ठाणंति) यत्र स्थाने स्थितस्तत्स्थानं विप्रहाय त्यजनतस्त्यक्त्वा [पुरिमंति] पुरोवर्तिस्थानमुपसम्पद्य प्राप्य विहरतीति (एवामेवत्तेवित्ति) इत्यादि तिर्यगाज-नार्थ किमुक्त भवतीत्याह [पवओवि पवयमाणत्ति अज्झवसाणनिव्वत्तिएणंति] तथाविधाध्यवसायनिर्वर्तितेन [करणोपायेणंति] क्रियते विविधावस्था जीवस्यानेन क्रियते वा तदिति करणं कर्म प्लवकक्रियाविशेषं वा करणं करणमिव करणं स्थानान्तरप्राप्तिहेतुना साधर्म्यात्स एव तदेवोपाय करणोपायस्तेन [सं भवंति] मनुष्यादिभवं [पुरिमं भवति] प्राप्तव्यनारकभवमित्यर्थ [अज्झवसाणजोगनिव्वत्तिएणंति] अध्यवसान जीवपरिणामो योगश्च मन प्रभृतिव्यापारस्ताभ्यां निर्वर्तितो य स तथा तेन [करणोपाएणंति] करणोपायेन मिथ्यात्वादिना कर्मबन्धहेतुनेति ।

तेसि णं भंते जीवाणं कह सीहागती कहं सीहे गतिविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे बलवं एवं जहा चउद्दसमसए पढमुद्देसए जाव तिसमएणं वा विग्गहेणं उववज्जति । ते सिणं जीवाणं तहा सीहागई तहा सीहे गतिविसए पएणत्ते तेणं भंते ! जीवा कहं परजवियाउयं पकरेंति ? गोयमा ! अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं एवं खलु ते जीवा परजवियाउयं पकरेंति । तेसिणं भंते ! जीवा कहं गती पवत्तइ ? गोयमा ! आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं एवं खलु ते सिणं जीवाणं गती पवत्तइ तेणं भंते ! जीवा किं आइड्ढीए उववज्जति परिड्ढीए उववज्जंति गोयमा ! आइड्ढीए उववज्जंति णो परिड्ढीए उववज्जंति तेणं भंते ! जीवा किं आयकम्मुणा उववज्जंति परकम्मुणा उववज्जंति ? गोयमा ! आयकम्मुणा उववज्जंति णो परकम्मुणा उववज्जंति । तेणं भंते ! जीवा किं आयप्पओगेणं उववज्जंति परप्पओगेणं उववज्जंति ? गोयमा ! आयप्पओगेणं उववज्जंति णो परप्पओगेणं उववज्जंति। असुरकुमाराणं भंते ! कहं उववज्जंति जहा णेरइया । तहेव णिरवसेसं जाव णो परप्पओगेणं उववज्जंति एवं एगिंदियवज्जा जाव वेमाणिया एगिंदिया एवं चेव णवरं चउसमइओ विग्गहो सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ (पणवीसइमसयस्स अट्ठमो २५।८।) भवसिद्धियनेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहानामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति (पणवीसइमसयस्स णवमो ।२५।९।) अभवसिद्धयणेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिया सेवं भंते ! भंते ! त्ति (पणविसइमसयस्स दसमो । २५ । १० ।) सम्मद्दिट्ठीणेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं एगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए सेवं भंते ! भंते ! त्ति (पणवीसइमसयस्स एक्कारसमो ।२५।११।) मिच्छदिट्ठी णेरइयाणं भंते ! कहं उववज्जंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अवसेसं तं चेव एवं जाव वेमाणिए सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ। पणवीसइमसयस्स दुवालसमो ॥ भ० २५ श० १२ उ० ॥

(उप्पलजीवादीनामुपपातो उप्पल शब्दे)

(१७) समुद्घातविशेषणैकेन्द्रियाणाम् ॥

अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समोहणावेत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एगसमइएण वा दुसमइएण वा जाव उववज्जेज्जा एवं खलु गोयमा ! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ तं जहा उज्जुआयता सेढी एगओ वंका दुहओ वंका एगओ खुहा दुहओ खुहा । चक्कवाला अद्धचक्कवाला उज्जुआयया सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएण विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? । एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहे उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव उववज्जेज्जा ? । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमचरिमंते समोहए समोहणावेत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव विग्गहेणं उववज्जेज्जा ॥ २ ॥ एवं अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइओ पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहणावेत्ता पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते बादरपुढवीकाइएसु अपज्जत्तएसु उववाएयव्वा ॥ ३ ॥ ताहे

तेसु चेव पज्जत्तएसु ॥ ४ ॥ एवं आउकाइएसु वि अपज्जत्तएसु उववातेयव्वा । ताहे तेसु चेव पज्जत्तएसु, एवं आउकाइएसु वि चत्तारि आलावगा सुहुमेहिं अपज्जत्तएहिं ! ताहे पज्जत्तएहिं २ बायरेहिं अपज्जत्तएहिं ३ ताहे पज्जत्तएहिं ४ उववातेयव्वो एवं चेव सुहुमतेउकाइएहिं वि अपज्जत्तएहिं ताहे पज्जत्तएहिं उववातेयव्वो । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमं ते समोहए समो० जे भविए मणुस्सखेत्ते अपज्जत्तबादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा सेसं तं चेव एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइयत्ताए उववातेयव्वो वाउकाइएसु सुहुमबादरेसु जहा आउकाइएसु उववाइओ तहा उववातेयव्वो एवं वणस्सइकाइएसुवि । पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए एवं पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइएसु वि पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहणावेत्ता एए चेव कमेणं एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववाएयव्वो जाव बादरवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु वि ४० एवं अपज्जत्तए बादरपुढवीकाइओ वि । एवं पज्जत्तबादरपुढवीकाइओ वि । ८० । एवं आउकाइएसुवि चउसुवि गमएसु पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहयाए चेव वत्तव्वया, एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववाएयव्वो । १६० । सुहुमतेउकाइओवि अपज्जत्तओ पज्जत्तओ य एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववातेयव्वो । २०० । अपज्जत्तवायरतेउकाएणं भंते ! मणुस्सखेत्ते समोहए समो० जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा सेसं तहेव जाव से तेणट्ठेणं एवं पुढवीकाइएसु चउव्विहेसु वि उववातेयव्वो । एवं आउकाइएसु चउव्विहेसु तेउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य एवं चेव उववाएयव्वो । अपज्जत्तावादरतेउकाइएणं भंते ! मणुस्सखेत्ते समोहए समो० जे भविए मणुस्सखेत्ते अपज्जत्ता वायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कतिसमयसेसं तं चेव एवं पज्जत्तवायरतेउकाइयत्ताए उववाएयव्वो । वाउकाइयत्ताए वणस्सइकाइयत्ताए जहा पुढवीकाइएसुवि । तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो, एवं पज्जत्ता बादरतेउकाइओ वि समयखेत्ते समोहणावेत्ता एएसु वीसइठाणेसु उववातेयव्वो जहेव अपज्जत्तओ उववातिओ एवं सव्वत्थ वि बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य समयखेत्ते उववातेयव्वो, समोहणावियव्वा वि ।२४०। वाउकाइया ।३२०। वणस्सइकाइया य जहा पुढवीकाइया ।४००। तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो जाव पज्जत्ता बादरवणस्सइकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पज्जत्ताबादरवणस्सइकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कतिसमयसेसं तहेव जाव से तेणट्ठेणं अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए तेणं भंते ! कइसमइएणं सेसं तहेव णिरवसेसं एवं जहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते सव्वपदेसुवि समोहया पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातिए जे समयखेत्ते समोहया पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववाएयव्वा तेणेव गमएणं एवं एएणं दाहिणिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य समोहयाणं उत्तरिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातो, एवं चेव उत्तरिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य समोहियाणं दाहिणिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातेयव्वा, तेणेव गमएणं । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जेज्जा एवं जहेव रयणप्पभाए जाव से तेणट्ठेणं एवं एएणं कमेणं जाव पज्जत्तएसु सुहुमतेउकाइएसु अपज्जत्तएसु । सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता वायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमए पुच्छा, गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! पुच्छा एवं खलु गोयमा ! मए सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला । एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा । दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ! से तेणट्ठेणं एवं पज्जत्तएसुवि बादरतेउकाइएसु सेसं जहा रयणप्पभाए । जे वि बायरतेउकाइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य समयखेत्ते समोहया दोच्चाए पुढवीए पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते पुढविकाइएसु चउव्विहेसु आउकाइएसु चउव्विहेसु तेउकाइएसु दुविहेसु वाउकाइएसु चउव्विहेसु वणस्सइकाइएसु चउव्विहेसु उववज्जंति ते वि एवं चेव दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववातेयव्वा । बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य जाहे तेसु चेव उववज्जंति ताहे जहेव रयणप्पभाए तहेव एगसमइए दुसमइए तिसमइए विग्गहा भाणियव्वा, सेसं जहा

रयणप्पभाए तहेव णिरवसेसं जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वया भणिया एवं जाव अहे सत्तमाए भाणियव्वा ॥

कइविहेत्यादि। इदं च लोकनाडीं प्रस्तार्य भावनीयम् । [एगसमइएणवत्ति] एक समयो यत्रास्त्यसावेकसामायिकस्तेन । [विग्गहेणति] विग्रहो वक्र गतौ च तस्य सम्भवाकृतिरेव विग्रहः । विशिष्टो वा ग्रहो विशिष्टस्थानप्राप्तिहेतुभूता गतिर्विग्रहस्तेन तत्र [उज्जुआयएत्ति] यदा मरणस्थानापेक्षयोत्पत्तिस्थान समश्रेण्या भवति तदा ऋज्वायता श्रेणिर्भवति तथा च गच्छत एकसामयिकी गति स्यादित्यत उच्यते " एगसमइएणमित्यादि "यदा पुनर्मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानमेकप्रतरे विश्रेण्या वर्तते तदैकतो वक्रा श्रेणि स्यात्समयद्वयेन चोत्पत्तिस्थानप्राप्ति स्यादित्यत उच्यते "एगओ वकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएण विग्गहेणमित्यादि' यदा तु मरणस्थादुत्पत्तिस्थानमधस्तने वा प्रतरे विश्रेण्यां स्यात्तदा द्विवक्रा श्रेणि स्यात्समयत्रयेण चोत्पत्तिस्थानावाप्ति स्यादित्यत उच्यते " दुहओ वकाए " इत्यादि एव " आउकाइएसु वि चत्तारि आलावगा" इत्येतस्य विवरण " सुहूमेहीत्यादि " बादरतेजस्कायिकसूत्रे रत्नप्रभाप्रक्रमेऽपि यदुक्त [जे भविए मणुस्सखेत्तेत्ति] तद्वादरतेजसामन्यत्रोत्पातासम्भवादिति [वीससु ठाणेसुत्ति] पृथिव्यादय पञ्च सूक्ष्मवादरभेदाद् द्विधेति दश ते च प्रत्येक पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाद्विंशतिरिति इह चैकैकस्मिन् जीवस्थाने विंशतिर्गमा भवन्ति तदेव पूर्वान्तगमानां चत्वारि शतान्येव पश्चिमान्तादिगमानामपि ततश्चैव रत्नप्रभाप्रकरणे सर्वाणि षोडश शतानि गमानामिति शर्कराप्रभाप्रकरणे वादरतेजस्कायिकसूत्रे " दुसमइएण वेत्यादि " इह शर्कराप्रभापूर्वचरमान्तान्मनुष्यक्षेत्रे उत्पद्यमानस्य समश्रेणिर्नास्तीत्येगसमएणमितीह नोक्तम् 'दुसमएणमित्यादि' तु एकस्य वक्रस्य द्वयोर्वा सम्भवादुक्तमिति ॥

अथ सामान्येनाऽध क्षेत्रमूर्ध्वक्षेत्र वाऽऽश्रित्याह ।

अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! अहे लोयखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समो० जे भविए उड्ढलोए खेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा? गोयमा! तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा! अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएण अहोलोयखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहणिज्जे जे भविए उड्ढलोयखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए ? सेणं तिसमइएणं विग्गहेण उववज्जेज्जा जे भविए विसेढीओ उववज्जित्तए तेण चउसमइएणं विग्गहेण उववज्जेज्जा । से तेणट्ठेणं जाव उववज्जति । एवं पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए वि एवं जाव पज्जत्ता सुहुमतेउकाइयत्ताए वि ॥ अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते ! अहोलोग जाव समोहणित्ता जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता वादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएण विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं खलु गोयमा ! सए सत्त सेढीओ पण्णत्ताओ तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला एगतो वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएण विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं एवं पज्जत्तएसु वायरतेउकाइएसु वि उववातेयव्वो । वाउकाइयवणस्सइकाइयत्ताए चउक्कएणं भेदेणं जहा आउकाइयत्ताए तहेव उववातेयव्वो २० । एवं जहा अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयस्स गमओ भणिओ एवं पज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयस्स वि भाणियव्वो तहेव वीसाए ठाणेसु उववाएयव्वो । ४० । अहेलोयखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते समोहओ एव वायरपुढवीकाइयस्सवि अपज्जत्तगस्स पज्जत्तगस्स य भाणियव्वं । एवं आउकाइयस्स चउव्विहस्सवि भाणियव्वं । सुहुमतेउकाइयस्स दुविहस्सवि एव चेव अपज्जत्ता वादरतेउकाइएणं समयखेत्ते समोहए समोह० जे भविए उड्ढलोगखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा!दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा । से केणट्ठेण अट्ठो जहेव रयणप्पभाए तहेव सत्तसेढीए । एवं जाव अपज्जत्ता वादरतेउकाइएणं भंते ! समयखेत्ते समोहए समो० जे भविए उड्ढलोगखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से ण भंते ! सेसं तं चेव । अपज्जत्ता वादरतेउकाइएणं भंते ! समयखेत्ते समोहए समो० जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्ता वादरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से ण भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ? गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! अट्ठो जहेव रयणप्पभाए तहेव सत्तसेढीए । एवं पज्जत्ता वादरतेउकाइयत्ताएवि । वाउकाइएसु य वणस्सइकाइएसु जहा पुढवीकाइएसु उववातिओ तहेव चउक्कएणं भेदेणं उववातेयव्वो । एव पज्जत्ता वादरतेउकाइओवि । एएसु चेव ठाणेसु उववातेयव्वो । वाउकाइयवणस्सइकाइयाणं जहेव पुढवीकाइओ उववाइओ तहेव भाणियव्वो । अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएण भंते ! एत्थवि लोगखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समो० जे भविए अहेखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जिए से ण भंते ! कतिसमए ? एव उड्ढलोगखेत्तणालीए वाहिरिल्ले खेत्ते समोहयाणं अहेलोयखेत्त-

णालीए बाहिरिल्ले खेत्ते उववज्जयाणं सो चेव गमओ णिरवसेसो भाणियव्वो जाव वायरवणस्सइकाइओ अपज्जत्तओ वायरवणस्सइकाइएसु अपज्जत्तएसु उववाइओ। अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइयाणं भंते! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए। से णं भंते! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति? गोयमा! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ एगसमइएण वा जाव उववज्जेज्जा? एवं खलु? गोयमा! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला। उज्जुआयताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा। एगाओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा। दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे जे भविए एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए सेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा। जे भविए विसेढी उववज्जित्तए सेणं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा। एवं अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइओ लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चेव चरिमंते अपज्जत्तएसु य सुहुमपुढवीकाइएसु सुहुमआउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु सुहुमतेउकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य सुहुमवाउकाइएसु य अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य वादरवाउकाइएसु अपज्जत्तएसु य पज्जत्तएसु य सुहुमवणस्सइकाइएसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य वारससु वि ठाणेसु एएणं चेव कमेणं भाणियव्वो, सुहुमपुढवीकाइओ पज्जत्तओ एवं चेव णिरवसेसे वारससु वि ठाणेसु उववातेयव्वो।२४। एवं एएणं गमएणं जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तओ। सुहुमवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु चेव भाणियव्वो! अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमते समोहए समोह० जे भविए लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते! कइ समइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा? गोयमा! दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जंति। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ एवं खलु गोयमा! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ, तं जहा उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला। एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा। दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे जे भविए एगपयरंसि अणुसेढी उववज्जित्तए सेणं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा। जे भविए विसेढीओ उववज्जित्तए सेणं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा! एएणं गमएणं पुरच्छिमिल्ले चरिमंते उववातेयव्वो जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तसुहुमवणस्सइएसु चेव सव्वेसिं दुसमइओ तिसमइओ चउसमइओ विग्गहो भाणियव्वो। अपज्जत्तो सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समो० २ जे भविए लोगस्स पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा? गोयमा! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएणं वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा। से केणट्ठेणं एवं जहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहया पुरच्छिमिल्ले चेव चरिमंते उववातिया तहेव पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहया पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते उववातेयव्वा। सव्वे अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइएणं भंते! लोगस्स पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहए समो० जे भविए लोगस्स उत्तरिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उव० सेणं भंते! एवं जहा पुरच्छिमिल्ले चरिमंते समोहओ दाहिणिल्ले उववाइओ तहा पुरच्छिमिल्ले समोहओ उत्तरिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो। अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयाणं भंते! लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते समोहओ जे भविए लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए एवं जहा पुरच्छिमिल्ले समोहओ पुरच्छिमिल्ले चेव उववातिओ तहेव दाहिणिल्ले समोहओ तहेव दाहिणिल्ले चेव उववाएयव्वो तहेव णिरवसेसं जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तओ सुहुमवणस्सइकाइएसु चेव पज्जत्तएसु दाहिणिल्ले चरिमंते उववाइओ एवं दाहिणिल्ले समोहओ पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो, णवरं दुसमइए तिसमइए चउसमइओ विग्गहो सेसं तहेव दाहिणिल्ले समोहओ उत्तरिल्ले चरिमंते उववाएयव्वो जहेव सट्ठाणे तहेव एगसमइय दुसमइय तिसमइय चउसमइय विग्गहो पुरच्छिमिल्ले जहा पच्चच्छिमिल्ले तहेव दुसमइय तिसमइय पच्चच्छिमिल्ले चरिमंते समोहयाणं पच्चच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले उववज्जमाणाणं एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव। पुरच्छिमिल्ले जहा सट्ठाणे। दाहिणिल्ले एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव उत्तरिल्ले समोहयाणं उत्तरिल्ले चेव उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले समोहयाणं पुरच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं एवं चेव णवरं एगसमइओ विग्गहो णत्थि, उत्तरिल्ले समोहयाणं दाहिणिल्ले उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे उत्तरिल्ले समोहयाणं पच्चच्छिमिल्ले उववज्जमाणाणं एगसमइओ विग्गहो णत्थि सेसं तहेव जाव सुहुमवणस्सइकाइओ पज्जत्तओ सुहुमवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु चेव। भ०॥

" अपज्जत्ता सुहुमेत्यादि" (अहेलोयखेत्तणालीएत्ति) । अधोलोकलक्षणे क्षेत्रे या नाडी त्रसनाडी सा अधोलोकक्षेत्रनाडी तस्या एवमूर्ध्वलोकक्षेत्रनाड्यपि (तिसमइएणवत्ति) अधोलोकक्षेत्रनाड्या बहिः पूर्वादिदिशि मृत्वा एकेन नाडीमध्ये प्रविष्टो द्वितीये समये ऊर्ध्वं गतस्तत एकप्रतरे पूर्वस्यां पश्चिमायां वा यदोत्पत्तिर्भवति तदा तु श्रेण्यां गत्वा तृतीयसमये उत्पद्यत इति । (चउसमइएणवत्ति) यदा नाड्या बहिर्वायव्यादिविदिशि मृतस्तदैकेन समयेन पश्चिमायामुत्तरस्या वा गतो द्वितीयेन नाड्यां प्रविष्टस्तृतीये ऊर्ध्वं गतश्चतुर्थे तु श्रेण्यां गत्वा पूर्वादिदिश्युत्पद्यत इति । इद च प्रायो वृत्तिमङ्गीकृत्योक्तमन्यथा पञ्चसामायिक्यपि गति सम्भवति यदाऽधोलोककोणादूर्ध्वलोककोण एवोत्पत्तव्य भवतीति । भवन्ति चात्र गाथा । " सुत्ते चउसमयाओ, नत्थि गईओ पराविं णिद्दिट्ठा । जुज्जइ य पचसमया, जीवस्स गई इहलोए ॥१॥ जो तमतमविदिसाए, समोहओ बंभलोगविदिसाए । उववज्जई गईए, सो नियमा पचसमयाए ॥ २ ॥ उज्जुया य तेगवका, दुहओ वका गई वि णिद्दिट्ठा । जुज्जति यति चउवका, विनाम चउ पच समयाए ॥३ ॥ उववाया भावाओ, न पच समया ऽहवा न सत्ताविं । भणिया जह चउसमया, महल्लबंधेन सत्ताचिंत्ति ॥ ४ ॥ " " अपज्जत्ता वायरतेउकाइएणमित्यादौ "(दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जत्ति) एतस्येयं भावना समयक्षेत्रादसावेकेन समयेनोर्ध्वं गतो द्वितीयेन तु नाड्या बहिर्दिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानमिति । तथा समयक्षेत्रादेकेनोर्ध्वं याति द्वितीयेन तु नाड्या बहि पूर्वादिदिशि तृतीयेन विदिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानमिति । अथ लोकचरमान्तमाश्रित्याह ' अपज्जत्ता सुहुमपुढवीकाईएण भंते ' लोगस्सेत्यादि " । इह च लोकचरमान्ते बादराः पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजोवनस्पतयो न सन्ति सूक्ष्मास्तु पञ्चापि सन्ति बादरवायुकायिकाश्चेति, पर्याप्तापर्याप्तभेदेन द्वादश स्थानान्यनुसर्तव्यानीति । इह च लोकस्य पूर्वचरमान्तात् पूर्वचरमान्ते उत्पद्यमानस्यैकसमयादिका चतुःसमयान्ता गति सम्भवत्यनुश्रेणिविश्रेणिसम्भवात् । भ० ३४ श० १ उ० ।

[२०] पृथ्वीकायादीनां समवहत्य देवलोकेषूत्पाद ॥

पुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य अतरा समोहए समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! किं पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा पुव्विं आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुव्विं वा उववज्जित्ता एवं जहा सत्तरसमसए छट्ठुद्देसए जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पुव्विं वा उववज्जेज्जा णवरं तेहिं संपाउणिज्जा इमेहिं आहारो भण्णइ सेसं तं चेव । पुढवीकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए पुढवीए अंतरा समोहए जे भविए ईसाणे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए । एवं चेव जाव ईसिप्पब्भाराए उववाएयव्वो । पुढवीकाइएणं भंते ! सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए पुढवीए अतरा समोहए समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे जाव ईसिप्पब्भाराए । एवं एएण कमेण जाव तमाए अहेसत्तमाए पुढवीए अतरा समोहए समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे जाव ईसिप्पब्भाराए उववाएयव्वो । पुढवीकाइएणं भंते ! सोहम्मीसाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव णिक्खेवओ । पुढवीकाइएणं भंते ! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए । एवं चेव एवं जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो । एवं सणंकुमारमाहिंदाणं बंभलोगस्स कप्पस्स अंतरा समोहए समोहइत्ता पुणरवि जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो । एवं बंभलोगस्स लंतगस्स य कप्पस्स अंतरा समोहए पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं लंतगस्स महासुक्कस्स कप्पस्स अंतरा समोहए पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं महासुक्कस्स सहस्सारस्स य कप्पस्स अंतरा पुणरवि जाव अहेसत्तमाए, एवं सहस्सारस्स य आणयपाणयकप्पाणं अंतरा, पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एव आणयपाणयआरणअच्चुताण य कप्पाणं अंतरा, पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं आरणअच्चुताणं । गेवेज्जगविमाणाण य अंतरा पुणरवि जाव अहे सत्तमाए एवं गेवेज्जगविमाणाणं अणुत्तरविमाणाण य अंतरा पुणरवि जाव अहेसत्तमाए एवं अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पब्भाराए य पुणरवि जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो । आउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए य सक्करप्पभाए य पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं जहा पुढवीकाइयस्स जाव से तेणट्ठेण एवं पढमा दोच्चाणं अंतरा समोहओ जाव ईसिप्पब्भाराए उववाएयव्वो । एवं एएणं कमेणं जाव तमाए अहेसत्तमाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जाव ईसिप्पब्भाराए उववाएयव्वो । आउकाइयत्ताए आउकाइयाएणं भंते ! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमारमाहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिघणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं तं चेव एव एएहिं चेव अंतरे समोहइत्ताओ जाव अहेसत्तमाए पुढवीए घणोदधिघणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववाएयव्वो, एव जाव अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पभाराए पुढवीए अंतरा समोहए जाव अहेसत्तमाए घणोदधिघणोदधिवलएसु उववाएयव्वो २ वाउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए एव जहा सत्तरसमसए वाउकाइयउद्देसए तहा इहवि णवरं अंतरेसु समोहणा वेयव्वो सेसं त चेव जाव

अणुत्तरविमाणाणं ईसिप्पभाराए य पुढवीए अंतरा समोहए समोहइत्ता जे भविए घणवाततणुवातघणवातवलएसु वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेसं तं चेव जाव से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ वीसइमस्स छट्ठो उद्देसो सम्मत्तो ॥ २० ॥ ६ ॥

पञ्चमे पुद्गलपरिणाम उक्तः षष्ठे तु पृथिव्यादिजीवपरिणामोऽभिधीयत इत्येवं सम्बद्धस्यास्येदमादिसूत्रम् "पुढवीत्यादि" (एवं जहा सत्तरसमसए छट्ठुद्देसेत्ति) । अनेन च यत्सूचितं तदिदं "पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा पुव्विं वा आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जेत्यादि" । अस्य चायमर्थः—यो गेन्दुकसन्निभसमुद्घातगामी स पूर्वं समुत्पद्यते तत्र गच्छतीत्यर्थः पश्चादाहारयति शरीरप्रायोग्यान्पुद्गलान् गृह्णन् गृह्णातीत्यर्थः अत उच्यते (पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जत्ति) यः पुनरीलिकासन्निभसमुद्घातगामी स पूर्वमाहारयति उत्पत्तिक्षेत्रे प्रदेशप्रक्षेपणेनाहारं गृह्णातीति तत्समनन्तरञ्च प्राक्तनशरीरस्तु प्रदेशात्पत्तिक्षेत्रे संहरति अत उच्यते (पुव्विं आहारित्ता पच्छा उववज्जेज्जत्ति) विंशतितमशते षष्ठ उद्देशः ।

पुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए से भंते ! किं पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जा पुव्विं वा संपाउज्जित्ता पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुव्विं वा उववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जा पुव्विं वा संपाउणेत्ता पच्छा उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं जाव पच्छा उववज्जेज्जा ? गोयमा ! पुढवीकाइयाणं तओ समुग्घाया पण्णत्ता तं जहा वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणांतियसमुग्घाए । मारणांतियसमुग्घाएणं समोहणमाणे देसेणं वा समोहणइ सव्वेण वा समोहणइ, देसेण समोहणमाणे पुव्विं संपाउणित्ता पच्छा उववज्जिज्जा सव्वेण समोहणमाणे पुव्विं उववज्जिज्जा पच्छा संपाउणेज्जा से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा । पुढवीकाइयाणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव समोहए समोहएत्ता जे भविए ईसाणे कप्पे पुढवी एवं चेव ईसाणेवि । एवं अच्चुयगेवेज्जविमाणे अणुत्तरविमाणे ईसिप्पभाराए य एवं चेव पुढवीकाइयाणं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए समोहए समोहएत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढवीए एवं जहा रयणप्पभाए पुढवीकाइओ उववाइओ एवं सक्करप्पभाए पुढवीकाइओ उववाएयव्वो जाव ईसिप्पभाराए एवं जहा रयणप्पभाए वत्तव्वया भणिया, एवं जाव अहे सत्तमाए समोहए ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स छट्ठो ॥ १७ ॥ ६ ॥) पुढवीकाइएणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! किं सेसं तं चेव जहा रयणप्पभाए पुढवीकाइओ सव्वकप्पेसु जाव ईसिप्पभाराए ताव उववाइओ, एवं सोहम्मपुढविकाइओवि सत्तसु पुढवीसु उववाएयव्वो तहा जाव अहे सत्तमाए एवं जहा सोहम्मपुढवीकाइओ सव्वपुढवीसु उववाइओ एवं जाव ईसिप्पभारापुढवीकाइओ सव्वपुढवीसु उववाएयव्वो जाव अहेसत्तमाए सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स सत्तमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ ७ ॥) आउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए समोहए समोहइत्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए एवं जहा पुढवीकाइओ तहा आउकाइओवि सव्वकप्पेसु जाव ईसिप्पभाराए तहेव उववाएयव्वो एवं जहा रयणप्पभा आउकाइओ उववाइओ तहा अहेसत्तमा पुढवी आउकाइओ उववाएयव्वो जाव ईसिप्पभाराए सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स अट्ठमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ ८ ॥) आउकाइएणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहएत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! सेसं तं चेव एवं जाव अहे सत्तमाए जहा सोहम्मआउकाइओ एवं जाव ईसिप्पभाराए आउकाइओ जाव अहेसत्तमाए उववातेयव्वो सेव भंते ! भंते ! त्ति ॥ (सत्तरसमस्स य णवमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ ९ ॥) वाउकाइएणं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव जे भविए सोहम्मे कप्पे वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं जहा पुढवीकाइओ तहा वाउकाइओवि णवरं वाउकाइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता तं जहा वेदणासमुग्घाए जाव वेउव्वियसमुग्घाए मारणांतियसमुग्घाएणं समोहणमाणे देसेण वा समोहए सेसं तं चेव जाव अहे सत्तमा समोहयाओ ईसिप्पभाराए उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स य दसमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ १०) वाउकाइएणं भंते ! सोहम्मे कप्पे समोहए समोहएत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए घणवाए तणुवाए घणवायवलएसु तणुवायवलएसु वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए सेणं भंते ! सेसं तं चेव एवं जहा सोहम्मकप्पआउकाइओ सत्तसुवि पुढवीसु उववाइओ एवं जाव ईसिप्पभाराए वाउकाइओ अहेसत्तमाए जाव उववाएयव्वो सेवं भंते ! भंते ! त्ति (सत्तरसमस्स एकारसमो उद्देसो सम्मत्तो ॥ १७ ॥ ११ ॥)

(समोहएत्ति) समवहतः कृतमारणान्तिकसमुद्घातः (उववज्जित्तित्ति) उत्पादक्षेत्रं गत्वा (संपाउणेज्जत्ति) पुद्गलग्रहणं कुर्यात् उत व्यत्यय इति प्रश्नः (गोयमा ! पुव्विंवाउववज्जित्ता पच्छा संपाउणेज्जत्ति) मारणान्तिकसमुद्घातान्निवृत्य यदा प्राक्तनशरीरस्य सर्वथा त्यागात् गेन्दुकगत्योत्पत्तिदेशं गच्छति तदोच्यते पूर्वमुत्पद्य पश्चात्संप्राप्नुयात् पुद्गलान् गृह्णीयात् आहारयेदित्यर्थः । (पुव्विं वा संपाउणित्ता पच्छा उववज्जाति) यदा मारणान्तिकसमुद्घातगत एव म्रियते ईलिकागत्योत्पादस्थानं याति तदेत्य-

ते पूर्वं सम्प्राप्य पुद्गलान् गृहीत्वा पश्चात् उत्पद्येत प्राक्तनशरीरस्थजीवप्रदेशसंहरणत समस्तजीवप्रदेशैरुत्पत्तिक्षेत्रगतो भवेदिति जाव (देसेण वा समोहणइ सव्वेण वा समोहणइ त्ति) यदा मारणान्तिकसमुद्घातगतो म्रियते तदेलिकागत्योत्पत्तिदेश प्राप्नोति, तत्र च जीवदेशस्य पूर्वदेह एव स्थितत्वात्, देशस्य चोत्पत्तिदेशे प्राप्तत्वात्, देशेन समवहन्तीत्युच्यते यदा तु मारणान्तिकसमुद्घातात्प्रतिनिवृत्त सन् म्रियते तदा सर्वप्रदेशसंहरणतो गेन्दुकगत्योत्पत्तिदेशप्राप्तौ सर्वेण समवहत इत्युच्यते तत्र च देशेन समवहन्यमान ईलिकागत्या गच्छतीत्यर्थ पूर्वं सम्प्राप्य पुद्गलान् गृहीत्वा पश्चादुत्पद्यते, सर्वात्मनोत्पादक्षेत्रे आगच्छति (सव्वेण समोहणमाणेत्ति) गेन्दुकगत्या गच्छतीत्यर्थ पूर्वमुत्पद्य सर्वात्मनोत्पाददेशमासाद्य पश्चात् (सपाउणेज्जत्ति) पुद्गलग्रहणं कुर्यादिति । सप्तदशशते षष्ठ । १७ । ६ । शेषास्तु (७ । ८ । ९ । १० । ११ । सुगमा एव) भ० १७ श० ।

[२१] नैरयिकादयो नैरयिकादिषूपपद्यन्ते ॥

नेरइयाणं भंते नेरइएसु उववज्जइ अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ? गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ एवं जाव वेमाणियाणं ॥

अस्य चायमभिसम्बन्धो द्वितीयोद्देशके नारकादीनां लेश्यापरिसंख्यानमल्पबहुत्वमर्द्धिकत्वं चोक्तमिह तु तेषामेव नारकादिजीवाना तास्ता लेश्या किमुपपातक्षेत्रोपपन्नानामेव भवन्ति उत विग्रहेऽपीत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं प्राक् तावन्नयान्तरमाश्रित्य नारकादिव्यपदेशं पृच्छति "नेरइयाणं भंते ! नेरइएसु उववज्जइ अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ " इति । इदं च प्रश्नसूत्रं सुगम भगवानाह गौतम ! नैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते नो नैरयिकोऽनैरयिकेषु कथमिति चेदुच्यते-इह यस्मान्नारकादिभवोपग्राहकमायुरेव न शेषं तथा हि नारकायुष्युदयमागते नारकभवो भवति मनुष्यायुषि मानुषभव इत्यादि ततो नारकाद्यायुर्वेदनप्रथमसमय एव नारकादिव्यपदेश लभते एतच्च ऋजुसूत्रनयदर्शन तथा च नयविद्भि ऋजुसूत्रनयनिरूपणं कुर्वद्भिरिदमुक्तम्। "पलाल न दहत्यग्नि-र्भिद्यते न घट क्वचित् । नास्तित्वे निष्क्रमोऽस्तीह, न च शून्यं प्रविश्यते ॥ नारकव्यतिरिक्तश्च, नरके नोपपद्यते । नारकान्नारकश्चास्य, न कश्चिद्विप्रमुच्यते ॥ १ ॥ " इत्यादि [एव जाव वेमाणिए इति] एव नैरयिकोक्तप्रकारेण तावद्वक्तव्य यावद्वैमानिको वैमानिकविषय सूत्रं तच्च सुगमत्वात् स्वय भावनीयम् ॥

अधुना उद्वर्तनाविषय नैरयिकेषु सूत्रमाह ॥

नेरइयाणं भंते ! नेरइए हिंतो उववट्टइ अनेरइए नेरइएहिंतो उववट्टइ ? गोयमा ! नेरइए नेरइएहिंतो उववट्टइ न अनेरइए नेरइएहिंतो उववट्टइ एवं जाव वेमाणिए नवरं जोइसियवेमाणिएसु च यति अभिलावो कायव्वो ॥

एतदपि ऋजुसूत्रनयदर्शनेन वेदितव्य तथा हि परभवायुष्युदयमागते तत उद्वर्तते यद्भवायुश्च उदयमागत तेन भवेन व्यपदेशो यथा नारकायुष्युदयमागते नरकभवे न नारक इति ततो नैरयिकेभ्यो नैरयिक एवोद्वर्तते तेन नैरयिक इति एव चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावत्सूत्रं वक्तव्य यावद्वैमानिकविषये च " चयइ " इत्यादि अभिलाप कर्त्तव्यस्तस्य उद्वर्तनस्य च्यवनमिति प्रसिद्धे । तथा चाह " एव जाव वेमाणिए नवरं " मित्यादि । अथ कृष्णलेश्याविषयसुत्पत्तौ सूत्रमाह ।

से नूणं भंते ! कण्हलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेस्सेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेसेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं नीललेसावि एवं काउलेसावि एवं असुरकुमाराणवि जाव थणियकुमारा णवरं तेउलेस्सा अब्भहिया ॥

" से नूणं भंते " इत्यादि से शब्दोऽथशब्दार्थ स चेह प्रश्ने नून निश्चितमेतत् भदन्त ! कृष्णलेश्यो नैरयिक कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषु मध्ये उत्पद्यते । तेभ्यश्च कृष्णलेश्येभ्यो नैरयिकेभ्य उद्वर्तमान कृष्णलेश्य एवोद्वर्तते एतदेव निश्चयदार्ढ्योत्पादनार्थं प्रकारान्तरेणाह । यल्लेश्य उत्पद्यते तल्लेश्य उद्वर्तते न लेश्यान्तरगत इति भगवानाह " हंता गोयमे " त्यादि हन्तेत्यनुमतौ अनुमतमेतत् मम। गौतम ! कण्हलेसेसु नेरइएसु इत्यादि । अथ कथं कृष्णलेश्य सन् कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषूत्पद्यते न लेश्यान्तरोपेत उच्यते इह तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्योऽबद्धायुष्कतया नरकेषूत्पत्तुकामो यथाक्रम तिर्यगायुषि मनुष्यायुषि च साकल्येनाक्षीणेऽन्तर्मुहूर्त्तशेषे यल्लेश्येषु नरकेषूत्पत्स्यते तद्गतलेश्या परिणमति ततस्तेनैवाप्रतिपतितेन परिणामेन नरकायु प्रतिसवेदयते तत उच्यते कृष्णलेश्य कृष्णलेश्येषु नैरयिकेषूत्पद्यते न लेश्यान्तरयुक्त । अथ कथं कृष्णलेश्य एवोद्वर्तते ? उच्यते देवनैरयिकाणा हि लेश्यापरिणाम आभवक्षयाद्भवति एतच्च प्रागेव प्रपञ्चत उपपादितमेव नीललेश्याविषयं कापोतलेश्याविषय च सूत्रं वक्तव्यमेवमसुरकुमारादीनामपि स्तनितकुमारावसानानां वक्तव्य नवरं तेजोलेश्यासूत्रं तत्राभ्यधिकमभिधेय तेजोलेश्याया अपि तेषां भावात्।

अधुना पृथिवीकायिकेषु कृष्णलेश्याविषय सूत्रमाह ॥

से नूणं भंते ! कण्हलेसे पुढवीकाइए कण्हलेसेसु पुढवीकाइएसु उववज्जइ कण्हलेसे उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नीललेसे उववट्टइ सिय काउलेसे उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ सिय तल्लेसेसु उववट्टइ । एवं नीललेसाकाउलेसासु वि। से नूणं भंते ! तेउलेसे पुढविकाइए तेउलेस्सेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ पुच्छा हंता गोयमा ! तेउलेस्से पुढविकाइए तेउलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, सिय कण्हलेस्से उववट्टइ सिय नीललेसे उववट्टइ सिय काउलेसे उववट्टइ तेउलेसे उववज्जइ णो चेवेणं तेउलेसे उववट्टइ । एवं आउकाइयवणस्सइकाइयावि । तेउवाऊ एवं चेव नवरं एएसिं तेउलेस्सा नत्थि । बितिचउरिंदिया एवं चेव तिसुवि लेसासु। पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणूसा जहा पुढविकाइया आदिल्लियासु तिसु लेसासु भणिया तहा छसु वि लेसासु भाणियव्वा नवरं छप्पि लेस्सा उच्चारेयव्वाओ । वाणमंतरा जहा असुरकुमारा से नूणं भंते ! तेउलेस्से जोइसिए तेउलेसेसु जोइसिएसु उववज्ज-

इ जहेव असुरकुमाराणं। एवं वेमाणियाण वि नवरं दोण्ह वि चयतीति अभिलावो । से नूणं भंते! कण्हलेसे नीललेसे नेरइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ कण्हलेसे नीललेसे काउलेसे उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ? हंता गोयमा! कण्हलेसे नीललेसे काउलेसे उववज्जइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ से नूणं भंते! कण्हलेसे जाव तेउलेसे असुरकुमारे कण्हलेसेसु जाव तेउलेसेसु असुरकुमारेसु उववज्जइ एवं जहेव नेरइए तहा असुरकुमारेवि जाव थणियकुमारेवि । से नूणं भंते! कण्हलेसे जाव तेउलेस्से पुढविकाइए कण्हलेस्सेसु जाव तेउलेस्सेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ, एवं पुच्छा जहा असुरकुमाराणं ? हंता गोयमा ! कण्हलेसे जाव तेउलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु जाव तेउलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नीललेसे सिय काउलेस्से उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ तेउलेसे उववज्जइ नो चेव णं तेउलेसे उववट्टइ। एवं आउकाइयवणस्सइकाइयावि भाणियव्वा । से नूणं भंते ! कण्हलेसे काउलेस्से नीललेसे तेउकाइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु तेउकाइएसु उववज्जइ कण्हलेसे नीललेसे काउलेसेसु उववट्टइ जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ ? हंता गोयमा ! कण्हनीलकाउलेसे तेउकाइए कण्हलेसेसु नीलकाउलेसेसु तेउकाइएसु उववज्जइ सिय कण्हलेसे उववट्टइ सिय नीललेसे सिय काउलेस्से उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं वाउकाइए बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदियावि भाणियव्वा से नूणं भंते ! कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए कण्हलेसेसु जाव सुक्कलेस्सेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ पुच्छा हंता गोयमा! कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए कण्हलेसेसु जाव सुक्कलेसेसु पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु सिय कण्हलेसे उववट्टइ जाव सिय सुक्कलेसे उववट्टइ सिय जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ एवं मणूसेवि । वाणमंतरे असुरकुमारे जोइसियवेमाणिएवि एवं चेव नवरं जस्स जल्लेसा दोण्हवि चयणंति भाणियव्वा ॥

से नूण भंते इत्यादि ॥ इह तिरश्चां मनुष्याणां च लेश्यापरिणाम आन्तर्मौहूर्तिकस्ततः कदाचित् तल्लेश्य उद्वर्तते कदाचिल्लेश्यान्तरपरिणतोऽप्युद्वर्तते एषः पुनर्नियमो यल्लेश्येषूत्पद्यते स नियमतस्तल्लेश्य एवोत्पद्यते "अतमुहुत्तम्मिगए अतमुहुत्तम्मि सेसए भाओ। लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा वच्चंति परलोय' मितिवचनात् । तन उक्तम् । " गोयमा ! कण्हलेसे पुढविकाइए कण्हलेसेसु पुढविकाइएसु उववज्जइ सिय कण्हलेसे उववट्टइ इत्यादि" एव नीललेश्याविषय कापोतलेश्या विषय च सूत्र वक्तव्यम। तथा भवनपतिव्यन्तरज्यौतिष्कसौधर्मेशानदेवा तेजोलेश्यावन्तः स्वभावाच्च्युत्वा पृथिवीकायिकेषूत्पद्यन्ते। तदा कियत्कालमपर्याप्तावस्थायां तेषु तेजोलेश्याऽपि लभ्यते तत ऊर्ध्वं तु न भवति तथा भवस्वभावतया तेजो लेश्यायोग्यद्रव्यग्रहणासम्भवात्ततस्तेजोलेश्यासूत्रमुक्तम् । " तेउलेसे उववज्जइ नो चेव ण तेउलेसे उववट्टइ इति " यथा च पृथिवीकायिकानां चत्वारि सूत्राण्युक्तानि तथा अप्कायिकवनस्पतिकायिकानामपि वक्तव्यानि तेषामप्यपर्याप्तावस्थायां तेजोलेश्यासम्भवात् तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियविषयाणि प्रत्येक त्रीणि सूत्राणि वक्तव्यानि तेषां तेजोलेश्याया असम्भवात् ।। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका मनुष्याश्च यथा आद्यासु तिसृषु लेश्यासु पृथिवीकायिका उक्तास्तथा षट्स्वपि लेश्यासु वक्तव्या. षण्णामप्यन्यतमया लेश्यया तेषामुत्पत्तिसम्भवादुत्पत्तिगतैकैकलेश्याविषय चोद्वर्तनायां षण्णां विकल्पानां सम्भवात्। सूत्रपाठश्चैवम् "से नूण भते कण्हलेस्से पंचिंदियतिरिक्खजोणिएत्यादि" एव नीलकापाततेजःपद्मशुक्ललेश्याविषयाण्यपि सूत्राणि वक्तव्यानि " वाणमतरा जहा असुरकुमारा " इति " जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उववट्टइ। इति " वक्तव्या इति सर्वदेवानां लेश्यापरिणामस्य भावतया द्भावात् एव लेश्यापरिसंख्यानां परिभाव्य ज्योतिष्कवैमानिकविषयाण्यपि सूत्राणि वक्तव्यानि नवरं तत्र चयतीत्यभिलपनीय त देचमेकैकलेश्याविषयाणि चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण नैरयिकादीनां सूत्राण्युक्तानि। तत्र कश्चिदाशङ्केत। प्रविरलैकैकनारकादिविषयमेतत् सूत्रकदम्बक यदा तु बहवो भिन्नलेश्याकास्तस्यां गतावुत्पद्यन्ते तदान्यथापि वस्तुगतिर्भवेदेकैकगतधर्मापेक्षया समुदायधर्मस्य क्वचिदन्यथापि दर्शनात् ततस्तदा शङ्कापनोदाय येषां यावत्यो लेश्याः सम्भवन्ति तेषां युगपत्तावल्लेश्याविषयमेकैक सूत्रमनन्तरोदितार्थमेव प्रतिपादयति " से नूण भंते ! कण्हलेसे नीललेसे काउलेसे नेरइए कण्हलेसेसु नीललेसेसु काउलेसेसु नेरइएसु उववज्जइ " इत्यादि ॥ समस्त सुगमम् ॥ प्रज्ञा० १७ पद ।

(२२) लेश्यावत्त्वेनोपपातः ।

जीवेणं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं लेस्सेसु उववज्जइ ? गोयमा ! ज लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ तं जहा कण्हलेसेसु वा नीललेसेसु वा काउलेसेसु वा एव जस्स जा लेसा तस्स भाणियव्वा जाव जीवेणं भंते! जे भविए जोइसिएसु उववज्जित्तए पुच्छा ? गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ तं जहा तेउलेस्सेसु । जीवेणं भंते ! जे भविए वेमाणिएसु उववज्जित्तए से णं भते ! किं लेस्सेसु उववज्जइ ? गोयमा ! जल्लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं जहा तेउलेसेसु वा पम्हलेसेसु वा सुक्कलेसेसु वा ।

जीवेणमित्यादि (जेभविएत्ति) योग्य (किंलेस्सेसुत्ति) का कृष्णादीनामन्यतमा लेश्या येषां ते तथा तेषु किंलेश्येषु मध्ये (जल्लेसाइंति) या लेश्या येषां द्रव्याणा तानि यल्लेश्यानि यस्या लेश्यायाः सम्बन्धिनीत्यर्थः । (परियाइत्तत्ति) पर्यादाय परिगृह्य भावपरिणामेन काल करोति म्रियते तल्लेश्येषु नारकेषूत्पद्यते प्रवन्ति चाऽत्र गाथा ॥ " सव्वाहिं लेसाहिं पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु । नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि

जीवस्स ॥ १ ॥ सव्वाहिं लेसाहिं, चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु। न वि कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ २ ॥ अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव। लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं" ।३। चतुर्विंशतिदण्डकस्य शेषपदान्यतिदिशन्नाह ॥ एवमित्यादि (एवमिति) नारकसूत्राभिलापेनेत्यर्थ (जस्सत्ति) असुरकुमारादेर्या लेश्या कृष्णादिका सा लेश्या तस्या· सुरकुमारादेर्भणितव्येति नन्वेतावतैव विवक्षितार्थसिद्धे· किमर्थं भेदेनोक्तम् "जाव जीवेण भंते !" इत्यादि ? उच्यते, दण्डकपर्यवसानसूत्रदर्शनार्थमेव तर्हि वैमानिकसूत्रमेव वाच्यं स्यान्न तु ज्योतिष्कसूत्रमिति ? सत्य किं तु ज्योतिष्कवैमानिका· प्रशस्तलेश्या एव भवन्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनार्थं तेषा भेदेनाभिधान विचित्रत्वाद्वा सूत्रगतेरिति। भ० ३ श० ४ उ०।

(२३) नैरयिक· देशत· सर्वतो वा उपपद्यते ॥

नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं उववज्जइ ? देसेणं सव्वं उववज्जइ२ सव्वेणं देसं उववज्जइ ३सव्वेणं सव्वं उववज्जइ ४ ? गोयमा ! नो देसेणं देसं उववज्जइ १नो देसेणं सव्वं उववज्जइ २ नो सव्वेणं देसं उववज्जइ ३ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ ४ जहा नेरइए एवं जाव वेमाणिए १ नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ देसेणं सव्वं आहारेइ सव्वेणं देसं आहारेइ सव्वेणं सव्वं आहारेइ ? गोयमा ! नो देसेणं देसं आहारेइ नो देसेणं सव्वं आहारेइ सव्वेणं वा देसं आहारेइ सव्वेण वा सव्वं आहारेइ एवं जाव वेमाणिए ।२। नेरइएणं भंते ! नेरइएहिंतो उववट्टमाणे किं देसेणं उववट्टइ जहा उववज्जमाणे तहेव उववट्टमाणेवि दंडगो भाणियव्वो ॥

(नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणेत्ति) ननूत्पद्यमान एव कथ नारक इति व्यपदिश्यतेऽनुत्पन्नत्वात्तिर्यगादिवत् इत्यत्रोच्यते उत्पद्यमान उत्पन्न एव तदायुष्कोदयादन्यथा तिर्यगाद्यायुष्काभावान्नारकायुष्कोदयेऽपि यदि नारको नासौ तदन्य कोऽसाविति (किं देसेण देस उववज्जइत्ति) देशेन च देश यदुत्पादन प्रवृत्त तद्देशेन देश छान्दसत्वाच्चाव्ययीभावप्रतिरूप समास एवमुत्तरत्रापि तत्र जीव किं देशेन स्वकीयावयवेन न देशेन नारकावयविनोंऽशतयोत्पद्यते। अथवा देशेन देशमाश्रित्योत्पाद्यन्वेति शेष एवमन्यत्रापि तथा (देसेण सव्वति) देशेन च सर्वेण च यत्प्रवृत्त तद्देशेन सर्वं तत्र देशेन स्वावयवेन सर्वत सर्वात्मना नारकावयवितयोत्पद्यत इत्यर्थः । आहोस्वित्सर्वेण सर्वात्मना देशतो नारकांशतयोत्पद्यते अथवा सर्वेण सर्वात्मना सर्वतो नारकतयेति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्-न देशेन देशतयोत्पद्यते यतो न परिणामिकारणावयवेन कार्यावयवो निर्वर्त्यते तन्तुना पटाप्रतिबद्धपटप्रदेशवत्। यथाहि पटदेशभूतेन तन्तुना पटाप्रतिबद्ध· पटदेशो न निर्वर्त्यते तथा पूर्वावयविप्रतिबद्धेन तद्देशेनोत्तरावयविदेशो न निर्वर्त्यत इति भावः। तथा न देशेन सर्वतयोत्पद्यते अपरिपूर्णकारणत्वात्तन्तुना पट इवेति। तथा न सर्वेण देशतयोत्पद्यते सम्पूर्णपरिणामिकारणत्वात्समस्तघटकारणैर्घटैकदेशवत् सर्वेण तु सर्व उत्पद्यते पूर्वकारणसमवायाद घटवदिति चूर्णिव्याख्या। टीकाकारस्त्वेवमाह। किमवस्थित एव जीवो देशमपनीय यत्रोत्पत्तव्य तत्र देशत उत्पद्यते अथवा देशेन सर्वत उत्पद्यते अथवा सर्वात्मना यत्रोत्पत्तव्य तस्य देश उत्पद्यते अथवा सर्वात्मना सर्वत्रेति। एतेषु पाश्चात्यभङ्गौ ग्राह्यौ यत· सर्वेण समप्रदेशव्यापारेणेलिकागतौ यत्रोत्पत्तव्य तस्य देश उत्पद्यते तद्देशेन उत्पत्तिस्थानदेशस्यैव व्याप्तत्वात् कन्दुकगतौ वा सर्वेण सर्वत्रोत्पद्यते विमुच्यैव पूर्वस्थानमिति। एतच्च टीकाकारव्याख्यान वाचनान्तरविषयमिति ॥

नेरइयाणं भंते ! नेरइएहिंतो उववट्टमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ तहेव जाव सव्वेणं वा देसं आहारेइ सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ १ एवं जाव वेमाणिया ॥ ४ ॥ नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववन्ने किं देसेणं देसं उववन्ने एसो वि तहेव जाव सव्वेणं सव्वं उववन्ने जहा उववज्जमाणे उववट्टमाणे य चत्तारि दंडगा तहा उववन्ने उव्वट्टणे वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा सव्वेणं सव्वं उववन्ने सव्वेण वा देसं आहारेइ सव्वेणं सव्वं आहारेइ एएणं अभिलावेणं उववन्ने उव्वट्टेवि नेयव्वं । नेरइएणं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणं अद्धं उववज्जइ अद्धेणं सव्वं उववज्जइ सव्वेणं अद्धं उववज्जइ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ। जहा पढमिल्लेणं अट्ठ दंडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दंडगा भाणियव्वा, णवरं जहिं देसेणं देसं उववज्जइ तहिं अद्धेणं अद्धं उववज्जइत्ति भाणियव्वं एवं णाणत्तं एवं सव्वेवि सोलस दंडगा भाणियव्वा ॥

उत्पादे चाहारक इत्याहारसूत्र तत्र देशेन देशमिति आत्मदेशेनाभ्यवहार्यद्रव्यदेशमित्येव गमनीयम् उत्तरम्। (सव्वेण वा देसमाहारेइत्ति) उत्पत्त्यनन्तरसमयेषु सर्वात्मप्रदेशैराहारपुद्गलान् कांश्चिदादत्ते कांश्चिद्विमुञ्चति तप्ततापिकागततैलग्राहकविमोचकापूपवदत उच्यते देशमाहारयतीति (सव्वेण वा-सव्वति) सर्वात्मप्रदेशैरुत्पत्तिसमये आहारपुद्गलानादत्त एवं प्रथमतस्तैलभृततप्ततापिकाप्रथमसमयपतितापूपवदित्युच्यते । सर्वमाहारयतीति उत्पादस्तदाहारेण सह प्राग्दण्डकाभ्यामुक्तोऽथोत्पादप्रतिपक्षत्वादुद्वर्तमानकालनिर्देशसाधर्म्याच्चोद्वर्त्तनाद्दण्डकस्तदाहारदण्डकेन सह तदनन्तरञ्च नोद्वर्तनाऽनुत्पन्नस्य स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकावुत्पन्नप्रतिपक्षत्वाच्चोद्वृत्ततदाहारदण्डकाविति। पुस्तकान्तरे तु उत्पादतदाहारदण्डकानन्तरमुत्पादे सत्युत्पन्न· स्यादित्युत्पन्नतदाहारदण्डकौ ततस्तूत्पादप्रतिपक्षत्वादुद्वर्तनाया उद्वर्तनातदाहारदण्डकौ, उद्वर्तनायाञ्चोद्वृत्त स्यादित्युद्वृत्ततदाहारदण्डकौ कण्ठ्याश्चैत इति एव तावदष्टाभिर्दण्डकैर्देशसर्वाभ्यामुत्पादादिचिन्तितमथाष्टाभिरेवार्द्धसर्वाभ्यामुत्पादायेव चिन्तयन्नाह (जहा पढमिल्लेणंति)। यथा देशेन ननु देशस्यार्द्धस्य च को विशेष उच्यते देशस्त्रिधादिरनेकधाऽर्द्ध त्वेकधैवेति । भ० । (गर्भगतस्य मृत्वा नरकेपूत्पादो गब्भ शब्दे)

(२४) गर्भगतस्य मृत्वा देवेषूत्पाद· ॥

जीवेणं भंते ! गब्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जे-

ज्जा से केणट्ठेणं ? गोयमा ! सेणं सण्णी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तिएहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीयं आगयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुभइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणइए चाउरंगिणीए सेणाए विउव्वइ विउव्वइत्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ सेणं जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए अत्थकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए अत्थपिवासिए रज्जपिवासिए भोगपिवासिए कामपिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए एवंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरइएसु उववज्जइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ॥

गर्भे गत' सन् गृहीत्वेति शेष' (पंचिंदिएत्ति) स गर्भो राजादिगर्भरूपः सञ्ज्ञितादिविशेषणानि च गर्भस्थस्यापि नरकप्रायोग्यकर्मबन्धसम्भवाभिधायकतयोक्तानि वीर्यलब्ध्या वैक्रियलब्ध्या सङ्ग्रामयतीति योगः अथवा वीर्यलब्धिको वैक्रियलब्धिकश्च सन्निति परानीकं शत्रुसैन्यम् (सोच्चत्ति) आकर्ण्य निशम्य मनसाऽवधार्य (पएसे निच्छुभइत्ति) गर्भदेशाद्बहिः क्षिपति (समोहणइत्ति) समवहन्ति समवहतो भवति तथाविधपुद्गलग्रहणार्थं सङ्ग्राम सङ्ग्रामयति युद्धं करोति (अत्थकामएइत्यादि) अर्थे द्रव्यं कामो वाञ्छामात्रं यस्यासावर्थकाम एवमन्यान्यपि विशेषणानि, नवरं राज्य नृपत्व भोगा गन्धरसस्पर्शा कामौ शब्दरूपे काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थ । अर्थकाङ्क्षा सजाताऽस्येति अर्थकाङ्क्षितः । पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽप्यर्थेऽतृप्तिः (तच्चित्तेत्ति) तत्रार्थादौ चित्त सामान्योपयोगरूप यस्यासौ तच्चित्त· [तम्मणेत्ति] तत्रैवार्थादौ मनो विशेषोपयोगरूप यस्य स तन्मना [तल्लेसेत्ति] लेश्याऽऽत्मपरिणामविशेष । [तदज्झवसिएत्ति] इहाध्यवसायोऽध्यवसितम् तत्र तच्चित्तादिभावयुक्तस्य तस्मिन्नर्थादावेवाध्यवसित परिभोगक्रियासंपादनविषयमस्येति तदध्यवसित [तत्तिव्वमज्झवसाणेत्ति] तस्मिन्नेवार्थादौ तीव्रमारम्भकालादारभ्य प्रकर्षयायि अध्यवसान प्रयत्नविशेषलक्षण यस्य स तथा [तदट्ठोवउत्तेत्ति] तदर्थमर्थादिनिमित्तमुपयुक्तो ऽवहितस्तदर्थोपयुक्त [तदप्पियकरणेत्ति] तस्मिन्नेवार्थादावर्पितान्याहितानि करणानीन्द्रियाणि कृतकारितानुमतिरूपाणि वा येन स तथा [तब्भावणाभाविएत्ति] असकृदनादिसंसारे तद्भावनयाऽर्थादिसंस्कारेण भावितो यः· स तथा [एयंसिणं अंतरंसि त्ति] एतस्मिन् संग्रामकरणावसरे काल मरणमिति ॥

जीवेणं भंते ! गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा से केणट्ठेणं ? गोयमा ! से णं सण्णी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म तओ भवइ संवेगजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते सेणं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गकंखिए मोक्खकंखिये धम्मपिवासिए पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्जा देवलोएसु उववज्जइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! ।

(तहारूवस्सत्ति) तथाविधस्य उचितस्येत्यर्थः श्रमणस्य साधो' माशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वम्प्रति श्रमणमाह । न वचनयोस्तुल्यत्वप्रकाशनार्थ' (माहणस्सत्ति) मा हनेत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वाद्य' स माहन । अथवा ब्रह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशत· सद्भावात् ब्राह्मणो देशविरतस्तस्य वा (अंतिएत्ति) समीपे एकमप्यास्तामनेक आर्यमाराद्यात पापकर्मभ्य इत्यार्यम् । अत एव धार्मिकमिति (तओत्ति) तदनन्तरमेव (संवेगजायसड्ढेत्ति) संवेगेन भवभयेन जाता श्रद्धा श्रद्धान धर्मादिषु यस्य स तथा (तिव्वधम्माणुरागरत्तेत्ति) तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्मबहुमानस्तेन रक्त इव य· स तथा (धम्मकामएत्ति) धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः पुण्य तत्फलभूत शुभकर्मेति ॥ भ० १ श० ७ उ० । स्था० ॥ त० ॥

(२५) कुतो देवा देवलोकेषूत्पद्यन्ते ॥

तएणं ते समणोवासया थेराणं भगवंताणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियया तिक्खुत्तो आयाहीणपयाहीणं करेंति करेइत्ता एवं वयासी संजमेणं भंते ! किं फले, तवेणं भंते ! किं फले ? तएणं थेरा भगवंतो ते समणोवासया एवं वयासी संजमेणं अज्जो अणण्हयफले तएणं ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वयासी जइणं भंते ! संजमे अणण्ह फले तवे वोदाणफले किं पत्तियं भंते ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ? तत्थणं कालियपुत्ते णामं अणगारे थेरे ते समणोवासए एवं वयासी पुव्वतवेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थ णं मेहिले नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी पुव्वसंजमेणं अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थण आणंदरक्खिए नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी कम्मियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति तत्थ णं कासवे नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति सच्चेणं एस अट्ठे नो चेवणं आयभाववत्तव्वयाए । तएणं ते समणोवासया थेरेहिं भगवंतेहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा थेरे भगवंते वंदंति णमंसंति वंदइत्ता णमंसइत्ता पसिणाइं पुच्छंति अट्ठाइं उवादियंति उट्ठाए उट्ठेति थेरे भगवंते तिक्खुत्तो जाव वंदंति णमंसति वंदइत्ता णमंसित्ता थेराणं भगवंताणं अंतियाओ पुप्फवईयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमंति पडिनिक्खमइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया तएणं ते थेरा भगवंतो अण्णया कयाइं तुंगियाओ नयरीओ पुप्फवइयाओ चेइयाओ पडिनिग्गच्छंति पडिनि-

गच्छइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरंति तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे जाव परिसापडिगया तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूइणामं अणगारे जाव संखित्तविउलतेउलेस्से छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ तए णं से भगवं गोयमे छट्ठक्खमणपारणयंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ बीयाए पोरिसीए झाणं झियाएइ तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ पडिलेहेइत्ता भायणाइं वत्थाइं पडिलेहेइ पडिलेहेइत्ता भायणाइं पमज्जइ पमज्जइत्ता भायणाइं उग्गाहेइ उग्गाहेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे छट्ठक्खमणपारणयंसि रायगिहे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं तएणं भगवं गोयमे ! समणेणं भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमइत्ता अतुरियमचवलमसंभंते जुगमतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरओ रियं सोहेमाणे सोहेमाणे जेणेव रायगिहे नयरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता रायगिहे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियं अडइ तएणं से भगवं गोयमे रायगिहे नयरे जाव अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ एवं खलु देवाणुप्पिया तुंगियाए नयरीए बहिया पुप्फवईयाए चेइयाए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया संजमेणं भंते ! किं फले, तवे किं फले ? तए णं थेरा भगवंतो समणोवासए एवं वयासी। संजमेणं अज्जो अणण्हयफले तवे वोदाणफले त चेव जाव पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेण कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए से कहमेयं मन्ने एवं ? तएणं भगवं गोयमे ! इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जायसड्ढे जाव समुप्पन्नकोउहल्ले अहा पज्जत्तं समुदाणं गिण्हइ गिण्हइत्ता रायगिहाओ नयरीओ पडिनिक्खमइ अतुरिय जाव सोहेमाणे जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमइ एसणमणेसणं आलोएइ भत्तपाणं पडिदंसेइ२त्ता समणं भगव महावीरं जाव एवं वयासी एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहि अब्भणुण्णाए समाणे रायगिहे नगरे उच्चनीयमज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेइ एवं खलु देवाणुप्पिया तुंगियाए नगरीए बहिया पुप्फवईए चेइ पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो समणोवासएहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया संजमेणं भंते ! किं फले, तवे किं फले ? तं चेव जाव सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए तं पभूणं भंतेत्ति थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए। उदाहु अप्पभूसमियाणं भंते ! ते थेरा भगवतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए । उदाहु असमिया आउज्जियाणं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए। उदाहु अणाउज्झिया पालिउज्जियाणं भंते ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए। उदाहु अणाउज्जिया पलिउज्जियाणं भंते ! थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए उदाहु अपलिउज्जिया पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जति, सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए पभूणं गोयमा ! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरेत्तए णो अप्पभू तह चेव नेयव्वं अवसेसियं जाव पभूसमियं आउज्जियपलिउज्जिय जाव सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि भासेमि पण्णवेमि परूवेमि पुव्वतवेणं देवा देवलोएसु उववज्जति पुव्वसंजमेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति संगियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेण कम्मियाए संगियाए अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जति । सच्चेणं एसमट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए ॥

तएण समणोवासया इत्यादि [अणण्हयफलेत्ति] न आश्रवोऽनाश्रव इति पाठोऽपि दृश्यते अनाश्रवो नवकर्मानुपादान फलमस्येत्यनाश्रवफलः संयमः (वोदाणफलेत्ति) दाप्लवने अथवा दैप्शोधने इति वचनात् व्यवदानं पूर्वकृतकर्मवनगहनस्य लवनं प्राक्कृतकर्मकचवरशोधनं वा फलं यस्य तद्व्यवदानफलं तप इति । (किं पत्तियंति) कः प्रत्ययः कारणं यत्र तत्किम्प्रत्ययं निष्कारणमेव देवा देवलोकेषूत्पद्यन्ते तपःसंयमयोरुक्तरीत्या तदकारणत्वादित्यभिप्रायः (पुव्वतवेणति) पूर्वतपः सरागावस्थाभावि तपस्या वीतरागावस्थापेक्षया सरागावस्थाया पूर्वकालभावित्वात् एवं संयमोऽपि अयथाख्यातचारित्रमित्यर्थः ततश्च सरागकृतेन संयमेन तपसा च देवत्वावाप्तिः रागांशस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् (कम्मियापत्ति) कर्म विद्यते यस्यासौ कर्मी तद्भावस्तत्ता तया कर्मितया । अन्ये त्वाहुः । कर्मणां विकारः कार्मिका तया अक्षीणेन कर्मशेषेण देवत्वावाप्तिरित्यर्थः (संगियापत्ति) सङ्गो यस्यास्ति स सङ्गी तद्भावस्तत्ता तया संगितया द्रव्यादि-

षु सत्सङ्गी हि संयमादियुक्तोऽपि कर्म्म बध्नाति ततः सङ्गितया देवत्वावाप्तिरिति आह च "पुव्वतवसंजमो होति,रागिणो पच्छिमा अरागस्स । रागो सगो वुत्तो, सगाकम्मं भवो तेणं" ॥ १ ॥ सव्वेणमित्यादि ॥ सत्योऽयमर्थः कस्मादित्याह " नो चेवणमित्यादि " नैवात्मभावववक्तव्यतयाऽयमर्थः आत्मभाव एव स्वाभिप्राय एव न वस्तुतत्त्वं वक्तव्यो वाच्योऽभिमानाद्येषां ते आत्मभाववक्तव्यास्तेषां भाव आत्मभाववक्तव्यता अहंमानिता तया न वयमहमानितयैवं ब्रूमोऽपि तु परमार्थ एवायमेवंविध इति भावना (अतुरियंति) कायिकत्वरारहितम् (अचवलंति) मानसचापलरहितम् (असभंतेत्ति) असम्भ्रान्तज्ञानः (घरसमुदाणस्स) गृहेषु समुदानं भैक्ष गृहसमुदानं तस्मै गृहसमुदानाय (भिक्खासमायारपत्ति) भिक्षासमाचारेण (जुगंतरपलोयणापात्ति) युग यूपस्तत्प्रमाणमन्तरं स्वदेहदेशस्य दृष्टिपातदेशस्य च व्यवधानं प्रलोकयति या सा युगान्तरप्रलोकना तया दृष्ट्या (रियंति) ईर्यागमन (सेकहमेयं मन्ने एवति) अथ कथमेतत् स्थविरवचनं मन्ये इति वितर्कार्थो निपातः एवममुना प्रकारेणेति बहुजनवचनम् (पभूणति) प्रभव समर्थास्ते (समियाणति) सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातस्तेन सम्यक्ते स्याद्वा तु वर्त्तन्ते अविपर्यासास्त इत्यर्थः । समञ्चन्तीति वा सम्यञ्चः सामिता वा सम्यक् प्रवृत्ताय आमिता वाऽन्यासवन्तः (आउज्जिअत्ति) आयोगिकाः उपयोगवन्तो ज्ञानिन इत्यर्थः जानन्तीति भावः (पलिउज्जियत्ति) परि समन्तात् योगिकाः परिज्ञानिन इत्यर्थः परिजानन्तीति भावः । भ०२ श०५ उ० । "पुण्यपापाभावे सव्वहा अपरिक्खीणकम्मे पुण्णभावे देवेसु केण हेउणा उववज्जति" एव चोदकेणोक्ते आचार्य्य आह । गाहा । "पुव्वतवसंजमा होंति, रागिणो पच्छिमा अगारस्स । रागो वुत्तो संगो, संगाकम्म भवो तेण" । नि० चू०११ उ० (जीवेणं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किं इह गए णेरइयाउय पकरेइत्तिआउशब्दे उक्तम्) भावसुरकुमारौ कोपपद्येते ॥

(२६) सहोपपन्नयोरसुरयोः शोभनाशोभनत्वम् ॥

दो भंते ! असुरकुमारा एगंसि असुरकुमारा वासंसि असुरकुमारदेवत्ताए उववन्ना तत्थणं एगे असुरकुमारे देवे पासादीए दरसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे एगे असुरकुमारे देवे से णं णो पासादीए णो दरसणिज्जे णो अभिरूवे णो पडिरूवे से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! असुरकुमारा देवा दुविहा पण्णत्ता तं जहा वेउव्वियसरीरा य अवेउव्वियसरीरा य तत्थ णं जे से वेउव्वियसरीरे असुरकुमारे देवे से णं पासादीए जाव पडिरूवे तत्थ णं जे से अवेउव्वियसरीरे असुरकुमारे देवे से णं णो पासादीए जाव णो पडिरूवे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तत्थ णं जे से वेउव्वियसरीरे तं चेव जाव णो पडिरूवे ? गोयमा ! से जहाणामए इह मणुस्सलोगंसि दुवे पुरिसा भवंति एगे पुरिसे अलंकियविभूसिए एगे पुरिसे अणलंकियविभूसिए एएसिणं गोयमा ! दोण्हं पुरिसाणं कयरे पुरिसे पासादीए कयरे पुरिसे णो पासादीए जाव णो पडिरूवे जे वा से पुरिसे अलंकियविभूसिए जे वा से पुरिसे अणलंकियविभूसिए ? भगवं ! तत्थ जे से पुरिसे अलंकियविभूसिए से णं पुरिसे पासादीए जाव पडिरूवे जे वा से पुरिसे अणलंकियविभूसिए से णं पुरिसे णो पासादीए जाव णो पडिरूवे से तेणट्ठेणं जाव णो पडिरूवे दो भंते ! णागकुमारा देवा एगंसि णागकुमारा वासंसि एवं चेव एवं जाव थणियकुमारा वाणमंतरजोइसियवेमाणिया एवं चेव ।

दो भंते ! इत्यादि [वेउव्वियसरीरत्ति] विभूषितशरीरा अनन्तरमसुरकुमारादीनां विशेष उक्तोऽथ विशेषाधिकारादिदमाह

(२७) नैरयिकानैरयिकेषु उपपन्नास्तेषु कश्चिदल्पतरोऽपरो महावेदनतरः ॥

दो भंते णेरइया एगंसि णेरइया वासंसि णेरइयत्ताए उववन्ना तत्थ णं एगे णेरइए महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव । एगे णेरइए अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! णेरइया दुविहा पण्णत्ता तं जहा मायी मिच्छद्दिट्ठी उववन्नगा य अमायी सम्मद्दिट्ठी उववन्नगा य तत्थ णं जे से मायी मिच्छद्दिट्ठी उववन्नए णेरइए से णं महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव तत्थ णं जे से अमायी सम्मद्दिट्ठी उववन्नए णेरइए से णं अप्पकम्मतराए चेव अप्पवेयणतराए चेव दो भंते ! असुरकुमारा एवं चेव । एवं एगिंदियविगलिंदियवज्जं जाव वेमाणिया ॥

दो भंते ! नेरइयेत्यादि [महाकम्मतराए चेवत्ति] इह यावत्करणात् " महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेवत्ति " दृश्यं व्याख्या चास्य प्राग्वत् (एगिंदियविगलिंदियवज्जंति) इहैकेन्द्रियादिवर्जनमेतेषां मायिमिथ्यादृष्टित्वेनामायिसम्यग्दृष्टिविशेषणस्यायुज्यमानत्वादिति ।

(२८) प्राग्नारकादिवक्तव्यतोक्ता ते चायुष्कप्रतिसंवेदनावन्त इति तेषां तां निरूपयन्नाह ॥

णेरइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कयरं आउयं पडिसंवेदेइ ? गोयमा ! णेरइयाउयं पडिसंवेदेइ पंचिंदियतिरिक्खजोणियाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ । एवं मणुस्से वि णवरं मणुस्साउए से पुरओ कडे चिट्ठइ असुरकुमाराणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता जे भविए पुढवीकाइएसु उववज्जित्तए पुच्छा गोयमा ! असुरकुमाराउयं पडिसंवेदेइ पुढवीकाइयाउए से पुरओ कडे चिट्ठइ एवं जो जहिं भविओ उववज्जित्तए तस्स तं पुरओ कडं चिट्ठति तत्थ ठिओ तं पडिसंवेदेइ जाव वेमाणियाणं णवरं पुढवीकाइओ पुढवीकाइएसु उववज्जति पुढवीकाइयाउयं पडिसंवेदेइ अन्ने य से पुढवीकाइयाउए पुरओ कडे चिट्ठइ एवं जाव मणुस्सो सट्ठाणे उववातेयव्वो परट्ठाणे तहेव ॥

एतच्च व्यक्तमेव ॥ भ० १८ श० ५ उ० । (पूर्वमायुःसंवेदनतोक्ता अथ तद्विशेषवक्तव्यता विउव्वणा शब्दे)

(२९) रत्नप्रभायां सर्वे उपपन्नपूर्वाः ।

किं सव्वपाणा उववन्नपुव्वा ? हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो ॥

किं सव्वपाणा इत्यादि अस्य चैव प्रयोगः । अस्यां रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकलक्षेषु किं सर्वे प्राणादय उत्पन्नपूर्वा अथोत्तरम् (असइति) असकृदनेकशः इदं च वेलाद्वयादावपि स्यादतोऽत्यन्तबाहुल्यप्रतिपादनायाह (अदुवात्ति) अथवा (अणंतखुत्तोत्ति) अनन्तकृत्वोऽनन्तवारान् (भ०२ श० ३ उ०) "तएणं से महब्बले अणगारे धम्मघोसस्स अणगारस्स अंतिए सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ" (इत्यादि ब्रह्मलोके महाबलस्योपपातः महब्बल शब्दे) इह च किल चतुर्दशपूर्वधरस्य जघन्यतोऽपि लान्तके उपपात उच्यते " जावति लंतगाओ चोद्दसपुव्वी जहन्नउववाओत्ति " वचनाद्वेतस्य च चतुर्दशपूर्वधरस्यापि यद् ब्रह्मलोके उपपात उक्तस्तत्केनापि मनाग्विस्मरणादिना प्रकारेण चतुर्दशपूर्वाणामुपरि पूर्णत्वादिति सम्भावयन्तीति भ० ११ श० ११ उ० । (गुणस्थानकेषूपपातो गुणट्ठाण शब्दे मार्गणास्थानक जीवठाणकादिशब्देषु)

(३०) अविराधितश्रामण्यो देवलोकेषूपपद्यते ॥

अहं भंते ! असंजयभवियदव्वदेवाणं अविराहियसंजमाणं विराहियसंजमाणं अविराहियसंजमासंजमाणं विराहियसंजमासंजमाणं असण्णीणं तावसाणं कंदप्पियाणं चरगपरिव्वायगाणं किव्विसियाणं तिरिच्छियाणं आजीवियाणं अभिओगियाणं सलिंगाणं दंसणवावण्णगाणं एएसिणं देवलोएसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उववाए पण्णत्ते गोयमा ! असंजयभवियदव्वदेवाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं उवरिम गेवेज्जएसु अविराहियसंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणे विराहियसंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे अविराहियसंजमासंजमाणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे विराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसियासु असण्णीणं जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वाणमंतरेसु अवसेसा सव्वे जहण्णेणं भवणवासीसु उक्कोसेणं वोच्छामि तावसाणं जोइसिएसु कंदप्पियाणं सोहम्मे कप्पे चरगपरिव्वायगाणं बंभलोए कप्पे किव्विसियाणं लंतगे कप्पे तिरिच्छियाणं सहस्सारे कप्पे आजीवियाणं अच्चुए कप्पे अभिओगियाणं अच्चुए कप्पे सलिंगाणं दंसणवावण्णगाणं उवरिमगेविज्जएसु ॥

अह भंतेत्यादि व्यक्तं नवरमथेति परप्रश्नार्थः (असंजयभवियदव्वदेवाणंति) इह प्रज्ञापनाटीका लिख्यते असंयताश्चारित्रपरिणामशून्या भव्या देवत्वयोग्या अत एव द्रव्यदेवाः । समासश्चैवम् । असंयताश्च ते भव्यद्रव्यदेवाश्चेति असंयतभव्यद्रव्यदेवास्तश्चैते असंयतसम्यग्दृष्टय किलेत्येके यत किलोक्तम् । " अणुव्वयमहव्वएहि य, बालतवोकामनिज्जराए य । देवाउयं निबंधइ, सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो " एतच्चायुक्तं यतोऽमीषामुत्कर्षत उपरिमग्रैवेयकेषूपपात उक्तः सम्यग्दृष्टीनां तु देशविरतानामपि न तत्रास्ति विद्यते देशविरतश्रावकाणामच्युतादूर्ध्वमगमनात् । नाप्येते निह्नवास्तेषामिहैव भेदेनाभिधानात् तस्मान्मिथ्यादृष्टय एवाऽभव्यभव्या वा असंयतभव्यद्रव्यदेवाः श्रमणगुणधारिणो निखिलसामाचार्यनुष्ठानयुक्ता द्रव्यलिङ्गधारिणो गृह्यन्ते ते ह्यखिलकेवलक्रियाप्रभावत एवोपरिमग्रैवेयकेषूत्पद्यन्त इति असंयताश्च ते सत्यप्यनुष्ठाने चारित्रपरिणामशून्यत्वात् । ननु कथं तेऽभव्या भव्या वा श्रमणगुणधारिणो भवन्तीत्यत्रोच्यते तेषां हि महामिथ्यादर्शनमोहप्रादुर्भावे सत्यपि चक्रवर्तिप्रभृत्यनेकभूपतिप्रवरपूजासत्कारसन्मानदानात् साधून् समवलोक्य तदर्थं प्रव्रज्याक्रियाकलापानुष्ठानं प्रति श्रद्धा जायते ततश्च यथोक्तक्रियाकारिण इति । तथा (अविराहियसंजमाणंति) प्रव्रज्याकालादारभ्याभग्नचारित्रपरिणामानां सञ्ज्वलनकषायसामर्थ्यात् प्रमत्तगुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायादिदोषसंभवेऽप्यनाचरितचरणोपघातानामित्यर्थः । तथा [विराहियसंजमाणंति] उक्तविपरीतानाम् [अविराहियसंजमासंजमाणंति] प्रतिपत्तिकालादारभ्याखण्डितदेशविरतिपरिणामानां श्रावकाणाम् (विराहियसंजमासंजमाणंति] उक्तव्यतिरेकिणाम् [असण्णीणंति) मनोलब्धिरहितानामकामनिर्जरावतां तथा (तावसाणंति) पतितपत्राद्युपभोगवतां बालतपस्विनां तथा (कंदप्पियाणंति] कन्दर्पः परिहासः स येषामस्ति तेन वा ये चरन्ति ते कन्दर्पिकाः कान्दर्पिका वा व्यवहारतश्चरणवन्त एव कन्दर्पकौत्कुच्यादिकारकाः । तथा हि गाथा– " कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अणिहुया य उल्लावा । कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएस संसाया ॥ १ ॥ भुमनयणवयणदसण–छेदेहिं करपायकन्नमाईहिं । तं तं करेइ जह जह, हसइ परो अत्तणा अहसं ॥ २ ॥ वाया कुक्कुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो । नाणाविहजीवरुए, कुव्वइ मुहतूरए चेवेत्यादि ॥ ३ ॥ जो संजओ वि एया, सुअप्पसत्था सुभावणं कुणइ । सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणोत्ति " ॥ ४ ॥ अतस्तेषां कन्दर्पिणाम् [चरगपरिव्वायगाणंति] चरकपरिव्राजका धाटिभैक्ष्योपजीविनस्त्रिदण्डिनः । अथवा चरकाः कच्छोटकादयः परिव्राजकास्तु कपिलमुनिसूनवोऽतस्तेषाम् [किव्विसियाणंति] किल्बिषं पापं तदस्ति येषां ते किल्बिषिकास्ते च व्यवहारतश्चरणवन्तोऽपि ज्ञानाद्यवर्णवादिनो यथोक्तम् " नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स सव्वसाहूणं । माई अवण्णवाई किव्विसियं भावणं कुणइत्ति " ॥ १ ॥ अतस्तेषां तथा [तिरिच्छियाणंति] तिरश्चां गवाश्वादीनां देशविरतिभाजाम् [आजीयाणंति] पाखण्डिविशेषाणां नाग्न्यधारिणां गोशालकशिष्याणामित्यन्ये । आजीवन्ति वा ये अविवेकिलोकतो लब्धिपूजाख्यात्यादिभिस्तपश्चरणादीनि ते आजीविकास्तत्त्वेनाजीविका अतस्तेषां तथा [आभिओगियाणंति] अभियोजनं विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणादि अभियोगः स च द्विधा । यदाह– " दुविहो खलु अभिओगो, दव्वे भावे य होय नायव्वो । दव्वम्मि होइ जोगा, विज्जामंताय भावम्मि " त्ति ॥ १ ॥ सोऽस्ति येषां तेन वा चरन्ति ये ते ऽभियोगिका आभियोगिका वा ते च व्यवहारिणश्चरणवन्त एव मन्त्रादिप्रयोक्तारो यदाह–" कोउय भूइकम्मे, पसिणा पसिणे निमित्तमाजीवी । इड्डिरससायगुरुओ, अहिओगं भावणं कुणइ " त्ति ॥ १ ॥ कौतुकं सौभाग्याद्यर्थं स्नपनकं भूतिकर्म ज्वरितादिभूतिदानं प्रश्नाप्रश्नं च स्वप्नविद्यादि [सलिंगाणंति] रजोहरणादिसाधुलिङ्गवतां किं विधानामित्याह [दंसणवावण्णगाणंति] दर्शनं सम्यक्त्वं व्यापन्नं भ्रष्टं येषां ते तथा तेषां निह्नवानामित्यर्थः [एएसिणं देवलोएसु उववज्जमाणाणंति] एतेन देवत्वाद्यथापि केचिदुत्पद्यन्त इति

प्रतिपादितम् " विराहियसंजमाणं जहन्नेणं भवणवईसु उक्कोसेण सोहम्मे कप्पे " इह कश्चिदाह-विराधितसंयमानामुत्कर्षेण सौधर्मे कल्पे गति यदुक्तं तत्कथं घटते द्रौपद्यास्तु सुकुमालिकाभवे विराधितसंयमाया ईशानोत्पादश्रवणादित्यत्रोच्यते, तस्या संयमविराधनोत्तरगुणविषया बकुशत्वमात्रकारिणी न मूलगुणविराधनेति, सौधर्मोत्पादश्च विशिष्टतरसंयमविराधनायां स्यात्, यदि पुनर्विराधनमात्रमपि सौधर्मोत्पत्तिकारकं स्यात्तदा बकुशादीनामुत्तरगुणादिप्रतिसेवावतां कथमच्युतादिषूपपत्तिः स्यात् कथंचिद्विराधकत्वात्तेषामिति [असन्नीणं जहन्नेणं भवणवासीसु उक्कोसेण वाणमंतरेसुत्ति] इह यद्यपि चमरबलिसारमहियमित्यादिवचनादसुरादयो महर्द्धिकाः पलिओवममुक्कोसं वंतरियाणं ति " वचनाच्च व्यन्तरा अल्पर्द्धिकास्तथाप्यत एव वचनादवसीयते सन्ति व्यन्तरेभ्यः सकाशादल्पर्द्धयो भवनपतयः केचनेति असञ्ज्ञी देवेषूत्पद्यत इत्युक्तम् । भ० १ श० २ उ० । उपसंपादने, " उववाओ उवसंपज्जए " नि० चू० ५ उ० ।

उववायकप्प-उपपातकल्प-पुं० पार्श्वस्थादिभिः सहासित्वा संविग्नविहारोपपतने, । पं० भा० ।

उववादकप्पमहुणा, वोच्छामि जहक्कमेणं तु ।
पंचहि ठाणेहि विरहि-ऊण संविग्गमहुया जुत्तो ॥
अब्भुज्जतं विहारं, उवेइ उववायकप्पो सो ।
उववयणं उववाओ, पासत्थादी य पंचठाणा तु ॥
तेसु विविहं तु वट्टित्था, वियाहिओ होंति णायव्वो ।
संवेगसमावन्नो, पच्छा उ उवेति उज्जयविहारं ॥
एस उववायकप्पो ॥ पं० भा० ।

पंचहिं स्थानैः सो पुण पासत्थाईहिं अत्थिऊण वियट्ठिऊण विविधमनेकप्रकारं वा वर्तितुमित्यर्थः । सिद्धासंवेगजुत्तो संवेगसमासः पइ संवेगविहारं उपपतति उपसंपद्यते तत उपपातकल्पो भवति । एस उववायकप्पो । पं० चू० ॥

उववायकारि (ण्) उपपातकारिन्-पुं० आचार्यनिर्देशकारिणि, " उववायकारी य हरीमणे य " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

उववायगइ-उपपातगति-स्त्री० उपपातरूपा उपपाताय वा गतिः । उत्पादाय गमने, उपपातरूपायां गतौ च । उपपातगतिस्तु त्रिविधा क्षेत्रभवनोभवभेदात् तत्र नारकतिर्यङ्नरदेवसिद्धानां यत्स्वक्षेत्रे उपपातायोत्पादाय गमनं सा क्षेत्रोपपातगतिः या च नारकादीनामेव स्वभवे उपपातरूपा गतिः सा भवोपपातगतिः यच्च सिद्धपुद्गलयोर्गमनमात्रं सा नोभवोपपातगतिः विहायोगतिस्तु स्पृशद्गत्यादिकानेकविधेति । भ० ८ श० ७ उ० ।

उववायय-उपपातज-पुं० उपपाताज्जात उपपातजः । देवनारकेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ॥

उपपातक- न० पातकसदृशे ततो न्यूनफलके पापभेदे, वाच०

उववायसभा-उपपातसभा- स्त्री० देवसभाभेदे, यस्यां समुत्पद्यते देवः । स्था० ५ ठा० । पर्यङ्कोऽन्यत्र रा० । अत्र हीरविजयसूरिं प्रति पण्डितगुणविजयगणिकृतप्रश्नो यथा सौधर्मादिषु देवानां प्रत्येकमुपपातशय्या विद्यते एकस्यामनेकेषामुपपातो वेति ? अत्र महर्द्धिकसुराणामुपपातशय्या भिन्ना अन्येषां तु अभिन्नापीति संभाव्यते तथाविधव्यक्ताक्षराणां दर्शनस्यास्मरणादिति । ही० ।

उववास-उपवास- पुं० उप गम वस । अपेति सह उपावृत्तदो-

यस्य सतो गुणैराहारपरिहारादिरूपैर्यो वास उपवासः ।" उपावृत्तस्य दोषेभ्यः, सम्यग्वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयो, न शरीरविशोषणमिति " ध० २ अधि० । आहारशरीरसंस्कारादित्यागे, स० । औ० । अभक्तार्थकरणे, स्था० ३ ठा० (संमोहेश्वासशब्दे विधिर्वक्ष्यते) तपनोद्यमारम्भ वाचाहसनजनम् । उपवासः स विज्ञेयः प्रायश्चित्ते विधीयते । १ । उपावृत्तस्य पापेभ्यो, यस्तु वासो गुणैः सह । उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः । १ । " वाच० । तथा आचाम्लोपवासे तन्दुलधावनं उष्णनीरं च कल्पते न वेति प्रश्ने तेषामुपवासे प्रासुकमुष्णोदकं चेति पानीयद्वयं कल्पते तन्दुलधावनं उष्णजलं प्रासुकं भवति परं आचाम्ले न कल्पत इति (११६ प्र०) तथैकोनत्रिंशदधिकद्विशतपष्ठोच्चारकृतोऽस्ति परं शक्त्यभावे एकान्तरोपवासैः कर्तुं शुध्यति न वेति प्रश्ने एकोनत्रिंशदधिकद्विशतं षष्ठा उच्चारितास्तदा षष्ठा एव कर्तुं शुध्यन्ति (१२० प्र०) तथाश्विनचैत्रास्वाध्यायमध्ये उपवासः क्रियते स विंशतिस्थानकमध्ये प्रक्षेप्तुं शुध्यति न वेति प्रश्ने आश्विनचैत्रास्वाध्यायमध्ये सप्तम्यादि दिनत्रयकृतोपवासो विंशतिस्थानकमध्ये प्रक्षेप्तुं न शुध्यति (१२७ प्र०) श्रीविजयसेनसूरिसत्कपं० कनकविजयगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा षष्ठादौ प्रत्याख्याने भक्तद्वयकथनाधिकारः स कियद्भोजनमिति प्रश्ने सामान्यतः सतां द्विवारं भोजनं शोभनमित्युपवासद्वयेन भोजनचतुष्टयं भोजनद्वयं च पारणोत्तरपारणयोरेकाशनपूर्वकं कार्यते इति (३७७ प्र०) तथा रोहिण्युपवास्य पञ्चम्याद्युपवासश्च कारणे सति मिलन्त्यां तिथौ क्रियते न वेति प्रश्ने कारणे सति मिलन्त्यां तिथौ क्रियते कारणेन प्रवृत्तिरस्ति कारणं विना तु यथाम्नायमेवेति बोध्यम् सं० प्र० २ ... प्र० । तथा आलारसघट्टप्रश्नोत्तराणि यथा त्रिविधोपवासप्रत्याख्यानमन्यप्रत्याख्यानं च कया रीत्या पार्यते इति प्रश्ने उपवासप्रत्याख्यानं त्रिविहारनमुक्कारसी पोरसी पुरिमड्ढादिक कीधुं पाणहारस्स पच्चक्खाण फासिउं १ पालिउं २ सोहिउं ३ तीरिउं ४ किट्टिउं ५ आराहिउं ६ जं च नाराहिअं तस्स मिच्छामि दुक्कडं इत्युपवासप्रत्याख्यानपारणरीतिर्वृद्धपरम्परया ज्ञातव्या । अथवा केवलं ... वासकीधूं त्रिविहार नमुक्कार सिपुरिमड्ढादिक कीधुं ... पच्चक्खाण फासिउं १ पालिउं २ सोहिउं ३ तीरिउं ४ किट्टिउं ५ आराहिउं ६ जं च नाराहि — ... मिच्छामि दुक्कडं ...

उवविणिग्गय-उपविनिर्गत- त्रि० निरन्तरविनिर्गते, औ०३अ०।

उववूह (हा)-उपबृंह (हा) हण- न० दर्शनादिगुणवतां प्रशंसायाम्, उत्त० २८ अ०। समानधार्मिकाणां क्षपणा वैयावृत्त्यादिसद्गुणप्रशंसनेन तत्सद्गुणवृद्धिकरणे, प्रव० ६ द्वा०॥

अत्रोदाहरणम्॥

"उववूहणाए उदाहरणं जहा। रायगिहे णयरे सेणिओ राया इओ य सक्को देवराया समत्तं पसंसति। इओ य एगो देवो असद्दहंतो नयरवाहिं सेणियस्स निग्गयस्स चेल्लयरूवं काऊण अणिमिसे गिण्हति। ताहे तं निवारेति पुणरवि अण्णत्थ संजती गुव्विणी पुरतो ठिता ताहे अपवरं ठविऊण जहा ण को वि जाणइ तहा सूइगिहं कारवेति जं किंचि सूतिकामतसयमेव करेइ ततो सो देवो संजइरूवं परिच्चइऊण दिव्वं देवरूवं दरिसेति भणति य सेणियसुलद्धं ते जम्मजीवियस्स फलं जेण ते पवयणतुवरिं रिसीभत्ती भवतित्ति उववूहेऊण गओ एव उववूहेअव्वा सो-हम्मिया" द० ३ अ०। व्य०॥ मिथ्योपबृंहणायां क्षपण प्रशस्तोपबृंहणाकरणे आचामाम्लम्। जीत०।

उववूहण-उपबृंहण-न० अनुमोदने, "ठितिसाहणमुववूहणह रिसाहपल्लोयण चेव" इह प्राकृतत्वेन निरनुस्वारः पाठः। ततश्चोपबृंहणं तस्यानुमोदनं कार्य्यं यथा धन्यस्त्वं धर्माधिकारी इत्यादि। पञ्चा० २ विव०। प्रशंसायाम्, "उववूहणाति वा पसंसति वा सद्धाजणणत्ति वा सलाघणत्ति वा एगट्ठा" नि० चू० १ उ० (एतद्द्वारवक्तव्यता उववूहणविणय शब्दे)

उववूहण (णा) विणय-उपबृंहणविनय-पुं० उपबृंहण नाम समानसाधार्मिकाणां क्षपणावैयावृत्यादिसद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकरणं स एव विनयः। दर्शनाचारविनये, व्य० १ उ०। इदाणिं उववूहणत्ति दारं उववूहणत्ति वा पसंसति वा सद्धाजणणत्ति वा सलाघणति वा एगट्ठा॥

खमणे वेयावच्चे, विणए सज्झायमादिसंजुत्तं।
जो तं पसंसए य, स होति उववूहणाविणओ॥२७॥

(खमणित्ति) चउत्थं छट्ठं अट्ठम दसम दुवालसमं अद्धमासखमणं मास दुमास तिमास चउमास पंचमास छम्मासा सव्वापि इत्तर आवकहिय वा [वेयावच्चेत्ति] आयरियवेयावच्चे उवज्झायवेयावच्चे तवस्सिवेयावच्चे गिलाणवेयावच्चे कुलगणसंघवेयावच्चे सघघाहइ अणुहुसेहे वेयावच्चे दसम पप्पासिं पुरिसाणं इमेणं वेयावच्च करेति। असणादिणा वत्थादणा पीढफलगसेज्जा संथारगओ सह भेसज्जेण य [विणएत्ति] नाणविणओ दंसणविणओ चरित्तविणओ मणविणओ वयणविणओ कायविणओ उवचारियविणओ य। एसविणओ स वित्थरो भाणियव्वो। जहा दसवेयालिए [सज्झाएत्ति] वायणा पुच्छणा परियट्टणा अणुपेहा धम्मकहा य पचविहो सज्झाओ। आदिसद्दाओ जे अन्ने तवमेयाओ ओयरिया ते घिप्पति तहा खमादओ य गुणा कुत्तति एतेहिं जहाभिहिएहिं गुणेहिं उववेयाजुत्तो भणति जो इति अभिहिएरूवो साहू घेप्पइ त सद्देण खमणादि गुणोववेयस्स गहणं पसंसते श्लाघयतीत्यर्थः [पसंसत्ति] पसंसाए णिद्देसो होइ भवति किं उववूहणाविणओ णिदेसवयणविसओ कम्मावणयणपादमित्यर्थः। उववूहणत्ति दारं गय॥ नि० चू० १ उ०।

उववूहणिया-उपबृंहणीया- स्त्री० उपबृंहयतीति उपबृंहणीया उपबृंहणकर्य्याम्, नि० चू० ८ उ० (एतद्वक्तव्यता रायपिंड शब्दे)

उववूहणियापट्टय-उपबृंहणीयापट्टक- पुं० अमतो राज्ञः उपयोज्ये पट्टके, अमतस्स रण्णो उववूहणियापट्टओत्ति वुत्तं भवति। नि० चू० ६ उ०।

उववूहिय-उपबृंहित-न० समुपबृंहिते, अनुमते, आव० ३ अ०।

उववेय-उपपेत-त्रि० उप-अप-इत्। इत्येतस्य च स्थाने निरुक्तिवशादुपपेत भवतीति। युक्ते, भ०२श०१उ०। शकन्ध्वादिदर्शनादकारलोपः। औ०। पृषोदरादय इत्यकारलोपः। रा०।

उपेत- त्रि० उप इत प्राकृतत्वाद् वर्णागमः स्था० ६ ठा०। नि०। द्वा०। युक्ते, स०। "पुप्फफलोववेएण वणसडेणं" नि० चू० १ उ० 'परमहरिसोववेए' रा०। आ० म० प्र०। औ०। नि०चू०। उत्त०। "सरिसलावण्णरूवगुणाववेयाण" रा०।

उपवेद- पुं० उपमितः वेदेन, वेदसदृशे आयुर्वेदादौ, वाच०।

उववेसण-उपवेशन- न० उप-विश् भावे ल्युट्। आसने, निवेशने, स्थापने च। वाच०। अधिकरणे ल्युट्। चर्मभेदे, यत्रार्शोरोगादिनि कारणैरुपविश्यते। वृ० ३ उ०।

उवव्वय-उपव्रत-न० नियमे, हा०। नियमास्तु। अक्रोधो गुरुशुश्रूषा, शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्चेति। द्वा० ८ द्वा०।

उवसकमंत-उवसंक्रामत्- त्रि० सामीप्येन गच्छति, द० ५ अ०। भिक्षार्थं वासाय वा गच्छति, आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ०।

उवसंकमित्ता-उपसंक्रम्य- अव्य०। उप सम् ल्यप्। उपगत्येत्यर्थे, "समण भगव महावीरं उवसकमति उवसकमित्ता वदति" स्था०३ ठा०। उवसकमित्ता चार चरति। सू० प्र० १ पाहु०॥

उवसंकमित्तु-उपसंक्रम्य-अव्य०उप सम् क्रम ल्यप्। आसन्नीभूयेत्यर्थे, आचा० २ श्रु०। आसन्नतामेत्येत्यर्थः, "उवसकमिसुगाहावतीवूया आवसतो समणा" आचा० १ श्रु० ७ अ० ३ उ०।

उवसंखा-उपसङ्ख्या- स्त्री० उप सामीप्येन सङ्ख्या उपसङ्ख्या सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञाने, "अणेवसखा इति ते उदाहुअट्ठे सउभासइ अम्ह एव"। सूत्र० २ श्रु० १६ अ०।

उवसंत-उपशान्त-पुं० उप शम् क्त। उपशमप्रधाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। क्रोधादिजयादुपशान्ते, शीतीभूते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। क्रोधादिप्रमादरहिते, प्रव० २ द्वा०। क्रोधविपाकावगमेन (प० व०) मनोवाक्कायविकाररहिते, ध० ३ अधि०। औ०। कषायानुदयादिन्द्रियनोइन्द्रियोपशमाद्वा (आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०) उपशमयुक्ते, भ० १ श० ६ उ०। विष्कम्भितोदयमुपनीतमिथ्यास्वभावे च। शेषमिथ्यात्वमिश्रपुञ्जावाश्रित्य विष्कम्भितोदय शुद्धपुञ्जमाश्रित्य पुनरपनीतमिथ्यास्वभावे, विशे०। आ०। सर्वथाऽभावमापन्ने, प्रज्ञा० १७ पद। उपशान्तमोहगुणस्थानके, प० स०। पञ्चदशे ऐरवतजे तीर्थङ्करे, प्रव० ७ द्वा०। निचू०। नारकादीना विशिष्टोदयाभावात् क्रोधभेदे, स्था० ४ ठा०।

उवसंतकसायवीयरागछउमत्थ-उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थ-पुं० छाद्यते केवलज्ञान केवलदर्शन चात्मानेनेति छद्म ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदयः। सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात् तदपगमानन्तर चोत्पादात् छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थ स च सरागोऽपि भवतीत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं वीतो विगतो रागो मायालोभकषायोदयरूपो यस्य

स वीतरागः स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः स च क्षीणकषायोऽपि भवति तस्यापि यथोक्तरागापगमात् अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमुपशान्तकषायग्रहणं कषशिषेत्यादिविवक्षकधातुर्हि सार्थः कषन्ति कष्यन्ति च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कष संसारः कषमयन्ते गच्छन्त्येभिर्जन्मव इति कषायाः क्रोधादयः उपशान्ता उपशमिता विद्यमाना एव सङ्क्रमणोद्वर्त्तनाऽपवर्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषाया येन स उपशान्तकषायः। स चासौ वीतरागच्छद्मस्थः। प्रव० २२४ द्वा०। एकादशगुणस्थानोपगते, पं० सं० १ द्वा०। दर्श० ॥

उवसंतकसायवीयरागछउमत्थगुणट्ठाण-उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थान-न० एकादशे गुणस्थाने, तत्राविरतसम्यग्दृष्टेः प्रभृत्यनन्तानुबन्धिनः कषाया उपशान्ताः संभवन्ति उपशमश्रेण्यारम्भे ह्यनन्तानुबन्धिकषाया न विरतो देशविरतः प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा स तूपशमय्य दर्शनमोहत्रितयमुपशमयतितदुपशमानन्तरं प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानपरिवृत्तिशतानि कृत्वा ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानोत्तरकालमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानोत्तरकालमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थाने चारित्रमोहनीयस्य प्रथमं नपुंसकवेदमुपशमयति। ततः स्त्रीवेदक्रमो हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपं युगपत्षट्कं ततः पुरुषवेदं ततो युगपदप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ ततः संज्वलनक्रोधं ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ मानौ ततः संज्वलनमानं ततो युगपद्द्वितीयतृतीयमाये ततः संज्वलनमायां ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ लोभौ ततः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने संज्वलनलोभमुपशमयतीत्युपशमश्रेणिः। स्थापना चेयम्। विस्तरतस्तु उपशमश्रेणिः स्वोपज्ञशतकटीकायां व्याख्याता ततः परिभावनीया। तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्वापि कियतामपि कषायाणामुपशान्तत्वसंभवात् उपशान्तकषायव्यपदेशः संभवत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम्। उपशान्तकषायवीतराग इत्येतावतापीष्टसिद्धौ छद्मस्थग्रहणं स्वरूपकथनार्थं व्यवच्छेद्याभावात् न ह्यच्छद्मस्थ उपशान्तकषायवीतरागः संभवति यस्य छद्मस्थग्रहणेन व्यवच्छेदः स्यादिति। अस्मिंश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्याः उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति। प्रतिपातश्च द्वेधा भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च। तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायां अद्धाक्षयेण च प्रतिपतितं यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति यत्र २ बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र २ प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत्। प्रतिपतंश्च तावत्प्रतिपतति यावत्प्रमत्तगुणस्थानं कश्चित्तु ततोऽप्यधस्तनगुणस्थानकद्विकं याति कोऽपि सासादनभावमपि। यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति विशेषः। कर्म०। इह यदि बद्धायुरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नः श्रेणिमध्यगतगुणस्थानवर्ती उपशान्तमोहो वा भूत्वा कालं करोतीति तदा नियमेनानुत्तरसुरेषूत्पद्यते श्रेणिप्रतिपतितस्य तु कालकरणेऽनियमः नानामतित्वेन नानास्थानगमनात्। अथाऽबद्धायुस्तां प्रतिपन्नः तर्ह्यन्तर्मुहूर्त्तमुपशान्तमोहो भूत्वा नियमतः पुनरप्युदितकषायः कार्त्स्न्येन न श्रेणिप्रतिलोममायातीत। उक्तं च "बद्धाऊ पडिवन्नो, सेढिगतो वा पसंतमोहो वा। जइ कुणइ कोइ कालं, वच्चइ तो णुत्तरसुरेसु॥ अनिबद्धाऊ होउं पसंतमोहो मुहुत्तमेत्तद्धं। उदितकसायो नियमा, नियत्तए सेढिपडिलोमं" आ० म० प्र० ॥

उवसंतकसायवीयरागदंसणारिय-उपशान्तकषायवीतरागदर्शनार्य-पुं० वीतरागदर्शनार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

उवसंतखीणमोह-उपशान्तक्षीणमोह-पुं० उपशान्तः सर्वथानुदयावस्थः क्षीणश्च निर्जीर्णो मोहो मोहनीयं कर्म येषां ते तथा। उपशमक्षपयावस्थमोहनीयकर्मके, पञ्चा० १६ विव०।

उवसंतजीवि (ण्) उपशान्तजीविन्-पुं० उपशान्तोऽस्मीत्येवं जीवतीत्येवं शील उपशान्तजीवी। अनन्तर्वृत्त्यैव जीवामीत्यभिग्रहविशेषधारके, भ० ६ श० ३३ उ० ॥

उवसंतमोह-उपशान्तमोह-पुं० उपशान्तः सर्वथाऽप्यनुदयावस्थो मोहो मोहनीयं कर्म यस्य स उपशान्तमोहः। उपशमवीतरागे, भयं च एकादशगुणस्थानमारूढ उपशमश्रेणिसमाप्तावन्तर्मुहूर्त्तं भवति ततः प्रच्यवते स०॥ "उवसंतो मोहो नाम जस्स अट्ठा स तिविहंपि मोहणिज्जकम्ममुवसंत भाणुमेत्तमवियवेदेति। सो य देसपडिवातेन वा नियमा पडिवतितित्ति" ॥ आव० ४ अ०। अनुत्कटवेदमोहनीये, "अणुत्तरोववाइया उवसंतमोहा (उवसंतमोह त्ति) अनुत्कटवेदमोहनीयाया परिचारणाया कथञ्चिदप्यभावात् न तु सर्वथोपशान्तमोहाः उपशमश्रेणेस्तेषामभावात् ॥ भ० ५ श० ४ उ०। उपशान्त उपशमनीयो विद्यमान एव सङ्क्रमणोद्वर्तनादिकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितो मोहो मोहनीयं कर्म येन स उपशान्तमोहः। प्रव० ९३ द्वा० ॥ उपशामकनिर्ग्रन्थे, ॥ आव० ४ अ०।

उवसंतरय-उपशान्तरजस्-न० प्रशान्तरजसि, "उवसंतरये रेहु" रा०। जी० ॥ उपशान्तमपगतं रजः कालुष्यापादकं यस्य स तथा। रजोरहिते, "समसि ग्गोमे उवसंतरए सव्वभावे से विहरति" ॥ आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ०।

उवसंताहिगरणउल्लाससंजणणी-उपशान्ताधिकरणोल्लाससञ्जननी-स्त्री० उपशान्तस्योपशमं नीतस्याधिकरणस्य कलहस्य य उल्लासः प्रवर्तनं तस्य सञ्जननी समुत्पादयित्रीत्यर्थः। षड्भाषाप्रशस्तायां भाषायाम्, प्रव० २३३ द्वा०।

उवसंति-उपशान्ति-स्त्री० उपशमे, आचा० १ श्रु० ५ अ०। निवृत्तौ, आव० ॥

उवसंधारिय-उपसंधारित-त्रि० सङ्कल्पिते, "एवमुवीय तेण भणिय ज्ञाति यतलुवीय तओ तेण उवसंधारिय सच्चाणं च से कहिय" नि० चू० १ उ०।

उवसंपज्जंत-उपसंपद्यमान-त्रि० उपसंपद् गृह्णति, व्य० १ उ०।

उवसंपज्जसेणियापरिकम्म(ण्)-उपसंपद्श्रेणिकापरिकर्मन्-न० दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मभेदे, स० ॥

उवसंपज्जिउकाम-उवसंपत्तुकाम-त्रि० उपसंपदं जिघृक्षौ, बृ० १ उ०।

उवसंपज्जित्ता-उपसंपद्य-अव्य० उप-सम-पद-ल्यप्। साम० स्त्येनाङ्गीकृत्येत्यर्थे, ध० ३ अधि०। आश्रित्येत्यर्थे, स्था० ८ ठा० सूत्र०। उपा०। पा०। "उवसंपज्जित्ताणं विहरामि" उपसंपन्नो भूत्वा विहरामि इत्यर्थः ज्ञ० ३ श० २ उ०।

उवसंपण्ण-उपसंपन्न-त्रि० उप-सम-पद्-क्त-आर्ते, भूते च। रेम० सामीप्येन प्रतिपन्ने, आव० ६ अ०। "उवसंपन्नो उ कारणं तु तं कारणं अपूरितो" ध० ३ अधि०।

उवसंपया-उपसम्पद्-स्त्री० उप सामीप्येन सम्पादनं गमनमुप-

सम्पद् । इयन्तं कालं भवदन्तिके आसितव्यमित्येवरूपे (ग० २ अधि०) ज्ञानाद्यर्थगुर्वन्तराश्रयणे, ध०३ अधि० । पञ्चा० । भ० आ० म० द्वि० । त्वदीयोऽहमित्येवं श्रुताद्यर्थमन्यसत्ताभ्युपगमे, अनु० । सामीप्ये, प्रशंसायाम्, अस्तित्वे, निष्पत्तौ, प्रतिपत्तौ च । पं० चू० "अत्थणे उवसंपया" अर्थने ज्ञानाद्यर्थं परस्य आचार्यस्य पार्श्वे अवस्थाय ज्ञानादिगुणार्जनमुपसंपदुच्यते । तस्याचार्यस्य समीपे अवस्थानाय स्वामिन् इयन्त कालं भवतां समीपे मया स्थातव्यं गच्छान्तरे आचार्यान्तरे ज्ञानाद्यर्थमिति विज्ञप्तिपूर्वकं ज्ञानाद्यभ्यसनरूपा उपसंपत्सामाचारीति भावः ॥ उत्त० २६ अ० ।

(१) उपसंपदो भेदास्तत्र चारित्रगृहस्थोपसंपत्प्रतिपादनं च ।
(२) आचार्यादौ मृते अन्यत्रोपसंपत् । तत्र हानिवृद्ध्यादिपरीक्षणेन कर्तव्याकर्तव्यनिरूपणम् ।
(३) भिक्षोर्गणादपक्रम्य अन्यं गणमुपसंपद्य विहारः ।
(४) शैक्षेण सपरिच्छन्नेन रत्नाधिकस्योपसंपद्दातव्या ।
(५) सांभोगिकासांभोगिकयोः सहमिलितयोराचार्ययोः सामाचारी तत्रावग्रहश्च ।
(६) पार्श्वस्थादिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहारे कर्तव्यताविधिः ।
(७) भिक्षोर्गणादपक्रम्य अन्यं गणमुपसंपद्य विहरणे प्रकारान्तरप्रतिपादनम् ।
(८) गणावच्छेदकस्यान्यं गणमुपसंपद्य विहारः ।
(९) कुगुरौ सत्यन्यत्रोपसंपत् ।

(१) उपसंपद्भेदा यथा—

उपसम्पत् द्विधा साधुविषया गृहस्थविषया च ज्ञानादिहेतोर्यदपरं गणं गत्वोपसम्पद्यते सा साधुविषया । यत्पुनरवस्थाननिमित्तं गृहिणामनुज्ञापनं सा गृहस्थविषया बृ०१ उ० । तत्रास्तां गृहस्थोपसंपत् साधूपसंपत् प्रोच्यते ।

तिविहा उवसंपया पण्णत्ता तंजहा आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणित्ताए ॥

उपसंपत् ज्ञानाद्यर्थं भवदीयोऽहमित्यभ्युपगमः । तथा हि कश्चित् स्वाचार्यादिसंदिष्टः सम्यक् श्रुतग्रन्थानां दर्शनप्रभावकशास्त्राणां वा सूत्रार्थयोर्ग्रहणं स्थिरीकरणं विस्मृतसंधानार्थं तथा चारित्रविशेषभूताय वैयावृत्त्याय क्षमणाय वा संदिष्टमाचार्यान्तरं यदुपसंपद्यते । स्था० ३ ठा० । ध० । ज्ञानाद्युपसंपत्त्रिविधा ज्ञानादिभेदात्तथा चाह ।

उवसंपया य तिविहा, नाणे तह दंसणे चरित्ते य ।
दंसणनाणे तिविहा, दुविहा य चरित्तअट्ठाए ॥

उपसंपत् त्रिविधा तद्यथा ज्ञाने ज्ञानविषया एवं दर्शनविषया चारित्रविषया च । तत्र दर्शनज्ञानयोः संबन्धिनी त्रिविधा द्विविधा च चारित्रार्थायेति । तत्र यदुक्तं दर्शनज्ञानयोस्त्रिविधेति तत्प्रतिपादनार्थमाह ।

वत्तणा संधणा चेव, गहणे सुत्तत्थ तदुभए ।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाई य ॥

वर्तना संधना चैव ग्रहणमित्येतत्त्रितयं (सुत्तत्थतदुभयत्ति) सूत्रार्थोभयविषयमवगन्तव्यमित्येतदर्थमुपसंपद्यते । तत्र वर्तना प्राग्गृहीतस्यैव सूत्रादेरस्थिरस्य गुणनमिति । सन्धना तस्यैव प्रदेशान्तरं विस्मृतस्यामीलना योजना घटनेत्येकोऽर्थः । ग्रहणं पुनस्तस्यैव तत्प्रथमतया आदानम् एतत्त्रितयं सूत्रार्थोभयविषयं दृष्टव्यमेवं ज्ञाने नव भेदा दर्शनप्रभावनीयशास्त्रविषया एत एव भेदा दृष्टव्याः । अत्र च संदिष्टः संदिष्टस्यैवोपसंपद्यते इत्यादि चतुर्भङ्गिका । तत्र प्रथमो भङ्गः शुद्धः शेषास्त्वशुद्धाः । द्विविधा चारित्रार्थायेति यदुक्तं तदुपदर्शनायाह (वेयावच्चे इत्यादि) चारित्रोपसंपत् वैयावृत्त्यविषया क्षपणविषया च । इयं कालतो यावत्कथिका च भवति चशब्दादित्वरा च । एतदुक्तं भवति चारित्रार्थमाचार्याय कश्चिद्वैयावृत्यकरत्वं प्रतिपद्यते स च कालत इत्वरो यावत् काथिकश्च क्षपकोऽपि उपसंपद्यते द्विविधा इत्वरो यावत्कथिकश्चेति गाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमयमेवार्थो विशेषतः प्रतिपाद्यते । तत्रापि संदिष्टेन संदिष्टस्योपसंपद्दातव्येति मौलोऽयं गुणः । एतत्प्रभवत्वादुपसंपद इत्यतोऽमुमेवार्थमभिधित्सुराह ।

संदिट्ठो संदिट्ठस्स, चेव संपज्जए उ एमाई ।
चउभंगो एत्थं पुण, पढमो भंगो हवइ सुद्धो ॥

संदिष्टो गुरुणा अभिहितः संदिष्टस्यैवाचार्यस्य यथा अमुकस्य संपद्यस्व उपसंपदं प्रयच्छेत्यर्थः । एवमादिश्चतुर्भङ्गी तद्यथा संदिष्टस्य एष भङ्ग उक्तः । एवं संदिष्टोऽसंदिष्टस्यान्यस्याचार्यस्येति द्वितीयः । असंदिष्टः संदिष्टस्य न तावदिदानीं गन्तव्यं त्वयाऽमुकस्येति तृतीयः । असंदिष्टोऽसंदिष्टस्य न तावदिदानीं न वाऽमुकस्येति चतुर्थः । अत्र पुनः प्रथमो भङ्गो भवति शुद्धः पुनःशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् । द्वितीयपदेनान्यवच्छिन्नत्ति निमित्तमन्येऽपि दृष्टव्याः ।

सम्प्रति वर्त्तनादिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह ।

अथिरस्स पुव्वगहियस्स, वत्तणा जं इहं थिरीकरणं ।
तस्सेव पएसंतरं, नट्ठस्सणुसंधणा घडणा ॥
गहण तप्पढमतया, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव ।
अत्थगहणम्मि पायं, एस विही होइ नायव्वो ॥

पूर्वगृहीतस्य सूत्रादेरस्थिरस्य यदिह स्थिरीकरणं सा वर्तना तस्यैव सूत्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य या घटना मीलनं साऽनुसंधना तत्प्रथमतया च सूत्रे षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् । सूत्रस्य एवमर्थस्य सूत्रार्थोभयस्य यदादानमिति शेषः । तद्ग्रहणमित्यादि । अथग्रहणे प्रायो बाहुल्येन एष वक्ष्यमाणलक्षणो विधिर्भवति ज्ञातव्यः । प्रायोग्रहणं सूत्रग्रहणेऽपि कश्चिद्भवत्येव धर्मार्जनादिरिति ज्ञापनार्थम् । (आ० म०) स चैव योज्यते कर्तव्यमेव भवति कृतिकर्म वन्दनमिति एवं तावत् ज्ञानोपसंपद्विधिरुक्तो दर्शनोपसंपद्विधिरप्यनेनैवोक्तो दृष्टव्यस्तुल्ययोगक्षेमत्वात् । तथा हि दर्शनप्रभावकशास्त्रपरिज्ञानार्थमेव दर्शनोपसंपदिति । सम्प्रति चारित्रोपसंपद्विधिमभिधित्सुराह ॥

दुविहा उ चरित्तम्मि, वेयावच्चे तहेव खमणे य ।
नियगच्छा अण्णम्मि उ, सीयणदोसाइणा होइ ॥

द्विविधा चारित्रविषया उपसंपत् तद्यथा वैयावृत्त्यविषया क्षपणविषया च । किमत्रोपसंपदा कार्यं स्वगच्छ एव तत् कस्मान्न क्रियते निजगच्छादन्यस्मिन् गमनं सीदनदोषादिना भवति आदिशब्दादन्यभावादिपरिग्रहः ।

इत्तरिया य विभासा, वेयावच्चे तहेव खमणे य ।
अविगिट्ठविगिट्ठम्मि य, गणिणा गच्छस्स पुच्छाए ॥

इह चारित्रार्थमाचार्यस्य कश्चिद् वैयावृत्त्यकरत्वं प्रतिपद्यते स च कालत इत्वरो यावत् कथिकश्च भवति । आचार्यस्यापि वैयावृत्त्यकरोऽस्ति वा न वा । तत्राय विधिर्यदि नास्ति ततोऽसावित्वर

एव । अथास्ति स द्विविध इत्वरो वा स्यात् यावत् कथिको वा आगन्तुकोऽप्येवं द्विभेद एव । तत्र यदि द्वावपि यावत्कथिकौ ततो यो लब्धिमान् स कार्यते इतरस्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते । अथ द्वावपि लब्धियुक्तौ ततो वास्तव्य एव कार्यते इतरस्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते । अथ नेच्छति ततो वास्तव्य एव प्रीतिपुरस्सरं तेभ्यो दीयते आगन्तुकस्तु कार्यते इति । अथ प्राक्तनोऽप्युपाध्यायादिभ्यो नेच्छति तत आगन्तुको विसर्ज्यते एव । अथ वास्तव्यो यावत्कथिक इत्वरस्त्वितर इत्यत्राप्येवमेव भेदाः कर्त्तव्या यावदागन्तुको विसृज्यते ततो वास्तव्य उपाध्यायादिभ्योऽनिच्छन्नपि प्रीत्या विश्राण्यते यदि सर्वथा नेच्छति ततो विसृज्यते आगन्तुकः । अथ वास्तव्य एवेत्वरः आगन्तुकस्तु यावत्कथिकस्ततो वास्तव्योऽवधिकालं यावदुपाध्यायादिभ्यो दीयते शेष पूर्ववत् । अथ द्वावपीत्वरौ तत्राप्येक उपाध्यायादिभ्यो दीयते अन्यस्तु कार्यते शेषं पूर्ववत् । अन्यतमोऽवधिकालं यावत्क्रियते इत्येव यथाविधि विज्ञापना कार्या । उपाध्यायादिभ्य इत्यत्रादिशब्दात् स्थविरग्लानशैक्षकादिपरिग्रहः । उक्ता वैयावृत्त्योपसंपत् । सम्प्रति क्षपणोपसंपत् प्रतिपाद्यते (अविगिठत्यादि) कश्चित् क्षपणार्थमुपसंपद्यते स च क्षपको द्विधा इत्वरो यावत्कथिकश्च यावत्कथिक उत्तरकाले अनशनकर्ता इतरस्तु द्विधा विकृष्टक्षपकः खल्वाचार्येण पृच्छ्यते हा आयुष्मन् ! पारणके त्वं कीदृशो भवसि यद्यसावाह ग्लानोपमस्ततोऽसावभिधातव्योऽलं तव क्षपणेन स्वाध्यायवैयावृत्यकरणेन यत्नं कुरु इतरोऽपि पृष्टः सन् एवमेव प्रज्ञाप्यते । अन्ये तु व्याचक्षते विकृष्टक्षपकः पारणककाले ग्लानकल्पतामनुभवन्नपि इष्यते एव । यस्तु मासादिक्षपको यावत्कथिको वा स इष्यते एव तत्राप्याचार्येण गच्छः प्रष्टव्यो यस्माद् क्षपक 'उवसंपज्जत्ति' इति अनापृच्छ्य संगच्छते सामाचारीविराधनां यतस्ते सदिष्टा अपि उपाधिप्रत्युपेक्षणादि तस्य न कुर्वन्ति । अथ पृष्टा ब्रुवते यथाऽस्माकमेकः क्षपकोऽस्त्येव तस्य क्षपणपरिसमाप्तावस्य करिष्यामस्ततोऽसौ ध्रियते अथ नेच्छन्ति ततस्त्यज्यते अथ गच्छस्तमप्यनुवर्तते ततोऽसाविष्यत एव तस्य च विधिना प्रतीच्छितस्य उद्वर्तनादि कार्यम् । यदा पुनः प्रमादतोऽनाभोगतो वा न कुर्वन्ति शिष्याः तदा आचार्येण वन्दनीया इत्यलं प्रसङ्गेन ।

सम्प्रति चारित्रोपसंपद्विधिविशेषप्रतिपादनार्थमाह ।

उवसंपन्नो जं का-रणं तु तं कारणं अपूरतो ।
अहवा समाणियम्मि, सारणया वा विसग्गो वा ॥

यत्कारणं यन्निमित्तमुपसंपन्नस्तुशब्दादन्यत्वसामाचार्यन्तर्गतं किमपि गृहीतं तत्कारणं वैयावृत्यादि अपूरयन् अकुर्वन् यदा वर्तते इत्यध्याहारस्तदा किमित्याह (सारणया वा विसग्गो वा इति) तदाऽस्य सारणा चोदना क्रियते अविनीतस्य पुनर्विसर्गो वा परित्यागः क्रियते । तथा नापूरयन्नेव यदा वर्तते तदा सारणा वा विसर्गो वा किं तु (अहवा समाणियम्मित्ति) अथवा समानीते परिसमाप्तिं नीते अभ्युपगतप्रयोजने सारणा च क्रियते यथा परिसमाप्तम् । ततो यदि ऊर्ध्वमपि इच्छति ततो भवति अथ नेच्छति सोऽवस्थातु ततो विसर्गो वेति वृत्तः । चारित्रोपसंपत् । संप्रति गृहस्थोपसंपदुच्यते तत्रेय साधूनां सामाचारी सर्वत्रैव साध्व्यादिषु वृक्षाद्यधोऽप्यनुज्ञाप्य स्थातव्यं यत आह ।

इत्तरियं पि न कप्पइ, अविदिन्नं खलु परोग्गहाईसु ।
चिट्ठितु निसीयइत्तुं व, तइयव्वयरक्खणट्ठाए ॥

इत्वरमपि स्वल्पमपि कालमिति गम्यते न कल्पते अविदत्तं खलु परावग्रहादिषु आदिशब्दः परावग्रहोऽनेकभेदप्रख्यापकः किं न कल्पते इत्याह स्थातुं कायोत्सर्गं कर्तुं निसत्तमुपवेष्टुं किमित्यत आह (तइव्वयरक्खणट्ठाए) अदत्तादानविरत्याख्यतृतीयव्रतरक्षणार्थं तस्मात् भिक्षाटनादावपि व्याघातसंभवे क्वचित् स्थातुं शक्यमनुज्ञाप्य स्वामिनं विधिना स्थातव्यम् । अटव्यादिष्वपि विश्रमितुकामेन पूर्वस्थितमनुज्ञाप्य स्थातव्यं तदभावे देवतां यस्याः सोऽवग्रह इति । आ० म० द्वि० । आ० चू० ॥ पञ्चा० (क्षमालोचना आलोयणा शब्दे)

(२) आचार्यादौ मृते ऽन्यत्रोपसंपत् ।

गामाणुगामं दुइज्जमाणे भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरेज्जा से आहच्च वीसुंभेज्जा अत्थिया इत्थ केइ उवसंपज्जणारिहे कप्पइ से उवसंपज्जियव्वे सिया णत्थि इत्थ केइ अन्ने उवसंपज्जणारिहे अप्पए असमत्ते कप्पइ से एगरायाए पडिमाए जन्नं जन्नं दिसिं अन्नसाहम्मिया विहरंति तन्नं तन्नं दिसं उवलित्तए णो से कप्पइ तत्थ विहारपत्तियं वत्थए कप्पइ से कारणपत्तियं वत्थए तेंसि च णं करणंसि निट्ठियंसि य रोवइज्जा वसाहि अज्जो एगरायं वा दुरायं वा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए णो कप्पइ एगराओ वा दुराओ वा परवत्थए जं तत्थ एगराओ वा दुराओ वा परं वसति सेसंतरा छेए वा परिहारे वा ॥

ग्रामानुग्रामं ग्रामेण (दुइज्जमाणे) गच्छन् एतावता ऋतुबद्धकालो दर्शितो य पुरतः कृत्वा प्रभु कृत्वा इत्यर्थः । स नियमादाचार्य उपाध्यायो वा इष्टव्यो विहरति स आहच्च कदाचित् छुजेज्जा शरीरादिष्वग् भवेत् कालगतो भवेत् (अत्थियाइत्थ इत्यादि) अस्ति वाऽत्र समुदायेऽन्यः कश्चित् आचार्योपाध्यायाद्व्यतिरिक्तो गणी प्रवर्तकस्थविरो वृषभो वा उपसंपदनार्हस्ततः उपसंपत्तव्यः । अथान्यो नास्ति कश्चिदशेषसंपदनार्हस्तर्हि स आत्मनः कल्पनासमाप्त इति (से) तस्य कल्पते । एकरात्रिक्या प्रतिमया यत्र वसति तत्रैकरात्राभिग्रहेण (अन्नमित्यादि) यस्यां यस्यां दिशि अन्ये साधर्मिका विहरन्ति तां तां दिशमुपगन्तुं न पुनः (से) तस्य कल्पते तत्रापान्तराले विहारप्रत्ययं वस्तुं कल्पते (से) तस्य कारणप्रत्ययं संघातादिकारणनिमित्तं वस्तुम् । तस्मिंश्च कारणे निष्ठिते यदि परो वदेत् वस आर्य ! एकरात्रं द्विरात्रं वा एवं (से) तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वाशब्दात्त्रिरात्रं वा वस्तुं न (से) तस्य कल्पते एकरात्राद् द्विरात्राद्वा परं वस्तुम् यस्तत्र एकरात्रात् द्विरात्राद्वा परं वसति तत्र (से) तस्य स्वकृतादन्तराच्छेदः परिहारो वेति । अधुना निर्युक्तिविस्तरः । अत्रोपसंपदनार्ह इत्युक्तं सा चोपसंपद् द्विधा लौकिकी लोकोत्तरिकी च ते आह ।

लोगे य उत्तरम्मि य, उवसंपयलोगिगी उ रायाई ।
राया वि होइ दुविहो, सावेक्खो चेव निरवेक्खो ॥

उपसंपद् द्विधा लोके लोकोत्तरे च । तत्र लौकिकी राजादौ आदिशब्दात् युवराजादिपरिग्रहः । तथा च यदा राजा मृतो भवति तदा युवराजमुपसंपद्यन्ते तं राजानं स्थापयन्तीत्यर्थः । युवराजोऽन्यः स्थाप्यते स च राजा भवति । द्विविधः सापेक्षो निरपेक्षश्च । सहापेक्षया सापेक्षस्तद्विपरीतो निरपेक्षः । तथा च

यतः राजाऽऽपेक्षः सन् जीवन्नेव युवराजं स्थापयति निरपेक्षस्तु नैव । अथ किं जीवन्नेव युवराजं स्थापयति तत आह ।

जुवराजम्मि उ ठविए, पया उ बंधंति आयतिं तत्थ ।
नेव य कालगयम्मि, खुब्भंति पडिवेसियनरिंदा ॥

युवराजे राज्ञा साक्षाद्ध्रियमाणेन स्थापिते प्रजास्तत्र आयतिमागामिकालविषयां महतीमास्थां बध्नन्ति नैव च सहसा कालगते राज्ञि प्रातिवेशिकनरेन्द्राः सीमान्तवर्तिनः प्रत्यन्तराजानः क्षुभ्यन्ति राज्यविलोडनाय प्रयतन्ते । उक्तः सापेक्षः ।

संप्रति निरपेक्षमाह ।

पच्छन्नगायतेणं, आयपरो दुविह होइ निक्खेवो ।
लोइयलोगुत्तरितो, लोगुत्तरवप्पियर वोच्छं ॥

निरपेक्षो नाम यः प्रजानां राज्यस्य चायतिं नोपेक्षते तस्मिन् कालगते स राजा मृतः प्रच्छन्नो म्रियते यथा कोऽपि राजा शरीरबाधितो वर्तते स च तावत् म्रियते यावदन्यो निवेश्यते । स च कश्चिन्निस्तेनोऽपि । तथा निक्षेपणं निक्षेपः स द्विविधो द्विप्रकारस्तद्यथा आत्मनः परस्य । पुनरेकैको द्विधा लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लोकोत्तरिकः स्थाप्यः पश्चाद्वक्ष्ये इत्यर्थः । इतरं लौकिकं प्रथमगाथापादपश्चिमपदये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति

निरवेक्खे कालगते, भिन्नरहस्सा विगिंचिऊमच्चो य ।
अहिवासे आसहिंडण, रज्जो तियमूलदेवो उ ॥

एको राजा निरपेक्षस्तस्य राज्ये मूलदेवश्चौरिकां करोति । स कदाचिदारक्षकैः प्राप्तो राज्ञः पार्श्वं नीतो राज्ञा च स्तेन इति कृत्वा वध आदिष्टः ततो राजा तत्क्षणमेव निजमायामस्थानमुपगतः । क्षणमात्रेण च सहसा कालगतः । तस्मिन्निरपेक्षे कालगते भिन्नरहस्यो राजा मृत इति रहस्यं यौ जानीतस्तद्यथा वैद्योऽमात्यश्च राजा चानपत्यस्ततोऽश्वस्याधिवासना कृता सर्वत्र त्रिकचतुष्कचत्वरादिषु हिण्ड्यते कथं नाम राजलक्षणयुक्तं पुरुषं लभेमहि यं राजानं स्थापयाम इति मूलदेवश्च यो वध आज्ञापितः स तेनावकाशेन नीयमानो वर्तते ।

आसस्स पट्टिदाणं, आणयणं हत्थचालणं अन्नो ।
अभिसेगजेडयपरिभव, तणजक्खनिवायणं आणा ॥

ततोऽश्वेन तस्य मूलदेवस्य वध्यतया नीयमानस्य पृष्ठं दत्तं । गाथायां स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् प्राकृते हि लिङ्गं व्यभिचारि ततो मूलदेवो यत्र राजा प्रच्छन्नो जवनिकान्तरितोऽवतिष्ठते तत्रानीतस्ततो वैद्यकुमारामात्याभ्यां जवनिकाभ्यन्तरस्थिताभ्यां राज्ञो हस्तं उपरि मुखे नीत्वा चालितः एतत् राज्ञो हस्तचालनं ततो वैद्यकुमाराभ्यामुक्तं कृता राज्ञाऽऽज्ञा यथा मूलदेवं राजानमभिषिञ्चत न शक्नोति वाचा वक्तुमिति ततो अभिषिक्तो मूलदेवो राज्ये नवकमसदृश इति कृत्वा केचिद्भोजिका परिभवमुत्पादयन्ति । न पुनः कुर्वन्ति । राजार्हं विनयं ततश्चिन्तयति मूलदेवो ममैते मूर्खतया परिभवं कुर्वन्ते परं किमिदानीमेते मूर्खतयैव कदाचिन्मम स्वयमेव समागमफलं जनयिष्यन्ति तदानीं शासयिष्यामि ततोऽन्यदिवसे आत्मनः शिरसि तृणशूकजातं कृत्वा आस्थानमण्डपिकायामुपविष्टः । ते च भोजिका मूर्खतया शनैः परस्परमुल्लपन्ति अद्यापि नन्वेष चोरत्वं न मुञ्चति अन्यथा कथमेतादृशस्य तृणशूकजातस्येदृशे भवने सम्भवो नूनं तृणगृहादिषु चौरिकानिमित्तमतिगतस्ततस्तृणशूकजातं शिरसि लग्नमिति एतच्चाकर्ण्य मूलदेवो रोषमुपागमत् भृते च आसीत् कोऽपि नाम यश्चित्तानुकारी य एतान् शास्तीति । ततः एवमुक्ते तत्पुण्यप्रभावतो राज्यदेवताधिष्ठितैर्निशितासिलताकैश्चित्रकर्मप्रतीहारैः केषाञ्चित् शिरांसि लूनानि शेषाः कृतप्राञ्जलयः आज्ञामभ्युपगतवन्तः । तथा चाह (भोज्यपरिभवेत्यादि) भोजिका परिभवं कृतवन्तोऽन्यदा मूलदेवः (तणत्ति) तृणानि शीर्षे कृतवान् ततस्तत्कोपावेशं दृष्ट्वा यक्षैरतिपातनं विनाशनं कृतम् । शेषैराज्ञा प्रतीच्छिता । एतदेव सविशेषमाह ।

जक्खनिवातियसेसा, सरणगया जेहिं तोसितो पुव्वं ।
ते कुव्वंती रन्नो, अत्ताण परे य निक्खिवणं ॥

यक्षनिपातितशेषाः शरणागता मूलदेवस्य शरणं प्रतिपन्नाः । यैश्च पूर्वं मूलदेवस्तोषितस्ते राज्ञ आत्मनः परस्य च निक्षेपमद्यप्रभृति युष्मदीया वयमेते चेति समर्पणं कुर्वन्ति । उक्तो निरपेक्षो लौकिको लोकोत्तरिको वक्तव्यस्तत्र प्रथमं सापेक्षमाह ।

पुव्वं आयतिबंधं, करेइ सावेक्ख गणहरे ठविए ।
अठविए पुव्वुत्ता, दोसा उ अणाहमादीया ॥

यो नामाचार्यः सापेक्षः स पूर्वमेव गणधरे स्थापिते साधूनामायतिबन्धं करोति यथाऽयं युष्माकमाचार्य इत्येतदाज्ञया वर्तितव्यमिति । अथ न पूर्वं गणधरं स्थापयति ततस्तस्मिन्नस्थापिते दोषाः पूर्वोक्ता अनाथादयः "अणाहमादीया" इत्यादिनाभिहिताः शिष्याद्यो दोषा भवेयुः । उक्तो लोकोत्तरिकः सापेक्षः ।

सम्प्रति निरपेक्षमाह ।

आसुक्कारोवरए, अठविते गणहरे इमा मेरे ।
चिलिमिलिहत्थाणुण्णा, परिभवसुत्तत्थहावणया ॥

आशुकारेण शूलादिनोपरते कालगत आशुकारोपरतस्तस्मिन् सत्याचार्ये अस्थापिते अन्यस्मिन् गणधरे इयं वक्ष्यमाणा मर्यादा तामेवाह (चिलिमिलीत्यादि) आशुकारोपरत आचार्यो जवनिकान्तरितः प्रच्छन्नः कार्यो वक्तव्यं चाचार्याणामतीवाशुभं शरीरं वाचाऽपि वक्तुं न शक्नुवन्तीति । ततो यो गणधरपदार्हस्तं जवनिकाबहिः स्थापयित्वा सूरयो भणन्ते को गणधरः स्थाप्यतामेव चोक्ता जवनिकाभ्यन्तरस्था गीतार्था आचार्यहस्तमुपर्युन्मुखं कृत्वा स्थाप्यमानगणधराभिमुखं दर्शयन्ति वदन्ति च गणधरत्वमेतस्यानुज्ञातं परं वाचा वक्तुं न शक्नुवन्ति एषा हस्तानुज्ञा न एतस्योपरि वासा निक्षिप्यन्ते । स्थापित एष गणधर इति पश्चात्कालगता आचार्या इति प्रकाश्यते (परिभवसुत्तत्थहावणया इति] ततो येऽभिनवस्थापितस्याचार्यस्य परिभवोत्पादनबुद्ध्या आचार्योचितं विनयं न कुर्वन्ति तेषां सूत्रमर्थं वा स हापयति न ददातीत्यर्थः । सम्प्रति " आयपरो दुविह होइ निक्खेवो लोइयलोउत्तरितो " इति व्याख्यानार्थमाह ।

दंडेण उ अणुसट्ठा, लोए लोगुत्तरे य अप्पाणं ।
उवनिक्खिवंति सो पुण, लोकिअलोगुत्तरे दुविहो ॥

लोके लोकोत्तरे च यथार्हं विनयमकुर्वन्तो । दण्डेनानुशिष्टा आत्मानमुपनिक्षिपन्ति तत्र लौकिको दण्डः पूर्वमुक्तो यो मूलदेवेन भोजिकानां केषाञ्चित्कृतो लोकोत्तरिकः सूत्रार्थापहारणम् । इह नवे राज्ञीव नवे गणधरे स्थापिते निक्षेपरसो लोकस्य जायते तत्तत्फलमुपवर्ण्यते निक्षेपस्य फलं लोके परिपालनं लोकोत्तरज्ञानादीनामभिवृद्धिः स चोपनिक्षेपो द्विधा लौकिको लोकोत्तरिकश्च । पुनरेकैको द्विधा आत्मोपनिक्षेपः परोपनिक्षेपश्च । तत्र लौकिक आत्मनिक्षेपो ये प्रगल्भास्ते आत्मनैवात्मानं राज्ञ

उपनिक्षिपन्ति तिष्ठन्ति च शरणोपपातकारकाः प्रपन्नशरणा ये पुनरप्रगल्भास्ते ये राज्ञो वल्लभास्तैरात्मानमुपनिक्षेपयन्ति । एष परोपनिक्षेप. । लोकोत्तरिक आत्मनिक्षेपो गच्छवर्त्तिनां साधूनां तथाहि ये गच्छे एव वर्तन्ते साधवस्ते आत्मानमात्मनैवाभिनवाचार्यस्योपनिक्षिपन्ति । परनिक्षेप. फड्डुकगतानां ते हि समागता स्पर्द्धकपतिना निक्षिप्यन्ते यथा एते अहं च युष्माकमिति । "इह मिथियाइय अम्ह कइ उवसंपज्जणारिहे" इत्याद्युक्तम् तत्र यद्यपि स गीतार्थस्तरुण. समर्थश्चेन्द्रियनोइन्द्रियाणां निग्रहं कर्तुं तथापि तेनान्यो गणो निश्रयितव्यो निश्रयश्च परप्रत्ययनिमित्त तत्रापि निक्षेप' कर्त्तव्य' ।

अत्र लौकिको दृष्टान्तस्तमेवाह ।

जह कोइ वणितो उ, धूयं सेट्ठिस्स हत्थनिक्खिवओ ।
दिसि जत्ताए गतो, कालगतो सो य सेट्ठी उ ॥

एको वणिक् तस्य गृहे मारिरुत्थिता । सर्वं गृहमुपप्लावितमेका दुहिता निष्ठति पर' स श्रेष्ठी निर्धन इति ता दुहितरं न परिणापयितु समर्थस्ततो दिग्यात्रां कर्तुमिच्छति जानाति वै तस्या. कन्यकाया. स्वभाव यथा समर्थात्मानमेषा संरक्षितु केवलमेका कन्यका महती गृहे तिष्ठन्ती दुष्टशीला लोकेन संभाव्यतेति मित्रश्रेष्ठिनो हस्ते ता निक्षिप्य मुक्त्वा वाणिज्येन दिग्यात्रां गत । तस्यापि च मित्रश्रेष्ठिनो गृहे मारिरभूत् । तत सोऽपि सकुटुम्बो विनाशमुपागमत् तथा चाह स च श्रेष्ठी कालगतः केवलमेका कन्यका स्थिता सा च मूलश्रेष्ठिदुहितु. सखी सा च सखी अप्यात्मान संरक्षितु क्षमा केवल यश प्रत्ययनिमित्त राज्ञ' समीपमुपस्थिता तथा चाह ।

सेट्ठिस्स तस्स धूया, वणियसुयं घेत्तु रण्णो समुवगया ।
अह यं एस सही मे, पालेयव्वा उ तुज्झेहिं ॥

तस्य मूलभूतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता वणिक्सुतां मृतपितृवणिग्दुहितर गृहीत्वा राज्ञ' समुपगता समीपमुपगता पादेषु निपत्य विज्ञपयति यथा देव युष्माभिर्निजदुहितरो रक्ष्यन्ते तथा अहमेषेय मे सखी युष्माभि पालयितव्या आवयोरपि युष्मत्कन्यकात्वात् ।

इय होउ त्ति य भणियं, कण्णा अंतेउरम्मि तुट्ठेण ।
रण्णा पक्खित्ता उ, भणिया वाहूगिउ पालाउ ॥

इति एवं भवत्विति भणित्वा तुष्टेन राज्ञा ते द्वे अपि कन्यान्त. पुरे प्रक्षिप्ते भणिता च व्याहृत्य आकार्य (पालाओ) पालिका महत्तरिका किं भणितेत्यत आह ।

जह रक्खह मज्झ सुता, तहेव एया तो दोवि पालेह ।
ते एवि तेउ पाले, विसविय विणीतकरणाए ॥

यथा रक्षथ मम सुता' कन्यकास्तथैव एते अपि द्वे मत्कन्यकात्वे पालयथ एवमुक्ते तयापि महत्तरिकया विनीतकरणया विज्ञप्त देव एते अतिपालयामि । एवमुक्त्वा ते कन्यान्त पुर नीते । तत्र च मूलश्रेष्ठिदुहिता महत्तरिकां विज्ञपयति ।

जह कण्णा एयातो, रक्खह एमेव रक्खह ममं पि ।
जह चेव मम रक्खह, तह रक्खह मम सहिं पि ॥

यथा एता कन्या यूय रक्षथ एवमेव मामपि रक्षथ । यथा च मां रक्षथ तथेमां मम सखीमपि रक्षथ ।

इय होउ अब्भुवगए, अह वासिं तत्थ संवसंतीणं ।
कालगया महत्तरिया, जा कुणती रक्खणं तासिं ॥

इत्येष भवत्विति अभ्युपगते तासां तत्र संवसन्तीनामथ कियत्कालातिक्रमेण या रक्षण तासां करोति सा महत्तरिका कालगता।

सविकारातो दट्ठु, सेट्ठिसुया विण्णवेइ रायाणं ।
महतरियदाणनिग्गह, वणियागमए य विसज्जणं ॥

महत्तरिकाकालगमनानन्तर ताः कन्यका. सविकारा अभूवन् ततस्ताः सविकाराः दृष्ट्वा श्रेष्ठिसुता राजानं विज्ञपयति अन्यमहत्तरिकां प्रयच्छत दत्ता राज्ञा । तया च महत्तरिकया [निग्गहत्ति] कन्या सविकारा उपलभ्य खरण्टिता एव तासां तिष्ठन्तीनां (वणियागमत्ति) स देशान्तरगतो वणिक् समागतः (विसज्जणमिति) राज्ञो विज्ञपनमकार्षीत् यथा देव ! नयामि निजपुत्रिकामिति ।

पूएऊण विसज्जण, सरिसकुलदाण दोण्ह वि भोगा ।
एमेव उत्तरम्मि वि, अवत्त राइंदिए उवमा ॥

तत श्रेष्ठिकृतविज्ञप्तिकानन्तर ते द्वे अपि पूजयित्वा राज्ञा विसृष्टे सदृशकुले दान विवाहिते इत्यर्थ' । ततस्तयोर्द्वयोरपि विपुला भोगा दत्ताः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण उत्तरेऽपि लोकोत्तरेपि अव्यक्तस्य रात्रिंदिवैरुपमा । इयमत्र भावना । यदि तावल्लौकिका अपि यशः संरक्षणनिमित्तमात्मानमन्यत्रोपनिक्षिपन्ति तत सुतरां लोकोत्तरिकै साधुभि. स्वयमयश संरक्षणनिमित्तमात्मा ऽन्यगणे निक्षेप्तव्यः । स चाव्यक्तो वयसा ततो यावद्भिरहोरात्रैर्वयसा व्यक्तो भवति तावन्तं कालं तत्रान्यगणनिश्रायां तिष्ठति कथ पुनरात्मान गण वोपनिक्षिपति । तत आह ।

एते अहं च तुब्भं, वत्तीभूतो सयं तु धारेइ ।
जसपच्चयाउराला, मोक्खसुहं चेव उत्तरिए ॥

एते मदीया. साधवोऽहं च युष्माकमेव चोपनिक्षिप्य तावत्तत्र तिष्ठति यावत् व्यक्तो जायते ततो व्यक्तीभूत. सन् तस्मान्निर्गत्य स्वयमेव गण धारयति एव च कुर्वतस्तस्य फलमिह लोके उदारा यश प्रत्यया अवदात यशोऽवदाताश्च लोके प्रत्यया संयमनैर्मल्यविषया । परलोके फल मोक्षसुखमौत्तरिके लोकोत्तरिके उपनिक्षेपे । अथवा लौकिकस्य लोकोत्तरिकस्य च सापेक्षस्य पदस्थापनायोग्यविषयेय परीक्षा ॥

सावेक्खं पुण पुव्वं, परिक्खए जह धणो उ सुण्हा उ ।
आणिययसहायपरिहा-विय १ मुत्ता २ तच्चि ३ नुट्टा उ ४ ॥

सापेक्ष पुन. पूर्व परीक्षते साधून् यथा धनश्रेष्ठी स्नुषा भनियतस्वभावा' परीक्षितवान् कथमिति चेदुच्यते " रायगिहे नयरे धणो नाम सेट्ठी तस्स चत्तारि सुण्हा ता अन्नया तो चिंतेइ का मम सुण्हा घरं छुहितेहित्ति ततो अन्नया तासिं परिक्खणनिमित्त सयणवग्गो णिमंतितो भोयणोत्तर सयणसमक्ख सुण्हातो सद्दावेऊण पत्तेय पत्तेय पंच सालिकणा समप्पिया एएसु रक्खिय करेह यदा मग्गेहामि तया दायव्वा हतो पढमाए चुहो एस न लज्जितो सयणसमक्ख पंच कणे म मप्पतो न किंपि जाणइ जया मग्गिहिति तया अन्ने दायव्वा इति छड्डिया । बियाए चुक्कमेमांति छुक्का तइयाए, आभरणकरंडियाए सुरक्खीकया चउत्थीए ता न य संतेसु भारोविकंविरूढि नीया जाया । वरिसपणगेण सयमहस्सा । पुणो वि सेट्ठिणा वरिसपणगानंतर सयणवग्गं णिमंतेऊण तदुत्तर सयणसमक्खं ततो सद्दाविया तो ते मे पंच मालिकणे समप्पेहा ततो पढमाए अण्णातो गणातो आणेऊण समप्पिया सेट्ठिया सत्वहसा

विता भणिया ते चेव इमे पंच साहिकणा किं घा भणे । तीए कहिए ते मए तया चेव उट्ठिया पुण अणे भणीया एव विन्याप वि नयर तीए भुत्ता कहिया । तइयाए ते चेव भणीया भणियं आनरणकरमियाए मए सुरकम्मोकया । चउत्थीए भणिय नाय सगळाणि ममप्पिजतु जेण ते पत्र सकिणा आणिज्जते । ततो सेठिणा चिन्हिएण पुच्छिय तीए कहिय जहावत्त जाव जाया मूलमहस्सा तउपरि तुट्ठेण सेट्ठिणा भणियपतीए मज्क पत्र साक्षिकणा भतीव बुद्धि नेहसित्ति पसा मम घरस्स सामिणी । तइया भद्धाग्ग्वविया जीए भुत्ता सा महाणसवावारे निजोइया पढमा घरयाहिरम्मे । तथा चाह । प्रथमया परिहापिता द्वितीयया भुकामृतीयया तावन्मात्रा भृताश्चतुर्थ्या (पुष्टि) पर्हता । एव दृष्टान्त समर्थित । दार्ष्टान्तिकयोजनामाह ।

ओमेसिरमतते य, उज्झिउ आगतो न खलु जोग्गो ।
किंतिकम्मनारविरवा, डिएसु जुत्ता य जुत्तोए ॥

प्रथमाचार्येणापि परीक्षानिमित्त माधूनममर्प्य दक्षदर्शने शिष्या निर्गमकाग्लग्नत्र योऽवमे दुर्भिक्षादौ वा साधून् त्यक्त्वा पथा वेअगर-नोऽसहायास्तान्या त्यक्त्वा समागत स खलु न योग्य येनापि कृतकर्मसुपान्नलेपनादिक्रियापरेषु नारे च पथ्युपकरणपादनेन भिक्षादिषु चात्मतृष्ण्या मुक्ता उपयोग नीता साधवो न च सम्यक्पालिता सोऽपि न योग्य ।

न य उज्झिया न भुत्ता, नेव य परिहाविया न परिवुड्ढा ।
ततिएण ते चेव उ, समीरपच्चाणिया गुरुणो ॥

तृतीयेन य समर्पिता साधवो गुरुणा ते न उज्झिता न दुर्भिक्षादियादिषु परित्यक्ता नापि भुक्ता केवलमात्मोपयोग नीता । नापि पुरुषासिप्रदानादिना परिहापिता परिहानि नीता नाप्यन्यान्यपरिग्राजनन परिवर्द्धिता किं तु तावन्त एव गुरुसमीप प्रत्यानीता । चतुर्थमाह ।

उवसंपाविय पव्वा–विया य अण्णे य तेसि संगहिया ।
एरिसए देइ गणं, कामं तइयं पि पूएमो ॥

येन यद्य उपसपादिता उपसपद् ग्राहिता यद्य परिव्राजिताश्च अन्येन च तेषामुपसंपादितानां परिव्राजितानां च सर्वविन सगृहीतास्तेऽपि उपसपद् ग्राहयिष्यन्ते परिव्राजयिष्यन्ते चेत्यर्थ । ईदृशे चतुर्थे ददाति गणमाचार्य एकान्तयोग्यत्वात् न केवलमेतस्मिन् किंतु काममतिशयेन तृतीयमपि पूजयामश्चतुर्थाभावे तमपि योग्य प्रशसाम इत्यर्थ ।

तस्मात्मपरो निक्षेपयोजनामाह ।

तम्मि गणे अभिसित्ते, सेसगभिक्खुण अप्पनिक्खेवो ।
जे पुण फड्डुगवतिया, आयपरे तेसि निक्खेवो ॥
एव कालगते ठविए, सेमाणं आयनिक्खेवो ।
फड्डगवतियाणं तु, आयपरो तेसि निक्खेवो ॥

तस्मिन् चतुर्थे तदभावे तृतीये वा गणे पदे अभिषिक्ते शेषकाणा भिक्षूणा तद्गणान्तर्वर्तिनामात्मनिक्षेपो भवति । ये पुन स्पर्द्धकपतयस्तेषामात्मन परतश्च निक्षेप स्पर्द्धकपतीनामात्मतस्तदाश्रितानां परत स्पर्द्धकपतिद्वारेण तेषामुपनिक्षेपभावात् । एवमात्मपरोपनिक्षेपिकागते दृष्टान्तस्तथा चाह (एव ति) एव निरपेक्ष्य सहसा कालगते पूर्वप्रकारेणान्यस्मिन् स्थापिते शेषाणा गणान्तर्वर्तिनामात्मनिक्षेपो भवति स्पर्द्धकपतिकानां त्वात्मनिक्षेप स्पर्द्धकपतीनामात्मनस्तदाश्रितानां परतो निक्षेप इत्यर्थ ।

उपसंपज्जणअरिहे, अविज्जमाणम्मि होइ नातव्वं ।
गमणम्मि सुद्धासुद्धे, चउभंगो होति नायव्वो ॥

उपसपदर्हे अविद्यमाने अयत्रान्यत्र गन्तव्य तत्र च गमने शुद्धपदे सयोगतश्चतुर्भङ्गी भवतीति ज्ञातव्यम् । तद्यथा निर्गमने शुद्धो गमने च शुद्ध इति प्रथम निर्गमने शुद्धो गमने अशुद्ध इति द्वितीय । निर्गमने अशुद्धो गमन शुद्ध इति तृतीय । निर्गमने अशुद्धो गमने चाशुद्ध इति चतुर्थ । गाथाया चउभंगो इति पुस्त्वनिर्देश प्राकृतत्वात् । तत्र प्रथमभङ्गव्याख्यानार्थमाह ।

असतीए वायगस्स, जं वा तत्थत्थि तम्मि गहियम्मि ।
सघाडो एगो वा, दायव्वो असति एगागी ॥

य कालिकमुत्कालिक दृष्टिवाद वा वाचयति स नास्ति तत स्तस्य वाचकस्यासत्यभावे अथवा यत्तत्रास्ति श्रुत तत्सर्वं गृहीत ततस्तस्मिन् गृहीतेऽन्यसूत्रार्थग्रहणायान्यत्र व्रजति तस्य च एक सघाटो दातव्य । असति सघाटकाभावे एकाकी व्रजेत् ।

अह सव्वेसिं तेसिं, नत्थि उ उवसंपयारिहो अण्णो ।
सव्वे येतु गमणं, जत्तियमेत्ता व इच्छंति ॥

अथ तेषां गच्छवर्तिनां साधूनां सर्वेषामन्य उपसपदर्हो नास्ति तत सर्वान् गृहीत्वा गमने कर्तव्यम् । अथ सर्वं गन्तु नेच्छन्ति तर्हि यावन्मात्रा इच्छन्ति तावन्मात्रे सह गन्तव्यमेष निर्गमशुद्ध उच्यते ।

एव सुद्धे निग्गमे, वइयाइअपडिवज्जंतो ।
संविग्गमणोन्नेहिं, तेहि वि य दायव्वो सघाडो ॥

एव शुद्धे निर्गमे व्रजिकादिषु गोकुलादिष्वप्रतिबन्धमकुर्वन् गच्छेत् । तत्र यद्यपान्तराले सविग्नमनोज्ञा सन्ति ततस्तै सह मिलित्वा गन्तव्य तैरपि च निर्गमनशुद्धत्वात् ज्ञानाद्युपसपन्निमित्त च चलितत्वादवश्यं सघाटो दातव्य । अथ यदा एक द्वौ वा दिवसौ सघाटो न भवति व्याकुलत्वात्तदा किं कर्तव्यमत आह ।

एग च दो व दिवसे, संघाडत्थ स पडिच्छिज्जा ।
असती एगागी उ, जयणा उवही न उवहम्मे ॥

एक द्वौ वा दिवसौ स सघाटार्थं प्रतीक्षेत असत्यभावे संघाटस्य एकाकी व्रजेत् तत्र च यतना कर्त्तव्या सा च प्राक्कल्पाध्ययनेऽभिहिता तत उपधिर्नोपहन्यत यतनया प्रवृत्तत्वात । उपसहारमाह ।

एसो पढमो भंगो, एवं सेसा कमेण जोएज्जा ।
आसतुज्ज य गाए, गच्छे दारा य तत्थ इमे ॥

एषोऽनन्तरोदित प्रथमो भङ्ग एवमुपदर्शितेन प्रकारेण शेषा अपि भङ्गका क्रमेण योक्तव्यास्तद्यथा निर्गमशुद्ध प्राग्वत् गमनाशुद्धो व्रजिकादिषु प्रतिबन्धकारणात् निर्गमनाशुद्धो द्वेषार्पितया निर्गमनात् निर्गमनशुद्धो व्रजिकादिष्वप्रतिबन्धान्निर्गमनाशुद्धो गमनाशुद्धश्च प्राग्वत् । अथ प्रथमभङ्गवर्ती प्रथमस्य कारणतो द्वितीयभङ्गवर्त्यपि एव च गच्छता तेन ये आसन्ना उद्यता उद्यतविहारिणस्तेषा स्थान गच्छेत्तत्र च गतस्य परीक्षादिनिमित्तमिमानि द्वाराणि भवन्ति तान्येवाह ।

उपसपदर्हस्य गच्छस्य हानिर्गुरुपरीक्षण तत्र कल्प्याकल्प्यविधि ॥

पासत्थमहाणि अमती, आगमण निग्गमो अमविग्ग ।
निंतियणजयणनिराहं, द्दीहगद्धं परिच्छंति ॥

परीक्षा (हाणीति) हानिवृद्धिविषया कर्त्तव्या यत्र ज्ञानादीनां हानिस्तत्र न वास्तव्यमन्यत्रवास्तव्यमिति भावः (असतित्ति) यस्य समीपं गच्छोपसम्पन्नस्तस्मिन्सापेक्षे निरपेक्षे वा कालगतत्वेनासति योऽन्यः स्थापितस्तस्य सकाशे स्थातव्यं तस्मिन्नपि सीदति यावत्कुलादिस्थविराणामागमनं तावत्प्रतीक्षणीयं तैरपि प्रतिचोदने कृते सीदति निर्गमो विधेयः । गच्छता च संविग्नाभावे बहिर्वसन्नन्यमसंविग्ने निवेदना कर्त्तव्या । बहिर्वसत्यभावे तेष्वप्यसंविग्नेषु नवरं यतना विधेया । तथा संविग्नेषु वा सवसनं निसृष्टमनुज्ञातमेकरात्रमुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि वर्षादिकारणतः पुनर्यतनया (दीहरूमपि) प्रचुरमपि दीर्घकालं प्रतीक्षते । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः पारिच्छहाणित्ति द्वारमाह ।

पासत्थादिविरहितो, काहियमाईहिवावि दोसेहिं ।
संविग्गमपरितंतो, साहम्मि य वच्छलोज्जा उ ॥

अपान्तराले पार्श्वस्थादिविरहितः पार्श्वस्थादिसंसर्गविप्रमुक्तः काथिकादिभिर्वा भावप्रधानोऽयं निर्देशः काथिकत्वादिभिर्वा दोषैर्विमुक्तस्तथाऽसंविग्नोऽपरिश्रान्तः सामाचार्यामिति गम्यते । तथा च साधर्मिकवत्सलः प्रवचनलिङ्गसाधर्मिकवात्सल्यपरायणः सः ।

अब्भुज्जएसु ठाणं, परिच्छिउं हीयमाणए मोत्तुं ।
केसु पदेसुं हाणी, वड्ढी वा तं निसामेहि ॥

अभ्युद्यतानामुद्यतविहारिणां स्थानं परीक्ष्य गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थे हीयमानकान्मुक्त्वा तिष्ठेत् । अथ केषु पदेषु हानिर्वृद्धिर्वा सूरिराह । तदेतत्कथ्यमानं निशामय । तदेवाह ।

तवनियमसंजमाणं, जहियं हाणी न कप्पते तत्थ ।
तिगवुड्ढी तिगलाही, पंचविसुद्धी सुसिक्खा य ॥

यत्र तपोनियमसंयमानां हानिस्तत्र न कल्पते वस्तुं यत्र पुनस्त्रिकवृद्धिर्ज्ञानदर्शनचारित्रवृद्धिर्यत्र च त्रिकस्याहारोपधिशय्यारूपस्य शोधिर्यत्र च पञ्चानां पार्श्वस्थादिस्थानानां विशुद्धिस्तेष्वप्रवर्त्तनं यत्र च सुशिक्षा ग्रहणे आसेवना च तत्र वास्तव्यम् ।
सांप्रतमेनामेव गाथां विवृणोति ॥

बारसविहे तवे उ, इंदिय नोइंदिए य नियमे उ ।
संजमसत्तरसविहो, हाणी जहिं य तहिं न वसे ॥

यत्र द्वादशविधे तपसि इन्द्रियविषये च नियमे संयमे सप्तदशविधे हानिस्तत्र न वसेत् ।

तवनियमसंजमाणं, एएसिं चेव तिण्ह तिगवुड्ढी ।
नाणादीण व तिण्हं, तिगसुद्धी उग्गमादीणं ॥

एतेषामेव त्रयाणां तपोनियमसंयमानां वृद्धिस्त्रिकवृद्धिः । अथवा ज्ञानादीनां त्रयाणां वृद्धिस्त्रिकवृद्धिः । त्रयाणामुद्गमादीनामुपलक्षणमेतदाहारादीनां वा त्रयाणां शुद्धिस्त्रिकशुद्धिः ।

पासत्थे ओसन्ने, कुसीलसंसत्त तह अहाछंदे ।
एएहि जो विरहितो, पंचविसुद्धो हवइ सो उ ॥

पार्श्वस्थोऽवसन्नः कुशीलः संसक्तो यथाच्छन्दः एते पञ्चापि प्राक् सप्रपञ्चं प्ररूपिता एतैः स्थानैर्यो विरहितः स पञ्चविशुद्धो भवति । पञ्चविशुद्धावेव प्रकारान्तरमाह ॥

पंच य महव्वयाइं, अहवा वि नाणदंसणचरित्तं ।
तव विणओ वि य पंच उ, पंचविहुवसंपया वावि ।

वाशब्दः प्रकारान्तरोपप्रदर्शने पञ्च महाव्रतानि अथवा ज्ञानदर्शन चारित्र तपो विनय इति पञ्च । यदि वा पञ्चविधा ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवैयावृत्त्यभेदत पञ्चप्रकारा उपसंपत् पञ्च तैः पञ्चभिर्विशुद्धः पञ्चविशुद्धः ॥ सुशिक्षामाह ।

सोभणसिक्ख सुसिक्खा,सा पुण आसेवणे य गहणे य ।
दुविहाए वि न हाणी, जत्थ उ कहियं निवासेउ ॥

शोभना शिक्षा सुशिक्षा सा द्विविधा तद्यथा आसेवने ग्रहणे च । आसेवने प्रत्युपेक्षणादेः सामाचार्या ग्रहणमागमस्य । एतस्यां द्विविधायामपि यत्र न हानिस्तत्र वासः कल्पते कर्तुम् ।

एएसुं ठाणेसुं, सीयंते चोदंति आयरिया ।
हावेंति उदासीणा, न तं पसंसंति आयरिया ॥

एतेषु स्थानेषु तपःप्रभृतिषु स्वयमाचार्या हीयमाना न दृश्यन्ते शिष्यास्तु केचित्सीदन्ति तान् सीदतो यत्राचार्याश्चोदयन्ति तं गच्छं निवासयोग्यमन्या आचार्याः प्रशंसन्ति । यत्र पुनराचार्या उदासीना मध्यस्थाः सामाचारीं हापयन्त उपेक्षन्ते न तं प्रशंसन्त्याचार्याः । नासौ गच्छ उपसंपादनीय इत्यर्थः ।
किं कारणमत आह ॥

आयरियउवज्झाया, नाणुण्णाया जिणेहिं सिप्पट्ठा ।
णाणे चरणे जोगा–वहा उ ते अणुण्णाया ॥

आचार्या उपाध्यायाश्च जिनैस्तीर्थकृद्भिर्न शिल्पार्थाः शिल्पाशिक्षणनिमित्तमनुज्ञाताः । कै कारणैः पुनरनुज्ञातास्तत आह । ज्ञाने चरणे च ये योगास्तेषामावहाः प्रापका यतो भविष्यन्ति ततस्ते अनुज्ञाता ज्ञानचरणस्फातिनिमित्तमनुज्ञाता इत्यर्थः । अपि चेदृशा आचार्योपाध्याया अनुज्ञाताः ।

नाणचरणे निउत्ता, जा पुव्वपरूविया चरणसेढी ।
सुहसीलठाणविजढे, निच्चं सिक्खावणाकुसला ॥

ज्ञाने एकग्रहणात् तज्जातीयस्य ग्रहणमिति न्यायाद्दर्शने चारित्रे च नियुक्ताः सततोद्यतास्तथा सुखशीलाः पार्श्वस्थादयस्तेषां स्थानं यत्ते सेवन्ते तद्विजढे तद्रहिते या पूर्वं कल्पाध्ययने कृतिकर्मसूत्रे चरणश्रेणिः प्ररूपिता तस्यां स्थितास्तथा नित्यं सदा शिक्षापनायां ग्रहणशिक्षायामासेवनाशिक्षायां च ग्राहयितव्या याः कुशलाः समर्था ईदृशां समीपमुपगम्योपसत्तव्यम् । गतं परिच्छिहाणित्ति द्वारम् । इदानीमसतित्ति द्वारमाह ।

जेण वि पडिच्छितो सो, कालगतो सो वि होइ आहव ।
सो वि य सावेक्खो वा, निरवेक्खो वा गुरू आसि ॥

येनापि स प्रतीच्छितो यस्य समीपे स शिष्यपरिवार उपसंपन्न इत्यर्थः सोऽपि (आहव) कदाचित्कालगतो भवेत् सोऽपि च गुरुः कालगतः सापेक्षो वा आसीन्निरपेक्षो वा । तत्र यः सापेक्षः सोऽमुं विधिं करोति ।

सावेक्खो सीसगणं, संगहकारेइ आणुपुव्वीए ।
पाडिच्छागगवेत्ति, एस वियाणे अह महल्लो ॥

सापेक्षः शिष्यगणं स्वदीक्षितशिष्यसमूहमभिनवस्थापितस्य सङ्ग्रहमानुपूर्व्यानुपूर्वीकथनेन कारयति । यथा पूर्वं सुधर्मस्वामी गणधर आसीत् । ततस्तच्छिष्यो जम्बूस्वामी तस्यापि शिष्यः प्रभव एवं तावद्यावत्संप्रति वयमहमपि च संप्रति महान् श्रीचुतस्ततोऽसौ योऽमुको गणधरः स्थापितो वर्त्तते तस्याशुश्रूषां वैनयिकादिकं च । तथा ज्ञानदर्शनादिप्रतीच्छादिनिमित्त-

मागता प्रतीच्छागतास्तानपि मृते एव मम स्थाने विज्ञापेत म-मैवैतस्य संप्रति वैनयिकादिकं कर्त्तव्यमित्यर्थः । अत्रैवाऽर्थे दृष्टा-न्तमाह ।

जह राया व कुमारं, रज्जे ठावेउमिच्छए जं तु ।
जरुगोहे वेतिलिंगं, सेवइ तुब्भे कुमारं ति ॥
श्रह य श्रतीमहल्लो, तेसिं निवी उ तेण दावेइ ।
सो पुण परिच्छिऊणं, इमेण विहिणा उ ठावेइ ॥

यथा राजा य कुमारं राज्ये स्थापयितुमिच्छति स प्राग् भटान् योधांश्च ब्रूते श्रहमसमर्थ महान् ततो यूय सेवध्वममुकं कुमार-मिति एवं तानुक्त्वा तेषां वृत्तिस्तेन कुमारेण दापयति येन ते तदनुरक्ता जायन्ते स पुनः कुमारोऽनेन वक्ष्यमाणेन विधिना परीक्ष्य राज्ये स्थाप्यते । तमेव विधिमाह ।

परबल कुंजसुणगा, छड्डणदंडेण वारणं वितिए ।
भुंजइ देइ य तइश्रो, तस्स उ दाणं न इयरेसिं ॥

राजा बहूनां कुमाराणां मध्ये कतरं कुमारं युवराजं स्थापया-मीति विचिन्तयन् परीक्षानिमित्तं तान् सर्वान् कुमारान् उपस्थाप-यित्वा तेषां पृथक् पृथक् स्थाले परमान्नं पायसं परिवेषयति परिवेष्य शृङ्खलाबद्धान् शुनकान् व्याघ्रकल्पान् कुमारान् प्रति मो-चयति ते च शुनका वेगेन कुमारसमीपमागतास्तत्रैको राजपुत्रः शुनकभयेन पायसं परित्यज्य पलायितः द्वितीयो राजपुत्रो द-ण्डकेन तेषां शुनकानां वारणं करोति भुङ्क्ते च न च किमपि ते-भ्यो ददाति तृतीयः पुनः स्वयं भुङ्क्ते शुनकेभ्योऽपि च स्वस्था-लात् परस्थालाच्च ददाति तस्य तृतीयस्य राजपुत्रस्य राज्यदान नेतरयोर्द्वयोः । किं कारणमिति चेदत आह ।

परबलपेल्लिश्रो नासति, वितिश्रो दाणं न देइ उ भडाणं ।
न वि जुज्झंते ते उ, एए दोवी श्रणरिहाश्रो ॥

प्रथमो यदा परबलमागच्छति तदा तेन परबलेन प्रेरितः सन् राज्यमपहाय नश्यति । द्वितीयो न भटानां सुभटानां किमपि ददाति न च ते भटा दानमृते परबले समागते युध्यन्ते ततः समर्थस्यापि परबलेन प्रेरणमत एतौ द्वावपि राज्यस्यानर्हौ ॥

तइश्रो रक्खइ कोसं, देइ य भिच्चाण ते य जुज्झंति ।
पालेयव्वे अरिहा, रज्जंतो तस्स तं दिन्नं ॥

तृतीयः पुनः कुमारः कोशं भाण्डागारं रक्षति भृत्यानां सुभटा-नां ददाति ततस्ते भृत्याः परबले समागते युध्यन्ते ततः पराजग्न परबलमपगच्छति तदपगतौ च सराज्यसौख्यमतः स पालयि-तव्ये राज्ये अर्ह इति तद्राज्यं राज्ञा तस्य दत्तं यथा भो लोका एष युवराजो युष्माभिरेव आसेवनीयः ॥

अभिसित्तो भडाणं, अणुजाणे भत्तादिअहियदाणं च ।
वीसुम्मि य आयरिय, गच्छे वि तयाणुरूवं तु ॥

एव तस्मिन् युवराजे स्थापिते यदा राजा कालगतो भवति तदा ते भटप्रभृतयस्तं युवराजं राजानमभिषिञ्चन्ति अभिषिक्ते सति तस्मिन्नेयका उपस्थाप्य स स्वमायोगस्थानं निवेदयन्ति ततः सोऽभिषिक्तो नवको राजा यस्य यस्य पूर्वमायोगस्थानं तत्त-त्सै अनुजानाति अधिकं च तेषां भटादीनां दानं द्विपदादिदानं ददाति । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः । विष्वग्भूते शरीरे पृथग्भूते मृत इत्यर्थः । आचार्ये गच्छेऽपि तदनुरूपं तृतीयराज्यार्हकुमारा-नुरूपमाचार्यं स्थापयन्ति । इयमत्र भावना । आचार्येण द्रव्या-

पत्रादिषु शिष्याः परीक्षणीयाः । तत्र योऽशक्तिको भीरुः स राजप्रत्यनीकादिषु समुत्पन्नेषु गणमपहाय नश्यतीति प्रथमकुमार इव गुरुपदस्यानर्हः । यः पुनरदाता सोऽदायकत्वेन सम्ग्रहोप-ग्रहौ न करिष्यतीत्ययोग्यः । यस्त्वभीरुतया शुनकस्थानीयान्व-नीपकान् वारयति दायकत्वेन च संग्रहोपग्रहौ करोति स योग्य इति गणधरपदे स्थापयितव्यः । तस्मिंश्च स्थापिते कालेन विष्वग्भूते आचार्ये साधवः कृतप्राञ्जलयस्तमुपतिष्ठन्ते उपस्था-प्य च यो यस्य पूर्वं नियोग आसीत् स तं तस्मै नवकाचार्याय कथयति । एतदेवाह ।

सुविहेणं संगहेणं, दव्वे संगिण्हए महाभागो ।
तो विन्नवेंति ते वि, तं चेव य ठाणयं अम्हं ॥

सोऽभिनवस्थापितो महाभागो गच्छं द्विविधेन सम्ग्रहेण द्रव्य-सम्ग्रहेण भावसंग्रहेण च तत्र द्रव्यसम्ग्रहेण वस्त्रपात्रादिना भाव-सम्ग्रहेण ज्ञानादिना संगृह्णाति एव संगृह्णति तस्मिन् ततस्तेऽपि साधवः कृतप्राञ्जलयस्तं विज्ञपयन्ति यथा तदेव स्वं स्वं स्था-नमस्माकं प्रयच्छन्त्विति । अथ किं किं तेषां स्थानमिति तत्स्था-ननिरूपणार्थमाह ।

उवगरणवालवुड्ढा, खमगगिलाणे य धम्मकहिवादी ।
गुरुचिंतवायणा पे-सणेसु कितिकम्मकरणा य ॥

एको ब्रूते अहम् (उवकरणत्ति) उपकरणोत्पादक आसम् अन्योऽहं बालवृद्धानां वैयावृत्त्यकरोऽपरः क्षपकवैयावृत्त्यकरोऽ-न्यो ग्लाने इति ग्लानवैयावृत्त्यकरः । अपरो धर्मकथी धर्मक-थाव्यापारनियुक्तः अन्यो वादी परवादिमथने नियुक्तः (गुरु-चिंतत्ति) अपरो ब्रूते अहं गुरोर्यत्कर्त्तव्यं तत्र नियुक्तः (वाय-णत्ति) अपरोऽहं वाचनाचार्यत्वे नियुक्तः । अन्योऽहं प्रेषणे नियु-क्तः अपरो ब्रूते अहं कृतिकर्मकरणे विश्रामणे ।

एएसुं ठाणेसुं, जो आसि समुज्जश्रो श्रठविश्रो वि ।
ठविश्रो वि य न विसीयइ, स ठविउमलं खलु परेसिं ॥

एतेषु खलु उपकरणादिषु कृतकर्मपर्यवसानेषु स्थानेषु यः पूर्व-मस्थापितोऽपि गणधरपदे समुद्यत आसीत् स गणधरपदे स्थापितोऽप्येतेषु स्थानेषु न विषीदति कृतकरणत्वात्स इत्थं-भूत एतेषु स्थानेषु परान् गाथायां षष्ठी द्वितीयार्थे प्राकृतत्वात् यथा 'माषाणामश्नीयादित्यत्र' स्थापयितुमलम् ।

एवं ठितो ठवेइ, अप्पाण परस्स गो वि सो गावो ।
अठितो न ठवेइ परं, न य तं ठवियं चिरं होइ ॥

एव पूर्वं गणधरपदे अस्थापित एतेषूपकरणादिस्थानेषु स्थितः सन् आत्मनः परस्य चैतेषु स्थापयति गोवृष इव गा स्वस्थाने यः पुनः पूर्वमेतेषु स्थानेषु स्थितः स परमुपलक्षणमेतदात्मानं च न स्थापयति स्वयं तदभ्यासत्वात् न च तत्स्थापितं चिरं भवति । कस्मादिति चेदुच्यते । स यदाऽन्यान् उपकरणादिष्वनुद्यच्छतः शिक्षयति यथा सति बले किं यूयं स्वशक्त्या नोद्यच्छथानुद्य-च्छन्तो हि वैयावृत्त्यफलात् भ्रशथ । तदा ते चिन्तयेयुः यदि वैयावृत्त्यफलमभविष्यत् ततस्त्वमप्येतेषु स्थानेषूदयस्थया इति । अथवा वैयावृत्त्यफलं श्रद्दधानोऽपि पङ्गुरुत्वेनैव मन्येरन् एवं जानन्तो यूयं किं पूर्वं नावर्त्तिष्यमिति । सम्प्रति गोवृष इव गा इति दृष्टान्तं भावयति ।

पउरतणपाणियाइ, रहियाइं खुद्दजंतूहिं ।
नेइ वि सो गोणीउ, जाणइ य उवट्ठकालं

घृषो घलीघर्दो गोधनानि प्रचुरतृणपानीयानि तथा क्षुद्रज-
न्तुभिः क्षुद्रप्राणिभी रहितानि नयति जानाति च । उपस्थान-
कालमन्यागमवेलां ज्ञात्वा च स्वस्थानमानयति एवमभिनव-
स्थापित आचार्यो गच्छं स्वस्वव्यापारे नियोजयन्परिपालयति।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह ।

जह गयकुलसंभूतो, गिरिकंदरविसमकडयदुग्गेसु ।
परिवहति अपरितंतो, नियसरीरुग्गवेदंते ॥

यथा गजकुलसंभूतोऽनेन जात्यतामाह गिरिकन्दरेषु गिरिगु-
हासु विषमकटकेषु विषमेषु गिरिपादेषु दुर्गेषु वा अपरिश्रान्तोऽ
श्रान्तः सन्निजशरीरोद्गतान् दन्तान्परिवहति ॥

इयपवयणभत्तिगतो, साहम्मि य वच्छलो असढभावो ।
परिवहइ साहुवग्गं, खेत्तविसमकालदुग्गेसु ॥

इति अनेन गजदृष्टान्तप्रकारेण प्रवचनभक्तिगतो गच्छवाह-
कत्व प्रवचनभक्तिं मन्यमानः साधर्म्मिकवत्सलो लिङ्गप्रवच-
नाभ्यां ये साधर्म्मिकास्तद्वात्सल्यपरायणोऽशठभावोऽमायावी
विषमेषु क्षेत्रेषु विषमेषु च कालेषु दुर्भिक्षमार्याद्युपद्रवप्रात-
सकुलेषु दुर्गेषु च साधुवर्गं परिवहति तस्य समीपे स्थातव्यम्।
गतमसतीति द्वारम् ।

इदानीमागमनद्वारमाह—

जत्थ पविट्ठो जइ तेसु, उज्जया होउ पच्छहा वेंति ।
सीसा आयरितो वा, परिहाणी तत्थिमा होइ ॥

यत्र गच्छे सशिष्यपरिवारः प्रविष्टः सन् सूत्रार्थानामागमन
करोति तत्र यदि ते साधवः पूर्वं सुष्ठु उद्यता भूत्वा पश्चात्सा-
माचारीं हापयन्ति आचार्यो वा पश्चात्परिहापयति। तत्र हानि
रिय वक्ष्यमाणा भवति ज्ञातव्या । तामेवाह ॥

पडिलेहदियतुयट्टण-निक्खिवआयाणविनयसज्झाए ।
आलोयठवणमंडलि-भासागिहमत्तसेज्जतरे ॥

(पडिलेहित्ति) उपकरणं न प्रत्युपेक्षन्ते । तथा अग्लाना
मार्गपरिश्रमरहिताश्च दिवा त्वग्वर्तनं कुर्वन्ति शेरते इत्यर्थः
(निक्खिवत्ति) दण्डादिकं निक्षिपन्त प्रत्युपेक्षन्ते न परिमार्ज-
यन्ति दोषैर्वा दुष्टं प्रत्युपेक्षणं परिमार्जनं वा कुरुते (आयाणत्ति)
दण्डादिकमाददाना न प्रत्युपेक्षन्ते न प्रमार्जयन्ति दुष्प्रत्युपेक्षणं
दुष्प्रमार्जनं वा कुर्वन्ति । विनयं कृतकर्म्मलक्षणं वाचनादिषु
न कुर्वन्ति (सज्झायत्ति) स्वाध्यायो वा न क्रियते । मण्डलीं
सामाचारीं वा न कुर्वन्ति (आलोयत्ति) संखडीं शरीरं वा
प्रलोकन्ते यदि वा आलोचना न क्रियते । अनालोचितं भुञ्जते
इत्यर्थः (ठवणत्ति) स्थापना कुलानि विशन्ति स्थापितं वा
गृह्णन्ति (मंडलित्ति) भोजनमण्डलीं सामाचारीं हापयन्ति
(भासात्ति) भाषायामसमिता भाषन्ते एकग्रहणे तज्जातीयग्रह-
णमिति न्यायात्। शेषास्वपि समितिष्वसमिता (गिहिम-
त्तत्ति) गृहिमात्रकेषु पर्यलकादिष्वानीतं गृह्णन्ति (सेज्जयरेत्ति)
शय्यातरपिण्डं भुञ्जते ॥

एमादी सीयंते, वसभा चोयंति चिट्ठति ठियम्मि ।
असतो थेरा गमणं, अच्छति ताहे पडिच्छंतो ॥

एवमादिष्वादिशब्दाच्चङ्क्रमादिपरिग्रहः । सीदतः साधून् गुरु
र्वा वृषभाश्चोदयन्ति शिक्षयन्ति । तत्र यदि चोदितः साधुवर्गो
गुरुर्वा तिष्ठति ततस्तस्मिन् स्थिते सोऽपि सशिष्यपरिवार आग
न्तुकस्तिष्ठति (असतीत्यादि) असत् शिक्षाया पुनः प्रत्या-
वर्तनस्य वा अभावो यदि ततो यावत्पाक्षिके चातुर्मासिके
संवत्सरे वा कुलस्थविराणां वा गमनं भवति तावत्प्रतीक्षमा
ण आस्ते तेषु च कुलादिस्थविरेषु समागतेषु निवेदयति तथाप्य
तिष्ठत्सु ततो निर्गमनमेतदेव व्याचिख्यासुः प्रथमतो वृषभचोद
नं सप्रायश्चित्तमाह ।

गुरुवसभगीयगीते, अचोदेंति गुरुगमादि जा लहुओ ।
सारेइ सारवेई, खरमउएहिं जहावत्थं ॥

वृषभः प्रतिपन्नगच्छभारः स्वयं सारयति शिक्षयति अथवा यो
येनोपशाम्यति तं तेन सारापयति शिक्षापयति । कथमित्याह।
आचार्योपाध्यायवृषभस्थविरभिक्षुकाणां मध्ये यथावस्तु वस्तु-
नतिक्रमेण खरमृदुभिर्वचनैः सारयति सारापयति वा । किमुक्तं
भवति यः खरेण साध्यस्तं खरेण खरण्टयति मृदुसाध्यं मृदु
भिर्वचनैः सारयति अन्यथा प्रायश्चित्तं तदेव पूर्वोक्तेन निदर्शय-
ति (गुरु इत्यादि) वृषभो गुरुमाचार्यमुपाध्यायं वा न प्रतिचोद-
यति तदा चतुर्गुरुकं वृषभो वृषभं न प्रतिचोदयति चतुर्लघु।
वृषभो गीतार्थं न प्रतिचोदयति मासलघु । अक्षरयोजना त्वेवं
गुरुवृषभगीतागीतान् चोदयन्ति । गुर्वादिचतुर्गुरुप्रभृतियावद-
न्ते लघुको मासः । अत्र पुनःसीदत्सु चत्वारो भङ्गास्तानेवाह॥

गच्छो गणी न सीयइ, बिई न गणीउ तइए न वि गच्छो ।
जत्थ गणी अवि सीयइ, सो पावतरो न उण गच्छो ॥

गच्छः सीदति गणी चेति प्रथमः । गच्छः सीदति न गणीति
द्वितीयः । न गच्छः सीदति किं तु गणीति तृतीयः । न गच्छो नापि
गणीति चतुर्थः । तथा चाह द्वितीये भङ्गे गणी न सीदति तृतीये
न गच्छः चतुर्थे सीदनमधिकृत्य शून्य इति नोपात्तः । तत्राप्येषु
त्रिषु भङ्गेषु मध्ये यत्र प्रथमे तृतीये वा गणी स पापतरो
यत्र पुनर्गच्छः सीदति न गणी नासौ द्वितीयः पापतरः । किं
कारणमिति चेदत आह ।

आयरिए जयमाणे, चोएउं जे सुहं हवइ गच्छो ।
तम्मि उ विसीयमाणे, चोयणमयरं कहं गेण्हे ॥

आचार्ये यतमाने गच्छः सुखेन चोदयितुं शक्यमानो भवेत
आचार्यस्य प्रतिनयाभावादतः प्रथमतृतीयौ भङ्गौ एतस्मिन्ना
चार्ये पुनर्विषीदति चोदनां शिक्षामितरे साधवः कथं गृह्णीयु-
र्न च गृह्णीयुरिति भाव । आचार्यप्रतिनयाभावादतः प्रथमतृती
यौ भङ्गौ पापतरौ न द्वितीय इति ।

आसन्नठिएसु उज्जुएसु, जहाति सहसा न तं गच्छं ।
मा दूसज्ज अदुट्ठे, दूरतरं चापणो सेज्जा ॥

यद्यपि नाम आसन्ने प्रदेशे उद्यतविहारिणः स्थिता विद्यन्ते त
थापि तेष्वासन्नस्थितेषूद्यतेषु सहसा न तं गच्छं जहाति परि-
त्यजति किं कारणमिति चेदत आह तस्मा अदुष्टान् दूषयेत् ग
च्छम् । किमुक्तं भवति । ये न विषीदन्ति तेऽपि सीदत्साधुसंसर्ग-
तो मा विषीदेयुरिति येऽपि सीदन्ति तेऽतिदूरतरं निर्गतेन
प्रणश्येयुर्विषीदेयुः । तदेव वृषभचोदनं भावितम्

इदानीं स्थविरागमनं भावयति ।

कुलथेरादी आगम-चोयणया जेसु विप्पमायंति ।
चोदयति तेसु ठाणं, अठिएसु उ निग्गमो भणितो ॥

वृषभशिक्षायाः प्रत्यावर्त्तनस्य वा अभावे पाक्षिके चातुर्मासि-
के सांवत्सरिके वा यावत् कुलस्थविराणां गणस्थविराणां स
ङ्घस्थविराणां वा आगमस्तावत्प्रतीक्षते । ......

तेषां निवेदना क्रियते ततस्ते स्थविरा येषु स्थानेषु ये विप्रमाद्य न्ति तेषु स्थानेषु वा न प्रतिचोदिताः। यदि स्थितेषु सत्सु स शिष्यपरिवारस्तत्रैव स्थानं करोति स्थितेन च तेन द्विविधाऽपि शिक्षा शिक्षणीया। अथ ते चोदिता सन्तो न स्थितास्ततस्तेष्वस्थितेषु ततो गच्छति गच्छनिर्गमो भणितस्तावदेकरगणधरः गतमागमनद्वारम्। पतितं निर्गमद्वारमतस्तदेव भावयति।

कप्पसमत्ते विहरइ, असमत्ते जत्थ हुंति आसन्ना ।
साहम्मि तहिं गच्छे, असतीए ताहि दूरं पि ॥

यदि आचारप्रकल्पः सूत्रतोऽर्थतश्च समाप्तो भवति ततस्तस्मिन् कल्पे आचारप्रकल्पे समाप्ते स्वयं यथाविहारक्रमं विहरति। अथ नाद्यापि समाप्त आचारप्रकल्पस्तर्हि तस्मिन्नसमाप्ते यस्यां दिशि आसन्ना अनन्तरक्षेत्रवर्त्तिनः साधर्म्मिकाः संविग्नसांभोगिकास्तत्र गच्छेत्। अथासन्ना न विद्यन्ते, तत आसन्नानामसत्यभावे दूरमपि गच्छेत्। कथं गच्छेदत आह।

वइयादीए दोसे अ-संविग्गे यावि सो परिहरंतो ।
केइ असंविग्गा खलु, तइया दीवा मुणेयव्वा ॥

व्रजिकादीन् दोषान् व्रजिका गोकुलम् आदिशब्दात् स्वमातापितृपूर्वपरिचितपश्चात्परिचितकुलपरिग्रहस्तान् दोषान् इह व्रजिकादय प्रतिबन्धदोषहेतुत्वाद्दोषा इत्युक्तास्तथा असंविग्नांश्चापि स परिहरन् गच्छेत्। अथ के असंविग्नाः सूरिराह। नित्यादय नित्यवास्यादयस्ते ज्ञातव्याः। तेषामपि हरणे प्रवेशादौ प्रायश्चित्तविधिमाह।

निइयादीए अहच्छंदे, वज्जिए पविसदाणगहणे य ।
लहुगा भुंजणगुरुगा, संघाडे मासो जय ए ॥

इह मार्गे गच्छता अपान्तराले संविग्नसमनोज्ञानां वसतौ वस्तव्यं तदभावे नैत्यिकादीनां संविग्ने च अमनोज्ञानां निवेदनस्य। यतना स्थातव्यं यदि पुनर्नैत्यिको नित्यवासी आदिशब्दात्पार्श्वस्थादिपरिग्रहस्तस्मिन् नैत्यिकादिके यथाच्छन्दवर्जिते प्रविशति यदि वा तेभ्यः किमपि भक्तादिकं ददाति अथवा तेभ्यो गृह्णाति तदा प्रवेशे ग्रहणे दाने च प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः। (भुजणगुरुका इति) अथ तैः सह भुङ्क्ते तदा भोजने चत्वारो गुरुकाः। अथ नैत्यिकादिसंघाटं याचित्वा तेन सह हिण्डते तत संघाटेन हिण्डने लघुको मासः (जमणमिति) यच्च तेन संघाटकेन हिण्डमानोऽकल्पिकग्रहणतस्तद्वास्याकृते न लाम्पट्यत सेविष्यते तदपि च प्रायश्चित्तं प्राप्नोति। तदेव यथाच्छन्दवर्जितो नैत्यिकादौ प्रवेशादिषु प्रायश्चित्तमुक्तमधुना यथाच्छन्दे तदाह

एए चेव य गुरुगा, पच्छित्ता होंति उ अहाच्छंदे ।
अणुमासम्मुं मासो, भुंजणं होति चउगुरुगा ॥

एतान्येव प्रायश्चित्तानि यथाच्छन्दे गुरुकाणि भवन्ति। तद्यथा प्रवेशे दाने ग्रहणे भोजने चत्वारो गुरुकाः। संघाटे गुरुको मासः अथामनोज्ञेषु संविग्नेषु प्रविशति तदा प्रवेशे दाने ग्रहणे भोजने चत्वारो गुरुकाः। संघाटे गुरुको मासः। अथामनोज्ञेषु संविग्नेषु प्रविशति तदा प्रवेशे दाने ग्रहणे च प्रत्येकं लघुको मासः। अथ तैः सह भुङ्क्ते तदा चत्वारो गुरुकाः संघाटे लघुको मासः। यत एवमसंविग्नेषु प्रायश्चित्तानि तस्मादेतान्परिहरेत्। अथ मार्गे संविग्ना न सन्ति ततः कारणवशतोऽसंविग्नेष्वपि गन्तव्यं पतितमिदानीमसंविग्नद्वारं तेषु च गत्वा यत्कर्त्तव्यं तदाह।

संविग्गसंनागिया, यकिन्नऽसणाकए अमाति एगो ।

साहम्मिएसु जयणा, तिण्णि दिणा किच्छसज्झाए ॥

(संविग्गंति) संविग्नगुणेनैकेनान्तरिता व्यवहिताः संविग्नैकान्तरिता असंविग्नास्तेषु कारणवशतो गन्तव्यं तत्र च भिक्षां निवसनं च कुर्वतो यथा प्रथमोद्देशके परिहारिकस्य यतनोक्ता तथात्रापि द्रष्टव्या। तेऽपि असंविग्नैर्यदि स एकाकी ततः एकाकिनः सतस्तस्य संघाटको दातव्यः। अथ योऽसौ द्वितीयको यायां दातव्यः सोऽन्यत्र प्रेषणेन गतो वर्त्तते ततस्ते मूगुराचार्ये एकरात्रं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा प्रतीक्षणीयाः। तत एतेन कारणेनोत्कर्षतः त्रिरात्रमपि प्रतीक्षते वसति संघाटके एक एकाकी व्रजेत् तस्य च तथा व्रजतोऽपान्तराले यदि साधर्मिका भवन्ति ततस्तन्मध्ये गत्वा वस्तव्यम्। कारणं च निवदितम्। कारणे तैः संघाटको दातव्यस्तदभावे ततो व्रजनीयमथ प्रतिपृच्छानिमित्तमेकं द्वे त्रीणि वा दिनानि यावत्सनीजार्थयेत् तत आह स्वाध्यायनिमित्तं प्रतिपृच्छानिमित्तमित्यर्थः उत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि प्रतीक्षेत एषा साधर्मिकेषु यतना तदेवमसंविग्नद्वारमुक्तम्।

इदानीं निवेदनाद्वारमाह।

बहिगामपरे सन्नी, सो वा सागारिओ वहिं ठंतो ।
ठाणनिसिज्जतुयट्टण-गहियागहिएण जागरणा ॥

संविग्नसमनोज्ञानामभावे ग्रामस्य बहिर्नैत्यिकादीनां निवेद्य तिष्ठति ग्रामस्य बहिः प्रत्यपायसंभवे ग्रामस्यान्तः शून्यगृहे तत्रापि निवेदना कर्त्तव्या। शून्यगृहस्याभावे संज्ञी श्रावकस्तस्य गृहे वस्तव्यम्। स वा संज्ञी श्रावकः सागारिकोऽगारिसहितः स्यात्तर्हि तस्य गृहस्य बहिरन्तर्वा या कुटी तत्र वस्तव्यम्। तस्या अप्यभावे अमनोज्ञेषु संविग्नेषु वस्तव्यम्। तेषामप्यभावे नित्यकादिष्वसंविग्नेषु वसति। तत्रेयं यतना स्थानमूर्द्धस्थानं निषद्या उपवेशनम् त्वग्वर्त्तनं दीर्घकायप्रसारणं तेषु गृहीतेनागृहीतेन उपकरणेन जागरणं कर्त्तव्यम्। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः व्यासार्थं त्वभिधित्सुराह। प्रथमतो बहिर्ग्रामेति व्याख्यानयति।

वसही समणुण्णासइ, गामबहिं ठाइ सो निवेदेइ ।
अनिवेदियम्मि लहु तु, आणाइविराहणा चेव ॥

समनोज्ञानां संविग्नानां वसतेरसत्यभावे ग्रामाद्बहिस्तिष्ठति न पुनर्नैत्यिकादिष्वसंविग्नेषु प्रवेष्टव्यं प्रागुक्तप्रायश्चित्तभावात्। स च बहिस्तिष्ठति तेषां नैत्यिकादीनां वा संविग्नानां वा अमनोज्ञानां निवेद्य कथयित्वा यदि पुनर्न निवेदयति ततोऽनिवेदिते प्रायश्चित्तं लघुको मासः। आज्ञादिविराधना आदिग्रहणादात्मविराधना संयमविराधना च परिगृह्यते। तथाहि इय भगवदाज्ञा तेषां निवेद्य बहिर्वस्तव्यम्। अनिवेदनायामाज्ञालोपः ।

आत्मविराधनां संयमविराधनां चाह।

गेलण्णेन कहिंति, कोहेण जं च पाविहिती तत्थ ।
तम्हा उ निवेएज्जा, जयणा एतेसिमाएउ ॥

अनिवेदने सति कदाचित् ग्लानो जायेत ग्लान्ये सति नास्माकं किमपि तेन निवेदितमिति क्रोधेन न किमपि ग्लाने कृत्यं कारिष्यन्ति। गृहस्थाश्च त तथाभूतं ग्लानं दृष्ट्वा तेषां नैत्यिकादीनां निवेदयेयुर्यथा युष्मदीयो ग्लानोऽस्माकं वर्त्तते ततस्ते ब्रूयुर्मध्ये वा एषोऽस्मदीयो न भवति यदि भवेत्तदा अस्माकमुपाश्रये तिष्ठेत् निवेदयेद्वा। एवं यत्र ग्लानत्वेन वा आरक्षकादिग्रहणं तत्र यद्दुःखं प्राप्स्यति संयमविराधनात्मकमात्मविराधनात्मकं वा तत्सर्वमनिवेदनानिमित्तं तस्मात्तेषामनया वक्ष्यमाणया यतनया निवेदयेत्। तामेव यतनामाह।

तुब्भं अहेसि दारं, उस्सूरोत्ति जुताए एवं तु।
न य नज्जइ सत्थो वि, चलिहिइ किं केत्तियं वेलं॥

यदाहमागतस्तदा युष्माकमुपाश्रयद्वारं सङ्कुचितमासीत् तत एव मया विकल्पितमुत्सूर वर्तते इति युतायां पृथग्भूतायां वसतावुषित.। अपि च न च ज्ञायते सार्थोऽपि किं कियतीं वेलां समस्यर्थे व्यातो ढिनीया कस्यां वेलायां चलिष्यति तत' पृथगुपाश्रये स्थित.। अथ स वेलायामागतस्तत इदं वदेत॥

साहुसगासे वासिउं, अतिप्पियं मज्झ किं करेमित्ति।
सत्थवसो हं भंते. गोसे मे वहेज्ज उदंतं॥

साधुसकाशे साधुसमीपे च वस्तु ममातिप्रिय पर भदन्त! सार्थवशोऽहं ततः किं करोमि तस्मात् (गोसे मे वहेज्जह उदन्त) साधो! प्रभाते मे उदन्त वार्त्तां वहेत।

एवं न उ दूरुस्से, अह बाहिं होज्ज पच्चवायाओ।
ताहे सुण्णहघरादिसु, वसातिनिवेहितुं तह चेव॥

एवमनया यतनया निवेदित नैव ग्रामाद्वहिर्दूरं वसेत् किं तु ग्रामस्य समीपे वसेदथ बहिस्तेनादिकृता. प्रत्यवाया अनर्था भवेयुस्ततस्तथैव पूर्वोक्तप्रकारेणैव निवेद्य शून्यगृहादिषु वसनिमादिशब्दात् श्रावकगृहादिपरिग्रह'। एतदेव भावयति।

अहुणुव्वासियसकवाड-निव्विले वसति सुण्णे।
तस्सासइ सुण्णघरे, इत्थीरहिते वसेज्जा वा॥

अधुना सांप्रतमुद्वासितमधुनोद्वासित सकपाट कपाटसहितमन्यथा स्तेनादिप्रवेशसंभवात् निर्बिलं बिलरहितमन्यथा सर्पादिसम्भवात् निश्चल न जगाजीर्णतया पतितुं प्रवृत्तम् अमीषां च चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गा.। तत्र प्रथमो भङ्ग. शुद्धः शेषा अशुद्धास्तत्र आह इत्थम्भूते शून्ये गृहे वसति तस्य शून्यगृहस्यासत्यभावे सङ्गिगृहे श्रावकगृहे। सोऽपि श्रावको द्विधा सम्भवति सस्त्रीक स्त्रीरहितो वा। तत्र स्त्रीरहिते वसेत्।

सहिए वा अंतोवहि, अंतोवीसु घरकुडीए वा।
तस्मासति नइयादिसु वसेज्ज उ इमा य जयणाए॥

स्त्रीरहितस्य श्रावकगृहस्याभावे सहिते वा स्त्रीसहिते वा श्रावकगृहे तस्य गृहस्यान्तर्बहिर्वा विविक्ते प्रदेशे वसेत् अन्यथा प्रायश्चित्त चतुर्गुरु तस्याप्यभावे तस्य श्रावकस्य बहिरन्तः पृष्ठत. पार्श्वतो वा यदिवाऽन्तर्गृहस्य कुटी समस्ति तस्यां वसेत्। तस्य.-पि कुटीरकस्यासत्यभावे नैत्यिकादिष्वपिशब्दात् पार्श्वस्थादिपरिग्रहोऽनया वक्ष्यमाणया यतनया वसेत् एतावता मूलद्वारगाथोपन्यस्त निवेदनाद्वारमगमत्॥ यतनाद्वारमापतितमिदानीं तामेव यतनामाह।

निइयादि उवधिजत्ते, सेज्जा सुद्धा य उत्तरे मूले।
मजइरहिए काले, मज्झाए अभिक्खं च॥

ये नैत्यिकादय उपधौ भक्ते शय्यायामुत्तरगुणैर्मूलगुणैर्वा शुद्धा. किमुक्त भवति। ये उत्तरगुणैर्मूलगुणैर्वा शुद्धां शय्यां गवेषयन्ति। शुद्ध भक्त शुद्धमुपधिं तेषु वसेत् तत्रापि सयतीरहिते तदभावे संयतीसहितेऽपि। ताश्च सयत्यो द्विधा कालचारिण्योऽकालचारिण्यश्च। तत्र या। पाक्षिकादिष्वागच्छन्ति ता. कालचारिण्यस्तद्व्यतिरेकेणागच्छन्त्योऽकालचारिण्य' स्वाध्यायनिमित्तमभीक्ष्णं चशब्दात् भक्तपान दातुं ग्रहीतुं वा कन्दपार्थं वा। तत्राकालचारिणीषु बहवो दोषा' कालचारिणीष्वल्पतरा इति संयतीरहिताभावे कालचारिणीभिः संयतीभिः सहिते वस्तव्यम्। एतदेव सप्रपञ्चमभिधातुकाम आह।

सेज्जुवहिभत्तसुद्धे, संजइरहिए य जंगसोलसओ।
संजइ अकालचारिणि, साहए बहुदोसला वसही॥

शय्याशुद्ध उपाधिशुद्धो भक्तशुद्धः सयतीरहित इति चतुर्षु पदेषु सम्प्रतिपक्षे षण्मा. षोडश। तद्यथा शय्याशुद्ध उपधिशुद्धो भक्तशुद्धः संयतीरहित इति प्रथमः। शय्याशुद्ध उपाधिशुद्धो भक्तशुद्धः संयतीसहित इति द्वितीय इत्यादि प्रस्तारैरस्थापणीयाः। एतेषु च षोडशसु भङ्गेषु मध्ये यत्र यत्र सयत्यस्तत्र कालचारिणीसहिते वस्तव्य नाकालचारिणीभिरित्येत आह सयतीभिरकालचारिणीभिः सहिता बहुदोषा वसतिरिति। आह पूर्वमुपधिभक्तशय्याशुद्धा इत्युक्तमिदानीं भङ्गचिन्तायां प्रथमत. शय्योपात्तं तत्र किं कारणमत आह।

सागारितेणाहिमवासदोसा, दुस्सोहिया तत्थ उ होइ सेज्जा।
वत्थन्नपाणाणि व वत्थ ठिआ, गेण्हंति जोग्गाणुवभुंजते वा॥

शय्यां विना मण्डल्यामुपविष्टायां सागारिका. समापतन्ति उपधिग्रहणाय स्तेना वा निपतन्ति हिमप्रपाते वा संयमात्मविराधना दोषा.। तत्र तेषु शय्योपधिभक्तेषु मध्ये शय्या दुःशोधिता भवति। आहारोपधयः शुद्धाः सुखेन लभ्यन्ते महता कष्टेन पुन' शुद्धा वसतिरिति भावः। तथा तत्र शय्यायां स्थित्वा योग्यानि कल्पनीयानि वस्त्रान्नपानानि गृह्णन्त्युपभुञ्जते च। एतैः कारणैर्भङ्गचिन्तायां प्रथमत' शय्या कृता तथा॥

आहारोवहिसेज्जा, उत्तरमूले असुद्धे य।
अप्पतरदोसपुव्विं, असतीए महन्नदोसे वि॥

आहारोपधिशय्याभिरुत्तरगुणविषये अशुद्धशुद्ध इति भङ्गैरल्पतरा दोषा इत्यत आह प्रथमचिन्तायां ये षोडश भङ्गा अशुद्धास्तेषु मध्ये पूर्वमल्पतरदोषे वस्तव्यं तस्यासत्यभावे महादोषेऽपि। अथ कस्मिन् भङ्गे अल्पतरदोषा इत्यत आह।

पढमासति विइयम्मि वि, तहियं पुण ठाइ कालचारीसु।
एमेव सेसएसु वि, उक्कमकरणं पि एएमो॥

सर्वेषां भङ्गानां मध्ये प्रथमभङ्ग सर्वाल्पतरदोषा इति तत्र वस्तव्य प्रथमस्यासत्यभावे द्वितीयेऽपि तत्र पुनस्तिष्ठति कालचारिणीषु सयतीषु एवमेव शेषेष्वपि भङ्गेषु वसति। किमुक्तं भवति। येष्वप्यन्येषु भङ्गेषु सयतीसहितपदं तेष्वपि कालचारिणीभि सहितेषु वस्तव्य नाकालचारिणीभिरिति। तथा क्रमकरणमपि अकालचारिणीभि. सहितत्वमपि एवमयामः उपादेयतया प्रशंसयाम' सर्वेषां भङ्गानां मध्ये कथमिति चेदुच्यते यस्मिन् भङ्गे शय्याभक्तोपधय समुदिता भक्त एकाकिका वा शुद्धास्तत्र यद्यकालचारिण्यो भक्त पान वा दत्वा गृहीत्वा तत्क्षणमेव प्रतियान्ति न पुनरागच्छन्ति स्वाध्यायं वा कृत्वा सकाशे गच्छन्ति तत्र स्थातव्यं प्रायो दोषाभावादिति।

एतदेव स्पष्टतरमाह॥

सेज्जं सोहे उवहिं, भत्तं सोहेइ संजतीरहितो।
पढमो बितिओ सजइ-सहिओ तओ पुण कालचारीओ॥

शय्यां शोधयति उपधिं शोधयति भक्तं शोधयति संयतीरहित-तश्चेति प्रथमो भङ्गः। द्वितीय सयतीसहितस्ता' पुन' संयत्यः कालचारिण्यो यदि स्युस्तदा वस्तव्यमेव शेषेष्वपि संयतीसहितेषु भङ्गेषु भावनीयम्।

अथाकालचारिएय. कथं स्युरित्यत आह ॥

आयाणे कंदप्पे, वियाल उराखियं वसंतीणं ।
निययादी उद्दसहा, संजोए मोत्तहा छंदे ॥

भक्तपानादीनामादाने उपलक्षणमेतत् दाने च तथा कन्दर्पनिमित्तं कन्दर्पग्रहणमुपलक्षणं स्वाध्यायनिमित्तं च विकाले औराखिकमतिशयेन स्फारे प्रभूतवेलायामिति यावत् संयतीनामकालचारिणीत्वं द्रष्टव्यम् । एवं नैत्यिकादीनां य एष दशधा षोडशप्रकार संयोगस्तत्र वस्तव्यं किं सर्वत्र नेत्याह मुक्त्वा यथाच्छन्दान्किमुक्तं भवति । तेषु सत्सु यथाच्छन्देषु न वस्तव्यं तदभावे तत्रापि वसेत् । सम्प्रत्येतेषु नैत्यिकादिषु संवासमधिकृत्य यतनामाह ।

गहियनिसियतुयट्टे वा, गहियागहिए य जग्गसुवणं वा ।
पासत्थादी एवं, नियए मोत्तुं अपरिचुते ॥

पार्श्वस्थादीनामुपाश्रयेषु (गहियत्ति) गृहीतोपकरणः स्थित ऊर्ध्वस्थितो वसेत् । यद्येवं स्थातुं न शक्नोति ततो गृहीतोपकरण एव निषद्योपगतो जाग्रत्तिष्ठेत् तथाप्यशक्नुवन् गृहीतोपकरणस्त्वग्वृतो जाग्रदवतिष्ठेत् । अथ त्रिष्वप्येतेषु यदि कथमपि प्रचलाया आशङ्का तदा मा पात्रादिभङ्गः स्यादित्युपकरणं पार्श्वे निक्षिप्यागृहीतोपकरणो यथासमाधिस्थितो निषण्णस्त्वग्वृतो वा जाग्रत्तिष्ठेत् अथ जागरणं कर्तुं न शक्नोति तत आह स्वपन् वा गृहीतोपकरणोऽगृहीतोपकरणो वा यथा समाधि कुर्यात् । एवं यतना पार्श्वस्थादीनामुपाश्रयेषु द्रष्टव्या । नैत्यिके नित्यवास्युपाश्रये नित्यवासिपरिभुक्तान् प्रदेशान् मुक्त्वा अपरिभुक्ते प्रदेशे उपकरणं निक्षिप्य यथासमाधि जाग्रत्स्वपन्वा वसेत् ।

एमेव अहाछंदे, पडिहणणाऽऽज्झाणअज्झयणकथा ।
ठाणठितो वि निसामे, सुण आहरणं च गहिएणं ॥

एवमेव पार्श्वस्थादिगतेनैव प्रकारेण यथाच्छन्देऽपि यतना कर्तव्या । नवरं यदि शक्तिस्तर्हि तस्य प्रतिहननं कर्तव्यं यथा स स्वाग्रहं मुञ्चति । अथ न विद्यते तादृशी शक्तिस्तर्हि ध्यानं तथा ध्यायति यथा तद्वचो न शृणोति यदि वा [अज्झयणत्ति] यथाच्छन्दप्रज्ञापनाप्रतिश्रवणमध्ययनं परावर्तयति यथा स सूत्रं मा मां नाशयेति [कहत्ति] तस्य यथास्वच्छन्दं देशनां कुर्वतः कर्णौ निजौ स्थगयति येन देशनां न शृणोति दूरतरं वा तिष्ठति । अथ दूरतरस्थानस्थितोऽपि तद्देशनां निशामयति न च निद्रां समागच्छति ततः स यथाच्छन्दो वक्तव्यो यथा शृणु किमप्याहरणं ततो यत्तस्यापूर्वं तदाहरणं कथनीयम् [गहिएणत्ति] गृहीतेनात्मीयोपकरणेन । एतदेव युक्त्या दृढयति ॥

जः कारणे निगमण, दिट्ठं एमेव सेसगा चउरो ।
ओमे असंथरंते, आयारे वइयमादीहिं ॥

यथा कारणे कारणवशतो निगमनं निर्गतं दृष्टमेवमेव तथा कारणवशतः शेषाण्यपि चत्वारि द्वाराण्यसंविग्ने निवेदना यतना इत्येवमादीनि दृष्टानि यथा चाचारे आचारप्रकल्पे अवमे दुर्भिक्षे व्रजिकादिभिरपि आदिशब्दात्स्वज्ञात्यमनोज्ञासंविग्नपरिग्रहो व्रजेदित्युक्तमतः सोपपत्तिकेयं यतनेति सम्यक् श्रद्धेया । गतं यतनाद्वारम् ॥

अधुना निसृष्टद्वारमाह–

स मणुसेसु वि वासो, एगनिसिं किमुत असमो सेसे ।
असढो पुण जयणाए, अच्छेज्ज चिरं पि उ इमेहिं ॥

स मनोज्ञेष्वपि अपान्तराले वासः उत्सर्गतः एका निशामेकां रात्रिं कल्पते किमुत किं पुनरन्येष्वसांभोगिकेष्ववसने उपलक्षणमेतत् पार्श्वस्थादिषु वा । तत्र सुतरामेकरात्र्यधिकं न कल्पते कारणवशतः पुनरुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि वसेत् गतं निसृष्टद्वारम् । इदानीं " दोहग्गद्धं परिच्छतीत्ये " तद्व्याख्यानार्थमाह (असढो इत्यादि) असठः पुनर्न केवलमुत्कर्षतस्त्रीणि दिनानि किं तु चिरमपि प्रभूतकालमप्येभिर्वक्ष्यमाणैः कारणैर्यतनया तिष्ठेत् । तान्येव कारणान्याह

वासं खंधारनदी, तेणासावयवसेण सत्थस्स ।
एएहिं कारणेहिं, अजयणजयणा य नायव्वा ॥

वर्षं पतति स्कन्धावारः कटकं तद्वा चलति नदी गिरिनदी पूर्णा वर्तते स्तेना अपान्तराले द्विविधा शरीरापहारिण उपकरणापहारिणश्च श्वापदा सिंहादयः सार्थस्य वा वशेन गच्छति सार्थश्च चिरमपि तिष्ठन् वर्तते एतैः कारणैश्चिरमप्यपान्तराले तिष्ठति तत्रायतना यतना वा ज्ञातव्या । तत्र यदि यतना कृता तदा न प्रायश्चित्तविषयः । अथायतनामाचरितवान् तदा प्रायश्चित्तं लगति । उक्तः शुद्धस्याशुद्धगमनमिति द्वितीयो भङ्गः ।

संप्रति तृतीयचतुर्थभङ्गावाह ॥

दोसा उ ततियभंगे, गाणगणिया य गच्छभेदो य ।
सुयहाणी कायवहो, दोसि वि दोसा भवे चरिमे ॥

दोषौ द्वौ तृतीयभङ्गे अशुद्धस्य शुद्धगमनमित्येवंलक्षणे तद्यथा गाणगणिकता गणे गणे प्रविशतीत्येवं प्रवादलक्षणा तद्यथा गच्छभेदतश्च । तथाहि तस्मिन्निर्गच्छत्यन्येऽप्येवमेव निर्गच्छाम्ति ततो जायते गणविनाशः । चरमेऽप्यशुद्धस्याशुद्धगमनमित्येवरूपे भङ्गे द्वौ दोषौ अपिशब्दो भिन्नक्रमः स च यथास्थानं योजितः । श्रुतहानिः कायवधश्च निष्कारणे दोषबहुलतया यातो निर्गमने तत्रापि नावकाश इति श्रुतहानिर्मार्गे च गतो ग्लानत्वादिभावतो वा कायवधः । तदेवं भावितमृतुबद्धविषयम् ॥

सम्प्रति वर्षावासविषयं सूत्रमाह ।

(सूत्रम्) वासावासे पज्जोसविए भिक्खू य जं पुरओ कट्टु विहरेज्जा से य आहच्च विसंभेज्जा अत्थि या इत्थ केइ उवसपज्जणारिहे उवसंपज्जियव्वेसिया णत्थि या इत्थ केइ अप्पे उवसपणारिहे तस्स य अप्पणो य से कप्पइ जाव छेदे वा परिहारे वा ॥

(वासावासेपज्जो इत्यादि) वर्षावासे पर्युषिते भिक्षुर्यं पुरतः कृत्वा विहरति आस्ते स कदाचित् विष्वग्भवेत् शरीरात्पृथग्भवेत् म्रियेत इत्यर्थः । अस्ति चान्य कश्चिदुपसंपदनार्हः स उपसंपत्तव्यः । नास्ति वा तथान्यः कश्चिदुपसंपदनार्हस्तर्हि स आत्मनः कल्पे मा समाप्त इति (से)तस्य कल्पते एकरात्रिक्या प्रतिमया यत्र वसति तत्रैकरात्रानिग्रहणे (जण्णं जण्णमित्यादि) यस्यां यस्यां दिशि अन्ये साधर्म्मिका विहरन्ति तां तां दिशमुपलातु न पुनः (से) तस्य कल्पते । तत्रापान्तराले विहारप्रत्ययं वस्तु कल्पते (से) तस्य । तत्र कारणप्रत्ययं संघादिकारणनिमित्तं वस्तु तस्मिंश्च कारणे निष्ठिते यदि परो वदेत् वस आर्य ! एकरात्रं द्विरात्रं वा वाशब्दात्त्रिरात्रं वा एवं (से) तस्य कल्पते एकरात्रं द्विरात्रं वा वाशब्दात्त्रिरात्रं वा वस्तु नो (से) तस्य कल्पते एकरात्रात् द्विरात्राद्वा परं वस्तुम् । यत्तत्र एकरात्राद् द्विरात्राद्वा परं वसति ततः (से) तस्य स्वकृतादन्त-

शब्देदः परिहारो वा इति सूत्रार्थः । अत्र भाष्यप्रपञ्चः ।

एमेव य वासासु, भिक्खे वसहीए संकनाणत्तं ।
एगाहचउत्थादी, असती अन्नत्थ तत्थेव ॥

एवमेव ऋतुबद्धविषयस्तत्र तेनैव प्रकारेण वर्षासु सूत्रं भाव-नीयं नवरं भिक्षायां वसतौ शङ्कायाश्च नानात्वं तत्रान्यत्र गन्तव्य-मेकाहेन चतुर्थनादिशब्दात् षष्ठेनाष्टमेन वा असत्यन्यत्र गमने तत्रैव वर्षारात्रः कर्त्तव्यः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । साम्प्रतमेना-मेव विवरीषुः प्रथमतः एवं शब्दं व्याख्यानयति ।

अपरिमाणे पिहब्भावे, एगत्ते अवधारणे ।
एवं सद्दो उ एएसिं, एगत्ते उ इहं भवे ॥

एवं शब्दोऽपरिमाणे पृथग्भावे एकत्वे अवधारणे । तत्रापरिमाणे यथा एवमन्येऽपीत्यादौ पृथग्भावे यथा घटात्पटः पृथक् एवमाका-शास्तिकायात् धर्मास्तिकायोऽपीति । एकत्वे यथाऽयमेतद्गुण एवमेषोऽपि अत्र ह्येवं शब्दस्तयोरेकरूपतामभिद्योतयति । अव-धारणे यथा केनापि पृष्टमिदमित्थं भवति इतरः प्राह एवं इ-मित्थमेवेति भावः । एवमेवंशब्द एतेष्वर्थेषु वर्त्तते इह पुनरेक-त्वे भवति वर्तते । एकत्ववृत्तिमेव भावयति ॥

एगत्तं उ उउबद्धे, जहेव गमणं तु भंगचउरो य ।
तह चेव य वासासु,नवरि इमं तत्थ नाणत्तं ॥

तथैकत्वमेवं शब्दप्रकाश्यमित्थमृतुबद्धेऽन्यत्र गच्छान्तरे गमनं यथा च तत्र भङ्गाश्चत्वारः शुद्धस्य शुद्धगमनमित्येवमादयस्तथा चैव तेनैव प्रकारेण गमन भङ्गचतुष्टयं च ज्ञातव्यम् । नवरं केव-लमिदं तत्र वर्षासु भिक्षायां वसतौ शङ्कायां च नानात्वम् । तत्र भिक्षामधिकृत्याह ।

पउरन्नपाणगमणं, इहरा परे ताव एसणा घातो ।
खेत्तस्स य संकमणे, गुरुगा लहुगा य आभवणा ॥

यो गच्छः प्रचुरान्नपाने स्थितस्तत्र गन्तव्यम् । इतरथा यदि पुनरप्रचुरान्नपाने गच्छे प्रविशन्ति ततस्ते असंस्तरन्त क्षुधा प-रिताप्यन्ते परितापनां चासहमानैरेषणाघातः क्रियते अनेषणी-यमपि गृह्णीयुरित्यर्थः । अथासंस्तरन्तः क्षेत्रसंक्रमणं कुर्वन्ति तदा प्रावृषि क्षेत्रस्य संक्रमणे आरोपणाप्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । वर्षारात्रे भाद्रपदाश्वयुग्मासद्वयलक्षणे चत्वारो लघुकाः । गतं भिक्षाद्वारम् । अधुना वसतिद्वारमाह ।

वारगजग्गणदोसा, सागारादी हवंति अन्नासु ।
तेणादिसंकलोए, भाविणमित्थं पवासंति ॥

यस्मिन् गच्छे वसतिः संकटा तत्र नोपसंपत्तव्यं यदि पुनरुपसं-पद्यते तत इमे दोषाः । संकटायां हि वसतौ वसन्तस्ते वारके-ण क्रमेण जागरणं कुर्युरेके जाग्रत्यन्ये स्वपन्ति तदनन्तरं ते जा-ग्रत्यन्ये स्वपन्ति । एव क्रमेण जागरणेऽजीर्णत्वादयो दोषाः । अथान्यासु वसतिषु केचित्स्वपनाय व्रजन्ति तर्हि ये प्रागभिहि-ताः शय्यायां सागारिकादयो दोषास्ते ऽत्रापि भवन्ति गतं वस-तिद्वारम् । इदानीं शङ्काद्वारमाह । भिक्षाया अभावतो वसतिसंक-टत्वदोषतो वा तत्क्षेत्रसंक्रमणं कुर्युस्तांश्च गच्छतो दृष्ट्वा लोकस्य स्तेनादिशङ्कोपजायते यथा न कल्पते साधूनां वर्षासु गमनं न-न्नूनमेते हेरिकाः स्तेना वा साधुवेषेणाहिण्डन्ते । अथवा (भा-विणमित्थं पवासंति त्ति) एनमर्थमुत्पातरूपं यदि वा न निष्पत्स्य-ते शस्यमित्येवंलक्षणं ततोऽनागता नश्यन्ति तस्माद्वयमपि यत्नं कुर्म्मः । तदेवं प्रचुरान्नपाने सकटवसतिनिश्चिते च गच्छे प्रवेशे इमे दोषाः । तस्माद्ये प्रचुरान्नपानग्रामे स्थिता ये च सावकाशायां वस-तौ तत्र संपत्तव्यं तत्र चानया यतनया गन्तव्यम् । तामेवाह ।

आसन्नखेत्त जाविय, खेत्तादपरोप्परं मिलंतेसु ।
जा अट्ठमं अन्नाते य, माण अडंत बहू पासे ॥

ये आसन्ने अनन्तरे क्षेत्रे स्थिता गच्छास्तत्र गन्तव्यमसत्यन-न्तरे क्षेत्रे ये परे क्षेत्रे स्थिता यैर्भिक्षादिनिमित्तमागच्छद्भिर्ग-च्छद्भिश्च परस्परं मिलद्भिर्गाथायां सप्तमी तृतीयार्थेऽपान्तराले पथि भाविता ग्रामास्तत्र गन्तव्यं तेषामप्यभावे दूरेऽपि गम्यते । तत्र पुनर्भिक्षामहिण्डमानो गच्छति । किं कारणमत आह । (माणअडंत बहूपासे) मा णमिति वाक्यालङ्कारे भिक्षामटन्तं बहु लोकोऽभावितः पश्यत्विति कृत्वा ततोऽभक्तार्थेन यावत्प्रा-प्यते षष्ठेन वा अष्टमेन वा तत्र गन्तव्यम् । आह यद्यपि चतु-र्थादिना गच्छति तथापि लोकः पश्यति । तत्र आह ॥

पायं न रीयइ जणो, वासं पडिवत्तिकोविदो जो य ।
असतो व बद्धेदूरे य, अच्चुए जाय भायंति ॥

प्रायः कर्पजनः क्षेत्राणां जलकर्दमाकुलतया शेषजनो मार्गस्य जलाविलत्वाद्विना दुर्गमतया वर्षे वर्षाकाले न रीयते न गच्छ-ति । यश्चात्र प्रतिपत्तिकोविदः परप्रतिपादनकुशलस्तेन एव-मादिषु विषयेऽनेकान्युत्तराणि जल्पितव्यानि यतावता "एगा-हचउत्थादी " इत्यादिव्याख्यातमिदानीमसती अन्नत्थ तत्थेवेति व्याख्यानार्थमाह । " असतोवबद्धेइत्यादि " पूर्वोक्तो विधिः सान्तरे वर्षेऽभिहितो यदि पुनरसकृत् अनवरतं वा सततं वर्षं पतति यदि वा अतिदूरं गन्तव्यं नाष्टमेन प्राप्यते ततोऽसकृत् अनवरतं वा वर्षे पतति दूरे गन्तव्यम् । तत्रैव वर्षारात्रं कृत्वा प्रभाते मेघकृतान्धकारापगतः प्रभातकल्पे संवत्सरं याति ॥

(३)भिक्षुर्गणादपक्रम्यैकल्लेऽन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुम् ॥

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म अन्नगणं उव-संपज्जित्ताणं विहरिज्जा तं च केइ साहम्मिया पासे ता वइज्जा क अज्जो उवसंपज्जित्ताणं विहरति जे तत्थ सव्वरा-इणिए ता वइज्जा अहं भंते कप्पाइ जे य तत्थ बहुस्सुए तं वत्तिज्जा जहा से भगवं वक्खति तस्स आणाउववाय वयणणिद्देसे चिट्ठिस्सामि ॥

भिक्षुर्गणादपक्रम्य विशिष्टसूत्रार्थनिमित्तमन्यगणमुपसंपद्य विहरेत् । ततोऽन्यग्रामके भिक्षाचरप्रचुरे ग्रामे भिक्षार्थमटन्तं दृष्ट्वा कश्चित्साधर्मिको वदेत् कमार्यमुपसंपद्य त्वं विहरसि एवं पृष्टः सन् यस्तत्र सर्वरत्नाधिको गीतार्थ आचार्यस्तं वदेत् । तस्मि-न्नुक्ते परिकल्पयति यमेष व्यपदिशति सोऽगीतार्थो भवान-गीतार्थनिश्रया विहरति ततो भूयः पृच्छति अथ भदन्त ! कस्य कल्पेन सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्कस्य निश्रया त्वं विहरसि एवमुक्ते यस्तत्र सर्वबहुश्रुतस्तं वदेत् तथा तस्य सर्वरत्नाधिकस्याचार्य-स्यागीतार्थस्य यः शिष्यो गीतार्थः सूत्रार्थनिष्पन्नः समस्त-स्यापि गच्छस्य तृप्तिकारी तन्निश्रयाऽहं विहरामीति वदेत् । यं वा स भगवानाख्याति यथैतस्याज्ञा त्वया कर्त्तव्या तस्या-ज्ञायामुपपाते समीपे वचननिर्देशे च आदेशप्रतीच्छायां स्था-स्यामीति सूत्रसंक्षेपार्थः । अधुना भाष्यकृत्सूत्रं व्याख्यानयन्. प्रथमतः सूत्रविषयमुपदर्शयति ॥

पव्वावितो अगीतेहिं, गंतूण उज्जयनिम्मातां ।

आगम्मसेससाहूण-ततो य साहू गओत्थ ॥

कश्चिदगीतैगीतार्थैराचार्यैः प्रव्राजितः सोऽन्यत्र गणे गत्वा उत्पन्न सूत्रतोऽर्थतश्च निर्मितोऽभवत् ततः स स्वगणे आगम्य शेषाणां गीतार्थानां साधूनां साधनं करोति सर्वानपि गीतार्थान् सूत्रार्थनिमित्तमितस्ततो विप्रसृतानाचार्यसमीपमानयति समानीय च तेषां सूत्रार्थान् पूरयति अन्यदा ततो गच्छात्कोऽपि साधुरन्यत्र गणान्तरे केनापि कार्येण गतः।

तत्थ वि य अणुमालु, अट्टे त्ति अहेज्ज मा ण साहूणं ।
चिंती मा पढ एव, किं ति य अत्थो महो एव ॥

तथापि च गणान्तरे तस्य साधुमाचाराङ्गे "अट्टे लोए परिजिण्णे" इति सूत्रे अट्टे इति अधीयान पठन्तं श्रुत्वा ब्रूते मा पठ। एष न प्राह किमिति इतरो ब्रूते अर्थो न जायते विसदृशत्वेन यथा त्व पठसि अस्मात् अट्टे इति खिट्कारको निर्देशोऽप्येतस्य ।

अत्थो वि अत्थि एवं, आमं नमोक्कारमाइसव्वस्स ।
केरिस पुण अत्थो ति, वेती सुण उत्तमट्ट त्ति ॥

अधीयान पृच्छति किमेऽपि न तु सूत्रस्यास्ति। इतर आह। आममेव न केवलमस्य सूत्रस्यार्थोऽस्ति किं तु सर्वस्यापि नमस्कारादिकस्य सूत्रस्यास्ति एवमुक्तोऽप्येता पृच्छति कीदृशः पुनरस्य सूत्रस्यार्थ इति। इतरो ब्रूते शृणु प्रथमतो यथाऽधिगत सूत्र तत पठति (अट्टे इति) "अट्टे लोए परिजिण्णे" इति एव पठित्वा अस्य व्याख्यानमाह।

अट्टे चउव्विहे खलु, दव्वेन वि मादि जत्थ तणकट्ठा ।
आवत्तंत पडिया, जह व सुवण्णादि आवट्टे ॥

अट्टं आर्तं खलु चतुर्विधस्तद्यथा नामार्तं स्थापनार्तं द्रव्यार्तं भावार्तं । तत्र नामस्थापने सुप्रतीते द्रव्यार्तोऽपि नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो यत्र नद्यादेः प्रदेशे तृणकाष्ठानि पतितानि आवर्तन्ते यत्र वा सुवर्णाद्यावर्तते स द्रव्य । आ सर्वत परिभ्रमणेन ऋतानि गतानि यत्र यो वा स आर्तं इति व्युत्पत्ते

अहवा अत्तीभूतो, सचित्तादीहिं होइ दव्वम्मि ।
भावं कोहादीहिं, अभिभूतो होति अट्टो उ ॥

अथवा सचित्तादिभिर्द्रव्यैरप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्त स द्रव्यार्त द्रव्यैरार्तो द्रव्यार्त इति व्युत्पत्ते । क्रोधादिभिरभिभूतो नो आगमतो भावार्तः। तदेवमार्तशब्दार्थ उक्त ।

सम्प्रति परिजीर्णशब्दार्थमाह।

परिजिण्णो उ दरिद्दो, दव्वे धणरयणसारपरिहीणो ।
भावे णाणादीहिं, परिजिण्णो सव्वलोगा उ ॥

परिजीर्णोऽपि चतुर्विधस्तद्यथा नामपरिजीर्ण स्थापनापरिजीर्णो द्रव्यपरिजीर्णो भावपरिजीर्णश्च। तत्र नामस्थापने प्रतीते। द्रव्ये द्रव्यतः परिजीर्णो नो आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो धनरत्नसारपरिहीनो दरिद्रो भाव भावत परिजीर्णो ज्ञानादिभि परिहीन एव समस्तोऽपि लोक।

एवं पट्टे सो वेति, कत्थ ते अहीयं ति ।
अमुगस्स त्ति सगासे, अहगं पी तत्थ वच्चामि ॥

एवमाचाराङ्गसूत्रस्यार्थे स्पष्टे कथिते स ब्रूते कुत्र भवता त्वया ऽधीतमिति। स प्राह अमुकस्य सकाशे समीपे। तत सोऽध्येता चिन्तयति अहमपि तत्र व्रजामि एवं चिन्तयित्वा।

सो तत्थ गतो भिज्जति, मिलितो सम्भति एति उज्भामो।
पुट्ठो सुत्तत्थ ते, साहंति निस्साय कं विहरे ॥

स तत्र गतो गत्वा ध्यायति एतद्विषयमधिकृत सूत्रमधुना सूत्रव्याख्यामाह। सोऽधीयानोऽन्यदा ग्रामे उद्ग्रामकभिक्षानिमित्त गतस्तत्र केचित्साधर्मिकाः केचिदन्यगच्छवर्तिन साधवः सहाध्यायिनो मिलितास्ते (सम्प्रतिपृच्छन्ति) सहाध्यायिनः पृष्टास्ते तत्र सूत्रार्थं सगन्ति निवेदयन्ति तथा क निश्राय आश्रित्य भवान् विहरति।

अमुगं ति सो अगीतो, विहरइ कप्पेण गीयसिस्सस्स ।
अहमवि य तस्स कप्पा, जं वा भयव उवदिसंति ॥

एव पृष्ट सन् यस्तत्र सर्वरत्नाधिको गीतार्थ आचार्यस्त कथयति यथा अमुक निश्रायाऽहं विहरामि एतावता "जे तत्थ सव्वगणि य ते वएज्जा" इति व्याख्यातम्। एवमुक्ते ते चिन्तयन्ति यमेव प्राह सोऽगीतो ऽगीतार्थस्ततो भूय पृच्छन्ति कस्य कल्पेन कस्य गीतार्थस्य निश्रया भवान् विहरति एतेन " अह भंते कस्स कप्पाए" इति व्याख्यानम्। स प्राह सूत्रचमत्कृततया गीतार्थस्तस्य शिष्यस्तस्य कल्पेन सम्पन्नो गणो विहरति। अहमपि च तस्य कल्पात् विहरामि य वा भगवन्त उपदिशन्ति यथाऽस्याज्ञा कर्तव्या तस्याज्ञोपपातवचननिर्देशेषु स्थास्यामि। एतेन "ज वा से भयवं सक्खाति" इत्यादि व्याख्यातम्। इदमेव स्पष्टं भावयति।

रायणियस्स उ गणो, गीयत्थोमस्स विहरइ निस्साए।
जो जेण होति मोहंतो, तस्साणादी न हावेमि ॥

रात्निकस्य रत्नाधिकस्य गणोऽवमस्य गीतार्थस्य निश्रया विहरति अहमपि तन्निश्रया विहरामि। अपि च तस्मिन् गणे यो येन गुणेन तप प्रभृतिना महितस्तस्याज्ञादि आज्ञां समीपतावचनानिर्देश च न हापयामि सम्यक्करोमीति भावः। व्य० ३ उ०।

(चरिकाप्रविष्टस्योपसम्पद्विधिः चरियापविट्ठ शब्दे वक्ष्यते)

४ शैक्षेण सपरिच्छदेन रत्नाधिकस्योपसंपद्यातव्या।

(सूत्रम्) दो साहम्मिया एगतो विहरंति तं जहा सेहे रायणिए य तत्थ सेहतराए पलिच्छिन्ने रायणिए अपलिच्छन्ने तत्थ सेहतराएणं रातिणिए उवसंपज्जितव्वा भिक्खू ववहारवहलातिकप्पयं । ३३ ।

द्वौ साधर्मिकौ समानगुरुकुलावेकत सह तौ विहरतस्तद्यथा शैक्षो रात्निकश्च तत्र य शैक्षक स परिच्छन्न परिवारोपेत रात्निको रत्नाधिकोऽपरिच्छन्न परिवाररहित इत्यर्थ तत्र शैक्षतरकेण रत्नाधिक उपसंपत्तव्यस्तथा शैक्षतरको रत्नाधिकस्य भिक्षामुपपात विनयादिक च कल्प्य कल्पनीय ददाति एष सूत्रसंक्षेपार्थ ।

अधुना भाष्यविस्तर ।

साहम्मि पलिच्छिन्ने, उवसंपय दोण्ह वी पलिच्छातो ।
वोच्चत्थे मासलहुओ, कारणअसई सभावो वा ॥

तौ द्वावपि जनौ सहाध्यायिनौ सब्रह्मचारिणौ तत्र य शैक्षतरक स परिच्छन्नो द्रव्यपरिच्छेदेन परिवारसहित इत्यर्थ । भावपरिच्छेदेन पुनर्द्वयोरपि परिच्छेदोऽस्ति तत्र शैक्षे द्रव्यत परिच्छन्ने सति तेन रत्नाधिकस्योपसम्पत्तव्या ततो अधन्यन सघाटो रत्नाधिकस्य देय तत्करतो बहवोऽपि दातव्या । तथा शैक्षकेण रत्नाधिकस्य पुरत आलोचनीय रत्नाधिकेन शैक्षकस्य पुरताऽन्यथा (योच्चत्थे) विपर्यासे तत्रयोगपि प्रायश्चित्त मा-

सङ्घु । तथा कारणे ग्लानादिलक्षणे व्यापृततया द्वावेव तौ ज-नावित्यसति सहायस्याभावे न दद्यादपि सहायं स्वभावो वा त-स्यात्मीयकरणादिलक्षणस्ततो न ददाति सहाय किंत्वौचित्येन तस्य कृत्यं कारयति । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः पूर्वार्द्धं विवृणोति ।

सज्झंति वासिणो दो वि, भावेण नियमतो उ एणो ।

गाथणिएउवसंपया, सेहतरगेण कायव्वा ॥

तौ द्वावपि सहाध्यायिनावेकस्य गुरोरन्तेवासिनौ द्वावपि भावेन ज्ञानादिना नियमतो नियमेन उभौ ज्ञानादिरूपभावपरिवारो-पेतावित्यर्थः । द्रव्यपरिच्छेदेन पुनः शैक्षतरक एकोपेनस्तत्र शैक्षतरकेण रात्निको रत्नाधिकस्योपसंपत्कर्तव्या । " वोच्चत्थे मासलहुतो " इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

आलाइयम्मि सेहेण, तस्स वियडेइ पच्छ राइणितो ।

इति अकरणम्मि लहुगो, अवरोप्परगव्वतो लहुगा ॥

प्रथमतः शैक्षतरकेण रत्नाधिकस्य पुरतः आलोचनीय तेनालो-चिते पश्चाद्रत्नाधिकस्तस्य शैक्षकस्य पुरतो विकटयन्यालोचयति एवंकृतौ न कुरुतस्तत इति एतस्याकरणे द्वयोरपि प्रत्येकं लघुको मासः प्रायश्चित्तम् (अवरोप्परगव्वतो लहुगा इति) यदि शैक्षतरको द्रव्यपरिच्छेदेनाहं परिच्छन्न इति गर्वतो रत्नाधिक-स्य पुरतो नालोचयति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः ।

एतदेवोपदेशद्वारेण स्पष्टयति ।

एगस्स उ परिवारो, बीइए रायणिय त्ति वादो य ।

इइ गव्वो न कायव्वो, दायव्वो चेव संघाडो ॥

एकस्य परिवारोऽस्ति द्वितीये रात्निकत्ववादः रत्नाधिकोऽय-मिति प्रवाद इति एवं रूपो गर्वो द्वाभ्यामपि न कर्त्तव्यः किं तु परस्परमालोचयितव्यमन्यथा चतुर्लघुकप्रायश्चित्तापत्तेर्दातव्य-श्च शैक्षतरकेण जघन्यतोऽपि रत्नाधिकस्य संघाटः । सम्प्रति "निक्खो वा पवदलानि कप्पागमि" त्येतदर्थमाह ।

पेहाभिक्खकितीओ, करेंति सो आवि ते पवाएति ।

न पहुव्वं ते दोण्ह वि, गिलाणमादीसु च न देज्जा ॥

शैक्षतरस्य शिक्षा रत्नाधिकस्य सम्बन्धिनो वस्त्रादेः प्रेक्षां प्रति लेखनां कुर्वन्ति । तथा तद्योग्यां भिक्षामानयन्ति । कृतकर्म्म विन-यो विश्रामणा तत्कुर्वन्ति किमुक्तं भवति यदाज्ञापयन्ति तत्कुर्व-न्ति याचनादिपरिश्रान्तस्य च विश्रामणामिति स चापि रत्नाधि-कस्तान्प्रवाचयति सूत्रं पाठयत्यर्थं च श्रावयतीत्यर्थः । कार-णे असती इत्यस्य व्याख्यानमाह (न पुहुव्वंते इत्यादि) ते शै-क्षतरशिष्या ग्लानादिषु प्रयोजनेषु व्यापृतास्ततो न प्रभवन्ति न प्रपारयन्ति सहाय न दद्यात् । यदि वा द्वावेव तौ जनौ ततः किं द्वितीयनामिति न दद्यात् ।

अधुना "सभावो वा" इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

अत्तीकरेज्जा खलु जो विदिएणे, एसोवि मज्झंति महंतमाणी

न नस्स तं देइ वहि तु नेउं, तत्थेव किच्चं पकरेंति जं से ॥

यो दिनीर्णान्साधूनात्मीकुर्यात् यश्चैषोऽपि शिक्षाधिपतिः शैक्ष-तरको ममेति महामानी तस्य तान्साधून् बहिस्तस्मात् स्था-नादन्यत्र विहारक्रमेण नेतु न ददाति किं तु यत् (से) तस्य कृत्य करणीयं तत्रैव स्थितस्य तत् कुर्वन्ति अथवा

वायणा य से देइ, न य दावेइ वायणं ।

तहा वे भेदमिच्छंते, अविकारी उ कारए ॥

वारेण तस्य शुश्रूषकमेकैकं साधुं न युङ्क्ते न च तस्मात्साधूनां वाच-नां दापयति मा मे गणभेदं कार्षीरिति हेतोः । यद्येवमपि दुःस्व-भावतया गणभेदं करोति तत आह । तथापि क्रियमाणे गणभेदं कर्तुमिच्छति योऽविकारी दुर्भेदः साधुस्तेन तस्य कृत्यं कारय-ति [सूत्र दो साहम्मिया इत्यादि] द्वौ साधर्म्मिकावेकत सहतौ विहरतस्तद्यथा शैक्षो रत्नाधिकश्च । तत्र रात्निकः परिच्छन्न परिवारोपेत इत्यर्थः । शैक्षतरकोऽपरिच्छन्नः परिवाररहितस्तत्र रात्निके रत्नाधिकस्येच्छा यदि प्रतिभासते शैक्षतरकमुपसंपद्य-ते अथ नेच्छा न प्रतिभासते तर्हि नोपसपद्यते भिक्षामुपपातं च कल्प्यं यदीच्छा तर्हि ददाति अथ दातुमिच्छा तर्हि न ददाति एष सूत्रसंक्षेपार्थः । अधुना भाष्यविस्तरः ।

रायणिय परिच्छन्ने, उवसंपपब्लिच्छओ य इच्छाए ।

सुत्तत्थकारणे पुण, परिच्छयं वेंति आयरिया ॥

रात्निके रत्नाधिके द्रव्यतः परिच्छन्ने परिवारोपेते स तेन शैक्ष-तरकस्य उपसंपत्परिच्छेदश्च इच्छया दातव्यः । इयमत्र भावना । स यदि शैक्षतरकोऽल्पमरत्नाधिकस्तुल्यश्रुतो गुरुरत्नाधिकेन सह ततः स रत्नाधिकश्चिन्तयति मा नूनमेतस्य भिक्षाहिण्डनव्याक्षेपे-ण च सूत्रार्थौ नश्येयुस्ततः संघाटं ददाति अथवा मा एष मम कुलवासी सहाध्यायी द्रव्यपरिच्छदेनापरिच्छदो भूयात्सह-ध्यायात्तेनातिस्नेहतः संघाटं ददात्यालोचनां प्रयच्छति । अल्प-श्रुतस्य परिच्छदमुपसंपदां वा न ददातीति । अथ स शैक्षतरको रत्नाधिकाद्बहुश्रुतस्तदा नियमत उपसंपत्तव्यः । परिच्छदश्च तस्य दातव्यस्तथा चाह सूत्रार्थ कारणात् सूत्रार्थं गृहीतुकामा उपा-ध्यायाः उपसंपद्यन्ते परिच्छदं च ददति । एतदेव स्पष्टयति ।

सुत्तत्थ जइ गेण्हइ, तो से देइ परिच्छदं ।

गहिएवि देइ संघारुं, मा से नस्से य तं सुयं ॥

यदि स रत्नाधिकस्ततः सूत्रार्थं गृह्णाति ततः (से) तस्य ददाति परिच्छदं परिवारं गृहीतेऽपि सूत्रार्थे ददाति संघाटं कस्मादि-त्याह । मा (से) तस्य भिक्षाटनव्याक्षेपतः प्रतिसंवाहनाभावे-एतश्च तत् श्रुतं नश्येदिति हेतोः ।

अबहुश्रुतादौ तु न ददाति इत्येतद्भावयति ।

अबहुस्सुते न देंती, निरुवहते तरुणए य संघाडं ।

घेत्तूण जाव वज्जइ, तत्थ य गोणी य दिट्ठंतो ॥

अबहुश्रुतो निरुपहतपञ्चेन्द्रियस्तरुणकश्च तस्मिन् ... साधुषु संघाटं न ददाति सहायांश्च ददातीति भावः । यो वा ... तार्थोऽपि सन् प्रदानात् सहायान्विपरिणम्य गृहीत्वा ... तस्यापि सत्स्वपि साधुषु सहायांश्च ददाति तथा ... शीघ्रतया गवां दृष्टान्तस्तमेव भावयति ।

साडगबद्धा गोणी, जह तं खेत्त पलाति दुस्सीला ।

इय विप्परिणामेते, तम्मि न देज्जा सहाए य ॥

यथा कस्यापि गौः पलायिता ततः कथमपि लब्धा ... शाटके बद्धा यथा शाटकबद्धा दुःशीला गौस्तं शाटकं गृ-हीत्वा पलायते इति एवममुना प्रकारेण यो विपरिणम... यान् तस्मिन्विपरिणामयति सहायांश्च दद्यात् ।

(५) सांभोगिकासांभोगिकयोः सहमिलितयोर्गच्छतोः सामाचारीमाह ।

(सूत्रम्) दो साहम्मिया एगतो विहरंति तं जहा से

हे य रायणिए य तत्थ रायणिय पलिच्छिन्ने सेहतराए अपलिच्छिन्ने रायणिए इच्छा सेहतरा य उवसंपज्जेज्जा । इच्छा नो उवसंपजेज्जा इच्छा भिक्खोववायं दलाति कप्पाग इच्छाए णो दलाति । २४ । दो भिक्खू णो एगतो विहरंति णोएहं कप्पति अण्णमण्णस्स उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति एहं आहारातिणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । २५ । एवं दो गणावच्छेया । २६ । दो आयरियउवज्झाया । २७ । बहवे भिक्खुणो णो ततो विहरंति णोएहं कप्पइ अण्णमण्णस्स उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति एहं आहारातिणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरंतिए २७ एवं बहवे गणावच्छेइया २८ बहवे आयरियउवज्झाया ३० भिक्खू णो बहवे गणावच्छेइया तहेव आयरियउवज्झाया एगतो विहरंति णो एहं कप्पति अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए वासावासवत्थए कप्पति पवितिणीए कप्पति पवितिणीए कप्पति एहं आहारायणिआए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए हेमंतगिम्हेसु ॥३॥

(अत्र चतुर्विंशतितमसूत्रस्य व्याख्या ग्रन्थकृता न व्याख्यातेत्यस्माभिरपि न व्याख्यायते) एव दो भिक्खू णो एगतो विहरंति इत्यादि सूत्रसत्तक सुगमम् ।

अस्य सम्बन्धमाह ।

संखहिगारा तुल्ला, धिगारियाए सन्नेसते जोगो ।
आयरियस्स व सिस्सा, भिक्खु अभिक्खू अहतिभिक्खू ॥

अनन्तरसूत्रे 'दो साहम्मिया' इत्यादिसूत्रके द्विकलक्षणा सत्याऽधिकता अत्रापि सैव 'दो भिक्खुणो' इत्यादिवचनात्तत. संख्याधिकारात्तुल्याधिकारिता पूर्वसूत्रेण सहास्य सूत्रस्येत्येष लेशत आद्यसूत्रस्य योग सबन्धः । अथवा पूर्वसूत्रे रत्नाधिकपदेनाचार्य उपात्त' । आचार्यस्य च शिष्यो द्विधा भिक्षुरभिक्षुश्च । तत्र भिक्षुः प्रतीतोऽभिक्षुर्गणावच्छेदक उपाध्याय आचार्यो वा । तत आचार्यसूत्रात्प्रागुक्तादयानन्तर भिक्षुसूत्रमुक्तम् ।

शेषसूत्रसबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

एमेव सेसएसु वि, गुणपरिवुड्ढी य ठाणसंभावे ।
तुप्पज्जिई खलु संखा, बहुपिंडो उ तेण पर ॥

एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेणैव शेषयोरपि गणावच्छेदकाचार्यसूत्रयोः संबन्धस्तथा ह्याचार्यस्य शिष्यो भिक्षुरभिक्षुश्च तत्र भिक्षुसूत्रमुक्तं तदनन्तरमभिक्षोर्गणावच्छेदकस्याचार्यस्य च सूत्रे । अथ गुणपरिवृद्ध्या स्थानलाभो भवति तथा हि भिक्षुर्गुणाधिकत्वेन गणावच्छेदकस्थानं लभते गणावच्छेदको गुणाधिकतया आचार्योपाध्यायस्थानमतो भिक्षुसूत्रानन्तरं क्रमेण गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायसूत्रे तथा द्विप्रभृतिका खलु सख्या बहुका भवति ततो द्विसंख्यासूत्रत्रयानन्तरं बहुसंख्यासूत्रत्रय बहूनां च परस्परमुपसपद्यमाना पिण्डो भवति तेन बहुसख्यासूत्रत्रयात्परं पिण्ड. पिण्डसूत्रमुक्तमिति एवमनेन संबन्धजातेनायातस्यास्य सूत्रसप्तकस्य व्याख्या । द्वौ भिक्खू एकत्र संहतौ विहरतो णोणमिति वाक्यालङ्कारे कल्पते अन्योन्यमुपसंपद्य विहर्तुं कल्पते । एहमिति पूर्ववत् यथा रत्नाधिकतया अन्योन्यमुपसंपद्य विहर्तुमेवं गणावच्छेदकसूत्रमाचार्योपाध्यायसूत्रं च भावनीयमेव बहुसख्यासूत्रत्रयं पिण्डसूत्रं चेति सूत्रसप्तकसंक्षेपार्थः ।

संप्रत्याद्यभिक्षुसूत्रव्याख्यानार्थमाह ।

संभोइयाण दोण्हं, खेत्तादी पेहकारणगयाणं ।
पंथे समागयाणं, भिक्खूण इमा भवे मेए ॥

द्वावाचार्यावन्यस्मिन्नन्यस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ तौ च परस्पर सांभोगिकौ तयो. सांभोगिकयोर्द्वयोराचार्ययोर्भिक्षवस्ताभ्यां प्रेषिताः क्षेत्रादिप्रेक्षाकारणगताः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थमादिशब्दादुपधिमार्गणार्थं वा गतास्ते च तथा गच्छन्तः पथि समागता' परस्पर मिलिताः । तेषां चैकेन यथा गन्तव्यमतस्तेषां क्षेत्रादिप्रेक्षाकारणगतानां पथि समागतानां भिक्षूणां या मर्यादा सामाचारी सा इय वक्ष्यमाणा भवति । तामेवाह ।

भिक्खुस्स मासियं खलु, पलिउच्छाणं च सेसगाणं तु ।
चउलहुग अपलिउंछे, तम्हा उवसंपया तेसिं ॥

यौ द्वौ भिक्षू स्पर्द्धकपती तयोः शैक्षतरकेण रत्नाधिकस्य पुरतः आलोचयितव्यम् । तेनालोचिते पश्चात् रत्नाधिकेन शैक्षतरकस्य पुरत एवमकरणे भिक्षोः शैक्षरत्नाधिकस्य च प्रायश्चित्त खलु मासिक मासलघु " पलिच्छन्नाणं चेत्यादि "एतद्बहुसंख्याविशिष्टस्य भिक्षुसूत्रस्य व्याख्यानम् । परिच्छन्नानां अभ्यन्ततोऽप्यात्मतृतीयानां शेषकाणां चात्मद्वितीयानां यथोक्तविध्यकरणे प्रायश्चित्तं मासलघु । तत्र यद्येकोऽपरिच्छन्नस्तर्हि तेनान्य आत्मद्वितीय आत्मतृतीयो वा उपसपत्तव्यो नो चेदुपसंपद्यते तर्हि तस्मिन्नपरिच्छन्नेऽनुपसंपद्यमाने प्रायश्चित्त चत्वारो लघुकास्त चोपसपद्यमान यो नोपसंपदा प्रतीच्छति तस्य मासलघु यत एव तस्मात्परस्परमुपसपत्तेषां भवति कर्त्तव्या । एनामेव निर्युक्तिगाथां भाष्यकृत् व्याचिख्यासुः प्रथमतो भिक्खुस्स मासियं खल्वित्येतद्व्याख्यानयति ।

दो भिक्खु अगीयत्था, गीया एको व होज्ज उ अगीतो ।
राइणियपलिच्छन्ने, पुव्वं इयरेसु लहु लहुगा ॥

द्वौ भिक्षू अगीतार्थौ यदि वा द्वावपि गीतार्थौ यदि वा द्वावपि गीतागीतार्थौ तयोः परस्परस्यालोचनमन्यथा प्रायश्चित्त मासलघु । अथवा एको गीतार्थः तत्र रत्नाधिके परिच्छन्ने भावपरिच्छेदोपेते गीतार्थे इत्यर्थ. पूर्वमालोचयितव्यं पश्चादितरेष्वगीतार्थेषु रत्नाधिकेन एव चेत्ते न कुर्वते तर्हि रत्नाधिकं प्रायश्चित्त मासलघु । इतरेषां चत्वारो लघुका. । एनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो " दो भिक्खू अगीयत्था गीया " इत्येतद्विवृणोति ।

दोसु अगीयत्थेसुं, अहवा गीतेसु सेहतरो पुव्विं ।
जइ मा लोयइ लहुओ, न विगडेइ परो वि जइ पच्छा ॥

द्वयोर्भिक्ष्वोरगीतार्थयोरथवा गीतार्थयोर्मध्ये यदि शैक्षतरः पूर्वं रत्नाधिकस्य पुरतो नालोचयति तदा तस्य प्रायश्चित्त लघुको मास' । इतरोऽपि रत्नाधिकोऽपि यदि पश्चात्तस्य शैक्षतरस्य पुरतो न विकटयति तदा तस्यापि प्रायश्चित्त मासलघु । तत्र यदि द्वावप्यगीतार्थौ तदा परस्परस्य विहारालोचनैव केवला नापराधालोचनापि । अथ द्वावपि गीतार्थौ तदा परस्परविहारालोचना अपराधालोचना च । अथैको गीतार्थोऽपरश्चागीतार्थस्तत्रालोचनाविधिमाह ।

राइणिए गीयत्थे, राइणिए चेव वियडणा पुव्विं ।
देइ विहारवियडणं, पच्छा रा णितो सेहे ॥

यदि रत्नाधिको गीतार्थ इतरो ऽगीतार्थस्तर्हि गीतार्थे रत्ना-

धिके सति रत्नाधिके एव पूर्वं शैक्षतरेण विहारविकटना अपराधविकटना च दातव्या तत्पश्चात् रत्नाधिकः शैक्षे शैक्षतरकस्य विहारविकटनां ददाति । अथ शैक्षतरको गीतार्थो रत्नाधिकस्त्वगीतार्थस्तत्राह ।

सेहतरगे वि पुव्वं, गीयत्थे दिज्जए पगासणया ।
पच्छा गीयत्थो वि हु, ददाति आलोयणमगीते ॥

यदि गीतार्थः शैक्षतरकस्तर्हि तस्मिन् गीतार्थे शैक्षतरकेऽपि पूर्वं रत्नाधिकेन प्रकाशना विहारविकटना अपराधविकटना चेत्यर्थः दीयते । पश्चात् गीतार्थोऽपि सन् स शैक्षतरको हु निश्चितमगीते रत्नाधिके आलोचनां विहारालोचनां ददाति न त्वपराधालोचनां कस्मादित्याह ।

अवराहविहारप्पगासणाउ, दोन्नि वि भवंति गीयत्थे ।
अवराहपये मुत्तुं, पगासणं होतु अगीयत्थे ॥

अपराधप्रकाशना विहारप्रकाशना च एते द्वे अपि प्रकाशने भवतो गीतार्थे । अगीतार्थे पुनरपराधपद मुक्त्वा शेषस्य विहारस्य प्रकाशनं भवति विहारालोचना भवति नापराधालोचनेति भावः । अगीतार्थतया तस्यापराधालोचनानर्हत्वात् ।

संप्रत्युपसंहारमाह ।

भिक्खुस्सेगस्स गयं, पलिच्छणाणं इयाणि वोच्छामि ।
दव्वपलिच्छाएणं, जहन्नेणं अप्पतइयाणं ॥

"भिक्खुस्स मासिय खल्वि" त्यनेन पदेन यदेकस्य भिक्षोर्वक्तुमुपक्रान्त तद्गत परिसमाप्तमिदानीं द्रव्यपरिच्छेदेन परिच्छन्नानां जघन्येनात्मतृतीयानां यद्वक्तव्यं तद्वक्ष्यामि । तदेवाह ।

तेसिं गीयत्थाणं, अगीतमिस्साण एस चेव विही ।
एत्तो सेसाणं पि य, वोच्छामि विहिं जहाकमसो ॥

तेषां परिच्छेदेन परिच्छन्नानां जघन्यत आत्मतृतीयानां बहूनां सर्वेषां गीतार्थानामथवा अगीतार्थानां यदिवा मिश्राणां केषांचिद्गीतार्थानां केषांचिदगीतार्थानामित्यर्थः । एष एवानन्तरो दिशुगत आचार्याणामालोचनाविषयो विधिरवसातव्यो व्यतिरेके च प्रायश्चित्तमपि तथैव । अत ऊर्ध्वं शेषाणामपि विधिं यथाक्रमशो यथाक्रमेण वक्ष्यामि । तत्र शेषशब्दवाच्यानुपदर्शयति ।

सेसा ते नासं ती, अप्पवितिया उ जे तहिं केई ।
गीयत्थमगीमत्थे, मासे य विही उ सो चेव ॥

शेषा नाम ते भण्यन्ते यत्र तेषां बहूनां भिक्षूणां मध्ये केचिदात्मद्वितीयास्तस्मिन् शेषे गीतार्थे अगीतार्थे मिश्रे च स एव पूर्वोक्तो विधिरालोचनाविषयस्तद्व्यतिरेके प्रायश्चित्तविधिश्चावसातव्यः ॥

सम्प्रति चशब्दव्याख्यानमाह ।

संजोगा उ चसद्देण, अहिगया जह एगो दो चेव ।
एगो जइ न वि दोहिं, उवगच्छे चउलहु तो से ॥

परिच्छन्नानां चेत्यत्र चशब्देन संयोगा अधिकृताः सूचिता इत्यर्थस्तानेवोपदर्शयति । तथा चेति भङ्गोपदर्शने एकत एको भिक्षुरपरतो द्वौ भिक्षू तत्रैकेनात्मद्वितीय उपसंपत्तव्यो यदि पुनरेको न द्वावुपगच्छति उपसंपद्यते तदा (से) तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः ।

पच्छा इतरे एगं, जइ न उवगच्छे मासियं लहुयं ।
जत्थ वि-एगो तिन्नि, न उवगमे तत्थ वी लहुगा ॥

एकस्मिन्नुपसंपन्ने पश्चादितरावप्युपसंपद्येते यदि पुनरेकं तावितरौ पश्चान्नोपगच्छेतां तदा तयोर्मासिकं प्रायश्चित्तं लघुकं । यत्रापि भङ्गे एकत एको अपरत्र त्रयस्तत्र यदि परस्परमुक्तप्रकारेण नोपगमस्तदा प्रायश्चित्तं लघुकाः । किमुक्तं भवति । यदे कस्त्रीन्नोपगच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकास्तेषूपगच्छत्सु पश्चादितरे त्रयो नोपगच्छन्ति तर्हि तेषां प्रायश्चित्तं लघुको मासः ॥

एमेव अप्पवीतो, अप्पतइयं तु जइ न उवगच्छे ।
इयरेसिं मासलहुयं, एवमगीए य गीए य ॥

एवमेव अनेनैवानन्तरोदितेन प्रकारेणात्मद्वितीय आत्मतृतीयं यदि नोपगच्छति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु । इतरेष्वप्युपगच्छत्सु तं नोपगच्छेत्तदा तस्य मासिकं लघु इतरेषामेक आत्मतृतीयोऽपर आत्मचतुर्थ इत्येवमादीनां परस्परमनुपगमे प्रायश्चित्त मासलघु । एवमुक्तप्रकारेणागीते अगीतार्थानां गीते गीतार्थानां च द्रष्टव्यम् ।

मिश्रानधिकृत्याह ।

मीसाण एगो गीतो, होंति अगीया उ दोन्नि तिन्नि वि वा ।
एवं उवसंपज्जे, ते उ अगीया इहरमासे ॥

मिश्राणां मध्ये एक एकाकी गीतो गीतार्थोऽपरे तु द्वौ त्रयो वा भवन्त्यगीता अगीतार्थाः तत्र तेऽगीता एकमुपसंपद्येरन् । इतरथा चेन्नोपसंपद्यन्ते तर्हि तेषां प्रायश्चित्तं लघुको मासः ।

सो वि य जइ न वि इयरे, तस्स वि मासो उ एव सव्वत्थ ।
उवसंपया उ तेसिं, भणिया अन्नोन्ननिस्साए ॥

सोऽपि चैको यदि तान् इतरानुपसंपद्यमानान् नोपसंपद्यते तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं मासो लघु । एवमेक आत्मद्वितीयो गीतार्थोऽपर आत्मतृतीय आत्मचतुर्थ इत्यादौ सर्वत्र भावनीयमेवमन्योन्यनिश्रयाप्राक् गाथायां तेषामुपसंपत्प्रणिता उपदिष्टा

अण्णोण्णनिस्सियाणं, अगीयाणं पि उग्गहो तेसिं ।
गीयपरिग्गहियाणं, इच्छाए तेसिमो होइ ॥

अन्योन्यनिश्रितानां तेषामगीतानामपि गीतपरिगृहीतानामवग्रहो भवति । अवग्रहो नाम आभवनव्यवहारः स च द्विधा इच्छया सूत्रोक्तश्च । तत्रेच्छया तेषामयं वक्ष्यमाणो भवति तमेवाह ॥

इच्छियपडिच्छियाए, ण खेत्त वसही य दोण्ह वी लाभो ।
इच्छंतो न होइ उग्गहो, निक्कारणकारणे दोण्हं ॥

इच्छाया अवग्रहो नाम इच्छितप्रतीच्छितेन इच्छा सजाताऽस्येति इच्छितं प्रतीच्छा सजाता अस्येति प्रतीच्छितम् इच्छितं च तत् प्रतीच्छितं च इच्छितप्रतीच्छितम् । वाचा आभवनव्यवहारस्थापना । यथा यत्पथि लभ्यते तदस्माक यद्ग्रामे तत् युष्माक यदि वा यत्सचित्तं तदस्माक यदचित्तं तत् युष्माकम् । अथवा या स्त्री व्रतग्रहणार्थमुपतिष्ठति सा अस्माक पुरुषो युष्माकम् यद्वा बालो युष्माक वृद्धोऽस्माकम् अथवा य. सार्थेन सह व्रजता लाभः सोऽस्माकमसार्थे युष्माकम् । यदि वा यो बहुतं तत्तस्यैव एवं सूत्रेन इच्छितप्रतीच्छितेन य आभवनव्यवहारः स इच्छाया अवग्रहः । एष च प्रायः पथि गच्छतां भवति इदानीं सूत्रोक्त आभवनव्यवहारस्तत्तमुपदर्शयति । समकाल क्षेत्रे प्राप्तानामक्षेत्रे वा वसतिं प्राप्तानां द्वयानामपि आभाव्यं रणः । अथ न क्षेत्रमक्षेत्र वा वसतिं समकालं प्राप्ता किं पुनः (इच्छंतो न होति इत्यादि) यदि मिश्राधिपमकार्य मत आह ।

पणं स्थिता इति पश्चात्प्राप्तास्तदा नास्ति तेषामवग्रहः किं तु पूर्वप्राप्तानामेव । अथ कारणेन केनापि ग्लानप्रतिजागरणादिना स्थितास्तत पश्चात् प्राप्तास्तर्हि भवति द्वयानामपि साधारणोऽवग्रहः । एतदेव स्पष्टतरमुपदर्शयति ।

समगं पत्ताणं सा-हारणं तु दोएहं पि होति तं खेत्तं ।
विसमं पत्ताणं पुण, इमा उ तहिं मग्गणा होइ ॥

समकमेककालं प्राप्तानां द्वयानामपि तत् क्षेत्रं भवति साधारणं विषमं विषमकाल प्राप्तानां पुनरियं तत्र क्षेत्रे मार्गणा भवति। तामेव कुर्वन्नाह ।

पडियरए व गिलाणं, सयं गिलाणो उरे व मंदगती ।
अप्पत्तस्स वि एएहिं, उग्गहो दप्पतो नत्थि ॥

प्रतिचरति वा प्रतिजागर्त्ति ग्लानं यदि वा स्वय ग्लान आतुरो वा यदि वा स्वजत्रावान्मन्दगतिरेतैः कारणैरप्राप्तस्यापि समकाल पश्चात्प्राप्तस्यावग्रहो भवति दर्पतो निष्कारण स्थितानां पुनरवग्रहो नास्ति ।

एमेव गणावच्छेए, पलिच्छएणाणं च सेसगाणं तु ।
पलिच्छन्ने ववहारो, दुविहो वायंतिओ नाम ॥

यथा भिक्षोरेकस्य बहूनां परिच्छन्नानां शेषकाणां चोक्तमेवमेव अनेनैव प्रकारेण एकस्मिन् गणावच्छेदे बहूनां परिच्छन्नानां जघन्यतोऽप्यात्मतृतीयानां शेषकाणां वशत आत्मद्वितीयानां तुशब्दादेकत एकोऽपरत आत्मद्वितीय इत्यादि संयोगगतानां च निरवशेष वक्तव्यम् । तत्र परिच्छन्ने जातावेकवचन परिच्छन्नानामुपलक्षणमेतत् परमुपसपन्नानां चाभवनव्यवहारो द्विधा भवति। सूत्रोक्तो वागन्तिकश्च। वाचा अन्तः परिच्छेदो वागन्तस्तेन निर्वृत्तो वागन्तिकस्तत्र वागन्तिको नाम वक्ष्यमाणस्तमेवाह ।

पहि गामे चित्तमचित्तं, पुरिसं वा बालवुड्ढसत्थादी ।
इच्छाए वा देती, जो जं लाभे भवे वितितो ॥

यत् पथि मार्गे लभ्य तदस्माकं यत् ग्रामे तत् युष्माकम् । यदि वा यत्सचित्तं तत् युष्माकमचित्तमस्माकम् । अथवा स्त्री युष्माक पुरुषोऽस्माकम् । अथवा वृद्धो युष्माकं बालोऽस्माकम् । यदि वा (सत्थादी इति) सार्थे लभ्य तत् युष्माकमसार्थेऽस्माकम् । अथवा इच्छया ददाति कथमित्याह-यो यल्लभते तत्तस्य भवति एष सूत्रोक्त आभवनव्यवहारः । द्वितीयो वागन्तिक आभवनव्यवहारः । क्षेत्रप्राप्तानामक्षेत्रे वा वसतिं प्राप्तानां यः सूत्रोक्त आभवनव्यवहारः स भिक्षूणामिव प्रतिपत्तव्यः स चाविशेषणार्थो यदि वा द्वावप्यगीतार्थपरिगृहीतौ गीतार्थनिश्रां प्रतिपन्नौ समकमेककालं प्राप्तौ ततस्तयोः साधारण क्षेत्रमाभवति । सति विद्यमाने कार्ये ग्लाने प्रतिजागरणादिलक्षणे ये स्थिता अगीतार्था असमाप्ताश्च ततः समाप्तानां साधारण क्षेत्रम् । ये पुनरगीतार्था अपि च पूर्वं प्राप्ता गीतार्थाः समाप्ताश्च निष्कारणं प्राक् स्थित्वा प्राप्तास्तदा असमाप्तानामप्यगीतार्थानाम् । अपि च तत्क्षेत्र पूर्वं प्राप्तत्वात् गीतार्थः समाप्तावपि च तस्य क्षेत्रस्य प्रभुर्निष्कारणं स्थित्वा पश्चात्प्राप्तवान् ॥

समपच्छकारणेणं, खेत्ते वसहीए दोएह वी लाभो ।
एयणिए होति उग्गहो, गीयत्थसमम्मि दोएहं पि ॥

सम समकमेककालं कारणेन पश्चाद्वा क्षेत्रे अक्षेत्रे वा वसतौ प्राप्तयोर्द्वयोरपि लाभः साधारण । अत्र पुनर्यदि विशेषविवक्षा क्रियते तदा यो रत्नाधिकस्तस्मिन्नवग्रहो भवति । यद्यपि नाम द्वयोरपि साधारणो लाभस्तथापि यथा संघाटकेन भिक्षां हिण्डमानयो रत्नाधिकस्य लाभो भण्यते एवमिहापि रत्नाधिकस्यावग्रहः । अथैको गीतार्थः परोऽगीतार्थस्तत्र यदि रत्नाधिकोऽगीतार्थोऽवमरत्नाधिको गीतार्थस्ततोऽवमरत्नाधिकस्यावग्रहः । अथ द्वावपि समानार्थौ तत आह । समे गीतार्थे परस्मिन्समकं च प्राप्ते द्वयोरपि साधारणोऽवग्रहः । तदेवं द्विसंख्याकगणावच्छेदकसूत्रमिति भावितमेवं द्विसंख्याकाचार्योपाध्यायमपि भावनीयम् ॥

इदानीं बहुत्वसूत्राणि पिण्डसूत्रं चातिदेशत आह ।

एमेव बहूणं पि, पिंडे नवरोग्गहस्स उ विभागो ।
किं कतिविहो कस्स व कम्मि व, केवइयं वा भवे कालं ॥

एवमेव बहूनामपि भिक्षुप्रभृतीनां सूत्राणि भावनीयानि द्विकसूत्रापेक्षया बहुत्वसूत्राणामर्थतो नानात्वाभावात् पिण्डे पिण्डकसूत्रस्यापि स एवार्थो नवरमवग्रहस्य विभागो वक्तव्यस्तमेवाह किं कतिविध कस्य वा कस्मिन्वा कियन्तं काल भवत्यवग्रहः । तत्र किमित्याद्यद्वारव्याख्यानार्थमाह ॥

किं उग्गहोति भणिओ, उग्गहो तिविहो उ होति चित्तादी।
एकेको पंचविहो, देविंदादी मुणेयव्वो ॥

किमवग्रह इति भणिते पृष्टे सूरिराह । त्रिविधो भवत्यवग्रहश्चित्तादिः सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च । पुनरेकैक. कतिविध इति प्रश्नमुपजीव्याह स एकैकः पञ्चविध पञ्चप्रकारो ज्ञातव्य । कोऽसावित्याह देवेन्द्रादिः देवेन्द्रावग्रहो राजावग्रहो माण्डलिकावग्रहः शय्यातरावग्रह साधर्मिकावग्रहश्च । गतं कतिविधद्वारम् । इदानीं कस्य न भवतीति प्रतिपादयति ॥

कस्स पुण उग्गहोत्ति, परपासंडीण उग्गहो नत्थि ।
निएहे सत्ते संजति, अगीते गीत एके वा ॥

कस्य पुनरवग्रहो भवतीति शिष्यप्रश्नमाशङ्क्य प्रोच्यते परपाखण्डिनामवग्रहो नास्ति ये च निह्नवा ये च सक्ता याश्च संयत्यो गीतार्थैरपरिगृहीता ये चागीतार्था गीतार्थनिश्रामनुपपन्ना यश्च निष्कारणमेकाकी गीतार्थ एतेषां सर्वेषामप्यवग्रहो नास्ति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह ।

असमत्ताण वहूणं पि, गीतमगीताण उग्गहो नत्थि ।
सच्छंदियगीयाणं, असमत्त अगीत गीए वि ॥

अवसमाना बहूनामपि गीतार्थानामगीतार्थानां चावग्रहो नास्ति (सच्छदियगीयाणन्ति) ये गीतार्था अपि स्वच्छान्दिका स्वच्छन्दतयैव एकाकिनो विहरन्ति तेषामपि नास्त्यवग्रहः । तथा ये असमाप्ता असमाप्तकल्पा यस्य च समुदायस्य न विद्यते गीतोऽगीतार्थ ईशस्तेषामपि नास्त्यवग्रह ।

एवं ता सावेक्खे, निरवेक्खाणं पि उग्गहो नत्थि ।
मुत्तूण अहालंदे, तत्थ वि जे गच्छपडिबद्धा ॥

एवं तावत्सापेक्षे जातावेकवचनं सापेक्षाणामुक्तसापेक्षाणामस्थविरकल्पिका निरपेक्षा जिनकल्पिकादयस्तेषामप्यवग्रहो नास्ति। किमविशेषेण सर्वेषां नेत्याह। मुक्त्वा यथालन्दान् तथाअपि गच्छप्रतिबद्धान् तेषामवग्रहो भवति गच्छप्रतिबद्धत्वादन्येषां तु सर्वेषामपि नास्ति ॥

आसन्नतरा जाणंति, संजया सो व जत्थ नित्थग्गइ ।
तहियं देंतुवदेसं, आयपरं ते न इच्छंति ॥

तेषां गच्छनिर्गतानां जिनकल्पिकादीनां यो व्रतग्रहणार्थमुपतिष्ठति तं ते न प्रव्राजयन्ति तथाकल्पत्वात्किं तु ये तत्रासन्नतराः संयताः स्थितास्तत्रोपदेशं ददति यथा अमुकानां समीपे गत्वा प्रव्रजेति । अथवा जानन्ति श्रुतबलतो ये दूरे स्थितास्तत्र स एव निस्तरिष्यति । तदेतत् ज्ञात्वा यत्र स निस्तरति तत्रोपदेशं प्रयच्छन्ति । परमार्थतः पुनस्ते आत्मपरमात्मगच्छपरगच्छविभाग नेच्छन्ति स्थविरकल्पादुत्तीर्णत्वात् ।

अगीयसमणसंजइ–गीयत्थपरिग्गहाण खेत्तं तु ।
अपरिग्गहाण गुरुगा, न लभंति सीसे त्थ आयरिओ ॥

अगीतानामगीनार्थानां श्रमणानां संयतीनां च गीतार्थपरिग्रहाणां गीतार्थपरिगृहीतानां क्षेत्रमपग्रहो भवति । इयमत्र भावना । ये गीनार्था अपि साधवो गीतार्थपरिगृहीता विहरन्ति वा अपि संयत्यो गीतार्थपरिगृहीना वर्तन्ते तेषामवग्रहो भवति त च यदि साधवो यदि संयत्यो गीतार्थनिश्रामनुपपन्ना अगीतार्था विहरन्ति तदा तेषामपरिग्रहाणां गीतार्थपरिग्रहरहितानां विहरतां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका इत्येषां च संयतीनां च गीतार्थापरिगृहीतानां यः परिव्राजक आचार्यः सोऽत्र शिष्यान् स्वदीक्षितान् न लभते परिगृहीततयैव तेषां दीक्षणात् ।

गीयत्थगते गुरुगा, असती एगाणिए वि गीयत्थो ।
समोसरणे नत्थि उग्गहो, वसहीए उ मग्गए अखेत्ते ॥

ये ते स्वयं गीतार्थो गीतार्थपरिग्रहरहिता वर्तन्ते यद्यन्यस्मिन् गीनार्थे आगते तस्योपसंपदं न प्रतिपद्यन्ते तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । अथान्यो गीतार्थ उपसंपदनार्हो नायातः कारणवशतश्च कथमप्येकाकी जातस्तस्य गीतार्थस्याशठस्य परिवाररहितत्वेनैकाकिनोऽपि क्षेत्रमाभवति । गत कस्येति द्वारम् । इदानीं कस्मिन्वेति द्वारमधिकृत्याह । यत्र यावन्ति दिनानि संघस्य समवसरणं तत्र तावन्ति दिनान्यवग्रहो न भवति एव जिनस्नानादिषु मिलितानां यावन्महिमा तावदवग्रहाभावः । एतत्सर्वं समवसरणे नास्त्यवग्रहः इत्यनेन सूचितमेवमक्षेत्रेऽवग्रहाभावः । अक्षेत्रेऽपि वसतौ मार्गणाऽवग्रहस्य भवति सा चैवमक्षेत्रे वसतिषु समकं स्थितानां साधारणं क्षेत्रं पश्चादागतानां तु न भवति ।

सेसं सकोसजोयणं, पुव्वजहियं तु जेण तस्सेव ।
समगोग्गहसाहारं,पच्छा गतो होइ उ अखेत्ती ॥

शेषं क्षेत्रमवग्रहो भवति । तच्च प्रमाणतः सक्रोशयोजनं क्रोशसहितगव्यूतद्विकमित्यर्थ तत्रापि येन पूर्वमवगृहीतं तस्यैव तत्क्षेत्रमाभवति न शेषस्य । अथ समकमेव तस्यावग्रहः कृतस्तत आह साधारणं तदा तेषां क्षेत्रम् । यस्तु पश्चादागतः स भवत्यक्षेत्री न तस्याभवति क्षेत्रमिति भावः ।

अण्णो गतो कहंतो, उवसंपज्जे तहिं च ते सव्वे ।
संकंतो उ व कहेंते, साहारणे तस्स जो भागो ॥

अन्यः कोऽप्याचार्य कथयन् बहुश्रुतः पश्चादागतः ते च पूर्वस्थिताः सर्वेऽपि तस्मिन्नन्यागते कथयत्युपसंपन्नास्तदा तस्मिन् कथयति सोऽवग्रहः संक्रान्तस्तस्याभाव्य तत्क्षेत्र जातमिति भावः । अथ समकप्राप्ततया साधारणे क्षेत्रे स्थितानां मध्ये एक कश्चनापि त पश्चादागतमन्यमाचार्यं बहुश्रुतमुपसंपन्नस्तदा यस्तस्य भागस्तं तत्र कथयति संक्रान्तः ।

निक्खित्तगणाणं वा, नेमिं चि य होइ तं नु खेत्तं तु ।
खेत्तभया वा कोई, माइट्ठाणेण सुण एवं ॥

यदि क्षेत्रवतां शिष्य आगन्तुकमाचार्यमुपसंपन्नो यदिवाचार्या गणं शिष्ये गीतार्थे निक्षिप्य तमुपसंपन्नास्तदा तेषामेव निक्षिप्तगणानां वाशब्दादुपसंपन्नतदेकाशिष्याणां तत्क्षेत्रम् । किमुक्तं भवति यद्यस्तत्क्षेत्रात्सचित्तादिकमुत्पद्यते तत्तेषामेवाभवति य आगन्तुको न लभते कोऽपि पुनर्ममागन्तुकस्य पार्श्वे शृण्वतः क्षेत्रं यायादिति क्षेत्रभयादेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण मातृस्थानेन शृणोति । तमेव प्रकारमाह ।

कुड्डेण चिलिमिलीए व, अंतरितो सुणइ कोइ माणेण ।
अहवा चंकमणीयं, करेंतो पुच्छागमो तत्थ ॥

कुड्येन यदिवा चिलिमिलिन्या जवनिकान्तरितः सन् कोऽपि मानेन ममेदं क्षेत्रमाभवति तन्मा इह तावदुत्तरत्विति क्षेत्रगर्वेण शृणोति । अथवा मानेनैव यथोक्तरूपेण चंक्रमणिकां कुर्वन् कोऽपि शृणोति तत्र यद्यपि स शृणोति तथापि तत्र पृच्छागमो भवति पृच्छा कर्त्तव्या भवति ततः पृच्छातोऽपि तस्य भवति क्षेत्रम् । अथ कतिभिः पृच्छाभिः कियन्त कालं तस्याभवति क्षेत्रमित्याह ।

पुच्छाहिं तिहिं दिवसं, सत्तहिं पुच्छाहिं मासियं हरइ ।
अहवा दिवससमत्तो, इमो उ ते हिंमं आहिज्जंते ॥

तिसृभिः पृच्छाभिरेकं दिवसं यावत्तत्क्षेत्रं हरति पृच्छादिवसे यत्तस्मिन् क्षेत्रे सचित्तादिकमुत्पद्यते तत्कथयन्न लभते नेतरं इति भावः । सप्तभिः पृच्छाभिः पुनर्मासिक पृच्छादिवसादारभ्य मास यावत्सचित्तादिकमपहरतः तदेव 'खेत्तभया वा कोइ' इत्यादि गाथा पश्चार्द्धं व्याख्यातमिदानीं " निक्खित्तगणाण वेत्यादि" पूर्वार्द्धं व्याख्यानयति । अथवा यो वक्ष्यमाणोऽन्यविशेषस्तस्मिन्नधीयानेऽध्यापयितरि । तमेवाह ।

जति निक्खिऊण गणं, उवसंपाएह वा वि सीसं तु ।
ता तेसिं चिय खेत्तं, वाएंतो लाभ लेख बहिं ॥

यदि गीतार्थे गण निक्षिप्य तमागन्तुकमुपसंपद्यते अथवा शिष्यं प्रेषयति तदा तेषामेव पूर्वस्थितानां तत्क्षेत्रमाभवति न तु वाचयतां वाचयति लाभस्तस्मात् क्षेत्राद्बहिः ।

अह वेती वायंतो, लाभेण नात्थि हंति वच्चामो ।
इहरेहि य सो रुद्धो, मा वच्चसु अम्ह साहारं ।

अथ ब्रूते वाचयन यथा नोऽस्माकमिह नास्ति लाभ इति व्रजाम एवमुक्ते इतरैः पूर्वस्थितैः स रुद्धो यथा मा व्रजत यूयं युष्माकमस्माकं च साधारणं क्षेत्रमिति । अथ साधारणेऽपि क्षेत्रे स्थिता न संस्तरन्ति तत्र विधिमाह ।

निग्गमणे चउभंगो, निट्ठियसुहदुक्खयं जति करेंति ।
निट्ठियपट्ठावितो वा, रुद्धो पच्छा य वाघातो ॥

अथ साधारणक्षेत्रे स्थितास्ते न संस्तरन्ति तर्हि निर्गमस्य तत्र निर्गमने चतुर्भङ्गी वक्तव्या । गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् तथा यस्य श्रुतस्कन्धस्य निमित्तमुपसंपन्नास्तन्निष्ठित त स्मिन्निष्ठिते समाप्ते भूयः क्षेत्र साधारण जातं तत्र यदि भूयः सुखदुःखतां कुर्वन्ति सुखदुःखनिमित्तमुपसंपद प्रतिपद्यन्ते तथा निष्ठिते श्रुतस्कन्धे यः प्रस्थापित पुनरपि प्रतीच्छकैः पश्चात् रुद्धो व्याघातो वाऽशिवादिभिः कारणैरुपजातस्तत्र यथाभाव्य तद्वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः । सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो निर्गमनचतुर्भङ्गीमाह ।

वत्थव्व निंति न उ जे, पाहुणा ते न इयरे वा ।
उभयं व नोभयं वा, चउभयणा होति एवं तु ॥

यस्य ग्रामप्रधानस्य नगरप्रधानस्य वा नियोगेन तिष्ठन्ति साधवः स चतुर्द्धा। तद्यथा आगन्तुकभद्रको नामैको न वास्तव्यभद्रकः ।१। वास्तव्यभद्रको नामैको नागन्तुकभद्रकः । २ । आगन्तुकभद्रको वास्तव्यभद्रकश्च । ३ । नागन्तुकभद्रको नापि वास्तव्यभद्रकः ।४। एतच्चतुर्भङ्गीवशात्प्रधिकृताऽपि चतुर्भङ्गी जाता तद्यथा प्रथमभङ्गवशात् वास्तव्या निर्गच्छन्ति न प्राघूर्णिका नियोक्तुरागन्तुकभद्रकत्वात् । द्वितीयभङ्गवशात् प्राघूर्णिकाः निर्गच्छन्ति न इतरे द्वितीये भङ्गे नियोक्तुर्वास्तव्यभद्रकत्वाच्चतुर्थभङ्गवशात् उभय प्राघूर्णिका वास्तव्याश्च निर्गच्छन्ति उभयानपि प्रति नियोक्तुरभद्रकत्वात्तृतीयभङ्गवशान्नोभय वास्तव्या प्राघूर्णिकाश्च निर्गच्छन्ति उभयानपि प्रति तस्य भद्रकत्वात्।एवममुना प्रकारेण चतुर्भजना चतुर्भङ्गी भवति । तत्र प्रथमं भङ्गमधिकृत्य विशेषमाह ।

आगंतुयभद्दगम्मि, पुव्वट्ठिया गंतु जइ पुणो एज्जा ।
तम्मि अपुण्णे मासे, संकामति पुव्वसिं खेत्तं ॥

आगन्तुकभद्रके नियोक्तरि ये पूर्वस्थितास्ते वक्ष्यमाणचतुर्भागादिभागगमनया यतनया गच्छन्ति। तथाऽप्यसस्तरणे सर्वात्मना गच्छन्ति तेन गत्वा यद्यपूर्णे एव मासे तस्मिन् क्षेत्रे पुनरागच्छेयुस्तदानीं तेषां प्रत्यागतानां क्षेत्रं संक्रामति तेषां तदाभाव्य भवतीति भाव । कारणतो गत्वा पुनरपूर्णे एव मासे प्रत्यागमनात् । अथ साधारणमुभयेषां तत्क्षेत्रमासीत् " मा वच्चह साहारमिति " व्यवस्थाकरणात्तदा तेषां पुन. प्रत्यागतानां साधारण्येन क्षेत्रं संक्रामति ।

द्वितीयं भङ्गमधिकृत्याह ॥

वत्थव्वभद्दगम्मि, संघाडगजयण तहवि अो अलंभो ।
आगंतुं वेंति तओ, अत्थियतियो पवायगो नवरं ॥

वास्तव्यभद्रके नियोक्तरि तेषामागन्तुकानामसंस्तरतामियं यतना । वास्तव्या आगन्तुकैः सममेकैकेन संघाटेन भिक्षां हिण्डन्ते अथ तथाप्यलाभस्तर्हि निर्गच्छन्ति । तत्रैव भङ्गचतुष्टयेन यतना । आगन्तुकानां चतुर्भागो निर्गच्छति न वास्तव्यानाम् ।१। वास्तव्यानां चतुर्भागो निर्गच्छति नागन्तुकानाम् ।२। वास्तव्यानामपि चतुर्भागः आगन्तुकानां च चतुर्भागः ।३। उभयेषामपि न चतुर्भागो गमने चतुर्थः ।४। स चात्र शून्यो गमनमन्तरेण संस्तरणात् । एवमप्यसंस्तरणेऽर्द्धोऽर्द्धगमने यतना प्रथमभङ्गेऽपि द्रष्टव्या । स चात्रापि पूर्वप्रकारेण शून्यः । अथैवमपि न संस्तरन्ति ततः आगन्तुकाः सर्वे निर्गच्छन्ति नवरमेकः प्रवाचकस्तिष्ठति येन वास्तव्यान्प्रवाचयति । अथ सोऽप्यसंस्तरेण सशिष्यैः सह गतस्ते च वास्तव्यास्तमुपसंपन्ना यदि " मा वच्चह साहारमिति " व्यवस्थाकरणात उभयेषां साधारणं तत्क्षेत्रं ततो यदि गत्वा पुनरपूर्णे एव मासे तत्र क्षेत्रे प्रत्यागच्छन्ति तदा कृतायामुपसंपदि तेषामेव प्रत्यागतानां क्षेत्रमाभाव्यतया साधारणेन । सांप्रतमनयोरेव भङ्गयोराभवनव्यवहारशेष उच्यते । अत्र पतित " नियदिसुहदुक्खय अति करेंती " ति द्वारमस्य व्याख्यानार्थमाह ।

सुहदुक्खितो समत्तं, वाएंतो निग्गएसु सीसेसु ।
वाएजंतो विहता, निग्गयसीसो समत्तम्मि ॥

इदमुक्तमागन्तुकाः सर्वेऽपि निर्गच्छन्ति केवलमेव प्रवाचकोऽवतिष्ठते तत्र यदि निर्गतेषु शिष्येषु वाचयन् प्रवाचकः समाप्ते श्रुते सुखदुःखितः सुखदुःखनिमित्तमुपसंपदं ग्राहितस्तथा तस्य वान्यस्याभवति तत् क्षेत्रम् । इदं द्वितीयभङ्गमधिकृत्योक्तम् । प्रथमभङ्गमधिकृत्याह । तथा वाच्यमानो निर्गतशिष्यः समाप्ते श्रुते इदमुच्यः किमुक्तं भवति यदि वाच्यमानो निर्गतेषु शिष्येषु वाचनाग्रहणाय पश्चात् स्थितः समाप्ते श्रुतस्कन्धे वाचयता सुखदुःखनिमित्तमात्मोपसंपदं ग्राहितस्तदा वाचयत आभवति क्षेत्रम् ॥

दोण्ह वि विणिग्गएसुं, वाएंतो तत्थ खेत्तितो होइ ।
तम्मि पुण असमत्ते, समत्ते तस्सेव संकम्मति ॥

तत्र द्वयोरपि शिष्येषु विनिर्गतेषु तावेव द्वौ केवलौ तिष्ठतस्तत्र यावदद्यापि तत् श्रुतं न समाप्यते तावत्तस्मिन् श्रुते असमाप्ते तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये वाचयन् क्षेत्रिको भवति समाप्ते पुन श्रुते तस्यैव पूर्वस्थितस्य तत्क्षेत्रं संक्रामति । अथ द्वावपि परस्परं सुखदुःखोपसंपदं प्रतिपन्नौ तदा साधारणं क्षेत्रमिति यो यल्लभते तस्य तदाभवतीति ।

संथरे दो वि नर्निति, वहृने उववाइया उ जइ सीसा ।
लाभो नत्थि महत्थि य, अहव समत्ते पवाविज्जा ॥

संस्तरे संस्तरणाद्द्वयेऽपि पूर्वस्थिता आगन्तुकाश्च न निर्गच्छन्ति । तैश्च पूर्वस्थितैर्यदि बहवः शिष्या उपपादिता उत्पादितास्तदा स आगन्तुको नास्ति मम लाभ इति विचिन्त्य प्रधावेत् गच्छेत् अथ ते निक्षिप्तगणास्तस्य समीपे वाचयन्ति तेषां शिष्यो वा तत आह । अथवा समाप्ते श्रुते प्रधावेत् सम्प्रति "निद्दियपहाविओ वा रुद्धो पच्छा य वाघातो" इत्येतद् व्याख्यानयति ॥

जइ वायगो समत्तो, निंति उ पाडिच्छिएहिं रुंभेज्जा ।
असिवादिकारणे वा, तत्तो लाभो इमो होइ ॥

यदि समाप्ते श्रुते ततः क्षेत्रात् वाचको निर्गच्छन् प्रतीच्छिकैरुच्यते यथा मा निर्गच्छत यूयं वयमद्यापि वाचयिष्याम इति । यदि वा निर्गतो बहिरशिवादीनि कारणान्युपस्थितानि ततो व्याघात इति कृत्वा न निर्गच्छति तदा तस्मिन्प्रतीच्छिकैरवरोधनात् पश्चाद् व्याघाताद्वा अनिर्गच्छति तस्यायमायो लाभो भवति । तमेवाह ।

आयसमुत्थं लाभं, सीसपाडिच्छएहिं सो लहइ ।
एव च्छिणुववाए, अच्छिण्णे सीसगते दोण्ह ॥

स प्रातीच्छिकैर्गच्छन्नपरुद्धः सन् यच्च तस्य शिष्या यच्च तस्य प्रतीच्छिका वा लभन्ते तत्सर्वमात्मसमुत्थं शिष्यप्रातीच्छिकैर्वा समुत्पादितं लभते एवमालवने छिन्ने समाप्ते उपपाते हेतौ श्रुतस्कन्धादौ श्रुते द्रष्टव्यम् । अच्छिन्ने असमाप्ते श्रुतस्कन्धादौ यदि तस्य पठत आचार्यस्य शिष्या ग्रामान्तरगता प्रत्यागता. तस्य च शिष्यो नियमात् गीतार्थो यस्य गण आरोपितस्तदा द्वयोरपि लाभ साधारणो गीतार्थे शिष्ये निक्षिप्तगणतया पठतोऽप्याचार्यस्य पाठयिता गच्छन् तेन प्रतिरुद्ध इति पाठयितुरप्याभवनात् ॥

एवं ता उउवद्धे, वासासु इमो विही हवति तत्थ ।
खेत्तपडिलेहगा उ, पवट्ठिया तेण अन्नत्थ ॥

एव तावत् ऋतुबद्धे काले आभवनव्यवहारविधिरुक्तो वर्षासु वर्षाकाले पुनरयं वक्ष्यमाणो विधिर्भवति तमेवाह (तत्थेत्यादि)

द्वयोराचार्ययोः ऋतुबद्धे काले साधारणक्षेत्रस्थितयोरेकोऽपरस्यैकस्य पार्श्वे उपसंपदं गृहीतवान् वर्षारात्रश्च प्रत्यासन्नीभूतोऽन्यानि च क्षेत्राणि वर्षावासयोग्यानि तादृशानि प्रत्यासन्नानि न सन्ति ततः स उपसंपन्न आचार्यस्तत्रेति तस्मिन्नेव आषाढमासिके क्षेत्रे वर्षावासं स्थितस्तेन वाचनाचार्येणाऽन्यत्र वर्षावासयोग्यस्य क्षेत्रस्य प्रतिलेखकाः प्रवर्तन्ते तांश्च प्रवर्तयन्निदमवादीत् ।

जा तुब्भे पेहेहा, तावेतेसिं इमं तु सारेमि ।
तं च समं तेसिं वा, वासं च पवद्धमालग्गं ॥

यावत् यूयं क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य समागच्छथ तावदेतेषामाचार्याणामिदं श्रुतस्कन्धादिकं सारयामि सूत्रतोऽर्थतश्च गमयामि तच्च श्रुतस्कन्धादिकं तेषां तथा अधीयानानां समासमेतद्व्यवच्छिन्नमित्युच्यते । अत्रान्तरे च वर्षं प्रबन्धेन पतितुमारब्धं तेऽपि च क्षेत्रप्रत्युपेक्षकास्तत्रैव वर्षेण निरुद्धाः ।

निग्गंतूण न तीरइ, चउमासे तत्थ अत्तगस्से ।
लाभे वोच्छिन्नेवं, कुव्वति गिलाणगस्स वि य ॥

यतः प्रबन्धेन वर्षं पतितुमारब्धं न च क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः समागच्छन् ततः समासेऽपि श्रुते स वाचनाचार्यस्ततः क्षेत्रान्निर्गन्तुं न शक्नोति । अनिर्गतश्च तस्मिन् क्षेत्रे चतुरो वर्षारात्रमासान् यावत्तात्मगतमात्मसमुत्थं लाभं प्रवेत् द्वितीयोऽप्यात्मसमुत्थस्य लाभस्य स्वामी । एवं कुर्वतीति व्यवच्छिन्ने समासे श्रुते अथवा "गिलाणगस्स वि य इति" समाते श्रुते वाचनाचार्यो ग्लानोऽभवत् ततो गन्तुमशक्तस्यापि च ग्लानस्यैवाभवत्व्यवहारो द्रष्टव्यः । उभयोरपि चतुरो वर्षावासानात्मसमुत्थो लाभ इत्यर्थः ।

अह पुण अत्थिमे सुए, ते आया वेंति मा य तुब्भं तु ।
अहो खेत्तं दोमा, साहारणम्मि एसिं तु ॥

अथ तत् श्रुतस्कन्धादिकमद्यापि न समाप्तं ते च क्षेत्रप्रत्युपेक्षका आयातास्ततो वाचनाचार्यो आपृच्छन्ति वयं निर्गच्छामः । तत इमे प्रतीच्छका आचार्यं ब्रुवते मा यूयं निर्गच्छत समासेऽपि श्रुते युष्माकं वयं क्षेत्रं दास्यामः । एवमुक्ते तत् क्षेत्रमेतेषां द्वयानामपि साधारणं भवति । एष सस्तरणे विधिः । असंस्तरणमधिकृत्याह ।

असंथरण निंत अनिंते, चउभंगो होइ तत्थ वि तहेव ।
एवं तो खेत्तेसुं, इणमन्ना मग्गणविहादी ॥

असंस्तरणे साधुषु निर्गच्छत्सु अनिर्गच्छत्सु चतुर्भङ्गी भवति । सा चैवं वास्तव्यानां चतुर्भङ्गादिना प्रकारेण साधवो निर्गच्छन्ति न वाचनाचार्याणामिति प्रथमः । वाचनाचार्याणां नेतरेषामिति द्वितीयः । उभयेषामिति तृतीयः । नोभयेषामिति चतुर्थः । तत्रापि चतुर्भङ्ग्यामपि तथैवाभवत् व्यवहारः द्वयानामप्यात्मसमुत्थो लाभ इति भावस्तृतीयभङ्गे यद्येकतर एकतरस्य पार्श्वे साध्वाभावत उपसंपद्यते तत उपसंपद्यमानलाभ इतरस्मिन्संक्रामति । अनुपसपत्तौ च द्वयोरपि साधारणं क्षेत्रम् । एवं तावत् क्षेत्रे मार्गणा कृता । अथायमन्यो मार्गणविधिरादिशब्दात् दिग्वारणपरिग्रहः । गाथायां च स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात्तमेव मार्गणाविध्यादिकमाह ।

अद्धाणादिसु नट्ठा, अणुवट्ठिया तहा उवट्ठविया ।
अगविट्ठा य गविट्ठा, निप्पण्णा धारणं दिसासु ॥

अध्वा मार्गः आदिशब्दाद्दिवमौदर्यादिनिमित्तनिर्गमनपरिग्रहस्तेष्वध्वादिषु नष्टा साधवस्ते च द्विधा उपस्थापिता अनुपस्थापिताश्च एकैके द्विधा आचार्यस्य ते तेन गवेषिता अगवेषिता अथ तत्र ये निष्पन्ना उपस्थापितास्ते निष्पन्ना एव न तेषां दिग्वारणं कर्त्तव्यमितरेषां यथा प्रथमं धारणं दिक्षु अध्वादिषु नष्टा इत्युक्तम् । तत्र यैः कारणैस्ते नष्टाः साधवस्तान्यभिधित्सुराह ।

संजम महंत सत्थे, भिक्खायरिया गया व ते नट्ठा ।
मिग्घगती परिरएण व, आउरतेणादिये मुंच ॥

सम्भ्रमो यत्रश्वाग्निसंभ्रमादिकस्तद्वशात् गच्छात् स्फिटिता यदि वा महति सार्थे व्रजतो कोऽपि कुत्रापीति गच्छादपगतो यदि वा भिक्षाचर्यानिमित्तं सार्थादपसृत्य ग्रामिकापल्ल्यादिषु गतास्ततो नष्टाः अथवा सार्थः शीघ्रगतिस्ते च मन्दगतयस्ततः सार्थात् गच्छात् परिभ्रष्टा (परिरएणवत्ति) यदि वा नद्यादिषु तरितव्यासु सार्थं ऋजुमार्गेणोत्तीर्ण इतरे साधवः परिरयेण गत्वा स्तोकपानीये समुत्तरन्ति चिन्तयन्ति च वयं सार्थे अग्रिमेव मिलिष्यामस्ते च तथा परिरयेण गच्छतः सार्थात् स्फिटिता अथवा आतुराः प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यां जितास्ते तथा आतुराः सन्तोऽशक्नुवन्तः सार्थात्परिभ्रष्टा स्तेनाश्चौरा आदिशब्दात् एचकादिपरिग्रहस्तेषु स्तेनादिषु समापतत्सु भयेन पलायमाना गच्छादपस्फिटिता एवमध्वादिषु साधवो नष्टा भवन्ति ।

अत्र मार्गणाविधिं दिग्धारणविधिं चाह ।

गवेसमाणा व कयव्वया जे, सव्वे व तेसिं तु दिसा पुरिल्ला ।
गेवेसमाणो लजतेऽणुवट्ठे, अणादिया संगहिया व जेणं ।

ये कृतव्रता उपस्थापिता इत्यर्थस्तान्प्रव्राजनाचार्यो गवेषयतु वा मा वा तथापि तेषां सैव दिक् पुरातनी यो प्रव्राजनाचार्योऽभवेन गवेषयति न च लभते तथापि तान् सुचिरेणापि कालेन लब्धान् स एव प्रव्राजनाचार्यो लभते (अणादिया संगहिया व जेणामिति) ये पुनरनादृता अनादरपरेण गवेषितास्ते येन संगृहीतास्तस्यैव ते शिष्या इति स तेषामात्मीयां दिशं धारयति । अयमेव वृद्धोऽर्थोऽन्येनाचार्येण श्लोकेन बद्धस्तमेव श्लोकमाह ।

गवेसिए पुव्वदिसा, अगविट्ठए उ पच्छिमा ।
अणुवट्ठविए एवं, अभिधारंते उ इणमन्ना ॥

अनुपस्थापिते नष्टशिष्ये शिष्यवर्गे वा प्रव्राजनाचार्येण गवेषिते पूर्वदिक् प्रव्राजना दिग्भवति । अगवेषिते पश्चिमा दिक् येन संगृहीतास्तस्य दिग्भवतीत्यर्थः । एवमनुपस्थापिते मार्गणा भवति । यः पुनरन्यक्षेत्रगतानाचार्यानभिधारयन्व्रजति तत्रेयमन्या मार्गणा । तामेवाह ।

अभिधारेंतो वच्चति, वत्त अवत्तो व वत्त एगागी ।
जं लभति खेत्तवज्जं, अभिधारिज्जंति तं सव्वे ॥

यस्य क्षेत्रगतानाचार्यान् अभिधारयन् व्रजति व्यक्तोऽव्यक्तो वा गीतार्थोऽगीतार्थो वा इत्यर्थः । तत्र व्यक्त एकाकी व्रजन् यल्लभते तत्सर्वं क्षेत्रवर्जं क्षेत्रमेकाकिनो न भवतीति तत्प्रतिषेधकृतः । अभिधार्यमाणे यस्य समीपे गन्तव्यं तस्मिन् भवति तदभिधारणाश्रितेन तस्य लाभात् ॥

अव्वत्ते ससहाए, परखेत्त वज्जो लाभो दोण्हं पि ।
सव्वो सोमग्गिल्ले, जाव न निक्खिप्पए तत्थ ॥

अथाव्यक्तः ससहायस्तमभिधारयन् व्रजति तर्हि तस्मिन् अव्यक्ते ससहाये व्रजति य. परक्षेत्रवर्जो यस्मिन् क्षेत्रे ते अभिसन्धार्यमाणा आचार्या वर्तन्ते तत्क्षेत्रवर्जस्तत्किल क्षेत्रं तेषामभिधार्यमाणाना माभाव्यमिति तत्प्रतिषेधः । यो द्वयोरपि लाभो

व्यक्तस्य सहायानां च लाभ इत्यर्थः। स सर्वः पूर्वस्याचार्यस्याभवति स च तावद्यावत्तत्र न निक्षिप्यते।

निक्खित्तनियत्ताणं, खेत्ते लाभो य होति वाएंतो।
तस्स वि य जा न नीतो, लाभो सेत्री पवाएंतो॥

तमव्यक्त तत्र निक्षिप्तं कृत्वा ये निवृत्ताः सहायास्तेषां क्षेत्रस्य पञ्चगव्यूतप्रमाणस्यान्तर्मध्ये यो लाभो भवति स वाचयत्याभवति तत्क्षेत्रे तस्य लाभस्य भावात् तस्यापि च निक्षिप्तस्य यावन्न निर्गच्छति तावद्यः कश्चनापि लाभः सोऽपि प्रवाचयति भवति। संप्रति यस्तत्र क्षेत्रस्थितः सन् गणं निक्षिप्योपसंपन्नस्तस्य यत्सर्वं न भणित तदिदानीं सिंहावलोकन्यायेनाह।

अहवा आयरिओ वि, निक्खेत्तगणागतो उ आउत्थे।
वाएंतो देइ लाभं, जं खेत्तातो न ईसो त्ति॥

अथवेति प्रकारान्तरे तच्च प्रकारान्तरमिदं पूर्वं शिष्यस्य व्यक्तस्याव्यक्तस्य चोक्तमिदानीमाचार्यस्य तत्क्षेत्रगतस्योच्यते आचार्योऽपि कश्चित् गीतार्थे शिष्ये निक्षिप्तगणो भूत्वा तत्रागतस्तत्रोपसंपन्नः सन् यत्स्वयं लभते तमात्मोत्थं लाभं वाचयति। तथा अथ तेन गणः स्वशिष्ये निक्षिप्तस्ततः स क्षेत्रस्याप्रभुरेवेति कुतस्तस्यात्मसमुत्थो लाभस्तत आह। यत् यस्मात्स क्षेत्रिकः क्षेत्रस्य प्रभुरासीत्तस्मान्न शक्यते वक्तुं तस्मिन् क्षेत्रे आत्मसमुत्थस्य लाभस्य न ईशः प्रभुरिति तदेवमुक्तो विधिः संयतानाम्।

अधुना संयतीनां विधिमतिदेशत आह॥

आरब्भ सुत्ता सरमाणगन्ते, जा पिंडसुत्तं इणमंतिमन्तं।
एमेव वच्चो खलु संजतीणं, वोच्छिन्नमीसेसु अयं विसेसो॥

सरमाणकान् "आयरियउवज्झाए सरमाणे" इत्येवंरूपान्सूत्रादारभ्य यावदिदमन्तिमं पिण्डसूत्रमेतेषु सूत्रेषु यथा संयतानां विधिरुक्त एवमेव खलु संयतीनामपि गीतार्थपरिगृहीतानां वाच्यः। केवलं व्यवच्छिन्ने मिश्रे वाऽयं वक्ष्यमाणो विशेषस्तमेवाह।

वोच्छिन्ने उ उवरए, गुरुम्मि गीयाए उग्गहो तासिं।
दोण्ह बहूणं च पिंडए, कुलिच्चमन्नं जयाभिधारे॥

व्यवच्छिन्नो नाम तासां गुरुरुपरतः कालं गत इत्यर्थः तस्मिन् गुरावुपरते यदि (कुलिच्चमन्नति) कुलसत्कमन्यमाचार्यमभिधारयन्ति ततस्तासां द्वयोर्बहूनां वा पिण्डकेन समुदायेन स्थितानां गीतार्थानां संयतीनां पिण्डकेन व्यवस्थितानामपि नावग्रहः।

मीसो उभयगणाव-च्छेओ तत्थ समणीण जो लाभो।
सो खलु गणिणो नियमा, पुव्वट्ठिया जाव तत्थ से॥

मिश्रो नाम उभयगणावच्छेदकस्तत्र उभयगणावच्छेदके सति यः श्रमणीनां संयतीनां लाभः स खलु नियमात् ये पूर्वस्थितास्तत्र गणिनो यावदन्ये न गच्छन्ति तावत्तस्य गणिनो वेदितव्यः सोऽन्येष्वाचार्येष्वागतेषु तेषामिति तदेवं कस्येति द्वारम्।

संप्रति कियन्तं कालमवग्रह इति द्वारव्याख्यानार्थमाह।

केयति काल उग्गहो, तिविहो उउवड्ढवासवुड्ढे य॥
मासचउमासवासे, गेलन्ने सोलसुक्कोसा॥

कियन्तं कालमवग्रह इति शिष्येण प्रश्ने कृते सूरिराह। त्रिविधो भवति अवग्रहस्तद्यथा ऋतुबद्धे वर्षाकाले वृद्धवासे च। तत्र ऋतुबद्धे काले उत्सर्गेण एकं मासमवग्रहो वर्षे वर्षाकाले चतुरो मासान् ग्लानत्वमधिकृत्योत्कर्षतः षोडश मासान् अन्ये तु षोडश वर्षाणीत्याहुः। व्य० ४ उ०। (अत्र वृद्धवासमधिकृत्य यद्वक्तव्यं तद् वुड्ढावासशब्दे वक्ष्यते) [पार्श्वस्थविहारप्रतिमां प्रतिपद्य पुनरुपसंपद्येतेति पासत्थशब्दे वक्ष्यामि) अथापि किञ्चिद् वक्ष्यामि तत्र।

(६) पार्श्वस्थादिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहारे विधिमाह॥

(सूत्रम्) भिक्खू अ गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरिज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए नत्थि णं तस्स तप्पइयं केइ छेदे वा परिहारे वा नन्नत्थ एगाए आलोयणाए। २१।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्यत आह।

दोसेण अवक्कंता, सव्वेणं चेव भावलिंगाओ।
इति समुदिया उ सुत्ता, इणमन्नं देवतोवि गतो॥

द्रव्यलिङ्गमधिकृत्य देशेनापक्रान्ता भावलिङ्गतो भावलिङ्गमधिकृत्य सर्वेण सर्वात्मनाऽपक्रान्ताः पार्श्वस्थादय इति। एवमर्थाभ्यन्तरसूत्राणि समुदितानि सम्यक्प्रतिपादितानि इदानीमधिकृतमन्यत्सूत्रं द्रव्यलिङ्गेन विगते वियुक्ते द्रव्यलिङ्गवियुक्तविषयमिति भावः। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या। भिक्षुः प्राग्वत् चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। स चैतत् समुच्चिनोति रागद्वेषादिना कारणेन गणादपक्रम्य निर्गत्य परपाखण्डप्रतिमां परपाखण्डलिङ्गमुपसंपद्य विहरेत् विहृत्य च कारणे समाप्ते द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपपद्य विहर्तुमिच्छेत् तस्य तथोपसंपद्यमानस्य नास्ति कश्चिच्छेदो वा परिहारो वा। उपलक्षणमेतत् अन्यदपि प्रायश्चित्तं न किमप्यस्ति। कारणतः परलिङ्गप्रतिपत्तेः प्रतिपत्तावपि सम्यग्यतनाकरणात्किं सर्वथा न किमपि नेत्याह नान्यत्र एकाया आलोचनिकायाः अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थो नीमार्जुनाभ्यामन्यत्र सर्वे योद्धार इत्यादिवत्ततोऽयमर्थ एकामालोचनां मुक्त्वा पुनर्भवत्येवेति भावः। एष सूत्रसंक्षेपार्थः।

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः।

कंदप्पे परलिंगे, मूलं गुरुगा य गरुलपक्खम्मि।
सुत्त तु निवगादी, कालक्खेवोवगमणं वा॥

यदि कन्दर्पे कन्दर्पभूतं आहारगृद्ध्यादिकरणलक्षणतः परलिङ्गं करोति ततस्तस्मिन्परलिङ्गे कृते तस्य प्रायश्चित्तं मूलम्। अथ गरुडपाक्षिकं गरुडादिरूपं परलिङ्गं करोति तदा चत्वारो गुरुकाः। इत्यादिसूत्रनार्थं। अत्र पर आह। ननु सूत्रनिर्युक्त्योरनुपपत्तिः। तथा हि सूत्रेण परलिङ्गकरणमनुज्ञातं प्रायश्चित्तादानात्। निर्युक्तिकृता तु वारितं प्रायश्चित्तप्रदानात्। नैष दोषोऽभिप्रायापरिज्ञानात्। निर्युक्तिकृता हि कन्दर्पतः करणे प्रायश्चित्तमुक्तं सूत्रं पुनः कथमपि राज्ञि प्रद्विष्टे च यावत्सार्थो न लभ्यते तावत्कालक्षेपः क्रियतामिति। वा इति वाशब्दो न केवलं विकल्पार्थोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च स चैतत्समुच्चिनोति न शक्यते सहसा विषयपरित्यागं कर्तुमिति यावत्प्रज्ञापना क्रियते (गमनं वेति) गमनं वा अशिवादिकारणतोऽनार्यदेशमध्येन समुपस्थितं ततः एतैः कारणैर्यस्य राज्ञो ये पूज्या भिक्षुकादयः भिक्षुकाः शौद्धोदनीया आदिशब्दात्परिव्राजकपण्डरागादिपरिग्रहः। तल्लिङ्गं गृह्णीयादित्येतद्विषयमतो न कश्चिद्दोषः। एनामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति॥

खंधे दुवार संजइ, गरुडच्छंसे य पट्टलिंगदुवे।
लहुओ अलहुओ लहुया, निसु चउगुरुदोसु मूलं तु॥

इह पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धपादानां यथासंख्येन योजना चैवं यदि कन्दर्पतो वस्त्रं गृहस्थ इव स्कन्धे करोति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासो (कुचारोसि) गोपुच्छिकं करोति तदाऽपि लघुको मासः । संयतीप्रावरणकरणे चत्वारो लघुमासाः । गरुडादिपक्षिकरणे चत्वारो गुरुका (अद्धं सोसि) स्कन्धे दिगम्बरवद्यदि वस्त्रस्य करोति तदापि चत्वारो गुरुकाः (पट्टंसि) यदि गृहस्थ इव कटिपट्टकं बध्नाति तदापि चत्वारो गुरुकाः (लिंगदुवे इति) लिङ्गद्विकं गृहिलिङ्गं परपाखण्डिलिङ्गं च तस्मिन् गृहिलिङ्गे परपाखण्डिलिङ्गे च कन्दर्पतः परिगृह्यमाणे प्रत्येक प्रायश्चित्तं मूलम् । सम्प्रति " कालक्खेवो य गमण वा " इत्येतद्व्याख्यानार्थमाह ।

असिवादिकरणेहिं, रायदुट्ठे व होज्ज परलिंगं ।
कालक्खेवनिमित्तं, पच्छन्नट्ठा य गमणट्ठा ॥

अशिवं देवताकृत उपद्रवः आदिशब्दादवमौदर्यादिपरिग्रहः तेषु अशिवादिकारणेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात्तथा द्वेषेण द्विष्टे राज्ञो द्विष्टे राजद्विष्टे राजद्वेष इत्यर्थः । तस्मिन्वा सति परलिङ्गं ग्राह्यं भवति । किमर्थमिति चेदत आह । कालेत्यादि । यावत्सार्थो न लभ्यते तावत्स खलु परलिङ्गग्रहणेन कालक्षेपं क्रियतामित्येव कालक्षेपनिमित्तमथवा न शक्यः खलु सहसा विषयः परित्यक्तुमिति यावद्राज्ञः प्रज्ञापना क्रियते तावद् गृह्यतां परलिङ्गमिति प्रज्ञापनार्थं यदि अशिवादिकारणेषु समुपस्थितेष्वनार्यदेशमध्ये गमनमुपजातं तत्रानार्यदेशमध्ये गमनं न परलिङ्गग्रहणमन्तरेण शक्यते कर्तुमिति गमनार्थं वा परलिङ्गग्रहणम् । अथ कस्य परलिङ्गं ग्राह्यमित्याशङ्क्य भिक्षुकादि इत्येतद्व्याख्यानयति ।

जं जस्स अच्चियं तस्स, पूयणिज्जं तमस्सिया लिंगं ।
खीरादिलद्धिजुत्ता, गमति तं उवसामत्था ॥

यत् भिक्षुकादिगतं लिङ्गं यस्य राज्ञोऽर्चितं भावे क्तप्रत्ययो मान्य इत्यर्थः । तत्रार्चितमपि नावश्यं कस्याप्यनतिक्रमणीयं भवति । ततोऽनतिक्रमणीयताप्रतिपादनार्थमाह तस्य राज्ञो यत्पूजनीयमनतिक्रमणीयं तल्लिङ्गमाश्रितास्तल्लिङ्गं प्रतिपन्ना उपशमसामर्थ्याः परलिङ्गग्रहणेनाच्छादितस्वस्वरूपास्तं राजानं गमयन्ति । कीदृशाः उपशमयन्तीत्यत आह । क्षीरादिलब्धियुक्ताः क्षीराश्रवलब्धिसंपन्नाः आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रयोगादिवशीकरणकुशलतायाः परिग्रहः ॥

कज्जासु सव्वासु सवित्थरासु, आगाढपञ्हेसु य संथवेसु ।
जो जत्थ सत्तो तयणुं पविस्से, अव्वाहओ तस्स स एव पंथो ॥

कला द्वासप्ततिसंख्या लोकप्रसिद्धास्तासु कलासु सर्वास्वपि सविस्तरासु आगाढप्रश्नेषु वाऽत्यन्तदुर्भेदप्रश्नेषु परिचयेषु सत्सु यो राजा यत्र कलादिविशेषे सक्त आसक्तो भवति । किमुक्तं भवति तस्य राज्ञो यस्मिन् कलादिविशेषे अत्यन्तमभिष्वङ्गो भवति तमनुप्रवेशयेयुस्तं सम्यग् ज्ञात्वा राज्ञः पुरतः प्रवेदयेयुः प्रवेदयन्तश्च राजानमुपशमयन्ति । यत एष तस्य राज्ञ उपशमने अव्याहतः स्वपराविरोधी पन्था मार्ग उपाय इत्यर्थः । तत्र यदीत्थमुपशान्तो भवति तदा समीचीनमथ नोपशान्तस्ततः पुनः कलादिविशेषं तावत्प्ररूपयन्ति यावत्सार्थो लभ्यते । सार्थे च लब्धे निर्गच्छन्ति । तथा चाह ।

अणुवसमंते निग्गमो, लिंगविवेगेण होइ आगाढे ।
देसंतरसंकमणं, भिक्खुगमादी कुलिंगेण ॥

अनुपशमयति यदि उपशमं कुर्वीत निवेद्य निर्गमो भवति । कथमित्याह । लिङ्गविवेकेन लिङ्गपरित्यागेन गृहस्थलिङ्गेनेत्यर्थः । अथ तथापि न मुञ्चति गाढकोपावेशात् (आगाढेत्ति) अत्यन्तप्रकोपनो गाढममोक्षणे भिक्षुकादिलिङ्गेन देशान्तरसंक्रमणं कर्तव्यम् । अशिवादौ वा कारणे समुपस्थिते देशान्तरगमनं कियत्कर्तव्यम् ।

तत्र येन यथा गन्तव्यं स कीदृश इत्याह ।

आयरिया संकमणे, परिहरंति दिट्ठम्मि जा य पडिवत्ती ।
अमतीए पविसणं, खुभियम्मि गिहयम्मि जा जयणा ॥

आर्येण देशेन संक्रमणं तस्मिन्स्वलिङ्गेन गन्तव्यमिति वाक्यशेषः आर्यसंक्रमग्रहणतो भङ्गचतुष्टयं सूचितं तद्यथा आर्यदेशे आर्यदेशमध्येन गमनमित्येको भङ्गः । आर्यदेशे अनार्यदेशमध्येनेति द्वितीयः । अनार्यदेशे आर्यदेशमध्येनेति तृतीयः । अनार्यदेशे अनार्यदेशमध्येनेति चतुर्थः । तत्र प्रथमभङ्गे अर्द्धषड्विंशतिजनपदमध्ये, द्वितीयभङ्गे देशे मालवनामकम्लेच्छदेशमध्येन, तृतीयभङ्गे यथा कुरुक्षविषये अनार्यविषये आर्यविषयमध्येन, चतुर्थभङ्गे पारसीकदेशे अनार्यदेशमध्येन । इह प्रथमभङ्गे ऽशिवादिकारणोपस्थितौ स्वलिङ्गेन गन्तव्यम् । द्वितीयतृतीयचतुर्थभङ्गे तु परलिङ्गेन । तत्र राज्ञि प्रद्विष्टे अशिवादिकारणे वा भिक्षुकादिलिङ्गेन गच्छन् उद्गमादीन् दोषान् तेषां च लिङ्गानामाश्रयस्थानानि परिहरति । तथा गच्छन् यदि केनापि क्वापि ग्रामनगरादौ प्रवेशादि दृष्टे सति तेन या काचनाधिकृतलिङ्गानुशासनप्रतिपत्तिसामाचारी सा कर्तव्या । किमुक्तं भवति । तत्सामाचार्या वर्तितव्यमिति । अथ तदाश्रयस्थानपरिहारे न समुदानं सम्यगवाप्यते ततोऽसति अविद्यमाने समुदाने प्रवेशनं तदाश्रयस्थाने ततोऽसति अविद्यमाने समुदाने प्रवेशनं तदाश्रयस्थानप्रवेशनं कर्त्तव्यम् । अथ यदि तेषां प्रत्ययोत्पादनार्थं कुप्रतिमा स्तूपानि वा वन्दनीयानि भवन्ति तदा जिनप्रतिमां मनसि संप्रधार्य वन्दितव्यानि । भिक्षायां च स्वयं गन्तव्यम् । अथ भिक्षां न लभ्यते ततो भिक्षुकैः सह भोक्तव्यम् । तत्र यदि पुनर्नं कन्दादिकं वा पतति तदा शरीरस्येदममनुपकारकं वैद्येन निषिद्धमितिमिति प्रतिषेधयेत् । अथ कथमपि अनाभोगतस्तद्भोजनपरितमिति प्रतिषेधयेत् । अथ कथमपि अनाभोगतस्तद्भोजनतो वा गृहीतं भवेत् तदा तस्मिन् गृहीते या यतना सा कर्तव्या । किमुक्तं भवति । अल्पसागारिकं कथमप्यपसार्य विधिना परिष्ठापयेत् । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवृणोति ।

आयरियदेसायरिय-लिंगसंकमे त्थ होइ चउभंगो ।
वितियचरमेसु अन्नं, असिवादिमतो करे अन्नं ॥

अशिवादिषु कारणेषु समुपस्थितेषु आर्यदेशे आर्यदेशमध्येन लिङ्गेन संक्रमो भवति । यन्मध्ये च यत्र च गन्तव्यं तयोरुभयोरपि देशयोरार्यत्वात् । अत्र च प्रागुक्तप्रकारेण चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । तत्र द्वितीयतृतीयचरमेषु भङ्गेष्वशिवादिगतः सन् अन्यतः गृहस्थलिङ्गं यदि वा यस्य देशस्य मध्येन यत्र वा देशे गन्तव्यं तत्र योऽतिप्रसिद्धो भिक्षुकादिस्तल्लिङ्गं करोति ।

सम्प्रति परिहरतीति यदुक्तं तद्व्याख्यानयति ।

परिहरइ उग्गमादी-विहारठाणे य तेसि लिंगीणं ।
अपुव्वे मागमित्तो, आयरियचेतरोमं तु ॥

परिहरति उद्गमादीन् दोषान् । तथा तेषां लिङ्गिनां यानि विहारस्थानानि तानि च परिहरति । तत्र अपूर्वेषु स्थानेषु गत सन्

यदि यह्लिङ्गं गृहीतं तदागमेषु कुशलो भवति तस्मा केनापि लिङ्गविरूपक इति ज्ञात्वा प्रतिगृह्णोतेति । आचार्ये चि०थ ।

इयरेसिमागमेसुं, मा वायंतेसि लिंगीण ।

अपुव्वे सोगामित्तो, आयरियत्तत्तरोमं तु ॥

अथेतरस्तेषामागमेष्वकुशलस्त. स इद करोति । तदेवाह ।

मोणेण जं च गहियं, तु कुक्कुम उभयलिंगिअविरुद्धं ।

पच्चयहेउपणामे, जिणपडिमाओ मणे कुणति ॥

मौनेन वाचयमत्वक्षणेन क्रियां करोति मौनव्रतित्वमवलम्ब्यत इत्यर्थः । यच्च विशिष्टसम्प्रदायादू गृहीत कुक्कुटविद्यादिनाऽस्त-त्प्रयोगवद्दशम । उभयतोऽपि उभयेषामपि साधुचर्यास्तेषां च लिङ्गिनामविरुद्ध तत्करोति । तथा समुदानासन्नवे तेषामाश्रयेषु गतस्य सतस्तेषां प्रत्ययाडेनो प्रत्ययोत्पादनार्थं यत्प्रतिमाना स्तूपानां वा प्रणामकरणीयतयोपस्थिते जिनप्रतिमा मनसि करोति । किमुक्त नवति । जिनप्रतिमां मनसिकृत्य तेषा प्रणाम करोति

भावे ति पिंमवारि-त्तणेण घेत्तुं च वच्चइ अपत्ते ।

कंदादिपुग्गलाण य, अकारगं एय परिसेहो ॥

तथा आत्मानं जनेभ्य- पिण्डपातित्वेन भावयति । ततो भिक्षापरिभ्रमणेन जीवति । अथावमौदर्ये दोषन परिपूर्णो न भवति तनो दानशालायां भिक्षुकादिभि सह पङ्क्त्या समुपविशति । तत. परिपाट्या परिवेषणे जाते सति (अपत्ते इति) अत्र प्राकृतत्वात् यकारलोप अय पात्रे तत गृहीत्वा अन्यत्र विविक्ते प्रदेशे समुद्दिशति । अथान्यत्र गत्वा समुद्देशकरणे तेषा काचित् शङ्का संभाव्यते ततो भिक्षुकादिभिरेव स पङ्क्त्योपविष्ट सन् समुद्दिशति । तत्र यदि सचित्त कन्दादिपुद्गल वा मासापरपर्याय परिवेषक परिवेषयति तदा ममेदमपकारक वैधेन प्रतिषिद्धमिति वदता तेषा कन्दादीना पुद्गलस्य च प्रतिषेध कर्त्तव्य ।

अत्रैव पुद्गलविषये अपवादमाह ।

वितियपयं तु गिलाणे, निक्खेवं चंकमादि कुणमाणो ।

लोयं वा कुणमाणो, किइकम्मं वा सरीरादि ॥

द्वितीयपदमपवादपद यदि ग्लानः मात्रोपकरणानां निक्षेपमुपलक्षणमेतत् । आदान प्रत्युपेक्षणादिक च कुर्वन् तथा चङ्क्रमणादि आदिशब्दादुत्थानादिपरिग्रह कुर्वन्यदि वा लोच कुर्वन् अथवा कृतकर्म्म शरीरादे. कुर्वन्यदि ग्लानो भवति तदोपजीव्य पुद्गलमिति । प्रस्तुतमनुसंधानमाह ।

अह पुण रूसेज्जाही. तं घेत्तु विगिंचए जहाविहिणा ।

एवं तु तहिं जयणं, कुज्जाही कारणागाढा ॥

अय पुन प्रागुक्तप्रकारेण कन्दादिपुद्गलानां प्रतिषेधे क्रियमाणे रुष्येयुरिति संभाव्येत तर्हि गृह्णीयात् गृहीत्वा च यथाविधिना यथोक्तेन विधिना विगिञ्च्यात् । तेन दृष्टिबन्धनेनापसार्य सूत्रोक्तविधिना परिष्ठापयेत । उपसंहारमाह ।

इति कारणेसु गहिते, परलिंगे तीरिए तहिं कज्जे ।

जयकारी सुज्झइ वियम-णाए इयरो जमावेज्जा ॥

इत्येवमुक्तेन प्रकारेण कारणेष्वशिवादिषु समुपस्थितेषु तीरिते च समाप्तिं नीते च कार्ये तत्र यो (जयकारीति) यतनाकारी यथोक्तरूपां यतनां कृतवान् स विकटनया आलोचनामात्रेण शुध्यति यतनया सर्वदोषाणामपहतत्वात् । इतरो नाम येन यतना न कृता स यत् यतनया प्रायश्चित्तमापद्यते तत्तस्मै दीयते ॥

(सूत्रम्) भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओवहावेज्जा मे इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जि विहरित्तए णत्थि णं तस्स तप्पइयं केइ छेदे वा परिहारे वा णन्नत्थ एगाए सेहोवट्ठावणाए ॥

" भिक्खू य गणातो अवक्कम्म ओहावेज्जा से इच्छेज्जा" इत्यादि अस्य सूत्रस्य क सबन्ध उच्यते ॥

एगयरलिंगविजढे, इइ सुत्तावसिया उ जे हेट्ठा ।

उभयजढे अयमन्नो, आरंभो होइ सुत्तस्स ॥

यान्यधस्तात्सूत्राणि पार्श्वस्थादिगतानि तानि एकतरलिङ्गविजढे एकतरलिङ्गपरित्यागे तथा हि पार्श्वस्थादिसूत्राणि भावलिङ्गपरित्यागविषयाणि परपाखण्डप्रतिमासूत्र द्रव्यलिङ्गपरित्यागविषयमितिशब्दो हेतौ यतोऽधस्तनानि सूत्राण्येकतरलिङ्गविषयाणि ततोऽयमन्य आरम्भ सूत्रस्य भवत्युभयजढे इति उभयलिङ्गपरित्यागविषय प्रस्तावायातत्वात् एवमनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । भिक्षुर्गणादपक्रम्य निर्गत्य अवधावेत व्रतपर्यायादवाङ्मुखीभूय पराङ्मुखो भूत्वा गृहस्थपर्याय प्रतिगच्छेत् द्वितीयमपि वार तमेव गणमुपसम्पद्य विहर्तुं (नत्थिणमित्यादि) णमिति खल्वर्थे निपातानामनेकार्थत्वात् । नास्ति खलु तस्य कश्चिदपि छेद परिहारो वा किं सर्वथा न किमपि नेत्याह । नान्यत्र एकस्याः शैक्षिकोपस्थापनाया किमुक्तं भवत्येका शैक्षिकोपस्थापनिका भवति मूल भवतीत्यर्थ । एष सूत्रसंक्षेपार्थ । साम्प्रतमेतदेव सूत्र व्याचिख्यासुरपक्रमेदवधावेदिति भेदपर्यायैर्व्याख्यानयति ।

निग्गमनमवक्कमणं, निस्सरणपलायणं च एगट्ठा ।

लोटणलुटणपलोटण, ओधाण चेव एगट्ठा ॥

निर्गमनपक्रमण निस्सरण पलायनमित्येकार्थाः । लोटन लुट्टनं प्रलोटनमवधावनमिति चैकार्था । तत्र लोटनमिति लुट विलोटने इत्यस्यैव प्रपूर्वस्य पर्यायशब्दैरप्यधिकृतशब्दार्थप्रतीतिरुपजायते तत भेदपर्यायैर्व्याख्या इति वचनमप्यस्ति । ततस्तदुपन्यास इति ॥

अथ कै कारणैरवधावन कुर्यादित्यवधावनकारणान्याह ।

विसओदएण अहिकरण-भावत्तो व दुक्खसंज्जाए ।

इइ लिंगस्स विवेगं, कज्ज पच्चक्खपारोक्खं ॥

विषयोदयेन अत्र विषयग्रहणेन विषयविषयो मोह परिगृह्यते विषयेण विषयिणो लक्षणा ततोऽयमर्थ विषयविषयमोहोदयेन यदि वा केनापि सह अधिकरणभावत अथ वा दु खशय्यया चतुर्विधया त्याजित इति हेतोर्लिङ्गस्य प्रव्रज्याचिह्नस्य रजोहरणस्य विवेक परित्याग कुर्यात् । कथमित्याह साधूना प्रत्यक्षं वा कुत्र कुर्यादित्याह ।

अतो उवस्सए छ-ड्डणाउ बहिगामपासे वा ।

बिइयं गिलाणलोए, किति कम्मसरीरमादीसु ॥

उपाश्रयस्यान्तर्मध्ये लिङ्गस्य छर्दना परित्याग क्रियते । यदि वा बहिरुपाश्रयात् अथवा ग्राममध्ये यदि वा ग्रामस्य पार्श्वे आसन्नप्रदेशे अथवा तत्रैवाचार्यस्य समीपे इदमवधावन कांक्षे लिङ्गस्योज्झनम । अपवादतोऽवधावनाभावेऽपि भवति तथा चाह द्वितीयपदमपवादपद लिङ्गस्योज्झने ग्लानलोके ग्लानजने शरीरादिषु आदिशब्दादुच्चारपरिष्ठापनादिपरिग्रहस्तेषु कृतकर्मणि व्यापारे नयः हि ग्लानस्य शरीरे विश्रामणादिकमुच्चारादिपरि-

छापनादिकं वा कुर्वन् खरण्टनादिभयाल्लिङ्गस्य विविक्ते प्रदेशे मोचनं भवतीति। संप्रत्यवधावनेन लिङ्गस्योज्झने विधिविशेषमाह।

उवसामिए परेण व, सयं च समुट्ठिए उवट्ठवणा ।
तक्खणचिरकालेण व, दिट्ठंतो अक्खभंगेण ॥

उपाश्रयान्तः प्रभृतिषु येषु स्थानेषु रजोहरणं मुक्त तेषु स्थानेषु तेभ्यः परस्मिन्वाऽन्यस्मिन् स्थाने उपशामिते परेणोपशमं नीते स्वयं वा तथाविधानुकूलकर्म्मोदयतः उपशमं गते ततः पुनरकरणतया तत्क्षणं लिङ्गोज्झनानन्तरं तत्काल चिरेण वा दीर्घकालेन गुरुसमीपे समुपस्थिते नियमादुपस्थापना कर्तव्या नान्यथा प्रवेशनीयः। आह यदि तेन न किञ्चिदपि प्रतिसेवितं ततः कस्मादुपस्थाप्यते। अत्र सूरिराह। दृष्टान्तोऽत्राक्षभङ्गेन यथा शकटस्याक्षे भग्ने नियमादन्योऽक्षः क्रियते एवं साधोरपि भावाक्षे भग्ने पुनरुपस्थापनारूपो भावाक्ष आधीयते। अत्रोऽत्रा पुनरपि परः प्राह।

मूलगुणउत्तरगुणे, असेवमाणस्स तस्स अतियारं ।
तक्खण उवट्टियस्स उ, किं कारणा दिज्जए मूलं ॥

मूलगुणे मूलगुणविषये उत्तरगुणे उत्तरगुणविषये किंचिदव्यतीचारं तस्याप्रतिसेवमानस्य कथमप्रतिसेवनेत्यत आह। तत्क्षण लिङ्गोज्झनानन्तरं तत्काले अपुनःकरणतया समुत्थितस्य न भावाक्षो भग्न इति। किं कारण तस्मै मूलं दीयते उपस्थापना क्रियते। सूरिराह।

सेवउ मा उ वयाणं, अतियारं तहवि देंति से मूलं ।
विगडासवा जलम्मि उ, कहन्नु नावा न बोडेज्जा ॥

व्रतानां प्राणातिपातविनिवृत्त्यादीनामतीचारं सेवतां वा मा वा तथापि (से) तस्य प्रवचनोपनिषद्वेदिनो मूलं ददाति भावतोऽसंवृताश्रवद्वारतया चारित्रभङ्गात् तत्रैव प्रतिवस्तूपमया भावनामाह (वियडासवेत्यादि) विकटानि अतिप्रकटानि स्थूराणीत्यर्थः आश्रवाणि जलप्रवेशस्थानानि यस्याः सा तथारूपा सती नौ कथं नु जले प्रक्षिप्ता न विमज्जेदिति भावः। आश्रवद्वाराणामतिप्रकटानामभावादेवं साधुरपि भावतोऽनिवारिताश्रवस्सन् शुभकर्म्मजले निमज्जतीति भवति तस्योपस्थापनार्हता। अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह।

चोरिस्सामि त्ति मतिं, जो खलु संधाइ फेडए मुद्दं ।
अहियम्मि वि सो चोरा, एमेव इमं पि पासामो ॥

अहं चोरयिष्यामीति सधाय यः खलु मुद्रां स्फेटयति स यद्यपि तदानीमारक्षकैर्गृहीतत्वादिना कारणेन न किञ्चिदपहृतवान् तथापि तत्परिणामोपेतत्वादनपहृतेऽपि स चौरो भवति। एवमेव अनेनैव प्रकारेण इममपि पश्यामः। अचरितपरिणामोपेतस्वेनचरितत्वादुपस्थापनायोग्यं पश्याम इत्यर्थः। व्य० प्र० १ उ०।

(७) गणादपक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुमिति प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति।

(सूत्रम्) भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहारित्तए न से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तिं वा थेरिं वा गणिं वा गणहरिं वा गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते य से नो वितरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥

एवमप्येतनमपि सूत्राष्टकमुच्चारणीयम्। भिक्षुः सामान्यसाधुः शब्दाभिर्ग्रन्थी च गणादपक्रम्य निर्गत्य इच्छेदभिलषेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं नो (से) तस्य भिक्षोः कल्पते नो आपृच्छ्याचार्यं वा उपाध्यायं वा प्रवर्तकं वा स्थविरं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा अन्यं गणं वा उपसंपद्य विहर्तुं कल्पते (से) तस्य भिक्षोराचार्यं वा यावत्करणं उपाध्यायं वा प्रवर्तिनं वा स्थविरं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा आपृच्छ्यान्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं ते चाचार्यादय आपृष्टाः सन्तस्तस्यान्यगणगमनं वितरेयुरनुजानीयुस्तत एवं तस्य कल्पते अन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुं ते च तस्य न वितरेयुस्ततो नो कल्पते तस्यान्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः।

अथ निर्युक्तिविस्तरः।

तिट्ठाणे अवक्कमणं, णाणट्ठा दंसणे चरित्तट्ठा ।
आपुच्छिऊण गमणं, भीतो य नियत्तंत कोवि ॥

स्थानं कारणमित्येकोऽर्थस्ततस्त्रिभिः स्थानैः कारणैर्गच्छादपक्रमण भवति ज्ञानार्थं दर्शनार्थं च। अथ निष्कारणमन्यं गणमुपसंपद्यते ततश्चतुर्गुरुकम् आज्ञादयश्च दोषाः। कारणेऽपि यदि गुरुमनापृच्छ्य गच्छति ततश्चतुर्गुरुकं तस्मादापृच्छ्य गन्तव्यम्। तत्र ज्ञानार्थं तावदभिधीयते यावदाचार्यसकाशे श्रुतमस्ति तावदशेषमपि केनापि शिष्येणाधीतम् अस्ति च तस्यापरस्यापि श्रुतस्य ग्रहणे शक्तिस्ततोऽधिकश्रुतग्रहणार्थमाचार्यमापृच्छति आचार्येणापि स विसर्जयितव्यः तस्यैवमापृच्छ्य गच्छत इमे अभिचारा भवन्ति न परिहर्त्तव्याः। तत्र कश्चित् तेषामाचार्याणां कर्कशचर्यां श्रुत्वा भीतस्सन्निवर्त्तते यथा ॥

चिंततो, वइगादी, संखडि, पिसुगादि, अपडिसेहे य ।
पडिसेहे, मत्तमपयं, गुरुपे सविए य सुद्धो य ॥

किं व्रजामि मा वेति चिन्तयन् व्रजति व्रजिकायां वा प्रतिबन्धं करोति आदिशब्दाद्दानश्राद्धादिषु दीर्घां गोचरचर्यां करोति। अ प्राप्तं चादेशकालं प्रतीक्षते (संखडि त्ति) संखड्यां प्रतिबध्यते (पिसुगाइति) पिशुक मत्कुणादितया निवर्तते। अन्यत्र वा गच्छे गच्छति (अपडिसेहेत्ति) कश्चिदाचार्यः परममेधाविनमन्यत्र गच्छन्तं श्रुत्वा परिस्फुटवचसा तं न प्रतिषेधयति किं तु शिष्यान् व्यापारयति तस्मिन्नागते व्युद्ग्राहयत पठनीय येनात्रैव एष तिष्ठति एवं प्रतिषेधापनेऽपि अप्रतिषेधको लभ्यते। तेनैव विपरिणामितः सन् तदीये गच्छे प्रविशति (परिसेहेत्ति) एषद्वान् स उच्यते यः संविग्नाया असंविग्नायाश्च पर्षदः सत्पर्षद्वान् स उच्यते यः संविग्नाया। हं करोति तस्य पार्श्वे तिष्ठतः (सत्तमपय गुरुपेसविए अति) तत्र संप्राप्तो ब्रवीति अहमाचार्यैः श्रुताध्ययननिमित्तं युष्मदन्तिके प्रेषितः। एतेषु भीतादिष्वपि एतेषु वहपनमलभीयमानप्रायश्चित्तम्। यस्तु भीतादिदोषविप्रमुक्तः समागतो ब्रवीति अहमाचार्यविसर्जितो युष्मदन्तिके समायात इति स शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक्।

भीतादिपदेषु प्रायश्चित्तमाह।

पणगं च भिन्नमासो, मासो लहुगा य संखडी गुरुगा ।

पिसुगादी मासलहू, उचरो लहुगा अपडिसेहो ॥ १ ॥
परिसेल्ले चउलहुगा, गुरुपेसवियम्मि मासितं लहुग ।
सेहेण समं गुरुगा, परिसेल्ले पविसमाणस्स ॥ २ ॥
पडिसेहगस्स लहुगा, परिसेल्ले छब्ब चरिमओ सुद्धो ।
तेसिं पि होंति गुरुगा, जं च जव्वं ए तं लजति ॥ ३ ॥

जीतस्य निवर्त्तमानस्य पञ्चक चिन्तयतो भिन्नमास अजिकादिषु प्रतिपद्यमानस्य मासलघु सखड्यां चतुर्गुरुका पिशुकादिभयान्निवर्तमानस्य मासलघु अप्रतिषेधकस्य पार्श्वे तिष्ठतश्चत्वारो लघुका. पर्षद्वत आचार्यस्य मकाशे तिष्ठतश्चतुर्लघुका । गुरुभि प्रेषितोऽहमिति भणिते लघुमासिक शैक्षेण सम पर्षद्वतो गच्छे प्रविशतश्चतुर्गुरुको गृहीतोपकरण तत्र प्रविशत उपधिनिष्पन्न प्रतिषेधकस्य प्रतिषेधकत्व कुर्वतश्चतुर्लघु पर्षद्वत पर्षद मीलयत. षट् लघुकाश्चरमो भीतादिदोषरहित स शुद्ध । तेषामपि प्रतिषेधकादीन माचार्याणा त स्वगच्छे प्रवेशयतां चत्वारो गुरुकाः यच्च सचित्तमचित्त वा वाचनाचार्यस्तत् लभ्य तत्ते किंचिदपि न लभन्ते य. पूर्वमभिधारितस्तस्यैवाचार्यस्य तदाभाव्यमिति भाव । अथ भीतादिपदानां क्रमेण व्याख्यानमाह ॥

ससाहगस्स साउं, पडिपंथिगमादिगस्स वा भीओ ।
आयरणा तत्थ खरा, सयं व णाओ पडिणियत्तो ॥

संसाधको नाम दोसापक पृष्ठत. कुतश्चिदागतो वा साधु. तन्मुखेन श्रुत्वा प्रतिपन्थिक सन्मुखीन साध्वादिस्तदादेर्वा मुखात् श्रुत्वा स्वय वा ज्ञात्वा स्मृत्वा किमित्याह । आचरणाचार्या तत्र स्वाचार्यस्य गच्छे खरा कर्कशा एव श्रुत्वा ज्ञात्वा वा भीतः सन् य. प्रतिनिवृत्तस्तस्य पञ्चक भवतीति शेष । अथ चिन्तयतीति पद व्याचष्टे ॥

पुव्वं चिंतेयव्वं, णिग्गतो चिंतेति किं करोमि त्ति ।
वच्चामि वियत्तामि व, तहिं व अन्नत्थ वा गच्छे ॥

पूर्वमेव यावन्न निर्गम्यते तावच्चिन्तयितव्य यस्तु निर्गतश्चिन्तयति किं करोमि व्रजामि निवर्ते वा यद्वा तत्र वा अन्यत्र वा गच्छामीति स मासलघु प्रायश्चित्त प्राप्नोतीति प्रक्रम । अजिका सखडीद्वारद्वयमाह ।

उव्वत्तणमप्पत्ते, लहुओ खद्धस्स भुंजणे लहुगा ।
णिसट्टसुवणा लहुओ, संखडिगुरुगा य ज वण्णं ॥

अजिकां श्रुत्वा मार्गोद्वर्त्तन करोति अप्राप्तां वा वेन्नां प्रतीक्षते लघुमास । अथ खरू प्रभूत तत्र भुङ्क्ते ततश्चतुर्लघुकं प्रचुरं भुक्त्वा अजीर्णभयेन निसृष्ट प्रकाम स्वपिति लघुमास । सखड्यामप्रातकालं प्रतीक्षमाणस्य प्रभूत गृह्णतो वा चतुर्गुरुका. (जवणति) यच्च हस्तेन हस्तसंघट्टन पादेन पादस्याक्रमणं शीर्षेण शीर्षस्याकुट्टनमित्यादिकमन्यदपि सखड्यां भवति तन्निष्पन्न प्रायश्चित्तम् । अथ प्रतिषेधकद्वारमाह ।

अमुगत्थ अमुगो वचति, मेहावी तस्स कट्टणट्टाए ।
पंथगामे व पहे, वसधि अह कोइ वावारे ॥
अभिलावसुद्ध पुच्छा, गेलेणं मा हु ते वि णासिज्जा ।
इति कहंते लहुगा, जति सेहट्टा ततो गुरुगा ॥

कश्चिदाचार्यो विशुद्धसूत्रार्थस्फुटविकटव्यञ्जनाभिलापी तेन च श्रुतममुकाचार्यान्तिके अमुको मेधावी साधुरमुकश्रुताध्ययनार्थं व्रजति ततोऽसौ मा मामतिक्रम्यान्यत्र गच्छेदिति कृत्वा तस्याकर्षणार्थमथानन्तर शिष्यान् प्रतीच्छकांश्च व्यापारयतीत्याह (पंथगामे व पहेत्ति) यत्र पथि ग्रामे स भिक्षां करिष्यति मध्येन वा समेष्यति येन वा यथासमागमिष्यति यस्या वा वसतौ स्थास्यति तेषु स्थानेषु गत्वा यूयमभिलापशुद्ध परिवर्त्तयन्त तिष्ठत यदा आगमन भवति तदा यद्यसौ पृच्छेत् केन कारणेन यूयमिहागतास्ततो भवद्भिर्वक्तव्यमस्माकं वाचनाचार्यो अभिलापशुद्ध पाठयन्ति । यद्यभिलाप कथंचिदन्यथा क्रियते ततो महदप्रीतिक कुर्वन्ति भणन्ति च वालमध्ये बहूनां रोलेनाभिलापं मा विनाशयतेति ततस्तदादेशेन वयमत्र विजने परिवर्त्तयाम । एवमाकर्षण कुर्वतश्चतुर्लघुकाः । अथ तेन वा गच्छता शैक्षकोऽपि अव्यक्तस्तदर्थमेष शैक्षो मे भूयादिति कृत्वा आकर्षते ततश्चतुर्गुरुका ।

अक्खरवंजणसुद्धं, मम पुच्छह तम्मि आगए संते ।
घोसेहि य परिसुद्धं, पुच्छह णिउणे य सुत्तत्थे ॥

स आचार्य शिष्यान् प्रतीच्छिकान् वा भणति यदा युष्माकमभिलापशुद्धगुणतया रञ्जित स उपाश्रयमागच्छति तदा तस्मिन्नागते अक्षरव्यञ्जनशुद्ध सूत्र मां पृच्छत अक्षराणि प्रतीतानि व्यञ्जनशब्देनार्थाभिव्यञ्जकत्वादत्र पदमुच्यते । तैरक्षरैर्व्यञ्जनैश्च शुद्ध तथा घोषैश्चोदात्तादिभिः परिशुद्ध सूत्र पठनीयम् । निपुणांश्च सूत्रार्थान् मा तदानीं पृच्छत एवमनया भङ्ग्या तमन्यत्र गच्छे गच्छन्त प्रतिषेधयति । गत प्रतिषेधकद्वारम् ।

अथ परसिल्लद्वारमाह ॥

पाउयमपाउयघट्ट, पट्टलो य खुरविविधवेसहरा ।
परिसेल्लस्स तु परिसा, थलिए व ण किंचि वारेति ॥

य परिसिल्ल आचार्य स सविग्नाया असविग्नायाश्च पर्षद सग्रह करोति ततस्तस्य साधव केचित्प्रावृता केचिदप्रावृताः केचिद्घृष्टा फेनादिना घृष्टसघा केचित् घृष्टा तैलेन घृष्टशरीरा वा अपरे लोचलुञ्चितकेशा अन्ये क्षुरमुण्डिता एवमादिविविधवेषधरा एतस्या पर्षद. स्थली देवद्रोणी तस्यामिवाऽसौ न किंचिदपि वारयति ॥

तत्थ पवेसे लहुगा, सचित्ते चउगुरुं च आणादी ।
उवहीणिप्फण्ण पि य, अचित्तचित्ते य गिण्हंते ॥

तत्र पर्षद्वतो गच्छे प्रवेश कुर्वतश्चतुर्लघु । अथ सचित्तेन शैक्षेण सार्द्धं प्रविशति ततश्चतुर्गुरव आज्ञादयश्च दोषा । अथाचित्तेन वस्त्रादिना सह प्रविशति तत उपधिनिष्पन्न मिश्रसयोगप्रायश्चित्तम् । तथा सचित्ताचित्त दद्यतो गृह्णतश्चैवमेव प्रायश्चित्तम् । अथ पिशुकादिद्वार चाह ।

ढिंकुणपिसुगादि तहिं, सोउं णाउं व सन्नियत्तंते ।
अमुगसुतत्थनिमित्तं, तुब्भम्मि गुरूहिं पेसविओ ॥

ढिङ्कुणपिशुकदशमशकादीन् शरीरोपद्रवकारिणस्तत्र श्रुत्वा ज्ञात्वा वा सन्निवर्त्तमानस्य मासलघु तथा अमुकश्रुतार्थनिमित्त गुरुभिर्युष्मदन्तिके प्रेषितोऽहमिति भणतो मासलघु । आहैव भणत को नाम दोष । सूरिराह ।

आणाए जिणिंदाणं, ण हु बलियतराउ आयरियआणा ।
जिण आणाए परिभवो, एवं गव्वो अदिणितो य ॥

जिनेन्द्रैरेव भगवद्भिरुक्त यथा निर्दोषो विधिना सूत्रार्थनिमित्त य समागतस्तस्मै सूत्रार्थौ दातव्यौ न च जिनेन्द्राणामा-

छायाः सकाशादाचार्याणामाज्ञा बलीयस्तराम् । अपि च पव-माचार्यानुवृत्त्या श्रुते दीयमाने जिनाज्ञाया परिभवो भवति । तथा प्रेषयत उपसम्पद्यमानस्य प्रतीच्छतश्च त्रयाणामपि गर्वो भवति । तीर्थकृतां श्रुतस्य चाविनयः कृतो भवति ततो गुरुभिः प्रेषितोऽहमिति न वक्तव्यम् । यस्तु भीतादिदोषविमुक्तोऽभिधा-रिताचार्यस्यान्तिके आयात स शुद्धः ।

यस्तु प्रतिषेधकादीनां पार्श्वे तिष्ठति तत्र विधिमाह ।

अन्नं अभिधारेत्तुं, अप्पडिसेहपरिसिल्लमन्नं वा ।

पविसंत कुलादिगुरू, सचित्तादी च से होउ ॥

ते दो उवालभित्ता, अभिधारेज्जंति दंतिमं थेरा ।

घट्टणविआरणं ति य, पुच्छा विप्फालणेगट्ठी ॥

य पुनरन्यमाचार्यमभिधार्य अप्रतिषेधकं वा पर्यङ्कन्तं वा अन्यं वा प्रविशति तस्य पार्श्वे उपसम्पद्यते इत्यर्थः । त यदि कुला-दिगुरवः कुलस्थविरा गणस्थविरा सङ्घस्थविरा वा जानीयुस्ततो यत्नेनाचित्तं सचित्तं वा तस्याचार्यस्योपनीत तत्तस्य सकाशा-त् हृत्वा तौ द्वावप्याचार्यप्रतीच्छकौ स्थविरा उपालभन्ते कस्मा-त् त्वया अयमात्मपार्श्वे स्थापित कस्माद्वा त्वमन्यमभिधार्य स्थित । एवमुपालभ्य तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा तत् सचित्तादिकं सर्वमभिधारितं तस्याचार्यस्य प्रयच्छन्ति तदन्तिके प्रेषयन्तीत्य-र्थः । अथ घट्टयित्यति कोऽर्थ इत्याह घट्टनेति वा विचारणेति वा पृच्छेति वा विस्फालनेति वा एकार्थानि पदानि ।

तं घट्टेउ सचित्तं, एसा आरोवणा उ अविहीते ।

वितियपदमसंविग्गे, जयणाए कयंति तो सुद्धो ॥

तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा कमभिधार्य भवान् प्रस्थित आसीदि-ति पृष्ट्वा सचित्तादिकं तस्य अभिधारितस्य पार्श्वे स्थविराः प्रेषयन्तीति गम्यते (एसा आरोवणा उ अविहीएत्ति) या पूर्व-प्रतिषेधकत्वं पर्यन्मीलन वा कुर्वत आरोपणा भणिता सा अव-धिनिष्पन्ना मन्तव्या विधिना अनुकरणं कुर्वाणस्य न प्रायश्चित्तम् । तथा चाह (वितियपयइत्यादि) यमसाववधारयति स आचा-र्योऽसंविग्न ततो द्वितीयपदे यतनया प्रतिषेधकत्वं कुर्यात् का पुनर्यतनेति चेदुच्यते । प्रथमं साधुस्तं भाणयति मा तत्र व्रज पश्चादात्मनाऽपि भणति पूर्वोक्तेन वा शिष्यादिव्यापारेण प्रयोगेण वारयेत् । एव यतनया प्रतिषेधकत्वे कृतेऽपि शुद्धो निर्दोषः ।

अमुमेवार्थमाह ।

अभिधारेंते पास-त्थमादिणो तं वजति सुतं अत्थि ।

जे अपडिसेहदोसा, ते कुव्वंतो वि णिद्दोसो ॥

यानभिधारयन्नसौ व्रजति ते आचार्याः पार्श्वस्थादिदोषदुष्टा यच्च श्रुतमसावभिलषति तदादि यस्य प्रतिषेधकस्यास्ति ततो ये अप्रतिषेधकत्व कुर्वतो दोषा शिष्यव्यापारणादयस्तान् कुर्व-न्नपि निर्दोषस्तदा मन्तव्य ।

जं पुण सचित्तादी, तं तेसिं देंति ण वि सयं गेण्हे ।

वितिए चित्त ण पेसे, जावइयं वा असंथरणे ॥

यत्पुन सचित्तादिकं प्रतीच्छकेनागच्छता लब्ध तत्तेषामभि-धारिताचार्याणां ददाति न पुन स्वयं गृह्णाति । द्वितीयपदे यद्व-स्त्रादिकमचित्तं तदशिवादिभि कारणैः स्वयमव्रजमानो न प्रेष-येदपि । अथवा यावदुपयुज्यते तावद् गृहीत्वा शेष तेषां समीपे प्रेषयत् । असंस्तरणे वा सर्वमपि गृह्णीयात् । सचित्तमप्यमुना कारणेन न प्रेषयेत् ।

णाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य ।

सयमेव दिसाबंधं, करेज्ज तेसिं न पेसिज्जा ॥

यस्तेन शैक्ष आनीत स परममेधावी तस्य च गच्छे नास्ति कोऽप्याचार्यपदयोग्यो यच्च तस्य पूर्वगत कालिकश्रुतं वा सम-स्ति तस्यापरो गृहीता न प्राप्यते ततस्तयोर्व्यवच्छेद ज्ञात्वा स्व-यमेव तस्यात्मीय दिग्बन्ध कुर्यात् न तेषां प्रागभिधारितानां पार्श्वे प्रेषयत् ।

अथ पर्यङ्कनोऽपवादमाह ।

असहा तो परिसिल्ल-त्ताए पि कुज्जा उ मंदधम्मे य ।

पप्प व कालक्खाणे, सचित्तादी तिगिण्हेज्जा ॥

असहाय एकाकी स आचार्यस्तत संविग्नमसंविग्नं वा सहाय गृह्णीयात् शिष्या वा मन्दधर्माणो गुरूणां व्यापार न वहन्ति ततो य वा तं वा सहायं गृह्णतः पर्यङ्कत्वमपि कुर्यात् । शिष्या वा मन्दधर्माणो न वस्त्रपात्रादि प्रयच्छन्ति ततो लब्धिसम्पन्न शिष्य यं वा त परिगृह्णीयात् । दुर्भिक्षादिकं वा कालमध्वान वा प्राप्य ये उपग्रहकारिणः शिष्यास्तान् सगृह्णीयात् । अथ योऽसौ प्रतीच्छको गच्छति तस्यापवादमाह ।

कालगयं सोऊणं, असिवादी तस्य अंतरा वा वि ।

पडिसिद्धं पडिसेहं, सुद्धो अन्नं व विसमाणो ॥

यमाचार्यमभिधार्य व्रजति तं कालगत श्रुत्वा यद्वा यत्र गन्तुका-मस्तत्रान्तरा वा अशिवादीनि श्रुत्वा पर्यङ्कतः प्रतिषेधकस्य वा अन्यस्य वा पार्श्वे प्रविशेत् शुद्धः एतद्विशेषविमुक्तम् । अथार्थं च व्याख्यानान्यविशेष विनिर्णिनुराह ।

वच्चंतो वि य दुविहो, वत्तमवत्तस्स मग्गणा होति ।

वत्तम्मि खेत्तवज्जं, अच्चंते ण अप्पिओ जाव ॥

यः प्रतीच्छको व्रजति सोऽपि च द्विविधो व्यक्तोऽव्यक्तश्च तयोः सहायः किं दातव्यो न वेति मार्गणा कर्तव्या । तत्र व्यक्तस्य च सहायः किं दातव्यो न वेति मार्गणा कर्तव्या । तत्र व्यक्तस्य च सचित्तो विहारः क्षेत्रवर्जं परक्षेत्रं मुक्त्वा भवति स सर्वोऽप्यभि-धारिताचार्यस्याभवति यः पुनरव्यक्तः स सहायैर्यावद्याणि त-स्याचार्यस्यार्पितो न भवति तावत्परक्षेत्रं मुक्त्वा यत्ते सहाया लभन्ते तत्पूर्वाचार्यस्यैवाभवतीति समुहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति ।

सुतअव्वत्तो गीतो, वएण जो सोलसएहऽणारेणं ।

तव्विवरीओ वत्तो, वत्तमवत्ते य चउभंगो ॥

अव्यक्तो द्विधा श्रुतेन वयसा च । श्रुतेनाव्यक्तो गीतार्थो वयः-अव्यक्तस्तु षोडशानां वर्षाणामर्वाग्वर्तमानस्तद्विपरीतो व्यक्त उच्यते । अत्र च व्यक्ताव्यक्ताभ्यां चतुर्भङ्गी भवति । श्रुतेना-व्यक्तो वयसाऽव्यक्तः ।१। श्रुतेनाव्यक्तो वयसा व्यक्तः ।२। श्रुतेन व्यक्तो वयसा अव्यक्तः ।३। श्रुतेनापि व्यक्तो वयसाऽपि व्य-क्तः ।४। अस्य च सहायाः किं दीयन्ते उत न दीयन्त इत्याह ।

वत्तस्स वि दायव्वा, अपुज्जमाणे सहा य किमु इयरे ।

खेत्तविवज्जं अच्चं- तिएसु जं लब्भति पुरिल्ले ॥

आचार्येण पूर्यमाणेषु साधुषु व्यक्तस्यापि सहाया दातव्याः किं पुनरितरस्याव्यक्तस्य तस्य पुनरपि दातव्या इति भावः । तत्र सहाया द्विधा आत्यन्तिका अनात्यन्तिकाश्च । आत्यन्तिका नाम ये तेन सार्द्धं तत्रैवासितुकामाः ये तु त तत्र मुक्त्वा प्रतिनिवर्ति-ष्यन्ते ते अनात्यन्तिका । तत्रात्यन्तिकेषु सहायेषु गच्छत्स

क्षेत्रविवर्जे परक्षेत्रं मुक्त्वा सचित्तादिकं लभते (तत्थ पुरिल्लोत्ति) तस्याचार्यस्याभिमुखं व्रजति स पुरोवर्ती भण्यते अभिधारित इत्यर्थस्तस्य सर्वमपि सचित्तादिकमाभवति । परक्षेत्रेषु लब्धं क्षेत्रिकस्याभाव्यम् ।

जइ णेउं पत्तुमणा, नंते मग्गिल्ले वत्तिपुरिमस्स ।
नियमव्वत्तमहाया-एं तु णियत्तत्ति जं सोयं ॥

अथ ते सहायास्तं तत्र नीत्वा आगन्तुकामा अनात्यन्तिका इत्यर्थस्ततो यत्ते सहाया लभन्ते तत्सर्वमपि (मग्गिल्लोत्ति) यस्य सकाशात्प्रस्थितास्तस्यात्मीयस्याचार्यस्याभवति (वत्तिपुरिमस्सत्ति) यत्पुनः स व्यक्तः स्वयमुत्पादयति यत्पुरिमस्य अभिधारितस्याभवति यः पुनरव्यक्तस्तस्य नियमेनैव सहाया दीयन्ते ते च सहाया यद्यात्यन्तिकास्तदा यदसौ ते च लभन्ते तदभिधारितस्याभाव्यम् । अथ ते तत्र नीत्वा निवर्तन्ते ततो यदसौ ते च परक्षेत्रं मुक्त्वा लभन्ते तत्सर्वं पूर्वाचार्यस्याभवति यावदद्याप्यसौ नार्पितो भवति ।

वितियं अपुज्जयंते, न देज्ज वा तस्स सो सहाये तु ।
वइगादि अपडिवज्जं-तगस्स उवही विसुद्धो उ ॥

द्वितीयपदमत्र भवति अपूर्यमाणेषु साधुषु सहायान् साधून् तस्याचार्यो न दद्यात् स चात्मना श्रुतेन वयसा च व्यक्तस्तस्य व्रजिकादावप्रतिबध्यमानस्योपधिर्विशुद्धो भवति नोपहन्यते । अथ व्रजिकादिषु प्रतिबध्यते तत उपधेरुपघातो भवति ।

एगे तू वच्चंते, उग्गहवज्जं तु लभति सच्चित्त ।
वच्चति गिलाणा अं-तरा तु तादि मग्गणा होइ ॥

यो व्यक्त एकाकी व्रजति स यदन्यस्याचार्यस्य योऽवग्रहस्तद्वर्जिते अनवग्रहक्षेत्रे यत्किञ्चिल्लभते तत् सचित्तमभिधार्यमाणस्याभवति (वच्चतइत्यादि) योऽसौ ज्ञानार्थं व्रजति स द्वौ त्रीन् वा आचार्यान् कदाचिदभिधारयेत् तेषां मध्ये यो मे अभिरोचिष्यते तस्यान्तिके उपसंपदं गृहीष्यामीति कृत्वाऽसावन्तरा ग्लानो जातस्तैश्चाचार्यैः श्रुतं यथाऽस्मानभिधार्य साधुरागच्छन् पथि ग्लानो जात इति तत्रेयमाभाव्यानाभाव्यमार्गणा भवति ॥

आयरिया दोन्नि गया, एक्कं एक्कं च णागए गुरुगा ।
ण य लभती सचित्तं, कालगते विप्परिणए वा ॥

यदि तौ द्वावप्याचार्यावागतौ ततो यत्तेन लब्धं तदुभयोरपि साधारणम् । अथैकस्तयोरागत एकश्च द्वितीयो नागतस्ततोऽनागतस्य चतुर्गुरु यच्च सचित्तमचित्तं वा तदसौ न लभते । यस्तं गवेषयितुमागतस्तस्य सर्वमाभवति एवं त्र्यादिसंख्याकेष्वाचार्येष्वभिधारितेषु भावनीयम् । अथासौ ग्लानः कालं गतः तत्रापि यो गवेषयितुमागच्छति तस्यैवाभवति नेतरेषाम् । अथासौ विपरिणतस्ततो यस्य विपरिणतः स न लभते यत्पुनः सचित्तादिकमभिधार्यमाणे लब्धं पश्चाद्विपरिणतस्ततो यदविपरिणते भावे लब्धं तल्लभते विपरिणते भावे लब्धं न लभते ।

पंथसहायसमत्थो, धम्मं सोऊण पव्वयामि त्ति ।
खेत्ते य बाहि परिणए, वाताहडे मग्गणाइणमो ॥

योऽसौ ज्ञानार्थं प्रस्थितस्तस्य पथि गच्छन् कश्चिद् मिथ्यादृष्टिर्वाताहृतः समर्थः सहायो मिलितः स च तस्य पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजामीति परिणाममुपगतवान् स च परिणाममुपगतैः साधुभिरपरिगृहीते क्षेत्रे जातो भवेत् क्षेत्राद्वा बहिरिन्द्रस्थानादौ वा अपरिगृहीते वा क्षेत्रे ततस्तस्मिन् वाताहृते प्रव्रजितुं परिणते इयं मार्गणा भवति ॥

खेत्तम्मि खेत्तियस्स, खेत्तबहि परिणए पुरिल्लस्स ।
अंतरपरिणयविप्परि-णएण एगा उ मग्गणता ॥

साधुपरिगृहीतक्षेत्रे प्रव्रज्यापरिणतः क्षेत्रिकस्याभवति । क्षेत्राद्बहिः परिणतस्तु (पुरिल्लस्सत्ति) तस्यैव साधोराभवति अपान्तराले स प्रव्रज्यायां परिणतो विपरिणतश्च भवति ततः क्षेत्रे च धर्मकथिकस्य रागद्वेषप्रतीत्याऽनेका मार्गणा । तद्यथा यदि धर्मकथी ऋजुः भयात्कथयति तदा क्षेत्रे परिणतः क्षेत्रिकस्याभवति अक्षेत्रे परिणतो धर्मकथिकस्य । अथ विपरिणतेन वेगेन कथयति यदा क्षेत्रान्निर्गतो भविष्यति तदा कथयिष्यामि न मे अधुना भवति एवं क्षेत्रनिर्गतस्य कथिते यदि परिणतस्तदा क्षेत्रिकस्याभवतीत्येवं विभाषा कर्तव्या ।

वीसज्जियम्मि एवं, अविसज्जिए चउलहुं व आणादी ।
तेसिं पि हुंति लहुगा, अविधिविही सा इमा होइ ॥

एवमेव विधिर्गुरुणा विसर्जिते शिष्ये मन्तव्यः । अथाविसर्जितो गच्छति तदा शिष्यस्य प्रतीच्छकस्य च चतुर्लघु । अथ विसर्जितो द्वितीय वारमनापृच्छ्य गच्छति तदा मासलघु आज्ञादयश्च दोषाः । येषामपि समीपेऽसौ गच्छति तेषामप्यविधिनिर्गतं तं प्रतीच्छतां चत्वारो लघवः । सचित्तादिकं वा भाव्यं न लभन्ते एषोऽविधिरुक्तः । विधिः पुनरयं वक्ष्यमाणो भवति । स पुनराचार्य एभिः कारणैर्न विसर्जयति ।

परिवार पूयहेउं, अविसज्जंते ममत्तदोसा वा ।
अणुलोमेण गमेज्जा, दुक्खं खु विमुंचियं गुरुणो ॥

आत्मनः परिवारनिमित्तं न विसर्जयति बहुभिर्वा परिवारितः पूजनीयो भविष्यामि मम शिष्योऽन्यस्य पार्श्वे गच्छतीति ममत्वदोषाद्वा न विसर्जयति एवमविसर्जयन्तं गुरुमनुलोमा अनुकूलैर्वचोभिर्गमयेत् कुत इत्याह । (दुक्खखुत्ति) खलुरवधारणे गुरवो विमोक्तुं परमोपकारकारित्वात् न च ते यतस्ततो विमोक्तुं शक्या इति भावः । ततः प्रथमत एव विधिना गुरूनापृच्छ्य गन्तव्यम् । कः पुनर्विधिरिति चेदुच्यते ।

नाणम्मि तिण्णि पक्खा, आयरिय उवज्झाय सेसगाणं वा ।
एक्केकपंचदिवसे, अहवा पक्खेण एक्केक्कं ॥

ज्ञानार्थं गच्छता त्रीन् पक्षानापृच्छा कर्त्तव्या तत्र प्रथममाचार्यं पञ्चदिवसानापृच्छति यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायं पञ्च दिवसानापृच्छेत् यदि सोऽपि न विसर्जयति तदा शेषाः साधवः पञ्च दिवसान् पृच्छ्या एवं एकः पक्षो गतस्ततो द्वितीयपक्षमेवाचार्योपाध्यायशेषसाधून् प्रत्येकमेकैकं पञ्चभिर्दिवसैः पृच्छति तृतीयमपि पक्षमेवं पृच्छति एवं त्रयः पक्षा भवन्ति । अथवा निरन्तरमेवाचार्य एकं पक्षमापृच्छनीयस्ततः उपाध्यायोऽप्येकं पक्षं गच्छमप्यपरोऽप्येकं पक्षम् । एवं च त्रयः पक्षाः एवमपि यदि न विसर्जयन्ति ततोऽविसर्जित एव गच्छति ।

एयविहमागतं तु, पडिच्छअपडिच्छओ भवे लहुगा ।
अहवा इमेहिं आगम, एगादि पडिच्छतो गुरुगा ॥

एतेन विधिना आगतं प्रतीच्छकं प्रतीच्छेत् । अप्रतीच्छतश्चतुर्लघुका भवेयुः । अथामीभिरेकादिभिः कारणैरागतं प्रतीच्छति ततश्चतुर्गुरुका तान्येवैकादीनि कारणान्याह ।

ज्ञायाः सकाशादाचार्याणामाज्ञा बलीयस्तराम् । अपि च एव-माचार्यानुवृत्त्या श्रुते दीयमाने जिनाज्ञाया परिभवो भवति । तथा प्रेषयत उपसम्पद्यमानस्य प्रतीच्छतश्च त्रयाणामपि गर्वो भवति । तीर्थकृतां श्रुतस्य चाविनयः कृतो भवति ततो गुरुभिः प्रेषितोऽहमिति न वक्तव्यम् । यस्तु भीतादिदोषविमुक्तोऽभिधा-रिताचार्यस्यान्तिके आयात. स शुद्धः ।

यस्तु प्रतिषेधकादीनां पार्श्वे तिष्ठति तत्र विधिमाह ।

अन्नं अभिधारेतुं, अप्पडिसेहपरिसिल्लमर्म्मं वा ।
पविसंत कुलादिगुरु, सचित्तादी व से होउ ॥
ने दो उवालभित्ता, अभिधारेज्जंति दंतिमं येरा ।
घट्टणविआरणं ति य, पुच्छा विप्फालणेगट्ठी ॥

य पुनरन्यमाचार्यमभिधार्य अप्रतिषेधक वा पर्षद्वन्त वा अन्य वा प्रविशति तस्य पार्श्वे उपसम्पद्यते इत्यर्थः । तं यदि कुला-दिगुरव कुलस्थविरा गणस्थविरा संघस्थविरा वा जानीयुस्ततो यत्तेनानीतं सचित्तं वा तस्याचार्यस्योपनीत तत्तस्य सकाशा-त् हृत्वा तौ द्वावप्याचार्यप्रतीच्छकौ स्थविरा उपालभन्ते कस्मा-त् त्वया अयमात्मपार्श्वे स्थापित कस्माद्वा त्वमन्यमभिधार्य स्थित । एवमुपालभ्य तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा तत सचित्तादिकं सर्वमभिधारितं तस्याचार्यस्य प्रयच्छन्ति तदन्तिके प्रेषयन्तीत्य-र्थः । अथ घट्टयित्वेति कोऽर्थ इत्याह घट्टनेति वा विचारणेति वा पृच्छेति वा विस्फालनेति वा एकार्थानि पदानि ।

तं घट्टेत्त सचित्तं, एसा आरोवणा उ अविहीते ।
वितियपदमसंविग्गे, जयणाए कयंति तो सुद्धो ॥

तं प्रतीच्छकं घट्टयित्वा कमभिधार्य भवान् प्रस्थित आसीदि-ति पृष्ट्वा सचित्तादिकं तस्य अभिधारितस्य पार्श्वे स्थविरा प्रेषयन्तीति गम्यते (एसा आरोवणा उ अविहीएत्ति) या पूर्व-प्रतिषेधकत्वं पर्षन्मीलन वा कुर्वत आरोपणा भणिता सा अव-धिनिष्पन्ना मन्तव्या विधिनाऽनुकरणं कुर्वाणस्य न प्रायश्चित्तम् । तथा चाह (वितियपयमित्यादि) यमसावधारयति स आचा-र्योऽसंविग्न ततो द्वितीयपदे यतनया प्रतिषेधकत्वं कुर्यात् का पुनर्यतनेति चेदुच्यते । प्रथमं साधुस्तं भाणयति मा तत्र व्रज पश्चादात्मनाऽपि भणति पूर्वोक्तेन वा शिष्यादिव्यापारेण प्रयोगेण वारयेत् । एव यतनया प्रतिषेधकत्वे कृतेऽपि शुद्धो निर्दोष ।

अमुमेवार्थमाह ।

अभिधारेंते पास-त्थमादिणो तं वजति सुतं अत्थि ।
जे अपडिसेहदोसा, ते कुव्वंतो वि णिद्दोसो ॥

यानभिधारयन्नसौ व्रजति ते आचार्याः पार्श्वस्थादिदोषदुष्टा यच्च श्रुतमसावभिलषति तद्यदि यस्य प्रतिषेधकस्यास्ति ततो ये अप्रतिषेधकत्व कुर्वतो दोषा शिष्यव्यापारणादयस्तान् कुर्व-न्नपि निर्दोषस्तदा मन्तव्य ।

जं पुण सचित्तादी, तं तेसिं देति ण वि सयं गेण्हे ।
वितिए चित्त ण पेसे, जावइयं वा असंथरणे ॥

यत्पुन सचित्तादिक प्रतीच्छकेनागच्छता लब्ध तत्तेषामभि-धारिताचार्याणां ददाति न पुन स्वयं गृह्णाति । द्वितीयपदे यद्य-शिवादिकमभिवित्त तदशिवादिभिः कारणैः स्वयमव्रजमानो न प्रेष-येदपि । अथवा यावदुपयुज्यते तावद् गृहीत्वा शेष तेषां समीपे प्रेषयन् । असंस्तरणे वा सर्वमपि गृह्णीयात् । सचित्तमप्यमुना कारणेन न प्रेषयेत् ।

नाऊण य वोच्छेयं, पुव्वगए कालियाणुओगे य ।
सयमेव दिसाबंधं, करेज्ज तेसिं न पेसिज्जा ॥

यस्तेन शैक्ष आनीत. स परममेधावी तस्य च गच्छे नास्ति कोऽप्याचार्यपदयोग्यो यच्च तस्य पूर्वगत कालिकश्रुत वा सम-स्ति तस्यापरो गृहीता न प्राप्यते ततस्तयोर्व्यवच्छेद ज्ञात्वा स्व-यमेव तस्यात्मीयं दिग्बन्ध कुर्यात् न तेषां प्राग्निर्धारितानां पार्श्वे प्रेषयेत् ।

अथ पर्षद्वतोऽपवादमाह ।

असहा तो परिसिल्ल-त्तणं पि कुज्जा उ मंदधम्मे य ।
पप्प व कालप्पाणे, सचित्तादी तिगिण्हेज्जा ॥

असहाय एकाकी स आचार्यस्तत सविग्नमसंविग्न वा सहाय गृह्णीयात् शिष्या वा मन्दधर्माणो गुरूणां व्यापार न वहन्ति ततो य वा तं वा सहायं गृह्णत पर्षद्वत्वमपि कुर्यात् । अथवा वा मन्दधर्माणो न वस्त्रपात्रादि प्रयच्छन्ति ततो लब्धिसपन्न शिष्य य वा त परिगृह्णीयात् । दुर्भिक्षादिक वा कालमध्वान वा प्राप्य ये उपग्रहकारिणः शिष्यास्तान् संगृह्णीयात् । अथ योऽसौ प्रतीच्छको गच्छति तस्यापवादमाह ।

कालगयं सोऊणं, असिवादी तत्थ अंतरा वा वि ।
पडिसिद्धं पडिसेहं, सुद्धो अण्णं व विसमाणो ॥

यमाचार्यमभिधार्य व्रजति त कालगत श्रुत्वा यत्र वा यत्र गन्तुका-मस्तत्रान्तरा वा अशिवादीनि श्रुत्वा पर्षद्वतः प्रतिषेधकस्य वा अन्यस्य वा पार्श्वे प्रविशेत् शुद्ध एतदविशेषितमुक्तम् । अथात्रै-व आव्यानाव्यविशेष विभणिषुराह ।

वच्चंतो वि य दुविहो, वत्तमवत्तस्स मग्गणा होति ।
वत्तम्मि खेत्तवज्जं, अव्वत्ते ण अप्पिओ जाव ॥

य प्रतीच्छको व्रजति सोऽपि च द्विविधो व्यक्तोऽव्यक्तश्च तयो सहायः किं दातव्यो न वेति मार्गणा कर्तव्या । तत्र व्यक्तस्य य सचित्तो विस्तार. क्षेत्रवर्ज परक्षेत्र मुक्त्वा भवति स सर्वोऽप्यभि-धारिताचार्यस्याभवति य. पुनरव्यक्तः स सहायैर्यावद्यापि त-स्याचार्यस्यार्पितो न भवति तावत्परक्षेत्र मुक्त्वा यत्ते सहाया लभन्ते तत्पूर्वाचार्यस्यैवाभवतीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति ।

सुतअव्वत्तो गीतो, वएण जो सोलसण्ह आरेणं ।
तव्विवरीओ वत्तो, वत्तमवत्ते य चउभंगो ॥

अव्यक्तो द्विधा श्रुतेन वयसा च । श्रुतेनाव्यक्तो गीतार्थो वयसा अव्यक्तस्तु षोडशानां वर्षाणामर्वाग्वर्तमानस्तद्विपरीतो व्यक्त उच्यते । अत्र च व्यक्ताव्यक्ताभ्यां चतुर्भङ्गी भवति । श्रुतेना-व्यक्तो वयसाऽव्यक्त ।१। श्रुतेनाव्यक्तो वयसा व्यक्त ।२। श्रुतेन व्यक्तो वयसा अव्यक्त ।३। श्रुतेनापि व्यक्तो वयसाऽपि व्य-क्तः ।४। अस्य च सहाया. किं दीयन्ते उत न दीयन्ते इत्याह ।

वत्तस्स वि दायव्वा, अपुज्जमाणे सहा य किमु इयरे ।
खेत्तविवज्जं अच्चं- तिएसु जं लब्भति पुरिल्ले ॥

आचार्येण पूर्यमाणेषु साधुषु व्यक्तस्यापि सहाया दातव्या किं पुनरितरस्याव्यक्तस्य तस्य सुतरां दातव्या इति भावः । तत्र सहाया द्विधा आत्यन्तिका अनात्यन्तिकाश्च । आत्यन्तिका नाम ये तेन सार्द्धं तत्रैवासितुकामाः ये तु त तत्र मुक्त्वा प्रतिनिवर्ति-तन्ते ते अनात्यन्तिका । तत्रात्यन्तिकेषु सहायेषु यल्लभ्यन्ते ...

क्षेत्रविवर्जे परक्षेत्रे मुक्त्वा सचित्तादिक लभते (तत् पुरिल्लोत्ति) तस्याचार्यस्याभिमुख व्रजति स पुरोवर्ती भण्यते अभिधारित इत्यर्थस्तस्य सर्वमपि सचित्तादिकमाभवति । परक्षेत्रेषु लब्ध क्षेत्रिकस्याभाव्यम् ।

जइ णेउं पत्तुमणा, नंते मग्गिल्ले वत्तिपुरिमस्स ।

नियमव्वत्तसहाया-णं तु णियत्तत्ति जं सेयं ॥

अथ ते सहायास्तं तत्र नीत्वा आगन्तुकामा अनात्यन्तिका इत्यर्थस्ततो यत्ते सहाया लभन्ते तत्सर्वमपि (मग्गिल्लेत्ति) यस्य सकाशात्प्रस्थितास्तस्यात्मीयस्याचार्यस्याभवति (वत्तिपुरिमस्सत्ति) यत्पुन स व्यक्त स्वयमुत्पादयति यत्पुरिमस्य अभिधारितस्याभवति य. पुनरव्यक्तस्तस्य नियमेनैव सहाया दीयन्ते ते च सहाया यद्यात्यन्तिकास्तदा यदसौ ते च लभन्ते तदभिधारितस्याभाव्यम् । अथ त तत्र नीत्वा निवर्तते ततो यदसौ ते च परक्षेत्र मुक्त्वा लभन्ते तत्सर्व पूर्वाचार्यस्याभवति यावदद्याप्यसौ नार्पितो भवति ।

वितियं अपुज्जयंते, न देज्ज वा तस्स सो सहाये तु ।

नइगादि अपडिबज्झं-तगस्स उवही विसुद्धो उ ॥

द्वितीयपदमत्र भवति अपूर्यमाणेषु साधुषु सहायान् साधून् तस्याचार्या न दद्यात् स चात्मना श्रुतेन वयसा च व्यक्तस्तस्य व्रजिकादावप्रतिबध्यमानस्योपधिर्विशुद्धो भवति नोपहन्यते । अथ व्रजिकादिषु प्रतिबध्यते तत उपधेरुपघातो भवति ।

एगे तू वच्चंते, उग्गहवज्जं तु लभति सच्चित्त ।

वच्चंति गिलाणा अ-न्तरा तु तादि मग्गणा होइ ॥

यो व्यक्त एकाकी व्रजति स यद्यन्यस्याचार्यस्य योऽवग्रहस्त द्वर्जिते अनवग्रहक्षेत्रे यत्किञ्चिल्लभते तत् सचित्तमभिधार्यमाणस्याभवति (वच्चंतइत्यादि) योऽसौ ज्ञानार्थ व्रजति स द्वौ त्रीन् वा आचार्यान् कदाचिदभिधारयेत् तेषां मध्ये यो मे अभिरोचिष्यते तस्यान्तिके उपसम्पदं गृहीष्यामीति कृत्वाऽसावन्तरा ग्लानो जातस्तैश्चाचार्यैः श्रुतं यथाऽस्मानभिधार्य साधुरागच्छन् पथि ग्लानो जात इति तत्रेयमाभाव्यानाभाव्यमार्गणा भवति ॥

आयरिया दोन्नि गया, एक्के एक्क च णागए गुरुगा ।

ण य लभती सच्चित्तं, कालगते विप्परिणए वा ॥

यदि तौ द्वावप्याचार्यावागतौ ततो यत्तेन लब्ध तदुभयोरपि साधारणम् । अथैकस्तयोरागत एकश्च द्वितीयो नागतस्ततोऽनागतस्य चतुर्गुरु यच्च सचित्तमचित्तं वा तदसौ न लभते । यस्त गवेषयितुमागतस्तस्य सर्वमाभवति एवं त्र्यादिसङ्ख्याकेष्वाचार्येष्वभिधारितेषु भावनीयम् । अथासौ ग्लान काल गत तत्रापि यो गवेषयितुमागच्छति तस्यैवाभवति नेतरेषाम् । अथासौ विपरिणतस्ततो यस्य विपरिणतः स न लभते यत्पुन सचित्तादिकमभिधार्यमाणे लब्ध पश्चाद्विपरिणतस्ततो यदविपरिणते भावे लब्ध तल्लभते विपरिणते भावे लब्धन लभते ।

पंथसहायसमत्थो, धम्मं सोऊण पव्वयामि त्ति ।

खेत्ते य बाहि परिणए, वाताहडे मग्गणाऽऽणमो ॥

योऽसौ ज्ञानार्थं प्रस्थितस्तस्य पथि गच्छन् कश्चित् मिथ्यादृष्टिर्वाताहृत समर्थ. सहायो मिलित. स च तस्य पार्श्वे धर्मं श्रुत्वा प्रव्रजामीति परिणाममुपगतवान् स च परिणाममुपगतै. साधुभिरपरिगृहीते क्षेत्रे जातो भवेत् क्षेत्राद्वा बहिरिन्द्रस्थानादौ वा अपरिगृहीते वा क्षेत्रे ततस्तस्मिन् वाताहृते प्रव्रजितुं परिणते इय मार्गणा भवति ॥

खेत्तम्मि खेत्तियस्स, खेत्तबहिं परिणए पुरेल्लस्स ।

अतरपरिणयविप्परि-णएगु एगा उ मग्गणता ॥

साधुपरिगृहीतक्षेत्रे प्रव्रज्यापरिणत. क्षेत्रिकस्याभवति । क्षेत्राद्बहि परिणतस्तु (पुरिल्लस्सत्ति) तस्यैव साधोराभवति अपान्तराले स प्रव्रज्यायां परिणतो विपरिणतश्च भवति तत क्षेत्रे च धर्मकथिकस्य रागद्वेषप्रतीत्याऽनेका मार्गणा । तद्यथा यदि धर्मकथी ऋजु भयात्कथयति तदा क्षेत्रे परिणत. क्षेत्रिकस्याभवति अक्षेत्रे परिणतो धर्मकथिकस्य । अथ विपरिणतेन वेगेन कथयति यदा क्षेत्रान्निर्गतो भविष्यति तदा कथयिष्यामि न मे अधुना भवति एव क्षेत्रनिर्गतस्य कथिते यदि परिणतस्तदा क्षेत्रिकस्याभवतीत्येव विभाषा कर्तव्या ।

वीसज्जियम्मि एवं, अविसज्जिए चउलहुं व आणादी ।

तेसिं पि हुंति लहुगा, अविधिविही सा इमा होइ ॥

एवमेव विधिर्गुरुणा विसर्जिते शिष्ये मन्तव्यः । अथाविसर्जितो गच्छति तदा शिष्यस्य प्रतीच्छकस्य च चतुर्लघु । अथ विसर्जितो द्वितीय वारमनापृच्छ्य गच्छति तदा मासलघु आज्ञादयश्च दोषा । येषामपि समीपेऽसौ गच्छति तेषामप्यविधिनिर्गत तं प्रतीच्छतां चत्वारो लघवः । सचित्तादिकं वा भाव्यं न लभन्ते एषोऽविधिरुक्तः । विधि. पुनरग्र वक्ष्यमाणो भवति । स पुनराचार्य एभि. कारणैर्न विसर्जयति ।

परिवार पूयहेतुं, अविसज्जंते ममत्तदोसा वा ।

अणुलोमेण गमेज्जा, दुक्खं खु विमुंचियं गुरुणो ॥

आत्मनः परिवारनिमित्त न विसर्जयति बहुभिर्वा परिवारित. पूजनीयो भविष्यामि मम शिष्योऽन्यस्य पार्श्वे गच्छतीति ममत्वदोषाद्वा न विसर्जयति एवमविसर्जयन्तं गुरुमनुलोमा अनुकूलैर्वचोभिर्गमयेत् कुत इत्याह । (दुक्खखुत्ति) खलुरवधारण गुरवो विमोक्तुं परमोपकारकारित्वात् न च ते यतस्ततो विमोक्तु शक्या इति भाव । तत प्रथमत एव विधिना गुरूनापृच्छ्य गन्तव्यम् । क. पुनर्विधिरिति चेदुच्यते ।

नाणम्मि तिन्नि पक्खा, आयरिय उवज्झाय सेसगाणं वा ।

एक्केकपंचदिवसे, अहवा पक्खेण एक्केक ॥

ज्ञानार्थ गच्छता त्रीन् पक्षानापृच्छा कर्त्तव्या तत्र प्रथममाचार्य पञ्चदिवसानापृच्छति यदि न विसर्जयन्ति तत उपाध्याये पञ्च दिवसानापृच्छेत् यदि सोऽपि न विसर्जयति तदा शेषा. साधव पञ्च दिवसान् पृच्छ्या एव एक पक्षो गतस्ततो द्वितीयपक्षमेवाचार्योपाध्यायशेषसाधून् प्रत्येकमेकैक पञ्चभिर्दिवसै पृच्छति तृतीयमपि पक्षमेव पृच्छति एव त्रय. पक्षा भवन्ति । अथवा निरन्तरमेवाचार्य एकं पक्षमापृच्छनीयस्तत उपाध्यायोऽप्येक पक्ष गच्छलाघवेऽप्येक पक्षम् । एव च त्रय पक्षा. एवमपि यदि न विसर्जयन्ति ततोऽविसर्जित एव गच्छति ।

एयविहमागतं तु, पडिच्छ अपडिच्छओ भवे लहुगा ।

अहवा इमेहिं आगम, एगादि पडिच्छतो गुरुगा ॥

एतेन विधिना आगत प्रतीच्छक प्रतीच्छेत् । अप्रतीच्छतश्चतुर्लघुका भवेयु । अथामीभिरेकादिभि कारणैरागत प्रतीच्छति ततश्चतुर्गुरुका तान्येवैकादीनि कारणान्याह ।

एगे अपरिणते य, अयाहार य थेरए ।
गिलाणे बहुरोगे य, पाहुडे मंदधम्मए ॥

एकाकिनमाचार्य मुक्त्वा स समागत । अथवा तस्याचार्यस्य पार्श्वे ये तिष्ठन्ति ते अपरिणता आहारवस्त्रपात्रशय्यास्थविरकल्पाना-मकल्पिकास्तैः सहितमाचार्य मुक्त्वा आगतः । अथवा स आ-चार्याधारस्तमेव पृष्ट्वा सूत्रार्थवाचनां ददाति स्थविरो वा स आचार्य. । यद्वा तदीये गच्छे कोऽपि साधुः स्थविरस्तस्य स एव वैयावृत्त्यकर्त्ता ग्लानो वा बहुरोगी वा स आचार्य. ग्लानोऽधुनो-त्पन्नरोग.। बहुरोगिणामचिरकाल बहुभिर्वा रोगैरभिभूतः । अथवा शिष्यास्तस्य मन्दधर्माणस्तस्यैव गुणेन सामाचारीमनुपालयन्ति एवविधमाचार्य परित्यज्यागत'(पाहुडेत्ति) गुरुणा समं प्राभृत कलह कृत्वा समागत । अथवा प्राभृतकारिणःपाखण्डिकास्तस्य शिष्यास्तस्यैव गुणेनागत ।

एयारिसं विउस्सज्ज, विप्पवासो ण कप्पती ।
सीसपडिच्छायरिए, पायच्छित्तं विहिज्जती ॥

एतादृशमाचार्य व्युत्सृज्य विप्रवासो गमनं कर्तुं न कल्पते यदि गच्छति तत' शिष्यस्य प्रतीच्छकस्याचार्यस्य च त्रयाणामपि प्रायश्चित्तं विधीयते तत्रैक ग्लान वा मुक्त्वा शिष्यस्य प्रतीच्छ-कस्य वा समागतस्य चतुर्गुरुका. यश्चाचार्य' प्रतीच्छति तस्या-पि चतुर्गुरु।प्राभृते शिष्यप्रतीच्छकयोश्चतुर्गुरुकमेव । आचार्यस्य पञ्च रात्रिंदिवं छेदः । शेषेषु परतादिषु पदेषु शिष्यस्य चतुर्गुरु। प्रतीच्छकस्य चतुर्लघु आचार्यस्यापि शिष्यं प्रतीच्छत एतेषु चतु-र्गुरु प्रतीच्छकप्रतीच्छकस्य चतुर्लघु । प्रतीच्छक प्रतीच्छतश्चतुर्ल-घु । अथ ज्ञानार्थं त्रीन् पञ्चानाप्रच्छनीयमित्यत्रापवादमाह ।

विइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे ।
नाऊण तस्स भावं, कप्पति गमणं अणापुच्छा ॥

द्वितीयपद तत्र भवति।आचार्यादिष्वसंविग्नीभूतेषु न पृच्छेदपि च संविग्नेष्वपि वा किंचिदागाढं चारित्रविनाशकारण स्त्रीप्रभृत-मात्मन. समुत्पन्न ततोऽनापृच्छ्यापि च गच्छति तेषां वा गुरूणां स्वभाव ज्ञात्वा तेनोद्घृणा. सन्त कथमपि विसर्जयिष्यन्तीति मत्वा अनापृच्छ्यापि गमन कल्पते । अथाविसर्जितेन गन्तव्यमि-त्यपवदति ॥

अज्झयणं वोच्छिन्नं ति,तस्स य गहणम्मि अत्थि सामत्थं।
ण वि वियरंति चिरेण वि, एतेण विसज्जितो गच्छे ॥

किमाप्यध्ययन व्यवच्छिद्यते तस्य च तद्ग्रहणे सामर्थ्यमस्ति न च गुरवश्चिरेणापि वितरन्ति गन्तुमनुजानन्ते एतेन कारणेनाविस-र्जितोऽपि गच्छेत् । अविधिना आगत आचार्येण न प्रतीच्छनीय इत्यस्यापवादमाह ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे य ।
अविहि अणापुच्छागत, सुत्तत्थविजाणओ वोए ॥

पूर्व गते कालिकश्रुते वा व्यवच्छेद ज्ञात्वा अविधिना प्रव्रजिका-दिप्रतिबन्धेनागतमनापृच्छ्यागत वा सूत्रार्थज्ञापको वा येन क-श्चिद्दोष यत्नेन प्रतीच्छकेन शैक्षस्तस्याभिधारितस्यानाभाव्य आनीत सन् गृहीतव्य इत्यपवदति ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगये कालियाणुयोगे य ।
सुत्तत्थजाणगस्सा, कारणजाते दिसाबंधो ॥

पूर्वगते कालिकश्रुते वा व्यवच्छेद ज्ञात्वा सूत्रार्थज्ञापकेन कारणजाते अनाभाव्यस्याप्यात्मीयो दिग्बन्धः कर्त्तव्य. । आह किमर्थमनिबद्धो न दाप्यते उच्यते अनिबद्धः स्वयमेव कदाचि-त्कृच्छ्रन् पूर्वाचार्येण वा नीयेत कालदोषेण वा ममत्वाभा-वमालम्ब्य वाचयिष्यतीति दिग्बन्धोऽनुज्ञातः। इदमेव स-विशेषमाह ॥

ससहाय अवत्तेणं, खेत्ते वि उवट्ठियं तु सच्चित्तं।
दलियं णाउं बंधंति, उभयममत्तट्ठया तं वा ॥

'अव्यक्तेन ससहायेन य शैक्षो लब्धो यश्च परक्षेत्रेऽपि उपस्थित. सचित्त' स पूर्वाचार्यस्य क्षेत्रिकाणा वा यद्यप्याभाव्यस्तथापि तं दलिकं परममेधाविनमाचार्यपदयोग्य ज्ञात्वा यद्यात्मीये गच्छे नाचार्यपदयोग्यः ततस्तस्यात्मीयां दिश बध्नाति स्व-शिष्यत्वेन स्थापयतीत्यर्थ.।कुत इत्याह उभयस्य साधुसाध्वी-वर्गस्य तत्र शैक्षो ममत्वमस्माकमयमित्येवं ममकारो भूयादिति कृत्वा। यद्वा स्वगच्छीयसाधूनां तस्य च शैक्षस्य परस्परं समे-लका वयमित्येव ममत्वं भविष्यतीति बुद्ध्या तमात्मीयशिष्य-त्वेन बध्नाति (त व त्ति) यो वा प्रतीच्छक आयातस्तमपि ग्रह-णाधारणासमर्थं च विज्ञाय स्वशिष्य स्थापयति एव शैक्ष प्र-तीच्छको वा कारणे शिष्यतया नियद्धः सन् यदा निर्मातो भवति । तदा ॥

आयरिए कालगए, परियट्टइ तं गणो उ सो चेव।
चोएति य अपढंते, इमा उ तह मग्गणा होइ ॥

आचार्ये कालगते सति गच्छस्य निबद्धाचार्यस्य च व्यवहारो भण्यते स स्वयमेव त गण परिवर्तयति स च गच्छो यदि श्रुत न पठति ततस्तं अपठन्त नोदयति यदि नोदिता अपि ते गच्छ-साधवो न पठन्ति तत इयमाभवद्व्यवहारमार्गणा भवति ॥

साहारणं तु पढमे, वितिए खेत्तम्मि ततियसुहदुक्खे ।
अणहिज्जंते सीसे, सा एक्कारस विभागा ॥

कालगतस्याचार्यस्य प्रथमे वर्षे सचित्तादिक साधारण यद-सौ प्रतीच्छकाचार्य उत्पादयति तत्तस्यैवाभवति । यदीतरे गच्छसाधव उत्पादयन्ति तत्तेषामेवाभवतीति भाव. । द्वितीये वर्षे यत क्षेत्रोपसपन्नो लभते तत्तेऽपठन्तो लभन्ते । तृतीये वर्षे यत सुखदु:खोपसंपन्नो लभते तत्ते लभन्ते। चतुर्थे वर्षे कालगताचार्यशिष्या अनधीयाना न किंचिल्लभन्ते। शेषा नाम येऽधीयते तेषामधीयानानां वक्ष्यमाणा एकादश विभागाः भ-वन्ति । शिष्य. पृच्छति क्षेत्रोपसपन्न. सुखदु:खोपसपन्नो वा किं लभते । सूरिराह ॥

खेत्तोवसंपयाए, बावीसं संथुया य मित्ता य ।
सुहदुक्खमित्तवज्जा, चउत्थए नालबद्धाई ॥

क्षेत्रोपसपदा उपसंपन्नो द्वाविंशति अनन्तरपरम्परावल्लीबद्धान् मातापित्रादीन् जनान् लभते संस्तुतानि च पूर्वापश्चात्संस्तवस-म्बद्धानि प्रपौत्रश्वसुरादीनि मित्राणि च सह जातकादीनि लभते सुखदु:खोपसपन्नेषु एतान्येव मि-त्रभाषितानि तु न लभते । सुखदु:खोपसपन्नेषु एतान्येव मि-त्रवर्जानि लभते । चतुर्थस्तु एवविधोपम प्रक्रमप्रामाण्यात् श्रु-तोपसपन्न स केवलान्येव द्वाविंशतिनालबद्धानि लभते अथ च प्रसङ्गेनोक्त क्षेत्रोपसपन्नसुखदु:खोपसन्नयोर्यदाभाव्यमुक्तं तत्ते शि-ष्या अनधीयाना द्वितीये तृतीये च वर्षे यथाक्रमं लभन्ते। चतुर्थे वर्षे सर्वमप्याचार्यस्याभवति न तेषाम् । ये तु शिष्या अधीयते तेषा विधिरुच्यते तस्य कालगताचार्यस्य चतुर्विधो गणो भवेत्।

शिष्याः शिष्यिका प्रतीच्छका प्रतीच्छिकाश्चेति । एतेषां पूर्वोद्दिष्टपश्चादुद्दिष्टयोः संवत्सरसंख्ययैकादश गमा भवन्ति । पूर्वोद्दिष्टनां यच्चेनाचार्येण जीवता तेषां श्रुतमुद्दिष्टं यत्पुनस्तेन प्रतीच्छकाचार्येणोद्दिष्टं तत्पश्चादुद्दिष्टम् । तत्र विधिमाह ।

पुव्वुद्दिट्ठे तस्स, पच्छुद्दिट्ठे पवाययंतस्स ।
संवच्छरम्मि पढमे, पडिच्छिए जं तु सच्चित्तं ॥

यदाचार्येण जीवता प्रतीच्छकस्य पूर्वमेवोद्दिष्टं तदेव पठन् प्रथमे वर्षे यत् सचित्तमचित्तं वा स लभते तत्तस्य कालगताचार्यस्याभवति एष एको विभागः । अथ पश्चादुद्दिष्टं ततः प्रथमसंवत्सरे यत् सचित्तादिकं लभते तत्सर्वं प्रवाचयतः प्रतीच्छकस्याचार्यस्याभवति एष द्वितीयो विभागः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, पडिच्छए जं तु होइ सच्चित्ते ।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥

प्रतीच्छकः पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन् यत्तस्य सचित्तादिकं तदा द्वितीये वर्षे सर्वमपि प्रवाचयतो भवति । एष तृतीयो विभागः । अथ पश्चाच्छिष्यस्याभिधीयते ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सेसम्मि उ जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं गुरुस्स आभवइ ॥

शिष्यस्य कालगताचार्येण वा उद्दिष्टं भवेत् प्रतीच्छकाचार्येण वा तदसौ पठन् यत् सचित्तादिकं लभते तत्सर्वं प्रथमे संवत्सरे गुरोः कालगताचार्यस्याभवति एष चतुर्थो विभागः ।

पुव्वुद्दिट्ठं तस्स, पच्छुद्दिट्ठं पवाययंतस्स ।
संवच्छरम्मि बितिए, सीसम्मि उ जं तु सच्चित्तं ॥

शिष्यस्य पूर्वोद्दिष्टमधीयानस्य द्वितीयवर्षे सचित्तादिकं कालगताचार्यस्याभवतीति पञ्चमो विभागः पश्चादुद्दिष्टं पठतः शिष्यस्य सचित्तादिकं प्रवाचयत आभाव्यं भवतीति षष्ठो विभागः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सीसम्मि उ जं तु होइ सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि ततिए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठति शिष्ये सचित्तादिकं तृतीये वर्षे सर्वमपि प्रवाचयत आभवतीति सप्तमो विभागः ॥

पुव्वुद्दिट्ठे तस्स, पच्छुद्दिट्ठे पवाययंतस्स ॥
संवच्छरम्मि पढमे, सिस्सिणिए जं तु सच्चित्तं ॥

शिष्यिकायां पूर्वोद्दिष्टपठन्त्या सचित्तादिकं तस्य कालगताचार्यस्य प्रथमे वर्षे आभाव्यमित्यष्टमो विभागः । पश्चादुद्दिष्टमधीयानायां प्रवाचयत आभाव्यं नवमो विभागः ॥

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सिस्सिणिए जं तु होइ य सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि बिइए, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन्त्यां शिष्यिकायां सचित्तादिलाभो द्वितीये वर्षे प्रवाचयत आभवतीति दशमो विभागः ।

पुव्वं पच्छुद्दिट्ठं, पडिच्छिगा जं तु होति सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वं पवाययंतस्स ॥

पूर्वोद्दिष्टं पश्चादुद्दिष्टं वा पठन्त्या प्रतीच्छिकाया प्रथम एव संवत्सरे सर्वमपि प्रवाचयत आभवति एष एकादशो विभागः । एक एष आदेश उक्तः । अथ द्वितीयमाह ॥

संवच्छराइ तिन्नि उ, सीसम्मि पडिच्छए उ तद्दिवसं ।
एवं कुले गणे य, संवच्छरे संघे य छम्मासो ॥

प्रतीच्छकाचार्यास्तेषां कुलसत्को गणसत्कः संघसत्को वा भवेत् तत्र यदि तत्सत्कः तदा त्रीन् संवत्सरान् शिष्याणां वाच्यमानानां सचित्तादिकं न गृह्णाति । यत्पुनः प्रतीच्छकास्तेषां वाच्यमानानां यस्मिन्नेव दिने आचार्यः कालगतस्तद्दिवसमेव गृह्णाति एवमेव कुलसत्के विधिरुक्तः । अथाऽसौ गणसत्कस्तत्संवत्सरं शिष्याणां सचित्तादिकं नापहरति यस्तु कुलसत्को गणसत्को वा न भवति स नियमात् संघसत्कः स च षण्मासान् शिष्याणां सचित्तादिकं न गृह्णाति । तेन च प्रतीच्छकाचार्येण तत्र गच्छे वर्षत्रयमवश्यं स्थातव्यम् । परतः पुनरिच्छा ।

तत्थेव य निम्माए, अणिग्गए निग्गए इमा मेरा ।
सकुले तिन्नि तियाइं, गणे दुगसंवच्छरं संघे ॥

तत्रैव प्रतीच्छकाचार्यसमीपे तस्मिन्ननिर्गते यदि कोऽपि गच्छे निर्मातस्तदा सुन्दरम् । अथ न निर्मातः स च वर्षत्रयात्परतो निर्गतस्ते वा गच्छीया एष साम्प्रतमस्माकं सचित्तादिकं हरतीति कृत्वा ततो निर्गतास्तत्र इयं मर्यादा सामाचारी (सकुलेइत्ति) स्वकुले स्वकीयकुलस्य समवायं कृत्वा कुलस्य कुलस्थविरस्य वा उपतिष्ठन्ते ततः कुलं तेषां वाचनाचार्यं ददाति वारकेण वा वाचयति । कियन्तं कालमित्याह (तिन्नितियत्ति) त्रयस्त्रिका भवन्ति । ततो नव वर्षाणि वाचयतीत्युक्तं भवति । यदा भवता निर्मातस्तदा सुन्दरम् । अथैकोऽपि न निर्मातस्ततः कुलं सचित्तादिकं गृह्णातीति कृत्वा गणमुपतिष्ठन्ते गणोऽपि द्वे वर्षे पाठयति न सचित्तादिकं हरति । यद्येवमपि निर्मातस्ततः संघमुपतिष्ठन्ते संघोऽपि वाचनाचार्यं ददाति स च संवत्सरं पाठयति एवं द्वादश वर्षाणि भवन्ति यद्येवमेकोऽपि निर्मातस्ततः पुनरपि कुलादिस्थविरेषु वा तेन क्रमेणोपतिष्ठन्ते तावन्तमेव कालं कुलादीनि यथाक्रमं पाठयन्ति न सचित्तादिकं हरन्ति एवमन्यान्यपि द्वादश वर्षाणि भवन्ति पूर्वद्वादशभिश्च मीलितानि जाता वर्षाणां चतुर्विंशतिः । यद्येतावता कालेन नैकोऽपि निर्मातस्तदा विहरन्तु अथ निर्मातस्ततो भूयोऽपि कुलगणसंघेऽपि तथैवोपतिष्ठन्ते तेऽपि च तथैव पाठयन्ति । एतान्यपि द्वादश वर्षाणि चतुर्विंशत्या मील्यन्ते जाता षट्त्रिंशत् यद्येवं षट्त्रिंशता वर्षैरेकोऽपि निर्मातस्ततो विहरन्तु । अथैकोऽपि न निर्मातः । कथमिति चेदुच्यते ।

ओमादिकारणेहिं च, दुम्मेहत्तेण वा न निम्माओ ।
काऊण कुलसमायं, कुलथेरे वा उवट्ठंति ॥

अवमादिकारणैरशिवादिभिः कारणैरनवरतमपरापरग्रामेषु पर्यटतां दुर्मेधतया वा नैकोऽपि निर्मातस्ततः कुलसमवायं कृत्वा कुलस्थविरान् वा सर्वेऽप्युपतिष्ठन्ते ततस्तैरुपसंपद् ग्राहयितव्या कुत्र पुनरिति चेदुच्यते ।

पव्वज्जएगपक्खिय, उवसंपयय गहा सए ठाणे ।
छत्तीसातिक्कंते, उवसंपयए उवादाए ॥

यः प्रव्रज्यैकपाक्षिकस्तस्य पार्श्वे उपसंपदं ते कुलस्थविरा ग्राहयेयुः सा च उपसंपत् पञ्चधा वक्ष्यमाणरीत्या भवति तस्यां चोपसंपदि षट्त्रिंशद्वर्षातिक्रमे प्राप्तायां (सए ठाणित्ति) विभक्तिव्यत्ययात् स्वकमात्मीयं स्थानमुपादाय गृहीत्वा तैरुपसंपत्तव्यमिदमेव भावयति ।

गुरुसज्झिलओ सज्झं, तिउचउ गुरु गुरुस्स वा नत्तू ।
अहवा कुलिच्चतो उ, पव्वज्जा एगपक्खीओ ॥

' गुरुमाज्झिल्लकों " गुरूणां सहाध्यायी पितृव्यस्थानीय. मज्झन्तिक आत्मनः स प्रव्रज्याचारी भ्रातृस्थानीयो गुरुगुरु पितामहस्थानीयो गुरोः सवन्धी न प्रासशिष्य आत्मनो भ्रातृव्यस्थानीय एते प्रव्रज्ययैकपाक्षिका उच्यन्ते । अथवा कुलः समानकुलोद्भवः सोऽपि प्रव्रज्ययैक एतेषां समीपे यथाक्रममुपसंपत्तव्यम ।

पव्वज्जाए सुएण य, चउभंगुवसंपया कमेणं तु ।
पुव्वाहिं य वीसरिए, पढमासइ ततियभंगे उ ॥

इहैकपाक्षिकप्रव्रज्यया श्रुतेन च भवति । तत्र प्रव्रज्यैकपाक्षिकोऽनन्तरमुक्त श्रुतैकपाक्षिको येन सहैकवाचनिकसूत्रम् । अत्र चतुर्भङ्गी । प्रव्रज्ययैकपाक्षिक श्रुतेन च १ प्रव्रज्यया न श्रुतेन २ श्रुतेन न प्रव्रज्यया ३ न प्रव्रज्यया न श्रुतेन ४ एतेषु चामुना क्रमेणोपसंपत्प्रतिपत्तव्या (पढमाइत्यादि) प्रथमत प्रथमभङ्गे उपसंपत्तव्य तदभावे तृतीये भङ्गे कुत इत्याह यतः पूर्वाधीतं श्रुत स्मृतं सत्वेपु सुखेनैवाध्यापयितु शक्यते श्रुतैकपाक्षिकत्वात् ।

अथ पञ्चविधामुपसंपदमाह ।

सुयसुहदुक्खखेत्ते, मग्गे विणओवसंपयाए य ।
बावीसं संथुयं सं-दिट्ठभट्ठे य सव्वे य ॥

श्रुतोपसपत् सुखदु खोपसपत् क्षेत्रोपसंपत् मार्गोपसंपत् विनयोपसपत् एव एपा पञ्चविधा उपसपत् (बृ० ४ उ०) एतासु श्रुतग्रहणायान्यमाचार्यमुपसपद्यमानस्य श्रुतोपसपत् ३ मार्गे व्रजतो मम यौष्माकी निश्रेति मार्गोपसपत् ४ विनय कर्तु गच्छान्तरमुपसपद्यमानस्य विनयोपसंपत् ५ भाष्यकृताऽप्युक्तम् । "उपसपयपचविहा, सुयसुहदुक्खे य खित्तमग्गे य । विण उपसपया विविय, पंचविहा होइ नायव्वा " एतासामन्यतरामुपसंपद प्रथममाददानस्य विभागालोचना भवति विहारे कृते निरतिचारस्याप्यालोचना भवति अयं भाव एकाहात्पञ्चाहपर्यन्तं यदा सांभोगिकाः स्पर्द्धकपतयो गीतार्थाचार्या मिलन्ति तदा निरतिचारोऽप्यन्योन्यस्य विहारालोचनां स्वस्वविहारक्रमानुष्ठितप्रकाशरूपां ददातीति (जीत० प०चू० प० भा०) एतासूपसंपत्सु व्यवहारमाह (बावीस इत्यादि) श्रुतोपसपदि द्वाविंशति नालबद्धानि लभ्यन्ते तद्यथा माता १ पिता २ भ्राता ३ भगिनी ४ पुत्रो ५ दुहिता ६ मातुर्माता ७ मातु पिता ८ मातुर्भ्राता ९ मातुर्भगिनी १० एव पितुर्माता ११ पितु पिता १२ पितुर्भ्राता १३ पितुर्भगिनी १४ भ्रातृपुत्रो १५ भ्रातृदुहिता १६ भगिन्याः पुत्रः १७ भगिन्या. पुत्रिका १८ पुत्रस्य पुत्र १९ पुत्रस्य पुत्रिका २० दुहितु पुत्रः २१ दुहितु. पुत्रिका २२ चेति । एतानि द्वाविंशतिरपि श्रुतोपसपदं प्रतिपन्नस्याभवन्ति । सुखदुःखोपसपन्नस्तु एतां द्वात्रिंशतिमन्यांश्च पूर्वसंस्तुतपश्चात्संस्तुतान् प्रपौत्रश्वशुरादीन् लभते । क्षेत्रोपसपन्नस्तु तान् सर्वानपि वयस्यांश्च लभते । मार्गोपसपन्न एतान् सर्वानपि लभते । अपरे च ये केचित् दृष्टा भाषितास्तानपि प्राप्नोति । विनयोपसंपन्न प्रतिपन्नस्तु सर्वानपि ज्ञाताज्ञातदृष्टादृष्टान् लभते नवर विनयार्हस्य विनय प्रयुङ्क्ते 'सपट्ठाणेत्ति' यदुक्त तस्यायमर्थ । पञ्चविधाऽप्युपसपत् तस्मिन् स्थाने प्रतिपत्तव्या । किमुक्त भवति । श्रुतोपसपद प्रतिपित्सोर्यस्य पार्श्वे श्रुतमस्ति तत्तस्य स्वस्थानम् । सुखदु खार्थिन स्वस्थानं यत्र वैयावृत्यकरा सन्ति । क्षेत्रोपसपदर्थिनो यदीये क्षेत्रे भक्तपानादिकमस्ति । मार्गोपसपदर्थिनां यत्र मार्गज्ञ समस्ति । विनयोपसपदर्थिनो यत्र विनयकरण युज्यते एतानि स्वस्थानानि । अथवा स्वस्थानं नाम प्रव्रज्यया श्रुतेन च ये एकपाक्षिकास्तत्र प्रथमस्य समुपसपत्तव्यम । पश्चात्कुलेन श्रुतेन चैकपाक्षिकस्य पार्श्वे । तत्र श्रुतेन गणेन च एकपाक्षिकस्य समीपे ततः श्रुतेनैकपाक्षिकस्य समीपे तत प्रव्रज्ययैकपाक्षिकस्य सकाशे ततः प्रव्रज्यया श्रुतेन वा नैकपाक्षिकस्यापि पार्श्वे उपसंपत्प्रतिपत्तव्यम् । आह । साधर्मिकवात्सल्याराधनार्थं सर्वेणाऽपि सर्वस्य श्रुताध्ययनादि कर्त्तव्यं तत किमर्थं प्रथम प्रव्रज्याकुलादि निरासन्नतरेषूपसंपद्यत इत्याह ।

सव्वस्स वि कायव्वं, निच्छयओ किं कुलं व अकुलं व ।
कालसभावममत्ते गारवलज्जादिकं हुंति ॥

निश्चयत. सर्वेण सर्वस्याप्यविशेषेण श्रुतवाचनादिकमात्मनो विपुलतरां निर्जरामभिलषता कर्त्तव्यम् । किं कुलमकुलं चेत्यादिनिवारणाया परतुःषमालक्षणो य. कालस्तस्य य स्वभावोऽनुभावस्तेनात्मीयोऽयमित्याद्विकं यन्ममत्व तच्च गुर्वादिविषयं गौरवं बहुमानबुद्धियो च तदीया लज्जा एतैः प्रेरिता सुखेनैव करिष्यन्तीति कृत्वा प्रथमं प्रव्रज्यादिनिरासन्नतरेषूपसंपद्यन्ते गते ज्ञानार्थं गमनम् ।

अथ दर्शनार्थं गमनमाह ।

कालियपुव्वगए वा, णिम्माओ जति य अत्थि सेसाति ।
दंसणदीवगगहिउं, गच्छइ अहवाइगेहिं तु ॥

कालि क श्रुते पूर्वगते च यद्वा यस्मिन्काले श्रुतं प्रवरति तस्मिन् । अत्रार्थेन च यदा निर्मातो भवति यदि च तस्य ग्रहणधारणाशक्तिस्तथाविधा समस्ति तथाविधानि ततो दर्शनदीपकानि सम्यग्दर्शनज्ञानसहकारीणि यानि सम्मत्यादीनि शास्त्राणि तेषां हेतोरन्यं गणं गच्छति अथवा एभि. कारणैर्गच्छेत् ।

जिक्खुगा जहिं देसे, वोडिय थलिणिण्हएहिं संसग्गी ।
ते सं पन्नवणंति, असहमाणो विसज्जिए गमणं ॥

यत्र देशे भिक्षुका बौद्धा बोटिका वा निह्नवा वा तेषां तत्र स्थली तत्र ते आचार्याः स्थितास्तैः सार्द्धमाचार्याणां संसर्ग प्रीतिरित्यर्थः ते च भिक्षुकादयः स्वसिद्धान्त प्रज्ञापयन्ति स चाचार्यो दाक्षिण्येन तर्कग्रन्थाप्रवीणतया वा तूष्णीकस्तिष्ठति तां च तदीयां प्रज्ञापनामसहमान कश्चिद् द्वितीयश्चिन्तयति अन्य गण गत्वा दर्शनप्रभावकानि शास्त्राणि पठामि येनामून् निरुत्तरान् करोमि एव विचिन्त्य स तथैव गुरुनापृच्छ्य तैर्विसर्जितो गच्छति । इदमेव भावयति ।

लोए वि अपरिवादो, जिक्खुगमादी य गाढव मंहिंति ।
विप्परिणामंति सेहा, अ भामिज्जंति सड्ढा य ॥

भिक्षुकादीनां स्वसिद्धान्तशिर उद्धाट्य प्ररूपयतामपि यदा सूरयो न किमपि ब्रुवते ततो लोके परिवादो जात । एते श्वेतनमुखा न किमपि जानते अमी तु सौगताः सर्वमेव बुध्यन्ते । एवञ्च ते भिक्षुकादय परिवाद श्रुत्वा गाढतर जैनशासन च महयन्ति शैक्षाश्च विपरिणमन्ति भ्राम्यन्ते च एकपटोपासकैरपभ्राज्यन्ते एतैश्च ते भिक्षवो वादशिरोमणयश्चाकारिणो यद्यस्ति सामर्थ्यं ततो ऽस्माकमुत्तर प्रयच्छन्तु । अथवा तैर्भिक्षुकादिभिः स्थलिकायामाचार्यस्यापि घण्टको निबद्धो वर्त्तते ।

सो रसगिद्धो व थलिए, परतित्थियतज्जणं असहमाणो ।
गमणं बहुस्स सेत्तं, आगमणं वादिपरिसाओ ॥

स आचार्यो रसगृद्ध स्निग्धमधुराहारसम्पद सामर्थ्यं सत्यपि न किंचिदुत्तर प्रयच्छति एवमादिकां परतीर्थिकतर्जनामसह-

अथ शिष्यः स्वाचार्यं विधिना पृष्ट्वा निर्गच्छति अन्यगणगमन इत्या- दाह । तत्र च सर्वाचार्यसमीपे पुच्छा बहुश्रुतत्वं तस्य संजातं । ततो भूयः स्वगच्छे आगमनम् । आगतेन च पूर्वमाचार्यः पृष्टव्यास्त- मोऽन्यत्र गतस्य मे शिष्या ये तत्र यावन्मासेषु नाना पर्यन्त तां प- लितां कृत्वा तारो महाजनस्य च पुरतः परमार्थिकान् निर्विर- प्रकल्प्याकरणात् करोति ।

चोपदरादक्कविषा, भति पडिसेहंति साहु सहं च ।

ग्रह वि मत्तुणओ ग्रम्हं, मागयणं पडिहरेह ॥

चोदे परारूत्वने कुदित... यदि ते शिष्याद्य आचार्यस्य तं वदं प्रतिबेधन्ति तत साधु सुन्दर सहं वा सीदं जानामिति । अथ तत्र कोऽपि पृच्छाति वचनस्य चो दोषादिकमनुगत यतोऽन्या- र्थ अत पूर्वमूर्ध्वं शरणमनय परिहारयत तत्र चो विधिरित्याह ।

काऊण य पणामं, बहुसुयस्स दसाह पडिपुच्छं ।

आसत्थ पडिच्छिणउ, गेवि य णिवेइएं ताहं ॥

गुरो पादवन्दनमनन्तरं कृत्वा वन्दनं देहे गुरवे प्रतिपृच्छां मन प्रयच्छत । अथ आचार्याणां शरदपि नमोऽवन्द्यतो वन्दनो न ... यदि तस्य यत्नेन निर्गच्छति तथापादि ... यावत्तेन पितः तत्र गुरवः आगमन आचार्यपादसेवां आगमनादीनां यथावस्थितमेव शिष्यानो स्पर्शकोऽस्ति न कर्त- व्य । इति निवेदनं कृत्वा गच्छन्निदिनेन व्यावर्ते ।

सहं च हेतुसयं, पडिच्छिओ हेउसुणगहं मे ।

तत्थ य मा मुज्झन्ना, पुच्छिज्ज मो ग्रमाई चणिपो ॥

शास्त्रमात्रभिषायिकं हेतुनामयं पवनार्थादिकं शास्त्रमात्रनयतस्य च्छेदसूत्रं निशीथादिकं गुरुणोऽदेशमनुज्ञयतो मा मम गह तस्य प्रतिपृच्छां मे प्रयच्छत । अत्र च वक्तव्यमनुयायोः दोषः । अपरि- णामका वा न सूत्रपुरतोऽन्यत्र वक्तव्यो नयान पयसय स्पर्शदेशेन शिष्यादाचार्य । अथ तस्या पनन पुनरपि निर्गन्तुं मे- च्छति ततोऽयं विधिः ।

सिक्खाविनिग्गिवेयण, इयरे पुव्वं तु गाहिया समणा ।

अगविसो गो अचिरं, जह निग्गंगो य पेसेति ॥

आचार्यैः वृत्तकपादिकस्य निवेदन क्रियते (सिक्खति) अब्भास शिक्षयित्वा साधुः समीपे न यथायंसंभवी पौनःपुनिकाद्यो गोप्याम. स यदि गीयमानो ह्रियेऽह ह्रियेऽहमित्यागतेन ततो गुप्यानितं किमपि गणनीयमनिमांरं वर्णितायां. अमणा पूर्वमेव ग्राहिता कर्तव्या. यथमाचार्यनेमं गोप्यामो मा दोसं कुरुताम् । स- मानावंशिरस्याभ्यायिकाः कथापयिष्या जागरितः सन् यदा निर्भरं सुप्तो भवति तदा गीयते यदा गीयमानो न किञ्चिच्छेतयति ।

निग्गहयसंसग्गीए, बहुसो भणं तु पेहसो कुणइ ।

तुह किंचि वायि परिणाम, गतागतेणोणिओ विहिणा ॥

अथ निर्वाणां संगत्यांचार्यो न निर्गच्छति बहुशो भण्यमा- नोऽप्युपेक्षां कुरुते अथवा ब्रूयात् यथह निर्वासनं करोमि ततो भवतो ज्ञापयति अत स्वं पत्र गमनमपर्ण परिणामं गुरूणां ज्ञात्वा शिष्येण गतागतेनान्य गण गत्वा शास्त्राण्यधीत्य भूय आग- तेन निर्वाणं पराजित्याचार्यो विधिना अन तरोक्तेन निष्काशि- तः कर्तव्य. ।

एस विहिविसज्जिए, अविसज्जियलहुगदोसआणाई ।

तेसिं पि हुंति लहुगा, अविहिविही सो इमो होइ ॥

एष विधिर्गुरुणा विसर्जिते गन्तव्यः अविसर्जितस्य तु गच्छत- श्चतुर्लघुषु दोषाश्चाज्ञादयः । तेषामपि प्रतीच्छतां चतुर्लघुकाः यदो- विधिरुक्तोऽयोऽविधिना गन्तव्य तत्राऽयं विधिर्भवति ।

दंसणमत्थे पक्खो, आयरिय उवज्झाय सेसगाणं च ।

एगेकपंचदिवसे, ग्रहवा पक्खेण सव्वे वि ॥

दर्शनमभावकानां शास्त्राणामर्थाय निर्गच्छतः पक्षं पक्षमापृच्छनं कालो भवति तद्यथा । आचार्यः पञ्च दिवसानापृच्छ्यते यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायोऽपि पञ्च दिवसान् शेषसाधवोऽपि प- ञ्च दिवसान् अथवा पक्षेण सर्वेऽपि पृच्छ्यन्ते । किमुक्तं भवति दिने दिने किन्तु सर्वेऽपि पृच्छ्यन्ते यावत् पक्षः पूर्ण इति ।

एस विही आगत तु, पडिच्छग्रपडिच्छगा भवे लहुगा ।

ग्रहवा इमेहिं आगए, एगादिपडिच्छए गुरुगा ॥

एगे अपरिणए य, अप्पाहारे य थेरए ।

गिलाणे बहुरोगी य, मंदधम्मे य पाहुडे ॥

एतारिसं विउस्सज्ज, विप्पवासो न कप्पई ।

सीसपडिच्छायरिए, पायच्छित्तं विहिज्जइ ॥

विइयपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे ।

नाऊण तस्स भावं, होइ उ गमणं अणापुच्छा ॥

गाथाचतुष्टयमपि गतार्थं गतं दर्शनार्थं गमनम् ।

अथ चारित्रार्थमाह ।

चारित्तट्ठ देसे (दुविहा) एसणदोसा य इत्थिदोसा य ।

गच्छंति य सीयंते, आयसमुत्थेहिं दोसेहिं ॥

चारित्रार्थं गमनं द्विधा देशदोषैरात्मसमुत्थदोषैश्च देशदोषा द्विविधा एषणा दोषाः स्त्रीदोषाश्च । आत्मसमुत्था अपि द्विधा गुरुदोषा गच्छदोषाश्च । तत्र गच्छो यथात्मसमुत्थैश्चक्रवाल- सामाचारीवितथकरणलक्षणैर्दोषैः सीदते तत्र पक्षमापृच्छ- यास्ते तत ऊर्ध्वं गच्छति । इदमेव व्याचष्टे ।

जहिं य एसणदोसा, पुरकम्माई ण तत्थ गंतव्वं ।

उडगपउरो य दोसो, जहिं च परिगाइसंकिष्णो ॥

यत्र देशे पुरःकर्मादय एषणादोषाः भवेयुस्तत्र न गन्तव्य योधा उदकप्रचुरो देशः सिन्धुविषयवत् यो वा चरिकादिभिः परिव्रा- जिकाकापालिकी भयनिकादिभिर्बहुभिरादिभिराकीर्णो विषयस्त- त्रापि न गन्तव्यम् । अथाशिवादिभिः कारणैस्तत्र गता भवेयुस्ततः

असिवाईहिं गता पुण, तक्कज्जसमप्पिया तओ णिंति ।

आयरियमणिंते पुण, आपुच्छिउं अप्पणा णिंति ॥

अशिवादिभिर्दुर्भिक्षपरचक्रादिभिः कारणैस्तत्र गता अपि (तक्कज्जसमप्पियत्ति) प्राकृते पूर्वपदनिपातस्याभिमतत्वात् समापिततत्कार्याः संयमक्षेत्रे यदा अशिवादीनि स्फिटितानि भ- वन्तीति भावः । ततस्ते असंयमक्षेत्रान्निर्गच्छन्ति यथाचार्याः के- नापि प्रतिबन्धेन सीदन्तो न निर्गच्छेयुस्ततो ये एको द्वौ बहवो वा अभीरवस्ते गुरुमापृच्छ्यात्मना निर्गच्छन्ति तत्र चाऽयं विधिः ।

दो मासे एसणाए, इत्थिं वज्जेज्ज अट्ठ दिवसाई ।

गच्छम्मि होइ पक्खो, आयसमुच्छेगदिवसं तु ॥

एषणायामशुद्ध्यमानायां यतनया अनेषणीयमपि गृह्णन् द्वौ मासौ गुरुमापृच्छन् प्रतीक्षते । अथ स्त्री शय्याप्रभृतिका उपसर्ग- यति । अथात्मना शय्यातर्यादी स्त्रियां मध्यमिकायां वा प्रतिबं-

हिमक्ष्यामतीवाभ्युपपन्न उभयं वा परस्परमभ्युपपन्नं ततो यदा ऽऽचार्यसंनिहितस्तदा तमापृच्छ्य गच्छति अथासंनिहितः संज्ञाभूम्यादौ गत आचार्यस्तदा एवमेवानापृच्छ्यागच्छति अपर वा संनिहितसाधु भणति मम वचनेन गुरूणामापृच्छन निवेदनीयम् "एयविहिमागयंतु" गाहा 'एय अपरिणए य' गाहा "एयारिसं विउस्सज्ज" गाहा । इति गाथात्रयमपि गतार्थं नवरं किंकारणं येन न पृच्छेत् ।

बितियपदमसंविग्गे, संविग्गे चेव कारणागाढे ।
नाऊण तस्स भावं, अप्पणए भावे अणापुच्छा ॥

द्वितीयपदमथोच्यते। आचार्योऽचिरसाविग्नो भवेत् अथवा संविग्न. परमद्विदग्धादिकमागाढकारणमवलम्ब्य न पृच्छेत् । तस्य च गुरोर्जीवस्तुचिरेणापि न विसर्जयतीति लक्षणं ज्ञात्वा आत्मीयं च भावमहमिह तिष्ठन्नवश्यं विनश्यामीति ज्ञात्वा अनापृच्छ्यापि व्रजेत् । अथ गुरोश्चारित्रे सीदतो विधिमाह ।

सज्जायरकप्पट्ठी, चरित्तठवणा अभिगया खरिया ।
सारूविओ गिहत्थो, सो वि उवाएण हरियव्वो ॥

शय्यातरस्य कल्पस्थिकायां आचार्येण चारित्रस्य स्थापना कृता तां प्रतिसेवत इति भाव' तस्यां चारित्रस्थापनायां जातायां क्षुल्लकरिका वा काचिद्भिगता जीवाद्यधिगमेपेताश्राविकेत्यर्थस्तस्यामाचार्योऽभ्युपपन्नः स च चारित्रवर्जितो वेषधारी भवेत् सारूपिको वा गृहस्थो वा उपलक्षणत्वात्सिरूपुत्रको वा तत्र मुण्डितशिरा. शुक्लवासःपरिधायी कच्छामबध्नन् अभार्यको भिक्षां हिण्डमान. सारूपिक उच्यते। यस्तु मुण्डः सशिखाको वा सभार्यक' ससिरूपुत्रक. एवमेषामन्यतर उपायेन हर्तव्यः । कथमिति चेदुच्यते पूर्वं तावद्गुरवो भण्यन्ते वयं युष्मद्विरहिता अनाथाः अतः । प्रसीद गच्छामोऽपर क्षेत्रं परमुक्ते यदि नेच्छन्ति ततो यस्यां स प्रतिबद्धः सा प्रज्ञाप्यते एष बहूनां साधूनामाधार एतेन विना गच्छस्य ज्ञानादीनां परिहाणिरतो मा नरकादिक संसारमात्मनो वर्द्धय यदि सा इच्छति ततः सुन्दरमथ न तिष्ठति ततो विद्यामन्त्रादिभिरावर्त्यते । तदभावे क्षेत्रयिका अपि तस्या दीयन्ते । गुरुश्च क्रमेण रात्रौ हर्तव्यः । एवं तावद्भिक्षुमङ्गीकृत्य विधिरुक्तः ।

(सूत्रम्) गणावच्छेइए जे गणादवक्कम्म इच्छिज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अण्णं गणं उवसंपाज्जित्ताणं विहरित्तए । कप्पइ णो आउत्थिता आयरियं वा जाव विहरित्तए य से वितरंति एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए एते य से णो वितरंति एवं से णो कप्पइ जाव विहरित्तए २१ आयरिय उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पइ आयरिय आयरियस्स आयरियगणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए उवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहरित्तए कप्पति से आपुच्छित्ता जाव विहरित्तए ते य से वितरंति एवं से कप्पति अण्णं गणं उपसंपज्जित्ताणं विहारेत्तए ते से णो वियरंति । एवं से णो कप्पति । अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । २२ ।

अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं गणावच्छेदिकत्वमाचार्योपाध्यायत्व च निक्षिप्य गन्तव्यमिति विशेषः । अथ भाष्यम् ।

एमेव गणावच्छे, गणिआयरिए वि होइ एमेव ।
नवरं पुण णाणत्तं, ते नियमा हुंति वत्ताओ ॥

एवमेव भिक्षुवत् गणावच्छेदकस्य ज्ञानदर्शनचारित्रार्थमन्यं गणं गच्छतो विधिरुष्टव्य'। गणिन उपाध्यायस्याचार्यस्य चैवमेवविधिः नवरं पुनरिदं नानात्व नियमात्ते गणावच्छेदिकादयो व्यक्ता भवन्ति नो अव्यक्ता' ॥

एमेव गमो नियमा, निग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
णाणट्ठ जो उ नेई, सचित्तं ण अप्पिणो जाव ॥

एष एव भिक्षुसूत्रोक्तो गमो निर्ग्रन्थीनामप्यपर गणमुपसपद्यमानानां ज्ञातव्यः नवरं नियमेनैव ता ससहायाः यः पुनर्ज्ञानार्थे न आचार्यिकां नयति स यावदद्यापि न वाचनाचार्यस्यार्पयति तावत्सचित्तादिक तस्यैवाभवति अर्पितास्तु पुनर्वाचनाचार्यस्याभाव्यं क' पुनस्तां नयतीत्याह ।

पंचएहं एगयरे, उग्गहवज्जं तु लभति सचित्तं ।
आपुच्छ अट्ठपक्खे, इत्थीसत्थेण संविग्गो ॥

पञ्चानामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकानामेकतर' संयतीर्नयति तत्र च सचित्तादिकं परक्षेत्रावग्रहवर्जं स एव लभते निर्ग्रन्थी च ज्ञानार्थं व्रजन्ती अष्टौ पक्षानापृच्छति । तत्राचार्यमेक पक्षमापृच्छति यदि न विसर्जयति तत उपाध्यायं वृषभ गच्छं चैवमेव पृच्छति सयतीवर्गेऽपि प्रवर्त्तिनी गणावच्छेदिकाभिषेकाशेषसाध्वीर्यथाक्रममेकैकं पक्षमापृच्छति। ताश्च स्त्रीसार्थेन समं संविग्नेन परिणतवयसा साधुना नेतव्याः ।

(सूत्रम्) भिक्खू गणाओ अवक्कम्म इच्छिज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्ता ते य से वियरंति । एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए । ते य से न वियरिज्जा एवं से नो कप्पइ जाव विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा । एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगे पडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए जत्थुत्तरियं धम्माविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं जाव विहरित्तए ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं सांभोगिकमण्डल्यां समुद्देशिनादिरूपस्तत्प्रत्ययनिमित्त "जत्थुत्तरियमित्यादि" यत्र उत्तर प्रधानतरं धर्मविनयं स्मारणधारणादिरूपां धार्मिकीं भिक्षां लभेत एवं (से) तस्य कल्पते अन्य गणमुपसपद्य विहर्तुं यत्रोत्तर धर्मविनय नो लभेत एव (से) तस्य नो कल्पते उपसपद्य विहर्तुमिति सूत्रार्थः। अथ भाष्यम्।

संभोगो वि हु तिहि का--रणेहिं नाणट्ठदंसणचरित्ते ।
संकमणे चउभंगो, पढमो गच्छम्मि सीयंते ॥

सांभोगिकोऽपि त्रिभिः कारणैरिष्यते तद्यथा ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं च। तत्र ज्ञानार्थं दर्शनार्थं च यस्योपसंपदं प्रतिपन्नस्तस्मिन् सूत्रार्थदानादौ सीदति गणान्तरे संक्रमणे स एव विधेयः पूर्वसूत्रे भणितश्चारित्रार्थं तु यस्योपसंपन्नस्तत्र चरणकरणक्रियायां सीदति चतुर्भङ्गी भवति। गच्छः सीदति नाचार्यः।१। आचार्यः सीदति न गच्छः।२। गच्छोऽप्याचार्योऽपि सीदति।३। न गच्छो नाचार्य इति।४। अत्र प्रथमो भङ्गो गच्छे सीदति मन्तव्यस्तत्र च गुरुणा स्वयं वा गच्छस्य नोदना कर्त्तव्या कथं पुनः स गच्छः सीदेदित्याह।

पडिलेहादिपमज्जणपक्खेवण, निक्खिवआदाणविणयसज्झाए।
आलोगठवणभत्त-ट्ठभासपडलसंज्जातराईसु ॥

ते गच्छसाधवः प्रत्युपेक्षणा कालेन कुर्वन्ति न्यूनातिरिक्तादिदोषैर्वा विपर्यासेन वा प्रत्युपेक्षन्ते गुरुग्लानादीनां वा न प्रत्युपेक्षन्ते निष्कारणादिना वा वर्त्तयन्ति दण्डकादिकं निक्षिपन्त आददतो वा न प्रत्युपेक्षन्ते न वा प्रमार्जयन्ति दुष्प्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं वा कुर्वन्ति यथार्हं विनयं न प्रयुञ्जते। स्वाध्यायं सूत्रपौरुषीं वार्थपौरुषीं वा न कुर्वन्ति। अकाले अस्वाध्याये वा कुर्वन्ति पाक्षिकादिषु आलोचनां न प्रयच्छन्ति। अथवा आलोचयन्ति " ठाणे दिसि पगासेण वा" इत्यादिकं सप्तविधमालोकं न प्रयुञ्जते संखडीं वा आलोकान्त स्थापना कुलानि स्थापयन्ति भक्तार्थं मण्डल्यां समुद्देशनं न कुर्वन्ति गृहस्थभाषाभिर्भाषन्ते सावद्यं वा भाषन्ते पटलकेऽप्यानीतं भुञ्जते। शय्यातरपिण्डं भुञ्जते आदिग्रहणेनाऽस्माकशुद्धं गृह्णन्ति। इतरेषु गच्छस्य सीदतो विधिमाह।

चोयावेई गुरुणा, विसीयमाणं गणं सयं वा वि।
आयरियं सीअंतं, सयं गणेणं व चोयावे ॥

प्रथमभङ्गे सामाचार्यां विषीदन्तं गच्छं गुरुणा नोदयति। अथ वा स्वयमेव नोदयति। द्वितीयभङ्गे आचार्यं सीदन्तं स्वयं वा गणेन वा नोदयति।

दुण्हि वि विसीयमाणे, सयं व वा जे तहिं न सीयंति।
ठाणं ठाणासज्जंत, अणुलोमाईहिं चोएति ॥

तृतीयभङ्गे गच्छाचार्यौ द्वावपि सीदन्तौ स्वयमेव नोदयति ये वा तत्र न सीदन्ति तैर्नोदयति। किं बहुना स्थानं स्थानमासाद्य माध्यानुलोमादिभिर्वचोभिर्नोदयति। किमुक्तं भवति। आचार्योपाध्यायादिकं भिक्षुक्षुल्लकादिकं वा पुरुषवस्तु ज्ञात्वा यस्य यादृशी नोदना योग्या यो वा खरसाध्यो मृदुसाध्यः क्रूरोऽक्रूरो वा यथा नोदनां गृह्णाति तं तथा नोदयेत्।

भणमाणे भणाविंते, अयाणमाणम्मि पक्खो उक्कोसो।
लज्जए पंच तिन्नि व, तुह किंति विपरिणए विवेगो ॥

गच्छमाचार्यमुभयं वा सीदन्तं स्वयं भणेत् अन्यैश्च भाणयन्नास्ते यत्र न जानाति एते भण्यमाना अपि नोद्यमं करिष्यन्ति तत्रोत्कर्षतः पक्षमेकं तिष्ठति गुरुं पुनः सीदन्तं लज्जया गौरवेण वा जानन्नपि पञ्च त्रीन् वा दिवसान् अभणन्नपि शुद्धम्। अथाभाष्यमाणो गच्छो गुरुरुभयं भणेत्। भवतः किं दु:खयति यदि वयं सीदामस्तर्हि वयमेव दुर्गतिं गमिष्याम। एवं विधिना भावेनैव तेषां परिणतेर्विवेकस्ततः परित्यागो विधेयस्ततश्चान्यं गणं संक्रामति तत्र चतुर्भङ्गी संविग्नः संविग्नगणं संक्रामति १ संविग्नोऽसंविग्नम् २ असंविग्नः संविग्नम् ३ असंविग्नोऽसंविग्नम् ४ तत्र प्रथमो भङ्गस्तावदुच्यते।

संविग्गविहाराओ, संविग्गा दुन्नि एज्ज अन्नयरो।
आलोइयम्मि सुद्धो, तिविहो उ विहिं मग्गणा नवरिं ॥

संविग्नविहारात् संविग्नौ द्वौ अन्यतरो गीतार्थोऽगीतार्थो संविग्ने गच्छे समागच्छेतां स च गीतार्थोऽगीतार्थो वा यातो दिवसान् संविग्ने भ्यः स्फिटितस्तद्दिनादारभ्य सर्वमप्यालोचयति आलोचिते च शुद्धः। नवरं त्रिविधोपधेर्यथाकृतादिरूपस्य मार्गणा कर्त्तव्या। इदमेव व्याचष्टे।

गीयमगीतो गीते, अप्पडिवद्धे ण होइ उवघातो।
अगीयत्थस्स वि एव, जेण सुता ओहनिज्जुत्ती ॥

स संविग्नो गीतार्थोऽगीतार्थो वा। यदि गीतार्थो व्रजिकादिषु अप्रतिबद्धः आयातः ततः उपधेरुपघातो न भवति तदा प्रायश्चित्तम्। अगीतार्थस्य येन जघन्यतः ओघनिर्युक्तिः श्रुता तस्याप्येवमेवाप्रतिबध्यमानस्य नोपधिरुपहन्यते।

गीयाण व मिस्साण व, दुण्ह वयंताण वइयमाईसु।
पडिवज्जंताणं पि हु, उवहिं तह गेण्ह चारुवणो ॥

द्वयोर्गीतार्थयोर्गीतार्थागीतार्थविमिश्रयोर्वा व्रजतोर्व्रजिकादिषु प्रतिबध्यमानयोरप्युपधिर्नोपहन्यते न वा आरोपणा प्रायश्चित्तं भवति। एवमेकोऽनेके वा विधिना समागता यत्प्रभृति गणान्निर्गतास्ततः आरभ्यालोचनां ददन्ति। अथ त्रिविधोपधिमार्गणा॥६॥

आगंतु अहागडयं, वत्थव्व अहाकडस्स असईए।
मेलिंति मज्झिमेहिं, मा गारव कारणमगीए ॥

तस्य गीतार्थस्यागीतार्थस्य वा त्रिविध उपधिर्भवेत्। तद्यथा यथाकृतोऽल्पपरिकर्मा सपरिकर्मा वा वास्तव्यानामप्येवमेव त्रिविध उपधिर्भवति। तत्र यथाकृतो यथाकृतेन मील्यते अल्पपरिकर्मा अल्पपरिकर्मणा सपरिकर्मा सपरिकर्मणा। अथ वास्तव्यानां यथाकृतो नास्ति ततः आगन्तुकस्य यथाकृतं वास्तव्यमध्यमैरल्पपरिकर्मभिः सह मीलयन्ति किं कारणमिति चेदत आह। माऽसौ मीलितः सन् अगीतार्थस्य मदीय उपधिरुत्तमसांभोगिकः अतोऽहमेव सुन्दर इत्येवं गौरवकारणं भवेदिति।

गीयत्थे ण मिलिज्जइ, जो पुण गीओ वि गारवं कुणइ।
तस्सुवही मेलिज्जइ, अहिगरणअपच्चओ इहरा ॥

गीतार्थो यद्यगौरवी ततस्तदीयो यथाकृतः प्रतिग्रहो वास्तव्ययथाकृताभावे ऽल्पपरिकर्मभिः सह न मीलयन्ति किं तु उत्तमसांभोगिकाः क्रियन्ते। यस्तु गीतार्थोऽपि गौरवं करोति तस्य कृते वास्तव्याल्पपरिकर्मभिः सह मील्यते किं कारणमिति चेदत आह (इहरत्ति) यदि यथाकृतपरिभोगेन परिशुध्यते तदा केनाप्यजानता अल्पपरिकर्मणा समं मेक्षितं दृष्ट्वा स गीतार्थोऽधिकरणमसखण्डं कुर्यात् किमर्थं मदीय उत्कृष्टोपधिरशुद्धेन सह मीलित इति। अप्रत्ययो वा शैक्षाणां भवेत्। अयमेतेषां सकाशादुद्युक्ततरविहारी येनोपधिमुत्कृष्टं परिभुङ्क्ते एते तु हीनतरा इति।

एवं खलु संविग्गा-संविग्गे संकमं करेमाणे।
संविग्गासंविग्गे, संविग्गे वा वि संविग्गे ॥ ३ ॥

एवं खलु संविग्नस्य संविग्नेषु संक्रमं कुर्वाणस्य विधिरुक्तः। अथ संविग्नस्यासंविग्नेषु संक्रामतोऽसंविग्नस्य वा संविग्नेषु संक्रामतो विधिरुच्यते। तत्र संविग्नस्यासंविग्नसंक्रमणे तावदिमे दोषाः।

सीहगुहं वग्घगुहं, उदहिं व पलित्तं व जो पविसे।

असिवं ओमोयरियं, धुवं से अप्पा परिच्चत्तो ॥
सिंहगुहां व्याघ्रगुहामुदधिं समुद्रं प्रदीप्तं वा नगरादिकं यः प्रविशति अशिवमवमौदर्यं वा यत्र देशे तत्र यः प्रविशति तेन ध्रुवमात्मा परित्यक्तः ।

चरणकरणप्पहीणे, पासत्थे जो उ पविसए समणो ।
जतमाए य पहिउं, सो ठाणे परिच्चयइ तिन्नि ॥
एवं सिंहगुहादिस्थानीये चरणकरणप्रहीणे पार्श्वस्थे यः श्रमणो यतमानान्संविग्नान् प्रहाय परित्यज्य प्रविशति स मन्दधर्म्मा त्रीणि स्थानानि ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाणि परित्यजति । अपि च सिंहगुहादिप्रवेशे एकमेवैकमरणं प्राप्नोति पार्श्वस्थेषु पुनः प्रविशन्ननेकानि मरणानि प्राप्नोति ।

एमेव अहाछंदे, कुसीलओसन्नणीयसंसत्ते ।
ज तिरिणि परिच्चयइ, नाणं तह दंसणचरित्तं ॥
एवमेव पार्श्वस्थवत् यथाच्छन्देषु कुशीलावसन्ननित्यवासिसंसक्तेषु च विशतो मन्तव्यम् । यश्च त्रीणि स्थानानि परित्यजतीत्युक्तं तज्ज्ञानं दर्शनञ्चारित्रं चेति द्रष्टव्यं गतो द्वितीयो भङ्गः ।
अथ तृतीयभङ्गमाह ।

पचरहं एगयरे, संविग्गो संकमं करेमाणो ।
आलोइए विवेगो, दोसु असंविग्गसच्छंदो ॥
पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दानामेकतरं संविग्नेषु संक्रमं कुर्वन् प्रथममालोचनां ददाति । तत आलोचितेऽविशुद्धोपधेर्विवेकं करोति स च यदि चारित्रार्थमुपसम्पद्यति ततः प्रतीच्छनीयो यस्तु द्वयोर्ज्ञानदर्शनयोरर्थयोः संविग्नमुपसम्पद्यते तस्यास्वच्छन्दः स्वाभिप्रायो नासौ प्रतीच्छनीय इति भावः ।

पचेगतरे गीये, आउवियवते जयंति एतम्मि ।
ज उवहिं उप्पाए, संभोइयसेसमुज्झंति ॥
तेषां पञ्चानां पार्श्वस्थादीनामेकतर आगच्छन् यदि गीतार्थः स्वतः स्वयमेव महाव्रतान्युच्चार्यारोपितव्रतो यतमानो व्रजिकादावप्रतिबध्यमानो मार्गे यमुपधिमुत्पादयति स सांभोगिकः (सेसमुज्झन्तित्ति) यः प्राक्तनः पार्श्वस्थोपधिरविशुद्धस्तं परिष्ठापयति य पुनरगीतार्थस्य उपधिस्तस्य चिरंतनोऽभिनवोत्पादितो वा सर्वोऽपि परित्यज्यते ।
तेषु चाऽयमालोचनाविधिः ।

पासत्थाई मुंडिए, आलोयणा होइ दिक्खपभिइं तु ।
संविग्गपुराणे पुण, जप्पभिइ चेव ओसन्नो ॥
यत्पार्श्वस्थादिभिरेव मुण्डितः प्रव्राजितस्तस्य दीक्षादिनादारभ्यालोचना भवति यस्तु पूर्वं संविग्नः पश्चात्पार्श्वस्थो जातस्तस्य संविग्नपुराणस्य यत्प्रभृत्यवसन्नो जातस्तद्दिनादारभ्यालोचना भवति ।

(८) गणावच्छेदको गणादपक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसम्पद्य संभोगप्रतिज्ञया विहर्तुम् ।

(सूत्रम्) गणावच्छेइए य गणादवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए णो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अणिक्खिवित्ता संभोगपडियाए जाव विहरित्तए कप्पति । स गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता जाव विहरित्तए णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए कप्पति से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए ते य से वितरंति एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए तया से नो विहरंति एवं से णो कप्पइ जाव विहरित्तए जत्युत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पति अन्नं गणं स जाव विहरित्तए । जत्युत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा एवं से णो कप्पति अन्नं गणं स जाव विहरित्तए जत्युत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्ज एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए । आयरिय उवज्झाए य गणादवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए णो से कप्पइ आयरिय उवज्झाए य गणं लभेज्जा एवं से णो अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए जाव विहरित्तए णो से कप्पइ । आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अन्नं गणं स जाव विहरित्तए कप्पति से आयरिय उवज्झायत्त णिक्खिवित्ता जाव विहरित्ता णो से कप्पति अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव विहरित्तए । ते य से विहरंति । एव से कप्पति जाव विहरित्तए ते य से णो विहरति एवं से णो कप्पति जाव विहरित्तए जत्युत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ जाव विहरित्तए जत्युत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा एव से नो कप्पति जाव विहरित्तए ।
अस्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या पूर्ववत् । अथ भाष्यम् ।

एमेव गणावच्छेदिए, गणिआयरिए वि होइ एमेव ।
णवरं पुण णाणत्तं, एते नियमेण गीयाओ ॥
एवमेव गणावच्छेदिकस्य तथा गणिन उपाध्यायस्य आचार्यस्य च सूत्रं मन्तव्यं नवरं पुनरत्र नानात्वं एते नियमात् गीतार्था भवन्ति नागीतार्थाः । बृ० ४ उ० । नि० चू० ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू वुसियराइयाओ गणिओ अवुसाएइयं गणं संकमतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

वुसिराहिया गणातो, जे भिक्खू संकमे य अवुसिं वा ।
अवुसाराइगणं वा, सो पावति आणमादीणि ॥ ३८५ ॥
वुसितितो वुसिरातिय चउभंगो कायव्वो चउत्थभंगो अवत्थु ते तियभंगे किं पडिसेहो आचार्य आह तत्थ णो पडिसेहो कारणे पुण पढमे भगे उवसपदं करेति सा य उवसंपया काल पडुच्च तिविहा इमा ।

छम्मासे उवसंपदे, जहराण वारससमाउ मज्झिमिया ।
आवकहा उक्कोसो, पडिच्छसीसे तु जे जीवं ॥ ३५७ ॥
उवसंपदा गाहा जहन्ना मज्झिमा उक्कोसा जहन्ना छम्मासे मज्झिमा वारसवरिसे उक्कोसो जावज्जीव एव पडिच्छगस्स सिस्स्स एगविहा चेव जावज्जीव आयरियो ण मोत्तव्वो ।

छम्मासे य अपूरेंता, गुरुगा वारससमासु चउलहुगा ।
तेण परमासियत्तं, भणितं पुण आरतो कज्जे ॥ ३६० ॥
जेण पडिच्छगेणं छम्मासिता उवसंपया कता सो जति छम्मासे अपूरेत्ता जाति तस्स चतुगुरुगा । जेण वारस वरिसा

कता त अपूरेत्ता आह चउलहु । जेण आवज्जीव उवसंपदा कता तस्स मासलहुं छम्मासाणं परेणं णिक्कारणे गच्छंतस्स मासलहुं । जेण बारससमा उवसंपदा कता तस्स वि छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुआ चेव बारससमातो परेण मासलहुं चेव जेण जावजीवे उवसंपदा कता तस्स छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुगा चेव तस्सेव बारससमाओ अपूरेंतस्स चउलहुगा एस सोही गच्छतो णितस्स भणिता ॥ नि०चू० उ० १६ ॥

(९) कुगुरौ सत्यन्यत्रोपसम्पत्

से भयवं जया णं गणिणा गच्छे तिविहेणं वोसिरिए विज्जा तया णं ते गच्छे आदरेज्जा जइ संविग्गभवित्ताणं जहु तं पच्छित्तमणुचरित्ताणं अन्नस्स गच्छाहिवइणो उवसंपज्जित्ता णं समग्गमणुसरेज्जा तओ णं आयरिज्जा अहाणं सच्छंदत्ताए तहेव चिट्ठे तओ णं चउविहस्सत्ति समणसंघस्स वज्जतं गच्छं मो आयरेज्जा। महा०-७ अ० ।

(सामायिकसंयतादय सामायिकसंयतत्वादिकं जहतः किमुपसंपद्यत इति संजयशब्दे) (समायिकार्थमन्यत्रोपसंपत्सामाइयशब्दे वक्ष्यते) (श्रुतमार्गसुखदुःखाद्युपसंपदमधिकृत्याऽऽभवद् व्यवहारः ववहारशब्दे वक्ष्यते)

उवसंपयाकप्प-उपसंपत्कल्प पुं० उपसंपद्विधौ,

उवसंपदा य कप्पं, एत्तो उ समासतो वोच्छं ॥
दुविहम्मि आगमम्मि उ, पन्नवणा चेव आयरणता य ॥
पन्नवणगहणअणुपा-लणा य उवसंपदा होति ।
आगमहेउ उवसंपदाउ, स य आगमो भवे दुविहो ॥
सुत्तं अत्थो य तहा, पारगते तत्थ उवसंपा ।
दो आयरियप्पे-रग कत्थ तहिं कुज्जा ॥
जो निउणतरं भासति, अह निउणं दो वि भासंति पं० भा०

इयाणिं उवसंपया कप्पो तत्थ गाहा दुविहम्मि भा दुविहा उवसंपया आगमनिमित्त उवसंपज्जिज्जइ सुत्तनिमित्त अत्थनिमित्तं वा अहवा ते आयरिया परूवेऊण सुत्तपयाणि उस्सग्गाववाएसु गाढं जाणंति अहवा गाढतरं तत्थ आचरणा पमिलेहणाइसु अहवा ते पन्नवण धम्मकहाए अक्खेवणाइसु धम्मपन्नवण निरागं जाणंति तए किरि सिक्खियव्वं धम्मकहिस्स वा गाहणा ते आयरिया गाहणाकुसला अणुयत्तन्ति वा ते आयरिया गिलाणाइसु कारणेसु अणुवालेति वा मूलगुणाइ एव परूवणाइसपज्जो उवसंपज्जियव्वो पयवहरिसो न उवसंपज्जियव्वो जइ वि गीयत्थो होइ जे पुण असंविग्गाइयो उवसंपज्जइ परूवणाइसपज्जति काऊण गाहा वत्तणा संघणा वत्तणा नाम सुत्तस्स परियट्टणा अत्थस्स गुणणा संधणा सुत्तत्थाण पच्चुच्चारणा गहए अभिणवाण सुत्तत्थाण चेव गाहा ततिया जो सो उवसंपज्ज तओ सो गच्छं परिच्छइ सो वा गच्छेण परिच्छिज्जइ तयाओ निक्कारणे आमुचति वच्चइ चलणाणि वा निक्कारणे धुवनि मरयंति वा य मज्जणाइ मन्ठाइ गहणनिक्खेवणा भवइ माणेत्ति निक्खमणपवेसे आवासियनिसीहियाओ नत्थि सुत्तत्थतदुभयाणि वा न करेंति मोणेण इच्छति पयाणि उवसंपज्जमाणो न कुज्जा गच्छे वा पक्खमाइ नत्थि पच्छा सारणया वा विसग्गो वा जइ वसठाइनिमित्तमुवसंपन्नो न वसइ न सेवइ अभिणव वा न गेण्हइ सारिउं पच्छा विसग्गो जो पुण पासत्थाइ उवसंपज्जइ तत्थ गाहा सिद्ध सीमुद्द चरणकरण गाहा सिद्धं एमेव अहाछंदे सिठ को पुण अरिहो कत्थ उवसंपज्जियव्व पसोवहि तत्थेमे चत्तारि गच्छा एगो पसपाणं देइ गिण्हइ वि । एगो देइ न गेण्हइ । एगो गेण्हइ न देइ । एगो न देइ न गेण्हइ । तत्थ पढमे उवसंपज्जियव्वं सेसा भाणुन्नाया विइए लाभ न लभइ गिलाणाइसु कज्जेसु तइए भंगे गिलाणस्स से न कोइ किंचि करेइ अठवसठस्स मरणदोसा चउत्थो असेज्जपव्वं पढमे गुणा पसोवहिसयणासणाईसु गहणदाणे य हठगिलाणाइकज्जेसु अवरो परस्स पयाणि जत्थ कीराति तत्थ अणुन्नाय गाहा सिद्ध च जो पुण सुहू आयरियं दुलहं कणयपुच्छियो असुयस्स आयरियस्स पासे ; कीस नट्ठिओ सि न पढओ वा भणइ तस्स असुओ नाम दोसो अप्पियसज्झायाइ जइ य ते तस्स दोसा नत्थि ताहे तमावज्जइ ज दोसें भणइ ज च असुहस्स मूले अवसपज्जइ त च तय आवज्जइ । एव ता उवसंपज्जइ । इयाणिं उवसंपयारिहो जइ असुहं असुगो नाम एयस्स दोसो अविणियइ त जइ पमिच्छइ ताहे छट्टाणघाइ तट्ठाणमावज्जइ ज च असुह रागेण पडिच्छइ जे तस्स दोसा ने आवज्जइ वोसट्ठि तिठाणो नाम नाणदरिसणचरित्ताणि करिसो आयरियो अणरिहो उवसंपदं प्रति गाहा आहारे उच्यते जो आहारोवही उ अह लभिस्सामीति संगह करेइ पडिच्छमाणं च ततो लज्जामि अणरिहे वा तितिणियादओ वा चेतियसट्टीए वा आकड्डिसमाकड्डी काऊण वा वयति सो वि नोवसंपज्जियव्वो । जो पुण एगतनिज्जरठी पंचहिं ठाणेहिं वा एहिं संगहोवग्गह अव्वोच्छित्ती नयट्ठयाए सो उवसंपज्जियव्वो । वायणारिहो वि नाणदसण अहाय्थि भावा जाणणट्ठयाए वा पढए सो वायव्वो तस्स पुण वायंतस्स पयाणि चेव आहारोवहिमाईणि लब्भंति एए चेव ठाणवायणाइ वि लभयति रागेण यामव हायविजहो तित्थस्स अणुवमया इति कह तस्स प्रकास च भवति गणहारिस्स आहारो एस उवसंपयाकप्पो पं०चू०

उवसंपयसंकप्पो, सुगुरुसगासे गिही असुतत्थो ।
तदहिअगहणसमत्थो, अणुन्नाउ तेण संपज्जो ॥ ८६ ॥

उपसंपदानां संकल्पो व्यवस्था स्वगुरुसकाशे यथा संभवं गृहीतसूत्रार्थः सन्नतप्रथमतया तदधिकग्रहणसमर्थः प्राज्ञः सन्न तु ज्ञातस्तेन गुरुणोपसंपद्यते विवक्षितसमीप इति गाथार्थः। तत्रापि ।

सप्परिणयपरिवारं, अप्परिवारं च णाणुजाणावे ।
गुरुमेसोवि सय विअ, एतदभावे ण धारिज्जा ॥ ८७ ॥

सपरिणतपरिवारं शिक्षकप्रायपरिवारमपरिवारं चैकाकीप्रायं नानुज्ञापयेद्गुरु शिष्योऽनेकदोषप्रसङ्गा(द्दोषो)ऽपि गुरुः स्वयमेवैतदभावेपरिणतपरिवाराद्यभावे न धारयेद्विसर्जयेदिति गाथार्थः । तत्र

संदिट्ठो संदिट्ठस्स, अतिए तत्थ मिह परिक्खाओ ।
साहुअमग्गे वाअण, तिदुवारे गुरुसम्मए चागो ॥ ८८ ॥

सदिष्टः सन् गुरुणा सदिष्टस्य गुरोः समीपे उपसंपद्येतेति वाक्यशेषस्तत्र मिथः परस्परं परीक्षा भवति । तयोः साधूनामभार्गे वादनं करोत्यागन्तुक मिथ्यादुष्कृतादाने त्रयाणामुपरि गुरुकथनं तत्सम्मते शीतलतया त्यागः असम्मते निवासस्तेषामपि तं प्रत्ययमेव न्याय इति गाथार्थः ।

गुरुफरसाहिगकहणे, सुजोगओ अह निवेअणं विहिणा ।
भुअखधादिउ निअमो, आहव्वणुपालणा चेव ॥ ८९ ॥

गुरोरपि तं प्रति परुषाधिककथनं जीत वर्तते सुयोगतः प्रतिपत्तिशुद्धौ सत्यामथानन्तर निवेदन गुरवे विधिना प्रवचनोकेनोपदिशेत्तित्यर्थः । तत्र श्रुतस्कन्धादौ नियम एतावन्त कालं

यावदित्येवमर्हदादिसाक्षिकी स्थापना कायोत्सर्गपूर्विकेत्यन्ये तत्र यनियमश्चाऽयमाभाव्यानुपालना शिष्येण नाद्यकल्पमेवं शि-ष्येण नालबद्धवल्ल्याद्यतिरिक्तादयं गुरुणाऽपि सम्यक्पालनीय इति गाथार्थः । इह प्रयोजनमाह ।

अस्सामित्तं पूआ, इअरो वेक्खाए जो अमुहज्जाओ ।

परिणमइ सुअआहन्ना-दाणागहणं अओ चेव ॥ ९० ॥

अस्वामित्वं भवति नि सङ्गतेत्यर्थः तथा पूजा गुरोः कृता भवति इतरापेक्षयाऽनालबद्धवल्लिनिवेदनेनेतरगुर्वपेक्षयेति भावः । तथा जीतमिति कल्पोऽयमेव एव भगवता दृष्ट इति श्रुतभावादित्य-नेन प्रकारेण शुभाशयोपपत्तेः परिणमति श्रुतं यथाहेतया चारित्र-शुद्धिहेतुत्वेन शिष्यस्य नान्यथत्याभाव्यादान शिष्येण कर्त्तव्यं ग्रहणमत एव तस्य गुरुणाऽपि कर्त्तव्य तदनुग्रहधियामहोमा-दिति गाथार्थः । पं० व० ७ द्वा० ।

उवसंहार-उपसंहार-पुं० उप-सम्-हृ-घञ्-समाप्तौ, स च ग्रन्थतात्पर्य्यावधारकलिङ्गभेदः " उपक्रमोपसंहारौ हेतुस्तात्प-र्य्यनिर्णये " इत्युक्ते तत्रोभयोरेव तरूतुत्व न तु प्रत्येकस्य सङ्क्षेपे सम्यग् हरणे, श्रुतार्थस्यान्यत्रान्वयार्थमुपक्षेपे, यथा गुणोपसंहारः । वाच० ।

उवसग्ग-उपसर्ग-पुं० उप-सृज्-घञ्-उपसृज्यन्ते धातुसमीपे युज्यन्ते इत्युपसर्गाः । प्रश्न० ४ द्वा० । प्रश्नव्याकरणोक्तेषु, नि-पाताश्चादयो ज्ञेया प्रादयस्तूपसर्गकाः । " द्योतकत्वात् क्रिया-योगे लोकादवगता इमे " इत्युक्तलक्षणेषु क्रियायोगे प्रादिषु , तेषां त्रिधा प्रवृत्तिः " धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते । तमेव विशिनष्टयन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा । क्रमेणोदाहरणानि यथा आदत्ते प्रसूते प्रणमतीति । अपि च " उपसर्गेण धा-त्वर्थो, बलादन्यत्र नीयते । प्रहाराहारसंहार-विहारपरिहार-वत् " प्रादयस्तूपसर्गा न सार्थका सार्थकाश्च चादयो निपाता वाचकत्वात् । " उपसर्गास्तु उभयेऽपि द्योतका इति मेनिरे " वाच० । पो वः । ८ । १ । २३१ । इति पस्य वः । प्रा० । उपसृज्यन्ते क्षिप्यन्त च्याव्यन्ते प्राणिनो धर्मादेभिर्येषु इत्युपसर्गाः । देवादि-कृतोपद्रवेषु, स्था० १० ठा० । पचा० । आ०म० । आ०चू० ।

(१) उपसर्गव्याख्या ।

(२) उपसर्गनिक्षेप ।

(३) तत्कारिभेदादुपसर्गभेदाः ।

(४) उपसर्गसहनम् ।

(५) संयमस्य रूक्षत्वम् ।

(६) अनुकूलोपसर्गसहनम् ।

(१) अथोपसर्गान् व्याख्यातुमाह ।

उवसज्जणमुवसग्गो, तेण तओवसज्जए जम्हा ।

उपसर्जनमुपसर्गः । अथवा करणसाधन उपसृज्यते संबध्यते पीडादिभिः सह जीवस्तेनेत्युपसर्गः । अथवा कर्म्मसाधनः उपसृज्यते संबध्यते तत्कोऽसावेव तदुपसर्गः । अथवा अपादा-नसाधनः ततस्तस्मादुपसर्गोऽजीव उपसृज्यते सबध्यते पीडा-दिभि सह यस्मात्तत उपसर्गः । विशे० । उत्त० ।

(२) उपसर्गनिक्षेपो यथा ।

उवसग्गम्मि य छक्कं, दव्वे चेयणमचेयणं दुविहं ।

आगंतुगो य पीला-करो य जो सो उ उवसग्गो ॥ १॥

नामस्थापनात् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् उपसर्गो षोढा । तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्योपसर्गं दर्शयति । द्रव्ये द्र-व्यविषये उपसर्गो द्विधा यतस्तद्द्रव्यमुपसर्गकर्तृ चेतनाचेतनभे-दात् द्विविधम् । तत्र तिर्यङ्मनुष्यादयः स्वायवयवाभिघातेन यदु-पसर्गयन्ति स सचित्तद्रव्योपसर्गः स एव काष्ठादिनेतरस्तत्क्षे-त्रादपर्यायैर्व्याख्यातः । तत्रोपसर्ग उपतापः शरीरपीडोत्पादन-मित्यादिपर्यायाः । भेदाश्च तियङ्मनुष्योपसर्गादयः । नामादय-श्च तत्र व्याख्यातु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति । अपर-स्मादिव्यादेरागच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारीति ॥१॥ क्षेत्रोपसर्गानाह ।

खेत्तं बहुओघपयं, कालो एगंतदूसमादीओ ।

भावे कम्मस्सुदओ, सो दुविहो ओघुवक्कमिओ ॥ २ ॥

यस्मिन् क्षेत्रे बहून्योघतः सामान्येन पदानि क्रूरचौराद्युपसर्ग-स्थानानि भवन्ति तत्क्षेत्रं बह्वोघपदम् । पाठान्तरं वा बह्वोघभयं बहून्योघतो भयस्थानानि यत्र तत्तथा । तच्च लाढादिविषयादिकं क्षेत्रमिति । कालस्त्वेकान्तदुःषमादि, आदिग्रहणात् यो यस्मि-न् क्षेत्रे दुःखोत्पादको ग्रीष्मादि, स गृह्यत इति । कर्मणां ज्ञानावरणादीनामभ्युदयो भावोपसर्ग इति । स च उपसर्गः सर्वोऽपि सामान्येन औघिकोपक्रमिकभेदात् द्वेधा । तत्रौघिकोऽ-शुभकर्मप्रकृतिजनितभावोपसर्गो भवति । औपक्रमिकस्तु दण्ड-कशाशस्त्रादिनाऽसातवेदनीयोदयापादक इति ॥ २ ॥

(३) तत्रौघिकौपक्रमिकयोरुपसर्गयोरौपक्रमिकमधिकृत्याह ।

ओवक्कमिओ संयम-विग्घकरे तत्थुवक्कमे पगयं ।

दव्वे चउव्विहो दे, व माणुयतिरिया य संवेतो ॥ ३ ॥

उपक्रमणमुपक्रमः । कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणमित्यर्थः । एतच्च यद्द्रव्योपयोगात् येन वा द्रव्येणाऽसातवेदनीयाद्यशुभं कर्म्मोदीर्यते यदुदयाच्चाल्पसत्वस्य संयमविघातो भवति अत औपक्रमिक उपसर्गः संयमविघातकारीति । इह च यतीनां मोक्षं प्रति प्रवृत्तानां संयमो मोक्षाङ्गं वर्तते तस्य यो विघ्नहेतुः स एवाधिक्रियत इति दर्शयति । तत्रौघिकोपक्रमिकयोरौपक्र-मिके प्रकृतं प्रस्तावस्तेनात्राधिकार इति यावत् । स च द्रव्ये द्रव्यविषयश्चिन्त्यमानश्चतुर्विधो भवति । तद्यथा दैविको मा-नुषस्तैरश्च आत्मसंवेदनश्चेति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

चउव्विहा उवसग्गा पण्णत्ता तं जहा दिव्वा माणुसा ति-रिक्खजोणिया आयसंचेयणिज्जा । दिव्वा उवसग्गा चउ-व्विहा पण्णत्ता तं जहा हासा पओसा वीमंसा पुढोवेमाया । माणुस्सा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा हासा पओ-सा वीमंसा कसीलपडिसेवणया । तिरिक्खजोणिया उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा भया पदोसा आहारहेउं अव-च्चलेण सारक्खणया । आयसंचेयणिज्जा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा घट्टणया पवडणया थंभणया लेसणया ।

सुगमं प्रक्रमाह कण्ठ्यश्चेद नवरमुपसर्जनान्युपसृज्यते धर्मा-त्प्रच्याव्यते जन्तुरेभिरित्युपसर्गा बाधाविशेषास्ते च कर्तृभेदाच्च-तुर्विधा । आह च " उवसज्जणमुवसग्गो तेण तओ उवसग-ज्जिए जम्हा । सो दिव्वमणुयतेरिच्छ आयसंचेयणा भेयत्ति ॥१॥ आत्मना सञ्चेत्यन्ते क्रियन्त इत्यात्मसञ्चेतनीया तत्र दिव्याः । (हासत्ति) हासाद्भवन्ति हासस्य भूतत्वात् वा हासा उपसर्गा एवं त्वेवमन्यत्रापि । यथा भिक्षार्थं ग्रामान्तरप्रस्थितक्षुल्लकैर्व्यन्तर्या उपयाचितं प्रतिपन्नं यदीप्सितं लप्स्यामहे तदा तवोचेरिकादि

(४) सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे तृतीयाऽध्ययने उपसर्गसंज्ञे तत्र तावदुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह ।

पढमम्मि य पडिलोमा, हुंती अणुलोमगा य बितियम्मि ।
तइए अज्झत्तविसी–दणं य परवादिवयणं च ॥ ५ ॥

प्रथमे उद्देशके प्रतिलोमाः प्रतिकूला उपसर्गाः प्रतिपाद्यन्त इति । तथा द्वितीये ज्ञातिकृताः स्वजनापादिना अनुलोमा अनुकूला इति । तथा तृतीये अध्यात्मविषीदनं परवादिवचनं चेत्ययमर्थाऽधिकार इति ॥

हेउसरिसेहिँ अहेउएहिँ, समयपडिएहिँ णिउणेहिँ ।
सीलखलितपन्नवना, कया चउत्थम्मि उद्देसे ॥ ६ ॥

चतुर्थोद्देशके अयमर्थोऽधिकार तद्यथा हेतुसदृशैर्हेत्वाभासैरन्यतैर्थिकैर्व्युद्ग्राहिताः प्रतारितास्तेषां शीलस्खलितानां व्यामोहितानां प्रज्ञापना यथाऽवस्थितार्थप्ररूपणा स्वसमयप्रतीतैर्निपुणभणितैर्हेतुभिः कृतेति । साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् ॥

सूरं मणइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥ १ ॥

कश्चिल्लघुप्रकृतिः संग्रामे समुपस्थिते शूरमात्मानं मन्यते । निस्तोयाम्बुद इवात्मश्लाघाप्रवणो वाग्भिर्विस्फूर्जन् गर्जति । न मत्कल्पः परानीके कश्चित्सुभटोऽस्तीत्येवं तावद्गर्जति यावत् पुरोऽवस्थितं प्रोद्यतासिं जेतारं न पश्यति । तथा चोक्तं । "तावद्गज प्रस्रुतदानगण्डः करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि । यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु लाङ्गूलविस्फोटरवं शृणोति ॥ १ ॥ न दृष्टान्तमन्तरेण प्रायो लोकस्यार्थावगमो भवतीत्यतस्तदवगतये दृष्टान्तमाह । यथा माद्रीसुतः शिशुपालो वासुदेवदर्शनात्प्राक् आत्मश्लाघाप्रधानं गर्जितवान् पश्चाच्च युध्यमानं शस्त्राणि व्यापारयन्तं दृढः समर्थो धर्मः स्वभावः संग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा तम् । महान् रथोऽस्येति महारथः स च प्रक्रमादत्र नारायणस्तं युध्यमानं दृष्ट्वा प्राग्गर्जनाप्रधानोऽपि क्षोभं गतः । एवमुत्तरत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि योजनीयमिति । भावार्थस्तु कथानकादवसेय (सूत्र०) (तच्च सिसुवालशब्दे वक्ष्यते)

साम्प्रतं सर्वजनप्रतीतं वार्तमानिकं दृष्टान्तमाह ।

पयाता सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिते ।
मायापुत्तं न याणाइ, जेएण परिविच्छए ॥ २ ॥

यथा वाग्भिर्विस्फूर्जन्तः प्रकर्षेण विकटपादपातं रणशिरसि संग्राममूर्धन्यग्रानीके याता गताः । के ते शूराः शूरमन्याः सुभटाः ततः संग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुभटमुक्तहेतिसंघाते सति तत्र च सर्वस्याऽऽकुलीभूतत्वात् माता पुत्रं न जानाति कटीतो भ्रश्यन्तं स्तनन्धयमपि न सम्यक् प्रतिजागर्तीत्येवं मातापुत्रीये संग्रामे परानीकसुभटेन जेत्रा च शक्त्यादिभिः परि समन्तात् विविधमनेकप्रकारं क्षतो हतभिन्नो वा कश्चिदल्पसत्त्वो भङ्गमुपयाति दीनो भवतीति यावदिति । दार्ष्टान्तिकमाह ।

एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरिया अकोविए ।
सूरं मन्नति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥ ३ ॥

एवमिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थः । यथाऽसौ शूरमन्य उत्कृष्टसिंहनादपूर्वकं संग्रामशिरस्युपस्थितः पश्चाज्जेतारं वासुदेवमन्यं वा युध्यमानं दृष्ट्वा दैन्यमुपयाति । एवं शिष्यकोऽभिनवप्रव्रजितः परीषहैरस्पृष्टोऽब्रुत किं प्रव्रज्यायां दुष्करमित्येवं गर्जन् भिक्षाचर्यायां भिक्षाटनेऽकोविदोऽनिपुणः उपलक्षणार्थत्वादन्यत्राऽपि साध्वाचारेऽभिनवप्रव्राजितत्वादप्रवीणः स एवंभूत आत्मानं तावच्छिशुपालवत् शूरं मन्यते यावज्जेतारमिव रूक्षं संयमं कर्म संश्लेषकारणाभावात् न सेवते न भजत इति । तत्प्राप्तौ तु बहवो गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वा भङ्गमुपयान्ति ।

संयमस्य रूक्षत्वप्रतिपादनायाह ।

जया हेमंतमासम्मि, सीतं फुसइ (सवायग) सव्वगं ।
तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणा वि खत्तिया ॥ ४ ॥

यदा कदाचित् हेमन्तमासे पौषादौ शीतं सहिमकणवात स्पृशति लगति तत्र तस्मिन्नसह्ये शीतस्पर्शे लगति सति एके मन्दा जडा गुरुकर्माणो विषीदन्ति दैन्यभावमुपयान्ति राज्यहीना राज्यच्युताः यथा क्षत्रिया राजान इवेति ॥ ४ ॥ सूत्र० ३अ० १ उ० । उक्तः प्रथमोद्देशकः । साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्धः इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादितास्ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च । तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिता इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिमं सूत्रम् ।

अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा ।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥ १ ॥

अथेत्यानन्तर्ये प्रतिकूलोपसर्गानन्तरमनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यानन्तर्यार्थः । इमे त्वनन्तरमेवाभिधीयमानाः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमभिधीयन्ते । ते च सूक्ष्माः प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तरा न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति । सङ्गा मातापित्रादिसम्बन्धाः । य एते भिक्षूणां साधूनामपि दुरुत्तरा दुर्लङ्घ्या दुरतिक्रमणीया इति । प्रायो जीवितविघ्नकरैरपि प्रतिकूलोपसर्गैरुदीर्णैर्माध्यस्थ्यमवलम्बयितुं महापुरुषैः शक्यमेते त्वनुकूलोपसर्गास्तानप्युपायेन धर्माच्च्यावयन्त्यतोऽमी दुरुत्तरा इति । यत्र येषूपसर्गेषु सत्स्वेके अल्पसत्त्वाः सदनुष्ठानं प्रति विषीदन्ति शीतलविहारित्वं भजन्ते सर्वथा वा संयमं त्यजन्ति नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन यापयितुं वर्तयितुं तस्मिन् व्यवस्थापयितुं शक्नुवन्ति समर्था भवन्तीति ॥ १ ॥

तानेव सूक्ष्मसङ्गान् दर्शयितुमाह ।

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया ।
पोसणे ताय पुट्ठोसि, कस्स ताय जहासि णे ॥ २ ॥

अपिः सम्भावने । एके तथाविधा ज्ञातयः स्वजना मातापित्रादयः प्रव्रजन्तं प्रव्रजितं वा दृष्ट्वोपलभ्य परिवार्य वेष्टयित्वा रुदन्ति रुदन्तो वा वदन्ति च दीनं यथा बाल्यात्प्रभृति त्वमस्माभिः पोषितो वृद्धानां पालको भविष्यतीति कृत्वा ततो धुनानोऽस्मापि त्वं तात ! पुत्र ! पोषय पालय । कस्य कृते केन कारणेन कस्य वा बलेन ताताऽस्मान् त्यजसि नाऽस्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित्त्राता विद्यत इति । किञ्च ।

पिया ते थेरओ तात, ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सगा तात, सोयरा किं जहासि णे ॥ ३ ॥
मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति ।
एवं खु लोइयं ताय, जे पालंति य मायरं ॥ ४ ॥

हे तात ! पुत्र ! पिता ते तव स्थविरो वृद्धः शतातीतः स्वसा च भगिनी तव क्षुल्लिका लघ्वी अप्राप्तयौवना इमा पुरोवर्तिनी प्रत्यक्षेति । तथा भ्रातरस्ते तव स्वका निजास्तात ! सोदरा एकोद-

रा' किमित्यस्मान् परित्यजसीति ॥३॥ तथा (मायरमित्यादि) मातरं जननीं तथा पितरं जनयितारं पुषाण बिभृहि । एवं च कृते तवेह लोकः परलोकश्च प्रविष्यति । तातेदमेव लौकिक लोकाचीर्णमयमेव लौकिक पन्था यदुत वृद्धयोर्मातापित्रोः प्रतिपालनमिति तथा चोक्तम्। "गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम् । अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र! वसाम्यहमिति" ४ अपि च

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात खुड्डया ।
णारिया ते णवा तात, मा सा अन्नं जणं गमे ॥

उत्तराः प्रधाना उत्तरा जाता वा मधुरो मनोज्ञ उल्लाप आलापो येषां ते तथाविधाः पुत्रास्ते तव तात! पुत्र! क्षुल्लका लघवः । तथा भार्या पत्नी ते नवा प्रत्यग्रयौवना अतिनवोढा वा माऽसौ त्वया परित्यक्ता सत्यन्यं जनं गच्छेदुन्मार्गयायिनी स्यादयं च महाजनापवाद इति । अपि च ।

एहि ताय घरं जामो, मा य कम्मं सहावयं ।
बितियं पि ताय पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥६॥

जानीमो वयं यथा त्वं कर्मभीरुस्तथाप्येहि आगच्छ गृहं यामो गच्छामः । मा त्वं किमपि सांप्रतं कर्म कृथाः । अपि तु तत्र कर्मण्युपस्थिते वयं सहायका भविष्यामः साहाय्यं करिष्यामः । एकवारं तावद् गृहकर्मभिर्भग्नस्त्वं तात! पुनरपि द्वितीयवारं पश्यामो द्रक्ष्यामो यदस्माभिः सहायैर्भवतो भविष्यतीत्यतो यामो गच्छामस्तावत् स्वकं गृहं कुर्वेतदस्मद्वचनमिति ॥ ६ ॥

गंतु ताय पुणो गच्छे, ण य तेणासमणो सिया ॥
अकामगं पराकम्मं, को उ ते वारेउमरिहति ॥७॥

तात! पुत्र! गत्वा गृहं स्वजनवर्गं दृष्ट्वा पुनरागन्तासि न च तेनैतावता गृहगमनमात्रेण चाश्रमणो भविष्यसि । (अकामगंति) अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं पराक्रमन्तं स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कस्त्वां भवन्तं वारयितुं निषेधयितुमर्हति योग्यो भवति । यदि वा (अकामगंति) वार्द्धकावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तं धारयितुमर्हतीति । अन्यच्च ।

जं किंचि अणगं तात, तं पि सव्वं समीकतं ।
हिरणं ववहाराइ, तं पि दाहासु ते वयं ॥ ८ ॥

तात! पुत्र! यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य समीकृतं समभागेन व्यवस्थापितं यदिवोत्कटं सत् समीकृतं सुदेयत्वेन व्यवस्थापितं यच्च हिरण्यं द्रव्यजातं व्यवहारादावुपयुज्यते । आदिशब्दात् येन वा प्रकारेण तवोपयोगं यास्यति तदपि वयं दास्यामो निर्धनोऽहमिति मा कृथा भयमिति । ८ ।

उवसंहारार्थमाह ।

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणी य समुट्ठिया ।
विवद्धो नायसंगेहिं, ततो गारं पहावइ । ९ ।
जहा रुक्खं वणे जायं, मालूया पडिबंधइ ।
एवं णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणा । १० ।

णमिति वाक्यालङ्कारे । इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या मातापित्रादयः कारुणिकैर्वचोभिः करुणामुत्पादयन्तः स्वयं वा दैन्यमुपस्थितास्तं प्रव्रजितं प्रव्रजन्तं वा (सुसेहंतित्ति) सुष्ठु शिक्षयन्ति व्युद्ग्राहयन्ति । स चापरिणतधर्माऽल्पसत्त्वो गुरुकर्मा ज्ञातिसङ्गैर्विबद्धो मातापितृपुत्रकलत्रादिमोहितस्ततो गारं गृहं प्रतिधावति प्रव्रज्यां परित्यज्य गृहपाशमनुबध्नातीति । ९ । किञ्चान्यत् (जहारुक्खमित्यादि) यथा वृक्षं वने अटव्यां जातमुत्पन्नं मालूया वल्ली प्रतिबध्नाति वेष्टयत्येवं णमिति वाक्यालङ्कारे ज्ञातयः स्वजनास्तं यतिमसमाधिना प्रतिबध्नन्ति ते तत्कुर्वन्ति येनास्यासमाधिरुत्पद्यत इति । तथा चोक्तं । " अमित्तो मित्तवेसेण, कंठे घेत्तूण रोयइ । मा मित्त ! सोगइं जाई, दो वि गच्छासु दुग्गइं " । १० । अपि च ।

विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, सुयगो व्व अदूरए । ११ ।

विविधं बद्धः परवशीकृतः विबद्धो ज्ञातिसङ्गैर्मातापित्रादिसंबन्धैस्ते च तस्य तस्मिन्नवसरे सर्वमनुकूलमनुतिष्ठन्तो धृतिमुत्पादयन्ति हस्तीवापि नवग्रहे अभिनवग्रहणे धृत्युत्पादनार्थमिक्षुशकलादिभिरुपचर्यते । एवमसावपि सर्वानुकूलैरुपायैरुपचर्यते । दृष्टान्तान्तरमाह । यथाऽभिनवप्रसूता गौर्निजस्तनधयस्यादूरगा समीपवर्तिनी सती पृष्ठतः परिसर्पत्येवं तेऽपि निजा उत्प्रव्रजितं पुनर्जातमिव मन्यमानाः पृष्ठतोऽनुसर्पन्ति तन्मार्गानुयायिनो भवन्तीत्यर्थः । ११ ।

सङ्गदोषदर्शनायाह ।

एते संगा मणूसाणं, पाताला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्संति, नायसंगेहिं मुच्छिया ॥ १२ ॥

एते पूर्वोक्ताः सज्यन्त इति सङ्गाः मातृपित्रादिसंबन्धाः कर्मोपादानहेतवः मनुष्याणां पाताला इव समुद्रा इवाप्रतिष्ठितभूमितलत्वात् ते (अतारिमात्ति) दुस्तरा एवमेतेऽपि सङ्गा अल्पसत्त्वैर्दुःखेनातिलङ्घ्यन्ते । तत्र च येषु सङ्गेषु क्लीवा असमर्थाः क्लिश्यन्ति क्लेशमनुभवन्ति संसारान्तर्वर्तिनो भवन्तीत्यर्थः । किंभूताः ज्ञातिसङ्गैः पुत्रादिसंबन्धैर्मूर्च्छिता गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तो न पर्यालोचयन्त्यात्मानं संसारान्तर्वर्तिनमेवं क्लिश्यन्ति अपि च ।

तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा ।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं १३ ॥

तं च ज्ञातिसङ्गं संसारहेतुं भिक्षुर्ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् । किमिति यतः सर्वेऽपि केचन सङ्गास्ते महाश्रवा महान्ति कर्मणः आश्रवद्वाराणि वर्तन्ते । ततोऽनुकूलैरुपसर्गैरुपस्थितैरसंयमजीवितं गृहावासपाशं नाभिकाङ्क्षेत नाभिलषेत् । प्रतिकूलैश्चोपसर्गैः सद्भिर्जीविताभिलाषी न भवेदसमञ्जसकारित्वेन भवजीवितं नाभिकाङ्क्षेत् । किं कृत्वा श्रुत्वा निशम्यावगम्य कं धर्मं श्रुतचारित्राख्यम् । नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरं प्रधानं मौनीन्द्रमित्यर्थः । अन्यच्च ।

अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया ।
बुद्धा जत्थ व सप्पति, सीयंति अबुहा जहिं ॥ १४ ॥

अथेत्यधिकारान्तरदर्शनार्थं । पाठान्तरं वा (अहो इति) तच्च विस्मये । इमे इति प्रत्यक्षासन्ना सर्वजनविदितत्वात् सन्ति विद्यन्ते वक्ष्यमाणा आवर्तयन्ति प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्तास्तत्र द्रव्यावर्ता नद्यादेर्भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेषा एते चावर्ताः काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नदिव्यज्ञानेनावेदिताः कथिताः प्रतिपादिताः । यत्र येषु सत्सु बुद्धा अवगततत्त्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्योऽवसर्पन्ति अप्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्त्यबुधास्तु निर्विवेकतया ये सीदन्त्यासक्तिं कुर्वन्तीति नानेवावर्तान् दर्शयितुमाह ।

रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया ।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खूयं साहुजीविणं । १५ ।

राजानश्चक्रवर्त्यादयो राजामात्याश्च मन्त्री पुरोहितप्रभृतयस्तथा ब्राह्मणा अथवा क्षत्रिया इक्ष्वाकुवंशप्रभृतयः । एते सर्वेऽपि भोगैः शब्दादिविषयैर्निमन्त्रयन्ति भोगोपभोग प्रत्यभ्युपगम कारयन्ति क भिक्षुकं (साहुजीविणमिति) साध्वाचारेण जीवितुं शीलमस्येति साधुजीविनमिति । यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्रसाधुरुपनिमन्त्रित इत्येवमन्येऽपि केनाचित्सबन्धेन व्यवस्थिता यौवनरूपादिगुणोपेतं साधु विषयोद्देशेनोपनिमन्त्रयेयुरिति । १५ ।

एतदेव दर्शयितुमाह ।

हत्थस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेहि य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी पूजयामु तं । १६ ।

हस्त्यश्वरथयानैस्तथा विहारगमनैः विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनान्युद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः । चशब्दादन्यैश्चेन्द्रियानुकूलैर्विषयैरुपनिमन्त्रयेरंस्तद्यथा भुंक्ष्व भोगान् शब्दादिविषयानिमानस्माभिर्ढौकितान् प्रत्यक्षासन्नान् श्लाघ्यान् प्रशस्तान् न निन्द्यान् महर्षे ! साधो ! वय विषयोपकरणढौकनेन त्वां भवन्तं पूजयामः सत्कारयाम इति । १६ ।

किञ्चाऽन्यत् ।

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजा इमाइं भोगाइं, आउसो पूजयामु तं । १७ ।

वस्त्रं चीनांशुकादि गन्धाः काष्ठपुटपाटकादयः वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धमिति समाहारद्वन्द्वः । तथा अलङ्कारं कटककेयूरादिकं तथा स्त्रियः प्रत्यग्रयौवनाः शयनानि च पर्यङ्कतूलीप्रच्छदपटोपधानयुक्तानि इमान् भोगानिन्द्रियमनोऽनुकूलानस्माभिर्ढौकितान् भुङ्क्ष्व तदुपभोगेन सफलीकुरु हे आयुष्मन् ! भवन्तं पूजयामः सत्कारयाम इति । १७ । अपि च ।

जो तुमे नियमो चिन्नो, भिक्खुभावम्मि सुव्वय ।
अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा । १८ ।

यस्त्वया पूर्व भिक्षुभावे प्रव्रज्यावसरे नियमो महाव्रतादिरूपश्चीर्णोऽनुष्ठित इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमगतेन हे सुव्रत ! स सांप्रतमप्यगारं गृहमावसतो गृहस्थभावं सम्यगनुपालयतो भवतस्तथैव विद्यत इति । न हि सुकृतस्यानुचीर्णस्य नाशोऽस्तीति भाव । १८ । किञ्च ।

चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव ।
इच्चेव णं निमंतेति, नीवारेण व सूयरं । १९ ।

चिरं प्रभूतकालं संयमानुष्ठानेन (दूइज्जमाणस्सत्ति) विहरतः सत इदानीं साम्प्रतं दोषः कुतस्तव नैवास्तीति भावः । इत्येव हस्त्यश्वरथादिभिर्वस्त्रगन्धालङ्कारादिभिश्च नानाविधैरुपभोगोपकरणैः करणभूतैः । णमिति वाक्यालङ्कारे । तं भिक्षुं साधुजीविनं निमन्त्रयन्ति भोगबुद्धिं कारयन्ति । दृष्टान्तं प्रदर्शयति । यथा नीवारेण व्रीहिविशेषकणदानेन सूकरं वराहं कूटके प्रवेशयन्त्येवं तमपि साधुमपि । १९ । अनन्तरोपन्यस्तवार्तोपसंहारार्थमाह ।

चोइया भिक्खचरियाए, अचयंता जवित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला । २० ।

भिक्षूणां साधूनामुद्युक्तविहारिणां चर्या दशविधचक्रवालसामाचारी इच्छामिच्छेत्यादिका तया नोदिताः प्रेरिता यदि वा भिक्षुचर्यया करणभूतया सीदन्तश्चोदितास्तत्करणं प्रत्याचार्यादिकैः पौनःपुन्येन प्रेरितास्तच्चोदनामशक्नुवन्तः संयमानुष्ठानेनात्मानं यापयितुं वर्तयितुमसमर्थाः सन्तस्तत्र तस्मिन् संयमे मोक्षैकगमनहेतौ प्रचक्रकोटिशतावाप्तेर्मन्दा जडा विषीदन्ति शीतलविहारिणो भवन्ति । तमेवाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पं महापुरुषानुचीर्णं संयमं परित्यजन्ति । दृष्टान्तमाह । ऊर्ध्वयानमुद्यानं मार्गस्योन्नतो भाग उच्छ्रितमित्यर्थः । तस्मिन् उद्यानशिरसि उत्क्षिप्तमहाभरा उक्षाणोऽतिदुर्बला यथाऽवसीदन्ति ग्रीवां पातयित्वा तिष्ठन्ति नोत्क्षिप्तभरनिर्वाहका भवन्तीत्येवं तेऽपि भावमन्दा उत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारं वोढुमसमर्थाः पूर्वोक्तभावावर्तैः पराभग्ना विषीदन्ति । २० । किञ्च ।

अचयंता व लूहेण, उवहाणेण तज्जिया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा । २१ ।

रूक्षेण संयमेनात्मानं यापयितुमशक्नुवन्तस्तथोपधानेनानशनादिना सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा तर्जिता बाधिताः सन्तस्तत्र संयमे मन्दा विषीदन्त्युद्यानशिरस्युच्छ्रमस्तके जीर्णो दुर्बलो गौरिव यूनोऽपि । हि तत्रावसीदनं सम्भाव्यते किं पुनर्जरद्गवस्येति जीर्णग्रहणम् । एवमावर्तमन्तरेणापि धृतिसंहननोपेतस्य विवेकिनोऽप्यवसीदनं सम्भाव्यते किं पुनरावर्तैरुपसर्गितानां मन्दानामिति २१

सर्वोपसंहारमाह ।

एवं निमंतिए लद्धुं, मुच्छिया गिद्धइत्थीसु ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइज्जंता गया गिहं (तिबेमि)

एवं पूर्वोक्तया नीत्या विषयोपभोगोपकरणं दानपूर्वकं निमन्त्रणं विषयोपभोगं प्रति प्रार्थनं लब्ध्वा प्राप्य तेषु विषयोपकरणेषु हस्त्यश्वरथादिषु मूर्च्छिता अत्यन्तासक्तास्तथा स्त्रीषु गृद्धा दत्तावधाना रमणीरागमोहितास्तथा कामेषु इच्छामदनरूपेष्वध्युपपन्नाः कामगतचित्ताः संयमेऽवसीदन्तोऽपरेणोद्युक्तविहारिणा नोद्यमानाः संयमं प्रति प्रोत्साह्यमाना नोदनं सोढुमशक्नुवन्तः सन्तो गुरुकर्माणः प्रव्रज्यां परित्यज्याल्पसत्त्वा गृहं गता गृहस्थीभूताः इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । आ० चू० आत्मविसीदनादयोऽन्यत्र (निष्क्रान्ताय गतस्योपसर्गसहनं गोयरचरिया शब्दे)

(६) अनुकूलोपसर्गसहनम् ।

उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठिअं तवस्सिणं ।
डहरा बुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभेज्जणो ॥१६॥

अगारं गृहं तदस्य नास्तीत्यनगारस्तमेवम्भूतं संयमोत्थानेनैषणां प्रत्युत्थितं प्रवृत्तं श्राम्यतीति श्रमणस्तं तथा स्थानस्थितमुत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनं तपस्विनं विशिष्टतपोनिष्टप्तदेहं तमेवम्भूतमपि कदाचित् डहरा पुत्रनप्त्रादयो वृद्धाः पितृमातृभ्रात्रादयः उत्प्रव्राजयितुं प्रार्थयेयुर्याचेरन् एवमूचुर्भवता वयं प्रतिपाल्या न त्वामन्तरेणास्माकमेकं प्रतिपाल्यः एवं भणन्तस्ते जना अपि शुष्येयुः श्रमं गच्छेयुर्न च तं साधु विदितपरमार्थं लभेरन् नैवाऽऽत्मसात्कुर्युर्नैवाऽऽत्मवशगं विदध्युरिति ॥१६॥ किञ्च

जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोयंति य पुत्तकारणे ।
दवियं भिक्खुं समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१७॥

यद्यपि ते मातापितृपुत्रकलत्रादयस्तदन्तिके समेत्य करुणाप्र-

धानाहिं धिलापप्रायाणि धर्मानुष्ठानानि धा कुर्युः । तथाहि । "नाह पिय कंत सामिय, अइवल्लह दुल्लहो सि भवणम्मि ॥ तुह विरहम्मि य निक्किव, सुण्णं सव्वं पि पडिहाइ" ॥ १ ॥ "सेणिअम्मो गोट्ठी, गणोऽन्य तं जत्थ होसि सणिहितो ॥ दिप्पइ सिरिपसु पुरिस, किं पुण नियम घरद्दार" ॥ २ ॥ तथा यदि (रोयतियत्ति) रुदन्ति पुत्रकारणं सुतनिमित्तं कुलवर्धनमेकं सुतमुत्पाद्य पुनरेव कर्तुमर्हसीति । एवं रुदन्तो यदि प्रणन्ति तं भिक्षु रागद्वेषरहितत्वान्मुक्तियोग्यत्वाद्वा द्रव्यभूतं सम्यक् संयमोत्थानेनोत्थितं तथाऽपि साधुं न लप्स्यन्ते न शक्नुवन्ति प्रव्रज्यातो भ्रंशयितुं भावाच्च्यावयितुं नापि संस्थापयितुं गृहस्थभावेन द्रव्यलिङ्गाच्च्यावयितुमिति ॥ १७ ॥ अपि च ।

जइ वि य कामेहिँ लाविया, जइ णं जाहिणवंधिओ घरं ।
जइ जीवितनावकंखए, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥ १८ ॥

यद्यपि ते निजास्तं साधुं संयमोत्थानेनोत्थितं कामैरिच्छामदनरूपैर्लोभयन्ति उपनिमन्त्रयेयुरुपलोभयेयुरित्यर्थः । अनेनाऽनुकूलोपसर्गग्रहणम् । तथा यदि नयेयुर्बद्ध्वा गृहं णमिति वाक्यालङ्कारे । एवमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैरभिद्रुतोऽपि साधुर्यदि जीवितं नाभिकाङ्क्षेत् यदि जीविताभिलाषी न भवेत् असंयमजीवितं वा नाऽभिनन्देत् ततस्ते निजास्तं साधु (णो लब्भंतित्ति ।) न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति आत्मसात्कर्तुं (ण संठवित्तएत्ति) नाऽपि गृहस्थभावेन संस्थापयितुमलमिति ॥ १८ ॥ किञ्च ।

सेहंति य णं ममाइणो, माया (पिया) ताय सुया य भारिया ।
पोसाहि ण पासओ तुमं, लोगपरं पि जहासि पोस णो ॥ १९ ॥

ते कदाचिन्मातापित्रादयस्तमभिनवप्रव्रजितं (सेहंतित्ति) शिक्षयन्ति णमिति वाक्यालङ्कारे (ममाइणोत्ति) ममाऽयमित्येवं स्नेहालवः । कथं शिक्षयन्तीत्यत आह पश्य नोऽस्मानत्यन्तदुःखितांस्त्वदर्थं पोषकाभावाद्वा त्वं च यथावस्थितार्थपश्यकः सूक्ष्मदर्शी सश्रुतिकः इत्यर्थः । अतो नोऽस्मान् पोषय प्रतिजागरणं कुरु अन्यथा प्रव्रज्याऽभ्युपगमेनेहलोकस्त्यक्तो भवताऽस्मत्प्रतिपालनपरित्यागेन च परलोकमपि त्वं त्यजसीति दुःखितनिजप्रतिपालनेन च पुण्यावाप्तिरेवेति । तथाहि । "या गतिः क्लेशदग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम् । बिभृतां पुत्रदारांस्तु, तां गतिं व्रज पुत्रकेति ॥ १९ ॥ एवं तैरुपसर्गितः केचन कातराः कदाचित् यद्यत्कुर्युरित्याह ॥

अन्ने अन्नेहि मुच्छिया, मोहं जंति णरा असंवुडा ॥
विसमं विसमेहि गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया ॥ २० ॥

अन्ये केचनाऽल्पसत्त्वाः अन्यैर्मातापित्रादिभिर्मूर्च्छिता अध्युपपन्नाः सम्यग्दर्शनाद्यतिरेकेण सकलमपि शरीरादिकमन्यदित्यन्यग्रहणं ते एवम्भूता असंवृता नराः समोहं यान्ति सदनुष्ठाने मुह्यन्ति तथा संसारगमनैकहेतुभूतत्वात् । विषमोऽसंयमस्तं विषमैरसंयतैरुन्मार्गप्रवृत्तित्वेनापायाभीरुभिः रागद्वेषैर्वा अनादिभवाभ्यस्ततया दुश्छेद्यत्वेन विषमैर्ग्राहिता असंयमं प्रति वर्त्तिताः ते चैवंभूताः पापैः कर्मभिः पुनरपि प्रवृत्ताः प्रगल्भिता धृष्टतां गताः पापकं कर्म कुर्वन्तोऽपि न लज्जन्त इति ॥ २० ॥

यत एव ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

तम्हा दविइक्खपंडिए, पावाओ विरते भिणिव्वुडे ।
पणए वीरे महाविहिं, सिद्धिपहं (णायगं) णेआउयं धुवं ॥

मातापित्रादिमूर्च्छिताः पापेषु कर्मसु प्रगल्भाः भवन्ति तस्माद् द्रव्यभूतो भव्यो मुक्तिगमनयोग्यो रागद्वेषरहितो वा सन्नीक्षस्व तद्विपाकं पर्यालोचय । पण्डितः सद्विवेकयुक्तः पापात् कर्मणोऽसदनुष्ठानरूपात् विरतो निवृत्तः क्रोधादिपरित्यागाच्छान्तीभूत इत्यर्थः । तथा प्रणताः प्रह्वीभूता वीराः कर्मविदारणसमर्था महावीथिं महामार्गं तमेव विशिनष्टि सिद्धिपथं ज्ञानादिमोक्षमार्गं तथा मोक्षं प्रतिनेतारं प्रापकं ध्रुवमव्यभिचारिणमित्येतदवगम्य स एव मार्गोऽनुष्ठेयो वा सदनुष्ठानप्रगल्भैर्भाव्यमिति ॥ २१ ॥

पुनरप्युपदेशदानपूर्वकमुपसंहरन्नाह ।

वेयालियमग्गमागओ, मणवयसाकाय (ए) संवुडो ।
विच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जासि (त्तिवेमि)

कर्मणां विदारणमार्गगतो भूत्वा तं तथाभूतं मनोवाक्कायसंवृतः पुनस्त्यक्त्वा परित्यज्य वित्तं द्रव्यं तथा ज्ञातींश्च स्वजनांश्च तथा सावद्यारम्भं च सुष्ठु संवृत इन्द्रियैः संयमानुष्ठानं चरेदिति ब्रवीमीति पूर्ववत् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

त्रिविधोपसर्गाधिसहनमधिकृत्याह ।

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाहियासिया ।
लोमादियं पि ण हरिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥ १५ ॥

तैरश्चाः सिंहव्याघ्रादिकृतास्तथा मानुषा अनुकूलप्रतिकूलाः सत्कारपुरस्कारदण्डकशाताडनादिजनिताः । तथा (दिव्वगा इति) व्यन्तरादिना हास्यप्रद्वेषादिजनिताः । एवं त्रिविधानप्युपसर्गानधिसहेत नोपसर्गैर्विकारं गच्छेत् । तदेव दर्शयति । लोमादिकमपि न हर्षेत् भयेन रोमोद्गममपि न कुर्यात् । यदि वा एवमुपसर्गास्त्रिविधा अपि (अहियासियत्ति) अधिसोढा भवन्ति । यदि रोमोद्गमादिकमपि न कुर्यात् । आदिग्रहणात् दृष्टिमुखविकारादिपरिग्रहः । शून्यागारगतः शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादिस्थितो वा महामुनिर्जिनकल्पिकादिरिति ॥ १५ ॥ किञ्च ।

णो अभिकंखेज्ज जीवियं, नो वि य पूयणपत्थए सिया ।
अब्भत्थमुर्विति भेरवा, सुन्नागारगअस्स भिक्खुणो ॥ १६ ॥

स तैर्भैरवैरुपसर्गैरुदीर्णैस्तोतुद्यमानोऽपि जीवितं नाऽभिकाङ्क्षेत जीवितनिरपेक्षेणोपसर्गः सोढव्य इति भावः । न चोपसर्गसहनद्वारेण पूजाप्रार्थकः प्रकर्षाभिलाषी स्यात् भवेत् । एवं च जीवितपूजानिरपेक्षेणासकृत् सम्यक् सह्यमाना भैरवा भयानका शिवा पिशाचादयोऽन्यस्तमात्म स्वात्मनः उप सामीप्येन यन्ति गच्छन्ति तत्सहनाच्च भिक्षोः शून्यागारगतस्य नीराजितवारणस्येव शीतोष्णादिजनिता उपसर्गाः सुसहा एव भवन्तीति भावः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । "उवसग्गेहिं पासित्ता आमोक्खाए परिव्वएज्जासि" उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान् सम्यगधिसह्यामोक्षाय मोक्षपर्यन्तं यावत् परि समन्ताद्व्रजेत् संयमानुष्ठानेन गच्छेत् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । ('उवसग्गगब्भहरणमिति' आश्चर्यमेतत्त्वोपसर्गनिरूपणम् अच्छेर शब्दे उक्तम्) रोगविकारे, शुभाशुभसूचके दिव्यादिविकाररूपे उत्पाते, वाच० ।

उवसग्गकप्पट्ठि—उपसर्गकल्पस्था—स्त्री० उपसर्ग एव कल्पस्था शय्यातरदुहितृकपिलचेल्लकानां लोभाच्छय्यातरकल्पस्थायामुपसर्गकरणे, "उवसग्गोति" उवसग्ग एव कप्पठी सेज्जायरधूआ कविलचेल्लगो लोभा सेज्जायरकप्पठीए उवसग्ग करोतीत्यर्थः १ नि० चू० १ उ० ।

उवसग्गतितिक्खा—उपसर्गतितिक्षा—स्त्री० उप सामीप्येन सर्जे-

नान् उपसृज्यते एभिरिति वा उपसर्गाः ते च दिव्यमानुषतैरश्चात्मसंवेदनभेदतश्चतुःप्रकाराः प्रत्येकमपि ते स्युश्चतुर्विधाः । " हास्याद् द्वेषाद्विमर्शाच्च, तन्मिश्रत्वाच्च दैवतः । हास्याद्द्वेषाद् विमर्शाद्धुः-शीलसङ्गाच्च मानुषाः ।२ तैरश्चास्तु भयक्रोधाहारापत्यादिरक्षणात् । घट्टनस्तम्भनश्लेष-प्रपातादात्मवेदना । ३ यद्वा वातपित्तकफसन्निपातोद्भवा इति तेषां तितिक्षा सहनम् । उपसर्गसहने ध० ३ अधि० । "अतीचारालोचनेन प्रायश्चित्तविधेयता । उपसर्गतितिक्षा च परीषहजयस्तथा " ध० ३ अधि० ।

उवसग्गपत्त–उपसर्गप्राप्त–त्रि० उपद्रवं प्राप्ते, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

उपसर्गप्राप्तस्य ग्रहणं कल्पते ।

(सूत्रम्) उवसग्गपत्तभिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेदितस्स निज्जूहित्तए । अगिलाए करणिज्जं वेयावडियं जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के ततो प्पमुक्के ततो पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया इति ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः ।

मोहेण पित्ततो वा, आयासंचेततो समक्खातो ।
एसो उ उवसग्गो, इमो उ अन्नो परसमुत्थो ॥

मोहेन मोहनीयोदयेन वेदोदयेनेत्यर्थः पित्ततो वा पित्तोदयेनेत्यर्थः । उन्मत्तः स आत्मसञ्चेतकः आत्मनैवात्मनो दुःखोत्पादकः समाख्यातः यश्चात्मैवात्मनो दुःखोत्पादनमेष आत्मसचेतनीय उपसर्गः ततः पूर्वमात्मसंचेतनीयः उपसर्ग उत्कृष्टत उपसर्गाधिकारादयमन्यः परसमुत्थ उपसर्गोऽनेन प्रतिपाद्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । सा च प्राग्वत् । तत्रोपसर्गप्रतिपादनार्थमाह ।

तिविहो य उवसग्गो, दिव्वो माणुस्सितो तिरिच्छो य ।
दिव्वो उ पुव्वभणितो, माणुसतिरिए अतो वुच्छं ॥

त्रिविधः खलु परसमुत्थ उपसर्गः । तद्यथा दैवो मानुषिकस्तैरश्चश्च तत्र दैवो देवकृत पूर्वमनन्तरसूत्रस्याधस्ताद्भणितः । अतो मानुष तैरश्च च वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ।

विज्जाए मंतेण व, चुण्णेण व जोइतो अणप्पवसो ।
अणुसासणालिहावण, खमए महुरातिरिक्खादी ॥

विद्यया वा मन्त्रेण वा चूर्णेन वा योजित सबन्धितः सन् कश्चिदनात्मवशो भूयात् तत्रानुशासनेति । यथा रूपवत्स्त्र्या विद्याभिप्रयोजित तस्यानुशासनाऽपि क्रियते । तथा तपस्वी एष न वर्तते तावत्त्वमीदृश कर्तुम् एवं करणे हि प्रभूतपापोपचयसम्भव इत्यादि । अथैवमनुशासिताऽपि न विवर्तते तर्हि तस्यास्त प्रति प्रतिविद्यया विद्वेषणमुत्पाद्यते । अथ सा नास्ति तादृशी प्रतिविद्या तर्हि (लिहावणत्ति) शून्येऽसागारिकं विद्याप्रयोगतस्तस्य पुरत आलेखाप्यते । येन स तत् दृष्ट्वा तस्याः सागारिकामिदमतित्रीभत्समिति जानानो विरागमुपपद्यते । एष मानुषिक उपसर्गो (खमगे महुरा इति) मथुरायां श्रमणीप्रभृतीना मानुष उपसर्गोऽभूत् तं क्षपको निवारितवान् । एषोऽपि मानुष उपसर्ग । तैरश्चमाह (तिरिक्खा इति) तिर्यञ्चो ग्रामेयका आरण्यका वा श्रमणादीनामुपसर्गान् कुर्वन्ति यथाशक्तिनिराकर्तव्या । साम्प्रतमेनामेव गाथा विवरीपुराह ।

विज्जामंते चुण्णे, अभिजोइय तो हियादिगहिए वा ।
अणुसासणालिहावण–महुराखमकादि व बलेण ॥

विद्यामन्त्रेण चूर्णेन वा अभियोजितो बोधिकाः स्तेना म्लेच्छादिपरिग्रहस्तैर्वा गृहीते यया विद्यादि योजित तस्याः प्रागुक्तप्रकारेणानुशासना क्रियते । तथा प्रतिविद्याप्रयोगतस्तं प्रति च द्वेषणमुत्पाद्यते । तस्याभावे पूर्वप्रकारेण लिखापन कार्यते बोधिकादिगृहीते पुनः मथुराक्षपकादिनेव बलेन यथाशक्तिबोधिकादेर्निवारण कर्त्तव्य विद्याद्यभियोगमेव भेदतः प्रतिपादयति ।

विज्जादभिओगो पुण, दुविहो माणुस्सितो य दिव्वो य ।
तं पुण जाणंति कहं , जइ नाम गेण्हिए तेसिं ॥

विद्यादिभिरभियोगोऽभियुज्यमानता पुनर्द्विविधो द्विप्रकारस्तथा मानुषिको दैवश्च । तत्र मनुष्येण कृतो मानुषिको देवस्याय तेन कृतत्वाद्दैवः । तत्र देवकृतो विद्यादिभिरभियोग एष एव यत्तस्मिन् दूरस्थितेऽपि तत्प्रभावात्स तथारूप उन्मत्तो जायते । अथ तं विद्याद्यभियोगं दैव मानुषिकं वा कथं जानन्ति सूरिराह । तयोर्देवमनुष्ययोर्मध्ये यस्य नाम गृह्णाति तत्कृतः स विद्याद्यभियोगो ज्ञेय । साम्प्रतमणुसासणालिहावणेत्येतद्व्याख्यानयति ॥

अणुसासियम्मि य ठिए, विद्देसं देंति तह वि य अतिट्ठंते ।
जक्खीए कोवीणं, तस्स उ पुरओ लिहावेंति ॥

येन सामान्यतः स्त्रिया पुरुषेण वा विद्याद्यभियोजितं तस्यानुशासना क्रियते । अनुशासितेऽप्यतिष्ठति विद्याप्रयोगतस्त उच्चाकित साधु प्रति तस्य विद्याद्यभियोक्तुर्विद्वेषं दवत्युत्पादयन्ति वरवृषभाः । तथाऽपि च तस्मिन्नतिष्ठन्ति जहयाः शून्याः कौपीनं तस्य पुरतो विद्याप्रयोगतो लेखापयन्ति । येन स तद्दृष्ट्वा तस्या इव सागारिकामिति जानतो विरज्यते । सम्प्रति विद्याप्रयोगे दृढादरताख्यापनार्थमाह ।

विसस्स विसमेवे य, ओसहं अग्गिमग्गिणो ।
मंतस्स पडिमंतो उ, दुज्जणस्स विवज्जणा ॥

विषस्यौषध विषमेव अन्यथा विषानिवृत्तेः । एवमग्निभूतादियुक्तस्यौषधमग्निः, मन्त्रस्य प्रतिमन्त्रः, दुर्जनस्यौषधं विवर्जना तद्ग्रामनगरपरित्यागेन परित्यागः । ततो विद्याद्यभियोगसाधुसाध्वीरक्षणार्थं प्रतिविद्यादिप्रयोक्तव्यमिति ॥

जति पुण होज्ज गिलाणो,निरुज्झमाणो ततो तिगिच्छं से ।
संवारियमसंवरिया, उवालभंते निसिं वसभा ॥

यदि पुनर्विद्याद्यभियोजितस्तदभिमुखं गच्छन् निरुध्यमानो ग्लानो भवति ततः (से) तस्य साधोश्चिकित्सां संवृता केनाऽप्यलक्ष्यमाणां कुर्वन्ति । तथा असंवृताजाया विद्याद्यभियोजित तस्याःप्रत्यक्षीभूय निशि रात्रौ तामुपालभन्ते । प्रेरयन्ति च तावत् यावत् सा मुञ्चतीति ।

"खमएमहुरत्ति" अस्य व्याख्यानमाह ।

थूभमहेसड्ढिसमणी, बोहियहरणं च निवसुया जाव ।
मज्झेण य अक्कंदे, कयम्मि जुज्झेण मोएति ॥

महुराए नयरीए थूभो देवनिम्मितो तस्स महिमानिमित्तं सड्ढीतो समणीहिं सम निग्गया । तो रायपुत्तो य तत्थ अदूरे आयावतो चेट्ठेइ ततो सड्ढी समणीतो बोहिएहिं गहियातो

तेणं आणीया ते सोहिन साहु दहुं अक्कंदो कलो तत्तो रायपुत्तेण साहुणा जुरू दाऊण मोइयातो । अक्करगमनिका स्वियं पश्य मद्दे महोत्सवे श्राद्धिका श्रमणीभिः सह निर्गतास्तासां बोधिकैश्चौरैर्हरण नृपसुतश्च तत्रादूरे अतापयति । बोधिकैश्च तास्तस्य मत्येन नीयन्ते । ताभिश्च त दृष्ट्वा आक्रन्दे कृते स युक्त स्तेनेभ्यस्ता मोचयति । उक्तो मानुषिक उपसर्ग । सम्प्रति तैरश्चमाह ।

गामेणारण्णेण व, अभिभूय संजयं तु तिरिएणं ।

लद्धं पकंपिया वा, रक्खेज्ज अरक्खणे गुरुगा ॥

ग्रामेनारण्येन वा अभिभूतमापादितामिभव संयतं च यद्वि वा लब्धं तद्भयात् स्तम्भीभूत प्रकम्पित वा तद्भयत कथ कम्पमानशरीरं रक्षेत् । यदि पुनर्न रक्षति सत्यपि घने ततोऽरक्षणे प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुका मासाः । व्य० प्र० २ उ० ।

उवसग्गपरिण्णा—उपसर्गपरिज्ञा— स्त्री० "घरूणजयणा य तेसिं एत्तो वोच्छे य अहिगारो" तेषां उपसर्गशब्ददर्शितषोडशविधानामुपसर्गाणां यथा घटना सम्बन्धप्राप्ति प्राप्तानां चाऽधिसहनं प्रतियातना भवति तथाऽत्र कर्मस्ययनेन वक्ष्यत इत्ययमत्राधिकार इतीत्येव लक्षणे सूत्रकृताङ्गस्य तृतीयेऽध्ययने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । (यथा तत्र दर्शित तथा दर्शितमुवसमाशब्दे)

उवसग्गसह—उपसर्गसह— त्रि० दिव्याद्युपद्रवसोढरि, "वोसट्ठचत्तदेहो, उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पा" पंचा० १७ विव० । [जिणकप्पशब्दे जिनकल्पिकस्य उपसर्गसहत्वं व्याख्यास्यामि] सम्प्रति ये व्युत्सृष्टग्रहणेनात्मसञ्चेतनीया गृहीतास्तानुपदर्शयति ।

घट्टणपवडणथंभण, लेसण चउहा उ आयसंचेया ।

ते पुण सचिवयंती, वोसट्ठदारे न इहं तु ॥

चतुर्भिरात्मना सचिन्त्यन्ते ये ते इत्यात्मसचेत्यास्तद्यथा घट्टनन प्रपतनतस्तम्भनतः श्लेष्मतश्च । तत्र घट्टनतो यथा चक्षुषि रज प्रविष्टं तेन च चक्षुर्दुःखयितुमारब्धमथवा स्वयमेव चक्षुषि गलके वा किञ्चित्तु खीलप्रभृति समुत्थितं घट्टयति । प्रपतनतो यथा मन्दप्रयत्नेन चङ्क्रम्यमाणप्रतिपततो दुःखाप्यते स्तम्भनेन यथा तावदुपविष्ट आस्ते यावत्पादसुप्तस्तब्धो जात श्लेषणतो यथा पाद तावदाकुञ्च्यावस्थितो यावत्तत्र वातेन लग्न अथवा नृत्त शिक्षयामीति किञ्चिदङ्गमप्यतिशयेन नामित तच्च तत्रैव लग्नमिति ते पुनरात्मसंचेतनीया व्युत्क्रष्टद्वारे निपतन्ति न इह । " ते उप्पन्ने सम्म, सहत्ति, खमइ त्ति, तितिक्खइ, अहियासे " इति चत्वार्यप्येकार्थिकानि पदानि । तत्र सम्यक् सहनमाह ।

मणवयणकायजोगेहिं, तहि उ दिव्वमादिए तिन्नि ।

सम्मं अहियासेइ, तत्थ उ सुण्हा पदिट्ठंतो ॥

त्रिभिर्मनोवाक्काययोगैः प्रत्येक दिव्यादीन् त्रीनुपसर्गान् प्रत्येक चतुर्भेदान् सम्यगध्यास्ते सहते तत्र सहन द्विधा रूव्यतो भावतश्च तत्र रूव्यस्य हाने स्नुषाया दृष्टान्तस्तमेवाह ।

सासूससुरोसोदेवर—भत्तारमादिमज्झिमगा ।

दोसादी य जहण्णा, जह सुण्हा सहियउवसग्गा ॥

श्वशुर श्वश्रूश्चैतावुत्कृष्टौ पूज्यत्वाद्देवरभर्तृका मध्यमा दोसो जघन्या यथा तत्कृता उपसर्गा स्नुषाया सोढास्तथा साधुनाऽपि सोढव्या । इयमत्र भावना स्नुषया अपराधे कृते तां श्वशुर श्वश्रूश्च हीलयति सा च हील्यमाना अतीव लज्जते यद्यपि तानि दुःखोत्पादनानि वचनानि दुरध्यास्यानि तथाऽपि सा तानि सम्यगध्यास्ते चिन्तयति च न सम्यक् अध्यासिष्ये तत कुत्र याम अवस्थो भविष्यति स्नुषात्वारम्भापयास्यति देवरा अपि चोल्लुण्ठवचनानि भाषन्ते यद्यपि तेषां सा नो लज्जते तथाऽपि न तानुल्लुण्ठति किं तु सम्यक् तद्वचनान्यध्यास्ते दासा अपि तां स्नुषामुल्लुण्ठयन्ति तथाऽपि किं किं तेषां वचनान्यहं गणयामीत्यवगणनया सम्यगध्यास्ते न प्रतिवचनं ददाति । एतच्चतुर्व्यसहनं यत्साधुर्द्वादशविधानप्युपसर्गान् कर्मविनिर्ज्जरणार्थं सम्यगध्यास्त एतदेवाह ।

सासुससुरोवमा खलु, दिव्वादिपरोवमा य मणुस्सा ।

दासत्थाणी तिरिया, तह सम्मसोहिया सोए ।

तथा वधूदृष्टान्तोक्तप्रकारेण श्वश्रूश्वशुरोपमान् दिव्यान् उपसर्गान् देवरोपमान् मानुषान् उपसर्गान् दासस्थानीयान् तैरश्चान् उपसर्गान्सम्यगध्यास्ते ।

सम्प्रति द्विविहे वेत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

दुहा वेते समासेणं, सव्वे सामण्णकंटगा ।

विसयाणुलोमिया चेव, तहेव पडिलोमिया ॥

अस्य वा एते उपसर्गा श्रामण्यस्य कण्टका इव श्रामण्यकण्टकाः सर्वे समासेन द्विधा प्रतिपादितास्तद्यथा विषयानुलोमिका इन्द्रियविषयानुलोमिका इन्द्रियविषयप्रतिलोमिकास्तानेव दर्शयति ।

वंदणसक्कारादी, अणुलोमा बंधवहणपडिलोमा ।

ते वि य खमता सव्वे, एत्थं रुक्खेण दिट्ठंतो ॥

वन्दनसत्कारादयोऽनुलोमा बन्धवधप्रभृतयः प्रतिलोमास्तानपि सर्वान् क्षमते अत्र वृक्षेण दृष्टान्तस्तमेवाह ।

वासीचंदणकप्पे, जह रुक्खाइ य सुहदुहसमो उ ।

रागद्दोसविमुत्तो, सहई अणुलोमपडिलोमा ।

वासीचन्दनकल्पो यस्य स वासीचन्दनकल्पोऽथवा कल्पस्तुल्यवाची ततोऽयमर्थो वास्यां वास्यातक्षणे चन्दनेनानुलेपनेन कल्पस्तुल्यो वासीचन्दनकल्पो यथा वृक्षो भवति इत्येवममुना प्रकारेण रागद्वेषविमुक्तोऽत एव सुखदुःखसमोऽनुलोमप्रतिलोमान् उपसर्गान् सम्यक् सहते ॥ व्य० द्वि० ७ उ० ।

उवसग्गाभिओजण—उपसर्गाभियोजन—न० उपसर्गा दिव्यादयस्तैरभियोजनम् उपसर्गाभियोजनम् । अभिभवकायोत्सर्गे, दिव्याद्यभिभूत एव महामुनिस्तदेवाय करोतीति हृदयम् । उपसर्गाणामभियोजनम् । सोढव्या भयोपसर्गास्तद्भय न कार्यमित्येवभूते कायोत्सर्गे, 'उवसग्गाभिउ जणे वीओ' आव० ५ अ० ।

उवसज्जण—उपसर्जन—न० उप० सृज० ल्युट् । देवाद्युपद्रवे, वाच० । अप्रधानभूते गौणे विशेषणे, विशे० ।

उवसत्त—उपसक्त—त्रि० विशेषेण सक्तिमति, उत्त० ३२ अ० ।

उवसद्द—उपशब्द—न० सुरतावस्थायां वलवलायमानादिषु, तं० ।

उवसम— उपशम—पुं० उपशान्तिरुपशमः । आ० । अपराधविधायिन्यपि कोपपरिवर्जने, स च कस्यचित्कषायपरिणते कटुकफलावलोकनाद्भवति । कस्यचित्पुनः प्रकृत्यैवेति । प्रव० १४८ द्वा० । आचा० । संस्था० । क्रोधादिनिग्रहे, आ० म० द्वि० । " उवसमेणहणे कोहं " उपशमेन क्षान्तिरूपेण द० ८ अ० । आचा० । माध्यस्थ्यपरिणामे, । आव० ६ अ० । शान्तावस्थाने, आव० १ अ० । इन्द्रियोपशमरूपे रागद्वेषाभावजनिते (सूत्र० २ श्रु० १ अ०) शमे, आचा० । स च द्वेधा द्रव्यभावभेदात्तत्र

द्रव्योपशमः कतकफलाद्यादितः कलुषजलादेः भावोपशमस्तु ज्ञानादित्रयात् । तत्र यो येन ज्ञानेनोपशाम्यति स ज्ञानोपशमस्तद्यथा क्षेपण्याद्यन्यतरया धर्मकथया कश्चिदुपशाम्यतीत्यादि, दर्शनोपशमस्तु यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनापरमुपशमयति यथा श्रेणिकेनाश्रद्दधानो देवः प्रतिबोधित इति दर्शनप्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभिः कश्चिदुपशाम्यति । चारित्रोपशमस्तु क्रोधाद्युपशमो विनयनम्रतेति ।

पप्पाणमुवलब्भ हेच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति

त्यक्त्वोपशमं तत्र केचन क्षुद्रका ज्ञानोदन्वतोऽप्याप्युपर्येव प्लवमानास्तमेवम्भूतमुपशमं त्यक्त्वा ज्ञानलवोत्सिक्तगर्वो ध्माताः पौरुष्यं परुषतां समाददति गृण्हन्ति तद्यथा परस्परगुणनिकायां र्मामांसायां वा पक्षोऽपरमाह त्वच जानीषे न चैषां शब्दानामथमर्थो यो भवताऽभाणि । अपि च कश्चिदेव मादृशः शब्दार्थनिर्णयायाल न सर्व इत्युक्त च पृष्टा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चित पुनरिदं न वादिनि च मल्लमुख्ये च मादृगेवाऽन्यतरं गच्छेत् द्वितीयस्त्वाह नन्वस्मदाचार्यो एवमाज्ञापयन्नीत्युक्ते पुनराह सोऽपि वा कुण्ठो बुद्धिविकल किं जानीते त्वमपि च शुकवत्पाठितः निरुहापोह इत्यादीन्यन्यान्यपि दुर्गृहीतकतिचिदक्षरो महोपशमकारण ज्ञान विपरीततामापादयन् स्वौद्धत्यमाविर्भावयन् भाषते उक्तञ्च अन्यैस्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय कृत्स्न वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण कृतकमीश्वराणां कुक्कुटशावकसमानवल्लभ्य शास्त्राण्यपि हास्यकथां लघुनां वा क्षुल्लको नयतीत्यादि पाठान्तर वा " हेच्चा उवसम च एगे फारुसिय समारुहति" त्यक्त्वोपशमथानन्तरं बहुश्रुतीभूता एके न सर्वे परुषतामालम्बते ततश्चालसाः शब्दिता वा तूर्ष्णीभाव भजन्ते हुकारशिरःकम्पनादिना वा प्रतिवचन ददति १ श्रु ६ अ० ४ उ० (कलहोपशमे गुणा अहिगरणशब्दे उक्ता) विष्कम्भितोदयत्वे, उत्त० १ अ० । विपाकोदयविष्कम्भे, । न० । " उदयविधाय उवसमो " अनुदितस्योदयविधाने, विशे० । मोहनीयकर्मणोऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्नस्योपमश्रेणिप्रतिपन्नस्य मोहनीयभेदाननन्तानुबन्ध्यादीनुपशमयति (इति) उदयभावे, स्था० ६ ठा० ॥ मिथ्यात्वमोहनीये कर्मणि, उदीर्ये, क्षीणे, 'शेषस्यानुदयापादने, विशे० । क्षयोपशमादे भेद' । अथ प्रेरको भणति ननु क्षयोपशमोपशमयोः कः किन्न विशेष । सूरिराह ननु उदीर्णे उदयप्राप्ते कर्मणि क्षीणे शेषे चानुदीर्णे उपशान्ते सति क्षयोपशमोऽभिधीयत इति । प्रेरकः प्राह ।

सो चेव नणूवसमो, उदए खीणम्मि सेसए समिए ।
सुहुमोदयता मीसे, ननूपसमिए विसेसो यं ॥

ननूपशमोऽप्ययमेव य किमित्याह। य उदिते कर्मणि क्षीणेऽनुदितेऽनुपशान्तो भवति अत्रोत्तरमाह । ननु मिश्रे क्षयोपशमे सूक्ष्मोदयता अस्ति प्रदेशोदयेन सत्कर्मवेदनमस्तीत्यर्थः । उपशमिते तु कर्मणि तदपि नास्तीत्ययमनयोर्विशेष इति एतदेवाह।

वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभावं सो ।
उवसंतकमाओ पुण, वेएइ न संतकम्मा पि ॥

स क्षयोपशमावस्थाकषायवान् जीव क्षायोपशमिकेष्वनन्तानुबन्ध्यादिषु तत्सचन्धे सत्कर्मानुभवति प्रदेशकर्म वेदयति न पुनरनुभाव विपाकतस्तु नाम्न वेदयतीत्यर्थ । उपशान्तकषायस्तु सत्कर्मापि न वेदयतीति क्षयोपशमोपशमयोर्विशेष इति । विशे० । पं० सं० । उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थापने, प्रव० २२४ द्वा० । उपशमश्रेण्यौ, कल्प० । पञ्चदशे दिवसे, चं० १० पाहु० । जो० । जं० । स० । त्रिंशतितमे मुहूर्ते, जं० ७ वक्ष० । जो० । कल्प० । तृष्णानाशे, रोगोपद्रवशान्तौ निवृत्तौ च । वाच० ।

उवसमग—उपशमक—पुं० उपशमश्रेण्यन्तर्गतेष्वपूर्वकरणादिषु, उपशान्तमोहान्तेषु, उपशमश्रेण्यां रूढेषु अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसपरायेषु, पं० सं० १ द्वा० । स० ।

उवसमण—उपशमन—न० उप शम भावे-ल्युट्-उपशमार्थे, "उवसमणाए अहिगरणस्स अब्भुट्ठा एवं भवति" स्था० ८ ठा० ।

उवसमणा—उपशमना—स्त्री० उदयोदीरणानिधत्तनिकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सा उपशमना । क० प्र० । पं० सं० । उदयोदीरणानिधत्तनिकाचनाकरणानामयोग्यत्वेन कर्मणोऽस्थापने, उक्त च " उव्वट्टणओवट्टणसकमणाइं च तत्थ करणाइति" । अष्टानां करणाना षष्ठं करणमेतत् । स्था० ४ ठा० २ उ० । सम्प्रति उपशमनाप्रतिपादनार्थमाह । अवसरस्तत्र चैतेऽधिकाराः तद्यथा प्रथम सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा, सर्वविरतिलाभप्ररूपणा, अनन्तानुबन्धिविसंयोजना, दर्शनमोहनीयक्षपणा, दर्शनमोहनीयोपशमना, चारित्रमोहनीयोपशमना पुनः सप्तमेदेति । तत्र वेदमुपशान्तमुपशमनाकरणम् प्रभेदं सर्वात्मना व्याख्यातुमशक्य ततो यत्रांशे व्याख्यातुमात्मनोऽशक्तिस्तत्रांशे तद्वेतुश्रोतृणामाचार्यो नमस्कारं चिकीर्षुराह ।

करणकया अकरणकया, चउव्विहा उवसमणा बिईयाए ।
अकरणअणुइणाए, अणुओगधरे पणिवयामि ॥ ३१४ ॥

इह द्विविधा उपशमना करणकृता अकरणकृता च तत्र करणक्रिया यथा प्रवृत्तिपूर्वकनिवृत्तिकरणसाध्यक्रिया विशेषः तेन कृता करणकृता तद्विपरीता अकरणकृता च या ससारिणां जीवानां गिरिनदीपाषाणवृत्ततादिभिः संजववत् प्रवृत्तादिकरणक्रियाविशेषमन्तरेणापि वेदनानुभवनादिभिः कारणैरुपशमनोपजायते सा अकरणकृतेत्यर्थः । इदं च करणकृताकरणकृतत्वरूप द्वैविध्य देशोपशमनाया एव रूप्यं न सर्वोपशमानुकरणकृताया वेति । अस्याश्चाकरणकृतोपशमनाया नामधेयद्वय तद्यथा अकरणोपशमना अकृतोपशमना च तस्याश्च संप्रत्यनुयोगो व्यवच्छिन्नस्तत आचार्य स्वयं तस्यानुयोगमजानानस्तद्वेदितॄणां विशिष्टमतिप्रज्ञाकालिकचतुर्दशवेदिनां नमस्कारमाह । (बिईयाए इत्यादि) द्वितीया अकरणकृता तृतीयाया उपशमनाया एव रूप्य न सर्वोपशमनानुकरणकृतेयेति । अस्याश्चाकरणकृतोपशमनाया अनुयोगधरान् प्रणिपतामि तेषु प्रतिपात करोमि तस्मादिह करणकृतोपशमनाया अधिकारः साऽपि च द्विधा वैक्रियद्वैविध्यमेवाह ।

सव्वस्स य देसस्स य, करणुवसमनदुवि एक्केका ।
सव्वस्स गुणपसत्था, देसस्स वि तासि विवरीआ ॥ ३१५ ॥

सा करणकृतोपशमना द्विविधा सर्वस्य विषये देशस्य विषये च सर्वविषया देशविषया चेत्यर्थः । एकैकस्याश्च द्वे द्वे नामधेये तद्यथा सर्वस्योपशमनाया गुणोपशमना प्रशस्तयिहायोगतिशमना च । क० प्र० ।

देसुवसमणा सव्वाण, दोइ सव्वोवसामणा मोहो ।
अपसत्थपसत्था जा, करणवसमणाए अहिगारो ॥

इह द्विधा उपशमना तद्यथा देशोपशमना सर्वोपशमना च । तत्र देशोपशमना सर्वेषामपि कर्मणां भवति । सर्वोपशमना तु मोहे मोहनीयस्यैव देशोपशमनायाश्चामून्येकार्थिकानि तद्यथा देशोपशमना अनुदयोपशमना अगुणोपशमना अप्रशस्तोपशमना च । सर्वोपशमनायास्त्वमूनि तद्यथा सर्वोपशमना उदयोपशमना गुणोपशमना प्रशस्तोपशमना च । तत्र देशोपशमना द्विधा करणकृता करणरहिता च । सर्वोपशमना तु करणकृतैव करणानि यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिसंज्ञानि तैः कृता तद्विपरीता करणरहिता या संसारिणां जीवानां गिरिनदीपाषाणवृत्ततादिसम्भववत् यथाप्रवृत्तादिकारणसाध्यक्रियाविशेषमन्तरेणापि वेदनानुभवनादिभि कारणैरुपजायते । तस्याश्च संप्रत्यनुयोगव्यवच्छिन्नस्ते द्वे नृणामभावात् ततोऽप्रशस्ता च या करणोपशमना तयोराधिकार प्रथमतः सर्वोपशमना वाच्या तत्र चैतेऽर्थाधिकारास्तद्यथा सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा देशविरतिलाभप्ररूपणा सर्वविरतिलाभप्ररूपणा अनन्तानुबन्धे विसंयोजना दर्शनमोहनीयक्षपणा दर्शनमोहनीयोपशमना चारित्रमोहनीयोपशमना च । प०स० ।

तत्रादौ सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणार्थमाह ।

सव्वुवसमणा मोहस्सेव, तस्स मव्वुवसमक्कियाजोग्गो ।
पंचिंदिओसन्नी, पज्जत्तो लद्धितिगजुत्तो ॥ ३१६ ॥
पुव्वं पि विसुज्झंतो, गंठिअसत्ताण इक्कमिय सोहिं ।
अन्नयरे सागारो, जोगे य विसुद्धिलेसासु ॥ ३१७ ॥
ठिइसत्तकम्मअंतो, कोडाकोडी करेत्तु सत्तएहं ।
दुट्ठाणचउट्ठाणे, असुभसुभाणं च अणुभागं ॥ ३१८ ॥
बंधंतो धुवपगडी, भवपाउग्गा सुभा अणाओ य ।
जोगवसायएसंको, उक्कोसं मज्झिमजहण्णं ॥ ३१९ ॥
ठिई य बंधबद्धा पूरे, नववंधपल्लसंखज्जागूणं ।
असुभाणसुभाणुभागं अणंतगुणहाणिवुड्ढीहिं । ३२० ।
करणं अहापवत्तं, अपुव्वकरणमनियट्टिकरणं च ।
अंतोमुहुत्तियाइं, उवसंतद्धं चउहिं कमेण । ३२१ ।

इह सर्वोपशमना मोहस्यैव मोहनीयस्यैव शेषाणां तु कर्मणां देशोपशमना तत्र तस्य मोहनीयस्य सर्वोपशमनाक्रियायोग्य पञ्चेन्द्रिय सञ्ज्ञी सर्वाभि पर्याप्तिभि पर्याप्त इत्येव लब्धित्रिकयुक्तः पञ्चेन्द्रियत्वसञ्ज्ञित्वपर्याप्तित्वरूपाभिस्तिसृभि लब्धिभिर्युक्त अथवा उपशमलब्ध्युपशमश्रेणिश्रवणलब्धिकरणत्रयहेतुप्रकृष्टयोगलब्धिरूपत्रिकयुक्त करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्त्तकालं यावत् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्यादिभिर्विशुध्यमानोऽवदायमानचित्तसन्तान ग्रन्थकसत्वानामभव्यसिद्धकानां या विशोधिस्तामतिक्रम्य वर्त्तमान ततोऽनन्तगुणविशुद्ध इत्यर्थ । तथा अन्यतरस्मिन् मतिश्रुतज्ञानावरणविभङ्गज्ञानानामन्यतरस्मिन् साकारे साकारोपयोगे वाऽन्यतरस्मिन् मनोयोगे वाग्योगे काययोगे वा वर्त्तमानस्तिसृणां विशुद्धाना लेश्यानामन्यतमस्यां लेश्यायां जघन्येन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्तमानो जघन्येन तेजोलेश्या तथा आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणा स्थितिसत्कर्म सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां कृत्वा अशुभानां कर्मणामनुभाग चतुःस्थानक द्विस्थानक करोति शुभानां च कर्मणां द्विस्थानक सन्त चतुःस्थानक करोति ध्रुवतया प्रकृती पञ्चविधज्ञानावरणनवविधदर्शनावरणमिथ्यात्वषोडशकषायभयजुगुप्सातैजसकार्मणवर्णगन्धरसस्पर्शा-गुरुलघूपघातनिर्माणपञ्चविधान्तरायरूपाः सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्या बध्नन् परावर्त्तमाना स्वस्वभावप्रायोग्या प्रकृती शुभा एव बध्नाति ता अप्यायुर्वर्जाः अतीव विशुद्धिपरिणामो हि नायुर्बन्धमारभत इति कृत्वा तद्वर्जन भवप्रायोग्या इति वचनाच्चैतदवगन्तव्यम् । यदुत तिर्यङ्मनुष्यो वा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन् देवगतिप्रायोग्याः शुभा प्रकृतीर्देवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गसमचतुरस्रसंस्थानपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपा एकविंशतिसङ्ख्या बध्नाति देवो नैरयिको वा प्रथमसमये सम्यक्त्वमुत्पादयन् मनुजगतौ प्रायोग्या मनुजगतिमनुजानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिसमचतुरस्रसंस्थानप्रथमसंहननौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसादिदशकसातवेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपा द्वाविंशतिसङ्ख्या न बध्नाति केवल यदि सप्तमनरकपृथ्वीनारक प्रथमस्य सम्यक्त्वमुत्पादयति तत तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीनीचैर्गोत्राणि वक्तव्यानि शेष तदेव तथा बध्यमानप्रकृतीनां स्थितिं बध्नाति अन्त सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणामेव नाधिकां योगवशाच्च प्रदेशाग्रमुत्कृष्टमध्यमजघन्य च बध्नाति तथा हि जघन्ययोगे वर्त्तमानो जघन्य प्रदेशाग्र बध्नाति मध्यमे मध्यममुत्कृष्टे तूत्कृष्टमिति । स्थितिबन्धेऽपि पूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्ध प्राक्तनस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमं सङ्ख्येयभागन्यूनं करोति तस्मिन्नपि च परिपूर्णे सति अन्य स्थितिबन्ध पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यून करोति एवमन्यमन्य स्थितिबन्धपूर्वपूर्वापेक्षया पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यून करोति अशुभाना च प्रकृतीना बध्यमानानामनुभाग द्विकस्थानक बध्नाति तमपि प्रतिसमयमनन्तगुणहीन शुभाना चतुःस्थानक बध्नाति तमपि प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धिमेवमसौ कुर्वन् किं करोति इत्यत आह । करणमित्यादि) करण यथाप्रवृत्त करोति ततोऽनिवृत्तिकरणमिति परिणामविशेषकरण " परिणामो त्ति " वचनप्रामाण्यात् एतानि च त्रीण्यपि करणानि च प्रत्येकमन्तर्मौहूर्त्तिकानि सर्वेषामपि करणानां कालोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततोऽनेन क्रमेण चतुर्थीमुपशान्ताद्धा लभते साऽपि चान्तर्मुहूर्त्तिकी । क०प्र० ।

सम्प्रति करणानामेव स्वरूपमाविश्चिकीर्षुराह ॥

आइल्लेसु दोसुं, जहन्न उक्कोसिया भवे सोही ।
जो पइसमय अज्झव–साया लोगा असंखेज्जा ॥

आद्ययोर्द्वयो करणयोर्यथाप्रवृत्तिनिवृत्त्याख्ययोर्जघन्या उत्कृष्टा च शुद्धिर्भवति यतो यस्मादाद्ययो करणयो प्रतिसमयमध्यवसाया विशोधिरूपा नानाजीवापेक्षया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्तत आद्ययोर्द्वयो करणयो प्रतिसमय जघन्या उत्कृष्टा च विशोधिर्भवति । ताश्च विशोधय एवम् । तथा प्रथमसमये विशोधयो नानाजीवापेक्षया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्ततो द्वितीयसमये विशेषाधिकास्ततोऽपि तृतीये समये विशेषाधिका एव तावद्वाच्य यावच्चरमसमय एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यमेते च विशोध्यध्यवसाया यथाप्रवृत्तापूर्वकरणयोः सचन्त्यिन स्थाप्यमाना विषमचतुरस्र क्षेत्रमावृण्वन्ति तयोरुपरि चानिवृत्तिकरणाध्यवसाया मुक्तावलीसंस्थिता स्थापना ।

१०००००००००००००००१२
८०००००००००००००२०
१००१०००००००००१८
४००००००००००——पूर्वकरण
३००००००००१४
२०००००००१३
१००१००७
०००३
००५

एतदेवाह ॥

पइसमयअणंतगुणा, सोही उड्डामुही तिरिच्छा उ ।
छेदाणि य जीवाणं, तइए उड्डामुहा एक्का ॥

त्रयाणामपि करणानां प्रतिसमयमूर्ध्वमुखा सिद्धिरनन्तगुणा वेदितव्या तद्यथा प्रथमसमयशुद्ध्यपेक्षया द्वितीयसमये शुद्धिरनन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये अनन्तगुणा एवं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमय आद्ययोः शुद्ध्योः करणयोस्तिर्यङ्मुखा शुद्धिः षट्स्थाना षट्स्थानपतिता तद्यथा प्रथमसमयगता शुद्धिः षट्स्थानविशिष्टा द्वितीयस्थानगता विशिष्टा एव यावदपूर्वकरणचरमसमयः तृतीयविनिवृत्तिकरणे प्रतिसमयं सकलजीवापेक्षयाऽप्येकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथा हि अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये वर्त्तन्ते ये च प्रवृत्ताः ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामप्येकमेवाध्यवसायस्थानं द्वितीयसमयेऽपि वर्तन्ते ये च प्रवृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकमेवाध्यवसायस्थानं केवलं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षया अनन्तगुणविशुद्धम् एव तावद्वाच्यं यावत्तस्यानिवृत्तिकरणस्य च चरमसमयस्तनस्तृतीये करणे एकैकशोधिरूर्ध्वमुखरूपा न द्वितीया तिर्यङ्मुखा तत्र यथा प्रवृत्तिकरण एव ।

विशोधिविधितारतम्यमुपदर्शयन्नाह ॥

गंतुं संखेज्जंसं, अहापवत्तस्स हीण जा सोही ।
तीए य पढमसमये, अनंतगुणिया उ उक्कोसा ॥

यथा प्रवृत्तिकरणस्य संख्येयं भागं गत्वाऽन्तरसमये या जघन्या शुद्धिस्तस्याः सकाशात् प्रथमे समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा । इयमत्र भावना यथाप्रवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये या सर्व्वजघन्या विशोधिः सा सर्वस्तोका ततो द्वितीये समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एव तावद्वाच्य यावत् यथाप्रवृत्तिकरणस्य सख्येयो भागो गतो भवति तत प्रथमसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततो यतो जघन्यस्थानानिवृत्तस्ततस्योपरितना जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा तत उपरि जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एवमुपर्यधश्च एकैका विशोधिरनन्तगुणा तावद्वाच्या यावच्चरमसमये जघन्या विशोधिः । तथा चाह ।

एवं एकंतरिया, हेट्ठुवरिं जाव हीणपज्जंते ।
तत्तो उक्कोसाओ, उवरिंवरिं होयणंतगुणा ॥

एव पूर्वोक्तप्रकारेण संख्येयभागात्परत आरभ्य अध उपरि च एकान्तरिता विशोधिरनन्तगुणा तावद्वाच्या यावद्धीनपर्यन्ता जघन्यविशोधिपर्यवसान पल्योपमसख्येयभागमात्राश्चोत्कृष्टा विशुद्ध्योऽद्याप्यनुत्तराः सन्ति ततस्ताः उपरि उपरि अनन्तगुणा वक्तव्या तदेवमुक्तं यथाप्रवृत्तिकरणम् ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य स्वरूपमाविश्चिकीर्षुराह ।

जा उक्कोमा पढमे, तीसेणं ता जहन्निया बाए ।
करणा तीए जेट्ठा, एवं जा सव्वकरणं पि ॥

प्रथमे यथाप्रवृत्तकरणे चरमसमये या उत्कृष्टा विशोधिस्तस्याः सकाशात् द्वितीये पूर्वाख्ये करणे प्रथमे समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा तस्या अपि सकाशात् प्रथमसमये एव ज्येष्ठा उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततो द्वितीये समये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा । ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा । ततोऽपि द्वितीये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा । ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा । एवं प्रतिसमय तावद्वाच्य यावत्सकलमपि करण परिसमाप्यते ।

अपुव्वकरणसमयं, कुणइ अपुव्वे इमे च चत्तारि ।
ठिइघायं रसघायं, गुणसेढी बंधगद्धा य ॥

अपूर्वकरणेन समक तस्मिन्नेव समये अपूर्वकरणे प्रविशति तस्मादेव समयादारभ्येत्यर्थः । इमान्वक्ष्यमाणांश्चतुरः पदार्थान् अपूर्वान् करोति अतीते काले न कदाचनापि पूर्वं कृताः । ततो न वा स्थितिघातं रसघात गुणश्रेणिबद्धकाद्धं च ।

तत्र प्रथमतः स्थितिवतः स्वरूपव्यावर्णनायाह ।

उक्कोसेणं बहुमा–गराणि इयरेण पल्लसंखेयं ।
ठियअग्गाओ घायइ, अंतमुहुत्तेण ठिइखंडं ॥

स्थितिसत्कर्म्मणोऽग्रिमभागादुत्कर्षेण प्रभूतानि सागरोपमाणि प्रभूतसागरोपमप्रमाणमितरेण जघन्येन पल्योपमासख्येयभागमात्रखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेन घातयति घातयित्वा च दलिकं याः स्थितीरधो न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति ततः पुनरपि अधस्तात् पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेन घातयन् प्रागुक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति एवमपूर्वकरणाद्धाया प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमे समये यत् स्थितिसत्कर्मासीत् तत्तस्यैव चरमसमये सख्येयगुणहीनं जातं तदेवमुक्तः स्थितिघातः ।

सम्प्रति रसघातप्रतिपादनार्थमाह ।

असुभाणं तं मुहुत्तेण, हणइ रसं कंडगं अणंतंसं ।
करणे ठिइखंडाणं, तम्मि उ रसकंडगसहस्सा ॥

स्थितिखण्डानां करणे उत्किरणे प्रवृत्तः सन् अशुभा वा प्रकृतीना रसकण्डकमनुभागकण्डकमनन्तानन्तविभागात्मकमन्तर्मुहूर्तेन विनाशयति किमुक्त भवति अशुभप्रकृतीनां यत् अनुभागसत्कर्म्म तस्यानन्तानुभागान् मुक्त्वा शेषान् अनुभागभागान् सर्वानप्यन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमस्य भागस्यानन्ततम भाग मुक्त्वा शेषान् अनुभागभागान् सर्वानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति एवमनेकानि अनुभागखण्डसहस्राणि एकैकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति तथा चाह (तम्मि उ रसकंडगसहस्सा) तस्मिन् स्थितिखण्डे एकैकस्मिन् रसकण्डगसहस्राणि गच्छन्ति स्थितिखण्डानां च सहस्रैरपूर्वकरणे परिसमाप्यते तदेवमुक्तो रसघातः ।

सम्प्रति गुणश्रेणिमाह ।

घाइयठिइदलियघेत्तुं, घेत्तुं असंखगुणणाए ।
साहियदुकरणकाल, उदयाओ एइ गुणसेढिं ॥

घातितायाः स्थितेः शुभध्यानदलिक गृहीत्वा उदयसमयादारभ्य प्रतिसमयमसख्येयगुणवृद्ध्या क्षपयति तद्यथा उदयसमये स्तोक द्वितीयसमये असख्येयगुण ततोऽपि तृतीये समये असख्येयगुणम् । एव तावद्वक्तव्य यावत्साधिककरणद्वयकाल्लो मनाक्

समधिका अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालसमया एव प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः एवं द्वितीयादिसमये गृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधिर्द्रष्टव्यः । अन्यच्च गुणश्रेणिरचनार्थं प्रथमसमये यत् दलिकं गृह्यते ततः स्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीये समये असंख्येयगुणमेवं तावद्वक्तव्यं यावद्गुणश्रेणिकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसमयेषु या उपरितनक्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे भवति उपरि च न वर्द्धते ।

करणाई अपुट्टो, जो बंधो सो न होई जो ।
अन्नो पधगउद्धा, सा लाहिमा ठहिगःठाए ॥

अपूर्वकरणस्यादौ प्रथमसमये यो बन्धः प्रारब्धस्तबन्धकाद्धा उच्यते कियन्तं कालं यावत् स प्रारब्धांशो बन्धो बन्धकाद्धा उच्यते अत आह यावदन्यो बन्धो न भवति न प्रारभ्यते स प्रारब्धो बन्धो यावत्र समाप्तिं यातीत्यर्थः । सा च बन्धकाद्धा स्थितिखण्डकद्धा स्थितिः घातकाले तुल्या इदमुक्तं भवति स्थितिघातस्थितिबन्धौ युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठां यात इति ।

जा करणाइए ठिइ–करणं तेतीए होइ संखंसो ।
आनियट्टीकरणमओ, मुत्तावलिसंठियं कुणइ ॥

अपूर्वकरणस्यादौ प्रथमसमये या स्थितिः सा स्थितिघातसहस्रैः खण्डिता सती करणान्ते अपूर्वकरणस्य चरमसमये संख्येयांशो भवति संख्येयभागमात्रा भवति संख्येयगुणहीना भवतीत्यर्थः । एतच्च प्रागपि प्रस्तावाद्भक्तं तदेवमुक्तमपूर्वकरणम् । सम्प्रत्यनिवृत्यकरणप्रतिपादनार्थमाह "अनियट्टीत्यादि" अन्तोऽपूर्वकरणं तदूर्द्धमनिवृत्तिकरणेत्यारभते तच्च कथं भूतमित्याह मुक्तावलीसंस्थितमनिवृत्तिकरणे हि अध्यवसायस्थानानि मुक्तावलीसंस्थितानि भवन्ति एतच्च प्रागेवोक्तं तत एतदपि अनिवृत्तिकरणमभेदात् मुक्तावलीसंस्थितमित्युक्तम् ॥

एवमनियट्टिकरणे, ठिइघाईणि होंति चउरो वि ।
संखेज्जंसे सेसे, पढमठिई अंतरभवं ॥

एवमपूर्वकरणक्रमेणानिवृत्तिकरणेऽपि स्थितिघातादयश्चत्वारोऽपि पदार्था भवन्ति प्रवर्तन्ते इत्थं या निवृत्तिकरणाद्धयोः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिंश्च संख्येयगते भागे शेषे तिष्ठति अन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं प्रथमस्थितेः किञ्चित्समधिकं भवति प्रथमस्थितिश्च ।

अंतमुहुत्तियमित्ताइं, दो वि निम्मवइ बंधगद्धाए ।
गुणसेढि संखभागं, अंतरकिरणेण उकिरइ ॥

प्रथमस्थितिमन्तरकरणं च एते द्वे अपि अन्तर्मुहूर्तप्रमाणे युगपत् निर्मापयति । तथा तत् अन्तरकरणं अभिनवस्थितिबन्धोदयानभिनवस्थितिबन्धकालप्रमाणेन कालेन करोति तथा ह्यन्तरकरणप्रथमसमय एवान्यस्थितिबन्धमिथ्यात्वमारभते स्थितिबन्धान्तरकरणे च युगपदेव परिसमापयति । तथा गुणश्रेणिसम्बन्धिनः संख्येयभागाः प्रथमद्वितीयस्थित्याश्रितास्तिष्ठन्ति एका तु श्रेणिः संख्येयतमं भागमन्तरकरणादन्तरकरणेन सहोत्किरति विनाशयति ।

सम्प्रति अन्तरकरणस्य विधिमाह ।

अंतरकरणस्स विही, घेत्तुं घेत्तुं ठिई य मज्झाउ ।
दलियं पढमठिईए, विक्खिवइ तहा उवरिमाईए ॥

अन्तरकरणस्याय विधिः यदुत अनन्तरकरणस्थितेर्मध्याद्दलिकं कर्म्म परमाण्वात्मकं गृहीत्वा गृहीत्वा प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति तथा उपरितन्यां द्वितीयस्थितौ च एवं च प्रतिसमयं तावत्प्रक्षिपति यावदन्तरकरणदलिकं सकलमपि क्षीयते अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन सकलदलिकक्षयः ।

इगदुगआवलिसेसा, नत्थि पढमाए उदीरणागालो ।
पढमठिइए उदीरण, बियाउए आगालो ॥

इह प्रथमस्थितौ वर्तमानं उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितेरेव दलिकं समाकृष्योदयसमये प्रक्षिपति सा उदीरणा । यत् पुनः द्वितीयस्थितेः सकाशात् उदीरणाप्रयोगेण समाकृष्योदये प्रक्षिपति स आगाल इति । उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिदं द्वितीयं नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम् । उदीरणायां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावज्ज्ञातो यावदावलिकाद्विकं शेषं तिष्ठति तस्मिंश्च स्थितेः आगालो न भवति किं तु केवला उदीरणैव । असावप्युदीरणा तावत् प्रवर्तते यावदावलिका शेषा न भवति आवलिकाया शेषीभूतायामुदीरणा विनिवर्तते ततः केवलेन नवोदयेन आवलिकामनुभवति । अक्षरयोजना त्वेवम् । एकस्यामावलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ यथासंख्यमुदीरणागालो न भवति । प्रथमस्थितेश्च सकाशात् यदि च आगच्छति सा उदीरणा द्वितीयायाश्च स्थितेः सकाशाद्यदागच्छति स आगाल इति ॥

आवलिमेत्तं उदये–ण वेइउं ठाइ उवसमद्धाए ।
उवसमियं तत्थ भवे, सम्मत्तं मक्खुवीयं ज ॥

ततः आवलिकामात्रं प्रथमस्थितिसत्कं केवलेनैवोदयेन वेदयित्वा अनुभूय उपशमाद्धायां तिष्ठति उपशमाद्धायां प्रविशति तस्यां चोपशमाद्धाया स्थितस्य सतः प्रथमसमये एवौपशमिकसम्यक्त्वं भवति तच्च मोक्षस्याभावात् ।

उपरिमठिइ अणुभागं, तं ति ता कुणइ चरमिमच्छुदए ।
देसघाएण सम्मं, इयरेणं मित्थमीसाइ ॥

प्रथमस्थितिचरमसमये मिथ्यात्वोदये वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरुपरितनस्थितिद्वितीयस्थितेः सम्बन्धिनां कर्म्मपरमाणूनामनुभागं त्रिधा करोति । अनुभागभेदेन त्रिधा द्वितीयस्थितिगतं मिथ्यात्वं दलिकं करोति इत्यर्थः । तथा शुद्धमविशुद्धं च तत्र शुद्धं सम्यक्त्वं तच्च देशघातिरसेन समन्वितं करोति । अर्द्धविशुद्धं सम्यग्मिथ्यात्वमविशुद्धं मिथ्यात्वम् । एते च इतरेण सर्वघातिनां रसेन समन्विते च करोति । इहौपशमिकसम्यक्त्वलाभप्रथमसमयादेवारभ्य मिथ्यात्वस्य सम्यक्त्वं च गुणसंक्रमात्प्रवर्तते स चैवम् ।

सम्मे थोवो मीसे, असंखओ तस्स संखओ सम्मे ।
पइसमयं इइ खेवो, अंतमुहुत्ता उ विज्झाउ ॥

औपशमिकसम्यक्त्वलाभप्रथमसमये स्तोको दलिकनिक्षेपः सम्यक्त्वे ततो मिश्रे तस्मिन्नेव प्रथमसमये असंख्येयगुणस्ततोऽपि द्वितीये समये सम्यक्त्वे असंख्येयगुणं ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीये सम्यग्मिथ्यात्वे असंख्येयगुणः इत्येवमुक्तेन प्रकारेण प्रतिसमयं क्षेपे सगुणसंक्रमरूपस्तावद्द्रष्टव्यो यावदन्तर्मुहूर्त्तं तदूर्द्धं पुनः प्रागभिहितस्वरूपो विध्यातसंक्रमः प्रवर्तते ॥

गुणसंकमेण एसो, संकामो होइ सम्ममीसेसु ।
अंतरकरणम्मि ठिओ, कुणई जओ मप्पसत्थगुणो ॥

एष प्रागभिहितस्वरूपसंक्रमो मिथ्यात्वस्य सम्यग् मिश्रयो भवति गुणसंक्रमेणानन्तरोक्तस्वरूपः संक्रमो वेदितव्य इ-

त्यर्थः । यतोऽसावन्तरकरणे स्थितः सप्रशस्तगुणः सह प्रशस्तेन प्रशस्येन गुणेनोपशमिकसम्यक्त्वलक्षणेन वर्तते इति सप्रशस्त गुणः सन् संक्रम करोति तस्मादन्तरकरणे स्थितस्य गुणसंक्रमः प्रवर्तते तल्लक्षणस्य संभवात् तथाहि गुणसंक्रमस्येदं लक्षणम्। अपूर्वकरणादारभ्य गुणानां वध्यमानानां प्रकृतीनां गुणसंक्रम' प्रवर्तते इति । तदुक्तम् "गुणसंकमो अवज्झंति गणे असुभाण पुव्वकरणादी " इति । अपूर्वकरणे च मिथ्यात्वस्य बन्धः प्रवर्तते तस्य वेद्यमानत्वात् अन्तरकरणे च तस्योदयाभावात् बन्धो न प्रवर्तते नत्र गुणसंक्रम' प्रवर्तते ।

गुणसंकमेण समए, तिन्नि दिज्जकंतिआउवज्जाणं ।
मिच्छत्तस्स उ इगिदुग, आवलिसेसाए पढमाए ॥

यत्तेन गुणसंक्रमः प्रवर्तते तावदायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिर्वा प्रवर्तते यदा गुणसंक्रमस्तिष्ठति निवर्तते तदा गुणसंक्रमेण सम तिस्रोऽपि स्थितिघातगुणश्रेणयस्तिष्ठन्ति तथा मिथ्यात्वस्य यावदेकावलिका प्रथमस्थितौ शेषीभूता न भवति तावत् स्थितिघातरसघातौ प्रवर्तेते आवलिकामात्रशेषीभूतायां तु प्रथमस्थितौ न भवत' सदा यावन्मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितिर्द्व्यावलिका शेषा न भवति तावत् गुणश्रेणिरपि प्रवर्तते द्व्यावलिकाशेषायां तस्यां गुणश्रेणिर्न भवति उत्तरार्द्धस्य चाक्षरयोजना इति मिथ्यात्वस्य एकद्व्यावलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ यथासंख्यं स्थितिघातरसघातौ गुणश्रेणिश्च तिष्ठन्तीति ।

उवसंतद्धा अंते, विहीय उकट्ठियस्स दलियस्स ।
अज्झवसायविसेसो, सो एकस्सुदओ भवे तिण्ह ॥

उपशमाद्धाया औपशमिकसम्यक्त्वाद्धाया अन्ते पर्यन्ते किंचित्समधिकावलिकाशेषे वर्तमानस्त्रयाणामपि द्वितीयस्थितिगतानां सम्यक्त्वादिषु जातानां दलिकमध्यवसायविशेषेण समाकृष्यान्तरकरणे पर्यन्तावलिकायां प्रक्षिपति तत्र प्रथमसमये प्रभूत द्वितीयसमये स्तोकं तृतीयसमये स्तोकतरमेवं तावद्वाच्य यावद्यावलिकाचरमसमयः तानि चैव दलिकानिक्षिप्यमाणानि गोपुच्छसंस्थानसंस्थितानि भवन्ति ततः आवलिकामात्रे अन्तरकरणस्य शेषे सति अध्यवसायविशेषादमीषां त्रयाणामेकतरस्य दलिकस्योदयो भवति । इदमुक्त भवति यदि तदानीं शुभ परिणामस्तर्हि सम्यक्त्वदलिकस्योदयः । मध्यमश्चेत्परिणामस्तर्हि सम्यग्मिथ्यात्वदलिकस्येति जघन्यश्चेत्ततो मिथ्यात्वदलिकस्येति ।

गतलिया सेसाए, उवसमअद्धाए जाव इगिसमयं ।
असुभपरीणामत्तो, कोइ सासायणत्तं पि ॥

उपशान्ताद्धाया जघन्यतः समयशेषायामुत्कर्षतः षडावलिकाशेषायामशुभपरिणामतोऽनन्तानुबन्ध्यादिलक्षणान् कश्चित् सासादनत्वमपि याति प्रनियाति स च नियमात्तदनन्तर मिथ्यात्वमेव प्रतिपद्यते।

सम्मत्तेणं समगं, सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे ।
उवसंतदंसणो सो, अंतरकरणट्ठिओ जाव ॥

सम्यक्त्वेनोपशमिकसम्यक्त्वेन समकोऽपि कश्चित् सर्वविरतिं देशविरतिं प्रतिपद्यते तदुक्त शतकबृहच्चूर्णौ " उवसमसम्मदिट्ठी अंतकरणे ठिओ कोइ देसविरईपि लभेइ कोइ पमत्तापमत्तभावंपि लभो य णो पुण न किं पि लभेइत्ति" अपगान्तदर्शनश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तावदवगन्तव्यौ यावदन्तरकरणे स्थितौ च तिष्ठेते इति तदेवं कृता सम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा। अप्रतिचारित्रमोहनीयस्योपशमनाभिधातव्या चारित्रमोहनीयस्य चोपशमको वेदकसम्यग्दृष्टिर्यतो देशविरतः सर्वविरतो वा प्रवर्त्तमानशुभपरिणामस्तथा चाह ।

वेयगसम्मद्दिट्ठी, सोही अद्धाए अजयमाईया ।
करणदुगेण उवसमं, चरित्तमोहस्स चिट्ठंति ॥

वेदकसम्यग्दृष्टयः क्षायोपशमिकसम्यक्त्वापरित्यक्तसंक्लेशविशोध्यद्धायां वर्तमाना अयतादयोऽविरताद्योऽविरतदेशविरतसर्वविरताश्चारित्रमोहनीयस्योपशमार्थं करणद्विकेन यथाप्रवृत्तापूर्वाख्येन यथायोग चेष्टन्ते अनुत्तरा भवन्ति तृतीयेन तु करणेन साक्षादुपगमका एव भवन्तीति करणद्विकेन चेष्टन्ते इत्युक्तम् ।

सम्प्रत्येतेषामेवाविरतादीनां लक्षणमाह ।

जाणणगहणाणुपालण, विरओ विरई अविरइ उभयंसि ।
आइमकरणदुगेणं, पडिवज्जइ दोण्ह मन्नपरं ॥

विरते यत् ज्ञान ग्रहण पालन च तै कृत्वा विरतो भवति तत्र यस्त्रिविध त्रिविधेन भवेद्विरत. स सर्वविरत' यस्तु एकादिना विरत. स देशविरत. ज्ञानग्रहणानुपालनरूपत्रयभगव्यतिरेकेण चान्येषु भागेषु वर्तमानो नियमादविरत चरमेऽनुभङ्गे वर्तमानो देशविरतेर्देशविरत' स चानेकप्रकारस्तद्यथा कोऽप्येकाणुव्रती कोऽपि द्व्यणुव्रती एव यावदुत्कर्षतः परिपूर्णद्वादशव्रतधारी अत्या ख्यातसकलसावद्यकर्मा केवलमनुमतिमात्रसेवक । अनुमतिरपि त्रिधा तद्यथा प्रतिसेवनानुमतिः प्रतिश्रवणानुमति' संवासानुमतिश्च। तत्र यः स्वय परैर्वा कृत पाप श्लाघते सावद्यारम्भोपपन्न वा अशनाद्युपभुङ्क्ते तस्य प्रतिसेवनानुमति। यदा तु पुत्रादिभिः कृत पापं शृणोति श्रुत्वा चानुमनुते न प्रतिषेधति तदा प्रतिश्रवणानुमतिः। यदा पुन सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवलं ममत्वमात्रयुक्तो भवति नान्यत् किञ्चित् प्रतिशृणोति श्लाघते वा तदा संवासानुमति. तत्र संवासानुमतिमात्रमेव यः सेवते स चरमो देशविरतः। स चान्यसर्वश्रावकाणामुत्तमः य पुन' सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु पुत्रादिषु केवल ममत्वमात्रयुक्तो भवति नान्यत् सानुमतेरपि विरत' स सर्वविरत उच्यते। अनयोश्च द्वयोर्देशविरतिसर्वविरत्योरन्यतरां विरतिमादिमेन यथाप्रवृत्तपूर्वा ख्येन करणद्विकेन प्रतिपद्यते इह ह्यविरत. सन् यथोक्तं द्वे करणे करोति देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते अथ देशविरतस्तर्हि विरतिमेव। अथ कस्माद्देशविरतिसर्वविरत्योर्लाभे तृतीयमनिवृत्तिकरण न भवति इह करणकालात् प्रागप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावद् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्तमानोऽशुभानां कर्मणामनुभागद्विस्थानक करोतीत्यादि तदेव वक्तव्य यावत यथाप्रवृत्तं करण तदपि च तथैव वक्तव्य ततोऽपूर्वकरण तदपि च तथैव नवरमिह गुणश्रेणिर्न वक्तव्या अपूर्वकरणाद्धायां च पश्चिमसमायामनन्तरसमये नियमाद्देशविरतिं सर्वविरतिं वा प्रतिपद्यते ततो निवृत्तिकरण तृतीयमिह नावाप्यते।

उदयावलिया उप्पिं, गुणसेढिं कुणइ सहचरित्तेण ।
अतो असंखगुणणा-एताव य वट्टए काल ॥

करणद्वयेन व्यतिक्रान्ते उदयावलिका उपरि नह चारित्रेण वा समकाल प्रतिसमयमसंख्येयगुणनया गुणश्रेणिमन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् करोति कस्मादन्तर्मुहूर्त कालं यावत् गुणश्रेणि करोति परतोऽपि नेत्यत आह (ताव य वट्टए काल) 'यतस्तावन्मात्रम-

न्तर्मुहूर्त्तं कालं यावदवश्यं वर्त्तते प्रवर्द्धमानपरिणामो भवति कोऽपि हीयमानपरिणाम ततो यदि प्रवर्द्धमानपरिणामो भवति तत कर्मपि गुणश्रेणिं प्रवर्द्धमानां करोति । अथ हीयमानपरिणामस्तर्हि हीयमानामवस्थितपरिणामश्चावस्थितस्वभावस्थां हीनपरिणामो वा देशविरते स्थितिघातरसघातौ न भवत ।

परिणामपच्चएणं, गमागमं कुणइ करणरहिओ वि ।
आभोगनट्ठवरणो, करणे काऊण पावेइ ॥

परिणामप्रत्ययत कथंचित्परिणामहासात्कारणात् देशविरतो विरतिं प्रतिपन्न सर्वविरतो वा देशविरतिं गच्छति तत. स भूयोऽपि तां पूर्वप्रतिपन्नां सर्वविरतिं वा करणरहितोऽपि प्रतिपद्यते एवमकृतिकरणेऽनेकशो गमागम करोति य पुनराभोगत. प्रतिपत्त्या नष्टकरणो देशविरते सर्वविरतेर्वा परिभ्रष्टं मिथ्यात्वं च गतः स भूयोऽपि जघन्येनान्तर्मुहूर्तेन कालेन उत्कर्षतः प्रभूतेन कालेन पूर्वप्रतिपन्नामपि देशविरतिं सर्वविरतिं वा उक्तप्रकारेण करणेन कृत्वा करणद्वयस्य पुरस्सरमेव प्रतिपद्यते ॥

परिणामपच्चएणं, चउव्विहं होइ वड्ढई वावि ।
परिणामवड्ढयाए, गुणसेढिं तच्चियं कीरइ ॥

परिणामप्रत्ययेन परिणामात्कारणात् चतुर्विधं चत्वार प्रकारो यथा भवति एव हीयते वर्द्धते वा गुणश्रेणिरिति विभक्तिविपरिणामेन संबध्यते इदमुक्तं भवति यदि हीयमानपरिणामो भवति तर्हि तया तया परिणामहानिमस्ये कृतगुणश्रेणि चतुर्द्धा हीयते तद्यथा कदाचिदसंख्येयभागेन कदाचित्संख्येयभागेन कदाचिदसंख्येयगुणेन कदाचित्संख्येयगुणेन । अथ परिणाम प्रतिसमय प्रवर्द्धते तर्हि तत्परिणामानुसारेण गुणश्रेणिरप्युक्तप्रकारेण वर्द्धते यदि पुनरवस्थितपरिणामो भवति तर्हि तावन्मात्रामेव गुणश्रेणिमारचयति एवा चैव दलिकापेक्षया द्रष्टव्या । कालश्च पुनः सर्वदाऽपि तावन्मात्रैव यावच्च देशविरतिं सर्वविरतिं वा परिपालयति तावद्गुणश्रेणिमपि समये समये करोति । स्थापना चेय तदेवमुक्तो देशविरतिसर्वविरतिलाभ ।

संप्रत्यनन्तानुबन्धिविसंयोजनमाभण्यते ॥

सम्मुप्पायणविहिणा, चउगइया सम्मदिट्ठिपज्जत्ता ।
संजोयणा विजोएति, न उण पढमठिइं करेंति ॥

सम्यक्त्वोत्पादविधिना सम्यक्त्वोत्पादभणितकरणत्रयरूपेण प्रकारेण चतुर्गतिका सम्यग्दृष्ट्यो वेदकसम्यग्दृष्ट्य पर्याप्तास्त-आविरतसम्यग्दृष्ट्यश्चतुर्गतिका अपि देशविरतास्तिर्यग्गतिका वा मनुष्या वा सर्वविरतास्तु मनुष्या संयोजनातोऽनन्तानुबन्धिनो वियोजयन्ति नाशयन्ति पुनरन्तरकरण कुर्वन्ति तदभावाच्च प्रथमस्थितिमपि न कुर्वन्ति अन्तरकरणस्य ह्यस्तना स्थितिरित्युच्यते । द्वितीया तु द्वितीया ततोऽन्तरकरणकारणाभावे प्रथमस्थितिमपि न कुर्वन्तीति ।

अत्रैव विशेषमाह ।

उवरिमगे करणदुगे, दलियं गुणसंकमेण तेसिं तु ।
नासेइ तइ पच्छा, अंतमुहुत्ता सभावत्थो ॥

उपरितनके द्विके अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणाख्ये तेषामनन्तानुबन्धिनां दलिक परमाणवात्मक गुणसक्रमेणोज्ज्वलनासक्रमस्तु विद्धेन नाशयति अनिवृत्तिकरणे च वर्तमान सन् गुणसक्रमानुविद्धेनोज्ज्वलनासक्रमेण निरवशेषान् विनाशयति । किं त्वधस्तादावलिकामात्र मुञ्चति तदपि च स्तिबुकसंक्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु संक्रमयति ततोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतो ऽनिवृत्तिकरणपर्यवसाने शेषकर्म्मणामपि स्थितिघातरसगुणश्रेणयो न भवन्ति किं तु स्वभावस्थ एव भवति चतुर्विंशतिसत्कर्म्मा तदेवमुक्तानन्तानुबन्धिनाविसयोजना । ये त्वाचार्या अनन्तानुबन्धिनामुपशमनामपि मन्यन्ते तन्मतेनोपशमनाविधि पञ्चाशीतिवृत्तेः सप्ततिकावृत्तेर्वा अवसेय. ।

सम्प्रति दर्शनमोहनीयक्षपणाविधिमाह ।

दंसणखवणस्स रिहो, जिणकालीओ पुमट्ठवासुवरि ।
अणणासकमाकरणाइं, करइ गुणसंकमं तइयं ॥

दर्शनं मिथ्यात्वसम्यक्त्वरूप तस्य क्षपणा तस्या अर्हो योग्यो जिनकालीयो जिनविरहेण कालसम्भवी प्रथमसम्भवी प्रथमसंहननी च दुर्गति मनुष्यगतौ वर्त्तमानो जीवो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानोऽनन्तानुबन्धेन विसयोजनक्रमेण यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि यथा गुणसक्रम च कृत्वा साकल्येन क्षपयति । इयमत्र भावना दर्शनमोहनीयक्षपणार्थमभ्युद्यतस्त्रीणि करोति तद्यथा यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण वा एतानि च त्रीण्यपि करणानि प्रागेव वक्तव्यानि नवर पूर्वकरणस्य प्रथमसमये एव गुणसक्रमेण मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिके सम्यक्त्वे प्रक्षेपयति उद्वलनासक्रममपि तयोरेवमारभते । तद्यथा प्रथमस्थितिखण्ड बृहत्तरं घातयति ततो द्वितीय विशेषहीनमेव तावद्वक्तव्य यावन्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयो. करोति ।

तक्करणाई जं तं, तस्संते संखभागो होइ ॥

तत्करणादावपूर्वकारणादौ यत् स्थितिसत्कर्म्मासीत्तस्यैव करणस्यान्ते चरमसमये संख्येयभागमात्रं भवति ।

प्रथमसमयापेक्षया सख्येयगुणहीनं भवतीत्यर्थः ।

एवं ठिइबंधो वि य, पविसइ अनियट्टिकरणसमयम्मि ।
अपुव्वगुणसेढिठिइ–रसघायठिइबंधं च ॥

एवमनेन प्रकारेण स्थितिसत्कर्म्मन्यायेन स्थितिबन्धोऽपि वेदितव्यः अपूर्वकरणप्रथमसमये यावान् स्थितिबन्ध आसीत् तदपेक्षयाऽस्यैवापूर्वकरणस्य चरमसमये संख्येयगुणहीनो भवतीत्यर्थः । ततोऽनिवृत्तिकरणसमये प्रविशति तत्र च प्रविष्टः सन् प्रथमसमयादेवारभ्यापूर्वां गुणश्रेणिं अपूर्वं स्थितिघात रसघातमपूर्वं च स्थितिबन्धमनुक्रममारभते ।

देसुवसमणनिकायण, निहत्तिरहियं च होइ तिगं ॥

अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये एव च देशोपशमना निकाचनानिधत्तिरहितं दर्शनत्रिक भवति देशोपशमादीनां त्रयाणां करणानां मध्ये नैकमपि तदानीं दर्शनत्रिकस्य करणं प्रवर्तते इत्यर्थ. । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्म्मस्थितिघातादिभिर्घात्यमानसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमान भवति । तत स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति तु चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमान ततोऽपि तावन्मात्रेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमान ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमान ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्योपमसख्येयभागमात्रप्रमाण भवति तदेवाह ।

कमसो असंखिचउरिं–दियाए तुल्लं किट्टं संत ।
ठिइखंडसहस्साइ, एकेकं अंतरम्मि गच्छंति ॥
पलिओवमसखाण, दंसणसातं तओ जाणं ।

अनिवृत्तिकरणादारभ्य क्रमशोऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियचतुरिन्द्रियादि-

तुल्य स्थितिसत्कर्म वक्तव्यम् । एकैकस्मिंश्चोत्तरे स्थितिखण्डसहस्राणि स्थितिघातसहस्राणि व्रजन्ति भावना प्रागेव कृता एवं पल्योपमसंख्येयभागमात्रदर्शनज्ञानमोहनीयतेति यावत् सत्कर्माणि जाते सति यद्भवति संख्येयान् भागान् खण्डयति । इयमत्र भावना पल्योपमसंख्येयभागमात्रस्य स्थितिकर्म्मण एकसंख्येयभाग मुक्त्वा शेषानशेषानपि संख्येयान् भागान् त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीनां विनाशयति ततः प्रागुक्तस्य संख्येयभागस्य एकसंख्येयभाग मुक्त्वा शेषानशेषानपि संख्येयान् भागान् विनाशयति एवं ते संख्येयभागाः खण्ड्यमाना सहस्रशोऽपि व्रजन्ति ततो मिथ्यात्वस्यासंख्येयान् भागान् खण्डयति सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु संख्येयान् भागान् ।

तत्तो बहु खंडंते, खंडइ उदयावलीरहियमिच्छत्तं ।
तत्तो असंखभागो, सत्तामीसाण खंडेइ ॥

ततोऽनेन विधिना स्थितिखण्डानां प्रभूतानामन्ते उदयावलिकारहितसकलमपि मिथ्यात्वं खण्डयति विनाशयति । तदानीं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं पल्योपमासंख्येयभागमात्रमवतिष्ठते अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसम्यक्त्वानि सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रक्षिपति सम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वातिसम्यक्त्वानि सम्यक्त्वाधस्तात् स्वस्थाने इति तदपि च मिथ्यात्वदलिकमात्रं स्तिबुकसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति मिथ्यात्वस्यावलिकामात्रायां स्थितौ सत्यां तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरसंख्येयान् भागान् खण्डयति एवं ते विशिष्येते ततस्तस्याप्यसंख्येयान् भागान् खण्डयति एकं मुञ्चति एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमावलिकामात्रं जातं तदानीं च सम्यक्त्वस्य स्थितिसत्कर्म्म च एषिकप्रमाणं विद्यते स चाष्टवर्षप्रमाणसम्यक्त्वसत्कर्म तत्काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयनियमतो दर्शनमोहनीयस्य क्षपक उच्यते।

अंतमुहुत्तियखंडं, तत्तो उक्किरइ उदयसमयाउ ।
पक्खिवइ असंखगुणं, नाऊण गुणसेढिपरं हीणं ॥

ततो निश्चयनयमतेन क्षपकस्यभवनादूर्ध्वं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्किरति घातयति तद्दलिकमुदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति तच्चेदमुदयसमये स्तोकं ज्ञात्वा द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीये समये असंख्येयगुणम् । एवं तावद्वाच्यं यावत् गुणश्रेणिशिरः तत ऊर्ध्वं विशेषहीनं शेषहीनस्तावत् यावच्चरमा स्थितिः ।

उक्किरइ असंखगुणे, जाव दुचरिमं ति अंतिमे खंडे ।
सेज्जंसो खंडेइ, गुणसेढीए तहा देइ ॥

ततो द्विस्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तप्रमाणं पूर्वस्मादसंख्येयगुणमुत्किरति खण्डयति प्रागुक्तप्रकारेण च उदयसमयादारभ्य निक्षिपति । एवं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादसंख्येयगुणस्थितिखण्डमुत्किरति तावद्वक्तव्यो यावद् द्विचरिमस्थितिखण्डं द्विचरिमाच्च स्थितिखण्डादन्तिमं स्थितिखण्डं संख्येयगुणं तस्मिंश्चान्तिमे स्थितिखण्डे खण्ड्यमानं संख्येयभागं गुणश्रेण्या खण्डयति अन्याश्च तदुपरितनीः संख्येयगुणाः स्थितीरुत्कीर्य तद्दलिकमुदयसमयादारभ्य संख्येयगुणनया प्रक्षिपति । तद्यथा उदयसमये स्तोकं ततो द्वितीयसमये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणम् । एवं तावद्वाच्यं यावद् गुणश्रेणिशिरः । अत ऊर्ध्वमुत्कीर्णमेव दलिकं ततस्तत्र न प्रक्षिपति एवमेव स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण उच्यते ।

कयकरणो तक्काले, कालं पि करेइ चउसु वि गईसु ।
वेइयसेसो सेढी; अन्नइए वा समारुहइ ॥

कृतकरणः सन् कश्चित्तत्कालमपि करोति कृत्वा च तत्कालं चतसृणां गतीनां गत्युत्पद्यते तदेव प्रस्थापको मनुष्यो निस्सूत्रकेषु चतसृष्वपि गतिषु भवति । उक्तं च । "पट्ठवणा उ मणुस्सो निट्ठवणो होइ चउसु वि गईसु" यदि पुनस्तदानीं कालं न करोति तर्हि वेदितशेषोऽनुदितसम्यक्त्वशेषः क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सन् अन्यतरां श्रेणिं क्षपकश्रेणिमुपशमश्रेणिं वा समारोहति वैमानिकेष्वेव बद्धायुष्क उपशमश्रेणिम् । अबद्धायुष्कस्तु क्षपकश्रेणिं चतुर्गतिबद्धायुष्कस्तु न कामपि श्रेणिमित्यर्थः । अथाप्येतत्क्षीणसप्तकः कतिथे भवे मोक्षमुपयातीत्युच्यते ।

तइये चउत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे ।
जं देवनिरय संखाउ, चरमदेहेसु ते होंति ॥

तृतीये चतुर्थे तस्मिन्वा भवे क्षीणे दर्शने दर्शनमोहनीये सिध्यन्ति जीवाः कुत इत्याह । यत् यस्मात्कारणात् क्षीणसप्तकदेवनारका संख्येयवर्षायुष्केषु भवन्ति उत्पद्यन्ते ते चरमदेहेषु वा भवन्ति चरमदेहा वा भवन्ति ततस्तृतीये चतुर्थे तस्मिंश्च भवे सिध्यन्तीत्युच्यते इयमत्र भावना देवगतौ बद्धायुष्कास्ते तत्प्रकृत्या यत्कृत्वा देवेषु मध्ये उत्पद्यन्ते ये तु नरकेषु बद्धायुष्कास्ते नरकेषु ततो देवेषु देवभवात्समागत्यैव मनुष्यो भूत्वा मोक्षं यातीति चतुर्थे भवे सिध्यन्तीत्यभिधीयते ये त्वबद्धायुष्काः सप्तकं क्षपयन्ति ते चरमदेहा उच्यन्ते न च सप्तकायानन्तरं क्षपकश्रेणिमेव प्रतिपद्यन्ते इति तस्मिन्नेव भवे सिध्यन्ति उक्ता दर्शनीयमोहनीयस्योपशमना । सम्प्रति दर्शनमोहनीयोपशमना भण्यते । सा च क्षीणसप्तकस्य वैमानिकेष्वेव बद्धायुष्कस्य भवति। अबद्धायुष्कस्तु क्षपकश्रेणिमारोहति यस्तु वेदकसम्यग्दृष्टिः स तूपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते सोऽनियतो बद्धायुष्को वासे च केषाञ्चिन्मतेनानन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य चतुर्विंशति सत्कर्म्मा सन् प्रतिपद्यते केषांचित्पुनर्मतेनोपशम्यापि ततो विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय उपशमितानन्तानुबन्धिकषायो वा सन् दर्शनत्रितयमुपशमयति । तथा चाह ।

अहवा दंसणमोहं, पढमं उवसामइत्तु सामन्ने ।
ठिच्चा अणुइ पियाए, पढमठिई आवलीनियमा ॥
पढममुवसमुवसेसे, अंतमुहुत्ता उ तस्स विज्झा उ ।
संकेसविसोवि पमत्त, इयरपमत्तत्तणं बहुसो ॥

अथवेति प्रकारान्तरे आदौ दर्शनमोहनीयं प्रथममुपशमय्यापि प्रतिपद्यते कथमुपशमय्योत्पद्यत इत्याह । श्रामण्ये संयमे स्थिता प्रतिपद्यते कथमुपशमय्योत्पद्यत इत्याह । श्रामण्ये संयमे स्थिता प्रतिपद्यते कथमुपशमय्योत्पद्यत इत्याह । श्रामण्ये संयमे स्थिता उपशमनाविधेश्च प्रागुक्तः करणत्रयानुगो वेदितव्यः । न तु उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । अथवा दर्शनमोहनीयं प्रथममुपशमय्यापि प्रतिपद्यते कथमुपशमय्योत्पद्यत इत्याह । श्रामण्ये संयमे स्थिता उपशमनाविधेश्च प्रागुक्तः करणत्रयानुगो वेदितव्यः नवरमन्तरकरणं कुर्वन् अनुदितयोर्मध्ये सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रथमस्थितिरावलिकामात्रा नियमाद्वेदितव्या सम्यक्त्वस्य चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा उत्कीर्यमाणं च दलिकमन्तरेण त्रयाणामपि सम्यक्त्वोत्पत्ति प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति शेषं प्रथमोपशमवत् प्रथमोपशमकसम्यक्त्ववद्वेदितव्य (अंतमुहुत्ता उ तस्सेत्यादि) बहुशोऽन्तरकरणप्रदेशसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते गुणसंक्रमावसानं विध्यातसंक्रमस्तस्य सम्यक्त्वस्य भवति किमुक्तं भवति । वि-

ष्यातसंक्रमेण मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं सम्यक्त्वे प्रविशतीति एवं दर्शनमोहनीयत्रितये उपशान्ते संक्लेशविशोधिवशात् प्रमत्तत्वमितरप्रमत्तत्वं बहुशोऽनेकशोऽनुभूय चारित्रमोहनीयोपशमनाय सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते इत्यर्थः ।

पुण तिन्नि उ करणाइं, करेइ तइयम्मि एत्थ पुण तेउ ।
अंतो कोडाकोडी, बंधं संतं च सत्तएहं ॥

चारित्रमोहनीयोपशमनार्थं पुनरपि त्रीणि यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्ताख्यानि करणानि करोति करणवक्तव्यता प्राग्वद्द्रष्टव्या केवलमत्र तृतीयकरणे भेदस्तमेव दर्शयति अत' कोटाकोटीनामबन्धसत्कर्मावसमानामायुर्वर्जानां करण प्रथमसमये करोति तत्र यद्यपि प्रागुक्तेष्वपि करणेष्वेतेषां बन्ध' सत्कर्मणां प्राप्यते तथाऽप्यत्र बन्धसत्कर्मणी तदपेक्षया संख्येयगुणहीने द्रष्टव्ये इति विशेष । कर्मप्रकृतौ त्वत्र सत्कर्म त्रि सागरोपमकोटाकोटीप्रमाणमुक्तं बन्धस्त्वन्त सागरोपमकोटाकोटीप्रमाण' तदुक्तम् । " अतो कोडाकोडी, सत अनियट्टि णो उ उदहीण । ठिइखंडं उक्कोस्स पि तस्स पल्लस्स संखतमभाग " ।

ठिइखंडबहुसहस्से, एक्केक्कं जं भणिस्सामो ।

स्थितिखण्डमुत्कृष्टमपि पल्योपमसंख्येयभागमात्र खण्डयति । तथा एतस्य प्राक्तनबन्धस्य पल्योपमसंख्येयभागमात्रं हापयित्वा अन्य स्थितिबन्ध करोतीति शेष. । तत्र यद्यपि शतानामपि कर्मणां पल्योपमसंख्येयभागप्रमाणतया उक्तस्तथाऽपि एव सत्कर्म द्रष्टव्य तद्यथा नामगोत्रे सर्वस्तोके हीनस्थितिकत्वात् ततो ज्ञानावरणदर्शनीयावरणवेदनीयान्तरायाणि विशेषादधिकानि स्वस्थाने तु परस्परतुल्यानि ततोऽपि मोहनीय विशेषाधिकस्थितिखण्डसहस्रेषु च बहुष्वतिक्रान्तेषु एकैक यत्करोति तद्वय भणिष्याम । तदेवाह ।

करणस्स संखभागे, सेसे असण्णिमाइयाणं ।
समो बंधो कमसो, पल्लवसेगतीसाणउदहिवहं ॥

करणस्यानिवृत्तिकरणस्य संख्येयेषु भागेषु सत्सु एकस्मिन् शेषे असंज्ञिकादीनां समो बन्ध. क्रमेण भवति सचैवमानिवृत्तिकरणस्य संख्येयेषु भागेषु गतेष्वेकस्मिन् अशेषे असंज्ञिपञ्चेन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्धो भवति तदनन्तर स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्ध. ततो भूयोऽपि स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति त्रीन्द्रियबन्धतुल्यस्थितिबन्धस्तत एवमेव द्वीन्द्रियबन्धतुल्य. ततोऽप्येवमेकैकेन्द्रियबन्धतुल्यस्ततोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु विंशतिकयो. विंशतिसागरोपमकोटीप्रमाणयोर्नामगोत्रयोरित्यर्थ. । पल्योपममात्र स्थितिबन्धो भवति त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानामर्द्धपल्योपममात्रः ।

मोहस्स दोण्णि पल्ला, संतो वि हु एवमेव अप्पबहू ।
पलियम्मि तम्मि बंधे, अन्नो संखेज्जगुणहीणो ॥

मोहनीयस्य द्वौ पल्योपमौ स्थितिबन्ध स्थितिसत्कर्मणि वाऽल्पबहुत्व बन्धक्रमेण वक्तव्य तद्यथा सर्वस्तोक नामगोत्रयो' ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां विशेषाधिक मोहनीयस्य विशेषाधिकं तथा यस्य यस्य कर्मणो यदा यदा पल्योपमप्रमाण. स्थितिबन्धो भवति तस्य तस्य तदा तत्कालादारभ्यान्योऽन्य स्थितिबन्ध. संख्येयगुणहीनो भवति ततश्चेदानीं नामगोत्रयो पल्योपमप्रमाणात् स्थितिबन्धादन्य स्थितिबन्धस्य संख्येयगुणहीनं करोति शेषाणां तु कर्मणां पल्योपमसंख्येयभागहीन तत. ।

एवं तीसाण पुणो, पल्लमोहस्स होइ हु दिवड्ढं ।
एवं मोहे वड्ढं, सेसाणं पल्लसंखंसो ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां स्थितिबन्ध. पल्योपम प्रमाण करोति मोहनीयस्य तु सार्द्धपल्योपममात्र ततो ज्ञानावरणीयादीनामन्य स्थितिबन्धः संख्येयगुणहीनो भवति मोहनीयस्य तु संख्येयभागहीनः तत एव पूर्वक्रमेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेष्वित्यर्थ' मोहनीयस्य स्थितिबन्ध पल्योपमप्रमाण भवति ततो मोहनीयस्याप्यन्य स्थितिबन्ध. संख्येयगुणहीन. प्रवर्तते तदानीं च शेषकर्मणां स्थितिबन्ध. पल्योपमसंख्येयभागमात्रप्रमाणो वेदितव्यः ।

वीसगतीसगमोहाण, सकम्मं जह कमेण संखगुणं ।
पल्लअसंखेज्जंसो, नामगोयाण तो बंधो ।

विंशत्कत्रिंशत्कमोहानां सत्कर्म यथाक्रम संख्येयगुणं वक्तव्य तद्यथा सर्वस्तोक नामगोत्रयो. सत्कर्म ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायवेदनीयानां संगुण स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यम् । ततोऽपि मोहनीयस्य संख्येयगुण मोहनीयस्य पल्योपममात्रे स्थितिबन्धे जाते सति नामगोत्रयोरन्यस्थितिबन्धो ऽसंख्येयगुणहीनो भवति पल्योपमासंख्येयभागमात्रो भवतीत्यर्थ' । अत्र सत्कर्मापेक्षया अल्पबहुत्व चिन्त्यते सर्वस्तोकनामगोत्रयोः सत्कर्म ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामसंख्येयगुण स्वस्थाने तु परस्पर तुल्य ततोऽपि मोहनीयस्य संख्येयगुण तत. ।

एवं सहस्साणंपि हु, एक्कपयारेण मोहनीयस्स ।
तीसगअसंखभागो, ठिइबंधो संत पंच भवे ॥

एव पूर्वोक्तेन प्रकारेण स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेष्वित्यर्थ. । ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां स्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणहीनो भवति पल्योपमासंख्येयभागमात्रयोर्भवनादिति तात्पर्यार्थः इदानीं च सत्कर्मापेक्षया अल्पबहुत्व चिन्त्यते सर्वस्तोकनामगोत्रयो. सत्कर्म ज्ञानावरणीयादीनां चतुर्णामसंख्येयगुण स्वस्थाने तु परस्पर तुल्य ततो मोहनीयस्य संख्येयगुण तत. स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु एकप्रकारेण एकहेलयैव मोहनीयस्य पल्योपमासंख्येयभागमात्रो ज्ञानावरणीयादीनां चतुर्णामसंख्येयगुण स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यम् ।

वीसगअसंखभागो, मोहपच्छाउघाइतइयस्स ।
वीसाणंतउ होज्जइ, असंखभागम्मि वज्झंति ॥

तत. स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु एकहेलयैव विंशतिकयोर्नामगोत्रयोरधस्तात् असंख्येयगुणहीनो मोहनीयस्य स्थितिबन्धो भवति । अत्र स्थितिबन्धमाश्रित्याल्पबहुत्व चिन्त्यते सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्धस्ततो नामगोत्रयोः संख्येयगुण' स्वस्थाने तु परस्पर तुल्य' । ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यः । स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु पश्चात् तृतीयस्य वेदनीयस्य घातानि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणि अधोजातानि । अत्र स्थितिबन्धमाश्रित्याल्पबहुत्व चिन्त्यते सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्ध' ततो नामगोत्रयोरसंख्येयगुण । स्वस्थाने तु तयो' परस्परं तुल्य ततोऽपि ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसंख्येयगुणः

स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यः। ततोऽपि वेदनीयस्यासख्येयगुण'। ततः स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु विंशतिकयोर्नामगोत्रयोरसंख्येयभागो जातानि ज्ञानावरणीयादीनि त्रीणि दृश्यन्ते नामगोत्रापेक्षया ज्ञानावरणादीनां स्थितिबन्धोऽसख्येयगुणहीनो भवतीत्यर्थः। अत्राल्पबहुत्वं सर्वस्तोको मोहनीयस्य स्थितिबन्धः ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामसख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्य' ततोऽपि नामगोत्रयोरसंख्येयगुणः स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततोऽपि वेदनीयस्यासंख्येयगुण' ।

असंखसमयवद्धा, णामुदीरणा होइ तम्मि कालम्मि ।
देसघाइरसत्तो, मणपज्जवअंतरायाणं ॥

यस्मिन्काले सर्वकर्म्मणां पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिबन्धो जातस्तस्मिन् काले असंख्येयसमयबद्धानामुदीरणा भवति कथमेतदवसीयते इति चेदुच्यते इह यदा पल्योपमासंख्येयभागमात्र स्थितिबन्ध करोति तदा बध्यमानप्रकृतिस्थित्यपेक्षया याः समयादिहीनाः स्थितयस्ता एवोदीरणामुपगच्छन्ति नान्याः ताश्च चिरकालमबद्धा एव क्षीणशेषा सभवन्तीत्यसख्येयसमयबद्धानां तदानीमुदीरणा तत' स्थितिबन्धसहस्रेषु एतेषु देशघातिनः समनुभाग मन' पर्यवज्ञानावरणादीनामन्तराययोर्बध्नाति ॥

लोहादीणं पच्छा, जोग अचक्खुमुयाण तो वक्खा ।
परिभोगमईणंते, विरयस्स असेढिगाथाई ॥

पश्चात्स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु भवान्तरायावधिज्ञानावरणावधिदर्शनावरणानां देशघातिनं रस बध्नाति ततोऽपि सख्येयेषु स्थितिबन्धसहस्रेष्वतीतेषु भोग्यान्तरायाचक्षु' र्दर्शनावरणश्रुतज्ञानावरणानां देशघातिन रसं बध्नाति ततोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेष्वतिक्रान्तेषु परिभोगान्तरायमतिज्ञानावरणयोर्देशघातिन रस बध्नाति ततोऽपि स्थितिबन्धसहस्रेषु वीर्यान्तरायस्य देशयति न सबध्नाति एतेषामेवानन्तरोक्तानां कर्म्मणां श्रेणिगताः क्षपकोपशमश्रेणिरहिताः सर्वघातिनमेव रस बध्नन्ति ।

संजमघाईणं तओ, अंतरमुदउ जाण दोण्हं तु ।
वेयकसायन्नयरे, सोदयतुल्ला पढमठिई ॥

वीर्यान्तरायदेशघात्यनुभागबन्धानन्तरं सख्येयेषु स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु सयमघातिनामनन्तानुबन्धे वर्जानां द्वादशकषायाणां नवानां च नोकषायाणां सर्वसंख्यया एकविंशतिप्रकृतीनामलन्तरकरण करोति तत्र चतुर्णां सङ्खलनानामन्यतमस्य यस्य सज्वलनस्योदयो यस्य च त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्य तयोर्वेदकषायान्यतरयो कर्म्मणोः प्रथमा स्थितिः स्वोदयकालप्रमाणा भवत्यन्येषां चैकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणां प्रथमा स्थितिरावलिकामात्रा । सप्रति चतुर्णां संज्वलनानां त्रयाणां च वेदानां स्वोदयकालप्रमाणमाह—

थीअधुवेदयकाली, सखातगुणो उ पुरिसवेयस्स ।
तस्स हि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो विजयकमसो ॥

स्त्रीवेदनपुसकवेदयोरुदयकालः पुरुषवेदाद्युदयकालापेक्षया सर्वस्तोकः स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यः तत पुरुषवेदेऽन्य उदयकाल संख्येयगुणस्तस्यापि पुरुषवेदस्योदयकालात् क्रोधस्योदयकालो विशेषाधिकस्ततोऽपि क्रोधोदयकालान्मानमायालोभानां यथाक्रमशो यथाक्रमेण विशेषाधिकस्तद्यथा सज्वलक्रोधोदयकालात्सज्वलनमानस्य उदयकालो विशेषाधिकस्ततोऽपि संज्वलनमायाया विशेषाधिकस्ततोऽपि सज्वलनलोभस्य विशेषाधिकस्तत्र संज्वलनक्रोधेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो भवति तावत् संज्वलनक्रोधस्योदयः सज्वनमानेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत्संज्वलनमानस्योदयः सज्वलनमायया चोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानावरणमायोपशमो नोपजायते तावत्संज्वलनमायायाः उदय' संज्वलनलोभेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावदप्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावद्बादरसंज्वलनलोभस्योदयस्ततः पर सूक्ष्मसपरायाद्धा तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया समास्थितिकम् । अधोभागापेक्षया चोक्तनीत्या विषमस्थितिकमिति ।

अंतरकरणेण समं, ठिइखंडगबंधगद्धनिप्पत्ती ।
अंतरकरणाणंतर, समये जायंति सत्तइमो ॥

अन्तरकरणेन सम सममित्यव्यय ततोऽयमर्थः। अन्तरकरणेन समाना स्थितिखण्डस्य बन्धकाद्धायाश्च अभिनवबन्धाद्धायाश्च निष्पत्तिः। किमुक्त भवति यावता कालेन स्थितिखण्डक घातयति यद्वा अन्यस्थितिबन्ध करोति तावता कालेनान्तरकरणमपि करोति त्रीण्यप्येतानि युगपदारभते युगपन्निष्कामयति अत्रान्तकरणकाले चानुभागखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति अन्तरकरणसत्कदलिकस्य प्रक्षेपविधिरयं येषां कर्म्मणां तदानीं बन्ध उदयश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्क दलिक प्रथमस्थितिद्वितीयस्थितिं च प्रक्षिपति यथा पुरुषवेदोदयारूढ' पुरुषवेदस्य येषां तु कर्म्मणामुदय एव केवलो न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्कं दलिकं प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति न द्वितीयस्थितावपि । यथा स्त्रीवेदोदयारूढ स्त्रीवेदस्य येषां पुनरुदयो न विद्यते किं तु केवलो बन्ध एव तेषामन्तरकरणसत्क दलिक द्वितीयस्थितावेव प्रक्षिपति न प्रथमस्थितौ यथा सज्वलनक्रोधोदयारूढः शेषसंज्वलनानां तेषां पुनर्न बन्धो नाप्युदय' तेषामन्तरकरणसत्कं दलिक परप्रकृतिषु यथा द्वितीयतृतीयकषायाणां तथा अन्तरकरणानन्तरसमये अन्तरकरणे कृते सति द्वितीये समये इत्यर्थः। इमे सप्त पदार्था• युगपज्जायन्ते तानेवाह ।

एगट्ठाणाणुभागचं, स उदीरणा य संखेया ।
अपुव्वं संकमणं, लोभस्स असंकम्मे मोहे ॥
बद्धं बद्धं छाउ, आवलीसु उवरेयुईरणं ।
पइपरूं गवेउवसमणा, असंखगुणणाय जावंतं ॥

मोहे मोहनीयस्यानुभागबन्धो रसबन्ध एकस्थानकः उदीरणा संख्येयसमा संख्येयवर्षप्रमाणा चशब्दात्स्थितिबन्धः सख्येयवार्षिक' स च सर्वोऽपि पूर्वस्मात् सख्येयगुणहीनो भावी तथा मोहनीयस्य पुरुषवेदसज्वलनचतुष्टयरूपरसस्य आनुपूर्व्या क्रमेणैव सक्रमो लोभस्य च सज्वलनलोभस्य वा सक्रमस्तथा 'बद्धं बद्धं' मित्यादि इह प्राक् बद्धं बद्धं कर्म्म बन्धावलिकायामतीतायामुदीरणामायातिस्म अन्तरकरणे तु कृते तदनन्तरसमयेषु यद्बध्यते कर्म्म तत् षडावलिकाकालमवस्थाप्योदीरणामायाति तथा पाण्डकवेदस्य नपुसकवेदस्योपशमना असख्येयगुणनया तावद्भवति यावदन्त्यचरमसमया तथा हि नपुसकवेदस्य प्रथमसमये स्तोक प्रदेशाग्रमुपशमयति ततो द्विती-

चसमयश्च सख्येयगुण एव प्रतिसमयं सख्येयगुण तावद्वक्तव्य यावश्चरमसमयः परप्रकृतिषु च प्रतिसमयमुपशमितदलिकापेक्षया असख्येयगुण तावत्सक्रमयति यावद् द्विचरमसमये पुनरुपशमय्यमानं दलिकं परप्रकृतिषु संक्रमेण दलिकापेक्षया असख्येयगुण रूप्यं नपुसकवेदोपशमनारम्भप्रथमसमयादारभ्य सर्वकर्मणामावलिकापेक्षया सर्वस्तोका उदयसंख्येयगुणा. ।

अंतरकरणपविट्ठो, संखासंखं समोहइयराणं ।
बंधादुत्तरबंधा, एवं इच्छेइ संखंसो ॥

अन्तरकरणे प्रविष्ट सन् जीव प्रथमसमय एव बन्धादुत्तरबन्धस्य संख्येयगुणा अन्तरकरणे विवरूा संख्या सन्तीत्यर्थ. । यो हि यदपेक्षया संख्येयभागमात्रकल्प स तदपेक्षया सख्येयगुणहीन एवेति मोहनीयवर्जाना तु शेषाणां कर्म्मणां बन्धादुत्तरबन्धमसख्येयभागं करोति असख्येयगुणहीन करोतीत्यर्थः एवं नपुसकवेदमुपशमयति तदुपशमनानन्तरं च स्थितिबन्धसहस्रेष्वतीतेष्वेवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण स्त्रीवेदमुपशमयति स्त्रीवेदस्य च संख्येयतमे भागे उपशान्ते यद्भवति तदुपदर्शयन्नाह ।

उवसंते घाईणं, संखेज्जसमा परेण संखंसो ।
बंधो सत्तएहेव, संखेज्जवसंति उवसंते ॥

स्त्रीवेदस्य संख्येयतमे भागे उपशान्ते सति घातिनां घातिकर्म्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां सख्येयसमा सख्येयवर्षप्रमाणो बन्ध स्थितिबन्धो भवति (परेणत्ति) तत सख्येयवर्षप्रमाणात् स्थितिबन्धःपापारादन्य संस्थितिबन्धघातिस्वरूपाणा पूर्वस्मात् सख्येयांश सख्येयभागकल्प सख्येयगुणहीन इत्यर्थ । तस्मादेव च सख्येयवर्षप्रमाणात् स्थितिबन्धादारभ्य देशघातिनां केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणवर्जानां ज्ञानावरणदर्शनावरणकर्म्मणां नैकस्थानक बध्नाति तत एव स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्सु त्रिधा वेद उपशान्तो भवति तत. स्त्रीवेद उपशान्ते शेषाणां नोकषायाणामेव नपुसकवेदोक्तेन प्रकारेण सख्येयतमं भागे उपशान्ते किमित्याह ।

नामगोयाण संखा, बंधावो सा असंखिया तइए ।
तो सव्वाण वि संखा, तत्तो संखेज्जगुणहीणा ॥

नामगोत्रयो. सख्येया समा सख्येयवर्षप्रमाणो बन्ध स्थितिबन्धो भवति तृतीयस्य वेदनीयस्य कर्म्मण स्थितिबन्धोऽसख्येयानि वर्षाणि असख्येयवर्षप्रमाण इत्यर्थ तस्मिंश्च स्थितिपूर्णे सत्यन्य. स्थितिबन्धो वेदनीयस्यापि सख्येयवर्षप्रमाणो भवति (ततोत्ति) तनस्तस्माद्वेदनीयसत्कसख्येयवार्षिकस्थितिबन्धात्प्रभृति सर्वेषामपि कर्म्मणां स्थितिबन्ध संख्येयवार्षिक. प्रवर्तते स च पूर्वस्मात् पूर्वस्मादन्योऽन्य प्रवर्तमान. संख्येयगुणहीन. प्रवर्तत इत्यर्थ तत स्थितिबन्धसहस्रेषु गतेषु सत्स्वपि नोकषाय उपशान्तो भवति ।

जं समयं उवसंतं, छक्कं उदयट्टिई य ता सेसा ।
पुरिसे समओणावलि, दुगेण बद्धअणुवसंत ॥

यस्मिन् समये षट् नोकषाया उपशान्ता, जलसिक्तद्रुघणकुट्टितभूमिं रजांसीवोपशम नीतास्तदा पुरुषवेदस्य एका उदयस्थिति समयमात्रा शेषा तदानीं च स्थितिबन्धः षोडश वर्षाणि तस्मिंश्च समये सा एका उदयस्थितिर्यच्च समयोनावलिकाद्विकेन कालेन बद्धमेतावदेवानुपशान्तं वर्तते शेष सर्वमप्युपशान्तम । इयमत्र भावना पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितौ द्व्यावलिकाशेषायां प्रागुक्तस्वरूपायामेव व्यवच्छिद्यते उदीरणा तु भवति तस्मादेव च समयादारभ्य प्रधाननोकषायाणां सत्क दलिक पुरुषवेदेन सक्रमयति किं तु सज्वलनक्रोधादिषु यदा च पुरुषवेदस्य सत्का प्रागुक्ता एकाप्युदयस्थितिरतिक्रान्ता भवति तदाऽसौ वेदको भवति अवेदकाद्धायाश्च प्रथमसमये समयद्वयोनावलिकाद्विकेन कालेन यद्बद्ध तदेव केवलमुपशान्ते तिष्ठति शेषं सकलमपि नपुंसकवेदोक्तेन प्रकारेणोपशमितं तदपि च तावता कालेनोपशमयति एतदेवाह ॥

आगालेणं समगं, पडिगाहिया फिट्टइ पुरिसवेयस्स ।
सोलसवासियबंधा, चरमो चरमेण उदएण ॥
तावइ कालेणं वि य, पुरिसं उवसामए अविएसो ।
बद्धो बत्तीससमा, सजलणियराण उ सहस्स ॥

यदा पुरुषवेदस्य प्रागुक्तस्वरूप आगालो व्यवच्छिद्यते तदा तेन समकं तत्कालमेव तस्य पुरुषवेदस्य यत ईहता शेषदलिकसक्रमाधारता स्फिटति अपगच्छति योऽपि च चरम पर्यन्तेऽपि पौरुषवार्षिक स्थितिबन्धः पुरुषवेदस्य सोऽपि चरमेण प्रथमस्थितिचरमसमयभाविना उदयेन सहापगच्छति यदा च पुरुषवेदस्य स्थितिबन्ध षोडशवार्षिकस्तदा संज्वलनानां सख्येयानि वर्षसहस्राणि स्थितिबन्ध. यदपि च वेदकाद्धाप्रथमसमये समयोनावलिकाद्विकबद्ध पुरुषवेददलिकमस्ति तदपि वेदोदयरहित. सन् स उपशमको जीवस्तावतैव समयद्वयोनावलिकाद्विकप्रमाणेन कालेन पुरुषवेददलिकमुपशमयति द्वितीयसमये असख्येयगुण तृतीयसमये असख्येयगुणमिदं तावद्वक्तव्यं यावत्कालद्वयोनावलिकाद्विकचरमसमय परप्रकृतिषु प्रतिसमयद्वयोनावलिकाद्विककाल यावद्यथाप्रवृत्त सक्रमेण सक्रमयति तद्यथा प्रथमसमये प्रभूत द्वितीयसमये विशेषहीनं तृतीयसमयेऽपि विशेषहीनमवं तावत् यावच्चरमसमयः तत. पुरुष उपशान्तस्तदानीं च सज्वलनानां द्वात्रिंशत्समा द्वात्रिंशद्वर्षप्रमाण. स्थितिबन्ध. इतरेषां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायनामगोत्राणां सख्येयानि वर्षसहस्राणि स्थितिबन्ध अवेदप्रथमसमयादारभ्य क्रोधत्रिकाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसज्वलनरूपमुपशमयति । 'कोहतिग आढवेई उवसमिउ तिसुपरिगहणापगाचचय उदीरणा वधो पिट्टति आवलीए सेसाए इति" । यस्मिन् समये पुरुषवेदस्यावेदकास्ततस्तस्मादेवैकप्रथमसमयादारभ्य क्रोधत्रिकाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसज्वलनरूप युगपदुपशमयितुमारभते उपशमनां च कुर्वत. प्रथमे स्थितिबन्धे पूर्णे सत्यन्यः स्थितिबन्धः सज्वलनाना ससख्येयभागहीनशेषाणा च सख्ययगुणहीन. शेष स्थितिघातादि तथैव सज्वलनक्रोधस्य च प्रथमास्थिता समयानावलिकात्रिकशेषायां पतद्ग्रहतापगच्छति अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधदलिक न तत्र प्रक्षिपति सज्वलनमानादावेवेति भाव । ततोऽप्यावलिकाशेषायां प्रथमस्थितौ सज्वलनक्रोधस्यागालो भवति । किं तद्दुदीरणा तावत्प्रवर्तते यावदेका आवलिका आवलिका शेषा भवति उदीरणावलिकायाश्चरमसमये स्थितिबन्धश्चत्वारो मासा शेषकर्म्मणां तु सख्येयानि वर्षसहस्राणि सज्वलनक्रोधस्य च बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदात्तथा चाह एकस्यामावलिकायां शेषायामुदय उदीरणा बन्धश्च एते त्रयोऽपि पदार्था युगपत् स्फुटन्त्यपगच्छन्ति तदानीं चाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधावनुपशान्तौ तदा चैकामावलिकामसमयोनावलिकां द्विकबद्धञ्च दलिक मुक्त्वा शेषमन्यत्सर्वं सज्वलना क्रोधस्योपशान्तसमयो-

नावलिकाद्विकबद्धं च दलिकपुरुषवेदोक्तेन प्रकारेणोपशमयति तथा चाह "सेसय तु पुरिससम, एवं सेसकसायायेय इति इुग ण भावलिया" सज्वलनक्रोधस्य बन्धादौ व्यवच्छिन्ने शेष पुरुषवेदं समं वक्तव्यम् । एष क्रोधत्रिकोक्तेन प्रकारेण शेषानप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसज्वलनमानमायालोभरूपान् कषायानुपशमयति याश्च शेषीभूता आवलिकास्ता उत्तरस्मिन् कषाये स्तिबुकेन स्तिबुकसंक्रमेणानुभवति । इयमत्र भावना सज्वलनक्रोधस्य बन्धादिव्यवच्छिन्ने या प्रथमस्थितिरेका आवलिका तिष्ठति तां स्तिबुकसंक्रमेण माने प्रक्षिप्य वेदनीयान् यदपि च समयोनावलिकाद्विकबद्धं सदस्ति तदपि तावता कालेनोपशमयति तद्यथा प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति द्वितीये असंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणमेवं यावत्समयोनावलिकाद्विकचरमसमय परप्रकृतिषु च समयोनावलिकाद्विककालं यावत् यथाप्रवृत्त संक्रमेण पूर्ववत् संक्रमयति एवं सज्वलनक्रोधे सर्वात्मनोपशमयति यदैव सज्वलनक्रोधस्य बन्धोदयः उदीरणाव्यवच्छिन्नास्तदैव सज्वलनमानस्य द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति निवेदयते च तद्गोदयसमये स्तोकं प्रक्षिपति द्वितीयस्थितावसंख्येयगुणं तृतीयस्थितावसंख्येयगुणमेवं तावत् यावत् प्रथमस्थितेश्चरमः समयः प्रथमस्थितिप्रथमसमये सज्वलनमानस्य स्थितिबन्धश्चत्वारो मासाः शेषाणां तु ज्ञानावरणीयादीनां संख्येयानि वर्षसहस्राणि तदानीमेव च त्रीनपि मानान् युगपदुपशमयितुमारभते संज्वलमानस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषमप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानदलिकं संज्वलनमानं प्रक्षिपति किं तु सज्वलनमायादौ आवलिकाद्विकशेषायां त्यागालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते साऽपि तावत् यावदावलिकाचरमसमयः तत एका प्रथमस्थितेरावलिका शेषीभूता तिष्ठति तस्मिंश्च समये सज्वलनानां द्वौ मासौ स्थितिबन्धः कर्मशेषाणां तु संख्येयानि वर्षाणि तदानीं सज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्ना । अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमानौ चोपशान्तौ तदानीं च सज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिरेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलं मुक्त्वा विशेषमन्यत्सर्वमुपशान्तं तदानीमेव च सज्वलनमानस्य प्रथमस्थितेरेकामावलिकां लोभमायाद्विकाद्विकबद्धं दलं मुक्त्वा विशेषमन्यत्सर्वमुपशान्तं तदानीमेव च सज्वलनमायायां द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च पूर्वोक्तां सज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिसत्कामेकामावलिकां स्तिबुकसंक्रमेण सज्वलनमायायां प्रक्षिपति समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलं पुरुषवेदोक्तक्रमेणोपशमयति संक्रमयन्ति च सज्वलनमायोदयप्रथमसमये च मायालोभयोर्द्वौ मासौ स्थितिबन्धः शेषकर्मणां तु संख्येयानि वर्षाणि तत्समयादेव चारभ्य तिस्रोऽपि माया युगपदुपशमयितुमारभते ततः सज्वलनमाया प्रथमस्थितौ समयोनावलिकाविशेषायामप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमाया दलिकसज्वलनमायायां न प्रक्षिपति किं तु संज्वलनलोभे आवलिकाविशेषायां त्यागालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते साऽपि तावत् यावदावलिकाचरमसमयः तस्मिंश्च समये संज्वलनमायालोभयो स्थितिबन्धयोरेको मासः शेषकर्मणां तु संख्येयानि वर्षाणि तदानीमेव च सज्वलनमायायां बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमायोपशान्ते सज्वलनमायायाश्च प्रथमस्थितिसत्कामेकावलिकां समयोनावलिकां द्विकबद्धं च दलं मुक्त्वा शेषमन्यत्सर्वमुपशान्तं ततो निरन्तरसमये संज्वलनलोभस्य द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च पूर्वोक्तां च मायायाः प्रथमस्थितिसत्कां समयावलिकांस्तिबुकसंक्रमेण संज्वलनलोभे संक्रमयति समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलं पुरुषवेदक्रमेणोपशमयति संक्रमयति च सज्वलनक्रोधादीनां सूक्ष्मोदयचरमसमये यावत्प्रमाणस्थितिबन्धोऽनन्तरमुक्तस्तावत्प्रमाणमथ साक्षात्सूत्रकृत् संवादयति ।

चरिमुदयम्मि जहन्ना, तब्बंधो दुगुणो उ होइ उवसमगे ।
तयणंतरपगईए, चउगुणोऽन्नेसु संखगुणो ॥

इह यः क्षपकश्रेण्या क्षपकस्य सज्वलनक्रोधादी स्वस्वचरमोदयकाले जघन्यः स्थितिबन्ध उक्त स उपशमके द्विगुणो भवति तदनन्तरं प्रकृतेः पुनश्चतुर्गुणः अन्येषु तु संख्येयगुण इति ततोऽपि परस्याः प्रकृतेरष्टगुण इत्यर्थः । यथा क्षपकमधिकृत्य सज्वलनक्रोधस्य मासद्वयं जघन्यस्थितिबन्ध एको मासस्ततस्तस्य क्रोधचरमोदयकाले चतुर्मासप्रमाणो बन्धः प्रवर्त्तमानः स्वजघन्यबन्धापेक्षया चतुर्गुणो भवति ततोऽपि परा प्रकृतिर्माया स्यात् तदानीमष्टगुणो बन्धस्तस्या हि क्षपकमधिकृत्य स्वचरमोदयकाले जघन्यः स्थितिबन्धोऽर्द्धमासस्ततः क्रोधचरमोदयकाले चतुर्मासिको बन्धः प्रवर्त्तमानः स्वजघन्यबन्धापेक्षया अष्टगुणो भवति तथा मानस्य क्षपकमधिकृत्य जघन्यो बन्ध एको मासः स चोपशमके मन्दपरिणामत्वात् द्विमासप्रमाणो भवति मानस्य चानन्तरा प्रकृतिर्माया तस्यास्तदानीं चतुर्गुण एकापेक्षया मासद्वयस्य चतुर्गुणत्वात् तथा मायायाः क्षपकमधिकृत्य जघन्यो बन्ध एकः पक्षः सर्वोपशमे मन्दपरिणामत्वात् चरमोदये मासप्रमाणप्रवर्तमानद्विगुणो भवति शेषकर्मणां तु ज्ञानावरणीयादीनां सर्वत्रापि संख्येयवर्षप्रमाणं स्थितिबन्धः केवलं पूर्वस्मात् हीनो हीनतर इति । सम्प्रतिसज्वलनलोभवक्तव्यतामाह ।

लोभस्स उ पढमठिई, बिइओ य कुणइ तिविभागं ।
दो पुग्गलनिक्खेवो, तइओ पुण किट्टिवेयण्णा ॥

लोभस्य द्वितीयास्थितेर्दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति सा त्रिभागा त्रिभागोपेता तद्यथा प्रथमो विभागोऽश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञः द्वितीयः किट्टिकरणाद्धासंज्ञः तयोश्च द्वयोरपि विभागयोर्दलिकनिक्षेपो भवति किमुक्तं भवति द्वितीयस्थितेर्दलिकमाकृष्य त्रिभागप्रमाणां प्रथमां स्थितिं करोतीति । तृतीयः पुनः विभागः किट्टिवेदनाद्धा संज्वलनलोभोदये चाश्वकर्णकरणाद्धायां वर्तमानः प्रथमसमय एव त्रीनपि लोभान् अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसज्वलनरूपान् युगपदुपशमितुमारभते अन्यच्च यत्करोति प्रथमे अश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे विभागे तदाह ।

संतावऽभमाणग, सरूवऽणुफड्डगाणि जं कुणइ ।
सा अस्सकन्नकरण-द्धमति माकिट्टिकरणद्धा ॥

सन्ति विद्यमानानि यानि संक्रमितानि मायाकर्मदलिकानि पूर्वं बद्धसज्वलनलोभे दलिकानि वा तानि वक्ष्यमाणस्वरूपतसत्कालवध्यमानसज्वलनलोभरूपतया किमुक्तं भवति तत्कालवध्यमानसज्वलनलोभस्य द्विकानि चात्यन्तिरसानि यत्र करोति सा अश्वकर्णकरणाद्धा इयमत्र भावना अश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे प्रथमे त्रिभागे वर्तमानसंक्रमितमायादलिकेभ्यः संज्वलनलोभसत्केभ्यो वा पूर्वस्पर्द्धकेभ्यः प्रतिसमयं दलिकं गृहीत्वा तस्य चात्यन्तहीनरसतामापाद्य पूर्णं च प्रतिसमयं दलिकं गृह्णन् अपूर्वाणि स्पर्द्धकानि करोति आसतार हि

परिणमता न कदाचनापि बन्धमाश्रित्य ईदृशानि स्पर्द्धकानि कृतानि किं तु समत्येव विशुद्धिवशात्करोतीत्यर्थः । पूर्वाणि (स-ज्झंति) तथा रूपाणि वा पूर्वाणि स्पर्द्धकानि कुर्वीत संख्येयेषु स्थितिबन्धेषु गतेषु सत्सु अश्वकर्णकरणाद्धा व्यतिक्रामति ततो मध्यमा द्वितीयाद्धा प्रवर्तते तदानीं च सज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धो दिनपृथक्त्वप्रमाणः शेषकर्मणां तु वर्षपृथक्त्वमान किट्टिकरणाद्धायांच पूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च दलिक गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ता किट्टी करोति । सम्प्रति किट्टिस्वरूप प्रथमसमयोदये यावती किट्टी करोति तदेव प्रतिपादयति ।

अपुव्वविसोहीए, अणुभागो णूणविनजणा किट्टी ।
पढमसमयम्मि रसफुड्-वग्गणा तं नागममा ॥

अपूर्वया विशुद्ध्या अनुभागस्य ऊनस्य एकोत्तरवृद्धस्यापनयनेन हीनतरस्य यद् विभजनं सा किट्टि किमुक्त भवति पूर्वस्पर्द्धकेभ्यो ऽपूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणा हीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यदवस्थान यथाऽऽसां वर्गणानामसकल्पनया अनुभागरसभागानां शत द्व्युत्तरं द्व्युत्तरमेकोत्तरमासीत् तासामनुभागानां यथाक्रमं पञ्चविंशति पञ्चदशक पञ्चकमिति ता किट्टयस्ता एकस्मिन् रसस्पर्द्धके अनुभागस्पर्द्धके या अनन्ता वर्गणास्तासामनन्ततमे भागे यावत्यो वर्गणास्तावत्प्रमाणा प्रथमसमये करोति ताश्चानन्तानुबन्धा किं तु सर्वजघन्यानुभागस्पर्द्धकानुभागेन सदृशा करोति न तु ततोऽपि हीना उच्यन्ते ततोऽपि हीनास्तथा चाह ।

सव्वजहन्नए फड्डग, अणतगुणहाणिया उ सारसओ ।
पयसमयमसंखंसो, आइमसमया उ जायत्तो ॥

यत् सर्वजघन्य रसस्पर्द्धक ततोऽपि रसमधिकृत्य ता किट्टीरनन्तगुणहानिका अनन्तगुणहीना करोति ता आदिमसमयात्परतः प्रतिसमयमसख्येयाशान् प्रतिसमय पूर्वस्मात् असख्येयभागमात्रा किट्टीस्तावत्करोति यावदर्वाक्किट्टिकरणाद्धाचरमसमय इयमत्र भावना प्रथमसमये प्रभूता किट्टी करोति द्वितीयसमये असख्येयगुणहीना एव तावद्वाच्यं यावत् किट्टिकरणाद्धाचरमसमय ।

अणुसमयमसंखगुणं, दलियमणंतं स उ अणूभागो ।
सव्वेसु मंदरसमा-इयाण दलयंति सेसूणं ॥

अनुसमय प्रतिसमय दलिकसख्येयगुण तद्यथा प्रथमसमये सकलकिट्टिगतं दलिक सर्वस्तोक ततोऽपि द्वितीयसमये कृतासु किट्टिष्वनन्तगुणहीन ततोऽपि तृतीयसमये कृतासु किट्टीष्वनन्तगुणहीनम् एव तावद्वाच्य यावत्किट्टिकरणाद्धाचरमसमय । तथा सर्वेषु मन्दरसादिकानां जघन्यरसप्रभृतीनां किट्टीनां दलिकं विशेषो न वक्तव्य यावत्सर्वोत्कृष्टरसकिट्टि । इयमत्र भावना सर्वेषु या निवर्त्तिता किट्टयस्तासा मध्ये या मन्दरसास्तासां दलिक सर्वप्रभूत ततोऽनन्तरेणानुभागेनानन्तगुणेनाधिकाया द्वितीयाया किट्टी दलिक विशेषहीन ततोऽप्यनन्तरेणानुभागेनानन्तगुणेनाधिकायां तृतीयस्या किट्टी विशेषहीनमेवमनन्तरानुभागाधिकासु किट्टिषु विशेषहीन तावद्वसेय यावत् प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टरसा किट्टिरिति एव सर्वेष्वपि समयेषु प्रत्येक भावयितव्यम् ।

आइमसमयकयाणं, मंदाईणं रसो अणंतगुणो ।
सव्वुक्कस्स रगा त्रि हु, उवरिमसमयस्स णंतंसे ॥

आदिमसमयकृतानां प्रथमसमयकृतानां मन्दादीनां जघन्यरसादीनां रसो यथोत्तरमनन्तगुणो वक्तव्यस्तद्यथा प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वा मन्दानुभागा किट्टि सा सर्वस्तोकानुभागा ततो द्वितीया अनन्तगुणानुभागा ततोऽपि तृतीया अनन्तगुणानुभागा एव तावद्वाच्य यावत्प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागा किट्टिरिति । एव द्वितीयादिष्वपि समयेषु किट्टीनां प्ररूपणा कर्तव्या । तथा सर्वोत्कृष्टरसाऽपि सर्वोत्कृष्टानुभागाऽपि हु निश्चितमुपरितनसमयस्य सत्का पश्चात्समयभाविसर्वमन्दानुभागकिट्ट्यपेक्षयाऽनन्ततमे भागे वर्तते तद्यथा प्रथमसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वमन्दानुभागा किट्टि सा सर्वप्रभूतानुभागा ततो द्वितीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागा किट्टि साऽनन्तगुणहीना । तथा द्वितीयसमयकृतानां मध्ये या सर्वमन्दानुभागा किट्टिस्तदपेक्षया तृतीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये सर्वोत्कृष्टानुभागाऽनन्तगुणहीना एव तावद्वक्तव्य यावच्चरमसमयः । सम्प्रत्यासामेव किट्टीनां परस्पर प्रदेशाल्पबहुत्वमुच्यते प्रथमसमयकृतानां किट्टीना मध्ये या सर्वा बहुप्रदेशा किट्टि सा स्तोकप्रदेशा ततो द्वितीयसमयकृतानां किट्टीना मध्ये या सर्वाल्पप्रदेशा किट्टि सा असख्येयगुणप्रदेशा ततस्तृतीयसमयकृतानां किट्टीनां मध्ये या सर्वाल्पप्रदेशा सा असख्येयगुणप्रदेशा एवं तावद्वक्तव्य यावच्चरमसमय ॥

किट्टीकरणद्धाए, तिसु आवलियासु समयहीणासु ।
ते पडिगहिया दोएह वि, सट्ठोणे उवसमज्झंति ॥

किट्टिकरणाद्धायास्तिसृष्वावलिकासु समयहीनासु पतद्ग्रहता न भवति अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणे लोभदलिकं संज्वलनलोभे सङ्क्रमयतीति भाव किं तु तयोर्द्वयोरप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभयोर्दलिकं स्वस्थान एव स्थितमुपशम नयते द्व्यावलिकाशेषायां पुन किट्टिकरणाद्धायां बादरसज्वलनलोभस्यागालो न भवति किं तूदीरणैव साऽपि तावत् यावदावलिका । तथा किट्टिकरणाद्धाया सख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु सज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणो ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां दिनपृथक्त्वप्रमाणानां नामगोत्रयोर्वेदनीयानां प्रभूतवर्षसहस्रमानस्तत किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमये सज्वलनलोभस्य स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः केवलमिदमन्तर्मुहूर्तं स्तोकतरमवसेय ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामन्तरहोरात्रस्य नामगोत्रवेदनीयानां किंचिदूनवर्षद्वयप्रमाण आगालव्यवच्छेदानन्तरखण्डा या उदीरणावलिका तस्याश्चरमसमये किट्टिकरणाद्धाचरमसमयस्तस्मिंश्च किट्टिकरणाद्धाचरमसमये यद्भूत् तद् दिदृक्षुराह ।

लोभस्स अणुवसंतं, किट्टी उदयावली य पुव्वत्तं ।
वायरगुणाण समगं, दोएह नि लोभसमुवसंता ॥

किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमये सज्वलनलोभस्य तूपशान्तमुहूर्ते यद् द्वितीयस्थितिगत किट्टीकृत दलिक या च उदयावलिका किट्टीकरणाद्धाया शेषीभूता यच्च पूर्वोक्तसमयोनावलिकाद्विकबद्धमित्यर्थ । शेष सर्वमप्युपशान्ते तथा तस्मिन्नेव समये बादरगुणेन अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकेन समक द्वावप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभावुपशान्तौ किमुक्त भवति । यस्मिन्नेव समये द्वावप्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलोभावुपशान्तौ तस्मिन्नेव समयेऽनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानक व्यवच्छेदम

उपलक्षणमेतत् बादरसज्वलनलोभोदयोदीरणा व्यवच्छेदाश्च।

सेसद्धसेसतइए, हे तावइया किट्टिओ उ पढमठिई ।
वज्जयअसंखभागे, हिट्ठुवरिमुदीरए सेसा ॥

शेषार्द्धशेषं काल तृतीये त्रिभागे इत्यर्थः सूक्ष्मसपरायो भवति ताश्च प्राकृताः किट्टीर्द्वितीयस्थितेः सकाशात् कियतीः समाकृष्य प्रथमां स्थितिं तावतीं सूक्ष्मसपरायाद्धातुल्यां करोति किट्टिकरणाद्धायामन्तिममावलिकामात्रं स्तिबुकसक्रमेण सक्रमयन्ति तथा प्रतिसमयान्तिमसमयकृताः किट्टीर्वर्जयित्वा शेषसमयकृताः किट्टय सूक्ष्मसपरायाद्धायाः प्रथमसमये प्राय उदयमपगच्छन्ति (दिक्षेत्यादि) वर्षसमयकृतानां किट्टीनामधस्तादसंख्येयभाग प्रथमसमयकृतानां चोपरितनसंख्येयतमभागं वर्जयित्वा शेषाः किट्टीरुदीरयति ।

गेण्हंतो य मुयंतो, असंखभागं तु चरमसमयम्मि ।
उवसामियईयठिई, उवसंतं लभइ गुणट्ठाणं ॥

द्वितीयसमये उदयप्राप्तानां किट्टीनामसंख्येयभागं मुञ्चति उपशान्तत्वादुदयेन ददातीत्यर्थः । अपूर्वं वा सख्येयं भागमनुभावनार्थमुदीरणाकरणे गृह्णाति। एव ग्रहणमोक्षौ कुर्वन् तावत् ज्ञातव्यो यावत् सूक्ष्मसपरायाद्धायाश्चरमसमयद्वितीयस्थितिगतमपि दलिक सूक्ष्मसपरायाद्धाप्रथमसमयादारभ्य सकलमपि सूक्ष्मसपरायगुणस्थानक कालं यावत् पूर्ववदुपशमयति समयोनावलिकाद्विकबद्धमपि दलिक सूक्ष्मसपरायाद्धायाश्चरमसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामान्तर्मौहूर्त्तिकः स्थितिबन्धो नामगोत्रयोः षोडशमुहूर्त्तप्रमाणो वेदनीयस्य चतुर्विंशतिमुहूर्त्तमानः तस्मिन्नेव चरमसमये द्वितीयस्थितिगतं सकलमपि मोहनीयमुपशान्तं तत एवमुपशमितद्वितीयस्थितिरनन्तरसमये उपशान्तमुपशान्तमोहरूप गुणस्थानं लभते ।

अंतो मुहुत्तमेत्तस्स वि, संखेज्जा भागतुल्ला उ ।
गुणसेढी सव्वद्धं, तुल्ला य पएसकालेहिं ॥

अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं तत उपशान्तमोहगुणस्थानकं तस्याऽपि उपशान्तमोहगुणस्थानककालस्य संख्येय. संख्येयतमो भागस्तत्तुल्या गुणश्रेणीः करोति ताश्च गुणश्रेणीः सर्वा अपि सर्वमप्युपशान्तगुणस्थानकाद्धाया अनुप्रदेशापेक्षया कालापेक्षया च तुल्याः करोति अवस्थितपरिणामत्वात् ।

करणाय नोवसंतं, संकमणो वट्टणं मुदिट्ठितिगं ।
मोत्तूण विसेसेणं, परिवडइ जा पमत्तो त्ति ॥

मोहनीयस्य प्रकृतिजातमुपशान्तं सत् करणाय करणयोग्यं न भवति उदीरणानिधत्तिनिकाचितानां करणानामयोग्य भवतीत्यर्थः सक्रमणापवर्तन च दृष्टित्रिकसम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्वरूपशेषाणां मोहनीयप्रकृतीनां न भवति दृष्टित्रिके तु सक्रमणमपवर्त्तनं च भवति तत्र संक्रमो मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः सम्यक्त्वम् अपवर्त्तनं तु त्रयाणामपि एवं क्रोधेन श्रेणिं प्रतिपन्नस्य रूक्यं यदा तु मानेन श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा मान वेदमान एव प्रथमतो नपुसकवेदोक्तक्रमेण क्रोधत्रिकमुपशमयति। ततः क्रोधोक्तप्रकारेण त्रिकशेष तथैव यदा तु मायया श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा मायां वेदयमान एव प्रथमतो नपुसकवेदोक्तप्रकारेण क्रोधत्रिकं ततो मानत्रिकं तत क्रोधोक्तप्रकारेण मायात्रिकं शेष तथैव। यदा तु लोभेन श्रेणिं प्रतिपद्यते तदा लोभ वेदयमान एव प्रथमतो नपुसकवेदोक्तप्रकारेण क्रोधत्रिक ततो मानत्रिक ततो मायात्रिक तत उक्तप्रकारेण लोभत्रिकमिति। संप्रति प्रतिपात उच्यते सोऽपि द्विधा भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायोर्व्यवच्छेदः तत्र यो भवक्षयेण प्रतिपतति तस्य प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि करणानि प्रवर्तन्ते च प्रथमसमये च यानि कर्माण्युदीर्यन्ते तान्युदयावलिकायां प्रवेशयन्ति यानि च मोहोदीरणामायानि तेषां दलिकान्युदयावलिकाया बहिर्गोपुच्छाकारसंस्थितानि विरचयति यः पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानकाद्धापरिक्षयेण प्रतिपतति किमुक्तं भवति येनैव क्रमेण स्थितिघातादीन् कुर्वन्नारूढास्तेनैव क्रमेण पश्चानुपूर्व्या स्थितिघातादीन् कुर्वन् प्रतिपतति स च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसयतगुणस्थानकम् ।

गकिट्टिचादलियं, पढमठिई कुण विइयतिइहिंतो ।
उदयाइविसेसूणं, आवलिऊणं असंखगुणं ॥

उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतनक्रमेण संज्वलनलोभादीनि कर्माण्यनुभवति तद्यथा प्रमत्तः संज्वलनलोभं ततो यत्र मायोदयव्यवच्छेदस्तत आरभ्य मायां ततो यत्र मानोदयव्यवच्छेदस्ततः प्रकृतिमानं ततो यत्र क्रोधोदयव्यवच्छेदस्तत आरभ्य क्रोधः । इत्थ च क्रमेणानुभवनार्थं तेषां द्वितीयस्थितेः सकाशात् दलिकमपकृष्य प्रथमस्थितिं करोति उदयादिषु च उदयसमयप्रभृतिषु असख्येयगुणं ततोऽपि द्वितीयसमये असख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमये असख्येयगुणमुदयवतीनामावकल्य यावत् गुणश्रेणीशिरः तथा पुनरपि प्रागुक्तक्रमेण विशेषहीनो दलिकनिक्षेपः पतद्वेवाय ।

जावइया गुणसेढी, उदयवई तासु हीणगं परतो ।
उदयावतीमकाय, गुणसेढी कुणइ इयराणं ॥

या उदयवत्यस्तत्कालमुदयभाजस्तासां प्रकृतीनां यावती गुणश्रेणिर्यावत् गुणश्रेणीशिर इत्यर्थः तावदुदयावलिका उपरि प्रागुक्तक्रमेण संख्येयगुण दलिकनिक्षेपं करोति ततः परतो हीनकं विशेषहीनमितरासामनुदयवतीनां प्रकृतीनामुदयावलिकाया दलिकनिक्षेपमकृत्वा इत्यर्थ तत उपरि सख्येयगुणतया दलिकनिक्षेप. स च तावत् गुणश्रेणीशिरस्ततः परतः पुनर्विशेषहीन।

संकम उदीरणाणं, नत्थि विसेसो एत्थ पुव्वत्तो ।
जं जम्मि बंधिऊं, जायए वा होइ तं तत्थ ॥

इह च उपशमश्रेण्यारोहे सक्रमे विशेष उक्तो यथाऽनुपूर्वीय च सक्रमो नानाऽनुपूर्वी तथा च उदीरणायां विशेष उक्तो यथाबद्ध कर्म्म षडावलिकातीतमुदीरयति न षडावलिकामध्ये विशेषोऽशेषसमश्रेणिप्रतिपातेन न भवति किमुक्तं भवत्यपूर्व्याऽपि बद्ध च कर्म बद्धावलिकातिक्रान्तमुदीरयतीति तथा यद्यत्र स्थान व्यवच्छिन्नमुपगतं वा सक्रमण वा अपवर्तन वा उदीरणं वा देशोपशमना वा निधत्तिनिकाचन वा तत्तत्र स्थाने भवति तथा यत्र यत्र च स्थाने जातं स्थितिरसघातादि तत्र स्थान तद्विधमेव भवतीति ।

वेइयमाण संजलण, कालतो अहिगओ ह गुणसेढी ।
पगिवत्तिकम्मा उदए, तुल्ला सेसद्धिकम्मेहिं ॥

मोहनीयस्य मोहनीयप्रकृतीनां गुणश्रेणिकालमधिकृत्य वेद्यमानानां संज्वलनकालादप्यधिका प्रतिपतिता सती आरभ्यते सनातनी तथा यस्य कषायस्योदय आरोहकाले गुणश्रेण्यपेक्षया तुल्या तथा यस्य कषायस्योदय उपशमश्रेणिप्रतिपत्तिरासीत् तस्योदयप्राप्तस्य भतो गुणश्रेणि प्रतिपतिता शेषकर्मा निःशेषकर्मोदयगुणश्रेणिः सह

तुल्या क्रियते यथा कश्चित् सञ्ज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्तत श्रेणिं प्रतिपतत् तदा सञ्ज्वलनक्रोधमुदयेन प्राप्तवान् भवति तत प्रभृतित. स्वगुणश्रेणिशेषकर्मभि समाना भवति एव मानमाययोरपि वाच्य संज्वलनलोभेन पुनरुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य प्रतिपत्तिकाले प्रथमसमयादारभ्य सञ्ज्वलनलोभस्य गुणश्रेणिभि' सह तुल्या प्रवर्तते शेषकर्म्मणां तु यदारोहत उक्त तद्वेव प्रतिपततोऽप्यन्यूनातिरिक्त वेदितव्यम् ।

खवगुवसमगम्मि एव्व, जाणे दुगुणो तहि बंधे ।
अणुजागो णंतगुणो, अनुजागे सुभ.ण विवरीओ ॥

क्षपकस्य क्षपकश्रेणिमारोहतो यस्मिन् स्थाने यावान् स्थितिबन्धस्तस्मिन्नेव स्थाने उपशमश्रेणिमारोहतस्तावान् स्थितिबन्धो द्विगुणो भवति ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने उपशमश्रेणित. प्रतिपततो द्विगुणो भवति क्षपकसत्कस्थितिबन्धापेक्षया चतुर्गुणो भवतीत्यर्थ । तथा क्षपकस्य यस्मिन् स्थाने अशुभप्रकृतीना यावान् अनुभागो भवति तदपेक्षया तस्मिन् स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनामुपशमश्रेणीत. प्रतिपतितोऽनन्तगुण (सुभाण विवरिओत्ति) शुभाना पुनरनुभागो विपरीतो वाच्य स चैव उपशमश्रेणीत प्रतिपतितो यस्मिन्स्थाने शुभप्रकृतीनां यावाननुभागो भवति तदपेक्षया तस्मिन्स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनामुपशमकस्यानुभागोऽनन्तगुणस्ततोऽपि तस्मिन्नेव स्थाने तासामेव शुभप्रकृतीनां क्षपकस्यानन्तगुण ।

परिवाडीए पडिओ, पमत्तइयरत्तणे बहु.ति किच्चा ।
देसजई सम्मो वा, सासणभावं वए कोई ॥

यथा परिपाट्या श्रेणिमारूढस्तथा परिपाट्या पतित. सन् तावदधो गच्छति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानक तत प्रमत्तत्वाप्रमत्तत्वे बहून्वारान् कृत्वा कश्चित् देशयतिर्भवति कोऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिर्वा येषा मनेनानन्तानुबन्धेनानुपशमना न भवति तेषां मनेन कश्चित् सासादनमपि व्रजति ॥

उवसमसम्मत्तद्धा. अंतो आउक्खया धुव देवो ।
जेण तिसु आउगेसु, बद्धेसु सा सेढिमारुहइ ॥

औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां वर्त्तमानो यदि कश्चिदायु'क्षयात् काल करोति तर्हि ध्रुवमवश्य देवो भवति येन यस्मात्कारणात् त्रिषु नारकतिर्यग्म नुष्यसत्कबद्धेष्वायुष्केषु श्रेणिमुपशमश्रेणिं नारोहति किं तु देवायुष्क एव बद्धे तत. काल कृत्वा देव एव भवतीति ॥

सेढीपडिओ समो छ-ल्लावलीसासणं वि देवेसु ।
एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमेज्जा ॥

यस्मात्कारणात् देवायुर्वर्जेषु शेषेषु त्रिष्वायुःषु श्रेणिं नारोहति तस्मात्कारणात् श्रेणीत पतितः सम उत्कर्षत षडावलिकाकाल जघन्यत समयमात्र सासादनो भवति सोऽप्यवश्य च्युत्वा देवेषु मध्ये समुत्पद्यते तथा एकस्मिन् भवे उत्कर्षतश्चारित्रमोहनीय द्वौ वारावुपशमयति न तृतीयमपि वार यस्तु द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते स तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यते यस्त्वेकवारमुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यतेस्तस्य भवेदपि तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणि । एष कार्म्मग्रन्थिकाभिप्राय । आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं न तु द्वितीयामपि तदुक्त " अन्नयरसेढिवज्जं, एग भवेणेव सव्वाइं " । अन्यत्राप्युक्त मोहोपशम एकस्मिन् भवे स्यादसन्तत. यस्मिन् भवे उपशमक्षयो मोहस्य तत्र नेति एव पुरुषवेदेनोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य विधिरुक्त' । सम्प्रति स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन चोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानस्य विधिमाह

दुचरिमसमये नियगो, वेयस्स इत्थी नपुंसगो समं ।
समइत्तु सत्त पच्छा, किं तु नपुंसो कमारद्धे ॥

स्त्री नपुंसकस्य वेदेन सहान्योन्य परस्पर वेदमुपशमयति किमुक्त भवति स्त्री स्त्रीवेदमुपशमयति नपुंसकवेद च नपुंसको नपुंसकवेदमुपशमयति स्त्रीवेदं चेति किं तु नपुंसकगते सति पूर्वक्रमेणारब्धे सत्युक्तप्रकारेणोपशमयति इह चोपशमनकरणे स्त्रिया नपुंसकस्य च निजकोदयस्य स्ववेदोदयस्य द्विचरमसमये एकेन्द्रियस्थितिं मुक्त्वा शेष सर्वमुपशान्तमित्थ च शमयित्वा स्त्री नपुंसको वा पश्चात्स पुरुषवेदादिका' प्रकृतीरुपशमयति । इयमत्र भावना । इह स्त्री उपशमश्रेणिं प्रतिपन्ना सती प्रथमतो नपुंसकवेदमुपशमयति पश्चात् स्त्रीवेद तच्च तावदुपशमयति यावत्स्वोदयस्य द्विचरमसमयस्तस्मिंश्च निजकोदयस्य द्विचरमसमये एकां चरमसमयमात्रामुदयस्थितिं च वर्जयित्वा शेषं सकलमपि स्त्रीवेदसत्क दलिकमुपशमित ततश्चरमसमये गते सति अवेदके सति पुरुषवेदहास्यादिषट्करूपा सप्तप्रकृतीर्युगपदुपशमयितुमारभते शेष पुरुषवेदेन च श्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यं तदा स्त्रीवेदेन पुरुषवेदेन वा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानो यस्मिन् स्थाने नपुंसकवेदमुपशमयति तद्दूर यावन्नपुंसकवेदेन श्रेणिं प्रतिपन्न सन् नपुंसकवेदमेव समुपशमयति तत ऊर्द्ध नपुंसकवेद युगपदुपशमयितु लग्न स च तावद्गतो यावन्नपुंसकवेदोदयो द्विचरमसमय तस्मिंश्च स्त्रीवेद उपशान्त. नपुंसकवेदस्य च एका उदयमात्रा उदयमात्रस्थितिर्वर्तते शेष सर्वमप्युपशान्त तस्यामप्युदयस्थितावतिक्रान्तायामवेदको भवति ततः पुरुषवेदादिका सप्त प्रकृतीर्युगपदुपशमयतीति । तदेवमुक्ता सर्वोपशमना ।

सम्प्रति देशोपशमनामभिधातुकाम आह ।

मूलुत्तरकम्माणं, पगइठिइयाइ होइ चउभेया ।
देसकरणेहिं देसं, समइ जं देसुमसमो ॥

देशोपशमना मूलकर्म्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरकर्म्मणामुत्तरप्रकृतीना प्रत्येक प्रकृतिस्थित्यादिका प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविषया चतुर्भेदा चतुर्विधा भवति इयमत्र भावना । देशोपशमना द्विधा तद्यथा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च, एकैकाऽपि चतुर्भेदा तद्यथा प्रकृतिदेशोपशमना स्थितिदेशोपशमना अनुभागदेशोपशमना प्रदेशोपशमना च । अथ कस्माद्देशोपशमनेत्यभिधीयते अत आह । यत् यस्मात्कारणात् एकदेशभूताभ्यां यथाप्रवृत्तापूर्वकरणसंज्ञिताभ्यां करणाभ्यां प्रकृतिस्थित्यादीनां देशैकदेश शमयत्यतो देशोपशमनाऽभिधीयते देशभूताभ्यां करणाभ्यामुपशमयतीति देशोपशमना । यद्वि वा देशस्य प्रकृत्यादीनामेकदेशस्योपशमना देशोपशमनेति व्युत्पत्ते ॥ सम्प्रत्यस्या प्रयवतात्पर्यविश्रान्तिमाह ।

उवसमियस्सुव्वट्टण-संकमकरणाइं होंति नन्नाइं ।
देसोवसामिय जम्हा, पुव्वो सव्वकम्माणं ॥

देशोपशमनया उपशमितस्य कर्मण उद्वर्तनसंक्रमलक्षणानि भवन्ति नान्यानि करणान्युदीरणाप्रवृत्तीनि एष देशोपशमनायाः सर्वोपशमनातो विशेष । अनया वा देशोपशमनया मूलप्रकृतिमुत्तरप्रकृतिं वा उपशमयितु प्रभुस्तावद्दशसेयो यावत् पूर्व. पूर्वकरणस्थानकचरमसमय. । इयमत्र भावना अस्या देशोपशमनायाः

स्वामिनः सर्वे तिर्यञ्च एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंज्ञिनः सर्वे नारकाः सर्वे देवाः सर्वे मनुष्यास्ते च मनुष्यास्तावद्यावदपूर्वकरणान्तसमय इति एवं चैव देशोपशमना सर्वेषामपि कर्मणामवगन्तव्या न मोहनीयस्यैव केवलस्य। स्वामिविषयमेकं च विशेषमाह ।

खवगो उवसमगो वा, पढमकसायाण दंसणतिगस्स ।
देसोवसमगो सुमु-अपुव्वकरणंतगो जाव ॥

स देशोपशमनास्वामी देशोपशमकः प्रथमकषायाणां दर्शनत्रिकस्य च क्षपक उपशमको वा तावदवसेयो यावत्स्वस्वापूर्वकरणान्तगः । एतदुक्तं भवति। प्रथमकषायाणां विसंयोजना चतुर्गतिका अपि उपशमका मनुष्याः प्रतिपन्नसर्वविरतयो दर्शनत्रिकस्य क्षपका मनुष्या अविरतसर्वविरता उपशमकाः सर्वविरतास्तावद्देशोपशमनाकारिणो यावत्स्वस्वापूर्वकरणचरमसमयो न परत इति । सम्प्रति साद्यादिप्ररूपणार्थमाह ।

साइयमाइ चउद्धा, देसुवसमणा अणाइसंतीणं ।
मूलुत्तरपगईणं, साइ अधुवोत्तरपगइयो वा ॥

अनादिसत्योऽनादिसत्ताकास्तासां देशोपशमना चतुर्धा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा च। तत्र मूलोत्तरप्रकृतीनामष्टानामपि अपूर्वकरणगुणस्थानकात्परतः सा देशोपशमना न प्रवर्त्तते ततः प्रतिपाते च भूयोऽपि प्रवर्त्तते इति सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवा अभव्यानां त्वध्रुवा भाविता मूलोत्तरप्रकृतीनां साद्यादिरूपतया चतुर्विधा देशोपशमना। सम्प्रत्युत्तरप्रकृतीनामनादिसत्कानां सा भाव्यते तत्र वैक्रियसप्तकाहारकसप्तकमनुष्यद्विकदेवद्विकनारकद्विकसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वोच्चैर्गोत्ररूपोद्वलनयोग्यत्रयोविंशतितीर्थकराश्चतुष्टयवर्जाः शेषास्त्रिशदुत्तरशतसंख्याः प्रकृतयोऽनादिसत्ताकास्तासां मध्ये मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनां स्वस्वापूर्वकरणात्परतो देशोपशमना नोपजायते शेषकर्मणां त्वपूर्वकरणगुणस्थानकात् परतः स्थानात् च्यवमानस्य भूयोऽपि जायते इति सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादिर्ध्रुवाऽध्रुवा अभव्यभव्यापेक्षया यास्त्वध्रुवा अध्रुवसत्ताकाः प्रकृतयोऽनन्तरोक्ता अष्टविंशतिसंख्याकास्ता देशोपशमनामधिकृत्य साद्यध्रुवास्तासां देशोपशमना सादिरध्रुवा चेत्यर्थः। साद्यध्रुवता अध्रुवसत्तावदेव समवसेया ।

सम्प्रति प्रकृतिस्थानानां साद्यादिप्ररूपणार्थमाह ।

गोयाउयाणं दोण्हं, चउत्थछट्टाण होइ सत्तण्हं।
साइयमाइ चउन्द्धा, सेसाणं एगठाणस्स ॥

इह गोत्रस्य देशोपशमनामधिकृत्य द्वे प्रकृतिस्थाने तद्यथा द्वे एका च तत्रानुद्वर्त्तलितोच्चैर्गोत्रस्य द्वे उद्वलितोच्चैर्गोत्रस्यैका तथा आयुषोऽपि द्वे प्रकृतिस्थाने तद्यथा द्वे प्रकृती एका च। तत्र अबद्धपरभवायुष्कस्य एका बद्धपरभवायुषो द्वे एतेषां च चतुर्णामपि स्थानानां देशोपशमना सादिरध्रुवा च स्थानानामपि स्वयं साद्यध्रुवत्वात् तथा 'चउत्थछट्ठाण होइ सत्तण्हमिति" तत्र यथासंख्येन पदयोजना तत्र चतुर्थे मोहनीये तस्य देशोपशमनायोग्यानि षट् प्रकृतिस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिश्च शेषाणि पुनरनिवृत्तिबादरसंपराये प्राप्यन्ते इति देशोपशमनायोग्यानि भवन्ति। तत्राष्टाविंशतिस्थानं मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिवेदकसम्यग्दृष्टीनां प्राप्यते सप्तविंशतिस्थानमुद्वलितसम्यक्त्वस्य सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिस्थानमुद्वलितसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वस्यानादिमिथ्यादृष्टेर्वा पञ्चविंशतिस्थानं षड्विंशतिसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेः सम्यक्त्वमुत्पादयतोऽपूर्वकरणात्परतो वेदितव्यं तस्य मिथ्यात्वदेशोपशमनाया अभावात् तथा अनन्तानुबन्धिनामुद्वलनेऽपूर्वकरणात्परतो वर्त्तमानस्य चतुर्विंशतिस्थानं चतुर्विंशतिसत्कर्मणो वा चतुर्विंशतिस्थानं क्षपितसप्तकस्य एकविंशतिस्थानम् अत्र षड्विंशतिलक्षणस्थानं मुक्त्वा शेषाणां पञ्चानामपि स्थानानां देशोपशमना साद्यध्रुवस्थानानामपि स्वयकादाचित्कत्वात् षड्विंशतिस्थानस्य चतुर्धा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च । तत्रोद्वलितसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वस्य सादिरनादिर्मिथ्यादृष्टेरनादिर्ध्रुवा अभव्यानां भव्यानान्त्वध्रुवा तथा षष्ठानामनन्तस्य देशोपशमनायोग्यानि सप्त स्थानानि तद्यथा त्र्युत्तरशतं द्व्युत्तरशतं षण्णवतिः पञ्चनवतिः त्रिनवतिः चतुरशीतिर्द्व्यशीतिश्च तत्रादिमानि चत्वारि स्थानानि यावदपूर्वकरणगुणस्थानकचरमसमयस्तावद्वेदितव्यानि न परतः शेषाणि च त्रीणि त्रिनवतिचतुरशीतिद्व्यशीतिरूपाणि एकेन्द्रियादीनां भवन्ति न श्रेणिप्रतिपद्यमानानां शेषाणि तु स्थानानि अपूर्वकरणगुणस्थानकात्परतो लभ्यानि नार्वागिति न देशोपशमनायोग्यानि एतेष्वपि च स्थानेषु देशोपशमना साद्यध्रुवस्थानानामपि स्वयमनित्यत्वात् शेषाणां तु ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनान्तरायाणां देशोपशमनामधिकृत्यैकैकं प्रकृतिस्थानम् । तत्र ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च प्रत्येकं पञ्चप्रकृत्यात्मकं स्थानं दर्शनावरणस्य नवप्रकृत्यात्मकं तृतीयस्य द्विप्रकृत्यात्मकम् । एषां च देशोपशमना साद्यादिभेदाच्चतुर्धा चतुःप्रकारा तद्यथा सादिरनादिर्ध्रुवा अध्रुवा च। "साइयमाइचउद्धा सेसाण एगठाणस्स" तत्रापूर्वकरणगुणस्थानकात्परतो न भवत्युपश्रेणिस्ततः शमप्रतिपाते च भूयोऽपि भवति। ततः सादिस्तत्स्थानमप्राप्तस्य पुनरनादि । ध्रुवाध्रुवा च भव्याभव्यापेक्षया । उक्ता प्रकृतिदेशोपशमना ।

सम्प्रति स्थितिदेशोपशमनामाह ।

उवसामणा ठिईओ, उक्कोसा संकमेण तुल्लाओ।
इयरा वि किं तु अभवे, उव्वलगे अपुव्वकरणेसु ॥

स्थितिदेशोपशमना द्विविधा तद्यथा मूलप्रकृतिविषया उत्तरप्रकृतिविषया च एकैकापि द्विधा तद्यथा उत्कृष्टा जघन्या च तत्र मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिदेशोपशमना संक्रमेण तुल्या किमुक्तं भवति य एवोत्कृष्टस्थितिसंक्रमस्वामी प्रतिपादितो यथा चोत्कृष्टस्थितिं संक्रमस्य साद्यादिप्ररूपणा तदेतत्सर्वमुत्कृष्टस्थितिदेशोपशमनायामपि वाच्यमितरा स्थितिर्जघन्यास्थितिर्देशोपशमनासंक्रमेण तुल्या जघन्यस्थितिः संक्रमतुल्या किंचिदन्यत्वमायोग्यजघन्यास्थितौ वर्त्तमानस्य रूपत्वा । तस्यैव प्रायः सर्वेकर्मणामपि जघन्याया स्थितेः प्राप्यमाणत्वात् याश्च प्रकृतयोऽभव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितिकाले प्रवन्ति तासां मुद्धलकके अपूर्वकरणे वा जघन्यास्थितिदेशोपशमना वेदितव्या - तत्रोद्वलनप्रायोग्याणां प्रकृतीनामन्तिमखण्डे पल्योपमसंख्येयभागमात्रे वर्त्तमाने तत्राप्याहारकसप्तकसम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वानामेकेन्द्रियस्यानेकेन्द्रियस्य च शेषप्रकृतीनां तूद्वलनयोग्यानां वैक्रियसप्तकदेवद्विकनारकमनुष्याद्विकोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकेन्द्रियस्यैव अन्यासान्त्वपूर्वकरणचरमसमये वर्त्तमानस्येति ।

अणुन्नागपएसाणं, सुभाण जा पुव्वभिच्चइयराणं ।
उक्कोसियर अरूविय, एगिंदी देससमणाए ॥

अनुन्नागप्रदेशोपशमनाय यथाक्रममनुन्नागसंक्रमप्रदेशसंक्रमतुल्या इयमत्र भावना द्विविधा अनुभागदेशोपशमना तद्यथा जघन्या उत्कृष्टा च तत्र प्रपञ्चित प्राक् उत्कृष्टानुभागप्रदेशोपशमनाया अपि तत्र शुन्नप्रकृतीनां सम्यग्दृष्टिर्नवर सातवेदनीययशःकीर्त्युच्चैर्नामगोत्राणा-मुत्कृष्टानुन्नागे संक्रमस्वामी अपूर्वकरणगुणस्थानकात्परतोऽपि न्नवति उत्कृष्टानुभागदेशोपशमनायाः पुनरुत्कर्षतोऽप्यपूर्वकरणगुणस्थानपर्यवसान· स्वामी इतरासामशुभानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुन्नागदेशोपशमना स्वामी च मिथ्यादृष्टिरवसेय· इतरस्या जघन्यानुन्नागोपशमनायास्तीर्थकरवर्जानां सर्वासामपि प्रकृतीनामन्नवसिद्धिप्रायोग्यजघन्यस्थितौ वर्त्तमान एकेन्द्रियस्वामी प्रतिपत्तव्यस्तीर्थकरनाम्नस्तु य एव जघन्यानुभागसंक्रमस्वामी स एव जघन्यानुन्नागदेशोपशमनाया अपि । प्रदेशोपशमनाऽपि द्विधा उत्कृष्टा जघन्या च । तत्रोत्कृष्टप्रदेशोपशमना उत्कृष्टप्रदेशसंक्रमतुल्या नवर यथा कर्म्मणामपूर्वकरणात्परतोऽपि उत्कृष्टप्रदेशसंक्रम प्राप्यते तेषामपूर्वकरणगुणस्थानचरमसमय यावत् उत्कृष्टप्रदेशोपशमना वाच्या जघन्या प्रदेशोपशमना अन्नव्यप्रायोग्यजघन्यस्थितौ वर्त्तमानस्यैकेन्द्रियस्येति समाप्तमुपशमनाकरण तदेवमुक्तमुपशमनाकरणम् । प० स० । आचा० (कर्मप्रकृतितो ग्रन्थोऽर्थतो नातिरिच्यते शब्दतस्तु भिन्नोऽपि न पृथगवस्थापितोऽभिधेयस्यैवोपादेयत्वात्)

उवसमप्पन्नव–उपशमप्रभव–त्रि० उपशम इन्द्रियनोइन्द्रियजयस्तस्मात्प्रभवो जन्मोत्पत्तिर्यस्याऽसौ उपशमप्रभव इन्द्रियमनोनिग्रहलभ्ये, पा० "अहिरन्नसो घण्णियस्स उवसमप्पभवस्स नवबम्भचेरगुत्तस्स " उपशमप्रभवस्येन्द्रियमनोजयात्पन्नस्य । ध० ३ अधि० ।

उवसमलद्धाइकलिय–उपशमलब्ध्यादिकलित– पु० ३ त० उपशमलब्ध्युपकरणलब्धिस्थिरहस्तलब्धियुक्ते, "अविसाई परलोए उवसमलद्धाइकलिओ य " प० व० ।

उवसमलद्धाइजुत्त–उपशमलब्ध्यादियुक्त– पु० उपशमलब्धि· परमुपशमयितु सामर्थ्यलक्षणाऽऽदिशब्दादुपकरणलब्धि स्थिरहस्तलब्धिश्च गृह्यते ततस्ताभिश्च सयुक्त· सपन्न । उपशमलब्ध्यादिकलिते, ध० ३ अधि० ।

उवसमलद्धि–उपशमलब्धि– स्त्री० परमुपशमयितु सामर्थ्ये, ध० ३ अधि० । उपशमनाकरणसामर्थ्ये, " पज्जत्तो लद्धितिगजुत्तो " लब्धित्रिकयुक्त उपशमलब्ध्युपशमश्रेणिश्रवणकरणलब्धिकरणत्रयहेतुप्रकृष्टयोगयलब्धिरूपत्रिकयुक्त क० प्र० ।

उवसमसार–उपशमसार– त्रि० उपशमप्रधाने, " से किमाहु भंते ! उवसमसार खु सामन्न " कर्म० ।

उवसमसेढि–उपशमश्रेणि– स्त्री० उपशमनाप्रकारे, उपशमश्रेणिं प्रकटयन्नाह ।

अणदंसनपुंसत्थी, वेयच्छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्द्धमानस्तेज पद्मशुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तोऽत सागरोपमकोटाकोटीस्थितिसत्कर्म्मा कार्मणकालात्पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्त्तकाल यावदवदायमानचित्तसन्तत्यपूर्वकरण तिष्ठति तथा च तिष्ठमानश्च परावर्तमाना·प्रकृती· शुन्ना एव बध्नाति नाशुन्नाः । अशुभाना च प्रकृतीनामनुन्नागं चतुःस्थानक सन्त द्विस्थानकं करोति शुन्नानां च द्विस्थानक सन्त चतुःस्थानक स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे सति अन्य स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागहीन करोति । इत्थ करणकालात्पूर्वमन्तर्मुहूर्त्त काल यावदवस्थाय ततो यथाक्रम त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति । तद्यथा यथाप्रवृत्तिकरणम्, अपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणम् । चतुर्थीतूपशान्ताद्धा । तत्र यथाप्रवृत्तिकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रविशति पूर्वोक्त च शुन्नप्रकृतिबन्धादिकं तथैव तत्र कुरुते न च स्थितिघात रसघात गुणश्रेणिं गुणसंक्रमं वा करोति तद्योग्यविशुद्ध्यभावात् प्रतिसमय नानाजीवापेक्षया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च । अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि एव तावद्वाच्य यावद्यथाप्रवृत्तकरणसमय· एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम् । अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्र क्षेत्रमास्तृणन्ति स्थापना चेयम् ।

१२००००००००००१६
१०००००००००००१५
८००००००००००१४
६०००००००००१३
४००००००००११
३००००००००९
२००००००७
१००००५

इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत्करण प्रतिपन्नौ विवक्ष्येते तत्रैकसर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्न अपरस्तु सर्वोत्कृष्टया विशोधिश्रेण्या तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधि· सर्वस्तोका ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा एव तावद्वाच्य यावद्यथाप्रवृत्तकरणाद्धया संख्येयो भागो गतो न्नवति ततः संख्येये न्नागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धसकाशात्प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्य उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानान्निवृत्तस्तत उपरितन जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुण ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा तत उपरितन जघन्यं विशोधिस्थानमनन्तगुण ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा । एवमुपर्यधश्च एकैकविशोधिस्थानमनन्तगुणनया द्वयोर्जीवयोस्तावन्नेय यावद्यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्य विशुद्धिस्थान तत· शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानानि अनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावन्नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्ट विशोधिस्थानम् । न्नणित यथाप्रवृत्तिकरणम् । संप्रत्यपूर्वकरणमुच्यते । तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसंख्येयलोकाकाशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति प्रतिसमय च षट् स्थानपतितानि तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधि सर्वस्तोका सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा तत प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशो-

धिरनन्तगुणा एवं जघन्यमुत्कृष्टं च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या तावन्नेय यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्योत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा । स्थापना चेयम् ।

२५०००००००२६
२३०००००००२४
२१००००००२२
१९००००२०
१७००००१८

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसंक्रममपूर्वस्थितिबन्धं च युगपदारभते तत्र स्थितिघातो नाम-स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागादुत्कृष्टतः प्रभूतसागरोपम (शत) पृथक्त्वमात्रं जघन्यतः पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डं खण्डयति तद्दलिकं चाऽधस्ताद्याः स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति अन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन तत्र स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्ड्यत इत्यर्थः ततः पुनरधस्तात्पल्योपमसंख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति एवमपूर्वकरणाद्धायां प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामति तथा च सत्यपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्मासीत्तत्तस्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनम् । अनुभागघातो नाम अशुभप्रकृतीनां यदनुभागसत्कर्म तस्याऽनन्ततमभागं मुक्त्वा शेषाननुभागानन्तर्मुहूर्त्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमभागस्याऽनन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागानन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन विनाशयति एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति तेषां च स्थितिखण्डानां सहस्रैरपूर्वकरणं परिसमाप्यते । गुणश्रेणीनामन्तर्मुहूर्तप्रमाणानां स्थितीनामुपरि याः स्थितयो वर्त्तन्ते तन्मध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया निक्षिपति तद्यथा प्रथमसमये स्तोकं द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् । एवं तावन्नेय यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयस्तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालाभ्यां मनागतिरिक्तं वेदितव्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधिः । एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपो वक्तव्यः अन्यच्च गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद्दलिकं गृह्यते तत् स्तोकं ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् । एवं तावन्नेय यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमयः अपूर्वकरणसमयेष्वनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवतः क्रमशः क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे भवति उपरि च न वर्द्धत इति । तथा गुणसंक्रमो नाम अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये अनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीनां यद्दलिकं परप्रकृतिषु संक्रमयति तत्स्तोकं ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु संक्रम्यमाणसमयमसंख्येयगुणं ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् एवं तावद् वक्तव्यं यावच्चरमसमयः । तथा अन्यस्थितिबन्धो नाम अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्वः स्तोकः स्थितिबन्धः आरभ्यते स्थितिबन्धस्थितिघातौ युगपदेव च निष्ठां यातः एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्त्तन्ते व्याख्यातमपूर्वकरणम् । इदानीमनिवृत्तिकरणमुच्यते । अनिवृत्तिकरणं नाम यत्र प्रविष्टानां सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकाध्यवसायस्थानम् । तथा हि अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वर्त्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्त्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानं द्वितीयसमयेऽपि ये वर्त्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानं नवरं प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम् । एवं तावद्वाच्यं यावदनिवृत्तिकरणचरमसमयः अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टानां तुल्यकालानामसुमतां सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानानां परस्परं निवृत्तिर्व्यावृत्तिर्न विद्यते इत्यनिवृत्तिकरणं नाम अस्मिंश्चानिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि । अत्रापि प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ताः पञ्च पदार्था युगपत्प्रवर्त्तन्ते अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमाने अनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेन कालेन करोति अन्तरकरणमारकं च दलिकमुत्कीर्यमाणं प्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति प्रथमस्थितिगतं दलिकमावलिकामात्रं वेद्यमानानामुपरि प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति अन्तरकरणे कृते सति द्वितीयसमयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिदलिकमुपशमयितुमारभते । तद्यथा प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति द्वितीयसमये संख्येयगुणं तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् । एवं यावदन्तर्मुहूर्त्तकालम् तावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति उपशमितानां यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्याभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो निःस्पन्दो भवति तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्यानिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टितः संक्रमणोदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनकरणानामयोग्यो भवति तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता । अन्ये त्वाचक्षते अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति किं तु विसंयोजनैव विसयोजना क्षपणा सा चैवम् इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरता विरताश्च चतुर्गतिका अपि । तद्यथा नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टय तिर्यञ्चोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरता वा मनुजा अविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताः सर्वविरता वा । अनन्तानुबन्धिनां विसयोजनार्थं यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति करणवक्तव्यता सर्वाऽपि प्राग्वत् नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति ।

उक्तं च कर्मप्रकृतौ ।

चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि सजोयणे विसंजोयेंति ।
करणेहिं तिहिं सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा ॥

अस्याक्षरगमनिका चतुर्गतिका नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवा सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तास्त्रयोऽप्यविरतदेशविरतसर्वविरतास्तत्राविरतसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिकाः देशविरतास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सर्वविरता मनुष्या एव सयोजनामनन्तानुबन्धिनो विसयोजयन्ति विनाशयन्ति । किंविशिष्टाः सन्त इत्याह करणैस्त्रिभिर्यथाप्रवृत्तापूर्वकणानिवृत्तिबादरैः सहिता नवरमिहान्तरकरणं न वक्तव्यम् । उपशमो वा उपशमश्चानन्तानुबन्धिनां न भवतीत्यर्थः । किं तु कशमो वा उपशमश्चानन्तानुबन्धिनां न भवतीत्यर्थः । किं तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासंक्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषाननन्तानुबन्धिनो विनाशयति आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसंक्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु संक्रमयति । तदेवमुक्ता अनन्तानुबन्धिनां विसयोजना । सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते । तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयत सा चैव

पञ्चेन्द्रियसञ्ज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त करणकालात्पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्त्तकालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्द्धमानोऽनव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षयाऽनन्तगुणविशुद्धिको मतिश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतस्मिन् योगे वर्त्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां वर्त्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्त सागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तावद्वाच्यं यावद्यथाप्रवृत्तिकरणमपूर्वकरण च परिपूर्ण भवति नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो नो वक्तव्यः किंतु स्थितिघातरसघातस्थितिबन्धगुणश्रेणय एव वक्तव्या. । गुणश्रेणिदलिकरचनाप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम् अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण प्रथमस्थिते किंचित्समधिक न्यून वाऽभिनवस्थितिबन्धाद्धा समेनान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन करोति अन्तरकरणसत्क च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथमस्थितौ च वर्त्तमानोदीरणाप्रयोगेण यत्प्रथमस्थितिगत दलिक समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणा यत्पुनर्द्वितीयस्थिते. सकाशादुदीरणाप्रयोगेणैव दलिक समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते उदयोदीरणाभ्यां च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद्गतो यावदावलिकाद्विकं शेष तिष्ठति तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते साऽपि तावद्यावदावलिका शेषो न भवति आवलिकायां तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते तत. केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगत दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति तद्यथा सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्वं चेति। उक्त च कर्मप्रकृतिचूर्णौ "चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी से काले उवसम सम्मद्दिट्ठी होहिई ताहे बिइयठिइ तिहाणुभाग करेइ तं जहा सम्मत्त सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्त चेति" स्थापना चेयम् ० ० ० ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वस्योदयाभावादौपशमिक सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्त च कर्मप्रकृतौ। "मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसामियसो। लभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्व ज" अन्यत्राप्युक्तम् "जात्यन्धस्य यथा पुस-श्चक्षुर्लाभे शुभोदये। सद्दर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे भवति जायते" १ आनन्दो जायतेऽत्यन्त, सात्त्विकोऽस्य महात्मन । सद्व्याध्यपगमो यद्व-द्व्याधितस्य सदौषधात्" २ एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद्भवति उक्त च " सम्मत्तपढमलम्भो, सव्वोवसमा " इति । सम्यक्त्व चेदं प्रतिपद्यमान कश्चिद्देशविरतिसहितं प्रतिपद्यते कश्चित्सर्वविरतिसहितम् उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे " सम्मत्तेण समग, सव्व देसं च कोइ पडिवज्जे"। बृहच्छतकचूर्णावप्युक्तम् "उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोई देसविरइ पलिहेइ, कोइ पमत्तभाव पि सासायणो पुण न किं पि लहेइत्ति"[कर्म०] जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणोऽपि "उवसामगसेढीए, पढवओ अप्पमत्तविरओ उ। पज्जवसाणे सो वा, होइ पमत्तो अविरओ वा ॥ "अन्ने भणंति अविरय-सपमत्तापमत्तविरयाणं। अन्नयरो पडिवज्जइ, दंसणसमणम्मि उ नियट्टी" द्वे अपि गतार्थे नवरमविरताद्यप्रमत्तानां मध्यादेकेनापि दर्शनसप्तके उपशमिते ततो (नियट्टित्ति) निवृत्तिबादरो भवति (विशे०) ततो देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्तं लभ्यते । सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते। इह वेदकसम्यग्दृष्टिसंयमे वर्तमानः सन्नन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति उपशमयतश्च करणत्रिकादिविधिर्यथा कर्मप्रकृतिटीकायां तथा वेदितव्य. । एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकाम पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति करणानां च स्वरूप प्राग्वत् केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्य पूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसपरायगुणस्थानके अत्रापि स्थितिघातादय पूर्ववदेव प्रवर्त्तन्ते नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानानां गुणसंक्रमः प्रवर्तत इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धाय.श्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेद. तत प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमो भागो गतो भवति एकोऽवशिष्यते अत्र चान्तरे देवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गाऽऽहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गतैजसकार्मण — समचतुरस्रवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासत्रसबादर — पर्याप्तप्रत्येकप्रशस्तविहायोगत्यशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माण — तीर्थकरसञ्ज्ञितानां त्रिंशत प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेद । ततः स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्यरत्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेद. । हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सानामुदय. सर्वकर्म्मणां देशोपशमनानिधत्तिनिकाचनाकरणव्यवच्छेदश्च ततोऽनन्तरसमये निवृत्तिकरणे प्रविशत्यपि स्थितिघातादीनि पूर्ववत्करोति ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धाया सङ्ख्येयेषु भागेषु सत्सु दर्शनसप्तके शेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरण करोति तत्र चतुर्णां सञ्ज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य सञ्ज्वलनस्य त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्य प्रथमा स्थिति स्वोदयकालप्रमाणा शेषाणां त्वेकादशकषायाणामष्टानां च नोकषायाणामावलिकामात्रं स्वोदयकालप्रमाण च चतुर्णां सञ्ज्वलनानां त्रयाणां च वेदानामिदं स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोरुदयकाल सर्वस्तोकः स्वस्थाने च परस्पर तुल्य तत. पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुणः तत सञ्ज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिक ततः सञ्ज्वलनमानस्य विशेषाधिकः ततः सञ्ज्वलनमायाया विशेषाधिक तत सञ्ज्वलनलोभस्य विशेषाधिक । इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्य तत्तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते केवल विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या । अन्तरकरण च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण उपशमयति ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेद ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण हास्यादिषट्कं तस्मिंश्चोपशान्ते तस्मिन्नेव समये पुरुषवेदस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेद. तत समयोनावलिकाद्विकेन पुरुषवेदमुपशमयति ततो युगपदन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधौ तदुपशान्तौ च तत्समयमेव सञ्ज्वलनक्रोधोदयोदीरणाव्यवच्छेद. तत समयोनावलिकाद्विकेन संज्वलनक्रोधमुपशमयति ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति तदुपशान्तौ च तत्समयमेव सञ्ज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः तत समयोनावलिकाद्विकेन सञ्ज्वलनमानमुपशमयति ततो युगपदन्तर्मुहूर्तमात्रेण अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमाये उपशमयति तदुपशान्तौ च तत्समयमेव सञ्ज्वलनमायाया बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः तत समयोनावलिकाद्विकेन सञ्ज्वलनमायामुपशमयति ततो

युगपदप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणलोभावुपशमयति त-त्समयमेव संज्वलनलोभस्य बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छेदः । ततः संज्वलनलोभमुपशमयंस्त्रिधा करोति द्वौ भागौ युगपदुपशमयति तृतीयभागं संख्येयखण्डानि करोति तान्यपि पृथक् पृथक् कालभेदेनोपशमयति पुनः संख्येयानां खण्डानां किट्टीकृत्य परपर्यायाणां चरमखण्डमसंख्येयानि खण्डानि सूक्ष्मकिट्टीकृत्य परपर्यायाणि करोति ततः समये २ एकैकखण्डमुपशमयतीति । इह च दर्शनसप्तके उपशान्ते निवृत्तिबादरोऽभिधीयते तत ऊर्ध्व-मनिवृत्तिबादरो यावल्लोभस्यासंख्येयान्तिमचरमखण्ड इति प्ररूपिता मोहनीयस्याष्टाविंशतिभेदभिन्नस्याप्युपशमना । सम्प्रति गाथार्थो विव्रियते । इहोपशमश्रेणिप्रारम्भको भवत्यप्रमत्त-संयत एव । अन्ये तु प्रतिपादयन्ति । अविरतदेशविरतप्रमत्ता-प्रमत्तसंयतानामन्यतम इति श्रेणिपरिसमाप्तौवाऽविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतमो भवति । स च प्रथम युगपत् (अणाति) अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभानुपशमयति ततो ' दर्शन दर्शनं ' दर्श मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यग्दर्शन युगपदुपशमयति । ततोऽनुदीर्णमपि नपुंसकवेदं यदि पुरुषः प्रा-रम्भकस्ततः प्रथमं नपुंसकवेदं तत पश्चात्स्त्रीवेदं ततः षट्कं हा-स्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं तत पुरुषवेदम् अथ स्त्री प्रार-म्भिका ततः प्रथमं नपुंसकवेदं ततः पुरुषवेदं तत. षट्कं तत स्त्रीवेदमिति । अथ नपुंसकवेद एव प्रारम्भकस्ततोऽसावनुदीर्ण-मपि प्रथमं स्त्रीवेदमुपशमयति ततः पुरुषवेदं ततः षट्कं ततो नपुंसकवेदमिति । पुनश्च द्वौ द्वौ क्रोधाद्यावेकान्तरितौ संज्वलन-विशेषक्रोधाद्यन्तरितौ सदृशौ तुल्यावुपशमयति । अयमर्थः । अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणक्रोधौ सदृशौ क्रोधत्वेन युगपदुपशमयति ततः संज्वलनक्रोधमेकाकिनं ततोऽप्रत्याख्या-नावरणप्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति तत. संज्वलन-मानं ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणमाये युगपदुपशम-यति ततः संज्वलनमायां ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरण-लोभौ युगपदुपशमयति ततः संज्वलनलोभमिति । स्थापना चेयम्

संज्वलनलोभ·	अप्रत्याख्यानप्रत्या-ख्यानक्रोधः
अप्रत्याख्यानप्रत्या-ख्यानलोभः ।	पुरुषवेदः
संज्वलनमाया	हास्यादिषट्क·
अप्रत्याख्यानप्रत्या-ख्यानमाया ।	स्त्रीवेद·
संज्वलनमान ।	नपुंसकवेदः
अप्रत्याख्यानप्रत्या-ख्यानमान	मिथ्यात्वमिश्रसम्य-क्त्वम्
अप्रत्याख्यानसंज्व-लनक्रोध·	अनन्तानुबन्धिक्रोध-मानमायालोभः

ननु संज्वलनादीनां युक्त उपशमोऽनन्तानुबन्धिनां तु दर्शनप्रा-प्तावेवोपशमितत्वान्न युज्यते न दर्शनप्रतिपत्तौ तेषां क्षयोपशमा-दिह चोपशमादित्यविरोध इति । आह क्षयोपशमोपशमयोः कः प्रतिविशेष उच्यते । क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षयोपशम· प्रदेशानुभवतस्तूदयोऽस्त्येव उप-शमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति । यदाह भाष्यपीयूषपाथोधिः " वेएइ संतकम्म,खओवसमिएसु नाणुभावं सो । उवसंतकम्म-ओ पुण, वेएइ न संतकम्मंपि " अन्यत्राप्युक्तम् ।

" उवसंतकम्म ज न, तउ कढेइ न देइ उदए वि ।
न य गमयइ परपगइ, न चेव उ कड्डए त तु " ।

अस्या अक्षरगमनिका सर्वोपशमेन यदुपशान्त मोहनीयकर्म अन्यस्य सर्वोपशमायोगात् "सव्वोवसमो मोहस्स चेवेति" वच-नात् न तदपकर्षति न तदपवर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां हीन क-रोतीत्यर्थ· । अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वान्नाप्युदये तद्ददाति नापि तद्वेदयतीत्यर्थः । उपलक्षणात्तदविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यम् । न च बध्यमानसजातीयरूपां परप्रकृतिं संक्रमकरणेन गमयति संक्रमयति । न च तत्कर्मोपशान्त सदुत्कर्ष-यत्युद्वर्तनाकरणेन स्थितिरसाभ्यां वृद्धिं नयति निधत्तिनिका-चनायास्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वान्नेहोपशान्तत्वेन त-न्निषेधः क्रियते इति । आह संयतस्यानन्तानुबन्धिनामु-दयो निषिद्धस्तत्कथमुपशम इत्युच्यते स ह्यनुभागकर्माङ्गीकृत्य न तु प्रदेशकर्मेति तथा चाभ्यधायि परमगुरुणा "जीवेण भंते ! सयकड कम्म वेएइ अत्थेगइय नो वेएइ । से केणट्ठेण पुच्छा दुविहे कम्मे पन्नत्ते त जहा पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य । तत्थ णं जं पएसकम्म त नियमा वेएइ तत्थ ण ज अणुभागकम्मं त अत्थेगइय वेएइ अत्थेगइय नो वेएइ " इत्यादि ततश्च प्रदे-शकमप्यभावोदयस्येहोपशमो द्रष्टव्य· । आह यद्येवं संयतस्या-नन्तानुबन्ध्युदयतः कथं दर्शनविघातो न भवतीत्युच्यते प्रदेश-कर्मणो मन्दानुभावत्वात् । तथा कस्यचिदनुभागकर्मानुभागो-ऽपि नात्यन्तमपकाराय भवन्नुपलभ्यते यथा सम्पूर्णमत्यादिचतु-र्ज्ञानिनस्तदावरणोदय इति । ततः सूक्ष्मलोभचरमकिट्टयुपशमे संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्च-कदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणां बन्ध-व्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयेऽसावुपशान्तकषायो भवति स च जघन्येनैक समयमात्रमुत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् तत ऊर्ध्व नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्विधा भवक्षयेण अद्धाक्ष-येण च तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रति-पतति । यत्र यत्र बन्धोदयोदीरणाव्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र पतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् प्रतिपतितश्च तावत्प्रतिपतति यावत्प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम् । कश्चित्पुनस्ततोऽप्यधस्तनं गु-णस्थानकद्वयं याति कोऽपि सास्वादनभावमपि । यः पुनर्भव-क्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति शेष· । उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारा-वुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात्तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभाव· । यः पुनरेकं वार प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि उक्त च सप्ततिकाचूर्णौ "जो दुवारे उवसमसेढि पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवग-सेढी नत्थि जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जति" एष कार्मग्रन्थिकाभिप्रायः । सिद्धान्ताभिप्रायेण त्वेक-

स्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते उक्तं च कल्पाध्ययने "एग भवपरिचइएए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु । अन्नयरसेढिवज्जं, एग भवेण च सव्वाइं" सर्वाणि सम्यक्त्वदेशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम् । "मोहोपशम एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसन्ततः । यस्मिन् भवे तूपशमः क्षयो मोहस्य तत्र नेति" । तदेवमभिहिता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः । कर्म० । विशे० । सू० । आचा० । आ० म० प्र० । क० प्र० । पं० स० । (उवसमणाऽधिकारेऽप्युपशमश्रेणिवक्तव्यनोक्ता इत सपोज्या)

उवसामइत्तु-उपशमय्य अव्य० उप-शम् ल्यप् । उपशमं नीत्वेत्यर्थे, "उवसामइत्तु चउद्दा अंतमुहुत्तं चिकणं बहुकालं" पं०स०

उवसामग-उपशामक-पुं० उपशान्तमोहे, आव० ४ अ० ।

उवसामिय-उपशामित-त्रि० उपशमं नीते, "उवसामिए परेण व" उपशामिते परेणोपशमं नीते । व्य०१ उ० । उपशम प्रापिते, व्य० ६ उ० ।

उवसामेमाण-उपशमयत्-त्रि० उपशमं कारयति, क्षुद्रव्यन्तराधिष्ठितं समयप्रसिद्धविधिनोपशमयति, स्था० ६ ठा० ।

उवसुद्ध-उपशुद्ध-त्रि० उप सामीप्येन शुद्धम् । निर्दोषे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

उवसोभिय-उपशोभित-त्रि० सामस्त्येन शोभिते, । आ० म० प्र० । रा० । "कविसीसएहिं उवसोभिए" रा० । 'हारद्धहारउवसोभिए" । रा० । समारचितकेशत्वादिना जनितशोभिते, ज्ञा० ९ अ० ॥

उवसोहिय-उपशोधित-त्रि० निर्मलीकृते, ज्ञा०१ अ० ।

उवस्तिद-उपस्थित-त्रि०उप-स्था-क्त- । स्थर्थयोस्त ८ । ४ । २९० । इति स्थस्थाने सकाराक्रान्तस्तकारः । समीपस्थिते, प्रा०

उवस्सय-उपाश्रय-पुं० उपाश्रीयते सेव्यते संयमात्मपालनायेत्युपाश्रयः । स्था० ५ ठा० । उपाश्रीयते भज्यते शीतादित्राणार्थं यः स उपाश्रयः। वसतौ, स्था० ३ ठा० । आचा० । ज्ञा० ।

उपाश्रयक्षेपः ॥

नामं ठवणा दविए, भावे य उवस्सओ मुणेयव्वो ।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

नामोपाश्रयः स्थापनोपाश्रयः द्रव्योपाश्रयः भावोपाश्रयश्चेत्युपाश्रयश्चतुर्धा मन्तव्यः । एतेषामुपाश्रयाणां नानात्वविशेषमहमानुपूर्व्या वक्ष्यामि । तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यभावोपाश्रयौ प्रतिपादयति ।

दव्वम्मि उ उवस्सओ, कीरइ कडवुत्थमेव सुत्तम्मि ।
भावम्मि निसिद्धे जं, एसु दव्वम्मि इयरेसु ॥

द्रव्यं तु द्रव्यविषयः पुनरुपाश्रयो यः संयतार्थं क्रियते क्रियमाणे वर्त्तते कृतो वा परमथापि न संयतेभ्यो वितीर्यते । यो गृहस्थैरात्मार्थं निष्पादितः परं यत्र संयता मासकल्पं वा (वर्षाः ?) उषित्वा अन्यत्र गताः सांप्रतमुपाश्रयः शून्यास्तिष्ठति एष द्रव्योपाश्रयः । भावोपाश्रयो नाम यः संयतेभ्यो निसृष्टः प्रदत्तैः परिभुज्यमान इत्यर्थः । य. पुनरितरेषां पार्श्वस्थादीनां सृष्टः सोऽपि द्रव्योपाश्रयो विज्ञेयः । आह च बृहद्भाष्यकृत् "जो समणट्ठाय कतो, बुच्छा वा आसि जत्थ समणाओ । अहवा दव्वउवस्सओ, पासत्थादीपरिग्गहिओ" बृ० २ उ० । (उपाश्रयस्य सर्वो विषयो वसतिशब्दे वक्ष्यते) कर्मणि अच् आश्रयणीये, भावे अच् । आश्रये, वाच० ।

उवस्सयअसंकिलेस-उपाश्रयासंक्लेश-पुं० उपाश्रयविषये असंक्लेशे असंक्लेशभेदे, स्था० १० ठा० ।

उवस्सयसंकिलेस-उपाश्रयसंक्लेश-पुं० उपाश्रयो वसतिस्तद्विषयः संक्लेशः । संक्लेशभेदे, स्था० १० ठा० ।

उवस्सा-उपश्रा-स्त्री० द्वेषे, व्य० १ उ० ।

उवस्सिय-उपाश्रित-त्रि० उपाश्रा नाम द्वेषः स जातोऽस्येति उपाश्रितः । द्वेषवति, व्य० १ उ० । अङ्गीकृते, वैयावृत्यकरत्वादिना प्रत्यासन्नतरे, उप-आ-श्रि० भावे-क्त-रूपे, शिष्यप्रतीच्छककुलाद्यपेक्षायाम्, स्था० ५ ठा० ।

उवहड-उपहृत-त्रि० उप हृ-क्त-उपढौकिते, उपहाररूपेण दत्ते च । उपहिते भोजनस्थाने, ढौकिते, भक्ते, ।

तिविहे उवहडे पण्णत्ते तं जहा फलिह उवहडे सुद्धोवहडे संसट्ठोवहडे ॥

त्रिविधमुपहृतं प्रज्ञप्तं तद्यथा सिक्थोपहृतं फलितोपहृतं संसृष्टोपहृतं च । स्था० ३ ठा० । अमीषां पदानां व्याख्यानं भाष्यकृत्करिष्यति । अधुना भाष्यप्रपञ्चः ।

सुद्धे संसट्ठे य, फलितोवहडे य तिविहमेक्केकं ।
तिन्निगदुगमा तिन्नि य, तिगसंजोगे भवे एक्को ॥

उपहृतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते त्रिविधमुपहृतं सूत्रेऽभिहितं तद्यथा शुद्धोपहृतं संसृष्टोपहृतं फलितोपहृतं च । एकैकं पुनस्त्रिविधं यदवगृह्णाति यच्च संहरति यच्चाऽऽस्ये प्रक्षिपति एतदनन्तरसूत्रे वक्ष्यते । अत्रैकैकसंयोगे त्रयो भङ्गास्तद्यथा । शुद्धोपहृतं वा गृह्णाति १ फलितोपहृतं गृह्णाति २ संसृष्टोपहृतं गृह्णाति ३ द्विकसंयोगेऽपि त्रयस्तद्यथा शुद्धोपहृतं फलितोपहृतं च १ । शुद्धोपहृतं संसृष्टोपहृतम् । २ । फलितोपहृतं संसृष्टोपहृतं च । ३ । त्रिकसंयोगे एकः । शुद्धोपहृतं फलितोपहृतं संसृष्टोपहृतं च गृह्णाति । सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः । एनेषामेकतमभिगृह्णात्यभिग्रही ।

संप्रति शुद्धादिपदानामर्थमाचष्टे ।

सुद्धं तु अलेवकडं, अहवणसुद्धोदणो भवे सुद्धं ।
संसट्ठं आदत्तं, लेवाणमलेवडं चेव ।
फलियं पहेणयादी, वंजणनाणाविहेहि वा विरइयं तु ।
भोत्तुं मणसोपहियं, पंचमपिंडेसणा एसा ॥

यत् अलेपकृतं कालिकेन पानीयेन वा सम्मिश्रीकृतं तच्छुद्धम् । अथवा शुद्धोदनो व्यञ्जनरहितो भवति । शुद्धं तदपि नियमादलेपकृतम् । संसृष्टं नाम भोक्तुकामेन तद् गृहीतम् । किमुक्तं भवति । यत् स्थाले परिवेषितं तत्र ग्रहणाय हस्तः क्षिप्तो न तावद्यापि मुखे प्रक्षिपति । अत्रान्तरे साधुरागतो भिक्षार्थं ततः लेपकृतमलेपकृतं वा संसृष्टमित्युच्यते । फलितं नाम यद् व्यञ्जनैर्भक्ष्यैर्वा नानाप्रकारैर्विरचितं पहेणकादि प्रहेणकं लाभनकमादिशब्दात्सरजस्कानां दानाय कल्पितं परिगृह्यते । उपहृतशब्दस्यार्थमाह । यत् भोक्तुमनसः उपहृतं तदुपहृतमित्युच्यते एषा च पञ्चमी पिण्डैषणा ।

सुद्धग्गहणेणं पुण, होइ चउत्थी वि एसणा गहिया ।
संसट्ठे उ विभासा, फलियनियमा उ लेवकडं ॥

शुद्धग्रहणेन चतुर्थ्येषणा अल्पलेपकृता नामिका गृहीता द्रष्टव्या । संसृष्टे विभाषा । कदाचिल्लेपकृतं कदाचिन्नेति । फलितं तु

नियमाल्लेपकृतमेवेति । व्य० द्वि० ए उ० (अत्रान्यदपि किञ्चिद्वक्तव्यं तदुग्गहियशब्दतो बोध्यम्)

उवहणंत–उपघ्नत्–त्रि० विध्वंसयति, प्र० १ श्रु०२ अ० ।

उवहणण–उपहनन–न० चारित्रस्य विराधने, । स्था० १० ठा० ।

उवहत्थ–सम् आ–रच्–धा० चुरा–पर–समारचने, समारचेरुवहत्थसारवसमारकेलायाः ८ । ४ । ए५ इति समारचेरुवहत्थादेशः । उवहत्थइ सारवइ समारअइ समारचयति । प्रा० ।

उवहय–उपहत–त्रि० उप-हन्-क्त-तिरस्कृते, विनाशिते, वाच० । ज्ञा० । उपघातपण्डके, पं० भा० । पं० चू० । उत्पातग्रस्ते, अशुचिद्रव्यसंयोगेन अशुद्धे, अभिभूते च वाच० ॥

उवहयजोणि–उपहतयोनि–स्त्री० गर्भग्रहणसमर्थायाम्, "अणुवहयजोणि इत्थिया" गर्भं गृह्णातीत्यर्थः" । नि० चू० १ उ० ।

उवहयभाव–उपहतभाव–त्रि० दुष्टतादिभिर्दोषैरुपहतो भावः परिणामो यस्य । दुष्टतया परिणते, बृ० ४ उ० ।

उवहयमइविष्णाण–उपहतमतिविज्ञान–त्रि० मतिः स्वाभाविकी विज्ञानं च गुरूपदेशज मतिविज्ञाने ते उपहते दूषिते यस्य स उपहतमतिविज्ञानः । तत्वातत्वव्यतिकरविवेकविकले, बृ० १ उ०

उवहयमणसंकप्प–उपहतमनःसंकल्प–त्रि० उपहतोऽस्वच्छतया मनःसंकल्पो यस्य स तथा । मलीमसचित्तवृत्तौ, । सूत्र०–२ श्रु० २ अ० । उपहतो ध्वस्तो मनसः संकल्पो दर्पहर्षादिप्रभवो विकल्पो यस्य स तथा । विध्वस्तमन संकल्पे, " किण्हं देवाणुप्पिया उवहयमणसंकप्पा जाव झियायह" भ० ३श०२उ० ।

उवहरंत–उपहरत्–त्रि० पूजयति, धातवोऽर्थान्तरेऽपि । ८ । ४ । ५८ । इति उपहरतिः पूजार्थे, प्रा० । विनिवेशयति, ज्ञा० १४ अ० ।

उवहरिंसु–उपहृतवत्–त्रि० उपनीतवति, "अमणुन्नाइ मे सद्दाइ जाव उवहरिंसु" स्था० ६ ठा० ।

उवहसिय–उपहसित–न० उप-हस्-भावे-क्त० उपहासे, निन्दासूचके हासभेदे, वाच० । हास्यचेष्टाकरणे, त० ।

उवहाजोग–उपधायोग–पुं० मायाप्रयोजने, "गुर्वनुज्ञोपधायोगो वृत्त्युपायसमर्थनम्" उपधायोग इति । उपधा माया तस्या योगः प्रयोजनं सा च तत्तत्प्रकारैः सर्वथा परैरनुपलक्ष्यमाणैः प्रयोज्या । ते च प्रकारा इत्थं धर्मबिन्दौ प्रोक्तास्तद्यथा । दुःस्वप्नादिकथनमिति दुःस्वप्नस्य खरोष्ट्रमहिषाद्यारोहणादिदर्शनरूपस्य । आदिशब्दात् मातृमण्डलादिविपरीतालोकनादिपरिग्रह । तस्य कथनं गुर्वादेर्निवेदनमिति । ध० ३ अधि० ।

उवहाण–उपधान–न०उपधीयते शिरोऽत्र उप-धा-आधारे ल्युट् । हंसरोमादिपूर्णे उच्छीर्षके, बृ० ४ उ० । "पुयादिपुन्नं सिरोवहाण मुहाणणगं" नि० चू० १२ उ० । कर्मणि घञ् । प्रणये, हेम० विशेषेण प्रणये, विश्व० । भावे ल्युट् समीपस्थाने, न० । करणे ल्युट्—उपधानसाधने, मन्त्रे, पु० वाच० । मोक्षप्रत्युपसामीप्येन दधातीति उपधानम् । अनशनादिके तपसि, सूत्र० १ श्रु० २ अ०१ उ० । स्था० । आव० । पं० व० । उप समीपे धीयते क्रियते सूत्रादिक येन तपसा तदुपधानम् । प्रव० ६ द्वा० । उपदधाति पुष्टिं नयति अनेनेत्युपधानम् । व्य० प्र० १ उ० । अङ्गोपाङ्गानां सिद्धान्तानां पठनाराधनार्थमाचाम्लोपवासनिर्विकृत्यादिलक्षणे तपोविशेषे, उत्त० ११ अ० । उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानम् । चारित्रोपष्टम्भनहेतौ श्रुतविषये उपचारे, पञ्चा० ए विव० । स्था० । द० । दशा० । विनयबहुमानाभ्यां चतुर्भङ्गयोपदधातीति उपधानम् । तपसि, ग० १ अधि० । ध० ।

उपधाननिक्षेपचिकीर्षयाऽऽह ।

नामं ठवणुवहाणं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
एमेव य सुत्तस्स वि, निक्खेवो चउव्विहो होइ ।२९८॥

नामोपधानं स्थापनोपधान द्रव्योपधान भावोपधान च । श्रुतस्याप्येवमेव चतुर्धा निक्षेपस्तत्र द्रव्यश्रुतमनुपयुक्तस्य यच्छ्रुत द्रव्यार्थं वा यच्छ्रुतं कुप्रावचनिकश्रुतानि चेति । द्रव्यश्रुतं भावश्रुत त्वङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतविषयोपयोगस्तत्र सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्याद्युपधानप्रतिपादनायाह ॥

दव्वुवहाणं सयणे, भावुवहाणं तवो चरित्तस्स ।
तम्हा उ नाणदंसण, तवचरणेणाहिगारं तु ॥ २९९ ॥

उप सामीप्येन धीयते व्यवस्थाप्यत इत्युपधानम् । द्रव्यभूतमुपधानं द्रव्योपधानं तत्पुन शय्यादौ सुखशयनार्थं शिरोऽवष्टम्भवस्तु । भावोपधानमिति भावस्योपधान भावोपधान तत्पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्राणि तपोवासबाह्याभ्यन्तर तेन हि चारित्रपरिणतभावस्योपष्टम्भन क्रियते यत एव तस्मात् ज्ञानदर्शनतपश्चरणैरिहाधिकृतमिति गाथार्थः । किं पुनः कारण चारित्रोपष्टम्भकतया तपोभावोपधानमुच्यत इत्याह ।

जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं ।
एवं भावुवहाणे–णसुज्झए कम्ममट्ठविहं ॥ ३०० ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थं यथैतत्तथाऽन्यदपि द्रष्टव्यमित्यर्थः । खलु शब्दो वाक्यालंकारे यथा मलिन वस्त्रमुदकादिभिर्द्रव्यैः शुद्धिमुपयात्येव जीवस्यापि भावोपधानभूतेन स बाह्याभ्यन्तरेण तपसा अष्टप्रकारं कर्म्म शुद्धिमुपयातीत्यस्य च कर्मक्षयहेतोस्तपस उपधानश्रुतत्वेनात्रोपात्तस्य तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति कृत्वा पर्यायदर्शनायाह । यदि वा तपोनुष्ठानेनापादिता अवधूननादयः कर्मापगमविशेषाः सम्भवन्तीत्यतस्तान् दर्शयितुमाह ।

ओहणणधुवणनासण-विणासणज्झवणखवणसोहिकरणं ।
छेयण भेयण फेडण, डहणं धुणणं च कम्माणं ॥

तत्रावधूननमपूर्वकरणेन कर्मग्रन्थेर्भेदापादन तच्च तपोऽन्यतरभेदसामर्थ्याद्भवतीत्येषा क्रिया शेषेष्वप्येकादशसु पदेष्वायोज्या तथा धूनन भिन्नग्रन्थेरनिवृत्तिकरणेन सम्यक्त्वावस्थानम् । तथा नाशनं कर्मप्रकृते स्तिबुकसंक्रमेण प्रकृत्यन्तरगमनम् । तथा विनाशन शैलेश्यवस्थायां सामस्त्येन कर्माभावापादनम् । तथा ध्यापनमुपशमश्रेण्यां कर्मानुदयलक्षणविध्यापनम् । तथा क्षपणमप्रत्याख्यानादिप्रक्रमेण क्षपकश्रेण्यां मोहाद्यभावापादनम् । तथा शुद्धिकरमित्यनन्तानुबन्धिक्षयप्रक्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वापादनम् । तथा छेदनमुत्तरोत्तरशुभाध्यवसायारोहणात् स्थितिह्रासजननम् । तथा भेदनं बादरसम्परायणां सज्वलनलोभस्य खण्डशो विधानम् । तथा (फेडणति) अपनयन चतुःस्थानिकादीनामशुभप्रकृतीनां रसतस्त्र्यादिस्थानापादनम् । तथा दहनं केवलिसमुद्घातध्यानाग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करण शेषस्य च दग्धरज्जुतुल्यत्वापादनम् । तथा धावन शुभाध्यवसायान्मिथ्यात्वपुद्गलाना सम्यक्त्वभावसञ्जननमिति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

तं दव्वे भावे य, दव्व उवहाणगादिभाव इमं ।

दोग्गइपडणधरणी, उवधाणं जत्थ जं सुत्त ॥
आगाढमणागाढे, गुरुलहुयाणादि सगडपिता ॥ १५ ॥
दुट्ठा गती दुग्गा वा गती दुग्गति दुःख वा जासि विज्जति गतीए एसा गई दुग्गती विषमेत्यर्थः । कुत्सिता वा गतिर्दुर्गतिः अणभिलासियत्थे दुस्सद्दो जहा दुब्भगो सा य नरगगती नियगती वा । पतणं पातः तीए दुग्गतीए पतन्तमप्पाणं जेण धरेति त उवहाणं भषति तं च जत्थ जत्थ त्ति एस सुत्तवीप्सा जत्थ उद्देसगे जत्थ अज्झयणे जत्थ सुयक्खंधे जत्थ अंगे कालुक्कालियअंगाणंगेसु नेया जमिति जं उवहाणं णिव्वितितादि त तत्थ तत्थ सुत्ते श्रुते कायव्वमिति पक्खे संभवति । आगाढेत्ति जं च उद्देसगादीसुत्तं भणियं तं सव्व समासओ दुविह भषति । आगाढं अणागाढ वा त च आगाढसुय भगवतिमाइ अणागाढं आयारमाति । आगाढं उवधाणं कायव्व अणागाढे अणागाढं जो पुण विवज्जासं करेति तस्स पच्छित्त भवति आगाढे वा अणागाढे वा आणा अणवत्थमिच्छत्तविराहणा य भवति एत्थ दिट्ठतो असगडपिया को सो असगडताते अप्पती भषत्ति । गंगातीरे एगो आयरिओ वायणापरिस्सतो सज्झाए वि असज्झाय पोसेति एवं णाणंतरायं काऊण देवलोगं गओ तओ चुओ आभीरकुले पच्चायाओ भोगे भुंजति धूया य से जाया अतीव रूववती ते पव्वतिया गोयरियाए हिएडन्ति तस्स य सगड पुरतो वच्चति सा य से धूता सगडस्स तुंडे ठिता तीसे य दरिसणत्थं तरुणेहिं सगडाणि उप्पहेण पेरियाणि भग्गाणि य तो से दरिसेण लोगेण णाम कत असगडाए पिआ असगडपिया तस्स तं चेव वेरग्ग जातं दारिय दाउ पव्वइतो पढिओ जाव चाउरंगि ज असखए उद्दिट्ठे तष्णाणावरण उदिष पढतस्स नट्ठाति छट्ठेण अणुसव इति भणिए भणति एयस्स को जोगो आयरिया भणन्ति जाव णाति ताव आयंबिलं तहा पढति बारसविज्जा बारसहिं वरिसेहिं आयंबिल करेंतेण पढिया तं च से णाणावरणं खीण एवं सम्मं आगाढजोगो अणागाढजोगो वा अणुपालेयव्वोति उवहाणेत्ति दारं गय । नि०चू० १ उ० । द० । व्य० ।

एव तु समणुचिण्णं, वीरवरेणं महाणुभावेणं ।
जं अणुचरित्तु धीरा,सिवमउलं जंति निव्वाणं ॥३०२॥
एवमुक्तविधिना भावोपधान ज्ञानादितपो वा वीरवर्द्धमानस्वामिना स्वतोऽनुष्ठितमतोऽन्येनापि मुमुक्षुणैतदनुष्ठेयमिति निर्युक्तिगाथार्थः समासः । आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० (तच्च अनिश्चित कर्त्तव्यमिति अणिस्सिओवहाणशब्दे उक्तम)

पञ्चमङ्गलस्योपधानकर्तव्यतामाह ।

एएसिं अट्ठण्हं पि पयाणं गोयमा जे केइ अणोवहाणेणं सुपसत्थ नाणमहीयंति । अज्झावयति वा अहीयंति वा अज्झावयंतेइ वा समणुजाणंति तेणं महापावकम्मे महती सुपसत्थनाणस्सासायण पकुव्वंति । से भयवं जइ एव ता किं पंचमंगलस्स ण उवहाणं कायव्वं गोयमा ! पढमं नाणं तओ दया एय सव्वजगज्जीवपाणभूयसत्ताणं अत्तसमदरिसित्त सव्वजगज्जीवपाणभूयसत्ताणं अत्तसमं दंसणाओ य तेसिं चेव संघट्टणपरियावणकिलावणोद्दावणाइं दुक्खपायणभवविवज्जाणं ततो अणासवाउ य संवुडा सव्वदारत्तं संवुडा सव्वदारत्तेण च दमोपसमो तओ य समसत्तुमित्तपक्खयाए य अरागदोसत्तं तओ य अकोहया अमाणया अमायया अलोभया अकोहमाणमायालोभयाए य अकसायत्तं तओ य सम्मत्तं सम्मत्ताओ य जीवाइपयत्थपरिन्नाणं तओ सव्वत्थ अप्पडिबद्धा तं णेयं अन्नाणमोहमिच्छत्तक्खयं तओ विवेगो विवेगाओ हेयउवाएयवत्थूवियालणे गंतव्वबद्धलक्खत्तं तओ य अहियपरिच्चाओ हियायरेण य अच्चंतमज्झजमो । तओ य परमपवित्तुत्तम खंतादिदसविह अहिंसालक्खणं धम्माणुट्ठाणिक्ककरणकारवणासत्तचित्तया । तओ य खंतादिदसविहअहिंसालक्खणधम्माणुट्ठाणिक्ककरणकारवणासत्तचित्तयाए य संव्वुत्तमा खंती सव्वुत्तमम्मि ज तं सव्वुत्तमं अज्जविभावितं सव्वुत्तमं सव्वब्भंतरं सव्वसंगपरिच्चागं सव्वुत्तमं सव्वब्भंतरदुवालसविहं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठतवचरणाणुट्ठाणाभिरमणं सव्वुत्तमं सचरसविहकसिणसंजमाणुट्ठाणपरिपालनेकबद्धलक्खत्तं सव्वुत्तमं सव्वगिरणं उक्काहियं अणुगूहियबलवीरियपुरिसकारपरकमपरितोलणं च सव्वुत्तमुत्तमसज्झाणसलिलेणं पावकम्मसमलेवपक्खालणंति । सव्वुत्तमुत्तमं आकिंचणं सव्वुत्तममुत्तमं परमपवित्तुत्तमसव्वभावभावंतरेहिणं सुद्धसव्वदोसविप्पमुक्कणवगुत्तीसणाहअट्ठारसपरिहारट्ठाणपरिवेढियसुद्धुद्धरघोरबंभवयधारणंति तओ एएसिं चेव सव्वुत्तमा खंती मद्दवअज्जवमुत्ती तवसंजमसव्वसोयआकिंचणसुदुद्धरबंभवयधारणं समुट्ठाणेणं च सव्वसमारंभविवज्जणं तओ वि य पुढविदगागणिवाउवणस्सइबिति चउपंचेंदियाणि तहेव अजीवकायसंरंभसमारंभारंभाणं च मणोवइकायतिएणं तिविहं तिविहेणं सोइंदियादिसंवरणआहारादिसन्नाविप्पजढतापवोसिरण तओ य अट्ठारससीलंगसहस्सधारणेणं च अखलियअखंडियअमिलियअवएहियसुद्धुसग्गुग्गयरविचित्ताभिग्गहनिव्वाहणंतं जयसुरमणुयतिरिच्छोईरियघोरपरीसहोवसग्गाहियासणं समकरणेणं तओ य आहारायाइपडिमासु महापयतंतओ निप्पडिकम्मसरीरया निप्पडिकम्मसरीरमत्ताए य सुक्कज्झाणे निप्पकंपत्तणं तओ य अणाइभवपरंपरसंचियअसेसकम्मट्ठए सिक्खयं अणंतनाणदंसणधारित्त चउगइभववारिगउनिफरू सव्वदुक्खविमोक्खं मोक्खगमणं च तत्थ अनिट्ठजम्मजरामरणाणिट्ठसंपया उगिट्ठविओ य संताउव्वेगआयसज्झायज्झाणमहवाहिवेयणारोगसोगदारिद्दुक्खभयवेमणस्स तं तओ य एगंतियं अच्चंतियं शिवमयलमक्खियं धुवं परमसासयं निरंतरं सव्वुत्तमसोक्खंति ता सव्वमेवेयं नाणाउ पवत्तेज्जा ता गोयमा ! एगं-

तियं अवंतियपरमसासयधुवनिरंतरसव्वुत्तमसोक्खकंखुणा पढमपरमेव तावापरेणं सामाइयमाइओगविंदुसारपज्जवसाणं दुवालसंगं सुयनाणं कालं विहाादिजहुत्तविहिणोवहाणाणं हिंसादीयं च तिविहं तिविहेणं परिकंतेण य सरवंजणमत्ताविंदुपयक्खराणुणगं पयच्छेदघोसवद्धयाणुपुव्विपुव्वाणुपुव्विअणाणुपुव्वीए सुविसुद्धं आचारिकायएण पगत्तेणेण सुविभेयं तं च गोयमा! अणिहणोरेसुविच्छिन्नचरमो हिमिय सुंदरवग्गहं सयलसोक्खपरमहेउभूयं च तस्स य सयलसोक्खहेउब्भूयाओ न इट्ठदेवया नमुकारविरहिए केइ पारं गच्छेज्जा इट्ठदेवयाणं च नमुकारं पंचमंगलमेव गोयमा! णोणमन्नंति ता णियमओ पंचमंगलस्सेव पढमं ताव विणओवहाणं कायव्वति। से भयवं कइए विहीए पंचमंगलस्स णं वि ए उवहाणं कायव्व गोयमा! इमाए विहीए पंचमंगलस्स णं वि ए उवहाणं कायव्वं तंजहा सुपसत्थे चेव सोहणातिहिकरणमुहुत्तनक्खत्तजोगलग्गससीवर्ज्जविप्पमुक्कजायाईमणा संकेण संजायसव्वसंवेगसुतिव्वतरमहंतुल्लसंतसुहज्झवसायाणुगयत्तत्ती बहुमाणपुव्वं णिस्सियाणदुवालसभत्तट्ठिएणं चेइयालए जंतुविरहिओ गोयमा! से भत्तिभरनिब्भरद्धुसियससीसरोमावलीपप्फुल्लनयणसयवत्तपसंतसामाथिरदिट्ठी णवणवसंवेगसमुच्छलंतसंजायबहलघणनिरंतरअचिंतपरमसुहपरिणामविसेसुल्लसियसजीववीरियाणुसमयविवड्ढंतपमोयसुविसुद्धसुनिम्मलविमलथिरदढयरंतकरणेणं खितिणिहियजाणुणिसियउत्तमंगकरकमलमउलसोहंजलिपुडेणं सिरिउसभाइपवरवरधम्मतित्थयरपडिमा बिंबविणिवेसियनयणमाणसमग्गतग्गयवसाणं समयदढचरित्तादिगुणसंपउववेया गुरुसहत्थणुट्ठाणकरणेकबद्धलक्खतवाहियगुरुवयणविणिग्गयं विणयादिबहुमाणपरिओसाणुकंपोवलद्धं अणेगसोगसंतावुव्वेगमहवाहिवेयणाघोरदुक्खदारिद्दकिलेसरोगजम्मजरामरणगब्भनिवासाइदुट्ठसावगगाहभीमभवोदहितरंडगभूयं इणमो सयलागममज्झवत्तगस्स मिच्छत्तदोसोवहविसिट्ठबुद्धी परिकप्पिय उ भाणियं अघडमाणअसेसहेउदिट्ठंतजुत्तीविद्धंसणिक्कपच्चलपोढस्स पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स पंचज्झयणेगचूलापरिक्खित्तस्स पवरपवणदेवयाहिट्ठियस्सातिपदपरिच्छिन्नेगालावगस्स तक्खरपरिमाणं अणंतगमपज्जवत्थपसाहगं सव्वमहामंतपयरवज्जाणं परमबीयभूयं नमो अरिहंताणंति। पढमजयणं अहिज्जेयव्वं। तदियहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं तहेव य बीयदिणे अणेगाइसयगुणसंपउववेयं अणंतरज्जणियत्थपसाहगं अणंतरं तेणेव कमेणं दुपरिच्छिन्नं गालावगपंचक्खरपरिमाण नमो सिद्धाणंति बीयमज्झयणं अहिज्जेयव्वं। तादियहे य आयंबिलेण पारेयव्वं। एवं अणंतरज्जणिए व कमेणं अणंतरतुच्छपसाहगंति पदं परिच्छिन्नं गालावगसत्तक्खरपरिमाणं। णमो आयरियाणंति तइयमज्झयणं आयंबिलेणं अहिज्जेयव्वं। तहा य अणंतरतुच्छपसाहगंतिपयपरिच्छिन्नं गालावगसत्तक्खरपरिमाणं नमो उवज्झायाणंति चउत्थमज्झयणं अहिज्जेयव्वं। तदियहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं। नमो लोए सव्वसाहूणंति पंचमज्झयणं पंचमदिणे आयंबिलेणं तहेव तयत्थाणुगामियं एक्कारसपयपरिच्छिन्नतियलावगतित्तीसक्खरपरिमाणं "एसो पंचनमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलमिति" चूलंति छट्ठसत्तमट्ठमदिणे तेणेव कम्मविभागेण आयंबिलेहिं अहिज्जेयव्वं। एवमेवं पि च मंगलमहासुयक्खंधं सरवन्नयरेहियं पयरकरबिंदुमत्ताविसुद्धं गुरुगुणोववेयगुरुवइट्ठं कसिणमहिज्जित्ताणं तहा कायव्वं जहा पुव्वाणुपुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए जीहग्गो तरेज्जा तओ तेणेवाणंतरज्जणियतिहिकरणमुहुत्तनक्खत्तजोगलग्गससीवज्जजंतुविरहिओगासवेलाईया कमाई कम्मेणं अट्ठमभत्तेणं समणुजाणाविऊणं गोयमा! महया पबंधेण सुपरिफुडं णिउणं असंदिद्धं सुत्तत्थं अणेगहा सोऊणावधारेयव्वं एयाए विहीए पंचमंगलस्स णं गोयमा! विणउवहाणे कायव्वो (महा०) से भयवं सुदुक्करं। पंचमंगलमहासुयखंधस्स वि ए उवहाणं पन्नत्तं महती य एसा णियंतणा कहं वा लेहं कज्जाइ गोयमा! जेणं केई ए इच्छेज्जा एयं नियंतणं अविणीयं चेव पंचमंगलाई सुयनाणं महिज्जए अज्झावेई वा अज्झावयमाणस्स वा अणुन्नं वा पयाइ सेणं ण भवेज्जा पियधम्मेण हवेज्जा दढधम्मेण भवेज्जा भत्तीजुए हीलिज्जा सुत्तं हीलिज्जा अत्थं हीलिज्जा सुत्तत्थउभए हीलिज्जा गुरुजणं हीलिज्जा सुत्तत्थोभए जे णेव गुरुं सेणं आसाएज्जा अतीताणागयवट्टमाणे तित्थयरे आसाइज्जा आयरियउवज्झायसाहुणो जेणं आसाइज्जा सुयणाणमरिहंतसिद्धसाहु से तस्स णं सुद्धीसुयालमणंतसंसारसागरमाहिंडेमाणस्स तासु तासु संवुडवियडासु चुलसीइलक्खपरिसंखणासु सीओसिणमिस्सजोणीसु तमिस्संधयारदुग्गं धामिज्जविलीणरवारसुत्तोज्जमज्जपडहत्थवसुजसुयपूयदुद्दिणविविचिरुहिरविल्लसलिलदुद्दंसणजंबालपंकवीभत्थघोरगब्भवासेसु कढकढकढेंतचलचलचलस्स टलटलटलस्स रज्जंतसंपिंडियंगमंगस्स सुइयरं नियंतणा जेऊणं एयं विहं फासेज्जा। नो एं मणयं पि अइयरेज्जा। (महा० ३ अ०।)

श्रीहीरविजयसूरिं प्रति उपधानमालारोपणयोः किं फलमुद्दिश्य कर्त्तव्यता यत्र च साऽभिहिता तदपि शास्त्रं व्यक्त्या प्रसाद्यमिति प्रश्नः उत्तरमुपधानमालारोपणयो किं फलमुद्दिश्य कर्त्तव्य-

ता यत्र च सा ऽभिहिताऽस्तीत्यत्र उपधानवहन श्रुताराधननिमित्त मालारोपण तु तपस उद्यापनार्थं महानिशीथादिशास्त्रे उक्तमस्ति। श्रीहीरविजय प्रति जिनदासगणिकृतप्रश्नो यथा। तथाऽऽश्विनचैत्रमासास्वाध्यायिके सप्तम्यष्टमीनवमीदिनत्रयमुपधानमध्ये आयाति न वा तथाऽश्विनचैत्रमासास्वाध्यायिकदिनत्रयमुपधानतपोविशेषेषु लेख्यका नायातीति घोष्यम्। गुणविजयगणिकृतप्रश्नो यथा। उपधानवाहिन श्राद्धादेरकालसञ्ज्ञायां जलशौचादिविधिः किं निशायामपि स्यान्न वेति। अत्रोत्तरम् स्वकीयाद्विनानीतेनोष्णोदकेन शौचादिविधानं युक्तिमदिति। जेसलमेरुसघकृतप्रश्नो यथा। तथा केनचिदुपासकेन चत्वार्युपधानान्युवूढानि भवन्ति तन्मध्ये प्रथमोपधानस्य द्वादशवर्षातिक्रमे प्रथममेवोपधान पुनरुद्वाह्य स मालां परिदधाति उत चत्वार्यपीति। उत्तरम्। प्रथमोपधानस्य द्वादशवर्षातिक्रमे पुनस्तस्मिन्नुदूढे माला परिहिता शुद्ध्यति। अथ यदि मन स्याने तिष्ठति तदा चत्वार्यपि पुनरुद्वाह्य मालां परिदधाति॥१॥ तथा उपधाने वाह्यमाने तपोदिने यदि कल्याणकतिथिरायाति तदा तेनैवोपवासेन सरति उतान्याऽधिक ततो विलोक्यते इति प्रश्ने उत्तरम् उपधानतपोदिनान्त कल्याणकतिथ्यागमने नियन्त्रिततपस्तया तेनैवोपवासेन सरति। १२। द्वीपबन्दिरकृतप्रश्नो यथा। तथोपधानपूर्णीभवनानन्तर तपोवासरे उत्तर्तुं कल्पते नवेति? अत्रोत्तरम्। उपधानपूर्णीभवनानन्तर तपोवासरे नोत्तीर्यते तथाविधकारणे गीतार्थाज्ञापूर्वकमुत्तरणे एकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्तीति। तथोपधानवाचनानमस्कार विना दीयते उत तत्पूर्विकेति? उपधानवाचनां श्रीविजयदानसूरयो नमस्कारं विनैव दत्तवन्तो वयमपि तथैव दद्म इति। २७। तथोपधानवाचना पारणादिने दीयते न वा? तथोपधानवाचना प्रात संध्यायां च दीयते न वा इति? उपधानवाचना तपोवासरे पारणादिने वा दत्ता शुद्ध्यति तथोपधानवाचना आचामाम्लैकाशनकरणानन्तर संध्यायामपि दत्ता शुद्ध्यति परं प्रतिदिनक्रियमाणसंध्यासमयक्रियाः पश्चात् क्रियते। २८। तथा चतुर्मासकमध्ये मालारोपणनन्दी कुत प्रभृति विधीयते इति? चातुर्मासकमध्ये तुरीयव्रतमालारोपणनन्दी विजयदशम्यनन्तर भवतो द्वादशव्रतनन्दी त्वर्वागपि भवन्ती दृश्यते इति। २९। तथोपधानमध्ये आर्द्रशाकभक्षण कल्पते न वा? तथा विलेपनमस्तकतैलक्षेपादिक कल्पते न वेति? उपधानमध्ये साम्प्रतमार्द्रशाकभक्षणे रीतिर्नास्ति तथा विलेपनमस्तकतैलक्षेपादिक यतिवरस्वयं न वाञ्छति अन्य कश्चिद्यदि भक्तिं करोति तदा निषेधो नास्ति। ३०। तथा श्रावकश्राविकाणां नन्दीसूत्रश्रवण "नाणं पंचविहं पन्नत्त" इत्यादिरूप नमस्कारत्रयरूप वा क्रियते न वा? श्रावकश्राविकाणा नन्दीसूत्र नमस्कारत्रयरूप श्राव्यते इति।३१। तथोपधानवाचना श्राद्धा श्राद्ध्यश्च ऊर्ध्वस्थानेन शृण्वन्त्युपविश्य वेति? उपधानवाचना श्राद्ध ऊर्ध्वस्थिता शृण्वन्ति श्राद्धास्तु चैत्यवन्दनमुद्रयेति। ३२। ह्री० ३ प्र०। श्रावे स्युद्-प्राप्तौ, सम्म०। तथा पौषधकरणात् पूर्वं स्वाध्याय कृतो देवाश्च वन्दितास्तदा पश्चात्पौषधकरणे उपधानप्रवेशे वा पुनरपि स्वाध्यायदेववन्दनादि करणीय नवेति प्रश्न पौषधकरणात्पूर्वं स्वाध्यायदेववन्दनादिकृत स्यात्तदा पश्चादपि तेनैव सरतीति (सेन० २ उल्ला० १२८ प्र०) सामायिकाध्ययनादीना कान्युपधानानि धामस्थानां परस्यानुयोजने किं प्रानिवचः प्रदीयत इति प्रश्न। अत्रोत्तर महानिशीथादौ चैत्यवन्दनसूत्राणामेवोपधानान्युक्तानि सन्ति न तु सामायिकाध्ययनादीना यच्चोपधानमन्तराऽपि सामायिकादीना पठन तत्र जीवव्यवहारः सम्प्रदायश्च प्रमाण यदुक्त श्रावका' पञ्च नमस्कारादिक्रियत्सूत्राणि विमुच्य शेषं सामायिकादिषड्जीवनिकान्त सूत्रमुपधानमन्तरेणं यत्पठन्ति यच्चाकृतोपधानतपसो ऽपि प्रथम नमस्कारादिस्तत्र जीवव्यवहारस्सम्प्रदायश्च प्रमाणमिति संभाव्यत इति विचारामृतसग्रहे श्राद्धप्रतिक्रमणविचाररूपे षष्ठद्वारे इति (प्रश्न० २८) तथा मौनविधिनोपधानवहने श्राद्धया अस्वाध्याय दिनत्रयसत्क तपः प्रवेदनं च लेख्यके समायाति न वेति प्रसाद्य पूर्वं तु तपो न यातीति श्रुतमस्तीति प्रश्न। अत्रोत्तरम् अस्वाध्यायदिनत्रयसत्क तप. प्रवेदनं च न यातीति वृद्धवादोऽत एव पौरुषादिने वाचना प्रदीयमानाऽस्ति वाचनानन्तर च प्रवेदनरहित पौषधत्रय कार्यत इति (प्रश्न० ३४) तथोपधानचतुष्टयस्य मालारोपणस्य चान्तरकाल. कियानिति प्रश्न। अत्रोत्तरम्। मुख्यवृत्त्या प्रथमोपधानप्रवेशानन्तर द्वादशवर्षातिक्रमे तच्चतुष्टय गच्छति तेन ततोऽर्वागेव मालारोपणं विधेयमिति। इयेन० १ उल्ला० ७३ प्रश्न०। तथा षष्ठोपधानप्रवेशे अध्यदिन एव मालापरिधापने प्रथमां वाचनां दत्वा मालापरिधाप्यत उत पूर्वं तत्तपसि मालापरिधानानन्तरमाद्यवाचना दीयत इति प्रश्न। अत्रोत्तर षष्ठोपधानप्रवेशाद्यदिने प्रवेदनकं प्रवेद्य प्रथमां वाचनां दत्वा समुद्देशादिक्रियां कारयित्वा माला परिधाप्यत इति। इयेन० २ उल्ला० ८३ प्रश्न०। तथा श्रावकाणामुपधानवहन विना नमस्कारादिपठन शुद्ध्यति न वेतिप्रश्न। अत्रोत्तरम् तथा यतीनां योगवहनं विना सिद्धान्तवाचनपाठनादि न शुद्ध्यति तथोपधानतपोऽन्तरा श्राद्धानामपि नमस्कारादिसूत्रपठनगणनादि न शुध्यति यदुक्त महानिशीथे "सेमयव सुदुक्करं पचमगलमहासुभखधस्स विणओवहाण पन्नत्त एसा निअंतणा कह वा बेहिकिज्जई गोयमा! जेण केणइ न इच्छेज्जा एय नियतण अविणओवहाणेण पच मगवाइसु अन्नाणमहिज्जई अज्झावेइ वा अज्झावयमाणस्स वा अणुन्नपयाइ से ण न भवेज्जापि अधम्मे न हवेज्जा दढधम्मे न हवेज्जा भत्तिज्जुए हीलिज्जा अत्थ हीलिज्जा सुत्तत्थोभए हीलेज्जा गुरुजेण हीलिज्जा सुत्त जाव हीलिज्जा सुत्त हीलिज्जा सुत्तत्थोभए हीलिज्जा गुरु जेण हीलिज्जा सेण आसाएज्जा अतीताणागयवट्टमाणे तित्थयरे आसाएज्जा आयरिअ उवज्झायसाहुणो जेण आसाएज्जा सुअनाणमरिहतसिद्धसाहु सेत्तस्स णं अणतससारसागरमोहिंडेमाणस्स तासु तासु सवुडविअडासु (६ प्र०) चुलसीलक्खपरिसेकदासु सीओसणमिस्स जोणीसु सुइरनिअतणा' इति' परं येन प्राग् नमस्कारादिसूत्राण्यधीतानि तेनापि यथायोग निर्विलम्बमेवपधानानि विधिनाऽवश्यं वहन्ति यानि सप्रति तु द्रव्यक्षेत्रकालाद्यपेक्षया बालालामे विनाव्याचरणयोपधानतपो विनाऽपि नमस्कारादिसूत्रपाठादि जनन कार्यमाण दृश्यते आचरणायाश्च लक्षणमिदं कल्पभाष्ये उपदेशपदे च यथा "असढेण समाइन्न, ज कत्थ य केणई असावज्ज। न निवारिअमन्नेहिं, बहुमणुमयमेअमायरिअ"। ।१। आचरणा च जिनाज्ञा समानैव यद्भणित भाष्यादौ "असढाइन्नाणवज्ज, गीअत्थ अवारिअतिमज्झत्था। आयरणा विहु आणत्ति, वयणओ सुबहुमन्नति १ इति प्येयम (६ प्रश्न०) तथा गुरुसमीपे उपधानादिक्रियां कुर्वंत श्राद्धादेरन्तरालस्थस्थापनाया गुरोश्चान्तराले पञ्चेन्द्रियगमने अन्ने भवति न वेति प्रश्न। अत्रोत्तरम् अन्ने भवतीति (१७ प्रश्न०) तथा तृतीयाद्युपधानेषु सप्तक्षमाश्रमणानि दाप्यन्ते तत् कुत्र विधि पत्रेऽस्तीति प्रश्न। अत्रोत्तर तृतीयाद्युपधानेषु नन्दिभिदर्शकपत्रादौ सप्तक्षमाश्रमणदानवि-

धानं न दृश्यते तथापि श्रीपरमगुरूणामनुशिष्टिरस्ति यतोऽग्रे मालाधापनसमय तेषां समुद्देशानुज्ञयोर्विधीयमानत्वादुद्देशोऽपि कर्तव्य इति तत्सप्तक्षमाश्रमणानि देयानीति (२८ प्रश्न०) तथा क्षपिकोपधानवहनानन्तरं षएमासमध्ये मालापरिधापन शुध्यति किं वा षएमासानन्तरमिति प्रश्न अत्रोत्तरं तद्वहनानन्तरं षएमासमध्य एव मालापरिधापन शुद्ध्यतीत्येकान्तो ज्ञातो नास्ति परं त्वरित परिधाप्यते तदा वरमिति (११० प्रश्न०) तथाऽक्रियाख्योपधाने उच्चरितपञ्चमीतपसां षष्ठदिने पञ्चमीसमेति तदा पञ्चम्युपवास कृत्वा सप्तमदिन आचाम्लं करोति किं वा षष्ठं करोतीति प्रश्न । अत्रोत्तरम् सप्तमदिने उपवासस्यावश्यककरणीयत्वेन षष्ठ करोति शक्त्यभावे तदनुसारेणैवोपधानप्रवेशं करोति (१३४ प्रश्न०) तथोपधानोत्तरणदिनस्य प्राक् दिने योगोत्तरणदिनवत्तप एव कृतं विलोक्यते किं वा एकाशनकपारणकेऽप्युत्तारितु कल्पते न वेति प्रश्न । अत्रोत्तरमाह एकाशनादिपारणकेऽप्युत्तारयितुं कल्पते न तु योगादिवत्तपोनियम इति (१६४ प्रश्न०) तथा पण्डितकनकविजयगणिकृतप्रश्नस्तदुत्तर च यथा वृद्धविध्युपधानवाहकस्य कृतचतुर्विधाहारोपवासस्य सन्ध्याप्रत्याख्यानवेलायां संध्याप्रत्याख्यान गुरुसमक्ष कर्त्तव्य न वेति प्रश्न. । अत्रोत्तरम् प्रात कृतचतुर्विधाहारोपवासस्य संध्यायामुपधानक्रियाकरणवेलाया पश्चात्प्रत्याख्यान कृत विलोक्यते उपधानमन्तरा तु सन्ध्यायां तत्स्मरणं विलोक्यते पर पुन. प्रत्याख्यानकरणविशेषो ज्ञातो नास्तीति (३७६ प्र०) तथाऽष्टपूर्वार्धैरेक उपवास इत्यादिगणनया गणित तपस्तृतीयपञ्चमोपधानमध्य आयाति न वेति प्रश्न. । अत्रोत्तरम् पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्ध. १ प्रतिक्रमणश्रुतस्कन्ध २ शक्रस्तवाध्ययन ३ चैत्यस्तवाध्ययन ४ नामस्तवाध्ययनं ५ श्रुतस्तवसिद्धस्तवाध्ययन चेति ६ षडुपधानानि तत्र चतुर्थषष्ठे विना चत्वार्युपधानानि मूलविधिनापरविधिना वोढ्यमानानि सन्ति तत्रापरविधावष्टभिः पुरिमार्धैरेक उपवास इत्यादिगणना भवति तत्तु मूलविधौ प्रयोजनाभावाच्चतुर्थषष्ठयोर्मूलविधिनैवोह्यमानत्वात्तद्गणना ऽप्रयोजनास्तीति (१७६ प्रश्न०) तथैकादशोत्तराध्ययनचतुर्दशसहस्र्यां १३१ पत्रे " जोगवं उवहाणवं " इति द्वयमपि शिष्यस्योक्तमस्ति तत्कथं शिष्यस्य श्राद्धस्य च कार्यत इति प्रश्न । अत्रोत्तरम् योगमनोवचनकायसम्बन्धिन उपधान तपोविशेष एतद् द्वयमपि मुनीनामिवोक्तमस्ति श्राद्धानामुपधानोद्वाहन तु महानिशीथाक्षरप्रामाण्यादेवेति (१८६ प्रश्न०) अथ पण्डित कान्हर्षिगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा उपधानवाहिश्राद्धश्राद्धीनां कल्पदिनपञ्चकमध्ये उत्तरितुं कल्पते न वेति प्रश्न । अत्रोत्तरम् महत्कारण विना उत्तरितु न कल्पते यदि च तथाविधकारणे उत्तरति तदारम्भवर्ज्जनं करोतीति (२०६ प्रश्न०) तथोपधानाऽवाहिनां पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्धपाठे ऽविनायामनन्तससारावाप्ति फल तदाश्रित्य किमादिश्यते इति प्रश्न । अत्रोत्तरम् उपधानावहनेऽनन्तससारिता महानिशीथे उक्ता पर तत्सूत्रमुत्सर्गतया स्थित तेन यो नास्तिकस्सन्नुपधानं वोढु निरपेक्षस्तस्य सेति ज्ञेयम् (३३७ प्रश्न०) तथा अष्टाविंशतिदिनोपधाने पञ्चत्रिंशद्दिनोपधाने च मूलविधिना वहमाने कति दिनानि भवन्ति तथा तदुपधानद्वयात्कतिदिनेषु न्यूनेषूत्तार्यते इति प्रश्न । अत्रोत्तरम् मूलविधिना तद्द्वये वहमाने दिनन्यूनाधिक्य ज्ञात नास्ति तथा तदुपधाने न्यूनदिनेषु महत्कारणे सपूर्ण तपसि जाते उत्तारवन्तो दृश्यन्त पर दिनसंख्या ज्ञाता नास्तीति (४४१ प्रश्न०) तथा कोऽप्युपधानचतुष्कमुद्वाह्य मालां परिदधाति तस्य समुद्देशानुज्ञावस्थायामवशिष्टोपधानयोर्नाम गृह्यते नवेति प्रश्न । अत्रोत्तरम् पश्चादप्युपधानानां समुद्देशानुज्ञयोर्नाम गृह्यते द्वयोरुद्देशस्य च पुरतोऽपि भवने न दोष इति वृद्धसम्प्रदायः (४१८ प्रश्न०) तथोपधानतपसि पूर्णे जाते शेषप्रवेदनेषु दिनवृद्धिर्भवति नवेति प्रश्न । अत्रोत्तरम् उपधानशेषप्रवेदनेषु दिनवृद्धिर्भवति (४२६ प्रश्न०) तथोपधाने पालीपरावर्त्तन शुद्ध्यति न वेति प्रश्न । अत्रोत्तरम् तथाविधप्रकारेण तत्प्रख्यान शुद्ध्यति (श्येन० ३ उल्ला० ४२८ प्रश्न०) तथोपधानवाचनाऽन्तर्गृहीतु विस्मृता सा साय क्रियाकरणानन्तरं गृह्यतेऽथवा द्वितीयदिने यदि द्वितीयदिने तदा स वासर कस्यां वाचनायां गएयते इति प्रश्न. । अत्रोत्तरं प्रातरुपधानवाचना लातु विस्मृता सा सन्ध्यायां क्रियाकरणादर्वाग् गृह्यते तथाऽपि यदि स्मृता तदा द्वितीयेऽह्नि प्रवेदनादर्वाग् गृह्यते स वासरस्त्वग्रेतनवाचनामध्ये गएयत इति । श्येन० ४ उल्ला० १२६ प्रश्न० ।

उवहाणपडिमा–उपधानप्रतिमा– स्त्री० उपधान तपस्तद्विषया प्रतिमा । प्रतिमाभेदे, स्था० २ ठा० । तपोविषयेऽभिग्रहे, औ० ।

उवहाणवं–उपधानवत्–पुं० उपधान तपस्तद्विद्यते यस्याऽसौ उपधानवान् । तपोनिष्टप्तदेहे, उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानम् । श्रुतविषयोपचारवति, सूत्र० १ श्रु०७ अ० । स्था० । उपधानमङ्गोपाङ्गादीनां सिद्धान्तानां पाठनाराधनार्थमाचाम्लोपवासनिर्विकृत्यादिलक्षणं तपोविशेष. स विद्यते यस्य स उपधानवान् । सिद्धान्ताराधनतपोयुक्ते, " वसे गुरुकुले णिच्च, जोगव उवहाणव । पियकारे पियवाई, स सिक्ख लद्धुमरहई " उत्त० ११ अ० । सूत्र० ॥

उवहाणवीरिय–उपधानवीर्य्य–पुं० उपधान तपस्तत् यथाशक्त्या वीर्य्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्य्य । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । तपस्यनिगूहितबलवीर्य्ये, " धम्मट्ठी उवहाणवीरिए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

उवहाणसुय–उपधानश्रुत–न० महावीरासेवितस्योपधानस्य तपस. प्रतिपादकं श्रुत ग्रन्थ उपधानश्रुतम् । अष्टमे नवमे वा आचाराङ्गस्य ब्रह्मचर्य्याध्ययने, स्था० ६ ठा० । प्रश्न० । आव० । स० । अथोपधानश्रुतस्य प्रतिपाद्य महावीरस्वामिकृत तप उपदर्श्यते ।

अहासुयं वदिस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाय संखाए तेसिं हेमंते अहुणा पव्वइए रीइच्छा णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमते से पारए आवकहाए एयं खु आणुधम्मियं तस्स ॥ १ ॥

(अहासुयं वदिस्सामीत्यादि) आर्य सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिने पृष्टवान् कथयति यथाश्रुतं यथासूत्र वा वदिष्यामि तद्यथा असौ श्रमणो भगवान् वीरवर्द्धमानस्वाम्युत्थायोद्यतविहार प्रतिपद्य सर्वालङ्कार परित्यज्य पञ्चमुष्टिक लोच विधायैकेन देवदूष्येणेन्द्रक्षिप्तेन युक्त कृतसामायिकप्रतिज्ञ आविर्भूतमन पर्यायज्ञानाष्टप्रकारकर्मक्षयार्थं तीर्थप्रवर्तनार्थं चोत्थाय संख्याय ज्ञात्वा तस्मिन् हेमन्ते मार्गशीर्षदशम्या प्राचीनगामिन्यां छायायां प्रव्रज्य ग्रहणसमनन्तरमेव रीयते स्म विजहार । तथा च क्षत्रिय कुण्डग्रामान्मुहूर्त्ते शेषे दिवसे कूर्म्मारग्राममाप । तत्र च

भगवानिति आरभ्य नानाविधाभिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानभिसहमानो महासत्त्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादश वर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चचार । अत्र च सामायिकारोपणसमनन्तरमेव सुरपतिना भगवदुपरि देवदूष्यवस्त्रं चिक्षिपे । तद्भगवताऽपि निःसङ्गाभिप्रायेणैव धर्मोपकरणमृते न धर्मोऽनुष्ठातुं मुमुक्षुभिरपरैः शक्यत इति कारणापेक्षया मध्यस्थवृत्तिना तथैवावधारितं न पुनस्तस्य तदुपभोगेच्छाऽस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह "णो चेव इमेण" इत्यादिश्लोकं नचैवाहमनेन वस्त्रेण हेमन्ते प्रच्छिन्नेनात्मानं पिधास्यामि स्थगयिष्यामि तस्मिन् हेमन्ते तद्वा वस्त्रं त्वक्त्राणं करिष्यामि लज्जाप्रच्छादनं वा विधास्यामि किम्भूतोऽसावित्ति दर्शयति । स भगवान् प्रतिज्ञायाः परीषहाणां संसारस्य वा पारं गच्छतीति पारगः । कियन्तं कालमिति दर्शयति । यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः । किमर्थं पुनरसौ बिभर्तीति चेद्दर्शयति खुरवधारणे स च भिन्नक्रमः । एतद्वस्त्रावधारणं तस्य भगवतोऽनु पश्चात् धार्मिकमनुधार्मिकमेवेत्यपरैरपि तीर्थकृद्भिः समाचीर्णमित्यर्थस्तथा चागमः "सेवेमि ये अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवन्तो जे य पव्वइंसु जे पव्वयति जे य पव्वइस्सति सव्वे ते सोवहीधम्मो देसियव्वोत्ति" तथा भगवतः प्रव्रजतो ये दिव्या सुगन्धिपटवासा आसंस्तद्गन्धाकृष्टाश्च भ्रमरादयः समागत्य शरीरमुपतापयन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह ।

चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया आगम्म ।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरूसिया णं तत्थ हिंसंसु ॥२॥

"चत्तारि इत्यादि" श्लोकः चतुरः साधिकान्मासान्बहवः प्राणिजातयो भ्रमरादिकाः समागत्यारुह्य च कायं शरीरं विजह्रुः काये प्रविचारं चक्रुः । तथा मांसशोणितार्थतया आरुह्य तत्र कायं णमिति वाक्यालङ्कारे जिहिंसुः । इतश्चेतश्च विलुम्पन्ति स्मेत्यर्थः । कियन्मात्रं कालं तद् देवदूष्यं भगवति स्थितमित्येतद्दर्शयितुमाह ।

संवच्छरं साहियं मासं, जत्थ रिक्कासि वत्थगं भगवं ।
अचेलए तत्तो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे । ३ ।

संवत्सर इत्यादिकं रूपकं तदिन्द्रोपहितं वस्त्रं संवत्सरमेकं साधिकञ्च मासं (जत्थरिक्कासित्ति) यन्न त्यक्तवान् भगवांस्तत् स्थितकल्प इति कृत्वा तावदूर्ध्वं तद्वस्त्रत्यागात् त्यागी व्युत्सृज्य च तदनगारो भगवानचेलोऽभूदिति । तच्च सुवर्णवालुकानदीपूराहृतकण्टकावलग्नं धिग्जातिना गृहीतमिति । किञ्च ।

अदु पोरिसिं तिरियभित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो ज्झाति ।
अह चक्खु भीता सहिया, ते हंता हंता बहवे कंदिंसु ॥४॥

अथानन्तर्ये पुरुषप्रमाणा पौरुषी आत्मपरिमाणा वीथी तां गच्छन् ध्यायतीर्यासमितो गच्छति । तदेव चात्र ध्यानं यदीर्यासमितस्यागमनमिति भावः । किम्भूतां तां तिर्यग्भित्तिं शकटोद्धिपदादौ सङ्कुटामग्रतो विस्तीर्णामित्यर्थः । कथं ध्यायति चक्षुरासज्य चक्षुर्दत्त्वा अन्तर्मध्ये दत्तावधानो भूत्वेति । तं तथा दीप्यमानं दृष्ट्वा कदाचिदव्यक्तवयसः कुमारादय उपसर्गयेयुरिति दर्शयति । अथानन्तर्ये चक्षुः शब्दोऽत्र दर्शनपर्यायो दर्शनादेव भीता दर्शनभीताः सहिता मिलितास्ते बहवो डिम्भादयः पांसुमुष्ट्यादिभिर्हत्वा हत्वा चक्रन्दुः पश्यत यूयं नाम्ना मुण्डितस्तथाऽऽकाऽयं कुतोऽयं किमितो वाऽयमित्येवं हलबोलं चक्रुरिति । किञ्च ।

सयणेहिं वितिमिस्सेहिं, इत्थिओ से तत्थ परिण्णाय ।
सागारियं ण सेवेइ, ति से सयं पवेसिया ज्झाइ ॥ ५ ॥

शय्यन्ते येष्विति शयनानि वसतयः तेषु कुतश्चिन्निमित्तादिति मिश्रेषु गृहस्थतीर्थिकैस्तत्र व्यवस्थितः सन् यदि स्त्रीभिः प्रार्थ्यते ततस्ताः शुभमार्गार्गला इति ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरन् सागारिकं मैथुनं न सेवते शून्येषु च भावमैथुनं न सेवते इत्येवं स भगवान् स्वयमात्मना वैराग्यमार्गायात्मानं प्रवेश्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायति । तथा ।

जे केइ इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय सेज्झाति ।
पुट्ठो वि णाभिभासिंसु, गच्छति णाइवत्तती अंजु ॥६ ॥

ये केचन इमे अगारं गृहं तत्र तिष्ठन्तीत्यगारस्थाः गृहस्थास्तैर्मिश्रीभावमुपगतोऽपि द्रव्यतो भावतश्च तं मिश्रीभावं प्रहाय त्यक्त्वा स भगवान् धर्मध्यानं ध्यायति । तथा कुतश्चिन्निमित्तात् गृहस्थैः पृष्टो वा न वक्ति स्वकार्याय गच्छत्येव न तैरुक्तो मोक्षपथमतिवर्तते ध्यानं वा (अंजुत्ति) । ऋजु ऋजोः संयमस्यानुष्ठानात् । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति "पुट्ठो व से अपुट्ठो वा णो अणुण्णाइयापावगं" कण्ठ्यम् । किञ्च ॥

णो सुकरमेतमेगेसिं, णाभिभासे अभिवायमाणे ।
हतपुव्वो तत्थ दंडेहिं, लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहिं ॥ ७ ॥

नैतद्वक्ष्यमाणमुक्तं वा एकेषामन्येषां सुकरमेव नान्यैः प्राकृतपुरुषैः कर्तुमक्षमम् । किं तत्तेन कृतमिति दर्शयति । अभिवादयतो नाभिभाषते नाप्यनभिवादयद्भ्यः कुप्यति नापि प्रतिकूलोपसर्गैरन्यथाभावं याति दण्डैर्हतपूर्वस्तत्रानार्यदेशादौ पर्यटंस्तथा दूषितपूर्वो हिंसितपूर्वः केशलुञ्चनादिभिरपुण्यैरनार्यैः पापाचारैरिति । किञ्च ॥

फरसाइं दुतितिक्खाइं, अइयच्च मुणी परक्कममाणे ।
आघायणट्टगीयाइं, दंडजुज्झाइं मुट्ठिजुज्झाइं ॥ ८ ॥

परुषाणि कर्कशानि वा दुष्टानि तानि वा परैर्दुःखेन तितिक्ष्यन्त इति दुस्तितिक्षाणि तान्यतिगत्याविगणय्य मुनिर्भगवान्विदितजगत्स्वभावः पराक्रममाणः सम्यक् तितिक्षते तथा आख्यातानि च तानि नृत्तगीतानि च आख्यातनृत्तगीतानि तान्युद्दिश्य न कामुकं विदधाति नापि दण्डयुद्धमुष्टियुद्धान्याकर्ण्य विस्मयोत्फुल्ललोचन उत्कर्पितरोमकूपो भवति ।

गढिए मिहो कहासु, समयम्मि णायपुत्तो विसोगो ।
अदक्खु एताइ सो उरालाइं, गच्छति णायपुत्ते असरणाए ॥ ९ ॥

ग्रथितो वा बद्धो मिथोऽन्योन्यं कथासु स्वैरं कथासु समये वा कश्चिदवबद्धस्त्रीद्वयं वा परस्परकथाया गृद्धिमपेक्ष्य तस्मिन्नवसरे ज्ञातपुत्रो भगवान् विशोको विगतहर्षश्च तान् मिथः कथावबद्धान्मध्यस्थोऽद्राक्षीत् । एतान्यन्यानि वाऽनुकूलप्रतिकूलानि परीषहोपसर्गरूपाण्युदाराणि दुष्प्रधृष्याणि दुःखान्यस्मरन् गच्छति संयमानुष्ठाने पराक्रमते ज्ञाताः क्षत्रियास्तेषां पुत्रोऽपत्यं ज्ञातपुत्रः वीरवर्द्धमानस्वामी स भगवान्नैतद् सरणाय गच्छति पराक्रमत इति सम्बन्धः यदि वा शरणं गृहं नात्र शरणमस्तीत्यशरणः संयमस्तस्मै अशरणाय पराक्रमत इति । तथा हि किमत्र चित्रं यद्भगवानपरिमितबलपराक्रमः प्रतिज्ञामन्दरमारूढः पराक्रमते स भगवानप्रव्रजितोऽपि

मातुरुपकारानुवर्त्यास्मीत् । श्रूयते च किल पञ्चत्वमुपगते माता-पितरि समाप्तप्रतिज्ञोऽभूत् । ततः प्रविव्रजिषुः ज्ञातिभिरभिहितो यथा हि भगवन्मा एवं क्षतिक्षाराधसेचनमितीयममिहितेन भगवताऽवधिना प्रयुञ्जानं यथा मय्यस्मिन्नवसरे प्रव्रजति सति बहवो नष्टचित्ताः विगतामयाश्च स्युरित्यवधार्ये भगवान कियन्तं कालं पुनरत्र मया स्थातव्यमिति । त ऊचुः संवत्सरद्वयेना-स्माकं शोकापगमो भावीति भट्टारकोऽप्योमित्युवाच । किं त्वाहाराहिकं मया स्वेच्छया कार्यं मेत्याचेयिवानाय प्रवर्तितव्य-पस्थातव्य तैरपि यथाकथञ्चिदिष्यते । तिष्ठतीति तैः अर्थ मंथन प्रतिपेदे । ततो भगवांस्तदारभ्यानमनुपत्यर्थतामृषय निष्क्रमणावसर-क्रमवगम्य संसारासारतां विज्ञाय तीर्थप्रवर्तनायोद्यत इति दर्श-यितुमाह ॥

अवि साहिए दुवे वासे, सीतोदगं अभुच्चा णिक्खंते ।

एगत्तगए पिहियच्चे, से अभिणायदंसणे संते ॥१०॥

पुढविं च आउकायं च, तेउकायं च वाउकायं च ।

पणगाइं बीयहरियाइं, तसकायं सव्वसो णच्चा ॥११॥

एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिणाय ।

परिवज्जियाण विहरित्था, इति संखाय से महावीरे ॥१२॥

अपि साधिके द्वे वर्षे शीतोदकमभुक्त्वा अनभ्यवहृत्यापीत्ये-त्यर्थः अपरा अपि पादधावनाद्विका प्रासुकेनैव प्रकृत्या ततो निष्क्रान्तो यथा च प्राणातिपातं परिहृतवानेवं शेषमनान्यपि पालितवानिति । तथा एकत्वमिति तत एकत्वभावनाभावितान्तः-करण पिहिताः स्थगितार्चा क्रोधज्वाला येन स तथा । यदि वा पि-हितार्चो गुप्ततनुः स भगवांश्छद्मस्थकालेऽभिज्ञातदर्शन सम्यक्त्व-भावतया भावित शान्त इन्द्रियनोइन्द्रियैः स एवंभूतो भगवान् गृहवासेऽपि सावद्यारम्भत्यागी किं पुनः प्रव्रज्यायामिति दर्श-यितुमाह "पुढविं च इत्यादि एयाइ इत्यादि" श्लोकद्वयस्याप्यय-मर्थः । एतानि पृथिव्यादीनि चित्तमन्त्यभिज्ञाय तदारम्भं परि-वर्ज्य विहरति स्म क्रियाकारकसंबन्धस्त्वत्र पृथ्वी सूक्ष्मबादरभेदे-न द्विधा सूक्ष्मा सर्वगा बादराऽपि श्लक्ष्णकठिनभेदेन द्विधैव । तत्र श्लक्ष्णा शुक्लादिपञ्चवर्णा कठिना तु पृथिवी शर्करावालुका-षट्त्रिंशद्भेदा शस्त्रपरिज्ञानुसारेण द्रष्टव्या । अप्कायोऽपि सूक्ष्म-बादरभेदात् द्विधा । तत्र सूक्ष्मः सर्वगो बादरस्तु शुद्धोदकादि-भेदेन पञ्चधा । तेजःकायोऽपि पूर्ववत्परं बादरोऽङ्गारादि पञ्च-धा । वायुरपि तथैव नवरं बादर उत्कलिकादिभेदेन पञ्चधा । वनस्पतिरपि सूक्ष्मबादरभेदेन द्विधा । तत्र सूक्ष्मः सर्वगो बादरोऽप्यग्रमूलस्कन्धपर्वबीजसमूर्च्छनभेदात्सामान्यतः षोढा पुनर्द्विधा प्रत्येकः साधारणश्च । तत्र प्रत्येको वृक्षगुच्छादिभे-दात् द्वादशधा साधारणस्त्वनेकविध इति । स एव भेदभिन्नो-ऽपि वनस्पतिः सूक्ष्मस्य सर्वगतत्वादतीन्द्रियत्वाच्च तदुपलक्षा-सेन बादरो भेदत्वेन सगृहीतस्तथा पनकग्रहणेन बीजाङ्कु-रभावरहितस्य पनकादेरुत्पत्तिविशेषापन्नस्य ग्रहणं बीजग्रह-णेन त्वग्रबीजादेरुपादानं हरितशब्देन शेषस्येत्येतानि पृथिव्या-दीनि भूतानि सन्ति विद्यन्त इत्येवं प्रत्युपेक्ष्य तथा (चित्त-मंति) सचित्तान्यभिज्ञाय ज्ञात्वा इत्येतत्सर्वथाऽवगम्य स भग-वान्महावीरस्तदारम्भं परिवर्ज्य विहृतवानिति पृथिवीकायादी-नां जन्तूनां त्रसस्थावरत्वेन भेदमुपदर्श्य सांप्रतमपरस्परतोऽनु-गमनमप्यस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह ॥

अदु थावरा य तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए ।

अदु वा सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ॥१३॥

भगवं च एवमण्णेसिं, सोवहिए हु लुप्पती बाले ।

कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खपावगं भगवं ॥१४॥

दुविहं समेच मेहावी, किरियमक्खायमणेलिसं णाणी ।

आयाण सोय मतिवाय, सो यं जोगं च सव्वसो णच्चा ॥१५॥

अथानन्तर्ये स्थावराः पृथिव्यम्बुवायुवनस्पतयस्ते त्रसतया द्वी-न्द्रियादितया विपरिणमन्ते कर्मवशाद्गच्छन्ति चशब्द उत्तरोप-तया समुच्चयार्थस्तथा त्रसजीवाश्च कृम्यादयः स्थावरतया पृथि-व्यादित्वेन कर्मनिघ्ना समुत्पद्यन्ते । तथा चान्यत्राप्युक्तम् "अय-णं भंते ! जीवे पुढविकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे हंता गोयमा ! असइं अदु वा अणंतखुत्तो जाव वाउपुव्वेति" अथवा सर्वा योनय उत्पत्तिस्थानानि येषां सत्त्वानां ते सर्वयोनिकाः सत्त्वा सर्वगति-भाजस्ते च बाला रागद्वेषकलिताः स्वकृतेन कर्मणा पृथक्तया सर्वयोनिमुखेन च कल्पिता व्यवस्थापिता इति । तथा चोक्तं-" नत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमेत्तो वि । जम्मणम-रणाबाहा अणेगसो जत्थ णवि पत्ता" अपि च । न सा भूमिर्न सा का-चिन्मुक्ता जगति विद्यते । विचित्रैः कर्मभिः पर्ययैर्यत्र सत्त्वैर्न ना-टितं" मित्यादि । किञ्च (भगवं च इत्यादि) भगवांश्च वीरवर्द्ध-मानस्वाम्येवमवगम्य ज्ञातवान् सह उपधिना वर्तत इति सो-पधिकः द्रव्यभावोपधियुक्तः दुरवधारणे लुप्यत एव कर्मणा क्ले-शमनुभवत्येवाज्ञो बाल इति । यदि वा दुर्दैतो यस्मात् सोपधिकः कर्मणा लुप्यते बालस्तस्मात्कर्म सर्वशो ज्ञात्वा तत्कर्मप्रत्याख्या-तवां स्तदुपादानं च पापकर्मानुष्ठानं भगवान् वर्द्धमानस्वामीति । किञ्च (दुविहं इत्यादि) द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधं किं तत्कर्म तदैर्यापथिकं सांपरायिकञ्च तद् द्विविधमपि समेत्य ज्ञात्वा मेधावी सर्वभावज्ञः क्रियां संयमानुष्ठानरूपां कर्मोच्छेत्रीमनीदृशीमनन्य-सदृशीमाख्यातवान् किम्भूतो ज्ञानी केवलज्ञानवानित्यर्थः । किं च परमन्यदपि आख्याति दर्शयति आदीयते कर्मानेनेत्यादानं दुष्प्रणि-हितमिन्द्रियमादानञ्च श्रोतश्च आदानश्रोतस्तज्ज्ञात्वा तथा अतिपा तश्रोतश्च उपलक्षणार्थत्वादस्य मृषावादादिकमपि ज्ञात्वा तथा योगं च मनोवाक्कायलक्षणं दुष्प्रणिहितं सर्वशः सर्वप्रकारैः कर्मबन्धाय-ति ज्ञात्वा श्रोत क्रियासंयमलक्षणामाख्यातवानिति संबन्धः । किञ्च ।

अतिवातियं अणाउट्टिं, सयमण्णेसिं अकरणयाए ।

जस्सित्थिओ उ परिण्णाया, सव्वकम्मावहा उ से अदक्खु ॥१६॥

आकुट्टिर्हिंसा न आकुट्टिरनाकुट्टिरहिंसेत्यर्थः । किम्भूतामतिक्रा-न्तां पातकादतिपातका निर्दोषा तामाश्रित्य स्वतोऽन्येषां वा क-रणतया व्यापारतया प्रवृत्त इति । तथा यस्य स्त्रियः स्वरूपतस्त-द्विपाकतश्च परिज्ञाता भवन्ति । सर्वं कर्मावहन्तीति सर्वकर्माव-हाः सर्वपापोपादानभूताः स एवाद्राक्षीत्स एव यथावस्थित संसारस्वभावं ज्ञातवान् । एतदुक्तं भवति । स्त्रीस्वभावपरिज्ञानेन तत्परिहारेण च स भगवान् परमार्थदर्श्यभूदिति । मूलगुणाना-ख्यायोत्तरगुणप्रचिकटयिषयाह ॥

अहागडं ण से सेवे, सव्वसो कम्मुणा अदक्खू ।

य किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था ॥१७॥

यथा येन प्रकारेण पृष्टाऽपृष्टा वा कृतं यथाकृतमाधाकर्मादि-नाऽसौ सेवते किमिति । यतः सर्वं प्रकारैस्तदासेवनेन कर्म-णाऽष्टप्रकारेण बन्धमद्राक्षीत् दृष्टवानन्यदप्येव जातीयकं न

सेवते इति दर्शयति । यत्किञ्चित्पापकं पापोपादानकारणं तद्भगवाननकुर्वन्विकटं प्रासुकमन्नं भुङ्क्ते उपभुक्तवान् । किञ्च

णो सेवती य परवत्थं, परपाए वि से ण भुंजित्था ।

परिवज्जियाण उ माणं, गच्छति संखडिं असरणाए॥१८॥

नासेवते च नोपभुङ्क्ते च परवस्त्रं प्रधानं वस्त्रं परस्य वा वस्त्रं परवस्त्रं नासेवते । तथा परपात्रेऽप्यसौ नो भुङ्क्ते तथा परिवर्ज्यापमानमवगणय्य गच्छत्यसावाहाराय सखण्ड्यन्ते प्राणिनोऽस्यामिति सखण्डिरुस्तामाहारपाकस्थानभूतामशरणाय शरणमनालम्बमानोऽदीनमनस्ककल्प इति कृत्वा परीषहविजयार्थं गच्छतीति । किञ्च

मायण्णे असणपाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे ।

अच्छिं पि णोपमज्जिज्जा, णो वि कंडूयए मुणी गायं॥१९॥

आहारस्य मात्रां जानातीति मात्रज्ञः कस्याश्यत इत्यशनं शाल्योदनादि पीयत इति पानं द्राक्षापानकादि तस्य च । तथा नानुगृद्धो रसेषु विकृतिषु भगवतो हि गृहस्थभावेऽपि रसेषु गृद्धिर्नासीत् । किं पुनः प्रव्रजितस्येति । तथा रसेष्वेव ग्रहणं प्रत्यप्रतिज्ञो यथा मयाऽद्य सिंहकेसरामोदका एव ग्राह्या इत्येवरूपप्रतिज्ञारहितोऽन्यत्र कुल्माषादौ सप्रतिज्ञ एव । तथा अक्ष्यपि रजःकणकाद्यपनयनाय नो प्रमार्जयेन्नापि च गात्रं मुनिरसौ कण्डूयते काष्ठादिना गात्रस्य कण्डूत्यपनोदं न विधत्त इति । किञ्च ।

अप्पं तिरियं पेहाए,अप्पं पिट्ठउ पेहाए ।

अप्पं बुइए पडिभाणी, पंथपेही चरेजते माणे ॥ २० ॥

अल्पशब्दोऽभावे वर्तते अल्पं तिर्यक् तिरश्चीनं गच्छन् प्रेक्षते तथाऽल्पं पृष्ठतः स्थित्वोत्प्रेक्षते तथा मार्गादि केनचित्पृष्टः सन् साधुप्रतिभाषी सन्नल्पं ब्रूते मौनेन गच्छत्येव केवलमिति दर्शयति पथिप्रेक्षी चरेत्कञ्चेयतमानः प्राणिविषये यत्नवानिति।किञ्च

सिसरंसि अद्धपडिवण्णे, तं वोसिरिज्ज वत्थमणगारे ।

पसारेतु बाहु परक्कमे, णो अवलंबियाण खंधंसि ॥ २१ ॥

अर्द्धप्रतिपन्ने शिशिरे सति तद्देवदूष्यवस्त्रं व्युत्सृज्यानगारो भगवान् प्रसार्य बाहु पराक्रमते । न तु पुनः शीतार्दित सन् सकोचयति नापि स्कन्धो वा व्यतितिष्ठतीति । साम्प्रतमुपसंजिहीर्षुराह ॥

एस विही अणुक्कंते, माहणेण मइमया ।

बहुसो अपडिण्णेण, भगवता एव रीयंति त्ति बेमि ॥

एष चर्याविधिरनन्तरोक्तोऽन्वाक्रान्तोऽनुचीर्णः (माहणेत्ति) श्रीवर्द्धमानस्वामिना मतिमता विदितवेदेन बहुशोऽनेकप्रकारमप्रतिज्ञेनानिदानेन भगवता ऐश्वर्यादिगुणोपेतेन एवमनेन यथा भगवदनुचीर्णेनान्ये मुमुक्षवोऽशेषकर्मक्षयाय साधवो रीयन्ते गच्छन्तीति । इत्यधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववदुपधानश्रुताध्ययनस्य प्रथमोद्देशक इति उक्तः प्रथमोद्देशकः । साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्धः इहानन्तरोद्देशके भगवतश्चर्याऽभिहिता।तत्र चावश्यं कदाचिद्यथाऽवसरत्या भाव्यमतस्तत्प्रतिपादनायायमुद्देशकः प्रतन्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ॥

चरियामणाइं सेज्जाओ, एगतियाओज्ज आम्नइत्ताओ ।

आइक्खताइं सयणासणाइं, जाइं सेवित्थ से महावीरे ॥

चर्यायामवश्यम्भावितया यानि शय्यासनान्यभिहितानि सामर्थ्यायातानि शयनासनानि शय्याफलकादीन्याचचक्षे सुधर्मस्वामी जम्बूनाम्नाऽभिहितो यानि सेवितवान्महावीरो वर्द्धमानस्वामीत्ययञ्च श्लोकश्चिरन्तनटीकाकारेण न व्याख्यातः । तत्र किं सुगमत्वादुतामावात् सूत्रपुस्तकेषु तु दृश्यते तदभिप्रायं च वयं न विद्म इति प्रश्नवति प्रतिवचनमाह (आवेसण इत्यादि) भगवतो ह्याहाराभिग्रहवत्प्रतिमाव्यतिरेकेण प्रायशो न शय्याऽभिग्रह आसीत् नवरं यत्रैव चरमपौरुषी भवति तत्रैवानुज्ञाप्य स्थितवान् । तद्दर्शयति ॥

आवेसणसभापवासु, पणियसालासु एगया वासो ।

अदुवा पलियट्ठाणेसु, पलालपुंजेसु एगदा वासो ॥२ ॥

आ समन्ताद्विशन्ति यत्र तदावेशनं शून्यगृहं सभा नाम ग्रामनगरादीनां तद्वासिलोकाच्छायिकार्थमागन्तुकशयनार्थं च कुड्याद्याकृतिः क्रियते। प्रपा उदकस्थानम् आवेशनं च सभा च प्रपा चेत्यावेशनसभाप्रपास्तासु । तथा पण्यशालासु हट्टेषु एकदा कदाचिद्वासो भगवतोऽथवा (पालियति) कर्म तस्य स्थानं कर्मस्थानम् । अयस्कारवर्द्धकिकुड्यादिकम् । तथा पलालपुञ्जेषु मञ्चोपरिव्यवस्थितेष्वधो न पुनस्तेष्वधः सुषिरत्वादेति । किञ्च ॥

आगंतारे आरा-मागारे णगरे वि एगदा वासो ।

सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले वि एगदा वासो ॥ ३॥

प्रसङ्गायाता आगत्य वा यत्र तिष्ठति तदागन्तारं तत्पुनर्ग्रामानगराद्बहिः स्थानं तत्र यथा आरामे आगारं गृहमारामागारं तत्र वा तथा नगरे वा एकदा वासस्तथा श्मशाने शून्यागारे वा आवेशनशून्यागारयोर्भेदः स कुड्याकुड्यकृतो वृक्षमूले वा एकदा वासः किञ्च ॥

एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसि पतेरसवासे ।

राइंदियं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए ज्झाति ॥४॥

एतेषु पूर्वोक्तेषु शयनेषु वसतिषु स मुनिर्जगत्त्रयवेत्ता ऋतुबद्धे वर्षासु वा श्रमणस्तपस्युद्युक्तः समना वासीन्निश्चलमना इत्यर्थः । कियन्तं कालं यावदिति दर्शयति (पतेरसवासत्ति) प्रकर्षेण त्रयोदश वर्षं यावत्समस्तं रात्रिन्दिवमपि यतमानः संयमानुष्ठान उद्युक्तवास्तथा अप्रमत्तो निद्रादिप्रमादरहितविस्रोतसिकारहितो धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायतीति । किञ्च ।

णिद्दं पि णो पगामाए, सेवइ य भगवं उट्ठाए ।

जग्गावति य अप्पाणं, इसिं सातिय अपडिण्णे ॥ ५ ॥

निद्रामप्यसावपप्रमादरहितो न प्रकामतः सेवते तथा च किल भगवतो द्वादशसु संवत्सरेषु मध्येऽस्थिकग्रामे व्यन्तरोपसर्गान्ते कायोत्सर्गव्यवस्थितस्यैवान्तर्मुहूर्तं यावत् स्वप्नदर्शनाध्यासितः सकृन्निद्राप्रमाद आसीत्ततोऽपि चोत्थायात्मानं जागरयति कुशलानुष्ठाने प्रवर्तयति । यत्रापीषच्छय्यासीत्तत्राप्यप्रतिज्ञः प्रतिज्ञारहितो न तत्रापि स्वापाभ्युपगमपूर्वकं शयीत इत्यर्थः । किञ्च ।

संबुज्झमाणे पुणरवि, आसंसु भगवं उट्ठाए ।

णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चंकमित्ता मुहुत्तगं ॥६॥

स मुनिर्निद्राप्रमादाद्युत्थितचित्तः संबुध्यमानः संसारपातायाय प्रमाद इत्येवमवगच्छन् पुनरप्रमत्तो भगवान् सयमोत्थानेनोत्थाय यदि तत्रान्तर्व्यवस्थितस्य कुतश्चिन्निद्राप्रमादः स्यात् तत-

स्तस्मान्निष्क्रम्यैकदा शीतकालरात्र्यादौ बहिश्चङ्क्रम्य मुहूर्त्तमात्र निद्राप्रमादापनयनार्थं ध्याने स्थितवानिति । किञ्च ।

सयणेहिं तस्सुवस्सग्गा, भीमा आसी अणेगरूवा ।
संसप्पगा य जे पाणा, अदुवा पक्खिणो उवचरंति ॥७॥

शय्यते स्थीयते उत्कटुकाशनादिभिर्येष्विति शयनान्याश्रयस्थानानि तेषु तैर्वा तस्य भगवत उपसर्गा भीमा भयानका आसन्ननेकरूपाश्च शीतोष्णादिरूपतया अनुकूलप्रतिकूलरूपतया वा । तथा संसर्पन्तीति संसर्पका शून्यगृहादावहिनकुलादयो ये प्राणिन उपचरन्त्युप सामीप्येन मांसादिकमश्नन्त्यथवा श्मशानादौ पक्षिणो गृध्रादय उपचरन्तीति वर्तते । किञ्च ।

अदुवा कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्ति हत्था य ।
अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगतिया पुरिसो वा ॥८॥

अथानन्तर कुत्सित चरन्तीति कुचराश्चौरपारदारिकादयस्ते च क्वचिच्छून्यगृहादावुपचरन्त्युपसर्गयन्ति । तथा ग्रामरक्षकादयश्च त्रिकचत्वारादिव्यवस्थित शक्तिकुन्तादिहस्ता उपचरन्तीति । अथ ग्रामिका ग्रामधर्म्माश्रिता उपसर्गा एकाकिनः स्युस्तथाहि काचित्स्त्री रूपदर्शनाध्युपपन्ना उपसर्गयेत्पुरुषो वेति । किञ्च ॥

इहलोइयाइं परलोइयाइं, भीमाइं अणेगरूवाइं ।
अविसुब्भिदुब्भिगंधाइं, सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥ ९ ॥
अहियासए सयासमिते, फासाइं विरूवरूवाइं ।
अरतिं रतिं अभिभूय, रीयति माहणे अबहुवाई ॥१०॥

इह लोके भवा ऐहिलौकिका मनुष्यकृताः के ते स्पर्शा दुःखविशेषा दिव्यास्तैरश्चाश्च पारलौकिकास्तानुपसर्गापादितान् दुःखविशेषानध्यासयत्यधिसहते । यदि वा इहैव जन्मनि ये दुःखयन्ति दण्डप्रहारादय प्रतिकूलोपसर्गास्त ऐहलौकिकास्तद्विपर्ययाश्च पारलौकिका भीमा भयानका अनेकरूपा नानाप्रकारास्तानेव दर्शयति सुरभिगन्धयः स्रक्चन्दनादयो दुर्गन्धाः कुथितकलेवरादयस्तथा शब्दाश्चानेकरूपा वीणावेणुमृदङ्गादिजनितास्तथा । क्रमेलकारटिताद्युत्थापितास्तांश्चाविकृतमना अध्यासयत्यधिसहते । सदा सर्वकालं सम्यगित समितः पञ्चभिर्युक्तस्तथा स्पर्शान् दुःखविशेषानरतिं संयमे रतिं चोपभोगाभिष्वङ्गे अभिभूय तिरस्कृत्य रीयते संयमानुष्ठाने व्रजति (माहणत्ति) पूर्ववत् । तथोभयभाषी एकद्विव्याकरणं कचिन्निमित्ते कृतवानिति भावः । किञ्च ॥

स जणेहिं तत्थ पुच्छिंसु, एगचरा वि एगदाराओ ।
अव्वाहिते कसाइच्छा, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥११॥

स भगवानर्द्धत्रयोदशपक्षाधिका समा एकाकी विचरंस्तत्र शून्यगृहादौ व्यवस्थितः सन् जनैर्लोकैः पृष्टस्तद्यथा को भगवान् किमत्र स्थित इत्येव पृष्टोऽपि तूर्ष्णीभावमभजत । तथा उपपत्याद्या अपि एकचरा एकाकिन एकदा कदाचिद्रात्रावह्नि वा पप्रच्छुरव्याकृते च भगवता कषायितास्ततोऽज्ञानावृतहृदयो दण्डमुष्ट्यादिना ताडनतोऽनार्यत्वमाचरन्ति भगवांस्तु समाधिं प्रेक्षमाणो धर्म्मध्यानोपगतचित्तः सन् सम्यक् तितिक्षते । किंभूतोऽप्रतिज्ञो नास्य वैरनिर्यातनप्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः । कथं ते पप्रच्छुरिति दर्शयितुमाह ॥

अयमंतरंसि को एत्थ, अहमंसी ति भिक्खु आहट्टु ।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए सकसाइए झाति ॥१२॥

अयमन्तर्मध्ये कोऽत्र व्यवस्थित एवं सङ्केतागता दुश्चारिण पृच्छन्ति कर्मकरादयो वा तत्र नित्यवासिनो क्रुध्याणाहितमानसाः पृच्छन्ति तत्र चैव पृच्छतामेषां भगवांस्तूर्ष्णीभावमेव भजते । कचिद्बहुतरदोषापनयनाय जल्पत्यपि कथमिति दर्शयति । अहं भिक्षुरस्मीत्येवमुक्ते यदि तेऽवधीरयन्ति ततस्तिष्ठत्येवाभिप्रेतार्थव्याघातात्कषायिता महान्धाः । सांप्रतेक्षितया एव ब्रूयुर्यथा तूर्ष्णीमस्मात् स्थानान्निर्गच्छ ततो भगवानपीयत्ताऽवग्रह इति कृत्वा निर्गच्छत्येव भगवान् किन्तु सोऽयमुत्तमप्रधानो धर्मं आचार इति कृत्वा सकषायितेति तस्मिन् गृहस्थे तूर्ष्णीभावव्यवस्थिते यद्वाविष्यतया ध्यायत्येव न ध्यानात् प्रच्यवते । किञ्च

जं सिप्पेगे पवेवंति, सिसिरे मारुए पवायंते ।
तं सिप्पेगे अणागारा, हिमवाए णिवायमेसंति ॥ १३ ॥

यस्मिन् शिशिरादावप्येके त्वत्राणाभावतया प्रवेपन्ते दन्तवीणादिसमन्विताः कम्पन्ते यदि वा प्रवेदयन्ति शीतजनित दुःखस्पर्शमनुभवन्ति आर्तध्यानवशगा भवन्तीत्यर्थः । तस्मिंश्च शिशिरे हिमकणिनि मारुते च प्रवाति सत्येके न सर्वेऽनगारास्तीर्थिकप्रव्रजिता हिमवाते सति शीतपीडितास्तदपनोदाय पावक प्रज्वालयन्त्यङ्गारशकटिकामन्वेषयन्ति प्रावरिकं याचन्ते । यदि वाऽनगारा इति पार्श्वनाथप्रव्राजिता गच्छवासिन एव शीतार्दिता निवातमेषया ते घरशालादिवसतीर्वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्ति । किञ्च ।

संघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा ।
पिहिता वा सक्खामो, अतिदुक्खं हिमगसंफासा ॥ १४ ॥

इह संघाटीशब्देन शीतापनोदक्षम कल्पद्वय त्रय वा गृह्यते ताः सङ्घाटी शीतार्दिता वय प्रवेक्ष्याम एव शीतार्दिता अनगारा अपि विदधति तीर्थिकप्रव्रजिताः । तथा समिध काष्ठानीति यावदेताश्च समादहन्तः शीतस्पर्शं सोढु शक्ष्यामस्तथा सङ्घाट्या वाऽभिहिता स्थगिताः कम्बलाद्यावृतशरीरा इति । किमर्थमेतत्कुर्वन्तीति दर्शयति । यतो अतिदुःखमेतदतिदु सहमेतद्भूत हिमसंस्पर्शाः शीतस्पर्शवेदना दुःखेन सह्यन्त इति यावत् । तदेवम्भूते शिशिरे यथोक्तानुष्ठानवत्सु वा स्वयूथ्यान्तरेष्वनगारेषु यद्भगवान् व्यधात्तद्दर्शयितुमाह ॥

तंसि भगवं अप्पडिण्णे, अधो वियडे अहियासए ।
दविए णिक्खम्म एग-दारा उ वा एति भगवं समियाए ॥१५॥

तस्मिन्नेवम्भूते शिशिरे हिमवाते शीतस्पर्शे च सर्वकषे भगवानैश्वर्यादिगुणोपेतस्त शीतस्पर्शमध्यासयत्यधिसहते । किंभूतोऽप्रतिज्ञो न विद्यते निवातवसतिप्रार्थनादिका प्रतिज्ञा यस्य स तथा काध्यासयत्यधो विकटे अध कुड्यादिरहिते अभ्यप्युपरि तदभावे चेति पुनरपि विशिनष्टि रागद्वेषविरहाद् द्रव्यभूतः कर्मग्रन्थिद्रावणाद्वा द्रव संयमः स विद्यते यस्यासौ द्राविक स च तथाऽध्यासयत् यथाऽत्यन्त शीतेन बाध्यते ततस्तस्मात्स्थानान्निष्क्रम्य बहिरेकदा रात्रौ मुहूर्त्तमात्र स्थित्वा पुन प्रविश्य स भगवान् समितया सम्यग्या समतया वा व्यवस्थितस्त शीतस्पर्शं रासभदृष्टान्तेन सोढु शक्त इत्यधिसहन इति । एतदेवोद्देशकार्थमुपसञ्जिहीर्षुराह ।

एस विही अणुक्कंतो, माहणेणं मईमया ।
बहुसो अप्पडिण्णेण, भगवया एवं रीयंति त्ति बेमि ॥१६॥

एस विही इत्याद्यनन्तरोद्देशकवज्ज्ञेयमिति इति ब्रवीमीतिशब्द-पूर्ववदुपधानश्रुतस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः । उक्तो द्वितीयो-द्देशकः । साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्धः इहा-नन्तरोद्देशके भगवतः शय्या प्रतिपादितास्तासु च्यवस्थितेन ये यथोपसर्गाः परीषहाश्च सोढास्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यते । इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ।

तणफासे सीयफासे य, तेउफासे य दंसमसगे य ।

अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं ॥ १ ॥

तृणानां कुशादीनां स्पर्शास्तृणस्पर्शास्तथा शीतस्पर्श उष्ण-स्पर्शश्चातपनादिकाले भवन्ति । यदि वा गच्छत इति भगवत-स्तेजः काये प्रवासीत्तथा दंशमशकादयश्च एतांस्तृणस्पर्शान्वि-रूपानानाभूतान् भगवानध्यासयति सम्यगित सम्यग्भावं गतः समितिभिः समितो वेति । किञ्च ।

अह दुच्चरलाढमचारी, वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च ।

पंतं सेज्जं सेविंसु, आसणगाइं चेव पंताइं ॥ २ ॥

अथानन्तर्ये दु खेन चर्यतेऽस्मिन्निति दुश्चरः स चासौ लाढश्च जनपदविशेषो दुश्चरलाढस्तं चीर्णवान्विहृतवान् । स च द्विरूपो वज्रभूमिः शुभ्रभूमिः इत्यन्नादिरूपमपि विहृतवांस्तत्र च प्रान्ता शय्या वसतिः शून्यगृहादिकामनेकोपद्रवोपद्रुता सेवितवांस्तथा प्रान्तानि चासनानि पांशूत्करशर्करालेष्ठाद्युपचितानि काष्ठानि च दुर्घटितान्यासेवितवानिति । किञ्च ।

लाढेहिं तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिंसु ।

अह लूहदेसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवइंसु ॥ ३ ॥

लाढा नाम जनपदविशेषास्तेषु च द्विरूपेष्वपि लाढेषु तस्य भगवतो बहव उपसर्गाः प्रायशः प्रतिकूला आक्रोशाश्च भक्षणा-दयश्च आसन्नानेव दर्शयति जनपदे भवा जानपदा अनार्यचा-रिणो लोकास्ते भगवन्तं लूषितवन्तो दन्तभक्षणोल्लुकदाहादण्डप्रहा-रादिभिर्जिहिंसुः । अथ शब्दोऽपि शब्दार्थे स एव रूक्षो भक्तम-पि तत्र रूक्षदेश्यं रूक्षकल्पमन्तप्रान्तमिति यावत्ते चानार्यतया प्रकृतिक्रोधना कार्पासाद्यभावात्ताच्च तृणप्रावरणाः सन्तो भगव-ति विरूपमाचरन्ति । तथा तत्र कुक्कुराः श्वानस्ते जिहिंसुरुपरि निपतुरिति । किञ्च ॥

अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दंसमाणे ।

छुछु करंति आहंतुं, समणं कुक्कुरा दसंतु त्ति ॥ ४ ॥

अल्प स्तोकः स जनो यदि परं सहस्राणामेको यदि वा नास्त्ये-वासाविति यस्तान् शुनो लूषकान् दशतो निवारयति निषेधय-त्यपि तु दण्डप्रहारादिभिर्भगवन्तं हत्वा तत्प्रेरणायासीत् छुछु कु-र्वन्ति कथं नु नाम्नैनं श्रमणं कुक्कुराः श्वानो दशन्तु भक्षयन्तु तत्रैवं-विधे जनपदे भगवान् षण्मासावधि काल स्थितवानिति किञ्च ।

एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमिं फरुसा ।

लट्ठिं गहाय णालीयं, समणा तत्थ एव विहरिंसु ॥ ५ ॥

ईदृक्षः पूर्वोक्तस्वभावो यत्र जनस्तथाभूत जनपदे भगवान् भूय पौन पुन्येन विहृतवांस्तस्याञ्च वज्रभूमौ बहवो जना पुरु-षाशिनो रूक्षाशितया च प्रकृतिक्रोधनास्ततो यतिरूपमुपलभ्य कदर्थयन्ति ततस्तत्रान्ये श्रमणा शाक्यादयो यष्टिं देहप्रमाणां चतुरङ्गुलाधिकप्रमाणां वा नालिकां गृहीत्वा श्वादिनिषेधनाय विजह्रुरिति । किञ्च ॥

एवं तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं ।

संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं ॥ ६ ॥

यष्ट्यादिकया सामग्र्या श्रमणा विहरन्तः स्पृष्टपूर्वा आरब्धपूर्वाः श्वभिरासन्नुच्यमाना इतश्चेतश्च भक्ष्यमाणा श्वभिरासन् दु-र्निवारत्वात्तेषां तत्र तेषु लाढेष्वार्यलोकानां दु खेन चर्यन्ते इति दुश्चाराण् ग्रामादीनिति । तत्रैव भूतेष्वपि लाढेषु कथं भगवान् विहृतवानिति दर्शयितुमाह ।

णिहाय दंडं पाणेहिं तं, कायं वोसज्ज मणगारे ।

अह गामकंटए भगवं, ते अहियासए अभिसमेच्च ॥ ७ ॥

प्राणिषु यो दण्डनादिदण्डो मनोवाक्कायादिस्तं भगवान्निधाय त्यक्त्वा तथा तच्छरीरमप्यनगारो व्युत्सृज्याथ ग्रामकण्टकान्नी-चजनरूक्षालापानपि भगवांस्तान् सम्यक्करणतया निर्जरामभिस-मेत्य ज्ञात्वाऽध्यासयत्यधिसहते कथमधिसहते इति दृष्टान्त-द्वारेण दर्शयितुमाह ।

णाओ संगामसीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे ।

एवं पि तत्थ लाढेहिं, अलद्धपुव्वो वि एगदा गामे ॥ ८ ॥

नागो हस्ती यथाऽसौ संग्रामशीर्षे परानीकं जित्वा तत्पारगो भवत्येवं भगवानपि महावीरस्तत्र लाढेषु परीषहानीकं विजि-त्य पारगोऽभूत् । किञ्च तत्र लाढेषु विरलत्वात् ग्रामाणां क्वचि-देकदा वासायाभ्यलब्धपूर्वो ग्रामोऽपि भगवता । किञ्च ।

उवसंकमंतं अपडिन्नं, गामंतियं पि अप्पत्तं ।

पडिणिक्खमित्तु लूसिंसु, एतातो परं पलेहि त्ति ॥ ९ ॥

उपसङ्क्रामन्तं भिक्षायै वासाय वा गच्छन्तं किम्भूतमप्रति-ज्ञं नियतनिवासादिप्रतिज्ञारहितं ग्रामान्तिकं प्राप्तमप्राप्तमपि त-स्मात् ग्रामात्प्रतिनिर्गत्य ते जना भगवन्तमलूषिषुरेतच्चोचुरि-तोऽपि स्थानात्परं दूरतरं स्थानं पर्येहि गच्छेति । किञ्च ।

हय पुव्वो तत्थ दंडेणं, अहवा मुट्ठिणा अह कुंताइफलेणं ।

अह लेलुणा कवालेणं, हंता हंता बहवे कंदिंसु ॥ १० ॥

तत्र ग्रामादेर्बहिर्व्यवस्थितः पूर्वं हतो हतपूर्वः । केन दण्डेना-थवा मुष्टिनाऽथवा कुन्तादिफलेनाथवा लेष्टुना कपालेन घटख-र्परादिना हत्वा हत्वा बहवोऽनार्याश्चक्रन्दुः पश्यत यूयं किम्भूतो-ऽयमित्येवं कलकलं चक्रुः । किञ्च ।

मंसूणि छिन्नपुव्वाइं, उट्ठंभिया एकदा कायं ।

परीसहाइं लुंचिंसु, अहवा पंसुणा उवकरिंसु ॥ ११ ॥

मांसानि च तत्र भगवतश्छिन्नपूर्वाणि एकदा कायमवष्टभ्या-क्रम्य नानाप्रकारान् प्रतिकूलपरीषहांश्च भगवन्तमलुञ्चिषुरथवा पांशुना अवकीर्णवन्त इति । किञ्च

उच्चालइय णिहणिंसु, अहवा आसणाउ खलइंसु ।

वोसट्ठकाए पणतासी, दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने ॥ १२ ॥

भगवन्तमूर्ध्वमुत्क्षिप्य भूमौ निहतवन्तः क्षिप्तवन्तोऽथवाऽऽस-नात् गोदोहिकोत्कुटुकासनवीरासनादिकात् स्खलितवन्तो नि-पातितवन्तो भगवांस्तु पुनर्व्युत्सृष्टकायः परीषहोपसर्गकृत दुःख सहत इति दुःखसहो भगवान् नास्य दुःखचिकित्सा प्रतिज्ञा विद्यत इति अप्रतिज्ञः । कथं दुःखसहो भगवान् इत्येतद्दृष्टान्त-द्वारेण दर्शयितुमाह ।

सूरो संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे ।

पडिसेवमाणे फरुसाइं, अचले भगवं रीइच्छा ॥ १३ ॥

यथा हि संग्रामशिरसि शूरोऽक्षोभ्य परैः कुन्तादिभिर्भिद्यमानोऽपि वर्मणा संवृताङ्गो न भङ्गमुपयातीत्येव स भगवान्महावीरस्तत्र लाढादिजनपदे परीषहानीकतुद्यमानोऽपि प्रति सेवमानश्च परुषान् दुःखविशेषान् मेरुरिवाचलो निष्प्रकम्पो धृत्या संवृताङ्गो भगवान् रीयते स्म ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको मोक्षाध्वनि पराक्रमते स्मेति । उद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह ॥

एस विही अणुक्कंतो, माहणेणं मईमया ।
बहुसो अपडिन्नेणं, भगवया एवं रीयंति त्तिबेमि ॥१४॥

"एसविही" इत्यादि पूर्ववत् उपधानश्रुताध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः परिसमाप्त इति उक्तस्तृतीयोद्देशकः । सांप्रतं चतुर्थ आरभ्यते । अस्य चायमभिसंबन्धः । इहानन्तरोद्देशके भगवतः परीषहोपसर्गातिसहनं प्रतिपादितं तदिहापि रोगातङ्कपीडां चिकित्साव्युदासेन सम्यगधिसहते तदुत्पत्तौ च नितरां तपश्चरणायोद्यच्छतीत्येतत्प्रतिपाद्यते तदनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ।

ओमोदरियं चा एइ त-अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं ।
पुट्ठो विसे अपुट्ठो वा से, णो सेसाइज्जति ते इत्थं ॥१॥

अपि शीतोष्णदंशमशकाक्रोशताडनाद्याः शक्याः परीषहाः सोढुं न पुनरवमौदर्यं भगवांस्तु पुनः रोगैरस्पृष्टोऽपि वातादिक्षोभाभावेऽप्यवमौदर्यं न्यूनोदरतां शक्नोति कर्तुं लोको हि रोगैरभिद्रुतः सन्तदुपशमनायावमोदरतां विधत्ते । भगवांस्तु तदभावेऽपि विधत्त इत्यपिशब्दार्थः । अथवा स्पृष्टोऽपि कासश्वासादिभिर्द्रव्यरोगैरपिशब्दात् स्पृष्टोऽप्यसद्वेदनीयादिभिर्भावरोगैर्न्यूनोदरतां करोति । अथ किं द्रव्यरोगातङ्का भगवतो न प्रादुष्यन्ति येन भावरोगैः स्पृष्ट इत्युक्तं तदुच्यते भगवतो हि न प्राकृतस्येव देहजाः कासश्वासादयो भवन्त्यागन्तुकास्तु शस्त्रप्रहारजा भवेयुरित्येतदेव दर्शयति । स च भगवान् स्पृष्टो वा श्वभक्षणादिभिरस्पृष्टो वा कासादिभिर्नासौ चिकित्सामभिलषति न द्रव्यौषधाद्युपयोगेन पीडोपशमं प्रार्थयतीत्येतदेव दर्शयितुमाह ।

संसोहणं च वमणं च, गायब्भंगणं च सिणाणं च ।
संबाहणं च ण से कप्पइ, दंतपक्खालणं परिण्णाय ॥२॥

गात्रस्य सम्यक् शोधनं विरेचनं निःश्रोतादिभिस्तथा वमनं मदनफलादिभिश्चशब्दः उत्तरपदसमुच्चयार्थो गात्राभ्यङ्गनञ्च सहस्रपाकतैलादिभिः स्नानञ्चोद्वर्तनादिभिः संबाधनञ्च हस्तपादादिभिस्तस्य भगवतो न कल्पते । तथा सर्वमेव शरीरमशुच्यात्मकमित्येवं परिज्ञाय ज्ञात्वा दन्तकाष्ठादिभिर्दन्तप्रक्षालनञ्च न कल्पत इति । किञ्च ।

विरए य गामधम्मेहिं, रीयमाणे अवहुवाई ।
सिसिरंसि एगदा भगवं, छायाए ज्झाति आसी य ॥३॥

विरतो निवृत्तः केभ्यो ग्रामधर्मेभ्यो यथास्वमिन्द्रियाणां शब्दादिभ्यो विषयेभ्यो रीयते संयमानुष्ठाने पराक्रमते (माहणेत्ति) भगवान् किम्भूतोऽसाववहुवादी सकृद् व्याकरणभावात् बहुशब्दोपादानमन्यथा ह्यवादीत्येव वृधात्तथैकदा शिशिरसमये स भगवांश्छायाया धर्मशुक्लध्यानध्यायासीदिति । किञ्च

आयावइ य गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुडुए अभितावे ।
अह जाव इत्थ लूहेणं, ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥

सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे षष्ठी । ग्रीष्मेष्वातापयति कथमिति तिष्ठत्युत्कुटुकासनोऽभिताप तापाभिमुखमिति । अथानन्तर्ये धर्माधारं देहं यापयति स्म रूक्षेण स्नेहरहितेन केन ओदनमन्थुकुल्माषेण ओदनञ्च कोद्रवौदनादि मन्थु वदरचूर्णादिकं कुल्माषाश्च माषविशेषाः पर्वोत्तरापथे धान्यविशेषभूताः पर्युषितमाषाः वा सिद्धमाषा वा ओदनमन्थुकुल्माषमिति समाहारद्वन्द्वः । तेनात्मानं यापयतीति सबन्धः इत्येतदेव कालावधिविशेषणतो दर्शयितुमाह ॥

एयाणि तिण्णि पडिसेवे, अट्ठमासे अजावए भगवं ।
अपि इत्थं एगया भगवं, अद्धमासं अहवा मासं पि ॥५॥

एतान्योदनादीन्यनन्तरोक्तानि प्रतिसेवते तानि च समाहारद्वन्द्वेन तिरोहितावयवसमुदायप्रधानेन निर्देशात्कस्यचिन्मन्दबुद्धेः स्यादेका यथा त्रीण्यपि समुदितानि प्रतिसेवत इत्यतस्तद्व्युदासाय त्रीणीत्यनया सङ्ख्यया निर्देश इति त्रीणि समस्तानि व्यस्तानि वा यथालाभ प्रतिसेवित इति । कियन्तं कालमिति दर्शयत्यष्टौ मासानृतुबद्धसंज्ञकानात्मानमयापयद्वर्तितवान् भगवानिति । तथा पानमप्यर्द्धमासं भगवन्नपीतवानपि च ॥

वि साहिए दुवे मासे, छ प्पि मासे अदुवा विहरित्था ।
राओवरायं अपडिन्ने, अन्ने गिलायमेगया भुंजे ॥ ६ ॥

मासद्वयमपि साधिकमथवा षडपि मासान् साधिकान् भगवान् पानकमपीत्वाऽपि रात्रोपरात्रमित्यहर्निशं विहृतवान् । किंवान् पानकमपीत्वाऽपि ... भूतोऽप्रतिज्ञ पानाद्युपगमरहित इत्यर्थस्तथा (अन्नेगिलायति) पर्युषितं तदेकदा भुक्तवानिति । किञ्च ।

अदुवा अट्ठमेणं दसमेणं, दुवालसमेणमेगया भुंजे ।
दुवालसमेणं एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ॥७॥

षष्ठेनैकदा भुङ्क्ते तथा नामैकस्मिन्नहन्येकभक्तं विधाय पुनर्दिनद्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽहन्येकभक्तमपि विधत्ते ततश्चाद्यन्तयोरेकभक्तदिनयोर्भक्तद्वयं मध्यदिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां भक्तदिनयोर्भक्तद्वय ... कानां परित्यागात् षष्ठं भवत्येवं दिनादिवृद्ध्याऽष्टमाद्यायोज्यमिति अथवा अष्टमेन दशमेनाथवा द्वादशमेनैकदा कदाचिद् भुक्तवान् समाधिं शरीरसमाधानं प्रेक्षमाणः पर्यालोचयन् पुनर्भगवतः कसमाधिं शरीरसमाधान ... यश्चिदैर्म्मनस्यमुत्पद्यते । तथा अप्रतिज्ञो ऽनिदान इति । किञ्च ।

णच्चा से महावीरे, णो वि य पावगं सयमकासी ।
अन्नेहिं वि ण कारित्था, कीरंतं पि णाणुजाणित्था ॥८॥

ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीरः कर्मप्रेरणसहिष्णुर्नापि च पापकर्म स्वयमकार्षीन्न चान्यैरकुर्वन्न च क्रियमाणमपरैरनुज्ञातवानिति । किञ्च ।

गामं पविसे णगरं वा, घासमेसे कडं परट्ठाए ।
सुविसुद्धमेसिया भगवं, आयतजोगताए सेवित्था ९ ॥

ग्रामं नगरं वा प्रविश्य भगवान् ग्रासमन्वेषयेत्परार्थं यत् कृतमित्युद्गमदोषरहितं तथा सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहितं तथैषणादोषपरिहारेणैषित्वाऽन्वेष्य भगवानायत संयतो योगो मनोवाक्कायलक्षणः आयतश्चासौ योगश्चायतयोगो ज्ञानचतुष्टयेन सम्यग् योगप्रणिधानमायतयोगस्य भाव आयतयोगता तथा सम्यगाहारग्रासैषणा दोषपरिहारेण सेवितवानिति ।

अदुवा य सा दिगिंछित्ता, जे अन्ने रसेसिणो सत्ता ।
घासेसणाए चिट्ठंति, सययं णिवतिते य पेहाए ॥१०॥

अथ भिक्षां पर्यटतो भगवतः पथि वायसाः काका (दिगिंछि- त्ति) बुभुक्षा तया आर्ता ये चान्ये रसैषिणः पानार्थिनः कपोत- पारावतादय सत्वा । तथा ग्रासेषणार्थमन्वेषणार्थञ्च ये तिष्ठ- न्ति तान् सततमनवरत निपतितान् भूमौ प्रेक्ष्य दृष्ट्वा तेषां वृ- त्त्यव्यवच्छेदं वर्जयन् मन्दमाहारार्थी पराक्रमते । किञ्च ॥

अदु माहणं च समणं वा, गामपिंडोलगं च अतिहिं वा ।
सोवागमूसियारिं वा, कुक्करं वा चिट्ठियं वा पुरओ ॥ ११ ॥
वित्तिच्छेदं वज्जतो, तेसप्पत्तियं परिहारंतो ।
मंदं परिकमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥ १२ ॥

अथ ब्राह्मणं लाभार्थमुपस्थितं दृष्ट्वा तथा श्रमणं शाक्याजीव- कपरिव्राट्तापसनिर्ग्रन्थानामन्यतमं ग्रामपिण्डोलकं इति भि- क्षोदरभरणार्थं ग्राममाश्रितस्तुन्दपरिमृजो द्रमकं इति तथाऽति- थिं वा आगन्तुकं तथा श्वपाकं चाण्डालं मार्ज्जारं वा कुक्करं वाऽ- पि श्वानं विविधं स्थितं पुरतोऽग्रतः समुपलभ्य तेषां वृत्तिच्छेदं वर्ज्जयन्मनसो दुष्प्रणिधानञ्च वर्जयन्मन्दमनास्तेषां त्रासमकुर्व्वे- न् भगवान् पराक्रमते । तथाऽपरांश्च कुन्थुकादीन् जन्तून् अहिं- सन् ग्रासमन्वेषितवानिति । किञ्च ।

अविसुइयं च सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ।
अदु वक्कसं पुलागं वा, लद्धेपिंडे अलद्धए दविए ॥ १३ ॥

" सूइयति " दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि तथाभूत शुष्कं वा वल्लचनकादि शीतपिण्डं वा पर्युषितभक्तं तथा पुराणं कु- ल्माषं वा बहुदिवससिद्धस्थितकुल्माषं (वक्कसति) चिरन्त- नधान्यौदनं यदि वा पुरातनं सत् कुपिण्डं बहुदिवससम्भृत- गोरसगोधूममण्डकञ्चेति तथा पुलाकं जवनिष्पादितं तदेव- भूतं पिण्डमवाप्य रागद्वेषविरहाद्द्रविको भगवांस्तथाऽन्य- स्मिन्नपि पिण्डे लब्धे अलब्धे वा द्रविक एव भगवानिति । तथा हि लब्धे पर्याप्ते शोभने वा नोत्कर्षं याति नाप्यलब्धे अपर्याप्ते अशोभने वात्मानमाहारं दातारं वा जुगुप्सति । किञ्च ॥

अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं ।
उड्ढं अहे तिरियं च, लोए झायती समाहिमपडिन्ने ॥ १४ ॥

तस्मिंस्तथाभूत आहारे लब्ध उपभुक्ते अलब्धे वाऽपि ध्या- यति स महावीरो दुष्प्रणिधानादिना नापध्यानं विधत्ते किम- वस्थो ध्यायतीति दर्शयत्यासनस्थ उत्कुटुकागोदोहिकावीरा- सनाद्यवस्थोऽकौत्कुचः ईषन्मुखविकारादिरहितो ध्यानं धर्म्म- शुक्लयोरन्यतरदारोहति किं पुनस्तत्र ध्येयं ध्यायतीति दर्श- यितुमाह । ऊर्द्ध्वमधस्तिर्यक् लोकस्य ये जीवपरमाण्वादिका भावा व्यवस्थितास्तान् द्रव्यपर्यायनित्यानित्यादिरूपतया ध्या- यति । तथा समाधिमन्तः करणशुद्धिञ्च प्रेक्षमाणोऽप्रतिज्ञो ध्यायतीति । किञ्च ॥

अकसाई विगतगेहिय, सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाए ।
छउमत्थो वि परक्कम-माणो ण पमायं सयं पि कुव्वित्था ॥ १५ ॥

न कषायी तदुदयापादितभ्रुकुट्यादिकार्याभावात् । तथा वि- गता गृद्धिर्गार्द्ध्यं यस्यासौ विगतगृद्धिः तथा शब्दरूपादिष्वि- न्द्रियार्थेष्वमूर्च्छितो ध्यायति मनोऽनुकूलेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशगोऽभूदिति । तथा छद्मनि ज्ञानदर्शनावरणमो- हनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थ इत्येवं भूतोऽपि विवि- धमनेकप्रकारं सदनुष्ठाने पराक्रममाणो न प्रमादं कषायादिकं सकृदपि कृतवानिति । किञ्च ।

सयमेव अभिसमागम्म, आयतजोगमायसोहीए ।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले, आवकहं भगवं समितासी ॥ १६ ॥

स्वयमेवात्मना तत्वमभिसमागत्य विदितसंसारस्वभावः स्वयं बुद्धः सन् तीर्थप्रवर्तनायोद्यतवांस्तथा चोक्तम् । 'आदित्यादिर्वि- बुधगण इम विस्मरन्त्या त्रिलोक्या-मास्कन्दन्तं पदमनुपमं य- च्छिवत्वामुवाच । तीर्थं नाथालघुभवभयच्छेदि तूर्णं विधत्स्वे त्वे तद्वाक्यं त्वद्वगतये नाकिमुख्यान्नियोग' इत्यादि कथं तीर्थप्रव- र्तनायोद्यत इति दर्शयत्यात्मशुद्ध्या कर्म्मक्षयोपशमक्षयलक्षणया आयतयोगं सुप्रणिहितमनोवाक्कायात्मकं विधाय विषयकषाया- द्युपशमादिभिर्निर्वृतः शीतीभूतः तथा ऽमायावी मायारहित उप- लक्षणार्थत्वादस्याऽक्रोधाद्यपि द्रष्टव्यं यावत्कथमिति यावज्जीवं भगवान् पञ्चभिः समितिभिः समितस्तथा तिसृभिर्गुप्तिभिर्गु- प्तश्चासीदिति । श्रुतस्कन्धाध्ययनोद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह ।

एस विही अणुकंते, माहणेणं मईमया ।
बहुसो अपडिन्नेणं, भगवया एवं रीयंति त्ति बेमि ॥
ओहाणं सुयं सम्मत्त ॥

एषोऽनन्तरोक्तः शस्त्रपरिज्ञादेरारभ्य योऽभिहितः सोऽनु- क्रान्तोऽनुष्ठित आसेवनापरिज्ञया सेवित केन श्रीवर्द्धमानस्वा- मिना मतिमता ज्ञानचतुष्टयान्वितेन बहुशोऽनेकशोऽप्रतिज्ञेना- निदानेन भगवतैश्वर्यादिगुणोपेतेनातोऽपरोऽपि मुमुक्षुरनेनैव भगवदाचीर्णेन मोक्षप्रगुणेन यथा आत्महितमाचरन् रीयते परा- क्रमते इतिरधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति सुधर्म्मस्वामी जम्बू- स्वामिने कथयति सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवद्वदनारविन्दा- दर्थजातं निर्यातमवधारितमिति उक्तोऽनुगमः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

उवहाणइयार—उपधानातिचार—पु० आचाराम्लादितपसा योगविधानरूपस्योपधानस्याऽकरणे, जीत० ॥

उवहार—उपहार—पु० उप-हृ-घञ्-उपढौकने, उपायने, कर्म- णि घञ् । उपढौकनीये, उपायनद्रव्ये, उपगतः हारम् अत्या० स० । हारसमीपस्थे तदुपशोभके द्रव्ये, वाच० । उप-हृ-भावे-घञ् । विस्तारणे, " पहासमुदओ वहारेहिं सव्वओ चेया दीवयत " कल्प० । (मातृग्रामस्य मैथुनप्रतिज्ञयोपहारसंपादनं मेहुणशब्दे)

उवहारणया—उपधारणता—स्त्री० अविच्युतिस्मृतिवासनाविष- यीकरणे, " सुयाणं धम्माणं उवहारणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ " स्था० ६ ठा० ॥

उवहारिय—उपधारित—त्रि० अवधारिते, सूत्र० २ श्रु० ।

उवहास—उपहास—पु० उप-हस्-भावे-घञ् । निन्दासूचके हासे, " अरे मए सम मा कारेसु उवहासं " पा० ।

उवहि—उपधि—पु० उपधीयते संगृह्यते इत्युपधिः । द्रव्यतो हिरण्यादौ, भावतो मायायाम्, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । सूत्र० । उपधीयते ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनासावुपधिः मायायाम्, अष्टप्रकारे वा कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । स० । छद्मे, अमर० । उप-धा भावे-कि-अन्यस्थास्थितस्य वस्तु- नोऽन्यथाप्रकाशरूपे, व्यापारे आधारे-कि-रथचक्रे, हेम० । उप- धीयते येनाऽसावुपधिः । वञ्चनीयसमीपगमनं हृतौ भावे, भ० १२ श० ५ उ० । उपधिश्छद्ममायेत्यनर्थान्तरम् । द० १ अ० । उपधी- यते जीवतो दुर्गतौ स्थाप्यते ऽनेनायव्ययापारितेनेत्युपधिः । आतु० । उप सामीप्येन संयमं दधाति पोषयति चेत्युपधिः । ध० ३ अ० ।

उपदधातीत्युपधिः । वस्त्रपात्राद्यनेकविधे परिग्रहे, द० १ अ० प्रश्न० । स्था० । कल्पादौ, ध० ३ अ० । स० । प्रज्ञा० । स्था० ।
(१) उपधेर्भेदाः ।
(२) भेदेन सविस्तरतः प्रतिपादनम् ।
(३) द्वारसंग्रहः ।
(४) जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां चोपधिः ।
(५) जिनकल्पिकानां (स्थविरकल्पिकानां) गच्छवासिनां चोपधेरुत्कृष्टविभागप्रमाणम् ।
(६) आर्यिकाणामुपधिप्रमाणम् ।
(७) औपग्रहिकोपधेरुत्कृष्टादिभेदाः ।
(८) औपग्रहिकोपधयः ।
(९) उपधिन्यूनाधिक्ये प्रायश्चित्तम् ।
(१०) प्रथमसमवसरणे उपधिग्रहणम् ।
(११) प्रथम प्रव्रजत उपधिः ।
(१२) प्रव्रज्यां गृह्णन्त्या निर्ग्रन्थ्या उपधिः ।
(१३) रात्रौ विकाले चोपधिग्रहणम् ।
(१४) भिक्षणाय गतस्य भिक्षोरुपनिमन्त्रणा ।
(१५) भिक्षार्थं गतस्योपकरणपतने विधिः ।
(१६) स्थविराणां ग्रहणयोग्या उपधयः ।
(१७) निर्ग्रन्थीभ्य उपकरणदाने निर्ग्रन्थीनामागमनपथे उपकरणानि स्थापयितव्यानि ।
(१८) पात्रबन्धादिप्रमाण , उपधिविषयोऽवग्रहः, तीर्थकृतां सोपधित्व, पादप्रोञ्छन याचित्वा प्रत्यर्पणम्, उपधीनां धावन, परिष्ठापन, प्रत्युपेक्षण च,प्रलम्बग्रहणे क उपधिर्ग्राह्य इत्यादि स्वस्थाने ।
(१९) उपकरणप्रयोजनं विहारशब्दे ऋतुबद्धे वस्त्रग्रहण वस्त्रयाचनविधिश्च वत्थशब्दे भिक्षाचर्यायां क उपधिर्नेतव्य इत्येषणा विहारादिशब्देषु उपधेरवश्यकरणीयत्व बोटियशब्दे मध्यमतीर्थकृतां महामूल्यानि वासः आदीनीत्यचेलशब्दे धर्मोपकरणे परिग्रहदोषो नेति परिग्गहशब्दे विलोकनीयम्)

(१) त्रिविध उपधिः ।

तिविहा उवही पण्णत्ता ? तंजहा कम्मोवही सरीरोवही बाहिरभंडमत्तोवही । एवं असुरकुमाराणं भाणियव्वं । एवं एगिंदिय नेरइयवज्जं जाव वेमाणियाणं ॥

कर्म एवोपधिः कर्मोपधिः एवं शरीरोपधिः । बाह्यः शरीरबहिर्वर्ती भाण्डानि च भाजनानि मृण्मयानि मात्राणि मात्रायुक्तानि कांस्यादिभाजनानि भोजनोपकरणमित्यर्थः । भाण्डमात्राणि तान्येवोपधिर्भाण्डमात्रोपधिरथवा भाण्ड वस्त्राभरणादि तदेव मात्रा परिच्छेद सैवोपधिरिति ततो बाह्यशब्दस्य कर्मधारय इति चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायामसुरादीनां त्रयोऽपि वाच्या । नारकैकेन्द्रियवर्जास्तेषामुपकरणस्याभावात् द्वीन्द्रियादीनान्तूपकरण दृश्यते । एव केषाञ्चिदिति । अत एवाह । एवमित्यादि ।

अहवा तिविहा उवही पण्णत्ता ? तंजहा सच्चित्ते अचित्ते मीसए । एवं नेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं ॥

(अहवेत्यादि । सचित्तोपधिर्यथा शैलभाजनमचित्तोपधिर्वस्त्रादि मिश्र परिणतप्राय शैलभाजनमिवेति । दण्डकचिन्ता सुगमा । नवरं सचित्तोपधिर्नारकाणां शरीरमचेतन उत्पत्तिस्थानमिश्रश्च शरीरमेवोच्छ्वासादिपुद्गलयुक्त तेषां सचेतनाचेतनत्वेन मिश्रत्वस्य विवक्षणादिति । एवमेव शेषाणामप्यूह्यमिति । स्था० ३ ठा० । नि० चू० । तत्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति पर्यायान् प्रतिपादयन्नाह । " उवहीउवग्गहे स-गहे य तह य पग्गहे चेव । भंडग उवगरणे वि य, करणे वि य हुंति एगट्ठा " सर्वेषां व्याख्यात्रैवोपरि [ओघनिर्युक्तौ] द्रष्टव्या ॥

[२] इदानीं भेदेन प्रतिपादयन्नाह ।

ओहे उवग्गहम्मि य, दुविहो उवही उ होइ नायव्वो ।
एकेको वि य दुविहो, गणणापमाणओ चेव ॥

उपधिर्द्विविधः ओघोपधिरुपग्रहोपधिश्चेति । एव द्विविधो विज्ञेयः । इदानीं स एवैकैको द्विविधः कथं गणनाप्रमाणेन प्रमाणतश्च तत एतदुक्त भवति ओघोपधेः गणनाप्रमाणेन तथा प्रमाणप्रमाणेन च द्वैविध्यम् । अवग्रहोपधेरपि ग्रहणाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणेन भवेद् द्वैविध्यम् । तत्र ओघोपधिर्नित्यमेव यो गृह्यते अवग्रहोपधिस्तु कारणे आपन्ने संयमार्थयोगृह्यते सोऽवग्रहोपधिरिति । ओघोपधिगणनाप्रमाणमेकद्व्यादिभेद वक्तव्य प्रमाणप्रमाण च वक्तव्य दीर्घपृथुतया । तथा अवग्रहोपधेरपि एकद्व्यादिप्रमाण प्रमाणप्रमाणं च दीर्घपृथुत्वद्वारेण वक्तव्यमिति (ओ०) (ओहोवधेत्ति) ओह संक्षेप स्तोकः लिङ्गकारको ऽवश्य ग्राह्यः । " उवग्गहोवही " उत्पत्तिक कारणमपेक्ष्य संयमोपकरण इति गृह्यते एस संखेवतो दुविधो वही । उवग्गहिओ तिविधो जहण्णो मज्झिमो उक्कोसो उवहीगणणप्पमाणेण पमाणपमाणेण य जुत्तो भवति इम गणणप्पमाण ।

बारस चोद्दस पणवीस, उ य ओघोवधी मुणेयव्वो ।
जिणकप्पो थेराण य, अज्जाणं चेव कप्पम्मि ॥

बारसविहो चोद्दसविधो पणवीसविहो ओहोवही एएअ गणणप्पमाण यथासंख्य जिणाण थेराण अज्जाण य । कल्पशब्दोऽपि प्रत्येक योज्य ।

ओघोवधी जिणाणं, थेराणोहे उवग्गहो चेव ।
ओहोवधिमज्जाणं, उवग्गहिओ अण्णा तव्वो ॥

जिणाण एगविहो ओहोवधी भवति थेराण अज्जाण य ओहिओ उवग्गहिओ य दुविधो भवति । नि० चू० २ उ० । प्रव० जीत० ।

(३) द्वारसंग्रह अथ प्रमाणादिस्वरूपनिरूपणाय द्वारगाथामाह

दव्वप्पमाणअइरे-गहणे परिकम्मविभूसणामुच्छाए ।
उवहिस्स पमाणजिणं, थेरं अहक्कमं वोच्छं ॥

इह द्रव्यं वस्त्र तस्य प्रमाण गणनया प्रमाणेन च द्विविधं वक्तव्यम् । अतिरिक्ते हीने वा वस्त्रे दोषा अभिधातव्या परिकर्मणं सीवनमित्येकोऽर्थः तन्निरूपयितव्यम् । (विभूसणयत्ति) विभूषणार्थं यदि वस्त्र क्षालयति वा रञ्जति वा घर्षति वा सम्प्रमार्ष्टि वा तदा प्रायश्चित्त भवतीति कर्त्तव्यम् । मूर्च्छया यदि वस्त्र न परिभुङ्क्ते तदाऽपि प्रायश्चित्त व क्तव्यम् । तत्र प्रथमद्वारे तावदुपधेः प्रमाण जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकानाङ्गीकृत्य यथाक्रममह वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयितु जिनकल्पिकानामुपधिगणनां प्रमाणतो निरूपयति । बृ० ३ उ० ।

(४) जिनकल्पिकानामुपधिमाह ।

जिणकप्पिया उ दुविहा, पाणीपाता पडिग्गहधरा य ।
पाउरणमपाउरणा, एकेका ते भवे दुविधा ॥

जिणकप्पिया दुविधा भवन्ति पाणिपात्रभोजिन प्रतिग्रहधा-

रिणश्च । पत्तेका दुविधा दट्ठव्वा सपाउरणा इयरे य जिणकप्पे उवहीविभागो इमो ॥

दुगतिगचउक्कं, पणगं णवदसएगदसगं ।
एते अट्ठ विकप्पा, जिणकप्पे होंति उवहिस्स ॥

पाणिपडिग्गहियस्स पाउरणवज्जियस्स जहणेणं दुविधो रयहरणं मुहपोत्तिया य । तस्सेव सपाउरणस्स एगकप्पग्गहणे तिविधो दुकप्पग्गहणे चउव्विधो तिकप्पग्गहणे पंचविहो पडिग्गहधारिस्स अपाउरणस्स मुहपोत्तियरओहरणपायणिज्जोगसहितो णवविहो जहण्णो तस्स कप्पग्गहणे दसविधो दुकप्पग्गहणे एक्कारसविधो तिकप्पग्गहणे बारसविधो य उक्कोसो ॥

अहवा दुग णवगं, उवकरणे होंति दोणि उ विकप्पा ।
पाउरणवज्जिताणं, विसुद्धजिणकप्पियाणं तु ॥

जे पाउरणवज्जिया ते विसुद्धजिणकप्पिया भवंति तेसिं दुविध एव भवति दुविधो णवविधो वा । नि०चू०२उ० । पं० भा० ।

अथ विशुद्धजिनकल्पिकानामाह ।

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया ।
पडलाइ रयत्ताणं, गोच्छओ पायनिज्जोगे ॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ति ।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाण तु ॥

पात्रं प्रतिग्रहः पात्रबन्धो येन चतुरस्रेण पात्रकं बध्यते पात्रस्थापनं कम्बलमयं तत्र पात्रकं स्थाप्यते पात्रकेसरिका यथाप्रतिपत्त्यन्ति । पटलकानि यानि भिक्षां पर्यटद्भिः पात्रोपरि स्थाप्यन्ते रजस्त्राणं पात्रवेष्टनकं गोच्छकः कम्बलमयो य पात्रकोपरि दीयते । एष सप्तविधः पात्रनिर्योगः पात्रपरिकरस्य उपकरणकलाप इत्यर्थः । तथा त्रय एव न चतु पञ्चप्रभृतयः कल्पा इत्याह । प्रच्छादकाः प्रावरणरूपाः कल्पाः । द्वौ सौत्रिकावेकश्चौर्णिकः इत्यर्थः । रजोहरणं प्रतीतम् । च समुच्चये । एव शब्दः पादपूरणे । मुखपोत्तिका प्रसिद्धा । एष द्वादशविध उपधिर्जिनकल्पिकानां मन्तव्यः । तुशब्दो विशेषणे स चैतद्विशिनष्टि । जिनकल्पिका द्विविधाः । पाणिपात्राः प्रतिग्रहधारिणश्च । पुनरेकैके द्विधा अप्रावरणाः सप्रावरणाश्च । तत्राप्रावरणानां पाणिपात्राणां रजोहरणमुखवस्त्रिकारूपो द्विविध उपधिः । सप्रावरणानां तु त्रिविधो वा चतुर्विधो वा पञ्चविधो वा । तत्र त्रिविधो रजोहरणमुखवस्त्रिका एकः कल्पः । सौत्रिकः चतुर्विधः [illegible] कल्पसहितः पञ्चविधः चतुर्विधः । द्वितीयसौत्रिककल्पसहितः प्रतिग्रहधारिणां प्रावरणवर्जितानां नवविध उपधिः । तद्यथा पात्र १, पात्रबन्धः २, पात्रस्थापनं ३, पात्रकेसरिका ४, पटलकानि ५, रजस्त्राणं ६, गोच्छकः ७, रजोहरणं ८, मुखवस्त्रिका ९, चेति । ये तु प्रावरणसहितास्तेषामस्मिन् नवविधे एककल्पग्रहणे दशविधः । कल्पद्वयग्रहणे एकादशविधः कल्पत्रयग्रहणे तु द्वादशविधस्तदुपमुक्तयति [illegible] जिनकल्पिकानां द्वादशविध उपधिर्भवति । एष पुनरुत्कृष्टो [illegible] । [illegible] । [illegible]

अथ [illegible] ।

एए चेव दुवालस-[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

चोलपट्टकश्च एष चतुर्दशविध उपधिः स्थविरकल्पे भवति ।

अनन्तरोक्तमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

जिणा बारसरूवाइं, थेरा, चउदसरूविणो ।
ओहेण उवहिमिच्छंति, अओ उड्ढं उवग्गहो ॥

जिना जिनकल्पिकाश्चोपकरणानां द्वादश रूपाणि धारयन्तीति शेषः । स्थविरास्तु चतुर्दशरूपिण उपकरणचतुर्दशकधारिण इत्यर्थः । एवमोघेन सामान्येनोपधिमिच्छन्ति तीर्थकरा ओघोपधिमित्यर्थः । अत ऊर्ध्वमतिरिक्तो दण्डकचिलिमिलिकादिः स्थविरकल्पिकानां सर्वोऽप्युपग्रहोपधिर्मन्तव्यः ।

(४) अथ जिनकल्पिकानामुपधेरुत्कृष्टादिविभागं प्रमाणमाह ।

चत्तारि उक्कोसा मज्झिम-जहन्नगा वि चत्तारि ।
कप्पाणं तु पमाणं, संडासो दो कुरंटओ ॥

जिनकल्पिकानां चत्वार्युपकरणानि उत्कृष्टानि भवन्ति त्रयः कल्पाः प्रतिग्रहश्चेति मध्यमजघन्यान्यपि प्रत्येकं चत्वारि । तत्र पटलकानि रजस्त्राणं रजोहरणं पात्रकबन्धश्चेति मध्यमानि । मुखवस्त्रिका पात्रकेसरिका पात्रस्थापनं गोच्छकश्चेति जघन्यानि । एतेषां च ये कल्पास्तेषां सन्दशकः कुरण्टकौ द्वौ विहस्तौ दीर्घत्वेन प्रमाणं भवति विस्तरतस्तु सर्वं हस्तमेकम् । अथवा ।

अन्नो वि य आएसो, संडासो सत्थिएण वसभे य ।
जं खंमियं दडूणं, छम्मासे दुब्बलं इयरं ॥

अन्यो वा देश प्रकारादेश इत्यादि सन्दशः स्वस्तिकश्च । तत्र जिनकल्पिकस्योत्कुटुकनिविष्टस्य जातु सन्दशकादारभ्य पुरः पृष्ठे च छादयित्वा स्कन्धोपरि यावता न प्राप्यते एतावत्तत्कल्पस्य दैर्घ्यप्रमाणम् । अयं च सन्दशक उच्यते । तथा तस्यैव कल्पस्य द्वावपि पूर्वोक्तकर्णौ हस्ताभ्यां गृहीत्वा द्वि अपि बाहुदीर्घे यावत्प्राप्येते तद्यथा दक्षिणेन हस्तेन वामं बाहुदीर्घे वामेन दक्षिणमेव द्वयोरपि कक्षिकयोर्द्वयं यो विन्यासदेश स स्वस्तिकाकार इति कृत्वा स्वस्तिक उच्यते । एतत्पृष्ठत्यप्रमाणयुक्तं च यदि च तत्परिभुज्यमानं षण्मासान् यावद् ध्रियते मदादेश दृढमिति ज्ञात्वा गृह्णाति इतरस्तं षण्मासानपि यावन्न निर्वाहकम् तत् दुर्बलमिति कृत्वा न गृह्णाति । अथ किमर्थमसौ स्वस्तिकं करोतीत्याह ।

संडासछिड्डेण हिमाइपविति,गुत्ता अगुत्ता वि य तस्स सेज्जा ।
हत्थेहि सो णिवडेहि घेत्तुं, वसहस्स कोणियमुवर्दि उ जाति ॥

तस्य जिनकल्पिकस्य शय्या गुप्ता अगुप्ता वा भवेत् । तत सन्दशकच्छिद्रेण हिमादिकं शीतपातमपि [illegible] । [illegible] सपि [illegible] । [illegible] । अत्र [illegible] । [illegible] ।

[illegible] ॥ ८४ ॥

[illegible]

अज्ञानीत्यर्थः । गोच्छकः पात्रकस्थापन (मुहणन्तक)मुखवस्त्रिका पात्रमुखवस्त्रिका चेत्येव जिनकल्पिकावधिमध्ये जघन्यः । अप्रधानश्चतुर्विधः उपधिरिति । पात्रकबन्धपटलानि रजस्त्राणो रजोहरणमित्येष चतुर्विधोऽप्यवधिर्जिनकल्पिकावधिमध्ये मध्यमोपधिना प्रधानेनाप्यप्रधान इति । उक्तो जिनकल्पिकानामुत्कृष्टजघन्यमध्यमोऽवधिरिति । ओघ० । गच्छवासिनां कल्पप्रमाणमाह ।

कप्पा आयपमाणा, अड्डाइज्जा उ वित्थडा हत्था ।
एवं मज्झिममाणं, उक्कोसं होंति चत्तारि ॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः सार्द्धहस्तत्रयप्रमाणायामा अर्द्धतृतीया यावद् हस्ता विस्तृता पृथुत्वा विधेयाः । एतन्मध्यमं मानं प्रमाणं भवति । उत्कर्षतो दैर्घ्येण चत्वारो हस्ताः । एतदादेशद्वयं मन्तव्यम् ।

अत्रैव कारणमाह ।

संकुचिय तरुण आय–प्पमाणसुयणे न सीयसंफासे ।
दुहओ पेल्लणथेरे, थेणुव्विय पाणाइरक्खा य ॥

यस्तरुणो बलवान् सकुचितपादः स्वप्तुं शक्नोति तस्य तथा स्वयमेव शीतस्पर्शो न भवति अतस्तस्यात्मप्रमाणः कल्पोऽनुज्ञातः । यस्तु स्थविरो वयस्यो वृद्धः स क्षीणबलत्वान्न शक्नोति सकुचितपादः शयितुं अतस्तस्यानुग्रहार्थं दैर्घ्येण आत्मप्रमाणादूर्ध्वं परमङ्गुलानि विस्तरतोऽप्यर्द्धतृतीयहस्तप्रमाणादप्यधिकानि परमङ्गुलानि विधीयन्ते एवं विधीयमाने गुणमुपदर्शयति (दुहओ पेल्लणत्ति) शिरःपादान्तलक्षणद्वयोरपि पार्श्वयोर्यत्कल्पस्य प्रेरणमाक्रमणं तेन स्थविरस्य शीतं न भवति । अनुचितोऽभावितशैक्ष इत्यर्थः । तस्यापि स्वप्नविधावनभिज्ञस्य कल्पप्रमाणमेव ज्ञातव्यम् । अपि च एवं प्राणिनां रक्षा कृता भवति न मण्डूकप्लुत्या कीटिकादयः प्राणिनः प्रविशन्तीति भावः । आदिशब्दाद्दीर्घजातीयादयोऽपि न प्रविशन्ति तेनात्मनोऽपि रक्षा कृता भवति । बृ० ३ उ० । (पात्रकबन्धादीनां प्रमाणनिरूपणमन्यत्र स्वस्वस्थाने) इदानीं स्थविरकल्पिकानां प्रतिपादयति । तत्रापि प्रथमं ।

मध्यमावधिप्रतिपादयन्नाह ।

पडलाइ रयत्ताणं, पत्तगबंधो तहेव रयहरणं ।
मत्तो य पट्टगो वि य, पेयाणं छव्विहो नवरि ॥ ७५ ॥

पटलानि रजस्त्राणं पात्रकबन्धश्च चोलपट्टकश्च रजोहरणं मात्रकं चेत्येष स्थविरावधिमध्ये षड्विधो मध्यमावधिर्नोत्कृष्टो नापि जघन्य इति । पात्रकं प्रच्छादनकल्पत्रयम् । एष चतुर्विधोऽपि उत्कृष्टः प्रधानः स्थविरकल्पिकावधिर्म्मध्ये पात्रस्थापनकं पात्रकेसरिका गोच्छको मुखवस्त्रिका एष जघन्योऽवधिः । स्थविरकल्पिकावधिर्मध्ये चतुर्विधोऽपि । ओ० । इह स्थविरकल्पिकानां त्रयः प्रच्छादका भवन्तीति पूर्वमुक्तं तदिदानीं द्रढयन्नाह ।

जो वि तिवत्थदुवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरई ।
न हु ते खिंसंति परं, सव्वेण वि तिन्नि घेत्तव्वा ॥

योऽपि साधुस्त्रिवस्त्रो द्विवस्त्रो वा सस्तरति त्रिभिर्द्वाभ्यां वा कल्पैरित्यर्थः । सौत्रान् द्वौ वा कल्पान् परित्यक्तान् योऽप्येकेन कल्पेन सस्तरति स एकमपि कल्पं न गृह्णातु परं न हि ते स्वल्पतरवस्त्रा अचेलका वा परमन्यमधिकतरवस्त्रं खिंसन्ति कुत इति चेदुच्यते सर्वेणापि स्थविरकल्पकेन तत्र त्रयः कल्पा नियमाद् गृहीतव्या यद्यपि शीतपरीषहसहिष्णुतया कश्चिदेकेनापि केनापि कल्पेनाप्रावृतः सस्तरति तथाऽपि भगवतामाज्ञामनुवर्तमानः सोऽपि त्रीन् कल्पान् गृह्णाति किमर्थं पुनरीदृशी भगवतामाज्ञा उच्यते ।

अप्पं असंथरंतो, निवारिओ होइ तीहि वत्थेहिं ।
गिण्हति गुरू विदिन्ने, पगासपडिलेहणे सत्त ॥

आत्मशरीरं स शीतादिना संस्तरति त्रिभिर्वस्त्रैर्निवारितो भवति । तथा चात्र विशेषचूर्णिलिखितो भावार्थः "उस्सग्गेण तहेव पाउरियव्वं जाहे न सथरइ ताहे एक्कं कप्पं पाउणइ जाहे तेण वि न संथरेज्जा ताहे बिइयपि पाउणिज्जा । जइ नाम तहवि न सथरेज्जा ताहे तइय पि पाउणिज्जा । जइ नाम तहवि न सथरेज्जा ताहे तिन्नि विच्छड्डेऊण बाहिं पडिमाए ठाए ताव अत्थइ जाव सीएण न सहइ वि तो पच्छा तम्मि निवेसइ । जइ तत्थ न सथरेज्जा ताहे अतोपम्मि ठाइ । तत्थ झाणोवगओ चिट्ठइ जइ न सथरइ ताहे तम्मि चेव निवेसइ एव पि जइ न सथरे ताहे एक्क कप्प गिण्हेज्जा जाहे तेण वि न सथरेइ ताहे बिइय ततो तइयं तत्थ से अईवसायं भवइ । एव अप्पा तिहिं वत्थेहिं निवारिओ हवइ त्ति " अथ तानि परिजीर्णानि तेन त्रिभिः शीत निवारयितुं पार्यते तत आह । गुरुभिराचार्यैर्वितीर्णानि प्रकाशप्रत्युपेक्षणानि जीर्णत्वादचौरहरणं यानि सप्त वस्त्राणि उत्कृष्टतो गृह्णाति । इदमेव स्पष्टयति ।

तिन्नि कसिणे जहन्ने, पंच य दढदुब्बलाई गेण्हे ।
अपच्चयपरिजुत्ताई, एयं उक्कोसगं गहणं ॥

कृष्णानि नाम घनमसृणानि यैरन्तरित सविता न दृश्यते ईदृशानि त्रीणि वस्त्राणि जघन्यतो गृह्णीयात् । यानि तु दृढदुर्बलानि तानि पञ्च गृह्णीयात् । यानि परिजीर्णानि तानि सप्त एतदुत्कृष्टं ग्रहणं मन्तव्यम् । बृ० ३ उ० ।

उवगरणं पि धारेज्जा, जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती ।
लोगम्मि य परिवाओ, विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥ ६६ ॥

उपकरणमपि वस्त्रपात्रादि धारयेत्किंविशिष्टमित्याह । येन न रागस्य भवत्युत्पत्तिस्तदुत्कर्षात्मना एव लोके च परिवादः खिंसा येन न भवति विधिनाऽवयवतया प्रत्युपेक्षणादिना धारयेत्प्रमाणयुक्तं च न न्यूनाधिकमिति गाथार्थः (पं० व०) अत्रेदमवधेयं स्थविरकल्पिकानां प्रच्छादकत्रिकादिधारणं यत्पूर्वमुक्तं ततः सामान्यापेक्षया विशेषापेक्षया त्वधिकधारणेऽप्यदोषः । ध० ३ अधि० । कीदृशं पुनरुपधिं भिक्षुर्धारयतीत्याह ।

जिन्नं गणणाजुत्तं, पमाणइंगालधूमपरिसुद्धं ।
उवहिं धारइ भिक्खू, जो गणचित्तं न चिंतेइ ॥

भिन्नं नाम सदृशं सकलं वा यत्र भवति गणनायुक्तं गणनाप्रमाणोपेतं प्रमाणेन च यथोक्तदैर्घ्यविस्तरविपर्ययमानेन युक्तमप्रमाणोपेतं प्रमाणेन च यथोक्तदैर्घ्यविस्तरविषयमानेन युक्तमित्यनुवर्तते । तथाऽङ्गारधूम्या परि समन्तात् शुद्धं विरहितमेव वित्यनुवर्तते । तथाऽङ्गारधूम्या परि समन्तात् शुद्धं विरहितमेव विधमुपधिं स भिक्षुर्धारयेत् यो गणचिन्तां न चिन्तयति सामान्यसाधुरिति भावः । यस्तु गणचिन्तकस्तस्य न प्रतिनियतमुपधिप्रमाणम् । तथा चाह ।

गणचिंतगस्स एत्तो, उक्कोसो मज्झिमो जहन्नो य ।
सव्वो विहे य उवही, उवग्गहकरो महाजणस्स ॥

गणचिन्तको गणावच्छेदकादिस्ततप्राप्तो यावदूर्ध्वमुत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च । सर्वोऽप्यौघिक औपग्राहिकश्चोपधिर्महाजनस्योपग्रहं करोति । इदमेव भावयति ।

आलंबणे विसुद्धे, दुगुणो चउगुणो वा वि ।
सव्वो वि होइ उवग्गह–करो महाजणस्स ॥

आलम्बन द्विधा द्रव्यतो गर्तादौ निमज्जतो रज्ज्वादि भावत' संसारगर्तायां निपततां ज्ञानादि इह पुनर्यत्र क्षेत्रे काले वा दुर्लभ वस्त्रं तदादिकमालम्बन गृह्यते तत्र विशुद्धे प्रशस्ते सति द्विगुणो वा चतुर्गुणो वा औपग्रहिकश्चोपधि सर्वोऽपि महाजनस्य गच्छस्योपग्रहकरो भविष्यतीति कृत्वा गणचिन्तकस्य परिग्रहे भवतीति' गत प्रमाणद्वारम ।

(६) आर्यिकाणामुपधिप्रमाणम् ।

पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया ।
पडिलाइं रयत्ताणं, गुच्छओ पायनिज्जोगो ॥
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती ।
तत्तो पमत्तए खलु, चोद्दसमे कमढए होति ॥
उग्गहणंतगपट्टो, अद्धोरुअचलणिआ य बोधव्वा ।
अब्भिंतरबाहिणिय-सणी य तह कंचुए चेव ॥
ओकच्छिय वेगकच्छिय, संघाडी चेव खंधकरणी य ।
ओहोवधिम्मि एते, अज्जाणं पणुवीसं तु ॥

पात्रकादित्रयोदशोऽपि करणानि साधूनामिव द्रष्टव्यानि । चतुर्दश तु चोलपट्टकस्थाने तासा कमठक भवति । तथाऽऽएकमयमेकैक सयतीना निजदेहप्रमाणेन विज्ञेयम । तथा अवग्रहानन्तक १५ पट्टम १६ अर्द्धोरुक १७ चलनिका च १८ बोधव्या । अभ्यन्तरनिवसनी १९ बहिर्निवसनी २० तथा कञ्चुकश्चैव २१ औपकक्षिकी २२ वैकक्षिकी २३ सघाटी २४ स्कन्धकरणी २५ एवमेतान्योघोपधौ आर्यिकाणां पञ्चविंशतिरुपकरणानि भवन्ति । अथैतान्येव विवृणोति ।

उग्गहाणंतगो नोव्व, गुज्झदेसरक्खणट्ठाए ।
सोयप्पमाणो तणुओ, घणमसिणो देहमासज्ज ॥

इहावग्रह इति योनिद्वारस्य सामयिकी सज्ञा तस्यानन्तक वस्त्रमवग्रहानन्तकं पुस्त्व प्राकृतत्वात् तच्च नौनिभ मध्यभागे विशाल पर्यन्तभागयोस्तु तनुक गुह्यदेशरक्षार्थं क्रियते । तच्च गणनयैक अन्तर्वीजपानसरक्षणार्थं च घन घनवस्त्रेण पुरुषसमानकर्कशस्पर्शपरिहरणार्थं च मसृण मसृणवस्त्रेण क्रियते प्रमाणे न च देह स्त्रीशरीरमासाद्य तद्विधीयते देहो हि कस्याश्चित्तनु कस्याश्चिन्त स्थूल'। ततस्तदनुसारेण विधेयमित्यर्थ ।

पट्टो वि होइ एक्को, देहपमाणेण सो उ भइयव्वो ।
छंदतोग्गहणंतं, कडिवद्धो मल्लकच्छो वा ॥

पट्टोऽपि गणनयैको भवति स च पर्यन्तभागवर्तिबाटकबन्धरूप पृथुत्वेन चतुरङ्गुलप्रमाणः समतिरिक्तो वा दैर्घ्येण तु स्त्रीकटीप्रमाण स च देहप्रमाणेन भक्तव्य पृथुलकटीभागाया दीर्घ सकीर्णकटीभागायास्तु न्हस्व इत्यर्थ । स चावग्रहानन्तकमुभयान्तयोराच्छादयन् कटीवद्ध सन् मल्लकक्षावज्जायते ।

अद्धोरुगो उ ते वि, गिरिहउं छादए कडीभागं ।
जाणुप्पमाणचलणी, असिव्विया लंखियाए व ॥

अर्द्धोरुकोऽपि तौ द्वावपि अवग्रहानन्तकपट्टावुपरिष्टाद् गृहीत्वा सर्वकटीभागमाच्छादयति । स च मल्लचलनाकृति कवलमुपरि ऊरुद्वये च कशाबद्ध चलनिकाऽप्येवमेव । नवरमधो जानुप्रमाणा अस्यूतलङ्खिका परिधिर्भवति वंशाग्रनर्तकी चलनकवत् मन्तव्या ।

अतोनियंसणी पुण, लीणतरा जाव अद्धजंघातो ।
बाहिरखुल्लगपमाणा, कडी य दोरेण पडिबद्धा ॥

अन्तर्निवसनी पुनरुपरि कटीभागादारभ्याधोऽर्द्धजङ्घा यावद्भवति सा च परिधानकाले लीनतरा परिधीयते मा भूदनाभूना जनोपहास्येति बहिर्निवसनी पुनरुपरि कटीभागादारभ्याध. खुलकप्रमाणा चरणगुल्फ यावदित्यर्थ कट्यां च दवरकेन प्रतिबद्ध इदमध शरीरस्य पड्विधमुपकरणमुक्तम् । अथार्द्धकायोपयोगिकञ्चुकादिक व्याख्याति ।

दतिअणुक्कुयिते उरोरुहे, कंचुओ असिव्वितओ ।
एमेव य उक्कच्छी, सा णवरं दाहिणे पासे ॥

दैर्घ्यमाश्रित्य स्वहस्तेनार्द्धतृतीयहस्तप्रमाण पृथुत्वेन तु हस्तमानोऽसीवित उभयत कसाबद्ध कञ्चुक क्रियत सा चोरोरुहौ छादयति किम्भूतौ च शुक्रं चितौ श्लथौ गाढपरिधाने हि विविक्तविभागौ भवेताम कक्षाया समीपमुपकक्ष तत्र भवा औपकक्षिकी अध्यात्मादित्वादिक प्रत्यय एवमेव च कञ्चुकवत्तस्या अपि स्वरूप वक्तव्य सा नवर दक्षिणपार्श्वे समचतुरस्रा हस्तेन सार्द्धहस्तप्रमाणा उरो भाग पृष्ठ च प्रच्छादयन्ती वामस्कन्धे वामपार्श्वे च वीटकबद्धा परिधीयते ।

उवगच्छिया उ पव्वे, कचुकमुक्कछिंयं च छादेति ।
संघाडीओ चउरो, तत्थ दुहत्था उ वसधीए ॥
दुन्निति हत्थायामा, भिक्खट्ठाएगउच्चारे ।
ओसरणे चउहत्थाम, निसन्नपच्छादणी मसिणो ॥

औपकक्षिकी विपरीता वैकक्षिकीनामक पट कञ्चुकमौपकक्षिकीं च छादयन् वामपार्श्वे परिधीयते तथा उपरि परिभोग्या सघाटिकाश्चतस्रो भवन्ति । एका द्विहस्ता द्वे त्रिहस्ते एका च चतुर्हस्ता दैर्घ्येण चतस्रोऽपि साऽपि सार्द्धहस्तत्रयप्रमाणा चतुर्हस्ता वा मन्तव्या तत्र हि द्विहस्ता द्विहस्तविस्तृता सघाटिका वसत्यां परिधीयते न ता विहाय प्रकटदेहया कदाऽपि भवितव्यमिति भाव । ये च द्वित्रिहस्तायामे त्रिहस्तविस्तृते तयोर्मध्ये एका भिक्षार्थं गच्छन्त्या प्राव्रियते एका उच्चारभूमिं व्रजन्त्या तथा समवसरणे व्याख्यानश्रवणादौ गच्छन्ती चतुर्हस्ता प्रावृणोति सा च प्राक्तनसघाटीभ्यो बृहत्तरप्रमाणा अनिषण्णप्रच्छादनार्थं क्रियते यतो न तत्र सयतीभिरुपवेष्टव्य किन्त्वूर्द्ध स्थित्वा ताभिरनुयोगश्रवणादि विधेय ततस्तया स्कन्धादारभ्य पादौ यावद्वपु प्रच्छाद्य तिष्ठन्ति एताश्च पूर्वप्रावृतवेषप्रच्छादनार्थं प्रवचनवर्णप्रभावनार्थं च मसृणा क्रियन्ते चतस्रोऽपि च गणनाप्रमाणेनैकमेव रूप गण्यते युगपत्परिभोगाभावात् ।

खंधकरणी चउहत्था, वित्थरा वायविहुतरक्खट्ठा ।
खुज्जकरणी उ कीरति, रूववतीणं कुरूहहेउ ॥

स्कन्धकरणी चतुर्हस्तविस्तरा समचतुरस्रा प्रावरणस्य वातविधुतरक्षणार्थं चतुष्पला स्कन्धे कृत्वा प्राव्रियते रूपवतीनां च सयतीना कुरूपहेतो कुब्जकरण्यपि क्रियते पृष्ठदेशे सबर्हितायौपकक्षिकी वैकक्षिकीनिबद्धा तया विरूपताप्रदनीय कुरूप विधीयत इति भाव । उपसहरन्नाह ।

संघातिमेतरो वा, सव्वो वेसो समासओ उवधी ।
पासगवद्धमसुसिरो, जं वाइणंतगं णेयं ॥

सर्वोऽप्येषोऽनन्तर उपधि समासतो द्विधा सङ्घातिम' इतरश्च

छिद्र्यादिखण्डानां मीलनेन निष्पन्नः संघातिमः । इतरस्तद्विपरीतोऽसंघातिमः । अय च पाशकबन्धः कशाबन्धः तथा यश्चाशुषिरो गृहिसंलग्नादिकारहित प्रतिग्रहानवर्जितो वा यश्चात्र कल्पके- श्रकालतो वेषेषु संविग्नगीतार्थैः पूर्वसूरिभिराचीर्णं तत्सर्वमपि ज्ञेयं सम्यगुपादेयतया मन्तव्यम् ।

अथ जिनकल्पिकादीनामुपधेरुत्कृष्टादिविभागमाह ।

उक्कोसत्र्यो जिणाणं, चउव्विहो मज्झिमो वि य तहेव ।
जहन्नो चउव्विहो खलु, पत्तो थेराण वोच्छामि ॥

अय कल्पाः प्रतिग्रहश्चेति जिनकल्पिकानामुत्कृष्टश्चतुर्विधः एवं मध्यमोऽपि रजोहरणपटलकपात्रकबन्धरजस्त्राणभेदाश्चतुर्विधो जघन्योऽपि मुखपोत्तिका पादकेसरिका गोच्छकपात्रकस्थापनक भेदाश्चतुर्विधः ।

(७) औपग्रहिकोपधेरुत्कृष्टादिभेदाः ।

उक्कोसो थेराणं, चउव्विहो छव्विहो य मज्झिमत्र्यो ।
जहन्नो चउव्विहो खलु, पत्तो अज्जाण वोच्छामि ॥

उत्कृष्टो जघन्यश्च जिनकल्पिकानामिव द्रष्टव्यो नवरं मध्यमः षड्विध इत्थं रजोहरण पटलकानि पात्रकबन्धो रजस्त्राण मात्रक कम्बलपट्टकश्चेति ।

उक्कोसो अट्ठविहो, मज्झिमत्र्यो होइ तेरसविहो उ ।
जहन्नो चउव्विहो खलु, पत्तो उ उवग्गहं वोच्छं ॥

आचार्याणामुत्कृष्ट उपधिरष्टविधः त्रयः कल्पाः ३ प्रतिग्रह ४ अभ्यन्तरनिवसना ५ बहिर्निवसना ६ संघाटिका ७ स्कन्धकरणी ८ चेति । मध्यमस्त्रयोदशविधो भवति तद्यथा रजोहरण १ पटलकानि २ पात्रकबन्धः ३ रजस्त्राण ४ मात्रक ५ कमठकम ६ अवग्रहानन्तक ७ पट्ट ८ अर्द्धोरुकम् ९ कञ्चुकी १० वलनिका ११ औपकक्षिकी १२ विकक्षिकी १३ चेति । जघन्यश्चतुर्विधो मुखपोत्तिका गोच्छकः पात्रस्थापन चेति । अत ऊर्द्धमतिरिक्तो यः उपधि स उपग्रहोपधिरुच्यते । तमपि जघन्यादिविभागनिरूपणेनाह वक्ष्ये । बृ० ३ उ० ।

(८) तावदौपग्रहिकोपधिमाह ।

पीठगनिसिज्जदंडग–पमज्जणी घट्टए डगलमाइं ।
पिप्पलगसूइनहरणि–सोहणगदुगं जहन्नो उ ॥ ३४ ॥

पीठक काष्ठच्छगणात्मक लोकसिद्धमान स्नेहवत्यां वसतौ वर्षाकाले वा श्रियत इत्यौपग्राहिक संयतीनां त्याग इत्यागतसाधुनिमित्तामिति निषद्या पादपुञ्छन प्रसिद्धप्रमाण जिनकल्पिकादीनां न भवति निषीदनाभावात् दण्डकोऽप्येवमेव नवरं निवारणाभावात् एव प्रमार्जनी वसतेर्दण्डकपुञ्छनाभिधाना एव घट्टकः पात्रमुखादिकरणाय पिप्पलक क्षुरप्र लोहमय । सूची सीवनादिनिमित्त वेणवादिमयी नखहरणी प्रतीता लोहमप्येव शोधनकद्वयं कर्णशोधनकदन्तशोधनकाभिधान लोहमयादि अन्यतरच्चय जघन्य औपग्राहिक खलूपधिरिति गाथार्थः ।

एनमेव मध्यममभिधातुमाह ।

वासत्ताणे पणगं, चिलिमिणिपणगं दुगं च संथारे ।
दंडाई पणग पुण, मत्तगतिगपायलेहणिआ ॥३५॥

वर्षात्राणविषय पञ्चकं तद्यथा कम्बलमयसूत्रमयतालपत्रमयपलाशपत्रकुटशीर्षकं छत्रकं चेति लोकसिद्धमानानीति । तथ चिलिमिलीपञ्चक तद्यथा कम्बलमयी सूत्रमयी वालमयी दण्डमयी कडगमयीति प्रमाणमस्याः गच्छापेक्षया सागारिकप्रच्छादनाय तदावरणातिमिकैकैयमिति संस्तारद्वय च शुषिराशुषिरभेदभिन्नं तृणादिकृतस्तु शुषिरस्तदन्यकृतस्त्वशुषिर इति । तथा दण्डादिपञ्चकं पुनस्तद्यथा दण्डको विदण्डकः यष्टिर्वियष्टिर्नालिका चेति । मात्रकत्रितय तद्यथा । कायकमात्रक सञ्ज्ञामात्रक खेलमात्रकमिति । तथा पादलेखनी काष्ठमयी कर्दमापनयिनीति गाथार्थः । प० व० ।

संथारुत्तरपट्टो, अड्ढाइज्जा उ आयया हत्था ।
दोण्हं पि य वित्थारो, हत्थो चउरंगुलं चेव ॥४६॥

संस्तारकः तथा उत्तरपट्टकश्च एतौ द्वावपि एककमर्द्धतृतीयहस्तौ दैर्घ्येण प्रमाणतो भवति तथा द्वयोरप्यनयोर्विस्तारो हस्तचतुरङ्गुल भवतीति आह किं पुनरेभि प्रयोजन संस्तारकादिभि पट्टकैरुच्यते ।

पाणाइरेणुसंर–क्खणट्ठया होंति पट्टगा चउरो ।
छप्पइयरक्खणट्ठा, तत्थुवरिं खोम्मियं कुज्जा ॥४७॥

प्राणिरेणुसंरक्षणार्थं पट्टका गृह्यन्ते । प्राणिनः पृथिव्यादयो रेणुश्च स्वशरीरे लगति अतस्तद्रक्षणार्थं पट्टकग्रहण ते च त्वारो भवन्तीति द्वौ संस्तारकपट्टकयुक्तावेव तृतीयो रजोहरणबाह्यनिषद्यापट्टकः पूर्वोक्त एव चतुर्थः । खोमिय एवाभ्यान्तरः निषद्यापट्टको वक्ष्यमाण एव एते चत्वारोऽपि प्राणिसंरक्षणार्थं गृह्यन्ते । तत्र षट्पदासंरक्षणार्थं तस्य कम्बली संस्तारकसंघर्षेण षट्पदा न विराध्यन्ते इति । इदानीं अभ्यन्तरक्षोमनिषद्याप्रमाणप्रतिपादनायाह ।

रयहरणपट्टमेत्ता, अदसगा किंचि वा समतिरेगा ।
इक्कगुणा उ निसिज्जा, हत्थपमाणा सपच्छागा ॥४८॥

रजोहरणपट्टकोऽभिधीयते यत्र दशिकालग्ना तत्प्रमाणा दशा दशिका तद्रहिता क्षौमा रजोहरणाभ्यन्तरे निषद्या भवति । (किंचि वासमतिरेगेत्ति) किञ्चिन्मात्रेण वा समधिका तस्य रजोहरणपट्टकस्य भवतीति (एकगुणत्ति) एकैव सा निषद्या भवति हस्तप्रमाणा च प्रथुत्वेन भवति (सपच्छागात्ति) सह बाह्यया निषद्यया हस्तप्रमाणा भवतीति । एतदुक्तं भवति बाह्याऽपि निषद्या हस्तमात्रैव ।

वासोवग्गहिओ पुण, दुगणो उवही उ वासकप्पाई ।
आयासंयमहेऊ, एक्कगुणो सेसओ होइ ॥ ४९ ॥

वर्षासु वर्षाकाले औपग्रहिक अवधिगुणो भवति कश्चासावसौ वर्षाकल्पादिः आदिग्रहणात् पटलानि "जो व हिंरु तस्स तिम्मइ सो सो दुगुणो होति एगोति सो पुणो अन्नो घेप्पइ" स च वर्षाकल्पादिद्विगुणो भवति आत्मसंरक्षणार्थं च तत्रात्मसंरक्षणाद्यदि एकगुणा एव कल्पादयो भवन्ति ततश्च "तेहिंति तेहिं पोट्टसूलेण मरति संजमरक्खणट्ठ जइ एग चेव कप्प अहमइलो उ होउ नीसरइ ततो तस्स कप्पस्स ज पाणिय परूइत्ति तस्स तेण आतुक्काओ विणासिज्जइ" शेषस्त्ववधिः एकगुण एव भवति न द्विगुण इति । किञ्च ।

जं पुण सपमाणाओ, ईसिं हीणाहियं व लंभेज्जा ।
उभयं पि अहाकडयं, न संधणा तस्स छेओ वा ॥५०॥

यत्पुन कल्पादि उपकरण स्वप्रमाणादीषद्धीनमधिक वा लभ्यते उभयमिति "ओघियस्स उवहिस्स उवग्गहियस्स वा" यदि

छनय तदेव हीनमधिकं वा लब्धं सत् 'आधाकम्मयं' पश्चात्कृतमल्पपरिकर्म्म यद्धन्यते तस्य न सधना क्रियते हीनस्य तथा छेदन क्रियते अधिकस्य । किं च ।

मत्तए लट्टिया चेव, चम्मए चम्मकोसए ।
चम्मच्छेयणपट्टे, चिलिमिली धारए गुरू ॥ ५१ ॥

अयमपर औपग्रहिकोपधि साधोः साध्वाश्च भवति दण्डको भवति दण्डकश्च यष्टिश्च चशब्दाद्वियष्टिश्चेति । अथ सर्व्वेषामेवमेव पृथक् पृथक् औपग्रहिक । अयमपर एव औपग्रहिकः कश्चासौ (चम्मएत्ति) चर्म्म कृत्तिश्चवमिया चर्म्मकोसक "जत्थ न हणाइं धुज्झति" तथा चर्म्मच्छेद" पर्ध्रपट्टिका । यदि च चर्म्मं च्छेदनकं पिप्पलकादि । तथा (पट्टेत्ति) योगपट्टकः चिलिमिली चेति । एतैश्चर्म्मादिभिर्गुरोरौग्राहिकोपधिर्भवति ।

जं चम्म एवमाई, तवसंजमसाहयं जइजणस्स ।
ओहो इरेगगहियं, उवग्गहियं त वियाणाहि ॥

यच्चान्यदस्तु एवमादि उपानहादि तप सयमयो साधक यतिजनस्य ओघोपधेरतिरिक्त गृहितमौपग्रहिक तद्विजानीहि । ओ० । (यष्ट्यादिलक्षणमन्यत्र)

चम्मतियं पट्टदुगं, नायव्वो मज्झिमो उवहि एसो ।
अज्जाए वारगो पुण, मज्झिमओ होइ अइरित्तो ॥

चर्म्मत्रिक वर्ध्रनलिकाहानिरूपम् तथा पट्टद्वय सस्तरपट्टचोलपट्ट लक्षण ज्ञातव्यो मध्यम उपधिरेष । औपग्रहिक आर्याणां वारक पुन सागारिकोदकनिमित्तमध्यमोपधावुक्तलक्षणो भवत्यतिरिक्त नित्यं जनमध्य एव तासा वासादिति गाथार्थः । एतदेवोत्कृष्टमभिधातुमाह ।

अक्खा संथारो वा, एगमणेगंगिओ अ उक्कोसो ।
पोत्थगपणग फलग, उक्कोसोवग्गहो सव्वो ॥ ३७ ॥

अक्षाश्चन्दनकादयः सस्तारकश्च किं विशिष्ट इत्याह । एकाङ्गिकोऽनैकाङ्गिकश्च फलक कम्बिमयादि" उत्कृष्टस्वरूपेण । तथा पुस्तकपञ्चक तद्यथा गण्डिकापुस्तकः छिवाडीपुस्तक" ऊविपुस्तक मुष्टिपुस्तक सपुटकश्चेति । तथा फलक पट्टिका समवसरणफलक वा उत्कृष्ट इति प्रक्रान्तापेक्षया औपग्रहिक उपधे सर्व इत्यक्षादि सर्व एवेति गाथार्थ । अनयोरौघिकोपग्रहिकयोरेवोपधिद्वयोरपि विशेषलक्षणमभिधातुमाह ।

ओहेण जस्स गहणं, भोगो पुण कारणा स ओहोहि ।
जस्स उ दुग पि निअमा, कारणओ सो उवग्गहिओ ।३८।

ओघेन सामान्येन भोगे अभोगे वा यस्य पात्रादेर्ग्रहणमादान भोग पुन कारणाभिमित्तेनैव भिक्षाटनादिना स ओघोपधिरभिधीयते । यस्य तु पीठकादेर्द्वयमपि ग्रहण भोगश्चेत्येतन्नियमात्कारणतो निमित्तेन छेदादिना स पीठकादि" औपग्रहिक कादाचित्कप्रयोजननिवृत्त इति गाथार्थ । अस्यैव गुणकारितामाह ।

मुच्छारहिआणेव्वो, सम्मचरणस्स साहगो भणिओ ।
जुत्तीए ईहा पुण, दोसा इत्थं पि आणाइ ॥ ३९ ॥

मूर्च्छारहितानामभिष्वङ्गवर्जिताना यतीनामेव द्विविधोऽपि पात्रपीठकादिरूप उपधि सम्यगधिकरणरक्षाहेतुत्वेन चरणस्य साधको भणित तीर्थकरगणधरैर्युक्त्येति । मानभोगयतनया इतरथा पुनरयुक्त्या यथोक्तमानभोगाभावे दोषा. । अत्राप्युपधौ गृह्यमाणे त्रुट्यमाने वा आज्ञादय इति गाथार्थ ॥ प० व० । (प-
तेषामन्येषां चोपकरणाना प्रयोजन विहार शब्दे चारित्रार्थमनेकादगमने प्रस्तोष्यमाणे स्पष्टीभविष्यति) ।

(९) अतिरिक्तोपग्रहणेन प्रायश्चित्तम् ।

दुविहप्पमाणातिरे-ग मुत्तदेसेण तेण लहुगाओ ।
मज्झिमगं पुण उवहिं, पमुच्च मासो जने लहुओ ॥

द्विविधं द्विप्रकार गणनाप्रमाणभेदाद्यत्प्रमाण ततोऽतिरिक्ते उपधौ तत्रादेशेन चतुर्लघुका भवन्ति यत उक्त निशीथसूत्रे " जे भिक्खू गणणाइरित्त वा पमाणाइरित्त वा उवहिं धरेइ से अवट्ठा चातुम्मासिय परिहरेणट्ठाण उग्घाइय " सू० १ उ० ॥

ऊणातिरित्तधरणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया ।
आणाइणो य दोसा, संघट्टणमादि पलिमंथो ॥

गणनया प्रमाणेन च ऊनस्यातिरिक्तस्य वा उपकरणस्य धरणे प्रायश्चित्त चत्वारो मासा. उद्धाता लघव. आज्ञादयश्च दोषास्तथा यत्र परिकर्म्मणां कुर्वन् तज्जातान् प्राणान्सघट्टयति आदिशब्दात्परितापयति अपद्रावयति च ततस्तन्निमित्तमपि तस्य प्रायश्चित्त तथा प्रतिदेवसमुभयकाल पात्राणि अन्यद्वाऽतिरिक्तमुपकरणं प्रत्युपेक्षमाणस्य परिमन्थ सूत्रार्थव्याघात । तस्मात् गणनया प्रमाणेन सूत्रोक्तमुपकरण धारयितव्यम् व्य० द्वि०८उ० । ओ. ।

१० प्रथमसमवसरणे उपधिग्रहणम् । (तत्र नो कल्पते इति घत्यशब्दे भाविष्यते) घर्पासु अतिरिक्तोपकरणग्रहणकारणमुपदर्शयितु दृष्टान्तमाह ।

दव्वोवक्खरणेहा, दियाण तह वा कडुयभंडाणं ।
वासारत्ते कुटुंबी, अतिरेगं संचयं कुणइ ॥

द्रव्यं हिरण्यादि उपस्कर सूर्पादि. स्नेहो घृत तैल वा आदिशब्दादेरण्डादितैलपरिग्रह । क्षारो वस्तुलादि. लवण वा कटुक शुण्ठीपिप्पल्यादि भाण्डानि घटपिठरादीनि । अथवा कटुकभाण्ड वेसणमयवा हिङ्गुप्रभृतिजात । एतेषां द्रव्योपस्करादीनां कुटुम्ब्यपि वर्षाराले अतिरिक्तसञ्चय करोति किं कारणमिति चेदुच्यते ।

वणिया ण संचरंती, हट्टा ण हवंति कम्मपरिहाणी ।
गेलण्णाए देसुव, किं काहिति अग्गहिते पुव्विं ॥

वर्षाकाले वणिजो ग्रामेषु क्रयविक्रयार्थं न सञ्चरन्ति । पत्तनेष्वपि वर्षधर्द्धवशेन हट्टा न भवन्ति । अपि च यदि कुटुम्बी द्रव्योपस्कारादीनामतिरिक्तं सञ्चय न कुर्यात् तत उत्पन्ने प्रयोजने क्रयविक्रयार्थं तेनापणवीथ्यां गन्तव्यं ततश्च हलकर्षणप्रवृत्ताना कर्मसंयोगाना परिहाणिर्भवति ग्लानत्वे वा सजाते आदेशेषु वा प्राघूर्णिकेषु आगतेषु अतिरिक्तसञ्चये पूर्वमगृहीते किं पथ्यभोजनप्राघूर्णकभक्त्यादिक करिष्यति ॥

तह अन्नतित्थिगा वि य, जारिसो से संचयं कुणंति ।
इह पुण छण्हं विराहणा, पढमम्मि य जे भणियदोसा ॥

तथेति दृष्टान्तान्तरोपन्यासे अन्यतीर्थिका अपि सरजस्कादयो यादृशो यस्य येनोपकरणेन प्रयोजनमित्यर्थ" (से)तस्यातिरिक्त सञ्चय वर्षासु करोति । यथा सरजस्का रक्षाया दकसैन्धवरिकामृत्तिकाया बोटिकछगणलकयोरित्यादि । इहेति अस्मिन् पुनर्येन शासते यद्यतिरिक्तमुपकरण न गृह्णन्ति तत षण्णा जीवनिकायानां विराधना भवति । अथातिरिक्तोपकरणाभावाद्वर्षास्वुपधि गृह्णन्ति ततो यं प्रथमे समवसरणे उपकरण गृह्णतो दोषा भणितास्तान् प्राप्नुवन्ति । कथ पुनः षण्णां कायानां विराधना भवतीत्युच्यते ।

रयहरणेणोल्लाणं, पमज्जफरुसमालपुढवीए ।
गामंतरंतिगलणे, पुढवी उदगं च दुविहं तु ॥

(फरुससालत्ति) कुम्भकारशाला तस्यां वर्षासु स्थितानां द्वितीयरजोहरणाभावे यद्वर्षेणार्द्रीभूत रजोहरणं तेनैव प्रमार्जने पृथिवीकायस्य विराधना ग्रामान्तरं भिक्षाचर्यादिकार्येण (इतत्ति) गच्छत आगच्छतो अन्तरा आपाढतरं वर्षितुमारब्धे मलिनरजोहरणे परिगलति पृथिवीं द्विविधं च भूमान्तरिक्षभेदाद् द्विप्रकारमुदकं विराधयति ।

अहवा अवीऊए, उदगं पुण उप्पतावणे अगणिं ।
उल्लं रुगवंधतसा, ठाणाइसु केण व पमज्जे ॥

अथवा द्वितीयरजोहरणाभावे यदार्द्रं रजोहरणं शोषयति ततोऽवग्रहात् स्फिटयति । अथ न शोष्यते ततोऽम्लीभवति एवमम्लीभूते तस्मिन् उदकं विराध्यते । पनकश्च संमूर्च्छति अथैतद्दोषपरिहारार्थमग्निं तापयति ततोऽग्निविराधना अथार्द्रेण प्रमार्जयति ततो दशिकान्तेऽप्युल्लएडका मृद्गोलका प्रतिवध्यन्ते तेषु प्रतिवद्धेषु यद्विप्रमार्जनं करोति ततः आत्मविराधना । अथ न प्रमार्जयति ततः संयमविराधना । स्थाननिषदनादिषु वा केन प्रमार्जयतु ।

एमेव सेसगम्मि, संजमदोसा उ भिक्खणिज्जाए ।
चोलनिसज्जा उल्ल-अजीरगेलन्नमायाए ॥

एमेव वर्षाकल्पादावपि शेषोपकरणे भिक्षानियोगे च पटलकपात्रबन्धरूपे द्विगुणं अगृहीते संयमदोषाः षट्कायविराधनालक्षणो रजोहरणवद्वक्तव्याः । चोलपट्टे रजोहरणनिषद्यायां याव द्विगुणायामगृह्यमाणायां बहिर्गतानां वर्षेणार्द्राभावे स आते नित्यपरिभोगेन भक्तं न जीर्यते । अजीर्यमाणे भक्ते ग्लानत्वं भवति । ततआत्मविराधना परितापमहादुःखादि । किंच ।

अद्धाण णिग्गतादी, परिता वा अहव णट्ठगहणम्मि ।
जं च समवसरणम्मि, अगहणे जं च परिभोगे ॥

निर्गतादस्मिन्नाद्धा अध्वनो निर्गता आदिशब्दादशिवादिकारणानिर्गता वा ये परीता परिमितोपकरणा अथवा (नट्ठत्ति) नष्टोपकरणा हारितोपधय इत्यर्थः (गहणम्मित्ति) प्रत्यनीकेन वा उपधेर्ग्रहणे कृते विरिक्ता आगच्छेयुः एतेषामागतानामतिरिक्तोपकरणभावादुपग्रहणं न करोति ततः उपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् अथ तदर्थं नूतनमुपधिं गृह्णन्ति ततोऽप्युपधिनिष्पन्नम् अथ प्रथमे समवसरणे उपकरणग्रहणे दोषजालं तत्प्राप्नुवन्ति । अथ न गृह्णन्ति ततः उपकरणं विना यत्तृणादिपरिभोगे दूषणकदम्बकं तदाप्नुवन्ति । अमुमेवार्थं व्याख्याग्रन्थेन स्पष्टयति ।

अद्धाण णिग्गयादीण-मदाते होति उपधिणिप्फण्णं ।
जं ते अणेसणिंग, सेवेंट वत्थणां ज च ॥

अध्वनिर्गतादीनामतिरिक्ताभावे उपकरणं यदि न प्रयच्छन्ति ततः उपधिनिष्पन्नं भवति प्रायश्चित्तमिति शेषः । तच्च जघन्ये पञ्चकं मध्यमे मासलघुकमुत्कृष्टे चतुर्लघवः । ते च अध्वादिनिर्गता अनेषणीयोपकरणमग्निं वा यदासेवन्ते तन्निष्पन्नमप्रयच्छता प्रायश्चित्तम् । अथात्मीयमुपकरणं तेषां प्रयच्छन्ति ततः आत्मपरिहाणिः । यच्चात्मना तृणादिसेवनं कुर्वन्ति तन्निष्पन्नम् । के पुनः प्रथमसमवसरणे वस्त्रग्रहणे दोषा इत्याह ॥

असदुवग्गा वा, ओमरयं गिण्हमाण पच्चारस ।
छाउं परिभोग छप्पति-चहुतरं उड्डोयगेलन्ने ॥

अथात्मनो वा परेषां वा अध्वनिर्गतादीनामर्थाय प्रथमसमवसरणे उपधिं गृह्णन्ति ततः आधाकर्मादयः पञ्चदशोद्गमदोषा भवन्ति आत्मोपधिग्रहणे निर्गतादीनां दत्वा तन्मयैकप्रत्यवतारं नित्यं परिभुञ्जानस्य षट्पदिका समूर्च्छति तासु चान्नपात्रमध्ये पतितासु भक्षितासु (चरुतरंति) जलोदरो भवति एकप्रत्यवतारेण वा लोणराशिप्रावृतेन शुक्रस्य जीर्यति अजीर्यति च ग्लानत्वमुपजायते

तम्हा उ गेण्हियव्वं, बितियपदम्मि जह ण गेण्हेज्ज ।
अद्धाणे गेलण्णे, अहवा वि भवेज्ज असतीए ॥

यत एव तस्मात् कारणादात्मनो द्विगुणप्रत्यवतारादतिरिक्तं गृहीतव्यं द्वितीयपदं यथा न गृह्णीयुस्तथाऽभिधीयते अध्वनि वहमानाना ग्लानत्वे वा द्विविधायामसत्तायां वा वर्तमाना नाग्रहणं भवेदिदमेव व्याख्याति ॥

कालेण चिंदिएणं, या वरिसा अंतरेण वाघाते ।
गेलण्णे वा न परे, दुविधा पुण होति असती ओ ॥

ग्रीष्मस्य चरमे मासि केचिदध्वनि प्रतिपन्नाश्चिन्तितवन्तश्च यावदाषाढपूर्णिमा नापैति तावदेव तावत्कालेन वर्षाक्षेत्रं प्राप्स्यामः । अन्तरा च नद्यादिव्याघातो भवेत् अत आषाढपूर्णिमाकाले अतिक्रान्ते मासे ततो द्विगुणोऽतिरिक्तो वा उपधिर्न गृहीतः अथवा आत्मनो ग्लानत्वेन परस्य वा ग्लानस्य व्यापृततया नातिरिक्तो गृहीतः । असत्ता पुनर्द्विविधा भवति सदसत्ता असदसत्ता च सदसत्तायामनेषणीयं लभ्यते । अथवा बहवः साधवो वस्त्रग्रहणस्याकल्पिका एक कल्पिकः । अतः सर्वेषां योग्यो अतिरिक्तं पथि गृहीतुं न पार्यते । असदसत्ता तु मार्गितमपि न लभ्यते एतैः कारणैः पूर्वमतिरिक्तोपधौ अगृहीतेऽपि शुद्धा ।

गहिए अगहिए वा, अप्पत्ताणं तु होति अतिगमणं ।
उवही संथारगपाद-पुंछणादी णं गहणट्ठा ॥

एवं गृहीतेऽगृहीते वा वर्षावासप्रायोग्ये उपधौ कालमप्राप्तानामाषाढपूर्णिमाया अर्वाक् पञ्चभिर्दिवसैर्वर्षाक्षेत्रे अतिगमनं प्रवेशो भवति । किमर्थमित्याह उपधिर्वर्षाकल्पादिकः । संस्तारकः काष्ठमयः कम्बिकामयो वा पादप्रोञ्छनं रजोहरणम् आदिशब्दात् तृणडगलादिपरिग्रहः एतेषां ग्रहणार्थमप्राप्ते काले प्रवेष्टव्यम् । इदमेव व्यक्तीकरोति ।

कालेण अपत्ताणं, पत्ताणं खेतओ गहणं ।
वासाजोग्गोवधिणो, खेत्तम्मि उ डगलमादीणि ॥

कालतो नियमादप्राप्ताना क्षेत्रतः प्राप्तानां वा वर्षावासयोग्यपटलकपात्रबन्धादेरुपधेर्ग्रहणं भवति एतेन चरमभङ्गौ सूचितौ कालतः प्राप्तैरप्राप्तैर्वा क्षेत्रतो नियमात्प्राप्तैर्डगलादीनि गृहीतव्यानि अनेन तु द्वितीयतृतीयभङ्गौ गृहीताविति । तान्येव डगलादीनि दर्शयति ।

डगलसरक्खकुडमुह, मत्तगतिगलेवपादलेहणिया ।
संथारपीढफलगा, णिज्जोगो चेव दुगुणो उ ॥

डगलका चीरादिमयानि डगलानि पुनः प्रोञ्छनार्थं गृह्यन्ते सरजस्कः क्षारसंज्ञः खेलादिविसर्जनार्थं कुटमुखं घटकण्ठकस्तत्र ग्लानयोग्यमौषधं कायिकी मात्रकं वा स्थाप्यते । मात्रकत्रिकं श्लेष्ममात्रकं कायिकीमात्रकं संज्ञामात्रकं चेति । लेपः प्रतीतः प्रतिष्टम्भनसंस्थापनार्थम् । पादलेखनिका वर्षासु कर्दमनिर्लेपना-

धर्म । संस्तारकः परिशाटी चेति द्विविध त्रसयोपशमनार्थं जीवादिरक्षणार्थं च गृह्यते पीठ डगणादिमयमुपवेशनार्थं फलकश्च एकपट्टादिमय शयनोपयोगी पात्रसत्कश्च नियोग । प्रस्यवतारो द्विगुण एतानि सर्वाण्यपि तदानीं गृह्यन्ते । अथ शिष्य प्रश्नयति ।

चत्तारि समोसरणे, मासा किं कप्पती ण कप्पति वा ।
कारणेण पंचरत्ता, सव्वेसिं मल्लगादीणं ॥

आषाढपूर्णिमाऽनन्तर ये चत्वार' प्रथमसमवसरणे मासास्तेषु ग्रहीतु कल्पते न वा। सूरिराह उत्सर्गतो न कल्पते द्वितीयपदे क्षेत्रस्याप्राप्ता अध्वनिर्गता वा आषाढपूर्णिमाया प्राप्तास्तत संस्तारादुपधिं डगलादीनि च पञ्चरात्रिंदिवानि गृह्णन्ति पर्युषणाकल्प च रजन्यामाकर्षन्ति । तत पञ्चम्यां पर्युषण कुर्वन्ति। अथ पूर्वोक्तकारणात्पञ्चम्यामेव ते प्राप्तास्तत पञ्चरात्र तथैव संस्तारकमङ्गलादीनि गृह्णन्ति दशम्या पर्युषणयन्ति । विशेष चूर्णिकृत्पुनराह " त खेत्ताए पत्ते आसाढपुण्णिमाए चेव ठिया तेहिं य उवही न गहिओ संथारगाइ ताहे जाव पच रत्त ताव गेण्हति एक्का पचदिवसे पज्जोसणाकप्प कहति दसमीए एस कारणेण कप्पई पचरत्त अह पचमीए पत्ता तहेव य वरत्तगावकुतीति " एव सर्वेषा मल्लकादीनामुपकरणानामर्थाय कानि पञ्चरात्रिंदिवानि प्रवर्द्धमानानि तावन्मन्तव्यानि यावद्भाद्रपदशुद्धपञ्चम्यां गृहीतेऽगृहीते वा डगलमल्लकादौ नियमात्पर्युषण विधेयम् "तेसि तत्थ ठिआण पडिलहुवट्टचारणादीसु लेवाईण अगहणे लहुगा पुव्विआ गहिते वा " तेषा साधूना तत्र वर्षाक्षेत्रे स्थितानामियं सामाचारी सभाप्रपाऽऽरामदेवकुलशून्यगृहादिषु यद्वस्त्रमुज्झित पथिकादिभि परित्यक्त तत्प्रत्युपेक्षन्ते यदा किल कार्यमुत्पत्स्यते तदा ग्रहीष्यन्ते तदभावे चरणादिषु प्रत्युपेक्षन्ते वर्षासु यदि लेपमादिशब्दात्पात्र वा वस्त्र वा गृह्णन्ति ततश्चतुर्लघुका पूर्वं चालेपादीनि यदि न गृहीतानि तदाऽपि चतुर्लघु । इदमेव व्याख्याति ।

वासाण एस कप्पो, सव्वत्तो चेव जाउ सकोसं ।
परिभुत्तं विप्पइस्स, वाघातट्ठा परिक्खंति ॥

(वासाणत्ति) विभक्तिव्यत्ययाद्वर्षासु तिष्ठतामेष कल्प. सामाचारी सर्वत सक्रोश यावद्यत्कार्पटिकै परिभुक्त विप्रकीर्णं पूर्व परिभुज्य ततोऽकिञ्चित्करमिति मत्वा परिष्ठापित ततस्तिष्ठन्त एव व्याघातार्थं निरीक्षन्ते । क पुनर्व्याघात इति चेदुच्यते ।

अच्छाण णिग्गतादी, झामियवूढे व संह परिजुण्णे ।
आगंतु वाहिपुव्विं, दिट्ठं असंसिसणीसु ॥

अध्वनिर्गतादय साधव. आगच्छेयु आत्मीयो वा उपधिर्ध्यामितो दग्धो भवेत् उदकेन वा व्यूढः शैक्षो वा अवश्यप्रव्राजनीय पुराणादिरूपस्थित परिजीर्णो वा उपधिरेतै कारणैरागन्तुकेषु तालावरादिषु पूर्वं मार्गयन्ति तत क्षेत्राद्बहिरसङ्गिषु पूर्व दृष्ट गृह्णन्ति । अथेदमेव विभावयिषुरागन्तुकानागन्तुकान् व्याख्याति ।

तालायरे य धारे, वाणियखंधारसेणसंवट्टे ।
लाउरिग वइग सेवग, जामाउगं पंथिगादीसुं ॥

तालावरा नटनर्तकवर्द्धादयो (धारेत्ति) देवछत्रधारका वणिजो वाणिज्यका राजबिम्बसहित स्वचक्र परचक्र वा स्कन्धावार उच्यते राजबिम्बविरहिता सेना चौरधाटीभ ेन बहवो ग्रामनायका अधिष्ठातार एकत्र स्थिता. संवर्त्त' लाकुटिका उष्ट्रा व्रजिका गोकुलिका सेवकाश्चारभट्टकाः जामातृका प्रसिद्धा पथिका ये बहव. स्वदेश प्रति प्रस्थिताः एवमादिषु पूर्वं मार्गयन्ति कथमित्याह ।

आगंतुकेसु पुव्विं, गवेसए चारणादिसुं वाहिं ।
पच्छा जे सग्गामं, तालावरादिणो यंति ॥

(वाहिंति) सक्रोशयोजनान्तर्वर्त्तिष्वन्तरपल्लिकासहितेषु बाह्यग्रामेषु ये आगन्तुकाश्चारणादयस्तेषु पूर्वं गवेषयन्ति । पश्चात् बाह्यग्रामेषु चारणादीनामभावे ये तालावरादय' स्वग्राममायान्ति तेषु गवेषयितव्यम् । कथमेतेषु वस्त्रसम्भव इत्याह ।

लध्दूण णवे इतरे, समणाणं देज्ज सेवजामादी ।
चारणधारत्तणीयं, पडंति इयरे उ सड्डितरा ॥

सेवका जामातृका नवानि वस्त्राणि लब्ध्वा इतराणि पुराणानि श्रमणानां दद्यु । चारणानां (धारत्ति) देवछत्रधारिणा राजादय' प्रसादतो वस्त्राणि प्रयच्छन्ति तानि पुराणानि वा ते साधूनां दद्यु (वणीयत्ति) वाणिज्यक वणिज. पतन्ति । इतरे तु पथिकादय श्राद्धा श्रावका भवेयु बहिर्ग्रामे स्वग्रामेऽप्युपचारणादीनामभावे विधिमाह ।

बहिरंतसण्णिसण्णिसु, जं दिट्ठं तेसु वा जमदिट्ठं ।
केई उहउवनधिं, सुगहिते सणीसु दिट्ठितरे ॥

क्षेत्राभ्यन्तरे प्रतिवृषभग्रामेषु ये असङ्गिनस्तेषु पूर्वं दृष्टं वस्त्रं मार्गयन्ति तदभावे बहिर्ग्रामेऽप्येव सङ्गिषु पूर्वं दृष्ट तदभावे अन्तर्मूलग्रामे असङ्गिषु पूर्वं दृष्ट तदसत्वे मूलग्राम एव सङ्गिषु यत्पूर्वमदृष्ट तदभावे मूलग्राम एवासङ्गिषु पूर्वमदृष्टं वस्त्र मार्गयन्ति केचिदाचार्या इत्थ ब्रुवते । द्वयोरपि बहिरन्तर्लक्षणयो स्थानयोः प्रथमसङ्गिषु गृहीते सति ततो बहिरन्तर्वर्त्तिष्वेव सङ्गिषु यथा कर्मदृष्टमितरत्वात् दृष्टं गृह्णातीति किं पुन कारण पूर्वं दृष्ट प्रथम गृह्यते उच्यते तत्र हि पूर्वप्रत्युपेक्षितत्वेनाधाकर्मादय उत्क्षेपनिक्षेपादयश्च दोषा परिहृता भवन्ति ॥

कोई तत्थ वणिज्जा, वाहिं खित्तस्स कप्पती गहणं ।
गंतु ता पभिसिद्धं, कारणगमणं बहुगुणं तु ॥

कश्चिन्नोदकस्तत्रेति अनन्तरोक्तव्याख्याने इद भणेत् यदि पूर्वं प्रतिवृषभग्रामेऽप्युद्ग्रहीतव्य ततो मूलग्रामे एव तर्हि दूरत्वात् । क्षेत्राद्बहिर्ग्रहण सुभग कल्पते। गुरुराह क्षेत्राद्बहिर्वर्षासु गन्तुमपि तावत्प्रतिषिद्धं किं पुनर्वस्त्रग्रहणम् । अथ कारणे वर्षासु क्षेत्राद्बहिर्गमन करोति तत्र गतश्च वर्षाकल्पादिना निमन्त्र्यते तदा सयमस्य बहुगुणमिति कृत्वा तदपि ग्रहीतव्यम् । इदमेव व्याचिख्यासु प्रथमत परवचन व्याख्याति ।

एव नाम कप्पति, जं दूरे तेण वाहि गिण्हंतु ।
एवं भणंति गुरुगाण, गमणे गुरुगा व लहुगा वा ॥

यत् दूरे गामाद्बहिर्वस्त्रं तद्यदि प्रथम कल्पते तत एव नाम क्षेत्राद्बहि सुतरां प्रथमतर गृह्णन्तु सूरिराह एव भणतो भवतश्चतुर्गुरुका । अथ क्षेत्राद्बहिर्गच्छति ततो गुरुका वा लघुका वा प्रायश्चित्त तत्र नव प्रावृषि चत्वारो गुरव शेषे वर्षाकाले चत्वारो लघव. । कारणगमने बहुगुणमिति व्याचष्टे ॥

संवंधभाविएसु, कप्पति जायणे कज्जे ।
जुण्णेव वासकप्पं, गेण्हति जं बहुगुणं वसं ॥

यानि साधर्म्मिकसंबन्धेन संबद्धानि परस्पर गमनागमनशालीनि च क्षेत्राणि तेषु वर्षासु कल्पते साधर्म्मिकाणामुदन्तवहनार्थे चत्वारि पञ्च योजनानि यावत् गन्तुं वस्तुं वा एव कार्ये गतस्यापान्तराले वर्षात्राणेन कश्चिन्निमन्त्रण कुर्यात् तस्य च प्राक्तनो वर्षात्राण· परिजीर्णस्ततश्च वर्षात्राण घनमसृणमभिनवं च ततो वर्षासु बहुगुणमिति कृत्वा गृह्णाति । कारणतोऽन्यदपि पटलकादिकं घनमसृणादिगुणोपेनमाचार्यप्रायोग्य वा यद्वस्त्रं लभ्यते तदपि भूयान् गुणोऽत्र गृहीते भविष्यतीति कृत्वा गृह्यते एष कारणगमन ग्रहणं चोभयमपि दृष्टम्। कारणाभावे तु न कल्पते गन्तु गृहीतुं वा। अथ गृह्णाति ततोऽमून् षोडश दोषान् । प्राप्नोति

आहाकम्मुद्देसिय, पूतीकम्मे य मीसजायाए ।
ठवणा पाहुडियाए, पादोकरकीतपामिच्चे ॥
परियट्टिए अतिहडे उ, उब्भिण्णमालाहडे य ।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, धोते रत्ते य घट्टे य ॥

आधाकर्म्म १ औद्देशिकं २ पूतिकर्म्म ३ मिश्रजात ४ स्थापना ५ प्राभृतिका ६ प्रादुष्करण ७ क्रीतं ८ प्रामित्यं ९ परिवर्त्तितम १० दूरयाहृतम् ११ उद्भिन्न १२ मालाहृतम् १३ आच्छेद्यम १४ अनिसृष्टं चेति १५ पञ्चदश दोषा· (धोयरत्तेयघट्टेयात्ति) साधूनामर्थाय मलिनवस्त्रं धौत गौरवं कृतमित्यर्थः। एवं रक्त प्रदत्तरागं घृष्टं मसृण पाषाणादिना उत्तेजितमेते त्रयोऽप्येक एव दोष इति।

एते सव्वे दोसा, पढमोसमोसरेणवज्जिता होंति ।
जिणदिट्ठिहिं अगहितो, जो गेण्हति तेहि सो पुट्ठो

एते सर्वेऽप्याधाकर्म्मादयो दोषा प्रथमे समवसरणे वस्त्रादिकं गृह्णता न वर्जिता भवन्ति। अथ पूर्वं दर्पतो न गृहीतमुपकरण तत· प्रथमे समवसरणे यो गृह्णाति सोऽपि जिनैस्तीर्थकरैर्ये दृष्टाः कर्मबन्धदोषास्तैः स्पृष्टो मन्तव्यः। भावतस्तेन दोषाणामङ्गीकृतत्वात् ।

पढमम्मि समवसरणे, जो वतियं पत्तचीवरं गहियं ।
सव्वं वोसरियव्वं, पायच्छित्तं च वोढव्वं ॥

प्रथमे समवसरणे दर्पतो यावत् पात्रचीवर गृहितं तावत्सर्वमपि व्युत्सृष्टव्यं प्रायश्चित्त च गुरुप्रदत्त यथोक्त वोढव्यम्। अथ वा कार्ये समुत्पन्ने यत्पात्रं वा चीवरं चारणादिषु गृहीत तत्सर्वं कृते कार्ये परिष्ठापनीयम् । अपरिणामकप्रत्ययनिमित्त च यथालघीयः प्रायश्चित्त वोढव्यम् ।

सज्झायट्ठा दप्पेण, वावि जाणंतए वि पच्छित्तं ।
कारणगहियं तु विधूय, धरेत गीए ण उ ज्झाति ॥

स्वाध्यायार्थे दर्पेण वा यदि "वहिअंतसन्निलु ज दिर्ठ तेसु चव जमादिर्ठ" इत्यादिक क्रममुल्लङ्घ्य गृहीत तत्र जानतोऽपि गीतार्थस्यापि प्रायश्चित्तम् । यत्तु कारणे क्रमेण विधिना गृहीतं तद्यदि सर्वेऽपि विद्रो गीतार्थास्त धारयन्ति अथागीतार्थमिश्रा ततोऽन्यस्मिन्नुपकरणे लब्धे न दुष्यन्ति । वृ० ३ उ० नि० चू० । कल्प० (ऋतुबद्धे वस्त्रग्रहण वत्थ शब्दे)

(११) प्रथम प्रव्रजत उपधिग्रहणम् ।

(सूत्रम्) निग्गंथस्स य तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरणगोच्छयपडिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए से पुव्वोवट्ठिए सिया एवं से नो कप्पइ रयहरणपडिग्गहगोच्छए मायाए तिहिं य कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ।

णिग्गंथिचेलगहणं, भणियं समणाण वोच्छामे ।
निक्खंते वाहुत्तं, निक्खममाणे इमं सुत्तं ॥

निर्ग्रन्थीविषय चेलग्रहणं भणितम् । इदानीं श्रमणानां यथा वस्त्रं गृहीतु कल्पते तथाऽभिधीयते । यद्वा निष्क्रान्तो दीक्षितस्तद्विषय वस्त्रग्रहणमुक्तमिदं तु निष्क्रामयति दीक्षामददाने वस्त्रग्रहणाभिधायक सूत्रमारभ्यते अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या निर्ग्रन्थस्य तत्प्रथमतया समिति सम्यक् प्रकर्षेण पुनरभङ्गी कारलक्षणेन व्रजतो गृहवासाभिगच्छतः सम्प्रव्रजतः कल्पते । रजोहरणमोच्छके प्रतिग्रहमादाय त्रिभि· कृत्स्नैर्वस्त्रैरात्मना सम्प्रव्रजितुम् । इह रजोहरणग्रहणेन मध्यमोपधिर्गोच्छकग्रहणेन जघन्योपधि· प्रतिग्रहग्रहणेनोत्कृष्टोपधि· सर्वो गृहीतस्ततोऽयमर्थः जघन्यमध्यमोत्कृष्टोपधिनिष्पन्ना यं अथ कृत्स्नाः प्रतिपूर्णा वस्त्रपात्रे प्रत्ययवतारास्तैरात्मना सहितै· प्रव्रज्या ग्रहीतु कल्पते (सेयति) चशब्दार्थे । अथासौ प्रव्रज्यां प्रतिपन्न· पूर्वमुपस्थितो दीक्षित· स्यात् ततो नो कल्पते (से) तस्य पूर्वोपस्थितस्य रजोहरणगोच्छकप्रतिग्रहमादाय त्रिभिः कृत्स्नैरात्मना सम्प्रव्रजितु । किंतु कल्पते (से) तस्य यथा परिगृहीतानि क्रीतहृतादिदोषरहितानि वस्त्राणि गृहीत्वा आत्मना सम्प्रव्रजितुमिति सूत्रसमासार्थः । अथ विस्तरार्थोऽभिधीयते । आह न तावद्याप्ययं प्रव्रजति तत कथ निर्ग्रन्थ· । उच्यते द्रव्यत एको भावतो द्वितीय· द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि अपरो न द्रव्यतो न भावत· । तत्र द्रव्यतो निर्ग्रन्थः स उच्यते यो लिङ्गसहितो द्रव्यलिङ्गयुक्तो नि·शङ्क· सम्भवधावति तत्प्रव्रजतीत्यर्थः । यस्तु प्रव्रज्यायामभिमुखो न तावदद्यापि प्रव्रजति कारणेन वा य· साधु· परलिङ्गे वर्तते स द्वितीयो द्वितीयभङ्गवर्ती यस्तु उदयसहितो द्रव्यभावलिङ्गयुक्त· स तृतीय· उभयथाऽपि निर्ग्रन्थ इति भाव· । उभयविमुक्ते तु द्रव्यभावलिङ्गरहिते गृहस्थादौ चरमश्चतुर्थो भङ्गो भवति । अथाचार्यो देवस्य मानुष्यस्य सहवासलक्षण दृष्टान्त कर्तुकाम प्रथमतः सिद्धान्त प्रज्ञापयति ।

चउधा खलु संवासो, देवासुररक्खसे मणुस्से य ।
अण्णोण्णकामणेण य, संजोगा सोलस हवंति ॥

देवसंवासः असुरसंवासो राक्षससंवासो मनुजसंवासश्चेति संवासश्चतुर्धा । अत्र चान्योन्यकाम्यया षोडश संयोगा भवन्ति। तद्यथा देवो देव्या सार्द्धं संवसति १ देवोऽसुर्या सार्द्धम् २ देवो राक्षस्या सार्द्धम् ३ देवो मानुष्या सार्द्धम् ४ असुरो देव्या सम संवसति ५ असुरोऽसुर्या ६ असुरो मानुष्या ७ असुरो राक्षस्या ८ राक्षसो देव्या ९ राक्षसोऽसुर्या १० राक्षसो मानुष्या ११ राक्षसो राक्षस्या १२ मनुष्यो देव्या १३ मनुष्योऽसुर्या १४ मनुष्यो राक्षस्या १५ मनुष्यो मानुष्या १६ चेति। अत्र देवशब्देन वैमानिको ज्योतिष्को वा। असुरशब्देन तु सामान्यतो व्यन्तर परिगृह्यते। अधस्तने च षोडश भङ्गान् चतुर्षु भङ्गेष्ववतारयन्नाह।

अहवा देवळवीणं, संवासे एत्थ होंति चउभंगो ।
पव्वज्जाभिमुहंतर, गुज्झगउभज्जमिया वासे ॥

अथवेति प्रकान्तरद्योतक· । देवच्छविमतो संवासे चतुर्भङ्गी भवति । देवो देव्या सार्द्धं संवसति । १ । देवच्छविमत्या सा-

र्कम् २ उविमान् देव्या सार्द्धम् ३ उविमान् उविमत्या ४ अत्र दे-वशब्देन सामन्यतो भवनपत्यादिनिकायचतुष्टयान्यन्तरवर्ती गृ-ह्यते उविमांश्च मनुष्य उच्यते अत एतेषु चतुर्षु भङ्गेषु पूर्वोक्ताः षोडशापि भङ्गा अन्तर्भूता एव सिद्धान्त प्रक्षाप्य प्रस्तुतार्थसाधक दृष्टान्तमाह 'पवजा' इत्यादि । एकः कश्चित्तरुण प्रव्रज्याभिमुखो गुरूणां पार्श्वे प्रस्थित. अन्तरा कस्मिंश्चिद्ग्रामे एकस्यास्तरुण्या गृहे वासार्थमुपगम्य द्वारमूले सुप्तः सा च तरुणी उद्भ्रामिका कुशीला गुह्यकः कश्चिद्यक्षस्तया उद्भ्रामिकया सह रात्रौ वास कृत्वा प्रभाते स्वस्थान गच्छति एवं दिवसे दिवसे करोति। तस्मिंश्च दिवसे यक्षो नोपागमत द्वितीये दिवसे कोऽपि सन्नि-कृष्ट धावी चौर्यं कर्तुकामस्तस्मिन्नेव ग्रामे तस्या एव तरुण्या गृहे तथैव मूले प्रसुप्तः । यक्षश्च तद्दिवसमागत ।

वितियणिसाए पुच्छा, एत्थ जती आसि तेण मितअन्नो ।
प्रतिवेसो यं चोरो, जो अज्ज तुहं वसति दारे ॥

यस्मिन् दिवसे यक्षोऽनायातस्ततो यो द्वितीयो दिवसस्तत्र निशायामागतस्य यक्षस्य पार्श्वे पृच्छां कृता कल्ये किं नागतोऽसि यक्ष. प्राह । अत्र कल्ये यतिरासीत् । तेन कारणेनाहमत्र नायात । अपि च साधुसंबन्धिना तेजसैव तमुल्लङ्घ्य गन्तुं न शक्यते सा प्राह किमेव मृषा भाषसे अयमपि तावदन्य साधुर्द्वारमूले सुप्त-स्तिष्ठति । अत एवमुल्लङ्घ्य कथमद्यागतोऽसीति । यक्षः प्राह एष चारित्र प्रति विपरिणतश्चौर्यं कर्तुकामः । अतो यतिवेषेण चौरोऽय मन्तव्य यस्तवाद्य द्वारे वसतीति । तदेवमनेन दृष्टा-न्तेन प्रव्रज्यायामाभिमुख प्रव्रजित एवोच्यते । उक्तञ्च नैश्चयिक-नयवक्तव्यतामङ्गीकृत्य भगवत्याम् "नेरइए ण भंते नेरइरसु उवव-ज्जइ अनेरइए ? गोयमा ! नेरइएसु उववज्जइ नो अनेरइएसु उववज्जइ " ॥

अथ रजोहरणादिपदानि व्याचष्टे ॥

रयहरणे विमज्झिमं, गुच्छगगहणे जहण्णगगहणं ।
पडिग्गहगहणं गहण, उक्कोसओ होइ अवहिस्स ॥

रजोहरणग्रहणेन विमध्यमोपधिर्गृहीतो गुच्छकग्रहणेन जघन्यो-पधिग्रहणं भवति प्रतिग्रहग्रहणेन चोत्कृष्टस्योपधेर्ग्रहण मन्तव्यम्।

पडिपुण्णा पडुयारा, कसिणग्गहणेण अप्पणो तिण्णि ।
पुव्विं उवट्ठितो पुण, जो पुव्वं दिक्खितो आसी ॥

कृत्स्नवस्त्रग्रहणेनेदमुक्त भवति । तेन प्रव्रजता आत्मनो योग्या-स्त्रय प्रत्यवतारा प्रतिपूर्णा ग्रहीतव्या पूर्वमुपस्थितः पुनः स उच्यते य पूर्वदीक्षित आसीद् एप सूत्रार्थः । अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

सोऊण कोइ धम्मं, उवसंतो परिणओ य पव्वज्जं ।
पुच्छति पुयं आयरिय उव-ज्झायपवत्तिसंघाडिए चेव ॥

इह कश्चिद्यथारूपाणां स्थविराणामन्तिके धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः प्रतिबद्धः प्रव्रज्यायां च परिणत. आचार्यान् पृच्छति आदिशत क्षमाश्रमणा. किं मया कर्त्तव्यम् । सूरयस्तस्य सारसत्त्व ज्ञात्वा ब्रुवते (पूयति) चैत्यानां विपुलां पूजां कुरु श्रमणसंघस्य च वस्त्रा-दिभि. प्रतिलाभनं कुरु। एवमुक्ते स तथैव चैत्यानां श्रमणसंघस्य च पूजा करोति। अथ श्रमणसङ्घ न पूजयितुमीशस्तत आचार्य-स्योपाध्यायस्य प्रवर्त्तिन. संघाटकसाधोश्च वस्त्रादिभि. पूजा विधातव्या । इदमेव भावयति ॥

णंतगघतगुलगोरस, फासुपडिलाभणं समणसंघे ।
असति गणिवायगाणं, तदसति सव्वस्स गच्छस्स ॥

स प्रविव्रजिषु. श्रमणसङ्घस्य सकलस्यापि प्रासुकै र्घृतैर्वस्त्रघृ-तगुडगोरसादिभिरेषणीयैः प्रतिलाभनां करोति । अथ नास्त्येताव-त्सारं ततो ये गणिन आचार्या ये च वाचका उपाध्यायास्तेषां सर्वेषामपि करोति । अथ नास्त्येतावती शक्तिस्ततो यस्मिन् गच्छेऽसौ प्रव्रजिष्यति तस्य सर्वस्यापि प्रतिलाभनां विधत्ते ॥

तदसति पुव्वत्ताणं, चउण्ह सीसतिय तेसि वावारो ।
हाणी जा तिण्णि सयं, तदभावे गुरुउ सव्वं पि ॥

तस्या अपि सकलगच्छपूजाक्षमायाः सामग्र्या अभावे ये पूर्व-माचार्या ये च वाचका उपाध्यायास्तेषां सर्वेषामपि करोति आ-चार्योपाध्यायप्रवर्तिसंघाटकसाधुलक्षणाश्चत्वार उक्तास्तेषां पूजां करोति । तेषां चाचार्यादीनां व्यापारोऽर्थकथनादिस्तस्य पुरतः शिष्यते कथ्यते यथा आचार्योऽर्थं व्याख्यानयति उपध्यायः सूत्र वाचयति प्रवर्तते य. स सयमादौ प्रवृत्तिं कारयति संघाटक सा-धुर्भिक्षाविचारभूम्यादौ गच्छतां साहाय्यं विधत्ते अत एषां पूजा विधेयेति । अथ नास्त्येतावती शक्तिस्ततो यतो यथामाहात्म्य प्रथममाचार्योपाध्याययोस्तथाप्यशक्तौ केवलस्यैवाचार्यस्य पूजां करोति । एवमप्यशक्तौ स्वयमात्मनो योग्यान् त्रीन् प्रत्यवतारान् तदभावे एकमपि प्रत्यवतारमादाय प्रव्रजति । अथ नास्ति तस्यै-कोऽपि प्रत्यवतारस्तत. सर्वमपि पात्रनिर्योगादिक तस्य गुरवः प्रयच्छन्ति । अथास्य विद्यमानधनवस्यो क्रमकोटिदोषैर्विशोधि-कोटिदोषैर्वान्यविशुद्धानि वस्त्राणि प्रयच्छतो ग्रहीतु कल्पन्ते नवेति चिन्तां चिकीर्षुराह ॥

अप्पणो कीतकडं व, आहाकम्मं व घेत्तु आगमणं ।
संजोए चेव तधा, अणिद्दिट्ठे मग्गणा हुंति ॥

स गृहस्थशैक्ष आत्मनो योग्य वस्त्रपात्रादि क्रीतकृतं वस्त्वाधा-कर्म वा गृहीत्वा गुरूणामन्तिके दीक्षाग्रहणायागमनं कुर्यात् । अत्र क्रीतकृतग्रहणेन विशोधिकोटिदोषा गृहीताः । अमीषा च दोषाणामनिर्दिष्टे उपलक्षणत्वान्निर्दिष्टे वा ये संयोगा भङ्गकास्ते षां मार्गणा कर्त्तव्या भवतीति द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति ।

कीयम्मि अ णिद्दिट्ठे, तेणोग्गहियम्मि सेऽणगो कप्पे ।
निद्दिट्ठम्मि ण कप्पति, अहव विसेसो इमो तत्थ ॥

क्रीतकृत द्विधा निर्दिष्टमनिर्दिष्टं च । निर्दिष्ट नाम वस्त्रपात्रादिक क्रीणीत इत्थमुद्देश करोति अमूनि मम भविष्यन्ति अमूनि सा-धूनां दास्यामि तद्विपरीतमनिर्दिष्टम् । एवमन्येष्वपि दोषेषु भा-वना कर्त्तव्या तत्र यानि वस्त्राणि तेनानिर्दिष्टानि क्रीतानि तेषां म-ध्ये यत्तस्यानुचित वस्त्रजात तेनावगृहीते सति शेषाणि साधूनां कल्पन्ते निर्दिष्टे तु साधूनामर्थाय यत् क्रीत तत् किमपि न क-ल्पते । अथवा तत्र निर्दिष्टेऽय विशेषो ऽभिधीयते ।

मज्झंतिगाण णिण्हह, अह तुज्झट्ठए परिधित्थं ।
सेहेहिं ति व वत्थं, तदभावे विगिंचंति ॥

मदीयानि मया आत्मार्थं क्रीतानि वस्त्राणि यूय गृह्णीथ अह तु युष्मदीयानि युष्मदर्थं मयैव क्रीतानि वस्त्राणि परिगृहीष्ये एव तेनोक्ते तान्यात्मार्थक्रीतानि कल्पन्ते । अथवा स ब्रूयात् यावत् युष्मदर्थमेतानि क्रीतानि इत ऊर्ध्वं यत् जानीथ तत् कु-रुथ ततस्तन्निर्दिष्ट वस्त्रप्रत्यवतारा. शैक्षस्यानुपस्थापितस्य प्रय-च्छन्ति । अथ नास्ति शैक्षो वा पर किमह साधुर्न प्रथामि यदे-वमेतानि मम दीयन्ते इति कृत्वा नेच्छति ततस्तानि (विगिं-

चंति) परिष्ठापयन्ति । एवं परिष्ठाप्यमानेषु स शैक्षो ब्रूयात् ।

एत पि मा उज्जह देह मज्झं, मज्झव्वगा गेएहह एक दो वा ।
अत्तट्ठिए होंति कदायि सव्वे, सव्वे वि कप्पंत वि सोधएसा ॥

एतमपि वस्त्रप्रत्यवतारमकल्पनीयतया मासमोज्झत किं तु मह्य प्रयच्छत मदीयप्रत्यवतारान् चैक द्वौ वा यूयं गृह्णीत । अथ तेन बहव प्रत्यवतारा क्रीतास्ततः को विधिरित्याह यान् प्रत्यवतारान् एकं वा द्वौ वा त्रीन् वा स दाता आत्मार्थयति स त्रीन् वा कदाचिदात्मार्थं करोति तदा सर्वेऽपि कल्पन्ते एष विशोधिकोटिविषयो विधिरुक्तः । अथाविशोधिकोटिविषयं तमेवाह ॥

उग्गमकोडीए वि हु, संछोभं तत्थ हाति अनिद्दिट्ठे ।
इयरम्मि विसंछोभो, जइ सेहो सयं भणइ ॥

उद्गमकोटिर्नाम आधाकर्मादयोऽविशोधिकोटयो दोषास्तेष्वपि यदि निर्दिष्टमिदं साधूनां दास्यामि इद मम भविष्यतीति निर्विशेषमन्तरेण वस्त्रादि क्रीतं तन्न कल्पते (संछोभहोऽनिद्दिट्ठत्ति) अनिर्दिष्टेऽपि यद्येषां दाता ब्रूयात् येर्वक्षैर्यूयं निमन्त्रिता यदि तानि नेच्छथ तत इमानि मत्परिगृहीतानि गृह्णीत यानि युष्माभि प्रतिषिद्धानि तानि मम भविष्यन्ति एवमसौ सक्षोभ प्रक्षेप क कृत्वा यदि ददाति तर्हि सर्वाण्यपि कल्पन्ते (इतरम्मिविसंछोभोत्ति) इतरन्नाम निर्दिष्ट तथाऽपि सक्षोभो यदि स्यात्ततः कल्पते । सक्षोभ पुनरस्य यथाऽसौ गृहस्थशैक्ष स्वयमन्येनानुपदिष्ट आत्मनैवेत्थं भणति ।

उक्कोसगा व दुक्खं व, वज्जिया केसितो हमि वितेव ।
इति संछोभं तेहिं, वदंति निद्दिट्ठगेसुं पि ॥

यानि वस्त्राणि मया युष्मदर्थं कारितानि उत्कृष्टानि बहुमूल्यानि तत कथ परित्यजन्ति दु ख वा महता प्रयासेन वाऽपि तानि अत क्लेशित क्लेश प्रापितोऽह वृथैवामीभिः युष्माकमनुपकरणात् अतो मदीयानि यूय गृह्णीथ युष्मदीयानि च मम भवन्तु । इत्येव तत्र निर्दिष्टेष्वपि संयतनिमित्त निर्दिश्य कृतेष्वपि संक्षोभं कल्पनीयताकारणं वदन्ति तीर्थकरादय । संयतनिर्दिष्टान्यपि कल्पन्त इति भाव । अत्र मतान्तरमुपन्यस्य दूषयन्नाह ।

जा संजयणिद्दिट्ठा, संछोभम्मि वि न कप्पते केई ।
तं तु ण जुज्जइ जम्हा, दिज्जति सेहस्स अविसुद्धं ॥

या अविशोधिकोटि संयतार्थ निर्दिष्टा साधून्निर्दिश्य कृता सा संक्षोभे कृतेऽपि न कल्पते एव केचिदाचार्या ब्रुवते तत्तु न युज्यते यस्मात् शैक्षितस्यानुपस्थापितस्याविशुद्धमनेषणीय वस्त्रपात्रादि दीयते इत्यत्रैव चतुर्थोद्देशक वक्ष्यति तत्र शैक्षयोग्यमविशुद्ध साधुभि परिगृहीत भवति अतो ज्ञायते अविशोधिकोटिदोषैर्दुष्टमपि वस्त्रादिक संक्षोभे कृते कल्पते । किंचान्यत् ॥

जह अप्पट्ठा कम्मं, परिभुत्तं कप्पते य इतरेसिं ।
एमेव य अम्हाणं, परिगहियं वि कप्पते इयरेसिं ॥

यथा गृहस्थेनात्मनोऽर्थायाधाकर्म कृतं तदितरेषां संयतानां परिभोक्तुं कल्पते । इत्यमुनैव ज्ञापकेनास्माकमपि स शैक्षो गृहस्थ एवेति कृत्वा तेन परिगृहीत ममेदमिति बुद्ध्या स्वीकृतमितरदपि संयतनिर्दिष्टमपि कल्पते । इतरेषां साधूनां ये पुनराचार्या अविशोधिकोटिनिर्दिष्ट संक्षोभेऽपि कृते नेच्छन्ति । ते इद कारणमुपवर्णयन्ति ॥

सहस्साणुवादिणा तेण, णिद्दिट्ठे केइ ण इच्छंति ।
अणिद्दिट्ठे पुण छोभं, वदंति परिफग्गु मंतव्वं ॥

यथा सहस्रानुपाति विषं भक्ष्यमाण सहस्रान्तरितमपि पुरुषं मारयति । एवमाधाकर्माद्युपभुज्यमानं सहस्रान्तरितमपि साधुं संयमजीविताद् व्यपनयति न सहस्रानुपातिविषजातेन केचिदाचार्या साधुनिमित्तं निर्दिष्टे संक्षोभेऽपि कृते नेच्छन्ति अनिर्दिष्टे पुन क्षोभ कृत्वा ददानस्य कल्पनीय वदन्ति । एतदेव परिफल्गु निस्सारं मन्तव्यम् । कथमित्याह ॥

एवं पि सप्पइरमीसेण, परिसरग तेण फग्गुमिच्छामो ।
दुविधं पि ततो गहियं, कप्पाविरतणावभासतं ॥

यत्ते आचार्यदेशीया इति निर्दिष्टे संक्षोभे कृते कल्पनीय ब्रुवते एतदपि स्वगृहपतिमिश्रेण सदृशं तेन कारणेन परिफल्गु वयमिच्छामः तदीयानि प्रायेण ह्येतदपि स्वगृहपतिमिति कृत्वा अकल्पनीयं प्राप्नोति तच्चानिष्टं ततो द्विविधमपि निर्दिष्टानिर्दिष्टभेदाद् द्विप्रकारमपि तेन शैक्षेण संक्षोभकारणेनागृहीतमात्मीकृतं सत्कल्पते । तथा चाऽत्र रत्नाकरो मे रुद्दीघरो ज्ञातदृष्टान्त । तथा हि तत्र प्रक्षिप्त तृणादिकमपि सुवर्णीभवति एवं शैक्षगृहस्थेन परिगृहीत सर्वमपि कल्पनीय भवति । अपि च ॥

जहट्ठकडं चरिमाणं, पडिसिद्धं तं हि मज्झिमो गहियं ।
पडिवरणपंचजामे, कप्पति तेसिं तहाऽसिं ॥

यथा चरमतीर्थवर्त्तिनां पञ्चयामिकानां साधूनामर्थाय किमपि वस्त्र वा पात्रं वा कृत तच्च तैः प्रतिषिद्ध न गृहीत मध्यमैश्च पार्श्वनाथतीर्थवर्तिभिश्चतुर्यामिकैस्तत्प्रतिगृहीत ते चतुर्यामिकाः पञ्चयामधर्मप्रतिपन्नास्ततस्तद्वस्त्रादिकं तेषामन्येषामपि पञ्चयामिकानां परिभोक्तु कल्पते । एवमत्रापि साधूनामर्थाय कृत तैः प्रतिषिद्धं शैक्षगृहस्थेनात्मार्थकृत सद्दीयमान कल्पते ।

अथ संयोगद्वार व्याख्याति ॥

उग्गमविसोधिकोटी, दुगादिसंजोगओ बहू वत्थं ।
पत्तगमीसिगासु य, णिद्दिट्ठा तह अणिद्दिट्ठा ॥

इहोद्गमकोटिभेदा आधाकर्ममिश्रजातादयस्तेषां द्विकादिसंयोगतो द्विकत्रिकचतुष्कादिसंयोगनिष्पन्ना बहवोऽत्र भङ्गका भवन्ति । ते च सुगमतया स्वयमभ्यूह्य मन्तव्या । एव विशोधिकोटिभेदानामपि क्रीतकृतादीना द्विकादिसंयोगनिष्पन्नाः तथैव बहवो भङ्गका । एते च प्रत्येकं भङ्गका उच्यन्ते । एतेषामेवोद्गमकोटिभेदानां च परस्पर द्विकादिसंयोगनिष्पन्ना एवमेव बहवो भङ्गका भवन्ति । ते च मिश्रभङ्गका भण्यन्ते । सर्वेऽप्येते द्विधा निर्दिष्टा अनिर्दिष्टाश्च एतासु प्रत्येकमिश्रासु भङ्गपङ्क्तिषु कल्प्याकल्प्यविभागा प्रागुक्तप्रकारेणावसातव्याः । अथ वक्ष्यमाणार्थसंबन्धनाय प्रस्तावनां करोति ।

वत्था व पत्ता व परे वि हुज्जा, दव्वंपि कुज्जा णिवणे सयंपि ।
णिज्जुत्तजं कं व रयोहरादि, कोई किणे कुत्तियआवणातो ॥

वस्त्राणि वा पात्राणि वा प्रायो गृहेऽपि भवेयु । यत्तु निर्युक्तमाण्ड पात्रनिर्योगोपकरणं वाशब्दस्य व्यवहितसंबन्धतया रजोहरणादिकं वा यदन्यत्र दुर्लभमुपकरण तत् कश्चित्पुन बुद्धिमान् साधूनां समीपे दृष्ट्वा तदनुसारेण स्वयमपि कुर्यात् । कश्चित्तदेव कुत्रिकापणात् क्रीणीयात् । वृ० ३ उ० । (कुत्रिकापणवक्तव्यता स्वस्थान एव) अथ सप्त नियोगान् व्याचष्टे ।

तिन्नि य अप्पट्ठेवी, चत्तारि य पूयणारिहे देंति ।
दिंतस्स य घित्तव्वो, सेहस्स विगिंचणं वावि ॥

सप्त नियोगान् गृहीत्वा प्रव्रजतोऽथ गुरुस्तेषां सप्तानां मध्यात् त्रीन् स शैक्ष आत्मनोऽर्थाय गृह्णातीत्यर्थः । चतुरश्च नियोगान् पूजनार्हाणामाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिसंघाटकसाधूनां प्रयच्छति तस्य चैव प्रयच्छतो यद्यसौ नियोगं शुरूस्ततो ग्रहीतव्य. । अथाशुद्धस्ततः शैक्षस्य दातव्य. । शैक्षस्याभावे 'विगिंचनं' परिष्ठापनं तस्य क्रियते । एवं तस्य त्रीन्नियोगान् गृहीत्वा प्रव्रजितस्य यद्भवति तद्दर्शयति ।

सज्झाए पलिमंथो, पडिलेहणिया य सो हवइ खिन्नो ।
एगो व देति तहि तं, दोन्नि य से अप्पणो हुंति ॥

तस्य त्रीन्नियोगानुभयकालमप्युपेक्षमाणस्य महान् स्वाध्यायविपरिमन्थो भवति । तया च महत्या प्रत्युपेक्षतया स खिन्नः परिश्रान्तो भवति तत एव निर्विण्णः सन् एकं नियोगं सूरीणां ददाति प्रदत्ते च तस्मिन् तस्य द्वौ नियोगावात्मनः सत्ताया भवत. । एवमप्यसौ द्वाभ्यां नियोगाभ्यां नैव साधुभ्योऽन्यादृश इव दृश्यते । ततः ।

निग्गमणे बहुभंडो, कत्तो कतरो व वाणिओ एइ ।
बितियं पि देति तहिं, सा भंते दुल्लहं होज्जा ॥

मासकल्पे पूर्णे ततः क्षेत्रान्निर्गच्छतां मध्ये स एवैको बहुभण्डोबहूपकरणो दृश्यते । ततो लोकस्तमुद्दिश्य ब्रूते । अहो कुत. कतरो वा अयं वणिज एवमुपस्करसमारित. समुपैति । एवमुपहासमाकर्ण्य स द्वितीयमपि नियोगं गुरूणां ददाति । तत्र गुरुभिर्भण्यते हे भदन्त ! आर्य मा ते तव भूयो दुर्लभमुपकरणं भवेत् अत आत्मपार्श्वे एव तावद्धारय । स प्राह ।

भारेण खंधे च कमी य बाहा, पोलिज्जए णिस्ससए य उहुं ।
तेणे य ओधीणमभिद्दवेज्जा, ण एत्तिया इति ममोवजोगं ॥

मम मार्गे गच्छतो द्वयोर्महान् भारो भवति तेन स्कन्धः कटी बाहावगाढतर पीड्यन्ते । ततश्चेत्थमूर्ध्वनिश्वासेनाकुलो भवामीत्यर्थः । स्तेनाश्च मामुपकरणमभिनं दृष्ट्वा उपधिकारणादभिद्रवेयु । एतावन्ति च वस्त्रपात्राणि ममोपभोगं नायान्ति । यच्च भगवद्भिरुक्तं मा भूयो दुर्लभं भवेत् । तत्रोच्यते ॥

जं होहि ति बहुगाण, इम्म धम्मचरणं पवत्ताण ।
तं होहिति अम्हं पि, तुम्हेहिं सम पवण्णाण ॥

यदि युष्माकं बहूनामस्मिन् भागवते शासने धर्मचरणं प्रपन्नानामुपकरणं भविष्यति तदस्माकमपि युष्माभिः समं हिण्डमानानां चारित्रं प्रपन्नानां भविष्यति एष तत्प्रथमतया प्रव्रजतो विधिरुक्त । अथ पूर्वोपस्थितविषयं तमेवाह ॥

सम्हो वीरणसढए, अब्भुट्ठाणं पुणो अजाणंते ।
कतकारितं व कीतं, जाणते अधापरिग्गहिते ॥

यश्चारित्रं परित्यज्य गृहवासमुपगतस्तस्य कथं पुनरपि प्रव्रज्यायामभ्युत्थानसिद्धि' सजाता अत्र वीरणसढकदृष्टान्तो वक्तव्य । एवं तस्य पुनरभ्युत्थानं भवति स च द्विधा जानानोऽजानानश्च य कल्प्याकल्प्यविभागं जानाति स जानानस्तद्विपरीतोऽजानान । अगीतार्थ इत्यर्थः (अजानन्ति) भूय प्रव्रज्यायामभ्युत्तिष्ठमाने कृतं वा कारितं वा क्रीतं वा दानं वा त पूर्वोक्तविधिना कल्पते वस्तु जानानस्य यथा परिगृहीतानि शुद्धान्येव ग्रहीतुं कल्पन्ते न कृतकारितादीनि । अथ वीरणसढकदृष्टान्तमाह ॥

जह सो वीरणसढओ, णइतीररुहो जलस्स वेगेण ।
थोवं थोवं खणता, पक्खित्तो भूमिणिहितमूओ वि ॥

यथा स कश्चिद्विवक्षितो वीरणसढको वीरणानां तृणविशेषाणां स्तम्बो नद्यास्तीरे रोहति स्म जायते स्मेति नदीतीररुहो नद्याःप्रत्यासन्नतया जलस्य वेगेन स्तोकं स्तोकं खनता भूमिकानिहितमूत्राज्जाड्योऽप्यचिरादेव श्रोतसि प्रक्षिप्त' । ततश्च श्रोतसा प्रवाहयित्वा समुद्रं प्रापित इति भाव । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः ।

ठियमसियं दिट्ठेहिं, साधूहिं जहारिहं समणुणातो ।
उएहे उएहतरेहि य, चालिज्जति बद्धमूलो वि ॥

कश्चित्पश्चात्कृतः सिद्धपुत्रकादिवेषेण साधूनामागमनभूते क्वचिद् ग्रामे गृहवासमध्यास्य तिष्ठन् यत्तत्र मासकल्पं वर्षाकल्पं वा स्थिता साधवो ये (वगमित्ति) तत्र गच्छन्त आगता वा द्वित्राणि दिनानि तिष्ठन्ति तैर्दृष्टैर्दृष्टैश्च साधुभिर्यथार्हं यथायोग्यं समनुज्ञातः सन् उष्णैरुष्णतरैश्च वचनैरुदकवेगस्थानीयैरनेकशः प्रेर्यमाणः कलत्रादिसपरिग्रहः विस्तरेण बद्धमूलोऽपि चाल्यते । गृहवासं त्याजयित्वा संयमरूपे श्रोतसि प्रक्षिप्य गच्छरत्नाकरं प्राप्यत इति भाव ।

अथ जानानाजानानविषयविधिविभागमाह ।

कप्पाकप्पविसेसो, अणधीए जो उ संजमा चलिओ ।
पुव्वगमो तस्स भवे, जाणंते जाइ सुद्धाइ ॥

वस्त्रपात्रादिविषये कल्प्याकल्प्यविशेषे अनधीते सति यै. संयमाच्चलितस्तस्य पूर्वं प्राक्तनो नाम प्रकारो भवति यथा शैक्षगृहस्थस्योक्त' । यस्तु कल्प्याकल्प्यविधिं जानाति तस्य सर्वाणि शुद्धान्येव ग्रहीतुं कल्पन्ते न क्रीतादिदोषदुष्टानि । बृ० ३ उ० ।

(११) निर्ग्रन्थ्याः प्रव्रज्यां गृह्णन्त्या उपधि. ।

(सूत्रम्) निग्गंथीएणं तप्पढमयाए संपव्वयमाणी कप्पइ रयहरणगोच्छपडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए कप्पइ से अहापरिग्गहिएहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्ता ।

अस्य व्याख्या प्राग्वत् नवरं निर्ग्रन्थ्याश्चतुर्भिः प्रत्यवतारैः सहिताया प्रव्रजितुं कल्पते इति विशेष. । अथ भाष्यम् ।

एसेव गमो णियमा, णिग्गंथीणं पि होइ नायव्वो ।
जाणंतीणं कप्पति, घेत्तुं जे आधापरिग्गहितो ॥

एष एव गमो निर्ग्रन्थीनामपि भवति ज्ञातव्यः । सा च पूर्वोपस्थिता भ्यादित्यत्र सूत्रे तासां कल्प्याकल्प्यविभागं जानतीनां यानि यथापरिगृहीतानि कल्पन्ते ग्रहीतुम् (जे) इति वाक्यालङ्कारे ।

समणीणं णाणत्तं, णिज्जोगा तासिं अप्पणो जोग्गा ।
चउरो पंच व सेसा, आयरियादीण अट्ठाए ॥

निर्ग्रन्थेभ्य सकाशात् श्रमणीनामिदं नानात्वं विशेष उच्यते तासां प्रव्रजन्तीनामात्मनो योग्याश्चत्वारो नियोगा भवन्ति शेषास्तु आचार्यादीनामर्थाय चत्वारो वा पञ्च वा । तत्र यदा चत्वारस्तदा एकमाचार्यस्य द्वितीयं प्रवर्तिन्यास्तृतीयं गणावच्छेदिन्या चतुर्थं सघाटकसाध्व्या. प्रयच्छति । यदा पञ्च तदा तथैवाचार्यादीनां पञ्चमः पुनरुपाध्यायस्य योग्य इति चूर्णिकाभिप्राय । बृहद्भाष्यकार पुनराह । चत्तारि अप्पणो से, चउरं पच यहव सेसगा हुंति । आयरिओवज्झाए, पवत्तिणीमिसे य सघाडे ॥ पचेए अभिग्गोगा अभिओगा वन्नहुति चत्तारित्ति" ।

(१३) रात्रौ विकाले चोपधिग्रहणम् ।

(सूत्रम्) नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गहित्तए

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्ध इत्याह ।

जह सेज्जाणाहारो, वत्थादेसे व सावयपसंगादि ।
यं दिट्ठवत्थग्गहणं, कुज्जा उ निसि अतो सुत्तं ॥

यथा शय्यां वसतिं, कृत्वा रात्रौ ग्रहीतु कल्पते एवमेव वस्त्रादिकमपि कल्पयिष्यते इत्यतिप्रसङ्गाद्दिवादृष्टस्य वस्त्रस्य निशि रात्रौ ग्रहणं मा कुर्यादित्यत इदं सूत्रमारभ्यते इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा वस्त्रं वा प्रतिग्रहं वा कम्बलं वा पादप्रोञ्छनं वा प्रतिग्रहीतुमिति सूत्राक्षरगमनिका ।

अथ भाष्यविस्तरः

रत्तो वत्थग्गहणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया ।
आणाइणो य दोसा, आवज्जणसंकणा जाव ॥

रात्रौ वस्त्रग्रहणे मासा उद्घाताः प्रायश्चित्तम् आज्ञादयश्च दोषाः । तथा रात्रौ भक्तग्रहणेऽपि तथैव वक्तव्याः ।

बिइयं विही विवित्ता, पडिसत्थाई समिच रयणीए ।
ते य पराचिय सत्था, वञ्चिहिंति तु जए व एक्को वा ॥

द्वितीयपदमभिधीयते (विहित्ति) अध्वनि विविक्ता मुषिताः सन्तः प्रतिसार्थादिकं समेत्य प्राप्य रजन्यामपि वस्त्रप्रतिग्रहादिकं गृह्णन्ति तत्रापि कथमित्याह तावुभावपि सार्थौ प्रागेव प्रातरेवानुद्गतसूर्ये चलिष्यतः एको वा अन्यतरः सार्थप्रतिसार्थयोर्मध्ये चलिष्यतीति मत्वा रात्रावपि ग्रहणं कुर्वन्ति । अत एवोत्सर्गपदे अध्वा गन्तुमेव न कल्प्यते यदेते दोषा उत्पद्यन्ते तथा चाह ।

उदरंसु भिक्खु अद्धाण, पव्वज्जणं तु दप्पेण ।
लहुगा पुण सुद्धपदे, जं वा आवज्जई जत्थ ॥

व्याख्यातार्था द्वितीयपदमाह ।

नाणट्ठदंसणट्ठा, चरित्तट्ठा एवमाइ गंतव्वं ।
उवगरणपुव्वपडिले-हिएण सत्थेण गंतव्वं ॥

इयमपि गतार्था ।

सत्थं वि वत्थमाणे, असंजए संजए य तदुजए ।
मग्गंते जयणाणं, छिन्नं पि हु कप्पए घेत्तुं ॥

ज्ञानाद्यर्थमध्वानं प्रतिपन्नानामपान्तराले चतुर्विधाः स्तेना भवेयुः एके असंयतप्रान्ताः १ अन्ये संयतप्रान्ताः २ अपरे तदुभयप्रान्ताः ३ अन्ये तदुभयभद्रकाः ४ तत्रासंयतप्रान्तैः स्तेनैः सार्थे विद्यमाने मनुष्यगणे त एव साधूनां पार्श्वात् वस्त्राणि मार्गयन्ति यतनया दानं कर्त्तव्यं प्रत्यर्प्यमाणं च छिन्नमपि तदेव वस्त्रं ग्रहीतु कल्पते नान्यदिति समुद्रगाथासमासार्थः । अथैनामेव विवरीषुराह ॥

संजयभद्दा गिहिभद्दगा य, पंतोभये उभयभद्दा य ।
तेणा होंति चउद्धा, विगिंचणा सुद्धजईणं ॥

एके स्तेनाः संयतभद्रकाः परं गृहस्थप्रान्ताः एके गृहस्थभद्रकाः परं संयतप्रान्ताः अन्ये उभयेषामपि प्रान्ता अपरे उभयेषामपि भद्रकाः एवं स्तेनाश्चतुर्विधा भवन्ति । अत्र च द्वितीयतृतीययोर्द्वयोर्भङ्गयोर्यतीनां विवेचनं वस्त्रेभ्यः पृथक्करणं भवति । अथ यत्र संयता न विविक्तास्तत्र विधिमाह ।

जइ देंति जाइयाजा-इया य न वि देंति लहुगगुरुगा य ।
सागरदाणं गमणं, गहणं तस्सेव वत्थस्स ॥

साधवो यद्ययाचिताः सन्तो वस्त्राणि गृहिणां प्रयच्छन्ति तदा चतुर्लघु । अथ याचिताः सन्तो न प्रयच्छन्ति तदा चत्वारो गुरवः । अतः सागारिकं प्रातिहारिकं भणित्वा प्रयच्छन्ति यथा भवद्भिः प्रत्यर्पणीयमिदमस्माकं यद्यवाग् वर्तमाना गृह वा गता अन्यद्वस्त्रं लभध्वे गमनं नाम येषां गृहस्थानां तद्वस्त्रं प्रदत्तं ते यदनेन पथा गच्छन्ति ततः साधुभिरपि तेनैव गन्तव्यं यद्यन्येन व्रजन्ति ततश्चतुर्लघु यदा ते अध्वनो निर्गता भवन्ति तदा छिन्नस्यापि तस्यैव वस्त्रस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं नान्यस्य । ततः पुनर्वस्त्रं कीदृशं दातव्यमित्याह ।

दंडपरिहारवज्जं, चोलपट्टपडलपत्तबंधवज्जं च ।
परिजुण्णाणं दाणं, उड्डाहपओसपरिहरणा ।

महती जीर्णकम्बलिका दण्डपरिहार उच्यते तद्वर्जं चोलपट्टपडलकपात्रबन्धवर्ज्यानि यानि शेषाणि परिजीर्णवस्त्राणि तेषामुड्डाहप्रद्वेषपरिहरणार्थं दानं कर्त्तव्यम् । उड्डाहो नाम अहो अमीषामनुकम्पा ये विविक्तानामप्यस्माकं चीवराणि न प्रयच्छन्ति प्रद्वेषो नामाप्रीतिकं तद्वशात्तेषां तापनादयो दोषास्तत्परिहरणार्थं दातव्यम् (छिन्नपित्ति) योऽयमपि शब्दस्तत्सूचितमेवमपरमाह ।

धोवस्स व रत्तस्स व, गहणे गिण्हम्मि चउलहुगा ।
तं चेव घेत्तुं धोउ, परिभुंजे सुद्धमुब्भेज्जा ॥

यदि तैर्गृहस्थैस्तद्वस्त्रं धौतं वा रक्तं वा तथाऽपि तस्यैव ग्रहणं कर्त्तव्यम् । अथ साधुप्रायोग्यं न कृतमिति मत्वा न गृह्णन्ति अन्यस्य वा ग्रहणं कुर्वन्ति तदा चतुर्लघुकः । अतस्तदेव वस्त्रं गृहीत्वा क्षारादिना धावित्वा साधुप्रायोग्यं कृत्वा परिभुञ्जते । अथातीवजीर्णं ततः उज्झेयुः परिष्ठापयेयुरित्यर्थः । गत प्रथमो भङ्गः । अथ गृहस्थभद्रकाः संयतप्रान्ता इति द्वितीयो भङ्गो भाव्यते तत्र भूयश्चतुर्भङ्गी संयत्यो विविक्ता न संयताः १ संयता विविक्ता न संयत्यः २ संयत्यो विविक्ताः संयता अपि विविक्ताः ३ न संयत्यो नापि संयता विविक्ताः ४ अत्र विधिमभिधित्सुराह ।

सड्ढाणे अणुकंपा, संजयपडिहारिए निसिद्धो य ।
असई अतदुभये वा, जयणा पडिसद्धमाईसु ॥

यत्र संयता गृहिणश्च विविक्ता न संयत्यस्तत्र संयतीनां स्वस्थानं साधवः तत्रानुकम्पा कर्त्तव्या । साधूनां वस्त्रं दातव्यमित्यर्थः । साधुभिरपि तत्प्रातिहारिकं ग्राह्यम् । यत्र संयत्यो गृहस्थाश्च मुषिता न संयतास्तत्र साधूनां संयत्यः स्वस्थानं तासां वस्त्रदानेनानुकम्पा कर्त्तव्याः तच्च निसृष्टं निजं दातव्यं न प्रातिहारिकं ग्राह्यम् (असईत्ति) अथात्मनोऽप्यधिकमुपकरणं नास्ति ततः प्रातिहारिकमपि दातव्यं तदुभयं साधु साध्वीवर्गः तस्य विविक्तस्य वस्त्राभावे प्रतिसार्थादिषु यतना वस्त्रान्वेषणविषया कर्त्तव्येति समुद्रगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति ।

न विवित्ता जत्थ मुणी, समणी य गिहा जत्थ अट्ठा ।
सड्ढाणणुकंप ताहिं, समणुत्तियरा स वि तहेव ॥

यत्र मुनयो न विविक्ताः श्रमण्यश्च गृहिणश्च यत्र (उच्चूढत्ति) मुषिता तत्र स्वस्थाने सयतीवर्गे अनुकम्पा कर्त्तव्या । ताश्च सयत्यो द्विविधा सविग्ना असविग्नाश्च यदि वस्त्राणि सन्ति ततः सर्वासामपि दातव्यानि अथ न सन्ति तावन्ति वस्त्राणि तत सविग्नसंयतीनां देयानि ता अपि द्विविधा समनोज्ञा सांभोगिन्य इतराश्चासांभोगिन्य । यदि पूर्यन्ते ततो द्वयोरपि वर्गयोस्तथैव दातव्यानि । अथ न पूर्यन्ते ततः स्वस्थाने दातव्यानि समनोज्ञानामित्यर्थः अपिशब्दात् या धृतिदुर्बलास्ता सविग्ना असविग्ना वा स्थविरास्तरुण्यो वा भवन्तु नियमात्तासां दातव्यम्। यत्र साधवो विविक्तास्तत्रेय यतना ॥

लिंगट्ठभिक्खसीए, गिएहंति पमिहारियमेएसु ।
असमणुन्नियरगिहिसुं, जं लद्धं तंनिजं देंति ॥

लिङ्गार्थं तावदवश्यं रजोहरणमुखवस्त्रिके गृहीतव्ये भिक्षार्थं तु पात्रकबन्धपटलकादि शीतत्राणार्थं तु प्रावरणादि पतत्सर्वमपि प्रातिहारिकमेतेषु गृह्णन्ति । तद्यथा अमनोज्ञा असांभोगिका इतरे पार्श्वस्थादयो गृहिण प्रतीताः । अथैषु न प्राप्यते ततः सयतीनामपि हस्तात्प्रातिहारिकं ग्राह्यं तत्त्वचोलपट्टकादिकं यदा लब्धं भवति तदा तच्चिनं तत्सदृशं प्रातिहारिक ददति प्रत्यर्पयन्ति। इह द्वितीयभङ्गे व्याख्यायमाने प्रथमतृतीयचतुर्थभङ्गा अपि लेशत स्पृष्टा अवगन्तव्या । गतो द्वितीयभङ्ग । अथ तृतीय भङ्ग व्याख्यानयति ॥

उच्चूढे वि तदुभये, सपक्खपरपक्खतदुभयं होइ ।
अहवा वि समणसमणी, समणुन्नियरेसु एमेव ॥

तदुभये वा उच्चूढे मुषिते सत्येवमेव यतना ज्ञातव्या । अथ तदुभयमिति किमुच्यते इत्याह । स्वपक्षा सयता परपक्षा गृहस्थाः । अथवा तदुभय नाम श्रमणा श्रमण्यश्च । यद्वा तदुभय समनोज्ञा अमनोज्ञाश्च । यदि वा सविग्ना असविग्नाश्चेति तदुभयम् तत्र मुषिते सति विधिमाह ॥

असमणुन्नेतरगिहिसं-जईसु असइ पडिसत्थपल्लीसु ।
तिएहट्ठाए गहणं, पडिहारिय एतरे चेव ॥

अमनोज्ञा असांभोगिका इतरे पार्श्वस्थादयो गृहिणः सयत्यश्च प्रतीता एतेषु विविक्ततया वस्त्राभावे प्रतिसार्थे वा पल्ल्यां वा पञ्चकपरिहाण्या मार्गयितव्यम् । सयतीनां तु नास्ति पञ्चकपरिहाणिर्यदेव लभ्यते तदेव गृहीत्वा गात्राच्छादनं तामि कर्त्तव्य तच्च वस्त्र त्रयाणां लिङ्गभिक्षाशीतत्राणानामर्थाय प्रातिहारिक वा इतरद्वा निसृष्ट ग्राह्यम् ।

एवं तु दिया गहणं, अहवा रत्तिं मिलेज्ज पडिसत्थो ।
गीएसु रत्तिगहणं, मीसेसु इमा तहिं जयणा ॥

एष दिवा ग्रहणमभिहितम् । अथवा रात्रौ प्रतिसार्थो मिलेत् तत्र च यदि सर्वेऽपि गीतार्थास्ततो रात्रावेव गृह्णन्ति अगीतार्थमिश्रास्ततस्तेषु मिश्रेष्विय यतना । तामेवाह ।

वत्थेण व पाएण व, खिमंतए व अत्थमिए ।
आइच्चे उदिते य, गहणं गीयत्थसंविग्गे ॥

प्रतिसार्थे कश्चिद्दानश्राद्धादिरनुद्गते वा अस्तमिते वा सूर्ये वस्त्रेण वा पात्रेण वा निमन्त्रयेत् तत्र यदि सार्थो रात्रावेव चलितुकामस्तदा गीतार्था गुरुनालाचयन्ति उदिते सूर्ये वस्त्रग्रहण कृत्वा समायाता एव गीतार्था सविग्ना गृह्णन्ति । अथ प्रतिसार्थे पल्ल्यां वा लभ्यते न च सार्थादिक दृश्यते तत किमित्याह ।

खंमे पत्ते तह द-ब्भचीवरे तह य हत्थपिहणं तु ।
अद्धाए विवित्ताणं, आगाढं सेसणागाढं ॥

चर्मखण्डानि सयतीनां परिधानाय दातव्यानि । तदभावे शाकादिपत्राणि तदप्राप्तौ दर्भचीवर घन ग्रन्थयित्वा समर्पयन्ति सर्वथा परिधानाभावे हस्तेनापि गुह्यदेशस्य पिधानं कर्त्तव्यम् । एवमध्वनि विविक्तानामागाढ कारण मन्तव्यं शेषं तु सर्वमप्युपकरणाभावे अनागाढम् ।

असजई य निग्गया खुड्ड-गाइ पेसंति चउसु वग्गेसु ।
अप्पाहिं निवगारं, साहुं च वियारमाइगयं ॥

प्रतिसार्थपल्ल्यादौ वस्त्राणामभावेऽप्राप्तौ अध्वनो निर्गता उद्यान प्राप्ता सन्त क्षुल्लिकादिविवक्षित ग्राम नगर वा चत्वारः संयतसयतीश्रावकश्राविकालक्षणा ये वर्गास्तेषु तेषां समीपे प्रेषयन्ति । यद्वा सांभोगिका सयता इत्येको वर्ग अन्यसाम्भोगिका इति द्वितीय । सांभोगिका सयत्य इति तृतीयः अन्यसांभोगिका इति चतुर्थ । एतेषां वा समीपे प्रेषयन्ति । अथ नास्ति क्षुल्लक क्षुल्लिका वा ततो यस्ततो ग्रामान्नगराद्वा अगारो गृहस्थ समायातः यो वा साधुर्विचारभूम्यादावागतस्तम् (अप्पाहिंति) सदिशन्ति यथा साधुसाध्वीप्रभृतीनां सांभोगिकसयतादीनां वा भवता कथयितव्य साधव साध्व्यश्च बहिरुद्याने स्थिता सन्ति ते चाध्वनि स्तेनैर्विविक्ता अतस्तेषां योग्यानि चीवराणि प्रेषणीयानि । अत्र चाय विधि संयतै सयतानां वस्त्राणि दातव्यानि । सयतीनां तु सयतीभि । अथ तत्र सयताः सयत्यो वा न सन्ति तदा श्रावकाः श्राविका वा प्रयच्छन्ति । यत्र तु सयत्यः सयता वा सयतीनां प्रयच्छन्ति तत्र विधिमाह ।

खुड्डी थेराणप्पे, आलोगितरी ठवित्तु पविसंति ।
ते वि य पेसुमइगया, समणुन्न जढे जयंते व ॥

क्षुल्लिका उद्यान गत्वा स्थविरसाधूनां वस्त्राण्यर्पयन्ति । अथ न सन्ति क्षुल्लिका तत इतरा मध्यमास्तरुण्यो वा गत्वा स्थविराणामालोके स्थापयित्वा भूयोऽपि ग्रामं प्रविशन्ति । यत्र सयतैन सयतीनां दातव्य तत्र क्षुल्लका स्थविरसाध्वीनामर्पयन्ति क्षुल्लकाभावे शेषा अपि साधव स्थविराया आलोके स्थापयन्ति तेऽपि च सयता सयतीदत्तानि वस्त्राणि गृहीत्वा प्रावृत्य नगरमनिर्गता प्रविष्टाः सन्त आत्मयोग्यमुपकरणमुत्पाद्य संयतीसत्कवस्त्राणि प्रत्यर्पयन्ति एव मनोज्ञेषु विधिरुक्त (समणुन्नजढे जयते वत्ति) यत्र ते मनोज्ञा सांभोगिका न भवन्ति तत्रैव वक्ष्यमाणनीत्या यतन्ते ॥

अद्धाण निग्गयाई, संविग्गा सण्णिदुविह अस्साणी ।
संजई एसणमाई, असंविग्गा दोण्णि वा वग्गा ॥

अध्वनो निर्गता यत्र ग्रामादौ प्राप्तास्तत्रेमे भवेयु सविग्नविहारिणः अनेनेहान्यसांभोगिका गृह्यन्ते । संज्ञिन श्रमणास्ते द्विविधा सविग्नभाविता असविग्नभाविताश्च । सविग्नोऽपि द्विधा आभिग्रहिकमिथ्यादृष्टिभेदात् (सजई इत्ति) अमनोज्ञसयता सविग्नानामपि द्वौ वर्गौ तद्यथा साधुवर्ग साध्वीवर्गश्च । अत्र विधिरुच्यते (एसणमाईत्ति) सज्ञिप्रभृतिषु शुद्ध वस्त्रमप्राप्नुवन्त पञ्चकपरिहाणिक्रमेणैषणादोषेषु यतन्त इति ।

अथैतदेव सविस्तर व्याख्यानयति ॥

संविग्गतरं भाविय, सन्नीमिच्छा उ गाढणागाढे ।
असविग्गभिगाहरणं, पाउंजेसुं विसं हीला ॥

सञ्ज्ञिनो द्विविधाः संविग्नभाविता इतरभाविताश्च मिथ्यादृष्टयोऽपि द्विविधाः आगाढा अनागाढाश्च । तत्र प्रथमं संविग्नभावितेषु सञ्ज्ञिषु तदप्राप्तावनागाढमिथ्यादृष्टिषु शुद्धं वस्त्रमन्वेषणीयम् । असंविग्नभावितेषु अगाढमिथ्यादृष्टिषु च न गृह्णन्ति कुत इत्याह। असंविग्नभाविता मृगाहरणलुब्धदृष्टान्तं चेतसि प्रणिधानसाधुनामकल्प्यं प्रयच्छन्ति ये त्वाभिग्रहिका मिथ्यादृष्टयस्ते साधुदर्शनप्रद्वेषतो विषं प्रयुञ्जीरन् हीलां वा कुर्युः अहो अदत्तादाना अमी वराका इत्थं विनश्यन्ति इत्यादि। अथ नागाढमिथ्यादृष्टिषु शुद्धं न प्राप्यते ततः किं विधेयमित्याह ॥

असंविग्गभाविएसुं, अगाढेसुं जयंति पणगादी ।
उवएसो संघाडग, पुव्वगहियं च अवसेसं ॥

असंविग्नभावितेषु उद्गमादिदोषशुद्धं यद्वस्त्रं तद्गृहीतव्यं तदभावे अगाढमिथ्यादृष्टिष्वपि यथात्मप्रवचनोपघातो न स्यात् अथ तेष्वपि शुद्धं न प्राप्यते ततः संविग्नभावितादिष्वेव पञ्चकादिपरिहाण्या तावत् यतन्ते यावद्भिन्नमासं प्राप्ता भवन्ति ततोऽन्यसांभोगिकैर्येषु कुरुते तेषु दत्तोपदेशेषु याचितव्यं तथाऽप्यप्राप्तौ तेषां संघाटकेन एवमप्यलाभे तेषामेव यत् पूर्वं गृहीतं वस्त्रादि तद् ग्रहीतव्यम् । अमुमेवार्थं विधिविशेषज्ञापनाय पुनरप्याह ॥

उवएसो संघाडग, तेसिं अट्ठाए पुव्वगहियं तु ।
अभिनव पुराणसुद्धं, उत्तरमूले सयं वावि ॥

अन्यसांभोगिकोपदेशेन प्रथमतः पर्यटन्ति ततस्तदीयसंघाटकेन तथाऽप्यप्राप्ता तेषामर्थायान्यसांभोगिकाः पर्यटन्ति तथाऽपि यदि न लभ्यते ततस्तेषामेव यत्पूर्वगृहीतं वस्त्रं तद्गृहीतव्यं तच्चाभिनवं वा स्यात् पुराणं वा। पूर्वमभिनवं पश्चात्पुराणमपि गृह्यते तदपि यदुत्तरगुणमूलगुणशुद्धं तत उपादेयं नान्यथा अथापि न प्राप्यते ततो यः कृतकरणो भवति स तच्च एवमेव वक्तव्यम् एतच्च यथाऽवसरमुत्तरत्र भावयिष्यते तदेवमन्यसांभोगिकानामपि पूर्वं गृहीतं यदा न प्राप्यते तदा मासलघुकादारभ्य तावद्यतन्ते यावच्चतुर्लघुकं प्राप्ताः ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

उवएसो संघाडग, पुव्व गहियं न नियमाईणं ।
अभिनव पुराणसुद्ध-पुव्वमभुत्तं पि परिभुत्तं ।

चतुर्लघुप्राप्तमित्यववासिपार्श्वस्थादीनामुपदेशेन वस्त्रमुत्पादयन्ति तदभावे तेषामेव संघाटकेन तथाऽप्यलाभे यत्तेषां पूर्वगृहीतं मूलोत्तरगुणशुद्धम् अभिनवमपरिभुक्तं तत्प्रथमतो ग्रहीतव्यं ततः परिभुक्तमपि तदप्राप्तौ पुराणमपि मूलोत्तरगुणशुद्धमपरिभुक्तं ततः परिभुक्तमपि ग्राह्यम् । इह निशीथचूर्ण्यभिप्रायेणास्यैव कल्पस्य विशेषचूर्ण्यभिप्रायेण वाऽन्यसांभोगिकात् यावन्नास्ति पञ्चकपरिहाणिः किं तु ततः ऊर्ध्वं पञ्चकहान्या यतित्वा यदा मासलघुप्राप्तास्तदा पार्श्वस्थादीनामुपदेशादिना गृह्णन्तीति द्वयोश्चूर्ण्योरभिप्रायः परमेतच्चूर्णिकृता भिन्नमासप्राप्तान्यसांभोगिकानां चतुर्लघु प्राप्तास्ततपार्श्वस्थादीनामुपदेशादिना वस्त्रग्रहणे यतन्ते इति प्रतिपादितमतस्तदनुरोधेनास्माभिरपि तथैव व्याख्यातमित्यवगन्तव्यम् ।

यथोक्तमप्यर्थं विशेषज्ञापनार्थं भूयोऽप्याह ।

उत्तरमूले सुद्धे, नवे पुराणे चउक्कभयणेवं ।
परिकम्मण परिभोगे, न होंति दोसा अभिनवम्मि ॥

मूलगुणशुद्धमप्युत्तरगुणशुद्धम् १ न मूलगुणशुद्धमुत्तरगुणशुद्धमपि २ मूलगुणशुद्धं नोत्तरगुणशुद्धम् ३ न मूलगुणशुद्धं नोत्तरगुणशुद्धं ४ एतेषु चतुर्षु भङ्गेषु प्रत्येकं नवपुराणपदविषयं यद्भङ्गचतुष्कं तस्य भजना सा च यथाक्रममेव कर्तव्या यत्तावन्मूलोत्तरगुणविशुद्धं तत्प्रथमतो नवमपरिभुक्तं ग्रहीतव्यं तदभावे नवं परिभुक्तं तदभावे पुराणं परिभुक्तमेव द्वितीयतृतीयचतुर्थेष्वपि भङ्गेषु चत्वारश्चत्वारो विकल्पाः यथाक्रमं चैते आसेवितव्याः कुत इत्याह । परिकर्मणा दोषा अविधिसीवनादयः परिदोषाश्च मलिनीभूतस्रान्तितसुगन्धिगन्धभावितत्वादयोऽभिनवे अपरिभुक्ते च वस्त्रे न भवन्ति। अथ पार्श्वस्थादिष्वपि न प्राप्यते ततोऽमनोज्ञसंयतीनामप्युपदेशेन गृह्णन्ति एषां वा अर्थाय ताः पर्यटन्ति पूर्वगृहीतं वा तासां ग्रहीतव्यं तदभावे असंविग्नसंयतीनामप्युपदेशादिना गृह्णन्ति ।

अथैवमपि न प्राप्यते ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

असई य लिंगकरणं, पन्नवणट्ठा सयं च गहणट्ठा ।
आगाढे कारणम्मि, जहेव हंसाइणो गहणं ॥

एवमप्यसत्यन्विष्यमाणे शाक्यादिवेषेण तदीयोपासकानां यतिभ्यो वस्त्रदापनाय प्रज्ञापनार्थं स्वयं वा ग्रहणं वस्त्रस्योत्पादनं कर्तव्यं किं बहुना। ईदृशे आगाढे कारणे यथैव हंसतिलादेरननुज्ञापितस्यापि ग्रहणं दृष्टं तथैव वस्त्रस्यापि तथाऽप्यलाभे सूत्रं मार्गयित्वा अन्यैर्वाययति तदभावे स्वयमेवालपसागारिके वयति अथ सूत्रं न लभ्यते। ततः को विधिरित्याह ।

सेडयरुए पिंजियए, पेलुग्गहणं य लहुगदप्पेणं ।
भवकाले हि विसिट्ठा, करेण अकमेण तं चेव ॥

सेडुगो नाम कर्पासः स एव लोडितः सन् बीजरहितो रुतं तदेव रुतं पिञ्जनिकया ताडितं पिञ्जितं तदेव पूणिकया वलितं पेलुरिति भण्यते। एतेषां यदि दर्पेण ग्रहणं करोति तदा चत्वारो लघुकाः तपःकालाभ्यां विशिष्टास्तत्र सेडुके उभयगुरुका रुते तपोगुरुकाः पिञ्जिते कालगुरुकाः पेलुके द्वाभ्यां लघुकाः कारणे पुनः प्रथमं पेलुकं पश्चात् पिञ्जितं ततो रुतं ततः सेडुकमपि गृह्णाति। अथाक्रमेण गृह्णाति ततस्त एव चत्वारो लघुकाः सेडुकं च त्रिवर्षातीतं विध्वयोनिकमवग्रहीतुं कल्पते न सचित्तम्।

कडयोगि एक्कओ वा, असईए नालबद्धसहिओ वा ।
मिच्छाए उवगरणं, उभओ पक्खस्स पाउग्गं ॥

कृतयोगी नाम यो गृहवासे कर्त्तनं कृतवान् स गच्छस्य वस्त्राभावे एकको वा नालबद्धसंयतीसहितो वा विजने भूभागे कर्त्तनं वयनं च कृत्वा उभयपक्षस्य संयतसंयतीलक्षणस्य प्रायोग्यमुपकरणं परिभुञ्जते ततः किमित्याह।

अगीयत्थेसु गिंचे, जहलाभं सुलभवत्थिखेत्ते ।
सुपच्छित्तं उ वहंति, अन्नाने तं चेव धारेंति ॥

यदगीतार्थास्ततस्तेषु सुलभोपधिक्षेत्रेषु गता सन्तो यथालाभं यदूनं वस्त्रं लभन्ते तत्सदृशमपरं न्यूनवस्त्रं विवेचयन्ति परिष्ठापयन्तीत्यर्थः । अगीतार्थप्रत्ययनिमित्तं च यथालघुप्रायश्चित्तं वहन्ति। अथ अथापरं न लभ्यते ततस्तदेव स्वयं न्यूनं वस्त्रं धारयन्ति। अथ सर्वेऽपि गीतार्थास्ततोऽपरस्य लाभे प्राकृतं परित्यजन्ति वा न वा न कोऽपि नियमः। अथ "गणनिगयाई" इत्यत्र योऽयमादिशब्दस्तस्य फलमुपदर्शयन्नाह ।

एमेव य वसिमाम्मि वि, आमियओ महियवुढपरिजुत्ते।
पुव्वुड्डिए व सन्थे, भय इयं जए वावि ॥

न केवलमध्वनि विविक्तानामेष विधिः किन्तु ग्रामादौ वसिमे पथि वसतां यदोपधिरग्निकायेन ध्मापितो दग्धः अवमौदर्ये वा विक्रीतः चौरैर्वा हृतः वर्षासु वा पानीयपूरेण वा व्यूढः परिजीर्णो वा पुराणतया दुर्बलीभूतो विवक्षितं कार्यं कर्त्तुमसमर्थः तत्राप्येवमेवानन्तरोक्तो विधिर्मन्तव्यः । अत्र चापरो विशेष उपदर्श्यते यत्र ग्रामे साधवः स्थिताः सन्ति तत्र सार्थः कश्चिदागमत् स च आदित्योदयात्पूर्वमेवोत्थितः उच्चलितुमारब्धो वर्त्तते यत्र च गतस्य तस्य रविरुदेष्यति तत्र गच्छता अपान्तराले च स्तेनादिभयं स्तेनैर्वा साधवो दग्धाशुपधयस्त सार्थे नक्तं रात्रौ प्राप्ताः प्रगे प्रभाते अनुदिते एव सूर्ये अग्रतश्चलितुकामाः अतो रात्रावेव यथोक्तनीत्या वस्त्रादि गृह्णीयुः ।

(सूत्रम्) अन्नत्थ एगा य हरियाहडिया एसा वि य परिभुत्ता वा घट्ठा वा मट्ठा वा संपधूमिया वा ॥

अस्य सम्बन्धमाह ।

सुत्तेण चेव जोगो, हरियाहडम्मि कप्पए निसि घित्तुं ।
हरिऊण य आहडिया, वुत्ता हरिएसु वा हडु ।

सूत्रेणैव सूत्रस्य योगः संबन्धोऽस्ति अनन्तरसूत्रे रात्रौ वस्त्रादिकं ग्रहीतुं कल्पते इत्युक्तम् । अत्र तु या व्याहृता हृतिका सा निशि रात्रौ ग्रहीतुं कल्पते इति प्रतिपाद्यते अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । न कल्पते रात्रौ वस्त्रं ग्रहीतुमिति प्रतिषेधोऽन्यस्यैकस्या हृताहृतिकाया हरिताहृतिकाया वा तत्र पूर्वं हृतं पश्चादाहृतमानीतं वस्त्रं हृताहृतं तदेव हृताहृतिका स्वार्थे कः प्रत्ययः । अनिवर्त्तन्ते स्वार्थिकप्रत्ययप्रकृतिलिङ्गवचनानीति वचनादत्र रूढितः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । एवं हरितेषु वनस्पतिषु आहृतं हरिताहृतं वस्त्रं तदेव हरिताहृतिका साऽपि च परिभुक्ता परिधानादौ व्यापारिता धौता अप्कायेन प्रक्षालिता रक्ता विचित्रवर्णैरुपरञ्जिता घृष्टा घट्टकादिना घटिता मृष्टा कुङ्कुमादीकृता सम्प्रधूमिता धूपद्रव्येण समं ततः प्रकर्षेण धूपिता वा-शब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः । एवंविधाऽपि सा स्वीकर्त्तव्या पुनरसाधुप्रायोग्या कृतेति कृत्वा परिहर्त्तव्येति सूत्रार्थः । अथ भाष्यम् ।
"हरिऊण य" इत्यादि पश्चार्द्धं स्तेनैः पूर्वं हृता पश्चादस्माकमाहृतमानीतं तदेव हृताहृतिकेत्युच्यते । यद्वा हरितेषु प्रक्षिप्ता या सा हरिताहृतिका । सा पुनः कथं भवतीत्याह ।

अद्धाणमणद्धाणे, व विवित्ताणं तु होज्ज आहडिया ।
अविहम्मि संति खेमे, विहम्मगच्छे सइ गुणेसु ॥

अध्वनि अनध्वनि वा विविक्तानां हृताहृतिका सम्भवन्ति तत्र (अविहे) अनध्वनि मासकल्पेन विहरन्तो क्रमं निरुपद्रवमादौ न सति सत्सु विद्यमानेषु ज्ञानादिगुणेषु विहमध्वानं न गच्छेत् न प्रविशेत् । तथा चाह ।

उडुबद्धेसु भिक्खे, अद्धाणपवज्जणं तु दप्पेण ।
लहुगा पुण सुद्धपए, जं वा आवज्जई जत्थ ॥
नाणट्ठदंसणट्ठा, चरित्तट्ठा एवमाइ गंतव्वं ।
उवगरणपुव्वपडिलेहिएण सत्थेण गंतव्वं ॥

गाथाद्वयमपि प्राग् व्याख्यातम् । तत्राध्वनि प्रविशतां विधिमाह

अद्धाण पविसमाणा, गुरु पवाडिंति ते गता पुरतो ।
अह तत्थ पवाडेंत, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

अध्वानं प्रविशन्तः प्रथममेव गुरुमाचार्यं प्रवादयन्ति गुरुप्रवादमुत्थापयन्तीत्यर्थः । तथा ते अस्माकमाचार्याः पुरतः पूर्वमेवान्येन सार्थेन सह गता अत एव वयं त्वरामहे कथं नाम तेषां समीपं क्षिप्रमेव प्राप्नुयाम । अथ तत्राध्वनि प्रविशन्त एव न प्रवादयन्ति ततश्चतुर्मासा गुरुकाः प्रायश्चित्तम् ।

गुरुभारक्खणहेउं, तम्हा थेरो उ गणधरो होइ ।
विहरइ य गणाहिवई, अद्धाणे होइ भिक्खुस्स ।

गणधराकारधारकः क्रियत इत्यर्थः । यस्तु गणाधिपतिः सोऽध्वनि मार्गे स्वयं भिक्षुभावेन सामान्यसाधुवेषेण विहरति कुत इति चेदुच्यते कदाचिदध्वनि साधवः स्तेनकैर्विविक्ताः क्रियेरन् ततस्ते स्तेनकाश्चिन्तयेयुः ।

हयनायगा न काहिंति, उत्तरं राउले गणे वावि ।
अम्हं आहिवइस्स व, नायगमित्ताइएहिं वा ॥

हतो नायक आचार्यो येषां ते हतनायकास्तथाभूताः सन्तः ते राजकुले वा गणे वा गत्वा न किमप्युत्तरमुपकरणापहारं एवात्मकं करिष्यन्ति अस्वामिकतया निराशीभूतत्वात् । तथाऽस्माकं योऽधिपतिस्तस्य वा तदीया वा ये ज्ञातकाः स्वजना यानि मित्राणि तत्प्रति नाम तेषामन्तिके गतास्ते पृष्टा सन्तो न किमप्युत्तरं प्रदास्यन्ति आचार्यस्यैव तदानीमभावेनाप्रगल्भत्वादिति भावः । तस्मादाचार्यमेवोपद्रावयाम इति विचिन्त्य तथैव कुर्युः ततो यथोक्तनीत्या गुरवः प्रवादयितव्याः ततः स्तेनाः चतुर्विधाः ।

संजयपंता य तहा, गिहिभद्दा चेव साहुभद्दा य ।
तदुभयभद्दा पंता, संजयभद्देसु आहडिया ॥

एके संयतप्रान्ताः गृहस्थभद्रकाः । अन्ये साधूनां भद्रकाः गृहस्थप्रान्ताः । अपरे तदुभयभद्रकाः अपरे तदुभयप्रान्ताः । अत्र ये संयतभद्रकास्तेषु हृताहृतिका भवेत् हृत्वाऽपि तयोर्वस्त्रमर्पयेयुरित्यर्थः ।

सत्थे विविच्चमाणा, अहिवई भद्दओ व पंतो वा ।
दट्ठूण निवारइ, वत्थं गहियं च पेसेइ ॥

सार्थे स्तेनैर्विविच्यमाने मुष्यमाणे साधवोऽपि विविच्येरन् तत्र योऽधिपतिः चौरसेनाधिपतिः स साधूनां भद्रको वा स्यात् प्रान्तो वा यदि भद्रकस्तदा साधून् विविच्यमानान् दृष्ट्वा निवारणं करोति मैतेषां वस्त्राण्यपहरतेति । अथासौ तत्रासन्निहितस्तैर्गृहीतं तदुपकरणं भूयोऽपि प्रेषयति । अमुमेव गाथाद्वयेनाचष्टे ।

छिन्नदसं भिन्नणीहिं व, नाउ य सेउ वा लज्जित्ताणं ।
ते चेव तक्करे ऊ–हओ अंतिए पेसेइ ॥

चौरसेनाधिपतिः साधूनामुपधिं नीतमुपढौकितं दृष्ट्वा छिन्नदशाकत्वेन साधुसम्बन्धिलीभिः सीवनीभिः सीवितत्वेन वा साधूनां सत्कमेतदस्मिन्निति ज्ञात्वा तान् तस्करानुलभते आः पापा विनष्टाः स्थ यूयं देयं महात्मनां वस्त्राण्यपहृतानीत्यादि एवमुपालभ्य भूयोऽपि तस्योपधेः साधूनामर्पणार्थं तानेव तस्करान् साधूनामन्तिके प्रेषयति ॥

वीसत्थमप्पिणंते, जएण छड्डितु केइ वच्चंति ।
विहिया पासवण भूमि, उवस्सए दिट्ठम्मि जा जयणा ॥

स्तेना द्विधा आक्रान्तिका अनाक्रान्तिकाश्च ते कुतोऽपि न बिभ्यति अत एव ते चौरसेनापतिना वस्त्रमर्प्यणार्थं प्रेषिताः सन्तो

विसस्ताः निर्भयादिव त एव आनीयवस्त्रं सयतानामर्पयन्ति अनाक्रान्तिकास्तु भयेन मा केनाप्यारक्षिकादिना ग्रहीष्यामह इति परिज्ञाय रात्रावानीयोपाश्रयाद्बहिः प्रश्रवणभूमावुपाश्रयमध्ये वस्त्रं प्रक्षिप्य व्रजन्ति पलायन्ते तस्मिन् वस्त्रे दृष्टे सति या वक्ष्यमाणा यतना सा करणीया । तामेवाह ॥

गीयमगीया अविगीय—पच्चयट्ठा करिंति वीसुं तु ।
जइ संजइ वि तहियं, विगिंचिया तासिंवि तहेव ॥

यदि सर्वेऽपि गीतार्थास्ततस्तदुपकरणं मौलोपकरणेन सह मीलयित्वा यथास्वरुचि परिभुञ्जते । अथ ते केचिद् गीतार्थाः केचिच्चागीतार्था अविगीतप्रत्ययार्थं हृताहृतिकोपकरणं विष्वक् पृथक् स्थापयन्ति ते ह्यगीतार्था एवं चिन्तयेयुः एष स्तेनप्रत्यर्पित उपाधिस्तावदुपहतेन च सह मिश्रिततरोऽप्युपहत एव अतस्तेषां प्रत्ययार्थं हृताहृतिकोपकरणं विष्वक् पृथक् स्थापयन्ति । अथ सयत्योऽपि विविक्तास्ततस्तासामप्युपकरणं तथैव पृथक् कुर्वन्ति ।

जो वि य तेसिं उवही, अहागडो प्पो य सपरिकम्मो य ।
तं पि य करिंति वीसुं, मा अविगीयाइ भंडे वा ॥

योऽपि च तेषां साधूनां यथाकृतोऽल्पपरिकर्मा सपरिकर्मा चोपधिस्तमप्यविष्वक् परस्पर कुर्वन्तोऽविगीतार्थाः परस्पर भण्डयेयुः कलहं कुर्युः यथा किमिति त्वदीयैर्मदीयोपकरणोपाधिः सपरिकर्मणा सह मीलित इत्यादि एव तावद्भक्ते सेनापतौ विधिरभिहितः । अथ प्रान्तविषय विधिमाह ॥

पंतोवहिम्मि लुद्धो, आयरिए इच्छए विवाएउं ।
कयकरणे करण वा, आगाढे किसो सयं भणइ ॥

प्रान्तश्चौरसेनापतिरुपधावुपकरणे लुब्धः सन् आचार्यान् व्यापादयितुमिच्छति ततो यस्तत्र कृतकरणो धर्मकथालब्धिमान् धनुर्वेदकृताभ्यासो वा स तत्र कारणं करोति धर्मकथादिना स्वभुजबलप्रकटनेन वा तं शामयतीत्यर्थः । अथवा ईदृशो आगाढे कार्ये यः कृशो दुर्बलदेहः स स्वयमात्मनैवात्मानमाचार्यं भणति । एतामेव गाथां भावयति ।

को तुब्भं आयरिओ, एवं परिपुच्छियम्मि अच्छाणे ।
को कहयइ आयरियं, लग्गइ गुरुए य चउमासे ॥

प्रान्तः सेनापतिं पृच्छति को युष्माकं मध्ये आचार्यः एवमध्वनि गच्छतां परिपृष्टे सति य कश्चिदाचार्यं निर्धार्य कथयति स लगति प्राप्नोति चतुरो मासान् गुरुकानिति । किं तर्हि वक्तव्यमित्याह

सत्थेणऽन्नेण गया, एहिंति य मग्गतो सुगुरु अज्ज ।
सन्निवइ एव पुच्छइ, हयं पलायं वसाहिंति ॥

येऽस्माकं गुरवस्ते अन्येन सार्थेन सह प्रागेव गता मार्गतो वा पृष्ठतस्ते एष्यन्ति । यदि वा न प्रतीतिर्भवतां तत सार्थिकान् पृच्छत । यदा इतोऽसावस्माकमाचार्यः पलायितो वा वय सांप्रतमनाथा वर्तामहे एवं कथयन्ति ॥

जो वा दुब्बलदेहो, जुंगियदेहो असच्चवक्को वा ।
गुरु गिल एएसि अहं, न य मि पगब्भो गुरुगणेहिं ॥

अथवा यो दुर्बलदेहो विकलाङ्गः यो वा असत्यवाक्योऽसमञ्जसप्रलापी स सेनापतिं प्रति वक्ति अहं किलैतेषां सर्वेषामपि गुरुः परं न च नैवाऽस्म्यहं प्रगल्भः संपूर्णो गुरुगुणैः शरीरसंपदादिभिर्वा

हीणो वा अभिभूतो, खजकुणिकाणओ व हं जाओ ।
मा मे वहेह सीसे, जं इच्छह तं कुणह मज्झं ॥

व्याधिना रोगेणाहमतीवाऽभिभूतोऽस्मि खञ्जः पादविकलः कुणिः पाणिविकलः काणश्चक्षुर्विकल ईदृशो वा अहं जातोऽस्मि अतो मा मदीयान् शिष्यान् वधध्व यन्मारणादिकं कर्तुमिच्छथ तन्ममैव कुरुध्वं यत ॥

इहरा वि मरिउमिच्छं, संति सिस्साण देह मा हणह ।
मम मारगत्तणमिणं, जं किरइ मुंचह सुत्ते मे ॥

इतरथाऽपि तावदहं मर्तुमिच्छामि ततो मदीयशिष्याणां शान्तिं प्रयच्छत मा पुनर्यथास्वरुचि हन्त विनाशयत यतो यदिदं मम मारणं भवद्भिः क्रियते तन्मृतस्यैव मारकत्वं भवति अतो मुञ्चत मदीयान् शिष्यान् सुतान् । अपि च ॥

एय पि अंत जाणह, रिसिवज्झा जह न सुंदरा होइ ।
इह य परत्थ य लोए, मुंचंतणुलोमिया एवं ॥

भो भद्रा एतदपि तावद्यूयं जानीथ यथा ऋषिहत्या विधीयमाना इह च परत्र च लोके सुन्दरा न भवति एवमनुलोमिताः प्रज्ञापिताः सन्तस्ते तस्कराः साधून् मुञ्चन्ति । अथैवमपि न मुञ्चेरन् तत किं कर्तव्यमित्याह ॥

धम्मकही चुण्णेहि व, मंतनिमित्तेण वा वि विज्जाए ।
नित्थारेइ बलेण व, अप्पाणं चेव गच्छं च ॥

यो धर्मकथालब्धिमान् धर्मकथया त सेनापतिमुपशामयति चूर्णैर्वा मन्त्रेण वा विद्यया वा निमित्तेन वा पातयेत् यो वा धनुर्वेदादौ कृतपरिश्रमः स निजबलेन सेनापतिं निर्जित्यात्मानं गच्छं च निस्तारयति । अथ एषामेकमपि न विद्यते ततः ॥

वोसज्जिया व तेणं, पंथफिडिए व हिंडमाणे वा ।
गंतूण तेण पल्लिं, धम्मकहाईहिं पन्नवणे ॥

तेन सेनापतिनोपधिमपहृत्य साधवो विसर्जिता मुक्ता इत्यर्थः । मुक्ताश्च ये तदुपधिं न गवेषयन्ति ततश्चतुर्लघुकाः ततः स्तेनपल्लीं गत्वा गवेषयितव्य उपधिः गच्छता वाऽपान्तराले यदि कोऽपि प्रश्नयेत् कुतो भवन्त इहागता ततो वक्तव्यमेते मार्गात्परिभ्रष्टा हिण्डमाना वा विहारक्रमेण विहरन्त एव वयमिह सम्प्राप्ताः ततः स्तेनपल्लीं गत्वा धर्मकथादिभिः सेनापतेः प्रज्ञापना कर्तव्या । अथेदमेव भावयति ॥

भद्दमभद्दं अहिवं, नाउं भद्दे वसति तं पल्लिं ।
फिडिया मुत्तिय पंथं, भणंति पुट्ठा कहा पल्लिं ॥

स्तेनपल्लीं गच्छद्भिः प्रथमत एवैतद् ज्ञातव्यं किमत्र सेनापतिर्भद्रकोऽभद्रको वा यदि भद्रकस्ततस्तां पल्लीं प्रविशन्ति । अथाभद्रकस्ततो मा प्रान्तापतापनादीनि कार्षीदिति कृत्वा न तत्र गन्तव्यम् । अथ गच्छन्ति ततश्चत्वारो गुरवः । अथ कोऽप्युपशमनायोत्सहते ततस्तं गृहीत्वा गन्तव्यं गच्छन्तश्च कुतः किमर्थं भवन्त इहायाता अत्र कुत्र वा व्रजिष्यथ इति पृष्टा भणन्ति एवं न्थस्फिटिनाः परिभ्रष्टा वयमिह पल्ल्यामाराहान्वेषणं कुर्महे ।

मुसियत्ति पुच्छमाणं, को पुच्छइ किं च अम्ह मुसियव्वं ।
अहिवं भणंति पुव्विं, अणिच्छे सज्झायगादीहिं ॥

किं मुषिता यूयमिति पृच्छन्त ब्रुवते । को नामास्मान् पृच्छति किं वा निर्ग्रन्थानामस्माकं मुषितव्यं ततश्च स्तेनपल्लीं गत्वा यस्तत्र सेनाया अधिपतिस्त पूर्वं प्रथमतो भणन्ति । धर्मकथादिना प्रज्ञापयन्ति प्रज्ञापितश्च यदा व्यापृतस्ततो वक्तव्यमस्माकमुपधिं प्रयच्छेत्यादिना सेनापतिरुपशमयितव्यः ।

उपसंतो सेणावइ, उवगरणं देइ वा दवावेइ ।
गीयत्थे हि य गहणं, तं वीसुं व सीकरणं ॥

उपशान्तः सन् सेनापति स्वयमेवोपकरणं ददाति स्वमानुषैर्वा दापयति ते सर्वे गीतार्थास्तत उपकरण मिश्रयन्ति वा न वा। अथागीतार्थमिश्रास्ततो गीतार्थैस्तस्योपकरणस्य ग्रहण कर्त्तव्यम्। यच्च सयतासयतानामुपकरण तद्विष्वक् विधेयम्।

अथ सेनापतिर्ब्रूयात्।

सत्थे वदू विवित्तो, गिएहह जं जत्थ पेच्छह अहंता ।
इहइं पडिपल्लीसु य, रुसेह विइओ जओ हं सो ॥

सार्थोऽस्मन्मानुषैर्बहु प्रभूतो विविक्त' अतो न ज्ञायते कस्य कुत्र वस्त्रादिकमस्तीति ततो गृह्णीत यूय स्वकीयमुपकरण यत्र यत्र पर्यटन्त. पश्यथ तत साधुभिर्वक्तव्य यद्येव तत स्वमानुषमस्माभि' सह वर्जयत ततस्तदीयमानुषेण सह गच्छन्ति। स च ब्रूते इहास्यामेव पल्ल्यां प्रतिपल्लीपु वा यद्यद्भवतामुपकरण तत्तद् (रुसेहचि) देशीयवचनत्वात् गवेषत अह भवतां द्वितीयोऽस्मीति ततो यद्यत्र पश्यन्ति तत्तन्मानुषादिभि' प्रज्ञाप्य गृह्णन्ति।

अह तान न जातो जइ, एएसिं पि पावइ न हत्थं ।
तह कुणिमो मोसमेणं, बुज्जंति पावा अह इमेसु ॥

अस्माकं तावदय मोषो मुषितवस्त्रादिलक्षणो न जात' अतो यथैतेषामपि हस्त न प्राप्नोति तथा वयमेन मोष कुर्महे इति विचिन्त्य केचित्पापा स्तेनकास्तथेति चिन्ताऽनन्तरमेतेषु प्रक्षिपन्ति । तद्यथा ।

पुढवीआउकाए, अवरुत्तरणस्सइतसेसु साहरइ ।
सुत्तत्थजाणएणं, अप्पाबहुयं तु नायव्वं ॥

पृथिवीकाये वा अप्काये वा अगडे वा गर्त्तायामित्यर्थ ।वनस्पतिषु वा त्रसेपु वा सहरन्ति निक्षिपन्तीति यावद्। गाथायामेकवचननिर्देश' प्राकृतत्वात् एतेपु निक्षिप्तममीपां ग्रहीतु न कल्पते इति बुद्ध्या। अत्र च सूत्रार्थ येन गीतार्थेन पृथिव्यादिनिक्षिप्ते तत्रोपकरणे स्वल्पतरमेवाधिकरणमगृह्यमाणेषु बहुतरमसयतपरिभोगाप्कायप्रक्षालनादिक्रमेणाल्पबहुत्व ज्ञातव्य ज्ञात्वा च ग्रहीतव्य तदक्षम । अथ न गृह्णाति ततश्चतुर्लघुका अनवस्था चैव भवति । भूयोऽपि हृत्वा ते वा अन्ये वा एवमेव पृथिव्यादिषु निक्षिपन्तीति भावः । अथ " साधि य परिभुत्ता वा " इत्यादिसूत्रावयवं विवृणोति ।

हरियाहरिया सुविहिय, पंचवन्ना वि कप्पई घेत्तुं ।
परिभुत्तमपरिभुत्ता, अप्पाबहुगं वियाणित्ता ॥

हे सुविहित ! हृताहृतिका यद्यपि स्तेनकै पञ्चवर्णा कृता तथापि ग्रहीतु कल्पते तथा परिभुक्ता अपरिभुक्ता वा उपलक्षणत्वाद्धौता घृष्टा मृष्टा सप्रमिता वा भवतु पर तथाऽप्यल्पबहुत्व विज्ञाय स्वीकर्त्तव्यैव न परिहर्त्तव्या।

आयत्ते विक्कीए, परिभुत्ते तस्स चेव गहणं तु ।
अन्नस्स गिएहणंत–स्स चेव जयणाए हिंमंति ॥

स्तेनकैस्तद्वस्त्रमाधत्त ग्रहणके मुक्त भवेत् विक्रीत वा परिभुक्त वा तनस्ते ब्रूयु. वयमन्यद्वस्त्र प्रयच्छाम इति ततो वक्तव्य तदेवास्माक प्रयच्छत नान्येन प्रयोजनमिति भणित्वा तदेव ग्रहीतव्य यदि न लभते ततोऽनवस्थाप्रसङ्गनिवारणार्थमन्यस्यापि ग्रहण कुर्वन्ति तत्र यदि सस्तरति तत परिष्ठापयितव्यम् असंस्तरे तु परिभोक्तव्यम् । तथा तस्यैव सेनापतेर्मानुषैः सह वस्त्रान्वेषणाय यतनया हिण्डन्ते पर्यटन्ति । इदमेव भाषयति ॥

अन्न च देइ उवहिं, सा वि य नातो तहेव अन्नातो ।
सुद्धस्स होइ गहणं, असुद्धि घेत्तुं परिट्ठवणा ॥

अथासौ सेनापतिरन्यमन्यसाधुसबन्धिनमुपधिं ददाति ततः स उपधिर्ज्ञातो वा स्यात् सविग्नासविग्नसबन्धितया उपलक्षितः अज्ञातो वा तद्विपरीतः तत्र य' शुद्धो विधिपरिकर्म्मितो यथोक्तप्रमाणोपेतश्च स सविग्नसबन्धी त गृहीत्वा तेषामेव सविग्नानामर्पयन्ति । अथ ते देशान्तर गतास्ततो यदि सस्तरन्ति तत परिष्ठापयन्ति। अथ न सस्तरन्ति तत' परिभुञ्जते। य. पुनरशुद्ध एतद्विपरीत सोऽसविग्नानां सबन्धी तमप्यनवस्थाऽधिकरणपरिहरणार्थ गृहीत्वा पश्चात्परिष्ठापयन्ति । इदमेव व्याचष्टे।

तं सिव्वणीहि नाउं, पमाणहीणाहियं विरंगं वा ।
इतरोवहिं पि गिएहइ, मा अहिगरणं पसंगो वा ॥

तदुपकरणमविभ्रिसीवनिकाभि. सीवित प्रमाणतश्च हीनाधिक विरङ्ग विचित्रवर्णकरक्तमेवविध दृष्ट्वा ज्ञातव्य यथैप इतरेषामसविग्नानामुपधिस्तमपि ज्ञात्वा गृह्णात्येव कुत इत्याह मा तस्मिन्नगृह्यमाणे अधिकरणे असयतपरिभोगादिना प्रसङ्गो वा भूयोऽप्युपकरणहरणलक्षणो भवत्विति कृत्वा ।

अंतस्स व पल्लीए, जयणा गमणं तु गहण तह चेव ।
गामाणुगामियम्मि य, गहिए गरणे य तं जाणियं ।

अथान्यस्य सेनापते पल्ल्या तस्योपकरणस्यार्द्ध नीत भवेत् ततस्तत्रापि यतनया गमन ग्रहण तथैवानुशिष्टिर्धर्मकथादिना विधेयम्। एवमध्वनि विविक्तानां विधिरुक्त ।ग्रामानुग्रामिकेऽपि विहारे मासकल्प विधिं कुर्वन्तो यदा विविक्ता भवन्ति तदा गृहीते स्वहस्तचटिते (गहणेत्ति) गृह्यमाणे चोपकरणे उपधिपृथक्करणादि धर्मकथादिक च यत् पूर्वं भणित तदेवात्रापि द्रष्टव्यम्। इदमेव व्याचिख्यासुराह ।

तत्थेव आणवेइ, तं नु पेसेइ वा जहिं भट्ठो ।
सत्थेण कप्पियारं, त देइ जो णं तहिं नेइ ।

यद्युपकरणमन्यस्यां पल्ल्यां नीत तदा यदि मूलपल्लीपतिर्भद्रकस्तत उपकरण तत्रैवात्मनो मूले तत्पल्लीवास्तव्यमानुषैरानाययति । अथवा तमात्मीयं मनुष्य तत्र प्रेषयति यत्रासावन्यस्य सेनापते पल्ल्यामुपधिर्वर्तते। अथासौ न समर्थ स्वसमीपे आनाययितुं ततः सार्थेन सह तस्यां पल्ल्यां गन्तव्यम् । अथ सार्थो न प्राप्यते ततो मूलपतेर्मानुषो मार्गयितव्य स च कल्पितार मार्गदर्शयितार स्वमनुष्य ददाति यस्तत्र पल्ल्यां साधूनां नयति ॥

अणसिट्ठाई तत्थ वि, काउ सपल्लि इतरीसुं वा ।
घेत्तु सत्थेण व यं, उवयंति अह जदए जयणा ॥

तत्रापि पल्ल्यामनुशिष्टिकर्मकथादिप्रायोग्य कृत्वा गृहीत्वा च स्वकीयमुपकरण जात यदि तत. सार्थो न लभ्यते ततस्तेनैव मनुष्येण सह स्वपल्ल्यामागच्छन्ति मूलपल्ल्यामित्यर्थ' । तत्र चागत्य सार्थेन सह जनमदमुपयान्ति । अथ तस्या पल्ल्या' सकाशादितरासा जनपदप्रत्यन्तपल्लीनां सार्थो यदि लभ्यते ततो मुषोपकरण नीत भवेत् ततस्तदर्थ तत्र गत्वा तच्च गृहीत्वा ततः

सार्थेन सार्द्धं जनपदमुपयान्ति । अथैष मण्डुकस्ततोऽन्यपल्लीपतौ यतना भणिता ॥

फड्डगपइए पंते, भणंति सेणावई तेहिं ।
एते उत्तरमार्ग–बियाइ जा पच्छिमा राया ॥

इह मूलपल्लीं मुक्त्वा या अन्याः पल्ल्यस्तासामधिपतयो मूलपल्लीपतिवशवर्तिनः स्पर्द्धकपतय उच्यन्ते तेषामेकतरेण साधवो विविक्ताः स च प्रकृत्यैव प्रान्तस्ततस्तस्मिन् प्रान्ते बहुशोऽपि मार्गिते उपकरणमप्रयच्छति मूलसेनापतिं भणन्ति धर्मकथादिना प्रज्ञापयन्ति स च प्रज्ञापितः सन् दापयति । अथ सोऽपि प्रान्तस्ततो यः कोऽपि माडम्बिकभोजिकमण्डलाधिपतिः स प्रज्ञाप्यते ततः उत्तरोत्तरं तावन्नेतव्यं यावदपश्चिमः सर्वान्तिमो राजा तमपि प्रज्ञाप्योपकरणं गृहीतव्यमिति भावः । अथ प्रमादादुपगतो न मार्गयति न वा धौतरक्ताधिकमसंयतप्रायोग्यमिति कृत्वा च गृह्णाति ततश्चतुर्लघवः ।

वसिमे वि विवित्ताणं, एमेव य वीसुकरणमादी य ।
वोसिरणे चउलहुगा, जं अहिगरणं वहाणा य ॥

न केवलमध्वनि विविक्तानां किं तु वसिमेऽपि जनपदे विविक्तानामुपकरणविष्वक्करणादीनि कार्याण्येवमेव मन्तव्यानि यस्तु स्वोपकरणं व्युत्सृजति को नामात्मानमायासयिष्यतीति कृत्वा न गवेषयतीति भावस्तस्य चत्वारो लघवः यच्चाधिकरणमप्कायप्रक्षालनादि याचते तेनोपकरणेन विना सूत्रार्थयोः संयमयोगानां चापरिहाणिस्तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं यत एवमतः सर्वप्रयत्नेन गवेषणीयम् । बृ० १ उ० ।

(१४) भिक्षणाय गतं भिक्षुमुपनिमन्त्रयेत् ।

(सूत्रम्) निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतिज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले वंदित्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुन्नवित्तए ॥

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह ।

अविरुद्धे भिक्खगतं, कोइ निमंतेज्ज वत्थमाईहि ।
कारणविरुद्धचारी, विविंचिते वावि गेण्हेज्जा ॥

अविरुद्धे विरुद्धराज्यरहिते ग्रामादौ विरुद्धराज्यचारी स्तेनादिभिर्विविक्तो मुषितः सन् वस्त्राणि गृह्णीयात् अतो वस्त्रग्रहणविधिः प्रतिपाद्यते ।

अहवा लोइय तेणं, निवसममइक्कम्म पच्छिमं भणितं ।
दोच्चमणणुन्नवेउं, उत्तरियं वत्थभोगादी ॥

अथवा नृपसमानमतिक्रम्य विरुद्धराज्यसंक्रमणे लौकिकस्तैन्यमिदमनन्तरसूत्रे भणितम् । अथ द्वितीयं वारमवग्रहमाचार्यसमीपे अननुज्ञाप्य तदा वस्त्रपरिभोगमादिशब्दात् धारणं वा करोति तदा लोकोत्तरिकस्तैन्यं भवतीति प्रतिपाद्यते । एभिः संबन्धैरायातस्यास्य व्याख्या निर्ग्रन्थपूर्वोक्तशब्दार्थं चशब्दोऽर्थान्तरोपन्यासे णमिति वाक्यालङ्कारे गृहस्य पतिः स्वामी गृहपतिस्तस्य कुलं गृहं पिण्डपातप्रतिज्ञया पिण्ड ओदनादिस्तस्य पातः पात्रे प्रक्षेपस्तत्प्रतिज्ञया तत्प्रत्ययमनुप्रविष्टं कश्चिदुपासकादिर्वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा उपनिमन्त्रयेत् वस्त्रं लौकिकमिह गृह्यते प्रतिग्रहः पात्रकं कम्बलमौर्णिकरूपं पात्रशब्देन तु पात्रके गरिकाप्रभृतिकं पात्रनिर्योगः प्रोञ्छनशब्देन तु रजोहरणमुच्यते । आह च चूर्णिकृत् । "पायग्गहणेण पायमग्गय गहियं पुंछणं रयहरणंति" एतैरुप समीपे आगत्य निमन्त्रयेत् उपनिमन्त्रितस्य च (से) तस्य निर्ग्रन्थस्य साकारकृतमाचार्यसत्कमेतद्वस्त्रं न मम अतो यस्यैव भदन्ता आत्मनो वा परिभोगिष्यते तस्यैतद्भविष्यतीत्येवं सविकल्पवचनमयितं स गृहीत्वा ततः आचार्यपादमूले तद्वस्त्रं स्थापयित्वा यदि तस्यैव साधोः प्रयच्छन्ति तदा द्वितीयमप्यवग्रहम् । एकस्तावद् गृहस्थादवग्रहोऽनुज्ञापितः द्वितीयं पुनराचार्यपादमूलादवग्रहमनुज्ञाप्य धारणापरिभोगरूपं द्विविधपरिहारं तस्य वस्त्रस्य परिहर्तुं धातूनामनेकार्थत्वादाचरितुं कल्पते इति सूत्रसंक्षेपार्थः । बृ० १ उ० । (एतद्विस्तरार्थ एव वस्त्रयाचनविधौ वत्थशब्दे वक्ष्यते) (उपधिविषयोऽवग्रहः उग्गहशब्दे उक्तः)

(१५) भिक्षार्थं गतस्योपकरणपतने विधिमाह ॥

(सूत्रम्) निग्गंथस्स णं गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स अहालहुस्सए उवकरणजाए परिब्भट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिया पासेज्जा कप्पति णं सागारकडं गाहाय जत्थेव तं अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव तं अणाबाहे बहुफासुए थंडिल्ले परिट्ठवेयव्वे सिया ॥

निर्ग्रन्थस्य णमिति वाक्यालङ्कारे गृहपतिकुलं ("पिंडवायपडियाए इति") पिण्डं भक्तपानं वा पातयिष्यामीति बुद्ध्या यथा सहोष्ट्रं "सुत्तं पगरंतु निग्गओ" आनेष्यामीति बुद्ध्या निर्गत इत्यर्थः । अनुप्रविष्टस्य यथालघुकमेकान्तलघुकं जघन्यं मध्यमं वा इत्यर्थः । उपकरणजातं परिभ्रष्टं पतितं स्यात्तच्च कश्चित्साधर्म्मिकः पश्येत्कल्पते (से) तस्यासागारकृतं नाम यस्यैवेदमुपकरणं तस्यैवेदं देयमिति बुद्ध्या गृहीत्वा यत्रैवान्यमन्यं साधर्म्मिकं पश्येत्तत्रैव एवं वदेत् इदं भो आर्य ! किं परिज्ञातं ततस्तस्यैव प्रतिनिर्यातव्यं समर्पणीयं स्यात्किमुक्तं भवति यदि तस्य सत्कं तर्हि तस्मै दीयते । अथ ब्रूयादमुकस्य सत्कं यदा तस्येति स च वदेत् न परिज्ञातं न कोऽपि न जानातीति भावः तर्हि तन्नात्मना परिभुञ्जीत न अन्यस्य दर्शयेत्किन्त्वेकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयितव्यं स्यात् । "एवं निग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतस्से" त्याद्यपि सूत्रं भावनीयम् । तथा निर्ग्रन्थस्य णमिति प्राग्वत् ग्रामानुग्रामं "अदूइज्जइगामाणुग्गामं दूइज्जमाणस्सेत्ति" विहरतोऽन्यतरत् उपकरणजातं परिभ्रष्टं स्यात्तच्च कश्चित्साधर्म्मिकः पश्येत्कल्पते (से) तस्य सागारकृतं गृहीत्वा दूरमप्यध्वानं परिवोढुं "जत्थेत्यादि" प्राग्वत् एष सूत्रत्रयसंक्षेपार्थः । सम्प्रति भाष्यकृत् यथालघुस्वकग्रहणं तृतीयसूत्रगतमन्यतरग्रहणं व्याख्यानयति ।

दुविहो य अहालहुतो, जहन्नतो मज्झिमो य उवहीओ ।
अन्नयरग्गहणेण उ, घेप्पइ तिविहो उ उवहीओ ॥

यथालघु स्वकमुपधिर्द्विविधो भवति जघन्यो मध्यमश्च अन्यतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपधिः परिगृह्यते । तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता । सम्प्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

अतो परिट्ठवंते, बहिया व वियारमादिसु लहुगो ।
अन्नयरं उवगरणं, दिट्ठं संका न घेप्पंति ॥
किं हुज्ज परिट्ठवियं, पम्हुट्ठा वा वितो न गेण्हंति ।
किं एमसमसस्स व, संकिज्जइ गेण्हमाणो वि ॥

अन्तर्ग्रामादीनां मध्ये बहिर्विचारभूमौ वा परिष्ठापयति विस्मरति " पम्हुट्ठति वा परिद्ववियाति वा एगट्ठमिति " वचनात् प्रायश्चित्तं लघुको मासः । कस्मादीदृशं प्रमादं करोतीति हेतोः कः पुनर्दोषो यतो विस्मृतमत आह । अन्यतरत् जघन्य मध्यममुत्कृष्टं वा उपकरणं दृष्टं ततो जाता शङ्का ततश्च न केचनापि ग्रहीष्यन्ति । शङ्कामेव स्पष्टतरां भावयति । (किं होज्जेत्यादि) साधवस्तदन्यतरत् उपकरणमन्तर्बहिर्वा दृष्ट्वा शङ्कन्ते किमेतत् परिष्ठापितमुत कस्यापि विस्मृतं भवेत् एवं शङ्कमानास्तदुपकरणं विस्मृतं न गृह्णन्ति यतो गृह्णन्नपि जनैः शङ्क्यते तथाहि तत् पतितं गृह्णन्तं संयतं कोऽपि दृष्ट्वा शङ्केत किमेतस्य अन्यस्य वा । किमुक्तं भवति । किमात्मीयं पतितं गृह्णाति किं वा परकीयं कस्यापि दानार्थमथं शङ्कासम्भवे तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । अथ निःशङ्कितं परेषां स्यात्तदा चतुर्गुरुकम् । एवं शङ्कासंभवतो न गृह्णन्ति तस्मिश्चागृह्यमाणे इमे दोषाः ।

थिग्गल छिद्या पोत्ते, बालगचीराइएहिं अहिगरणं ।
बहुदोसतमा कप्पा, परिहाणी जा विणा तं च ॥

तत्पतितं यथालघु स्वकरणं गृहस्थैर्दृष्टं ततस्ते तद् गृहीत्वा अन्यस्य छिद्रस्यतो पतस्य थिग्गलकं कुर्वन्ति तथा प्रक्षाल्य पोतकानि पट्टिकापट्टिकादिरूपाणि कुर्युर्यदि वा उत्तानशायिनां बालकाना योग्यानि चीवराणि विदधीरन् इत्येवमादिभिः प्रकारैर्यथालघु स्वकस्योपकरणस्याग्रहणे अधिकरणं यदा तु पतिता कल्पा न गृह्यन्ते तदा ते बहुदोषतमा प्रभूततमं तेष्वधिकरणमिति भावः । तच्च उपकरणं याचमानस्य परिहाणिः सूत्रार्थयो ये च तृणग्रहणाग्निसेवनादयो दोषास्तेऽपि प्रसजन्ति ।

एते अएणे य बहू, जम्हा दोसा तहिं पसज्जंति ।
आसएणे अंतो वा, तम्हा उवहिं न वोसिरए ॥

एते अनन्तरोदिता अन्ये च यस्माद्बहवो दोषास्तत्र पतिते प्रसजन्ति तस्मात् ग्रामादीनां बहिरासन्ने प्रदेशे अन्तर्वा तमुपधिं व्युत्सृजेत् विस्मरणतः पातयेत् । अधुना यः शङ्कातः शङ्कमानो वा न गृह्णाति तं प्रत्युपदेशमाह ।

निस्संकियं तु नाउं, विच्चुयमेयंति ताहे घेत्तव्वं ।
संकादिदोसविजढा, नाउं अप्पंति जस्स तयं ॥

यदा एतदुपकरणं कस्यापि विच्युतं विस्मरणतः पतितमिति तदा नियमतो ग्रहीतव्यं गृहीत्वा च शङ्कादिदोषरहितानामविषये कस्यापि शङ्का स्यादित्यादिदोषवर्जिता यस्य तदुपकरणं तस्य ज्ञात्वा समर्पयन्ति । एतच्च तद्विषये कर्त्तव्यं तानाह ।

समणुएणे इयराणं, वा संजतीसंजयाण वा ।
इयरे उ अणुवदेसो, गहियं पुण घेप्पए तेहिं ॥

समनोज्ञानां सांभोगिकानामितरासामसांभोगिकानां संयतीनां संयतानां वा सत्कमुपकरणं पतितं गृहीत्वा यस्य सत्कं तस्य दातव्यमितरे तु पार्श्वस्थादयस्तेषामनुपदेशस्तेषां सत्कं पतितं गृहीत्वा यस्य सत्कं तस्मै देयमिति नास्माकमुपदेशो अधिकरणप्रवृत्तेस्तैः पुनः पार्श्वस्थादिभिः संविग्नानां विहारिणामेतदुपकरणमिति ज्ञात्वा यत्पतितं गृहीतं तदानीतं पुनर्गृह्यते ।

अत्रैव द्वितीयपदमाह ।

बिइयपदे न गेएहेज्जा, विवचियजुगुंछिए असंविग्गे ।
तुच्छमपओयणं वा, अगएहता होय पच्छित्ती ॥

द्वितीयपदे अपवादपदे न गृह्णीयात् पतितं विषञ्चितं परिष्ठापितमिति कृत्वा जुगुप्सितमशुचिस्थानपतितमिति वा कृत्वा असंविग्नानां वा एतदुपकरणमिति ज्ञात्वा तथा तुच्छं मुखपोत्तिकादि तदपि कुथितत्वादिना कारणेनाप्रयोजनमगृह्णतो भवति प्रायश्चित्तम् । सांप्रतमेनामेव गाथा विवृणोति ॥

अंतो विसगन्नजुगुच्छं, त्रिवंचियं तं च दट्ठु नो गिएहे ।
असुइट्ठाणे वि चुतं, बहुधा वालादिछिन्नं वा ॥

अन्तर्ग्रामादीनां मध्ये विशकलं खण्डखण्डीकृतं जीर्णं विवेचितं परिष्ठापितमिति ज्ञातव्यं यच्च दृष्ट्वा न गृह्णीयात् । तथा अशुचिस्थानेऽपि च्युतं बहुधा वा व्यालादिभिश्च प्रभृतिभिश्छिन्नं न गृह्णीयात् ॥

हीणाहियप्पमाणं, चित्तलं विरंगभंगी य ।
एएहिं कारणेहि य, नाऊणं तं विवज्जति ॥

हीनं चाधिकं च हीनाधिकं तत्प्रमाणं यत्र तत् क्वचिद्धीनं क्वचिदधिकमित्यर्थः । तच्च सीवनिकया चित्रलं चित्रं सीवनिकाचित्रलं रङ्गेन रागरूपेण भक्तिर्विच्छित्तिर्यत्र तद्विरङ्गभक्ति तद् दृष्ट्वा एतैः कारणैरयमसंविग्नानामुपधिरिति ज्ञात्वा विवर्जयन्ति ॥

एमेव य बीयपदे, जं तो उवरिट्ठविज्जइ इमेहिं ।
तुच्छो अतिजुएणो वा, सुएणे वा विविंचेज्जा ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण एभिर्वक्ष्यमाणैर्ग्रामादीनामन्तर्द्वितीयपदेन परिष्ठापयेत् । पतितं न गृह्णीयात् । कैरित्याह तुच्छो मुखपोत्तिकापादप्रोञ्छनादिकः कुथितत्वादिना अकिञ्चित्करो यदि वा अतिजीर्णो हस्तेन गृह्यमाणोऽनेकधा विशराहर्जायते शून्ये वा विविक्ते प्रदेशे पतितो यत्र विस्मरणासंभवः । ततः एतैः कारणैः परिष्ठापित एव उपधिरिति कृत्वा विविच्य न गृह्णीयादिति भावः ।

एमेव य बहिया वि, वियारभूमीए होज्ज तं पेसु ।
तस्स वि उ एस गमो, हाइ य णेओ निरवसेसो ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण ग्रामादीनां बहिरपि विचारभूमौ पतितं भवेत् । तस्याप्येष एवानन्तरोदितो गमः प्रकारो निरवशेषो ज्ञेयो ज्ञातव्यो भवति । तदेव सूत्रद्वयं भावितम् ॥

अधुना तृतीयसूत्रभावनार्थमाह ॥

गामो खलु पुव्वुत्तो, दूइज्जंते उ दोन्नि दुविहाणे ।
अन्नतरगगहणेणं, दुविहो होइ उवहीओ ॥

ग्रामः खलु पूर्वमुक्तस्तस्मादनुकूलोऽन्यो ग्रामोऽनुग्रामः ग्रामश्चानुग्रामश्च ग्रामानुग्रामं समाहारत्वादेकवचनं तत् दूयमानस्य गच्छतस्तस्मिन् गच्छति द्विविधा ऋतुबद्धे काले गन्तव्यम् । तथा पादाभ्यामिति आभ्यां पाभ्यां प्रख्या । संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ॥

पंथे लवस्सए वा, पासवणुच्चारइयंते वा ।
पक्खुसतं एएहिं, तम्हा मोत्तूणिमे ठाणा ॥

तत् उपकरणं पथि व्रजतः कथमपि पतत् ग्रामानुग्रामं वा गच्छन् यत्रोपाश्रये उषितस्तत्र विस्मरणतः पतितं भवेत् विश्राम्यतो वा क्वचित्पतितं स्यात् उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वतः स्यात्पतितं आचमतो वा विस्मृतमेतैः कारणैर्विस्मरणं पतनसंभवस्ततो येषु विश्राम्यतः उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वतो दोषा भवन्ति तानीमानि स्थानानि वर्जयेत । तान्येवाह ॥

पंथे व समणानिविसणादि, तो मासो होइ लहुओ उ ।
आगतरसंगाणे, लहुगा आणादिणो दोसा ॥

पथि यदि विश्राम्यति निवसति वा आदिशब्दात् ऊर्ध्वस्थितो वा तिष्ठति सुप्तो वा उच्चारं प्रश्रवणं वा व्युत्सृजति तदा सर्वत्र असमाचारीति निष्पन्नं प्रायश्चित्तं मासलघु । यदि पुनरागन्तृणां स्थाने सत्राऽऽदौ विश्रमणादि करोति तदा सर्वत्र प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः आज्ञादयश्च दोषाः ।

संप्रति पथि विश्रमणादौ दोषानाह ।

मिच्छत्त अन्नपंथे, धूली उक्खिणण उवहिणासो ।
ते चेव य सविसेसा, संकादिविविंचमाणे वि ॥

स साधुः पथि विश्राम्यति धिग्जातीयाश्चान्ये जातिमदावलिप्तास्तेन पथा समागता भवेयुस्ततः स साधुः चिन्तयेत् । मा मन्निमित्तमेते उद्वर्तमाना हरितकायादिविराधनां कार्षुरिति स साधुः पथि उत्थाय अन्यत्र तिष्ठेत् तत्र च इमे दोषा जानन्त्येतत् श्रमणवादिन आत्मनः सारमतोऽयमस्मान् दृष्ट्वोद्वृत्त इति तथा साधूनां धिग्जातीयानां पथि दत्ते त एव तेषामपि गुरवो धिग्जातीयाः प्रधानाश्च एतच्चाभिनवधर्म्माणः श्रुत्वा दृष्ट्वा च मिथ्यात्व प्रतिपद्येरन् तथा (अन्नपथेत्ति) तं साधु पथि स्थितं दृष्ट्वा पथिका उद्वृत्य व्रजन्ति ते चोद्वर्तमाना हरितकायादीनां विराधनां कुर्वन्ति । तथा केचित्तं पथि स्थितं दृष्ट्वा ब्रुवते अहो निर्लज्जा. श्रमणाः पन्थान रुद्ध्वा स्थिताः तच्च श्रुत्वा कोऽप्यसहमानः कलहं कुर्यात् ततो युद्धे समापतिते भाजने भेदोऽनागाढादि. परितापना च स्यात् । तथा पादनिक्षेपेण धूल्या उत्खननं भवति तेन च उपधेर्विनाशो मलिनत्वभावात् । ते एवानन्तरोदिता दोषा. सविशेषा. शङ्कादयो विचिकित्साऽपि उच्चारादिना तथा हि उच्चारादि पथि कुर्वतो लोकस्य शङ्कोपजायते किमनेन गुदं निर्लेपितमुत नेति आदिशब्दात्किमेष स्तेनकः किं वा श्रमणोऽभिचारको हेरिको वा इत्यादिपरिग्रह. एष द्वारगाथासंक्षेपार्थ. । सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो मिथ्यात्वद्वारं विवृणोति ।

पंथे न ठाइयव्वं, बहवो दोसा तहिं पसज्जंति ।
अब्भुट्ठियम्मि गुरुगा, जं वा आवज्जती जुत्तो ॥

पथि साधुना विश्रमणनिमित्त न स्थातव्यं यतस्तत्र बहवो दोषाः प्रसजन्ति तानेवाह । साधुना धिग्जातीयानां पथि प्रदत्ते अभ्युत्थिता एते अभ्युत्थानमेतेषां कृतमिति लोकप्रतिपत्तौ तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः यच्च स्वय दृष्ट्वा यतो वा श्रुत्वा मिथ्यात्वमापद्यते अभिनवधर्म्मा मिथ्यादृष्टिर्वा गाढतरं मिथ्यात्वमधिगच्छति तन्निष्पन्नं च तस्य प्रायश्चित्त धिग्जातीयानां चात्मबहुमानसम्भवस्तथा चाह ।

जाणंति अप्पणो सारं, एते समणवादिणो ।
सारमेएसि लोगो य-प्पणो न वियाणई ॥

ये आत्मान श्रमणमिति वदन्ति ते आत्मन. सारं परमार्थतत्व जानन्ति यथाऽस्मत्त्वमेते गरीयांस इति यस्त्वेतेषामय लोकः ससारमर्थतत्वमात्मनो न विजानाति अविदितपरमार्थत्वात् । गत मिथ्यात्वद्वारम् ।

अधुना अन्यपथद्वारमाह ।

अन्नपहेण वयंते, काया सो चेव वा नवे पंथे ।
अचियत्त असंखमादी, नायणविराहणा चेव ॥

तं साधु पथि स्थितं दृष्ट्वा पान्था अन्येन पथा व्रजन्ति तथा च सति काया हरितकायादयो विराध्यन्ते । तथा स एव नवति पन्थास्ततो महान् प्रवर्तनादोष. तथा पथि स्थितं दृष्ट्वा कस्यापि (अचियत्ति) अप्रीतिरुपजायते तत. स ब्रूते अहो मुण्ड. पन्थान रुद्ध्वा स्थितस्तस्य श्रुत्वा कोऽप्यसहमानोऽसंखडं कलहं कुर्यात् आदिशब्दात् युद्धमपि तथा च सति भाजनविराधना आदिशब्दादनागाढादिपरितापना भावत. शरीरविराधना च । संप्रति "धूली उक्खणण उवहि विणासो इति" व्याख्यानयति ।

सरक्खधुली चेयणे, पत्थिवाणं विणासणा ।
अचित्तरेणुमइलम्मि, दोमा होंति अधोव्वणे ॥

सह रजसा श्लक्ष्णधूलिरूपेण वर्त्तते इति सरजस्कः स चासौ धूलिश्च तस्याश्चैतन्यस्तस्यां चेतनायामित्यर्थः पादनिक्षेपेण उत्खनेन शरीरादिसंस्पर्शतः. पार्थिवानां पृथिवीकायानां विनाशनं भवेत् । अथ सोऽचित्तो रेणुस्तर्हि तेनाचित्तेन रेणुना मलिने उपधौ यदि प्रक्षालयति तथाऽपि दोष. । प्राणविराधनापत्तेर्वा कुशत्वसम्भवाच्च अप्रक्षालनेऽपि दोषाः प्रवचनहीलनापत्ते. । अन्यच्च ।

वेगाविद्धो तुरंगादी, सहसा दुक्खनिग्गहा ।
परम्मुहं मुहं किच्चा, पहि ठाणं पणोल्लए ॥

वेगाविद्धो वेगेनागच्छन्तस्तुरङ्गादय आदिशब्दाद्वलीवर्दानामपि परिग्रह. । सहसा दु खेन निगृह्यन्ते निवार्यन्ते इति दुःखनिग्रहा निवारयितुमशक्या इति भावस्ततः शरीरविराधना भाजनविराधना च । तथा केचित्प्रान्ताः परान्मुख मुख कृत्वा पथि स्थितं साधु प्रणुदेयुर्गाथायामेकवचन प्राकृतत्वात्प्राकृते हि वचनव्यत्ययो भवति । किं च ।

पम्हुट्ठमवि अन्नत्थ, जइट्ठा कोति पेच्छति ।
पंथं उ परिपम्हुट्ठं, खिप्पं गेण्हति अच्छ[illegible] ॥

पथो ऽन्यत्र विस्मरणतः पतितमपि प्रेक्ष्यते पथि पुनः प्रभ्रष्टं परिभ्रष्ट क्षिप्र गृह्णन्ति तस्मात्पथि न विश्रमितव्यम् ।

एवं ठितोवविट्ठे, सविसेसतरा भवंति उच्चिवणे ।
दोसा निद्दपमायं, गते य उवहिं हरति त्ति ॥

एवमनुना प्रकारेण स्थिते ऊर्ध्वस्थानेनावतिष्ठमाने तथा उपविष्टमाने वक्तव्यानि चात्र शयाने सविशेषतरा दोषा भवन्ति । तथाहि पूर्वोक्तास्तावत्तथैव द्रष्टव्याः । अन्यच्च शयाने कथमपि निद्राप्रमाद गते उपधिमन्ये पथिकादयो हरन्ति तस्मात्पथि न शयितव्यमिति । सम्प्रति " चेव य सावेसेसा सकादिविविंचमाणे वी " त्येतद्व्याख्यानार्थमाह ॥

उच्चारं पासवणं, अणुपथे चेव आयरंतस्स ।
लहुतो य हो य मासो, चाउम्मासो सवित्थारा ॥

उच्चार प्रश्रवणं वाऽध्वगानामनुकूले पथि प्रवतरत समाचारीनिष्पन्न प्रायश्चित्त लघुको भवति मास. । अथ तथोच्चार प्रश्रवण वा कुर्वन्तमवलोक्य केचिदन्यं पन्थान कुर्वन्ति तत्र चत्वारो मासा लघुका. (स वित्थारोत्ति) यत्र स्त्र्यादिभिः सह सम्बन्धादि प्राप्नोति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तमिति भाव. । तथा ।

छड्डावणमन्नपडो, दवासतिय कुज्जिगंधकड्सप्पे ।
तेणो त्ति व संकेज्जा, आदियणे चेव उड्डाहो ॥

कोऽपि स एव राजकुलमान्यः प्रान्त श्रमणमुच्चारं पथि कुर्वन्त दृष्ट्वा कोपात्तमेव श्रमणमास्कन्द्य तमुच्चार मुद्रापयेत अपरंन्य

पन्थाः क्रियेत तत्र चोक्तप्रायश्चित्तम्। तथा पथि रूवीभावे दुरभिगन्धः उच्छन्नेऽत्रापि प्रवचनोड्डाहस्तथा कोऽपि कलुषात्मा शङ्केत स्तेनक इति उपलक्षणमेतत् हेरिकोऽभिचारिको वा इत्यपि शङ्केत तत आदाने ग्रहणे प्रवचनस्य उड्डाहः तस्मात्पथि विश्रामणादि न कर्तव्यम् ॥

अत्रैवापवादमाह ॥

अच्छेय व दूरपहे, असहू भारेण खेदियप्पा वा ।
उन्ने व मोत्तुं पहं, गामसमीवे य उन्ने वा ॥

अतिशयेनातप उष्णं तपति वृक्षाश्च पथि दूरे वर्तन्ते यथासन्नपल्लीमार्गे प्रतिपन्नानामेक एवाध्वनि विश्रमणहेतुरेक एव वृक्षो ऽन्यत्र सर्वत्राकाश तेन कारणेन पथ्यपि वृक्षस्याधस्तात् विश्राम्येत । असहो नाम नातिदूरे वृक्षा सन्ति पर तत्र गन्तुं न शक्नोति तत सोऽपि पथि वृक्षस्याधो विश्रमण कुर्यात्। अथवा उपधिभारेण खेदितात्मा अतिशयेन परिश्रान्तस्तत' पथ उद्वर्तितु न शक्नोतीति पथ्येव विश्रमयति । तदेवं पथ उभयो पार्श्वयोर्दूरेण वृक्षसंभवे द्वितीयपदमुक्तमिदानीं समन्ततो वृक्षच्छन्ने प्रतिपादयति । (उन्ने व मोत्तु पहत्ति) पन्था उभयो पार्श्वयोर्वृक्षैश्छन्नस्तत्र वा विभाषायां यदि निर्भय तत पन्थान मुक्त्वाऽन्यत्र विश्रमणादि करोति । अथ भय तदा पथ्येवेति पतद् दूरेऽभिहिनम्। ग्रामसमीपे पुनर्निर्भयमिति वृक्षैश्छन्नस्तत्र वा विभाषाया यदि निर्भयं तत पन्थान मुक्त्वाऽन्यत्र विश्रमणार्थं पथ उद्धृत्य विश्रमणादि करोति । ग्रामसमीपे यस्य तस्य वृक्षादेर्देवकुलादेश्छाया-सम्भवात्तेन पुन साधुना पथ· कियद् दूरे उद्वर्तितव्यमत आह ।

पंथे ठितो न पेच्छइ, परिहरिया पुव्ववण्णिया दोसा ।
बिइयपए असतीए, जयणाए वट्टणादीणि ॥

तावति दूरे उद्धृत्य स्थातव्य यत्र पथिकः पथा व्रजन् पथि ऊर्द्धस्थितो वा साधुमुद्धृत्त न पश्यति। एव च पूर्ववर्णिता दोषा· समस्ता अपि परिहृता । द्वितीये पदे अत एवापवादपदे पुनरुद्वर्तने असति उद्वर्तनाभावे पथ्यपि यतनया वक्ष्यमाणया स्थानादीनि करोति स च तथा कुर्वन् तीर्थकराज्ञया प्रवृत्ते शुद्ध इति।

सांप्रतमुद्वर्तनाभाव यतनां चाह ।

संकटहरितच्छाया, असति य गहितोवही ठितो पेच्छे ।
उद्वेइ व अप्पत्ते, सहसा पत्ते ततो पिट्ठं ॥

सकटो नाम पन्था' स उच्यते यो वा घोरपान्तराले तत्रोद्वर्त्तनस्यासम्भव' । अस्य वा चतसृष्वपि दिक्षु समन्ततो हरितकायः। अथवा पन्थानमतिरिच्यान्यत्र सर्वथा छाया न विद्यते । तत' एतै कारणैरुद्वर्तनासम्भवे पथ्येव गृहीतोपकरणो मुहूर्तमात्रमूर्द्धस्थितो मार्गे एव छायायां विश्राम्येत । यदा तु पथिकानागच्छतः पश्यति तदा तेषु त प्रदेशमप्राप्तेष्वेव उत्तिष्ठति तथा ते जानन्ति पूर्वमेव उत्थित इति । अथ सहसैव ते पथिका अदृष्टा एव समागतास्तदा तेषां पृष्ठ दत्वा उत्तिष्ठति यथा ते जानन्ति यथैष आत्मव्यापारेणोत्थित इति एव मिथ्यात्वदोषाः परिहृता भवन्ति ।

भुंजण पाणुच्चारे, जयणा तत्थ कुव्वति ।
उग्गाहदा उ जे दोसा, पुव्वं तेसु जतो भवे ॥

भोजने पाने उच्चारे च यतनां तत्र पथि करोति कथमित्याह । उद्गाहता ये पूर्वे दोषास्तेषु यतो भवेत् यथा ते न भवन्ति तथा यतेतेति भावः ।

गंतव्वपहोएवं, अकरणिलहुतो उ दोस आणादी ।
पम्हुट्ठो वा सट्ठे, लहुतो आणादिणो चेव ॥

विश्रम्य उच्चारप्रश्रवणं वा कृत्वा यदा गन्तव्य भवति तदा सिंहावलोकनेन पश्चादवलोक्य गन्तव्यम् । यदि पुनरवलोकन न करोति तदा प्रायश्चित्त तस्य लघुको मास.। अधिकरणदोषाश्च प्रागुक्ताः कथमपि विस्मरणत· पतन्ति सम्भवन्ति । आज्ञाभङ्गादयश्च दोषा· । तथा यदि कथमपि विस्मरतः पतितं स्यात् ततस्तद्ग्रहणाय प्रतिनिवर्तितव्यम् । यदि मन्यते किं तेनेति व्युत्सृजति तदा मासलघुकमाज्ञाभङ्गादयश्च दोषाः एतदेवाह ।

पम्हुट्ठे गंतव्वं, अगमणे लहुगो य दोसआणादी ।
निक्कारणम्मि तिन्नि उ, पोरिसीकारणे सुद्धो ॥

कथमपि विस्मरणत पतिते सिंहावलोकनेन च दृष्टे नियमतस्तदानयनाय पश्चात् गन्तव्यम् । अगमने प्रायश्चित्तं लघुको मास । अधिकरणदोषाश्च प्रागुक्ता आज्ञादयश्च । तथा निष्कारणमिति कारणस्याभावे निष्कारणमस्मिन् यदि नास्ति निवर्तमानस्य प्रत्यपाय इत्यर्थस्तदा अवश्य निवर्तितव्यम् । (तिन्निउत्ति) यदि प्रथमायां पौरुष्यां विस्मरणत पतितं चरमायां च पौरुष्यां स्मृत तत्र यदि निष्प्रत्यपायमन्तरा च वासोऽस्ति यदा निवृत्य गृहीत्वा आनेतव्यमथ सूर्यास्तमयवेलायां स्मृत यथा अमुकमेव विस्मरणत पतितमिति तदा आद्यान् त्रीन् यामान् उषित्वा चतुर्थे यामे प्रतिनिवृत्त्यानेतव्य प्रत्यपायाभावे कारणे तु प्रत्यपायलक्षणेऽनिवर्त्तमानोऽपि सशुद्धः । एतदेव भावयति ॥

चरमाए वि नियत्तइ, जइ वासो अत्थि अंतरा वसिमे ।
तिण्णि वि जामे वसिउं, नियत्तइ निरच्चये चरमे ॥

प्रथमायां पौरुष्यां विस्मरणत पतिते तदानयनाय चरमायामपि पौरुष्यां निवर्तते यदि च तेषामन्तरा वासोऽस्ति। अथ चरमायां दिनपौरुष्यां पतति तदा रात्रेस्त्रीन् यामानुषित्वा चरमे यामे निरत्यये प्रत्यपायाभावतो निर्भयो निवर्त्तते ॥

कारणे शुद्धो इति व्याख्यानार्थमाह ॥

दूरं सो वि य तुच्छो, सावयतेणानदी व वासं वा ।
इच्चाइकारणेहिं, करेंति उस्सग्गमो तस्स ॥

दूरमतिशयेन गतानां स्मरणपथमवतीर्ण' पतित उपधि· सोऽपि वा उपधिरतिशयेन तुच्छः। मुखपोत्तिकादिरूपोऽतिशयजीर्णश्चेति भावः। अथवा अपान्तराले व्याघ्रादीनि श्वापदानि स्तेना वा शरीरापहारिण उपकरणापहारिणो वा नदी वाऽपान्तराले वर्षा वा पतति आदिशब्दात् म्लेच्छभय वा अशिव वेत्यादिपरिग्रह· इत्यादिभिः कारणैस्तस्य विस्मरणतः पतितस्योपकरणस्य उत्सर्ग "वोसिरामिति" त्रिभणनपूर्वकं परित्यागं करोति एव करणे अधिकरणादयो न भवन्ति ॥

एवं ता पम्हुट्ठो, जेसिं तेसिं विही भवे एसो ।
जे पुण अन्ने पेच्छे, तेसिं तु इमो विही होइ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण तावत् येषामुपधिर्विस्मरणत' पतितस्तेषामेषोऽनन्तरोदितो विधिर्भवति ये पुनरन्ये साधर्मिका प्रेक्षन्ते तेषामय वक्ष्यमाणो विधिर्भवति । तमेवाह ॥

दट्ठुं अगिण्हणे लहुगो, दुविहो उवही उ नायमण्णातो ।
दुविहा नायमणाया, संविग्ग तहा असंविग्गा ॥

द्विविध उपधिरौघिक औपग्राहिकश्च । तस्य द्वितयस्यापि पति-

तस्य दृष्ट्वा अग्रहणे प्रायश्चित्तं लघुको मासो ये च पूर्वमुक्ता अधिकरणादयो दोषास्तेऽपि तस्य प्रसजन्ति स चोपधिर्ज्ञेया द्विधा ज्ञातोऽज्ञातश्च । तत्र ज्ञातो नाम येषा स उपधिस्तेषां ज्ञायते अज्ञातो नाम यो न ज्ञायते यथा अमुकस्य सम्बन्धीति । ते ज्ञाता द्विविधाः संविग्ना असंविग्नाश्च ॥

मुत्तूण असंविग्गे, संविग्गाणं तु नयणजयणाए ।
दो वग्गा संविग्गे, छब्भंगा नायमन्नाए ॥

मुक्त्वा असंविग्नान् किमुक्तं भवति यो ज्ञायते असंविग्नानामेष उपधिः स न नीयते यस्तु संविग्नानां तत्र द्वौ वर्गौ तद्यथा संयताः संयत्यश्च तत्र संविग्ने एकस्मिन्वर्गे षड्भङ्गा ज्ञाते भवन्ति अज्ञाते च वक्ष्यमाणो विधिः । तत्र षड्भङ्गानुपदर्शयति ।

सयमेव अप्पं पेसेइ,अप्पाहे वा वि एव सग्गामे ।
परगामे वि य एवं, संजतिवग्गे वि छब्भंगा ॥

यदि ते संयताः संविग्ना इति ज्ञातास्तदा स्वयं वा गन्तु नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति संदेशयति वा यथा मया स उपधिर्विस्मरणतः पतितो लब्ध इति । एवं स्वग्रामे त्रयो भङ्गाः परग्रामेऽपि स्थितानामेते एव त्रयः प्रकाराः एवं षड्भङ्गाः संयतानामेव संयतीवर्गेऽपि षड्भङ्गास्तदेवं ज्ञातविषये विधिरुक्तः । सम्प्रत्यज्ञातविषयं विधिमाह ।

एहाणादिणा य घोसेण, सोउं गमणं च पेसणप्पाहे ।
पम्हुट्ठे वोसट्ठे, अप्पबहुअसंथरंतम्मि ॥

यो न ज्ञायते कस्याप्येष उपधिरिति स परिज्ञाननिमित्तं स्नानादिसमवसरणे घोष्यते घोषणं च श्रुत्वा केनापि कथिते येषां स उपधिस्तत्र स्वयं वा गन्तु नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति । संदेशयति वा । तथा (पम्हुट्ठ) विस्मरणतः पतिते व्युत्सृष्टे परित्यक्ते येनानीतस्तस्मिन्नसंस्तरति अल्पबहु परिज्ञाय परिभोगोऽनुज्ञात । एतदेव व्याख्यानयति ।

कामं विस्सरणाणे, चत्तं पुण नावतो इमम्हेहिं ।
इति वेंते समणुण्णे, इच्छाकज्जेसु सेसेसुं ॥

येषां स उपधिर्विस्मरणत पतितस्तेषामन्तिकमानीयते नीत्वा चेदं भण्यते यथाऽयं युष्माद्विस्मरणतः पतितोऽस्माभिरानीतस्ततो गृह्यतामिति एवमुक्ते ते प्राहुः काम नोऽस्माक विस्मरणत पतितमिदमुपकरण पर भवत इदमस्माभिस्त्यक्त त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृजितमिति भावः । एवं ब्रुवति उपधिस्ते यदि सभोगिकास्तेन च विना संस्तरन्ति तर्हि स येषां सत्कस्तैः परिष्ठापयन्ति । "एतेन इच्छाकज्जेसु इति" व्याख्यातम् । संप्रति "सेसेसुत्ति" व्याख्यायते । शेषा असांभोगिकास्तेष्वपि कार्येष्विदमत्र भावना अन्यसांभोगिकैरानीते तैश्च प्रतिषेधे यदि वैरानीतस्तेन तेन विना संस्तरन्ति अन्यश्चोपधिर्दुर्लभो न लभ्यते वा तदा ते समनुज्ञातं परिभुञ्जते एतावता " अप्पबहुसंथरंतम्मि " व्याख्यातम् । तदेव संविग्नानां विधि ।

इदानीमसंविग्नानामुपधिविधिरुच्यते ।

पक्खिगापक्खिगा चेव, हवंति इयरे दुहा ।
संविग्गपक्खिगे णेंति, इयरेसिं न गेण्हति ।

इतरे असंविग्ना द्विविधास्तद्यथा पाक्षिका अपाक्षिकाश्च संविग्नपाक्षिका असंविग्नपाक्षिकाश्च इत्यर्थ । तत्र यः संविग्नपाक्षिकः संविग्नपाक्षिकस्य सम्बन्धी उपधिस्तं स्वयं वा नयति अन्यस्य वा हस्ते प्रेषयति संदेशयति वा यस्त्वितरेषामसंविग्नानामुपधिस्त पतितं दृष्ट्वा न गृह्णाति ।

अत्रैवापवादमाह ।

इयरे वि होज्ज गहणं, आसंकाए अणज्जमाणम्मि ।
किह पुण होज्जा संका, इमेहि उ कारणेहिं तु ॥

इतरस्मिन्नप्यसंविग्नपाक्षिकसम्बन्धिन्युपधावसम्पाक्षिकसंबन्धित्वेनाज्ञायमाने आशङ्कया ग्रहण भवेत् । सूरिराह पविवंक्ष्यमाणैः कारणैः तान्येवाह ।

एहाणादिसमोसरणे, अहव समावत्तितो गयाणेगा ।
संविग्गमसंविग्गा, इति संका गेण्हते पडियं ॥

जिनप्रतिमास्नानदर्शननिमित्तमादिशब्दात् सम्प्रयोजनेन वा केनापि समवसरणे मेलापके यदि वा एवमेव समापत्तितो गता. पुरतोऽनेके संविग्ना असंविग्नाश्च तेषां गच्छतां कस्याप्युपधिर्विस्मरणतः पतितः स न ज्ञायते सम्यक् किं संविग्नानां केवलं स्यादसंविग्नानामपाति त पतित गृह्णाति ।

संविग्गपुराणोवहि, अहवा विहिसीवणा समावत्ती ।
होज्ज व असीविता विय, इति आसंकाए गहण तु ॥

अथ वा पुराणसंविग्नोपधेः किमुक्त भवति येषां सत्क उपधिः पतितस्ते पूर्वं संविग्ना आसीरन् पश्चादसंविग्नीभूता. स चोपधिः पूर्वं संविग्नसीवनेन सीवितः । अथवा संविग्नैरपि समापत्त्या विधिसीवनिकया संसीवितो यदि वा असंसीवित एष समभवत्ततस्तं दृष्ट्वा आशङ्का भवति किं संविग्नानामुतासंविग्नानां तत आशङ्कया ग्रहण भवति ।

सम्प्रति ग्रहणानन्तरविधिविशेषमाह ।

ते पुण परदेसगते, नाउ भुंजति अहव वज्जेति ।
अन्ने उ परिट्ठवणा, कारणभोगा व गीएसु ॥

तमुपधिं गृहीत्वा येषां संविग्नानां सत्क उपधिस्ते परदेशं गताः ततस्तान्परदेशं गतान् ज्ञात्वा कारणे समापतिते परिभुञ्जते अथवा कारणाभावे परिष्ठापयन्ति । एव कारणैरसंविग्नानामपि पतितमुपधिं गृह्णानो न प्रायश्चित्तभाग्भवति । अथ येषां सत्क उपधिः पतितो गृहीतस्ते संविग्ना अप्यन्ये असांभोगिकास्तेषां देशान्तरगतानामुपधिं गृहीत्वा निष्कारणे परिष्ठापयन्ति (कारणत्ति) यदि ते सर्व गीतार्था न च तेषामपधिरस्ति यदि वा तादृश उपधिरन्यो दुर्लभस्तत्र एव कारणे परिभुञ्जते । अथ ते अगीतार्थमिश्रास्तदा परिष्ठाप्यन्ते प्रज्ञाप्य वा गीतार्थान्परिभुञ्जते एतच्चान्यसांभोगिकसत्कतया परिज्ञायते । इत्यपरिज्ञाने प्रागुक्त एव विधिः ।

बिइयं पदे न गेण्हेज्जा, संविग्गाणं पि एहि कज्जेहिं ।
आसंकाए य नज्जइ, संविग्गाण च इयरेसिं ॥

द्वितीयपदे अपवादपदे संविग्नानामपि पतितमुपधिमेभिर्वक्ष्यमाणैः कार्यं कारणैर्न गृह्णीयात् । तान्येवाह न ज्ञायते किमेष संविग्नानामुत इतरेषामसंविग्नानामित्याशङ्कया पतितं न गृह्णाति तथा ॥

असिवगहियं व सोउ, ते वा भव व होज्ज जइ गहियं ।
ओमेण अन्नदेसं, व गंतुकामा न गेण्हेज्जा ॥

येषां स उपधिस्ते अशिवगृहीता येन दृष्ट स नेति प्रथमो भङ्ग येऽदृष्टस्ते अशिवगृहीता येषां सत्कस्तेन गृहीता इति द्वितीय. यैरुभयं गृहीतमिति तृतीय उभयमपि न गृहीतमिति चतुर्थो भङ्ग

ऋ तत्र चतुर्थे भङ्गे अपवादमधिकृत्य शून्यो न भवति तत्रापवाद इति भाव । तत्र प्रथमभङ्गे न गृह्णाति अशिवोपहतत्वात् द्वितीयेऽपि न गृह्णाति तदानीं तस्य तैरवग्रहणादाशीचोदतत्वात् तृतीये भङ्गे सदृशे अशिवे कारणे गृह्णाति विसदृशे सोमसुखादिब्रक्षेत्रे गृह्णाति यदि वा अवमौदर्येण देशान्तरं गन्तुकामा न गृह्णीयुः ॥

अह पुण गहियं पुव्वं, न य दिट्ठ जस्स विच्चुय ए तु ।
उवहावियन्नदेसं, इमिणा विहिणा विगिंचिज्जा ॥

अथ पुनर्गृहीत पूर्वमुपकरणं न च स दृष्टो यस्य सत्कं तदुपकरण विच्युत विस्मरणत. पतित यस्मात् (उवहावियन्नदेसति) अथ पुनर्गृहीतमुपकरण न च स दृष्टो यस्य सत्क तदुपवेगेन धाविता' प्रधाविता अन्य देश गतास्तत अनेन वक्ष्यमाणेन विधिना विवेचयेत् परिष्ठापयेत् । तमेव विधिमाह ॥

दुविहा जायमजाया, जाया अभियोग तह असुद्धा य ।
आभेयोगादी भेत्तुं, इयरं पुण अक्खयं चेव ॥

सा परिष्ठापनिका द्विविधा जाता अजाता च तत्र जाता नाम अभियोगकृता विषकृता च तत्राभियोगो वशीकरणम् । अथवा जाता अशुद्धा सा द्विविधा मूलगुणाशुद्धा उत्तरगुणाशुद्धा च । तत्र जाता अभियोगकृता विकृता वा मूलगुणाशुद्धा उत्तरगुणाशुद्धा वा सा भेत्तु भेत्तु वा कर्तव्या । इतरत् पुनरुपकरणमाभियोगादिदोषरहितमक्षत चैव परिष्ठापयितव्यम् । अत्र पर प्रश्न करोति

पहनिग्गया इयाणिं, विजाणणट्ठाइ तत्थ चोदेइ ।
तेसिं सुद्धिनिमित्तं, कीरइ विहिं इमं तु तहिं ॥

पथि निर्गता आदिशब्दादशिवादिभि· कारणैर्निर्गता' परिगृह्णन्ते तेषां शुद्धिनिमित्त यदत्र प्रागुक्ते विधौ प्रतिपादिते पर असहमानश्चोदयति प्रश्नयति पथिनिर्गतादीनां पथिनिर्गता मार्गप्रतिपन्नास्तेषां परिष्ठापितमिदमिति विज्ञानार्थं तत्रेद वक्ष्यमाण चिह्न क्रियतामिति । तदेवाह ।

एगा दो तिन्नि वली, वत्थे कीरंति पत्तचीराणि ।
सुज्झंतु चोदगेणं, इति उदिते बेति आयरितो ॥

मूलगुणैरशुद्धे वस्त्रे एकावलिरेक वत्थ कृत्वा तत् परिष्ठाप्यते मूलगुणैरशुद्धे पात्रे एक चीवरमेकं प्रस्तर क्षिप्त्वा तत्परिष्ठाप्यतामुत्तरगुणैरशुद्धे शुद्धे वा क्रियेतां पात्रे द्वे चीवरखण्डे द्वौ वा प्रस्तरौ क्षिप्येयाताम् । मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च शुद्धे वस्त्रे त्रीणि वक्राणि क्रियेरन् । पात्रे त्रीणि चीवराणि त्रयो वा प्रस्तरा क्षिप्येरन् इति । अमुना प्रकारेण चोदकेनोक्ते आचार्यो ब्रवीति । किं तदित्याह ।

सुद्धमसुद्धं एत्र, होति असुद्धं च सुद्धवायुवसं ।
तेण तिदुगेगगंठी, वत्थे पत्तम्मि रेहो उ ॥

एत्र शुद्धमुक्तप्रकारेण वक्रकरणे वातवशात् शुद्धमपि चक्रैकद्विकनङ्गनोऽशुद्ध भवति । अशुद्धमपि वातवशेन चक्रत्रिकभावत शुद्ध भवति । पात्रमपि वातवशेन एकद्विकचीवरापगमे शुद्ध भवति । अशुद्धमपि वातवशेनान्यागन्तुकचीवरखण्डसमागमे शुद्ध तस्मादय विधिस्तत्र कर्तव्य । मूलोत्तरगुणशुद्धे वस्त्रे त्रयो ग्रन्थय कर्तव्या पात्रे तिस्रा रेखा उत्तरगुणैरशुद्धे वस्त्रे द्वौ ग्रन्थी पात्रे द्वे रेखे मूलगुणैरशुद्धे वस्त्रे एको ग्रन्थि पात्रे एका रेखा ।

अद्धाणनिग्गयादी, उवएमा एएण पेमणं वावि ।
अविकोवित्ते अप्पणमं, दच्छे निच्चे त्रिवित्ते य ।

अध्वनि मार्गे निर्गता अध्वनिर्गता आदिशब्दात् अशिवादिभिर्वा कारणैर्निर्गताः परिगृह्यन्ते तेषामुपकरणे दग्धे वह्निना भस्मीकृते भिन्ने वा विविक्ते वा विस्मरणतः पतिते वास्तव्यास्तान् अध्वनिर्गतादीन् ब्रुवते अस्माकमुद्धरितानि वस्त्राणि न सन्ति केवलमस्माभिरमुकप्रदेशे परिष्ठापितानि वर्तन्ते तान्यानीय गृह्णीथ एवमुक्ते तेऽपि प्राघूर्णका ये गीतार्थास्तान् प्रेषयन्ति वास्तव्या अपि च तेषां चिह्नानि उपदिशन्ति यथा गर्त्तसमीपे गिरिसमीपे तरुसमीपे कूपसमीपे इत्यादि (आणयणमिति) अथैवं चिह्ने कथितेऽपि स्थान न जानन्ति यदि वा न ते वास्तव्या ग्लानादिप्रयोजनैर्व्यावृतास्तत' स्वयमानीय प्रयच्छन्ति (पेसणं वा विति) अथवा वास्तव्या· प्राघूर्णकानां देशकं ददति यथा अमुकप्रदेशे वस्त्रादि परिष्ठापितमस्ति तदमीषां दर्शय अपि शब्दात् यदि ग्लानादिप्रयोजनैर्न व्यावृतास्तदा परिष्ठापिताभावे अन्यत् याचित्वा प्रयच्छन्ति (अवि कोविए अप्पणमिति) आनीते परिष्ठापिते कोऽप्यकोविदो गीतार्थ उपहतमिति कृत्वा नेच्छति तत्र प्राघूर्णकैर्वास्तव्यैर्वा तस्यात्मीय वस्त्र पात्र वा दत्वा इतरत्स्वय ग्रहीतव्यम् । अथ तदपि कश्चिदगीतार्थतया न गृह्णीयात्तर्हि तत् आनीत पुन· परिष्ठाप्यते एष गाथासंक्षेपार्थ· ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुराह ।

अद्धाए निग्गयादी, नाउ परित्तोवही विवित्ते वा ।
संपडुगभंडधारी, पेसंती ते वियाणतो ॥

अध्वनिर्गतादीन् आदिशब्दादशिवादिकारणनिर्गतपरिग्रहस्तान् परीतोपधीन् परिमितोपधीन् विविक्तान्वा विविक्तोपधीन्वा विस्मरणत पतितोपधीनित्यर्थ । उपलक्षणमेतत् दग्धोपधीन्वास्तव्या ज्ञात्वा कथंभूता वास्तव्या इत्याह । सपाडुकभाण्डधारिणो नाम यावन्मात्रमुपकरणमुपपद्यते तावन्मात्र धरन्ति शेष परिष्ठापयन्ति । ततस्तान् तथाभूतान् दृष्ट्वा ब्रुवते अस्माकमुद्धरितानि वस्त्राणि न सन्ति किं त्वस्माभिरमुकप्रदेशे परिष्ठापितानि वर्तन्ते तानि गत्वा प्रतिगृह्णीतेति एवमुक्ते तथाऽपि प्राघूर्णका जानते गीतार्थान्प्रेषयन्ति कथमित्याह ।

गड्डागिरितरुमादी ण, काउं चिंधाणि तत्थ पेसंति ।
आवयवेद्धा सयं वा, आणं तहं व मग्गंति ॥

अत्र प्राघूर्णकाः प्रेषिता न वास्तव्या गर्तगिरितर्वादीनि चिह्नानि कृत्वा प्रेषयन्ति यदि वा ग्लानादिभिर्व्यापृता स्वयमानयन्ति परिष्ठापिताभावे अन्यद्वा मार्गयन्ति । साप्रत"मविकोविए अप्पणगमिति" व्याख्यानयति ।

नीयम्मि य उवगरणे, उवहयमेयं न इच्छई कोई ।
अविकोविय अप्पणगं, अणिच्छमाणे विविंचति ॥

नीतेऽप्युपकरणे कश्चिदकोविद उपहतमेतदिति कृत्वा नेच्छेत तस्मिन्नकोविदे आत्मीय वस्त्रादि समर्प्यते । अथ तदपि नेच्छति तदा परिष्ठापितमानीत पुनर्विविञ्चन्ति परिष्ठापयन्ति ।

असतीए अप्पणा वि, झामियहियवूढपडियमाई सु ।
सुज्झति कप्पयन्तो, मेव गेएहं असढभावो ॥

येन पूर्वं तत् परिष्ठापित तस्य पश्चादुपधि कथमपि प्रदीपनकेन दग्ध हृतो वा तस्करै· पानीयेन वा नद्यादिप्लवेन प्लावित वजनो वा कथमपि विस्मरणत पतित । आदिशब्दात्प्रत्यनीकेन वा केनापि वस्त्राणि फाडितानि पात्राणि अनेकधा

भिक्षानि ततो ध्यामितहृतव्यूढपतितादिषूपकरणानि याचनीयानि तेषामप्यसत्यभावे कृतप्रयत्नस्तदेव पूर्वपरिष्ठापित स्वय गृह्णानेऽशठभाव इति कृत्वा शुद्धः। व्य० द्वि० ८ उ०। (भिक्षाचर्यायां क उपधिर्नेतव्य इत्येसणाविहारादिशब्देषु)

(१६) स्थविराणां ग्रहीतव्या उपधयः॥

(सूत्रम्) थेराणं थेरभूमिं पत्ताणं कप्पति दंडए वा १ भंडए वा २ छत्तगं वा ३ मत्तगं वा ४ लट्ठियाए वा ५ भिसि वा ६ चेलं वा ७ चेलचिलिमिलिया वा ८ चम्मए वा ९ चम्मकोसं वा १० चम्मपलिच्छेयणाए वा ११ अविरहिए उवा सेठवेत्ता गाहावतिकुलं भत्तए वा पाणाए वा पविसित्तए वा निक्खमित्तए वा कप्पति से सं नियट्टचारिस्स दाच्चं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए वा॥ ५॥

स्थविराणां जरसा जीर्णानां स्थविरभूमिं प्राप्तानां सूत्रार्थतदुभयोपेतानामित्यर्थः। कल्पते दण्डं विदण्डादिभेदभिन्न भण्डकमनेकविधानि उपकरणानि छत्रकं प्रतीत मात्रकमुच्चारादिसत्क लष्टिका दण्डविशेषः। चेल कल्पादि चर्म्म तलिकादिरूपं चर्म्मपरिच्छेदनकं बन्ध्वा एतान् अविरहिते अवकाशे स्थापयित्वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिपाताय प्रवेष्टु वा निष्क्रमितु वा कल्पते सन्निवृत्तचराणां भिक्षाचर्यात' प्रत्यागतानां स्थविराणां द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञाप्य परिहर्तुं धारणया परिभोगेन चेत्येष सूत्राक्षरमात्रार्थः। विशेषव्याख्या तु भाष्यकृता क्रियते। तत्र यानि पदानि व्याख्येयानि तानि दर्शयति॥

दंड विदंडे लट्ठी, विप्पछिचम्मे य चम्मकोसा य।
चम्मस्स य जे छेया, थेरा वि जे य जराजुण्णा॥

दण्डो विदण्डः यष्टिर्वियष्टिः चर्म्म चर्म्मकोशः चर्म्मणश्च ये छेदास्ते चर्म्मपरिच्छेदनकास्ते च व्याख्येयास्तत्र प्रथमत स्थविरपदमाचक्षते। स्थविरा अपि च ये जराजीर्णास्ते द्रष्टव्या'॥

आयवताणनिमित्तं, छत्तं दंडस्स कारणं वुत्तं।
कम्हा ठवेइ पुच्छा, संदिग्धधरो अ दुग्गहा॥

आतप उष्णेन परितापना तस्य त्राणार्थं छत्रक गृह्णाति दण्डस्य उपलक्षणमेतत् विदण्डादीनां ग्रहणे कारणं पूर्वनिशीथे कल्पे च भणितम्। अथ कस्माद्दण्डं स्थापयति एषा पृच्छा अत्रोत्तर दण्डको दीर्घ' स्थविरश्च तत त दुर्गं व्याघ्रादिपरिवारणनिमित्त परिवहति॥

सम्प्रति भाण्डादिव्याख्यानार्थमाह॥

भंडं परिग्गहो खलु, उच्चारादी य मत्तगा तिन्नि।
अहवा भंडगगहणे, अणेगविहं भंडगं गहियं॥

भाण्डक' खलु पतद्ग्रह उच्यते उच्चारादी च आदिशब्दात् प्रश्रवणे श्लेष्मणि चेति परिग्रहस्त्रीणि मात्रकाणि भवन्ति तद्यथा उच्चारमात्रक प्रश्रवणमात्रक श्लेष्ममात्रक चेति। अथवा भाण्डकग्रहणेनानेकविध भाण्डक गृहीतं द्रष्टव्यम्॥

चेलग्गहणे कप्पा, तसथावरजीवदेहनिप्पन्ना।
दोरग इयरा व चिलिमिलि, चम्मतलिगा व कत्तिव्वा॥

चेलग्रहणेन त्रसस्थावरजीवशरीरनिष्पन्ना और्णिकसौत्रिकरूपा इत्यर्थ कल्पाः परिगृह्यन्ते चिलिमिलिर्नाम जवनिका सा दवरकमयी इतरा वा द्रष्टव्या चर्म्ममयतलिका उपानत कृत्तिर्वा आपद्ग्रहिकोपग्रहणविशेषरूपा॥

अणुहुअवरफाए, नह कोसच्छेयणं तु जे बद्धा।
ते छिन्नसंधणट्ठा, दुखंडसंधाणहेउं वा॥

चर्म्ममयः कोशः चर्म्मकोशः सोऽङ्गुष्ठस्य यदि वा (अवरफाए) पार्ष्णिका तस्याः परिरक्षणाय ध्रियते। अथवा नखरदनादेरौपग्रहिकोपकरणविशेषस्य चर्म्ममय कोशश्चर्म्मकोशः ये तु बद्ध्राः स्ते चर्म्मपरिच्छेदनकामित्युच्यन्ते। ते च छिन्नसधानार्थमथवा द्विखण्डसधानहेतोर्ध्रियन्ते। तदेव विषमपदानि व्याख्यातानि॥

सम्प्रति दण्डाद्युपकरणस्थापनाचिन्तां चिकीर्षुराह॥

जइ य ठवेइ असुण्णे, न य वेइ देज्ज अत्थ ओहाणं।
लहुगो सुण्णे लहुगा, हियम्मि जं जत्थ यावति उ॥

यदि चाशून्ये अविरहिते प्रदेशे दण्डाद्युपकरणं स्थापयति न च कस्यापि समुखमेवं ब्रूते अत्र दद्यादवधानमुपयोगमिति तदा तस्य प्रायश्चित्त लघुको मास.। अथ शून्ये स्थापयति तदा चत्वारो लघुकास्तथा शून्ये मुक्ते स्तेनैरपहृते यत्र यत्र जघन्ये मध्यमे उत्कृष्टे वा उपकरणे प्रायश्चित्तमुक्तं तत्प्राप्नोति।

अत्र परस्याशङ्कामाह॥

एवं सुत्तं अफलं, जणियं कप्पतित्ति थेरस्स।
भण्णति सुत्तनिवातो, अतीमहल्लस्स थेरस्स॥

चोदक' प्राह यद्येवमशून्ये च प्रदेशे उपकरणे दोषस्तर्हि तत्सूत्रमफलमविषयं यदुक्तं कल्पते अविरहिते अवकाशे स्थापयित्वेत्यादि। सूरिराह भण्यते अत्रोत्तर दीयते अस्य सूत्रस्य निपातोऽतिमहतोऽतिशयेन गरीयसः।

गच्छाणुकंपणिज्जा, जेण ठवेऊण कारणं तु।
हिंडइ जुण्णमहल्लो, तं सुण वोच्छं समासेणं॥

सोऽतिवृद्धो महान् गच्छस्यानुकम्पनीयं पर येन कारणेन स जीर्णो महान् एकाकीभूतोऽविरहिते प्रदेशे उपकरण स्थापयित्वा भिक्षां हिण्डते तत्कारणं समासेन वक्ष्ये तच्च वक्ष्यमाण शृणु प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति।

सो पुण गच्छेण समं, गंतूण अजंगमो न वा एइ।
गच्छाणुकंपणिज्जो, हिंडइ थेरो पयत्तेणं॥

स पुनरजङ्गमो गच्छेन सम गन्तुं न शक्नोति तत. स गच्छस्यानुकम्पनीय इति कृत्वा स्थविरो वक्ष्यमाणेन प्रयत्नेन यतनया हिण्डते तमेव प्रयत्नमाह।

अतिक्कियउवहिणा उ, थेरा भणिया अलोभणिज्जेणं।
संकमणे पट्ठवणं, पुरतो समगं व जयणाए॥

यमुपधिं न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति तेनातर्कणीयेनोपधिना अत एवालोचनीयेन लोभगोचरतामतिक्रान्तेन परिधाप्य मासकल्पप्रायोग्यस्य वर्षावासप्रायोग्यस्य वा क्षेत्रस्य सक्रमेण कर्त्तव्ये आचार्येण ते स्थविरा अतिमहान्तो भणिता' पुरतः समक वा यतनया चल्यता तत्र यदि प्रतिभास ते तर्हि पुरतोऽग्रे साधुभि सह तस्य प्रस्थापन क्रियते। अथ न शक्नोति पुरतो गन्तु तदा समकं नीयते कथमित्याह। यतनया तामेव यतनामाह।

संघाडग एगेण व, समगं गेण्हंति सभए ते उवहिं।
कितिकम्म दवं पढमा, करेंति तेसिं असति एगो॥

यदि गच्छेन सम व्रजति तत सुन्दरमेव सकलस्यापि गच्छस्य तन्माहात्म्यकरणात्। अथ समक गन्तु न शक्नोति तदा

साधुसंघाटकेन समं साधुसंघाटकस्याभावे एकेन वा साधुना सम व्रजति तत्र यौ सहायौ दत्तौ तौ तस्योपकरण गृह्णीत परिवहतः । यदा तु चौरभयेन सभयं स्थानं तदा समस्तमपि उपधिकल्पादिलक्षणं गृहीतो गृहीत्वा स्थविरो यथाजातः कृत्वा अग्रे क्रियते ततः समयस्थानलङ्घने कृतिकर्म्मविश्रामणां तस्य कुरुतः कृत्वा द्रवं पानीयञ्च समर्पयत. । तदनन्तर प्रश्रमालिकां कारयतः । तयोर्द्वयो. साध्वोरभावे एक समस्तं प्रागुक्तं करोति ।

जइ गच्छेज्जाहि गणो, पुरतो पंथे य सो फिडिज्जाहि ।
तत्थ उ ठवेज्ज एगं, रिक्खं परिपंथगप्पाह ॥

अथैकोऽपि सहायो न विद्यते तदा स्थविर एकाक्यपि पुरतः प्रवर्त्यते । तत्र यदि सार्थादिवशतस्त्वरितं गच्छन् स गणपुरतो गच्छेत् यदि वा पथि परिरयादिना स स्फिटितो भवेत्तत्र एकं साधुं रिक्तमुपकरणरहितं स्थापयते । अथ तत्र शरीरापहारिस्तेनभय दुष्टव्याघ्रादिश्वापदभय वा तत' स मोक्तु न शक्यते तर्हि अग्रेतनस्थानात्प्रतिनिवर्त्तमानं पथिकमप्याह इति सदेशापयेत्। यथाऽग्रे साधुसमुदायो व्रजन्नास्ते तस्मात्त्वरितमागन्तव्यमिति ।

संप्रति यथा स स्फिटितो भवति तथा प्रदर्शयति–

सारिक्खकरिसणीए, अहवा वातेण हुज्ज पुट्ठो उ ।
एवं फिडितो हुज्जा, अहवा वीपरिरएणं तु ।
कालगए व सहाए, फिडितो अहवा वि संभमो हुज्जा ।
पढमपिडितो वएण व, गामपविट्ठो व जो हुज्जा ॥

पथि गच्छतो मार्गद्वय तत्र येन पथा गच्छो गतस्तस्मादन्यस्मिन्पथि केचित्साधुसदृशाः पुरतो गच्छन्तो दृष्टास्ततः साधव एते गच्छन्तीति सादृश्यकर्षिण्या मित्या विप्रलब्ध. सन् तेन पथा गच्छेत् अथवा अपान्तराले स वातेन स्पृष्टः स्यात् । ततो गन्तुं न शक्नोति एवममुना प्रकारेण स्फिटितो भवेत् । अथवा तथाविधमहागर्त्तया पर्वतस्य नद्या वा परिरयेण स स्थविरो व्रजन् गच्छन् स्फिटितः स्यात् । यदि वा यस्तस्य सहायो दत्तः स कालगत इति स्फिटित एकाकी संजात'। अथवा सम्भ्रमे वा त्वरित सार्थेन सह पलायमाने गच्छे स्थविर शनैर्व्रजन् गच्छन् स्फिटितो भूयात् । यदि वा प्रथमेन क्षुत्परीषहेण पीडित. सन् य. स्थविरो ग्राम व्रजिकां वा प्रविष्टो भवेत् गच्छश्च स्तेनादिभयेन सार्थेन समं त्वरित व्रजति स गच्छात्स्फिटितो भूयात् ।

एएहिं कारणेहिं, फिडितो जो अट्ठमं तु काऊण ।
अणुहिंडंतो मग्गइ, इतरे वि य तं विमग्गंति ॥

एतैरनन्तरोदितै' कारणैर्यो गच्छात्स्फिटितः सोऽष्टमं षष्ठं चतुर्थं वा कृत्वा भिक्षामटन् गच्छ मार्गयति अन्वेषयति इतरेऽपि च गच्छसाधवस्त स्थविरं विमार्गयन्ति । अथ ते गच्छसाधव' सार्थेन सम व्रजन्तो यदि सार्थं मुञ्चन्ति तदा स्तैनैरपि हीयन्ते वनदावेन वा दह्यन्ते ड्डष्टेन वा श्वापदेन केनापि गृह्यन्ते ततो गवेषयितु न शक्नुवन्ति तर्हि स्थविरेणावश्यमुक्तप्रकारेण मार्गणा कर्त्तव्या ।

अह पुण न संथरेज्जा, तो गहितेणेव हिंडते भिक्खं ।
जइ न तरेज्जाहि ततो, ठवेज्ज ताहिं असुन्नम्मि ॥

यदि चतुर्थेन षष्ठेनाष्टमेन वा गवेषण कर्तुं न सस्तरेत् ततस्तदा तदुपकरणमशून्ये प्रदेशे स्थापयेत् । तत्रापि यानि वर्जनीयानि स्थानानि तानि प्रदर्शयति ।

अह पुण ठविज्ज एहिं, सुन्नगिकम्मगुंछिएसुं वा ।
नाणुण्णवेज्ज दीहं, बहुसुंजइ तत्थ पच्छित्तं ॥
तिसु लहुग देसु लहुगो, खद्धाइयणे य चउलहू होंति ।
चउगुरु समखंडीए, अप्पत्तपडिच्छमाणस्स ॥

अत्राद्यगाथापदानां द्वितीयगाथोक्तप्रायश्चित्तै' सह यथासङ्ख्येन योजना सा चैवमथ पुनः स्थापयेदेषु वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे ततः प्रायश्चित्तसंभवस्तत्र यदि शून्ये स्थापयति ततश्चतुर्लघु अग्निकर्म्मिकायामपि शालायां स्थापने चतुर्लघुका अग्निना यदि कथमप्युकरणस्य दाहस्तदा तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्त जुगुप्सितगृहेषु स्थापयति चतुर्लघु तस्मादेतानि वर्जयित्वा वक्ष्यमाणेषु स्थानेषु स्थापयेत् यत्र स्थापयति ते अनुज्ञापयितव्या अननुज्ञापने मासलघु दीर्घां भिक्षाचर्यां कुर्वति मासलघु बहु भुङ्क्ते प्रायश्चित्त चत्वारो लघवो भवन्ति (खद्धाइयणेत्ति) खद्धस्य प्रचुरस्य अदने भक्षणे सतीत्यर्थः। तथा अप्राप्तां सखर्मी प्रतीक्षमाणस्य प्रायश्चित्त चत्वारो गुरुकाः।

संप्रति येषु स्थानेषु स्थापयेत्तानि दर्शयति ।

असति य सुमणुन्नाणं, सव्वोवहिणा व जइएसुं वा ।
देसकसिणं व घेत्तुं, हिंडइ मइ संज आलोए ॥

यदि सुमनोज्ञा' सन्ति तर्हि तेषूपकरण स्थापयितव्य तेषामसत्यभावे अमनोज्ञानामपि असांभोगिकानामप्युपाश्रये स्थापयेत् यदि वा सर्वेणाऽप्युपधिना गृहीतो न हिण्डते यदि शक्तिरस्ति अशक्तौ पार्श्वे स्थापयति यदि वा यथा भद्रकेषु गृहे स्थापयति (देसकसिणे व घेत्तुमिति) समस्तस्योपधेर्देशभूतानि यानि कृत्स्नानि परिपूर्णानि कल्पादीनि तानि गृहीत्वा भिक्षामटति अशक्तौ तान्यपि मुक्त्वा परिभ्रमति तत्र सति लाभे तेषु गृहेषु भिक्षामटति अटन् उपकरण पश्यति ॥

असति य अविरहियम्मि, णिचिकादीण अंतिए ठवए ।
देज्जह ओहाणंति, जाव अभिक्खं परिन्नमामि ॥

असति अविद्यमाने भावे अविरहिते प्रदेशे नैत्यकादीनां नैत्यिको ध्रुवकर्म्मिको लोहकारादिरादिशब्दात् मणिकारशङ्खकारादिपरिग्रहस्तेषामन्तिके स्थापयेत् ब्रूते च दद्यादस्योपकरणस्यावधानं यावदहं भिक्षां परिभ्रमामि ॥

ठवेति गणयंतो वा, समक्खं तेसि बंधितुं ।
आगतो रक्खिया जोत्ति, तेण तुब्भेच्चिया इमे ॥

तेषां ध्रुवकर्म्मिकप्रभृतीनां समक्ष गणयन् बध्वा स्थापयति वा शब्द. स्थापनाविषयप्रकारान्तरसूचने आगतश्च सन् द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञापयति। कथमित्याह भो इत्यामन्त्रणे युष्माभी रक्षितान्यमूनि तेन युष्मदीयानीमानि मां गृह्णन्तमनुजानीत ॥

दट्ठूण व अन्नहा गंठिं, केण मुक्को त्ति पुच्छति ।
रहियं किं घरं आसी, को परो व इहागतो ॥

इह यदा तेषां समक्षमुपकरणं बध्वा स्थापयति तदा साभिज्ञान ग्रन्थिं बध्नाति । तत. आगत सन् त प्रलोकयति । मा केनाप्युन्मुच्य किंचित् हृत स्यात्तत्र यदि तथैव ग्रन्थि पश्यति तत. पूर्वोक्तप्रकारेण द्वितीयमवग्रहमनुज्ञापयति। अथ ग्रन्थिमन्यथा पश्यति ततो ब्रूते केनाय ग्रन्थिरुन्मुक्त्वोटित इति

पृच्छति । तथा किमिति क्षेपे रहित शून्यं गृहमासीत् को वा अपर इह समागत इति ।

नत्थि वत्थुं सुगंभीरं, तं मे दावेह मा चिरा ।
न दिट्ठो वा कहं पत्तो, तेणओ उवओ इह ॥

ममोपकरणमध्ये यद्वस्तु सुगम्भीरमतिशोभनं तन्नास्ति तद्दर्शय तद्वस्तु मा चिरकालं कुरु । अथ न गृहीतं मया नापि कोऽप्यागच्छन् दृष्टस्तत आह नदृष्टो वा कथमत्रागच्छत् स्तेनक (उवयति) उपरक' अवश्य दृष्टः स्वय वा गृहीतमिति भावः ॥

धम्मो कहिज्ज तेसिं, धम्मट्ठाए व दिन्नमन्नेहिं ।
तुब्भारिसेहि एयं, तुज्झेसु य पच्चतो अम्हं ॥

धर्मस्तेषां भुवकर्म्मिकप्रभृतीनां कथ्यते । कथयित्वा च पर्यन्ते सघाटकसानीयमिदमुच्यते धर्म्मार्थमेव युष्मादृशैरन्यैरेतत् उपकरणं मह्यं दत्त युष्मासु च विषये अस्माकमतीव प्रत्ययो विश्वासस्ततः किमित्याह ।

तो ठवियं णेपत्थं, दिज्जउ तं सावया इमं अम्हं ।
जइ देंती रमणिज्जं, अदेंति ताहे इमं भणति ॥

यत एव तस्मात् श्रावका यन्नोऽस्माकमत्र स्थापितं तदिदमस्माक दीयतामेवमुक्ते यदि ददति ततो रमणीय सुन्दरम् । अथ न ददति ततोऽददतस्तान् इदं वक्ष्यमाण भणति । तदेवाह ।

थेरे त्ति काउं कुरु मा अवन्नं, संती सहाया बहवो ममन्ने ।
जे उग्गमेस्संति ममेयमोसं, खित्ताइ नाउं इति ते अदेंते ॥

स्थाविर इति कृत्वा मा ममावज्ञां कार्षुर्यतः सन्ति ममान्ये बहवः सहाया ये क्षेत्रादि ज्ञात्वा क्षेत्रकालादिकमवबुद्ध्य ममैतत् मासमुद्गमयिष्यन्ति इति एतत् तान् अददत प्रति ब्रूते ।

उवहिप्पडिबंधेण, सो एवं अत्थई नहिं थेरो ।
आयरियपायमूला, संघाडेगो व अह पत्तो ॥

उपधिप्रतिबन्धेन स स्थविरस्तत्र एवमुक्तप्रकारेण अर्थयति तावत् यावदाचार्यपादमूलात् संघाटक एको वा साधुः समागच्छति । अथ सोऽपि प्राप्तः तर्हि वक्ति कर्त्तव्य तदुपदर्शयति ।

ते वि य मग्गंति ततो, अदत्ते साहेंति भोइयाईणं ।
एवं तु उत्तरुत्तर, जा राया अह व जा दिन्नं ॥

तेऽपि आचार्यपदे मूलादागताः साधवस्तान् भुवकर्मिकादीन्मार्गयन्ति याचन्ते ततो यदि न ददति तर्हि तान् अददतो भोजिकादीनां नगरप्रधानपुरुषादीनां साधयन्ति कथयन्ति । अथ तत्रापि न किमप्यनुशासन तर्हि ततोऽपि वृहतां वृहतां वृहत्तराणां कथनीयम् । एवमुत्तरोत्तरस्य कथनं तावत् यावत् राजा अथवा यावद्दत्तं भवति तावत्कथनीयम् ।

अह पुण अक्खयचिट्ठे, ताहे दोच्चोग्गहं अणुन्नवए ।
तुब्भच्चयं इमं ति य, जेणं ने रक्खियं तुमए ॥

अथ पुनस्तत् उपकरणमक्षत तिष्ठति तदा द्वितीयमवग्रहमनुज्ञापयति यथा इद समस्तमप्युपकरण युष्मदीयं येनेद युष्माभी रक्षित तस्मान्मां गृह्णन्तमनुजानीतेति एतावता'कप्प तिएहं सन्नियट्टचाराण दोचंपि उग्गह अणुन्नवित्तेति'व्याख्यातम् ।

घेत्तूणहिं सुन्नघरम्मि भुंजे, खिन्नो व तत्थेव य छन्नदेसे ।
छन्नो सतो भुंजइ कच्चगेऊ, सव्वो वि उंज्झाण करेतु कप्पं ॥

गृहीत्वा उपधिं शून्यगृहे गत्वा भुङ्क्ते । अथ मार्गपरिश्रमेण भिक्षाटनेन च खिन्न' परिश्रान्तस्तर्हि तत्रैव छन्ने आवृते प्रदेशे भुङ्क्ते । अथ छन्नप्रदेशो नास्ति तर्हि (कच्चगे व दुगे) सर्वं भाजनाद्यावृत्य भाजनस्य च कल्पं कृत्वा भुङ्क्ते ।

मज्झे दवं पिवत्तो, भुत्ते वा तेहि वा दवावेति ।
नेच्छे वा मोयत्तए, एमेव य कच्चए डहरे ॥

मध्ये भोजनमध्यभागे किञ्चित् भुङ्क्ते इत्यर्थः । द्रव पिबन् पातुकामो वा भुङ्क्ते वा परिपूर्णस्तैरेव गृहस्थैर्दापयति मात्रकात्पानीयमपवर्त्तापयति अपवर्त्यापि द्वाभ्यां हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वा पिबति तथा यदि क्षुल्लके नववटुके न सर्वं भक्तं भाति तदा यः पानीयविषये विधिरुक्तः स एवात्रापि द्रष्टव्यस्तथा एवमेव अनेनैव प्रकारेण डहरे क्षुल्लके तत्र द्रष्टव्यम् ।

अप्पडिवज्झतगमो, इयरे वि गवेसए पयत्तेण ।
एमेव अवुड्ढस्स वि, नवरं गहिएण अडणं तु ॥

एव यतनां कुर्वतो व्रजिकादिष्वप्रतिबध्यमानस्य प्रतिबन्धम कुर्वतो गमो गमन गच्छे भवति । इतरेऽपि च गच्छसाधवस्तं स्थविर प्रयत्नेन गवेषयन्ति गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात् । योऽप्यवृद्ध कारणतः कथमप्येकाकी भवेत्तस्याप्येवमेवानेनैव प्रकारेण यतना द्रष्टव्या नवरं भिक्षार्थमटन गृहीतेनोपकरणेन तस्य द्रष्टव्यम् । व्य० द्वि० ८ उ० । (तीर्थकृतां सोपधित्वं तित्थयरशब्दे) (उपधेरवश्यधारणीयत्व बोटिकशब्दे) (मध्यमतीर्थकरसाधवो महामूल्यान्यपि वासआदीनि भुञ्जत इत्यचेलगशब्दे दर्शितम्) (पादप्रोञ्छनकादीन् याचित्वा प्रत्यर्पणं पादपुंछणकादिशब्देषु) (उपधीनां धावनं धोवणशब्दे)

(१७) निर्ग्रन्थीनामागमनपथे उपकरणानि स्थापयति ॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू णिग्गंथीणं आगमणं पहंसि दंडगं वा लट्ठियं वा रयहरणं वा मुहपत्तिं वा अएणयरं वा उवगरणजायं ठवेइ ठवितं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जेण पट्टणपक्खियादिसु आगच्छति तिमिपहे दंडो वा दुप्पमाणो इही आयप्पमाणा अन्नतरगहणा ओहियं उवमादिय वा णिक्खिवति तम्मि पदे मुंचति तस्स मासलहु आणादिया य दोसा कह उवकरणस्स णिक्खेवसमवो वच्यते ।

णिसिपंते य ठवेज्जा, पडिलेहंतो व भत्तपाणं तु ।
संथारलोयकितिकम्म, कचितवावाअणो भोगा । २२१ ।

णिसिपतो रयहरण मुंचति भत्तपाणाति वा पडिलेहंतो सथारग बधतो वा लोय वा करेंतो कितिकम्मं विस्सामणत वा करैतो मत्ताए वा कच्छि ताव ण मुंचति अणाभोगेण वा एतेहिं कारणेहिं रओहरणादि मुंचेज्जा ॥

निग्गथीणागमणं, पवेज्जो य भिक्खु णिक्खिवे ।
कइतवेणं अन्नतरेण गुरुगा लहुगोतरे आणा ॥२२२॥

पडिपुच्छउदाणगहणे, संलावणुरागहासखेड्डे य ।
भिक्खकधादिराधण, दट्ठूण व जावसंबंधा ॥ २२३ ॥

कतितवेण मेहुणट्ठस्स चउगुरुगा इतर अकेतव अणाभोगो अणाभोगेण मुचति । मासलहुं आणादिया य दोसा भवति इमा चरित्तविराहणा पडिपुच्छणा पढमा पुच्छा बितिया पडिपुच्छा तस्सिम वक्खाण ।

कस्सेयं ति य पुच्छा, मम्मिाति का तूण किं वुतं बितिया ।
वित्तं ण मे सधीणं, पक्खित्ते दट्ठु एज्जंति ॥ २२४ ॥

रयोहरणादि कति सजती घेत्तूण पुच्छति कस्सेय ति रयोहरण साहू भणति ममेयति काऊण मया कृते साधुना इत्यर्थः । अहवा साहूण ति पढमपुच्छा किं बुयविति पच्छा एस परिपुच्छा वट्टव्वा ततो साहू भणति वित्तं ण मे सहीणति ण मे वा सवट्टती वित्त कस्माद्धेतो पक्कवीए तुम आगच्छमाणी दिठा सा भणाति।

किं च मए अट्ठो भे, आमं एणु दाणिहं तुह सहीण ।
संपत्ती होतु कत्ता, चत्ता तु एकतरो जणितो य ॥२२५॥

साहू भणति आम अनुमतार्थे सा भणति ननु आमन्त्रणार्थे इदाणिं तुह सहीणा आयत्तेत्यर्थः । ततियपुच्छा गता सपत्ती सागारिया सेवणा चउत्थपुच्छसजतो करेति सजविता पडिपुच्छति गय इदाणिं दरोग्गहणेच्चि भणिओ य ।

हद गेएहह सुज्झं, दातूण साहरति जुज्जो तु ।
तुज्झं घेत्तुं व पुणो, मुंचति जा पुणो देति ॥ २२६ ॥

हदेत्यामन्त्रणे सजतो हत्थ पसारेऊण सुज्झो पडिसाहरेति भणति य तुज्झेव भवतु अहवा सो सजतो तीए हत्थाओ घेत्तूण पुणो मुचति कस्माद्धेतोः जा पुणो देति जेण द्वितीय वार मम देति देंतीए य पुणो हत्थफासो भविस्सति तस्माद्धेतोः इदाणिं सलावो साहू भणति धारेयव्व ।

धारेतव्वं जातं, जात पउमदलकोमलतलेहिं ।
हत्थेहि परिग्गहितं, इतिहासणिरागसंबंधा ॥२२७॥

इतिहासमेतत् इतिहासतो अणुरागो भवति ततो य परोपर भावसबधो इयाणिं " अणुरागोत्ति " गाहा ।

संलावदणुरागो, अणुरत्तावेति जो मए दिष्णं ।
इतरो वि य पभिभणती, कस्स व जीवेण जीवामो ।२२८।

सलावा अणुरागो भवति इदाणिं हासखेड्डेयात्ति सजाती अणुरत्तावेइ भे मए दिष्ण भे इति भवतः इतरो साहू भणति ज पि मम जीविय त पि तुज्झायत्त तेण तुज्झ वएण जीविएण जीवामो ।

एवं परोप्परस्स, जावणुबंधेण होंति मे दोसा ।
पभिसेवणगमणादी, गेएहणदिट्ठेसु संकादी ॥२२९॥

पडिसेवणा चउत्थस्स पगतरस्स दोएह वा गमण तु णिक्खमण आदिसद्दातो सलिंगछितो वा अणायार सेवति सजतो वावि तिणि वत्तिणा वा सजय उदिण्णमोहावला वा गेएहेज्ज अहवा अयरकभिंपहिं गेएहण हासाखेड्ड वा करेंताणि सागारियेण दिट्ठाणि संकिते चउगुरु णिस्सकिते मूल अहवा दिट्ठे घाडिय भोतियातिपसगो ।

वंजव्वए विराधण, दुच्छादीए हि होंति जम्हा उ ।
णिग्गंथीएागमणं, पम्हट्ठं उण णिक्खिवे उवधिं ।२३०।
वितियपदमणाजांगे, पडितेए हुज्ज संजमेगतरे ।
आसरो दूरे वा, णिवेदजतणाए अप्पणं ति ।२३१॥

पम्हट्ठ णाम विसरिय पगतरसभमो सावयगाणिआ उ माति सो सजयाणं उवही वसहीए आसण्णे वा पडितो दूरे वा जति भसणोति णिवेदेंति अह दूरतो घणु जयणाए अप्पाणिति ॥

आसण्णे साहंती, दूरे पडितं तु थेरिगाणेति ।
संणिक्खिवंति पुरतो, गुरुणा इमि पमज्जत्ता ॥ २३२ ॥

(सूत्रम्) वसहीए जइ आसण्णे पडियंतो ए गेएहति णियत्तिउ थेरिया गुरुणा साहंति अह दूरे पडियंतो थेरिया गिएहति तरुणी विं घेत्तुं थेरिया ए समप्पेंति ता थेरिया संजयवसहिमागंतुं पमजित्ता भूमिगुरुणं पुरतो णिक्खवेंति एसो अप्पिणे जयणा भणिया ॥

एतत्सूत्रस्य व्याख्या सुगमत्वाद् ग्रन्थकृता न व्याख्याता। (उपधेः परिष्ठापना स्वस्थाने) उपधिप्रत्युपेक्षण व्याख्यातमेव (प्रलम्बग्रहणे क उपधिर्ग्राह्य इति पलम्बशब्दे) (धर्मोपकरणे परिग्रहदोषो नेति परिग्गहशब्दे)

उवहिअसंकिलेस–उपध्यसंक्लेश–पु० उपधिविषयोऽसंक्लेशः उपध्यसंक्लेशः असंक्लेशभेदे, स्था० १० ठा० ॥

उवहिकप्प–उपधिकल्प–पु० उपधिधारणसामाचार्याम्, ।

एसो चरित्तकप्पो, एत्तो वोच्छामि उवहिकप्पं तु ।
सो पुण पुव्वाभिहितो, उवहिओवग्गहे चेव ॥
जो तु विसेसो एत्थं, तं णवारि इह अहं पवक्खामि ।
सुद्धुग्गमादिएहिं, धारेयव्वो जहाकमसो ।
फासुयमफासुए य, विजाणयअजाणए ओहो ॥
ओहो वहुवग्गहिते, वारणा कस्स केच्चिरं ।
जादि फासुवही करणे, गहिओ उ जाणए ण तो धारेज्ज ।
जुएहो अज्जुएहो वि हु, अट्ठकुडे डुज्झति हु ॥
फासुगो अजाणएणं, कारणगहिओ धरिज्जते ताव ।
जावन्नो उप्पएहो, ताहे तु विगिंचए तं तु ।
अह पुण अफासुओ तु, जाणगगहिओ तु कारणे होज्ज ।
जादि गीतत्था सव्वे, तो धारेती तु जा जिएहो ॥
अगीतविमिस्सेहिं, आणुपन्नमितं विगिंचंति ।
अहपुण अफासुओ तु, कारणगहिओ अगीतेणं ॥
उप्पएहे अएहम्मि, विगिंचती तु सो ताहे ।
एवं चतुभगेणं, वारणता वा परिट्ठवणा ॥
सो पुण दुविहो उवही, वत्थं पातं च होति वोद्धव्वं ॥
वत्थ तु वहुविहाणं, पाता पुण दो अणुएहाता ॥
तो वीतं पंचएहं, किएह वि एगो पभिग्गहो होति ।
तो दो एकेक्कस्स तु, भएहति न पहुच्चए एवं ॥
तो चतुतिएह दुवेएहं, अहवा एकेक तस्स एकेक्कं ।
जसति पाहुणगादिसु, ताहे किं काहितेकेणं ॥
अप्पापरोप्पवयणं, जीवाणिकाया य चत्तहोतेव्वं ।
चारित्तगदिट्ठंतो, तम्हा दो दो तु घेत्तव्वो ॥

इयाणिं उवहिकप्पो उवहि उग्गमाइसुद्धो धारेयव्वो। गाहासिद्धमेव । उग्गमाइपस्स पत्तावधो । गाहासिद्धमेव तिएहयपच्छागा गाहासिद्धमेव । एस जिणकप्पो थेरकप्पो एए चेव दुवालसरूप गाहा । पचसमाए गाहा कोसए गाहा सिद्ध । ज च दुवग्गहकर गाहासिद्ध। गाहा ।फासुय अफासुए य वावि उवही पुणो जो गहिओ भवइ सो केच्चिर धारेयव्वो जो फासुओ उवही सो जाणगा वा होतु अजाणगा वा ताव परिभुंजति जाव जुन्नो जाव इधिकरणं अछण वि किज्जइ आयरिउवज्झाया नियमा जा-

ण गाहा। अह फासुओ जाणगा पकारणे गहिओ तहावि ताव प-रिभुज्जइ जाव वरइ अह अफासुओ अयाणगा य कारणे गहिओ ताहे उप्पन्ने फासुए इयरो परिहविज्जइ एव चउभंगो धरणे वा परिठवणा वा। चोयग आह। गाहा। एगेण किमेगो पादो जाव पंचएद वि सयाणं एगो परिग्गहओ अहवा दोएहं तिएहं चउएहं वा परिग्गहओ एगो न पहुप्पइ तो दो दो एगस्स परिग्गह उ मत्तओ य दिज्जइ उच्यते अद्धाए पाहुएगाइसु कारणाइसु कहं धरंति तु जइ पहुगाण एगमेगो परिग्गहओ एव य भणं-तस्स चउगुरु। अप्पापवयणं जीवनिकाया परिचत्ता वा रत्तय-द्विट्ठंतेण सव्वेण वि दोएहि गिएिहयव्वा मत्तओ परिग्गहओ य किं कारण जेण गच्छे, सकारणे वा लघुछसेहपाहुणयाइसु। आह जइ नियमा दो दो धरिज्जति जिणकप्पियाए किं निमित्त एगओ पडिग्गहओ। गाहा। सगहिय उच्यते। सो भगवानसं-गहियकुच्छी जोयण पि गच्छइ सन्नाहो जसकारी य पवयणस्स जेण अपसो भवइ तं न करेइ अप्पाहारो सो भगवं तस्स ओ-कजल्ले वि विद्धसइ तम्साहारो सरीरए अपरिबद्धो न य आसणे वोसिरइ उच्चाराइ न य आचारावि विच्छिन्ने थण्डिले परिग्गहं एगपासे ठवेऊए एएहिं कारणेहिं तस्स एगो परिग्ग-हो। गाहा। तिहिं जइ वत्थाणि दाणि कईहिं वत्थेहिं पडिपुव्व-उसग्गेण तिहिं जया पुण तिहिं न संथरेज्जा तो अइरेगाणि ध-रेज्जंति। आह न ए पमाणाइरेगे दोसा उच्यते। सबालवुड्ढाओ लोगत्थो सहकारणेण सकारणे तेसिं बहुएहिं कज्जं अप्पओ य मगतो नेहाइ कारणेसु न लब्भइ ताहे परिच्चत्ता सेहादयो पच्छा वोच्छेयकरो भवइ सपक्खस्स तित्थस्स वुत्तं भवइ। गाहा। जइ एए वियप्पहूणे जइ आहारोवहिसेज्जासु विप्पहूणाए नाणदंसणचरित्ताए तवनियमसजमसज्झायमाईणं निप्पत्ती होज्जा तेण आहाराइ आइग्गहणेण उसहाइण य को उवग्गहं कुज्जा। गाहा। जम्मि परिग्गहिय जत्थ पुण परिगिज्झमाणे तस्स थावराण उवघातो पवत्तेज्जा पुरेज्जा पुरेकम्म उदउल्लाइसु त न घेप्पइ गहिए वा पच्छे कमाइधरे ते वा पडिलेहणाइभएण परिलेहेइ नएण माहीरिहिंत्ति सो परिग्गहो भवइ उवहिम्मि घेप्पते गहिए धरिज्जते वा एए दोसा न भवति सो परिग्गहो निद्दोसो त्ति अपरिग्गहो चेव। गाहा। आहारोवहिं किं निमित्त भगवया तित्थ पवत्तिय उच्यते। न वि भगवता उपहाराविनि-मित्त तित्थ पवत्तिय नाणदरिसणचरित्तनिमित्त तवसजमाईण निव्वाणसाहण परिविड्ढिकारणं नित्थ पवत्तियं। गाहा। नाणचरणहोराइणि नाणाइण गुणकारगाणित्ति तेणाणुपहायं तेसु पुण णाणाइसु ठियस्स पूयावि इच्छिज्जइ जहा गणहारिस्सुओ साहारोवाहिसाएण एस उवहिकप्पो। पं० चू०॥

अहुणा हु उवहिकप्पं, गुरूवदेसेण वोच्छामि।
उवगेएहति ठवकारं, करेइ उवहीयते व उवही तु॥
किं कारणं तु उवही, देमीए भण्णती सुणसु।
जीवाणुग्गाहट्ठा, एवं खलु वएिहतो (इहं) तित्थे॥
काऊण णुग्गहपदं, पडिणीयपदे अभावो तु।
रसकादणुकेयट्ठा, अगणीमादीण चेव रक्खट्ठा॥
असहू एणुकंपा य, तउवहिगहणं जिणा यंति।
आह जइणुग्गहट्ठा, वत्थादीगहणदेसियं समये॥
तो असहणं काएहा, थीपरिभोगो णणुएहातो।
भण्णति पावेत्ति कम्हि व, कम्हि व पुण होति अप्पावित्ती ओ॥
संजम पडीनियत्ता-मेहुणमादीए णाणुएहा।
णाणाचरणठेताणं, उवग्गहं कुणति णाणचरणाणं॥
आहार उवहिं सेज्जा, तेण उ उवहित्तणं वेति।
जस्स पुणो वहिगहिता, उवघातकरी तु तस्स उवघाता।
कह उवघाय करेंती, अइरित्तगहो य मुच्छाए॥
संथरमाणो गेण्हति, अतिरित्तं उवहिं जो भवे समणो।
वएहादिजुत्ते मुच्छति, दव्वहारे व्ववस्से वा॥
एतेसु अणिट्ठेसु य, जो दुस्सति सो करेति उवघातं।
णाणादीणं तिएहं, तम्हा ते वज्जए हेतू॥
जो जत्थ जदा जहियं, उवहीधरिभोगओ अणुण्णाओ।
सो तत्थ अणतिचारो, अणुएहाते चरणभेदे॥
जह सिंधूओ कप्पा, ओरासा उपिहया अणुएहाता।
पिसियादीए य गहणं, खीरादीणं चणुएहाता॥
अतिहिमदेसे य तहा, कारणियगताए सिसिरकालम्मि।
परिभुंजंताए य को, तवादिचरणे अणुवघातो॥
हाणविसयादिएसुं, एतेसिं चेव भोत्तु पडिसेहो।
पडिसिध्दे परिभोगं, कुणमाणे भंजती चरणं॥
णाणं पि तु सो भिंदइ, उवदेसं जेण ण कुणति।
तस्स जं णाणुपुव्वं, दंसणभेदो वि तो तेणं॥
णिवदिक्खितमतरंता-दिएसु होति परिभोगा।
समणुण्णाओ कासिणा-दियाए इहरा अणुवभोगो पं०भा०।

इयाणिं उवहिकप्पो गाहा जीवाणुग्गहओवही किं निमित्त धारिज्जइ याइ उच्यते जीवाणुग्गहहेऊ रसाएण सा रक्खण-णिमित्त एयम्मि तित्थेव निग्गओ उवही असहुत्तरेण य वत्था-ईण गहणं। आह जइ असहुत्तरेण वत्थाइगहणं तेण अविरइया-ओ कम्हा नोवभुजइ उच्यते क्वचित्प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्तिरि-त्यादि। सयमप्रत्यनीकानि मैथुनादीनि अतस्तेषामभावो भवति आचरितव्ये गाहा। णाणावरणे किमुक्त भवत्युपधिरिति उच्यते ज्ञानदर्शनचारित्राणामुपकार कुरुते उपग्रह करोतीत्यर्थः। उवही आहारेज्जा उपरुध्यतोऽवधिरित्यपदिश्यते गाहा ज-स्सओ जो पुण सथरमाणो वि अइरित्त उवहिं धरेइ तस्स स एव उवहिनिमित्तो उवघाओ भवइ कारणेण वा आहारे वि रसहेउ वा भुजइ रागहोसेहिं वा एयस्सोवघाओ भवइ। गाहा जो जत्थ उवही पुण जो जत्थ जया जम्मि खेत्ते अणु-ण्णाओ जहा सिंधूए उक्कोसयाणिए तयाए जम्मि वा काले अणुन्नातो हेमन्तकाले वासे वा तेणोवहिणा नाणाइ आयारो न भवइ जो पुण खेत्तकालेसु अणणुन्नाओ। गाहा जो जत्थ उवही धरिज्जइ सो उवघाओ। एस उवहिकप्पो। पं० चू०॥

उवहिकय-उपधिकृत-त्रि० उपधिनिष्पन्ने, "परिहारिय अ-दिंतो गिहणी उवधीकत तु पच्छित्तं" नि०चू० १ उ०।

उवहिपच्चक्खाण-उपधिप्रत्याख्यान-न० उपधिरुपकरणं तस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकाव्यतिरिक्तस्य प्रत्याख्यानं न मयाऽसौ ग्रहीतव्य इत्येवरूपा निवृत्तिरुपधिप्रत्याख्यानम्। रजोहरण

मुखवस्त्रिकां विहायाऽन्योपधिपरिहारे तत्फलं यथा ।

उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! किं जणयइ उवहिपच्चक्खाणेण अपलिमथं जणयइ निरुवहिएणं जीवे निक्कंखे उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ ॥

हे भदन्त ! उपधिप्रत्याख्यानेन रजोहरणमुखवस्त्रिकापात्रादिव्यतिरिक्तस्य उपधेः प्रत्याख्यानेन उपधित्यागेन जीवः किं उपार्जयति गुरुराह हेशिष्य ! उपधिप्रत्याख्यानेन अपरिमन्थं जनयति परिमन्थः स्वाध्यायव्याघातः न परिमन्थोऽपरिमन्थः स्वाध्यायादौ निरालस्य जनयति । पुनर्निरुपधिको निष्परिग्रहो जीवो निष्काङ्क्षो भवति वस्त्रादौ अभिलापरहितः स्यादित्यर्थः तादृशो हि उपधिमन्तरेण उपधिं विना न संक्लिश्यते क्लेशं न प्राप्नोति सपरिग्रहो क्लेशं प्राप्नोतीति भावः । (उत्त०) निष्कान्त उपधिर्निरुपधिस्स एवं निरुपधिको जीवो निष्काङ्क्षो वस्त्राद्यभिलाषरहितः सन्नेतश्च पदं क्वचिदेव दृश्यते उपधिमन्तरेण चास्य भिन्नक्रमत्वाच्च संक्लिश्यते न च मानसं शारीरं वा क्लेशमाप्नोति उक्तं हि " तस्स ण भिक्खुस्स णो एवं भवति परिजुण्णे मे वत्थे सूई जाइस्सामि संधिस्सामि उक्कसिस्सामितुं निस्सामि वा कासिस्सामि इत्यादि" उत्त०२८ अ० ।

उवहिप्पहाण–उपधिप्रधान–त्रि० उपधिर्माया तत्प्रधानः । कूटकपटशते,"कति न वि याहिं उवहिप्पहाणाहिं" सूत्र०१ श्रु०४ अ०

उवहिय–उपहित–त्रि० उप-धा-क्त-निहिते, अर्पिते, समीपस्थापिते, आरोपिते, उपाधिसङ्कते, उपढौकिते, वाच० । भावे-क्त संस्तारकादेरुपढौकने, न० नि० चू० २० उ० ॥

उवहियविहि–उपहितविधि–पु० उपग्रहभेदे, उपहितविधिर्नाम यदाऽऽचार्यैर्वितीर्णं तदाऽऽचार्यानननुज्ञाप्य अन्येषां साधूनां तदन्तरेण विसूरयतां ददाति । अन्ये तु व्याचक्षते यद्यस्य गुरुभिर्दत्तं तत्तस्योपनयतीत्येष उपहितविधिः व्य० ३ उ० ।

उवहिवहावण–उपधिवाहन–न० वस्त्रपात्रादेरुपधेरन्येन नयने,

(सूत्रम्) जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहिं वहावेइ वहावंतं वा साइज्जइ । ४७ । जे भिक्खू णातंसए असणं वा ४ दियइ देयंतं वा साइज्जइ ॥४८॥

जे भिक्खू उवकरणं, वहाविगिहि अहव अण्णतित्थाणं ।
आहारं वा देज्जा, पाउच तं आणमादीणि ॥ २२४ ॥

ममेस उवकरण वहइत्ति पडुच्च आहार देज्जा तस्स चतुलहु आणादिया य इमे दोसा ।

पाडेज्ज व भिंदेज्ज व, मलगंधावं न उप्पति य नासो ।
अस्थंडले ठवेज्जा, हरेज्ज वासोव अन्नो वा ॥ २२५ ॥

से गिहत्थो अण्णतित्थिओ वा उवकरण पमेज्ज भायण वा भिंदेज्ज मक्खिणे डुगाद्रे या उवकरणे अन्न वा देज्ज उप्पतिआओ वा उड्डेज्ज वा मारेज्ज वा अहवा सो अयगोलो अथडिले पुढवियरियादिसु ठवेज्ज अहवा तस्स भारेण आयविराहणा हवेज्ज तत्थ परितावणादी ज च पच्छा उसहभेसज्जाणि वा करेंतो विराधेति तष्णिप्फण्णं च से पच्छित्तं त उवकरण सो वा हरेज्ज अणुवउत्तस्स वा अन्नो हरेज्ज किं च जो त पडुच्च असणादी देज्जा तस्स चउलहु ।

दुब्भलियचं साहू, पायाणं तस्स भोयणं मूलं ।
दगपातो वि रिपयणे, दुगुञ्छवमणे उ उड्डाहो ॥ २२६ ॥

भगवता गोयमेण महावीरवद्धमाणसामी पुच्छितो एतेसिं णं भंते वाहाणं किं,वलियत्त से य भगवया वागरिय दुप्पलियसं सेय वलियत्त अस्सेयंतस्स य वलियत्तणस्स मूलं अह सो य साहूसमोवे आहार आहारेत्ता बहूणि अधिकरणाणि करेज्ज गद्दं वा पिपज्ज अयमेज्ज वा छुत्तो वा डुगलाए वमेज्जा दुयुप्पातो वा स हवेज्ज सजपाहिं परिस किं पि मे द्विन्न जेण एगो जाओ एव रिउड्डाहो मरेज्ज वा सव्वत्थ पच्छाकम्मो फासुएण देसे मासलहु अफासुएण देसे सव्वे चउलहु तम्हा गिहत्थो अण्णउत्थिओ वा ण वाहेज्ज वा ण वा असणादी दायव्व भवे कारण जेण च हावेज्ज वा असणादि वा देज्जा ॥

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
देसुट्ठाणे अपरि–क्कमेवहावेज्ज देज्जा वा ॥ २२७ ॥

असिवकारणे ओमे वा रायदुट्ठे वा बोहिगादिभए वा रज्जतो अप्पणो असमत्था वाहवेज्ज वा तन्निमित्तं असणादि देज्ज गिलाणो वहावेज्ज वा गिलाणट्ठा वा गमते देसुट्ठाणे वा अपरिक्कमो गिहिणा वहावेज्ज देज्ज वा आहार । नि० चू० १२ उ० ।

उवहिविउस्सग्ग–उपधिव्युत्सर्ग–पुं० उपधित्यागरूपे द्रव्यव्युत्सर्गे, औ० ॥

उवहिसंकिलेस–उपधिसंक्लेश– पु० उपचीयते उपष्टभ्यते संयम संयमिशरीर वा येन स उपधि वस्त्रादिस्तद्विषयः संक्लेशः उपधिसंक्लेशः । संक्लेशभेदे, स्था० १ ठा० ।

उवहिसंभोग–उपधिसम्भोग–पु० उपधेः परिकर्मे परिभोग वा कुर्वन् सभोग्यो विसंभोग्यश्चेति । सभोगभेदे, उक्तं च "एग च दो वि तिन्नि च, आउट्ट तस्स होइ मिच्छत्त" आलोचयत इत्यर्थः । "आउट्टते वि तओ, परेण तिविहं वि संभोगोत्ति" स०

उवहुंजंत–उपभुञ्जान–त्रि० उपभोग कुर्वाणे, प्रा० ॥

उवाइणावित्तए–उपानाययितुम्–अव्य० सम्प्रापयितुमित्यर्थे, " पच्छिम पोरिसिं उवाइणावित्तए " बृ० ४ उ० । अतिक्रमयितुमित्यर्थे, कल्प० । उपादाययितुम् ग्राहयितुमित्यर्थे, ज्ञा० १२ अ० ।

उवाइणावित्ता–उपादाप्य–अव्य० उप–आ–दा–ल्युट् । प्रापय्येत्यर्थे, "पच्छिम पोरिसिं उवाइणावित्ता आहारमाहारेइ"–भ० ७ श० १ उ० ।

उवाइणित्तए–उपयाचितुम्– अव्य० उपयाञ्चां कर्तुमित्यर्थे, विपा० ७ अ० ॥

उपादातुम्–अव्य० गृहीतुं प्रवेष्टुमित्यर्थे, स्था० ३ ठा० ।

उवाइय–उपयाचित–त्रि० उपयाच्यते मृग्यतेऽस्मै यत्तत् उपयाचितम् । ईप्सिते, "उवाइय उववाइत्तए" उपयाचितुमीप्सितं वस्तु याचितुं प्रार्थयितुम् । ज्ञा० २ अ० । वि० । नासिक्यपुरस्थदेवाधिष्ठितमहादुर्गब्रह्मगिरिस्थितप्रासादपातके स्वनामख्याते महति क्षत्रियजात्यधरे, ती०

उवाएज्ज–उपादेय–त्रि० उप०आ० दा–कर्मणि–यत् । गृहीतव्ये, अनु० । जा० । विशे० ।

उवागम–उपागम–पु०स्त्रीकारे, समीपगमने, वाच० । उपागमने, स्थाने, आचा० २ श्रु० ।

उवागय–उपागत–त्रि० उप–आ–गम्–क्त–स्वयमुपस्थिते, अभ्युपगते च । वाच० "तत्थावासमुवागए"उत्त० २३ अ० । सूत्र० । ज० ।

उवाणह-उपानह-स्त्री० चर्मपादुकायाम्, औ०। सूत्र०। "ते गिच्छयाणहायाए, समारंभ च जोइणो" उपानहौ पादयोरनाचरिते पादयोरिति साभिप्रायकं तन्वापत्कल्पपरिहारार्थम्" द०३ अ०

अथ उपानहोर्दोषप्रदर्शनार्थमिदमाह।

गव्वो णिम्मद्दवता, णिरवेक्खो णिद्दतो णिरंतरता।
भूताणं उवघाओ, कसिणे चम्मम्मि छद्दोसा ॥

उपानहौ पिनह्योर्गर्वो निर्मार्दवता च भवेत्। जीवेषु निरपेक्षो निर्दयश्चासौ भवति निरन्तरता निरन्तरं भूमिस्पर्शनाद् भूतानां तु प्राणिनामुपघातश्च उपजायते एवं कृत्स्ने चर्मणि षट् दोषा भवन्तीति द्वारगाथा।

सांप्रतमेतानेव प्रतिपदं विवृणोति ॥

आसगतो हत्थिगतो, गव्विज्जइ भूमितोइ कमणिल्लो।
पादो उ ममाउक्को, कमणाउ खरो अवि य भारो ॥

अश्वगतादश्वारूढात् हस्तिगतः पुरुषो यथा गर्वायते एवं भूमिगमनात् गर्वं करोति। अहो अहं सोपानत्को व्रजामीति। तथा पादः स्वभावेनैव समार्दवस्ततः स न तथा जीवोपघातं करोति यथा क्रमणिका खरा कर्कशस्पर्शा जीवोपघातं कुर्वन्ति। अपि च भारस्तासां महान् भवति। ततस्तदाक्रान्ता बहवो जीवा विनाशमाप्नुवते। निरपेक्षद्वारमाह ॥

कंटाई पेहंतो, जं वेव वि हु सो तहेव पेहिज्जा।
अत्थि महंति य कमणी, णावेक्खइ कंटएण जिए ॥

अनुपानत्को गच्छन् कण्टकादीन् मार्गे प्रेक्षमाणो जीवानपि तथैवासौ प्रेक्षते सोपानत्कस्तु गच्छन् विद्येते मम क्रामणिके इति कृत्वा निरपायत्वादात्मनो न कण्टकादिकमपेक्षते ततश्चासौ जीवेष्वपि निरपेक्षो भवति। अथ निर्दयद्वारमाह ॥

पुव्वं अदया भूए-सु होति वंधति कमेसु तो कमणी।
जायति हु तदब्भासा, सुदयालुस्सा वि णिद्दयया ॥

पूर्वं तावदया निर्दयत्वं भूतेषु मनसि सजातं भवति ततः क्रमयोः क्रमणिके बध्नाति तदभ्यासाच्च सुदयालोरपि प्रायो निर्दयतैव भवति। निरन्तरद्वारमाह ॥

अवि यं व खुज्ज पादेण, पेल्लितो अंतरंगुलगतो वा।
मुच्चेज्ज कुलिंगादी-ण य कमणीपल्लितो जियति ॥

कुशब्दस्यासदर्थवाचकतया असंपूर्णानि लिङ्गानि इन्द्रियाणि यस्यासौ कुलिङ्गी विकलेन्द्रियः स आदिशब्दान्मण्डूक्यादिश्च अनुपानत्कस्य पादेन प्रेरितोऽपीति सम्भावनायां सम्भाव्यते अथ मर्त्यो यदाप्रकुब्ज पादतलमध्य गतस्तदा अथवा अन्तराङ्गुलमङ्गुलीनामङ्गुष्ठस्य वाऽपान्तरालं तत्र वा गतः सन् मुच्येत न म्रियेत। सोपानत्कस्य तु निरन्तरभूमिस्पर्शिनीभि क्रमणीभिः प्रेरित आक्रान्तो न जीवति अवश्यं मरणं प्राप्नोतीत्यर्थः।

भूतोपघातद्वारमाह ॥

कह भूयाणुवघातो, ण होहिती पगतिपेलवतणूणं।
सत्तराहिपेल्लियाणं, कक्खडफासाहि कमणीहिं ॥

कथं केन प्रकारेण भूताना प्राणिनां प्रकृत्या स्वभावेनैव पेलवतनूनामदृढशरीराणां सभाराभिः पुरुषभाराक्रान्ताभिः कर्कशस्पर्शाभिः क्रमणीभिः प्रेरितानामुपघातो न भविष्यति भविष्यत्येवेत्यर्थः। यत एते दोषाः अतः क्रमणिका न परिधातव्या। कारणे तु प्राप्ते परिदध्यादपि। किं पुनस्तत्कारणमित्याह ॥

विह अतरासहुसंभम-कोढारिसचक्खुदुब्बले बाले।
अज्जा कारणजाते, कसिणग्गहणं अणुण्णायं ॥

विहं अध्वा अतरो ग्लान असहिष्णुर्नाम राजादिदीक्षितः। सुकुमारपाद संभ्रमश्चौरश्वापदादिसंक्षोभः कुष्ठरोगी अर्शोरोगी चक्षुषा दुर्बलं कश्चिद्भवति बालो वा यदि यत्र तत्र पादौ निक्षिपति। आर्या वा अध्वान नीयन्ते कारणजातं वा कुलगणसङ्घविषयमुपस्थितम्। एतेषु कृत्स्नस्य चर्मणो ग्रहणमनुज्ञातमिति द्वारगाथासमासार्थः। अथैनामेव विवृणोति ॥

कंटाहिसीयरक्खट्ठ, ता विहे खलु समाहि जा गहणं।
ओमहपाणगिलाणे, अहुणुट्ठियते सघट्ठा वा ॥

(विहे) अध्वनि प्रतिपद्यमाने कण्टकस्याहेर्वा अस्य च रक्षार्थं मङ्गुलिकोशिकं खल्लकादि वा गृह्णन्ति। किं बहुना खलु समाधिं कृत्वा यावदर्द्धजङ्घयोरपि ग्रहणम्। तथा ग्लान औषधपानं कृत्वा वैद्योपदेशेन पृथिव्यां पदं न स्थापयति। अधुनोत्थितो वा ग्लानः क्रमयोः क्रमणिके आविध्यति शीतानुभावेन भक्तं न जरिष्यतीति कृत्वा ग्लानस्य वा भेषजार्थं त्वरितं ग्रामान्तरं गन्तव्यं ततः क्रमणिका पिनद्धव्या।

अरिसिल्लस्स व अरिसा, मा खुब्भे तेण वंधते कमणी।
असहुभवंतो हरए, पादो पट्टो तु गिरिदेसा।

अर्शोवतः पादतलदौर्बल्यादर्शांसि मा क्षुभ्येरन्निति कृत्वा क्रमणिके असौ बध्नाति। असहिष्णुर्नाम मार्गे गच्छन्नुपानद्भिर्विना गन्तुं न शक्नोति यदि गच्छति ततः पादाभ्यां रुधिरं परिगलति। अत्रावन्तीसुकुमारोदाहरणं भवति तच्चावश्यकाद्विज्ञेयम्। स क्रमणिके बध्नीयात् उदकाग्निस्तेनश्वापदादौ वा संभ्रमे क्रमणिकाः परिभोक्तव्याः। गिरिदेशे वा पर्यटतः कस्यापि पादतलं घृष्टं ततः उपानहौ पिनह्य पर्यटति।

कुट्ठिस्स सक्करादी-हिं वावि भिन्नो कमो मधूला वा।
वालो असंफुरो पुण, अज्जा विहं दोव्व पासादी ॥

कुष्ठिनः सबन्धी शोणितपूयेन भिन्नः स्फटितक्रमः शर्करा कण्टकादिस्तदादिभिराक्रान्तो महतीं पीडामुपजनयति मधूला वा पादगण्ड कस्यापि समजनि ततः क्रमणिके बध्नाति। बालो वा कश्चिदसंस्फुरोऽसंवृतो यत्र तत्र पादं मुञ्चन् कण्टकादिभिरुपद्रूयते अतोऽसौ क्रमणीके परिधाप्यते। आर्या वा विषममध्वानं नेतव्यास्तत्र च (दोव्वत्ति) चौरादिभयं ततो वृषभाः क्रमणिकां पिनह्य पन्थानं मुक्त्वा पार्श्वस्थिताः गच्छन्ति आदिशब्दात्सर्वाणि वा तत्रोत्पथेन व्रजन्ति। यो वा चक्षुषा दुर्बलः स वैद्योपदेशेनोपानहौ पिनह्यति। यतः पादयोरभ्यङ्गतोपानद्बन्धनादि परिकर्म यत्क्रियते तच्चक्षुष उपकाराय परिणमते। यत उक्तं "दन्तानामञ्जनं श्रेष्ठं कर्णानां दन्तधावनम्। शिरोऽभ्यङ्गश्च पादानां पादाभ्यङ्गश्च चक्षुषोः।" कारणजातद्वारमाह।

कुलमाइकज्जदंडिय, पासादी तुरियधावणट्ठा वा।
कारणजाते व से, सागारमसागरे जतणा ॥

कुलादिषु कुलगणसङ्घविषयेषु कार्येषु दण्डिकावलगतार्थं पार्श्वस्थितैरादिशब्दात्पुरः पृष्ठतो वा गच्छद्भिस्त्वरितं धावनार्थं कारणजाते वाऽन्यस्मिन् आगाढे समुत्पन्ने उपानह परिभोक्तव्या। तत्र च सागारिकासागारिकविषया यतना। यत्र सा-

गारिकदोषो नास्ति तत्र नास्ति यतनाक्रमः। यत्र पुनः सागारिका उड्डाहं कुर्वन्ति तत्र ग्रामादिषु क्रमणिका अपनीय प्रविशन्तीति भाव.। एवमध्वादिषु कारणेषु कृत्स्नचर्मणो प्राप्ते विधिमाह।

पंचविहम्मि वि कसिणे, किएहगहणं तु पढमतो कुज्जा।
किएहम्मि असंतम्मि, विवराकसिणं तहिं कुज्जा ॥

पञ्चविधे चर्मे कृष्णे प्रथमत कृष्णवर्णग्रहण कुर्यात्। तत कृष्णे वर्णकृष्णे असति अलभ्यमान लोहितादिवर्णकृष्णमपि गृह्णीयात् तच्च कृष्णं तशादिभिर्विवर्ण विरूपवर्ण कुर्यात्। यथा लोको नोड्डाहं कुरुते। आत्मनो वा तत्र न रागो भवति।

किएहं पि गिएहमाणे, सुसिरगहणं तु वज्जए साहू।
बहुबंधणकसिणं पुण, वज्जेयव्वं पयत्तेण ॥

कृष्ण वर्णकृष्णमपि गृह्णन् शुषिरग्रहण साधु प्रयत्नतो वर्जयेत् अत्र पाठान्तरम्। " कसिण पि गिएहमाणेत्ति " कृत्स्न प्रमाणकृत्स्नं वा द्वितीयपदे गृह्णातु। शुषिरग्रहण साधुर्वर्जयेत् यत्तु बहुबन्धनकृष्णं तत्प्रयत्नतो वर्जयितव्यम्। अथ किं तद्बन्धनमित्याशङ्क्याह।

दोरेहि व वज्झेहि व, दुविहं तिविहं च बंधणं तस्स।
अणुमोदणकारावण, पुव्वकतम्मि अधिकारो ॥

दवरकैर्वा वधैर्द्विविध वा बन्धन तस्य चर्मणो भवति। द्वौ वा त्रयो वा बन्धा दातव्या इत्यर्थ। एष विध बन्धन कृत्स्नमनुज्ञात ततश्चतुरादिबहुबन्धनबद्ध तथा कृत्स्नमकृत्स्न वा चर्म साधुना स्वय न कर्त्तव्यम्। अन्येन न कारयितव्यम् अन्यस्य कुर्वतो नानुमोदना कर्त्तव्या किं तु यत्पूर्वमेव गृहस्थैर्यथाभावेन कृत तस्मिन्नधिकार प्रयोजनं तस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति भाव.। अथ द्वौ त्रयो वा बन्धा कुत्र भवन्तीत्युच्यते।

खलुए एगो वंधो, एगो पचंगुलीण दो वंधा।
चउरंगुले त्ति ततितो, वितिओ अंगुट्ठए होइ ॥

खलुके घुण्टके एको वर्ध्रबन्धो भवति। एकस्तु द्वितीयो बन्ध गल्लाङ्गुलस्य चतसृणामङ्गुलीनामङ्गुष्ठस्य चेत्यर्थ। एतौ द्वौ बन्धौ मन्तव्यौ यदा तु त्रयो बन्धा भवन्ति तदा खलुके एक अङ्गुष्ठे द्वितीयः चतसृणामङ्गुलीना तृतीय।

अथ स्वयकरणादिषु प्रायश्चित्तमाह।

सयकरणे चउलहुगा, परकरणे मासियं अणुग्घायं।
अणुमोदणे य लहुओ, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

स्वय यदि चर्म करोति तदा चतुर्लघव.। अथ परेण कारयति तदा मासिकमनुद्घात मासगुरुकमित्यर्थ.। अनुमोदनायां मासलघु। तत्रापि स्वयकरणादौ आज्ञादयो दोषा उड्डाहश्च भवति। तथाहि त सयत स्वयमेव चर्म कुर्वाण दृष्ट्वा लोको ब्रवीति। अहो चर्मकरोऽयमिति। अथ पूर्वकृत न लभ्यते ततोऽनुमोदनया गृह्णीयात् कथमिति चेदुच्यते। यदि कोऽपि ब्रूयात् अह ते उपानहौ करोमि तत. प्रतिशृणुयात् तूर्णीको वा तिष्ठेत्। अथानुमोदनया न प्राप्यते ततोऽन्येन कारयेत्। एवमप्यलाभेऽप्यात्मना यतनया कुर्यात् बृ० ३ उ०।

अत्र प्रायश्चित्तम्।

सोवाहणो परिसक्किज्जा उवट्ठावणं उवाहणओ ण पडिगाहिज्जा खवण तारिसेणं संविहाणगे उवाहाणओ ण परिभुंजेज्जा खवणं। महा० ७ अ० ॥

उवातिक्कम्म–उपातिक्रम्य–अव्य० उप सामीप्येनातिक्रम्य अतिलङ्घ्येत्यर्थे, "उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा" आचा०२ श्रु०७ अ०। सम्यक् परिहृत्येऽर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ०।

उवातिणिवेत्ता–उपनीय–अव्य० अतिवाह्येत्यर्थे. " उवातिणिवेत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो सवसति" आचा०२ श्रु०२ अ०२ उ०।

उवादाण–उपादान–न० उप० आ० दा० ल्युट्। ग्रहणे, स्यादात्मनोऽप्युपादानात् सा० द० स्वस्वविषयेभ्य इन्द्रियाणां निवारणरूपे प्रत्याहारे, कर्मणि–ल्युट् कार्य्यजननार्थमुपादीयमाने कार्य्यान्विते कारणे, यथा घटे मृत्पिण्डमुपादानमात्मा कर्त्ता ज्ञानादि कार्यं तत्र स्वसत्ता उपादानम् अष्ट०। विशे०। आ० म० द्वि०। न०। तच्च सर्वदा कार्य्येष्वनुगतम् "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्य्यम्" इति साङ्ख्या। नैयायिकैस्तु उपादानकारण समवायिकारणतया व्यवह्रियते साङ्ख्यमतसिद्धे आध्यात्मिकतुष्टिभेदे, वाच० (एतन्निराकरणमन्यत्र)

उवादाय–उपादाय–अव्य०उप-आ-दा-ल्यप्। गृहीत्वेत्यर्थे, "उवसपइत्तुवादाय" वृ०४ उ०। " णेया उय सुयक्खाय, उवादाय समीहए " सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

उवादिय–उपादित–त्रि० अद् भक्षणे इत्येतस्मात् उपपूर्वान्निष्ठाप्रत्ययस्तत्र बहुल छन्दसीतीडागम.। उपभुक्ते, आचा० १ श्रु० ९ अ०।

उवादीयमाण–उपादीयमान– त्रि० उपादीयन्ते कर्मणा बध्यन्ते इत्यर्थ'। जीवनिकायवधप्रवृत्ते, " एत्थ पि जाणे उवादीयमाणा जे आयरेण रमति " आचा० १ श्रु०।

उवाय–उपाय– पु० उप–अय्–भावे–घञ्। उपगमे, उपाय्यतेऽर्थो ऽनेन करणे घञ्। अप्रतिहतलाभकरणे, ज्ञा०१ अ०। हेतौ, "एगं च दोस च तहेव मोहं, उच्छत्तुकामेण समूलजालं। जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं " उत्त० ३२ अ०। विशे०। "प्रयोग उपाय इत्यनर्थान्तरम्" आ० चू०१ अ०। " सुत्तादुवायरक्खण " उपाय सम्यक्त्वाणुव्रताणुव्रतादिप्रतिपत्तावभ्युत्थानादिलक्षणे हेतुराह च " अब्भुट्ठाणे विणए परक्कमे साहु सेवणाए अ। सम्मद्दसणलंभो, विरयाविरई य एए य" अथवा जातिस्मरणादितीर्थकरलक्षण यदाह " सह समुइ आए अ परवागरणेण अन्नेसिं वा सोच्चा " अथवा प्रथमद्वितीयकषायक्षयोपशम इति। ध० २ अधि०। " उवायकुसलेण " उपायो नाम तथा कथमपि करोति यथा तेषां वन्दनकमददान एव शरीरवार्तां गवेषयति न च तथा क्रियमाणे तेषामप्रीतिकमुपजायते प्रत्युत चेतसि ते चिन्तयन्ति अहो एते स्वय तपस्विनोऽपि एवमस्मासु स्निह्यन्ति। वृ० ३ उ०। " उपायेन च यच्छक्य न तच्छक्य पराक्रमैः " हितो० राज्ञा रिपुनिराकरणहेतुषु सामादिषु च। वाच०। उप सामीप्येन विवक्षितवस्तुनोऽविकललाभहेतुत्वाद् वस्तुतो लाभ एवोपायः। अभिलषितवस्त्ववाप्तये व्यापारविशेषे, दश० १ अ०। उपेय प्रति पुरुषव्यापारादिकायां साधनसामग्र्याम्, स यत्र द्रव्यादावुपेयेऽस्तीत्यभिधीयते यथैतेषु द्रव्यादिविशेषेषु साधनीयेषु अस्त्युपायो विवक्षितद्रव्यादिविशेषवत्। उपादेयना चास्य यत्राभिधीयते तदाहरणमुपाय इति तस्मिन्नाहरणभेदे, स्था० ४ ठा० ॥

असावपि चतुर्विध एव तथा चाह ।

एमेव चउविगप्पो, होइ उवाओ वि तत्थ दव्वम्मि ।
धाउव्वाओ पढमो, लंगलकुलिएहि खेत्तं तु ॥ ६१ ॥

एवमेव यथा उपायः किं च चतुर्विकल्पश्चतुर्भेदः भवत्युपायोऽपि तद्यथा द्रव्योपायः क्षेत्रोपायः कालोपाय भावोपायश्च । तत्र द्रव्य इति द्वारपरामर्शः द्रव्योपाये विचार्ये धातुवादः सुवर्णपातनोत्कर्षलक्षणः द्रव्योपायः प्रथम इति । लौकिके लोकोत्तरे त्वचाद्यौ पटलादिप्रयोगतः प्रासुकोदककरणम् । क्षेत्रोपायस्तु लाङ्गलादिना क्षेत्रोपक्रमणे भवति अत एव लाङ्गलकुलिकाभ्यां क्षेत्रमुपक्रम्यत इति गम्यते । ततश्च लाङ्गलकुलिके तदुपायो लौकिकः । लोकोत्तरस्तु विधिना प्रातरशनाद्यर्थमटनादिना क्षेत्रभावनम् । अन्ये तु योनिप्राभृतयोगत काञ्चनपातनोत्कर्षलक्षणमेव सङ्कप्रयोजनादौ द्रव्योपायं व्याचक्षते विद्यादिभिश्च दुस्तराब्धितरणलक्षणम् । क्षेत्रोपायमित्यत्र चप्रथमग्रहणपदार्थोऽतिरिच्यमान इवाभाति । पाठान्तरम् वा धाउव्वाओ भणितोत्ति" अत्र कथञ्चिदविरोधत एवेति गाथार्थः ।

कालो य नालियाईहिं, होइ भावम्मि पंडिओ अभओ ।
चोरस्स कए नट्टिं, वड्डकुमारिं परिकहेइ ॥ ६२ ॥

कालश्च नालिकादिभिर्ज्ञायत इति शेषः । नालिका घटिका आदिशब्दाच्छङ्क्वादिपरिग्रहः । ततश्च नालिकादयः कालोपायो लौकिकः । लोकोत्तरस्तु सूत्रपरावर्तनादिभिस्तथा भवति । भावे चेति द्वारपरामर्शात् भावोपाये विचार्ये निदर्शन क इत्याह । पण्डितो विद्वानभयोऽभयकुमारस्तथा चाह चोरनिमित्त नर्तकी वृद्धकुमारीं किम् । त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थमाह । परिकथयति । ततश्च यथा तेनोपायतश्चौरभावो विज्ञातः एवं शिक्षकादीनां तेन विधिनापायत एव भावो ज्ञातव्य इति गाथार्थः । दश० १ अ० । सोऽपि द्रव्यादिभिश्चतुर्धैव तत्र द्रव्यस्य सुवर्णादेः प्रासुकोदकादेर्वा द्रव्यमेव वा उपायो द्रव्योपाय एतत्साधनमेतदुपादेयतासाधनं वा हरणमपि तथोच्यते तत्प्रयोगश्चैवम् अस्ति सुवर्णादिषूपाय उपायेनैव वा सुवर्णादौ प्रवर्तितव्य तथाविधधातुवादसिद्धादिवदिति । एव क्षेत्रोपायः क्षेत्रपरिकर्मणोपायो यथा अस्त्यस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रीकरणोपायो लाङ्गलादिस्तथाविधसाधुविधव्यापारो वा तेनैव वा प्रवर्तितव्यमत्र तथाविधान्यक्षेत्रवदिति । एव कालोपाय कालज्ञानोपायो यथाऽस्ति कालस्य ज्ञानोपाय धान्यादेरिव जानीहि वा काल घटिकाछायादिनोपायेन तथाभूतगणितज्ञवदिति । एवं भावोपायो यथाऽऽभावज्ञाने उपायोऽस्ति भावश्चोपायतो जानीहि वृहत्कुमारिकाकथाकथनेन विज्ञातचौरादिभावाभयकुमारवदिति ॥ स्था. ४ ठा. । नवरं " भावोवाए " उदाहरणम् । " रायगिहे णाम णयर तत्थ सेणिओ राया सो भज्जाए भणिओ जहा मम एगखंभं पासाय करेहि । तेण वड्डइणो आणत्ता गत्ता कट्ठं छिंदित्ता तेहिं अडवीए सलक्खणो सरलो महइ महालओ दुमो दिट्ठो धूवो दिण्णो जेण स परिग्गहिओ रुक्खो सो दरिसावेउ अप्पाणं तो णं णछिंदामो त्ति अह ण देइ दरिसाव तो छिंदामो त्ति ताहे तेण रुक्खवासिणा वाणमंतरेण अभयस्स दरिसावो दिण्णो । अहं तस्सो एगखंभ पासाय करेमि । सव्वोउयं च आराम करेमि सव्ववणजाइउवेयं मा छिंदहत्ति । एव तेण कओ पासाओ । अन्नया एगाए मायंगीए अकाले अंबयाण दोहलो । सा भत्तारं भणइ मम अंबयाणि आणेहि । तदा अकालो अंबयाणं तेण उण्णामणीए विज्जाए डालं ओणामिय अंबयाणि गहिआणि । पुणो अ उन्नामणीए ओणामिय । पभाए रन्ना दिट्ठं । एय ण दीसइ । को एस मणूसो अतिगओ जस्स एसा परिसी सत्ति त्ति सो मम अंतेउर पि धरिसेहिइत्ति कातुं अभय सद्दाविऊण भणइ । सत्तरत्तस्स अब्भंतरे जइ चोर णाणेसि तो णत्थि ते जीविअं । ताहे अभओ गवेसिउ आढत्तो णवर एगम्मि पएसे गोज्जो रामइ कामो मिलिओ लोगो तत्थ गओ अभओ भणति जाव गोज्जो मंडेइ अप्पाण ताव ममेगं अक्खाणग सुणेह । जहा कहं पि णयरे एगो दारिद्दसिट्ठी परिवसति । तस्स धूया वड्डकुमारी अईव रूविणी य वरणिमित्तं कामदेवं अच्चेइ । सा य एगम्मि आरामे चोरिय पुप्फाणि उच्चंती आरामिएण दिट्ठा कयछिउमाढत्ता । तीए सो भणिओ । मा मई कुमारिं विणासेहि । तवावि भयणी भाणिज्जीओ अत्थि । तेण भणिआ एक्का एव वज्जाए मुयामि जइ णवरं जम्मि दिवसे परिणिज्जसि तद्दिवस चेव भत्तारेण अणुग्घाडिया समाणी मम सयासं एहिसि तो मुयामि । तीए भणिओ । एव इच्छउत्ति । तेण विसज्जिआ । अन्नया परिणीआ जाहे अपवरक पवेसिआ ताहे भत्तारस्स सब्भाव कहेई । विसज्जिया वच्चई । पट्ठिआ आरामं अंतरा य चोरेहि गहिता तेसिं पि स भावो कहिओ मुक्का गच्छंतीए अंतरा रक्खसो दिट्ठा जो छण्ह मासाणं आहारेइ तेण गहिया कहिए मुक्का गया आरामियसगास तेण दिट्ठा सो संभंतो भणइ । कहमागयासि । तीए भणिअ मया कओ सो पुव्वि समओ । सो भणइ । कह भत्तारेण मुक्का ताहे तस्स त सव्व कहिअं अहो सच्चपइण्णा एसा महिलत्ति । एत्तिएहिं मुक्का किहाह दुहामित्ति । तेण विमुक्का पडियंती अ गया सव्वेसिं तेसिं मज्झेणं । आगता तेहिं सव्वेहिं मुक्का । भत्तारसगास अणहसमग्गा गया । ताहे अभओ तं जण पुच्छई । अक्खह एत्थ केण दुक्कर कयं । ताहे इस्सालुया भणति भत्तारेण छुहालुया भणंति रक्खसेण । पारदारिया भणंति मालागारेण । हरिएसेण भणिअं चोरेहिं । पच्छा सो गहिओ जहा एस चोरोत्ति । एतावत्प्रकृतोपयोगि । जहा अभएण तस्स (चोरस्स) उवाएण भावो णाओ एवमिह वि सेहाणमुवट्ठाय तयाण उवाएण गीयत्थेण विपरिणामादिणा भावो जाणिअव्वोत्ति । किं एए पव्वावणिज्जा न वेत्ति । पव्वाविएसु वि तेसु मुंडावणाइसु एसेव विभासा य । तदुक्तम् । " पव्वाविओ सियत्तिअ, मुंडावेउ न कप्पइ " इत्यादि । कहाणयसंहारो पुण चोरो सेणिअस्स उवणीओ । पुच्छिएण सब्भाओ कहिओ ताहे रन्ना भणियं । जइ नवर एयाओ विज्जाओ देहि तो न मारेमि । देमि त्ति अब्भुवगए आसणे ठिओ पढइ । नट्ठाई राया भणई किं नट्ठाई । ताहे मायंगो भणई जहा अविणएण पढसि । अहं भूमीए तुम आसणे णीयतरे उवविट्ठो । ठिया तो सिद्धाओ य विज्जाओ त्ति " । कृत प्रसङ्गेन । एव तावल्लौकिकमर्यादिश्च चरणकरणानुयोग चाधिकृत्योक्ता द्रव्योपायादयः । दश० १ अ० । तथाहि किल राजगृहनगरस्वामिनः श्रेणिकराजस्य पुत्रोऽभयकुमाराभिधानो देवताप्रसादोपलब्धः सर्वर्तुकफलादिसमृद्धारामस्याम्रफलानामकालाम्रफलदोहदवद्भार्यादोहदपूरणार्थं चाण्डालचौरेणापहरणे कृते चोरपरिज्ञानार्थं नाट्यदर्शननिमित्तमिलितबहुजनमध्ये वृहत्कुमारिकाकथामचकथत्तथाहि काचित् वृद्धकुमारिकावाञ्छितवरलाभाय कामदेवपूजार्थमारामे पुष्पाणि चोरयन्ती आरामपतिना गृहीता सकामकथनं विवाहितया पत्या ऽपरिभुक्तया मत्पार्श्वे समागन्तव्यमिति अभ्युपगमं कारयित्वा

मुक्ता। ततः कदाचिद्विवाहिता सती पतिमापृच्छ्य रात्रावाराम-पतिपार्श्वे गच्छन्ती चौरराक्षसाभ्यां गृहीता सद्भावकथने प्रति-निवृत्तया भवत्पार्श्वे आगन्तव्यमिति कृताभ्युपगमा मुक्ता। आ-रामे गता आरामिकेण सत्यप्रतिज्ञेत्यखण्डितशीला विसर्जिता इतराभ्यामपि तथैव विसर्जिता पतिसमीपमागतेति। ततो अ्रो लोका. पत्यादीनां मध्ये को दुष्करकारक इति चासौ प्रपच्छ। तत ईर्ष्यालुप्रभृतय पत्यादीन् दुष्करकारकत्वेनाभिदधुः। चौर-चाएडालास्तु चौरानिति ततोऽसावनेनोपायेन ज्ञावमुपलक्ष्य चोर इति कृत्वा स त बन्धयामासेति स्था० ४ ठा० ३ उ०। दृष्टान्ते, "उवाओ सो साधम्मेण य विधम्मेण य" आ० चू० १ अधि०।

उवायकारि (ण्) उपायकारिन्–त्रि० आचार्ये निर्देशकारि-णि, "उवायकारी य हरीमणे य एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे" सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

उवायकिरिया–उपायक्रिया–स्त्री० भावक्रियाभेदे, उपायक्रिया हि घटादिक द्रव्य येनोपायेन क्रियते तद्यथा मृत्खननमर्दनच-क्रारोपणदण्डचक्रसलिलकुम्भकारव्यापारैर्यावद्भिरुपायैः सा सर्वाऽप्युपायक्रिया सूत्र० २ श्रु०२ अ०

उवायग–उपायक–पुं० उपायचिन्तके, विशे०।

उवायतो–उपायतस्–अव्य० उपायेनेत्यर्थे, "उपायतो मोहनि-न्द्रा" ध० १ अधि०।

उवायरक्खण–उपायरक्षण–न० उपायेन रक्षणे, "सुत्ताइउवाय-रक्खण–गहणपयत्तविसया मुणेयव्वा" ध० २ अधि०।

उवायविचय–उपायविचय–पुं० सुष्ठु मनोवाक्कायव्यापारविशे-षाणां स्वीकरणमुपाय स कथ नु मे स्यादिति सकल्पप्रबन्धे, सम्म०।

उवालंभ–उपालम्भ–पुं० उपालम्भनमुपालम्भ भङ्ग्यैव वि-चित्रभणने, दश० १ अ०। भङ्ग्यन्तरेणानुशासने, स्था० ४ ठा० "तिविहे उवालंभे पण्णत्ते त जहा आओवालभे परोवालभे तदुभ-योवालभे" उपालम्भ इयमेवानौचित्यप्रवृत्तिप्रतिपादनगर्भो स चात्मनो यथा "जोल्लगदिट्ठितेण, दुलहं लहिऊण माणुस जम्म। ज न कुणसि जिणधम्म, अप्पा किं वैरिओ तुज्झ त्ति ॥ १ ॥" परोपालम्भो यथा "उत्तमकुलसभूओ, उत्तमगुरुदिक्खिओ तुम वच्छ। उत्तमणाणगुणड्ढो, कहं सहस्सावयसितो एवति ॥ १ ॥" तदुभयोपालम्भो यथा "एगस्स कए नियजी–वियस्स बहुया-उ जीवकोडीओ। दुक्खे ठवति जे के विताणकिं सासयं जीय ति ॥ १ ॥" एवमित्यादिना पूर्वोक्तातिदेशो व्याख्यात एवञ्चात्रा-करघटना यथैवोपक्रमे आत्मपरतदुभयैक्य आलापका उक्ता एवमेकैकस्मिन् वैयावृत्यादिसूत्रे ते त्रयस्त्रयो वाच्या इति। स्था० ३ ठा०। नि० चू०॥

सम्प्रत्यात्मोपालम्भोऽस्तीख दर्शयति।

तुमए चेव कयमिणं, न सुद्धगारिस्स दिज्जए दंडो।
इह मुक्को वि न मुच्चइ, परत्थ अह हो उवालंभो॥

त्वयैव स्वय कृतमिद प्रायश्चित्तस्थान तस्मान्न कस्याप्युपरि-अन्यथाभाव कल्पनीय। न खलु शुद्धकारिणो लोकेऽपि दण्डो दीयते। किं च यदि इह भवे कथमप्याचार्येणैवमेव मुच्यते। तथा इह भवे मुक्तोऽपि परत्र परलोके न मुच्यते। तस्मादा-पन्न प्रायश्चित्तमवश्य गुणवृद्ध्या कर्तव्यमिति। अह एष भव-त्युपालम्भ एष आत्मोपालम्भः। एतदनुसारेण परोपालम्भः। तदुभयोपालम्भोऽपि भावनीय व्य० प्र०१ उ०। उपालम्भो यत्रा-ऽभिधीयते तादृशे आहरणतद्देशभेदे, स्था० ४ ठा०।

अधुनोपालम्भद्वारविवक्षयाऽऽह॥

उवलंभम्मि मिगावइ, नाहियवाईवि एव वत्तव्वे।
नत्थि त्ति कुविन्नाणं, आयाभावे मइ अजुत्तं॥ ७५॥

उपालम्भे प्रतिपाद्ये मृगापतिदेव्योदाहरणम्। एतच्च "उ-दा आवस्सए दव्वपरपराए भणिय तहेव दट्ठव्व जाव पव्वइया अज्जचंदणाए सिस्सिणी दिण्णा अन्नया भगव विहरमाणो कोसंबीए समोसरिओ चदादिच्चा सविमाणे-हिं वदणा आगया चउपोरसीए समोसरण काउ अत्थ-मणकाले पडिगता ततो मिगावती संभंता अयि वियालिक-तंति भणिऊण साहूणीसहिया जाव अज्जचंदणासगास गता ताव अंधयारय जात अज्जचंदणापमुहाहिं साहुणीहिं ताव पडिक्कंत ताहे सा मिगावती अज्जचंदणाए उवालम्भति जहा एवं णाम तुमं उत्तमकुलप्पसूया होइऊण एव करेसि अहो न लज्ज। ताहे पणमिऊण पाएसु पडिया परमेण वि-णएण खामेति खमह मे एगमवराहं णाहं पुणो एव कहेहा-मित्ति। अज्जचंदणा य किल तं समरसंथारेवगता पसुत्ता इयरीए वि परमसंवेगताए केवलनाणं समुप्पन्नं परमं च अध-यार वट्टइ सप्पो य तेणतरेण आगच्छति पव्वतिणीए य हत्थो लवमाणो तीए उप्पाडिओ पडिबुद्धाय अज्जचंदणा पु-च्छिता किमेव सा भणति दीहजातीओ कहं तुम जाणसि किं कोइ अतिसओ अत्थित्ति पडिवाति अपडिवाइत्ति पुच्छि-या। सा भणइ अपडिवाइत्ति तओ खामिया लोगलोगुत्तरसा-हरणमेय एवं पमायंतो सीसो उवालभेतव्वोत्ति उदाहरणदे-शता पूर्ववत् योजनीयेत्येव तावच्चरणकरणानुयोगमधिकृत्य व्याख्यातमुपालम्भद्वारमधुना द्रव्यानुयोगमधिकृत्य व्याख्या-यते नास्तिकवाद्यपि चार्वाकोऽपि जीवनास्तित्वप्रतिपादक इ-त्यर्थः एवं वक्तव्योऽभिधातव्य नास्ति न विद्यते क प्रकर-णाज्जीव इति एवभूत कुविज्ञानं जीवसत्ताप्रतिषेधावभासी-त्यर्थः। आत्माभावे सति न युक्तमात्मधर्मत्वात् ज्ञानस्येति भावना। भूतधर्मता पुनरस्य धर्मैरननुरूपत्वाद्वेव न युक्ता तत्समुदायकार्यताऽपि प्रत्येक भावाभावविकल्पद्वारेण तिर-स्कर्त्तव्येति गाथार्थ। अमुमेवार्थमुपसहरन्नाह।

अत्थि त्ति जा वियक्का, अहवा नत्थि त्ति जं कुविन्नाणं।
अच्चंताभावे पो–ग्गलस्स एय चिय न जुत्त॥ ७६॥

अस्ति जीव इति एवम्भूता या वितर्का अथवा नास्ति न वि-द्यते इति एवम्भूत यत्कुविज्ञान लोकोत्तरापकारि अत्यन्ता-भावे पुद्गलस्य जीवस्य इदमेव न युक्तमिदमेवान्यास्य भावना-पूर्ववदिति गाथार्थ। उदाहरणदेशता नास्तिकस्य परलोकादि-प्रतिषेधवादिनो जीवसाधनाद्भावनीयेति। गतमुपालम्भद्वार-म्। दश० १ अ०। "एव खलु जबू समणेण भगवया महा-वीरेण आदिगरेणं तित्थगरेण जाव सपत्तेण अप्पोवालभनि-मित्त पढमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्तेत्ति बेमि इति ज्ञाताप्रथमाध्ययने उक्त आत्मोपालम्भ ज्ञा० १ अ०। निन्दा-पूर्वकतिरस्कारे, वाच०।

उवालंभंत-उपालम्भमान- त्रि० उपालम्भ कुर्वाणे, प्रा०।

उवालद्ध-उपालब्ध- त्रि० उप-आ-लभ-क्त तिरस्कारेण निन्दिते, वाच०। "उवालद्धो य सो सिवो वंभणो" नि० चू० १ उ०।

उवास-अवकाश- पु० स्थाने, नि० चू० १७ उ०। उवासादिसु-सेहो ममत्तपडिसेवणं उवासो आदी जेसिं ताणि उवासादीणि ताणि संथारउवस्स कुलगामणगरदेसरज्जं नि० चू० १३ उ०।

उवासंतर-अवकाशान्तर- न० वातस्कन्धानामधस्तादाकाशेषु, स्था० २ ठा०। "सत्त उवासतराय पएणत्ता सत्तसु उवासतरेसु सत्त तणुवाया पइट्ठिया स्था० ७ ठा०। आकाशविशेषे, अवकाशरूपान्तराले च भ० १ श० ६ उ०। अवकाशान्तर नाम अमुकयोर्द्वयोर्मध्यमिति। व्य० ७ उ०। "सत्तमे उवासंतरे" प्रथमद्वितीयपृथिव्योर्यदन्तरालमाकाशखण्डं तत्प्रथम तदपेक्षया सप्तमं भ० १२ श० ५ उ०।

उवासग-उपासक- त्रि० उपासते सेवन्ते साधूनित्युपासकाः। श्रावकेषु, उपा० २ अ०। आव०। न०। स्था०। स०। "उवासगो दुविहो वती अवती वा अवती सो परदंसणं संपएणो एक्केको पुणो दुविहो णायगो अणायगो वा" नि० चू० ११ उ०। सेवके, उपासनाकर्त्तरि शूद्रे, पु० स्त्री० वाच०॥

उवासगदसा-उपाशकदशा- स्त्री० ब० व० उपासकाः श्रावकास्तद्गतागुव्रतादिक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा अध्ययनानि उपासकदशाः। नं०। पा०। स०। सप्तमाङ्गे, बहुवचनान्तमेतत् ग्रन्थनाम अस्यां च सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि नामान्वर्थसामर्थ्यैनैव प्रतिपादितान्यवगन्तव्यानि। तथा हि उपासकानुष्ठानमिहाभिधेय तदवगमश्च श्रोतृणामनन्तरप्रयोजनं शास्त्रकर्तुस्तु तत्प्रतिबोधनमेव तत्परम्परप्रयोजनं तूभयेषामप्यपवर्गप्राप्तिरिति। सम्बन्धस्तु द्विधा शास्त्रेष्वभिधीयते उपायोपेयभावलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणश्च तत्रोपायोपेयभावलक्षणः शास्त्रनामान्वर्थसामर्थ्येनैवासामभिहितस्तथाहीद शास्त्रमुपाय एतत्साध्योपासकानुष्ठानावगमश्चोपेयमित्युपायोपेयभावलक्षण सम्बन्धः॥

गुरुपर्वक्रमलक्षण तु सम्बन्ध साक्षाद्दर्शयन्नाह।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था। वएणओ। पुएणभद्दे चेइए। वएणओ। तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मे समोसरिए जाव जंबू पज्जुवासमाणे एवं वयासी। जइ णं भंते! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स अंगस्स णायाधम्मकहाणं अयमट्ठे पएणत्ते? सत्तमस्स णं भंते! अंगस्स उवासगदसाणं। समणेण जाव संपत्तेणं। के अट्ठे पएणत्ते एवं खलु जंबू समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दस अज्झयणा पएणत्ता। तं जहा आणंदे १ कामदेवे य २ गाहावइचुल्लणीपिया ३ सुरादेवे ४ चुल्लसयए ५ गाहावइकुंडकोलिए ६ सद्दालपुत्ते ७ महासयए ८ नंदणीपिया ९ सालेइणीपिया १० जइ णं भंते! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं। दस अज्झयणा पएणत्ता? ॥

'तेण कालेण तेण समएणमित्यादि' सर्वं चेद ज्ञाताधर्मकथाङ्गप्रथमाध्ययनविवरणानुसारेणानुगमनीय नवरम "आणंदेत्यादि" रूपक तत्रानन्दाभिधानोपासकवक्तव्यता प्रतिबद्धमध्ययनमानन्द एवाभिधीयते एव सर्वत्र उपा० १ अ०।

एवं खलु जंबू समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पएणत्ते उवासगदसाओ सम्मत्ता उवासगदसाणं सत्तमस्स अंगस्स एगो सुयक्खंधो दस अज्झयणा दससु चेव दिवसेसु उद्दिसिज्जंति।

खलु जंबूइत्यादि उपाशकदशानिगमनवाक्यमध्ये यमिति तथा पुस्तकान्तरे सग्रहगाथा उपलभ्यन्ते ताश्चेमा "वाणियगामे चंपा, दुवे वणारसीए नयरीए ४। आलभिया य ५ पुरवरि, कंपिल्लपुर च बोधव्व।१। पोलासं रायगिहं, सावत्थीए पुरीए दोन्नि भवे। एए उवासगाणं, नयरा खलु हुंति बोद्धव्वा।२। सिवनंद १ भद्द २ सामा, ३ धण ४ बहुला ५ पुस्स ६ अग्गिमित्ता य ७। रेवइ ८ अस्सिणि ९ तह फग्गुणा य १० भज्जाण णामाइं ३॥ ओहिणाण १ पिसाए २ माया ३ वाहि ४ धण ५ उत्तरिज्जे य ६। भज्जायसुव्वया ७ दुव्वयाइनिरुवसग्गया दोन्नि १०॥ ४। अरुणे १ अरुणाभे २ खलु, अरुणप्पह ३ अरुणकंत ४ सिट्ठे य ५। अरुणज्झए य छट्ठे, ६, भूय ७ वडिंसे ८ गवे ९ कीले" १०। ५। शिष्टादिनामान्यरुणपदपूर्वाणि द्रष्टव्यानि। अरुणशिष्टमित्यादि एताश्च पूर्वोक्तानुसारेणावसेयाः यदिह न व्याख्यात तत्सर्वं ज्ञाताधर्मकथाव्याख्यानमुपयुक्तेन निरूप्यावसेयमिति। "सर्वस्यापि स्वकीय वचनमभिमत प्रायसः स्याज्जनस्य, यत्तु स्वस्यापि सम्यग्न हि विहितरुचि स्यात् कथं तत्परेषाम्। चित्तोल्लासात्कुतश्चित्तदपि निगदितं किंचिदेवं मयैतत्, युक्तयत्रात् तस्य ग्रहममलधिय कुर्वतां प्रीतये मे" समाप्तमुपासकदशाविवरण समाप्तं सप्तमाङ्गम्॥ उपा० १० अ०।

उपाशकदशानां विषयाः।

से किं तं उवासगदसाओ उवासगदसासु णं उवासयाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वनखंडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइयइड्ढिविसेसा उवासयाणं सीलव्वयवेरमणगुणपच्चक्खाणपोसहोववासपडिवज्जियाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाया पुणो वोहिलाभो अंतकिरियाओ आघविज्जंति॥

(उपासकदसासु णंति) उपासकानां नगराणि उद्यानानि चैत्यानि वनखण्डा राजान अम्बापितरौ समवसरणानि धर्माचार्या धर्मकथा ऐहलौकिकपारलौकिका ऋद्धिविशेषा उपासकानाञ्च शीलव्रतविरमणगुणप्रत्याख्यानपौषधोपवासप्रतिपादनता स्तत्र शीलव्रतान्यणुव्रतानि विरमणानि रागादिविरतय गुणा गुणव्रतानि प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि पौषधमष्टम्यादिपर्वदिनं तत्रोपवसनमाहारशरीरसत्कारादित्याग. पौषधोपवास ततो द्वन्द्वे सत्येतेषाम्प्रतिपादनताप्रतिपत्तय इति विग्रह. श्रुतपरिग्रहस्तप उपधानानि च प्रतीतानि (पडिमाओत्ति) एकादश उपासकप्रतिमा कायोत्सर्गा वा उपसर्गा देवादिकृतोपद्रव. सलेखना भक्तपानप्रत्याख्यानानि पादपोपगमनानि देवलोकगमनानि सुकुले प्रत्यायाति पुनर्बोधिलाभोऽन्तक्रियाआख्यायन्ते पूर्वोक्तमेव॥

अतो विशेषत आह ।

उवासगदसासु णं उवासयाण रिद्धिविसेसा परिसा-वित्थरधम्मसवणाणि बोहिलाभो अभिगमणं सम्मत्तविसुद्धया थिरत्तं मूलगुणउत्तरगुणाइयारा ठिइविसेसा बहुविसेसा पडिमाभिग्गहग्गहणउवसग्गाहियासणणिरुवसग्गा तवोयचित्ता सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासा अपच्छिममारणंतिया य संलेहणाभोसणाहिं अप्पाणं जह य भावइत्ता बहूणि भत्ताणि अणसणाए छेअइत्ता उववन्ना कप्पवरविमाणुत्तमेसु जहा अणुभवंति सुरवरविमाणवरपोंडरीएसु सोक्खाइं अणोवमाइं कमेण भुत्तूण उत्तमाइं तओ आउक्खए चुआ समाणा जह जिणमयम्मि बोहिं लद्धूण य संजमुत्तम तमरयोघविप्पमुक्का वेंति जह अक्खयसव्वदुक्खमोक्खं एते अन्ने य एवमाइ उवासयदसासु ण परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा जाव संखेज्जाओ संगहणीओ से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे एगे सुयक्खंधे दस अज्झयणा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला संखेज्जाइं पयसयसहस्साइं पयग्गेणं पण्णत्तो संखेज्जाइं अक्खराइं जाव एव चरणकरणपरूवणा आघविज्जति सेत्तं उवासगदसाओ ॥ ७ ॥

उवासगेत्यादि तत्र ऋद्धिविशेषा अनेककोटीसंख्याद्रव्यादिसम्पद्विशेषाः तथा परिषदः परिवारविशेषाः यथा मातापितृपुत्रादिका अभ्यन्तरपरिषत् दासीदासमित्रादिका बाह्यपरिषदिति विस्तरधर्मश्रवणानि महावीरसन्निधौ ततो बोधिलाभोऽभिगमः सम्यक्त्वस्य विशुद्धता स्थिरत्वं सम्यक्त्वशुद्धिरेव मूलगुणोत्तरगुणा अणुव्रतादयः अतिचारास्तेषामेव वधबन्धादितः स्वरूपाणि स्थितिविशेषाश्चोपासकपर्यायस्य कालमानभेदा बहुविशेषाः प्रतिमाः प्रभूतभेदाः सम्यग्दर्शनादिप्रतिमाः अभिग्रहग्रहणानि तेषामेव च पालनानि उपसर्गाधिसहनानि निरुपसर्गश्चोपसर्गाभावश्चेत्यर्थः । तपांसि च चित्राणि शीलव्रतादयोऽनन्तरोक्तरूपाः अपश्चिमा पश्चात्कालभाविन्यः अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थः । मरणरूपे अन्ते भवा मारणान्तिक्यः आत्मशरीरस्य जीवस्य च संलेखनाः तपसा रोगादिजयेन च कृशीकरणानि आत्मनः संलेखना ततः पदत्रयस्य कर्मधारयस्तासां (झोसणा ति) जोषणाः सेवनाः करणानीत्यर्थः ताभिरपश्चिममारणान्तिकात्मसंलेखनाजोषणाभिरात्मानं यथा च भावयित्वा बहूनि भक्तानि अनशनतया च निर्भोजनतया छेदयित्वा व्यवच्छेद्य उपपन्ना मृत्वेति गम्यते । केषु कल्पवरेषु यानि विमानोत्तमानि तेषु यथाऽनुभवन्ति सुरवरविमानानि वरपुण्डरीकाणि यानि तेषु कानि सौख्यान्यनुपमानि क्रमेण भुक्त्वोत्तमानि तत आयुष्कक्षयेण च्युताः सन्तो यथा जिनमते बोधिं लब्धा इति विशेषः । यथा च संयमोत्तमप्रधानं संयमं तमोरजओघविप्रमुक्ता अज्ञानकर्मप्रवाहविमुक्ता उपयन्ति । यथा अक्षयमपुनरावृत्तिकं सर्वदुःखमोक्षं कर्मक्षयमित्यर्थस्तथोपासकदशास्वाख्यायन्त इति प्रक्रमः । एते चान्ये चेत्यादि प्राग्वन्नवरं "संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं ति" किलैकादशलक्षाणि द्विपञ्चाशच्च सहस्राणि पदानामिति ॥७। सम०। यावच्छब्देन "संखेज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ" न०।

उवासगपडिमा–उपासकप्रतिमा–स्त्री० उपासकाः श्रावकास्तेषां प्रतिमाः प्रतिज्ञा अभिग्रहविशेषा उपासकप्रतिमा । उत्त०२ अ०। स०। श्रावकोचितताभिग्रहविशेषरूपेषु सुदर्शनादिषु, उपा० १ अ०। ध०। ग०। तथैकादशप्रतिमायां श्राद्धः सामायिको "जाव नियमं वा जाव पडिमं वा" कथमुच्चरते । तथा पञ्चम्यादिप्रतिमास्वष्टम्यादितिथिषु रात्रौ कायोत्सर्गकरणवदेकादश्यां प्रतिमायां कायोत्सर्गं करोति न वेति प्रश्नः। उत्तरम् एकादशप्रतिमायां श्रावकेण सामायिके "जाव पडिमं पज्जुवासेमित्ति" पाठो भणनीयस्तथा कायोत्सर्गोऽपि करणीयः । सेन० २ उ० ३७ प्र० । श्रावकधर्माधिकारात्तदुचितभावस्तद्विशेषमुपासकप्रतिमालक्षणमभिधित्सुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह ।

नमिऊण महावीरं, भवहियट्ठाय लेसओ किं पि ।
वोच्छं समणोवासग–पडिमाणं सुत्तमग्गेण ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य महावीरं वर्द्धमानजिनं भव्यानां शुभजीवानां हितं पथ्यं स एवार्थः पदार्थः प्रयोजनं वा भव्यहितार्थस्तस्मै भव्यहितार्थाय भव्योपकारायेत्यनेन च परोपकारस्य मुमुक्षूणामादेयतां दर्शयति। लेशतः संक्षेपेणाल्पग्रन्थतयेत्यर्थः । अल्पग्रन्थेनापि क्वचित्समस्तमभिधेयमुच्यत इत्यत आह । किमपि स्तोकमभिधेयजातं न समस्तमपीत्यर्थः वक्ष्ये भणिष्यामि । श्रमणोपासकप्रतिमानां श्रावकाभिग्रहविशेषाणां सम्बन्धिनां पुनर्भिक्षुप्रतिमानां श्रावकधर्माधिकारात्कथमित्याह सूत्रमार्गेण दशाश्रुतस्कन्धाभिधानागमपथेनानेन श्रुतविशेषावष्टम्भनत्वात्प्रकरणस्यास्य प्रामाण्यमावेदितमिति गाथार्थः पञ्चा० १० वि० १ ।

अथ कियत्यः किमादिकाश्च ता इत्याशङ्कायामाह ।

एक्कारस उवासगपडिमा उ पण्णत्ता तं जहा दंसणसावए कयव्वयकम्मे सामाइअकडे पोसहोववासनिरए दिया बंभयारी रत्तिपरिमाणकडे दिआ वि राओ वि बंभयारी असिणाईवि अफासुई मोलिकडे सचित्तपरिन्नाए आरंभपरिन्नाए पेसपरिन्नाए उद्दिट्ठभत्तपरिन्नाए समणभूए आविभवइ समणाउसो ॥

तत्र दर्शनं सम्यक्त्वं तत्प्रतिपन्नः श्रावको दर्शनश्रावकः इह प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदोपचारात्प्रतिमावतो निर्देशः कृतः एवमुत्तरपदेष्वपि । अयमत्र भावो दर्शनश्रावकः इह च प्रतिमानां प्रक्रान्तत्वेऽपि प्रतिमाभावार्थं सम्यग्दर्शनस्य शङ्कादिशल्यरहितस्याणुव्रतादिगुणविकलस्यायमभ्युपगमः सा प्रतिमा प्रथमेति । तथा कृतमनुष्ठितं व्रतादीनां कर्म तच्चाणुव्रतं ज्ञानवाञ्छाप्रतिपत्तिलक्षणं येन प्रतिपन्नदर्शनेन स कृतव्रतकर्मा प्रतिपन्नाणुव्रतादिरिति भाव इतीयं द्वितीया । तथा सामायिकं सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगोपसेवनस्वभावं कृतं विहितं देशतो येन स सामायिककृतः आहिताग्न्यादिदर्शनात् कान्तस्योत्तरपदत्वं तदेवं प्रतिपन्नपौषधस्य दर्शनव्रतोपेतस्य प्रतिदिनमुभयसन्ध्यं सामायिककरणं मासत्रयं यावदिति तृतीया प्रतिमेति । तथा पोषं पुष्टिं कुशलधर्माणां धत्ते यदाहारत्यागादिकमनुष्ठानं तत्पौषधं तेनोपवसनमवस्थानमहोरात्रं यावदिति पौषधोपवास इति । अथवा पौषधं पर्वदिनमष्टम्यादि तत्रोपवास उक्तार्थे पौषधोपवास इति । इयं व्युत्पत्तिरेव प्रवृत्तिस्तस्य शब्दस्य

आहारशरीरसत्काराब्रह्मचर्यव्यापारपरिवर्जनेष्विति । तत्र पौषधोपवासे निरत आसक्तः पौषधोपवासनिरतः स एवंविधस्य श्रावकस्य चतुर्थी प्रतिमेति प्रक्रमः। अयमत्र भावः पूर्वप्रतिमात्रयोपेतोऽष्टमी चतुर्दश्यमावस्यापौर्णमासीष्वाहारपौषधादिचतुर्विधं पौषधं प्रतिपद्यमानस्य चतुरो मासान् यावच्चतुर्थी प्रतिमा भवतीति । तथा पञ्चमीप्रतिमायामष्टम्यादिषु पर्वस्वेकरात्रिकप्रतिमाकारी भवत्येतदर्थं च सूत्रमधिकृतसूत्रपुस्तकेषु न दृश्यते दशादिषु पुनरुपलभ्यते इति तदर्थं उपदर्शितः । तथा शेषदिनेषु दिवा ब्रह्मचारी (रत्तीति) रात्रौ किमत आह । परिमाण स्त्रीणां तद्भोगानां वा प्रमाण कृतं येन स परिमाणकृत इति । अयमत्र भावो दर्शनव्रतसामायिकाष्टम्यादिपौषधोपेतस्य पर्वस्वेकरात्रिकप्रतिमाकारिण शेषदिनेषु दिवा ब्रह्मचारिणो रात्रौ ब्रह्मपरिमाणकृतोऽस्नातस्यारात्रिभोजिन अबद्धकच्छस्य पञ्च मासान् यावत्पञ्चमी प्रतिमा भवतीति । उक्तंच " अट्ठमि चउद्दसीसु पडिमट्ठा एगराईय " पश्चार्द्धम् ॥

आसिणाणवियडभोई, मउलियडो दिवसबंभयारी य ।
रत्तिं परिमाणकडो, पडिमा वज्जेदिसुज्झहेसुत्ति ॥ ५ ॥

तथा दिवाऽपि रात्रावपि ब्रह्मचारी (असिणा इत्ति) अस्नायी स्नानपरिवर्जकः क्वचित्पठ्यते (अनिसाइत्ति) न निशायामत्तीत्यनिशादी (वियडभोईत्ति) विकटे प्रकटप्रकाशे दिवा न रात्रावित्यर्थः दिवाऽपि अप्रकाशे देशे न भुङ्क्ते अशनाद्यभ्यवहरतीति विकटभोजी (मउलिकडेत्ति) अबद्धपरिधानकच्छ इत्यर्थः । षष्ठी प्रतिमेति प्रकृतम् । अयमत्र भावः प्रतिमापञ्चकोक्तानुष्ठानयुक्तस्य ब्रह्मचारिणः षण्मासान् यावत्षष्ठी प्रतिमा भवतीति । तथा सचित्त इति सचेतनाहारपरिज्ञातः तत्स्वरूपादिप्रतिज्ञानात्प्रत्याख्यातो येन स सचित्ताहारपरिज्ञातः श्रावकः सप्तमी प्रतिमेति प्रकृतम् । इयमत्र भावना पूर्वोक्तप्रतिमाषट्कानुष्ठानयुक्तस्य प्रासुकाहारस्य सप्त मासान् यावत्सप्तमी प्रतिमा भवतीति तथा आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनलक्षणः परिज्ञातस्तथैव प्रत्याख्यातो येनासावारम्भपरिज्ञातः श्रावकोऽष्टमी प्रतिमेति। इह भावना समस्तपूर्वोक्तानुष्ठानयुक्तस्यारम्भवर्जनमष्टौ मासान् यावदष्टमी प्रतिमेति । तथा प्रेष्या आरम्भेषु व्यापारणीयाः परिज्ञातास्तथैव प्रत्याख्याता येन स प्रेष्यपरिज्ञातः श्रावको नवमीति । भावार्थश्चेह पूर्वोक्तानुष्ठायिनः आरम्भं परैरप्यकारयतो नव मासान् यावन्नवमी प्रतिमेति । तथा उद्दिष्टं तमेव श्रावकमुद्दिश्य कृतं भक्तमोदनादि उद्दिष्टभक्तं तत्परिज्ञातं येनासावुद्दिष्टभक्तपरिज्ञातः प्रतिमेति प्रकृतम् । इहायं भावार्थः । पूर्वोदितगुणयुक्तस्याधाकर्मिकभोजनपरिहारवतः क्षुरमुण्डितशिरसः शिखावतो वा केनापि किञ्चिद् गृहव्यतिकरे पृष्टस्य तज्ज्ञाने सति जानामीत्यज्ञाने च सति न जानामीति ब्रुवाणस्य दश मासान् यावदेवंविधविहारस्य दशमी प्रतिमेति । तथा श्रमणेति निर्ग्रन्थसद्वेषस्तदनुष्ठानकरणात् स श्रमणभूतः साधुकल्प इत्यर्थः । चकारः समुच्चये अपिः संभावने भवति श्रावक इति प्रकृत हे श्रवण ! हेआयुष्मन् ! इति सुधर्मस्वामिना जम्बूस्वामिनमामन्त्रयतोक्तमित्येकादशीति । इह चेयं भावना पूर्वोक्तसमग्रगुणोपेतस्य क्षुरमुण्डस्य कृतलोचस्य वा गृहीतसाधुनेपथ्यस्य ईर्यासमित्यादिकं साधुधर्ममनुपालयतो भिक्षार्थं गृहिकुलप्रवेशे सति श्रमणोपासकाय प्रतिपन्नाय भिक्षां देयेति भाषमाणस्य कस्त्वमिति कस्मिंश्चित्पृच्छति प्रतिपन्नश्रमणोपासकोऽहमिति ब्रुवाणस्यैकादशमासान् यावदेकादशी प्रतिमा भवतीति। पुस्तकान्तरे त्वेव वाचना " दंसणसावए प्रथमा । कयवयकम्मे द्वितीया । कयसामाइए तृतीया । पोसहोववासनिरए चतुर्थी । राइभत्तपरिन्नाए पंचमी । सचित्तपरिन्नाए षष्ठी । दिया बंभयारी राओ परिमाणकडे सप्तमी । दिया वि राओ वि बम्हयारी । असिणाणपयावि भवति वोसट्ठकेसरोमनहे अष्टमी । आरम्भपरिन्नाए नवमी । उद्दिट्ठभत्तवज्जए दशमी। समणभूएया वि भवइत्ति ससमणाउसो एकादशीति । क्वचित्तु आरम्भपरिज्ञात इति नवमी। प्रेष्यारम्भपरिज्ञात इति दशमी । उद्दिष्टभक्तवर्जकः श्रमणभूतश्चैकादशीति । सम० । पञ्चा० ॥

तएणं से आणंदे समणस्स भगवओ अंतिअं पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । पढमं उवासगपडिमं अहासुत्त ४ सम्मं काएणं फासेइ । जाव आराहएइ । तएणं से आणंद समण । दोच्चं उवासगपडिमं चउत्थ पंचमं छट्ठं सत्तमं अट्ठम नवमं दशमं एक्कारसमं जाव आराहेइ ॥

(पढमति) एकादशानामाद्यमुपासकप्रतिमाश्रावकोचिताभिग्रहविशेषरूपामुपसंपद्य विहरति तस्याश्चेदं स्वरूपम् " सङ्कादिसल्लविरहिय, सम्मद्दंसणजुओ जो जंतू । सेसगुणविप्पमुक्को, एसा खलु होइ पढमाओ । " सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिश्चास्य पूर्वमप्यासीत् केवलमिह शङ्कादिदोषराजाभियोगाद्यपवादवर्जितत्वेन तथाविधसम्यग्दर्शनाचारविशेषपालनाभ्युपगमेन च प्रतिमात्व सभाव्यते कथमन्यथाऽसावेकमासप्रथमायाः पालनेन द्वौ मासौ द्वितीयायाः पालनेन एव यावदेकादश मासानेकादश्याः पालनेन पञ्चसार्द्धानि वर्षाणि पूरितवानित्यर्थः । ततो वक्ष्यतीति न चायमर्थो दशाश्रुतस्कन्धादावुपलभ्यते अक्षरमात्ररूपायास्तस्या प्रतिपादनात् (अहासुत्तति) सूत्रानतिक्रमेण यथाकल्पप्रतिमाचारानतिक्रमेण यथा मार्गे क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण (अहातच्चंति) यथातत्त्वं दर्शनप्रतिमेति शब्दस्यान्वर्थानतिक्रमेण (फासेइत्ति) स्पृशति प्रतिपत्तिकाले विधिना प्रतिपत्ते (पालेत्ति) सततोपयोगप्रतिजागरेण रक्षति (सोहइत्ति) शोभयति गुरुपूजापुरस्सरं पारणकरणेन शोधयति वा निरतिचारतया (तिरइत्ति) पूर्णेऽपि कालावधावनुबन्धात्यागात् (कीर्तयेत्ति) तत्समाप्तावेवमिदं चेहादिमध्यावसानेषु कर्तव्य मया तत् कृतमिति कीर्तनात् आराधयति एभिरेव प्रकारैः संपूर्णां निष्ठां नयतीति उपा० १ उ० ।

सुयं मे आउसत्तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं इक्कारस उवासगपडिमा पण्णत्ताओ कतराओ खलु ताओ इमाओ खलु तं जहा अकिरियावादी यावि भवति णो हियवादी णो हियपन्ने नो हियदिट्ठी नोसमावादी णो णितियावादी ण संति परलोगवादी णत्थि इहलोए णत्थि परलोए णत्थि माता णत्थि पिता णत्थि अरहंता णत्थि चक्कवट्टी णत्थि बलदेवा णत्थि वासुदेवा णत्थि णरया णत्थि णेरइया णत्थि सुकडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसे णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति णो दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति । अफले कल्लाणपावए नो पच्चायंति जीवा णत्थि णिरया नत्थि सिद्धी से एवं वादी एव पन्ने एवं दिट्ठी एवं छंदग-

गजिणिविट्ठे आविज्जवति से अन्नवइ महिच्छे महारंभे महापरिग्गहे अहम्मिए अहम्माणुए अधम्मसेवी अधम्मक्खाई अधम्मरागी अधम्मपलोई अधम्मजीवी अधम्मपज्जणे अधम्मसीलसमुदाचारे अधम्माणं चेव वित्ति कप्पेमाणे विहरइ। हण छिंद भिंद विकत्तए लोहियपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा गाहस्सिया उक्कंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसातिसंपयोगबहुला दुस्सीला दुचरिया दुरणुणेया दुव्वया दुप्पडियाणंदा निस्सीला णिव्वया णिग्गुणे निम्मेरे निम्मेरे निप्पच्चक्खाणपोसहोववासे असाहू सव्वातो पाणाइवायाउ अपडिविरए जावज्जीवाए एव जाव सव्वाओ कोहाओ सव्वाओ माणाओ सव्वातो मायातो सव्वातो लोभातो सव्वातो पेज्जातो दोसातो कलहातो अब्भक्खातो पेसुण्णपरपरिवादातो अरतिरइमायामोसातो मिच्छादंसणसल्लातो अपडिविरए जावज्जीवाए सव्वतो कसायदंतकट्ठण्हाणमद्दणविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकारातो अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वातो सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयासंदमाणियजंपणासणजाणवाहणजोयणपवित्थरविधीतो अपडिविरता जावज्जीवाए असमक्खियकारी सव्वाओ आसहत्थिगोमहिसदासीदासकम्मकरपोरुसातो अपडिविरता जावज्जीवाए सव्वतो कयविक्कयमासद्धमासरूवगसंववहारातो अपडिविरता जावज्जीवाए सव्वातो हिरण्णसुवण्णधणधन्नमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालातो अपडिविरता जावज्जीवाए सव्वतो कूडतुलकूडमाणातो अप्पडिविरता सव्वातो आरंभसमारंभातो अप्पडिविरता सव्वातो करणकारावणातो अप्पडिविरता सव्वातो पयणपयावणातो अप्पडिविरता सव्वातो कुट्टणपिट्टणातो तज्जणतालणवंधवधपरिकिलेसातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मतो कज्जंति परपाणा पारियावणकरा कज्जंति ततो वि य अप्पडिविरता जावज्जीवाए से जहा णामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासनिप्फावकुलत्थआलिसंदजवएवमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ एवमेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते तित्तिरवट्टालावककपोतकपिंजलमियमहिससवाराहगाहगोगोहकुम्मसिरीसवादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ ॥ जावि य से बाहिरिया परिसा भवंति दासेति वा पेसेति वा भयएइ वा भाइल्लेति वा कम्मारएति वा भोगपुरिसेति वा तेसिं पि य णं अण्णयरगंसि अहालहुसयंसि अवराधंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति तं जहा इमं दंडेह इमं मुंडेह इमं तज्जेह इमं तालेह इमं अंदुयबंधणं करेह इमं नियलबंधणं करेह इमं चारगबंधणं करेह इमं हत्थच्छिण्णं करेह इमं पायच्छिण्णं करेह इमं कण्णच्छिण्णं करेह इमं नक्क० इमं उट्ठ० इमं सीसच्छिण्णं करेह इमं मुख० इमं वेच्छे ण इमं हियमत उप्पाडियं करेह। एवं नयणदसणवयणजिब्भुप्पाडित करेह। इमं उल्लंबितं करेह। इमं घंसियतयं इमं घोलितयं इमं सूलाकायतयं इमं सूलाभिण्णं इमं खारवत्तियं करेह। इमं दब्भवत्तियं० इमं सीहपुच्छितयं० इमं वसभपुच्छितयं० इमं कडग्गिदड्ढय करेह। इमं काकिणिमंसखवि० (खादि) त करेह। इमं भत्तपाणनिरुद्धयं० इमं जावज्जीवबंधणं करेह। इमं अन्नतरेण असुभेण मारेह जा वि य से अब्भितरिया परिसा भवंति तं जहा मातातेति वा भागिणिति वा भज्जाति वा धूयाति वा सुण्हाति वा तेसि पि य णं अण्णयरंसि अहालहुसंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेत्ति सीतोदगवियडंसि कायं तो बोलित्ता भवति उसिणोदगवियडेण कायं उसिंचित्ता भवति अगणिकाएण कायं उड्डहित्ता भवति। जोत्तेण वा वेत्तेण वा नेत्तेण वा कसेण वा छिवाडीए वा पासाइं उद्दालित्ता भवति। दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टेत्ता भवति तहप्पगारे पुरिसज्जाते संवसमाणे दुम्मणा भवंति तहप्पगारे पुरिसज्जाते दंडमासी दंडगुरुए दंडपुरक्खडे अहिते अस्सिलोयंसि अहिए परलोयंसि ते दुक्खेति सोयंति एवं जूरेंति तिप्पंति पिट्टेंति परितप्पंति ते दुक्खणसोयणज्जूरणतिप्पणपिट्टणपरितप्पणवधबंधपरिकिलेसातो अपडिविरता भवंति। एतामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिता गिद्धा गढिता अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्ता भोगभोगाइं पसवित्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सण्णं संभारकडेण कम्मुणा से जधा नाम ते अयगोलेत्ति वा सेलगोलेत्ति वा उदयंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमतिवतित्ता अहे धरणितलपतिट्ठाणे भवति। एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते वज्जबहुले धुणबहुले पंकबहुले वेरबहुले दंभनियडिसायबहुले अयसबहुले अप्पत्तियबहुले उस्सन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवतित्ता अहे नरगतलपतिट्ठाणे भवति तेणं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिता निच्चंधकारतमसा ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोतिसपहा मेयवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काउअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा असुभा नरयस्स वेदणा तो नो चेव णं नरएसु नेरइया निद्दायंति वा पयलंति वा सत्तिं वा रतिं वा धितिं वा इमं वा उवलभंति तेणं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं चंडं रुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं नरए सु नेरइया नरयवेयणं पच्चणुभ-

वमाणा विहरंति से जधा रुक्खेसिया पव्वतायग्गजाते मूल-च्छिन्ने अग्गे गरुए जातो निच्चं जतो दुग्गं जतो विसमंततो पवडति एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते गब्भातो गब्भं ज-म्मातो जम्मं मारातो मारं दुक्खातो दुक्खं दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिते आगमे साणदुल्लभबोधिते यावि भवति से तं अकिरियावादी यावि भवति तं जहा आहियवादी आहियपत्ते आहियदिट्ठी सम्मावादी निइवादी संति परलोगवादी अत्थि इह लोगे अत्थि परलोगे अत्थि माता अत्थि पिया अत्थि अरहंता अत्थि चक्कवट्टी अत्थि बलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुकडदुकडाणं फलविचि-विसेसेसु चिन्ना कम्मा सुचिन्नफला भवंति दुचिन्ना कम्मा दुचिन्नफला भवंति। सफले कल्लाणे यावए पच्चायंति जीवा अत्थि नेरइया देवा सिद्धी से एवं वादी एवं पन्ने एवं दिट्ठीच्छंदरागमतिनिविट्ठे आविभवति से भवति महेच्छे जाव उत्तरगामिए नेरइएसु पक्खिवत्त आगमेसाणं सुलभा बोधिया वि भवति से तं किरियावादसव्वधम्मरुची यावि भवति। तस्स बहुइं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहो-ववासाइं सम्मं पट्ठवितपुव्वाइं भवति पढमा उपासगपडिमा।

(अकिरियवाइत्ति) ननु प्रतिमाधिकारे तु पूर्वं दर्शनप्रतिमास्ति दर्शने च सम्यक्त्व तदेव पूर्वं वक्तुमुचित किमर्थं तर्हि पूर्वं मि-थ्यात्वप्ररूपणमनुपयोगित्वात्। उच्यते मिथ्यादर्शनं खलु सम्य-ग्दर्शनप्रतिपक्षभूत तदपि ज्ञातुमुचित जावक्ष तद्विपक्षतया ज्ञातं तावत्सम्यक्त्वे दार्ढ्यं भवति पूर्वं सर्वजीवानां मिथ्यात्वमेव प-श्चात्केषांचित्सम्यक्त्वमत पूर्वं मिथ्यादर्शनमेवोचित वक्तुमिति। तद् द्विविधं तद्यथा आभिग्राहिकमनाभिग्राहिक माभिग्राहिको ना मकुदर्शनग्रहो यथा नास्ति जीवोऽनित्यो वा जीव' नास्ति वा परलो कइत्यादिरूप अनाभिग्राहिकमसंज्ञिनामपि केषांचित् तथाविध-ज्ञानविकलानां यतो भव्या अपि केवलाक्रियावादिनोऽभव्याश्चापि भव्योऽक्रियावादी नियमात् कृष्णपाक्षिक पतल्लक्षणमेवमाहु 'जे-सिमवड्ढो पुग्गल परियट्टो चेव होइ संसारो। ते सुक्कपक्खि-या खलु इयरे पुण कण्हपक्खिया।१। इति। क्रियावादी च निय-माद्भव्य एव शुक्लपाक्षिकश्च। यत "अंतो पुग्गलपरियट्टस्स णिय-मा सिज्झिहित्ति" सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा भवेत् अतो युक्तमादौ-तदुद्देशकरणमिति। तत्र क्रिया अस्तीत्येवरूपा तां वक्तु शील-मस्येति क्रियावादी तद्विपरीतस्त्वक्रियावादी यत. ये त्वक्रियावा-दिनस्ते अस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मान नेच्छन्त्येव एवंविधो भवति वापिशब्दावनुक्तार्थसंग्राहकौ दृष्टव्यौ। स पुन. कथभूतो भव-तीति दर्शयति (णाहियावादित्ति) नास्तिकवादादयो ना-स्त्यात्मा एवं वदनशीलो नास्तिकवादी एव (नाहियपन्नेत्ति) नास्तिकप्रज्ञ प्रज्ञा हेयोपादेयरूपा तां नास्तीत्येव वदनशीलो नास्तिकप्रज्ञ। प्रतिज्ञा वा निश्चयरूपोऽभ्युपगम एवं (नाहि-यदिट्ठित्ति) दृष्टिर्दर्शन स्वमतमिति भाव (नो सम्मावादित्ति) न सम्यग्वादी मिथ्यादृष्टिरित्यर्थ' ये यथावस्थित भणन्ति ते सम्यग्वादिन' तद्विपरीतास्तु मिथ्यावादिन. (णो णितिय याव-दिति) नित्यो मोक्षो यत्र गताना पुनरागमनादि नास्ति नित्यत-यावस्थितिरित्येवमास्ति तन्निषेधवादी। अथवा नियतमनुष्ठान (ण-सत्ति) परलोका स्वर्गनरकादय' तद्वादी स पुनरित्थ नास्ति वदति यथा नास्तीह लोकः इहेति अय प्रत्यक्ष' सोऽपि नास्ति यद् दृश्यते तत् भ्रान्तमन्यथा प्रतिभासते तथाभूतसमुदायेन जी-धादिकमस्ति तच्च वस्तुनया प्रतिभास इति भ्रान्ति। नास्ति परलोक. कोऽर्थ' परो नाम सुखदु.खोपलब्धस्वभावसयुक्त: सोऽपि नास्ति (णत्थि माता णत्थि पिता) इति कण्ठ्य तन्निषेधमेव ते कुर्वन्ति योऽय मातृपितृव्यपदेशः स जनकत्वे कृतो जनकत्वा-च्च यूकाकृमिगण्डोलकास्तथाश्रित्य स स्यान्न चैव तस्मान्न वा-स्तवो मातृपितृव्यवहार इति (णत्थि अरहंतात्ति) अर्हन्तस्तीर्थ-करा शेषपदत्रय व्यक्त (नरयत्ति) नरान् उपलक्षणत्वात्तिर-श्चोऽपि तथाविधपापकारिण कायन्ति आह्वयन्तीति नरका सी-मन्तकादयः (णेरयियत्ति) निर्गत अयमिष्टफल कर्म येभ्यस्तेषु भवा नैरयिका. "णत्थि सुकडेत्यादि" नास्ति सुकृतदुष्कृतयो'फ-लवृत्तिविशेषः सुकृत तप प्रभृति दुष्कृत जीववधादि "नो सुचि-न्नेत्यादि" न सुचीर्णानि सुष्ठ्वाचरितानि कर्माणि सुचीर्णफलानि इष्टफलसाधकानि भवन्ति एवमितरदपि नवरं व्यत्यय अफले इत्यादि अयमात्मा अफल फलवर्जितः केत्याह कल्याणपापक-वस्तुनि (णो पच्चायंतित्ति) न प्रत्यायान्ति जीवा गत्यन्तरसं-चारेणेत्यर्थ. (णत्थि णिरयादि) अत्रादिशब्दोपादानात् नारका-स्तैरश्चा नरा देवाश्चत्वारो ग्राह्या. (णत्थि सिद्धित्ति) नास्ति न विद्यते सिद्धिर्नाम ईषत्प्राग्भारा मुक्तिक्षेत्र यात्रैव सेति स एववादी अनन्तरोक्तप्रकारवादी कथक 'पन्ने दिट्ठीति' पूर्ववत् एवं (छंदरागेत्ति) छन्द स्वाभिप्राय' रागो नाम स्नेहरागादिकस्तत्राभिनिविष्ट-प्रत्यर्पितदृष्टिर्भवति (सियत्ति) सो भवति अनन्तरवक्ष्यमाणस्वरूपो यथा "महिच्छे" इत्यादि महती राज्यविभवपरिवारादिसर्वा-तिशायिनीच्छान्त करणप्रवृत्तिर्यस्य स महेच्छ' तथा महानारम्भो वहनोष्ट्रमण्डलिकानां गर्भप्रवाहकृषिपण्डपोषणादिको यस्य स महारम्भ. एवमेवभूतः स महापरिग्रह' धनधान्यद्विपदचतु-ष्पदवास्तुक्षेत्रादिपरिग्रहवान् क्वचिदप्यनिवृत्तः अत एव धर्मेण चरतीति धार्मिकः न धार्मिकोऽधार्मिक.। तत्र सामान्यतोऽप्य-धार्मिक स्यादत आह (धम्माणुपत्ति) धर्मं श्रुतचारित्ररूप-मनुगच्छतीति धर्मानुग। यद्वा धर्मे वक्तव्येऽनुमोदनं यस्य सो धर्मानुगस्तद्विपरीतस्तु अधर्मानुग.। तथा (अधम्मसेवीत्ति) अधर्ममेव सेवितु शीलमस्येत्यधर्मसेवी। तथा (अहम्मिट्ठेत्ति) धर्म. श्रुतरूप एवेष्टो वल्लभः पूजितो यस्य स धर्मिष्ठ। अथवा धर्मिण.मिष्ट.। अथवा धर्मिष्ठ' अतिशयेन धर्मी धर्मिष्ठ' तन्निषेधादधर्मिष्ठ. अधर्मिष्ठो वा यद्वा अधर्मिष्ठो निर्विशेषकर्म-कारित्वादधर्मप्रभृतः अत एव (अहम्मक्खाईति) न धर्मस्या-ख्यातीत्येव शीलोऽधर्माख्यायी। अथवा न धर्माख्यायी अथवा ख्यातीत्येव शीलोऽधर्माख्यायी। अथवा अधर्मस्य-अधर्मोत् आख्यातिर्यस्य स अधर्माख्यातिः। तथा अधर्मप्र-गी अधर्मे एव रागो यस्य सोऽधर्मरागी। तथा (अहम्मपलो-इत्ति) न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयति यः सोऽधर्मप्रलोकी (अ-हम्मजीवित्ति) अधर्मेण जीवति प्राणान् धारयतीति अधर्म-जीवी। तथा (अहम्मपलज्जणेत्ति) न धर्मे प्ररज्यति आसज-ति य सोऽधर्मप्ररञ्जन'। यद्वा अधर्मप्रापणीयेषु धर्मेषु प्रकर्षेण राज्यत इत्यधर्मरक्त रलयोरैक्यमिति रस्य स्थाने लकारोऽत्र कृत इति। "क्वचिदधम्मपज्जणे" इति पाठ तत्राधर्मं प्रकर्षेण ज-नयति उत्पादयति लोकानुपयातीति अधर्मप्रजन.। तथा अ-धर्मशीलेति अधर्मशीलो ऽधर्मस्वभाव। तथाऽधर्मात्मक समु-

द्राचारो यत्किंचनानुष्ठानं यस्य भवति स अधर्मशीलसमुदाचारो न धर्मात्किमपि भवति तस्यैवाभावादित्येवम्। तथा (अधम्मेण चेवत्ति) अधर्म्मेण चारित्रश्रुतविरुद्धरूपेण वृत्तिं जीविकां कल्पयन् कुर्वाणो विहरत्यास्ते। यद्वा अधर्म्मेण सावद्यानुष्ठानेन दहनाङ्कनानिर्लाञ्छनादिकेन कर्मणा वृत्तिर्वर्तनं कल्पयन् कुर्वाणो विहरतीति कालमतिवाहयति। यद्वा अधर्मेणैव वृत्तिं सर्वजन्तूनां यापनां कल्पयन् इति। पापानुष्ठानमेव लेशतो दर्शयितुमाह "हणेत्यादि" स्वत एव हननादिकाः क्रिया कुर्वाणोऽपरेषामप्येवमात्मकमुपदेशं ददाति। तत्र हनन दण्डादिभिस्तत्कारयति तथा छिन्धिकर्णादिकं भिन्धि शूलादिना विकर्तकः प्राणिनामाजिनाय नेता अत एव लोहितपाणिर्मारयित्वा हस्तयोरप्यप्रक्षालनात् अत एव पापः पापकर्मकारित्वात्। चण्डस्तीव्रकोपावेशात्। रौद्रो निस्त्रिंशकर्मकारित्वात्। क्षुद्रः क्षुद्रकर्मकारित्वात्। साहसिकः सहसा अविमृश्यैव पापकर्मणि प्रवृत्तत्वात्। स्वत एव परलोकभयाभावात् असमीक्षितकारी अनालोचितपापकारीति भावः। तथा वञ्चकं च वञ्चनं प्रतारणं नयथा अभयकुमारः प्रद्योतगणिकाभिर्धार्मिकवञ्चनया वञ्चितः मायावञ्चनबुद्धिः प्रायो वणिजामिव। निकृतिस्तु वकवृत्त्या कुक्कुटादिकरणेन दम्भप्रधानवणिक्श्रोत्रियसाध्वाकारेण परवञ्चनार्थं मङ्गलकर्तकानामिवावस्थान देशभाषानेपथ्यादिविपर्ययकरणम्। कूटमनेकेषां मृगादीनां ग्रहणाय नानाविधयोगकरणम्। अथवा कूटं कार्षापण तुलाप्रस्थादेः परवञ्चनार्थं न्यूनाधिककरणं कपटं यथाऽऽषाढभूतिना नटेन वा परवेषपरावृत्त्याचार्योपाध्यायसंघाटकार्थं चत्वारो मोदका अवाप्ताः। एतैरुत्कञ्चनादिभिः सहातिशयेन सम्प्रयोगो योगः तेन बहुलं यदि वा सातिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकादीनामपरस्य द्रव्यस्य सम्प्रयोगः सातिसंप्रयोग तेन बहुलोऽनिप्रभूतः। उक्तं च सूत्रकृताङ्गचूर्णिकृता "सो होइ साइजोगो, दव्वं जत्थादि अन्नदव्वेसु। दोसगुणवयणेसु य, अत्थविसवायणं कुणइ ॥१॥ इति संप्रयोगबहुलः। अपरे तु व्याख्यानयन्ति उक्तं च न नाम उक्तो वा निकृतिर्वचनप्रच्छादनकर्मसातिरविजृम्भ एतत्संप्रयोगबहुलः शेषं तथैव। एते चोत्कञ्चनादयो मायापर्याया यथेन्द्रशब्दस्य शक्रपुरन्दरादयः। पुनः किंभूता (दुस्सीलेत्ति) दुष्टं शीलं स्वभावो यस्य स दुःशीलः दुष्परिचयश्चिरमुपचरितोऽपि क्षिप्रं विसंवदति। दुःखानुनेयो दारुणस्वभाव इत्यर्थः। तथा (दुव्वए) दुष्टानि वृत्तानि यस्य स तथा यथा मासक्षपणव्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसत्त्वोपघातेन मांसप्रधानमन्यदपि नक्तभोजनादिकं तस्य दुष्टव्रतमिति। तथाऽन्यस्मिन् जन्मान्तरेऽहं मधुमद्यमांसादिकमभ्यवहरिष्यामीत्येवमज्ञानान्धो जन्मान्तरविधिद्वारेण स निदानमेव च तं गृह्णाति। तथा दुःखेन प्रत्यानन्द्यत इति दुष्प्रत्यानन्द्यः इदमुक्तं भवति तैरानन्दितेनापरेण केनचित् प्रत्युपकारहेतुना गर्वाध्मातो दुःखेन प्रत्यानन्द्यते। यदि वा सत्युपकारे प्रत्युपकारजीर्णैर्नानन्दति प्रत्युत शठतया उपकारे दोषमेवोत्पादयति। तथा चोक्त "प्रतिकर्त्तुमशक्तिष्ठा नरा पूर्वोपकारिणाम्। दोषमुत्पाद्य गच्छन्ति मद्गूनामिव वायसा इति"। तथा निःशीलो ब्रह्मचर्यपरिणामाभावात्। निर्व्रतो हिंसादिविरत्यभावात्। निर्गुणो हितकारित्वादि गुणाभावात्। निर्मर्यादः परस्त्रीपरदारादिमर्यादाविलोपित्वात्। तथा अविद्यमानपौरुष्यादिप्रत्याख्यानसत्पर्वदिनोपवासश्चेत्यर्थः। यत एवमतः साधुपापकर्मकारित्वात्। तथा यावत्प्राणधारणेन सर्वस्मात्प्राणातिपातादप्रतिविरतो लोकनिन्दनीयादपि ब्राह्मणघातादेरविरत इति सर्वग्रहणम्। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण यावत् करणात् "सव्वातो मुसावायातो अपडिविरया इत्यादि" पदकदम्बकपरिग्रहः। तत्र सर्वस्मादपि कूटसाक्ष्यादेरप्रतिविरत इति। तथा सर्वस्मात् स्त्रीबालादेः परद्रव्यादपहरणादविरत। तथा सर्वस्मात्परस्त्रीगमनादमैथुनादविरतः एवं सर्वस्मात्परिग्रहाद्योनिपोषकादप्यविरत। एवं सर्वेभ्यः क्रोधमानमायालोभेभ्योऽप्यविरतस्तथा प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशुन्यपरपरिवादारतिरतिमायामृषामिथ्यादर्शनशल्यादिभ्योऽसदनुष्ठानेभ्यो यावद्वधः प्रतिविरतो भवतीति तत्र प्रेमानभिव्यक्तमायालोभस्वभावमभिष्वङ्गमात्रं प्रेम। द्वेषोऽनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपाप्रीतिमात्रं द्वेषः। कलहो राटिः अभ्याख्यानमसद्दोषारोपणम्। पैशुन्यं प्रच्छन्नमसद्दोषाविष्करणम्। परपरिवादो विप्रकीर्णं परेषां गुणदोषवचनम्। अरतिरती अरतिर्मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेग तत्पुना रतिर्विषयेषु मोहनीयोदयाच्चित्ताभिरतिः अरतिरती माया तृतीयकषायद्वितीयाश्रवयोः संयोगः अनेन च सर्वसयोगा उपलक्षिता। अथवा वेषान्तरकरणेन वा यत्परवञ्चनं तन्माया। मृषेति मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविधव्यथानिबन्धनत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति। तथा सर्वस्मात् स्नानोद्वर्त्तनाभ्यञ्जनवर्णककषायद्रव्यसंयुक्ततया विलेपनशब्दस्पर्शरसरूपगन्धमाल्यालङ्कारात् कामाङ्गात् मोहजनितादप्रतिविरतो यावज्जीवमिति। अत्र स्नानादयः शब्दाः प्रसिद्धा नवरं वर्णकग्रहणेन वर्णविशेषापादकलोध्रादिकं परिगृह्यते। ननु पूर्वं तावत् अभ्यङ्गः पश्चात् उन्मर्द्दनं युज्यते पश्चाच्च स्नानं ततः कथमादौ स्नानोपन्यासः उच्यते यद्यपि अनुक्रम एवमेव परं कोऽपि कदाचिदभ्यङ्गमन्तराऽपि स्नानं कुर्वन् पृष्टिसंवाहनादि कारयति तेन न व्यत्ययो दोषावह इति। गन्धाः कोष्ठपुटादयः माल्यानि ग्रथितदामानि अलङ्काराः केयूरादयः तथा सर्वतः शकटरथादेर्यानविशेषादिप्रविस्तरविधिपरिकररूपात् परिग्रहादप्रतिविरत इति। इह च शकटरथादिकमेव यानं शकटरथयानं युग्यपुरुषोत्क्षिप्तमाकाशयानं (गिल्लित्ति) पुरुषद्वयोत्क्षिप्ता गिल्लिका (थिल्लित्ति) वेगसरादिद्वयविनिर्मितो यानविशेषस्तथा (सीयत्ति) शिबिका विलाटानां यत् अड्डपल्याण रूढं तदन्यविषयेषु पिल्लिरित्युच्यते यद्वा तथा शिबिका नाम कूटाकाराच्छादितो जम्पानविशेषः। तथा (संदमाणियत्ति) शिबिका विशेष एव पुरुषायामप्रमाणो जम्पानानि पर्यङ्कादीनि आसनानि गड्डिकादीनि यानानि वाहनानि च पूर्वोक्तान्त पातीन्येव वेदितव्यानि। अथवा यानानि नौकादीनि वाहनानि वेसरादीनि भोजनमोहनादिरूपं प्रविस्तरो नाम गृहोपस्कार इति तथा अश्वहस्त्यादिपदानि व्यक्तानि नवरं दासः आमरणं क्रयक्रीतः। कर्मकरो लोकहितादिकर्मकरः। पौरुषं पदातिसमूहः। तेभ्योऽप्यप्रतिविरतो यावज्जीवायेति। एतदेवमन्यस्मादपि वस्त्रादेः परिग्रहादुपकरणभूतादविरतस्तथा सर्वतः क्रयविक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो माषकार्धमाषकरूपकार्षापणादिभिः पण्यविनिमयात्मकः संव्यवहारस्तस्मादप्यविरतो यावज्जीवायेति। तथा सर्वस्मात्सर्वतः हिरण्यसुवर्णधनधान्यमणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालेभ्योऽप्यप्रतिविरतो यावज्जीवायेति। तत्र हिरण्यं रूप्यमघटितस्वर्णमित्येके सुवर्णं घटितं धनं गणिमादि चतुर्धा तद्यथा "गणिमं जाईफलपूगफलाइ धरिमं तु कुंकुमगुडाई। मेज्जं चोप्पडलोणाइ रयणवत्थाइ परिच्छेज्जं ॥ १ ॥" धान्यं चतुर्विंशतिधा यवशाल्यादि मणयो वैडूर्यचिन्तामणिप्रभृत-

यो, मौक्तिकानि, प्रतीतानि, शङ्खा दक्षिणावर्त्तादयः, शिलाप्रवालानि विद्रुमाणि, । अन्ये त्वाहुः । शिला राजपट्टादिरूपा. प्रवालं विद्रुममेतेभ्योऽप्यप्रतिविरतो यावज्जीवायेति । तथा कूटमानाद्-विरतस्तथा सर्वस्मात् सर्वस्मात् आरम्भसमारम्भात् तत्रैतौ द्वावपि त्रिप्रकारौ तद्यथा मानसिकवाचिककायिकभेदात् तत्र मानसिको मन्त्रादिध्यानं परमारणे हेतोः प्रथम तथा समारम्भः परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनध्यान वाचिको यथा आरम्भः परव्यापादनक्षमक्षुद्रविद्यादिपरावर्त्तनात्मकसंकल्पसूचको ध्वनिरेव । समारम्भः परपरितापकरमन्त्रादिपरावर्त्तनम् । कायिको यथा आरम्भोऽभिघाताय यष्टिमुष्ट्यादिकरणं समारम्भः परितापकरो मुष्ट्या अभिघातः । तथा सर्वतः कृषिवाणिज्याद्यारम्भेभ्यः करणं अन्येन च यत्किञ्चित् कारयति तस्मादविरतः उपलक्षणमनुमतेरप्येतत् तथा पचनपाचनतोऽप्यप्रतिविरतः । तथा सर्वस्मात् सर्वस्मात् कुट्टनपिट्टनतर्जनताडनवधपरिक्लेशेन प्राणिनां गन्धादप्यप्रतिविरत । तांस्तानुपसंहरति ये चान्ये तथा प्रकाराः परपीडाकारिणः सावद्याः कर्मसमारम्भाः अबोधिका बोधिघातकारिणस्तथा परप्राणपरितापनकरा यो मदप्रदष्टी प्रश्नमामघातात्मका येऽनार्यैः क्रूरकर्मभिः क्रियन्ते ततोऽप्रतिविरता यावज्जीवमिति । पुनरन्यथा बहुप्रकारमाधाकर्मिकधर्मानिष्पादयितुमाह "से जहा णामए इत्यादि" तत्रैवोपदर्शनार्थम् । नामशब्दः सम्भावनायां संभाव्यतेऽस्मिन्विचित्रे संसारे केनचिदेवंभूता पुरुषा ये कलमसूरतिलमुद्गमाषनिष्पावकुलत्थाऽऽलिसिन्दकप्रभृतीनां धान्यादीनां पचनपाचनादिक्रियया स्वपरार्थमयतः स्वयं पचननिक्षेप । तत्र कलमा वृत्तचनका मसूराश्चनका । तिलमुद्गमाषाः प्रतीता । निष्पावा वल्लाः कुलत्थाश्चपलकसदृशा चिपिटका भवन्ति । आलिसिन्दकाः सतीनाः परिमन्थकाः क्रूरो मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जति मिथ्यैवानपराधिष्वेव दोषमारोप्य दण्डो मिथ्यादण्डस्तं विदधाति । तथा एवमेव प्रयोजनं विनैव तथा प्रकारः पुरुषो निष्करुणो जीवोपघातनिरतः तित्तिरवर्त्तकलावककपोतकपिञ्जलमृगमहिषवराहग्राहगोधाकूर्मसरीसृपेषु जीवनप्रियेषु प्राणिष्वयतः क्रूरकर्मा मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जति तस्य च क्रूरपुरुषस्य यथा राजा तथा प्रजा इति प्रवादात् परिवारोऽपि तथाभूत एव तेषु प्राणिष्वयत क्रूरकर्मा मिथ्यामतिरिति । तथा दर्शयितुमाह । (जा विया से इत्यादि) याविनी च तस्य बाह्या पर्षद्भवति । तद्यथा दासः स्वदासीसुतः प्रेष्यो हि प्रेषणयोग्यो भृत्यादिश्यो भृतको वेतनेनोदकाद्यानयनविधायी । तथा भागिको य षष्ठांशादिलाभेन कृष्यादौ व्याप्रियते । कर्मकरः प्रतीत । तथा नायकश्चितः कश्चिद्भोगपरस्तदेवं ते दासादयोऽन्यस्य लघावप्यपराधे गुरुतरं दण्डं प्रयुञ्जन्ति प्रयोजयन्ति च । स च नायकस्तेषां दासादीनां बाह्यपर्षद्भूतानामन्यस्मिन् यथा लघावप्यपराधे शब्दाभ्रमणादिकं गुरुतरं दण्डं वक्ष्यमाणं प्रयुङ्क्ते तद्यथा इमं दासं प्रेष्यादिकं सर्वस्वापहारेण दण्डय तमित्यादिपाठसिद्धं नवरम् । (अदुयाहुयधणति) अदुयं बाहुबन्धनं निगडानि प्रतीतानि हडिरिति काष्ठघोटकः चारको बन्दीप्रभृतीनामवस्थानार्थं गृहविशेषः इम निगडयुगलेन सङ्कोचितं सङ्कोचकरणेन ह्रस्वीकुरुत मोटितमङ्गमङ्गेन मुखे मध्यवेधं शरीरस्यासिप्रभृतिकेन (विच्छेदयत्ति) प्रहसच्छेदनाकारेण छेदनं जीवत एव हृदयोत्पाटनं हृदयमध्यमांसकर्त्तनम् । (ओलंबितति) अवलम्बितं कूपपर्वतनदीप्रभृतिषु उल्लम्बितं वृक्षादिषु घर्षितं करीषादिना घर्षितं रसनिष्कासनार्थं मागपत् शूलाप्रोतं शूलिकारोपितं गुदे प्रोता सती शूली वक्त्रे निर्गच्छति शूलाभिन्न मध्ये विध्यते क्षारान्तिकं नाम शस्त्रेण छित्त्वा लवणक्षारादिभिः सिच्यते दर्भवर्तितं दर्भेण शरीरविकर्त्तनं सिंहपुच्छे बन्धनं कटाग्निदग्धं कटान्तर्वेष्टयित्वाऽग्निना दह्यते काकणीमांसानि कर्त्तयित्वा भाषते अभ्यन्तरेण भक्तपानविच्छिन्नमभ्यन्तरेणाशुभेन कुत्सितमारेण व्यापादयत यूयम् । याऽपि च क्रूरकर्मवतोऽभ्यन्तरा पर्षद् भवति तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः प्रभुकल्पो मातापितृसुहृत्स्वजनादिभिः सार्द्धं परिवसंस्तेषां च मातापित्रादीनामन्यतमेनानाभोगतया यथाकथञ्चिल्लघुतमेऽप्यपराधे वाचिके दुर्वचनादिके तथा कायिके हस्तपादादिसंघट्टनरूपे कृते सति स्वयमेवात्मना क्रोधाध्मातो गुरुतरं दण्डं दुःखोत्पादकं वर्त्तयति करोति । तद्यथा शीतोदकविकटे प्रभूते शीते वा शिशिरादौ तस्यापराधकर्तुं कायमधो बोलयिता भवति । तथोष्णोदकविकटेन कायं शरीरमपभिञ्चयिता भवति । तत्र विकटग्रहणा दुष्णतैलेन काञ्जिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति । तथाऽग्निकायोन्मुखेन तदात्मना वा कायमुपदाहयिता भवति । तथा योत्रेण वा वेत्रेण वा दण्डेन वा नेत्रो वृक्षविशेषस्तेन त्वचा वल्कलेन तथा वाऽन्यतमेन वा दवरकेण ताडनतस्तस्यापराधकर्तुः शरीरपार्श्वाणि उद्दालयितुं भवति चर्माणि लुम्पयितुं भवति । तथा दण्डलतादिना वा अस्थ्ना वा लेष्टुना वा लोष्टेन वा मुष्ट्या वा कपालेन वा खर्परेण वा कायं शरीरमाकुट्टयिता उपताडयिता भवति भृत्यर्थं कुट्टयिता वा तदेवमल्पापराधिन्यपि महाक्रोधदण्डवर्त्तयति तथाप्रकारे पुरुषजाते एकत्र वसति तत्सहवासिनो मातापित्रादयो दुर्मनसस्तद्दर्शनिवेशशङ्क्या भवन्ति मार्जारदर्शने मूषकावत् तस्मिंश्च प्रवासिते देशान्तरं गच्छति गते वा तत्सहवासिनो हि सुमनसो भवन्ति त एवं यथा मार्जारे प्रवासिते मूषका विश्वस्ताः सुखेन विचरन्ति एवं तस्मिन् प्रवासिते पौराः प्रातिवेश्मिकाः स्वजनादिकाः सर्वे वाऽन्यो लोको विश्वस्त स्वकर्मानुष्ठायी भवति । तथा प्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं कल्पयतीति । एतदेव दर्शयितुमाह । तथा प्रकारः सदण्डो मृषादण्डेनामर्षी लोकोऽपि भणति तथा अमुको वराको राज्ञा कारागारे क्षिप्तो दण्डितः इत्यर्थः दण्डपाशीति वा पाठस्तत्र दण्डस्य पार्श्वं दण्डपार्श्वं तद्विद्यते यस्यासौ दण्डपार्श्वः स्वल्पतया स्तोकापराधेऽपि कुप्यति दण्डं च पातयति तमप्यतिगुरुकर्मिति दर्शयितुमाह । दण्डगुरुको यस्य च दण्डो महान् भवत्यसौ दण्डेन गुरुर्भवति । तथा दण्डपुरस्कृतः सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः स चैवम्भूतः स्यस्य परत्र चास्मिंल्लोकेऽस्मिन्नेव जन्मन्यहितः प्राणिनामहितदण्डोपादानात् । तथा परस्मिन्नपि जन्मन्यसावहितस्तज्जीवतया चासौ येषाञ्चिदेव येन केनचिन्निमित्ते मनसाऽन्येषां दुःखमुत्पादयति तथा नानाविधैरुपायैस्तेषां शोकमुत्पादयति शोकयतीत्येव झूरयति गर्हति तृप्यति सुखात् च्यावयत्यात्मानं परांश्च । तथा स वराकोऽपुष्टधर्मा सदानुष्ठानैः स्वतः पीडनं परांश्च । तथा स पापेन कर्मणा परितप्यते दह्यते परांश्च पीडयति । तथा स पापेन कर्मणा परितप्यते दह्यते परांश्च पीडयति । तदेवमसावसदण्डी सन् दुःखेन शोकेन परांश्च स तापयति । तदेवमसावसहदण्डी सन् दुःखेन शोकेन जूरणतर्पणपीडनो हि प्राणिनां बहुप्रकारपीडोत्पादकतया वधबन्धपरिक्लेशादप्रतिविरतो भवति स च विषयासक्ततयैतत्करोति तद्दर्शयितुमाह "एवमेवेत्यादि" एवमेव पूर्वोक्तस्वभाव एव स निष्कृपो निरनुक्रोशो बाह्याभ्यन्तरपर्षदोरपि कर्षनासावकर्त्तनदण्डपातनस्वभावः । स्त्रीप्रधानाः कामाः स्त्रीकामा यदि वा स्त्रीषु मदनकामाविषयभूतासु कामेषु चशब्दादिच्छाकामेषु

मूर्च्छित गृद्धो ग्रथित अध्युपपन्न एते च शक्रपुरंदरादिवत्पर्यायाः कथञ्चिद्भेदं वाऽऽश्रित्य व्याख्येयाः । एतच्च स्त्रीपुंशब्दादिषु च प्रवर्त्तनं प्रायः प्राणिवधरूपप्रकारादिभिर्बहुरूपघ्नविधत्तमिकाचनावस्थानि विधाय तेन च सत्नारकृतेन कर्मणा प्रेर्यमाणस्तत्र कर्मगुरुर्नरकतलप्रविष्टानो भवतीति । अस्मिन्नेवार्थे सर्वलोकमतीतं दृष्टान्तमाह (से जहा णामए इत्यादि) तद्यथा नामायोगोलकोऽयःपिण्ड शिलागोलको वृत्ताश्मशकलं चोदके प्रक्षिप्तः समानसलिलतलमतिवर्त्यातिलङ्घ्याधोधरणीतलप्रतिष्ठानो भवति । अधुना दार्ष्टान्तिकमाह । "एवमेवेत्यादि" यथाऽसावयोगोलको वृत्तत्वात् शीघ्रमेवाधो यात्येवमेष तथा प्रकार पुरुषजातस्तमेव लेशतो दर्शयति वज्रवद् वज्रं गुरुत्वात् कर्म तद्बहुलस्तत्प्रचुरो बध्यमानकर्मगुरुरित्यर्थः । तथा धूयत इति धूतं प्राग्बद्ध कर्म तत्प्रचुरः पुनः सामान्येनाह (पङ्कयतीत्ति) पङ्कं पाप तद्बहुलस्तथा तदेव कारणतो दर्शयितुमाह। वैरबहुलो वैरानुबन्धप्रचुरस्तथाऽप्यतियन्ति मनसां दुष्प्रणिधान तत्प्रधानस्तथा दम्भो मायया परवञ्चन तदुत्कटः । तथा निकृतिर्मायावेषभापापरावृत्तिच्छद्मना परद्रोहबुद्धिस्तन्मय । तथा (सातिबहुल इति) सातिशयेन द्रव्येण परस्य हीनगुणस्य द्रव्यस्य सयोगः सातिस्तद्बहुलस्तत्करणप्रचुरस्तथा क्वचित् आसायणबहुलेति पाठः तत्राशातना पूर्वोक्तार्था पाठसिद्धा तया बहुलोऽतिप्रचुरत्वादप्रत्यायोऽसद्वृत्ततया निन्दाश्रया रत्नप्रभादिकायास्तलमतिनिष्ठति । परापकारभूतानि कर्माण्यनुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु च कर्मसु करचरणच्छेदनादिष्वयशोभाग् भवति स एवभूतः पुरुषः (कालमासेत्ति) स्वायुषः क्षये काल कृत्वा पृथिव्याः रत्नप्रभादिकायास्तलमतिवर्त्य योजनसहस्रपरिमाणमतिलङ्घ्य नरकतलप्रतिष्ठानोऽसौ भवति । नरकस्वरूपप्ररूपणयाह । "तेणमित्यादि" णमिति वाक्यालङ्कारे ते नरकाः सीमन्तादय बाहुल्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्यभागे वृत्ताकाराः बहिर्भागे चतुरस्राकाराः इदं च पीठोपरिवर्तिन मध्यभागमधिकृत्योच्यते सकलपीठाद्यपेक्षया त्वावलिकाप्रविष्टा वृत्तात्र्यस्रचतुरस्रसस्थानाः पुष्पावकीर्णास्तु नानासस्थाना प्रतिपत्तव्या (अहेखुरस्स सठाणा सठिया इति) अधो भूमितले क्षुरप्रस्येव प्रहरणविशेषस्य यत्सस्थानमाकारविशेषस्तीक्ष्णतालक्षणस्तेन संस्थितास्तथाहि तेषु नरकावासेषु भूमितले मसृणत्वाभावत शर्कराप्रचुरे भूभागे पादेषु न्यस्यमानेषु शर्करामात्रसंस्पर्शेऽपि क्षुरप्रेणेव पादाः कृत्यन्ते (निच्चंधयारतमसा इत्ति) तमसा नित्यान्धकारा उद्योताभावतो यत्तमस्तदिह तम उच्यते तेन तमसा नित्य सर्वकालमन्धकाराः तत्राप्यवर्गादिष्वपि नामान्धकारोऽस्ति केवल बहिः सूर्यप्रकाशे मन्दतमो भवति नरकेषु तीर्थकरजन्मदीक्षादिकालव्यतिरेकेणान्यदा सर्वकालमपि उद्योतलेशस्याभावतो जात्यन्धस्येव मेघच्छन्नकालार्धरात्र इव चातीव बहलतरो वर्तते तत उक्त तमसा नित्यान्धकारा तमश्च तत्र सदाऽवस्थितमुद्योतकराणामसद्भावात् । तथा चाह । "ववगयगहचंदसूरनक्खत्तजोइसियपहा" व्यपगतः परिभ्रष्टो ग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्ररूपाणामुपलक्षणमेतत् तारारूपाणां च ज्योतिष्काणां पन्था मार्गो येभ्यस्ते व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कपथाः तथा पुनरप्यनिष्टोपादानार्थं तेषामेव विशेषणमाह । "मेयवसेत्यादि" दुष्कृतकर्मकारिणां तेषा दु खोत्पादनायैवंभूता भवन्ति । तद्यथा स्वभावसपन्नैर्मेदोवसामांसरुधिरपूयादीनां पटलानि समूहास्तैर्लिप्तानि पिच्छिलीकृतान्यनुलेपनप्रधानानि येषां ते तथा अथवा मेदोवसामांसरुधिरपूतिपटलैर्[illegible]स्तेन लिप्तमुपदिग्धमनुलेपनेन सततालिप्तस्य पुनः पुनरुपलेपनेन तलं भूमिका येषां ते मेदोवसाविसरुधिरमांसाविक्खल्लालिप्तानुलेपनतलाः अत एवाऽशुचयो विष्टासृक्क्लेदप्रधानत्वात् अत एवविधाः कुथितमांसादिकल्पकर्दमविलिप्तत्वात् क्वचित् 'बीभच्छा' इति पाठ तत्र बीभत्सा दर्शनेऽप्यतिजुगुप्सोत्पत्तेः । एवं परमदुरभिगन्धाः कुथितगोमायुकलेवरादप्यसह्यगन्धकाः । (अगणिवण्णाभा इति) लोहे धम्यमाने यादृक्कपोतो बहुकृष्णरूपायोवर्ण । किमुक्तं भवति यादृशी बहुकृष्णवर्णरूपा अग्निज्वाला निर्गच्छतीति तादृशी आभा आकारो येषां ते कपोताग्निवर्णाभा धम्यमानलोहाग्निज्वालाकल्पा इति भाव । तारकोत्पत्तिस्थानातिरेकेणान्यत्र सर्वत्राप्युष्णरूपत्वात् एतच्च षष्ठसप्तमपृथिवीवर्जमवसेयम् । यत उक्तम् । "छट्ठसत्तमीसुणं काऊअगणिवण्णाभा न भवति" एतादृशास्ते रूपतः । स्पर्शतस्तु कर्कशाः कठिना वज्रककण्टकासिपत्रस्येव स्पर्शा येषां ते । तथा अत एव (दुरहियासा इति) दुःखेनाध्यासन्ते सह्यन्ते इति दुरध्यासाः किमिति यतस्ते नरकाः पञ्चानामपीन्द्रियार्थानामशोभनत्वादशुभाः तत्र सत्वानामशुभकर्मकारिणामुग्रदण्डपातिनां वज्रप्रचुराणां तीव्रा अतितिग्मा अतिदुःसहा वेदना शारीराः प्रादुर्भवन्ति तया च वेदनया अभिभूतस्तेषु नरकेषु ते नारका नैवाक्षिनिमेषमपि काल निद्रायन्ते नाप्युपविष्टाद्यवस्थामक्लिसकोचरूपामीषत्सिद्धामवाप्नुवन्ति । श्रुत विशेषज्ञानरूप रतिं चित्तानिर्वृतिरूपां धृतिं विशिष्टसत्वरूपां मतिं वैशेषबुद्धिरूपां नोपलभन्ते न ह्येवंभूतवेदनापीडितस्य निद्रादिलाभो भवतीति दर्शयति तामुज्ज्वला तीव्रामनुभवेनोत्कटाम् । (तिउलति) त्रीनपि मन प्रभृतिकान् तुलयति जयति तित्रितुला तां क्वचिद्विपुलामित्युच्यते तत्र सकलकायव्यापकत्वाद्विपुलाम् । (पगाढति) प्रकर्षवर्तिना (कक्कसति) कर्कशद्रव्यमिव कर्कशां दृढामित्यर्थ (कडुयति) कटुकां नागरादिवत् सकटुकामनिष्टामेव (चडति) चण्डां रौद्राम् (तिव्वति) तीव्रां निकनिम्बादिद्रव्यमिव तीव्राम् (दुक्खति) दु खहेतुकाम् (दुग्गति) कष्टसाध्याम् (दुरहियासति) दुरधिसह्या वेदयन्तो विचरन्ति । अथ तावदयोगोलकपाषाणदृष्टान्तः शीघ्रमधोनिमज्जनप्रतिपादकः प्रदर्शितोऽधुना शीघ्रपातार्थप्रतिपादकमेवापरं दृष्टान्तमधिकृत्याह " से जहाणामए इत्यादि " तद्यथा नाम कश्चिद्वृक्षः पर्वताग्रे जातो मूले छिन्नः शीघ्र यथा निम्न पतत्येवमसावप्यसाधुकर्मकारी तत्कर्म वातेरितः शीघ्रमेव नरके पतति ततो नरकादप्युद्धृतो गर्भाज्जन्मबद्धय याति। एव जन्मतो जन्म मरणान्मरण नरकान्नरकं दु खाद् दुखं दु खात् शारीरमानसोद्भवात् दुःख समाप्नोति (दाहिणगत्ति) दक्षिणस्यां दिशि गमनशीलो दक्षिणगामुकः । इदमुक्त भवति यो हि क्रूरकर्मकारी साधुनिन्दापरायणः सद्दाननिषेधकस्स दक्षिणगामुको भवति दाक्षिण्यात्येषु नारकतिर्यङ्मनुष्यामरेषु उत्पद्यते तादृग्भूतश्चायमतो दक्षिणगामुक इत्युक्तम् । इदमेवाह (णेरइएत्यादि) नरकेषु भवो नारकः कृष्णपक्षोऽस्यास्तीति कृष्णपाक्षिकस्तथाऽऽगामिनि काले नरकादुद्धृतो दुर्लभबोधिकश्चापे च बाहुल्येन भवति । इदमुक्त भवति दिक्षु मध्ये दक्षिणा दिगप्रशस्ता गतिषु नरकगति पक्षेषु कृष्णपक्षस्तद्द्वयस्य चि षयान्धस्येन्द्रियामुक्तनयवर्तिनः परलोकनि स्पृहमते साधुप्रद्वेषिणो दानान्तरायविधायिनो दिशमप्रशस्तां प्राप्नोति एवमन्यदपि यादृगप्रशस्त तिर्यग्गत्यादिकमबोधिलाभादिक च-

तथोजनीयमस्येति न तस्य किंचित्त्राणं भवति । एव मिथ्यात्वयुक्तजीववर्णनमुक्त्वा यदा कदाचित् सम्यक्त्वमाप्नोति तदा यादृशः स्यात् तथाह (सेत्तमित्यादि) स क्रियावादी चाऽपि भवति यथा पूर्वं व्याख्यातं तथोत्तरमपि व्यत्ययेन व्याख्येयम् । एवं यदा स आस्तिको भवति तदा स सम्यग्दृष्टिर्भवति यावदुत्तरगामुकः शुक्लपाक्षिको देवादिषु उत्पद्यते आगामिनि काले च सुलभधर्मप्रतिपत्तिर्भवति स क्रियावादी सत्यधर्मरुचिश्चापि भवति सद्भ्यो हितः स चासौ धर्मः क्षान्त्यादिकस्तद्रुचिरित्यर्थः । क्वचित् " सव्वधम्मरुइत्ति " पाठः । तत्र धर्मः स्वभाव इत्यनर्थान्तरं जीवाजीवयोर्यस्य तद्रूपस्य गतिस्थित्यवगाहनादिका । अथवा सर्वे धर्माः आज्ञाग्राह्या हेतुग्राह्याश्च तान् श्रद्धत्ते सम्यक्तया मन्यते परं तस्य ण मिति वाक्यालंकारे (बहूइं सीलव्वयेत्यादि) शीलव्रतान्यणुव्रतानि गुणव्रतानि विरमणानि औचित्येन रागादिनिवृत्तयः प्रत्याख्यानानि पौरुष्यादीनि पौषध अवश्यतया पर्वदिनानुष्ठानं तत्रोपवासोऽवस्थानं पौषधोपवास एषां द्वन्द्व एते नो निषेधे सम्यग् यथा भवन्ति तथा प्रस्थापिता भवन्ति न स्वचेतसि नियततया कर्त्तव्यत्वेन व्यवस्थापिता भवन्ति । एवमनुना प्रकारेण दर्शनश्रावको भवति । दर्शनं नाम सम्यक्त्वं तदाश्रित्य श्रावको भवति । ननु तथाविधविरतिं विना कथ श्रावको भवति उच्यते वस्तुव्रतान्यपि न सम्यक्त्वं विना भवन्ति यत " नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं " इत्यादि वचनात् । सम्यक्त्वं व्रतमेव अथवा सम्यक्त्वं तु पञ्चसंवरद्वाराणामाद्यं संवरद्वार ततः सम्यक्त्वे श्रावको भवत्येवेति नात्र संशयः । इह च सम्यक्श्रद्धानरूपा प्रथमा आद्या उपाशकप्रतिमा दशा० ६ अ० । आ० चू० ।

अथ दर्शनप्रतिमास्वरूपनिरूपणायाह । दारं दसणधो अविच्छेदः शुभानुबन्ध सोऽस्यास्तीति शुभानुबन्धी । तथा निरतिचारः शङ्काकाङ्क्षादिदर्शनातिक्रमरहित इति तदेवमितो ग्रन्थात् दर्शनप्रतिपत्तिमात्र निरतिचारसम्यक्त्वसद्भावावधिक प्रतिमेत्यवसीयते । उपासकदशासु पुनरानन्दादीनां प्रतिमाकारिश्रावकाणां पूर्वं प्रतिपन्नदर्शनव्रतानां प्रतिमैकादशकस्य प्रतिपत्तिर्वर्णिता तत्प्रमाणं च सार्द्धं वर्षपञ्चकमित्यतोऽनुमीयते दर्शनप्रतिपत्तिमात्राद्‌तिरिक्तस्वभावा सा तदतिरेकश्चेह राजाभियोगाद्याकारषट्कवर्जनं यथावत्सम्यग्दर्शनाचारपालनादिभिः सम्भाव्यते कालमानं चास्यामेको मासो यत एकादिकयैकोत्तरया वृद्ध्यैकादशसु प्रतिमासु यथोक्तं कालमानं भवतीति गाथार्थः । अथ दशाश्रुतस्कन्धादिषु प्रतिमाशब्दोऽभिग्रहार्थो व्याख्यातः । इह पुनः कस्मात्तद्व्याख्यानत्यागेन शरीरार्थो व्याख्यात इत्याशङ्क्याह ।

बोंदी य एत्थ पडिमा, विसिट्ठगुणजीवलोगओ भणिया ।
ता एरिसगुणजोगा, होइ सोक्खावणत्थि त्ति ॥ ७ ॥

बोन्दिश्च तनुः पुनरत्र प्रकरणे ग्रन्थान्तरे त्वभिग्रह प्रतिमा प्रतिमेति शब्देन भणितोक्ता किमर्थमिति चेदुच्यते विशिष्टगुणः ससाराभिनन्दिसत्त्वापेक्षया मार्गादिसुखादि स चासौ जीवलोकश्च सत्त्वलोको विशिष्टगुणजीवलोकस्तस्मात्सकाशात् शुभसुप्रशस्त एव सदर्शनप्रतिमावानिति स्थापनार्थमेतत्प्रतिपादनायेति । कुत पुन स शुभ इत्याह । तयेदृशगुणयोगात् तया बोन्द्या हेतुभूतया य ईदृशगुणयोग प्रागुक्तदर्शनप्रतिमागुणसम्बन्धस्तस्मात्तयेदृशगुणयोगादित्येतस्य सस्कृतस्य च स्थाने "ता एरिसगुणयोगा" इति प्राकृत न विरुद्धमेवं विधप्रयोगाणामनेकशो दर्शनादिति । इदमुक्तं भवति । आस्तिक्यगुरुदेववैयावृत्त्यनयमादिभिर्गुणैर्गुणिलोकात् शुभतरः प्रतिमागुणवांस्तत्सूचकाय क्रियारुपास्तदभिव्यञ्जकाश्च वर्तन्ते ततस्तेषां तदभिव्यञ्जकश्च बोन्दिहेतुकत्वात् बोन्दिमतः प्रतिमावत प्राधान्यमिति ख्यापनाय बोन्दीप्रतिमेत्युक्तमिति गाथार्थ । एवं तावद्दर्शनप्रतिमाशब्दस्याभिधेयमभिधाय शेषप्रतिमासु तदतिदेश व्रतप्रतिमास्वरूपं चाह ।

एवं वयमाईसु वि, दट्ठव्वमिणं ति णवरमेत्थ वया ।
घेप्पं नणुव्वया खलु, थूलगपाणवहविरयादी ॥ ८ ॥

एवमनेनैव प्रकारेण दर्शनप्रतिमोक्तेन व्रतादिष्वपि व्रतसामायिकप्रभृतिषु सर्वप्रतिमासु न केवल दर्शनप्रतिमायामेव द्रष्टव्यमवसेयम् । इदं च प्रतिमाशब्दस्याभिधेयमितिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ एवमतिदेशद्वारेण सामान्यतो व्रतादिप्रतिमा व्याख्याय विशेषव्याख्यानार्थमाह । नवरं केवलमत्र व्रतप्रतिमायां व्रतान्यभिग्रहा (घेप्पति त्ति) गृह्यन्ते आद्रियन्ते अणुव्रतानि खलु देशमूलगुणा एव खलुरवधारणे किं स्वरूपाणि तानीत्याह स्थूलकप्राणवधविरत्यादीनि असूक्ष्मसत्त्वहिंसाविरमणप्रभृतीनीत्यादिशब्दाद् स्थूलकमृषावादविरत्यादिपरिग्रह इति गाथार्थः । अथ तानि यदा भवन्ति तत्स्वरूपाणि चेत्येतद्दर्शनार्थमाह ।

सम्मत्तोवरि ते सेस–कम्मुणो अवगए पुहुत्तम्मि ।
पलियाणं होंति णियमा, सुहा य परिणामरूवाउ ॥ ९ ॥

सम्यक्त्वोपरि सम्यक्त्वलाभकालस्योर्द्ध ते इति तान्यणुव्रतानि शेषकर्मणः सम्यक्त्वलाभकाले यत् क्षपित तदपेक्षया शेषस्य देशोनसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणस्य मोहनीयादिकर्मस्थितिलक्षणस्यापगते क्षीणे पृथक्त्वे द्विप्रभृतिकेन चान्ते संख्याविशेषे केषामित्याह । पल्यानां पल्योपमाना भवन्ति जायन्ते नियमादवश्यतया । तथा शुभात्मपरिणामरूपाणि तु प्रशस्तजीवाध्यवसायस्वभावान्येव क्षायोपशमिकत्वादिति गाथार्थ ।

तेषां शुभात्मपरिणामस्वरूपत्वादेव यत्स्यात्तदाह ।

बंधादि असक्किरिया, संतेसु इमेसु पहवइ ण पायं ।
अणुकंपधम्मसवणा–दिया उ पहवंति विसेसेण ॥ १० ॥

बन्धादिर्बन्धविच्छेदप्रभृतिरसत्क्रिया अशोभना चेष्टा प्रतिमतमतिचारपञ्चकरूपा सत्सु विद्यमानेष्वणुव्रतेषु प्रभवति जायते । न चैवं प्रायो बाहुल्येन प्रमादादिना कदाचित्स्यादप्रीतिः प्रायोग्रहणमनुकम्पाधर्मश्रवणादिकानुजीवदयाधर्मशास्त्राकर्णनप्रभृतिका पुन क्रियेति प्रकृत प्रभवति जायते । विशेषेण सुतरां दर्शनप्रतिमापेक्षया व्रतमात्रापेक्षया चेति । तदेव व्रतप्रतिमा निरतिचारपञ्चाणुव्रतपालनरूपा उपासकदशाभिप्रायेण चास्योपदेशोऽन्यते मासद्वयमानेनातोऽन्यत्र व्रतमात्रमेवेति गाथार्थ । पंचा० १० विव० ।

सांप्रत द्वितीयप्रतिमास्वरूपमुच्यते ।

अहावरा दोच्चा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुई या वि भवति तस्स णं बहूइं सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपोसहोववासाइं पट्ठविताइं भवंति से णं सामाइयदेसावकासियं णो सम्मं पालित्ता भवति दोच्चा उवासगपडिमा ॥ २ ॥

अथेत्यानन्तर्ये अपरा अन्या उवासमेत्यादि व्यक्तं शीलव्रतादीनि च प्रस्थापितानि भवन्ति एतावता विरतिमान् भवति परं स न सामायिकं देशावकाशिकं च सम्यग्यथा भवत्यतिचाररहि-

तं तथा अनुपालयिता भवति इति द्वितीया श्रावकप्रतिमा दशा० ६ अ० स्था०। सू०। द्वितीया व्रतप्रतिमा इह चास्या स्वरूपम्। "दंसणपडिमाजुत्तो, पालतो णुव्वए निरइयारे। अणुकंपाइ गुणजुत्तो, जीवो इह होइ वयपडिमा" उपा० १ अ०। पञ्चा०।

अथ तृतीयामुपासकप्रतिमामाह।

अहावरा तच्चा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुचियावि भवति तस्स णं बहूइं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्टवियाइं भवंति से णं सामाइयं देसावकासियं सम्मं अणुपालित्ता भवति से णं चाउद्दसअट्ठमिउद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहो नो सम्मं अणुपालित्ता भवति तच्चा उवासगपडिमा ॥

अथापरा तृतीया सुगमा नवरं तस्य बहूनि व्रतादीनि प्रस्थापितानि भवन्ति निवेशितानि भवन्ति (सेयति) स सामायिक वक्ष्यालक्षणे "चाउद्दसीत्यादि" चतुर्दशी प्रसिद्धा पर्वतिथिरपेन तथैवाष्टमी पर्वणैव प्रख्याता (उद्दिट्ठत्ति) उद्दिष्टा अमावस्या पौर्णमासी पूर्णा मासो यस्यां सा पूर्णमासी। तासु पर्वतासु धर्मतिथिषु प्रतिपूर्णं च पोषधो व्रताभिग्रहविशेषस्तं प्रतिपूर्णमाहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापाररूपं पोषधं नानुपालयिता भवति। इति तृतीया उपासकप्रतिमा दशा० ६ अ०। स्था० सू० (तच्चेति) तृतीयां सामायिकप्रतिमा तत्स्वरूपमिदम्। "वरदंसणवयजुत्तो, सामइयं कुणइ जो उ संझासु। उक्कोसेण तिमासं, एसा सामाइयपडिमा"।

सामायिकस्वरूपार्थमाह।

सावज्जजोगपरिव-ज्जणादिरूवं तु होइ विण्णेयं।

सामाइयमिचिरियं, गिहिणो परमं गुणट्ठाणं ॥ ११ ॥

सावद्ययोगपरिवर्जनादिरूपं सपापव्यापारपरिहारनिरवद्ययोगासेवारूपमादि तु शब्दः पुनरर्थो भवति स्याद्विज्ञेयमवगमनीय सामायिकं प्रागुक्तनिर्वचनमित्वरं स्तोक कालं यावदस्ति तदित्वरिक मुहूर्तादिप्रमाणं गृहिणः श्रावकस्य परम प्रधानं शेषगुणस्थानापेक्षया गुणस्थानं देशचारित्रविशेषो गुणाश्रयो वेति गाथार्थः।

परमगुणस्थानमेवास्य समर्थयन्नाह।

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ जओ भणिओ।

बहुसो विहाणस्स य, तम्हा एय बहुसगुणं ॥ १२ ॥

सामायिके पव समभावरूपे नतु व्रतान्तरे तुशब्दोऽवधारणार्थः। कृते प्रतिपन्ने सति श्रमण इव साधुतुल्य सिद्धिसुखपरमसाधनतमसमभावसाधर्म्यात्तथा यस्मात्कारणात्कर्णितोऽभिहितस्तथा बहुशोऽनेकशो विधानं या सेवनं चास्य सामायिकस्य भणितं निर्युक्तिकृता। तथा हि "सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा। एएण कारणेण, बहुसो सामाइयं कुज्जा" तस्मात्कारणादेतत्सामायिक यथोक्तगुण प्रागभिहितगुणा परम गुणस्थानमित्यर्थ इति गाथार्थ । अत्र सामायिके सति यन्न भवति यच्च भवति तद्दर्शयन्नाह।

मणदुप्पणिहाणादी, ण होंति एयम्मि भावओ भंते।

सव्वाणावाईयकारि, या य सामायरीयंति ॥ १३ ॥

मनोदुष्प्रणिधानादीनि मनोदुष्प्रणिधानवचनदुष्प्रणिधानकायदुष्प्रणिधानानि प्रथमप्रकरणोक्तरूपाणि न भवन्ति न जायन्ते एतस्मिन् सामायिके भावतो भावेन नतु द्रव्यतः सति विधमाने तथा स्मृतिभ्रंशसामायिक प्रति कृताकृतादिविषयस्मरणसंज्ञायस्तथ ऽप्रथितसामायिककरणनिषेधरूपो भवतीति प्रकृतम्। च शब्द समुच्चये कस्मादेतदित्याह। श्रमणधर्मबीज श्रमणभावहेतुरिति कृत्वा यत् श्रमणभावस्य परमसामायिकरूपस्य बीज तत्कथ मनोदुष्प्रणिधानादियुक्तं भवति कारणानुरूपत्वात्कार्यस्येति। यद्यप्येषा सामायिकप्रतिमा एतस्य प्रकरणस्य दशाश्रुतस्कन्धस्य पाठनिर्मायेणानियतकालभाना तथाऽप्यावश्यकचूर्ण्यभिप्रायेणोपासकदशाभिप्रायेण च प्रतिदिनमुभयसाध्य सामायिककरणता मासत्रयमानोत्कर्षेण द्रष्टव्या जघन्यतस्तु सर्वा अप्येकाहादिमाना इति। एतच्चाग्रे वक्ष्यत इति गाथार्थः। उक्ता सामायिकप्रतिमा पंचा० १० विव० ॥

अथापरा चतुर्थी उपासकप्रतिमा ॥

अथावरा चउत्था उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति तस्स णं बहूइं सीलव्वया जाव सम्मं पट्टवियाइं भवंति से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालेत्ता भवति से णं चउद्दसट्ठ जाव सम्मं पोसहं अणुपालेत्ता भवति से णं एगराईयं उवासगपडिमं नो सम्मं अणुपालित्ता भवति चउत्था उवासगपडिमा ॥

यस्मिन् दिने उपवासो भवति तस्मिन् दिने वा रात्रौ प्रतिमां प्रतिपद्यते न च स ता शक्नोति कर्तुमिति चतुर्थी। दशा० ६ अ०। स्था० च० (चउत्थत्ति) चतुर्थी पोषधप्रतिमैवंरूपा" पुव्वोदियपडिमजुओ, पालइ जो पोसहं तु सम्मत्तं। अट्ठमिचउद्दसीसु, चउरो मासा चउत्थी सा ॥" उपा० १ अ०। अधुना पोषधप्रतिमावसरस्तत्र च पोषधमेव स्वरूपतो दर्शयन्नाह ॥

पोसेइ कुसलधम्मं, जं ता हाराइचागणुट्ठाणं।

इह पोसहो त्ति भण्णति, विहिणा जिणभासिएणेव ॥ १४ ॥

पोषयति पुष्णाति कुशलधर्मान् शुभसमाचारान् प्राणातिपातविरमणादीन् यद्यस्मात्तत्तस्मादाहारादित्यागानुष्ठानं भोजनदेहसत्काराब्रह्मव्यापारपरिहारकरणमिह प्रक्रमे पोषध इत्येव प्रणयते अभिधीयते पोष धत्ते पुष्णाति वा धर्मानिति निरुक्तात्कथं यदाहारादित्यागानुष्ठानमित्याह विधिना विधानेन यथाकथञ्चित्किंभूतेन जिनभाषितेनैव सर्वज्ञोक्तेनैव स्वमतिविकल्पितेन विधानं च प्रथमप्रकरणे यथोक्तमिति न पुनर्भण्यते इति गाथार्थ।

अथ पोषध तत्त्वतो निरूप्य भेदतस्तन्निरूपयन्नाह ॥

आहारपोसहो खलु, सक्कारपोसहो चेव।

बंभव्वावारेसु य, एयगया धम्मबुद्धि त्ति ॥ १५ ॥

आहारपोषधः प्रासुकस्वरूप खलुर्वाक्यालंकारे शरीरसत्कारपोषध पूर्वोक्तस्वरूप एव। चैवशब्द समुच्चयार्थे ब्रह्मव्यापारयोश्चेति एतद्विषयश्च पोषधो भवति ब्रह्मचर्यपोषधो व्यापारपोषधश्चेत्यर्थः। आहारादिपोषध इति कोऽर्थ उच्यते एतद्गता आहारादित्यागसमाश्रिता धर्मबुद्धिर्धर्मपुष्टि पोष धत्त इति व्युत्पादनादितिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थ।

इह यद्वर्जयत्यसौ तदाह।

अप्पडि दुप्पडिलेहिय-सेज्जासंथारमाइवज्जे त्ति।

सम्मं च अणणुपालण-माहारादीसु एयम्मि ॥ १६ ॥

'अप्पडित्ति' पदावयवे पदसमुदायोपचाराद् 'अप्पडिलेहियत्ति' दृश्य ततश्च अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारकादि वर्जे-

यति परिहरतीत्यप्रत्युपेक्षितमनिरीक्षितं दुष्प्रत्युपेक्षितं दुर्निरीक्षितं शय्या शयनं तदर्थः संस्तारकः कम्बल्यादिखण्डम् अथवा शय्या वसतिः सर्वाङ्गीणशयनं वा संस्तारकश्च ततो लघुतर इति समाहारद्वन्द्वात् शय्यासंस्तारकः। आदिशब्दादप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारकमप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणभूमिमप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रश्रवणभूमिं चेति सम्यग् यथागमं चाननुपालनमवधावनभोजनाद्यौत्सुक्यादिनिराहारादिष्विति। सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वात् आहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापारपोषधानामेतस्मिन्निति पोषधे वर्जयतीति प्रकृतमिति। तदेवमियं पोषधप्रतिमा ग्रन्थान्तराभिप्रायेणाष्टम्यादिपर्वसु संपूर्णपोषधानुपालनारूपोत्कर्षतश्चतुर्मासप्रमाणा भवतीति गाथार्थः

अथ पञ्चमी ।

आहावरा पंचमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुइया वि भवति तस्स णं बहुइं सील जाव सम्मं पडिलेहिताइं भवात से णं चाउद्दसिं तहेव से णं एगराईयं उवासगपडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवति सेणं असिणाणविपडभोई मउलियकडे दिया बंभचारी रत्तिं परिमाणकडे से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं पंचमासे विहरेज्जा पंचमा उवासगपडिमा ॥

सव्वधम्मेत्यादि व्यक्तम् (असिणाणेत्ति) न स्नाति स्नानं न करोति (वियडभोईत्ति) प्रकाशभोजी न रात्रौ भुङ्क्ते अप्रकाशे वा यतो ये दोषाः पिपीलिकाद्युपघातरूपाः रात्रौ भवन्ति त एवान्धकारभोजने इति प्रवादः तेन प्रकाशभोजी भवति (मउलिकडेत्ति) परिधानवाससो वलद्वयकटीप्रदेशेनावलम्बयति । अग्रे पृष्ठे च उन्मुकककच्छो भवतीत्यर्थः यावन्मासपञ्चमं तत्परिसमाप्यते तावद्दिवा ब्रह्मचारी (से णमित्यादि) स इत्यनिर्दिष्टनामा एतद्रूपेण विहारेण प्रतिमाचरणरूपेण विचरन् एकाहमेकदिवसं वाशब्दः परापरभेदसूचकः द्व्यहं त्र्यहं उत्कर्षतो यावत्पञ्चमासास्तावद्विहरति तत्रैकाहं यदि अङ्गीकृत्य प्रतिकारं कुर्यात् असामर्थ्याद्वा अन्तराले एव त्यजेत् कोऽपि तत उक्तमेकाहं चेत्यादि इतरथा तु सम्पूर्णोऽपि भवति पूर्वोक्तः प्रतिमाचतुष्टयस्याचारोऽत्रापि द्रष्टव्यः दिवा रात्रौ च ब्रह्मचारी भवति एवमुत्तरत्रापि पूर्ववत् प्रतिमाचारोऽपि वाच्य इति पञ्चम्युपासकप्रतिमा । क्वचित् " अहासुत्तं" इत्यादि पाठस्तत्र(अहासुत्ता इति)सामान्यसूत्रानतिक्रमेण (अहाकप्पा इति) प्रतिमाकल्पानतिक्रमेण कल्पे वस्त्वनतिक्रमेण वा (अहामग्गो इति) ज्ञानादिमोक्षमार्गानतिक्रमेण क्षायोपशमिकभावानतिक्रमेण वा (अहातच्चा इति) यथा तत्वं तत्वानतिक्रमेण पञ्चमासिकी श्रावकप्रतिमा इति शब्दार्थानतिलङ्घनेनेत्यर्थः (अहा सम्मइति) समभावानतिक्रमेण (काएणंति) न मनोरथमात्रेण (फासेइत्ति) उचितकाले विधिना ग्रहणात् (पालेइत्ति) असकृदुपयोगेन प्रतिजागरणात् शोधयति वा अतिचारपङ्कप्रक्षालनात् (तीरेइ) पूर्णेऽपि तदवधौ तत्कृत्यपरिमाणपूरणात् (किट्टइत्ति) कीर्तयति पारणकदिने इदं चेदं चैतस्याः कृत्यं तच्च मया कृतमित्येव कीर्तनात्। (अणुपालेइत्ति) तत्समाप्तौ तदनुमोदनात् किमुक्तं भवतीत्याह आज्ञया आराधयतीति पञ्चम्युपासकप्रतिमा। दशा०६ अ० आ० चू० । (पंचमंति) पञ्चमीं प्रतिमां प्रतिमां कायोत्सर्गप्रतिमामित्यर्थः। स्वरूपं चास्याः " सम्माणुव्वयगुणवयसिक्खावयं वा थिरो य नाणी य । अट्ठमिचउद्दसीपडिमाए एगराईयं । (असिणाणवियरुभोई) अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः (मउलिकडो) मुकुकच्छ इत्यर्थः । दिवसबंभयारिय राइपरिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु झायपडिमाइठिओ तिलोयपुज्जे जियकसाये नियदोसपच्चणीयं अन्नं वा पच जामासा " उपा० १ अ०।

अथ प्रतिमाप्रतिमास्वरूपमाह ।

सम्ममणुव्वयगुणवय-सिक्खावयवं थिरो य णाणी य।
अट्ठमिचउद्दसीसुं, पडिमंठा एगरातीयं ॥ १७ ॥

सम्यक्त्वमणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतपदानि प्रतीतानि यस्य सन्ति स तद्वान् पूर्वोक्तप्रतिमाचतुष्कयुक्त इत्यर्थः। सोऽपि स्थिरोऽविचलसत्व इतरो हि तद्विराधको भवति यतः सा (पडिमा) रात्रौ चतुष्पदादौ च विधीयते तत्र चोपसर्गाः सम्भवन्तीति ज्ञानी च ज्ञाता प्रतिमाकल्पादेरज्ञानो हि सर्वत्राप्ययोग्यः किं पुनरस्यामिति चशब्दः समुच्चयार्थो ऽष्टमीचतुर्दश्योः प्रतीतयोः उपलक्षणत्वादस्य पोषधदिवसेष्विति इदय प्रमाणकायोत्सर्गं वा करोतीत्यर्थः । किं प्रमाणमित्याह । एका रात्रिः परिमाणमस्या इत्येकरात्रिकी सर्वरात्रिकी आस्ता प्रतिमाप्रतिमा भवतीति शेष इति गाथार्थः । शेषदिनेषु यादृशोऽसौ भवति तद्दर्शयितुमाह ।

असिणाणवियडभोई, मउलियमो दियसबंभयारी य।
रत्तिं परिमाणकडो, पडिमावज्जेसु दियहेसु ॥ १८ ॥

अस्नानो अविद्यमानस्नानः विकटे प्रकटे दिवसे न रात्राविति यावद् भोक्तुं शीलमस्येति विकटभोजी चतुर्विधाहाररात्रिभोजनवर्जकः । ततः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः। तथा मौलिकृतः अबद्धकच्छस्तथा दिवसे ब्रह्म चरतीत्येवंशीलो दिवसब्रह्मचारी चशब्दः समुच्चये तथा (रत्तिमिति) विभक्तिपरिणामाद्रात्रौ रजन्यां परिमाणकृतः मैथुनसेवन प्रति कृतस्त्रीतद्भोगपरिमाणःकदेत्याह प्रतिमावर्जेष्वपर्वस्वित्यर्थो दिवसेषु दिनेषूक्तव्याख्यानसंवादिनी चेयं गाथा यदुक्तम् " असिणाण वियडभोई, पगासभोइत्ति अ भणिय होई । दिवसेउ न त्ति होजे, मउलियकडो कच्छमविराध " कच्छानारोपयतीत्यर्थः । इति गाथार्थः।

अथ यत् कायोत्सर्गस्थितश्चिन्तयति तदाह ।

झायइ पडिमाएठिओ,तिलोगपुज्जे जिणे जियकसाए।
णियदोसपच्चणीयं, अन्नं वा पंचजा मासा ॥ १९ ॥

ध्यायति चिन्तयति प्रतिमायां कायोत्सर्गस्थितोऽवस्थितस्त्रिलोकपूज्यान् भुवनत्रयार्चनीयान् जिनानर्हतो जितकषायान्निराकृतक्रोधादिभावान् तथा निजदोषप्रत्यनीकं स्वकीयरागादिदूषणप्रतिपक्षं कामनिन्दादिकमन्यज्जनापेक्षयाऽपरम् । वाशब्दो विकल्पार्थः किंप्रमाणेयं पञ्चमी प्रतिमा स्यादित्याह पञ्च यावन्मासास्तेषोत्कर्षेण भवतीति गाथार्थः। उक्ता पञ्चमी। पञ्चा० १० विव०।

अथ षष्ठीं प्रतिमामाह ।

सव्वधम्म जाव सणं एगराईयं उवासगपडिमाणुपालेत्ता भवति से णं असिणाणए वियडभोई मउलियकडे दिया वा राओ वा बंभचारी सचित्ताहारे से परिण्णाते भवति से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे विहरेज्जा छट्ठा उवासगपडिमा ॥ ६ ॥

शेष म्यकं रात्रिभोजनादुपरतो भवति (रत्तो राततित) रात्रौ दिवा ब्रह्मचर्ययुक्तो भवति 'सचित्ताहारे इत्यादि' सचित्ता सचेतना जीवसहिता इति यावत् परिज्ञया आहारितः सन् कर्मबन्धकारणत्वेन पर प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्यात 'पताळूपेण' पूर्ववत् एवमुत्तरोत्तरप्रतिमासु मासा याव्या यथासंख्यं मासा इति षष्ठी । दशा० ६ अ० । आ० चू० । षष्ठी सचित्तपरिवर्जनप्रतिमा तत्स्वरूप चेदम् ।

पुव्वोइय गुणजुत्तो, विसेसओ विजियमोहणिज्जो य ।
वज्जइ अबंभमेगं-तओ उ रायं पि थिरचित्ते ॥ २० ॥

पूर्वोदितगुणयुक्तः प्रागुक्ता ये स्नानविकटभोजनादयः सम्यक्त्वव्रतसामायिकपौषधप्रतिमाख्या या ये गुणास्तैर्युक्तः पूर्वोदितगुणयुक्तत्वं च नास्यामेवापि तु सर्वासु व्रतादिप्रतिमासु द्रष्टव्य दशादिषु तथोक्तत्वात् विशेषतो विशेषेण पञ्चमप्रतिमापेक्षया विजितमोहनीयो निराकृतकामोदयमहामोहः समुच्चये श्रावक इति गम्यते किमित्याह वर्जयति परिहरति अब्रह्ममैथुनमेकान्ततस्तु सर्वथैव (राइ पिति) सर्वरजनीमप्यास्तां सर्वादिनं षष्ठप्रतिमास्थित इति शेष । अयमेव च पञ्चम्या षष्ठ्याश्च प्रतिमाया विशेष इति स्थिरचित्तोऽप्रकम्पमानसः सन्निति गाथार्थः

अथ स्थिरचित्तोपायानाह ।

सिंगारकहाविरओ, इत्थीए समं रहम्मि णो ठाइ ।
चयइ य अतिप्पसंगं, तहा विभूसं च उक्कोसं ॥ १२ ॥

शृङ्गारकथाविरत कामकथानिवृत्त । तथा स्त्रिया योषिता सम सह रहस्येकान्ते नो तिष्ठति नास्ते रह स्थानस्य चित्तविप्लुतिनिमित्तत्वाद्यतो लौकिका अप्याहु "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्राम ,पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति" तथा त्यजति वर्जयति चातिप्रसङ्गमतिपरिचयं स्त्रिया सममिति वर्तते यत "वशीकुर्वन्ति ये लोका मृगान् दर्शनतन्तुना । संसर्गवागुरामिस्ते ,स्त्रीव्याधा किम कुर्वते" तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः । विभूषां स्वशरीरसत्कारमलङ्काराङ्गरागादिभिश्च समुच्चये उत्कर्षामुत्कृष्टां त्यजतीति वर्तते उत्कर्षग्रहणाच्छरीरस्थितिमात्राद्युगां करोत्यपीति गाथार्थः ॥

इहैव कालमानमाह ॥

एवं जा छम्मासा, एसो हि गतो इहरहा दिट्ठं ।
जावज्जीवं पि इमं, वज्जइ एयम्मि लोगम्मि ॥ २२ ॥

एवमुक्तनीत्या शृङ्गारकथाविरमणादिलक्षणया (जा इति) यावत् षण्मासान् कालपरिमाणविशेषानुत्कर्षतो वर्जयत्यब्रह्मेति वर्तते एष श्रावकोऽधिकृतस्तु षष्ठप्रतिमाप्रतिपन्न एव । अवधारणफलमाह । इतरथाऽन्यथा षष्ठप्रतिमाप्रतिपन्नकादन्यत्रेत्यर्थः । दृष्टमवलोकितं किं तदित्याह । यावज्जीवमप्याजन्मापयास्तां षण्मासान् यावदिदमब्रह्म वर्जयति परिहरतीत्येनतद्दृष्टमित्याह । एतस्मिन् प्रत्यक्षलोके श्रावकलोक इति गाथार्थः । यत्कुर्वाणस्य षष्ठी भवति तदुक्तम् । पंचा० १० विव० । उपा० ।

अथ सप्तमीमुपासकप्रतिमामाह ।

सव्वधम्म जाव रातो व राइं बम्हयारी सचित्ताहारे परिण्णाते भवति आरंभे अपरिण्णाए भवति से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा सत्तमा उवासगपडिमा ।

अथापरा सप्तमी नवर परिज्ञातः प्रत्याख्यात आरम्भश्चापरिज्ञातो भवति करणकारापणानुमोदनात्रिविधेनापि करणेन । दशा० ६ अ० । आ० चू० ।

अथ यत्कुर्वत सप्तमी भवति तद्दर्शयन्नाह ।

सचित्तं आहारं, वज्जइ असणादियं णिरवसेसं ।
असणे चाउलोविग-चणगादी सव्वहा सम्मं ॥ २३ ॥

सचित्तं विद्यमानचैतन्यमाहार भोजनं वर्जयति परिहरते । अशनादिकमशनप्रभृतिक चतुर्भेद निरवशेषं सर्वं सप्तमप्रतिमास्थित इति शेष । तत्राशने आहारविशेषे विषयभूते तन्दुलोविकचणकादि प्रतीतमादिशब्दादमिलादिपरिग्रहः । कार्यं वर्जयतीत्याह । सर्वथा अपक्वदुष्पक्वौषध्यादिवर्जनत इत्यर्थः सम्यग्भावशुद्धेति गाथार्थः । तथा ।

पाणे आउकायं, सच्चित्तरससंजुअं तहण्णं पि ।
पंचोंवरिकक्कंभि-गाइ य तह खाइमे सव्वं ॥ २४ ॥

पाने पानकाहारे अप्कायमप्रासुकोदक सचित्तरससंयुत तत्कालपतितत्वेन सचेतनलवणादिरसोन्मिश्र तथेति समुच्चये अन्यदप्यप्कायादपरमपि काञ्जिकादिपानकाहार वर्जयति न केवलमप्कायमेवेति । तथा पञ्चानामुदुम्बराणामुदुम्बरसमानधर्माणा समाहार पञ्चोदुम्बरी सा च स्वरूपेण त्रसकायिकैश्च सचेतना भवतीति पञ्चोदुम्बरी च कर्कटिकाश्च चिर्भिटिका आदिर्यस्य खादिमस्य तत्तथा । च समुच्चये तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः स च गाथोत्तरार्द्धस्यादौ दृश्य खादिमे आहारविशेषे विषयभूते सर्वं समस्त सचित्त वर्जयतीति प्रकृतमिति गाथार्थः ।

दंतवणं तंबोलं, हरेडगादी य साइमे सेसं ।
सेसपयसमाउत्तो, जा मासा सत्त विहिपुव्वं ॥२५॥

दन्तधावन दशनकाष्ठ ताम्बूल प्रतीत हरीतक्यादि च पथ्याप्रभृति च स्वादिमे स्वादिमाहारविषये अशेषं सर्वं सचित्तं वर्जयतीति प्रकृतम् । किंभूत सन्नित्याह शेषपदसमायुक्तो दर्शनादिगुणयुक्तः कियन्त काल वर्जयतीत्याह यावन्मासान् कालविशेषान् सप्तोत्कृष्टतो विधिपूर्वकमागमिकन्यायपुरस्सरं न तु यदृच्छयेति गाथार्थः । उक्ता सप्तमीति । पंचा० १० विव० । उपा० ।

अथाष्टमीमुपासकप्रतिमामाह ।

अट्ठमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुई या वि भवति जाव दियाओ वा रायं बंभचारी सचित्ताहारे से परिण्णाए भवति आरंभे से परिण्णाए भवति पेस्सारंभा अपरिण्णाए भवति से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जाव एगाहं वा दुगाहं वा तिगाहं वा उक्कोसेणं अट्ठमास विहरेज्जा अट्ठमा उवासगपडिमा ॥

अष्टम्यां स्वयंकरणमाश्रित्यारम्भः परिज्ञातो भवति प्रेष्यारम्भोऽन्येषामादेशदानतः कारापणात्र निवृत्त इत्यष्टमी । दशा० ६ अ० । आ० चू० । अष्टमी स्वयमारम्भवर्जनप्रतिमा ।

अथ यथा वर्तमानस्याष्टमी भवति तथा दर्शयन्नाह ॥

वज्जइ सयमारंभं, सावज्जं कारवेइ पेसेहिं ।
पुव्वप्पओगओ च्चिय, वित्तिणिमित्तं सिढिलभावो ॥ २६ ॥

वर्जयति परिहरति स्वयमात्मना स्वयंकरणत इत्यर्थः । आरम्भं व्यापारं सावद्य सपापं कृष्यादिकमित्यर्थः । स्वयमिति वच-

नात् यदापन्न तदाह कारयति विधापयति प्रेष्यैरादेशकारिभिः। कथमित्याह। पूर्वप्रयोगत एव प्रवृत्तव्यापार एव नापूर्वव्यापारनियोजनत इत्यर्थः किमित्याह। वृत्तिनिमित्तं जीविकार्थम्। किंभूत' सन्नित्याह शिथिलभावः प्रेष्यप्रयोगतोऽप्यारम्भेष्वतीव्रपरिणाम इति गाथार्थः। नन्वारम्भेषु प्रेष्यप्रयोजने सति स्वयमप्रवर्तमानस्य को गुणो जीवघातस्य तदवस्थत्वादित्याशङ्कयाह॥

निग्घिणतेगंतेणं, एवं वि हु होइ चेव परिचत्ताए।
एद्दहमेत्तो वि इमो, वज्जिज्जंतो हियकरो उ। २७॥

निर्घृणता निर्दयता एकान्तेन सर्वथैव स्वयमारम्भेण कुर्वत' परैश्च कारयतो वा स्यात्सा एवमप्युक्तनीत्याऽपि स्वयं वर्जनमात्रलक्षणया आस्तामुभयवर्जनतः। हुशब्दोऽलंकारे भवति चैव स्यादेव परित्यक्ता परिहृता। नन्वात्मारम्भोऽप्येकत्वादात्मन परतस्तु बहुतम. परेषां च बहुत्वात्तत्र बहुतमारम्भाश्रयणेनाल्पतराम्भवर्जनं कं गुणं पुष्णातीत्याशङ्कयाह (एद्दहमेत्तो वित्ति) इयन्मात्रोऽपि स्वयंकरणमात्रत्वेनाल्पोऽप्यास्तां बहुतमः (इमोत्ति) अयमारम्भो वर्ज्यमानस्त्यज्यमानो हितकर. कल्याणकर एव महाव्याधेः स्तोकक्षयवदिति गाथार्थः।

कस्य कथमयं भवतीत्याह॥

भवंसाणा वीरिय-संफासणभावतो णिओगेण।
पुव्वोइयगुणजुत्तो, नावज्जति अट्ठ जा मासा २८॥

भव्यस्य योगस्य सत्वविशेषस्य आज्ञा चापूर्ववचनमष्टमप्रतिमायां स्वयमारम्भो वर्जनीय इत्येवरूपम् वीर्यं जीवसामर्थ्यं स्वयमारम्भपरित्यागविषयं तयोः संस्पर्शनमाराधनं तद्रूपो यो भावोऽध्यवसायस्तस्य वा यो भाव' सत्ता स तथा तस्मादाज्ञावीर्यसंस्पर्शनभावान्नियोगेन नियमेन हितकरो भवतीति पूर्वेण योग। अथ किंविध सन् कियन्त वा कालमष्टम्यां स्वयमारम्भ वर्जयतीत्याह। पूर्वोदितगुणयुक्त प्रागुक्तदर्शनादिगुणान्वितस्तावद्वर्जयति परिहरत्यष्टौ यावन्मासानुत्कृष्टत इति गाथार्थः। उक्ताऽष्टमी प्रतिमा पञ्चा० १० विव०। उपा०।

अथ नवमीमुपासकप्रतिमामाह।

अहावरा णवमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति जाव दिया वा राओ वा बंभचारी सचित्ताहारे से परिणाए भवति पेसमारंभे परिणाए भवति से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणेणं जाव एगाहं वा दुगाहं वा तिगाहं वा उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा नवमा उवासगपडिमा॥

नवम्यां तु कारणारम्भ प्रेष्यादिभ्य. स परिज्ञातो भवति उद्दिष्टभक्त तु न परिज्ञात भवति उद्दिष्ट नाम तदुद्देशेन यत्कृत तदुद्दिष्टमित्युच्यते इति नवमा। दशा० ६ अ०। आ० चू०। (नवमत्ति) नवमीं भृतक प्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा सा चेय "पेसेहिवि आरंभं, सावज्ज कवेरइ णो गरुय। पुव्वो इयगुणजुत्तो, नवमा सा जाव विहिणाओ" उपा० १ अ०।

यत्करणान्नवमी भवति तदाह॥

पेसेहि वि आरंभं, सावज्जं कारवेइ णो गुरुयं।
अत्थी संतुट्ठो वा, सो पुण होति विसेओ॥ २९॥

प्रेष्यैरपि कर्मकरैरप्यास्तां स्वयमारम्भ व्यापारं सावद्य सपाप कारयति विधापयति नो नैव गुरुकं महत्कृष्यादिकमित्यर्थ। अनेनासन्दापनादिव्यापाराणामतिलघूनामनिषेधमाह। इह नवमप्रतिमायामित्येष इश्यः एतद्वर्जनेन च कीदृश' समर्थो भवतीत्याह अर्थी अर्थवानीश्वर इत्यर्थ'। सन्तुष्टो वाऽनीश्वरोऽप्यतिसंतोषवान्। वाशब्दो विकल्पार्थः' एष प्रेष्यारम्भवर्जक। पुनः शब्दो विशेषणार्थस्तेन य' कश्चिदपि भवति स्याद्विज्ञेयो ज्ञातव्य इति गाथार्थः॥

णिक्खित्तभरो पायं, पुत्तादिसु अहव से सपरिवारे।
थोवममत्तो य तहा, सव्वत्थवि परिणओ नवरं॥३०॥

निक्षिप्तभरो न्यस्तकुटुम्बादिकार्यभार प्रायो बाहुल्येन पुत्रादिषु योग्यसुतभ्रातृप्रभृतिषु अथवेति विकल्पार्थे शेषपरिवारे पुत्रादिव्यतिरिक्तपरिजने कर्मकरादौ तथेति वाक्यान्तरत्वद्योतकोऽत्र द्रष्टव्यः स्तोकममत्वोऽल्पाभिष्वङ्गश्चशब्द. समुच्चये तथेति योजितमेव सर्वत्रापि सर्वस्मिन्नपि धनधान्यादिपरिग्रहे न तु कचिदेव अयं चैवंभूत उत्तानबुद्धिरपि स्यादत आह परिणतबुद्धिर्नवरं केवलमिति गाथार्थ।

लोगववहारविरओ, बहुसो संवेगभावियमई य।
पुव्वोदियगुणजुत्तो, णवमासा जाव विहिणा उ॥३१॥

लोकव्यवहारविरतो लोकयात्रानिवृत्तस्तथा बहुशो अनेकशः संवेगभावितमतिश्च मोक्षाभिलाषवासितबुद्धिस्तथा पूर्वोदितगुणयुक्तो दर्शनादिगुणान्वितो नव मासान् यावदुत्कर्षतो विधिना त्वागमविधानेनैवेति गाथार्थ पंचा० १० विव०। उपा०।

अथ दशमीमुपासकप्रतिमामाह।

अहावरा दसमा पडिमा सव्वधम्मरुईया वि भवति से णं खुरमुंडए वा सिहाधारए वा तस्स णं आभट्ठस्स वा समाभट्ठस्स कप्पति दु वि भासातो भासित्ताए जधा जाणं वा जाणं अजाणं वा अजाणं से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं उक्कोसेणं दस मास विहरेज्जा दसमा उवासगपडिमा॥

दशम्यां तु उद्दिष्टभक्तं तेन परिज्ञात भवति स च क्षुरमुण्डो वा शिखाधारको वा भवति यथा परिव्राजकाः शिखामात्रं धरन्ति तथाऽयमपीति तदा तं प्रति पुत्रादय' नन्मुक्तं किंचिद्वस्तु जानानाः पृच्छन्ति किं कृतं तद्वस्तु तदा तेन कथमुत्तरयितव्यास्तदेतदाह। (आभट्ठस्स) आ ईषत् "भट्ठस्सति" देशीवचनात् भाषितस्य प्रत्युत्तर देयात्तेन पृष्टस्य पुन. पुनर्वा भाषितस्य कल्पेते युज्येते द्वे भाषे भाषितु वक्तुमिति। तद्यथा यदि जानाति तदा वदति अह जानामि यतस्तेषामकथने अप्रीतिवशादात्मकृतादयोऽपि दोषाः शङ्कादयो वा दोषा यथा ते ज्ञास्यन्ति अनेनैव तद्भुक्तं यदि भक्ति येन सुख वक्षित तेन जानामीति वदति। अपरा तु यदि न जानाति तदा वदति नाह जानामि एते द्वे भाषितु कल्पेते इति दशमी प्रतिमा। दशा० ६ अ०।

दशमी उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा सा चैवम्।

उद्दिट्ठकडं भत्तं पि, वज्जती किमु य से समारंभं।
सो होइ उ खुरमुंडो, सिहलिं वा धारती कोइ॥ ३२॥

उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृत विहितमुद्दिष्टकृत तदर्थं संस्कृतमित्यर्थ उद्दिष्टमुद्देशस्तेन कृत विहितमुद्दिष्टकृत तदर्थं संस्कृतमित्यर्थ तत्कृतमपि भोजनमपि वर्जयति परिहरति किमुक्त भवति किं पुन' सुनरामित्यर्थ। शेष दुष्परिहार्यभक्तारम्भव्यतिरिक्तमारम्भं सावद्ययोग दशमप्रतिमायां वर्तमान' श्रावक इति शेष (सो होइत्ति) स पुनर्दशमप्रतिमावर्ती भवति स्यात् क्षुरमुण्ड' क्षुरमुण्डित'

शिखा. (सिहरिन्ति) शिखा तां वाशब्दो विकल्पार्थः धारयति नेनार्थे कश्चित्कोऽपीति गाथार्थः ।

जं णिहियमत्थजायं, पुट्ठो णियएहि णवर सो तत्थ ।
जइ जाणइ तो साहे, अह ण वि तो बेइ ण वि जाणे॥३३॥

यत्रिधत्त यन्निहितं भूम्यादावर्थजातं द्रव्यप्रकारः तद्दर्शीति शेषः । पृष्टः प्रश्नितो निजकैः स्वकीयैः पुत्रादिभिर्नवरं केवलं स श्रावक इति शेषस्तत्र दशमप्रतिमायां प्रश्ने वा यदि जानाति स्मरति (तो त्ति) तदा साधयति कथयत्यकथने वृत्तिच्छेदप्राप्तेः । अथ यदि न नैव जानातीति वर्तते (तो त्ति) तदा ब्रूते वाक्ये किं तदित्याह नापि नैव जाने स्मरामीति नान्यत् किमपि तस्य गृहकृत्यं कर्तुं कल्पत इति भाव इति गाथार्थः ।

जतिपज्जुवासणपरो, सुहुमपयत्थेसु णिच्चमेच्छिल्लो ।
पुव्वादियगुणजुत्तो, दस मासा कालमासेण ॥ ३४ ॥

यतिपर्युपासनापरः साधुसेवापरायणः सूक्ष्मपदार्थेषु निपुणमतिसमधिगम्य भावेषु जीवादिषु तेष्वेव लिप्सा लब्धुमिच्छा यस्य स नाऽऽलिप्सः स नित्यं नितान्तं तल्लिप्सो नित्यतल्लिप्सः । तथा पूर्वोदितगुणयुक्तो दर्शनादिप्रतिमानवकान्वित कियन्तं कालं यावदित्याह । दश मासान् यावत् कालमानेन कालप्रमाणापेक्षयेत्यर्थः । कालमासेनेति क्वचित् दृश्यते तत्र प्राकृतभाषापेक्षया मासशब्दस्य काष्ठधान्यसुवर्णादिषु वृत्तिदर्शनात्तद्व्यवच्छेदार्थमुच्यते कालमासेनेति गाथार्थः । उक्ता दशमी । पञ्चा० १० विव० । उपा० । आ० चू० ।

अथैकादशीं प्रतिमामाह ।

अहावरा एक्कारसमा उवासगपडिमा सव्वधम्म जाव उद्दिट्ठभत्ते से परिणाते भवति से ण खुरमुंडए वा लुत्तसिरए वा गहितायारभंडगनेवत्था जे इमे समणाण निग्गंथाणं धम्मे तं सम्मं काएणं फासेमाणे पालेमाणे पुरतो जुगमायाए पेहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पायं रीएज्जा वि तिरिच्छं वा पायं कट्टु रीएज्जा सति परक्कमे संजतामेव परक्कमे जाणो उज्जुयं गच्छेज्जा केवलं से णायाए पेम्मबंधणे अवोच्छिन्ने भवति एवं से कप्पति नायवीथिं तित्तए तत्थ से पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे कप्पति से चाउलोदणे पडिगाहित्तए णो से कप्पति भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए तत्थ णं से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे कप्पति से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए नो से कप्पति चाउलोदणे कप्पति तत्थ से पुव्वगमणे दो वि पुव्वाउत्ताइं कप्पति से दो वि पडिगाहित्तए तत्थ से पच्छागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं णो से कप्पति दो वि पडिगाहित्तए जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वउत्ते से से कप्पति पडिगाहित्तए जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते से से णो कप्पति पडिगाहित्तए तस्स णं गंधातिकुलं पिंडवातपडियाए अणुपविट्ठस्स कप्पति एवं व दित्तए समणोवासगस्स पडिमापडिवन्नस्स भिक्खं दलयह तं वेतारूवेण विहारेणं विहरमाणं केइ पासेत्ता वदेज्जा केइ आउसो तुमं वत्तव्वेसिया समणोवासए पडिवज्जित्तए अहमसीति वत्तव्वं सिया से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहन्नेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं एक्कारस मासे विहरेज्जा एक्कारस उवासगपडिमा ॥

अहावरेत्यादि व्यक्तं लुञ्चितशिरस्को लुञ्चितशिरोजो वा शिरसि जाताः शिरोजाः (गहियाइत्ति) गृहीतानि आचारपालनार्थं भाण्डकानि उपकरणानि पात्ररजोहरणमुखवस्त्रिकादीनि नेपथ्यं साधुवेषस्तथाप्रकारवस्त्रादिप्रावरणं ततो द्वन्द्वः तथा (जारिसेत्ति) यादृशः श्रमणानां निर्ग्रन्थानां बाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितानां धर्म्मः क्षान्त्यादिकः प्रज्ञप्त तादृशमिति अध्याहार्यं त धर्म्मं सम्यग् यथा भवति कायेन न तु मनोरथमात्रेण स्पर्शयन् पालयन् यथाचारं (पुरओत्ति) पुरतोऽग्रतो युगमात्रया शरीरप्रमाणया शकटौ द्विसंस्थितया दृष्ट्येति वाक्यशेषः प्रेक्षमाणः प्रकर्षेण पश्यन् भूभागं तत्र (दट्ठूणत्ति) दृष्ट्वा त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयस्तान् । प्राणान् धरन्तीति प्राणा जीवाः पतङ्गादयः तान् (उद्धट्टुंति) पादमुद्धृत्याग्रतलेन पादपातप्रदेशं वातिक्रम्य गच्छेत् एवं संहृत्य शरीराभिमुखमाक्षिप्य पादं विवक्षितपादपातप्रदेशादारत एव विन्यस्य उत्क्षिप्तवान् भागपार्ष्णिकया गच्छेत् तथा तिरश्चीनं वा पादं कृत्वा गच्छेत् । अथ चान्यमार्गाभावे विधिः । सति त्व यस्मिन् गमनमार्गे तेनैव पराक्रमेत गच्छेत् ऋजुनेत्येव सर्वे साध्वनुगमेन सर्वं तेन त्यक्तं केवलं (णायाए त्ति) ज्ञातीयं स्वजातिविषयं मातृपितृभ्रातृप्रभृतिविषयं प्रेमबन्धनमव्यच्छिन्नमत्रोटितं भवति एवमित्यादि एवमनन्तरवक्ष्यमाणप्रकारेण(से) तस्य प्रतिमधरस्य कल्पते युज्यते आहारग्रहकाले (नायवीथित्ति) ज्ञातयः स्वगोत्रजास्तेषां वीथी गृहपङ्क्तिस्तत्र प्राप्तः " एत्थणं " मित्यत्रान्तरे तस्य (पुव्वागमणेणंति) प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः आगमनात्पूर्वकालमथवा पूर्वं प्रतिमाधर आगतः पश्चादायका राद्धुं प्रवृत्ता इति पूर्वागमनेन हेतुना पूर्वायुक्तस्तन्दुलोदनः कल्पते उपलक्षणं चैतत् सर्वोदनानाम् । (पच्छाउत्ते भिलंगसूवे त्ति) पश्चादायुक्तो भिलिङ्गसूपो न कल्पते तत्र पूर्वायुक्तः प्रतिमाधरागमने पूर्वमेव स्वार्थं गृहस्थैः पक्तुमारब्धः प्रतिमाधरे वा गते यः पक्तुमारब्धः स पश्चादायुक्तः स च न कल्पते उद्गमादिदोषसंभवात् पूर्वायुक्तस्तु कल्पते तदभावात् । भिलिङ्गसूपो मसूरादिदालिः शेषं कण्ठ्यम् । " तस्स णमिति " वाक्यालंकारे गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टस्य न कल्पते युज्यते एवं वक्तुं किं तदित्याह 'समणोवासगस्सेत्यादि' श्रमणोपासकस्य प्रतिमाप्रतिपन्नस्य भिक्षां दद्ध्वं न पुनर्यथा साधवो गत्वा धर्म्मलाभमिति वदन्ति तथा स वदति एनां च प्रतिमां प्रतिपन्नस्य भिक्षां दद्ध्वमित्यपि न वदति अतो वस्तुतः प्रतिमां विना न भिक्षामार्गणमुचितं सूत्ररीत्येति 'त चेत्यादि' त च श्रमणोपासकं प्रतिपन्नमेतद्रूपेण विहारेण विचरन्तं दृष्ट्वा कश्चिन्निर्दिश्य वदेत् केयं त्वं इति किमाचारप्रतिपन्न आयुष्मन्नित्यामन्त्रणवचनं त्वमिति भवान् वक्तव्यः स्यात् तदा स वदति 'समणोवासए इत्यादि' व्यक्तम् । निर्वचनवाक्यमत्रापि पञ्चमप्रतिमाधिकारोक्तानि पदानि " सम्मं काएण फासत्ति " इत्यादीनि व्याख्यानि शेषं

पाठसिद्धम् । इत्येकादशोपासकप्रतिमा षष्ठमध्ययनं च समाप्तम् । दशा० ६ अ० । आ० चू० ।

एकादशी श्रमणभूतप्रतिमा तत्स्वरूपं चैतत् ।

खुरमुंडो लोएण व, रयहरणं उग्गहं व घेत्तूण ।

समणब्भूओ विहरइ, धम्मं काएण फासंतो ॥ ३५ ॥

क्षुरेण क्षुरेण मुण्डो मुण्डितः क्षुरमुण्डो लोचेन वा हस्तलुञ्चनेन वा मुण्डः सन् रजोहरणं पादप्रोञ्छनमवग्रहं च पतद्ग्रहं चोपलक्षणं चैतत्साधूपकरणस्य सर्वस्य गृहीत्वाऽऽदाय श्रमणभूत साधुकल्पः सकलसाधुसमाचारासेवनेन विहरति गृहान्निर्गत्य ग्रामादिषु विचरति साधुवत् धर्मं चारित्रधर्मं समितिगुप्त्यादिकं कायेन देहेन न मनोमात्रेण स्पृशन् पालयन्नेकादश्यां प्रतिमायामिति शेष इति गाथार्थः ।

ममकारेऽवोच्छिन्ने, वच्चति सन्नायपल्लि दहुं जे ।

तत्थ वि जहेव साहू, गेण्हति फासुंतु आहारं ॥ ३६ ॥

ममेत्यस्य करणं ममकारस्तत्राव्यवच्छिन्ने अनपगते सत्यनेन स्वजनदर्शनार्थित्वकरणमुक्तं सज्ञाता स्वज्ञातयस्तेषां पल्ली संनिवेशस्तां सज्ञातपल्लीं द्रष्टुं दर्शनाय सज्ञातानीति गम्यते जे इति पादपूरणे निपातः । तत्रापि सज्ञातपल्लीव्रजनेऽप्यास्तामन्यत्र यथैव यद्वदेव साधुः संयतस्तथैवेति शेषः गृह्णात्यादत्ते प्रासुकं तु प्रगतासुकमेवाचेतनमेवोपलक्षणत्वाच्चास्यैषणीय आहारमशनादिकमिति सज्ञातपल्लिग्रहणेन चेदं दर्शयति प्रेमाव्यवच्छेदात्तत्र गमनेऽपि तस्य न दोषस्तथा ज्ञातयः स्नेहादनैषणीयं भक्तादि कुर्वन्त्याग्रहकरणेन च तद्ग्राहयितुमिच्छन्त्यनुवर्तनीयाश्च ते प्रायो भवन्तीति तद्ग्रहणं समाव्यते तथापि तदसौ न गृह्णातीति गाथार्थः । सज्ञातपल्लीगमन एव तस्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ॥

पुव्वाउत्तं कप्पति, पच्छाउत्तं तु ण खलु एयस्स ।

ओदणभिलिंगसूपा- दिसव्वमाहारजायं तु ॥ ३७ ॥

पूर्वं तदागमनकालात् प्राक् आयुक्तं रन्धनस्थाल्यादौ प्रक्षिप्तं पूर्वायुक्तं स्वार्थमेव राद्धुमारब्धमित्यर्थः । कल्पते ग्रहणयोग्यं भवति पश्चादायुक्तं तु तदागमनकालादनन्तरमायुक्तं पुनर्न खलु नैव एतस्यैकादशप्रतिमास्थश्रावकस्य कल्पत इति वर्तते । गृहस्थानामधिकृतश्रावकार्थमधिकतरौदनादिकरणसंकल्पसंभवात्किं तदित्याह । ओदनश्च कूर भिलिङ्गसूपश्च मसूराख्यद्विदलधान्यमाषविशेष आदिर्यस्य तत्तथा तत्सर्वमपि निरवशेषमप्याहारजातमभ्यवहार्यसामान्यं तुशब्दोऽपिशब्दार्थस्तस्य च प्रयोगो दर्शित एवेति गाथार्थः ॥

अथैतस्याः कालमानमाह ॥

एवं उक्कोसेणं, एक्कारस मास जाव विहरेइ ।

एगाहा पियरेणं, एवं सव्वत्थ पाएणं ॥ ३८ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण क्षुरमुण्डादिना एकादश मासान् यावद्विहरति मासकल्पादिना विहारेण एकाहादि एकाहोरात्रप्रभृति आदिशब्दात् द्व्यहत्र्यहादि यावद्विहरतीति प्रकृतम् । इतरेण जघन्येनेत्यर्थः । इह च पूर्वं प्रतिमासु जघन्य कालमान नोक्तमतस्तदतिदेशत आह । एवमनेनैव प्रकारेण जघन्यमानमेकाहादीत्यर्थः । एतच्च मरणे वा प्रव्रजितत्वे वा सति संभवति नान्यथा सर्वत्र सर्वप्रतिमासु प्रायेण बाहुल्येन प्रायोग्रहणादन्तर्मुहूर्तादिसद्भावो दर्शित इति गाथार्थः । इह चोत्तरासु षट्स्वावश्यकचूर्ण्यां प्रकारान्तरमपि दृश्यते । तथाहि रात्रिभक्तपरिज्ञा पश्चमी, सचित्ताहारपरिज्ञा इति षष्ठी, दिया बंभचारी राओ परिमाणकडेत्ति सप्तमी, दिया वि राओ वि बम्भयारी असिणाणए वोसठकेसमंसुरोमनहेत्ति अष्टमी, सारंभपरिण्णाए त्ति नवमी, पेस्सारम्भपरिण्णाए त्ति दशमी, उद्दिट्ठभत्तविवज्जए समणभूएत्ति एकादशीति । तदेव प्रतिमानुष्ठानमुपासकस्य । पंचा० १० विव० । 'एक्कारसहिं उवासगपडिमाहिं' उपासकाः श्रावकास्तेषां प्रतिमाः प्रतिज्ञादर्शनादिगुणयुक्ताः कार्य्या इत्यर्थः । आव० ४ अ० । ग० । एकादशोपासकानां श्रावकाणां प्रतिमाः प्रतिपत्तिविशेषाः दर्शनव्रतसामायिकादिविषयाः प्रतिपाद्यन्ते यत्र तत्तथैवोच्यते इति । आचारदशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था० १० ठा० । प्रथमायां श्राद्धप्रतिमायां दर्शनिद्विजादिभिक्षुकाणामन्नादि दातुं कल्पते न वा ॥१॥ तथा कुलगुरुसम्बन्धेन समागतानां दर्शन्यादीनामपि ॥ २ ॥ अन्यच्च नवमप्रतिमादिषु देशावकाशिकं कर्त्तुं युज्यते न वा ॥३॥ तथा कश्चिल्लिखितविधौ दशमप्रतिमायां कर्पूरवासादिभिर्जिनानां पूजा कर्त्तव्येति लिखितमस्ति तद्विषये कियतीः प्रतिमा यावच्चन्दनपुष्पादिभिः पूजा कियतीषु च कर्पूरवासादिभिः कस्यां च नेति ॥४॥ (उत्तरम्) प्रथमश्राद्धप्रतिमायां दर्शनिद्विजादिभ्योऽनुकम्पादिना अन्नादि दातुं कल्पते न तु गुरुबुद्ध्येति तत्त्वम् ॥ १ ॥ एवं कुलगुरुतादिसम्बन्धेनागतानां लिङ्गिनां दातुं कल्पते ॥ २ ॥ नवमप्रतिमादिषु देशावकाशिकस्याकरणमेव प्रतिभाति ॥ ३ ॥ तथा प्रतिमाधरश्रावकाणां सप्तमप्रतिमा यावच्चन्दनपुष्पादिभिरर्हदर्चनमौचित्यमञ्चति । लिखितविस्तरापाञ्जिकाभिप्रायेण नत्वष्टम्यादिषु । कर्पूरादिपूजा तु अष्टम्यादिष्वपि नानुचितेति ज्ञायते तेषां निरवद्यत्वादिति । अक्षराणि तु ग्रन्थस्थाने नोपलभ्यन्ते इति । एकादश्या च साधुवदेवेति बोध्यम् । ४ ॥ ही० ।

उवासण—उपासन—न० उपास्यन्ते भृशं क्षिप्यन्ते शरा यत्र उप- अस्-विक्षेपे, आधारे-ल्युट् । शरक्षेपशिक्षार्थे शराभ्यासे, अमरः । उप-आस्-भावे-ल्युट् चिन्तने, मनने, वाच० । सेवने, प्र० २ अधि० । त च परिव्वायगो बहूहिं उवासणेहिं सव्व नि० चू० । १उ० । "सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं" सूत्र०१श्रु०९अ० ।

उवासणा—उपासना—स्त्री० श्मश्रुकर्त्तनादिरूपे नापितकर्मणि, तच्च ऋषभदेवकाले एव जातं पूर्वमनवस्थितनखरोमानस्तथा कालमहात्म्यतः प्राणिनोऽभवन्निति किञ्च भगवत्काल एव नखरोमाद्यवतिरेकेण प्रवर्द्धितुं लग्नानि न पूर्वमिति । गुर्वादीनां पर्युपासनायाम्, आ० म० प्र० । तदुक्तं निर्युक्तिकृता "उवासणा पज्जुवासणाणाम सुकम्ममाईया गुरुरायाईण वा उवासणा पज्जुवासणया" । आ० म० प्र० । आ. चू. (उवसहशब्दे स्पष्टीभविष्यत्येतत्)

उवासमाण—उपासीन—त्रि० उपासनं विदधाने, स्था० ६ ठा० ।

उवासीय—उपोषितवत्—त्रि० कृतोपवासे, "नवकिरचाउम्मासे, छक्किर दो मासिए उवासीय" आ० म० द्वि० ।

उवाह—अवगाह—धा०-भ्वा०-आत्म० प० । अवगाहने, अवात् गाहेर्वाहः ८ । ४ । ४ । अवात्परस्य गाहेर्वाह इत्यादेशो वा । उवाहइ उगाहइ अवगाहते । प्रा० ।

उवाहण—उपानह—स्त्री० उप-नह-क्विप्-उपसर्गदीर्घः । चर्मपादुकायाम् । "छत्तोवाहणसंजुत्ते, धाउरत्तवत्थपरिहिए" भ० २ श० १ उ० "अणुवाहणाय समणा मज्झे नउवाहणा हु तु" आव० १ अ० । अनुपानत्काश्च श्रमणाः मम चोपानहौ भवत इति । आ० म० प्र० ।

उवाहि—उपाधि—पुं० उपाधीयते इति उपाधिर्वर्ण्यते हिरण्या-

धौ जायतोऽयमकारे कर्मणि, उपाधीयते व्यपदिश्यते येनेत्युपाधिः । आचा० १ श्रु० ३ अ० । कर्मजनिते विशेषणे, ।

किमत्थि उवाही पासगस्स णत्थि विज्जइ णत्थि त्ति बेमि

किं प्रश्ने अस्ति विद्यते कोऽसावुपाधिः कर्म्मजनितं विशेषणं तद्यथा नारकस्तिर्यग्योनिः सुखी दुःखी सुभगो दुर्भग पर्याप्तकोऽपर्याप्तक इत्यादि आहोश्वित् विद्यते इति परमतमाशङ्क्य स कथु' पश्य कस्य सम्यग्वादादिकमर्थं पूर्वापरं पश्यतीति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य कर्म्मजनितोपाधिर्न इत्येतदनुसारेणाहमपि ब्रवीमि न स्वमनीषिकयेति आचा० १श्रु०४अ०४उ० । उपाख्यानमुपाधिः । सन्निधौ, भ० १ श० १ उ० । अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यथाप्रकाशनरूपे कपटे, उपाधीयते स्वधर्म्मोऽनेन करणे-घा-कि' । स्वसामीप्याविनाऽन्यस्मिन् स्वधर्मारोपसाधने विशेषणभेदे, उपलक्षणरूप विशेषणे च । कुटुम्बव्यापृते, उपाधीयते भाम समीपे कर्मणि के । उपनामनि, यथा भट्टाचार्यमिश्रादयः। उपाधीयते मनोऽत्र आधारे कि । धर्मचिन्तायाम्, व्यभिचारोन्नायके न्यायमतसिद्धे पदार्थभेदे च । उपाधि' साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापक' । वाच० ॥

उवाहिसुद्ध–उपाधिशुद्ध– आर्य्यदेशसमुत्पन्नादिविशेषणशुद्धे, " ता धन्नाणं गीओ, उवाहिसुद्धाण देह पव्वज्जं " पं० व० ॥

उविइत्ता–अवनश्य– अव्य० विच्छिद्येत्यर्थे, " आयतियं २ संतो पलिमद्दगस्स उविइत्ता दलएज्जा " व्य० १ उ० ॥

उविंद–उपेन्द्र–पुं० उपगत इन्द्रम् कृष्णे, अत्या. समा० सुस्निग्धो विषयाकृता नेन्द्रोपेन्द्रादयो रह' । उपेन्द्रः कृष्णः । आ० । " राजाऽधिराजस्तत्रासीदुपेन्द्रोऽपीन्द्रवद् भुवि । सदा नव सुमनसां, चित्रमोदमवस्तयत् " आव० १ अ० । तत्रेति द्वारवत्याम् ।

उविंदवज्जा–उपेन्द्रवज्रा– स्त्री० " उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ" इति वृ० र० उक्ते एकादशाक्षरपादके छन्दोभेदे, । अस्याश्च इन्द्रवज्रया संमेलने उपजातिर्भवति । वाच० ॥

उविक्खेव–उद्विक्षेप–पुं० वालोत्पाटने, मुण्डनमिति लोकोक्तिप्रसिद्धेऽर्थे, तं० ॥

उवियग्ग–उद्विग्न– त्रि० उद्वेगवति , स्था० ४ ठा० ।

उ(ओ)वील–अपवीड–न० शेखरे, वि० ६ अ० । अवपीडनं परेषामित्यवपीड' । अष्टादशे गौणादत्तादाने, प्रश्न०१ श्रु० ३ अ० ॥

उवीलण–अवपीडन– न० निष्पीडने, विपा० ७ अ० ।

उवीला–उपपीडा–स्त्री० वेदनायाम्, "अप्पेते उवीलं दलेंति" अवपीडं शेखरं मस्तके तस्यारोपण व उपपीडांवा वेदनां दलयन्ति विपा० ६ अ० ।

उवीलेमाण– (उप) अवपीडयत्– त्रि० वेदनामुत्पादयति, " उवीलेमाणे विधम्ममाणे तज्जमाणे " विपा० ३ अ० ।

उवूहेत्ता–अनुबृंहयितृ– त्रि० परेण स्वस्य क्रियमाणस्य पुजादेरनुमोदयितरि, तत्कार्ये हर्षकारिणि, "पूयासक्कारमए उवूहेत्ता भवइ " स्था० ७ ठा० ।

उवेच्च–उपेत्य–अव्य० उप-इ- ल्यप् । प्राप्येत्यर्थे, " उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ॥

उवेय–उपेत– त्रि० उप-इण-क्त । उपगते, समीपगते, सेवाविधर्मेण प्राप्ते, वाच० । युक्ते, स० । सथा० । पंचू० । आव० । " पसत्थफलसेविय " उत्त० ७ अ० । ज्ञि० । समन्विते च । न० ।

उवेय– त्रि० उप-इण्-यत् । उपायसाध्ये प्राप्तव्ये उपगम्ये, अभिव्यगम्ये च । वाच० । उपेयाभावे उपायासिद्धिः विशे० । स्था० ।

उवेल्ल–प्र-सृ– धा० प्रसरणे, "प्रसरे पयल्लोवेल्लौ" ८ । ४ । ७७ । इति प्रसरतेरुवेल्लादेश' उव्वेल्लइ प्रा० ॥

उवेहमाण–उपेक्षमाण– त्रि० अवगच्छति, " अणुहारोगमुवेहमाणे इति कम्म परिन्नाय सव्वसो से ण हिंसति " आचा० । १ श्रु० ४ अ० । अकुर्वति, आचा० १ श्रु० ३ अ० । अपर्य्यालोचयति, " उवेहाए उवेहमाणे अणुवुहमाणं बूया उवेहाहि समियाए भवति " आगमपरिकर्मितमतित्वाधथावस्थितपदार्थस्वभावदर्शितया सम्यगसम्यगिति ह्युत्प्रेक्षमाणं पर्य्यालोचयन्परसुत्प्रेक्षमाण गड्डरिकायूथप्रवाहप्रवृत्तं वा गतानुगतिकन्यायानुसारिण शङ्कया वा प्रभावन्तं ब्रूयाद्यथोत्प्रेक्षस्व पर्य्यालोचय सम्यग्भावेन माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमेतदर्हदुक्तं जीवादितत्व घटामियर्त्याहोश्विन्नेत्यक्षिणी निमील्य चिन्तयेति भावः । यदि चोत्प्रेक्षमाण संयममुत्प्रावल्येनेक्षमाण' सयमे उद्यच्छतु प्रेक्षमाणं ब्रूयाद्यथा सम्यग्भावापन्न' सयममुत्प्रेक्षस्व सयमे उद्योग कुरु । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । "उवेहमाणे कुसलेहिं सवसे" उपेक्षमाण परीषहोपसर्गान् सहमान इष्टानिष्टविषये चोपेक्षमाणो माध्यस्थ्यमवलम्बमानः कुशलैर्गीतार्थैः सह संवसेत् आचा० २ श्रु० । उदासीने, उवेहमाणा णाइक्कमई" ॥ उपेक्षमाणा इति उपेक्षा द्विविधा व्यापारोपेक्षा अव्यापारोपेक्षा च । तत्र व्यापारोपेक्षया तमुपेक्षमाणास्तद्विषयायां छेदनबन्दनादिकार्यां समयप्रसिद्धक्रियायां व्याप्रियमाणा इत्यर्थः । अव्यापारोपेक्षया च मृतकस्वजनादिभिस्त्वं सत्क्रियमाणमुपेक्षमाणास्तत्रोदासीना इत्यर्थ. स्था० ६ ठा० ।

उवेहा–उपेक्षा–स्त्री० उप-ईक्ष-अ अवधीरणे, माध्यस्थ्ये. षो० ४ विव० । दश० । आरोपणे, अष्ट० । विशेषणे, षो० १३ विव० । परदोषोपेक्षणमुपेक्षा परेषां दोषा अविनयादय. प्रतिकर्तुमशक्यास्तेषामुपेक्षाऽवधीरणमुपेक्षा । सम्भवत्प्रतीकारेषु दोषेषु, नोपेक्षा विधेया षो० ४ विव० । " उवेहेणं वहिया य लोयं " (उवेहेति) योऽयमनन्तर प्रतिपादितः पाषण्डिलोकः एनं धर्माद्वहिर्व्यवस्थितमुपेक्षस्व तदनुष्ठानं मानुमंस्था । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तदुपदेशमभिगमनपर्युपासनदानसंस्तवनादिक च मा कृथा इति आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । (य' पापण्डिलोकोपेक्षकः स कं गुणमवाप्नुयादिति सम्मत्तशब्दे वक्ष्यते सति कलहे उपेक्षा कर्त्तव्येत्यहिगरण शब्दे उक्तम्)

उवेहाअसंजम–उपेक्षाऽसंयम–पु०असयमयोगेषु व्यापारणरूपे सयमयोगेष्वव्यापारणलक्षणे वाऽसयमभेदे, स० ।

उवेहाए–उपेक्ष्य-अव्य०उप-ईक्ष-ल्यप्-पर्य्यालोच्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञात्वेत्यर्थे, "लोगविप्तं च णं उवेहाए" उपेक्ष्य ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

उवेहासंजम–उपेक्षासंयम–पु० संयमभेदे, इदानीमुपेक्षासंयम उच्यते सा चोपेक्षा द्विविधा कथ यतिव्यापारोपेक्षा गृहस्थव्यापारोपेक्षा च । तत्र यथासंख्यं चोदनाचोदनविषया । सयतस्य चोदनविषया व्यापारोपेक्षा । एतदुक्तं भवति साधु विषीदन्तं दृष्ट्वा सयमव्यापारेषु चोदयत. सयमव्यापारोपेक्षा ईक्ष दर्शने उप समीपेन ईक्षा उपेक्षा । गृहस्थस्य च व्यापारो-

पेक्षा गृहस्थ मधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं दृष्ट्वा अधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्त चोदयतः गृहस्थव्यापारोपेक्षा उच्यते । उपेक्षाशब्दश्चात्र अवधारणायां वर्तते । ओ० । सू० ।

उव्वक्क–उत्पक्क–पु० क्षीरादिमध्ये प्रक्षिप्य कियत्कालं धृत्वा ततो निष्काश्यते "उसिणोदगखीरउव्वक्को" व्य० १ उ० ।

उव्वट्टत–उद्वर्तयत्–त्रि० उद्वर्तनं कुर्वति. "उव्वोलंतं उव्वट्टंतं वा साइज्जइ" नि० चू० १६ उ० ।

उव्वट्टण–उद्वर्तन–न० उद्–वृत्–भावे–ल्युट् । चालने, "उव्वट्टणे समत्थेह समए भा वि । सू० २ उ० । सुरभिचूर्णादिना (ग० ३ अधि०) कल्कलोध्रादिना (बृ० १ उ०) पिष्टिकादिना वा मलोत्तारणे, तं० । (साधूनामुद्वर्तननिषेधोऽणायारशब्दे उक्तः) उद्वर्तने प्रमादाचरितं तथा । उद्वर्तने सत्तचूर्णादिना उद्वर्तनिकाश्च न भस्मनि निक्षिप्तास्ततस्ताः कीटिकाकुलाः श्वादिभिर्भक्ष्यन्ते पादैर्वा मृद्यन्ते ध० २ अधि० । अभ्यङ्गे. स्नेहाद्यपहारार्थे व्यापारे च । उद्वर्त्यतेऽनेन, उद्–वृत्–णिच् करणे ल्युट् । शरीरनिर्मलीकरणद्रव्यादौ, वाच० । ज्ञा० । कर्मपरमाणूनां ह्रस्वस्थितिकालतामपगमय्य दीर्घस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं० । अङ्गोद्देशस्योपकरणेन परिवर्तने, ज्ञा० अ० २ वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तने च । आव० ४ अ० ।

उव्वट्टणा–उद्वर्तना–स्त्री० उद्वर्तनमेवोद्वर्तना । तत्प्रथमतया वामपार्श्वेन सुप्तस्य दक्षिणपार्श्वेन वर्तने, "इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए निगामसिज्जाए उव्वट्टणाए परियट्टणाए" आव० ४ अ० । उद्वर्त्येते प्राबल्येन प्रभूतीक्रियेते स्थित्यनुभागौ यया वीर्यविशेषपरिणत्या असौ उद्वर्तना । पं० सं० । उद्वर्त्येते प्राबल्येन प्रभूतीक्रियेते स्थित्यादि यया जीववीर्यविशेषपरिणत्या सा उद्वर्तना स्थित्यनुभागयोर्बृहत्करणरूपे तृतीये करणे, क० प्र० । विशे० । अथ स्थित्यनुभागविषया उद्वर्तना व्याख्यायते ।

> उदयावलिबज्झाणं, ठिईण उव्वट्टणा उ ठिइविसया ।
> सोक्कोस अबाहाओ, जा वावलि होई अतित्थवणा ॥

उद्वर्तना स्थितिविषया भवति । उदयावलिकाबाह्यानां स्थितीनामुदयावलिकाऽखिलकरणायोग्येति न तस्यां स्थितीनां प्रतिषेधः किं सर्वासामप्युदयावलिकाबाह्यानां स्थितीनामुद्वर्तना नेत्याह । स्वोत्कृष्टया अबाधायाः स्थितयस्तासामुद्वर्तना एषा स्वोत्कृष्टा अबाधाप्रमाणा उत्कृष्टा अतिस्थापना । अतिस्थापना नाम उल्लङ्घना तदा अतिह्रस्वा ह्रस्वतरा अतिस्थापना तावद् यावज्जघन्या अबाधा ततोऽपि जघन्या ह्यतिस्थापना भवति । आवलिका आवलिकाप्रमाणा इयमत्र भावना वक्ष्यमाणप्रकृतयां वती अबाधा तया तुल्या अबाधादीनां वा पूर्वबद्धप्रकृतीनां या स्थितिः सा नोद्वर्तते सा तत्पद्यत तत स्थानादूर्ध्वं वक्ष्यमाणप्रकृतेरबाधाया उपरितने क्षिप्यते अबाधाकालान्तः प्रविष्टत्वात् यासु पुनरबाधाया उपरितनी सा स्थितिः पर्यन्तमुद्वर्त्यते तदेवमबाधान्तः प्रविष्टाः सर्वा अपि स्थितय उद्वर्त्यं उद्वर्तनामधिकृत्य अतिक्रमणीया भवन्ति तथा वस्तौ यैवोत्कृष्टा अबाधा स्थिता सैव उत्कृष्टा प्रतिस्थापना समयोना उत्कृष्टा अबाधासमयोना उत्कृष्टा अतिस्थापना द्विसमयोना उत्कृष्टा अबाधा द्विसमयोना उत्कृष्टा अतिस्थापना । एवं समयसमयादन्या अतिस्थापना तावद्वक्तव्या यावज्जघन्या अबाधा अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा ततोऽपि जघन्यतरा अतिस्थापना आवलिकामात्रं तच्च उदयावलिकालक्षणमवसेयं न ह्युदयावलिकान्तर्गता स्थितय उद्वर्तिता "उव्वट्टणाठिइए उदयावलियाए बाहिरं ठिईण" मिति वचनात् । ननु यदा बन्धे सत्युद्वर्तनां प्रवर्तिष्यते "अबाधा उव्वट्टइ" इति वचनात् तत उदयावलिकागताः स्थितयोऽबाधान्तर्गतत्वेन नोद्वर्तिष्यन्ते किमुदयावलिकाप्रतिषेधेन तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् अबाधान्तर्गताः स्थितयो नोद्वर्तन्ते इति । किमुक्तं भवति अबाधान्तर्गताः स्थितयः स्वस्थानादुत्पाद्य अबाधायामध्ये पुनस्तासां वक्ष्यमाणक्रमेणोद्वर्तनानिक्षेपौ प्रवर्तमानौ न विरुध्येते तत उदयावलिकान्तर्गता अपि उद्वर्तनामाप्नुवन्तीति प्रतिपिध्यन्ते ।

संप्रति निक्षेपप्ररूपणार्थमाह ।

> इच्छियठिइठाणाओ, आवलियं लंघिऊण तद्दलियं ।
> सव्वेसु वि निक्खिप्पइ, ठिइठाणेसु उवरिमेसु ॥

ईप्सितस्थितिस्थानात् यतः स्थितिस्थानमुद्वर्तते तत ऊर्ध्वमित्यर्थः । आवलिकां लङ्घयित्वा अतिक्रम्य तद्दलिकमुद्वर्त्यमानस्थितिदलिकं सर्वेष्वपि उपरितनेषु स्थितिस्थानेषु निक्षिप्यते एष निक्षेपविधिः । संप्रति निक्षेपविषयप्रमाणनिरूपणार्थमाह ।

> आवलिय असंखभागाइ, जाव कम्मट्ठिइ त्ति निक्खेवो ।
> सम उत्तराणियाए, साबाहाए भवे ऊणो ॥

इह निक्षेपविषयो द्विधा जघन्य उत्कृष्टश्च । तत्रावलिकाया असंख्येयभागमात्रासु स्थितिषु यः कर्मदलिकनिक्षेपः स जघन्यस्तथा हि सर्वोत्कृष्टात् स्थित्यग्रादध आवलिकाऽऽवलिकाया असंख्येयं च भागं भवतीत्यधस्तनीया स्थितिस्तस्या दलिकमतिस्थापनावलिकामात्रमतिक्रम्योपरितनाधिकाया असंख्येयभागभाविनीषु निक्षिप्यते नावलिकाया मध्येऽपि तथा स्वाभाव्यात् ततोऽसावेतावान् जघन्ये दलिके निक्षेपविषयः । एवं सति आवलिकाया असंख्येयतमे भागे नाधिकासु आवलिकामात्रासु स्थितिषु उद्वर्तनं भवतीति सिद्धम् । तथा च सत्युत्कृष्टस्थितिबन्धे उद्वर्तनायोग्याः स्थितयो बन्धावलिकामबाधामुपरितनीं चावलिकामसंख्येयभागाधिकां मुक्त्वा शेषा एव द्रष्टव्या । तथा हि बन्धावलिकान्तर्गत सकलकरणयोग्यमिति कृत्वा बन्धावलिकान्तर्गताः स्थितयो नोद्वर्तन्ते अबाधान्तर्गता अपि नोद्वर्तनायोग्यास्तासामतिस्थापनात्वेन प्राक् प्रतिपादितत्वात् संख्येयभागाधिकमात्रभाविन्यश्च उपरितन्यः स्थितयः प्रागुक्ता युक्तेरेव नोद्वर्तनायोग्या संप्रत्युत्कृष्टो निक्षेपविषयश्चिन्त्यते 'आयकरमट्ठि' इत्यादि । इयमत्र भावना यदा आवलिकावलिका संख्येयभागमध्यवर्तिनी स्थितिया अधस्तनी स्थितिरुद्वर्त्यते तदा समयाधिकावलिकाया असंख्येयभागो निक्षेपविषय यदा तु तृतीया स्थितिरुद्वर्त्यते तदा द्विसमयाधिकः । एवं समयवृद्ध्या तावद्दलिकानिक्षेपविषयो यावदुत्कृष्टो भवति स च कियान् भवतीति चेदुच्यते समयाधिकावलिका अबाधया च हीना सर्वा कर्मस्थितिः तथा ह्यबाधोपरिस्थितीनामुद्वर्तना भवति तथा ह्यबाधया उपरितने स्थितिस्थाने उद्वर्त्यमाने अबाधाया उपरि दलिकनिक्षेपो भवति न अबाधामध्ये उद्वर्त्यमानदलिकस्य उद्वर्त्यमानस्थितेरूर्ध्वं निक्षेपात् तत्राप्युद्वर्त्यमानस्थितेरुपरि आवलिकामात्राः स्थितीरतिक्रम्योपरितनीषु सर्वासु दलिकनिक्षेपणा भवति तत स्थापनावलिकामुद्वर्त्यमानां स्थितिं समयमात्रामबाधां वर्जयित्वा शेषा सर्वा अपि कर्मस्थितिरुत्कृष्टो दलिकनिक्षेपविषयः । तथा चाह ।

> आबाहोवरिठाणा, दलियं पडुच्चेह परमनिक्खेवो ।

वरिउव्वट्टणुत्ताणं, पकुच्चई जाइ य जहन्नो ॥

अबाधाया उपरितनं यत् स्थितिस्थानं तद्द्विक प्रतीत्य उद्वर्तनाकरणे परम उत्कृष्टो निक्षेपो भवति परम तु स्थितिस्थान यस्मात्पर नोद्वर्तते तदधिकृत्य जघन्यो दलिकनिक्षेप ।

सम्प्रति यावन्मात्राः स्थितय उद्वर्तनयोग्यास्ताः प्रतिपादयति ।

उक्कोसे ठिइबंधे, बंधावलिया अबाहमेत्तं च ।
निक्खेवं च जहन्नं, ता मोत्तुं उव्वए सेसं ॥

उत्कृष्टे स्थितिबन्धे क्रियमाणं बन्धावलिकामबाधामात्रं निक्षेपं च जघन्यम् । इह जघन्यनिक्षेपग्रहणात् सर्वोपरितनी आवलिका आसंख्येयभागाधिका गृह्यते ततस्तां च मुक्त्वा शेष सर्वमपि स्थितिजातमुद्वर्तते भावना चैतद्विषया प्रागेव कृता । एष निर्व्याघाते विधिः । व्याघाते पुनरयम् ।

निव्वाघाए एवं, वाघाओ संतकम्मठिइबंधो ।
आवलिअसंखभागो, जा वलिओ तत्थ अइत्थवणा ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण दलिकनिक्षेपो निर्व्याघाते व्याघाताभावे द्रष्टव्यः व्याघाते पुनरन्यथा । अथ कोऽसौ व्याघात इत्याह । व्याघात प्राक्तनस्थितिसत्कर्मापेक्षया ऽभ्यधिकाभिनवकर्मबन्धरूपा तत्रातिस्थापना आवलिकाया असंख्येयतमो भाग स च प्रवर्तमानस्तावद्वसेयो यावदावलिका । इयमत्र भावना । प्राक्तनसत्कर्मस्थित्यपेक्षया समयादिनाऽभ्यधिको योऽभिनवकर्मबन्धस्य व्याघात इहाभिप्रेतस्तन्नामा स्थापना आवलिका जघन्याया असंख्येयभागमात्रा । तथा हि प्राक्तनसत्कर्मस्थितेः सकाशात् समयमात्रेणाभ्यधिकेऽभिनवकर्मबन्धे सति प्राक्तनसत्कर्मणोऽन्त्यर्थी द्विचरमा वा स्थितिर्नोद्वर्तते । एव यावदावलिका जघन्याया असंख्येयभागमात्रा अन्यस्याश्चावलिकाया असंख्येयतमो भाग इति । एव समयद्वयेन समयत्रयेण यावदावलिकाया असंख्येयतमेनापि भागेनाधिके अभिनवकर्मबन्धे द्रष्टव्यम् । यदा पुनर्द्वाभ्यामावलिकासंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिकोऽभिनवकर्मबन्ध उपजायते तदा प्राक्तनसत्कर्मणोऽन्त्यस्थितिरुद्वर्तते उद्वर्त्य च आवलिकायाः प्रथमं संख्येयतम भागमतिक्रम्य द्वितीयेऽसंख्येयतमे भागे निक्षिप्यते एतौ अतिस्थापनानिक्षेपौ जघन्यौ । यदा पुनः समयाभ्यधिकाभ्यां द्वाभ्यामावलिकाया असंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिकाभिर्नवकर्मबन्धस्तदा आवलिकायाः प्रथममसंख्येयतम भाग समयाधिकमतिक्रम्य असंख्येयतमे भागे निक्षिप्यते एवमभिनवकर्मबन्धस्य समयादिवृद्धौ अतिस्थापना प्रवर्धते सा च तावत् यावदावलिका परिपूर्णा भवति। निक्षेपस्तु सर्वत्रापि तावन्मात्र एव भवति तत ऊर्द्ध्वं पुनरपि नवकर्मनिक्षेप एव केवलो वर्धते । एतदेवाह ।

आवलि दोसंखंसी, जइ वड्ढइ अहिणवो उ ठिइबंधो ।
उक्किडातो चरिमा, एवं जा वलिय अइठवणा ॥
अइत्थवणा वलियाए, पुण्णाए वड्ढंति निक्खेवो ।

यदा प्राक्तनस्थितिसत्कर्मापेक्षया अभिनवस्थितिबन्धो वर्द्धते द्वावलिकाया असंख्येयांशो यतस्तौ भागौ ततः प्राक्तनास्थितिसत्कर्मणोऽन्त्या स्थितिरुद्वर्तते । उद्वर्त्य चावलिकायाः प्रथमसंख्येयतम भागमतिक्रम्य द्वितीये असंख्येयतमे भागे निक्षिपति एतावता स्थापनानिक्षेपौ जघन्यौ ततोऽभिनवकर्मबन्धस्य समयादिवृद्ध्यावतिस्थापना वर्द्धते तावत् यावदावलिका परिपूर्णा भवति निक्षेपस्तु तत्र सर्वत्रापि तावन्मात्र एव अतिस्थापनावलिकायां परिपूर्णायां निक्षेपो वर्द्धते इति शब्द उद्वर्तनाकर्तव्यतापरिसमाप्तिसूचको ' यावद्यानेन नवकर्मबन्धः प्राक्तनस्थितिसत्कर्मणः सकाशात् द्वाभ्यामावलिकासंख्येयतमाभ्यां भागाभ्यामधिको न भवति तावत् प्राक्तनस्थितिसत्कर्मणश्चरम स्थितेरध आवलिकामसंख्येयभागाधिकामतिक्रम्योपरितने आवलिकाया असंख्येयतमे भागे निक्षिपति । यदा तु द्वितीयसमयस्तनीं स्थितिमुद्वर्तयति तदा समयाधिके असंख्येयतमे भागे निक्षिपति एवं प्रकारेण द्रष्टव्यम् । संप्रत्यल्पबहुत्वमुच्यते या जघन्या अतिस्थापना यश्च जघन्या निक्षेप एतौ द्वावपि सर्वस्तोकं परस्पर वा तुल्यौ एतौ द्वावप्यावलिकासत्कासंख्येयतमभागप्रमाणौ ताभ्यामसंख्येयगुणा उत्कृष्टा अतिस्थापना तस्या उत्कृष्टाबाधारूपत्वात् ततोऽप्युत्कृष्टो निक्षेपोऽसंख्येयगुणो यतोऽसौ समयाधिकावलिकया साबाधया हीना सकर्मस्थितिः ततोऽपि सर्वकर्मस्थितिर्विशेषाधिका पं० सं० । क० प्र० ।

अथानुभागोद्वर्तनामाह ।

चरमं नो वट्टिज्जइ, जा ठाणंताणि फड्डगाणि तउ ।
उस्सक्कियउवट्टइ, उदयावट्टणा एवं ॥

चरमं स्पर्द्धकं नोद्वर्त्यते नापि द्विचरमं नापि त्रिचरमम् एतावद्वा तावद्वाच्यं यावच्चरमात् स्पर्द्धकादधोऽनन्तानि स्पर्द्धकानि नोद्वर्तयते किं तु तस्य चतुष्कस्याधस्तादवतीर्य यानि स्पर्द्धकानि समयमात्रस्थितिगतानि तान्युद्वर्तयति तानि चोद्वर्त्य आवलिकामात्रस्थितिगतानि अनन्तानि स्पर्द्धकानि अतिक्रम्योपरितने द्वे आवलिकासत्कासंख्येयभागमात्रगतेषु स्पर्द्धकेषु निक्षिपति । यथा पुनरधोऽवतीर्य द्वितीयसमयमात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकानि उद्वर्तयति तथा आवलिकामात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकानि अतिक्रम्य उपरितनेषु समयाधिकावलिकासत्कर्मसंख्येयभागमात्रगतेषु स्पर्द्धकेषु निक्षिपति एव यथा यथा अधोऽवतरति तथा तथा निक्षेपो वर्द्धते अतिस्थापना पुनः पुनः सर्वत्रापि आवलिकामात्रस्थितिगतान्येव स्पर्द्धकानि । कियान् पुनरुत्कृष्टो निक्षेपविषय इति चेदुच्यते बन्धावलिकायामतीतायां समयाधिकावलिकामात्रगतानि स्पर्द्धकानि व्यतिरिच्य शेषाणि सर्वाण्यपि निक्षेपविषयः । संप्रत्यत्रैवाल्पबहुत्वं चिन्त्यते सर्वस्तोको जघन्यनिक्षेपः तस्यावलिकासत्कासंख्येयभागगतस्पर्द्धकमात्रविषयत्वात् ततोऽतिस्थापना अनन्तगुणा निक्षेपविषयस्पर्द्धकेभ्य आवलिकामात्रस्थितिगतानां स्पर्द्धकानामनन्तगुणत्वात् । एव सर्वत्राप्यनन्तगुणता स्पर्द्धकापेक्षया द्रष्टव्या तत उत्कृष्टो निक्षेपोऽनन्तगुण ततोऽपि सर्वो भागो विशेषाधिक । तदेवमुक्ता अनुभागोद्वर्तना । पं० सं० (कर्मप्रकृतौ तु " एव उव्वट्टणाई उ " एव चतुर्थपादः । अयमिहानुपयुक्तो ऽव्याख्यातोऽपि गाथापूर्तये प्रदर्शितः)

उद्वर्तनमुद्वर्तना । तत्कायान्निर्गमे मरणे , " दोएइं उव्वट्टणा पण्णत्ता त जहा नेरइयाण चेव भवणवासीण चेव " उद्वर्तना नैरयिकभवनवासिनामेवैवं व्यपदिश्यते अन्येषान्तु मरणमेवेति । स्था० २ ठा० । (उद्वर्तनायाः सर्वा वक्तव्यता उव्वायशब्दे दर्शिता यथा सान्तरं निरन्तर वोद्वर्तन्ते इति सतोऽसतो वा नैरयिकविषयादुद्वर्त्य तीर्थकृत्त्वादिलाभ इति च अंतकिरिया शब्दे उक्तम्)

खुड्ड गकडजुम्मणेरइयाणं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं उववज्जंति किं णेरइएसु उववज्जंति तिरिक्खजोणिएसु

उववज्जंति उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए तेणं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उव्वट्टंति गोयमा ! चत्तारि वा अट्ठ वा बारस वा सोलस वा संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उव्वट्टंति तेणं भंते ! जीवा कहं उव्वट्टंति ? गोयमा ! से जहाणामए पवए एवं तहेव एवं सो चेव गमओ जाव आयप्पओगेणं उव्वट्टंति णो परप्पओगेणं उव्वट्टंति रयणप्पभपुढविखुड्डागकडजुम्म एवं रयणप्पभाए वि एवं जाव अहेसत्तमाए वि । एवं खुड्डागतेओगे खुड्डागदावरजुम्मे खुड्डागकलिओगे णवरं परिमाणं जाणियव्वं सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंतेत्ति (३१ श० ३१ उ०) कण्हलेस्सकडजुम्मे णेरइया एवं एएणं कमेणं जहेव उववायसए अट्ठावीसं उद्देसगा भणिया तहेव उव्वट्टणासए वि अट्ठावीसं उद्देसगा भाणियव्वा णिरवसेसा णवरं उव्वट्टंति त्ति अभिलावो भाणियव्वो सेसं तं चेव सेवं भंते ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥ उव्वट्टणासयं सम्मत्तं ॥ ३२॥ भ० ३१ श० ३२ उ० ।

उव्वट्टणासंकम–उद्वर्तनासंक्रम–पुं० उम्मानप्रकृतीनां बन्धे, 'आबंधा उव्वट्टइ' पं० सं०। स्तोकस्य रसस्य प्रभूतीकरणे, पं० सं०।

उव्वट्टित्ता–उद्वर्त्य–अव्य० उद्वर्त्तनं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० ॥

उव्वट्टिय–उद्वर्तित–त्रि० पिष्टकादिना कृतोद्वर्तने. "अब्भंगिय संबाहिय उव्वट्टियमज्जियं च से आणं" पिं० । तत्वाख्यायिते, "उवट्टिया पओसं, खोज कम्मामओ य सेजंते" या अभिनवस्थापिता सती। धात्री उद्वर्तिता धात्रीत्वाख्यायिता । पिं० । कृतोद्वर्तनाके, "णरगा उवट्टिया अप्पणा ते वि य दीसंति" प्रश्न० १ द्वा० । ततो वि उव्वट्टिया समाणा पुणो वि पवज्जंति" प्रश्न० ३ द्वा० । "आउक्खएण उव्वट्टिया समाणा" प्रश्न० १ द्वा०।

उव्वड्ढ–उद्वृद्ध–त्रि० उद्वृद्धिमपगते, "अमुगो पव्वंतराया उव्वड्ढा कणज्जंता पुरिसा कूडसेहे उवणेतु " । आ० म० द्वि० ।

उव्वत्त–उद्वृत्त–त्रि० कृतोद्वर्तने,"मच्छुव्वत्तं" मत्स्योद्वृत्तमेकं पार्श्वं वित्वा मत्स्यवद् वृत्तं द्वितीयं साधुं द्वितीयपार्श्वेन रेचकावर्तेन परावर्तते आव० ३ अ० ।

उव्वत्तण–उद्वर्तन–न० एकपार्श्वादन्यपार्श्वाभिमने, ध० ३अधि० । "उत्ताणयस्स पासल्लियकरणं उव्वत्तणं ।नि० चू० ४उ० । उद्वर्तनं नाम तस्या उत्तानायाः पार्श्वतः करणम् । बृ० ३ उ० । ऊर्ध्वं वर्तने, " उव्वत्तणणिल्लेवणवीहंतं अणिओगं " ऊर्ध्वं वर्तनं यदसाधु वर्तते । ओ० । शरीरपरिच्छेदकारिषु निर्योगकेषु, प्रव० ७१ द्वा० ।

उव्वर–देशी–धर्मार्थे, दे० ना० ।

उव्वहण–उद्वहन–न० उत्तोल्य वहनम् । उत्तोल्य स्कन्धादिना वहने, विवाहे च । वाच० । जीविकालाभेनात्मनो धारणे, सू० ।

उव्वा–उद्–वा–धा० स्वा० प० अक० सेट् " स्वरादनतो वा " ८।४।२६। अकारान्तवर्जितात्स्वरान्ताद्धातोरन्तेऽकारागमो वा भवति इत्यकारागमो वा । उव्वाइ उव्वाअइ उद्वाति । प्रा० । " उद्वाते रोहम्मावसु आः ८ । ४ । ११ इत्यादेशे कृते ओरुम्माइ वसुआइ उव्वाइ प्रा० धर्मार्थे, दे० ना० ।

उव्वागणि–उर्वाग्नि–पुं० वडवानले, अष्ट० ।

उव्वात–उद्वात–पुं० परिश्रान्ते, " मग्गसंताणे उव्वाता गिलाणोवहिसाणएण परिणीए " बृ० १ उ० । " उव्वातो दिवसं तितरं तु अतिकमे गुरुगा " उद्वातः परिश्रान्तः इति कृत्वा नष्टः । व्य० १ उ० । अतिपरिश्रान्ते, " हिंडंतो उव्वातो सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी " व्य० ४ उ० ।

उव्वाह–देशी–धर्मार्थे, दे० ना० ।

उव्वाहिज्जमाण–उद्वाध्यमान–त्रि० प्राबल्येन बाध्यमाने," उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जमाणे " आचा० २ श्रु० । प्राबल्येन मोहोदयात्पीड्यमाने. "उव्वाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं" आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

उव्विग्ग–उद्विग्न–त्रि० उद्–विज–कर्तरि–क्त–सर्वत्र लवरामवन्द्रे ८।२।७९। इति लोपः प्रा० । आनन्दरसत्यागमानसे, भ०२ श० १उ०। भीते, "अम्ममक्खुभउव्विग्गा दुक्खसततगवेसिणो " उत्त० १४ अ० । " भउव्विग्गमणा विसवासजणगाणं " प्रश्न० १ द्वा० । उद्वेगवति, " उव्विग्गा अप्पुया असरणा अकधीवासं उवेंति " प्रश्न० ३ द्वा० । पराङ्मुखचित्ते, तेणं नरकेसु नारका णिच्चं तरसिया णिच्चं उव्विग्गा" प्रश्न०२पद। यथोक्तदुःखानुभवतस्तत्कृतयासपराङ्मुखचित्ताः जी० ३ प्रति० ॥

उव्विग्गया–उद्विग्नता–स्त्री० इष्टवियोगाद्यनिमित्तकसहजत्यागेच्छायाम्, सवाङ्उद्विग्नतायुक्तौ, द्वा० २१ द्वा० ।

उव्विव–उद्विज्–धा०उद्वेगे, उद्विज ८।४।२६ उद्विजेरन्त्यस्य वो भवति । उव्विवइ उद्विजते प्रा० ।

उव्विह–उद्विह– पुं० द्वादशानामाजीविकोपासकानां तृतीये , भ० ८ श० ५ उ० ।

उव्विहंत–उद्विजहत्–त्रि० ऊर्ध्वं क्षिपति, भ० ३ श०१४ उ० । उत्पतति च । किमपरं मणसा वि उव्विहत्ता इति ज्ञा०१७अ० ।

उव्विहमाण–उद्विजहत्–त्रि० उद्विजहति, ज्ञा० १ श० ८ उ०।

उव्विहिय–उद्व्यूह्य–अव्य० उत्क्षिप्येत्यर्थे, भ० १३ श०७ उ०।

उव्वीढ–उद्व्यूढ–त्रि० ईर्षोद्व्यूढे ८ । १ । १२० । इति उद्व्यूढशब्दे कृत इत्वं वा । उव्वीढं उव्वूढं । उत्प्रेरिते. प्रा० ।

उव्वीलय–अपव्रीडक–पुं० लज्जया अतिचारान् गोपायन्तमुपदेशविशेषैरपव्रीडयति . विगतलज्जं करोतीति अपव्रीडकः । पंचा० १५ विव० । स्था० । लज्जयाऽतिचारान् गोपायन्तं विचित्रवचनैर्विलज्जीकृत्य सम्यगालोचनाकारयितरि, आलोचनाप्रतीच्छके, भ०२५श०७उ० । अथ ह्यालोचकस्यात्यन्तमुपकारको भवतीति ध०२ अधि० । अभिहितं च "ववहारं ववहरं आगमं माई उ सुणइ पंचविहं । आवीलुव्वपूरंतं जह आलोएइ तं सव्वं" स्था० ८ ठा० ।

उव्वीलेमाण–अवपीडयत्–त्रि० बाधयति, "पंचकोडेहिय उव्वीलेमाणे २ विहिंसेमाणे २ विहरइ" वि० १ श्रु० १ अ० पा०।

उव्वुड्डणिवुड्डय–उन्मग्ननिमग्नत्व–न. कल्लोलो उन्मग्नत्वे,उपचारात्साताऽसातपरितापने, "सातस्स असातस्स य, परितावणउव्वुड्डणिवुड्डयं करेति" सातमुन्मग्नत्वमिव असातपरितापनं निमग्नत्वमिवेति । प्रश्न० ३ द्वा० ।

उव्वूढ–उद्व्यूढ–त्रि० उद्–वि–वह–क्त ईर्षोद्व्यूढे ८।१।१२०। इति कृत इत्वाभावे रूपम् । उत्प्रेरिते, प्रा० ।

उव्वेग–उद्वेग–पुं० उद्–विज–घञ्–कुत्वम् । शोके, देवानामुद्वेगः।

तिहिं ठाणेहिं देवे उव्वेगमागच्छेज्जा तंजहा अहो णं मए इमाओ एयारूवाओ दिव्वाओ देवड्ढीओ दिव्वाओ देवजुईओ दिव्वाओ देवाणुभावाओ पत्ताओ लद्धाओ अभिसमण्णागयाओ चवियव्वं भविस्सइ १ अहो णं मए माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसिट्ठं तप्पढमयाए आहारो आहारेयव्वो भविस्सइ २ अहो णं मए कलमलजंबालाए असुईए उव्वेयणिज्जाए भीमाए गब्भवसहीए वसियव्वं भविस्सइ ॥ ३ ॥

(उव्वेगति) उद्वेगं शोकं मयैतच्च्यवनीयं भविष्यतीत्येक तथा मातुरोज आर्तवं पितुः शुक्रं तत्तथाविधं किमपि विलीनानाममतिविलीनं तयोरोजःशुक्रयोरुभयं द्वयं तदुभयं तच्च तत् संसृष्टं संश्लिष्टं वा चेति परस्परमेकीभूतमित्यर्थः । तदुभयसंसृष्टं तदुभयसंश्लिष्टं वा पवसक्कणो य आहारस्तस्य गर्भवासकालस्य प्रथमता तत्प्रथमता तस्यां प्रथमसमय इत्यर्थः । स आहर्तव्योऽभ्यवहार्यो भविष्यतीति द्वितीयम् । तथा कलमलो जठरद्रव्यसमूहः स एव जम्बालः कर्दमो यस्यां सा तथा तस्यामत एवाशुचिकायामुद्वेजनीयायामुद्वेगकारिण्यां भीमायाम्भयानिकायां गर्भ एव वसतिस्तस्यां वस्तव्यमिति तृतीयम् । स्था० ३ ठा० ३ उ० । निर्वेदे, अनु० । इष्टवियोगादिजन्ये चित्तव्याकुलत्वे, भ० ३ श० ६ उ० । जीवा० । चित्तदोषे, तत्र क्षेपादुद्वेगो यथा ।

स्थितस्यैव स उद्वेगो, योगद्वेषात्ततः क्रिया ।
राजविष्टिसमाजन्म-बाधिते योगिनां कुले ॥१४॥

(स्थितस्यैवेति) स्थितस्यैवाप्रवृत्तस्यैव स क्रम उद्वेग उच्यते ततस्तस्मादनादरजनिताद्योगद्वेषात्क्रिया परवशादिनिमित्ता प्रवृत्तिः राजविष्टिसमा नृपनियुक्तानुष्ठानतुल्या योगिनां श्रीमतां आढ्यानां कुले जन्म बाधते प्रतिबध्नाति अनादरेण योगक्रियाया योगिकुलजन्मबाधकत्वनियमात् द्वा० १८ द्वा० । तदुक्तम् ।

उद्वेगे विक्षेपा-द्विष्टिसमं करणमस्य पापेन ।
योगिकुलजन्मबाधक-मलमेतत्तद्विदामिष्टम् ॥

'उद्वेग इत्यादि' उद्वेगे चित्तदोषे विक्षेपाद्योगविषयात् विष्टिसम राजविष्टिकल्प करणमस्य योगस्य पापेन हेतुभूतेन एतच्चैवंविध करणं योगिनां कुले जन्म तस्य बाधकमनेन योगिकुलजन्मापि जन्मान्तरे न लभ्यत इति कृत्वा योगिकुलजन्मबाधकमलमत्यर्थमेतत्तद्विदामिष्टं योगविदामभिमतम् । षो० १४ विव० । व्याकुलचित्ततायाम्, विरहजन्ये दुःखोद्भवे भये च । उद्गतो वेगो यस्मात् । निश्चले, स्तिमिते, शीघ्रगामिनि च वाच० ।

उव्वेढ-उद्वेष्ट-धा० भ्वा० आ० सक० सेट्-पृथक्करणे, वोदः ८ । ४ । २२३ । उदः परस्य वेष्टेरन्त्यस्य लो वा भवति इति लत्वाभावे रूपम् उव्वेल्लइ उव्वेढइ उद्वेष्टते । प्रा० । "उव्वेढेज्ज वा णिव्वेढेज्ज वा उप्पीस वा करेज्जा" उद्वेष्टयेत् पृथक्कुर्य्यात् आचा० २ श्रु० ।

उव्वेढण-उद्वेष्टन-न० उद्-वेष्ट-ल्युट्-हस्तपादयोर्बन्धने, उपश्लेषे च । पृथक्करणे, उन्मुक्तबन्धने, त्रि० वाच० । आचा० २ श्रु० ।

उव्वेयणग-उद्वेजनक-त्रि० उद्विज्यते उद्विग्नैर्भूयते यस्मिन् स उद्वेजनक । भयानके, उद्वेगकारिणि, "उव्वेयणाय जाईमरणं नरएसु अणाओ य" आतु० । उद्वेगहेतुत्वान्निरपेक्षाख्ये प्राणबन्धे, प्रश्न० १ द्वा० ।

उव्वेयणिज्ज-उद्वेजनीय-त्रि० उद्-विज्-अनीयर्-कर्त्तरि । उद्वेगकारिणि, "असुईए उव्वेयणिज्जाए भीमाए गब्भवसहीए वसियव्वं भविस्सइ" स्था० ३ ठा० ।

उव्वेल्ल-उद्वेष्ट धा० भ्वा० सक० आत्म० । वोदः । ८ । ४ । २२३ । उदः परस्य वेष्टेरन्त्यस्य वा लः उव्वेल्लइ उव्वेढइ उद्वेष्टते । प्रा० ।

उव्वेल्लिय-उद्वेष्टित-त्रि० उत्सारिते, "उव्वेल्लिए मुज्झमयस्स तो साहाहिं" वृ० ३ उ० ॥

उव्वेव-उद्वेग-पु० उद् विज्-घञ्-कुत्वम् । उद्विज ८ । ४ । २२६ इति अन्त्यस्य वा वः । चित्तव्याकुलत्वे, प्रा० ।

उसकण-अवष्वष्कण-न० उज्ज्वालने, "णपण जलण जालणे उसक्कणति एगट्ठा" नि० चू० १ उ० । "जलमाणिधयाण उक्कडणा भण्णति" नि० चू० १ उ० ॥

उसड्ड-उत्सृत-त्रि० उच्चे, "उसड्डा उसड्ड खुड्डगा" राय० ।

उसण्ण-उषण-न० उष-क्युन् मरिचे, पिप्पलीमूले च शुण्ठ्यां चव्यिके पिपल्याञ्च स्त्री० उसन्न शब्दो देशीवचनो बाहुल्यवचनो यथा "उसणसाय वेयणं वेयन्ति" कर्म० ॥ प्राय इत्यर्थे, । ज० २ वक्ष० । प्रवाहेणेत्यर्थे, ठ० ।

उसणदोस-उषणदोष-पु० उषणेन बाहुल्येन अनुपरतत्वेन दोषो । अनृतादानसंरक्षणानामन्यतम । रौद्रध्यानस्य लक्षणभेदे, औ० ।

उसभ (ह)-ऋ (वृ) षभ-पुं० ऋषभशब्दस्य द्विधा व्याख्या सामान्यतो विशेषतश्च । तत्र सामान्यतो यथा ऋषति गच्छति परमपदमिति ऋषभ । उदृत्वादौ ८ । १ । १३१ । इत्युत्वे उसहो वृषभ इत्यपि । वर्षति सिञ्चति देशनाजलेन दुःखाग्निना दग्धं जगदिति अस्यान्वर्थः । ऋषभे वा वा ८ । १ । १३२ । इति वृषभे ऋतो वेन सह उद् वा भवति । उसहो वसभो प्रा० । धर्म० । वृषेण धर्मेण भातीति वृषभः ज० २ वक्ष० । वृषभ उद्वहने एष आगमिको धातु समग्रसंयमभारोद्वहनाद् वृषभः आ० म० द्वि० । वृषभ उद्वहने उव्यूढं तेन भगवता जगत्संसार समग्रं तेन ऋषभ इति सर्व एव भगवन्तो जगदुद्वहन्ति "अतुल नाणदंसणचरित्त वा एवं सामण्ण" एषा सामान्यत ऋषभशब्दस्य व्युत्पत्तिः । आव० २ अ० । एवञ्च सर्वेऽप्यर्हन्त ऋषभा वृषभा वा इत्युच्यन्ते तेन ऊर्वोर्वृषभ लाञ्छनत्वेन मातुश्चतुर्दशस्वप्नेषु प्रथमं वृषभदर्शनेन च ऋषभो वृषभो वेति ज० २ वक्ष० ।

ऊरूसु उसभलंछणउसभ सुमिणेण उसभजिणो जेण
भगवतो दोसु वि ऊरूसु उसभा उप्पराहुत्ता लंछणभूया
जेणे व मरुदेवीए भगवतीए चोद्दसण्हं महासुमिणाणं प-
ढमं उसभो सुमिणे दिट्ठो तेण तस्स उसभ त्ति नाम कयं से
सतित्थयराणं मायरो पढमं गयं पासति ततो वसभं ।

अक्षरगमनिका त्वेवं यतो भगवत ऊर्वोर्वृषभावूर्ध्वमुखौ लाञ्छनं मरुदेवी च भगवती स्वप्ने प्रथममृषभं दृष्टवती तेन भगवान् ऋषभजिन । आ० म० द्वि० । अवसर्पिण्या प्रथमे तीर्थंकरे, प्रव० ७ द्वा० । अनु० ।

(१) ऋषभस्वामिनः पूर्वभवचरित्रम् ।
(२) ऋषभस्वामिनस्तीर्थंकरत्वहेतवः ।
(३) ऋषभस्वामिनो जन्म तन्महोत्सवश्च ।
(४) ऋषभस्वामिनो नाम ।
(५) ऋषभस्वामिनो वृद्धि ।
(६) ऋषभस्वामिनो जातिस्मरणम् ।

(७) ऋषभस्वामिनो विवाहः ।
(८) ऋषभस्वामिनोऽपत्यानि ।
(९) ऋषभस्वामिनो नीतिव्यवस्था ।
(१०) ऋषभस्वामिनो राज्याभिषेकः ।
(११) ऋषभस्वामिनो राज्यसंग्रहः ।
(१२) ऋषभस्वामिनो लोकस्थितिनिबन्धनं शिल्पादिशिक्षणं च ।
(१३) ऋषभस्वामिनो वासः ।
(१४) ऋषभस्वामिपुत्रराज्याभिषेकः ।
(१५) ऋषभस्वामिनो दीक्षाकल्याणकम् ।
(१६) ऋषभस्वामिनश्चीवरधारित्वकालमानम् ।
(१७) ऋषभस्वामिनो भिक्षाकालमानम् ।
(१८) ऋषभस्वामिनः श्रेयांसेन भिक्षाग्रहणकथनम् ।
(१९) ऋषभस्वामिनः श्रामण्यानन्तरं प्रवर्तनप्रकारः ।
(२०) ऋषभस्वामिनः श्रामण्यावस्थावर्णनम् ।
(२१) ऋषभस्वामिनः केवलोत्पत्त्यनन्तरं धर्मकथनम् ।
(२२) ऋषभस्वामिनो वन्दनार्थं मरुदेव्या सह भरतगमनम् भरतदिग्विजयश्च ।
(२३) ब्राह्मणानामुत्पत्तिप्रकारः तीर्थंकरचक्रदेववासुदेवाश्च भविष्यन्ति न वेत्यादिप्रश्नकदम्बकञ्च ।
(२४) ऋषभस्वामिनः सङ्घसंख्या ।
(२५) ऋषभस्वामिनः श्रमणवर्णनम् ।
(२६) ऋषभस्वामिनः केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं भव्यानां कियता कालेन सिद्धिगमनं प्रवृत्तं कियन्तं कालं यावदनुवृत्तम् ।
(२७) ऋषभस्वामिनो जन्मकल्याणकादिनक्षत्राणि ।
(२८) ऋषभस्वामिनः शरीरसंपत्-शरीरप्रमाणं कौमारे राज्ये गृहित्वे च यावान् कालस्तन्मानं च ।
(२९) ऋषभस्वामिनो निर्वाणगमनं देवकृत्यवर्णनं च ।
(३०) चितानन्तरं शक्रकृत्यवर्णनम् ।
(३१) इक्ष्वाकूणामपरा चितिका भरतकारिता ।

(१) अथ श्रीऋषभदेवचरित्रं तत्र प्रथमतः पूर्वभवचरित्रमाह ।

नाभी विणीयभूमी, मरुदेवी उत्तरा असाढा य ।
राया य वइरनाहो, विमाणसव्वट्ठसिद्धाओ ॥ ९६ ॥
धणमिहुणसुरमहब्बल-ललियंगयवइरजंघमिहुणे अ ।
सोहम्म विज्जअच्चुअ, चक्की सव्वट्ठउसभे अ ॥ ९७ ॥
धणसत्थवाहघोसण-जइगमणं अडवि वासठाणं च ।
बहुवोलीणे वासे, चिंताघयदाणमासि तया ॥ ९८ ॥
उत्तरकुरुसोहम्मे, महाविदेहे महाबलो राया ।
ईसाणे ललियंगो, महाविदेहे वयरजंघो ॥ ९९ ॥
उत्तरकुरुसोहम्मे, विदेहि तेगिच्छियस्स तत्थ सुओ ।
रायसुअसेट्ठिमच्चा-सत्थाहसुया वयस्सा से ॥ १०० ॥

अथवा प्रतिपादितः कुलकरवंश इदानीं प्राक् सूचितेक्ष्वाकुवंशः प्रतिपाद्यते । स च ऋषभनाथप्रभव इत्यतस्तद्वक्तव्यताऽभिधित्सयाऽऽह । नाभीगाहा । ९६ । गमनिका इयम् । निर्युक्तिगाथा प्रभूतार्थप्रतिपादिका अस्यां च प्रतिपदं क्रियाध्याहारः कार्यः । स चेत्थं नाभिरिति नाभिर्नाम कुलकरो बभूव । विनीताभूमीति तस्य विनीतभूमौ प्रायः अवस्थानमासीत् । मरुदेवीति तस्य भार्या राजा च प्राग्भवे वैरनाभः सन् प्रव्रज्यां गृहीत्वा तीर्थकरनामगोत्रं कर्म बद्ध्वा मृत्वा सर्वार्थसिद्धिमवाप्य ततस्तस्या मरुदेव्यास्तस्यां विनीतभूमौ सर्वार्थसिद्धादिमानाद्ययतीर्थं ऋषभनाथः संजातः तस्योत्तराषाढनक्षत्रमासीदिति गाथार्थः । ९६ । इदानीं यः प्राग्भवे वैरनाभो यथा च तेन सम्यक्त्वमवाप्तं यावतो वा भवानवाप्तसम्यक्त्वः संसारं पर्यटितः यथा च तेन तीर्थंकरनामगोत्रं कर्म बद्धमित्यमुमर्थमभिधित्सुराह । धणगाहा । ९७ । ९८ । उत्तरगाहा । ९९ । उत्तरकुरुगाहा ॥ १०० ॥ अस्या अप्युक्तसम्बन्धा एव द्रष्टव्या तावत् यावत् 'पढमेण पच्छिमेण गाहा' किन्तु यथावसरमसंमोहनिमित्तमुपन्यासं करिष्यामः । प्रथमगाथागमनिका । धनः सार्थवाहो घोषणं योनिगमनमटवी वर्षास्थानं च बहवो व्यतीते वर्षे चिन्ता घृतदानमासीत्तदा । ९७ । द्वितीयगाथा गमनिका । उत्तरकुरौ सौधर्मे महाविदेहे महाबलो राजा ईशाने ललिताङ्गो महाविदेहे च वैरजङ्घ इयमन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च । ९८ । तृतीयगाथागमनिका उत्तरकुरौ सौधर्मे महाविदेहे चिकित्सकस्य तत्र सुतः राजसुतश्रेष्ठ्यमात्यसार्थवाहसुता वयस्याः (से) तस्य । आसां भावार्थः कथानकादवसेयः प्रतिपदं चानुरूपक्रियाध्याहारः कार्य इति । यथा धनो नामसार्थवाह आसीत् स हि देशान्तरं गन्तुमना घोषणां कारितवानित्यादि कथानकम् आव० १ अ० ॥

द्वीपोऽस्ति जम्बूद्वीपोऽत्र, सदा यः परिरभ्यते ।
अम्भोधिना विरायात-मिवकल्लहरीभुजैः ॥ १ ॥
विदेहे पश्चिमास्तंस्थे, क्षितिमण्डलमण्डनम् ।
क्षितिप्रतिष्ठितं नाम, नगरं सुप्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥
प्रियंकरकरस्तत्र, राजा राजेव विश्रुतः ।
शुचिः कुवलयोल्लासी, प्रसन्नचन्द्रनामकः ॥ ३ ॥
आसीत्तत्र धनः सार्थ-वाहः पितृगृहं श्रियः ।
स पष्टिनिशाती सत्य-क्रयाणकमहाकरः ॥ ४ ॥
क्रयाणकानि संगृह्य, वाणिज्यार्थं कृतोद्यमः ।
सोऽपरेद्युर्गन्तुकामो, वसन्तपुरपत्तनम् ॥ ५ ॥
सर्वलोकोपकाराय, सार्थवाहो धनस्तदा ।
आघोषयत्पुरे कृत्स्ने, भेरीवादनपूर्वकम् ॥ ६ ॥
यो मया सममभ्येति, तस्य सर्वमहं ददे ।
क्रयाणान्यक्रयाणस्या-ऽवाहनानां च वाहनम् ॥ ७ ॥
सहायमसहायस्या-शम्बलानां च शम्बलम् ।
दस्युभ्यः श्वापदादिभ्य-स्त्रास्येऽहं पथि बन्धुवत् ॥ ८ ॥
अन्नैः पानैस्तथा वस्त्रैः, पात्रैरौषधभेषजैः ।
विसूरयति यो येन, सर्वं यच्छामि तस्य तत् ॥ ९ ॥
तत् श्रुत्वा वणिजोऽनेके, संवहन्ति स्म सत्वरम् ।
व्यवहर्तुं परे लोकाः, कार्पटिकादयः ॥ १० ॥
प्रस्थानं सुमुहूर्तेऽथ, सार्थवाहो विनिर्ममे ।
प्राभातिकङ्खसत्सूचि-विहितानेकमङ्गलः ॥ ११ ॥
अत्रान्तरे धर्मघोषाऽऽचार्यः सूर्य इवापरः ।
पादैः पवित्रयन् भूमिं, दीप्यमानस्तपस्त्विषा ॥ १२ ॥
तमागच्छन्तमालोक्य, सद्यस्त्वानन्दकारकम् ।
सार्थवाहो नमस्कृत्य, प्रस्फुटत्कटको द्विधा ॥ १३ ॥
उपवेश्यासने प्राक्षीद्-गुरोर्गमनकारणम् ।
वसन्तपुरमेष्यामः-स्त्वया सहेति तेऽभ्यधुः ॥ १४ ॥
श्रुत्वा तान् सार्थपो भक्त्या, सूदानिति समादिशत् ।
सम्पाद्यमन्नपानाद्य-मेषामिति दिनमन्वहम् ॥ १५ ॥
आचार्या अपि तस्याख्यन्, शुद्धिमाहारगोचराम् ।
तदा च कोऽपि पक्वाम्र-स्थालं तस्योपनीतवान् ॥ १६ ॥

सार्थवाहोऽवदत्पूज्या, विधायानुग्रहम्परम् ।
स्त्यानीभूतसुधाभानि, गृह्णीताम्राण्यमूनि मे ॥ १७ ॥
सार्थपैतानि कल्पन्ते, नाशस्त्रोपहतानि नः
धनोऽवादीद् व्रतं पूज्या-यौष्माकमतिदुष्करम् ॥ १८ ॥
करुयमशादि यः सर्वं, पूज्या सम्पादयिष्यते ।
प्रात प्रयाणमत्रात्रीत-स्तदागत्यात्र तिष्ठत ॥ १६ ॥
चक्रे प्रयाणं सार्थेशो, गुरवोऽपि सहाचलन् ।
सञ्जातेषु प्रयाणेषु, तत. कतिपयेष्वपि ॥ २० ॥
उज्जजृम्भे तदा ग्रीष्म, काल' कलितयौवन ।
स्वकीयेनोष्मणा ज्वाला -जिह्वामप्यवहेलयन् ॥ २१ ॥
नृपस्येव निदाघस्य, महायोध इवार्यमा ।
करैः शरैरिवाशेषान्, जनानाहन्त्यरीनिव ॥ २२ ॥
तदा तापादिवोष्णांशु-स्तृष्णातिशयविह्वल' ।
पिबन् करसहस्रेण, जलस्थानान्यशोषयत् ॥ २३ ॥
प्रस्वेदप्लुतसर्वाङ्ग-स्तदा धातुमयो जनः ।
ग्रीष्मनारिन्धमध्मानाद्, द्रवरूप इवाजवत् ॥ २४ ॥
निदाघदहनोत्तप्त-वालुका वसुमत्यपि ।
भ्राष्ट्रीभूताध्वगान् जन्तून्, पचते चणकानिव ॥ २५ ॥
सत्यम्येवंविधे काले, यान्त कान्तारमापतन् ।
प्रावृट्कालक्रमापाल-स्तत्राध्वनि रुरोध तान् ॥ २६ ॥
सेनान्यस्तस्य गर्जन्त., पर्जन्या श्याममूर्त्तय ।
पुरस्कृतेन्द्रधन्वान-स्तस्मिन्दृष्टा सिधेनव ॥ २७ ॥
वारिधाराशरासारै-रुपर्युपरिपातिभिः ।
नश्यतोऽपि जनान् घ्नन्ति, क्षात्रधर्मानभिज्ञवत् ॥२८॥ (युग्मम्)
कोऽपि श्रेयांसि वासांसि, पर्यधत्त न तद्भयात् ।
श्रीमन्तोऽपि जरद्वस्त्रा, सञ्चरन्ति पुरेऽपि हि ॥ २९ ॥
मार्गास्तदा जनैर्लब्धा-प्रसरैरवहा कृताः ।
गन्तुं कोऽपि न शक्नोति, पदात् पदमपि क्वचित् ॥ ३० ॥
प्राज्यस्वर्णश्रियो मत्ता-स्तदानीन्निम्नगा अपि ।
लोकात्सर्वस्वमादाय, न्हदेषु प्रक्षिपन्त्यथा ॥ ३१ ॥
स्थाने स्थाने ग्राहयन्ति, लोकेभ्यो वहका अपि ।
धर्मरक्षा धनमिव, तारकैरातन्नच्छलात् ॥ ३२ ॥
पादमाकृष्य पङ्कन्तु, तदङ्गं इव दुर्द्दम ।
क्षिप्र पातयते भूमौ, प्रधानमपि मानुषम् ॥ ३३ ॥
ईदृश्यप्यागमे याते, प्रारम्भेऽप्यतिभैरवे ।
दुर्गान्मार्गान् धनो ज्ञात्वा, तत्रैवावासमादधे ॥ ३४ ॥
कृत्वोटजान् जनोऽप्यस्था-द्वेश्मनीव निजे सुखम् ।
शुद्धोटजेऽस्थुराचार्या, माणिभद्रोपदर्शिते ॥ ३५ ॥
प्रासेत्कर्षासु वर्षासु, निष्ठिते भोजने नृणाम् ।
कन्दमूलफलाशित्वं, तापसानामिवाभवत् ॥ ३६ ॥
दु खिता. साधवस्तत्र, कथञ्चित्कस्यचिद् गृहे ।
चेल्लुमन्तेऽनवद्यानि, फलान्यादवते तदा ॥ ३७ ॥
एव व्रजति काले च, स्तोकशेषे तपात्यये ।
निशाया पश्चिमे यामे, चिन्ता सार्थपतेरभूत् ॥ ३८ ॥
दु खित कोऽस्ति मे सार्थे, स्मृत सन्ति मुनीश्वरा. ।
ते हि कन्दादि नाश्नन्ति, निरवद्यान्नभोजिन ॥ ३९ ॥
तस्य तच्चिन्तयैवैकोऽपि, यामोऽगात् शतयामताम् ।
सार्थप' प्रातरायासीन्-मुनीनामाश्रये धन' ॥ ४० ॥
ददर्श विस्मित साधून्, विविधासनसंस्थितान् ।
अध्यायाध्यापनपरान्, सुहितान् जिमितानिव ॥ ४१ ॥

वन्दित्वा तान् गुरून् भक्त्या, विधत्ते स्म स्वगर्हणाम् ।
पूज्या सह मया नीता , कृता सारापि न क्वचित् ॥ ४२ ॥
तदह निष्फलो जज्ञे, ऽवकेशिरिव पादप ।
क्षमध्व मेऽपराधं तत, यूय सर्वसहा यत ॥ ४३ ॥
ऊचे गुरुस्ते साहाय्यात, क्रमेण वयमागताः ।
दत्त त्वयैव नः सर्वं-मधृतिं भद्र ! मा कृथा. ॥ ४४ ॥
सोऽवदच्चन्दन घृष्ट-मपि सद्गन्धबन्धुरम् ।
अगुरुर्दह्यमानोऽपि, सदोद्गिरति सौरभम् ॥४५॥
पुनरूचे ध्रुव पूज्या, अमृतेनैव निर्मिता. ।
अमन्तोर्वा समन्तोर्वा, यूय समदृशस्तत' ॥४६॥
न्यमन्त्रयदथो पूज्यान्, साधून् प्रेषयताधुना ।
यच्छामि प्रासुकाहार-माधार देहवेश्मनः ॥४७॥
ययौ स्वावासमित्युक्त्वा, पश्चात्प्रैषि मुनिद्वयम् ।
तदर्हमन्यदन्नाद्य-मपश्यन् किञ्चनापि सः ॥४८॥
स्त्यानीभूत घृत दृष्ट्वा, स्माहेदं गृह्यतां प्रभो ! ।
साधु शुद्धमिति ज्ञात्वा, पतद्ग्रहमधारयत् ॥४९॥
हिमस्त्यान प्राज्यमाज्य. निर्मलं निर्मलात्मक ।
स्वय यथेष्टं दत्ते स्मा-नन्यसामान्यभावतः ॥५०॥
स्वय ददत्तदा दान, बीजं मोक्षमहातरोः ।
तीर्थकृत्कर्मोचलनं, सम्यग्दर्शनमासदत् ॥५१॥ संग्रहमाह
" धणसत्थवाहघोसण, जइगमण अडवि वासु ठाण च ।
बहुवोलीणे वासे, चिंताघयदाणमासि तया" ॥५२॥
धन्यमन्यो धनोऽनसीद्, वनान्ते तन्मुनिद्वयम् ।
तदप्यातमाशिष दत्वा, धनायागान्निजाश्रयम् ॥ ५३ ॥
रजन्यामथ सार्थेशो, गुरून्नन्तुमुपागमत् ।
गुरवो धर्ममादिक्षन्, मोक्षसोपानपद्धतिम् ॥ ५४ ॥
गुरूपदेशपीयुष-प्रवाहेण प्रसर्पता ।
पूरित सार्थपस्यामू-न्मानस मानसोपमम् ॥५५ ॥
गुरून्नत्वा महासत्वान्, भावनां भावयन्नथ ।
कृतार्थं मन्यमान स्वं, सौवं धाम जगाम स ॥ ५६ ॥
लब्धाधिकारप्रासोऽथ, शरत्कालो महीतले ।
यदच्युता पलायन्त, वारिदा सपरिच्छदाः ॥ ५७ ॥
सरित पटेषु लग्ना, वहन्ति निरहंकृता' ।
जीवनाश प्रपेदुश्च, मार्गरोधकृतो घहा ॥ ५८ ॥
वप्र' पुस्फोट पङ्कस्य, स्वामिनो विरहे सति ।
कमलान्युल्लसन्ति स्म, गते वैरिणि वारिदे ॥ ५९ ॥
मेघागमे निलीयास्था-दघुनार्क. प्रकटयभूत् ।
नाप्रस्तावं स्फुरत्यत्र, तेजस्तेजस्विनामपि ॥ ६० ॥
सार्थवाहश्चचालाथ, गुरवोऽपि सहाचलन् ।
महाटवीं समुत्तीर्णा, दुष्करं किं महीयसाम् ॥ ६१ ॥
अनुज्ञाप्याथ सार्थेश, गुरवो ययुरन्यत' ।
सार्थवाह' पुनर्गच्छन्, वसन्तपुरमासदत् ॥६२॥
क्रयविक्रयमाधाय, दिनैः कतिपयैर्धन ।
प्रत्यावृत्यागमद्भूरि-लाभ स्व नगरं पुनः ॥ ६३ ॥
चिर प्रपाल्य सम्यक्त्व, पूर्णायु. शुद्धभावन' ।
इहोत्तरकुरुक्षेत्रे, सविपद्योदपद्यत ॥ ६४ ॥
धनजीवो युग्मधर्मा, तत्र वैषयिकं सुखम् ।
आस्वाद्य पुण्यशेषेण, सौधर्मे त्रिदशोऽभवत् ॥६५॥
ततश्च्युतो धनजीवो, विदेहाऽऽ सपश्चिमे ।
विजये गन्धिलावत्यां, वैताढ्यगिरिमूर्द्धनि ॥ ६६ ॥

गन्धाराख्ये जनपदे, पुरे गन्धसमृद्धके ।
राज्ञः शतबलस्याऽऽसी-च्चन्द्रकान्ता तनूद्भवः ॥ ६७ ॥
महाबलो धर्मस्यात्मा, महाबल इवापरः ।
वर्द्धमानः क्रमात्प्राप, यौवनं केलिभाजनम् ॥ ६८ ॥
कन्यां विनयवत्याख्यां, भूभुजा पर्यणाय्यत ।
राज्ये तमथ संस्थाप्य, स्वयं राजाऽग्रहीद्व्रतम् ॥ ६९ ॥
सद्यः सोऽथ महाराजो, दुरमात्यप्रतारितः ।
यथेष्टं चेष्टते धर्म-विमुखो विषयोन्मुखः ॥ ७० ॥
प्रमादमदिरामत्तो, निरर्गलशिरोमणिः ।
कृत्याकृत्यमजानानः, शिक्षाहीनो वनेऽभवत् ॥ ७१ ॥
सङ्गीतकेऽन्यदा जाय-माने मन्त्रिमतल्लिका ।
स्वयं बुद्धः प्रबोधाय, भूभुजः प्रोचिवानिति ॥ ७२ ॥
सर्वं गीतं विलपितं, सर्वं नाट्यं विडम्बना ।
सर्वेऽप्याभरणा भाराः, कामाः सर्वेऽपि दुःखदाः ॥ ७३ ॥
सम्भिन्नमतिरूचे तं, किमप्रस्तावमुच्यते ।
वीणायां वाद्यमानायां, वेदोच्चारो न रोचते ॥ ७४ ॥
स्वयम्बुद्धस्तमाह स्म, नाऽहितोऽस्मि प्रभु प्रति ।
ऐहिकस्यैव वक्ताऽसि, नामुष्मिकविधौ पुनः ॥ ७५ ॥
देव ! कारणमत्रास्ति, यत्त्वामभिदधेऽधुना ।
अद्योद्याने मयाऽदर्शि, चारणश्रमणद्वयम् ॥ ७६ ॥
तत्समीपे मयाऽप्रच्छि, कियदायुर्मदीशितुः ।
तेनाख्यायि मासमेकं, ततो भीतोऽभ्यधामिदम् ॥७७॥
राजोचेऽमात्य ! सुप्तोऽहं, साधु जागरितस्त्वया ।
तदानीमेव सङ्गीतं, विससर्ज भयद्रुतः ॥ ७८ ॥
कथयामात्य ! को धर्मः, कर्त्तव्योऽल्पीयसाऽऽयुषा ।
लग्ने प्रदीपने विष्वक्, कः कूपखननोद्यमः ॥७९ ॥
मन्त्र्यूचे देव ! मा भैषी-र्दिनमेकमपि व्रतम् ।
न स्याद्यद्यपवर्गाय, स्वर्गाय स्यान्न संशयः ॥ ८० ॥
ततो राज्ये निजं पुत्र-मभिषिच्यानुशिष्य च ।
सप्तक्षेत्र्यां धनं प्राज्य-मुप्त्वा मुक्त्वा परिग्रहम् ॥८१ ॥
ततः प्रव्रज्य राजर्षि-र्द्वाविंशतिदिनानि सः ।
कृत्वाऽनशनमीशाने, विमाने श्रीप्रभाभिधे ॥८२॥
ललिताङ्गाभिधो जज्ञे, शक्रसामानिकः सुरः ।
देवी स्वयंप्रभा तस्य, तत्र दिव्यप्रभा प्रिया ॥८३ ॥
क्रीडतोरपृथक्त्वेन, मनसोरिव देहयोः ।
तयोः कालो ययौ भूयां-श्च्युताऽन्येद्युः स्वयंप्रभा ॥ ८४ ॥
मुमूर्च्छ ललिताङ्गोऽपि, वज्रेणेवाभिताडितः ।
मनोभिरामरामाया, विगमे कस्य नासुखम् ॥८५॥
मूर्च्छान्ते विललापोच्चै-र्मुक्तकण्ठं रुरोद च ।
श्मशानस्थीव शोकार्त्तः, शोकमाविश्चकार सः ॥८६॥
स्वयंबुद्धोऽपि तन्मन्त्री, पश्चादादाय संयमम् ।
ईशानेऽजनि पूर्णायुः, सोऽपि शक्रसमः सुरः ॥ ८७ ॥
सोऽवधेः स्वामिनं मत्वा, ललिताङ्गमुपागमत् ।
प्राग्वत्प्राबोधयद्धर्मा-ख्यानैः शोकापनोदवित् ॥ ८८ ॥
उपयुज्यावधिं ज्ञात्वा, पुनस्तं स्माह मा मुह ।
भाविनी भवतो भार्या, मया ज्ञाताऽस्ति तत् शृणु ॥ ८९ ॥
द्वीपेऽत्र धातकीखण्डे, प्राग्विदेहावनावभूत् ।
नन्दिग्रामे गृहपति-र्नागिलोऽतीव दुर्गतः ॥ ९० ॥
नागश्रीस्तस्य भार्याऽसू-त्कन्याः षट् जनितास्तया ।
प्रायेण हि दरिद्राः स्यु-र्बहुकन्या बहुक्षुधः ॥ ९१ ॥

तत्प्रियाऽऽसीत्पुनर्गुर्वी, नागिलोऽथ व्यचिन्तयत् ।
स्याद्यद्यस्याः सुतैवातो, यास्याम्यूर्ध्वमुखः क्वचित् ॥ ९२ ॥
जाता सुताऽथ तान्त्यः स, राक्षसीन्य इवानशत् ।
नागश्रीर्दुःखिता दुःस्था, तस्या नामापि न व्यधात् ॥ ९३ ॥
लोकैर्निर्नामिकेत्युक्ता, दुर्भागा दुःखसेवधिः ।
परगेहेषु दुष्कर्म-करणाज्जीवति स्म सा ॥ ९४ ॥
अथान्यदाऽधमिभ्यानां, हस्तेष्वालोक्य मोदकान् ।
ययाचे मातरं साऽपि, मातोचे पुत्रि ! मोदकान् ॥ ९५ ॥
गतोऽस्त्यानेतुं त्वद्धेतो-स्त्वज्जन्मन्येव ते पिता ।
शैलादम्बरतिलका-त्काष्ठदारूण्युपानय ॥ ९६ ॥
दह्यमानतया मातुः, कालकूटाकिरा गिरा ।
रज्जुमादाय याति स्म, मुञ्चन्त्यश्रूणि तं गिरिम् ॥ ९७ ॥
युगन्धरमुनिस्तत्र, तदा केवलमासदत् ।
व्यन्तरैर्महिमा चक्रे, लोकास्तं नन्तुमाययुः ॥ ९८ ॥
निर्नामिकाऽपि तत्राऽगा-त्केवली धर्ममादिशत् ।
निर्नामिका गुरूनूचे, भग्नोऽहं कथमीदृशी ॥ ९९ ॥
गुरुः स्माह पुरा धर्म-स्त्वया नाकारि तत्फलम् ।
ततोऽधुनाऽपि तम्भद्रे ! कुरु स्या येन सौख्यभाक् ॥ १०० ॥
सम्यक्त्वं गृहिधर्मं च, साऽथ गुर्वन्तिकेऽग्रहीत् ।
साधर्मिकेति लोकेना-नुगृहीता सुखं स्थिता ॥ १०१ ॥
तेपे तपांसि भूयांसि, स्यात्कर्मप्रक्षयो यतः ।
युगन्धरगुरोः पार्श्वे, साऽस्त्यात्तानशनाऽधुना ॥ १०२ ॥
ततो मन्त्रिगिरा तस्याः, स सुरः स्वमदर्शयत् ।
निदानं सा व्यधात्तत्र, दृष्ट्वा स्यामस्य पत्न्यहम् ॥ ३ ॥
मृत्वा सा तस्य भार्याऽभू-द्देवी स्वयं प्रभाभिधा ।
नवीभूतामिवायातां, तां रेमेऽथ स पूर्ववत् ॥ ४ ॥
कियत्यपि गते काले, ललिताङ्गस्ततश्च्युतः ।
जम्बूद्वीपे प्राग्विदेहा-ऽन्यन्ते सीतोत्तरे तटे ॥ ५ ॥
विजये पुष्कलावत्यां, लोहार्गलमहापुरे ।
सुवर्णजङ्घसद्मीभू-र्वज्रजङ्घः सुतोऽभवत् ॥ ६ ॥
स्वयंप्रभाऽप्यथ च्युत्वा, विजयेऽत्रैव सा भवत् ।
चक्रिणः पुण्डरीकिण्यां, वज्रसेनस्य पुत्रिका ॥ ७ ॥
यौवने चन्द्रशालास्था, श्रीमती सुस्थितस्य सा ।
उद्याने केवलोत्पत्तौ, विलोक्यागच्छतः सुरान् ॥ ८ ॥
जातजातिस्मृतिर्दध्यौ, ललिताङ्गः क मे पतिः ।
तद्ज्ञानात्तदप्राप्तौ, मौनमेवास्तु मेऽधुना ॥ ९ ॥
कृतैरप्युपचारौघैः, सा मुमोच न मूकताम् ।
धात्र्या पृष्टा रह प्राह, पटमालिख्य चार्पयत् ॥ १० ॥
चक्रिणो वज्रसेनस्य, वर्षग्रन्थौ नृपागमे ।
तं पटं पण्डिता धात्री, धृत्वा राजपथे स्थिता ॥ ११ ॥
तत्रागाद्वज्रजङ्घोऽपि, तं दृष्ट्वा जातिमस्मरत् ।
ववाचेदं चरित्रं मेऽ-लिखन्नूनं स्वयंप्रभा ॥ १२ ॥
अभिज्ञानानि सर्वाणि, पण्डितायाः अपूरयत् ।
श्रीमत्यै साऽथ गत्वाऽस्य-सदैव मुमुदे च सा ॥ १३ ॥
पितुर्व्यज्ञपयत्तच्च, श्रीमती पण्डितामुखात् ।
पिताऽपि तत्क्षणाद्वज्र-जङ्घमाजूहवत्ततः ॥ १४ ॥
ऊचे राजा वज्रजङ्घ ! तव प्राग्भवपत्न्यसौ ।
अस्मिन्नपि भवे ते स्या-दिति तां पर्यणाययत् ॥ १५ ॥
सह प्रियैव श्रीमत्या, वज्रजङ्घो मुकुन्दवत् ।
जगाम राज्ञाऽनुज्ञातो, लोहार्गलपुरं निजम् ॥ १६ ॥

स्वर्णजङ्घस्ततो राज्ये, वज्रजङ्घं न्यवेशयत् ।
स्वयं संयमसाम्राज्य-मपेदे निर्वृतिस्पृहः ॥ १७ ॥
वज्रजङ्घश्चिरं राज्यं, श्रीमत्या सह निर्ममे ।
इच्छावथ सुतं राज्ये, कृत्वा स्वः प्रव्रजिष्यते ॥ १८ ॥
राज्योत्सुकः सुतस्ताव-त्पित्रोर्व्यापादनाकृते ।
विषधूमं व्यधाद्रात्रौ, सुप्तयोस्तेन तौ मृतौ ॥ १९ ॥
"उत्तरकुरुसोहम्मे, महाविदेहे महब्बलो राया ।
ईसाणे ललियंगो, महाविदेहे वइरजंघे " ॥ १ ॥ (उक्तार्था)
उत्पद्योत्तरकुरुषु, तौ द्वौ युगलधर्मिणौ ।
भुक्त्वा भोगांस्ततो जातौ, सौधर्मे सुहृदौ सुरौ ॥ २० ॥
वज्रजङ्घस्य जीवोऽथ, भुक्त्वा भोगांस्ततश्च्युतः ।
जम्बूद्वीपे विदेहेषु, पुरे क्षितिप्रतिष्ठिते ॥ २१ ॥
वैद्यस्य सुविधेः सूनु-र्जीवानन्दाभिधोऽभवत् ।
तद्दिने सोऽभवत्पुत्र-श्चत्वारस्तद्दिनेऽपरे ॥ २२ ॥
प्रसन्नचन्द्रभूपाल-पुत्रो नाम्ना महीधरः ।
सुबुद्धिनामा तनयः, सुनासीरस्य मन्त्रिणः ॥ २३ ॥
धनदत्तश्रेष्ठिसूनु-र्गुणाकर इति स्मृतः ।
पूर्णभद्राभिधः सार्थ-पतिसागरनन्दनः ॥ २४ ॥
जायन्ते स्म नृपामात्य-श्रेष्ठिसार्थपनन्दनाः ।
सम वव्रधिरे सर्वे, समश्च जगृहुः कलाः ॥ २५ ॥
श्रीमत्या अपि जीवोऽथ, तत्रैवाथ पत्तने ।
सुन्दरीश्वरदत्तस्य, श्रेष्ठिनः केशवाभिधः ॥ २६ ॥
तत्सुताः सहवासाद्यैः, स्नेहात्षड् सुहृदोऽभवन् ।
विधेव वैद्यकं जीवा-नन्दोऽपि स्वपितुर्मुखात् ॥ २७ ॥
सदैव रममाणास्ते, परस्पराधियोगिनः ।
कदाचित्कस्यचिद्गेहे, गोष्ठ्या तिष्ठन्ति नित्यशः ॥ २८ ॥
अन्यदा वैद्यपुत्रस्य, जीवानन्दस्य वेश्मनि ।
सर्वेषां तिष्ठतां तेषां, साधुर्भिक्षाकृतेऽभ्यगात् ॥ २९ ॥
अगाद राजसूर्वैद्यं, परिहासेन किञ्चन ।
अस्ति व्याध्यौषधज्ञानं, केवलं नास्ति ते कृपा ॥ ३० ॥
वेश्येव द्रव्यग्राही त्वं, यत्साधुं न चिकित्ससि ।
जीवानन्दो वदन्मित्र ! सामग्री नौषधस्य मे ॥ ३१ ॥
औषधेषु लक्षपाकं, तैलमस्त्येकमेव मे ।
गोशीर्षचन्दनं रत्न-कम्बलं चेति नो वशे ॥ ३२ ॥
चान्दनं काम्बलं मूल्य, पञ्चाप्यादाय ते गृहात् ।
प्रययुर्विपणिश्रेण्यां, स्वस्थानं मुनिरप्यगात् ॥ ३३ ॥
वणिजं वृद्धमेकं ते, स्माहुर्मूल्यादिता ननु ।
गोशीर्षचन्दनं रत्न-कम्बलं च प्रयच्छ नः ॥ ३४ ॥
सोऽवक्कार्यमाभ्यां व-स्तेऽप्यचुः साधुवैद्यकम् ।
इत्थी वृद्धो युवानोऽमी, धर्मकर्मविधित्सवः ॥ ३५ ॥
वृद्धः करोमि किमाह-मतस्तानाह स प्रधीः ।
गोशीर्षकम्बलौ गृह्य-न्त्वस्तु श्रेयोऽत्र मे फलम् ॥ ३६ ॥
तौ समर्प्य स धर्मेण, धर्मात्मा श्रेष्ठिपुङ्गवः ।
व्रतं संगृह्य कर्माणि, निगृह्य च शिवं ययौ ॥ ३७ ॥ आ० क०॥

अमुमेवार्थमुपसंहरन् गाथाद्वयमाह ।

विज्जसुअस्स य गेहे, किमिकुट्ठोवहयं जइं दट्टुं ।
बिंति अ ते विज्जसुअं, करेहिए अस्स तेगिच्छं ।
तिल्लं तेगिच्छिसुओ, कंबलगं चंदणं च वाणिअओ ।
दाउं अभिनिक्खंतो, तेणेव भवेण अंतगडो ॥

गमनिका । वैद्यसुतस्य च गेहे कृमिकुष्ठोपहतं यतिं दृष्ट्वा वद-न्ति च ते वैद्यसुतं,कुरु अस्य चिकित्सां तैलं चिकित्सकसुतः कम्ब-लकं चन्दनं वणिग्दत्त्वा अभिनिष्क्रान्तस्तेनैव भवेन अन्तकृतः । भावार्थः स्पष्ट एव कश्चित् क्रियाध्याहारः स्वबुद्ध्या कार्य इति गाथाद्वयार्थः । आव०१ अ० "उसभेणं अरहा कोसलिए वीइस पुव्वी होत्था " उसभेणं अरहा कोसलिए पुव्वभवे चक्कवट्टी होत्था " स० ।

कथानकशेषमुच्यते ।

वणिज्यौषधसामग्रीं, कृत्वाऽगुर्मुनिसंनिधौ ।
अनुज्ञाप्य मुनीन्द्रं त, चिकित्सामारभन्त ते ॥ ३८ ॥
मुने सर्वाङ्गमभ्यङ्गं, तेन तैलेन ते व्यधुः ।
तद्वीर्येण तदाक्रान्त , साधुर्निश्चेतनोऽभवत् ॥ ३९ ॥
आकुलास्तेन तैलेन, कृमयो निर्ययुर्बहिः ।
जीवानन्दस्ततो रत्न-कम्बलेन तमावृणोत् ॥ ४० ॥
सर्वेऽपि कृमयो लग्नाः, शीतत्वाद्रत्नकम्बले ।
वैद्यस्ततोऽक्षिपत्सर्वान्, कृमींस्तान् गोशवोपरि ॥ ४१ ॥
साधुमाश्वास्य गोशीर्ष-चन्दनेनाथ सोऽक्षिपत् ।
आद्याभ्यङ्गेन कृमय-स्त्वग्गता निर्गता मुनेः ॥ ४२ ॥
द्वितीयेऽभ्यङ्गे मांसस्था-स्तृतीये चास्थिसंस्थिताः ।
कृमयो निर्ययुः सर्वे, मन्त्राकृष्टा इवाऽहयः ॥ ४३ ॥
संरोहिण्यौषधेः साधुं, स्वर्णकान्तिमथाकरोत् ।
विजहार ततः साधु-र्नीरोगीकृतवपुः स तैः ॥ ४४ ॥
रत्नकम्बलगोशीर्ष-चन्दनस्य च विक्रयात् ।
चैत्यं ते कारयामासु-र्मेरुशृङ्गमिवोन्नतम् ॥ ४५ ॥
कृत्वा द्रव्यस्तवं तेऽथ, भावस्तवचिकीर्षवः ।
सुसाधुसंनिधौ दीक्षां, षडप्यादाय धीधनाः ॥ ४६ ॥
चिरं चारित्रमाचर्य, निरतीचारसुन्दरम् ।
मृत्वा षडपि तेऽभूव-न्नच्युते त्रिदशोत्तमाः ॥ ४७ ॥
जम्बूद्वीपाभिधे द्वीपे, विदेहार्द्धे च पूर्वतः ।
विजये पुष्कलावत्यां, नगरी पुण्डरीकिणी ॥ ४८ ॥
वज्रसेनो नृपस्तत्र, धारिणी तस्य वल्लभा ।
तेऽप्यच्युतच्युताः पञ्च, तत्पुत्राः क्रमशोऽभवन् ॥ ४९ ॥
चतुर्दशमहास्वप्न-सूचितः प्रथमोऽङ्गजः ।
वज्रनाभाख्यया ख्यातो, वैद्यस्यात्मा विवेकधीः ॥ ५० ॥
बाहुर्नृपसुतस्यात्मा, सुबाहुर्मन्त्रिसन्ततेः ।
आत्मा पीठो महापीठः श्रेष्ठिसार्थेशपुत्रयोः ॥ ५१ ॥
केशवस्य च जीवोऽभू-त्सुयशा राजपुत्रकः ।
आश्रितो वज्रनाभस्य, शैशवादपि सोऽभवत् ॥ ५२ ॥
ते वर्द्धन्ते स्म षडपि, षड्गुणा इव देहिनः ।
कलाचार्यात्कलाः सर्वे, स्पर्द्धयेवाच्छिदन् धिया ॥ ५३ ॥
लोकान्तिकैरथेत्युक्ते, स्वामिंस्तीर्थं प्रवर्त्तय ।
वज्रसेनस्ततो राज्ये, वज्रनाभं न्यवेशयत् ॥ ५४ ॥
स्वयं सांवत्सरं दानं, दत्त्वा संयममग्रहीत् ।
तुर्यं ज्ञानं तदा भर्तुः, साङ्केतिकमिवाभिलत् ॥ ५५ ॥
राजा ज्ञातृभ्रातृयोरपि, लोकपालानिवाकरोत् ।
राजपुत्रं सुयशसं, सारथ्ये च न्यवेशयत् ॥ ५६ ॥
वज्रसेनजिनस्याभू-त्केवलज्ञानमेकतः ।
अन्यतश्चक्रशालाया-मुत्पन्नं चक्रमायुधम् ॥ ५७ ॥
भगवन्तं ततोऽभ्यर्च्य, चक्रं चानुप्रपूज्य च ।
साधयामास षट्खण्डां, पृथ्वीं देशैकदासया ॥ ५८ ॥

चक्रे च चक्रवर्तित्वा निषेकोऽस्याखिलैर्नृपैः ।
अपालयच्चिरं राज्य-मेकच्छत्रम्महीतले ॥ ५६ ॥
अन्यदा समवासार्षी-द्वज्रसेनजिनेश्वरः ।
व्याख्यामघरेतद्वाक्यां, श्रुत्वा चक्र्यादयोऽबुध्यन् ॥ ६० ॥
पुत्रं निवेश्य राज्ये स्वे, वज्रनाभः ससारथिः ।
चतुर्भिर्भ्रातृभिः सार्द्धं, प्रवव्राजान्तिके प्रभोः ॥ ६१ ॥
प्रासकालं वज्रसेन-स्तीर्थकृन्निर्वृतिं ययौ ।
वज्रनाभो द्वादशाङ्गी, परे चैकादशाङ्गिनः ॥ ६२ ॥
बाहुः साधुपञ्चशत्या, भक्तपानान्यपूरयत् ।
सुबाहुः सर्वसाधूना-मङ्गविश्रामणां व्यधात् ॥ ६३ ॥
साधू पीठमहापीठौ, रहः स्वाध्यायकारिणौ ।
बाहुं सुबाहुमाचार्या, श्लोकं सर्वत्र शंसति ॥ ६४ ॥
धन्यावेनौ महासत्त्वौ, वैयावृत्त्यं सुदुष्करम् ।
कुरुतः कुरुते कोऽन्यः, कष्टमाङ्गिकमीदृशम् ॥ ६५ ॥
इतरौ कुरुतोऽप्रीति-मावां स्वाध्यायिनावपि ।
न कोऽपि श्लाघते यद्वा, यद्भजन्कर्म चर्म च ॥ ६६ ॥
राजर्षिर्वज्रनाभोऽथ, विंशत्या स्थानकैस्तदा ।
तीर्थकरनामगोत्रं, कर्मोपार्जयन्महामनाः ॥ ६७ ॥ आ० क० ॥

२ तीर्थकरत्वहेतुसंग्रहार्थं गाथाचतुष्टयमाह ।

साहुं तिगिच्छिऊणं, सामन्नं देवलोगगमणं च ।
पुंडरिगिणिए उ चुआ, तओ सुआ वइरसेणस्स ॥
पढमित्थ वइरनाहो, बाहुसुबाहू अ पीढमहपीढो ।
तेसिं पिआ तित्थयरो, निक्खंता ते वि तत्थेव ॥
पढमो चउदसपुव्वी, सेसा इक्कारसंगवी चउरो ।
बिइओ वेयावच्चं, किइकम्मं तईयओकासी ॥
भोगफलं बाहुबलं, पसंसणा जिट्ठइअरअचिअत्तं ।
पढमो तित्थयरत्तं, वीसाहिं ठाणेहिं कासीअ ॥

आसामक्षरगमनिका साधुं चिकित्सयित्वा श्रामण्यं देवलोके गमनञ्च पौण्डरीकिण्याञ्च च्युतः सुता वैरसेनस्य जाता इति वाक्यशेषः । प्रथमोऽत्र वइरनाभो बाहुसुबाहू च पीठमहापीठौ तेषां पिता तीर्थकरो निष्क्रान्तास्तेऽपि तत्रैव पितुः सकाश इत्यर्थः । प्रथमश्चतुर्दशपूर्वी शेषा एकादशाङ्गविदश्चत्वारः तेषां चतुर्णां बाहुप्रभृतीनां मध्ये द्वितीयो वैयावृत्त्यं कृतिकर्म्म तृतीयोऽकार्षीत् भोगफलं बाहुबलप्रशंसनाज्ज्येष्ठस्य इतरयोरचित्तत्वं प्रथमस्तीर्थकरत्वं विंशतिभिः स्थानैरकार्षीत् । भावार्थस्तूक्त एव क्रियाध्याहारोऽपि स्वबुद्ध्या कार्य इह विस्तरभयान्नोक्त इति गाथाचतुष्टयार्थः । आव० १ अ० । [तीर्थकृज्जन्मनिबन्धनकारणानि तित्थयरशब्दे]

एतैः स्थानैर्वज्रनाभ-स्तीर्थकृत्कर्मबद्धवान् ।
साधुजनकाविदानेन, बाहुश्चक्रभृतः श्रियम् ॥ १ ॥
बाहुर्वैव सुबाहुश्च, साधुविश्रामणाद्व्यधात् ।
इतरौ तु तेन माया-कर्मणा स्त्रीत्वमर्जतः ॥ २ ॥
ततः पूर्णायुषः कालं, कृत्वा पञ्चापि साधवः ।
षष्ठश्च सुयशाः सर्वे, सर्वार्थसिद्धिमैयरुः ॥ ३ ॥
जम्बूद्वीपाभिधे द्वीपे, भरतार्द्धे च दक्षिणे ।
गङ्गासिन्धुसरिन्मध्य-खण्डे कल्पद्रुमाकुले ॥ ४ ॥
इहावसर्पिणीकाले, सुषमादुःषमारके ।
कुलकृत्सप्तमो नाभि-र्मरुदेवा प्रियोऽभवत् ॥ ५ ॥
पूर्वलक्षेषु चतुरा-शीतौ शेषेषु सत्स्विह ।
स नवाशीतिपक्षेषू-त्तराषाढायुते विधौ ॥ ६ ॥
आषाढे मासि कृष्णेऽपि-चतुर्थेऽह्नि सुनिर्मले ।
जीवो युगादिदेवस्य, च्युत्वा सर्वार्थसिद्धितः ॥ ७ ॥
देव्याः श्रीमरुदेवाया, सरोवरं इवोदरे ।
ज्ञानत्रयपवित्रात्माऽवततार मरालवत् ॥ ८ ॥
त्रैलोक्येऽपि तदैवासी-द्दक्षिणां नवसङ्गिनाम् ।
उद्योतः कोऽप्यनिर्वाच्यः, सुखञ्च कष्टमद्भुतम् ॥ ९ ॥
स्वप्नेष्वप्रतुसमाः स्वप्ना, वर्णराशौ स्वरा इव ।
निद्राणया तदा देव्या, दृश्यन्ते स्म चतुर्दश ॥ १० ॥
वृषभः १ कुञ्जरः २ सिंहः ३ पद्मवासाऽभिषेचनम् ४ ।
पुष्पदाम ५ शशी ६ सूर्यः ७ पूर्णकुम्भ ८ सितध्वजः ९ ॥ ११ ॥
पद्माकरः १० पयोराशि ११ र्विमान कल्पवासिनाम् ॥ १२
रत्नोच्चयं १३ शिखी चेति १४ प्रविशन्तो मुखाम्बुजे ॥ १२ ॥
तानाख्याति स्म सा नाभे-र्निद्राच्छेदे प्रमोदभाक् ।
अत्युत्तमसुतप्राप्तिं, तस्याः सोऽपि न्यवेदयत् ॥ १३ ॥
तदैव युगपत्सर्वेऽप्यागत्य चलितासनाः ।
स्वप्नपाठकवद्देव्याः, शक्रा स्वप्नार्थमन्वधुः ॥ १६ ॥
देवि त्वदङ्गजस्यैते, महास्वप्नाश्चतुर्दश ।
चतुर्दशरज्जुमिते, लोके स्वामुरधीशताम् ॥ १५ ॥
चतुर्दशानां पूर्वाणा-मयमेव जगत्प्रभुः ।
उपदेक्ष्यति हेमात-मातृकां बीजसन्निभाम् ॥ १६ ॥
चतुर्दश पूर्वधराः, शिष्याश्चैतस्य भाविनः ।
तथा चतुर्दशचतु-र्दशकानेष वक्ष्यति ॥ १७ ॥
एवं स्वप्नार्थमावेद्य, सर्वेऽपि त्रिदशाधिपाः ।
स्थानं निजनिजं जग्मु-र्विसृष्टा इव सेवकाः ॥ १८ ॥
तमिन्द्राख्यातमाकर्ण्य, स्वप्नार्थं देव्यमोदत ।
नाभिरप्यभजत्प्रीतिं, कस्येष्टाप्त्या मुदे न वा ॥ १९ ॥ आ० क० ।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

उववाओ सव्वट्ठे, सव्वेसिं पढमओ चुओ उसभो ।
रिक्खेणासाढाहिं, असाढ बहुले चउत्थीए ॥

गमनिका । उपपातः सर्वार्थे सर्वेषां सञ्जातस्ततश्चायुष्कपरिक्षये सति प्रथमश्च्युतो ऋषभ ऋषभेण नक्षत्रेण आषाढाभिः आषाढबहुले चतुर्थ्यामिति गाथार्थः । इदानीं तद्वक्तव्यताभिधित्सयैनां द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः ।

जम्मणे नामवुड्ढी अ, जाइस्सरणे इ अ ।
वीवाहे अ अवच्चे अ-भिसेए रज्जसंगहे ॥

गमनिका (जम्मणे इति) जन्मविषयो विधिर्वक्तव्यः वक्ष्यति च " चित्तबहुलट्ठमीए " इत्यादि (नाम इति) नामविषयो विधिर्वक्तव्यः । वक्ष्यति च " देसूणगं च इत्यादि " (वुड्ढीयत्ति) वृद्धिश्च भगवतो वाच्या वक्ष्यति च "अह सो वड्ढइ भगवं इत्यादि " (जाइस्सरणेइयत्ति) जातिस्मरणे च विधिर्वक्तव्यः । वक्ष्यति च " जाइस्सरोयमित्यादि " (वीवाहेयत्ति) विवाहे च विधिर्वक्तव्यः । वक्ष्यति च 'भोगसमुत्थमित्यादि' (अवच्चेत्ति) अपत्येषु क्रमो वाच्यः वक्ष्यति च " तोभरहबंभिसुन्दरी इत्यादि "(अभिसेगेत्ति) राज्याभिषेके विधिर्वाच्यः । वक्ष्यति च "आभोएउं सक्को उवागओ इत्यादि" (रज्जसंगहेत्ति) राज्यसङ्ग्रहे विधिर्वाच्यः वक्ष्यति च "आसाहत्थीगावो इत्यादि" अयं समुदायार्थः । अवयवार्थन्तु प्रतिद्वारं यथावसरं वक्ष्यामः ।

[२]तत्र प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सया जन्म नन्महोत्सवं चाह।

चित्तबहुलट्ठमीए, जाओ उसओ असाढनक्खत्ते ।
जम्मणमहो अ सव्वो, नेयव्वो जाव घोसणं ॥

गमनिका । चैत्रस्य बहुलाष्टम्यां जात ऋषभः आषाढनक्षत्रे जन्ममहश्च सर्वो नेतव्यो यावद् घोसणमिति गाथार्थः ।

भावार्थः कथातो ज्ञेयः सा चेयम् ।

क्रमात्पूर्णेष्वथाहःसु, चैत्रे कृष्णाष्टमीतिथौ ।
निशीथे सुषुवे सूनुं, देवीयुगलधर्मिणम् ॥१॥
अचेतना अपि दिश-स्तदानीं मुदिता इव ।
प्रसेदुः किं पुनर्वच्मि, लोकानां चेतनावताम् ॥२॥
वायवोऽपि सुखस्पर्शा, मन्दं मन्दं ववुस्तदा ।
कम्प्यवीक्षितमीहन्त, प्रेक्षमाणा इव प्रभुम् ॥३॥
उद्योतस्त्रिजगत्यासी-द्दध्वान दिवि दुन्दुभिः ।
नारका अप्यमोदन्त, भूरप्युच्छ्वासमासदत् ॥४॥
"गयदन्तसेलहिट्ठा, अट्ठ अहो लोगवासिणीदेवी ।
नन्दणवणकूडेसुं, अट्ठय तह उड्ढलोगाओ" ॥१॥
दिक्कुमार्योऽष्टाधोलोक-वासिन्य कम्पितासनाः ।
अर्हज्जन्मावधेर्ज्ञात्वा-ऽभ्येयुस्तत्सूतिवेश्मनि ॥५॥
भोगङ्करा भोगवती, सुभोगा भोगमालिनी ।
सुवत्सा वत्समित्रा च, पुष्पमाला त्वनन्दिता ॥ ६ ॥
नत्वा प्रभुं तदम्बाञ्चै-शाने सूतिगृहं व्यधुः ।
सवर्त्तेनाशोधयत्क्ष्मा-मायोजनमितो गृहात् ॥ ७ ॥
मेघकरा मेघवती, सुमेघा मेघमालिनी ।
तोयधारा विचित्रा च, वारिषेणा बलाहिका ॥ ८ ॥
अष्टोर्ध्वलोकादेत्यैता, नत्वार्हन्तं समातृकम् ।
तत्र गन्धाम्बुपुष्पौघ-वर्षं हर्षाद्वितेनिरे ॥९॥
अथ नन्दोत्तरानन्दे, आनन्दा नन्दिवर्द्धने ।
विजया वैजयन्ती च, जयन्ती चापराजिता ॥१०॥
अष्टात्रभ्येत्य पौरस्त्य-रुचकाद्रेरयादिमाः ।
जिनं जिनाम्बां नत्वाऽस्थु, प्राच्या दर्पणपाणयः ॥११॥
समाहारा सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा यशोधरा ।
लक्ष्मीवती शेषवती, चित्रगुप्ता वसुंधरा ॥ २॥
अपाच्यरुचकाद्रेश्चा-ऽैत्य देवं समातृकम् ।
प्रणम्य दक्षिणेनैता-स्तस्थुर्भृङ्गारपाणयः ॥१३॥
इलादेवी सुरादेवी, पृथिवी पद्मवत्यपि ।
एकनासा नवमिका, भद्रा सीतेति नामतः ॥१४॥
प्रत्यग्रुचकशैलाद्-ऽैत्य व्यजनपाणयः ।
स्वामिनं मरुदेवीञ्च, नत्वाऽस्थुः पश्चिमेन तु ॥१५॥
अलम्बुषा मितकेशी, पुण्डरीका च वारुणी ।
हासा सर्वप्रभा श्रीर्ह्री-रष्टोदग्रुचकाद्रितः ॥ १६ ॥
तत्रागत्य जिनं जैनीं, जननीं चात्तचामराः ।
प्रणिपत्योत्तरेणासा-ञ्चक्रिरे मोदमेदुराः ॥ १७ ॥
शतेरा चित्रकनका, चित्रा सौत्रामणी तथा ।
दीपहस्ता विदिक्ष्वेत्या-स्थुर्विदिग्रुचकाद्रितः ॥ १८ ॥
रुचकद्वीपतोऽभ्येयु-श्चतस्रो दिक्कुमारिकाः ।
रूपा रूपासिका चापि, सुरूपा रूपकावती ॥१९॥
प्रकल्प्य भगवन्नालं, चतुरङ्गुलवर्जितम् ।
खनित्वा विवरं तत्र, नालं निक्षिप्य तं ततः ॥२०॥
वैडूर्यरत्नैरापूर्य, वबन्धुर्हरितालयाः ।
पीठं तस्योपरितले, ततोऽर्हज्जन्मगेहतः ॥२१॥
पूर्वस्याञ्च दक्षिणस्या-मुत्तरस्यां विचक्रिरे ।
ताभिश्च त्रीणि कदली-गृहाणि स्वर्विमानवत् ॥ २२॥
प्रत्येकमेषां मध्ये च, सिंहासनविभूषितम् ।
विचक्रिरे चतुःशालं, स्वर्णरत्नमणीमयम् ॥ २३ ॥
ता दक्षिणचतुःशाले, जिनं न्यस्य कराञ्जलौ ।
निन्युस्तन्मातरञ्चात्त-चेटीवद्दत्तबाहवः ॥ २४ ॥
सिंहासने निवेश्योभा-वभ्यानञ्जुः सुगन्धिना ।
ता लक्षपाकतैलेन, जरत्संवाहिका इव ॥ २५ ॥
आमन्दानन्दनिस्यन्द-प्रमोदितदृशो भृशम् ।
उमाबुद्वर्तयामासु-र्दिव्येनोद्वर्तनेन ताः ॥ २६ ॥
नीत्वा ताः प्राक् चतुःशाले, न्यस्य सिंहासने च तौ ।
स्नपयामासुरम्भोभिः, स्वमनोभिरिवामलैः ॥ २७ ॥
गन्धकाषायवासोभि-स्तदङ्गान्यमृजन्नथ ।
गोशीर्षचन्दनरसै-रर्चयामासुराश्रुताः ॥ २८ ॥
ताभ्यामामोचयामासु-र्देवदूष्ये च वाससी ।
विद्युदुद्योतसदृश्यञ्चि, ताश्चित्राभरणानि च ॥ २९ ॥
अथोत्तरचतुःशाले, नीत्वा सिंहासनोपरि ।
न्यषीदयन् भगवन्तं, भगवन्मातरञ्च ताः ॥ ३० ॥
गोशीर्षचन्दनैधांसि, द्राक् क्षुद्रहिमवद्गिरेः ।
ताः समानययामासु-रमरैराभियोगिकैः ॥ ३१ ॥
उत्पाद्यारणिदारुभ्यां, वह्निमह्नाय तास्ततः ।
होमं वितेनुर्गोशीर्ष-चन्दनैरेधसात्कृतैः ॥ ३२ ॥
रक्षापोट्टलिकां बद्धा, तयोरथ जिनान्तिके ।
पर्वतायुर्भवेत्युक्त्वा, स्फालयन्नश्मगोलकौ ॥ ३३ ॥
सूतिकाभवने तस्मिन्, मरुदेवीं विभुं च ताः ।
शय्यागतौ विधायाऽस्थु-र्गायन्त्यो मङ्गलान्यथ ॥ ३४ ॥ आ०क०

संग्रहमाह ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभेणं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीइपंचमे होत्था ॥ २०४ ॥ तं उत्तरासाढाहिं चुए चइत्ता गब्भवक्कंते जाव अभीइणा परिनिव्वुए ॥ २०५ ॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं उसभेणं अरहा कोसलिए जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे आसाढबहुले तस्स णं आसाढबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं सव्वट्ठसिद्धाओ महाविमाणाओ तित्तीसं सागरोवमट्ठितीयाओ अणंतरं चइत्ता इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे इक्खागभूमिए नाभिकुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए । पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि आहारवक्कंतिए जाव गब्भए वक्कंते । २०६ । उसभेणं अरहा कोसलिए तिन्नाणोवगए या वि होत्था चइस्सामि त्ति जाणइ जाव सुविणे पासइ तं । गय सहगाहा "सव्वं तहेव नवरं, पढमं उसभमुहेणं अइंतं । पासइ सेसाउगयं, नाभिकुलगरस्स साहेइ" सुविणपाढगा नत्थि नाभिकुलगरो सयमेव वागरेइ । २०७ । तेणं कालेणं तेणं समयेणं उसभेणं अरहा कोसलिए जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स अट्ठमीपक्खेणं नवण्हं मासाणं

बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं जाव आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आरोग्गारोग्गं दारयं पयाया ।२०८।

अथास्यामवसर्पिण्यां प्रथमधर्मप्रवर्तकत्वेन । परमोपकारित्वात्किञ्चिद्विस्तरतः श्रीऋषभदेवचरित्रं प्रस्तौति । 'तेणमित्यादितः समीइ पच मेहुत्थखि' पर्यन्तं तत्र (कोसलियत्ति) कोशलायामयोध्यायां जव. कौशलिकः ॥ २०४ ॥ तंजहेत्यादितः "परिनिव्वुएत्ति " पर्यन्तं सुगमम् ॥२०५॥ तेणमित्यादितो गब्भवक्कंतेति पर्यन्तं सुगमम् ॥ २०६ ॥ उसभेणमित्यादितः सयमेव वागरे इति पर्यन्तं तत्र मरुदेवा प्रथमं मुखेन (भइंतंति) प्रविशन्त वृषभं पश्यति शेषास्तु जिनजनन्यः प्रथमं गजं पश्यन्ति वीरमाता तु सिंहमद्राक्षीद् ॥२०७॥ तेणमित्यादितो दारगं पयायत्ति पर्यन्तं प्राग्वत् ॥ २०८ ॥ कल्प० । अस्य संग्रहमाह ।

संवट्टमेहआयं-सगा य भिंगारतालयंटा य ।

चामरजोईरक्खं, करिंति एवं कुमारीओ ॥११६॥

संवर्तकमेघमुक्तप्रयोजनं किं कुर्वन्ति आदर्शकाश्च गृहीत्वा तिष्ठन्ति भृङ्गारांस्तालवृन्तांश्चेति तथा चामरं ज्योतीरक्षां कुर्वन्ति एतत्सर्वं दिक्कुमार्य इति गाथार्थः ॥ ११६ ॥ आव० १ अ० ।

ततः सिंहासनं शाक्र, चचालाऽचलनिश्चलम् ।

अवधिं प्रयुज्य ज्ञात्वा, जन्मादिमजिनेशितुः ॥ ३५ ॥

सद्यः स्वर्गाभिमानेन, पालकेनेत्य देवराट् ।

जिनेन्द्रं च जिनाम्बां च, त्रिः प्रादक्षिणयँस्ततः ॥ ३६ ॥

वन्दित्वा नमसित्वा चे-त्येव देवेश्वरोऽवदत् ।

नमोऽस्तु ते रत्नकुक्षि-धारिके विश्वदीपिके ॥ ३७ ॥

अहं शक्रोऽस्मि देवेन्द्रः, कल्पादाद्या इहागमम् ।

प्रभोर्युगादिदेवस्य, करिष्ये जननोत्सवम् ॥ ३८ ॥

भेतव्यं देवि ! तत्रैवे-त्युक्त्वाऽवस्वापिनीं ददौ ।

कृत्वा जिनप्रतिबिम्बं, जिनाम्बासन्निधौ न्यधात् ॥ ३९ ॥

भगवन्तं तीर्थंकरं, गृहीत्वा करसंपुटे ।

विचक्रे पञ्चधा रूपं, सर्वश्रेयोऽर्थिकः स्वयम् ॥ ४० ॥

एको गृहीततीर्थेशः, पार्श्वे द्वावात्तचामरौ ।

एको गृहीतातपत्र, एको वज्रधरः पुनः ॥ ४१ ॥

शक्रराजस्ततश्चातु-र्निकायिकसुरान्वितः ।

शीघ्रं सुमेरुयेनैव, वनं येनैव पाण्डकम् ॥ ४२ ॥

मेरुचूलादक्षिणेना-तिपाण्डुकम्बला शिला ।

सिंहासनं चाभिषेके, तेनैवोपेति देवराट् ॥ ४३ ॥

तत्र सिंहासने पूर्वा-ऽभिमुखे च निषीदति ।

चात्रिंशदपि देवेन्द्रा, स्वामिपादान्तमैयरुः ॥ ४४ ॥

अच्युतेन्द्रस्तत्र पूर्वं, विदधात्यभिषेचनम् ।

ततोऽनुपरिपाटीतो, यावच्छक्रोऽभिषिक्तवान् ॥ ४५ ॥

ततश्च चमरादीन्द्रा, यावच्चन्द्रार्यमादयः ।

एवं जन्माऽभिषेकस्यो-त्सवं निर्वर्त्य देवराट् ॥ ४६ ॥

हर्षप्रकर्षात्सर्वेन्द्रैः, प्राग्वत्सर्वामरान्वितः ।

तीर्थनाथमुपादाय-सद्यः प्रत्यागमत्क्षणात् ॥ ४७ ॥

प्रतिसंहृत्य तीर्थेश-प्रतिबिम्बं सपद्यपि ।

तत्र मातुः सन्निधाने, जगवन्तमतिष्ठिपत् ॥ ४८ ॥

संहृत्यावस्वापिनीं च, दिव्यं क्षौमयुगं ततः ।

दिव्यं कुण्डलयुग्मं च, विमोच्योच्छीर्षके प्रभोः ॥ ४९ ॥

श्रीदामगण्डमुल्लोचे, स्वामिनो रत्नदामयुक् ।

तपनलम्बमानान्तः-स्वर्णकन्दुकमादधे ॥ ५० ॥

येन स्वामी तीर्थकरो, निर्निमेषविलोचनः ।

पश्यन् सुखं सुखेनैव, रममाणोऽस्ति निर्वृतः ॥ ५१ ॥

ततो वैश्रमणं शक्र-वचनात्तत्क्षणादपि ।

द्वात्रिंशद्धिरण्यकोटीः, सुवर्णस्य च तावतीः ॥ ५२ ॥

द्वात्रिंशत्तु नन्दासमा-न्यथ भद्रासनान्यपि ।

रूपयौवनलावण्य-सौभाग्यप्रमुखान् गुणान् ॥ ५३ ॥

न्यधात्तीर्थाधिनाथस्य, जन्मवेश्मनिधीश्वरः ।

अथाभियोगिकैर्देवै-र्महानादेन देवराट् ॥ ५४ ॥

घोषयामास शृण्वन्तु, भवन्तः सर्व एव हि ।

भवनवासिनो देवा, ज्योतिष्का व्यन्तरास्तथा ॥ ५५ ॥

देवा वैमानिका देव्यः, कृत्वा सावहितं मनः ।

यो देवानुप्रियः कश्चि-त्स्वामिनस्त्रिजगत्पतेः ॥ ५६ ॥

त्रिजगत्पतिमातुश्च, करिष्यत्यशुभं मनः ।

सप्तधार्यमञ्जरीव, शिरस्तस्य स्फुटिष्यति ॥ ५७ ॥

चातुर्निकायिका देवा, एवं जन्मोत्सवं प्रभोः ।

नन्दीश्वरेऽष्टाहिकां च, कृत्वा जग्मुर्यथागतम् ॥५८॥ आ०क० ।

(४) नामद्वारमाह ।

देसूणगं च वरिसं, सक्कागमणं च वंसठवणा य ।

आहारमंगुलीए, ठवेंति देवा मणुण्णं तु ॥ १ ॥

सक्को वंसट्ठवणा, इक्खु अगू तेण हुंति इक्खागा ।

जं च जहा जम्मि वए, जुग्गं कासी अतं सव्वं ॥ २ ॥

देशोनं च वर्षं भगवतो जातस्य तावत् पुनः शक्रागमनं च संजातं तेन वंशस्थापना च कृता भगवत इति साऽस्य ऋषभनाथः । अस्य ऋषभस्य गृहवासे असंस्कृत आसीदाहार इति । किं च सर्वे तीर्थकरा एव बाल्यभावे वर्तमानाः न स्तन्योपयोगं कुर्वन्ति किन्त्वाहाराभिलाषे सति स्वामेवाङ्गुलिं वदने प्रक्षिपन्ति तस्यां चाहारमङ्गुल्यां नानारससमायुक्तं स्थापयन्ति देवा मनोज्ञं मनोऽनुकूलमेवमतिक्रान्तबालभावास्त्वग्निपक्वमेव गृह्णन्ति । ऋषभनाथस्तु प्रव्रज्यामप्रतिपन्नो देवोपनीतमेवाहारमुपभुक्तवानिति गाथार्थः ॥११७॥ प्रकृतमुच्यते । मात्यभिहितमानुषाश्रिकमिति गाथार्थः ॥११७॥ प्रकृतमुच्यते । माऽन्येन वंशस्थापना च कृतेत्यभिहितं सा किं यथाकथञ्चिता आहोस्वित् प्रवृत्तिनिमित्तपूर्विकेति । उच्यते प्रवृत्तिनिमित्तपूर्विका न यादृच्छिकी कथम् (आव० १ अ०) शक्रः सौधर्मेन्द्रो वंशस्थापने प्रस्तुते इक्षुं गृहीत्वा आगतः । अक अग कुटिलायां गतौ अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् अक भातीरौणादिके अकु प्रत्यये अकुशब्दोऽभिलाषार्थः । ततः स्वामी इक्षौ' । आकूताभिप्रत्यये अकुशब्दोऽभिलाषार्थः । ततः स्वामी इक्षौ । आकुताभिलाषेण करं प्रासारयत् शक्र आर्पयत् तेन कारणेन प्रवन्ति इक्ष्वाकुवंशभवा ऐक्ष्वाकाः । आ० क० । उ० । ऐक्ष्वाका ऋषभनाथवंशजा इति एवं पञ्चमस्तु यथा येन प्रकारेण यस्मिन् वयसि योग्यं शक्रः कृतवांश्च तत्सर्वमिति । पश्चार्द्धं पाठान्तरं वा ।

तालफलाहयजगिणी, होहियत्ति सारवणा ॥

तालफलाहतभगिनी भविष्यति पत्नीति । 'सारवणा' किल भगवतो नन्दायाश्च तुल्यवयःस्थापनार्थमेवं पाठ इति । तदेव तालफलाहतभगिनी भगवतो बालभाव एव मिथुनकैर्नाभेः सकाशमानीता । तेन च भविष्यति ऋषभपत्नीति । 'सारवणा' संगोपना कृतेति । तथा चानन्तरं वक्ष्यति नन्दायाः "सुमंगलासहिओत्ति" अन्ये तु प्रतिपादयन्ति सर्वैव जन्मद्वारवक्तव्यता प्रारणोगि किलैवं पठ्यते "जमणे य चिवद्दीयत्ति" प्रसंग प्रसङ्गेन गाथापि किलैवं पठ्यते ... आव० १ उ० । आ० क० ।

नाभिस्स णं कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छिंसि एत्थ णं उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमके वली पढमतित्थंकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्था॥

नाम्ना कोशलायामयोध्यायां भवः कौशलिकः भाविनि भूतवदुपचार इति न्यायादेतद्विशेषणम् अयोध्यास्थापनाया ऋषभदेव राज्यस्थापनासमये कृतत्वात् तद्व्यक्तिस्तु भरतक्षेत्रनामान्वर्थकथनावसरे । "धणवइमतिनिम्माया" एतत्सूत्रव्याख्यायां दर्शयिष्यते । अर्हन्तश्च पार्श्वनाथादय इतः केचिदनङ्गीकृतगजधर्मका अपि स्युरित्यसौ केन । क्रमेणार्हत्त्वादित्याह प्रथमो राजा ह्यवसर्पिण्या नाभिकुलकरादियुग्मिमनुज शक्रेण च प्रथममभिषिक्तत्वात् । प्रथमजिन प्रथमो रागादीनां जेता । यद्वा प्रथमो मन पर्यवज्ञानात् राज्यत्यागादनन्तरं द्रव्यतो भावतश्च साधुचक्रवर्तित्वेन अत्रावसर्पिण्यामस्यैव भगवत प्रथमतस्तद्भवनात् जिनत्व चावधिमन पर्यवकेवलज्ञानिनां स्थानाङ्गे सुप्रसिद्धम् । अवधिजिनत्वेऽनुव्याख्यायमानेऽक्रमवद्धसूत्रमिति केवलिजिनत्वे चोत्तरग्रन्थेन सह पौनरुक्त्यमिति व्याख्यानासङ्गति । श्रोतॄणां प्रतिज्ञा तेन प्रथमकेवली आद्य सर्वज्ञ । केवलित्वे च तीर्थकृन्नामोदयो भवतीत्याह प्रथमतीर्थंकर आद्यश्चतुर्वर्णसङ्घस्थापक । उदिततीर्थकृन्नामा च कीदृश स्यादिति प्रथमो धर्मवरो धर्मप्रधानश्चक्रवर्ती यथा चक्रवर्ती सर्वत्राप्रतिहतवीर्येण चक्रेण वर्तते तथा सोऽपीति भाव । समुत्पद्येत समुत्पन्नवानित्यर्थ । जं० २ वक्ष० (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्युक्त तित्थयर शब्दे वक्ष्यते)

तं चेव सव्वं जाव देवा देवीओ य वसुहारवासिंसु सेसं तहेव चारगसोहणमाणुम्माणवद्धणउस्सुक्कमाइय ठिइवडियजूयवज्जं सव्वं भाणियव्वं ॥२०७॥

"तं चेव सव्वमित्यादितो ठिइवडियजूयवज्जं सव्वं भाणियव्वंति" यावत् । तत्र देवलोकच्युतोऽद्भुतरूपोऽनेकदेवदेवीपरिवृत सकलगुरुस्तेभ्यो युगलमनुष्येभ्य परमोत्कृष्ट क्रमेण प्रवर्द्धमान सन्नाहाराभिलाषे सुरसचारितामृतरलसरसामङ्गुलिं मुखे प्रक्षिपति । एवमन्येऽपि तीर्थकरा बाल्येऽवगन्तव्या बाल्यातिक्रमे पुनरग्निपक्वाहारभोजिन ऋषभस्तु प्रव्रज्यां यावत्सुरानीतोत्तरकुरुकल्पद्रुमफलान्यास्वादितवान् । अथ सजातकिञ्चिदूनवर्षे भगवति प्रथमजिनवंशस्थापन शक्र स्वजीतमिति विचिन्त्य कथं रिक्तपाणि स्वामिसमीप यामीति महतीमिक्षुयष्टिमादाय नाभिकुलकराङ्कस्थस्य प्रभोरग्रे तस्थौ दृष्ट्वा चेक्षुयष्टिं हृष्टवदनेन स्वामिना करे प्रसारिते इक्षु भक्षयसीति भणित्वा तां दत्त्वा इक्ष्वभिलाषात्स्वामिनो वंश इक्ष्वाकुनामाऽभवत् । गोत्रमपि अस्य एतत्पूर्वजानामिक्ष्वभिलाषात्काश्यपनामेति शक्रो वंशस्थापना कृतवान् । अथ किञ्चिद्युगलमातापितृभ्यां तालवृक्षाऽधो मुक्त तस्मादेतत्तालफलेन पुरुषो व्यापादित । प्रथमोऽयमकालमृत्यु । अथ सा कन्या मातापित्रो स्वर्गतयो एकाकिन्येव वने विचचार । दृष्ट्वा च तां सुन्दरीं युगलिकनरा नाभिकुलकराय न्यवेदयन् । नाभिरपि शिष्टेय सुनन्दानाम्नी ऋषभपत्नी भविष्यतीति सकललोकसाक्ष्यपुरस्सरं तां जग्राह । तत सुनन्दासुमङ्गलाभ्यां सह प्रवर्द्धमानो भगवान् यौवनमनुप्राप्त इन्द्रोऽपि प्रथमजिनविवाहकृत्यमस्माकं जीतमिति अनेकदेवदेवीकोटिपरिवारपरिवृत समागत्य स्वामिनो वरकृत्य स्वयमेव कृतवान् वधूकृत्य च इन्द्र्योऽपि कन्ययोर्देव्य इति । ततस्ताभ्यां विषयोपभोगिना भगवता षट्-

लक्षपूर्वेषु गतेषु भरतब्राह्मीरूप युगल सुमङ्गला । बाहुबलिसुन्दरीरूपं युगल च सुनन्दा प्रसुषुवे । तदनु त्रैकोनपञ्चाशत्पुत्रयुगलानि क्रमात् सुमङ्गला प्रसूतवती । २०६ ।

उसभेणं अरहा कोसलिए तस्स णं पंच नामधेज्जा एवमाहिज्जंति तं जहा उसभे इ वा १ पढमराया इ वा २ पढमभिक्खायरे इ वा ३ पढमजिणे इ वा ४ पढमतित्थंकरे इ वा ५ ।२१०।

"उसभेण अरहा कोसलिए इत्यादित पढमतित्थकरेइवेति" पर्यन्तं तत्र इकार सर्वत्र वाक्यालङ्कारे (पढमरायत्ति) प्रथमराजा चैवम् । २१० । कल्प० । ति० । आ०चू० ।

अथ यथा भगवान् वय प्रतिपन्नवान् तथाऽऽह ।

तओ णं उसभे अरहा सो कोसलिए दक्खे दक्खपइन्ने पडिरूवे अल्लीणे भद्दए विणीए । कल्प० ।

(५) इदानीं वृद्धिद्वारमधिकृत्याह ।

अह वट्टइ सो भयवं, दियलोगचुओ अणुवमसिरीओ ।
देवगणसंपरिवुडो, नंदाइसुमंगलासहिओ ॥११९॥
असिअसिरोअ सुनयणो, बिंबुट्ठो धवलदंतपंतीओ ।
वरपउमगब्भगोरो, फुल्लुप्पलगंधनीसासो ॥ १२० ॥

प्रथमगाथानिगदसिद्धैव द्वितीयगाथागमनिका । न सिता असिता कृष्णा इत्यर्थ । शिरसि जाता शिरोजा केशा असिता शिरोजा यस्य स तथाविध । शोभने नयने यस्यासौ सुनयन । बिम्बं गोल्हाफलं बिम्बवदोष्ठौ यस्यासौ बिम्बोष्ठ । धवले दन्तपङ्क्ती यस्य स धवलदन्तपङ्क्तिक । वरपद्मगर्भवद्गौर । फुल्लोत्पलगन्धवत्नि श्वासो यस्येति गाथार्थ । १२०।आव०१अ०

(६) इदानीं जातिस्मरद्वारावयवार्थं तु विवरीषुराह ।

जाईसरो अ भयवं, अप्परिवडिएहिं तिहिं उ नाणेहिं ।
कंतीइ अ बुद्धीइ अ, अब्भहिओ तेहिं मणुएहिं ॥२१॥

गमनिका । जातिस्मरश्च भगवन् ! अप्रतिपतितैरेव त्रिभिर्ज्ञानैर्मतिश्रुतावधिभि । अवधिज्ञानं हि देवलौकिकमेवाप्रच्युतं भगवतो भवति तथा च कान्त्या च बुद्ध्या अभ्यधिकस्तेभ्यो मिथुनकमनुष्येभ्य इति गाथार्थ ।

(७) इदानीं विवाहद्वारव्याचिख्यासयेदमाह।

पढमो अकालमच्चू, तहि तालफलेण दारओ पहओ ।
कन्ना य कुलगरेणं, सिट्ठे गहिया उसभपत्ती ॥२२॥

भगवतो देशोनवर्षकाल एव किञ्चिन्मिथुनकं संजातापत्यमिथुनकं तालवृक्षाधो विमुच्य नि संशयं क्रीडागृहकमगमत् तस्माच्च तालवृक्षात्पवनप्रेरितमेकं तालफलमपतत् तेन दारको व्यापादित । तदपि मिथुनकं तां दारिकां संवर्द्धयित्वा प्रतनु कषायं मृत्वा सुरलोकमुत्पन्नं सा चोद्यानदेवतेवोत्कृष्टरूपा एकाकिन्येव वने विचचार । दृष्ट्वा च तां विस्मयवद्गृहसमानरूपा मिथुनकनरा विस्मयोत्फुल्लनयना नाभिकुलकराय न्यवेदयन् । शिष्टे च तैः कन्या कुलकरेण गृहीता ऋषभपत्नी भविष्यतीति कृत्वेति गाथार्थ ॥ नाथार्थ एवान मार्चयम् ।

प्रगुणीकुरु कल्याणि-भूयिष्ठं जीवनकद्रुमम् ।
सीमन्तिनीनां सीमन्त, परिपूर्णेन्दुमुखे चिरात ॥ २५ ॥
त्वं वयस्ये प्रशस्यानि, पुष्पदामान्युपानय ।
विविधरत्नमुकुरे !, मुक्ताप्रिकरीटक ॥ २६ ॥
नन्दुनमन पुष्प दामि सुनासेतेन सु दरि ! ।

वेधन्तः कुरु हेकार्मे, धेनुगोमयगोमुखम् ॥ २७ ॥
निवेशयाऽत्र तन्वाङ्गि ! सत्वरं वरमञ्चिके।
पवित्राः शतपत्राक्षि ! त्व चेहानय पादुका ॥ २८ ॥
कार्यान्तर च हित्वा त्वं, कस्तूरीं सखि ! वर्तय ।
येन पुत्र्योः कपोलेषु लिख्यते पत्रवल्लरी ॥ २९ ॥
कुन्तले ! कुन्तलोत्थसा-वाविष्कुरु वधूकृते ।
मङ्गल्यधवलान् यूयं, हे सख्यो दत्तसत्तमान् ॥ ३० ॥
जामे किमसि निद्रालु--स्तन्द्रालुरसि किं स्तुपे ! ॥
किमङ्गभङ्गं मृद्वाङ्गि, त्व करोषि शयालुवत् ॥ ३१ ॥
चस्तरीं विस्तरीं मुञ्च, चतुरे किमनादरा ।
सानन्दा स्पन्दसे किं न, सखि ! मन्दायसे कथम् ॥ ३२ ॥
लग्नमत्यन्तमासन्नं, त्वरध्वं किं न जायते ॥
तद्विदानीमनालस्या--स्त्वरध्वं स्वस्वकर्मसु ॥३३॥ (कुलकम्)
मात्रादिमात्रक इव, स्थित्वा काश्चिद्दिवः स्त्रियः ।
रजसात्मारभन्ते स्म, कर्म वैवाहिकं ततः ॥ ३४ ॥
तत्रोपवेशयामासुः, श्रीसुनन्दासुमङ्गले ।
काश्चित्स्वर्णासने ऽभ्यक्तुं, सञ्जुवः कन्यके इव ॥ ३५ ॥
गीयमानेषु योषाभि--र्धवलेषु कलस्वनम् ।
सुगन्धितैलैः सर्वाङ्ग-मथाभ्यानञ्जुरञ्जसा ॥ ३६ ॥
ते अथोद्वर्तयामासु--र्नर्तयन्त्यो वपुर्लताम् ।
पिष्टिकाभिः सुपिष्टाभि , कोमलैः करपल्लवैः ॥ ३७ ॥
प्रतिष्ठिपन्नयैकान्ते, नूत्न प्रवरमञ्चिके ।
अभिषेकुरतिप्रीत्यो, रुक्मपीठे इवोज्ज्वले ॥ ३८ ॥
तयोश्चतुर्षु कोणेषु, न्यधुर्वर्णकपूयकान् ।
क्रमितुं मन्मथस्येव प्रथम पद्मण्डकान् ॥ ३९ ॥
ततः कौसुम्भवासांसि, परिधाप्य च तत्क्षणात् ।
तयोर्निवेशयन्ति स्म, कन्यके ते सुरस्त्रियः ॥ ४० ॥
नखस्त्वङ्गेषु तिलकान्, प्रदेशिन्यः समर्तृकाः ।
तयोश्चकुर्नवनिधी-निव कन्दर्पचक्रिणः ॥ ४१ ॥
जात्वसंवास्पृशत् सव्या-सव्यत्वेनैतयोर्मिथः ।
कौसुम्भैस्तन्तुभिस्तर्कु-सपर्किभिरथापरा. ॥ ४२ ॥
ते एव कर्मके बाले, सुरनार्यो निचिक्षिपु. ।
आस्थानां ते क्षण तत्र, नानाकेलिकुतूहलैः ॥ ४३ ॥
तदैव तास्तयोर्वेगा-दुद्वर्णकमपि व्यधुः ।
विविम्ना प्राक्तनेनैव, पूर्वैरूढिरियं यतः ॥ ४४ ॥
स्नानविष्टरमध्यास्य, स्नपयामासुराशु ते ।
हिरण्मयघटाम्भोभि , सुखदैरमृतैरिव ॥ ४५ ॥
अथ प्रमार्जयामासु-रङ्गयष्टिं मृगीदृशो ।
आदर्शमिव तत्सख्य , सुखस्पर्शेन वाससा ॥४६ ॥
तयो. स्नानजलैरार्द्र-केशपाशमवेष्टयन् ।
मयूरैरंशुकोद्देशै-रुत्तेजितकृपाणवत् ॥ ४७॥
आश्वासात्ततो वारि, विप्रुषस्तत्सखीजनः ।
करादिव करीन्द्रस्य, शीकरासारमातपः ॥ ४८ ॥
धूपायन्तिस्म धूपेन, स्निग्धकेशयोः सुगन्धिना ।
ईषदार्द्रं केशपाश, धौतानीवांशुकानि ताः ॥ ४९ ॥
तत्पादान् पल्लवाताम्रा-नपि लाक्षारसेन ताः ।
अमण्डयन् धियेवेति, रक्तं रक्तेन युज्यताम् ॥ ५० ॥
सर्वाङ्गमङ्गरागेण, तन्वङ्ग्योर्व्यलिपन्त ताः ।—
रविबालातपेनेव, काञ्चनाचलमेखले ॥ ५१ ॥
तत्कपोलतले तामि-र्लिखिता पत्रवल्लरी ।
प्रसर्पद्दानलेखेव, माद्यतः कामकुम्भिन. ॥ ५२ ॥
अथाञ्जनेन तन्नेत्र-द्वयं ताभिरभूष्यत ।
शार्दाब्दिरकुलेनेव, नीलेन्दीवरकाननम् ॥ ५३ ॥
तयोर्ललाटपट्टान्त-श्चान्दनं चन्द्रक व्यधुः ।
भासितुः स्मरराजस्य, विमलां यष्टिकामिव ॥ ५४ ॥
तयोर्धयन्धुर्धम्मिल्ल-मुल्लसन्माल्यगर्भितम् ।
निषङ्गमिव कामस्य, पूरित कुसुमेषुभिः ॥ ५५ ॥
अथ ताभ्यां कुमारीभ्यां, व्यूतानीवेन्दुरश्मिभिः ।
वासांसि वासयामासुः, पारिणेत्राणि तास्ततः ॥ ५६ ॥
तयोरवच्चन्मुकुटं, चञ्चचन्द्रकराजितम् ।
रुक्मपङ्केरुहोत्तंस-व्योमगङ्गाविरस्वनम् ॥ ५७ ॥
नेत्रैः कर्णान्तविश्रान्तै-र्वतंसे सत्यपि स्वयम् ।
अन्यमारोपयामासुः, पुनरुक्ता भया इव ॥ ५८ ॥
कर्णयोर्मणिताटङ्कौ, निःक्षिपन्ति स्म तास्तयोः ।
द्विरूपाविवार्केन्दू , विवाह द्रष्टुमागतौ ॥ ५९ ॥
निवेश्यते स्म देवीभि-स्तयोर्मुक्तासरो हृदि ।
वारिश्रस्याश्रितास्येन्दु- मभितस्तारकागणः ॥ ६० ॥
केयूरे भुजयोर्न्यस्ते, इन्द्रनीलमये तयोः ।
पञ्चवाणस्य वाणानां, शाणे इव निशाणने ॥ ६१ ॥
निहित काञ्चने रत्न, राजनीति धिया किल ।
विन्यस्यते स्म तत्पाणौ, सुरीभिर्मणिकङ्कणे ॥ ६२ ॥
अङ्गुलीषु तयोः क्षिप्ता-श्चारुहीरकमुद्रिकाः ।
दोर्लतायाः फलानीव, परिपाकारुणान्यथ ॥ ६३ ॥
तद्वा श्रोणौ च सञ्जाता, तयोश्चन्द्राश्ममेखला ।
गुरुनाभिसरस्तीरे, हंसावलिरिवोज्ज्वला ॥ ६४ ॥
मञ्जीराणि तयोर्न्यस्यन्, झणत्कारीणि पादयोः ।
मरालानाह्वयन्तीव, गतिं स्पर्द्धयतु मदात् ॥ ६५ ॥
अथोत्पाट्यामरीभ्यां ते, दिव्यभूषणभूषिते ।
आसिते कौतुकागारे, मूर्ते प्राणिप्रियाविव ॥ ६६ ॥
विवाहाकल्पमाधातुं, विज्ञप्तो वज्रिणा विभुः ।
भोगकर्मास्ति लोके च, स्थितिर्देहय्येयमन्यत ॥ ६७ ॥
ततश्च कल्पिताकल्पः, कृतमाङ्गल्यमज्जनः ।
विहिताशेषकृत्यश्च, कृत्यविद्भिर्यथाविधि ॥ ६८ ॥
चान्दनैरसनिस्पन्नैः कृतदेहविलेपनः ।
विच्छुरितः पुण्यलक्ष्मी, कटाक्षैरिव सर्वतः ॥ ६९ ॥
वसानः पारिनेत्राणि, शुचीनि सिचयानि च ।
जिनेन्द्रोऽपि शरन्मेघा-कीर्णस्वर्णाचलोपमः ॥ ७० ॥
सौधमध्यात्करिश्रीन्द्र-त्कन्दरादिव केसरी ।
निर्जगाम गुणग्राम-हुमारामसहोदरः ॥ ७१ ॥
अथाधिरुह्य आत्याश्व-मुच्चैःश्रवसमिन्द्रवत् ।
सकान्तैः पश्यतां नेत्रैः, सहस्रेक्षणतां वहन् ॥ ७२ ॥
मायूरेणातपत्रेण, स्वर्णकुम्भोपशोभिना ।
प्रावृषेण्यघनेनेवा-नीयमानस्तडित्वता ॥ ७३ ॥
शुभ्राभ्यां चामराभ्यां च, वीज्यमानो मुहुर्मुहुः ।
साम्राज्यकमलालीला-कमलाभ्यामिवाभितः ॥ ७४ ॥
तूर्यनादेन रोदस्यो-रुदरम्भरिणा ततः ॥
निर्घोषेणेव घण्टाया , सुघोषाया प्रसर्पता ॥ ७५ ॥
अथ श्रवणपूर च, गायद्भिः कलगीतिकाः ।
रक्तकण्ठैः कृतोत्कण्ठै , कलकण्ठैरिवाङ्गिनाम् ॥ ७६ ॥
नृत्यद्भिरप्सरोवृन्दै-र्नानाभरणनादिभिः ।

अनिलान्दोलितैः कल्प—शाखिशाखागणैरिव ॥ ७७ ॥
उत्तम्भितभुजैर्भट्टैः—पठ्यमानगुणोत्करः ।
उत्तानीकृतहस्ताग्रै—र्गर्जद्भिरिव कुञ्जरैः ॥ ७८ ॥
उच्चार्यमाणलवणो, देवीभिः पक्षयोर्द्वयोः ॥
पृष्ठे विम्बीफलोष्ठीभि—र्गीयमानैरुधूलुभिः ॥ ७९ ॥
शुभोदर्कत्वपिशुनैः, शकुनैरानुकूलिकैः ।
अभ्यगान्मण्डपद्वारं, भगवान् सुभग जनैः ॥ ८० ॥
तत्रावरुह्याथ विभु—र्ववृतः सर्वतादिव ।
अस्थित स्थितिनिष्णातः, क्षणमेकमनुत्सुकः ॥ ८१ ॥
अथ प्रगुणयामासु—र्दधिदूर्वादिभाजनम् ।
मन्थानमुशलादींश्च, मङ्गल्यानखिलानपि ॥ ८२ ॥
श्रूयमाणश्रुतिकटु—स्फुटल्लवणनिःस्वनम् ।
शरावसंपुटं काचि—न्मुमोच द्वारि सानलम् ॥ ८३ ॥
अथोद्भट पट्टयुगं, सन्ध्यारागमिवारुणम् ।
परिधायाग्रतः काचि—दर्घदानोद्यताऽभवत् ॥ ८४ ॥
अहाय जगदर्घ्याय, सुभ्रु ! देह्यर्घमर्घदे ।
स्फीतं यश इवामुष्य, नवनीतं समुन्नय ॥ ८५ ॥
उद्वेष्टय वचोवीची—शिशिरं चान्दन रसम् ।
दधि चैतद्गुणग्राम—धवल क्षिप्रमुत्क्षिप ॥ ८६ ॥
समुन्मीलन्महानील—रत्नाङ्कुरसहोदरम् ।
द्रागेव शाद्वलां दूर्वां, सुवासिनि ! समुद्धर ॥ ८७ ॥
नन्वेष शेषभोगीन्द्र—भोगोपमभुजद्वयः ।
वरस्ते तोरणद्वारि, त्रिजगच्छ्रेयविक्रम ॥ ८८ ॥
ऊर्ध्वः समस्ति सर्वाङ्ग—मुत्तरीयांशुकावृतः ।
शरदिन्दुरिवोत्फुल्ल, ज्योत्स्नाजातजटालित ॥ ८९ ॥
भृश पुष्यन्ति पुष्पाणि, वातेनोद्वाति चान्दनम् ।
तद्वारि सुचिरं श्वश्रु, वरं माधरमाधर ॥ ९० ॥
इत्येवं धवलान् श्वश्रू, शृण्वाना श्रुतिपावनैः ।
स्वामिने दत्तवत्यर्घ—मनर्घगुणशालिने ॥ ९१ ॥
धृत्यान्तर्वामहस्तेन, विधायाग्रे च दक्षिणम् ।
युगवैशाखमुशलै—श्चक्रे च प्रोक्षणक्षणम् ॥ ९२ ॥
मनोरथमिवारीणा—मथो लवणसपुटम् ।
भगवान् सव्यपादेन, दलयामास लीलया ॥ ९३ ॥
स्कन्धे पट्टाञ्चलेनाथ, समाकृष्य जगत्प्रभुः ।
नीत श्वश्रवा वधूपान्त—मासा चक्रेऽथ शक्रवत् ॥ ९४ ॥
मदनस्य फल प्राह्य—मित्यस्य किल सूचकम् ।
मदनस्य फल पाणौ, बबन्ध वध्वोर्वरस्य च ॥ ९५ ॥
जीवन् मातापितृश्वश्रू—श्वशुरा सधवाङ्गना ।
हस्ताक्षेपं ददौ पिष्टा, वधूवरयोः पाणिपङ्कजे ॥ ९६ ॥
अथाम्भोधिपय पात्र्यां, मुक्तलग्नघटीनिजे ।
जाते सति सहस्रांशु—बिम्बे बिम्बीफलद्युति ॥ ९७ ॥
श्रुत्वा भाजनशब्दं च, सावधानस्ततो हरिः ।
योजयामास तत्काल, वधूवरकरान्मिथ ॥ ९८ ॥
अथान्योऽन्यस्य पश्यन्तो, विस्फारितविलोचना ।
निमेषमप्यकुर्वाणा, अन्तरायभयादिव ॥ ९९ ॥
रेजिरे ते तदा तत्र, तारामेलककारिण ।
विशन्त इव वक्षोऽन्त—र्मिथस्तारासु सङ्क्रमात् ॥ १०० ॥
उच्चै कौतुकधवलान्, जगुर्देव्या सखीतमा ।
नर्मकर्मणि चातुर्यं, बिभ्राणास्तत्र केलय ॥ १ ॥
वधूवरस्य सुत्रामा, श्रुत्वानञ्चल मिथः ।
तेषां मनांसीवोद्गाढ—मनुराग परस्परम् ॥ २ ॥
कौतुकागारतो वेधा—मथानिन्ये वधूवरम् ।
अवियोजितहस्ताग्र—मामोचितपटाञ्चलम् ॥ ३ ॥
त्रायस्त्रिंशसुरः कोऽपि, चक्रे वेद्यामथानलम् ।
व्यधाद् धूमं समित्क्षेपाद्, धूमपाताय कन्ययो ॥ ४ ॥
कंसारश्च सखण्डाज्य , पक्वस्तेनैव नाकिना ।
ताभ्यां प्रभुस्तद्द्वयी ते—नात्स्यत स्वस्वपाणिना ॥ ५ ॥
अथेर्ष्यैर्मङ्गलाचारे, दीयमानेऽङ्गनाजनैः ।
रभसोल्लसितैरङ्गै—र्वैगुण्यमिव लम्भिते ॥ ६ ॥
मेरु सरोहिणीज्योत्स्ना—ब्जवत्तत्राभितोऽनलम् ।
स्वाम्यभ्राम्यद्युतस्ताभ्या—मामङ्गलचतुष्टयम् ॥ ७॥
अथ श्यालकदेशीय , कश्चिन्मङ्गलवर्तने ।
स्वामिनं चरणाङ्गुष्ठे, नीचे भूयोऽन्यधारयत् ॥ ८ ॥
यथेच्छं भगवांस्तस्मै, स्वर्णरत्नान्यदात्तदा ।
महान्तो ह्यङ्गलग्नाना, ददते यत्र तत्र हि ॥ ९ ॥
कृतेषु पाणिमोक्षादि—कृत्येषु निखिलेष्वपि ।
सुमङ्गलासुनन्दाभ्यां, सहारूढो हय प्रभुः ॥ १० ॥
स्फीतावगीतसंगीत—मुखरीकृतदिङ्मुख ।
प्रत्यग्रतोरणद्वार—मायर्यौ निजवेश्मनः ॥ ११ ॥
घोटकं कूर्दयामासु—श्चिरं तत्र वधूवरम् ।
हर्षोत्कर्षेण कुर्वाणा, देवा जयजयारवम् ॥ १२ ॥
लता इव समीरेण, प्रमोदेन प्रणोदिता ।
पौलोम्याद्याश्च ननृतु—र्गीतपूर्णमनोरथा ॥ १३ ॥
प्रविवेश ततः स्वामी, स्वसौधे कृतमङ्गल ।
विवाहोत्साहसौन्दर्य—रञ्जितत्रिजगज्जनः ॥ १४ ॥
शुष्कनीलफलस्वादु—र्नानापक्वान्नपेशला ।
शालिसूपघृतप्राज्य—प्रलेह्यव्यञ्जनाद्भुता ॥ १५ ॥
मिथो जेमनवाराभू—द्भूरिगौरवसुन्दरा ।
ताम्बूलांशुकदानाद्यैः, सम्माननमथाभवत् ॥ १६ ॥
पूर्णपात्रप्रवेशादि—विवाहोत्सववृद्धिभिः ।
स्वामिन पितरौ तत्र, मुमुदातेतरां सदा ॥ १७ ॥
कृतकृत्योऽथ शक्रादि—देवदेवीगणोऽखिल ।
प्रणिपत्य प्रभो पादान्, स्थान निजनिज ययौ ॥१८ ॥ आ० क०।

अमुमेवार्थमाह ।

भोगसमत्थं नाउं, वरकम्मं कासि देविंदो ।
दुन्नं वरमहिलाणं, वहुकम्मं कासि देवीओ ॥

भगवांश्च तेन कन्याद्वयेन सार्द्धं विहरन् यौवनमनुप्राप्तः । अत्रान्तरे देवराजस्य चिन्ता जाया कृत्यमेतदतीतप्रत्युत्पन्नानागतानां शक्राणां प्रथमतीर्थकराणां विवाहकर्म क्रिय इति सञ्चिन्त्यानेकत्रिदशवधूवृन्दसमन्वितोऽवतीर्णवानित्यवतीर्य च भगवत स्वयमेव वरकर्म चकार । पत्न्योरपि देव्यो वधूकर्मेति । अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह (भोगगाहा) गमनिका । भोगसमर्थं ज्ञात्वा वरकर्म तस्य कृतवान् देवेन्द्रः द्वयोर्वरमहिलयोर्वधूकर्म कृतवत्यो देव्य इति गाथार्थ । भावार्थस्तूक्त एव ॥१२३॥

(८) अथापत्यद्वारम् ।

छप्पुव्वसयसहस्सा, पुव्विं जायस्स जिणवरिंदस्स ।
तो भरहबंभिसुंदरि, बाहुबली सुंदरी चेव ॥ १२४ ॥
देवीसुमंगलाए, भरहो बंभी अमिहुणगं जायं ।
देवीइ सुनंदाए, बाहुबली सुंदरी चेव ॥ १२५ ॥

(उप्पुण्णगाहा ") निगदसिद्धैवेयं नवरमनुत्तरविमानादवतीर्य सुमङ्गलाया पुनः बाहुपीठश्च भरतब्राह्मीमिथुनकं जातं तथा सुबाहुर्महापीठश्च सुनन्दायाः बाहुबली सुन्दरीमिथुनकमिति । १२४ । अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह मूलभाष्यकारः (देवीगाहा १२५) सुगमत्वान्न विवियते आह । किमेतावन्त्येव भगवतोऽपत्यानि उत नेति । उच्यते ।

अउणापन्नं जुअले, पुत्ताण सुमंगला पुणो पसवे ।

नीईणमइक्कमणे, निवेअण उसभसामिस्स ॥ १२६ ॥

गमनिका । एकोनपञ्चाशद्युग्मानि पुत्राणां सुमङ्गला पुनः प्रसूतवती । अत्रान्तरे प्राग्निरूपितानां हकारादिप्रभृतीनां दण्डनीतीनां ते लोकाः प्रचुरतरकषायसंभवात् अतिक्रमणं कृतवन्तः । ततश्च नीतीनामतिक्रमणे सति तल्लोका अभ्यधिकज्ञानादिगुणसमन्वितं भगवन्तं विज्ञाय निवेदनं कथनमृषभस्वामिने आदितीर्थंकराय कृतवन्त इति क्रियाऽध्याहारः गाथार्थः ।

एवं निवेदिते सति भगवानाह ।

राया करेइ दंडं, सिट्ठे ते विंति अम्ह विमहो उ ।

मग्गह य कुलगरं सो, बेइ उसभो अ भे राया ॥ १२७ ॥

गमनिका । मिथुनकैर्निवेदिते सति भगवानाह । नीत्यतिक्रमणकारिणा राजा सर्वनरेश्वरः करोति दण्डं स चामात्यारक्षिकादिबलयुक्तः कृताभिषेकः अनतिक्रमणीयाज्ञश्च भवति । एवं शिष्टे कथिते सति भगवता ते मिथुनका ब्रुवते भणन्ति अस्माकमपि राजा भवतु वर्तमानकालनिर्देशः खल्वन्यास्ववसर्पिणीषु प्राय समानन्यायप्रदर्शनार्थं । त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थो वा । अथवा प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च (विंतीति) उक्तवन्तः । भगवानाह यद्येवं (मग्गहयकुलगरंति) याचध्वं कुलकरं राजानं स च कुलकरस्तैर्याचितः सन् (बेतेति) पूर्ववदुक्तवान् ऋषभो (भे) भवतां राजेति गाथार्थः । ततश्च ते मिथुनका राज्याभिषेकनिर्वर्तनार्थमुदकानयनाय पद्मिनीसरो गतवन्तः । अत्रान्तरे देवराजस्य खल्वासनकम्पो बभूव विभाषा पूर्ववत् यावदिहागत्याभिषेकं कृतवानिति ।

(१०) ऋषभस्वामिनो राज्याभिषेकः ।

आभोएउं सक्को, उवागओ तस्स कुणइ अभिसेअं ।

मउडाइ अलंकारं, नरिंदजोगं च से कुणइ ॥ १२८ ॥

गमनिका आभोगयित्वा उपयोगपूर्वकेनावधिना विज्ञाय शक्रो देवराज उपागतस्तस्य भगवतः करोति अभिषेकम् । राज्याभिषेकमिति । तथा मुकुटाद्यलङ्कारं च आदिशब्दात्कटककुण्डलकेयूरादिपरिग्रहः । चशब्दस्य व्यवहितः संबन्धो नरेन्द्रयोग्य (से) तस्य करोति अत्रापि वर्तमानकालनिर्देशप्रयोजनं पूर्ववदवसेयम् । पाठान्तरम् "आभोएउ सक्को, आगतु तस्स कासिअभिसेयं । मउडादि अलंकार , नरिंदजोग च से कासी " भावार्थः पूर्ववदेवेति गाथार्थः । अत्रान्तरे ते मिथुनकनरास्तस्मात्पद्मसरसः खलु नलिनीपत्रैरुदकमादाय भगवत्समीपमागत्य तं चालंकृतविभूषितं दृष्ट्वा विस्मयोत्फुल्लनयनाः किंकर्तव्यताव्याकुलीकृतचेतसः कियन्तमपि कालं स्थित्वा भगवत्पादयोः तदुदकं निक्षिप्तवन्त इति तान्नवविधाभिप्रायोपेतान् दृष्ट्वा देवराडचिन्तयत् अहो खलु विनीता एते पुरुषा इति वैश्रमणं यक्षराजमाज्ञापितवानिह द्वादशयोजनदीर्घां नवयोजनविष्कम्भां विनीतां नगरीं निष्पादयेति । स चाज्ञासमनन्तरमेव दिव्यभवनप्राकारमालोपशोभितां नगरीं चक्रे ।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

भिसिणीपत्तेहि यरं, उदयं घित्तुं छुहंति पाएसु ।

साहु विणीया पुरिसा, विणीयनयरी अह निविट्ठा ॥ १२९ ॥

गमनिका बिसिनीपत्रैरुदकं गृहीत्वा क्षिपन्तीति प्रक्षिपन्ति वर्तमाननिर्देशः प्राग्वत् पादयोरुपरि । देवराडभिहितवान् । साधु विनीता पुरुषाः विनीतनगरी अथ निविष्टेति गाथार्थः । १२९ ।

(११) सांप्रतं राज्यसंग्रहद्वारमभिधित्सयाऽऽह ।

आसा हत्थी गावो, गहियाइ एए य रज्जसंगहनिमित्तं ।

घित्तूण एवमाई, चउव्विहं संगहं कुणइ ॥ १३० ॥

गमनिका अश्वा हस्तिनो गावः एतानि चतुष्पदानि तदा गृहीतानि भगवता राज्ये संग्रहः तन्निमित्तं गृहीत्वा एवमादि चतुष्पदजालमसौ भगवान् चतुर्विधं वक्ष्यमाणलक्षणं संग्रहणं करोति । वर्तमाननिर्देशप्रयोजनं पूर्ववत् । पाठान्तरं वा चतुर्विधं संग्रहं " कासी " इत्ययं गाथार्थः ॥ १३० ॥ स चायम् ।

उग्गा भोगा राय-न्न खत्तिया संगहो भवे चउहा ।

आरक्खिगुरुवयंसा, सेसा जे खत्तिया ते उ ॥ १३१ ॥

स चायम् । उग्गाहगाहा । गमनिका उग्रा भोगा राजन्याः क्षत्रिया एव समुदायरूपः संग्रहो भवेच्चतुर्धा । एतेषामेव यथासंख्यं स्वरूपमाह । (आरक्खेत्यादि) आरक्षका उग्रदण्डकारित्वात् उग्रा गुर्विति गुरुस्थानीया भोगा वयस्या इति राजन्याः समानवयस इति कृत्वा वयस्याः शेषा उक्तव्यतिरिक्ता ये क्षत्रियास्ते तुशब्दः पुनःशब्दार्थस्ते पुनः क्षत्रिया इति गाथार्थः ।

(१२) लोकस्थितिनिबन्धनप्रतिपादनाय गाथाचतुष्टयमाह ।

आहारे सिप्पकम्मे, मामणा य विभूसणा ।

लेहे गणिए अ रूवे अ, लक्खणे माणपोयए ॥ १३२ ॥

ववहारे नीइजुद्धे अ, ईसत्थे अ उवासणा ।

तिगिच्छा अत्थसत्थे अ, बंधे घाए अ मारणा ॥ १३३ ॥

जन्नूसवसमवाए, मंगले कोउए इअ ।

वत्थे गंधे अ मल्ले अ, अलंकारे तहेव य ॥ १३४ ॥

चोलोवणयविवाहे अ, दत्तिया मडयपूयणा ।

झावणा थूभसद्दे अ, छेलावणयपुच्छणा ॥ १३५ ॥

एताश्चतस्रोऽपि द्वारगाथा । एताश्च भाष्यकारः प्रतिद्वारं व्याख्यास्यत्येव तथाप्यक्षरगमनिकामात्रमुच्यते तत्रापि प्रथमगाथामधिकृत्याह । तत्राहार इति आहारविषयो विधिर्वक्तव्यः कथमधिकृत्याह । तत्राहार इति आहारविषयो विधिर्वक्तव्यः कथं कल्पतरुफलाहाराभावे संवृत्तः कथं वा पक्वाहारः संवृत्त इति तथा शिल्प इति शिल्पविषयो विधिर्वक्तव्यः । कुत कथं कियन्ति वा शिल्पान्युत्पन्नानीति । कर्मणीति कर्मविषयो विधिर्वाच्यः यथा कृषिवाणिज्यादिकर्म संजातमिति तथा ममत्वमपि संजातमिति । च समुच्चये (मामणेत्ति) ममीकारार्थे देशीवचनम् । ततश्च परिग्रहममीकारो वक्तव्यः स च तत्काल एव प्रवृत्त च पूर्ववत् । विभूषण विभूषणा मण्डनमित्यर्थः । सा च प्रवृत्ता सा च भगवतः प्रथमं देवेन्द्रैः कृता पश्चाल्लोकेऽपि प्रवृत्ता । लेख इति लेखनं लेख लिपिविधानमित्यर्थः । तद्विषयो विधिर्वक्तव्यः तच्च जिनेन ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमिति । गणितं सङ्ख्यानविषयो विधिर्वाच्यः एवमन्यत्रापि क्रिया योज्या । गणितं स च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमिति । च समुच्चये

रूप काष्ठकर्मादि तच्च भगवतो भरतस्य कथितमिति । च पूर्ववत् । लक्षणं पुरुषलक्षणादि तच्च भगवतैव बाहुबलिन कथितमिति । मानमिति मानोन्मानावमानगणिमप्रतिमानां लक्षणम् । (पोत इति) पोतदित्थः प्रोत वा अनयोर्मानप्रोतयोर्विधिर्वाच्यः । तत्र मान द्विधा धान्यमान रसमान च । तत्र धान्यमानमुक्तम् । "दो असती उपसती इत्यादि" रसमानं "चउसट्ठिया बत्तीसिया एवमादि" २ उन्मान येनोन्मीयते यच्चोन्मीलयते तद्यथा कर्ष इत्यादि । अवमान येनावमीयते तद्यथा हस्तेन वा दण्डेन वा हस्तो वेत्यादि । ३ । गणिम यद्गण्यते एकादिसंख्येति । प्रतिमान गुञ्जादि एतत् सर्वं तदा प्रवृत्तमिति । पोता अपि तदैव प्रवृत्ताः । तथा प्रकर्षेण उतन प्रोतः मुक्ताफलादीनां प्रोतन तदैव प्रवृत्तमिति । प्रथमद्वारगाथासमासार्थः ॥ ३२ ॥ द्वितीयगाथागमनिका (ववहारेत्ति) व्यवहारविषयो विधिर्वाच्य राजकुलकरणभाषाप्रतिपादनादिलक्षणो व्यवहार स च तदा प्रवृत्तो लोकानां प्राय स्वस्वभावापगमात् (णीतित्ति) नीतौ विधिर्वक्तव्यः । नीतिर्हक्कारादिलक्षणा सामाद्युपायलक्षणा वा तदैव जातेति (जुद्धेयत्ति) युद्धविषयो विधिर्वाच्य । तत्र युद्ध बाहुयुद्धादिक लावकादीनां वा तदैवेति (ईसत्थेयत्ति) प्राकृतशैल्या उकारलोपात् इषुशास्त्र धनुर्वेदस्तद्विषयो विधिर्वाच्य इति तदपि तदैव राजधर्मे सति जातमथवा एकारान्तत्वात्सर्वेऽत्र प्रथमान्ताः एव द्रष्टव्या । व्यवहार इति व्यवहारस्तदा जात एव सर्वत्र योज्यम् । यथा "कयरे आगच्छइ दित्तरूवेत्यादि" (उवासणेत्ति) उपासना नापितकर्म तदपि तदैव जात प्रागनवस्थितनखलोमान एव प्राणिन आसन्निति गुरुनरेन्द्रादीनां चोपासनेति । चिकित्सा रोगहरणलक्षणा सा तदैव जाता । एव सर्वत्र क्रियाध्याहार कार्य । (अत्थसत्थेयत्ति) अर्थशास्त्र (बंधे घाते य मारणेयत्ति) बन्धो निगडादिजन्य । घातो दण्डादिताडना । जीविताद् व्यपरोपण मारणेति सर्वाणि तदैव जातानीति द्वितीयद्वारगाथासमासार्थः ॥३३॥ तृतीयगाथागमनिका । एकारान्ताः प्रथमाद्वितीयान्ताः प्राकृते भवन्त्येव तत्र ये ज्ञानादिपूजारूपाः उत्सवा शक्रोत्सवादय समवायाः गोष्ठ्यादिमेलका एते तदा प्रवृत्ता मङ्गलानि स्वस्तिकसिद्धार्थकादीनि कौतुकानि रक्षादीनि मङ्गलानि च कौतुकानि चेति समास (मगलेत्ति) एकारो ऽलाक्षणिको मुखसुखोच्चारणार्थ । एतानि भगवत प्राग् देवै कृतानि पुनस्तदैव लोके प्रवृत्तानि । तथा वस्त्र चीनांशुकादि गन्ध कोष्ठपुटादिलक्षण । माल्य पुष्पदाम । अलङ्कार केशभूषणादिलक्षण । एतान्यपि वस्त्रादीनि तदैव जातानीति तृतीयद्वारगाथासमासार्थ । चतुर्थगाथागमनिका तत्र (चूलेति) बालानां चूडाकर्म तेषामेव कलाग्रहणार्थं नयनमुपनयन धर्मश्रवणनिमित्त वा साधुसकाश नयनमुपनयनम् । विवाह प्रतीत एव एते चूडादयस्तदा प्रवृत्ता ॥ ३४ ॥ दत्ता च कन्या पित्रादिना परिणीयत इति तत्तदैव सजातम् । भिक्षादान वा मृतकस्य पूजा नाम मरुदेव्यास्तदैव प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवै कृतेति लोके च रूढा । अध्ययना अग्निसस्कार स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्य प्रथम त्रिदशै कृत पश्चाल्लोकेऽपि सजात । भगवदादिदग्धस्थानेषु स्तूपास्तदैव कृता लोके च प्रवृत्ता शब्दश्च रुदितशब्दो भगवत्यपवर्गं गते सति भरतदु खमसाधारण ज्ञात्वा शक्रेण कृतो लोकेऽपि रूढ एव । "छेलापनक" इति देशीवचनमुत्कृष्टबालक्रीडापनसेण्टिकाद्यर्थवाचकमिति । तथा प्रच्छन प्रच्छना सा इङ्गिणिकादिलक्षणा इङ्गिणिका कर्णमूले घण्टिका चालयन्ति पुनर्यक्षाः खल्वागम्य कर्णे कथयन्ति किमपि प्रष्टुर्विवक्षितमिति । अथवा निमित्तादिपृच्छा सुखशयनादिपृच्छा चेति चतुर्थद्वारगाथासमासार्थ ॥ ३५ ॥ आव० १ अ० । इदानीं प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सया मूलभाष्यकृदाह ॥

आसी कंदाहारा, मूलाहारा य पत्तहारा य ।

पुप्फफलभोइणो वि य, जइआ किर कुलगरो उसहो ।

गमनिका । मूलाहाराश्च आसन् कन्दाहारा पत्राहाराश्च पुष्पफलभोजिनोऽपि च कदा यदा किल कुलकर ऋषभ । भावार्थः स्पष्ट एव नवर ते मिथुनका नरा एवभूता आसन् किलशब्दस्तु परोक्षाप्तागमवादसूचक इति गाथार्थ । तथा ।

आसी अ इक्खुभोई, इक्खागा तेण खत्तिया हुंति ।

सणसत्तरसं धन्नं, आम ओमं च भुंजीआ ॥

गमनिका । आसंश्च इक्षुभोजिन इक्ष्वाकवस्तेन क्षत्रिया भवन्ति । तथा सण सप्तदशो यस्य तत्सणसप्तदश धान्य शाल्यादि आममपक्वम् (ओम) न्यून च (भुंजीया इति) भुक्तवन्त इति गाथार्थ । १३७ । तथापि कालदोषात्तदपि न जीर्णवत्ततश्च भगवन्त पृष्टवन्त । भगवांश्चाह हस्ताभ्यां घृष्ट्वाऽऽहारयध्वमिति ॥

अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह भाष्यकृत् ।

ओमप्पाहारंता, अजीरमाणम्मि ते जिणमुविंति ।

हत्थेहि घंसिऊणं, आहारेहंति ते भणिया ॥ ३८ ॥

गमनिका । अवममप्याहारयन्त । अजीर्यमाणे ते मिथुनका जिन प्रथमतीर्थकरमुपयान्ति । पूर्वावसर्पिणीस्थितिप्रदर्शनार्थं वर्तमाननिर्देशो भगवता च हस्ताभ्यां घृष्ट्वा आहारयध्वमिति ते भणिता सन्त किं कुर्वन्ति ।

आसी य पाणिघंसी, तिम्मिअ तंदुलपवालपुडभोई ।

हत्थतलपुडाहारा, जइआ किर कुलगरो उसभो ॥ ३९ ॥

आसंश्च ते मिथुनका भगवदुपदेशात्पाणिभ्या घर्षितुं शील येषां ते पाणिघर्षिण । एतदुक्त भवति । ता एवौषधी हस्ताभ्यां घृष्ट्वा त्वच चापनीय भुक्तवन्त । एवमपि कालदोषात् कियत्यपि गते काले ता अपि न जीर्णवत्य । पुनर्भगवदुपदेशात एव तीमिततन्दुलप्रवालपुटभोजिनो बभूवु । तीमिततन्दुलान् प्रवालपुटे भोक्तु शील येषां ते तथाविधा । तन्दुलशब्देनौषध्य एवोच्यन्ते । पुन कियतापि कालेन गच्छता अजीर्णदोषादेव भगवदुपदेशेन हस्ततलपुटाहारा आसन् । हस्ततलपुटेषु आहारो विहितो येषामिति समास । हस्ततलपुटेषु कियन्तमपि कालमौषधी स्थापयित्वोपभुक्तवन्त इत्यर्थ । तथा कक्षासु स्वेदयित्वेति यदा किल कुलकर ऋषभशब्द परोक्षाप्तागमवादसूचकस्तदा ते मिथुनका एव भूता आसन्निति गाथार्थ । ३६ । पुनरभिहितप्रकारा द्व्यादिसयोगैराहारितवन्तस्तद्यथा पाणिभ्यां घृष्ट्वा पत्रपुटेषु च मुहूर्त तीमित्वा तथा हस्ताभ्या घृष्ट्वा हस्तपुटेषु च मुहूर्त धृत्वा पुनर्हस्ताभ्या घृष्ट्वा कक्षास्वेद च कृत्वा पुनस्तीमित्वा हस्तपुटेषु च मुहूर्त धृत्वेत्यादि भङ्गकयोजनां केचित्प्रदर्शयन्ति । घृष्ट्वा पद विहाय तद्व्यायुक्त त्वगपनयनमन्तरेण तीमितस्यापि हस्तपुटधृतस्य सौकुमार्यत्वानुपपत्ते इलक्ष्णत्वभावत्वाद्वा अदोष इति । द्वितीययोजना पुनर्हस्ताभ्या घृष्ट्वा पत्रपुटेषु तीमित्वा हस्तपुटेषु च मुहूर्त धृत्वेति । तृतीययोजना पुनर्हस्ताभ्या घृष्ट्वा पत्रपुटेषु तीमित्वा हस्तपुटेषु धृत्वा कक्षासु स्वेदयित्वेति ।

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

घंसेऊणं तिम्मण, घंसणतिम्मणपवालपुडभोई ।
घंसियनिम्मपवाले, हत्थउडे कक्खसेए अ ॥ ४० ॥

भावार्थ उक्त एव नवरमुक्तार्थाक्षरयोजना। घृष्ट्वा तीमितं कृतवन्त इत्यनेन प्रागभिहितप्रत्येकभङ्गकाक्षेपः कृतो वेदितव्यः । घृष्ट्वा प्रवालपुटतीमितभोजिन इत्यनेन द्वितीययोजनाक्षेपः । घृष्टेति घृष्ट्वा तीमन प्रवाल इति प्रवाले तीमित्वा हस्तपुटेषु कियन्तमपि काल विधाय भुक्तवन्त इति वाक्यशेषः इत्यनेन तृतीययोजनाक्षेप । तथा कक्षास्वेदे च कृते सति भुक्तवन्त. इत्यनेनानन्तराभिहितत्रययुक्तेन चतुर्भङ्गकयोजनाक्षेप इति गाथार्थः। अत्रान्तरे ।

अगणिस्स य उट्ठाणं, दुमघंसा दट्ठु भीअपरिगहणं ।
पासेसु परिच्छिंदह, गिण्हह पागं तओ कुणह ॥ ४१ ॥

आह सर्वं तीमनादि ते मिथुनकास्तीर्थकरोपदेशात्कृतवन्तः स च भगवान् जातिस्मर. सन् किमित्यग्न्युत्पादोपदेश न दत्तवानित्युच्यते तदा कालस्यैकान्तस्निग्धत्वात् असत्यपि यत्ने वस्तूत्पत्तेरिति स च भगवान् विजानाति न ह्येकान्तस्निग्धरूक्षयोः कालयोर्वह्न्युत्पाद' किं त्वनतिस्निग्धरूक्षकाल इत्यतो नादिष्टवानिति तेषां च चतुर्भङ्गविकल्पितमप्याहार कालदोषान्न जीर्णवत्' इत्यस्मिन् प्रस्तावे अग्नेरुत्थान संवृत्तमिति । कुतः द्रुमघर्षोत्थोत्थितं प्रवृद्धज्वालावलीसनाथं भूमौ तृणादि दहन्त दृष्ट्वा अपूर्वरत्नबुद्ध्या ग्रहणं प्रति प्रवृत्तवन्तः दह्यमानास्तु भीतपरिकथनमृषभाय कृतवन्तः इति । भीतानां परिकथन भीतपरिकथनम्। प्रीत्या वा परिकथनं प्रीतिपरिकथन पाठान्तरमिति । भगवानाह पार्श्वेत्यादि सुगम ते हि अजानाना वह्नावेवौषधीः प्रक्षिप्तवन्त. ताश्च दाहमापु' पुनस्ते भगवतो हस्तिस्कन्धगतस्य निवेदयन्ति । स हि स्वयमेवौषधीर्भक्षयतीति । भगवानाह न तत्राभिरोहितानां प्रक्षेपः ॥४१॥ इत्थ तावत्प्रथम कुम्भकारशिल्पमुत्पन्नममुमेवार्थमुपसंहरन्नाह ।

पक्खेवदहणमोसहि, कहणं निग्गमणहत्थिसीसम्मि ।
पयणारंभपवित्ता, ताहे कासी य ते मणुआ ॥ ४२ ॥
मिंढेण हत्थिसीसे, मट्टियपिंडं गहाय कुमरं तु ।
निव्वत्तेसिअ तइ आइ-जिणोवइट्ठेण मग्गेण ॥ ४३ ॥
निव्वत्तिए समाणे, जणई राया तओ बहुजणस्स ।
एवइआ भे कुव्वह, पयडिअं पढमसिप्पं तु ॥ ४४ ॥

भावार्थ उक्त एव किं तु क्रियाध्याहारकरणेनाक्षरगमनिका स्वबुद्ध्या कार्या । यथा प्रक्षेपं कृतवतो दहनमौषधीनां बभूवेत्यादि उक्तमाहारद्वारम् । आव० १ अ० ।

शिल्पद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह ।

पंचेव य सिप्पाइं, घडलोहे चित्तणंतकासवए ।
एक्केक्कस्स य एत्तो, वीसं वीसं भवे भेया ॥४५॥

पञ्चैव मूलभूतानि शिल्पानि । तद्यथा (घडलोहे चित्तणतकासवएति) तत्र घट इति कुम्भकारशिल्पस्योपलक्षण (लोहेत्ति) लोहकारशिल्पस्य (चित्तेत्ति) चित्रकारशिल्पस्य " णंतमिति " देशीवचन वस्त्रवाचकं ततोऽनेन वस्त्रशिल्पस्य ग्रहणं काश्यप इति नापितशिल्पस्य । इयमत्र भावना । वस्त्रवृक्षेषु परिहीयमानेषु भगवता वस्त्रोत्पादननिमित्त वस्त्रशिल्पमुत्पादित तदनन्तरं गृहाकारेष्वपि कल्पद्रुमेषु हानिमुपगच्छत्सु गृहकरणनिमित्त लोहकारादिशिल्पमुत्पादित पश्चात्प्राणिनां कालदोषान्नखरोमाणि अपि वर्द्धितु प्रवृत्तानीति नापितशिल्पोत्पादना । गृहाण्यपि च चित्ररहितानि विशोभानि भान्तीति चित्रकारशिल्पोत्पादना कुम्भकारशिल्पोत्पादकारण प्रागेव भावितम् । " एक्केक्कस्स येत्यादि " एभ्य पञ्चभ्य एकैकस्य विंशतिर्विंशतिर्भेदा अभूवन्निति सर्वसंख्यया तदा शिल्पशतस्योत्पत्तिरभवदिति ॥ ४५ ॥

सम्प्रति कर्ममामणाविभूषणाद्वारप्रतिपादनार्थमाह।

कम्मं किसिवाणिज्जा-इ मामणा जा परिग्गहे ममता।
पुव्व देवेहिं कया, विभूसणा मंडणा गुरुणो ॥४६॥

कर्म नाम कृषिवाणिज्यादि । तच्चाग्न्युत्पत्ते सजातमिति (मामणेत्ति) ममीकारार्थे देशीवचनमेतत् । ततो योऽपरिग्रहे ममता सा मामणा ज्ञातव्या सा च तत्काल एव प्रवृत्तेति । तथा विभूषणा मण्डना सा च पूर्वं देवेन्द्रैर्गुरोर्भगवत. आदितीर्थकृतः कृता पश्चाल्लोकेऽपि प्रवृत्तेति ।

संप्रति लेखगणितरूपद्वारद्वयप्रतिपादनार्थमाह।

लेहं लिवीविहाणं, जिणेण बंभीए दाहिणकरेण।
गणियं संखाणं सुं-दरीए वामेण उवइट्ठं ॥ ४७ ॥

लेखन लेखो नाम सूत्रे नपुंसकता प्राकृतत्वाल्लिपिविधान तच्च जिनेन भगवता ऋषभस्वामिना ब्राह्म्या दक्षिणकरेण प्रदर्शितमत एव तदादित आरभ्य वाच्यते। गणित नाम एकद्वित्र्यादिसंख्यानं तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते । अधुना रूपलक्षणमानरूपद्वारत्रयप्रतिपादनार्थमाह ।

भरहस्स रूवकम्मं, नराइलक्खणमहोइयं बलिणो ।
माणुम्माणवमाणं, पमाणगणिमा य वत्थूणं ॥४८॥

रूप नाम काष्ठकर्म पुस्तककर्मेत्येवमादि । तच्च भगवता भरतस्योपदिष्टम । तथा नरादिलक्षण पुरुषलक्षणादि तच्च । अथ भरतस्य काष्ठकर्माद्युपदेशानन्तर भगवता बाहुबलिन उदित कथितम् । तथा मानं नाम वस्तूनां मानोन्मान.वमानप्रमाणगणितानि तत्र मान द्विधा धान्यमानं रसमान च । धान्यमानम " दो असतीओ पसई दो य पसईओ सेइया चत्तारि सेइया कुडवो चत्तारि कुडवो पत्थओ " इत्यादि । रसमानं " चउसट्ठिया चउतिसिया सोलसिया " इत्यादि । उन्मान येनोन्मीयते तच्च तुलाकर्ष कर्षः पलमित्यादि । अवमान येनावमीयते तद्यथा हस्तो दण्डो युगमित्यादि । प्रमाण प्रतिमान तच्च सुवर्णपरिमाणहेतुः गुञ्जादि गणिम यदेकादिसंख्यया परिच्छिद्यते । यत्तु गणित तत्प्रागेव पृथग्द्वारतयाऽभिहितमेतत्पञ्चप्रकारमपि मान भगवति राज्यमनुशासति भगवदुपदेशेन प्रवृत्तमिति (पोयप)इति द्वारगाथायां यदुक्त तस्य संस्कार प्रोतकमिति।पोतक इति वा । तथाचाह ।

मणियाई दोराइसु, पोता तह सागरम्मि वहणाई ।
ववहारो लेहवणं, कज्जपरिच्छेयणत्थं वा ॥ ४९ ॥

ये मणिकादय. आदिशब्दान्मुक्ताफलादिपरिग्रहः । दवरकादिषु लोकेन प्रोता क्रियन्ते तदेतत्प्रकर्षेण कृतन तदा प्रवृत्तम् । अथवा पोता नाम सागरे समुद्रे प्रवहणानि तान्यपि तदैव प्रवृत्तानि । तथा व्यवहारो नाम विसंवादे सति राजकुलकरणे

गत्वा निजनिजभाषाक्षेस्थापनश्लक्षण कार्यपरिच्छेदनार्थं वा पण-मुक्तिलक्षणः स उभयरूपोऽपि तदा प्रवृत्त. कालदोषतो लोकानां प्रायः स्वस्वभावापगमात् ।

अधुना नीतियुद्धरूप द्वारद्वयमभिधित्सुराह ।

नीई हक्काराई, सत्तविहा अहव सामभेयाई ।

जुद्धाईं बाहुजुद्धाइ, यइ वट्टयाईणं च ॥ ५० ॥

नीतिर्हकारादिलक्षणा सप्तविधा । तद्यथा हक्कारो मक्कारो धिक्कारः परिभाषणा मण्डलीबन्धश्चारके प्रक्षेपो महापराधे छविच्छेद इति । एषा सप्तविधापि नीतिस्तदा विमलवाहनकुलकराद्वारभ्य भरतकाल पर्यन्तं कृत्वा यथायोग प्रवृत्ता । तथा च वक्ष्यति " किंचिच्च भरहकाले " इत्यादि । अथवा नीतिर्नाम सामभेदादिका चतुष्प्रकारा । तद्यथा सामभेदो दण्डः उपप्रदानमिति एषा चतुर्विधाऽपि भगवत्काले समुत्पन्नेति । तथा युद्धानि नाम बाहुयुद्धादीनि । यदि वा वर्तकादीनां तानि उभयान्यपि तदा प्रवृत्तानि ।

सांप्रतमिषुशास्त्रोपासनारूपं द्वारद्वयमाह ।

ईसत्थं धणुवेद्दो, उवासणा मंसुकम्ममाईया ।

गुरुरायाईण वा, उवासणापज्जुवासणया ॥ ५१ ॥

इषुशास्त्र नाम धनुर्वेद. स च राजधर्मे सति प्रावर्तत उपासना नाम श्मश्रुकर्तनादिरूप नापितकर्म तदपि तदैव जातं पूर्वं ह्यनवस्थितनखरोमानस्तथा कालमाहात्म्यत. प्राणिनोऽभवन्निति । एषा च शिल्पान्तर्गततया प्रागभिहिताऽपि पुन पृथग्द्वारतयोपन्यस्ता भगवत्काल एव नखरोमाण्यनिरेकेण प्रवर्द्धितु लग्नानि तत्पूर्वमिति ख्यापनार्थम् । यदि वा उपासना नाम गुरुराजादीनां पर्युपासना सापि तदैव प्रवृत्ता । अधुना चिकित्सार्थशास्त्रबन्धघातरूपद्वारचतुष्टयप्रतिपादनार्थमाह ।

रोगहरणं तिगिच्छा, अत्थागमसत्यमत्यसत्थिाति ।

निगडाइजमा बंधो, घातो दंडादिताडणया ॥ ५२ ॥

चिकित्सा नाम रोगापहारक्रिया साऽपि तदैव भगवदुपदेशात्प्रवृत्ता । अर्थागमनिमित्त शास्त्रमर्थशास्त्रम् । बन्धो निगडादिभिर्यम. सयमनं घातो दण्डादिभिस्ताडना । एतेऽपि अर्थशास्त्रबन्धघातास्तत्काले यथायोग प्रवृत्ता ।

अधुना मारणयज्ञोत्सवरूपद्वारत्रयप्रतिपादनार्थमाह ।

मारणया जीववहो, जन्नानागाइयाण पूयातो ।

इंदाइमहापूया, पइनियया ऊसवा होंति ॥ ५३ ॥

मारण जीववधो जीवस्य जीविताद् व्यपरोपण तच्च भरतेश्वरकाले समुत्पन्नम् । यज्ञा नागादीनां पूजा उत्सवा प्राय प्रतिनियता वर्षमध्ये प्रतिनियतदिवसभाविन इन्द्रादिमहापूजास्त्वनियतकालभाविन्य इति महोत्सवानां प्रतिविशेष. । एतेऽपि तत्काले प्रवृत्ता. ।

सम्प्रति समवायमङ्गलरूपद्वारद्वयमभिधित्सुराह ।

समवाओ गोट्ठीणं, गामाईण व संपसारो वा ।

तह मंगलाइ सोत्थिय, सुवण्णसिद्धत्थगाईणि ॥ ५४ ॥

समवायो नाम गोष्ठिनां मेलापक' । यदि वा ग्रामादीनामादिशब्दात् खेटकर्बटनगरादिपरिग्रह' । स एकीभावेन किमप्युद्दिश्य एकत्र मीलनं सम्प्रसार समवाय । किमुक्त भवति ग्रामादिजनानां किंचित्प्रयोजनमुद्दिश्य यदेकत्र मीलन स वा समवाय इति । तथा मङ्गलानि नाम स्वस्तिकसुवर्णसिद्धार्थकादीनि पूर्वं देवैर्भगवतो मङ्गलबुद्ध्या प्रयुक्तानि ततो लोकेऽपि तथा प्रवृत्तानि ।

सम्प्रति कौतुकादिद्वारपञ्चकमाह ।

पुव्वं कयाइं पहुणो, सुरेहिं रक्खादिकोउयाइं च ।

तह वत्थगंधमल्ला-लंकारकेसभूसाइं ॥ ५५ ॥

तं दट्ठूण पवत्तो, लंकारे उ जणो असेसो वि ।

पूर्वं प्रवृत्तो भगवत. ऋषभस्वामिनः सुरै. कृतानि कौतुकानि रक्षादीनि ततो लोकेऽपि तानि जातानि । तथा वस्त्र चीनांशुकादिभेदभिन्न गन्ध कुष्ठपुटादिलक्षणः माल्य पुष्पदाम । एतानि तदैव जातानि । अलङ्कारः केशभूषादि. त चालङ्कारं भगवतो देवै. कृत दृष्ट्वा अवशेषोऽपि स्व स्वमलंकर्तुं प्रवृत्त. ।

सम्प्रति चूलाद्वारमाह ॥

विहिणा चूलाकम्मं, बालाणं चोलयं नाम ॥ ५६ ॥

चूडा नाम विधिना शुभनक्षत्रतिथिमुहूर्तादौ धवलमङ्गलेष्टदेवतापूजास्वजनभोजनादिलक्षणेन बालानां चूडाकर्म तदपि तदा प्रवृत्तम् ।

संप्रत्युपनयनद्वारमाह ।

उवनयणं तु कलाणं, गुरुमूले साहुणो तवोकम्मं ।

घेत्तुं हवंति सड्ढा, केई दिक्खं पवज्जंति ॥ ५७ ॥

उपनयन नाम तेषामेव बालानां कलानां ग्रहणाय गुरो' कलाचार्यस्य मूले समीपे नयनम् । यदि वा धर्मश्रवणनिमित्त साधो' सकाशं नयनमुपनयन तस्माच्च साधोर्धर्मं गृहीत्वा केचित् श्राद्धा भवन्त्यपरं लघुकर्माणो दीक्षां प्रपद्यन्ते । एतच्चोभयमपि तदा प्रवृत्तम् अधुना विवाहद्वार दत्तिद्वारमाह ।

दट्ठुं कयं विवाहं, जिणस्स लोगो वि काउमारद्धो ।

गुरुदत्तिया य कन्ना, परिणिज्जंते ततो पायं ॥ ५८ ॥

दट्ठुण दाणमुसभं, दित्तं दट्ठुं जणम्मि विपयत्तं ।

जिणभिक्खादाणं पि य, दट्ठुं भिक्खा पवत्ताओ ॥ ५९ ॥

जिनस्य भगवत ऋषभस्वामिनो कृतं विवाह दृष्ट्वा लोकोऽपि स्वापत्यानां विवाह कर्तुमारब्धवान् ॥ गतं विवाहद्वारम् । दत्तिद्वारमाह । भगवता युगलधर्मव्यवच्छेदाय भरतेन सह जाता ब्राह्मी बाहुबलिने दत्ता बाहुबलिना सह जाता सुन्दरी भरताये ति दृष्ट्वा तत आरभ्य प्रायो लोकेऽपि कन्या पित्रादिना दत्ता सती परिणीयते इति प्रवृत्तम् । अथवा दत्तिर्नाम दान तच्च भगवन्तमृषभस्वामिन सांवत्सरिकं दान ददत दृष्ट्वा लोकेऽपि प्रवृत्तम् । यदि वा दत्तिर्नाम भिक्षादान तच्च जिनस्य भिक्षादान श्रेयांसेन कृत दृष्ट्वा लोकेऽपि भिक्षा प्रवृत्ता । लोका अपि भिक्षां दातु प्रवृत्ता इति भाव. ।

अधुना मृतकपूजाध्यापनास्तूपशब्दद्वाराण्याह ।

मययं मयस्स देहो, तं मरुदेवीए पढमसिद्धो त्ति ।

देवेहिं पुरा महियं, झावणया अग्गिसक्कारो ॥ ६० ॥

सो जिणदेहाईणं, देवेहिं कतो चितासु थूभा य ।

सद्दो य रुण्णसद्दो, लोगो वि ततो तहा य कतो ॥ ६१ ॥

मृतकं नाम मृतस्य देहस्तच्च मृतक मरुदेव्या प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवै पुरा महित पूजितम् । तत आरभ्य लोकेऽपि मृतकपूजा प्रसिद्धिं गता । ध्यापना नामाग्निसंस्कार. स च भगवतो निर्वाणप्राप्तस्यान्येषां च साधूनामिक्ष्वाकूनामितरेषां

च प्रथम त्रिदशैः कृतः पश्चाल्लोकेऽपि संजातः। तथा भगवद्देहादिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तूपाः कृताः ततो लोकेऽपि तत आरभ्य मृतकदाहस्थानेषु स्तूपाः प्रावर्तन्त। तथा शब्दो नाम रुदितशब्दः स च भगवत्यपवर्गे गते भरतदुःखमसाधारणमवबुध्य तदपसरणाय शक्रेण कृतस्ततो लोकेऽपि ततः कालादारभ्य रुदितशब्दाः प्रवृत्तास्तथा चाह लोकोऽपि। तथा भरतवत् शक्रवत् वा रुदितशब्दं प्रवृत्तं कर्तुमारब्धवान्।

सम्प्रति छेलापनकद्वार पृच्छाद्वारं चाह।

छेलावणमुक्किट्ठाइ, बालकीलावणं च सेंटाइ।
इंखिणियादिरुयं वा, पुच्छा पुण किं कहिं कज्जं ॥६२॥
अहव निमित्ताईणं सुह-सइ याइ सुहदुक्खपुच्छा वा।
इच्चेवमाइयाई, उप्पन्नं उसभकालम्मि ॥६३॥

छेलापनकमिति देशीवचनं तच्चानेकार्थं तथाचाह। "उक्किट्ठाइ इत्यादि" उत्कर्षं नाम हर्षवशादुत्कर्षेण नर्दनमादिशब्दात् सिंहनादितादिपरिग्रहः। यदि वा बालक्रीडनं छेलापनकम्। अथवा शैंटितादि। तथा प्रच्छन पृच्छा सा इङ्खिणिकादिरुदितलक्षणा। इङ्खिणिका हि कर्णमूले घण्टिकां चालयन्ति ततो यक्षाः खल्वागम्य तासां कर्णेषु किमपि अप्टुर्विवक्षित कथयन्ति। आदिशब्दात् इङ्खिणिकासदृशपरिग्रहः। अथवा किं कार्यं कथं वा कार्यमित्येवं लक्षणा या लोके प्रसिद्धा पृच्छा सा प्रच्छना। यदि वा निमित्तादीनामादिशब्दात्स्वप्नफलाफलादिपरिग्रहः। पृच्छा प्रच्छना। अथवा सुखशयितादिरूपा सुखदुःखपृच्छा प्रच्छना इत्येवमादितया सर्वमुत्पन्नमृषभस्वामिकाले। उपलक्षणमेतत्। किञ्चिद्भरतकाले किञ्चित्कुलकरकाले च। तथाचाह।

किंचिच्च भरहकाले, कुलगरकाले वि किंचि उप्पन्नं।
पहुणा उ देसियाइं, सव्वकला सिप्पकम्माइं ॥६४॥

किञ्चिन्निगडादिभिर्घात इत्यादिभरतकालोत्पन्न किंचित् हक्कारितं कुलकरकालेऽप्युत्पन्नं प्रभुणा तु भगवता ऋषभस्वामिना सर्वा गणितप्रभृतयः कलाः सर्वाणि घटशिल्पप्रभृतीनि शिल्पानि सर्वाणि च कृष्यादीनि कर्माणि देशितानि। आ० म० प्र०। आव०।

(१३) श्रीऋषभदेवस्य वासः।

तओ णं उसभे अरिहा कोसलिए वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसइ वसइत्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसइ तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसमाणे लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ चोसट्ठिं महिलागुणे सिप्पसयं च कम्माणं तिन्नि वि पयाहिआए उवदिसइ त्ति ॥

ततो जन्मकल्याणकानन्तरमित्यर्थः। ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः विंशतिं पूर्वशतसहस्राणि पूर्वलक्षाणि भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य कुमारत्वेनाकृताभिषेकराजसुतत्वेन वासोऽवस्थानं तन्मध्ये वसति। "कुमारवासमज्झावसइ" इति पाठे तु कुमारवासमध्यावसति आश्रयतीत्यर्थः। उपित्वा च त्रिषष्टिपूर्वलक्षाणि अत्रापि भावप्रधानो निर्देश इति महाराजत्वेन साम्राज्येन वासोऽवस्थानं तन्मध्ये वसति। तत्र वसतश्च कथं प्रजा उपचक्रे इत्याह "तेवट्ठिं इत्यादि" त्रिषष्टिं पूर्वलक्षाणि यावन्महाराजवासमध्ये वसन् लिपिविधानादिका गणितमङ्कविद्या धर्मकर्मव्यवस्थितौ बहुप्रकारत्वात् प्रधाना यासु ताः। शकुनरुतं पक्षिभाषितं पर्यवसाने प्रान्ते यासां तास्तथा द्वासप्ततिकलाः कलनानि कलाविज्ञानानीत्यर्थस्ताः कलनीयभेदात् द्वासप्ततिः अर्थात् प्रायः पुरुषोपयोगिनीः। चतुःषष्टिं महिलागुणान् स्त्रीगुणान् कर्मणां जीवनोपायानां मध्ये शिल्पशतं च विज्ञानशतं च कुम्भकारशिल्पादिकं त्रीण्यप्येतानि वस्तूनि प्रजाहिताय लोकोपकारायोपदिशति। अपिशब्द एकोपदेशकपुरुषतासूचनार्थः। वर्तमाननिर्देशश्चात्र सर्वेषामाद्यतीर्थकराणामयमेवोपदेशविधिरिति ज्ञापनार्थम्। यद्यपि कृषिवाणिज्यादयो बहवो जीवनोपायास्तथापि ते पाश्चात्यकाले प्रादुर्बभूवुः। भगवता तु शिल्पशतमेवोपदिष्टमत एवाचार्योपदेशजं शिल्पमनाचार्योपदेशं तु कर्मेति शिल्पकर्मणोर्विशेषमामनन्तीति। श्रीहेमसूरिकृतादिदेवचरित्रे तु। "तृणहारकाष्ठहार-कृषिवाणिज्यकान्यपि। कर्माण्यासूत्रयामास, लोकानां जीविकाकृते ॥१॥" इत्युक्तमस्ति तदाशयेन तु "कम्माणमित्यत्र" द्वितीयार्थे षष्ठी ज्ञेया। तथा च कर्माणि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रीण्यप्युपदिशति इत्यपि व्याख्येयम्। शिल्पशतं च पृथगेवोपदिशति इति ज्ञेयमिति जं० २ वक्ष०। (अथात्र सूत्रसङ्क्षेपतः प्रोक्ता विस्तरस्तु राजप्रश्नीयादर्शेषु दृश्यमाना द्वासप्ततिकलास्ताश्च कलाशब्दे दर्शयिष्यन्ते) शिल्पशतं चेद कुम्भकृल्लोहकृच्चित्रतन्तुवायनापितलक्षणानि पञ्च मूलशिल्पानि तानि च प्रत्येकं विंशतिभेदानीति। तथाचार्षम् "पंचेव य सिप्पाइं, घडलोहचित्तणंतकासवए। इक्किक्कस्स य एत्तो, वीसं वीस भवे भेआ ॥१॥" इति। नन्वत्रैषां पञ्च मूलशिल्पानामुत्पत्तौ किं निमित्तमित्युच्यते युग्मिनामामौषध्योदरे मन्दाग्नितया अपच्यमाने हुतभुजि प्रक्षिप्यमाने तु समकालमेव दह्यमाने युगलिकनरैर्विज्ञप्तेन हस्तिस्कन्धारूढेन भगवता प्रथमं घटशिल्पमुपदर्शितं क्षत्रियाः शस्त्रपाणय एव दुष्टेभ्यः प्रजा रक्षेयुरिति लोहशिल्पं, चित्राङ्गेषु कल्पद्रुमेषु हीयमानेषु चित्रकृच्छिल्पं, वस्त्रकल्पं द्रुमेषु हीयमानेषु तन्तुवायशिल्पं, बहुले युग्मिधर्मे पूर्वमवर्धिष्णु रोमनखं मा मनुजान्तुदन्त्विति नापितशिल्पमिति। श्रीहेमाचार्यकृतऋषभचरित्रे तु गृहादिनिमित्त वर्द्धक्ययस्कारयुग्मरूपं द्वितीयं शिल्पमुक्तं शेषं तथैवेति। ननु भोग्यसत्कर्माण एवार्हन्तो भगवन्तः समुत्पन्नव्याधिप्रतीकारकल्पस्त्र्यादिपरिग्रहं कुर्वते नेतरत्सतः किमसौ निरवद्यैकरुचिर्भगवान् सावद्यानुसंबन्धिकलाद्युपदर्शने प्रवृत्ते? उच्यते सः भगवान् ... मयानुभावतो वृत्तिहीनेषु दीनेषु मनुजेषु दुःस्थविभाव्यसंजातकरुणैकरसत्वात्। समुत्पन्नविचिकित्सरसो हि नान्यरससापेक्षो भवतीति वीर इव द्विजस्य चीवरदाने। अथैव तर्हि कथमधिकलिप्सोस्तस्य सति सकलेऽशुके शकलकदानं सत्यं भगवतश्च तुर्ज्ञानधारकत्वेन तस्य तावन्मात्रस्यैव शामस्यावधारणेनाधिकयोगस्य क्षेमानिर्वाहकत्वदर्शनात्। कथमन्यथा भगवदशस्य समस्तवस्त्रग्रहणेऽपि तदुच्चरितकृतार्द्धविभाजकस्तन्तुवायः समजायत। किं च फलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्याद्व्यसनाशक्तिरपि न स्यात्। ननु भवतु नामोक्तयुक्त्या तावत्तु कलाद्युपदर्शकत्वं परं राजधर्मप्रवर्तकत्वं कथमुचितमुच्यते। ते च राज्यशिष्टानुग्रहाय दुष्टनिग्रहाय धर्मस्थितिसंग्रहाय च। ते च राज्यस्थितिनिश्रया सम्यक्प्रवर्तमानाः क्रमेण परेषां महापुरुषमार्गोपदर्शकतया चौर्यादिव्यसननिवर्तनतो नारकातिथेयीभिन्नारकतया ऐहिकामुष्मिकसुखसाधकतया च प्रशस्ता एवेति।

महापुरुषप्रवृत्तिरपि सर्वत्र परार्थत्वसाधकतावहुगुणाल्पदोषकार्यकारणविचारणापूर्विकैवेति । युगादौ जगद्व्यवस्था प्रथमेनैव पार्थिवेन विधेयेति । ज्ञातमपीति स्थानाङ्गपञ्चमाध्ययनेऽपि " धम्मणं चरमाणस्स पंचणिस्सा ठाणा पण्णत्ता तं ज.। छक्काया १ गणो २ राया ३ गाहावई ४ सरीरं" ५ मित्यादावश्यकवृत्तौ राज्ञो निश्रामाश्रित्य राजा नरपतिस्तस्य धर्मसहायत्वं दुष्टेभ्यः साधुरक्षणादीत्युक्तमस्तीति परमकरुणापरीतचेतस परमधर्मप्रवर्तकस्य ज्ञानत्रययुक्तस्य भगवतो राजधर्मप्रवर्तकत्वे न काप्यनौचिती चेतसि चिन्तनीया युक्त्युपपन्नत्वात् तद्विस्तरस्तु जिनभवचरपञ्चाशकसूत्रवृत्त्योर्यतनाद्वारे व्यक्त्या दर्शितोऽस्तीति तत एवावसेयो ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यते इति । एतेन " राज्य हि नरकान्तं स्याद् यदि राजा न धार्मिकः " इत्युक्तिरपि दृढबद्धमूला न कम्पत इति । किंचात्र तृतीयारकप्रान्ते राज्यस्थित्युत्पादे धर्मस्थित्युत्पादः पञ्चमारकप्रान्ते " वसुअरईसघधम्मो, पुव्वण्हे विच्छही अगणिसय । निववमिलवाहणसुहुम-मतिनयधम्ममज्झण्हे " १ इति वचनात् धर्मस्थितिविच्छेदे राज्यस्थितिविच्छेद इत्यपि राज्यस्थितिहेतुत्वाभिव्यञ्जकमेवेति सर्वं सुस्थमित्यल विस्तरेणेति । जं० २ वक्ष० । कल्प० । सु० ।

(१४) पुत्राणां राज्याभिषेकस्तदनु च भगवान् किं चक्रे इत्याह ।

उवदिसित्ता पुत्तसयं, रज्जसए अभिसिंचइ ।

उपदिश्य कलादिकं पुत्रशत भरतबाहुबलिप्रमुखं कोशलातक्षशिलादिराज्यशते अभिषिञ्चति स्थापयति । अत्र शाखादिप्रभञ्जनावसानानि भरताद्यनवति भ्रातृनामानि अन्तर्वाच्यादिषु सुप्रसिद्धानीति न लिखितानि देशनामानि बहून्यप्रतीतानीति। ज २ वक्ष० । कल्पसुबोधिकाकारेण तु दर्शितानि । नन्दननामानि तानि चेमानि । भरत । १ । बाहुबलिः । २ । शङ्ख० ३ विश्वकर्मा ४ विमल ५ सुलक्षण० ६ अमल० ७ चित्राङ्ग ८ ख्यातकीर्ति ९ वरदत्त १० सागर ११ यशोधरः १२ अमर० १३ रथवर० १४ कामदेव० १५ ध्रुवः १६ वत्स० १७ नन्द १८ सुर १९ सुनन्दः २० कुरु २१ अङ्ग २२ वङ्ग० २३ कोशल० २४ वीर २५ कलिङ्ग २६ मागध २७ विदेह २८ सगम २९ दशार्ण० ३० गम्भीर ३१ वसुवर्मा ३२ सुवर्मा ३३ राष्ट्र ३४ सुराष्ट्र ३५ बुद्धिकर ३६ विविधकर० ३७ सुयशा ३८ यशःकीर्ति० ३९ यशस्कर० ४० कीर्तिकर ४१ सूरण ४२ ब्रह्मसेन ४३ विक्रान्त० ४४ नरोत्तम ४५ पुरुषोत्तमः ४६ चन्द्रसेन ४७ महासेन० ४८ नभस्सेन० ४९ भानु ५० सुकान्त० ५१ पुष्पयुतः ५२ श्रीधर ५३ दुर्धर्ष ५४ सुसुमारः ५५ दुर्जय ५६ अजेयमान ५७ सुधर्मा ५८ धर्मसेनः ५९ आनन्दन० ६० आनन्द ६१ नन्द ६२ अपराजित ६३ विश्वसेन ६४ हरिषेण० ६५ जयः ६६ विजय ६७ विजयन्तः ६८ प्रभाकर ६९ अरिदमन ७० मान ७१ महाबाहु ७२ दीर्घबाहु ७३ मेघ ७४ सुघोष ७५ विश्व ७६ वराह० ७७ सुसेन० ७८ सेनापति ७९ कपिल ८० शैलविचारी ८१ अरिञ्जय ८२ कुञ्जरबल ८३ जयदेव ८४ नागदत्त ८५ काश्यप० ८६ बल ८७ धीर ८८ शुभमति ८९ सुमति ९० पद्मनाभ० ९१ सिंह ९२ सुजाति ९३ सञ्जयः ९४ सुनाम ९५ नरदेव ९६ चित्तहर० ९७ सुरवर ९८ दृढरथ ९९ प्रभञ्जनः १००॥ इति । राज्यदेशनामानि तु अङ्ग १ । वङ्ग० २ । कलिङ्ग० ३ । गौड ४ । चौड ५ । कर्णाटक० । ६ कार्णाट० ७ । लाट ८ सौराष्ट्र ९ काश्मीर० १० सौवीर० ११ आभीर० १२ चीण १३ महाचीणः । १४ गूर्जर १५ बङ्गालः ॥ १६ श्रीमाल० १७ नेपाल० १८ जहाल० १९ कौशल० २० मालव २१ सिंहल० २२ मरुस्थलादीनि २३ ज्ञेयानि लब्धवर्णैः कल्प० । (राज्यादिप्रधानस्य किं फलमित्यन्यत्र)

(१५) अथ भगवतो दीक्षाकल्याणकमाह ।

अभिसिंचित्ता तेसीइं पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसइ वसइत्ता जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स णवमीपक्खे णं दिवसस्स पच्छिमे भागे चइत्ता हिरण्णं चइत्ता सुवण्णं चइत्ता कोसं कोट्ठागारं चइत्ता बलं चइत्ता वाहणं चइत्ता पुरं चइत्ता अंतेउरं चइत्ता विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरयणरत्तसंतसारसावइज्जं विच्छड्डयित्ता विगोवइत्ता दाणं दाइआणं परिभाएत्ता सुदंसणाए सीए सीआए स देवमणुआसुराए परिसाए समणुगम्ममाणमग्गे संखिअचक्किअणंगलिअमुहमंगलिअपूसमाणवद्धमाणग - आइक्खगलंखमंखघंटिअगणेहिं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पीयाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं धण्णाहिं मंगल्लाहिं सस्सिरीआहिं हिययगमणिआहिं हिययपल्हायणिज्जाइं कण्णमणनिव्वुइकराहिं अपुणरुत्ताहिं सट्ठसइआहिं वग्गुहिं अणवरयं अभिणंदंताय अभित्थुणंताय एवं वयासी जय जय नंदा जय जय भद्दा धम्मेणं अभीए परीसहोवसग्गाणं खंतिखमे भयभेरवाणं धम्मे ते अविग्घं भवउ तिकट्टु अभिणंदंति य अभिथुणंति य तएणं उसभे अरहा कोसलिए णयणमालासहस्सेहिं पिच्छिज्जमाणे २ एवं जाव णिग्गच्छइ जहा उववाए जाव आउलबोलबहुलं णभंकरे ते विणीआए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ आसिअ संमज्जिअ सितसुत्तसुइकपुप्फोवयाकरे कलिअं सिद्धत्थवणविउलराय मग्गं करेमाणे हयगयरहपहकरेमाणे पाइक्कचक्करेण य मंदं २ उद्धतरेणुयं करेमाणे २ जेणेव सिद्धत्थवणे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता असोगवरपायवस्स अहेसीअं ठावेइ ठावेइत्ता सीआओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता सयमेवाभरणालंकारं मुअइ मुअइत्ता सयमेव चउहिं अट्ठाहिं मुट्ठिहिं लोअं करेइ करेइत्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं आसाढाहिं णक्खत्तेणं जोगमुवागएणं उग्गाणं भोगाणं राइण्णाणं खत्तिआणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए ॥

अभिषिच्य अशीतिं पूर्वलक्षाणि महान् रागो लौल्यं यत्र स चासौ वासश्च महारागवासो गृहवासस्तन्मध्ये वसति गृहपर्याये तिष्ठतीत्यर्थः । यद्यपि प्रागुक्तव्याधिप्रतीकारन्यायेनैव तीर्थकृता गृहवासे प्रवर्तन तथाऽपि सामान्यतः स यथोक्त एवेति न दोष । यद्वा महान् अरागोऽलौल्यं यत्र स चासौ वासश्चेति योजनीय यतो भगवदपेक्षया स एवंविध एवेति एतेन " ते वट्टि

पुव्वसयसहस्साइं महारायवासमज्झे वसइ " इति पूर्वग्रन्थविरोधो नेति उषित्वा (जे से त्ति) य. स (गिह्माणति) आर्षे ग्रीष्मशब्दः स्त्रीलिङ्गबहुवचनान्तश्च ततो ग्रीष्मस्येत्यर्थः प्रथमो मासो यथा ग्रीष्माणामवयवे समुदायोपचारादुष्णकालमासानां मध्ये प्रथमो मासः प्रथमः पक्षश्चैत्रबहुलश्चाथान्धकारपक्षस्तस्य नवम्यास्तिथेः पक्षो येहो यस्य तिथिमेलपातादिषु दर्शनात् तिथिपाते तत्कृत्यस्याष्टम्यामेव क्रियमाणत्वात् स नवमीपक्षोऽष्टमीदिवसस्तत्रानेन व्याख्यानेन "चित्तबहुलट्टमीए" इत्यागमविरोधात् । वाचनान्तरेण वा नवमीपक्षो नवमो दिवस इयस्याष्टमीदिवसस्य मध्यन्दिवादुत्तरकाले यद्यपि दिवसशब्दस्याहोरात्रवाचकत्वमन्यत्र प्रसिद्धं तथाऽप्यत्र प्रस्तावाद्दिवसे गतो रजनीरजनिः इत्यादाविव सूर्यचारविशिष्टकालविशेषग्रहणमन्यथा दिवसपाश्चात्यभागस्यानुपपत्तेः । त्यक्त्वा हिरण्यमघटितसुवर्णं रजतं वा सुवर्णं घटितं हैमं हेम वा कोशं भाण्डागारं कोष्ठागारं धान्याश्रयगृहं बलं चतुरङ्गवाहनं वेसरादि पुरान्तःपुरव्यक्ते विपुलं धनं गवादि कनकं सुवर्णं येऽन्यस्सल्लक्षणेऽन्यस्तानि रत्नानि मणयश्च प्राग्वत् मौक्तिकानि शुक्त्याकाशादिप्रभवानि शङ्खाश्च दक्षिणावर्ताः ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः शिलाः पट्टादिरूपाः प्रवालानि विद्रुमाणि रक्तरत्नानि पद्मरागाः पृथग्ग्रहणमेषां प्राधान्यख्यापनार्थमुक्तस्वरूपं यत्ससारं सारातिसारं स्वापतेयं द्रव्यं त्यक्त्वा ममत्वत्यागेन विच्छर्द्य पुनर्ममत्वाकरणेन । कुतो ममत्वत्याग इत्याह । विगोप्यं जुगुप्सनीयमेतत् अस्थिरत्वादिति कथनेन कथं च निश्चात्यजनमित्याह । दायकानां गोत्रिकानां दायधनविभागं परिभाज्य विभागशो दत्त्वा तदाऽवनौ नाथपान्थादियाचकानामभावाद्गोत्रिकग्रहणं तेऽपि च भगवत्प्रेरिता निर्ममाः सन्तः शेषमात्रं जगृहुः । इदमेव हि जगद्गुरोर्जीतं यदिच्छावधि दानं दीयते तेषां च इयतैव इच्छापूर्तिः । ननु यदीच्छावधिकं प्रभोर्दानं तर्हि एवंयुगीनो जन एकदिनदेयं संवत्सरदेयं वा एक एव जिघृक्षेत् इच्छाया अपरिमितत्वात् । सत्यं प्रभुप्रभावेणैतादृशेच्छाया असंभवात् । सुदर्शनानाम्न्यां शिविकायामारूढमिति गम्यं किं विशिष्टं भगवन्तं सदेवमनुजासुरया स्वर्गभूपातालवासिजनसहितया पर्षदा समुदायेन समनुगम्यमानम् अग्रे अग्रतनभागे शाङ्खिकादयोऽभिनन्दयन्तोऽभिष्टुवन्तश्च एवं वक्ष्यमाणमवादिषुरित्यन्वयः । तत्र शाङ्खिकाश्चन्दनगर्भशङ्खहस्ता माङ्गल्यकारिणः शङ्खध्मा वा चाक्रिकाश्च चक्रभ्रामकाः कुम्भकारतैलिकादयो वा लाङ्गलिका गलावलम्बितसुवर्णादिमयहलधारिणो भट्टविशेषाः । मुखमाङ्गलिकाश्चाटुकारिणः पुष्यमाणा वा । मागधा वर्द्धमानकाः स्कन्धारोपितनराः आख्यापकाः शुभाशुभकथकाः लङ्खा वंशाग्रखेलकाः मङ्खाश्चित्रफलकहस्ता भिक्षाका गौरीपुत्रा इति रूढाः । घाण्टिका घण्टावादकास्तेषां गणाः सूत्रे च आर्षत्वाद् प्रथमार्थे तृतीया यथाश्रुतव्याख्याने च शाङ्खिकादिगणैः परिवृतमिति पदं कुलमहत्तरा इति पदं चान्वययोजनार्थमध्याहार्यं स्यात् । साध्याहारव्याख्यातोऽनध्याहारव्याख्यालाघवमिति पञ्चमाङ्गे जमालिचरित्रे निष्क्रमणमहवर्णने शाङ्खिकादीनां प्रथमान्ततया निर्देश एतस्यैवाशयस्य सूचकः । यदि च प्रायः सूत्राणि सोपस्काराणि भवन्तीति न्यायोऽनुश्रियते तदा साध्याहारव्याख्यानेऽप्यदोषः ताभिर्विवक्षिताभिरित्यर्थः । वाग्भिरभिनन्दयन्तश्चाभिष्टुवन्तश्चेति योजना । विवक्षितत्वमेवाह । इष्यन्ते स्मेतीष्टास्ताभिः प्रयोजनवशादिष्टमपि किंचित्स्वरूपतः कान्तं स्यादकान्तं चेत्यत आह कान्ताभिः कमनीयशब्दाभिः

प्रियाभिः प्रियार्थाभिः मनसा ज्ञायन्ते सुन्दरतया यास्ता मनोज्ञा भावतः सुन्दरा इत्यर्थस्ताभिर्मनसा अम्यन्ते गम्यन्ते पुनः पुनः याः सुन्दरत्वातिशयात्ताः मनोमास्ताभिरुदाराभिः शब्दतोऽर्थतश्च कल्याणाभिसूचिकाभिः । शिवाभिर्निरुपद्रवाभिः शब्दार्थदूषणोज्झिताभिरित्यर्थः धन्याभिर्धनलम्भिकाभि माङ्गल्याभिः मङ्गलेऽनर्थप्रतिघाते साध्वीभिः सश्रीकाभिः । अनुप्रासाद्यलङ्कारोपेतत्वात् सशोभाभिः । हृदयगमनीयाभिः अर्थप्राकट्यचातुरीसचिवत्वात् सुबोधाभिः । हृदयप्रह्लादनीयाभिः हृदयगतकोपशोकादिग्रन्थिविद्रावणीभिः अत्र कर्तर्यनट् प्रत्ययः कर्णमनसोर्निर्वृतिकरीभिः अपुनरुक्ताभिरिति च स्पष्टमर्थशतानि यासु सन्ति ता अर्थशतिकास्ताभिः अथवाऽर्थानामिष्टकार्याणां शतानि यान्यस्ता अर्थशतास्ता एवार्थशतिका स्वार्थे कप्रत्ययस्ताभिर्वाग्भिर्गीर्भिरेकार्थिकानि वा प्रायः इष्टादीनि वाग्विशेषणानीति । अनवरतविश्रामाभावात् अभिनन्दयन्तश्च जयजयेत्यादिभणनसमृद्धिमन्तं भगवन्तमाचक्षाणाः अभिष्टुवन्तश्च भगवन्तमेवमवादिषुरिति । किमवादिषुरित्याह । जयजयेति भक्तिसम्भ्रमे द्विर्वचनं नन्दति समृद्धो भवतीति नन्दः तस्यामन्त्रणमिदमिह च दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । अथवा जयत्वं जगत्समृद्धिकरत्वाज्जय जय भद्रेति प्राग्वत् । नवरं भद्र कल्याणवान् कल्याणकारी वा कथं शोभते स्मेत्याह । धर्मेण करणभूतेन न त्वभिमानलज्जादिना अभितो भयपरीषहोपसर्गेभ्यः । प्राकृतत्वात्पञ्चम्यर्थे षष्ठी परीषहोपसर्गाणां जेता भवेत्यर्थः । तथा क्षान्त्या न त्वसामर्थ्यादिना क्षमः सोढा भव भयमाकस्मिकं भैरवं सिंहादिसमुत्थं तयोः प्राकृतत्वात् पदव्यत्ययं भैरवभयानां वा भयङ्करभयानां क्षान्ता भवेत्यर्थः । नानाधर्मेण नानाविधवाग्भागीति न पूर्वविशेषणान्तःपातेन पौनरुक्त्यं धर्मे प्रस्तुते चारित्रधर्मे अविघ्नं विघ्नाभावस्ते तव भवतु इति कृत्वा धातूनामनेकार्थत्वादुपचार्य पुनः पुनरभिनन्दयन्ति वाचाऽभिष्टुवन्ति चेति । अथ येन प्रकारेण निर्गच्छति तमेवाह । " तए णमित्यादि" ततस्तदनन्तरमृषभोऽर्हन् कौशलिको नयनमालासहस्रैः श्रेणिस्थितजनवदिदृक्षमाणनागरनेत्रवृन्दैः प्रेक्ष्यमाणः पुनः पुनरवलोक्यमानः । आभीक्ष्ण्याद् द्विर्वचनमेव सर्वत्र एव तावद्वक्तव्यं यावन्निर्गच्छति यथौपपातिके यथा प्रथमोपाङ्गे च पाठो भम्भासारसूत्रस्य निर्गमगमः उक्तस्तथाऽत्र वाच्यो वाचनान्तरेण यावदाकुलबोलबहुलं नभः कुर्वन्निति पर्यन्त इति । तत्र च यो विशेषस्तमाह । विनीताया राजधान्या मध्यं मध्येन भागेन इत्यर्थः । निर्गच्छति सुखं सुखेनेत्यादिवन्मध्यं मध्येनेति निपातः । औपपातिकगमश्चायं "हिययमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे २ मणोमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे २ वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे २ कांतिरूवसोहग्गगुणेहिं पिच्छिज्जमाणे २ अंगुलिमालासहस्सेहिं दाइज्जमाणे २ दाहिणहत्थेणं बहूणं णरणारिसहस्साणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे २ मंजुमंजुणा घोसेण आपडिपुच्छेमाणे २ भवणपतिसहस्साइं समइच्छमाणे २ तंतीतलतालतुडियगीयवाइयरवेणं महुरेण य मणहरेण जयसद्दग्घोसविसएण मंजुणा घोसेणं पडिबुज्झमाणे कंदरगिरिविवरकुहरगिरिवरपासा उड्ढघणभवणदेवकुलसिंघाडगतिगचउक्कचच्चरआरामुज्जाणकाणणसहापवापसदेसभागे पडिसुआसयसंकुल करेंति हयहेसिअहत्थिगुलगुलाइ अरहघणघणाइसद्दमीसिएण महया कलकलरवेण जणस्स महुरेण पूरयते सुगंधवरकुसुमचुण्णउव्विद्धवासरेणुकविलं नभं करेंति कालागरुकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवनिवहेण जीवलोगमिव वासयते समंत-

उक्खत्तिअचक्कवाल पउरजणवालवुड्ढपमुइअतुरिअपहाविअविउलत्ति " आउलपदमारभ्य निर्गच्छति पदपर्यन्त तु सूत्रे साक्षादेवास्ति। अत्र व्याख्या हृदयमालासहस्रैर्जनमन समूहैरभिनन्द्यमान' २ समृद्धिमुपनीयमानो जयजीवानन्देत्याद्याशीर्वादेन मनोरथमालासहस्रैरेतस्यैवाज्ञापरा भवाम इत्यादिजनविकल्पैर्विशेषेण स्पृश्यमान २ इत्यर्थ.। वदनमालासहस्रैर्वचनमालासहस्रैर्वा अभिष्टूयमान' २ कान्त्यादिगुणैर्हेतुभि प्रार्थ्यमान. २ भर्तृतया स्वामितया वा स्त्रीपुरुषजनैरभिलष्यमाण २ दक्षिणहस्तेन बहूनां नरनारीसहस्राणामञ्जलिमालासंयुतकरमुद्राविशेषवृन्दानि प्रतीच्छन् २ गृह्णन् २ किमुक्त भवति त्रैलोक्यनाथेनापि प्रभुणा पौराणामस्माकमञ्जलिरूपा भक्तिर्मनस्यवतारितेति दक्षिणहस्तदर्शनम्। तथा महाप्रमोदाय भवतीति कुर्वन् मञ्जुमञ्जुनातिकोमलेन घोषेण स्वरेण प्रतिपृच्छन् २ प्रश्नयन् प्रणमता स्वरूपादिवार्तामवनानां विनीता नगरी गृहाणां पङ्क्त्या समश्रेणिस्थित्या सहस्राणि न तु पुष्पावकीर्णस्थित्या समतिक्रामन् २ तन्त्रीतलताला. प्रसिद्धा त्रुटितानि शेषवाद्यानि तेषा वादितं वादन प्राकृतत्वात्पदव्यत्यय गीत च तयो रवेण। यद्वा तन्त्र्यादीनां त्रुटितान्तानां गीते गीतमध्ये यद्वादित वादन तेन यो रव. शब्दस्तेन मधुरेण मनोहरेण तथा जयशब्दस्य उद्घोष उद्घोषण विशद स्पष्टतया प्रतिभासमान यत्र तेन मञ्जुमञ्जुना घोषेण पौरजनरवेण च प्रतिबुद्ध्यमान. २ सावधानीभवन् कन्दराणि दर्य गिरीणां विवरकुहराणि गुहापर्वतान्तराणि च गिरिवरा प्रधानपर्वता. प्रासादा सप्तभूमिकादय ऊरूघनभवनानि ऊर्ध्वविस्तृतगृहाणि देवकुलानि प्रतीतानि शृङ्गाटक त्रिकोणस्थान त्रिक यत्र रथ्यात्रय मिलति चतुष्क यत्र रथ्याचतुष्टय चत्वर बहुमार्गा आरामा पुष्पजातिप्रधानवनखण्डा. उद्यानानि पुष्पादिमद्वृक्षयुक्तानि काननानि नगरासन्नानि सभा आस्थायिका. प्रपा जलदानस्थानमेतेषा ये प्रदेशरूपा भागास्तान् तत्र प्रदेशा लघुतरा भागा देशास्तु लघव प्रतिश्रुता. प्रतिशब्दास्तेषा शतसहस्राणि लक्षास्तै. सकुलान् कुर्वन् अत्र बहुवचनार्थे एकवचन प्राकृतत्वात् हयाना ह्रेषितेन हेषारवरूपेण हस्तिना गुलगुलायितेन गुलगुलायितरूपेण रथानां घनघनायितेन घणघणायितरूपेण शब्देन मिश्रितेन जनस्य महता कलकलरवेण आनन्दशब्दत्वान्मधुरेणाक्रेरेण पूरयन् २ अत्र नभ इति उत्तरग्रन्थवर्तिना पदेन योग सुगन्धानां वरकुसुमानां च उद्वेध ऊर्द्ध गतो वासरेणुर्वासकरजस्तेन कपिल नभ' कुर्वन् कालागुरु कन्दुरुक्कश्चीडाभिध द्रव्य तुरुष्क सिह्लक धूपश्च दशागादिर्गन्धद्रव्यसयोगज एषां निवहेन जीवलोक वासयन्निव अत्रोत्प्रेक्षा तु जीवलोकवासनस्यावास्तवत्वेन सर्वत क्षुभितानि ताश्च तया ससम्भ्रमाणि चक्रवालानि जनमण्डलानि यत्र निर्गमे तद्यथा भवतीत्येव निर्गच्छन्तीति। प्रचुरजनाश्च अथवा पौरजनाश्च बालवृद्धाश्च ये प्रमुदितास्त्वरितप्रधाविताश्च शीघ्र गच्छन्तस्तेषां व्याकुलाकुलानां यो बोल शब्द स बहुलो यत्र तत्तथा एवं भूत नभ कुर्वन् विशेषणाना व्यस्ततया निपात प्राकृतत्वादिति निर्गत्य च यत्रागच्छति तदाह। आसी इत्यादि आसिक्तमीषत्सिक्त गन्धोदकानि प्रमार्जित कचवरशोधनेन सिक्त तेनैव विशेषतो ऽत एव शुचिक पवित्र पुष्पैर्य उपचार पूजा तेन कलित युक्तमिद च विशेषणं प्रमार्जितासिक्तशुचिकमित्येव दृश्य प्रमार्जिताद्यनन्तरभावित्वाच्छुचिकत्वस्य एवंविधसिद्धार्थवनविपुलराजमार्गं कुर्वन् तथा हयगजरथानां (पहकरत्ति) देशीशब्दोऽयं समूहवाची तेन हयादिसेनयेत्यर्थः। तथा पदातीनां च टकारेण वृन्देन च मन्द च यथा भवति तथा क्रियाविशेषण यथा हयादिसेना पाश्चात्यसमेति तथा बहुतरबहुतमकमित्यर्थ। उद्धूतरेणुकमूर्ध्वगतरजस्क कुर्वन् यत्रैव सिद्धार्थवनमुद्यान यत्रैवाशोकवरपादपस्तत्रैवोपागच्छतीति उपागत्य यत्करोति तदाह उपागत्याशोकवरपादपस्याध. शिविकां स्थापयति स्थापयित्वा च शिविकाया प्रत्यारोहति अवतरतीत्यर्थ। प्रत्यवरुह्य च स्वयमेवाभरणालङ्कारान् तत्राभरणानि मुकुटानि अलङ्कारान् वस्त्रादीन् सूत्रे एकवचन प्राकृतत्वात् आभरणानि च अलङ्काराश्चेति समाहारद्वन्द्वकरणाद्वा अवमुञ्चति त्यजति कुलमहत्तरिकायां हंसलक्षणपदे अवमुच्य च स्वयमेव चतसृभि. (अट्ठाहिंति) मुष्टिभि करणभूताभिर्लुञ्चनीयकेशानां पञ्चमभागलुञ्चिकाभिरित्यर्थ' लोचं करोति अपराङ्गालङ्कारादिमोचनपूर्वकमेव शिरोऽलङ्कारादिमोचन विधिक्रमायेति पर्यन्ते मस्तकालङ्कारकेशविमोचन तीर्थकृतः पञ्चमुष्टिकलोचसम्भवेऽपि अस्य भगवश्चतुर्मुष्टिकलोचगोचर' श्रीहेमाचार्यकृतऋषभदेवचरित्राभिप्रायोऽय प्रथममेकया मुष्टया श्मश्रुकूर्चयो. लोचे तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनान्दोलितां कनकावदातयो प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं मरकतोपमानमाबिभ्रतीं परमरमणीयां वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन्मय्यनुग्रह विधाय ध्रियतामेवमित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवताऽपि सा तथैव रक्षितेति न ह्येकान्तभक्तानां याञ्चामनुग्रहीतार खण्डयन्तीत्येवेदानीमपि श्रीऋषभमूर्तौ स्कन्धोपरि वल्लरिका' क्रियन्ते इति लुञ्चिताश्च केशा. शक्रेण हंसलक्षणपटे क्षीरोदधौ क्षिप्ता इति। षष्ठेन भक्तेन उपवासत्रयरूपेण अपानके चतुर्विधाहारेण आषाढाभिरित्यत्र " ते लुग्वे " त्यनेन उत्तरापदलोपे उत्तराषाढाभिर्वचनवैषम्यमार्षत्वात् नक्षत्रेण योगमुपागतेनार्थाच्चन्द्रेणेति गम्यम्। उग्राणामनेनैव प्रभुणा आरक्षकत्वेन नियुक्तानां भोगानां गुरुत्वेन व्यवहृतानां राजन्यानां क्षत्रियाणां शेषप्रकृतितया विकल्पितानां चतुर्भि. पुरुषसहस्रै सार्द्धमेते च बन्धुभि सुहृद्भि भरतेन च निषिद्धा अपि कृतज्ञत्वेन स्वाम्युपकार स्मरन्तः स्वामिविरहभीरवो वान्तान्न इव राज्यसुखे विमुखा यत्स्वामिनाऽनुष्ठेय तदस्माभिरपीतिकृतनिश्चया' स्वामिनमनुगच्छन्ति स्म। एक देवदूष्य शक्रेण वामस्कन्धे जीतमित्यर्पितमुपादाय न तु रजोहरणादिक लिङ्ग कल्पातीतत्वाज्जिनेन्द्राणाम्। मुण्डो द्रव्यतः शिर कूर्चलोचेन भावत' कोपाद्यपासनेन भूत्वा अगाराद् गृहवासान्निष्क्रम्येति गम्यमनगारितामग्राहीत्। गृही असंयतस्तत्प्रतिषेधादनगारी सयतस्तद्भावस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः। प्रव्रजित' प्रगत. प्राप्त इति यावत्। अथ वा विभक्तिपरिणामादनगारितया निर्ग्रन्थतया प्रव्रजितः प्रव्रज्या प्रतिपन्न.। जं० २ वक्ष.।

अत्रैव वक्तव्यशेष चूर्णिकृदाह।

" से य उसभे कोसलिए पढमराया पढमनिक्खायरिए पढमतित्थयरे वीस पुव्वसयसहस्साइ कुमारवासे वसित्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइ रज्जमणुपालेमाणे लेहाइयातो सउणरुतपज्जवसाणातो बावत्तरिं कलातो चोसट्ठिं महिलागुणे सिप्पाणमेगं सयमेए तिन्नि पयाहियट्ठाए उवदिसइ उवदिसित्ता पुत्तसय रज्जे सए अभिसिंचइ ततो लोगंतिएहिं देवेहिं जीयम्मि तिकट्टु संबोहिए संवच्छरिय दाण दाऊण भरहं विणीयाए बाहुबलिं बहलीए करुउमहाकच्छाण सहस्सपरिवारा भयवया सह अणु-

पव्वइया अन्ने भणति एए वि कच्छमहाकच्छे रज्जे ठवेइ ठवेइत्ता चेत्तबहुलट्ठमीए दिवसस्स पच्छिमे भागे सुदंसणाए सिवियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए समणुगम्ममाणे विणीयाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छमाणे जेणेव सिद्धत्थवणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स हेट्ठा भयवया सयमेव कतो चउमुट्ठिओ लोचो पंचममुट्ठिगहणेहिं भगवतो कणगावदाते सरीरे अंजणरेहाओ इव रेहंतीओ सक्को उवरुम्भिऊणं भणिया इतो भयवं पयातो एवमेव चिट्ठंतु तहेव ठियातो तेण भगवतो चउमुट्ठिओ लोओ। लोयं काऊण छट्ठेण भत्तेण अपाणएण आसाढानक्खत्तेण उग्गाणं भोगाणं रायण्णाणं खत्तियाणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं तेसिं पंचमुट्ठितो लोचो आसि। एगं देवदूसमादाय पव्वइतो। सव्वातित्थगरा विणय सामाइयं करेमाणा एव भणंति करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं जाव वोसिरामि भदंत इति न भणति तथा कल्पत्वादत ऊर्ध्वमेतद्देवोपसंहरक्षाहेत्यादिविषकव्यम्। एवं भगवं कयसामाइओ णाणाभिग्गहं परमं घोरं घेत्तूण वोसट्ठचत्तदेहो विहरइ भगवं अरहा उसभे कोसलिए साहियं संवच्छरं चीवरधारी होत्था। एवं जाव विहरइ। ताहे पुव्वमणिप्पगारेण दुवे कच्छमहाकच्छाणं पुत्ता णमिविणमिनो उवट्ठिया भयवं विणवंति जहा भयवं अम्ह तुब्भेहिं संविभागो ण केणइ वत्थुणा कतो त्ति ततो ते सखडबडकयया करवालग्गहत्थाओ लग्गति विणवंति यति सज्झं ताव तुब्भेहिं सव्वेसिं लोगा दिन्ना ता अम्ह वि देह एवं तिसज्झं विण्णवताणं मोलग्गंताणय कालो वच्चइ। अन्नया धरणो नागकुमारिंदो भयवतो वंदंतो आगतो इमेहिं य विन्नवियं ततो सो ते तहा जायमाणे भवइ भो सुणह भयवं चत्तसंगो गयरोसतोसो सरीरे वि निम्ममत्तो अकिंचणो परमजोगी निरुद्धासवो कमलपत्तनिरुवलेवचित्तो मा एय जायह अहं तु भगवतो भत्तीए मा तुब्भ सामिसेवा अफला होउत्ति काउ पढियसिद्धाइ अडयालीसं विज्जासहस्साइं देमि ताण इमातो चत्तारि महाविज्जातो। त जहा। गोरी गंधारी रोहिणी पन्नत्ती तं गच्छह तुब्भे विज्जासिद्धीए सजण जाणवय उज्जोभेऊण दाहिणिल्लाए उत्तरिल्लाए विज्जाहरसेढीए गगणवल्लहपामोक्खे रहनेउरचक्कवालपामोक्खे य पन्नास सट्ठिं च विज्जाहरनगरे निवेसिऊण विहरह। ते वि त लब्भमाणत्तिय पाहिच्छिऊण लद्धपसाया कामिय पुप्फगविमाण विउव्विऊण भगवं तित्थयरं नागरायं च वंदिऊण पुप्फगविमाणमारूढा कच्छमहाकच्छाण भगवप्पसायं उवदंसेमाणा विणीयनगरिमतिगम्म भरहस्स रण्णो तमत्थं निवेइत्ता सयणं परियणं च गहाय वेयड्ढे उत्तरसेढीए विनमी सट्ठिं नगराइं गगणवल्लभप्पमुहाइं निवेसइ नमी दाहिणसेढीए रहनेउरचक्कवालाइणि पन्नास नगराणि निवेसइ। अह जतो जणवयातो नीया मणुया तेसिं तन्नामा वेयड्ढे जणवया जाया। विज्जाहराण च एगेगस्स अट्ठ-ट्ठनिकाया सव्वे मिलिया सोलस ते पि इमे गोरीण विज्जाण मणुया गोरिया १ मणूण मणुया २ गंधारीण गंधारा ३ माणवीण माणवा ४ केसिगाए केसिगा ५ भूमितुंभिगाण भूमितुंभिगा। ६। ७। मूलवीरियाण मूलवीरिया ८ संवुक्काण संवुक्का ९ कालीण कालिया १० समकीण समका ११ मायगीणं मायगा। १२ पव्वईण पव्वया १३ वसाञ्चयाण वसाञ्चया १४ पंसुमूलियाण पंसुमूलिया। १५ रुक्खमूलियाण रुक्खमूलिया १६ एव ते नमिविनमीसोलसविज्जाहरनिकाए दिवइऊण देवा इव विज्जाबलेण गगणवासिणो सयणपरियणसहिया मणुस्सेस भोए भुंजति। पुरेसु भगवतो उसभसामिस्स रज्जमणुपालेमाणस्स वयपडिमा ठविया विज्जादिवणो य धरणस्स नागरायस्स। (आ० म० प्र०) चतुर्भिः सहस्रैः समन्वित इत्युक्तम्। तत्र तेषां दीक्षां किं भगवान् प्रदत्तवान् उत नेति तत्राह।

चउरो य सहस्सीओ, लोयं काऊण कप्पणा चेव।
जं एस जहा काही, तं तह अम्मे वि काहामो ॥

चत्वारि सहस्राणि सूत्रे स्त्रीत्व प्राकृतत्वात् लोचमात्मनैव पञ्चमुष्टिकं कृत्वा इत्थं प्रतिज्ञां कृतवन्तो यत्क्रियानुष्ठानमेव भगवान् यथा येन प्रकारेण करिष्यति तत्तथा (अम्हे वि) वयमपि करिष्याम इति। भगवानपि भुवनगुरुत्वात्स्वयमेव सामायिकं प्रतिपद्य विजहार। तथा चाह " उसभो वरवसभगई, घेत्तूण अभिग्गहं परमघोरं। वोसट्ठचत्तदेहो, विहरइ गामाणुगामं तु" ॥

(१६) अथ भगवतश्चीवरधारित्वकालमाह।

उसभेणं अरहा कोसलिए संवच्छरं साहियं चीवरधारी होत्था तेणं परं अचेलए ॥

ऋषभोऽर्हन् कौशलिकः साधिकसमासमित्यर्थः (संवच्छर) वर्षं यावद्वस्त्रधारी अभवत्ततः परमचेलक। अत्राय केचन सिपिप्रमादादार्पविदमधिकमित्याहुः तैरादर्शद्वयदृष्टिगतश्रीकृष्णदेवदेवदूष्याधिकारे अयमेवालापको द्रष्टव्यः। जं० २ वक्ष०।

अथ भगवतो विहारमाह।

उसभो वरवसभगई, घेत्तूण अभिग्गहं परमघोरं।
वोसट्ठचत्तदेहो, विहरइ गामाणुगामं तु ॥

ऋषभो वरवृषभगतिरभिग्रह परमघोरं परमं परमसुखहेतुत्वात् घोरः प्राकृतपुरुषैः कर्तुमशक्यत्वात् व्युत्सृष्टत्यक्तदेहो ग्रामानुग्रामं विहरति। व्युत्सृष्टो निष्प्रतिकर्मशरीरतया तथा चोक्तम्। " अच्छि पि नोपमज्जिय नो वि य कंडूय यामुणी गाय" इत्युक्तः खलु उपसर्गसहिष्णुतया स एव भगवान् तैरात्मीयैः परिवृतो विजहार न तदा अद्यापि भिक्षादान प्रवर्तते लोकस्य परिपूर्णत्वेनार्थित्वाभावात्तथा चाह।

न वि ताव जणो जाणइ,का भिक्खा केरिसा य भिक्खयरा।
ते भिक्खमलभमाणा, वणमज्झे तावसा जाता ॥

नापि तावज्जनो जानाति यथा का भिक्षा कीदृशा या भिक्षाचरा इति ततस्ते भगवत्परिवारभूता भिक्षामलभमाना क्षुत्परीषहार्ता भगवतो मौनव्रतावस्थिताद्युपदेशमनाकर्णयन्तः कच्छमहाकच्छाविदमुक्तवन्तः। अस्माकमनाथाना भवन्तौ नेतारावत कियन्त कालमस्माभिरेव क्षुत्पिपासोपगतैरासितव्य तावदास्तु वयमपि तावन्न विद्म यदि भगवाननागतमेव पृष्टोऽभवत किमस्माभिः कर्तव्य किं वा नेति तत शोभनं भवेत्। इदानीं त्वेतावद्युज्यते भरतलज्जया गृहगमनमयुक्तमाहारमन्तरेण चास्थितु न शक्यते ततो वन वासो नः श्रेयान् तत्रोपवासरता पशितु न शक्यते ततो वन वासो नः श्रेयान्... त्रिशाटितपरिणतपत्राद्युपभोगिनो भगवन्तमेव ध्यायन्तस्तिष्ठाम इत्येव सम्प्रधार्य सर्वमम्मतेनैव गङ्गानदीदक्षिणकूलेषु रम्येषु वनेषु वल्कलचीवरधारिणः फलाद्याभरणस्सकृत्तास्तथा चाह। यनमध्ये तापसा जातास्तयोश्च कच्छमहाकच्छयो सुतौ नमिविनमी पित्रनुरागात्ताभ्यां सह विहरन्तौ तौ च वनखंडकाले ना इत्यामुक्तौ दारुणं खल्विदानीमस्माभिर्वनवासात्रिगिरिहन्मि

स्त्वयात यूय स्वगृहाणि। यदि वा भगवन्तमेवमुपसर्पत स चानुकम्पया अभिलषितफलदो भविष्यति तावपि च पित्रो· प्रणाम कृत्वा पित्रादेश तथैव कृतवन्तौ भगवत्समीपमागत्य च प्रतिमास्थिते भगवति जलाशयेभ्यो नलिनीपत्रैरुदकमानीय सर्वतो जलप्रवर्षण कृत्वा आजानोच्छ्रायप्रमाणसुगन्धि कुसुमप्रकर च कृत्वा अवनतोत्तमाङ्गक्षितिनिहितजानुकरतलौ प्रतिदिवस त्रिसन्ध्य राज्यसविभागप्रदानेन भगवन्त विज्ञ.प्य पुनस्तदुभयपार्श्वे खड्गव्यग्रहस्तौ तस्थतु । तथा चाह ।

नमिविनमीणं जयणा, नागिंदो वेज्जदाणवेयड्ढे ।

उत्तरदाहिणसेढी. सट्ठिपन्नासनगराइं ॥

नमिविनम्योर्याचना नागेन्द्रो भगवद्वन्दनायागतस्तेन विद्यादान मनुष्ठित वैताढ्ये पर्वते उत्तरदक्षिणश्रेण्योर्यथाक्रम षष्टिपञ्चाशन्नगराणि निवेशितानि । भावार्थ कथानकादवसेय· । तच्चेदम् ।

एव भयवं कयसा–माऽओ जाव नागरायस्स ।

भयवं अदीणमनसो, संवच्छरमणसिओ विहरमाणो ॥

कन्नाहिं निमंतिज्जइ, वत्थाभरणासणेहिं च ॥

भगवानपि अदीनमना निष्प्रकम्पचित्त सवत्सर वर्ष न अशितोऽनशितो विहरन् भिक्षाप्रदानानभिज्ञेन लोकेनाभ्यर्हितत्वात् कन्याभिर्निमन्त्र्यते वस्त्राणि पट्टदेवाङ्गादीनि आभरणानि कटककेयूरादीनि आसनानि सिंहासनानि तैश्च निमन्त्र्यते वर्तमाननिर्देशप्रयोजन प्राग्वत् ।

(१७)अथैव विहरता भगवता कियत्कालेन भिक्षा लब्धेत्यत आह।

संवच्छरेण भिक्खा, लध्दा उसभेण लोगनाहेण ।

सेसेहिं बीयदिवसे, लध्दाओ पढमभिक्खाओ ॥

सवत्सरेण भिक्षा ऋषभेण लोकनाथेन प्रथमतीर्थकृता लब्धा शेषैरजितजिनादिभिर्द्वितीयदिवसे प्रथमभिक्षा लब्धा ।

सप्रति यद्यस्य पारणकमासीत्तदभिधित्सुराह ॥

उसभस्स उ पारणए, इक्खुरसो आसि लोगनाहस्स ।

सेसाणं परमन्नं, अमियरसरसोवमं आसी ॥

ऋषभस्य लोकनाथस्य पारणके इक्षुरस आसीत् शेषाणामजितस्वाम्यादीनां परमान्न पायसममृतरसेन रसस्योपमा यत्र तदमृतरसरसोपममासीत् ।

तीर्थकृता प्रथमपारणके यद्वृत्त तदभिधित्सुराह ।

घुट्ठ च अहो दाणं, दिव्वाणि य आहयाणि तूराणि ।

देवा य संनिवइया, वसुहारा चेव वुट्ठा य ।

देवैराकाशस्थितैर्घुष्ट यथा अहो दानमिति। अहो शब्दो विस्मये अहो दानमहो दानमस्यायमर्थ । एव हि दीयते एव दत्त भवतीति। तथा दिव्यानि तूराणि त्रिदशैराहतानि देवाश्च तद्वेध सन्निपतिता वसुधारानिपातार्थमाकाशे जृम्भका देवा समागतास्ततो वसुधारा वृष्टा द्रव्यवृष्टिरभूदित्यर्थ । एव सामान्येन पारणककालभाव्युक्तमिदानीं यत्र यथा च यच्चाद्वितीर्थकरस्य पारणकमासीत्तदभिधित्सुराह ।

गयपुरसेज्जंसिक्खु–रसदाण वसुहारपीढगुरुपूया ।

तक्खसिलायलगमणं, बाहुबलिनिवेयण चेव ॥

अस्या भावार्थ कथानकादवसेयस्तच्चेदम् (आ० म० प्र०)

आकरस्सर्वरत्नानां, देशोऽस्ति कुरुनामक· ।

समुद्र इव रत्नाना, गुणानामिव सज्जन ॥ १ ॥

पुर गजपुर तत्र, कल्पद्रुममनोर्मिभि ।

तदेव नर्मदा जह्ने, नून या दृश्यतेऽधुना ॥ २ ॥

तत्र बाहुबले पुत्र , सोम्यस्सोमप्रभो नृप ।

चित्र पद्माहितानन्द , सूरस्तीव्रप्रतापवान् ॥ ३ ॥

श्रेयांसस्तनयस्तस्य, यौवराज्यपदास्पदम् ।

क्रीडन्यद्यापि विश्वश्री–क्रोडान्तर्यद्यदा शिशु· ॥ ४ ॥

स स्वप्ने मन्दर शैल, श्यामवर्ण निरैक्षत ।

तदैवामृतकुम्भेना–स्यभिषिञ्चत शुशुभेऽधिकम् ॥ ५ ॥

राज्ञा दृष्टो भट स्वप्ने, युध्यमान सहारिभि ।

श्रेयांसकृतसाहाय्यो, भगवान् सोऽपि तद्बलम् ॥ ६ ॥

श्रेष्ठी सुबुद्धिरद्राक्षी–त्स्वप्ने सूर्यमरश्मिकम् ।

श्रेयांसोऽगौ न्यधाद्रश्मी–स्ततस्स द्विगुण बभौ ॥ ७ ॥

राजस्थानेऽथ मिलिता , सर्वे स्वप्नान्यवेदयन् ।

असज्ञात्वा· पर स्वप्न–फलमायाति तन्मनौ ॥ ८ ॥

श्रेयांसस्य महालाभो, भावीत्युक्त्वा महीपति ।

आस्थानीन समुत्तस्थौ, श्रेयांसोऽपि ययौ गृहम् ॥ ९ ॥

तत्र वातायनासीन , प्रभुमायान्तमैक्षत ।

सोऽथ दध्यौ मयेदृक्, नेपथ्य क्वाप्यदृश्यत ॥ १० ॥

पितामहस्य मे यादृक्, जातिस्मृतिरथाभवत् ।

प्राग्भवश्रुतमज्ञासीद्, दृष्ट सस्मार चाखिलम् ॥ ११ ॥

तत्रेक्षुरसकुम्भ को–ऽप्यानयत्प्राभृतेऽस्य च ।

तमेव कुम्भमादायो–पस्थित स प्रभु प्रति ॥ १२ ॥

प्रभुणाऽपि शुध्यतीति, पाणिपात्र प्रसारितम् ।

रस सर्वोऽपि निक्षिप्त , प्रभुरच्छिद्रपाणिक· ॥ १३ ॥

न उर्ध्वं बिन्दुरपि, शिखाभिश्चरिव वर्द्धते ।

स्वामी युगादिमस्तेन, वर्षान्ते पारण व्यधात् ॥ १४ ॥

प्रादुर्भूतानि दिव्य नि, वसुधाराऽपतद्गृहे ।

चेलोत्क्षेप· कृतो देवै–र्देवदुन्दुभयो हता· ॥ १५ ॥

पञ्चवर्णा पुष्पवृष्टि–र्वृष्टिर्गन्धोदकस्य च ।

अहो दानमहो दान–मुद्घोष्यस्वरे सुरै ॥ १६ ॥

तद्देवागमन वीक्ष्य, श्रेयांसगृहमाययु ।

लोका सर्वेऽपि राजानो–ऽन्ये च ते च तपस्विन ॥ १७ ॥

श्रेयांसोऽचीकथदथ, भिक्षेत्थ दीयत जना ! ।

सुगतिर्लभ्यतेऽमुत्र, दत्ते चैषां सुचेतसाम् ॥ १८ ॥

सर्वेऽपि तमथ प्राहु–र्ज्ञातमेतत्कथ त्वया ।

यथा भगवतो भिक्षा, दीयतेऽन्नजलादिका ॥ १९ ॥

श्रेयांस स्माह विज्ञात, जातिस्मरणतो मया ।

अष्टौ भवान् भगवता, सहाह भ्रान्तवान् यत ॥ २० ॥

पृष्टस्तै कथयामास, प्राग्भवाष्टकम् । आ० क० ॥

(१८) ऋषभस्वामिन· श्रेयांसेन भवाष्टककथनम् ॥

" अट्ठभवग्गहणाणि वसुदेवहिंडीए तहा विण्णाणा सुत्तत्थ सखेवतो भण्णइ सेज्जसो भणइ । इओ य अट्ठभवे उत्तरकुरुए अह मिहुणइत्थिया भयव मिहुणपुरिसो आसि । ततो वय तम्मि देवलोकभूए दसविहकप्पतरुप्पभावसपज्जमाणभोगोवभोगा कदयाइ । उत्तरकुरुदहतीरदेसे असोगपायवच्छायाए वेरुलियमणिसिलायले णवणीयसरिसफासे सुहनिसण्णा अत्थामो । देवो य तम्मि दहए मज्जिउ उप्पइत्ता गगणदेसेण । ततो तेण नियगप्पभाए पभासियातो दसदिसातो ततो सो मिहुणपुरिसो त तारिस पस्समाणो किं वि चिंतेऊण मोहं उवगतो कइमवि दारुसप्पो भणइ । हा सयपभे ! कत्थासि देहि मे पडिवयणं

तं च तस्स वयण सोऊण इत्थिया वि कयमन्ने मए सयपभाभिहाण अणुभूय पुव्वति चिंतेमाणी तहेव मोहमुवगया । पच्चागयचेयणा भणइ । अहो अज्ज अहं सयपभाजीवे तुज्झेहिं नामं गहियं ति ततो पुरिसो पर तुट्ठिमुव्वहंतो भणइ अज्जे कहेहिं कह तुम सयपभा । ततो सा भणइ कहेमि ज सुयमणुसुय च अत्थि ईसाणो कप्पो तस्स मज्झदेसातो उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सिरिप्पभं नाम विमाण तत्थ ललियंगतो नाम देवो अहिवई । तस्स सयपभा अग्गमहिसी बहुमया आसिसा अह तस्स य देवस्स तिए सह दिव्वविसयसुहसागरगयस्स बहुकालो दिवसो इव गतो । कया चिंतावरो पमलायमल्लदामो अहो दिट्ठिज्झायमाणो मए सगारिसाए विण्णवितो । देव ! कीस विमणो दीससि । को ते माणसो संतावो । ततो सो देवो भणई । मए पुव्वभवे तवो थोवो कतो ततो अहं तुब्भेहिं विप्पजुज्जीहामित्ति परो संतावो ततो अम्हेहिं पुणरवि पुच्छितो । कहेह कह तुब्भेहिं थोवो तपो कतो । ततो भणति जंबुद्दीवे दीवे अवरविदेहे गंधिलावइविजए गंधमायणवक्खारगिरिवरासण्णवेयड्ढपव्वए गंधारा नाम जणवओ । तत्थ समिद्धजणासेविय गंधसमिद्धं नाम नयरं । तत्थ राया जणवयहितो सयबलस्स रण्णो नत्तुओ अइबलस्स सुतो महाबलो नाम । सो अहं पिउपियामहपरंपरागय रज्जसिरिं अणुभवामि । मम य बालमित्तो खत्तियकुमारो सयंबुद्धो नाम सो य जिणसासणभावियमई वि इतो सभिण्णसोतो सो पुण मती बहुसु कज्जेसु पुच्छणिज्जो पर नाहियवाई एव तेहिं सम रज्जमणुपालेमाणो सम इत्थिए बहुम्मि काले । कया वि गीयपडिरत्तो नच्चमाणिं नट्टिय पस्सामि सयंबुद्धेण विण्णवितो देव ! "सव्वं गीयं विलवियं सव्वं नट्टं विडंबणा । सव्वा आभरणा भारा कामा पुण दुहावहा " ता परलोगहिए चित्त निवेसियव्वं असासय जीविय अहितो विसयपडिबंधो । ततो मए भणिय कह गीय सवणामय विलासे कह नयणुब्भुदय नट्ट विडंबणा कहं वा देहविभूसणाणि आभरणाणि भागे लोगसारभूया पीइकरा कामा कह दुहावहा । ततो सभंतेण सयबुद्धेण भणिय । सुणह सामी पसण्णचित्ता जहा गीयं विलावो जहा काइ वि इत्थिया पव्विइयपइगा पइणो सुमरमाणी तस्स समागममभिलसंती भत्तुणो गुणे विकप्पेमाणी पदोसे पच्चूसे य विलवमाणी चिट्ठइ । जहा वा को वि भिच्चो पहुस्स कुवियस्स पसायणानिमित्त दासभावे अप्पाण ठवेऊण पयत्तो जाणि वयणाणि भासइ ताणि विलावो तहा इत्थी पुरिसो वा सरागमणोभाभिलासी कुवियपसायणानिमित्त वा जातो कायमणवाइयातो किरियातो पउंजइ ताओ कुसलनिबद्धाओ गीयं निए बुच्चइ त पुण सामी चिंतेइ किं विलावपक्खे वट्टइ न वा घति । नट्ट जहा विडंबणा तथा भण्णइ । इत्थी पुरिसो वा जक्खाइट्ठो पीयमज्जो वा जातो कायविक्खेवकिरिया तो दंसेइ सा विरूवणा एवं । जा इत्थी पुरिसो वा पहुणो परितोसणनिमित्त विदुसजणनिघट्ठविधिमणुसरतो जे पाणिपायसिरनयणाधरादी सा जत्थ वि परमत्थतो विरूवणा । इयाणि आभरणाणि भारो भाविज्जइ । कोइ पुरिसो सामिणो नियोगेण पेडागयाणि मउडाईणि आभरणाणि वहेज्जा जहा सो अवस्स भारेण पीडिज्जइ एव जो परविम्हयानिमित्त ताणि चेव आभरणाणि जोग्गेसु सरीरट्ठाणेसु सन्निवेसियाणि वहइ सो वि भारेण पीडिज्जइ नवरं सो रागेण भार न गणइ । कामा पुण एव दुहावहा जहा सद्दमुच्छितो मिगो, रूयमुच्छितो पयगो, गंधमुच्छितो महुयरो, रसमुच्छितो मच्छो, फरिसमुच्छितो गइंदो, वहबंधणमारणाणि पावइ । एव जीवा वि सोइंदिया इव सगया सद्दाइसरक्खणपरा तदवरोधकारिसु पडणीएसु कलुसहियया इह लोगे वि मारणादीणि पावेंति परलोगे नरगाइदुक्खभायणं ततो दुहावहा कामा । एव भणतो सयबुद्धो मए भणितो नूण तुम मम अहितोसि जो म संसइयपरलोयसुहेण लोभतो सपइ सुह च भिंदतो दुहे पाडेतुमिच्छसि । ततो सभिण्णसोएण भणितो सामि ! सयबुद्धो जहा जंबुको मच्छकखी मंसपेसिं वहत्ता प मच्छं पइ धावितो मच्छो जले निमग्गो मसपेसी सउणियाए गहियत्ति निरासो जातो तहा सादिट्ठपरलोयसुहासाए दिट्ठं सुह परिच्चयतो उभयो विमुक्को सोइहिइ । सयबुद्धो भणइ जं तुम तुच्छकसुहमोहितो भणासिं को त सवेयणोपमाण करेइ को कुसलजणपसंसियं रयणं सुहागय कायम्मि पसत्तो न इच्छइ त केरिसं भणासि । त सभिण्णसोयधीरा सरीर विभवाईण भणिच्चयाइ जाणिऊण कामभोगे परिव्वज्ज तवसि सजमे य निव्वाणसुहकारणे जुत्तत्ति । साभिण्णोयो भणइ सयबुद्ध ! मग्गण होहित्ति किं सक्का पढममेव भुसाणे ठाइउं नूण तुमं टिट्टिभीसरिसो । जहा टिट्टिभी गगणपडणसंकिया धरेउकामा उड्ढपाया सवइ तहा तुम मरणं करि होहित्ति अइपयत्तकारी सपइकालियं सुह परिच्चाय अणागयकालिय सुह पत्थेसि नणु पत्ते मरणसमए परलोगहियमायरिस्सामो । सयबुद्धेण भणिय मुद्ध ! जुद्धे संपलग्गे कुंजरतुरगदमण कज्जसाहग न हवइ । न वा गेहे पज्जलिए कूवखणणं कज्जकर । जइ पुण दमण खणण वा पुव्वकय होंतं तो परबलमहणं जलणविज्झावण च सुहेण होंत । एव जो अणागयमेव परलोगहिए न उज्जमइ सो उक्कमंतेसु पाणेसु परमदुक्खाभिभूतो किह परलोगमणुट्ठेहिति । एत्थ सुणेहि वियक्खणकहिय उवएस । कोइ किल हत्थी जरापरिणतो गिम्हकाले कंचि गिरिनइं समुत्तरंतो विसमे तीरे पडितो सो सरीरगरुयत्तणेण दुब्बलत्तेण य उट्ठेउमसत्तो तत्थेव कालगतो सो अपाणदेसे सियालेण परिक्खइतो तेण मग्गेण एगो वायसो अतिगतो उदग च उवजीवतो चिट्ठइ उण्हेण य झुज्झमाणे कलेवरे सो पएसो संकुचितो वायसो तुट्ठो अहो निराबाहं जाय पाउसकाले य त मयकलेवर गिरिनईपूरेण वुज्झमाण महानयं सो य पडिय समुद्दमतिगय । तत्थ मच्छमगरेहिं भिन्न ततो जलपूरियातो कलेवरातो वायसो निग्गतो तीरं अपस्समाणो तत्थेव निहणमुवगतो जइ पुण अणागयमेव निग्गतो होंतो तो दीहं काल सच्छंदप्पयारं विविहाणि य मसादिगाणि य आहारेंतो । एयस्स दिट्ठंतस्स अयमुवसंहारो । जहा वायसो तहा संसारिणो सत्ता, जहा हत्थिकलेवरप्पवेसो तहा मणुस्सयोदिलाभो, जहा कलेवरब्भंतरे मंसमुदग च तहा विसयसपत्ती, जहा मग्गनिरोधो तहा तब्भवपडिबंधो, जहा उदकसोयविच्छोभो तहा मरणकालो जहा विवरानिग्गमो तहा परभवसकमो । त जाणाहि संभिन्नसो य सा जो तुच्छए निस्सारे थोवकालिए कामभोगे परिच्चइऊण तवसजमुज्जोग करेइ सो सुगइगतो न सोइइ जो पुण विसएसु गिद्धो मरणसमयमुदिक्खइ सो सरीरभेए भजो पुण विसएसु गिद्धो मरणसमयमुदिक्खइ सो सरीरभेए भगहियपाहे इयो चिर दुही होहिइ त मा जंबुक इव तुच्छदएगहियपाहे इयो चिर दुही होहिइ त मा जंबुक इव तुच्छदएणामेत्तसुहपडिबद्धो विउलकालियं सुहमवमन्नसु । सभिण्णसोएण भणिअं । को सो जंबुकदिट्ठंतो । सयंबुद्धेण भणिय सुणाहि । कोइ किर वणयरो वणे सचरमाणो विसमे पएसे ठितो दिट्ठो एगो गइंदो । सो एगेण कंडेण आहतो निट्ठर मम्मप्पदे-

सलगकरूप्पहारेण पडितो पत्तेण एगो महाकाओ सप्पो अक्कमितो अद्धनिग्गतो अत्थइ ततो पडियं गय जाणिऊण सजीव धणुमत्तकिरिय परेसु गहाय दतमोत्तियगइदं सलयमाणो तेण सप्पेण खइतो मतो । ततो एगेण जम्बुगेण परिब्भमतेण सो हत्थी सो य मणुस्सो दिट्ठो । भीरुत्तणयेण अवसरितो मसलोलुयाए पुणो अल्लीयइ । ततो निज्जीवत्ति निस्ससयो मुणिऊण तुट्ठो अवलोएइ चिंतेइ य हत्थी जावज्जीवय भत्त मणुस्सो पण्णो य कन्ति काल होहिइ । जीवाबधण ताव खाएमि त्ति तुट्ठो मइदुद्धी धणुकोडीए छिन्नपडिवधाए तालुदोसभिन्नो मतो । जइ सो पुण अप्पसार तुच्छति जीवा बधण परिहरिऊण हत्थी मणुस्सोरगकलेवरेसु लग्गतो ताणि य मसाणि चिर खायतो । एव तुम पि जाणाहि । जो माणुससोक्खपडिबद्धो परलोगसाहणनिरवेक्खो सो जबुको इव विणस्सिहिइ ज पि सामी तुब्भे भणह । सदिट्ठो परलोगो इति त पि न जुत्त जतो तुब्भे मए मह कुमारकाले नदण उज्जाणमुवगया तत्थ एगो देवो आगासातो उवेइ त दट्ठूण अम्हे अवसरिया देवो य दिव्वाए गतीए खणेण अम्ह समीव पत्तो । भणिया य अम्हे तेण अहो महाबल ! अह तव पियामहो सयंबलो रज्जसिरिं पयहिऊण विआवितो लतगे कप्पे अहिवई जातो । ता तुब्भे वि मा पमायह । भावह अप्पाणं जिणवयणेण ततो सुगइगामिणो भविस्सह । एव वोत्तूण देवो गतो । त जइ सामि तुब्भे सुमरह तत्थो अत्थि परलोगो त्ति । सद्दहह । मया भणिय सुमरामि सय ततो लद्धावगासो सयबुद्धो भणइ सुणह सामि ! पुव्ववुत्तत । तुब्भं पुव्वजो कुरुचदो नाम राया आसी तस्स य देवी कुरुमई हरिचदो कुमारो सा य राया नत्थिकवाई बहूण सत्ताण वहाय समुट्ठितो निस्सीलो निव्वतो एव तस्स बहू कालो अतीतो मरणकालो अस्सायवेयणीयबहुलयाए नरगपडिरूवगो पोग्गलपरिणामो सवुत्तो गीय सुइमहुर अक्कोसति मन्नइ मणोहराणि रूवाणि विकतानि पासति खीर खरसक्करोवणीय पूइ मन्नइ चदणाणुलेवण मुम्मुर वेएइ हसतूलमउफास कंटकिसाहासत्थय पडिसेवइ तस्स तहाविहमसुभकम्मोदयातो विवरीयभाव जाणिऊण कुरुमई देवी हरिचदेण सह पच्छन्न पडियरइ । एव सो कुरुचदो राया परमदुक्खितो कालगतो तस्स नीहरण काऊण सजणवय गधसमिद्ध नाएण पालेइ पिउणो य तहाभूय मरणमणुचिंतियस्स एव मती समुप्पन्ना । अत्थि सुकयदुक्कयफलति ततो अणेण एगो खत्तियकुमारो बालवयसो सुबुद्धी सदिट्ठो । भद्द ! तुम पडियजणोवइट्ठ धम्मकह पइदिण मे कहेसु एसा चेव ते सेवत्ति । ततो सो एव निउत्तो ज ज धम्मससिय वयण सुणेइ त त राइणो निवेएइ राया सद्दहइ तहेव पडिवज्जइ । कयाइ च नगरस्स नाइदूरे तहारूवस्स साहुणो केवलनाणुप्पत्तिमहिम काउ देवा उवागया एव सुबुद्धिणा खत्तियकुमारेण जाणिऊण हरिचदस्स रण्णो निवेइय । सो वि देवागमणविम्हितो तुरिय पवरतुरगारूढो साहुसमीवमागतो वदिऊण विणएण निसण्णो केवलिमुहविणिग्गय वयणामय सुणेइ । सोऊण ससारमोक्खसरूव अत्थि परभवसकमोत्ति निस्सकिय जायए पुच्छइ । भयव ! मम पिया क गइ गतो । भगवया भणिय हरिचद ! तव पिया अनियारियपावासवो बहूण सत्ताण पीडाकरो पावकम्मगरुयत्ताए इह य विवरीयविसयोवभोग पाविऊण अहे सत्तमपुढवीए नेरइओ जातो । सो तत्थ परमनिव्विसह निरुवम निप्पडियार दुक्खमणुभवइ । ततो कम्मविवाग पिउणा सोऊण हरिचंदो राया ससारभयभीतो वदिऊण केवलनाणिं सनगरमइगतो ततो पुत्तस्स रायसिरिं समप्पेऊण सुबुद्धिं सदिसइ । तुम मम पुत्तस्स उवएस देज्जासि त्ति । तेण विण्णवितो सामि ! अहं केवलिणो वयण सोऊण सह तुब्भेहिं न करेमि तव तो मए न सुय परमत्थतो केवलिवयण तम्हा अह पि तुब्भेहिं समं पव्वइस्सामि । ज पुण उवदेसो दायव्वोत्ति सदिसह तं मम पुत्तो काहिइ । ततो राया पुत्त सदिसइ तुमे सुबुद्धिसुयोवएसो कायव्वो । ततो पलित्तगिरिकंदरातो सीहो व्व राया विणिग्गतो पव्वइतो केवलिसमीवे सह सुबुद्धिणा । ततो परमसवेगो सज्झायपसत्थचिंतणपरो परिक्खवियकिलेसजालो समुप्पन्नकेवलनाणदंसणो परिनिव्वतो तस्स हरिचंदस्स रायरिसिणो वसे संखाईएसु नरवईसु धम्मपरायणेसु अतिक्कंतेसु तुब्भे सपय सामी । अह पुण सुबुद्धिवसे त एस अम्ह नियोगो बहुसु पुरिसपरपरागतो धम्मदेसणाहिगारो जं पुण एत्थ मया अकडे विण्णविया त कारण सुणह । अज्ज अह नदणवण गतो आसी तत्थ मए दुवे चारणसमणा दिट्ठा आइच्चजसे अमियतेओ य । ते य वदिऊण पुच्छिया भयवं महाबलस्स रण्णो केवइयमाउय चिट्ठइ तेहिं कहियं मासो सेसो ततो सभंतो आगतो एस परमत्थो । ततो ज जाणह से यं तमकालहीण करेहत्ति । एव सयबुद्धवयण सोऊण अह धम्माभिमुहो जाओ । आउपरिक्खयसवणेण य आमट्ठियभायणमिव सलिलपूरिज्जमाणमेव सुण्णहियओ भीतो सहसा उट्ठितो कयजली सयबुद्ध सरणमुवगतो वयस्स ! किमियाणिं माससेसजीवितो परलोगहिय करेस्सामि । तेण समासासितो सोम्म ! दिवसो वि बहुओ परिचत्तसव्वसावज्जस्स किमग ! पुण मासो ततो तस्स वयणेण पुत्तसकामियपयापालणव्वावारो गतो सिद्धायतण कतो भत्तपरिच्चातो सयबुद्धोवदिट्ठजिणमहिमासपायणनिरतो सुमणसो सथारगसमणो जातो निरतर च संसारस्स अणिव्वयवेरग्गजणणिं धम्मकह च सुणमाणो समाहिपत्तो कालगतो इहागतो । एव मए थोवो तवो चिण्णत्ति एय च अज्ज मम सपरिवारा य ललियगएण देवेण कहिय । इच्छतरे ईसाणदेवसयसमाणातो दढधम्मो नामदेवो आगतो भणइ अहो ललियंगय ईसाणदेवराया नदीसरदीव जिणमहिम काउ वच्चइत्ति गच्छामि अहपि त्ति सो गतो ततो अज्ज ललियगदेवसहिता इदाणत्ताए अवस्सगमण होहित्ति इयाणिं चेव वच्चामित्ति गयामो खणेण नदीसरदीव कया जिणायणेसु महिमा । ततो तिरियलोए सासयचेइयाण पूय तित्थयरवदण च कुणमाणो चुतो ललियगतो ततो अह परमसोगग्गिडज्झमाणा विवसा सपरिवारा गया सिरिप्पभ विमाण । ततो सयबुद्धदेवो आगतो परिगलमाणसरीरसोभ सद्दट्ठूण भणइ सयपभे पच्चासन्नो ते चवणकालो तो जिणमहिम करेहि जेण भवतरे वि बोहिलाभो भवइत्ति । ततो ह तस्स वयणेण पुणरवि नदिस्सरदीवे समयक्खेत्ते य कयजिणवदणपूया चुत्ता समाणा । जबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेहे पुक्खलावइविजए पुडरिगिणीए नगरीए वइरसेणचक्कवट्टिस्स गुणवतीए देवीए दुहिया सिरिमई नाम जाया । धाईजणपरिग्गहिया सुहेण वड्ढिया कलातो गहियातो अन्नया कयाइ पदोसे सव्वतोभद्दग पासायमधिरूढा पस्सामि नगरबाहिं देवसपाय । ततो मए देवजाइसु भरियासु भरिऊण य दुक्खेणाहयपरिचारिगाहिं जलकणगासित्ता पच्चागयचेयणा चिंतेमि । कत्थ मे पिया ललियगतो देवो त्ति तेण य

विणा किं अणेण आलट्टेण ति मूकत्तण पवन्ना परियणो भणइ इमी से वाया जभगेहिं निरुद्धा ततो तिगिच्छगेहिं होममतरक्खाविहाणेहिं कतो महतो पयत्तो अह पि मूकत्तण न मुयामि। परिचारियाण पुण लिहिऊण माणत्ति देमि। अन्नया पमयवणगय ममं पंडिया नाम अम्मधाई विरहे भणइ। अहं ते धाई तो मे कहेहि सब्भूय। ततो मया भणिय अम्मो अत्थि कारण जेणाहं मूयत्तण पवन्ना ततो सा तुट्ठा भणइ पुत्ति ! साहसु मे कारण ततो जहा भणसि तहा चेट्ठिस्सामि। ततो मया भणिया सुणाहि। अत्थि धायकीखंडे दीवे पुव्वविदेहे मगलावइविजए नदिग्गामो नाम सन्निवेसो तत्थ अहं इत्तो तइयभवे दरिद्दकुले सुलक्खणसुमगलाईण उपहं भगिणीण कणिट्ठा जाया न कय च मे अम्मापिऊहिं नाम ततो निन्नामियत्ति पसिद्धिं गया। से कम्मपरिघत्था य जीवामि। अन्नया कयाइ ऊसवे इब्भगेहेसु माणि नाणाविहभक्खहत्थगयाणि सगिहेहिंतो निग्गयाणि पासामि—ताणि दट्ठूण मए माया जाइया अम्मे देहि मे मोयगं अन्न वा भक्ख जेण डिंभेहिं सम रमामित्ति। तीए रुट्ठाए आहया निच्छूढा य गिहातो कतो ते इह भक्खा वच्चसु अवरातिलक पव्वय तत्थ फलाणि खायसु मरसु वत्ति। ततो रोयती निग्गया दिट्ठो मया जणो अंबरातिलगाभिमुह वच्चतो गया तेण सहिया दिट्ठो मया सिहरकरेहिं गगणतलमिव मिणित समुज्जुत्तो अवरतिलको नाम पव्वतो तत्थ जणो फलाणि गेण्हइ मए वि य पक्कपडियाणि साहूणि भक्खियाणि रमणिज्जयाए य गिरिवरस्स सह जणेण सचरमाणी सह सुइमणोहरं सुणामि सहमणुसरती गया पदेस दिट्ठा जुगधरा नाम आयरिया विविहनियमधरा चउद्दसपुव्वी चउनाणोवगया तत्थ बहवो समागया देवा मणुया य तेसिं बधमोक्खविहाण कहेति। अह पि पाएसु णिवडिऊण एगदेसे निसन्ना धम्मकहं सुणामि पुच्छिया मए भयव अत्थि मम मतो को वि दुक्खिओ जीवो जीवलोगे। ततो तेहिं भगवतेहिं भणिय निन्नामिगे तुह सद्दा सुहासुहा सुइपहमागच्छति रूवाणि वि सुदरमगुलाणि पाससि गधे सुभासुभे अग्घायसि रसे वि मणुन्नामणुन्ने आसाएसि फासे वि इट्ठाणिट्ठे पडिसवेदेसि। अत्थि य ते सीउण्हबुहाण पडिकारो निद्द सुहागय सेविसि तमसि जोए पगासेण कज्ज कुणसि नरए पुण नेरइयाण निच्चमसुभा सद्दरूवरसगधफासा निप्पडियाराणि य परमदारुणाणि सीउण्हाणि तहा बुहापिवासातो य न य खण पि निद्दासुह तेसिं। ते य निच्चधयारेसु चिट्ठमाणा दुक्खसयाणि विवसा अणुहवमाणा बहु काल गमति। तिरिया वि सपक्खपरपक्खजाणियाणि दुक्खाणि सीउण्हखुहापिवासादीयाणि य अणुहवति। तव पुण साहारण सुहदुक्ख केवलमन्नेसिं रिद्धिं पस्समाणा दुहियमप्पाण तक्केसि। ततो मए पणयाए जह भणह तहत्ति पडिस्सुय। तत्थ य धम्म सोऊण केइ पव्वइया केइ गिहिवासजोग्गाइ सीलव्वयाइ पडिवन्ना। ततो मए विन्नत्तिय भयव जस्स नियमस्स पालणे ह सत्ता त मे उवदसह। ततो मे तेहिं पचअणुव्वयाइ उवदिट्ठाणि परितुट्ठा वदिऊण जणेण सह नदिग्गाममागता पालेमि ताणि अणुव्वयाणि परियायसतो चउत्थछट्ठट्ठमेहिं खमामि। एव काले गते कयमत्तपच्चक्खाणा एतो देव परमदसणीय पस्सामि सो भणइ निन्नामिगे चितेहि होमि एयस्स भारियत्ति। ततो देवी मे भविस्ससि मया सह दिव्वे भोगे भुजसि। एव वोत्तूण अदसण गतो अहमवि परितोसवसविसप्पमाणहियया देवदसणेण लभिज्ज देवत्तति चिंतेऊण समाहीए कालगया ईसाणे कप्पे सिरिप्पभविमाणे ललियगयस्स देवस्स अग्गमहिसी सयपभा नाम जाया। ओहिणाणोवयोगविन्नाय देवभवकारणा जहा एस ललियगो अहुणोववन्नो समाणो नियपरियण पभावितो देवीसु मज्झ सय पभाए देवीए अज्झोववन्नो सा आउक्खए चुया देवो य ललियगमाढतो सयबुद्धो य महाबले कालगए गहियसामन्नो चिरकाल सजम परिपालिऊण समाहिपत्तो कालगतो इहेव ईसाणे कप्पे इदसामाणितो जातो तेण वि ललवतो सबोहितो भणितो य। जहा धायइसडे दीवे अवरविदेहे नदिग्गामे निन्नामिगा कयभत्तपच्चक्खाणा चिट्ठइ त नियदसणेण पलोभेहि जेण कयनियाणा ते अग्गमहिसी सयपभा जायइ। ततो अणेण नियदसणेण पलोभिया कयनियाणा इह मागयत्ति सहरिस सहललियगएण सहिया निरुस्सुका बहुकाल अणुहवामि देवो य सो ललियगतो आउक्खएण चुतो अम्मो न जाणामि कत्थ गतो। अहमवि तस्स वियोगदुहिया चुत्ता समाणी इहमागया। देवुज्जोयदरिसणेण समुप्पन्नजाइस्सरणा त देव य मणसा परिवहती मूअत्तण पवन्ना। किं तेण विणा कएण सलावेण त्ति एस परमत्थो। त सोऊण अम्मधाई मम भणति। पुत्ति ! सुट्ठु ते कहिय एय पुण पुव्वभवचरिय पडिलेहिज्जउ ततो अह हैरावेहामि सो य ललियगतो जइ मणुस्सेसु आयातो होहिइ तो सचरिय दट्ठूण जाइ सुमरिहिइ तेण य सह निव्वुया विसयसुहमणुभवेसु। ततो लिहितो पडो ततो विविहवन्नाहिं वट्टिगाहिं दोहिं वि जणीहिं पढम तत्थ नदिग्गामो लिहितो ततो अवरतिलगगिरियरस सियकुसुमिया सोगतरुतलसन्निसन्ना गुरवो देवमेहुणग च वदणागय ईसाणो कप्पो सिरिप्पभ विमाण सदेवमिहुण महाबलो राया सयबुद्धसभिन्नसोयसहितो निन्नामिगा य तवसोसियसरीरा सव्वत्थअलियगयसयंपभाण नामाणि लेहियाणि। ततो निप्फन्ने पडे धातीपट्टग गहेऊण धायइसडदीव वच्चामित्ति गयणेण य नियत्ता पुच्छिया मया कीस अम्मो लहु नियत्तासि सा भणइ पुत्ति ! सुणह कारण इह अम्ह सामिणो तव पिउणो वरिसवद्धावणनिमित्त विजयवासिणो बहुगा रायाणो समागया त जइ इहेव तव हिययदइतो होहिइ तो लहुमेवेति चैतिऊण नियत्ता। जइ इत्थ न होहिइ तो परिमग्गण करेस्सामि गया भणिया सुट्ठु कयति। ततो बीयदिवसे पड गहाय अवरण्हे आगया पसन्नमुही भणइ पुत्ति ! निव्वुया होह दिट्ठो मया ते ललियगतो पुच्छिया मया अम्मो साहसु कहति। सा भणति पुत्ति ! मया रायमग्गे पसारितो पडो पड केइ आभिक्खकुसला आगम पमाण करेता पससति जे अकुसला ते वण्णरूवाईणि पससति तत्थ दुम्मरिसणरायसुतो दुद्दतो कुमारो सपरिवारो आगतो सो मुहुत्तमेत्त पासिऊण मुच्छितो पडितो खणेण आसत्थो मणुस्सेहिं पुच्छितो सामि ! किं मुच्छितो। सो भणइ नियचरिय एसोहि लिहिय दट्ठूण जाती मए सुमरिया अह ललियगतो देवो आसि सयपभा मे देवी मया पुच्छितो पुत्त ! साहसु को एसो सन्निवेसो। भणइ पुडरिगिणी नगरी पव्वय मेरु कहइ अणगारो को वि एस साहू वीसरिय से नाम कए सोहम्म साहरे को वि एस साहू वीसरिय से नाम कप्प सोहम्म साहइ महाबले राया को वि एसो मतिसहितो त्ति जपइ। निन्नामिगा का वि एसा तवस्सिणी न याण से नामति ततो निप्पाहणा एसो त्ति मुणिऊण मया भणितो पुत्त सवदति सव्व ज पुण वीसरिय तेण किं सव्व तुम ललियगतो सा पुण ते सयपभा

धायइसंडे दीवे नंदिग्गामे कम्मदोसेण पंगुलिया जाया । समरिया नियजाती ततो तीए आगमकुसलाए तव मग्गणहेतु नियचरियं लिहियं । मम धायइसंडे गयाए एसो समप्पितो कहिओ नियवुत्तंतो ततो मए तीसे अणुकंपाए तव परिमग्गणं कयं तो पुत्त ! पाहे नेमिधायइसंडं सतोसेहिं नियदंसणेण पंगुलिय एव भणिए उवहसिता मित्तेहिं गम्मइत्तो सिज्जइत्तो पंगुलिया । ततो सो अहो गीव काऊण अवक्कतो मुहुत्तमेत्तेण लोहग्गलाओ धणो नाम कुमारो लवणपवणादिसु अतीव समत्थोत्ति सजायवइरजंघोत्ति वीयाभिहाणो आगतो पडं दट्ठूण भणइ । केणेयं लिहियं चित्तं मया भणियं । किं निमित्तं पुच्छसि सो भणइ मम एवं चरियं अहं ललियंगतो नामासि सयंपभा मे देवी असंसयं तीए लिहियं जइ वा अन्नेण वि तीए उवएसेणत्ति तक्केमि ततो मए पुच्छितो जइ ते चरियं साहसु को एस सन्निवेसो । सो भणइ नंदिग्गामो एसो पव्वतो अंबरतिलको जुगंधरा आयरिया एसा अणसणकिलंता निन्नामिया महब्बलो राया सयंबुद्धसंभिन्नसोएहिं सह लिहितो एस ईसाणो कप्पो सिरिप्पभं विमाणं एवं सव्वं सपच्चयं कहियं । ततो मए भणितो जा एसा सिरिमती कुमारी तो तपिउणाए दुहिया सा सयंपभा तेण रण्णो निवेएमि जेण सा ते भवइ । एवं सोऊण सो समणसो गतो अहं कयकज्जा आगया ता गच्छामि पुत्ति ! रण्णो निवेएमि जेण ते पि सयं कामो भवइ । गया रायसमीवं सद्दाविया अहं रण्णा माउसाहिया गया रायसमीवं रायाए कहितो वसुमइ ! जो सिरिमइए ललियंगतो देवो आसि तं जहा अहं जाणं न तहा सिरिमई अत्थि । अवरविदेहे सलिलावइविजए वीयसोगा नाम नगरी जियसत्तू राया तस्स मणोहरी केकई दुवे देवीओ । तासिं जहक्कमं अयलो विभीसणो य पुत्ता बलदेववासुदेवा पिउणा संथरते विजयद्धं भुंजति । मणोहरी बलदेवमाया कम्मि काले पुत्तमापुच्छति अयल ! अणुन्नाया मं भत्तुणो सिरी पुण्णसिरी य संपइ पव्वयामि करेमि परलोगहियं विसज्जेहि मतिं सो नेहेण न विसज्जेइ निब्बंधे कए भणइ अम्मो जइ ते निच्छतो ता देवलोगं गया मं वसणपडियं पडिबोहिज्जासि तीए पडिवन्नं पव्वइया । परमधिइबलेण अहीयाणि एक्कारस अंगाणि वरिसकोडी तवमणुचरिऊण अपडिवडियवेरग्गा समाहीए कालगया लंतगे कप्पे देवो जातो ताव मं जाण बलदेववासुदेवा य बहुकालं समुदिता भोगे भुंजंति । कयाइ निग्गइ अणुजत्त आसेहिं अवहिया अरण्णं पवेसिया दूरं गतूण आसा विवन्ना विभीसणो कालगतो अयलो नेहेण न जाणइ ! परिस्समेण मुच्छितो एसो नेमिसायडाणि वलगहणानि अहं च लंतगकप्पगतो पुत्तसिणेहेण सगरं सुमरिऊण खणेणागतो विभीसणरूवं विउव्विऊण अयलो भणितो भाय ! अहं विज्जाहरेहिं समं जुज्झिउं गतो ते मए पसाहिया तुज्झे पुण अंतरं जाणिऊण केण वि मम रूवेण मोहिया । ता छड्डेहि एयं कलेवरं सक्कारेसु अग्गिणा ततो सक्कारेऊण स नगरमागया । पुइज्जमाणा जणेण सगिहं पविट्ठा एक्कासणनिसण्णा विया ततो मया मणोहरीरूवं दंसियं संभंतो अयलो भणइ अम्मो ! तुम्मेत्थ कतो त्ति ततो मए पच्चयाकालो सगरो य कहितो विभीसणमरणं च । अहं लंतगातो इह गतो तं च पडिबोहणनिमित्तं अणिच्चं मणुयरिद्धिं जाणिऊण करेहि परलोगहियं । एयं वोत्तूण गतो अहं सगं कप्पं । अयलो वि पुत्तसंकामियरज्जसिरी निव्विण्णकामभोगो पव्वइतो तवमणुचरिऊण ललियंगतो देवो जातो अहं पुण तं सदेवीगं जाहे जाहे सुमरामि ताहे ताहे लंतग कप्पं नेमि सो सागरोवमस्स सत्तनवभागे देवसुहं भोत्तूण चुत्तो तत्थ नो उववन्नो । तं पि ललियंगयं एस मे पुत्तो जत्थ तिलमि एएण कमेण गया सत्तरसलिलयगतो सो अट्ठारसमो एसो वि मे पुत्तसिणेहेण बहुसो लंतगं कप्पं नीतो तं जाणामि सिरिमईए भत्ता ललियंगतो जातो वइरजंघो त्ति आणत्तो कंचुकी सद्दावेह वइरजंघं सद्दावितो आगतो दिट्ठो मया परितोसवियसियच्छीए अच्छेरयभूतो पणतो राइणो भणितो राइणा पुत्त ! वइरजंघ पुव्वभवसयंपभं सिरिमइं ति अवलोइया तेण अहं कलहंसेणेव कमलिणी विहिणा पाणिग्गहितो दिण्णं ताएण विपुलं धणं परिचारिगा तो य विसज्जियाणि अम्हे गयाणि लोहग्गलं भुंजामो निरुवसग्गं भोगे । वइरसेणो वि राया लोगंतियदेवपडिबोहितो संवच्छरियं दाणं दाऊण पोक्खलपालस्स नियपुत्तस्स रज्जं दाऊण नियगसुएहिं नरवईहिं सहितो पव्वइतो । उप्पन्नकेवलणाणो धम्मं दिसइ । मम वि कालेण पुत्तो जातो सो सुहेण वड्डितो कयाइ पोक्खलपालस्स केइ सामंता विसंवइया । ततो तेण अम्हं पेसियं एउ वइरजंघो सिरिमई य अम्हे पुत्तं नगरे ठवेऊण विउलेण खंधावारेण पत्थिया सरवणस्स मज्झेण जाणजणेण पंथो पडिसिद्धो । जहा दिट्ठिविसो सरवणे सप्पो चिट्ठइ तो न जाइ तेण पहेण गंतु ति । ततो तं सरवणं परिहरंता कमेण पत्ता पुंडरिगिणिं सुहं च तेहिं वइरजंघागमणे ततो ते सकिया सन्नामागया अम्हे वि पोक्खलपालेण रण्णा पूएऊण विसज्जिया पत्थिया सनगरं । भणइ य जणो सरवणुज्जाणमज्झेण गंतव्वं जतो तत्थ ठियस्स साहुणो केवलनाणमुप्पन्नं । ततो देवागमो वइया देवुज्जोएण पडिहय विसं सप्पो निव्विसो जातो । ततो अम्हे कमेण पत्ता सरवणं तत्थ आवासिया दिट्ठा नियभायरो मए सागरसेणमुणिसेणा सगणा वंदिया भत्तिबहुमाणेण पडिलाभिया असणपाणखाइमसाइमेण । ततो अम्हे ते गुणे अणुमोयंता कया अम्हे वि निस्संगा सामन्नं विहरिस्सामो । रागमग्गमोत्तिण्णा पत्ता कमेण सनगरं पुत्तेण अम्ह विहरकाले निच्चवग्गो दाणमाणेहिं रंजितो वासघरे वि स धूमो पउंजितो अम्हे वि विसज्जियपरियणा वासहरं रयणीए पविट्ठा । धूमधूसियधातू कालगया इहागया उत्तरकुराए त्ति । तं जाणामि अज्ज ! जा निन्नामिगा सा सयंपभा जा सिरिमई सा अहं । जो सो महाबलो राया सो य ललियंगतो देवो जो य वइरजंघो राया ते तुब्भे एवं जीवं से नाम गहियं सा अहं सयंपभा इतो सामिणो भणियं । अज्जे देवुज्जोएण जाइं सन्नरिऊण मए एवं चिंतयं देवभवे वट्टामि ततो सयंपभा आणट्ठा तं सव्वमेयं कहियंति परितुट्ठमाणसाणि पुव्वभवसुमरणपज्जलियसिणेहाणि तिन्नि पलिओवमाइं जीविऊणं कालगयाणि सोहम्मे कप्पे देवा जाया । तत्थ विचराणावीति आसि पलितोवमट्ठिइं पालेऊण चुया जंबुद्दीवे पुक्खलावइविजए पहंकराए नगरीए सामी सुविहिविज्जपुत्तो केसवो नाम जातो । अहं पुण सेट्ठिसुतो तत्थ विणअभिंगो सिणेहो तत्थेव नगरे रायसुतो मंतिसुतो सेट्ठिसुतो सत्थवाहसुतो य तेहिं विसयमती जाया कयाइ साहू महप्पा किमिकुट्ठे गहितो पडियरिओ एयं जहा पुव्वं जाव समहीए कालगया अच्चुए कप्पे इंदसमाणा देवा जाया ततो वि इ- ऊण इहेव केसवो वइरसेणस्स रण्णो मगलादई देवीए धारिणी वीसनामाए पुत्तो जातो वइरनाभो रायसुयाई कमेण क-

णगनाभरुप्पनाभपीठमहापीठा जाया। कणगनाभरुप्पनाभा वीयनामेण बाहुसुबाहू अह पुण नगरे तत्थेव रायसुतो जातो बालो च्चेव वइरनाभसमल्लीणो सारही सुजसो नाम वइरनाभेण सममणुपव्वइतो भगवया य वइरसेणेण वइरनाभो भरहे पढमतित्थयरो उसभो नाम आदिट्ठो कणगनाभो चक्कवट्टी भरहो इति सेसं जहा पुव्वं जाव सव्वट्ठे देवा जाया ततो चुया इहागया मया य वइरसेणतित्थयरो परिसेण नेवत्थेण दिट्ठो त्ति य पियामहलिंगदरिसणेण पोराणतो जाईतो सरियातो विन्नाय च अन्नपाणाइ दायव्व तवस्सीणं । तेसिं च तिण्हं वि सुविणाणमेतदेव फलं ज भयवतो भिक्खा दिन्ना । एय च कहं सोऊण नरवइमाईहिं पहट्ठमाणसेहिं सेज्जसो पूजितो " आ० म० प्र० ॥

स्वप्नानां च फलमिदं, यत्प्रभु प्रतिलाभितः ॥ २२ ॥
तदाकर्ण्य जन सर्व, श्रेयांसमभिनन्द्य च ।
अमन्दानन्दमेदस्वी, स्थानं निजनिजं ययौ ॥ २३ ॥
श्रेयांसोऽपि प्रभुर्यत्रा-वस्थित प्रतिलाभितः ।
रत्नपीठ व्यधात्तत्र--माऽसौ भूः क्रम्यतां जनैः ॥ २४ ॥
तच्च त्रिसन्ध्यमानर्च, लोकोऽप्राक्षीदिद हि किम् ।
श्रेयांसः कथयामास, युगादिजिनमण्डलम् ॥ २५ ॥
लोकेनापि ततो यत्र, यत्र श्रीभगवान् स्थितः ।
तत्र तत्र कृत पीठ, सूर्यपीठ क्रमादभूत् ॥ २६ ॥ आ० क० ।

प्रस्तुतमाह ।

तक्खसिलायभगमणं, बाहुबलिनिवेअणं चेव ।

अक्षरगमनिका क्रियाध्याहारतः कार्या । तथा गजपुर नाम नगरमासीत् श्रेयांसस्तत्र राजा तेनेक्षुरसदान भगवन्तमधिकृत्य प्रवर्तितम् । तत्रार्द्धत्रयोदशहिरण्यकोटीपरिमाणा वसुधारा निपातिता । पीठमिति श्रेयांसेन यत्र भगवता पारित तत्र तत्पादयोर्मा कश्चिदाक्रमण करिष्यतीति भक्त्या रत्नमय पीठ कारित गुरुपूजेति तदर्चनं चक्रे। अत्रान्तरे भगवत तक्षशिलातभगमन बभूव भगवत प्रवृत्तिनियुक्तपुरुषैर्बाहुबलिनिवेदन कृतमित्यक्षरगमनिका । एवमन्यासामपि सग्रहगाथाना स्वबुद्ध्या गमनिका कार्येति गाथार्थ । आ० म० प्र० ।

अथ पुन कथाशेषमुच्यते ॥

ज्ञात्वा स्वामिनमायान्तं, हर्षोत्कर्षेण पूरितः ।
अचिन्तयद्बाहुबलिः, स्वसर्वर्द्ध्या प्रभोः पदौ ॥ १ ॥
नस्यामीत्यागतस्तत्र, यावत्प्रात स नगर ।
विजहार प्रभुस्ताव-द्वायुवन्मुनयोऽममाः ॥ २ ॥
अदृष्ट्वा स्वामिन बाहु-र्विनिर्मायाधृतिं पराम् ।
यत्रास्थाद्भगवांस्तत्र, धर्मचक्र मणीमयम् ॥ ३ ॥
अष्टयोजनविस्तार-मेकयोजनमुच्छ्रितम् ।
सहस्रार सहस्रांशो-रिव बिम्ब न्यवेशयत् ॥ ४ ॥
पूजयामास पुष्पैस्त-च्चक्रे चाष्टाह्निकोत्सवम् ।
सस्थाप्य पूजकांस्तत्र, ययौ बाहुर्निजां पुरीम् ॥ ५ ॥
ततश्च विहरन् स्वामी, समीरण इवास्पृहः ।
यवनाडम्बयल्हादि-म्लेच्छदेशेषु मौनभाक् ॥ ६ ॥
उपसर्गैरसन्तुष्ट , सहमान परीषहान् । आ० क० ॥

(१९) श्रामण्यानन्तर कथ प्रभु प्रवृत्ते इत्याह ॥

जप्पभिइं च णं उसभे अरहा कोसलिए मुंडे भवित्ताणं अगाराओ अणगारिअं पव्वइए तप्पभिइं च णं उसभे अरहा कोसलिए णिच्चं वोसट्ठकाए चि अत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति तं दिव्वा वा जाव पडिलोमा वा तत्थ पडिलोमा वेत्तेण वा जाव कसेण वा काए आउट्टेज्जा अणुलोमा वंदेज्ज वा जाव पज्जुवासेज्ज वा ते सव्वे सम्मं सहइ जाव अहियासेजइ ॥

यतः प्रभृति ऋषभोऽर्हन् कौशलिक प्रव्रजितस्ततः प्रभृति नित्य व्युत्सृष्टकायः गृहकर्मवर्जनात् त्यक्तदेह परीषहादिसहनात् ये केचिदुपसर्गा उत्पद्यन्ते तद्यथा दिव्या देवकृताः वाशब्दः समुच्चये यावत् करणात् " माणुसा वा तिरिक्खजोणिया वा इति" पदग्रहः प्रतिलोमाः प्रतिकूलतया वेद्यमाना अनुलोमाः अनुकूलतया वेद्यमानाः वा शब्द पूर्ववत् । तत्र प्रतिलोमा वेत्रेण जलवंशेन यावच्छब्दात् "तयाए वा छियाए वा लयाए वा" इति । तत्र तपयाऽसनादिकया छिवया श्लक्ष्णया लोहकुश्यया लतया कम्बया कषेण चर्मदण्डेन वाशब्दः प्राग्वत् । कश्चिद्दुरात्मा काये विवक्षातः कारकाणीत्याधारविवक्षायां सप्तमी । आकुट्टयेत् ताडयेदित्यर्थ । अनुलोमास्तु " वदेज्ज वा यावत्करणात् पूएज्जा वा सक्कारेज्जा वा सम्माणेज्जा वा कल्लाण मगलं देवय चेइय इति" वन्देत वा स्तुतिकरणेन पूजयेद्वा पुष्पादिभि सत्कुर्याद्वा वस्त्रादिभिः सन्मानयेद्वा अभ्युत्थानादिभिः कल्याण भद्रकारित्वात् मङ्गलमनर्थप्रतिघातत्वात् देवतामिष्टदेवतामिव चैत्यमिष्टदेवताप्रतिमामिव पर्युपासीत वा सेवेतेति तान् प्रतिलोमानुलोमभेदभिन्नान् उपसर्गान् सम्यक् सहते भयाभावेन यावत्करणात् खमइ तितिक्खइत्ति क्षमते क्रोधाभावेन तितिक्षते दैन्यावलम्बनेन अध्यासयति अविचलकायतयेति ।

अथ भगवत श्रमणावस्थां वर्णयन्नाह ॥

तए णं से भगवं समणे जाए इरिआसमिए जाव पारिट्ठावणिआसमिए मणसमिए वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते जाव गुत्तबंभयारी अकोहे अमाणे अमाए अलोहे संते पसंते उवसंते परिणिव्वुडे छिन्नसोए निरुवलेवे संखमिव निरंजणे जच्चकणगं व जायरूवे आदरिसप इव पागडभावे कुम्मो इव गुत्तिंदिए पुक्खरपत्तमिव निरुवलेवे गगणमिव निरालंबणे अणिले इव णिरालए चंदो इव सोमदंसणे सूरो तेयंसि विहग इव अप्पडिबद्धगामी सागरो इव गंभीरे मंदरो इव अकंपे पुढवि इव सव्वफासविसहे जीवो विव अप्पडिहयगई णत्थि णं तस्स भगवंतस्स कत्थइ पडिबंधे से पडिबंधे चउव्विहे भवति तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ इह खलु माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे जाव संगं थसंथुआ मे हिरण्णं मे सुवण्णं मे जाव उवगरणं मे अहवा से समासओ सचित्ते वा अचित्ते वा मीसए वा दव्वजाए एवं तस्स णं भवइ खित्तओ गामे वा णगरे वा अरण्णे वा खेत्ते वा खले वा गिहे वा अंगणे वा एवं तस्स ण भवइ कालओ थोवे वा लवे वा मुहुत्ते वा अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा उऊ वा अयणे वा संवच्छरे वा अन्नयरे वा दीहकालपडिबंधे एवं तस्स ण भवइ भावओ कोहे वा जाव लोहे वा भए वा हासे

वा एवं तस्स ण भवइ । से णं भगवं वासावासवज्जं हेमंतं गिम्हासु गामे एगराइए णगरे पंचराइए ववगयहासमोगअरइरइभयपरित्ता से णिम्ममे णिरहंकारे लहुभूए अगंथे वासी तच्छणे अदुट्ठे चंदणाणुलेवणे अरत्ते लेट्ठुम्मि कंचणम्मि अ समे । इह लोए परलोए अप डिबद्धे जीविअमरणे निरवकंखे संसारगामी कम्मसंघणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए विहरइ । तस्स णं भगवंतस्स एतेणं विहारेणं विहरमाणस्स एगे वाससहस्से विइक्कंते समाणे पुरिमतालस्स नगरस्स बहिआ सगडमुहंसि उज्जाणंसि णग्गोहवरपायवस्स अहे झाणंतरिआए वट्टमाणस्स फग्गुणबहुलस्स एक्कारसीए पुव्वण्हकालसमयंसि अट्ठमेण भत्तेणं अपाणएणं उत्तरासाढाणक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अणुत्तरेणं नाणेणं जाव चरित्तेणं अणुत्तरेणं तवेणं बलेणं वीरिएणं आलएणं विहारेणं भावणाए खंतीए गुत्तीए मुत्तीए तुट्ठीए अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं सुचरिअसोवचिअफलनिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए णिरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे जिणे जाए केवली सव्वन्नू सव्वदरिसी स णेरइअतिरिअनरामरस्स लोगस्स पज्जवे जाणइ पासइ तं जहा आगइं गइं ठिइं उववायं भुत्तं कडं पडिसेविअं आवीकम्मं रहोकम्मं तं तं कालं मणवयकाए जोगे एवमादी जीवाण वि सव्वभावे अजीवाण वि सव्वभावे मोक्खमग्गस्स विसुद्धतराए भावे जाणमाणे पासमाणे एस खलु मोक्खमग्गे मम अण्णेसिं च जीवाणं हियसुहणिस्सेसकरे सव्वदुक्खविमोक्खणे परमसुहसमाणणे भविस्सइ ॥

अथ कथं नु भगवान् विहरति स्मेत्याह (सेणमित्यादि) स भगवान् वर्षासु प्रावृट्काले वासोऽवस्थानं तद्वर्ज्जं वर्ज्जनेनेत्यर्थः । हेमन्ताः शीतकालमासाः ग्रीष्मा उष्णकालमासास्तेषु ग्रामेऽल्पीयसि सन्निवेशे एका रात्रिर्वासमानतया यस्य स एकरात्रिकः एकदिनवासीत्यर्थः । नगरे गरीयसि सन्निवेशे पञ्च रात्रयो वासमानतया यस्य स तथा पञ्चदिनवासीति भावः । यथा दिनशब्दोऽहोरात्रवाची तथा रात्रिशब्दोऽप्यहोरात्रवाचीति । ननु तर्हि दिनशब्द एव कथं नोपात्त उच्यते । निशाविहारस्यासंयमहेतुत्वेन चतुर्ज्ञानिनोऽपि तीर्थङ्करा अवगृहीतायां वसतावेवावासिषु वत्स्यन्ति वसन्तीति वृद्धाम्नायः । व्यपगतहास्यशोकारतिरतिभयपरित्रासः । तत्रारतिर्मानसौत्सुक्यमुद्वेगफलकं रतिस्तदभावः । परित्रास आकस्मिकं भयं शेषं व्यक्तम् । निर्गतो ममेति शब्दो यस्मात् स तथा । किमुक्तं भवति प्रभोर्ममेत्यभिमानो नास्तीति षष्ठ्येकवचनान्तस्यास्मच्छब्दस्यानुकरणशब्दत्वान्ममेत्यस्य साधुता । निरहङ्कार अहमिति करणमहङ्कारः स निर्गतो यस्मात् स तथा लघुभूत ऊर्द्ध्वगतिकत्वात् । अत एवाग्रन्थो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः । वास्या सूत्रधारशस्त्रविशेषेण यत्तक्षणं त्वचोत्खननं तत्राद्विष्टोऽद्वेषवान् । चन्दनानुलेपनेऽरक्तोऽरागवान् । लेष्टौ दृषदि काञ्चने च समः उपेक्षणीयत्वेनोभयत्र साम्यभाक् । इह लोके वर्तमाने भवे मनुष्यलोके परलोके देवभवादौ तत्राऽप्रतिबद्धस्तत्रत्यसुखनिष्पिपासित्वात् जीवितमरणयोर्निरवकाङ्क्षमिन्द्रनरेन्द्रादिपूजाप्राप्तौ जीविते दुर्विषहपरीषहाप्तौ च मरणे निस्पृहः । संसारपारगामीति व्यक्तम् । कर्मणां सङ्गोऽनादिकालीनो जीवप्रदेशैः सह सम्बन्धस्तस्य निर्घातनं विश्लेषणं तदर्थमभ्युत्थितः उद्यतो विहरति । अथ ज्ञानकल्याणकवर्णनायाह (तस्सणमित्यादि) तस्य भगवतः एतेनानन्तरोक्तेन विहारेण विहरत एकस्मिन् वर्षसहस्रे व्यतिक्रान्ते सति पुरिमतालस्य नगरस्य बहिः शकटमुखे उद्याने न्यग्रोधवरपादपस्याधो ध्यानान्तरिकेति । अन्तरस्य विच्छेदस्य करणमन्तरिका स्त्रीलिङ्गशब्दः अथवा अन्तरमेवान्तर्यं भेषजादित्वात् स्वार्थे यण्प्रत्ययस्ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीपि प्रत्यये आन्तरी आन्तर्येवान्तरिका आरब्धध्यानस्य समाप्तिरपूर्वस्यानारम्भणमित्यर्थः । अतस्तस्यां वर्तमानस्य कोऽर्थः पृथक्त्ववितर्कं सविचारम् १ एकत्ववितर्कमविचारम् २ सूक्ष्मक्रियमनिवर्ति ३ समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति ४ इति चतुश्चरणात्मकस्य शुक्लध्यानस्य चरणद्वये ध्याते चरमचरणद्वयमप्रतिपन्नस्येति योगनिरोधरूपध्यानस्य चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनि केवलिन्येव सम्भवात् । फाल्गुनबहुलस्यैकादश्यां पूर्वाह्णकालरूपो यः समयोऽवसरस्तस्मिन् अष्टमेन भक्तेनागमभाषयोपवासत्रयेणापानकेन जलवर्जितेनोत्तराषाढानक्षत्रे चन्द्रेण सहेति गम्यं योगमुपागते सति । उभयत्र णं वाक्यालङ्कारे । अथ वा आर्षत्वात्सप्तम्यर्थे तृतीया अनुत्तरेणेति क्षपकश्रेणिप्रतिपन्नत्वेन केवलासन्नत्वेन परमविशुद्धिपदप्राप्तत्वेन न विद्यते उत्तरं प्रधानमग्रवर्त्ति वा छाद्मस्थिकज्ञानं यस्मात्तत्तथा तेन ज्ञानेन तत्त्वावबोधरूपेण एवं यावच्छब्दात् दर्शनेन क्षायिकभावापन्नेन सम्यक्त्वेन चारित्रेण विरतिपरिणामरूपेण क्षायिकभावापन्नेनैव तपसेति व्यक्तम् । बलेन संहननोत्थप्राणेन वीर्येण मानसोत्साहेन आलयेन निर्दोषवसत्या विहारेण गोचरचर्यादिविधिरूपलक्षणेन भावनया महाव्रतसम्बन्धिन्या मनोगुप्त्यादिरूपतया पदार्थानामनित्यत्वादिचिन्तनरूपया वा क्षान्त्या क्रोधनिग्रहेण गुप्त्या प्राग्व्याख्यानस्वरूपया मुक्त्या निर्लोभतया तुष्ट्या इच्छानिवृत्त्या आर्जवेन मायानिग्रहेण मार्दवेन माननिग्रहेण लाघवेन क्रियासु दक्षभावेन क्रियोक्तप्रत्ययनिधानात् सोपचितं सोपचयं पुष्टमिति यावत् एतादृशेन समुत्पन्नोऽयमित्यन्वयः । एवमनन्तमविनाशित्वात् अनुत्तरं सर्वोत्तमत्वात्, निर्व्याघातं कटकुड्यादिनिरप्रतिहतत्वात् निरावरणं क्षायिकत्वात् कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात् प्रतिपूर्णं सकलस्वांशकलितत्वात् पूर्णचन्द्रवत् । केवलमसहायं "णट्ठम्मि छाउमत्थिए णाणे" इति वचनात् परं प्रधानं ज्ञानं च दर्शनं समाहारद्वन्द्वे एकवद्भावः ततः पूर्वपदाभ्यां कर्मधारयः । तत्र सामान्यविशेषोभयात्मके ज्ञेयवस्तुनि ज्ञानं विशेषावबोधरूपं दर्शनं सामान्यावबोधरूपमिति । अत्रायमाशयः दूरादेव तालतमालादिकं तरुनिकरं विशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽनवधारितमवलोकयतः पुरुषस्य सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति तद्दर्शनं निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमिति वचनात् । पुनस्तस्यैव प्रत्यासीदतस्तालतमालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव तरुसमूहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति तज्ज्ञानम् । ननु भवतु नाम इत्थमनुभवसिद्धे ज्ञाने छद्मस्थानां विशेषग्राहकता दर्शने च सामान्यग्राहकता परं केवलिनो ज्ञानद्वये

सामान्यांशाग्रहणाद्दर्शनेन विशेषांशग्रहणाभावाद् द्वयोरपि सर्वार्थविषयत्वं विरुध्यति उच्यते ज्ञानक्षणे हि केवलिना ज्ञाने यावद्विशेषान् गृह्णाति सति सामान्यं प्रतिभातमेवाशेषराशिरूपत्वात् सामान्यस्य । दर्शनक्षणे च दर्शने सामान्यं गृह्णाति सति यावद् विशेषाः प्रतिभाता एव विशेषानालिङ्गितस्य सामान्यस्याभावात् अत एव निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमित्युक्तमनन्तरोक्तग्रन्थे एकार्थे । ज्ञानप्रधानभावेन विशेषा गौणभावेन सामान्या दर्शनं प्रधानभावेन सामान्यं गौणभावेन इति विशेषः । समुत्पन्नसम्यक्त्वक्षायिकत्वेनावरणदेशस्याप्यभावात् । उत्पन्नकेवलस्य यद्भगवत स्वरूपं तत् प्रकटयति (जिणे जाए इत्यादि) जिनो रागादिजेता । केवल श्रुतज्ञानाद्यसहायकं ज्ञानमस्यास्तीति केवली अत एव सर्वतो विशेषांशपुरस्कारेण ज्ञाता सर्वज्ञाता सर्वदर्शी सामान्यांशपुरस्कारेण । नन्वर्हतां केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणयोः क्षीणमोहान्तसमय एव क्षीणत्वेन युगपदुत्पत्तिकत्वे उपयोगस्वभावात् क्रमप्रवृत्तौ च सिद्धायां " सव्वन्नू सव्वदरिसी " इति सूत्र यथा ज्ञानप्राथम्यसूचकमुपन्यस्तम् तथा " सव्वदरिसी सव्वन्नू " इत्येव दर्शनप्राथम्यसूचकं किं न तुल्यन्यायत्वात् नैव "सव्वाउ लद्धीओ, सागरोवउत्तस्स उववज्जंति णो अणागारोवउत्तस्स " इत्यागमादुत्पत्तिक्रमेण सर्वदा जिनानां प्रथमे समये ज्ञानं ततो द्वितीये दर्शनं भवतीति ज्ञापनार्थत्वादित्थमुपन्यासस्येति छद्मस्थानां प्रथमे समये दर्शनं द्वितीये ज्ञानमिति प्रसङ्गाद्बोध्यम् उक्तविशेषणाद् द्वयमेव विशिनष्टि सनैरयिकतिर्यग्नरामरस्य लोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकक्षेत्रखण्डस्य उपलक्षणादलोकस्यापि नभःप्रदेशमात्रात्मकक्षेत्रविशेषस्य पर्यायान् क्रमभाविस्वरूपविशेषान् जानाति केवलज्ञानेन पश्यति केवलदर्शनेन पर्यायानित्युक्ते द्वयमपि ग्राह्यम् । न हि पर्याया द्रव्यवियुता भवेयुर्द्रव्यं वा पर्यायवियुतं तेनाधेयमाधारमाक्षिपतीति अन्यथा आधेयत्वस्यैवानुपपत्तेः यथाऽऽकाशस्य न हि आकाशं क्वाप्यवतिष्ठते तस्याधारमात्ररूपस्यैव सिद्धान्ते भणनात् । अथवा सामान्यत उक्तपर्यायाणां ज्ञानं व्यक्त्या निरूपयन्नाह । तद्यथा आगतिं यत स्थानादागच्छन्ति विवक्षितस्थानं जीवा गतिं यत्र मृत्वोत्पद्यन्ते स्थितिं कायस्थितिभवस्थितिरूपां च्यवनं देवलोकाद्देवानां मनुष्यतिर्यक्ष्ववतरणम् । उपपातं देवनारकजन्मस्थानं भुक्तमशनादि कृतं चौर्यादि प्रतिसेवितं मैथुनादि आविःकर्म प्रकटकार्यं रहःकर्म प्रच्छन्नकृतं तं तं (कालमिति) प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया तस्मिन् २ काले वीप्सायां द्विर्वचनं मनोवचःकायान् योगान् करणत्रयव्यापारान् एवमादीन् जीवानामपि सर्वभावान् जीवधर्मानित्यर्थः । अजीवानामपि सर्वभावान् मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयस्य विशुद्धतरकान् प्रकर्षकारिप्राप्तान् कर्मक्षयहेतून् भावान् ज्ञानाचारादीन् जानन् पश्यन् विहरतीति गम्यम् । कथं च जानन् पश्यन् विचरतीत्याह एषोऽनन्तरवक्ष्यमाणो धर्मः खलु एवकारार्थे मोक्षमार्गे सिद्धिसाधकत्वेन समुद्देशकस्यान्येषां च श्रोतॄणां हितकल्याणपथ्यप्रयोजनवदित्यर्थः । सुखमक्षुब्धवेद्य पिपासोः शीतलजलपानवत् निःश्रेयसं मोक्षस्तत्करं भक्तानां हितादीनां कारकमिति । सर्वदुःखविमोक्षणमिति व्यक्तं परमसुखमात्यन्तिकसुखं समापयतीति व्युत्पत्तिवशात्परमसुखसमानं "सर्वमपि समानं" इति प्राकृतसूत्रेण समानादेशेऽनङि प्रत्यये रूपसिद्धिः । निःश्रेयसेत्यत्र एकारलोपः प्राकृतत्वात् भविष्यतीति ॥ जं०२ वक्ष० श्री० ॥ आ० म० प्र० ।

(२१) अथ उत्पन्नकेवलज्ञानो भगवान् यथा धर्मं प्रादुश्चकार तथाह ।

तते णं से भगवं समणाणं णिग्गंथाण णिग्गंथीण य पंचमहव्वयाइं सभावणागाइं छच्च जीवणिकाए धम्मं देसमाणे विहरति तं जहा पुढविकाए भावणागमेण पंचमहव्वयाइं सभावणागाइं भाणिअव्वाइं ॥

ततः स भगवान् श्रमणानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च पञ्चमहाव्रतानि सर्वप्राणातिपातविरमणादीनि सभावनाकानि ईर्यासमित्यादिस्वभावेनोपेतानि षट् च जीवनिकायान् पृथिव्यादित्रसान्तान् इत्येवंरूपं धर्ममुपदिशन् विहरतीति सम्बन्धः । तत्र धर्मे प्रक्रान्तव्ये षड्जीवनिकायकथनमुपपन्नं तं तज्जीवपरिज्ञानमन्तरेण व्रतपालनासम्भव इति ज्ञापनार्थम् । नन्वनियमः प्रथमव्रते सम्भवेत् मृषावादविरमणादीनां तु भाषाविभागादिज्ञानाधीनत्वात् न सम्भवेदित्युच्यते शेषव्रतानामपि प्राणातिपातविरमणव्रतस्य रक्षकत्वेन नियुक्तत्वात् महावृक्षस्य वृक्षवत् तथा हि मृषाभाषामभाषमाणो ह्यभ्याख्यानादिविरतो न कुक्षवध्यादीन् अदत्तमनाददानो धनस्वामिनं सचित्तजलफलादिकं च मैथुनविरतो नवलक्षपञ्चेन्द्रियादीन् परिग्रहविरतः शुचिकस्तूरीमृगादींश्च नातिपातयेदिति । अथैनदेव किंचिद्व्यक्त्या विवृणोति तद्यथा पृथिवीकायिकान् जीवान् उपदिशन् विहरतीति सम्बन्धः । लाघवार्थकत्वेन सूत्रप्रवृत्तेर्देशग्रहणात्पूर्णोऽप्यालापको वाच्यः स चायं "आउक्काइए तेउक्काइए वाउक्काइए वणस्सइकाइए तसकाइए त्ति" व्यक्तम् तथा पञ्चमहाव्रतानि सभावनाकानि भावनागमेन श्रीआचाराङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धगतभावनाख्याध्ययनगतपाठेन भणितव्यानि अत्र च सूत्रे यदुद्देशे प्रथमं "पचमहव्वयाइ" इत्याद्युक्तनिर्देशे तु व्यत्ययेन "तं जहा पुढविकाइए" इत्यादि तत्कथमिति नाशङ्कनीयम् । यतः पश्चादुद्दिष्टानामपि षड्जीवनिकायानां प्रस्तरतो वाङ्मे स्वल्पवक्तव्यतया प्रथमं प्ररूपणाया युक्त्युपपन्नत्वात् सूचीकटाहन्यायोऽनुसरणीयो विचित्रा सूत्राणां कृतिराचार्यस्येति न्यायेन वा सर्वत्र यथेति ज्ञेयम् । ननु गृहिधर्मसविस्तरपाक्षिकधर्मोऽपि भगवता देशनीयौ मोक्षाङ्गत्वात् यदुक्तम् । "सावज्जजोगपरिवज्जणा उ सव्वुत्तमो जइधम्मो । बीओ सावगधम्मो, तइओ संविग्गपक्खपहो ॥ १ ॥" इति तत्कथमत्र तौ नोक्तौ उच्यते सर्वसावद्यवर्जकत्वेन देशनायां यतिधर्मस्य प्रथमं देशनीयत्वादत्यासन्नमोक्षपथत्वात् श्रमणसंघस्य प्रथमं व्यवस्थापनीयत्वाच्च प्राधान्यख्यापनार्थं प्रथममुपन्यासस्ततो व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिरिति न्यायादनत्पुत्पभूतौ तावपि धर्मौ भगवता प्ररूपिताविति ज्ञेयम् । भगवत्प्ररूपणामन्तरेणाऽन्येषां तत्तद्ग्रन्थेषु तयोः प्ररूपणानुपपत्तेरित्यलं प्रसङ्गेनेति । जं० २ वक्ष० ॥

उसभेणं अरहा कोसलिएणं इमीसे उसप्पिणीए नवहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं वीइक्कंताहिं तित्थे पवत्तिए । स्था० १० ठा० ॥

उज्जाणपुरिमताले, पुरीविणीयाइ तत्थ नाणवरं ।
चक्कुप्पया य भरहे, निवेयणा चेव दोण्हं पि ॥

तथा तस्मिन्नेवाहनि भरतनृपतेरायुधशालायां चक्रोत्पादश्च बभूव (भरहे निवेयण चेव दोण्ह पित्ति) भरताय निवेदनं च द्वयोरपि ज्ञानरत्नचक्ररत्नयोः । तन्नियुक्तपुरुषैः कृतमित्यध्याहार इति

गाथार्थ । अत्रान्तरे भरतश्चिन्तयामास पूजा तावद् द्वयोरपि कार्या । कस्य प्रथम कर्तुं युज्यते । किं चक्ररत्नस्य उत तातस्येति तत्र

तातम्मि पूइए चक्क—पूइयं पूअणारिहो ताओ ।
इह लोइयं तु चक्कं, परलोअसुखावहो ताओ ॥२४॥

ताते त्रैलोक्यगुरौ पूजिते सति चक्रं पूजितमेव तत्पूजानिबन्धनत्वाच्चक्रस्य । तथा पूजामर्हतीति पूजार्हस्तातो वर्तते देवेन्द्रादितुल्यत्वात् । तथा इह लौकिक चक्र तुरेवकारार्थः स चावधारणे किमवधारयति । ऐहिकमेव चक्रं सांसारिकसुखहेतुत्वात् परलोकसुखावहस्तातः शिवसुखहेतुत्वादिति गाथार्थः । तस्मात्तिष्ठतु तावच्चक्र तातस्य पूजा कर्तुं युज्यत इति सम्प्रधार्य तत्पूजाकरणसंदेशव्यापृतो बभूव ॥ इदानीं कथानकम् "भरहो सव्विड्ढीए जगवंत वंद उवयट्ठो । मरुदेवी सामिणी य भगवते पव्वइए भरहरज्जसिरिं पासिऊण जणिया इयो मम पुत्तस्स एरिसी रज्जसिरी आसि सयं सो खुहापिवासापरिगओ नग्गओ हिंडइत्ति । उव्वेय करिया इयो जरहस्स तित्थगरविभूइ वन्नेंतस्स विन्नपत्तिज्जिया इयो पुत्तसोगेण य किलेसब्भामतचक्खु जाय ख्वती एत्तो भरहेण गच्छतेण विन्नत्ता । अम्मो एहि जेण भगवओ विभूतिं दंसेमि ताहे भरहो हत्थिखधे पुरओ काऊण निग्गओ । समोसरणदेसे य गयणतल सुरसमूहेण विमाणारूढेणोवरतेण विरायंतधयवरं पहयदेवदुंदुहिनिनायापूरियदिसामडलं पासिऊण भरहो भणिया ईओ पेच्छ जइ एरिसी रिद्धी मम कोडिसयसहस्सभागेण वि । ततो तीए भगवओ उच्छवा इत्थ त पासंतीए चेव केवलमुप्पण्णं अन्ने भणति भगवओ धम्मकहासद्द सुणेंतीए तक्खण च तिकट्टुमाउयं । ततो सिद्धा । इह भरहे ओसप्पिणीए पढमसिद्धोत्ति काऊण देवेहिं पूजा कया सरीर च खीरोए बूढ । भगव च समोसरणमब्भत्थो सदेवमणुयासुराए सहाए धम्म कहेइ । तत्थ उसभसेणो नाम भरहपुत्तो पुव्वभवबद्धगणहरनामगुत्तो जायसंवेगो पव्वइओ बंभी य पव्वइया । भरहो सावगो जाओ । सुंदरी पव्वयती भरहेण इत्थीरयणं भविस्सइत्ति रुद्धा सा वि साविया जाया । एस चउव्विहो समणसंघो । ते य तापसा भगवओ नाणमुप्पन्न ति कच्छसुकच्छवज्जा भगवओ सगासमागतूण भवणवतिवाणमंतरजोइसियवेमाणियदेवाणिय परिस दठूण भगवओ सगासे पव्वइया एत्थ समोसरणे मरीचिमाइया बहवे कुमारा पव्वइया आ० म० प्र० ।

(२२) सांप्रतमभिहितार्थसंग्रहपरमिदं गाथाचतुष्टयमाह ।

सहमरुदेवीइ निगओ—कहणं पव्वज्जमुसभसेणस्स ।
बंभीमरीइदिक्खा, सुंदरिओरोहसु अदिक्खा ॥२५॥
पंच य पुत्तसयाइं, भरहस्स य सत्तनत्तुअसयाइं ।
सयराहं पव्वइआ, तम्मि कुमारा समोसरणे ॥ २६ ॥
भवणवइवाणमंतर—जोइसवासी विमाणवासी अ ।
सव्विड्ढिसपरिसा का—सी नाऊणुप्पया महिमं ॥२७ ॥
दट्ठूण कीरमाणिं, महिमं देवेहिं खत्तिओ मरिई ।
संमत्तलद्धबुद्धी, धम्मं सोऊण पव्वइओ ॥ २८ ॥

कथन धर्मकथा परिगृह्यते । मरुदेव्यै भगवद्विभूतिकथनम् । तथा नप्तृशतानीति पौत्रकशतानि । तथा " सयराहमिति " देशीवचन युगपदर्थाभिधायकं त्वरिताभिधायक चेति । मरीचिरिति जातमात्रो मरीचीं मुक्तवानित्यतो मरीचिमान् मरीचिरभेदोपचारान्मतुब्लोपाद्वेति । अस्य च प्रकृतोपयोगित्वात् कुमारसामान्याभिधाने सत्यपि भेदेनोपन्यासः । सम्यक्त्वेन लब्धा प्राप्ता बुद्धिर्यस्य स तथाविधः शेष सुगममिति गाथाचतुष्टयार्थः । आ० म० प्र० । आव० १ अ० । (भरतविजयवक्तव्यता भरहशब्दे) भगवद्वन्दनार्थं सह मरुदेव्या निर्गतः (कहण) भगवद्विभूतिकथन ऋषभसेनस्य पुण्डरीकापरनाम्नः प्रव्रज्या ब्राह्म्यादिदीक्षा सुन्दर्या अवरोधार्थं धारण (सयराह) समकाल सामान्येन कुमारदीक्षाभिधानेऽपि मरीचेर्विशेषेणाभिधान प्रकृतोपयोगित्वात् (सम्मत्तलद्धबुद्धित्ति) लब्धा सम्यक्त्वबुद्धिर्येन स लब्धसम्यक्त्वबुद्धि शेष स्पष्टम् । अथ भरत किं चकारेत्याह "अथोत्थाय प्रभो पूजां, विधाय भरतेश्वर' । चकार चक्ररत्नस्या—ष्टाह्निकामहिमोत्सवम्" (आ०क०) वारसवासाणि महारायाभिसेओ वुत्तो राइणो विसज्जिया ताहे नियय—वग्ग सरिउमारद्धो ताहे दाइअति सव्वे निपक्खया एव परिवाडीए सुंदरी दाइया सा पण्डुल्लुगितमुही सा य जद्दिवस रुद्धा तद्दिवसमारब्भ आयबिलाणि करेति त पासित्ता रुट्ठो ते कुडुंबिए भणइ । किं मम नत्थि भोयणं ज एसा य रिसीरूवेण जाया वेज्जा वा नत्थि तेहिं सिट्ठ जहा आयंबिलाणि करेइ ताहे तस्स तस्सोवरिं पयणुओ रागो जाओ । सा य भणिया जइ रुच्चति तो मए सम भोगे भुंजाहि ण वि तो पव्वयाहि त्ति । ताहे पाएसु पडिया विसज्जिया पव्वइया । अन्नया भरहो तेसिं भाउयाणं दूय पट्ठवेइ । जहा मम रज्ज आयणह ते भणति अम्ह वि रज्ज ताएण दिन्नं तुब्भ वि एतु ताव ताओ पुच्छिज्जिहित्ति । जं भणिहि त्ति तं करिहामो तेण समएण भगव अट्ठावयमागओ विहरमाणो एत्थ सव्वे समोसरिया कुमारा ताहे भणति तुब्भेहिं दिन्नाणि रज्जाइ हरति भाया तो किं करेमो किं जुज्झामो उदाहु आयणामो ताहे सामी भोगेसु नियत्तावेमाणो तेसिं धम्म कहेइ न मुत्तिसरिसं सुहमत्थि ताहे इंगालदाहकदिट्ठत कहेइ । " जहा एगो इंगालदाहओ एग भाण पाणियस्स भरेऊण गओ त तेण उदग निट्ठविय उवरिं आइच्चो पासे अग्गी पुणो परिस्समो दारुगाणि कुट्टितस्स घर गतो पाणिय पीयं । मुच्छितो सुमिण पासइ । एव असब्भावपट्ठवणा कूवतलागनदीदहसमुद्दा य सव्वे पीया । न य छिज्जइ तण्हा । ताहे अन्नम्मि जिन्नकूवे तणपूलिय गहाय उस्सिंचइ । ज पडियसेस त जीहाए लिहइ एव तुब्भेहिं वि अणुत्तरा सव्वलोगे सव्वपुरिसा सव्वट्ठसिद्धे अणुभूया तह वि तत्ति न गया । एवं वेयालियं नाम अज्झयणं भासइ संबुज्झह किन्न बुज्झह । एव अट्ठाणउई वि तेहिं अट्ठाणउई कुमारा पव्वइयत्ति कोइ पढमिल्लुएण संबुद्धो कोइ बितिएण कोइ ततिएण । जाहे ते पव्वइया " आ० म० प्र० ।

अमुमेवार्थमुपसहरन्नाह ।

मागहमाई विजओ, सुंदरिपव्वज्जबारसाभिसेओ ।
आणावण भाउआणं, समुसरणे पुच्छदिट्ठंतो ॥

मागधमादौ यस्य स मागधादि' कोऽसौ विजयो भरतेन कृत इति पुनरागतेन सुन्दर्यवस्थिता दृष्टा क्षीणत्वान्मुक्ता चेति द्वादश वर्षाण्यभिषेक कृतो भरताय आज्ञापन भ्रातृणां चकार तेऽपि च समवसरणे भगवन्त पृच्छन्त पृष्टवन्त भगवता चाङ्गारदाहकदृष्टान्तो गदित इति गाथाक्षरार्थ ॥ आ० म प्र० ॥

एव षष्टिसहस्राब्दा, सर्वं निर्जित्य भारतम् ॥ ३० ॥

राजधान्यां विनीतायां, प्रत्यगाद्भरतेश्वरः।
महाराजाभिषेको भू-त्तत्र द्वादशवार्षिकः ॥ ३१ ॥
सर्वान् विसृज्य भूपाला-नारेभे स्वजनेक्षणम्।
दर्श्यमानेष्वथ स्वेषु, सुन्दरी दर्शिता यदा ॥ ३२ ॥
दृष्ट्वा पाण्डुमुखीं क्षामां, क्रुद्धः कौटुम्बिकानवक्।
अस्ति मे भोजनं किं न, रूपेणेयं यदीदृशी ॥ ३३ ॥
वैद्यो वा नास्ति शिष्ट तैः, सर्वमप्यस्ति ते प्रभो!।
परं व्रतायाचमाम्लैः, कष्टकाद्यदिनात् स्थिता ॥ ३४ ॥
अथ विज्ञाय तद्भावं, मुदितो भरताधिपः।
श्रुत्वा च समवसृतं, प्रभुमष्टापदाचले ॥ ३५ ॥
चिरादुत्कण्ठितस्तत्र, ततो गत्वा यमी मुदा।
प्रभुं प्रणम्य सुन्दर्यै, दापयामास संयमम् ॥ ३६ ॥
अथ प्रत्यागतोऽयोध्यां, नगरीं भरतेश्वरः।
व्यज्ञप्यत युधागार-नियुक्तैर्नत्य केनचित् ॥ ३७ ॥
चक्रं न चक्रशालाया-मद्यापि विशति प्रभो!।
विना त्वदाज्ञां कुर्वत्सु, राज्यानि तव बन्धुषु ॥ ३८ ॥
चक्रवर्ती ततः भ्यो, दूतैस्तानूचिवानदः।
राज्येष्वस्ति यदीच्छा व-स्तत्सेवाक्रियतां मम ॥ ३९ ॥
प्रत्यूचिरेऽष्टानवतिः, कुमारास्तानहयवः।
राज्यं तातेन दत्तं नः-स्तत्किं भरतसेवया ॥ ४० ॥
यूयं व्रजत हे दूता! वयं त्वत्स्वामिना सह।
तातं पृष्ट्वा करिष्यामः, सख्यं वाऽसख्यमेव वा ॥ ४१ ॥
ततस्तेऽष्टापदे गत्वा, प्रभुं नत्वाऽवदन्निदः।
राज्यं तावत्त्वया दत्तं, भ्राता हरति तद्वयम् ॥ ४२ ॥
युध्यामहे किमथवा, तदाज्ञामनुमन्महे।
धर्मं तेषामथार्येऽवक्, भोगेभ्यस्तान्यवर्त्तयत् ॥ ४३ ॥
निःश्रेयससमं सौख्यं, संसारे क्वापि नास्त्यहो।
अङ्गारदाहकस्यात्र, दृष्टान्तं शृणुताधुना ॥ ४४ ॥
इहैकोऽङ्गारकृद्यातो, गृहीत्वाम्भोघटं वने।
पीतं तेनाम्बु तत्सर्वं, तृष्णयार्त्तेन कुम्भतः ॥ ४५ ॥
उपर्यादित्यतापेन, पार्श्वेऽग्नेर्ज्वलनात्तथा।
काष्ठकुट्टनखेदाच्च, पीडितस्तृष्णया पुनः ॥ ४६ ॥
सोऽथ गाढं गतो मूर्छा, सुप्तः स्वप्ने तदा जलम्।
सर्वं गेहसरः कूप-नदीह्रदसमुद्रजम् ॥ ४७ ॥
सर्वं पपौ परं तस्य, तृष्णा छिन्ना तथाऽपि न।
ततो मरौ जीर्णकूपे, गृहीत्वा तृणपूलकम् ॥ ४८ ॥
तेनाहृतं पयः शेषं, पनिताल्लेढि जिह्वया।
न छिन्ना या समुद्रान्ते, सा तृट् छेत्स्यति तेन किम् ॥ ४९ ॥
अन्वभूवन् भवन्तोऽपि, सुखं भवसुखावधि।
विमाने सर्वार्थसिद्धे, तृप्तिस्तदपि नाभवत् ॥ ५० ॥
ततो वैतालिकं नामा-ध्ययनं स्वाम्यभाषत।
बुध्यध्वं किं न बुध्यध्व-मित्यष्टानवतिध्रुवा ॥ ५१ ॥
काऽपि प्रथमया बुद्धः, कश्चनापि द्वितीयया।
बुद्धाः सर्वेऽपि सर्वाभिः, कुमाराः प्राव्रजंस्तदा ॥ ५२ ॥
ज्ञात्वा चरेभ्यस्तद्वृत्तं, भरतो भरतादिभूः।
तेजांसीवाशुरश्मीना, तेषां राज्यान्यपाहरत् ॥ ५३ ॥
विज्ञाय लघुबन्धूनां, तद्राज्यहरणं तदा।
आयान्तं भारतं दूत-सूत्रे बाहुबली बली ॥ ५४ ॥
अथ तृप्तिर्न ते भर्तु-र्बृहत्कुक्षिरिवैष कः।
बन्धूनामपि राज्यान्या-च्छिनत्ति स्मातिलोभतः ॥ ५५ ॥
मदीयमपि किं तद्व-द्राज्यमेष जिहीर्षति।
मरिचान्यप्यधीर्वाञ्छ-त्यत्तुं चणकलीलया ॥ ५६ ॥
आयातोऽहं तदेषोऽस्मि, राज्याय स्व प्रभु युधि।
इत्युक्त्वा दूतमुत्सृज्य, बाहुबल्यप्यपेषणयत् ॥ ५७ ॥
ज्ञात्वाऽऽयान्तं च भरतं, सर्वौघेण तमभ्यगात्।
ततस्तद्बलयोरासी-त्संग्रामो द्वादशाब्दकः ॥ ५८ ॥
अथ बाहुबलिः स्माह, किमेतैः कीटकुट्टनैः।
आवयोरेव यद्वैर-मावयोरेव यद्रणः ॥ ५९ ॥
अथाङ्गाङ्गिरणे देव प्रार्थनात्स्वीकृते शुभे।
दृग्युद्धं प्रथमं चक्रे, भरतस्तत्र निर्जितः ॥ ६० ॥
एवं वाग्युद्ध-मुष्टीमुष्टि-दण्डादण्डिरणैर्जितः।
भरतोऽचिन्तयच्चक्री, एष पक्षास्यहं न किम् ॥ ६१ ॥
तस्यैव खिन्नचित्तस्य, चक्रं देवतयाऽर्पितम्।
सगर्वस्तेन सोऽधावत्, हन्तुं बाहुबलिं प्रति ॥ ६२ ॥
तमायान्तं समालोक्या-चिन्तयद्बाहुबल्यपि।
एतं सचक्रमप्येक-मुष्टिघातेन चूर्णये ॥ ६३ ॥
किं पुनः कामभोगानां, तुच्छानां कारणे मम।
भ्रातुर्ज्येष्ठप्रतिज्ञस्य, वधः कर्तुं न युज्यते ॥ ६४ ॥
भव्यं मे भ्रातृभिश्चक्रे, तत्करोम्यहमप्यतः।
अधोवेऽधर्मयुक्तेज्ञो! धिक्ते भरत! पौरुषम् ॥ ६५ ॥
अलं भोगैर्ममेत्युक्त्वा, तदैव व्रतमाददे।
भरतस्तनयं बाहो, राज्ये सोमप्रभं न्यधात् ॥ ६६ ॥
अग्रे केवलिनः सन्ति, तानोपान्ते ममानुजाः।
ततोऽहमपि यास्यामि, सजाते तत्र केवले ॥ ६७ ॥
तत्रैवास्थात्प्रतिमये-स्युपक्षस्तम्भनिश्चलः।
पादयोर्जातबल्मीको, व्रतापहृतविग्रहः ॥ ६८ ॥
वत्सरान्ते बोधकाले, ज्ञात्वा ब्राह्मी च सुन्दरी।
स्वामिना प्रेषिते गत्वा, दृष्ट्वा तं वल्लिवेष्टितम् ॥ ६९ ॥
नत्वोचतुरिदं बन्धो, हस्तिनोऽवतराधुना।
द्विलिर्वचनमित्युक्त्वा, गते साध्व्यौ यथा गतम् ॥ ७० ॥
बाहुर्दध्यौ क्व हस्ती मे, मृषा चैते न जल्पतः।
हुं ज्ञातं मानहस्त्यस्ति, को मानो मे विवेकिनः ॥ ७१ ॥
तद्यामि स्वामिनं वन्दे, तान् स्वभ्रातॄन् मुनीनपि।
उत्क्षिप्ते चरणे जातं, केवलज्ञानमुज्ज्वलम् ॥ ७२ ॥
ततो गत्वा प्रभुं प्रेक्ष्य, तस्थौ केवलिपर्षदि।
भरतः कुरुते राज्यं, मरीचिः श्रुतवानभूत् ॥ ७३ ॥ आ० क०।

अथ किमभूदित्याह अन्यदा।

बाहुबलिकोवकरणं, निवेअणं चक्किदेवया कहणं।
नाहम्मेणं तुज्झे, दिक्खा पडिमायरन्नायं ॥ ३१ ॥
पढमं दिट्ठीजुद्धं, वायाजुद्धं तहेव बाहाहिं।
मुट्ठीहिं य डंडेहि य, सव्वत्थ विजिप्पए भरहो ॥ ३२ ॥
सो एव जिप्पमाणो, विहुरो अ नरवई विचिंतेइ।
किं मन्नि एस चक्की, जहि दाणिं दुब्बलो अहयं ॥ ३३ ॥
ताहे चक्कं मणसी, करेइ पत्ते अ चक्करयणम्मि।
बाहुबलिणा य नाणिअ, धिरत्थु रज्जस्स तो तुज्झं ॥ ३४ ॥
चिंतेइ अ सो मज्झं, सहोयरा पुव्वदिक्खिया नाणी।
अह य केवली होउं, वच्चहामी तिओ पडिम ॥ ३५ ॥

संवच्छरेण धूअं, अमूढलक्खो उ पेसए अरहा।
हत्थीओ ओअर तिअ, वुत्ते चिंता पए नाणं ॥ ३६ ॥
उप्पन्ननाणरयणा, तिन्नपइन्नो जिणस्स पासम्मि।
गंतुं तित्थं नमिउं, केवलिपरिसाइ आसीणो ॥ ३७ ॥
काऊण एगछत्तं, भरहो वि अ भुंजए विउलभोए।
मरिई वि सामिपासे, विहरइ तवसंजमसमग्गो ॥ ३८ ॥
सामाइअमाईअं, इक्कारसमाउ जाव अंगाओ।
उज्जुत्तो भत्तिगओ, अहिज्जिओ सो गुरुसगासे ॥३९॥

भरतसंदेशाकर्णने सति बाहुबलिनः कोपकरणं तन्निवेदनं चक्रवर्तिभरताय दूतेन कृतं (देवयत्ति) युद्धे जीयमानेन किमयं चक्रवर्ती न त्वहमिति चिन्तिते। देवता आगतेति (कहणति) बाहुबलिना परिणामदारुणान् भोगान् पर्यालोच्य कथनं कृतमलं मे राज्येनेति। तथा चाह। गाधर्म्मेण युध्यामीति। दीक्षा तेन गृहीता अनुत्पन्नज्ञानः कथमहं ज्यायान् लघीयसो द्रक्ष्यामीत्यभिधानात् प्रतिमा अङ्गीकृता प्रतिज्ञा च कृता। नास्मादनुत्पन्नज्ञानो यास्यामीति निर्युक्तिगाथा। शेषास्तु भाष्यगाथाः। तयोश्च भरतबाहुबलिनो प्रथमं दृष्टियुद्धं, पुनर्वाग्युद्धं, तथैव बाहुभ्यां मुष्टिभिश्च दण्डैश्च सर्वत्रापि सर्वेषु जीयते भरतः। स एवं जीयमानो विधुरोऽथ नरपतिर्विचिन्तितवान् अर्हन्नादितीर्थकरः। हस्तिनः अवतर इति चोक्ते चिन्ता तस्य जाता यामीति सम्प्रधार्य (पए) इति पदोत्क्षेपे ज्ञानमुत्पन्नमिति। उत्पन्नज्ञानरत्नीर्णप्रतिज्ञो जिनस्य पादमूले गत्वा केवलिपर्षदं गत्वा तीर्थं नत्वा आसीन। अत्रान्तरे कृत्वा एकच्छत्रं भुवनमिति वाक्यशेषः भरतोऽपि च भुङ्क्ते विपुलभोगान्। मरीचिरपि स्वामिपार्श्वे विहरति तपःसंयमसमग्रः स च सामायिकादिकमेकादशमङ्गं यावत्। उद्युक्तः क्रियायां भक्तिगतो भगवति श्रुते वा अधीतवान्। स गुरुसकाश इत्युपन्यस्तगाथार्थः।

अह अन्नया कयाई, गिम्हे उण्हेण परिगयसरीरो।
अण्हाणएण चइओ, इमं कुलिंगं विचिंतेइ ॥ ४० ॥

गमनिका। अथेत्यानन्तर्ये कदाचिदेकस्मिन् काले ग्रीष्मे उष्णेन परिगतशरीरः। अस्नानेनेत्यस्नानपरीषहेण त्याजितः संयमात् एतत्कुलिङ्गं वक्ष्यमाणं विचिन्तयतीति गाथार्थः।

मेरुगिरीसमभारे, न हु मि समत्थो मुहुत्तमवि वोढुं।
सामन्नए गुणे गुण–रहिओ संसारमणुकंखी ॥ ४१ ॥

कान् श्रमणानामेते श्रमणाः के ते गुणाः विशिष्टक्षान्त्यादयस्तान् कुतो यतो धृत्यादिगुणरहितोऽहं संसारानुकाङ्क्षीति गाथार्थः। ततश्च किं मम युज्यते। गृहस्थत्वं तावदनुचितं श्रमणगुणानुपालनमप्यशक्यम् ॥

एवमणुचिंतयतस्स, तस्स नियया मई समुप्पन्ना।
लद्धो मए उवाओ, जाया मे सासया बुद्धी ॥ ४२ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेणानुचिन्तयतस्तस्य निजा मतिः समुत्पन्ना न परोपदेशेन स ह्येवं चिन्तयामास। लब्धो मया वर्तमानकालोचितः स्वधूपायो जाता मम शाश्वती बुद्धिः शाश्वतीत्याकालिकी प्रायो निरवद्यजीविकाहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥

यदुक्तमिदं कुलिङ्गमचिन्तयत् तत्प्रदर्शनायाह।

समणा तिदंडविरया, भगवंतो निहुअसंकुचिअगत्ता।
अजिइंदिअदंडस्स, ओहो उ तिदंडं ममं चिन्हं ॥ ४३ ॥

गमनिका। श्रमणा मनोवाक्कायलक्षणत्रिदण्डविरताः ऐश्वर्यादिभगयोगाद्भगवन्तः निभृतान्यन्तःकरणाशुभव्यापारपरित्यागात् सकुचितान्यशुभाकायव्यापारपरित्यागादङ्गानि येषां ते तथोच्यन्ते अहं तु नैवंविधो यत अजितेन्द्रियेत्यादि न जितानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि दण्डाश्च मनोवाक्कायलक्षणा येन स तथोच्यते। तस्याजितेन्द्रियदण्डस्य तु त्रिदण्डं मम चिह्नमविस्मरणार्थमिति ॥

लोइंदियमुंडा सं–जया उ अहं यं खुरेण ससिहाओ।
थूलगया[प्पा]णि वहाओ, वि[र]मणं मे सया होउ ॥४४॥

मुण्डो हि द्विधा भवति द्रव्यतो भावतश्च। तत्रैते श्रमणा द्रव्यभावमुण्डाः कथं लोचनेन्द्रियैश्च मुण्डाः संयताः सन्ति अहं पुनर्नेन्द्रियमुण्डो यतः अतोऽलं द्रव्यमुण्डतया तस्मादहं क्षुरेण मुण्डः सशिखश्च भवामि। तथा सर्वप्राणिवधविरताः श्रमणा वर्तन्ते अहं तु नैवंविधो यतः अतः स्थूलप्राणातिपाताद्विरमणं मे सदा भवत्विति गाथार्थः ॥

निक्किंचणा य समणा, अकिंचणा मज्झ किंचणा होउ।
सीलसुगंधा समणा, अहयं सीलेण दुग्गंधो ॥४५॥

गमनिका। निर्गतं किंचनं हिरण्यादि येभ्यस्ते निष्किंचनाश्च श्रमणास्तथाऽविद्यमानं किंचनमल्पमपि येषां ते अकिञ्चना जिनकल्पिकादयः अहं तु नैवंविधो यतो मार्गाविस्मृत्यर्थं मम किंचन भवतु पवित्रिकादि। तथा शीलेन शोभनो गन्धो येषां ते तथाविधाः। अहं तु शीलेन दुर्गन्धः अतो गन्धचन्दनग्रहणं मे युक्तमिति गाथार्थः।

ववगयमोहा समणा, मोहच्छन्नस्स छत्तयं होउ।
अणुवाहणा य समणा, मज्झं च उवाणहा हुंतु ॥ ४६ ॥

गमनिका। व्यपगतो मोहो येषां ते व्यपगतमोहा श्रमणा अहं तु नेत्थं यतः अतो मोहाच्छादितस्य छत्रकं भवतु अनुपानत्काश्च श्रमणाः मम चोपानहौ भवतामिति गाथाक्षरार्थः ॥

सुक्कंबरा य समणा, निरंबरा मज्झ धाउरत्ताइं।
हुंतु अ मे वत्थाइं, अरिहोमि कसायकलुसमई ॥ ४७ ॥

गमनिका। शुक्लाम्बराः श्रमणास्तथा निर्गतमम्बरं येभ्यस्ते निरम्बरा जिनकल्पिकादयः (मज्झत्ति) मम य एते श्रमणा इत्यनेन तत्कालोत्पन्नतापसश्रमणव्युदासः धातुरक्तानि भवन्तु मम वस्त्राणि किमित्यर्हो योग्योऽस्मि तेषामेव कषायैः कलुषा मतिर्यस्यासावहं कषायकलुषमतिरिति गाथार्थः ॥

वज्जंति वज्जभीरुओ, बहुजीवसमाउलं जलारंभं।
होउ मम परिमिएणं, जलेण ण्हाणं च पियणं च ॥४८॥

गमनिका वर्जयन्त्यवद्यभीरवो बहुजीवावद्यभीरवो बहुजीवसमाकुलं जलारम्भं तत्रैव वनस्पतेरवस्थानात्। अवद्यं पापं अहं तु नेत्थं यतः अतो भवतु मे परिमितेन जलेन स्नानं च पानं चेति गाथार्थः।

एवं सो रुइअमई, निअगमइविगप्पिअं इमं लिंगं।
तद्धियहेउसु जुत्तं, परिवज्जं पवत्तेइ ॥ ४९ ॥

स्थूलमृषावादादिविनिवृत्तः एवमसौ रुचिता मतिर्यस्य असौ रुचितमतिः अतो निजमत्या विकल्पितं निजमतिविकल्पितमिदं

लिङ्ग विशिष्टम् । तस्य हितास्तद्धिताः तद्धिताश्च हेतवश्चेति समास नै र्मुं युक्त लिङ्गमित्यर्थः । परिव्राजामिदं पारिव्राजं प्रवर्तयति शास्त्रकारवचनात् वर्तमाननिर्देशोऽप्यविरुद्ध एव पाठान्तर वा (पारिव्वज्ज ततो कारिंसि) पारिव्राज तत कृतवानिति गाथार्थः ॥ भगवता च सह विजहार । त च साधुमध्ये विजातीय दृष्ट्वा कौतुकाल्लोक पृष्टवान् । तथा चाह ।

अह तं पागडरूवं, दट्ठुं पुच्छेइ बहुजणो धम्मं ।

कहेइ जईणं तो सो, वियालणे तस्स परिकहणा ॥५०॥

गमनिका । अथ त प्रकटरूप विजातीयत्वात् दृष्ट्वा पृच्छति बहुजनो धर्म्म कथयति यतीनां सबन्धिभूत क्षान्त्यादिलक्षण ततोऽसाविति लोका भणन्ति यद्ययं श्रेष्ठो भवता किं नाङ्गीकृत इति विचारेण तस्य परि समन्तात्कथना परिकथना श्रमणास्त्रिदण्डविरता इत्यादिलक्षणा पृच्छतीति त्रिकालगोचरस्तत्र प्रदर्शनार्थत्वादेव निर्देशः । पाठान्तरम् । "अह त पागडरूवं, दट्ठु पुच्छिसु बहुजणो धम्मं । कहती सुजतीण सो, वियालणे तस्स परिकहणा " प्रवर्तत इति गाथार्थः । आ० म० प्र० । आव० १ अ० ।

(२३) ब्राह्मणानामुत्पत्तिप्रकारमाह ।

धम्मकहा अक्खित्ते, उवट्ठिए देइ सामिणो सीसे ।

गामनगराई विह—रइ सो सामिणा सद्धं ॥५१॥

धर्म्मकथाक्षिप्तान् उपस्थितान् ददाति भगवतः शिष्यान् ग्रामनगरादीन् विहरति स स्वामिना सार्द्धम् । भावार्थः सुगम इत्थ निर्देशप्रयोजन पूर्ववद्ग्रन्थकारवचनत्वाद्वा अदोष इति गाथार्थः ॥ अन्यदा भगवान्विहरमाणोऽष्टापदमनुप्राप्तवांस्तत्र समवसृतः भरतोऽपि भ्रातृप्रव्रज्याकर्णनात्सजातमनस्तापोऽधृतिं चक्रे । कदाचिद्भोगान् दीयमानान् पुनरपि गृह्णन्तीत्यालोच्य भगवत्समिपं चागम्य निमन्त्रयंश्च तान् भोगैर्निराकृतश्च चिन्तयामास । एतेषामेवेदानीं परित्यक्तसङ्गानामाहारदानेनापि तावद्धर्मानुष्ठानं करोमीति पञ्चभि' शकटैर्विचित्रमाहारमानाय्योपनिमन्त्र्य आधाकर्म्माहृतं च न कल्पते यतीनामिति प्रतिषिद्धेऽकृतकारितेनान्येन निमन्त्रितवान् राजपिण्डोऽप्यकल्पनीय इति प्रतिषिद्ध· सर्वप्रकारैरहं भगवता परित्यक्त इति सुतरामुन्माथितो बभूव । तमुन्माथित विज्ञाय देवराट् तच्छोकोपशान्तये भगवन्तमवग्रहं पप्रच्छ । कतिविधोऽवग्रह इति भगवानाह । पञ्चविधोऽवग्रहस्तद्यथा । देवेन्द्रावग्रहो राजावग्रहो गृहपत्यवग्रहः सागारिकावग्रह' साधर्म्मिकावग्रहश्च । राजावग्रहो भरताधिपो गृह्यते । गृहपतिर्म्माण्डलिको राजा । सागारिक' शय्यातर· साधर्म्मिक' संयत इत्येतेषां चोत्तरोत्तरेण पूर्व· पूर्वो बाधितो द्रष्टव्य इति । यथा राजावग्रहेण देवेन्द्रावग्रहो बाधित इत्यादिप्ररूपिते देवराडह भगवन् । य एते श्रमणा मदीयावग्रहे विहरन्ति तेषां मयाऽवग्रहोऽनुज्ञात इत्येवमभिधायाभिवन्द्य च भगवन्त तस्थौ । भरतोऽचिन्तयदहमपि स्वकीयमवग्रहमनुजानामीत्येतावताऽपि नः कृतार्थता भवतु भगवत्समीपेऽनुज्ञातावग्रह शक्र पृष्टवान् भक्तपानमिदमानीतमनेन किं कार्यमिति देवराडाह । गुणोत्तरान् पूजयस्व सोऽचिन्तयत् के मम साधुव्यतिरेकेण जात्यादिभिरुत्तरा पर्यालोचयता ज्ञात श्रावका विरता विरतत्वाद्गुणोत्तरास्तेभ्यो दत्तमिति । पुनर्भरतो देवेन्द्ररूप भास्वरमाकृतिमत् दृष्ट्वा पृष्टवान् किं यूयमेवभूतेन रूपेण देवलोके तिष्ठत उत नेति देवराडाह नेति । तन्मानुषैर्द्रष्टुमपि न पार्यते भास्वरत्वात् । पुनरप्याह भरतस्तस्याकृतिमात्रेणास्माक कौतुकं तन्निदर्श्यताम् । देवराज आह । त्वमुत्तमपुरुष इति कृत्वैकमङ्गावयवं दर्शयामीत्यभिधाय योग्यालङ्कारविभूषितामङ्गुलीमत्यन्तभास्वरामदर्शयत् । दृष्ट्वा च तां भरतोऽतीव मुमुदे शक्राङ्गुलीं च स्थापयित्वा महिमामष्टाह्निकां चक्रे । तत· प्रभृति शक्रोत्सवः प्रवृत्त इति । भरतश्च श्रावकानाहूयोक्तवान् । भवद्भि· प्रतिदिन मदीय भोक्तव्य कृष्यादि च न कार्यं स्वाध्यायपरैरासितव्य भुक्ते च मदीयगृहद्वारासन्नव्यवस्थितैर्वक्तव्यम् । जितो भवान् वर्द्धते भय तस्मान्माहनेति । ते तथैव कृतवन्तः । भरतश्च रतिसागरावगाढत्वात्प्रमत्तत्वात्तच्छब्दाकर्णनोत्तरकालमेव केनाह जित इति । आम ज्ञातं कषायैस्तेभ्य एव वर्द्धते भयमित्यालोचनापूर्वकं सवेग यातवानिति । अत्रान्तरे लोकबाहुल्यात् सूपकारा पाकं कर्तुमशक्नुवन्तो भरताय निवेदितवन्त' नेह ज्ञायते क· श्रावक· को वा नेतीति लोकस्य प्रचुरत्वात् । आह भरत· पृच्छापूर्वक देयमिति । ततस्तान् पृष्टवन्तस्ते को भवान् श्रावकाणा कति व्रतानि स आह श्रावकाणां न सन्ति व्रतानि किं त्वस्माकं पञ्चाणुव्रतानि । कति शिक्षाव्रतानि ते उक्तवन्तः सप्त शिक्षाव्रतानि । य एवंभूतास्ते राज्ञो निवेदिता स च काकणीरत्नेन तान् लाञ्छितवान् । पुन' षण्मासेन ये योग्या भवन्ति तानपि लाञ्छितवान् षण्मासकालादनुयोग कृतवानेव ब्राह्मणा सजाना इति । ते च स्वसुतान् साधुभ्यो दत्तवन्तस्ते च प्रव्रज्यां जगृहु' । परीषहभीरवस्तु श्रावका एवासन्निति । इयं च भरतराज्यस्थितिः । आदित्ययशसस्तु काकणीरत्न नासीत् । सुवर्णमयानि यज्ञोपवीतानि कृतवान्महायश प्रभृतयस्तु केचन रूप्यमयानि केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानीत्येव यज्ञोपवीतप्रसिद्धिः

अमुमेवार्थं समुसरणेत्यादिगाथया प्रतिपादयति ।

समुसरणभत्तउग्गह—मंगुलिभयसक्कसावया अहिया ।

जेया वड्ढइ कागिणि—लंछणअणुसज्जणा अट्ठ ॥ ५२ ॥

गमनिका । समवसरणं भगवतोऽष्टापदे कल्वासीत् । भक्त भरतेनानीतं तद्ग्रहणोन्माथिते सति भरते देवेशो भगवन्तमवग्रहं पृष्टवान् भगवांश्च तस्मै प्रतिपादितवान् (अगुलियत्ति) भरतनृपतिना देवलोकनिवासिरूपपृच्छायां कृतायामिन्द्रेणाङ्गुलिर्दर्शिता । तत एवारभ्य ध्वजोत्सव प्रवृत्त· (सक्कुत्ति) भरतनृपतिना किमनेनाहारेण कार्यमिति पृष्ट· शक्रोऽभिहितवान् । त्वदधिकेभ्यो दीयतामिति पर्यालोचयता ज्ञातं श्रावका अधिका इति (जेया वड्ढइत्ति) प्राकृतशैल्या जितो भवान् वर्द्धते भय भुक्त्वोत्तरकालं च ते उक्तवन्त (कागणिलछणत्ति) प्रचुरत्वात् काकणीरत्नेन लाञ्छन चिह्न तेषां कृतमासीत् (अणुसज्जण अट्ठत्ति) अष्टौ पुरुषान् यावदय धर्म्म· प्रवृत्त· अष्टौ वा तीर्थकरान् यावदिति गाथार्थ· । अत ऊर्द्ध मिथ्यात्वमुपगता इति ।

राया आइच्चजसे, महाजसे अइबले अ बलभद्दे ।

बलवीरियकत्तविरिए, जलविरिए दंडविरिए अ ॥५३॥

अस्या भावार्थ सुगम एवेति गाथार्थः ।

एएहि अद्धभरहं, सयलं भुत्तं सिरेण धरिओ अ ।

जिणसत्तिओ अमउडो, सेसेहिं चाइओ वोढुं ५४ ॥

गमनिका । एभिरर्द्धभरतं सकल भुक्त शिरसा धृतश्च । कोऽसावित्याह । प्रवरो जिनेन्द्रमुकुटो देवेन्द्रोपनीत शेषैर्नरपतिभिर्न शकितो वोढु महाप्रमाणत्वादिति गाथार्थ ।

अस्सावगपडिसेहो, छट्टे अ मासि अणुओगो ।
कालेण य मिच्छत्तं, जिणंतरे साहुवुच्छेओ ॥ ५५ ॥

गमनिका अश्रावकाणां प्रतिषेध कृतकर्मापि षष्ठे मासेऽनुयोगो बभूव । अनुयोग' परीक्षा कालेन गच्छता मिथ्यात्वमुपगता । कदा नवमजितान्तरे किमिति यतस्तत्र साधुव्यवच्छेद आसीदिति गाथार्थः ।

साम्प्रतमुक्तार्थप्रतिपादनापरसंग्रहगाथामाह ।

दाणं च माहणाणं, वेया कासी अ पुच्छ निव्वाणं ।
कुंडाथूभजिणघरे, भरहो कविलस्स दिक्खा य ॥ ५६ ॥

दान च माहनानां लोको दातुं प्रवृत्तो भरतपूजितत्वात् (वेया कासी य त्ति) आयान् वेदान् कृतवांश्च भरत एव तत्स्वाध्यायनिमित्तमिति । तीर्थकरस्तुतिरूपान् श्रावकधर्म्मप्रतिपादकांश्च । आचार्यस्तु पश्चात्सुलसा याज्ञवल्क्यादिभिः कृता इति (पुच्छत्ति) भरतो भगवन्तमष्टापदसमवसृतमेव पृष्टवान् यादृग्भूता यूयमेवंविधा' तीर्थकृत. कियन्त. खल्विह भाविष्यन्तीत्यादि (निव्वाण ति) भगवानष्टापदे निर्वाणं प्राप्तो देवैरग्निकुण्डानि कृतानि स्तूपाः कृता' जिनगृहं भरतश्चकार कपिलो मरीचिसकाशे निष्क्रान्तो भगवतस्य दीक्षा च संवृत्तेति समुदायार्थः । अवयवार्थ उच्यते । आद्यावयवद्वयं व्याख्यातमेव । पृच्छावयवार्थं "पुणरवि य" गाथेत्यादिनाऽऽह ॥

पुणरवि अ समोसरणे, पुच्छा अ जिणं तु चक्किणो भरहे ।
अप्पुट्टो अ दसारे, तित्थयरो को इहं भरहे ॥ ५७ ॥

गमनिका पुनरपि च समवसरणे पृष्टवांश्च जिनं तु चक्रवर्ती भरतश्चक्रवर्तिन इत्युपलक्षणं तीर्थकृतश्चेति भरतविशेषण वा चक्री भरतस्तीर्थकरादीन् पृष्टवान् । पाठान्तर वा " पुच्छी य जिणे य चक्किणो भरहे " पृष्टवान् जिनांश्चक्रवर्तिनश्च भरत चशब्दस्य व्यवहित. सबन्धः भगवानपि तान् कथितवान् तथा अपृष्टश्च दशारान् तथा तीर्थकर' क इह भरतेऽस्यां परिषदीति पृष्टवान् भगवानपि मरीचिं कथितवानिति गाथाक्षरार्थः । तथा चाह । निर्युक्तिकार. ॥

जिणचक्किदसाराणं, वन्नपमाणाइँ नामगुत्ताइं ।
आउपुरमाइपियरो,परियायगई च साही य ॥ ५८ ॥

गमनिका जिनचक्रवर्तिवासुदेवानामित्यर्थः । वर्णप्रमाणानि तथा नामगोत्राणि तथा आयु. पुराणि मातापितरौ यथासंभव पर्याय गर्ति च । चशब्दाज्जिनानामन्तराणि च पृष्टवानिति द्वारगाथासमासार्थ. । अवयवार्थं तु वक्ष्यामः ॥

जारिसया लोगगुरूओ, भरहे वासम्मि केवली तुब्भे ।
एरिसया कइ अन्ने, ताया होहिंति तित्थयरा ॥ ५९ ॥

यादृशा लोकगुरवो भारते वर्षे केवलिनो यूयमीदृशाः कियन्तोऽन्येऽत्रैव तात ! भविष्यन्ति तीर्थकरा इति गाथार्थः ॥

अह भणइ जिणवरिंदो, भरहे वासम्मि जारिसो उ अहं ।
एरिसया तेवीसं, अन्ने होहिंति तित्थयरा ॥ ६० ॥
होही अजिओ संभव-मभिनंदणसुमइसुप्पभसुपासो ।
ससिपुप्फदंतसीयल-सिज्जंसो वासुपुज्जो अ ॥ ६१ ॥
विमलमणंत य धम्मो, संती कुंथू अरो अ मल्ली अ ।
मुणिसुव्वयनमिनेमी, पासो तह वद्धमाणो अ ॥६२॥

अह भणइ नरवरिंदो, भरहे वासम्मि जारिसो उ अहं ।
एरिसया कइ अन्ने, ताया होहिंति रायाणो ॥ ६३ ॥

गमनिका अथ भणति नरवरेन्द्रो भरतः भारते वर्षे यादृशस्त्वह तादृशाः कत्यन्ये तात ! भविष्यन्ति राजान इति गाथार्थः॥

अह भणइ जिणवरिंदो, जारिसओ तं नरिंदसद्दूलो ।
एरिसया इक्कारस, अन्ने होहिंति रायाणो ॥ ६४ ॥
होही सगरो मघवं, सणंकुमारो अ रायसद्दूलो ।
संती कुंथू अ अरो, हवइ सुभूमो अकोरव्वो ॥ ६५ ॥
नवमो अ महापउमो, हरिसेणो चेव रायसद्दूलो ।
जयनामो अ नरवई, बारसमो बंभदत्तो अ ॥ ६६ ॥
होहिंति वासुदेवा, नव अन्ने नीलपीअकोसिज्जा ।
हलमुसलचक्कजोही, सतालगरुडज्झया दो दो ॥ ६७ ॥

अथ भणति जिनवरेन्द्रो यादृशस्त्वं नरेन्द्रशार्दूलः सिंहपर्यायः ईदृशा. एकादश अन्ये भविष्यन्ति राजानस्ते चैते । (होहिंति) गाथाद्वय निगदसिद्धमेव यदुक्तमपृष्टश्च दशारान् कथितवान् । तदभिधित्सयाह भाष्यकार' (होहिंति) भविष्यन्ति वासुदेवा नव बलदेवाश्चानुक्ता अप्यत्र तत्सहचरत्वात् द्रष्टव्या' यतो वक्ष्यति " स तालगरुलज्झया दो दो " ते च सर्वे बलदेवा वासुदेवा यथासंख्य नीलानि पीतानि च कौशेयानि वस्त्राणि येषां ते तथाविधाः । यथासंख्यमेवाह हलमुशलचक्रयोधिनः । हलमुशलयोधिनो बलदेवाः चक्रयोधिनो वासुदेवा इति । सतालगरुडध्वजाभ्यां वर्तन्त इति सतालगरुडध्वजा' एते च भगवन्तो युगपद् द्वौ द्वौ भविष्यत' । बलदेववासुदेवाविति गाथार्थः । आ०म०प्र० आव० १ अ० ।

"तित्थगरो को इह भरहेत्ति" तद्व्याचिख्यासयाऽऽह ।

अह भणइ नरवरिंदो, ताय इमीसित्तियाइ परिसाए ।
अन्नो वि को वि होही,भरहे वासम्मि तित्थयरो ॥४१॥

अत्रान्तरे अथ भणति नरवरेन्द्रः तात ! अस्याः एतावत्याः परिषदः अन्योऽपि कश्चिद्भविष्यति तीर्थकरः अस्मिन् भारते वर्षे भावार्थस्तु सुगम एवेति गाथार्थः ॥

तत्थ मरीई नामं, आइपरिव्वायगो उसभनत्ता ।
सज्झायज्झाणजुत्तो, एगंते झायइ महप्पा ॥ ४२॥

गमनिका तत्र भगवतः प्रत्यासन्नभूभागे मरीचिनामा आदौ परिव्राजक आदिपरिव्राजक' प्रवर्तकत्वात् ऋषभनप्ता पौत्रक इत्यर्थः । स्वाध्याय एव ध्यान तेन युक्त एकान्ते ध्यायति महात्मेति गाथार्थः । भरतपृष्टो भगवान् त मरीचिं दर्शयति ।

तं दाएइ जिणिंदो, एव नरिंदेण पुच्छिओ संतो ।
धम्मवरचक्कवट्टी, अपच्छिमो वीरनामुत्ति ॥४३॥

जिनेन्द्रः एव नरेन्द्रेण पृष्टः सन् धर्मवरचक्रवर्ती अपश्चिमो वीरनामा भविष्यतीति गाथार्थ ॥

आइगरदसाराणं, तिविट्ठु नामेण पोअणाहिवई ।
पियमित्तचक्कवट्टी, मूआइविदेहवासम्मि ॥ ४४॥

गमनिका आदिकर (दसाराणंति) पृष्टनामा पोतना नाम नगरी । तस्या अधिपतिर्भविष्यतीति क्रिया । तथा प्रियमित्रनामा चक्रवर्ती मूकायां नगर्यां (विदेहवासम्मिति) महाविदेहे भविष्यतीति गाथार्थ ।

तं वयणं सोऊणं, राया अंचियतणूरुहसरीरो ।
अभिवंदिऊण पिअरं, मरीइ अभिवंदओ जाइ ॥४५॥

गमनिका । तद्वचनं तीर्थकरवदनविनिर्गतं श्रुत्वा राजा अञ्चितानि तनूरुहाणि शरीरे यस्य स तथाविधः अभिवन्द्य पितरं तीर्थकरं मरीचिम् " अभिवंदओ " इत्यभिवन्दको याति । पाठान्तरं वा । " मरीइं अभिवंदिउं जाइ त्ति " मरीचिं याति किमर्थमभिवन्दितुमभिवन्दनायेत्यर्थः यातीति वर्तमानकालनिर्देशस्त्रिकालगोचरत्वप्रदर्शनार्थं इति गाथार्थः ।

सो विणएण उवगओ, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो ।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहिँ महुराहिँ वग्गूहिं ॥४६॥
लाभा हु ते सुलद्धा, जंसि तुमं धम्मचक्कवट्टीणं ।
होहिसि दसचउदसमो, अपच्छिमो वीरनामु त्ति ॥
आइगरदसाराणं, तिविट्ठ ना० (४४)—॥४७॥

स भरतो विनयेन करणभूतेन मरीचिसकाशमुपगतः सन् कृत्वा प्रदक्षिणां च (तिक्खुत्तो त्ति) त्रिःकृत्वस्त्रिवारा इत्यर्थः वन्दते अभिष्टुवते एताभिर्मधुराभिर्वाग्भिर्गीर्भिरिति गाथार्थः । (लाभे त्ति) गमनिका लाभा अभ्युदयप्राप्तिविशेषा हुकारो निपातः स चैवकारार्थः । तस्य व्यवहितः सबन्धः तव सुलब्धा एव यस्मात् त्वं धर्म्मचक्रवर्तिनां भविष्यति दशचतुर्दशः चतुर्विंशतितम इत्यर्थः । अपश्चिमो वीरनामेति गाथार्थः । (आइगरदत्ति) व्याख्या पूर्ववदस्या एकान्तप्रदर्शनानुरञ्जितहृदयो भावितीर्थकरभक्त्या च तमभिवन्दनायोद्यते भरत एवाह ॥

न वि ते पारिव्वज्जं, वंदामि अहं इमं च ते जम्मं ।
जं होहिसि तित्थयरो, अपच्छिमो तेण वंदामि ॥४८॥

गमनिका नापि च परिव्राजामिदं पारिव्राजं वन्दामि अहमिदं च ते जन्म किं तु यद्भविष्यति तीर्थकरः अपश्चिमस्तेन वन्दामीति गाथार्थः ।

एव एहं थोऊणं, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो ।
आपुच्छिऊण पियरं, विणीयनयरिं अह पविट्ठो ५० ॥

एवं स्तुत्वा एहमिति निपातः पूरणार्थो वर्तते कृत्वा प्रदक्षिणां च त्रिःकृत्वः आपृच्छ्य पितरं ऋषभदेवं विनीतनगरीमयोध्यामथानन्तरं प्रविष्टो भरत इति गाथार्थः । अत्रान्तरे ।

तं वयणं सोऊणं, तिवइं अप्फोडिऊण तिक्खुत्तो ।
अब्भहियजायहरिसो, तत्थ मरीई इमं भणइ ॥५१॥

गमनिका । तस्य भरतस्य वचनं तद्वचनं श्रुत्वा तत्र मरीचिः इदं भणतीति योगः । कथमित्यत आह । त्रिपदीं दत्त्वा रङ्गमध्यगतमल्लवत् । तथा आस्फोट्य त्रिःकृत्वः तिस्रो वारा इत्यर्थः । किं विशिष्टः संस्तत आह । अत्यधिको जातो हर्षो यस्येति समासः तत्र स्थाने मरीचिरिदं वक्ष्यमाणलक्षणं भणति । वर्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वदिति गाथार्थः ।

जइ वासुदेवपढमो, मूआइविदेहचक्कवट्टित्तं ।
चरमो तित्थयराणं, होउ अलं इति य मज्झ ॥ ५२ ॥

गमनिका यदि वासुदेवः प्रथमोऽहं मूकायां विदेहे चक्रवर्तित्वं प्राप्स्यामि । तथा चरमः पश्चिमस्तीर्थकराणां भविष्यामि एवं तर्हि भवतु एतावन्मम एतावतैव कृतार्थ इत्यर्थः । अलं पर्याप्तमन्येनेति ॥

अहं यं च दसाराणं, पिया य मे चक्कवट्टिवंसस्स ।
अज्जो तित्थयराणं, अहो कुलं उत्तमं मज्झ ॥ ५३ ॥

गमनिका । अहमेव चशब्दस्यैवकारार्थत्वात् किं दशाराणां प्रथमो भविष्यामीति वाक्यशेषः । पिता च मे मम चक्रवर्तिवंशस्य प्रथम इति क्रियाध्याहारः । तथा आर्यकः पितामहः स तीर्थकराणां प्रथमः यत एवमतः अहो विस्मये कुलमुत्तमं ममेति गाथार्थः । आव० १ अ० । आ० म० प्र० ।

(२४) अथाऽस्यन्यशक्तिवचनगुणप्रातिगुरुस्य प्रभुपरिकरभूतस्य सङ्घस्य सङ्ख्यामाह ।

उसभस्स णं अरहओ कोसलिअस्स चउरासीइ गणहरा होत्था । उसन्नस्स णं अरहओ कोसलिअस्स उसन्नसेण पामोक्खाओ चुलसीइं समणसाहस्सीओ उक्कोसिआ समणसंपया होत्था । उसहस्स णं बंभी सुंदरी पामोक्खाओ तिण्णि अज्जिआसयसाहस्सीओ उक्कोसिअअज्जिआसंपया होत्था । उसभस्स णं सेज्जंसपामोक्खाओ तिण्णि समणोवासगसयसाहस्सीओ पंचसयसाहस्सीओ उक्कोसिआ समणोवासगसंपया होत्था । उसभस्स णं सुभद्दापामोक्खाओ पंचसमणोवासिआसयसाहस्सीओ चउप्पण्णं च सहस्सा उक्कोसिआ समणोवासिआसंपया होत्था । उसन्नस्स णं अरहओ कोसलिअस्स अजिणाणं जिणसंकासाणं सव्वक्खरसन्निवाईणं जिणो विव अवितहं वागरमाणाणं चत्तारि चउद्दसपुव्वीसहस्सा अद्धट्ठमायसया उक्कोसिआ चउद्दसपुव्वी संपया होत्था । उसभस्स णं णव ओहिणाणिसहस्सा उक्कोसिआ संपया होत्था । उसन्नस्स णं वीसं जिणसहस्सा वीसं वेउव्विअसहस्सा सयाउक्कोसिआ चउद्दसपुव्वी संपया होत्था । उसन्नस्स णं णवहिणाणिसहस्सा उक्कोसिआ संपया होत्था । उसभस्स णं वीसं जिणसहस्सा वीसं वेउव्विअसया उक्कोसिया आबारस्स विउलमइसहस्सा छच्च सया पण्णासा बारसवाइसहस्सा छच्च सया पण्णासा उसन्नस्स णं गइकल्लाणाणं ठिइकल्लाणाणं आगमेसिभद्दाणं वा वीसं अणुत्तरोववाइआणं सहस्सा णव य सया उक्कोसिया उसभस्स णं वीसं समणसहस्सा सिद्धा चत्तालीसं अज्जिआसहस्सा सिद्धा सट्ठि अंतेवासीसहस्सा सिद्धा ॥

सुगमं नवरं "जस्स जावइआ गणहरा तस्स तावइआ गणा" इति वचनाद्गणाः सूत्रे साक्षादनिर्दिष्टा अपि तावन्त एव बोध्याः । क्वचिच्चादर्शे प्रस्तुतसूत्रादर्शे "चउरासीति गणा गणहरा होत्था" इत्यपि पाठो दृश्यते तत्र चतुरशीतिपदस्योभयत्र योजनेन व्याख्या सुबोधैवेति । गणमेकवाचनाचारयतिसमुदायस्त धरन्तीति गणधराः वाचनादिभिर्हीनादिसंरक्षकत्वेन गणाधारभूता इति भावः (होत्था इति) अभवन् (उसन्नगणसेणमित्यादि) ऋषभसेनप्रमुखानि चतुरशीति श्रमणसहस्राणि एष उत्कर्षे उत्कृष्टभागस्तत्र भवा औत्कर्षिका "प्रत्यये ङीर्वा" इत्यनेन ङीविकल्पे रूपसिद्धिः । ऋषभस्य श्रमणसंपदभवत् । अत्र वाक्यान्तरत्वेन श्रमणशब्दस्य न पौनरुक्त्यमेवं सर्वत्र

योज्यम् "उसहस्स णमित्यादि" प्राय सुगमान्यानि नवरं चतुर्दशपूर्विसूत्रे अजिनानां छद्मस्थानां (सव्वक्खरसन्निवाईणंति) सर्वेषामक्षराणामकारादीनां सन्निपाता द्व्यादिसंयोगा अनन्तत्वादनन्ता अपि ज्ञेयतया विद्यन्ते येषां ते तथा । जिनतुल्यत्वे हेतुमाह "जिणो विव अवितहमित्यादि" जिन इवावितथं यथार्थं व्यागृणतां व्याकुर्वाणानां केवलिश्रुतकेवलिनोः प्रज्ञापनायां तुल्यत्वात् । चत्वारि सहस्राणि अर्द्धाष्टमानि च शतानि एषा औत्कर्षिकी चतुर्दशपूर्विसंपदभवत् (विउव्विअत्ति) वैक्रियलब्धिमन्त शेष स्पष्टम् । विपुलमतयो मनःपर्यवज्ञानविशेषवन्त द्वादशविपुलमतिसहस्राणि अधिकारात्तेषामेव षट्शतानि पञ्चाशच्चेत्येव सर्वत्र योज्यम् । वादिनो वादिलब्धिमन्त परप्रवादुकनिग्रहसमर्था (उसभस्स णमित्यादि) देवगतिरूपायां कल्याण येषां प्राय सातोदयत्वात्तेषां तथा स्थितौ देवायूरूपायां कल्याणं येषां ते तथा अप्रविचारसुखस्वामिकत्वात् । आगमिष्यद्भद्रं येषामागामिभवे सेत्स्यमानत्वात् ते तथा तेषामनुत्तरोपपातिकानां पञ्चानुत्तरलक्षणसप्तमदेवविशेषाणां द्वाविंशतिसहस्राणि नवशतानि "उसभस्सणमित्यादि" सुगम नवर श्रमणार्यिकासंख्याद्वयमीलने अन्तेवासिसंख्या संपद्यते ।

(२५) अथ भगवतः श्रमणवर्णकसूत्रमाह ।

उसभस्स णं बहवे अंतेवासी अणगारा भगवंतो अप्पेगइया मासपरियाया जहा उववाइए सव्वो अणगारवण्णओ जाव उड्ढंजाणु अहोसिरज्झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

अर्हत ऋषभस्य बहवो अन्तेवासिन शिष्यास्ते च गृहिणोऽपि स्युरित्यनगारा भगवन्त पूज्या अपि समुच्चये एकका एके अन्ये केचिदपीत्यर्थ । मास यावत् पर्यायश्चारित्रपालन येषां ते तथा । यथोपपातिके सर्वोऽनगारवर्णकस्तथाऽत्रापि वाच्यः । कियद्यावदित्याह ऊर्ध्वं जानुनी येषां ते ऊर्ध्वजानवः शुद्धपृथिव्यासनवर्जनाद् औपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासना इत्यर्थ । अध शिरसोऽधोमुखा नोर्ध्वतिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टयः ध्यानरूपो यः कोष्ठ कुशूलस्तमुपागतास्तत्र प्रविष्टा यथा हि कोष्ठके धान्य प्रक्षिप्तं न विप्रसृत भवति एव तेऽनगारा विषयेष्वपि प्रसृतेन्द्रिया न स्युरिति । संयमेन संवररूपेण तपसाऽनशनादिना समुच्चयार्थो गम्य । संयमतपोग्रहण चानयो प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थं प्रधानत्व च संयमनवकर्मानुपादानहेतुत्वेन तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति आत्मान भावयन्तो विहरन्ति तिष्ठन्तीत्यर्थ । अत्र यावत्पदसग्राह्य "अप्पेगइया दो मासपरियाया" इत्यादिक औपपातिकग्रन्थो विस्तरभयान्न लिखित इत्यवसेयम् ।

(२६) अथ ऋषभस्वामिन केवलोत्पत्त्यनन्तर भव्यानां कियता कालेन सिद्धिगमन प्रवृत्त कियन्त काल यावदनुवृत्त चेत्याह ॥

अरहओ णं उसभस्स दुविहा अंतकरभूमी होत्था तं जहा जुगंतकरभूमी जाव असंखेज्जाइं पुरिसजुगाइं परिआयंतकरभूमी अंतोमुहुत्तपरिआए अंतमकासी ॥

ऋषभस्य द्विविधा अन्त भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकरा मुक्तिगामिनस्तेषां भूमि काल कालस्य चाधारत्वेन कारणत्वाद्भूमित्वेन व्यपदेश तद्यथा युगानि पञ्चवर्षमानानि कालविशेषा लोकप्रसिद्धानि वा कृतयुगादीनि तानि च क्रमवर्तीनि तत्साधर्म्याद्ये क्रमवर्तिनो गुरुशिष्यादिरूपा पुरुषास्तेऽपि साम्यावमानलक्षणयाऽभेदप्रतिपत्त्या युगानि पदपद्धतिपुरुषा इत्यर्थस्तै प्रमितान्तकरभूमिर्युगान्तकरभूमिरिति पर्यायस्तीर्थकृत केवलित्वकालस्तदपेक्षयान्तकरभूमि कोऽर्थ ऋषभस्य इयति केवलपर्यायकालेऽतिक्रान्ते मुक्तिगमन प्रवृत्तमिति तत्र युगान्तकरभूमिर्यावदसंख्यातानि पुरुषा पट्टाधिरूढास्ते युगानि पूर्वोक्तयुक्त्या पुरुषयुगानि समर्थपदत्वात् समासः । नैरन्तर्ये द्वितीया । ऋषभात्प्रभृति श्रीअजितदेवतीर्थे यावत् । श्रीऋषभपट्टपरम्परासूढा असंख्याता सिद्धा न तावन्त काल मुक्तिगमनविरह इत्यर्थ । यस्तु आदित्ययशःप्रभृतीनां ऋषभदेववंशजानां नृपाणां चतुर्दशलक्षप्रमितानां क्रमेण प्रथमत सिद्धिगमन तत एकस्य सर्वार्थसिद्धप्रस्तटगमनमित्याद्यनेकरीत्या अजितजिनपितर मर्यादीकृत्य नन्दीसूत्रवृत्तिचूर्णिसिद्धदण्डिकादिषु सर्वार्थसिद्धप्रस्तटगमनव्यवहितः सिद्धिगम उक्त स कोशलापट्टपतीन् प्रतिपत्त्यावसातव्योऽस्य पुण्डरीकगणधरादीन् प्रतीत्येति विशेषस्तथा पर्यायान्तकरभूमिरेषा अन्तर्मुहूर्ते यावत् केवलज्ञानस्य पर्यायो यस्य स तथा एवंविधे ऋषभे सति अन्त भवान्तमकार्षीदकरोत्न वा कश्चिदपीति । यतो भगवदम्बा मरुदेवी प्रथमसिद्धा सा तु भगवत्केवलोत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव सिद्धेति ॥

(२७) अथ जन्मकल्याणकादिनक्षत्राण्याह ॥

उसभेणं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीइछट्ठे होत्था तं जहा उत्तरासाढाहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते उत्तरासाढाहिं जाए उत्तरासाढाहिं रायाभिसेअं पत्ते उत्तरासाढाहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइए । उत्तरासाढाहिं अणंते जाव समुप्पण्णे अभीइणा परिणिव्वुए ॥

ऋषभोऽर्हन् पञ्चसु च्यवनजन्मराज्याभिषेकदीक्षाज्ञानलक्षणेषु वस्तुषु उत्तराषाढानक्षत्र चन्द्रेण भुज्यमान यस्य स तथा । अभिजिन्नक्षत्रं षष्ठे निर्वाणलक्षणे वस्तुनि यस्य स यद्वा अभिजिति नक्षत्रे षष्ठं निर्वाणलक्षण वस्तु यस्य स तथा उक्तमेवार्थं भावयति । तद्यथा उत्तराषाढाभिर्युतेन चन्द्रेणेति शेष । सूत्रे बहुवचन प्राकृतशैल्या एवमग्रेऽपि च्युत सर्वार्थसिद्धनाम्नो महाविमानान्निर्गत इत्यर्थ । च्युत्वा गर्भव्युत्क्रान्त मरुदेव्या कुक्षावतीर्णवानित्यर्थ । १ । जातो गर्भवासान्निष्क्रान्तः । २ । राज्याभिषेक प्राप्तः । ३ । मुण्डो भूत्वा अगार मुक्त्वा अनगारितां साधुता प्रव्रजित प्राप्त इत्यर्थ । पञ्चमी चात्र क्यब्लोपजन्या । ४ । अनन्तरं यावत् केवलज्ञानं समुत्पन्नम् । ५ । यावत्पदसंग्रह पूर्ववत् अभिजिता युते चन्द्रे परिनिर्वृत सिद्धिगत । ननु अस्मादेव विभागसूत्रबलादादिदेवस्य षट्कल्याणका समापद्यमाना दुर्निवारा इति चेन्न तदेव हि कल्याणक यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधय सकलसुरासुरेन्द्रा जातमिति विधित्सवो युगपत्ससंभ्रमा उपतिष्ठन्ते न चायं षष्ठकल्याणकत्वेन भवता निरूप्यमाणो राज्याभिषेकस्तादृशस्तेन वीरस्य गर्भापहार इव नाय कल्याणक अनन्तरोक्तलक्षणायोगात् । न च तर्हि निरर्थकमस्य कल्याणकाधिकारे पठनमिति वाच्य प्रथमतीर्थेशराज्याभिषेकस्य जातमिति शक्रेण क्रियमाणस्य देवकार्यत्वलक्षणसाधर्म्येण समाननक्षत्रजाततया च प्रसङ्गेन तत्पठनस्यापि सार्थकत्वात् तेन समाननक्षत्रजातत्वे सत्यपि कल्याणकत्वाभावेनानियतवक्तव्यतया क-

चिद्राज्याभिषेकस्याकथनेऽपि न दोषः। अत एव श्रुतस्कन्धाध्ययने पर्युषणाकल्पेन श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिपादाः "तेणं समएणं उसभे अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभिइ पंचमे होत्था " इति पञ्चकल्याणकनक्षत्रप्रतिपादकमेव सूत्रं ग्रथन्धिरे न तु राज्याभिषेकनक्षत्राभिधायकमपीति । न च प्रस्तुतव्याख्यानस्यानागमिकत्वं भावनीयम् आचाराङ्गभावनाध्ययने श्रीवीरकल्याणसूत्रस्यैव व्याख्यातत्वात ।

(२८) अथ भगवतः शरीरसंपदं शरीरप्रमाणं च वर्णयन्नाह।

उसभेणं अरहा कोसलिए वज्जरिसहनारायसंघयणे समचउरंससंठाणसंठिए पंचधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था ॥

उसभेणमित्यादि कण्ठ्यम् ।

अथ भगवतः ऋषभस्य कौमारे राज्ये गृहित्वे च यावान् कालः प्रागुक्तस्तं संग्रहरूपतयाऽभिधातुमाह ।

उसभेणं अरहा वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसित्ता तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइं रज्जवासमज्झे वसित्ता तेसिइं पुव्वसयसहस्साइं अगारवासमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारिअं पव्वइए उसभेणं अरहा एगं वाससहस्सं छउमत्थपरिआयं पाउणित्ता एगं पुव्वसयसहस्सं वाससहस्सूणं केवलिपरिआयं पाउणित्ता एगं पुव्वसयसहस्सं बहुपडिपुण्णं सामण्णपरिआयं पाउणित्ता चउरासीइं पुव्वसहस्साइं सव्वाउअं पालइ पालइत्ता जे से हेमंताणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे माहबहुले तस्स णं माहबहुलस्स तेरसीपक्खेणं दसहिं अणगारसहस्सेहिं सद्धिं संपरिवुडे अट्ठावयसेलसिहरंसि चोद्दसमेणं भत्तेणं अपाणएणं संपलिअंकणिसण्णे पुव्वण्हकालसमयंसि अभिइणा णक्खत्तेणं जोगमुवागएणं सुसमदूसमाए एगूणणउइए पक्खेहिं सेसेहिं कालगए वीइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥

'उसभेणमित्यादि' व्यक्तमथ छाद्मस्थ्यादिपर्यायाभिधानपुरस्सरं निर्वाणकल्याणकमाह। (उसभेण इत्यादि) ऋषभोऽर्हन् एकं वर्षसहस्रं छद्मस्थपर्यायं प्राप्य पूरयित्वेत्यर्थः । एकं पूर्वलक्षं वर्षसहस्रोनं केवलिपर्यायं प्राप्य एकं पूर्वलक्षं बहुप्रतिपूर्णं देशेनापि न्यूनमिति यावत् श्रामण्यपर्यायं प्राप्य चतुरशीतिपूर्वलक्षाणि सर्वायुः पालयित्वा उपभुज्य हेमन्तानां शीतकालमासानां मध्ये यस्तृतीयो मासः पञ्चमः पक्षो माघबहुलो माघमासकृष्णपक्षः तस्य माघबहुलस्य त्रयोदशीपक्षे त्रयोदशीदिने विभक्तिव्यत्ययः प्राकृतत्वात् दशभिरनगारसहस्रैः सार्द्धं सपरिवृत अष्टापदशैलशिखरे चतुर्दशेन भक्तेनोपवासषट्केनापानकेन पानीयाहाररहितेन संपर्यङ्कनिषण्णः सम्यक् पर्यङ्केन पद्मासनेन निषण्ण उपविष्ट न तु ईर्ष्यादिरिति भावः । पूर्वाह्णकालसमये अभिजिता नक्षत्रेण योगमुपागतेनार्थाच्चन्द्रेण सुषमदुःषमायामेकोननवत्या पक्षेषु शेषेषु अत्रापि विभक्तिव्यत्ययः पूर्ववत् प्राकृतत्वात् । सप्तम्यर्थे तृतीया कालं गतो मरणधर्मं प्राप्त व्यतिक्रान्त संसारात्। यावच्छब्दात् "समुज्जाए छिन्नजाइजरामरणबन्धणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिव्वुडे इति" संग्रहः । तत्र सम्यगपुनरावृत्त्या ऊर्ध्वलोकाग्रलक्षणं स्थानं यातः प्राप्तो न पुनः सुगतादिवदवतारी यतस्तद्वचः "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि, भवतीर्थनिकारतः ॥ १ ॥ " इति छिन्न आत्यन्तिकं बन्धनं हेतुभूतं कर्म येन स तथा । सिद्धो निष्ठितार्थः बुद्धो ज्ञाततत्त्वः । मुक्तो भवोपग्राहिकर्माशेभ्यः अन्तकृत सर्वदुःखानां परिनिर्वृतः समन्ताच्छीतीभूतः कर्मकृतसकलसन्तापविरहात् सर्वाणि शारीरादीनि दुःखानि प्रहीणानि यस्य स तथा। जं०२वक्ष०। आ० म० प्र० । स० ॥

उसभेणं अरहा कोसलिए इमीसे उसप्पिणीए ततियाए सुसमदुस्समाए समए पच्छिमे भागे एगूणणउइए अद्धमासेहिं सेसेहिं कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणोसम० ॥ २६ ॥

(२६) इदानीं निर्वाणद्वारावयवार्थाभिधित्सयाऽऽह ।

अह भगवं भवमहणो, पुव्वाण अणूणगं सयसहस्सं ।
आणुपुव्विं विहरिऊणं, पत्तो अट्ठावयं सेलं ॥ ५४ ॥
अट्ठावयम्मि सेले, चउदसभत्तेण सो महरिसीणं ।
दसहि सहस्सेहि समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ५५ ॥

गमनिका । अथ भगवान् भवमथनः पूर्वाणामन्यून शतसहस्रमानुपूर्व्या विहृत्य प्राप्तोऽष्टापदं शैलं भावार्थः सुगम एवेति गाथार्थः । अष्टापदगाहा गमनिका । अष्टापदशैले चतुर्दशभक्तेन स महर्षीणां दशभिः सहस्रैः समं निर्वाणमनुत्तरं प्राप्त अस्या अपि भावार्थः सुगम एव । नवरं चतुर्दशभक्त षड्रात्रोपवासः भगवन्तं चाष्टापदप्राप्तमपवर्गजिगमिषुं श्रुत्वा भरतो दुःखसन्तप्तमानसः पद्भ्यामेवाष्टापदं ययौ । देवा अपि भगवन्तं मोक्षजिगमिषुं ज्ञात्वाऽष्टापदशैलं दिव्यविमानानारूढाः खल्वागतवन्तः। उक्तं च। भगवति मोक्षगमनायोद्यते "जावय देवावासो, जावय अट्ठावओ नगवरिंदो । देवेहिं देवीहि य, अविरहिय सचरतेहिं" तत्र भगवान् त्रिदशनरेन्द्रैः स्तूयमानो मोक्षं गत इति गाथार्थः ॥

अथ भगवति निर्वृते यद्यत्कृत्यं तदाह ॥

जं समयं च णं उसभे अरहा कोसलिए कालगए वीइक्कंते समुज्जाए छिण्णजाइजरामरणबंधणे सिद्धे बुद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं समयं च णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो आसणे चलिए तएणं से सक्के देविंदे देवराया आसणं चलिअं पासइ पासित्ता ओहिं पउंजइ पउंजइत्ता भयवं तित्थयरं ओहिणा आभोएइ आभोएइत्ता एवं वयासी परिणिव्वुए खलु जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे उसहे अरहा कोसलिए एवं जीअमेअं तीअपच्चुप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं देवराईणं तित्थयराणं परिणिव्वाणमहिमं करेत्तए तं गच्छामि णं अहं पि भगवतो तित्थगरस्स परिणिव्वाणमहिमं करेमि तिकट्टु वंदइ णमंसइ वंदइत्ता णमंसइत्ता चउरासीईए सामाणिअसाहस्सीहिं तायतीसाए तायतीसएहिं चउहिं लोगपालेहिं जाव चउहिं चउरासीईहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहिं अ बहूहिं सोहम्मकप्पवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहिं अ सद्धिं संपरिवुडे ताए उक्किट्ठाए जाव तिरिअमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं जेणेव अट्ठावए पव्वए जेणेव भगवओ तित्थगरस्स सरीरए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता विमणे णिराणंदे अंसुपुण्णणयणे तित्थय-

रसरीरयं तिक्खुत्तो आयाहीणं पयाहीणं करेइ करेइत्ता णच्चासणे णाइदूरे सुस्सूसमाणे जाव पज्जुवासइ तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणसयसहस्साहिवई सूलपाणी वसहवाहणे सुरिंदे अयरंबरवत्थधरे जाव विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । तएणं तस्स ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो आसणे चलइ । तएणं से ईसाणे जाव देवराया आसणं चलिअं पासइ पासइत्ता ओहिं पउंजइ पउंजइत्ता भगवं तित्थगरं ओहिणा आभोएइ आभोएत्ता जहा सक्के निअगपरिवारेणं आणेअव्वा जाव पज्जुवासइ । एवं सव्वे देविंदा जाव अच्चुए णिअगपरिवारेणं आणेअव्वो एवं जाव भवणवासीणं इंदा वाणमंतराणं सोलस जोइसिआणं दोण्णि निअगपरिवारा णेअव्वा । तएणं सक्के देविंदे देवराया ते बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिए देवे एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ णंदणवणाओ सरसाइं गोसीसवरचंदणकट्ठाइं साहरइ साहरइत्ता तओ चिइगाइओ रएह एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं गणधराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं तएणं ते भवणवइ जाव वेमाणिया देवा णंदणवणाओ सरसाइं गोसीसवरचंदणकट्ठाइं साहरंति साहरंतित्ता तओ चिइगाओ रएहंति एगं भगवओ तित्थगरस्स एगं गणहराणं अवसेसाणं अणगाराणं से सक्के देविंदे देवराया आभिओगे देवे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ खीरोदगसमुद्दाओ खीरोदगं साहरत्ति तएणं ते आभिओगा देवा खीरोदगं साहरंति ।

(जं समयं चणमित्यादि) यस्मिन् समये सप्तम्यर्थे द्वितीया एव तच्छब्दध्याक्येऽपि अवधिना ज्ञानेनाभोगयति उपयुनक्ति शेष सुगममुपयुज्य एवमवादीत् किमित्याह । परिनिर्वृत्तः खलुरिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपे भारते वर्षे ऋषभोऽर्हन् कौशलिकस्तत्तस्मादेतो जीत कल्पः आचार एतद्वक्ष्यमाण वर्तते अतीतप्रत्युत्पन्नानागतानामतीतवर्तमानानागताना शक्राणामासनविशेषाधिष्ठातॄणां देवानां मध्ये इन्द्राणां परमैश्वर्ययुक्तानां देवेषु राज्ञा कान्त्यादिगुणैरधिक राजमानानां तीर्थकराणां परिनिर्वाणमहिमां कर्तुं तद्गच्छामि । णमिति प्राग्वत् अहमपि भगवतस्तीर्थकरस्य परिनिर्वाणमहिमां करोमीति कृत्वा भगवन्तं निर्वृतं वन्दते स्तुतिं करोति नमस्यति प्रणमति । यच्च जीवरहितमपि तीर्थकरशरीरमिन्द्रवन्द्य तदिन्द्रस्य सम्यग्दृष्टित्वेन नामस्थापनाद्रव्यभावार्हतां वन्दनीयत्वेन श्रद्धानादिति तत्वम् । वन्दित्वा नत्वा च किं चक्रे इत्याह (चउरासीई इत्यादि) चतुरशीत्या सामानिकानां प्रभुत्वमन्तरेण वपुर्विभवद्युतिस्थित्यादिभिः शक्रतुल्यानां सहस्रैस्त्रयस्त्रिंशता त्रयस्त्रिंशकैर्गुरुस्थानीयैर्देवैश्चतुर्भिर्लोकपालैः सोमयमवरुणकुवेरसंज्ञैः यावत्पदात् " अट्ठहिं अग्गमहिसीहिं सपरियाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं सत्तहिं अणिआहिवईहिंति " अत्र व्याख्या अग्रमहिष्योऽष्टौ पद्मा १ शिवा २ शची ३ अञ्जू ४ अमला ५ अप्सरा ६ नवमिका ७ रोहिणी ८ एताभिः षोडशसहस्रदेवदेवीपरिवारयुताभिः तिसृभिः पर्षद्भिर्बाह्यमध्याभ्यन्तररूपाभिः सप्तभिरनीकैर्हय १ गज २ रथ ३ सुभट ४ वृषभ ५ गन्धर्व ६ नाट्य ७ रूपैः सप्तभिरनीकानामधिपतिभिः चतसृभिश्चतुरशीतिभिश्चतुर्दिश प्रत्येक चतुरशीतिसहस्राङ्गरक्षकसद्भावात् षट्त्रिंशत् सहस्राधिकशतत्रयप्रमितैरङ्गरक्षकदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिः सौधर्मकल्पवासिभिर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतस्तया देवजनप्रसिद्धया उत्कृष्टया प्रशस्तविहायोगतिषूत्कृष्टतमत्वात् यावत्पदात् "तुरिआए चवलाए चंडाए जयणाए उद्धूआए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए विईवयमाणे २त्ति " अत्र व्याख्या त्वरितया मानसौत्सुक्यात् चपलया कायतः चण्डया क्रोधाविष्टयेव भीमसंवेदनात् । जवनया परमोत्कृष्टवेगत्वात् । अत्र च समयप्रसिद्धाश्चण्डादिगतयो न ग्राह्या । तासां प्रतिक्रम सख्यातयोजनप्रमाणक्षेत्रातिक्रमणात् तेनैतानि पदानि देवगतिविशेषणतया योज्यानि देवास्तु तथा भवस्वभावादचिन्त्यसामर्थ्यतोऽत्यन्तशीघ्रा एव चलन्तीति अन्यथा जिनजन्मादिषु महिमानिमित्त तत्रैव कतिपयैरत्यन्तदूरकल्पादिभ्यः सुरा कथमागच्छेयुरिति । उद्धतया उद्धूतस्य दिगन्तव्यापिनो रजस इव या गतिः सा तया अत एव निरन्तर शीघ्रत्वयोगाच्छीघ्रया दिव्यया देवोचितया देवगत्या व्यतिव्रजन् २ सम्भ्रमे द्विर्वचन तिर्यगसंख्येयानां द्वीपसमुद्राणां मध्य मध्येन मध्यभागेन यत्रैवाष्टापदः पर्वत यत्रैव भगवतस्तीर्थकरस्य शरीरकं तत्रैवोपागच्छति । अत्र सर्वत्रातीतनिर्देशे कर्त्तव्ये वर्त्तमाननिर्देशस्त्रिकालभाविष्वपि तीर्थकरेष्वेतन्न्यायप्रदर्शनार्थं इति न हि निर्हेतुका ग्रन्थकाराणां प्रवृत्तिरिति । उपागत्य च तत्र यत् करोति तदाह (उवागच्छित्ता इत्यादि) उपागत्य विमनाः शोकाकुलमना अश्रुपूर्णनयनस्तीर्थकरशरीरकं त्रि कृत्वः आदक्षिणप्रदक्षिणं करोतीति प्राग्वत् । नात्यासन्ने नातिदूरे शुश्रूषन्निव तस्मिन्नप्यवसरे भक्त्यातिशयतया भगवद्वचनश्रवणेच्छया अनिवृत्तेर्यावत् पदात् " णमंसमाणे अभिमुहे विणएण पंजलिउडे पज्जुवासइत्ति " परिग्रहः । अत्र व्याख्या नमस्यन् पञ्चाङ्गप्रणामादिना अभि भगवन्तं लक्ष्मीकृत्य मुख यस्य स तथा । विनयेनान्तरबहुमानेन प्राञ्जलीकृत इति प्राग्वत् । पर्युपास्ते सेवते इति । अथ द्वितीयेन्द्रवक्तव्यतामाह (तेणं कालेणमित्यादि) सर्वं स्पष्टं नवरम् अरजांसि निर्मलानि यान्यम्बरवस्त्राणि स्वच्छतया आकाशकल्पानि वसनानि धरतीति । यावत् करणात् " आलइअमालमउडे णव हेमचारुचित्तचचलकुंडलविलिहिज्जमाणगल्ले महिड्ढीए महज्जुईए महाबले महायसे महाणुभावे महासुक्खे भासुरबोंदीपलंबवणमालधरे ईसाणकप्पे ईसाणवडेंसए विमाणे सुहम्माए सभाए ईसाणंसि सिंहासणंसि से णं अट्ठावीसाए विमाणावाससयसाहस्सीणं असीईए सामाणिअसाहस्सीणं तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चउण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणीआणं सत्तण्हं अणीआहिवईणं चउण्हं असीईणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अण्णेसिं च ईसाणकप्पवासीणं देवाण देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणा ईसरसेणवच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयनट्टगीयवाइअ तंतीतलतालतुडिअघणमुअंगपडुपडहवाइअरवेण इति " संग्रहः । सर्वं स्पष्टं नवरम् आलिङ्गितौ यथास्थान स्थापितौ मालामुकुटौ येन स तथा । नवाभ्यामिव हेम-

मयाभ्यां चारुभ्यां चित्रकुड्याभ्यां चञ्चलाभ्यामिनस्ततश्चलद्भ्यां कुण्डलाभ्यां विलिख्यमानौ गल्लौ यस्य स तथेति (तएणमित्यादि) यथा शक्रः सौधर्मेन्द्रो निजकपरिवारेण सह तथा प्रणितव्य ईशानेन्द्र यावत्पर्युपास्ते इत्यन्त वाच्य इत्यर्थः । (एव मव्वे इत्यादि) एव शक्रन्यायेन सर्वदेवेन्द्रा वैमानिकाः अत एव यावदच्युत इत्युत्तरसूत्र सवदति । निजकपरिवारेणात्मीयात्मीयसामानिकादिपरिवारेण सहानेनव्या भगवच्छरीरान्तिक प्रापणीया ग्रन्थवाचकेनेत्यर्थः । ग्रन्थापेक्षया चेद सूत्र योजनीयमेव वैमानिकप्रकारेण यावद्भवनवासिनां दक्षिणोत्तरभवनपतीनामिन्द्रा विशतिरित्यर्थ । अत्र यावच्छब्दो न गभंगतसंग्रहसूचकः सग्राह्यपदाभावात् किं तु सजातीयभवनपतिसूचकः वानमन्तराणां व्यन्तराणां षोडशेन्द्राः कालादयः । ननु स्थानाङ्गादिषु द्वात्रिंशद्व्यन्तरेन्द्रा अभिहिताः इह तु कथ षोडश उच्यन्ते मूलभेदभूतास्तु षोडश महार्धिकाः कालादय उपात्तास्तद्देवान्तरभेदभूतास्तु षोडश अणपन्नीन्द्रादयोऽल्पर्द्धिकत्वान्नेह विवक्षिताः अस्ति ह्येषाऽपि सूत्रकृतप्रवृत्तिर्यैर्यद्यप्यन्यत्र प्रसिद्धा अपि भावाः कुतश्चिदाशयविशेषात् स्वसूत्रे सूत्रकारो न निबध्नाति यथा प्रतिवासुदेवाः अन्यत्रावश्यकनिर्युक्त्यादिषूत्तमपुरुषत्वेन प्रसिद्धा अपि चतुर्थाङ्गे चतु पञ्चाशत्तमसमवायं नोक्ताः । "भरहेरवएसु ण वासेसु एगमेगाए भस्सप्पिणीए चउवण्ण २ उप्पज्जिंसु ३ तं चउवीस तित्थयरा वारस चक्कवट्टी णव बलदेवा णव वासुदेवा" इतिपरसुपलक्षणात्तेऽपि ग्राह्याः।ज्योतिष्काणां द्वौ चन्द्रसूर्यौ जात्याश्रयणात् व्यक्त्या तु तेऽसख्याता निजकपरिवाराः सहवर्तिस्वपरिकरा नेतव्याः । ततः शक्रः किं करोतीत्याह (तएणमित्यादि) ततः शक्रो देवेन्द्रो देवराजस्तान् बहून् भवनपत्यादीन् देवानेवमवादीत् क्षिप्रमेव निर्विलम्बमेव भो ! देवानांप्रिया ! देवान् स्वस्वामिनोऽनुकूलाचरणेनानुप्रीणन्तीति देवानुप्रिया नन्दनवनात् रसानि स्निग्धानि न तु रूक्षाणि गोशीर्षं नाम्ना वरचन्दनं तस्य काष्ठानि संहरत प्रापयत संहृत्य च तिस्रश्चितिका रचयत। एकां भगवतस्तीर्थकरस्य एकां गणधराणामेकामवशेषाणामनगाराणामिति (तएणमित्यादि) स्पष्टम् । अत्रायमावश्यकवृत्त्याद्युक्तश्चितारचनविधिविभाग । नन्दनवनानीतचन्दनदारुभिर्भगवतः प्राच्यां वृत्तां चितां गणधराणामपाच्यां त्र्यस्रां शेषसाधूनां प्रतीच्यां चतुरस्रां सुराश्चक्रुरिति। नन्वावश्यकादाविक्ष्वाकूणां द्वितीया चितोक्ता इह तु गणधराणां कथमिति उच्यते । अत्र प्रधानतया गणधराणामुपादानेऽप्युपलक्षणाद् गणधरप्रभृतीनामिक्ष्वाकूणां द्वितीया चिता ज्ञेयेति न कोऽप्याशङ्का । जं० २ वक्ष० । अत्रान्तरे च देवाः सर्वे एवाग्रपदमागताश्चितिकाश्चक्रिरिति ॥ ते तिस्रश्चिता वृत्तत्र्यस्रचतुरस्राकृतीः कृतवन्त इति । एकां पूर्वेण अपरां दक्षिणेन तृतीयामपरेणेति । तत्र पूर्व्या तीर्थकृतः दक्षिणा इक्ष्वाकूणामपरा शेषाणामिति । ततोऽग्निकुमारा वदनैः खल्वग्निं प्रक्षिप्तवन्तः एत तव निबन्धनाल्लोके " अग्निमुखा वै देवा " इति प्रसिद्धम् । वायुकुमारास्तु वातमुक्तवन्त इति। मांसशोणिते च ध्मामिते सति मेघकुमारा सुरभिणा क्षीरोदजलेन निर्वापितवन्त (स कथेति) सकथा हनुमोच्यते । तत्र दक्षिणां हनुमा भगवत सवथ्निनीं शक्रो जग्राह वामामीशान अधस्त्यदक्षिणा पुनश्चमरं अधस्त्योत्तरां तु बलिः । अवशेषास्तु त्रिदशा । शेषाङ्गानि गृहीतवन्त नरेश्वरादयस्तु भस्म गृहीतवन्त । शेषा लोकास्तु तद्भस्मना पुण्ड्रकाणि चक्रु तत एव च प्रसिद्धिमप्युगतानि स्तूपानि जिनगृह चेति । भरतो भगवन्मुद्दिश्य वर्द्धकिरत्नेन योजनायाम त्रिगव्यूतोच्छ्रित सिंहनिषद्यायतनं कारितवान् निजवर्णप्रमाणयुक्ताश्चतुर्विंशतिर्जीवाजिममोक्षपरिवारयुक्तास्तीर्थकरप्रतिमास्तथा भ्रातृशतप्रतिमाः आत्मप्रतिमां च स्तूपशतं च मा कश्चिदाक्रमण करिष्यतीति तत्रैक भगवतः शेषाणामेकोनशतस्य भ्रातृणामिति । तथा लोहमयान् यन्त्रपुरुषांस्तद्द्वारपालांश्चकार दण्डरत्नेनोष्टापद च सर्वत छिन्नवान् योजने योजनेऽष्टौ पदानि कृतवान् । सगरसुतैस्तु वंशानुरागाद्यथा परिखां कृत्वा गङ्गाऽवतारिता तथा ग्रन्थान्तरतो विज्ञेयमिति । याचकास्तेनाहिताग्नयः इत्यस्य व्याख्या देवैर्भगवत्सकथादौ गृहीते सति श्रावका देवानतिशयभक्त्या याचितवन्तः देवा अपि तेषां प्रचुरत्वान्महता यत्नेन याचनाभिहता आहुः । अहो याचका इति । तत एव याचका रूढाः ततः अग्निं गृहीत्वा स्थापितवन्तस्तेन करणेनाहिताग्नयः इति तत एव च प्रसिद्धास्तेषां चाग्नीनां परस्परतः कुण्डसङ्क्रान्तावय विधिः भगवतः सम्बन्धिभूतः सर्वकालेषु सञ्चरति । इक्ष्वाकुकुण्डाग्निस्तु शेषकुण्डाग्नौ सञ्चरति । न भगवत्कुण्डाग्नावितिं शेषानगारकुण्डाग्निस्तु नान्यत्र संक्रम इति गाथार्थः । आ० म० प्र० ।

(३०) ततश्चिताऽनन्तरं शक्रः किं करोतीत्याह ।

तए णं से सक्के देविंदे देवराया तित्थगरसरीरगं खीरोदगेणं एहाणेत्ति एहणेत्तिा सरसेणं गोसीसवरचंदणेणं अणुलिंपइ अणुलिंपइत्ता हंसलक्खणं पडसाडयं णिअंसेइ णिअंसेइत्ता सव्वालंकारविभूसिअं करेंति। तए णं ते भवणवई जाव वेमाणिआ गणहरसरीरगाइं अणगारसरीरगाइं पि खीरोदगेणं एहावेंति एहावेंतित्ता सरसेणं गोसीसवरचदणेणं अणुलिंपंति अणुलिंपंतित्ता अह ताइं दिव्वाइं देवदूसजुअलाइं णिअंसंति णिअंसंतित्ता सव्वालंकारविभूसिआइं करेंति तए णं से सक्के देविंदे देवराया ते बहवे भवणवई जाव वेमाणिए देवे एव वयासी । खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ! ईहामिगउसभतुरयजाववणलयभत्तिचित्ताओ तओ सिविआओ विउव्वहइ एगं भगवओ तित्थगरस्स एग गणहराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं । तए णं बहवे भवणवई जाव वेमाणिआ तओ सिविआओ विउव्वंति एगं भगवओ तित्थगरस्स एग गणहराणं एगं अवसेसाणं अणगाराणं तए णं से सक्के देविंदे देवराया विमणे णिराणंदे अंसुपुण्णणयणे भगवओ तित्थगरस्स विणट्ठजम्मजरामरणस्स सरीरगं सीअं आरुहेइ आरुहेइत्ता चिइगाए ठवेइ तए णं ते बहवे भवणवई जाव वेमाणिआ देवा गणहराणं अणगाराणं य विणट्ठजम्मजरामरणाणं सरीरगाइं सीअं आरुहेंति आरुहेंतित्ता चिइगाए ठवेंति । तए णं से सक्के देविंदे देवराया अग्गिकुमारे देवे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! तित्थगरचिइगाए जाव अणगारचिइगाए अ अगणिकायं विउव्वहइ विउव्वहइत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह । तए णं ते अग्गिकुमारा देवा विमणा णिराणंदा अंसुपुण्णणयणा

तित्थगरचिइगाए जाव अणगारचिइगाए अ अगणिकायं विउव्वंति ॥

तएणमित्यादि स्पष्टम् क्षीरोदकसंहरणानन्तरं स शक्रः किं करोतीति दर्शयति (तएणमित्यादि) ततः शक्रस्तीर्थकरशरीरकं क्षीरोदकेन स्नपयति स्नपयित्वा गोशीर्षवरचन्दनेनानुलिम्पति अनुलिप्य हंसलक्षणो हंसविशदत्वात् शाटको वस्त्रमात्रं स च पृथुलः पट्ट इत्यभिधीयते । तं हंसनामकं पटशाटकं निवासयति परिधापयतीत्यर्थः । परिधाप्य च सर्वालङ्कारविभूषितं करोति (तएणमित्यादि) ततस्ते भवनपत्यादयो देवा गणधराणामनगाराणां च शरीराणि तथैव चक्रुः अहतान्यखण्डितानि दिव्यानि वर्याणि देवदूष्ययुगलानि निवासयन्ति शेषं व्यक्तम् (तएणमित्यादि) ततः शक्रो भवनपत्यादीनेवमवादीत् क्षिप्रमेव भो देवानुप्रियाः ! ईहामृगादिभक्तिचित्रास्तिस्रः शिविका विकुर्वत विकुर्व इति सौत्रो धातुस्तस्माद्रूपसिद्धिः शेषं स्पष्टम् । (तएणमित्यादि) ततः शक्रो भगवच्छरीरं शिविकायामारोहयति महर्द्ध्या च चितिकास्थाने नीत्वा चितिकायां स्थापयति शेषं स्पष्टम् (तएणमित्यादि) स्पष्टम् (तएणमित्यादि) ततः स शक्रोऽग्निकुमारान् शब्दापयति आमन्त्रयति शब्दापयित्वा एवमवादीत् भो अग्निकुमाराः ! देवास्तीर्थकरचितिकायां गणधरचितिकायामनगारचितिकायां चाग्निकायं विकुर्वत विकुर्वित्वा एतामाज्ञप्तिकामाज्ञां प्रत्यर्पयत । शेषं व्यक्तम् (तएणं अग्गिकुमारा देवा इत्यादि) व्याख्यानप्रायमेव (तएणं से सक्के इत्यादि) एतत् सूत्रद्वयमपि व्यक्तम् उज्ज्वालयत दीपयत तीर्थकरशरीरकं यावदनगारशरीरकाणि च ध्यामयत स्ववर्णत्याजनेन वर्णान्तरमापादयत अग्निसंस्कृतानि कुरुतेति । (तएणमित्यादि) ततः स शक्रो भवनपत्यादिदेवानेवमवादीत् भो देवानुप्रियाः ! तीर्थकरचितिकायां यावदनगारचितिकायां च अगुरु तुरुष्क सिह्लक घृत मधु च एतानि द्रव्याणि कुम्भाग्रशोऽनेककुम्भपरिमाणानि भाराग्रशोऽनेकविंशतितुलापरिमाणानि । अथवा पुरुषोत्क्षेपणीयो भारः सोऽग्रं परिमाणं येषां ते भाराग्रास्तं बहुशो भाराग्रशः संहरतेति प्राग्वत् । अथ मांसादिषु ध्यामितेषु अस्थिष्ववशिष्टेषु शक्रः किं चक्रे इत्याह "तएणमित्यादि" स्पष्टं नवरं क्षीरोदकेन क्षीरसमुद्रानीतजलेन निर्वापयत विध्मापयतेत्यर्थः । अथास्थिवक्तव्यतामाह "तएण मित्यादि" तत्राग्निनिर्वापणादनु भगवतस्तीर्थकरस्योपरितनं दक्षिणं सक्थि दाढामित्यर्थः । शक्रो गृह्णाति ऊर्ध्वलोकवासित्वात् दक्षिणश्रेणिपतित्वाच्च । बलिः दाक्षिणात्यासुरेन्द्रः सकाशाद् वी इति विशिष्टं रोचनं दीपनं दीप्तिरिति यावत् येषामस्तीति वैरोचनाः स्वार्थेऽण् उदीच्या असुरा दाक्षिणात्येभ्य उत्तराणामधिकपुण्यप्रकृतिकत्वात् तेषामिन्द्रः एव वैरोचनराजोऽपि अधस्तनं वामं सक्थि गृह्णाति अधोलोकवासित्वादुत्तरश्रेण्यधिपत्वाच्च अवशेषा भवनपतयो वत्करणात् व्यन्तरा ज्योतिष्काश्च ग्राह्या वैमानिका देवा यथार्हं यथा महर्द्धिकम् । अवशेषाणि अङ्गानि भुजाद्यस्थीनि उपाङ्गानि अङ्गसमीपवर्त्तीनि अङ्गुल्याद्यस्थीनि गृह्णातीति योगः । अथ भावः सनत्कुमाराद्यष्टाविंशतिरिन्द्रा अवशिष्टाः अष्टाविंशतिदन्तान् अन्येऽवशिष्टा इन्द्रा अङ्गोपाङ्गास्थीनीति । ननु देवानां तद्ग्रहणे क आशय इत्याह । केचिज्जिनभक्त्या जिने निर्वृते जिनसक्थि जिनवदाराध्यमिति केचिज्जीतमिति पुरातनैरिदमाचीर्णमित्यस्माभिरपीदं कर्त्तव्यमिति केऽपि धर्म्म पुण्यमिति कृत्वा । अत्र ग्रन्थान्तरप्रसिद्धोऽयमपि हेतु "पुअंति अपच्चदिअहं, अह कोइ पराभव जइ करेज्जा । तो परकाहिऊता उ, सलिद्धेण करेंति निअक्ख " १ । सौधर्म्मेन्द्रेशानेन्द्रयोः परस्परं सवैरयोस्तद्दृष्टान्तेन वैरोपशमोऽपि इत्यादिको ज्ञेयस्तथा व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिरतो विद्याधरनराश्रितान्भस्मशेषामिव गृह्णन्ति सर्वोपद्रवविद्रावणमिति कृत्वा आस्तां त्रिजगदाराध्यानां तीर्थकृतां योगभृच्चक्रवर्तिनामपि देवाः सक्थिग्रहणं कुर्वन्तीति । अथ तत्र विद्याधरादिभिरहःपूर्विकया भस्मनि गृहीते अखातायामेव गर्तायां जातायां मा भूत्तत्र पामरजनकृताशातनाप्रसङ्गः सातत्येन तीर्थप्रवृत्तिश्च भूयादिति स्तूपविधिमाह (तएणमित्यादि) सर्वं स्पष्टं नवरं सर्वात्मना रत्नमयानन्तर्बहिरपि रत्नखचितान् (महत्ति) महतोऽतिविस्तीर्णान् आलप्रत्ययः स्वार्थिकः प्राकृतप्रभवः त्रीन् चैत्यस्तूपान् चैत्याश्चित्ताह्लादकाः स्तूपाश्चैत्यस्तूपास्तान् कुरुत । चितात्रयभित्तिष्वित्यर्थः आज्ञाकरणसूत्रे ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवास्तथैव कुर्वन्ति । ननु यथाज्ञाकरणसूत्रे यावत् करणेन सूत्रकृता लाघवसूचा तथा पूर्वसूत्रेऽपि कथं न लाघवचिन्ता कृता उच्यते विचित्रत्वात् सूत्रप्रवृत्तेरिति (तएणमित्यादि) ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवास्तेषु स्तूपेषु यथोचितं तीर्थकरस्य परिनिर्वाणमहिमां कुर्वन्ति कृत्वा च यत्रैवाकाशखण्डे नन्दीश्वरवरो द्वीपस्तत्रैवोपागच्छन्ति ततः स शक्रः पौरस्त्याञ्जनकपर्व्वते अष्टाहिकामष्टानामह्नां दिवसानां समाहारोऽष्टाहं तदस्ति यस्यां महिमायां सा अष्टाहिका तां महामहिमां करोति । ततः शक्रस्य चत्वारो लोकपालाः सोमयमवरुणवैश्रमणनामानस्तत्पार्श्ववर्त्तिषु चतुर्षु दधिमुखकपर्व्वतेषु अष्टाहिकां महामहिमां कुर्व्वन्ति न चात्र नन्दीश्वरवरादिशब्दानां कोऽन्वर्थः इत्युच्यते नन्द्यापर्व्वतपुष्करिणीप्रमुखपदार्थसमुद्भूता समृद्धिः ईश्वरः स्फीतिमान्नन्दीश्वरस्य एवामनुष्यद्वीपापेक्षया बहुतरसिद्धायतनादिसमुद्भावेन वरो नन्दीश्वरवरः । तथा अञ्जनरत्नमयत्वादञ्जनास्ततः स्वार्थे कप्रत्ययः । यद्वा कृष्णवर्णत्वेनाञ्जनतुल्या इत्यञ्जनका उपमाने कप्रत्ययः । तथा दधिवदुज्ज्वलवर्णं मुखं शिखरं रजतमयत्वाद् येषां ते तथा बहुव्रीहौ कप्रत्ययः । अथेशानेन्द्रस्य नन्दीश्वरावतारवक्तव्यमाह (ईसाणेत्ति) ईशानो देवेन्द्र उत्तराहे अञ्जनके अष्टाहिका तस्य लोकपाला उत्तराहाञ्जनकस्योपरिवारकेषु चतुर्षु दधिमुखकेषु अष्टाहिका चमरश्च दाक्षिणात्याञ्जनके तस्य लोकपाला दधिमुखकपर्व्वतेषु बलीन्द्रः पाश्चात्याञ्जनके तस्य लोकपाला दधिमुखकेषु ततस्ते बहवो भवनपत्यादयो देवा अष्टाहिका महामहिमामहोत्सवभूता कुर्व्वन्तीति । बहुवचनं चात्राष्टाहिकानां सौधर्मेन्द्रादिभिः पृथक् पृथक् क्रियमाणत्वात् (करित्ता इत्यादि) अथाष्टाहिका महामहिमा कृत्वा यत्रैव लोकदेशे स्वानि स्वानि स्वसम्बन्धीनि विमानानि यत्रैव स्वानि स्वानि भवनानि चास्मप्रासादा यत्रैव स्वाः स्वाः सभा सुधर्मा यत्रैव स्वकाः स्वकाः स्वस्वसम्बन्धिनो माणवकनामानश्चैत्यस्तम्भाश्चैत्यशब्दार्थः प्राग्वत् तत्रैवोपागच्छन्ति उपागत्य च वज्रमयेषु गोलसमुद्गकेषु भाजनविशेषेषु जिनसक्थीनि प्रक्षिपन्तीति । सक्थिपदमुपलक्षणपरं तेन दशनाद्यपि यथार्हं प्रक्षिपन्तीति । अथ ज्ञाताधर्मकथाङ्गोक्तमल्लिनाथनिर्वाणवर्णनस्य तीर्थं जिनसक्थीन्यपूजन् धूपञ्जिनसक्थि च तत्र प्राक्षिपन्निति ज्ञेयं प्रक्षिप्य च अग्र्यैः प्रत्यग्रैर्वरैर्माल्यैश्च गन्धैश्चार्चयन्ति अर्चयित्वा च विपुलान् भोगोचितान् भोगान् भुञ्जाना विहरन्त्यासत इति । अत्राह परः ननु चारित्रादिगुणविकलस्य भगवच्छरीरस्य पूज-

नादिकं पूर्वमपि ममान्तर्व्रणमिव बाधते तदनु इदं जिनसक्थ्यादिपूजनं कृते क्षार इव सुतरां बाधते नैव वाऽर्द्दिः नामस्थापनाद्रव्यजिनानां भावजिनस्येव वन्दनीयत्वात्, तदा भगवच्छरीरस्य च द्रव्यजिनरूपत्वात् सक्थ्यादीनां च तदवयवत्वाद् भावजिनादभेदेन वन्दनीयत्वमेव अन्यथा गर्भतयोत्पन्नमात्रस्य भगवतः "समणे भगवं महावीरे" इत्याद्यभिलापेन सूत्रकृतां सूत्ररचना शक्राणां शक्रस्तवप्रयोगादिकं च नौचितीमवेदिति । अत एव जिनसक्थ्याद्याशातनाभीरवो हि देवास्तत्र कामसेवनादौ न प्रवर्तन्ते इति जं० २ वक्ष० ।

(३१) अथेक्ष्वाकूणां द्वितीयां चितिकां वर्णयति ॥

थूभसयभाउआणं, चउव्वीसं चेव जिणहरे कासी ।
सव्वजिणाणं पडिमा, वण्णपमाणेहिं निअएहिं ॥

स्तूपशतं भ्रातृणां भरतः कारितवानिति । तथा चतुर्विंशतिश्चैव जिनगृहे जिनायतने (कासित्ति) कृतवान् का इत्याह । सर्वजिनानां प्रतिमा वर्णप्रमाणैर्निजैरात्मीयैरिति गाथार्थः । आ० म० प्र० । श्रीऋषभदेवेन सार्द्धं यैर्दशसहस्रमुनिभिर्भक्तं प्रत्याख्यातं ते कियता कालेन सिद्धास्सन्तीति प्रश्ने ऋषभदेवेन साकं दशसहस्रमुनयोऽभिजिन्नक्षत्रे सिद्धास्सन्तीत्येतदक्षराणि वसुदेवहिण्ड्यादौ वर्तन्त इति बोध्यम् । श्रेन ४ उल्ला० ३१ प्र०। परिवेष्टनपट्टे, प्रव० २१६ द्वा० । जी० । "वइरसघयणे" लोहादिमयपट्टवत्काष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वाद्दृषभः ॥ भ० १ श० १ उ० । उत्त० । वृषभे, जी० ३ प्रति । रा० । जं० । औ० । अनु० । ज्ञा० । ओषधिभेदे, कर्णच्छिद्रे, कुम्भीरपुच्छे, मेदि० । पर्वतभेदे च धरणि० । वराहपुच्छे, हेम० । "नाभिमूलात् यदा वर्णं, उत्थितः कुरुते ध्वनिम् । वृषभस्येव निर्वाति, हेलया ऋषभः स्मृतः" इति सङ्गीतशास्त्रोक्ते स्वरभेदे, राजकर्तव्ये, वाच० कात्यायनगोत्रायाः शिल्पानाम्न्याः कन्यकायाः पितरि, तत्कथा ब्रह्मदत्तहिण्डकथां दर्शिता तत एवाऽवधार्या । उत्त० १ अ० । ऋषभकूटाधिपदेवे च । स्था० ८ ठा० ।

उसन्न-(ह) कंठ-ऋषभकण्ठ-पुं० ६ त० वृषभस्य कण्ठे, वृषभकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, रा० " उसन्नकंठाण भद्दसय " जी० ३ प्रति० ।

उसभकूड-ऋषभकूट-न० जम्बूद्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे स्वनामख्याते पर्वते, ॥

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तरभरहे वासे उसभकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते गोअमा ! गंगाकुंडस्स पच्चच्छिमेणं सिंधुकुंडस्स पुरच्छिमेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे उत्तरड्ढे भरहे वासे उसहकूडे णामं पव्वए पण्णत्ते अट्ठजोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दो जोअणाइं उव्वेहेणं मूले अट्ठजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे छ जोअणाइं विक्खंभेणं उवरिं च चत्तारि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे साइरेगाइं अट्ठारसजोअणाइं परिक्खेवेणं उवरिं साइरेगाइं दुवालसजोअणाइं परिक्खेवेणं (पाठान्तरं) मूले वारसजोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे अट्ठ जोअणाइं विक्खंभेणं उप्पिं चत्तारि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले साइरेगाइं सत्ततीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं उप्पिं साइरेगाइं वारसजोअणाइं परिक्खेवेणं मूले विच्छिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वजंबूणयामए अच्छे सण्हे जाव पडिरूवे से णं एगाए पउमवरवेइआए तहेव जाव भवणं कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठो तहेव उप्पलाणि पउमाणि जाव उसभे अ एत्थ देवे महड्ढिए जाव दाहिणेणं रायहाणी तहेव मंदरस्स पव्वयस्स जहा विजयस्स अविसेसियं ॥

क भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे ऋषभकूटो नाम्ना पर्वतः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! गङ्गाकुण्डस्य यत्र हिमवतो गङ्गा निपतति तद्गङ्गाकुण्डं तस्य पश्चिमायां यत्र तु सिन्धुर्निपतति सिन्धुकुण्डं तस्य पूर्वस्यां क्षुल्लहिमवतो वर्षधरस्य दाक्षिणात्यनितम्बे सामीप्यकसप्तम्या नितम्बासन्ने इत्यर्थः । अत्र प्रदेशे जम्बूद्वीपे द्वीपे उत्तरार्द्धभरते वर्षे ऋषभकूटो नाम्ना पर्वतः प्रज्ञप्तः अष्टयोजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन द्वे योजने उद्वेधेन भूमिप्रवेशेन उच्चत्वचतुर्थांशस्य भूम्यवगाढत्वात् अष्टानां चतुर्थांशे द्वयोरेव लाभात् । मूलमध्यान्तेषु क्रमादष्ट षट् चत्वारि योजनानि विष्कम्भेण विस्तारेण वृत्ताकृतित्वादायामेनापि समवृत्तस्यायामविष्कम्भयोस्तुल्यत्वादिति । तथा मूलमध्यान्तेषु पञ्चविंशतिरष्टादश द्वादश च योजनानि सातिरेकाणि परिक्षेपेण परिधिना । अथास्य पाठान्तरं वाचनाभेदस्तत्कृतं परिमाणान्तरमाह । मूले द्वादश योजनानि विष्कम्भेण मध्येऽष्टयोजनानि उपरि चत्वारि योजनानि विष्कम्भेण अत्रापि विष्कम्भायामतः साधिकत्रिगुणं मूलमध्यान्तपरिधिमानं सूत्रोक्तं सुबोधम् । अत्रापरः एकस्य वस्तुनो विष्कम्भादिपरिमाणे द्वैरूप्यासम्भवेन प्रस्तुतग्रन्थस्यासातिशयस्थविरप्रणीतत्वेन कथं नान्यतरनिर्णयः यदेकस्यापि ऋषभकूटपर्वतस्य मूलादावष्टादियोजनविस्तृतत्वादि पुनस्तत्रैवास्य द्वादशादियोजनविस्तृतत्वादीति सत्यं जिनभट्टारकाणां सर्वेषां क्षायिकज्ञानवतामेकमेव मतं मूलतः पश्चात्तु कालान्तरेण विस्मृत्यादिनाऽयं वाचनाभेदः ॥ यदुक्तं श्रीमलयगिरिसूरिभिर्ज्योतिष्करण्डवृत्तौ " इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत् । ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः सङ्घमेलापकोऽभवत् तद्यथा एको वलभ्यामेको मथुरायां तत्र च सूत्रार्थसङ्घटने परस्परं वाचनाभेदो जातः विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा स्मृत्वा सङ्घटने भवत्यवश्यं वाचनाभेद इत्यादि ततोऽत्रापि दुष्करोऽन्यतरनिर्णयः द्वयोः पक्षयोरुपस्थितयोरनतिशायिभिर्निर्णेतुमशक्यत्वात् अतिशायिभिर्नाभिनिविष्टमतिभिः प्रवचनाशातनाभीरुभिः पुण्यपुरुषैरिति न काचिदनुपपत्तिः । किं च सैद्धान्तिकशिरोमणिपूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीतक्षेत्रसमाससूत्रे उत्तरमतमेव दर्शितं यथा "सव्वे वि उसहकूडा, उव्विद्धा अट्ठ जोअणे हुंति । बारस अट्ठ य चउरो, मूले मज्झुवरि विच्छिण्णा ॥" । मूले विच्छिन्नं इत्यादि शेषवर्णकः प्राग्वत् । अथास्य पद्मवरवेदिकाद्याह । (से णं एगाए इत्यादि) स ऋषभकूटाद्रिरेकया पद्मवरवेदिकया तथैवेति । यथा सिद्धायतनकूटवर्णकः प्रागुक्तस्तथाऽत्रापि वक्तव्य इत्यर्थः कियत्पर्यन्त इत्याह । यावद्भगवत ऋषभाख्यदेवस्थानं स चायं "एगेण य वणसंडेण सव्वओ समंता संप-

रिक्खित्ते उसहकूडस्स णं उप्पि बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव वाणमंतरा जाव विहरंति तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे महं एगे भवणे पण्णत्ते" इति अत्र व्याख्या पूर्ववत् । भवनमान साक्षादेव सूत्रे दर्शयति । क्रोशमायामेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनक्रोशं चत्वारिंशदधिकचतुर्दशधनुः शतरूपमूर्द्धोच्चत्वेन । यद्यपि भवनायामापेक्षया किञ्चिन्न्यूनोच्छ्रायमान भवति प्रासादस्तु आयामद्विगुणोच्छ्राय इति श्रीज्ञाताधर्मकथाङ्गवृत्त्यादौ भवनप्रासादयोर्विशेषो दृश्यते तथाऽप्यत्र तयोरेकार्थकत्वं ज्ञेयम् । श्रीमलयगिरिसूरिभिः क्षेत्रसमासवृत्तौ एतेषां ऋषभकूटानामुपरि प्रत्येकमेकैकः प्रासादावतंसकः ते च प्रासादाः प्रत्येकमेकं क्रोशमायामतोऽर्द्धक्रोशं विष्कम्भतो देशोनं क्रोशमुच्चैस्त्वेनेत्यत्रोक्तं भवनतुल्यप्रमाणतया ऋषभकूटेषु प्रासादानामभिधानादिति । अथो नामान्वर्थं ऋषभकूटस्य तथैवेति यथा जीवाभिगमादौ यमकादीनां पर्वतानामुक्तस्तथाऽत्रापि औचित्येन वक्तव्यः तदभिलापसूत्रं तु उत्पलानीत्यादिना सूचितं तदनुसारेणेदं " सेकेणटेणं भंते ! एवं वुच्चइ उसहकूडपव्वए २ गोयमा ! उसहकूडपव्वए खुड्डासु खुड्डियासु वावीसु दुपुक्खरिणीसु जाव विलपंतीसु बहूइं उप्पलाइं पउमाइं जाव सहस्सपत्ताइं उसहकूडप्पभाइं उसहकूडवण्णाइं उसहकूडवण्णाभाइं इति " अत्र व्याख्या प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे ऋषभकूटपर्वते क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु पुष्करिणीषु यावद्बिलपङ्क्तिषु बहून्युत्पलानि पद्मानि यावत्सहस्रपत्राणि ऋषभकूटप्रभाणि ऋषभकूटाकाराणि ऋषभकूटवर्णानि तथा ऋषभकूटवर्णस्येव आभा प्रतिभासो येषां तानि ऋषभकूटवर्णाभानि ततस्तानि तदाकारत्वात्तद्वर्णत्वात्तद्वर्णसादृश्याच्च ऋषभकूटानीति प्रसिद्धानि तद्योगादेव पर्वतोऽपि ऋषभकूट । उभयेषामपि नाम्नामनादिकालप्रवृत्तोऽयं व्यवहार इति नेतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः एवमन्यत्रापि परिभावनीयम् । प्रकारान्तरेणापि नामनिमित्तमाह " उसभे अ एत्थ देवे " इत्यादि ऋषभश्चात्र देवो महर्द्धिकः अत्र यावत्करणात्" महज्जुईए जाव उसहकूडस्स उसहाए रायहाणीए अण्णेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव दिव्वाइं भोग भोगाइं भुंजमाणे विहरइ से एएणट्टेणं एवं वुच्चइ उसहकूडपव्वए २" इति पर्यन्त सूत्रपाठो ज्ञेयः । अत्र व्याख्या प्राग्वत् " दाहिणेण " इत्यादि राजधानी ऋषभदेवस्य ऋषभनाम्नी मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणतस्तथैव वाच्या यथा विजयादेवस्य प्रागुक्ता अविशेषितं विशेषरहित क्रियाविशेषणमेतत् । अस्याः विजयायाः राजधान्याश्च नामतोऽन्तरं तत्त्वारमन्न वण्के इति प्राय । जं० ४ वक्ष० ॥

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ उसभकूडा पण्णत्ता ॥

अथ ऋषभकूटपर्वता अष्टास्वपि विजयेषु तद्भावात् ते च षर्धरपर्वतमत्यासन्ना क्षेत्रस्यउत्तरमध्यखण्डवर्त्तिनः सर्व-विजयभरतैरावतेषु भवन्ति तत्प्रमाणं चेदम् । "सव्वे वि उसहकूडा, उव्विद्धा अट्ठ जोयणा होंति । बारस अठ य चउरो, मूले मज्झुवरि विच्छिन्ना " त्ति ॥ १ ॥

उसभ(ह)कूडदेव-ऋषभकूटदेव-पु० ऋषभकूटनिवासिनि देवे, "जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए अट्ठ उसभकूडदेवा पण्णत्ता" स्था० ८ ठा० ।

उसभ (ह) णाराय-ऋषभनाराच-न० यत्र कीलिकारहित संहननं तदृषभनाराचम् । द्वितीये संहनने, पं० सं० । क० । स्था० ।

उसभणाह-ऋषभनाथ-पु० श्रीऋषभदेवे, आ० म० प्र० ।

उसभ (ह) दत्त-ऋषभदत्त-पु० ब्राह्मणकुण्डग्रामवास्तव्ये कोडालसगोत्रे स्वनामख्याते ब्राह्मणवर्ये, आचा० २ श्रु० । आव० । कल्प० (यस्य देवानन्दानाम्न्या भार्यायाः कुक्षौ प्रथमं श्रीवीरजिनः पुत्रत्वेनोपपन्नस्ततो हरिणैगमेषिणा संहृतः त्रिशलायां सिद्धार्थनरेन्द्रमहिष्यां सजाते इति वीरशब्दे स्पष्टीभविष्यति) तस्य शेषवक्तव्यता चैवम् ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं माहणं कुंडग्गामे णामं णयरे होत्था वण्णओ बहुसालए चेइयवण्णओ तत्थ णं माहणकुंडग्गामे णयरे उसभदत्ते णामं माहणे परिवसइ । अड्ढे दित्ते वित्ते जाव अपरिभूए रिउव्वेय जउव्वेय सामवेय अथव्वणवेय जहा खंदओ जाव अण्णेसु य बहुसु य बंभण्णएसु य नएसु परिनिट्ठिए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे उवलद्धपुण्णपावे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

तेणमित्यादि सुगमम् (अड्ढेत्ति) समृद्धः (दित्तेत्ति) दीप्तस्तेजस्वी दृप्तो वा दर्पवान् । (वित्तेत्ति) प्रसिद्धो यावत्करणात् "विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणे " इत्यादि दृश्यम् ॥ भ० ९ श० ३३ उ० ॥

तस्स णं उसभदत्तस्स माहणस्स देवाणंदा णामं माहणी होत्था सुकुमालपाणिपाया जाव पियदंसणा सुरूवा समणोवासिया अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा जाव विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे परिसा पज्जुवासइ तए णं से उसभदत्ते माहणे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठ जाव हियए जेणेव देवाणंदा माहणी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता देवाणंदा माहणिं एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया समणे भगवं महावीरे आदिगरे जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं जाव सुहं सुहेणं विहरमाणे बहुसालए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं जाव विहरइ तं महप्फलं खलु देवाणुप्पिए तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग ! पुण विपुलस्स अट्ठस्स गहणयाए तं गच्छामो णं देवाणुप्पिए समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो जाव पज्जुवासामो एयं णे इह भवे परभवे य हियाए सुहाए खमाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ तए णं सा देवाणंदा माहणी उसभदत्तेणं माहणेणं एवं वुत्ता समाणी हट्ठ जाव हियया करयल जाव कट्टु उसभदत्तस्स माहणस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ ॥

(हियाएत्ति) हिताय पथ्यान्नवत् (सुहाएत्ति) सुखाय शर्मणे (खमाएत्ति) क्षमत्वाय सङ्गतत्वायेत्यर्थः (आणुगामिय-

त्ताए (त्ति) अनुगामिकत्वाय शुभानुबन्धायेत्यर्थः (हट्ट) इह यावत्करणादिदं दृश्य (हट्टतुट्ठचित्तमाणंदिया) हृष्टं तुष्टमत्यर्थं तुष्टं हृष्टं वा विस्मितं तुष्टं च तोषवच्चित्तं यत्र तत्तथा । तद्यथा भवत्येवमानन्दिता ईषन्मुखसौम्यतादिभावैः समृद्धिमुपगता ततश्च नन्दिता समृद्धतरतामुपगता (पीइमणा) प्रीतिः प्रीणनमाप्यायनं मनसि यस्याः सा प्रीतिमनाः (परमसोमनसिया) परमसौमनस्यं सुष्ठु सुमनस्कता सजाता यस्याः सा परमसौमनस्यिता (हरिसवसविसप्पमाणहियया) हर्षवशेन विसर्पद्विस्तारयायि हृदयं यस्याः सा तथा ।

तए णं से उसभदत्ते माहणे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! लहुकरणजुत्तजोइयसमखुरवालिहाणसमलिहियसिंगेहिं जंबूणयमयकलावजुत्तपरिविसिट्ठेहिं रययमयघंटसुत्तरज्जुपवरकंचणणत्थपग्गहोग्गहियएहिं णीलुप्पलकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं णाणामणिमयघंटियाजालपरिगतसुजातजुगजुत्तरज्जुयजुगपसत्थसुविरचियनिम्मियपवरलक्खणोववेयं धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह । तए णं से कोडुंबियपुरिसा उसभदत्तेणं माहणेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव हियया करयल जाव एवं सामी तहत्ता आणाए विणएणं वयणं जाव पडिसुणेत्ता खिप्पामेव लहुकरणजुत्त जाव धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्ठवेत्ता जाव तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति तए णं से उसभदत्ते माहणे ण्हाए जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढे ।

(लहुकरणजुत्तजोइए इत्यादि) लघुकरणं शीघ्रक्रियादक्षत्वं तेन युक्तौ यौगिकौ च प्रशस्तयोगवन्तौ प्रशस्तसदृशरूपत्वाद्यौ तौ तथा समाः खुराश्च प्रतीता (वालिहाणत्ति) वालिधाने च पुच्छौ ययोस्तौ तथा समानि लिखितान्युल्लिखितानि शृङ्गाणि ययोस्तौ तथा ततः कर्मधारयोऽतस्ताभ्यां लघुकरणयुक्तयौगिकसमखुरवालिधानसमलिखितशृङ्गकाभ्यां गोयुवभ्यां युक्तमेव यानप्रवरमुपस्थापयतेति सम्बन्धः । पुनः किंभूताभ्यामित्याह । जाम्बूनदमयौ सुवर्णनिर्वृत्तौ यौ कलापौ कण्ठाभरणविशेषौ ताभ्यां युक्तौ प्रतिविशिष्टकौ च प्रधानौ जवान्वितौ यौ तौ तथा ताभ्यां जाम्बूनदमयकलापयुक्तप्रतिविशिष्टकाभ्यां रजतमय्यौ रूप्यविकारे घण्टे ययोस्तौ तथा सूत्ररज्जुके कार्पासिकसूत्रदवरकमय्यौ वरकाञ्चने प्रवरसुवर्णमण्डितत्वेन प्रधानसुवर्णे ये नस्ते नासिकारज्जू तयोः प्रग्रहेण रश्मिना अवगृहीतकौ बद्धौ यौ तौ तथा ततः कर्मधारयोऽतस्ताभ्यां रजतमयघण्टसूत्ररज्जुकवरकाञ्चननस्ताप्रग्रहावगृहीतकाभ्यां नीलोत्पलैर्ज्जललजविशेषैः कृतो विहित । (आमेलत्ति) आपीडः शेखरो ययोस्तौ ताभ्यां नीलोत्पलकृतापीडकाभ्याम् (पवरगोणजुवाणएहिंति) प्रवरगोयुवभ्यां नानामणिरत्नानां सत्कं घण्टिकाप्रधानं जालं जालकं तेन परिगतं परिक्षिप्तं यत्तत्तथा सुजातं सुजातदारुमयं यद्युगं यूपस्तत्सुजातयुगं तच्च योक्त्ररज्जुकायुगञ्च योक्त्राभिधानरज्जुकायुगं सुजातयुगयोक्त्ररज्जुकायुगे ते प्रशस्ते अतिशुभे सुविरचिते सुघटिते निर्मिते निवेशिते यत्र तत् सुजातयुगयोक्त्ररज्जुकायुगप्रशस्तसुविरचितनिर्मितम् (एवमित्यादि) एवं स्वामिन् (तहत्ति) आज्ञया इत्येवं शृणुम इत्यर्थः । विनयेनाञ्जलिकरणादिना ।

तए णं सा देवाणंदा माहणी अंतो अंतेउरंसि ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता किं ते वरपादपत्तनेउरमणिमेहलाहाररइयउचियकडयखुड्डागएगावलीकंठसुत्तउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगणाणामणिरयणभूसणविराइयंगी चीणंसुयवत्थपवरपरिहिया दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जा सव्वोउयसुरभिकुसुमवरियसिरया वरचंदणवंदिया वराभरणभूसियंगी कालागुरुधूमधूविया सिरिसमाणवेसा जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा बहूहिं खुज्जाहिं चिलाइयाहिं वामणियाहिं वडहियाहिं बब्बरियाहिं बउसियाहिं ईसिगणियाहिं वारुगणियाहिं जोणियाहिं पल्हवियाहिं ल्हासियाहिं लउसियाहिं आरबीहिं दमिलाहिं सिंघलीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरंडीहिं सबरीहिं पारसीहिं णाणादेसीविदेसपरिपिंडियाहिं सदेसनेवत्थगहियवेसाहिं इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं कुसलाहिं विणीयाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरथेरकंचुइज्जमहत्तरगविंदपरिक्खित्ता जाव अंतेउराओ णिग्गच्छइ णिग्गच्छइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणप्पवरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जाव धम्मियं जाणप्पवरं दुरूढा ।

(तएणं सा देवाणंदामाहणीत्यादि) । इह च स्थाने वाचनान्तरे देवानन्दावर्णक एवं दृश्यते (अंतो अंतेउरंसि ण्हाया) अन्तर्मध्येऽन्तःपुरस्य स्नाता अनेन च कुलीनाः स्त्रियः प्रच्छन्नाः स्नान्तीति दर्शितम् । (कयबलिकम्मा) गृहदेवता प्रतीत्य (कयकोउयमंगलपायच्छित्ता) कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तान्यवश्यं कार्यत्वाद्यया सा तथा तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि मङ्गलानि सिद्धार्थकदूर्वादीनि (किं ते) किञ्चान्यत् (वरपादपत्तनेउरमणिमेहलाहाररइयउचियकडयखुड्डयएगावलीकंठसुत्तउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगनाणामणिरयणभूसणविराइयंगी) वराभ्यां पादप्राप्तनूपुराभ्यां मणिमेखलया हारेण च रचितैः रतिदैर्वा सुखदोचितैर्युक्तैः कटकैश्च (खुड्डागत्ति) अङ्गुलीयकैश्च एकावल्या च विचित्रमणिमय्या कण्ठसूत्रेण च उरःस्थेन च रूढिगम्येन ग्रैवेयकेण च प्रतीतेन उरःस्थग्रैवेयकेण वा श्रोणिसूत्रकेण च कटीसूत्रेण नानामणिरत्नानां भूषणैश्च विराजितमङ्गं शरीरं यस्याः सा तथा (चीणंसुयवत्थपवरपरिहिया) चीनांशुकं नाम वस्त्राणां मध्ये प्रवरं तत्परिहितं निवसनीकृतं यया सा तथा (दुगुल्लसुकुमालउत्तरिज्जा) दुकूलो वृक्षविशेषस्तद्वल्कलाज्जातं दुकूलं वस्त्रविशेषस्तत्सुकुमारमुत्तरीयमुपरिकायाच्छादनं यस्याः सा तथा (सव्वोउयसुरभिकुसुमवरियसिरया) सर्वर्तुकसुरभिकुसुमैर्वृत्ता वेष्टिता शिरोजा यस्याः सा तथा (वरचंदणवंदिया) वरं चन्दनं वन्दितं ललाटे निवेशितं यया सा तथा (वराभरणभूसियंगीति) व्यक्तम् । (कालागुरुधूमधूविया) इत्यपि व्य-

कम । (सिरिसमाणवेसा) श्रीर्देवता तया समाननेपथ्या इत· प्रकृतवाचनानुश्रियते (खुज्जाहिंति) कुब्जिकाभिर्वक्रज-ङ्घाभिरित्यर्थ (चिलाइयाहिंति) चिलातदेशोत्पन्नाभि या-वत्करणादिदं दृश्यम् (वामणियाहिं) ह्रस्वशरीराभि· (वड-हियाहिं) मडहकोष्ठाभि (धव्वरियाहिं पओसियाहिं इ-सिगणियाहिं थासगणियाहिं जोणियाहिं पल्हवियाहिं ल्हासि-याहिं लओसियाहिं आरबीहिं दमिलाहिं सिंहलीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सवरीहिं पारसीहिं णाणादेसी-विदेसपरिपिंडियाहिं) नानादेशीभ्यो बहुविधजनपदेभ्यो विदेशे तद्देशापेक्षया देशान्तरे परिपिण्डिता यास्तास्तथा (स-देसनेवत्थगहियवेसाहिं) स्वदेशनेपथ्यमिव गृहीतो वेषो यकाभिस्तास्तथा ताभि· (इंगियचिंतियपत्थियवियाणि-याहिं) इङ्गितेन नयनादिचेष्टया चिन्तितञ्च परेण प्रार्थित चाभिलपितं विजानन्ति यास्तास्तथा ताभि· (कुसलाहिं विणीयाहिं) युक्ता इति गम्यते (चेडियाचक्कवालवरिसध-रथेरकंचुइज्जमहत्तरयविंदपरिक्खित्ता) चेटीचक्रवालेनार्या-त्स्वदेशसम्भवेन वर्षधराणां वर्द्धितकरणेन नपुंसकीकृताना-मन्त पुरमहल्लकानाम् । (थेरकंचुइज्ज त्ति) स्थविरकञ्चुकि-नामन्त·पुरप्रयोजननिवेदकानां प्रतीहाराणां वा महत्तरकाणां चान्त पुरकार्यचिन्तकानां वृन्देन परिक्षिप्ता या सा तथा । इद च सर्वं वाचनान्तरे साक्षादेवास्ति ॥

तए णं से उसन्नदत्ते माहणे देवाणंदामाहणीए सद्धिं ध-म्मियं जाणप्पवरं दुरूढमाणे णियगपरियालसंपरिवुडे माह-णकुंडग्गामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ निग्गच्छइत्ता जेणेव बहुसालए चेइए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता छत्ताइए तित्थकराइसए पासइ पासइत्ता धम्मियं जाणप्प-वरं ठवेइ ठवेइत्ता धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिसमागच्छइ तं सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए एवं जहा बिइए सए जाव तिविहाए पज्जुवासणयाए पज्जु-वासइ । तए णं सा देवाणंदा माहणी धम्मियाओ जाण-प्पवराओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभइत्ता बहूहिं खुज्जाहिं जाव महत्तरगपरिक्खित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिसमागच्छइ तं सचित्ताणं दव्वाणं विउसर-णयाए अचित्ताणं दव्वाणं विमोयणयाए विणओणयाए गायलट्ठीए चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्ती-भावकरणेणं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेइत्ता वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता उसन्नदत्तं माहणं पुरओ व कट्टुट्ठिया चेव सपरिवारा सु-स्सूसमाणी णमंसमाणी अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासइ ॥

(सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाएत्ति) पुष्पताम्बूलादि-द्रव्याणां व्युत्सर्जनतया त्यागेनेत्यर्थ (अचित्ताणं दव्वाणं अविमोयणयाएत्ति) वस्त्रादीनामत्यागेनेत्यर्थ (मणसो एग-त्तीभावकरणेणंति) अनेकस्य सत एकतालक्षणभावकरणेन (ठियाचेवत्ति) उर्द्धस्थानस्थितैव अनुपविष्टेत्यर्थ· ।

तए णं सा देवाणंदा माहणी आगयपण्हया पप्फुयलो-यणा संवरियवलियबाहा कंचुकयपरिक्खित्तिया धाराह-तकलंबपुप्फगं पिव समुस्ससियरोमकूवा समणं भगवं म-हावीरं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी २ चिट्ठइ भंतेति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी किं णं भंते ! एसा देवाणंदा मा-हणी आगयपण्हया तं चेव जाव रोमकूवा देवाणुप्पिए अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी २ चिट्ठइ गोयमादिसमणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी एवं खलु गो-यमा ! देवाणंदा माहणी मम अम्मगा अहं णं देवाणंदाए माहणीए अत्तए तए णं सा देवाणंदा माहणी तेणं पुव्व-पुत्तसिणेहाणुरागेणं आगयपण्हया जाव समुस्ससियरोम-कूवा ममं अणिमिसाए दिट्ठीए देहमाणी २ चिट्ठइ तए णं समणे भगवं महावीरे उसन्नदत्तस्स माहणस्स देवाणंदाए माहणीए तीसय महइ महालियाए इसिपरिसाए जाव परिसापडिगया तए णं से उसन्नदत्ते माहणे समणस्स भ-गवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव णमंसित्ता एवं वयासी एयमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! जहा खंदओ जाव से जहे यं तुब्भे वदह तिकट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ ओमुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ करेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं ति-क्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव णमंसित्ता एवं वया-सी आलित्तेणं भंते ! लोए पलित्तेणं भंते ! लोए जराए म-रणेण य एवं एएणं कमेणं जहा खंदओ तहेव पव्वइए जाव सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ जाव बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठमदसम जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ पाउणइ-त्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ छेदेइत्ता जस्स ट्ठाए कीरइ नग्ग-भावे जाव तमट्ठं आराहेत्ता जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तए णं सा देवाणंदा माहणी समणस्स भगवओ महावीरस्स अं-तिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव णमंसित्ता एवं वयासी एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! एवं जहा उसन्नदत्तो तहेव जाव धम्ममाइक्खइ तए णं समणे भगवं महावीरे देवाणंदा माहणिं सयमेव पव्वावेइ पव्वावेइत्ता सयमेव अज्जचंदणाए

अज्जाए सीसिणित्ताए दलयइ तइत्ता तए णं सा अज्जचंदणा अज्जा देवाणंदा माहणिं सयमेव मुंडावेइ२त्ता सयमेव सेहावेइ२त्ता एवं जहा उसभदत्तेतहेव अज्जचंदणाए अज्जाए इमं एयाणुरूवं धम्मियं उवदेसं सम्मं पडिवज्जइ२त्ता तमाणाए तह गच्छइ २त्ता जाव संजमेणं संजमइ । तए णं सा देवाणंदा अज्जा अज्जचंदणाए अज्जाए अंतियं सामाइयमाइयाई एक्कारस अंगाई अहिज्जइ सेसं तं चेव जाव सव्वदुक्खप्पहीणा ॥ (आगयपण्हयंत्ति) आयातप्रस्नवा पुत्रस्नेहादागतस्तनदुग्धस्तन्येत्यर्थः (पप्फुयलोयणा) प्रप्लुतलोचना पुत्रदर्शनप्रवर्तितानन्दजलेन (संवरियवलयबाहा) संवृतौ हर्षातिरेकादतिस्थूरीभवन्तौ निषिद्धौ वलयैः कटकैर्बाहू भुजौ यस्याः सा तथा । (कंचुयपरिक्खित्तिया) कञ्चुको वारवाण परिक्षिप्तो विक्षिप्तो विस्तारितो हर्षातिरेकस्थूरीभूतशरीरतया यया सा तथा (धाराहयकलंबपुप्फगमिवसमुच्छवियरोमकूवा) मेघधाराभ्याहतकदम्बपुष्पमिव समुच्छ्वसितानि रोमाणि कूपेषु रोमरन्ध्रेषु यस्याः सा तथा (पेहमाणत्ति) प्रेक्षमाणा आजीवणे चात्र द्विरुक्ति (भंते त्ति) भदन्त ! इत्येवमामन्त्रणवचमाऽऽमन्त्र्येत्यर्थ गोयम ! इति) एवमामन्त्र्येत्यर्थः । अथवा गौतम इति नामोच्चारणम् (अर्थाति) आमन्त्रणार्थे निपातो हे भो इत्यादिवत् (अत्तएत्ति) आत्मजः पुत्र (पुव्वपुत्तसिणेहाणुरायणत्ति) पूर्वं प्रथमगर्भाधानकालसम्भवो य पुत्रस्नेहलक्षणोऽनुरागः स पूर्वपुत्रस्नेहानुरागस्तेन (महइमहालियाएत्ति) महती चासावतिमहती चेति महातिमहती तस्यै आलप्रत्ययश्चेह प्राकृतप्रभव (इसिपरिसाएत्ति) पश्यन्तीति ऋषयो ज्ञानिनस्तद्रूपा पर्षत्परिवार ऋषिपर्षत्तस्यै यावत्करणादेद दृश्यम्– "मुणिपरिसाए जइपरिसाए अणेगसयाए अणेगसयविंदपरिवाराए इत्यादि" तत्र मुनयो वाचयमा यतयस्तु धर्म्मक्रियासु प्रयतमाना अनेकानि शतानि यस्याः सा तथा तस्यै अनेकशतप्रमाणानि वृन्दानि परिवारो यस्याः स तथा तस्यै (तए णं सा अज्जचंदणा अज्जेत्यादि) इह च देवानन्दाया भगवता प्रव्राजनकरणेऽप यदार्यचन्दनया पुनस्तत्करण तत्तस्यैवानन्तरगतावगमकरणादिना विशेषाधानमित्यवगन्तव्यमिति (नमाणाएत्ति) तदाज्ञया आर्यचन्दनाज्ञया। भ० ए श० ३३ उ० । विपाकदशानां तृतीयश्रुत्स्कन्धविपाकोक्तसुजातकुमारस्य पूर्वभवे जीवे च । "उसुयारणयरे उसभदत्ते गाहावई" वि० ४ अ० ॥

उसभ (ह) पुर–ऋषभपुर– न० राजगृहनगरप्रस्थापकराजपूर्वजेन प्रस्थापिते पुरभेदे, "तत्थ एगो वसतो अण्णेहिं परद्धा एक्कगिरणे अत्थति न तीरति अण्णेहिं वसतेहिं पराइणेतु" आ० चू० ४ अ० । आव० । "क्षीणवास्तुनि तत्रापि,चरन्त वृषभ वने । दृष्ट्वाऽन्याजय्यमृषभ, पुर तत्र व्यधात्पुन ॥" आ० म० । आ० क० । यत्र जीवप्रादेशिकाख्या द्वितीयनिह्नवा उत्पन्नास्तस्मिन् नगरे, विश० । आ० क० । स्था० । "उसहपुरे णयरे थूभकरंडउज्जाणे" विपा० २ श्रु० २ अ० ।

उसभ (ह) पुरी–ऋषभपुरी– स्त्री०जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वेण शीतोदाया महानद्या दक्षिणत स्थे राजधानीभेदे, स्था०८ठा०

उसभ (ह) सेण–ऋषभसेन– पुं० भगवत ऋषभदेवस्य प्रथमगणधरे, "उसभसेणे नाम अरहस्स रण्णो पुत्तो सो धम्म सोऊण पव्वइओ तेण तिहिं पुव्वाई गहिताइं उप्पन्ने विगते धुवे आ०चू०१अ०। कल्प० । स०। (अस्य ऋषभशब्दे वक्तव्यतोक्ता) "आइगरपुरिमताले पव्वत्तिया उसभसेणस्स" न० ॥

उसा–उषा– स्त्री० ओषत्यन्धकारम्–उष्–क– प्रातः। दिसन्ध्यासु, "तेज परिहानिरुषा, भानैरद्धोदयं यावत्" बृहत्संहितोक्ते काले, नक्षत्रभज्ञाक्य काल उषा तेन पञ्चाशद्घटिकोत्तरमारभ्य सूर्यार्द्धोदयपर्यन्त । स काल अक्षाचलाजे उषाकाले यात्राशस्ता अन्धकारेण सन्तापकारिण्यां रात्रौ, मेदि० । वा ङी, तत. कचित् गौरादित्वाङ्ङीप् स्त्री० । गव्याम्, हेम० । स्थाल्याम्, रमानाथ० । प्रात काले, अव्य० मेदि० । अव्ययत्वात् ततो भवार्थे ट्युलतुट् च उषातन । तद्भवे, त्रि० स्त्रियां ङीप् । वाच० ॥

उसिंचित्ता–अपसिञ्चयितृ– त्रि० उपतापयितरि, "उसिणोदगवियडेण काय उसिंचित्ता भवति" उष्णोदकविकटेन काय शरीरमपसिञ्चयिता भवति । तत्र विकटग्रहणादुष्णतैलेन काञ्चिकादिना कायमुपतापयिता भवति दशा० ३ अ० ॥

उसिक्क–मुच्–धा० तुदा० सक० अनि० मुचेश्छड्डावहेडमेल्लोसिक्करे अवणिलुञ्छधंसाडा ८ । ४ । ९१ । इति मुचेरुसिक्कादेश' । उसिक्कइ मुअइ मुञ्चति । प्रा० ।

उसिक्कया–अपष्वष्क्य– अव्य० अष्वष्क्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० ।

उसिण–उष्ण–पुं०न० ऊषति दहति जन्तूनित्युष्णम् उत्त०१अ०। आहारपरिपाकादिकारणे वह्न्यादावुष्णे स्पर्शभेदे, अनु०। स्था० (उष्णानि ऽन्तः सो दवहशब्दे वक्ष्यते) उष्णयुक्ते, त्रि० अमर । उष्णस्पर्शपरिणामे, 'उसिण वेयण वेयति' उष्णां वेदनां वेदयन्ते उष्णस्पर्शपरिणामा उष्णा प्रज्ञा०८ पद० । उष्णा प्रथमादिषु उष्णस्पर्शजनिता वेदना । स्था०१० ठा० । "उसिणपरितावेहिं धिसु" आ० चू० १ अ०।

उसिणजोणिय–उष्णयोनिक–पुं० उष्णमेव योनिर्येषान्ते उष्णयोनिकाः । उष्णोत्पन्नेषु जीवेषु, । भ० ७ श० २ उ० ।

उसिणपरि (री) सह–उष्णपरि (री) षह–पुं० उष्णमेव इत्यस्यैणादिकप्रत्ययान्तस्य उष्ण निदाघादितापात्मकं तदेव परीषह । परीषहभेदे, उत्त० २ अ० । सूत्र० । तद्वक्तव्यता (परीसहप्रकरणे उक्ता)

उसिणभूय–उष्णीभूत– त्रि० अत्यन्तमधिकमौष्ण्यं प्राप्ते, "उसिणे उसिणब्भूए यावि होत्था" भ० ३ श० २ उ० । अनन्तरपि नरकगतजाड्यापगमाज्जातोत्साहे, जी०३ प्रति० १ उ० ।

उसिणोदग–उष्णोदक–न० स्वभावत एव क्वचिन्निर्झरादावुष्णपरिणामेऽप्कायभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । क्वथितोदके, "उसिणोदग तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए" द० ८ अ० । तच्च त्रिनिर्वृत्तैरुत्कलितमावृत्त यदुष्णोदकम् प्रव० १३५ द्वा० । पिं० । कल्प० ।

उसिणोदगतत्तभोइ (ण्)–उष्णोदकतप्तभोजिन्–पुं० त्रिदण्डोद्धृतोष्णोदकभोजिनि, ॥

उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो । संसग्गिअसाहुराईहिं, असमाही उ तहागयस्स वि ।१८।

(उसिणोदगेत्यादि) मुनेरुष्णोदकतप्तभोजिन. त्रिदण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिन । यदि वा उष्ण सत्र शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणम् । तथा श्रुतचारित्राख्ये धर्मे स्थितस्य (हीमतोत्ति) ह्रीरसं-

यम प्रति लज्जा तत्ततोऽसयमजुगुप्सावत इत्यर्थः । तस्यैवंभूतस्य मुने राजादिभि सार्द्धं यः संसर्गः स बन्धोऽसावसाधुरनर्थोदयहेतुत्वात्तथा गतस्यापि यथोक्तानुष्ठायिनोऽपि राजादिसंसर्गवशादसमाधिरेवापध्यानमेव स्यात् न कदाचित् स्वाध्यायादिकं भवेदिति ॥ १८ ॥

उसिणोदगवियड–उष्णोदकविकट–न० अप्रासुके त्रिदण्डोत्कृत्ते पश्चाद् वा सचित्तीभूते उष्णोदके, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०

उसिणोसिण–उष्णोष्ण– त्रि० अत्युष्णे, प्रश्न० १ द्वा० ॥

उसिय–उषित– त्रि० वस्–इट्–क्त–व्यवस्थिते, "उसिया वि इत्थिपोसेसु पुरिसा " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । वस–क्त पर्युषिते, कृतवासे, च । उष दाहे–क्त । दग्धे, मेदि० । क्षरिते, धरणि । भावे क्त । वासे, न० वाच० । आचा० २ श्रु० ।

उसि(स्सि)(ऊसि)य–उच्छ्रित–त्रि० ऊर्ध्वं नीते, ज्ञा० १ अ० । ऊर्ध्वे कृते, उत्त० २२ अ० । प्रख्याते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । उत्सृत–त्रि० प्रवृत्ततया सर्वासु दिक्षु प्रसृते, जं० प्र० १ पाहु० । विपा० । लभ्यमाने, " मुत्तजालन्तरूसियहेमजालगवक्ख " रा० ।

उसियफलिह–उच्छ्रितस्फटिक– त्रि० उच्छ्रित प्रख्यात स्फटिकवन्निर्मलं यशो यस्यासौ उच्छ्रितस्फटिक । प्रख्यातनिर्मलयशसि, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । उच्छ्रितानि स्फटिकानीव स्फटिकानि अन्तःकरणानि येषां ते तथा । शुद्धान्तःकरणेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

उसीणर–उशीनर–पु० वृष्णिवंशोद्भवे क्षत्रियभेदे, "उशीनरश्च विक्रान्तो, वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः " पौरवे नृपभेदे, "उशीनरं च धर्मज्ञं, निनिक्षुश्च महायशम् । हरिवंशे कपोतार्थे स्वशरीरमांसदानं प्रसिद्धम् वाच० । त्रिशङ्कुपुत्रे सुनायदेव्याः पतौ, ती० ।

उसीर–उ (षी) शीर–पुं० न० वश–ईरन् किच्च वीरणमूले सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । ज्ञा० । जी० । आ० म० प्र० । रा० । प्रश्न० । च० । आचा० । उत्त० । तस्य गुणा "उशीरं पाचनं शीतं, स्तम्भनं लघु तिक्तकम् । मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमदनुत्कफपित्तनुत् । तृष्णास्रविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम् । भावप्र० ।

उसु–इषु–पु० इष्यते हिंस्यते अनेन इष–उ–ह्रस्वश्च । शरे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रतोदे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । शरणफलादिसमुदाये, "अहेणं से उसू" भ० ५ श० ६ उ० । कामस्य पञ्चबाणत्वात्तदनुवृत्त्या पञ्चसंख्यान्विते वृत्तक्षेत्रान्तर्गते जीवावधिपरिधिपर्यन्तकृतसरलरेखायां च । वाच० ॥

तत्र इषोरानयनाय करणमाह ।

धणुवग्गाओ नियमा, जीवावग्गं विसोहइत्ताणं ।
सेसस्स छट्ठभागे, जं मूलं तं उसू होइ ॥

नियमादवश्यतया धनुःपृष्ठवर्गात् जीवावर्गं विशोध्यापनीय शेषस्य षड्भागे षड्भिर्भागे हृते यन्मूलमागच्छति तदिषुरिषुपरिमाणं भवति तत्र भरतक्षेत्रस्य धनुःपृष्ठवर्गः सप्तकः पञ्चको द्विकोऽष्टौ च शून्या । तस्मात् जीवावर्गे सप्तकपञ्चकषट्कोऽष्टौ शून्यानि । ७५६००००००००० तस्य षड्भिर्भागे हृते जात एककोऽष्टौ शून्यानि १०००००००० एतस्य वर्गमूलनयने लब्धानि दशसहस्राणि कलानां तासामेकोनविंशत्या भागे हृते लब्धानि योजनानां पञ्चशतानि षड्विंशत्यधिकानि षट् कलाः एतावान् भरतक्षेत्रस्येषुः । एवं सर्वेषामपि क्षेत्राणामिषव आनेतव्याः । जो० १० पाहु० ।

उसुकाल–उसुकाल–पु० देशी० उदूखले, नि० चू० १२ उ० ।

उसुग–इषुक–पु० इषु–स्थूला कन् शरप्रकारे, वाच० । इषुकाकारे, आभरणे, तिलके च । " उसुपाएपाहिं मंडेहिं नाविय अहवण विभूसेमि " पिं० ।

उसुचोइय–इषुचोदित–त्रि० शराभिघातप्रेरिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

उसुमट्टिया–इषुमृत्तिका–स्त्री० मुञ्जादिभिः सह कुट्टितमृत्तिकायाम्, "सा इसियाइपोव्वित होंति उसुमट्टिया य तम्मिस्सा । सरसव्हलोइसिगित्ति तस्सेव उवरि तस्स छल्ली सो य मुंजो दब्भो वा एते घिप्पंतत्तिकुट्टिया पुणो मट्टियाए सह कुट्टिज्जति एसा उसुमट्टिया कुसुमट्टिया वा" नि० चू० १८ उ० ।

उसुयार–इषुकार–पु० इषु करोति–कृ–अण् । बाणकारके शिल्पिभेदे, वाच० ।

अस्य निक्षेपः ।

उसुयारे निक्खेवो, चउव्विहो दुविहो होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमओ, नोआगमओ य सो तिविहो ॥९४॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य से पुणो तिविहो ।
एगभवियबद्धाओ, अभिमुहओ नामगोए य ॥९५॥
उसुयारनामगोयं, वेदेंतो भावओ य उसुयारो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, उसुयारिज्जंति अज्झयणं ॥९६॥

गाथात्रयं स्पष्टमेव नवरमिषुकाराभिलापेन नेयं तथा यदिषुकारात्समुत्थितं तत्तस्मै प्रायो हितमेव भवतीति इषुकाराय हितमिषुकारीयमुच्यते प्राधान्याच्च राज्ञो निर्देशोऽन्यथा षड्भ्योऽप्येतत्समुत्थानं तुल्यमेवेति ।

सम्प्रति कोऽयमिषुकार इति तद्वक्तव्यतामाह निर्युक्तिकृत् ।

पुव्वभवे संघडिया उ, संपीया अन्नमन्नमणुरत्ता ।
भोत्तूण भोगभोगे, निग्गंथा पव्वए समणा ॥९७॥
काऊण य सामन्नं, पउमगुम्मे विमाणे उववन्ना ।
पलिओवमाइ चउरो, ठिई उ उक्कोसया तेसिं ॥९८॥
तत्तो य चुया संता, कुरुजणवयपुरम्मि उसुयारे ।
छा वि जणा उववन्ना, चरिमसरीरा विगयमोहा ॥९९॥
राया उसुयारो य, कमलावइ देवि अग्गमहिसी से ।
भिगुनामे य पुरोहिए, वासिट्ठी भारिया तस्स ॥४००॥
उसुयारपुरे नयरे, उसुयारपुरोहिओ उ अणवच्चो ।
पुत्तस्स कए बहुसो, परितप्पंतो दुयग्गावि ॥ १ ॥
काऊण समणरूवं, तहियं देवो पुरोहिओ भणइ ।
होहिंति तुज्झ पुत्ता, दो वि जणा देवलोगचुया ॥ २ ॥
ते वि य पव्वइयव्वं, जइ य न करेह अंतरायं ते ।
ते पव्वइया संता, बोहेहिंति जणं बहुगं च ॥ ३ ॥
तं वयणं सोऊणं, नगराओ निंति ते वयग्गामं ।
वड्ढंति य ते तहियं, गाहंति य णं असब्भावं ॥ ४ ॥
एए समणा वुत्ता, पेयपिसायपोरसादा य ।
मा तेसिं अल्लियहा, मा भे पुत्ता विणासेज्जा ॥ ५ ॥

दट्ठूण तहिं समणे, जाइं पोराणियं च सरिऊण ।
बोहिं तम्मापियरो, उसुयारं रायपत्तिं च ॥ ६ ॥
समंधरा य राया, भिगू य वासिट्ठिरायपत्तिअं ।
वसणी दारगा चेव, छप्पए परिनिव्वुया ॥ ७ ॥

आसामक्षरार्थः स्पष्ट एव नवरं (संघडियत्ति) सम्यग् घटिता. परस्परं स्नेहेन संबद्धा वयस्या इति यावत् तेऽपि कदाचिद्विगलितान्तरप्रीतयोऽपि दाक्षिण्यजनलज्जास्तेस्तथा स्युरत आह । सप्रीनाः सम्यगान्तरप्रीतिभाजस्तथाऽन्योऽन्यमनुरक्ता अतिशयख्यापनफलत्वादस्यात्यन्तस्नेहभाज । अथवा (सघाडियत्ति) देशीपदमस्युत्पन्नमेव । मित्रानिवाथि प्रीतिर्वाह्यानुराग समावतः प्रतिबन्ध पठ्यते च (घडियात्ति घटिता मिलितास्तथा (भागभोगेत्ति) भोक्तुं योग्या ये भोग्या भोगास्तान् भेत्यभोगान् भोगभोगान्वाऽतिशायिनो भोगान्पाठान्तरत कामभोगान्वा (णिगयपव्वए समणत्ति) निर्ग्रन्थास्तत्कुमारास्ताः प्राव्रजन् प्रव्रज्यां गृहं तदन्तस्तत्तश्च श्रमणतपस्विनोऽपि अकृच्छ्रिति शेषः [कुयग्गाविति] देशीपद प्रक्रमात्स्युत्या द्वापि दम्पती तथा अन्तरायं विघ्न (एहेत्ति) अनयोस्तथा (णितित्ति) नियोग्याधिक्येन गच्छन्ति क व्रजग्रामं गोकुलप्रायग्राम प्रत्यन्तग्राममित्यर्थः (गाहेति मसःगायंति) आहयतो प्रसद्भावमसन्तमसुन्दर चाथ साधुप्रेतत्वादिलक्षण प्रेता भूता पिशाचा पिशाचनिकायोत्पन्ना पौरुषादाश्च प्रसनायन पुरुषसवन्धिमांसभक्षका राक्षसा इति यावत् (तेसिंति) सूत्रत्वात् तान् श्रमणान् [अभियहत्ति] आलयेनामाश्रयेनाम । किमित्यत आह मा [भे] भवन्तौ पुत्रौ विनश्येतामिति । अत्र चेषुकारमिति राज्यकाङ्क्षनासा सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्ना इति सनातयाम इति गाथैकादशावयवार्थः । भावार्थस्तु सम्प्रदायादवसेय स चायं 'जे ते दोसि गोवदारया साहु अणुकंपाए सम्मत्ता काल काऊण देवलोगे उववन्ना ते तओ देवलोगाओ चइउ खिइपइट्ठिणयरे इब्भकुले दो वि भायरा जाया । तत्थ तेसिं अन्ने वि चत्तारि इब्भदारगा वयंसया जाया तत्थ वि भोगे भुंजिऊ तहारूवाण थेराणं अंतिए धम्मं सोऊण पव्वइत्तिया सुचिरकालं संजमं अणुपालेऊण भत्तपच्चक्खाणं कालं काऊण सोहम्मे कप्पे पउमगुम्मविमाणे छा वि जणा चउपलिओवमठितिया देवा उववन्ना । तत्थ जे ते गोववज्जा देवा ते चइऊण कुरुजणवए इसुयारपुरे एगो इसुयारो णाम राया जाओ बीओ तस्सेव महादेवी कमलावती नाम संवुत्ता तइओ तस्स चेव राइणो भिगू नाम पुरोहिओ संवुत्तो चउत्थो तस्स चेव पुरोहियस्स भारिया संवुत्ता । वसिट्ठगोत्तेण जसा नाम सो य भिगू अणवच्चो गाढं तप्पए अवच्चनिमित्तं उवायणए देवयाणि पुच्छइ नेमित्तिए । ते य दो वि पुव्वभवगोवा देवभवे वट्टमाणा ओहिणा जाणिउ जहा अम्हे एयस्स भिगुस्स पुरोहियस्स पुत्ता भविस्सामो तओ समणरूव काउण उवागया भिगुसमीव भिगुणा सभारियएण य वंदिया सुहासणत्था य धम्मं कहेंति दोहिं वि सावगवयाणि गहियाणि । पुरोहिएण भणइ भगवं अम्हं अवच्चं होज्जति साहू हिं भणइ भविस्सति दुवे दारगा ते य डहरगा चेव पव्वइस्सति तेसिं तुब्भेहिं वाघातो न कायव्वो पव्वयंताण तेसु बहुजणं संबोहिस्सति भणिऊण पडिगया देवा णाइचिरेण य कालेण य तस्स पुरोहियस्स भारियाए वासिट्ठीए दुवे उदरे पच्चायाया । तओ सो पुरोहिओ सभारिओ, णयरविणिग्गओ पच्चंतगामे ठिओ वतत्थेव सा माहणी पसूया दारगा जाया ततो मा पव्वइस्सातित्ति का मायावित्तेहिं वुग्गाहिज्जंति जहा एए पव्वइयगा डिंभरूवाइं घेत्तुमारेंति पच्छा तेसिं मंसं खायंति त मा तुब्भे कयाइ एएसिं अल्लिइस्सह । अन्नया ते तम्मि गामे रमंता बाहिं निग्गया । इओ य अद्धाणपडिवन्नया साहू आगच्छंति ततो ते दारगा साहू दट्ठूण भयभीया पलायंता एगम्मि वडपायवे आरूढा साहुणो समावत्तीए गहियभत्तपाणा तम्मि चेव वडपायवस्स हिट्ठे ठिया मुहुत्तं च वीसामिऊणं भुंजिउ पयत्ता ते दारुदारा पासंति साभाविय भत्तपाणं णत्थि मंसंति । तओ चिंतिउं पयत्ता कत्थ अम्हेहिं एयारिसाणि रूवाणि दिट्ठपुव्वाणि त्ति जाइस्सरिया संबुद्धा साहुणो वंदिअ गया अम्मापिउसमीवं मायावित्त संबोहिऊण सह मायावित्तेण पव्वइया दुवी संबुद्धा देवीए गया संबोहिओ ताणि वि पव्वइयाणि । एवं ताणि छा वि केवलनाणं पाविऊण निव्वाणमुवगयाणि त्ति" । इह तु सुखोच्चार्थमभिधानं प्रसङ्गत इत्यदोषः । उक्तो नाम निष्पन्ननिक्षेपः ।

सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीय तच्चेदम् ॥

देवा भवित्ताण पुरे भवम्मि, केई चुया एगविमाणवासी ।
पुरे पुराणे उसुयारणामे, खाए समिद्धे सुरलोयरम्मे ॥ १ ॥
सकम्मसेसेण पुरा कएणं, कुलेसु दग्गेसु य ते पसूया ।
निव्विणसंसारभया जहाय, जिणिंदमग्गं सरणं पवन्ना ॥ २ ॥

देवाः सुरा भूत्वोत्पद्य पुरे (भवम्मित्ति) अनन्तरातीतजन्मनि केचित् इत्यनिर्दिष्टनामानश्च ता भूत्वा एकस्मिन् पद्मगुल्मनाम्नि विमाने वसन्तीत्येवंशीला एकविमानवासिन पुरे नगर पुराणे चिरन्तने इषुकारनाम्नि ख्याते प्रथिते समृद्धे ऋद्धिमत्यत एव सुरलोकरम्ये देवलोकवद्रमणीये ते च किं सर्वथोपभुक्तपुण्यतया उतान्यथेत्याह । स्वमात्मीय कर्म पुण्यप्रकृतिरूपं तस्य शेषमुद्वरितं स्वकर्मशेषस्तेन लक्षणे तृतीया पुराकृतेन पूर्वजन्मान्तरोपार्जितेन कुलेष्वन्त्येषु उदारेषु दग्गेषु च पूरणं त इति ये देवा भूत्वा च्युताः प्रसूता उत्पन्नाः (निव्विण त्ति) आर्षत्वाद्विनिर्विण्णा उद्विग्नाः कुत संसारभयात् यानि परित्यज्य भोगादीनिति गम्यते । किमित्याह जिनेन्द्रमार्ग तीर्थकृदुपदर्शित सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मुक्तिपथं शरणमपायरक्षाक्षममाश्रय प्रपन्ना अभ्युपगता इत्यध्ययनार्थसूचनम् ।

कथं किं रूपं सत्त्वं जिनेन्द्रमार्गं प्रतिपन्न इत्याह ।

पुमत्तमागम्म कुमारदेवी, पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती ।
विसालकित्ती य तहोसुयारो, रायत्थदेवी कमलावई य ॥ ३ ॥

पुस्त्व पुरुषत्वमागम्य प्राप्य कुमारावकृतपाणिग्रहणौ द्वौ अपि पूर्णं सुलभबोधिकत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थं चानयो पूर्वमुपादान पुरोहितस्तृतीय । तस्य जसा च नाम्ना पत्नी चतुर्थी । विशालकीर्तिश्च विस्तीर्णयशाश्च तेथेषुकारो नाम राजा पञ्चमः । अत्रैतस्मिन् भवे देवीनि प्रधानपत्नी प्रक्रमात्तस्यैव राज्ञः षष्ठमावतां च नाम्ना षष्ठ इति सूत्रत्रयार्थः । सम्प्रति यथैतेषु जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्ति कुमारयोर्जाता तथा दर्शयितुमाह ।

जाईजरामच्चुभयाभिभूए, बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता ।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा, दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥ ४ ॥
पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स, सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स
सरित्तु पोराण य तत्थ जाइं, तहा सुचिण्णं तव संजमं च ॥ ५ ॥

जातिर्जन्म जरा विश्रसा मृत्युः प्राणत्यागलक्षणस्तेभ्यो भयं साध्वसं तेनाभिभूतौ बाधितौ जातिजरामृत्युभयाभिभूतौ पाठान्तरतश्च जातिजरामृत्युभयाभिभूते सत्यर्थात्संसारे जने बहिः संसाराद्विहारः स चार्थान्मोक्षस्तस्मिन्नभिनिविष्टं बद्धाग्रहं चित्तमन्तःकरणं ययोस्तौ तथा संसारश्चक्रमिव चक्रं भ्रमणोपलक्षितत्वात्संसारचक्रं तस्य विमोक्षणार्थं परित्यागनिमित्तं दृष्ट्वा निरीक्ष्य साधूनिति शेषः यद्वा दृष्ट्वेति प्रेक्ष्य मुक्तिपरिपन्थिनोऽमी कामगुणा इति पर्यालोच्य तावनन्तरोक्तौ (कामगुणेत्ति) सुब्व्यत्ययात् कामगुणेभ्यः शब्दादिभ्यो विषयसप्तमी वा विरक्तौ पराङ्मुखीभूतौ प्रियौ वल्लभौ तौ च तौ पुत्राविव पुत्रकौ च प्रियपुत्रौ द्वावपि नैक एव इत्यपि शब्दार्थो माहनस्य ब्राह्मणस्य स्वकर्मशीलस्य यजनयाजनादिस्वक्रियानुष्ठाननिरतस्य पुरोहितस्य शान्तिकर्तुः (सुमरित्तु त्ति) स्मृत्वा (पोराणियं त्ति) सूत्रत्वात् पुराणमेव पौराणिकं चिरंतनं तत्रेति सन्निवेशे कुमारभावे वा वर्तमानाविति शेषः जातिजन्म तथा (सुचिण्णं ति) सुचीर्णं सुचरितं वा निदानादिनाऽनुपहतत्वात् तपोऽनशनादि प्राकृतत्वाद्बिन्दुलोपः संयमं च तपः संयममिति समाहारद्वन्द्वो वाऽत्र कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिरिति सूत्रद्वयार्थः ॥

ततस्तौ किमकार्ष्टामित्याह ॥

ते कामभोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा, तायं उवागम्म इमं उदाहु ॥६॥

तौ पुरोहितपुत्रौ कामभोगेषूक्तरूपेषु (असज्जमाणत्ति) असजन्तौ सङ्गमकुर्वन्तौ मानुष्यकेषु मनुजसम्बन्धिषु ये चापि दिव्या देवसम्बन्धिनः कामभोगास्तेषु चेति प्रक्रमः मोक्षाभिकाङ्क्षिणौ मुक्त्यभिलाषिणावभिजातश्रद्धावुत्पन्नतत्त्वरुची तातं पितरमुपागम्येदं वक्ष्यमाणं (उदाहुत्ति) उदाहरतां तयोर्हि साधुदर्शनानन्तरं क्व अस्माभिरित्थम्भूतानि रूपाणि पुराऽपि दृष्टानीति चिन्तयतोर्जातिस्मरणमुत्पन्नं ततो जातवैराग्यौ प्रव्रज्याभिमुखावात्मनुत्कलीकरणाय तयोश्च प्रतिबोधोत्पादनाय वक्ष्यमाणमुक्तवन्ताविति सूत्रार्थः ।

यच्च तावुक्तवन्तौ तदाह ।

असासयं दट्ठु इमं विहारं, बहुअंतरायं ण य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसी न रइं लहामो, आमंतयामो चरिसामु मोणं ॥७॥

अशाश्वतमनित्यं दृष्ट्वेमं प्रत्यक्षं विहरणं विहारं मनुष्यत्वेनावस्थानमित्यर्थः । भण्यते हि (भोगाइ भुंजमाणो विहरतीति) किमित्येवमत आह । बहवः प्रभूता अन्तराया विघ्ना व्याध्यादयो यस्य तद्बह्वन्तरायं बह्वन्तरायमपि दीर्घत्वावस्थायि स्यादित्याह । न च नैव दीर्घं दीर्घकालस्थित्यायुर्जीवितं संप्रति पल्योपमाद्युपक्रमाया अप्यभावात् यत एवं सर्वमनित्यं तस्मात् (गिहंसित्ति) गृहे वेश्मनि न रतिं धृतिं (लभामोत्ति) लभावहे प्राप्नुवः अतश्चामन्त्रयाव पृच्छाव आवां यथा चरिष्यावः आसेविष्यावहे मौनं मुनिभावं संयममिति सूत्रार्थः ।

एवं च ताभ्यामुक्ते ।

अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं, तवस्स वाघायकरं वयासी ।
इमं वयं वेयविओ वयंति, जहा ण होई असुयाण लोगो ॥८॥
अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया ।
भुत्ताण भोगे सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥९॥

अथानन्तरं तायते सन्तानं करोति पालयति च सर्वापद्भ्य इति तातः स एव तातकस्तत्र तस्मिन्नवसरे वा मुन्योर्भावतः प्रतिपन्नमुनिभावयोः तयोः कुमारयोस्तपसोऽनशनादेरुपलक्षणत्वात्तद्रूपसद्धर्मानुष्ठानस्य च व्याघातकरं बाधाविधायिवचनमिति शेषः (वयासित्ति) अवादीत् यदवादीत्तदाहेमां वाचं वेदविदो वदन्ति प्रतिपादयन्ति यथा न भवति जायते असुतानामविद्यमानपुत्राणां लोकः न विना पिण्डप्रदानाद्यभावे गत्यप्रजावात् तथा वेदवचः अनपत्यस्य लोका न सन्ति तथाऽन्यैरप्युक्तं "पुत्रेण जायते लोक" इत्येषा वैदिकी श्रुतिः । "अथ पुत्रस्य पुत्रेण, स्वर्गलोके महीयते" तथा "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च । गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति" यत एवं तस्मादधीत्य पठित्वा वेदानृग्वेदादीन् परिवेश्य भोजयित्वा विप्रान् ब्राह्मणान् तथा पुत्रान् प्रतिष्ठाप्य कन्याकलत्रग्रहणादिना गृहस्थधर्मे निवेश्य कीदृश एतान् गृहे जातांश्च तु गृहीतप्रतिपन्नकादीन्यद्वाऽन्तरं च पुत्रान्परिष्ठाप्य स्वामित्वे निवेश्य गृहे [जायांत्ति] गृहे जातौ पुत्रौ भुक्त्वा णमिति वाक्यालङ्कारे भोगान् शब्दादीन् सह स्त्रीभिर्नारीभिस्ततोऽरण्ये भवौ आरण्यौ "आरण्याण्णो वक्तव्य इति ण प्रत्ययः" आरण्यावेवारण्यकावारण्यकव्रतधारिणौ [होहित्ति] भवतं सपद्येथां युवां मुनी तपस्विनौ प्रशस्तौ श्लाघ्याविव्थमेव ब्रह्मचर्याद्याश्रमव्यवस्थानादुक्तं हि "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च, वानप्रस्थो यतिस्तथेति" इह चाधीत्य वेदानित्यनेन ब्रह्मचर्याश्रम उक्तः परिवेश्येत्यादिना च गृहाश्रमः आरण्यकावित्यनेन च वानप्रस्थाश्रमः मुनिग्रहणेन च यत्याश्रम इति सूत्रद्वयार्थः ।

इत्थं तेनोक्तौ कुमारकौ यदकार्ष्टां तदाह ॥

सोयग्गिणा आयगुणिंधणेणं, मोहाणिला पज्जलणाहिएणं ।
संतत्तभावं परितप्पमाणं, लोलुप्पमाणं बहुहा बहुं च ॥१०॥
पुरोहियं तं कमसोऽणुणंतं, णिमंतयंतं च सुए धणेणं ।
जहक्कमं कामगुणेहि चेव, कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं ॥११॥

वेया अहीया ण हवंति ताणं,
भुत्ता दिया णिंति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता ण हवंति ताणं,
को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥ १२ ॥

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पकामदुक्खा अणिकामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥ १३ ॥

परिव्वयंते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे, पप्पोति मच्चुं पुरिसो जरं च ॥१४॥
इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥१५॥

सुतवियोगसंभावनाजनितमनोदुःखमिह शोकः स चाग्निरिव शोकाग्निस्तेन आत्मनो गुणा आत्मगुणाः कर्मक्षयोपशमादसमुद्भूताः सम्यग्दर्शनादयस्ते इन्धनं दाह्यतया यस्य स तथा तेनानादिकालसहचरितत्वेन रागादयो वात्मगुणास्ते इन्धनमुद्दीपकतया यस्य स तथा तेन । मोहो मूढता अज्ञानमिति यावत् सोऽनिल इव मोहानिलस्तस्मादधिकं महानगरदाहादिभ्योऽप्यनल्पं प्रज्वलनेन प्रकर्षेण दीपनमस्येति अधिकप्रज्वलनो यद्वा प्रज्वलने-

नाथिक इतरग्रन्थपेक्षया यस्तेन पूर्वत्र प्राकृतत्वादाधिकशब्दस्य परनिपातस्तथा समिति समन्तात्तप्त इव ततोऽनिर्वृत्तत्वेन भावोऽन्तःकरणमस्येति सन्तप्तभावस्तमत एव च परितप्यमानं समन्ताद्दह्यमानमर्थाच्छरीरे तद्दाहस्यापि शोकावेशत उत्पत्तेर्लोलुप्यमानं तद्वियोगशङ्कावशोत्पन्नदुःखपरशुभिरतिशयेन हृदि छिद्यमानम् । वृद्धास्तु व्याचक्षते [लोलुप्पमाणेति] लोलुप्यमानं " भरणपोसणकुन्नसंताणखु य तुम्ह नविस्सइत्ति " बहुधा अनेकप्रकारं बहु च प्रभूतं यथा भवत्येवं लोलुप्यमानं चेति संबन्धः । पुरोहितं पुरो वसन्तमिति प्रक्रान्तं (कमसोत्ति) क्रमेण परिपाट्या तु नयन्तः स्वाभिप्रायेण प्रज्ञापयन्तं निमन्त्रयन्तं च भोगैरुपच्छन्दयन्तं सुतौ पुत्रौ धनेन द्रव्येण यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण कामगुणैरभिलषणीयशब्दादिविषयैः पाठान्तरतः कामगुणेषु वा चः समुच्चये एवेति पूरणे कुमारकौ तावनन्तरप्रक्रान्तौ प्रसमीक्ष्य प्रकर्षेण ज्ञानाच्छादितमतिमालोच्य वाक्यं वक्ष्यमाणमुक्तवन्ताविति गम्यते । किं तदित्याह । वेदा ऋग्वेदादयोऽधीताः पठिता न भवन्ति जायन्ते त्राणं शरणं तदध्ययनमात्रतो दुर्गतिपतनरक्षणासिद्धेः । उक्तं हि तैरपि " अकारणमधीयानो, ब्राह्मणस्तु युधिष्ठिर! । दुष्कुलेनाप्यधीयन्ते, शीलं तु मम रोचते " तथा " शिल्पमध्ययनं नाम, वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम् । वृत्तस्थं ब्राह्मणं प्राहु-र्नेतरान् वेदजीवकान् " तथा (भुज्जुत्ति) अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद्भोजिता द्विजा ब्राह्मणा नयन्ति प्रापयन्ति तमो रूपत्वात्तमो नरकस्तमसा ज्ञानेन यद्वा तमसोऽपि यत्तमस्तस्मिन्नतिरौद्ररौरवादिनरके णमिति वाक्यालङ्कारे ते हि भोजिताः कुमार्गप्ररूपणपशुवधादावेव कर्मोपचयनिबन्धने असद्व्यापारे प्रवर्तन्त इति तत्प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरकगतिहेतुत्वमेवानेन च तेषां निस्तारकत्वं दूरापास्तमित्यर्थादुक्तम् । तथा जाताश्चोत्पन्ना पुत्राः सुता न भवन्ति त्राणं शरणं नरकादिकुगतौ निपततामिति गम्यते । उक्तं हि तन्मतानुसारिभिरपि "यदि पुत्राद्भवेत्स्वर्गो, दानधर्मो न विद्यते । मुषितस्तत्र लोकोऽयं, दानधर्मो, निरर्थकः । बहुपुत्रा दुली गोधा, ताम्रचूडस्तथैव च । तेषां च प्रथमं स्वर्गं, पश्चाल्लोको गमिष्यति " यतश्चैवं ततः को नाम न कश्चित्सभाव्यते यस्ते तव अनुमन्येत शोभनमिदमित्यनुजानीयात्स विवेक इति गम्यते । एतदनन्तरमुक्तं वेदाध्ययनादित्रितयमिति भुक्त्वा भोगानिति चतुर्थोपदेशप्रतिवचनमाह । क्षणमात्रं सौख्यं येषु ते तथा बहुकालं नरकादिषु दुःखं शारीरं मानसं च येभ्यस्ते तथाविधाः कदाचित् स्वल्पकालमपि सुखमनिशायि स्यात् दुःखं त्वन्यथेति स्वल्पकालमपि तद्बहुकालभाविनोऽपि दुःखस्योपहन्तृ स्यादत आह । प्रकाममतिशयेन दुःखं येभ्यस्ते तथा अनिकामसौख्या अप्रकृष्टसुखाः । ईदृशोऽप्यायतौ शुभफलाः स्युरत आह । संसारमोक्षो विश्लेषः संसारमोक्षो निर्वृतिरित्यर्थः तस्य विपक्षभूतास्तत्प्रतिबन्धकतयाऽत्यन्तप्रतिकूलाः किमित्येवंविधास्त इत्याह । खानिरिव खनिराकरोऽनर्थानामिहपरलोकदुःखावाप्तिरूपाणां तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च ततः खानिरेव क एवंविधाः कामभोगा उक्तरूपाः । अनर्थखानित्वमेव स्पष्टयितुमाह । परिव्रजन् विषयसुखप्राप्त्यर्थमितस्ततो भ्राम्यन् न निवृत्तकामोऽनुपरतेच्छः सन् (अहो य रायत्ति) आर्षत्वाच्चस्य च भिन्नक्रमत्वादह्नि रात्रौ च अहर्निशमिति यावत् परितप्यमानस्तत्प्राप्तौ समन्ताच्चिन्ताग्निना दह्यमानः अन्ये सुहृदः स्वजनादयोऽथवाऽन्नं भोजनं तदर्थं प्रमत्तस्तत्कल्पनया अन्यप्रमत्तः अन्नप्रमत्तो वा धनं वित्तम् (एसमाणित्ति) एषयन् विविधोपायैर्गवेषयमाणः [पप्पोतित्ति] प्राप्नोति मृत्युं प्राणत्यागं कोऽसौ पुरुषो जरां च वयोहानिलक्षणां किं च इदं च मे मम अस्ति रजतरूप्यादि इदं च नास्ति पद्मरागादि इदं च मे मम कृत्यं कर्तव्यं गृहप्राकारादि इदमकृत्यं प्रारब्धमपि वणिजादिना न कर्तुमुचितं तमिति पुरुषमेवमेव वृथैव लोलुप्यमानमत्यर्थं व्यक्तवाचा वदन्ति हरन्त्यपनयन्ति आयुरिति हरादिः रजन्यादयो व्याधिविशेषा वा हरन्ति जन्मान्तरं नयन्ति उपसंहर्तुमाह । इतीत्यस्माद्धेतोः कथं केन प्रकारेण प्रमादो उद्यमः प्रक्रमाद्धर्मे कर्तुमुचित इति शेष इति सूत्रपदकार्थः ।

संप्रति तौ धनादिलोभयितुं पुरोहित आह ।

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं, सयणा तहा कामगुणा पकामा ।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो, तं सव्वसाहीणमिहेव तुब्भं ॥ १६ ॥

धनं द्रव्यं प्रभूतं प्रचुरं सह स्त्रीभिः समं नारीभिः स्वजनाः पितृपितृव्यादयः तथा कामगुणाः शब्दादयः [पगामत्ति] प्रकामा अतिशायिनस्तपः कष्टानुष्ठानं कृते निमित्तं तप्यते अनुतिष्ठति यस्य धनादेर्लोको जनस्तत्सर्वमशेषं स्वाधीनमात्मायत्तमिहैवास्मिन्नेव गृहे [तुब्भत्ति] सूत्रत्वाद्युवयोर्यद्यपि तयोः स्त्रियस्तदा न सन्ति तथाऽपि तद्वाप्तियोग्यताऽस्तीति तासामभिधानमिति सूत्रार्थः ।

तत्र हेतु ।

धणेण किं धम्मधुराहिगारे,
सयणेहिं वा कामगुणेहि चेव ।
समणा भविस्साम गुणोघधारी,
बहिं विहारा अभिगम्म भिक्खू ॥ १७ ॥

धनेन द्रव्येण किं न किञ्चिदपीत्यर्थः । धर्मे एवातिसात्विकैरुह्यमानतया धूरिव धूर्धर्मधुरा तदधिकारे तत्प्रस्तावे स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव तथा च वेदेऽप्युक्तम् । " न प्रजया न धनेन न त्यागेनैके नामृतत्वमानशु " रित्यादि ततः श्रमणौ तपस्विनौ भविष्यावो गुणौघं सम्यग्दर्शनादिगुणसमूहं धारयतः इत्येवंशीलौ गुणौघधारिणौ बहिर्ग्रामनगरादिभ्यो बहिर्वर्तित्वाद् द्रव्यतो भावतश्च क्वचिदप्यप्रतिबद्धत्वात् विहारो विहरणं ययोस्तौ बहिर्विहारावप्रतिबद्धविहाराविति यावत् अभिगम्याश्रित्य भिक्षां शुद्धोञ्छतामश्नाहारयन्ताविति भाव इति सूत्रार्थः । आत्माऽस्तित्वमूलत्वात्सकलधर्मानुष्ठानस्येति तन्निराकरणायाह पुरोहितः ।

जहा य अग्गी अरणी असंतो, खीरे घयं तिल्लमहा तिलेसु ।
एमेव जाया सरीरम्मि सत्ता, समुच्छई णासइ णावचिट्ठे ॥ १८ ॥

यथेत्यौपम्ये चशब्दोऽवधारणे यथैवाग्निर्वैश्वानरो [अरणीति] अरणितोऽग्निमन्थनकाष्ठादसन्नविद्यमान एव संमूर्छतीति तथा क्षीरे घृतं तैलमथ तिलेषु एवमेव हे जातौ पुत्रौ [सरीरम्मित्ति] शरीरे काये सत्त्वाः प्राणिनः [संमुच्छइत्ति] समूर्छयन्ति पूर्वमसत एव शरीराकारपरिणतभूतसमुदायत उत्पद्यन्ते तथा चाहुः पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि एतेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवत् तथा [णासइत्ति] नश्यन्त्यभ्रपटलवत्प्रलयमुपयान्ति [नावचिट्ठित्ति] न पुनरवतिष्ठन्ते शरीरनाशे मति क्षणमप्यवस्थितिभाजो भवन्ति । यद्वा शरीरे सत्यप्यमी सत्त्वा न सन्ति नावतिष्ठन्ते जलबुद्बुदवज्जीव अत्र च प्रत्यक्षतोऽनुपलम्भ एव प्रमाणं न ह्यमी शरीरे शरीरव्यतिरिक्तो वा भवान्तर-

त्मनो भ्रमवशाद् उपलभ्यत इति नास्ति तत्तिरोधानादिति भाव इति सूत्रार्थः । कुमारकावाहतुः ।

णो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं नियतस्स बंधो,
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १९ ॥

नो इति निषेधे इन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्ग्राह्य इन्द्रियग्राह्यः प्रस्तुतत्वादात्मा अमूर्त्तभावात् । अमूर्त्तत्वादिन्द्रियग्राह्यत्वाभावादिति । न चेन्द्रियाग्राह्यत्वमात्रेणैवास्याभावः ... अमूर्त्तभावादपि च भवति नित्यः ... यथा आकाशम् ... अध्यात्महेतुं नियतस्य बंधो ... संसारहेतुं च वदन्ति बन्धम् ... इति सूत्रार्थः । यत एवमस्यात्मनो नित्यत्वं बन्धश्च भवान्तरयायी तस्य च बन्धो बन्धादेव मोक्ष इत्यतः ।

जहा वयं धम्ममजाणमाणा, पावं पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुज्झमाणा परिरक्खयंता, तं नेव भुज्जो वि समायरामो ॥ २० ॥

यथा येन प्रकारेण वयं धर्मं सम्यग्दर्शनादिकमजानाना अनवबुध्यमानाः पापं पापहेतुं पुरा पूर्वं कर्म क्रियाम् [अकासित्ति] अकार्ष्म कृतवन्तो मोहादज्ञानरूपादवरुध्यमाना गृहान्निर्गममलभमाना परिरक्ष्यमाणा अनुजीविभिरनुपाल्यमाना [तमिति] पापकर्म [नेवत्ति] नैव भूयोऽपि पुनरपि समाचरामोऽनुतिष्ठामो यत सम्यगुपलब्धमेवास्माभिर्यथावस्थितं तत्त्वमिति भावः । सर्वत्र च । अस्मदो द्वयोश्च १ । २ । ५९ इति द्वित्वेऽपि बहुवचनमिति सूत्रार्थः ॥

अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए ।
अमोहाहिं पडंतीहिं, गिहंसि न रइं लभे ॥ २१ ॥

अभ्याहते आभिमुख्येन पीडिते लोके जने सर्वतः सर्वासु दिक्षु परिवारिते परिवेष्टितेऽमोघाभिरव्यर्थप्रहरणोपमाभिः पतन्तीभिरागच्छन्तीभिः [गिहंसित्ति] गृहे तस्य चोपलक्षणत्वाद् गृहवासे न रतिमासक्तिं लभामि लभे वा । यथा हि वागुरया परिवेष्टितो मृगोऽमोघैः प्रहरणैश्चाभिताड्यमानो न रतिं लभेत एवमहमपीति सूत्रार्थः ।

भृगुराह ।

केण अब्भाहओ लोगो, केण वा परिवारिओ ।
का वा अमोहा वुत्ता, जाया चिंतावरो हुमि ॥ २२ ॥

केन व्याधतुल्येनाभ्याहतो लोकः केन वा वागुरास्थानीयेन परिवारितः । का वा अमोघा अमोघप्रहरणोपमा अभ्याहतिं प्रति कारणमुक्ता । जातौ ! पुत्रौ ! चिन्तापरः [हुमित्ति] भवामि ततो ममाख्यातामयमर्थ इति भाव इति सूत्रार्थः ।

तावाहतुः ।

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय वियाणह ॥ २३ ॥

मृत्युनाभ्याहतो लोको मरणेनास्य तदभिमुखत्वात् जरया परिवारितः सत्यस्य तदभिघातयोग्यतापादनपटीयस्त्वात् (अमोघा यत्ति) रजन्य उक्ता दिवसाविनाभावित्वात् तासां दिवसाश्च तत्पतने अवश्यंभावी जनस्याभिघात एवं तात ! विजानीतावगच्छतेति सूत्रार्थः । किं च ।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥ २४ ॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥ २५ ॥

या या (वच्चइत्ति) व्रजति रजनी रात्रिरुपलक्षणत्वाद्दिनं च न सा प्रतिनिवर्तते पुनरागच्छति तदागमने हि यदेव हि एका जन्मरात्रिः स्यात्ततो न द्वितीया मरणरात्रिः पश्चाद्भिमाद्व स्यात् ... अधर्मं कुर्वतो जन्तोरिति गम्यते अफला यान्ति रात्रयोऽधर्मं निबन्धनं च गृहस्थतेत्यायुषोऽनित्यत्वादधर्मकरणे तस्य निष्फलत्वात्तत्परित्याग एव श्रेयानिति भावः । इत्थं व्यतिरेकद्वारेण प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुमभिधाय तमेवान्वयद्वारेणाह । (जा जेत्यादि) पूर्ववत् नवरं (धम्मं चत्ति) चशब्दः पुनरर्थे धर्मं पुनः कुर्वतः सफला धर्मलक्षणफलोपार्जनतो न च व्रतप्रतिपत्तिं विना धर्मं इत्यतो व्रतं प्रतिपत्स्यावहे इत्यभिप्राय इति सूत्रद्वयार्थः ।

इत्थं कुमारवचनाद्‌भाविर्भूतसम्यक्त्वस्तद्वचनमेव पुरस्कुर्वन् भृगुराह ॥

एगओ संवसित्ताण, दुहओ सम्मत्तसंजुया ।
पच्छा जाया गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले ॥ २६ ॥

एकत एकस्मिन् स्थाने सहैव संवसित्वा (दुहउत्ति) द्वय

च द्वय च द्वये आवां युवां च व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं पुरुषप्राधान्याच्च पुंल्लिङ्गता सम्यक्त्वेन संयुताः सहिता उपलक्षणत्वाद्देशविरत्या च पश्चाद्यौवनावस्थोत्तरकाल काऽर्थ पश्चिमे वयसि जातौ ! पुत्रौ ! गमिष्यामो भजिष्यामो वय ग्रामनगरादिषु मासकल्पेन क्रमेणेति शेषोऽर्थाच्च प्रव्रज्यां प्रतिपद्य भिक्षमाणा याचमाना. पिण्डादिकमिति गम्यते क्व कुले कुले गृहे गृहे न त्वेकस्मिन्नेव वेश्मनि । किमुक्त भवत्यज्ञातोञ्छवृत्त्येति सूत्रार्थः ।

कुमारावाहतु ।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं ।
जो जाणइ न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥२७॥
अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो,
जहिं पवन्ना ण पुणब्भवामो ।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि,
सद्धाखमं नो विणइत्तु रागं ॥ २८ ॥

यस्येत्यनिर्दिष्टस्वरूपस्यास्ति विद्यते मृत्युना कृतान्तेन सख्यं मित्रत्वं, यस्य चास्ति पलायन मृत्योरिति प्रक्रमः । तथा यो (जाणत्ति] जानीते यथाऽहं न मरिष्यामि [सो हु कखेसुएसियत्ति] स एव काङ्क्षति प्रार्थयते श्व आगामिनि दिने स्यादिदमिति गम्यते न च कस्यचित् मृत्युना सह सख्यं ततो वा पलायन तदभावज्ञानं वा अतोऽद्यैव धर्मं प्रक्रमाद्यतिधर्म [पडिवज्जयामोत्ति] प्रतिपद्यामहे । तमेव फलोपदर्शनद्वारेण विशिनष्टि [जहेत्ति] आर्षत्वाद्य धर्मं प्रपन्ना आश्रिताः [न पुणब्भवामोत्ति] न पुनर्भविष्यामो न पुनर्जन्मानुभविष्यामस्तन्निबन्धनभूतकर्मापगमाज्जरामरणाद्यभावोपलक्षण चैतत् कथमनागतमप्राप्तमेव चास्ति किञ्चिदतिमनोरममपि विषयसौख्याद्यनादौ संसारे सर्वस्य प्राप्तपूर्वत्वात्ततो न तदर्थमपि गृहावस्थान युक्तमिति भावः । यद्वा ऽनागतमागतविरहित नैव चास्ति किंचित् किं तु सर्वमागतमेव जरामरणादिव्यसनजातं ध्रुव भावित्वादस्य अवस्थानम् । यद्वा अनागत यत्र मृत्योरागतिर्नास्ति तत्र किंचित् स्थानमस्ति यतश्चैवमतः श्रद्धाऽभिलाषः क्षमयुक्तमिह होकपरलोकयोः श्रेय प्राप्तिनिमित्तमनुष्ठान कर्तुमिति शेषः [णोइनि] नो अस्माक विनयोपसाहाय्यक राग स्वजनाभिष्वङ्गलक्षण तत्त्वतो हि कः कस्य स्वजनो न वा स्वजन इति । उक्तं च । " अयण भंते जीवस्स सामाइत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए भज्जत्ताए स हि सयणमवधसमुयत्ताए उववन्नपुव्वे हता गोयमा ! असतिं अदुवा अणतखुत्तोत्ति " सूत्रद्वयार्थ । ततस्तयोर्वचनमाकर्ण्य पुरोहित उत्पन्नव्रतग्रहणपरिणामो ब्राह्मणीं धर्मविघ्नकारिणीं मत्वेदमाह ॥

पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो,
वासिट्ठि भिक्खायरियाए कालो ।
साहाहि रुक्खो लभई समाहिं,
छिन्नाहि साहाहिं तमेव खाणुं ॥ २९ ॥
पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी,
भिच्चविहीणो व्व रणे नरिंदो ।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोते,
पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि ॥ ३० ॥

प्रहीणौ प्रभ्रष्टौ पुत्रौ यस्मात्स प्रहीणपुत्र । अथवा प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वात्पुत्राभ्यां प्रहीणस्तस्य पुत्रप्रहीणस्तस्य हु पूरणे नास्ति न विद्यते वासोऽवस्थान मम गृह इति गम्यते वाशिष्ठि ! वशिष्ठगोत्रोद्भवे । गौरवख्यापनार्थं गोत्राभिधान तत्र कथ नु नाम धर्माभिमुख्यमस्याः स्यादिति भिक्षाचर्याया भिक्षाटनस्योपलक्षणं चैतद्व्रतग्रहणस्य कालः प्रस्तावो वर्तत इति शेषः । किमित्येवमत आह । शाखाभि प्रतीताभिर्वृक्षो द्रुमो लभते प्राप्नोति समाधिं स्वास्थ्य छिन्नाभिर्द्विधाकृताभिः शाखाभिस्तमेव वृक्षं यस्ताभिः समाधिमवाप्नवान् [खाणु ति] स्थाणुं जनो व्यपदिशतीति उपस्कारः । यथा हि तास्तस्य शोभासंरक्षणसहायकृत्यकरणादिना समाधिहेतव एव ममाप्येतौ सुतावतस्ताद्विरहितोऽहमपि स्थाणुकल्प एवेति किं ममैवंविधस्य स्वपरयोः किञ्चिदुपकारकमनवसुतमेव गृहवासेनेत्यभिप्रायः । किं च पक्षाभ्यां पतत्राभ्यां विहीनो विरहितः पक्षविहीनो वा दृष्टान्तान्तरसमुच्चये यथेहास्मिन् लोके पक्षी विहङ्गमः पलायितुमप्यशक्त इति मार्जारादिभिरभिभूयते यथा भृत्याः पदातयस्तद्विहीनो वा प्राग्वद्रणे सङ्ग्रामे नरेन्द्रो राजा शत्रुजनपराजयस्थानमेव जायते यथा विपन्नो विनष्टसारो हिरण्यरत्नादिरस्येति विपन्नसारो वणिक् सांयात्रिको वेति प्राग्वत् पोते प्रवहणे भिन्न इति गम्यते नार्वाग् न च परत स्तत्समुद्रमध्यवर्ती विषीदति पुत्रप्रहीणोऽस्मि तथा अहमपि कोऽर्थः पक्षनृत्यार्थसहायसुताभ्यां विरहितोऽहमप्येवंविध एवेति सूत्रद्वयार्थः ॥

वाशिष्ठयाह ।

सुसंहिता कामगुणा इमेते, संपिंडया अग्गरसा पभूया ।
भुंजामु ता कामगुणे पकामं, पच्छा गमिस्सामो पहाणमग्गं ॥

सु अतिशयेन सम्भृताः संस्कृता सुसम्भृता. के ते कामगुणा वेणुवीणाकलितकाकलीगीतादय इमे इति स्वगृहवर्तिनस्ताप्रत्यक्षतया निर्दिशति ते तत्र तथा संपिण्डिता सम्यक् पुञ्जीकृता. (अग्गरसात्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वात् अग्रा रसाश्च प्रधाना मधुरादयश्च प्रभूता प्रचुराः कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसनापृथगुपादानमतिगृद्धिहेतुत्वाच्छब्दादिष्वपि चैषामेव प्रवर्तकत्वात् । कामगुणविशेषण वा अग्रा रसास्त एव शब्दादयो वा येषु न तथा । वृद्धास्त्वाहु रसानां सुखानामग्ररसाग्रे कामगुणा सूत्रे च प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्वनिपात (भोजामोत्ति) भुञ्जीमहि तत्तस्माद्यस्मादमी सुसम्भृतादिविशेषणविशिष्टा स्वाधीनाः सन्ति कामगुणाननुरूपान प्रकाममतिशयेन ततो भुक्तभोगौ पश्चादिति वृद्धावस्थायां गमिष्याव प्रति तत्पार्श्वे प्रधानमार्गमहापुरुषसेवित प्रव्रज्यारूप मुक्तिपथमिति सूत्रार्थः ।

पुरोहित आह ।

भुत्ता रसा भोइ जहाति णेवओ,
ण जीवियट्ठा पयहामि भोए ।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं,
संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं ॥

भुक्ताः सेविता रसा मधुरादय उपलक्षणत्वाच्छेषकामगुणाश्च यद्वा रसा इह सामान्येनैवास्वाद्यमानत्वाद्भोगा भण्यन्ते । (भोइत्ति) हे भवति ! आमन्त्रणवचनमेतत् जहाति त्यजति न इत्यस्मान् वय शरीरावस्था कालकृतोऽयते सा वेदामिमन्तक्रियाकरणक्षमा गृह्यते ततश्च यद्भुक्ता एवानेकशो भोगा वयतक्रियाकरणक्षमा अइ॥ति कृपाकरुणाऽजीवित न

ततो यावन्नैतत्त्यजति तावद्दीक्षां प्रतिपद्यामहे इत्यभिप्रायस्तत् किं वय स्थैर्यार्थं दीक्षां प्रतिपद्यसे उच्यते कैश्चिद्दीक्षा वय स्थैर्यादिनिमित्तं त्याशङ्कयाह नेति निषेधे जीवितमसयमजीवितमुपलक्षणत्वाद्वयश्च तदर्थं प्रजहामि प्रकर्षेण त्यजामि भोगान् शब्दान् किं तु लाभमभिमतवस्त्ववाप्तिरूपमलाभ च तदभावरूप सुखमभिलषणीयविषयसंभोगज चस्य भिन्नक्रमत्वात् दु ख च बाधाऽऽत्मक (समिक्खमाणोत्ति) समतया ईक्षमाण पश्यन् किमुक्तं भवति लोभालोभयोस्तथा सुखदुःखयोरुपलक्षणत्वाज्जीवितमरणादीना च समतामेव भावयन्नरिष्यामासेविष्ये किं तत् मौनं मुनिभाव ततो मुक्त्यर्थमेव मम दीक्षाप्रतिपत्तिरिति भाव इति सूत्रार्थ । वासिष्ठ्याह ।

मा हू तुमे सोयरियाण संभरे,
जिण्णो व हंसो पडिसोयगामी ।
भुंजाहि भोगाइँ मए समाणं,
दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो ॥ ३३ ॥

मा इति निषेधे हुरिति वाक्यालकारे त्व सोदरे शयिता सोदर्या सोदराय इति य प्रत्यय ते च समानकुक्षिभवा भ्रातरस्तेषामुपलक्षणत्वाच्छेषस्वजनानां भोगानां च (सभरित्ति) अस्मार्षी क इव (जिण्णो व हंसोत्ति) इव शब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् जीर्णो वयोहानिमुपगतो हंस इव प्रधानपक्षीव प्रतिकूल श्रोत प्रतिश्रोतस्तद्गामी सन् किमुक्त भवति यथाऽसौ नदीश्रोतस्यनिकट प्रतिकूलगमनमारभ्यापि तत्राशक्त पुनरनुश्रोत एवानुधावत्येव भवानपि दुस्तर सयमभार वोढुमसमर्थ पुन सहोदरान् स्वं भोगान् वा स्मरिष्यति तदिदमेवास्तु भुङ्क्ष्व भोगान्मया (समाणति) सुखदुःखहेतु (खु इति) खलु निश्चित भिक्षाचर्या भिक्षाटन विहारो ग्रामादिष्वप्रतिबद्धविहारो दीक्षोपलक्षण चैतदिति सूत्रार्थ ।

पुरोहित आह ।

जहा य भोई तणुयं भुजंगे, निम्मोयणं हेच्च पलेइ मुत्तो ।
एमेय जाया पयहंति भोए, तेहं कहं नाणुगमिस्सएगो ।३४।
छिंदित्तु जालं अबलंवरो हिया, मच्छा जहा कामगुणे पहाय ।
धोरेय सीला तवसा उदारा, धीरा हु भिक्खायरियं चरंति ३५

यथा च हेमवति ! पठ्यते चाहे भोगिनि तनु शरीर तत्र जाता तनुजां भुजगम सर्पो निर्मोचनीय निर्मोक हित्वा पर्येति समन्ताद्गच्छति मुक्त इति निरपेक्षो नाभिष्वक्त इत्यर्थ (समेतीत्ति) एवमतौ पठ्यते च (इमेतित्ति) अत्र च तथेति गम्यते तत्तथैमौ ते तव जातौ पुत्रौ प्रजहीत प्रकर्षेण त्यजतो भोगान् तत किमित्याह तौ भोगास्त्यजन्तौ जातौ अहं कथम नानुगमिष्यामि प्रव्रज्याग्रहणेनानुसरिष्याम्यको द्वितीयो यदि तावदनयो कुमारकयोरपीयान् विवेको यन्निर्मोकवदत्यन्तसहचरितानपि भोगान् भुजङ्गवत् त्यजतस्तत किमिति मुक्तभोगोऽप्यहमेनान्न त्यक्ष्यामि किं वा ममासहायस्य गृहवासेनेति भाव । तथा छित्वा द्विधा कृत्वा तीक्ष्णपुच्छादिना जालमानायमवलमिव जीर्णत्वादिना निःसारमिव वर्ध्योऽरीति गम्यते । रोहिता रोहितजातीया मत्स्या मीनाश्चरन्तीति सबन्ध । यथेति दृष्टान्तोपदर्शने यत्तदोश्च नित्यसबन्धात्तथेति गम्यते ततस्तथा जातप्रायान् कामगुणान् प्रहाय परित्यज्य धुरि वहन्ति धौरेयास्तेषामिव शीलमुचितसमाचारवहितादृक्षण तपसा वो येन ते

धौरेयशीलास्तपसाऽनशनादिनोदाराः प्रधाना धीरा सत्ववन्त हुरिति यस्माद्भिक्षाचर्या चरन्त्यासेवन्ते व्रतग्रहणोपलक्षणमेतत् तोऽहमपीत्थ व्रतमेव ग्रहीष्य इति भाव इति सूत्रद्वयार्थ ॥

इत्थ तत्प्रतिबोधिता ब्राह्मण्याह ।

तहेव कौंचा समइक्कमंता, तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा ।
पलेंति पुत्ता य पई य मज्झं, तेहं कहं नाणुगमिस्सइक्का ३६

नभसीवाकाश इव क्रौञ्चा पक्षिविशेषा समतिक्रामन्तस्तान् तान् देशानुल्लङ्घयन्तस्ततानि विस्तीर्णानि जालानि बन्धनविशेषरूपाण्यात्मनोऽनर्थहेतून् छित्वा (हंसत्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वाद्धंसाश्च परेतित्ति , परियन्ति समन्ताद् गच्छन्ति पुत्रौ च सुतौ च पतिश्च भर्त्ता मम सबन्धिनो गम्यमानत्वाद्ये ते जालोपमविषयाभिष्वङ्ग भित्वा नभ कल्पे निरुपलेपतया सयमाध्वनि तानि सयमस्थानान्यतिक्रामन्तस्तानहं कथ नानुगमिष्याम्येका सती किं त्वनुगमिष्याम्येव । एवंविध वचन हि स्त्रीणां पति पुत्रो वा गतिरिति । यदि वा जालानि भित्वेति हंसानामेव सबध्यते। समतिक्रामन्त इत्यनन्तरेण गच्छन्त इति तु क्रौञ्चोदाहरणमजातकलत्रादिबन्धनसुतापेक्ष हंसोदाहरण तु तद्विपरीतपत्यपेक्षमिति भावनीयमिति सूत्रार्थ । इत्थ चतुर्णामप्येकवाक्यतायां प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ यदभूत्तदाह ।

पुरोहियं तं ससुयं सदारं, सोच्चाभिणिक्खम्म पहाय भोगे ।
कुडुंबसार विउलुत्तमं तं, रायं अभिक्खं समुवाय देवी ।३७।
वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ ।
माहणेणं परिच्चत्तं, धणं आइउमिच्छसि ॥ ३८ ॥
सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नो वा ताणाइ ते तव ॥ ३९ ॥
मरिहिसि राय जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ताणं, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि४०

पुरोहित पुरो वसन्तामिति च भृगुनामान सपुत्र पुत्रद्वयान्वित सदार सपत्नीक श्रुत्वाऽऽकर्ण्य अभिनिष्क्रम्य गृहान्निर्गत्य प्रहाय प्रकर्षेण त्यक्त्वा भोगान् शब्दादीन् प्रव्रजितमिति गम्यते । कुटुम्बसारं धनधान्यादि विपुल च विस्तीर्णतया उत्तमं च प्रधानतया विपुलोत्तम (यदिति) यत्पुरोहितेन त्यक्त गृह्णन्तमिति शेष (राय) राजान नृपतिमभीक्ष्ण पुन पुन समुवाच सम्यगुक्तवती देवी कमलावती नाम तदग्रमहिषी । किमुक्तवतीत्याह वमनमुद्गीर्णमाशितु भोक्तु शीलमस्येति वान्ताशी पुरुष पुमान् य इति गम्यते राजन् ! नृपते ! स न प्रशंसित श्लाघितो विद्वद्भिरिति शेष । स्यादेतत्कथमह वान्ताशीत्यत आह । ब्राह्मणेन परित्यक्त परिहृत धन द्रव्यमादातुं ग्रहीतुमिच्छसि परिहृत धन हि गृहीतोज्झितत्वाद्वान्तमिव ततस्तदादातुमिच्छंस्त्वमपि वान्ताशीव न चेदमुचित भवादृशामित्यभिप्राय । यद्वा काक्वा नीयते राजन् ! वान्ताशी य स प्रशस्यो न भवत्यतो ब्राह्मणेन परित्यक्त धनमादातुमिच्छसि न चैतद्भवत उचित यतस्त्वमप्येव वान्ताशितया अश्लाघ्य एव भविष्यसीति काक्वर्थ । किं च सर्व निरवशेष जगद् भुवन भवेदिति सम्बन्धो यदीत्यस्यायमर्थो न सभवत्येवैतत्कथञ्चित्संभवे वा (तुहति) तव सर्वमपि धन रजतरूप्यादिद्रव्य भवेदपि तथेतीहापि योज्यते तथा सर्वमपि ते तव पर्याप्तमनन्तत्वादिच्छापरिपूर्त्ये भवतीति शेष ।

आकाशसमत्वेन तस्या अपर्यवसितत्वात्तथा नैव त्राणाय जरामरणाद्यपनोदाय तदिति सर्व्वं जगदन्न वा तवेति ते । इह च पुन पुनः सर्व्वशब्दस्य युष्मदस्मदोश्चोपादानं जिनवाक्यत्वाद पुनरुक्तमिति भावनीय पूर्वेण गर्हितत्वमनेन चानुपकारितां पुरोहितधनाद्यग्रहणहेतुमादर्श्य सम्प्रत्यनित्यतां तद्धेतुमाह । मरिष्यसि प्राणांस्त्यक्षसि राजन् 'नृप! यदा तदा वा यस्मिंस्तस्मिन्वा काले अवश्यमेव मर्त्तव्यम्" जातस्य हि ध्रुवं मृत्यु " रित्युक्तं हि " कश्चित्त्वाचरवया दृष्टः, श्रुतो वा शङ्कितोऽपि वा । क्षिता वा यदि वा स्वर्गे, यो जातो न मरिष्यति" तत्रापि च कदाचिदनिलषितवस्तु आदायैव मरिष्यामीत्यत आह । मनोरमांश्चित्ताह्लादकान् कामगुणानुक्तरूपान् प्रहाय प्रकर्षेण त्यक्त्वा त्वमेकाक्येव मरिष्यसि न किंचिदन्यस्त्वया सह यास्यतीत्यभिप्रायः। तथा एके (हुत्ति) एक एवाद्वितीय एव धर्म्मः सम्यग्दर्शनादिरूपो नरदेव ! नृप! त्राणं शरणमापत्परिरक्षणाक्षमं न विद्यते नास्त्यन्यदपरमिह इहेति चेत्यभिधानं संयमस्थापनार्थं किंचिदिति स्वजनधनादिक यदि वा इहेति लोके इहेत्यस्मिन् मृत्यौ धर्मे एवैकस्त्राणं मुक्तिहेतुत्वेन नान्यत् किंचित्ततः स एवानुष्ठेय इति सूत्रचतुष्टयार्थः ।

यतश्च धर्मादृते नान्यत्त्राणमतो ।

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा,
संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं ।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा,
परिग्गहारंभनियत्तदोसा ॥ ४१ ॥
दव्वग्गिणा जहा रण्णे, डज्झमाणेसु जंतुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयंति, रागदोसवसंगया ॥ ४२ ॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागदोसग्गिणा जगं ॥४३॥
भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छंति, दिया कामकमा इव ॥४४॥
इमे य बद्धा फंदंति, मम हत्थज्जमागया ।
वयं च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥४५॥
सामिसं कुललं दिस्सा, बज्झमाणं निरामिसं ।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता, विहरिस्सामो निरामिसा ॥४६॥
गिद्धोवमे उ नच्चा णं, कामे संसारवड्ढणे ।
उरगो सुवन्नपासे वा, संकमाणो तणु चरे ॥ ४७॥
नागो व्व बंधणं छित्ता, अप्पणो वसहिं वए ।
इति पच्छं महारायं, उसुयारे त्ति मे सुयं ॥ ४८ ॥

नेति निषेधे अहमित्यात्मनिर्देशो रमे इति रतिमवाप्नोमि [पक्खिणी पञ्जरेवत्ति] वाशब्द औपम्ये भिन्नक्रमश्च ततः पक्षिणीव शाकुनिकेव शारिकादि पञ्जरे प्रतीत एव । किमुक्तं भवति यथाऽसौ दुःखोत्पादिनि पञ्जरे न रतिं प्राप्नोत्येवमहमपि जरामरणाद्युपद्रवविद्रुते भवपञ्जरे न रमे । अनभिन्नसन्ताना प्रक्रमात् विनाशितस्नेहसन्ततिः सती भिन्नशब्दस्य सूत्रे परनिपातः प्राग्वत् चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि मौनं मुनिभावम् । न विद्यमानं कञ्चन द्रव्यतो हिरण्यादि भावतः कषायादिरूपमस्या इत्यकिञ्चना अत एव ऋजु मायाविरहितं कृतमनुष्ठितमस्या इति ऋजुकृता । कथं चैवंभूतेत्याह । निष्क्रान्ता आमिषाद् गृद्धिहेतोरभिमतविषयादेर्निर्गतं वा आमिषमस्या इति निरामिषा (परिग्गहारम्भनियत्तदोसेत्ति) प्राकृतत्वात् पूर्वपरनिपातोऽत्रापि परिग्रहारम्भदोषा अभिष्वङ्गनिस्त्रिंशतादयस्तेभ्यो निवृत्तोपरता परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता । यद्वा परिग्रहारम्भनिवृत्ता अत एव चादोषा निष्कलङ्का । अनयोर्विशेषणसमासः । अपरं च दोषाग्निना दावानलेन यथाऽरण्ये वने दह्यमानेषु भस्मसात्क्रियमाणेषु जन्तुषु प्राणिष्वन्येऽपरे सत्त्वाः प्राणिनो विवेकिनः प्रमोदन्ति प्रकर्षेण हृष्यन्ते । किमित्येवंविधास्त इत्याह । रागद्वेषयोर्वशं आयत्ततां रागद्वेषवशास्तं गताः प्राप्ताः (एवमेवंति) विस्तारमाकर्णितत्वादेवमेवेत्ति वयं (मूढत्ति) मूढानि मोहवशगा निकामभोगेषूक्तरूपेषु (मुच्छियात्ति) मूर्च्छितानि गृद्धानि दह्यमानमिव दह्यमानं न बुध्यामहे नावगच्छामो रागद्वेषावग्निरिव रागद्वेषाग्निस्तेन किं तज्जगत्प्राणिसमूहं यो हि सविवेको रागादिमांश्च न भवति स दावानलेन दह्यमानानन्यसत्त्वानवलोक्याहमप्येवमनेन दहनीय इति तद्रक्षणोपायतत्पर एव भवति न तु प्रमादवशगः सन् प्रमोदते । यस्त्वत्यन्तमज्ञो रागादिमांश्च स आयतमाचिन्तयन् हृष्यति न तु तदुपशमोपाये प्रवर्तते ततो वयमपि भोगापरित्यागादेवं विधा एवेति भावः । ये त्वेवंविधा न भवन्ति ते किं कुर्वन्तीत्याह भोगान् मनोज्ञशब्दादीन् (भोच्चेति) भुक्त्वाऽऽसेव्य पुनरुत्तरकाले वान्त्वा चापहाय विपाकदारुणत्वाल्लघुर्वायुस्तद्वद्भूतं भवनमेषां लघुभूताः कोऽर्थो वायूपमास्तथाविधाः सन्तो विहरन्तीत्येवंशीला लघुभूतविहारिणोऽप्रतिबद्धविहारिण इत्यर्थः । यद्वा लघुभूतः संयमस्तेन विहर्तुं शीलं येषां ते तथा आ समन्तान्मोदमाना हृष्यन्त आमोदमानास्तथाविधानुष्ठानेनेति गम्यते । गच्छन्ति विवक्षितस्थानमिति शेषः । द्विजा इव (कामकमाइवेत्ति) इवशब्दो भिन्नक्रमस्ततो द्विजा इव कामोऽभिलाषस्तेन क्रामन्तीति कामक्रमाः यथा पक्षिणः स्वेच्छया यत्र यत्राभिलाषस्तत्र तत्रामोदमाना भ्राम्यन्ते एवमेतेऽप्यभिष्वङ्गस्य परतन्त्रताहेतोरभावाद्यत्र यत्र संयमयात्रानिर्वहणं तत्र तत्र यान्तीत्याशयः । पुनर्बहिरास्थां निराकुर्वन्तीत्याह इमे इत्यनुभूयमानतया प्रत्यक्षाः शब्दादयश्च सद्वृत्तये बद्धा नियन्त्रिता अनेकधोपायैः रक्षिता इत्यर्थः एते किमित्याह । स्पन्दन्त इव स्पन्दन्ते अस्थितिधर्म्मतया ये । कीदृश इत्याह (मम हत्थज्जमागयत्ति) ममेत्यात्मनिर्देश उपलक्षणत्वात्तव च हस्तं करमार्य गताः आगताः प्राप्ताः कोऽर्थः स्ववशा आत्मनोऽङ्कतां दर्शय तुम इह । (वयं च सत्तत्ति) वयं पुनः शक्तानि संयत्यान्यभिष्वङ्गवन्तीत्यर्थः अबहुत्वेऽप्यस्मदो द्वयोश्चेति बहुवचनं कामेष्वभिष्वङ्गवत्सु यच्छब्दादिषु एवंविधेष्वपि चामीष्वभिष्वङ्ग इति मोहविलसितमिति भावः । यद्वा इमे च चेति चशब्दाद्वयं च स्पन्दामहे इव स्पन्दामहे आयुषश्चञ्चलतया परलोकगमनाय शेषं तथैव यतः एवमतो भविष्यामो यथेमे पुरोहितादयः । किमुक्तं भवति यथाऽमी भिक्षव्रतत्वमत्र लोक्यते परित्यक्तास्तथा वयमपि त्वद्याम भिक्षव्रतत्वमत्र लोक्यसे परित्यक्तास्तथा वयमपि त्वद्यामः इति । स्यादेतदस्थिरत्वेऽपि सुखहेतुत्वात् किमित्यमी स्पन्दन्ते इत्याह । सह मिषेण पिशितरूपेण वर्तत इति सामिषस्तं कुललमित्याह गृध्रं शकुनिकं वा दृष्ट्वाऽवलोक्य बाध्यमानं पीड्यमानं पक्षिभिरन्यैरिति गम्यते निरामिषमामिषविरहितमन्यथाकृतं इत्थं मत्वा आमिषमभिष्वङ्गहेतुं धान्यादि सर्व्वं निरवशेषमुज्झित्वा त्यक्त्वा (विहरिस्सामोत्ति) विहरिष्याम्यप्रतिबद्धविहारितया उक्तानुसारं चरिष्यामीत्यर्थः । निरामिषा परित्यक्ताभिष्वङ्गहेतु

सोपदेष्टुमाह गृध्रेण उपमा येषान्ते गृध्रोपमास्तानुक्तन्यायेन तुः समुच्चये भिन्नक्रमश्च योक्ष्यते ज्ञात्वाऽवबुध्य णमिति प्राग्वत् कान् प्रक्रमाद्विषयामिषवतो लोकान् कामांश्च विषयांश्च संसारवर्द्धनान् संसारवृद्धिहेतून् ज्ञात्वेति संबन्धः । अथवा काम्यन्ते इति कामा इति व्युत्पत्त्या कामयोगाद्वात्यन्तगृद्धिख्यापनार्थं कामा विषयिण एवोक्ता अतस्तान् गृध्रोपमान् संसारवर्द्धकांश्च ज्ञात्वा किमित्याह (उरगो व सुवसपासेव्व त्ति) इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वादार्षत्वाच्चोरग इव भुजग इव सौपर्णेयपार्श्वे गरुडसमीपे शङ्कमानो भयत्रस्तमिति स्तोकं मन्दयतनयेति यावत् । चरेः क्रियासु प्रवर्त्तेथाः । अस्यायमाशयो यथा सौपर्णेयोपमैर्विषयैर्न बाध्यते तथा संयममासेवस्व । ततश्च किमित्याह (नागो-व्व) अर्थः स्पष्टः आशयस्त्वायं यथा नागो बन्धनं वरत्रारूपकादि छित्त्वा छित्त्वा विहायात्मनो वसतिं विन्ध्याटवीं व्रजत्येवं भवानपि कर्मबन्धनमुपहत्यात्मनो वसतिं कर्मविगत शुद्धो यत्रात्मावतिष्ठते सा च मुक्तिरेव तां व्रजेरनेन दीक्षायाः प्रसङ्गतः फलमुक्तम् । एवं चोपदिश्य निगमयितुमाह । एतद् यन्मयोक्तं पथ्यं हितं महाराज! प्रशस्यनृपते! इषुकारनामन्! एतच्च न मया स्वमनीषिकयैवोच्यते किं त्वेतन्मया श्रुतमवधारितं साधुसकाशादिति गम्यत इति सूत्राष्टकार्थः । एवं च तद्वचनमाकर्ण्य प्रतिबुद्धो नृपस्ततश्च यत् तौ द्वावपि चक्रतुस्तदाह ।

चइत्ता विउलं रज्जं, कामभोगे य दुच्चए ।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ॥ ४९ ॥
सम्मं धम्मं वियाणित्ता, चिच्चा कामगुणे वरे ।
तवं पगिज्झऽहक्खायं, घोरं घोरपरक्कमं ॥ ५० ॥

त्यक्त्वाऽपहाय विपुलं विस्तीर्णं राष्ट्रं मण्डलं पाठान्तरतो राज्यं वा कामभोगांश्चोक्तरूपान् दुस्त्यजान् दुष्परिहारान्निर्विषयौ शब्दादिविषयविरहितावत एव निरामिषौ । यद्वा विषयो देशस्तद्विरहितौ राष्ट्रपरित्यागतः कामभोगत्यागतश्च निरामिषावभिष्वङ्गहेतुविरहितौ कुतः पुनरेवंविधौ यतो निःस्नेहौ निष्प्रतिबन्धौ निष्परिग्रहौ क्वचिदविद्यमानस्वीकारौ सम्यगविपरीतं धर्मं श्रुतचारित्रात्मकं विज्ञाय विशेषतोऽवबुध्य (चिच्च त्ति) त्यक्त्वा कामगुणान् शब्दादीन् वरान् प्रधानान् पूर्वविशेषणैर्गतार्थत्वेऽपि पुनरभिधानमतिशयख्यापकं तपोऽनशनादि प्रगृह्याभ्युपगम्य यथाख्यातं येन प्रकारेण तीर्थकरादिभिः कथितं घोरमत्यन्तदुरनुचरं घोरं कर्मवैरिणं प्रति रौद्रः पराक्रमो धर्मानुष्ठानविषयसामर्थ्यात्मको ययोस्तौ । तथा देवीनृपौ तथैव कृतवन्ताविति शेष इति सूत्रद्वयार्थः ॥

सम्प्रति समस्तोपसंहारमाह ।

एवं ते कमसो बुद्धा, सव्वे धम्मपरायणा ।
जम्ममच्चुभउव्विग्गा, दुक्खस्संतगवेसिणो ॥ ५१ ॥
सासणे विगयमोहाणं, पुव्विं भावणभाविया ।
अचिरेणेव कालेन, दुक्खस्संतमुवागया ॥ ५२ ॥
राया सह देवीए, माहणो य पुरोहिओ ।
माहणी दारगा चेव, सव्वे ते परिनिव्वुडे त्ति बेमि ॥ ५३ ॥

एवममुना प्रकारेण तान्यनन्तरमुक्तरूपाणि षडपि क्रमशोऽभिहितपरिपाट्या बुद्धान्यवगततत्त्वानि सर्वाण्यशेषाणि धर्मपरायणानि धर्मैकनिष्ठानि पठ्यते च (धम्मपरंपरा त्ति) परम्परया धर्मो येषां तानि परम्पराधर्माणि प्राकृतत्वाच्च परंपराशब्दस्य परनिपातस्तथाहि साधुदर्शनात् कुमारकयोः कुमारवचनाच्च पित्रोस्तदवलोकनात् कमलावत्यास्ततोऽपि च राज्ञ इति परम्परयैव धर्मप्राप्तिर्जन्ममृत्युभयेभ्य उक्तरूपेभ्य एवोद्विग्नानि त्रस्तानीति जन्ममृत्युभयोद्विग्नानि दुःखस्यासातस्यान्तः पर्यन्तस्तद्गवेषकाणि तदन्वेषकाणि सापेक्षस्यापि समासो यथा देवदत्तस्य गुरुकुलमिति । पुनस्तद्वक्तव्यतामेवाह । शासने दर्शने विगतमोहानामर्हतामन्यजन्मनि भावनयाऽभ्यासरूपया भावितानि वासितानि भावनाभावितानि । यद्वा भाविता भावना यैस्तानि भावितभावनानि पूर्वोत्तरनिपातस्यातन्त्रत्वात् एवाचिरेणैव स्वल्पेनैव कालेन दुःखस्यान्तं मोक्षमुपगतानि प्राप्तानि । सर्वत्र च प्राकृतत्वात् पुल्लिङ्गनिर्देशः । मन्दमतिस्मरणायाध्ययनार्थमुपसंहर्तुमाह । राजेषुकारः सह देव्या कमलावत्या ब्राह्मणश्च पुरोहितो भृगुनामा ब्राह्मणी तत्पत्नी यौ च दारकौ तत्पुत्रौ चेति पूर्ववत् सर्वाणि तानि परिनिर्वृतानि कर्माग्न्युपशमतः शीतीभूतानि मुक्तिं गतानीति यावत् सूत्रत्रयार्थः । इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः । उत्त० १४ अ० । स्वनामख्याते नगरभेदे, "उसुयारे णयरे उसभदत्ते गाहावई" विपा० १ श्रु० १ अ० ।

उसुयारपव्वय-इषुकारपर्व्वत-पुं० धातकीखण्डविभागकारिणि पर्वते. " दो उसुयारपव्वया " इषुकारौ दक्षिणोत्तरयोर्दिशोर्धातकीखण्डविभागकारिणाविति । स्था० २ ठा० ३ उ० । " समयक्खेत्ते चत्तारि उसुकारा " इषुकारा धातकीखण्डपुष्करार्द्धयोः पूर्वोत्तरविभागकारिणश्चत्वारः स० । स्था० ।

उसुयारिज्ज-इषुकारीय-न० "उसुयार णाम गोयं, वेदंतो भावओ य उसुयारो । तत्तो समुट्ठियमिणं, उसुयारिज्जं ति अज्झयणं " यदिषुकारात् समुत्थितं तत्तस्मै प्रायो हितमेव भवतीति इषुकाराय हितमिषुकारीयमुच्यते । प्राधान्याच्च राज्ञो निर्देशोऽन्यथा षड्भ्योऽप्येतत्समुत्थानं तुल्यमेवेति । चतुर्दशे उत्तराध्ययने, उत्त० १४ अ० । स० ।

उसुयाल-देशी०-न० उदूखले, " उसुयालंसि वा कामजलंसि वा " आचा० २ श्रु० ।

उसुलक्खकिरिओवम-इषुलक्ष्यक्रियोपम-त्रि० शरशल्यक्रियासदृशे, " श्रुतः समाधिरव्यक्त, इषुलक्ष्यक्रियोपमः " । द्वा० २१ द्वा० ।

उसूलग-उसूलक-पुं० खातिकायां परबलपातार्थमुपरिच्छन्नादितगर्तायाम् " उसूलगसयग्घीओ " उत्त० ९ अ० ।

उस्स (ण्) (ऊ)ष्मन्-त्रि० उष् आधारे मनिन् वा ह्रस्वः । शषोः सयेते सोऽग्रीष्मे ८ । ४ । ७८ । इति षस्थाने सकारो मागध्याम् । ग्रीष्मणि, प्रा० ।

उस्स-अवश्याय-पुं० स्नेहे, " अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु " वृ० ४ उ० । नि० चू० ।

उस्र-पुं० वसन्ति रसा अत्र-वस् रक्-निपातनाच्च षत्वम् । किरणे, सूर्यकिरणानां बहुलाकर्षकत्वेन रसवत्त्वात्तथात्वम् । वृषे, सुरभ्याम्, लतायाम्, पृथिव्याम्, स्त्री० । वाच० ।

उस्संकलिय-उत्संकलित-त्रि० निसृष्टे, आचा० २ श्रु० ।

उस्सक्कइत्ता उत्ष्वष्क्य-अव्य० उत्सृत्येत्यर्थे, लब्धावसरतयोत्सुकीभूयेति यावत् । स्था० ६ ठा० ॥

उस्सक्कण–उत्ष्वष्कण–न० स्वयोगप्रवृत्तकालावधेरूर्ध्वं पुरत ष्वष्कणमारम्भकरणमुत्ष्वष्कणम्। ध०३ अधि०। स्वयोगप्रवृत्तेर्नियतकालावधिपरतः करणे, । यथा काचिन्नरारूकादिप्रार्थनया रुदन्तं बालमाश्वासयति यदुत मा रोदीः समीपगृहागतो मुनिरस्मद्गृहे आयास्यति तदा तदर्थमुत्थिताऽहं तवापि दास्यामीति । ततश्च साधावागते तस्य भिक्षादानायोत्थिता बालस्यापि ददातीति उत्ष्वष्कणम्। ध०३अधि० (पाहुडिया शब्दे स्पष्टीभविष्यति) " उस्सक्कण अहिसक्कणं परमुहोलक्खिए अरोवा वि भावत्तपरेण ठुभो भइ भावाभिग्गहो नाम भयसर्पन् "। ध० १ अधि० ।

उस्सक्काविइत्ता–अपसर्प्य–अव्य० अपसृतं कृत्वेत्यर्थे, " उस्सक्काविइत्ता " विवादे प्रतिपन्थिन केनापि व्याजेनापसर्प्यापसृतं कृत्वा पुनरवसरमवाप्य विवदते तथा ६ ठा० ।

उस्सग्ग–उत्सर्ग–पु० सृज विसर्गे उत्पूर्वात् सृजेर्घञ्। उज्झने, आव० ५ अ० । अस्य निक्षेपः ।

नामं १ ठवणा२ दविए, ३खित्त ४ काले ५ तहेव भावे य६
एसो उस्सग्गस्स तु, निक्खवो छव्विहो होइ ॥ ३६ ॥

अर्थमधिकृत्य नियदसिका विशेषार्थे तु प्रतिद्वारं प्रपञ्चेन वक्ष्याम । तत्रापि नामस्थापने गतार्थे ।

द्रव्योत्सर्गं दिदर्शयिषया पुनराह ॥

दव्वुज्जणा उ जं जेण, जत्थ अवकिरइ दव्वभूओ वा ।
जं जत्थ वा वि खित्ते, जं जच्चिर जम्मि वा काले ॥३७॥

वितिरित्तो दव्वुस्सग्गो अकिंचिकरं सदोसं च कत्तुं जो जं दव्वं उज्झति तत्थ अकिंचिकर जहा भिसं निक्खलायणं सदोसं जहा विसकतमभिप्पेगकतं वा एवमादि । अहवा जेण दव्वेण जत्थ वा दव्वे दव्वभूतो उज्झति एस दव्वुस्सग्गो जहा भरहादीहिं चक्कवट्टीहिं भारहं वास पव्वयतेहिं उज्झितं। जो वा जं खेत्तयं वयति जम्मि वा खेत्ते वयति किंचि जम्मि वा खेत्ते उस्सग्गो वणिज्जत्ति एवमादिको उस्सग्गो जो जं कालं उज्झति । जहा उज्झातो वसंतो मेदूणो ण वाहत्ति उड्डितो वा सिरो एवमादि। अहवा खित्तकालं एप्प ण रीयिज्जति वासारत्ते वा ण विहरिज्जति। जच्चिर व कालं उस्सग्गे जम्मि काले उस्सग्गे वणिज्जति। [आ० चू०५ अ०] द्रव्योज्झना तु द्रव्योत्सर्गः स्वयं (जति) यद्द्रव्यमनेषणीयमवकिरतीति योग [अवकीरइत्ति] उत्सृजति (जेणेत्ति) येन करणभूतेन पात्रादिनोत्सृजति [जत्थत्ति] यत्र द्रव्य व्युत्सृजति द्रव्यभूतो वा अनुपयुक्तो वा उत्सृजति एष द्रव्योत्सर्गोऽभिधीयते । द्वारं क्षेत्रोत्सर्ग उच्यते [जं जत्थ वावि खेत्तेत्ति] यत् क्षेत्रं ऊणदेशादुत्सृजति यत्र वाऽपि क्षेत्रे उत्सर्गो व्यावर्ण्यते एष क्षेत्रोत्सर्गः। कालोत्सर्ग उच्यते [ज जच्चिर जम्मि वा कालेत्ति] यं कालमुत्सृजति यथा भोजनमधिकृत्य रजनि साधवः [जच्चिरं चत्ति] यावन्तं कालमुत्सर्गो यस्मिन् वा काले उत्सर्गो वर्ण्यते एष कालोत्सर्ग इति गाथार्थः । आव० ५ अ० ।

भावोत्सर्गान् प्रतिपादयन्नाह ॥

भावे पसत्थमिअरं, जेण व भावेण अवकिरइ जं तु ।
असंजमं पसत्ये, अपसत्ये संजमं चयई ॥ ३८॥

एवमादिणो आगमतो उस्सग्गो पसत्थो अपसत्थो अण्णाणादीण आतिमदादीण य अप्पसत्थो णाणादीण उज्झणा जेण वा भावेण चयति एवमादि [आ० चू०] भाव इति द्वारपरामर्शः भावोत्सर्गो द्विधा प्रशस्तं शोभनं वस्त्वधिकृत्य [इतरंत्ति] अप्रशस्तमशोभनं तथा येन वा भावेन उत्सर्जनीयवस्तुगतेन खरादिना अवकिरति जं तु उत्सृजति यत्तत्र भावेनोत्सर्ग इति तृतीयासमासः। तत्रासंयम प्रशस्ते भावोत्सर्गे त्यजति अप्रशस्ते तु संयमं त्यजतीति गाथार्थः॥

यदुक्तं येन वा भावेनोत्सृजति तत्प्रकटयन्नाह।

खरफरुसाइसचेअणं–मचअणं दुरभिगंधविरसाई ।
दव्वि अमवि चयइ दोसेणं,जेण भावुज्झणा सा उ॥३९॥

खरपरुषादि सचेतनं खरं कठिनं परुषं दुर्भाषिणोपनीतमचेतन दुरभिगन्धविरसादि यद्द्रव्यमपि त्यजति दोषेण येन खरादिना वा भावोज्झना सा उक्ता येनोत्सर्ग इति गाथार्थः। ३९ गत मूलद्वारगाथायामुत्सर्गमधिकृत्य निक्षेपद्वारम्॥

अधुनैकार्थिकान्युच्यते॥

उस्सग्ग १ विउस्सरणा, २
उज्झणा य ३ अवकिरण ४ छड्डण ५ विवेगो ६ ।
वज्जण ७ चयण ८ मुअणा ९,
परिसाडण १० साडणा चेव ११ ॥ ४० ॥

उत्सर्गे व्युत्सर्जना उज्झना च अवकिरणं छर्दनं विवेकः वर्जनं त्यजनम् उन्मोचना परिशातना शातना चेति गाथार्थः।आव०५अ० उत्सर्जनीयस्य त्यागरूपे आभ्यन्तरतपोभेदे, तद्भेदः स द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्च। तत्र बाह्यो द्वादशाविधेदस्योपधेरतिरिक्तस्यानेषणीयस्य संसक्तस्यान्नपानादेर्वा त्यागः। आभ्यन्तर कषायाणां मृत्युकाले शरीरस्य च त्यागः। ननु उत्सर्गः प्रायश्चित्तमध्ये पठितोऽत तत्किं पुनरत्र भणनेन सत्यं सोऽतिचारविशुद्ध्यर्थमुक्तः अयं तु सामान्येन निर्जरार्थ इत्यपौनरुक्त्यम्।प्रव० ६द्वा०। ध० स०। नं०। पञ्चा०।यथा भामेत्युक्ते सत्यभामेति गम्यते तथाऽत्राप्येकदेशेन समुदायावगमात् कायोत्सर्गे,प्रव०१ द्वा० । (काउस्सग्गशब्देऽस्य वक्तव्यता) " उस्सग्गंति " ईर्यापथनिमित्तं पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणं कायोत्सर्गं करोति। ओ०। सामान्योक्तौ, ध० २ अधि०। दर्श०। सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः यथा त्रिविधं त्रिविधेन प्राणातिपातविरति।दर्श०। पञ्चा०। इह विधित्सितस्य वस्तुन कारणनिरपेक्षं सामान्यस्वरूपमुत्सर्ग उच्यते। बृ० ४ उ०। अभिप्रेतवस्तुस्वरूपनिर्वाच्यं कारणनिरपेक्षमुत्सर्गः । नि० चू० ११ उ०। "उस्सग्गो ओहो" उस्सग्गो पडिसेहो। नि० चू० १ उ० । अथोत्सर्गापवादयोर्बाधविचारः। अथ योऽयं " न हिंस्यात्सर्वाभूतानी" त्यादिना हिंसानिषेधः औत्सर्गिको मार्गः सामान्यतो विधिरित्यर्थः वेदविहिता तु हिंसाऽपवादपदं विशेषतो विधिरित्यर्थः। ततश्चापवादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वान्न श्रौतो हिंसाविधिर्दोषायोत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयानिति न्यायात् । भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानामनुज्ञानात् ग्लानाद्यसंस्तरे आधाकर्मादिग्रहणभणनाच्च। अपवादपदं च याज्ञिकी हिंसा देवतादिप्रीतेः पुष्टालम्बनत्वादिति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह नोत्सृष्टमित्यादि अन्यार्थमिति मध्यवर्त्ति पदं डमरुकमणिन्यायेनोभयत्रापि सम्बन्धनीयम् । अन्यार्थमुत्सृष्टमन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तमुत्सर्गवाक्यमन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते नापवादगोचरीक्रियते यमेवार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत् परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात् यथा ग्लानं भंव

मपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गस्तथाविधद्रव्याद्यलाभे कालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकादियतनयाऽनेषणीयादिग्रहणमपवादः सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव । न च मरणैकशरणस्य गत्यन्तराभावोऽसिद्ध इति वाच्यं "सव्वत्थ संजमं सं-जमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा । मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही नया विरई" इत्यागमात् तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्याञ्चिदवस्थायां किञ्चिद्वस्त्वपथ्यं तदेवावस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यमुपपद्यते हिंसावस्था देशकालामयान्प्रति "यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्कर्म कार्यं तु वर्जयेत्" इति वचनात् यथा बलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं क्षीणधातोस्तु तद्विपर्यय एव देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दध्यपानादि योज्यम्।तथा च वैद्याः "कालाविरोधि निर्दिष्टं,ज्वरादौ लङ्घनं हितम्। ऋतेऽनिलश्रमक्रोध-शोककामकृतज्वरात्" एवं च य. पूर्वमपथ्यपरिहारो यश्च तत्रैवावस्थान्तरे तस्यैव परिभोग. स खलु उभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थं इति सिद्धमेकविषयत्वमुत्सर्गापवादयोरिति । भवतां चोत्सर्गोऽपवादश्चान्यार्थः । "न हिंस्यात्सर्वाभूतानि" इत्युत्सर्गो हि दुर्गतिनिगतिनिषेधार्थः अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिर्देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादनार्थः अतश्च परस्परनिरपेक्षत्वे कथमुत्सर्गोऽपवादेन बाध्यते तुल्यबलयोर्विरोध इति न्यायात् भिन्नार्थत्वेऽपि तेन तद्बाधनेऽतिप्रसङ्गात् । न च वाच्यं वैदिकहिंसाविधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ एवेति तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वनिर्लोठनात् तमन्तरेणापि च प्रकारान्तरैरपि नत्सिद्धिभावाद्गत्यन्तराभावे ह्यपवादे पक्षकक्षीकार । स्या० । सम्प्रति किमुत्सर्गा अल्पे उतापवादास्तथा उत्सर्गोऽपवादो वा स्वस्थाने श्रेयान् बलवांश्च । परस्थाने बलवानपि श्रेयांश्च इत्यादि । (सूत्रम्) "नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे ताल पलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए अववाइयं जहा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पक्के तालपलंबे भिन्ने वा पडिगाहित्तए" अथवा त्रिविधं सूत्रमुत्सर्गसूत्रमपवादसूत्रमुत्सर्गापवादसूत्रं च। तत्रौत्सर्गिकमापवादिकं चोक्तमुत्सर्गापवादसूत्रं पुनरिदम् । नो कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आदित्तए वा आयमित्तए वा अन्नत्थगाढेहिं रोगायंकेहिं,, अथवा चतुर्विधं सूत्रमौत्सर्गिकमापवादिकमुत्सर्गापवादमपवादौत्सर्गिकं तत्राद्यानि त्रीण्युक्तानि चतुर्थमपवादौत्सर्गिकमिदं यथा " चम्ममंसं च दवाहिं मा अच्छियाणं " आह उत्सर्गं इत्यपवाद इति वा कोऽर्थ उच्यते ॥

उज्जयसग्गुस्सग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो ।
उस्सग्गा वि निवतियं, धरेइ सालंबमववाओ ।

उद्यत सर्गोऽविहार उत्सर्गस्तस्य चोत्सर्गस्य प्रतिपक्षोऽपवादकथमिति चेदत आह उत्सर्गाद्द्रव्यमौदर्यादिषु विनिपतितं प्रच्युतं ज्ञानादिसालम्बमपवादो धारयति । ननु स उत्सर्गोऽपवादं गत. सन् कथं न भगवतो भवति उच्यते ।

धावंतो उव्वाओ, मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेणं ।
किं वा मउई किरिया, न कीरए असहओतिक्खं ॥

सर्वोऽप्यस्माकं प्रयासो मोक्षसाधननिमित्त स च मोक्ष तथा साधयति नेतरत् दृष्टान्तोऽत्र यथा कोऽपि पाटलिपुत्रं गच्छन् धावन् उद्वातः श्रान्तो भवति तथा न क्रमेण स्वभावगत्या मार्गज्ञः सन् गच्छति गच्छत्येवेति भाव केवलं चिरेण तत्पाटलिपुत्रमवाप्नोति यदि पुन श्रान्तोऽपि धावति तदा अपान्तराल एव म्रियते एवमत्राप्युत्सर्गवादी तादृशे कार्येऽपवादमप्रतिपद्यमानो विनश्यति । किं च रोगिणस्तीक्ष्णां क्रियामसहमानस्य मृद्वी क्रिया न क्रियते क्रियत एवेत्यर्थः यथैतदेवमत्राप्युत्सर्गापरिगृहीतस्यापवादगमनम् । ननु किमुत्सर्गादपवादप्रसिद्धिरुतापवादादुत्सर्गस्य तत आह ।

उण्णयमविक्खनिम्नय,पसिद्धि उन्नयस्स निन्नाउ ।
इय अन्नुन्नपसिद्धा, उस्सग्गववायगातुल्ला ॥

यथोन्नतमां प्रेक्ष्य निम्नस्य प्रसिद्धिर्निम्ना चोन्नतस्य प्रसिद्धिरित्येवमन्योऽन्यप्रसिद्धावुत्सर्गादपवादोऽपवादादुत्सर्गः प्रसिद्ध इति द्वावप्युत्सर्गापवादौ तुल्यौ । तदेवमुत्सर्गापवादद्वारमुक्तम् । इदानीमल्पद्वारमुच्यते । शिष्यः पृच्छति भगवन् किमुत्सर्गा अल्पे उतापवादा उच्यते तुल्या यत आह ।

जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया ।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तेत्तिया चेव ॥

यावन्त उत्सर्गास्तावन्तोऽपवादाः यावन्तोऽपवादास्तावन्त उत्सर्गा कथमिति चेदुच्यते सर्वस्यापि प्रतिषेधस्यानुज्ञाभावात् द्वयेऽपितुल्याः । संप्रति सेयवद्भवते इति द्वारद्वयं व्याचिख्यासुराह ।

सट्ठाणे सट्ठाणे, सेयावलिणो य हुंति खलु एए ।
सट्ठाणपरट्ठाणे, पहुंति वत्थूण निप्फन्ना ॥

शिष्य पृच्छति किमुत्सर्गः श्रेयान् बलवांश्च उतापवाद । सूरिराह । एते खलु उत्सर्गा अपवादाश्च स्वस्वस्थाने श्रेयांसो बलिनश्च भवन्ति । परस्थानश्रेयांसो दुर्बलाश्च । अथ किं स्वस्थानं किं वा परस्थानमत आह । स्वस्थानपरस्थाने वस्तुनो निष्पन्ने । अथ वस्त्वेव न जानामि किं तद्भवतीति । उच्यते पुरुषो वस्तु तथा चाह ।

संथरओ सट्ठाणं, उस्सग्गो असहुणो परट्ठाणं ।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ व वत्थू विणा किंचि ॥

संस्तरतो निस्तरत उत्सर्गः स्वस्थानमपवादः परस्थानमसहस्यासमर्थस्य य संस्तरीतुं न शक्नोति तस्यापवादः स्वस्थानमुत्सर्गं परस्थानमिति एवममुना प्रकारेण पुरुषलक्षण वस्तु विना न किंचित् स्वस्थान परस्थानं वा किं तु पुरुषो वस्तु संस्तरति भवेत्यत पुरुषात् स्वस्थानं परस्थान वा निष्पद्यते तत उक्त प्राक् स्वस्थानपरस्थाने वस्तुनो निष्पन्ने गत सूत्रद्वारम् । बृ० १ उ० । प्रकीर्णकथायाम्, "उस्सग्गो पढमकहा अववाओ णिच्छयकहा" नि०चू०५उ० । अपानवायोर्व्यापारे, विष्ठोत्सर्गत्यागे, दाने, समाप्तौ, व्रतोत्सर्गे वार्षिकवेदपाठसमाप्तौ च वाच० ।

उस्सग्गट्ठिइ–उत्सर्गस्थिति–स्त्री० उत्सर्गस्थाने, "उत्सग्गठिइसुद्धं जह दव्व विवज्जय लब्भइ " नि० चू० १६ उ० ।

उस्सग्गववाइयकुसल–उत्सर्गापवादिककुशल–पुं० उत्सर्गश्च अपवादे भवमापवादिकं च तस्मिन् कुशलः । उत्सर्गापवादविषयविभागवेदिनि, दर्श० । अपवादे भवमापवादिकं तस्मिन्नुत्सर्गापवादिके कुशला विषयविभागवेदिन इत्यर्थः । ते ह्युत्सर्गापवादवेदितया समयानुरूपप्रवर्तमाना छोजगृहग्रस्तसिंहकेसरिकक्षपकसाधोरकालेऽपि दानदातृश्रावकवन्निर्जराभाजो जायन्त इति । दर्श० ॥

उस्सग्गववाय–उत्सर्गापवाद–पुं० द्वि० व० इतरेतरद्वन्द्वः । सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योः, "उस्सग्गववायाणं वियाणगा सेवगा" उत्सर्गापवादयो. सामान्योक्तविशेषोक्तविध्योर्विज्ञापका. । पञ्चा०

११ विच०। "उस्सग्गववायाणं विसयविभागम्मि दक्खाणं। बहुवयणेण दुवयणमिति" प्राकृतलक्षणवशादुत्सर्गापवादयोः सामान्योक्तविशेषोक्तलक्षणयोः विषयविभागे गोचरविच्छित्तौ दक्षाणां छेकानाम्। जीवा० १ अधि०। (पादप्रोञ्छनस्यौत्सर्गिकत्वापवादिकत्वविचारः पायपुंछणशब्दे)

उस्सग्गववायकुसल–उत्सर्गापवादकुशल–पुं० सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः यथा त्रिविधं त्रिविधेन प्राणातिपातविरतिर्विशेषोक्तो विधिरपवादः यथा "पुढवाइसु आसेवा, उप्पण्णे कारणम्मि जयणाए। मिगरहियस्स ठियस्स, अववाओ होइ नायव्वो"। तत्र कुशलः दर्श०। प्रवचनकुशलभेदे,। सांप्रतमुत्सर्गापवादकुशलाभिधानौ तृतीयचतुर्थभेदौ युगपदभिधित्सुर्गाथोत्तरार्द्धमाह

उस्सग्गववायाणं. विसयविभाग वियाणइ ॥ ५१ ॥

उत्सर्गापवादयोर्जिनप्रवचनप्रतीतयोर्विषयविभागं करणाकरणप्रस्ताव विशेषेण जानाति अवगच्छति। अयमत्राभिप्रायः नोत्सर्गमेव केवलमालम्बते नाप्यपवादमेव प्रमाणीकरोति किं तर्ह्यवलपुरश्रावकसमुदायवत् तयोरवसरमवबुध्यते। उक्तं च। "उन्नयमविक्खनिन्नस्स, पसिद्धि उन्नयस्स इयराओ। इय अन्नुन्नपसिद्धा, उस्सग्गववायगा तुल्ला" ज्ञात्वा च यथाऽवसरं तयोर्विषये स्वल्पव्ययां बहुलाभां प्रवृत्तिमातनोतीति ध० र०। (अचलपुरशब्दे तद्वक्तव्यतोक्ता)

उस्सग्गववायधम्मता–उत्सर्गापवादधर्मता–स्त्री० प्रतिषेधानुज्ञालक्षणतायाम्,। "कामं सव्वपदेसु वि, उस्सग्गववायधम्मता जुत्ता। मोत्तु मेहुणभावं, ण विणा त रागदोसेहिं। उस्सग्गो पडिसेहो अववानो अणुण्णाधम्मतालक्खणताजुत्ता जुज्जते घटत इत्यर्थः।" नि० चू० १ उ०।

उस्सग्गसुत्त–उत्सर्गसूत्र–न० औत्सर्गिकार्थप्रतिपादके सूत्रभेदे, सू० १ उ०। [सुत्तशब्दे इदं व्याख्यास्यते]

उस्सग्गिय–औत्सर्गिक–त्रि० उत्सर्गं सामान्यविधिमर्हतीति ठञ् सामान्यविधियोग्ये, स्त्रियां ङीप् स्या०।

उस्सण्ण–उत्सन्न–त्रि० उद्–सद्–क्त–"नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्" ८।२।५६ इत्युत्सन्नपर्युदासाभावादेरत उत्सन्न प्रा० उच्छिन्ने, नष्टे च। वाच०। वसन्तपुरवास्तव्य, कश्चिदुत्सन्नवंशक। देशान्तर भजन् सोऽथ, ग्रहणोऽगाद् जीतपत्त्रिकाम्। आ० क०।

उस्सण्ण–देशी०–बाहुल्ये, "उस्सण्णं देयासायं वेयणं वेदेंति उस्सण्ण बाहुल्येन प्रायेणेत्यर्थः। कर्म०। व्य०। "उसण्णमंसाहारा०" भ० ७ श० ७ उ०। एकान्ते, "उस्सण्णलक्खणसंजुया" नि० चू० ३ उ०। उस्सण्णं नाम कोंतियावारं वहति प्रमितमित्यर्थे। अहणं स च लोगो आयरति। नि० चू० १० उ०।

उस्सन्नदोस–उत्सन्नदोष–पुं० उत्सन्नमनुपरतं बाहुल्येन प्रवर्त्तनं इत्युत्सन्नदोषः। रौद्रध्यानस्य प्रथमे लिङ्गे, आव० ४ अ०।

उस्सप्पिणी–उत्सर्पिणी–स्त्री० उत्सर्पन्ति शुभा भावा अस्यामित्युत्सर्पिणी ज्यो० २ पाहु०। उत्सर्पति वर्द्धते अरकापेक्षया वर्द्धयति वा क्रमेण पुद्गलान् भावानित्युत्सर्पिणी। जं० २ वक्ष०। भ०। दशसागरोपमकोटाकोटीपरिमाणे, शुभभाववर्द्धकेऽशुभभावहानिकारके कालभेदे, आ० म० प्र०। अनु०। विशे०। "दससागरोवमकोडाकोडीओ कालो उस्सप्पिणीए" स्था० १० ठा०। आ० म० द्वि०। जं०। उत्सर्पिण्यां च क्रमेण शुभा भावा अनन्तगुणतया परिवर्द्धन्ते अशुभाश्च हानिमुपगच्छन्तीति ज्यो० २ पाहु०।

अत्र अरकाः।

उस्सप्पिणी कालेणं भंते! कतिविहे पण्णत्ते गोयमा! छव्विहे पण्णत्ते? तं जहा दुस्समदुस्समाकाले १ जाव सुसमसुसमाकाले ॥

एवमुत्सर्पिणीसूत्रमपि भाव्यं पर एकोऽपि काला व्यत्ययेन भाव्या यथाऽवसर्पिण्यां षष्ठः कालो दुःषमाख्यः स एवात्र प्रथमो यावत् सुषमसुषमाकालः षष्ठ इति। जं० २ वक्ष०। स्था०। भ०। आ० चू० (सुषमसुषमादीनां वर्णक ओसप्पिणी शब्दे वक्ष्यते) एवमत्रापि ज्ञेय केवलमरकविपर्यय कर्त्तव्यः। "ओसप्पिणीए एसा कालविभागो जिणेहिं निद्दिट्ठो एसो च्चिय पडिलोमं विन्नेओ उस्सप्पिणीए वि" तं०। य एवं प्रागवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः कालविभागा उक्ता एत एवोत्सर्पिण्यामपि भवन्ति ज्ञातव्याः नवरं विभागेषु परिपाटिः प्रातिलोम्येन ज्ञातव्या तद्यथा प्रथमः कालविभागो दुःषमदुःषमा द्वितीयो दुःषमा, तृतीयो दुःषमसुषमा, चतुर्थः सुषमदुःषमा, पञ्चमः सुषमा, षष्ठः सुषमसुषमेति (ज्यो० २ पाहु०) सांप्रत प्रागुद्दिष्टामुत्सर्पिणीं निरूपयितुकामस्तत्प्रतिपादनपूर्वकं ततः प्रथमारकस्वरूपमाह ॥

तीसे णं समाए इक्कवीसाए वाससहस्सेहिं काले वीइक्कंते आगमीसाए उस्सप्पिणीए सावणबहुलपाडिवए बालवकरणंसि अभीइणक्खत्ते चोद्दसपढमसमये अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्डीए परिवड्डमाणे परिवुड्ढमाणे एत्थ णं दूसमदूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो। तीसे णं भंते! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आगारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा! काले भविस्सइ हाहाभूए भंभाभूए एवं सो चेव दूसमदूसमावेढओ णेअव्वो ॥

तस्यां समायामवसर्पिण्यां दुःषमानाम्न्यामेकविंशत्या वर्षसहस्रैः प्रमिते काले व्यतिक्रान्ते आगामिन्यामुत्सर्पिण्यां श्रावणमासस्य बहुलप्रतिपदि कृष्णप्रतिपदि पूर्वावसर्पिण्याः आषाढपूर्णिमापर्यन्तसमये पर्यवसानत्वात् बालवनाम्नि करणे कृष्णप्रतिपद्दिवसस्यादिमार्द्धेऽस्यैव सद्भावात्। अभीचिनक्षत्रे चन्द्रेण योगमुपागते चतुर्दशानां कालविशेषाणां प्रथमसमये प्रारम्भक्षणेऽनन्तैर्वर्णपर्यवैर्यावदनन्तगुणपरिवृद्ध्या परिवर्द्धमानः। अन्तरे वर्द्धमानाम्ना समः कालः प्रतिपत्स्यते हे श्रमण! आयुष्मन्! इति वर्णादीनां वृद्धिश्च येनैव क्रमेण पूर्वमवसर्पिण्यरकेषु हानिरुक्ता तथैवात्र वाच्या चतुर्दशकालविशेषा पुनः निःश्वासादुच्छ्वासाद्वा गण्यते समयस्य निर्विभागकालत्वेनाव्यवहार्यत्वेनोपेक्षा। तत्र निःश्वास उच्छ्वासो वा १ प्राणः २ स्तोकः ३ लवः ४ मुहूर्त्तः ५ अहोरात्र ६ पक्ष ७ मास ८ ऋतु ९ अयन १० संवत्सर ११ युगं १२ करणं १३ नक्षत्रं १४ इति एतेषां चतुर्दशानां मध्ये पुनः प्रथमसूत्रसत्काभ्युत्थानामपरेषां चोपलक्षणं संगृहीतानां प्रथमसमये कोऽर्थः य एव हि एतेषां चतुर्दशानां कालविशेषाणां प्रथम समयः स एवोत्सर्पिणीप्रथमारकप्रथमसमय। अवसर्पिणीमध्ये ... एवं पर्यवसानमेषां द्वितीयाऽऽषाढपौर्णमासीचरमसमयः एवं पर्यवसा-

मात् इदमुक्तं भवति अवसर्पिण्यादौ महाकाले प्रथमतः प्रवर्तमाने सर्वेऽपि तदवान्तरभूता कालविशेषाः प्रथमत एव युगपत् प्रवर्त्तन्ते तदनु स्वस्वप्रमाणसमाप्तौ समाप्नुवन्ति तथैव पुनः प्रवर्तन्ते पुनः परिसमाप्नुवन्ति यावन्महाकालपरिसमाप्तिरिति । यद्यपि ग्रन्थान्तरे ऋतोराषाढादित्वेन कथनादुत्सर्पिण्याश्च श्रावणादित्वे अस्य प्रथमसमयो न संगच्छते ऋतवर्द्धस्य गतत्वात् तथापि प्रावृट् श्रावणादिर्वर्षारात्रोऽश्वयुजादिः शरन्मार्गशीर्षादिर्हेमन्तो माघादिर्वसन्तश्चैत्रादिर्ग्रीष्मो ज्येष्ठादिर्भगवतीवृत्तिवचनात् श्रावणादित्वपक्षाश्रयणेन समाधेयमिति न दोषः । किं चेद सूत्रं गम्भीरग्रन्थान्तरे च व्यक्तानुपलभ्यमानभावार्थं कण्ठेनान्यथाप्यागमाविरोधेन मध्यस्थैर्बहुश्रुतैः परिभावनीयमिति । अथात्र कालस्वरूपं पृच्छति "तीसेणमित्यादि" सर्वं सुगमं नवरं दुष्षमदुष्षमायाः अवसर्पिणीषष्ठारकस्य वेष्टको वर्णको नेतव्यः प्रापणीयस्तन्मानत्वादस्याः गतः उत्सर्पिण्याः प्रथमोऽरः ।

अथ द्वितीयारकस्वरूपं वर्णयति ।

तीसे णं समाए एकवीसाए वाससहस्सेहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्ढीए परिवुड्ढेमाणे परिवुड्ढेमाणे एत्थ णं दूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो ॥

तीसेणमित्यादि सर्वं सुगमं नवरमुत्सर्पिणीद्वितीयारक इत्यर्थः

अथाऽवसर्पिणीदुष्षमातोऽस्या विशेषमाह ।

ते णं काले णं ते णं समए णं पुक्खलसंवट्टए णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं तए णं से पुक्खले संवट्टए महामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ खिप्पामेव पतणतणाइत्ता खिप्पामेव पविज्जुआइस्सइ खिप्पामेव पविज्जुआइत्ता खिप्पामेव जुगमुसलमुट्ठिप्पमाणमित्ताहिं धाराहिं ओघमेघं सत्तरत्तं वासं वासिस्सइ जे णं भरहस्स वासभूमिभागं इंगालभूअं मुम्मुरभूअं छारीअभूअं तत्तकवेल्लुगभूअं तत्तसमजोइभूतं णिव्वाविस्सइ तंसि च णं पुक्खलसंवट्टगंसि महामेहंसि सत्तरत्तं णिवतितंसि समाणंसि एत्थ णं खीरमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमेत्ते आयामेणं तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं तए णं से खीरमेहे णामं महामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ जाव खिप्पामेव जुगमुसलमुट्ठि जाव सत्तरत्तं वासं वासिस्सइ । जे णं भरहेवासस्स भूमीए वण्णं गंधं रसं फासं च जणइस्सइ तंसि च णं खीरमेहंसि सत्तरत्तं णिवतितं समाणंसि इत्थणं घयमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ । भरहप्पमाणमेत्ते आयामेणं तदणुरूवं च णं विक्खंभबाहल्लेणं तए णं सेघयमेहमहामेहे खिप्पामेव पतणतणाइस्सइ जाव वासं वासिस्सइ । जे णं भरहस्स वासस्स भूमीए सिणेहभावं जणइस्सइ तंसि च णं घयमेहंसि सत्तरत्तं णिवतितंसि समाणंसि एत्थ णं अयमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं जाव वासं वासिस्सइ भरहे वासे रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरितगओसहिपवालंकुरमाईए तस्स वणप्फइकाइए जणइस्सइ तंसि च णं अमयमेहंसि सत्तरत्तं णिवत्तितंसि समाणंसि एत्थ णं रसमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ । भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं जाव वासं वासिस्सइ जे णं तेसिं बहूणं रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहारितओसहिपवालकुरमादीणं तित्तकडुअकसायअंबिलमहुरे पंचविहे रसविसेसे जणइस्सइ तए णं भरहे वासे भविस्सइ परूढरुक्खगुच्छगुम्मलयावल्लीतणपव्वयहारितओसहिए उपचिअतयपत्तपवालकुरपुप्फफलसमुइए सुहोवभोगे आविभविस्सइ ।

'ते णमित्यादि' तस्मिन् काले उत्सर्पिण्यां द्वितीयारकलक्षणे तस्मिन् समये तस्यैव प्रथमसमये पुष्कलं सर्वमशुभानुभावरूपं भरतभूरौक्ष्यदाहिकं प्रशस्तोदकेन संवर्त्तयति नाशयतीति पुष्कलसंवर्तकः स च पर्जन्यप्रभृतिमेघत्रयापेक्षया महान् मेघो दशवर्षसहस्रावधि एकेन वर्षणेन भूमेर्भावकत्वात् महामेघः प्रादुर्भविष्यति प्रकटीभविष्यति भरतक्षेत्रप्रमाणेन साधिकैकसप्ततिचतुःशताधिकचतुर्दशयोजनसहस्ररूपेण मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । केनायामेन दीर्घभावेन । अयं भाव पूर्वसमुद्रादारभ्य पश्चिमसमुद्रं यावत् वार्दलकं व्यासं भविष्यतीत्यर्थः । तदनुरूपश्च तस्य भरतक्षेत्रस्याऽनुरूपः सदृशः । सूत्रे च लिङ्गव्यत्ययः प्राकृतत्वात् क्रियाविशेषणं वा केनेत्याह विष्कम्भबाहल्येन अत्र समाहारद्वन्द्ववशादेकवद्भावः कोऽर्थः यावान् व्यासो भरतक्षेत्रस्य इषुस्थाने पञ्चशतयोजनानि षड्विंशतिर्योजनानि षट्कला योजनैकोनविंशतिभागरूपास्तदतिरिक्तस्थाने तु अनियततया तथाऽस्यापि विष्कम्भः बाहल्यं तु यावता जलभारेण यावदवगाढभरतक्षेत्रतप्तभूमिमार्द्रीकृत्य तापः उपशाम्यते तावज्जलदानिष्पन्नमेव ग्राह्यमिति । अथ स प्रादुर्भूतः सन् यत्करिष्यति तदाह "तएणमित्यादि" ततश्च स पुष्कलसंवर्तकमेघः क्षिप्रमेवाल्पमकाल एव 'पतणतणाइस्सत्ति' अनुकरणवचनमेतत् प्रकर्षेण स्तनितं करिष्यति गर्जिष्यतीत्यर्थः । तथा च कृत्वा 'पविज्जुत्ताइस्सत्ति' प्रकर्षेण विद्युतं करिष्यति तथा च कृत्वा क्षिप्रमेव युगं रथावयवविशेषः मुसलं प्रतीतं मुष्टिः पिण्डिताङ्गुलिकः पाणिः येषां यत् प्रमाणमायामबाहल्यादिभिस्तेन मात्रा यासां ताभिः इयता प्रमाणेन दीर्घाभिः स्थूलाभिरित्यर्थः धाराभिः ओघेन सामान्येन सर्वत्र निर्विशेषेण मेघो यत्र तं तथाविधं सप्ताहोरात्रान् वर्षं वर्षिष्यति वर्षा करिष्यतीत्यर्थः । जे णमिति पूर्ववत् भरतस्य वर्षस्य क्षेत्रस्य भूमिभागमङ्गारभूतं मुर्मुरभूतं क्षारिकभूतं तप्तकवेल्लुकभूतं तप्तसमज्योतिर्भूतं निर्वापयिष्यति स पुष्करसंवर्तको महामेघः । अथ द्वितीयमेघवक्तव्यमाह । तंसि च णमित्यादि तस्मिंश्च चशब्दो वाक्यान्तरप्रारम्भार्थः पुष्कलसंवर्तके महामेघे सप्तरात्रं यावन्निपतिते सति निर्भरं वृष्टे सति । अत्रान्तरे क्षीरमेघो नाम महामेघः प्रादुर्भविष्यति शेषं भरतेत्यादि प्राग्वत् । अथ स प्रादुर्भवन् किं करिष्यतीत्याह 'तएणमित्यादि' अत्र वासिस्सइ पर्यन्तं प्राग्वत् यो मेघो भरतस्य वर्षस्य भूम्या वर्णं गन्धं रसं स्पर्शं च जनयिष्यति । अत्र वर्णादयः शुभा एव ग्राह्याः येभ्यो लोकोऽनुकूलं वेदयते अशुभवर्णादयः प्राक्कालानुभावे जनिता वर्तन्त एवेति ननु यदि शुभवर्णादीन् जनयति तदा तरुपत्रादिषु नीलो वर्णो जम्बूफलादिषु कृष्णः मरिचादिषु कटुको रसः का-

रवेल्लादिषु तिक्तः चणकादिषु रूक्षः स्पर्शः सुवर्णादिषु गुरु क्रकचादिषु खर इत्यादयोऽशुभवर्णादय कथं सम्भवेयुरित्युच्यते अशुभपरिणामा अप्येते अनुकूलवेद्यतया शुभा एव यथा मरिचादिगत कटुकरसादिः प्रतिकूलवेद्यतया शुभा अप्यशुभा एव यथा कुष्ठादिगतः श्वेतवर्णादिरिति। अथ तृतीयमेघवक्तव्यमाह " तसि इत्यादि " तस्मिन् क्षीरमेघे सप्तरात्र निपतिते सति अत्रान्तरे घृतवत् स्निग्धो मेघो घृतमेघो नाम्ना महामेघ प्रादुर्भविष्यतीत्यादि सर्व प्राग्वत् । अथ स प्रादुर्भूत किं करिष्यतीत्याह (तएणमित्यादि) सर्वं प्राग्वत् नवर यो घृतमेघो भरतभूमेः स्नेहभावं स्निग्धतां जनयिष्यतीति । अथ चतुर्थमेघवक्तव्यमाह " तसि इत्यादि " तस्मिंश्च घृतमेघे सप्तरात्र निपतिते सति अत्र प्रस्तावे अमृतमेघो यथार्थनामा महामेघ प्रादुर्भविष्यति यो वर्षिष्यति इति पर्यन्त पूर्ववत् । यो मेघो भरते वर्षे वृक्षा गुच्छा गुल्मा लता वल्ल्य तृणानि प्रतीतानि पर्वजा इक्ष्वादय हरितानि दूर्वादीनि औषध्यः शाल्यादयः प्रवाला पल्लवा अङ्कुराः शाल्यादिवीजसूचय इत्यादीन् तृणवनस्पतिकायिकान् बादरवनस्पतिकायिकान् जनयिष्यतीति । अथ पञ्चममेघस्वरूपवक्तव्यमाह " तसि च णामित्यादि " व्यक्तं पर रसजनको मेघो रसमेघ यो रसमेघस्तेषाममृतमेघोत्पन्नानां बहूनां वृक्षाद्यङ्कुरान्तानां वनस्पतीनां तिक्तो निम्बादिगत कटुको मरिचादिगत कषायो बिभीतकामलकादिगतः अम्लोऽम्लकाद्याश्रित मधुरः शर्कराद्याश्रितः एतान् पञ्चविधान् रसविशेषान् जनयिष्यति । लवणरसस्य मधुरादिससर्गत्वादेतद्भेदेन विवक्षणात् सभाव्यते तच्च तत्र माधुर्यादिससर्गः सर्वरसानां लवणप्रक्षेप एव स्वादुत्वोत्पत्तेः तेन पृथग् निर्देश । एषां च पञ्चानां मेघानां क्रमेणेद प्रयोजनसूत्रमुक्तमपि स्पष्टीकरणाय पुनर्लिख्यते । आद्यस्य भरतभूमेर्दाहोपशम द्वितीयस्य तस्या एव शुभवर्णगन्धादिजनकत्व तृतीयस्य तस्या एव स्निग्धताजनकत्वम् । न चात्र क्षीरमेघेनैव शुभवर्णगन्धरसस्पर्शसपत्तौ भूमिस्निग्धतासंपत्तिरिति वाच्यं स्निग्धताधिक्यसंपादकत्वात्तस्य न हि यादृशी घृते स्निग्धता तादृशी क्षीरे दृश्यत इत्यनुभव एवात्र साक्षी । चतुर्थस्य तस्यां वनस्पतिजनकत्व पञ्चमस्य वनस्पतिषु स्वस्वयोग्यरसविशेषजनकत्व यद्यप्यमृतमेघतो वनस्पतिसभवे वर्णादिसपत्तौ तत्सहचारित्वात् रसस्य सपत्तिस्तस्मादेव युक्तिमती तथाऽपि स्वस्वयोग्यरसविशेषान् सपादयितु रसमेघ एव प्रभुरिति तदा च यादृश भरत तादृश तथा चाह । 'तए ण भरहे वासे' इत्यादि तत उक्तस्वरूपपञ्चमेघवर्षणानन्तर णमिति पूर्ववत् । भरत वर्षं भविष्यति कीदृशमित्याह । प्ररूढा उद्गता वृक्षा गुच्छा गुल्मा लता वल्ल्यस्तृणानि पर्वजा हरितौषधयश्च यत्र तत्तथा । अत्र समासे कप्रत्यय एतेन वनस्पतिसत्ताऽभिहिता । उपचितानि पुष्टिमुपगतानि त्वक्पत्रप्रवालपल्लवाङ्कुरपुष्पफलानि समुदितानि सम्यक् प्रकारेण उदय प्राप्तानि यत्र तत्तथा क्तान्तस्य परनिपात प्राकृतत्वात् । एतेन वनस्पतिषु पुष्पफलान्ता रीतिर्दर्शिता । अत एव सुखोपभोग्य सुखेनासेवनीय भविष्यति अत्र वाक्यान्तरयोजनार्थमुपात्तस्य भविष्यति पदस्य न पौनरुक्त्य भावनीयमिति ।

अथ तत्कालीना मनुजास्तादृश भरत दृष्ट्वा यत् करिष्यन्ति तदाह ।

तए ण ते मणुआ भरहं वासं परूढरुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरिओसहिए उवचिअतयपत्तपवालपल्लवंकुरपुप्फफलसमुइअं सुहोवयोगं जायं चावि पासिहिंति पासित्ता विलेहिं जो णिद्धाइस्संति णिद्धाइत्ता हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं सद्दाविस्संति सद्दाविस्संतित्ता एवं वदिस्संति जातं णं देवाणुप्पिआ भरहे वासे परूढरुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वयहरिअ जाव सुहोवभोगं जेणं देवाणुप्पिया अम्हं केइ अज्जप्पभिइं असुभं कुणिमं आहारिस्सइ से णं अणेगाहिं छायाहिं वज्जणिज्जे तिकट्टु संठिइं ठवेस्संति ठवेस्संतित्ता भरहे वासे सुहं सुहेण अभिरममाणा अभिरममाणा विहरिस्संति ॥

'तएणमित्यादि' ततस्ते मनुजा भरतवर्षं यावत् सुखोपभोग्यं चापि द्रक्ष्यन्ति दृष्ट्वा विलोक्य निर्धाविष्यन्ति निर्गमिष्यन्ति निर्धाव्य हृष्टा आनन्दितास्तुष्टाः सन्तोषमुपगता पश्चात्कर्मधारय । अन्योन्य शब्दायिष्यन्ति शब्दायित्वा च एव वदिष्यन्तीति। अथ ते किं वदिष्यन्तीत्याह। "जातं णमित्यादि" जात भो ! देवानुप्रिया ! भरतं वर्षं प्ररूढवृक्षं यावत्सुखोपभोग्य तस्माद्भो ! देवानुप्रिया ! अस्माकमस्मज्जातीयानां कश्चिदद्य प्रभृति अशुभ कुणिम मांसमाहारमाहारयिष्यति स पुरुषोऽनेकाभिश्छायाभिः इत्य भावे तृतीया सहभोजनादिपङ्क्तिनिषण्णा याश्छायाः शरीरसबन्धिन्यस्ताभिर्वर्जनीय । अयमर्थः आस्तां तेषामस्पृश्यानां शरीरस्पर्श तच्छरीरच्छायास्पर्शोऽपि वर्जनीय क्वचिद् 'वज्जे' इति सूत्रपाठे तु वर्ज्यो वर्जनीय इत्यर्थ इति कृत्वा संस्थितिं मर्यादां स्थापयिष्यन्ति स्थापयित्वा च भरतवर्षे सुख सुखेनाभिरममाणा अभिरममाणा सुखेन क्रीडन्त क्रीडन्तो विहरिष्यान्ति प्रवर्तिष्यन्त इति ॥

अथ भरतभूमिस्वरूप पृच्छति ।

से णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे भविस्सइ जाव कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव । ते से णं भंते ! समाए मणुआणं केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा ! तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूईओ रयणीओ उद्धं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अतो मुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगं वाससयं आउअं पालेहिंति पालेहितित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव अप्पेगइआ देवगामी ण सिज्झंति ।

'तीसे णमित्यादि' सर्वं पूर्ववत् ननु कृत्रिममण्यादिकरण तदानींतनमनुजानामसम्भवि शिल्पोपदेशकाचार्याभावादुच्यते द्वितीयारे पुरादिनिवेशराजनीतिव्यवस्थादिकृज्जातिस्मारकादि पुरुषविशेषद्वारा वा क्षेत्राधिष्ठायकदेवप्रयोगेण वा कालानुभावजनितनैपुण्येन वा तस्य सुसंभवत्वात् कथमन्यथाऽत्रैव ग्रन्थे प्रस्तुतारकमाश्रित्य पुष्करसंवर्तकादिपञ्चमहामेघवृष्ट्यनन्तरं घृतक्षीरादिभिर्निष्पन्नाद्यादिभिश्च भारायां सजातायां भरतभूम्यां तत्कालानमनुजा विलेभ्यो निर्गत्य मांसादिभक्षणनियममर्यादां विधास्यन्ति तल्लोपक च पङ्क्त्यांहि करिष्यन्तीत्यर्थाभिधायक प्रागुक्तं सूत्र सगच्छत इति। अथ मनुजस्वरूपमाह । 'तीसेणमित्यादि' सर्वं अवसर्पिणीदुष्षमारकमनुजस्वरूपवद्भावनीय नवर (सिज्झंति) सकलकर्मक्षयलक्षणां सिद्धिं न प्राप्नुवन्ति चरणधर्मप्रवृत्त्यभावात् । अत्र भविष्यन्निर्देशप्राप्तेर्वर्तमाननिर्देश पृ-

वैयुक्तिः समाधेयः इत्युत्सर्पिण्यां द्वितीयारके " तीसे ण समाए एक्कवीसाए वास इत्यादि " तस्यां समायां दुष्पमानाम्न्यामेकविंशत्या वर्षसहस्रैः काले व्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्यवैर्याचत् परिवर्द्धमान । अत्रावसरे दुष्पमसुषमा नाम्ना समा काल उत्सर्पिणीतृतीयारकः प्रतिपत्स्यते हे श्रमणेत्यादि प्राग्वत् । तीसेणमित्यादि सर्वं प्राग्वत् । अवसर्पिणीचतुर्थारकसदृशस्त्वमुत्सर्पिणीतृतीयारकस्येति तत् सादृश्य प्रकटयन्नाह । तीसेणमित्यादि प्राय प्राग्व्याख्यातार्थम् । तीर्थकरास्त्रयोविंशति पद्मनाभादयश्चतुर्विंशतिमस्य भद्रकृन्नाम्नश्चतुर्थारके उत्पत्स्यमानत्वात् एकादश चक्रवर्तिनो भरतादयो वीरचरित्रे तु दीर्घदन्तादय द्वादशस्यारिष्टनाम्नश्चतुर्थारके एव भावित्वात् । नव बलदेवा जयन्तादय नव वासुदेवा आनन्द्यादय समुत्पत्स्यन्ते यत्तु तिलकादयः प्रतिविष्णवो वा नेहोक्तास्तत्र पूर्वोक्त एव हेतुरवसातव्य । गतस्तृतीयार उत्सर्पिण्या ॥

अथ चतुर्थः ।

तीसे णं समाए एक्कवीसाए वाससहस्से काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव परिवड्ढमाणे परिवड्ढमाणे एत्थ णं दुसमसुसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो । तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे जाव अकत्तिमेहिं चेव तेसि णं भंते ! मणुआणं केरिसए आयारभावपडोयारे भविस्सइ गोअमा तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूइं धणूहिं उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडीआउं आयालिहिंति आयालिहिंतित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव अंतं करेहिंति । तीसे णं समाए तओ वंसा समुप्पज्जिस्संति तं जहा तित्थगरवंसे चक्कवट्टिवंसे दसारवंसे । तीसे णं समाए तेवीसं तित्थगरा एक्कारस चक्कवट्टी णव बलदेवा णव वासुदेवा समुप्पज्जिस्संति ॥

'तीसे णमित्यादि' तस्यां समायां सागरोपमकोटाकोट्या द्विचत्वारिंशता वर्षसहस्रैरनियता कालव्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्यवैर्यावद्वर्द्धमानोऽत्र प्रस्तावे सुषमदुष्पमा नाम्ना समा काल उत्सर्पिणीचतुर्थारकलक्षण प्रतिपत्स्यते ।

अथ पञ्चमषष्ठावतिदेशत आह ।

तीसे णं समाए सागरोवमकोडीए वा पालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिआए काले वीइक्कंता अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिवुड्ढीए परिवुड्ढमाणे परिवुड्ढमाणे एत्थ णं सुसमदूसमा णामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो । सा णं समा तिहा विभज्जिस्सइ पढमे तिभागे मज्झिमे तिभागे पच्छिमे तिभागे । तीसे णं भंते ! समाए पढमे तिभाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे जाव भविस्सइ । मणुआणं जाव उसप्पिणीए पच्छिमे तिभागे वत्तव्वया सा भाणिअव्वा कुलगरवज्जा उसभसामिवज्जा । अणे पढंति तीसे णं समाए पढमे तिभाए इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जिस्संति तं जहा सुमई जाव उसभे सेसं तं चेव दंडणीइओ पडिलोमाओ णेअव्वाओ । तीसे णं समाए पढमे तिभाए रायधम्मे जाव धम्मचरणे अ वोच्छिज्जिस्सइ । तीसे णं समाए मज्झिमपच्छिमेसु तिभागेसु जाव पढममज्झिमेसु वत्तव्वया उसप्पिणी एसा भाणिअव्वा सुसमा तहेव सुसमसुसमा वि तहेव जाव छव्विहा मणुस्सा अणुसज्जिस्संति जाव सणिचारी ॥

सुषमा पञ्चसमालक्षणः कालस्तथैवाऽवसर्पिण्यांद्वितीयारकवदिति । सुषमसुषमा षष्ठारकः सोऽपि तथैव अवसर्पिणीप्रथमारकसदृश इत्यर्थ । कियत्पर्यन्तमत्र ज्ञेयमित्याह यावत् षड्विधा मनुष्या अनुसदयन्ति सततया अनुवर्तिष्यन्ते यावच्छनैश्चारिणः । यावत् पदात् पद्मगन्धादयः पूर्वोक्ता एव ग्राह्या गतौ पञ्चमषष्ठौ तद्गमने चोत्सर्पिणी गता तस्यां च गतायामवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूप कालचक्रमपि गतम् जं० २ वक्ष० ।

एव उप अरए उसप्पिणीए समत्ते वि पढमे अरए एआ चेव वत्तव्वया तम्मि वोलीणे वीयारपयारंजे मत्ताहं पंचमहाजारहे वासे वासिस्संति कमेणं तं जहा पढमो पुक्खरावत्तो तावं निव्वावेहिइ वीओ खीरोदो वज्जकारी तइओ घओदओ नेहकारओ चउत्थो अमिओदओ ओसहिकरो पंचमो रसोदओ भूमीए सस्सजणाणो ते य विलवासिणो पइसमयं वड्ढमाणसरीराउ पुढइविसुद्धं दट्ठूण विढोंदिंतो निस्सरंति धन्नं फलाइं भुंजंता मंसाहारं निवारइस्संति तओ मज्झदोसमुत्तकुलगरा भविस्संति तत्थ पढमो विमलवाहणो बीओ सुदामो तइओ संगओ चउत्थो सुपासो पंचमो दत्तो छट्ठो सुमुहो सत्तमो सम्मुची जाइसमरणेणं विमलवाहणेणं विमलवाहणो नगराइ निवेसं काही अग्गिम्मि उप्पन्ने अन्नपाणगं सिप्पाइं कालाउ लोगववहारं च सव्वं पवत्तेहि तइओ गुणनवइपक्खसमज्झिए हिए उसप्पिणीअरयदुगे वइक्कंते पुंडवद्धणदेसे सयदारे पुरे संमुइनरवइणे भद्दाए देवीए च उद्दसमहासुमिणसूइओ सेणिवरायजीवो रयणप्पभाए लोलुयुच्चयपच्छडाओ चुलसीइ वाससहस्साइं आउं पालित्ता उव्वट्टो समाणो कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववज्जिहिइ वद्धप्पमाणलवणआवणिगब्भावहारवज्जं पंचकल्लाणयाणं मासतिहिं नक्खत्ताणि जहा मम तहेव भविस्संति नवर नामेणं पउमनाहो देवसेणो विमलवाहणो अ । तओ बीयतित्थयरो सुपासजीवो सूरदेवो तइओ उदाइजीवो सुपासो चउत्थो पोट्टिलजीवो सयंपभो पंचमो दयओजीवाओ सव्वाणुभूई छट्ठो कित्तियजीवो देवसुओ सत्तमो संखजीवोदयो अट्ठमो आणंदजीवो पेढालो नवमो सुनंदाजीवो पोट्टिलो दसमो सयगजीवो सयकित्ती एकारसमो देवईजीवो मुणिसुव्वओ बारसमो कण्हजीवो अममा ते-

रसमो सव्वइजीवो निक्कसाओ चउद्दसमो वलदेवजीवो निप्पुलाओ पन्नरमो सुलसा जीवो निम्ममो सोलसमो रोहणीजीवो चित्तगुत्तो केई पुण भणंति कक्किपुत्तो दत्त-मानो पन्नरेसउत्ति उत्तरं विक्कमवरिसे सेत्तुंजे उद्धारं का-रित्ता जिणभवणमंडिअं च वसुहं काउ आज्जियतित्थ-यरनामो सग्गं गंतुं चित्तगुत्तो नाम जिणवरो होहित्ति । इत्थ य बहुस्सुअसंसयं पमाणं सत्तरमो रेवइजीवो समाही अट्ठारसो सयालिजीवो संवरो एगूणवीसो दीवायण-जीवो जसोहरो वीसइमो कण्हजीवो विजओ एकवीसो नारयजीवो मल्लो वावीसयमो अंबडजीवो देवो तेवीसय-मो अमरजीवो अणंतवीरिओ चउवीसयमो सायं बुद्धजी-वो भद्दकरो अंतरालाइ पच्छाणुपुव्वीए जहा वट्टमाणजि-णाणं भाविचक्कवट्टिणो दुवालस होहिंति तं जहा दीह-दंतो १ गूढदंतो २ सिरिचंदो ३ सिरिभूई ४ सिरिसोमो ५ पउमो ६ नायगो ७ महापउमो ८ विमलो ९ अमल-वाहणो १० विलो ११ अरिट्ठो १२ अ । नव भाविवा-सुदेवा तं जहा नन्दो १ नन्दिमित्तो २ सुन्दरबाहुः ३ महा वाहू ४ अइबलो ५ महाबलो ६ बलभद्दो ७ दुविट्ठो ८ तिविट्ठो य ९ । नव भाविपडिवासुदेवा जहा तिलओ १ लोहजघो २ वइरजघो ३ केसरी ४ बली ५ पहाए ६ अपराजिओ ७ भीमो ८ सुग्गीवो ९ नव भाविवलदेवा तंजहा जयंतो १ आजिओ २ धम्मो ३ सुप्पभो ४ सुदंसणो ५ आणंदो ६ नंदणो ७ पउमो ८ संकरिसणो ९ य । इगसट्ठीसलागा पुरिसा उस्स प्पिणीए तइए अरए भाविस्संति अपच्छिम जणचक्कवट्टि-णो जइयम्मिचउत्थे अरए होहिंति तओ दसमगाई कप्परु-क्खा उप्पि जहिं ति अट्ठारसकोडाकोडीओ सागरोवमा णं निरंतरं जुगलधम्मो भविस्सइत्ति २१ ती० ।

एगमगाए उसप्पिणीए पढमवीयाओ समाओ बायालीसं वाससहस्साइं कालेणं पन्नत्ता ॥

(पढमवीयाउत्ति) एकान्तदुष्षमा दुष्षमा चेति ॥४२॥ त्रि-चत्वारिंशत्स्थानकेऽपि किंचिल्लिख्यते [कम्मविवागज्झयणात्ति] कर्मणः पुण्यपापात्मकस्य विपाकस्य फलं तत्प्रतिपादकान्यध्यय-नानि कर्मविपाकाध्ययनानि एतानि च एकादशाङ्गद्वितीयाङ्गयो सम्भाव्यन्त इति "जंबुद्दीवस्सणमित्यादि" जम्बूद्वीपपौरस्त्यान्ता-द्गोस्तुभपर्वतो द्विचत्वारिंशद्योजनानां सहस्राणि तद्विष्कम्भश्च सहस्रं तदधिकाया द्वाविंशतेरल्पत्वेनाविवक्षणादेव त्रिचत्वारिंश-त्सहस्राणि भवन्तीति एव [चउद्दिसिंपित्ति] उक्तदिगन्तर्भावेन चतस्रो दिश उक्ता अन्यथा एव (तिद्दिसिंपित्ति) वाच्यं स्यात् तत्र शेषमतिदेशः "जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स दाहिणिल्लाओ चरमंताओ दगभा-सस्स णं आवासपव्वयस्स दाहिणिल्ले चरिमंते एसिणं तेयालीसं-जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पन्नत्ते" एवमन्यत्सूत्रद्वयं नवरं पश्चिमायां सङ्खा आवासपर्वत उत्तरस्यामुदकसीम इति ॥४३॥ चतुश्चत्वारिंशत्स्थानकेऽपि किंचिल्लिख्यते चतुश्चत्वारिंशत् (इसिभासियत्ति) ऋषिभाषिताध्ययनानि कालिकश्रुतविशेष-भूतानि (दियालोयचुयाभासियत्ति) देवलोकच्युतैः ऋषीभू-तैराभाषितानि देवलोकच्युताभाषितानि । क्वचित्पाठ देवलोय-चूयाणं वायालीसं इसिभासियज्झयणा पन्नत्ता (पुरिसजुगाइति) पुरुषाः शिष्यप्रशिष्यादिक्रमव्यवस्थिता युगानीव कालविशेषा इव क्रमसाधर्म्यात्पुरुषयुगानि (अणुपिट्ठित्ति) आनुपूर्व्या (अ-णुवद्धत्ति) पाठान्तरे तृतीयावर्शनादनुवन्धेन सातत्येन सिद्धा-नि जानति करणेन बुद्धाई सव्वदुक्खप्पहीणा इति दृश्यम् । स० टी० समवायाङ्गे प्रतिवासुदेवेषु बलीस्थाने महाभीम इति ।

अहवा तिविहा उस्सप्पिणी पन्नत्ता तं जहा उक्कोसा म-ज्झिमा जहन्ना एवं छप्पि य समाओ भाणियव्वाओ जाव दुसमदुसमा तिविहा उस्सप्पिणी पन्नत्ता तं जहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना । एवं छप्पि य समाओ भाणियव्वाओ जाव सुसमसुसमा ॥

उत्सर्पिण्यां दुष्षमदुष्षमादि तद्भेदानां चोक्तविपर्ययेणोत्कृष्ट-त्व योज्यमिति । षष्ठेऽरके उत्कृष्टा चतुर्थे मध्यमा प्रथमे जघन्या ॥ स्था० ३ ठा० १ उ० ।

उस्सप्पिणीगंडिया–उत्सर्पिणीगण्डिका– स्त्री० उत्सर्पिणी-विषयैकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां गण्डिकायाम्, स० ॥

उस्सप्पिणीसमय–उत्सर्पिणीसमय– पु० उत्सर्पिणीशब्देनाव-सर्पिण्युपलक्ष्यते दिनग्रहणेन राज्युपलक्षणवत् तयोः समयाः परमनिकृष्टाः कालविशेषाः उत्सर्पिणीसमयाः । अवसर्पिण्युत्स-र्पिण्यो समयेषु, कर्म० ॥

उस्सय–उच्छ्रय– पुं० शरीरे, आव० ५ अ० । स्वभावोन्नतत्वे तद्रूपे पञ्चचत्वारिंशत्तमे गौणाहिंसालक्षणेऽर्थे, प्रश्न० २ श्रु० १ अ० । उच्छ्रयाङ्के, " उच्छ्रायेण गुणितं चिते फलम्" वाच० ।

उस्सयण–उच्छ्राय– पुं० यस्मिंश्च सति ऊर्ध्वं श्रयति जात्यादि-ना दर्पाध्मातः पुरुष उत्तानी भवति स उच्छ्रायः । माने, " यच्चि-ह्नुस्सयणाणि य " जात्यादीनामेतत्स्थानानां बहुत्वात् तत्कार्य-स्यापि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनम् । शब्दसत्वान्नपुंसक-लिङ्गता । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ॥

उस्सव–उत्सव– पु० उद्-सू-अप् । आनन्दजनकव्यापारे, शक्रोत्स-वादौ, प्रश्न० २ श्रु० ५ द्वा० । इन्द्रमहादौ, आ० चू० १ अ० ॥

उस्सविय–उच्छ्राय्य– अव्य० ऊर्ध्वं व्यवस्थाप्येत्यर्थे, " अवहट्टु उस्सविय दुरुहेज्जा "आचा० २ श्रु० १ अ० । ' आमंतिय उस्सविय भिक्खु आयसा निमंतंति " संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ॥

उस्सासिय–उच्छ्वसित– त्रि० उच्छ्वसिते, उत्त० २० अ० ॥

उस्सासियरोमकूव–उच्छ्वसितरोमकूप– पु० साधोर्दर्शनाद् वाक्य-श्रवणादुच्छ्वसितरोमकूपे, उत्त० २० अ० ॥

उस्ससेज्जमाण–उच्छ्वस्यमान– त्रि० उच्छ्वसिते क्रियमाणे " उ-स्सस्ससेज्जमाणे वा अच्छिन्नं पुमाले चएज्जा" उच्छ्वस्यमान उच्छ्वा-सवायुपुद्गल " स्था० १० ठा० ॥

उस्सा–अवश्याय– पुं० कृपाजले, (स्था० ४ ठा०) यो गगना-त्पतति । कल्प० । धेनुपर्याये, देशी० ॥

उस्साचारण–अवश्यायचारण– पु० अवश्यायमवलम्ब्याप्काय-

जीयपीमामजनयति गतिमसङ्गं कुर्वाणे चारणभेदे, प्रव० ६७ द्वा०।

उस्सारकप्प–उत्सारकल्प– पुं० यत्रैकस्मिन् दिने बहुदिवसयोग्यसूत्रस्य वाचना दीयते तस्मिन्, आ० चू० १ अ०॥

उत्सारकल्पस्य दोषादिवक्तव्यता। अथानुपङ्क्तिकमुत्सारकल्पिकद्वारमभिधित्सुः प्रस्तावनामाह॥

चोयगपुच्छा उस्सार–कप्पिओ नत्थि तस्स विह नामं।
उस्सारे चउगुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा॥

कल्पिकद्वारे व्याख्याते सति लब्धावकाशो नोदकः पृच्छां करोति भगवन्नमीषां कल्पिकानां मध्ये किमित्युत्सारकल्पिको नाभ्यधत्त। सूरिराह नास्त्युत्सारकल्पिक इति। भूयोऽपि परः प्राह। यद्युत्सारकल्पिको नास्ति ततः कथं तस्य नाम श्रूयते गुरुराह यद्यप्युत्सारकल्पो नास्त्याव्यवच्छिद्यते तथाऽपि न कल्पते उत्सारयितुं यद्युत्सारयति तदा चत्वारो गुरुकाः। तत्राप्याज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः। तानेवाह।

आणाणवत्थमिच्छा–विराहणा संजमे य जोगे य।
अप्पा परो पवयणं, जीवनिकाया परिच्चत्ता॥

आज्ञा भगवतां तीर्थकृतामुत्सारकल्पकृता न कृता भवति तमाचार्यमुत्सारयन्तं दृष्ट्वा अन्येऽप्याचार्या उत्सारयिष्यन्ति तदीया अन्यदीया वा शिष्या विवक्षितशिष्यस्पर्द्धानुबन्धादुत्सारापयिष्यन्ति वेत्यनवस्था। मिथ्यात्वं वा प्रतिपन्ना अभिनवधर्माणः सत्वा व्रजेयुः। विराधना संयमे च संयमविषया योगे च योगविषया भवति। तथा तेनोत्सारकेण आत्मा स्वजीवः परः उत्सारकल्पविषयः शिष्यः प्रवचनं तीर्थं जीवनिकायाः पृथिव्यादयः एतानि परित्यक्तानि भवन्तीति द्वारगाथासमासार्थः। सांप्रतमेनामेव विवरीषुः राज्ञाऽनवस्थे क्षुण्णत्वादनादृत्य मिथ्यात्वं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह।

पुव्वगलियउस्सार–वायए आगए पमिमिलिंति।
पडिसेहपुग्गलि ति य, बहुजणओहावणा तित्थे॥

तत्र तावत्प्रथमं कथानकमुच्यते। इह पुरा केचिदाचार्याः पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारकतया लब्धवाचकनामधेयाः सर्वज्ञशासनसरसीरुहविकाशनैकसहस्ररश्मयः प्रावृषेण्यपयोमुच इव सरसदेशनाधाराधरनिपाते महीमण्डलमेकार्णवधर्मकमादधाना गन्धहस्तिन इव कलयूथेन सातिशयगुणवता निजशिष्यवर्गेण परिकलिता एकं कंचिद्ग्राममुपागमन्। तत्र चाधिगतजीवाजीवादिविशेषणविशिष्टा बहवः श्रमणोपासकाः परिवसन्ति। ते च गुरूणामागमनमाकर्ण्य प्रमोदमेदुरमानसाः स्वस्वपरिवारपरिवृताः सर्वेऽप्यागम्य तदीयपादारविन्दमभिवन्द्य योजितकरकुड्मला यथास्थानमासाञ्चक्रिरे। ततः सूरिभिरपि रचिता यथोचिता धर्मदेशना। तदाकर्णनेन संजातसंवेगसुधासिन्धौ नान्तरमलः सकलोऽपि श्रावकलोको गतः परमपरितोषपरवशः सूरीणां गुणग्रामोपवर्णनं कुर्वन् स्वं स्वं स्थानम्, तैश्च वाचकमनोमणिभिस्तत्रापातैः प्रतिहतः खद्योतपोतकल्पानामन्ययूथिनां प्रतापप्रसरः। ततो न शृण्वन्ति तेऽन्ययूथिका आचार्याणां व्याख्यानादिभिर्गुणैर्जायमानं निरुपमानं महिमानं द्रष्टुमिति संभूय सर्वेऽप्युपमाचार्यं वादे पराजित्य तृणादपि लघूकरिष्याम इत्येकवाक्यतया चेतसि व्यवस्थाप्य समाजग्मुः सूरीणामन्तिकम्। सूरिभिरपि नित्यानिमग्रमितामागारमतनवयादलब्धिसपत्नैर्निपुणहेतुदृष्टान्तोपन्यासपुरस्सरं मध्ये विद्वज्जनसमं कृतास्ते निष्पृष्टप्रश्नव्याकरणाः। ततः समुच्छलित पारमेश्वरप्रवचनगोचर कीर्तिकोलाहल प्रादुर्भूत परतीर्थिकानामपि परम पराभव निमग्न प्रमोदपीयूषपयोनिधावस्तोकः श्रमणोपासकलोकः संपादिता सपदि दिक्षोपलस्तेन महती तीर्थस्य प्रभावना। ततस्ते वाचकाः कियन्तमपि कालमवस्थाय ग्रामं प्रबोध्य मिथ्यात्वनिद्राविद्रावणदक्षतन्यं प्रत्यन्तजानमन्यत्र कृत्राऽपि व्यहार्षुः। तेषु च दिनकरवदन्यत्र प्रतापवत्सु मीमुदवहमानेषु परतीर्थिका उलूका इवासप्रसरतया घोरघूत्कारकल्पं प्रवचनावर्णवादं कर्तुमारब्धाः। वदन्ति च श्रावकान् प्रति भो श्वेताम्बरोपासकाः! यद्यस्ति भवतां कोऽपि कमण्डलमुखो वादी स प्रयच्छतु सांप्रतमस्माकं वादमिति। श्रावकैरुक्तम्। अहो विस्मृतमधुनैव भवतां भवान्तरानुभूतमिव तत्तादृशमचिरवृत्तमपि लाघवं यदेवमनात्मज्ञा असमञ्जसं प्रलपत भवत्वेवं तथाऽप्यायान्तु तावत्केचिद्वाचका वा गणिनो वा पश्चाच्च भणिष्यन्ति भवन्तः तत्करिष्याम इति। अथैकदा कदाचिन्निजपरिहृत्यानिमानेन तु त्रुवनमपि तृणवन्मन्यमानस्तुच्छताडम्बराडम्बरेण वाचस्पतिमपि मूकमाकलयन् समागतः कतिपयशिष्यकलितः उत्सारकल्पिकवाचकः। ततः प्रमुदिताः श्रावकाः गताः अन्ययूथिकानामन्तर्णे निवेदितं तत्पुरतः युष्माभिस्तदानीमस्माकं समीपे वाद प्रार्थिन आसीत। अस्माभिश्च भणितमभूत् यदा वाचका अभ्यागमिष्यन्ति तदा सर्वमपि युष्मदभिप्रेतं विधास्याम इति तदिदानीमागताः सन्ति वाचकाः कुरुत तैः सह वादगोष्ठीं पूरयत सम्प्रतिज्ञामित्यभिधाय गताः श्रावकाः स्वस्वस्थानम्। तैश्चान्ययूथिकैः प्राचीनपराजयप्रजवभयभ्रान्तैरेकः प्रच्छन्नवेषधारी प्रत्युपेक्षकः किं सहृदय शास्त्रपरिकर्मितमतिर्वाग्मी वाचकः किं वा नेति ज्ञानाय प्रेषितः स चागम्योत्सारकल्पिकवाचकं प्रश्नयति परमाणुपुद्गलस्य कतीन्द्रियाणि भवन्तीति ततः स एवं पृष्टः सन् किंचिन्मात्रपठितत्वरितप्राहितया यथोक्ताध्ययनविचारविदिचारवर्दुहृत्यायात चिन्तयति च परमाणुपुद्गल एकस्माल्लोकचरमान्तादपर लोकचरमान्तमेकेनैव समयेन गच्छति स निश्चितं पञ्चेन्द्रियः कुतोऽनीदृशस्यैवंविधा गमनशक्तिरिति विभाव्य वाद प्रतिपदमभिधत्ते भद्र! परमाणुपुद्गलस्य पञ्चापीन्द्रियाणि भवन्ति ततः एवंविधं निर्वचनमवधार्य स पुरुषः प्रत्यावृत्य गतः अन्ययूथिकानां सन्निधौ कथितं सर्वमपि स्वरूपं तदग्रतस्ततः चिन्तितं स्वचेतसि तैर्नूनमयं शारदवारिद इव बहिरेव केवलं गर्जति न तत्त्वतुच्छ एवेति विमृश्य समागताः सन्नुय पूगास लोकमीक्षं कृत्वा वाचकान्तिकं कुमितोऽसौ स्वतुच्छतया तावन्तं समुदायमवलोक्य सञ्जातस्वेदबिन्दुसुर्चाकितशरीरः आक्षिप्त अदेशदमन्यतीर्थिकोऽप्राहितो यथाऽनिमग्न पङ्कपिदोष न शक्नोति निर्यातुं प्रगल्भतो दुस्तराणि प्रश्नोत्तराणि न जानीते स्वावासोऽपि प्रतिपत्तुं तत कृतो मिथ्यादृष्टिभिर्जिनं जितमस्माभिरित्युत्कृष्टकलकलः प्रादुर्भूत प्रवचनमालिन्य सुशुक्लितानि श्रमणोपासकवदनकमलानि विप्रतिपन्ना यथा भद्रकादय इति। अथ गाथाक्षरार्थं पूर्वं केचिद्वाचकैरन्ययूथिका वादिनोऽपि मानभ्रंशेन गर्जितमत्र उत्सारवाचके आगते सति प्रतिभेदन्ति प्रतिहत्या मानमर्दनं कुर्वन्ति कथमित्याह "पडिसेह" इत्यादि तैरन्यतीर्थिकैः प्रत्युपेक्षकः पुरुषः प्रेषितस्ततः स आगत्य पृष्टवान् पुद्गलस्य परमाणोः कतीन्द्रियाणि तेन प्रत्युक्तं पञ्चेति। समस्तपुद्गलमध्ये स वाचको वादे निरुत्तरोऽभूत् एवमवज्ञा जाता शासनस्य श्राद्धानां न

यति नत्र चाज्ञिनवधर्मेणा चेतसि विकल्प उपजायते यदि नाम वाचकोऽप्येन न शक्नोति निर्वचनमर्पयितु तन्नूनमेतेषां तीर्थकरेणैव न सम्यग्वस्तुतत्त्व परिज्ञातमन्यथा कथमेष एवविधे अर्थ व्यामुह्यते इति विपरिणामतो मिथ्यात्वगमन भवेत् । भावित मिथ्यात्वद्वारम् ।

अथ संयमविराधनां भावयति ।

जीवाजीवे न मुणइ, अलियभया कहेइ दगमिगाई ।
करणे अविवच्चासं, करेइ आगाढणागाढे ॥

जीवाश्चाजीवाश्च जीवाजीवास्तानसौ वाचनामात्ररूपेणोत्सारकल्पेनानुयोगमवगाह्यमानो विविक्तेन न मुणति न जानीते तत्परिज्ञामात्राच्च कुतः संयमसद्भावस्तदुक्त परमर्षिभिः । " जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न जाणइ । जीवाजीवे अजाणंतो, कह सो नाहिइ संजम " तथा अलीकमत्यन्तभयादुदकमृगादीन् कथयति किमुक्त भवति स उत्सारकल्पिकपल्लवमात्रग्राहितया सत्यमेव भाषितव्य नासत्यमिति कृत्वा उदकार्थिना नदीतडागादौ पानीयमस्ति नास्ति वेति पृच्छतामलीक मा ब्रूविति कृत्वा विद्यते नद्यादौ जलमिति कथयति " तथा प्रस्थितानां च व्याधाना इह मृगयूथं न वेति पृच्छतामलीकभयादेव दृष्टमिति प्रयच्छति आदिशब्दात् शूकरादिपरिग्रहः न पुनर्जानीते यथा । " सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो त्ति " तत स जलगतसूक्ष्मजन्तुजातस्य मृगादीना वा यद् व्यपरोपण ते करिष्यन्ति तत्सर्वमुत्सारकल्पकारकः प्राप्नोति । तथा करणे चारित्रे उत्सर्गापवादविधिमजानन् यद्विपर्यासं करोति तद्यथा आगाढे ज्ञानादिकार्ये अनागाढमिति कृत्वा परिभ्रमणादिलक्षणमनागाढे वा आगाढ सद्य प्रतिसेवनात्मक करोति । एषा सर्वाऽपि संयमविराधना ॥

अथ योगविराधनामाह ।

तुरियं नाहिज्जंते, नेव चिरं जोगजति ता हे ते ।
लद्धो महतसद्दो त्ति, केई पासाइ गेण्हंति ॥
कमजोगं न विजाणइ, विगईओ का य कत्थ जोगम्मि ।
अन्नस्स वि देंति तहा, परंपरा घंटदिठ्ठंतो ॥

अनुज्ञातोऽस्माकं गुरुभिः सकलोऽपि श्रुतस्कन्ध ततः किमनेन पठितेन कार्यमिति कृत्वा ते शिष्यास्त्वरितं शीघ्र नाधीयन्ते नैव च ते चिर योगैः श्रुताध्ययननिबन्धनतपोविशेषैः यन्त्रिता नियमिता भवन्ति एकाहेनापि प्रभूतसूत्रार्थं वाचनानुज्ञाप्रदानात् । तथा लब्धोऽस्माभिर्गणिरयं वाचकोऽयमिति महान् शब्दस्तत कुतो हेतोर्वयमत्राचार्यसन्निधौ निष्पन्न तिष्ठाम इति परिभाव्य केचिद्गुरुचरणपर्युपासनापरिभग्नाः पार्श्वानि गृह्णन्ति पार्श्वतो ग्रामेषु यथास्वेच्छ विहरन्तीति भावः [कमजोगमिति] योगक्रम नापि नैव जानन्ति यथा अस्मिन् योगे एतावन्त्याचाम्लानि इयन्ति निर्विकृतिकानि इत्थं चानुद्देशादय क्रियन्ते तथाऽधिकृतय काः कुत्र योगे कल्पन्ते न वेत्त्येवमपि न जानाति यथा कल्पिकाकल्पिकनिशीथादियोगेषु न विसृज्यन्ते काश्चनापि विकृतयः व्याख्याप्रज्ञप्तियोगेषु पुनरवगाहिमाविकृतिर्विसृज्यते दृष्टिवादयोगेषु तु भाज्य तथा चाह स एव कल्पाध्ययनस्य चूर्णिकृत् । " जहा कप्पियाकप्पियनिसीहाईण विगईओ न विसज्जिज्जति । पन्नत्तीए ओगाहिमगविगई विसज्जिज्जइ दिट्ठीवाए भोयणोत्ति " । निशीथचूर्णिकृत्पुनराह "जोगो दुविहो आगाढो अणागाढो वा आगाढतरा जम्मि जोगे जयणा सो आगाढो यथा भगवतीत्यादि । इतरो अणागाढो यथा उत्तराध्ययनादि । आगाढे ओगाहिमगवज्जाओ नव विगईओ वज्जिज्जंति दस— मा र भयणमहाकप्पसुए एक्को पर मोदकाविगई कप्पइ सेसा आगाढेसु स-घविगईओ न कप्पंति अणागाढे पुण दस वि विगईओ भइयाओ ऊओ गुरुअणुण्णाए न कप्पंति त्ति " एवविधां योगव्यवस्थामजानन् यदाऽसौ विराधयति सा योगविराधना । तथा (अन्नस्स वि दिति तहत्ति) ते उत्सारकल्पिका अन्यस्यापि स्वशिष्यादे तथा चोत्सारकल्पेनैव वाचनां प्रयच्छन्ति सोऽप्यपरेषा तथैवत्येवमुत्सारकल्पे प्रवाहतः क्रियमाणे परम्परया सूत्रार्थव्यवच्छेदः प्राप्नोति घण्टादृष्टान्तश्चात्र वक्तव्यः । तमेवोपनययुक्त गाथाद्वयेणाह ।

उच्छुकरणोक्कुडुग, पडणं घंटासियालनासणया ।
विगमाई पुच्छपरं—पराए नासंति जा सीहो ॥
परियरिउं सा हणं, स हओ आसासिया मिगगणा य ।
इय कइ वयाइ जाणइ, पयाण पढमिल्लुगुस्सारी ॥
किं पि किं अन्न पुट्ठो, पच्छ तुस्सारणे अनोच्छत्ती ।
गीतामगणखरंटण—पच्छित्तं ।कत्तिया चेव ॥

अत्र कथानकम् । एगस्स महावइयस्स उच्छुवाडो बहुसइओ निप्फन्नो त सियालो पइसरित्ता खाइत्ति । ताहे सो उच्छुसामी सियालगहणनिमित्त तस्स उच्छुवाडस्स परिपेरंतेसु चउद्दिसि खाइय खणावेइ तत्थ एगो सियालो परिओसो वराओ गिहित्ता कणे पुच्छं च कप्पित्ता दीवियचम्मेण वेढित्ता घटं आबंधित्ता विसज्जिओ नासतो सियालेहिं दिट्ठो दूरओ ते सियाला अन्नारिसो त्ति काउं भएण पलाया तो विदूरेहिं दिट्ठा पुच्छिया किं नासहत्ति तेहिं कहियं अपुव्व सरे करेमाणे किं पि अपुव्व भूय एत्ति । ते वि भएण पलायता वरक्खूहिं दिट्ठा पुच्छिया तेहिं कहिय किं पि किर एत्ति ।सिग्घ नासह ते पलायता चित्तएहिं दिट्ठा पुच्छिया कहिय किं पि किर एत्ति तुरिय पलायह ते वि पलायता सीहेण पुच्छिया कहिय तेहिं सीहो चिंतेइ मो पाणियरुद्धेन ओवाहणाओ मुयामि गवेसामि ताव तेण सणिय पडियरियत्ता सियालो वि हओ घंटासीयालो कीस आओ लीकयामोत्ति रोसेण ते अ सियालादयो मिया आसमो भीयह हओ सो वराओ मए दीविय चम्मो एदो घंटासीयलो न ण वि अवराहेण हुं तह कओ एस दिट्ठतो । अघंटासीयलो न ण वि अवराहेण नुं तह कओ एस दिट्ठतो । अयमत्थो जस्स त उस्सारिज्जति सो जावतिएहिं दिवसेहिं जोगो समप्पइ तावति दिवसे कति वयाण आलावगाणं किंचि पुत्तफासियम्मि खित्ता पच्चत्त गतूण गच्छगापच्छित्तण करेंति अन्नेसिं च उस्सारेति ते वि उस्सारा पत्ता पत्तेय गच्छपागट्ठिसणेण गीरत्ता सिस्साण परिच्छयाण य उस्सारकप्प करेंति । अम्हे किर सुत्तत्थाणं अवोच्छित्तिं करेमो तत्थ जो सोपमिल्लुगउस्सारी सो जहा ते सियाला तस्स घंटासियालस्स अकिंचि घंटासद्दं च जाणति तओण को एस किं वा एयस्स गहएयस्स गन्नएकस्स वा एस सद्दो एव सो पढमिल्लुगुस्सारी किंचि वि जाणइ न सव्व सब्भाव जो एयस्स पासे उस्सारकप्पं करेंति सो कइवि आलावए जाणंति न पुण अत्थ सो सिस्सेण पुच्छिओ भणति किं पि केरिसो वि अत्थि एयस्स अत्थो सेसा कानिवए वि आलावए न कहेति ते सिस्सेहिं पुच्छिज्जता भणंति ण याणासो पुण किंपि एद तस्स तुब्भे जोग वहह । एव ते अप्पाण च पर च नासता विहरति । अह अन्नया गीयत्था

आयरिया आगया तेहिं ते उवालद्धा गच्छाय आढत्ता गच्छेसु य पवेसिया सव्वे जहा एते दोसा तम्हा न उस्सारियव्वा कप्पिया ते नविस्संति जे एवं निहोसिहिंति। गाथात्रयस्याप्यक्षरगमनिका इत्येव क्रियते। यत्र तद्विकुरु-रणमिक्षुवादस्तस्य रक्षणार्थम् वराको गताख्यानिकेत्यर्थे साख्यानिका तत्र क्रोष्टुः शृगालस्य पतनं ततो गृहपतिना गलके घण्टा बध्वा मुक्तस्य दर्शनं शृगालानां नाशनं ततो वृकादीनां पृच्छा ततः सर्वेऽपि परम्परया नश्यन्ति यावत् सिंहः समागतस्तेन प्रतिजागर्य निरूप्य स घण्टाशृगालो हतः। शेषा मृगगणा शृगालवृकादय आश्वासिताः। अथ दृष्टान्तः। अथ दार्ष्टान्तिकयोजनामाह " इयकइवयाइ इत्यादि " इत्यमुनैव प्रकारेण प्रथमिल्लुकोत्सारी शिष्यः कतिपयानि सूत्रालापकरूपाणि किञ्चिन्मात्रसूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिमिश्रितानि जानीते अस्य च समीपे योऽन्योऽधीते स कतिपयान् सूत्रालापकान् जानीते न पुनरर्थं तस्यापि पार्श्वे य पठति स सूत्रालापकानपि नाकर्षति। अन्येन पृष्टः प्रतिभणति अस्ति किमप्येतदङ्गोपाङ्गादिकं श्रुतं तद् यूयमेतस्य योगमुद्वहतेति। एते च दुरधीतविद्यत्वात्प्रायः प्रत्यन्तग्रामं पर्यायं लभन्ते। यत उक्तम्। "पाएण खीणदव्वा, धणियपरद्धा कयावए हाय। पच्चत सेवंती, पुरिसा दुरहीयवज्झाया"। अतः प्रत्यन्तं गत्वा सूत्रार्थयोरुत्सारणं कुर्वन्ति वदन्ति च वयं सूत्रार्थयोरव्यवच्छित्तिं कुर्म इति अन्यदा च यत्र प्रत्यन्तग्रामे गीतार्थानामागमनं तदुत्सारकल्पिकानां खण्टनं यथा आः किमेवं सूत्रार्थयोः पारिपाटिनाचनां परित्यज्य सकश्रुतनधर्मधूमकेतुकल्पमुत्सारकल्पमाचरन्त आत्मानं च परं च नाशयतेत्यादि। ततश्च गच्छान्नावलिष्यते तेषामपुनः करणेन प्रतिक्रान्तानां प्रायश्चित्तं दत्तम् [कित्तिय त्ति] कियन्त एतादृशा गीतार्था भविष्यन्ति य एव शिक्षयिष्यन्ति तस्मात्प्रथमत एव नोत्सारणीयम् भाविता सप्रपञ्चं योगविराधना।

अथात्मा परश्च परित्यक्त इति पदद्वयं भावयति।

अप्पत्ताण उ दिंतेणं, अप्पओ इह परत्थ वि य चत्ते।
सो वि अ हु तेण चत्तो, जं न पढइ तेण गव्वेणं ॥

अपात्राणामयोग्यानां यद्वा अप्राप्तानां विवक्षितानुयोगभूमिमनुपागतानां श्रुतं ददतोत्सारकल्पकृता आत्मा इह परत्रापि चत्यक्तस्तत्रेह तद्वाचनादानसमुद्भूतापयशःप्रवादादिना परत्र बोधिदुर्लभत्वादिना तथा सोऽपि शिष्यो हु निश्चितं तेनाचार्येण परित्यक्तो यत् तेन गणिवाचकत्वादिगर्वेणाधिष्ठितः स न पठति पठनाभावे हि कुतो यथावच्चरणपरिपालनम्। किं च-

अज्जंस्स हीलणा ल-ज्जणा य गारवि अकारणपणज्जे।
आयरिए परिवाओ, वोच्छेदो सुत्तस्स तित्थस्स ॥

आर्यं लज्जन सुमानुष इत्येकोऽर्थं। तस्य यथावदागमार्थबोधविकलस्य वाचकनाम्ना हीलना भवति। अहो हीलेयं मम यदहं वाचकं इत्यभिधीये तथा (लज्जणत्ति) वाचकमिथ्या अयमाज्ञापकः सिद्धान्ते विद्यते को वा अस्याज्ञापकस्यार्थ इति केनापि पृष्टस्य व्याकरणं दातुमशक्नुवतो भृशं लज्जा भवति ततश्च श्यामवदनकुञ्जाहनकन्धराइश्चिन्तया विमनायमानोऽवतिष्ठते अनार्ये अनार्यस्य पुनस्तदेव गौरव्यकारणं गर्वनिबन्धनं जायते अहो वयमेव निरस्तीमप्रतिष्ठापाया जगति वर्तामहे यदेव वाचकपदवीमध्यारोहाम इति इत्थं परः परित्यक्तो मन्तव्य एव। आचार्ये च परिवादो भवति तथाहि स बहुश्रुताचार्यपार्श्वादुत्सारकल्पं कारयित्वा गतः

क्वापि नगरादौ पृष्टश्च कैश्चिन्निपुणातैः किमर्थं पदं यावत् न किंचित् अयं जानीते ततस्ते ब्रुवते येरेप सूत्रार्थमपठलीमव्यवलम्बिरेप आचार्यपदभाजनमाकारि तेऽप्याचार्या एवंविधा भविष्यन्तीत्यात्मा परित्यक्तः। तथा प्रवचनमपि तेनाचार्येण परित्यक्तं कथमित्याह श्रुतस्योत्सारकल्पवशादनधीयमानस्य व्यवच्छेदं प्राप्नोति श्रुते च व्यवच्छिद्यमाने ज्ञानाभावे च दर्शनचारित्रयोरप्यभावात्तीर्थस्यापि व्यवच्छेदः प्राप्नोति। यदि नाम तीर्थं व्यवच्छिद्यते ततः को दोष इत्याह।

पवयणवोच्छेयवट्ट-माणो जिणवयणवाहिरमईओ।
वंधइ कम्मरयमलं, जरमरणमणंतयं घोरं ॥

प्रवचनं तीर्थं तस्य व्यवच्छेदे हेतुरूपतया वर्तमानः कथम्भूतोऽसावित्याह। जिनवचनबाह्यमतिकः सर्वज्ञशासनबहिर्मुखशेमुषीको न खल्वनीदृशस्य प्रवचनव्यवच्छेदं कर्तुं मतिरुत्सहते स एवम्भूतो बध्नाति कर्मरजोमलं रजःशब्देन बद्धावस्थं मलशब्देन निकाचितावस्थं कर्म परिगृह्यते रजश्च मलश्चेति रजोमलं कर्मैव रजोमलं कर्मरजोमलं निकाचिताऽनिकाचितावस्थं कर्म यथाध्यवसायस्थानमनुबध्नातीत्यर्थः। कथम्भूतमनन्तानि जरामरणानि यस्मात् तदनन्तजरामरणं गाथायां प्राकृतत्वादनन्तशब्दस्य परनिपातः। घोरं रौद्रं शारीरमानसदुःखोपनिपातनिबन्धनत्वात् इति। तथा षड्जीवनिकायानप्यगीतार्थतयाऽसौ विराधयतीति जीवनिकाया अपि तेनोत्सारकेण परित्यक्ता अवमन्तव्या। यत एते दोषास्ततो नोत्सारणीयम् ॥

अथ क्रमेणैवाधीयमाने सूत्रे के गुणा उच्यन्ते।

आणा विकोवणाणुओग-
बुज्झण उवओगनिज्जरागहणं।
गुरुवासजोगसुस्सू-
सणा य कमसो अहिज्जंते ॥

क्रमशः क्रमेणाधीयमाने अध्याप्यमाने च सन्ति एते गुणास्तद्यथा आज्ञा तीर्थकृता शिष्येणाचार्येण चाराधिता भवति [विकोवणत्ति] योगोद्वहनविधौ गच्छसामाचार्यां च विकोपना ह्युत्पादना च शिष्यस्य कृता भवति ततश्च स्वयं सामाचारीवैतथ्यं न करोति अपरान् कुर्वतो निवारयति। तथा गच्छमध्ये तिष्ठतोऽरुप्यामनुयोगः प्रवर्तते तदाकर्णनान्मन्दबुद्धेरपि बोधनं जीवाजीवादितत्त्वेषु प्रबुद्धता सम्पद्यते बुध्यमानस्य च श्रुते निरन्तरमुपयोगो जायते निरन्तरोपयुक्तस्य च महती निर्जरा प्रतिसमयसङ्ख्येयभवोपात्तकर्मपरमाणुपटलापगमात्। उक्तं च। " कम्ममसंखेज्जभवं, वेइ अणुसमयमेव आउत्तो। अन्नयरम्मि वि जोगे सज्झाय मा विससेण " नित्योपयुक्तस्य च शीघ्रं सूत्रार्थयोर्ग्रहणं भवति तथा हि गुरुवासेन गुरुकुलवासेन सार्द्धं योगः सम्बन्धो भवति अन्यथा क्रमेण सूत्रार्थाध्ययनायोगात्। यद्वा पदद्वयमिदं पार्थक्येन व्याख्यायते गुरूणामन्तिके वासो गुरुवासः स सेवितो भवति योगाश्च विधिवदाराधिता भवन्ति। आचार्यादीनां शुश्रूषा विनयवैयावृत्त्यादिना कृता भवति। यत एते गुणास्ततः क्रमेणवाध्येतव्यः। उपसंहरन्नाह—

इअ दोसगुणे नाउं, उक्कमक्कमओ अहिज्जमाणाणं।
उभयविसेसविहिन्नू, को वयणमकुव्वेज्जाहि ॥

इतिशब्द एवमर्थे एवमुत्क्रमतः क्रमतश्चाधीयानानामुपलक्षणत्वादध्यापयतां च यथाक्रमं दोषान् गुणांश्च ज्ञात्वोभयविशे-

यविधिज्ञः क्रमाध्ययनगुणदोषविभागविधिवेदी आचार्यः शिष्यो वा कोऽनामोत्सारकल्पस्य करणेन कारापणेन वा आत्मनो वचनमभ्युपेयादङ्गीकुर्यात् न कश्चिदित्यर्थः । यतश्चैवमतोऽनुपयोगित्वान्नास्त्युत्सारकल्पिक इति । बृ० १ उ० । पं० चू० ॥

कारणेऽस्तीति निश्चाययन्पुनरपि परः प्राह ।

जइ नत्थि कप्पो नामं,अलइ हु अत्थे न होइ अभिहाणं।
तम्हा तस्स पसिद्धी, अभिहाणपसिद्धिश्रो निप्फा ॥

यदि नास्त्युत्सारकल्पिकस्ततः कुतोऽस्य नामाभिधानमिदमायातं न कुतश्चिदित्यर्थः । अनेन प्रतिज्ञातार्थः सूचितः । कुत इत्याह । असत्यविद्यमानेऽर्थे अभिधेये हुशब्दस्य हेत्वर्थवाचकत्वात् यस्मान्न भवत्यभिधानं किं तु सत्येवेति अनेन च हेत्वर्थ उपात्तः । यतश्चैव तस्मात्तस्यार्थस्य प्रसिद्धिरभिधानप्रसिद्धित एव सिद्धा प्रतिष्ठितेति निगमनार्थः । दृष्टान्तोपनयौ स्वयमेवाऽभ्यूह्य वाच्योऽत्र प्रयोगः । अस्त्युत्सारकल्पिकः अभिधानवत्त्वात् घटादिवत् यद्यदभिधानवत् तत्तदस्ति यथा घटपटादि अभिधानवच्चेद तस्मादस्तीति । इत्थं परेण स्वपक्षे समर्थिते सति प्रतिविधीयते भो भद्र! सुष्टु प्रमाणानिकोऽनैकान्तिकोऽयं भवता हेतुरुपन्यस्तस्तथा चाह ।

जइ सव्वं वि य नामं, सअत्थगं होज्ज तो भवे दोसा ।
जम्हा स अत्थगत्ते, नजिवं तम्हा अणेगंतो ॥

यदि सर्वमपि नाम सार्थकं भवेत् ततो भवेदस्माकं दोषः । उत्सारकल्पिकस्यास्तित्वापत्तिलक्षणो यस्मात्पुनः सार्थकत्वे नाम भक्तं विकल्पितं स्यात् सार्थकं स्यान्निरर्थकमिति भावः । तत्र सार्थकं जीवाजीवादिकं निरर्थकं खरविषाणाकाशकुसुमकूर्मरोमवन्ध्यापुत्रादिकं यत एवं तस्मादनेकान्तोऽयं यदसद्भूतेऽर्थे न भवत्यभिधानम् । इदमत्र तात्पर्यम् । अभिधानस्य घा भावाभावयोरपि सद्भावादभिधानवत्त्वलक्षणो हेतुर्यथा उत्सारकल्पिकस्याऽस्तित्वं साधयति तथा नास्तित्वमपि साधयति उभयत्रापि साधारणत्वात् अतः साधारणरूपोऽनैकान्तिकदोषदुष्टोऽयं हेतुरिति । इत्थं व्यभिचारिपक्षतया विलक्षीभूतः पर परित्यज्य यदृच्छाजल्पमाचार्यवचनमेव प्रमाणीकुर्वन्निदमाह । भगवन्नभ्युपगतं मयाऽनन्तरोक्तयुक्तितोऽभिधानस्य सार्थकत्वमनर्थकत्वं चेति । यदिदमुत्सारकल्पिकाभिधानं सार्थकमाहोस्विन्निरर्थकमिति विपर्तते संशयावर्तगर्तोऽयमस्माकं चेतस्तदिदानीमुद्ध्रियतां निजवाग्वरत्रयेति । उच्यते ।

निक्कारणम्मि नाम पि, निच्छिमो इच्छिमो अकज्जम्मि ।
उस्सारकप्पियस्स उ, चोअगगुणकारण तं तु ॥

वत्स ! निष्कारणे कारणाभावे नामापि नेच्छामो वयं किं पुनरर्थं कार्ये प्रयोजनं प्राप्ते इच्छाम उत्सारकल्पिकमात्यर्थमपि तत्तु कारणं हे नोदक ! शृणु निशामय । तत्र निष्ठतु तावत्कारणं चतुर्धीना सर्वा अपि क्रिया इति ज्ञापनार्थं प्रथमतः उत्सारकमाह।

आयारादिट्ठिवायत्थं, जाणए पुरिसकारणविहिन्नू ।
संविग्गपरिचत्तं, अरिहइ उस्सारणं काउ ॥

आचार प्रथममङ्गं दृष्टिवादश्चरमं तयोरर्थं जानातीत्याचारदृष्टिवादार्थः । इहाचारदृष्टिवादग्रहणं वक्ष्यमाणकारणैस्तयोरेवोत्सारणीयत्वात् । इत्येवमर्थम् (पुरिसकारणविहिन्नू इति) पुरुषकारणविधिज्ञो नाम किमयं पुरुष उत्सारकल्पमर्हति न वा येन कारणेनोत्सार्यते तदस्ति न वेत्येवविधविधिवेदी । तथा संविग्नो मोक्षाभिलाषी अपरितान्तः सूत्रार्थग्रहणायामदोरात्रमप्यपरिश्रान्तः एवंविध उत्सारणं कर्तुमर्हति एवं गुणोपेत एवोत्सारकल्प करोतीत्यर्थः ॥

अथ यस्योत्सारकल्पः क्रियते तस्य गुणानाह ।

अभिगए पडिबद्धे, संविग्गे अ सलद्धिए ।
अवट्ठिए य मेहावी, पडिबुज्झी जोगकारए ॥

अभिगतः प्रतिबद्धसंविग्नश्च सलब्धिकः अवस्थितश्च मेधावी प्रतिबोधी । योगकारकः ईदृग्गुणोपेतः उत्सारकल्पयोग्य इति निर्युक्तिश्लोकसमासार्थः ॥

अथैनमेव विवृणोति ॥

सम्मत्तम्मि अभिगओ, विजाणओ वावि अब्भुवगओ वा।
सज्झाए अ पडिबद्धे, गुरुसु निएल्लएसुं वा ॥

सम्यक्त्वे आभिमुख्येन गतः प्रविष्टः सोऽभिगत उच्यते यो वा जीवादिपदार्थानां विज्ञापको विशेषेण ज्ञाता सोऽभिगतः । यद्वा योऽभ्युपगतो यावज्जीवं मया गुरुपादमूलं न मोक्तव्यमिति कृताभ्युपगमः सोऽभिगतः । यः पुनः स्वाध्याये परावर्तनादिप्रेक्षादौ सततमायुक्तो गुरुषु वा स्थिरममत्वानुबन्धः निजकेषु वा स्वबन्धिषु प्रव्रज्याप्रतिपन्नेषु सञ्जातप्रेमानुबन्धः एष त्रिविधोऽपि प्रतिबद्ध उच्यते ॥

संविग्गो दव्वम्मि उ, भावे मूलुत्तरेसु उज्जुयंतो ।
लद्धी आहाराइसु, अणुओगे धम्मकहणे य ॥

संविग्नो द्विधा । द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्ये द्रव्यसंविग्नो मृगः सदैव सर्वतोऽपि चकितत्वात् । भावे भावसंविग्नो मूलोत्तरेषु मूलगुणोत्तरगुणेषु पुनर्यतमानः उद्यमं विदधानः साधुर्मन्तव्यः सदैव संसारापायचकितत्वात् । तथा लब्धिराहारादिषूत्पादयितव्येष्वनुयोगे दातव्ये धर्मकथने च विधेये यः स सलब्धिक इति ।

लिंगविहारे वट्टिओ, मेरा मेहावि गहणओ भइओ ।
प डिवुज्झइ जं कत्थइ, कुणइ उ जोगं तदट्ठस्स ॥

अवस्थितो द्विधा लिङ्गे विहारे च । लिङ्गावस्थितः स्वलिङ्गं न परित्यजति विहारावस्थितः संविग्नविहारं विहाय न पार्श्वस्थादिविहारमाद्रियते । मेधावी द्विधा ग्रहणमेधावी मर्यादामेधावी च उभावपि वक्ष्यमाणस्वरूपौ तत्र मर्यादामेधाविन उत्सारकल्पः क्रियते स पुनर्ग्रहणे मेधावी वा स्यादमेधावी वा । द्विविधस्यापि कारणविशेषे उत्सार्यत इति ग्रहणतो मेधावी भक्तो विकल्पितः । तथा यत्कथ्यते अभिधीयते तत्सर्वं यः प्रतिबुध्यते स प्रतिबोद्धुं शीलमस्येति प्रतिबोधी यश्च तस्य तत्र उत्सार्यते तदर्थस्य ग्रहणे योग व्यापारं य करोति कदाचित्प्रमाद्यति स योगकारक इति तदेवं व्याख्याता " अभिगए" इत्यादिगाथा । ।

अथोत्सारकल्पिकस्यैवापराचार्यपरिपाट्या गुणानाह।

अभिगयथिरसंविग्गे, गुरुअणुई जोगकारए चेव ।
दुम्महमलद्धीए, पडिवुज्झी परिणयविणीए ॥
आयरियवयणवाई, अणुकूले धम्मसद्धिए चेव ॥
एयारिसे महाभागे, उस्सारं काउमरिहइ ॥

अभिगतः प्रतिबुद्धः स्थिरः सम्यग्दर्शनादक्षोभ्यः संविग्नो गुर्वमोची निष्ठुरं निर्भर्त्सितोऽपि गुरूणाममोचनशील

योगकारक' पूर्ववत् । दुर्मेधा अपि यः सलब्धिकः परिपक्वधिया परिणामको विनीत. अभ्युत्थानादिविनययोगतः आचार्यवर्णवादी गुरूणां गुणोत्कीर्तनकारी अनुकूलः आचार्याणामन्येषां वा पूज्याना वैयावृत्यादिना हितकारी धर्मे तपःसयमात्मके चारित्रधर्मे श्राद्धिक. श्रद्धावान् एतादृश एवविधगुणोपेतो महाभाग शिष्यः उत्सार कर्तुमर्हति उत्सारकल्पस्य योग्यो भवतीत्यर्थ. ।

अनीदृशानुत्सारयितु' प्रायश्चित्तमाह ।

अणभिगयमाईयाणं, उस्सारिंतस्स चउगुरू होंति ।
उग्गहणम्मि वि गुरुगा, कालमसज्झाय वक्खेवे ॥

आदेशद्वयेनापि ये गुणा उक्तास्तद्विपरीता ये अनभिगतादयस्तद्यथा अनभिगतः अप्रतिबद्धः असंविग्नः अलब्धिक. अनयस्थिनः अमर्यादोऽमेधावी अप्रतिबोद्धा अयोगकारक. अपरिणतः अविनीत' आचार्यावर्णवादी अननुकूलः अधर्मश्रद्धालु. एतेषामुत्सारयत' उत्सारकल्पं कुर्वत आचार्यस्य प्रत्येक चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तम् । (उग्गहणम्मि वि गुरुगत्ति) सूत्रमर्थं वा झगित्येवावगृह्णातीत्यवग्रहणः नन्द्यादिभ्योऽ नद् इति कर्तर्यनट्प्रत्ययः अवग्रहणमेधावीत्यर्थ' । तस्य यदि निष्कारणमुत्सारयति तदापि चत्वारो गुरुका. । अथ किमर्थं मेधाविनो नोत्सार्यन्ते उच्यते यतोऽसौ प्रज्ञावत्त्वादेवानुपूर्व्येव पाठ्यमानो झगित्येव विवक्षितमुत्सारणीयं श्रुतं प्राप्स्यति ततः को नाम तस्योत्सारकल्पकरणेऽभ्यधिको गुणः। अथवा (उग्गहणम्मि वि त्ति) यस्याचारान्तर्गतवस्त्रैषणाध्ययनस्योपक्रमणनिमित्तमुत्सार्यते तस्य यद्यप्युत्सारकल्पसमकालमेव सर्वमपि सूत्रमर्थं वा अवग्रह्णाति अपिशब्दान्मन्दमेधस्तया यद्यपि नावगृह्णाति तथाप्यवग्रहणे अनवग्रहणे वाऽकालोऽस्वाध्यायिक व्याक्षेपश्च न कर्तव्यः यदि करोति तदा चत्वारो गुरुका' । एतच्चाकालादिकमुपरिष्टाद्भावयिष्यते । अथवा (उग्गहणम्मि वि गुरुगत्ति) अन्यथा व्याख्यायते योऽवग्रहणे समर्थ उत्तममेधावी अपिशब्दः सभावनायां किं संभावयति यावन्मात्रं सूत्र तस्योद्दिश्यते तावदशेषमप्यर्थेन युक्तमवगृह्णाति यो वा वैरस्वामिवत् पदानुसारिप्रतिभो भूयस्तरमप्यनुसरति तस्योत्सारणीयम् । अथ नोत्सारयति तदा चतुर्गुरुकाः तत्रापि यावदुत्सारकल्प' क्रियते तावदकालोऽस्वाध्यायिक व्याक्षेपश्च न कर्तव्य' यदि करोति तदापि चतुर्गुरुका' ।

अथोत्सारकल्पकरणे यत् प्राक् कारण सन्यासिकीकृत तद्दर्शयति ॥

गच्छो अ अलद्धीओ, ओमाणं चेव अणहिसहाय ।
गिहिणो उ मंदधम्मा, सुद्धं च गवेसए उवहिं ॥

कस्याप्याचार्यस्य गच्छ सर्वोऽपि वस्त्रपात्रशय्योत्पादने अलब्धिकः तत्र च क्षेत्रे स्वपक्षत' परपक्षतो वा अवमान विद्यते ते च साधवोऽनधिसहा शीतादिपरीषहान् सोढुमसमर्था गृहस्थाश्च मन्दधर्माण. तुच्छधर्मश्रद्धकाः अप्रज्ञापिताः सन्तो न वस्त्रादि प्रयच्छन्ति शुद्ध चोपधिं साधवो गवेषयेयुरिति भगवतामुपदेश स च दुर्लभत्वात् तादृशेन साधुना न लभ्यते अत ईदृशे कार्ये लब्धिवान् दुर्मेधा अप्युत्सारकल्प कृत्वा वस्त्रैषणाध्ययनमुद्दिश्य कल्पिक क्रियते ततश्च कल्पिकीकृत सन् किं करोति इत्याह ।

हिंडउ गीयसहाओ, सलद्धिओ उवहणंति से लद्धिं ।
तो एक्कओ वि हिंडइ, आयरुस्सरियसुत्तत्थो ॥

गीतसहायो गीतार्थसाधुसहितो वस्त्राद्युत्पादनार्थं हिण्डता-म । अथ गीतार्थास्तस्य लब्धिमुपघ्नन्ति तत एकाकोऽप्यसहायोऽप्याचारोत्सारितसूत्रार्थः आचारान्तर्गतवस्त्रैषणादिसूत्रार्थमुत्सारकल्पकरणेन ग्राहितः सन् हिण्डते । ननु च किं कोऽपि कस्यापि लाभान्तरायकर्मक्षयोपशमसमुत्थां लब्धिमुपहन्ति येनैवमुच्यते ते गीतार्थास्तस्योपलब्धिमुपघ्नन्ति इत्यत आह ॥

भिक्खू विहतणुवद्दल-अन्नागधेज्जो जहिं तहिं न पडे ।
दुग्गतिगमाइभेदे, पडइ तहिं तत्थ सो नत्थि ॥

" कोइ किर परं वसईओ सत्थो अरूविं पवन्नो, तत्थ य एगो रत्तपडो निब्भग्गासिरसेहरो पंचण्ह वि सयाणं पुन्ने उवहणइ सो असत्थो तण्हाए पारद्धो दूरे अ अब्भवद्दलयं वासइ तेसिं उवरिं न पडइ ते दुहा तिहा इयरो रत्तपडो पुव्विल्ले णं मज्झे मेलिओ सव्वत्थ पडइ जत्थ सा तत्थ न पडइ जाव निव्वेरिओ एक्कओ जाओ जत्थ सो तत्थ पडइ एवं एयारिसा परस्स पुन्ने उवहणंति " अथ गाथाक्षरार्थः भिक्षुरेकः सार्थेन सार्द्धं विहमध्वानं प्रविष्ट इति शेषः । ततस्तृष्णया सार्थः प्रारब्धः बार्दल च वर्षितुमारब्ध यत्र येषां मध्ये सोऽभागधेयो यो भिक्षुस्तत्र वर्षं न पतति ततो द्विकत्रिकादिना द्विधा त्रिधादिना प्रकारेण सार्थस्य भेद. कृतस्तस्मिंश्च कृते यत्र स भिक्षुर्नास्ति तत्र सर्वत्र वर्षं पतति तस्योपरि न पततीत्येष दृष्टान्त. । अथार्थोपनय. यथा स भिक्षुः पञ्चविंशतिकस्यापि सार्थस्य पुण्यान्युपहतवानेवमन्येऽप्येवंविधा. परेषां लब्धिमतामपि स्वस्वकर्मक्षयोपशमसमुत्थां लब्धिमुपघ्नन्तीति ।

अथासौ कथं च वस्त्राण्युत्पादयतीत्युच्यते ॥

भिक्खं वा वि अडंतो, विइआ पढमा य अहव सव्वासु ।
सहिओ व असहिओ वा, उप्पापवायजावे वा ॥

भिक्षामटन् वस्त्राण्युत्पादयति वाशब्दो वक्ष्यमाणपक्षापेक्षायां विभाषायामपिशब्द. सभावनायां संभाव्यते । अयमपि प्रकार इति । अथ न शक्नोति युगपद् भिक्षामप्यटितुं वस्त्राण्युत्पादयितुं व्यतिक्रामति वा वेला भैक्षस्य वस्त्राण्युत्पादयतः । भिक्षां वाऽटद्भिर्न प्राप्यन्ते वस्त्राणीत्यादिना कारणेन द्वितीयायां पौरुष्यामनुयोगग्रहणं हापयित्वा वस्त्राण्युत्पादयेत् । अथ तदा न लभते बह्वी वा हिण्डिः कर्तव्या ततः प्रथमायामप्युत्पादयेत् । अथ बहवो गृहस्था द्रष्टव्या महता च कष्टेन ते श्रद्धां ग्राह्यन्ते तत' द्वयोरपि पौरुष्यो सर्वासु वा पौरुषीषु पर्यटति । यद्यपरे गीतार्थास्तस्य लब्धिं नोपघ्नन्ति तदा स तै सहितोऽप्युत्पादयेद्वा वस्त्राणि प्रभावयेद्वा दानधर्मं गृहिणां पुरतो यथा ईदृशः साधूनां धर्मो न कल्पतेऽमीषां भगवतामुद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टं पिण्डशय्यावस्त्रपात्रचतुष्टय गृहीतुं तदमीषां वस्त्रादावनुपयोज्यमानो महती कर्मनिर्जरेत्यादि । अथ ते गीतार्थास्तस्य लब्धिमुपहन्युस्ततस्तैरसहितोऽप्येकाकी उत्पादयितुं वा प्रभावयितुं वा प्रभुर्न कश्चिद्दोष । इत्थ तावद्वस्त्रादीनां कल्पिको भवत्विति कृत्वा यथा आचार उत्सार्यते तथा प्रतिपादितम् ।

अथ दृष्टिवादो येन कारणेनोत्सार्यते तत्प्रतिपादयति ।

कालियसुयाणुओगम्मि, गंडियाणं समोयरणहेउं ।
उस्सारिंति सुविहिया, भूयवायं न अन्नेणं ॥

इह यो धर्मकथालब्धिसपन्न परमद्यापि स्वल्पपर्यायत्वात् दृष्टिवादं पठितुमप्राप्तस्तस्य कालिकश्रुतानुयोगेन धर्मकथां कुर्वाणस्य गण्डिका' कुलकरतीर्थकरगण्डिकादयो दृष्टिवादान्तर्गता

उपयुज्यन्त इति तासां गणिकानां कालिकश्रुतानुयोगे समवतारणहेतोरुद्देशसमुद्देशादिविधिना न कल्पते तासामध्ययनादिकमिति कृत्वा सुविहिता शोभनविहितानुष्ठाना आचार्या भूतवादं दृष्टिवादमुत्सारयन्ति तान्येव वाचको भूयादित्यादिना कारणेन। अथ "कालमसज्झायचक्खेवेत्ति" यत्प्राक् पदत्रयमुक्तं तत्राद्य पदद्वयं तावद्विवृणोति ।

सज्झायमसज्झाए, सुद्धासुद्धे व उदिसे काले ।
दो दो अ अणोएसुं, एसुं तू अंतिमं एकं ॥
एगंतरमायंविल–विगई र क्खियं पि वज्जेत्ति ।
जावइअ य आहिज्जइ, तावइअं उदिसे केइ ॥

तस्यांत्सारकल्पे क्रियमाणे स्वाध्यायिके अस्वाध्यायिके वा शुद्धे अशुद्धे वा काले विवक्षितश्रुतमुद्दिशेत् सर्वे वाक्य सावधारण भवन्तीति न्यायादुद्दिशेदेव न व्याघात कुर्यात । केन विधिनेत्यत आह (दो दो अ अणोएसुंति) ओजःशब्देन विषयमुच्यते तद्विपरीत. अनोजाः समा द्विचतुःषडादय उद्देशका यत्राध्ययने तत्रानोजस्तु उद्देशकेषु दिने दिने द्वौ द्वौ उद्देशकावुद्दिशेत् । कथमिति चेदुच्यते प्रथमायां पौरुष्यां प्रथममुद्देशकमुद्दिश्य च द्वितीय उद्दिश्यते द्वितीयमुनयोरप्युद्देशकयोस्तस्यानुयोगो दीयते ततश्चरमपौरुष्यां प्रथममुद्देशकमनुज्ञाय द्वितीयोद्देशक समुद्दिश्यतेऽनुज्ञायते चेति चूर्णिलिखिता सामाचारी। तथा (ओजस्सत्ति) पञ्चसप्तादिसंख्याकेषु विषमेषूद्देशकमेकमेवोद्दिशेत्। यथा शस्त्रपरिज्ञाध्ययने तथाहि तत्र सप्तोद्देशकास्तेषु च त्रिभिर्दिवसै· षडुद्देशकानुद्दिश्य चतुर्थे दिवसे एक एवावशिष्यमाणः सप्तम उद्देशक उद्दिश्यते स च प्रथमपौरुष्यामुद्दिश्य चरमायामनुज्ञायते तथैकान्तरमेकदिवसान्तरितमाचाम्लमसौ करोति एकस्मिन् दिवसे आचाम्लमपरस्मिन् निर्विकृतिकं करोतीति भावः तथा विकृत्यां रक्षितमपि सर्वाण्टितमप्यसौ वर्जयति केचित्पुनराचार्या ब्रुवते यावत् यत्परिमाणं श्रुतमसावधीते तावदुद्दिशेत् यदि मेधावितया द्वे त्रीणि चत्वारि भूरितराणि वा अध्ययनान्यागमयति ततस्तानि सर्वाण्युद्दिश्यन्त न कश्चिद्दोष इति भाव । व्याख्यात " कालमसज्झाएति " पदद्वयम् ।

अथ "अवक्खेवेति" पदं विवृण्वन्नाह ।

आहारे उवकरणे, पमिलेहणलेवखित्तपडिलेहो ।
अप्पाहारो परिहा–रगो अ जह अप्पनिहो अ ॥

तस्योत्सारकल्पे कर्तुमारब्धे आहारग्रहणे उपकरणस्य प्रत्युपेक्षणे लेपग्रहणे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणायां च व्याक्षेपो न कर्त्तव्य.। अल्पाहारश्च यथा स भवति तथा कार्यं परिहार· संज्ञा एककायिकी तयो स्वल्पना अल्पाहारतो भवति यथा चाऽसावल्पनिद्रो भवति तत्कर्तव्यमित्येषा संग्रहगाथा ॥

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति ।

हिंभाविति न वा णं, अहवा असढया न सो अडइ ।
एहिंति वसे उवहिं, पेहेइ व सो अलेवंसि ॥

णमिति । तमुत्सारकल्पिकमाचार्या भिक्षां न हिण्डापयन्ति वाशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् संस्तरणे सतीति द्रष्टव्यं यदि पुनरसस्तरण तदा 'अहवेति' सस्तरणस्य प्रकारान्तरता द्योतक· अन्यार्थमन्येषामाचार्यग्लानबालवृद्धादीनामर्थाय नासावुत्सारकल्पिक· पर्यटति यावन्मात्रमाहारमात्मना भुङ्क्ते तावन्मात्रमेवानयतीत्यर्थ । तथा प्रेक्षन्ते वा प्रत्युपेक्षन्ते स तस्योत्सारकल्पिकस्योपधिं विशेषसाधवः स वा उत्सारकल्पिको नान्येषामाचार्यक्षपकादीनामुपधिं प्रत्युपेक्षते सर्वत्र मा भूदध्ययनव्याघात इति योज्यम् ।

एमेव लेवगहणं, लिंपइ वा अप्पणो न अन्नस्स ।
खेत्तं व न पेहावे, न यांचते सोवहिं पेहे ॥

एवमेव लेपग्रहणमुपलक्षणत्वात् लेपनमपि पात्रस्य तस्य निमित्तमन्यैः साधुभि· क र्तव्यम् । अथ शेषसाधव· कुतोऽपि हेतोरक्षणिकास्तत स आत्मन एव पात्राणि लिम्पति नान्यस्य साधोः । क्षेत्र च त न प्रेक्षापयेत् क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं तं न प्रहिणुयादित्यर्थ· । न चाप्यसावुत्सारकल्पिकस्तेषा क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाणामुपधिं प्रत्युपेक्षेत ।

दिंति पण|याहारं, न य वहुगं मा हु जगतो जिर्ण ।
मोआइ निसग्गेसुं, वहुसो मा होज्ज पलिमंथो ॥

प्रणीतं स्निग्धमधुरमाहारं परमान्नं शर्करादिकं तस्य गुरवः प्रयच्छन्ति सुखेनैवाहर्निशमपि दृष्टिवादादिसूत्रार्थान् प्रेक्षानिमित्तमिति भाव । तमपि प्रणीतं न च नैव बहुकं किं तु स्वल्पं कुत इत्याह मा भूत्सूत्रार्थनिमित्त रजन्यामपि जाग्रतोऽजीर्णमिति रूक्षाहारभोजिनश्च बहुशो मात्रान्मोकादिनिसर्गेषु प्रश्रवणसंज्ञादिकव्युत्सर्गेषु विधीयमानेषु परिमन्थ सूत्रार्थव्याघातो मा भूदिति कृत्वा प्रणीत दीयते । अल्पा च निद्रा स्वल्पप्रणीताहारभोजिनो भवतीत्यल्पनिद्राद्वारमपि व्याख्यातमवसातव्यम् । इत्थमुत्सारकल्पे समापिते सति विवक्षित वस्त्रोत्पादनादिकार्यं पूर्वोक्तविधिना कार्यते तदेवं व्याख्यातमानुषङ्गिकमुत्सारकल्पिकद्वारम् । बृ० १ उ० ।

उस्सारग–उत्सारक–पुं० । उत्सारकल्पार्हे, बृ० १ उ० । (तल्लक्षणमुत्सारकप्पशब्देऽनन्तरमेव दर्शितम्) द्वारपाले, हेम० तेन हि प्रद्वारतो जना दूरीक्रियन्ते इति तस्य तथात्वम. अपसारके, वाच० ॥

उस्सारण–उत्सारण–न० उद्–सृ णिच् । ल्युट् । दूरीकरणे स्थानान्तरनयने, अपसारके, चालने, वाच० । उत्सारकल्पकरणे, " अरिहइ उस्सारणं काउ " बृ० १ उ०।

उस्सारित–उत्सारयत्–त्रि० उत्सारकल्प कुर्वति, बृ० १ उ० ।

उस्सारिय–उत्सारित– त्रि० उद्–सृ–णिच्–क्त–दूरीकृते चालिते, वाच० । पातिते, " सहसा उस्सारिओ य नाथाए " स्था०

उस्सास–उच्छ्वास–पु० ऊर्द्ध प्रबलः श्वासः उच्छ्वास· । आयु० ४ अ० । उच्छ्वासने, प्रश्न० १ श्रु० १ अ० । "समय उस्सासनीसासो " । प्रज्ञा० १ पद । प्रज्ञापनासप्तमोच्छ्वासपदोक्तवक्तव्यता ऽऽन शब्दे उक्ता) (समोच्छ्वासनिश्श्वासप्रश्न समशब्दे)

उस्सासग–उच्छ्वासक–पु० उच्छ्वास ती्त्युच्छ्वासका । उच्छ्वासपर्याप्तिपर्याप्तकेषु नैरयिकादिवैमानिकान्तेषु जीवेषु, स्था० २ ठा०२ उ० । उच्छ्वासयति वर्द्धयतीति उच्छ्वास· स एवोच्छ्वासकः जीवितादेर्वर्द्धके, " जीवितस्साए " । जीवितोच्छ्वासक· जीवितमसाकमुच्छ्वासयति वर्द्धयतीति जीवितोच्छ्वास स एव जीवितोच्छ्वासक । ज्ञा० १ अ० ॥

उस्सिओदग–उच्छ्रितोदक– त्रि० ६ ब० ऊर्द्ध वृद्धिगतजले, ' लवणेणं समुद्दे उस्सिओदए ' उच्छ्रितोदक ऊर्द्ध वृद्धिगतजलः साधिकषोडशयोजनसहस्राणि । प्र० ६ श० ८ उ० ॥

उस्सिओसिय–उत्सृतोत्सृत– पुं० द्रव्यत ऊर्द्धस्थानस्थे भावतो धर्मशुक्लाख्यायिनि, तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च। आव०५अ० (क उस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

उस्सिंघण–उत्सिङ्घन–न० घ्राणयोगभेदे, आचा०१श्रु०१अ०५उ०।

उस्सिंचंत–उत्सिञ्चत्– त्रि० उत्सेचनं कुर्वति, " उस्सिंचमादिणा पाणचिव्हु ग्गअग्गयरेण कट्ठादिणा उस्सिंचण उस्सिंचति " । नि० चू० १८ उ० । आचा० ॥

उस्सिंचण–उत्सेचन–न० ऊर्द्ध सेचनमुत्सेचनम्। कूपादेः कोशादिनोत्क्षेपणे । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । उद्–सिच्–करणे–ल्युट् । उत्सेचनोपकरणे काष्ठादौ, आचा० २ श्रु० । उत्क्रम्य आधारमतिक्रम्य सेचनमुत्सेचनम् । आधारातिक्रमेण सेचने, वाच० ।

उस्सिंचमाण–उत्सिञ्चत्– त्रि० आक्षिपति, । ' भिक्खुवडियाए उस्सिंचमाणे णिस्सिंचमाणे वा' । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

उस्सिंचिय–उत्सिञ्च्य–अव्य० उत्सेचनं कृत्वेत्यर्थे, 'उस्सिंचियाए उप्पत्तियाण गिण्हाहि' । आचा० २ श्रु० ।

उस्सिक्क–उत्क्षिप्–धा० तुदा-सक-ऊर्द्ध क्षेपे, उत्क्षिपेर्गुलुगुञ्छोत्थघाल्लत्थोभुत्तोस्सिक्कहक्खुप्पा' ।८।४।१४३। इति उस्सिक्कादेशः । उस्सिक्कइ । उक्खिवइ । उत्क्षिपति । प्रा० ॥

उस्सिट्ठ–उत्सृष्ट–त्रि० उत्सर्गविषयीकृते सूत्रे, सद्धेतुनोत्सृष्टमपि कश्चिदपोद्यते । द्वा० ३ द्वा० । त्यक्ते, दत्ते च । वाच० ।

उस्सिण्ण–उत्स्विन्न–न० उण्डेरकादौ, बृ० १ उ० ।

उस्सिय–उत्सृत–त्रि० । ऊर्द्धीकृते, आ०म० प्र० । द्रव्यत ऊर्द्धस्थानस्थे भावत ध्यानचतुष्टयरहिते कृष्णादिलेश्यां गते परिणामे, तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च, आव० ५ अ० (काउस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

उच्छ्रिक–त्रि० उत्कटे, " बम्भचेराइ उस्सियाइ भवंति " सू० प्र० १८ पाहु० ।

उस्त्रिक–पुं० उस्र अल्पार्थे स्वार्थे वा ठन् (घ) अल्पवाहके जीर्णवृषभे, अल्पक्षीरस्राविण्यां गव्याम, स्त्री० । वाच० ।

उस्सियणिसण्णय–उत्सृतनिषण्णक–पुं० द्रव्यत ऊर्द्धस्थानस्थे भावत आर्त्तरौद्रध्यातरि तादृशावस्थस्य कायोत्सर्गे च । " अट्ट रुद्द च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ सतो। एसो काउस्सग्गो, दव्वुसितो भावउ णिसण्णो" आव० ५ अ० (काउस्सग्गशब्दे स्पष्टीभविष्यति)

उस्सुक्क–उच्छुल्क–त्रि० उन्मुक्त शुल्क विक्रेतव्यभाण्ड प्रतिराजदेय द्रव्यं यस्या सा तथा । यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन् । जं० ३ वक्ष० । भ० । कल्प० । अविद्यमानशुल्कग्रहणे, विपा० १ श्रु० ३ अ० । अर्थाभावे, अव्य० " उस्सुक्क वियग्इ " ज्ञा० ८ अ० । उत्कण्ठायाम, इच्छामात्रे, वाच० । इतराभिलापातिरेके, पो० ३ विव० । " औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठां, क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव । नातिश्रमापगमनाय यथा श्रमाय, राज्य स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् " अष्ट० १ अष्ट०

उस्सुक्कविणिवित्ति–औत्सुक्यविनिवृत्ति–स्त्री० अभिलापव्यावृत्तौ, आ० ।

उस्सुकावइत्ता–उत्सुकाय्य–अव्य० उत्सुकीकृत्येत्यर्थे, " उस्सुकावइत्ता " विवादे, परमुत्सुकीकृत्य लब्धावसरो जयार्थी विवदते स्था० ६ ठा० ।

उस्सुत्त–उत्सूत्र–त्रि० सूत्रादूर्द्धमुत्तीर्णं परिभ्रष्टमित्यर्थः । प्रव० १ द्वा० । सूत्रोत्तीर्णे, व्य० ३ उ० । " उस्सुत्तमणुवदिट्ठं " उत्सूत्रं नाम यत्तीर्थकरादिभिरनुपदिष्टम । व्य० १ उ० । " उस्सुत्त सुत्तादवेय " " उस्सुत्तमणुवइट्ठ " नि० चू० ११ उ० । " उस्सुत्तमायरंतो उस्सुत्त चेव पन्नवेमाणे " इति यथा छन्दो प्रकरणम । आव० ३ अ० । आ० चू० । ऊर्द्ध सूत्रादुत्क्रान्त उत्सूत्रः । सूत्रमतिक्रम्य कृते, " उस्सुत्तो उम्मग्गो ध० २ अधि० । सूत्रातितिक्रान्ते, पञ्चा० १४ विव० । सूत्ररहिते, " उस्सुत्तो खलु न विज्जते अत्थो " व्य० ५ उ० । सधा० । सूत्राद्युत्कृते, सूत्रानुक्ते, आव० ४ अ० । " उस्सुत्ता पुण बाहइ समइ विगप्प सुद्धवित्तियमेण " प्रति० । तथोत्सूत्रप्ररूपका महाव्रतपालनपञ्चरणादिकां क्रियां कुर्वन्त कर्मलघुका भवन्ति नवेति प्रश्ने उत्सूत्रप्ररूपका महाव्रतपालनादिक्रियासहिता निह्नवादय उत्कर्षतो नवमग्रैवेयकं यावद्यान्ति तेन महाव्रतपालनादिक्रियावतां तज्जन्य शुभ फल भवतु पर तेषां कर्म्मणा लघुकता गुरुकता च सर्व्वविद्वेद्येति । १८ प्र० ॥

उस्सुत्तपरूवणा–उत्सूत्रप्ररूपणा– स्त्री० सूत्रानुपदिष्टार्थप्रज्ञापनायाम्, व्य० १ उ० । नि० चू० । (सा च यथाच्छन्दस इति यथाच्छन्दसशब्दे) (अहाछन्दशब्दे उक्ता) नवरमुत्सूत्रभाषणफलम् । मरीचिना एष मम योग्य शिष्य इति विचिन्त्य उक्तम् । "कपिला इत्थ पि इहयं पि" कपिल ! जैनेऽपि धर्मोऽस्ति मम मार्गेऽपि विद्यते तच्छ्रुत्वा च कपिलस्तत्पार्श्वे प्रव्रजितः मरीचिरपि अनेन उत्सूत्रवचनेन कोटाकोटिसागरप्रमाणं संसारमुपार्जयामास । यत्तु किरणावलीकारेण प्रोक्त "कपिला इत्थं पि इहय पि त्ति वचनम् " उत्सूत्रमिश्रितमिति । तदुत्सूत्रभाषिणा नियमादनन्त एव ससार इति स्वमतस्वारसिकतया ज्ञेयम् इदं हि तन्मत ये उत्सूत्रभाषिणस्तेषां नियमादनन्त एव संसारः स्यात् । यदि च इद मरीचिवचनमुत्सूत्रमित्युच्यते तदा अस्यापि अनन्तससार प्रसज्यते न त्वसौ संपत्तिस्तदिदमुत्सूत्रमिति । तच्चायुक्तम् । उत्सूत्रभाषिणः नियमात् अनन्त एव संसार इति नियमाभावात् । श्रीभगवत्यादिबहुग्रन्थानुसारेण उत्सूत्रभाषितशिरोमणिर्जमालिनिह्नवस्यापि परिमितभवस्य दर्शनात् स चोत्सूत्रमिश्रकथनेऽपि अस्य मरीचिवचनस्य उत्सूत्रत्वमपगच्छति विषमिश्रितान्नस्य विषत्वमिवेत्यल प्रसङ्गेन । कल्प० ।

उस्सुय–उत्सुक–त्रि० उत्सुवति सु–प्रेरणे मितद्र्वादि उकन् इष्टार्थासये कालक्षेपासहिष्णौ, इष्टार्थोद्युक्ते, च । " अप्पुस्सुओ उराले सुज्झमाणो परिव्वय" सूत्र० १ श्रु० १० अ० । अल्पोत्सुकोऽविमनस्क । आचा० ७ श्रु० ।

उस्सुयत्त–उत्सुकत्व–न० प्रीत्योत्पत्तौ यदि म्रियेऽहं तदा वरमित्येवमादिरूपे औत्सुक्ये, आतु० ।

छद्मस्थ एव उत्सुकायते न केवली ।

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे हसेज्जा वा उस्सुयाएज्ज वा ? हंता हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा जहा णं भंते ! छउमत्थे मणूसे हसेज्ज वा उस्सुआएज्ज वा तहा णं केवली कि हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा उस्सुआ-

एज्ज वा ? गोयमा । जएणं जीवा चरित्तमोहणिज्जकम्मस्स उदएणं हसंति वा उस्सुयायंति वा से णं केवलिस्स नत्थि से तेणट्ठेणं जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा उस्सुयाएज्ज वा । भ० ५ श० ४ उ० ।

उस्सुयब्भूय-उत्सुकीभूत-त्रि० उत्प्रवजिते, बृ० १ उ० । "उस्सुयभूएणं अप्पाणेण " आचा० २ श्रु० ।

उस्सेइम-उत्स्वेदिम- न० उत्स्वेदेन निर्वृत्तमुत्स्वेदिमम् । येन व्रीह्यादिपिष्टं सुराद्यर्थमुत्स्वेद्यते [स्था० ३ ठा०] तादृशे पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदके, आचा० २ श्रु० । पिष्टभृतहस्तादिक्षालनजले, कल्प० । " त उसिणं चेव पाणय जं सीतोदगेण चेव ससि खिय उस्सेइमस्स इमं वक्खाण " ॥

सीतोदगम्मि वुज्झति, दीवगमादी उ से इमं पिट्ठं ।
संसेइ मं पुण विला-सिया वुज्झंति जत्थुदए ॥ ६१ ॥

मरहठविसए उस्सेइ आदीवगा सीओदगे वुज्झति उस्सेइमे उदाहरण जहा पिट्ठं । अहवा पिट्ठस्स उस्सेइज्जमाणस्स हेट्ठा ज पाणिअ त उस्सेइम पच्छद्धं गतार्थम् ॥

पढमुस्सेतिसमुदयं, अकप्पकप्पं च होति केसिं चि ।
तं तु ण दुज्जति जम्हा, उसिणं वीसंति जा दएमो ॥ ६ ॥

त दीवगादि उस्सेति मा पक्क पि पाणिए दोसु वि तिसु वा णिव्वाहिज्जंति तत्थ वितियततिज्जा य सव्वेसिं वेअकप्पा पढम पाणिय तं पि अकप्प चेव केसिं चि आयारियाण कप्प तं ण घरूति कम्दा जम्हा उसिणोदगमवि अणुवत्ते दरेमि सभवति त पुण कहिं उस्सेति मे सुच्छूढेसु अचित्त भविष्यतीत्यर्थ । नि० चू० १७ उ० ॥

उस्सेतिमपिट्ठादी, तिलाति मीसेति मतिनायव्वं ।
कंकरुगादि उवक्खड, अतिपकरसं तु पलियाम ॥२१॥

उस्सेतिमं णाम जहा पिट्ठं पुढविकायभायणं आउक्कायस्स भरेता मीसए अद्धहिज्जति सुहं सेवत्थेए उहाडिज्जति ताहे पिठपयणय रोट्टस्स भरेता ताहे तीसे थालीए जलभरियाए उवरि ठविज्जति ताहे अहोछिड्डेणं त पि ओसिज्जति हेट्ठा हु त वा ठविज्जति । नि०चू० १५ उ० ।

उस्सेग-उत्सेक-पुं० उद्-सि-घञ्-गर्वे, उद्रेके, उद्धृत्य बहिःसेचने, च । वाच० । न सुखदुःखयोरुत्सेकविषादौ विधेयौ आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

उस्सेह-उत्सेध-पुं० उत्सेधति कारणमतिक्रम्य वर्द्धते उत्-सिध गत्याम्-अच् । देहे तस्य शुक्रशोणितरूपसूक्ष्मकारणातिक्रमेण वर्द्धनात्तथात्वम् । वाच० । उच्छ्राये, स्था० १० ठा० । जं० । कर्तरि-अच्-उच्चे, त्रि० वाच० । शिखरे, " रययमए उस्सेहे " रजतमय उत्सेध· शिखरमाह च जीवाभिगममूलटीकाकार· " कूटो माडभाग । उच्छ्रय शिखरमिति । शिखरमत्र माडभागस्य सर्वान्धि द्रष्टव्यम् । तदू द्वारस्य तस्य प्रागेवोक्तत्वात् । जीवा० ३ प्रति० ।

उस्सेहंगुल-उत्सेधाङ्गुल-न० उत्सेध·"अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणमित्यादि" क्रमेणोच्छ्रयो वृद्धिनयन तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् । अथवा उत्सेधो नारकादिशरीराणामुच्चैस्त्व तत्स्वरूपनिर्णयार्थमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् । अङ्गुलप्रमाणभेदे, अनु० (तद्भेद अंगुलशब्दे उक्त)

उहार-उहार-पुं० मत्स्यविशेषे, स किल नावमधस्तले जलस्य नयति । बृ० ४ उ० ।

उद्दट्टु-उद्धृत्य-अव्य० उपरिकृत्वेत्यर्थं, " उहट्टुउहट्टु णिक्खिसे सिया " आचा० २ श्रु० ७ अ० ।

---:****:---

इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक-जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००८
श्री विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभि-
धानराजेन्द्रे उकारादिशब्द-
सङ्कलनं समाप्तम् ॥

ऊकार

ऊ–ऊ–अव्य०ऐम्–क्विप्–संबोधने, वाक्यारम्भे, प्रश्ने, दयायां च । मेदि० । अपमाने, वितर्के, अनुकम्पायां, स्वरे निषेधे, वाच० । प्राकृतेऽपि । ऊ गर्हाऽऽक्षेपविस्मयसूचने । ८ । २ । प्रा० । ऊ इति गर्हादिषु प्रयोक्तव्यम् । गर्हा । ऊ णिल्लज्ज ! प्रकान्तस्य वाक्यस्य विपर्यासाशङ्कया विनिवर्त्तनलक्षण आक्षेपः । ऊ किं मए भणिअं । विस्मये ऊ कह मुणिआ अहं मा । सूचने ऊ के-ण न विण्णायं । प्रा० ।

ऊ–पुं० अवति रक्षति । अव–क्विप्–ऊठ्–ऊठ–महादेवे, चन्द्रे, वाच० । तोये, तोयधौ, पत्रीधरे, रक्षणकर्तरि, पुत्रे, राजपुत्रके, उपकारे, सदाचारे, कविकर्मणि, गर्भे, मङ्गलसूचने, दैवे, पाणि-आकर्षणे च । "ऊकारो रक्षणीयाये, पुत्रे राजपुत्रके । उपकारेऽपकारे च, कविकर्मे प्रवर्तके । ४ गर्भे मङ्गलसूचने च दैवे पाणि-आकर्षणे" । एका० ।

ऊआस–उपवास– पुं० उप वस्–घञ् । उपोषणे । ८ । १ । ७३ । इति उपस्य स्थाने ऊत् । अभोजने, प्रा० ।

ऊज्झाय–उपाध्याय– पुं० । प्राकृते उपाध्याये । ८ । १ । ७३ । इति उपस्यस्य स्थाने ऊत् । पाठयितरि, प्रा० ।

ऊण–ऊन– त्रि० ऊन– हानौ–अच–स्वप्रमाणाद्धीने, स्था० २ ठा० । अधमे, स्था० ६ ठा० । स्तोकेऽधमे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० असंपूर्णे, ऊनार्थशब्दयोगे तृतीया षष्ठेनोन. । ऊनार्थकश-ब्देन वा तृतीया । माषेण ऊनं माषोनं । वाच० । व्यञ्जनाभि-लापावश्यकैरसंपूर्णे अशोधिते वन्दनकदोषे, ध० २ अधि० । "वयणक्खरेहि ऊणं जहण्णकालेऽवसेसेहिं" । अशोधिशब्दोप-मादि–वचनैरक्षरापकैः करणैर्वा अवनामादिभिरावश्यकैर्न्यून हीनं यद्वन्दते यद्वा कश्चिदत्युत्सुकतया जघन्येनैव कालेन वन्दनं समापयति शेषैर्वा साधुभिर्वन्दिते सति पश्चाद्वन्दते तन्मूलं नाम वन्दनकम् । बृ० ३ उ० । अक्षरमात्रापदादिभिर्हेतूदाहरणा-भ्यां वा हीनरूपे सूत्रदोषे, यथा अनित्यः शब्दो घटवदिति हेतूनम् । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति उदाहरणहीनमित्यादि विशे० । अनु० । आ० म० द्वि० ।

ऊणत्त–ऊनत्व–न० हीनत्वे, " ऊणत्तं न कयाइवि इमाणसप्प इम तु अहिगिच्च " दर्श० ।

ऊणसयभाग–ऊनशतभाग–पुं० ऊनश्चासौ शतभागश्चोन-शतभागः । शतभागेऽप्यपूर्यमाणे, । आव० ३ अ० ।

ऊणाइतिरित्तमिच्छादसणवत्तिय –ऊनातिरिक्तमिथ्यादर्श-नप्रत्यय–त्रि० ऊनं स्वप्रमाणाद्धीनमतिरिक्तं ततोऽधिकमात्मा-दि वस्तु तद्विषयं मिथ्यादर्शनं तदेव प्रत्ययो यस्य स. । ऊ-नातिरिक्तमिथ्यादर्शनप्रत्ययवति, । तथा हि कोऽपि मिथ्यादृष्टि-रात्मानं शरीरव्यापकमपि अङ्गुष्ठपर्वमात्रं यवमात्रं श्यामाकत-ण्डुलमात्रं वेति हीनतया वेत्ति तथाऽन्य पञ्चधनुःशतिकं सर्व-व्यापकं वेत्यधिकतयाऽभिमन्यते । स्था० २ ठा० ।

ऊणिय–ऊनित–त्रि० ऊनीकृते, "पायालीसं वासाइं ऊणिया-ए" अं० २ वक्ष० ।

ऊणोयर–ऊनोदर–न० क-स–ऊने उदरे, प्रव० ६ द्वा० । ऊनमवममुदरं यस्य स ऊनोदर. । ध० ३ अधि० । स्तोकाऽऽ-हाराभ्यवहारादपूर्णोदरे, पञ्चा० १८ विव० ।

ऊणोयरिया–ऊनोदरिका–(ता) स्त्री० ऊनमुदरमूनोदरं तस्य करणं भावे–वुञ्–ऊनोदरिका । प्रव० ६ द्वा० । ऊनमवममुदरं यस्य स ऊनोदरस्तस्य भाव ऊनोदरता । व्युत्पत्तिरेवेयमस्य प्रवृत्तिस्तूनतामात्रे । बाह्यतपोभेदे, ध० ३ अधि० । स० । पञ्चा० । ऊनोदरिका ऊणोयरिया इति अवमोदरिका ओमोय-रिया इति च समानार्थका इति तद्भेदानाह ।

से किं तं ओमोदरिया ओमोदरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा दव्वोमोयरिया य भावोमोयरिया य भ० २५ श० ७ उ० ।

सा द्विधा द्रव्यतो भावतश्च । प्रव० ६ द्वा० । अथवा ।

ओमोयरियं पंचहा, समासेण वियाहियं ।
दव्वओ खित्तकालेण, भावेण पज्जवेहि य ॥ १४ ॥

अवममूनमुदरं यस्मिन् तत् अवमोदरं तत्र भवमवमोदरिक तत्तप समासेन सङ्क्षेपेण पञ्चधा व्याख्यातं द्रव्यतो द्रव्येण क्षे-त्रेण कालेन भावेन च पुनः पर्यायैः । उत्त० ३० अ० ।

तत्र द्रव्यतोऽवमोदरिकामाह–

से किं तं दव्वोमोयरिया य दव्वोमोयरिया दुविहा प-ण्णत्ता तं जहा उवगरणदव्वोमोयरिया य भत्तपाणदव्वो-मोयरिया य । से किं तं उवगरणदव्वोमोयरिया उवगर-णदव्वोमोयरिया । एगे वत्थे एगे पादे चियत्तोवगरण-साइज्जणया सेत्तं उवगरणदव्वोमोयरिया । भ० २५ श० ७ उ० ॥

द्रव्यत उपकरणभक्तपानविषया तत्र उपकरणविषयोनोदरिका जिनकल्पिकादीनां न तदभ्यासपरायणानां वा बोद्धव्या न पुन-रन्येषां तेषां समुपध्यभावे समग्रसंयमपालनाभावात् । अथवा अन्येषामप्यतिरिक्तोपकरणाग्रहणतो भवत्येवोनोदरता ।

यदुक्तम् ।

ज वट्टइ उवगारे, उवगरणं तं च होइ उवगरणं ।
अइरित्त अहिगरण, अजओ य जय परिहरंतो " इति ।

(परिहरतोत्ति) आसेवमानः परिहारोऽपरिभोग इति वच-नात् । ततोऽयतश्च यत्परिभुञ्जानो भवतीत्यर्थः । प्रव० ६ द्वा० । वृ० । ग० ।

से किं तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया भत्तपाण दव्वोमोयरिया अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे अप्पाहारे दुवालस जहा सत्तमए पढमुद्देसए (भ. २५ श. ७ उ.) तद्यथा अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमा-हारेमाणे अवड्ढोमोयरिया सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते

कवले आहारमाहारेमाणे दुभागपत्त चउव्वीसं कुक्कु-डिअंडगप्पमाणे जाव आहारेमाणे ओमोयरिया वत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमा-णपत्ते एक्को एक्केण वि घासेण ऊणगं आहारमाहारेमा-णे समणे णिग्गंथे नो पकामरसभोइत्ति वत्तव्वंसिया (भ० ७ श० १ उ०) सेत्तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया भत्त दव्वो मोयरिया भ० २५ श० ७ उ० ॥

भक्तपानोनोदरिका पुनरात्मीयात्मीयाहारमानपरित्यागतो वि-ज्ञाय आहारमाने च " वत्तीस किर कवला, आहारो कुच्छिपू-रओ भणिओ । भरिसस्स महिलियाए, अट्ठावीस भवे कव-ला । कवलस्स य परिमाणं, कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्त तु । ज वा अविगिय वयणो, वयण मिच्छु-तिअवीसतो " इत्यादि । सा च अल्पाहारादिभेदत. पञ्चविधा भवति । यदाहु ।

अप्पाहारअवड्ढा, दुभागपत्ता तहेव किं दुणा ।
अट्ठ दुवालस सोलस, चउवीस तहेकतीसा य ।

अयमत्र भावार्थ. । अल्पाहारोनोदरिका नाम एककवलादार-भ्य यावदष्टौ कवला इति अत्र चैककवलमाना जघन्या अष्ट-कवलमाना पुनरुत्कृष्टा द्व्यादिकवलमानभेदा मध्यमा एव नव-भ्य. कवलेभ्य आरभ्य यावद् द्वादश कवलास्तावदपार्द्धोनोद-रिका अत्रापि नव कवला जघन्या द्वादश कवलोत्कृष्टा शेषा तु मध्यमा । एव त्रयोदशभ्य आरभ्य यावत् षोडश कवलास्ताव-द्विभागोनोदरिका जघन्यादिभेदत्रयभावना पूर्ववत एव सप्तदश-भ्यो यावच्चतुर्विंशतिकवलास्तावत्प्राप्तोनोदरिका एव पञ्चविंश-तेरारभ्य यावदेकत्रिंशत्कवलास्तावत्किञ्चिदूनोदरिका जघन्या-दिभेदत्रय पूर्ववत् भावनीयम् । एवमनेनानुसारेण पानेऽपि भ-णनीया तथा स्त्रीणामप्येव पुरुषानुसारेण द्रष्टव्या ।प्रव० ६द्वा०।

विशेषव्याख्या ।

अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे निग्गंथे अप्पाहारे दुवालसकुक्कुडिअडगप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया सोलस कुक्कुडिअंड-गप्पमाणमित्ते कवले आहारं आहारेमाणे दुभागपत्ते चउ-व्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहार आहारेमाणे ओमोदरियातिवत्तव्वंसिया वत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमित्ते कवले आहार आहारेमाणे समणे निग्गंथे पमाणपत्ते इतो एकेणवि कवलेण ऊणग आहार आहारेमाणे समणे णिग्गं-थे णो पगामरसभोगीति वत्तव्वंसिया ॥ १२ ॥

अस्य सवन्धप्रतिपादनार्थमाह ॥

लक्खणमतिप्पमत्तं, अइरेगो वि खलु कप्पते उवही ।
इइ आहारेमाणं, अतिप्पमाणे वहू दोसा ॥

अतिरेकोऽपि खलु कल्पते उपधिरित्युच्यमाने लक्षणमतिप्रस-क्त ततो मानेनैव प्रसङ्गेनाहारमप्यतिप्रमाण कुर्यादिति हेतोराहारे मानमधिकृतमूत्रेणोच्यते यतोऽतिप्रमाणे गृह्यम णे आहारे वहवो दोषा " हाएज्ज व वामेज्ज व इत्यादि " रूपा. ॥

प्रकारान्तरेण सवन्धमाह ॥

अहवा विप.डिग्गहगे, भत्तं गेण्हंति तस्स किं माणं ।
जं जं उवग्गहे वा, चरणस्स तग तगं भण्इ ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शनेन अपिशब्द एवकारस्यैव समुच्चये पूर्वसूत्रेण प्रतिग्रहक उक्तः तस्मिश्च प्रतिग्रहके साधवो भक्त गृह्ण-न्ति तस्य भक्तस्य किं प्रमाणमित्यनेन प्रमाणमभिधीयते । अथ-वा किं सवन्धेन यत् चरणस्य चारित्रस्योपग्रहे वर्तते तत्तत्सूत्र-कारो वदति । अनेन सवन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । अष्टौ कुक्कु-ट्यण्डकप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरयन् निर्ग्रन्थोऽल्पा-हारो भण्यते द्वादश कुक्कुट्यण्डकप्रम.णमात्रान्कवलानाहारमा-हारयन् अपार्द्धावमौदर्य. द्वात्रिंशत कुक्कुट्याण्डकप्रमाणमात्रान्क-वलानाहारमाहारयन् किञ्चिदूनावमौदर्य' द्वात्रिंशत कुक्कुट्यण्ड-कप्रमाणमात्रान्कवलानाहारमाहारयन् श्रमणो निर्ग्रन्थ प्रमाण-प्राप्त' । इत एकेनापि कवलेन ऊनमाहारमाहारयन् श्रमणो निर्ग्रन्थो न प्रकामभोजीति वक्तव्यः स्यात् । एष सूत्राक्षरार्थ ॥

अथ भाष्यप्रपञ्चमाह ॥

नियगाहारस्स सया, वत्तीसइमे उ जो भवे भागो ।
तं कुक्कुडिप्पमाणं, नायव्व बुद्धिमंतेहिं ॥

निजकस्याहारस्य सदा यो द्वात्रिंशत्तमो भवति भागस्तत्कुक्कु-टीप्रमाण पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । कुक्कुट्यण्डकप्रमाण ज्ञातव्य बुद्धिमद्भि ॥

अत्रैव व्याख्यानान्तरमाह ॥

कुच्छिय कुडी य कुक्कुडि-सरीरगं अंडगं मुहं तीए ।
जायइ देहस्स जओ, पुव्वं वयणं ततो सेसं ॥

कुत्सिता कुटी कुक्कुटीशरीरमित्यर्थ । तस्या शरीररूपाया कुक्कुट्या अण्डकमिवाण्डक मुख केन पुन कारणेनाण्डक मुखमुच्यते । तत आह यत् यस्मात् चित्रकर्मणि गर्भे उत्पा-ते वा पूर्व देहस्य वदन मुखं निष्पद्यते पश्चाच्छेष तत प्रथ-मभावितया मुखमण्डकमुच्यते ।

थलकुक्कुडिप्पमाणं, जं वा नायासिए मुहे खिवति ।
अयमन्नो उ विगप्पो, कुक्कुडिअंडो न वा कवले ॥

इह कवलप्रक्षेपणाय मुखे विडम्बिते यदाकाश भवति त-त्स्थल भण्यते । स्थलमेव कुक्कुट्यण्डक स्थलकुक्कुट्यण्डक तस्य प्रमाणं यदि नायासि ते मुखे कवल प्रक्षिपति । किमुक्त भवति यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुख न विकृत भवति तत्स्थलकुक्कुट्यण्डकप्रमाणम । गाथायामण्ड-कशब्दलोप प्राकृतत्वात् । अयमन्य कुक्कुट्यण्डकोपमे कवले विकल्प । अयमन्योऽर्थ कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रग-वल्स्येत्यर्थ) एतेन कवलमात्रेणादिना सख्या द्रष्टव्या । तदेव कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता ।

सप्रति निर्युक्तिविस्तर ।

अट्ठ त्ति भणिऊणं, छम्मासा हावए वत्तीसा ।
नामं चोदगवयणं, पमाणं होंति दिट्ठंता ॥

अष्टाविति भणित्वा यावदवमौदर्य तावदतरस्तरतो मध्ये भणितमस्तरत पुन द्वात्रिंशत्क प्रमाण भणितमुत्सर्गः । पुनरयमुपदेश षण्मासादारभ्य तावत् हापयेत् यावत् द्वात्रि-शत्कवला' । इयमत्र भावना । यदि योगानां न हानिरुपजायत तदा षण्मासान् उपवास कृत्वा पारणके एक सिक्थमाहारयेत् । अथ तेन न सस्तरति तत पारणके द्वे सिक्थे आहारयेत् । एवमेकैकसिक्थपरिवृद्ध्या तावन्नेय यावदेक लम्बन कवल-

मित्यर्थः । तेनात्र संभवत्येव कवलपरिवृद्धिरिति । यदा च ना· घत यत्येकाभिग्रहवता अल्पाहारकुक्कुटाण्डकप्रमाणकवलेन एवं न त्रिचत्वारिंशता कवलप्रमाणानि कृत्वा पर्यन्ते मितकवलपरिवृद्ध्या पारणकं कुर्वीत । एतदेवाह अल्पाहारादारभ्य यावत् दशकवलप्रमाणं कृत्वा पूर्वक्रमेण मितकवलपरिवृद्धेन पारणकं परिभावयेत । अथ न शक्नोति ततो दिने दिने कुक्कुटाण्डकमात्रप्रमाणेन मितकवलादारभ्य यावत् त्रिंशत् कवला इति । अत्र नोदकः प्राह यदेवमल्पाहारादिषु त्रिंशद्भागविनिर्दिष्टं मानमात्रं प्रकामभोजनमात्रमाह । मितिप्रमाणनिर्माणनिमाय योगानां संधारणाभिलाषिणा भक्तमुपादेयं सुखेन ततो न वृद्धिर्यथावस्था चाह प्रस्तावो भवति इत्याह । न सांप्रतं विपद्यते ।

यदपि यदुक्तं " दुब्भागा होयते उ वत्तीसा " इति तद्व्याख्यानार्थमाह ।

कुक्कुडिअंडयमेत्तेहिं, निरंतरमाइ लंबणं ।
तत्तो लंबणवुड्ढी जा–वेगत्तीसमसमपत्ते ॥
एगत्तीसं तु हविज्जा, दिवा पुव्वक्कमेण उ ।
दिणे दिणे उ निव्वाही, पारे जुत्तामणंपरे ॥

एवमादिकवलप्रमाणेन मितकवलमादितोऽभ्यस्य भावसंवरणे दे· वंति यावदिति त्रयस्त्रिंशत्कवलप्रमाणं यावत् अभ्यसेत् न मितकवलपरिवृद्धिक्रमात्प्रसंख्या यावत् कवलप्रमाणो भवति । एवमल्पाहारात् प्रारभ्य द्वात्रिंशत्तमोऽपि कवलो यथा पर्याप्तं भवत्यपि कदाचित् अन्यथा प्रकाशतोऽप्यात्मसमसमये नैव स्यात् । " पगामं निकामं सिज्जमाणेण कत्थमाहारमाणे समणे निग्गंथे पगामरसभोई त्ति वत्तव्वं सिया " इति प्रकामग्रहणेन निकाममपि तुल्यमतो द्वे अपि व्याख्यानयति ।

पगामं होइ वत्तीसा, निकामं होइ निच्चसो ।
दुगं पि जइ या ते उ, सिद्धी हवति वज्जिया ॥

द्वात्रिंशत्कवला प्रकामं भवति स एव प्रतिदिवसं सर्वकाल भुज्यते तन्निकामम् । एते द्वे अपि द्वात्रिंशत्कवलेभ्य एकेनापि कवलेनोनमाहारमाहारयतोऽपरिक्लेशवृद्धिश्च वर्जिते भवति । " अवुनायमोयणमिति " व्याख्यानार्थमाह ।

अप्पाहारस्स हु ऊणगो–मदेसगं नामपेत्तग नाम ।
एइ ठिणमेयतीमं, आहारेउ त्ति जं भणइ ॥

यदि नाम प्रतिदिनमेकत्रिंशदपि कवलानाहारापेक्षेति नणथ यूयं प्रतिपादयथ तर्हि यत् कवलाष्टभिभागावमौदर्येण तन्नाम मात्रकमेकत्रिंशतोऽपि कवलानां प्रतिदिवसमाहारानुष्ठानात् । आचार्य आह ।

जमिह अप्पाहारा–दओ समत्थस्स भिग्गह विसेसा ।
चंदायणाइयो विव, सुत्तनिवाओ पगामम्मि ॥

यदयं उत्तर दीयते अल्पाहारादय समर्थस्य यतोऽभिग्रह- विशेषाश्चान्द्रायणादय इव । सूत्रनिपातः पुनरन्तिमोऽसमर्थस्य प्रकामनिकामनिषेधपर इत्यदोषः । ये चाल्पाहारादयोऽभिग्रह- विशेषास्ते बहूना स्थविरसाधूनां साधारणार्थं तथा चाह ।

अप्पाहारग्गहणं, जेण य आवस्सयाण परिहाणी ।
न वि जायइ तम्मत्तं, आहारेयव्वं तयं नियमा ।

अल्पाहारग्रहणमल्पार्धादिपरिलक्षणं तत इदमल्पार्धाद्याहारग्र-

हणमेतत् ज्ञापयति सिद्धिप्रासादनिर्मापणाय व्यापार्यमाणाना- मावश्यकानां योगानां यावन्मात्रेणाहारेण परिहानिर्नोपजायते तावन्मात्र नियमितः प्रतिदिवसमभिग्राह्याहारयितव्यम् ।

अत्रैव दृष्टान्तमभिधित्सुराह ।

दिट्ठतो (त्थ) मसेणं, पासादेणं तु रायसंदिट्ठे ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे ण य संकिलेसइ ॥

इति गाथाक्षरयोजना । भावार्थस्तु केनापि राज्ञा अमात्य आदिष्टः शीघ्रं प्रासाद कारयितव्यः स चामात्यो द्रव्ये लुब्ध- त्वात् कर्मकरान द्रव्येण क्षेत्रेण कालतो भावतश्च संक्लेशय- ति कथमित्याह ।

अलोणेण य ऊणगं, सुलभं नो पगामं दव्वओ ।
खेत्तागुचियं उण्हे, काले उस्सूरभोयणं ॥
भावे न देति विस्सामं, निट्ठुरेहिं य खिंसइ ।
जेयं तिसिं च नो देइ, नट्ठा अकयट्ठकम्मा ॥

द्रव्यतोऽपगतलवणं विशिष्टसंस्काररहितं शुष्कं वातादिना शीतं नीतं वल्लचणकादि तदपि न प्रकामं न परिपूर्णं ददाति । क्षेत्रतो यस्मिन् क्षेत्रे अनुचितं भक्तं वा पानं वा तद्ददाति । तथा उष्णे कर्म कारयति काले उत्सूरं भोजनं दापयति भावतो न ददाति विश्रामम् । निष्ठुरवचनैः खिंसयति । जितामपि च क- र्मकरेभ्यः अन्यामपि वृत्तिं मूल्यं न ददाति । एवं च सति ते कर्मक- राः प्रासादमकृत्वापि नष्टाः पलायिताः । स्थितः प्रासादोऽकृतो रा- ज्ञा चैतज्ज्ञातं ततोऽमात्यस्य दारुणो दण्डः कृतः अमात्यपदादपसारयि- त्वा तस्य सर्वस्वापहरणं कृतमिति । एष दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ॥

अकरणे य पलायस्स उ, जह सो मच्चो उ दंडितो रन्ना ।
एमेव य आयरिए, उवणयणं होति कायव्वं ॥

यथा प्रासादस्याकरणे सोऽमात्यो राज्ञा दण्डित एवमेवाचार्ये उपनयनं भवति कर्तव्यं तथैव राजस्थानीयेन तीर्थकरेण अमा- त्यस्थानीयस्याचार्यस्य सिद्धिप्रासादसाधनार्थमादेशो दत्तः । स च कर्मकरस्थानीयानां साधूनां द्रव्यादिषु तत्करोति । यथा ते सर्वे पलायन्ते । तथा चाह ।

कज्जम्मि वि नो विगतिं, भत्तं न तं च पज्जत्तं ।
खेत्तं खलु खेत्ताई, कुवसहि ऊण्णागमे चेव ॥
तइयाए देंत काले, ओमे वुस्सग्गवाइणो निच्चं ।
संगहउवग्गहे वि य, न कुणइ भावे पयंडो य ॥

द्रव्यतः कार्येऽपि समापतिते विकृतिं घृतादिकां न ददाति । भ- क्तमपि प्रान्तं दापयति । तदपि च न पर्याप्तम् । क्षेत्रतः खलु क्षे- त्रादीन् प्रेषयति खलु क्षेत्रं नाम यत्र तु किमपि प्रायोग्यं लभ्यते आदिशब्दादत्र स्वपक्षतः परपक्षतो वाऽपभ्राजना तदादिपरिग्र- हः । कुवसतौ वा स्थापयति उक्रामके वा ग्रामे यदा तदा वा प्रे- षयति कालतः सदैव तृतीयायां भोजनं ददाति । अवमेऽपि दु- र्भिक्षेऽप्युत्सर्गवादिको नित्यं भावतः संग्रहं ज्ञानादिभिरुपग्रहं व- स्त्रपात्रादिभिर्न करोति । प्रचण्डश्च प्रकोपनशीलः ॥

लोए लोउत्तरे चेव, दो वि एए असाहगा ।
विवरीयम्मि उ जो सिद्धी, अन्ने दो वि उ साहगा ॥

लोके लोकोत्तरेऽपि च एतावनन्तरोक्तौ द्वावप्यसाधकौ

द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य विपरीतवर्तिनः पुनरुभयथापि सिद्धिरिति कृत्वा अन्यौ द्वावपि द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य साधकौ ॥

सिद्धी पासायवडिं-सगस्स करणं चउव्विहं होइ ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य न संकिलेसेइ ॥

सिद्धि॰ प्रासादावतंसकरणं चतुर्विधं भवति तद्यथा द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । ततो गीतार्थो द्रव्यादिषु साधून् न संक्लेशयति ॥

एवं तु निम्मवंति, ते वि अचिरेण सिद्धिपासाया ।
तेसिं पि इमो उ विही, आहारेयव्वए होति ॥

एवं द्रव्यादिषु संक्लेशाकरणतस्ते साधवोऽचिरेण स्तोकेन कालेन सिद्धिप्रासादं निर्मापयन्ति तेषामपि सिद्धिप्रासादनिर्मापकानामाहारयितव्ये अयं वक्ष्यमाणो विधिस्तमेवाह ॥

अद्धमसणस्स सव्वं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागं ।
वायपवियारणट्ठा, छब्भागं कुणइ यं कुज्जा ॥

अर्द्धमुदरस्य दधितक्रतेमनदिसहितस्याशनस्य योग्यं कुर्यात् द्वौ भागौ द्रव्यस्य पानीयस्य योग्यौ षष्ठं तु भागं वातप्रविचरणार्थमूनकं कुर्यात् । इयमत्र भावना । उदरस्य षट् भागाः कल्पन्ते तत्र त्रयो भागा अशनस्य सव्यञ्जनस्य द्वौ भागौ पानीयस्य षष्ठो वातप्रविचरणाय । एतच्च साधारणे प्रावृट्काले चत्वारो भागाः । सव्यञ्जनस्याशनस्य पञ्चमः षष्ठो वातप्रविचरणाय । उष्णकाले द्वौ भागावशनस्य सव्यञ्जनस्य त्रय पानीयस्य षष्ठो वातप्रविचरणायेति ।

एसो आहारविही, जह भणितो सव्वभावदंसीहिं ।
धम्मवसगाय जोगा, जेण न हीयंति तं कुज्जा ॥

एष आहारविधिर्यथा सर्वभावदर्शिभिः सर्वज्ञैर्भणिता येन च प्रकारेण धर्मनिमित्ता अवश्यकर्तव्या योगा न हीयन्ते तं कुर्यात्स्यादिति । व्य० द्वि० ८ उ० ।

अथ क्षेत्रावमौदर्यमाह ।

गामे नगरे तहा य, रायहाणि निगमे य आगरपल्ली ।
खेडे कव्वडदोणमुह-पट्टणमडंवसंबाहे ॥ १६ ॥
आसमपए विहारे, सन्निवेसे समायघोसे य ।
थलसेणाखंधारे, सत्थे संवट्टकोट्टे य ॥१७॥
वाडेसु य रत्थासु य, घरेसु वा एवमित्तियं खित्तं ।
कप्पइ उ एवमाइ, एवं खित्तेणओ भवे ॥१८॥

तिसृभिर्गाथाभिः कुलकम् । एवमिति अमुना प्रकारेण हृदयस्थप्रकारेण एतावन्नियतमानं क्षेत्रं पर्यटितुं मम वर्तते इति एवमादिर्गृहशालादिपरिग्रहः । अथ एतावत्प्रमाणं भिक्षार्थं भ्रमितव्यमिति निर्द्धारणं क्षेत्रेण अवमौदर्यं भवेत् । तदेव भिक्षाभ्रमणक्षेत्रमाह । कुत्र कुत्र भिक्षार्थं साधुर्भ्रमति ग्रामे गुणान् ग्रसतीति ग्रामस्तस्मिन् ग्रामे । अथवा ग्रसति सहते अष्टादशविधं करम् इति ग्रामस्तस्मिन् । अथवा कण्टकवाटकावृतो जनानां निवासो ग्रामस्तस्मिन् ग्रामे । पुनर्नगरे नाऽत्र कराः सन्ति इति नगरं तस्मिन् । तथा राजधान्यां राजा धीयते यस्यां सा राजधानी तस्यां राजधान्यां राजपीठस्थाने निगमे प्रभूतवणिग्निवासे आकरः स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थानं तस्मिन् आकरे पल्ली वृक्षवंशादिगहनाश्रिता प्रान्तजनस्थानं तस्यां पल्ल्याम् । खेटं धूलिप्रकारपरिक्षिप्तं तस्मिन् खेटे । पुनः कर्वटं कुनगरं द्रोणमुखं जलस्थलनिर्गमप्रवेशं तत् भृगुकच्छादिकम् । पत्तनं तु यत्र सर्वदिग्भ्यो जनाः पतन्ति आगच्छन्ति इति पत्तनम् । अथवा पत्तनं रत्नखानिरिति लक्षणं तदपि द्विविधं जलमध्यवर्ति स्थलमध्यवर्ति च । मडम्बं यस्य सर्वदिक्षु सार्द्धतृतीययोजनान्तर्ग्रामो न स्यात् तत्र । तथा संबाधः प्रभूतचातुर्वर्ण्यनिवासः कर्वटशब्दादारभ्य संबाधशब्दं यावद् द्वन्द्वसमासः कर्तव्यः । कर्वटश्च द्रोणमुखं च पत्तनं च मडम्बं च संबाधश्च कर्वटद्रोणमुखपत्तनमडम्बसंबाधास्तेषां समाहारः कर्वटद्रोणमुखपत्तनमडम्बसंबाधं तस्मिन् कर्वटद्रोणमुखपत्तनमडम्बसंबाधे एतेषु स्थानेषु इत्यर्थः (१६) पुनः कुत्र कुत्र इत्याह । आश्रमपदे तापसाश्रमोपलक्षिते स्थाने विहारे देवगृहे पुनः सन्निवेशे यात्रार्थसमागतजनावासे समाजः परिषत् घोषः आभीरपल्ली समाजश्च घोषश्च समाजघोषं तस्मिन् समाजघोषे । स्थलं च सेना च स्कन्धावारश्च स्थलसेनास्कन्धावारं तस्मिन् स्थलसेनास्कन्धावारे । तत्र स्थलं उच्चभूमिभागः सेना चतुरङ्गकटकसमूहः स्कन्धावारः कटकोत्तरणनिवासः सार्थः याणकभृतां समूहः प्रतीत एव तत्र सर्वतो भयत्रस्तजनसमवायः कोट्टो दुर्गः संवर्तश्च कोट्टश्च संवर्तकोट्टं तस्मिन् संवर्तकोट्टे (१७) पुनर्वाटेषु वृत्त्यादिपरिक्षिप्तगृहसमूहेषु रथ्यासु सेरिकासु च गृहेषु प्रसिद्धेषु च एतेषु च स्थानेषु अवमौदर्यं कृतं क्षेत्रतो भवति । अथ पुनः प्रकारान्तरेण क्षेत्रावमौदर्यमाह ।

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्तियपतंगवीहिया चेव ।
संबुक्कावट्टा य, गंतु पच्चागया छट्ठा ॥ १९ ॥

षड्विधा क्षेत्रावमोदरिका वर्तते पेटा पेटाकारा चतुष्कोणा पेटाकारेण गोचर्यां कृत्वा अवमोदरीकरणमेवमर्द्धपेटाकारेण गोचरीकरणं गोमूत्रिकाकारेण पतङ्गवीथिका पतङ्गः शलभस्तस्य वीथिका उड्डयनं पतङ्गवीथिका अनियता निश्चयरहिता शलभोड्डयनसदृशीत्यर्थः । पुनः शम्बूकावर्ता शम्बूकः शङ्खस्तद्वत् आवर्तो भ्रमणं यस्यां सा शम्बूकावर्ता साऽपि द्विविधा अभ्यन्तरशम्बूका बहिःशम्बूका च । शङ्खनाभिरूपक्षेत्रे मध्याद्बहिर्गम्यते सा अभ्यन्तरशम्बूकावर्ता विपरीता बाह्यात् मध्ये आगमनरूपा बहिःशम्बूकावर्ता पञ्चमी । पुनः षष्ठी आयतं गन्तुं प्रत्यागमा ज्ञेया आदित एव आयतं सरलं गत्वा यस्यां प्रत्यागमो भवति सा षष्ठी ज्ञेया इत्यर्थः । एतासां भिक्षाचर्याणामपि अवमोदर्यत्वं ज्ञेयं यतो हि अवमोदर्यार्थमेव ईदृक्प्रकारेणैव साधुराहारार्थं भ्रमति तस्मान्नात्र दोषः ।१९।

दिवसस्स पोरिसीणं, चउण्हं पि जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वो ॥ २० ॥

दिवसस्य चतसृणां पौरुषीणां प्रहराणां यावद् घटिकाचतुष्टयादिकोऽभिग्रहविषयः कालो भवति एवममुना प्रकारेण कालेन चरमाण इति गोचर्यां चरतः साधोः खलु निश्चयेन कालावम इति कालेन अवमं कालावमं मन्तव्यः ॥

पुनः कालावमौदर्यमेव प्रकारान्तरेणाह ॥

अहव तइयपोरिसीए, ऊणाए घासमेसंते ।
चउभागूणाए वा, एव कालेणओ भवे ॥ २१ ॥

अथवा तृतीयायां पौरुष्यामूनायां किञ्चिद्धीनायां ग्रासमाहारमेषयन् गवेषणां कुर्वन् वा अथवा चतुर्भागेन ऊनायां तृतीयपौरु-

ष्यां भिक्षा चर्या साधोरुक्तास्ति कालेन अवमोदर्यं भवेत् । उत्त०३ अ० ॥

अथ भावावमोदर्यमाह ॥

से किं तं भावोमोयरिया ? अणेगविहा पण्णत्ता ? तंजहा अप्पकोहे जाव अप्पलोभे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पतुमंतुमे सेत्तं भावोमोयरिया सेत्तं ऊणोमोयरिया ॥

अल्पक्रोधः पुरुषः अवमोदरिका भवत्यभेदोपचारादिति (अप्पसद्देत्ति) अल्पशब्दो रात्र्यादावसंयतजागरणभयात् (अप्पझंझत्ति) इह झञ्झा विप्रकीर्णा कोपविशेषाद्वचनपद्धतिः चूर्ण्यां तूक्तम् । " झंझा अणत्थ य बहुप्पला विसं अप्पतुमं तुमेति " तुमतुमो हृदयस्थः कोपविशेष एव । भ० २५ श० ७ उ० । भावावूनोदरिका क्रोधादिपरित्यागो यत उक्तम् । " कोहाईणमणुदिण, चाओ जिणवयणभावणाओ य । भावेणोणोदरिया, पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥ " प्रव० ६ द्वा० । द० । ग० । स्था० औ०॥

इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वा णलंकिओ वा वि ।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेणं च वत्थेणं ॥ २२ ॥
अन्नेणं विसेसेणं, वन्नेणं भावमणुमुयंते उ ।
एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं ॥ २३ ॥

युग्मम् एवमनुना प्रकारेण चरमाणः इति प्राकृतत्वाच्चरमाणस्य भिक्षायां भ्रममाणस्य साधोः खलु निश्चयेन (भावोवमाणं इति) भावोऽवमत्वं भावावमोदर्यं (मुणितव्यं) ज्ञेयमित्यर्थः । भावेन अवमोदर्यं भावावमोदर्यं कोऽर्थः । यदा कश्चित्साधुरिति चिन्तयति अद्य कश्चिद्दाता भावमेतादृशं स्वरूपम् (अणुमुयंते इति) अनुन्मुञ्चन् अत्यजन् एतादृशस्वरूप भजन् मह्यम् आहारं दास्यति तदाऽहं ग्रहीष्यामि नान्यथेति भावः । को दाता कीदृशं च भावमत्यजन् तदाह (इत्थी) स्त्री वा पुरुषो वा अलंकृत आभरणादिसहितोऽथवाऽनलङ्कृतोऽलङ्कारै रहितः (अन्नयरवयत्थो) अन्यतरवयस्थो बालतरुणस्थविरादिकानां त्रयाणां वयसां मध्ये अन्यतरस्मिन् एकस्मिन् वयसि स्थितः । अन्यतरेण पट्टदुकूलादिवस्त्रेण उपलक्षितः । २२ । अन्येन विशेषेण कुपितप्रहसितादिनाऽवस्थाभेदेन उपलक्षितः वर्णेन श्वेतरक्तादिना उपलक्षितः भाव पर्यायमुक्तरूपमलङ्कारादिकम् (अणुमुयते) अनुन्मुञ्चन् एतादृशः सन् मह्यं आहारं दास्यति तदा ग्रहीष्यामि इत्यभिग्रहधारणेन भावावमोदर्यं ज्ञेयम् ॥

अथ पर्यायावमोदर्यमाह ।

दव्वे खित्ते काले, भावम्मि आहियाउ जे भावा ।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥ २४ ॥

द्रव्ये अशनपानादौ क्षेत्रे पूर्वोक्ते ग्रामनगरादौ काले पौरुष्यादौ भावे स्त्रीत्वादौ आख्याताः कथिता ये भावाः पर्यायास्तैः सर्वैरपि द्रव्यादिपर्यायैः अवममवमोदर्यं चरति सेवति यः सोऽवमचरो भिक्षु पर्यवचरको भवेत् । पर्यायावमोदर्यचरको भवतीत्यर्थः । एकसिक्थकाद्यल्पाहारेण द्रव्यतोऽवमोदर्यं स्यादेव पर ग्रामादौ क्षेत्रत पौरुष्यादौ कालतः स्त्रीपुरुषादिषु भावतः कथमवमोदर्यं स्यात् उत्तरं क्षेत्रकालभावादिष्वपि विशिष्टाऽभिग्रहवशादवमोदर्यं स्यादेव । इह पुनः पर्यायग्रहणेन पर्यवप्राधान्यविवक्षया पर्यवावमोदर्यं ज्ञेयम् । २४ ।उत्त० ३० अ० ।

ऊधारिता–अवधारायितृ–त्रि० निश्चित वक्तरि, " अभिक्खणं अभिक्खण ऊधारिता " । अभीक्ष्णमवधारयिता । शङ्कितस्याप्यस्य निःशङ्कितस्यैवमेवायमित्येवं वक्ता । अथवा अवहारयिता परगुणानामपहारकारी यथा तथा हासादिकमपि पर भणति दासचोरस्त्वमित्याद्येकादशमसमाधिस्थानम् । दशा० १ अ० ।

ऊमिणण–अवमान–न० । लोकशास्त्रप्रसिद्धे प्रोञ्छणके, " चउणारी ऊमिणण अहिगासु नत्थि उ विरोहो " ध० २ अधि० ।

ऊरण–ऊरण–पु० उरभ्रे, रा० । मेषे, विशे० ।

ऊरस–ऊरस–पुं० उरसा वर्तत इति ऊरसः । बलवति बाहुबलिनीव पुत्रभेदे, स्था० १० ठा० ।

ऊरुघंटा–ऊरुघण्टा–स्त्री० जङ्घाघण्टायाम्, ज्ञा० १८ अ० ।

ऊरुयावल–ऊरुकावल–पुं० ऊरुकयोरावलनमूरुकावलः । शारीरदण्डभेदे, । प्रश्न० १ सं० ३ द्वा० ।

ऊरुयाल–ऊरुदार–पुं०ऊर्वोर्जङ्घयोर्दारो दारणा ज्वालो वा ज्वालन यः स तथा । शारीरदण्डभेदे, प्रश्न० १ सं० ३ द्वा० ।

ऊस–ऊस्र–पुं० वसन्ति रसा अत्र वस-रक्-नि–न पत्वम् रलोपे " लुप्तयरवशषसां दीर्घः । ८ । १ । ४३ । इति लुप्ताध-स्थरेफस्य सकारस्यादेः स्वरस्य दीर्घः । किरणे, प्रा० ।

ऊष–पु० ऊष रुजायाम्, क० । पांशुक्षारे, द० ५ अ० । ऊषरादिक्षेत्रोद्भवे लवणिमनि, लवणसंमिश्ररजोविशेषे, पिं० । यद्वशादूषरं क्षेत्रम् प्रज्ञा० १ पद । जीवा० । मानुषनगप्रथमकूटवैदूर्य–पल्योपमस्थितिके नागदेवे, द्वी० । कर्णरन्ध्रे चन्दनाद्रौ, तत्र चन्दनादेर्विरहितापकत्वात्कर्णच्छिद्रस्य अल्पजलादिप्रवेशेनोद्वेगहेतुत्वात् क्षारमृत्तिकाया मलापहारकत्वात्तथात्वमिति भेदः । ऊषति अन्धकार मेचक वा । प्रभाते, रेतसि, न० तस्य क्षारवस्त्वाद्भावात्त्वाद्रुष्णत्वाच्च तथात्वम् । क्षारमृत्तिकायाम्,स्त्री० वाच० ।

ऊसट्ठ–उत्सृष्ट–न० उद् सृज्–क्त । उत्सर्जने, उच्चारादेस्त्यागे, आचा० २ श्रु० ।

ऊसढ–उत्सृत– त्रि० उच्चे, जी० ३ प्रति० । जं० । उत्कृष्टे, व्य० ६ उ० । " ऊसढाति वा गम्भियाति वा" आचा०२ श्रु० । "वक्षाः इ जुयमूसढमित्याद्युक्ते शुभवर्णगन्धादियुक्ते प्रव०२द्वा० । दशा० । आचा० । "रसियं रसियं ऊसढं ऊसढं मणुण्णं मणुण्णं " सम० ।

ऊसण–उषण–न० उष–ल्युट् मरिचौ, पिप्पलीमूले, शुण्ठ्यां, च । चित्रके, पु० । पिप्पल्यां, चव्ये च स्त्री० । मरीच्यादीनां जिह्वोद्वेजकतया तथात्वम् वाच० ।

ऊसण्हसण्हिया––उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका––स्त्री० । उत् प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका अनन्तेषु परमाणुषु, अनन्तैः परमाणुभिरेकस्या उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाया अभिधानात् ॥ प्रव० २५४ द्वा० । " अणंताणं परमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा उसण्हसण्हिया' अनन्तानां व्यवहारिकपरमाणुपुद्गलानां समुदयाद्व्यादिसमुदयास्तेषां समितयो मिलनानि तासां समागमपरिणामवशादेकीभावनं समुदयसमिति समागमस्तेन या परिमाणमात्रेति गम्यते । सा एका अत्यन्तं श्लक्ष्णश्लक्ष्णा सैव श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका । उत्प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाः भ० ६ श० ७ उ० ।

ऊसत्त–उत्सक्त–त्रि० ऊर्ध्वं सक्त उत्सक्तः । उल्लोचतले उपरिसंबद्धे, " आसत्तो सत्त विउलवट्टमल्लदामकलावं " आ० म० प्र० ।

ऊसर–ऊषर–न० ऊष मत्वर्थीयो र ऊषं क्षारमृत्तिकां राति द-

हाति क-चा। क्षारमृत्तिकायुक्ते देशे, यस्मिन्नुप्त बीज न प्ररोहति। यत्र तृणादेरसम्भव.। आ०। प्र०। यो०।

ऊसरण-उत्सरण-न० उद्-सृ-ल्युट्। अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे ८।१।१४। इति त्स परस्यादेरुत ऊत् प्रा०। आरोहणे, "थाणु सरण तओ समुप्पयणं" विशे०।

ऊसरदेस-ऊषरदेश- पुं० ऊषरविभागे, आ० ॥

ऊसल-उल्लस-उद्-लस्-धा० उल्लासे, उल्लसो ऊसलोसुम्भ णिल्लसपुलआअगुञ्जोल्लारोआः। ८।४।२०२। इत्युल्लसेरूसलादेशः। ऊसलइ उल्लसइ उल्लसति। प्रा० ॥

ऊसव-उत्सव-उद्-सु-अप् अनुत्साहोत्सन्ने त्स च्छे। ८।१।१४ इत्यादेरुत ऊत्वम्। प्रा०। आनन्दजनकव्यापारे, "उसवो जत्थ भत्तपाणं विसिट्ठं ऊसवाविज्जति" नि०चू०१६उ०। इंदाय महा पायं पञ्जतियया ऊसवा हुंति" उत्सवाः प्रायः प्रतिनियता वर्षमध्ये प्रतिनियतदिवसभाविन इन्द्रादिमहाः। एते च भरतकाले प्रवृत्ताः "अन्नया कयाइ ऊसवे इन्दगहियाउ" आ०म०प्र०।"ऊसवे जहा एगंति पव्वतियकम्मे आभीराणि ताणि साहूण पासे धम्मं सुणंति ताहे देवलोगे वण्णेंति एव ते सिं अत्थधम्मे बुद्धी। अन्नया कयाइ इंदमहे वा अन्नम्मि वा ऊसवे नगरिं गयाणि जारिसा बारवती तत्थ लोग पेच्छंति मंडियपसाहियसुगंधविविसनेवत्थं ताणि तं दट्ठूण भणंति। एस देवलोगो जो सो तया साहूहिं वण्णितो एवाहे जइ वयमो ते सुंदरतरं करेमो जेण अम्ह वि देवलोगे उववज्जामो। ताहे ताणि गंतूण साहूण साहिंति जो तुब्भेहिं अम्ह कहितो देवलोगो सो पच्चक्खो अम्हेहिं दिट्ठो। साहू भणंति न तारिसो देवलोगो अतो अणंतगुणो तत्तो ताणि अन्नहियजायविम्हयाणि पव्वइयाणि। एवं ऊसवेण सामाइयलंभो। आ० म० द्वि०। (पार्श्वस्थानामुत्सवा अन्यत्र)

ऊसवज्ज-उत्सववर्ज्य- न० उत्सवाभावे, "ऊसववज्जकयाइ वि, लहुओ बहुया प्रतिक्कमगहणम्मि" व्य० १ उ० ॥

ऊसविय-उच्छ्राय्य- अव्य० ऊर्ध्वं कृत्वेत्यर्थे, "तणाइं ऊसविय अभिसिणिसिरंति" तृणानि कुशवीकादीनि पीन पुन्येनोर्ध्वस्थानि कृत्वा सूत्र० २ श्रु० २ अ० ॥

उच्छ्रित- त्रि० ऊर्ध्वीकृते, ज्ञा० ८ अ०। आ० म० प्र० ॥

उच्छ्रयित त्रि० ऊर्ध्वीकृते, ज्ञा० ८ अ० ॥

ऊसवियरोमकूव-उच्छ्रितरोमकूप- त्रि० उच्छ्रितानि रोमाणि कूपेषु तद्रन्ध्रेषु यस्य स तथा जातरोमाञ्चे, भ० ११ श० ११ उ० कल्प० " ऊसवियरोमकूवा उविय अणगारे णिदाए दिट्ठी " आ० म० द्वि० ॥

ऊससण-उच्छ्वसन- त्रि० उच्छ्वसितं कुर्वति, " ऊससमाणे नीससमाणे वा कासमाणे वा गयमाणे वा " आचा० २ श्रु० ॥

ऊससिय-उच्छ्वसित-न० उच्छ्वसनमुच्छ्वसितं भावे निष्ठा क्तप्रत्ययः। अनक्षरश्रुतभेदे, नं०। आ० म० प्र०। विशे०। ऊर्ध्वं प्रबल श्वसितमुच्छ्वसितम्। ऊर्ध्वश्वासग्रहणे, " अन्नत्थ ऊससिएणं " अन्यत्रोच्छ्वसितात् ऊर्ध्वश्वासग्रहणात्। उत् ऊर्ध्वं प्रबलं वा श्वसितमुच्छ्वसितमिति व्युत्पत्तेः। ध० २ अधि०। आव०।

ऊससिर-उच्छ्वसितृ-त्रि० शीलार्थे तृन्-तत्स्थाने, । शीलाद्यर्थस्येरः ८।२।४५। इति तृन इरादेश। उच्छ्वसनशीले, प्रा०।

ऊसारिय-उत्सारित-त्रि० प्रलम्बीकृते, ज्ञा० १८ अ०।

ऊसास-उच्छ्वास-पुं० उत् ऊर्ध्वं श्वास उच्छ्वासः। आ० चू० ४ अ०। अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे ८।१।१४। इतिच्छपरस्य उत ऊत। प्रा०। ऊर्ध्वगमनस्वभावे श्वासे, जो० १ पाहु०। अहोरात्रादिषूच्छ्वासमानम् इह अहोरात्रे मासे वर्षे वर्षशते सोच्छ्वासपरिमाणमेवं पूर्वसूरिभिः संकलितम्। "एग च सयसहस्सं, ऊसासाणं तु तेरस सहस्सा। नउयसयमग्गहिया, दिवसनिसि होंति विन्नेया। मासचियऊसासा, लक्खा तेतीससहस्स पणनऊई। सत्त य सयाइ नायव्वा, कहियाइ पुव्वसूरीहिं। चत्तारि उ कोडी उ, लक्खा सत्ते य होंति नायव्वा। अडयालीससहस्सा, चारिसया होंति वरिसेण " जीवा० ३ प्रति०। संख्येयावलिकात्मके काले, " संखेज्जा आवलियाओ ऊसासो " किल षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयेनावलिकानां क्षुल्लकभवग्रहणं भवति तानि च ससदश सातिरेकाणि उच्छ्वासनिःश्वासकालः। एवञ्च संख्याताः आवलिका उच्छ्वासकालो भवति भ० ६ श० ७ उ०। अनु०। कर्म०। (एकेन्द्रियादीनामुच्छ्वासवक्तव्यता आण शब्दे उक्ता) उत्पतने, मरणे, " छेदण ऊसास अणाहियाले य " बृ० १ उ०।

ऊसासग-उच्छ्वासक-पुं० उच्छ्वसितीत्युच्छ्वासकः। आनपर्याप्तिपरिनिष्पन्ने, विशे०। आ०म०द्वि०।

ऊसासणाम-उच्छ्वासनामन्-न० यदुदयवशादात्मन उच्छ्वासनिःश्वासलब्धिरुपजायते तस्मिन्नामकर्मभेदे, कर्म०। प्रव०। आ०। पं०सं०। "ऊससणलद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसासणामवसा" उच्छ्वासनामवशादुच्छ्वासनामकर्मोदयेन उच्छ्वसनलब्धियुक्तो भवति उच्छ्वासनि श्वासलब्धितो जायते। यदुदयादुच्छ्वसनलब्धिरात्मनो भवति स उच्छ्वासनाम सर्वलब्धीनां क्षायोपशमिकत्वादौदयिकी लब्धिर्न सम्भवतीति चेत् नैतदस्ति वैक्रियाहारकलब्धीनामौदयिकीनामपि समवाद्वीर्यान्तरायक्षायोपशमैरपि चात्र निमित्तीभवतीति सत्यप्यौदयिकत्वे क्षायोपशमिकव्यपदेशोऽपि न विरुध्यते। कर्म०।

ऊसासणिरोह-उच्छ्वासनिरोध-पुं० बालमरणसाधके प्राणनिरोधे, व्य० १० उ०।

ऊसासणीसास-उच्छ्वासनिःश्वास-पुं० उच्छ्वासेन सह निःश्वासः प्राणसञ्ज्ञके कालभेदे, " एगे ऊसासनीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ " भ० ६ श० ७ उ०।

ऊसासद्धा-उच्छ्वासाद्धा-स्त्री० उच्छ्वासप्रमितकालविशेषे, भ० ६ श० ७ उ०।

ऊसासपज्जत्ति-उच्छ्वासपर्याप्ति-स्त्री० पर्याप्तिभेदे, यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणा दलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्यालम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः। कर्म०।

ऊसित्त-उत्सिक्त-न० उत्सेचनमुत्सिक्तम् भावे क्त। अनुत्साहोत्सन्नेत्सच्छे ८।१।१४। इति उत ऊत् प्रा०। सौवीरस्याहोत्सन्नेत्सच्छे ८।१।१४। इति उत ऊत् प्रा०। सौवीरस्य उत्सेचने, बृ० २ उ०। किंचमुत्सिक्तं ग्राह्यम्। अथोत्सिक्तपदं भावयति।

समणत्थमपरपासंमे, जानंतिय अत्तणो य मुत्तूणं।
उट्ठो नत्थि वि कप्पो, उरिंसत्तणमो जयट्टाए॥

काञ्जिकस्य सौवीरिणीतो यन्निष्काशन तदुत्सिक्तं तच्च पकाञ्जिकस्य सौवीरिणीतो निष्काशनं तदुत्सिक्तं तच्च पाषण्डधा श्रमणार्थं साधूनामर्थायेत्यर्थः। स्वगृहपतिमिश्र ? पाषण्डधा श्रमणार्थं साधूनामर्थायेत्यर्थः।

(गिमगिष्ठ ३ यावदर्थिकमिश्रम् ४ आत्मार्थकृतम् ५। एतान् पञ्चभेदान् मुक्त्वा अपरः षष्ठो विकल्पो नास्ति यदर्थमुत्सेचनं भवेत्। अत्र चात्मार्थे यद् गृहिनिषिक्तकं तदेव ग्रहीतुं कल्पते न शेषाणीति। दूषिताऽऽत्मनपुंसकभेदे, "दूसी दुविहो आमितो जो सायच्चो ऊसिसो जो अणवच्चो " पं० भा०।

ऊसिय–उच्छ्रित–त्रि० उद्–श्रि–क्त–। उन्नते, कल्प० । औ० । ज्ञा०। उच्चैः कृते, उत्त० २२ अ०। उच्चे, विपा० १ श्रु० ६ अ०। ऊर्ध्वीकृते, औ० । उत्तुङ्गे, कल्प० । प्रख्याते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। पङ्कजले, अतिलङ्घ्य परित्यज्य स्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। प्रासादादौ वास्तुभेदे, नि०चू०१उ० "ऊसिय ज उच्चयेण कय " भा० चू० ४ अ०। आव०।

उत्सृत–त्रि० प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृते, च० १८ पाहु०। स०। लम्बमाने, मुत्तजालतरुसियहेमजालगवक्ख " रा०।

ऊसियज्झय–उच्छ्रितध्वज–पुं० ऊर्ध्वीकृतजयपताकायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ०।

ऊसियपभाग–उच्छ्रितपताक–त्रि० ऊर्ध्वीकृतपताकायुक्ते, "जहा पमिनाहे ऊसियपभागं णयरं कयं " आ० म० द्वि०। " ऊसियपभागगगणतलमणुलिहंता " रा०।

ऊसियफलिह–उच्छ्रि (त्सृ) तस्फटिक (परिघ)–पुं० उच्छ्रित स्फटिकमिव स्फटिकमन्तःकरणं यस्य स तथा। मौनीन्द्रप्रवचनावाप्तपरितुष्टमनसि, इति वृद्धव्याख्या केचित्त्वाहुः उच्छ्रित अर्गला स्थानादपनीय ऊर्ध्वीकृतो न तिरश्चीनः कपाटपश्चाद्भागादपनीत इत्यर्थः। उत्सृतो वाऽपगत परिघोऽर्गला गृहद्वारे यस्यासौ उत्सृतपरिघ। उच्छ्रितपरिघो वा औदार्यातिरेकाद्तिशयदानदायित्वेन भिक्षुकप्रवेशार्थमनर्गलितगृहद्वारे, "ऊसियफलिहे अवंगुयदुवारे चिय तने उरपरघरप्पवेसे" ज्ञा० ५ अ०। दशा०। औ०।

ऊसुअ–उत्सुक–त्रि० उद्गता शुका यस्मात्सः। अनुत्साहोत्सन्ने त्सन्ने ८।१।१४ इति उत्र आगस्यादेरुत ऊत्वम्, ॥ उत्कण्ठायुक्ते, प्रा०।

ऊसुम्भ–उल्लस–धा० उभ्या–पर–अक–सेट्–उल्लासे, उल्लसेरूसलोसुम्भणिल्लसपुलआअगुंजोल्लारोआः ८।४।२०१ इत्युल्लसेरूसुम्भादेशः ऊसुम्भइ उल्लसइ उल्लसति प्रा०।

ऊह–ऊह–पुं० ऊह–घञ्। पृथिव्यादिसम्बन्धिन्यामोघमात्रसञ्ज्ञायाम्, विशे०। मन्दमन्दप्रकाशे स्थाणुपुरुषोचितदेशे किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्येवमात्मके तर्के, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० बुद्धिगुणभेदे, स च विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु तथाविधेषु व्याप्त्या वितर्कणम् (ध० १ अधि०) स्वरूपप्रतिपादनः स तर्कः कीर्त्यते ऊह इति च संज्ञान्तरं लभते र० ३ परि०। (तत्प्रामाण्यादिनिरूपणं तर्कशब्दे) चतुरशीत्यूहाङ्गशतसहस्रेषु, जो० २ पाहु०॥ आगमाविरोधिना तर्केण आगमार्थस्य संशयपूर्वपक्षनिवारणपूर्वकोत्तरपक्षव्यवस्थापनेन निर्णयरूपे परीक्षणे, अनन्वितार्थकथितत्वयादिकल्पने पदान्तरेण आकाङ्क्षापूरणार्थे ऽध्याहारे, साङ्ख्योक्ते ताराख्ये भेदे, आरोपे, समूहे च। वाच०।

ऊहंग–ऊहाङ्ग–न० चतुरशीतिमहाऽऽरूशतसहस्रेषु, जो०। २ पाहु०॥

ऊहा–ऊहा–स्त्री–ऊह–अ० स्त्रीत्वात् टाप्। अध्याहारे, वाच०। वितर्कात्मिकायां तर्कबुद्धौ, उत्त० ३ अ०। आ० म० द्वि० ॥

ऊहापन्नत्त–ऊहाप्रज्ञप्त–त्रि० तर्कबुद्ध्या प्रणीते, " ऊहापन्नत्तं घोरियसिवभूत्तराहिं इमं " आ० म० द्वि०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ–

श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००८ श्री

विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे

ऊकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तं–

समाप्तश्चायं द्वितीयो भागः॥

॥ श्री ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-

कलिकाल-सर्वज्ञ-श्रीमद्भट्टारक

जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री

१००८ श्रीविजयराजेन्द्र-

सूरिविरचिते अभिधान

राजेन्द्रे शब्दसङ्कलने

द्वितीयो भागः समाप्तः

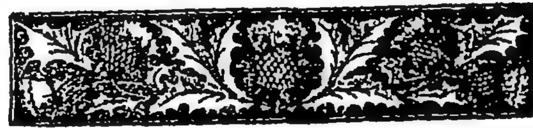

आभार-प्रदर्शनम् ।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान–सकलजैनागमपारदृश्व–आबालब्रह्मचारी–जङ्गमयुगप्रधान–प्रातःस्मरणीय–परमयोगिराज–क्रियाशुद्ध्युपकारक–श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय—सितपटाचार्य–जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया । इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरीजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी । इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र—शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्री सूर्यपुर (सूरत—गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ ।

गवालियर रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी—मुनि श्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनि महाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बडे ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हूम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इस लिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-भागीरथजी, बीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गम्भीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिंटिंग प्रेस स्वतन्त्र खोलना चाहिये । कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त--चार मर्हुम--गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदि ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य- मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९७१ चैत्र--वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणि--प्रातःस्मरणीय—आचार्य श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय--श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवगोवाहवाक--मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्--महातपस्वी--मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज, साहित्यविशारद- विद्याभूषण- श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री--गुलाबविजयजी, मुनिश्री--हर्षविजयजी, मुनिश्री--हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरोंने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम- नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम।	श्रीसंघ-बॉगरोद।	श्रीसंघ-राजगढ़।
,, जावरा।	,, बारोदा-बड़ा।	,, झाबुवा।

श्रीसंघ-वडनगर।	श्रीसंघ-सरमी।	श्रीसंघ-झकणावदा।
,, खाचरोद।	,, सुंजाखेड़ी।	,, कूकसी।
,, मन्दसोर।	,, खरसोद-बडी।	,, आलीराजपुर।
,, सीतामऊ।	,, चीरोला-बड़ा।	,, रींगनोद।
,, निम्बाहेड़ा।	,, मकरावन।	,, राणापुर।
,, इन्दौर।	,, बरड़िया।	,, पारां।
,, उज्जैन।	,, (भाट)पचलाना।	,, टांडा।
,, महेन्द्रपुर।	,, पटलावदिया।	,, बाग।
,, नयागाम।	,, पिपलोदा।	,, खवासा।
,, नीमच-सिटी।	,, दशाई।	,, रंभापुर।
,, संजीत।	,, बडी-कड़ोद।	,, अमला।
,, नारायणगढ़।	,, धामणदा।	,, बोरी।
,, बरड़ावदा।	,, राजोद।	,, नानपुर।

श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद)।	श्रीसंघ-डीसा।
,, वीरमगाम।	,, वाव।	,, दूधवा।
,, सूरत।	,, भोरोल।	,, वात्यम।
,, साणंद।	,, धानेरा।	,, वासण।
,, बम्बई।	,, थोराजी।	,, जामनगर।
,, पालनपुर।	,, डुवा।	,, खंभात।

श्रीसौधर्मवृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर।	श्रीसंघ-भीनमाल।	श्रीसंघ-शिवगंज।
,, आहोर।	,, सांचोर।	,, कोरटा।
,, जालोर।	,, बागरा।	,, फतापुरा।
,, भैंसवाड़ा।	,, धानपुर।	,, जोगापुरा।
,, रमणिया।	,, आकोली।	,, भारुंदा।
,, मांकलेसर।	,, साथू।	,, पोमावा।
,, देवावस।	,, सियाणा।	,, बीजापुर।
,, विशनगढ़।	,, काणोदर।	,, बाली।
,, मांडवला।	,, देलंदर।	,, खिमेल।

श्रीसंघ-गोल।	श्रीसंघ-मंडवारिया।	श्रीसंघ-सांडेराव।
" साहेला।	" बलदूट।	" खुड़ाला।
" आलासण।	" जावाल।	" राणी।
" रेवतड़ा।	" सिरोही।	" खिमाड़ा।
" धाणसा।	" सिरोड़ी।	" कोशीलाव।
" वाकरा।	" हरजी।	" पावा।
" मोदरा।	" गुडाबालोतरा।	" एंदला का गुड़ा।
" थलवाड़।	" भूति।	" चाँणोद।
" मेंगलवा।	" तखतगढ।	" डूडसी।
" सूरांणा।	" सेदरिया।	" थाँवला।
" दाधाल।	" गेवाडा।	" जोयला।
" धनारी।	" भावरी।	" काचोली।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)